CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऋग्वेद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२१ प्राप्ति-संख्या २४९५

ग्रन्थ-कार्ड

र्णी दि० जैन (शोध) संस्थान

ग्रन्थागार

नरिया, वाराणसी-५

भिधान राजेन्द्र कोष

जयराजेन्द्र सूरि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

THIS ENCYCLOPAEDIA IS BOUND & COVERED BY THE MAHODAYA P. PRESS BHAVNAGAR

२४६५
प्रा० २२१

श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला,
१/१२८ भदैनी, बनारस।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

THIS ENCYCLOPAEDIA IS BOUND & COVERED BY THE MAHODAYA P. PRESS BHAVNAGAR

श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला,
१/१२८ भदैनी, बनारस।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२४६५

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ।

वादिवृन्दवन्दितचरणारविन्द–सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि--श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छावतंसकाऽऽबालब्रह्मचारि–जैनशासनस्फारशृङ्गारहार–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–कलिकालसर्वज्ञकल्प–जङ्गमयुगप्रधान–जगत्पूज्य–परमयोगिराज–गुरुदेव–प्रभुश्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर–विरचितः–

अभिधानराजेन्द्रः ।

(प्राकृत–मागधी–संस्कृत–शब्दकोषः)

तस्य मकारादिशब्दसङ्कलने षष्ठो भागः ।

स च–

श्रीसर्वज्ञप्ररूपितगणधरनिर्वर्तिताद्यऽऽश्रीनोपलभ्यमानाशेषसूत्रतन्निर्युक्ति-भाष्य–चूर्णि–वृत्त्यादिनिहितसकलदार्शनिकसिद्धान्तैतिहास–शिल्प-वेदान्त-न्याय-वैशेषिक-मीमांसादिप्रदर्शितपदार्थानां युक्ताऽयुक्तत्व–निर्णायकः ।

उपाध्याय–श्री श्री १००८ श्रीमन्मोहनविजयोपदेशतः–
आचार्य–श्रीमद्भूपेन्द्रसूरिभि–रुपाध्याय–श्रीयतीन्द्रविजयैश्च संशोधितः,
श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-जैनश्वेताम्बर-श्रीसङ्घेन

रतलामस्थे स्वीये श्रीजैनप्रभाकर-यन्त्रालये सम्मुद्य प्रकाशितश्च ।

श्रीवीर निर्वाणसंवत् २४६१ } पुनर्मुद्रित { श्रीविक्रमाब्द १९९१
श्रीराजेन्द्रसूरि संवत् २८ } मूल्यम्–३८) रु० { खिस्ताब्दे १९३४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुवि[illegible]राजकचक्रचूडामणि-कलिकालसर्वज्ञकल्प-परमयोगिराज—

जगत्पूज्य-गुरुदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।

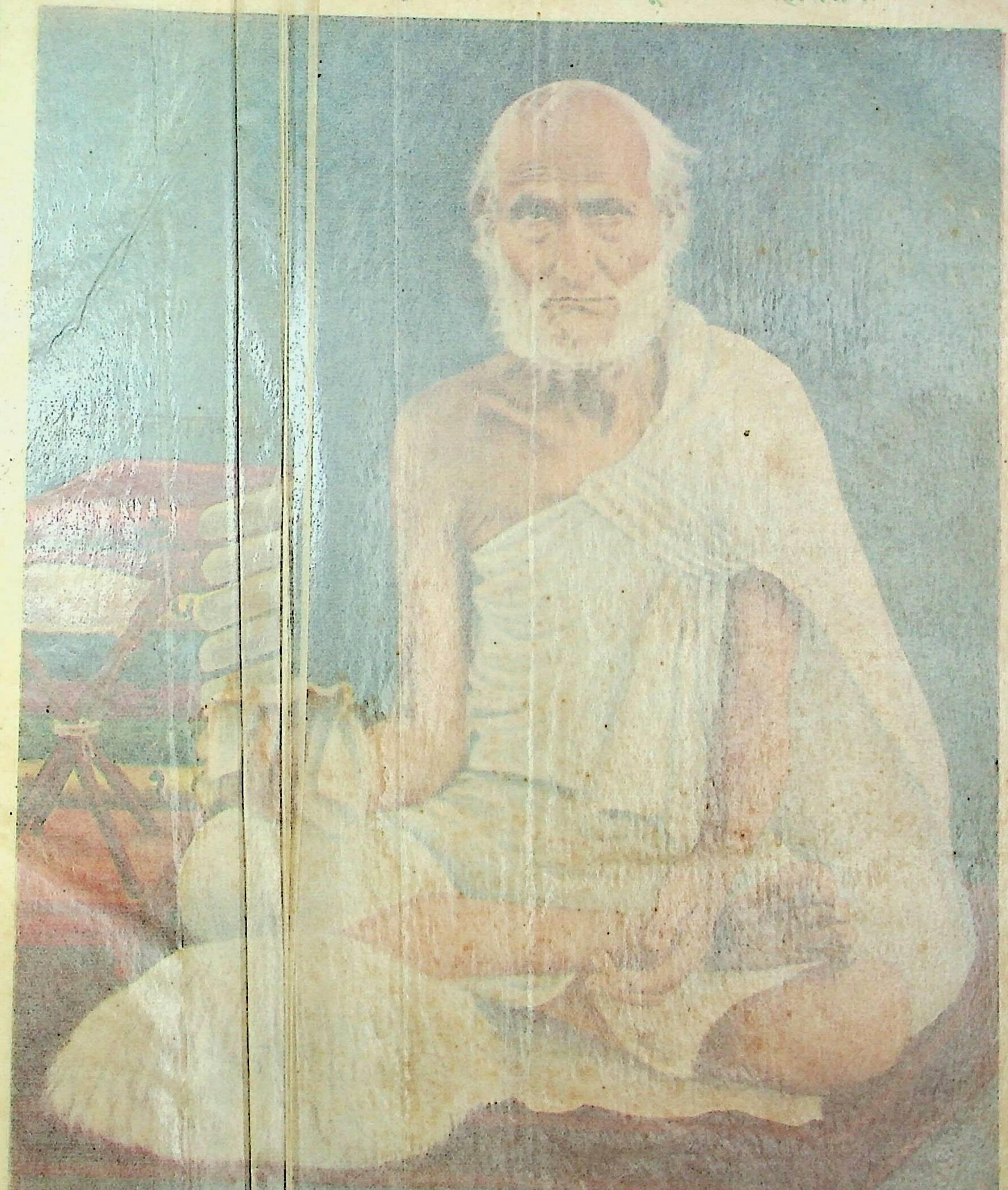

[illegible] राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुतः ।
[illegible] कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ॥ १ ॥

जन्म सं० [illegible] भरतपुर ([illegible]) पंन्यासपद सं० [illegible] उदयपुर (मेवाड़) क्रियोद्धार सं० १९२५ जावरा (मालवा)
दीक्षा सं० [illegible] उदयपुर (मेवाड़) श्रीपूज्यपदवी सं० १९२४ आहोर (मारवाड़) निर्वाण सं० १९६३ राजगढ़ (मालवा)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि–कलिकालसर्वज्ञकल्प–परमयोगिराज—

जगत्पूज्य–गुरुदेव–प्रभुश्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।

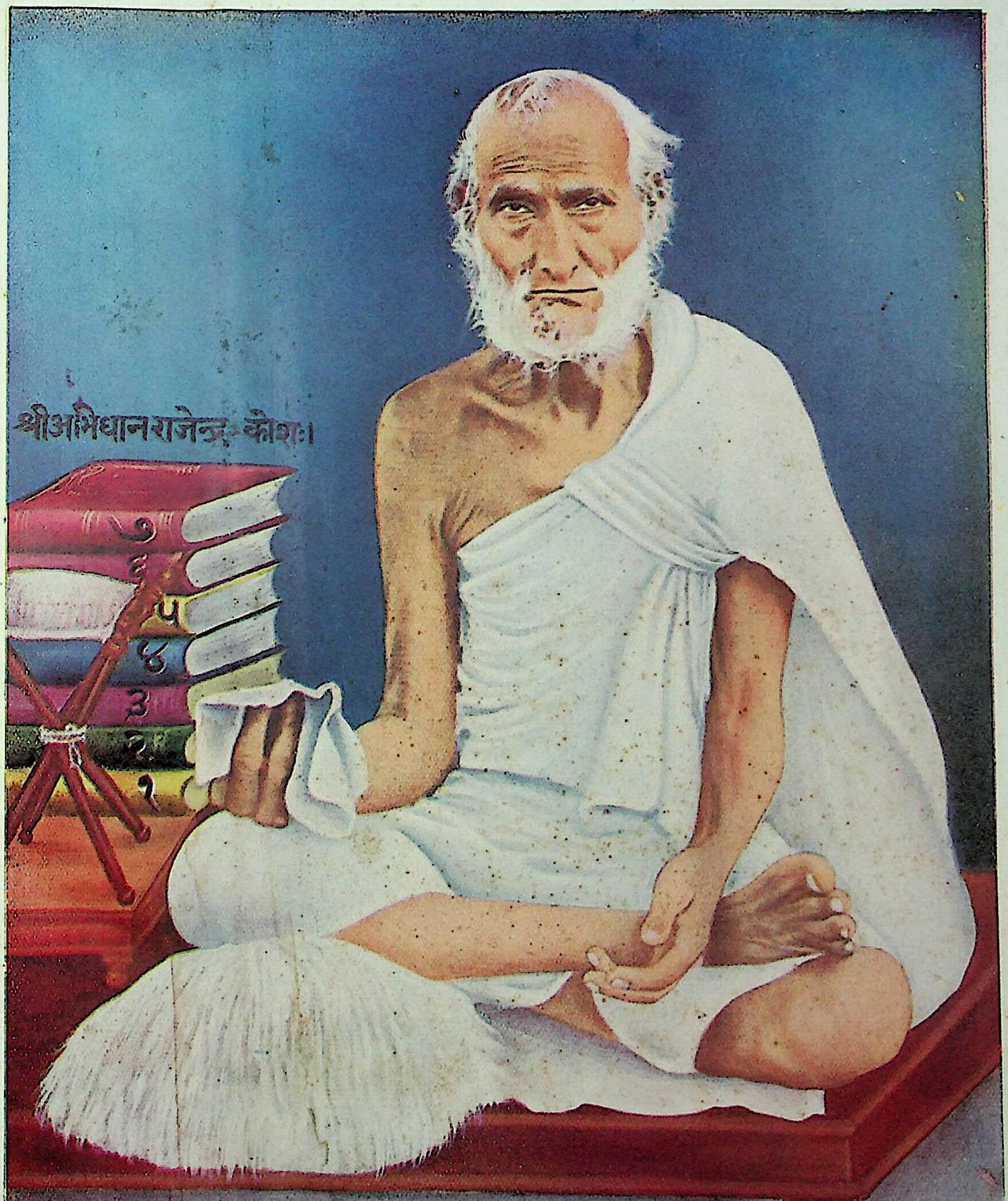

दम्भभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुतः ।
सङ्घस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ॥ १ ॥

जन्म सं० १८८३ भरतपुर (यू. पी.) पंन्यासपद सं० १९०९ उदयपुर (मेवाड़) क्रियोद्धार सं० १९२५ जावरा (मालवा)
दीक्षा सं० १९०३ उदयपुर (मेवाड़) श्रीपूज्यपदवी सं० १९२४ आहोर (मारवाड़) निर्वाण सं० १९६३ राजगढ़ (मालवा)

श्री महोदय प्रेस—भावनगर.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आभार-प्रदर्शनम् ।

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान—सकलजैनागमपारदृश्व—आबालब्रह्मचारी—जङ्गमयुगप्रधान—प्रातःस्मरणीय—परमयोगिराज—क्रियाशुद्ध्युपकारक—श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय—सितपटाचार्य—जगत्पूज्य-गुरुदेव-भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया । इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरीजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी । इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र—शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्री सूर्यपुर (सूरत—गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ ।

गवालियर रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी—मुनि श्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनि महाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बडे ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हुम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इस लिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-भागीरथजी, बीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिंटिंग प्रेस स्वतन्त्र खोलना चाहिये । कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समस्त--भार मर्हुम--गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सौंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदि ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य--मुनिराजों की देख--रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र--वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-कलिकालसिद्धान्तशिरोमणि--प्रातःस्मरणीय—आचार्य--श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय--श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक--मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्--महातपस्वी--मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज, साहित्यविशारद--विद्याभूषण--श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री--लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री--गुलाबविजयजी, मुनिश्री--हर्षविजयजी, मुनिश्री--हंसविजयजी, मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरोंने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय--श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

श्रीसंघ-रतलाम।	श्रीसंघ-बाँगरोद।	श्रीसंघ-राजगढ़।
,, जावरा।	,, बारोदा-बड़ा।	,, झाबुवा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीसंघ-बड़नगर ।	श्रीसंघ-सरसी ।	श्रीसंघ-झकणावदा ।
,, खाचरोद ।	,, मुंजाखेड़ी ।	,, कूकसी ।
,, मन्दसोर ।	,, खरसोद-बड़ी ।	,, आलीराजपुर ।
,, सीतामऊ ।	,, चीरोला-बड़ा ।	,, रींगनोद ।
,, निम्बाहेड़ा ।	,, मकरावन ।	,, राणापुर ।
,, इन्दौर ।	,, बरड़िया ।	,, पारां ।
,, उज्जैन ।	,, (भाट)पचलाना ।	,, टांडा ।
,, महेन्दपुर ।	,, पटलावदिया ।	,, बाग ।
,, नयागाम ।	,, पिपलोदा ।	,, खवासा ।
,, नीमच-सिटी ।	,, दशाई ।	,, रंभापुर ।
,, संजीत ।	,, बड़ी-कड़ोद ।	,, अमला ।
,, नारायणगढ़ ।	,, धामणदा ।	,, बोरी ।
,, बरड़ाबदा ।	,, राजोद ।	,, नानपुर ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद ।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद) ।	श्रीसंघ-ढीमा ।
,, वीरमगाम ।	,, वाव ।	,, दूधवा ।
,, सूरत ।	,, भोरोल ।	,, बातयम ।
,, साणंद ।	,, धानेरा ।	,, वासण ।
,, बम्बई ।	,, धोराजी ।	,, जामनगर ।
,, पालनपुर ।	,, डुवा ।	,, खंभात ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर ।	श्रीसंघ-भीनमाल ।	श्रीसंघ-शिवगंज ।
,, आहोर ।	,, सांचोर ।	,, कोरटा ।
,, जालोर ।	,, बागरा ।	,, फतापुरा ।
,, भेंसवाड़ा ।	,, धानपुर ।	,, जोगापुरा ।
,, रमणिया ।	,, आकोली ।	,, भारुंदा ।
,, मांकलेसर ।	,, साथू ।	,, पोमावा ।
,, देवावस ।	,, सियाणा ।	,, बीजापुर ।
,, विशनगढ़ ।	,, काणोदर ।	,, बाली ।
,, मांडवला ।	,, देलंदर ।	,, खिमेल ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

श्रीसंघ-गोल ।	श्रीसंघ-मंडवारिया ।	श्रीसंघ-सांडेराव ।
,, साहेला ।	,, बलदूट ।	,, खुड़ाला ।
,, आलासण ।	,, जावाल ।	,, राणी ।
,, रेवतड़ा ।	,, सिरोही ।	,, खिमाड़ा ।
,, धाणसा ।	,, सिरोड़ी ।	,, कोशीलाव ।
,, बाकरा ।	,, हरजी ।	,, पावा ।
,, मोदरा ।	,, गुडाबालोतरा ।	,, एंदला का गुड़ा ।
,, थलवाड़ ।	,, भूति ।	,, चाँणोद ।
,, मेंगलवा ।	,, तखतगढ ।	,, डूडसी ।
,, सूराणा ।	,, सेवरिया ।	,, थाँवला ।
,, दाधाल ।	,, गोवाडा ।	,, जोयला ।
,, धनारी ।	,, भावरी ।	,, काचोली ।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है ।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर–चमत्कारकवचि–आगमरहस्यवेदी–श्रुतस्थविरमान्य—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज।

विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रशस्तं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवसद्विलासम्।

दुष्टान्धकारनाशकरं प्रशान्तरूपं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

जन्म सं० [illegible] किशनगढ (मारवाड़) दीक्षोपसंपत् सं० १९२५ जावरा (मालवा) सूरिपद सं० [illegible] जावरा (मालवा)

बलिदीक्षा सं० [illegible] (मारवाड़) पन्यासपद सं० १९२५ खाचरोद (मालवा) स्वर्गारोह सं० १९७७ बागरा (मारवाड़)

श्री महावीर प्रेस–[illegible]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

श्रीसंघ-गोल।	श्रीसंघ-मंडवारिया।	श्रीसंघ-सांडेराव।
,, साहेला।	,, बलदूट।	,, खुडाला।
,, आलासण।	,, आबाल।	,, राणी।
,, रेवतड़ा।	,, सिरोही।	,, खिमाड़ा।
,, धाणसा।	,, सिरोड़ी।	,, कोशीलाव।
,, बाकरा।	,, हरजी।	,, पावा।
,, मोदरा।	,, गुडाबालोतरा।	,, ऐंदला का गुडा।
,, धवलाड़।	,, भूति।	,, चाँणोद।
,, मेंगलवा।	,, तखतगढ।	,, डूडसी।
,, सूराणा।	,, सेदरिया।	,, थाँवला।
,, दाधाल।	,, गोवाडा।	,, ओगणा।
,, धनारी।	,, भावरी।	,, काचोली।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवों के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर–चर्चांचक्रवर्त्ति–आगमरहस्यवेदी–श्रुतस्थविरमान्य—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज ।

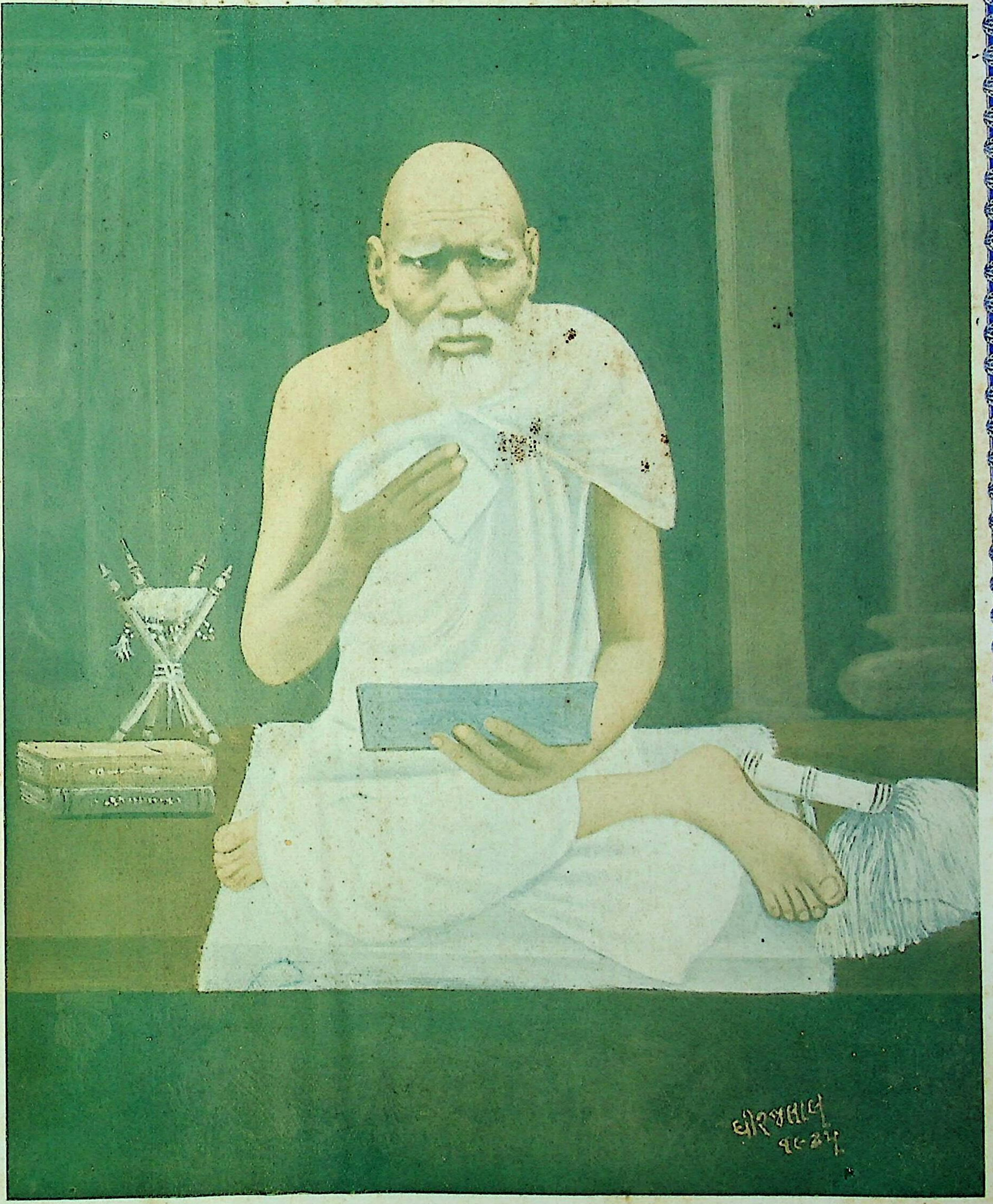

विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवसद्विलासम् ।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

जन्म सं० १८९६ किसनगढ (मेवाड़) दीक्षोपसंवत् सं० १९२५ जावरा (मालवा) सूरिपद सं० १९६५ जावरा (मालवा)
यतिदीक्षा सं० १९१७ धानेरा (पालनपुर) उपाध्यायपद सं० १९२५ खाचरोद (मालवा) स्वर्गारोह सं० १९७७ बागरा (मारवाड़)

श्री महोदय प्रेस–भावनगर.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

॥ श्री वीतरागो जयति ॥

श्रीअभिधानराजेन्द्रः ।

श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला, १/३८ भदैनी, बनारस।

सिरिवद्धमाणसामिं, नमिऊण जिणागमस्स गहिऊण ।
सारं छट्ठे भागे, भवियजणसुहावहं वोच्छं ॥ १ ॥

मकारः

म–म–पुं० । मा–कः । यमे, समये, मधुसूदने, वाच० । मन्त्रे, मन्दिरे, माने, सूर्य्ये, चन्द्रे, शिवे, विधौ, मायाविनि, वृथामन्त्रे, मारणे, प्रतिदाने, एका० । स्त्रीकण्ठे, वह्नौ, सत्यवादे, जडे, कष्टे, सत्साक्षिणि, मदे, कपिलवर्णे, पिङ्गलवर्णे, बन्धने च । एका० । मौलौ, मोघवृत्तौ, नपुंसकजने च । न० । एका० ।

मअ–मद–पुं० । अहङ्कारे, " अवलेओऽहंकारो, मओ मरट्टो मरप्फरो दप्पो । " (८६) पाइ० ना० ५५ गाथा ।

मआई–देशी–शिरोमालायाम् , दे० ना० ६ वर्ग ११५ गाथा ।

मइ–मति–स्त्री० । मन्–क्तिन् । मननं मतिः । ज्ञाने, अवधिमनःपर्य्यायकेवलजातिस्मरणभेदाच्चतुर्धा । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ज्ञा० । नं० । मननं मतिरवबोधः । सा च मतिज्ञानाऽऽदि पञ्चधेति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० म० । सूत्र० । मननं मतिः । पदार्थचिन्ताऽऽत्मके मानसे व्यापारे, आचा० १ श्रु०५ अ० ६ उ० । कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्माऽऽलोचनरूपायां बुद्धौ, न० । विशे० । बुद्धौ, स० ११ अङ्ग । आचा० । स्था० । सूत्र० । अवबोधशक्तौ, विशे० । अभिनिवेशे, दश० ६ अ० २ उ० । मनसि च । सूत्र० १ श्रु० ४ अ०२ उ० । इच्छायाम् , स्मृतौ, क्तिच् । शाकभेदे च । वाच० । आभिनिबोधिकज्ञाने, स्था० ६ ठा० । आ० चू० । प्रव० । (तद्वक्तव्यता 'आभिणिबोहियणाण' शब्दे द्वितीयभागे २५५ पृष्ठे गता) बुद्धौ , " मेहा मई मनीसा, विन्नाणं धी चिई बुद्धी ।" (४२) पाइ० ना० ३१ गाथा । मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । सम्म० २ काण्ड । आचा० ।

चउव्विहा मई पण्णत्ता । तं जहा–उग्गहमई, ईहामई, अवायमई, धारणामई । अहवा–चउव्विहा मई पण्णत्ता । तं जहा–अरंजरोदगसमाणा, वियरोदगसमाणा, सरोदगसमाणा, सागरोदगसमाणा ॥ ३६४ ॥

मननं मतिः तत्र सामान्यार्थस्याशेषविशेषनिरपेक्षस्यानिर्देश्यस्य रूपाऽऽदेरेव इति प्रथमतो ग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः, स एव मतिरवग्रहमतिः, एवं सर्वत्र, नवरं तदर्थविशेषाऽऽलोचनमीहा, प्रक्रान्तार्थविशेषनिश्चयोऽवायः , अवगतार्थविशेषधरणं धारणेति । उक्तं च–" सामन्नत्था–वग्गह–णमोग्गहो भेयमग्गहणमिहेहा । तस्सावगमोऽवाओ. अविच्चुई धारणा तस्स ॥ १ ॥ " इति । तथा अरञ्जरम् । उदकुम्भोऽलञ्जरमिति यत्प्रसिद्धं तत्रोदकं यत्तत्समाना प्रभूतार्थग्रहणोत्प्रेक्षणधरणसामर्थ्याभावेनाल्पत्वादस्थिरत्वाच्च , अरञ्जरोदकं हि संक्षिप्तं शीघ्रं निष्ठितं चेति । विदरो–नदीपुलिनाऽऽदौ जलार्थो गर्तः, तत्र यदुदकं तत्समानाऽल्पत्वादपरापरार्थोहनमात्रसमर्थत्वाद् झगित्यनिष्ठितत्वाच्च, तदुदकं, ह्यल्पं तथाऽपरापरमल्पमल्पं स्यन्दते , अत एव क्षिप्रमनिष्ठितश्चेति , सरउदकसमाना तु विपुलत्वात् बहुजनोपकारित्वादनिष्ठितत्वाच्च प्रायः सरोजलस्याप्येवंभूतत्वादिति, सागरोदकसमाना पुनः सकलपदार्थविषयत्वेनात्यन्तविपुलत्वादक्षयत्वादलब्धमध्यत्वाच्च , सागरजलस्यापि ह्येवम्भूतत्वादिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । " सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं । " तत्रावग्रहे बुद्धिः, अपायधारणे मतिः । नं० । मनुते–अवगच्छति जगत्त्रयं कालत्रयोपेतं यया सा तथा । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । लोकालोकान्तर्गतसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतवर्त्तमानपदार्थाऽऽविर्भावके केवलज्ञाने च । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । आचा० । प्रातिभबोधे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । अध्यवसाये, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । मतिरवायो, निश्चय इत्यर्थः । स० ५ अङ्ग । परवाद्युपन्यस्तसाधनस्यापूर्वापूर्वदूषणोहाऽऽत्मके ज्ञानविशेषे, बृ० ५ उ० । मननं मतिः । यद्वा–मन्यते इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः । योग्यदेशावस्थितवस्तुविषये इन्द्रियमनोनिमित्तावगमविशेषे, कर्म० ४ कर्म० । प्रव० ।

मइअ–देशी–भर्त्सिते, दे०ना० ६ वर्ग १४ गाथा ।

मइअन्नाण–मत्यज्ञान–न० । मिथ्यादृष्टेर्मतिज्ञाने, " मिच्छद्दिट्ठिस्स मई मइअन्नाणं । " आ० चू० १ अ० ।

मइअन्नाणस्स णं भंते ! केवइए विसए पण्णत्ते ?। गोयमा! से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं मइअण्णाणी मइअण्णाणपरिगयाइं दव्वाइं जाणइ, पासइ, एवं० जाव भावओ मइअण्णाणी मइअण्णाणपरिगए भावे जाणइ, पासइ ।

(मइअण्णाणस्सेत्यादि) (मइ अण्णाणपरिगयाइं ति) मत्यज्ञानेन मिथ्यादर्शनसंवलितेनावग्रहाऽऽदिनौत्पत्तिक्यादिना च परिगतानि–विषयीकृतानि द्रव्याणि यानि तानि तथा , जानात्यवायाऽऽदिना पश्यत्यवग्रहादिना । भ० ८ श० २ उ० ।

मइओग्गह–मत्यवग्रह–पुं० । भावावग्रहभेदे, आचा० २ श्रु० २ चू० ७ अ० १ उ० ।

मइंद–मृगेन्द्र–पुं० । मृगेषु इन्द्र इव सिंहे, वाच० । नं० ।

मइगुण–मतिगुण–पुं । बुद्धिपर्य्याये, स० २ अङ्ग ।

मइदंसण–मतिदर्शन–न० । मतेर्बुद्धेर्मत्या वा दर्शनं प्रमेय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्य परिच्छेदनं मतिदर्शनम् । बुद्धेः परिच्छेदने, बुद्धया प्रमेयस्य परिच्छेदने च । भ० १५ श० ।

मइनाण–मतिज्ञान–न० । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं मतिरूपं ज्ञानं मतिज्ञानम् । विशे० । आभिनिबोधिकज्ञाने, आ० चू० १ अ० । प्रव० । कर्म० । पं० सं० । नं० । विशे० । द्रव्यभावेन्द्रियाऽऽलोकमतिज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमाऽऽदिसामग्रीप्रभवरूपाऽऽदिविषयग्रहणपरिणतिश्चावग्रहाऽऽदिरूपा मतिज्ञानशब्दवाच्यतामश्नुते । सम्म० २ काण्ड ।

मइनाणविउ–मतिज्ञानवित्–त्रि० । मतिज्ञानेन वेत्तीति मतिज्ञानविद् । मतिज्ञानेन वेदितरि, विशे० ।

मइनाणावरण–मतिज्ञानाऽऽवरण–न० । मतिज्ञानमाव्रियते येन तत् मतिज्ञानाऽऽवरणम् । ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मभेदे, पं० सं० ५ द्वार ।

मइनाणि(न्)–मतिज्ञानिन्–पुं० । आभिनिबोधिकज्ञानिनि, विशे० ।

मइपत्तिया–मतिप्राप्तिका–स्त्री० । आचार्य्यरोहणात् निर्गतस्योद्देहगणस्य चतसृषु शाखासु स्वनामख्यातायां तृतीयशाखायाम् , कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

मइभंग–मतिभङ्ग–पुं० । मतेर्बुद्धेर्भङ्गो विनाशो मतिभङ्गः। बुद्धेर्विस्मृतौ, स्था० १० ठा० ।

मइभंगदोस–मतिभङ्गदोष–पुं० । मतेर्बुद्धेर्भङ्गो विनाशो विस्मृत्यादिलक्षणो दोषो मतिभङ्गदोषः । दोषभेदे, स्था० १० ठा० ।

मइमंत–मतिमत्–पुं० । मननं मतिः सर्वपदार्थज्ञानम् , तद्विद्यते यस्यासौ तथा । केवलिनि,आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । आव० । सूत्र० । ज्ञानान्विते,आचा०१ श्रु० ६ अ०४ उ० । मतिरस्यास्तीति मतिमान् । विदुषि, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । पञ्चा० । ध० । मतिमान् श्रुतसंस्कृतबुद्धिः । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । विवेकिनि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । आचा० । बुद्धिमति, दर्श० १ तत्त्व । मननं मतिः । सा शोभना यस्यासौ मतिमान् । प्रशंसायां मतुप् । शोभनमतियुक्ते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

मइमोहणी–देशी–सुरायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ११३ गाथा ।

मइय–मतिक–न० । उप्तबीजाऽऽच्छादनसाधने काष्ठमये वस्तुविशेषे, मतिकमुप्तबीजाऽऽच्छादनम् । दश० ७ अ० । मतिकं येन कृष्टा क्षेत्रं मृद्यते । प्रश्न० १ सम्व० द्वार ।

मइरा–मदिरा–स्त्री० । मद–किरन् । " माध्वीकं पानसं द्राक्षं, खार्जूरं तालमैक्षवम् । मैरेयं माक्षिकं टाङ्कं; मधूकं नारिकेलजम् ॥ १ ॥ मुख्यमन्नविकारोत्थं, मद्यानि द्वादशैव तु । " इत्युक्ते मद्यसामान्ये, वाच० । वारुण्याम् , ग० १ अधि० । " कायंबरी पसण्णा, हाला तह वारुणी मइरा । " पाइ० ना० ६४ गाथा । मत्तखञ्जने च । रक्तखदिरे, पुं० । वाच० ।

मइरेय–मैरेय–न० । वारुण्याम् , " मइरेअं मइवारो, सीहू सरओ मड्ड अवकरसो (१०७) " पाइ० ना० ६४ गाथा ।

मइल–मलिन–त्रि० । मल–अस्त्यर्थे इनच् । मलीमसे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । " मलो जस्स विज्जइ तं मइलं । " नि०चू० १ उ० । तं० । मलिनः शरीरेण वस्त्रैर्वा मलीमसः । बृ० १ उ० २ प्रक० । " मलमइल पंकमइला, धूलीमइला न ते नरा मइला । जे पावकम्ममइला, ते मइला जीवलोयम्मि ॥ १ ॥ " ध० र० १ अधि० १० गुण । दूषिते, कृशे च । अन्धकारे, " कालं मइलं जं पि य, वियाण तं अंधयारं ति । " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अस्वच्छे, " मइलं मलीमसं (६०१) " पाइ० ना० २५६ गाथा । कलकल–गततेजसोः, दे०ना० ६ वर्ग १४२ गाथा ।

मइलण–मलिनन–न० । मालिन्यकरणे, " परदारं , गच्छति त्ति मइलं ति ।" प्रश्न० २ आश्र० द्वार । स्था० ।

मइलणा–मलिनना–स्त्री० । प्रतिसेवायाम् , प्रतिसेवनाया एकार्थिकान्यधिकृत्य–"पडिसेवणा मइलणा । " ओघ० ।

मइलारंभिण्–मलिनाऽऽरम्भिन्–पुं० । गृहस्थे, "करोति मलिनाऽऽरम्भी । " ध० २ अधि० ।

मइलिय–मलिनित–त्रि० । शरीराऽऽदिमलेन क्लेदिते, पिं० । कठिनमलयुक्ते च । भ० ६ श० ३ उ० ।

मइल्लिया–मतल्लिका–स्त्री० । तेतलिपुरस्थकनकरथनृपतेरमात्यस्य तेतलिपुत्रस्य पोट्टिलायां भार्य्यायामुत्पन्नायां स्वनामख्यातायां दारिकायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । (वक्तव्यता 'तेतलि' शब्दे चतुर्थभागे २३५३ पृष्ठे गता ।)

मइविगप्पणाविगप्प–मतिविकल्पनाविकल्प–पुं । मतिर्बुद्धिस्तस्या विकल्पना विकल्पः क्लृप्तिभेदस्तथा । बुद्धेः क्लृप्तिभेदे, औ० ।

मइविहल–मतिविह्वल–पुं० । जयपुरनगरस्थस्य विक्रमसेननृपतेः स्वनामख्याते मन्त्रिणि, दर्श० ३ तत्त्व ।

मइसंघडणा–मतिसंघटना–स्त्री० । मतेः–मतिज्ञानस्य संघटना रचना, मत्या बुद्धया वा संघटना रचना तथा । ज्ञानस्य रचनायाम्, बुद्धया रचनायां च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

मइसंपया–मतिसंपद्–स्त्री० । संपद्भेदे, दशा० ४ अ० । ध० र० । स्था० । प्रव । (मतिसंपद्भेदाः ' गणिसंपया ' शब्दे तृतीयभागे ८२६ पृष्ठे गताः)

मइसहिय–मतिसहित–त्रि० । मत्यनुगते, " मतिसहितं ति वा, मतिअणुगतं ति वा एगट्ठं । " आ० चू० १ अ० ।

मइसार–मतिसार–पुं० । जम्बूद्वीपाऽपरविदेहपुष्करविजयचम्पानगरीस्थस्य सुरसिद्धनृपतेः स्वनामख्याते मन्त्रिणि, "इहेव जम्बूदीवे दीवे अवरविदेहे पुक्खरविजए चंपाए णयरीए सुरसिद्धो नाम राया, मइसारो नाम मंती हुत्था । " ती० ६ कल्प ।

मइसूयग–मतिसूचक–पुं० । पापे, " रहसं च अणरहस्सं करेइ मइसूयगो पुरिसो ।" पं० भा० ४ कल्प । पं० चू० ।

मइहर–देशी–ग्रामप्रधाने, दे० ना० ६ वर्ग १२२ गाथा ।

मई–देशी–भभ्रे, दे० ना ६ वर्ग ११३ गाथा ।

मउ–मृदु–त्रि० । मृ–डुः । कोमले,अनु० । कर्म० । ज्यो० । कल्प० ।

मउंद–मुकुन्द–पुं० । बलदेवे, "मउंदमहेइ वा । " रा० । वाद्यविशेषे च । " महामउंदसंठाणसंठिए । " भ० २ श० ८ उ० । पञ्चा० । आचा० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मउअ-देशी-दीने, दे० ना० ६ वर्ग ११४ गाथा।

मउईया-मृद्वीका-स्त्री०। मृदु-ईकन्। द्राक्षायाम्, वाच०। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

मउड-मुकुट-न०। पुं०। "उतो मुकुलाऽऽदिष्वत्"॥८।१।१०७॥ इति प्राकृतसूत्रेणाऽऽदेरुकारस्यात्। प्रा० १ पाद। किरीटे,ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सूत्र०। प्रव०। औ०। मस्तकाऽऽभरणविशेषे च। रा०। प्रश्न०। आ० म०। मुकुटं सुवर्णाऽऽदिमयशेखरक इति। औ०।सूत्र०। विपा०।मुकुटाश्चतुरस्राः शेखरविशेषाः, किरीटास्त एव शिखरत्रययुक्ताः। औ०। प्रज्ञा०। जी०। कल्प०। आ० चू०। आ० म०। भ०। अञ्जलिमुकुलिते उत्थिते बाहुद्वये च। अञ्जलिमुकुलितं बाहुद्वयमुच्छ्रितं मुकुट उच्यते, स च हस्तद्वयप्रमाणः। यदाह बृहद्भाष्यकृत्-"मउडो उण दोरयणी-पमाणतो होइ हु मुणेयव्वो।" बृ० ४ उ०। (ओडेलकोश-गुजराती)"कवरी कुंतलहारो, धम्मिल्लो केसहत्थओ मउडो (६३)" पाइ० ना० ५७ गाथा। किरीटे, "मउली मउडो किरीटो य" (२५१) पाइ० ना० ११६ गाथा।

मउडट्ठाण-मुकुटस्थान-न०। मस्तकप्रदेशे च। स०३४ सम०।

मउडदित्तसिर-मुकुटदीप्तशिरस्-पुं०। मुकुटेन दीप्तं शिरो यस्य सः। तस्मिन्, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

मउडी-देशी-जूटे, दे० ना० ६ वर्ग ११७ गाथा।

मउडीकड-मुकुटी(मौ(ली)कृत-पुं०। अबद्धपरिधानकच्छे,स० ११ सम०। उपा०। परिधानवासोऽञ्चलद्वयं कटीप्रदेशेनाऽवलम्बयति, अग्रे पृष्ठे चोन्मुक्तकच्छो भवति। दशा० ६ अ०।

मउण-मौन-न०। मुनेर्भावः। मुनि-अण्। "अउः पौराऽऽदौ च"॥८।१।१६२॥ इति प्राकृतसूत्रेणौकारस्य अउरादेशः। प्रा० १ पाद। वाग्व्यापाररहित्ये, वाच०।मौनं वाक्संयमः। आ० म०१ अ०।आचा०।व्य०। प्रति०। आव०। सूत्र०। स्था०। "मूत्रोत्सर्गे मलोत्सर्गे, मैथुनं स्नानभोजनम्। सन्ध्यादिकर्म्म पूजां च, प्रकुर्यात्पञ्च मौनवान्॥१॥" ध० २ अधि०। मुनेरिदं मौनं, मुनेर्भावो वा मौनम्। आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। संयमे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०। सूत्र०। उत्त०। संयमानुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। मौनमशेषसावद्यानुष्ठानवर्जनम्। आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०। "सुलभं वागनुच्चारं, मौनमेकेन्द्रियेष्वपि। पुद्गलेष्वप्रवृत्तिस्तु, योगनां मौनमुत्तमम्।" अष्ट० १८ अष्ट०। मुनीनामाचारे, उत्त० १४ अ०। साधुधर्म्मे, उत्त० १४ अ०। सम्यक्त्वे, ध० १ अधि०। प्रति०। मुनेः कर्म्म मौनम्। तच्च सम्यक्चारित्रमिति। उत्त० १५ अ०।

जं मोणं तं सम्मं, जं सम्मं तमिह होइ मोणं ति।
निच्छयओ इयरस्स उ, सम्मं सम्मत्तहेऊ वि॥६१॥

मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिस्तपस्वी, तद्भावो मौनमविकलं मुनिवृत्तमित्यर्थः; यन्मौनं तत् सम्यक् सम्यक्त्वं यत् सम्यक्त्वं तदिह भवति मौनमिति। उक्तं चाऽऽचाराङ्गे-'जं मोणं ति पासहा, तं सम्मं ति पासहा, जं सम्मं ति पासहा, तं मोणं ति पासहा।" इत्यादि। निश्चयतः परमार्थेन निश्चयनयमतेनैव एतदेवमिति-" जो जह वायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो?। वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो॥१॥" इत्यादिवचनप्रामाण्याद्। इतरस्य तु व्यवहारनयस्य सम्यक्त्वं, सम्यक्त्वहेतुरप्यर्हच्छाशनप्रीत्यादि, कारणे कार्योपचारात्। श्रा०।

तथा-

जं सम्मं ति पासहा, तं मोणं ति पासहा, जं मोणं ति पासहा, तं सम्मं ति पासहा॥

(संमं ति पासह इत्यादि) सम्यगिति सम्यग्ज्ञानं, सम्यक्त्वं वा तत्सहचरितम्, अनयोः सह भावादेकग्रहणे द्वितीयग्रहणं न्याय्यं यदिदं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वेत्येतत्पश्यत तन् मुनेर्भावो मौनं संयमानुष्ठानमित्येतत्पश्यत; यच्च मौनमित्येतत्पश्यत तत् सम्यग्ज्ञानं नैश्चयिकसम्यक्त्वं वा पश्यत, ज्ञानस्य विरतिफलत्वात्। सम्यक्त्वस्य चाभिव्यक्तिकारणत्वात्सम्यक्त्वज्ञानचरणानामेकताऽध्यवसेयेति भावार्थः। सर्वज्ञोक्ते प्रवचने च। आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

मउणचरय-मौनचरक-पुं०। मौनं-मौनव्रतं तेन चरति मौनचरकः। स्था० ५ ठा० १ उ०। परिव्राजकभेदे, औ०।

मउणपय-मौनपद-न०। मुनीनामिदं मौनम्। तच्च तत्पदं च मौनपदम्। संयमे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

मउणिंद-मौनीन्द्र-पुं०। वीतरागे, वीतरागप्रवचने च। न०। द्वा० ८ द्वा०।

मउणिंदपय-मौनीन्द्रपद-न०। संयमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। सर्वज्ञप्रणीते मार्गे च। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

मउय-मृदुक-त्रि०। कोमले, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०। औ०। व्य०। भ०। रा०। आव०। उत्त०। जी०। मृदुकं मार्दवगुणोपेतमकर्कशम्। जं० २ वक्ष०। तं०। औ०। मृदुनेष्टस्वरेण यद्गीयते तन्मृदुकम्। अनु०। मधुरस्वरे गेयभेदे च। स्था० ७ ठा०। "कोमलयं सुहफंसं, सोमालं पेलवं मउयं (१५६)" पाइ०ना० ८८ गाथा।

मउयत्तया-मृदुत्व-न०। "त्वादेः सः"॥८।२।१७२॥ इति प्राकृतसूत्रेण क्त्वान्तात्तल्। मार्दवे, प्रा० २ पाद।

मउयफासणाम-मृदुकस्पर्शनामन्-न०। नामकर्म्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं हंसरुताऽदिवन्मृदु भवति तन्मृदुस्पर्शनाम। कर्म्म० १ कर्म०।

मउयफासपरिणय-मृदुकस्पर्शपरिणत-त्रि०। हंसरुताऽदिवत्स्पर्शपरिणतभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

मउयरिभियपयसंचार-मृदुकरिभितपदसंचार-न०। मृदु मृदुना स्वरेण युक्तं न निष्ठुरेण तथा यत्र स्वरात्तरेषु घोलनास्वरविशेषेषु संचरन् रागे तीव्रता प्रतिभासते स पदसंचारो रिभित उच्यते मृदुरिभितः पदेषु गेयनिबद्धेषु संचारो यत्र गेये तत् मृदुरिभितपदसंचारम्। गेयभेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। स्था०।

मउयहियय-मृदुकहृदय-पुं०। कुण्डलवरद्वीपस्थकुण्डलपर्वतस्थे स्वनामख्याते नागकुमारे द्वी०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मउर-मुकुल-पुं० । न० । "उतो मुकुलाऽऽदिष्वत्" ॥८।१।१७०॥ इति प्राकृतसूत्रेणाऽदेरुकारस्याऽत्वम् । प्रा० १ पाद । कुड्मले, कलिकायाम्, औ० । "कुंचल-कुंपल-कोरय-छारय-कलिआ उ मउलं ति (८८)" पाइ० ना० ५४ गाथा । रा० । देहे, आत्मनि च । वाच० । अपामार्गे, दे०ना० ६ वर्ग ११८ गाथा ।

मउल-मुकुल-पुं० । न० । 'मउर' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

मउलि-मौली-पुं० । स्त्री० । मूलस्यादूरभवः इञ् । चूडायाम्, किरीटे, "अउः पौराऽऽदौ च" ॥ ८ । १ । १६२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणौकारस्याऽउरादेशः । प्रा०१ पाद । मौलिः शेखर इति । स्था० ८ ठा० । मौलिर्मुकुटविशेषः । उपा० २ अ० । मौलिः शिरोवेष्टनविशेषः । ध० २ अधि० । संयतकेशेषु च । अशोकवृक्षे, पुं० । भूमौ, स्त्री० । ङीष् । वाच० ।

मउलि (ण्)-मुकुलिन्-पुं० । मुकुलं फणाविरहयोग्या शरीरावयवविशेषाऽऽकृतिः, सा विद्यते यस्य स मुकुली । फणाकरणशक्तिविकले अहिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । प्रश्न० । किरीटे, "मउलो मउडो किरीडो य (२५१)" पाइ० ना० ११५ गाथा ।

से किं तं मउलिणो ? । मउलिणो अणेगविहा पएणत्ता । तं जहा-दिव्वागा, गोणसा, कसाहीया, वइउला, चित्तलिणो, मंडलिणो, मालिणो, अही, अहिसलागा, वासपडागा, जे यावएणे तहप्पगारा, सेत्तं मउलिणो ॥

एतेऽपि लोकतोऽवसेयाः । प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

मउलिय-मुकुलित-त्रि० । मुकुलं-कुड्मलम्-कलिका संजाता अस्येति मुकुलितः । कलिकोपेते, रा० । आव० । जं० । मुकुलाऽऽकृतीकृते च । औ० । "अंजलिमउलियहत्था ।" आ० म० १ अ० । "संवेल्लिअं मउलिअं ।" पाइ० ना० १८२ गाथा ।

मउली-देशी-हृदयरसोच्छलने, दे० ना० ६ वर्ग ११५ गाथा ।

मऊ-देशी-पर्वते, दे० ना० ६ वर्ग ११३ गाथा ।

मऊर-मयूर-पुं० । मी-उरन् । लोमपक्षिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । षो० । मयूराः स्वकलापवर्जिता इति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रा० । रा० । स्था० । "मोरं केकाइएणं ।" अनु० । मोरगीवाइ वा । रा० । प्रज्ञा० । जं० । स्त्रियां ङीष् । विद्याभेदे च । सा हि मयूरीरूपेण प्रतिवादिप्रयुक्ता वादिनमुपसर्गयतीति । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । आ०क० । अनु० । जी० ।

मऊरंग-मयूराङ्क-पुं० । निधिस्थापके स्वनामख्याते राजनि, नि० चू० १३ उ० ।

मऊरंगचूलिया-मयूराङ्गचूलिका-स्त्री० । आभरणविशेषे, व्य० ३ उ० ।

मऊरग-मयूरक-न० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र कुण्डपुरान्निर्गत्य भगवान् महावीरो गतः । स्था० १० ठा० । कुण्डले, बृ० ४ उ० । मयूरपिच्छनिष्पन्ने संस्तारकाऽऽदौ च । त्रि० । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

मऊरचंदगागार-मयूरचन्द्रकाऽऽकार-त्रि० । मयूरचन्द्रकसदृशे, "मयूरचन्द्रकाऽऽकारं, नीललोहितभासुरम् । प्रपश्यन्ति प्रदीपाऽऽदे-र्मण्डलं मन्दचक्षुषः ॥ १ ॥" षो० ५ विव० ।

मऊरपिच्छ-मयूरपिच्छ-न० । मयूरपुच्छे, "मोरपिच्छकयमुद्धयं" कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

मऊरसिहा-मयूरशिखा-स्त्री० । मयूरस्येव शिखाऽस्याः । स्वनामख्याते महौषधिभेदे, ती० ६ कल्प । मयूरचूडाऽऽदयोऽप्यत्र । वाच० ।

मऊह-मयूख-पुं० । माङ्-उख मयाऽऽदेशः । "न वा मयूख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थ-चतुर्दश-चतुर्वार-सुकुमार-कुतूहलोदूखलो-लूखले" ॥८।१।१७१॥ इति प्राकृतसूत्रेणाऽऽदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओद्वा । प्रा० १ पाद । त्विषि, किरणे, शिखायाम्, शोभायां च । वाच० । "अंसू रस्सी पाया, करा मऊहा गभत्थिणो किरणा ।" (७३) पाइ० ना० ४७ गाथा ।

मं-मा-अव्य० । "एवं-परं-समं-ध्रुवं मा-मनाक् एम्व पर समाणु ध्रुवु मं मणाउं" ॥८।४।४१८॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे मा इत्यस्य मं इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । निषेधे, वाच० ।

मंकारअणुओग-मकारानुयोग-पुं० । अनुस्वारोऽलाक्षणिको मकार इत्यर्थः, तस्यानुयोगो मकारानुयोगः । शुद्धवागनुयोगभेदे, मकारानुयोगो यथा-"समणं वा माहणं व त्ति ।" सूत्रे माशब्दो निषेधे । अथवा-"जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेवेति ।" अत्र सूत्रे आगमिक एव, येनैवेत्यनेनैव विवक्षितप्रतीतेः । स्था० १० ठा० ।

मंकुणहत्थि (ण्)-मत्कुणहस्तिन्-पुं० । गण्डीपदजन्तुभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

मंख-मङ्ख-पुं० । चित्रफलव्यग्रकरे भिक्षुकविशेषे, भ० १५ श० । मङ्खाश्चित्रफलकहस्ता भिक्षुका गौरीपुत्र इति प्रसिद्धाः । कल्प० १ अधि०५ क्षण । अनु० । ज्ञा० । प्रश्न० । जं० । रा० । औ० । आ० म० । आ० चू० । बृ० । स्था० । मङ्खः केदारको यः पीठमुपदर्श्य लोकमावर्जयति । पिं० । अण्डे, दे० ना० ६ वर्ग ११२ गाथा ।

मंखंत-म्रक्षत्-त्रि० । म्रक्षणं कुर्वति, नि० चू० १७ उ० ।

मंखपेक्खा-मङ्खप्रेक्षा-स्त्री० । ये चित्रपट्टिकाऽऽदिहस्ता भिक्षां चरन्ति ते मङ्खाः, तेषां प्रेक्षा मङ्खप्रेक्षा । मङ्खप्रेक्षणे, जी० ३ प्रति ४ अधि० ।

मंखलि-मङ्खलि-पुं० । गोशालकपितरि, मङ्खल्यभिधाने मङ्खे, स्था० १० ठा० । "गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मंखलिणामे मंखे पिया होत्था ।" भ० १५ श० । कल्प० । आ० चू० । आ० म० । संथा । भ० ।

मंखलिपुत्त-मङ्खलिपुत्र-पुं० । मङ्खल्यभिधानमङ्खपुत्रे गोशालके, संथा० । भ० ।

मंखसिप्प-मङ्खशिल्प-पुं० । मङ्खकलायाम् , "मंखसिप्पं अहिज्जिओ ।" आ० म० १ अ० ।

मंखावंत-म्रक्षयत्-त्रि० । म्रक्षणं कारयति, नि० चू० १७ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंग–मङ्ग–पुं० । मङ्ग्यते-प्राप्यते स्वर्गोऽपवर्गो वाऽनेनेति मङ्गः। "पुन्नाम्नि घः" ॥ ५ । ३ । १३० ॥ इति (सूत्रेण) करणे घञ् । धर्मे, आ० म० १ अ० । विशे० । दर्श० ।

मंगरिया–मङ्गरिका–स्त्री० । वाद्यभेदे, अष्टशतं मङ्गरिकाणाम् . अष्टशतं मङ्गरिकावादकानाम् । रा० ।

मंगल–मङ्गल–पुं० । मगि अलच् । स्वनामख्याते अङ्गारके ग्रहे, स्था० ६ ठा० । वाञ्छितावाप्तौ, कल्प० १ अधि० १ क्षण । कल्याणे, पञ्चा० ८ विव० । मङ्गलं श्रेयः कल्याणमिति । पा० । सदृशे , दे० ना० ६ वर्ग ११८ गाथा । प्रशंसावाक्ये , सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । गानविशेषे, पञ्चा० ८ विव० । भ० । ज्ञा० । विघ्नक्षये, मङ्गलं विघ्नक्षयस्तद्योगान्मङ्गलम् । स्था० ३ ठा० १ उ० । दुरितोपशमहेतौ स्वस्तिकाऽऽदिके , औ० । नि० । पञ्चा० । भ० । दशा० । रा० । प्रश्न० । चं० प्र० । सिद्धार्थदध्यक्षतदूर्वाङ्कुराऽऽदिके, औ० । नि० । भ० । विपा० । रा० । ज्ञा० । मङ्गलानि च सुवर्णचन्दनदध्यक्षतदूर्वासिद्धार्थकाऽऽदर्शस्पर्शनाऽऽदीनि । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पञ्चा० ।

सियकमलकलससुत्थिय–नंदावत्तवरमल्लदामाणं ।
तेसिं पि मंगलाणं, संथारो मंगलं अहियं ॥ १५ ॥

शितः–शुभ्रः कलशो विवाहाऽऽदावुत्सवे यो मण्ड्यते तस्यैव माङ्गलिक्यत्वाद् ग्रहणं, शितकलशश्च कमलं च स्वस्तिकश्च नन्दावर्त्तश्च वरमाल्यदाम च सितकलशकमलस्वस्तिकनन्दावर्त्तवरमाल्यदामानि तेषाम् , एतानि च लोके माङ्गल्यतया रूढानि तथापि तेषामपि मङ्गलानां मध्ये संस्तारकोऽधिकं मङ्गलमिति भावः । संथा० ।

तह मंगलाइ सोत्थिय–सुवण्णसिद्धत्थगाईणि ॥२१६॥

मङ्गलानि नाम—स्वस्तिकसुवर्णसिद्धार्थकाऽऽदीनि पूर्वं देवैर्भगवतो मङ्गलबुद्ध्या प्रयुक्तानि ततो. लोकेऽपि तथा प्रवृत्तानि । आ० म०१ अ० । दश० । मा भूद् गलो विघ्नो गालो वा नाशः शास्त्रस्येति मङ्गलम् । आचा०१ श्रु० १ अ० १ उ० । बृ० । दर्श० । ग्रन्थाऽऽरम्भाऽऽदौ विघ्नोपशमाय कर्त्तव्ये इष्टदेवतानमस्कारे , सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । पञ्चा० ।

मङ्गलशब्दप्ररूपणामाह—

नामं ठवणा दविए, भावम्मि य मंगलं भवे चउहा ।
एमेव होइ नंदी, तेसिं तु परूवणा इणिमा ॥ ५ ॥

मङ्गलं चतुर्धा–चतुःप्रकारं भवति । तद्यथा–नाममङ्गलम् , स्थापनामङ्गलम् , द्रव्यमङ्गलं , भावमङ्गलं च । एवमेव नामाऽऽदिभेदेन चतुःप्रकारो भवति नन्दिः । तेषां च–नाममङ्गलाऽऽदीनामियं वक्ष्यमाणस्वरूपा प्ररूपणा ।

तामेवाऽऽह—

एगम्मि अणेगेसु य, जीवद्व्वे य तव्विवक्खे वा ।
मंगलसन्ना नियता, तं सन्नामंगलं होइ ॥ ६ ॥

एकस्मिन् जीवद्रव्ये तद्विपक्षे वा अजीवद्रव्ये , अनेकेषु वा जीवद्रव्येष्वजीवद्रव्येषु वा या मङ्गलमिति संज्ञा नियता—नियमिता तत् " नामनामवतोरभेदोपचारात् । " संज्ञामङ्गलं-नाममङ्गलं भवति । उक्तं नाममङ्गलम् ।

स्थापनामङ्गलमाह—

जा मंगल त्ति ठवणा, विहिता सब्भावतो व असतो वा ।
तत्थ पुण असब्भावे, मंगल ठवणागतो अक्खो ॥ ७ ॥
जे चित्तभित्तिविहिया, उ घडादी ते य हुंति सब्भावे ।
तत्थ पुण आवकहिया, हवंति जे देवलोगेसु ॥ ८ ॥

या मङ्गलमिति स्थापना सद्भावतो वा सद्भूताऽऽकारनिवेशनेन,असतो वा सद्भूताऽऽकारस्याऽभावतो विहिता सा स्थापनामङ्गलम् । तत्र पुनरसद्भावे स्थापनामङ्गलं स्थापनागतोऽक्षः। उपलक्षणमेतत् वराटकाऽऽदि वा । इयमत्र भावना—अक्षवराटकाऽऽदिषु या मङ्गलमिति स्थापना विहिता न तत्र कश्चित् मङ्गलानुगत आकार इत्यसद्भावतः स्थापनामङ्गलम् । ये तु चित्रभित्तौ-चित्रकुड्ये विहिता घटाऽऽदयः,आदिशब्दात् स्थालाऽऽदिपरिग्रहः, ते सद्भावे सद्भावतः स्थापनामङ्गलानि भवन्ति । तत्र ये देवलोकेषु चित्तभित्तौ विहिता घटाऽऽदयस्ते स्थापनामङ्गलानि यावत्कथिकानि भवन्ति, अर्थादापन्नं यानि मनुष्यलोके तानीत्वराणि यावत्कथिकानि नाम शाश्वतिकानि, इत्वराण्यशाश्वतानि ।

द्रव्यमङ्गलमाह—

उत्तरगुणनिप्फन्ना, सलक्खणा जे उ होंति कुंभाई ।
तं दव्वमंगलं खलु, जह लोए अट्ठ मंगलगा ॥९॥

इह उत्तरगुणनिष्पन्ना मूलगुणनिष्पन्नापेक्षया, ततः प्रथमतः तद्भाव्यते । मूलो नाम–पृथिवीकायाऽऽदिजीवस्तस्य गुणात्–प्रयोगात् पुद्गलानां द्रव्याऽऽदित्वेन व्यापारणात् निष्पन्नं मूलगुणनिष्पन्नं द्रव्याऽऽदि,तस्मादुत्तरगुणेन परापरप्रयोगेण चक्रदण्डसूत्रोदकाऽऽदिपुरुषप्रयत्नेनेत्यर्थः। ये निष्पन्नाः सलक्षणा—लक्षणसम्पन्ना अच्छिद्रा—अखण्डा वारिपरिपूर्णाः पद्मोत्पलप्रतिच्छन्ना इत्यादिलक्षणोपेताः कुम्भाऽऽदयः, आदिशब्दात्—स्थालाऽऽदिपरिग्रहः । तत् द्रव्यमङ्गलं भवति, यथा लोके अष्टौ मङ्गलानि ।

णेगंतियं अणिच्चं, तियं च दव्वे उ मंगलं होइ ।
तव्विवरीयं भावे, तं पिव नंदी भगवती उ ॥ १० ॥

तत्पुनरनन्तरोक्तं द्रव्यमङ्गलमनैकान्तिकमनात्यन्तिकं च भवति । तथाहि—न पूर्णकलश एकान्तेन सर्वेषां मङ्गलाय, चौरस्य कर्षकस्य च शकुनतया रिक्तं घटं प्रशंसति शकुनविदो, गृहप्रवेशे पुनः पूर्णम् । उक्तं च–"चोरस्स करिसगस्स य, रित्तं कुडयं जणो पसंसेइ । गेहपवेसे भन्नइ, पुन्नो कुंभो पसत्थो उ ॥१॥"तत एवमनैकान्तिकम् । नाप्यात्यन्तिकं,यथा कोऽपि शोभनैर्द्रव्यमङ्गलैर्विनिर्गतस्तेन चाग्रे किञ्चिदशोभनं दृष्टं, येन तानि सर्वाण्यपि प्राकृतानि प्रतिहतानि, तत एवमनात्यन्तिकमिति । उक्तं द्रव्यमङ्गलम् । अधुना भावमङ्गलमाह—तद्विपरीतमैकान्तिकमात्यन्तिकं च भावे भावविषयं मङ्गलम् । तथा हि—न तत् भावमङ्गलं कस्यचिद्भवति, कस्यचिन्न भवति- किं तु–सर्वस्याऽविशेषेण भवतीत्यैकान्तिकम् । न च केनाप्यन्येन प्रतिहन्यते, इत्यात्यन्तिकं, तच्च भावमङ्गलं भगवान् नन्दिर्वक्ष्यमाणोऽवगन्तव्यः । गाथायां स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् । बृ० १ उ० १ प्रक० । आ० म० । ओघ० । आ० चू० । दशा० । प्रज्ञा० । विघ्नविनायकोपशान्तये शिष्याणां मङ्-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लबुद्धिपरिग्रहाय स्वतो मङ्गलभूतस्याप्यस्याऽऽदिमध्यावसानेषु मङ्गलमभिधातव्यम्, आदिमङ्गलं ह्यविघ्नेन शास्त्रपारगमनार्थम्, मध्यमङ्गलम्—अवगृहीतशास्त्रस्थिरीकरणार्थम्, अन्तमङ्गलम्-शिष्यप्रशिष्यपरम्परया शास्त्रस्याऽव्यवच्छेदनार्थम्।

उक्तञ्च (भाष्यकारैः)—

" तं मंगलमाईए, मज्झे पज्जतए य सत्थस्स।
पढमं सत्थत्थावि-ग्घपारगमणाय निद्दिट्ठं ॥ १ ॥ (१३)
तस्सेव य थेज्जत्थं, मज्झिमयं अंतिमं पि तस्सेव।
अव्वोच्छित्तिनिमित्तं, सिस्सपसिस्साइवंसस्स ॥२॥ (१४)"

प्रज्ञा० १ पद।

तत्र परः प्रश्नयति-किमर्थं मङ्गलग्रहणमित्याह—

विग्घोवसमो सद्धा, आयर उवयोग निज्जराऽधिगमो।
भत्ती पभावणा वि य, निवनिहिविज्जाइ आहरणा ॥२०॥

मङ्गले प्रकृते सति रोगाऽऽदिविघ्नोपशमो भवति, तदुपशमे च प्रतिबन्धकाभावात् महता प्रतिबन्धेनाऽऽचार्येणानुयोगः प्रारभ्यते, तथाऽनुयोगप्रारम्भे च शिष्यस्य शास्त्रग्रहणे महती श्रद्धा उपजायते, श्रद्धावतश्च शास्त्रावधारणे महानादरः, कृताऽऽदरस्य शास्त्रविषयेऽनवरतमुपयोगो, यदा यदा चोपयोगस्तदा सम्यग्ज्ञानत्वात् महती ज्ञानाऽऽवरणीयस्य कर्मणो निर्जरा, ज्ञानाऽऽवरणकर्मनिर्जरणाच्च स्फुटः स्फुटतरः शास्त्रस्याऽधिगमः; अधिगतशास्त्रस्य च गुरौ शास्त्रे प्रवचने च निष्कृत्तिमा भक्तिरुल्लसति, ततः प्रभावना तां दृष्ट्वाऽन्येषामपि तथा श्रद्धाऽऽदीनां करणात्, यदि पुनर्न क्रियते मङ्गलं तत एषां विघ्नोपशमाऽऽदिभावानाम् असिद्धिः अत्रोदाहरणानि दृष्टान्ता नृपनिधिविद्याऽऽदयः। आदिशब्दाद्योगो, मन्त्राश्च परिगृह्यन्ते। तत्रेयं नृपदृष्टान्तस्य भावना-यथा कोऽपि पुरुषः कार्यार्थी राजानमधिगन्तुकामो मङ्गलभूतानि पुष्पाऽऽदीन्यादाय तत्समीपमुपगच्छति। उक्तं च-"पुप्फपुडियाएँ जंपइ, गोरसघडओ करेइ कज्जाइं। मणिबंधम्मि पयलिते, साणुऽग्गह होंति सव्वगहा ॥ १ ॥" उपेत्य चाञ्जलिं करोति, पादयोश्च प्रणिपतति, ततो राजा तुष्यति, तुष्टे च तस्मिन् यस्तदधीनोऽर्थः स सिद्ध्यति। अथैवमुपचारं न करोति, तदा न तुष्यति, तोषाभावे च तदधीनस्याऽप्रसिद्धिः, एवं निधिमुत्खनितुकामो विद्यां मन्त्रं वा साधयितुकामो यदि द्रव्यक्षेत्रकालभावयुक्तमुपचारं करोति, तद्यथा-द्रव्यतः-पुष्पाऽऽदिषु, क्षेत्रतः-श्मशानाऽऽदिषु, कालतः-कृष्णपक्षचतुर्दश्यादिषु, भावतः-प्रतिलोमानुलोमोपसर्गसहिते, तदा निधिं विद्यां मन्त्रं वा साधयति। द्रव्याऽऽद्युपचाराभावे ते निध्यादयो न सिध्यन्ति, तस्माद्यो यत्रोपचारः स तत्र कर्तव्यः।

एतदेवाऽऽह—

जो जेण विणा अत्थो, न सिज्झई तस्स तव्विहं करणं।
विवरीय अभावेण य, न सिज्झई सिज्झई इहरा ॥ २१ ॥

योऽर्थो येन विना न सिद्ध्यति तस्य निष्पत्तये तद्विधं करणमवश्यमुपादातव्यम्। यथा घटं साधयितुकामेन चक्रदण्डमृत्पिण्डाऽऽदिकम्। यतो विपरीतैः करणैः, सर्व्वथा करणानामभावेन च, साऽधिकृतोऽर्थो न सिद्ध्यति यथा घटं साधयितुकामस्य, विपरीतं तुरीवेमाऽऽद्युपकरणोपादाने, सर्वथा चक्रदण्डसूत्रोदकाऽऽदीनामुपकरणानामभावे वा घटः; इतरथा—अविपरीतोपकरणसद्भावे सिध्यति, यथा घटं साधयितुकामस्य यथावस्थितानां चक्रदण्डसूत्रोदकाऽऽदीनामुपादाने घटं, न सिध्यन्ति च मङ्गलमन्तरेण विघ्नोपशमाऽऽदयो भावा इति मङ्गलोपादानम्। पुनरप्याह—यदि शास्त्रस्याऽऽदिमध्यावसानेषु मङ्गलं ततः सामर्थ्यादिदमायातमपान्तरालद्वयाऽमङ्गलमिति।

अत्राऽऽह—

जइवि य तिट्ठाणकयं, तह वि हु दोसो न वाहए इयरो।
तिसमुब्भवदिट्ठंता, सेसं पि हु मंगलं होइ ॥ २२ ॥

यद्यपि त्रिषु स्थानेष्वादिमध्यावसानरूपेषु कृतं मङ्गलं तथाऽपि इतरोऽपान्तरालद्वयो मङ्गलत्व(त्व)लक्षणो दोषो न बाधते, तस्यैवाभावात्। कथमभाव इति चेदत आह-(तिसमुब्भवेत्यादि) त्रिभ्यो गुडसमितिघृतेभ्यः समुद्भवो यस्य स मोदकः, तद्दृष्टान्तात्, शेषमपि (हु) निश्चितं मङ्गलं भवति। इयमत्र भावना—मोदक इव सकलं शास्त्रं द्विधा विभज्यते, तत्राऽऽदिमो भाग आदिमङ्गलेन मङ्गलीकृतो, मध्यमो मध्यमङ्गलेनान्तिमोऽन्तिममङ्गलेन, ततः कुतोऽपान्तरालद्वयाऽमङ्गलत्वप्रसङ्गः। स्यादेतत्, यदिदं शास्त्रमारब्धमेतदादिमध्यावसानेषु सर्वात्मना मङ्गलं, ततो यद्यन्यत्तस्य मङ्गलमुपादीयते तदाऽनवस्थाप्रसङ्गः। कृतेऽपि मङ्गले पुनरन्यतमं मङ्गलमुपादेयं, विशेषाभावात्तत्राप्यन्यदित्येवं मङ्गलाऽऽनन्त्यप्रसक्तेः। अथ नन्दी मङ्गलं शास्त्रं पुनरमङ्गलं केवलं तन्नन्द्या मङ्गलीक्रियते, नन्वेवं तर्हि यदा नन्दीव्याख्यानमकृत्वा शास्त्रं व्याख्यातुमारभ्यते तदा शास्त्रम् अमङ्गलत्वाच्च न ज्ञानं, ज्ञानाभावाच्च न कर्त्तव्यस्तस्यामुपयोग इति।

अत्राऽऽह—

न वि य हु होयऽणवत्था, न वि य हु मंगलममंगलं होइ।
अप्पपराभिव्वत्तिया, लोणुण्हपदीवमादि व्व ॥ २३ ॥

नापि च (हु) निश्चितं भवत्यनवस्था, यतो नन्दी शास्त्रादनर्थान्तरभूता, शास्त्रं च स्वतः समस्तमङ्गलं, न च तस्य मङ्गलकृतस्य सतोऽन्यत् मङ्गलमुपादीयते, ततो नानवस्थाप्रसङ्गः। यदाऽपि नन्द्या व्याख्यानमकृत्वा शास्त्रमारभ्यते, तदाऽपि तच्छास्त्रं मङ्गलमिति तदमङ्गलं न भवति। एवं तावन्नन्द्या अनर्थान्तरतायाममङ्गलत्वमनवस्था च परिहृता। सम्प्रत्यर्थान्तरत्वमधिकृत्य परिह्रियते-यद्यपि शास्त्रादर्थान्तरभूता नन्दी तथाऽप्यमङ्गलत्वमनवस्था च न भवति। कथमित्याह—(अप्पपरेत्यादि) नन्द्या आत्मनाऽपि मङ्गलशास्त्रमपि च मङ्गलीकरोति। शास्त्रमप्यात्मनाऽपि मङ्गलं नन्दीमपि च मङ्गलीकरोति। एवमात्मपराभिव्यक्तिता द्वयोरपि मङ्गलयोरेकीभूतयोः सुष्ठुतरो मङ्गलभावो भवति। कथमिवेत्यत आह-"लोणुण्हपदीवमादि व्व।" यथा द्वयोर्लवणयोरेकीभूतयोः सुष्ठुतरो लवणभावो, द्वयोर्वा उष्णयोरेकत्रमिलितयोः सुष्ठुतरभावो, यथा च द्वयोः प्रदीपयोः समीचीनतरः प्रकाशभावः, आदिशब्दात्-मधुरशीतलस्नेहाऽऽदिद्रव्याणां परिग्रहः। एवमिहापि द्वयोर्मङ्गलयोरेकीभूतयोः सुष्ठुतरो मङ्गलभावः। स्यादेतत्। एवमपि प्रसजत्यनवस्था, त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीयाऽऽदिमङ्गलोपादाने सुष्ठुतरमङ्गलभावोपपत्तेः, न प्रसजति, प्रयोजनाभावात्तथालोकव्यवहारदर्शनात्। तथाहि–लोके कस्यचिदातुरस्य शर्करापलद्वयमौषधं केनाऽपि भिषग्वरेणोपादेशि, तत्र यद्यपि तृतीयाऽऽदिशर्करापलप्रक्षेपे विशिष्टतमो मधुरभावो भवति, तथाऽपि तन्न प्रक्षिप्यते, प्रयोजनाभावात्, एवमिहाप्यन्यस्तृतीयाऽऽदिकं मङ्गलं नोपादीयते– प्रयोजनाभावदिति। बृ० १ उ० १ प्रक०।

अथ तृतीयं मङ्गलद्वारमधिकृत्याऽऽह—

बहुविग्घाइँ सेयाइँ, तेण कयमंगलोवयारेहिं।

घेत्तव्वो सो सुमहा–निहि व्व जह वा महाविज्जा॥१२॥

"श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि।" इति वचनाद् येन बहुविघ्नानि श्रेयांसि भवन्ति, तेन कारणेन परमश्रेयोरूपत्वात् कृतमङ्गलोपचारैरेव स आवश्यकानुयोगो ग्रहीतव्यः। किंवत्?, इत्याह–शोभनमहारत्नाऽऽदिनिधिवद् महाविद्यावद् वा। इति गाथाऽर्थः॥ १२॥

क्व पुनस्तन्मङ्गलं शास्त्रस्येष्यते?, इत्याह—

तं मंगलमाईए, मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स।

पढमं सत्थत्थाऽवि–ग्घपारगमणाय निद्दिट्ठं॥१३॥

तद् मङ्गलं शास्त्रस्याऽऽदौ क्रियते,तथा मध्ये, पर्यन्ते चेति। अथैकैकस्य करणफलमाह—प्रथममङ्गलं तावच्छास्त्रार्थस्याऽविघ्नेन पारगमनाय निर्दिष्टम्। इति गाथाऽर्थः॥ १३॥

तस्सेव य थेज्जत्थं, मज्झिमयं अंतिमं पि तस्सेव।

अव्वोच्छित्तिनिमित्तं, सिस्सपसिस्साइवंसस्स॥ १४॥

तस्यैव शास्त्रस्य प्रथममङ्गलकरणाऽनुभावादविघ्नेन परम्परासुपागतस्य स्थैर्यार्थं–स्थिरताऽऽपादनार्थं मध्यमं मङ्गलम्, निर्दिष्टमिति वर्त्तते, 'अन्तिमं पीति' अन्त्यमपि मङ्गलं तस्यैव शास्त्रार्थस्य मध्यममङ्गलसामर्थ्येन स्थिरीभूतस्याऽव्यवच्छित्तिनिमित्तम्, कस्य, योऽसौ शास्त्रार्थः?, इत्याह– शिष्यप्रशिष्याऽऽदिवंशगतस्येत्यर्थः। शिष्यप्रशिष्याऽऽदिवंशे शास्त्रार्थस्याऽव्यवच्छेदनिमित्तं चरममङ्गलमिति भावः। इति गाथार्थः॥ १४॥

अत्राऽऽह—

मंगलकरणा सत्थं न मंगलं अह च मंगलस्सावि।

मंगलमओऽणवत्था, न मंगलममंगलत्ता वा॥ १५॥

प्रेरकः प्राह—भो आचार्य! त्वदीयं शास्त्रं न मङ्गलं प्राप्नोति। कुतः? इत्याह—मङ्गलकरणात् अमङ्गले हि मङ्गलमुपादीयते, यत्तु स्वयमेव मङ्गलं तत्र किं मङ्गलविधानेन?, न हि शुक्लीक्रियते, नापि स्निग्धं स्नेह्यते; तस्मात् तन्मङ्गलोपादानान्यथाऽनुपपत्तेः शास्त्रं न मङ्गलम्। अथ मङ्गलं शास्त्रम्, मङ्गलस्याऽपि सतस्तस्याऽन्यद् मङ्गलं क्रियत इत्यभ्युपगम्यते; अत एवं सति तर्ह्यनवस्था–मङ्गलानामवस्थानं न क्वचित् प्राप्नोति। तथाहि–यथा मङ्गलस्याऽपि सतः शास्त्रस्याऽन्यद् मङ्गलमुपादीयते, तथा मङ्गलस्याऽपि तद्रूपस्य सतोऽन्यद् मङ्गलमुपादेयम्, तस्याऽप्यन्यत्, अपरस्याप्यन्यत्, इत्येवमनवस्था आपतन्ती केन वार्यते?। अथ शास्त्रे यदुपात्तं मङ्गलं तस्यान्यमङ्गलकरणाभावत इयं नेष्यते। तत्र दूषणमाह–(न मंगलमिति) शास्त्रमङ्गलीकरणार्थमुपात्तमङ्गलस्याऽनवस्थाभयेनाऽन्यमङ्गलाकरणेन तद् मङ्गलं न स्यात्, अन्यमङ्गलाभावात्, शास्त्रवत्। इत्यर्थः। इदमुक्तं भवति– यदि मङ्गलस्याऽपरमङ्गलविधानाभावेनाऽनवस्था नेष्यते, तर्हि यथा मङ्गलमपि शास्त्रमन्यमङ्गलेऽकृते मङ्गलं न भवति, तथा मङ्गलमप्यन्यमङ्गलेऽविहिते मङ्गलं न भवेत्, न्यायस्य समानत्वात्। तथा च किमनिष्टं स्यात्? इत्याह–अमङ्गलता मङ्गलाभावः–शास्त्रे यद् मङ्गलमुपात्तं तदन्य, मङ्गलशून्यत्वाद् न मङ्गलम्, तस्य च मङ्गलत्वाभावे शास्त्रमपि न मङ्गलम्, इति व्यक्त एव मङ्गलाभाव इति भावः। वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः, अनवस्था, मङ्गलाभावो वेत्यर्थः। इति गाथाऽर्थः॥ १५॥

अत्रोत्तरमाह—

सत्थत्थन्तरभूय–म्मि मंगले होज्ज कप्पणा एसा।

सत्थम्मि मंगले किं, अमंगलं काऽणवत्था वा?॥१६॥

शास्त्राऽऽदावावश्यकाऽऽदेरर्थान्तरभूते भेदवति मङ्गले उपादीयमाने भवेद्–घटेत परेण विधीयमाना 'मंगलकरणा सत्थं न मंगलं' इत्यादिका कल्पना–दोषोत्प्रेक्षालक्षणा; शास्त्रे त्वावश्यकाऽऽदिके परममङ्गलस्वरूपेऽभ्युपगम्यमाने, तद्भिन्ने मङ्गले चाऽनुपादीयमाने हन्त! किममङ्गलम्, का वाऽनवस्था त्वया प्रेर्यते? तस्मादाकाशरोमन्थमेव परस्य दोषोद्भावनमिति भावः। आह–यदि शास्त्रं स्वयमेव मङ्गलम्, तर्हि 'तं मंगलमाईए०(१३)' इत्यादि(भाष्य)वचनात् मङ्गलं तत्र किमित्युपादीयते?। सत्यम्, किन्तु 'सीसमइमंगलपरिग्गहत्थमेत्तं तदभिहाणं।' इत्यादिना वक्ष्यते सर्वमत्रोत्तरम्, मा त्वरिष्ठाः। इति गाथार्थः॥ १६॥

अथ समर्थवादितयाऽर्थान्तरभूतत्वमपि मङ्गलस्याऽभ्युपगम्य समर्थयन्नाह—

अत्थंतरे वि सइ मं–गलम्मि नामंगलाऽणवत्थाओ।

सपराणुग्गहकारिं, पईव इव मंगलं जम्हा॥ १७॥

शास्त्रादर्थान्तरे भेदवत्यपि मङ्गलेऽभ्युपगम्यमाने सति नाऽमङ्गलता शास्त्रस्य, नाप्यनवस्था। कुतः?, इत्याह–यस्मात् स्वपरानुग्रहकारि मङ्गलम्, प्रदीपवत्, यथाहि प्रदीप आत्मानं– प्रकाशयानः स्वस्याऽनुग्राहको भवति, गृहोदरवर्तिनस्तु घटपटाऽऽद्यर्थानाविष्कुर्वाणः परेषामनुग्राहकः संपद्यते,न तु स्वप्रकाशे प्रदीपान्तरमपेक्षते;यथा च–लवणं रसवत्यामात्मनि च सलवणतामुपदर्शयत् स्वपरानुग्राहकं भवति, न त्वात्मनः सलवणतायां लवणान्तरमपेक्षते। एवमर्थान्तरभूतं मङ्गलमपि निजसामर्थ्याच्छास्त्रे स्वाऽऽत्मनि च मङ्गलतां व्यवस्थापयत्स्वपरानुग्राहकं भवति। ततो मङ्गलाद् मङ्गलरूपताप्राप्तौ शास्त्रस्य तावद् नाऽमङ्गलता। यदा च मङ्गलमात्मनो मङ्गलरूपतायां मङ्गलान्तरं नाऽपेक्षते, तदाऽनवस्थाऽपि दूरोत्सारितैव। इति गाथार्थः॥ १७॥

पुनरन्यथा परः प्रेरयति—

मंगलतियंतरालं, न मंगलमिहत्थओ पसत्तं ते।

जइ वा सव्वं सत्थं, मंगलमिह किं तियग्गहणं?॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इह मङ्गलविचारप्रक्रमे, अर्थतोऽर्थापत्त्या एतत् (ते) तव आचार्य! प्रसक्तं-प्राप्तम्। किं तत्? इत्याह—मङ्गलानामादिमध्यावसानलक्षणं त्रिकं मङ्गलत्रिकं तस्याऽन्तरालद्वयलक्षणमपान्तरालं न मङ्गलमिति। यदाहि—'तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स।' इत्यादिवचनादादिमध्यावसानलक्षणेषु त्रिष्वेव नियतस्थानेषु मङ्गलमुपादीयते, तदा तदव्याप्तमन्तरालद्वयमर्थापत्त्यैवाऽमङ्गलं प्राप्नोतीति भावः। पर एवाऽऽह—यदि वा-सिद्धान्तवादिन्! एवं ब्रूयास्त्वं यदुत-सर्वमेव शास्त्रं मङ्गलमिति प्रागेवोक्तम्, अतः किमेवं प्रेर्यते?। हन्त तर्हि 'तं मंगलमाईए०' इत्यादिना किमिह मङ्गलत्रिकग्रहणं कृतम्?। न हि सर्वस्मिन्नपि शास्त्रे मङ्गले 'आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलम्' इत्युच्यमानं युक्तियुक्तत्वमनुभवति। तस्मादपान्तरालद्वयस्याऽमङ्गलत्वं वा प्रतिपद्यस्व, मङ्गलत्रयग्रहणं वा मा कृथा इति भावः। इति गाथार्थः॥ १८॥

आचार्यः प्राऽऽह—

सत्थे तिहा विहत्ते, तदन्तरालपरिकप्पणं कत्तो?।
सव्वं च निज्जरत्थं, सत्थमओऽमंगलमजुत्तं॥ १९॥

बुद्ध्या शास्त्रे त्रिधा विभक्ते तस्य शास्त्रस्यान्तरालं तदन्तरालं तस्य परिकल्पनं कुतः संभवति?—न कुतश्चिदित्यर्थः। यथा हि-संपूर्णे मोदकाऽऽदिवस्तुनि त्रिखण्डे विकल्पितेऽन्तरालं न संभवति, तथाऽत्रापि, इति कस्याऽमङ्गलता स्यात्? इति। यदि नाम शास्त्रं त्रिधा विभक्तम्, तथापि कथं तस्य सर्वस्यापि मङ्गलता? इत्याह-सर्वं चाऽऽवश्यकाऽऽदि शास्त्रं निर्जरार्थं कर्मापगमरूपा निर्जरा अर्थः-प्रयोजनमस्येति निर्जरार्थम्, तथा च सति तपोवत् स्वयमेव मङ्गलमिदमिति सामर्थ्यादवगम्यते। यदि नाम निर्जरार्थत्वात् तपोवत् स्वयमेवाऽऽवश्यकाऽऽदिशास्त्रं मङ्गलम्; ततः किम्?, इत्याह-अतोऽमङ्गलमयुक्तम्, यतः सर्वमेव शास्त्रं मङ्गलम्, अतो मङ्गलाऽऽत्मनि तस्मिंस्त्रिधा विभक्ते यदुच्यते-'अपान्तरालद्वयममङ्गलम्, तदयुक्तमित्यर्थः। यदि हि शास्त्रं स्वयं मङ्गलं न भवेत् तदाऽन्यमङ्गलाऽव्याप्तत्वात् क्वापि तदमङ्गलं भवेत्, यदा तु सर्वमपि स्वयमेव तद् मङ्गलम्, तदा क्वापि तस्याऽमङ्गलता न युक्तेति भावः। इति गाथार्थः॥ १९॥

अथ प्रेरकः प्राऽऽह—

जइ मंगलं सयं चिय, सत्थं तो किमिह मंगलग्गहणं?।
सीसमइमंगलपरि-ग्गहत्थमेत्तं तदभिहाणं॥ २०॥

यदि हि स्वयमेव शास्त्रं मङ्गलमिष्यते तदा 'तं मंगलमाईए मज्झे०' इत्यादि वचनात् किमिह मङ्गलग्रहणं क्रियते?, स्वत एव मङ्गले मङ्गलविधानस्याऽनर्थकत्वादिति भावः। इति परेण प्रेरिते गुरुराह-'सीसे' त्यादि, शिष्यस्य मतिः शिष्यमतिस्तस्या मङ्गलपरिग्रहः सोऽर्थः-प्रयोजनमस्य तत् तथा तदर्थमेव शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहार्थमात्रं तदभिधानं मङ्गलाभिधानमित्यर्थः। इदमुक्तं भवति-शास्त्रादनर्थान्तरभूतमेव मङ्गलमुपादीयते, नाऽर्थान्तरमिति प्रागेवोक्तम्, नन्दिर्हि मङ्गलत्वेनाऽभिधास्यते, सा च पञ्चज्ञानाऽऽत्मिका, ततः शास्त्राण्यावश्यकाऽऽदीनि सर्वाण्यपि श्रुतज्ञानरूपतया नन्द्यन्तर्गतान्येव, नन्दिरपि श्रुतरूपत्वेनाऽऽवश्यकाऽऽदिशास्त्रान्तर्गतैव। तस्माद् नन्देर्मङ्गलत्वेनाऽभिधाने शास्त्रान्तर्गतमेव मङ्गलमभिहितं भवति। तत्रापि नाऽमङ्गलस्य सतः शास्त्रस्य मङ्गलताऽऽपादनार्थं तदभिधानम्, किन्तु—शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहार्थम्, शिष्यो हि तस्मिन्नभिहिते 'मङ्गलमेतच्छास्त्रम्' इत्येवं स्वमतौ तन्मङ्गलतापरिग्रहं करोतीति भावः। इति गाथार्थः॥ २०॥

आह-किं मङ्गलमपि मङ्गलबुद्ध्या गृहीतमेव स्वकार्यं करोति, नान्यथा?। एवमेतत्, इत्याह—

इह मंगलं पि मंगल-बुद्धीए मंगलं जहा साहू।
मंगलतियबुद्धिपरि-ग्गहे वि नणु कारणं भणिअं॥२१॥

इह लोके, मङ्गलमपि सद् वस्तु मङ्गलबुद्ध्या गृह्यमाणमभिनन्द्यमानं वा मङ्गलं भवति। यथा साधुः, साधुर्हि स्वयं मङ्गलभूतोऽपि तद्बुद्ध्या गृह्यमाण एव प्रशस्तचेतोवृत्तेर्भव्यस्य मङ्गलकार्यं करोति, अमङ्गलबुद्ध्या तु गृह्यमाणं मङ्गलमपि तत्कार्यं न करोति, यथा स एव साधुः कालुष्योपहतचेतोवृत्तेरभव्यस्य। अत्राऽऽह कश्चित्—नन्वेवं सत्यऽमङ्गलमप्यसाध्वादिकं मङ्गलबुद्ध्या गृह्यमाणं तत्कार्यं करिष्यति, न्यायस्य समानत्वात्। तदयुक्तम्, असाधोः स्वतो मङ्गलरूपताया अभावात्, सत्यमणिर्हि सत्यमणितया गृह्यमाणो ग्रहीतुर्गौरवमापादयति, न त्वसत्यमणिः सत्यमणितया, इत्यलं प्रसङ्गेन। आह—यद्येवम्, तर्ह्येकमेव मङ्गलमस्तु, तेनापि हि शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहः सेत्स्यति, किं मङ्गलत्रयकरणेन?, इत्याह—'मंगलतिये' त्यादि, मङ्गलत्रये हि कृते शिष्यस्य बुद्धौ तत्परिग्रहो भवति। तेनाऽपि किमिति चेत्?; इत्याह—ननु तत्रापि 'पढमं सत्थत्थाविग्घपारगमणाय निद्दिट्ठं' इत्यादिना कारणं-निमित्तं प्रागेव भणितं किमिति विस्मार्यते?। न च वक्तव्यमेकेनैव मङ्गलेन तत् कारणत्रयं सेत्स्यति, यतो यथैव शास्त्रं मङ्गलमपि सद् मङ्गलबुद्धिपरिग्रहमन्तरेण मङ्गलं न भवति साधुवत्, तथा शास्त्रस्याऽऽदि-मध्या-ऽवसानानि मङ्गलरूपाण्यपि मङ्गलबुद्धिपरिग्रहं विना न मङ्गलकार्यं कुर्वन्ति, इति मङ्गलत्रयाभिधानम्। इति गाथार्थः॥ २१॥

तदेवं मङ्गलाभिधानमुपपत्तिभिर्व्यवस्थाप्य मङ्गलशब्दार्थं निरूपयितुमाह—

मंगिज्जएऽधिगम्मइ, जेण हिअं तेण मंगलं होइ।
अहवा मंगो धम्मो, तं लाइ तयं समादत्ते॥ २२॥

'अगि-रगि-लगि-वगि-मगि' इत्यादौ मगिर्गत्यर्थो धातुः, अतस्तस्याऽलच्प्रत्ययान्तस्य मङ्ग्यतेऽधिगम्यते साध्यते यतो हितमनेन तेन कारणेन मङ्गलं भवति। अथवा-मङ्ग इति धर्मस्याऽऽख्या, 'ला' आदाने धातुः, ततश्च मङ्गं लाति समादत्ते इति मङ्गलं धर्मोपादानहेतुरित्यर्थः। इति गाथार्थः॥ २२॥

अहवा निवायणाओ, मंगलमिट्ठत्थपगइपच्चयओ।
सत्थे सिद्धं जं जह, तयं जहाजोगमाओज्जं॥ २३॥

अथवा निपातनाद् मङ्गलमिति साध्यते। कथम्?, इत्याह—इष्टार्थप्रकृतिप्रत्ययतः, तत्रेष्टो विवक्षितोऽर्थो यासां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ता इष्टार्थाः प्रकृतयः । तद्यथा-'मकि मण्डने,' 'मन ज्ञाने' 'मदी हर्षे' 'मुद-मोद-स्वप्न-गतिषु' 'मह पूजायाम्' इत्येवमादि, प्रत्ययस्त्वेतासां प्रकृतीनां सर्वत्र 'अलच्' एव विधीयते, ततो मङ्गलमिति रूपं निपात्यते । व्युत्पत्तिस्त्वेवम्-मङ्क्यतेऽलङ्क्रियते शास्त्रमनेनेति मङ्गलम्, तथा मन्यते ज्ञायते निश्चीयते विघ्नाभावोऽनेन, तथा माद्यन्ति हृष्यन्ति मदमनुभवन्ति, मोदन्ते, शेरते विघ्नाभावेन निष्प्रकम्पतया सुप्ता इव जायन्ते, शास्त्रस्य पारं गच्छन्त्यनेनेति, तथा मह्यन्ते पूज्यन्तेऽनेनेति मङ्गलमिति । एवमादि व्याकरणशास्त्रे यद् यथा निपातनं सिद्धम्, तद् यथायोगं यथासम्बन्धमत्र स्वधियाऽऽयोज्यं लक्षणज्ञैः । इति गाथाऽर्थः ॥ २३ ॥

मं गालयइ भवाओ, मंगलमिहेवमाइ नेरुत्ता ।
भासंति सत्थवसओ, नामाइ चउव्विहं तं च ॥ २४ ॥

अथवा—मां गालयति भवादिति मङ्गलं संसारादपनयतीत्यर्थः । इह मङ्गलविचारे एवमादि नैरुक्ताः शब्दविदः शास्त्रवशतो व्याकरणानुसारेण भाषन्ते-मङ्गलशब्दार्थं व्याचक्षते । आदिशब्दात्-शास्त्रस्य मा भूद् गलो-विघ्नोऽस्मादिति मङ्गलम्, अथवा-शास्त्रस्य मा भूद् गलो-नाशोऽस्मिन्निति मङ्गलम्, सम्यग्दर्शनाऽऽदिमार्गलयनाद् वा मङ्गलमित्यादि द्रष्टव्यम्, इत्यलं विस्तरेण । इह तत्त्व-पर्याय-भेदैर्व्याख्या, तत्र तत्त्वं शब्दार्थरूपम्, तच्चावद् निर्णीतम् । पर्यायास्तु मङ्गलम्, शान्तिः, विघ्नविद्रावणमित्यादयः स्वयमेव द्रष्टव्याः । भेदाँस्तु स्वयमेव निरूपयितुमाह-'नामाइ चउव्विहं तं चेति' तच्च मङ्गलं नामाऽऽदिभेदतश्चतुर्विधं भवति । तद्यथा—नाममङ्गलम्, स्थापनामङ्गलम्, द्रव्यमङ्गलम्, भावमङ्गलं च । इति गाथाऽर्थः ॥ २४ ॥ विशे० ।

आह विनेयः-ननु सामान्येन द्रव्यलक्षणमवगतम्,
परं द्रव्यमङ्गलं किमभिधीयते ?, इति
प्रस्तुतं निवेद्यताम्, इत्याह—

आगमओऽणुवउत्तो, मंगलसद्दाणुवासिओ वत्ता ।
तन्नाणलद्धिसहिओ, वि नोवउत्तो त्ति तो दव्वं ॥ २९ ॥

इह द्रव्यमङ्गलं तावद् द्विधा भवति-आगमतः-आगममाश्रित्य, नोआगमतश्च-नो आगममाश्रित्य, तत्राऽऽगमो मङ्गलशब्दार्थज्ञानस्वरूपोऽत्राऽभिप्रेतः, तमाश्रित्य 'द्रव्यं' द्रव्यमङ्गलमिति पर्यन्ते सम्बन्धः । कोऽसौ ?, इत्याह—वक्ता मङ्गलशब्दार्थप्ररूपकः । किं सर्वोऽपि ?, न, इत्याह-अनुपयुक्तः तदुपयोगशून्यः । किं विशिष्टः ?, इत्याह-मङ्गलशब्दानुवासितः मङ्गलशब्दार्थज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमसंस्कारानुरञ्जितमनाः; तज्ज्ञानलब्धिमानिति यावत् । ननु यदि तज्ज्ञानलब्धिमांस्तर्हि किमिति द्रव्यम् ?, इत्याह-' तन्नाणे' त्यादि, तज्ज्ञानलब्धिसहितोऽपि मङ्गलशब्दार्थज्ञाना ऽऽवरणक्षयोपशमवानपि; नोपयुक्तस्तत्र मङ्गलशब्दार्थे यस्मादसौ, 'तो त्ति' तस्माद् द्रव्यमङ्गलम् । इदमुक्तं भवति-' अनुपयोगो द्रव्यम्' इति वचनाद् मङ्गलशब्दार्थं जानन्नपि तत्रानुपयुक्तस्तं प्ररूपयंस्तज्ज्ञानलब्धिसहितोऽप्यागमतो द्रव्यमङ्गलमेव । इति गाथाऽर्थः ॥ २९ ॥

अत्राऽऽह कश्चित्-ननु कोऽयमागमो यमाश्रित्य
द्रव्यमङ्गलमिदमभिधीयते ? । अत्रोच्यते-म-
ङ्गलशब्दार्थज्ञानमत्राऽऽगमः । तर्हि प्रे-
र्यते, किम् ?, इत्याह—

जइ नाणमागमो तो, कह दव्वं दव्वमागमो कह णु ? ।
आगमकारणमाया, देहो सद्दो यतो दव्वं ॥ ३० ॥

यदि मङ्गलशब्दार्थज्ञानमागमः, तर्हि तद्वक्ता असौ कथं द्रव्यमङ्गलम् ?, आगमस्य भावमङ्गलत्वेन द्रव्यमङ्गलत्वानुपपत्तेः । अथ द्रव्यं द्रव्यमङ्गलमसौ तर्हि आगमः कथम् ? येनाऽऽगमतः-आगममाश्रित्येत्युच्यते द्रव्ये आगमस्याऽभावात्, भावे वा भावमङ्गलत्वप्रसङ्गात् । तस्मादागमतो द्रव्यमङ्गलमिति दूरविरुद्धमिदम् । इति परेणोक्ते आचार्यः प्राह-'आगमे'त्यादि, इदमुक्तं भवति-आगमत इत्युक्तेनैतद् भावता बोद्धव्यं यदुत-न साक्षादेवाऽऽगमोऽत्रास्ति किं तर्हि ?, आगमस्य मङ्गलशब्दार्थज्ञानलक्षणस्य यत् कारणं-निमित्तं तदेवेह विद्यत इत्यवगन्तव्यम् । किं पुनस्तदागमस्य कारणमिहाऽवसेयम् ?,इत्याह-अनुपयुक्तस्य वक्तुः सम्बधी आत्मा जीवो देहः शब्दश्च, जीवशरीरे हि तावदागमस्य कारणम्, तदाधारविरहितस्याऽऽगमस्याऽसम्भवात् । शब्दोऽपि प्रत्याय्यशिष्यगताऽऽगमस्य कारणमेव, तमन्तरेण तस्याऽभावात् । यच्च कारणम् तद् द्रव्यं भवत्येव "भूतस्य भाविनो वा,भावस्य हि कारणं तु यल्लोके, तद् द्रव्यम्०" इत्यादिवचनात्, इत्याह-'तो त्ति' यत एवम्, तस्माद् द्रव्यं द्रव्यमङ्गलमिदमित्यर्थः । यद्यागमकारणमेवेह विद्यते, तर्हि कथमिदमागमो येनाऽऽगमतो द्रव्यमङ्गलं स्यात् ? इति चेत् । उच्यते—आगमस्य कारणभूता आत्माऽऽदयोऽपि कारणे कार्योपचारादागमत्वेनोच्यन्ते, भवति च कारणे कार्यव्यपदेशः, यथा 'तन्दुलान् वर्षति पर्जन्यः ।' तस्मादागमतो द्रव्यमङ्गलं न विरुध्यते । इति गाथाऽर्थः ॥ ३० ॥

अथ " नत्थि नयेहिं विहूणं, सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि ।
आसज्ज उ सोयारं, नयेण य विसारओ बूया ॥१॥" इति
वचनाज्जिनमते सर्वेऽपि पदार्था नयैर्विचार-
णीयाः, इत्यतो द्रव्यमङ्गलमपि नयैर्वि-
चारयन्नाह—

एगो मंगलमेगं, णेगा णेगाइँ णेगमनयस्स ।
संगहनयस्स एक्कं, सव्वं चिय मंगलं लोए ॥ ३१ ॥

वक्ष्यमाणशब्दार्थस्य नैगमनयस्य मतेनैकोऽनुपयुक्तो मङ्गलशब्दार्थप्ररूपक एकं द्रव्यमङ्गलम्, अनेके त्वनुपयुक्तास्तत्प्ररूपका अनेकानि द्रव्यमङ्गलानि । अयं हि नयः सामान्यं विशेषांश्चाऽभ्युपगच्छत्येव, तत्र विशेषवादित्वपक्षे एकोऽनुपयुक्त एकं द्रव्यमङ्गलम्, अनेके त्वनुपयुक्ता अनेकानि द्रव्यमङ्गलानीत्युपपद्यत एव,विशेषाणां पृथग् भिन्नत्वादिति । संग्रहनयस्य तु वक्ष्यमाणस्वरूपस्य केवलसामान्यवादिनो मतेन सर्वस्मिन्नपि लोके एकमेव द्रव्यमङ्गलम्, सर्वेषां द्रव्यमङ्गलत्वसामान्यादव्यतिरिक्तत्वात्, व्यतिरेके चाऽद्रव्यमङ्गलत्वप्राप्तेः, सामान्यस्य च त्रिभुवनेऽप्येकत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥ ३१ ॥

एतदेवाऽऽह—

एक्कं निच्चं निरवय-वमकिरियं सव्वगं च सामन्नं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निस्सामन्नत्ताओ, नत्थि विसेसो खपुप्फं व ॥ ३२ ॥

एकम्-अद्वितीयत्वादेकसङ्ख्योपेतं सामान्यम्। एकमपि क्षणिकं स्यात्, तत्राऽऽह-नित्यमनपायि। नित्यमप्याकाशवत् सावयवं स्यात्, तन्निरवयवत्वे सवितुरुदयाऽस्तमनाऽयोगात्, इत्यत्राऽऽह-निरवयवमनंशं, पूर्वापरकोटिशून्यत्वादिति। निरवयवमपि परमाणुवत् सक्रियं स्यात्, अत आह—अक्रियं क्रियारहितम्, परिस्पन्दविनिर्मुक्तत्वादिति। अक्रियमपि दिगादिवत् सर्वगतं न स्यात्, अत्राऽऽह-सर्वगं च सकललोकाऽवाप्तसत्ताकम्। इदमित्थं भूतं सामान्यमेवाऽस्ति, न तु विशेषः कश्चनाऽपि विद्यते। कुत इत्याह—निःसामान्यत्वात्-सामान्यविरहितत्वात्, खपुष्पवत्, यच्चाऽस्ति तत् सामान्यविरहितं न भवति, यथा घटः। तस्मादेकस्माद् द्रव्यमङ्गलसामान्यादव्यतिरिक्तत्वाद् तद्व्यतिरेके चाऽद्रव्यमङ्गलताप्रसङ्गात् सामान्यस्य च त्रिभुवनेऽप्येकत्वादेकमेव संग्रहनयमते द्रव्यमङ्गलम्, इति स्थितम्। इति गाथाऽर्थः ॥ ३२ ॥

अत्र विशेषवादिनयमतस्थितः कश्चिदाह—ननु कथमनेकानि द्रव्यमङ्गलानि न सम्भवन्ति?, यथा हि वनस्पतिरित्युक्ते वृक्ष-गुल्म-लता-वीरुदादयो विशेषा एव प्रतीयन्ते; न पुनस्तदतिरिक्तः कश्चिद् वनस्पतिः, एवमिहाऽपि द्रव्यमङ्गलमित्युक्तेऽनुपयुक्ततत्प्ररूपकलक्षणा विशेषा एवाऽवगम्यन्ते, न तु तदधिकं किञ्चित् सामान्यम्. अतः किं शून्य इवाऽस्मिन् जगत्येवमभिधीयते—'निस्सामन्नत्ताओ, नत्थि विसेसो खपुप्फं व।' इति?. इति विशेषवादिना प्रोक्ते सामान्यवादि संग्रहः प्राऽऽह—ननु यत एव वनस्पतिरित्युक्ते वृक्षाऽऽदयः प्रतीयन्ते, अत एव ते तदनर्थान्तरभूताः, हस्तस्येवाऽङ्गुलयः, इह यस्मिन्नुच्यमाने यत् प्रतीयते, तत् ततो व्यतिरिक्तं न भवति, यथा हस्त इत्युक्तेऽङ्गुल्यादयः प्रतीयमाना हस्ताद् न व्यतिरिक्ताः, प्रतीयन्ते च वनस्पतिरित्युक्ते वृक्षाऽऽदयः, इत्यमी न वनस्पतिव्यतिरिक्ताः, ततो न सामान्यादतिरिक्तः कोऽपि विशेषः समस्ति, इत्येकमेव सर्वत्र द्रव्यमङ्गलमिति। अथोपपत्त्यन्तरेणाऽपि सामान्यवाद्येव वृक्षाऽऽदीनां सर्वेषामपि वनस्पतिसामान्यरूपतां समर्थयन्नाह—

चूओ वणस्सइ च्चिय, मूलाइगुणो त्ति तस्समूहो व्व।
गुम्मादओ वि एवं, सव्वे न वणस्सइविसिट्ठे ॥३३॥

चूतः—आम्रो वनस्पतिरेव वनस्पतिसामान्यं न व्यभिचरतीत्यर्थः, इति प्रतिज्ञा, मूल-कन्द-स्कन्ध-त्वक्-शाखा-प्रवाल-पत्र-पुष्प-फल बीजाऽऽदिगुणत्वादिति हेतुः, चूतसमूहवदिति दृष्टान्तः, इह यो यो मूलाऽऽदिगुणः स स वनस्पतिसामान्यरूप एव, यथा चूतसमूहः, मूलाऽऽदिगुणश्च चूतः, तस्माद् वनस्पतिसामान्यरूप एव, गुल्माऽऽदयोऽप्येवं वाच्याः, तथाहि—विशेषवादिना विशेषतयाऽभ्युपगम्यमानो गुल्मोऽपि वनस्पतिसामान्यरूप एव, मूलादिगुणत्वाद् गुल्मसमूहवत्, इति। एवमन्येषामपि लताऽऽदिविशेषाणां वनस्पतिसामान्यादव्यतिरिक्तत्वं साधनीयम्। तद्व्यतिरेके सर्वत्र मृन्मयत्वाऽऽदिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम्। तस्मात् सामान्यमेवाऽस्ति, न विशेषाः। इति गाथाऽर्थः ॥ ३३ ॥

किञ्च—

सामन्नाउ विसेसो, अन्नोऽणन्नो व होज्ज जइ अण्णो।
सो नत्थि खपुप्फं पिव ऽणन्नो सामन्नमेव तयं ॥३४॥

भो विशेषवादिन्! सामान्याद् विशेषोऽन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा?, इति विकल्पद्वयम्। यद्याद्यो विकल्पः, तर्हि नास्त्येव विशेषः, निःसामान्यत्वात्, खपुष्पवत्—इह यद् यत् सामान्यविनिर्मुक्तं तत् तद् नास्ति, यथा गगनारविन्दम्, सामान्यविरहितश्च विशेषवादिना विशेषोऽभ्युपगम्यते, तस्माद् नास्त्येवाऽयमिति। अथाऽनन्य इति द्वितीयः पक्षः कक्षीक्रियते हन्त! तर्हि सामान्यमेवाऽसौ; तदनन्यत्वात्, सामान्याऽऽत्मवद् यद्-यस्मादनन्यत् तत् तदेव, यथा सामान्यस्यैवाऽत्मा; अनन्यश्च सामान्याद् विशेषः, इति सामान्यमेवाऽयमिति। यदि च-अतिपक्षपातितया सामान्येऽपि विशेषोपचारः क्रियते, तर्हि न काचित् क्वचित् क्षतिः, न ह्युपचारेणोच्यमानो भेदस्तात्त्विकमेकत्वं बाधितुमलम्, तस्मात् सामान्यमेवाऽस्ति न विशेषः। इति संग्रहनयमतेन सर्वत्रैकमेव द्रव्यमङ्गलम्। इति गाथाऽर्थः ॥ ३४ ॥

तदेवं संग्रहेण स्वाभिमते सामान्ये प्रतिष्ठिते विशेषवादिनौ नैगमव्यवहारावाहतुः—

न विसेसत्थंतरभू-अमत्थि सामण्णमाह ववहारो।
उवलंभव्ववहारा-भावाओ खरविसाणं व ॥ ३५ ॥

ननु भोः सामान्यवादिन्! भवताऽपि वनस्पतिसामान्यं बकुलाऽशोक-चम्पक-नाग-पुन्नागा-ऽऽम्र-सर्जा-ऽर्जुनाऽऽदिविशेषेभ्योऽर्थान्तरं वाऽभ्युपगम्येत, अनर्थान्तरं वा?। यद्यर्थान्तरम्, तर्हि नास्त्येव तद् विशेषव्यतिरेकेण, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तस्योपलम्भव्यवहाराभावाद्, खरविषाणवत्। क एवमाह?, व्यवहारनयः, उपलक्षणत्वाद् विशेषवादी नैगमश्च। एतौ हि लोकव्यवहारानुयायिनौ, तद्व्यवहारश्च प्रायो विशेषनिष्ठ एव, इति विशेषानेव समर्थयत इति भावः। अथानुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदभ्युपगम्यते, तथाऽपि नास्ति, विशेषेभ्यः सर्वथाऽन्यत्वात्, गगनकुसुमवदिति। अथ विशेषेभ्योऽर्थान्तरं तदिति द्वितीयपक्षः, तर्हि विशेषा एव तत्, तेभ्योऽनर्थान्तरभूतत्वात्, विशेषाणामात्मस्वरूपवदिति। यदि च-विशेषेष्वपि सामान्योपचारः क्रियते, तर्हि न काचित् क्षतिः, न ह्यौपचारिकमेकत्वं तात्विकमनेकत्वं बाधते। इति गाथाऽर्थः ॥३५॥

एतदेव समर्थयते—

चूयाईएहिंतो, को सो अण्णो वणस्सई नाम?।
नत्थि विसेसत्थंतर-भावाओ सो खपुप्फं व ॥ ३६ ॥

चूताऽऽदिभ्यो विशेषेभ्योऽन्यः को नाम वनस्पतिः, यो व्रण-पिण्डी-पादलेपाऽऽदिके लोकव्यवहारे उपयुज्येत?, न कोऽपीत्यर्थः। तस्मात् समस्तलोकसंव्यवहारानुपयोगित्वाद् नास्ति सामान्यम्, खपुष्पवत् इति पूर्वोक्तमेवार्थं निगमनद्वारेणाऽऽह—'नत्थीत्यादि' तस्माद् नास्त्यसौ सामान्यवादिनाऽभ्युपगम्यमानो वनस्पतिः सद्रूपेभ्यो विशेषेभ्योऽर्थान्तरभावात्; खपुष्पवत् सद्रूपेभ्यो हि विशेष-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भ्योऽर्थान्तरं भवत् असद्रूपमेव भवति तथाभूतं च नास्त्येव खपुष्पवत् । इति गाथाऽर्थः ॥ ३६ ॥

किं पुनः कारणं येन नैगमव्यवहारौ विशेषान् समर्थयतः ?, इत्याह—

जं नेगमववहारा, लोअव्ववहारतप्परा सो य ।
पाएण विसेसमओ, तो ते तग्गाहिणो दो वि ॥ ३७ ॥

यद्-यस्माद् नैगमव्यवहारौ लोकव्यवहारतत्परौ , स च लोकव्यवहारस्त्यागाऽऽदानाऽऽदिकः प्रायेण विशेषमयो-विशेषनिष्ठ एव दृश्यते, सामान्यस्य व्रणपिण्ड्यादौ लोकेऽनुपयोगात् । ' वने ' ' सेना ' इत्यादौ क्वचित् कश्चित् कथञ्चित् सामान्यस्याऽपि दृश्यते उपयोगः , इति प्रायोग्रहणम् । यत एवम् , तस्मात् तौ नैगमव्यवहारौ द्वावपि तद्ग्राहिणौ विशेषाभ्युपगमपरौ । इति गाथाऽर्थः ॥ ३७ ॥

अत्र परः प्राऽऽह—

तेसिं तुल्लमयत्ते , को णु विसेसोऽभिहाणओ अन्नो ? ।
तुल्लत्ते वि इहं ने-गमस्स वत्थंतरे भेओ ॥ ३८ ॥

तयोर्नैगमव्यवहारयोस्तुल्यमतत्वे उक्तन्यायेन विशेषवादितया सदृशाभिप्रायत्वे सति ' णु ' चितर्के , अभिधानं नाम ततोऽन्यस्तद् वर्जयित्वाऽपरः को विशेषः ? , न कश्चिदित्यर्थः । एको नैगमः , अपरस्तु व्यवहार इत्येवमनयोर्नामैव भिद्यते न त्वभिप्राय इति भावः । आचार्य आह—' तुल्लत्ते ' इत्यादि , इह विशेषाऽभ्युपगमे यद्यपि नैगमस्य व्यवहारेण सह तुल्यत्वं सदृशाभिप्रायत्वम् , तथाऽपि तस्मिन् सत्यपि वस्त्वन्तरे सामान्याऽऽदिके भेदो नानात्वमस्त्येव । इति गाथाऽर्थः ॥ ३८ ॥

अथवा नैगमव्यवहारयोरनेन तुल्यमतत्वाऽऽख्यापनेन सामान्यविशेषग्राहकस्य नैगमस्य संग्रहव्यवहारनयद्वयेऽन्तर्भावः सूचितो द्रष्टव्य इति दर्शयन्नाह—

जो सामन्नग्गाही, स नेगमो संगहं गओ अहवा ।
इयरो ववहारमिओ, जो तेण समाणनिद्देसो ॥ ३९ ॥

अथवेति प्रकारान्तरेण समाधानमुच्यत इत्यर्थः । तत्र नैगमस्तावत् सामान्यं मन्यते विशेषांश्च । ततो यः सामान्यग्राही नैगमः स संग्रहं गतः प्राप्तोऽन्तर्भूत इति यावत् , इतरस्तु विशेषग्राही स व्यवहारनयमितः प्राप्तोऽन्तर्गतो यो नैगमनयस्तेन सह व्यवहारनयस्याऽयं समाननिर्देशः ' जं नेगमववहारा०'(३७) इत्यादिना तुल्यनिर्देशः, ततश्च ' तेसिं तुल्लमयत्ते को णु विसेसो० ' (३८) इत्यादिना यदेकत्वं परेण प्रेरितं तदस्माकं न क्षतिमावहति, नैगमस्य संग्रहव्यवहारनयद्वयेऽन्तर्भावस्येष्टत्वेन सिद्धसाधनादिति भावः । यद्येवं नैगमः सङ्ख्यायाऽरत्रुट्यति, तथा च सति षडेव नयाः प्रसजन्तीति चेत् । मा औत्सुक्यं भजस्व, सर्वमत्रार्थे पुरस्ताद् वक्ष्यामः । इति गाथाऽर्थः ॥ ३९ ॥

अथ ऋजुसूत्रनयमतेन द्रव्यमङ्गलं विचारयितुमाह—

उज्जुसुअस्स सयं सं-पयं च जं मंगलं तयं एकं ।
नातीतमणुप्पन्नं, मंगलमिट्ठं परक्कं व ॥ ४० ॥

ऋजु अतीताऽनागतपरिहारेण परकीयपरिहारेण वाऽकुटिलं वस्तु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रो नयस्तस्य स्वकमात्मीयमेव, तथा साम्प्रतं च वर्त्तमानक्षणभाव्येव यद् द्रव्यमङ्गलं तदेवैकमभिमतम् । अनभिमतप्रतिषेधमाह-नातीतम् , अतिक्रान्तसमयभावि, नाऽप्यनुत्पन्नं भविष्यत्समयभावि द्रव्यमङ्गलम् , अस्येष्टम् । ' परक्कं व ' परकीयं वा यद् द्रव्यमङ्गलं तदप्यस्य नेष्टम् , विवक्षितैकमङ्गलज्ञापकस्याऽऽत्मानं विहाय यत् परस्मिन् वर्तते तदपि द्रव्यमङ्गलमसौ नेच्छतीत्यर्थः । मन्दमतिशिक्षाऽवबोधार्थश्चाऽनभिमतप्रतिषेधः, अन्यथा ह्यभिमते कथितेऽनभिमतमर्थापत्तितो गम्यत एव । इति गाथाऽर्थः । ॥ ४० ॥

अमुमेवार्थं प्रयोगोपदर्शनद्वारेण समर्थयन्नाह—

नातीतमणुप्पन्नं, परकीयं वा पओअणाभावा ।
दिट्ठंतो खरसिंगं, परधणमहवा जहा विफलं ॥ ४१ ॥

अतीतमनुत्पन्नं वस्तु नास्तीति प्रतिज्ञा, प्रयोजनस्य विवक्षितफलस्य तत्राऽभावात् सर्वप्रयोजनाऽकरणादित्यर्थ इत्ययं हेतुः, दृष्टान्तस्तु खरशृङ्गम् । असत्वे चातीतानागतयोर्द्रव्यमङ्गलता दूरोत्सारितैव, धर्मिसत्व एव धर्माणामुपपद्यमानत्वादिति । द्वितीयप्रयोगः क्रियते—परकीयमपि यज्ञदत्तसम्बन्ध्यपि वस्तु देवदत्तापेक्षया नास्त्येव, प्रयोजनाऽकरणात् खरविषाणवदिति हेतुदृष्टान्तौ तावेव,अथवा-यथा परस्य यज्ञदत्तस्य धनं देवदत्तापेक्षया विफलं प्रयोजनाऽसाधकं सदनास्ति, तथा सर्वमपि परकीयं नास्तीति द्वितीयो दृष्टान्तः । इति कुतः परकीयस्याऽपि द्रव्यमङ्गलत्वम् ? । इति गाथाऽर्थः ॥४१॥

शब्द-समभिरूढै-वम्भूतास्तु विशुद्धनयत्वादागमतो द्रव्यमङ्गलं नेच्छन्त्येव कस्मात् ?, इत्याह—

जाणं नाणुवउत्तोऽ-णुवउत्तो वा न याणई जम्हा ।
जाणंतोऽणुवउत्तो, त्ति बिंति सद्दादयोऽवत्थुं ॥ ४२ ॥

(जम्हा) इति यस्मात् जानन्नवबुध्यमानो, ' मङ्गलं ' इति गम्यते, नानुपयुक्तो न तज्ज्ञानोपयोगशून्यो भवति, ज्ञायकस्य ज्ञानोपयोगनान्तरीयकत्वात् । अनुपयुक्तो वा तत्र न तज्जानीते न तस्य ज्ञायकोऽसौ व्यपदिश्यते; अज्ञायकत्वाभिमतवत् काष्ठाऽऽदिवत् वेत्यर्थः । तस्माज्जानन्ननुपयुक्तश्चेति एतदप्यवस्तु असद्भाव इति यावत् , एतद् ब्रुवते शब्दाऽऽदयः शब्द-समभिरूढैवम्भूतनयाः । इति गाथाऽर्थ, ॥ ४२ ॥

अत्राऽर्थे उपपत्तिमाह—

हेऊ विरुद्धधम्म-त्तणा हि जीवो व्व चेअणारहिओ ।
न य सो मंगलमिट्ठं, तयत्थसुन्नो त्ति पावं व ॥ ४३ ॥

जानन्ननुपयुक्तश्चेत्येतदवस्तु इत्यस्यामनन्तरातिक्रान्तगाथापर्यन्तकृतप्रतिज्ञायामयं हेतुः । कः ? , इत्याह—' विरुद्धधम्मत्तणा हि त्ति ' विरुद्धौ धर्मौ यत्र तत् तथा तद्भावस्तस्माद् विरुद्धधर्मत्वादिति । दृष्टान्तमाह-यथा जीवश्चेतनारहितः । इदमुक्तं भवति—यथा जीवश्चेतनारहितश्च माता च बन्ध्या चेत्यादि विरुद्धधर्माध्यासादवस्तु, एवं ज्ञायकश्चाऽनुपयुक्तश्चेत्येतदप्यवस्त्वेव । भवतु वा ज्ञायकोऽनुपयुक्तश्च तथाऽपि नास्माकमसौ मङ्गलत्वेनेष्टः, तदर्थशून्यत्वाद्-मङ्गलार्थशून्यत्वात् पापवदिति । भावमङ्गलग्राहिणो ह्यमी कथं द्रव्यमङ्गलमिच्छन्ति ? , इति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ ४३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदेवं विचारितं नयैर्द्रव्यमङ्गलम् तथा च सति समर्थितमागमतो द्रव्यमङ्गलम् । अथ नो आगमतस्तदभिधीयते । तच्च ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात् त्रिधा । तत्र ज्ञशरीर-भव्यशरीरलक्षणभेदद्वयमाह—

मंगलपयत्थजाणय-देहो भवस्स वा सजीवो त्ति ।
नोआगमओ दव्वं,आगमरहिओ त्ति जं भणिअं ॥४४॥

'नोआगमओ दव्वं ति' नो आगमतो ज्ञशरीरं द्रव्यमङ्गलमित्यर्थः । कः ?, इत्याह—मङ्गलपदार्थज्ञस्य देहः . इदमुक्तं भवति–इह मङ्गलपदार्थः पूर्वं येन स्वयं सम्यग् विज्ञातः, परेभ्यश्च प्ररूपितः, तस्य सम्बन्धी जीवविप्रमुक्तः सिद्धशिलातलाऽऽदिगतो देहोऽतीतकालनयानुवृत्त्याऽतीतमङ्गलपदार्थज्ञानाऽऽधारत्वाद् नोआगमतो द्रव्यमङ्गलमुच्यते । नोशब्दस्येह सर्वनिषेधवचनत्वात्, आगमस्य च सर्वथाऽत्राऽभावाद् नोआगमता द्रष्टव्या, अतीतमङ्गलपदार्थज्ञानलक्षणाऽऽगमपर्यायकारणत्वात् तु द्रव्यमङ्गलता, यथाऽतीतघृताऽऽधारपर्यायकारणत्वाद् रिक्तघृतकुम्भे घृतघटतेति । 'भवस्स व त्ति' वाशब्दो द्वितीयपक्षसमुच्चये, भव्यस्य च मङ्गलपदार्थज्ञानयोग्यस्य सम्बन्धी 'देहः' इति वर्त्तते, स जीवः सचेतनो नोआगमतो भव्यशरीरद्रव्यमङ्गलमित्यर्थः । इदमत्र हृदयम्—य इदानीं मङ्गलपदार्थं न जानीते, भविष्यति तु काले ज्ञास्यति; तस्य सम्बन्धी सचेतनो देहो भविष्यत्कालनयाऽनुवृत्त्या भविष्यन्मङ्गलपदार्थज्ञानाऽऽधारत्वाद् नोआगमतो भव्यशरीरद्रव्यमङ्गलमिति । अत्राऽपि नोशब्दस्य सर्वनिषेधपरत्वात्; आगमस्य चेदानीमभावाद् नोआगमता समवसेया । भविष्यत्काले मङ्गलपदार्थज्ञानलक्षणस्याऽऽगमस्य कारणत्वात् तु द्रव्यमङ्गलता, यथा भविष्यद्घृताऽऽधारपर्यायकारणत्वाद् रिक्तघृतकुम्भे घृतघटता । नोआगमत इत्येतद् विवृण्वन्नाह–'आगमरहिओ' इत्यादि, नोशब्दस्य सर्वनिषेधवचनत्वाद् नोआगमत इत्यनेनैतदुक्तं भवति, किम् ?, इत्याह—मङ्गलपदार्थज्ञस्य भव्यस्य च सम्बन्धी अचेतनः सचेतनश्च देहो वर्तमानकाले सर्वथैवाऽऽगमरहितः । इति गाथाऽर्थः ॥ ४४ ॥

तदेवं सर्वनिषेधवचनत्वे नोशब्दस्यैवमुदाहरणमुपदर्शितम्, यदि वा–देशनिषेधपरेऽपि नोशब्दे एतत् सम्बध्यत एवेति दर्शयन्नाह—

अहवा नो देसम्मी, नोआगमओ तदेगदेसाओ ।
भूयस्स भाविणो वा–ऽऽगमस्स जं कारणं देहो ॥४५॥

अथवा 'नो' इति नोशब्दः 'देसम्मि त्ति' देशनिषेधवचनो विवक्ष्यत इत्यर्थः । ततश्च नोआगमत इति कोऽर्थः ?, इत्याह—तदेकदेशादागमैकदेशादागमैकदेशमाश्रित्य द्रव्यमङ्गलमित्यर्थः । किं पुनस्तत् ? इति चेत् । मङ्गलपदार्थज्ञस्याऽचेतनः, भव्यस्य तु सचेतनो देह इत्यनुवर्तमानं सम्बध्यते । कः पुनरिहाऽऽगमस्यैकदेशो यमाश्रित्य नोमागमतो द्रव्यमङ्गलमिदं स्यात् ? इति । अत्रोच्यते–यथोक्तो ज्ञभव्यशरीररूपो देह एवाऽत्राऽऽगमैकदेशः । ननु जडस्य देहस्य कथमागमैकदेशता ?; इति । अत्राऽऽह–'भूयस्से'त्यादि, यद्–यस्मादचेतनो देहो भूतस्याऽतीतस्य मङ्गलपदार्थज्ञानलक्षणस्याऽऽगमस्य कारणं हेतुः,सचेतनस्तु भव्यदेहो भाविनो यथोक्तस्याऽऽगमस्य कारणम्, तस्माद् निजकार्यस्याऽऽगमस्यैकदेशे वर्तत एव, कारणं हि कार्यस्यैकदेशे वर्तत एव, यथा मृत्तिका घटस्य । अभेद एव घट-मृत्तिकयोरिति चेत् । नैवम्, भेदयोरेव जैनैरिष्टत्वात्, यद्वक्ष्यति सम्मतौ–" नत्थि पुढवीविसिट्ठो, घडो त्ति जं तेण जुज्जइ अणण्णो । जं पुण घडो त्ति पुव्वं, नासी पुढवी तओ अण्णो ॥ ५२ ॥ " आह—ननु मङ्गलपदार्थज्ञानस्य परिणामिकारणं जीव एव, ततस्तस्य स्वकार्यैकदेशे वृत्तिरस्तु, यथा मृत्तिकायाः, शरीरं त्वागमस्य परिणामिकारणं न भवति, अतः कथं तस्य तदेकदेशवृत्तिता ?। सत्यम्, किन्तु–" अण्णण्णाणुगयाणं, इमं च तं च त्ति विभयणमजुत्तं । जह खीरपाणियाणं०" इत्यादिवचनात् संसारिणो जीवस्य शरीरेण सहाऽभेद एव व्यवह्रियते, अतो जीवस्य परिणामिकारणत्वे शरीरस्याऽपि तद् विवक्ष्यते,इत्यस्याऽऽगमैकदेशता न विरुध्यते । भवत्वेवम्, तथाऽप्यागमतो द्रव्यमङ्गलम् प्राग् यदुक्तं तेन सहाऽस्य को भेदः ?, तत्राऽपि हि–" आगमकारणमाया देहो सद्दो य " इति वचनाच्छरीरमेव द्रव्यमङ्गलमुक्तम्, अत्राऽपि च तदेव; इति कथं नैकत्वम् ? सत्यम्, किन्तु–प्रागुपयोगरूप एवाऽऽगमो नास्ति, लब्धितस्तु विद्यत एव, अत्र तूभयस्वरूपोऽपि नास्ति, कारणमात्रस्यैव सत्त्वात् । इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

तदेवं दर्शितं ज्ञशरीर-भव्यशरीरलक्षणं नोआगमतो द्रव्यमङ्गलभेदद्वयम् । साम्प्रतं ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तस्वरूपं तत्तृतीयभेदं दर्शयन्नाह—

जाणय-भव्वसरीरा–इरित्तमिह दव्वमंगलं होइ ।
जा मंगल्ला किरिआ, तं कुणमाणो अणुवउत्तो ॥४६॥

इह तावद् भावतः—परमार्थतो मङ्गलं द्विविधम्—जिनप्रणीत आगमः, तत्प्रणीता मङ्गल्या प्रत्युपेक्षणाऽऽदिक्रिया च । इतश्च पूर्वमागमतो नोआगमतश्च यद् द्रव्यमङ्गलमुक्तं तत्सर्वमागममङ्गलापेक्षमेव, ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यमङ्गलं मङ्गल्यक्रियामेवाऽऽश्रित्य भणिष्यत इति परिभावनीयम् । अथ गाथार्थो व्याख्यायते—तत्र ज्ञशरीर-भव्यशरीराभ्यां व्यतिरिक्तमिह द्रव्यमङ्गलं भवति । कः ?, इत्याह—अनुपयुक्तः. तां कुर्वाणो या । किम् ?, इत्याह—या प्रत्युपेक्षण-प्रमार्जनाऽऽदिका मङ्गल्या क्रिया । इदमुक्तं भवति—योऽनुपयुक्तो जिनप्रणीतां मङ्गलरूपां प्रत्युपेक्षणाऽऽदिक्रियां करोति, स नोआगमतो ज्ञशरीर-भव्यशरीरातिरिक्तं द्रव्यमङ्गलम्, उपयोगरूपोऽत्राऽऽगमो नास्तीति नोआगमता । ज्ञशरीर-भव्यशरीरयोर्ज्ञानापेक्षा द्रव्यमङ्गलता, अत्र तु क्रियापेक्षा, अतस्तद्व्यतिरिक्तत्वम्, अनुपयुक्तस्य क्रियाकरणात् तु द्रव्यमङ्गलत्वं भावनीयम्, उपयुक्तस्य तु क्रिया यदि गृह्येत तदा भावमङ्गलतैव स्यादिति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ ४६ ॥

अथ प्रकारान्तरेणाऽपि प्रस्तुतमङ्गलमाह—

जं भूयभावमङ्गल–परिणामं तस्स वा जयं जोग्गं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जं वा सहावसोहण-वन्नाइगुणं सुवण्णाइ ॥ ४७ ॥
तं पि य हु भावमंगल-कारणओ मंगलं ति निद्दिट्ठं ।
नोआगमओ दव्वं, नोसद्दो सव्वपडिसेहे ॥ ४८ ॥

नोआगमतो ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यं द्रव्यमङ्गलमित्यर्थ इति द्वितीयगाथोत्तरार्थं संबन्धः । किं तत्?, इत्याह-यद् भूतभावमङ्गलपरिणामम् , इह भावमङ्गलशब्देन चरणकरणक्रियाकलापोऽभिप्रेतः, तस्य परिणमनं परिणतिः प्रवृत्तिर्भावमङ्गलपरिणामः; भूतः पूर्वं संजातो भावमङ्गलपरिणामो यस्य तद् भूतभावमङ्गलपरिणामम् , सांप्रतं तु तच्छून्यम् , तत्पुनः कस्यापि शरीरं जीवद्रव्यं वा , तद् नोआगमतो ज्ञशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्तं द्रव्यमङ्गलं बोद्धव्यम्। ' तस्स वा जयं जोग्गं ति ' अथवा-तस्य-यथोक्तस्य भावमङ्गलपरिणामस्य यद् योग्यमर्हं शरीरं जीवद्रव्यं वा , तद् नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यमङ्गलम् । अथवा-यत् स्वभावत एव शोभनवर्णाऽऽदिगुणं सुवर्णाऽऽदिकं वस्तु, आदिशब्दाद् रत्न-दध्य-ऽक्षत-कुसुम-मङ्गलकलशाऽऽदिपरिग्रहः, तदेतज्ज्ञ-भव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यमङ्गलम् । ननु कथं तद् मङ्गलम् ?, इत्याह-' तं पी ' त्यादि, हुर्यस्मादर्थे , यस्मात् तदपि-सुवर्णाऽऽदिकं कस्यापि भावमङ्गलकारणत्वाद् मङ्गलं निर्दिष्टम्। यच्च कारणं तद् " भूतस्य भाविनो वा , भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद् द्रव्यम्० " इत्यादिवचनाद् द्रव्यतयाऽपि व्यपदिश्यते, अतो द्रव्यमङ्गलं भवति। नोशब्दः सर्वप्रतिषेधे, आगमस्येह सर्वथैवाऽभावादिति । पूर्वं ज्ञ-भव्यशरीरयोः केवलमागमाभावापेक्षं द्रव्यमङ्गलत्वमुक्तम्, अत्र तु क्रियाऽभावमाश्रित्य इति भावनीयम् । इति गाथाऽर्थः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

तदेवं प्रतिपादितमागमतो नोआगमतश्च द्रव्यमङ्गलम्। अथ भावमङ्गलमुच्यते, तस्य च लक्षणं नामस्थापना-द्रव्याणामिव भाष्यकृता केनापि कारणेन नोक्तम् । तच्चेत्थमवगन्तव्यम्—

" भावो विवक्षितक्रिया-ऽनु भूतियुक्तो हि वै समाख्यातः ।
सर्वज्ञैरिन्द्रादिव-दिहेन्दनाऽऽदिक्रियाऽनुभवात् ॥१॥" इति।

अत्राऽयमर्थः—भवनं विवक्षितरूपेण परिणमनं भावः; अथवा-भवति विवक्षितरूपेण संपद्यत इति भावः। कः पुनरयम्?, इत्याह-वक्तुर्विवक्षिता इन्दन-ज्वलन-जीवनाऽऽदिका या क्रिया तस्या अनुभूतिरनुभवनं तया युक्तो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तः, सर्वज्ञैः समाख्यातः। क इव ?, इत्याह-इन्द्राऽऽदिवत्-स्वर्गाधिपाऽऽदिवत्, आदिशब्दाद्-ज्वलन-जीवनाऽऽदिपरिग्रहः। सोऽपि कथं भावः?, इत्याह-इन्दनादिक्रियाऽनुभवात्' इति, आदिशब्देन ज्वलन-जीवनाऽऽदिक्रियास्वीकारः। विवक्षितेन्दनाऽऽदिक्रियाऽन्वितो लोके प्रसिद्धः पारमार्थिकपदार्थो भाव उच्यते । भावश्चासौ मङ्गलं च भावमङ्गलम्, भावतो वा परमार्थतो मङ्गलं भावमङ्गलमिति प्रस्तुतयोजना।

एतदपि द्विविधम्-आगमतश्च, नोआगमतश्च।
तत्राऽऽगमतस्तावदाह—

मंगलसुयउवउत्तो, आगमओ भावमंगलं होइ।
नोआगमओ भावो, सुविसुद्धो खाइयाईओ ॥ ४६ ॥

मङ्गलं च तच्छ्रुतं च मङ्गलश्रुतं; मङ्गलशब्दार्थज्ञानमित्यर्थः, तस्मिन्नुपयुक्तो ' वक्ता ' इति गम्यते, आगमतो भावमङ्गलं भवति । अत्राऽऽह—ननु मङ्गलपदार्थज्ञानोपयोगमात्रेण कथं सर्वोऽपि वक्ता भावमङ्गलमुच्यते?, तदुपयोगमात्रस्यैव तद्रूपताया युक्तिसङ्गतत्वात्, न ह्यग्निज्ञानोपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव भवितुमर्हति, तदाह-पाकाऽऽदिक्रियाकरणप्रसङ्गादिति । अत्रोच्यते-उपयोगः, ज्ञानं, संवेदनं, प्रत्यय इति तावदनर्थान्तरम्, अर्थाऽभिधानप्रत्ययाश्च लोके सर्वत्र तुल्यनामधेयाः, बाह्यः पृथुबुध्नोदराऽऽकारोऽर्थोऽपि घट उच्यते, तद्वाचकमभिधानमपि घटोऽभिधीयते, तज्ज्ञानरूपः प्रत्ययोऽपि घटो व्यपदिश्यत इत्यर्थः । तथाहि लोके वक्तारो भवन्ति—किमिदं पुरतो दृश्यते ?, घटः। किमसौ वक्ति ?,घटम्; किमस्य चेतसि स्फुरति ?,घटः। एवं च सति यद् घट इति ज्ञानं तदव्यतिरिक्तो ज्ञाता तल्लक्षणो गृह्यते , अन्यथा यदि ज्ञानज्ञानिनोर्व्यतिरेको न स्यात् तदा ज्ञाने सत्यपि ज्ञानी नोपलभेत वस्तुनिवहम् , अतन्मयत्वात्, प्रदीपहस्ताऽन्धवत्, पुरुषान्तरवद् वा। न चाऽनाकारं तज्ज्ञानम्, पदार्थान्तरवद् विवक्षितपदार्थस्याऽप्यपरिच्छेदप्रसङ्गात् । अपि च-घटाऽऽदिज्ञानतद्वतोर्व्यतिरेके बन्धाऽऽद्यभावः प्राप्नोति, यथा हि ज्ञानाऽज्ञानसुख-दुःखाऽऽदिपरिणामस्याऽन्यत्वे आकाशस्य बन्धाऽऽदयो न भवन्ति, एवं जीवस्याऽपि न भवेयुरिति भावः ॥ आह—यदि घटोपयोगानन्यत्वाद् देवदत्तोऽपि घटः, अग्न्युपयोगानन्यत्वाच्च माणवकोऽप्यग्निः, तर्हि जलाऽऽहरणदाह-पाकाऽऽद्यर्थक्रियाप्रसङ्गः। तदयुक्तम्, न हि सर्वोऽपि घटो जलाऽऽहरणं करोति, नापि समस्तोऽप्यग्निर्दाह-पाकाऽऽद्यर्थक्रियां साधयति, कोणेऽवाङ्मुखीकृतघटेन भस्मच्छन्नवह्निना च व्यभिचारात् । न चाऽसौ न घटः, नाग्निर्वा, लोकप्रतीतिबाधाप्रसङ्गात्। तस्माद् मङ्गलपदार्थज्ञानोपयोगाऽनन्यत्वादागमतस्तदुपयुक्तो भावमङ्गलमितिस्थितम् ॥ नोआगमतस्तु आगमस्य सर्वनिषेधमाश्रित्य सुविशुद्धः प्रशस्तः क्षायिकक्षायोपशमिकाऽऽदिको भावो भावमङ्गलम्, भाव एव मङ्गलं भावमङ्गलमिति कृत्वा । उपलक्षणव्याख्यानादागमवर्जज्ञानचतुष्टय-दर्शन-चारित्राणि च नोआगमतो भावमङ्गलतया वाच्यानि, भावतः परमार्थतो मङ्गलं भावमङ्गलमिति कृत्वा । इति गाथाऽर्थः ॥ ४६ ॥

प्रकारान्तरेणाऽपि नोआगमतो भावमङ्गलमाह—

अहवा सम्मद्दंसण-नाणचरित्तोवओगपरिणामो।
नोआगमओ भावो, नोसद्दो मिस्सभावम्मि ॥ ५० ॥

अथवा-प्रतिक्रमण-प्रत्युपेक्षणाऽऽदिक्रियां कुर्वाणस्य यो ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपयोगपरिणामः, स नोआगमतो भावो भावमङ्गलं भवति । नोशब्दश्चाऽत्र मिश्रवचनः, यस्माद् नाऽसौ ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपयोगपरिणामः केवल एवाऽऽगमः, चारित्राऽऽदेरपि सद्भावात्, नाऽप्यनागम एव, ज्ञानस्याऽपि विद्यमानत्वात्, इति मिश्रता । इति गाथाऽर्थः ॥ ५० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथाऽन्येन प्रकारेणाऽऽह—

अहवेह नमुक्कारा–इनाणकिरिआविमिस्सपरिणामो ।
नोआगमओ भण्णइ, जम्हा से आगमो देसे ॥ ५१ ॥

अथवेह नोआगमतो भावमङ्गलाधिकारे नमस्करणं नमस्कारोऽर्हदादिप्रणतिरित्यर्थः, स आदिर्येषां स्तोत्राऽऽदीनां ते नमस्काराऽऽदयस्तेषु ज्ञानोपयोगो नमस्काराऽऽदिज्ञानम्, क्रिया शिरसि करकमलमुकुलविधानाऽऽदिका, नमस्काराऽऽदिज्ञानं च क्रिया च नमस्काराऽऽदिज्ञानक्रिये ताभ्यां विमिश्रश्चासौ परिणामश्च। स किम्?, इत्याह–'नो' इत्यादि, चैत्यवन्दनाऽऽद्यवस्थायां यो नमस्काराऽऽदिज्ञान–क्रियामिश्रितपरिणामः स नोआगमतो भावमङ्गलं भण्यत इत्यर्थः। कुतः?, इत्याह—यस्मात् (से) तस्यैव भावतः परिणामस्याऽऽगमो नमस्काराऽऽदिज्ञानोपयोगलक्षणो देशे एकदेशेऽवयवे वर्तते, नोशब्दश्चेहैकदेशवचनः। इति गाथाऽर्थः ॥ ५१ ॥

तदेवमुपदर्शितं नाम–स्थापना–द्रव्य–भावभेदतश्चतुर्विधं मङ्गलम्। एतेषु च नामाऽऽदिमङ्गलेष्वाद्यत्रयस्याऽन्योऽन्यमभेदं पश्यन् परः प्रेरयति—

अभिहाणं दव्वत्तं, तयत्थसुन्नत्तणं च तुल्लाइं।
को भाववज्जिआणं, नामाईणं, पइविसेसो? ॥ ५२ ॥

भाववर्जितानां भावमेकं वर्जयित्वा शेषाणां–नामाऽऽदीनां नाम–स्थापना–द्रव्याणामित्यर्थः, कः प्रतिविशेषः?; न कश्चिदित्यर्थः। कुतः? इति चेत्। उच्यते–यत एतानि त्रिष्वपि तुल्यानि। कानि पुनस्तानि?, इत्याह–अभिधानं तावद् नाम त्रिष्वपि तुल्यम्, नामवति पदार्थे, स्थापनायां, द्रव्ये च मङ्गलाभिधानमात्रस्य सर्वत्र भावात्। तथा द्रव्यत्वमपि त्रिष्वपि तुल्यम्, यतः–" जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा मंगलं ति नाम कीरइ।" इत्यादि वचनाद् नामनि तावद् द्रव्यमेवाऽभिसंबध्यते, स्थापनायामपि " यत् स्थाप्यते " इति वचनाद् द्रव्यमेवाऽऽयोज्यते, द्रव्ये तु द्रव्यत्वं विद्यत एव, इति त्रिष्वपि द्रव्यत्वस्य तुल्यता। तथा तदर्थशून्यत्वं च भावार्थशून्यत्वं च त्रिष्वपि समानम्, नाम–स्थापना–द्रव्येषु भावमङ्गलस्याऽभावात्। तस्मादभिधान–द्रव्यत्व–भावार्थशून्यत्वानां समानत्वाद् नाम–स्थापना–द्रव्याणां परस्परमभेदः, भावे तु तदर्थशून्यत्वं नास्ति; इत्येतावताऽसौ नामाऽऽदिभ्यो विशेष्यत इति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥ ५२ ॥

परेणैवमविशेषे प्रेरिते यो विशेषः,
तमभिधित्सुः सूरिराह—

आगारोऽभिप्पाओ, बुद्धी किरिया फलं च पाएण।
जह दीसइ ठवणिंदे, न तहा नामे न दव्विंदे ॥ ५३ ॥

यथा स्थापनेन्द्रे आकारो लोचनसहस्र–कुण्डल–किरीट–शचीसंनिधान–करकुलिशधारण–सिंहासनाऽध्यासनाऽऽदिजनितातिशयो देहसौन्दर्यभावो दृश्यते, तथा स्थापनाकर्तुश्च यथा सद्भूतेन्द्राभिप्रायो विलोक्यते, तथा द्रष्टुश्च यथा तदाकारदर्शनादिन्द्रबुद्धिरुपजायते; यथा चैनमुपसेवमानानां सद्भक्तिपरिणतबुद्धीनां नमस्करणाऽऽदिका क्रिया संवीक्ष्यते, फलं च यथा प्रायेणोपलभ्यते पुत्रोत्पत्त्यादिकम्, न तथा नामेन्द्रे; नाऽपि द्रव्येन्द्रे। ततो नाम–द्रव्याभ्यां तावद् व्यक्त एव भेदः स्थापनाया इति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥ ५३ ॥

तदेवं स्पष्टतया लक्ष्यमाणत्वादादावेव नाम–द्रव्या–
भ्यां स्थापनाया भेदमभिधाय नाम–स्थाप–
नाभ्यां द्रव्यस्य भेदमभिधित्सुराह—

भावस्स कारणं जह, दव्वं भावो अ तस्स पज्जाओ।
उवओगपरिणइमओ, न तहा नामं न वा ठवणा ॥ ५४ ॥

यथाऽनुपयुक्तवक्तृप्रभृतिकं साधुद्रव्येन्द्राऽऽदिकं वा द्रव्यं भावस्योपयोगरूपस्य भावेन्द्रपरिणतिरूपस्य वा यथासंख्येन कारणं निमित्तं भवति, यथा च–' उवओगपरिणइमओ त्ति' उपयोगमयो भावेन्द्रपरिणतिमयश्च भावो यथासंख्येन तस्याऽनुपयुक्तवक्तृप्रभृतिकस्य साधुद्रव्येन्द्राऽऽदिकस्य वा द्रव्यस्य पर्यायो धर्मो भवति, न तथा नाम, नाऽपि स्थापनेति। इदमुक्तं भवति–यथाऽनुपयुक्तो वक्ता द्रव्यं कदाचिदुपयुक्तत्वकाले तस्योपयोगलक्षणस्य भावस्य कारणं भवति, सोऽपि चोपयोगलक्षणो भावस्तस्याऽनुपयुक्तवक्तृरूपस्य द्रव्यस्य पर्यायो भवति, यथा वा साधुजीवो द्रव्येन्द्रः सन् भावेन्द्ररूपायाः परिणतेः कारणं भवति, सोऽपि वा भावेन्द्रपरिणतिरूपो भावस्तस्य साधुजीवद्रव्येन्द्रस्य पर्यायो भवति, न तथा नाम-स्थापने। अतस्ताभ्यां द्रव्यस्य भेदः, नाम्नस्तु स्थापना–द्रव्याभ्यां भेदः सामर्थ्यादेवाऽवसीयत इति। तदेवं यद्यपि परप्रेरितप्रकारेण नाम–स्थापनाद्रव्याणामभेदः, तथाप्युक्तरूपेण प्रकारान्तरेण भेदः सिद्ध एव, नहि दुग्धतक्राऽऽदीनां श्वेतत्वाऽऽदिनाऽभेदेऽपि माधुर्याऽऽदिनाऽपि न भेदः, अनन्तधर्माध्यासितत्वाद् वस्तुन इति भावः। इति गाथाऽर्थः॥५४॥

तदेवं भेदव्याख्यापक्षे समर्थिते भूयोऽप्यपरेण प्रकारे–
णाऽऽह परः—

इह भावो च्चिय वत्थुं, तयत्थसुन्नेहिं किं व सेसेहिं? ।
नामादओ वि भावा, जं ते वि हु वत्थुपज्जाया ॥ ५५ ॥

इह नामाऽऽदिविचारे प्रक्रान्ते भाव एव वस्तु, विवक्षितार्थक्रियासाधकत्वात्, उभयसम्मतवस्तुवत्; न हि भावेन्द्रवद् विवक्षितार्थसाधनसमर्था गोपालदारकाऽऽद्या नामेन्द्राऽऽदयः, अतः किमत्र शेषैर्भावार्थशून्यैर्नामाऽऽदिभिः?, न किञ्चिदित्यर्थः। अत्रोत्तरमाह—'नामादओ' इत्यादि। इदमुक्तं भवति—यदि सामान्येनैव भावो वस्तुत्वेनाऽभ्युपगम्यते, तदा सिद्धसाध्यता, यतो नामाऽऽदयोऽपि, आदिशब्दात् स्थापना—द्रव्यपरिग्रहः, भावाः; भावविशेषा इत्यर्थः। कुतः?, इत्याह–यद्–यस्मात् तेऽपि–नामाऽऽदयो वस्तुनः पर्याया धर्माः, तथाहि–अविशिष्टे इन्द्रवस्तुन्युच्चारिते नामाऽऽदिकं भेदचतुष्टयमपि प्रतीयते—किमनेन नामेन्द्रो विवक्षितः आहोस्वित् स्थापनेन्द्रः, द्रव्येन्द्रः, भावेन्द्रो वा?, इति। ततः सामान्यस्येन्द्रवस्तुनश्चत्वारोऽप्यमी पर्यायाः, इति नामाऽऽदयो भावविशेषा एव, इति भावस्य वस्तुत्वसाधने न किञ्चिद्, नः क्षूयते पर्यायः, भेदः, भाव इत्यनर्थान्तरत्वात्। अथ विशिष्टार्थक्रियासाधकं भावेन्द्राऽऽदिकं भावमाश्रित्य वस्तुत्वं साध्यते, तथाऽपि न काचित् क्षतिः, यतो भावेन्द्राऽऽदेर्भावस्य विशिष्टार्थक्रियानिर्वर्तकत्वे नामेन्द्राऽऽदिपर्यायाणामपि तद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रष्टव्यमेव, द्रव्यरूपतया पर्यायाणां परस्परमभेदात् । इति गाथाऽर्थः ॥ ५५ ॥

अथवा-भावमङ्गलाऽऽदिकारणत्वात् नामाऽऽदीन्यपि
भावमङ्गलाऽऽदिरूपाण्येव, इति दर्शयन्नाह—

अहवा नामं-ठवणा-दव्वाइं भावमंगलंऽगाइं ।
पाएण भावमंगल-परिणामनिमित्तभावाओ ॥५६॥

अथवा नाम-स्थापना-द्रव्याणि भावमङ्गलस्यैवाऽङ्गानि कारणानि । कुतः?, इत्याह-'पाएण इत्यादि' भावमङ्गलपरिणामो भावमङ्गलोपयोगो भावमङ्गलसाध्वादिपरिणतिरूपो वा, तन्निमित्तभावात् तत्कारणत्वादित्यर्थः । यच्च यस्य कारणं तत् तद्व्यपदेशं लभत एव, यथा 'आयुर्घृतम्' 'रूपको भोजनम्' इत्यादि । क्लिष्टकर्मणां केषाञ्चिद् नामाऽऽदीनि भावमङ्गलकारणानि न भवन्त्यपि, इति प्रायोग्रहणम् । मङ्गलविचारश्चेह प्रक्रान्तः , तेन भावमङ्गलकारणानि नामाऽऽदीन्युक्तानि, यावता भावेन्द्राऽऽदेरपि तानि कारणत्वेन द्रष्टव्यान्येव । तस्माद् भावमङ्गलाऽऽदिकारणत्वाद् नामाऽऽदीन्यपि तद्रूपाण्येव, इति भावस्य वस्तुत्वसाधने नामाऽऽदीनामपि तत्कारणत्वात् तद् न च्यूयते । इति गाथाऽर्थः ॥५६॥

अथ नामाऽऽदीनां भावमङ्गलकारणत्वे उदाहरणान्याह—

जह मंगलाभिहाणं, सिद्धं विजयं जिणिंदनामं च ।
सोऊण पेच्छिऊण य, जिणपडिमालक्खणाईणि ॥५७॥
परिनिव्वुयमुणिदेहं, भव्वजइजनं सुवन्नमल्लाई ।
दट्ठूण भावमङ्गल-परिणामो होइ पाएण ॥ ५८ ॥

यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थः, तद्यथेत्यर्थः । मङ्गलमिति शब्दरूपमभिधानम् , तथा 'सिद्धं' सिद्धाऽभिधानम् , विजयाऽभिधानम् , जिनेन्द्राऽऽदिनाम च केनचिदुच्चरितं श्रुत्वा कस्यचित् प्रायेण सम्यग्दर्शनाऽऽदिको भावमङ्गलपरिणामो भवति, इति नाम्नो भावमङ्गलकारणत्वे उदाहरणम् । तथा प्रेक्ष्य चाऽवलोक्य जिनप्रतिमालक्षणाऽऽदीनि जिनप्रतिमास्वस्तिकाऽऽदीनीत्यर्थः, आदिशब्दादनगारपदाऽऽदिपरिग्रहः भावमङ्गलपरिणामो भवतीत्यत्राऽपि संबध्यते । एतत्तु स्थापनाया भावमङ्गलकारणत्वे उदाहरणम् । अथ द्रव्यस्य तत्कारणत्वे दृष्टान्तमाह—परिनिर्वृतो मुक्तिं गतो योऽसौ मुनिस्तद्देहम् , तथा भव्ययतिर्भविष्यद्यतिपर्यायो योऽसौ जनस्तम् , तथा सुवर्णमालयाऽऽदि च दृष्ट्वा प्रायेण सम्यग्दर्शनाऽऽदिभावमङ्गलपरिणामो भवतीति । अतस्तत्कारणत्वाद् नामाऽऽदीन्यपि भावमङ्गलानि, इति स्थितम् । इति गाथाद्वयाऽर्थः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

ननु नामाऽऽदीन्यपि यदि भावमङ्गलानि, तर्हि किं तान्यपि तीर्थंकराऽऽदिवत् पूज्यानि ?, इत्याशङ्क्याऽऽह—

किं पुण तमणेगंतिय-मच्चन्तं च न जओऽभिहाणाई ।
तव्विवरीअं भावं, तेण विसेसेण तं पुज्जं ॥ ५९ ॥

नामाऽऽदीन्युपयुक्तयुक्त्या भावमङ्गलानि । किं पुनः ?, यो विशेषः स उच्यते—तदभिधानाऽऽदित्रयमनैकान्तिकम् समीहितफलसाधने निश्चयाऽभावात् , तथाऽऽत्यन्तिकं च यतो न भवति , आत्यन्तिकप्रकर्षप्राप्ततथाविधविशिष्टफलसाधकत्वाभावात् । भावे-भावविषयं तु मङ्गलमुक्तविपरीतस्वरूपम् , तेन विशेषतो यथा तत् पूज्यम्, नवमितराणि । इति गाथाऽर्थः ॥ ५९ ॥

तदेवं भिन्नवस्तुषु विशेषतश्चिन्त्यमानानां नामाऽऽदीनां प्रधानतरभावो दर्शितः, सामान्यतः पुनर्विचिन्त्यमानानां सर्ववस्तुषु प्रत्येकं चतुर्णामप्यमीषां सद्भावः प्राप्यत एव, इति दर्शयन्नाह—

अहवा वत्थुभिहाणं, नामं ठवणा य जो तदागारो ।
कारणया से दव्वं, कज्जावन्नं तयं भावो ॥ ६० ॥

अथवा सर्वस्याऽपि घट-पटाऽऽदिवस्तुनो यदाऽऽत्मीयमभिधानं तद् नाम, यथोर्ध्वकुण्डलेष्वायतवृत्तग्रीवो घटः, आतानवितानीभूततन्तुसन्तानः पट इत्यादि । स्थापना पुनर्यस्तस्यैव सर्वस्य वस्तुनो निज आकारः। भाविकपालाऽऽदिकार्यापेक्षया तु या (से) तस्य सर्वस्याऽपि वस्तुनः कारणता-हेतुता तद् द्रव्यम्, "भूतस्य भाविनो वा;भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद् द्रव्यम्" इति वचनात् । मृत्पिण्डाऽऽदिवस्तुनस्तु कार्याऽपन्नं जन्यत्वाऽऽपन्नं तदेव घटाऽऽदिकं सर्वं वस्तु भावोऽभिधीयते; भवनं भाव इति कृत्वा । इत्थं सर्वं वस्तु चतूरूपाऽविनाभूतं दृष्टम्, एवमेव सम्यग्दर्शनव्यवस्थानात् , सर्वनयसमूहाऽऽत्मकत्वाज्जिनमतस्य । तदेवं सर्वस्याऽपि वस्तुनश्चतूरूपतायां किमुच्यते 'इह भावो च्चिय वत्थुं,तयत्थ सुन्नेहिं किं व सेसेहिं ।' इत्यादि ?, न ह्येकस्मिन्नेव वस्तुन्येककालं विद्यमानानां पर्यायाणां मध्ये 'अयं वस्तु' 'अपरस्त्ववस्तु, इति वक्तुं शक्यते, द्रव्यरूपतया सर्वेषामपि तेषामेकत्वादिति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ ६० ॥ विशे० ।

तदेवमवसितं प्रासङ्गिकम् । प्रकृतमुच्यते, तच्चेदम्-पूर्वं नोआगमतो भावमङ्गलं नोशब्दस्य सर्वनिषेधवचनत्वे विशुद्धः क्षायिकाऽऽदिर्भाव उक्तः, मिश्रवचनत्वे तस्य ज्ञानदर्शनचारित्रोपयोगः,एकदेशवचने पुनस्तस्याऽर्हन्नमस्काराऽऽदिज्ञानक्रियाविमिश्रपरिणामः प्रोक्तः । साम्प्रतं नोशब्दस्यैकदेशवाचित्वे नोआगमतो भावमङ्गलं ज्ञानपञ्चकरूपा नन्द्यपि भवतीति दर्शयन्नाह—

मंगलमहवा नन्दी, चउव्विहा मंगलं च सा नेया ।
दव्वे तूरसमुदओ, भावम्मि य पंच नाणाइं ॥ ७८ ॥

सूत्रस्य सूचकत्वाद् नोआगमतो भावमङ्गलस्यैव च प्रस्तुतत्वाद् मङ्गलशब्देनेह नोआगमतो भावमङ्गलमिति द्रष्टव्यम् । अथवाशब्दस्तु पूर्वोक्तपक्षत्रयापेक्षया विकल्पार्थः, ततश्चायमर्थः-यदि वा नोआगमतो भावमङ्गलमन्यद् द्रष्टव्यम् । किं तत् ?, इत्याह-'नन्दी, नन्दनं नन्दी, नन्दन्ति समृद्धिमवाप्नुवन्ति भव्यप्राणिनोऽनयेति वा नन्दी,इयं च सूत्रे सामान्योक्तावपि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरिह ज्ञानपञ्चकरूपा गृह्यते । सामान्यरूपेण तु चिन्त्यमानाऽसौ मङ्गलवद् नामाऽऽदिचतुर्विधा भवति । एतदेवाऽऽह-'चउव्विहेत्यादि' तत्र नन्दी,इति यत् कस्यचिद् नाम क्रियते सा नामनन्दी । अक्षाऽऽदिषु स्थापिता स्थापनानन्दी । द्रव्यनन्दी तु द्विविधा-आगमतः, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो नन्दीपदार्थज्ञोऽनुपयुक्तः,नोआगमतस्तु ज्ञ भव्यशरीरोभयव्यतिरिक्ता द्रव्यनन्दी द्वादशप्रकारस्तूर्यसमुदयः । तद्यथा-"भंभा-मुकुन्द-मद्दल,कडंब-झल्लरि-हुडुक्क-कंसाला । काहल-तलिमा वंसो, संखो पणवो य बारसमो " ॥ १ ॥ इह च 'दव्वे तूरसमुदओ' इत्यनेन ज्ञ-भव्यशरीरव्यतिरिक्ता द्रव्यनन्दी सूत्रेऽपि दर्शिता, नामनन्द्यादिस्वरूपं तु पूर्वो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्तनाममङ्गलाऽऽद्यनुसारेण सुज्ञेयत्वाद् नोक्तमिति। भावनन्द्यपि द्विधा—आगमतः, नोआगमतश्च। आगमतो नन्दिपदार्थज्ञस्तत्रोपयुक्तः। नोआगमतस्त्वाह–' भावम्मि येत्यादि ' भावे भावनन्द्यां विचार्यमाणायां पुनः ' नोआगमतो भावनन्दी ' इति शेषः। का पुनरियम् ?, इत्याह—पञ्च ज्ञानानि आगमस्य ज्ञानपञ्चकैकदेशत्वात् नोशब्दस्य चेहाप्येकदेशवाचित्वादिति भावः। इयमेव चेह नोआगमतो भावमङ्गलत्वेन प्रस्तुतगाथाऽऽदौ निर्दिष्टा। इति गाथार्थः ॥७८॥ विशे०। न०। आ० म०। आचा०। आ० चू०। दशा०। प्रव०। पं० व०। जी०। भ०। जीत०। सम्म०। जं०। ग०। पं० सं०। क० प्र०। बृ०। दर्श०। ध० र०। स्था०। उत्त०। ('तित्थयरे भगवंते ' इति आवश्यकस्य मध्यमङ्गलप्रस्तावः ' सामाइय ' शब्दे द्रष्टव्यः) मङ्गलं द्विधा—नतिरूपं, स्तुतिरूपं च। तदप्येकैकं त्रिधा—कायिकं, वाचिकं, मानसिकं च। दशा० १ अ०। अर्हदादीनां नमस्कारे, महा० ३ अ०। पञ्चा० अर्हदादिके च। आव०।

चत्तारि मंगला–अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं।

चत्वारः पदार्था मङ्गलमिति, के पते चत्वारः ?, तानुपदर्शयन्नाह–'अरिहंता मंगल' मित्यादि, अशोकाऽऽद्यष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तेऽर्हन्तो मङ्गलं सितं,ध्मातं येषां ते सिद्धास्ते च सिद्धा मङ्गलं,निर्वाणसाधकान् योगान् साधयन्ति इति साधवस्ते च मङ्गलं, साधुग्रहणादाचार्योपाध्याया गृहीता एव द्रष्टव्याः, यतो न हि ते न साधवः, धारयतीति धर्मः। केवलमेषां विद्यत इति केवलिनः, केवलिभिः सर्वज्ञैः प्रज्ञप्तः प्ररूपितः केवलिप्रज्ञप्तः, कोऽसौ ?, धर्मः श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च मङ्गलम्,अनेन कपिलाऽऽदिप्रज्ञप्तधर्मव्यवच्छेदमाह। अर्हदादीनां च मङ्गलता तेभ्य एव हितमङ्गलात्सुखप्राप्तेः। आव० ४ अ०। " अर्हन्तो मङ्गलं मे स्युः, सिद्धाश्च मम मङ्गलम्। साधवो मङ्गलं सम्यग्, जैनो धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥१॥" नं०। पा०। "मंगलजयसद्दकयालोए।" औ०। भ०। पञ्चा०।

मंगलकेउ–मङ्गलकेतु–पुं०। विदेहमङ्गलावतीविजयस्थमङ्गलालयाया नगर्य्याः स्वनामख्याते नृपे, " इहेव विदेहे मंगलावईविजए मंगलालयाए नयरीए मंगलकेऊ नरवई।" दर्श० १ तत्त्व।

मंगलग–मङ्गलक–न०। स्वस्तिकाऽऽदिके, "अट्ठऽट्ठ मंगलगा पएणत्ता। तंजहा–सौत्थियसिरिवच्छणंदियावत्तवद्धमाणयभद्दासणकलसमच्छदप्पणा।" रा०।

मंगलचेइय–मङ्गलचैत्य–न०। गृहद्वारदेशाऽऽदिनिष्कुटितप्रतिमाऽऽदिके, जीत०।

मंगलजयसद्दकयालोय–मङ्गलजयशब्दकृताऽऽलोक–पुं०। यस्य दर्शने लोकैर्जयजयशब्दः क्रियमाणोऽस्तीति ज्ञेयम्। तस्मिन्, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

मंगलट्ठ–मङ्गलार्थ–त्रि०। मङ्गलेनार्थ्यते प्राप्तुं साधयितुमिष्यते इति मङ्गलार्थः। अथवा–अर्थ्यते गम्यते साध्यत इत्यर्थो, मङ्गलस्यार्थो मङ्गलार्थः। मङ्गलसाध्ये, विशे०।

मंगलदीव–मङ्गलदीप–पुं०। माङ्गल्यदीपे, पञ्चा० ८ विव०।

मंगलपडिसरण–मङ्गलप्रतिसरण–न०। मङ्गलकङ्कणे, ध० ३ अधि०। पञ्चा०।

मंगलपाढिया–मङ्गलपाठिका–स्त्री०। वैतालिक्यां वीणायाम्, "वेयालिए वीणाए।" प्रातः सन्ध्यायां देवतायाः पुरतो या वादनायोपस्थाप्यते सा किल मङ्गलपाठिका तालाभावे च वाद्यत इति विताले तालाभावे भवतीति वैतालिकी। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मंगलपायच्छित्त–मङ्गलप्रायश्चित्त–न०। मङ्गलं दध्यक्षतचन्दनाऽऽदि तदेव प्रायश्चित्तमिव प्रायश्चित्तम्, दुःस्वप्नाऽऽदिप्रतिघातकत्वेनावश्यकर्त्तव्यत्वात्। दुःस्वप्नाऽऽदिप्रतिघाताऽऽवश्यकर्त्तव्ये दध्यक्षतचन्दनाऽऽदिके, औ०। विपा०।

मंगलपुर–मङ्गलपुर–न०। मालवदेशस्थे स्वनामख्याते पुरे, ती० ३१ कल्प।

मंगलभत्तिचित्त–मङ्गलभक्तिचित्र–त्रि०। अष्टानां मङ्गलानां भक्त्या विच्छित्त्या चित्रमालेखो यस्य। मङ्गलविच्छित्त्या लेखिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मंगलसद्द–मङ्गलशब्द–पुं०। मङ्गलमित्येवंरूपो मङ्गलभूतो वा विजयसिद्ध्यादिशब्दो मङ्गलशब्दः। मङ्गलमित्याकारके शब्दे मङ्गलभूते विजयसिद्ध्यादिशब्दे, मङ्गलध्वनौ च। "सोउं मङ्गलसद्दं, सउणम्मि जहा उ इट्ठसिद्धि त्ति।" पञ्चा० ८ विव०।

मंगला–मङ्गला–स्त्री०। दुर्गायाम्, हरिद्रायाम्, दूर्वायाम्, पतिव्रतायाम्, वाच०। सुमतिजिनस्य जनन्यां च। प्रव० ११ द्वार। आव०। स०। नं०।

मंगलालया–मङ्गलाऽऽलया–स्त्री०। मङ्गलावतीविजयक्षेत्रस्थायां स्वनामख्यातायां नगर्य्याम्, " इहेव विदेहे मंगलावईविजए मंगलालयाए नयरीए मंगलकेऊ णरवई।" दर्श० १ तत्त्व। " धायईखंडे दीवे पुव्वविदेहे मंगलालयाए णयरीए मंगलावईविजए णंदिणामो संनिवेसो।" आ०चू० १ अ०। दर्श०।

मंगलावई–मङ्गलावती–स्त्री०। जम्बूद्वीपविदेहपुष्कलावतीविजयपुण्डरीकिणीनगरीनृपतेर्वज्रसेनस्य धारण्यपरनामधेयायां स्वनामख्यातायाम् अग्रमहिष्याम्, आ०चू०१अ०। आ० म०। दशार्णपुरनगरनृपतेर्दशार्णभद्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, आ० चू० १ अ०।

दो मंगलावई। स्था० २ ठा० ३ उ०।

मंगलावईकूड–मङ्गलावतीकूट–न०। जम्बूद्वीपसौमनसवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे, मङ्गलावतीविजयदेवस्य मङ्गलावती कूटमिति। जं० ४ वक्ष०। स्था०।

मंगलावईविजय–मङ्गलावतीविजय–पुं०। जम्बूद्वीपसौमनसवक्षस्कारपर्वतमङ्गलावतीकूटस्थे स्वनामख्याते देवे, स्था० ७ ठा०। स्वनामख्याते चक्रवर्तिविजयक्षेत्रे च। नं०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"मंगलावईविजए रयणसंचया रायहाणी । जं० ४ वक्ख० । "धातकीखंडे दीवे पुव्वविदेहे मंगलावईविजए एंदिग्गामो।" आ० म० १ अ० । आ० चू० । " इहेव विदेहे मंगलावईविजए मंगलालयाए णयरीए । " दर्श० १ तत्त्व । स्था० । जम्बूमन्दरपूर्वस्यां शीताया महानद्या दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च मङ्गलावतीविजयं नाम चक्रवर्तिविजयमिति । स्था० ८ ठा० ।

मंगलावत्त–मङ्गलाऽऽवर्त्त–पुं० । स्वनामख्याते विजये, स्था० ।

दो मंगलावत्ता । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

मंगलावत्तविजय–मङ्गलाऽऽवर्तविजय–न० । विजयक्षेत्रे, जं० ।

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे मंगलावत्ते णामं विजए पएणत्ते ? । गोयमा ! णीलवंतस्स दक्खिणेणं सीताए उत्तरेणं णलिणकूडस्स पुरच्छिमेणं पंकावईए पच्चच्छिमेणं एत्थ णं मंगलावत्ते णामं विजए पएणत्ते । जहा कच्छस्स विजए तहा एसो वि भाणिअव्वो० जाव मंगलावत्ते अ इत्थ देवे परिवसइ, से एएणट्ठेणं० । जं० ४ वक्ख० ।

मंगल्ल–मङ्गल्य–त्रि० । मङ्गले साधुर्मङ्गल्यः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अनर्थप्रतिघातके मङ्गलकारिणि, भ० १ श० ५ उ० । मङ्गल्यं दुरितोपशमसाधु । भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० । मङ्गलाय हितं यत् । रुचिरे च । चन्दने, मङ्गलागुरुणि, स्वर्णे, सिन्दूरे, दध्नि च । 'सर्वमङ्गलमङ्गल्ये' इति चण्डी । अश्वत्थे, बिल्वे, जीरके, मसूरके, नारिकेले, कपित्थे, रीठाकरञ्जे च । पुं० । वाच० ।

माङ्गल्य–न० । मङ्गलमेव मङ्गलाय हितं ष्यञ् । मङ्गले, मङ्गलसाधने च । वाच० । दुरितक्षये, साधुर्माङ्गल्यः । स्था० ६ ठा० । अनर्थप्रतिघातके, त्रि० । भ० ६ श० ३३ उ० । औ० ।

मंगी–मङ्गी–स्त्री० । षड्जग्रामस्य सप्तसु मूर्च्छनासु प्रथममूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ।

मंगु–मङ्गु–पुं० । स्वनामख्याते आचार्य्ये, आ० क० ।

तत्कथा चैवम्–

" मथुरामागमन्मङ्गु–राचार्यः श्रुतपारगः ।
धर्मोपदेशवान् लब्ध्वा, भविकप्रतिबोधकः ॥ १ ॥
समृद्धाः श्रावका भक्त्या, भोज्यानि सरसानि च ।
सुखेनावस्थितिस्तत्र, तस्याऽभूत्सर्वकालिकी ॥ २ ॥
ऋद्धिरससातरूपं, ततोऽभूद्गौरवत्रयम् ।
नित्यवासी स तत्राऽऽसी–दतो लौल्याद्विशेषतः ॥ ३ ॥
आयुःक्षये स मृत्वाऽभू–द्यक्षो निर्धमने पुरः ।
ज्ञात्वाऽवधेः स्वं शिष्यान् स्वान्, संज्ञाभूमिमुपागतान् ॥ ४ ॥
दृष्ट्वा प्रासार्यदीर्घां, जिह्वां बोधयितुं सुधीः ।
तेष्वेकः सात्त्विकः साधु–रूचे त्वं कोऽसि गुह्यक ! ॥ ५ ॥
स ऊचे वो गुरुर्मृत्वा, लौल्यादीदृक् सुरोऽभवम् ।
नित्यवासं ततो यूयं, परित्यज्य कृतोद्यमाः ॥ ६ ॥
विहरध्वं क्रियानिष्ठाः, लभध्वं मा स्म दुर्गतिम् ।
श्रुत्वा गुरुवचोऽदृष्ट–प्रत्यया गौरवेषु ते ॥ ७ ॥

तद्दैवाऽऽवेद्य भव्यानां, व्यहार्षुस्त्यक्तगौरवाः।" आ०क०४अ०। आर्य्यसमुद्रस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्य्ये, आर्यसमुद्रस्याऽपि शिष्यमार्य्यमङ्गुं वन्दे, किंभूतमित्याह–

भणगं करगं भरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥३०॥ नं० ।

(व्याख्या ' अज्जमंगु ' शब्दे प्रथमभागे २११ पृष्ठे गता ।)

मंगुल–मङ्गुल–त्रि० । असुन्दरे, दर्श० ३ तत्त्व । आ० म० । व्य० । उपा० । "इय मंगुल आयरिए,मंगुलसीसे मुणेयव्वे ।" स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

मंगुवायग–मङ्गुवादक–पुं० । मङ्गुवादनकारके,आ०चू०१अ० ।

मंगुस–मङ्गुस–पुं० । भुजपरिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० ।

मंच–मञ्च–पुं० । ' मचि ' उच्छ्रये, घञ् । खट्वायाम्, स्तम्भन्यस्तफलकमये (ज्ञा० १ श्रु० १ अ०) वंशनिर्मिते उच्चाऽऽसने, मञ्चः स्थूणानामुपरि स्थापितवंशकटकाऽऽदिमयो लोकप्रसिद्धः । बृ० २ उ० । आचा० । " अकुट्टो होइ मंचो ।" स्था० ३ ठा० १ उ० । भ० । प्रेक्षणकद्रष्टृजनोपवेशननिमित्ते मालके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । दश० । मञ्चो मञ्चसदृशः । योगभेदे,सू०प्र० १२ पाहु० । स्वार्थे कन् । तत्रैव,वाच० ।

मंचाइमंच–मञ्चातिमञ्च–पुं० । मञ्चो महोत्सवविलोकनजनानामुपवेशननिमित्तमालकः, अतिमञ्चस्तस्योपरि मालकः । मालकोपरिवर्तिनि मालके, " मंचाइमंचकलिए । " कल्प० १ अधि० ५ क्षण । औ० । दशा० । ज्ञा० । मञ्चान् व्यवहारप्रसिद्धान् द्वित्राऽऽदिभूमिकाभावतोऽतिशायी मञ्चो मञ्चातिमञ्चस्तत्सदृशो योगोऽपि मञ्चातिमञ्चः । चन्द्रसूर्य्ययोर्नक्षत्रयोगेन जायमानेषु वृषभानुजाताऽऽदिकेषु दशसु योगेषु स्वनामख्याते चतुर्थे योगे, सू०प्र० १२ पाहु० ।

मंचिया–मञ्चिका–स्त्री० । आसनभेदे, " निवेशयात्र तन्वङ्गि, सत्वरं वरमञ्चिके । " आ० क० १ अ० ।

मंजरी–मञ्जरी–स्त्री० । मञ्जु अच्छति । ङीप् । अभिनवोद्भूतायां सुकुमारायां पल्लवाङ्कुररूपायां वल्लर्य्याम्, वाच० । औ० । आचा० । ङीबन्तस्तु तत्र । मुक्तायाम्, तिलकलतायाम्, तुलस्यां च । वाच० ।

मंजरीगुंडी–मञ्जरीगुण्डी–स्त्री० । वल्लीभेदे, " (३४५) तोमरिगुंडी य मंजरीगुंडी" पाइ० ना० १३६ गाथा ।

मंजार–मार्जार–पुं० । मृज–आरन् । " वक्राऽऽदावन्तः ॥८।१। २६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणानुस्वारः । प्रा० १ पाद । विडाले, रक्तचित्रके, खट्टासे च । ततः संज्ञायां कन् । मयूरे, वाच० ।

मंजिट्ठदोणी–माञ्जिष्ठद्रोणी–स्त्री० । मञ्जिष्ठरागभाजने, भ० ८ श०६ उ० ।

मंजिया–मञ्जिका–स्त्री० । मध्यवर्तिनि भागे,आ० म० १ अ० ।

मंजु–मञ्जु–त्रि० । मनोहरे, वाच० । प्रिये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । जं० । कोमले, भ० ६ श० ३३ उ० । कल्प० । अतिकोमले, ' मंजुमंजुणा घोसेणं पडिबुज्झमाणे । " भ० ६ श० ३३ उ० । कल्प० । औ० । सुन्दरे, पाइ०ना० ८८ गाथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंजुघोस–मञ्जुघोष–त्रि० । मञ्जु प्रियो घोषो यस्य सः । रा० । कर्णमनःसुखदायिघोषोपेते , जं० १ वक्त० । जी० ।

मंजुल–मञ्जुल–त्रि० । मञ्ज् उलच् । मनोहरे, वाच० । कोमले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० । स० । नि० । प्रश्न० । भ० । "अदु मंजुलाइँ भासंति ।" मञ्जुलानि–पेशलानीति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । मञ्जुलाः सुललितवर्णमनोहरा इति । कल्प० १ अधि० ३ क्षण । पाइ०ना० ।

मंजुलप्पलाव–मञ्जुलप्रलाप–त्रि० । मञ्जुलो मधुरः प्रलापो जल्पो यस्य सः । मधुरजल्पे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

मंजुस्सर–मञ्जुस्वर–त्रि० । मञ्जुः प्रियः स्वरो यस्य । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । तं० । रा० । कर्णमनःसुखदायिस्वरोपेते , जं० १ वक्त० ।

मंजूसा–मञ्जूषा–स्त्री० । मनज–उषन् । पेटिकायाम् , वाच० । "वारसदीहा मंजूससंठिया जाणहवीइ मुहे ।" स्था० ६ ठा० । आव० । जम्बूमन्दरपूर्वस्यां शीताया महानद्या उत्तरस्यां स्वनामख्यातायां राजधान्याम् , स्था० ८ ठा० । जं० । मञ्जूषायाम् , वाच० ।

दो मंजूसा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

मंडग–मण्डक–पुं० । मडि–एवुल् । पिष्टकभेदे, वाच० । मण्डकाः पृकाणिकामयाः । बृ० १ उ० २ प्रक० । समितिमायाम् , बृ० १ उ० २ प्रक० । दक्षिणापथे कुडवार्द्धमात्रया महाप्रमाणो मण्डकः क्रियते स हेमन्तकाले अरुणोदयवेलायायग्नीष्टिकायां पक्त्वा धूलीजङ्घाय दीयते । बृ० १ उ० ३ प्रक० । इत्युक्तलक्षणे पदार्थे, वाच० ।

मंडण–मण्डन–पुं० । मण्डयति मडि ल्युः अलङ्कारके, वाच० । शोभाकारिणि, स० । भावे ल्युट् । भूषायाम् , न० । वाच० । मण्डनं कङ्कणाऽऽदिभिरिति । अनु० । उत्त० ।

मंडणधाई–मण्डनधात्री–स्त्री० । मण्डिकायाम् , तद्रूपे धात्रीभेदे च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० चू० ।

मंडव (ग)–मण्डप(क)–पुं० । न० । मडि घञ् । मण्डं भूषां पाति रक्षति । पा–कः । मडि कपन् वा । जनविश्रामस्थाने, देवाऽऽदिगृहे, वाच० । औ० । यज्ञाऽऽदिमण्डपे, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । नागवल्लीद्राक्षाऽऽदिभिर्वेष्टिते स्थाने, उत्त० १८ अ० । औ० । जी० । छायाद्यर्थे पटादिमये आश्रयविशेषे,जी० ।

तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे जाइमंडवगा जूहियामंडवगा मल्लियामंडवगा णवमालियमंडवगा वासंतीमंडवगा दहिवासुयामंडवगा सुरिल्लिमंडवगा तंबोलीमंडवगा मुद्दियामंडवगा णागलयामंडवगा अतिमुत्तमंडवगा अप्फोयामंडवगा अमेत्तामंडवगा मालुयामंडवगा सामलयामडंवगा निच्चं कुसुमिया निच्चं०जाव पडिरूवा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रश्न० । स्था० ।

मण्डोरपत्यं माण्डवः । गोत्रभेदे,तद्गोत्रापत्ये च । स्था० ७ ठा० ।

जे मंडवा ते सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा–ते मंडवा ते आरिट्ठा ते संमुत्ता ते हेरा ते एलावच्चा ते कंडिल्ला ते खारायणा । स्था० ७ ठा० ।

मण्डपानक तेरि, त्रि० । निष्पाणनाम् , शूकशिम्बीभेदे, स्त्री० ।

वाच० । अर्द्धगव्यूततृतीयान्तर्ग्रामान्तररहिते ग्रामे, न० । रा० । स्वार्थे कन् । तत्रैव, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० ।

मंडविय–माण्डपिक–पुं० । मण्डपाधिपे, औ० ।

मंडव्वायण–माण्डव्यायन–पुं० । गोत्रभेदे, तद्गोत्रापत्ये च । चं० प्र० १० पाहु० १६ पाहु०पाहु० । सू० प्र० । जं० ।

मंडल–मण्डल–न० । मडि कलच् । चक्रवाले, स्था० ३ ठा० ४ उ० । चक्राऽऽकारेण वेष्टने, मण्डलाऽऽकारेण विहिते पदार्थे, द्वादशनृपचक्रे, गोले , वाच० । मण्डलं वृत्तमिति । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । देशे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । "मण्डलं ति विसयमंडलं ।" आव० ४ अ० । मण्डलमिङ्गितं क्षेत्रम् । स्था० ७ ठा० । समुदाये, स० ३४ सम० । यत्र द्वावपि पादौ समौ दक्षिणवामतोऽपसार्य्य ऊरू प्रसारयति यथा मध्ये मण्डलं भवति अन्तरा चत्वारः पादास्तन्मण्डलम् इत्युक्तलक्षणे योधानां स्थानभेदे, व्य० १ उ० । आ० म० । आ० चू० । नि० चू० । उत्त० । मण्डलं सर्वतो वृत्तिः इत्युक्तलक्षणे सैन्यव्यूहभेदे, कृत्रिमरेखासन्निवेशेन रचिते पदार्थे, यथा ग्रहमण्डलं सर्वतोभद्रमण्डलमिति । बिम्बे, वाच० । सूर्य्याऽऽदीनां मण्डले, सू० प्र० ।

अथ मण्डलनिष्पत्तिस्वरूपमाह–

रविदुगभमणवसाओ, निप्फज्जइ मंडलं इहं एगं ।
तं पुण मंडलसरिसं, ति मंडलं वुच्चइ तहा हि ॥ १३ ॥

रविद्विकभ्रमणवशान्निष्पद्यते मण्डलम् इह एकं, तत्पुनर्वृत्ताऽऽकारतया मण्डलसदृशमिति हेतोर्व्यवहारेण मण्डलमुच्यते । सूर्य्याऽऽदीनां मार्ग्गे, मण्ड० । स्था० । सूर्य्याऽऽदीनां मण्डलविष्कम्भे , मण्डलशब्देन मण्डलविष्कम्भ उच्यते । परिमाणे परिमाणवत उपचारात् । सू० प्र० १० पाहु० ११ पाहु० पाहु० । मण्डलपरिभ्रमणे , सू०प्र० १ पाहु० ६ पाहु० पाहु० । वृत्ताऽऽकार हृद्विशेषरूपे कुष्ठरोगभेदे , पिं० । "संसारे से न अच्छइ मंडले । " मण्डले चातुर्गतिकसंसारे । उत्त० ३१ अ० । आदर्शे च । वाच० । "अंकामया मंडला ।" मण्डलानि यत्र प्रतिबिम्बसम्भूतिः । रा० । कुक्कुरे, दश० ५ अ० १ उ० । सर्पभेदे च । पुं० । स्त्रियां गौरा० ङीष् । गण्डदूर्वायाम्, वाच० । शुनि, " (६२) साणा भसणा इंदमहकामुआ मंडला कविला " पाइ० ना० ४१ गाथा ।

मंडलग्ग–पुं० । न० । मण्डलाग्र–न० । खड्गे, (५४) "खग्गो असी किवाणं, करवालं मंडलग्गं च । " पा० इ० ना० ३७ गाथा । " जह णाम मंडलग्गेण । " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । खड्गविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

मंडलज्झयण–मण्डलाध्ययन–न० । बन्धदशानां पञ्चमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ।

मंडलपगरण–मण्डलप्रकरण–न० । विनयकुशलविरचिते चन्द्राऽऽदिमण्डलाऽऽदिविचारप्रतिपादके ग्रन्थे, मण्ड० ।

पणमिअ वीरजिणिंदं, भवमंडलभमणदुक्खपरिमुक्कं ।
चंदाइमंडलाई–विआरलवमुद्धरिस्सामि ॥ १ ॥ मण्ड० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तवगणगयणदिणेसर–सूरीसरविजयसेण सुपसाया ।
नरखित्तचारिचंदा–इयाण मंडलगमाईणं ॥ ६८ ॥

एसो विप्रारलेसो, जीवाभिगमाइआगमेहिंतो ।
विणयकुसलेण लिहिओ, सरणत्थं सपरगाहाहिं ॥६६॥

स्वकृतपरकृतगाथाभिः स्मृत्यर्थं लिखितो विचारलेशः न नूतनो विहितः, किं तु श्रीमुनिचन्द्रसूरिकृतमण्डलकमेव प्रतिसंस्कृतं जीवाभिगमाऽऽदिगाथाभिः कतिभिः नूतनाभिश्च, शेषं स्पष्टम् ॥ ६६ ॥ मण्ड० ।

मंडलपय–मण्डलपद–पुं० । मण्डलरूपं पदं मण्डलपदम् । सूर्याऽऽदिमण्डलस्थाने, सू० प्र० १ पाहु० ७ पाहु० पाहु० ।

मंडलपवेस–मण्डलप्रवेश–पुं० । अङ्कखलकप्रविष्टस्यैकस्य मल्लस्य यत्लभ्यं भूखण्डं तन्मण्डलं, तत्र वर्त्तमानस्य प्रतिद्वन्द्विनो मल्लस्य निपाताय यः प्रवेशः स मण्डलप्रवेशः । स्वमण्डले वर्त्तमानस्य मल्लस्य निपाताय प्रतिद्वन्द्विनो मल्लस्य तन्मण्डलप्रवेशे, पिं० । यत्राऽध्ययने चन्द्रस्य सूर्यस्य दक्षिणेषु उत्तरेषु च मण्डलेषु च सञ्चरतो यथा मण्डलान्ममण्डले प्रवेशो भवति तथा व्यावर्ण्यते तदध्ययनं मण्डलप्रवेशः । उत्कालिकश्रुतभेदे, नं० । पा० ।

मंडलमज्झत्थ–मण्डलमध्यस्थ–त्रि० । मण्डलमध्यभागवर्तिनि, ज्यो० १५ पाहु० ।

मंडलरोग–मण्डलरोग–पुं० । बहुस्थानव्यापके रोगे, जं० २ वक्ष० । जी० ।

मंडलवइ–मण्डलपति–स्त्री० । देशकार्य्यनियुक्ते,जं० ३ वक्ष० ।

मंडलवंत–मण्डलवत्–न० । मण्डलं मण्डलपरिभ्रमणमस्यास्तीति मण्डलवत् । चन्द्राऽऽदिविमाने, सू० प्र० १ पाहु० ७ पाहु०पाहु० ।

मंडलवत्ता–मण्डलवत्ता–स्त्री० । मण्डलं मण्डलपरिभ्रमणमस्यास्तीति मण्डलवच्चन्द्राऽऽदिविमानम्, तद्भावो मण्डलवत्ता । चन्द्राऽऽदिविमाने, तत्राभेदोपचारात् चन्द्राऽऽदिविमानान्येव मण्डलवत्ता इत्युच्यन्ते । सू० प्र० १ पाहु० ७ पाहु० पाहु० ।

मंडलवरभद्द–मण्डलवरभद्र–पुं० । कुण्डलवरद्वीपस्थे देवे, सू० प्र० १६ पाहु० ।

मंडलवरमहाभद्द–मण्डलवरमहाभद्र–पुं० । कुण्डलवरद्वीपस्थे देवे, सू० प्र० १६ पाहु० ।

मंडलसंकमण–मण्डलसङ्क्रमण–न० । सूर्य्याऽऽदीनां मण्डलान्मण्डलान्तरसङ्क्रमणे, चं०प्र० ।

ता कहं ते मंडलाओ मंडलं संकममाणे संकममाणे सूरिए चारं चरति आहिता ति वदेज्जा । तत्थ खलु इमाओ दुवे पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ, तत्थेगे एवमाहंसु–ता मंडलातो मंडलं संकममाणे संकममाणे सूरिए भेदघातेणं संकामति एगे एवमाहंसु । एगे पुण एवमाहंसु–ता मंडलातो मंडलं संकममाणे संकममाणे सूरिए कन्नकलं णिव्वेढेइ, तत्थ जे ते एवमाहंसु, ता मंडलातो मंडलं संकममाणे संकममाणे सूरिए भेयघाएणं संकमइ, तेसि णं अयं दोसे, ता जेऽणंतरेणं मंडलातो मंडलं संकममाणे संकममाणे सूरिए भेदघाएणं संकमति, एवतियं च णं अद्धं पुरतो ण गच्छति, पुरतो अगच्छमाणे मंडलकालं परिहवेइ, तेसि णं अयं दोसे, तत्थ जे ते एवमाहंसु, ता मंडलातो मंडलं संकममाणे सूरिए कण्णकलं णिव्वेढेति, तेसि णं अयं विसेसे–ता जेऽणंतरेणं मंडलातो मंडलं संकममाणे सूरिए कण्णकलं निव्वेढेति, एवतियं च णं अद्धं पुरतो गच्छति, पुरतो गच्छमाणे मंडलकालं ण परिहवेति, तेसि णं अयं विसेसे, तत्थ जे ते एवमाहंसु–मंडलातो मंडलं संकममाणे सूरिए कण्णकलं निव्वेढेति, एएणं णएणं णेयव्वं णो चेव णं इतरेणं णेतव्वं । (सूत्रम्–२२)

(ता कहमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्, कथं भगवन् ! मण्डलात् मण्डलं सङ्क्रामन् सूर्यश्चारं चरति, चारं चरन् आख्यात इति वदेत् । किमुक्तं भवति ?–कथं भगवन्नेष सूर्यश्चारं चरन् मण्डलान्मण्डलं संक्रामन् आख्यात इति । अत्र हि मण्डलान्मण्डलान्तरसंक्रमणमेव वक्तव्यमतस्तदेव प्रधानीकृत्य वाक्यस्य भावार्थो भावनीयः । एवमुक्ते भगवानाह–(तत्थ खलु इत्यादि) तत्र मण्डलान्मण्डलान्तरसंक्रमणविषये खल्विमे द्वे प्रतिपत्ती प्रज्ञप्ते । तद्यथा–तत्रैके एवमाहुः–' ता ' इति पूर्ववत् स्वयं भावनीयं, मण्डलादपरमण्डलं संक्रामन्–संक्रमितुमिच्छन् सूर्यो भेदघातेन संक्रामति, भेदो मण्डलस्य मण्डलस्यापान्तरालं तत्र घातो गमनम्, एतच्च प्रागेवोक्तं, तेन संक्रामति, किमुक्तं भवति ?–विवक्षिते मण्डले सूर्येणाऽऽपूरिते सति तदन्तरमपान्तरालगमनेन द्वितीयं मण्डलं संक्रामति, संक्रम्य च तस्मिन्मण्डले चारं चरतीति । अत्रोपसंहारः–(एगे एवमाहंसु) एके पुनरेवमाहुः ' ता ' इति पूर्ववत्, मण्डलान्मण्डलं संक्रामन् संक्रतुमिच्छन् सूर्यस्तदधिकृतमण्डलं प्रथमक्षणादूर्ध्वमारभ्य कर्णकलं निर्वेष्टयति मुञ्चति, इयमत्र भावना–भारत ऐरावतो वा सूर्यः स्वस्थाने उद्गतः सन्नपरमण्डलगतं कर्णं प्रथमकोटिभागरूपं लक्ष्यीकृत्य शनैः शनैरधिकृतं मण्डलं तया कयाचनापि कलया मुञ्चन् चारं चरति, येन तस्मिन्नहोरात्रेऽतिक्रान्ते सति अपरानन्तरमण्डलस्याऽऽदौ वर्त्तते इति, कर्णकलमिति च क्रियाविशेषणं द्रष्टव्यम् । तच्चैवं भावनीयम्–कर्णमपरमण्डलगतप्रथमकोटिभागरूपं लक्ष्यीकृत्याधिकृतमण्डलं प्रथमक्षणादूर्ध्वं क्षणे क्षणे कलयाऽतिक्रान्तं यथा भवति तथा निर्वेष्टयतीति, तदेवं प्रतिपत्तिद्वयमुपन्यस्य यद्वस्तुतत्त्वं तदुपदर्शयति–(तत्थेत्यादि) तत्र तेषां द्वयानां मध्ये ये एवमाहुः–मण्डलान्मण्डलं संक्रामन् भेदघातेन संक्रामति तेषामयम् अनन्तरमुच्यमानो दोषः, तमेवाऽऽह–येन यावता कालेन अन्तरेण अपान्तरालेन मण्डलान्मण्डलं संक्रामन् सूर्यः भेदघातेन संक्रामतीत्युच्यते, एतावतीमद्धां पुरतो द्वितीये मण्डले न गच्छति । किमुक्तं भवति ?–मण्डलान्मण्डलं संक्रामन् यावता कालेनापान्तरालं गच्छति तावत्कालानन्तरं परे–

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमितुमिष्टे द्वितीयमण्डलसत्काहोरात्रमध्यात् त्रुट्यति, ततो द्वितीये मण्डले परिभ्रमन् पर्यन्ते तावन्तं कालं न परिभ्रमेत्, तद्गताहोरात्रस्य परिपूर्णीभूतत्वात्, एवमपि को दोष इत्याह-पुरतो द्वितीयमण्डलपर्यन्ते अगच्छन् मण्डलकालं परिभवति, यावता कालेन मण्डलं परिपूर्णं परिभ्रम्यते, तस्य हानिरुपजायते, तथा च सति सकलजगद्विदितप्रतिनियतदिवसरात्रिपरिमाणव्याघातप्रसङ्गः । [तेसि णमयं दोसे त्ति] तेषामयं दोषः (तत्थ इत्यादि) तत्र ये ते वादिन एवमाहुः-मण्डलान्मण्डलं संक्रामन् सूर्योऽधिकृतमण्डलं कर्णकलं निर्वेष्टयति मुञ्चति तेषामयं विशेषो गुणस्तमेवाऽऽह-(जेणेत्यादि) येन यावता कालेनापान्तरालेन मण्डलान्मण्डलं संक्रामन् सूर्यः कर्णकलमधिकृतं मण्डलं निर्वेष्टयति,एतावतीमद्धां पुरतोऽपि द्वितीयमण्डलपर्यन्तेऽपि गच्छति । इयमत्र भावना—अधिकृतं मण्डलं किल कर्णकलं निर्वेष्टितमतोऽपान्तरालगमनकालोऽधिकृतमण्डलसत्क एवाऽहोरात्रेऽन्तर्भूतस्तथा च सति द्वितीये मण्डले संक्रान्तः सन् तद्गतकालस्य मनागप्यहीनत्वात् यावता कालेनाऽपान्तरालं गम्यते तावता कालेन पुरतो गच्छति , ततः किमित्याह-पुरतो गच्छन् मण्डलकालं न परिभवति, यावता कालेन प्रसिद्धेन तत् मण्डलं परिसमाप्यते तावता कालेन तन्मण्डलं परिपूर्णं समापयति, न पुनर्मनागपि मण्डलकालपरिहाणिस्ततो न कश्चित्सकलजगत्प्रसिद्धप्रतिनियतदिवसरात्रिपरिमाणव्याघातप्रसङ्गः , एष तेषामेवंवादिनां विशेषो गुणः, तत इदमेव मतं समीचीनं नेतरदित्यावेदयन्नाह-(तत्थेत्यादि) तत्र ये ते वादिन एवमाहुः-मण्डलान्मण्डलं संक्रामन् सूर्योऽधिकृतं मण्डलं कर्णकलं निर्वेष्टयति, एतेन नयेनाभिप्रायेणामसन्मतेऽपि मण्डलान्मण्डलान्तरसंक्रमणं ज्ञातव्यं, न चैवम् इतरेण नयेन, तत्र दोषस्योक्तत्वात्। चं० प्र० २ पाहु० २ पाहु० पाहु० । सू० प्र० ।

मंडलसंठिइ-मण्डलसंस्थिति-त्रि०। मण्डलसंस्थाने, सू०प्र०।

ता कहं ते मंडलसंठिती आहिता ति वदेज्जा !। तत्थ खलु इमातो अट्ठ पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ,तत्थेगे एवमाहंसु-ता सव्वा वि मंडलवता समचउरंससंठाणसंठिता पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु १, एगे पुण एवमाहंसु-ता सव्वा वि णं मंडलवता विसमचउरंससंठाणसंठिता पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु २, एगे पुण एवमाहंसु-सव्वा वि णं मंडलवया समचउक्कोणसंठिता पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ३, एगे पुण एवमाहंसु-सव्वाऽवि मंडलवता विसमचउक्कोणसंठिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ४, एगे पुण एवमाहंसु-ता सव्वा वि मंडलवता समचक्कवालसंठिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ५, एगे पुण एवामाहंसु-ता सव्वा वि मंडलवता विसमचक्कवालसंठिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ६ , एगे पुण एवमाहंसु-ता सव्वा वि मंडलवता चक्कऽद्धवालसंठिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ७, एगे पुण एवमाहंसु-ता सव्वा वि मंडलवता छत्ताऽऽगारसंठिया पण्णत्ता,एगे एवमाहंसु ८, तत्थ जे ते एवमाहंसु ता सव्वा वि मंडलवता छत्ताकारसंठिता पण्णत्ता, एतेणं णएणं णायव्वं णो चेव णं इतरेहिं, पाहुडगाहाओ भाणियव्वाओ । (सूत्र-१६)

(ता कहं ते मंडलसंठिई इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् , कथं भगवन् ! 'ते' त्वया मण्डलसंस्थितिराख्याता इति भगवान् वदेत् , एवं भगवता गौतमेन प्रश्ने कृते सत्येतद्विषयपरतीर्थिकप्रतिपत्तीनां मिथ्याभावोपदर्शनार्थं प्रथमतस्ता एवोपदर्शयति—(तत्थ खलु इत्यादि) तत्र तस्यां मण्डलसंस्थितौ विषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपा अष्टौ प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—तत्र तेषामष्टानां परतीर्थिकानां मध्ये एके प्रथमे तीर्थान्तरीया एवमाहुः, 'ता' इति तेषामेव तीर्थान्तरीयाणामनेकवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थः, (सव्वा वि मंडलवय त्ति) मण्डलं मण्डलपरिभ्रमणमेषामस्तीति मण्डलवन्ति चन्द्राऽऽदिविमानानि तद्भावो मण्डलवत्ता, तत्राऽभेदोपचारात् यानि चन्द्राऽऽदिविमानानि तान्येव मण्डलवत्ता इत्युच्यन्ते, तथा चाऽऽह—सर्वा अपि समस्ता मण्डलवत्ता मण्डलपरिभ्रमणवन्ति चन्द्राऽऽदिविमानानि, समचतुरस्रसंस्थानसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः । अत्रोपसंहारः—(एगे एवमाहंसु) एवं सर्वाण्युपसंहारवाक्यानि भावनीयानि॥१॥ एके पुनर्द्वितीया एवमाहुः-सर्वा अपि मण्डलवत्ता विषमचतुरस्रसंस्थानसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः ॥ २ ॥ तृतीया एव—माहुः—सर्वा अपि मण्डलवत्ताः समचतुष्कोणसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः ॥३॥ चतुर्थी आहुः-सर्वा अपि मण्डलवत्ता विषमचतुःकोणसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः ॥४॥ पञ्चमा आहुः-सर्वा अपि मण्डलवत्ताः समचक्रवालसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः ॥ ५ ॥ षष्ठा आहुः—सर्वा अपि मण्डलवत्ता विषमचक्रवालसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः॥६॥ सप्तमा आहुः—सर्वा अपि मण्डलवत्ताश्चक्रार्द्धचक्रवालसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः ॥ ७ ॥ अष्टमाः पुनराहुः—सर्वा अपि मण्डलवत्ताश्छत्राऽऽकारसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः—उत्तानीकृतच्छत्राऽऽकारसंस्थिताः॥८॥ एवमष्टावपि परप्रतिपत्तीरुपदर्श्य संप्रति स्वमतमुपदिदर्शयिषुराह-(तत्थ इत्यादि) तत्र तेषामष्टानां तीर्थान्तरीयाणां मध्ये ये एवमाहुः सर्वा अपि मण्डलवत्ताश्छत्राऽऽकारसंस्थिताः प्रज्ञप्ता इति, एतेन नयेन, नयो नाम प्रतिनियतैकवस्त्वंशविषयोऽभिप्रायविशेषो, यदाहुः समन्तभद्राऽऽदयो-'नयो ज्ञातुरभिप्रायः' इति । तत एतेन नयेन-एतेनाभिप्रायविशेषेण सर्वमपि चन्द्राऽऽदिविमानज्ञानं ज्ञातव्यं, सर्वेषामप्युत्तानीकृतकपित्थार्द्धसंस्थानसंस्थितत्वान्न चैव नैव इतरैः शेषैर्नयैः तथावस्तुतत्त्वाभावात् (पाहुडगाहाओ भाणियव्वाओ त्ति) अत्रापि अधिकृतप्राभृतप्राभृतार्थप्रतिपादिकाः काश्चन गाथा वर्त्तन्ते , ततो यथासंप्रदायं भणितव्या इति । सू० प्र० १ पाहु० ७ पाहु० पाहु० ।

मंडलि (ण्)-मण्डलिन्-पुं० । मण्डलं कुण्डलनमस्त्यस्य इति । सर्प्पे, विडाले, वटवृक्षे च । वाच० । अहीनामन्तर्गते मुकुलिसर्प्पभेदे , प्रज्ञा० १ पद । कौत्सगोत्रान्तर्गते गोत्रभेदे, स्था० ७ ठा० ।

मंडलिअणुवजीवंत-मण्डल्यनुपजीवत्-पुं० । कारणतो मण्डल्यभोक्तरि साधौ, पं० व० २ द्वार ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंडलिउवजीवंत–मण्डल्युपजीवत्–पुं०। मण्डलीभोक्तरि साधौ, "दुविहो य होइ साहू, मंडलिउवजीवओ य इयरो य।" पं० व० २ द्वार।

मंडलितक्कि(ण्)–मण्डलितर्किन्–पुं०। मण्डल्युपजीवके, सू० १ उ० २ प्रक०।

मंडलिबंध–मण्डलिबन्ध–पुं०। मण्डलमिङ्गितं क्षेत्रम्, तत्र बन्धो नाऽस्मात्प्रदेशाद् गन्तव्यमित्येवंबन्धनलक्षणं पुरुषमण्डलपरिच्चारणलक्षणो वा मण्डलिबन्धः। दण्डनीतिभेदे, "मण्डलिबन्धम्मि होइ बियाओ।" स्था० ७ ठा०। आ० म०। आव०।

मंडलिय–माण्डलिक–पुं०। स्वमण्डलमात्राधिपतौ, आ० म० १ अ०। राजानश्चक्रवर्तिवासुदेवाः माण्डलिकाः, शेषा राजानः। स्था० ३ ठा० १ उ०। माण्डलिकः सामान्यराजा अल्पर्धिकः। जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। महाराजे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार। मण्डलं चक्रवालं तदस्त्यस्य स माण्डलिकः। प्राकारवलयवदवस्थिते, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

मंडलियखंधावार–माण्डलिकस्कन्धावार–पुं०। सामान्यनृपतेर्ग्रामनिवेशे, प्रज्ञा० १ पद।

मंडलियपव्वय–माण्डलिकपर्वत–पुं०। मण्डलं चक्रवालं तदस्ति येषां ते माण्डलिकाः प्राकारवलयवदवस्थिताः, ते च ते पर्वताश्च माण्डलिकपर्वताः। मण्डलेन व्यवस्थितेषु मानुषोत्तराऽऽदिषु पर्वतेषु, स० ८५ सम०।

तओ मंडलियपव्वया पणत्ता। तं जहा–माणुसुत्तरे, कुंडलवरे, रुयगवरे। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

मंडलिया–मण्डलिका–स्त्री०। वातोल्याम्, उत्त० ३६ अ०। जी०। आचा०।

मंडलियावाय–मण्डलिकावात–पुं०। वातोलीरूपे वादरवायुकायभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। भ०। उत्त०। मण्डलिकावातो मण्डलिकाभिर्मूलत आरभ्य प्रचुरतराभिः संमिश्रो वातः। जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

मंडली–मण्डली–स्त्री०। आवलिकाविशेषे, या विच्छिन्ना एकान्ते भवति मण्डली साऽऽवलिका, या पुनः स्वस्थान एव सा मण्डली। व्य०।

अधुना मण्डलीमधिकृत्याह–

एमेव मंडलीए वि पुव्वाहियनट्ठ धम्मकहि वादी।
अहवा पइण्णग सुए, अहिज्जमाणे बहुसुतेवि ॥१०३॥

यथा अधस्तादावलिकायामुक्तम्, एवमेव मण्डल्यामपि द्रष्टव्यम्। सा मण्डली क्व भवतीतिचेदुच्यते–पूर्वाधीते नष्टे उज्ज्वाल्यमाने, धर्मकथायां धर्मकथाशास्त्रेषु, वादे वादशास्त्रेषु उज्ज्वाल्यमानेष्वधीयमानेषु वा, अथवा–प्रकीर्णकश्रुते अधीयमाने बहुश्रुतेऽपि बहुश्रुतविषयेऽपि मण्डली भवति। तत्राप्याभाव्यमावलिकायामिव; अथ कथमावलिकायामिव मण्डल्यामपि द्रष्टव्यमिति। व्य० ४ उ०। (१०४ गा०) अस्याः व्याख्या, 'लेस' शब्दे तृतीयभागे ७६७ पृष्ठे गता।)

मंडलीवेसण–मण्डलीवेशन–न०। मण्डलीप्रवेशने, ध० ३ अधि०।

मंडावग–मण्डापक–पुं०। मण्डनकर्त्तरि, 'मण्डाऽऽदिणा मंडेंति जे ते मण्डापकाः।' नि० चू० ६ उ०।

मंडावण–मण्डापन–न०। मण्डनकरणे, आचा० २ श्रु० ३ चू०।

मंडावणधाई–मण्डापनधात्री–स्त्री०। धात्रीभेदे, आचा० २ श्रु० ३ चू०।

मंडिय–मण्डित–त्रि०। मडि–क्तः। भूषिते, औ०। भ०। अलंकृते, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ०। औ०। स्वनामख्याते, चौरे, उत्त०। तत्कथा चैवम्–

बिन्नागयडे नयरे मंडितो नाम तुण्णातो परदव्वहरणपसत्तो आसी, सो य दुट्ठगंडो मि त्ति जणे पगासेंतो जाणुदेसेण णिच्चमेव अद्दयालेवलित्तेण रायमग्गे तुण्णागस्स सिप्पमुवजीवति, चंकमतोऽवि य दंडधरिएणं पाएण किलिस्संतो कहिं वि चंकमति, रत्तिं च खत्तं खणिऊण दव्वजायं घेत्तूण णगरसंनिहिए उज्जाणेगदेसे भूमिघरं, तत्थ णिक्खिवति, तत्थ य से भगिणी कन्नगा चिट्ठति, तस्स भूमिघरस्स मज्झे कूवो, जं च सो चोरो दव्वेण पलोभेउं सहायं दव्ववोढारं आणेति तं सा से भगिणी अगडसमीवे पुव्वण्णत्थासणे णिवेसेउं पायसोयलक्खेण पाए गिण्हिऊण तम्मि कूवे पक्खिवइ, ततो सो तत्थेव विवज्जइ, एवं कालो वच्चति, नयरं मुसंतस्स चोरग्गाहा तं ण सक्किंति गिण्हिउं, तओ नयरे उवरतो जातो। तत्थ मूलदेवो राया, सो कहं राया संवुत्तो?–उज्जेणीए नयरीए सव्वगणियापहाणा देवदत्ता नाम गणिया, तीए सद्धिं अयलो नाम वाणियदारओ विभवसंपण्णो मूलदेवो य संवसइ, तीए मूलदेवो इट्ठो, गणियामाऊए अयलो, सा भणति–पुत्ति! किमेएण जूइकारेणं ति?, देवदत्ताए भण्णति–अम्मो! एस पण्डितो तीए भण्णइ–किं एस अम्ह अब्भहियं विण्णाणं जाणति, अयलो बाहत्तरिकलापंडिओ एव, तीए भण्णति–वच्छ! अयलं भण–देवदत्ताए उच्छुं खाइउं सद्धा, तीए गंतूण भणितो, तेण चिंतियं–कओ खु ताई अहं देवदत्ताए पणतितो, तेण सगडं भरेऊण उच्छुयलट्ठीण उवणीयं, ताए भण्णति–किमहं हत्थिणी?, तीए भाणियं–वच्च मूलदेवं भण–देवदत्ता उच्छुं खाइउं अहिलसति, तीए गंतूण से कहियं, तेण य कइ उच्छुलट्ठीओ छल्लेउं गंडीतो काउं चाउज्जायगादिसु वासियाओ काउं पेसियाओ, तीए भण्णति–पिच्छ विण्णाणं ति, सा तुण्हिक्का ठिया, मूलदेवस्स पओसमावण्णा अयलं भणति–अहं तहा करेमि जहा मूलदेवं गिण्हिहसि त्ति, तेण अट्ठसयं दीणाराण तीए भाडिणिमित्तं दिन्नं, तीए गंतुं देवदत्ता भण्णति–अज्ज अयलो तुमे समं वसिही, इमे दीणारा दत्ता, अवरण्हवेलाए गंतुं भणति–अयलस्स कज्जं तुरियं जायं तेण गामं गतो त्ति, देवदत्ताए मूलदेवस्स पेसियं, आगतो मूलदेवो, तीए समाणं अच्छइ, गणिया माऊए अयलो य अप्पाहितो, अन्नाओ पविट्ठो बहुपुरिससमग्गो वेढिउं गब्भगिहं मूलदेवो असंभमेण सयणीयस्स हिट्ठा णिलुक्को, तेण लक्खितो, देवदत्ताए दासचेडीओ संवुत्ताओ अयलस्स सरीरऽब्भंगादि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घेत्तुं उवट्ठिया, सो य तम्मि चेव सयणीए ठियनिसन्नो भणइ-इत्थ चेव सयणीए ठियं अब्भंगेहि, ताओ भणंति-विणासिज्जइ सयणीयं, सो भणइ-अहं एत्तो उक्किट्ठतरं दाहामो, मया एवं सुविणो दिट्ठो, सयणीयऽब्भंगणउव्वलणण्हाणादि कायव्वं, ताहिं तधा कयं, ताहे ण्हाणगोल्लो मूलदेवो अयलेन वालेसु गहाय कड्ढितो, संलत्तो यऽणेण-वच्च मुक्कोऽसि, इयरहा ते अज्ज अहं जीवियस्स विवंसामि, जदि मया जारिसो होज्जाहि ता एवं मुच्चेज्जाहि (त्ति) अयलाऽभिहितो तओ मूलदेवो अवमाणितो लज्जाए निग्गओ उज्जेणीए, पत्थयणविरहितो वेन्नायडं जतो पत्थितो, एगो से पुरिसो मिलितो, मूलदेवेण पुच्छितो—कहिं जासि ?, तेण भण्णति—विण्णायतडम्मि, मूलदेवेण भण्णति—दोऽवि समं वच्चामो त्ति, तेण संलत्तं-एवं भवउ त्ति,दोऽवि पट्ठिया, अंतरा य अडवी, तस्स पुरिसस्स संबलं अत्थि, मूलदेवो चिंतेइ—एसो मम संबलेण संविभागं करेहि त्ति, इणिंह सुते परे ताए आसाए वच्चति, ण से किंचि देइ, तइयदिवसे छिण्णा अडवी, मूलदेवेण पुच्छितो-अत्थि एत्थ अब्भासे गामो ?, तेण भण्णति—एस णाइदूरे पंथस्स गामो, मूलदेवेण भणितो-तुमं कत्थ वससि ?, तेण भण्णति-अमुगत्थ गामे, मूलदेवेण भणितो-तो खाइ अहं एयं गामं वच्चामि, तेण से पंथो उवदिट्ठो, गओ तं गामं मूलदेवो,तत्थऽणेण भिक्खं हिंडंतेण कुम्मासा लद्धा,पवण्णो य कालो वट्टति, सो य गामातो निग्गच्छइ, साहू य मासखमणपारणएण भिक्खानिमित्तं पविसति, तेण य संवेगभावणेणं पराए भत्तीए तेहिं कुम्मासेहिं सो साधू पडिलाभितो, भणियं चऽणेणं-'धन्नाणं खु नराणं,कोम्मासा हुंति साहुपारणए।' देवयाए अहासासिहियाए भण्णति-पुत्त ! एतीए गाहाए पच्छद्धे जं मग्गसि तं देमि, 'गणियं च देवदत्तं, दंतिसहस्सं च रज्जं च ॥ १ ॥' देवयाए भण्णति-अचिरेण भविस्सति त्ति,ततो गतो मूलदेवो वेन्नायडं, तत्थ खत्तं खणंतो गहितो,वज्झाए नीणिज्जइ, तत्थ पुण अपुत्तो राया मओ,आसो अहियासिओ,मूलदेवसगासमागतो,पट्ठिदायणं रज्जे अहिसित्तो राया जाओ,सो पुरिसो सद्दाविओ,सो अणेण भणितो-तुज्झ तणियाए आसाते आगतो अहं,इहरहा अहं अंतराले चेव विवज्जंतो,तेण तुज्झ एस मया गामो दत्तो,मा य मम सगासं एज्जसु त्ति,पच्छा उज्जेणीएण रण्णा सद्धिं पीतिं संजोएति, दाणमाणसंपूतियं च काउं देवदत्तं अणेण मग्गितो,तेण पच्चुवगारसंधिएण दिण्णा, मूलदेवेण अंतेउरे छूढा, ताए समं भोगे भुंजति। अन्नया अयलो पोयवहणेण तत्थाऽऽगतो, सुक्के विज्जंते भंडे जाति पाए दव्वणूमणाणि ठाणाणि ताणि जाणमाणेण मूलदेवेण सो गिण्हावितो, तुमे दव्वं णूमियं ति पुरिसेहि बद्धिऊण रायसयासमुवणीतो, मूलदेवेण भण्णति-तुमं मम जाणसि ?। सो भणति-तुमं राया, को तुमं न जाणइ ?, तेण भण्णइ-अहं मूलदेवो, सक्कारिउं विसज्जितो, एवं मूलदेवो राया जातो। ताहे सो अण्णं णगराऽऽरक्खियं ठवेति, सोऽवि न सक्को चोरं गिण्हिउं, ताहे मूलदेवो सयं णीलपडं पाउणिऊण रत्तिं णिग्गतो, मूलदेवो अणज्जंतो एगाए सभाए णिव्विण्णो अच्छति, जाव सो मंडियचोरो आगंतूण भणति-को इत्थ अच्छति ?, मूलदेवेण भणियं-अहं कप्पडितो, तेण भण्णइ-एहि मणूसं करेमि, मूलदेवो उट्ठितो, एगम्मि ईसरघरे खत्तं खयं, सुबहुं दव्वजायं णीणेऊण मूलदेवस्स उवरिं चडाविउं पट्ठिया नयरबाहिरियं, जातो मूलदेवो पुरतो, चोरो असिणा कड्ढिएणं पिट्ठओ एइ, संपत्ता भूमिघरं, चोरो तं दव्वं णिहिणिउमारद्धो, भणिया अणेण भगिणी-एयस्स पाहुणयस्स पायसोयं देहि, ताए कूवतडसन्निविट्ठे आसणे संणिवेसितो,ताए पायसोयलक्खेण पाओ गहिओ कूवे छुहामि त्ति,जाव अतीव सुकुमारा पाया ताए नायं-जहेस कोइ भूयपुव्वरज्जो विहलियंगो, तीए अणुकंपा जाया,तओ ताए पायतले सन्नितो णस्सति,मा मारिज्जिहिसि त्ति,ततो पच्छा सो पलातो,ताए बोलो कतो-णट्ठो णट्ठो त्ति,सो असिं कड्ढिऊण मग्गतो लग्गो, मूलदेवो रायप्पहे अइसन्निकिट्ठं णाऊण चच्चरसिवंतरितो ठितो; चोरो तं सिवलिंगं एस पुरिसो त्ति काउं कंकग्गेण असिणा दुहा काऊण पडिनियत्तो, गतो भूमिघरं, तत्थ वसिऊण पहायाए रयणीए तओ निग्गंतूण गतो वीहिं, अंतरावणे तुण्णागत्तं करेति, रायणा पुरिसेहिं सद्दावितो, तेण चिंतियं-जहा सो पुरिसो णूणं न मारितो, अवस्सं च सो एस राया भविस्सइ त्ति, तेहिं पुरिसेहिं आणितो, रायणा अब्भुट्ठाणेण पूइतो, आसणे णिवेसावितो, स बहुं च पियं आभासिउं संलत्तो-मम भगिणीं देहि त्ति, तेण दिन्ना, विवाहिया, रायणा भोगा य से संपदत्ता, कइसु वि दिणेसु गएसु रायणा मंडिओ भणिओ—दव्वेण कज्जं ति, तेण सुबहुं दव्वजायं दिण्णं, रायणा संपूइतो, अण्णया पुणो मग्गितो, पुणोऽवि दिण्णं, तस्स य चोरस्स अतीव सक्कारसम्माणं पउंजति, एएण पगारेण सव्वं दव्वं दवावितो, भगिणी से पुच्छति, ताए भण्णति—इत्तियं वित्तं, तओ पुव्वावेइयलक्खाणुसारेण सव्वं दवावेऊणं मंडितो सूलाए आरोवितो।" उत्त०पाई० ४ अ०। वाराणसीनगर्यां तिन्दुकवनस्थे स्वनामख्याते यक्षे, उत्त० १२ अ०। (तत्कथा 'हरिकेसीबल' शब्दे वक्ष्यते) स्वनामख्याते महावीरस्य षष्ठे गणधरे च। कल्प० २ अधि० ८ क्षण। स०। "मगहाजणवए मोरियसण्णिवेसे मंडिय-मोरिया दो भायरो।" आ० चू० १ अ०। विशे०।

अथ षष्ठगणधरवक्तव्यतां विभणिषुराह—

ते पव्वइए सोउं, मंडिओ आगच्छई जिणसयासं।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ १८०२ ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरं मण्डिको नाम षष्ठो द्विजोपाध्यायः श्रीमज्जिनसकाशमागच्छतीति ॥ १८०२ ॥

ततः किमित्याह—

आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरामरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसी णं ॥ १८०३ ॥

'आभट्ठो य' इत्यादि, व्याख्या पूर्ववत् ॥ १८०३ ॥ इति नामगोत्राभ्यामाभाष्य पृष्टः भगवान् महावीरो बन्धमोक्षौ व्यवस्थाप्य बन्धमोक्षयोर्भावाभावसंशयं मण्डिकस्य निराकृतवान्। विशे०।

तदेवं भगवता छिन्नस्तस्य संशयस्ततः किमित्याह—

छिन्नम्मि संसयम्मी, जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सो समणो पव्वइओ, अद्धुट्ठेहिं सह खंडियसएहिं ।१८६३।
व्याख्या पूर्ववत्, नवरम् अर्द्धचतुर्थैः शिष्यशतैः सह प्रव्रजितोऽयमिति । विशे० । आ० म० ।

मंडियकुच्छि–मण्डितकुक्षि–न० । राजगृहे नगराद् बहिः क्रीडार्थं मण्डितकुक्षिवने, उत्त० २० अ० ।

मंडियपुत्त–मण्डिकपुत्र–पुं० । मण्डिकापरनामधेये महावीरस्य षष्ठे गणधरे, भ० ३ श० २ उ० । "थेरे मंडियपुत्ते णं अद्धुट्ठाइं सत्तरणवयाइं वासइ ।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण । स० । आ० म० । (एतद्वक्तव्यता 'बंधमोक्खसिद्धि' शब्दे पञ्चमभागे १२४० पृष्ठे गता ।)

मंडी–मण्डी–स्त्री० । अग्रकूरे, आव० ४ अ० ।

मंडीपाहुडिया–मण्डीप्राभृतिका–स्त्री० । "मंडीपाहुडिया साहुम्मि आगए अग्गकूरमंडी य । अन्नम्मि भायणम्मि, काउ तो देइ साहुस्स ॥ १ ॥". इत्युक्तलक्षणे वस्तुनि, आव० ४ अ० ।

मंडु–मण्डु–पुं० । स्वनामख्याते मुनौ, स्था० ७ ठा० ।

मंडुक्क–मण्डूक–पुं० । मण्डयति वर्षासमयम् । मडि–उक् । तैलाऽऽदौ ॥ ८ । २ । ९८ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । भेके जलजन्तुभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आ०म० । मण्डूकः शालूर इति । व्य० ७ उ० । राजगृहनगरस्थो नन्दो मणिकारः श्रेष्ठी मृत्वा मण्डूको भूत्वा ततः सौधर्मकल्पस्थदर्दुरावतंसकविमानस्थदर्दुरसिंहासनस्थो दर्दुरदेवो यथा जातस्तथा ज्ञाताध्ययनानां त्रयोदशेऽध्ययने । ज्ञा० १ श्रु०१२ अ० । (दर्दुरकथा 'दद्दुर' शब्दे पञ्चमभागे २४५१ पृष्ठे गता)

मंडुक्कजाइआसीविस–मण्डूकजात्याशीविष–पुं० । जात्याशीविषभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ०म० । (वक्तव्यता 'आसीविस' शब्दे द्वितीयभागे ४८६ पृष्ठे गता)

मंडुक्कज्झयण–मण्डूकाध्ययन–न० । ज्ञाताध्ययनानां त्रयोदशेऽध्ययने, तत्र राजगृहनगरस्थो नन्दो मणिकारः श्रेष्ठी मृत्वा मण्डूको भूत्वा दर्दुरदेवो जात इति (ज्ञा० १ श्रु० १ अ० प्रश्न० । स० । आव० । आ० चू० ।) उक्तम् 'दद्दुर' शब्दे चतुर्थभागे २४५१ पृष्ठे)

मंडुक्कपुइ–मण्डूकप्लुति–स्त्री० । मण्डूकवदुत्प्लुत्य गमने, आव० ५ अ० । "मंडुक्कगइसरिसो खलु, अहिगारो होइ सुत्तस्स" मण्डूकः शालूरः स यथोत्प्लुत्य गच्छति । व्य० ७ उ० ।

मंडुक्कपुत्त–माण्डूकप्लुत्य–पुं० । मण्डूकप्लुत्या यो जातो योगः स माण्डूकप्लुत्यः । ग्रहाणां नक्षत्रयोगेन जायमाने वृषभानुजाताऽऽदिषु दशसु योगेषु दशमे योगे, स तु ग्रहेण सह वेदितव्यः, अन्यस्य मण्डूकप्लुतिगमनासम्भवात् । उक्तं च–सूर्यचन्द्रनक्षत्राणि प्रतिनियतगतीनि ग्रहास्त्वनियतगतय इति । सू० प्र० १२ पाहु० ।

मंडुक्कियासाग–मण्डूकिकाशाक–पुं० । शाकभेदे, उपा० २अ० ।

मंडुक्की–मण्डूकी–स्त्री० । मण्डूक इव पर्णमस्त्यस्य अच् । गौरा० ङीप् । माञ्जिष्ठायाम्, आदित्यभक्तायाम्, द्राक्षायाम्, प्रगल्भनायिकायाम्, माण्डूकयोषिति, वाच० । हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । महौषधिभेदे च । ती० ६ कल्प ।

मंडुग–मंडुक–पुं० । स्वनामख्याते श्रावके, भ० १८ श०७ उ० । (कथा 'मड्डुग' शब्दे वक्ष्यते)

मंत–मन्त्र–पुं० । मन्त्रि–अच् । गुप्तभाषणे, रहसि कर्त्तव्यावधारणार्थयुक्तौ, वाच० । "रहस्सियं वा मंतं मंतेति ।" आ० चा०२श्रु०१चू०२अ०३उ० । राजाऽऽदिकार्याऽऽलोचने, ध० २ अधि० । ज्ञा० । भूताऽऽदिनिग्रहकारके, (ध०२ अधि० ।) ॐकाराऽऽदिस्वाहापर्यन्ते ह्रींकाराऽऽदिवर्णविन्यासाऽऽत्मके शब्दभेदे वाच० । उत्त० १५ अ० । मन्त्राः प्रणवप्रभृतिका अक्षरपद्धतयः । पं० । मन्त्रो देवाधिष्ठितोऽसाधनो वाऽक्षररचनाविशेषः । पञ्चा० १३ विव० । ज्ञा० । प्रव० । प० । व्य० । ग० । दर्श० । रा० । पाठमात्रसिद्धः पुरुषाधिष्ठानो वा मन्त्रः । ध० ३ अधि० । "मंतो पुण होइ पढियसिद्धो ।" पं० भा० १ कल्प । पं० चू० । पं० व० । नि० चू० ।

विद्यामन्त्रयोः स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

इत्थी विज्जाऽभिहिया, पुरिसो मंतो त्ति तव्विसेसो य ।
विज्जा ससाहणा वा, साहणरहितो भवे मंतो ॥

स्त्री विद्या अभिहिता, पुरुषो मन्त्र इति अयं तद्विशेषः विद्यामन्त्रयोर्विशेषः । इयमत्र भावना—यत्र मन्त्रदेवता स्त्री सा विद्या (विद्यास्वरूपम् 'सुयदेवया' शब्दे वक्ष्यते) यत्र पुरुषो देवता स मन्त्र इति । अथवा—साधनसहिता विद्या, साधनरहितो मन्त्रः । शाबराऽऽदिमन्त्रवत् इति तद्विशेषः । आ० म० १ अ० । प्रणवनमःपूर्वके स्वाहान्ते तत्तन्नामरूपे जिनाऽऽदिमन्त्रे । द्वा० ।

मन्त्रन्यासोऽर्हतो नाम्ना, स्वाहान्तः प्रणवाऽऽदिकः (१४)

तथाऽर्हतोऽधिकृतस्य नाम्ना मध्यगतेन प्रणवाऽऽदिकः स्वाहान्तश्च मन्त्रन्यासो विधीयते, मननत्राणहेतुत्वेनास्यैव परममन्त्रत्वात् । द्वा० ५ द्वा० ।

यदाह—

मन्त्रन्यासश्च तथा, प्रणवनमःपूर्वकं च तन्नाम ।
मन्त्रः परमो ज्ञेयो, मननत्राणे ह्यतो नियमात् ॥ ११ ॥

मन्त्रन्यासश्च तथा जिनबिम्बे कारयितव्यतयाऽभिप्रेते मन्त्रस्य न्यासो विधेयः, कः पुनः स्वरूपेण मन्त्र इत्याह–प्रणवनमःपूर्वकं च तन्नाम । मन्त्रः परमो ज्ञेयः, प्रणवः ॐकारो नमःशब्दश्च तौ, पूर्वावादी यस्य तत्प्रणवनमःपूर्वकं, तस्य विवक्षितस्य ऋषभाऽऽदेर्नाम तन्नाममन्त्रः परमः प्रधानो ज्ञेयो वेदितव्यः । किमित्याह–मननत्राणे ह्यतो नियमात् । हिर्यस्मादतः प्रणवनमःपूर्वकान्नाम्नः सकाशात् ज्ञानरक्षणे नियमाद् भवत इति कृत्वा मन्त्र उच्यते, तन्नामैवेति ॥ ११ ॥ षो० ७ विव० । ध० । "वाउकुमाराहवणं णियणियपहि मंतोहिं ।" तिजनिजैः–स्वकीयस्वकीयैः मन्त्रैः प्रणवनमःपूर्वकस्वाहान्ततन्नामरूपैः । पञ्चा० २ विव० । स्त्रीणां चतुष्षष्टिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । प्रश्न० । औ० । जीवोद्धरणगारुडाऽऽ

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विमन्त्रशास्त्राऽऽत्मके पापश्रुतभेदे, स्था० ६ ठा० । " एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो । " एके केचन पापदया-न्मन्त्रानाभिचारकानाथर्वणानिति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आचा० ।

मंतजंभग-मन्त्रजृम्भक-पुं० । जृम्भकदेवभेदे, भ० १४ श० ८ उ० ।

मंतण-मन्त्रण-न० । गुप्तभाषणे, विचारणे च । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

मंतणास-मन्त्रन्यास-पुं० । मन्त्राणामङ्गेषु न्यासे, ध० २ अधि० ।

मंतदोस-मन्त्रदोष-पुं० । उत्पादनादोषभेदे, यदा कार्म्मणं मोहनं यन्त्रं मन्त्रं साधयित्वा कृत्वा दत्त्वा आहाराऽऽदिकं गृह्णाति तदा मन्त्रदोषस्त्रयोदशः । उत्त० २४ अ० ।

मंतपय-मन्त्रपद-न० । विद्याप्रमार्जनविधौ, राजाऽऽदिगुप्तभाषणे, " ण णिव्वहे मंतपएण गोयं । " न राजाऽऽदिना सार्द्धं जन्तुजीवितोपमर्दकं मन्त्रं कुर्य्यात् । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

मंतपिंड-मन्त्रपिण्ड-पुं० । मन्त्रेणावाप्तः पिण्डो मन्त्रपिण्डः । उत्पादनादोषभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । ध० । पञ्चा० । जीत० । पिं० । (उदाहरणाऽऽदि मन्त्रपिण्डभोजने प्रायश्चित्तं च ' विज्जामंतपिंड ' शब्दे वक्ष्यते)

संप्रति मन्त्रविषये मुरुण्डराजोपलक्षितपादलिप्तोदाहरणमाह—

जह जह पएसिणी जा-णुगम्मि पालित्तओ भमाडेइ ।
तह तह सीसे वियणा, पणस्सइ मुरुंडरायस्स ॥४६८॥

प्रतिष्ठानपुरे मुरुण्डो नाम राजा, पादलिप्ता नाम सूरयः, अन्यदा च मुरुण्डराजस्य बभूवातिशयेन शिरोवेदना, न केनाऽपि विद्यामन्त्राऽऽदिभिरुपशमयितुं शक्यते, तत आकारिता राज्ञा पादलिप्ताः सूरयः, कृतास्तेषामागतानां महती प्रतिपत्तिः, कथितं चाऽऽकारणकारणं शिरोवेदनायाः, ततो यथा लोको न जानीते तथा मन्त्रं ध्यायद्भिः प्रावरणमध्ये निजदक्षिणजानुशिरसि पार्श्वतो निजदक्षिणहस्तप्रदेशिनी यथा यथा भ्राम्यते तथा तथा राज्ञः शिरोवेदना अपगच्छति , ततः क्रमेणापगता सकलाऽपि शिरोवेदना , जातोऽतिशयेन सूरीणामुपासकः, ततो विपुलं भक्तपानाऽऽदिकं तेभ्यो दत्तवान् ।

अत्र दोषानाह—

पडिमंतथंभणाई, सो वा अन्नो व से करिज्जाहि ।
पावाजीवियमाई, कम्मणगारी भवे बीयं ॥ ४६६ ॥

इह कथानके न कोऽपि दोषो जातः, पादलिप्तसूरीणां मुरुण्डराजं प्रत्युपकारित्वात्, केवलं प्रागुक्तविद्याकथानक । मन्त्रेऽपि प्रयुज्यमाने सम्भवन्ते दोषाः ततस्तदुपदर्शनं क्रियते , तत्रेयं गाथा प्रागिव व्याख्येया , नवरं ' भवे बीयं ति ' पुष्पमालमनमधिकृत्य द्वितीयम्-अपत्यपदं भवेत् , सङ्घाऽऽदिप्रयोजने मन्त्रोऽपि प्रयोक्तव्य इति भावार्थः । पिं० ।

मंतप्पहाण-मन्त्रप्रधान-पुं० । मन्त्रेण प्रधानः उत्तमः,मन्त्रो वा प्रधानमुत्तमं यस्य सः । मन्त्रेणोत्तमे,उत्तममन्त्रोपेते च । रा० । मन्त्राश्च हरिणेगमेष्यादिमन्त्राः । औ० ।

मंतवाय-मन्त्रवाद-पुं० । द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे , कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

मंतराय-मन्त्रराज-पुं० । प्रधाने मन्त्रे, पो० ८ विव० ।

मंतसत्थ-मन्त्रशास्त्र-न० । जीवोद्धरणगारुडाऽऽदिके पापश्रुतभेदे, स्था० ६ ठा० । सूत्र० ।

मंतसाला-मन्त्रशाला-स्त्री० । मन्त्रगृहे, नि० चू० ८ उ० ।

मंतसिद्ध-मन्त्रसिद्ध-पुं० । सिद्धभेदे, आ०चू० १ अ० ।

साम्प्रतं मन्त्रसिद्धं सनिदर्शनमुपदर्शयति—

साहीणसव्वमंतो, बहुमंतो, वा पहाणमंतो वा ।
नेओ स मंतसिद्धो, खंभाऽऽगरिसो व सातिसओ ॥

स्वाधीनसर्वमन्त्रो बहुमन्त्रो वा प्रधानैकमन्त्रो वा ज्ञेयः स मन्त्रसिद्धः, क इव स्तम्भाऽऽकर्ष इव सातिशयः । एष गाथाऽक्षरार्थः । आ० म० १ अ० ।

लक्ष्मीपुरं पुरं तस्मिन् , श्रीविलासो नराधिपः ।
शब्दाऽऽदिविषयाऽऽसक्तः, सततं विललास यः ॥ १ ॥
दृष्टा तेनान्यदा साध्वी, रूपातिशयशालिनी ।
नागकन्येव रम्भाऽऽद्या, यत्लावण्यजिता इव ॥ २ ॥
तद्रूपदर्शनाऽऽक्षिप्त-श्चिक्षेपान्तःपुरे स ताम् ।
तदैव मिलितः सङ्घः, शासितुं तं महीपतिम् ॥ ३ ॥
राज्ञः सौधाङ्गणे तस्य, महास्तम्भशतोद्धतः ।
सुधर्म्मीयाः प्रतिच्छन्दो, मण्डपः सौधमण्डनम् ॥ ४ ॥
साधुश्चैको मन्त्रसिद्धः, सङ्घमध्येऽस्ति शक्तिमान् ।
आचकर्ष स ताँस्तम्भान् , मन्त्रशक्त्या समण्डपान् ॥ ५ ॥
उत्पेतुर्व्योम्नि सर्वे ते, स्तम्भाः सौधगतास्ततः ।
गन्तुकामा इव तदा, जायन्ते स्म चलाचलाः ॥ ६ ॥
कान्दिशीकस्तदा राजा, समागत्य कृताञ्जलिः ।
साध्वीं तामर्पयामास, सङ्घं चाक्षमयन् मुहुः ॥ ७ ॥ आ० क० १ अ० ।

मंतसोय-मन्त्रशौच-न० । विद्याशौऽऽत्मके शौचभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

मंताइविहाण-मन्त्राऽऽदिविधान-न० । मन्त्राऽऽदीनां-मन्त्रविद्याप्रभृतीनां प्रतिबद्धस्वरूपाणां विधानं-साधनविधिः । मन्त्राऽऽदिसाधनविधौ, पञ्चा० ३ विव० ।

मंताइसरण-मन्त्राऽऽदिस्मरण-न० । मन्त्रविद्याऽऽदिध्याने , पञ्चा० ४ विव० ।

मंताउं-मत्वा-अव्य० । अवधार्य्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंताजोग–मन्त्रयोग–पुं०। मन्त्राणां योगो व्यापारो मन्त्रयोगः। मन्त्रव्यापारे, मन्त्रश्च योगश्च तथाविधद्रव्यसंयोगो मन्त्रयोगः। मन्त्रसहिते द्रव्यसंयोगे च। "मंताजोगं काउं।" ग० २ अधि०।

मंताणुओग–मन्त्रानुयोग–पुं०। चेटकाऽऽदिमन्त्रसाधनाभिधायके पापशास्त्रे, स० २६ सम०।

मंताहिराय–मन्त्राधिराज–पुं०। हिमाचलस्थे जायापार्श्वे, हिमाचले जायापार्श्वे मन्त्राधिराजः श्रीस्फुलिङ्गः। ती० ४३ कल्प।

मंति (ण्)–मन्त्रिन्–पुं०। मन्त्रयते णिनिः। राज्याधिष्ठायके अमात्ये, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। आ०म०। औ०। रा०। "अप्रवृत्तिगतं भूपं, छन्दोवृत्या स्तुवन्ति ये। लक्ष्मीहतिकृतोपायाः, शत्रवस्ते न मन्त्रिणः॥१॥" सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

मंतिपरिसा–मन्त्रिपरिषद्–स्त्री०। राज्ञो राहस्यिकायां पर्षदि, बृ० १ उ० १ प्रक०। ('परिसा' शब्दे पञ्चमभागे ६५१ पृष्ठे विवृतिः)

मंतिय–मान्त्रिक–पुं०। मन्त्रज्ञातरि, उत्त० १ अ०।

मंतु–मन्तु–पुं०। मन–कु–तुट् च। अपराधे, मनुष्ये, प्रजापतौ, वाच०। क्रोधे च। "किं पुण मंतुप्पहरणेसु।" मंतुप्पहरणा कोहप्पहरणा ऋषयः। नि० चू० २ उ०।

मंथ–मन्थ–पुं०। मन्थ–करणे घञ्। द्रव्यतो दधिमन्थनदण्डे, भावतः कौकुचिकाऽऽदिके कल्पपरिमन्थौ, स्था०। इह च मन्थो द्विधा–द्रव्यतो, भावतश्च। यत आह–"दव्वम्मि मंथवो खलु, तेण मंथिज्जए जहा दहियं। दहितुल्लो खलु कप्पो, मंथिज्जइ कुक्कुयाईहिं॥१॥" स्था० ६ ठा०। मन्थ इव मन्थः, केवलिना समुद्घातसमये दक्षिणोत्तरादिग्द्वयप्रसारणात् लोकान्तप्रापिणि, मन्थवत् क्रियमाणे जीवप्रदेशसङ्घाते च। स्था० ६ ठा०। आ० म०। सक्तुभिः सर्पिषाऽभ्यक्तैः,शीतवारिपरिप्लुतैः। नात्यच्छो नातिसान्द्रश्च, मन्थ इत्यभिधीयते॥१॥" इत्युक्ते पेयभेदे, सूर्ये, अर्कवृक्षे, नेत्रमले; किरणे च। भावे घञ्। आलोडनाऽऽदौ, वाच०।

मंथणिया–मन्थनिका–स्त्री०। लघुमन्थनदण्डे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

मंथर–मन्थर–न०। मन्थ–करच्। कोषे, फले, वाधे, मन्थानदण्डे च। पुं०। वक्रे, नीचे, जडे, मन्दे, वाच०। 'विलंबते' विलम्बितो दीर्घकालभावी। पञ्चा० ६ विव०। कैकेय्या दास्याम्, स्त्री०। वाच०।

मंथु–मन्थु–पुं०। चूर्णे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०। बदराऽऽदिचूर्णे,दश० ५ अ० १ उ०। प्रश्न०। उत्त०। आचा०। दध्नः सम्बन्धिन्यवयवविशेषे, तद्रूपे विकृतिभेदे च। दध्नः सम्बन्धी यो मन्थुः इति नाम्ना प्रसिद्धोऽवयवः स विकृतिरिति। बृ० १ उ० २ प्रक०।

मंथुजाय–मन्थुजात–न०। चूर्णमात्रे, "से जं पुण मंथुजायं जाणेज्जा। तं जहा–उंबरमंथुं वा, णग्गोहमंथुं वा, पिलाखुमंथुं वा आसोत्थमंथुं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं मंथुजायं।" आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०।

मंद–मन्द–त्रि०। मदि–अच्। जडे, मूर्खे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। रा०। "तत्थ मंदा विसीयंति।" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। उत्त०। अज्ञे,सद्बुद्धिरहिते,मन्दः सदसद्विवेकाऽपटुः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। दश०। आचा०। ग०। मन्दा ज्ञानाऽऽवरणीयेनावष्टब्धा इति। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। अलसे, बृ० १ उ० ३ प्रक०। पा०। अशक्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। अल्पसत्त्वे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०१ उ०। "मन्दा जडा लघुप्रकृतयः।" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। अल्पे, उत्त०१८ अ०। पं० व०। मृदौ, अभाग्ये, रोगिणि, स्वतन्त्रे, खले,वाच०। मन्द इव मन्दः। मिथ्यात्वमहारोगग्रस्ते च। उत्त० ८ अ०।

सो खलु सोचो मंदो, मंदो पुण दव्वभावेणं। (बृ०)।

अथ मन्द इति कोऽर्थः ?, इत्याह–मन्दः पुनर्द्रव्यभावेन द्रव्यतो भावतश्च मन्दो भवतीत्यर्थः।

एक्केक्क पुण उवचऍ,अवचयम्मि भावे उ अवचए पगतं।
तलिना बुद्धी सेट्ठा, उभयमओ केइ इच्छंति॥ ७०६॥

द्रव्यमन्दो, भावमन्दश्च। एकैकः पुनर्द्विधा–उपचये,अपचये च। अत्रोपचयद्रव्यमन्दो नाम–यः परिस्थूरतरशरीरतया गमनाऽऽदिव्यापारं कर्त्तुं न शक्नोति, अपचयद्रव्यमन्दस्तु यः कृशशरीरतया कमपि प्रयासं न कर्तुमाचष्टे, उपचयभावमन्दः पुनर्यो बुद्धेरुपचयेन यतस्ततः कर्तुं नोत्सहते। अपचयभावमन्दस्तु यो निजसहजबुद्धेरभावेनान्यदीयाया बुद्धेरनुपजीवनेन हितप्रवृत्तिनिवृत्तिं न कर्तुमीशः स बुद्धेरपचयेन भावतो मन्दत्वादपचयभावमन्दः। अत्र चाऽनेनैव भावतोऽपचयमन्देन प्रकृतं, शेषास्तु शिष्यमतिविकाशनार्थं प्ररूपिताः। अथवा–तलिना–सूक्ष्मा–कुशाग्रीया बुद्धिः श्रेष्ठा ततः सा सूक्ष्मतन्तुव्यूतपटीवदन्तःसारवत्त्वेनोपचितेति कृत्वा यः कुशाग्रीयमतिः स उपचयभावमन्दः, यस्तु परिस्थूरमतिः स बुद्धेः स्थूलसूत्रतया स्थूलशाटिकाया इव अन्तर्निःसारतालक्षणमपचयमधिकृत्याऽपचयभावमन्दः, इत्यतः केचिदाचार्या उभयमपचयमन्दमिच्छन्ति। प्रथमव्याख्यानाऽपेक्षया निर्बुद्धिकं, द्वितीयव्याख्यानपक्षे तु परिस्थूरबुद्धिकमपचयभावमन्दमत्र प्रस्तावे गृह्णन्तीति भावः। बृ० १ उ० १ प्रक०। तृतीयायां दशायाम्, स्त्री०। स्था०। उक्तं च–"तइयं च दसं पत्तो, आणुपुव्वीऍ जो नरो। समत्थो भुंजिउं भोगे, जइ से अत्थि घरे धुवे॥ १॥" इति भोगोपार्जने तु मन्द इति भावना। स्था० १० ठा०।

मान्द्य–न०। मन्दस्य भावः ष्यञ्। रोगे,मन्दतायां च। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

मंदकुमारय–मन्दकुमारक–पुं०। उत्तानशये बालके,प्रज्ञा०। उत्तानशयायां बालिकायाम्, स्त्री०। "मंदकुमारए वा मंदकुमारिया वा।" मन्दकुमारक उत्ताशयो बालको, मन्दकुमारिका उत्तानशया बालिका। प्रज्ञा० ११ पद।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंदक्ख–मन्दाक्ष–न०। मन्दं संकुचितमक्षि यस्मात् अत्र। लज्जायाम्, वाच०। बृ० ४ उ०।

मंदग–मन्दक–न०। गेयभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

मंदगइ–मन्दगति–स्त्री०। मन्दगमने, मन्दगमनोपेते, त्रि०। सू० प्र० १ पाहु० १ पाहु०पाहु०।

मंदग्गिकढिय–मन्दाग्निक्वथित–त्रि०। मन्दमग्निना क्वथिते,अल्पाग्निना क्वथितं हि विरसं विगन्धाऽऽदि च भवतीति मन्दाग्निक्वथितं गन्धेन विशिष्यते। विशे०।

मंदधम्म–मन्दधर्म्म–पुं०। धर्मे मन्दो मन्दधर्मः। राजदन्ताऽऽदिदर्शनात् धर्मशब्दस्य परनिपातः। संयमशिथिले, व्य० ३ उ०। आ० चू०। (' दुब्बलचरिय ' शब्दे चतुर्थभागे २५६३ पृष्ठे एष उदाहृतः)

मंदधी–मन्दधी–पुं०। स्त्री०। मन्दबुद्धौ, षो० ६ विव०।

मंदपरिणाम–मन्दपरिणाम–पुं०। मन्दः परिणामः परिणतिर्यस्य। ईषल्लक्ष्यमाणस्वरूपे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

मंदपुण्ण–मन्दपुण्य–त्रि०। न्यूनभाग्ये, आ० म० १ अ०। प्रश्न०। उत्त०।

मंदबुद्धि–मन्दबुद्धि–पुं०। सद्बुद्धिविकले, बृ०१उ० ३ प्रक०। पञ्चा०। आ० म०। अल्पमतौ, पं० व० १ द्वार। मन्दबुद्धिश्च मिथ्यात्वोदयात्। प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

मंदभग्ग–मन्दभाग्य–त्रि०। न्यूनभाग्ये, आव० ४ अ०। उत्त०।

मंदमइ–मन्दमति–त्रि०। अल्पमतौ, सूत्र०। "ये मय्यवज्ञां व्यधुरिद्धबोधा, जानन्ति ते किञ्चन तानपास्य। मत्तोऽपि यो मन्दमतिस्तथाऽर्थी, तस्योपकाराय ममैष यत्नः॥३॥इहापसदसंसारान्तर्गतेनाऽसुमताऽवाप्याऽतिदुर्लभं मनुजत्वं सुकुलोत्पत्तिसमग्रेन्द्रियसामग्र्युपेतेनाऽर्हद्दर्शनमशेषकर्मोच्छित्तये यतितव्यम्, कर्मोच्छेदश्च सम्यग्विवेकसव्यपेक्षोऽसावप्याप्तोपदेशमन्तरेण न भवति, आप्तश्चाऽऽत्यन्तिकादोषक्षयात्, स चार्हन्नेव, अतस्तत्प्रणीताऽऽगमपरिज्ञाने यत्नो विधेयः,आगमश्च द्वादशाङ्गाऽऽदिरूपः,सोऽप्यार्यरक्षितमिश्रैरैदंयुगीनपुरुषानुग्रहबुद्ध्या चरणकरणद्रव्यधर्मकथागणितानुयोगभेदाच्चतुर्धा व्यवस्थापितः, तत्राऽऽचाराङ्गं चरणकरणप्राधान्येन व्याख्यातम्; अधुनाऽवसराऽऽयातं द्रव्यप्राधान्येन सूत्रकृताऽऽख्यं द्वितीयमङ्गं व्याख्यातुमारभ्यते इति। ननु चार्थस्य शासनाच्छास्त्रमिदं,शास्त्रस्य चाशेषप्रत्यूहोपशान्त्यर्थमादिमङ्गलं तथा स्थिरपरिचयार्थं मध्यमङ्गलं शिष्यप्रशिष्याविच्छेदार्थं चान्त्यमङ्गलमुपादेयं तच्चेह नोपलभ्यते। सत्यमेतत्, मङ्गलं हीष्टदेवतानमस्काराऽऽदिरूपम्,अस्य च प्रणेता सर्वज्ञः, तस्य चापरनमस्कार्याभावाद् मङ्गलकरणे प्रयोजनाभावाच्च न मङ्गलाभिधानम्,गणधराणामपि तीर्थकृदुक्तानुवादित्वान्मङ्गलाकरणम्, असदाद्यपेक्षया तु सर्वमेव शास्त्रं मङ्गलम्।

अथवा-निर्युक्तिकार एवात्र भावमङ्गलमभिधातुकाम आह–
तित्थयरे य जिणवरे, सुत्तकरे गणहरे य णमिऊणं।
सूयगडस्स भगवओ, णिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि॥ १॥

गाथापूर्वार्द्धेनेह भावमङ्गलमभिहितं, पश्चार्द्धेन तु प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनाऽऽदित्रयमिति। तदुक्तम्–" उक्तार्थं ज्ञातसम्बन्धं, श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते। शास्त्राऽऽदौ तेन वक्तव्यः, सम्बन्धः स प्रयोजनः॥ १॥ " तत्र सूत्रकृतस्येत्याभिधेयपदम्, निर्युक्तिं कीर्त्तयिष्ये इति प्रयोजनपदम्, प्रयोजनप्रयोजनं तु मोक्षावाप्तिः। सम्बन्धस्तु प्रयोजनपदानुमेय इति पृथक् नोक्तः। तदुक्तम्–" शास्त्रं प्रयोजनं चेति, संबन्धस्याऽऽश्रयावुभौ। तदुक्त्यन्तर्गतस्तस्मा–द्भिन्नो नोक्तः प्रयोजनात्॥ १॥ " इति समुदायार्थः। अधुनाऽवयवार्थः कथ्यते–तत्र तीर्थं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, तत्रापि द्रव्यतीर्थं नद्यादेः समुत्तरणमार्गः, भावतीर्थं तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, संसारार्णवादुत्तारकत्वात्, तदाधारो वा, सङ्घः प्रथमगणधरो वा, तत्करणशीलास्तीर्थङ्करास्तान् नत्वेति क्रिया। तत्राऽन्येषामपि तीर्थकरत्वसम्भवे तद्व्यवच्छेदार्थमाह–जिनवरानिति रागद्वेषमोहजितो जिनाः, एवम्भूताश्च सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्ति, तद्व्यवच्छेदार्थमाह–वराः प्रधानाश्चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितत्वेन, तान्नत्वेति, एतेषां च नमस्कारकरणमागमार्थोपदेष्टृत्वेनोपकारित्वात्, विशिष्टविशेषणोपादानं च शास्त्रस्य गौरवाऽऽधानार्थं, शास्तुः प्राधान्येन हि शास्त्रस्यापि प्राधान्यं भवतीति भावः। अर्थास्य सूचनात्सूत्रं तत्करणशीलाः सूत्रकारास्ते च स्वयंबुद्धाऽऽदयोऽपि भवन्तीत्यत आह–गणधरा:,तांश्च नत्वेति, सामान्याऽऽचार्याणां गणधरत्वेऽपि तीर्थकरनमस्कारानन्तरोपादानाद्गौतमाऽऽदय एवेह विवक्षिताः। प्रथमश्चकारः सिद्धाऽऽद्युपलक्षणार्थः, द्वितीयः समुच्चितौ। क्त्वाप्रत्ययस्य क्रियान्तरसव्यपेक्षत्वात्ताम्–आह–स्वपरसमयसूचनं कृतमनेनेति सूत्रकृतस्तस्य, महार्थवत्त्वाद्भगवांस्तस्य, अनेन च सर्वज्ञप्रणीतत्वमावेदितं भवति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

मंदमण–मन्दमनस्–त्रि०। मन्दं मन्दस्येव वा मनो यस्य सः नात्यन्तधीरो मन्दमनाः। भीरौ, हस्तिभेदे, पुरुषभेदे च। पुं०। स्था० ४ ठा० २ उ०।

मंदया–मन्दता–स्त्री०। मन्दस्य भावः तल्। कायजडतायाम्, अलसतायाम्, पा०।

मंदर–मन्दर–पुं०। मेरौ, नि० चू० १ उ०। प्रज्ञा०। ति०। स०। नि०। प्रश्न०। जं०। रा०। " दो मंदरा। " स्था० २ ठा० ३ उ०। मेरौ, जं०।

सम्प्रति महाविदेहवर्षस्य पूर्वापरविभागकारिणं मेरुं पृच्छन्नाह–

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे मंदरे णामं पव्वए पण्णत्ते ?। गोयमा ! उत्तरकुराए दक्खिणेणं देवकुराए उत्तरेणं पुव्वविदेहस्स वासस्स पच्चच्छिमेणं अवरविदेहस्स वासस्स पुरच्छिमेणं जंबुदीवस्स दीवस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरे णामं पव्वए पण्णत्ते।

(कहि णमित्यादि) प्रश्नः प्राग्वत्। उत्तरसूत्रे गौ–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तम ! उत्तरकुरूणां दक्षिणस्यां देवकुरूणामुत्तरस्यां पूर्वविदेहस्य वर्षस्य पश्चिमायां पश्चिममहाविदेहस्य वर्षस्य पूर्वस्यां जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरो नाम पर्वतः प्रज्ञप्तः ।

ऊर्द्धमुच्चत्वम्—

णवणउतिं जोअणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोअणसहस्सं उव्वेहेणं ।

नवनवतियोजनसहस्राणि ऊर्द्धोच्चत्वेन एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन सर्वाग्रेण पूर्णं लक्षमित्यर्थः, वक्ष्यमाणचूलासत्कानि चत्वारिंशद्योजनानि त्वधिकानि , उच्छ्रयचतुर्थांशो भूम्यवगाहस्तु मेरुवर्जपर्वतेषु ज्ञेय इति ।

उद्वेधविष्कम्भौ—

मूले दसजोयणसहस्साइं णवइं च जोअणाइं दस य एगारसभाए जोअणस्स विक्खंभेणं धरणिअले दसजोअणसहस्सइं विक्खंभेणं तयणंतरं च णं मायाए मायाए परिहायमाणे परिहायमाणे उवरितले एगं जोअणसहस्सं विक्खंभेणं ।

मूले—कन्दे दश योजनसहस्राणि नवतिं च योजनानि दश चैकादश भागान् योजनस्य विष्कम्भेन १००९० अंशाः १०, एकादशरूपेण छेदेन क्रमादपचीयमानविष्कम्भोऽसौ धरणीतले समे भागे दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेन मूलतो योजनसहस्रमूर्द्ध्वगमने मूलगतानि नवतियोजनानि दश च एकादश भागा योजनस्य तुत्रुट्टुरित्यर्थः, तदनन्तरं मात्रया मात्रया ऊर्द्धगमने उच्चत्वस्य यो जनैकादशांशवृद्ध्या विष्कम्भस्य योजनैकादशांशहानिस्तथोच्चत्वैकादशयोजनवृद्ध्या विष्कम्भैकयोजनहानिः, एवमेकादशयोजनशतवृद्ध्या योजनशतहानिः, तथा एकादशयोजनसहस्रवृद्ध्या योजनसहस्रहानिरित्येवंरूपेण परिमाणेन परिहीयमाणः परिहीयमाणः उपरितले शिरोभागे यत्र चूलिकाया उद्गवस्तत्र एकं योजनसहस्रं विष्कम्भेण, समभूतलतो नवनवतियोजनसहस्राण्यूर्द्ध्वगमने पृथुत्वगतनवयोजनसहस्राणि तुत्रुट्टुरित्यर्थः ।

अथास्य परिधिः—

मूले एकत्तीसं जोअणसहस्साइं णव य दसुत्तरे जोअणसए तिण्णि अ एगारसभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं धरणिअले एकत्तीसं जोअणसहस्साइं छच तेवीसे जोअणसए परिक्खेवेणं उवरितले तिण्णि जोअणसहस्साइं एगं च बावट्ठं जोअणसयं किंचिविसेसाहिअं परिक्खेवेणं मूले विच्छिण्णे मज्झे संक्खित्ते उवरिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे सण्हे त्ति ।

मूले एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि नव च शतानि दशोत्तराणि त्रींश्चैकादशभागान् योजनस्य परिक्षेपेण, धरणीतले एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि षट् च त्रयोविंशत्यधिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण उपरितले त्रीणि योजनसहस्राणि एकं च द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण, अथाऽऽद्यपरिधिगणितं मूले विष्कम्भस्य सच्छेदत्वाद्विषममिति दर्श्यते—मूले च विष्कम्भो दशयोजनसहस्राणि नवत्यधिकानि दश चैकादश भागा योजनस्य १००९०-$\frac{१०}{११}$ तत्र योजनराशावेकादशभागकरणार्थमेकादशभिर्गुणिते उपरितनदशभागक्षेपे च जाता एकादश भागा लक्षमेकमेकादश च सहस्राणि १११००० ततोऽस्य राशेर्वर्गकरणे जातम्—एकको द्विकस्त्रिको द्विकः एककः षट् च शून्यानि १२३२१०००००० ततोऽस्य दशभिर्गुणने जातानि सप्तशून्यानि १२३२१०००००००० अथाऽस्य वर्गमूलाऽऽनयने लब्धस्त्रिकः पञ्चक एककः शून्यमेकको द्विकः ३५१०१२, अथास्य योजनकरणार्थं ११ भागः लब्धं योजन ३१९१०, अंश २, शेषम् ५७५८५६ । ७०२०२४, अर्द्धाभ्यधिकत्वाद्रूपे दत्ते अंशाः३, समभूतलगतपरिधावपि ३१६२२, योजनानि अवशिष्टांशानामर्द्धाभ्यधिकत्वाद्रूपे दत्ते त्रयोविंशतिर्योजनानि, शिखरपरिधौ चार्द्धतो न्यूनत्वादंशानां सूत्र किञ्चिदधिकत्वं न्यवेदि, अत एव मूले विस्तीर्णो मध्ये संक्षिप्तः उपरि तनुकः ऊर्द्धं मेखलाद्यविवक्षया उदस्तगोपुच्छाऽऽकारेण संस्थितः सर्वोऽऽत्मना रत्नमयः, इदं च प्रायोवचनम् , अन्यथा—काण्डत्रयविवेचने आद्यकाण्डस्य पृथ्व्युपलशर्करावज्रमयत्वं तृतीयकाण्डे जाम्बूनदमयत्वं च भणिष्यमाणं विरुणद्धि, शेषं प्राग्वत् ।

अथात्र पद्मवरवेदिकाऽऽद्याह—

से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समता संपरिक्खित्ते वण्णओ त्ति ।

(से णं एगाए) इत्यादि व्यक्तम् , अत्र चाऽऽरोहेऽवरोहे च इष्टस्थाने विस्ताराऽऽदिकरणानि सूत्रेऽनुक्तान्यपि उत्तरग्रन्थे बहूपयोगानीति दर्श्यन्ते—तत्र कन्दादारोहे करणमिदम् ऊर्द्धं गतस्य यत्र योजनाऽऽदौ विस्तारजिज्ञासा तस्मिन् योजनाऽऽदिके एकादशभिर्भक्ते यल्लब्धं तस्मिन् कन्दविस्तारादपनीते यदवशिष्टं स तत्र प्रदेशे मेरुव्यासः । तथाहि—कन्दायोजनलक्षमूर्द्धं गतस्ततो योजनलक्षं ध्रियते तस्मिन्नेकादशभिर्भक्ते लब्धानि नवतिशतानि नवत्यधिकानि योजनानां दश चैकादश भागा योजनस्य अस्मिन् कन्दव्यासात् दश योजनसहस्राणि नवत्यधिकानि दश चैकादशभागा योजनस्येत्येवं परिमाणादपनीयते शेषं योजनसहस्रम् , एतावानत्र प्रदेशे मेरूपरितले व्यासः, अथवा—योजनसहस्रमारूढस्ततो योजनसहस्रे एकादशभिर्भक्ते लब्धानि नवतियोजनानि दश च एकादश भागा योजनस्य अस्मिन् पूर्वोक्तात् कन्दव्यासाच्छोधिते शेषं दश योजनसहस्राणि, एवमन्यत्रापि भाव्यम् । अथ शिखरादवरोहे करणं, यथा मेरुशिखरादवपत्य यत्र योजनाऽऽदौ विष्कम्भजिज्ञासा तस्मिन् योजनाऽऽदिके एकादशभिर्भक्ते यल्लब्धं तत्सहितं तत्र प्रदेशे मेरुव्यासमानं,यथा शिखराद्योजनलक्षमवतीर्णस्ततो लक्षे एकादशभिर्भक्ते लब्धानि नवतिशतानि नवत्यधिकानि दश चैकादश भागाः अस्मिन् योजनसहस्रप्रक्षेपे जातानि १००९०-$\frac{१०}{११}$ इयान् कन्दे व्यासः । अथवा—शिखरान्नवनवतियोजनसहस्राण्यवतीर्णस्ततस्तेषामेकादशभिर्भागे हृते लब्धानि नवसहस्राणि तानि सहस्रसहितानि जातानि दशसहस्राणि एतावान्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धरणीतले विस्तारः, एवमन्यत्रापि, अथ मेरौ मूलादारोहे मौलितोऽवरोहे च विष्कम्भविषयकहानिवृद्धिज्ञानार्थं करणमिदम्–उपरितनाधस्तनयोर्विस्तारयोर्विश्लेषे कृते तयोर्मध्यवर्त्तिना पर्वतोच्छ्रयेण भक्ते यल्लब्धं सा हानिर्वृद्धिश्च। तथाहि उपरितने विस्तारे योजनसहस्रम् अधस्तानाद्योजन १००९० $\frac{१०}{११}$ इत्येवंरूपाच्छोधिते शेषं ९०९०–$\frac{१०}{११}$ सवर्णनार्थं योजनराशिमेकादशगुणीकृत्य अधस्तना दश भागाः प्रक्षेप्या जातम् $\frac{१०००००}{११}$ अस्य च भजनार्थं मध्यवर्त्तिनि, पर्वतोच्छ्रये १००००० इत्येवंरूपे एकादशगुणीकृते जातं $\frac{१}{११}$ शून्य ५ अत्र छेदराशेरेकादशगुणत्वाद्भागाप्राप्तौ उभयोर्लक्षे–शून्य ५ णापवर्त्ते कृते जातम् $\frac{१}{११}$। इयती प्रतियोजनं हानिर्वृद्धिश्च, तथा इदमेव लब्धमर्द्धीकार्यम् एककस्यार्द्धासंभवात् छेद एव द्विगुणीक्रियते जातम् $\frac{१}{२२}$ इयं मेरोरेकस्मिन् पार्श्वे वृद्धिर्हानिश्चेति। अथोच्चत्वपरिज्ञानाय करणमिदम्—मेरोर्यत्र–भूतलाऽऽदौ प्रदेशे यो यावान् विस्तारः तस्मिन् मूलविस्ताराच्छोधिते यच्छेषं तदेकादशभिर्गुणितं सत् यावद्भवति तावत्प्रमाण उत्सेधः। तथाहि—शिखरव्यासो योजनसहस्रं तस्मिन् कन्दव्यासात्पूर्वोक्ताच्छोधिते शेषं नवतिसहस्राणि नवत्यधिकानि दश चैकादश भागा योजनस्येत्येतदात्मकं योजनराशिरेकादशभिर्गुण्यते जातम् ९९९९० ये च दशैकादशभागास्तेऽपि एकादशभिर्गुण्यन्ते जातम् ११० तस्यैकादशभिर्भागे हृते लब्धानि दश योजनानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातं योजनानां लक्षम्, एतावदधोविस्तारोपरितनविस्तारयोरन्तरे उच्चत्वम्,एवं मध्यभागाऽऽदावप्युच्चत्वपरिमाणं भावनीयमिति। नन्विह कस्मादेकादशलक्षणः छेदः कस्माद्वा तेन शेषं गुण्यते ?। उच्यते–एकादशानां योजनानामन्ते एकं योजनम् एकादशानां योजनशतानामन्ते एकं योजनशतम् एकादशानां योजनसहस्राणामन्ते एकं योजनसहस्रं त्रुट्यति, तत एकादशलक्षणः छेदः, तेनोच्चत्वपरिज्ञानाय विस्तारशेषं गुण्यते, अन्यथा–योजनानां दशसहस्राणि नवत्यधिकानि दश चैकादश भागा योजनस्येत्येवं विस्तारात्कन्दादारोहणे धरणीतले नवतिर्योजनानि दश चैकादशभागाः कथं त्रुट्येयुरिति, ननु मेखलाद्वये प्रत्येकं परितः पञ्चयोजनशतविस्तारयोर्नन्दनसौमनसवनयोः सद्भावात् प्रत्येकं योजनसहस्रस्य युगपत् त्रुटिः,ततः किमित्येकादशभागपरिहाणिः ?।उच्यते–कर्णगत्या समाधेयमिति। का च कर्णगतिरिति चेदुच्यते—कन्दादारभ्य शिखरं यावदेकान्तऋजुरूपायां दवरिकायां दत्तायां यदपान्तराले क्वाऽपि कियदाकाशं तत्सर्वं कर्णगत्या मेरोराभाव्यमिति मेरुतया परिकल्प्य गणितज्ञा सर्वत्रैकादशभागपरिहाणिं परिवर्णयन्ति। अयं चार्थः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यैरपि विशेषणवत्यां लवणोदधिघनगणितनिरूपणावसरे दृष्टान्तद्वारेण ज्ञापित एवेति।

सम्प्रत्येतद्गतवनवक्तव्यतामाह—

मंदरे णं भंते! पव्वए कइ वणा पण्णत्ता ?। गोअमा ! चत्तारि वणा पण्णत्ता। तं जहा–भद्दसालवणे १, णंदणवणे २, सोमणसवणे ३, पंडगवणे ४।

(मंदरे णमित्यादि) प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्, उत्तरसूत्रे चत्वारि वनानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा-भद्राः सद्भूमिजातत्वेन सरलाः शालाः साला वा–तरुशाखा यस्मिन् तत् भद्रशालं भद्रसालं वा,अथवा–भद्राः शाला वृक्षा यत्र तद् भद्रशालम्। नन्दयति आनन्दयति देवाऽऽदीनिति नन्दनम्। सुमनसां देवानामिदं सौमनसं देवोपभोग्यभूमिकाऽऽसनाऽऽदिमत्त्वात्। पण्डते–गच्छति जिनजन्माभिषेकस्थानत्वेन सर्ववनेष्वतिशायितामिति णक्प्रत्यये पण्डकम्, इमानि चत्वार्यपि स्वथाने मेरुं परिक्षिप्य स्थितानि। जं० ४ वक्ष०। (नन्दनवनाऽऽदिवक्तव्यता नन्दनवनाऽऽदिशब्देषूक्ता।)

अथ मेरौ काण्डसंख्याजिज्ञासुर्गौतमः पृच्छति—

मंदरस्स णं भंते! पव्वयस्स कइ कंडा पण्णत्ता ?। गोअमा !। तओ कंडा पण्णत्ता। तं जहा–हेट्ठिल्ले कंडे, मज्झिमिल्ले कंडे, उवरिल्ले कंडे। मंदरस्स णं भंते! पव्वयस्स हिट्ठिल्ले कंडे कतिविहे पण्णत्ते ?। गोअमा ! चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–पुढवी १, उवले २, वइरे ३, सक्करा ४। मज्झिमिल्ले णं भंते! कंडे कतिविहे पण्णत्ते ?। गोअमा ! चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–अंके १, फलिहे २, जायरूवे ३, रयए ४, उवरिल्ले कंडे कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते सव्वजंबूणयामए। मंदरस्स णं भंते ! पव्वयस्स हेट्ठिल्ले कंडे केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?। गोअमा ! एगं जोअणसहस्सं बाहल्लेणं पण्णत्ते। मज्झिमिल्ले कंडे पुच्छा ?। गोयमा ! तेवट्ठिं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। उवरिल्ले पुच्छा ?। गोयमा ! छत्तीसं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं। एवामेव सपुव्वावरेणं मंदरे पव्वए एगं जोअणसयसहस्सं सव्वऽग्गेणं पण्णत्ते। (सूत्र–१०८)

(मंदरस्स णमित्यादि) मेरोर्भदन्त! पर्वतस्य कति काण्डानि प्रज्ञप्तानि ?। काण्डं नाम–विशिष्टपरिणामानुगतो विच्छेदः पर्वतक्षेत्रविभाग इति यावत्। गौतम ! त्रीणि काण्डानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा—अधस्तनं काण्डं, मध्यमं काण्डम्, उपरितनं काण्डम्। अथ प्रथमं काण्डं कतिप्रकारमिति पृच्छति—(मंदरस्स इत्यादि) प्रश्नः प्रतीतः। निर्वचनसूत्रे पृथ्वी–मृत्तिकाः, उपलाः–पाषाणाः, वज्राणि–हीरकाः, शर्कराः–कर्करिकाः, एतन्मयः कन्दो मन्दरस्य। एतदेव हि प्रथमं काण्डं सहस्रयोजनप्रमाणं, ननु प्रथमकाण्डस्य चतुःप्रकारत्वात् तदीययोजनसहस्रस्य चतुर्विभजने एकैकप्रकारस्य योजनसहस्रचतुर्थांशप्रमाणक्षेत्रता स्यात् तथा च सति विशिष्टपरिणामानुगतविच्छेदरूपत्वात् त एव काण्डसंख्यां कथं न वर्द्धयन्तीति ? उच्यते—क्वचित्पृथिवीबहुलं क्वचिदुपलबहुलं क्वचिद्वज्रबहुलं क्वचिच्छर्कराबहुलम्। इदमुक्तम्भवति–उक्तचतुष्टयमन्तरेणान्यत्किमप्यङ्करत्नाऽऽदिकं न तदारम्भकमिति अतो नैयत्येन पृथिव्यादिरूपविभागाभावान्न काण्डसंख्यावर्द्धनावकाश इति। मध्यकाण्डगतवस्तुपृच्छार्थमाह–(मज्झिमिल्ले इत्यादि) अङ्करत्नानि—स्फटिकरत्नानि, जातरूपं सुवर्णं, रजतं रूप्यम्। अत्रापीयं भावना—क्वचिदङ्कबहुलमित्यादि। अथ तृतीयं काण्डम् (उवरिल्ले इत्यादि) प्रश्नो व्यक्तः। उत्तरसूत्रे एकाऽऽकारं भेदरहितं सर्वाऽऽत्मना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जम्बूनदं रक्तसुवर्णं तन्मयमिति । काण्डपरिमाणद्वारा मेरुपरिमाणमाह-(मंदरस्स णमित्यादि) भगवन् ! मन्दरस्याऽधस्तनं काण्डं कियद्बाहल्येन-उच्चत्वेन प्रज्ञप्तम् ? । गौतम ! एकं योजनसहस्रं बाहल्येन प्रज्ञप्तम् । मध्यमकाण्डे पृच्छा प्रश्नपद्धतिर्वाच्या, सा च-" मंदरस्स णं भंते ! पव्वयस्स मज्झमिल्ले कंडे केवइयं बाहल्लेणं पएणत्ते ? । " इत्यादिरूपा स्वयमभ्यूह्या । गौतम ! त्रिषष्टिं योजनसहस्राणि बाहल्येन प्रज्ञप्तम्, अनेन भद्रशालवनं नन्दनवनं सौमनसवनं द्वे अन्तरे चैतत् सर्वं मध्यमकाण्डे अन्तर्भूतमिति, यत्तु समवायाङ्गे अष्टात्रिंशत्तमे समवाये द्वितीयकाण्डविभागोऽष्टात्रिंशत्सहस्रयोजनान्युच्चत्वेन भवतीत्युक्तं तन्मतान्तरेणेति । एवमुपरितने काण्डे पृच्छा ज्ञेया, षट्त्रिंशद्योजनसहस्राणि बाहल्येन प्रज्ञप्तम्, एवमुक्तरीत्या " सपुव्वावरेणं " पूर्वापरमीलनेन मन्दरपर्वतः एकं योजनशतसहस्रं सर्वाग्रेण सर्वसङ्ख्यया प्रज्ञप्तः । ननु चत्वारिंशद्योजनप्रमाणा शिरःस्था चूलिका मेरुप्रमाणमध्ये कथं न कथिता ?, उच्यते—क्षेत्रचूलात्वेन तस्या अगणनात्, पुरुषोच्छ्रयगणने शिरोगतकेशपाशस्येवेति, इयं च सूत्रत्रयी एकार्थप्रतिबद्धत्वेन समुदितैवाऽलेखि । जं० ४ वक्ष० । स० । सू० प्र० । चं० प्र० । जी० । समयक्षेत्रे पञ्च मन्दराः प्रज्ञप्ताः । स० ३६ सम० । (अस्य षोडश नामानि ' मेरु ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

धायइखंडगाणं मंदरा दसजोयणसयाइं उव्वेहेणं धरणितले देसूणाइं दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं उवरिं दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं पएणत्ता । पुक्खरवरदीवड्डगाणं मंदरा दसजोयणा एवं चेव ।

(मंदर त्ति) पूर्वापरौ मेरू, तत्स्वरूपं सूत्रतः सिद्धं, विशेषत उच्यते—

" धायइखंडे मेरू, चुलसीइसहस्सऊसिया दो वि ।
ओगाढा य सहस्सं, होंति य सिहरम्मि विच्छिन्ना ॥ १ ॥
मूले पणनउइसया, चउणवइसया य हुंति धरणियले ।"इति ।

स्था० १० ठा० । (मन्दरादन्येषामन्तरम् ' अंतर ' शब्दे प्रथमभागे ७३ पृष्ठे उक्तम् ।) (अबाधा ' अबाहा ' शब्दे प्रथमभागे ६८२ पृष्ठे गता ।) मन्दरवक्तव्यताप्रतिबद्धे दीर्घदशानामष्टमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० । मन्दरपर्वतदेवे, जं० ४ वक्ष० । त्रयोदशजिनस्य प्रथमशिष्ये, स० ।

मंदरकूड—मन्दरकूट—पुं० । न० । जम्बूमन्दरपर्वतस्थनन्दनवनस्थे कूटे, स्था० ६ ठा० । जम्बूमन्दरपश्चिमदिशि रुचकवरपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे, स्था० ८ ठा० ।

मंदरचूलिया—मन्दरचूलिका—स्त्री० । मन्दरे-मेरौ चूलिका । मेरोः पण्डकवनमध्यगे शिखरविशेषे, स्था० ।

दो मंदरचूलियाओ । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

चूलिका क्वेत्याह—

पंडगवणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं मंदरचूलिआ णामं चूलिआ पएणत्ता, चत्तालीसं जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मूले बारस जोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे अट्ठ जोअणाइं विक्खंभेणं उप्पिं चत्तारि जोअणाइं विक्खंभेणं मूले साइरेगाइं सत्ततीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं मज्झे साइरेगाइं पणवीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं उप्पिं साइरेगाइं बारस जोअणाइं परिक्खेवेणं मूले विच्छिन्ना मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुआ गोपुच्छसंठाणसंठिआ सव्ववेरुलिआमई अच्छा सा णं एगाए पउमवरवेइयाए ० जाव संपरिक्खित्ता इति उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे ० जाव सिद्धाययणं बहुमज्झदेसभाए कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणगं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसय ०जाव धूवकडुच्छुगा ।

(पंडगवणे त्ति) पण्डकवनस्य मध्ये द्वयोः चक्रवालविष्कम्भयोर्विचाले अत्रान्तरे मन्दरस्य-मेरोश्चूलिका शिखा इव मन्दरचूलिका नाम चूलिका प्रज्ञप्ता, चत्वारिंशतं योजनान्यूर्ध्वोच्चत्वेन मूले द्वादश योजनानीत्यादिसूत्रं प्राग्वत् । केवलं सर्वाऽऽत्मना वैडूर्यमयी नीलवर्णत्वात्, सांप्रतं सूत्रेऽनुक्तोऽपि वाचयितृणामपूर्वार्थजिज्ञापयिषया चूलिकाया इष्टस्थाने विष्कम्भपरिज्ञानाय प्रसङ्गत्योपायो लिख्यते, यथा—तत्राधोमुखगमने करणमिदं चूलिकायास्सर्वोपरितनभागादवपत्य यत्र योजनाऽऽदावतिक्रान्ते विष्कम्भजिज्ञासा तस्मिन्नतिक्रान्ते योजनाऽऽदिके पञ्चभिर्भक्ते लब्धराशिश्चतुर्भिर्युतस्तत्र व्यासः स्यात्, तत्र उपरितलाद् विंशतियोजनान्यवतीर्णस्ततो विंशतिः भ्रियते तस्याः पञ्चभिर्भागे लब्धाश्चत्वारः ते चतुर्भिः सहिताः अष्टौ एतावानुपरितलाद् विंशतियोजनातिक्रमे विष्कम्भः, एवमन्यत्रापि भावनीयम्, यदा तूर्द्ध्वमुखगत्या विष्कम्भजिज्ञासा तदाऽयमुपायः चूलिकाया मूलादुत्पत्य यत्र योजनाऽऽदौ विष्कम्भजिज्ञासा तस्मिन्नतिक्रान्तयोजनाऽऽदिके पञ्चभिर्भक्ते यल्लब्धं तावत्प्रमाणे मूलविष्कम्भादपनीते अवशिष्टं तत्र विष्कम्भः । तथाहि—मूलात्किल विंशतिर्योजनान्यूर्ध्वं गतस्ततो विंशतिर्ध्रियते तस्याः पञ्चभिर्भागे (हृते) लब्धानि चत्वारि योजनानि तानि मूलविष्कम्भाद् द्वादशयोजनप्रमाणादपनीयते, शेषाण्यष्टौ, एतावान् मूलादूर्द्ध्वं विंशतियोजनातिक्रमे विष्कम्भः, एवमन्यत्रापि भावनीयम् । यथा मेरौ एकादशभिरंशैरेकोंऽशः एकादशभिरंशैरेकं योजनं व्यासस्य चीयतेऽपचीयते,तथाऽस्यां पञ्चभिरंशैरेकोंऽशः पञ्चभिर्योजनैरेकं योजनं व्यासस्येति तात्पर्यार्थः । अत्र बीजम्—द्वादशयोजनप्रमाणाच्चूलाव्यासादारोहे चत्वारिंशद्योजनेषु गतेषु अष्टौ योजनानि त्रुट्यन्ति, अवरोहे च तान्येव वर्द्धन्ते, ततस्त्रैराशिकस्थापना-४० । ८ । १ । मध्यराशावन्त्यराशिना गुणिते एकेन गुणितं तदेव भवतीति जाता अष्टौ अस्य राशेश्चत्वारिंशता भजने भागाऽप्राप्तौ द्वयो राश्योरष्टभिरपवर्ते जातम् । $\frac{१}{५}$ । अथास्या वर्णकसूत्रम्—" सा णं एगाए पउमवर ०जाव " इत्यादि प्राग्वत् । अथास्यां बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनं सिद्धायतनवर्णनं चातिदेशेनाऽऽह-(उप्पिं बहुसम इत्यादि) अस्याश्चूलिकाया उपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । स च यावत्पदकरणात् "से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा " इत्यादिको ग्राह्यः, तथा तस्य बहुमध्यदेशभागे सिद्धायतनं वाच्यं, क्रोशमायामेनार्द्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनं क्रोशमुच्चत्वेन अनेकस्तम्भशतसंनिविष्टमित्यादिकः सिद्धायतनवर्णको वाच्यो, याव-

८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ञ्जूपकडुच्छुकानामष्टोत्तरं शतमिति । जं० ४ वक्ष० । स्था० । नि० चू० । स० । " मंदरचूलियाए सिहरम्मि । " आ० म० १ अ० ।

मंदराय–मन्दराज–पुं० । राजभेदे, अक्षत्रिये कुलविशेषप्रवर्त्तके, आ० म० १ अ० ।

मंदलेस्सा–मन्दलेश्या–स्त्री० । ईषदुष्णरश्मौ , सू० प्र० १६ पाहु० । जं० ।

मंदवाय–मन्दवात–पुं० । अमहावातेषु,मन्दाः शनैःसंचारिणो वाताः । भ० ५ श० २ उ० ।

मंदा–मन्द्रा–स्त्री० । वर्षशताऽऽयुष्कस्य पुरुषस्य तृतीयदशायाम् , तं० । दश० । (सा च 'दसा' शब्दे चतुर्थभागे २४८४ पृष्ठे दर्शिता)

मंदाइय–मन्दायित–न० । मध्यभागे मूर्च्छनाऽऽदिगुणोपेततया मन्दमन्दघोलनाऽऽत्मके गेयभेदे, जं० १ वक्ष० ।

मंदाय–मन्द्–न० । शनैःशब्दार्थे, "मंदायं मंदायं पव्वइयाए।" शनैः शनैः प्रव्रजितायाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । मंदायं मंदायमतिमन्दकम् । आ० म० १ अ० । मन्दकमध्यभागे सकलमूर्च्छनाऽऽदिगुणोपेतं मन्दं मन्दं संचरन् । अथवा–मन्दम्–अयते गच्छति परिघोलनाऽऽत्मकत्वान्मन्दायम् । गेयभेदे, जं० १ वक्ष० । आ० म० । रा० ।

मंदार–मन्दार–पुं० । कल्पवृक्षे, " मंदारदामरमणिज्जभूयं । " कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

मंदारमंजरी–मन्दारमञ्जरी–स्त्री० । पुष्करद्वीपार्द्धे मङ्गलावतीविजये तमाललताया नगर्य्या राज्ञः समरनन्दनस्याग्रमहिष्याम् , दर्श० ३ तत्त्व ।

मंदारसिह–मंदारशिख–पुं० । भरतवर्षीयचोलदेशवृत्तिकञ्चनस्थलनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, दर्श० ३ तत्त्व ।

मंदावत्थ–मन्दावस्थ–त्रि० । विपाकदारुणे, पं०व० ४ द्वार ।

मंदिय–मन्दिक–पुं० । धर्मक्रियायामलसे, उत्त० ८ अ० । धर्मकार्यम्प्रत्युद्यते , उत्त० ८ अ० ।

मंदिर–मन्दिर–न० । गृहे , प्रश्न० ४ आश्र०द्वार । आ० म० । द्वी० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, " मंदिरे सन्निवेशे अग्गिभूती णाम माहणे । " आ० चू० १ अ० । उत्त० । वेश्मनि,उत्त० ६ अ० । प्रज्ञा० ।

मंदिरपुर–मन्दिरपुर–न० । शान्तिनाथस्य तीर्थकरस्य प्रथमभिक्षालाभस्थाने, आ० म० १ अ० ।

मंदिरमउड–मन्दिरमुकुट–न० । चन्द्रावत्यां प्रतिष्ठिते श्रीचन्द्रप्रभे, ती० ४३ कल्प ।

मंदुरक्क–न० । देशीवचनम् । मन्दु-सुखं तेन रक्कं वृषभाऽऽदिशब्दकरणं मन्दुरक्कम् । देवताऽऽदिपुरतो वृषभगर्जिताऽऽदिकरणे, उपा० १ अ० ।

मंदोअरी–मन्दोदरी–स्त्री० । लङ्केश्वररावणभार्यायाम् , ती० ५० कल्प ।

मंधादन–मन्धादन–पुं० । मेषे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

मंस–मांस–न० । पलले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । तं । ध० । तृतीये धातौ , तं० । शरीरावयवे , स० । पिशिते , उत्त० ५ अ० । प्रश्न० ।

श्रावकेण त्रिविधं मांसं त्याज्यम्—

मांसं च त्रिधा–जलचरस्थलचरखेचरजन्तूद्भवभेदाच्चर्म्मरुधिरमांसभेदाद्वा , तद्भक्षणमपि महापापमूलत्वाद्वर्ज्यम् , यदाहुः—

" पंचिंदिय वहभूअं, मंसं दुग्गंधमसुइवीभच्छं ।
रक्खपरितुलिअभक्खग—मामयजणयं कुगइमूलं ॥ १ ॥
आमासु अ पक्कासु अ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
सययं चिअ उववाओ, भणिओ अ निगोअजीवाणं ॥ २ ॥"

योगशास्त्रेऽपि—

" सद्यः संमूर्च्छितानन्त–जन्तुसन्तानदूषितम् ।
नरकाध्वनि पाथेयं, कोऽश्नीयात्पिशितं सुधीः ? ॥ १ ॥ "

सद्यो जन्तुविशसनकाल एव संमूर्च्छिता उत्पन्ना अनन्ता निगोदरूपा ये जन्तवस्तेषां सन्तानः पुनःपुनर्भवनं तेन दूषितमिति तद्वृत्तिः । मांसभक्षकस्य च घातकत्वमेव ।

यतः—

" हन्ता पलस्य विक्रेता, संस्कर्त्ता भक्षकस्तथा ।
क्रेताऽनुमन्ता दाता च, घातका एव यन्मनुः ॥ १ ॥ "

तथा भक्षकस्यैवान्यपरिहारेण वधकत्वं यथा—

" ये भक्षयन्त्यन्यपलं, स्वकीयपलपुष्टये ।
स एव घातको यन्न, वधको भक्षकं विना ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० । चं० प्र० । स्था० । प्रव० । मांसं विकृतिः–" जलथलखहयरमंसं, चम्मं वस सोणियं तिहेयं पि । आइल्ल तिन्नि चलचल, ओगाहिमगं च विगईओ ॥ ५ ॥ " आदिमानि त्रीणि चलचलेत्येवं पक्वानि विकृतिरित्यर्थः । स्था० ४ ठा० १ उ० । पं० व० । मांसं निर्दोषमिति बौद्धाः–मांसं कल्किकमित्युपदिश्य संज्ञान्तरसमाश्रयणान्निर्दोषं मन्यन्ते, बुद्धसंघाऽऽदिनिमित्तं चाऽऽरम्भं निर्दोषमिति । तदुक्तम्–"मंसानिवत्तिं काउं,सेवइदं कक्किगं ति धाणभेया । इय चइऊणाऽऽरम्भं, परवपसा कुणइ वालो ॥१॥ " न चैतावता तन्निर्दोषता । न हि लूताऽऽदिकं शीतलिकाऽऽद्यभिधानान्तरमात्रेणान्यथात्वं भजते,विषं वा मधुरकाभिधानेनेति । ('हिंसामूलममेध्यम्'इत्यादि श्लोकः 'अद्दगकुमार' शब्दे प्रथमभागे ५५७ पृष्ठे गतः।) मांसं न भक्षणीयम् , शास्त्रनिषिद्धत्वात् , "न मांसभक्षणे दोष" इति मतखण्डनम्—धर्मवादमुपदर्शयता सूरिणा यथा हिंसाऽऽदीनि तत्तन्त्रव्यपेक्षया युज्यन्ते यथा विचारितमथ मांसभक्षणाऽऽदिकं हिंसाऽऽदीनिवृत्तैरपि कुतीर्थिकैरदोषतयाऽभ्युपगतं तत्तत्तन्त्रव्यपेक्षया धर्म्मवादोपदर्शनार्थमेव विचारयितुमुपक्रमते । तत्र मांसभक्षणमधिकृत्य तावदाह—

भक्षणीयं सता मांसं, प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना ।
ओदनाऽऽदिवदित्येवं, कश्चिदाहातितार्किकः ॥१॥

भक्षणीयं भोक्तव्यं सता विदुषा मांसं पिशितमिति प्रतिज्ञा,केन हेतुनेत्याह–प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना जीवावयवत्वाद्धेतोः, ओदनाऽऽदिवदिति भक्तप्रभृतिकं यथा,इत्यन्वयदृष्टान्तः, इतिशब्दः प्रयोगार्थसमाप्तौ, प्रयोगश्चैवम्–यद्यत्प्राण्यङ्गं तत्तद्भक्ष्यं दृष्टमोदनवत्,प्राण्यङ्गं च मांसमिति,मांसस्य च प्राण्यङ्गतया प्रत्यक्षसिद्धत्वान्नासिद्धो हेतुः, ओदनस्य चैकेन्द्रियप्राण्यङ्गत्वे–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न प्रतीतत्वान्न हेतुविकलो दृष्टान्तः। एवमित्यनन्तरोक्तप्रकारेण कश्चित्कोऽपि,सौगत इत्यर्थः। अतिशयवांस्तार्किक इत्युपहासवचनं, प्रायः शुष्कतर्कप्रधानत्वात्तस्य, अधिकृतप्रमाणस्य वा प्रमाणाऽऽभासत्वादिति ॥ १ ॥

शुष्कतार्किकतां चाऽस्य पूर्वपक्षदूषणत आह—

भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्थेह—शास्त्रलोकनिबन्धना ।
सर्वैव भावतो यस्मात्, तस्मादेतदसाम्प्रतम् ॥ २ ॥

ननु भक्षणीयं मांसं प्राण्यङ्गत्वादित्येतत् स्वतन्त्रसाधनं, प्रसङ्गसाधनं वा ?। स्वतन्त्रसाधनपक्षे ओदनादिवदित्ययं साधनविकलो दृष्टान्तः, वनस्पत्याद्येकेन्द्रियाणां बौद्धस्य प्राणित्वेनासिद्धत्वात् , ततश्च दृष्टान्ते प्राण्यङ्गत्वलक्षणसाधनस्य भक्ष्यत्वलक्षणसाध्येन व्याप्यत्वासिद्धेरसिद्धान्वयाऽभिमानोऽनैकान्तिको हेतुः ।प्रसङ्गसाधनपक्षे त्विदमुच्यते—भक्ष्यं भक्षणीयमोदनाऽऽदि,अभक्ष्यं मधुमांसपलाण्ड्वादि तयोर्व्यवस्था मर्यादा भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्था, उपलक्षणत्वादस्य पेयापेयगम्यागम्याऽऽदिपरिग्रहः। इहाऽस्मिन् लोके, शास्त्रमाप्तवचनं लोको लोकव्यवहारः,तौ निबन्धनं हेतुर्यस्याः सा तथा, न तु प्राण्यङ्गेतरमात्रनिबन्धना, सर्वैव निरवशेषैव, न तु काचिदेव, भावतः पारमार्थेन,यस्मात्कारणात्तस्मादेतदनन्तरोक्तं "भक्षणीयं सता मांसम्।" इत्यादि साधनमसाम्प्रतमयुक्तमिति ॥२॥

असाम्प्रतत्वमेव हेतोरनैकान्तिकतोपदर्शनतो भावयन्नाह—

तत्र प्राण्यङ्गमप्येकं, भक्ष्यमन्यत्तु नो तथा ।
सिद्धं गवादिसत्क्षीर—रुधिराऽऽदौ तथेक्षणात् ॥३॥

तत्रेति तयोः शास्त्रलोकयोर्वाक्योपक्षेपमात्रार्थो वा तत्र शब्दः प्राण्यङ्गमपि जीवावयवोऽपि,आस्तामप्राण्यङ्गमपि,एकं किञ्चिद्भक्ष्यं भोज्यम् अन्यत्तु परं पुनर्नो तथा तेन प्रकारेण, अभक्ष्यमित्यर्थः। सिद्धं प्रतिष्ठितम्। कुतः सिद्धमित्याह–गवादीनाम् , आदिशब्दात् मातृप्रभृतीनां, सच्छोभनं अभिनवप्रसवधेनुसत्कादन्यत् , क्षीरं च, पयो रुधिरं च लोहितमादिर्यस्य तत्तथा, तत्र गवादिसत्क्षीररुधिराऽऽदौ विषय , आदिशब्दात् गवादिमूत्रमांसाऽऽदौ च, तथा तेन भक्ष्याभक्ष्याऽऽदिप्रकारेण, ईक्षणादवलोकनात्। तथाहि–गवां क्षीरं मूत्रं वा पेयतया शास्त्रे लोके च न निषिध्यते,रुधिरमांसे तु नानुमन्येते, ततश्च प्राण्यङ्गं सद्भक्ष्यं चोपलब्धमतः सपक्षविपक्षवृत्तित्वादनैकान्तिको हेतुरिति ॥३॥

किं च–प्रसङ्गसाधनं हि पराभ्युपगमानुसारेण भवति, न चाऽस्माकं प्राण्यङ्गमिति कृत्वा मांसमभक्ष्यमित्यभ्युपगमः, किं तु तदुत्थजीवापेक्षयेति दर्शयितुमाह—

प्राण्यङ्गत्वेन न च नोऽ-भक्षणीयं त्विदं मतम् ।
किं त्वन्यजीवभावेन, तथा शास्त्रप्रसिद्धितः ॥४ ॥

प्राण्यङ्गत्वेन जीवावयवतया हेतुना , न च नैव नोऽस्माकम् ,अभक्षणीयमभोज्यमिदं मांसं,मतं सम्मतं,किं तु किं पुनः अन्यजीवभावेन मांसस्वामिव्यतिरिक्तप्राणिसमुत्पादेन हेतुना, अभक्षणीयमिदं मतमित्यावर्त्तते। अन्यजीवभाव एव कुतः सिद्धः ?,इत्यत्राऽऽह-तथा तेन प्रकारेण जीवसंसक्तिलक्षणेन, शास्त्रप्रसिद्धितः आत्माऽऽगमप्रतिष्ठितेः; प्रसिद्धं ह्यागमे मांसस्य जीवसंसक्तिनिमित्तत्वम्। यदाह–" आमासु य पक्कासु य, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु । आयंतियमुववाओ, भणिओ य निगोयजीवाणं ॥ १ ॥" एतेन च श्लोकेन परस्परमतानभिज्ञताऽऽपादनतोऽधिकृतप्रमाणस्य प्रसङ्गसाधना निराकृतेति ॥ ४ ॥

अथाऽधिकृतहेतोरेवानिष्टार्थसाधकतां दर्शयन्नाह—

भिक्षुमांसनिषेधोऽपि, नचैवं युज्यते क्वचित् ।
अस्थ्याद्यपि च भक्ष्यं स्यात्,प्राण्यङ्गत्वाविशेषतः ॥ ५ ॥

भिक्षोर्बौद्धविशेषस्य मांसं पिशितं तस्य निषेधो वर्जनं भिक्षुमांसनिषेधः, स किल भवन्मतेन भिक्षोरतिपूज्यत्वादवश्यं युक्तो भवति, सोऽपि, आस्तां गवादिमांसनिषेधः, न च नैव, एवं प्राण्यङ्गत्वेन मांसभक्षणाभ्युपगमे सति, युज्यत घटते, क्वचित् कुत्रचित् देशान्तरे कालान्तरे पुरुषान्तरे वा । अस्यैवाभ्युच्चयमाह—अस्थिकीकसमादिर्यस्य तत्तथा, तदपि च न केवलं भिक्षुमांसाऽऽदि यत्किल भक्षयितुमशक्यमस्थिशृङ्गखुराऽऽदि तदपि च भक्ष्यं भक्षणीयं स्याद्भवेत्। कुतः ?, इत्याह—प्राण्यङ्गत्वस्य जीवावयवत्वस्य हेतोरविशेषस्तुल्यत्वं मांसे अस्थ्यादौ चेति प्राण्यङ्गत्वाविशेषस्तस्मादतोऽभक्ष्यस्य भक्ष्यत्वाऽऽपादनेन विरुद्धो हेतुरिति ॥ ५ ॥

अत्रैव दूषणान्तरमाह—

एतावन्मात्रसाम्येन, प्रवृत्तिर्यदि चेष्यते ।
जायायां स्वजनन्यां च,स्त्रीत्वात् तुल्यैव साऽस्तु ते ॥६॥

एतदेव एतत्परिमाणमेव एतावन्मात्रं, तेन साम्यं सादृश्यम् एतावन्मात्रसाम्यं तेन,प्राण्यङ्गत्वमात्रसादृश्येनेत्यर्थः। प्रवृत्तिर्मांसभक्षणाऽऽदौ प्रवर्त्तनं, यदीत्यभ्युपगमे, चशब्दः पुनरर्थः, इष्यते भवताऽभिमन्यते, तदा किमस्त्वित्याह—जायायां भार्यायां, स्वजनन्यां चाऽऽत्मीयमातरि च स्त्रीत्वादङ्गनात्वेन हेतुना, तुल्यैव समानैवाभिगमरूपा पूज्यारूपा वा सा प्रवृत्तिरस्तु भवतु, ते तव, स्त्रीत्वाविशेषाद् द्वयोरपि, यथा प्राण्यङ्गत्वाविशेषान्मांसौदनयोरिति ॥ ६ ॥

प्रकरणार्थनिगमनायाऽऽह—

तस्माच्छास्त्रं च लोकं च,समाश्रित्य वदेद् बुधः ।
सर्वत्रैवं बुधत्वं स्या–दन्यथोन्मत्ततुल्यता ॥ ७ ॥

यस्माद्भवदुक्तसाधनमनन्तरोक्तन्यायेन बहुदोषदुष्टं तस्मात्कारणाच्छास्त्रं चाऽऽप्तवचनं, लोकं च विशिष्टजनं,समाश्रित्याङ्गीकृत्य, वदेत् ब्रूयात् , कोऽसौ ?, बुधः पण्डितः, क्व विषये ?, इत्याह—सर्वत्र न मांसभक्षणविषय एवाऽपि तु सर्वस्मिन्नपि विषये, अन्यथा हि ब्रुवाणस्य लोकरूढिनिराकृताऽऽदयः पक्षदोषाः प्रासज्जेयुः, एवं ब्रुवाणस्य को गुण इत्याह—एवमनेन प्रकारेण लोकशास्त्रसमाश्रयणपूर्वकवदनलक्षणेन, बुधत्वं पण्डितत्वं,स्याद्भवेत्। विपर्यये किं स्यादित्याह—अन्यथा अन्येन प्रकारेण लोकशास्त्रानपेक्षतावदनलक्षणेन, उन्मत्ततुल्यता ग्रहगृहीतसमानता, स्यादिति गम्यते। आह च–" सतां पथा प्रवृत्तस्य, तेजोवृद्धी रवेरिव। यदृच्छया प्रवृत्तस्य, रूपनाशोऽस्ति वायुवत् ॥१॥" इति ॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति बौद्धाभ्युपगताऽऽप्तवचननिषिद्धत्वं मांसभक्षणस्य दर्शयन्नुपसंहारार्थमाह—

शास्त्रे चाऽऽप्तेन वाऽप्येत–निषिद्धं यत्नतो ननु ।
लङ्काऽवतारसूत्राऽऽदौ, ततोऽनेन न किञ्चन ॥ ८ ॥

न केवलं लोके, अस्मच्छास्त्रे चेदं निषिद्धं, शास्त्रे चाऽऽगमे चाऽऽप्तेन क्षीणरागाऽऽदिदोषेण सुगतेन वाऽपि युष्माकमपि न केवलमस्माकमेव, एतन्मांसभक्षणं निषिद्धं निवारितं, यत्नत आदरेण, नन्वित्यक्षमायां, क्व शास्त्रे निषिद्धमित्याह–लङ्काऽवतारसूत्राऽऽदौ निशाचरविनयनाय लङ्कायामवतारः, सूच्यते तथागतस्य यत्र तल्लङ्काऽवतारसूत्रं, तदादौ, तत्र किलोक्तम्–"न प्राण्यङ्गसमुत्थं, मोहादपि शङ्खचूर्णमश्नीयात् ।" आदिशब्दाच्छीलपटलाऽऽदिपरिग्रहः 'तत इति' यस्मादेवं तस्मादनेन मांसभक्षणसमर्थनेन, न किञ्चन नास्ति किञ्चन, भवतोऽपि प्रयोजनमिति शेष इति ॥ ८ ॥ हा० १७ अष्ट० ।

तदेवं मांसं न भक्षणीयं, लोकशास्त्रविरोधादिति धर्मवादतो व्यवस्थापिते यः कश्चिदसहमान आह–" न मांसभक्षणे दोषः " इति तन्मतप्रस्तावनायाऽऽह—

अन्योऽविमृश्य शब्दार्थं, न्याय्यं स्वयमुदीरितम् ।
पूर्वापरविरुद्धार्थ–मेवमाहात्र वस्तुनि ॥ १ ॥

अन्यः–पूर्वपक्षीकृतबौद्धादपरो द्विज इत्यर्थः, अविमृश्यापर्यालोच्य, शब्दार्थं मांसमित्यस्य ध्वनेरभिधेयम् । आह इति संबन्धः, किंभूतं शब्दार्थमित्याऽह–न्याय्यं न्यायादनपेतम्, तथा स्वयंमात्मना उदीरितं प्रतिपादितं"मांस भक्षयिता" इत्यादिना श्लोकेन । कथमाहेत्याह पूर्वस्य पूर्वोक्तस्य"मांस भक्षयिता"इत्यादेर्मांसभक्षणनिषेधार्थस्य, अपरेण अपरोक्तेन"न मांसभक्षणे दोषः" इत्यनेन "प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम् ।"इत्यादिना वा । अथवा–"न मांसभक्षणे दोषः " इत्यस्य पूर्वस्य निवृत्तिस्तु महाफलेत्यनेनापरेण सह विरुद्धो विसंवाद्यर्थोऽभिधेयो यत्र तत् पूर्वापरविरुद्धार्थं क्रियाविशेषणं चेदम्, एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारम्, आह–ब्रवीति, अत्र मांसभक्षणे, वस्तुनि पदार्थ इति ॥ १ ॥

यदाह तदेव दर्शयति—

न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये नच मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ २ ॥

(न) नैव मांसभक्षणे पिशिताशने दोष इति दूषणं कर्म्मबन्धलक्षणः, अस्यैव चाऽऽद्यपदार्थस्य पूर्वश्लोकेन प्रस्तावना कृता तत्प्रसङ्गेन च शेषं पदत्रयं श्लोकस्याधीनमिति तस्य व्याख्या–तथा (न) नैव मद्ये मधुनि, पीयमाने इति गम्यते, (न) नैव, चशब्दः समुच्चयार्थः । मैथुने अब्रह्मचर्ये,क्रियमाणे इति गम्यते । कुत एतदेवमित्याह–यतः प्रवृत्तिः स्वभावः, एषा मांसभक्षणाऽऽदिकाऽनन्तरोक्ता, भूतानां प्राणिनां,निवृत्तिर्विरमणं पुनर्मांसभक्षणाऽऽदिभ्य इति गम्यते । महद् बृहत् फलं साध्यमभ्युदयाऽऽदिकं यस्याः सा महाफलेति ॥ २ ॥

योऽसौ स्वयमुदीरितो मांसशब्दार्थस्तमाह—

मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३ ॥

मामिति भक्षक आत्मानं निर्दिशति, स इति भक्ष्यमाणो जीवः भक्षयितेति स्वस्तनीप्रथमपुरुषैकवचननिर्देशः,ततो भक्षयिष्यत इत्यर्थः । तुन् वाऽयं शीलार्थिकः । अमुत्र जन्मान्तरे किं विधेय इत्याह–यस्य पश्वादेर्मांसं पिशितमिहास्मिन् जन्मनि अग्नि भक्षयामि अहमित्यात्मानं भक्षको निर्दिशति,एतदनन्तरोदितं भक्षणलक्षणं, मांसस्य पिशितस्य,मांसत्वं मांसशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तं, निरुक्तमित्यर्थः । प्रवदन्ति प्रतिपादयन्ति, मनीषिणो निरुक्तविधिकुशला इति ॥ ३ ॥

एतेन च मांसभक्षणापायप्राप्तिप्रतिपादनेन मांसभक्षणे दोषोऽस्तीति व्यक्तमेवोक्तमतः कथमुक्तम् " न मांसभक्षणे दोषः" इत्येतदेवाऽऽह—

इत्थं जन्मैव दोषोऽत्र, न शास्त्राद् बाह्यभक्षणम् ।
प्रतीत्यैष निषेधश्च, न्याय्यो वाक्यान्तराद्गतेः ॥ ४ ॥

इत्थमनेन प्रकारेण भक्षकस्य भक्षितेन भक्षणीयत्वप्राप्तिलक्षणेन यज्जन्म उत्पत्तिस्तदेव,किमपरदोषगवेषणेन,दोषो दूषणमनर्थावाप्तिरित्यर्थः, अत्र मांसभक्षणे,ततः कथमुक्तम्–"न मांसभक्षणे दोषः" इति हृदयम् । अत्र किल परः प्राह–(न) नैवं यद्भक्षकस्य भक्षणीयत्वप्राप्तेर्मांसभक्षणे दोष इति । कुत इत्याह–यतः शास्त्रादागमाद्,बाह्यभक्षणं बहिर्भूतमांसादनं,प्रतीत्याऽऽश्रित्य एषोऽनन्तरोक्त इत्थं जन्मलक्षणो दोषो,न पुनः शास्त्रीयमांसभक्षणे,तथा निषेधश्च मांसभक्षणप्रतिषेधोऽपि,"मांस भक्षयितेत्यादिनिरुक्तबलप्रापितशास्त्राद्बाह्यभक्षणमेव प्रतीत्य न्याय्य उपपन्नः,कथं !,वाक्यान्तरात् "मांसभक्षयिता" इत्यादिवाक्यापेक्षया यदन्यद्वाक्यं तद्वाक्यान्तरं,तस्माद्गतेः परिच्छित्तेर्मांसभक्षणस्येति गम्यम् । अथवा–'इत्थं जन्मैव दोषोऽत्र इत्येकं तावद् दूषणं, तथा अपरं(न)नैव शास्त्राद् बाह्यभक्षणं प्रतीत्यैषोऽनन्तरोक्तो"न मांसभक्षणे दोष"इत्येवंलक्षणो निषेधो मांसभक्षणलक्षणे दोषप्रतिषेधः,चशब्दो दूषणान्तरसमुच्चयार्थो,न्याय्यः सङ्गतः वक्ष्यमाणप्रोक्षिताऽऽदिविशेषमांसादन एव दोषनिषेधो न्याय्यः,शास्त्रोक्तत्वादेव,न पुनः सामान्येनेति भावः । कुत एतदिति चेदित्यत आह–वाक्यान्ताद्गतेरिति "न मांसभक्षणे दोष"इत्येवंविधात् सामान्यत एव मांसादनदोषाभावप्रतिपादनपराद् वाक्याद्यदन्यत् प्रोक्षितं भक्षयेदित्यादि वक्ष्यमाणं वाक्यं तद्वाक्यान्तरं, तस्माद् गतेः परिच्छित्तेः शास्त्रोक्तत्वेन मांसादनविशेषस्य निर्दोषतयाऽवगमादित्यर्थः ॥ ४ ॥

एतदेव वाक्यान्तरमाह—

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं, ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु, प्राणानामेव वाऽत्यये ॥ ५ ॥

प्रोक्षितं वैदिकमन्त्राभ्युक्षितं,भक्षयेदश्नीयात् ,मांसं पिशितं, ब्राह्मणानां द्विजानां, चशब्दो विशेषणसमुच्चये, काम्यया इच्छया द्विजभुक्तावशेषं प्रति तदनुज्ञया, विधिर्न्यायो या यत्र यागश्राद्धप्राघूर्णकाऽऽदौ प्रक्रिया,तस्यानतिक्रमेण यथाविधि, तत्र यागविधिः पशुमेधाश्वमेधाऽऽदिविधायकः, श्राद्धविधिः श्राद्धशास्त्रविहितः, शास्त्रविधिस्तु मांसविशेषापेक्षोऽयम्—

"औरभ्रेणेह चतुरः, शाकुनेन तु पञ्च वै ।
षण्मासान् छागमांसेन, पार्षतीयेन सप्त वै ॥ १ ॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ते, वराहमहिषाऽऽमिषैः ।
कूर्मशशकमांसेन, मासानेकादशैव तु ॥ २ ॥
संवत्सरं तु तृप्यन्ति, पयसा पायसेन तु । "

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राघूर्णकविधिस्तु याज्ञवल्क्योक्तोऽयम् " महोक्षं वा महाजं वा, श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्। " इति। तथा नियुक्तस्तु गुरुभिर्व्यापारित एव, नियुक्तशब्दस्य वा यथाविधीति विशेषणं, तुशब्द एवकारार्थः, तथा प्राणानामेकेन्द्रियाऽऽदीनामेव न तु द्रव्याऽऽदीनां, वाशब्दः पक्षान्तरद्योतकः, अत्यये विनाशे, उपस्थिते इति शेषः। मांसं भक्षयेदित्यनुवर्त्तते। आत्मा हि-रक्षणीयः। यदाह-"सर्वत एवाऽऽत्मानं गोपयेत्। " इति।५।

परोक्तमेवार्थमनुवादद्वारेणाऽऽशङ्क्य दूषयन्नाह—द्वितीयव्याख्यापेक्षया पुनरुत्तरश्लोकस्यैवं पातना-भवदापादित एव शास्त्रीयमांसभक्षणे दोषाभावोऽस्माभिरभिधीयते, न सामान्येनेति परमतमाशङ्क्य दूषयन्नाह—

अत्रैवासावदोषश्चे-न्निवृत्तिर्नाऽस्य सज्यते।
अन्यदा भक्षणादत्रा-भक्षणे दोषकीर्त्तनात् ॥ ६ ॥

अत्रैव-अनन्तराभिहित एव प्रोक्षिताऽऽदिविशेषणमांसभक्षणे अन्यत्र तु दोष एव, असौ यो 'न मांसभक्षणे दोषः' इत्यनेन वचसाऽभ्युपगतोऽदोषो दोषाभावश्चेद्यद्येवं मन्यसे, तदिति शेषः। किं दूषणमित्याह—निवृत्तिर्विरतिः (न) नैवास्य मांसभक्षणस्य, सज्यते प्राप्नोति। कुत इत्याह-अन्यदाऽन्यस्मिन् प्रोक्षिताऽऽदिमांसविशेषेणाभावकाले, अभक्षणादनभ्यवहरणात्, उक्तविधिव्यतिरेकेण हि मांसं न भक्ष्यते, अतो मांसभक्षणस्याप्राप्तेः निवृत्तिर्नास्य प्रसज्यते इत्युच्यते, प्राप्तिपूर्वको हि निषेधः सफलो भवतीति। अथ प्रोक्षिताऽऽदिविशेषणसद्भावे निवृत्तिर्भविष्यतीति। 'निवृत्तिस्तु महाफला' इति वचः सफलीभविष्यतीत्यत्राऽऽह-अत्र प्रोक्षिताऽऽदिविशेषणसद्भावेऽभक्षणेऽनशने मांसस्य दोषकीर्त्तनाद् दूषणाभिधानान्निवृत्तेर्नास्य प्रसज्यते इति प्रकृतमिति ॥ ६ ॥

दोषकीर्त्तनमेव दर्शयन्नाह—

यथाविधि नियुक्तस्तु, यो मांसं नात्ति वै द्विजः।
स प्रेत्य पशुतां याति, संभवानेकविंशतिम् ॥ ७ ॥

योग्यो विधिः शास्त्रीयन्यायो यथाविधि तेन नियुक्तो युक्तो व्यापारितो वा गुरुभिर्यथाविधि नियुक्तः, तुशब्दः पुनःशब्दार्थः, तस्य चैवं प्रयोगः-विधिना मांसमखादन् निर्दोष एव यथाविधि नियुक्तः पुनर्योऽनिर्दिष्टनामा मांसं पिशितं (न) नैव अत्ति भुङ्क्ते, वै इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः, द्विजो विप्रः, स इति द्विजः, प्रेत्य परलोके, पशुतां तिर्यग्भावं, याति प्राप्नोति, कियतो भवान् यावदित्याह—संभवनानि संभवा जन्मानि, तान् सम्भवान्, एकेनाधिका विंशतिस्तामिति ॥ ७ ॥

प्रोक्षिताऽऽदिविशेषणाभावे मांसस्य भक्षणे प्रवृत्त्यभावेन निवृत्तेरफलत्वात् प्रोक्षिताऽऽदिविशेषणस्य च तस्याऽभक्षणे दोषकीर्त्तनात्; " निवृत्तिर्नाऽस्य सज्यते " इति यदुक्तं तत्र परकीयं-परिहारमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

पारिव्रज्यं निवृत्तिश्चे-द्यस्तदप्रतिपत्तितः।
फलाभावः स एवाऽस्य, दोषो निर्दोषतैव न ॥ ८ ॥

परिव्राजो भावः पारिव्राज्यं मस्करित्वं, गृहस्थभावत्याग इत्यर्थः। तदेव निवृत्तिनिबन्धनत्वात् निवृत्तिर्मांसभक्षणोपरतिः, चेद्यद्येवं मन्यसेऽयमभिप्रायः—गृहस्थतायां प्रोक्षिताऽऽदिविशेषणं मांसं भक्षणीयमेव, तस्माच्च पारिव्राज्यप्रतिपत्तिद्वारेण निवर्त्तत इत्येवं प्राप्तिपूर्विका निवृत्तिर्मांसभक्षणस्य स्यात्, सा च महाफलेति, अतो 'निवृत्तिर्नाऽस्य सज्यते' इत्याचार्यवचनं परेण दूषितम्। अत्र दूषणमाह—यः कोऽपि तदप्रतिपत्तितः पारिव्राज्याप्रतिपत्तिमाश्रित्य फलाभावः अभ्युदयाऽऽदिप्रयोजनाप्राप्तिः, स एव किमपरदोषगवेषणेन,अस्य मांसभक्षणस्य दोषो दूषणम्। ततः किमित्याह-निर्दोषता निर्दूषणता, एवशब्दस्यान्यत्र संबन्धान्नैव नास्त्येवातः कथमुच्यते-"न मांसभक्षणे दोषः"इति। तथा-"निवृत्तिस्तु महाफला"इत्यत्र विशेषेण किञ्चिदुच्यते-ननु निवृत्तिर्निरवद्या, वस्तुनो विधीयमाना महाफला,सावद्या वा ? । यदि निरवद्या तदा यत्याश्रमाऽऽदेरपि निवृत्तिरङ्गीकर्त्तव्या; तस्य निरवद्यत्वान्न चैतदिष्टम्। अथ द्वितीयः पक्षस्तदा मांसभक्षणस्य सावद्यत्वेन सदोषताप्राप्तेरिति ॥ ८ ॥ हा० १८ अष्ट०।

तथा स्मार्त्ता अपि—

" न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥ "

इति श्लोकं पठन्ति। अस्य च यथाश्रुतार्थव्याख्यानेऽसंबद्धप्रलाप एव, यस्मिन् हि अनुष्ठीयमाने दोषो नास्त्येव;तस्मान्निवृत्तिः कथमिव महाफला भविष्यति ?, इज्याऽध्ययनदानाऽऽदेरपि निवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मादन्यदैदम्पर्यमस्य श्लोकस्य। तथाहि-" न मांसभक्षणे कृते अदोषः" अपि तु दोष एव, एवं मद्यमैथुनयोरपि। कथं नाऽदोषः ?, इत्याह-यतः प्रवृत्तिरेषा भूतानां-प्रवर्त्तन्ते उत्पद्यन्तेऽस्यामिति प्रवृत्तिरुत्पत्तिस्थानं, भूतानां जीवानां, तत्तज्जीवसंसक्तिहेतुरित्यर्थः। प्रसिद्धं च मांसमद्यमैथुनानां जीवसंसक्तिमूलकारणत्वमागमे—

" आमासु य पक्कासु य, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
आयंतिअमुववाओ, भणिओ उ निगोयजीवाणं ॥ १ ॥
मज्जे महुम्मि मंसम्मि, नवणीयम्मि चउत्थए।
उप्पज्जंति अणंता, तव्वण्णा तत्थ जंतुणो ॥ २ ॥
मेहुणसन्नाऽऽरूढो, नवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं।
केवलिणा पन्नत्ता, सद्दहियव्वा सया कालं ॥ ३ ॥"

तथाहि—

" इत्थीजोणीए सं-भवंति वेइंदिया उ जे जीवा।
इक्को व दो व तिन्नि व, लक्खपुहुत्तं च उक्कोसं ॥ ४ ॥
पुरिसेण सह गयाए, तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं।
वेणुगदिट्ठंतेणं, तत्तायसलागनाएणं ॥ ५ ॥ "

संसक्तायां योनौ द्वीन्द्रिया एते, शुक्रशोणितसंभवास्तु गर्भजपञ्चेन्द्रिया इमे—

"पंचिंदिया मणुस्सा, एगनरभुत्तनारिगब्भम्मि।
उक्कोसं नवलक्खा, जायंति एगवेलाए ॥ ६ ॥
नवलक्खाणं मज्झे, जायइ इक्कस्स दुण्ह व समत्ती।
सेसा पुण एमेव य, विलयं वच्चंति तत्थेव ॥ ७ ॥ "

तदेवं जीवोपमर्द्दहेतुत्वान्न मांसभक्षणाऽऽदिकमदुष्टमिति प्रयोगः। अथवा-भूतानां पिशाचप्रायाणामेषा प्रवृत्तिः त एवात्र मांसभक्षणाऽऽदौ प्रवर्त्तन्ते,न पुनर्विवेकिन इति भावः। तदेवं मांसभक्षणाऽऽदेर्दुष्टतां स्पष्टीकृत्य यदुपदेष्टव्यं तदाह-"लि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वृत्तिस्तु महाफला।" तुरेवकारार्थः, "तुः स्याद्भेदेऽवधारणे" इति वचनात्। ततश्चैतेभ्यो मांसभक्षणाऽऽदिभ्यो निवृत्तिरेव महाफला स्वर्गापवर्गफलप्रदा; न पुनः प्रवृत्तिरपीत्यर्थः। अत एव स्थानान्तरे पठितम्—

"वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन,यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्य–स्तयोस्तुल्यं भवेत् फलम्॥ १॥
एकरात्रोषितस्यापि, या गतिर्ब्रह्मचारिणः।
न सा क्रतुसहस्रेण, प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर!॥ २॥

मद्यपाने तु कृतं सूत्रानुवादैः, तस्य सर्वविगर्हितत्वात्। तानेवंप्रकारानर्थान् कथमिव बुधाऽऽभासास्तीर्थिका वेदितुमर्हन्ति इति कृतमतिप्रसङ्गेन। स्या०।

मांसार्थं गच्छेत्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा०जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा-मंसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पेहाए तेल्लपूयं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाए णो खद्धं खद्धं उवसंकमित्तु ओभासेज्जा, णण्णत्थ गिलाणणीसाए॥ ५१॥

स पुनः साधुर्यदि पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा-मांसं वा मत्स्यं वा, भज्यमानमिति पच्यमानं तैलप्रधानं वा पूपं, तच्च किमर्थं क्रियते इति दर्शयति-यस्मिन्नायाते कर्म्मण्यादिश्यते परिजनः स आदेशः, प्राघूर्णकस्तदर्थं संस्क्रियमाणमाहारं प्रेक्ष्य लोलुपतया (नो) नैव(खद्धं खद्धं ति)शीघ्रं, शीघ्रं, द्विर्वचनमादरख्यापनार्थम् उपसङ्क्रम्यावभाषेत् याचेत, अन्यत्र ग्लानाऽऽदिकार्यादिति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०।

मांसार्थं मांसस्थानं गच्छति—

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा मंसादियं वा मच्छादियं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा समेलं वा हिंगोलं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं विरूवरूवं वा हीरमाणं पेहाए सीए असाए ताए पिवासाए तं रयणिं अण्णत्थ उवाइणावेइ, उवायणावंतं वा साइज्जइ॥१८६॥

जम्मि पगरणे मंसं आसादीए दिज्जति पच्छा ओदणादि तं मंसादी भण्णति। मंसाणं वा मच्छं वा आदावेव पकरणे करेंति, तं च मंसादिए आणीएसु वा मंसेसु आदावेव जणवयस्स मंसपगरणं करेंति, पच्छा सयं परिभुंजति, तं वा मंसादी भणंति। एवं मच्छादियं पि वत्तव्वं। मंसखलं जत्थ मंसाणि सोज्झति, एवं मच्छखलं पि। जमन्नगिहातो आणिज्जति तं आहेणं, जमन्नं गिहं णिज्जति तं पहेणगं। अहवा-जं बहुघरातो वरगिहं णिज्जति तं पहेणगं सव्वाणमादियाणं जं हिज्जति णिज्जति त्ति तं हिंगोलं, हुज्जति वा तं हिंगोलं। अहवा—जं मतभत्तं वा करुणादियं हिंगोलं, वीवाहभत्तं संमेलो गोट्ठीए वा भत्तं संमेलं भण्णति। अहवा—कमाऽऽरम्भे सुपहासिता जे ते संमेलो, तेसिं जं भत्तं तं संमेलं गिहातो उज्जानादिसु हीरंतं नीयमानमित्यर्थः, पेहा प्रेक्ष्य तं लप्स्यामीत्यसौ,अहवा-ओदनाऽऽदि असितुमिच्छा,तदाणिं द्राक्षापानकाऽऽदि पातुमिच्छा पिपासा। अहवा-ताए पवेसाए प्रतिमयायेत्यर्थः जो ति साइ तम्मि दिणे पगरणं भविस्सति तस्स आरतो जा रयणी, तं जो अत्थ प्रतिश्रयं, उवातिणावेति, नयतीत्यर्थः, अन्नं वा नयंतं सादिज्जति, तस्स चउगुरुं, आणादिणो य दोसा, आयसंजमविराहणा उक्तसूत्रार्थः। इयाणिं निज्जुत्ती, सा य पायसो गतार्थैव॥

गाहा—

मंसाइपगरणा खलु, जेत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते।
सेज्जायरेतराण व, जे तत्था सागते भिक्खू॥ १९६॥

तं पगरणं सेज्जातरस्स सेज्जातरेतरस्स जे भिक्खू तत्थ आसा तत्थासा ते अण्णं वसहिं आगते आणाऽऽदयो दोसा भवन्ति।

गाहा—

तं रयणिं अण्णत्तो, उवातिणा एतरे तु तत्थेव।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे॥१९७॥
मंसाण व मच्छाण व, गच्छंता पारियम्मि वयगादी।
से आणेति संखडिं पुण, खलगा वा जहि य सोसिंति१९८

सेज्जायरभत्तो सेज्जायरपिंडो अकप्पिओ काउं अन्नवसहिं गच्छंति, इयरे तु तत्थ गंतुं वसंति, परिवयट्ठा मंसाण व गंधो गच्छमाणा संखडिं करेंति, कत्तियमासादि अमंसभक्खणवते गहिते तम्मि पुन्ने मंसादिपगरणं काउं धिज्जातियाण दाउं पच्छा सयं पारेंति। अहवा—मंसादिभक्खणविरतिव्वतं घेत्तुं तस्स रक्खणट्ठा आदिए संखडिं करेंति, आणिए वा मंसे संखडिं करेंति, खलगं। जत्थ। मंसं-सोसिंति।

गाधा—

आहेणं दारगइ–त्तगाण व धुइत्तगाण व पहेणं।
वरइत्तादि वहूणं, पहेणगं णिंति अण्णत्थ॥ १९९॥
संमेलो य घरातो, जं वा अत्थारगाण पकरेंति।
हिंगोलं जे भिज्जति, सिवट्ठं व सिवाइकरडुं वा (?)२००
हीरंतं णिज्जंतं, कीरंतं वा वि दिस्स तु तदासा।
अण्णत्थ वसति गंतुं, उवस्सओ होसिओ एसो॥२०१॥
सेज्जायरस्स पिंडो, गाहिति तेण अण्णहिं वसतिं।
इतरेसु परिजयट्ठा, अणागयं वसति गंतूण॥ २०२॥

गतार्थाः, तत्थ गच्छमाणस्स अंतरा छक्कायविराहणा, कंटगविसमादिएहिं वा आयविराहणा।

इमे य दोसा तत्थ—

दुप्पि य दोप्पि णिविट्ठा, मम्मत्ता य तत्थ इत्थीओ।
दट्ठुं भुत्ता कोउय–सरणे इयराण गमणादी॥२०३॥

दुप्पाउयं दुन्नियच्छं वा दुन्नीतं अ आउडा दुण्णिविट्ठा विब्भला णिब्भरा मत्ता मदक्खइ सिं सवेयणा सविकारचेट्ठकारी उम्मत्ता भुत्तभोगिणो ताओ दट्ठुं सति करणं, इयराण कोउयं ततो पडिगमणाऽऽदि करेज्ज जम्हा एते दोसा तम्हा तत्थ गंतव्वं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वितियपदेण वा गच्छेज्जा—

असिवे श्रोमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलएणे।
अद्धाण रोहए वा, अप्परिणामेसु जयणाए॥२०४॥

असिवाऽऽदिसु संत्तकारणेसु जति गीयत्था ततो पणगपरिहाणीए वसधिट्ठिता चैव णिग्गहंतिं।

जतो भन्नति—

परिणामेसु य अच्छति, आउलछम्मेण जाइ इतरेसु।
जे दोसा पुव्वुत्ता, सा इतरे कारणे जयणा॥२०५॥

अगीयत्था वि जति परिणामगा तो अच्छंति, अह अगीतो अपरिणामी य तो सेज्जायरसंखडीते आयरितो भणति—एत्थ कल्लं जणाउलं भविस्सइ, तो णिग्गच्छामो, अन्नवसहीए ठामो अ, सेज्जायरसंखडीए पुण संवासभद्दया भविस्संति काउं अन्नवसहीए वि वसेज्जा। नि०चू० ११ उ०।

बह्वस्थिकं मांसं न ग्राह्यम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा—बहुअट्ठियं मंसं वा मच्छं वा बहुकंटकं अस्सिं खलु पडिग्गाहितंसि अप्पे सिया भोयणजाए बहुउज्झियधम्मिए तहप्पगारं बहुअट्ठियं वा मंसं वा मच्छं वा बहुकंटगं लाभे संते० जाव णो पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा०जाव समाणे सिया णं परो बहुअट्ठिएणं मंसेणं वा मच्छेणं वा उवणिमंतेज्जा—आउसंतो समणा! अभिकंखसि बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहित्तए?, एयप्पगारं णिग्घोसं सोचा णिसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो त्ति वा भइणि त्ति वा णो खलु मे कप्पइ बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए, अभिकंखसि से दाउं ० जावइयं तावइयं पोग्गलं दलयाहि, मा य अट्ठियाइं मे सेवं वदंतस्स परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि बहुअट्ठियं मंसं परिभाएत्ता णिहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जं ० लाभे संते ० जाव णो पडिगाहेज्जा। से आहच्च पडिगाहिए सिया तं णो हित्ति वएज्जा णो अणहि त्ति वएज्जा, से तमायाय एगंतमवक्कमेज्जा २, अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे ०जाव संताणए मंसगं मच्छगं भोचा अट्ठियाइं कंटए गहाय से तमायाय एगंतमपक्कमेज्जा २, अहे झामथंडिलंसि वा ०जाव पमज्जिय पमज्जिय परिट्ठवेज्जा।

एवं मांससूत्रमपि नेयम् अस्य चोपादानं क्वचिल्लूताऽऽद्युपशमनार्थं सद्वैद्योपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाऽऽद्युपकारत्वात् फलवद् दृष्टं, भुजिश्चात्र बहिःपरिभोगार्थे, नाभ्यवहारार्थे, पदातिभोगवदिति। एवं गृहस्थाऽऽमन्त्रणाऽऽदिविधिपुद्गलसूत्रमपि सुगममिति तदेवमादिना छेदसूत्राभिप्रायेण ग्रहणे सत्यपि कण्टकाऽऽदिप्रतिष्ठापनविधिरपि सुगम इति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०।

साधोर्मांसभक्षणाधिकारः—

बहुअट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं। (७३)

बह्वस्थिकं पुद्गलं-मांसम् अनिमिषं वा मत्स्यं वा बहुकण्टकम्, अयं किल कालाऽऽद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः। अन्ये त्वभिदधति-वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधानमेते इति। दश० ५ अ० १ उ०। (अमज्जमंसासी सिया) अमद्यमांसाऽशी भवेदिति योगः, अमद्यपोऽमांसाऽशी च स्यात्, एते च मद्यमांसौ लोकाऽऽगमप्रतीते एव, ततश्च यत्केचनाभिदधति—आरनालारिष्टाऽऽद्यपि संधानाद् ओदनाऽऽद्यपि प्राण्यङ्गत्वात्याज्यमिति। तदसत्, अमीषां मद्यमांसत्वायोगात्, लोकशास्त्रयोरप्रसिद्धत्वात्, सन्धानप्राण्यङ्गत्वतुल्यत्वादिना त्वसाध्वी, अतिप्रसङ्गदोषात्, द्रवत्वस्त्रीत्वतुल्यतया मूत्रपानमातृगमनाऽऽदिप्रसङ्गात्। इत्यलं प्रसङ्गेन, अक्षरगमनिकामात्रप्रक्रमात्। दश० २ चू० "पिसिअं खुल्लं मंसं।" पाइ०ना० ११३ गाथा। "हिंसे वाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे। भुञ्जमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नइ॥१॥" उत्त० २ अ०। (धन्वन्तरिरातुरार्थं मांसमुपदिशति इति 'उंबरदत्त' शब्दे द्वितीयभागे ६८४ पृष्ठे उक्तम्) क्वचिच्छ्रमणा मांसभक्षकाः "कम्मि य विसए णज्जंति समणा भगवन्तो जहा मंसं न खायं ति, कम्हि वि पुण एस मंसभक्खाभक्खवियार एव णत्थि।" नि० चू० १ उ०। गोक्षीरपाण्डुरमांसं शोणितमिति तृतीयोऽतिशयस्तीर्थकृतः। स० १ सम०। औ०। फलानां विभागे, प्रज्ञा० १ पद।

मंसकच्छभ—मांसकच्छप—पुं०। मांसबहुले कच्छपभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

मंसखल—मांसखल—न०। मांसशोषणस्थाने, नि० चू० १० उ०। यत्र संखडीनिमित्तं मांसं छित्त्वा छित्त्वा शोष्यते, शुष्कं वा पुञ्जीकृतं स्थाप्यते। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ०।

मंसखायग—मांसखादक—पुं०। मांसभक्षके पारध्यादौ, नि० चू० ६ उ०।

मंसग—मांस—न०। पलले, उत्त० २ अ०।

मंसगढिय—मांसग्रथित—त्रि०। मांसानुरागतन्तुभिः सन्दर्भिते, उत्त० ५ अ०।

मंसचक्खु—मांसचक्षुष्—पुं०। छद्मस्थे ज्ञानचक्षूरहिते, दश० ४ अ०।

मंसपेसिया—मांसपेशिका—स्त्री०। मांसखण्डे, दशा० १० अ०। नि० चू०। आ० म०।

मंसवुट्ठि—मांसवृष्टि—स्त्री०। पललवर्षणे, यत्र वृष्टौ मांसखण्डानि पतन्ति। मांसवृष्टिर्यस्मिन् शास्त्रे चिन्त्यते तस्मिंश्च। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। प्रव०।

मंसभक्खण—मांसभक्षण—न०। पिशिताशने, हा० १८ अष्ट०।

मंसल—मांसल—त्रि०। "मांसाऽऽदेर्वा"॥ ८।१।२६॥ इत्यनुस्वारस्य वा लुग्। मांसोपचिते, प्रा० १ पाद। "मंस-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लऽग्गहत्थी । " मांसलावग्रहस्तौ वाऽग्रभागवर्तिनौ हस्तौ यासां ता मांसलाग्रहस्ताः । जी० १ प्रति० । कल्प० । " मंसलसंठियपसत्थविउलहणुयं ।" मांसल उपचितमांसः संस्थितो विशिष्टसंस्थानः प्रशस्तः शुभः शार्दूलस्येव विपुलो विस्तीर्णो हनुश्चिबुकं यस्य स तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । औ० । " (१२६) रुंदा पीणा थूला, य मंसला पीवरा थोरा । " पाइ० ना० ७३ गाथा ।

मंससुहा-मांससुखा-स्त्री० । मांससुखकारिण्यां संबाधनायाम्, ध० १ अधि० ।

मंससोल्ल-मांसशूल्य-न० । शूले पच्यन्त इति शूल्यानि, मांसस्य शूल्यानि मांसशूल्यानि । मांसखण्डेषु, उपा० ३ अ० ।

मंसाइया-मांसादिका-स्त्री० । मांसमादौ प्रधानं यस्यां सा मांसाऽऽदिका, तां मांसनिर्वृत्तिं कर्तुकामैः पूर्णायां वा निर्वृत्तौ, मांसप्रचुरायां संखडौ कृतायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० । नि० चू० । जम्मि पगरणे मंसं आसादीए दिज्जति पच्छा ओदणादि तं मंसादी भण्णति, मंसाण वा मच्छं वा आदावेव पकरणे करेंति तं च मंसादिए आणीएसु वा मंसेसु आदावेव जणवयस्स मंसपगरणं करेंति पच्छा सयं परिभुंजति, तं वा मंसादी भणंति । नि० चू० १० उ० ।

मंसाणुसारि (ण्)-मांसानुसारिन्-पुं० । मांसान्तधातुव्यापककिश्चिच्छोणितानुसारिणि व्रणे, स्था० ६ ठा० ।

मंसाय-मांसाद-पुं० । मांसान्येवाग्निना प्रताप्य भक्षके नारके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

मंसासि (ण्)-मांसाशिन्-पुं० । मांसखादके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

मंसु-श्मश्रु-न० । " वक्राऽऽदावन्तः " ॥ ८ । १ । २६ ॥ इति सूत्रेणानुस्वाराऽऽगमः । प्रा० १ पाद । कूर्चरोमणि, स्था० ३ ठा० ४ उ० । तं० । प्रश्न० । जी० । औ० । ज्ञा० । उत्त० । " (२३७) मंसू खुड्डं च मासुरी कुच्चं । " पाइ०ना० ११२ गाथा ।

मंसुल्ल-मांसवत्-पुं० । उपचितमांसवति, "आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा-मतोः" ॥८।२।१५६॥ इति मतुव उल्लाऽऽदेशः । प्रा० २ पाद ।

मकरंडग-मकराण्डक-पुं० । रा० । जलचरविशेषाण्डके, जं० १ वक्ष० ।

मकरकेउ-मकरकेतु-पुं० । " कगचजः- " ॥८ ।१ । १७७ ॥ इत्यादिसूत्रेण पैशाच्यां कलोपनिषेधः । मकरध्वजे, प्रा० १ पाद ।

मकरिआ-मकरिका-स्त्री० । मकराऽऽकारे आभरणविशेषे, जं० २ वक्ष० । मकरजलजन्तुभार्यायाम्, आ० चू० १ अ० ।

मकाई-मकायिन्-पुं० । राजगृहवासिनि स्वनामख्याते गृहपतौ, अन्त० ।

पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नगरे गुणासिलए चेतिते, सेणिए राया, तत्थ णं मकाई नामं गाहावती परिवसइ अड्ढे०जाव अपरिभूते । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आदिगरे गुणसिलए० जाव विहरति, परिसा निग्गया तते णं से मकाई गाहावती इमीसे कहाते लद्धट्ठे समाणे जहा पण्णत्तीए गंगदत्ते बहवे इमो वि जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठवेत्ता पुरिससहस्सवाहणीए सीयाए निक्खंते०जाव अणगारे जाते इरियासमिते०, तते णं से मकाई अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जति, सेसं जहा खंदगस्स, गुणरयणं तवोकम्मं सोलसवासाइं परियाओ पाउणेत्ता तहेव विपुले सिद्धे ॥ ६ ॥ अन्त० १ श्रु० ६ वर्ग ।

मकुंद-मकुन्द-पुं० । मुरजे वाद्यविशेषे, आ० म० १ अ० । रा० ।

मक्कडकरण-मर्कटकरण-न० । मर्कटमुद्दिश्य यत्किञ्चित् क्रियते तादृशे स्थाने, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ।

मक्कडग-मर्कटक-पुं० । सूक्ष्मजीवविशेषे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । कोलिके, बृ० ४ उ० । वानरे च । बृ० ४ उ० ।

मक्कडतंतुचारण-मर्कटतन्तुचारण-पुं० । कुब्जवृक्षान्तरालभाविनभःप्रदेशेषु, कुब्जवृक्षाऽऽदिसंबन्धमर्कटतन्त्वाऽऽलम्बनपादोद्धरणा निक्षेपावदाता मर्कटतन्तून् छिन्दतो यान्तो मर्कटतन्तुचारणाः । चारणभेदेषु, ग० २ अधि० ।

मक्कडबंध-मर्कटबन्ध-पुं० । नाराचसंहननिनः शरीरावयवबन्धप्रकारे, स्था० ६ ठा० ।

मक्कडसंताण-मर्कटसन्तान-पुं० ।मर्कटः कोलिकस्तस्य सन्तानो जालकम् । लूतातन्तुजाले, ध० २ अधि० । आचा० । कोलिकाजाले, आव० ४ अ० । आ०चू० । आचा० ।

मक्कन-मार्गण-पुं० । "चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति गस्थाने कः, णस्य नः । वाणे, प्रा० ४ पाद ।

मक्कार-मस्करिन्-पुं० । मस्करो ज्ञानं गतिर्वाऽस्त्यस्य इनि, मा कर्तुं कर्म निषेद्धुं शीलमस्य इनिः । "मस्कर-मस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः " ॥६।१।१५४॥ इति इनिः । परिव्राजके, विधानेन स्वकर्मपरित्याजके, चन्द्रे च । वाच० ।

मक्कार-पुं० । तृतीयचतुर्थकुलकरकाले महत्यपराधे दातव्ये दण्डे, स्था० ७ ठा० । कल्प० । ति० ।आ० म० । जं० ।

मक्कुण-मत्कुण-पुं० । स्वेदजे, 'माकण' 'खटमल ' इतिख्याते जन्तुभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । उत्त० ।

मक्कोडय-मत्कोटक-पुं० । कृष्णवर्णे, 'मकोडा ' ' चींटा ' इतिख्याते जन्तुविशेषे, नि० चू० १ उ० । स्था० । आ० म० ।

मक्खण-म्रक्षण-न० । नवनीते,स्था० ४ ठा० १ उ० । आचा० । बृ० । नि० । तैलाऽऽदिना गात्रस्य स्निग्धताऽऽपादनं, नि०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चू० ३ उ० । पर्युषितेन तैलाऽऽदिना न म्रक्षणीयम् । बृ० ५ उ० । "मंखेज वा भिलिंगेज्ज वा । " आचा०२ श्रु० २ चू० ६ अ० । मंखत्ति अब्भंगेति एक्कम्मि मक्खे मक्खेत्ति, पुणो पुणो अब्भंगणं । अहवा-थोवेण अब्भंगणं बहुणा मक्खणं ति अभ्यंजनम्रक्षणयोर्भेदः । नि० चू० ३ उ० ।

मक्खलि(ण्)-मस्करिन्-पुं० । " सषोः संयोगे सोऽग्रीष्मे " ॥ ८ । ४ । २८९ ॥ इति मागध्यां स्कस्य वा सः । परिव्राजके, प्रा० ४ पाद ।

मक्खिअ-म्रक्षित-त्रि० । स्नेहमर्दिते, "मक्खिअं तुप्पं । " (७५२) पाइ० ना० २३३ गाथा ।

मक्खिय-म्रक्षित-त्रि० । स्नेहिते, ध० २ अधि० । (म्रक्षणविषयं सूत्रम् 'अब्भंगण' शब्दे प्रथमभागे ६८६ पृष्ठे गतम्) पृथिव्यादिनाऽवगुण्ठिते, प्रव० ६७ द्वार । पिं० । आचा० । एषणाया द्वितीयो म्रक्षितो दोषः । स द्विविधः- सचित्तेन खरण्टित आहारोऽचित्तेन खरण्टितश्चाऽऽहारो भवति, तदा म्रक्षितदोष उक्तः । उत्त० २४ अ० । स्था० । ध० । पं० चू० । आचा० । आ० चू० । पिं० । मक्खियं तुप्पं" (७५२) पाइ०ना०२३३ गाथा । म्रक्षिते अविकृतिप्रायश्चित्तम् । जीत० । (म्रक्षितद्वारम् 'एसणा' शब्दे तृतीयभागे ५५ पृष्ठे गतम्)

माक्षिक-न० । मक्षिकासंचितमधुनि, स्था० ६ ठा० । जीत० ।

मगदुमईंजहाँ-पारसीकः शब्दः । दौलतावादसुलतानजन्याम् , ती० ५८ कल्प ।

मगर-मकर-पुं० । जलचरविशेषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । रा० । सू० प्र० । औ० । प्रज्ञा० । महामत्स्ये , उत्त० ३६ अ० । आ० म० । स० । तं । विपा० । चं० प्र० । ज्ञा० । आव० । सूत्र० । प्रज्ञा० ।

से किं तं मगरा ? । मगरा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सोंडमगरा, मच्छमगरा य । सेत्तं मगरा । प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

मकरा इव मकरा जलविहारित्वात् धीवरेषु , प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

मगरंद-मकरन्द-पुं० । पुष्परसे, द्वा० ८ द्वा० ।

मगरज्झय-मकरध्वज-पुं० । कामदेवे, जं० २ वक्ष० ।

मगरमच्छ-मकरमत्स्य-पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

मगरमुह-मकरमुख-न० । पादाऽऽभरणविशेषे, औ० ।

मगरासण-मकराऽऽसन-न० । आसनभेदे , येषामधो लिखिता मकरा भवन्ति । रा० ।

मगह-मगध-पुं० । राजगृहनगरप्रतिबद्धे आर्यजनपदे, प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । स्था० ।

मगहपुर-मगधपुर-न० । राजगृहे, आ० चू० १ अ० ।

मगहसिरी-मगधश्री-स्त्री० । राजगृहराजस्य जरासन्धस्य स्वनामख्यातायां गणिकायाम् , आव० ४ अ० । आ० चू० ।

मगहसुंदरी-मगधसुन्दरी-स्त्री० । राजगृहराजस्य जरासन्धस्य स्वनामख्यातायां गणिकायाम्, आव० ४ अ० । आ० चू० ।

मगहसेणा-मगधसेना-स्त्री० । राजगृहे स्वनामख्यातायां गणिकायाम् , आचा० । राजगृहे नगरे मगधसेना गणिका, तत्र कदाचिद्धनः सार्थवाहो महता द्रव्यनिचयेन समन्वितः प्रविष्टः, तद्रूपयौवनगुणगणद्रव्यसंपदाक्षिप्तया मगधसेनयाऽसावभिसरितः,तेन चाऽऽयव्ययाऽऽक्षिप्तमानसेनासौ नावलोकिताऽपि, अस्याश्चाऽऽत्मीयरूपयौवनसौभाग्यावलेपान्महती दुःखासिकाऽभूत्, ततश्च तां परिम्लानवदनामवलोक्य जरासन्धेनाभ्यधायि-किं भवत्या दुःखासिकाकारणम् ?, केन वा सार्द्धमुषितेति । सा स्वववादीत्-अमरेणेति । कथमसावमर इत्युक्ते तया सद्भावः कथितो निरूपितो यावत्तथैवाद्याप्यास्त इत्यतो भोगार्थिनोऽर्थे प्रसक्ता अजरामरवत् क्रियासु प्रवर्त्तन्त इति । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

मगहाहिव-मगधाधिप-पुं० । मगधानां देशानामधिपे, " सेणिओ मगहाहिवो ।" उत्त० २० अ० ।

मंगुसा-मङ्गुसा-स्त्री० । भुजपरिसर्पविशेषे, 'खाडहिल्ल' त्ति संभाव्यते । "मंगुसपुच्छं व से मंसू ।" उपा० २ अ० ।

मगुक-मद्गुक-पुं० । जलपक्षिभेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

मग्ग-मग्-धा० । सर्पणे, "शकाऽऽदीनां द्वित्वम्" ॥८।४।२३०॥ इत्यन्त्यस्य द्वित्वम् । मग्गइ । मङ्गति । प्रा० ४ पाद । पश्चात् । दे० ना० ६ वर्ग १११ गाथा ।

मार्ग-पुं० । मृजू शुद्धौ, मृजन्ति शुद्धीभवन्त्यनेनातीचारकल्मषप्रक्षालनादिति मार्गः । "व्यञ्जनाद् घञ्"॥५।३।१३२॥ इति घञ्प्रत्ययः । आगमे । व्य० १ उ० । प्रवचने, विशे० ।

मार्गशब्दार्थमाह—

मज्जिज्जइ सोहिज्जइ, जेणं तो पवयणं ततो मग्गो ।
अहवा सिवस्स मग्गो, मग्गणमन्नेसणं पंथो ॥१३८१॥

ततस्तस्मात्प्रवचनं मार्ग उच्यते । येन, किम् ?, इत्याह-मृजू शुद्धौ,मृज्यते शोध्यतेऽनेन कर्म मलिन आत्मा, तस्माद्धेतोः । अथवा—मार्गणं मार्गोऽन्वेषणं पन्थाः शिवस्येति ॥ १३८१ ॥ (विशे०) इति व्युत्पत्तेः । ध० र० । आ० म० । भ० ।

मार्गस्वरूपमाह—

मार्गः प्रवर्तकं मानं, शब्दो भगवतोदितः ।
संविग्नाशठगीतार्थाऽऽ-चरणं चेति स द्विधा ॥ १ ॥

मार्ग इति-प्रवर्तकं स्वजनकेच्छाजनकज्ञानजननद्वारा प्रवृत्तिजनकं, मानं प्रमाणं, स च भगवता सर्वज्ञेनोदितो विधिरूपः शब्दः, संविग्नाः संवेगवन्तः,अशठा अभ्रान्ताः, गीतार्थाः स्वभ्यस्तसूत्रार्थाः, तेषामाचरणं चेति द्विधा विधेरिव शिष्टाऽऽचारस्यापि प्रवर्तकत्वात् । तदिदमाह धर्मरत्नप्रकरणकृत्—" मग्गो आगमणीई, अहवा संविग्गबहुजणाइण्णं । " इति ॥ १ ॥

द्वितीयाऽनादरे हन्त, प्रथमस्याप्यनादरः ।
जीतस्यापि प्रधानत्वं, साम्प्रतं श्रूयते यतः ॥ २ ॥

द्वितीयेति-द्वितीयस्य शिष्टाऽऽचरणस्य अनादरे प्रवर्तकत्वेनानभ्युपगमे, हन्त प्रथमस्यापि भगवद्वचनस्यापि अनादर एव । यतो जीतस्यापि साम्प्रतं प्रधानत्वं व्यवहारप्रतिपादकशास्त्रप्रसिद्धं श्रूयते । तथा च जीतप्राधान्याऽनादरे तत्प्रतिपादकशास्त्रानादराद्धर्ध्रुवमेव नास्तिकत्वमिति भावः ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुमाय सतामुक्ताऽऽ-चारेणाऽऽगममूलताम् ।
पथि प्रवर्तमानानां, शङ्क्या नान्धपरम्परा ॥ ३ ॥

अनुमायेति-उक्ताऽऽचारेण संविग्नाऽशठगीतार्थाऽऽचारेण, आगममूलतामनुमाय, सतां मार्गानुसारिणां, पथि महाजनानुयातमार्गे, प्रवर्तमानानामन्धपरम्परा न शङ्कनीया । इत्थं चात्राऽऽगमबोधितेष्टोपायताकत्वमेवानुमेयम्, आगमग्रहणं चान्धपरम्पराशङ्कान्युदासायेति नाऽऽगमकल्पनोत्तरं विध्यर्थबोधकल्पनाद्वारव्यवधानेन प्रवर्तकतायाः शब्दसाधारण्यक्षतिः, अप्रत्यक्षेणाऽऽगमेन प्रकृतार्थस्य बोधयितुमशक्यत्वात्, व्यवस्थितस्य चानुपस्थितेः सामान्यत एव तदनुमानात् । तदिदमुक्तम्—" आयरणा वि हु आण त्ति । " वस्तुत उपपत्तिकेन शिष्टाऽऽचारेणैव विध्यर्थसिद्धावागमानुमानं भगवद्बहुमानद्वारा समापत्तिसिद्धये इति द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

सूत्रे सद्धेतुनोत्सृष्ट-मपि क्वचिदपोद्यते ।
हितदेऽप्यनिषिद्धेऽर्थे, किं पुनर्नास्य मानता ॥ ४ ॥

सूत्र इति—सूत्रे आगमे, उत्सृष्टमपि उत्सर्गविषयीकृतमपि, सद्धेतुना पुष्टेनाऽऽलम्बनेन, क्वचिदपोद्यते अपवादविषयीक्रियते, हितदेऽपीष्टसाधनेऽपि, अनिषिद्धे सूत्रावारिते, किं पुनरस्य शिष्टाऽऽचारस्य न मानता न प्रमाणता ॥ ४ ॥

उदासीनेऽर्थे भवत्वस्य मानता, चारित्रं तु कारणसहस्रेणापि परावर्तयितुमशक्यमित्यत आह—

निषेधः सर्वथा नास्ति, विधिर्वा सर्वथाऽऽगमे ।
आयं व्ययं च तुलये-ल्लाभाऽऽकाङ्क्षी वणिग्यथा ॥५॥

निषेध इति-सूत्रे विधिनिषेधौ हि गौणमुख्यभावेन मिथःसंवलिताविव प्रतिपाद्येते, अन्यथानेकान्तमर्यादाऽतिक्रमप्रसङ्गादिति भावः ॥ ५ ॥

प्रवाहधारापतितं, निषिद्धं यन्न दृश्यते ।
अत एव न तन्मत्या, दूषयन्ति विपश्चितः ॥ ६ ॥

प्रवाहेत—शिष्टसम्मतत्वसन्देहेऽपि तद्दूषणमन्याय्यं, किं पुनस्तन्निश्चय इति भावः । तदिदमाह—" जं च विहिअं ण सुत्ते, ण य पडिसिद्धं जणम्मि चिररूढं । स मइविगप्पियदोसा, तं पि ण दूसंति गीयत्था ॥ १ ॥ " ॥ ६ ॥

संविग्नाऽऽचरणं सम्य-क्कल्पप्रावरणाऽऽदिकम् ।
विपर्यस्तं पुनः श्राद्ध-ममत्वप्रभृति स्मृतम् ॥ ७ ॥

संविग्नेति-संविग्नानामाचरणं सम्यक् साधुनीत्या कल्पप्रावरणाऽऽदिकम् । तदाह—
" अन्नह भणियं पि सुए,किंची कालाइकारणाविक्खं ।
आइन्नमन्नह चिय, दीसइ संविग्गगीएहिं ॥ १ ॥
कप्पाणं पावरणं, अग्गोअरच्चाओ भोलिआभिक्खा ।
उवग्गहियकडाहय-तुंबयमुहदाणदोराई ॥ २ ॥ " इत्यादि ।
विपर्यस्तमसंविग्नाऽऽचरणं पुनः श्राद्धममत्वप्रभृति स्मृतम् । तदाह—
" जह सड्ढेसु ममत्तं, राढाइ असुद्धउवहिभत्ताई ।
णिद्दिट्ठवसहितूली-मसूरगाईण परिभोगे ॥ १ ॥ " इति ॥ ७ ॥

आद्यं ज्ञानात्परं मोहा-द्विशेषो विशदोऽनयोः ।
एकत्वं नानयोर्युक्तं, काचमाणिक्ययोरिव ॥ ८ ॥

आद्यमिति—ज्ञानं तत्त्वज्ञानम् , मोहो गारवमग्नता ॥ ८ ॥

दर्शयद्भिः कुलाऽऽचार-लोपादामुष्मिकं भयम् ।
वारयद्भिः स्वगच्छीय-गृहिणः साधुसङ्गतिम् ॥९॥

दर्शयद्भिरिति-आमुष्मिकं प्रेत्य प्रत्यवायविपाकफलम् ॥ ९ ॥

द्रव्यस्तवं यतीनाम-प्यनुपश्यद्भिरुत्तमम् ।
विवेकविकलं दानं, स्थापयद्भिर्यथा तथा ॥ १० ॥

द्रव्यस्तवमिति-अपिना आगमे यतीनां तन्निषेधो द्योत्यते, अनुपश्यद्भिर्मन्यमानैः ॥ १० ॥

अपुष्टाऽऽलम्बनोत्सिक्तै-र्मुग्धमीनेषु मैनिकैः ।
इत्थं दोषादसंविग्नै-र्हहा विश्वं विडम्बितम् ॥ ११ ॥

अपुष्टेति व्यक्तः ॥ ११ ॥

अप्येष शिथिलोल्लापो, न श्राव्यो गृहमेधिनाम् ।
सूक्ष्मोऽर्थ इत्यदोऽयुक्तं, सूत्रे तद्गुणवर्णनात् ॥ १२ ॥

अपीति—एषोऽपि शिथिलानाम्, उल्लापः यदुत न श्राव्यो गृहमेधिनाम् सूक्ष्मोऽर्थः, इत्यदो वचनमयुक्तम् , सूत्र-भगवत्यादौ तेषां गृहमेधिनामपि केषाञ्चिद्गुणवर्णनात् , "लद्धट्ठा गहिअट्ठा " इत्यादिना साधूक्तसूक्ष्मार्थपरिणामशक्तिमत्त्वप्रतिपादनात् , सम्यक्त्वप्रकरणप्रसिद्धोऽयमर्थः ॥ १२ ॥

तेषां निन्दाऽल्पसाधूनां, बह्वाचरणमानिनाम् ।
प्रवृत्ताऽङ्गीकृताऽत्यागे, मिथ्यादृग्गुणदर्शिनी ॥ १३ ॥

तेषामिति—तेषामसंविग्नानाम् , अल्पसाधूनां विरलानां यतीनां, बह्वाचरितमानिनां " बहुभिराचीर्णं खलु वयमाचरामः, स्तोकाः पुनरेते संविग्नत्वाभिमानिनो दाम्भिकाः " इत्यभिमानवताम् , निन्दा अङ्गीकृतस्य मिथ्याभूतस्याऽपि बह्वाचीर्णस्याऽत्यागेऽभ्युपगम्यमाने मिथ्यादृशां गुणदर्शिनी प्रवृत्ता, सम्यग्दृगपेक्षया मिथ्यादृशामेव बहुत्वात् । तदाह–"बहुजणपवित्तिमिच्छं,इच्छं (त्थं) तेण इहलोइओ चेव ! धम्मो न उज्झियव्वो, जेण तहिं बहुजणपवित्ती ॥१॥" ॥१३॥

इदं कलिरजः पर्व-भस्म भस्मग्रहोदयः ।
खेलनं तदसंविग्न-राजस्यैवाधुनोचितम् ॥ १४ ॥

इदमिति व्यक्तः ॥ १४ ॥

समुदाये मनाग्दोष-भीतैः स्वेच्छाविहारिभिः ।
संविग्नैरप्यगीतार्थैः, परेभ्यो नातिरिच्यते ॥ १५ ॥

समुदाय इति–समुदाये मनाग्दोषेभ्य ईषत्कलहाऽऽदिरूपेभ्यो भीतैः, स्वेच्छाविहारिभिः स्वच्छन्दचारिभिः, संविग्नैरपि बाह्याऽऽचारप्रधानैरपि, अगीतार्थैः, परेभ्योऽसंविग्नेभ्यो, नातिरिच्यते नाधिकीभूयते ॥ १५ ॥

वदन्ति गृहिणां मध्ये, पार्श्वस्थानामवन्द्यताम् ।
यथाच्छन्दतयाऽऽत्मान-मवन्द्यं जानते न ते ॥ १६ ॥

वदन्तीति—परदोषं पश्यन्ति, स्वदोषं च न पश्यन्तीति महतीयं तेषां कदर्थनेति भावः ॥ १६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गीतार्थपारतन्त्र्येण, ज्ञानमज्ञानिनां मतम्।
विना चक्षुष्मदाधार-मन्धः पथि कथं व्रजेत्?॥ १७॥

गीतार्थेति-मुख्यं ज्ञानं गीतार्थानामेव तत्पारतन्त्र्यलक्षणं गौणमेव तदगीतार्थानामिति भावः॥ १७॥

तत्त्यागेनाफलं तेषां, शुद्धोञ्छाऽऽदिकमप्यहो।
विपरीतं फलं वा स्या-न्नौभङ्ग इव वारिधौ॥ १८॥

तदिति-तत्त्यागेन गीतार्थपारतन्त्र्यपरिहारेण, तेषां संविग्नाऽऽभासानां शुद्धोञ्छाऽऽदिकमप्यफलं विपरीतफलं वा स्यात्, वारिधाविव नौभङ्गः॥ १८॥

यदि वामैतेषां नास्ति ज्ञानं, कथं तर्हि मासक्षपणाऽऽदि-दुष्करतपोऽनुष्ठातृत्वमित्यत आह-

अभिन्नग्रन्थयः प्रायः, कुर्वन्तोऽप्यतिदुष्करम्।
बाह्या इवाव्रता मूढाः, ध्वाङ्क्षज्ञातेन दर्शिताः॥ १९॥

अभिन्नेति-अभिन्नग्रन्थयोऽकृतग्रन्थिभेदाः, प्रायः कुर्वन्तोऽप्यतिदुष्करं मासक्षपणाऽऽदिकं बाह्या इवाव्रताः स्वाभाविकव्रतपरिणामरहिताः, मूढा अज्ञानाऽऽविष्टाः, ध्वाङ्क्षज्ञातेन वायसदृष्टान्तेन दर्शिताः। यथा हि केचन वायसा निर्मलसलिलपूर्णसरित्परिसरं परित्यज्य मरुमरीचिकासु जलत्वभ्रान्तिभाजस्ताः प्रति प्रस्थिताः, तेभ्यः केचनान्यैर्निषिद्धाः प्रत्यायाताः सुखिनो बभूवुः, ये च नाऽऽयातास्ते मध्याह्नार्कतापतरलिताः पिपासिता एव मृताः, एवं समुदायादपि मनाग्दोषभीत्या ये स्वमत्या विजिहीर्षवो गीतार्थैनिवारिताः प्रत्यावर्तन्ते, तेऽपि ज्ञानाऽऽदिसंपद्भाजनं भवन्ति, अपरे तु-ज्ञानाऽऽदिगुणेभ्योऽपि भ्रश्यन्तीति। तदिदमाह-" पायं अभिन्नगंठी, तवाइ तह दुक्करं पि कुव्वंता। बज्झ व्व ण ते साहू; धंखाऽऽहरणेण विन्नेया॥ १॥ " आगमेऽप्युक्तम्-" नममाणा वेगे जीविअं विप्परिणामंति।" द्रव्यतो नमन्तोऽप्येके संयमजीवितं विपरिणामयन्ति, नाशयन्तीत्येतदर्थः। इति॥ १९॥

वदन्तः प्रत्युदासीनान्, परुषं परुषाऽऽशयाः।
विश्वासादाकृतेरेते, महापापस्य भाजनम्॥ २०॥

वदन्त इति-उदासीनान् मध्यस्थान् शिक्षापरायणान् प्रति, परुषं " भवन्त एव सम्यक् क्रियां न कुर्वते कोऽयमस्मान् प्रत्युपदेशः " इत्यादिरूपं वचनं, वदन्तः, परुषोऽज्ञानाऽवेशादाशयो येषां ते तथा, एते आकृतेराकारस्य, विश्वासान्महापापस्य परप्रतारणलक्षणस्य भाजनं भवन्ति, पामराणां गुणाऽऽभासमात्रेणैव स्खलनसंभवात्॥२०॥

ये तु स्वकर्मदोषेण, प्रमाद्यन्तोऽपि धार्मिकाः।
संविग्नपाक्षिकास्तेऽपि, मार्गान्वाचयशालिनः॥ २१॥

ये त्विति-ये तु स्वकर्मदोषेण वीर्यान्तरायोदयलक्षणेन, प्रमाद्यन्तोऽपि क्रियासु अवसीदन्तोऽपि, धार्मिका धर्मनिरताः, संविग्नपाक्षिका- संविग्नपक्षीकृतः, तेऽपि, मार्गस्यान्वाचयो भावसाध्वपेक्षया पृष्ठलग्नतालक्षणः तेन शालन्त इत्येवंशीलाः। तदुक्तम्-"लब्भिहिसि तेण पहं ति"॥ २१॥

शुद्धप्ररूपणैतेषां, मूलमुत्तरसंपदः।
सुसाधुग्लानिभैषज्य-प्रदानाभ्यर्चनाऽऽदिकाः॥ २२॥

शुद्धेति-एतेषां संविग्नपाक्षिकाणां, शुद्धप्ररूपणैव मूलं-सर्वगुणानामाद्यमुत्पत्तिस्थानं, तदपेक्षयतनाया एव तेषां निर्जराहेतुत्वात्। तदुक्तम्-"हीणस्स वि सुद्धपरूवगस्स संविग्गपक्खवाइस्स। जा जा हविज्ज जयणा,सा सा से निज्जरा होइ॥१॥" इच्छायोगसंभवाच्चात्र नेतराङ्गवैकल्येऽपि फलवैकल्यं, सम्यग्दर्शनस्यैवात्र सहकारित्वात्। शास्त्रयोग एव सम्यग्दर्शनचारित्रयोर्द्वयोस्तुल्यवदपेक्षणात्। तदिदमुक्तम्-"दंसणपक्खो सावय, चरित्तभट्ठे य मंदधम्मे य। दंसणचरित्तपक्खो,समणे परलोगकंखिम्मि॥१॥" उत्तरसंपद उत्कृष्टसंपदश्च सुसाधूनां ग्लानेरपनायकं यद्भैषज्यं तत्प्रदानं चाभ्यर्चनं च तदादिकाः॥ २२॥

आत्मार्थं दीक्षणं तेषां, निषिद्धं श्रूयते श्रुते।
ज्ञानाऽऽद्यर्थान्यदीक्षा च, स्वोपसंपच्च नाहिता॥२३॥

आत्मार्थमिति-आत्मार्थं स्ववैयावृत्त्याद्यर्थं, तेषां संविग्नपाक्षिकाणां दीक्षणं श्रुते निषिद्धं श्रूयते। "अत्तट्ठा न विदिक्खइ" इति वचनात्। ज्ञानाऽऽद्यर्थान्येषां भावचरपरिणामवत्पृष्ठभाविनामपुनर्बन्धकाऽऽदीनां दीक्षा च तदर्थं तेषां स्वोपसंपच्च नाहिता नाहितकारिणी, असद्ग्रहपरित्यागार्थमपुनर्बन्धकाऽऽदीनामपि दीक्षणाधिकारात्। तदुक्तम्-"सइअपुणबंधगाणं, कुग्गहविरहं लहुं कुणइ " इति तात्त्विकानां तु तात्त्विकैः सह योजनमप्यस्याऽऽचारः। तदुक्तम्-" देइ सुसाहूण बोहेउं ति "॥ २३॥

नाऽऽवश्यकाऽऽदिवैयर्थ्यं, तेषां शक्यं प्रकुर्वताम्।
अनुमत्यादिसाम्राज्या-द्भावाऽऽवेशाच्च चेतसः॥२४॥

नेति-आवश्यकाऽऽदिवैयर्थ्यं च तेषां,स्ववीर्यानुसारेण शक्यं स्वाचारं प्रकुर्वतां न भवति। तत्करण एवाऽऽचारप्रीत्येच्छायोगनिर्वाहात्। तथाऽनुमत्यादीनामनुमोदनाऽऽदीनां साम्राज्यात् सवर्थाऽभङ्गात्। चेतसश्चित्तस्य भावाऽऽवेशादर्थाऽऽद्युपयोगाच्च श्रद्धामेधाऽऽद्युपपत्तेः॥२४॥

द्रव्यत्वेऽपि प्रधानत्वा-त्तथाकल्पात्तदक्षतम्।
यतो मार्गप्रवेशाय, मतं मिथ्यादृशामपि॥ २५॥

द्रव्यत्वेऽपीति-तदावश्यकस्य भावसाध्वपेक्षया द्रव्यत्वेऽपि प्रधानत्वादिच्छाऽऽद्यतिशयेन भावकारणत्वाद् द्रव्यपदस्य क्वचिदप्रधानार्थकत्वेन क्वचिच्च कारणार्थकत्वेनानुयोगद्वारवृत्तौ व्यवस्थापनात् तथाकल्पात् तथाऽऽचारात्, तदावश्यकं तेषामक्षतं, यतो मार्गप्रवेशाय मिथ्यादृशामपि तदावश्यकं मतं गीतार्थैरङ्गीकृतम्, अभ्यासरूपत्वात्, अस्खलितत्वाऽऽदिगुणगर्भतया द्रव्यत्वोपवर्णनस्यैतदर्थद्योतकत्वाच्च॥ २५॥

मार्गभेदस्तु यः कश्चि-न्निजमत्या विकल्प्यते।
स तु सुन्दरबुद्ध्याऽपि, क्रियमाणो न सुन्दरः॥ २६॥

मार्गेति-व्यक्तः॥ २६॥

निवर्तमाना अप्येके,वदन्त्याचारगोचरम्।
आख्याता मार्गमप्येको,नोञ्छजीवीति च श्रुतिः॥२७॥

निवर्तमाना इति-एके संयमान्निवर्तमाना अपि, आचारगोचरं यथावस्थितं वदन्ति, "वयमेव कर्तुमसहिष्णवः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मार्गः पुनरित्थम्भूत एवेति । " यदाचारसूत्रम्—"नियट्ट-माना वेगे आयारगोअरमाइक्खं ति । " अत्र संयमाज्ञि-ज्ञादा निवर्त्तमानाः, चाशब्दादनिवर्तमानाश्च लभ्यन्ते । उ-भयथाऽप्यवसीदन्त एव योजिता यथास्थितताऽऽचारोक्त्या हि तेषामेकैकवालता भवति आचारहीनतया न तु द्वितीया ऽपि । ये तु हीना अपि वदन्ति–"एवम्भूत एवाऽऽचारोऽस्ति योऽस्माभिरनुष्ठीयते, साम्प्रतं दुःषमानुभावेन बलाऽऽद्य-पगमान्मध्यभूतैव वर्तनी श्रेयसी, नोत्सर्गावसर इति । " तेषां तु द्वितीयाऽपि बालता बलादापतति, गुणवद्दोषानु-षादात् । यदागमः—" सीलमंता उवसंता, संखाए रीयमा-णा असीला । अणुवयमाणस्स बि-तिआमंदस्स बालया ॥ ॥ १ ॥ " तथा मार्गमेक आख्याता न चोञ्छजीवीत्यपि श्रुति-रस्ति । तदुक्तं स्थानाङ्गे—" आघाइत्ता णामं एगे, णो उंछजी-वी " इति ॥ २७ ॥

असंयते संयतत्वे, मन्यमाने च पापता ।
भणिता तेन मार्गोऽयं, तृतीयोऽप्यवशिष्यते ॥ २८ ॥

असंयत इति–असंयते संयतत्वं मन्यमाने च पापता भणिता, "असंजए संजयलप्पमाणे पावसमणु त्ति वुच्चइ " इति पापश्र-मणीयाध्ययनपाठात् । असंयते यथास्थितवक्तरि पापत्वानुक्तेः । तेन कारणेनायं संविग्नपक्षरूपस्तृतीयोऽपि मार्गोऽवशिष्य-ते । साधुश्राद्धयोरिव संविग्नपाक्षिकस्याप्याचारेणाविसंवा-दिप्रवृत्तिसम्भवात् । तदुक्तम्–"सावज्जजोगपरिव-ज्जणाइ स-व्वुत्तमो अ जइधम्मो । बीओ सावगधम्मो, तइओ संविग्गप-क्खपहो ॥१॥"योगाऽऽख्यो मार्गः संविग्नपाक्षिकाणां नासम्भ-वी मैत्र्यादिसमन्वितवृत्ताऽऽदिमत्त्वेनाध्यात्माऽऽदि प्रवृत्त्यवा-धात् अविकल्पतथाकाराविषयत्वेन नैतद्धर्मो मार्गः "कप्पाक-प्पे परिनि-ट्ठिअस्स ठाणेसु पंचसु ठिअस्स । संजमतववट्टगस्स उ, अविगप्पेणं तहक्कारो ॥ १ ॥" इति वचनात् । साधुवचन एवाविकल्पेन तथाकारश्रवणादिति चेन्नैतद्वचनबलादन्यत्र लभ्यमानस्य विकल्पस्य व्यवस्थितत्वेन व्याख्यानात् । व्यव-स्था चेयं संविग्नपाक्षिकस्य वचनेऽविकल्पेनैव तथाकारोऽन्यस्य तु विकल्पेनेवेति । विवेचितं चेदं सामाचारीप्रकरणेऽस्माभिः ॥ २८ ॥

साधुः श्राद्धश्च संविग्न–पक्षी शिवपथास्त्रयः ।
शेषा भवपथा गेहि–द्रव्यलिङ्गिकुलिङ्गिनः ॥ २९ ॥

साधुरिति—व्यक्तः ॥ २९ ॥

गुणी च गुणरागी च, गुणद्वेषी च साधुषु ।
श्रूयन्ते व्यक्तमुत्कृष्ट–मध्यमाधमबुद्धयः ॥ ३० ॥

गुणीति–व्यक्तः ॥ ३० ॥

ते च चारित्रसम्यक्त्व–मिथ्यादर्शनभूमयः ।
अतो द्वयोः प्रकृत्यैव, वर्तितव्यं यथाबलम् ॥ ३१ ॥

ते चेति—व्यक्तः ॥ ३१ ॥

इत्थं मार्गस्थिताऽऽचार–मनुसृत्य प्रवृत्तया ।
मार्गदृष्ट्यैव लभ्यन्ते, परमाऽऽनन्दसम्पदः ॥ ३२ ॥

इत्थमिति—व्यक्तः ॥ ३२ ॥ द्वा० ३ द्वा० ।

भावत्थयदव्वत्थय–रूवो सिवपंथसत्थवाहेण ।
सव्वण्णुणा पणीओ, दुविहो मग्गो सिवपुरस्स ॥८॥

तत्र भावः शुभपरिणामः प्रधानं यत्र स्तवे स भावस्तवः । यद्वा–भावेनाऽऽन्तरप्रीत्या तथाविधकर्मक्षयोपशमापेक्षया सर्वविरतिदेशविरतिप्रतिपत्तिस्वभावेन स्तवो भावस्तवः;द्र-व्येण वा वित्तव्ययेन जिनभवनबिम्बपूजाऽऽदिकरणरूपः स्त-वो द्रव्यस्तवः, भावस्तवश्च द्रव्यस्तवश्च भावस्तवद्रव्य-स्तवौ तयो रूपं स्वभावः स्तवरूपः शिवो मोक्षः पारमार्थिक-निरुपद्रव्यस्थानं तस्य पन्था मार्गः शिवपथस्तस्य सार्थवाह इव सार्थवाहस्तेन मोक्षपथनायकेनेत्यर्थः । तस्याऽपि लोक-रूढ्या नानात्वे विशेषयितुमाह—सर्वज्ञेन सर्वविदा प्रणीतः प्ररूपितः, तदन्यकथने हि विसंवाददर्शनात् , द्विविधो द्विप्र-कारो मार्गः पन्थाः, कस्येत्याह–शिव एव पुरं शिवनगरं तस्य अयमाशयः । यो हि प्रयोजननिष्पत्तौ भवमेवावलम्ब्य बहिर्द्र-व्यव्यतिरेकेण प्रवर्त्तते, भगवती मरुदेवी स्वामिनी यतयश्च स्वभावेन भावशुद्धाध्यवसायेन सम्यग्विदिततत्त्वा अविदि-तत्त्वो वा वैरस्वामिमाषा(त्रा)दिवत्सदनुष्ठाने प्रवर्त्तते स द्विवि-धोऽपि भावस्वरूपो मोक्षमार्ग इति । दर्श० ४ तत्त्व । मोक्षपुर-प्रापकत्वान्मार्गः । आवश्यके, विशे० । आ० चू० । अनु० । जनैः पद्भ्यां क्षुण्णे पथि, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । स० । सूत्र० । ज्ञा० । अष्ट० । दर्श० । मो-क्षपथे, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । उत्त० । सम्यग्-दर्शनाऽऽदिके, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । पञ्चा० । सम्यग्दर्शनप्र-शमाऽऽदिके, ध० ३ अधि० । दर्श० । आ० चू० । आव० । मोक्षे, उत्त० २१ अ० । नरकतिर्यङ्मनुष्यगमनपद्धतौ, आ-चा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

प्रशस्तो ज्ञानाऽऽदिको भावमार्गस्तदाचरणं चात्राभिधेय-मिति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे मार्ग इत्यस्याध्ययन-स्य नाम, तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

णामं ठवणा दाविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो खलु मग्गस्स य, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥१०७॥
फलगलयंदोलणवि–त्तरज्जुदवणविलपासमग्गे य ।
खीलगअयपक्खिपहे, छत्तजलाकासदव्वम्मि ॥ १०८ ॥
खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले कालो जहिं हवइ जो उ ।
भावम्मि होति दुविहो,पसत्थ तह अप्पसत्थो य ॥१०९॥
दुविहम्मि वि तिगभेदो,णेओ तस्स उ विणिच्छओ दुविहो
सुगतिफलदुग्गतिफलो, पगयं सुगतीफलेणित्थं ॥११०॥
दुग्गइफलवादीणं, तिन्नि तिसट्ठा सताइ वादीणं ।
खेमे य खेमरूवे, चउक्कगं मग्गमादीसु ॥ १११ ॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदान्मार्गस्य षोढा निक्षेपः,त-त्र नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरि-क्तं द्रव्यमार्गमधिकृत्याऽऽह–फलकैर्मार्गः फलकमार्गः यत्र कर्द-माऽऽदिभयात् फलकैर्गम्यते,लतामार्गस्तु यत्र लताऽवलम्बेन गम्यते, अन्दोलनमार्गोऽपि यत्राऽन्दोलनेन दुर्गमतिलङ्घ्यते, वेत्रमार्गो यत्र वेत्रलतोपष्टम्भेन जलाऽऽदौ गम्यते इति, तद्य-था—चारुदत्तो वेत्रलतोपष्टम्भेन वेत्रवतीं नदीमुत्तीर्य परकू-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लं गतः, रज्जुमार्गस्तु यत्र रज्ज्वा किञ्चिदतिदुर्गमातिलङ्घ्य-
ते, 'दवनं ति' यानं तन्मार्गो दवनमार्गः, विलमार्गो यत्र तु गु
हाऽऽद्याकारेण विलेन गम्यते, पाशप्रधानो मार्गः पाशमार्गः
पाशकूटवागुरान्वितो मार्ग इत्यर्थः, कीलकमार्गो यत्र वालु-
कोत्कटे मरुकाऽऽदिविषये कीलकाभिज्ञानेन गम्यते, अजमार्गो
यत्र अजेन-बस्तेन गम्यते, तत् यथा सुवर्णभूम्यां चारुद-
त्तो गत इति, पक्षिमार्गो यत्र भारुण्डाऽऽदिपक्षिभिर्देशान्तरम-
वाप्यते, छत्रमार्गो यत्र छत्रमन्तरेण गन्तुं न शक्यते, जलमार्गो
यत्र नावादिना गम्यते, आकाशमार्गो विद्याधराऽऽदीनाम्, अ-
यं सर्वोऽपि फलकाऽऽदिको 'द्रव्ये' द्रव्यविषयेऽवगन्तव्य इ-
ति । क्षेत्राऽऽदिमार्गप्रतिपादनायाऽऽह-क्षेत्रमार्गे पर्यालोच्य
मानं यस्मिन् 'क्षेत्रे' ग्रामनगराऽऽदौ प्रदेशे वा शालिक्षेत्राऽऽदि
के वा क्षेत्रे यो याति मार्गे यस्मिन्वा क्षेत्रे व्याख्यायते स क्षेत्र-
मार्गः, एवं कालेऽप्यायोज्यम् । भावे त्वालोच्यमाने द्विविधो
भवति मार्गः, तद्यथा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्चेति । प्रशस्ताप्रशस्त-
भेदप्रतिपादनायाऽऽह-'द्विविधेऽपि' प्रशस्ताप्रशस्तरूपे भाव-
मार्गे प्रत्येकं त्रिविधो भेदो भवति, तत्राप्रशस्तो मिथ्यात्वम-
विरतिरज्ञानं चेति, प्रशस्तस्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप इ-
ति, 'तस्य' प्रशस्ताप्रशस्तरूपस्य भावमार्गस्य 'विनिश्चयो'
निर्णयः फलं कार्यं निष्ठा द्वेधा । तद्यथा-प्रशस्तः सुगतिफलः,
अप्रशस्तश्च दुर्गतिफल इति । इह तु पुनः 'प्रस्तावः' अधि-
कारः 'सुगतिफलेन' प्रशस्तमार्गेणेति । तत्राप्रशस्तं दुर्गति
फलं मार्गं प्रतिपिपादयिषुस्तत्कर्तॄन्निर्दिदिक्षुराह—दुर्गतिः फ-
लं यस्य स दुर्गतिफलस्तद्वदनशीला दुर्गतिफलवादिनस्तेषां
प्रावादुकानां त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि शतानि भवन्ति, दुर्गति-
फलमार्गोपदेष्टृत्वं च तेषां मिथ्यात्वोपहतदृष्टितया विपरी-
तजीवाऽऽदितत्त्वाभ्युपगमात्, तत्संख्या चैवमवगन्तव्या,
तद्यथा—"असियसयं किरियाणं, अकिरियवाईण होइ
चुलसीइ । अण्णाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्ती-
सं ॥ १ ॥" तेषां च स्वरूपं समवसरणाध्ययने व
क्ष्यत इति । साम्प्रतं मार्गं भङ्गद्वारेण निरूपयितुमाह,
तद्यथा—एकः क्षेमो मार्गस्तस्करसिंहव्याघ्राऽऽद्युपद्रवर-
हितत्वात् तथा क्षेमरूपश्च समत्वात्तथा छायापुष्पफलवद्वृ-
क्षोपेतजलाऽऽश्रयाऽऽकुलत्वाच्च १, तथा परः क्षेमो निश्चौरः
किं त्वक्षेमरूप उपलशकलाऽऽकुलगिरिनदीकण्टकगर्ताश-
ताऽऽकुलत्वेन विषमत्वात्, तथाऽपरोऽक्षेमस्तस्कराऽऽदिभ-
योपेतत्वात्क्षेमरूपश्चोपलशकलाऽऽद्यभावतया समत्वात्, त-
थाऽ-न्यो न क्षेमो नापि क्षेमरूपः सिंहव्याघ्रतस्काराऽऽदिदो-
षदुष्टत्वात्तथा गर्त्तापाषाणनिम्नोन्नताऽऽदिदोषदुष्टत्वाच्चेति,
एवं भावमार्गोऽप्यायोज्यः, तद्यथा-ज्ञानाऽऽदिसमन्वितो द्र-
व्यलिङ्गोपेतश्च साधुः क्षेमः क्षेमरूपश्च, तथा क्षेमोऽक्षेमरूपस्तु
स एव भावसाधुः कारणिकद्रव्यलिङ्गरहितः, तृतीयभङ्गकगता
निह्नवाः, परतीर्थिका गृहस्थाश्चरमभङ्गकवर्तिनो द्रष्टव्याः । एव-
मनन्तरोक्तया प्रक्रियया 'चतुष्ककं' भङ्गकचतुष्टयं मार्गादिष्वा-
योज्यम्, आदिग्रहणादन्यत्रापि समाध्यादावायोज्यमिति ।

सम्यग्मिथ्यात्वमार्गयोः स्वरूपनिरूपणायाऽऽह—

सम्मप्पणिओ मग्गो, णाणे तह दंसणे चरित्ते य ।
चरगपरिव्वायादी-चिण्णो मिच्छत्तमग्गो उ ॥ ११२ ॥
इड्ढिरससायगुरुया, छज्जीवनिकायघायनिरया य ।
जे उवदिसंति मग्गं, कुमग्गमग्गस्सिता ते उ ॥११३॥
तवसंजमप्पहाणा, गुणधारी जे वयंति सब्भावं ।
सव्वजगज्जीवहियं, तमाहु सम्मप्पणीयमिणं ॥ ११४ ॥
पंथो मग्गो णाओ, विहीँ धितीँ सुगती हियं तह सुहं च ।
पत्थं सेयं णिव्वुइ, णिव्वाणं सिवकरं चेव ॥ ११५ ॥

सम्यग्ज्ञानं दर्शनं चारित्रं चेत्ययं त्रिविधोऽपि भावमा-
र्गः 'सम्यग्दृष्टिभिः' तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः सम्यग्वा-य-
थावस्थितवस्तुतत्त्वनिरूपणया प्रणीतस्तैरेव च सम्य-
गाचीर्ण इति, चरकपरिव्राजकाऽऽदिभिस्तु 'आचीर्णः' आ-
सेवितो मार्गो मिथ्यात्वमार्गोऽप्रशस्तमार्गो भवतीति । तु-
शब्दोऽस्य दुर्गतिफलनिबन्धनत्वेन विशेषणार्थ इति । स्व-
यूथ्यानामपि पार्श्वस्थाऽऽदीनां षड्जीवनिकायोपमर्दकारि-
णां कुमार्गाऽऽश्रितत्वं दर्शयितुमाह-ये केचन अपुष्टधर्माणः
शीतलविहारिणः ऋद्धिरससातगौरवेण 'गुरुकाः' गुरुक-
र्माण आधाकर्माऽऽद्युपभोगाभ्युपगमेन षड्जीवनिकायव्या-
पादनरताश्च अपरेभ्यो 'मार्गं' मोक्षमार्गमात्मानुचीर्णमुपदि-
शन्ति । तथाहि-शरीरमिदमाद्यं धर्मसाधनमिति मत्वा काल-
संहननाऽऽदिहानेश्चाऽऽधाकर्माऽऽद्युपभोगोऽपि न दोषाये-
त्येवं प्रतिपादयन्ति, ते चैवं प्रतिपादयन्तः कुत्सितमार्गा-
स्तीर्थिकास्तन्मार्गाऽऽश्रिता भवन्ति । तुशब्दादेतेऽपि स्वयू-
थ्या एतदुपदिशन्तः कुमार्गाश्रिता भवन्तीति किंपुनस्तीर्थि-
का इति । प्रशस्तशास्त्रप्रणयनेन सन्मार्गाऽऽविष्करणायाऽऽ
ह-तपः सबाह्याभ्यन्तरं द्वादशप्रकारं, तथा-संयमः सप्तदश-
भेदः पञ्चाऽऽश्रवविरमणाऽऽदिलक्षणस्ताभ्यां प्रधानास्तपः सं-
यमप्रधानाः, तथाऽष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि गुणास्तद्धारिणो
गुणधारिणो ये सत्साधवस्त एवंभूता यं 'सद्भावं' परमार्थं
जीवाजीवाऽऽदिलक्षणं 'वदन्ति' प्रतिपादयन्ति, किंभूतं-?स-
र्वस्मिन् जगति ते जीवास्तेभ्यो हितं-पथ्यं तद्रक्षणतस्तेषां
सदुपदेशदानतो वा तं सन्मार्गं सम्यङ्मार्गज्ञाः 'सम्यग्' अ-
विपरीतत्वेन प्रणीतम् 'आहुः' उक्तवन्त इति । साम्प्रतं
सन्मार्गस्यैकार्थिकान् दर्शयितुमाह—देशाद्विवक्षितदेशान्त-
रप्राप्तिलक्षणः पन्थाः, स चेह भावमार्गाधिकारे स-
म्यक्त्वावाप्तिरूपोऽवगन्तव्यः १, तथा—'मार्ग' इति
पूर्वस्माद्विशुद्ध्या विशिष्टतरो मार्गः, स चेह सम्यग्-
ज्ञानावाप्तिरूपोऽवगन्तव्यः २; तथा 'न्याय' इति
निश्चयेनायनं-विशिष्टस्थानप्राप्तिलक्षणं यस्मिन् सति स न्या-
यः, स चेह सम्यक्चारित्रावाप्तिरूपोऽवगन्तव्यः, सत्पुरुषा-
णामयं न्याय एव यदुत अवाप्तयोः सम्यग्दर्शनज्ञानयोस्तत्फ-
लभूतेन सम्यक्चारित्रेण योगो भवतीत्यतो न्यायशब्देनात्र
चारित्रयोगोऽभिधीयत इति ३, तथा विधिरिति विधा-
नं विधिः सम्यग्ज्ञानादर्शनयोर्यौगपद्येनावाप्तिः ४, तथा धृ-
तिरिति धरणं धृतिः सम्यग्दर्शने सति चारित्रावस्थानं मा-
षतुषाऽऽदाविव विशिष्टज्ञानाभावाद्विवक्षयैवमुच्यते ५, त-
था सुगतिरिति शोभना गतिरस्मात् ज्ञानाच्चारित्राच्चेति
सुगतिः 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' इति न्यायात्सुगतिशब्देन ज्ञा-
नक्रिये अभिधीयेते, दर्शनस्य तु ज्ञानविशेषत्वादत्रैवान्तर्भा-
वोऽवगन्तव्यः ६, तथा हितमिति परमार्थतो मुक्त्यवाप्तिस्त-
त्कारणं वा हितं, तच्च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽख्यमवगन्तव्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिति ७,अत्र च संपूर्णानां सम्यग्दर्शनाऽऽदीनां मोक्षमार्गत्वे सति यद्व्यस्तसमस्तानां मोक्षमार्गत्वेनोपन्यासः स प्रधानोपसर्जनविवक्षया न दोषायेति । तथा सुखमिति सुखहेतुत्वात्सुखम्-उपशमश्रेण्यामुपशामकं प्रत्यपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायरूपा गुणत्रयावस्था ८, तथा पथ्यमिति पाथिमोक्षमार्गे हितं पथ्यं, तच्च क्षपकश्रेण्यां पूर्वोक्तं गुणत्रयं ९, तथा श्रेय इत्युपशमश्रेणिमस्तकावस्था , उपशान्तसर्वमोहावस्थेत्यर्थः १०' तथा निर्वृतिहेतुत्वान्निर्वृतिः क्षीणमोहावस्थेत्यर्थः मोहनीयविनाशेऽवश्यं निर्वृतिसद्भावादिति भावः ११, तथा निर्वाणमिति घनघातिकर्मचतुष्टयक्षयेण केवलज्ञानावाप्तिः १२, तथा 'शिवं' मोक्षपदं तत्करणशीलं शैलेश्यवस्थागमनमिति १३, एवमेतानि मोक्षमार्गत्वेन किञ्चिद्भेदाद्भेदेन व्याख्यातान्यभिधानानि, यदि वैते पर्यायशब्दा एकार्थिका मोक्षमार्गस्येति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः । सूत्र०१ श्रु० ११ अ० । उत्त० । दर्श० । ध० । इह मार्गः चेतसोऽवक्रगमनं, भुजङ्गमनलिकायामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषः हेतुस्वरूपफलशुद्धा सुखेत्यर्थः, नास्मिन्नान्तरेऽसति यथोदितगुणस्थानावाप्तिर्मार्गविषमतया चेतःस्खलनेन प्रतिबन्धोपपत्तेः सानुबन्धक्षयोपशमतो यथोदितगुणस्थानावाप्तिः, अन्यथा तदयोगात् क्लिष्टदुःखस्य तत्र तत्त्वतो बाधकत्वात्, सानुबन्धं क्लिष्टमेतदिति तन्त्रगर्भः, तद्बाधितस्यास्य तथागमनाभावात्, भूयस्तदनुभवोपपत्तेः, न चासौ तथाऽतिसंक्लिष्टस्तत्प्राप्ताविति प्रवचनपरमगुह्यम्,न खलु भिन्नग्रन्थेर्भूयस्तद्बन्ध इति तन्त्रयुक्त्युपपत्तेः। एवमन्यनिवृत्तिगमनेनास्य भेदः, सिद्धं चैतत्प्रवृत्त्यादिशब्दवाच्यतया योगाचार्याणां,प्रवृत्तिपराक्रमजयानन्दऋतंभरभेदः कर्मयोग इत्यादिविचित्रवचनश्रावणादिति, न चेदं यथोचितमार्गाभावे, स चोक्तवद्भगवद्भ्य इति । (सूत्र१७) ल० । यो० विं० । रा० । ध० । द्वा० । पं० भा० ।

तदनन्तरं सूत्रानुगमे अस्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

कयरे मग्गे अक्खाए, माहणेणं मईमता ? ।
जं मग्गं उज्जु पावित्ता, ओहं तरति दुत्तरं ॥ १ ॥
तं मग्गं णुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।
जाणासि णं जहा भिक्खू !, तं णो बूहि महामुणी ।२।
जइ णो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिं तु कयरं मग्गं, आइक्खेज्ज कहाहि णो ॥ ३ ॥
जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिमं पडिसाहिज्जा, मग्गसारं सुणेह मे ॥ ४ ॥

विचित्रत्वात् त्रिकालविषयत्वाच्च सूत्रस्याऽऽगामुकं प्रच्छकमाश्रित्य सूत्रमिदं प्रवृत्तम् अतो जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमिदमाह,तद्यथा-'कतरः' किंभूतो 'मार्गः' अपवर्गावाप्तिसमर्थोऽस्यां त्रिलोक्याम् 'आख्यातः'प्रतिपादितो भगवता त्रैलोक्योद्धरणसमर्थेनैकान्तहितैषिणा मा हनेत्येवमुपदेशप्रवृत्तिर्यस्याऽसौ माहनः-तीर्थकृत्तेन,तमेव विशिनष्टि-मतिः लोकालोकान्तर्गतसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतवर्तमानपदार्थाऽऽविर्भाविका केवलज्ञानाऽऽख्या यस्यास्त्यसौ मतिमांस्तेन,यं प्रशस्तं भावमार्गं मोक्षगमनं प्रति 'ऋजुं' प्रगुणं यथावस्थितपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेणावक्रं सामान्यविशेषनित्यानित्याऽऽदिस्याद्वादसमाश्रयणात्,तदेवंभूतं मार्गं ज्ञानदर्शनतपश्चारित्राऽऽत्मकं 'प्राप्य'लब्ध्वा संसारोदरविवरवर्ती प्राणी समग्रसामग्रीकः ओघमिति भवौघं संसारसमुद्रं तरत्यत्यन्तदुस्तरं, तदुत्तरणसामग्र्या एव दुष्प्रापत्वात् । तदुक्तम्-"माणुस्सखेत्त जाईकुलरूवाऽऽरोगमाउयं बुद्धी । सवणोग्गह सद्धा सं—जमो य लोयम्मि दुलहाइं ॥ १ ॥" इत्यादि । स एव प्रच्छकः पुनरप्याह-योऽसौ मार्गः सत्त्वहिताय सर्वज्ञेनोपदिष्टोऽशेषैकान्तकौटिल्यवक्रतारहितस्तं मार्गं, नास्योत्तरः-प्रधानोऽस्तीत्यनुत्तरस्तं शुद्धः-अवदातो निर्दोषः पूर्वापरव्याहतिदोषापगमात्सावद्यानुष्ठानोपदेशाभावाद्वा तमिति, तथा सर्वाणि अशेषाणि बहुभिर्भवैरुपचितानि दुःखकारणत्वाद् दुःखानि—कर्माणि तेभ्यो विमोक्षणं—विमोचकं तमेवंभूतं मार्गमनुत्तरं निर्दोषं सर्वदुःखक्षयकारणं हे भिक्षो ! यथा त्वं जानीषे 'णं' इति वाक्यालङ्कारे तथा तं मार्गं सर्वज्ञप्रणीतं 'नः' अस्माकं हे महामुने !'ब्रूहि' कथयेति ॥ २ ॥ यद्यप्यस्माकमसाधारणगुणोपलब्धेर्युष्मत्प्रत्ययेनैव प्रवृत्तिः स्यात् तथाप्यन्येषां मार्गः किंभूतो मयाऽऽख्येय इत्यभिप्रायवानाह-यदा कदाचित् 'नः' अस्मान् 'केचन' सुलभबोधयः संसारोद्विग्नाः सम्यग् मार्गं पृच्छेयुः, के ते ?-'देवाः' चतुर्निकायाः, तथा मनुष्याः—प्रतीताः, बाहुल्येन तयोरेव प्रश्नसद्भावात्तदुपादानं, तेषां पृच्छतां कतरं मार्गमहम् 'आख्यास्ये' कथयिष्ये,तदेतदस्माकं त्वं जानानः कथयेति ॥ ३ ॥ एवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह-यदि कदाचित् 'वः' युष्मान् केचन देवा मनुष्या वा संसारभ्रान्तिपराभग्नाः सम्यग्मार्गं पृच्छेयुस्तेषां पृच्छताम् इममिति वक्ष्यमाणलक्षणं षड्जीवनिकायप्रतिपादनगर्भं तद्रक्षाप्रवणं मार्गं 'पडिसाहिज्जेति' प्रतिकथयेत् , 'मार्गसारम्' मार्गपरमार्थं यं भवन्तोऽन्येषां प्रतिपादयिष्यन्ति तत् 'मे' मम कथयतः शृणुत यूयमिति, पाठान्तरं वा " तेसिं तु इमं मग्गं, आइक्खेज्ज सुणेह मे ।' इति उत्तानार्थम् ॥ ४ ॥

पुनरपि मार्गाभिष्टवं कुर्वन् सुधर्मस्वाम्याह—

अणुपुव्वेण महाघोरं, कासवेण पवेइयं ।
जमादाय इओ पुव्वं, समुद्दं ववहारिणो ॥ ५ ॥
अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ।
तं सोच्चा पडिवक्खामि, जंतवो तं सुणेह मे ॥ ६ ॥
पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥ ७ ॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई ॥ ८ ॥

यथाऽहम् 'अनुपूर्वेण' अनुपरिपाट्या कथयामि तथा शृणुत, यदि वा-यथा चानुपूर्व्या सामग्र्या वा मार्गोऽवाप्यते तच्छृणुत,तद्यथा-'पढमिल्लुगाण उदए' इत्यादि तावद्यावत् "बारसविहे कसाए,खविए उवसामिए व जोगेहिं । लब्भइ चरित्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लंभो।" इत्यादि, तथा 'चत्तारि परमंगाणीत्यादि।' किंभूतं मार्गं ?, तमेव विशिनष्टि—कापुरुषैः संग्रामप्रवेशवत् दुरध्यवसेयत्वात् 'महाघोरं' महाभयानकं 'काश्यपो' महावीरवर्धमानस्वामी तेन 'प्रवेदितं' प्रणीतं मार्गं कथयिष्यामीति। अनेन स्वमनीषिकापरिहारमाह-यं शुद्धं मार्गम् 'उपादाय' गृहीत्वा (इत इति) सन्मार्गोपादानात् 'पूर्वम्' आदावेवानुष्ठितत्वाद् दुस्तरं संसारं महापुरुषास्तरन्ति, अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह—व्यवहारः-पण्यक्रयविक्रयलक्षणो विद्यते येषां ते व्यवहारिणः सांयात्रिकाः, यथा ते विशिष्टलाभार्थिनः कश्चिन्नगरं यियासवो यानपात्रेण दुस्तरमपि समुद्रं तरन्ति, एवं साधवोऽप्यात्यन्तिकैकान्तिकावाधसुखैषिणः सम्यग्दर्शनाऽऽदिना मार्गेण मोक्षं जिगमिषवो दुस्तरं भवौघं तरन्तीति॥५॥ मार्गविशेषणायाह-यं मार्गं पूर्वं महापुरुषाचीर्णमव्यभिचारिणमाश्रित्य पूर्वस्मिन्ननादिके काले बहवोऽनन्ताः सत्त्वा अशेषकर्मकचवरविप्रमुक्ता भवौघं-संसारम् 'अतार्षुः' तीर्णवन्तः, साम्प्रतमप्येके समग्रसामग्रीकाः संख्येयाः सत्त्वास्तरन्ति, महाविदेहाऽऽदौ सर्वदा सिद्धिसद्भावाद्वर्तमानत्वं न विरुध्यते, तथा अनागते च काले अपर्यवसानाऽऽत्मकेऽनन्ता एव जीवास्तरिष्यन्ति। तदेवं कालत्रयेऽपि संसारसमुद्रोत्तारकं मोक्षगमनैककारणं प्रशस्तं भावमार्गमुत्पन्नदिव्यज्ञानैस्तीर्थकृद्भिरुपदिष्टं, तं चाहं सम्यक् श्रुत्वाऽवधार्य च युष्माकं शुश्रूषूणां 'प्रतिवक्ष्यामि' प्रतिपादयिष्यामि, सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं निश्रीकृत्यान्येषामपि जन्तूनां कथयतीत्येतद्दर्शयितुमाह—हे जन्तवोऽभिमुखीभूय, तं चारित्रमार्गं मम कथयतः शृणुत यूयं, परमार्थकथनेऽत्यन्तमादरोत्पादनार्थमेवमुपन्यास इति॥६॥ चारित्रमार्गस्य प्राणातिपातविरमणमूलत्वात्तस्य च तत्परिज्ञानपूर्वकत्वादतो जीवस्वरूपनिरूपणार्थमाह—पृथिव्येव पृथिव्याश्रिता वा जीवाः पृथ्वीजीवाः, ते च प्रत्येकशरीरत्वात् 'पृथक्' प्रत्येकं सत्त्वा जन्तवोऽवगन्तव्याः, तथा आपश्च जीवाः, एवमग्निकायाश्च, तथाऽपरे वायुजीवाः, तदेवं चतुर्महाभूतसमाश्रिताः पृथक् सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणोऽवगन्तव्याः, एत एव पृथिव्यप्तेजोवायुसमाश्रिताः सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणः, वक्ष्यमाणवनस्पतेस्तु साधारणशरीरत्वेनापृथक्त्वमप्यस्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनाय पुनः पृथक् सत्त्वग्रहणमिति। वनस्पतिकायस्तु यः सूक्ष्मः स सर्वोऽपि निगोदरूपः साधारणो, बादरस्तु साधारणोऽसाधारणश्चेति, तत्र प्रत्येकशरीरिणोऽसाधारणस्य कतिचिद्भेदान्निर्दिदिक्षुराह-तत्र तृणानि-दर्भवीरणाऽऽदीनि वृक्षाः-चूताशोकाऽऽदयः सह बीजैःशालिगोधूमाऽऽदिभिर्वर्तन्त इति सबीजकाः, एते सर्वेऽपि वनस्पतिकायाः सत्त्वा अवगन्तव्याः, अनेन च बौद्धाऽऽदिमतनिरासः कृतोऽवगन्तव्य इति। एतेषां च पृथिव्यादीनां जीवानां जीवत्वेन प्रसिद्धिस्वरूपनिरूपणमाचारे प्रथमाध्ययने "शस्त्रपरिज्ञाऽऽख्ये" न्यक्षेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते॥७॥ षड्जीवनिकायप्रतिपादनायाऽऽह—तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं चतुर्विधाः, 'अथ' अनन्तरम् 'अपरे' अन्ये त्रसन्तीति त्रसाः—द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाः कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्याऽऽदयः,तत्र द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्रत्येकं पर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदात्षड्विधाः, पञ्चेन्द्रियास्तु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्विधाः। तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या चतुर्दशभूतग्रामाऽऽत्मकतया षड्जीवनीकाया व्याख्यातास्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः, 'एतावान्' एतद्भेदाऽऽत्मक एव संक्षेपतो 'जीवनिकायो' जीवराशिर्भवति, अण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजाऽऽदेरत्रैवान्तर्भावान्नापरो जीवराशिर्विद्यते कश्चिदिति॥८॥

तदेवं षड्जीवनिकायं प्रदर्श्य यत्तत्र विधेयं तद्दर्शयितुमाह-

> सव्वाहिं अणुजुत्तीहिँ, मतिमं पडिलेहिया।
> सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया॥९॥
>
> एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण।
> अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया॥१०॥
>
> उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा।
> सव्वत्थ विरतिं विज्जा, संति निव्वाणमाहियं॥११॥
>
> पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणई।
> मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो॥१२॥

सर्वा याः काञ्चनानुरूपाः—पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेनानुकूला युक्तयः-साधनानि, यदि वा-असिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसंगता युक्तयः अनुयुक्तयस्ताभिरनुयुक्तिभिः मतिमान्' सद्विवेकी पृथिव्यादिजीवनिकायान् 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य तथा सर्वेऽपि प्राणिनः 'अकान्तदुःखा' दुःखद्विषः सुखलिप्सवश्च मन्वानो मतिमान् सर्वानपि प्राणिनो न हिंस्यादिति। युक्तयश्च तत्प्रसाधिकाः संक्षेपेणेमा इति—सात्मिका पृथिवी, तदात्मनां विद्रुमलवणोपलाऽऽदीनां समानजातीयाङ्कुरसद्भावाद्,अर्शोविकाराङ्कुरवत्। तथा सचेतनमम्भः, भूमिखननादविकृतस्वभावसंभवाद्, दर्दुरवत्। तथा साऽऽत्मकं तेजः, तद्योग्याहाऽऽरवृद्ध्या वृद्ध्युपलब्धेः,बालकवत्। तथा साऽऽत्मको वायुः, अपराप्रेरितनियततिरश्चीनगतिमत्त्वात्,गोवत्। तथा सचेतना वनस्पतयः,जन्मजरामरणरोगाऽऽदीनां समुदितानां सद्भावात्, स्त्रीवत्, तथा क्षतसंरोहणाऽऽहारोपादानदौहृदसद्भावस्पर्शसंकोचसायाह्नस्वापप्रबोधाऽऽश्रयोपसर्पणाऽऽदिभ्यो हेतुभ्यो वनस्पतेश्चैतन्यसिद्धिः। द्वीन्द्रियाऽऽदीनां तु पुनः कृम्यादीनां स्पष्टमेव चैतन्यं, तद्वेदनाश्चौपक्रमिकाः स्वाभाविकाश्च समुपलभ्य मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेन तत्पीडाकारिण उपमर्दान्निवर्तितव्यमिति॥९॥ एतदेव समर्थयन्नाह—खुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, 'एतदेव' अनन्तरोक्तं प्राणातिपातनिवर्तनं 'ज्ञानिनो' जीवस्वरूपतद्वधकर्मबन्धवेदिनः 'सारं' परमार्थतः प्रधानं, पुनरप्यादरख्यापनार्थमेतदेवाऽऽह-यत्कञ्चन प्राणिनमनिष्टदुःखं सुखैषिणं न हिनस्ति, प्रभूततरवेदिनोऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतरं ज्ञानं यत्प्राणातिपातानिवर्तनमिति, ज्ञानमपि तदेव परमार्थतो यत्परपीडातो निवर्तनं, तथा चोक्तम्—"किं ताए पढियाए पयकोडीए पलालभूयाए। जत्थित्तियं ण णायं, परस्स पीडा न कायव्वा॥१॥"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदेवमहिंसाप्रधानः समयः–आगमः संकेतो वोपदेशरूपस्तमेवंभूतमहिंसासमयमेतावन्तमेव विज्ञाय किमन्येन बहुना परिज्ञानेन ?, एतावतैव परिज्ञानेन मुमुक्षोर्विवक्षितकारिसमाप्तेरतो न हिंस्यात्कञ्चनेति ॥ १० ॥ साम्प्रतं क्षेत्रप्राणातिपातमधिकृत्याऽऽह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च ये केचन त्रसाः–तेजोवायुद्वीन्द्रियाऽऽदयः तथा स्थावराः–पृथिव्यादयः, किं बहुनोक्तेन ?, 'सर्वत्र' प्राणिनि त्रसस्थावरसूक्ष्मबादरभेदभिन्ने 'विरतिं' प्राणातिपातनिवृत्तिं 'विजानीयात्' कुर्यात्, परमार्थत एवमेवासौ ज्ञाता भवति यदि सम्यक् क्रियत इति, एषैव च प्राणातिपातनिवृत्तिः परेषामात्मनश्च शान्तिहेतुत्वाच्छान्तिर्वर्तते, यतो विरतिमतो नान्ये केचन बिभ्यति , नाप्यसौ भवान्तरेऽपिऽकुतश्चिद्बिभेति, अपि च–निर्वाणप्रधानैककारणत्वान्निर्वाणमपि प्राणातिपातनिवृत्तिरेव, यदि वा—शान्तिः–उपशान्तता, निर्वृतिः—निर्वाणं विरतिमांश्चाऽऽर्तरौद्रध्यानाभावादुपशान्तिरूपो निर्वृतिभूतश्च भवति ॥ ११ ॥ किञ्चान्यत्—इन्द्रियाणां प्रभवतीति प्रभुर्वश्येन्द्रिय इत्यर्थः, यदि वा—संयमाऽऽवारकाणि कर्माण्यभिभूय मोक्षमार्गं पालयितव्ये प्रभुः—समर्थः , स एवंभूतः प्रभुः दूषयन्तीति दोषा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगास्तान् 'निराकृत्य' अपनीय केनापि प्राणिना सार्धं 'न विरुध्येत' न केनचित्सह विरोधं कुर्यात् , त्रिविधेनापि योगेनेति मनसा वाचा कायेन चैवान्तशो–यावज्जीवं, परापकारक्रियया न विरोधं कुर्यादिति ॥ १२ ॥

उत्तरगुणानधिकृत्याऽऽह—

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ॥ १३ ॥
भूयाइं च समारंभ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥ १४ ॥
पूईकम्मं न सेविज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
जं किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं न कप्पए ॥१५ ॥
हणंतं णाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइंदिए ।
ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु नगरेसु वा ॥ १६ ॥

आश्रवद्वाराणां रोधेनेन्द्रियनिरोधेन च संवृतः स भिक्षुर्महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञो–विपुलबुद्धिरित्यर्थः, तदनेन जीवाजीवाऽऽदिपदार्थाभिज्ञताऽऽवेदिता भवति, 'धीरः' अक्षोभ्यः, क्षुत्पिपासाऽऽदिपरीषहैर्न क्षोभ्यते,तदेव दर्शयति–आहारोपधिशय्याऽऽदिके स्वस्वामिना तत्संदिष्टेन वा दत्ते सत्येषणां चरति एषणीयं गृह्णातीत्यर्थः, एषणाया एषणायां वा गवेषणग्रहणग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः समितः, स साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां वर्जयन् , परित्यजन्संयममनुपालयेत्,उपलक्षणार्थत्वादस्य शेषाभिरपीर्यासमित्यादिभिः समितो द्रष्टव्य इति ॥१३॥ अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याऽऽह–अभूवन्,भवन्ति, भविष्यन्ति च प्राणिनस्तान् भूतानि प्राणिनः 'समारभ्य'संरम्भसमारम्भाऽऽरम्भैरुपतापयित्वा तं साधुम्'उद्दिश्य'साध्वर्थं यत्कृतं तदुपकल्पितमाहारोपकरणाऽऽदिकं 'तादृशम्'आधाकर्मदोषदुष्टं'सुसंयतः'सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत , तुशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैवाभ्यवहरेद् , एवं तेन मार्गोऽनुपालितो भवति ॥ १४ ॥ किञ्च—आधाकर्माऽऽद्यविशुद्धकोट्यवयवेनापि संपृक्तं पूतिकर्म,तदेवम्भूतमाहाराऽऽदिकं 'न सेवेत' नोपभुञ्जीत,एषः अनन्तरोक्तो धर्मः कल्पः स्वभावः'वुसीमओ त्ति' सम्यक्संयमवतोऽयमेवानुष्ठानकल्पो यदुताशुद्धमाहाराऽऽदिकं परिहरतीति,किञ्च–यदप्यशुद्धत्वेनाभिकाङ्क्षेत्-शुद्धमप्यशुद्धत्वेनाभिशङ्केत किञ्चिदप्याहाराऽऽदिकं तत्, 'सर्वशः'सर्वप्रकारमप्याहारोपकरणपूतिकर्मभोक्तुं न कल्पत इति ॥१५॥ किञ्चान्यत्–धर्मश्रद्धावतां ग्रामेषु नगरेषु वा खेटकर्वटाऽऽदिषु वा 'स्थानानि'आश्रयाः'सन्ति' विद्यन्ते, तत्र तत्स्थानाऽऽश्रितः कश्चिद्धर्मोपदेशेन किल धर्मश्रद्धालुतया प्राण्युपमर्दकारिणीं धर्मबुद्ध्या कूपतडागखननप्रपासत्राऽऽदिकां क्रियां कुर्यात् तेन च तथाभूतक्रियायाः कर्त्रा किमत्र धर्मोऽस्ति नास्तीत्येवं पृष्टोऽपृष्टो वा तदुपरोधाद्भयाद्वा तं प्राणिनो घ्नन्तं नानुजानीयात् , किंभूतः ? सन् ?—'आत्मना' मनोवाक्कायरूपेण गुप्त आत्मगुप्तः तथा 'जितेन्द्रियो' वश्येन्द्रियः सावद्यानुष्ठानं नानुमन्येत ॥ १३ ॥

सावद्यानुष्ठानानुमतिं परिहर्तुकाम आह—

तहा गिरं समारब्भ, अत्थि पुण्णं ति णो वए ।
अहवा णत्थि पुण्णं ति, एवमेयं महब्भयं ॥ १७ ॥
दाणऽट्ठया य जे पाणा, हम्मंती तसथावरा ।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥१८ ॥
जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं ।
तेसिं लाभंतरायं ति, तम्हा णत्थि त्ति णो वए ॥ १९ ॥
जे य दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥ २० ॥

केनचिद्राजाऽऽदिना कूपखननसत्रदानाऽऽदिप्रवृत्तेन पृष्टः साधुः–किमस्मदनुष्ठाने अस्ति पुण्यमाहोस्विन्नास्तीति ?, एवंभूतां गिरं 'समारभ्य' निशम्याऽऽश्रित्य अस्ति पुण्यं नास्ति वेत्येवमुभयथाऽपि महाभयमिति मत्वा दोषहेतुत्वेन नानुमन्येत ॥ १७ ॥ किमर्थं नानुमन्येत?, इत्याह–अन्नपानदानार्थमाहारमुदकं च पचनपाचनाऽऽदिकया क्रियया कूपखननाऽऽदिकया चोपकल्पयेत् , तत्र यस्माद् 'हन्यन्ते' व्यापाद्यन्ते त्रसाः स्थावराश्च जन्तवः तस्मात्तेषां 'रक्षणार्थं' रक्षानिमित्तं साधुरात्मगुप्तो जितेन्द्रियोऽत्र भवदीयानुष्ठाने पुण्यमित्येवं नो वदेदिति ॥ १८ ॥ यद्येवं नास्ति पुण्यमिति ब्रूयात् , तदेतदपि ब्रूयादित्याह–' येषां जन्तूनां कृते 'तद्' अन्नपानाऽऽदिकं किल धर्मबुद्ध्या 'उपकल्पयन्ति' तथाविधं प्राण्युपमर्ददोषदुष्टं निष्पादयन्ति , तन्निषेधे च यस्मात् 'तेषाम्' आहारपानार्थिनां ततः 'लाभान्तरायो' विघ्नो भवेत् , तदभावेन तु ते पीड्येरन् , तस्मात्कूपखननसत्राऽऽदिके कर्मणि नास्ति पुण्यमित्येतदपि नो वदेदिति ॥ १९ ॥ एनमेवार्थं पुनरपि समासतः स्पष्टतरं विभाणिषुराह—ये केचन प्रपासत्राऽऽदिकं दानं बहूनां जन्तूनामुपकारीति कृत्वा 'प्रशंसन्ति' श्लाघन्ते ; 'ते' परमार्थानभिज्ञाः प्रभूततरप्राणिनां तत्प्रशंसाद्वारेण 'वधं' प्राणातिपातमिच्छन्ति, तद्दानस्य प्राणातिपातमन्तरेणानुपपत्तेः, येऽपि च किल सूक्ष्मधियो वयमित्येवं मन्यमाना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगमसद्भावानभिज्ञाः 'प्रतिषेधन्ति' निषेधयन्ति तेऽप्यगीतार्थाः प्राणिनां 'वृत्तिच्छेदं' वर्तनोपायविघ्नं कुर्वन्तीति ॥२०॥

तदेवं राज्ञा अन्येन वेश्वरेण कूपतडागयागसत्रदा-
नाऽऽद्युद्यतेन पुण्यसद्भावं पृष्टैर्मुमुक्षुभिर्य-
द्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हेच्चा णं, निव्वाणं पाउणंति ते ॥ २१ ॥
निव्वाणं परमं बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा ।
तम्हा सदा जए दंते, निव्वाणं संधए मुणी ॥ २२ ॥
वुज्झमाणाण पाणाणं, किच्चंताण सकम्मुणा ।
आघाति साहु तं दीवं, पतिट्ठेसा पवुच्चई ॥ २३ ॥
आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुन्नमणेलिसं ॥ २४ ॥

यद्यस्ति पुण्यमित्येवमूचुस्ततोऽनन्तानां सत्त्वानां सूक्ष्मबादराणां सर्वदा प्राणत्याग एव स्यात्, प्रीणनमात्रं तु पुनः स्वल्पानां स्वल्पकालीयमतोऽस्तीति न वक्तव्यं नास्ति पुण्यमित्येवं प्रतिषेधोऽपि तदर्थिनामन्तरायः स्यादित्यतो 'द्विधाऽपि' अस्ति नास्ति वा पुण्यमित्येवं 'ते' मुमुक्षवः साधवः पुनर्न भाषन्ते, किं तु पृष्टैः सद्भिर्मौनं समाश्रयणीयं, निर्बन्धे त्वस्माकं द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जित आहारः कल्पते, एवंविधविषये मुमुक्षूणामधिकार एव नास्तीति । उक्तं च–

" सत्यं वप्रेषु शीतं शशिकरधवलं वारि पीत्वा प्रकामं,
व्युच्छिन्नाशेषतृष्णाः प्रमुदितमनसः प्राणिसार्था भवन्ति ।
शोषं नीते जलौघे दिनकरकिरणैर्यान्त्यनन्ता विनाशं,
तेनोदासीनभावं व्रजति मुनिगणः कूपवप्राऽऽदिकार्ये ॥१॥"

तदेवमुभयथाऽपि भाषिते रजसः'कर्मण'आयो' लाभो भवतीत्यतस्तमायं रजसो मौनेनानवद्यभाषणेन वा 'हित्वा' त्यक्त्वा 'ते'अनवद्यभाषिणो 'निर्वाणं' मोक्षं प्राप्नुवन्तीति ॥२१॥ अपि च–निर्वृतिर्निर्वाणं तत्परमं प्रधानं येषां परलोकार्थिनां बुद्धानां ते तथा तानेव बुद्धान् निर्वाणवादित्वेन प्रधानानित्येतद् दृष्टान्तेन दर्शयति—यथा 'नक्षत्राणाम्' अश्विन्यादीनां सौम्यत्वप्रमाणप्रकाशकत्वैरधिकश्चान्द्रमाः, एवं परलोकार्थिनां बुद्धानां मध्ये ये स्वर्गचक्रवर्तिसंपन्निदानपरित्यागेनाशेषकर्मक्षयरूपं निर्वाणमेवाभिसंधाय प्रवृत्तास्त एव प्रधाना नापर इति, यदि वा-यथा नक्षत्राणां चन्द्रमाः प्रधानभावमनुभवति एवं लोकस्य निर्वाणं परमं प्रधानमित्येवं 'बुद्धा' अवगततत्त्वाः प्रतिपादयन्तीति, यस्माच्च निर्वाणं प्रधानं तस्मात्कारणात् 'सदा' सर्वकालं 'यतः' प्रयतः प्रयत्नवान् इन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन दान्तो 'मुनिः' साधुः 'निर्वाणमभिसंधयेत्' निर्वाणार्थं सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः ॥ २२ ॥ किञ्चान्यत्—संसारसागरस्रोतोभिर्मिथ्यात्वकषायप्रमादाऽऽदिकैः, 'उह्यमानानां' तदभिमुखं नीयमानानां तथा स्वकर्मोदयेन निकृत्यमानानामशरणानामसुमतां परहितकरतोऽकारणवत्सलस्तीर्थकृदन्यो वा गणधराऽऽचार्याऽऽदिकस्तेषामाश्वासभूतं 'साधुं' शोभनं द्वीपमाख्याति, यथा समुद्रान्तःपतितस्य जन्तोर्जलकल्लोलाऽऽकुलितस्य मुमूर्षोरतिश्रान्तस्य विश्रामहेतुं द्वीपं कश्चित्साधुवत्सलतया समाख्याति,

एवं तं तथाभूतं 'द्वीपं' सम्यग्दर्शनाऽऽदिकं संसारभ्रमणविश्रामहेतुं परतीर्थिकैरनाख्यातपूर्वमाख्याति, एवं च कृत्वा प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा–संसारभ्रमणविरतिलक्षणैषा सम्यग्दर्शनाऽऽद्यवाप्तिसाध्या मोक्षप्राप्तिः प्रकर्षेण तत्त्वज्ञैरुच्यते प्रोच्यत इति ॥ २३ ॥ किंभूतोऽसावाश्वासद्वीपो भवति ?, कीदृग्विधेन वाऽसावाख्यायत इत्येतदाह-(आयगुत्ते इत्यादि) मनोवाक्कायैरात्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तस्तथा सदा सर्वकालमिन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन दान्तो वश्येन्द्रियो धर्मध्यानध्यायी वेत्यर्थः । तथा छिन्नानि त्रोटितानि संसारस्रोतांसि येन स तथा-एतदेव स्पष्टतरमाह—निर्गत आश्रवः प्राणातिपाताऽऽदिकः कर्मप्रवेशद्वाररूपो यस्मात्स निराश्रवो य एवंभूतः स शुद्धं समस्तदोषापेतं धर्ममाख्याति । किंभूतं धर्मं ?–प्रतिपूर्णं निरवयवतया सर्वविरत्याख्यं मोक्षगमनकहेतुमनीदृशमनन्यसदृशमद्वितीयमिति यावत् ॥ २४ ॥

एवंभूतधर्मव्यतिरेकिणां दोषाभिधित्सयाऽऽह—

तमेव अविजाणंता, अबुद्धा बुद्धमाणिणो ।
बुद्धा मो त्ति य मन्नंता, अंत एते समाहिए ॥ २५ ॥
ते य बीओदगं चेव, तमुद्दिस्सा य जं कडं ॥
भोच्चा झाणं झियायंति, अखेयन्नाऽसमाहिया ॥ २६ ॥

(तमेवेत्यादि) तमेवंभूतं शुद्धं परिपूर्णमनीदृशं धर्ममजानाना अप्रबुद्धा अविवेकिनः पण्डितमानिनो वयमेव प्रतिबुद्धा धर्मतत्त्वमित्येवं मन्यमाना भावसमाधेः सम्यग्दर्शनाख्यादन्ते पर्यन्तेऽतिदूरे वर्तन्त इति,ते च सर्वेऽपि परतीर्थिका द्रष्टव्या इति ॥२५॥ किमिति ते तीर्थिका भावमार्गरूपात्समाधेर्दूरे वर्तन्त इत्याशङ्क्याऽऽह-(ते य बीओदगमित्यादि) ते च शाक्याऽऽदयो जीवाजीवानभिज्ञतया बीजानि शालिगोधूमाऽऽदीनि, तथा शीतोदकमप्राशु(सु)कोदकं,तांश्चोद्दिश्य तद्भक्तैर्यदाहारादिकं कृतं निष्पादितं तत्सर्वमविवेकितया ते शाक्याऽऽदयो भुक्त्वाऽभ्यवहृत्य पुनः सातर्द्धिरसगौरवाऽऽसक्तमनसः सङ्घभक्ताऽऽदिक्रियया तदवाप्तिकृते आर्तं ध्यानं ध्यायन्ति । नह्यैहिकसुखैषिणां दासीदासधनधान्याऽऽदिपरिग्रहवतां धर्मध्यानं भवतीति । तथा चोक्तम्—

" ग्रामक्षेत्रगृहाऽऽदीनां, गवां प्रेष्यजनस्य च ।
यस्मिन्परिग्रहो दृष्टो, ध्यानं तत्र कुतः शुभम् ? ॥१॥" इति ।

तथा—

"मोहस्याऽऽयतनं धृतेरपचयः शान्तेः प्रतीपो विधि—
र्व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं पापस्य वासो निजः ।
दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः,
प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ॥ १ ॥ "

तदेवं पचनपाचनाऽऽदिक्रियाप्रवृत्तानां तदेवं चानुप्रेक्षमाणानां कुतः शुभध्यानस्य संभव इति । अपि च–ते तीर्थिका धर्माधर्मविवेके कर्तव्ये अखेदज्ञा अनिपुणाः । तथाहि–शाक्या मनोज्ञाऽऽहारवसतिशय्याऽऽसनाऽऽदिकं रागकारणमपि शुभध्याननिमित्तत्वेनाध्यवस्यन्ति । तथा चोक्तम्–'मणुण्णं भोयणं भुच्चा ।' इत्यादि । तथा मांसं काक्षिकमित्युपदिश्य संज्ञान्तरसमाश्रयणान्निर्दोषं मन्यन्ते, बुद्धसङ्घाऽऽदिनिमित्तं चारम्भं निर्दोषमिति । तदुक्तम्–"मंसनिवत्तिं काउं,सेवइ दंतिक्कगं ति धणि भेया । इय चइऊणाऽऽरंभं,परववएसा कुणइ बालो ॥१॥" न चैतावता तन्निर्दोषता । न हि लूनाऽऽदिकं शीतालिकाऽऽद्यभि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धानान्तरमात्रेणान्यथात्वं भजते, विषं वा मधुरकाभिधानेनेति । एवमन्येषामपि कापिलाऽऽदीनामाविर्भावतिरोभावाभिधानाभ्यां विनाशोत्पादावभिधदतामनैपुण्यमाविष्करणीयम्, तदेवं ते वराकाः शाक्याऽऽदयो मनोज्ञोद्दिष्टभोजिनः सपरिग्रहतयाऽऽर्तध्यायिनोऽसमाहिता मोक्षमार्गाऽऽख्यात् भावसमाधेरसंवृततया दूरेण वर्तन्त इत्यर्थः ॥ २६ ॥

यथा चैते रससातागौरवतयाऽऽर्तध्यायिनो भवन्ति तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका सिही ।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥ २७ ॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया ।
विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा ॥ २८ ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः 'यथा' येन प्रकारेण 'ढङ्कादयः' पक्षिविशेषा जलाऽऽशयाऽऽश्रया आमिषजीविनो मत्स्यप्राप्तिं ध्यायन्ति, एवंभूतं च ध्यानमार्तरौद्रध्यानरूपतयाऽत्यन्तकलुषमधमं च भवतीति ॥ २७ ॥ दार्ष्टान्तिकं दर्शयितुमाह—एवमिति यथा ढङ्काऽऽदयो मत्स्यान्वेषणपरं ध्यानं ध्यायन्ति तद्ध्यायिनश्च कलुषाधमा भवन्ति एवमेव मिथ्यादृष्टयः श्रमणाः 'एके' शाक्याऽऽदयोऽनार्यकर्मकारित्वात्सारम्भपरिग्रहतया अनार्याः सन्तो विषयाणां-शब्दाऽऽदीनां प्राप्तिं ध्यायन्ति तद्ध्यायिनश्च कङ्का इव कलुषाधमा भवन्तीति ॥ २८ ॥

किञ्च—

सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मती ।
उम्मग्गगता दुक्खं, घायमेसंति तं तहा ॥ २९ ॥
जहा आसाविणिं नावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयति ॥ ३० ॥
एवं तु समणा एगे. मिच्छद्दिट्ठी अणारिया ।
सोयं कसिणमावन्ना, आगंतारो महब्भयं ॥ ३१ ॥
इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं ।
तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए ॥ ३२ ॥

'शुद्धम्' अवदातं निर्दोषं 'मार्गं' सम्यग्दर्शनाऽऽदिकं मोक्षमार्गं कुमार्गप्ररूपणया 'विराध्य' दूषयित्वा 'इह' अस्मिन्संसारे मोक्षमार्गप्ररूपणाप्रस्तावे वा 'एके' शाक्याऽऽदयः स्वदर्शनानुरागेण महामोहाऽऽकुलितान्तराऽऽत्मानो दुष्टा पापोपादानतया मतिर्येषां ते दुष्टमतयः सन्त उन्मार्गेण—संसारावतरणरूपेण गताः-प्रवृत्ता उन्मार्गगता दुःखयतीति दुःखम्-अष्टप्रकारं कर्माऽसातोदयरूपं वा तद्दुःखं घातं चान्तशस्ते तथा-सन्मार्गविराधनया उन्मार्गगमनं च 'एषन्ते' अन्वेषयन्ति, दुःखमरणे शतशः प्रार्थयन्तीत्यर्थः ॥२९॥ शाक्याऽऽदीनां चापायं दिदर्शयिषुस्तावद् दृष्टान्तमाह-यथा जात्यन्धः 'आस्राविणीं' शतच्छिद्रां नावमारुह्य पारमागन्तुमिच्छति, न चासौ सच्छिद्रतया पारगामी भवति, किं तर्हि ?, अन्तराल एव—जलमध्य एव विषीदति-निमज्जतीत्यर्थः ॥ ३० ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—एवमेव श्रमणा 'एके' शाक्याऽऽदयो मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः भावस्रोतः-कर्माऽऽश्रवरूपं 'कृत्स्नं' संपूर्णमापन्नाः सन्तस्ते 'महाभयं' पौनःपुन्येन संसारपर्यटनया नारकाऽऽदिस्वभावं दुःखम् 'आगन्तारः' आगमनशीला भवन्ति, न तेषां संसारोदधेरास्राविणीं नावं व्यवस्थितानामिवोत्तरणं भवतीति भावः ॥ ३१ ॥ यतः शाक्याऽऽदयः श्रमणाः मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः कृत्स्नं स्रोतः समापन्नाः महाभयमागन्तारो भवन्ति तत इदमुपदिश्यते इमामिति प्रत्यक्षाऽऽसन्नवाचित्वादिदमनन्तरं वक्ष्यमाणलक्षणं सर्वलोकप्रकटं च दुर्गतिनिषेधेन शोभनगतिधारणात् 'धर्मं' श्रुतचारित्राऽऽख्यं, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, स च पूर्वस्माद्व्यतिरेकं दर्शयति, यस्माच्छौद्धोदनिप्रणीतधर्मस्याऽऽदातारो महाभयं गन्तारो भवन्ति, इमं पुनर्धर्मम् 'आदाय' गृहीत्वा 'काश्यपेन' श्रीवर्धमानस्वामिना 'प्रवेदितं' प्रणीतं 'तरेत्' लङ्घयेद्भावस्रोतः संसारपर्यटनस्वभावं, तदेव विशिनष्टि-'महाघोरं' दुरुत्तरत्वान्महाभयानकं, तथाहि-तदन्तर्वर्तिनो जन्तवो गर्भाद्गर्भं जन्मतो जन्म मरणान्मरणं दुःखाद् दुःखमित्येवमरघट्टघटीन्यायेनानुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते। तदेवं काश्यपप्रणीतधर्माऽऽदानेन सता आत्मनस्त्राणं—नरकाऽऽदिरक्षा तस्मै आत्मत्राणाय परिः-समन्तात् (व्रजेत्) परिव्रजेत्संयमानुष्ठायी भवेदित्यर्थः, क्वचित्पश्चार्धस्यान्यथा पाठः-'कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए।' 'भिक्षुः' साधुः ग्लानस्य वैयावृत्त्यम् 'अग्लानः' अपरिश्रान्तः कुर्यात्सम्यक्समाधिना ग्लानस्य वा समाधिमुत्पादयन्निति ॥ ३२ ॥

कथं संयमानुष्ठाने परिव्रजेदित्याह—

विरए गामधम्मेहिं, जे केई जगई जगा ।
तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए ॥ ३३ ॥
अइमाणं च मायं च, तं परिन्नाय पंडिए ।
सव्वमेयं णिराकिच्चा, णिव्वाणं संधए मुणी ॥ ३४ ॥
संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे ।
उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं ण पत्थए ॥३५॥
जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया ।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा ॥ ३६ ॥

ग्रामधर्माः—शब्दाऽऽदयो विषयास्तेभ्यो विरता मनोज्ञेतरेष्वरक्ताद्विष्टाः सन्त्येके केचन 'जगति' पृथिव्यां संसारोदरे 'जगा' इति जन्तवो जीवितार्थिनस्तेषां दुःखद्विषामात्मोपमया दुःखमनुत्पादयन् तद्रक्षणे सामर्थ्यं कुर्यात्, तत् कुर्वंश्च संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति ॥ ३३ ॥ संयमविघ्नकारिणामपनयनार्थमाह—अतीव मानोऽतिमानश्चारित्रमतिक्रम्य यो वर्तते, चकारादेतद्देश्यः क्रोधोऽपि परिगृह्यते, एवमतिमायां, चशब्दादतिलोभं च, तमेवंभूतं कषायव्रातं संयमपरिपन्थिनं 'पण्डितो' विवेकी परिज्ञाय सर्वमेनं संसारकारणभूतं कषायसमूहं निराकृत्य निर्वाणमनुसन्धयेत्, सति च कषायकदम्बके न सम्यक् संयमः सफलतां प्रतिपद्यते। तदुक्तम्-"सामण्णमणुचरंत-स्स कसाया जस्स उक्कडा होंति। मण्णामि उच्छुपुप्फं,व निप्फलं तस्स सामण्णं॥१॥"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तन्निष्फलत्वे च न मोक्षसंभवः, तथा चोक्तम्—

" संसारादपलायनप्रतिभुवो रागाऽऽदयो मे स्थिता-
स्तृष्णाव-धनवध्यमानमखिलं किं वेत्सि नेदं जगत् ?।
मृत्यो ! मुञ्च जराकरेण परुषं केशेषु मा मा ग्रही-
रेहीत्यादरमन्तरेण भवतः किं नागऽऽमिष्याम्यहम् ? ॥१॥"

इत्यादि । तदेवमेवंभूतकषायपरित्यागादच्छिन्नप्रशस्तभावानुसंधनया निर्वाणानुसंधानमेव श्रेय इति ॥ ३४ ॥ किञ्च—साधूनां धर्मः क्षान्त्यादिको दशविधः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽख्यो वा तम् ' अनुसन्धयेत् ' वृद्धिमापादयेत् , तद्यथा—प्रतिक्षणमपूर्वज्ञानग्रहणेन ज्ञानं तथा शङ्काऽऽदिदोषपरिहारेण सम्यग्जीवाऽऽदिपदार्थाधिगमेन च सम्यग्दर्शनम् अस्खलितमूलोत्तरगुणसंपूर्णपालनेन प्रत्यहमपूर्वाभिग्रहग्रहणेन (च) चारित्रं (च) वृद्धिमापादयेदिति, पाठान्तरं वा-' सद्दहे साधुधम्मं च ' पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं साधुधर्मं मोक्षमार्गत्वेन श्रद्धधीत निःशङ्कतया गृह्णीयात्, चशब्दात्सम्यगनुपालयेच्च, तथा पापं पापोपादानकारणं धर्मं प्राण्युपमर्देन प्रवृत्तं निराकुर्यात् , तथोपधानं—तपस्तत्र यथाशक्त्या वीर्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्यः, तदेवंभूतो भिक्षुः क्रोधं मानं च न प्रार्थयेत् न वर्धयेद्वेति ॥ ३५ ॥ अथैवंभूतं भावमार्गं किं वर्धमानस्वाम्येवोपदिष्टवान् उतान्येऽपीत्येतदाशङ्क्याऽऽह–ये बुद्धाः–तीर्थकृतोऽतीतेऽनादिके कालेऽनन्ताः समतिक्रान्ताः ते सर्वेऽप्येवंभूतं भावमार्गमुपन्यस्तवन्तः, तथा ये चानागता भविष्यदनन्तकालभाविनोऽनन्ता एव तेऽप्येवमेवोपन्यसिष्यन्ति, चशब्दाद्वर्तमानकालभाविनश्च संख्येया इति । न केवलमुपन्यस्तवन्तोऽनुष्ठितवन्तश्चेत्येतद्दर्शयति—शमनं शान्तिः भावमार्गस्तेषामतीतानागतवर्तमानकालभाविनां बुद्धानां प्रतिष्ठानम्—आधारो बुद्धत्वस्यान्यथानुपपत्तेः, यदि वा-शान्तिः—मोक्षः स तेषां प्रतिष्ठानम्—आधारः, ततस्तदवाप्तिश्च भावमार्गमन्तरेण न भवतीत्यतस्ते सर्वेऽप्येनं भावमार्गमुक्तवन्तोऽनुष्ठितवन्तश्च [इति] गम्यते । शान्तिप्रतिष्ठानत्वे दृष्टान्तमाह-'भूतानां' स्थावरजङ्गमानां यथा 'जगती' त्रिलोकी प्रतिष्ठानम् , एवं ते सर्वेऽपि बुद्धाः शान्तिप्रतिष्ठाना इति ॥ ३६ ॥

प्रतिपन्नभावमार्गेण च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे ।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी ॥ ३७ ॥
संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
निव्वुडे कालमाकंखी, एवं (यं) केवलिणो मयं ॥३८॥

'अथ ' भावमार्गप्रतिपत्त्यनन्तरं साधुं प्रतिपन्नवतं सन्तं स्पर्शाः–परीषहोपसर्गरूपाः 'उच्चावचाः' गुरुलघवो नानारूपा वा ' स्पृशेयुः ' अभिद्रवेयुः, स च साधुस्तैरभिद्रुतः संसारस्वभावमपेक्षमाणः कर्मनिर्जरां च न तैरनुकूलप्रतिकूलैर्विहन्यात्, नैव संयमानुष्ठानान्मनागपि विचलेत् , किमिव ?, महावातेनेव महागिरिः–मेरुरिति। परीषहोपसर्गजयश्चाभ्यासक्रमेण विधेयः,अभ्यासवशेन हि दुष्करमपि सुकरं भवति। अत्र च दृष्टान्तः, तद्यथा–कश्चिद्गोपस्तदहर्जातं तर्णकमुत्क्षिप्य गवान्तिकं नयत्यानयति च , ततोऽसावनेनैव च क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि वत्समुत्क्षिपन्नभ्यासवशाद् द्विहायनं त्रिहायणमप्युत्क्षिपति, एवं साधुरप्यभ्यासात् शनैः शनैः परीषहोपसर्गजयं विधत्त इति ॥ ३७ ॥ साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुरुक्तशेषमधिकृत्याऽऽह–स साधुः एवं संवृताऽऽश्रवद्वारतया संवरसंवृतो महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञः–सम्यग्दर्शनज्ञानवान् , तथा धीः–बुद्धिस्तया राजत इति धीरः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यो वा स एवंभूतः सन् परेण दत्ते सत्याहाराऽऽदिके एषणां चरेत् त्रिविधयाऽप्येषणया युक्तः सन् संयममनुपालयेत्, तथा निर्वृत इव निर्वृतः कषायोपशमाच्छीतीभूतः " कालं ' मृत्युकालं ' यावदभिकाङ्क्षेत् 'एतत्' यत् मया प्राक् प्रतिपादितं तत् 'केवलिनः ' सर्वज्ञस्य तीर्थकृतो मतम् । एतच्च जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य सुधर्मस्वाम्याह । तदेतद्यत्त्वया मार्गस्वरूपं प्रश्नितं तन्मया न स्वमनीषिकया कथितं, किं तर्हि ?, केवलिनो मतमेतदित्येवं भवता ग्राह्यम् ॥३८॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। (अन्ययूथिकानां मार्गं प्रवेदयतीत्युक्तम् 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७२ पृष्ठे) (ऋज्वादिमार्गदृष्टान्तेन पुरुषचातुर्विध्यम् ' पुरिसजाय ' शब्दे पञ्चमभागे १०२२ पृष्ठे उक्तम्) । आकाशे, भ० ७ श० २ उ० । गौणानुज्ञायाम् , नं० ।

मग्ग–त्रि० । त्रुटिते , अष्ट० ।

तत्र नामस्थापने सुगमे , द्रव्येण धनमदिरापानाऽऽदिना मग्नः द्रव्यात् धनकाञ्चनात् मग्नः द्रव्ये शरीराऽऽदौ मग्नः । अथवा—द्रव्यरूपो मग्नो द्विधा—आगमतः मग्नपदार्थज्ञाता अनुपयुक्तः , नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरे पूर्ववत् , तद्व्यतिरिक्तस्तु मूढः शून्यः जडः । भावमग्नो द्विविधः–अशुद्धः, शुद्धश्चेति । तत्र अशुद्धः क्रोधाऽऽदिमग्नः विभावभाविताऽऽत्मा। शुद्धः द्विविधः–साधकः, सिद्धश्च । तत्र साधकः वस्तुस्वरूपाभिमुखः आद्यनयचतुष्टये तु निरनुष्ठानदग्धाऽऽदिदोषवर्जितविध्युपेतद्रव्यसाधनप्रवृत्तिपरिणतवस्तुस्वरूपसाधनरुचिवतः भवति । शब्दाऽऽदिनयमग्नस्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मसमाधिमग्नः संपूर्णवस्तुस्वरूपे निरावरणे मग्नः निष्पन्नः । अत्र हि गुणस्थानाऽऽदिविशुद्धस्वस्वरूपाऽऽनन्दमग्नत्वमीद्यते–तत्र मग्नलक्षणं गदन्नाह—

प्रत्याहृत्येन्द्रियव्यूहं, समाधाय मनो निजम् ।
दधच्चिन्मात्रविश्रान्ति–र्मग्न इत्यभिधीयते ॥ १ ॥

प्रत्याहृत्येन्द्रिय इति । इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणां, यो व्यूहः समूहस्तं प्रत्याहृत्य प्रत्याहारं कृत्वा , विषयसंसारतो निवार्य, " प्रत्याहारस्त्वीन्द्रियाणां विषयेभ्यः समाहृतिः " इति वचनात् । निजं स्वीयं मनः , चेतनावीर्यैकत्वविकल्परूपं समाधाय समाधौ स्थापयित्वा विषयनिरोधम् आत्मद्रव्यैकाग्रतारूपं कृत्वा,"समाधिस्तु तदेवार्थमात्राभासनपूर्वकम् ।" आत्मस्वरूपभासनैकत्वरूपसमाधिः , तत्र मनः कृत्वा, चिन्मात्रे ज्ञानमात्रे आत्मनि, मुख्यतः दर्शनज्ञानमय एव आत्मा, " उवउत्तो नाणदंसणगुणेहिं " इति वाक्यात् । ज्ञानस्वरूपे स्वद्रव्यं विश्रान्तिं दधत् मग्न इति अभिधीयते कथ्यते, इत्यनेन अनादितः अयं जीवः पुद्गलस्कन्धजवर्णगन्धरसस्पर्शरसाऽऽदिषु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनोज्ञेषु स्वजनाऽऽदिषु च भ्रमन् विकल्पकोटिकोटिं प्राप्त इष्टान् विषयान्निच्छन् अनिष्टान् विषयान् अनिच्छन् वातोद्धूतशुष्कपलाशवत् भ्रमति । कदाचित् स्वपरविवेकरूपं भेदज्ञानं प्राप्य अनन्तज्ञानदर्शनाऽऽनन्दमयं स्वीयं भावं स्वत्वतया निर्धार्य इदं विषयसङ्गाऽऽदिकं न मम नाहम् अस्य भोक्ता उपाधिरेव एषः, न हि मम कर्तृत्वं भोक्तृत्वं ग्राहकत्वं च, परवस्तूनां मया हि स्वरूपभ्रष्टेनेदं विहितं, साम्प्रतं जिनाऽऽगमाञ्जनेन जातस्वपरविवेकेन तेषु रमणाऽऽस्वादनं न युक्तम् इति विचार्य स्वरूपानन्तस्वभावगुणपर्यायस्याद्वादानन्ताऽऽत्मनि विश्रान्तिं प्राप्त, आत्मानन्ताऽऽनन्दसम्पन्नमयं ज्ञात्वा, परमात्मसत्तास्वरूपे मग्नः भवति, स मग्नः अभिधीयत इति ॥ १ ॥

य आत्मानुभवमग्नः स कीदृग् भवति ?, तदाह—

यस्य ज्ञानसुधासिन्धौ, परब्रह्मणि मग्नता ।
विषयान्तरसंचार–स्तस्य हालाहलोपमः ॥ २ ॥

यस्येति—यस्य जीवस्य अनादिविभावविरतस्य ज्ञानसुधासिन्धौ परब्रह्मणि ज्ञानामृतसमुद्ररूपे परमात्मसमाधौ मग्नस्य तस्य जीवस्य विषयान्तरे वर्णगन्धाऽऽदौ संचारः प्रवर्त्तनं हालाहलोपमः—महाविषभक्षणतुल्यः । यो हि अमृतस्वादमग्नः स विषमविषं भोक्तुं कथं प्रवर्त्तते ?, मालतीभोगमग्नः मधुकरः करीराऽऽदिषु न वसति, एवं शुद्धनिःसङ्गनिरामयनिर्द्वन्द्वस्वीयाऽऽत्मज्योतिर्मग्नः अनन्तजीवेष्टेषु स्वयम् अनन्तवारभुक्तमुक्तेषु, वस्तुतः अभोग्येषु स्वगुणाऽऽवरणहेतुभूतेषु विषयेषु, तस्य मनः न संचरति न प्रवर्त्तते इति तत्त्वम् ॥ २ ॥

पुनस्तदेव द्योतयति—

स्वभावसुखमग्नस्य, जगत्तत्त्वावलोकिनः ।
कर्तृत्वं नान्यभावानां, साक्षित्वमवशिष्यते ॥ ३ ॥

"स्वभावसुख इति ।" 'स्वभावं' सहजं सुखं सहजाऽऽत्यन्तिकैकान्ताऽऽनन्दं तत्र 'मग्नस्य' तन्मयस्य, 'जगत्' लोकः तस्य तत्त्वं तद्धर्मं, यथार्थतया विलोकिनः दर्शनशीलस्य पुरुषस्य, अन्यभावानां परभावानां रागाऽऽदिविभावानां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मणां बाह्यस्कन्धादाननिक्षेपाणां कर्तृत्वं न, किंतु ज्ञायकस्वभावत्वात्, साक्षित्वमेव, तत्र कर्तृत्वम् एकाधिपत्ये क्रियाकारित्वं, तत्, जीवे जीवगुणानामेव, चेतनवीर्योपकरणकारकचक्रोपकरणेन । यतो हि एकाधिपत्यक्रियाशून्यत्वेन धर्माऽऽदिद्रव्येषु न कर्तृत्वं, जीवस्यापि कर्तृत्वं स्वकार्यस्य । न हि जीवः कोऽपि जगत्कर्त्ता, किं तु स्वकीयपरिणामिकगुणपर्यायप्रवृत्तेरेव कर्त्ता न, परभावानां तु कर्तृत्वे असंदारोपसिध्यभावाऽऽदयो दोषाः, ज्ञाता लोकालोकस्य, अत एव नायं परभावानां कर्त्ता, किं तु स्वभावमूढोऽशुद्धपरिणतिपरिणतः। अशुद्धनिश्चयेन रागाऽऽदिविभावस्य, अशुद्धव्यवहारेण ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मणां कर्त्ता जातोऽपि स एव सहजसुखरुचिरनन्ताविनाशिस्वरूपसुखमयमात्मानं ज्ञात्वा, आत्मीयपरमाऽऽनन्दभोगी, न परभावानां कर्त्ता भवति, किंतु ज्ञापक एव। अत्र प्रस्तावना, अयं हि आत्मा स्वनिःसपत्नर-ज्ञाङ्गितया स्वीयविशेषस्वभावानां स्वगुणकरणेन सत्प्रवृत्तिमतामपि स्वगुणकरणाऽऽवरणेन ज्ञानचेतनावीर्याऽऽदिक्षयोपशमानां च परानुयायिनां तत्सहकारेण कर्तृत्वाऽऽदिपरिणामानां परकर्तृत्वाऽऽदिविभावपरिणमनेन परकर्तृत्वे जातेऽपि तेषामेव गुणानां स्वभावसंमुखीभवने कर्तृत्वाऽऽदीनां परावृत्तिः, तेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतेः स्वरूपसाधनकर्तृत्वाऽऽदि कुर्वन्, गुणकरणैः पूर्णैः साधनकर्तृत्वं विधाय गुणप्रवृत्तिरूपं शुद्धं कर्तृत्वाऽऽदिकं करोति, अत एव साधकानां सन्मुनीनां स्वरूपसंमुखानां न परभावकर्तृत्वम् इति, किं तु ज्ञायकत्वमेव अत्र पक्षः, तर्हि मुनीनां परभावाकर्तृत्वे उक्ते हेतुद्वयजन्यकर्मकर्तृता कुतः?, तत्राऽऽह—स्वस्वभावमग्नानां साधकमुनीनाम् अनभिसंधिजवीर्यं तदनुगतचेतनता कर्मबन्धकर्तृत्वमस्ति, तथापि स्वाऽऽयत्ताभिगुणप्रवृत्तीनां स्वभावानुगतत्वात् अकर्तृत्वम्, अथवा—एवंभूतसिद्धत्वाऽऽस्वादाऽऽनन्दमग्नानां तु न परभावकर्तृता। अथवा—सम्यग्दर्शनाऽऽदिगुणप्राप्तौ वस्तुस्वरूपविवरणेन स्वरूपानुगतस्वशक्तित्वेन आत्मनः परभावकर्तृत्वं नास्त्येव, ज्ञायकत्वमेवेति। अतः स्वरूपरसिकानां सर्वभावज्ञापकत्वं कर्तृत्वं स्वपरिणामिकभावस्य, अतः स्वाऽऽत्मानम् एकान्ते निवेश्य, अनादिभ्रान्तिजं परभावकर्तृत्वभोक्तृत्व ग्राहकत्वाऽऽदिकं निवारणीयं स्वरूपाखण्डाऽऽनन्दकर्तृत्वाऽऽदिकं करणीयम्। इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

परब्रह्मणि मग्नस्य, श्लथा पौद्गलिकी कथा ।
क्वामी चामीकरोन्मादाः, स्फारा दाराऽऽदराः क्व च ॥४॥

परब्रह्मणीति—परब्रह्मणि परमाऽऽत्मनि मग्नस्य तन्मयस्य स्वरूपावलोकनरमणरक्तस्य, पौद्गलिकी पुद्गलसंबन्धिनी कथा नाम वार्त्ता, 'श्लथा' शिथिला इत्यर्थः । परत्वेन अग्राह्यत्वेन अभोग्यत्वेन निर्धारात् यस्य कथाऽपि श्लथा तस्य ग्रहः कुतो भवति ?, अत एव अमी चामीकरोन्मादाः तस्य क्व शुद्धाऽऽत्मगुणसंपद्वतां चामीकरग्रह एव न; परत्वात्; पापस्थानहेतुत्वात् कुत उन्मादः ?, च पुनः स्फारा देदीप्यमानाः दाराः वनिता तस्या आदराः क्व ? इति कुतः, नैवेति । स्वभावसुखभोगिनां पौद्गलिकभोग एव न तर्हि मोघा कुरागपटी अशुद्धविभावनटी दाराकदी तत्राऽऽदरः कथं भवति ?, नैवेति। इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

तेजोलेश्याविवृद्धिर्या, साधोः पर्यायवृद्धितः ।
भाषिता भगवत्पादैः; सेत्थंभूतस्य युज्यते ॥ ५ ॥

तेजोलेश्या, इति–तेजोलेश्या चित्तसुखलाभलक्षणा ज्ञानाऽऽनन्दाऽऽस्वादाऽऽश्लेषरूपा तस्याः विवृद्धिः विशेषतः वर्द्धना, साधोः निर्ग्रन्थस्य, पर्यायवृद्धितः चारित्रपर्यायविवृद्धितः, भगवत्पादैः भाषिता उक्ता, भगवत्यादौ पञ्चमाङ्गे सा निर्मलसुखाऽऽस्वादरूपा, इत्थंभूतस्य, आत्मज्ञानमग्नस्य रत्नत्रयैकत्वलीलामयस्य वाचंयमस्य युज्यते–घटते नान्यस्य मन्दसंवेगिनः । अत्र प्रस्तावना, तत्र प्रथमं संयमस्वरूपमुच्यते–आत्मनि चारित्रनामगुणः अनन्तपर्यायोपेतानन्ताविभागरूपः अस्ति । तथा च विशेषाऽऽवश्यके-दानादिलब्धिपञ्चकं चारित्रं सिद्धस्यापीच्छन्ति, तदावरणस्य तत्राप्यभावात्, आवरणाभावे च तदसत्त्वे क्षीणमोहाऽऽदिष्वपि तदसत्त्वप्रसङ्गात् ततस्तन्मते चारित्राऽऽदीनां सिद्धावस्थायां सद्भावः । चारित्रं च चारित्रमो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हावृतं तच्च तत्त्वश्रद्धासम्यग्ज्ञानपूर्णाऽऽनन्देहाऽऽविर्भावपश्चात्तापाऽऽदित्तयोपशमावस्थागतं च चारित्रमोहपुद्गलेषु उदयप्राप्तेषु भुक्तेषु अनुदितेषु विष्कम्भितेषु केषाञ्चित् प्रदेशभोगितां नीतेषु चारित्रगुणविभागानाम् आविर्भावो भवति, तत्र सर्वजघन्यसंयमस्थाने सर्वाऽऽकाशप्रदेशानन्तगुणतुल्यचारित्रपर्यायप्राग्भावः प्रथमं संयमस्थानम्।"ते कित्तिया पएसा,सव्वाऽऽगासस्स मग्गणा होइ। ते तित्तिया पएसा,अविभागाओ अणंतगुणा।१।"प्रथमं संयमस्थानं सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धस्थानतः अनन्तगुणविशुद्धं,द्वितीयं संयमस्थानं प्रथमस्थानात् अनन्ततमे भागे यावन्तः अविभागाः तावन्तः अविभागवृद्धौ भवन्ति,एवं तृतीयम्,एवं चतुर्थम् एवमनन्तभागवृद्ध्या अङ्गुलमात्राऽऽकाशक्षेत्रस्य अङ्गुलासंख्यभागाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणसमानि स्थानानि भवन्ति,इदं प्रथमं कण्डकम्। ततः परम् असंख्यातभागवृद्धिरूपं द्वितीयं कण्डकम्। प्रथमं संयमस्थानं प्रथमं कण्डकं,चरमसंयमस्थाने तावन्तो विभागाः,तेषाम् असंख्याततमे भागे यावन्तः अविभागास्तावन्तोऽधिकाः क्षयोपशमा भवन्ति, तद् द्वितीये कण्डके प्रथमं संमयस्थानं,ततः असंख्येयानि स्थानानि अनन्तभागवृद्धिरूपाणि असंख्यभागप्रदेशराशिप्रमाणानि द्वितीयं कण्डकम्। ततः परम् एकम् असंख्यातभागवृद्धिरूपं पुनः असंख्येयानि अनन्तभागवृद्धिरूपाणि तृतीयं कण्डकं,तत एकम् असंख्यातवृद्धिरूपम्,एवम् अनन्तभागान्तरिताङ्गुलासंख्येयभागमात्रम् असंख्यभागवृद्धिरूपम् अङ्गुलासंख्येयभागकण्डकमानस्थानरूपं द्वितीयं स्थानम्। ततः संख्यातभागवृद्धिरूपं प्रथमं संयमस्थानम्। ततः पुनः अनन्तभागवृद्धिरूपाणि असंख्येयानि, ततः पुनः एकम् असंख्यभागवृद्धिरूपं, ततः असंख्येयानि अनन्तभागवृद्धिरूपाणि, एवम् अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्यभागप्रदेशमानकण्डकेषु गतेषु एकं संख्यातभागवृद्धिरूपं स्थानम्, एवमङ्गुलासंख्येयभागतुल्यानि संख्येयभागवृद्धिस्थानानि गतानि, एवं संख्यातगुणवृद्ध्यसंख्यातगुणवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरूपाणि असंख्येयानि संयमस्थानानि भवन्ति। ततः परं स्थानमसंख्येयगुणसंयमस्थानमानं भवति एकान्तरं तानि असंख्येयानि अनन्तभागवृद्धिरूपाणि संयमस्थानानि भवन्ति। सर्वसंयमस्थानसंख्यालोकसमानाः अलोके असंख्येयाऽलोकाऽऽकाशाः कल्प्यन्ते, तावत्प्रदेशराशितुल्यानि संयमस्थानानि भवन्ति उत्तरोत्तरनिर्मलानि। आदितः अनुक्रमसंयमस्थानाऽऽरोही नियमात् शिवपदं लभते प्रथमम् एव उत्कृष्टमध्यमसंयमस्थानाऽऽरोही नियमात् पतति। एवं प्रथमस्थानतः अनुक्रमेण संयमक्षयोपशमी तस्य चारित्रपर्यायनिर्मलत्वेन चारित्रसुखस्वरूपं भगवतीवाक्यम्। आलापश्च भगवत्याम्-"जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एएण कस्स तेऊलेसं वीतीयंति ?। गोयमा ! मासपरियाए समणे निग्गंथे वाणमंतराणं देवाणं तेऊलेसं वीतीवयंति। दुमासपरिआए समणे णिग्गंथे असुरिंदवज्जिआणं भवणवासीणं तेऊलेसं वीतीवयंति। एएलं अभिलावेणं तिमासपरिआए समणे णिग्गंथे असुरकुमाराणं देवाणं तेऊलेसं वीतीवयंति। चउमासपरिआए गहगणणक्खत्ततारारूवाणं जोइसिआणं तेऊलेसं वीतीवयंति। पंचमासपरिआए चंदिमसूरियाणं जोइसियाणं तेऊलेसं वीतीवयंति। छम्मासपरिआए सोहम्मीसाणाणं तेऊले०। सत्तमासपरिआए सणंकुमारमाहिंदाणं तेऊले०। अट्ठमासपरिआए बंभलोगाणं लंतगाणं तेऊलेसं वीतीवयंति। णवमासपरिआए महासुक्कसहस्साराणं देवाणं तेऊ०। दसमासपरिआए आणय-पाणयआरणच्चुयाणं देवाणं तेऊ०। इक्कारसमासपरिआए गेविज्जविमाणाणं देवाणं तेऊ०। बारसमासपरिआए समणे निग्गंथे अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं तेऊलेसं वीतीवयंति, तेण परं सुक्के सुक्काभिजाइए भवइ। तओ पच्छा सिज्झति० जाव अन्तं करेति, सेवं भंते !।"अस्य टीकायां लेश्याप्रक्रमादिदमाह-"जे इमे" इत्यादि। ये इमे प्रत्यक्षाः "अज्जत्ताए त्ति," आर्यतया-पापकर्मबहिर्भूततया, अद्यतया अधुनातनतया, वर्त्तमानकालतया इत्यर्थः। 'तेऊलेसंति' तेजोलेश्या सुखासिका, तेजोलेश्या हि प्रशस्तलेश्योपलक्षणं, सा च—सुखासिकाहेतुरिति कारणे कार्योपचारात् तेजोलेश्याशब्देन सुखासिका विवक्ष्यते, 'वीतीवयंति' व्यतिव्रजन्ति व्यतिक्रामन्ति। 'असुरिंदवज्जियाणं ति' चमरबलिवर्जितानां 'तेण परं' ततः परं, ततः संवत्सरात्परतः, 'सुक्केति' शुक्लो नामाभिन्नवृत्तोऽमत्सरी,कृतज्ञः,सदारम्भी,हितानुबन्धी,निरतिचारचरण इत्यन्ये, "सुक्काभिजाति त्ति" शुक्लाभिजात्यं परमशुक्लमित्यर्थः, अत एवोक्तम् आकिञ्चन्यं, मुख्यं ब्रह्मातिपरं, सदागमं विशुद्धं सर्वशुक्लमिदं खलु नियमात्, संवत्सरादूर्ध्वम् एतच्च श्रमणविशेषमेवाऽऽश्रित्योच्यते, न पुनः सर्व एवंविधो भवति, अत्र मासपर्यायेति संयमश्रेणिगतसंयमस्थानानां मासाऽऽदिपर्यायगतसंयमभावोल्लङ्घनेन तत्प्रमाणसंयमस्थानोल्लङ्घी मुनिर्ग्राह्य इति। अत्र परम्परासंप्रदायः—जघन्यतः उत्कृष्टं यावत् असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रमाणेषु संयमस्थानेषु क्रमाक्रमवर्त्तिनिर्ग्रन्थेषु मासतः द्वादशमाससंयमप्रमाणसंयमस्थानोल्लङ्घनोपरितने वर्त्तमानः साधुरीदृग्देवतातुल्यं सुखम् अतिक्रम्य वर्त्तते इति ज्ञेयम्। उक्तं च-"मासाऽऽदिपर्यायवृद्ध्या, द्वादशभिः परं तेजः। प्राप्नोति तत्र चारित्री, सर्वदेवेभ्य उत्तमम् ॥ १ ॥" धर्मविदस्तेजश्चित्सुखलाभलक्षणं वृत्तौ इत्येवम् आत्मसुखवृद्धिः आत्मज्ञानमग्नस्य भवति ॥ ५ ॥

ज्ञानमग्नस्य यच्छर्म, तद्वक्तुं नैव शक्यते।
नोपमेयं प्रियाऽऽश्लेषै-र्नापि तच्चन्दनद्रवैः ॥ ६ ॥

ज्ञानमग्नस्येति-ज्ञानमग्नस्य आत्मसुखोपलब्धियुक्तस्य, यत् शर्म सुखं स्पर्शज्ञानानुभवाऽऽनन्दं तत् वक्तुं नैव शक्यते, अतीन्द्रियत्वात् वागगोचरत्वात्, तद् अध्यात्मसुखं प्रिया मनोज्ञेष्टवनिता तस्या—आश्लेषैः, आलिङ्गनैः, तथा चन्दनद्रवैः चन्दनविलेपनैर्नोपमीयते। यतः स्रक्चन्दनाऽऽदिजं सुखं वस्तुतः न सुखम्, आत्मसुखभ्रष्टैः सुखबुद्ध्या आरोपितं, लोके पुद्गलसंयोगजम् आरोपसुखं, जात्या दुःखमेव। उक्तं च विशेषाऽऽवश्यके—

"जत्तो च्चिअ पच्चक्खं, सोम्म ! सुहं नत्थि दुक्खमेवेदं।
तप्पडियारविभत्तं, तो पुरणफलंति दुक्खं ति ॥ २००५ ॥
विसयसुहं दुक्खं च्चिय, दुक्खप्पडियारउ त्तिगिच्छि व्व।
तं सुंदरमुवयारओ,न उवयारो विणा तच्चं ॥२००६॥ (विशे०)
सायाऽसायं दुक्खं, तव्विरहम्मि य सुहं जओ तेणं।
देहेंदिएसु दुक्खं, सुक्खं देहिंदियाभावो ॥ २०११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(एतासां गाथानां व्याख्या 'णिव्वाण' शब्दे चतुर्थभागे २१२५ पृष्ठे गता)

उक्तं च—

" औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा,
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय,
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवाऽऽतपत्रम् ॥ १ ॥ " इति।

तस्मात् संसारः सर्वदुःखस्वरूप एव, स्वाभाविकाऽऽनन्द एव सुखं, यावत् इन्द्रियसुखे सुखबुद्धिः तावत् सम्यग्दर्शनज्ञाने न मग्नः, इति तत्त्वार्थवृत्तौ, अतः अध्यात्मसुखं पुद्गलाऽऽश्लेषजसुखेन नोपमीयते ॥ ६ ॥

शमशैत्यपुषो यस्य, विप्रुषोऽपि महाकथा।
किं स्तुमो ज्ञानपीयूषे, तत्र सर्वाङ्गमग्नता ? ॥ ७ ॥

शमशैत्यपुष इति-शम उपशमः रागद्वेषाभावः, तत्त्वाऽऽस्वादकत्वम् आत्मनि निर्धार्य इष्टानिष्टे वस्तुनि रागाऽऽदीनां शान्तिः, न हि रागाऽऽदयो वस्तुपरिणामाः, किन्तु विभावजा अशुद्धा भ्रान्तिपरिणतिः, न हि पुद्गलाऽऽदीनां शुभाशुभपरिणतिः कस्यापि जीवस्य निमित्ता, किन्तु पूरणगलनपारिणामिकत्वेन, अथवा-वर्णाऽदिकर्मविपाकाद्वा। तत्र रागद्वेषकृता तु भ्रान्तिरेव। उक्तं च-" कणगो लोहो न भणइ, रागो दोसो कुणंतु मज्झ तुमं। नियतत्तविलुत्ताणं, एस अणाई अपरिणामो ॥१॥" स्वरूपस्य स्वाऽऽयत्तत्वात् स्वभोग्यत्वात् परवस्तुसंयोगवियोगाभ्यामिष्टानिष्टतोपाधिः। एवं शमस्य शैत्यं शीतलत्वम् अतप्तत्वं, तस्य 'पुषः' पोषकस्य यस्य पुरुषस्य शमशैत्यपुषः विप्रुषः विन्दुमात्रस्यापि महाकथा महावार्त्ता, शमशैत्यविन्दुरपि दुर्लभः, यस्य ज्ञानपीयूषे तत्त्वज्ञानामृते सर्वाङ्गमग्नता तत्र तस्मिन् स्थाने किं स्तुमः किं वर्णयामः?, तस्य वर्णनं कर्त्तुम् असमर्था, वयमिति। यो हि स्वरूपज्ञानानुभवः सः अतिप्रशस्यः। उक्तं च—

" लब्भइ सुरसामित्तं, लब्भइ पहुअत्तणं न संदेहो।
इक्को नवरि न लब्भइ, जिणिंदवरदेसिओ धम्मो ॥ १ ॥
धम्मो पवित्तिरूवो, लब्भइ कइया वि निरयदुक्खभया।
जो नियवत्थुसहावो, सो धम्मो दुल्लहो लोए ॥ २ ॥
निअवत्थुधम्मसवणं, दुलहं वुत्तं जिणिंदिआण सुहं।
तप्फासणमेगत्तं, हुंति हु केसिं च धीराणं ॥ ३ ॥"

अतः वस्तुस्वरूपधर्मस्पर्शनेन परमशीतीभूतानां परमपूज्यत्वमेव ॥ ७ ॥

यस्य दृष्टिः कृपावृष्टिः, गिरः शमसुधाकिरः।
तस्मै नमः शुभज्ञान-ध्यानमग्नाय योगिने ॥ ८ ॥

'यस्येति' तस्मै शुभज्ञानध्यानमग्नाय योगिने नमः, शुभं नाम शुद्धं यथार्थपरिच्छेदनं, भेदज्ञानविभक्तस्वपरत्वेन स्वस्वरूपैकत्वानुभवः, तन्मयत्वं ध्यानं तत्र मग्नाय, तस्मै योगिने मनोवाक्कायरोधकाय, रत्नत्रयाभ्यासशुद्धसाध्यसंसाधकाय नमः। कस्य ?, यस्य दृष्टिः कृपावृष्टिः परमकरुणावर्षिणी, यस्य गिरः वाचां समूहः शमसुधाकिरः क्रोधाऽऽदिपरित्यागः शमः, स एव सुधा अमृतं, तस्याः किरः किरणं सेवनं (यस्य) तच्छीला दृष्टिः कृपामयी वाक् शमताऽमृतमयी, तस्मै योगिने नम इति। अत्र भावना-अनादिमिथ्यात्वासंयमकषाययोगचापलयविध्वस्ताऽऽत्मस्वभावानाम्, इष्टानिष्टपरभावग्रहणाग्रहणरसिकत्वेन तत्प्राप्त्यप्राप्तौ रत्यरत्यशुद्धाध्यवसायमग्नानां जीवानां कुतः स्वरूपमग्नता ?, अतः शङ्काऽऽद्यतिचारवियुक्तावाप्तदर्शनो हि जीवः शुद्धाऽऽशयः, त्रिभुवनमप्युपहतमोहमहेन्धनज्वलितकर्मदहनक्वथ्यमानमशरणमवलोक्य गुणाऽऽवरणाद् दुःखोद्विग्नः निर्धारिततत्त्वश्रद्धानः आश्रवनिवृत्तिसंवरैकत्वप्रतिज्ञामारुह्य दृढीकरणार्थं पञ्चविंशतिभावनाभावितान्तरात्मा द्वादशानुप्रेक्षास्थिरीकृताध्यवसायः, पूर्वकर्मनिर्जराभिनवाग्रहणाऽऽविर्भावभूतस्वरूपसंपदानुभवमग्नाः सुखिनः, अत एवाऽऽगमश्रवणविभावविरतितत्त्वावलोकनतत्त्वैकाग्रताऽऽद्युपायैः स्वरूपानुभवमग्नत्वम् एव कार्यं, संसारे कर्मक्लेशसततत्वमवगम्य संसारोद्विग्नेन विरागमार्गानुगप्रवर्त्तिना आत्मस्वरूपाऽविर्भावहेतुषु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तितव्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥ अष्ट० २ अष्ट०।

मग्गओ—मार्गतस्—अव्य०। पश्चादित्यर्थे, "मग्गओ पच्छा" (६६४) पाइ० ना० २७४ गाथा। " अतो डो विसर्गस्य " ॥८।१। ३७॥ इति विसर्गस्य डो इत्यादेशः। प्रा० १ पाद। पृष्ठतः इत्यर्थे, भ० ६ श० ५ उ०। आ० चू०।

मग्गओपडिवद्ध—मार्गतःप्रतिबद्ध—त्रि०। स्था० ३ ठा० २ उ०। (अर्थस्तु 'पव्वज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७३० पृष्ठे गतः)

मग्गंतराय—मार्गान्तराय—पुं०। मोक्षाध्वप्रवृत्ततद्विघ्नकरणे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

मग्गगामि(ण्)—मार्गगामिन्—पुं०। कल्याणप्रापकपथयायिनि, उत्त० २५ अ०। यो० विं०। द्वा०।

मग्गज्झयण—मार्गाध्ययन—न०। भावमार्गप्रतिपादके सूत्रकृताङ्गस्यैकादशेऽध्ययने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। आ० चू०।

मग्गण—मार्गण—न०। मार्ग्यतेऽनेनेति मार्गणम्। अन्वयधर्मपर्यालोचनतोऽन्वेषणे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। आभोगनं मार्गणं मोषणमिति ह्येकार्थाः। उक्तं च-"आभोगणं ति वा मग्गणं ति वा मोसणं ति वा एगट्ठं" व्य० २ उ०। औ०। आ० चू०। मार्गणमन्वयधर्माऽऽलोचनं, यथा-स्थाणौ निश्चेतव्ये इह वल्ल्युत्सर्पणाऽऽदयः स्थाणुधर्मा घटन्त इति। औ०। प्रश्न०। सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव तदूर्ध्वमन्वयव्यतिरेकधर्मान्वेषणे, नं०। "तत्थ वियालणं ति वा मग्गणं ति वा ईहणं ति वा एगट्ठं। " आ० चू० १ अ०। भ०। " कणओ सिलीमुहो म—ग्गणो इसू सायओ सरो विसिहो (५१) " पाइ० ना० ३६ गाथा।

मग्गणट्ठाण—मार्गणास्थान—न०। जीवाऽऽदीनां पदार्थानामन्वेषणं मार्गणा, तस्याः स्थानान्याश्रया मार्गणास्थानानि। गत्यादिषु, प्रव० २२४ द्वार।

अत्र चेयं मार्गणास्थानप्रतिपादिका बृहद्बन्धस्वामित्वगाथा—

"गइ इंदिए य काए, जोए वेए कसाए नाणे य।
संजम दंसण लेसा, भव संमे सन्नि आहारे ॥ १ ॥ "

तत्र गतिश्चतुर्धा-नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरिति। इन्द्रियं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रभेदात्पञ्चधा, इन्द्रियग्रहणेन च तदुपलक्षिता एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिया गृह्यन्ते। कायः षोढा-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात्। योगः पञ्चदशधा-सत्यमनोयोगः, असत्यमनो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगः,सत्यासत्यमनोयोगः,असत्यामृषामनोयोगः,सत्यवाग्योगः, असत्यवाग्योगः,सत्यासत्यवाग्योगः, असत्यामृषावाग्योगः,वैक्रियकाययोगः,आहारककाययोगः, औदारिककाययोगः, वैक्रियमिश्रकाययोगः,आहारकमिश्रकाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः,कार्मणकाययोग इति । वेदस्त्रिधा-स्त्रीवेदः, पुरुषवेदो, नपुंसकवेदश्च । कषायाः क्रोधमानमायालोभाः। ज्ञानं पञ्चधा-मतिज्ञानं, श्रुतज्ञान-मवधिज्ञानं,मनःपर्यायज्ञानं,केवलज्ञानं च। ज्ञानग्रहणेन चाज्ञानमपि तत्प्रतिपक्षभूतमुपलक्ष्यते, तच्च त्रिविधम्-मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति । ज्ञानमार्गणास्थानमष्टधा । संयमश्चारित्रं तत्पञ्चधा-सामायिकं छेदोपस्थापनं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातं च संयमग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतो देशसंयमोऽसंयमश्च सूच्यत इति संयमः सप्तधा। दर्शनं चतुर्विधम् चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं च। लेश्या षोढा—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या । भव्यः तथाविधानादिपारिणामिकभावात् सिद्धिगमनयोग्यो, भव्यग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतोऽभव्योऽपि गृह्यते । सम्यक्त्वं त्रिधा—क्षायोपशमिकमौपशमिकं क्षायिकं च, सम्यक्त्वग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रं च परिगृह्यते। संज्ञी विशिष्टस्मरणाऽऽदिरूपमनोविज्ञानसहितेन्द्रियपञ्चकसमन्वितः, तत्प्रतिपक्षभूतः सर्वोऽप्येकेन्द्रियाऽऽदिरसंज्ञी, सोऽपि संज्ञिग्रहणेन सूचितो द्रष्टव्यः । आहारयति ओजोलोमप्रक्षेपाऽऽहाराणामन्यतममाहारमित्याहारकः। ननु ज्ञानाऽऽदिषु किमर्थमज्ञानाऽऽदिप्रतिपक्षग्रहणं कृतम् ?, उच्यते-चतुर्दशस्वपि मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं सर्वसांसारिकसत्त्वसङ्ग्रहार्थमिति । कर्म० ३ कर्म० ।

उत्तरभेदानाह—

सुरनरतिरिनिरयगई, इगबियतियचउपणिंदि छक्काया ।
भूजलजलणानिलवण-तसा य मणवयणतणुजोगा॥१०॥

इह गतिशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। ततः सुरगतिः, नरगतिः, तिर्यग्गतिः, नरकगतिः । (कर्म०) इहापीन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिया इति। षट्कायाः-भूः पृथ्वी, जलमापः,ज्वलनं-तेजः,अनिलो वायुः (वण त्ति) वनस्पतिः,त्रसा-द्वीन्द्रियाऽऽदयः, ततः प्रत्येकं कायशब्दस्य योगात् पृथिव्येव कायः शरीरं यस्य सः पृथ्वीकायः, एवमप्कायः, तेजस्कायः, वायुकायः वनस्पतिकायः, त्रसकाय इति । चः समुच्चये । योगशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रयो योगाः । तथाहि-मनोयोगः, वचनयोगः, तनुयोगः । कर्म० ४ कर्म०।

वेयनरित्थिनपुंसा, कसाय कोहमयमायलोभ त्ति ।
मइसुयवहिमणकेवल-विहंगमइसुअनाणसागारा ॥११॥

वेदशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रयो वेदाः,नरवेदः,स्त्रीवेदः,नपुंसकवेदः।(कर्म०)मानकषायः,मायाकषायः,लोभकषायः,इति शब्दः कषायाणामनन्तानुबन्ध्यादिबहुभेदसूचनार्थः,सूत्रे च"मायालोभ त्ति" ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात्"मइसुयवहीत्यादि"इहावधीत्यत्र अकारलोपात् ज्ञानशब्दस्य च प्रत्येकं संबन्धात् एवं प्रयोगः-मतिज्ञानं,श्रुतज्ञानम् , अवधिज्ञानं, मनःपर्यवज्ञानं, केवलज्ञानं,तथा विभङ्गमत्यज्ञानश्रुताज्ञानानि,एतानि पञ्च ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि साकाराणि वर्त्तन्त इति वाक्यार्थः । कर्म० ४ कर्म० । (सन्नि त्ति) विशिष्टस्मरणाऽऽदिरूपमनोविज्ञानभाक् संज्ञी, इतरोऽसंज्ञी सर्वोऽप्येकेन्द्रियाऽऽदिः ॥ १३॥

आहारेयर भेया, सुरनरयविभंगमइसुओहिदुगे ।
सम्मत्ततिगे पम्हा—सुक्कासन्नीसु सन्निदुगं ॥ १४ ॥

ओजो लोमप्रक्षेपाऽऽहाराणामन्यतममाहारमाहारयतीत्याहारकः,इतरोऽनाहारको विग्रहगत्यादिगतः।(भेय त्ति)चतुर्दशमौलमार्गणास्थानानामिमेवाऽन्तराश्चतुराऽऽदिसंख्या भेदा भवन्तीति शेषः,सर्वेऽपि द्विषष्टिभेदाः। तथाहि-गतिश्चतुर्द्धा,इन्द्रियं पञ्चधा,कायः षोढा,योगस्त्रिधा,वेदस्त्रिधा,कषायश्चतुर्द्धा,ज्ञानपञ्चकमज्ञानत्रिकमिति,ज्ञानमष्टधा, संयमपञ्चकं देशसंयमासंयमसहितं सप्तधा, दर्शनं चतुर्द्धा, लेश्या षोढा, भव्योऽभव्यश्चेति भव्यमार्गणास्थानं द्विधा, सम्यक्त्वत्रयमिथ्यात्वमिश्रसासादनभेदात्सम्यक्त्वमार्गणास्थानं षोढा,संज्ञिमार्गणास्थानं सप्रतिपक्षं द्वेधा,आहारकमार्गणास्थानं सप्रतिपक्षं द्वेधा,सर्वेऽप्येते एकत्र मील्यन्ते तत उत्तरभेदाः द्वाषष्टिरिति। अत्र गाथा-" चउ १ पण २ छ ३ तिय ४ तिय ५ चउ ६, अड ७ सग ८ चउ ९ छच्च १० दु ११ छग १२ दो १३ दुन्नि १४ । गइयाइमग्गणाणं, इय उत्तरभेय वासट्ठी ॥ १ ॥ " इत्येवमुक्ता गत्यादिमार्गणास्थानानामवान्तरभेदाः । कर्म० ४ कर्म० । पं०सं० । दर्श० । प्रव० । साम्प्रतमेतेष्वेव जीवस्थानानि चिन्तयन्नाह—" सुरनरयविभंग " इत्यादि, सुरगतौ नरकगतौ च संज्ञिद्विकं पर्याप्तापर्याप्तलक्षणं भवति । अपर्याप्तश्चेह करणापर्याप्तो गृह्यते, न लब्ध्यपर्याप्तः, तस्य देवनरकगत्योरुत्पादाभावात्। तथा विभङ्गे-विभङ्गज्ञाने; मतौ मतिज्ञाने,श्रुते श्रुतज्ञाने, (ओहिदुगि त्ति) अवधिद्विके-अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनलक्षणे, सम्यक्त्वत्रिके क्षायोपशमिकक्षायिकौपशमिकलक्षणे, पद्मलेश्यायां, शुक्ललेश्यायां, संज्ञिनि च, संज्ञिद्विकमपर्याप्तपर्याप्तलक्षणं भवति , न शेषाणि जीवस्थानानि तेषु मिथ्यात्वाऽऽदिकारणतो मतिज्ञानाऽऽदीनामसम्भवात्। अत एव च हेतोरिहापर्याप्तकः करणापर्याप्तको गृह्यते , न लब्ध्यपर्याप्तकः, तस्य मिथ्यादृष्टित्वादशुभलेश्याकत्वाच्चेति । आह-क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकेषु कथं संज्ञी अपर्याप्तको लभ्यते ?, उच्यते-इह यः कश्चित्पूर्वबद्धाऽऽयुष्कः क्षपकश्रेणिमारभ्यानन्तानुबन्ध्यादिसप्तकक्षयं कृत्वा क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य गतिचतुष्टयस्यान्यतरस्यां गतावुत्पद्यते तदा सोऽपर्याप्तः क्षायिकसम्यक्त्वे प्राप्यते,क्षायोपशमिकसम्यक्त्वयुक्तश्च देवाऽऽदिभवेभ्योऽनन्तरमिहोत्पद्यमानस्तीर्थकराऽऽदिरपर्याप्तकः सुप्रतीत एव । औपशमिकसम्यक्त्वं पुनरपर्याप्तावस्थायामनुत्तरसुरस्य द्रष्टव्यम् । इहौपशमिकसम्यक्त्वमपर्याप्तस्य केचिन्नेच्छन्ति, तथा च ते प्राऽऽहुः " न तावदस्यामेवापर्याप्तावस्थायामिदं सम्यक्त्वमुपजायते, तदानीं तस्य तथाविधविशुद्ध्यभावात्। अथैतत्तदानीं मोत्पादि, यत्तु पारभविकं तद् भवतु, केन विनिवार्यत इति मन्येथाः, तदपि न युक्तियुक्तमुत्पश्यामः, यतो यो मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रथमतया सम्यक्त्वमौपशमिकमवाप्नोति स तावत्तद्भावमापन्नः सन् कालं न करोत्येव । यदुक्तमागमे—" अणुबंधोदयमाउग—बंधं कालं च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सासणो कुणई । उवसमसम्मदिट्ठी, चउण्हमिक्कं पि नो कुणइ ॥ १ ॥ " उपशमश्रेण्येर्मृत्वाऽनुत्तरसुरेषूत्पन्नस्यापर्याप्तकस्यैतल्लभ्यत इति चेन्नन्वेतदपि न बहु मन्यामहे, तस्य प्रथमसमय एव सम्यक्त्वपुद्गलोदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं भवति न त्वौपशमिकम् । उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ– " जो उवसमसम्मदिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ सो पढमसमए चेव सम्मत्तपुंजं उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मदिट्ठी अपज्जत्तगो लब्भइ ।" इत्यादि । तस्मात्पर्याप्तसंज्ञिलक्षणमेकमेव जीवस्थानकमत्र प्राप्यते इति स्थितम् । अपरे पुनराहुः–" भवस्थेवापर्याप्तावस्थायामप्यौपशमिकं सम्यक्त्वं, सप्ततिचूर्ण्यादिषु तथाऽभिधानात् । सप्ततिचूर्णौ हि गुणस्थानकेषु नामकर्मणो बन्धोदयाऽऽदिमार्गणाऽवसरे अविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानचिन्तायां पञ्चविंशत्युदयः सप्तविंशत्युदयश्च देवनरकानधिकृत्योक्तः, तत्र नारकाः क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टयो, देवास्तु त्रिविधसम्यग्दृष्टयोऽपि । तथा च तद्ग्रन्थः–" पणवीससत्तवीसो–दया देवनेरइए पडुच्च नेरइगो । खयगवेयगसम्मदिट्ठी, देवो तिविहसम्मदिट्ठी वि ॥ १ ॥ " पञ्चविंशत्युदयश्च शरीरपर्याप्तिं निर्वर्तयतः । तथाहि–निर्माणस्थिरास्थिरगुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णगन्धरसस्पर्शकचतुष्कदेवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तकं सुभगदुर्भगयोरेकतरमादेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशकीर्त्योरेकतरमित्येकविंशतिः, ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य शेषपर्याप्तिभिरपर्याप्तस्य वैक्रियद्विकोपघातप्रत्येकसमचतुरस्रलक्षणप्रकृतिपञ्चकक्षेपे देवाऽनुपूर्व्यपनयने च पञ्चविंशतिर्भवति । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य शेषपर्याप्तिभिः पुनरपर्याप्तस्य पराघातप्रशस्तविहायोगतिक्षेपे सप्तविंशतिर्भवति । ततोऽपर्याप्तावस्थायामपीह देवस्यौपशमिकं सम्यक्त्वमुक्तम् । तथा पञ्चसंग्रहेऽपि मार्गणास्थानकेषु जीवस्थानकचिन्तायामौपशमिकसम्यक्त्वे "उवसमसमम्मि दो सन्नी" इत्यनेन ग्रन्थेन संज्ञिद्विकमुक्तम् । ततः सप्ततिचूर्ण्यभिप्रायेण पञ्चसंग्रहाभिप्रायेण चास्माभिरपि औपशमिकसम्यक्त्वे संज्ञिद्विकमुक्तं, तत्त्वं तु केवलिनो विशिष्टबहुश्रुता वा विदन्तीति ॥ १४ ॥

तमसन्निअपज्जजुयं, नरे सबायर अपज्ज तेऊए ।
थावर इगिंदि पढमा, चउ बार असन्नि दु दु विगले ॥१५॥

तत्पूर्वोक्तं संज्ञिद्विकमपर्याप्ताऽसंज्ञियुतं नरे–नरेषु लभ्यते–जातावेकवचनम् । अयमर्थः–इह द्वये मनुष्याः–गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, सम्मूर्च्छिमाश्च । तत्र ये गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तेषु यथोक्तं संज्ञिद्विकं लभ्यते, ये तु वान्तपित्ताऽऽदिषु सम्मूर्च्छन्ति तेऽन्तर्मुहूर्त्ताऽऽयुषोऽसंज्ञिनो लब्ध्यपर्याप्तकाश्च द्रष्टव्याः। यदाहुः श्रीमदार्यश्यामपादाः प्रज्ञापनायाम्–"कहि णं भंते ! संमुच्छिमममणुस्सा संमुच्छंति ? । गोयमा ! अंतो मणुस्सखेत्तस्स पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अंतरदीवेसु गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा सुक्केसु वा सोणिएसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससंजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु इत्थ णं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति अंगुलस्स असंखभागमित्ताए ओगाहणाए असन्नी मिच्छद्दिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्ता अंतोमुहुत्ताउया चेव कालं करंति त्ति ।" तान् सम्मूर्च्छिममनुष्यानाश्रित्य तृतीयमप्यसंज्ञ्यपर्याप्तलक्षणं जीवस्थानं प्राप्यत इति । " सबायरअपज्जत्ताउए " इति तदेवेत्यनुवर्त्तते, तदेव पूर्वोक्तं संज्ञिद्विकं सह बादरापर्याप्तेन वर्त्तत इति सबादरापर्याप्तं तेजोलेश्यायां लभ्यते । एतदुक्तं भवति–तेजोलेश्ययां त्रीणि जीवस्थानकानि भवन्ति, संज्ञ्यपर्याप्तः, संज्ञिपर्याप्तः, बादरैकेन्द्रियापर्याप्तश्च । बादरोऽपर्याप्तः कथमवाप्यत इति चेत् ?, उच्यते–इह भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवाः पृथिवीजलवनस्पतिषु मध्ये उत्पद्यन्ते । यदाह दुःषमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः–

" पुढवीआउवणस्सइ–गब्भे पज्जत्त संखजीवेसु ।
सग्गच्चुयाण वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥ १ ॥"

ते च तेजोलेश्यावन्तः, यदभाणि–

" किण्हा नीला काऊ, तेऊ लेसा य भवणवंतरिया ।
जोइससोहम्मीसा–ण तेउलेसा मुणेयव्वा ॥ १ ॥ "

यल्लेश्यश्च म्रियते तल्लेश्य एव अग्रेऽपि समुत्पद्यते । " यल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ " इति वचनात् । अतो बादरापर्याप्तावस्थायां कियत्कालं तेजोलेश्याऽवाप्यत इति सिद्धं जीवस्थानकत्रयं, तेजोलेश्यायामिति कायद्वारे स्थावरेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिलक्षणेषु; इन्द्रियद्वारे एकेन्द्रिये च प्रथमानि चत्वारि जीवस्थानानि सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियपर्याप्तलक्षणानि भवन्ति । असंज्ञिनि संज्ञिव्यतिरिक्ते कोलिकनालिकन्यायेन प्रथमशब्दस्य सम्बन्धात्प्रथमानि आदिमानि द्वादश जीवस्थानानि पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि भवन्ति । सर्वेषामपि विशिष्टमनोविकलतया संज्ञिप्रतिपक्षत्वाविशेषात् , संज्ञिप्रतिपक्षस्य चाऽसंज्ञित्वेन व्यवहारात् । 'दु दु विगल त्ति' विकलेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु द्वे द्वे जीवनस्थानके भवतः । तत्र द्वीन्द्रियेषु द्वीन्द्रीयोऽपर्याप्तः पर्याप्त इति द्वे , त्रीन्द्रियेषु त्रीन्द्रियोऽपर्याप्तः पर्याप्त इति द्वे, चतुरिन्द्रियेषु चतुरिन्द्रियोऽपर्याप्तः पर्याप्त इति द्वे ॥ १५ ॥

दस चरम तसे अजया–हारगतिरितणुकसायदुअनाणे ।
पढमतिलेसाभवियर–अचक्खुनपुंमित्थि सव्वे वि । १६ ।

त्रसे त्रसकाये चरमाण्यन्तिमानि पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि दश जीवस्थानानि भवन्ति , द्वीन्द्रियाऽऽदीनामेव त्रसत्वात् । अयते अविरते सर्वाण्यपि जीवस्थानानि भवन्ति । तथा आहारके (तिरि त्ति) तिर्यग्गतौ, तनुयोगे काययोगे कषायचतुष्टये, द्वयोरज्ञानयोर्मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपयोः प्रथमत्रिलेश्यासु कृष्णनीललेश्याकापोतलेश्यालक्षणासु , भव्ये , इतरस्मिन् अभव्ये, (अचक्खु त्ति) अचक्षुर्दर्शने (नपु त्ति) नपुंसकवेदे (मिच्छ त्ति) मिथ्यात्वे सर्वाण्यपि चतुर्दशापि जीवस्थानकानि भवन्ति, सर्वजीवस्थान–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कव्यापकत्वादयताऽऽदीनामिति ॥ १६ ॥

पजसन्नी केवलदुगे, संजयमणनाणदेसमणमीसे ।
पण चरम पज्ज वयणे, तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि ॥१७॥

(पजसन्नि त्ति) पर्याप्तसंज्ञिलक्षणमेव जीवस्थानं भवति । क्वेत्याह—केवलद्विके केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे, संयमेषु सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायय-थाख्यातरूपपञ्चप्रकारसंयमवत्सु (मणनाण त्ति) मनःपर्याय-ज्ञाने, (देस त्ति) देशयते देशविरते, श्रावके इत्यर्थः, (मण त्ति) मनोयोगे (मीस त्ति) मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टौ । तत्र केवलद्विके संयमेषु मनःपर्यायज्ञाने, देशविरते च संज्ञि-पर्याप्तलक्षणं जीवस्थानकं विना नान्यज्जीवस्थानकं संभव-ति, तत्र सर्वविरतिदेशविरत्योरभावात् । मनोयोगेऽ-प्येतदन्तरेणान्यज्जीवस्थानकं न घटते, तत्र मनःसद्भा-वाऽयोगात् । मिश्रे पुनः पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरेकेण शेषं जीव-स्थानकं तथाविधपरिणामाभावादेव न सम्भवतीति । तथा पञ्च जीवस्थानानि चरमाण्यन्तिमानि पर्याप्तान पर्याप्त-द्वीन्द्रियपर्याप्तत्रीन्द्रियपर्याप्तचतुरिन्द्रियपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रि-यपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि (वयणे त्ति) वचनयोगे वा-ग्योगे भवन्ति, न शेषाणि, तेषु वाग्योगासम्भवात् । (तिय छ च पज्जियर चक्खुम्मि त्ति) चक्षुर्दर्शने त्रीणि जीवस्था-नानि पर्याप्तचतुरिन्द्रियपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसंज्ञिप-ञ्चेन्द्रियरूपाणि, नान्यानि, तेषु चक्षुष एवाभावात् । अत्रैव मतान्तरेण विकल्पमाह-षड् वा जीवस्थानानि चक्षुर्दर्शने भवन्ति । कथमित्याह—(पज्जियर त्ति) पूर्वप्रदर्शि-तपर्याप्तत्रिकं सेतरमपर्याप्तसहितं षड् भवन्ति । इद-मुक्तं भवति—अपर्याप्तपर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसं-ज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि षट् जीवस्थानानि चक्षुर्दर्शने भव-न्ति, चतुरिन्द्रियाऽऽदीनामिन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तानां शेषप-र्याप्त्यपेक्षया अपर्याप्तानामपि आचार्यान्तरैश्चक्षुर्दर्शनाभ्युपग-मात् । यदुक्तं पञ्चसंग्रहमूलटीकायाम्—" करणपर्याप्तेषु च-तुरिन्द्रियाऽऽदिषु इन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनं भवति । " इति ॥ १७ ॥

थीनरपणिंदि चरमा, चउ अणहारे दु सन्नि छ अपज्जा ।
ते सुहुम अपज्ज विणा, सासणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥

स्त्रीवेदे नरवेदे पञ्चेन्द्रिये च चरमाण्यन्तिमानि पर्याप्ताऽ-पर्याप्तासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि चत्वारि जीवस्थानानि भवन्ति । यद्यपि च सिद्धान्ते असंज्ञिपर्याप्तोऽपर्याप्तो वा सर्वथा नपुंसक एवोक्तः । तथा चोक्तं श्रीभगवत्यां—" तेणं भंते ! असन्निपंचेन्दियतिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा, पु-रिसवेयगा, नपुंसगवेयगा ?। गोयमा ! नो इत्थिवेयगा, नो पुरिसवेयगा, नपुंसगवेयग त्ति ।" तथाऽपीह स्त्रीपुंसलिङ्गा-ऽऽकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीवेदे नरवेदे चासंज्ञी निर्दिष्ट इत्यदो-षः । उक्तं च पञ्चसंग्रहमूलटीकायाम्-"यद्यपि चासंज्ञिपर्या-प्तापर्याप्तो नपुंसकौ तथापि स्त्रीपुंसलिङ्गाऽऽकारमात्रमङ्गी-कृत्य स्त्रीपुंसावुक्ताविति । " अपर्याप्तकश्चेह करणापर्याप्तको गृह्यते, न लब्ध्यपर्याप्तकः, लब्ध्यपर्याप्तकस्य सर्वस्य नपुंसक-त्वात् । अनाहारके-" दुसन्नि छ अपज्ज त्ति ।" द्विविधः संज्ञी पर्याप्तापर्याप्तलक्षणः, षट् अपर्याप्ताश्चेत्यष्टौ जीवस्थानानि भवन्ति । अयमर्थः—अपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुर-संज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि सप्त जीवस्थानानि, अनाहारके विग्रहगतावेकं द्वौ त्रीन्वा समयान् यावदाहारासम्भवात् संभ-वन्ति "विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी अ । सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥ १ ॥" इति-वचनात् । संज्ञिपर्याप्तलक्षणं जीवस्थानकमनाहारके केवलि-समुद्घातावस्थायां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु लभ्यते । उक्तं च-"कार्मणशरीरयोगी, तृतीयके पञ्चमे चतुर्थे च । समयत्रये च तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात् ॥ १ ॥" (ते सुहुम-अपज्ज विणा सासणि त्ति) सास्वादने सम्यक्त्वे तान्येव पूर्वोक्तानि षट् अपर्याप्तपर्याप्तसंज्ञिद्विकलक्षणान्यष्टौ जीव-स्थानानि सूक्ष्मापर्याप्तं विना सप्त भवन्ति । एतदुक्तं भवति-अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चे-न्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तलक्षणानि सप्त जीवस्थान-कानि सास्वादने सम्यक्त्वे भवन्तीति । यत्तु सूक्ष्मैकेन्द्रिया-पर्याप्तलक्षणं जीवस्थानं तत् सास्वादने सम्यक्त्वे न घटा-मियर्त्ति । सास्वादनसम्यक्त्वस्य मनाक् शुभपरिणामरूप-त्वात् । महासंक्लिष्टपरिणामस्य च सूक्ष्मैकेन्द्रियमध्ये उत्पादा-भिधानात् । सूत्रे च सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचार्यपि । यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे—" लिङ्गं व्यभिचार्यपीति । " उक्तानि मार्गणास्थानकेषु जीवस्थानकानि । कर्म० ४ कर्म० । गुणस्थानकानि 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ६२४ पृष्ठे गतानि ।)

अधुना मार्गणास्थानेष्वेव योगानभिधित्सुः प्रथमं तावद्यो-गानेव स्वरूपत आह—

सच्चेयर मीस अस-च्चमोस मण वइ विउव्वियाऽऽहारा ।
उरलं मीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥ २४ ॥

कर्म० ४ कर्म० । (योगव्याख्या 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६१३ पृष्ठे गता)

साम्प्रतमेतानेव मार्गणास्थानेषु निरूपयन्नाह—(कम्म-मणहारि त्ति) व्यवच्छेदफलं हि वाक्यमतोऽवश्य-मवधारयितव्यम् । तच्चावधारणमिहैवम्—कार्मणमेवैकम-नाहारके न शेषयोगा असम्भवादिति । न पुनरेवं कार्मण-मनाहारकेष्वेवेति, आहारकेष्वपि उत्पत्तिप्रथमसमये कार्मण-योगसम्भवात् । "जोएणं कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो ।" इति परममुनिवचनप्रामाण्यात् । नापि कार्मणमनाहारकेषु भवत्येवेत्यवधारणमाधेयम्, अयोगिकेवल्यवस्थायामनाहा-रकस्याऽपि कार्मणकाययोगाभावात् " गयजोगो उ अजो-गी" इति वचनात् । एवमन्यत्रापि यथासम्भवमवधारण-विधिरनुसरणीय इति ॥ २४ ॥

नरगइ पणिंदि तस तणु, अचक्खु नर नपु कसाय सम्मदुगे ।
सन्नि छलेसाहारग, भव मइसुओहिदुगे सव्वे ॥ २५ ॥

नरगतौ मनुष्यगतौ, पञ्चेन्द्रिये, त्रसे त्रसकाये, तनुयोगे, अचक्षुर्दर्शने, नरे नरवेदे पुंवेद इत्यर्थः, (नपु त्ति) नपुंस-कवेदे कषायेषु क्रोधमानमायालोभेषु, सम्यक्त्वद्विके क्षायो-पशमिकक्षायिकलक्षणे, संज्ञिनि मनोविज्ञानभाजि, षट्स्वपि लेश्यासु, आहारके भव्ये, मतौ मतिज्ञाने, श्रुते श्रुतज्ञाने,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवधिद्विके अवधिज्ञानावधिदर्शनरूपे,सर्वे पञ्चदशापि योगा भवन्ति । एतेषु सर्वेष्वपि मार्गणास्थानेषु यथासंभवं सर्वयोगप्राप्तेः । यत्तु क्वापि-"ओगा अकम्मगाऽऽहारगेसु" इति पदं दृश्यते, तन्न सम्यगवगम्यते । यत ऋजुगतौ विग्रहगतौ चोत्पत्तिप्रथमसमये-" जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो । तेण परं मीसेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥ १ ॥" इति सकलश्रुतधरप्रवरपरममुनिवचनप्रामाण्यादाहारकस्यापि सतः कार्मणकाययोगोऽस्त्येव । अथोच्येत—गृह्यमाणं गृहीतमिति निश्चयनयवशात्प्रथमसमये अप्यौदारिकपुद्गला गृह्यमाणा गृहीता एव, ततो द्वितीयाऽऽदिसमयेष्विव तदानीमप्यौदारिकमिश्रकाययोग इति । तदेतदयुक्तं, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । यतो यद्यपि तदानीमौदारिकाऽऽदिपुद्गला गृह्यमाणा गृहीता एव तथाऽपि न तेषां गृह्यमाणानां स्वग्रहणक्रियां प्रति करणरूपता, येन तन्निबन्धनो योगः परिकल्प्यते, किं तु कर्मरूपतैव, निष्पन्नरूपस्य सत उत्तरकालं करणभावदर्शनात् । न हि घटः स्वनिष्पादनक्रियां प्रति कर्मरूपतां करणरूपतां च प्रतिपद्यमानो दृश्यते । द्वितीयाऽऽदिसमयेषु पुनस्तेषामपि प्रथमसमयगृहीतानामन्यपुद्गलोपादानं प्रति करणभावो न विरुध्यते निष्पन्नत्वाद् , अतस्तदानीमौदारिकमिश्रकाययोग उपपद्यत एव । अत एवोक्तम्—" तेण परं मीसेणं ति । " तस्मादाहारकस्याप्युत्पत्तिप्रथमसमये कार्मणकाययोग इति । अतः—"जोगा अकम्मगाऽऽहारगेसु " इति पदं चिन्त्यमस्तीति ॥ २५ ॥

तिरि इत्थि अजय सासण,अनाण उपसम अभव्व मिच्छेसु ।
तेराऽऽहारदुगूणा, ते उरलदुगूण सुरनरए ॥ २६ ॥

(तिरि त्ति) तिर्यग्गतौ , स्त्रियां स्त्रीवेदे, अयते विरतिहीने सास्वादनसम्यक्त्वे (अनाण त्ति) अज्ञानत्रिके मत्यज्ञानश्रुताऽज्ञानविभङ्गलक्षणे, उपशमे औपशमिकसम्यक्त्वे, अभव्येषु सिद्धिगमनानुचितेषु, मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्टिषु, त्रयोदश योगा भवन्ति । के इत्याह— आहारकद्विकेन आहारकमिश्रलक्षणेन ऊना हीना आहारकद्विकोनाः। अयमत्राऽऽशयः-मनोयोगचतुष्टयवाग्योगचतुष्टयौदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियवैक्रियमिश्रकार्मणलक्षणा योगा भवन्ति, तत्र कार्मणमपान्तरालगतौ उत्पत्तिप्रथमसमय एव,औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थायामौदारिकं मनोवाग्योगचतुष्टयं च । तथा तिरश्चामपि केषाञ्चिद्वैक्रियलब्धियोगतो वैक्रियमिश्रं वैक्रियं च घटत एव । यत्तु आहारकद्विकमाहारकाऽऽहारकमिश्रलक्षणं तन्न सम्भवत्येव तिरश्चां, तत्र सर्वविरत्यसम्भवात् , सर्वविरतस्य हि चतुर्दशपूर्ववेदिन आहारकद्विकं संभवति, " आहारं चउद्दसपुव्विणो " इत्यादिवचनप्रामाण्यादिति । तथा इह स्त्रीवेदो द्रव्यरूपो द्रष्टव्यो, न तु तथारूपाध्यवसायलक्षणो भावरूपः, तथा विवक्षणात् । एवमुपयोगमार्गणायामपि द्रष्टव्यम् । प्राक् च गुणस्थानकमार्गणायां सर्वोऽपि वेदो भावरूपो गृहीतः, तथाविवक्षणादेव , अन्यथा तेषु प्रोक्तगुणस्थानकसङ्ख्यायोगात् , सयोगिकेवल्यादावपि द्रव्यवेदस्य भावात् । द्रव्यवेदश्च बाह्यमाकारमात्रम् । ततः स्त्रीषु त्रयोदश योगा आहारकद्विकोना भवन्ति, न पुनराहारकद्विकमपि, यत आहारकद्विकं चतुर्दशपूर्वविद एव भवति " आहारगदुगं जायइ चउदसपुव्विए " इति वचनात् । न च स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वाधिगमोऽस्ति, स्त्रीणामागमे दृष्टिवादाध्ययनप्रतिषेधात् । यदाह भाष्यसुधासुधांशुः—

" तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला धिईए य ।
इय अइसेसज्झयणा, भूयावादो य नो थीणं ॥ १ ॥ "इति ।

भूतवादो दृष्टिवादः, तथा अयते सास्वदने अज्ञानत्रिके च त्रयोदश योगा आहारकद्विकोना भवन्ति । आहारकद्विकं पुनरेतेष्वज्ञानत्वादेव दूरापास्तम् । तथा-औपशमिकसम्यक्त्वे आहारकद्विकोनास्त्रयोदश योगाः, आहारकं त्वत्रापि न घटामियर्ति, यत औपशमिकसम्यक्त्वं प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले उपशमश्रेण्यारोहे वा भवति । न च प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले चतुर्दशपूर्वाधिगमसंभवस्तदभावाच्च कथमाहारकद्विकभावः प्रादुर्भावपदवीमियर्त्ति ?, उपशमश्रेण्यारूढस्त्वाहारकद्विकं नाऽऽरभत एव, तस्याप्रमत्तत्वात् । आहारकाऽऽरम्भकस्य तु लब्ध्युपजीवनेनौत्सुक्यभावतः प्रमादबहुलत्वात् । उक्तं च-" आहारकं पमत्तो, उप्पाएई न अप्पमत्तु त्ति । " आहारकस्थितश्चोपशमश्रेणिं नारभत एव , तथास्वभावत्वादिति । तथा-अभव्ये मिथ्यात्वे च चतुर्दशपूर्वाधिगमाभावादेव आहारकद्विकवर्जास्त्रयोदश योगाः । त एव पूर्वोक्तास्त्रयोदश योगा औदारिकद्विकेनौदारिकौदारिकमिश्रलक्षणेन ऊना हीना एकादश योगाः सुरे सुरगतौ नरके नरकगतौ भवन्ति । तथाहि-मनोवाग्योगचतुष्टयवैक्रियवैक्रियमिश्रकार्मणलक्षणा एकादश योगाः सुरेषु नारकेषु च घटन्ते । तत्र कार्मणमपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमय एव, वैक्रियमिश्रमपर्याप्तावस्थायां, पर्याप्तावस्थायां तु वैक्रियं मनोवाग्योगचतुष्टयं च । यत्पुनरौदारिकद्विकं तद्भवप्रत्ययादेव देवनारकाणां न संभवति , आहारकद्विकं तु सुरनारकाणां भवस्वभावतया विरत्यभावेन सर्वविरतिप्रत्ययचतुर्दशपूर्वाधिगमासम्भवादेव दूरापास्तमिति ॥ २६ ॥

कम्मुरलदुगं थावरि, ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे ।
अस्सन्निचरमवइजुय, विउव्विदुगूण चउ विगले ॥२७॥

कार्मणमौदारिकद्विकम् औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणमिति त्रयो योगाः। क्वेत्याह-(थावरि त्ति)स्थावरकाये पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिकायरूपे वायुकायिकस्य पृथग् भणिष्यमानत्वात् ।अयमत्र भावः-स्थावरचतुष्के कार्मणौदारिकद्विकरूपास्त्रयो योगा भवन्ति। तत्र कार्मणमपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये वा। औदारिकमिश्रं त्वपर्याप्तावस्थायां, पर्याप्तावस्थायां पुनरौदारिकमिति। ते पूर्वोक्तास्त्रयो योगाः सवैक्रियद्विकाः सह वैक्रियद्विकेन वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन वर्त्तन्त इति सवैक्रियद्विकाः सन्तः पञ्च भवन्ति। क्वेत्याह-(इगि ति)सामान्यत एकेन्द्रियपवने,वायुकाये च। तत्र कार्मणौदारिकद्विकलक्षणयोगत्रयभावना। प्राग्वत् वैक्रियद्विकभावना त्वेवम्-इह किल चतुर्विधा वायवो वान्ति। तद्यथा सूक्ष्मा अपर्याप्ताः, सूक्ष्माः पर्याप्ताः,बादरा अपर्याप्ताः,बादराः पर्याप्ताश्च। तत्र बादरपर्याप्तानां केषाञ्चिद्वैक्रियलब्धिसम्भवोऽस्ति तानधिकृत्य वैक्रियं वैक्रियमिश्रं च लभ्यते। ननु कथमुच्यते केषाञ्चिद्वैक्रियलब्धिसम्भवोऽस्ति ?, यावता सर्वेऽपि बादरपर्याप्तवायवः सवैक्रिया एव, अवैक्रिया-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णां चेष्टाया एवाप्रवृत्तेः । उक्तं च-" केइ भणंति सव्वे वेउव्विया वाया वायंति, अवेउव्वियाणं चिट्ठा चेव न पवत्तइ त्ति । " तदयुक्तं सम्यक्सिद्धान्ताऽपरिज्ञानात्, अवैक्रियाणामपि तेषां स्वभावत एव चेष्टोपपत्तेः । यदाह भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिरनुयोगद्वारटीकायाम्-"वाउकाइया चउव्विहा सुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता बायरा पज्जत्ता अपज्जत्ता, तत्थ तिन्नि रासी पत्तेयं असंखेज्जलोगप्पमाणपएसरासिपमाणमित्ता, जे पुण बादरा पज्जत्ता ते पयरा संखेज्जइभागमित्ता, तत्थ ताव तिएहं रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि बायरपज्जत्ताणं पि असंखिज्जइभागमित्ताणं अत्थि जेसिं पि लद्धी अत्थि तत्रो विपलिओवमासंखेज्जभागसमयमित्ता संपयं पुच्छासमए वेउव्वियवत्तिणो, तथा-जेण सव्वेसु चेव उड्ढलोगाइसु चला वायवो विज्जंति तम्हा अवेउव्विया वि वाया वायंति त्ति घित्तव्वं सभावेण तेसिं वाइयव्वं ति।" वाताद्वायुरिति कृत्वा (तिएहं रासीणं ति) त्रयाणां राशीनां पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्माऽपर्याप्तबादरवायुकायिकानाम्। तथा त एव पूर्वोक्ताः पञ्च कार्मणौदारिकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणयोगाश्चरमो चतुर्थः असत्यामृषारूपा वाग् वचनयोगश्चरमवागतया युक्ताः षड् योगा भवन्ति। क्वेत्याह-असंज्ञिनि संज्ञिव्यतिरिक्ते जीवे । तत्र कार्मणमपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायां, पर्याप्तावस्थायामौदारिकम् बादरपर्याप्तवायुकायिकानां वैक्रियद्विकं, चरमभाषा शङ्खाऽऽदिद्वीन्द्रियाऽऽदीनामिति ते एव पूर्वोक्ताः षड् योगा वैक्रियद्विकेन वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेनोना हीनाश्चत्वारो भवन्ति । क्वेत्याह-विकलेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु । कोऽर्थः ?, तत्र कार्मणौदारिकद्विकभावना प्राग्वत्। चरमभाषा च असत्यामृषारूपा शङ्खाऽऽदीनां भवति, शेषास्तु भाषा न भवन्त्येव, " विगलेसु असच्चमोस त्ति " वचनादिति ॥ २७ ॥

कम्मुरलमीस विणु मण,वइ समइय छेय चक्खुमणनाणे ।
उरलदुगकम्म पढम-तिम-मणवइ केवलदुगम्मि ॥२८॥

कार्मणौदारिकमिश्रं विना शेषास्त्रयोदश योगा भवन्ति, क्वेत्याह—मनोयोगे, वाग्योगे, सामायिकसंयमे, छेदोपस्थापनसंयमे, चक्षुर्दर्शने, मनःपर्यायज्ञाने च । भावना सुकरैव । यौ तु कार्मणौदारिकमिश्रौ तौ तेषु सर्वथा न संभवत एव, तयोरपर्याप्तावस्थायां भावात्, मनोयोगवाग्योगसामायिकच्छेदोपस्थापनचक्षुर्दर्शनमनःपर्यायज्ञानानां च तस्यामवस्थायामसम्भवात्। तथा (उरलदुग त्ति) औदारिकद्विकमौदारिकौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ सयोग्यवस्थायामेव समुद्घातगतस्य वेदितव्यौ " मिश्रौदारिकयोक्ता , सप्तमषष्ठद्वितीयेषु । कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ॥ १ ॥ " इति । प्रथमान्तिममनोयोगौ तु अविकलसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनबलावलोकितनिखिललोकालोकस्य भगवतो , मनःपर्यायज्ञानिभिरनुत्तरसुराऽऽदिभिर्वा मनसा पृष्टस्य सतो मनसैव देशनात्, ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानेनावधिज्ञानेन वा पश्यन्ति, दृष्ट्वा च ते विवक्षितवस्त्वालोचनाऽऽकारान्यथाऽनुपपत्त्या लोकस्वरूपाऽऽदिक बाह्यमर्थं पृष्टमवगच्छन्ति, प्रथमान्तिमवाग्योगौ तु देशनाऽऽदिषु व्यापृतस्य तस्यैव भगवतो द्रष्टव्याविति ॥ २८ ॥

मणवइउरला परिहा-रि सुहुमि नव ते उ मीसि सविउव्वा।
देसे सविउव्विदुगा, सकम्मुरलमिस्स अहखाए ॥ २९ ॥

परिहारविशुद्धिक सूक्ष्मसम्पराये च नव योगाः । के ते इत्याह—मनोयोगश्चतुर्द्धा वाग्योगश्चतुर्द्धा औदारिकं चेति । यत्त्वाहारकद्विकं वैक्रियद्विकं कार्मणमौदारिकमिश्रं च तन्न सम्भवत्येव । तथाहि—आहारकद्विकं चतुर्दशपूर्ववेदिन एव भवति , " आहारं चउदसपुव्विणो " इति वचनात् । परिहारविशुद्धिकसंयमप्रतिपत्तिः पुनरुत्कर्षतोऽप्यधीतकिञ्चिन्न्यूनदशपूर्वस्यैव तथैव सिद्धान्ते भयानुज्ञानात् तत्कथं परिहारविशुद्धिकस्याहारकद्विकसम्भवः ?, नाऽपि तस्य वैक्रियद्विकसम्भवः, तस्यामवस्थायां तत्करणाननुज्ञानाजिनकल्पिकस्यैव तस्याप्यत्यन्तविशुद्धाप्रमादमूलसंयमघोरानुष्ठानपरायणत्वात्, वैक्रियाऽऽरम्भे च लब्ध्युपजीवनेनौत्सुक्यभावात् प्रमादसम्भवात् ,अत एव सूक्ष्मसम्परायसंयमेऽप्याहारकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणानां चतुर्णां योगानामसंभवः । सूक्ष्मसम्परायसंयमोपेतस्याप्यत्यन्तविशुद्धतया निस्तरङ्गमहोदधिकल्पत्वेन वैक्रियाऽऽदिप्रारम्भासम्भवात्, कार्मणमौदारिकमिश्रं चापर्याप्ताऽऽद्यवस्थायामेवेति संयमद्वयेऽपि तस्याभावः । ते पुनः पूर्वोक्ता नव योगाः सवैक्रियाः सह वैक्रियेण वर्त्तन्त इति सवैक्रिया वैक्रियसहिताः सन्तो दश योगा मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टौ भवन्ति । वैक्रियं देवनारकापेक्षया, यत्तु वैक्रियमिश्रं तन्नैवाप्यते, तस्यापर्याप्तावस्थाभावित्वात् , मिश्रभावस्य च "न सम्ममिच्छो कुणइ कालं । " इति वचनप्रामाण्यादपर्याप्तावस्थायामसम्भवात् । स्यादेतद्वैक्रियलब्धिमतां मनुष्यतिरश्चां सम्यग्मिथ्यादृशां सतां वैक्रियाऽऽरम्भसंभवेन कथं वैक्रियमिश्रं नावाप्यते ? , इति, उच्यते—तेषां वैक्रियाऽऽरम्भासम्भवात् , अन्यतो वा कुतश्चित्कारणात्पूर्वाऽऽचार्यैरेतन्नाभ्युपगम्यत इति न सम्यगवगच्छामस्तथाविधसम्प्रदायाभावात्, अतोऽस्माभिरपि तन्नेष्टमिति । देशे-देशविरते त एव नव पूर्वोक्ता सवैक्रियाद्विकाः वैक्रियतन्मिश्रसहिताः सन्त एकादश योगा भवन्ति, देशविरतानामम्बडाऽऽदीनां वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियद्विकसम्भवात्। तथा त एव नव पूर्वोक्ताः सकार्मणौदारिकमिश्राः सह कार्मणौदारिकमिश्राभ्यां वर्त्तन्ते इति सकार्मणौदारिकमिश्राः सन्त एकादश योगा यथाख्यातसंयमे भवन्ति । अयमर्थः—मनोयोगचतुष्टयवाग्योगचतुष्टयकार्मणौदारिकद्विकलक्षणा एकादश योगा यथाख्याते भवन्ति । तत्र मनोवाक्चतुष्कौदारिकयोगाः सुज्ञाता एव, कार्मणमौदारिकमिश्रं तु यथाख्यातसंयमश्रीकुलगृहस्य भगवतः केवलिनः सम्भवति, तस्य हि समुद्घातगतस्य तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु कार्मणं "कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थे पञ्चमे तृतीये च।"इति वचनात्, द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेष्वौदारिकमिश्रम् " मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु" इति वचनादवाप्यत इति यथाख्यातसंयमे द्वयोरपि सम्भवात्। कर्म० ४ कर्म० । अभिहिता मार्गणास्थानेषु योगाः ।

साम्प्रतमेतेष्वेवोपयोगस्वरूपनिरूपणपूर्वकमुपयोगानभिधित्सुराह—

तिअनाण नाण पण चउ,दंसणबार जिय लक्खणुवओगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विणु मणनाण दुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥

त्रीण्यज्ञानानि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपाणि, ज्ञानानि मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानमनःपर्यवज्ञानकेवलज्ञानलक्षणानि पञ्च । (कर्म०) चत्वारि दर्शनानि चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि, इत्येवं द्वादश उपयोगाः । (कर्म०) (जियलक्खण त्ति) प्राकृतत्वाद्विभक्तिलोपः, जीवस्याऽऽत्मनो लक्षणं लक्ष्यते ज्ञायते तदव्यवच्छेदेनेति लक्षणमसाधारणस्वरूपम् । (कर्म०) (विणु मणनाणेत्यादि) विना मनःपर्यायज्ञानं केवलद्विकं च केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणं शेषा नवोपयोगा भवन्ति, सुरे-सुरगतौ, (तिरि त्ति) तिर्यग्गतौ, नरके नरकगतौ,अयते विरतिहीने । एतेषु सर्वेष्वपि हि सर्वविरत्यसंभवेन मनःपर्यायज्ञानकेवलद्विकासंभवादिति ॥ ३० ॥

तस जोय वेय सुक्का-हार नर पणिंदि सन्नि भवि सव्वे ।
नयणेयर पण लेसा, कसायि दस केवलदुगूणा ॥३१॥

त्रसेषु योगेषु मनोवाक्कायरूपेषु, वेदेषु द्रव्यवेदरूपस्त्रीपुंनपुंसकलक्षणेषु, शुक्ललेश्यायाम् , आहारकेषु, नरगतौ, पञ्चेन्द्रियेषु, संज्ञिषु (भवि त्ति) भव्येषु च सर्वे द्वादशाऽप्युपयोगाः संभवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरत्यादीनां सम्भवात् , (नयणं ति) चक्षुर्दर्शने, (इयर त्ति) अचक्षुर्दर्शने, पञ्चसु लेश्यासु कृष्णनीलकापोततेजःपद्मलेश्यासु, कषायेषु क्रोधमानमायालोभेषु दशोपयोगा भवन्ति । के इत्याह-केवलद्विकेनोना हीना ज्ञानचतुष्टयाज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः, न तु केवलद्विकं चक्षुर्दर्शनाऽऽदिसद्भावे अनुत्पादात्तस्य ॥ ३१ ॥

चउरिंदियसन्नि दुअ-नाणदंसणइग विति थावरि अचक्खु ।
ति अनाणं दंसणदुगं,अनाणतिग अभवि मिच्छदुगे॥३२॥

चतुरिन्द्रिये असंज्ञिनि चत्वार उपयोगा भवन्ति । के त इत्याह-द्व्यज्ञानदर्शने द्वे अज्ञाने मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपे, द्वे दर्शने चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणे इत्यर्थः । तथा-त एव पूर्वोक्ताश्चत्वार उपयोगाः (अचक्खु त्ति) अचक्षुश्चक्षुर्दर्शनरहिताः सन्तस्त्रयो भवन्ति । केष्वित्याह-(इग त्ति) सामान्यत एकेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियेषु त्रीन्द्रियेषु स्थावरेषु पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतिषु । कोऽर्थः ?-एकद्वित्रीन्द्रियस्थावरेषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाऽचक्षुर्दर्शनरूपास्त्रय उपयोगा भवन्तीत्यर्थः , न शेषाः , यतः सम्यक्त्वाभावान्मतिश्रुतज्ञानाऽसम्भवः, सर्वविरत्यभावाच्च मनःपर्यायज्ञानकेवलज्ञानकेवलदर्शनाऽभावः । यत्पुनरवधिद्विकं विभङ्गज्ञानं च तद्भवप्रत्ययं गुणप्रत्ययं वेति । न चाऽनयोरन्यतरोऽपि प्रत्ययः संभवति , चक्षुर्दर्शनोपयोगाभावस्तु चक्षुरिन्द्रियाभावादेव सिद्धः । तथा-त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञानमज्ञानत्रयं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपं, दर्शनद्विकम्-चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणमित्येते पञ्चोपयोगा भवन्ति । क्वेत्याह-अज्ञानत्रिके मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपे । यत्त्वज्ञानत्रिके अवधिदर्शनं पूर्वाऽऽचार्यैः कुतश्चित्कारणान्नेष्यते, तत्र सम्यगवगच्छामस्तथाविधसंप्रदायाभावात् । अथ च सिद्धान्ते प्रतिपाद्यते , तथा च प्रज्ञप्तिसूत्रं पूर्वदर्शितमेव, तदभिप्रायादस्माभिरपि नोक्तमिति । अभवे अभव्ये, मिथ्यात्वद्विके मिथ्यात्वे सास्वादने च पञ्चोपयोगा अज्ञानत्रिकदर्शनद्विकरूपा न शेषाः, अवदातसम्यक्त्वविरत्यभावादिति ॥ ३२ ॥

केवलदुगे नियदुगं,नव तिअनाण विणु खइयअहखाए ।
दंसणनाणतिगं दे-सि मीसि अन्नाण मीसं तं ॥ ३३ ॥

केवलद्विके केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे निजद्विकं केवलज्ञानं केवलदर्शनरूपमुपयोगद्विकं भवति , न शेषा दश । ज्ञानदर्शनव्यवच्छेदेनैव केवलयुगलस्य सद्भावात् , " नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे " इति वचनात् । तथा क्षायिके सम्यक्त्वे यथाख्याते च संयमे नवोपयोगा भवन्ति । के त इत्याह-अज्ञानत्रिकं मतिश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणं विना । यतः क्षायिकयथाख्यातयोरज्ञानत्रिकं न भवत्येव, तस्य मिथ्यात्वनिबन्धनत्वात् , निर्मूलतो मिथ्यात्वक्षयेणोपशमेन च क्षायिकसम्यक्त्वयथाख्यातोत्पादात् , अत एव तयोर्नवैवोपयोगा भवन्ति । तथा देशे देशविरते षट् उपयोगा भवन्ति । कथमित्याह-दर्शनज्ञानत्रिकं, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सबंधः, दर्शनत्रिकं चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपं, ज्ञानत्रिकं मतिश्रुतावधिज्ञानरूपमिति, न शेषाः, मिथ्यात्वसर्वविरत्यभावात् । मिश्रे तदेव दर्शनज्ञानत्रिकमज्ञानमिश्रं द्रष्टव्यं, मतिज्ञानं मत्यज्ञानमिश्रं श्रुतज्ञानं श्रुताऽज्ञानमिश्रम् , अवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमिश्रं, दर्शनत्रिकं चेति मिश्रेऽपि षडुपयोगाः सिद्धा भवन्ति । इह चावधिदर्शनमागमाभिप्रायेणोच्यते, अन्यथा एतेष्वेव मार्गणास्थानकेषु गुणस्थानकमार्गणायाम्-" अजयाइ नव मइसुओहिदुगे । " इत्युक्तमिति ॥ ३३ ॥

मणनाणचक्खुवज्जा,अणहारि तिन्नि दंसण चऊ नाणा ।
चउनाणसंजमोवस-मवेयगे ओहिदंसे य ॥ ३४ ॥

मनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनवर्ज्जाः शेषा दशोपयोगा अनाहारके भवन्ति । यत्तु मनःपर्यवज्ञानचक्षुर्दर्शनं तच्चाऽनाहारके न संभवति, यतोऽनाहारको विग्रहगतौ केवलसमुद्घातावस्थायां च, न च तदानीं मनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनसम्भव इति । तथा त्रीणि दर्शनानि चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपाणि, चत्वारि ज्ञानानि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायलक्षणानीत्येवं सप्तोपयोगा भवन्ति । क्वेत्याह-चतुःशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाच्चतुर्षु ज्ञानेषु मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानेषु । तथा-चतुर्षु संयमेषु सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपरायेषु, औपशमिके सम्यक्त्वे, वेदके क्षायोपशमिकापरपर्याये, अवधिद्विके अवधिज्ञानावधिदर्शनरूपे, 'चः' समुच्चये । न शेषास्तत्सद्भावे मत्यज्ञानाऽऽदीनामसम्भवात् । इहाप्यवधिदर्शने मत्यज्ञानाऽऽद्युपयोगप्रतिषेधो बहुश्रुताऽऽचार्याभिप्रायापेक्षया द्रष्टव्योऽन्यथा हि मत्यज्ञानाऽऽदिमतामपि सूत्रे साक्षादवधिदर्शनं प्रतिपादितमेव, प्रज्ञप्तिसूत्रं च प्रागेवोक्तमिति ॥ ३४ ॥ उक्ता मार्गणास्थानेषूपयोगाः ।

अथ योगेषु जीवगुणस्थानकयोगोपयोगानधिकृत्य मतान्तरमाह-

दो तेर तेर बारस,मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे ।
चउ दु पण तिन्नि काए, जियगुणजोगोवओगन्ने ॥३५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्ये तु आचार्याः (मणि त्ति) मनोयोगे द्वे जीवस्थानके त्रयोदश गुणस्थानकानि, त्रयोदश योगाः, द्वादशोपयोगा इति इत्थं क्रमेण यथासंख्यमित्यर्थः । अत्रायमभिप्रायः प्राग् योगान्तरसहितोऽसहितो वा स्वरूपमात्रेणैव काययोगाऽऽदिर्विवक्षितस्तेन तत्र यथोक्तगुणस्थानकाऽऽदिवक्तव्यता सर्वाऽप्युपपद्यते । इह तु काययोगाऽऽदियोंगान्तरविरहित एव विवक्ष्यते । यथा मनोयोगवाग्योगविरहितः काययोगः, मनोयोगविरहितो वाग्योगः । ततो मनोयोगे द्वे अन्तिमे जीवस्थानके, अयोगिकेवलिवर्जितानि त्रयोदश गुणस्थानानि, कार्मणौदारिकमिश्रवर्जितास्त्रयोदश योगाः, कार्मणौदारिकमिश्रौ हि काययोगावपर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घातावस्थायां वा । न च तदानीं मनोयोगः, अपर्याप्तावस्थायां मनस एवाभावात्, केवलिसमुद्घातावस्थायां तु प्रयोजनाभावात् । उक्तं च—" मनोवचसी तु तदा सर्वथा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात् " तथा—वचने मनोयोगविरहिते वाग्योगे क्रमादष्टौ जीवस्थानानि पर्याप्तापर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि, द्वे गुणस्थाने मिथ्यात्वसास्वादनलक्षणे, चत्वारो योगाः कार्मणौदारिकमिश्रौदारिकासत्यामृषावाग्योगरूपाः चत्वार उपयोगा मत्यज्ञानश्रुताऽज्ञानचक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणाः । वाग्योगो हि मनोयोगविरहितस्वभावो द्वीन्द्रियाऽऽदिष्वेवाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु सम्भवति नान्येषु । ततो यथोक्तान्येव जीवस्थानकाऽऽदीनि तत्र सम्भवन्ति न ऊनाधिकानि । तथा केवलकाययोगे चत्वारि पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियलक्षणानि जीवस्थानकानि, द्वे आद्ये गुणस्थानके मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणे, पञ्च योगा वैक्रियद्विकौदारिकद्विककार्मणरूपाः, त्रय उपयोगा मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनस्वरूपाः । केवलकाययोगो हि एकेन्द्रियेष्वेवावाप्यते, तत्र जीवस्थानकाऽऽदीनि यथोक्तान्येव घटन्त इति ॥ ३५ अभिहितं योगेष्वेकीयमतम् ।

साम्प्रतं मार्गणास्थानेषु लेश्या अभिधित्सुराह—

छसु लेसासु सठाणं, एगिंदि असंनिभूदगवणेसु ।
पढमा चउरो तिन्नि उ, नारयविगलग्गि पवणेसु ॥३६॥

षड्लेश्यासु स्वस्थानम् स्वाः स्वाः लेश्या भवन्ति,यथा कृष्णलेश्यायां कृष्णलेश्या इत्यादि । सामान्यत एकेन्द्रियेषु असंज्ञिभूदकवनेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु प्रथमाः कृष्णनीलकापोततेजोलेश्याश्चतस्रो भवन्ति, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवा हि स्वस्वभवच्युता एतेषु मध्ये समुत्पद्यन्ते,ते च तेजोलेश्यावन्तः, जीवश्च यल्लेश्य एव म्रियते अग्रेऽपि तल्लेश्य एवोत्पद्यते, "जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ ।" इति वचनात् । तत एतेषामपर्याप्तावस्थायां कियत्कालं तेजोलेश्या भवति; नारकेषु विकलेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु, अग्निषु तेजस्कायेषु,पवनेषु वायुकायिकेषु,प्रथमास्तिस्रः कृष्णनीलकापोतलेश्या भवन्ति नान्याः, प्रायोऽमीषामप्रशस्ताध्यवसायस्थानोपेतत्वात् ॥ ३६ ॥

अहखायसुहुमकेवल-दुगि सुक्का छावि सेसठाणेसुं ।
नरनिरयदेवतिरिया, थोवा दु असंखऽणंतगुणा ॥३७॥

यथाख्यातसंयमे, सूक्ष्मसम्परायसंयमे च,केवलद्विके-केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे शुक्ललेश्यैव न शेषलेश्याः, यथाख्यातसंयमाऽऽदावेकान्तविशुद्धपरिणामभावात् तस्य च शुक्ललेश्याऽविनाभूतत्वात् । शेषस्थानेषु सुरगतौ तिर्यग्गतौ पञ्चेन्द्रियत्रसकाययोगत्रयवेदत्रयकषायचतुष्टयमतिज्ञानश्रुतज्ञानावधि – ज्ञानमनःपर्यायज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानसामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकदेशविरताविरतचक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनभव्याभव्यक्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकसास्वादनमिश्रमिथ्यात्वसंज्ञ्याहारकाऽनाहारकलक्षणेषुच- त्वारिंशत्सु शेषमार्गणास्थानकेषु षडपि लेश्याः । उक्ता मार्गणास्थानेषु लेश्याः । कर्म० ४ कर्म० । (अल्पबहुत्वविषयः ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६३६ पृष्ठे गतः ।)

मग्गणा—मार्गणा—स्त्री० । ' मृग ' अन्वेषणे । अशेषसत्त्वापीडयाऽन्वेषणे, ओघ० । पिं० । निपुणबुद्ध्याऽन्वेषणे , पिं० । मार्गणं जीवाऽऽदीनां पदार्थानामन्वेषणं सैव मार्गणा । प्रव० २२५ द्वार । अन्वयधर्मान्वेषणे , नं० । आ०म० । "चउव्विधा मग्गणा, तीए इमो दिट्ठंतो ताव भण्णति–चउव्विहं पुण मग्गणं भणितं , तत्थ दिट्ठंतो घडो , णो घडो, अघडो, संपुण्णो घडो । तस्सेव देसो णो घडो घडवतिरित्तं दव्वं, अघडो णो अघडो घडदेसो न व्यतिरिक्तं च अण्णं दव्वं,एवं णमोक्कारस्स वि चतुव्विधा मग्गणा ।" आ० चू० १ अ० । विशे० । नं० । याचने, आव० ४ अ० ।

मग्गणास—मार्गनाश—पुं० । ज्ञानाऽऽदेर्मोक्षमार्गस्य नाशे, द० शं० ३ तत्त्व ।

मग्गणुसारि—मार्गानुसारिन्—पुं० । ज्ञानाऽऽदित्रयानुसारिणि, पञ्चा० ११ विव० । षो० ।

मग्गत्थ—मार्गस्थ—पुं० । सद्भिराचीर्णमार्गव्यवस्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

मग्गद(य)—मार्गद—पुं० । मार्गो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रवणस्वरसवाही क्षयोपशमविशेषस्तं ददातीति मार्गदः । रा० । इह मार्गो भुजङ्गमनलिकाऽऽयामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रवणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषः, हेतुस्वरूपफलशुद्धा सुखेत्यन्ये, असिन्नसति न यथोचितगुणस्थानावाप्तिः, मार्गविषमतया चेतःस्खलनेन प्रतिबन्धोपपत्तेः, मार्गश्च भगवद्भ्य एवेति, मार्गं ददतीति मार्गदाः । ध० २ अधि० ।

मार्गदय—पुं० । मार्ग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मकं परमपदपुरपथं दयत इति मार्गदयः । स० १ सम० । भ० । औ० । जी० । मोक्षमार्गस्य दायके जिने, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

मग्गदूसग—मार्गदूषक—पुं० । ज्ञानाऽऽदिमार्गविराधके,पं०व० ।

मार्गदूषकमाह—

णाणाइतिविहमग्गं, दूसइ जो जे अ मग्गपडिवन्ने ।
अबुहो जाईए खलु, भण्णइ सो मग्गदूसो त्ति ॥१६५७॥

ज्ञानाऽऽदित्रिविधमार्गं पारमार्थिकं दूषयति यः कश्चित् ये च मार्गप्रतिपन्नाः साधवस्तांश्च दूषयति अबुधः-अविद्वान् जात्यैव परमार्थेन भण्यते, स चैवंभूते मार्गदूषकः पाप इति । पं० व० ४ द्वार ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ मार्गदूषणमाह—

नाणाऽऽदितिविहमग्गं, दूसयए जे य मग्गपडिवन्ना ।
अबुहो पंडियमाणी, समुट्ठितो तस्स घायाए ॥

ज्ञानाऽऽदिकं त्रिविधं पारमार्थिकमार्गं स्वमनीषाकल्पितैर्झातिदूषणैर्दूषयति, ये च तस्मिन् मार्गे प्रतिपन्नाः साध्वादयस्तानपि दूषयति अबुधस्तु ज्ञानविकलः, पण्डितमानी दुर्विदग्धः, समुत्थित उद्यतः, तस्य पारमार्थिकमार्गस्य घाताय—निर्लोठनायेत । एषा मार्गदूषणा । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

मग्गदूसण—मार्गदूषण—न० । भावमार्गस्य तत्प्रतिपन्नसाध्वादीनां च दूषणे, ध० ३ अधि० ।

मग्गदेसणा—मार्गदेशना—स्त्री० । ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणस्य मुक्तिपथस्य देशने, कर्म० १ कर्म० । पं० चू० ।

मग्गपडिवत्तिहेउ—मार्गप्रतिपत्तिहेतु—पुं० । शिवपथाऽऽश्रयकारणे, पञ्चा० १६ विव० ।

मग्गभंग—मार्गभङ्ग—पुं० । पदवीलोपे, जी० १ प्रति० ।

मग्गवडिय—मार्गपतित—पुं० । मार्गश्चेतसोऽवक्रगमनभुजङ्गनलिकाऽऽयामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषस्तत्र प्रविष्टो मार्गपतितः । भव्ये, विशे० । ल० । यो०वि० । ध० । द्वा० ।

मग्गविउ—मार्गवित्—पुं० । मार्गज्ञे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

मग्गविप्पडिवत्ति—मार्गविप्रतिपत्ति—स्त्री० । उन्मार्गप्रतिपत्तौ, बृ० ।

मार्गविप्रतिपत्तिमाह—

जो पुण तमेव मग्गं, दूसेउमपंडिओ सतक्काए ।
उम्मग्गं पडिवज्जइ, अकोविअप्पा जमालि व्व ॥५२६॥

पुनस्तमेव पारमार्थिकं मार्गम् असद्भिर्दूषयित्वा अपण्डितः सद्बुद्धिरहितः सन् स्वतर्कया—स्वकीयमिथ्यात्वविकल्पेन देशत उन्मार्गं प्रतिपद्यते अकोविदात्मा सम्यक्शास्त्रार्थपरिज्ञानविकलो, जमालिवत् , यथाऽसौ भगवद्वचनं क्रियमाणं कृतमिति दूषयित्वा कृतमेव कृतमिति प्रतिपन्नवान्, एषा मार्गविप्रतिपत्तिः । बृ० १ उ० २ प्रक० । पं०व० । ध० । (जमालेः शास्त्रार्थविषयः ' जमालि ' शब्दे चतुर्थभागे १४०८ पृष्ठे गतः ।)

मग्गसार—मार्गसार—पुं० । मार्गपरमार्थे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

मग्गसिर—मार्गशीर्ष—पुं० । मृगशिरोनक्षत्रयुक्तपौर्णमासीघटिते मासभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । आ०म० । आचा० ।

मग्गसिरकीड—मार्गशीर्षकीट—पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

मग्गसिरी—मार्गशीर्षी—स्त्री० । मृगशिरसि भवाऽमावास्या पूर्णिमा वा । मार्गशीर्षमासभाविन्यां पूर्णिमायाम्,अमायां च । चं० प्र० १० पाहु० ५ पाहु०पाहु० ।

मग्गाइकंत—मार्गातिक्रान्त—न० । अर्द्धयोजनमतिक्रान्ते, भ० ।

जे णं णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा ०जाव साइमं पडिग्गाहित्ता परं अद्धजोयणमेराए वीइक्कमावइत्ता आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! मग्गाऽइक्कंते पाणभोयणे । भ० ७ श० १ उ० ।

मग्गाऽणुसारिणी—मार्गानुसारिणी—स्त्री० । आगमनीत्या वीणाऽऽद्यनुसारिण्यां क्रियायाम् , ध० र० ।

मग्गो आगमनीई, अहवा संविग्गबहुजणाऽऽइन्नं ।
उभयाणुसारिणी जा, सा मग्गऽणुसारिणी किरिया ।८०।

मृग्यतेऽन्विष्यतेऽभिमतस्थानावाप्तये पुरुषैर्यः स मार्गः; स च द्रव्यभावभेदाद् द्वेधा-द्रव्यमार्गो ग्रामाऽऽदेः; भावमार्गो मुक्तिपुरस्य, सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः क्षायोपशमिकभावरूपो वा, तेनेहाधिकारः, स पुनः कारणे कार्योपचारादागमनीतिः सिद्धान्तभणिताऽऽचारः । अथवा-संविग्नबहुजनाऽऽचीर्णमिति द्विरूपोऽवगन्तव्य इति । ध० र० ३ अधि० १ लक्ष० ।

मग्गाणुसारित्त—मार्गानुसारित्व—न० । आमपारतन्त्र्ये, पं० व० २ द्वार । प्रति० । सर्वत्र दक्षिणवर्तितायाम् , पं०व० ४ द्वार । सिद्धिपथमुत्कलवृत्तिचारित्रे , पञ्चा० ११ विव० । ज्ञानाऽऽदित्रयानुसारितायाम् , षो० १ विव० ।

मग्गाणुसारिया—मार्गानुसारिता—स्त्री० । ल० । असद्ग्रहविजयेन तत्त्वानुसारितायाम्, ध० २ अधि० । मोक्षमार्गानुसरणे , पञ्चा० ४ विव० ।

मग्गाणुसारियाभाव—मार्गानुसारिताभाव—पुं० । सिद्धिपथानुकूलाध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

मग्गाभिमुह—मार्गाभिमुख—पुं० । मार्गश्चेतसोऽवक्रगमनं भुजङ्गनलिकाऽऽयामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रवणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषहेतुस्वरूपफलशुद्धयभिमुख इत्यर्थः,तदभिमुखभावाऽऽपन्नो मार्गाभिमुखः । ध० १ अधि० । यो० विं० । मार्गप्रवेशयोग्यभावाऽऽपन्ने, द्वा० १४ द्वा० ।

मग्गिऊण—मार्गयित्वा—अव्य० । अन्विष्येत्यर्थे, नि० चू०२ उ० ।

मग्गु—मद्गु—पुं० । । "क-ग-ट-ड-त-द—प—श-ष-स-×क—×पामूर्द्ध्वं लुक्" ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति दलुक् । लोपे गस्य द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । जलवायसे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

मग्गुग—मद्गुक—पुं० । जलवायसे, जं० २ वक्ष० ।

मघ—मघ—पुं० । महामेघे , प्रज्ञा० २ पद । आ० म० ।

मघमघंत—मघमघायमान—त्रि० । अतिशयेन सुरभौ , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । चं० प्र० । आ०म० । रा० । बहुलगन्धे , स० । बहुलसौरभ्ये , स० ३४ सम० । औ० ।

मघवं—मघवत्—पुं० । मघाः—महामेघास्तेऽस्य वशे सन्त्यसौ मघवान् । भ० ३ श० २ उ० । जी० । इन्द्रे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । आ०म० । भारते वर्त्तमानाऽवसर्पिणीतृतीयचक्रवर्तिनि, ति० । स० ।

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिए ।
पव्वज्जमब्भुवगओ, मघवं नाम महायसो ॥ ३६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुनर्मघवानामा तृतीयचक्रवर्त्ती प्रव्रज्यां दीक्षाम् अभ्युपगतः चारित्रं प्राप्तः, कीदृशो मघवा ?, महर्द्धिकः चतुर्दशरत्ननवनिधानधारको वैक्रियर्द्धिधारी वा, पुनः कीदृशो ?, महायशाः विस्तीर्णकीर्त्तिः। अत्र मघवाऽऽख्यस्य चक्रिणः दृष्टान्तः—इहैव भरतक्षेत्रे श्रावस्त्यां नगर्यां समुद्रविजयस्य राज्ञो भद्रादेव्याः, कुक्षौ चतुर्दशमहास्वप्नसूचितो मघवानामा समुत्पन्नः स च यौवनस्थो जनकेन वितीर्णराज्यः क्रमेण प्रसाधितभरतक्षेत्रस्तृतीयश्चक्रवर्ती जातः, सुचिरं राज्यमनुभवतस्तस्य अन्यदा भवविरक्तता जाता, स एवं भावयितुं प्रवृत्तः—येऽत्र प्रतिबन्धहेतवो रमणीयाः पदार्थाः ते अस्थिराः। उक्तं च—

" हियइच्छिया उ दारा,सुआ विणीया मणोरमा भोगा।
विउला लच्छी देहो, निरामओ दीहजीवित्तं ॥ १ ॥
भवपडिवंधनिमित्तं,एगाइवत्थु नवरस व्वं पि।
कइवयदिणावसाणे, सुमिणो भोगु व्व न हि किंचि ॥२॥"

ततोऽहं धर्मकर्मणि उद्यमं करोमि, धर्म एव भवान्तरानुगामी, एवमादिकं परिभाव्य पुत्रनिहितराज्यो मघवा चक्री परिव्रजन् कालक्रमेण विविधतपश्चरणेन कालं कृत्वा सनत्कुमारे कल्पे गत इति। उत्त० १८ अ०। क्वचिदन्यत्राऽपि नस्य मः। "भवद्भगवतोः" ॥८।४।२६५॥ इतिसूत्रप्राप्तमित्यर्थः, " मघवं पागसासणे।" प्रा० ४ पाद।

मघा–मघा–स्त्री०। पितृदेवके नक्षत्रे, सू० प्र० १० पाहु० ५ पाहु० पाहु०। जं०। षष्ठनरकपृथ्व्याम्, स्था० ७ ठा०। तमिस्रतया षष्ठनरकपृथ्वीतुल्यत्वात् कृष्णराजौ , भ० ६ श० ५ उ०।

मघोण–मघवन्–पुं०। मघा महामेघास्तेऽस्य वशे सन्त्यसौ मघवान्। उत्त० २ अ०। गोणाऽऽदित्वाद् रूपसिद्धिः। इन्द्रे, प्रा० २ पाद। तृतीयचक्रवर्तिनि, प्रव० २०८ द्वार।

मच्च–मद्–धा०। हर्षे, " व्रजनृतमदां च्चः " ॥ ८ । ४ । २२५ ॥ इत्यन्त्यस्य द्विरुक्तश्चः (च्च)। मच्चइ। माद्यति। प्रा० ४ पाद।

मच्चिय–मर्त्य–पुं०। मनुष्ये मरणधर्मिणि, आचा० १ श्रु०३ अ० २ उ०। मर्त्येषु भवे, त्रि०। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। " मणुआ नरा मणुस्सा; मच्चा तह माणवा पुरिसा। " (१००) पाइ० ना० ६० गाथा।

मच्चु–मृत्यु–पुं०। व्याधिकल्पे, पं० सू० २ सूत्र। यमराक्षसे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। उत्त०। मरणे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। प्रश्न०। उत्त०।

मच्चुंजय–मृत्युञ्जय–पुं०। परमेष्ठिनि, शिवे च। यो० विं०।

मच्चुग्घ–मृत्युघ्न–पुं०।मृत्युञ्जयजपोपेते चित्रतपसि,यो०विं०।

अथ तत्तपः प्राऽऽह—

तपोऽपि च यथाशक्ति, कर्त्तव्यं पापतापनम्।
तच्च चान्द्रायणं कृच्छ्रं, मृत्युघ्नं पापसूदनम् ॥ १३१ ॥

तपोऽपि च, किं पुनः प्रागुक्तमनुष्ठानम्। यथाशक्ति यस्य यावती शक्तिस्तया कर्त्तव्यं विधेयम्। कीदृशमित्याह-पापतापनं स्मृत्यादिप्रसिद्धं तथाविधापराधवशमुत्पन्नाऽशुभकर्म्मतापकारि, तच्च तत्पुनश्चान्द्रायणं, कृच्छ्रं, मृत्युघ्नं, पापसूदनम् इति चतुष्प्रकारम् ॥ १३१ ॥ यो० विं०।

मासोपवासमित्याहु–र्मृत्युघ्नं तु तपोधनाः।
मृत्युञ्जयजपोपेतं, परिशुद्धं विधानतः ॥ १३४ ॥

मासं यावदुपवासो यत्र तत्तथा, इत्येतदाहुः-उक्तवन्तो मृत्युघ्नं तु मृत्युघ्ननामकं पुनस्तपः, तपोधनास्तपःप्रधानमुनयो, मृत्युञ्जयजपोपेतं पञ्चपरमेष्ठिनमस्काराऽऽदिरूपमृत्युञ्जयसंज्ञमन्त्रस्मरणसमन्वितम् , परिशुद्धमिहलोकाऽऽशंसाऽऽदिपरिहारेण विधानतः कषायनिरोधब्रह्मचर्यदेवपूजाऽऽदिरूपाद्विधानात् ॥ १३४ ॥ यो०विं०।

मच्चुभय–मृत्युभय–न०। मरणभीतौ, औ०।

मच्चुमुह–मृत्युमुख–न०। मृत्युवदने,"णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि।" आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। (अत्र व्याख्या ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभागे २६६७ पृष्ठे गता।)

मच्छ–मत्स्य– पुं०। पृथुरोमणि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। मीने, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

तिविहा मच्छा पण्णत्ता। तं जहा–अंडया, पोयया, संमुच्छिमा। अंडया मच्छा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा–इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा। पोयया मच्छा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा–इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा। (सूत्र १२६)

अण्डाज्जाता अण्डजाः, पोतं वस्त्रं तद्वज्जरायुवर्ज्जितत्वाज्जाताः, पोतादिव वा बोहित्थाज्जाताः पोतजाः, संमूर्च्छिमा अगर्भजा इत्यर्थः, सम्मूर्च्छिमानां स्त्र्यादिभेदो नास्ति, नपुंसकत्वात्तेषामिति, स सूत्रे न दर्शित इति। स्था० ३ ठा० १ उ०। सूत्र०। रा०। जं०। उत्त०। "सउला सहरा मीणा, तिमी झसा अणिमिसा मच्छा। (६०)"पाइ० ना० ४० गाथा। मकरे, भ० १२ श० ६ उ०। चं० प्र०।

से किं तं मच्छा ? मच्छा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा–सण्हमच्छा खवल्लमच्छा जुंगमच्छा विज्झडियमच्छा हलिमच्छा मगरिमच्छा रोहियमच्छा हलीसागरा गागरा वडा वडगरा गब्भया उसगारा तिमितिमिंगिला णक्का तंडुलमच्छा कणिक्कामच्छा सालिसत्थियामच्छा लंभणमच्छा पडागा पडागाइपडागा, जे यावन्ने तहप्पगारा सेत्तं मच्छा। प्रज्ञा० १ पद। जी०।

महामत्स्यभूत्पन्नस्य तन्दुलमत्स्यस्य गर्भस्थितिरान्तर्मुहूर्तिक्यायुःस्थितिरप्यान्तर्मुहूर्तिकी , तत्कथं मिलतीति प्रश्ने, उत्तरम्—महामत्स्यभूत्पन्नमत्स्यस्य गर्भस्थितिरायुःस्थितिश्चैकस्मिन्नेवान्तर्मुहूर्ते भवति, परं गर्भस्थितेरन्तर्मुहूर्त्तस्य लघुत्वान्न किमप्यनुपपन्नम्। किं च—नवसमयादारभ्य घटिकाद्वयं यावदन्तर्मुहूर्त्तं, तस्यासंख्येयभेदत्वाल्लघुत्वमिति ॥ १५० प्र० ॥ सेन० २ उल्ला०। समुद्रमध्ये मत्स्यो जातिस्मरणेन कृत्वा सम्यक्त्वं देशविरतिं च प्राप्नोति, ते प्राप्य पश्चात्तत्कालमनशनं करोति किं वा कियत्कालं सम्यक्त्वदेशविरती आराधयतीति प्रश्ने, उत्तरम्—कश्चित्तत्कालमनशनमुच्चरति, कश्चिच्च कालान्तरेणोच्चरतीति ज्ञायते, निश्चयादक्षराणि तु न दृष्टानीति। ५ प्र०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेन० ४ उल्ला०।

मत्त(क)—न०। मस्तके, कल्प० १ अधि० १ क्षण।

मच्छंडग—मत्स्याऽण्डक—पुं०। मीनाण्डे, आ० म० १ अ०।

मच्छंडिया—मत्स्यण्डिका—स्त्री०। खण्डशर्करायाम्, जं० २ वक्ष०। प्रश्न०। जी०। अनु०। प्रज्ञा०।

मच्छंडी—मत्स्याण्डी—स्त्री०। खण्डशर्करायाम्, जं० २ वक्ष०। जी०।

मच्छंध—मत्स्यबन्ध—पुं०। कैवर्त्ते, व्य० ३ उ०। स्था०। विपा०।

मच्छखल—मत्स्यखल—न०। यत्र संखडीनिमित्तं मत्स्यं छित्त्वा छित्त्वा शोष्यते शुष्को वा पुञ्जीकृत आस्ते। तादृशे स्थाने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ०। नि० चू०।

मच्छखाय—मत्स्यखाद—पुं०। नदीह्रदसमुद्रेषु वसतां मत्स्यानां खादके, नि० चू० ६ उ०।

मच्छमगर—मत्स्यमकर—पुं०। मकरभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

मच्छर—मत्सर—पुं०। असहनयुक्ताहङ्कारे, अष्ट० २२ अष्ट०। परसम्पदसहिष्णुतायम्, प्रव० ४१ द्वार। मत्सरः कोपः यथा साधुभिर्याचितः कोपं करोति, सदपि मार्गितं न ददाति। अथवा-अनेन तावद्रङ्केण याचितेन दत्तं, किमहं ततो न्यूनः, ? इति मात्सर्याद्ददाति 'अत्र परोन्नतिवैमनस्यं मात्सर्यं, यदुक्तमनेकार्थसंग्रहे श्रीहेमसूरिभिः—"मत्सरः परसंपत्त्य-क्षमायां तद्वति क्रुधि।" इति तृतीयः ३। (५८ श्लोक) ध० २ अधि०। स्था०। सूत्र०। कोपे, प्रव० ६ द्वार।

मच्छरसिय—मत्स्यरसित—त्रि०। मत्स्यरससंसृष्टे, विपा० १ श्रु० ८ अ०।

मच्छरित्त—मत्सरित्व—न०। परगुणानामसहने, प्रश्न० ३ संव० द्वार। परप्रशंसाऽसहिष्णुत्वे, षो० ४ विव०।

मच्छरिय—मात्सर्य—न०। परगुणाऽसहिष्णुत्वे, आव० ६ अ०।

मच्छरिया—मत्सरिकता—स्त्री०। मत्सरोऽसहनं साधुभिर्याचितस्य कोपनं, तेन रङ्केण याचितेन दत्तमहं तु किं ततोऽपि हीन इत्यादिविकल्पो वा, सोऽस्यास्तीति मत्सरिकस्तद्भावो मत्सरिकता। पञ्चा० १ विव०। आ० चू०। मत्सरः कोपः, स विद्यते यस्येति मत्सरिकस्तस्य भावो मत्सरिकता, तया ददाति चरति व्रतम्, कोऽभिप्रायः ?, मार्गितः सन् कुप्यति, सदपि वस्तु न ददातीति। अथवा-अनेन तावद् द्रमकेण मार्गितेन दत्तं मुनिभ्यः, किमहं ततोऽपि निकृष्ट इति मात्सर्यात् परगुणासहनलक्षणाद्ददतोऽतिचारश्चतुर्थः। तथा-कालस्य साधूनामुचितभिक्षासमयस्यातीतमतिक्रमः, अदित्सयाऽनागतभोजनपश्चाद्भोजनद्वारेणोल्लङ्घनं कालातीतम्। अयं भावः—उचितो यो भिक्षाकालः साधूनां, तं लङ्घयित्वा प्रथमं वा भुञ्जानस्य गृहीतातिथिसंविभागनियमस्यातिचारः पञ्चमः। एते दोषा अतिथिविभागेऽतिथिसंविभागव्रते इति। प्रव० ६ द्वार। परगुणाऽसहिष्णुतायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ०। अपरेणेदं दत्तं किमहं तस्मादपि कृपणो हीनो वाऽतोऽहमपि ददामीत्येवं दानप्रवर्त्तकविकल्पे, उपा० १ अ०।

मच्छल—मत्सर—पुं०। "ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले" ॥ ८। २१ ॥ इति त्सस्य च्छः। रस्य लः। मच्छलः। परगुणाऽसहने, प्रा० २ पाद।

मच्छसंपुल—मत्स्यसंपुल—पुं०। दधिवाहनस्य कञ्चुकिनि, नि० चू० १ उ०।

मच्छिय—माक्षिक—न०। मधुनि, आव० ६ अ०। विशे०। मात्स्यिक—पुं०। मत्स्याः पण्यमस्येति मत्स्यैश्चरति वा। कैवर्त्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

मच्छियमल्ल—मात्सिकमल्ल—पुं०। अट्टनमल्लस्य सोपारकनगरे युद्धे पराजेतरि स्वनामख्याते मल्ले, उत्त० ४ अ०। तं०। आ० चू०। ज्ञा०। आव०।

मच्छिया—मक्षिका—स्त्री०। "छोऽक्ष्यादौ" ॥ ८। २। १७ ॥ इति क्षस्य च्छः। प्रा० २ पाद। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त० २ अ०। नि० चू०। "मच्छियाचडगरपहकरेणं।" मक्षिकानां प्रसिद्धानां चटकरप्रधानो विस्तरवान् प्रसरकः समूहः तथा। अथवा-यद्वा-मक्षिकाणां चटकराणां तद्वृन्दानां यः प्रहरकः स तथा। विपा० १ श्रु० १ अ०।

मच्छुव्वत्त—मत्स्योद्वृत्त—न०। वन्दनकदोषभेदे, वृ०।

अष्टमं दोषमाह—

उट्ठित्त णिवेसंतो, उव्वत्तति मच्छउ व्व जलमज्झे।
वंदिउकामो वऽण्णं, झसो व्व परियत्तती तुरियं ॥

उत्तिष्ठन्निविशमानो वा जलमध्ये मत्स्य इवोद्वर्त्तते उद्वेल्लयति यत्र तन्मत्स्योद्वृत्तम्। अथवा-एकमाचार्याऽऽदिकं वन्दित्वा तत्समीप एवापरं वन्दनार्हं कञ्चन वन्दितुमिच्छं तत्समीपं जिगमिषुरुपविष्ट एव झष इव त्वरितमङ्गं परावृत्त्य यत्र गच्छति तद्वा मत्स्योद्वृत्तम्। वृ० ३ उ०। आव०। आ० चू०।

मच्छेसणा—मत्स्यैषणा—स्त्री०। मत्स्यप्राप्तौ, "मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं।" सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

मज्ज—मद्य—न०। "द्य-य्य-र्यां जः" ॥ ८। २। २४ ॥ इति संयुक्तस्य द्यस्य जः। प्रा० २ पाद। गुडधातकीप्रभवे (उपा० ८ अ०) मधुनि, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। सुराऽऽदौ, स्था० ६ ठा०। मदिरायाम्, ध० २ अधि०। "मज्जं पुण कट्ठपिट्ठणिप्फन्नं" स्था० ४ ठा० १ उ०। मद्यं द्विभेदं काष्ठपिष्टनिष्पन्नत्वेन। प्रव० ४ द्वार। पं० व०। औ०। प्रश्न०। "चित्तभ्रान्तिजार्यते मद्यपाना-च्चित्तभ्रान्तेः पापचर्यामुपैति। पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढा-स्तस्मान्मद्यं नैव पेयं न देयम्। १ ॥" स्था० ४ ठा० १ उ०। ज्ञा०।

मद्यं पुनः प्रमादाङ्गं, तथा सच्चित्तनाशनम्।
संधानदोषवत्तत्र, न दोष इति साहसम् ॥ १ ॥

मदयतीति मद्यं सीधु, पुनःशब्दः पूर्ववाक्यार्थापेक्षयोत्तरवाक्यार्थस्य विशेषद्योतनार्थः। तथाहि—मांसं जीवसंसक्तिनिमित्तं, मद्यं पुनः प्रमादाङ्गं प्रमदनं प्रमादोऽशुभजीवपरिणामविशेषस्तस्याङ्गं कारणम्। अथवा-प्रमादो मद्याऽऽदिः यदाह—"मज्जं विसय कसाया, निद्दा विगहा य पंचमी भणिया। एए पंच पमाया, जीवं पाडेंति संसारे ॥ १ ॥" तस्याङ्गमवयवः पञ्चावयवरूपत्वात्तस्य, तथेति विशेषणसमुच्चये, सच्छुभं यच्चित्तं मनः, तन्नाशयति प्रध्वंसयतीति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सच्चित्तनाशनम्, तथा सन्धाने जलमिश्रितबहुद्रव्यसंस्थापने ये दोषा जीवसंसक्त्यादयस्ते विद्यन्ते यत्र तत्संधानदोषवत्, यद्येवंविधं मद्यं, तत्र मद्ये (न)नास्ति दोषो दूषणं कर्मबन्धादित्येवं वदत इति गम्यते । साहसं धाष्टर्थम् । अथवा-तत्र मद्ये गुडधातक्यादिसंधानरूपे न दोषोऽस्ति पापप्राप्तिलक्षणः । क इवेत्याह-सन्धानदोषवत् काञ्जिकाऽऽदिसन्धानदोषवत् । अयमभिप्रायः, यथा-आरनालाऽऽदौ सन्धानवति पीयमाने कर्म्मबन्धलक्षणो दोषो नास्त्येवं मद्येऽपि दोषो नास्तीति एतद्वदतस्तस्य च साहसत्वं, चित्तभ्रमनिबन्धनानामतिबहूनां मद्यपानदोषाणां प्रत्यक्षत एवोपलभ्यमानत्वात् ।

यथोक्तम्—

"वैरूप्यं व्याधिपिण्डः स्वजनपरिभवः कार्यकालातिपातो,
विद्वेषो ज्ञाननाशः स्मृतिमतिहरणं विप्रयोगश्च सद्भिः ।
पारुष्यं नीचसेवा कुलबलतुलना धर्मकामार्थहानिः,
कष्टं भोः षोडशैते निरुपचयकरा मद्यपानस्य दोषाः ।१।" इति ।

अथवा कियन्तस्ते दर्शयिष्यन्त इत्याह—

किं चेह बहुनोक्तेन, प्रत्यक्षेणैव दृश्यते ।
दोषोऽस्य वर्त्तमानेऽपि, तथा भण्डनलक्षणः ॥ २ ॥

किमिति प्रतिषेधे, ततश्च न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः स्यात्, वाशब्दोऽयथार्थः । इह मद्यपानदूषणविषये, बहुना-प्रभूतेन, उक्तेन भणितेन, 'मद्यं पुनः प्रमादाङ्गम्'(१) इत्यादिना यतः प्रत्यक्षेणैव, एवशब्दस्यापिशब्दार्थत्वादध्यक्षप्रमाणेनापि, न केवलमनुमानाऽऽदिना, दृश्यते उपलभ्यते, दोषो दूषणम् अस्य मद्यपानस्य, वर्तमानेऽपि काले, न केवलमतीतकाले द्वारकावतीदाहाऽऽदि श्रूयते, तथा तत्प्रकारं सदर्पासमञ्जसवचनप्रसरमुपपतत्प्रभूतप्रहरणप्रहारमुपरममाणनरविसरं यद्भण्डनं संग्रामस्तदेव लक्षणं रूपं यस्य स तथेति ॥ २ ॥

न केवलं प्रत्यक्षगोचरा मद्यपानस्य दोषाः, श्रुतगोचरा अपीत्येतद्दर्शयितुमाह—

श्रूयते च ऋषिर्मद्यात्, प्राप्तज्योतिर्महातपाः ।
स्वर्गाङ्गनाभिराक्षिप्तो, मूर्खवन्निधनं गतः ॥ ३ ॥

श्रूयते च पुराणकथासु आकर्ण्यते च, न केवलं भण्डनमेव दृश्यते । कोऽसौ श्रूयते?, इत्याह-ऋषिर्मुनिर्विसन्धिश्चेह(?)विशेषलक्षणान्मद्यात्-सीधुनः सकाशान्निधनं गत इति संबन्धः । किंविशिष्टोऽसावित्याह—प्राप्तमवाप्तं ज्योतिस्तेजो ज्ञानरूपमष्टविधमहर्द्धिरूपं वा येन स प्राप्तज्योतिः कथमित्याह-यतो महातपाः । पुनः किम्भूतः ?, सन्नित्याह-स्वर्गाङ्गनाभिः नाकनितम्बिनीभिराक्षिप्त आवर्जितः सन् मूर्खवद् बालिश इव, निधनं विनाशं गतः प्राप्त इति ॥ ३ ॥

एतदेव दर्शयन् श्लोकपञ्चकमाह—

कश्चिद् ऋषिस्तपस्तेपे, भीत इन्द्रः सुरस्त्रियः ।
क्षोभाय प्रेषयामास, तस्याऽऽगत्य च तास्तकम् ॥ ४ ॥
विनयेन समाराध्य, वरदाभिमुखं स्थितम् ।
जगुर्मद्यं तथा हिंसां, सेवस्वाऽब्रह्म वेच्छया ॥ ५ ॥
स एवं गदितस्ताभि-र्द्वयोर्नरकहेतुताम् ।
आलोच्य मद्यरूपं च, शुद्धकारणपूर्वकम् ॥ ६ ॥
मद्यं प्रपद्य तद्भोगा-न्नष्टधर्मस्थितिर्मदात् ।
विदंशार्थमजं हत्वा, सर्वमेव चकार सः ॥ ७ ॥
ततश्च भ्रष्टसामर्थ्यः, स मृत्वा दुर्गतिं गतः ।
इत्थं दोषाऽऽकरो मद्यं, विज्ञेयं धर्मचारिभिः ॥ ८ ॥

एषां गमनिका-कश्चित् कोऽप्यनिर्दिष्टनामा ऋषिर्बालतपस्वी किल महाटव्यां वसन् तपः-अनशनाऽऽदिकम् अतिघोरं तपस्तेपे तप्यते स्म दिव्यं वर्षसहस्रं यावत्, ततो भीवतो महत्तपोऽनेन कृतं मामितो नाकिनिकायनायकपदाद् पातयिष्यतीति भावनया भयमुपगत इन्द्रः शतमखः, ततः सुरस्त्रियः नाकिनितम्बिनीस्तिलोत्तमाप्रमुखाः क्षोभाय क्षोभणनिमित्तं तस्येत्यस्येह संबन्धात्तस्य-ऋषेः प्रेषयामास स्वर्गात्तत्राटव्यां प्रेषितवान् । ताश्च तत्तेजसा तद्वनप्रवेशं कर्तुमशक्नुवन्त्यो वनाद्बहिस्तदभिमुखहृतविकासितकुसुमप्रकारा मस्तकन्यस्तहस्तकमलसंपुटमतिप्रणम्य तद्गतगुणगानप्रधाननृत्यप्रबन्धं विदधुः । ततोऽसौ तदाक्षिप्तान्तःकरणश्चित्रलिखित इव बभूव । ततस्तत्समीपमुपजग्मुः । आगत्य स च समीपीभूय च ताः सुरस्त्रियः तकम्-ऋषिम् ॥४॥ विनयेन विविधचाटुवचनाञ्जलिकरणपादपतनाऽऽदिना समाराध्य प्रसन्नमानसं विधाय वरस्याभिलषितार्थस्य दानं वरदानं तस्य अभिमुखस्तं स्थितं सञ्जातं जगुर्नानाविधशपथदानपुरस्सरमुक्तवत्यो, यदुत मद्यं मधु, तथेति समुच्चये, हिंसां प्राणिवधं, सेवस्व भजस्व, अब्रह्म वा मैथुनं वा वाशब्दो विकल्पार्थः, इच्छया इष्ट्या यदेते तदित्यर्थः ॥५॥ स ऋषिरेवमनेन प्रकारेण गदितोऽभिहितस्ताभिः सुरस्त्रीभिर्द्वयोर्हिंसाऽब्रह्मणोर्नरकहेतुतां निरयबन्धनताम् आलोच्य स्वशास्त्रानुसारेण निश्चित्य, तथा मद्यरूपं मदिरास्वभावं, चशब्द आलोच्येति क्रियाऽनुकर्षणार्थः । किंविधमित्याह-शुद्धानि निर्दोषाणि कारणानि निमित्तानि गुडधातकीजलप्रभृतीनि, पूर्वं मद्यावस्थायाः प्राक्काले यस्य तत्तथा ॥६॥ ततो मद्यं मदिरां प्रपद्य तत्पास्यामीत्यङ्गीकृत्य, तस्य विचित्रचित्रमणिखण्डमण्डिततपनीयभाजनन्यस्तस्य सौरभ्यातिशयसमाकृष्टषट्पदपटलावनद्धगगनमण्डलस्य करणषट्चरणचक्रलाम्पट्यप्रकृष्टताकारकस्य ताभिः ससम्भ्रममुपनीतस्य मद्यस्य भोग आसेवनं तद्भोगस्तस्मात् नष्टा धर्मस्य कुशलानुष्ठानलक्षणस्य स्थितिर्व्यवस्था यस्य स तथा; ततश्च मदाच्चित्तविच्युतिलक्षणाद्विदंशार्थं मद्यपानोपदंशार्थमजं छागं हत्वा विनाश्य सर्वमेव निरवशेषमपि यत्ताभिरभिहितमनभिहितं च पापमजपिशितपचननिमित्तमिन्धनार्थमाराध्यदेवतादारुमयप्रतिमास्फोटनऽऽदि तच्चकार कृतवान् स इत्यसावृषिः।७।ततश्च मद्याऽऽसेवनानन्तरं पुनर्भ्रष्टसामर्थ्यो निहततपोवीर्यः स ऋषिर्मृत्वा प्राणान् परित्यज्य दुर्गतिं नरकरूपां गतः प्राप्त इति दृष्टान्तः । अथ प्रकृतयोजनायाऽऽह-इत्थमनेनोक्तप्रकारेण दोषाऽऽकरो दूषणोत्पत्तिभूमिर्मद्यं मदिरा विज्ञेयं ज्ञातव्यं धर्मचारिभिः कुशलानुष्ठानसेवाशीलैरिति ॥८॥ हा० १६ अष्ट० ।

मद्येऽपि प्रकटो दोषः, श्रीह्रीनाशाऽऽदिरैहिकः ।
सन्धानजीवमिश्रत्वा-न्महानामुष्मिकोऽपि च ॥ १७ ॥

मद्येऽपीति-मद्येऽपि मन्धुन्यपि प्रकटो दोषः; श्रीर्लक्ष्मीः, ह्रीर्लज्जा आदिना विवेकाऽऽदिग्रहः, तन्नाशादैहिक इहैव विपाकप्रदर्शकः; तथाऽऽमुष्मिकोऽपि परभवे विपाकप्रदर्शकोऽपि,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महान् दोषः, सन्धानेन जलमिश्रितबहुद्रव्यसंस्थापनेन जीवमिश्रितत्वाज्जीवसंसक्तिमत्त्वात्, सन्धानवत्यप्यारनालाऽऽदाविव नात्र दोष इति चेन्न, शास्त्रे एतद्दुष्टत्वबोधनात्। तदाऽऽह-"मद्यं पुनः प्रमादाङ्गं, तथा सच्चित्तनाशनम् । संधानदोषवत्तत्र न दोष इति साहसम् ॥ १ ॥" मद्यस्यातिदुष्टत्वं च पुराणकथास्वपि श्रूयते।

तथाहि—

"कश्चिद् ऋषिस्तपस्तेपे, भीत इन्द्रः सुरस्त्रियः।
क्षोभाय प्रेषयामास, तस्याऽऽगत्य च तास्तकम् ॥ १ ॥
विनयेन समाराध्य, वरदाभिमुखं स्थितम्।
जगुर्मद्यं तथा हिंसां, सेवस्वाब्रह्म वेच्छया ॥ २ ॥
स एवं गदितस्ताभि-र्द्वयोर्नरकहेतुताम्।
आलोच्य मद्यरूपं च, शुद्धकारणपूर्वकम् ॥ ३ ॥
मद्यं प्रपद्य तद्भोगा-न्नष्टधर्मस्थितिर्मदात्।
विदंशार्थमजं हत्वा, सर्वमेव चकार सः ॥ ४ ॥
ततश्च भ्रष्टसामर्थ्यः, स मृत्वा दुर्गतिं गतः।
इत्थं दोषाकरो मद्यं, विज्ञेयं धर्मचारिभिः ॥ ५ ॥"

इति ॥ १७ ॥ द्वा० ७ द्वा० । दश० ।

प्रतिषेधान्तरमाह—

सुरं वा मेरगं वाऽ वि, अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥ ३६ ॥

सुरां वा-पिष्टाऽऽदिनिष्पन्नां, मेरकं वापि प्रसन्नाऽऽख्यां,सुराप्रायोग्यद्रव्यनिष्पन्नमन्यं वा माद्यं रसं सीध्वादिरूपं, ससाक्षिकं सदा परित्यागसाक्षि केवलिप्रतिषिद्धं, न पिबेद्भिक्षुः, अनेनाऽऽत्यन्तिक एव तत्प्रतिषेधः, सदासाक्षिभावात्। किमिति न पिबेदित्याह—यशः संरक्षन्नात्मनो, यशःशब्देन संयमोऽभिधीयते, अन्ये तु-ग्लानापवादविषयमेतत्सूत्रमल्पसागारिकविधानेन व्याचक्षते इति सूत्रार्थः।

अत्रैव दोषमाह—

पियए एगओ तेणो, न मे कोइ वियाणइ ।
तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिं च सुणेह मे ॥ ३७ ॥

पिबत्येको धर्मसहायविप्रमुक्तः अल्पसागारिकस्थितो वा, स्तेनश्चौरोऽसौ भगवददत्तग्रहणात् अन्यापदेशयाचनाद्वा, न मां कश्चिज्जानातीति भावयन्, तस्येत्थंभूतस्य, पश्यत दोषानैहिकान्, पारलौकिकांश्च, निकृतिं च मायारूपां, शृणुत ममेति सूत्रार्थः।

वड्ढई सुंडिया तस्स, माया मोसं च भिक्खुणो ।
अयसो य अनिव्वाणं, सययं च असाहुया ॥ ३८ ॥

वर्द्धते शौण्डिका तदत्यन्ताभिष्वङ्गरूपा तस्य माया मृषावादं चेत्येकवद्भावः प्रत्युपलब्धापलापेन वर्द्धते तस्य भिक्षोः। इदं च भवपरम्पराहेतुः, अनुबन्धदोषात्। तथा अयशश्च स्वपक्षपरपक्षयोः, तथा अनिर्वाणं, तदलाभे सततं चाऽसाधुता लोके व्यवहारतः, चरणपरिणामबाधनेन परमार्थत इति सूत्रार्थः।

किञ्च—

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिँ दुम्मई ।
तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं ॥ ३९ ॥

स इत्थंभूतो नित्योद्विग्नः सदाऽप्रशान्तः यथा स्तेनश्चौरः आत्मकर्मभिः स्वदुश्चरितैः दुर्मतिर्दुष्टबुद्धिः तादृशः क्लिष्टसत्त्वो मरणाऽन्तेऽपि-चरमकालेऽपि नाऽऽराधयति संवरं-चारित्रं, सदैवाकुशलबुद्ध्या तद्बीजाभावादिति सूत्रार्थः ॥

तथा—

आयरिए नाराहेइ, समणे याऽवि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ ४० ॥

आचार्य्यान्नाऽऽराधयति,अशुद्धभावत्वात्, श्रमणांश्चापि तादृशान् नाऽऽराधयत्यशुभभावत्वादेव, गृहस्था अप्येनं दुष्टशीलं गर्हन्ते कुत्सन्ति, किमिति ?, येन जानन्ति तादृशं दुष्टशीलमिति गाथार्थः।

एवं तु अगुणप्पेही, गुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं ॥ ४१ ॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण, अगुणप्रेक्षी अगुणान् प्रमादाऽऽदीन् प्रेक्षते तच्छीलश्च य इत्यर्थः, तथा गुणानां चाप्रमादाऽऽदीनां स्वगतानामनासेवनेन परगतानां च प्रद्वेषेण विवर्जकः त्यागी, तादृशः क्लिष्टचित्तो, मरणान्तेऽपि नाऽऽराधयति संवरं-चारित्रमिति गाथार्थः । दश० ५ अ० २ उ० । (मद्यस्य कल्पिकाप्रतिसेवना 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते) ('वसहि', शब्दे वसतौ सुराकर्म इति प्रस्तावे मद्यप्रतिसेवा)

निसद्–धा० । उपवेशने, "नेः सदो मज्जः" ॥ ८ । ४ । १२३ ॥ इति निपूर्वस्य सदेर्मज्ज इत्यादेशः । निषद्यते । "अत्ता एत्थ णिमज्जइ।" प्रा० ४ पाद। "मृजेरुग्घुसलुञ्छपुञ्छपुंसफुसपुसलुहहुलरोसाणाः" ॥ ८ । ४ । १०५ ॥ मृजेरेते नवाऽऽदेशा भवन्ति। उग्घुसइ। पक्षे—मज्जइ। मार्ष्टि। प्रा० ४ पाद। "मज्जेराउड्डणिउड्डबुड्डखुप्पाः" ॥ ८ । ४ । १०१ ॥ मज्जतेरेते आदेशा भवन्ति। आउड्डइ। णिउड्डइ। बुड्डइ। खुप्पइ। पक्षे—मज्जइ। मज्जति। प्रा० ४ पाद।

मज्जइत्ता–मज्जयित्वा–अव्य० । स्नपयित्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० । ज्ञा० ।

मज्जगरस–माद्यरस–पुं० । सीध्वादिरूपे मद्यजे रसे, दश० ५ अ० २ उ० ।

मज्जण–मज्जन–न० । स्नाने 'घ० २ अधि० । व्य० । प्रव० । नि० चू० । मज्जनं वसन्ताऽऽदिपर्वणि । अन्यत्र वा स्त्रीणां जलक्रीडायां सामान्यतो मलदाहापशमनार्थं स्नानं वा । बृ० १ उ० ३ प्रक० । जं० । उपा० ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रम्)

मज्जणग–मज्जनक–न० । स्नाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

मज्जणगमहोच्छव–मज्जनकमहोत्सव–पुं० । कन्यानां स्नानमहोत्सवे, स्था० ७ ठा० ।

मज्जणगय–मज्जनगत–त्रि० । स्नानं कुर्वति, बृ० ४ उ० ।

मज्जणघरग–मज्जनगृहक–न० । स्नानगेहे, मज्जनगृहाणि स्वेच्छया यत्र मज्जनं कुर्वन्ति । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । दशा० । ज्ञा० ।

मज्जणधाई–मज्जनधात्री–स्त्री० । स्नापिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० चू० । आचा० ।

मज्जणविहि–मज्जनविधि–पुं० । मज्जनं स्नानं तस्य विधिः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकारस्तैलाभ्यङ्गनाऽऽदिप्रक्रियापुरस्सरं स्नानम्। बृ० १ उ० २ प्रक०। स्नानयोग्यप्रक्रियायाम्, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

मज्जपमाय-मद्यप्रमाद-पुं०। प्रमदनं प्रमादः। प्रमत्ते, तादृशसदुपयोगाभाव इत्यर्थः। मद्यं सुराऽऽदिस्तदेव प्रमादकारणत्वात् प्रमादः। मद्यप्रमादभेदे, स्था० ६ ठा०।

मज्जर-मार्जार-पुं०। "मार्जारस्य मज्जर-वज्जरौ" ॥ ८।२। १३२॥ इति मार्जारस्य मज्जर वज्जर इत्यादेशौ वा भवतः। मज्जरो। वज्जरो। पक्षे-मार्ज्जारः। विडाले, प्रा० २ पाद।

मज्जव-मद्यप-पुं०। वासुपूज्यजिनपुत्रे,ति०। ती०। पीतमद्ये,विपा०१श्रु०१अ०। "सोंडे मज्जवं"(८३५) पाइ०ना०२४८गाथा।

मज्जा-मज्जा-स्त्री०। बहुशुक्रकरे षष्ठे धातौ, तं०। "अज्जोरुहवोदाणे, हरिगत तह तंदुलेज्जगतणे य। मत्थुलपोरगमज्जा-रपोइवल्ली य पालक्का ॥ १॥" (?) तं०।

मज्जाआ-मर्यादा-स्त्री०। "द्य-य्य-र्यां जः" ॥ ८।२।२४॥ इतिसंयुक्तस्य जः। प्रा० २ पाद। साधूनां व्यवस्थायाम्, आ० म० १ अ०। नि० चू०। प्रश्न०। "गणधरमेव वरेती, जम्हा-जत्तेण होति मज्जादा।" पं० भा० ५ कल्प। दशम्यां गौणानुज्ञायाम्, नं०। पं० चू० ३ कल्प।

मज्जायामूलीय-मर्यादामूलीय-पुं०। मर्यादा साधूनां व्यवस्था, तस्या यन्मूलं तत्र भवो मर्यादामूलीयः। मर्यादामूलभूते इच्छकारे, आ० म० १ अ०।

मज्जार-मार्जार-पुं०। विडाले, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। विशे०। प्रश्न०। विरालिकाभिधाने वनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

मज्जारकडय-मार्जारकृतक-न०। विडालनिर्वर्तिते, "मज्जारकडए कुक्कुडमंसए। भ० १ श० ६ उ०। केचिद्यथाश्रुतमर्थमाहुः, अन्ये त्वाहुर्मार्जारो वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृतं-संस्कृतं मार्जारकृतम्। अपरे त्वाहुः-मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषः,तेन कृतं भावितम्।भ० १५ श०। प्रज्ञा०।

मज्जारखइयमंसा-मार्जारखादितमांसा-स्त्री०। मार्जारेण खादितं भक्षितं मांसं यस्यास्सा। विडालभक्षितमांसायाम्,पिं०।

मज्जारपाइया-मार्जारपादिका-स्त्री०। वलयवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

मज्जाररडिय-मार्जाररटित-न०। विडालशब्दे, मार्ज्जाररटितप्ररूपणायाम्, यथा हि मार्जारः पूर्वं महता शब्देनाऽऽरटति पश्चादेवं शनैः शनैरारटति तथा प्ररूपणा मार्जाररटितकल्पा। व्य० ३ उ०।

मज्जारी-मार्जारी-स्त्री०। विडाल्याम्, "मज्जरीओ विडालीओ।" पाइ० ना० १५० गाथा।

मज्जावग-मज्जक-पुं०। मज्जयन्ति ये ते मज्जकाः। स्नापकेषु, नि० चू० ६ उ०।

मज्जावेत्ता-मज्जयित्वा-अव्य०। स्नापयित्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

मज्जिअ-मार्जित-त्रि०। शुद्धे, "मज्जिअं एहायं।" (७८२) पाइ० ना० २३८ गाथा।

मज्जिआ-मार्जिता-स्त्री०। सुगन्धिवस्तुमिश्रिते दुग्धे, "मज्जिआ रसाला उ।" (७७२) पाइ० ना० २३७ गाथा।

मज्जिलय-मज्जिलक-पुं०। परस्परसहोदरभ्रातृषु,बृ० ३ उ०।

मज्झ-मध्य-न०। "द्वितीय-तुर्ययोरुपरि पूर्वः" ॥ ८।२। ९०॥ इति चतुर्थस्योपरि तृतीयः। पूर्वान्तयोरन्तरे, अनु०। सूत्र०। "मध्यग्रहणे आद्यन्तयोर्ग्रहणम्" इति न्यायात्। विशे०। मध्यं द्विधा-सद्भावमध्यम्, असद्भावमध्यं च। बृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०। उदरदेशे, औ० "अंतो मज्झे।" (६६२) पाइ० ना० २७४ गाथा। मध्यभागे, भ०। "मज्झंतियमुहुत्तंसि मूले य दूरे य दीसंति त्ति॥" मध्यो मध्यमोऽन्तो विभागो गगनस्य दिवसस्य वा मध्यान्तः स यस्य मुहूर्त्तस्यास्ति स मध्यान्तिकः, स चासौ मुहूर्त्तश्चेति मध्यान्तिकमुहूर्त्तस्तत्र मूले च आसन्ने देशे द्रष्टृस्थानापेक्षया दूरे च व्यवहितदेशे द्रष्टृप्रतीत्यपेक्षया सूर्यौ दृश्येते, द्रष्टा हि मध्याह्ने उदयास्तमनदर्शनापेक्षयाऽऽसन्नं रविं पश्यति योजनशताष्टकेनैव तदा तस्य व्यवहितत्वात्, मन्यते पुनरुदयास्तमयप्रतीत्यपेक्षया व्यवहितमिति। भ० ८ श० ८ उ०। प्रश्न०। रागद्वेषयोरन्तराले,सूत्र०१श्रु० १अ०४ उ०।"मे मइ मम मह मइं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं ङसा"॥८।३।११३॥ अस्मदो ङसा षष्ठ्येकवचनेन सहितस्य एते नवाऽऽदेशा भवन्ति। मज्झ। मम। प्रा०३ पाद। "णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण महाण मज्झाण आमा" ॥८।३।११४॥ अस्मद आमा सहितस्यैते एकादशाऽऽदेशा भवन्ति। 'मे मइ मज्झ' इत्यादि। अस्माकम्। प्रा० ३ पाद। "साध्वसध्य-ह्यां ज्झः" ॥८।४।२६॥ साध्वसे संयुक्तस्य ध्यह्ययोश्च ज्झो भवति। मज्झमं। प्रा०४ पाद। "ङस्ङस्योर्हे" ॥८।४।३५०॥ अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परयोर्ङस्ङसि इत्येतयोर्हे इत्यादेशो भवति। 'मज्झहे।' प्रा० ४ पाद।

मज्झगय-मध्यगत-न०। आनुगामिकावधिज्ञानभेदे, नं०।

से किं तं मज्झगयं ?। मज्झगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलातं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मत्थए काउं समुव्वहमाणे समुव्वहमाणे गच्छिज्जा, से तं मज्झगयं ॥ १० ॥

(मध्यगतं चेति) इह मध्यं प्रसिद्धं दण्डाऽऽदिमध्यवत्, ततो मध्ये गतं मध्यगतम्, इदमपि त्रिधा व्याख्येयम्, आत्मप्रदेशानां मध्ये मध्यवर्तिष्वात्मप्रदेशेषु गतं स्थितं मध्यगतम्। इदं च स्पर्धकरूपमवधिज्ञानं सर्वदिगुपलम्भकारणं मध्यवर्तिनामात्मप्रदेशानामवसेयम्। अथवा-सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽप्यौदारिकशरीरमध्यभागेनोपलब्धिस्तन्मध्ये गतं मध्यगतम्। उक्तं चूर्णौ-"ओरालियसरीरमज्झे फड्डगविसुद्धीओ सव्वायप्पएसविसुद्धीओ वा सव्वदिसोवलंभत्तणओ मज्झगउ त्ति भन्नति।" अथवा-तेनावधिज्ञानेन यदुद्योतितं क्षेत्रं सर्वासु दिक्षु तस्य मध्ये मध्यभागे गतं स्थितं मध्यगतम्, अवधिज्ञानिनः तदुद्योतितक्षेत्रमध्यवर्तित्वात्। आह च चूर्णिकृत्-"अहवा-उवलद्धिखेत्तस्स अवहिपुरिसो मज्झगउ त्ति अंतो वा मज्झगओ ओही भन्नई।" नं०।

मज्झगार-मध्यकार-पुं०। मध्य एव मध्यकारः, कारशब्दस्य स्वार्थिकत्वात्। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। अनु०।

मज्झजिब्भा-मध्यजिह्वा-स्त्री०। जिह्वाया मध्यभागे, स्था० ८ ठा०।

मज्झण्ह-मध्याह्न-पुं०। "मध्याह्ने हः" ॥८।२।८४॥ इति मध्याह्ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ह्रस्य लुग्वा। 'मज्झण्हो। मज्झन्नो।' दिनमध्ये, प्रा० २ पाद। स्था०। आ० म०। "रविस्स गतिपरिणअस्स मज्झे दरिसणं सो मज्झण्हकालो भवति।" आ० चू० १ अ०।

मज्झत्थ–मध्यस्थ–पुं०। मध्ये रागद्वेषयोरन्तराले तिष्ठतीति मध्यस्थः। सर्वत्रारक्तद्विष्टे, व्य० १ उ०। पं०व०। रागद्वेषत्यक्तधीके, प्रव० २३६ द्वार। बृ०। आव०। सर्वेषु सत्त्वेषु समचित्ते, प्रव० ६५ द्वार। रागद्वेषरहिते, ध० १ अधि०। आचा०। दुःषमानुभावेन बलाऽऽद्यपगमान्मध्यभूतैव वर्त्तनी श्रेयसी नोत्सर्गावसर इति। उक्तं हि–"नात्यायतं न शिथिलं, यथा युञ्जीत सारथिः। यथा भद्रं वहत्यत्र, योगः सर्वत्र पूजितः॥ १॥" आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। मध्यस्थः समः य आत्मानमेव परं पश्यति। आ० म० १ अ०। अत्युत्कटरागद्वेषविकलतया समचेतसो मध्यस्थाः। दर्श० ५ तत्त्व।

स्थीयतामनुपालम्भं, मध्यस्थेनान्तराऽऽत्मना।
कुतर्ककर्करक्षेपै–स्त्यज्यतां बालचापलम्॥ १॥
मनोवत्सो युक्तिगवीं, मध्यस्थस्यानुधावति।
तामाकर्षति पुच्छेन, तुच्छाऽऽग्रहमनः कपिः॥ २॥
नयेषु स्वार्थसत्येषु, मोघेषु परचालने।
समशीलं मनो यस्य, स मध्यस्थो महामुनिः॥ ३॥
स्वस्वकर्मकृताऽऽवेशाः, स्वस्वकर्मभुजो नराः।
न रागं नापि च द्वेषं, मध्यस्थस्तेषु गच्छति॥ ४॥
मनः स्याद् व्यापृतं याव–त्परदोषगुणग्रहे।
कार्यं व्यग्रं वरं ताव–न्मध्यस्थेनाऽऽत्मभावने॥ ५॥
विभिन्ना अपि पन्थानः, समुद्रं सरितामिव।
मध्यस्थानां परं ब्रह्म, प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम्॥ ६॥
स्वाऽऽगमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात्पराऽऽगमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किं तु मध्यस्थया दृशा॥७॥
मध्यस्थया दृशा सर्वे–ष्वपुनर्बन्धकाऽऽदिषु।
चारिसञ्जीवनीचार–न्यायादाशास्महे हितम्॥८॥ अष्ट० १६ अष्ट०।

मौनशीले, दर्श० ५ तत्त्व। मध्यस्थो मौनशीलः स्वप्रतीतानपि कस्यापि दोषान्न गृह्णाति, तद्ग्रहणाद्धि अभूतलोकविरोधितया धर्मक्षतिसम्भवात्; अथवाऽतितीव्ररागद्वेषमोहोपशमतया यथावस्थितवस्तुस्वरूपपर्यालोचको मध्यस्थस्तदन्यदृशाश्च नेदृशाः सम्भवन्ति। यत उक्तम्–"रत्तो दुट्ठो मूढो, पुव्विं वुग्गाहिओ य चत्तारि। उवएसस्स अणरिहा, अरिहा पुण होइ मज्झत्थो॥ १॥" दर्श० २ तत्त्व। सर्वशिष्येषु समचित्ते, ग० १ अधि०। विशे०। ध० र०। सर्वत्र तुल्यचित्ते, तथाहि–"उवसमसारवियारो, वाहिज्जइ नेव रागदोसेहिं। मज्झत्थो हियकामी, असग्गहं सव्वहा चयइ॥ ७३॥" ध० र० २ अधि० ६ लक्ष०। "घटमौलीसुवर्णार्थी, नाशोत्पत्तिस्थितिष्वयम्। शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम्॥ १॥" आव० ४ अ०। आसंसारमशुमतां मध्येऽन्तर्भवतीति मध्यस्थो लोकः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। यो० विं०।

मज्झत्थभावणा–माध्यस्थ्यभावना–स्त्री०। प्रकर्षवशप्रवृत्तशुक्लध्याने, जीवा० १ अधि०।

मज्झत्थभावभूय–मध्यस्थभावभूत–त्रि०। मध्यस्थभावं प्राप्ते, स्था० ८ ठा०।

मज्झत्थवयणया–मध्यस्थवचनता–स्त्री०। अनिश्रितवचनतायाम्, स्था० ८ ठा०।

मज्झत्थसोम्मदिट्ठि–मध्यस्थसौम्यदृष्टि–पुं०। एकादशगुणं प्राप्ते श्रावके, ध० र०।

सम्प्रति मध्यस्थसौम्यदृष्टिलक्षणमेकादशं गुणमभिधित्सुराह–

मज्झत्थसोम्मदिट्ठी, धम्मवियारं जहट्ठियं मुणइ।
कुणइ गुणसंपओगं, दोसे दूरं परिच्चयइ॥१८॥

मध्यस्था क्वचिद्दर्शने पक्षपातविकला, सौम्या च प्रद्वेषाभावाद् दृष्टिर्दर्शनं यस्य स मध्यस्थसौम्यदृष्टिः। सर्वत्रारक्तद्विष्ट इत्यर्थः, धर्मविचारं नानापाषण्डमण्डलीमण्डपोपनिहितधर्मपण्यस्वरूपं यथावस्थितं सगुणनिर्गुणाल्पबहुगुणतया व्यवस्थितं कनकपरीक्षानिपुणविशिष्टकनकाधिपुरुषवत् 'मुणति' बुध्यते, अत एव करोति विदधाति गुणसंप्रयोगं गुणैर्ज्ञाना ऽऽदिभिः सह संबन्धदोषान् गुणप्रतिपक्षभूतान् (दूरं ति) दूरेण परित्यजति, परिहरति सोमवसुब्राह्मणवत्। ध० र० १ अधि० ११ गुण।

मज्झदेश–मध्यदेश–पुं०। दक्षिणभरतार्द्धे मध्यभागे, ति०।

मज्झदेसभाग–मध्यदेशभाग–पुं०। मध्यश्चासौ देशभागश्च देशावयवो मध्यदेशभागः। देशमध्याऽवयवे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

मज्झम–मध्यम–त्रि०। अन्तरालवर्त्तिनि, चत्वारिंशद्वर्षेभ्यः परं यावत् सप्ततिरेकेन वर्षेणोना तावन्मध्यमं वयः। व्य० ३ उ०। द्वा०।

मज्झमबुद्धि–मध्यमबुद्धि–पुं०। मध्यमविवेकसम्पन्ने, षो० १ विव०।

मध्यमबुद्धिचरितं पुनरेवम्–

"अस्त्यत्र भरतक्षेत्रे, पुरं क्षितिप्रतिष्ठितम्।
तत्र कर्मविलासाऽऽख्यो, राजा वीर्यनिधानभूः॥ १॥
तस्य प्रणयिनी ज्येष्ठा, यथार्था शुभसुन्दरी।
अन्याऽकुशलमालाऽऽख्या, शालेव सकलाऽऽपदाम्॥ २॥
तयोर्मनीषिबालाऽऽख्यौ, पुत्रौ प्रेमपरौ मिथः।
स्वदेहोद्यानमन्येद्यु–स्तौ गतौ क्रीडितुं मुदा॥ ३॥
ताभ्यामदर्शि तत्रैकः, पुमानुद्बन्धतत्परः।
बालः पाशमपास्याऽथ, पप्रच्छोद्बन्धकारणम्॥ ४॥
अमुना प्रश्नितेनाल–मित्युक्त्वोल्लम्बयन् पुनः।
निवार्य सादरं पृष्टो, बालेनेदं स ऊचिवान्॥ ५॥
स्पर्शनाऽऽख्यस्य मे भद्र!, भवजन्तुरभूत्सखा।
समं सदागमेनोच्चैः, स मैत्रीमन्यदाऽकरोत्॥ ६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततः प्रभृति जज्ञेऽसौ, त्रुट्यत्प्रेमा ममोपरि ।
ललनातूल्लिकात्यागी, सुदुस्सपतपोरतः ॥ ७ ॥
अङ्गीकृतबहुक्लेशः, केशलुञ्चनलालसः ।
भूकाष्ठशय्याशयनः, प्रान्तरूक्षाशनो भृशम् ॥ ८ ॥ युग्मम् ।
स्फूर्जद्दूर्जस्वलध्यानो, ज्ञानोत्साहितभावनः ।
मां मुक्त्वा मदगम्यायां, स ययौ निर्वृतौ पुरि ॥ ९ ॥
ततो मित्रवियुक्तेन, मयेदं मोक्षिकीर्षितम् ।
श्रुत्वेति तद् दृढप्रेमा, प्रीतो बालोऽभ्यधादिति ॥ १० ॥
मित्रवात्सल्ययुक्तानां, दृढसौहार्दशालिनाम् ।
परोपकारशीलानां, युक्तमेतद्भवादृशाम् ॥ ११ ॥
यतः—
मित्रस्य विरहे स्थातुं, क्षणमप्युचितं न हि ।
मनस्विनामितीवाशु, दिवसेनास्ति मीयते ॥ १२ ॥
अहो ते मित्र ! वात्सल्य-महो ते स्थिररागिता ।
अहो तव कृतज्ञत्व-महो ते साहसं दृढम् ॥ १३ ॥
भवजन्तोः पुनरहो, क्षणरक्तविरक्तता ।
अहो हृदयकाठिन्य-महो मौढ्यमनुत्तरम् ॥ १४ ॥
तथापि धीर ! धीरत्वं, कृत्वा हित्वा तथा शुचम् ।
स्वास्थ्यं धेहि मुदं देहि, मम मित्रं भवाऽधुना ॥ १५ ॥
स्पर्शनोऽप्याख्यदित्यस्तु, भवजन्तुरिवासि मे ।
ततस्तेन व्यधान्मैत्रीं, बालः प्रीतान्तराऽऽत्मना ॥ १६ ॥
सदागमत्याजितत्वा-न्नूनं नैष शुभाऽऽशयः ।
मनीषिणेति विदधे, बहिर्वृत्त्या त्वसौ सखा ॥ १७ ॥
तौ तं वृत्तान्तमाख्यातां, मातापित्रोर्यथास्थितम् ।
ततो राजाऽभवद् भूरि-हर्षद्रुमविहङ्गमः ॥१८॥
उवाचाऽकुशला हृष्टा, साधु साध्वसि पुत्रक ! ।
यत्त्वया सर्वसौख्यानां, खनिरेष सखा कृतः ॥ १९ ॥
अथ युग्मम्—
तुषार इव पद्मस्य, स्वर्भानुरिव शीतगोः ।
स्पर्शनोऽयं सखा सौख्य-कारणं मे सुतस्य न ॥ २० ॥
एवं विषादविवशा-ऽचिन्तयच्छुभसुन्दरी ।
किं तु नाचीकथत्किञ्चिद्, गाम्भीर्यात्स्वसुतं प्रति ॥ २१ ॥
स्पर्शनमूलशुद्ध्यर्थं, परेद्यवि मनीषिणा ।
आहूय रहसि प्रोक्तो, बोधो नामाङ्गरक्षकः ॥ २२ ॥
भद्रास्य मूलशुद्धिं मे, शीघ्रं ज्ञात्वा निवेदय ।
यदाज्ञापयति स्वामी—त्युक्त्वाऽसौ निरगात् ततः ॥ २३ ॥
तेनाऽऽत्मीयः प्रभावाऽऽख्यः, प्रैषि प्रणिधिपूरुषः ।
प्रस्तुतार्थाय सोऽन्येद्यु-र्यात्वाऽगाद् बोधसन्निधौ ॥ २४ ॥
ततः कृतावनामोऽसौ, बोधेनाप्रच्छि सादरम् ।
प्रभाव ! कथयाऽऽत्मीयं, वृत्तान्तं सोऽप्यथाऽऽख्यत ॥ २५ ॥
इतस्तदा हि निर्गत्य, बाह्यदेशेषु बंभ्रमम् ।
मया न चाऽपि गन्धोऽपि, प्रस्तुतार्थस्य तेष्वथ ॥ २६ ॥
आगामाऽन्तरदेशेषु, तत्र चापश्यमुल्वणम् ।
पुरं राजसचित्ताऽऽख्यं, समन्तात् तमसाऽन्वितम् ॥ २७ ॥
पुरे तस्मिन्नहं यावत्, प्राप्तो राजकुलाऽन्तिकम् ।
तावदुल्लसितोऽकाण्ड, एव कोलाहलध्वनिः ॥ २८ ॥
अथ त्रिभिर्विशेषकम्—
ब्रह्माण्डभाण्डसंव्यापि, स्फूर्जद्घणघणारवाः ।
लौल्याऽऽदिभूपाधिष्ठाना, मिथ्यामानाऽऽदयो रथाः ॥२९॥
गर्जितर्जितजीमूताः, ममत्वाद्या मतङ्गजाः ।
हेषाऽऽपूरितदिक्चक्राः, अज्ञानाऽऽद्यास्तुरङ्गमाः ॥ ३० ॥
अन्ये करणसङ्घट्ट—प्रौढनिर्व्यूढसाहसाः ।
चेलुर्गृहीतनानास्त्रा—श्चापलाऽऽद्याः पदातयः ॥ ३१ ॥
प्रासर्पद्दर्पकन्दर्प-पटहोद्घोषणा क्षणात् ।
प्राचलीदचलस्थामा, परमप्यमितं बलम् ॥ ३२ ॥
पृष्टो मयाऽथ विषया-ऽभिलाषस्यैव पूरुषः ।
विपाकाऽऽख्यः समाचख्यौ, राज्ञः प्रस्थानकारणम् ॥ ३३ ॥
भो भद्राऽत्राऽस्ति वैरिभ—कुम्भनिर्भेदकेसरी ।
मुख्यश्चरटचक्रस्य, नरेन्द्रो रागकेसरी ॥ ३४ ॥
तस्याऽस्ति मन्त्री विषया-ऽभिलाषो नाम विश्रुतः ।
चण्डमार्त्तण्डवत् प्रौढः, प्रतापाऽऽक्रान्तविष्टपः ॥ ३५ ॥
रागकेसरदेवेन, स मन्त्रीशोऽन्यदा मुदा ।
जगदे जगदेतन्मे, वश्यं कुरु विशारद ! ॥ ३६ ॥
ओमित्युक्त्वा महामन्त्री, विश्ववश्यत्वहेतवे ।
स्पर्शनाऽऽदीनि पञ्च स्व-मानुषाणि समाऽऽदिशत् ॥ ३७ ॥
मन्त्रिणोचेऽन्यदा देव !, देवशासनतो मया ।
स्वमानुषाणि प्रैष्यन्त, जगत्साधनहेतवे ॥ ३८ ॥
तैः साधितं जगत्प्रायो, ग्राहितं देवशासनम् ।
केवलं श्रूयते कश्चि-त्तस्याक्रममीतिसङ्कथत् ॥ ३९ ॥
तेषामुपद्रवकरः, स्फुटोद्भटपराक्रमः ।
सन्तोषनामा चरटः, कूटः कपटपाटवः ॥ ४० ॥
भूयो भूयः पराभूय, तानि तेन कियान् जनः ।
देवभुक्तेर्बहिःस्थायां, प्रक्षिप्तो निर्वृतौ पुरि ॥ ४१ ॥
तन्मन्त्रिवचनं श्रुत्वा, कोपाऽऽटोपारुणेक्षणः ।
तस्योपरि स्वयं देवः, प्रतस्थे रणकर्मणे ॥ ४२ ॥
इतश्चास्मारि देवेन, तातपादाभिवन्दनम् ।
तरङ्गेणेव पाथोधे-र्बवले च क्षणात्ततः ॥ ४३ ॥
विपाकोऽथ मया नाथ !, सम्भ्रमोद्भ्रान्तचक्षुषा ।
पृष्टः कोऽस्य नरेन्द्रस्य, पितेति मम कथ्यताम् ॥ ४४ ॥
ईषद्विहस्य स प्रोचे, ननु मोहो महानृपः ।
त्रिलोकीख्यातमहिमा, दध्यौ वृद्धोऽन्यदेति सः ॥ ४५ ॥
पार्श्वस्थितोऽपि वीर्येण, क्षमोऽहं रक्षितुं जगत् ।
तेनाधुना प्रयच्छामि, साम्राज्यं निजसूनवे ॥ ४६ ॥
राज्यं देवाय दत्त्वाऽथ, शेते मोहो निराकुलः ।
तथाऽपीदं जगत्तस्य, प्रभावेणैव वर्त्तते ॥ ४७ ॥
तदेष मोहराजस्ते, कथं प्रष्टव्यतां गतः ।
व्याहारि हारि वचनं, ततस्तं प्रत्यदो मया ॥ ४८ ॥
भवता भद्र ! पापोऽहं, साधु साधु प्रबोधितः ।
परं निवेद्यतामग्रे, किमभूत्सोऽप्यथावदत् ॥ ४९ ॥
गत्वा सारपरीवार-युक्तो देवः पितुः क्रमौ ।
ननामैनं च वृत्तान्तं, मूलतोऽपि व्यजिज्ञपत् ॥ ५० ॥
मोहोऽवोचत हे वत्स !, यन्मदङ्गस्य बाध्यते ।
पामाव्याप्तमयस्येव, तत्सारं किल सम्प्रति ॥ ५१ ॥
तत्त्वं तिष्ठ निजं राज्यं, सुचिरं प्रतिपालय ।
सन्तोषशत्रुघातार्थ-महं यास्यामि सङ्गरे ॥ ५२ ॥
देवः श्रुत्वा पिधायाऽऽख्य-दाः ! शान्तं पातकं ह्यदः ।
अनन्तकालसंस्थायि, तानीयं भवताद्वपुः ॥ ५३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवेन वार्यमाणोऽपि, मोहः सर्वाभिसारतः ।
स्वयं चचाल भद्रेदं, राज्ञः प्रस्थानकारणम् ॥ ५४ ॥
इत्युक्त्वा स ययौ तूर्णं, चित्ते दध्यावहं पुनः ।
अये ! स्पर्शनसंशुद्धि-र्लब्धेयं सकला मया ॥ ५५ ॥
किं त्विदं घटते नायं, यत्सन्तोषात्पराभवम् ।
स्पर्शनस्याऽऽह स पुन-स्तमाचख्यौ सदागमात् ॥ ५६ ॥
तत्तस्यानुचरः कोऽपि, सन्तोषो भवता ह्ययम् ।
एवं वितर्कयन्नागात् , प्रणामं स्वाम्यतः परम् ॥ ५७ ॥
बोधेनामिदधे साधु , प्रभावात्तुष्टितं त्वया ।
तेनैव सहितो बोधो, ययौ पार्श्वे मनीषिणः ॥ ५८ ॥
कृता नतिः कुमाराय, तं वृत्तान्तं न्यवीविदत् ।
प्रभावं पूजयामास, प्रीताऽऽत्मा नृपनन्दनः ॥ ५९ ॥
मनीषिणाऽन्यदा प्रोचे, स्पर्शनाऽऽख्याहि किं तव ।
चक्रे सदागमेनैव, मित्रेण विरहो ननु ॥ ६० ॥
तत्राऽऽसीत्किमुतान्योऽपि, स स्माहाऽऽसीत्परं सखे ! ।
कृतं तत्कथया यन्मां, स कदर्थयते भृशम् ॥ ६१ ॥
कर्त्ता हि सैव सर्वस्यो-पदेष्टैव सदागमः ।
भूयः किं तस्य नामेति, तं पप्रच्छ नृपात्मजः ॥ ६२ ॥
भयविह्वल ऊचेऽसौ, तस्याहं क्रूरकर्मणः ।
नामाऽप्युच्चरितं नेश-स्ततोऽवादीद् नरेन्द्रसूः ॥ ६३ ॥
त्वया नैवास्मदभ्यर्णे, भीतिः कार्या मनागपि ।
भद्र ! न ह्यग्निरित्युक्ते, मुखदाहः प्रजायते ॥ ६४ ॥
अथ ज्ञात्वाऽतिनिर्बन्धं, स्पर्शनः स्माह दैन्यभाक् ।
सन्तोष इति दुर्नाम, तस्य पापशिरोमणेः ॥ ६५ ॥
नरेन्द्रनन्दनोदध्या-वियता सकलोऽप्यहो ।
प्रभावानीतवृत्तान्तो, घटाकोटिमटीकत ॥ ६६ ॥
अन्यदा स्पर्शनः सिद्ध-योगिवत्तत्पुरेऽविशत् ।
बालोऽतीव वशीभूतो, मनीषी तु तथा न हि ॥ ६७ ॥
ताभ्यां सर्वः प्रबन्धोऽयं, स्वस्वमात्रोर्निवेदितः ।
उवाचाऽकुशला बालं,वत्सेदं साधु साध्वभूत् ॥ ६८ ॥
स्वसुत मधुरवाक्य-र्वभाषे शुभसुन्दरी ।
वत्सास्य पापमत्रस्व, सम्बन्धस्ते न सुन्दरः ॥ ६९ ॥
सोऽभ्यदादेवमेवैत-न्मातः ! किं क्रियते परम् ? ।
प्रतिपन्नमकाले हि, सतां हातुं न युज्यते ॥ ७० ॥
शुभसुन्दर्यथावोच-दहो ते वत्स ! सन्मतिः ।
अहो ते नतवात्सल्य-महो ते नीतिनैपुणम् ॥ ७१ ॥
तथाहि—
नाकाण्ड एव मुञ्चन्ति, सदोषमपि सज्जनाः ।
प्रतिपन्नं गृहे स्थायी, तत्रोदाहरणं जिनः ॥७२॥
यस्तु मूढतया काले,प्राप्तेऽपि न परित्यजेत् ।
सदोषं लभते तस्मा-त्संक्षयं नात्र संशयः ॥ ७३ ॥
कर्मविलासराजोऽपि, तज्ज्ञात्वा दयितामुखात् ।
तुष्टो मनीषिणो गाढं, रुष्टो बालस्य चोपरि ॥ ७४ ॥
अभूत्यकान्यकर्त्तव्यो, बालः स्पर्शनदोषतः ।
विलसन्मृद्वपस्मारो-त्सारमारितचेतनः ॥ ७५ ॥
तन्मूलशुद्धिमाख्याय, बालः प्रोक्तो मनीषिणा ।
स्पर्शनेऽत्र रिपौ भ्रातः !,मा विश्रम्भं कथाः क्वचित् ॥७६॥
बालो जजल्प हे बन्धो !, निःशेषसुखदायकः ।
अयं वरवयस्यो मे,कथं शत्रुस्त्वयोदितः ? ॥ ७७ ॥
दध्यौ मनीषी बालो-ऽयमुपदेशशतैरपि ।
अकार्यकरणोद्युक्तो, निषेद्धुं पार्यते न हि ॥ ७८ ॥
अकार्ये दुर्विनीतेषु, प्रवृत्तेषु ततः सदा ।
न किञ्चिदुपदेष्टव्यं, सता कार्याऽवधीरणा ॥ ७९ ॥
इत्यालोच्य स्वयं चित्ते, हित्वा बालस्य शिक्षणम् ।
स्वकार्यकरणोद्युक्तो, मनीषी मौनमाश्रितः ॥ ८० ॥
अथ सामान्यरूपाऽऽख्या, प्रिया तस्यैव भूपतेः ।
अस्ति मध्यमबुध्याख्य-स्तस्याश्च तनयो नयी ॥ ८१ ॥
तदा देशान्तरादागा-त्स दृष्ट्वा स्पर्शनं मुदा ।
बालं पप्रच्छ कोऽयं ना, स ऊचे तस्य वल्गितम् ॥ ८२ ॥
ततो बालस्य वचना-त्स्पर्शनो मध्यमाङ्गके ।
प्राविशत्तेन जज्ञेऽसौ, बालवद्विह्वलाशयः ॥ ८३ ॥
मनीषी तत्तु विज्ञाय, मध्यमाय न्यवेदयत् ।
मूलात्स्पर्शनसंशुद्धिं, स दध्यौ संशयाऽऽकुलः ॥ ८४ ॥
एकतः स्पर्शसत्सौख्य-मन्यतो भ्रातृवारणम् ।
न हि जानाम्यहं सम्यक्, किं विधातुं ममोचितम् ? ॥ ८५ ॥
तत्पृच्छामि सदा सौख्य-जननीं जननीमिति ।
ध्यात्वा निवेद्य वृत्तं स्वं, कृत्यं पप्रच्छ तां ततः ॥ ८६ ॥
जगाद साऽपि माध्यस्थ्य-मधुना धेहि नन्दन ! ।
कालान्तरे तु बलिनं, पक्षं निर्दोषमाश्रयेः ॥ ८७ ॥
यतः—
संशयाऽऽपन्नचित्तेन, भिन्ने कार्यद्वये सता ।
कार्यः कालविलम्बोऽत्र, दृष्टान्तो मिथुनद्वयम् ॥ ८८ ॥
तथाहि—
पुरे कस्मिन् ऋजोः राज्ञः, प्रगुणा नाम पत्न्यभूत् ।
तस्याश्च तनयो मुग्धो, वधूश्चाऽकुटिलाभिधा ॥ ८९ ॥
पुष्पोच्चयकृतेऽन्येद्यु-स्ते मुग्धाऽकुटिले मधौ ।
स्वगेहोपवनेऽयातां, गृहीत्वा हेमशूर्पिके ॥ ९० ॥
कः पूर्वं पूरयेच्छूर्प-मित्याशयपरौ मिथः ।
दूरं दूरतरं जातौ, चिन्वानौ कुसुमोच्चयम् ॥ ९१ ॥
इतश्च व्यन्तरयुगं, तत्रागात्केलिलालसम् ।
देवी विचक्षणा नाम, देवः कालज्ञसंज्ञितः ॥ ९२ ॥
देवो देवानुभावेना-नुरक्तोऽकुटिलां प्रति ।
मुग्धं प्रति पुनर्देवी, देवोऽवादीत् प्रियामथ ॥ ९३ ॥
प्रिये ! गच्छ पुरो याव-द्भूपालोपवनादितः ।
पुष्पाण्यादाय पूजार्थ-मेष आयामि सत्वरम् ॥ ९४ ॥
संकेतं च तयोर्ज्ञात्वा, विभङ्गेन सुरः क्षणात् ।
विधाय मुग्धरूपं स्वं, पुष्पैर्भृत्वा च शूर्पिकाम् ॥ ९५ ॥
आगादकुटिलापार्श्वे, जिताऽसि त्वं प्रिये ! भणन् ।
विपन्नां तां च संभाष्य, निनाय कदलीगृहे ॥ ९६ ॥
एवं विचक्षणाऽप्याश्व-कुटिलारूपधारिणी ।
प्रतार्य मुग्धकं निन्ये, तदैव कदलीगृहे ॥ ९७ ॥
तद्वीक्ष्य मुग्धधीर्मुग्धो, वितर्काकुलितोऽजनि ।
बभूव विस्मयस्मेरा-ऽकुटिलाऽकुटिलाशया ॥ ९८ ॥
दध्यौ देवाङ्गना केयं, द्वितीया हुं मम प्रिया ।
तत्परस्त्रीकृताऽऽसङ्गं, हन्म्येनं पुरुषाऽधमम् ॥ ९९ ॥
स्वैरिणीं दयितां चेमां, पीडयामि दृढं तथा ।
असौ यथा नरेऽन्यत्र, विधत्ते न मनोऽपि हि ॥ १०० ॥
यद्वा स्वयं सदाचार-भ्रष्टस्य मम नोचितम् ।
कर्तुमेतादृशं कर्म, तद्वरं कालयापना ॥ १०१ ॥
ध्यात्वा विचक्षणाऽप्येवं, कालक्षेपपराऽभवत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षणं प्रक्रीड्य तत्रागा-त्स्वगेहे तच्चतुष्टयम् ॥ १०२ ॥
तं दृष्ट्वा सप्रियो राजा, प्रीत आख्यादहा सुतः।
वधूश्च मे द्विगुणिता, वनदेव्या प्रसन्नया ॥ १०३ ॥
सकलेऽपि पुरे हर्षा-न्महोत्सवमचीकरत्।
तेषां चतुर्णामप्येवं, ययौ कालः कियानपि ॥ १०४ ॥
अथ तत्र पुरे मोह-विलयाऽऽख्ये सुकानने।
सूरिः प्रबोधको नाम, ज्ञानवान् समवासरत् ॥ १०५ ॥
अथ लोका नरेन्द्राऽऽद्या, वन्दनायै मुनीशितुः।
निर्ययुर्भगवांस्तेभ्य, इति चक्रे सुदेशनाम् ॥ १०६ ॥
शल्यं कामाः विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः।
कामार्थनापरा जीवा, अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥ १०७ ॥
तच्छ्रुत्वैवतोर्गुरोर्वाक्यं, तयोर्देवीसुपर्वणोः।
मोहजालं प्रविध्वस्तं, जाता सम्यक्त्ववासना ॥ १०८ ॥
अत्रान्तरे तयोर्देहात्, कृष्णरक्षाऽणुसञ्चयैः।
निर्गतैर्भीषणाऽऽकारा, घटितैका नितम्बिनी ॥ १०९ ॥
सा च भागवतं तेजो-ऽसहन्ती पर्षदो बहिः।
गत्वा परामुङ्खीभूयाऽ-वतस्थे दुःस्थिताऽऽशया ॥ ११० ॥
अथोत्थायावदद् देवः, सप्रियो भगवन्नहम्।
कथमस्मान्महापापा-न्मुच्ये प्रोचे मुनीश्वरः ॥ १११ ॥
नायं भो भवतोर्दोषः, किं त्वस्याः पापयोषितः।
काऽसाविति गुरुः पृष्टः, प्राहामृतकिरा गिरा ॥ ११२ ॥
भद्रौ ! विषयवृ(तृ)ष्णेयं, दुर्जया त्रिदशैरपि।
रजनीव तमिस्रस्य, सर्वदोषततेः पदम् ॥ ११३ ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशौ, स्वरूपेण युवां पुनः।
एषैव सर्वदोषाणां, कारणत्वेन संस्थिता ॥ ११४ ॥
इह स्थातुमशक्तेति, दूरमेषा स्थिताऽधुना।
भवन्तौ मत्समीपाच्च, निर्गच्छन्तौ प्रतीक्षते ॥ ११५ ॥
तौ प्रोचतुः कदा स्वामिन् !, मोक्षो नो भविताऽनया।
गुरुः प्राऽऽह भवे नात्र, परं भावी भवान्तरे ॥ ११६ ॥
किन्तु सम्यक्त्वमाहात्म्या-त्रात्यन्तं नो विबाधिका।
प्रतिपन्नं ततस्ताभ्यां, सम्यक्त्वं मोक्षसौख्यदम् ॥ ११७ ॥
ऋजुराट् प्रगुणा देवी, स मुग्धोऽकुटिला तथा।
अथो विज्ञापयामासु-र्गुरुं स्वस्वविडम्बनाम् ॥ ११८ ॥
अत्रान्तरे तदङ्गेभ्यो, निर्गतैः परमाणुभिः।
घटितं वर्णतः श्वेतं, डिम्भमेकमदम्भकम् ॥ ११९ ॥
रक्षितानि मया यूयं, ब्रुवाणमिति चोच्चकैः।
पश्यद्गुरोर्मुखाम्भोजं,सर्वेषां पुरतः स्थितम् ॥१२०॥युग्मम्।
द्वितीयं कृष्णवर्णाभं, डिम्भं तदनु निर्ययौ।
ततो जातं महाकृष्णं, डिम्भरूपं तृतीयकम् ॥ १२१ ॥
आहत्य तच्च शुक्लेन, वर्द्धमानं निवारितम्।
ततो द्वे अपि ते कृष्णे, निर्गते गुरुपर्षदः ॥ १२२ ॥
गुरुः प्रोवाच भो भद्राः !, न दोषो वोऽत्र कश्चन।
अज्ञानपापाभिधयोः, किं त्वसौ कृष्णडिम्भयोः ॥ १२३ ॥

तथाहि—

यत्र चेदिदमज्ञानं, युष्मद्देहाद्विनिर्गतम्।
एतदेव समस्तस्य, दोषवृन्दस्य कारणम् ॥ १२४ ॥
अनेन वर्त्तमानेन, शरीरे जन्तवो यतः।
कार्याकार्यं न जानन्ति, गम्यागम्याऽऽदिकं तथा ॥ १२५ ॥
ततः पापं निबध्नन्ति, दुःखदन्दोलिदायकम्।
यत्तु पूर्वं सितं डिम्भं, तदार्जवमुदाहृतम् ॥ १२६ ॥
अज्ञानाद् वर्द्धमानं हि, पापं चोऽवार्यताऽमुना।
रक्षितानि मया यूय-मत एवेदमाख्यत ॥ १२७ ॥

यतः—

धन्यानामार्जवं, येषामेतच्चेतसि वर्त्तते।
अज्ञानादाचरन्तोऽपि, पापं ते स्वल्पपातकाः ॥ १२८ ॥
तदेवंविधभावानां, भद्राणां युज्यतेऽधुना।
अज्ञानपापे निर्द्धूय, सम्यग् धर्मनिषेवणम् ॥ १२९ ॥
उपादेयो हि संसारे, धर्म एव बुधैः सदा।
विशुद्धो मुक्तये सर्व्वं, यतोऽन्यद् दुःखकारणम् ॥ १३० ॥
अनित्यः प्रियसंयोगः, ईर्ष्याशोकाऽऽदिसङ्कुलः।
अनित्यं यौवनं चापि, कुत्सिताऽऽचरणाऽऽस्पदम् ॥ १३१ ॥
अनित्यं सर्वमेवेह, भवे वार्द्धितरङ्गवत्।
अतो वदत किं युक्ता, क्वचिदास्था विवेकिनाम् ? ॥ १३२ ॥
श्रुत्वेति राज्ये संस्थाप्य, शुभाऽऽचाराभिधं सुतम्।
प्राव्राजीदृजुभूपालो, जायापुत्रवधूयुतः ॥ १३३ ॥
ततस्ते कृष्णरूपे द्वे, डिम्भे तूर्णं पलायिते।
शुक्लरूपं पुनर्डिम्भं, प्रविष्टं तत्तनुषु क्षणात् ॥ १३४ ॥
कालज्ञेन ततश्चित्ते, सभार्येण विचिन्तितम्।
पश्याहो धन्यताऽमीषां, यैः प्राप्तं व्रतमार्हतम् ॥ १३५ ॥
वयं तु दैवभावेन, व्यर्थं केनाऽऽत्र वञ्चिताः।
यद्वा सम्यक्त्वसंप्राप्त्या, सुधन्या वयमप्यहो ॥ १३६ ॥
सहर्षावथ तौ सूरेः, प्रणम्य चरणद्वयम्।
तेनानुशिष्टौ स्वस्थानं, प्रापतां देवदम्पती ॥ १३७ ॥
इदं पुत्र ! मया तुभ्यं, कथितं मिथुनद्वयम्।
संदिग्धेऽर्थे हि तत् काल-विलम्बो गुणभाजनम् ॥ १३८ ॥
यदादिशति मामम्बा, कर्त्ताऽहं तत्तथैव हि।
इति जल्पन्मुदा मध्यः, प्रपेदे जननीवचः ॥ १३९ ॥
बालोऽप्यथ स्वमित्रेण, मात्राऽकुशलमालया।
अधिष्ठितोऽभवद्गाढ-मकृत्यकरणाऽऽदृतः ॥ १४० ॥
कुविन्दहुम्बमातङ्ग-जातीयास्वपि तद्वशः।
अतिलौल्येन नारीषु, प्रावर्त्तत निरन्तरम् ॥ १४१ ॥
ततश्च गतलज्जोऽयं, पापिष्ठः कुलदूषणः।
एवं स निन्द्यते लोकै-र्न च पापान्निवर्तते ॥ १४२ ॥
अथ निन्दापरे लोके, स्नेहविह्वलमानसः।
लोकापवादभीरुस्तं, मध्यबुद्धिरभाषत ॥ १४३ ॥
भ्रातर्नो युज्यते कर्त्तुं, तव लोकविरुद्धकम्।
अगम्यागमनं निन्द्यं, सपापं कुलदूषणम् ॥ १४४ ॥
स प्राऽऽह विप्रलब्धोऽसि, नूनं बन्धो ! मनीषिणा।
नाहोऽयमुपदेशानां, मौन्यभूदिति मध्यमः ॥ १४५ ॥
अपरेद्युर्मधौ बालः, समं मध्यमबुद्धिना।
ययौ लीलावरोद्यान-संस्थिते कामधामनि ॥ १४६ ॥
तत्र चैक्षिष्ट पार्श्वस्थं, गुप्तस्थानव्यवस्थितम्।
कामस्य वासभवनं, मन्दमन्दप्रकाशकम् ॥ १४७ ॥
कुतूहलवशेनाथ द्वारे संस्थाप्य मध्यमम्।
मध्ये प्रविष्टः सहसा, स बालस्तस्य सद्मनः ॥ १४८ ॥
तत्र कामस्य शयने, कोमलामलतूलिके।
मित्राम्बादोषतो बालः, शेते स्म गतपुण्यकः ॥ १४९ ॥
इतश्च तत्रैव पुरे, बहिरङ्गनरेशितुः।
शत्रुमर्दननाम्नाऽभूत्, प्रिया मदनकन्दली ॥ १५० ॥
साऽऽगत्य तत्र कामोऽयं, शय्यास्थ इति भक्तितः।
स्पृशन्ती सर्वगात्रेषु, तं बालकमपूपुजत् ॥ १५१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ययौ स्वमन्दिरे राज्ञी, प्रपूज्य च रतीश्वरम् ।
बालस्तु तस्याः संस्पर्श-वश्योऽभून्नष्टचेतनः ॥ १५२ ॥
मया कथं नु लभ्येय-मिति चिन्तापरायणः ।
अल्पोदके मीन इव, तत्रास्थाच्च स दुःस्थितः ॥ १५३ ॥
बालः किं चिरयत्येष, इति मध्यमबुद्धिकः ।
प्राविशत् कामधामान्त-स्तदवस्थं ददर्श तम् ॥ १५४ ॥
उत्थापितस्ततोऽनेन, यावदाह न किञ्चन ।
बालस्तावच्च तत्रत्य-व्यन्तरेण न्यबध्यत ॥ १५५ ॥
अपात्यत महीपीठे, सर्वाङ्गीणमपात्यत ।
बहिरन्येऽपि लोकेभ्य-स्तद् वृत्तं च न्यवेदयत ॥१५६॥
ततो गाढतरं प्रार्थ्य, व्यन्तरान्मध्यबुद्धिना ।
लोकैश्च मोचितो बालो, निन्ये च निजमन्दिरे ॥ १५७ ॥
मध्यबुद्धिमथो बालो-ऽप्राक्षिद् बन्धो ! किमु त्वया ।
व्युदैक्षि वासभवना-न्निर्यान्ती काऽपि नायिका ॥ १५८ ॥
स प्राहाऽदर्शि यद्येवं, हे भ्रातस्तर्हि कस्य सा ? ।
स स्माहाऽत्रैव भूपस्य, देवी मदनकन्दली ॥ १५९ ॥
तदाकर्ण्यावदद् बालः, कथं सा मादृशामिति ।
मध्यमेन तदाकूतं, ज्ञातमुक्तं च तं प्रति ॥ १६० ॥
भ्रातः ! केयमविद्या ते, यदेवं तप्यसे किमु ? ।
त्वयाऽधुनैव व्यसरि, यत् कृच्छ्रेणासि मोचितः ॥ १६१ ॥
तच्छ्रुत्वा बालको जज्ञे, कज्जलश्यामलाऽऽननः ।
अयोग्योऽयमिति ज्ञात्वा, मध्यमो मौनमाश्रयत् ॥ १६२ ॥
इतश्चास्तमिते सूर्ये, निःसृत्य निजमन्दिरात् ।
गन्तुं प्रववृते बालो-ऽभिमुखं नृपवेश्मनः ॥ १६३ ॥
भ्रातृस्नेहविमूढाऽऽत्मा, मध्यस्तत्पृष्ठतोऽलगत् ।
केनाऽपि पुरुषेणाऽथ, बालोऽबध्यत निश्चलम् ॥ १६४ ॥
प्रक्षिप्त आरटन् व्योम्नि, ततो मध्यस्तमन्वगात् ।
रे रे क्व यासि यासीति, प्राप्तः प्राप्त इति ब्रुवन् ॥ १६५ ॥
गृहीतबालः स पुमान्, क्षणेनाभूददर्शनः ।
भ्रातृप्राप्त्याशया मध्य-स्तथापि च बलेन हि ॥ १६६ ॥
बंभ्रमन् सप्तमे चाह्नि, पुरं प्राऽऽप कुशस्थलम् ।
नोदन्तमात्रमप्याप, स्वानुजस्य परं क्वचित् ॥ १६७ ॥
ततो भ्रातृवियोगाऽऽर्त्तः, कण्ठबद्धशिलो वटे ।
पतन् नन्दनसंज्ञेन, राजपुत्रेण वारितः ॥ १६८ ॥
पृष्टश्च नन्दनायाऽऽख्यत्, तं वृत्तान्तमशेषतः ।
स ऊचे भद्र ! यद्येवं, तर्हीष्टं सिद्धवत् तव ॥ १६९ ॥

तथाहि—

हरिश्चन्द्रो नृपोऽत्रास्ति, स चारिभिरभिद्रुतः ।
खेचरं रतिकेल्याऽऽख्यं, मित्रं प्रोचे कृताञ्जलिः ॥ १७० ॥
सखे ! कुरु तथा शत्रु-विघातं स्याद्यथा मम ।
ततो नृपाय स ददौ, विद्यां शत्रुविघातिनीम् ॥ १७१ ॥
ततः षाण्मासिकीं राजा, पूर्वं सेवामचीकरत् ।
अधुना वर्त्तते भद्र !, साधनावसरः खलु ॥ १७२ ॥
तद्धोमार्थमानीत, आकाशे रतिकेलिना ।
इतोऽष्टमे दिने कोऽपि, पुमान् लक्षणलक्षितः ॥ १७३ ॥
पोषं पोषं तदङ्गासृक्-पललैस्तर्पणापरः ।
विद्यां प्रसाद्य राट् चक्रे, पश्चात्सेवां दिनाष्टकम् ॥ १७४ ॥
राज्ञाऽधुना तु रक्षार्थ-मर्पितोऽस्ति ममैव सः ।
मध्यमः प्राऽऽह यद्येवं, तर्हि तं दर्शयाऽऽशु मे ॥ १७५ ॥
तेनाप्यदर्शि चर्मास्थि-शेषाङ्गमुपलक्ष्य तम् ।
मध्योऽयाचत कारुण्यात् ,सोऽपि चास्मै समार्पयत् ॥१७६॥
उक्तश्च मध्यमस्तेन, राजद्रोह्यमिदं ननु ।
इतोऽपसर शीघ्रं भो, आत्मानं रक्षिताऽस्म्यहम् ॥ १७७ ॥
महाप्रसाद इत्युक्त्वा, बालमादाय स्वौजसा ।
भीतभीतोऽपचक्राम, क्रमात् प्राऽऽप स्वपत्तनम् ॥ १७८ ॥
कथं कथमपि प्राऽऽप, बलितां बालकस्ततः ।
आख्यन्नन्दनवन्मध्य-बुद्धेः स्वं वृत्तमुच्चकैः ॥ १७९ ॥
मनीष्यपि तदा तत्रा—ऽऽगमल्लोकानुवृत्तितः ।
तत्कुड्यान्तरितोऽश्रौषी—त्सर्वं बालविचेष्टितम् ॥ १८० ॥
ततस्तमाह हे भ्रातः !, कथितं ते मया पुरा ।
यदेष स्पर्शनः पापः, सर्वदोषनिकेतनम् ॥ १८१ ॥
बालोऽप्यजल्पदद्यापि, यदि तामायतेक्षणाम् ।
प्राप्नुयां कोमलस्पर्शां, तन्मे दुःखं न किञ्चन ॥ १८२ ॥
दध्यौ मनीषी तच्छ्रुत्वा, ही (हि) बालोऽयं वराककः ।
नैवोपदेशमन्त्राणां, कालदष्ट इवोचितः ॥ १८३ ॥

किं च—

एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेक—
स्तद्वद्भिरेव सह संवसति द्वितीयम् ।
एतद्द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध—
स्तस्याप्यमार्गचलने खलु कोऽपराधः ? ॥१८४॥

मध्यबुद्धिरथोत्थाप्य, प्रोक्तस्तेन वचस्विना ।
किं त्वयाऽपि विनष्टव्यं, विलग्नेनास्य पृष्ठतः ॥ १८५ ॥
मनीषिणमसौ प्रोचे, पद्मकोशीकृताञ्जलिः ।
अद्यप्रभृति बालस्य, सङ्गोऽत्याजि मयाऽनघ ॥ १८६ ॥
इदानीमाश्रयिष्यामि, वृद्धमार्गानुगामिताम् ।
जलाञ्जलिमलं दास्ये, सकलक्लेशसंहतेः ॥ १८७ ॥
वृद्धानुगोऽभविष्यं चे-त्त्वमिवाहं पुराऽपि हि ।
असहिष्ये तदा भ्रात-र्नैव क्लेशवशां दशाम् ॥ १८८ ॥
ते धन्याः पुण्यभाजस्ते, ये हि वृद्धानुगाः सदा ।
यद्वा वृद्धानुगामित्वं, स्वयं सिद्धं व्रतं सताम् ॥ १८९ ॥
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां,
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ।
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ? ॥ १९० ॥
परं ममापि धन्यत्वं, किञ्चनाद्यापि विद्यते ।
यदहं त्वमिवाभूवं, वृद्धमार्गानुगामुकः ॥ १९१ ॥

किं च—

रागाऽऽदिभिः समं याति, शान्तिं स्मरहुताऽशनः ।
धत्ते प्रसन्नतां स्वान्तं, ध्रुवं वृद्धानुगामिनाम् ॥ १९२ ॥
अहो मातेव हितकृद् , दीपिकेवार्थदर्शिनी ।
विनेत्री गुरुवाणीव, पुंसां वृद्धानुगामिता ॥ १९३ ॥
माताऽपि विकृतिं यायात् , कदाचिद्दैवयोगतः ।
न पुनर्वृद्धसेवेयं, कदापि विहिता सती ॥ १९४ ॥
वृद्धवाक्यामृतस्यन्द—सुन्दरे तस्य मानसे ।
ज्ञानराजमरालीयं, सुस्थिरां स्थितिमश्नुताम् ॥ १९५ ॥
यो वृद्धमण्डलीं मन्दोऽ-नुपास्यैव समीहते ।
तत्त्वं विज्ञातुमत्युच्चैः, स इच्छेद्गमनं करैः ॥ १९६ ॥
वृद्धोपदेशतिग्मांशुं, प्राप्य यस्य मनोम्बुजम् ।
न प्राबोधि कथं तत्र, गुणलक्ष्मीः समाश्रयेत् ? ॥ १९७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथं तस्य वराकस्य, पापपङ्कः प्रहीयताम्।
वृद्धवाग्वारिभिर्येन, नाऽऽत्मा प्राक्षालि कर्हिचित्॥ १९८॥
वृद्धोपजीविनां पुंसां, करस्था एव संपदः।
किं कदापि विषीदन्ति, फलैः कल्पद्रुभाजिनः॥ १९९॥
वृद्धोपदेशबोहित्थैः, सत्कार्णैर्गुणयन्त्रितैः।
तीर्यते दुस्तरोऽप्येष, भविकैः रागसागरः॥ २००॥
मिथ्यात्वाऽदिनगोत्तुङ्ग-शृङ्गभङ्गाय कल्पते।
देहिनां वृद्धसेवोत्थ-विवेककुलिशो ह्ययम्॥ २०१॥
नृणां तमिस्रमश्रान्तं, क्षीयते क्षणमात्रतः।
वृद्धानुसेवया नूनं, प्रभयेव प्रभापतेः॥ २०२॥
एकैव वृद्धसत्सेवा, स्वातिवृष्टिर्निपेतुषी।
स्वान्तशुक्तिषु जन्तूनां, प्रसूते मौक्तिकं फलम्॥ २०३॥
विश्वविद्यासु चातुर्यं, विनयेष्वतिकौशलम्।
कलयन्ति गतक्लेशं, वृद्धसेवापरा नराः॥ २०४॥
शरीराऽऽहारसंसार-कामभोगेष्वपि स्फुटम्।
विरज्यति नरः क्षिप्रं, वृद्धैस्तत्त्वे प्रबोधितः॥ २०५॥
ज्ञानध्यानाऽऽदिशून्योऽपि, वृद्धान् यदि महीयते।
विलङ्घ्य भवकान्तारं, तदा याति महोदयम्॥ २०६॥
कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं, विदन्नप्यखिलं श्रुतम्।
नाऽऽसादयति कल्याणं, चेद् वृद्धानवमन्यते॥ २०७॥
न तल्लोके परं धाम, न तत्सौख्यमखण्डितम्।
यद् वृद्धवरिवस्याकृ-न्नाऽऽप्नोति पुरुषः क्षणात्॥ २०८॥
यामाप्य जायते नृणां, स्वप्नेऽपि न हि दुर्गतिः।
चिरं विजयतां सैषा, वृद्धपादानुगामिता॥ २०९॥
एवं तस्य वचः श्रुत्वा, मनीषी मोदमेदुरः।
स्वं धामाऽगमद्देषोऽपि, धर्मैकमरतोऽभवत्॥ २१०॥
बालस्त्ववाक्कुमित्राभ्यां, प्रेर्यमाणो मुहुर्मुहुः।
शत्रुमर्दनराट्सौधं, प्रदोषेऽगाद् दुराशयः॥ २११॥
तदा मण्डनशालायां, देवी मदनकन्दली।
आत्मानं मण्डयन्त्यासीद्, विविधैर्वरवर्णकैः॥ २१२॥
स पापो दैवयोगेना-विशद्वासगृहे द्रुतम्।
अस्वाप्सीन्नृपशय्याया-महो स्पर्श इति ब्रुवन्॥ २१३॥
इतश्च नृपमायान्तं, दृष्ट्वा बालो भयाऽऽकुलः।
शय्यातो न्यपतद् भूमौ, ज्ञातश्चासौ महीभुजा॥ २१४॥
क्रुद्धो राट् स्वनरं प्राचे, रे रे एष नराऽधमः।
सौधेऽत्रैव कदर्थ्यो हि, सर्वामपि तमस्विनीम्॥ २१५॥
ततस्तेन निबद्धोऽसौ, स्तम्भे दम्भोलिकण्टकैः।
उत्सिक्तस्तप्ततैलैश्च, कशाभिरतिताडितः॥ २१६॥
अङ्गुल्यग्रेषु विक्षिप्ता-स्तस्याऽऽस्यस्यशलाकिकाः।
क्रन्दतोऽस्य वराकस्य, सा ययौ सकला निशा॥ २१७॥
प्रातः क्रुद्धनृपाऽऽदेशात्, तस्याऽऽरक्षकपूरुषाः।
आरोपयन् खरेऽकर्णे, चूर्णैर्गैरिकपुण्ड्रकम्॥ २१८॥
शिरोधृतकलिञ्जं च, निम्बपत्रस्रजाञ्चितम्।
कश्चित् केशेषु दध्रेऽथ, भल्लूकमिव लुब्धकः॥ २१९॥
जघानाऽन्यश्चपेटाभि-र्भूताऽऽर्तमिव मान्त्रिकः।
यष्ट्याऽन्योऽताडयद् गेह-प्रविष्टमिव कुक्कुरम्॥ २२०॥
एवं विडम्बनापूर्वं, भ्रामयित्वाऽखिले पुरे।
पादपे सायमुद्बन्ध्य, पुराऽऽरक्षोऽविशत् पुरम्॥ २२१॥
अथो दैवनियोगेन, त्रुटितस्तस्य पाशकः।
पतितश्च क्षितौ बालः, क्षणात् संप्राप्तचेतनः॥ २२२॥
स्वमन्दिरे शनैरागात्, प्रच्छन्नस्तस्थिवान् सदा।
गाढभीत्या नरेन्द्रस्य, न निर्याति स कुत्रचित्॥ २२३॥
इतश्च तत्पुरोद्याने, स्वविलासाऽऽह्वये वरे।
प्रबोधनरतिर्नाम, मुनीन्द्रः समवासरत्॥ २२४॥
उद्यानपालकमुखात्, श्रुत्वा गुर्वागमं मुदा।
अधिष्ठितः स्वया मात्रा, मनीष्याह्वास्त मध्यमम्॥ २२५॥
सोऽपि बालं हठेनाऽपि, समाहूय त्रयोऽप्यथ।
तत्रोद्यानवरे जग्मु-र्भूरिकौतुकसङ्कुले॥ २२६॥
प्रमोदशेखराऽभिख्ये, चैत्ये तत्र जिनेशितुः।
बिम्बं युगाऽऽदिदेवस्य, नतौ मध्यमनीषिणौ॥ २२७॥
देवदक्षिणभागस्थं, तौ नत्वा तं मुनीश्वरम्।
शुद्धं शुश्रुवतुर्धर्मं, कर्ममर्मप्रदर्शनम्॥ २२८॥
अम्बा कुमित्रदोषेण, स बालः शून्यमानसः।
गुरुं ग्राम्य इवानत्वा, भ्रात्रोः पार्श्वमुपाविशत्॥ २२९॥
इतश्च जिनसद्भक्त-सुबुद्धिसचिवेरितः।
समं मदनकन्दल्या, चैत्ये तत्राऽऽगमन्नृपः॥ २३०॥
नत्वा जिनं गुरूँश्चापि, राजाऽश्रौषीत् सुदेशनाम्।
सुबुद्धिस्तु जिनाधीशं, स्तोतुमित्थं प्रचक्रमे॥ २३१॥
जय देवाधिदेवाऽऽधि-व्याधिवैधुर्यनाशन!।
सर्वदा सर्वदारिद्र्य-मुद्राविद्रावणक्षम!॥ २३२॥
अगण्यपुण्यकारुण्य-पण्याऽऽपणवृषध्वज!।
जय सन्देहसन्दोह-शैलदम्भोलिसन्निभ!॥ २३३॥
स्फुरत्कषायसन्ताप-संपातशमनामृत!।
जय संसारकान्तार-दावपावक पावन॥ २३४॥
सदा सदागमाम्भोज-विबोधनदिनप्रभुम्।
नत्वा नत्वा भवे भावि, भविनः पतनं खलु॥ २३५॥
ये देवदेव गंभीर—नाभे! नाभेय! भूरिभिः।
त्वद्गुणैः स्वं नियच्छन्ति, ते मुक्ताः स्युर्महाद्भुतम्॥ २३६॥
देव! त्वन्नामसन्मन्त्रो, येषां चित्ते चकास्ति न।
मोहसर्पविषं तेषां, कथं यातु क्षयं क्षणात्?॥ २३७॥
परिस्पृशन्ति ये नित्यं, त्वदीयं पदपङ्कजम्।
तेषां तीर्थेश्वरत्वाऽऽदि—पदवी न दवीयसी॥ २३८॥
नमः सद्दर्शनज्ञान-वीर्याऽऽनन्दमयाय ते।
अनन्तजन्तुसन्तान-त्राणप्रवणचेतसे॥ २३९॥
एवं युगाऽऽदितीर्थेशं, ये स्तुवन्ति सदा नराः।
देवेन्द्रवृन्दवन्द्यास्ते, प्राप्नुवन्ति महोदयम्॥ २४०॥
इति तीर्थपतिं स्तुत्वा, सचिवेशः प्रमोदभाक्।
नत्वा च सूरिपादाब्ज-मश्रौषीद्देशनामिति॥ २४१॥
यथा नरास्त्रिधा ज्ञेया, जघन्या मध्यमोत्तमाः।
तेषु च प्रथमे रक्ताः, स्पर्शने दुःखदायके॥ २४२॥
समतावर्त्तिनो मध्याः, सदा तद्द्विष उत्तमाः।
क्रमेण नरकस्वर्ग-शिवाऽऽख्यगतिगामिनः॥ २४३॥
मनीषिमध्यराजाऽऽद्या-स्तत् श्रुत्वा भाविता भृशम्।
बालस्त्वेकमनास्तस्थौ, पश्यन् मदनकन्दलीम्॥ २४४॥
मित्राम्बाप्रेरणाद् देव्याः, समुखं संप्रधावितः।
अये स एव बालोऽय—मित्यूचे कुपितो नृपः॥ २४५॥
ततो राजभयाक्रान्तः, कामाऽऽवेशः स बालकः।
नश्यन् भग्नगतिर्भूमौ, न्यपतद्गतचेतनः॥ २४६॥
अथ राज्ञा गुरुः पृष्टः, किं पुमानेव ईदृशः।
प्रौढस्पर्शनदोषेणे—त्यूचे सूरिरपि स्फुटम्॥ २४७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धराधीशः पुनः प्रोचे, भाव्यस्य किमतः परम् ? ।
गुरुः प्राऽऽह चणादेष, कृच्छ्रात् प्राप्स्यति चेतनाम् ॥२४८॥
इतो नश्यन् कर्मपूर-ग्रामाऽऽसन्नसरोवरे ।
श्रमखिन्नशरीरश्च, स्नानायैष निमङ्क्ष्यति ॥ २४९ ॥
तत्र स्नानकृते पूर्व—मवतीर्णां स्वपाकिकाम् ।
स्पृशन्नेकेन बाणेन, चण्डालेन हनिष्यते ॥ २५० ॥
नरकेषु ततो गन्ता, ततस्तिर्यक्ष्वनन्तशः ।
भूयोऽपि नरकेष्वेवं, भ्रमिष्यत्येष संसृतौ ॥ २५१ ॥
श्रुत्वेति मन्त्रिणं प्रोचे, नृपतिः क्रोधदुर्द्धरः ।
भो भो निर्वासय क्षिप्रं, मद्देशात् स्पर्शनं ह्यमुम् ॥ २५२ ॥
व्याघुट्य यदि वा गच्छेत् , तदा लोहविनिर्मिते ।
यन्त्रे क्षिप्त्वा तथा पिंष्या यथाऽयं भस्मसाद्भवेत् ॥ २५३ ॥
अथ स्पष्टमभाषिष्ट, सूरिर्भो मनुजाधिप ! ।
नान्तरङ्गजनध्वंसे, बाह्योपायः प्रवर्त्तते ॥ २५४ ॥
बभाषे भूपतिर्भूयो, भक्तितस्तं गुरुं प्रति ।
स्वामिन्नुपायः कस्तर्हि, प्रोचेऽनूचानपुङ्गवः ॥ २५५ ॥
ज्ञानदर्शनचारित्र-तपःसन्तोषलक्षणम् ।
सुयन्त्रमप्रमादाऽऽख्यं, साधवो वाहयन्ति यत् ॥२५६ ॥
तदेवाऽऽन्तरवैरीभ-ध्वंसे पञ्चाननायते ।
अदृष्टपारसंसार-वार्द्धेः प्रवहणायते ॥ २५७ ॥
यतिधर्मक्रियासक्तौ, तत् श्रुत्वा नृपमध्यमौ ।
सम्यक्त्वमूलमनघं, गृहिधर्मं समाश्रितौ ॥ २५८ ॥
गाढं विज्ञपयामास, मनीषी तु मुनीश्वरम् ।
भगवन् ! देहि मे दीक्षां, भवाम्भोनिधिमन्थिनीम् ॥ २५९ ॥
वत्स ! मा स्म प्रमादीस्त्व-मेवमुक्ते च सूरिणा ।
ततो मनीषिणं प्रोचे, राजा विस्मितमानसः ॥ २६० ॥
प्रसीद मद्गृहं ह्येहि, मुदं देहि क्षणं च मे ।
येनाहं ते महाभाग !, कुर्वे निष्क्रमणोत्सवम् ॥ २६१ ॥
ततो राजाऽनुवृत्त्यैष,ययौ नृपनिकेतनम् ।
ददानो राज्ञ आनन्दं, तत्राऽस्थात् सप्तवासरीम् ॥ २६२ ॥
अथ पञ्चभिः कुलकम्—
दिनात्ततोऽष्टमे चाह्नि, कृतस्नानविलेपनः ।
आमुक्तरत्नालङ्कारः, सदशांशुकशोभितः ॥ २६३ ॥
प्रधानस्यन्दनाऽऽरूढः, सारथीभूतभूपतिः ।
जङ्गमः कल्पशाखीव, दददानमनुत्तरम् ॥ २६४ ॥
वीज्यमानश्चामराभ्यां, श्वेतच्छत्रेण राजितः ।
वैतालिकैः स्तूयमान—निविडव्रतसंस्तवः ॥ २६५ ॥
अत्यद्भुतगुणग्राम-रामणीयकरञ्जितैः ।
तदैवोपागतैर्देवैः, स्तूयमानः सुरेन्द्रवत् ॥ २६६ ॥
निषादिसादिपादाति-रथिकामात्यमध्यमैः ।
अन्वीयमानः स प्राप,स्थानं सूरिपवित्रितम् ॥ २६७ ॥
ततो रथात् समुत्तीर्य, मनीषी पातकादिव ।
प्रमोदशेखराऽभिख्य-चैत्यद्वारे स्थितः क्षणम् ॥ २६८ ॥
अत्रान्तरे नृपस्यापि, मनीषिचरितं मुदा ।
परिभावयतः सम्यक्, निर्मलेनान्तराऽऽत्मना ॥ २६९ ॥
चारित्रपरिणामोऽभूत् , कर्मकल्मषवारिदः ।
अहो वृद्धानुगामित्वं, देहिनां सर्वकामधुक् ॥२७०॥ (युग्मम्)
ततः सुबुद्धयमात्याय, देव्यै मध्यमबुद्धये ।
सामन्तेभ्यश्च भूनाथो, निजाभिप्रायमाख्यत ॥ २७१ ॥
अचिन्त्यत्वाच्च महतां, संनिधेः सुनिधेरिव ।
सर्वेऽपि जातचारित्र-परिणामास्तमूचिरे ॥ २७२ ॥
साधु साधु हितं देव !, युक्तमेतद्भवादृशाम् ।
संसारे ह्यत्र निःसारे, नान्यच्चारु विवेकिनाम् ॥ २७३ ॥
वयमप्येतदेवेह, कर्तुमीहामहे प्रभो ! ।
तत् श्रुत्वा मुमुदे राजा, केकीवाम्भोधरध्वनिम् ॥ २७४ ॥
राजचिह्नार्पणाद्राज्ये, कृत्वा पुत्रं सुलोचनम् ।
ततो नृपानुगाः सर्वे, प्राविशन् जिनमन्दिरे ॥ २७५ ॥
जिनं संपूज्य सूरिभ्यः, कथितं तैः स्वचिन्तितम् ।
साधु साधु महाभागाः !, इति प्रोवाच तान् गुरुः ॥२७६॥
ततः प्रवचनोक्तेन, विधिना सूरिणा स्वयम् ।
ते सर्वे दीक्षिता एवं, चान्वशिष्यत सादरम् ॥ २७७ ॥
तथाहि—
चत्वारि परमाङ्गानि, दुर्लभानीह जन्मिनाम् ।
मानुषत्वं श्रुतिः श्रद्धा, संयमे वीर्यमुत्तमम् ॥ २७८ ॥
एनां समग्रसामग्रीं, संप्राप्य कथमप्यहो ।
भवद्भिर्न हि कर्त्तव्यः, प्रमादोऽत्र मनागपि ॥ २७९ ॥
ततस्तैः प्रणतैः सर्वै-र्जजल्पे सूरिसंमुखम् ।
एवमेतदितीच्छामः, कुर्मः पूज्यानुशासनम् ॥ २८० ॥
प्रहृष्टैः स्थविरर्षिभ्य-स्ते सर्वेऽप्यथ सूरिभिः ।
अर्पिता आर्यिकाभ्यस्तु साध्वी मदनकन्दली ॥ २८१ ॥
कालं विहृत्य भूयांस-मागमोक्तेन वर्त्मना ।
पर्यन्तकाले संप्राप्ते, विधायाऽऽराधनाविधिम् ॥ २८२ ॥
सर्वेऽपि विमलध्यानाः, प्रतनूभूतकर्मकाः ।
मध्यमाऽऽद्या गताः स्वर्गं, मनीषी तु शिवं ययौ ॥ २८३ ॥
बालस्य तु यदादिष्टं, भदन्तैर्भावि चेष्टितम् ।
तत्तथैवाखिलं जज्ञे, नान्यथा मुनिभाषितम् ॥ २८४ ॥
" एवं वृद्धानुगत्वप्रगुणगुणजुषो मध्यबुद्धेर्विशुद्धं,
श्लोकं कुन्देन्दुशुभ्रं त्रिदिवशिवफलं धर्मकर्माऽऽप्यवेत्य ।
भो भव्याः ! दुःखकक्षक्षयदवदहने पुण्यकन्दाम्बुदाभे,
संपत्संपत्तिबीजे सकलगुणकरे धत्त यत्नं तदत्र ॥ २८५ ॥ "
ध० र० १ अधि० १७ गुण ।

मज्झमा—मध्यमा—स्त्री० । वीरजिनेन्द्रस्य केवलोत्पत्तिस्थाने मध्यमपापायाम् , आ० म० १ अ० ।

मज्झलोग—मध्यलोक—पुं० । लोकस्य मध्यः, अस्य सकललोकमध्यवर्त्तित्वात् । मेरौ, जं० ४ वक्ष० । स० ।

मज्झसंघयणचउक्क—मध्यसंहननचतुष्क—न० । मध्यानि मध्यमानि प्रथमान्तिमवर्जानि, संहननानि अस्थिनिचयाऽऽत्मकानि तेषां चतुष्कं द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमसंहननचतुष्कं, तानि चत्वारि—ऋषभनाराचसंहननं नाराचसंहननमर्द्धनाराचसंहननं, कीलिकासंहननमिति । कर्म० २ कर्म० ।

मज्झागिइ—मध्याऽऽकृति—स्त्री० मध्यमसंस्थाने,कर्म०३ कर्म० ।

मज्झागिइचउक्क—मध्याऽऽकृतिचतुष्क—न० । मध्या मध्यमा-आद्यन्तवर्जा आकृतयः संस्थानानि मध्याऽऽकृतयस्तासां चतुष्कं द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमानां संस्थानानां चतुष्कं, तानि चत्वारि—न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानं, सादिसंस्थानं, वामनसंस्थानं, कुब्जसंस्थानमिति । कर्म० २ कर्म० ।

मज्झिम—मध्यम—त्रि० । मध्यभाविनि, उत्त० ५ अ० । मध्यमवयसि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । मध्ये कायस्य भवो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मध्यमः। "वायुः समुत्थितो नाभे-रुरो हृदि समाहतः। नाभिं प्राप्तो महानादो, मध्यमत्वं समश्नुते॥१॥" इत्युक्तलक्षणे स्वरभेदे, स्था० ७ ठा०। अनु०।

मज्झिमउवरिमग-मध्यमोपरितन-पुं०। ग्रैवेयकदेवभेदे,स्था० ६ ठा०।

मज्झिमग-मध्यमक-त्रि०। अन्तरालभवे, "पुरिमपच्छिमवज्जा मज्झिमगा वावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पभाविंति।" स्था० ३ ठा० १ उ०।

मज्झिमगजिण-मध्यमजिन-पुं०। अजितादिषु जिननरेन्द्रेषु, नं०।

मज्झिमपावा-मध्यमपापा-स्त्री०। वीरजिनेन्द्रस्य केवलोत्पत्तिस्थाने, आ० चू० १ अ०। आ० म०।

मज्झिमपुरिस-मध्यमपुरुष-पुं०। वासुदेवेषु, तेषां तीर्थकरचक्रिणां प्रतिवासुदेवानां च बलाऽऽद्यपेक्षया मध्यमवर्तित्वात्। स०। स्था०। (मध्यमपुरुषाः 'इत्थी' शब्दे द्वितीयभागे ६१६ पृष्ठे गताः)

मज्झिमबुद्धि-मध्यमबुद्धि-पुं०। (कथा 'मज्झमबुद्धि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६४ पृष्ठे गता)

मज्झिममज्झिमगेविज्जग-मध्यममध्यमग्रैवेयक-पुं०। ग्रैवेयकदेवभेदे,स्था० ६ ठा०।

मज्झिमवय-मध्यमवयस्-पुं०। परिपक्वबुद्धिके, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ०।

मज्झिमसंघयण-मध्यमसंहनन-न०। ऋषभनाराचनाराचमध्यनाराचकीलिकारूपेषु आद्यन्तरहितेषु संहननेषु, कर्म० ३ कर्म०।

मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जय-मध्यमाधस्तनग्रैवेयक-पुं०।ग्रैवेयकदेवभेदे, आ० चू० १ अ०।

मज्झिमिय-माध्यमिक-पुं०। शून्यवादप्रतिपादके बौद्धभेदे, सम्म०।

मज्झिमिल्ल-मध्यम-पुं०। मध्यवर्तिनि, "चउरुत्तरमज्झिमिल्लाउ त्ति।" आत्माऽङ्गुलेन चतुरुत्तरमङ्गुलशतं मध्यमाः पुरुषाः। अनु०।

मज्झिमिल्ला-मध्यमा-स्त्री०। सुस्थितसुप्रतिबुद्धाभ्यां निर्गतस्य कोटिगणस्य चतुर्थ्यां शाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

मट्टिआ-मृत्तिका-स्त्री०। "वृत्तप्रवृत्तमृत्तिकापत्तनकदर्थिते टः"॥८।२।२६॥ एषु संयुक्तस्य टो भवति। प्रा० २ पाद। मृत्स्नायाम्, औ०। मृत्तिकामयपात्रभेदे, स्था०।

मट्टिओवलित्त-मृत्तिकोपलिप्त-न०। मृत्तिकयाऽवलिप्ते आहारे, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ०।

मट्टिया-मृत्तिका-स्त्री०। पृथिवीकाये, प्रश्न० ३ सम्ब०द्वार। विपा०। आ० चू०। रा०। आव०। आचा०। स्था०। सूत्र०। कर्दमे, दश० ५ अ० १ उ०।

मट्टियापाणय-मृत्तिकापानक-न०। कुम्भकारसम्बन्धिनि मृत्तिकामिश्रिते पानके, भ० ३ श० २ उ०।

मट्टियापाय-मृत्तिकापात्र-न०। शरावघटिकाऽऽदिके मृण्मये पात्रे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। नि० चू०। आचा० (मृत्तिकापात्रविषयः 'पत्त' शब्दे पञ्चमभागे ३११ पृष्ठे गतः)

मट्टियाभक्खण-मृत्तिकाभक्षण-न०। मृद्भक्षणे,, मृद्भक्षणं श्रावकेण त्याज्यम्। तथा मृज्जातिः सर्वाऽपि मृत्तिका दर्दुराऽऽदिपञ्चेन्द्रियप्राण्युत्पत्तिनिमित्तत्वाऽऽदिना मरणाऽऽद्यनर्थकारित्वात् त्याज्या,जातिग्रहणं खटिकाऽऽदिसूचकं, तद्भक्षणस्याऽऽमाश्रयाऽऽदि दोषजनकत्वात् मृद्ग्रहणं चोपलक्षणं,तेन सुधाऽऽद्यपि वर्जनीयं,तद्भक्षकस्यान्त्रशाटाऽऽद्यनर्थसम्भवात्,मृद्भक्षणे चासङ्ख्येयपृथिवीकायजीवानां विराधनाऽऽद्यपि लवणमप्यसङ्ख्यपृथिवीकायाऽऽत्मकमिति सचित्तं त्याज्यं,प्राशुकं ग्राह्यं,प्राशुकत्वं चाग्न्यादिप्रबलशस्त्रयोगेनैव, नान्यथा, तत्र पृथिवीकायजीवानामसङ्ख्येयत्वेनात्यन्तसूक्ष्मत्वात्। तथा च पञ्चमाङ्गे १९ शतकतृतीयोद्देशके निर्दिष्टोऽयमर्थः— 'वज्रमय्यां शिलायां स्वल्पपृथिवीकायस्य वज्रलोष्टकेनैकविंशतिवारान् पेषणे सत्येके केचन जीवा ये स्पृष्टा अपि नेति। ध० २ अधि०।

मट्ठ-मृष्ट-त्रि०। शुद्धे, औ०। मसृणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। मसृणीकृते, सू० प्र० २० पाहु०। ज्ञा०। तैलोदकाऽऽदिना येषां शरीरं केशा वा मृष्टास्तेषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। अनु०। चं० प्र०। सूत्र०। लेपनिकाऽऽदिना समीकृते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०। मृष्ट इव मसृणीकृत इव मृष्टः सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमावत् प्रमार्जनिकया शोधिते, आ० म० १ अ०। औ०। जी०। प्रज्ञा०। रा०। जं०। स्था०। घृष्टा सुकुमालीकृते, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

मट्ठकन्नेज्ज-मृष्टकर्णीय-न०। चित्रितकरणाऽऽभरणे, उपा० १ अ०।

मट्ठगंड-मृष्टगण्ड-न०। मृष्टौ-मृष्टीकृतौ गण्डौ यैस्तानि। उल्लिखितकपोलेषु,औ०। जी०३ प्रति०४ अधि०। "मट्ठगंडतले" मृष्टे गण्डतले कर्णपीठके कर्णाऽऽभरणविशेषौ यस्य सः। भ० १५ श०।

मड-मृत-त्रि०। जीवविमुक्ते, कल्प० १ अधि० ४ क्षण।

मडअ-मृतक-त्रि०। "प्रत्यादौ डः"॥८।१।२०६॥ इति तस्य डः। मडओ। जीवविमुक्ते, प्रा० १ पाद।

मडंब-मडम्ब-न०। अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामान्तररहिते आवासे, प्रज्ञा० १ पद। सर्वतो दूरवर्त्तिसन्निवेशान्तरे, भ०१ श०१ उ०। जी०। दशा०। "जोअणमज्झंतरे जस्स गोउलाऽऽदीणि णऽत्थि तं मडंबं।" नि० चू० ५ उ०। औ०। प्रश्न०। ग०। अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितानि ग्रामपञ्चशत्युपजीव्यानि वा मडम्बानि। जं० २ वक्ष०। ग्रामैर्युक्तं मडम्बम्। सूत्र० २ श्रु० २ अ। यत्र ग्रामाऽऽदि योजनाभ्यन्तरे सर्वदिक्षु नास्ति तन्मडम्बम्। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। आचा०। मडम्बं नाम-यत्सर्वतः सर्वासु दिक्षु छिन्नमर्द्धतृतीयगव्यूतिमर्यादायामविद्यमानग्रामाऽऽदिकम्। बृ० १ उ०२ प्रक०। यस्य पार्श्वत आसन्नमपरं ग्रामनगराऽऽदिकं नास्ति तत्सर्वतश्छिन्नजनाऽऽश्रयविशेषरूपं मडम्बमुच्यते। अनु०। आचा०। जी०। स्था०।

मडगगिह-मृतकगृह-न०। म्लेच्छानां गृहाभ्यन्तरे मृतकपरिष्ठापनस्थाने, "मडगगिहं णाम मेच्छाणं घरब्भंतरे मडयं छोढुं विज्जति न दुज्झति तं मडगगिहं।" नि० चू० ३ उ०।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मडगच्छार–मृतकक्षार–पुं०। अभिनवदग्धे पुञ्जीकृते मृतके, नि० चू० ३ उ०।

मडगलेण–मृतकलयन–न०। मृतकस्योपरि देवकुले, "मडअस्स उवरि जं देवकुलं तं लेणं भएणति ।" नि० चू० ३ उ०।

मडगवच्च–मृतकवर्चस्–न०। मृतकक्वथितभागे, नि०चू०३उ०।

मडभ–मडभ–पुं०। कुब्जे, व्य० ३ उ० । न्यूनाधिकप्रमाणे, स्था० ६ ठा०।

मडभकोट्ठ–मडभकोष्ठ–न० । वामनसंस्थाने, स्था० ६ ठा०।

मडय–मृतक–न०। मृतकदेहे, आ० म० १ अ०। आचा०। (मृतकं मरुदेव्याः प्रथमसिद्ध इति देवैः पूजितं ततो लोकेऽपि मृतकपूजा प्रवृत्तेत्युक्तम् 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११२७ पृष्ठे)

मडयचेइय–मृतकचैत्य–न० । मृतकाऽऽलये, यत्र मृतकानां प्रतिमाः स्थाप्यन्ते। आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ०।

मडयथूभिया–मृतकस्तूपिका–स्त्री०। दग्धमृतकोपरि कृतायां सचत्वरायां स्तूपिकायाम्, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ०।

मडयदाह–मृतकदाह–पुं०। श्मशानाऽऽदौ, यत्र मृतको दह्यते। आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ०।

मडाइ–मृताऽदिन्–त्रि०। मृतं जीववियुक्तमत्तीति। ज्ञा०१ श्रु० १२ अ०। प्रासुकभोजिनि, भ० २ श० १ उ०। मृताऽदिनि, भ०।

मृताऽदिनिर्ग्रन्थवक्तव्यता–

मडाई णं भंते! नियंठे नो निरुद्धभवे, नो निरुद्धभवपवंचे, णो पहीणसंसारे, णो पहीणसंसारवेयणिज्जे, णो वोच्छिन्नसंसारे, णो वोच्छिन्नसंसारवेयणिज्जे, नो निट्ठियऽट्ठे, नो निट्ठियऽट्ठकरणिज्जे, पुणरवि इत्थत्तं हव्वमागच्छति ? । हंता ! गोयमा ! मडाई णं नियंठे ०जाव पुणरवि इत्थत्तं हव्वमागच्छइ। (सूत्र–८७) से णं भंते! किं वत्तव्वं सिया ? । गोयमा ! पाणेति वत्तव्वं सिया, भूतेति वत्तव्वं सिया, जीवेति वत्तव्वं सिया, सत्तेति वत्तव्वं सिया, विन्नू ति वत्तव्वं सिया, वेदेति वत्तव्वं सिया, पाणे भूए जीवे सत्ते विन्नू वेए ति वत्तव्वं सिया । से केणऽट्ठेणं भंते ! पाणेति वत्तव्वं सिया ०जाव वेदेति वत्तव्वं सिया ? । गोयमा ! जम्हा आणेति पाणेति वा ऊससंति वा नीससंति वा तम्हा पाणेति वत्तव्वं सिया, जम्हा भूते भवति भविस्सति य तम्हा भूए ति वत्तव्वं सिया । जम्हा जीवे जीवइ जीवत्तं आउयं च कम्मं उवजीवइ तम्हा जीवेति वत्तव्वं सिया, जम्हा सत्ते सुहाऽसुहेहिं कम्मेहिं तम्हा सत्तेति वत्तव्वं सिया, जम्हा तित्तकडुयकसायअंबिलमहुरे रसे जाणइ तम्हा विन्नू ति वत्तव्वं सिया, वेदेइ य सुहदुक्खं तम्हा वेदेति वत्तव्वं सिया, से तेणऽट्ठेणं ०जाव पाणे ति वत्तव्वं सिया ०जाव वेदेति वत्तव्वं सिया। (सूत्र–८८)

मडाई णं भंते ! नियंठे निरुद्धभवे निरुद्धभवपवंचे ०जाव निट्ठियकरणिज्जे णो पुणरवि इत्थत्तं हव्वमागच्छति ? । हंता ! गोयमा ! मडाई णं नियंठे ०जाव नो पुणरवि इत्थत्तं हव्वमाच्छति, से णं भंते ! किं ति वत्तव्वं सिया ? । गोयमा ! सिद्धे ति वत्तव्वं सिया, बुद्धे ति वत्तव्वं सिया, मुत्ते ति वत्तव्वं सिया, पारगए ति वत्तव्वं सिया, सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे अंतकडे सव्वदुक्खप्पहीणे ति वत्तव्वं सिया, सेवं भंते ! भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति । (सूत्र–८९)

('मडाई णं भंते! नियंठे' इत्यादि) मृताऽदी–प्रासुकभोजी, उपलक्षणत्वादेषणीयाऽदी चेति दृश्यं, निर्ग्रन्थः साधुरित्यर्थः 'हव्वं' शीघ्रमागच्छतीति योगः। किंविधः सन् ?, इत्याह–'नो निरुद्धभवे त्ति' अनिरुद्धाऽग्रेतनजन्मा, चरमभवाऽप्राप्त इत्यर्थः, अयं च भवद्वयप्राप्तव्यमोक्षोऽपि स्यादित्याह–' नो निरुद्धभवपवचे त्ति' प्राप्तव्यभवविस्तार इत्यर्थः। अयं च देवमनुष्यभवप्रपञ्चापेक्षयाऽपि स्यादित्यत आह–' णो पहीणसंसारे त्ति ' अप्रहीणचतुर्गतिगमन इत्यर्थः, यत एवमत एव ' नो पहीणसंसारवेयणिज्जे त्ति ' अप्रक्षीणसंसारवेद्यकर्मा, अयं च सकृच्चदुर्गतिगमनतोऽपि स्यादित्यत आह–' नो वोच्छिन्नसंसारे त्ति ' अत्रुटितचतुर्गतिगमनानुबन्ध इत्यर्थः, अत एव 'नो वोच्छिन्नसंसारवेयणिज्जे त्ति '' नो ' नैव व्यवच्छिन्नम्–अनुबन्धव्यवच्छेदेन चतुर्गतिगमनवेद्यं कर्म यस्य स तथा, अत एव ' नो निट्ठियट्ठे त्ति ' अनिष्ठितप्रयोजनः, अत एव ' नो निट्ठियट्ठकरणिज्जे त्ति ' नो ' नैव निष्ठितार्थानामिव करणीयानि–कृत्यानि यस्य स तथा, यत एवंविधोऽसावतः पुनरपीति, अनादौ संसारे पूर्वं प्राप्तमिदानीं पुनर्विशुद्धचरणावाप्तेः सकाशादसम्भावनीयम् ' इत्थत्थं ति ' इत्यर्थम्, एनमर्थम्––अनेकशस्तिर्यङ्नरनाकिनारकगतिगमनलक्षण (इत्थत्त इति) पाठान्तरम्, तत्रानेन प्रकारेणेत्थं तद्भाव इत्थत्वम्, मनुष्याऽऽदित्वमिति भावः । अनुस्वारलोपश्च प्राकृतत्वात्, (हव्वं ति) शीघ्रम्। (आगच्छइ त्ति) प्राप्नोति। अभिधीयते च–कषायोदयात्प्रतिपतितचरणानां चारित्रवतां संसारसागरपरिभ्रमणम्, यदाह–" जइ उवसंतकसाओ, लहइ अणंतं पुणो वि पडिवायं" इति। स च संसारचक्रगतो मुनिजीवः प्राणाऽऽदिना नामषट्केन कालभेदेन युगपच्च वाच्यः स्यादिति विभाणिषुः प्रश्नयन्नाह–' से णं ' इत्यादि, तत्र ' सः ' निर्ग्रन्थजीवः, किंशब्दः प्रश्ने, सामान्यवाचित्वाच्च नपुंसकलिङ्गेन निर्दिष्ट इति, एवमन्वर्थयुक्तयेत्यर्थः, वक्तव्यः स्यात्, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे नपुंसकलिङ्गताऽस्येति, अन्वर्थयुक्तशब्दैरुच्यमानः किमसौ वक्तव्यः स्यात् ? , इति भावः । अत्रोत्तरम्–' पाणेति वत्तव्वं ' इत्यादि, तत्र प्राण इत्येतत्तं प्रति वक्तव्यं स्यात् यदोच्छ्वासाऽऽदिमत्त्वमात्रमाश्रित्य तस्य निर्देशः क्रियते, एवं भवनाऽऽदिधर्मविवक्षया भूताऽऽदिशब्दपञ्चकवाच्यता तस्य कालभेदेन व्याख्येया, यदा तूच्छ्वासाऽऽदिधर्मैर्युगपदसौ विवक्ष्यते तदा प्राणो भूतो जीवः सत्त्वो विज्ञो वेदयि–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेत्येतत्तं प्रति वाच्यं स्यात्, अथवा—निगमनवाक्यमेवेद-मतो न युगपत्पत्तव्याख्या कार्येति। 'जम्हा जीवे' इ-त्यादि, यस्मात् 'जीवः' आत्माऽसौ 'जीवति' प्रा-णान् धारयति 'तथा 'जीवत्वम्' उपयोगलक्षणम् आ-युष्कं च कर्म 'उपजीवति' अनुभवति तस्माज्जीव इति वक्तव्यं स्यादिति। 'जम्हा सत्ते सुभाऽसुभेहिं कम्मेहिं' सक्तः—आसक्तः, शक्तो वा—समर्थः, सुन्दरासुन्दरासु चेष्टासु, अथवा सक्तः—संबद्धः शुभाशुभैः कर्मभिरिति। अनन्तरोक्तस्यैवार्थस्य विपर्ययमाह—'पारगए त्ति' पार-गतः संसारसागरस्य भाविनि भूतवदित्युपचारादिति 'परंपरागए त्ति' परम्परया—मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्था-नकानां मनुष्याऽऽदिसुगतीनां वा पारम्पर्येण गतो भवाऽम्भो-धिपारं प्राप्तः परम्परागतः। इहानन्तरं संयतस्य संसा-रवृद्धिहानी उक्ते सिद्धत्वं चेति। भ० १ श० १ उ०।

मडासय-मृताऽऽश्रय-पुं०। मृतानामाश्रयः। श्मशाने, मृत-शोकस्थाने च। नि० चू० ३ उ०।

मड्डिअ-मर्दित-त्रि०। "सम्मर्द-वितर्दि-विच्छर्द-छर्दि-कपर्द-मर्दिते र्दस्य" ॥ ८।२।३६॥ इति र्दस्य डः। मड्डिओ। संघृष्टे, प्रा० २ पाद।

मड्डुक-मद्दुक-पुं०। राजगृहवास्तव्ये स्वनामख्याते भगवतो महावीरजिनस्य श्रावके, भ०।

तत्थ णं रायगिहे नयरे मड्डुए णामं समणोवासए परि-वसइ, अड्डे ०जाव अपरिभूए अभिगय ० जाव विहरइ। तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइ पुव्वा-णुपुव्विं चरमाणे ०जाव समोसढे परिसा ०जाव प-ज्जुवासइ। तए णं मड्डुए समणोवासए इमीसे कहाए लद्धऽट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे ०जाव हियए ण्हाए ० जाव सरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइ-त्ता पायविहारचारेणं रायगिहं णयरं ०जाव णिग्गच्छ-इ, णिग्गच्छइत्ता तेसिं अण्णउत्थियाणं अदूरसामंते-णं वीईवयति। तए णं से अण्णउत्थिया मड्डुयं सम-णोवासयं अदूरसामंते वीईवयमाणं पासइ, पासइत्ता अण्णमण्णं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं इमा कहा अविउप्पकडा इमं च णं मड्डुए समणोवासए अम्हं अदूरसामंतेणं वीईवय-ति, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं मड्डुयं सम-णोवाससं एयमट्ठं पुच्छित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अं-तियं एयमट्ठं पुडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता जेणेव मड्डुए स-मणोवासए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता मड्डुयं समणोवासगं एवं वयासी-एवं खलु मड्डुया! तव धम्मायरिए धम्मोवदेसए णायपुत्ते पंचत्थिकाए पण्ण-वेइ-जहा सत्तमसए अण्णउत्थियउद्देसए ० जाव से कहमेयं मड्डुया! एवं? । तए णं से मड्डुए समणो-वासए ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-जइ कज्जं कज्जइ जाणामो पासामो, अह कज्जं ण कज्जइ ण जाणामो ण पासामो। तए णं अण्णउत्थिया मड्डुयं समणोवासयं एवं वयासी-केस णं तुमं मड्डुया! समणोवासगा णं भवसि, जेणं तुमं एयमट्ठं ण जाणइ, ण पासइ। तए णं से मड्डुए समणोवासए ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-अ-त्थि णं आउसो! वाउयाए वाति?। हंता मड्डुया! वाति। तुब्भे णं आउसो! वाउयस्स वायमाणस्स रूवं पासह?। णो इणऽट्ठे समट्ठे। अत्थि णं आउसो! घाण-सहगया पोग्गला?। हंता अत्थि। तुब्भे णं आउसो! घाणसहगयाणं पोग्गलाणं रूवं पासह?। णो इणऽट्ठे समट्ठे अत्थि णं आउसो! अरणिसहगए अगणिकाए?। हंता अत्थि तुब्भे णं आउसो! अरणिसहगयस्स अगणिका-यस्स रूवं पासह?। णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं आउ-सो! समुद्दस्स पारगयाइं रूवाइं?। हंता अत्थि। तुब्भे णं आउसो! समुद्दस्स पारगयाइं रूवाइं पासह?। णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं आउसो! देवलोगगयाइं रू-वाइं?। हंता अत्थि। तुब्भे णं आउसो! देवलोगगयाइं रूवाइं पासह?। णो इणट्ठे समट्ठे। एवामेव आउसो! अहं वा तुब्भे वा अण्णो वा छउमत्थो ण जाणइ, ण पा-सइ, तं सव्वं ण भवसि, एवं मे सुबहुं लोए ण भविस्स-तीति कट्टु ते अण्णउत्थिए एवं पडिहणति, एवं पडिह-णेत्ता जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभि० जाव पज्जुवासइ। मड्डुयादि समणे भगवं महावीरे मड्डुयं समणोवासयं एवं वयासी-सुट्ठु णं मड्डुया! तुमं ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-साहु णं मड्डुया! तुम्हं ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-जे णं म-ड्डुया! अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा अण्णायं अदिट्ठं असुअं अमंतं अविण्णातं बहुजणमज्झे आघवेइ, पण्णवेइ० जाव उवदंसेइ, से णं अरिहंताणं आसादणयाए वट्टइ, अरिहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आसादणयाए वट्टइ, केवली णं आसादणयाए वट्टइ, केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स आसादणयाए वट्टइ, तं सुट्ठु णं तुमं मड्डुया! ते अ-ण्णउत्थिए एवं वयासी-साहु णं तुमं मड्डुया! ० जाव एवं वयासी। तए णं मड्डुए समणोवासए समणेणं भग-वया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणे भगवं म-हावीरे मड्डुयस्स समणोवासगस्स तीसे य ० जाव परि-सा पडिगया। तए णं मड्डुए समणोवासए समणस्स भगवओ महावीरस्स ० जाव णिसम्म हट्ठतुट्ठे पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छइत्ता अट्ठाइं परियाति, परियाइत्ता उट्ठाए उट्ठि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ ०जाव पडिगए भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, ण मंसइ, वंदइत्ता णमंसित्ता एवं वयासी–पभू णं भंते ! मड्डुए समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतियं० जाव पव्वइत्तए ? । णो इणट्ठे समट्ठे । एवं जहेव संखे तहेव अरुणाभे० जाव अंतं करेहिति ।

" एवं जहा सत्तमे सए । " इत्यादिना यत्सूचितं तस्याऽर्थलेशो दर्श्यते–कालोदायिसेलोदायिसेवालोदायिप्रभृतिकानामन्ययूथिकानामेकत्र संहितानां मिथः कथासंलापः समुत्पन्नो , यदुत महावीरः पञ्चास्तिकायान् धर्मास्तिकायाऽऽदीन् प्रज्ञापयति । तत्र च धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गलास्तिकायानचेतनान् जीवास्तिकायं च सचेतनं तथा धर्माधर्माऽऽकाशजीवास्तिकायानरूपिणः पुद्गलास्तिकायं च रूपिणं प्रज्ञापयतीति । "से कहमेयं मएणे एवं ति ।" अथ कथमेतद्धर्मास्तिकायाऽऽदिवस्तु, मन्ये वितर्कार्थः, एवं सचेतनाचेतनाऽऽदिना रूपेणादृश्यमानत्वेनासम्भवस्तस्येति हृदयम् । "अवि उप्पकडे त्ति।" अपिशब्दः सम्भावनार्थ उत्–प्रावल्येन प्रस्तुता प्रकटा वोत्प्रकृतोत्प्रकटा वा;अथवा,अविद्वद्भिरजानद्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । " जइ कज्जं कज्जइ जाणामो , पासामो त्ति । "यदि तैर्द्धर्मास्तिकायाऽऽदिभिः कार्यं स्वकीयं क्रियते , तदा तेन कार्येण तान् जानीमः पश्यामश्चावगच्छाम इत्यर्थः । धूमेनाग्निमिव ,अथ कार्यं तैर्न क्रियते तदा न जानीमो न पश्यामश्च,अयमभिप्रायः कार्याऽऽदिलिङ्गद्वारेणैवार्वाग्दृशामतीन्द्रियपदार्थावगमो भवति, न च धर्मास्तिकायाऽऽदीनामसत्प्रतीतं किञ्चित्कार्याऽऽदिलिङ्गं दृश्यत इति तदभावात्तान् जानीम एवं वयमिति । अथ मद्दुकं धर्मास्तिकायाऽऽद्यपरिज्ञानाभ्युपगमवन्तमुपालम्भयितुं यत्ते प्राहुस्तदाह–'केस णं' इत्यादि । क एष त्वं मद्दुक ! श्रमणोपासकानां मध्ये भवसि , यस्त्वमेतमर्थं श्रमणोपासकज्ञेयं धर्मास्तिकायाऽऽद्यस्तित्वलक्षणं न जानासि न पश्यसि, न कश्चिदित्यर्थः । अथैवमुपालब्धः सन्नसौ यत्तैरदृश्यमानत्वेन धर्मास्तिकायाऽऽद्यसम्भव इत्युक्तं, तद्विघटनेन तान् प्रतिहन्तुमदमाह–'अत्थि णं' इत्यादि । 'घाणसहगय त्ति ।'घ्रायत इति घ्राणो गन्धगुणस्तेन सहगतास्तत्सहचरिता—स्तद्वन्तो घ्राणसहगताः 'अरणिसहगए त्ति । 'अरणिरग्न्यर्थं निर्मन्थनीयकाष्ठं,तेन सहगतो यस्स तथा । ' तं सुट्ठु णं मड्डुया तुमं ति ।' सुष्ठु त्वं हे मड्डुक ! येन त्वयाऽस्तिकायान् जानता न जानीम इत्युक्तमन्यथाऽजानन्नपि यदि जानीम इत्यभणिष्यस्तदाऽर्हदादीनामाशातनाकारकोऽभविष्यस्त्वमिति । पूर्वं मड्डुकश्रमणोपासकोऽरुणाभे विमाने देवत्वेनोत्पत्स्यत इत्युक्तम् । भ० १८ श० ७ उ० ।

मड्ड–मृद्–धा० । मर्दने, ' मृदो मल–मढ–परिहट्ट–खड्डु–चड्डु–मड्ड–पन्नाडाः " ॥ ८ । ४ । १२६ ॥ मृद्नातेरेते सप्ताऽऽदेशा भवन्ति । मृद्नाति । प्रा० ४ पाद० ।

मढ–मठ–पुं० । " ठो ढः " ॥ ८। १।१९९ ॥ " स्वरात्परस्याऽसंयुक्तस्यानादेष्ठस्य ढो भवति । इति ठस्य ढः । व्रतिनामाश्रये, प्रा० १ पाद ।

मृद्–धा० । मर्दने, " मृदो मल–मढ–परिहट्ट–खड्डु–चड्डु–मड्डु–पन्नाडाः "॥८।४। १२६ ॥ मृद्नातेरेते सप्ताऽऽदेशा भवति । मृद्धातोर्मढाऽऽदेशः । मढइ । प्रा० ४ पाद ।

मण–मण–न० । सार्द्धशतगद्याणनिष्पन्ने मानभेदे , तं० ।

" षट्सर्षपैर्यवस्त्वेको, गुञ्जैकायवैस्त्रिभिः ।
गुञ्जात्रयेण वल्लः स्याद् , गद्याणस्ते च षोडश ॥ १ ॥
पलं च दशगद्याणैः–स्तेषां सार्द्धशतैर्मणम् । " तं० । कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

मनस्–न० । 'मन' ज्ञाने इत्यस्य धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्य मनः । अन्तःकरणे, दश० १ अ० । आचा० । सूत्र० । आव० । औ० । स्था० । सङ्कल्पव्यापारवति, स्था० ३ ठा० ३ उ० । उत्त० । आव० । चित्तं मनो विज्ञानमिति पर्यायाः । अनु० ।

अत्र मनःकरणव्याख्यानायाऽऽह—

मणणं व मन्नए वाऽ–णेण मणो तेण दव्वओ तं च ।
तज्जोग्गपोग्गलमयं, भावमणो भण्णए मंता ॥३५२५॥

'मन ज्ञाने ' ' मनु बोधने ' वा मननम् , मन्यते वाऽनेनेति मनस्तेन मन उच्यते—तच्च द्रव्यतो द्रव्यमनस्तद्योग्यपुद्गलमयं द्रष्टव्यम् । भावमनस्तु मन्ता जीवो भण्यते । इदमुक्तं भवति–मनो द्विविधम्—द्रव्यमनः, भावमनश्च । तत्र यत् तद्योग्यैर्मननयोग्यैर्मनोवर्गणाभ्यो गृहीतैरनन्तैः पुद्गलैर्निर्वृत्तं तद् द्रव्यमनो भण्यते । यत्तु तज्जन्यं मननं चिन्तनं तद् भावमनोऽभिधीयते । इह तु तदव्यतिरिक्तत्वाद् मन्ता जीवो भावमनस्त्वेनोक्त इति ॥ ३५२५ ॥ विशे० । आ० म० । आ० चू० । नं० ।

तिविहे मणे पण्णत्ते । तं जहा–तंमणे, तयन्नमणे, णो अमणे । तिविहे अमणे पन्नत्ते । तं जहा–णो तंमणे, णो तयन्नमणे, अमणे । (सूत्र–१७५) स्था० ३ ठा० ३ उ० । (' वयण ' शब्दे व्याख्या)

आत्मा मनः, अन्यद् वा मनः ?—

आता भंते ! मणे अन्ने मणे ? । गोयमा ! णो आता मणे, अन्ने मणे, जहा भासा तहा मणे वि० जाव णो अजीवाणं मणे । पुव्विं भंते ! मणे मणिज्जमाणे मणे ? । एवं जहेव भासा पुव्विं भंते ! मणे भिज्जइ, मणिज्जमाणे मणे भिज्जइ,मणसमयवीइक्कंते मणे भिज्जइ ?। एवं जहेव भासा । कइविहे णं भंते ! मणे पण्णत्ते ! गोयमा ! चउव्विहे मणे पण्णत्ते । तं जहा—सच्चे ०जाव असच्चामोसे । (सूत्र--४९४)

(आया भंते ! मणे इत्यादि) एतत्सूत्राणि च भाषासूत्रवन्नेयानि । केवलमिह मनोद्रव्यसमुदयो मननोपकारी मनःपर्याप्तिनामकर्मोदयसम्पाद्यो, भेदश्च तेषां विदलनमात्रमिति । (अनन्तरं मनो निरूपितं, तच्च काये सत्येव भवतीति कायनिरूपणायाऽऽह–(आया भंते ! कायेत्यादि)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा कायः कायेन कृतस्यानुभवनात्, न ह्यन्येन कृतमन्योऽनुभवत्यकृताऽऽगमप्रसङ्गात्, अथान्यः आत्मनः कायः कायैकदेशच्छेदेऽपि संवेदनस्य सम्पूर्णत्वेनाभ्युपगमादिति प्रश्नः, उत्तरम्-त्वात्माऽऽपि कायः कथञ्चित्तद्व्यतिरेकात्क्षीरनीरवत् अग्न्ययःपिण्डवत्, काञ्चनोपलवद्वा, अत एव कायस्पर्शे सत्यात्मनः संवेदनं भवति, अत एव च कायेन कृतमात्मना भवान्तरे वेद्यतेऽत्यन्तभेदे च अकृताऽऽगमप्रसङ्ग इति ।) भ० १३ श० ७ उ० ।

अत्थाणंतरचारि य, नियतं चित्तं ति कालविसयं तु ।

अर्थे शब्दाऽऽदाविन्द्रियव्यापारादनन्तरं चरति व्याप्रियत इत्येवंशीलमर्थानन्तरचारि,इन्द्रियैः प्रथमं व्यावृत्ते पश्चाद् मनो व्याप्रियते इति भावः। नियतं नियतार्थविषयं नैककालमनेकविषयमित्यर्थः, चित्तं मनः । पुनः कथम्भूतमित्याह-त्रिकालविषयं त्रिष्वपि कालेषु यथायोग्यं विषयो यस्य तत्तथा । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

मनसोऽप्राप्यकारिता—

गंतुं नेएण मणो, संबज्झइ जगम्रो व सिमिणे वा ।
सिद्धमिदं लोयम्मि वि,अमुगत्थगम्रो मणो मे त्ति ॥२१३॥

'गंतुं' देहाद् निर्गत्य ज्ञेयेन मेरुशिखरस्थजिनप्रतिमाऽऽदिना सम्बध्यते संश्लिष्यते मनः । कस्यामवस्थायाम् ?, इत्याह—जाग्रतः, स्वप्ने वा । अनुभवसिद्धं चैतद् , न च ममैव किन्तु सिद्धमिदं लोकेऽपि, यतस्तत्राऽप्येवं वक्तारो भवन्ति—अमुत्र मे मनो गतमिति । अतः प्राप्यकारि मनः । इति प्रेरकगाथाऽर्थः ॥ २१३ ॥

अत्रोत्तरमाह—

नाऽणुग्गहोवघाया-भावाओ लोयणं व सो इहरा ।
तोय-जलणाइचिंतण-काले जुज्जेज दोहिं पि ॥१२४॥

न 'ज्ञेयेन सह संपृच्यते मनः' इति गम्यते । कुतः ?, इत्याह—'अणुग्गहो-वघायाभावाउ त्ति' ज्ञेयकृतानुग्रहोपघाताभावात्, लोचनवत् । यदि तस्य ज्ञेयेन सह संपर्कः स्यात् तदा किं स्यात् ?, इत्याह—'सो इहर त्ति' तद् मन इतरथा-ज्ञेयसंपर्केऽभ्युपगम्यमाने, तोय-ज्वलनाऽऽदिविषयचिन्तनकाले द्वाभ्यामप्यनुग्रहोपघाताभ्यां युज्यते-तोयचन्दनाऽऽदिचिन्तनकाले शैत्याऽऽद्यनुभवनेन स्पर्शनवदनुगृह्यते, दहन-विष-शस्त्राऽऽदिचिन्तनसमये तु तद्वदेवोपहन्येतेति भावः, न चैवम्। तस्माल्लोचनवदप्राप्यकार्येव मनः। इति गाथाऽर्थः ॥ २१४ ॥

किञ्च-मनसः प्राप्यकारितावादिनः प्रष्टव्याः । किम् ?, इत्याह—

दव्वं भावमणो वा, वएज्ज जीवो य होइ भावमणो ।
देहव्वावित्तणम्रो, न देहबाहिं तम्रो जुत्तो ॥२१५ ॥

इह मनस्तावद् द्विधा-द्रव्यमनः, भावमनश्चेति । अतः सूरिः परं पृच्छति—'दव्वं ति' द्रव्यमनः, भावमनो वा, व्रजेद् गच्छेद् 'मेर्वादिविषयसन्निधौ' इति गम्यते । किमनेन पृष्टेन ?। इति चेत्। उभयथाऽपि दोषः । तथाहि-भावमनसश्चिन्ताज्ञानपरिणामरूपत्वात्, तस्य च जीवादव्यतिरिक्तत्वाज्जीव एव भावमनो भवति । जीवश्चेति चकारः 'तओ' इत्यस्याऽनन्तरं संबन्धनीयः। ततोऽयमर्थः-सकश्च स च भावमनोरूपो जीवो देहमात्रव्यापित्वाद् देहाद् न बहिर्निःसरन् युक्तः, इह ये देहमात्रवृत्तयः, न तेषां बहिर्निःसरणमुपपद्यते, यथा तद्गतरूपाऽऽदीनाम्, देहमात्रवृत्तिश्च जीवः। इति गाथाऽर्थः ॥ २१५ ॥

देहमात्रव्यापित्वस्याऽसिद्धिं मन्यमानस्य परस्य मतमाशङ्कमानः सूरिराह—

सव्वगउ त्ति च बुद्धी, कत्ताभावाइदोसम्रो तस्स ।
सव्वासव्वग्गहण-प्पसंगदोसाइओ वा वि ॥ २१६ ॥

अथ स्याद् बुद्धिः परस्य-सर्वगत आत्मा, न तु देहमात्रव्यापी,अमूर्तत्वात्,आकाशवदिति । अत्र गुरुराह-तदेतन्न । कुतः ?, इत्याह—भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य कर्तृत्वाभावाऽऽदिदोषत इति—सर्वगतत्वे सत्यात्मनः कर्तृत्वाऽऽदयो गोपाङ्गनाऽऽदिप्रतीता अपि धर्मा न घटेरन्निति भावः । तथाहि-न कर्ताऽऽत्मा, सर्वगतत्वात् , आकाशवत्। आदिशब्दादभोक्ता, असंसारी, अज्ञः, न सुखी, न दुःखी आत्मा, तत एव हेतोः, तद्वदेव, इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । आह परः-नन्वात्मनो निष्क्रियत्वात् कर्तृत्वाऽऽद्यभावः साङ्ख्यानां न बाधायै कल्पते। तथा च तैरुक्तम्—"अकर्ता निर्गुणो भोक्ताऽऽत्मा" इत्यादि। एतदप्ययुक्तम्, तस्य निष्क्रियत्वे प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणोपलब्धभोक्तृत्वाऽऽदिक्रियाविरोधप्रसङ्गात्। प्रकृतेरेव भोगाऽऽदिकरणक्रिया, न पुरुषस्य, आदर्शप्रतिबिम्बोदयन्यायेनैव तत्र क्रियाणामिष्टत्वादिति चेत् । एतदप्यसङ्गतम्, प्रकृतेरचेतनत्वात्। "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्।" इति वचनात् अचेतनस्य च भोगाऽऽदिक्रियाऽयोगात्, अन्यथा घटाऽऽदीनामपि तत्प्रसङ्गादिति । न केवलं कर्तृत्वाऽऽद्यभावतः सर्वगतत्वमात्मनो न युक्तम्, किन्तु सर्वाऽसर्वग्रहणप्रसङ्गतोऽपि च तदसङ्गतम् । इदमुक्तं भवति-आत्मनः समग्रत्रिभुवनगतत्वे प्राप्यकारित्वेनाऽभ्युपगतस्य तदव्यतिरिक्तस्य भावमनसोऽपि सर्वगतत्वात् सर्वार्थप्राप्तेः सर्वग्रहणप्रसङ्गः, तथा च सर्वस्य सर्वज्ञत्वप्रसक्तिः। अथोक्तन्यायेन प्राप्तानपि सर्वार्थानभिहितदोषभयात् न गृह्णातीत्युच्यते। तर्हि सर्वार्थाग्रहणप्रसङ्गः-ग्राह्यत्वेनेष्टानप्यर्थान् मा ग्रहीद् भावमनः, प्राप्तत्वाविशेषात्, अग्राह्यत्वेनेष्टार्थवदिति भावः। अथ प्राप्तत्वाविशिष्टत्वेऽपि कांश्चिदर्थानेतद् गृह्णाति, कांश्चिद् नेत्युच्यते। तर्हि व्यक्तमीश्वरचेष्टितम्, न चैतद् युक्तिविचारे क्वचिदप्युपयुज्यत इति । आदिशब्दात्-सर्वगतत्वे आत्मनोऽन्यदपि दूषणमभ्यूह्यम्। तथाहि-यथाऽङ्गुष्ठाऽऽदौ दहनदाहाऽऽदिवेदनायां मस्तकाऽऽदिष्वप्यसावनुभूयते, तथा सर्वत्रापि तत्प्रसङ्गः; न च भवति—तथाऽनुभवाभावात्, अननुभूयमानाया अपि भावाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्। किञ्च—सर्वगतत्वे पुरुषस्य, नानादेशगतस्रक्चन्दनाऽङ्गनाऽऽदिसंस्पर्शेऽनवरतसुखासिकाप्रसङ्गः; वह्नि-शस्त्र-जलाऽऽदिसम्बन्धे तु निरन्तरदाह—पाटन—क्लेदनाऽऽदिप्रसङ्गश्च । यत्रैव शरीरं तत्रैव सर्वमिदं भवति, नाऽन्यत्रेति चेत्। कुतः ?, इति वक्तव्यम्। आज्ञामात्रादेवेति चेत्। न, तस्येहाविषयत्वात्। सहकारिभावेन तस्य तदपेक्षणीयमिति चेत्। न, नित्यस्य सहकार्यपेक्षाऽयोगात्। तथाहि—अपेक्ष्यमाणेन सहकारिणा तस्य कश्चिद् विशेषः क्रियते, न वा ?। यदि क्रियते, स किमर्थान्तरभूतः, अनर्थान्तरभूतो वा ?।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्याद्यः पक्षः, तर्हि तस्य न किञ्चित् कृतं स्यात्। अथापरः, तर्हि तत्करणे तद्व्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽपि करणप्रसङ्गात्, कृतस्य चाऽनित्यत्वात् तस्याऽनित्यत्वप्रसङ्गः। अथ मा भूदेष दोष इति 'न क्रियते' इत्यभ्युपगम्यते। हन्त! न तर्हि स तस्य सहकारी, विशेषाकरणात्। अथ विशेषमकुर्वन्नपि सहकारीष्यते, तर्हि सकलत्रैलोक्यस्याऽपि सहकारिताप्राप्तिः, विशेषाऽकरणस्य तुल्यत्वात्, इति वृथा शरीरमात्रापेक्षा, इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गात्। तस्माच्छरीरमात्रवृत्तिरेवाऽऽत्मा, न सर्वगत इति। अतस्तद्व्यतिरिक्तस्य भावमनसो न शरीराद् बहिर्निःसरणमुपपद्यत इति स्थितम्। इति गाथाऽर्थः ॥ २१६ ॥

अथ द्रव्यमनोविषयदेशं व्रजतीति ब्रूयात्, तत्राऽप्याह—

दव्वमणो विण्णाया, न होइ गंतुं च किं तओ कुणउ ?।
अह करणभावओ त–स्स तेण जीवो वियाणेज्जा ।२१७।

काययोगसहायजीवगृहीतचिन्ताप्रवर्तकमनोवर्गणाऽन्तःपातिद्रव्यसमूहाऽऽत्मकं द्रव्यमनः स्वयं विज्ञातृ न भवत्येव, अचेतनत्वात्, उपलशकलवत्, इत्यतो गत्वाऽपि मेर्वादिविषयदेशं किं तद् वराकं करोतु ?, तत्र गतादपि तस्मादर्थावगमाभावादिति भावः। पराभिप्रायमाशङ्कते—'अह करणेत्यादि' अथ मन्यसे यद्यपि द्रव्यमनः स्वयं न किञ्चिज्जानाति, तथाऽपि करणभावः, करणत्वं तस्य द्रव्यमनसः प्रदीपाऽऽदेरिव वस्तुनि प्रकाशयितव्ये समस्ति। ततो जीवः कर्ता तेन द्रव्यमनसा करणभूतेन विजानीयादवबुध्येत मेर्वादिकं वस्त्विति। अत्र प्रयोगः—बहिर्निर्गतेन द्रव्यमनसा प्राप्य विषयं जानाति जीवः, करणत्वात्, प्रदीप—मणि—चन्द्र—सूर्याऽऽदिप्रभयेव। इति गाथाऽर्थः ॥ २१७ ॥

अत्रोत्तरमाह—

करणत्तणओ तणुसं–ठिएण जाणिज्ज फरिसणेणं व।
एत्तो च्चिय हेऊओ, न नीइ बाहिं फरिसणं व ॥ २१८ ॥

को वै न मन्यते, यदुत अर्थपरिच्छेदे कर्तव्ये आत्मनो द्रव्यमनः करणम् ?। किन्तु करणं द्विधा भवति–शरीरगतमन्तःकरणम्, तद्बहिर्भूतं बाह्यकरणं च। तत्रेदं द्रव्यमनोऽन्तःकरणमेवाऽऽत्मनः। ततश्च 'करणत्तणउ त्ति' सूत्रस्य सूचामात्रत्वात्, एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वाच्चान्तःकरणत्वादित्यर्थः, तनुसंस्थितेन शरीराद् बहिर्निर्गतेन जीवस्तेन जानीयाद् मेर्वादिविषयम्, स्पर्शनेन्द्रियेणेव कमलनालाऽऽदिस्पर्शम्। प्रयोगः–यदन्तःकरणं तेन शरीरस्थेनैव विषयं जीवो गृह्णाति, यथा स्पर्शनेन, अन्तःकरणं च द्रव्यमनः। प्रदीप—मणि–चन्द्र–सूर्यप्रभाऽऽदिकं तु बाह्यकरणमात्मन इति साधनविकलः परोक्तदृष्टान्तः। आह–ननु शरीरस्थमपि तत् पद्मनालतन्तुन्यायेन बहिर्द्रव्यमनः किं न निःसरति ?, इत्याह–'एत्तो च्चियेत्यादि' इत एवान्तःकरणत्वलक्षणाद्धेतोर्बहिर्न निर्गच्छति द्रव्यमनः, स्पर्शनवत। प्रयोगः–यदन्तःकरणं तच्छरीराद् बहिर्न निर्गच्छति, यथा स्पर्शनम्। इति गाथाऽर्थः ॥ २१८ ॥

तदेवं भावमनसो द्रव्यमनसश्च बहिश्चारिताऽऽद्यभावादप्राप्यकार्येव मन इत्युक्तम्। सांप्रतं 'नाणुग्गहोवघायाभावाओ लोयणं व।' इत्यादिना मनसोऽप्राप्यकारितायाम्, अनुग्रहोपघाताभावात् इति यः पूर्वं हेतुरुक्तः, तस्य परोऽसिद्धिं समुद्भावयन्नाह—

नज्जइ उवघाओ से, दोव्बल्लो–रक्खयाइलिंगेहिं।
जमणुग्गहो य हरिसा–इएहिँ तो सो उभयधम्मो ।२१९।

इह मृतनष्टाऽऽदिकं वस्तु चिन्तयतः, अत्यार्त–रौद्रध्यानप्रवृत्तस्य च 'से' तस्य मनस उपघातो ज्ञायतेऽनुमीयते। कैः?, इत्याह दौर्बल्योरःक्षताऽऽदिलिङ्गैः दौर्बल्यं देहापचयरूपम्, उरःक्षतमुरोविघातः, हृदयबाधेति यावत्। आदिशब्दाद् वातप्रकोपवैकल्याऽऽदिपरिग्रहः। अनुग्रहश्च यद्यस्मात् तस्येष्टसंगम–विभवलाभाऽऽदिकं वस्तु चिन्तयतो हर्षाऽऽदिभिरनुमीयते। तत्र वदनविकाश–रोमाञ्चोद्गमाऽऽदिचिह्नगम्यो मानसः प्रीतिविशेषो हर्षः, आदिशब्दाद् देहोपचयोत्सहाऽऽदिग्रहः। तत् तस्मात्कारणात् तद्मनउपघाताऽनुग्रहलक्षणोभयधर्मकमेव। अयमत्र भावार्थः–यः शोकाऽऽद्यतिशयाद् देहोपचयरूपः, आर्ताऽऽदिध्यानातिशयाद् हृद्रोगाऽऽदिस्वरूपश्चोपघातः, यश्च पुत्रजन्माऽऽद्यभीष्टप्राप्तिचिन्तासमुद्भूतहर्षाऽऽदिरनुग्रहः, स जीवस्य भवन्नपि चिन्त्यमानविषयाद् मनसः किल परो मन्यते, तस्य जीवात् कथञ्चिदव्यतिरिक्तत्वात्। ततश्चैवं मनसोऽनुग्रहोपघातयुक्तत्वात् तच्छून्यत्वलक्षणो हेतुरसिद्धः इति गाथाऽर्थः ॥ २१९ ॥

तदेतत् सर्वं परस्याऽसंबद्धभाषितमेवेति दर्शयन्नाह—

जइ दव्वमणोऽतिबली, पीलिज्जा हिदिनिरुद्धवाउ व्व।
तयणुग्गहेण हरिसा–दउ व्व नेयस्स किं तत्थ ?।२२०।

यदि नाम द्रव्यमनो मनस्त्वपरिणतानिष्टपुद्गलसमूहरूपमतिशयबलिष्ठमिति कृत्वा शोकाऽऽदिसमुद्भूतपीडया जीवं कर्मताऽऽपन्नं देहदौर्बल्याऽऽद्यापादनेन पीडयेत्, हृन्निरुद्धवायुवत्; हृदयदेशाऽऽश्रितनिविडमरुद्ग्रन्थिवदित्यर्थः यदि च तस्यैव द्रव्यमनसो मनस्त्वपरिणतेष्टपुद्गलसंघातस्वरूपस्याऽनुग्रहेण जीवस्य हर्षाऽऽदयो भवेयुः, तर्हि ज्ञेयस्य चिन्तनीयमेर्वादेर्मनसोऽनुग्रहोपघातकरणे किमायातम् ?। इदमत्र हृदयम्–मनस्त्वपरिणतानिष्टपुद्गलनिचयरूपं द्रव्यमनोऽनिष्टचिन्ताप्रवर्तनेन जीवस्य देहदौर्बल्याऽऽद्यापत्त्या हृन्निरुद्धवायुवदुपघातं जनयति, तदेव च शुभपुद्गलपिण्डरूपं तस्याऽनुकूलचिन्ताजनकत्वेन हर्षाऽऽद्यभिनिर्वृत्त्या भेषजवदनुग्रहं विधत्त इति। अतो जीवस्यैतावनुग्रहोपघातौ द्रव्यमनः करोति, न तु मन्यमानमेर्वादिकं ज्ञेयं मनसः किमप्युपकल्पयति। अतो द्रव्यमनसः सकाशादात्मन एवानुग्रहोपघातसद्भावात् मनसस्तु ज्ञेयात् तद्गन्धस्याऽप्यभावाद् मस्तकाऽऽघातविह्वलीभूतेनेवाऽसंबद्धभाषिणा परेण हेतोरसिद्धिरुद्भाविता। इति गाथाऽर्थः ॥ २२० ॥

आह–नन्वलौकिकमिदं, यद्–द्रव्यमनसा जीवस्य
देहोपचयदौर्बल्याऽऽदिरूपावनुग्रहोपघातौ
क्रियेते, तथा प्रतीतेरेवाभावात्,
इत्याशङ्क्याऽऽह—

इट्ठाऽणिट्ठाऽऽहारब्भव–हारे होंति पुट्ठि–हाणीओ।
जह तह मणसो ताओ, पोग्गलगुणउ त्ति को दोसो।२२१।

ननु किमिहाऽलौकिकम् ?, यतो भवतो लोकस्य च स–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बालगोपालस्य तावत्प्रतीतमिदं यदुत—इष्टो मनोऽभिरुचितो य आहारस्तस्याऽभ्यवहारे जन्तूनां शरीरस्य पुष्टिर्भवति, यस्त्वनिष्टोऽनभिमत आहारस्तस्याऽभ्यवहारे हानिर्भवतीति । ततश्च ' जह त्ति ' यथा इष्टाऽनिष्टाऽऽहाराभ्यवहारे तत्पुद्गलानुभावात् पुष्टिहानी भवतः , ' तह त्ति ' तथा यदि द्रव्यमनोलक्षणात् मनसोऽपि सकाशात् " ताउ त्ति ' ते पुष्टिहानी पुद्गलगुणतः पुद्गलानुभावाद् भवतः, तर्हि को दोषः ?, न कश्चिदित्यर्थः । यथाऽऽहार इष्टाऽनिष्टपुद्गलमयत्वात् तदनुभावाज्जन्तुशरीराणां पुष्टिहानी जनयति, तथा द्रव्यमनोऽपि तन्मयत्वाद् यदि तेषां ते निर्वर्तयति, तदा किं क्षूयते, येन पुद्गलमयत्वे समानेऽपि भवतोऽत्रैवाऽक्षमा ?, इति भावः । तथा चोक्तम्–" चिन्तया वत्स ! ते जातं शरीरकमिदं कृशम् । " इति । चिन्तैव तर्हि कार्श्याऽऽद्युपघाताऽऽदिजनिकेति चेत् । न, तस्या अपि द्रव्यमनःप्रभवत्वात् , अन्यथा चिन्ताया ज्ञानरूपत्वात् , ज्ञानस्य चाऽऽमूर्तत्वात्, अमूर्तस्य च नभस इवोपघाताऽऽदिहेतुत्वायोगात्, ' जमणुग्गहो—वघाया, जीवाणं पोग्गलेहिंतो ।' इति वक्ष्यमाणत्वाच्च । इति गाथाऽर्थः ॥ २२१ ॥

अथोपसंहारगर्भं प्रस्तुतार्थविषये स्वाभिप्रायपरमार्थं दर्शयन्नाह—

नीउं आगसिउं वा, न नेयमालंबइ त्ति नियमोऽयं ।
तष्णेयकया जेऽणु–ग्गहोवघाया य ते नऽत्थि ॥२२२॥

इह न शरीराद् 'निर्गन्तुं' (निर्गत्य) द्रव्यमनो मेर्वादिकं ज्ञेयमर्थमालम्बते गृह्णाति, नापि तच्छरीरस्थमेव ' आगसिउं ति ' आकष्टुम् (आकृष्य) हठात् समाकृष्याऽऽत्मनः समीपमानीय ज्ञेयमालम्बत इति, अयं नियमोऽस्माभिर्भुजमुत्क्षिप्य विधीयते–प्राप्यकारीदं न भवतीति नियम्यत इति तात्पर्यम् । ' तण्णेयकया जेऽणुग्गहो–वघाय त्ति' यौ च तज्ज्ञेयकृतौ तच्च तज्ज्ञेयं च तज्ज्ञेयं तत्कृतौ, मनसोऽनुग्रहोपघातौ परैरिष्येते, तौ तस्य न स्त एवेति च नियम्यते । इति गाथाऽर्थः ॥ २२२ ॥

किं पुनर्न नियम्यते ?, इत्याह—

सो पुण सयमुवघायण–मणुग्गहं वा करेज्ज को दोसो ?।
जमणुग्गहोवघाया, जीवाणं पोग्गलेहिंतो ॥ २२३ ॥

' से ' इति प्राकृतत्वात् पुँल्लिङ्गनिर्देशः, एवं पूर्वमुत्तरत्राऽपि च यथासंभवं द्रष्टव्यम् । तद् द्रव्यमनः पुनः स्वयमात्मना शुभाऽशुभकर्मवशात इष्टाऽनिष्टपुद्गलसंघातघटितत्वादनुग्रहोपघातौ मन्तुः कुर्यात् , को दोषः ?—न वयं तत्र निषेद्धारः, ज्ञेयकृतयोरेव तस्य तयोरस्माभिर्निषिध्यमानत्वादिति भावः । जीवस्याऽपि तौ द्रव्यमनःकृतौ किमिति न निषिध्येते ?, इत्याह—' जमणुग्गहो इत्यादि ' यद्यस्मात्कारणादनुग्रहोपघातौ जीवानां पुद्गलेभ्य इति युक्तमेव, इष्टाऽनिष्टशब्द—रूप—रस–गन्ध–स्पर्शोपभोगाऽऽदिषु तथादर्शनेनाऽस्याऽर्थस्य निषेद्धुमशक्यत्वादित्यर्थः । आह—ननु शब्दाऽऽदय इष्टाऽनिष्टपुद्गलाऽऽत्मका इति प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणसिद्धत्वात् प्रतीमः, द्रव्यमनस्तु यदिदं किमपि भवद्भिरुद्घुष्यते तदिष्टाऽनिष्टपुद्गलमयमस्तीति कथं श्रद्दध्मः ? इति । अत्रोच्यते–योगिनस्तावदिदं प्रत्यक्षत एव पश्यन्ति; अर्वाग्दर्शिनस्त्वनुमानात् । तथाहि—यदन्तरेण यद् नोपपद्यते तद्दर्शनात् तदस्तीति प्रतिपत्तव्यम् , यथा स्फोटदर्शनाद् दहनस्य दाहिका शक्तिः, नोपपद्यते चेष्टाऽनिष्टपुद्गलसंघाताऽऽत्मकद्रव्यमनोव्यतिरेकेण जन्तूनामिष्टाऽनिष्टवस्तुचिन्तने समुपलब्धौ वदनप्रसन्नता–देहदौर्बल्याऽऽद्यनुग्रहोपघातौ , ततस्तदन्यथाऽनुपपत्तेरस्ति यथोक्तरूपं द्रव्यमनः । चिन्तनीयवस्तुकृतावेतौ भविष्यत इति चेत् । न, जल–ज्वलनौदनाऽऽदिचिन्तने क्लेद–दाह–बुभुक्षोपशमाऽऽदिप्रसङ्गादिति । "चिन्तया वत्स ! ते जातं, शरीरकमिदं कृशम्" इत्यादिलोकोक्तेश्चिन्ताज्ञानकृतौ ताविति चेत् । तदप्ययुक्तम् , तस्याऽमूर्तत्वात् , अमूर्तस्य च कर्तृत्वायोगात् , आकाशवद् , इत्युक्तत्वात् ; " चिन्तया वत्स ! " इत्यादिलोकोक्तेश्च कार्ये कारणशक्त्यध्यारोपेणौपचारिकत्वात् । खेदाऽऽदेस्तदुद्भूतिरिति चेत् । कोऽयं नाम खेदाऽऽदिः ?। किं तान्येव मनोद्रव्याणि, चिन्ताऽऽदिज्ञानं वा ? । आद्यपक्षे, सिद्धसाध्यता । द्वितीयपक्षस्तु विहितोत्तर एव । न च निर्हेतुकावेतौ , सर्वदा भवनाऽभवनप्रसङ्गात् , "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावनां, कादाचित्कत्वसंभवः ॥ १ ॥" इति । न च जीवाऽऽदिक एवाऽन्यः कोऽपि तयोर्हेतुः, तस्य सदाऽवस्थितत्वेन तत एव सर्वदा भवनाऽभवनप्रसङ्गात् । एवमन्यदपि सुधिया स्वबुद्ध्या समाधानमिह वाच्यम् , इत्यलमतिविस्तरेण । तस्मादुक्तयुक्तिसिद्धं पुद्गलमयं द्रव्यमनो मन्तुः स्वयं कुर्यादनुग्रहोपघातौ , ज्ञेयकृतौ तु तौ मनसो न स्त एव, इति न तत्प्राप्यकारि । इति गाथाऽर्थः ॥ २२३ ॥

आह—ननु जाग्रदवस्थायां मा भूद् मनसो विषयप्राप्तिः , स्वापावस्थायां तु भवत्वसौ, अनुभवसिद्धत्वात् , तथाहि— 'अमुत्र मेरुशिखराऽऽदिगतजिनाऽऽयतनाऽऽदौ मदीयं मनो गतम् ' इति सुप्तैः स्वप्नेऽनुभूयत एव । तथा च—' गंतुं नेपण मणो, संबज्झइ जग्गओ व सिमिणे वा । ' इति मया प्रागेवोक्तम् , इत्याशङ्क्य स्वप्नेऽपि मनसः प्राप्यकारितामपाकर्तुमाह—

सिमिणे न तहारूवो, वभिचाराओ अलायचक्कं व ।
वभिचारो य सदंसण–मुवघायाणुग्गहाभावा ॥२२४॥

इह ' मदीयं मनोऽमुत्र गतम् ' इत्यादिरूपो यः सुप्तैरुपलभ्यते स्वप्नः, स यथोपलभ्यते न तथारूप एव ' स्वप्नोपलब्धमोदकस्तथाविधपरमाऽऽचार्यैरिव परैर्न सत्य एव मन्तव्य इत्यर्थः । कुतः ? , इत्याह–व्यभिचारात्—अन्यथात्वदर्शनात् । किंवद्—यथा न सत्यम् ? ; इत्याह—अलातचक्रमिव—अलातमुल्मुकं तद्वृत्ताऽऽकारतया आशु भ्रम्यमाणं भ्रान्तिवशादचक्रमपि चक्रतया प्रतिभासमानं यथा न सत्यम् , अचक्ररूपताया एव तत्राऽवितथत्वात् , भ्रमणोपरमे स्वभावस्थस्य तथैव दर्शनात् ; एवं स्वप्नोऽपि न सत्यः, तदुपलब्धस्य मनोमेरुगमनाऽऽदिकस्याऽर्थस्याऽसत्यत्वात् । तदसत्यत्वं च प्रबुद्धस्य स्वप्नोपरमे तदभावात् । तदभावश्च तदवस्थायां देहस्थस्यैव मनसोऽनुभूयमानत्वादिति । आह- ननु स्वप्नावस्थायां मेर्वादौ गत्वा जाग्रदवस्थायां निवृत्तं तद् भविष्यति, इति व्यभिचारात् इत्यसिद्धो हेतुः ; इत्याश–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ङ्ग्याऽऽह-' वभिचारो येत्यादि ' यो मया व्यभिचारो हेतुत्वे-नोक्तः,स चेत्थं सिद्धः । कथम्?, इत्याह-'सदंसणमिति' विभक्ति-व्यत्ययात् स्वदर्शनादित्यर्थः, स्वस्याऽऽत्मनो मेर्वादिस्थित-जिनगृहाऽऽदिगतस्य दर्शनं स्वदर्शनं तस्मादिति, एतदुक्तं भवति—यथा कदाचिदात्मीयं मनः स्वप्ने मेर्वादौ गतं क-श्चित् पश्यति, तथा कोऽपि शरीरमात्मानमपि नन्दन-तरुकुसुमावचयाऽऽदि कुर्वन्तं तद्गतं पश्यति, न च तत् त-थैव, इहस्थितैः सुप्तस्य तस्याऽत्रैव दर्शनात्, द्वयोश्चाऽऽ-त्मनोरसम्भवात्, कुसुमपरिमलाऽऽद्यध्वजनितपरिश्रमा-ऽऽद्यनुग्रहोपघाताभावाच्च । इति गाथाऽर्थः ॥ २२४ ॥

एतदेव भावयन्नाह—

इह पासुत्तो पेच्छइ, सदेहमन्नत्थ न य तओ तत्थ ।
न य तग्गयोवघाया-णुग्गहरूवं विबुद्धस्स ॥ २२५ ॥

इह जगति प्रसुप्तः कश्चित् स्वदेहमन्यत्र नन्दनवनाऽऽदौ गतं स्वपने पश्यति । न च तकोऽसौ देहस्तत्र नन्दनवना-ऽऽदावुपपद्यते, इहस्थितैरन्यैस्तस्याऽत्रैवोपलम्भात्, इत्याद्य-नन्तरोक्तयुक्तेः । न च विबुद्धस्य सतस्तद्गतयोरन्यत्र ग-मनगतयोरन्यत्र गमनविषयोरनुग्रहोपघातयो रूपं कुसुमप-रिमल-मार्गपरिश्रमाऽऽदिकं स्वरूपमुपलभ्यते। तस्मात् स्वा-पावस्थायामपि नाऽन्यत्र मनसो गमनम्, देहगमनदर्शनेन व्यभिचारात् । इति गाथाऽर्थः ॥ २२५ ॥

अत्र विबुद्धस्य सतस्तद्गतानुग्रहोपघातानुपलम्भादित्य-स्य हेतोरसिद्धतोद्भावनार्थं परः प्राऽऽह—

दीसंति कासइ फुडं, हरिसविसादाऽऽदयो विबुद्धस्स ।
सिमिणाणुभूयसुहदु-क्खरागदोसाइलिंगाइं ॥ २२६ ॥

इह कस्यचित् पुरुषस्य स्वप्नोपलम्भानन्तरं विबुद्धस्य सतः स्फुटं व्यक्तं दृश्यन्ते हर्षविषादाऽऽदयः, आदिशब्दा-दुन्माद-माध्यस्थ्याऽऽदिपरिग्रहः । कथंभूता ये हर्ष-विषा-दाऽऽदयः ? इत्याह-' सिमिणेत्यादि ' स्वप्ने जिनस्नात्रदर्श-नाऽऽदौ यदनुभूतं सुखं, समीहिताऽर्थाऽलाभादौ यदनुभूतं दुःखं, तयोर्विपये यथासंख्यं यौ राग-द्वेषौ तयोर्लिङ्गानि चिह्नानि हर्षः-स्वप्नानुभूतसुखं रागस्य लिङ्गं, विषादस्तु त-दनुभूतदुःखद्वेषस्य लिङ्गमिति भावः ।

तत्र—

" स्वप्ने दृष्टो मयाऽद्य त्रिभुवनमहितः पार्श्वनाथः शिशुत्वे,
द्वात्रिंशद्भिः सुरेन्द्रैरहमहमिकया स्नाप्यमानः सुमेरौ ।
तस्माद् मत्तोऽपि धन्यं नयनयुगमिदं येन साक्षात् स दृष्टो,
द्रष्टव्यो यो महीयान् परिहरति भयं देहिनां संस्मृतोऽपि ॥१॥"

इत्यादिकः स्वप्नानुभूतसुखरागलिङ्गं हर्षः ।

तथा—

" प्राकारत्रयतुङ्गतोरणमणिप्रेङ्खत्प्रभाव्याहता-
नष्टाः क्वापि रवेः करा द्रुततरं यस्यां प्रचण्डा अपि ।
तां त्रैलोक्यगुरोः सुरेश्वरवतीमास्थानिकामेदिनीं,
हा ! यावत् प्रविशामि तावदधमा निद्रा क्षयं मे गता ॥ १ ॥"

इत्यादिकः स्वप्नानुभूतदुःखद्वेषलिङ्गं विषादः, अत्यन्तकामो-द्रेकाऽऽदिलिङ्गमुन्मादः, मुनेस्तु माध्यस्थ्यम्, इति " विबु-द्धस्याऽनुग्रहोपघातानुपलम्भात्" इत्यसिद्धो हेतुः। इति गा थाऽर्थः ॥ २२६ ॥

अत्रोत्तरमाह—

न सिमिणविण्णाणाओ, हरिसविसायादयो विरुज्झंति ।
किरियाफलं तु तित्ती-मदवहबंधाऽऽदओ नत्थि ।२२७।

स्वप्ने सुखानुभवाऽऽदिविषयं विज्ञानं स्वप्नविज्ञानं तस्मा-दुत्पद्यमाना हर्ष-विषादाऽऽदयो न विरुध्यन्ते-न तान् वयं निवारयामः जाग्रदवस्थाविज्ञानहर्षाऽऽदिवत्,तथाहि-दृश्य-न्ते जाग्रदवस्थायां केचित् स्वमुत्प्रेक्षितसुखानुभवादिज्ञानाद् हृष्यन्तः, द्विषन्तो वा । ततश्च दृष्टस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् स्वप्नविज्ञानादपि नैतन्निषेधं ब्रूमः । तर्हि किमुच्यते भव-द्भिः ?, इत्याह-' किरियेत्यादि ' क्रिया भोजनाऽऽदिका त-स्याः फलं तृप्त्यादिकं तत् पुनः स्वप्नविज्ञानाद् नास्त्येव, इति ब्रूमः । तदेव क्रियाफलं दर्शयति-' तित्तीत्यादि ' तत्र तृप्तिबुभुक्षाऽऽद्युपरमलक्षणा, मदः सुरापानाऽऽदिजनितवि-क्रियारूपः, वधः शिरश्छेदाऽऽदिसमुद्भूतपीडास्वरूपः, बन्धो निगडाऽऽदिनियन्त्रणस्वभावः, आदिशब्दाज्ज्वलज्ज्वलनाऽऽ-दिप्रवेशात् क्लेददाहाऽऽदिपरिग्रहः । यदि ह्येतत् तृप्त्यादिकं भोजनाऽऽदिक्रियाफलं स्वप्नविज्ञानाद् भवेद् तदा विषय-प्राप्तिरूपा प्राप्यकारिता मनसो युज्येत, न चैतदस्ति, तथो-पलम्भस्यैवाभावात् । इति गाथाऽर्थः ॥ २२७॥

अथ स्वप्नानुभूतक्रियाफलं जाग्रदवस्थायामपि परो दर्शयन्नाह—

सिमिणे वि सुरयसंगम-किरियासंजणियवंजणविसग्गो।
पडिबुद्धस्स वि कस्सइ,दीसइ सिमिणाणुभूयफलं ।२२८।

स्वप्नेऽपि सुरतार्थायाऽसौ कामिनः कामिनीजनेन, कामि-न्या वा कामिजनेन सह सङ्गमक्रिया तत्संजनितो व्यञ्जन-स्य-शुक्रपुद्गलसंघातस्य विसर्गो निसर्गः स्वप्नानुभूतसुरतस-ङ्गमक्रियाफलरूपः प्रतिबुद्धस्यापि कस्यचित् प्रत्यक्ष एव दृ-श्यते, तद्दर्शनाच्च स्वप्ने योषित्सङ्गमक्रियाऽनुमीयते, तथाहि यत्र व्यञ्जनविसर्गस्तत्र योषित्सङ्गमेनापि भवितव्यम्, यथा वासभवनाऽऽदौ, तथा च स्वप्ने, ततोऽत्रापि योषित्प्राप्त्या भवितव्यम्; इति कथं न प्राप्तकारिता मनसः ?, इति भावः इति गाथाऽर्थः ॥ २२८ ॥

अथ योषित्सङ्गमे साध्ये व्यञ्जनविसर्गहेतोरनैका-न्तिकतामुपदर्शयन्नाह—

सो अज्झवसाणकओ, जागरओ वि जह तिव्वमोहस्स ।
तिव्वऽज्झवसाणाओ, होइ विसग्गो तहा सुमिणे ।२२९।

स्वप्ने योऽसौ व्यञ्जनविसर्गः स तत्प्राप्तिमन्तरेणाऽपि तां कामिनीमहं परिषजामि इत्यादिस्वमत्युत्प्रेक्षिततीव्राध्यवसा-यकृतो वेदितव्यः । कस्येव ?, इत्याह-जाग्रतोऽपि तीव्रमोह-स्य प्रबलवेदोदययुक्तस्य कामिनीं स्मरतश्चिन्तयतो दृढं ध्या-यतः प्रत्यक्षामिव पश्यतो बुद्ध्या परिषजतः परिभुक्तामिव मन्यमानस्य यत् तीव्राध्यवसानं तस्माद् यथा व्यञ्जनविस-र्गो भवति, तथा स्वप्नेऽपि नितम्बिनीप्राप्तिमन्तरेणाऽपि स्व-यमुत्प्रेक्षिततीव्राध्यवसानादसौ मन्तव्यः, अन्यथा तत्क्षण ए-व प्रबुद्धः सन्निहितां प्रियतमामुपलभेत्, तत्कृतानि च स्व-प्नोपलब्धानि नख-दन्त-पदाऽऽदीनि पश्येत्, न चैवम्; तस्मादनैकान्तिकता हेतोः । इति गाथाऽर्थः ॥ २२९ ॥

किञ्च—

सुरयपडिवत्तिरइसुह-गब्भाहाणाइ इहरहा होज्जा ।
सुमिणसमागमजुवइए,न य जओ ताइँ तो विफला।२३०।

इतरथा स्वप्ने सुरतक्रियया योऽसौ व्यञ्जनविर्गः स यदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योषित्प्राप्त्यव्यभिचारी स्यात्, तदा सुरतोपभुक्तयुवतेरपि 'सुरतक्रियाऽमुकेन सह मयाऽनुभूता' इत्येवंरूपा सुरतप्रतिपत्तिः स्यात्, तथा रतिसुखं गर्भाऽऽधानाऽऽदिकं च भवेत्, आदिशब्दादुदरवृद्धि-दोहद-पुत्रजन्माऽऽदिपरिग्रहः। यतश्च नैतानि तस्याः समुपलभ्यन्ते, अतो विफलैव सा स्वप्नसुरतक्रिया, विशिष्टस्य परिभुक्तकामिनीगर्भाऽऽधानाऽऽदिफलस्याऽभावात्। इदमुक्तं भवति-न स्वप्ने योषित्प्राप्तिपूर्विका विशिष्टा सुरतक्रिया, नापि विशिष्टं गर्भाऽऽधानाऽऽदिकं तत्फलं, या तु तीव्रवेदोदयाऽऽविर्भूताऽध्यवसायमात्रकृता निधुवनक्रिया सा व्यञ्जनविसर्गमात्ररूपेणैव फलेन फलवती न विशिष्टेन. इति तदपेक्षया सा 'विफला' इत्युच्यते। अतो यथोक्तविशिष्टफलाभावात् फलमात्राद् योषित्प्राप्त्यसिद्धेश्च न प्राप्यकारिता मनस इतिभावः। इति गाथाऽर्थः॥ २३०॥

पुनरप्याह परः—

नणु सिमिणाओ वि कोई, सच्चफलो फलइ जो जहा दिट्ठो।
नत्र सिमिणम्मि निसिद्धं, किरिया किरियाफलाइं च॥२३१॥

ननु स्वप्नोऽपि कश्चित् सत्यं फलं यस्याऽसौ सत्यफलो दृश्यते। कः?, इत्याह-यो यथा येन प्रकारेण राज्यलाभाऽऽदिना दृष्टस्तेनैव फलति—राज्याऽऽदिफलदायको भवतीत्यर्थः, तत् किमिति स्वप्नोपलब्धं मनसो मेरुगमनाऽऽदिकं सत्यतया नेष्यते?, इति भावः। अत्रोत्तरमाह—नन्वित्यादि, 'नन्वयुक्तोपालम्भोऽयम्, सर्वथा स्वप्नसत्यत्वस्याऽस्माभिरनिषिध्यमानत्वात्। तर्हि किं निषिध्यते?, इत्याह-स्वप्ने क्रिया मेरुगमनाऽऽदिका, अध्वश्रमकुसुमपरिमलाऽऽदीनि क्रियाफलानि च, इत्येतद् द्वयमस्माभिः प्रागुक्तयुक्तेः सत्यतया निषिद्धम्। इति गाथाऽर्थः॥ २३१॥

तर्हि किं तत्, यत् स्वप्ने भवद्भिर्न निषिध्यते?, इत्याह-

जं पुण विण्णाणं त-प्फलं च सिमिणे विबुद्धमेत्तस्स।
सिमिणयनिमित्तभावं, फलं च तं को निवारेइ?॥२३२॥

यत्पुनः स्वप्ने जिनस्नात्रदर्शनाऽऽदिकं विज्ञानं, यच्च स्वप्ने विबुद्धमात्रस्य च हर्षाऽऽदिकं तत्फलं, तदनुभवाऽऽदिसिद्धत्वात्को निवारयति?, तथा यो भविष्यत्फलापेक्षया स्वप्नस्य निमित्तभावः स्वप्ननिमित्तभावस्तं च को वा निवारयति?, यच्च तस्मात् स्वप्ननिमित्तादवश्यंभावि भविष्यत्फलं तदपि को निवारयति?। यदेव हि मेरुगमनक्रियाऽऽदिकं युक्त्या नोपपद्यते तदेव निषिध्यते, न त्वेतानि विज्ञानाऽऽदीनि, युक्त्युपपन्नत्वात्। न चैतैरभ्युपगतैरपि मनसः प्राप्यकारिता काचित् सिध्यतीति भावः। इति गाथाऽर्थः॥ २३२॥

किमिति पुनः स्वप्नस्य निमित्तभावो न निवार्यते?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

देहप्फुरणं सहसो-इयं च सिमिणो य काइयाईणि।
सगयाइँ निमित्ताइं, सुभाऽसुभफलं निवेएंति॥ २३३॥

स्वस्मिन्नात्मनि गतानि स्थितानि स्वगतानि निमित्तानि, एतानि शास्त्रे, लोकेऽपि च प्रसिद्धानि भविष्यच्छुभाशुभफलं निवेदयन्ति। कानि पुनस्तानि?, इत्याह—कायिकम्, आदिशब्दाद् वाचिकम्, मानसं च। एतान्येव-क्रमेण दर्शयति-कायिकं बाह्वादौ देहस्फुरणं भविष्यच्छु—भाऽशुभफलं निवेदयति, वाचिकं तु सहसोदितं सहसाऽकस्मादेवोदितं सहसोदितं सहसैव तत् किमपि वदत आगच्छति यत्, भविष्यच्छुभा-ऽशुभफलमावेदयति, मानसं तु निमित्तं स्वप्ने, इत्येतानि को निवारयति?, लोक-शास्त्रप्रसिद्धस्य, युक्त्युपपन्नस्य च निषेद्धुमशक्यत्वात्। इति गाथाऽर्थः॥ २३३॥

आह-ननु स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये वर्तमानस्य द्विरददन्तोत्पाटनाऽऽदिप्रवृत्तस्य स्वप्ने मनसः प्राप्यकारिता तत्पूर्वको व्यञ्जनावग्रहश्च सिद्ध्यति। तथाहि—स तस्यामवस्थायां 'द्विरददन्तोत्पाटनाऽऽदिकं सर्वमिदमहं स्वप्ने पश्यामि इति मन्यते, इत्ययं स्वप्नः मनोविकल्पपूर्विकां च दशनाऽऽद्युत्पाटनक्रियामसौ करोति। इति मनसः प्राप्यकारिता, तत्पूर्वकश्च मनसो व्यञ्जनावग्रहो भवत्येव, इत्याशङ्क्याऽऽह—

सिमिणमिव मन्नमाण-स्स थीणगिद्धिस्स वंजणोग्गहया।
होज्ज व न उ सा मणसो, सा खलु सोइंदियाईणं॥२३४॥

'होज्ज व' इत्यत्र वाशब्दः पुनरर्थे, तस्य च व्यवहितः सम्बन्धः कार्यः। तद्यथा—अनन्तरोक्तयुक्तिभ्यः स्वप्नावस्थायामपि विषयप्राप्त्यभावाद् मनसो व्यञ्जनावग्रहो नास्ति, स्त्यानगृद्धेः पुनः स्त्यानगृद्धिनिद्रोदये पुनर्वर्तमानस्य जन्तोरित्यर्थः, मांसभक्षण-दशनोत्पाटनाऽऽदिकुर्वतो गाढनिद्रोदयवशीभूतत्वेन स्वप्नमिव मन्यमानस्य भवेद् व्यञ्जनावग्रहता-स्याद् व्यञ्जनावग्रह इत्यर्थः न वयं तत्र निषेद्धारः। सिद्धं तर्हि परस्य समीहितम्। सिध्येत्, यदि सा व्यञ्जनावग्रहता मनसो भवेत्; न पुनः सा तस्य। कस्य तर्हि सा?, इत्याह—सा खलु प्राप्यकारिणां श्रोत्राऽऽदीन्द्रियाणां श्रवण-रसन-घ्राण-स्पर्शनानामित्यर्थः, इदमुक्तं भवति—स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये प्रेक्षणकरङ्गभूम्यादौ गीताऽऽदिकं शृण्वतः श्रोत्रेन्द्रियस्य व्यञ्जनावग्रहो भवति, कर्पूराऽऽदिकं जिघ्रतो घ्राणेन्द्रियस्य, आमिष-मोदकाऽऽदिकं भक्षयतो रसनेन्द्रियस्य, कामिनीतनुलताऽऽदि स्पृशतः स्पर्शनेन्द्रियस्य व्यञ्जनावग्रहः संपद्यते। न तु नयन-मनसोः, वह्नि-छुरिकाऽऽदिविषयकृतदाह-पाटनाऽऽदिप्रसङ्गेन तयोर्विषयप्राप्त्यभावात्, तामन्तरेण च व्यञ्जनावग्रहासम्भवादिति भावः। इति गाथाऽर्थः॥ २३४॥

आह-ननु स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये स्वप्नमिव मन्यमानः किं कोऽपि चेष्टां काञ्चित् करोति, येन तत्करणे व्यञ्जनावग्रहः स्यात्?, इत्याशङ्क्य स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयोदाहरणान्याह-

पोग्गलमोयगदन्ते, फरुसगवडसालभंजणे चेव।
थीणद्धियस्स एए, आहरणा होंति नायव्वा॥ २३५॥

स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयवर्तिन एतानि पौद्गलाऽऽदीन्युदाहरणानि ज्ञातव्यानि भवन्ति। तद्यथा-'पोग्गलेत्यादि।' तत्र समयपरिभाषया पौद्गलं मांसमुच्यते, तदुदाहरणं यथा—एकस्मिन् ग्रामे कुटुम्बिकः कोऽप्यासीत्, स च मांसगृद्ध आमानि, पक्वानि, तलितानि, केवलानि, तीमनाऽऽदिमध्यप्रक्षिप्तानि च मांसानि भक्षयति। अन्यदा च गुणातिशायिभिः स्थविरैः कैश्चित् प्रतिबोधितो दीक्षां कक्षीकृतवान्। तेन च ग्रामाऽनुग्रामं विहरता कदाचित् क्वचित् प्रदेशे मांसलुब्धैः कैश्चिद् विकत्यमानो महिषः समीक्षाञ्चके। तं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च संवीक्ष्य तदामिषभक्षणे तस्याऽप्यभिलाषः समजायत । स चाऽभिलाषोऽस्य भुञ्जानस्य विचारभूमिं गतस्य चरमां सूत्रपौरुषीं, प्रतिक्रमणक्रियां, प्रादोषिकपौरुषीं च कुर्वतो न निवृत्तः, किं बहुना ?, तदभिलाषवर्त्येव प्रसुप्तोऽसौ । ततः स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयो जातः। तदुदये चोत्थाय ग्रामाद् बहिर्महिषमण्डलमध्ये गत्वाऽन्यं महिषमेकं विनिहत्य तदामिषं भक्षितवान्। तदुद्धरितशेषं च समानीयोपाश्रयोपरि क्षिप्त्वा प्रसुप्तः। समुत्थितश्च प्रत्युषसि स 'मयेत्थंभूतः स्वप्नो दृष्टः' इत्येवं गुर्वन्तिक आलोचयामास । साधुभिश्चोपाश्रयोपरि तदामिषमदृश्यत। ततः स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयोऽस्याऽस्ति इति ज्ञातम्। तथा च सङ्घेन लिङ्गमपहृत्य विसर्जितोऽसौ ॥ इति स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये प्रथममुदाहरणमिति ॥ १ ॥ अथ द्वितीयं मोदकोदाहरणमुच्यते-यथा एकः कोऽपि साधुर्भिक्षां पर्यटन् कचिद् गृहे पटलकाऽऽदिव्यवस्थापितानतिप्रचुरान् सुरभिस्निग्धमधुरमनोज्ञान् मोदकानद्राक्षीत्। तेन चाध्वस्थितेन ते सुचिरमुद्वीक्षिताः। न च किमपि तन्मध्याल्लब्धम्। ततः सोऽप्यविच्छिन्नतदभिलाष एव सुष्वाप। स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये च रजन्यां तद्गृहं गत्वा, स्फोटयित्वा कपाटानि, मोदकान् स्वेच्छया भक्षयित्वा, उद्धरितांस्तु पतद्ग्रहके क्षिप्त्वोपाश्रयमागत्य पतद्ग्रहकं स्थाने मुक्त्वा प्रसुप्तः। उत्थितेन च तथैवाऽऽलोचितं गुरूणाम्। ततः प्रत्युपेक्षणासमये भाजनाऽऽदिप्रत्युपेक्षमाणेन साधुना पतद्ग्रहके दृष्टास्ते मोदकाः। ततो गुर्वादिभिर्ज्ञातोऽस्य स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयः। तथैव च सङ्घेन लिङ्गपाराञ्चिकं दत्त्वाऽयमपि विसर्जितः ॥ २ ॥ दन्तोदाहरणं तृतीयमुच्यते,यथा—एकः साधुर्दिवा द्विरदेन खेदितः कथमपि पलाय्योपाश्रयमागतः। तं च दन्तिनं प्रत्यविच्छिन्नकोप एव निशि प्रसुप्तः स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयश्च जातः, तदुदये च वज्रऋषभनाराचसंहननवतः केशवार्धबलसंपन्नता समये निगद्यते। अतो नगरकपाटानि भङ्क्त्वा मध्ये गत्वा तं हस्तिनं व्यापाद्य दन्तद्वयमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारे क्षिप्त्वा सुप्तः। प्रबुद्धेन च 'स्वप्नोऽयम्' इत्यालोचितम्। दन्तदर्शने च ज्ञातः स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयः । तथैव च लिङ्गं गृहीत्वा संघेन विसर्जितः ॥ ३ ॥ 'फरुसग' शब्देन समयप्रसिद्धया कुम्भकारोऽभिधीयते, तदुदाहरणं चतुर्थमुच्यते-एकः कुम्भकारो महति गच्छे प्रव्रजितः। अन्यदा च सुप्तस्याऽस्य स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयो जातः। ततोऽसौ पूर्वं यथा मृत्तिकापिण्डानत्रोटयत्, तथा तदभ्यासादेव साधूनां शिरांसि त्रोटयित्वा कबन्धैः सहैवैकान्ते उज्झाञ्चकार। ततः शेषाः केचन साधवोऽपसृताः। प्रभाते च ज्ञातं सम्यगेव सर्वं तच्चेष्टितम् । सङ्घेन तथैव विसर्जितः ॥ ४ ॥ अथ वटशालाभञ्जनोदाहरणं पञ्चममुच्यते, यथा-कोऽपि साधुर्ग्रामान्तराद् गोचरचर्यां विधाय प्रतिनिवृत्तः। स चौष्ण्याऽभिहतो भृतभाजनस्तृषितो बुभुक्षितश्छायार्थी मार्गस्थो वटवृक्षस्याऽधस्तादागच्छन्नतिनीचैर्वर्तिन्या तच्छाखया मस्तके घट्टितः,गाढं च परितापितः, अव्यवच्छिन्नकोपश्च प्रसुप्तः। स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये रात्रौ गत्वा वटशाखां भङ्क्त्वोपाश्रयद्वारे क्षिप्त्वा पुनः प्रसुप्तः। 'स्वप्नो दृष्टः' इत्यालोचिते स्त्यानर्द्ध्युदये च ज्ञाते लिङ्गापनयनतः संघेन विसर्जित इति ॥ ५ ॥ एतान्युदाहरणानि विशेषतो निशीथादवसेयानि। इति गाथाऽर्थः ॥ २३५ ॥

तदेवं 'गंतुं नेयए मणो, संवज्झइ जग्गओ व सिमिणे वा' इत्यादिपूर्वपक्षगाथायाः प्रथमार्धमपाकृतम्। सांप्रतं 'सिद्धमियं लोयम्मि वि, अमुगत्थगओ मणो मे त्ति।' एतदुत्तरार्द्धमपाकुर्वन्नाह—

जह देहत्थं चक्खुं, जं पइ चंदं गयं ति न य सच्चं ।
रूढं मणसो वि तहा,न य रूढी सच्चिया सव्वा ॥२३६॥

यथा देहस्थं देहादनिर्गतमपि चक्षुः 'चन्द्रं गतम्' इति जल्पति लोकः, न च तत् सत्यम्, चक्षुषो वह्न्यादिदर्शनेन तत्कृतदाहाऽऽदिप्रसङ्गात्; तथा तेनैव प्रकारेण मनसोऽपि निर्निबन्धनं रूढमिदं यदुत—'अमुत्र गतं मे मनः' इति। रूढिरपि सत्या भविष्यति, इत्याह न च रूढिः सर्वाऽपि सत्या, "वटे वटे वैश्रवणश्चत्वरे चत्वरे शिवः । पर्वते पर्वते रामः, सर्वगो मधुसूदनः ॥ १ ॥" इत्यादिकाया असत्याया अपि दर्शनात्। इति गाथाऽर्थः ॥ २३६ ॥

तदेवं विषयप्राप्तौ निषिद्धायां मनसोऽसद्ग्रहमसुञ्चन् परः प्रकारान्तरेणाऽपि तस्य व्यञ्जनावग्रहं प्रतिपादयन्नाह—

विसयमसंपत्तस्स वि, संविज्जइ वंजणोग्गहो मणसो ।
जमसंखेज्जसमइओ, उवओगो जं च सव्वेसु ॥ २३७ ॥
समएसु मणोदव्वा-इ गिण्हए वंजणं च दव्वाइं ।
भणियं संबंधो वा, तेण तयं जुज्जए मणसो ॥ २३८ ॥

विषयं मेरुशिखराऽऽदिकं,जलाऽनलाऽऽदिकं वा, असंप्राप्तस्यापि अप्राप्य गृह्णतोऽपीत्यर्थः। किम् ?, इत्याह—संविद्यते युज्यते व्यञ्जनावग्रहो मनसः। कुतः ?, इत्याह-'जमसंखेज्जसमइओ उवओगो' यद् यस्मात् कारणात् "व्यवमानो न जानाति" इत्यादिवचनात् सर्वोऽपि छद्मस्थोपयोगोऽसङ्ख्येयैः समयैर्निर्दिष्टः सिद्धान्ते, न त्वेक-द्व्यादिभिः। 'जं च सव्वेसु समयेसु मणोदव्वाइं गिण्हए त्ति ।' यस्माच्च तेषूपयोगसम्बन्धिष्वसङ्ख्येयेषु सर्वेष्वपि प्रत्येकमनन्तानि मनोद्रव्याणि मनोवर्गणाभ्यो गृह्णाति जीवः; द्रव्याणि च, तत्सम्बन्धो वा प्रागत्रैव भवद्भिः व्यञ्जनमुक्तम्, तेन कारणेन तत् तादृशं द्रव्यं,तत्सम्बन्धो वा व्यञ्जने व्यञ्जनावग्रह इति हृदयम्, युज्यते घटते मनसः। यथा हि श्रोत्राऽऽदीन्द्रियेणाऽसङ्ख्येयान् समयान् यावद् गृह्यमाणानि शब्दाऽऽदिपरिणतद्रव्याणि, तत्सम्बन्धो वा व्यञ्जनावग्रहः, तथाऽत्राऽप्यसङ्ख्येयसमयान् यावद् गृह्यमाणानां मनोद्रव्याणां, तत्सम्बन्धस्य वा किमिति पक्षपातं परित्यज्य मध्यस्थैर्भूत्वाऽसौ नेष्यते ?,इति किल परस्याऽभिप्रायः। इति गाथाऽर्थः ॥ २३७ ॥ २३८ ॥

तदेवं विषयासंप्राप्तावपि भङ्ग्यन्तरेण मनसो व्यञ्जनावग्रहः किल परेण समर्थितः। साम्प्रतं विषयसम्प्राप्त्याऽपि तस्य तं समर्थयन्नाह—

देहादणिग्गयस्स वि, सकायहिययाइयं विचिंतयओ ।
नेयस्स वि संबंधे, वंजणमेवं पि से जुत्तं ॥ २३९ ॥

देहाच्छरीरादनिर्गतस्याऽपि मेर्वाद्यर्थमगतस्याऽपि स्वस्थानस्थितस्यापीत्यर्थः, स्वकाये, स्वकायस्य, वा हृदयाऽऽदिकमतीवसन्निहितत्वादतिसंबद्धं विचिन्तयतो मनसो योऽसौ ज्ञेयेन स्वकायस्थितहृदयाऽऽदिना संबन्धस्तत्प्राप्तिलक्षणस्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मिन्नपि ज्ञेयसंबन्धे, न केवलं ' विसयमसंपत्तस्स वि संविज्जइ ' इत्याद्यनन्तरसमर्थितन्यायेन , इत्यपिशब्दार्थः । किम् ?, इत्याह व्यञ्जनं व्यञ्जनावग्रहः ' से ' तस्य मनसो युक्तं घटमानकम् , एवमप्यनयाऽपि प्राप्यकारित्वभङ्ग्या । इति गाथाऽर्थः ॥ २३९ ॥

तदेवं प्रकारद्वयेन मनसः परेण व्यञ्जनावग्रहे समर्थिते, आचार्यः प्रथमपक्षे तावत् प्रतिविधानमाह—

गिज्झस्स वंजणाणं, जं गहणं वंजणोग्गहो स मओ ।
गहणं मणो न गिज्झं, को भागो वंजणे तस्स ? ॥२४०॥

इह-' विसयमसंपत्तस्स वि संविज्जइ ' इत्यादि यत्परेणोक्तम् , तद् निजाऽसत्पक्ष-परकीयसत्पक्षविपयप्रसर्पन्महाराग-द्वेषग्रहग्रस्तचेतोविह्वलतासूचकमेवावगन्तव्यम् , असंबद्धत्वात् । तथाहि-श्रोत्र-घ्राण-रसन-स्पर्शनेन्द्रियचतुष्टयग्राह्यस्य शब्दगन्धाऽऽदिविषयस्य संबन्धिनां व्यञ्जनानां तद्रूपपरिणतद्रव्याणां यद्ग्रहणमुपादानं स व्यञ्जनावग्रहोऽस्माकं संमत इति परोऽपि जानात्येव, प्रागसकृत्प्रतिपादितत्वादिति । मनोद्रव्याण्यपि तर्हि मनसो ग्राह्याणि भविष्यन्ति, ततस्तस्याऽपि श्रोत्राऽऽदेरिव व्यञ्जनावग्रहो भविष्यति; अतः किमसंबद्धम् ?, इत्याह-' गहणं मणो न गिज्झं ति ' चिन्ताद्रव्यरूपं मनो न ग्राह्यम् , किन्तु ग्रहणं गृह्यतेऽवगम्यते शब्दाऽऽदिरर्थोऽनेनेति ग्रहणम्-अर्थपरिच्छेदे करणमित्यर्थः । ग्राह्यं तु मेरुशिखराऽऽदिकं मनसः सुप्रतीतमेव । अतः को भागः-कोऽवसरस्तस्य करणभूतस्य मनोद्रव्यराशेर्व्यञ्जने व्यञ्जनावग्रहेऽधिकृते ?, न कोऽपीत्यर्थः । ग्राह्यवस्तुग्रहणं हि व्यञ्जनावग्रहो भवति । न च मनोद्रव्याणि ग्राह्यरूपतया गृह्यन्ते, किन्तु करणरूपतया, इत्यसंबद्धमेव परोक्तम् । इति गाथाऽर्थः ॥ २४० ॥

या च ' देहादणिग्गयस्स वि , सकायहिययाइयं ' इत्यादिना मनसः प्राप्यकारिता प्रोक्ता, साऽपि न युक्ता , स्वकायहृदयाऽऽदिको हि मनसः स्वदेश एव, यच्च यस्मिन् देशेऽवतिष्ठते, तत् तेन संबद्धमेव भवति, कस्तत्र विवादः ?, किं हि नाम तद् वस्त्वस्ति, यदात्मदेशेनाऽसंबद्धम् ? । एवं हि प्राप्यकारितायामिष्यमाणायां सर्वमपि ज्ञानं प्राप्यकार्येव-सर्वस्याऽपि तस्य जीवेन संबद्धत्वात् । तस्मात् पारिशेष्याद् बाह्यार्थापेक्षयैव प्राप्यकारित्वाऽप्राप्यकारित्वचिन्ता युक्ता स च मनसाऽप्राप्त एव गृह्यते, इति न तत्र व्यभिचारः । भवतु वा मनसः स्वकीयहृदयाऽऽदिचिन्तायां प्राप्यकारिता, तथाऽपि न तस्य व्यञ्जनावग्रहसंभव इति दर्शयन्नाह—

तद्देसचिंतणे होज्ज वंजणं जइ तओ न समयम्मि ।
पढमे चेव तमत्थं, गेण्हेज्ज न वंजणं तम्हा ॥ २४१ ॥

स चासौ स्वकीयहृदयाऽऽदिदेशश्च तस्य चिन्तनं तस्मिन् सति स्याद् मनसो व्यञ्जनं व्यञ्जनावग्रहः । यदि किम् ?, इत्याह-'जइ तओ न समयम्मि । पढमे चेव तमत्थं गेण्हेज्ज त्ति ।' यदि तद् मनः प्रथम एव समये तं स्वकीयहृदयाऽऽदिकमर्थं न गृह्णीयाद्-नावगच्छेदिति । एतच्च नास्ति, यस्माद् मनसः प्रथमसमय एवार्थोऽवग्रहः समुत्पद्यते, न तु श्रोत्राऽऽदीन्द्रियस्येव प्रथमं व्यञ्जनावग्रहः तस्य हि क्षयोपशमापाटवेन प्रथममर्थानुपलब्धिकालसंभवाद् युक्तो व्यञ्जनावग्रहः,मनसस्तु पटुक्षयोपशमत्वाच्चक्षुरिन्द्रियस्येवाऽर्थानुपलम्भकालस्यासंभवेन प्रथममेवार्थावग्रह एवोपजायते । अत्र प्रयोगः-इह यस्य ज्ञेयसंबन्धे सत्यप्यनुपलब्धिकालो नास्ति न तस्य व्यञ्जनावग्रहो दृष्टः,यथा चक्षुषः नास्ति चार्थसंबन्धे सत्यनुपलब्धिकालो मनसः, तस्माद् न तस्य व्यञ्जनावग्रहः, यत्र त्वयमभ्युपगम्यते न तस्य ज्ञेयसंबन्धे सत्यनुपलब्धिकालासंभवः, यथा श्रोत्रस्येति व्यतिरेकः । तदेवं परोक्तपक्षद्वयेऽपि मनसो व्यञ्जनावग्रहं निराकृत्योपसंहरति-' न वंजणं तम्ह त्ति ' तस्मादुक्तप्रकारेण मनसो न व्यञ्जनावग्रहसंभवः । इति गाथाऽर्थः ॥ २४१ ॥

कस्माद् न मनसो व्यञ्जनावग्रह इत्याशङ्क्याऽत्रार्थे विशेषवतीमुपपत्तिमाह—

समए समए गिण्हइ, दव्वाइं जेण मुणइ य तमत्थं ।
जं चिंदिओपओगे, वि वंजणावग्गहेऽतीते ॥ २४२ ॥
होइ मणोवावारो, पढमाओ चेव तेण समयाओ ।
होइ तदत्थग्गहणं, तदणुहा न प्पवत्तेज्जा ॥ २४३ ॥

' समए समए त्ति ' प्रतिसमयमित्यर्थः , इदमुक्तं भवति-मनोद्रव्यग्रहणशक्तिसंपन्नो जीवः कस्यचिदर्थस्य चिन्तावसरे प्रतिसमयं मनोद्रव्याणि गृह्णाति, तं च चिन्तनीयमर्थं प्रतिसमयं ' मुणइ त्ति ' जानाति येन कारणेन, तेन प्रथमसमयादेव भवति तस्य चिन्तनीयार्थस्य ग्रहणमिति द्वितीयगाथायां संबन्धः, प्रथमसमयादेवाऽर्थावबोधः प्रवर्तत इत्यर्थः, अर्थानुपलब्धिकालस्त्वेकोऽपि समयो नास्ति, अतो न मनसो व्यञ्जनावग्रहसंभव इति भावः ॥ आह नन्वपवरकाऽऽदिव्यवस्थितो यदेन्द्रियव्यापाररहितः केवलेन मनसाऽर्थान् पर्यालोचयति तदा मा भूद् मनसो व्यञ्जनावग्रहः, यस्तु श्रोत्राऽऽदीन्द्रियव्यापारे मनसोऽपि व्यापारस्तत्र प्रथममनुपलब्धिकालस्य भवद्भिरपीष्यमाणत्वात् किमिति व्यञ्जनाद् मनसो व्यञ्जनावग्रहो नेष्यते ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-'जं चिंदिओवओगे,वि वंजणावग्गहेऽतीते । होइ मणोवावारो त्ति ।' यच्च यस्माच्च कारणादिन्द्रियस्य श्रोत्राऽऽदेरुपयोगेऽपि-शब्दाऽऽद्यर्थग्रहणकालेऽपीत्यर्थः । किम् ?, इत्याह-व्यञ्जनावग्रहेऽतीते सति मनसो व्यापारो भवति । इदमुक्तं भवति-न केवलं मनसः केवलावस्थायां प्रथममर्थावग्रह एव व्यापारः,किन्तु श्रोत्राऽऽदीन्द्रियोपयोगकालेऽपि तथैव । तथाहि-श्रोत्राऽऽदीन्द्रियोपयोगकाले व्याप्रियते मनः; केवलमर्थावग्रहादेवाऽऽरभ्य न तु व्यञ्जनावग्रहकाले । अर्थोऽनवबोधस्वरूपो हि व्यञ्जनावग्रहः, तदवबोधकारणमात्रत्वात् तस्य, मनस्त्वर्थावबोधरूपमेव, मनुतेऽर्थान् मन्यन्तेऽर्था अनेनेति वा मन इति सान्वर्थाभिधानाभिधेयत्वात् । किञ्च-यदि व्यञ्जनावग्रहकाले मनसो व्यापारः स्यात् तदा तस्यापि व्यञ्जनावग्रहसद्भावादष्टाविंशतिभेदभिन्नता मतेर्विशीर्येत । तस्मात् प्रथमसमयादेव तस्याऽर्थग्रहणमेष्टव्यम् । अन्यथा किमत्र बाधकम् ?, इत्याह—' तदणुहा न प्पवत्तेज्जत्ति । ' यदि हि प्रथमसमयादेव मनसोऽर्थग्रहणं नेष्यते तदा तस्य मनस्त्वेन प्रवृत्तिरेव न स्यादनुत्पत्तिरेव स्यादित्यर्थः । यथा हि-स्वाभिधेयानर्थान् भाषमाणैव भाषा भवति, नान्यथा यथा च-स्वविषयभूतानर्थानवबुध्यमानानेवाऽवध्यादिज्ञानान्यात्मलाभं लभन्ते, अन्यथा तेषामप्रवृत्तिरेव स्यादिति । एवं स्वविषयभूतानर्थान् प्रथमसमयादारभ्य मन्वानमेव मनो भवति,अन्यथाऽवध्यादिवत् तस्य प्रवृत्तिरेव न स्यात् । तस्मात् तस्याऽनुपलब्धिकालो नास्ति, तथा च न व्यञ्जनावग्रह इति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थितम्। न चैतत् स्वमनीषिकया युक्तिमात्रमुच्यते, आगमेऽपि व्यञ्जनावग्रहेऽतीत एवेन्द्रियोपयोगे मनसो व्यापाराभिधानात्। तथा चोक्तं कल्पभाष्ये—" अत्थाणंतरचारी, चित्तं निययं तिकालविसयं ति। अत्थे उ पडुप्पराणे, विणिओगं इंदियं लहइ ॥१॥" अत्र व्याख्या—अर्थे-शब्दाऽऽदौ श्रोत्राऽऽदीन्द्रियव्यञ्जनावग्रहेण गृहीतेऽनन्तरमर्थावग्रहादारभ्य चरति प्रवर्तते, इत्यर्थानन्तरचारि मनः, न तु व्यञ्जनावग्रहकाले तस्य प्रवृत्तिरिति भावः, त्रिकालविषयं चित्तं, सांप्रतकालविषयं त्विन्द्रियम्। इत्यलं विस्तरेण ॥ इति गाथाऽर्थः ॥ २४२ ॥ २४३ ॥

अमुमेव मनसोऽनुपलब्धिकालासंभवं सयुक्तिकं भावयन्नाह—

नेयाउ च्चिय जं सो, लहइ सरूवं पईव सद्द व्व ।
तेणाजुत्तं तस्सा-संकप्पियवंजणग्गहणं ॥ २४४ ॥

प्रतिसमयं मनोद्रव्योपादानं ज्ञेयार्थावगमश्च मनसो भवत्येव, न पुनस्तस्यानुपलब्धिकालः संभवति। कुतः ?, इत्याह—यद् यस्मात् कारणात् ' सो ' इतिप्राकृतशैल्या नपुंसकमपि मनः सम्बध्यते, ज्ञायते इति ज्ञेयम्, चिन्तनीयम्, वस्तु तस्मादेव स्वरूपमात्मसत्तास्वभावं लभते, नाऽन्यतः। ततो यदि तदेव ज्ञेयं नावगच्छेत्, तर्हि तस्मादुत्पत्तिरप्यस्य कथं स्यात् ?। इदमुक्तं भवति—सान्वर्थक्रियावाचकशब्दाभिधेया हि मनःप्रभृतयः, तद्यथा—मनुते मन्यते वा मनः, प्रदीपयतीति प्रदीपः, शब्दयति भाषत इति शब्दः, दहतीति दहनः, तपतीति तपनः। एतानि च विशिष्टक्रियाकर्तृत्वप्रधानानि मनःप्रभृतिवस्तूनि यदि तामेवाऽर्थमननप्रदीपनभाषणाऽऽदिकामर्थक्रियां न कुर्युः तदा तेषां स्वरूपहानिरेव स्यात्। तस्माद् यथा प्रदीपनीय-शब्दनीयवस्त्वपेक्षया प्रदीप-शब्दाभिधानप्रवृत्तेः प्रदीप-शब्दयोरर्थयोरप्रदीपनमशब्दनं चायुक्तम्, तथा मनसोऽपि मननीयवस्तुमननादेव मनोऽभिधानप्रवृत्तेस्तदमननं न युक्तम्, ततः किम् ?, इत्याह—येनैवम्, तेनाऽसंकल्पितान्यनालोचितानि, अनवगतानीति यावत्, असंकल्पितानि च तानि शब्दाऽऽदिविषयभावेन परिणतद्रव्यरूपाणि व्यञ्जनानि च तेषां ग्रहणमसंकल्पितव्यञ्जनग्रहणं तस्य मनसोऽयुक्तम्, किन्तु-संकल्पितानामेवाऽर्थावग्रहद्वारेणाऽवगतानामेव तेषां शब्दाऽऽदिद्रव्याणां ग्रहणं युक्तम्। तस्माद् न मनसोऽनुपलब्धिकालोऽस्ति, तथा च न व्यञ्जनावग्रहसंभव इति स्थितम्। इति गाथार्थः ॥२४४॥ विशे०। उत्त०। ('इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५५७ पृष्ठे नयनमनसोरप्यप्राप्यकारितोक्ता) (युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति ' दोकिरिय ' शब्दे चतुर्थभागे २६३६ पृष्ठे व्याख्यातम्) अथ " युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् " इति वचनादात्मेन्द्रियविषयसन्निधानेऽपि यतो युगपत् ज्ञानानि नोपजायन्ते ततोऽवसीयते अस्ति तत्कारणं, यतस्तथा तदनुत्पत्तिरिति तत्कारणं मनः सिद्धम्। ननु तदनुत्पत्तिर्मनःप्रतिबद्धा कुतः सिद्धा, यतस्तस्यास्तदनुमीयेत। अथाऽऽत्मनः सर्वगतस्य सर्वार्थैः संबन्धात् पञ्चभिश्चेन्द्रियैरात्मसंबद्धैः स्वविषयसंबन्धे एकदा किमिति युगपत् ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते। यद्यणु मनो नेन्द्रियैः संबन्धमनुभवेत् तत्सद्भावे तु यदैकेनेन्द्रियेणैकदा तत्संबध्यते न तदाऽपरेण, तस्य सूक्ष्मत्वादिति सिद्धा युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनोनिमित्तेति; नन्वेवं तस्याऽऽत्मसंयोगसमये श्रोत्रसंज्ञकेन नभसाऽपि संयोगात् संयुक्तसमवायाविशेषात्सुखाऽऽदिवत् शब्दोपलब्धिरपि तदैव स्यात्, निमित्तस्य समानत्वेऽपि युगपत् ज्ञानानुत्पत्तावपरं निमित्तान्तरमभ्युपगन्तव्यमिति नातो मनःसिद्धिः। न च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाऽऽकाशदेशस्य श्रोत्रत्वात्तेन च तदैव मनसः संबन्धाभावान्नायं दोषो, निरंशस्य नभसः प्रदेशाभावात्। न च संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वं, तस्य प्रदेशव्यपदेशनिमित्तमुपचरितस्य व्यपदेशमात्रनिबन्धनस्यार्थक्रियायामुपयोगाभावात्। न ह्युपचरिताग्नित्वो माणवकः पाकनिर्वर्त्तनसमर्थो दृष्टो, नच कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोभागस्य तथाविधस्यापि शब्दोपलब्धिहेतुत्वमुपलभ्यत एवेतिवाच्यं तदुपलब्धेरन्यनिमित्तत्वात्; किं च-चक्षुराद्यन्यतमेन्द्रियसंबन्धात् रूपाऽऽदिज्ञानोत्पत्तिकाले मनसः सम्बद्धसंबन्धात् मानसज्ञानं किं न भवेत्?। न च तथाविधादृष्टाभावादित्युत्तरम् अदृष्टनिमित्तयुगपज्ज्ञानानुत्पत्तिप्रसक्तितो मनसोऽनिमित्तताभावात्। अश्वविकल्पसमये गोदर्शनानुभवात् युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिश्चासिद्धा कथं मनोऽनुमापिका ?। न चाश्वविकल्पगोदर्शनयोर्युगपदनुभवेऽपि क्रमोत्पत्तिकल्पना, अध्यक्षविरोधात्; न चोत्पलपत्रशतव्यतिभेदवदाशुवृत्तेः क्रमेऽपि यौगपद्यानुभवाभिमानः। अध्यक्षसिद्धस्य दृष्टान्तमात्रेणान्यथा कर्त्तुमशक्तेः, अन्यथा शुक्लशङ्खाऽऽदौ पीतविभ्रमदर्शनात् स्वर्णेऽपि तद्भ्रान्तिर्भवेत्। मूर्त्तस्य शूच्यग्रस्यौत्तराधर्यव्यवस्थितमुत्पलपत्रशतं युगपद् व्याप्तुमशक्तेः, क्रमभेदेऽप्याशुवृत्तेस्तत्र यौगपद्याभिमान इति युक्तम्। आत्मनस्तु क्षयोपशमसव्यपेक्षस्य युगपत् स्वपरप्रकाशनस्वभावस्य स्वयममूर्त्तस्याप्राप्तार्थग्राहिणो युगपत् स्वविषयग्रहणे न कश्चिद् विरोध इति किं न युगपद् ज्ञानोत्पत्तिः। न च मनोऽपि शूच्यग्रवन्मूर्त्तमिन्द्रियाणि तूत्पलपत्रवत् परस्परपरिहारस्थितस्वरूपाणि न युगपद् व्याप्तुं समर्थमिति न युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः, तथाभूतस्यैवासिद्धेः। तथाहि-सिद्धे तद्विभ्रमे मनःसिद्धिः, तत्सिद्धौ च युगपज्ज्ञानोत्पत्तिविभ्रमसिद्धिरितीतरेतराऽऽश्रयत्वान्न मनःसिद्धिः। सम्म०२काण्ड। (विशेषस्तु 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९३८ पृष्ठे) सर्वविषयमन्तःकरणं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गं मनः, तदपि द्रव्यमनः पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतं, भावमनस्त्वात्मगुणत्वात् जीवग्रहणेनेति। सूत्र०१श्रु०१२अ०। "एगे जीवा णं मणे" स्था०। मननं मनः औदारिकाऽऽदिशरीरव्यापाराऽऽहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोग इति भावः। मन्यते वा अनेनेति मनो मनोद्रव्यमात्रमेवेति, तच्च सत्याऽऽदिभेदादनेकमपि संज्ञिनां वा असंख्यातत्वादसंख्यातभेदमप्येकं मननलक्षणत्वेन सर्वमनसामेकत्वादिति। स्था० १ ठा०। " एगे मणे देवासुरमणुआणं तंसि तंसि समयंसि। " तत्र मन इति मनोयोगः, तच्च यस्मिन् यस्मिन् समये विचार्यते तस्मिन् तस्मिन् समये कालविशेष एकमेव, वीप्सानिर्देशेन न क्वचनापि समये तत् द्व्यादिसंख्यं सम्भवतीत्याह—एकत्वं च तस्यैकोपयोगत्वात् जीवानां स्यादेतत् नैकोपयोगो जीवो युगपच्छीतोष्णस्पर्शविषयसंवेदनद्वयदर्शनात्, तथाविधभिन्नविषयोपयोगपुरुषद्वयवत्। अत्रोच्यते—यदिदं शीतोष्णोपयोगद्वयं तत्स्वरूपेण भिन्नकालमपि समयमनसोरतिसूक्ष्मतया युगपदिव प्रतीयते, न पुनस्तद्युगपदेवेति। आह च—" समयातिसुहुमयाओ, मन्नसि जुगवं च भिन्न-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कालं पि। उप्पलदलसयवेहं, व जह व तमलायचक्कं ति ॥१॥" यदि पुनरेकत्रोपयुक्तं मनोऽर्थान्तरमपि संवेदयति तदा किमन्यत्र गतचेताः पुरोऽवस्थितं हस्तिनमपि न विषयीकरोतीति। आह च—"अन्नविणिउत्तमन्नं, विणिओगं लहइ जइ मणो तेणं। हत्थिं पि ठियं पुरओ, किमन्नचित्तो न लक्खेइ॥१॥" इति। इह च बहु वक्तव्यमस्ति तत्तु स्थानान्तरादवसेयमिति। अथवा-सत्यासत्योभयस्वभावानुभयरूपाणां चतुर्णां मनोयोगानामन्यतर एव भवत्वेकदाद्यादीनां विरोधेनासम्भवादिति, केषामित्याह-(देवासुरमणुयाणं ति) तत्र दीव्यन्तीति देवा वैमानिकज्योतिष्काः। ते च न सुरा असुरा भवनपतिव्यन्तरास्ते च मनोर्जाता मनुजा मनुष्यास्ते च देवासुरमनुजास्तेषाम्। स्था० १ ठा०। मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणामितानि वस्तुप्रवर्त्तकानि द्रव्याणि मनांसीत्युच्यन्ते। अनु०। कर्म०। संशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहासुखाऽऽदिक्षमेच्छाऽदयश्च मनसो लिङ्गानि। सम्म० २ काण्ड। "इङ्गिताऽकारितैर्ज्ञेयैः, क्रियाभिर्भाषितेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥१॥" अनु०। आ० क०। "शुभाशुभानि सर्वाणि, निमित्तानि स्युरेकतः। एकतस्तु मनो याति, तद्विशुद्धं जयावहम्॥१॥" ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। द० प०। मनःपर्यायज्ञाने, मनो जीव इति बौद्धमतनिरासः यथा—"मणं च मणजीविया वयंति त्ति।" न केवलं पञ्चैव स्कन्धान् मनश्च मनस्कारो रूपाऽऽदिज्ञानलक्षणानामुपादानकारणभूतो यमाश्रित्य परलोकोऽभ्युपगम्यते बौद्धैः, मन एव जीवो येषां मतेन ते मनोजीवाः, ते एव मनोजीविकाः, अलीकवाहिता चैषां सर्वथाऽननुगामिनि मनोमात्ररूपे जीवे कल्पितेऽपि परलोकासिद्धेः, तदसिद्धिश्चावस्थितस्यैकस्याऽऽत्मनोऽसत्वात् मनोमात्राऽऽत्मनः क्षणान्तरस्यैवोत्पादनात् अकृताभ्यागमाऽऽदिदोषप्रसङ्गात् कथञ्चिदनुगामिनि तु मनसि जीवत्वाभ्युपगमः सम्यक् पक्ष एवेति। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। कल्प०।

मणइच्छियं-मनईप्सित-त्रि०। मनसीष्टे, "मणइच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ।" (११) मनसि ईप्सित इष्टश्चित्तोऽनेकप्रकारोऽर्थः स्वर्गापवर्गाऽऽदिस्तेजोलेश्याऽदिर्वा यस्मात्तन्मनईप्सितचित्रार्थम्, इत्वरिकं प्रक्रमादनशनाऽऽख्यं तपो ज्ञातव्यम्। उत्त० ३० अ०।

मणएगत्तीकरण-मनएकत्वीकरण-न०। चित्तस्य नानाव्यापारविकल्पमालाऽऽकुलस्यैकाग्रताऽऽपादने, दर्श० १ तत्त्व।

मणंसि-मनस्विन्-त्रि०। "अतः समृद्ध्यादौ वा" ॥८।१।१४॥ समृद्धिइत्येवमादिषु आदेरकारस्य दीर्घो भवति। माणंसी। मणंसी॥ स्वमनोऽनुगे, प्रा० १ पाद।

मणग-मनक-पुं०। दशवैकालिककर्तृशय्यम्भवस्य पुत्रे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। अयं च गर्भगत एवाऽऽसीद्यदाऽस्य पिता शय्यम्भवः प्रवव्राज, पश्चादष्टवर्षोऽयमपि तदन्तिके प्रव्रजितः, षण्मासाऽवशेषाऽऽयुषं तं ज्ञात्वा तदर्थसकलश्रुतनिस्यन्दभूतं दशवैकालिकनामाध्ययनं नूनं रचयित्वा पाठयामास पिता, ततः स काले स्वर्गतः। जै० इ०।

मणगपियर-मनकपितृ-पुं०। मनकाऽऽख्यापत्यजनके, दश० १ अ०। श्रीशय्यंभवसूरौ, "मणगपियरं णमंसामि।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

मणगुत्त-मनोगुप्त-त्रि०। मनोनियन्त्रणया संवृते, मनोगुप्त्या गुप्तः। उत्त० १२ अ०।

मणगुत्तया-मनोगुप्तता-स्त्री०। मनसोऽशुभपदार्थाद् गोपने, उत्त०।

मणगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। मणगुत्तयाए णं जीवे एगऽग्गं जणयइ, एगऽग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाऽऽराहए भवइ॥ ५३॥

हे भदन्त! मनोगुप्ततया जीवः किं जनयति?। तदा गुरुराह-हे शिष्य! मनोगुप्ततया जीव एकाग्रं धर्मे एकान्तत्वम् उपार्जयति एकाग्रचित्तो जीवो गुप्तमनः सन् संयमस्याऽऽराधकः पालको भवति। उत्त० २६ अ०।

मणगुत्ति-मनोगुप्ति-स्त्री०। मनोनियन्त्रणायाम्, उत्त०। मनोगुप्तिस्त्रिधा-आर्त्तरौद्रध्यानानुबन्धिकल्पनाजालवियोगः प्रथमा १, शास्त्रानुसारिणी परलोकसाधिका धर्मध्यानानुबन्धिनी माध्यस्थ्यपरिणतिर्द्वितीया २, कुशलाकुशलमनोवृत्तिनिरोधेन योगनिरोधावस्थाभाविन्यात्मारामता तृतीया ३। तदुक्तं विशेषणत्रयेण योगशास्त्रे-"विमुक्तकल्पनाजालं समत्वे सुप्रतिष्ठितम्, आत्मारामं मनस्तज्ज्ञै-र्मनोगुप्तिरुदाहृता॥१॥" एवंविधा मनोगुप्तिरित्यर्थः। ध० ३ अधि०। नि० चू०। द्वा०।

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसाओ, मणगुत्ती चउव्विहा॥ २०॥

मनोगुप्तिश्चतुर्विधा-प्रथमा सत्या मनोगुप्तिः, तथा द्वितीया असत्या मनोगुप्तिः, तथैव तृतीया सत्यामृषा मनोगुप्तिः। तथा चतुर्थी असत्यामृषामनोगुप्तिः। यत्सत्यं वस्तु मनसि चिन्त्यते जगति जीवतत्त्वं विद्यते इत्यादिचिन्तनस्य योगस्तद्रूपा गुप्तिः सत्यामनोगुप्तिः प्रथमा १, यत् असत्यं वस्तु मनसि चिन्त्यते जीवो नास्ति इत्यादि चिन्तनस्य योगस्तद्रूपा गुप्तिः असत्यामनोगुप्तिः द्वितीया २, बहूनां नानाजातीयानाम् आम्राऽऽदिवृक्षाणां वनं दृष्ट्वा आम्राणामेव वनम् एतत् वर्त्तते स तत्सत्यं पुनर्मृषायुक्तम्—एव इत्यादिचिन्तनयोगस्तद्रूपा गुप्तिः सत्यामृषामनोगुप्तिस्तृतीया ३, यतोऽत्र काचित् सत्या चिन्तना काचित् मृषा चिन्तना केचित् तत्र वने आम्राः सन्ति तेन सत्या, केचित् तत्र वने धवखदिरपलाशाऽऽदयो वृक्षा अपि सन्ति तेन मृषाऽप्यस्ति चतुर्थी ४, असत्यामृषा या चिन्तना सत्याऽपि नास्ति यत आदेशनिर्देशाऽऽदिवचनं मनसि चिन्त्यते हे देवदत्त! घटम् आनय, अमुकं वस्तु मह्यम् आनीय दीयताम्, इत्यादि चिन्तना व्यवहाररूपा तद्रूपा गुप्तिः असत्यामृषामनोगुप्तिश्चतुर्थी यत एषा चिन्तना सत्याऽपि नास्ति मृषाऽपि नास्ति व्यवहारचिन्तना इत्यर्थः। उत्त० २४ अ०। मनोगुप्तौ, आ० क०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

" श्रावको जिनदासाऽऽख्यः, प्रतिमां सर्वरात्रिकीम्।
प्रपन्नो यानशालायां, दुःशीला तस्य च प्रिया ॥ १ ॥
लोहकीलकयुक्पादं, गृहीत्वा तल्पमाययौ।
अज्ञानात्तत्र पर्यंङ्हौ, लोहपादं निवेश्य सा ॥ २ ॥
अनाचारं प्रकुर्वाणा—ऽविध्यत्कीलेन तत्पदम्।
वेदनां सोऽधिसेहे तां, न दुर्ध्यानं मनोऽप्यगात् ॥ ३ ॥ "
आ० क० ४ अ०।

मणगुलिया–मनोगुटिका–स्त्री०। पीठिकायाम्, मनोगुलिका नाम पीठिकेति। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०।

मणजीविय–मनोजीविक–पुं०। मन एव जीवो येषां ते मनोजीवास्त एव मनोजीविकाः। मनस आत्मत्ववादिषु, प्रश्न० २ आश्रवद्वार। (ते च 'मण' शब्देऽनुपदमेव प्रतिक्षिप्ताः)

मणजोग–मनोयोग–पुं०। मनसा सहकारिकारणभूतेन योगो मनोयोगः विशे०। मनोविषयो वा योगो मनोयोगः। कर्म० ४ कर्म०। दर्श०। औदारिकव्यापाराद् वृत्तमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारे, " तह तणुवावाराहिय-मणदव्वसमूह-जीववावारो। सो मणजोगो भण्णइ, मन्नइ नेयं जओ तेणं।१।" नं०। औ०। कर्म०। स्था०। " हितं मितं प्रियं तथ्य-मनवद्यावेमृश्य च। यन्मुनिर्वक्ति वाग्योगः, शेषतद्वामवर्जनात् ॥ १ ॥ " मनोयोगः पुनरयं,मनसः कुशलस्य यत्। " जीत०। मनःसम्बन्धे,द्वा० २४ द्वा०। कर्म०। स्था०। तत्र मनोयोगश्चतुर्धा,तद्यथा–सत्यमनोयोगः१,असत्यमनोयोगः २,सत्याऽसत्यमनोयोगः ३, असत्यामृषामनोयोगः४,तत्र सन्तो मुनयः पदार्था वा तेषु यथासंख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थिततत्त्वाचिन्तनेन च हितः सत्यः यथा अस्ति जीवः सदसद्रूपः कायप्रमाण इत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुविकल्पनपर इत्यर्थः,सत्यश्चासौ मनोयोगश्च सत्यमनोयोगः। तथा सत्यविपरीतोऽसत्यो; यथा—नास्ति जीव एकान्तसद्भूतो विश्वव्यापीत्यादिकुविकल्पचिन्तनपरः। असत्यश्चासौ मनोयोगश्च असत्यमनोयोगः २, तथा मिश्रः सत्याऽसत्यमनोयोगः। यथा इह धवखदिरपलाशाऽऽदिमिश्रेषु वहुष्वशोकवृत्तेषु अशोकवनमेवेदमिति यदा विकल्पयति तदा तत्राशोकवृक्षाणां सद्भावात्सत्यो-ऽन्येषामपि धवखदिरपलाशाऽऽदीनां तत्र सद्भावादसत्य इति सत्याऽसत्यमनोयोग इति, व्यवहारनयमताऽपेक्षया चैवमुच्यते, परमार्थतः पुनरयमसत्य एव यथाविकल्पितार्थायोगात्। न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृषः, असत्यश्चासावमृषश्च तं नयाऽऽदिभिन्नैरिति कर्मधारयः। असत्यामृषश्चासौ मनोयोगश्च असत्यामृषमनोयोगः। इह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाऽऽशया सर्वज्ञतानुसारेण किञ्चिद्विकल्पते यथाऽस्ति जीवः सदसदरूप इत्यादि, तत्किल सत्यं परिभाषितमाराधकत्वात्, यत्तु विप्रतिपत्तौ–सत्यं वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं किञ्चिद् विकल्पते यथा नास्ति जीव एकान्तनित्यो वेत्यादि तदसत्यमिति परिभाषितं, विराधकत्वात्, यत्पुनर्वस्तुप्रतिष्ठाशामन्तरेण स्वरूपमात्रप्रतिपादनपरं व्यवहारपतितं किञ्चिद्विकल्पते—यथा हे देवदत्त! घटमानय, गां देहि मह्यमित्यादि, तदेतत्स्वरूपमात्रप्रतिपादनं व्यावहारिकं विकल्पज्ञानं न यथोक्तलक्षणं सत्यं नापि मृषेत्यसत्यामृषमनोयोग इति व्याख्यातश्चतुर्द्धा मनोयोगः। कर्म० ४ कर्म०।

मणजोगि (ण्)–मनोयोगिन्–पुं०। समनस्के जीवे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

मणण–मनन–न०। चिन्तने, विशे०। सर्वपदार्थपरिज्ञाने, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। सम्यक् परिच्छित्तौ, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

मणणाणि–मनोज्ञानिन्–पुं०। मनःपर्यायज्ञानिनि, प्रव० १ द्वार।

मणणाणिलद्धि–मनोज्ञानिलब्धि–त्रि०। मनोज्ञानिनो मनःपर्यायज्ञानिनो लब्धिः। मनःपर्यायज्ञानरूपे लब्धिभेदे,तच्च मनःपर्यायज्ञानं विमलमतिरूपमिह गृह्यते, ऋजुमतेः पृथक् लब्धिरूपत्वात्। आ० म० १ अ०।

मणणिव्वत्ति–मनोनिर्वृत्ति–स्त्री०। निर्वृत्तिभेदे, भ०।

कइविहा णं भंते! मणणिव्वत्ती पण्णत्ता?। गोयमा! चउव्विहा मणणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा–सच्चमणणिव्वत्ती ०जाव असच्चामोसमणणिव्वत्ती। एवं एगिंदियवज्जं विगलिंदियवज्जं०जाव वेमाणियाणं। भ०१६ श० ८ उ०।

मणणिव्वुतिकर–मनोनिर्वृतिकर–त्रि०। मनसः निर्वृतिकरः सुखोत्पादके, रा०।

मणदव्व–मनोद्रव्य–न०। मनोवर्गणागते मनस्त्वेन परिणमिते द्रव्ये, विशे०। " मणदव्वाणि णाम—जाणि मणपाओग्गाणि दव्वाणि गहिताणि ताणि मणदव्वाणि भण्णंति। " आ० चू० १ अ०। मनश्चिन्ताप्रवर्त्तके द्रव्ये, विशे०।

मणतुट्ठिजणण–मनस्तुष्टिजनन–न०। चित्ततोषविधाने, पञ्चा० ६ विव०।

मणदंड–मनोदण्ड–पुं०। दण्डभेदे,स्था०३ठा०१उ०।(व्याख्या 'दंड' शब्दे चतुर्थभागे २४२१ पृष्ठे) मन एव दण्डो मनोदण्डः वा दुष्प्रयुक्तेनाऽऽत्मदण्डो दण्डेन मनोदण्ड एव। स०३ सम०। मनसा " तत्थ मणदंडे उदाहरणं-कोंकणए एगो खंतो सो उड्ढजाणू अहोसिरो विमतो अत्थति साधुणो अहो खंतो सुभज्झाणोवगतो त्ति वंदति, चिरेण संलावं देतुमारद्धो। साहूहिं पुच्छितो भणति। खरो वातो वायति जदि तेहिं मम पुत्ता संपत्तं वल्लराणि पलीवेज्जा ताए तेसिं वरिसारत्ति सरिसाए भूमीए सुबहुसालिसंपदा भवेज्ज त्ति। एतं चिंतियं मे आयरिएणं वारितो ठितो, एवमादी जं असुभं मणो चिंतेति सो मणदंडो। " आ० चू० ४ अ०।

मणदुक्कड–मनोदुष्कृत–त्रि०। दुष्कृतनिमित्ते, आव० ३ अ०। ध०।

मणदुप्पणिहाण–मणदुष्प्रणिधान–न०। मनसो दुष्टं प्रणिधानं प्रयोगो दुष्प्रणिधानम्। कृतसामायिकस्य गृहे कर्त्तव्यतां कथयतां सकृद्दुष्कृतपरिचिन्तने, उपा० १ अ०। आचा०।

सामाइयं तु काउं, परिचिंतं जो य चिंतए सड्ढो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अट्टवसट्टोवगओ, निरत्थयं तस्स सामइयं ॥ ३१३ ॥

सामायिकमित्येवं कृत्वा आत्मानं संयम्य परचिन्तां संसारे इतिकर्त्तव्यताविषयां यस्तु चिन्तयति श्रावक आर्त्तवशार्त्तश्च स उपगतश्चेति समासः आर्त्तध्यानसामर्थ्येनाऽऽर्त्तः, उप-सामीप्येन गतो भवस्येति भावार्थः । निरर्थकं तस्य सामायिकमनात्मचिन्तावतः निष्फलं सामायिकमित्यर्थः । आत्मचिन्ता च सद्ध्यानरूपेति ॥ ३१३ ॥ आ० । पञ्चा० ।

मणपज्जत्ति-मनःपर्याप्ति-स्त्री० । पर्याप्तिभेदे, यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः। कर्म० ६ कर्म० । प्रव० । प्रज्ञा० । पं०सं० ।

मणपज्जवणाण-मनःपर्यवज्ञान-न० । मनसो मन्यमानमनोद्रव्याणां पर्यवः-परिच्छेदो मनःपर्यवः, स एव ज्ञानं, मनःपर्यायाणां वा तदवस्थाविशेषाणां ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानम् । भ० ८ श० २ उ० । कर्म० । बृ० । ध० । पं०सं० । स्था० । सूत्र० । आ०म० ।

मणपज्जवणाणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-उज्जुमई चेव, विउलमई चेव ।

स्था० २ ठा० १ उ० । पा० । प्रज्ञा ० । ज्ञानभेदे, विशे० ।

अथ मनःपर्यायज्ञानविषयां व्युत्पत्तिमाह—

पज्जवणं पज्जयणं, पज्जाओ वा मणम्मि मणसो वा ।
तस्स व पज्जायादि-न्नाणं मणपज्जवं नाणं ॥ ८३ ॥

(पज्जवणं ति) 'अव' गत्यादिष्वितिवचनादवनं गमनं वेदनमित्यवः, परिः-सर्वतोभावे, पर्यवनं समन्तात् परिच्छेदनं पर्यवः । क्वायमित्याह—(मणम्मि मणसो व त्ति) मनसि मनोद्रव्यसमुदाये ग्राह्ये, मनसो वा ग्राह्यस्य सबन्धी पर्यवः मनःपर्यवः, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम् । अथवा-(पज्जयणं ति) 'अय वय मय' इत्यादि दण्डकधातुः, अयनं गमनं वेदनमित्ययः, परिः सर्वतो भावे, पर्ययनं सर्वतः परिच्छेदनं पर्ययः । क्व पुनरसौ ?, इत्याह-(मणम्मि मणसो व त्ति) मनसि ग्राह्ये, मनसो वा ग्राह्यस्स सम्बन्धी पर्ययो मनःपर्ययः, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्ययज्ञानम् । (पज्जाओ व त्ति) अथवा—इण् गतौ, अयनम् आयः, लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः; परिस्तथैव, समन्तादायः पर्यायः । क्व ?, इत्याह—(मणम्मि मणसो व त्ति) मनसि ग्राह्ये, मनसो वा ग्राह्यस्य पर्यायो मनःपर्यायः। स चासौ ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम् । एवं तावज्ज्ञानशब्देन सह सामानाधिकरण्यमङ्गीकृत्योक्तम् । अथ वैयधिकरण्यमङ्गीकृत्याऽऽह-(तस्स वेत्यादि) वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः, तस्येति-मनसः, पर्यायाः, पर्यवाः, पर्यया धर्म्मा इत्यनर्थान्तरम् इति । आदिशब्दात्पर्यवपर्ययपरिग्रहः। ततश्चाऽयमर्थः, अथवा-तस्य मनसो ग्राह्यस्य संबन्धिनो बाह्यवस्तुचिन्तनानुगुणा ये पर्यायाः, पर्यवाः, पर्ययास्तेषां तेषु वा इदमित्थंभूतमनेन चिन्तितम् इत्येवंरूपं ज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं, मनःपर्यवज्ञानं, मनःपर्यायज्ञानं चेति ज्ञानशब्देन सह व्यधिकरणः समासः। अत एव "पायं च नाणसद्दो, नामसमाणाहिगरणोऽयं ।" इत्यत्र प्रायोग्रहणं करिष्यतीति गाथाऽर्थः । विशे० ।

अथ ज्ञानपञ्चकभणनक्रमाऽऽयातस्य मनःपर्यायज्ञानस्य प्रस्तावनां कर्तुमाह—

ओहिविभागे भणियं, पि लद्धिसामन्नओ मणोणाणं ।
विसयाइविभागत्थं, भणाई नाणकमाऽऽयातं ॥ ८०९ ॥

प्रकटार्थैव ॥ ८०९ ॥

तदेवं प्रतिज्ञातं मनःपर्यायज्ञानमाह—

मणपज्जवणाणं पुण, जणमणपरिचिंतियऽत्थपागडणं ।
माणुसखेत्तनिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवओ ॥ ८१० ॥

मनःपर्यायज्ञानं प्राग्निरूपितशब्दार्थम् । पुनःशब्दोऽवधिज्ञानादस्य विशेषद्योतनार्थः । इदं हि रूपिद्रव्यनिबन्धनत्वक्षायोपशमिकत्वप्रत्यक्षत्वाऽऽदिसाम्येऽपि सत्यवधिज्ञानात्स्वाम्यादिभेदेन विशिष्टमिति । तत्र विषयमाश्रित्य स्वरूपत इदं प्रतिपादयति-जायन्त इति जनास्तेषां मनांसि जनमनांसि तैः परिचिन्तितो जनमनःपरिचिन्तितः स चासावर्थश्च तं प्रकटयति—प्रकाशयति जनमनःपरिचिन्तितार्थप्रकटनम् । मानुषक्षेत्रमर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रपरिमाणं तन्निबद्धं, न खलु तद्बहिर्भूतप्राणिमनांस्यवगच्छतीति भावः । गुणा विशिष्टर्द्धिप्राप्तिक्षान्त्यादयस्त एव प्रत्ययाः कारणानि यस्य तद्गुणप्रत्ययम् । चारित्रमस्यास्तीति चारित्रवाँस्तस्य चारित्रवत एवेदं भवति, तस्याप्यप्रमत्तार्द्धिप्राप्तत्वाऽऽदिसमयोक्तविशेषविशिष्टस्यैव । इति निर्युक्तिगाथाऽर्थः ॥ ८१० ॥

अथ भाष्यं तत्र पुनःशब्दार्थं तावदाह—

पुणसद्दो उ विसेसे, रूविनिबंधाइँ तुल्लभावे वि ।
इदमोहिन्नाणाओ, सामिविसेसाइणा भिन्नं ॥ ८११ ॥

गतार्थैव ॥ ८११ ॥

अथ कस्य तद्भवति ?, कियत्क्षेत्रविषयं चेत्याह—

तं संजयस्स सव्व-प्पमायरहियस्स विविहरिद्धिमओ ।
समयखेत्तब्भिंतर-सन्निमणोगयपरिच्छाणं ॥ ८१२ ॥

प्रकटाऽर्था ॥ ८१२ ॥ विशे० ।

जाणइ य पिहुजणो वि हु, विफुडमागारेहि माणसं भावं ।
एमेव य तस्सुवमा, मणदव्वपगासिए अत्थे ॥ ३६ ॥

पृथग्जनोऽपि लोको, हु निश्चितमाकारैर्मानसं भावं जानाति, एवमेव तस्याऽपि मनःपर्यायज्ञानिनो मनोद्रव्यप्रकाशितेऽर्थे उपमा द्रष्टव्या । किमुक्तं भवति?-यथा प्राकृतो लोकः स्फुटमाकारैर्मानसं भावं जानाति, तथा मनःपर्यवज्ञान्यपि मनोद्रव्यगतानाकारानवलोक्य तं तं मानसं भावं जानाति । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

से किं तं मणपज्जवनाणं ?। मणपज्जवणाणे णं भंते ! किं मणुस्साणं उप्पज्जइ, अमणुस्साणं ? । गोयमा ! मणुस्साणं, नोअमणुस्साणं । जइ मणुस्साणं किं संमुच्छिममणुस्साणं, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?। गोयमा ! नो संमुच्छिममणुस्साणं उप्पज्जइ, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं । जइ गब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, अकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ? । गोयमा ! कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं नो अकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं नो अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं । जइ कम्मभूमियग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं संखिज्जवासाऽऽउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं असंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?। गोयमा ! संखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नोअसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। जइ संखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं पज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, अपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?। गोयमा ! पज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो अपज्जतगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। जइ पज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, मिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, सम्मामिच्छदिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?। गोयमा ! सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं नो मिच्छादिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं नो सम्मामिच्छादिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। जइ सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउअकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं असंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं संजयाऽसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?। गोयमा ! संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो असंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भयवक्कंतियमणुस्साणं, नो संजयाऽसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। जइ संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, किं पमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगअसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?। गोयमा ! अपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो पमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। जइ अपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं इड्ढीपत्तअपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अणिड्ढीपत्तअपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ? गोयमा ! इड्ढीपत्तअपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तयसंखेज्जवासाऽऽउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं नो अणिड्ढीपत्तअपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं मणपज्जवनाणं समुप्पज्जइ। (सूत्र—१७)

अथ किं तत् मनःपर्यायज्ञानम् ? एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सति ये गौतमप्रश्नभगवन्निर्वचनरूपा मनःपर्यायज्ञानोत्पत्तिविषयस्वामिमार्गणाद्वारेण पूर्वसूत्राऽऽलापकास्तान् वितथप्ररूपणाशङ्काव्युदासाय प्रवचनबहुमानिविनेयजनश्रद्धाऽभिवृद्धये च तदवस्थानेव देववाचकः पठति—' जावइया तिसमयाहारगस्स ' इत्यादि निर्युक्तिगाथासूत्रमिव, ' मणपज्जवनाणं भंते !, इत्यादि मनःपर्यायज्ञानं ' प्राग्निरूपितशब्दार्थम् ' णं ' इति वाक्यालङ्कारे, ' भंते त्ति ' गुर्वामन्त्रणे, ' किमिति ' परप्रश्ने, मनुष्याणामुत्पद्यते इति प्रकटार्थममनुष्याणामुत्पद्यते इति, ' अमनुष्याः ' देवाऽऽदयः तेषामुत्पद्यते ?, एवं भगवता गौतमेन प्रश्ने कृते सति परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानस्त्रिलोकीपतिर्भगवान् वर्द्धमानस्वामी निर्वचनमभिधत्ते—' गोयमा ! मणुस्साणं ' इत्यादि। हे गौतम ! सूत्रे दीर्घत्वं ' सेर्लोपः संबोधने ह्रस्वो वेति ' (डो दीर्घो वा ॥८।३।३८॥) इति प्राकृतलक्षणसूत्रे वाशब्दस्य लक्ष्यानुसारेण दीर्घत्वसूचनात् अवसेयं,यथा'–भो वयस्सा !' इत्यादौ,मनुष्याणामुत्पद्यते नाऽमनुष्याणां,तेषां विशिष्टचारित्रप्रतिपत्त्यसम्भवात्। अत्राऽऽह–ननु गौतमोऽपि चतुर्दशपूर्वधरः सर्वाक्षरसन्निपाती संभिन्नश्रोताः सकलप्रज्ञापनीयभावपरिज्ञानकुशलः प्रवचनस्य प्रणेता सर्वज्ञदेशीय एव। उक्तं च—

" संखातीतेऽवि भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा। न य णं अणाइसेसी, वियाणई एस छउमत्थो ॥ १ ॥ "

ततः किमर्थं पृच्छति ?, उच्यते—शिष्यसंप्रत्ययार्थं, तथाहि—तमर्थं स्वशिष्येभ्यः प्ररूप्य तेषां संप्रत्ययार्थं तत्समक्षं भूयोऽपि भगवन्तं पृच्छति, अथवा–इत्थमेव सूत्ररचनाकल्पः, ततो न कश्चिद्दोष इति। पुनरपि गौतम आह—यदि मनुष्याणामुत्पद्यते तर्हि किं संमूर्च्छिममनुष्याणामुत्पद्यते, किं वा—गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणामुत्पद्यते ?। तत्र ' मूर्च्छा' मोहसमुच्छ्रययोः। संमूर्च्छनं संमूर्च्छा भावे घञ्प्रत्ययः, तेन निर्वृत्ताः संमूर्च्छिमाः, ते च वान्ताऽऽदिसमुद्भवाः, तथा चोक्तं प्रज्ञापनायाम्—" कहि णं भंते ! संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति ?। गोयमा ! अंतोमणुस्सखेत्ते पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पएणाए अंतरदीवेसु गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा सुक्केसु वा सोणिएसु वा सुक्कपोग्गलपरिसाडेसु वा विगयकले–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वरेसु वा थीपुरिससंजोएसु वा गामनिद्धमणेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु एत्थ णं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्ताए ओगाहणाए असएणी मिच्छादिट्ठी अएणाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्ताउआ चेव कालं करेंति।" इति। तथा गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, अथवा-गर्भाद् व्युत्क्रान्तिः—व्युत्क्रमणं निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, उभयत्रापि गर्भजा इत्यर्थः। भगवानाह—नो संमूर्च्छिममनुष्याणामुत्पद्यते, तेषां विशिष्टचारित्रप्रतिपत्त्यसम्भवात्, किं तु-गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणाम्, एवं सर्वेषामपि प्रश्ननिर्वचनसूत्राणां भावार्थो भावनीयः, नवरं कृषिवाणिज्यतपःसंयमानुष्ठानाऽऽदिकर्मप्रधाना भूमयः कर्म्मभूमयो भरतपञ्चकैरवतपञ्चकमहाविदेहपञ्चकलक्षणाः पञ्चदश तासु जाताः कर्म्मभूमिजाः, कृष्यादिकर्म्मरहिताः कल्पपादपफलोपभोगप्रधानाः भूमयो हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चकदेवकुरुपञ्चकोत्तरकुरुपञ्चकरम्यकपञ्चकैरएयवतपञ्चकरूपास्त्रिंशदकर्म्मभूमयः तासु जाता अकर्म्मभूमिजाः, तथा अन्तरे-लवणसमुद्रस्य मध्ये द्वीपाः अन्तरद्वीपाः एकोरुकाऽऽदयः षट्पञ्चाशत् तेषु जाता अन्तरद्वीपजाः (नं०) (अथ लवणसमुद्रस्य मध्ये षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपा वर्त्तन्ते किं प्रमाणा वा ते किं स्वरूपा वा इति 'अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे गतम्) 'संखेज्जवासाउय त्ति' सङ्ख्येयवर्षायुषः पूर्वकोट्यादिजीविनः असङ्ख्येयवर्षायुषः—पल्योपमादिजीविनः' तथा 'पज्जत्तग त्ति' पर्याप्तिः-आहारादिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः, स च पुद्गलोपचयात्, किमुक्तं भवति?-उत्पत्तिदेशमागतेन येन गृहीता आहारादिपुद्गलास्तेषां तथा अन्येषां च प्रतिसमयं गृह्यमाणानां तत्सम्पर्कतः तद्रूपतया जातानामुपष्टम्भेन यः शक्तिविशेषो जीवस्याऽऽहाराऽऽदिपुद्गलानां खलरसादिरूपतया परिणमनहेतुर्यथोदरान्तर्गतानां पुद्गलविशेषाणामवष्टम्भेनाऽऽहारपुद्गलखलरसरूपतापादनहेतुः शक्तिविशेषः सा पर्याप्तिः, पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते पर्याप्ताः 'अभ्रादिभ्यः' ॥७।२।४६॥ इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः। ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलाः ते अपर्याप्ताः, ते च द्विविधा-लब्ध्या, करणैश्च, तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ते ते लब्ध्यपर्याप्तकाः, तेऽपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते, नार्वाक्, यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव वध्यत इति, ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्त्तयन्ति अथ चावश्यं निर्वर्त्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तकाः, इहोभयेषामप्यपर्याप्तानां प्रतिषेधः, उभयेषामपि विशिष्टचारित्रप्रतिपत्त्यसम्भवात्, तथा 'सम्मद्दिट्ठि त्ति' सम्यक्—अविपरीता दृष्टिः—जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्तिर्येषां ते सम्यग्दृष्टयः, मिथ्या—विपरीता दृष्टिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयः, सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्येषां ते सम्यग्मिथ्यादृष्टयः येषामेकस्मिन्नपि च वस्तुनि तत्पर्याये वा मतिदौर्बल्यादिना एकान्तेन सम्यक्परिज्ञानमिथ्याज्ञानाभावतो न सम्यक् श्रद्धानं नाप्येकान्ततो विप्रतिपत्तिः ते सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ—'जहा' नालिकेरदीववासिस्स खुहाइयस्सवि एत्थ समागयस्स ओयणाइए अणेगविहे ढोइए तस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जओ तेण सो ओयणाईओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ, एवं सम्मामिच्छद्दिट्ठिस्स वि जीवाइपयत्थाणं उवरिं न य रुई नावि निंद' त्ति, तथा 'संजय' त्ति 'यम' उपरमे, संयच्छन्ति स्म सर्वसावद्ययोगेभ्यस्सम्यगुपरमन्ते स्मेति संयताः, "गत्यर्थकर्म्मएयाधारे" ति कर्त्तरि क्तप्रत्ययः, संयताः-सकलचारित्रिणः असंयताः—अविरतसम्यग्दृष्टयः—संयतासंयताः-देशविरतिमन्तः, तथा 'पमत्त' त्ति प्रमाद्यन्ति स्म मोहनीयादिकर्म्मोदयप्रभावतः सञ्ज्वलनकषायनिद्राद्यन्यतमप्रमादयोगतः संयमयोगेषु सीदन्ति स्मेति प्रमत्ताः, पूर्ववत् कर्त्तरि क्तप्रत्ययः, ते च प्रायो गच्छवासिनः तेषां क्वचिदनुपयोगसम्भवात्, तद्विपरीता अप्रमत्ताः, ते च प्रायो जिनकल्पिकपरिहारविशुद्धिकयथालन्दकल्पिकप्रतिमाप्रतिपन्नाः, तेषां सततोपयोगसम्भवाद्, इह तु ये गच्छवासिनः तन्निर्गता वा प्रमादरहिताः तेऽप्रमत्ता द्रष्टव्याः, तथा 'इड्ढिपत्तस्से' त्यादि, ऋद्धिः—आमर्षौषध्यादिलक्षणाः प्राप्ता ऋद्धिप्राप्ताः। (नं०) तथा आमर्षौषध्यादीनामन्यतमामृद्धिमवध्यृद्धिं वा प्राप्तस्य मनःपर्यायज्ञानमुत्पद्यते, नानृद्धिप्राप्तस्य, अन्ये त्ववध्यृद्धिप्राप्तस्यैवेति नियममाचक्षते, तदयुक्तं, सिद्धप्राभृताऽऽदावबधिमन्तरेणापि मनःपर्यायज्ञानस्यानेकशोऽभिधानात्। अत्राऽऽह-मनुष्याणामुत्पद्यते इत्युक्ते सामर्थ्यादमनुष्याणां नोत्पद्यते इत्यनुमीयते, ततः कथमुच्यते-"नो अमणुस्साणं उप्पज्जइ" इत्यादि, निरर्थकत्वात्? उच्यते—इह त्रिधा विनेयाः। तद्यथा—उद्घटितज्ञा, मध्यबुद्धयः, प्रपञ्चितज्ञाश्च। तत्र ये उद्घटितज्ञाः, मध्यबुद्धयो वा ते यथोक्तं सामर्थ्यमवबुध्यन्ते, ये पुनरद्याप्यव्युत्पन्नत्वात् न यथोक्तसामर्थ्यावगमकुशलास्ते प्रपञ्चितमेवावगन्तुमीशते, ततस्तेषामनुग्रहाय सामर्थ्यलभ्यस्याऽपि विपक्षनिषेधस्याऽभिधानं, महीयांसो हि परमकरुणापरीतत्वात् अविशेषेण सर्वेषामनुग्रहाय प्रवर्त्तन्ते, ततो न कश्चिद् दोषः।

द्रव्यतः क्षेत्रतस्तदाह—

तं च दुविहं उप्पज्जइ, । तं जहा-उज्जुमई य, विउलमई य। तं समासओ, चउव्विहं पएणत्तं। तं जहा-दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । तत्थ दव्वओ णं उज्जुमई णं अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ, पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ, पासइ, खेत्तओ णं उज्जुमई अ जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जयभागं उक्कोसेणं अहे ०जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्ले खुड्डगपयरे उड्ढं ०जाव जोइसस्स उवरिमतले तिरियं ०जाव अंतोमणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अंतरदीवगेसु सन्निपंचिंदियाणं अपज्जत्तयाणं मणोगए भावे जाणइ, पासइ, तं चेव विउलमई अड्ढाइज्जेहिंमंगुलेहिं अब्भहियतरं विउलतरं विसुद्धतरं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वितिमिरतरागं खेत्तं जाणइ, पासइ, कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं उक्कोसेणं वि पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं अतीयमणागयं वा कालं जाणइ, पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ, पासइ, भावओ णं उज्जुमई अणंते भावे जाणइ, पासइ, सव्वभावाणं अणंतभागं जाणइ, पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ,पासइ- "मणपज्जवणाणं पुण, जणमणपरिचिंतिअत्थपागडणं। माणुसखित्तनिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवओ ॥ ५७ ॥" सेत्तं मणपज्जवनाणं । [सूत्र-१८]

तत्र मनःपर्यायज्ञानमृद्धिप्राप्तानाम् अप्रमत्तसंयतानाम् उत्पद्यमानं द्विधा उत्पद्यते, तद्यथा-ऋजुमतिश्च, विपुलमतिश्च, तत्र मननं मतिः,संवेदनमित्यर्थः। ऋज्वी-सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः,घटोऽनेन चिन्तित इत्यादिसामान्याऽऽकाराध्यवसायनिबन्धनभूता कतिपयपर्यायविशिष्टमनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थः। उक्तं च भाष्यकृता-"रिजुसामन्नं तम्मत्तगाहिणी रिजुमई मणोणाणं। पायं विसेसविमुहं,घटमित्तं चिंतियं मुणइ ॥१॥" चूर्णिकृदप्याह-"उज्जु णं विसेसविमुहं उवलहई,नाईव बहुविसेसविसिट्ठं अत्थं उवलभइ त्ति भणियं होई घडोऽणेण चिंतिउ त्ति जाणइ त्ति । " चशब्दः स्वगतानेकद्रव्यक्षेत्राऽऽदिभेदसूचकः । तथा विपुला-विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमतिः, घटोऽनेन चिन्तितः,स च सौवर्णः पाटलिपुत्रकः अद्यतनो महान् अपवरकस्थितः फलपिहित इत्याद्यध्यवसायहेतुभूता प्रभूतविशिष्टमनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थः। आह च भाष्यकृत्-"विपुलं वत्थुविसेसण-नाणंतग्गाहिणी मई विपुला। चिंतियमणुसरइ घडं,पसंगओ पज्जवसएहिं॥१॥"चूर्णिकृदप्याह-"विपुला मई विपुलमई बहुविसेसगाहिणीति भणियं होइ, दिट्ठंतो जहाऽणेण घडो चिंतिओ तं च देसकालाइअणेगपज्जायविसेसविसिट्ठं जाणइ। " इति। चशब्दः पूर्ववत्, अस्यां च व्युत्पत्तौ स्वतन्त्रमेव ज्ञानमभिधेयं,यद्वा-पुनस्तद्वानभिधेयो विवक्ष्यते तदेवं व्युत्पत्तिः-ऋज्वी-सामान्यग्राहिणी मतिरस्य स ऋजुमतिः, तथा विपुला-विशेषग्राहिणी मतिरस्य स विपुलमतिः। तन्मनःपर्यायज्ञानं द्विविधमपि 'समासतः' संक्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तं,तद्यथा-द्रव्यतः,क्षेत्रतः,कालतः,भावतश्च। तत्र द्रव्यतो णमिति वाक्यालङ्कारे, ऋजुमतिरनन्तान् अनन्तप्रदेशिकान् अनन्तपरमाण्वात्मकान् स्कन्धान् विशिष्टैकपरिणामपरिणताम् अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्त्तिपर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियैर्मनस्त्वेन परिणामितान् पुद्गलान् पुद्गलसमूहानित्यर्थः, जानाति साक्षात्कारेण वगच्छति, 'पासइ त्ति' इह मनस्त्वपरिणतैः स्कन्धैरालोचितं वाह्यमर्थं घटाऽऽदिलक्षणं साक्षादध्यक्षतो मनःपर्य्यायज्ञानी न जानाति, किन्तु-मनोद्रव्याणामेव तथारूपपरिणामान्यथानुपपत्तितोऽनुमानतः, आह च भाष्यकृत्'जाणइ वज्झेऽणुमाणेणं।' इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यं, यतो मूर्त्तद्रव्यालम्बनमेवेदं मनःपर्यायज्ञानमिष्यते, मन्तारस्त्वमूर्त्तमपि धर्मास्तिकायाऽऽदिकं मन्यन्ते,ततो नुमानत एव चिन्तितमर्थमवबुध्यन्ते,नान्यथेति प्रतिपत्तव्यम्।ततस्तमधिकृत्य पश्यतीत्युच्यते, तत्र मनोनिमित्तस्याचक्षुर्दर्शनस्य सम्भवात्। आह च चूर्णिकृत्-" मुणितत्थं पुण पच्चक्खओ न पेक्खइ जेण मणोदव्वालंबणं मुत्तममुत्तं वा, सो य छउमत्थो तं अणुमाणओ पेक्खइ'अतो पासणया भणिया"इति। अथवा-सामान्यत एकरूपेऽपि ज्ञाने क्षयोपशमस्य तत्तद्द्रव्याऽऽद्यपेक्षवैचित्र्यसम्भवात् अनेकविध उपयोगः सम्भवति' यथा चैव ऋजुमतिविपुलमतिरूपः ततो विशिष्टतरमनोद्रव्याऽऽकारपरिच्छेदापेक्षया जानातीत्युच्यते,सामान्यमनोरूपद्रव्याऽऽकारपरिच्छेदापेक्षया तु पश्यतीति। तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-"अहवा छउमत्थस्स एगविहखओवसमलंभे वि विविहोवओगसंभवो भवइ, जहा एत्थेव उजुमइविपुलमईणमुवओगो अओ विसेससामन्नत्थेसु उवजुज्जइ जाणइ पासइ त्ति भणियं न दोसो "इति। अत्र 'एगविहखओवसमलंभे वि त्ति'सामान्यत एकरूपेऽपि क्षयोपशमलम्भेऽपान्तराले द्रव्याऽऽद्यपेक्षया क्षयोपशमस्य विशेषसम्भवाद् विविधोपयोगसम्भवो भवतीति,तदेवं विशिष्टतरमनोद्रव्याऽऽकारपरिच्छेदापेक्षया सामान्यरूपमनोद्रव्याकारपरिच्छेदो व्यवहारतो दर्शनरूप उक्तः,परमार्थतः पुनः सोऽपि ज्ञानमेव,यतः सामान्यरूपमपि मनोद्रव्याऽऽकारप्रतिनियतमेव पश्यति,प्रतिनियतविशेषग्रहणाऽऽत्मकं च ज्ञानं न दर्शनम्,अत एव सूत्रेऽपि दर्शनं चतुर्विधमेवोक्तं,न पञ्चविधमपि,मनःपर्यायदर्शनस्य परमार्थतोऽसम्भवादिति। तथा तानेव मनस्त्वेन परिणामितान् स्कन्धान् विपुलमतिः अभ्यधिकतरान्-अर्द्धतृतीयाङ्गुलप्रमाणभूमिक्षेत्रवर्तिभिः स्कन्धैरधिकतरान्,सा चाऽधिकतरता देशतोऽपि भवति,ततः सर्वासु दिक्षु अधिकतरताप्रतिपादनार्थमाह-विपुलतरकान् प्रभूततरकान्,तथा विशुद्धतरान्, निर्मलतरान्, ऋजुमत्यपेक्षयाऽतीवस्फुटतरप्रकाशानित्यर्थः। स च स्फुटः प्रतिभासो भ्रान्तोऽपि सम्भवति,यथा-द्विचन्द्रप्रतिभासस्ततो भ्रान्तताऽऽशङ्काव्युदासाय विशेषणान्तरमाह-वितिमिरतरकान् विगतं तिमिरं तिमिरसंपाद्यो भ्रमो येषु ते वितिमिरास्ततो द्वयोः। प्रकृष्टे तरप्॥ ७।३।५॥ इति तरप्प्रत्ययः। ततः प्राकृतलक्षणात्स्वार्थे कः प्रत्ययः,एवं पूर्वेष्वपि पदेषु यथायोगं व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या,वितिमिरतरकान्-सर्वथा भ्रमरहितान्, अथवा-अभ्यधिकतरकान् विपुलतरकानिति द्वावपिशब्दावेकार्थौ, विशुद्धतरकान् वितिमिरतरकानेतावप्येकार्थौ, नानादेशजा हि विनेया भवन्ति, ततः कोऽपि कस्याऽपि प्रसिद्धो भवति तेषामनुग्रहार्थम् एकार्थिकपदोपन्यासः। तथा क्षेत्रतो, णमिति वाक्यालङ्कारे, ऋजुमतिरधो यावदस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः उपरितनाधस्तनान् क्षुल्लकप्रतरान्। अथ किमिदं क्षुल्लकप्रतर इति ?। उच्यते-इह लोकाऽऽकाशप्रदेशा उपरितनाधस्तनप्रदेशरहिततया विवक्षिता मण्डकाऽऽकारतया व्यवस्थिताः प्रतरमित्युच्यन्ते, तत्र तिर्यग्लोकस्य ऊर्ध्वाधोऽपेक्षयाऽष्टादशयोजनशतप्रमाणस्य मध्यभागे द्वौ लघुक्षुल्लकप्रतरौ, तयोर्मध्यभागे जम्बूद्वीपे रत्नप्रभाया बहुसमे भूमिभागे मेरुमध्येऽष्टप्रादेशिको रुचकस्तत्र गोस्तनाऽऽकाराश्चत्वार उपरितमाः प्रदेशाश्चत्वारश्चाधस्तनाः, एष एव च रुचकः सर्वासां दिशां विदिशां वा प्रवर्त्तकः, एतदेव च सकलतिर्यग्लोकमध्यं, तौ च द्वा सर्वलघू प्रतरावङ्गुलाऽसङ्ख्येयभागवाहल्यावलोकसंवर्तितौ रज्जुप्रमाणौ। तत एतयोरुपर्यन्येऽन्ये प्रतराः तिर्यग् अङ्गुलासङ्ख्येयभागवृद्ध्या वर्द्धमानास्तावद् द्रष्टव्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यावदूर्द्ध्वलोकमध्यम्, तत्र पञ्चरज्जुप्रमाणः प्रतरः, तत उपर्यन्येऽन्ये प्रतरास्तिर्यगङ्गुलासङ्ख्येयभागहान्या हीयमानास्तावदवसेया यावल्लोकान्ते रज्जुप्रमाणः प्रतरः, इह ऊर्द्ध्वलोकमध्यवर्तिनं सर्वोत्कृष्टं पञ्चरज्जुप्रमाणं प्रतरमवधीकृत्याऽन्ये उपरितना अधस्तनाश्च क्रमेण हीयमानाः हीयमानाः सर्वेऽपि क्षुल्लकप्रतरा इति व्यवह्रियन्ते यावल्लोकान्ते तिर्यग्लोके च रज्जुप्रमाणप्रतर इति, तथा तिर्यग्लोकमध्यवर्तिसर्वलघुक्षुल्लकप्रतरस्याधस्तिर्यगङ्गुलाऽसङ्ख्येयभागवृद्ध्या वर्द्धमानाः वर्द्धमानाः प्रतरास्तावद्वक्तव्या यावदधोलोकाऽन्ते सर्वोत्कृष्टः सप्तरज्जुप्रमाणः प्रतरः, तं च—सप्तरज्जुप्रमाणम् प्रतरमपेक्ष्याऽन्ये—उपरितनाः सर्वेऽपि क्रमेण हीयमानाः क्षुल्लकप्रतरा अभिधीयन्ते यावत्तिर्यग्लोकमध्यवर्त्ती सर्वलघुः क्षुल्लकप्रतरः, एषा क्षुल्लकप्रतरप्ररूपणा। तत्र तिर्यग्लोकमध्यवर्त्तिनः सर्वलघुरज्जुप्रमाणात् क्षुल्लकप्रतरादारभ्य यावदधो नवयोजनशतानि तावदस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां ये प्रतराः ते उपरितनक्षुल्लकप्रतारा भण्यन्ते, तेषामपि चाधस्ताद् ये प्रतरा यावदधोलौकिकग्रामेषु सर्वान्तिमः प्रतरः तेऽधस्तनक्षुल्लकप्रतराः, तान् यावदधःक्षेत्रत ऋजुमतिः पश्यति, अथवा—अधोलोकस्य उपरितनभागवर्तिनः क्षुल्लकप्रतरा उपरितना उच्यन्ते, ते चाधोलौकिकग्रामवर्त्तिप्रतरादारभ्य तावदवसेयाः यावत्तिर्यग्लोकस्यान्तिमोऽधस्तनः प्रतरः, तथा तिर्यग्लोकस्य मध्यभागादारभ्याऽधोवर्त्तिनः क्षुल्लकप्रतरा अधस्तना उच्यन्ते, तत उपरितनाश्चाधस्तनाश्च उपरितनाधस्तनाः तान् उपरितनाधस्तनान् यावत् ऋजुमतिः पश्यति। अन्ये त्वाहुः—अधोलोकस्योपरिवर्त्तिनः उपरितनाः, ते च सर्वतिर्यग्लोकवर्त्तिनो, यदि वा—तिर्यग्लोकस्याधो नवयोजनशतवर्त्तिनो द्रष्टव्याः, ततस्तेषामेवोपरितनानां क्षुल्लकप्रतराणां संबन्धिनो ये सर्वान्तिमाधस्तनाः क्षुल्लकप्रतराः तान् यावत्पश्यति, अस्मिंश्च व्याख्याने तिर्यग्लोकं यावत् पश्यतीत्यापद्यते, तच्च न युक्तम्, अधोलौकिकग्रामवर्त्तिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोद्रव्याऽपरिच्छेदप्रसङ्गात्। अथवा—अधोलौकिकग्रामेष्वपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोद्रव्याणि परिच्छिनत्ति। यत उक्तम्—"इहाधोलौकिकग्रामान्, तिर्यग्लोकविवर्त्तिनः। मनोगतांस्त्वसौ भावान्, वेत्ति तद्वर्त्तिनामपि॥१॥" तथा 'उड्ढं जावेत्यादि' तथा ऊर्द्ध्वं यावत् ज्योतिश्चक्रस्योपरितनस्तिर्यग् यावदन्तोमनुष्यक्षेत्रे—मनुष्यलोकपर्यन्त इत्यर्थः। एतदेव व्याचष्टे—अर्धतृतीयेषु द्वीपेषु पञ्चदशसु कर्म्मभूमिषु त्रिंशति चाऽकर्म्मभूमिषु षट्पञ्चाशत्सङ्ख्येषु चान्तरद्वीपेषु सञ्ज्ञिनां, ते चापान्तरालगतावपि तदायुष्कसंवेदनादभिधीयन्ते नच तैरिहाधिकारस्ततो विशेषणमाह—पञ्चेन्द्रियाणां, पञ्चेन्द्रियाश्चोपपातक्षेत्रमागता इन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तौ मनःपर्याप्त्या अपर्याप्ता अपि भवन्ति। न च तैः प्रयोजनमतो विशेषणान्तरमाह—पर्याप्तानाम्. अथवा—संज्ञिनो हेतुवादोपदेशेन विकलेन्द्रिया अपि भण्यन्ते, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं पञ्चेन्द्रियग्रहणं, ते चापर्याप्तका अपि भवन्ति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं पर्याप्तग्रहणं, तेषां मनोगतान् भावान् जानाति पश्यति, तदेव मनोलब्धिसमन्वितजीवाऽऽधारक्षेत्रं विपुलमतिरर्द्धे तृतीयं येषु तानि अर्द्धतृतीयानि अङ्गुलानि, तानि च ज्ञानाधिकाराद्द्उच्छ्रयाङ्गुलानि द्रष्टव्यानि। यत उक्तं चूर्णिकृता—" अड्ढाइज्जंऽगुलगहणमुस्सेहंऽगुलमाणओ नाणविसयत्तणओ य न दोस त्ति।" तैरर्द्धतृतीयैरङ्गुलैरभ्यधिकतरं तच्चैकदेशमपि भवति, तत आह—विपुलतरं विस्तीर्णतरम्। अथवा—आयामविष्कम्भाभ्यामभ्यधिकतरं बाहल्यमाश्रित्य विपुलतरम् अधिकतरम्, अतिशुद्धतरं वितिमिरतरमिति च प्राग्वत्, जानाति पश्यति तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश इतितावत् क्षेत्रगतानि मनोद्रव्याणि जानाति पश्यतीत्यर्थः। (कालओ णमित्यादि) सुगमं, यावदुक्तस्वरूपमनःपर्यायज्ञानप्रतिपादिका गाथा। तस्या व्याख्या—मनःपर्यायज्ञानं प्राग्निरूपितशब्दार्थं, पुनःशब्दो विशेषणार्थः। स च रूपिविषयत्वक्षायोपशमिकत्वप्रत्यक्षत्वाऽऽदिसाम्येऽप्यवधिज्ञानादिदं मनःपर्यायज्ञानं स्वाम्यादिभेदाद्भिन्नमिति विशेषयति। तथाहि—अवधिज्ञानमविरतसम्यग्दृष्टेरपि भवति द्रव्यतोऽशेषरूपिद्रव्यविषयं, क्षेत्रतो लोकविषयं कतिपयलोकप्रमाणक्षेत्रापेक्षया अलोकविषयं च, कालतोऽतीतानागतासङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीविषयं, भावतोऽशेषेषु रूपिद्रव्येषु प्रतिद्रव्यमसंख्येयपर्यायविषयं मनःपर्यायज्ञानं पुनः संयतस्याऽप्रमत्तस्यामर्षौषध्याद्यन्यतमर्द्धिप्राप्तस्य द्रव्यतः संज्ञिमनोद्रव्यविषयं, क्षेत्रतो मनुष्यक्षेत्रगोचरम्, कालतोऽतीतानागतपल्योपमासंख्येयभागविषयं, भावतो मनोद्रव्यगतानन्तपर्यायालम्बनं, ततोऽवधिज्ञानाद्भिन्नम्, एतदेव लेशतः सूत्रकृदाह—'जनमनःपरिचिन्तितार्थप्रकटनं' जायन्ते इति जनाः तेषां मनांसि जनमनांसि तैः परिचिन्तितश्चासावर्थश्च जनमनःपरिचिन्तितार्थस्तं प्रकटयति प्रकाशयति जनमनःपरिचिन्तितार्थप्रकटनं, तथा मनुष्यक्षेत्रनिबद्धं, न तद्बहिर्व्यवस्थितप्राणिद्रव्यमनोविषयमित्यर्थः, तथा गुणाः—क्षान्त्यादयः, ते प्रत्ययः—कारणं यस्य तद् गुणप्रत्ययं, चारित्रवतोऽप्रमत्तसंयतस्य। नं०।

तदेवं क्षेत्रतस्तद्विषय उक्तः, अथ द्रव्यतः, कालतः, भावतश्च तद्विषयमाह—

मुणइ मणोदव्वाइं, नरलोए सो मणिज्जमाणाइं।
काले भूय-भविस्से, पलियाऽसंखिज्जभागम्मि ॥८१३॥
दव्वमणोपज्जाए, जाणइ पासइ य तग्गएणंते।
तेणावभासिए उण, जाणइ बज्झेऽणुमाणेणं ॥८१४॥

स मनःपर्यायज्ञानी मुणति—अवगच्छति। कानि?, इत्याह—मनश्चिन्ताप्रवर्तकानि द्रव्याणि मनोद्रव्याणि। तानि किं मनोयोग्यान्यप्याकाशस्थानि जानाति?। न, इत्याह—नरलोके तिर्यग्लोके मन्यमानानि संज्ञिभिर्जीवैः काय—मनोयोगेन गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानीत्यर्थः। तदयं द्रव्यतो विषय उक्तः। अथ कालतो भावतश्च तमाह—'काले' इत्यादि, भावतस्तावज्जानाति, पश्यति च। कान्?, इत्याह—चिन्तानुगुणान् सर्वपर्यायराश्यनन्तभागरूपानन्तान् रूपाऽऽदीन् पर्यायान्। कस्य संबन्धिनः?, इत्याह—मनस्त्वपरिणतानन्तस्कन्धसमूहमयस्य द्रव्यमनसः, न तु भावमनसः, तस्य ज्ञानरूपत्वात्, ज्ञानस्य चामूर्तत्वात्, छद्मस्थस्य चामूर्तविषयाऽयोगादिति। तांश्च तद्गतानेव मनोद्रव्यस्थितानेव जानाति, न पुनश्चिन्तनीयबाह्यघटाऽऽदिवस्तुगतानिति भावः। न च वक्तव्यमेते मनोद्रव्यसंबन्धिन एव न भवन्ति, किमेतद् व्यवच्छेदपरेण तद्गतग्रहणेन?, इति, मनोद्रव्याणि दृष्ट्वा पश्चादनुमानेन ते ज्ञायन्ते, इत्येतावता मनोद्रव्यैरपि सह संबन्धमात्रस्य विद्यमानत्वात्। एतदेवाऽऽह—तेन द्रव्यमनसाऽवभासितान् प्रकाशितान् बा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ह्यांश्चिन्तनीयघटाऽऽदीननुमानेन जानाति, यत एव तत्परिणतान्येतानि मनोद्रव्याणि, तस्मादेवंविधेनेह चिन्तनीयवस्तुना भाव्यम् इत्येवं चिन्तनीयवस्तूनि जानाति न साक्षादित्यर्थः । चिन्तको हि मूर्तममूर्तं च वस्तु चिन्तयेत्। न च छद्मस्थोऽमूर्तं साक्षात् पश्यति, ततो ज्ञायते अनुमानादेव चिन्तनीयं वस्त्ववगच्छति । कियति कस्मिंश्च काले मनोद्रव्यपर्यायानसौ जानाति ? , इत्याह- ' काले भूयेत्यादि ' भूतेऽतीते, भविष्यति चाऽनागते पल्योपमासङ्ख्येयभागरूपे काले ये तेषां मनोद्रव्याणां भूता व्यतीताः, भविष्यन्तश्चाऽनागताश्चिन्तानुगुणाः पर्यायास्तान् जानातीति ॥ ८१३ । ८१४ ॥

अत्र चान्तरे " तं समासओ च उव्विहं पन्नत्तं, तं जहा- दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं उज्जुमइ अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ । " इत्यादि नन्दिसूत्रेऽभिहितम् । तत्र मनःपर्यायज्ञानं पटुक्षयोपशमप्रभवत्वाद् विशेषमेव गृह्णदुत्पद्यते , न सामान्यम् , अतो ज्ञानरूपमेवेदम् , न पुनरिह दर्शनमस्ति , सति च तस्मिन् पश्यतीत्युपपद्यते, इति कथमिहोक्तं ' पासइ ' इति ? , इति चेतसि संप्रधार्य प्राऽऽह-

सो य किर अचक्खुदं- सणेण पासइ जहा सुयनाणी ।
जुत्तं सुए परोक्खे, पच्चक्खे न उ मणोनाणे ?॥८१५॥

स च मनःपर्यायज्ञानी किलाऽचक्षुर्दर्शनेन पश्यति , यथा श्रुतज्ञानी केषाञ्चिद् मतेनाऽचक्षुर्दर्शनेन पश्यतीति प्रागुक्तम् । तथा च पूर्वमभिहितम्-' उवउत्तो सुयनाणी , सव्वं दव्वाइँ जाणइ जहत्थं । पासइ य केइ सो पुण, तमचक्खुदंसणेणं ति ॥ १ ॥ " इत्यादि. इदमत्र हृदयम्—परस्य घटाऽऽदिकमर्थं चिन्तयतः साक्षादेव मनःपर्यायज्ञानी मनोद्रव्याणि तावज्जानाति, तान्येव च मानसेनाऽचक्षुर्दर्शनेन विकल्पयति, अतस्तदपेक्षया ' पश्यति ' इतीत्युच्यते । ततश्चैकस्यैव मनःपर्यायज्ञानिनः प्रमातुर्मनःपर्यायज्ञानादनन्तरमेव मानसमचक्षुर्दर्शनमुत्पद्यते, इत्यसावेक एव प्रमाता मनःपर्यायज्ञानेन मनोद्रव्याणि जानाति,तान्येव चाऽचक्षुर्दर्शनेन पश्यतीत्यभिधीयत इति । अत्र कश्चित् प्रेरकः प्राह-' जुत्तमित्यादि' "मतिश्रुते परोक्षम्" इति वचनात् परोक्षार्थविषयं श्रुतज्ञानम्, अचक्षुर्दर्शनमपि मतिभेदत्वात् परोक्षार्थविषयमेव,इत्यतो युक्तं घटमानकं श्रुतज्ञानविषयभूते मेरु-स्वर्गाऽऽदिके परोक्षेऽर्थेऽचक्षुर्दर्शनम् तस्याऽपि तदालम्बनत्वेन समानविषयत्वात् ।किं पुनस्तर्हि नयुक्तम् ? , इत्याह—' न उ इत्यादि ' " अवधि-मनःपर्याय-केवलानि प्रत्यक्षम् ।" इति वचनात् पुनः प्रत्यक्षार्थविषयं मनःपर्यायज्ञानम् । अतः परोक्षार्थविषयस्याऽचक्षुर्दर्शनस्य कथं तत्र प्रवृत्तिरभ्युपगम्यते , भिन्नविषयत्वात् ? ॥ ८१५ ॥

अत्र सूरिराह—

जइ जुज्जए परोक्खे, पच्चक्खे नणु विसेसओ घडइ ।
नाणं जह पच्चक्खं, न दंसणं तस्स को दोसो ?॥८१६॥

यदि परोक्षेऽर्थेऽचक्षुर्दर्शनस्य प्रवृत्तिरभ्युपगम्यते,तर्हि प्रत्यक्षे सुतरामस्येयमङ्गीकर्तव्या, विशेषेण तस्य तदनुग्राहकत्वात्, चक्षुःप्रत्यक्षोपलब्धघटाऽऽदिवदिति । अत्राऽऽह—को वै न मन्यते , यत् प्रत्यक्षोऽर्थः सुतरामचक्षुर्दर्शनस्याऽनुग्राहक- इति ?, केवलं प्रत्यक्षमनोद्रव्यार्थग्राहकत्वादित्थं मनःपर्यायज्ञानस्य प्रत्यक्षता युज्यते , न , पुनरचक्षुर्दर्शनस्य , मतिभेदत्वेन तस्य परोक्षार्थग्राहकत्वात् । ततः प्रत्यक्षज्ञानित्वं मनःपर्यायज्ञानिनो विरुध्येत, इत्याशङ्क्याऽऽह-' नाणं जह ' इत्यादि । यदि मनःपर्यायज्ञानलक्षणं ज्ञानं प्रत्यक्षार्थग्राहकत्वात् प्रत्यक्षम् , न त्वचक्षुर्दर्शनलक्षणं दर्शनं प्रत्यक्षम् , परोक्षार्थग्राहकत्वेन परोक्षार्थत्वात्; तर्हि हन्त ! तस्य मनःपर्यायज्ञानिनः प्रत्यक्षज्ञानितायां को दोषः-को विरोधः ?,न कश्चित्, भिन्नविषयत्वात्, अवधिज्ञानिनश्चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनवदिति । न ह्यवधिज्ञानिनश्चक्षुरचक्षुर्दर्शनाभ्यां परोक्षमर्थं पश्यतः प्रत्यक्षज्ञानितायाः कोऽपि विरोधः समापद्यते,तद्वदिहाऽपि । तस्माद् मनःपर्यायज्ञानी स्वज्ञानेन मनोद्रव्यपर्यायान् जानाति, मानसेन त्वचक्षुर्दर्शनेन पश्यतीति स्थितम् ॥८१६॥

अन्ये तु ' पश्यति ' इत्यन्यथा समर्थयन्ति, इति दर्शयति-

अन्नेऽवहिदंसणओ, वयंति न य तस्स तं सुए भणियं ।
न य मणपज्जवदंसण-मन्नं च चउप्पयाराओ ॥८१७॥

अन्ये त्ववधिदर्शनेनाऽसौ मनःपर्यायज्ञानी पश्यति , मनःपर्यायज्ञानेन तु जानातीति वदन्ति । एतच्चाऽयुक्तमेव, इत्याह-न च-नैव तस्य मनःपर्यायज्ञानिनस्तदवधिदर्शनं श्रुतेऽभिहितम् । न हि मनःपर्यायज्ञानिनोऽवधिज्ञान—दर्शनाभ्यामवश्यमेव भवितव्यम् , अवधिमन्तरेणाऽपि मति-श्रुत-मनःपर्यायलक्षणज्ञानत्रयस्याऽऽगमे प्रतिपादितत्वात् । तथा चाह- " मणपज्जवनाणलद्धीया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?। गोयमा ! नाणी , नो अन्नाणी । अत्थेगइया तिन्नाणी, अत्थेगइया चउनाणी । जे तिन्नाणी ते आभिणिबोहियसुय-मणपज्जवनाणी, जे चउनाणी ते आभिणिबोहिय-सुय-ओहिमणपज्जवनाणी । " तदेवं मनःपर्यायज्ञानिनोऽवधिनियमस्याऽभावात् कथमवधिदर्शनेनाऽसौ पश्यतीत्युपपद्यते ? । अथैवं मन्यसे-किमेतैर्बहुभिः प्रलपितैः !, यथा-अवधेर्दर्शनम् , तथा मनःपर्यायस्याऽपि तद् भविष्यति, ततस्तेनाऽसौ पश्यति, इत्युपपत्स्यत एव; इत्याशङ्क्याऽऽह 'न य मणे' त्यादि, न च-नैव चतुष्प्रकाराच्चक्षुरादिदर्शनादन्यत् पञ्चमं मनःपर्यायदर्शनं श्रुते भणितम् , येन पश्यतीत्युपपत्स्यते । तथा चाऽऽह-" कइविहे णं भंते ! दंसणे पण्णत्ते ?। गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे केवलदंसणे ।" इति । तस्मात् पञ्चमस्य मनःपर्यायदर्शनस्यानुक्तत्वात् ' तेन पश्यति ' इत्येतदपि नोपपद्यत इति ॥ ८१७ ॥

अभिप्रायान्तरमाशङ्कमान आह—

अहवा मणपज्जवदं- सणस्स मयमोहिदंसणं सण्णा ।
विब्भंगदंसणस्स व, नणु भणियमिदं सुयाईयं ॥८१८॥

अथवा-कश्चिदेवं मन्येत-यथा विभङ्गदर्शनमवधिदर्शनमेवोच्यते , तथा मनःपर्यायदर्शनस्याऽप्यवधिदर्शनमिति संज्ञाऽभिमता भविष्यति । इदमुक्तं भवति—चक्षुरादिदर्शनचतुष्टयाऽऽधिक्येनाऽनुक्तमपि यथाऽवधिदर्शनेऽन्तर्भूतं विभङ्गदर्शनमिष्यते , तथा मनःपर्यायदर्शनमपि भविष्यति । ततः तेन मनःपर्यायज्ञानी पश्यति इत्युपपत्स्यत एवेति । अत्र सूरिराह- नन्वेतत् श्रुतातीतमागमविरुद्धमेव त्वया भणितम् ॥ ८१८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुतः ?, इत्याह—

जेण मणोनाणविओ, दो तिन्नि व दंसणाइँ भणियाइं ।
जइ ओहिदंसणं हो-ज्ज होज्ज नियमेण तो तिन्नि ॥८१९॥

यस्माद्-भगवत्यामाशीविषोद्देशके मनःपर्यायज्ञाने—चक्षु-
रचक्षुर्दर्शनलक्षणे द्वे दर्शने, चक्षु-रचक्षु-रवधिदर्शनलक्ष-
णानि त्रीणि वा दर्शनानि प्रोक्तानि-यो मति-श्रुत-मनःप-
र्यायज्ञानत्रितयवांस्तस्य द्वे दर्शने, यस्तु मति-श्रुता-ऽवधि-
मनःपर्यायज्ञानचतुष्टयवांस्तस्य त्रीणि दर्शनानीति भावः ।
तस्मादुत्सूत्रं मनःपर्यायज्ञानवतोऽवधिदर्शनसंज्ञितदर्शनाऽ-
भिधानम् । यदि पुनरित्थं स्यात्, तदा मति-श्रुत-मनः-
पर्यायज्ञानत्रयवतोऽपि दर्शनानि नियमात् त्रीण्येव स्युः, न
तु क्वापि द्वे, तस्मात् श्रुतातीतमिदमिति ॥ ८१९ ॥

अन्ये त्वाहुः, किम् ?, इत्याह—

अन्ने उ मणोनाणी, जाणइ पासइ य जोऽवहिसमग्गो ।
इयरो य जाणइ च्चिय, संभवमेत्तं सुएऽभिहियं ॥८२०॥

अन्ये तु मन्यन्ते-योऽवधिज्ञानयुक्तो मनःपर्यायज्ञानी चतु-
र्ज्ञानीत्यर्थः, असौ मनःपर्यायज्ञानेन जानाति, अवधिदर्श-
नेन तु पश्यति । यस्त्ववधिरहितस्त्रिज्ञानी स मनःपर्या-
यज्ञानेन जानात्येव, न तु पश्यति, तस्याऽवधिदर्शनाभा-
वात् । अतो मनःपर्यायज्ञानमात्रमाश्रित्य संभवमात्रतो जा-
नाति, पश्यति चेति नन्दिसूत्रेऽभिहितमिति ॥ ८२० ॥

अन्ये तु 'जानाति, पश्यति' इत्य—
न्यथा समर्थयन्ति, इत्याह—

अन्ने जं साऽऽगारं, तो तं नाणं न दंसणं तम्मि ।
जम्हा पुण पच्चक्खं, पेच्छइ तो तेण तन्नाणी ॥ ८२१ ॥

अन्ये त्वाहुः—यद्-यस्मात् पटुक्षयोपशमप्रभवत्वाद् मनः-
पर्यायज्ञानं साकारमेवोत्पद्यते, 'तो त्ति' ततस्तज्ज्ञान-
मेव, तेन जानात्येवेत्यर्थः, न पुनस्तत्र मनःपर्यायज्ञानेऽ-
वधि-केवलयोरिव दर्शनमस्ति । तर्हि 'पश्यति' इति
कथम्, इत्याह—यस्मात् पुनः, प्रत्यक्षं मनःपर्यायज्ञानं,
'तो त्ति' ततः प्रत्यक्षत्वात् तेनैव मनःपर्यायज्ञानेन पश्य-
त्यसौ तज्ज्ञानी—स चासौ ज्ञानी च तज्ज्ञानी, मनःपर्या-
यज्ञानीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—'दृशिर् प्रेक्षणे' प्रकृष्टं चे-
क्षणं प्रत्यक्षस्यैवोपपद्यते, प्रत्यक्षं च मनःपर्यायज्ञानम्, अ-
तस्तेन पश्यतीति घटत एव । साकारत्वेन तु तस्य ज्ञान-
त्वात् 'तेन जानाति' इति निर्विवादमेव सिद्धम् । त-
स्माद् दर्शनाभावेऽपि यथोक्तन्यायात् 'मनःपर्यायज्ञानी जा-
नाति, पश्यति' इत्युपपद्यत एवेति । एतदपि मूलटीका-
कृता दूषितमेव, तद्यथा—ननु मनःपर्यायज्ञाने साकारत्वेन
ज्ञानत्वाद् दर्शनं नास्ति, अथ च 'प्रत्यक्षत्वेन दृश्यतेऽनेन
वस्तु इति विरुद्धैवेयं वाचोयुक्तिः, साकारत्वेन निषिद्ध-
स्यापीह दर्शनस्य 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्' इति व्युत्प-
त्त्या सामर्थ्यादापत्तेः । किञ्च, 'जानाति' इत्यनेनाऽत्र
साकारत्वं स्थापितम्, 'पश्यति' इत्यनेन च दर्शनरूढेन
शब्देनाऽनाकारत्वं व्यवस्थाप्यते, अतो विरुद्धोभयधर्मप्रा-
प्त्याऽपि न किञ्चिदेतदिति ॥ ८२१ ॥

आह—यद्यमी सर्वेऽपि पूर्वोक्ता अन्येषामेवाऽभिप्रायाः, स-
दोषाश्च केऽपि कथञ्चित्, तर्ह्याचार्यस्य कोऽभिप्रायः ?,
इत्याशङ्क्याऽऽह—

भण्णइ पन्नवणाए, मणपज्जवनाणपासणा भणिया ।
तो एव पासए सो, संदेहो हेउणा केण ? ॥ ८२२ ॥

भण्यते स्थितः पक्षोऽत्र । कः ?, इत्याह-प्रज्ञापनायां त्रिं-
शत्तमपदे मनःपर्यायज्ञानस्य प्रकृष्टेक्षणलक्षणा साकारोपयो-
गविशेषरूपा पश्यता प्रोक्ता, तयैवासौ 'मनःपर्यायज्ञानी
पश्यति' इति व्यपदिश्यते । तत् केन किल हेतुनाऽभिप्रा-
यान्तरवादिनां सन्देहोऽत्र, येनाऽपराऽपरान् निजानिजाऽभि-
प्रायानत्र प्रकटयन्ति ?, तस्यैव प्रकारस्याऽऽगमोक्तत्वेन
निर्दोषत्वादिति भावः । प्रक्षेपगाथा चेयं लक्ष्यते, चिरन्त-
नटीकाद्वयेऽप्यगृहीतत्वात्, केषुचिद् भाष्यपुस्तकेष्वदर्श-
नाच्च केवलं केषुचिद् भाष्यपुस्तकेषु दर्शनात्, किञ्चित्साऽभि-
प्रायत्वाच्चाऽस्माभिर्गृहीता । इति द्वादशगाथाऽर्थः । सत्प-
दप्ररूपणताऽऽदयोऽस्यापि * अवधिवद् वाच्याः, केवलमप्र-
मत्तसंयतोऽस्योत्पादस्वामी, तदनुसारेण सर्वत्र नानात्वं स्व-
यमभ्यूह्यम् ॥ ८२२ ॥ विशे० । आ० चू० । म० । आ० म० ।
प्रज्ञा० । सम्म० । रा० । * मनःपर्यायज्ञानस्यापि ।

मणपज्जवणाणजिण-मनःपर्यवज्ञानजिन-पुं० । रागद्वेषमो-
हान् जयतीति जिनस्तत्र मनःपर्यवज्ञानप्रधानो जिनो मनः-
पर्यवज्ञानजिनः । तादृशे जिने, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

मणपज्जवणाणावरण-मनःपर्यायज्ञानाऽऽवरण-न० । मनसः
पर्याया बाह्यवस्त्वालोचनप्रकाराः धर्मा मनःपर्यायास्तेषु ते-
षां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, तस्याऽऽवरणं मनः-
पर्यायज्ञानाऽऽवरणम् । ज्ञानाऽऽवरणकर्मभेदे, कर्म०६ कर्म० ।

मणपडिचारग-मनःपरिचारक-पुं० । मनस्येवोपस्थितानां स्त्री
णामुपभोक्तरि, स्था० ।

दो इंदा मणपरियारगा पण्णत्ता । तं जहा-पाणए चेव,
अच्चुए चेव ।

अनन्ताऽऽदिषु चतुर्षु कल्पेषु मनःपरिचारका देवा भवन्ती-
ति । स्था० २ ठा० ४ उ० । प्रज्ञा० ।

मणपडिसंलीण-मनःप्रतिसंलीन-पुं० । कुशलमनउदीरणे-
नाकुशलमनोनिरोधेन च मनः प्रतिसंलीनं यस्य सः, मनसा
वा प्रतिसंलीनो मनःप्रतिसंलीनः । प्रतिसंलीनभेदे, स्था० ४
ठा० २ उ० ।

मणपदुट्ठवंदण-मनःप्रद्विष्टवन्दन-न० । केनचिद् गुणेन हीनस्य
वन्द्यस्य तथैव मनसीकृत्य साऽसूयं वन्दने, आ० चू०३ अ० ।

नवममाह—

अप्पपरपत्तिएणं, मणप्पदोसो अणेगउट्ठाणो ।

मनःप्रद्वेषः अनेकोत्थानोऽनेकनिमित्तो भवति । स च सर्वो-
ऽप्यात्मप्रत्ययेन, परप्रत्ययेन वा स्यात् । तत्राऽऽत्मप्रत्य-
येन यदा शिष्य एव गुरुणा किञ्चित्सरोषमभिहितो भवति ।
परप्रत्ययेन तु यदा तस्यैव शिष्यस्य संबन्धिनः सुहृदादेः
संमुखं सूरिणा किमप्यप्रियमुक्तं भवतीत्येवंप्रकारेणान्यैरपि
स्वपदप्रत्ययैः कारणान्तरैर्मनसः प्रद्वेषो भवतीति यत्र
तन्मनसा प्रद्विष्टमुच्यते । बृ० ३ उ० । आव० । ध० । प्रव० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मणपल्हायजणण–मनःप्रह्लादजनन–न० । अन्तःकरणहर्षोत्पादके, उत्त० १६ अ० ।

मणपवणजइवेग–मनःपवनजयिवेग–त्रि० । मनःपवनजयी वेगो यस्य तत्तथा । शीघ्रवेगे, औ० । उपा० ।

मणपसिणविज्जा–मनःप्रश्नविद्या–स्त्री० । मनःप्रश्नितार्थोत्तरदायिन्यां विद्यायाम्, स० १० अङ्ग ।

मणप्पओगपरिणय–मनःप्रयोगपरिणत–त्रि० । मनस्तया परिणते, भ० ८ श० १ उ० ।

मणप्पओस–मनःप्रद्वेष–पुं० । मनोजाते द्वेषे, "पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च, मणप्पओसो उण मेऽत्थि को ई । जक्खा हु वेयावडियं करेंति, तम्हा हु एए णिहया कुमारा ॥ १ ॥" उत्त० ११ अ० । सूत्र० ।

मणयं–मनाक्–अव्य० । "मनाको न वा डयं डियं च" ॥ ८।२।१६९ ॥ मनाक्शब्दस्यार्थे डयम् डियम् च प्रत्ययौ वा भवतः । 'मणयं । मणियं । मणा ।' ईषदर्थे, मन्दे च । प्रा० २ पाद । "मणयं ईसिं" (७७७) पाइ० ना० २३८ गाथा ।

मणवइकायसुसंवुड–मनोवाक्कायसुसंवृत–त्रि० । तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्ते, दश० १० अ० ।

मणवग्गणा–मनोवर्गणा–स्त्री० । मनोरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च निसृष्टेषु मनःप्रायोग्यद्रव्येषु, पं० सं० ५ द्वार । (ताश्च 'वग्गणा' शब्दे वक्ष्यन्ते)

मणवण–मनोवन–न० । चित्तोद्याने, अष्ट० १७ अष्ट० ।

मणविणय–मनोविनय–पुं० । मनसो विनयाऽर्हे कुशलप्रवृत्त्यादौ, स्था० ७ ठा० । ('विणय' शब्दे भेदः)

मणविप्परियासिया–मनोविपर्यासिका–स्त्री० । अप्रशस्तस्य मनसो चिन्तने, "मणोविप्परियासिया ।" यदप्रशस्तमनसा चिन्तितम् "केइ पुण आउलमाउलाए ।" आ०चू० ४ अ० ।

मणविरिय–मनोवीर्य–न० । अकुशलमनोनिरोधे, कुशलमनसश्च प्रवर्त्तने, मनसो वा एकत्वीभावकरणे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । ('वीरिय' शब्दे इदं व्याख्यास्यते)

मणसंकिलेस–मनःसंक्लेश–पुं० । अरतिरतिरागद्वेषलक्षणे मनसि, मनसो वा संक्लेशे, स्था० १० ठा० ।

मणसंजम–मनःसंयम–पुं० । मनसो द्रोहेर्ष्याभिमानाऽऽदिभ्यो निवृत्तौ, धर्मध्यानाऽऽदिषु च प्रवृत्तौ, प्रव० ६६ द्वार ।

मणसच्च–मनःसत्य–न० । मनसः सत्यं मनःसत्यम् । मनःसंयमे, पा० ।

मणसच्चविउ–मनःसत्यविद्वस्–पुं० । मनसः सत्यं मनःसंयमः, स चाकुशलस्य मनसो निरोधः कुशलमनःप्रवर्त्तनलक्षणस्तं वेत्ति सम्यगासेवनतो जानातीति मनःसत्यविद्वान् । मनःसंयते, पा० ।

मणसमण्णाहरणया–मनःसमन्वाहरणता–स्त्री० । मनसः समिति सम्यक्, अनु इति—स्वावस्थानुरूपेण आङिति मर्यादया, आगमाभिहितभावाभिव्याप्त्या वा हरणं संक्षेपणं मनःसमन्वाहरणं, तदेव मनःसमन्वाहरणता । मनसः स्थिरत्वाऽऽपादने, भ० १७ श० ३ उ० ।

मणसमाहारणा–मनःसमाधारणा–स्त्री० । मनसः शुभस्थाने स्थिरत्वेन स्थापने, उत्त० ।

मणसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । मणसमाहारणयाए णं एगऽग्गं जणयइ, एगऽग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ, नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं च निज्जरेइ ॥ ५६ ॥

हे भदन्त ! मनःसमाधारणया जीवः किं जनयति ?, मनसः सम्यक्प्रकारेण आ–मर्यादया सिद्धान्तोक्तमार्गम् अभिव्याप्य वा धारणा स्थापनं मनःसमाधारणा तया जीवः किं फलमुत्पादयति ?। तदा गुरुराह–हे शिष्य ! मनःसमाधारणया मनसो मर्यादाया रक्षणेन एकाग्र्यं धर्मे स्थैर्यं जनयति, धर्मे ऐकाग्र्यमुत्पाद्य ज्ञानपर्यवान् जनयति विशिष्टान् मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽऽदीनां पर्य्यायान् तत्त्वावबोधरूपान् विशेषान् जनयति पुनः सम्यक्त्वविशुद्धिं जनयति, मिथ्यात्वं च निर्जरयति निवारयति ॥ ५६ ॥ उत्त० २६ अ० ।

मणसमिइ–मनःसमिति–स्त्री० । मनसः कुशलतायां समितिः मनःसमितिः । समितिभेदे, स्था० ८ ठा० ।

मणसमिय–मनःसमित–त्रि० । मनसः सम्यक् प्रवर्त्तके, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । सूत्र० ।

मणसिला–मनःशिला–स्त्री० । "वक्राऽऽदावन्तः" ॥८।१।२६॥ प्रथमादेः स्वरस्यान्त आगमरूपोऽनुस्वारः । "मणंसिला" क्वचिन्न–'मणसिला ।' प्रा० १ पाद । पृथ्वीविकारविशेषे, प्रा० १ पाद ।

मणंसिला–मनःशिला–स्त्री० । 'मणसिला' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

मणस्सि–मनस्विन्–त्रि० । स्वमनस्तन्त्रे, "आ आमन्त्र्ये सौ वेनो नः" ॥८।४।२६३॥ शौरसेन्याम् इनो नकारस्याऽऽमन्त्र्ये सौ परे आकारो वा भवति । भो मणस्सिया । प्रा० ४ पाद ।

मणहर–मनोहर–त्रि० । मनांसि श्रोतॄणां हरत्यात्मवशं नयतीति मनोहरः, लिहाऽऽदेराकृतिगणत्वादच्प्रत्ययः । रा० । जं० । "ओतोऽद्वाऽन्योऽन्यप्रकोष्ठाऽऽतोद्यशिरोवेदनामनोहरसरोरुहे क्तोश्च वः" ॥८।१।१५६॥ इत्योतोऽत्वं वा तत्संयोगे तु यथासंभवं वकारतकारयोर्वाऽऽदेशः । मणहरं । मणोहरं । प्रा० १ पाद । मनोनिर्वृत्तिकरे, रा० ।

मणा–मनाक्–अव्य० । ईषदर्थे, "एवं परं०" ॥८।४।४१८॥ इत्यादिसूत्रेण 'मनाको । मणाउं ।' "विहवि पणट्ठइ वंकुडउ, रिद्धिहिँ जणसामन्नु । किं पि मणाउं महुपिअहों, ससि अणुहरइ न अन्नु ॥ १ ॥" प्रा० ४ पाद ।

मणाणुकूला–मनोऽनुकूला–स्त्री० । पतिमनोऽनुकूलवृत्तिकायाम्, भ० १२ श० ६ उ० । "मणाणुकूलहियइच्छियाओ ।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनोऽनुकूलाश्च ता हृदयेनेप्सिताश्चेति कर्मधारयः। भ० ६ श० ३३ उ०।

मणाम–मनोऽम–त्रि०। मनसाऽम्यते गम्यते सौभाग्यतो ऽनुस्मर्यत इति मनोऽमः। स्था० ८ ठा०। ज्ञा०। प्रज्ञा०। आव०। मनसाऽम्यते-प्राप्यते पुनः पुनः संस्मरणतो यत्तन्मनोऽमम्। औ०। विपा०। रा०। कल्प०। दशा०।

मनआप–त्रि०। निरुक्तिवशात् मन आपः सदैव भोज्यतया जन्तूनां मनांस्याप्नोति। जी० १ प्रति०। प्रव०। पुनः पुनः सुन्दरत्वातिशयान्मनोरमे, भ० ६ श० ३३ उ०। स०। मनःप्रिया। स्था० २ ठा० ३ उ०।

मणामतर–मनआपतर–त्रि०। द्रष्टृणां मनांस्याप्नुवन्त्यात्मवशतां नयन्तीति मनआपास्ततः प्रकर्षविवक्षायां तरप् प्रत्ययः, प्राकृतत्वाच्च पकारस्य मकारे मणामतराः। अतिशयितमनआमेषु, आ०म० १ अ०। स्था०। जी०। रा०। औ०। जं०।

मणामता–मनआपता–स्त्री०। मन आप्नुवन्ति मनसि सदा रमन्ते इति मनआपः, तद्भावस्तत्ता। स्पृहणीयतायाम्, प्रज्ञा० ३४ पद।

मणाल–मृणाल–न०। पद्मकन्दोपरिवर्त्तिन्यां लतायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०।

मणि–मणि–पुं०। स्त्री०। रत्नवैडूर्यनीलाऽऽदिके, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। स०। चन्द्रकान्ताऽऽदिरत्नविशेषे, स०। औ०। प्रव०। जी०। द्वा०। जात्यरत्ने, दश० ६ अ०। भ०। नि० चू०। प्रश्न०। रा०। कर्केतनाऽऽदिके, रा०। यथा मेचकमणिनरसिंहाऽऽद्याः। विशे०। ज्ञा०। चं०प्र०। अनु०। इन्द्रनीलवैडूर्यपद्मरागाऽऽदिके, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। पृथिवीकायविकारेषु, भ० १२ श० ८ उ०। उत्त०। (मणयः सुगन्धयुक्ता भवन्तीति 'भरह' शब्दे पञ्चमभागे १४०५ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादितम्)

मणिअंग–मण्यङ्ग–पुं०। मणीनां-मणिप्रधानानामाभरणानां कारणत्वान्मण्यङ्गाः। प्रव० १७१ द्वार। मणयो वाऽङ्गान्यवयवा अस्येति। स्था० ७ ठा०। आभरणदायिनि सुषमसुषमाजाते कल्पवृक्षे, स० १० सम०। ति०। स्था०। "भवणरुक्खेसु आइएणेसु।" स्था० १० ठा०।

मणिअड–मणीयक–पुं०। मालावयवे मणौ, "माइव मुणिहं वि भतंडी,ते मणिअडा गणंति। अखइ निरामइ परमपइ, अज वि लउ न लहंति॥ १॥" प्रा० ४ पाद।

मणिकंचणकूड–मणिकाञ्चनकूट–न०। रुक्मिवर्षधरपर्वतस्याऽष्टमे कूटे, स्था० ६ ठा०। जं०।

दो मणिकंचणकूडा। स्था० २ ठा० ३ उ०।

मणिकंचणरुप्पवराण–मणिकाञ्चनरूप्यवर्ण–त्रि०। मणिकाञ्चनरूप्याणामिव वर्णश्छाया येषां ते। रत्नकाञ्चनरूप्यच्छायेषु, पं०व० २ द्वार।

मणिकणग–मणिकनक–न०। मणिकनकमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। "मणिकणगथूमियाग।" मणिकनकानां सम्बन्धिनी स्तूपिका शिखरं यस्य तन्मणिकनकस्तूपिकाकम्। चं० प्र० १६ पाहु०। जी०। सू० प्र०। स०।

मणिकण्णिया–मणिकर्णिका–स्त्री०। काश्यां गङ्गातटे स्वनामख्याते लौकिकतीर्थे, यत्र कमठतापसः पार्श्वस्वामिना पराजितः (?) स्तीकृतः। ती० ३७ कल्प।

मणिकम्म–मणिकर्म्मन्–न०। मणिषु निष्पादितस्वस्तिकाऽऽदिचित्रकर्म्मसु, आचा० २ श्रु० २ चू० ५ अ०। कल्प०।

मणिकूड–मणिकूट–न०। रुचकवरपर्वतपश्चिमदिक्कूटे, द्वी०।

मणिकोट्टिमतल–मणिकुट्टिमतल–न०। मणिबद्धभूमितले, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मणिक्खंडिय–माणिक्यखण्डिक–पुं०। रत्नपरीक्षके, महा० २ चूलि०।

मणिचूड–मणिचूड–पुं०। गन्धारदेशीयरत्नवाहपुरराजे विद्याधरे,उत्त० ६ अ०। ('णमि' शब्दे चतुर्थभागे१८०८पृष्ठे कथोक्ता)

मणिणाग–मणिनाग–पुं०। राजगृहे नगरे महातपस्तीरप्रभनाम्नि प्रस्रवणे पूज्यमाने स्वनामख्याते नागे, विशे०। आ० म०। आ० चू०। स्था०। आ० क०।

मणिजाल–मणिजाल–न०। मणिमये दामसमूहे, जं० १ वक्ष०। रा०।

मणितोरणा–मणितोरणा–स्त्री०। जम्बूद्वीपे पुष्कलावर्तविजये स्वनामख्याते पुरीभेदे, उत्त० ६ अ०।

मणिदत्त–मणिदत्त–पुं०। भारते वर्षे रोहितकनगरे स्वनामख्याते यक्षे, नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ०।

मणिपडिमा–मणिप्रतिमा–स्त्री०। मणिमयरत्नप्रतिमायाम्, व्य० ६ उ०।

मणिपेढिया–मणिपीठिका–स्त्री०। मणिमयपीठिकायाम्, यत्र जिनमूर्तयः स्थाप्यन्ते ता मणिपीठिकाः। रा०। जी०। जं०। स्था०। भ०।

मणिप्पभ–मणिप्रभ–पुं०। गन्धारनाम्नि देशे रत्नवाहनगरे स्वनामख्याते विद्याधरेन्द्रे, उत्त० ६ अ०। अवन्तिराजपालकसुतराष्ट्रवर्द्धनपुत्रे कौशाम्बीराजे, आ० क० ४ अ०। (तत्कथा 'अणणयया' शब्दे प्रथमभागे ४१४ पृष्ठे दर्शिता) मणिप्रभो नाम राजा। आव० ४ अ०। आ०चू०। अयोध्याराजस्य हरिश्चन्द्रस्य परीक्षके स्वनामकदेवे, ती० ३७ कल्प।

मणिबंध–मणिबन्ध–पुं०। मणिर्बध्यते यत्र। बन्ध घञ्। प्रकोष्ठपाण्योर्मध्यस्थे करग्रन्थौ, सैन्धवलवणाऽऽकरे पर्वतभेदे च। प्रज्ञा० १ पद। वाच०।

मणिमय–मणिमय–त्रि०। मणिप्रचुरे, मणिविकारे च। रा०।

मणिमेहला–मणिमेखला–स्त्री०। रत्नकाञ्च्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

मणियार–मणिकार–पुं०। राजगृहे नगरे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, आव० ६ अ०। आ० चू०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मणिरयण-मणिरत्न-न० । " रत्नं निगद्यते तज्जातौ जातौ यदुत्कृष्टम् । " इति वचनान्मणिजात्युत्कृष्टे, स्था० ७ ठा० । सं० । आ०चू० । " मणिरयणविभत्तिचित्ता । " मणयश्चन्द्रकान्ताऽऽद्याः रत्नानि कर्केतनाऽऽदीनि तेषां भक्तिभिर्विच्छित्तिभिश्चित्रा नानारूपा आश्चर्यवन्तो वा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । प्रश्न० । वृद्धगच्छीयसोमप्रभसूरिशिष्ये, ग० ३ अधि० ।

मणिरह-मणिरथ-पुं० । मालवदेशीयसुदर्शनपुरराजे मदनरेखाज्येष्ठे, उत्त० ६ अ० । ('णमि' शब्दे चतुर्थभागे १८०७ पृष्ठे कथाऽस्य)

मणिलक्खण-मणिलक्षण-न० । रत्नपरीक्षाग्रन्थोक्तकाकपदमक्षिकापदकेशराहित्यशर्करतास्वस्ववर्णोचितफलदायित्वाऽऽदिमणिगुणदोषविज्ञाने, जं० २ वक्ष० । औ० । स० । सूत्र० ।

मणिवंसग-मणिवंशक-न० । मणयो मणिमया वंशा येषां तानि मणिवंशकानि । मणिमयवंशयुक्तेषु, जं० १ वक्ष० । जी० ।

मणिवट्टग-मणिवृत्तक-न० । मणिप्रधाने भोजनक्षणोपयोगिघृताऽऽदिपात्रे, जं० २ वक्ष० ।

मणिवया-मणिपदा-स्त्री० । पुरीभेदे, " मणिवया णयरी, मित्तो राया, संभूतिविजये अणगारे पडिलाभिए० जाव सिद्धे । " विपा० २ श्रु० ६ अ० ।

मणिवियया-मणिविजया-स्त्री० । भारतवर्षेऽतिप्राचीनायां स्वनामिकायां नगर्याम्, यत्र पूर्णभद्रस्य देवस्य पूर्वजन्माऽऽसीत् । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ५ अ० ।

मणिसलागा-मणिशलाका-स्त्री० । मणिशलाकेव मणिशलाका । मद्यभेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । नं० ।

मणिहियय-मणिहृदय-पुं० । शङ्खवरस्य परस्तात् स्थितस्य द्वीपभेदस्य देवे, द्वी० ।

मणीसा-मनीषा-स्त्री० । बुद्धौ, अनु० । " मेहा मई मणीसा, विन्नाणं धी चिई बुद्धी । (४२) " पाइ० ना० ३१ गाथा ।

मणु-मनु-पुं० । मनुष्याणां परममूलपुरुषे, यदपत्यानि मनुष्या उच्यन्ते । आ० म० १ अ० । मनुना प्रणीते ग्रन्थे च । विशे० । मनुष्ये, मनुरिति मनुष्यस्य संज्ञा । वाच० ।

मणुअ-मनुज-पुं० । नरे, " मणुआ नरा मणुस्सा, मच्चा तह माणवा पुरिसा । " (१००) पाइ० ना० ६० गाथा ।

मणुज्ज-मनोज्ञ-त्रि० । सुन्दरे, " रुइरं राहं रम्मं, अहिरामं बंधुरं मणुज्जं च । लट्ठं कंतं सुहयं, मणोरमं चारु रमणिज्जं । " (१४) पाइ० ना० १४ गाथा ।

मणुण्ण-मनोज्ञ-त्रि० । मनसा ज्ञायते-उपादीयत इति मनोज्ञम् । तं० । मनसाऽन्तःसंवेदनेन शोभनतया ज्ञायत इति मनोज्ञः, विपा० २ श्रु० १ अ० । मनसा ज्ञायन्ते सुन्दरतया यत्तन्मनोज्ञम् । भावतः सुन्दरे, भ० ६ श० ३३ उ० । जं० । औ० । स्वरूपतः शोभने, स्था० ३ ठा० १ उ० । मनोज्ञाः मनसो मता वल्लभाः सर्वस्याप्युपभोक्तुः सर्वदा च शोमनत्वप्रकर्षादेव निरुक्तविधिना । स्था० २ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । मनोज्ञो मनसा सम्यगुपादेयतया ज्ञातत्वात् । रा० । विपाकेऽपि सुखजनकतया मनसः प्रह्लादहेतुत्वात् । जी० १ प्रति० । मनसो रुचिते, नि० चू० २ उ० । बृ० । आ० म० । जी० । पं०व० । प्रश्न० । रा० । जं० । विशे० । मनोरमे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आव० । इष्टे, आव० ५ अ० । प्रव० । आचा० । " मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणाऽऽसणं । मणुण्णंसि अगारंसि, मणुण्णं झायए मुणी ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । अभिलषणीये, स्था० ६ ठा० । सूत्र० । शुभस्वरूपे, स्था० ६ ठा० । सूत्र० । मनोविनोदकारिणि, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । संभोगिके, व्य० १ उ० ।

मणुण्णतर-मनोज्ञतर-त्रि० । मनोज्ञशब्दात्प्रकर्षविवक्षायां तरप् । अतिमनोऽनुकुले, रा० । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

मणुण्णसंपओगसंपउत्त-मनोज्ञसम्प्रयोगसम्प्रयुक्त-न० । मनोज्ञस्य धनाऽऽदेः सम्प्रयोगो-योगस्तेन संप्रयुक्तो यः स तथा । आर्त्तध्यानभेदे, ग० १ अधि० ।

मणुण्णसरया-मनोज्ञस्वरता-स्त्री० । उपरतभावोऽपि स्वाऽऽलम्बनप्रीतिजनको मनोज्ञः स्वरो यस्य स मनोज्ञस्वरस्तद्भावस्तत्ता । मनोज्ञस्वरत्वे, प्रश्न० २३ पद ।

मणुतिरियाणुपुव्वी-मनुजतिर्यगानुपूर्वी-स्त्री० । मनुजानुपूर्व्याम्, तिर्यगानुपूर्व्यां च । कर्म० २ कर्म० ।

मणुदुग-मनुजद्विक-न० । मनुजगतिमनुजानुपूर्वीरूपे मनुजोपलक्षिते द्वये, कर्म० ५ कर्म० ।

मणुपुव्वग-मनुपूर्वक-पुं० । वैताढ्यपर्वते मनुविद्याप्रधाने विद्याधरे, आ० चू० १ अ० ।

मणुय-मनुज-पुं० । मनोर्जातो मनुजः । मनुष्ये, स्था० १ ठा० । उत्त० । सूत्र० । नरे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । तं० । मनुष्याश्चतुर्भेदाः । तद्यथा-संमूर्च्छनजाः, कर्मभूमिजाः, अकर्मभूमिजाः, अन्तरभूमिजाश्चेति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । स्था० । भ० । औ० । मर्त्ये, स्था० ६ ठा० । श्रीश्रेयांसस्य मनुजो यक्षो, मताऽन्तरेणेश्वरो धवलवर्णस्त्रिनेत्रो वृषभवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गगदायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च । प्रव० २६ द्वार । स० ।

मणुयगइ-मनुजगति-स्त्री० । मनुष्याणां गतिः मनुष्यत्वसंपादिका वा गतिः । गतिभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

मणुयगइसहगया--मनुजगतिसहगता-स्त्री० । मनुष्यगत्या सह यासामुदयस्ता मनुजगतिसहगताः । तथाविधासु कर्म्मप्रकृतिषु, कर्म० ६ कर्म० ।

मणुयतिग-मनुजत्रिक-न० । मनुजगतिमनुजानुपूर्वीमनुजाऽऽयुर्लक्षणे मनुष्योपलक्षिते त्रिके, कर्म० २ कर्म० ।

मणुयजोणि-मनुजयोनि-स्त्री० । मनुष्यजातीनामुत्पत्तिस्थाने, प्रश्न० २ आश्रवद्वार ।

मणुस्स--मनुष्य-पुं० । मनुरिति मनुष्यस्य संज्ञा । मनोरपत्यानि मनुष्याः । जातिशब्दोऽयं राजन्याऽऽदिशब्दवत् । जी० १ प्रति० । नि० चू० । नरे, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार । मनुजे, जी० ३ प्रति० ५ अधि० । सूत्र० । उत्त० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्यभेदाः—

से किं तं मणुस्सा ?। मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—संमुच्छिममणुस्सा य, गब्भवक्कंतियमणुस्सा य । से किं तं संमुच्छिममणुस्सा ?। कहिं णं भंते ! संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति ?। गोयमा ! अंतो मणुस्सखेत्ते पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पण्णरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अंतरदीवएसु गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणएसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपोग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससंजोएसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु, एत्थ णं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति, अंगुलस्स असंखिज्जइभागमेत्ताए ओगाहणाए असन्नी मिच्छदिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्ताउया चेव कालं करेंति । सेत्तं संमुच्छिममणुस्सा । से किं तं गब्भवक्कंतियमणुस्सा ?। गब्भवक्कंतियमणुस्सा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—कम्मभूमगा, अकम्मभूमगा, अंतरदीवगा ।

(से किं तमित्यादि) अत्रापि सम्मूर्च्छिममनुष्यविषये प्रवचनबहुमानतः शिष्याणामपि च साक्षाद्भगवतेदमुक्तमिति बहुमानोत्पादनार्थमङ्गलान्तर्गतमालापकं पठति—" कहि णं भंते !" इत्यादि सुगमं, नवरं " सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु त्ति । " अन्यान्यपि यानि कानिचित् मनुष्यसंसर्गवशादशुचिभूतानि स्थानानि तेषु सर्वेष्विति । उक्ताः संमूर्च्छिममनुष्याः । अधुना गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यप्रतिपादनार्थमाह—(से किं तमित्यादि) 'कम्मभूमिगा' इति—कर्म कृषिवाणिज्याऽऽदि मोक्षानुष्ठानं वा, कर्मप्रधाना भूमिर्येषां ते कर्मभूमाः, आर्षत्वात् समासान्तोऽप्रत्ययः, कर्मभूमा एव कर्मभूमकाः, एवमकर्मा—यथोक्तकर्मविकला भूमिर्येषां ते अकर्मभूमास्ते एवाऽकर्मभूमकाः, अन्तरशब्दो मध्यवाची; अन्तरे लवणसमुद्रस्य मध्ये द्वीपा अन्तरद्वीपाः तद्गता अन्तरद्वीपगाः, "अस्ति पश्चानुपूर्वी" इति न्यायख्यापनार्थम् । प्रज्ञा० १ पद । अनु० । आचा० । (कर्मभूमकमनुष्याणां व्याख्या 'कम्मभूमग' शब्दे तृतीयभागे ३३६ पृष्ठे गता) (अकर्मभूमकमनुष्याणां वक्तव्यता 'अकम्मभूमग' शब्दे प्रथमभागे १२० पृष्ठे गता) (अन्तरद्वीपमनुष्यवक्तव्यता ' अंतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे गता) (आर्यमनुष्यव्याख्या ' आ (य) रिय ' शब्दे द्वितीयभागे ३३६ पृष्ठे गता) (म्लेच्छमनुष्याणां व्याख्या ' मिलक्खु ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

से किं तं मणुस्सा ? । मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—संमुच्छिममणुस्सा य, गब्भवक्कंतियमणुस्सा य । कहि णं भंते ! संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति ?। गोयमा ! अंतो मणुस्सखेत्ते ० जाव करेंति । तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिन्नि सरीरगा पण्णत्ता । तं जहा—ओरालिए, तेयए, कम्मए । सेत्तं संमुच्छिममणुस्सा । से किं तं गब्भवक्कंतियमणुस्सा ? । गब्भवक्कंतियमणुस्सा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—कम्मभूमया, अकम्मभूमया, अंतरदीवजा, एवं मणुस्सभेदो भाणियव्वो जहा पण्णवणाए तहा निरवसेसं भाणियव्वं ०जाव छउमत्था य, केवली य । ते समासतो दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पज्जत्ता य, अपज्जत्ता य । तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंच सरीरया पण्णत्ता । तं जहा—ओरालिए ०जाव कम्मए । सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागा, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं छच्चेव संघयणा छस्संठाणा । ते णं भंते ! जीवा किं कोहकसायी ०जाव लोभकसायी, अकसायी ?। गोयमा ! सव्वे वि । ते णं भंते ! जीवा किं आहारसन्नोवउत्ता, लोभसन्नोवउत्ता, नोसन्नोवउत्ता ?। गोयमा ! सव्वे वि । ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेस्सा य ० जाव अलेस्सा ?। गोयमा ! सव्वे वि । सोइंदियोवउत्ता ० जाव नोइंदिओवउत्ता वि, सव्वे समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा—वेयणासमुग्घाते ०जाव केवलिसमुग्घाते, सन्नी वि, नोसन्नी, असन्नी वि, इत्थिवेदा वि ०जाव अवेदा वि , पंच पज्जत्ती, तिविहा दिट्ठी, चत्तारि दंसणा, णाणी वि, अणाणी वि, जे णाणी ते अत्थेगतिया दुण्णाणी, अत्थेगतिया तिन्नाणी, अत्थेगतिया चउनाणी , अत्थेगतिया एगणाणी । जे दुण्णाणी ते नियमा आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी य । जे तिण्णाणी ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी य । अहवा—आभिणिबोहियणाणी, सुतणाणी, मणपज्जवणाणी य । जे चउणाणी ते णियमा आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी य । जे एगणाणी ते नियमा केवलणाणी, एवं अणाणी वि, दुअण्णाणी, तिअण्णाणी, मणजोगी वि, वइकायजोगी वि, अजोगी वि, दुविहउवओगे , आहारो छद्दिसिं । उववातो नेरइएहिं अधे सत्तमवज्जेहिं तिरिक्खजोणिएहिंतो, उववाओ असंखेज्जवासाऽऽउअवज्जेहिं मणुएहिं अकम्मभूमगअंतरदीवगअसंखेज्जवासाउयवज्जेहिं, देवेहिं सव्वेहिं, ठिती जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं, दुविहा वि मरंति, उव्वट्टित्ता नेरइयादिसु ०जाव अणुत्तरोववाइएसु अत्थेगतिया सिज्झंति० जाव अंतं करेंति । ते णं भंते ! जीवा कति गइया, कति आगतिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचगतिया, चउआगतिया, परित्ता संखेज्जा पण्णत्ता । सेत्तं मणुस्सा । (सूत्रे-४१)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ के ते मनुष्याः ?। सूरिराह–मनुष्या द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा–संमूर्च्छिममनुष्याश्च,गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याश्च,चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ, तत्र संमूर्च्छिममनुष्यप्रतिपादनार्थमाह–'कहि णं भंते !' इत्यादि। क्व भदन्त ! संमूर्च्छिममनुष्याः संमूर्च्छन्ति ?। भगवानाह–गौतम ! 'अंतो मणुस्सखेत्ते ०जाव करेंति' इति। (जी०) (तेसि णं भंते ! इत्यादि) शरीराणि त्रीणि औदारिकतैजसकार्म्मणानि, अवगाहना जघन्यत उत्कर्षतश्चाङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रमाणा, संहननसंस्थानकषायलेश्याद्वाराणि यथा द्वीन्द्रियाणाम्। इन्द्रियद्वारे पञ्चेन्द्रियाणि,संज्ञिद्वारवेदद्वारे अपि द्वीन्द्रियवत्, पर्याप्तिद्वारे अपर्याप्तयः पञ्च दृष्टिदर्शनज्ञानयोगोपयोगद्वाराणि (यथ।) पृथिवीकायिकानाम्, आहारो यथा द्वीन्द्रियाणाम्, उपपातो नैरयिकदेवतेजोवाय्वऽसंख्यातवर्षाऽऽयुष्कवर्ज्येभ्यः स्थितिर्जघन्यतः उत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टमधिकं वेदितव्यं, मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता अपि म्रियन्ते, असमवहताश्च, अनन्तरमुद्वृत्य नैरयिकदे—वासंख्येयवर्षायुष्कवर्जेषु शेषेषु स्थानेषूपपद्यन्ते, अत एव गत्यागतिद्वारे द्व्यागतिका द्विगतिकास्तिर्यङ्मनुष्यगत्यपेक्षया, परीत्ताः प्रत्येकशरीरिणोऽसंख्येयाः प्रज्ञप्ताः। हे श्रमण! हे आयुष्मन्!। उपसंहारमाह–(सेत्तं संमुच्छिममणुस्सा) उक्ताः संमूर्च्छिममनुष्याः। अधुना गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यानाह–अथ के ते गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याः?।सूरिराह–गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-कर्म्मभूमकाः,अकर्मभूमकाः,अन्तरद्वीपजाः। तत्र कर्म–कृषिवाणिज्याऽदि मोक्षानुष्ठानं वा,कर्म्मप्रधाना भूमिर्येषां ते कर्मभूमाः,आर्षत्वात् समासान्तोऽप्रत्ययः। कर्म्मभूमा एव कर्म्मभूमकाः एवमकर्मा यथोक्तकर्म्मविकला भूमिर्येषां ते अकर्म्मभूमास्त एवाकर्मभूमकाः, अन्तरशब्दो मध्यवाची,अन्तरे–लवणसमुद्रस्य मध्ये द्वीपा अन्तरद्वीपास्तद्गता अन्तरद्वीपगाः। (एवं मणुस्सभेओ भाणियव्वो जहा पण्णवणाए इति) एवम्–उक्तेन प्रकारेण मनुष्यभेदो भणितव्यो यथा प्रज्ञापनायां, स चातिबहुग्रन्थ इति तत एव परिभावनीयः। (ते समासतो इत्यादि) पर्याप्तापर्याप्तसूत्रं पाठसिद्धं, शरीराऽऽदिद्वारकलापचिन्तायां शरीरद्वारे पञ्च शरीराणि। तद्यथा—औदारिकं वैक्रियमाहारकं तैजसं कार्म्मणं च, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात्, अवगाहनाद्वारे जघन्यतोऽवगाहनाऽङ्गुलाऽसंख्येयभागमात्रा, उत्कर्षतस्त्रीणि गव्यूतानि। संहननद्वारे षडपि संहननानि, संस्थानद्वारे—षडपि संस्थानानि, कषायद्वारे क्रोधकषायिणोऽपि मानकषायिणोऽपि मायाकषायिणोऽपि लोभकषायिणोऽपि अकषायिणोऽपि, वीतरागमनुष्याणामकषायित्वात्, संज्ञाद्वारे–आहारसंज्ञोपयुक्ता भयसंज्ञोपयुक्ता मैथुनसंज्ञोपयुक्ता लोभसंज्ञोपयुक्ताः, नोसंज्ञोपयुक्ताश्च निश्चयतो वीतरागमनुष्याः, व्यवहारतः सर्व एव चारित्रिणो, लोकोत्तरचित्तलाभात् तस्य संज्ञादशकेनाऽपि विप्रयुक्तत्वात्। उक्तं च—" निर्वाणसाधकं सर्वं, ज्ञेयं लोकोत्तराऽऽश्रयम्। संज्ञालोकाऽऽश्रया सर्वा, भवाङ्कुरजलं परम् ॥ १ ॥" लेश्याद्वारे–कृष्णलेश्या नीललेश्याः कापोतलेश्यास्तेजोलेश्याः पद्मलेश्याः शुक्ललेश्या अलेश्याश्च, तत्रालेश्याः परमशुक्लध्यायिनोऽयोगिकेवलिनः। इन्द्रियद्वारे–श्रोत्रेन्द्रियोपयुक्ताः यावत्स्पर्शनेन्द्रियोपयुक्ता नोइन्द्रियोपयुक्ताश्च, तत्र नोइन्द्रियोपयुक्ताः केवलिनः, समुद्घातद्वारे—सप्ताऽपि समुद्घाताः, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात्। समुद्घातसंग्राहिका चेमा गाथा–" वेयणकसायमरणं–तिए य वेउव्विए य आहारे। केवलियसमुग्घाए,सत्त समुग्घा इमे भणिया ॥१॥" संज्ञिद्वारे-संज्ञिनोऽपि नोसंज्ञिनोऽसंज्ञिनोऽपि, तत्र नोसंज्ञिनः असंज्ञिनः केवलिनः। वेदद्वारे–स्त्रीवेदा अपि पुरुषवेदा अपि नपुंसकवेदा अपि अवेदाः सूक्ष्मसंपरायाऽऽदयः, पर्याप्तिद्वारे–पञ्च पर्याप्तयः पञ्च अपर्याप्तयः, भाषामनःपर्याप्त्योरेकत्वेन विवक्षणात् दृष्टिद्वारे–त्रिविधदृष्टयोऽपि। तद्यथा–केचिन् मिथ्यादृष्टयः केचित् सम्यग्दृष्टयः, केचित् सम्यग्मिथ्यादृष्टयः। दर्शनद्वारे–चतुर्विधदर्शनाः, तद्यथा—चक्षुर्दर्शना अचक्षुर्दर्शना अवधिदर्शनाः केवलिदर्शनाश्च, ज्ञानद्वारे—ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र मिथ्यादृष्टयोऽज्ञानिनः सम्यग्दृष्टयो ज्ञानिनः, (नाणाणि पंच तिण्णि अण्णाणाणि भयणाए इति) ज्ञानानि पञ्च मतिज्ञानाऽऽदीनि, अज्ञानानि त्रीणि मत्यज्ञानाऽदीनि, तानि भजनया वक्तव्यानि, सा च भजना एवं—केचित् द्विज्ञानिनः केचित् त्रिज्ञानिनः केचिच्चतुर्ज्ञानिनः केचिदेकज्ञानिनः, तत्र ये द्विज्ञानिनस्ते नियमादाभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च, ये त्रिज्ञानिनस्ते मतिज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्च, अथवा—आभिनिवोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनो मनःपर्यवज्ञानिश्च, अवधिज्ञानमन्तरेणाऽपि मनःपर्यवज्ञानस्य सम्भवात्। सिद्धप्राभृताऽऽदौ तथाऽनेकशोऽभिधानात्, ये चतुर्ज्ञानिनस्ते आभिनिवोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनो मनःपर्यवज्ञानिनश्च, ये एकज्ञानिनस्ते केवलज्ञानिनः, केवज्ञानसद्भावे शेषज्ञानापगमात्, " नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे " इति वचनात्, ननु केवलज्ञानप्रादुर्भावे कथं शेषज्ञानापगमः ?, यावता यानि शेषाणि मत्यादीनि ज्ञानानि स्वस्वाऽऽवरणक्षयोपशमेन जायन्ते ततो निर्मूलस्वस्वाऽऽवरणविलये तानि सुतरां भवेयुश्चारित्रपरिणामवत्। उक्तं च—" आवरणदेसविगमे, जाइं विज्जंति मइसुयाऽऽईणि। आवरणसव्वविगमे, कह ताइं न होंति जीवस्स ? ॥ १ ॥ " उच्यते—इह यथा जात्यस्य मरकताऽऽदिमणेर्मलोपदिग्धस्य यावन्नाद्याऽपि समूलमलापगमस्तावत् यथा यथा देशतो मलविलयस्तथा तथा देशतोऽभिव्यक्तिरुपजायते,सा च क्वचित् कदाचित् कथञ्चिद्भवतीत्यनेकप्रकारा, तथाऽऽत्मनोऽपि सकलकालकलापावलम्बिनिखिलपदार्थसार्थपरिच्छेदकरणैकपारमार्थिकस्वरूपस्याऽपि आवरणमलपटलतिरोहितस्य यावन्नाद्यापि निखिलकर्ममलापगमस्तावद्यथा यथा देशतः कर्ममलोच्छेदस्तथा तथा तस्य विज्ञप्तिरुज्जृम्भते, सा च क्वचित्–कदाचित् कथञ्चिदनेकप्रकारा। उक्तं च–"मलविद्धमणेर्व्यक्ति–र्यथाऽनेकप्रकारतः। कर्मविद्धात्मविज्ञप्ति-स्तथाऽनेकप्रकारतः॥१॥"सा चाऽनेकप्रकाराता मतिश्रुताऽऽदिभेदेनाऽवसेया। ततो यथा मरकतादिमणेरशेषमलापगमसंभवे समस्तास्पष्टदेशव्यक्तिव्यवच्छेदेन परिस्फुटरूपैकाभिव्यक्तिरुपजायते तद्वदात्मनोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रप्रभावतो निःशेषाऽऽवरणप्रहाणावशेषदेशज्ञानव्यवच्छेदेन एकरूपा अतिपरिस्फुटा सर्ववस्तुपर्यायप्रपञ्चसाक्षात्कारिणी विज्ञप्तिरुल्लसति, उक्तं च–' यथा जात्यस्य रत्नस्य निःशेषमलहानितः। स्फुटैकरूपाऽभिव्यक्ति विज्ञप्तिस्तद्वदात्मनः १' इतिये अज्ञानि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नस्ते द्व्यज्ञानिनः,त्र्यज्ञानिनो वा, तत्र ये द्व्यज्ञानिनस्ते मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनश्च, ये त्र्यज्ञानिनस्ते मत्यज्ञानिनः, श्रुताज्ञानिनो विभङ्गज्ञानिनश्च,योगद्वारे-मनोयोगिनो,वाग्योगिनः, काययोगिनोऽयोगिनश्च, तत्राऽयोगिनः शैलेशीमवस्थां प्रतिपन्नाः, उपयोगद्वारमाहारद्वारं च द्वीन्द्रियवत्,उपपात एतेभ्यः सप्तमनरकाऽऽदिवर्जेभ्यः । उक्तं च-" सत्तममहिनेरइया, तेऊ वाऊ अणंतरुव्वट्टा । न वि पावे माणुस्सं, तहेवऽसंखाउया सव्वे ॥ १ ॥" इति । स्थितिद्वारे-जघन्यतः स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, समुद्घातमधिकृत्य-मरणचिन्तायां समवहता अपि म्रियन्ते, असमवहता अपि। च्यवनद्वारे-अनन्तरमुद्धृत्य सर्वेषु नैरयिकेषु सर्वेषु च तिर्यग्योनिषु सर्वेषु मनुष्येषु सर्वेषु देवेष्वनुत्तरोपपातिकपर्यवसानेषु गच्छन्ति " अत्थेगतियर सिज्झंति ०जाव अंतं करेंति " इति । अस्तीति निपातोऽत्र बहुवचनार्थः,सन्त्येकका ये निष्ठितार्था भवन्ति । यावत्करणात्-"बुज्झंति,मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति । " इति द्रष्टव्यम् । तत्र अणिमाऽऽद्यैश्वर्याऽऽप्त्या तथाविधमनुष्यकृत्यापेक्षया निष्ठितार्था इति असर्वविदोऽपि कैश्चित् सिद्धा इष्यन्ते, ततो मा भूदेतेषु संप्रत्यय इति तदपोहायाऽऽह-बुध्यन्ते निरावरणत्वात् केवलावबोधेन समस्तं वस्तुजातम् , एते चासिद्धा अपि भवस्थकेवलिन एवम्भूता वर्त्तन्ते, तत्र मा भूदेतेष्वेव प्रतीतिरित्याह-' मुच्यन्ते ' पुण्यापुण्यरूपेण कृच्छ्रेण कर्मणा, एतेऽपि आपि निर्वृत्ता एव परैरिष्यन्ते-मुक्तिपदे प्राप्ता अपितीर्थनिकारदर्शनाऽऽदिहाऽऽगच्छन्ति,इति वचनात्,ततो भूत्तद्दोषरा मन्दमतीनां धीरित्याह-' परिनिर्वान्ति ' विध्यातसमस्तकर्म्महुतवहपरमाणवो भवन्ति इति । किमुक्तं भवति ?-सर्वदुःखानां शरीरमानसभेदानामन्तं-विनाशं कुर्वन्ति, अत एव गत्यागतिद्वारे-चतुरागतिकाः पञ्चगतिकाः, सिद्धिगतावपि गमनात्, ' परीत्ताः ' प्रत्येकशरीरिणः सङ्ख्येयाः संख्येयकोटिप्रमाणत्वात् प्रज्ञप्ताः 'हे श्रमण ! हे आयुष्मान् ! उपसंहारमाह-' सेत्तं मणुस्सा । ' जी० १ प्रति० । आचा० । स्था० । सूत्र० । पं० सं० । ति० । (दण्डकप्रतिबद्धा अधिकारा अन्तक्रियाऽऽदयोऽन्तक्रियाऽऽदिशब्देषु)

हरिवर्षाऽऽदिषु त्रिषष्टिरात्रिन्दिवं यौवनम्—

हरिवासरम्मयवासेसु णं मणुस्सा तेवट्टिए राइंदिएहिं संपत्तजोव्वणा भवंति । (स० ६३ सम०) देवकुरुउत्तरकुरासु णं मणुया एगूणपन्नं राइंदिएहिं संपत्तजोव्वणा भवंति । स० ४९ सम० ।

सम्प्रति मनुष्यस्य सचित्ताऽऽदिभेदात् त्रिविधस्याप्युपयोगमाह—

सचित्ते पव्वावण, पंथुवएसे य भिक्खदाणाऽऽइ ।
सीसऽट्ठिग अचित्ते, मीसऽट्ठिसरक्खपहपुच्छा ॥ ५१ ॥

सचित्ते इति-षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् सचित्तस्य मनुष्यस्य प्रयोजनं पथि पृष्टे उपदेशः कथनं,तथा भिक्षाऽऽदानम्,आदिशब्दाद्वसत्यादिदानं चोपयोगः, (अचित्ते) अचित्तस्य शिरसोऽस्थि,तद्धि लिङ्गे व्याधिविशेषापनोदाय घर्षित्वा दीयते, यद्वा-कदाचित्कश्चित्परिरुष्टो राजाऽऽदिः साधूनां विनाशाय कृतोद्यमो भवेत् । ततस्ते साधवः शिरोऽस्थिकमादाय कापालिकवेषेण नंष्ट्वा देशान्तरं व्रजितुमिच्छन्तीति तेन प्रयोजनं, तथा मिश्रस्य मनुष्यस्योपयोगः, (अट्ठिसरक्ख त्ति) अस्थिभिराभरणकल्पैर्भूषितस्य सरजस्कस्य सरक्षकस्य वा भस्मावगुण्ठितवपुष्कस्येत्यर्थः , कापालिकस्य पार्श्वे यत् पथि विषये प्रच्छनम् । पिं० । (अग्रेतनविषयस्तु ' वाउकाइय ' शब्दे वक्ष्यते) " ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतक—तडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । " मानुष्यकात्परिभ्रष्टै-र्लभ्यते न मनुष्यता । " आ० क० १ अ० । (मनुष्यत्वस्य दौर्लभ्यम् ' चउरंग ' शब्दे तृतीयभागे १०५१ पृष्ठे उक्तम्) (मनुष्यशरीराणां जघन्योत्कृष्टपदे संख्या ' सरीर ' शब्दे)

छव्विहा मणुस्सगा पण्णत्ता । तं जहा-जंबूदीवगा, धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धगा, धायइसंडदीवपच्चच्छिमद्धगा, पुक्खरवरदीवड्ढपुरच्छिमद्धगा, पुक्खरवरदीवड्ढपच्चच्छिमद्धगा, अंतरदीवगा । अहवा-छव्विहा मणुस्सा पण्णत्ता । तं जहा-संमुच्छिममणुस्सा ति० ३-कम्मभूमगा१, अकम्मभूमगा २, अंतरदीवगा ३ । गब्भवक्कंतिअमणुस्सा ति० ३-कम्मभूमिगा १ , अकम्मभूमिगा २ , अंतरदीवगा ३ । (सूत्र-४९०) स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

' वारस मुहुत्तगब्भे, इअरे चउवीस विरह उक्कोसो । ' एतद्विरहकालः संमूर्च्छजमनुष्याणां कियता कालेन भवतीति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—इह मनुष्या द्विविधाः—सम्मूर्च्छजाः, गर्भजाश्च । तत्राऽऽद्याः कदाचिन्न भवन्त्येव, जघन्यतः समयस्योत्कृष्टतस्तु चतुर्विंशतिमुहूर्त्तान्तरकालस्य प्रतिपादितत्वात्, उत्पन्नानां तु जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वेन परतः सर्व्वेषां निर्लेपकत्वसम्भवात्, यदा तु भवन्ति तदा जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कृष्टतस्तु असङ्ख्याताः, इतरे तु सङ्ख्येया भवन्तीत्यनुयोगद्वारवृत्तौ । त्रसत्वं—त्रसत्वेनोत्पत्तिः, सततमनवरतं, जघन्यत एकं समयमुत्कर्षत आवलिकाऽसङ्ख्येयभागं कालं, परतोऽवश्यमन्तरम् । अपि च-आस्तां सामान्येन त्रसत्वम् , किन्तु—द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः सम्मूर्च्छजमनुष्या अप्रतिष्ठाननरकावासनारकवर्ज्जाः शेषाः प्रत्येकं नारका अनुत्तरसुरवर्ज्जाः शेषाः प्रत्येकं देवाश्च निरन्तरमुत्पद्यमाना जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टत आवलिकाया असङ्ख्येयभागं कालम् , इति पञ्चसंग्रहवृत्तौ ४५ पत्रे, एतदक्षरानुसारेणोत्कृष्टतः कदाचिदावलिकाया असङ्ख्येयभागकालानन्तरं सम्मूर्च्छजमनुष्याणां चतुर्विंशतिमुहूर्त्तविरहकालः सम्भवतीति । ६५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

मणुस्सखेत्त-मनुष्यक्षेत्र-न० । मानुषोत्तरपर्वतसीमाके मनुष्याणां क्षेत्रे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । (मनुष्यक्षेत्रे द्वौ समुद्रौ इति ' समुद्द ' शब्दे द्रष्टव्यम्)

समयखेत्ते णं भंते ! केवतियं आयामविक्खंभेणं केवति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यं परिक्खेवेणं पणत्ते ?। गोयमा ! पणयालीसं जोयणसतसहस्साइं आयामविक्खंभेणं एगा जोयणकोडी०जाव अब्भिंतरपुक्खरऽद्धपरिरओ से भाणियव्वो०जाव अउणपन्ने।

(समयखेत्ते णमित्यादि) मनुष्यक्षेत्रं भदन्त ! कियदायामविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्, भगवानाह–गौतम ! पञ्चचत्वारिंशद् योजनशतसहस्राणि आयामविष्कम्भेन,एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशत्शतसहस्राणि त्रिंशत् सहस्राणि द्वे योजनशते एकोनपञ्चाशे किञ्चिद्विशेषाधिके परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्।

सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह–

से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति–माणुसखेत्ते, माणुसखेत्ते ?। गोयमा ! माणुसक्खित्ते णं तिविहा मणुस्सा परिवसंति। तं जहा–कम्मभूमगा, अकम्मभूमगा, अंतरदीवगा। से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुचति–माणुसखेत्ते माणुसखेत्ते।

(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते–मनुष्यक्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रमिति ?। भगवानाह–गौतम ! मनुष्यक्षेत्रे त्रिविधाः मनुष्याः परिवसन्ति। तद्यथा–कर्मभूमका अकर्मभूमका अन्तरद्वीपकाश्च। अन्यच्च मनुष्याणां जन्ममरणं चात्रैव क्षेत्रे न तद्बहिः, तथाहि–मनुष्या मनुष्यक्षेत्रस्य बहिर्जन्मतो न भूता न भवन्ति न भविष्यन्ति च। तथा यदि नाम केनचित् देवेन दानवेन विद्याधरेण वा पूर्वानुबद्धवैरनिर्यातनार्थमेवंरूपा बुद्धिः क्रियते यथाऽयं मनुष्योऽस्मात् स्थानादुत्पाट्य मनुष्यक्षेत्रस्य बहिः प्रक्षिप्यतां, येनोर्द्ध्वशोषं शुष्यति,म्रियते वा इति तथाऽपि लोकाऽनुभावादेव सा काचनापि बुद्धिर्भूयः परावर्त्तते, तथा संहरणमेव न भवति, संहृत्य वा भूयः समानयति, तेन संहरणतोऽपि मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्मनुष्याणां मरणमधिकृत्य न भूता न भवन्ति न भविष्यन्ति च। येऽपि जङ्घाचारिणो विद्याचारिणो वा नन्दीश्वराऽऽदीनपि यावद् गच्छन्ति तेऽपि तत्र गता न मरणमश्नुवन्ते, किं तु मनुष्यक्षेत्रमागता एव, तेन मानुषोत्तरपर्वतसीमाकं मनुष्याणां संबन्धि क्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रमिति। जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ०।

सम्प्रति मनुष्यक्षेत्रगतसमस्तचन्द्राऽऽदिसङ्ख्यापरिमाणमाह–

मणुस्सखेत्ते णं भंते ! कइ चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा ?। कइ सूरा तवइंसु वा, तवइंति वा, तवइस्संति वा ?। गोयमा !–

" बत्तीसं चंदसयं, बत्तीसं चेव सूरियाण सयं।
सयलं मणुस्सलोयं, चरंति एए पभासेंता ॥ १ ॥
एक्कारस य सहस्सा, छप्पि य सोला महग्गहाणं तु।
छच सया छण्णउया,णक्खत्ता तिन्नि य सहस्सा ॥ २ ॥
अडसीइ सतसहस्सा, चत्तालीस सहस्स मणुयलोगम्मि।
सत्त य सता अणूणा, तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥ "

सोभं सोभेंसु वा,सोभं सोभन्ति वा,सोभं सोभिस्संति वा।

" एसो तारापिंडो, सव्वसमासेण मणुयलोगम्मि।
बहिया पुण ताराओ, जिणेहिँ भणिया असंखेज्जा ॥१॥
एवइयं तारग्गं, जं भणियं माणुसम्मि लोगम्मि।
चारं कलंबुयापुप्फसंठियं जोइसं चरइ ॥ २ ॥
रविससिगहनक्खत्ता, एवइया आहिया मणुयलोए।
जेसिं नामागोत्तं, न पागया पण्णवेहिंति ॥ ३ ॥
छावट्ठी पिडगाइं, चंदाइच्चा मणुयलोगम्मि।
दो चंदा दो सूरा, हवंति एक्केक्कए पिडए ॥ ४ ॥
छावट्ठी पिडगाइं, नक्खत्ताणं तु मणुयलोगम्मि।
छप्पन्नं नक्खत्ता, य हुंति इक्किक्कए पिडए ॥ ५ ॥
छावट्ठी पिडगाइं, महग्गहाणं तु मणुयलोगम्मि।
छावत्तरं गहसयं, च होइ एक्केक्कए पिडए ॥ ६ ॥
चत्तारि य पंतीओ, चंदाइच्चाण मणुयलोगम्मि।
छावट्ठिय छावट्ठिय, होई एक्केकिया पंती ॥ ७ ॥
छप्पण्णं पंतीओ, णक्खत्ताणं तु मणुयलोगम्मि।
छावट्ठी छावट्ठी, होइ य एक्केकिया पंती ॥ ८ ॥
छावत्तरं गहाणं, पंतिसयं होइ मणुयलोगम्मि।
छावट्ठी छावट्ठी, य होति एक्केकिया पंती ॥ ९ ॥
ते मेरु पडियडंता, पयाहिणाऽऽवत्तमंडला सव्वे।
अणवट्ठियजोगेहिं, चंदा सूरा गहगणा य ॥ १० ॥
णक्खत्ततारगाणं, अवट्ठिता मंडला मुणेयव्वा।
ते वि य पदाहिणाव–त्तमेव मेरुं अणुयरंति ॥ ११ ॥
रयणियरदिणयराणं, उड्ढे य अहे य संकमो नत्थि।
मंडलसंकमणं पुण, अब्भिंतरबाहिरं तिरिए ॥ १२ ॥
रयणियरदिणयराणं, णक्खत्ताणं महग्गहाणं च।
चारविसेसेण भवे, सुहदुक्खविही मणुस्साणं ॥ १३ ॥
तेसिं पविसंताणं, तावक्खेत्तं तु वड्ढते णियमा।
तेणेव कमेण पुणो, परिहायति निक्खमंताणं ॥ १४ ॥
तेसिं कलंबुयापुप्फसंठिता होति तावक्खेत्तपहा।
अंतो य संकुया बाहिं वित्थडा चंदसूराणं ॥ १५ ॥
केणं वड्ढति चंदो, परिहाणी केण होति चंदस्स।
कालो वा जोण्हा वा, केणऽणुभावेण चंदस्स ? ॥१६॥
किण्हं राहुविमाणं, णिचं चंदेण होइ अविरहियं।
चउरंगुलमप्पत्तं, हेट्ठा चंदस्स तं चरति ॥ १७ ॥
बावट्ठिं बावट्ठिं, दिवसे दिवसे तु सुक्कपक्खस्स।
जं परिवड्ढइ चंदो, खवेति तं चेव कालेण ॥ १८ ॥
पण्णरसइभागेण य, चंदं पण्णरसमेव तं वरइ।
पन्नरसइभागेण य,पुणो वि तं चेवऽतिक्कमति ॥ १९ ॥
एवं वड्ढति चंदो, परिहाणी एव होति चंदस्स।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कालो वा जोएहा वा, तेणऽणुभावेण चंदस्स ॥ २० ॥
अंतो मणुस्सखेत्ते, हवंति चारोवगा य उववरणा।
पंचविहा जोतिसिया, चंदा सूरा गहगणा य ॥ २१ ॥
तेण परं जे सेसा, चंदाइच्चगहतारणक्खत्ता।
णत्थि गती णवि चारो, अवट्ठिता ते मुणेयव्वा ॥ २२ ॥
दो चंदा इह दीवे, चत्तारि य सायरे लवणतोये।
धायइसंडे दीवे, बारस चंदा य सूरा य ॥ २३ ॥
दो दो जंबुद्दीवे, ससिसूरा दुगुणिया भवे लवणे।
लावणिगा य तिगुणिगा, ससिसूरा धायईसंडे ॥ २४ ॥
धायइसंडप्पभिई, उद्दिट्ठतिगुणिता भवे चंदा।
आइल्लचंदसहिता, अणंतराणंतरे खेत्ते ॥ २५ ॥
रिक्खग्गहतारग्गं, दीवसमुद्दे जहिच्छसे णाउं।
तस्स ससीहिं गुणितं, रिक्खग्गहतारगाणं तु ॥ २६ ॥
चंदातो सूरस्स य, सूरा चंदस्स अंतरं होति।
पएणाससहस्साइं, तु जोयणाणं अणूणाइं ॥ २७ ॥
सूरस्स य सूरस्स य, ससिणो ससिणो य अंतरं होति।
माणुसनगस्स वहिया, उ जोयणाणं सयसहस्सं ॥ २८ ॥
सूरंतरिया चंदा, चंदंतरिया य दिणयरा दित्ता।
चित्तंतरलेसागा, सुहलेसा मंदलेसा य ॥ २९ ॥
अट्ठासीइं च गहा, अट्ठावीसं च होंति णक्खत्ता।
एगससीपरिवारो, एत्तो ताराण वोच्छामि ॥ ३० ॥
छावट्ठिसहस्साइं, णव चेव सयाइ पंचसयराइं।
एगससीपरिवारो, तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३१ ॥
माणुसनगस्स बहिया, तु चंदसूराणऽवट्ठिता जोगा।
चंदा अभिईजुत्ता, सूरा पुण होंति पूसेहिं ॥ ३२ ॥
(सूत्र–१७७) जी० ३ प्रति०।

(आसां व्याख्या ' जोइसिय ' शब्दे १५९२ पृष्ठे गता)

मणुस्सता–मनुष्यता–स्त्री०। मनुष्यभावे, स्था०।

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सताए कम्मं पगरेंति। तं जहा—पगइभद्दयाए, पगतिविणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए। (सूत्र–३७३)

प्रकृत्या स्वभावेन भद्रकता परानुपतापिता या सा प्रकृतिभद्रकता तया सानुक्रोशतया–सदयतया मत्सरिकता–परगुणासहिष्णुता तत्प्रतिषेधोऽमत्सरिकता तयेति। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

मणुस्सलोय–मनुष्यलोक–पुं०। मनुष्यक्षेत्रे यावदयं मानुषोत्तरः पर्वतस्तावदस्मिल्लोक इति। अयं मनुष्यलोक इति। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। सू०प्र०।

तिहिं ठाणेहिं देविंदा माणुसं लोगं हव्वमागच्छंति। तं जहा—अरिहंतेहिं जायमाणेहिं, अरिहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरिहंताणं णाणुप्पायमहिमासु। एवं सामाणिया तायत्तीसगा लोगपाला देवा अग्गमहिसीओ देवीओ परिसोववन्नगा देवा अणीयाहिवई देवा आयरक्खा देवा माणुसं लोगं हव्वमागच्छंति। (सूत्र–१३४)। स्था० ३ ठा० १ उ०। चउहिं ठाणेहिं देविंदा माणुसं लोगं हव्वमागच्छंति एवं जहा तिठाणे ० जाव लोगंतिता देवा माणुसं लोगं हव्वमागच्छेज्जा। तं जहा–अरहंतेहिं जायमाणेहिं ०जाव अरिहंताणं परिणिव्वाणमहिमासु। (सूत्र–३२४) स्था० ४ ठा० ३ उ०।

मणुस्सवग्गुरा–मनुष्यवागुरा–स्त्री०। मृगवन्धने, विपा० १ श्रु० २ अ०।

मणुस्ससेणियापरिकम्म–मनुष्यश्रेणिकापरिकर्मन्–न०। दृष्टिवादस्य परिकर्मसूत्रभेदे, स० १२ अङ्ग।

मणुस्सिंद–मनुष्येन्द्र–पुं०। मनुष्येषु परमेश्वरत्वात् राजनि, औ०। रा०। "सणंकुमारो मणुस्सिंदो, चक्कवट्टी महिड्ढिओ। पुत्तं रज्जे ठवेऊण, सो वि राया तवं चरे ॥ १ ॥" उत्त० १८ अ०। स्था०।

मणुस्सी–मनुषी–स्त्री०। मनुष्यस्त्रियाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। स्था० (उत्तरकुरुमनुजीनां वर्णकः ' उत्तरकुरा ' शब्दे द्वितीयभागे ७५८ पृष्ठे गतः)

मणू–मनू–स्त्री०। मनुपूर्वकाणां वैताढ्यविद्याधराणां विद्यायाम्, आ० चू० १ अ०।

मणूस–मनुष्य–पुं०। "कगचज०" ॥८।१।१७७॥ इति यलोपः। "लुप्त-य-र-व-श-ष-सां, श-ष-सां दीर्घः" ॥ ८। १। ४३॥ इति यलोपे उतो दीर्घः। प्रा० १ पाद। मनुजे, उत्त० १० अ०।

मणूसजक्ख–मनुष्ययक्ष–पुं०। यक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

मणे–मणे–अव्य०। "मणे विमर्शे" ॥ ॥ ८। २। २०७॥ 'मणे' इति विमर्शे प्रयोक्तव्यम्। मणे सूरः। प्रा० २ पाद।

मणोगय–मनोगत–त्रि०। मनस्येव यो गतो, न बहिर्वचनेन, अप्रकाशनात्। भ० २ श० १ उ०। कल्प०। रा०। मनसि चेतसि गतं स्थितं मनोगतम्। उत्त० १ अ०। मनसि स्थिते, उत्त० १ अ०। अवहिःप्रकाशिते, भ० ६ श० ३३ उ०। मनोविकारे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ०। विपा०। ज्ञा०। "मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था।" विपा० १ श्रु० १ अ०। मनोगतो मनसि व्यवस्थितो नाद्यापि वचसा प्रकाशितस्वरूप इत्यर्थः। आ० म० १ अ०। विपा०।

मणोज्ज–मनोज्ञ–त्रि०। "ज्ञो ञः" ॥८।२।८३॥ इति ज्ञः सम्बन्धिनो ञस्य लुग्वा भवति। मणोज्जम्। मणोएणं। प्रा० २ पाद। मनोऽनुकूले सुन्दरे, प्रज्ञा० १ पद।

मणोऽणुकूल–मनोनुकूल–न०। मनसोऽभिलषिते, बृ० ३ उ०।

मणोदुहिया–मनोदुःखिता–स्त्री०। मनसो मनसा वा दुः–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खिना दुःखितात्वं दुःखप्रकारेत्वं मनोदुःखिता । मान-सदुःखे, स्था० ७ ठा०।

मणोबंधण-मनोबन्धन-न०। मनस आसक्तिहेतौ, "मणो-बन्धणेहिं णेगेहिं।" मनोबन्धनानि मञ्जुलाऽऽलापस्निग्धा-वलोकनाङ्गप्रकटनाऽऽदीनि। यथा—"णाह! पिय! कंत! सामिय!, दइय! जियाओ तुमं मह पिओ त्ति। जीए जी-यामि अहं, पहवसि तं मे सरीरस्स ॥ १॥" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

मणोऽभिराम-मनोऽभिराम-त्रि०। मनोऽभिविधिना बहुका-लं यावद्रमयति मनोऽभिरामम्। मनसश्चिररुचिरे, औ०।

मणोमाणसिय-मनोमानसिक-त्रि०। मनोमानसिकमिति म-नस्येव न बहिर्वचनाऽऽदिभिरप्रकाशितत्वाद् यन्मानसिकं दुःखम्। भ० १५ श०। मनस्येव वर्त्तमाने वचसाऽप्रकटिते दुःखे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। ज्ञा०। रा०।

मणोरम-मनोरम-त्रि०। मनोऽन्तःकरणं रमयतीति म-नोरमः। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। मनो रमयन्निदर्शनानन्तरम-नुचिन्त्यमानमाह्लादयति मनोरमम्। उत्त० १६ अ०। म-नोज्ञे, उत्त० ६ अ०। स्था०। मनांसि देवानामप्यतिसुरू-पतया रमयतीति मनोरमः। मेरुपर्वते, सू०प्र० ५ पाहु०। चं० प्र०। जं०। स०। मनश्चित्तं रमते धृतिमवाप्नोति यस्मिँ-स्तन्मनोरमं। मनोरमाऽभिधाने मिथिलाचैत्ये, "मिहि-लाए चेइए वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे।" इति मूलम्। उत्त० ६ अ०। पुरिमतालाभिधनगरे स्वाभिधानके आ-रामे, उत्त० १३ अ०। महोरगभेदे, प्रज्ञा० १ पद। कि-न्नरभेदे, प्रज्ञा० १ पद। रुचकनामकद्वीपदेवे, सू० प्र० १६ पाहु०। द्वी०। तृतीयग्रैवेयकविमाने, न०। प्रव० १६४ द्वार। अष्टमदेवलोकेन्द्रस्य पारियानिके विमाने, जं० ५ वक्ष०। औ०। पक्षस्य द्वितीयदिवसे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। स्था०। चं० प्र०। दक्षिणपूर्वस्य रतिकरपर्व-तस्योत्तरस्यां दिशि शक्राऽग्रमहिष्या अञ्जकाया राजधा-न्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। स्था०। ऋषभदेवस्य निष्क्रमणशिविकायाम्, स०। "तेसिं देवाणं अदूरसामंते ठिच्चा ताइं उरालाइं जाव मणोरमाइं उत्तरवेउव्वियाइं रू-वाइं उवदंसेमाणे उवदंसेमाणे उवाविट्ठंति।" मनः स्वस्वो-पभोग्यदेवसम्बन्धि रमयन्ति प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरानुरागसं-पृक्तं जनयन्तीति मनोरमाणि। प्रज्ञा० ३४ पद।

मणोरह-मणोरथ-पुं०। कथमिदं प्राप्स्येतेत्येवं मनोऽभिलाषे, संथा०। औ०। नालन्दासमीपे स्वनामख्याते उद्याने, यत्र ना-लन्दीयमध्ययनं भगवता प्रज्ञप्तम्। सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। आ० म०। 'अइवत्ती' शब्दे प्रथमभागे २५७ पृष्ठे उदाहृते गर्तास-मीपवास्तव्ये, आ० चू० १ अ०। आचा०। 'मणोरहसंपत्ति-जाया।' कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

मणोरुइ-मनोरुचि-त्रि०। मनसो रुचिर्नैर्मल्यं यस्य स म-नोरुचिः निर्मलचित्ते, "मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंयमा।" मन-सो रुचिर्नैर्मल्यं यस्य स मनोरुचिः निर्मलचित्तः। अथवा-म-नसो गुरोश्चित्तस्य रुचिर्यस्य स मनोरुचिः। उत्त० ५ अ०।

मणोलध-मनोरथ-पुं०। मनःकामनायाम्, "ही ही वि-दूषकस्य" ॥ ८। ४। २८५॥ "ही ही संपन्ना मे, मणोलधा पियवयस्सस्स।" प्रा० ४ पाद।

मणोसिलय-मनःशिलक-पुं०। उदकसीमावासिनि वेलन्ध-रनागराजे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। स्था०।

मणोसिला-मनःशिला-स्त्री०। पृथ्वीविकारभेदे, उत्त० ३६ अ०। प्रज्ञा०। आचा० सूत्र०। मनःशिलस्य वेलन्धरना-गराजस्याऽऽवासपर्वते उदकसीमनामके स्थितायां राज-धान्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मणोसिलासमुग्ग-मनःशिलासमुद्गक-पुं०। मनःशिलाऽऽ-धारविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मणोसुहया-मनःशुभता-स्त्री०। मनसः शुभता मनःशुभता, साऽपि साताऽनुभावकारणत्वात्सातानुभाव उच्यते इति। सातवेदनीयकर्मणोऽनुभावे, स्था० ७ ठा०।

मणोसुहिया-मनःसुखिता-स्त्री०। मनसि सुखं यस्याऽसौ मनःसुखस्तस्य भावो मनःसुखिता। सुखितमनसि, प्रज्ञा० २३ पद।

मणोहर-मनोहर-पुं०। मनश्चित्तं हरति दृष्टमात्रमाक्षिपति मनोहरम्। उत्त० १६ अ०। जं०। नि० चू०। जी०। स्था०। मनो हरतीति मनोहरम्। "लिहाऽऽदिभ्यः" ॥ ५। १। ५०॥ इत्यच्प्रत्ययः। नं०। आ० म०। रा०। उत्त०। मनोनिर्वृति-करे,चित्ताऽऽह्लादके, कल्प० ३ अधि० १ क्षण। प्रज्ञा०। आ० म०। लोकोत्तररीत्या तृतीयदिवसे,चं० प्र० १० पाहु० १४ पाहु० पाहु०। कल्प०। जं०।

मणोहरी-मनोहरी-स्त्री०। अपरविदेहे सलिलावतीविजये वीतशोकानगरीराजजितशत्रोर्भार्यायां तत्रत्यबलदेवमातरि, आ० चू० १ अ०। "एएसिं चउवीसाए तित्थकराणं चउव्वीसं सीयाओ होत्था।" तास्वेका मनोहरी। स०।

मणोहुआस-मनोहुताश-पुं०। मन एव दुःखकारणत्वाद् हु-ताशो मनोहुताशः। चित्ताग्नौ, आव० ४ अ०।

मण्णंत-मन्यमान-त्रि०। जानति, तं०।

मण्ठ-देशी-शठे, बन्ध इति केचित्। दे० ना० ६ वर्ग १११ गाथा।

मण्डल-देशी-शुनि, दे० ना० ६ वर्ग ११४ गाथा।

मण्डली-मण्डली-स्त्री०। अनेकविधमण्डन्याम्, सेन०।

"सुत्ते अत्थे भोअणे, काले आवस्सए अ सज्झाए।
संथारए वि अ तहा, सत्तेया हुंति मंडलिओ ॥ १॥"

एतद्गाथोक्तसप्तमण्डलीसत्यापनस्थानकानि कानि?भवन्ती-ति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रातः स्वाध्यायकरणं सूत्रमण्डली १, व्या-ख्यानमर्थपौरुषी वाऽर्थमण्डली२,भोजनमण्डली प्रतीता३,का-लप्रवेदनं कालमण्डली४,उभयकालप्रतिक्रमणमावश्यकमण्ड-ली५,स्वाध्यायप्रस्थापनं स्वाध्यायमण्डली ६,संस्तारकविधि-भणनं संस्तारकमण्डली ज्ञायते७। किं च-तृतीयप्रहरप्रतिलेख-नादेशमार्गणमण्डली प्रश्नोत्तरसमुच्चयवचनादावश्यकमण्ड-ल्यन्तर्भूतेति बोध्यम्। ८६ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मण्डी-देशी-पिधानिकायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १११ गाथा।

मरणमाण-मन्यमान-त्रि०। जानति, अध्यवस्यति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। आचा०।

मरणा-मति-स्त्री०। मनने, स्था०। सूत्र०।

एगा मन्ना।

प्राकृतत्वाद् मननं मतिः,कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्माऽऽलोचनरूपा बुद्धिरिति यावत्। आलोचनमिति केचित्। अथवा-'मन्ना मन्नियव्वं।' अभ्युपगम इत्यर्थः। सूत्रद्वये सामान्यत एकत्वम्। स्था० १ ठा०। सूत्र०।

माणिय-मानित-त्रि०। पूजिते, जी० १ प्रति०।

मण्णे-मन्ये-अव्य०। वितर्के, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ०। "किं मण्णे कज्जइ?।" मन्ये निपातो वितर्कार्थः। क्रियते भवतीत्यर्थः। स्था० ४ ठा० ३ उ०। ज्ञा०। कल्प०।

मण्हा-मृत्स्ना-स्त्री०। मृत्तिकायाम्, अष्ट० ७ अष्ट०।

मतन-मदन-पुं०। "तदोस्तः" ॥ ८। ४। ३०७॥ पैशाच्यां तकारदकारयोस्तो भवति। मतन इति। प्रा० ४ पाद। "चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८। ४। ३२५॥ इति दस्य तः। मदनः। मतनः। कामदेवे, प्रा० ४ पाद।

मतिमं-मतिमत्-पुं०। मनुतेऽवगच्छति जगत्त्रयं कालत्रयोपेतं यया सा केवलज्ञानाऽऽख्या मतिः, साऽस्यास्तीति मतिमान्। केवलिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

मतुय-देशी। मत्वर्थीय, उक्तं च-"मतुयत्थम्मि मुणेज्जह, आलइल्लं मणं च मतुयं च।" आव० ४ अ०।

मत्त-मत्त-त्रि०। सुराऽऽदिमदवति, उपा० ८ अ०। आचा०। मदकलिते,जी० ३ प्रति० १ अधि० १ उ०। पीतमदिराऽऽदौ, पिं०। मदिरामदभाविते, बृ० १ उ० ३ प्रक०। ज्ञा०। दसे, उत्त० ५ अ०। औ०।

अमत्र-न०। भाजनविशेषे, भ० ८ श० ६ उ०।

मात्र-न०। कांस्यभाजनाऽऽद्युपकरणमात्राया आधारविशेषे, अनु०। भाजने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ०। सूत्र०। भाजनोपकरणे, स्था० ३ ठा० १ उ०। कांस्यभाजने, भ० ५ श० ७ उ०। मदने, स्था० १० ठा०। "मत्तमेहमिव गुलगुलितं।" उपा० २ अ०।

मत्तंगय-मत्ताङ्गक-पुं०। मत्तं-मदस्तस्य कारणत्वान्मद्यमिह मत्तशब्देनोच्यते, तस्याङ्गभूताः-कारणभूताः तदेव अवयवो येषां ते मत्ताङ्गकाः। सुखपेयमद्यदायिषु कल्पवृक्षेषु, स्था० ७ ठा०। जं०। रा०। स०।

मत्ताङ्गद-पुं०। मत्तं मदस्तस्याङ्गं-कारणं मदिरा, तद्ददातीति मत्ताङ्गदः। प्रव० १७१ द्वार। स्था०। "मत्तंगएसु मज्जं।" तं०। तत्र मत्ताङ्गदानां फलानि विशिष्टानि विशिष्टबलवीर्यकान्तिहेतुविस्रसापरिणतरससुगन्धिविविधपरिपाकाऽऽगतहृद्यमद्यपरिपूर्णानि स्फुटित्वा स्फुटित्वा मद्यं मुञ्चन्तीति ते च वृक्षा विमलवाहनकुलकरकाले व्युच्छिन्नाः। आ० म० १ अ०।

मत्तंड-मार्त्तण्ड-पुं०। सूर्ये, प्रति०। दे० ना०।

मत्तग-मत्तक-पुं०। भागिनेये,बृ० ४ उ०। 'मत्तं वा।' आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०।

मात्रक-न०। उच्चाराऽऽदिसत्के क्षुल्लभाजने, व्य०८ उ०। पं० व०।

परः प्रेरयति-ननु तीर्थकरैस्तावन्मात्रकं नानुज्ञातं, कथमिति? चेत्, उच्यते-

दव्वे एगं पायं, भणिअं तरुणो य एगपातो उ।
अप्पोवही पसत्थो, चोएइ न मत्तओ तम्हा॥ ३७५॥

उपकरणद्रव्यावमौदरिकायामेकं पात्रमुक्तम्। तथा चाऽऽगमः-"एगे वत्थे एगे पाए वियत्तोवगरणे साइज्जइ।" तथा यो भिक्षुस्तरुणो युगवान् स एकपात्रो भवेत्। तथा चाऽऽचारसूत्रम्-"जे भिक्खू तरुणे जुगवं बलवं से एगं पायं धारेज्जा।" अल्पोपधिश्च प्रशस्तः। तथा च दशवैकालिकसूत्रम्-"अप्पोवही कलहविवज्जणा य, विहारचरिया इसिणं पसत्था।" यत एवमतो न मात्रकं ग्रहीतव्यं, गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वादिति परः प्रेरयति।

अथ सूरिराह-

जिणकप्पे यं सुत्तं, सपडिग्गहकस्स तस्स तं एगं।
नियमा थेराण पुणो, वितिज्जओ मत्तओ होइ॥३७६॥

हे नोदक! यदेकपात्राऽऽदिप्रतिपादकं सूत्रं तज्जिनकल्पविषयं मन्तव्यम्। तथाहि-यः सप्रतिग्रहो जिनकल्पिकः तस्य तत्प्रतिग्रहलक्षणमेकं पात्रं भवति, स्थविराणां पुनर्नियमात् द्वितीयं मात्रकं भवति "एकं पायं जिणकप्पियाण थेराण मत्तओ बीओ।" इति वचनात्।

नणु दव्वोमोयरिया, तरुणाइविसेसओ दुमत्तो वि।
अप्पोवही दुपत्तो, जेणं तिप्पभिति बहुसद्दो॥३७७॥

यच्च द्रव्यावमौदरिकायामेकं पात्रमुक्तं तत्र द्वयोः पात्रयोर्द्धारेण, ननु द्रव्यावमौदरिका किं न भवति?। त्रिप्रभृतीनामग्रहणात् भवत्येवेति भावः। यच्चाभिहितम्-"जे भिक्खू तरुणे" इत्यादि। तत्र यदि सर्वेणापि साधुनैकमेव पात्रकं धारयितव्यम्, ततः किं तरुणाऽऽदिभिर्विशेषणैरभिहितैः?,अतो ज्ञायते तरुणाऽऽदिविशेषतोऽभिधानाद् मात्रकमपि सामर्थ्यादनुज्ञातम्। यदपि "अप्पोवही" इत्यादि अभिहितं, तत्र च द्विपात्रः पात्रद्वयोपेतः अल्पोपधिरेव भवति, यतस्त्रिप्रभृतिष्वेव पदार्थेषु बहुशब्दो वर्त्तते, अतो ग्रहीतव्यं मात्रकम्।

अथ न गृह्णाति तत इमे दोषाः-

अग्गहणे वारत्तग, पमाणहीणो वि सोहि अववाए।
परिभोगग्गहणवितियपयलक्खणाई मुहं जाव॥३७८॥

मात्रकस्याग्रहणे दोषा वक्तव्याः, वारत्तगदृष्टान्तश्चात्र भवति,प्रमाणहीनाधिकप्रमाणे च दोषाः,शोधिर्मात्रकपरिभोगे प्रायश्चित्तम्,अपवादो हीनाधिकधारणलक्षणः, परिभोगः कारणे मात्रकस्य यथाऽभिधीयते। ग्रहणद्वितीयपदलक्षणाऽऽदीनि मुखं यावत् यानि प्रतिग्रहद्वाराण्यभिहितानि तदेतत्सर्वं वक्तव्यमिति द्वारगाथासङ्क्षेपार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह-

मत्ते अगेण्हणे गुरुगा, मिच्छत्ते अप्पपरपरिच्चाओ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसत्तग्गहणम्मी, संजमदोसा सवित्थारा ॥ ३७९ ॥

मात्रकं यदि न गृह्णाति ततश्चतुर्गुरुकाः, ये अभिनवश्राद्धास्ते तेनैव प्रतिग्रहेण भोजनं पुनर्निर्लेपनं च कुर्वाणं दृष्ट्वा दुर्दृष्टधर्माणोऽमीति मिथ्यात्वं गच्छेयुः। यदि प्रतिग्रह आचार्याऽऽदीनामर्थाय गृह्णाति, ततश्चाऽऽत्मपरित्यागः, अथाऽऽत्मनो गृह्णाति ततः परेषामाचार्याऽऽदीनां परित्यागः कृतो भवति। संसक्तं भक्तं पानं वा प्रत्युपेक्षितं यदि प्रतिग्रहे गृह्णाति। ततः संयमदोषाः सविस्तराः "छक्काय चउसु लहुगा" इत्यादि विस्तरसहिता वक्तव्याः।

अथ वारत्तगदृष्टान्तमाह—

वारत्तग पव्वज्जा, पुत्तो तप्पडिम देव बलि साहू।
परियरणेगपडिग्गह, आतमणुव्वालणा छेत्रो ॥३८०॥

"वारत्तगपुरं नगरं, तत्थ अभयसेणो राया, तस्स श्रमच्चो वारत्तगो नाम, सो पत्तेगबुद्धो, घरसारं पुत्तस्स दाउ निसिरिय पव्वइओ, तस्स पुत्तेण पिउभत्तीए देवकुलं कारित्ता रयहरणमुहपोत्तियपडिमा ठविया, तत्थ य सत्तागारो पवत्तिश्रो, तत्थ य एगो साहू एगपडिग्गहधारी पडिग्गहए भिक्खं घेत्तुं तं भोत्तुं तत्थेव पडिग्गहे पुणो पाणगं घेत्तुं सन्नं वोसरिउं तेणेव पडियरिओ दिट्ठो, तेहिं निच्छूढो, तस्स अन्नेसिं च साहूणं वोच्छेश्रो तत्थ जाश्रो।" अथ गाथाऽक्षरार्थः—वारत्रकेण प्रव्रज्यायां गृहीतायां पुत्रस्तस्य वारत्रकस्य प्रतिमां देवकुलेऽचीकरत्। तत्र च बली प्रवर्त्तिता, साधुश्चैकेन प्रतिग्रहेण भिक्षार्थमायात्, प्रतिचरणं च कुर्वाणस्तेनैव प्रतिग्रहेणाचमनं निर्लेपनं कुर्वाणं दृष्ट्वा तस्योद्वालना-निष्काशना कृता, तस्यान्येषां च साधूनां व्यवच्छेदः कृतः। एवं मात्रकस्याऽग्रहणे उड्डाहो भवेत्।

अथ प्रमाणद्वारमाह—

जो मागहश्रो पत्थो, सविसेसतरं तु मत्तगपमाणं।
दोसु वि दव्वग्गहणं, वासावासासु अहिगारो ॥३८१॥

यो मागधदेशोद्भवः प्रस्थः"दो असईओ पसई, दो पसईश्रो य सेइया होइ, चउसेइयाहिं पत्थो।" इति क्रमनिष्पन्नस्ततो मागधप्रस्थात् सविशेषतरं मात्रकप्रमाणं भवति। तेन च मात्रकेण द्वयोरपि ऋतुबद्धवर्षावासयोर्गुरुग्लानाऽऽदियोग्यभक्तपानद्रव्यस्य ग्रहणं क्रियते। अन्ये तु द्वावकृते (दोसु वित्ति) प्रतिग्रहे भक्तं, मात्रके पानकं गृह्यते। वर्षावासे तु विशेषतो मात्रकेणाधिकारः, यतो वर्षासु प्रथममेव यत्र धर्मलाभयति तत्र पानकं गृह्णाति। यतः कदाचित् वर्षे निपतेत्, येन गृहाद् गृहं चरितुं न शक्यते, ततः पानकेन विना प्रतिग्रहो लेपकृतो भवति। अथवा—वर्षावासे भक्तं पानं संसज्यत इति कृत्वा मात्रकेण तस्य शोधनं कार्यम्।

प्रकारान्तरेण मात्रकप्रमाणमाह—

सुक्कुल्लश्रोदणस्स, दुगाउअद्धाणमागश्रो साहू।
भुंजति एगट्ठाणे, एवं खलु मत्तगपमाणं ॥ ३८२ ॥

शुष्कौदनस्यान्यभाजनगृहीतेन तीमनेनार्द्रस्य भृतं यदेकस्थाने एकवारं द्विगव्यूतमात्रादध्वन आगतः साधुर्भुङ्क्ते, एतत् खलु मात्रकप्रमाणं मन्तव्यम्।

यदि वा—

भत्तस्स व पाणस्स व, एगतरागस्स जो भवे भरिश्रो।
पज्जत्तो साहुस्स उ,वितियं पि य मत्तयपमाणं ॥३८३॥

भक्तस्य वा पानस्य वा अनयोरेकतरस्य यद् भृतं सदेकस्य साधोः पर्याप्तं भवति, एतत् द्वितीयमपि मात्रकप्रमाणमवगन्तव्यम्।

अथ हीनद्वारमाह—

डहरस्सेमे दोसा, ओभायणे खिंसणा गलंते य।
छक्कं विराहणा भा-णभेदो जं वा गिलाणस्स ॥३८४॥

डहरस्य-यथोक्तप्रमाणाल्लघुतरस्य मात्रकस्येमे दोषाः। तद्यथा—अपभ्राजना तल्लघुतरं मात्रकमतीव भ्रियमाणं दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्—अहो अमी बुभुक्षादुःखभग्नाः प्रव्रजन्ति। अथवा-भक्तपानं परिगलद्विलोक्य अहो अमी च सन्तुष्टा एवं सिच्यमाना अपि न गणयन्तीति खिंसां कुर्यात्। अतिभृते च गलति षट्कायानां विराधना, अथ परिगलनभयात्तत्रैवोपयोगं ददाति ततः स्थाण्वाऽऽदौ प्रस्खलनस्य भाजनभेदो भवेत्। यद्वा-ग्लानस्योपलक्षणत्वाद् बालवृद्धाऽऽदीनां च तेन डहरमात्रकेणापर्याप्तं भवति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

तथा—

पडणं अपावते से, पुढवीतसपाणतरुगणादीणं।
आणिज्जंते गामं-तराउ गलणे य छक्काया ॥ ३८५ ॥

डहरमात्रके आकण्ठभृते लेपकृतीकारणतयाऽपावृते उद्घाटिते पृथिवीरजस्त्रसप्राणितरुगणाऽऽदीनां पतनं भवेत्। अथवा-ग्रामान्तरादतिप्रभूते तस्मिन्नानीयमाने परिगलति षट्काया विराध्यन्ते।

अथाऽधिकद्वारमाह—

अहियस्स इमे दोसा, एगयरस्सोग्गहम्मि भरितम्मि।
सहसा मत्तगभरणे, भारादिविगिंचणियमादी ॥३८६॥

प्रमाणाधिकस्य मात्रकस्य इमे दोषाः—एकतरस्य भक्तस्य वा पानकस्य वा प्रतिग्रहे भृते सति पश्चान्मात्रके ग्रहणं कुर्यात्, सहसा वा तस्य मात्रस्य भरणे कृते भारेण स्थाणुकण्टकाऽऽदीनि न प्रेक्षते, तत्राऽऽत्मविराधना। ईर्याया अशोधने संयमविराधना। अन्यच्च-द्वयोरपि प्रतिग्रहमात्रकयोर्भृतयोर्विवेचनं च परिष्ठापनं भवेत्। तत्र षट्कायविराधना। अथ न परिष्ठापयति, ततोऽतिप्रचुरेण भक्षितेन ग्लानत्वं भवेत्, यत एवमादयो दोषा अतः प्रमाणयुक्तं ग्रहीतव्यम्।

अथ शोधिद्वारमाह—

जइ भोयणमावहती, दिवसेणं तत्तिया चउम्मासा।
दिवसे दिवसे तस्स उ,वितिएणाऽऽरोवणा भणिया।३८७।

यति-यावतो वारान् एकदिवसेन मात्रके भोजनं भक्तपानमात्मनो योग्यमावहति, आनयतीत्यर्थः। तावन्ति चतुर्लघूनि। अथ दिवसे दिवसे मात्रकं परिभुङ्क्ते,ततो द्वितीयप्रायश्चित्तेनाऽऽरोपणा भणिता। किमुक्तं भवति?-द्वितीये दिवसे मात्रकं यावतो वारान् परिभुङ्क्ते, तावन्ति चतुर्गुरुकाणि, एवं तृतीये षड्लघु, चतुर्थे षड्गुरु, पञ्चमे छेदः, षष्ठे मूलं, सप्तमे अनवस्थाप्यम्, अष्टमे पाराञ्चिकम्। गतं शोधिद्वारम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथाऽपवादद्वारमाह—

अणाणे गारवे लुद्धे, असंपत्तीऍ जाणए।
लहुगो लहुगा गुरुगा,चउत्थो सुद्धो उ जाणओ॥३८८॥

इयं यथा प्रतिग्रहे तथा मात्रकेऽपि वक्तव्या।

परिभोगद्वारमाह—

वाले वुड्ढे सेहे, आयरियगिलाणखमगपाहुणए।
दुल्लभसंसचअसं–थरंतअद्धाणकप्पम्मि॥ ३८६॥

बालस्य वृद्धस्य शैक्षस्य आचार्यस्य ग्लानस्य क्षपकस्य प्राघूर्णकस्य च प्रायोग्यं मात्रके गृह्यते। यद्वा–बालवृद्धाऽऽदयः प्रतिग्रहं हिण्डापयितुं न शक्नुवन्ति, अतस्ते मात्रके भक्तमानयेयुः, भुञ्जीरन् वा, गच्छसाधारणं वा दुर्लभद्रव्यं घृताऽऽदिकं मात्रके गृह्णीयात्। यत्र वा भक्तपानं संसज्यते तत्र मात्रके गृह्यते, तद्धि संसक्तं मात्रके शोधयित्वा प्रतिग्रहे प्रक्षिप्यते। अवमराजद्विष्टाऽऽदिषु चासंस्तरणे प्रतिग्रहे भृते अन्यस्मिन् लभ्यमाने मात्रके गृह्यते। अध्वनि कल्पोऽध्वकल्पः, कल्पग्रहणं कारणे विधिना अध्वाप्रतिपन्न इति ख्यापनार्थं, तत्रासंस्तरणे प्रतिग्रहे भृते सति मात्रकेऽपि गृह्यते। अथ ग्रहणद्वितीयपदद्वारद्वयेन ग्रहणं नाम को मात्रकं गृह्णाति, तत्र निर्वचनं यथाप्रतिग्रहे द्वितीयपदं पुनरशिवाऽऽदिभिः कारणैर्यथाकृतमात्रकस्य यत्र संभवस्तत्र गन्तुमशक्तः स्वस्थान एवाऽल्पपरिकर्मबहुपरिकर्मणी गृहीतव्ये, लक्षणाऽऽदीनि द्वाराणि प्रतिग्रहे इव मन्तव्यानि।

अल्पपरिकर्मणि सपरिकर्मणि च पात्रे लेपप्रदानं संभवति, अतस्तद्विषयं विधिमाह—

हरिए बीए चले जुत्ते, वत्थे साणेजतद्विए।
पुढवीसंपातिमासामा, महॉवाए महियामिते॥ ३६०॥
पुव्वराहे लेवदाणं, लेवग्गहणं तु संवरं काउं।
लेवस्स आणणा लिं–पणा य जतणा य कायव्वा॥३६१॥

गाथाद्वयमपि पीठिकायां सप्रपञ्चं व्याख्यातमिति। बृ० ३ उ०। औ०। विशे०। सूत्र०। व्य०। नि० चू०। आ० म०। कल्प०।

मत्तगय–मत्तगज–पुं०। उन्मत्तमतङ्गजे, तं०। "मत्तगयमहमुहाणिगइसमाणा।" मत्तो यो गजस्तस्य महदतिविशालं यन्मुखं तस्याऽऽकृतिराकारस्तत्समानास्तत्सदृशाः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मात्रगत–त्रि०। पात्रगते, भाजनस्थिते, पञ्चा० १३ विव०।

मत्तजला–मत्तजला–स्त्री०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वे शीताया महानद्या दक्षिणकूले वत्सावतीविजयेऽन्तर्नद्याम्, जं० ४ वक्ष०।

दो मत्तजला। स्था० २ ठा० ३ उ०।

मत्तली–देशी–बलात्कारे, दे० ना० ६ वर्ग ११३ गाथा।

मत्ता–मात्रा–स्त्री०। मर्यादायाम्, उत्त० ६ अ०। अंशे, विशे०। व्यवच्छेदे, आव० ४ अ०। परिच्छेदे, स्था० ३ ठा० १ उ०। नि० चू०। अल्पे, पाइ० ना० १६४ गाथा।

मत्ता–अव्य०। ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। "एवं मत्ता अणुत्तरं धम्ममिणं।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

मत्तिया–मृत्तिका–स्त्री०। पृथ्वीकाये, प्रज्ञा० १ पद। दश०।

मत्तियावई–मृत्तिकावती–स्त्री०। दशार्णदेशराजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद।

मत्तुआ–देशी–लज्जायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ११६ गाथा।

मत्थगोवहाण–मस्तकोपधान–न०। शीर्षोपवर्हणे, जी० १ प्रति०।

मत्थय–मस्तक–न०। शिरसि, नं०। आ० म० १ अ०।

मत्थयसूल–मस्तकशूल–न०। मूर्द्धशूले, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०।

मत्थुलिंग–मस्तुलिंग–न०। मस्तकस्नेहे, तं०। "मत्थुलिङ्गेति।" मस्तकभेजकम्। अन्ये त्वाहुः—मेदः पिप्फिसाऽऽदि मस्तुलिङ्गमिति। तं०। प्रश्न०। भ०। स्था०।

मद–मद–पुं०। माने, आव० ४ अ०। मनस उन्मादे, अष्ट० २६ अष्ट०। हर्षमात्रे, भ० १२ श० ५ उ०। अवलेपे, नं०। मदोदयादात्मोत्कर्षपरिणामे, आ० चू० ४ अ०। स०।

मदणसलागा–मदनशलाका–स्त्री०। सारिकायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। प्रज्ञा०।

मदणा–मदना–स्त्री०। शक्रस्य देवेन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, स्था० १ ठा०। सोमाग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। वलेर्वैरोचनेन्द्रस्याग्रमहिष्यां च। स्था० ५ ठा० १ उ०। भ०।

मदणिज्ज–मदनीय–त्रि०। मदनोदयकारिणि,स्था० ६ ठा०।

मद्दण–मर्दन–न०। परिमन्थने, विशे०। औ०। नि० चू०।

स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र छद्मस्थविहारेण विहरन् वीरजिनो यक्षदेवाऽऽयतने प्रतिमया स्थितो गोशालकश्च कदर्थितः' आ० म० १ अ०। आ० चू०।

मद्दल–मर्दल–पुं०। मुरजे, रा०। मृदङ्गे, रा०। आ०म० १ अ०। जी०। मर्दले, स्था० ७ ठा०। महाप्रमाणे मुरजे, आ० म० १ अ०। औ०। नं०। आ० चू०।

मद्दव–मार्दव–न०। मृदुरस्तब्धस्तस्य भावः कर्म वा मार्दवम्। नीचैर्वृत्तौ अनुत्सेके, प्रव० ६६ द्वार। मानपरित्यागे, आव० ४ अ०। स्था०। जात्यादिभावेऽपि मानत्यागे, दश० १० अ०। स्था०। जं०। पा०। मानपरिहारे, उत्त० २६ अ०। रा०। मानोदयनिरोधे, औ०। मानाभावे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। स्था०। आव०। प्रश्न०। अनङ्गविजये, भ० १ श० ६ उ०। माननिग्रहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। आ० चू०। स०। मानस्तब्धतापरित्यागे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। स०।

मद्दवजुत्तया–मार्दवयुक्तता–स्त्री०। मृदुरूपशीलत्वे, बृ० ३ उ०।

मद्दवया–स्त्री०। मार्दव–न०। मानपरिहारे, उत्त० २६ अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मार्दवफलं प्रश्नपूर्वकमाह—मार्दवं हि मानत्यागरूपं, तच्च विनयस्य कारणं, धर्मे हि विनयस्य प्राधान्यम्—

मद्दवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । मद्दवयाए णं जीवे अणुस्सियत्तं जणयइ, अणुस्सियत्तेणं जीवे मिउ-मद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइ निट्ठवेइ ॥ ४६ ॥

हे स्वामिन् ! मार्दवेन कोमलपरिणामेन जीवः किं जनयति ?। गुरुराह—हे शिष्य ! मार्दवेन मानपरिहारेण जीवः अनुत्सृतत्वम् अनहङ्कारित्वम् अहङ्काराभावं जनयति, अनुत्सृतत्वेन-अहङ्काराऽभावेन जीवो मृदुः कोमलः सकलभव्यजनमनःसन्तोषहेतुत्वात्, द्रव्यतो भावतश्च सरलोऽवनमनशीलः, मृदोर्भावो मार्दवं, मृदुगुणमार्दवगुणयोरयं भेदः-अवसरे अवनमनं-मृदुगुणः, यत्सर्वदा कोमलत्वभवनं तत् मार्दवम् । यद्वा—कायेन मानत्यागो मृदुगुणः, मनसा मानपरिहारो मार्दवं, ताभ्यां सम्पन्नो भवति संयुक्तो भवति, तादृशः सन् अष्टौ मदस्थानानि निष्ठापयति क्षपयति ॥ ४६ ॥ उत्त० २६ अ० ।

मद्दवसंपन्न–मार्दवसम्पन्न–त्रि० । अन्तःकरणतोऽपि कोमलतायुक्ते, उत्त० २६ अ० ।

मद्दविय–मार्दव–न० । मृदुभावे, सर्वत्र प्रश्रयवत्त्वे, विनम्रतायाम् , सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

मार्दविक–पुं० । मार्दवमस्तब्धता तद् विद्यते यस्य स मार्दविकः । बृ० १ उ० २ प्रक० । स्तब्धताविकले, बृ० ४ उ० । अमानिनि, पं० भा० १ कल्प । पं० चू० ।

मार्दवित–त्रि० । संजातं मार्दवमस्येति तारकादिदर्शनाऽऽदितच्प्रत्ययः । मार्दवोपेते, व्य० १ उ० ।

मद्दविया–मार्दविता–स्त्री० । सञ्जातमार्दवतायाम् , व्य०४उ० ।

मद्दिअ–मर्दित–त्रि० । निर्दलिते, पाइ० ना० २०१ गाथा० ।

मद्दी–माद्री–स्त्री० । वसुदेवस्यानुजायां भगिन्याम् , अन्त० १ श्रु० १ वर्ग० १ अ० । शिशुपालमातरि , सूत्र० १श्रु ० ३अ० उ० ।

मद्दुग–मद्गु–पुं० । जलवायसे, भ० ७ श० ६ उ० । ग्राहभेदे, जी० १ प्रति० ।

मधु–मधु–मद्ये, प्रश्न० ५ संव० द्वार । प्रज्ञा० ।

मधुपुर–मधुपुर–न० । स्वनामख्याते पुरे, मथुरायां चित्रकरपुत्री कथां कथयितुमारेभे-मधुपुरे वरुणश्रेष्ठी एककरप्रमाणं देवकुलमकारयत् । उत्त० ६ अ० ।

मधुमई–मधुमती–स्त्री० । पुरीभेदे, ती० १ कल्प ।

मधुर–मधुर–त्रि० । रसनासुखावहे, नि० चू० १ उ० । श्रवणसुखकरे, स० ।

मधुरगतणफल–मधुरकतृणफल–न० । मधुरतृणतण्डले, "चत्तारि मधुरगतणफलाणि ।" ज्यो० २ पाहु० ।

मधुरोदग–मधुरोदक–न० । मधुरपानके, नि० चू० १ उ० ।

मधूला–मधूला–स्त्री० । पादगण्डे, बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

मन्तु–मन्यु–पुं० । " मन्यौ न्तो वा" ॥८।२।४४॥ मन्युशब्दे संयुक्तस्य न्तो वा भवन्ति । मन्तू । मन्नू । क्रोधे, प्रा० २ पाद ।

मन्थर–देशी—बहुकुसुम्भकुटिलेषु, दे० ना० ६ वर्ग १४५ गाथा ।

मन्धाअ–आढ्ये, देशी—दे० ना० ६ वर्ग ११६ गाथा ।

मन्भेल्ली–देशी–सारिकायाम् , दे० ना० ६ वर्ग ११६ गाथा ।

मन्भ–मभ्र–धा० । गत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

मन्भीसा–मा भैषीः–क्रियापदम् । मा भैषीरित्यस्य मन्भीसेति स्त्रीलिङ्गम् । " सत्थावत्थहं आलवणु, साहुवि लोउ करेइ । आदन्नहं मन्भीसडी, जो सज्जणु सो देइ । १ ॥" प्रा० ४ पाद ।

मम–अस्मद्–पञ्चम्येकवचनम् । " मे मइ मम मह महं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं ङसा " ॥ ८ । ३ । ११३ ॥ इति [illegible] सा सहितस्यास्मदो ममाऽऽदेशः । प्रा० ३ पाद ।

ममए–अस्मद्–तृतीयैकवचनम् । " मि मे ममं म[illegible]इ मइ मए मयाइ णे टा"॥८।३।१०६॥ इति टासहितस्या[illegible] 'ममए' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

ममं–अस्मद्–द्वितीयैकवचनम् । " णे णं मि अम्हि अम्ह मम्ह मं ममं मियं अहं अमा " ॥ ८ । ३ । १०७ ॥ अस्मदः अमासहैते दश आदेशा भवन्ति । ममं । माम् । प्रा० ३ पाद । अहोरात्रस्य त्रिंशत् मुहूर्त्ताः तेषु पञ्चविंशतितमो ममः । जं० ७ वक्ष० ।

ममकार–ममकार–पुं० । ममेत्यस्य करणं ममकारः । पञ्चा० १० विव । वस्त्रपात्रोपाश्रयाऽऽदिषु ममताकरणे, ग० २ अधि० । स्वपदार्थभिन्नेषु पुद्गलजीवाऽऽदिषु इदं ममेति परिणामे, अष्ट० ४ अष्ट० ।

ममत्त–ममत्व–न० । ममैतदित्येवंरूपे भावे, आतु० । नि० चू० । मूर्च्छायाम् , संथा० । आचा० ।

" पुत्रा मे भ्राता मे, स्वजना मे गृहकलत्रवर्गो मे ।
इति कृतमेमेशब्दं, पशुमिव मृत्युर्जनं हरति ॥ १ ॥
पुत्रकलत्रपरिग्रह—ममत्वदोषैर्नरो व्रजति नाशम् ।
कृमिक इव कोशकारः, परिग्रहाद् दुःखमाप्नोति ॥ २ ॥"

आचा०१ श्रु०२ अ० १ उ० । " ममाहमिति चैष यावदभिमानदाहज्वरः,कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः।"सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आव० । " न सा महं नो वि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ।" (न सा महं णो वि अहं पि तीसे त्ति) एत्थ उदाहरणं-'एगो वाणियदारगो,सो जायं उज्झिता पव्वइओ, सो य उदाणुप्पेहीभूओ इमं च घोसेति-"ण सा महं णो वि अहं वि तीसे ।" सो चिंतेइ-सावि ममं अहं तीसे सा ममाणुरत्ता । कहमहं तं छड्डेहामि त्ति काउं गहियायारभंडगणेवत्थो चेव संपट्ठिओ । गओ य तं गामं, जत्थ सा, सोइणिठावाणतडं संपत्तो, तत्थ य सा पुव्वजाया पाणियस्स आगता, सा य साविया जाया, पव्वइउकामा य, ताए सो नाओ, इयरो, तं ण याणति, तेण सा पुच्छिया-अमुगधूया किं मता, जीवइ वा ?, सा चिंतेइ जइ सासघराओ उप्पव्वयामि, इतरहा न । ताए णातं, जहा-एस पव्वज्जं पयहिउकामो, तो दोवि संसारं भमिस्सामि त्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भणियं च ताए-सा अनंतरं दिन्ना, तत्रो सो श्रतिउमारद्धो, सव्वे भगवतेहिं साहूहिं अहं पाढिओ,जहा-" ए सा महं णो वि अहं पि तीसे" परमसंवेगमावरणो, भणियं च रोण-पडि-णियत्तामि। तीए वेरग्गपडिओ त्ति णाऊण अणुसासिओ- अणिच्चं जोवियं, कामभोगा इत्तरिया । एवं तस्स केव-लिपरणत्तं धम्मं परिकहेहि, अणुसट्ठो जाणाविओ य, पडि-गओ आयरियसगासं, पव्वज्जाए थिरीभूओ, एवं अप्पा सा-हारेयव्वो जहा तेणं " इति सूत्रार्थः। दश० २ अ०।

ममत्तरहिय-ममत्वरहित-त्रि०। निस्सङ्गे, पञ्चा० २ विव०। "भावियजिणवयणाणं, ममत्तरहियाण नऽत्थि हु विसेसो। अप्पाणम्मि परम्मि य, तो वज्जे पीडमुभओ वि ॥१॥" इति। आव० ६ अ०।

ममाइ-अस्मद्-तृतीयैकवचनम्। "मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा" ॥ ८। ३। १०६॥ इत्यस्मदः टासहि-तस्य 'ममाइ' इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद।

ममायिन्-त्रि०। ममेदमहमस्य स्वामीत्येवमध्यवसायिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

ममाइयमइ-ममायितमति-त्रि०। ममायितं मामकम्, तत्र म तिर्ममायितमतिः परिग्रहाध्यवसायकलुषिते, "जे ममायितम तिं जहाति।" आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०।

ममाण-अस्मद्-" णे णो मज्झ०" ॥८।३।११४॥ इत्यादिसूत्रे-णाऽऽमा सहितस्यास्मदो ममाणाऽऽदेशः। षष्ठीबहुवचने, प्रा० ३ पाद।

ममायं-ममायस्-मामक-पुं०। ममायमिति ममकारं कुर्वति, नि० चू०।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा ममायं वंदइ, वंदंतं वा सा-इज्जइ ॥५५॥ जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा ममायं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ ॥५६॥

सुद्धे सूत्रे ममीकारं करेंते ममाओ।

गाहा—

आहार उवहि देहे, वीयार विहार वसहि कुल गामे ।
पडिसेहं व ममत्तं, जो कुणती मामओ सो उ ॥ ६६ ॥

उवकरणाऽऽदिसु जहासंभवं पडिसेहं करेंति-मा मम उव-करणं कोइ गेरहतु, एवं अरणेसु वि वियारभूमिमादिएसु प-डिसेहं सगच्छपरगच्छयाणं वा करेति, आहाराऽऽदिसु चेव सव्वेसु मम त्ति करेति भावपडिबंधं, एवं करेंतो माम-ओ भवति, विविधदेसगुणेहिं पडिबद्धो मामओ इमो।

गाहा-

अह जारिसओ देसो, जे य गुणा एत्थ सस्सगोणादी।
सुंदरअभिजातजणो, ममाइ णिक्कारण वदंतो ॥१००॥

अह त्ति य जारिसो देसो रुक्खवाविसरतडागोवसो-भितो परिसो अरणो णत्थि सुहविहारो, सुलभवसहिभत्तो-वकरणादिया य बहुगुणा, सो भिक्खुमादिया य बहु स-स्सा णिप्फज्जंति य, गोमहिसपउरत्तणतो य पउरगोरसं,स-रीरेण वत्थादिएहिं सुंदरो जणो अभिजायत्तणो य कु-लीणो, ण साहुसुवहवकारी, एमादिएहिं गुणेहिं भावप-डिबद्धो णिक्कारणओ वादयति, प्रसंसतीत्यर्थः। नि० चू० १३ उ०।

ममायमाण-ममायमान-त्रि०। ममीकरोति ममेदमित्येवं व्यवस्थापयति ममायमानः। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। ममेदमि-त्याचरति,आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। ममत्वेनाऽऽचरति। आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ०। ममीकुर्वति स्वीकुर्वति, आ-चा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। ममायमिति स्नेहं कुर्वति, द-श० २ चू०।

ममासुन्तो-अस्मद्-पञ्चमीबहुवचने, " ममाम्हौ भ्यसि " ॥ ८। ३। ११२॥ अस्मदो भ्यसि एतावादेशौ स्तो, भ्यसस्तु य-थाप्राप्तम्। प्रा० ३ पाद।

ममाहिन्तो-अस्मद्-'ममासुन्तो' इत्यस्यार्थे, प्रा० ३ पाद।

ममेसुन्तो-अस्मद्-'ममासुन्तो' इत्यस्यार्थे, प्रा० ३ पाद।

मम्म-पुं०-मर्मन्-न०। म्रियन्तेऽनेन राजाऽऽदिविरुद्धेनोच्चारि-तेनेति मर्म। उत्त० १ अ०। "स्नमदाम-शिरो-नभः" ॥८।१।३२॥ इति प्राकृते वा पुंस्त्वम्।' मम्मो।' प्रा० १ पाद। मरणहेतौ, " एगो गइंदो, सो एगेण कंडेण आहदो निट्ठुरं मम्मप्पदे-से लग्गकंडप्पहारेण पडितो।" आ० म० १ अ०। शङ्खा-णिकाऽऽदिके शरीरावयवे, तं०। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। प्रश्न०। उत्त०।

मम्मका-देशी-उत्कण्ठायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १४३ गाथा।

मम्मग-मर्मग-मर्मक-न०। मर्म गच्छन्तीति मर्मगाः।मर्मस्पर्शी निःसूत्र० १ श्रु० ६ अ०। "न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं न तिरट्ठं न मम्मयं।" न आलपेत् सावद्यं, न च मर्मकं मर्मरूपं साधुर्न ब्रूयात्, म्रियतेऽनेनेति मर्म, लोकराजविरुद्धाऽऽदिकम् अ-थवा-मर्मणि गच्छतीति मर्मगं, यस्मिन् कर्मणि प्रकटीभूते सति मनुष्यस्य मरणमेव स्यात् तदपि वाक्यमात्मार्थं वा, अथवा-परार्थं वा, अथवा-उभयार्थम्, अथवा-अन्तरेण प्रयोजनं विनाऽपि च न वदेत्। उत्त० १ अ०।

मार्मक-पुं०। कुशीलभेदे. सूत्र० १ श्रु०। ४ अ० १ उ०।

मम्मड-मम्मट-पुं०। काव्यप्रकाशकारे, प्रति०।

मम्मण-मम्मन-त्रि०। अव्यक्ते, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ०। अव्यक्तवाचि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। मन्मनमिव मन्मनं चौ-स्फुटे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। आचा०। मन्मनः पुनर्भाषमा-णोऽन्तराऽन्तरा स्खलति, यदि वा-तस्य भाषमाणस्य वाक् चिरेण निर्गच्छति। व्य० १० उ०। अर्थोपार्जनप्रसिद्धे वणि-जि, तं०। मदन-रोषयोः, दे० ना० ६ वर्ग १४१ गाथा।

मम्मणकथा चेयम्-

" पुरं राजगृहं नाम, श्रेणिकस्तत्र भूपतिः।
सुनन्दाचिल्लणे राज्या-वभयोऽमात्यपुङ्गवः ॥ १ ॥
मम्मणोऽभूद् वणिक् तत्र, तेन क्लेशेन भूयसा।
प्रभूतमर्जितं द्रव्यं, किञ्चिन्न व्ययितं पुनः ॥ २ ॥
मेलं मेलं कोटिशस्त-न्निजसौधशिरोगृहे।
एकं निर्मापयामास, स्वर्णरत्नमयं वृषम् ॥ ३ ॥
द्वितीयः किञ्चिदूनोऽस्ति, तत्कृते चिन्तयाऽऽतुरः।
अथान्तरेऽभवद्वर्षा, नद्यां पूरः समागमत् ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकौपीनांशुकः काष्ठा-धिरूढः काष्ठसञ्चयम्।
तत्पूर्त्तये नदीपूरा—दृर्षत्यष्याचकर्ष सः ॥ ५ ॥
तदा राजा सराज्ञीको, वातायनगतोऽभवत्।
राज्ञी दृष्ट्वा तथास्थं तं, सामर्षा नृपमभ्यधात् ॥ ६ ॥
सत्यं श्रूयत एवं, सरिदब्धिनिदर्शनेन राजानः।
भरितानि भरन्ति दृढं, रिक्तं दृष्ट्वाऽपि नेक्षन्ते ॥ ७ ॥
राज्ञोक्तं किमिदं वचि; तयोक्तं देव ! वीक्ष्यताम्।
रङ्कः क्लिश्यत्ययं नद्या—मुद्धर्तुमवबुध्यते ॥ ८ ॥
स राज्ञाऽऽह्वायितः प्रातः, पृष्टः क्लेशस्य कारणम्।
तेनोक्तं देव ! मेऽद्यापि, वृषयुग्मं न पूर्यते ॥ ६ ॥
ऊचे राजा गृहाण त्वं, भद्र ! भद्रशतं मम।
स उवाच न तैः कार्यं, पूरयाग्रिममेव मे ॥ १० ॥
कीदृशस्तेऽस्ति भूपं स, गृहे नीत्वा तमैक्षयत्।
राजाऽवदन्न मे भद्र !, कोशेनाप्येष पूर्यते ॥ ११ ॥
सोऽवग् नापूर्ययं याव—त्तावद् देव ! न मे सुखम्।
तदर्थं भिक्षुभाण्डानि, प्रैष्यन्त प्रकृता कृषिः ॥ १२ ॥
प्रारभ्यते वृषाश्वेभ—दास्यादेः पोषणं मया।
राज्ञाऽभण्यत तर्ह्येवं, क्लिश्यसेऽलयक्ले कथम् ? ॥ १३ ॥
सोऽवक् क्लेशसहं मेऽङ्गं; व्यापारोऽन्योऽस्ति नाधुना।
वर्षास्वेधोमहार्घत्वं, तदर्थेऽहं करोम्यदः ॥ १४ ॥
नृपोऽवादीन्महाभाग !, पूर्यतां ते मनोरथः।
त्वमेवास्य समर्थोऽसि; पूरणार्थमहं न तु ॥ १५ ॥
कृतमाङ्गलिकः तेन, स्वसौधेऽथागमन्नृपः।
कालेनाऽऽपूरि तेनासा—वर्थसिद्धोऽयमीदृशः ॥ १६ ॥
आ० क० १ अ०।

मम्मणमूग—मन्मनमूक—पुं०। यस्यानुवदतः खच्यमानमिव व-
चनं स्खलति स मन्मनमूकः। मूकभेदे; ध०३अधि०।ग०। आव०।

मम्मह—मन्मथ—पुं०। कामदेवे, पाइ० ना० ७ गाथा।

मम्माण—मम्माण—पुं०। स्वनामख्याते शैले यत्खन्युत्थ-
रत्नैर्वोजाडः शत्रुञ्जये संवत् १०८ वर्षे प्रतिमामकारयत्।
ती० १ कल्प।

मम्मी—देशी—स्त्री०। मातुलान्याम्, दे०ना०६ वर्ग११२गाथा।

मम्ह—अस्मद्—"णे णं मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं
अमा" ॥ ८। ३। १०७॥ इत्यस्मदोऽमा सह मम्हाऽऽदेशः।
तृतीयैकवचने, प्रा० ३ पाद।

मय—मत—न०। समान एवाऽऽगमे आचार्याणामभिप्राये, भ० १
श० ३ उ०। निजेऽभिप्राये, विशे०। सूत्र०। अभिप्रेते, सूत्र०
१ श्रु० १५ अ०। अनुमते, त्रि०। औ०। इष्टे, दश० ४ अ०।
अभिप्राये, "(८०१) सम्मओ मयं" पाइ० ना० २४२ गाथा।

मद—पुं०। अहङ्कारे, दर्श० ४ तत्त्व। कुलबलैश्वर्यविद्या-
रूपाऽऽदिभिरहङ्करकरणे, परप्रधर्षणनिबन्धने च। ध० १ अ-
धि०। सुरापानाऽऽदिजनितविक्रियायाम्, विशे०। गर्वे, द-
र्श० १ तत्त्व। आ० म०। प्रव०। स०। आतु०।

मदवर्जनार्थमाह—

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सुअलाभे ण मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सिबुद्धिए ॥ ३० ॥

न बाह्यमात्मनोऽन्यं परिभवेत्, तथा आत्मानं न समुत्क-
र्षयेत्, सामान्येनेत्थंभूतोऽहमिति, श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत, प-
ण्डितो लब्धिमान् अहमित्येवं तथा जात्या तापस्त्वेन बुद्ध्या
वा, न माद्येतेति वर्त्तते, जातिसम्पन्नस्तपस्वी बुद्धिमानह-
मित्येवम्, उपलक्षणं चैतत्कुलबलरूपाणां, कुलसंपन्नोऽहं बल-
संपन्नोऽहं, रूपसंपन्नोऽहमित्येवं न माद्येत। इति सूत्रार्थः॥
दश० ८ अ० २ उ०।

मृत—पुं०। त्यक्तप्राणे, जी०।

अहिमडेति वा गोमडेति वा सुणगमडेति वा मज्जारमडे-
ति वा मणुस्समडेति वा महिसमडेति वा मूसगमडेति वा
आसमडेति वा हत्थिमडेति वा सीहमडेति वा वग्घमडेति
वा विगमडेति वा दीवियमडेति वा मयकुहियचिरविणट्ठ-
कुणिमवावण्णदुब्भिगंधे।

'अहिमृत इति वा, अहिमृतो नाम मृताऽहिदेहः, एवं सर्वत्र
भावनीयं, गोमृत इति वा अश्वमृत इति वा मार्जारमृत इति
वा हस्तिमृत इति वा सिंहमृत इति वा व्याघ्रमृत इति वा,
द्वीपः—चित्रकः, सर्वत्र अहिश्चासौ मृतश्च अहिमृत इत्येवं
विशेषणसमासः, इह मृतकं सद्यः संपन्नं न विगन्धि भवति,
तत आह—' मयकुहियविणट्ठकुणिमवावण्णदुब्भिगंधे।"
इत्यादि। मृतः सन् कुथितः। जी० ३ प्रति० १ उ०।

मयंग—मतङ्ग—पुं०। श्रीवीरजिनस्य शासनयक्षे, मतङ्गः यक्षः
श्यामवर्णः गजवाहनो द्विभुजो नकुलयुतदक्षिणभुजो वाम-
करधृतबीजपूरकश्चेति। प्रव० २६ द्वार।

मयंगतीरदह—मृतगङ्गातीरह्रद—पुं०। मृतगङ्गा यत्र गङ्गादेशे
जले व्यूढमासीदिति तत्तीरे ह्रदः। वाराणस्यां स्थिरजलह्रदे,
"वाणारसीए नयरीए उत्तरपुरच्छिमदिसिभाए गंगाए म-
हाणईए मयंगतीरद्दहनामं दहे होत्था" ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०।

मयंतर—मतान्तर—न०। एकस्याऽऽचार्यस्य मताद् विरुद्धे मते,
"मयंतरेहिं कंखा मोहणिज्जं कम्मं वेइज्जइ।" भ०। मतं
समान एवाऽऽगमे आचार्याणामभिप्रायः, तत्र च सिद्धसेन-
दिवाकरो मन्यते—केवलिनो युगपज्ज्ञानं दर्शनं च, अन्यथा
तदावरणक्षयस्य निरर्थकता स्यात्, जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण-
स्तु भिन्नसमये ज्ञानदर्शने, जीवस्वरूपत्वात्, तथा तदावरणक्ष-
योपशमे समानेऽपि क्रमेणैव मतिश्रुतोपयोगौ, न चैकतरोप-
योगे इतरक्षयोपशमाभावः, तत्क्षयोपशमस्योत्कृष्टतः षट्षष्टि-
सागरोपमप्रमाणत्वादतः किं तत्त्वमिति ?, इह च समाधिः—
यदेव मतमागमाऽनुपाति तदेव सत्यमिति मन्तव्यमिति, तत्पु-
नरुपेक्षणीयम्, अथ चावहुश्रुतेन नैतदवसातुं शक्यते तदेवं
भावनीयम्—आचार्याणां सम्प्रदायाऽऽदिदोषादयं मतभेदो,
जिनानां तु मतमेकमेवाविरुद्धं च, रागाऽऽदिविरहितत्वात्।
आह च—"अणुवकयपराणुग्गह—परायणा जं जिणा जुगप्पव-
रा। जियरागदोसमोहा, य ऽणन्नहावाइणो तेणं ॥ १ ॥" भ० १
श० ३ उ०।

मयग—मृतक—पुं०। शवे, आ० म० २ अ०।

मयगंगा—मृतगङ्गा—स्त्री०। व्यूढजलदेशावच्छिन्नायां गङ्गाया-
म्, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०। "समुद्दं जतो गंगा पविसइ, तत्थ
वरिसे वरिसे अण्णणं मग्गेण वहइ, वंसिरस गंगा मयगंगा
भन्नइ।" आ० म० १ अ०। आ० चू०।

मयगल—मदकल—त्रि०। मदमभिगृह्णाने, "बंदे मयगल-
सलिलगयनिक्कमे।" चं० प्र० १ पाहु० १ पाहु० पाहु०। दं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तिनि, "पीलू गओ मयगलो मायंगो सिंधुरो करेणू य। दोघट्टो दंती वा-रणो करी कुंजरो हत्थी ॥६॥" पाइ० ना० ६ गाथा।

मयगुम्मिय-मदगुल्मित-त्रि०।मदघूर्णितचेतने,बृ०१उ० २प्रक०।

मयट्ठाण-मदस्थान-न०। मदभेदेषु, मदो-मानस्तस्य स्थानानि पर्यायभेदा मदस्थानानि। आव० ४ अ०।

अट्ठ मयट्ठाणा पसत्ता। तं जहा-जाइमदे,कुलमदे,बलमदे रूवमदे,तवमदे,सुयमदे,लाभमदे,ईसरियमदे,॥(सूत्र-६०६)

मदस्थानानि मदभेदाः, इह च दोषा जात्यादिमदोन्मत्तः पिशाचवद्भवति दुःखितः, इह जात्यादिहीनतापरिभवं च निःसंशयं लभते इति। स्था० ८ ठा०। सूत्र०। आव०। आ० चू०। यतोऽनादौ संसारे पर्यटताऽसुमताऽदृष्टाऽऽयत्तान्यसकृदुच्चावचानि स्थानान्यनुभूतानि तस्मात्कथञ्चिदुच्चावचाऽऽदिकं मदस्थानमवाप्य पण्डितो हेयोपादेयतत्त्वज्ञो न हृष्येत्-न हर्षं विदध्यात्। उक्तं च—

" सर्वसुखान्यपि बहुशः, प्राप्तान्यटता मया तु संसारे।
उच्चैः स्थानानि तथा, तेन न मे विस्मयस्तेषु ॥ १ ॥

(सूत्रकृताङ्गे)—

जइ सोऽवि णिज्जरमओ, पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं।
अवसेस मयट्ठाणा, परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ ४४ ॥ "

नाप्यवगीतस्थानावाप्तौ वैमनस्यं विदध्यात्। आह च-"णो कुप्पे।" अदृष्टवशात्तथाभूतलोकासंमतं जातिकुलरूपबललाभाऽऽदिकमधममवाप्य न कुध्येत्-न क्रोधं कुर्वीत कतरं नीचस्थानं शब्दाऽऽदिकं वा दुःखं मया नानुभूतमित्येवमवगम्य नोद्वेगवशगेन भाव्यम्, उक्तं च—

" अवमानात्परिभ्रंशा-द्वधबन्धधनक्षयात्।
प्राप्ता रोगाश्च शोकाश्च, जात्यन्तरशतेष्वपि ॥ १ ॥
से ते य अविम्हइउं, असोइउं पंडिएण य असंते।
सक्का हु दुमो वमियहि-अप्पण हिययं धरंतेण ॥ २ ॥
होऊण चक्कवट्टी, पुहइवती विमलपंडुरच्छत्तो।
सो चेव नाम भुज्जो, अणाहसालालओ होइ ॥ ३ ॥ "

एकस्मिन्वा जन्मनि नानाभूतावस्था उच्चावचाः कर्मवशगोऽनुभवति। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

साम्प्रतं परनिन्दादोषमधिकृत्याह—

जो परिभवइ परं जणं, संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया,इति संखाय मुणी ण मज्जई।२।

निर्युक्तिकृदाह—

जइ ताव निज्जरमओ, पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं।
अविसेसमयट्ठाणा, परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ ४४ ॥

'अष्टमानमथनैः' अर्हद्भिः, अवशेषाणि तु 'मदस्थानानि' जात्यादीनि 'प्रयत्नेन' सुतरां परिहर्त्तव्यानीति ।४४। 'जो परि' इत्यादि, यः कश्चिदविवेकी 'परिभवति' अवज्ञयति 'परं जनम्' अन्यं लोकम् आत्मव्यतिरिक्तं,स तत्कृतेन कर्मणा 'संसारे' चतुर्गतिलक्षणे भवोदधावरघट्टघटीन्यायेन 'परिवत्तते' भ्रमति,'महद्' अत्यर्थं महान्तं वा कालं, क्वचित् 'चिरम्' इति पाठः। 'अदु त्ति' अथशब्दो निपातः, निपातानामनेकार्थत्वात् अथ इत्यस्यार्थे वर्त्तते, यतः परपरिभवादात्यन्तिकः संसारः अतः 'इंखिणिया' परनिन्दा, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् 'पापिकैव' दोषवत्येव, अथवा-स्वस्थानादधमस्थाने पातिका, तत्रेह जन्मनि सुघरो दृष्टान्तः, परलोकोऽपि पुरोहितस्याऽपि श्वाऽऽदिषूत्पत्तिरिति,इत्येवं 'संख्याय' परनिन्दां दोषवतीं ज्ञात्वा मुनिर्जात्यादिभिः यथाऽहं विशिष्टकुलोद्भवः श्रुतवान् तपस्वी, भवांस्तु मत्तो हीन इति न माद्यति ॥ २ ॥ सूत्र १ श्रु० २ अ० २ उ०।

मयण-मदन-पुं०। कामे, अभिलाषमात्रे च। स्था० ५ ठा० १ उ०। आचा०। "आणा जस्स विलइया, सीसे सव्वेहिँ हरिहरेहिं पि। सो वि तुह झाणजलणे, मयणो मयणं पिव विलीणो ॥१॥" पञ्चा०४ विव०। "मयणसरापूरगं।" कल्प० १ अधि० ३ क्षण। मधुनो विकृतिरूपेऽवयवे, पं० व० २ द्वार। विश्वपुरे धरणेन्द्रराजपुत्रमित्रे श्रेष्ठिपुत्रे, ग० २ अधि०। (स्पर्शनेन्द्रियविषयविपाके कथा) मीने, "(७२३) सित्थयं मयणं" पाइ० ना० २२८ गाथा। कामदेवे, पाइ० ना० ७ गाथा।

मयणकंचणा-मदनकाञ्चना-स्त्री०। पुष्कलावर्त्तविजयपुरीभेदे, दर्श० १ तत्त्व।

मयणकंदली-मदनकन्दली-स्त्री०। हस्तिनापुरराजस्य जितशत्रोर्भार्यायाम्, दर्श० १ तत्त्व।

मयणजक्ख-मदनयक्ष-पुं०। स्वनामख्याते यक्षे, यमाराध्य द्विमुखराजपत्नी वनमाला मदनमञ्जरीं सुषुवे। उत्त० ६ अ०।

मयणपरवसा-मदनपरवशा-स्त्री०। मन्मथविह्वलायाम्, तं०।

मयणबहूसव-मदनबहूत्सव-न०। भरतवैताढ्यपर्वतस्योत्तरविद्याधरश्रेणौ स्वनामख्याते नगरे, दर्श० १ तत्त्व।

मयणमंजरी-मदनमञ्जरी-स्त्री०। काम्पिल्यराजद्विमुखपत्न्यां चण्डप्रद्योतस्यावन्तीराजस्य भार्यायाम्, उत्त० ६ अ०।

मयणरहा-मदनरथा-स्त्री०। मालवमण्डलमण्डनसुदर्शनपुरराजमणिरथस्य भ्रातुर्युगबाहुभार्यायाम्, नमिमहाराजमातरि, उत्त० ६ अ०। ती०। ('णमि' शब्दे चतुर्थभागे १८०८ पृष्ठे कथोक्ता) सिंहपुरराजस्य रत्नसारस्य भार्यायाम्, सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

मयणवल्लह-मदनवल्लभ-पुं०। स्वनामख्याते चारित्रप्रधाने सूरौ, दर्श० ३ तत्त्व।

मयणवंछा-मदनवाञ्छा-स्त्री०। कामाभिलाषे, "मुण्डं शिरोवदनमेतदनिष्टगन्धि,भित्ताऽटनेन भरणं चदनोदरस्य। गात्रं मलेन मलिनं गतसर्वशोभं, चित्रं तथाऽपि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

मयणवाराणसी-मदनवाराणसी-स्त्री०। वाराणस्याः स्वनामख्याते भागे 'मदनपुरा' इति प्रसिद्धे, ती० ३७ कल्प।

मयणसरापूरग-मदनशराऽऽपूरक-पुं०। मदनबाणतूणीरे, "मयणसरापूरगं पि व चंदो।" मदनस्य कामस्य शरापूरमिव। तूणीरमिव। अयमर्थः-यथा धनुर्द्धरस्तूणीरं प्राप्य मुदितो निःशङ्कं मृगाऽऽदिकं शरैर्विध्यति,एवं मदनोऽपि चन्द्रोदयं प्राप्य निःशङ्कः जनान् बाणैर्व्याकुलीकरोति। कल्प० १ अधि० ३क्षण।

मयणसलागा-मदनशलाका-स्त्री०। सारिकापक्षिजातौ, जं० १ वक्ष०। रा०। आ० म०। जी०। दे० ना०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मयणसाला–मदनशाला–स्त्री० । सारिकाविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । औ० । आ० चू० ।

मयणा–मदना–स्त्री० । पक्षिविशेषे आव० १ अ० ।

मयणावली–मदनावली–स्त्री० । हस्तिनागपुरराजपद्मोत्तरपुत्रमहापद्मस्य भार्यायाम्, ती० २० कल्प ।

मयणाहि–मृगनाभि–स्त्री० । कस्तूर्याम्, " (३७६) मयणाही कत्थूरी " पाइ० ना० १४७ गाथा ।

मयणिज्ज–मदनीय–न० । " कृद्बहुलम् " ॥ इति हैमवचनात्कर्त्तर्यनीयः प्रत्ययः । मदयतीति मदनीयम् । मन्मथजनने, जी० २ प्रति० । मन्मथवर्द्धने, औ० ।

मयणिवास–देशी–कामे, दे० ना० ६ वर्ग १२६ गाथा ।

मयपतिआ–मृतपतिका–स्त्री० । विधवायाम्, औ० ।

मयपिंडणिवेयण–मृतपिण्डनिवेदन–न० । मृतेभ्यः श्मशाने तृतीयनवमाऽऽदिषु दिनेषु पिण्डनिवेदने, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

मयरंक–मकराङ्क–न० । मकरचिह्ने, औ० ।

मयरद्धय–मकरध्वज–पुं० । कामदेवे, पाइ० ना० ७ गाथा ।

मयरहिय–मदरहित–त्रि० । मदरहितो विशिष्टजातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपःश्रुताऽऽदिसम्पत्समन्वितावपि निरहङ्कारे, कर्म० १ कर्म० ।

मयरासण–मकराऽऽसन–न० । येषामासनानामधोभागे मकरा व्यवस्थितास्तेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

मयसमाण–मृतसमान–पुं० । शवकल्पे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

मयहर–महत्तर–पुं० । गच्छमहति, " जे केइ आयरिएइ वा मयहरएइ वा अगीयत्थेइ वा आयरियगुणकलिएइ वा मयहरगुणकलिएइ वा भविस्सायरिएइ वा भविस्समयहरएइ वा । " महा० ४ अ० ।

मयहरिया–महत्तरिका–स्त्री० । मुख्यसाध्व्याम्, तां विना श्रमण्यो न तिष्ठन्तीति । ग० ३ अधि० ।

मयाइ–अस्मद्–" मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा " ॥८।३।१०९॥ इत्यस्मदः टासहितस्य 'मयाइ' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

मयाणुण्णा–मतानुज्ञा–स्त्री० । निग्रहस्थाने, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

मयालिकुमार–मयालिकुमार–पुं० । श्रेणिकस्य धारण्यां जाते स्वनामख्याते सुते वीरान्तिके प्रव्रज्य षोडश वर्षाणि प्रव्रज्यां पालयित्वा वैजयन्ते कल्पे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यति । अणु० १ वर्ग २ अ० । कृष्णस्य रुक्मिणीसंभवे पुत्रे, स चारिष्टनेमरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्धः । अन्त० १ श्रु० ४ वर्ग २ अ० ।

मयाली–देशी–निद्राकरीलताविशेषे, दे० ना० ६ वर्ग १२६ गाथा ।

मय्य–मद्य–न० । " ज-द्य-र्यां यः " ॥८।४।२९२॥ मागध्यां जद्यर्यां स्थाने यो भवतीति द्यस्थाने यः । सुयपयाम्, प्रा० ४ पाद ।

मर–मृ–धा० । प्राणत्यागे, " ऋवर्णस्याऽरः " ॥८।४।२३४॥ धातोरन्त्यस्य ऋवर्णस्याऽराऽऽदेशो भवति । मरइ । म्रियते । प्रा० ४ पाद । " तृतीयस्य मिः " ॥८।३।१४१॥ बहुलाधिकाराद् मिप्स्थानीयस्य मेरिकारलोपश्च । ' न मरं ' न म्रिये इत्यर्थः । प्रा० ३ पाद ।

मर–पुं० । मरणं मरः, स्वरान्तत्वादप्रत्ययः । प्राणवियोगे, विशे० । आचा० ।

मरगअ–मरकत–न० । " मरकत–मदकले गः कन्दुके त्वादेः " ॥८।१।१८२॥ इति कस्य गः । मरगअं । प्रा० १ पाद । " उअ णिच्चलनिप्पंदा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ । णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥१॥" नीलरत्ने, ध० २ अधि० । ज्ञा० । उत्त० । रत्नविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सूत्र० । औ० ।

मरट्ट–देशी–गर्वे, दे० ना० ६ वर्ग १२० गाथा ।

मरण–मरण–न० । प्रतिनियताऽयुःपृथग्भवने, द्वा० १४ द्वा० । आयुःक्षये, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । दशविधप्राणवियोगरूपे (आ० म० १ अ० । प्रज्ञा० । आचा० । ल० । सू० प्र० ।) मृत्यौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आचा० । नं० ।

एगे मरणे अंतिमसारीरियाणं ।

एकं मरणं मृत्युरन्तिमशारीरिकाणां चरमदेहानां, मरणैकता च सिद्धत्वे पुनर्मरणाभावादिति । स्था० १ ठा० । आव० । तिर्यङ्मनुष्ययोरायुष्कक्षये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । सर्वथा क्षये, तं० । पञ्चत्वे, तं० ।

षड्विधं मरणमिति यदुक्तं तत्र नामस्थापने प्रतीते एवेत्यनादृत्य शेषचतुष्टयमाह । अन्ये त्वत्र नामाऽऽदिषड्विधनिक्षेपोद्देशाभिधायिनीमपि गाथामधीयते, तत्र नामस्थापने प्राग्वत्, द्रव्याऽऽदिचतुष्टयाभिव्यञ्जनार्थमाह—

दव्वमरणं कुसुंभाऽऽ–इएसु भावि आउक्खओ मुणेयव्वो ।
ओहे भवतब्भविए, मणुस्सभविएण अहिगारो ॥२०९॥

द्रव्यस्य मरणं द्रव्यमरणं, कुसुम्भाऽऽदिकेषु, आदिशब्दादन्नाऽऽदिपरिग्रहः, यद्यस्य स्वकार्यसाधनं प्रति समर्थं रूपं तत्तस्य जीवितमिति रूढं, तदभावस्तु मरणं, ततश्च कुसुम्भाऽऽदेरञ्जनाऽऽदि स्वकार्यसामर्थ्यं जीवितं, तदभावस्तु मरणं, तथा च लोके मृतं कुसुम्भकमरञ्जकं, मृतमन्नमव्यञ्जनसित्याद्युपदिश्यते, क्षेत्रमरणं तु यस्मिन् क्षेत्रे मरणम्—इङ्गिनीमरणाऽऽदि वर्ण्यते क्रियते वा यदा वा तस्य शस्याऽऽद्युत्पत्तिक्षमत्वमुपहन्यते तदा तत् क्षेत्रमरणं, कालमरणं यस्मिन् काले मरणमुपवर्ण्यते क्रियते वा, कालस्य वा ग्रहोपरागाऽऽदिना वृष्ट्यादिस्वकार्याकरणम्, एते च सुगमत्वात्तत्त्वतो द्रव्यमरणाभिन्नत्वाच्च निर्युक्तिकृता पृथग् नोक्ते, यत्तु निक्षेपगाथायां षड्विध इति वचनात् अनयोर्भेदेनाभिधानं तद्विवक्षितवस्तुवैशिष्ट्यदर्शकं, न हि ताभ्यां विना नियतदेशत्वाऽऽदिकं वस्तुनो वैशिष्ट्यमाख्यातुं शक्यमिति, ' भावे ' भावविषये निक्षेप आयुषो—जीवितस्य क्षयो–ध्वंसः आयुःक्षयो ' मुणितव्यो ' ज्ञातव्यो, मरणमित्युपस्कारः, तदपि च त्रिविधम्–' ओहे त्ति ' ओघमरणं–सामान्यतः सर्वप्राणिनां प्राणपरित्यागाऽऽत्मकं भवति, भवमरणं–यन्नारकाऽऽदेर्नारकाऽऽदिभवविषयतया विवक्षितम्, ' तब्भविय त्ति ' तद्भविकमरणं यस्मिन्नेव मनुष्यभवाऽऽदौ सुतः पु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नस्तस्मिन्नेवोत्पद्य यन्म्रियते इति व्याख्यानिकाऽभिप्रायः, वृद्धास्तु व्याचक्षते—'तं भावमरणं दुविहं-ओघमरणं, तब्भवमरणं च।' तथा तद्भवमरणस्वरूपं च—'जो जम्मि भवग्गहणे मरइ।' तत्र च 'ओहे तब्भवमरणे' इति पाठो लक्ष्यते। इह चैषां येनाधिकारस्तमाह—'मणुस्सभविएणं ति' मनुष्यभवभाविना भवमरणान्तर्वर्त्तिना मनुष्यभविकमरणेनाधिकारः प्रकृतम्। इति गाथाऽर्थः॥ २०६॥

(१) सम्प्रति विस्तरतो मरणवक्तव्यताविषयं द्वारगाथाद्वयमाह—

मरणविभत्तिपरूवण, अणुभावो चेव तह पएसग्गं।
कइ मरइ एगसमयं ?, कइखुत्तो वावि इक्किके ?॥२१०॥
मरणम्मि इक्कमिक्के, कइभागो मरइ सव्वजीवाणं ?।
अणुसमय संतरं वा, इक्किक्कं किच्चिरं कालं॥ २११॥

तत्र मरणस्य विभक्तिः—विभागः, तस्य प्ररूपणा—प्रदर्शना मरणविभक्तिप्ररूपणा, कार्येति शेषः। अनुभागश्च-रसः, स च तद्विषयस्याऽऽयुःकर्म्मणः, तत्रैव तत्सम्भवात्, मरणे हि तदभावाऽऽत्मनि कथं तत्सम्भव इति भावनीयम्, एवेति पूरणे, तथा प्रदेशानां-तद्विषयाऽऽयुःकर्म्मपुद्गलाऽऽत्मकानाम्, अग्रं—परिमाणं प्रदेशाग्रं, वाच्यमिति गम्यते।'कति' कियन्ति मरणानि, अङ्गीकृत्य इति शेषः। म्रियते-प्राणांस्त्यजति, जन्तुरिति गम्यते। 'एगसमयं ति।' सुब्व्यत्ययात् एकस्मिन् समये 'कइखुत्ता त्ति' कतिकृत्वः कियतो वारान्, 'वा' समुच्चये, अपिः पूरणे, 'एक्केक्कं ति' एकैकस्मिन् वक्ष्यमाणभेदे, मरणे म्रियते इति योज्यम्, 'मरणे' वक्ष्यमाणभेद एवैकैकस्मिन् 'कतिभागो त्ति' कतिसङ्ख्यो भागो म्रियते, 'सर्वजीवानाम्' अशेषजीवानाम् 'अणुसमयं ति' प्रतिसमयं निरन्तरमिति यावत्। अन्तरं-व्यवधानं सहान्तरेण वर्त्तत इति सान्तरं, वा विकल्पे, किमुक्तं भवति ?—एषु कतरन्निरन्तरं सान्तरं वा ? तथैकैकं 'कियच्चिरं' कियत्परिमाणं कालं सम्भवतीति गाथाद्वयाक्षरार्थः॥ २१०—२११॥ उत्त० पाई० ५ अ०।

(२) त्रिविधमरणम्—

तिविहे मरणे पण्णत्ते। तं जहा-बालमरणे, पंडियमरणे, बालपंडियमरणे। बालमरणे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-ठिअलेस्से, संकिलिट्ठलेस्से, पज्जवजातलेसे। पंडियमरणे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-ठितलेस्से, असंकिलिट्ठलेसे,पज्जवजातलेसे। बालपंडियमरणे तिविहे पन्नत्ते। तं जहा-ठिअलेस्से,असंकिलिट्ठलेसे, अपज्जवजातलेसे।(सूत्र-२२२)

बालोऽज्ञस्तद्वद्यो वर्त्तते विरतिसाधकविवेकविकलत्वात् स बालोऽसंयतस्तस्य मरणं बालमरणम्, एवमितरे,केवलं-पण्डि धातोर्गत्यर्थत्वेन ज्ञानार्थत्वाद्विरतिफलेन फलवद्विज्ञानसंयुक्तत्वात् पण्डितो-बुद्धतत्त्वः संयत इत्यर्थः। तथा अविरतत्वेन बालत्वात् विरतत्वेन च पण्डितत्वाद्बालपण्डितः संयतासंयत इति। स्थिता-अवस्थिता अविशुद्ध्यन्त्यसङ्क्लिश्यमाना च लेश्या कृष्णाऽऽदिर्यस्मिन् तत् स्थितलेश्यः, संक्लिष्टा-संक्लिश्यमाना संक्लेशमागच्छन्तीत्यर्थः,सा लेश्या यस्मिन् तत्तथा तथा, पर्यवाः-पारिशेष्याद्विशुद्धिविशेषाः प्रतिसमयं जाता यस्यां सा तथा, विशुद्ध्यवर्द्धमानेत्यर्थः। सा लेश्या यस्मिंस्तत्तथेति, अत्र प्रथमं कृष्णाऽऽदिलेश्यः सन् यदा कृष्णाऽऽदिलेश्येष्वेव नारकाऽऽदिषूत्पद्यते तदा प्रथमं भवति, यदा तु नीलाऽऽदिलेश्यः सन् कृष्णाऽऽदिलेश्येषूत्पद्यते तदा द्वितीयं, यदा पुनः कृष्णलेश्याऽऽदिः सन् नीलकापोतलेश्येषूत्पद्यते तदा तृतीयम्। उक्तं चान्त्यद्वयसंवादि भगवत्यां यदुत-"से णूणं भंते ! कण्हलेसे, नीललेसे ०जाव सुक्कलेसे भवित्ता काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ ?। हंता गोयमा !। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! लेसाठाणेसु संकिलिस्समाणेसु वा विसुज्झमाणेसु वा काउलेस्सं परिणमइ, परिणमित्ता काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ त्ति।" एतदनुसारेणोत्तरसूत्रयोरपि स्थितलेश्याऽऽदिविभागो नेय इति पण्डितमरणे सङ्क्लिश्यमानता लेश्याया नास्ति संयतत्वादेवेत्ययं बालमरणाद्विशेषः, बालपण्डितमरणे तु संक्लिश्यमानता विशुद्ध्यमानता च लेश्यायाः नास्ति, मिश्रत्वादेवेत्ययं विशेष इति। एवं च पण्डितमरणं वस्तुतो द्विविधमेव, संक्लिश्यमानलेश्यानिषेधेऽवस्थितवर्द्धमानलेश्यत्वात्तस्य इति, त्रिविधत्वं तु व्यपदेशमात्रत्वादेव, बालपण्डितमरणं त्वेकविधमेव, संक्लिश्यमानपर्यवजातलेश्यानिषेधे अवस्थितलेश्यत्वात्तस्येति, त्रैविध्यं त्वस्यैतत्व्याघृत्तितो व्यपदेशत्रयप्रवृत्तेरिति। स्था० ३ ठा० ४ उ०। प्रव०। स०।

(३) सप्तदशविधमरणानि—

आवीचि ओहि अंतिय, वलायमरणं वसट्टमरणं च।
अंतोसल्लं तब्भव, बालं तह पंडियं मीसं॥ २१२॥
छउमत्थमरण केवलि, वेहाणस गिद्धपिट्ठमरणं च।
मरणं भत्तपरिण्णा, इंगिणि पाओवगमणं च॥ २१३॥

इह च मरणशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् आवीचिमरणम् १ अवधिमरणम् २, 'अंतिय त्ति' आर्षत्वादत्यन्तमरणम् ३, 'वलायमरणंति' तत एव वलन्मरणम्। ४, वशार्त्तमरणं च ५, अन्तःशल्यमरणम् ६, तद्भवमरणम् ७, बालमरणम् ८, तथा-पण्डितमरणम् ९, मिश्रमरणम् १०, छद्मस्थमरणम् ११, केवलिमरणम् १२, 'वेहाणसं ति' तत एव वैहायसमरणम् १३, गृध्रपृष्ठमरणं च १४, 'मरणं भत्तिपरिण्ण त्ति' भक्तपरिज्ञामरणम् १५, इङ्गिनीमरणम् १६, पादपोपगमनमरणं च १७। इति गाथाद्वयार्थः॥ २१२—२१३॥ उत्त० पाई० ५ अ०।

(४) अप्रशस्तमरणानि—

दो मरणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णो णिच्चं वण्णियाइं, णो णिच्चं कित्तियाइं णो णिच्चं पूइयाइं, णो णिच्चं पसत्थाइं, णो णिच्चं अब्भणुन्नायाइं भवंति। तं जहा-वलायमरणे चेव, वसट्टमरणे चेव १, एवं णियाणमरणे चेव,तब्भवमरणे चेव २, गिरिपडणे चेव,तरुपडणे चेव ३, जलप्पवेसे चेव,जलणप्पवेसे चेव ४, विसभक्खणे चेव, सत्थोवाडणे चेव ५। दो मरणाइं ०जाव णो णिच्चं अब्भणुन्नायाइं भवंति, कारणेण पुण अप्पडिकुट्ठाइं। तं जहा-वेहाणसे चेव, गिद्धपट्ठे चेव ६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(दो मरणाइं इत्यादि) कण्ठ्या चेयम् , नवरं द्वे मरणे श्रमणेन भगवता महावीरेण श्राम्यन्ति—तपस्यन्तीति श्रमणास्तेषां, ते च शाक्याऽऽदयोऽपि स्युः। यथोक्तम्–"णिग्गंथ १ सक्क २ तावस ३, गेरुय ४ आजीव ५ पंचहा समणा।" इति। तद्व्यवच्छेदार्थमाह–निर्गता ग्रन्थाद्–बाह्याभ्यन्तरादिति निर्ग्रन्थाः–साधवस्तेषां नो 'नित्यं' सदा 'वर्णिते' तांस्तयोः प्रवर्त्तयितुमुपादेयफलतया नाभिहिते कीर्त्तिते—नामतः संशब्दिते उपादेयधिया (बुइयाइं त्ति) व्यक्तवाचोक्ते उपादेयस्वरूपतः, पाठान्तरेण–'पूजिते वा' तत्कारिपूजनतः 'प्रशस्ते' प्रशंसिते श्लाघिते 'शंसु' स्तुतौ इतिवचनात्। 'अभ्यनुज्ञाते' अनुमते यथा कुरुतेति। (बलायमरणं ति) बलतां–संयमान्निवर्त्तमानानां परीषहाऽऽदिबाधितत्वात् मरणं बलन्मरणम् , (वसट्टमरणं ति) इन्द्रियाणां वशमधीनता मृतानां–गतानां स्निग्धदीपकलिकावलोकनाऽऽकुलितपतङ्गाऽऽदीनामिव मरणं वशार्त्तमरणमिति। आह च—"संजमजोगविसन्ना, मरंति जे तं बलायमरणं ते। इंदियविसयवसगया, मरंति जे तं वसट्टं तु॥१॥" इति,। (एवं नियाणेत्यादि) एवमिति 'दो मरणाइं समणेणं' इत्याद्यभिलापस्योत्तरसूत्रेष्वपि सूचनार्थः, ऋद्धिभोगाऽऽदिप्रार्थना निदानं तत्पूर्वकं मरणं निदानमरणं, यस्मिन् भवे वर्त्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवाऽऽयुर्बद्ध्वा पुनर्म्रियमाणस्य मरणं तद्भवमरणम्। एतच्च सङ्ख्यातायुष्कनरतिरश्चामेव, तेषामेव हि तद्भवायुर्बन्धो भवतीति। उक्तं च—"मोत्तुं अकम्मभूमग–नरतिरिए सुरगणे य नेरइए। सेसाणं जीवाणं, तब्भवमरणं तु केसिंचि॥१॥" इति (सत्थोवाडणे त्ति) शस्त्रेण–क्षुरिकाऽऽदिना अवपाटनं–विदारणं स्वशरीरस्य यस्मिंस्तच्छस्त्रावपाटनम्॥५॥ (कारणे पुणेत्यादि) शीलभङ्गरक्षणाऽऽदौ पाठान्तरे तु–कारणेन 'अप्रतिकुष्टे' अनिवारिते भगवता, वृक्षशाखाऽऽद्युद्बद्धत्वाद् विहायसि–नभसि भवं वैहायसं प्राकृतत्वेन–'तु वेहाणसं' इत्युक्तमिति, गृध्रैः स्पृष्टं—स्पर्शनं यस्मिन् तत् गृध्रस्पृष्टं, यदि वा–गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदराऽऽदि च तद्भक्ष्यकरिकरभाऽऽदिशरीरानुप्रवेशेन महासत्त्वस्य मुमूर्षोर्यस्मिंस्तत् गृध्रस्पृष्टमिति। गाथाऽत्र–"गद्धाऽऽदिभक्खणं ग—द्धपट्ठमुब्बंधणाऽऽदिवेहासं। एते दोन्निऽवि मरणा, कारणजाए अणुन्नाया॥१॥" इति।

(५) अप्रशस्तमरणानन्तरं तत् प्रशस्तं भव्यानां भवतीति। तदाह—

दो मरणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं णिच्चं वण्णियाइं० जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति। तं जहा–पाओवगमणे चेव, भत्तपच्चक्खाणे चेव ७। पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–णीहारिमे चेव, अणीहारिमे चेव, णियमं अप्पडिक्कमे ८। भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा–णीहारिमे चेव, ८, अणीहारिमे चेव, णियमं सपडिक्कमे ९। (सूत्र–१०२)

(दो मरणाइं इत्यादि) पादपो वृक्षस्तस्यैव छिन्नपतितस्योपगमनमत्यन्तनिश्चेष्टतयाऽवस्थानं यस्मिंस्तत् पादपोपगमनं भक्तं—भोजनं तस्यैव न चेष्टाया अपि पादपोपगमन इव प्रत्याख्यानं–वर्जनं यस्मिंस्तत् भक्तप्रत्याख्यानमिति। (नीहारिमं ति) यद्वसतेरेकदेशे विधीयते तत्ततः शरीरस्य निर्हरणान्निस्सारणान्निर्हारिमं, यत् पुनर्गिरिकन्दराऽऽदौ तद् निर्हरणादनिर्हारिमम् (णियमं ति) विभक्तिपरिणामान्नियमादप्रतिकर्म—शरीरप्रतिक्रियावर्जं पादपोपगममनमिति। भवति चात्र गाथा–"सीहाऽऽदिसु अभिभूओ, पायवगमणं करेइ थिरचित्तो। आउम्मि बहुप्पंते, वियाणिउं नवरि गीयत्थो॥१॥" इति। इदमस्य व्याघातवदुच्यते, निर्व्याघातं तु यत् सूत्रार्थनिष्ठित उत्सर्गतो द्वादश समाः(मासाः)कृतपरिकर्मा सन् काल एव करोतीति।

तद्विधिश्चायम्—

"चत्तारि विचित्ताइं, विगई निज्जूहियाइँ चत्तारि।
संवच्छरे य दुन्नि उ, एगंतरियं च आयामं॥१॥
नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमियं च आयामं।
अन्नेऽवि य छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवोकम्मं॥२॥
वासं कोडीसहियं, आयामं काउ आणुपुव्वीए।
संघयणादणुरूवं, एत्तो अद्धाइ नियमेणं॥३॥"

यतः—

"देहम्मि असंलिहिए, सहसा धाऊहि खिज्जमाणेहिं।
जायइ अट्टज्झाणं, सरीरिणो चरमकालम्मि॥४॥"

किञ्च–

"भावमवि संलिहेई, जिणप्पणीएण झाणजोगेणं।
भूयत्थभावणाहि य, परिवड्ढइ बोहिमूलाइं॥५॥
भावेइ भावियप्पा, विसेसओ नवरि तम्मि कालम्मि।
पयईऍ निग्गुणत्तं, संसारमहासमुद्दस्स॥६॥
जम्मजरामरणजलो, अणाइमं वसणसावयाइन्नो।
जीवाण दुक्खहेऊ, कट्ठं रोद्दो भवसमुद्दो॥७॥
धन्नोऽहं जेण मए, अणोरपारम्मि नवरमेयम्मि।
भवसयसहस्सदुलहं, लद्धं सद्धम्मजाणं ति॥८॥
एयस्स पभावेणं, पालिज्जंतस्स सइ पयत्तेणं।
जम्मंऽतरे वि जीवा, पावंति न दुक्खदोगच्चं॥९॥
चिंतामणी अउव्वो, एस अपुव्वो य कप्परुक्खो त्ति।
एयं परमो मंतो, एयं परमाऽऽमयं एत्थं॥१०॥
एत्थं वेयावडियं, गुरुमाईणं महाऽणुभावाणं।
जेसि पभावेणेयं, पत्तं तह पालियं चेव॥११॥
तेसि नमो तेसि नमो, भावेण पुणो वि तेसि चेव नमो।
अणुवकयपरहियरया, जे एयं दिंति जीवाणं॥१२॥" इत्यादि।
"संलिहिऊणऽप्पाणं, एयं पच्चप्पिणेत्तु फलगाइं।
गुरुमाइए य सम्मं, खमाविउं भावसुद्धीए॥१३॥
उववूहिऊण सेसे, पडिबद्धे तम्मि तह विसेसेणं।
धम्मे उज्जमियव्वं, संजोगा इह विओगंता॥१४॥
अह वंदिऊण देवे, जहाविहिं सेसए य गुरुमाई।
पच्चक्खाइत्तु तओ, तयंतिए सव्वमाहारं॥१५॥
समभावम्मि ठियप्पा, सम्मं सिद्धंतभणियमग्गेणं।
गिरिकंदरम्मि गंतुं, पायवगमणं अह करेइ॥१६॥
सव्वत्थापडिबद्धो, दंडाययमाइ ठाणमिह ठाउं।
जावज्जीवं चिट्ठइ, निच्चेट्ठो पायवसमाणो॥१७॥
पढमिल्लयसंघयणे, महाणुभावा करेंति एवमिणं।
पायं सुहभावच्चिय, णिच्चलपयकारणं परमं॥१८॥
भत्तपरिन्नाऽणसणं, चउव्विहाऽऽहारचायनिप्फन्नं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सपडिकम्मं नियमा,जहा समाही विणिद्दिट्ठं ॥ १६ ॥" इति।
इङ्गितमरणं त्विह नोक्तं, द्विस्थानकानुरोधात् , तल्लक्षणं चेदम्—" इंगियदेसम्मि सयं, चउव्विहाऽऽहारचायनिप्फन्नं। उव्वत्तणाइजुत्तं,नऽरणेण उ इंगिणीमरणं ॥ १ ॥" इति। स्था० २ ठा० ४ उ०।

(६) पञ्चविधमरणानि—

कइविहे णं भंते ! मरणे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे मरणे पण्णत्ते। तं जहा—आवीचियमरणे, ओहिमरणे, आदिंतियमरणे, बालमरणे, पंडियमरणे। आवीचियमरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहादव्वाऽऽवीचियमरणे, खेत्तावीचियमरणे, कालावीचियमरणे, भवावीचियमरणे,भावावीचियमरणे। दव्वावीचियमरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—णेरइयदव्वावीचियमरणे, तिरिक्खजोणियदव्वावीचियमरणे,मणुस्सदव्वावीचियमरणे,देवदव्वावीचियमरणे। से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—णेरइयदव्वावीचियमरणे णेरइयदव्वावीचियमरणे ?। गोयमा ! जण्णं णेरइया णेरइए दव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं णेरइयाउयत्ताए गहियाइं बद्धाइं पुट्ठाइं कडाइं पट्ठवियाइं निविट्ठाइं अभिणिविट्ठाइं अभिसमण्णागयाइं भवंति,ताइं दव्वाइं आवीची अणुसमयं णिरंतरं मरंतीतिकट्टु, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—णेरइयदव्वावीचियमरणे, एवं ०जाव देवदव्वावीचियमरणे। खेत्तावीचियमरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—णेरइयखेत्तावीचियमरणे ०जाव देवखेत्तावीचियमरणे। से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—णेरइयखेत्तावीचियमरणे णेरइयखेत्तावीचियमरणे ?। गोयमा ! जण्णं णेरइया णेरइयखेत्ते वट्टमाणा जाइं दव्वाइं णेरइयाउयत्ताए, एवं जहेव दव्वावीचियमरणे, तहेव खेत्तावीचियमरणेऽवि, एवं० जाव भावावीचियमरणे। ओहिमरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—दव्वोहिमरणे, खेत्तोहिमरणे ०जाव भावोहिमरणे। दव्वोहिमरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—णेरइयदव्वोहिमरणे ०जाव देवदव्वोहिमरणे। से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—णेरइयदव्वोहिमरणे णेरइयदव्वोहिमरणे ?। गोयमा ! जण्णं णेरइया णेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं संपयं मरेंति जण्णं णेरइया ताइं दव्वाइं अणागए काले पुणो वि मरिस्संति,से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! जाव दव्वोहिमरणे, एवं तिरिक्खजोणिय० मणुस्स० देवदव्वोहिमरणे वि। एवं एएणं गमएणं खेत्तोहिमरणे वि कालोहिमरणे वि भवोहिमरणे वि भावोहिमरणे वि। आदिंतियमरणे णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—दव्वाऽऽदिंतियमरणे खेत्तादिंतियमरणे० जाव भावादिंतियमरणे। दव्वादिंतियमरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—णेरइयदव्वाइंतियमरणे ०जाव देवदव्वाइंतियमरणे। से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—णेरइयदव्वाइंतियमरणे णेरइयदव्वाइंतियमरणे ?। गोयमा ! जण्णं णेरइयाणं णेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं संपयं मरंति, जेणं णेरइया ताइं दव्वाइं अणागए काले णो पुणो वि मरिस्संति,से तेणऽट्ठेणं०जाव मरणे,एवं तिरिक्ख०मणुस्स०देवादिंतियमरणे, एवं खेत्ताइंतियमरणे वि। एवं० जाव भावादिंतियमरणे वि। बालमरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुवालसविहे पण्णत्ते। तं जहा—वलयमरणं जहा खंदए०जाव गिद्धपिट्ठे। पंडियमरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पाओवगमणे य, भत्तपच्चक्खाणे य। पाओवगमणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—णीहारिमे य, अणीहारिमे य ०जाव णियमा अपडिकमे। भत्तपच्चक्खाणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। एवं तं चेव णवरं णियमं सपडिकमे। सेवं भंते ! भंते ! त्ति। [सूत्र—४६६] भ० १३ श० ७ उ०।

सम्प्रत्यतिबहुभेददर्शनान्मा भूत् कस्यचिदश्रद्धानमिति सम्प्रदायगर्भं निगमनमाह—

सत्तरसविहाणाइं, मरणे गुरुणो भणंति गुणकलिआ।
तेसिं नामविभत्तिं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥२१४॥

सप्तदश—सप्तदशसंङ्ख्यानि विधीयन्ते—विशेषाभिव्यक्तये क्रियन्त इति विधानानि-भेदाः, 'मरणे' मरणविषयाणि 'गुरवः' पूज्यास्तीर्थकृद्गणभृदादयो 'भणन्ति' प्रतिपादयन्ति,गुणैः—सम्यग्दर्शनज्ञानाऽऽदिभिः कलिता—युक्ता गुणकलिताः, न तु वयमेव इत्याकूतं, वक्ष्यमाणग्रन्थसम्बन्धनार्थमाह—'तेषां' मरणानां नाम्नाम्—अभिधानानामनन्तरमुपदर्शितानां विभक्तिः—अर्थतो विभागो नामविभक्तिस्तां 'वक्ष्ये' अभिधास्ये, 'अथ' इत्यनन्तरमेव, आनुपूर्व्या—क्रमेणेति गाथाऽर्थः ॥ २१४ ॥

यथाप्रतिज्ञातमाह—

अणुसमयनिरंतरमवी—इसन्नियं तं भणंति पंचविहं।
दव्वे खित्ते काले, भवे य भावे य संसारे ॥ २१५॥

'अणुसमयं' समयमाश्रित्य, इदं च व्यवहितसमयाऽऽश्रयणतोऽपीति मा भूद् भ्रान्तिरत आह—निरन्तरं, न सान्तरम् , अन्तरालाऽसम्भवात् , किं तदेवंविधम् ?—'अवीइसंनियं ति' प्राकृतत्वाद्—आसमन्ताद्वीचय इव वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानाऽऽयुषोऽपराऽऽयुर्दलिकोदयात् पूर्वपूर्वाऽऽयुर्दलिकविच्युतिलक्षणाऽवस्था यस्मिंस्तदाऽऽवीचिं, ततश्चावीचीति संज्ञा सञ्जाता अस्मिंस्तारकाऽऽदित्वात् 'तदस्य सञ्जातम्' "तारकाऽऽदिभ्य इतच्," (पा० ५-२-३६) इत्यनेने-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यावीचिसंज्ञितम्, अथवा–वीचिः–विच्छेदस्तदभावादवीचि-तत्संज्ञितम् , उभयत्र प्रक्रमान्मरणं, यद्वा–संज्ञितशब्दः प्रत्ये-कमभिसम्बध्यते, ततश्च अनुसमयसंज्ञितं-निरन्तरसंज्ञितम् अवीचिसंज्ञितमिति एकार्थिकान्येतानि, 'तद्' इत्यावीचि-मरणं 'भणंति' प्रतिपादयन्ति 'पञ्चविधं' पञ्चप्रकारं, गणधराऽऽदय इति गम्यते। अनेन च पारतन्त्र्यं द्योतयति, तदेवाऽऽह–'दव्वे त्ति' द्रव्याऽऽवीचिमरणं 'खेत्त त्ति' क्षेत्रा-ऽऽवीचिमरणं 'काले त्ति' कालाऽऽवीचिमरणं 'भवेय त्ति' भवाऽऽवीचिमरणं च,'भावे य त्ति'भावाऽऽवीचिमरणं च,सं-सार इत्याधारनिर्देशः,तत्रैव मरणस्य सम्भवात्, तत्र द्रव्याऽ-ऽवीचिमरणं नाम यन्नारकतिर्यग्नरामराणामुत्पत्तिसमयात् प्रभृति निजनिजाऽऽयुःकर्म्मदलिकानामनुसमयमनुभवनाद्वि-चटनं, तच्च नारकाऽऽदिभेदाच्चतुर्विधम्, एवं नारकाऽऽदिग-तिचातुर्विध्यापेक्षया तद्विषयं क्षेत्रमपि चतुर्द्धैव, ततस्तत्प्रा-धान्यापेक्षया क्षेत्राऽऽवीचिमरणमपि चतुर्द्धैव, 'काले त्ति' य-थाऽऽयुष्ककालो गृह्यते, न त्वद्धाकालः, तस्य देवाऽऽदिष्व सम्भवात्, स च देवाऽऽयुष्ककालाऽऽदिभेदाच्चतुर्विधः, तत-स्तत्प्राधान्यापेक्षया कालाऽऽवीचिमरणमपि चतुर्विधम्,एवं-नारकाऽऽदिचतुर्विधभवाऽपेक्षया भवाऽऽवीचिमरणमपि चतु-र्द्धैव, तेषामेव च नारकाऽऽदीनां चतुर्विधमायुःक्षयलक्षणं भावं प्राधान्येनाऽपेक्ष्य भावाऽऽवीचिमरणमपि चतुर्द्धैव वाच्यमिति गाथाऽर्थः ॥ २१५ ॥

अधुना अवधिमरणमाह—

एमेव ओहिमरणं, जाणि मओ ताणि चेव मरइ पुणो ।

'एवमेव' यथाऽऽवीचिमरणं द्रव्यक्षेत्रकालभवभावभे-दतः पञ्चविधं, तथा अवधिमरणमपीत्यर्थः। तत्स्वरूपमाह— यानि मृतः, सम्प्रतीति शेषः, तानि चैव 'मरइ पुणो त्ति' आर्षत्वात्तिङ्व्यत्ययेन मरिष्यति पुनः। किमुक्तं भवति?—अ-वधिः–मर्यादा,ततश्च यानि नारकाऽऽदिभवनिबन्धनतयाऽऽ-युःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते, यदि पुनस्तान्येवानुभूय म-रिष्यति तदा तद्द्रव्यावधिमरणं; सम्भवति हि गृहीतोज्झि-तानामपि कर्मदलिकानां पुनर्ग्रहणम्, परिणामवैचित्र्याद्, एवं क्षेत्राऽऽदिष्वपि भावनीयम् ।

पश्चार्द्धेनाऽऽत्यन्तिकमरणमाह—

एमेव आइयंतिय–मरणं न वि मरइ ताइ पुणो ॥२१६॥

'एवमेव' अवधिमरणवदात्यन्तिकमरणमपि द्रव्याऽऽदि-भेदतः पञ्चविधं,विशेषस्त्वयम्—'ण वि मरइ ताइ पुणो त्ति' अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् नैव तानि द्रव्याऽऽदीनि पुनर्म्रियते, इदयुक्तं भवति—यानि नरकाऽऽद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्य-नुभूय म्रियते, मृतो वा न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यति, एवं क्षेत्राऽऽदिष्वपि वाच्यं,त्रीण्यपि चामून्यावीच्यवध्यात्यन्तिक-मरणानि प्रत्येकं पञ्चानां द्रव्याऽऽदीनां नारकाऽऽदिगतिभेदे-न चतुर्विधत्वाद् विंशतिभेदानीति गाथाऽऽर्थः ॥ २१६ ॥

साम्प्रतं वलन्मरणमाह—

संजमजोगविसन्ना, मरंति जे तं वलायमरणं तु ।
इंदियविसयवसगया, मरंति जे तं वसट्टं तु ॥ २१७ ॥

संयमयोगाः—संयमव्यापारास्तैस्तेषु वा विषण्णाः संयम-योगविषण्णा अतिदुश्चरं तपश्चरणमाचरितुमक्षमाः व्रतं च मोक्तुमशक्नुवन्तः कथञ्चिदस्माकमितो मुक्तिरस्त्विति चिन्तयन्तो म्रियन्ते यत्तद्वलतां—संयमान्निवर्त्तमानानां मरणं वलन्मरणं, तुर्विशेषणे, भग्नव्रतपरिणतीनां व्रति-नामेवैतदिति विशेषयति, अन्येषां हि संयमयोगानामेवा-सम्भवात् कथं तद्विषादः? तदभावे च तदिति । पश्चा-र्द्धेन वशार्त्तमाह—इन्द्रियाणां—चक्षुरादीनां विषयाः-मनो-ज्ञरूपाऽऽदय इन्द्रियविषयास्तद्वशं गताः–प्राप्ता इन्द्रियविष-यवशगताः स्निग्धदीपकलिकाऽवलोकनाऽऽकुलितपतङ्गवत् म्रियन्ते यत्तद्वशार्त्तमरणं, कथञ्चिद् द्रव्यपर्याययोरभेदादेवमु-च्यते, एवं पूर्वत्रापि भावनीयं, तुशब्द एषामप्यध्यवसानभे-दतो वैचित्र्यख्यापनाऽर्थ इति गाथार्थः ॥ २१७ ॥

अन्तःशल्यमरणमाह—

लज्जाइगारवेण य, बहुस्सुयमएण वाऽवि दुच्चरिअं ।
जे न कहंति गुरूणं, न हु ते आराहगा हुंति ॥२१८॥
गारवपंकनिवुड्डा , अइयारं जे परस्स न कहंति ।
दंसणनाणचरित्ते , ससल्लमरणं हवइ तेसिं ॥२१९॥

तत्र 'लज्जया' अनुचितानुष्ठानसंवरणाऽऽत्मिकया 'गौरवेण च' सातर्द्धिरसगौरवात्मकेन,मा भून्ममाऽऽलोचनार्हमाचार्य-मुपसर्पतस्तद्वन्दनाऽऽदिना तदुक्ततपोऽनुष्ठानाऽऽसेवनेन च ऋद्धिरससाताभावसम्भव इति, बहुश्रुतमदेन वा–बहु-श्रुतोऽहं तत्कथमल्पश्रुतोऽयं मम शल्यमुद्धरिष्यति?, कथं चाहमस्मै वन्दनाऽऽदिकं दास्यामि ? अपभ्राजना हि इयं मम इत्यभिमानेन, अपिः पूरणे, ये गुरुकर्म्माणो 'न कथय-न्ति' नाऽऽलोचयन्ति,केषाम्?,—'गुरूणाम्' आलोचनार्हाणा-माचार्याऽऽदीनां, किं तद्?-'दुश्चरितं–दुरनुष्ठितम्, इति सम्ब-न्धः, 'न हु' नैव 'ते' अनन्तरमुक्तरूपा आराधयन्ति—अविक-लतया निष्पादयन्ति सम्यग्दर्शनाऽऽदीनि इत्याराधका भव-न्ति,ततः किमित्याह–गौरवं पङ्क इव कालुष्यहेतुतया तस्मिन् 'निवुड्डा'–इति प्राकृतत्वान्निमग्ना इव निमग्नाः तत्क्रोडीकृतत-या, लज्जामदयोरपि प्रागुपादाने यदिह गौरवस्यैवोपादा-नं तदस्यैवातिदुष्टताख्यापनार्थम्, 'अतिचारम्' अपरा-धं ये 'परस्य' आचार्याऽऽदेः न कथयन्ति, किंविषयम्?, इत्याह–'दर्शनज्ञानचारित्रे–दर्शनज्ञानचारित्रविषयं, तत्र दर्श-नविषयं शङ्काऽऽदि,ज्ञानविषयं कालातिक्रमाऽऽदि,चारित्रविष-यं समित्यननुपालनाऽऽदि,शल्यमिव शल्यं कालान्तरेऽप्यनि-ष्टफलविधानं प्रत्यवन्ध्यतया, सह तेन सशल्यं, तच्च त-न्मरणं च सशल्यमरणम्—अन्तःशल्यमरणं भवति, 'ते-षां' गौरवपङ्कनिमग्नानामिति गाथाद्वयार्थः ॥२१८–२१९॥

अस्यैवात्यन्तपरिहार्यतां ख्यापयन् फलमाह—

एयं ससल्लमरणं, मरिऊण महब्भए दुरंतम्मि ।
सुइरं भमंति जीवा, दीहे संसारकंतारे ॥ २२० ॥

'एतद्' उक्तस्वरूपं सशल्यमरणं यथा भवति तथेत्यु-पस्कारः, सुब्व्यययाद्वा एतेन सशल्यमरणेन 'मृत्वा' त्यक्त्वा प्राणान्, के?—जीवा इति सम्बन्धः। किम्?– 'सुचिरं भ्रमन्ति' बहुकालं पर्यटन्ति, क्व?—संसारः का-न्तारमिवातिगहनतया संसारकान्तारः, तस्मिन्निति सण्ट-ङ्कः। कीदृशि?–महद्भयं यस्मिन् तन्महाभयं तस्मिन्, तथा दुःखेनान्तः-पर्यन्तो यस्य तद् दुरन्तं तस्मिन्, तथा 'दीर्घे'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनादौ केषाञ्चिदपर्यवसिते चेति तत् सर्वथा परिहर्त्तव्य-मेवेति भावः। इति गाथाऽर्थः॥ २२०॥

तद्भवमरणमाह—

मोत्तुं अकम्मभूमग-नरतिरिए सुरगणे अ नेरइए।
सेसाणं जीवाणं, तब्भवमरणं तु केसिं चि॥ २२१॥

'मुक्त्वा' अपहाय, कान् ?—'अकम्मभूमगनरतिरिए त्ति' सूत्रत्वात् अकर्म्मभूमिजाश्च ते देवकुरूत्तरकुर्वादिपूत्पन्नतया नरतिर्यञ्चश्च अकर्म्मभूमिजनरतिर्यञ्चस्तान्, तेषां हि तद्भवानन्तरं देवेष्वेवोत्पादः, तथा 'सुरगणांश्च' सुरनिकायान्, किमुक्तं भवति ?—चतुर्निकायवर्तिनोऽपि देवान्, निरयो-नरकः तस्मिन् भवा नैरयिकाः, इहापि च-शब्दानुवृत्तेस्तांश्च मुक्त्वेति सम्बन्धः, तेषां देवानां च तद्भवानन्तरं तिर्यग्मनुष्येष्वेवोत्पत्तेः, 'शेषाणाम्' एतदुद्धरितानां कर्म्मभूमिजनरतिरश्चां 'जीवानां' प्राणिनां तद्भवमरणं, तेषामेव पुनस्तत्रोत्पत्तेः, तद्धि यस्मिन् भवे वर्त्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवाऽऽयुर्बद्धा पुनस्तत्क्षयेण म्रियमाणस्य भवति, तु-शब्दस्तेषामपि सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषामेवेति विशेषख्यापकः, असङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषां हि युगलधार्मिकत्वादकर्मभूमिजानामिव देवेष्वेवोत्पादः, तेषामपि न सर्वेषां, किन्तु 'केषाञ्चित्' तद्भवोत्पादानुरूपमेवाऽऽयुःकर्म्मोपचिन्वतामिति गाथाऽर्थः॥ २२१॥

अत्रान्तरे प्रत्यन्तरेषु 'मोत्तूणओहिमरणं' इत्यादिगाथा दृश्यते, न चास्या भावार्थः सम्यगवबुध्यते, नापि चूर्णिकृताऽसौ व्याख्यातेति उपेक्ष्यते। सम्प्रति बालपण्डितमिश्रमरणस्वरूपमाह-

अविरयमरणं बालं, मरणं विरयाण पंडियं विंति।
जाणाहि बालपंडिय-मरणं पुण देसविरयाणं॥२२२॥

विरमणं विरतं-हिंसाऽनृताऽऽदेरुपरमणं न विद्यते तद् येषां तेऽमी अविरताः तेषां—सृतिसमयेऽपि देशविरतिमप्रतिपद्यमानानां मिथ्यादृशां सम्यग्दृशां वा मरणमविरतमरणं-बालमरणमिति ब्रुवत इति सम्बन्धः। तथा 'विरतानां' सर्वसावद्यनिवृत्तिमभ्युपगतानां मरणं 'पण्डित' मिति प्रक्रमात्पण्डितमरणम्, 'विंति त्ति' ब्रुवते तीर्थकरगणधराऽऽदयः, जानीहि 'बालपण्डितमरणमिति' मिश्रमरणं, पुनःशब्दः पूर्वापेक्षया विशेषं द्योतयति, देशात् सर्वविषयाऽपेक्षया स्थूलप्राणिव्यपरोपणाऽऽदेर्विरता देशविरतास्तेषामिति गाथाऽर्थः॥ २२२॥

एवं चरणद्वारेण बालाऽऽदिमरणत्रयमभिधाय ज्ञानद्वारेण छद्मस्थमरण-केवलिमरणे प्रतिपादयितुमाह—

मणपज्जवोहिनाणी, सुअमइनाणी मरंति जे समणा।
छउमत्थमरणमेयं, केवलिमरणं तु केवलिणो॥ २२३॥

मनःपर्यवज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्च, ज्ञानिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्, श्रुतज्ञानिनो मतिज्ञानिनश्च 'म्रियन्ते' प्राणांस्त्यजन्ति ये 'श्रमणाः' तपस्विनः छादयन्तीति छद्मानि-ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनि तेषु तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः तेषां मरणं छद्मस्थमरणमेतत्, इह च प्रथमतो मनःपर्यायनिर्देशो विशुद्धिकृतप्राधान्यमङ्गीकृत्य चारित्रिण एव तदुपजायत इति स्वामिकृतप्रधान्यापेक्षो वा, एवमवध्यादिष्वपि यथायोगं स्वधियैव हेतुरभिधेयः केवलिमरणं तु ये केवलिनः—उत्पन्नकेवलाः सकलकर्म्मपुद्गलपरिशाटतो म्रियन्ते तज्ज्ञेयमिति शेषः, उभयत्राभेदनिर्देशः प्राग्वदिति गाथाऽर्थः॥ २२३॥

साम्प्रतं वैहायसगृध्रपृष्ठ (स्पृष्ट) मरणे अभिधातुमाह—

गिद्धाइभक्खणं गि-द्धपिट्ठ उब्बंधणाइ वेहासं।
एए दुन्निवि मरणा, कारणजाए अणुन्नाया॥ २२४॥

'गृध्राः' प्रतीतास्ते आदिर्येषां शकुनिकाशिवाऽऽदीनां तैर्भक्षणं गम्यमानत्वादात्मनः तदनिवारणाऽऽदिना तद्भक्ष्यकरिकरभाऽऽदिशरीरानुप्रवेशेन च गृध्राऽऽदिभक्षणं, तत् किमुच्यत इत्याह—'गिद्धपिट्ठ त्ति' गृध्रैः स्पृष्टं—स्पर्शनं यस्मिंस्तद्गृध्रस्पृष्टम्, यदिवा—गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदराऽऽदि च मर्त्त्यर्यस्मिंस्तद् गृध्रपृष्ठम्, सद्यालक्तकपूर्णिकापुटप्रदानेनाप्यात्मानं गृध्राऽऽदिभिः पृष्ठाऽऽदौ भक्षयतीति, पश्चान्निर्दिष्टस्यापि चास्य प्रथमतः प्रतिपादनमत्यन्तमहासत्त्वविषयतया कर्म्मनिर्जरां प्रति प्राधान्यख्यापनार्थम्, 'उब्बंधणाइ वेहासं ति' उत्—ऊर्ध्वं वृक्षशाखाऽऽदौ बन्धनमुद्बन्धनं तदादिर्यस्य तरुगिरिभृगुप्रपाताऽऽदेरात्मजनितस्य मरणस्य तदुद्बन्धनाऽऽदि 'वेहासं ति' प्राकृतत्वाद्यलोपे वैहायसम्, उद्बद्धस्य हि विहायस्येव भवनमिति तत्प्राधान्यविवक्षयेत्थमुक्तम्। आह—एवं गृध्रपृष्ठस्याप्यात्मघातरूपत्वाद्वैहायसिकेऽन्तर्भावः, सत्यमेतत्, केवलमल्पसत्त्वैरध्यवसातुमशक्यताख्यापनार्थस्य भेदेनोपन्यासः, ननु—"भावियजिणवयणाणं, ममत्तरहियाण णत्थि हु विसेसो। अप्पाणम्मि परम्मि य, तो वज्जे पीडमुभए वि॥१॥" इत्यागमः, एते चानन्तरोक्ते मरणे आत्मविघातकारिणी, तथा चाऽऽत्मपीडाहेतुरिति कथं नाऽऽगमविरोधः?, अत एव च भक्तपरिज्ञानाऽऽदिषु पीडापरिहाराय 'चत्तारि विचित्ताइं, विगई णिज्जू०' ॥ ६८२॥ इत्यादिसंलेखनाविधिः पानकाऽऽदिविधिश्च तत्र तत्राऽभिहितः, दर्शनमालिन्यं चोभयत्रेत्याशङ्क्याऽऽह—'एते' अनन्तरोक्ते 'द्वे अपि' गृध्रपृष्ठवैहायसाऽऽख्ये मरणे 'कारणजाते' कारणप्रकारे दर्शनमालिन्यपरिहाराऽऽदिके उदायिनृपानुमृततथाविधाऽऽचार्यवत् अनुज्ञाते, तीर्थकृद्गणधराऽऽदिभिरिति, अनेन च सम्प्रदायानुसारितां दर्शयन्नन्यथाकथने श्रुताऽऽशातनाया अतिदुरन्तत्वमाह। इति गाथाऽर्थः॥ २२४॥ उत्त०पाई० ५ अ०।

(७) साम्प्रतमेतदेव मरणं सपराक्रमेतरभेदाद् द्विविधमिति दर्शयितुमाह—

सपरिक्कमे य अपरि-क्कमए य वाघाय आणुपुव्वीए।
सुत्तत्थजाणएणं, समाहिमरणं तु कायव्वं॥ २६४॥

'पराक्रमः' सामर्थ्यं सह पराक्रमेण वर्त्तत इति सपराक्रमस्तस्मिंश्च मरणं स्यात्, तद्विपर्यये चापराक्रमे-जङ्घाबलपरिक्षीणे तद्भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनभेदात् त्रिविधमपि मरणं सपराक्रमेतरभेदात् प्रत्येकं द्वैविध्यमनुभवति, तदपि व्याघातिमेतरभेदात् द्विधा भवेत्, तत्र व्याघातः सिंहव्याघ्राऽऽदिकृतोऽव्याघातस्तु प्रव्रज्यासूत्रार्थग्रहणाऽऽदिकयाऽनुपूर्व्या विपकृत्रिममायुष्कक्षयमनुभवतो यो भवति सोऽव्याघात इहाऽनुपूर्वीत्युक्तं, तत्र परमार्थोपक्षेपेणोपसंहरति व्याघातेनाऽनुपूर्व्या वा सपराक्रमस्याऽपराक्रमस्य वा मरणे समुपस्थिते सति सूत्रार्थज्ञेन कालज्ञतया समाधिमरणमेव कर्त्तव्यं, भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनानामन्यतरद् यथासमाधि विधेयं, न वेहानसाऽऽदिकं बालमरणं कर्त्तव्यमिति गाथाऽर्थः॥२६४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्र सपराक्रममरणं दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

सपरक्कममाएसो, जह मरणं होइ अज्जवइराणं ।
पायवगमणं च तहा, एयं सपरक्कमं मरणं ॥ २६५ ॥

सह पराक्रमेण वर्त्तत इति सपराक्रमं, किं तत् ?–मरणम्, आदिश्यते–इत्यादेशः आचार्यपारम्पर्यश्रुत्यायातो वृद्धवादो यमैतिह्यमाचक्षते, स आदेशः 'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासार्थः, यथैतत्तथाऽन्यदप्यनया दिशा द्रष्टव्यम्, 'आर्यवैरा' वैरस्वामिनो यथा तेषां मरणमभूत् तथा पादपोपगमनं च, एतच्च सपराक्रमं मरणमन्यत्राऽप्यायोज्यमिति गाथाऽर्थः ॥ २६५ ॥ भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्च प्रतिद्धमेव, यथाऽऽर्यवैरैर्विस्मृतकर्णाहितशृङ्गवेरैः प्रमादादवगताऽऽसन्नमृत्युभिः सपराक्रमैरेव रथाऽऽवर्त्तशिखरिणि पादपोपगमनमकारीति।

साम्प्रतमपराक्रमं दर्शयितुमाह—

अपरक्कममाएसो, जह मरणं होइ उदहिनामाणं ।
पाओवगमेऽवि तहा, एयं अपरक्कमं मरणं ॥ २६६ ॥

न विद्यते पराक्रमः—सामर्थ्यमस्मिन्नित्यपराक्रमं, किं तत् ?–मरणं, तच्च यथा जङ्घाबलपरिक्षीणानामुदधिनाम्नाम् आर्यसमुद्राणां मरणमभूद्. अयमादेशो–दृष्टान्तो वृद्धवादाऽऽयात इति, पादपोपगमनेऽपि तथैवाऽऽदेशं जानीयाद् यथा पादपोपगमनेन तेषां मरणमभूदिति, एतद्–अपराक्रमं मरणं यदार्यसमुद्राणां सञ्जातमेवमन्यत्राप्यायोज्यमिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—आर्यसमुद्रा आचार्याः प्रकृतिकृशा एवाऽऽसन्, पश्चाच्च तैर्जङ्घाबलपरिक्षीणैः शरीराल्लाभमनपेक्ष्य तत्तित्यक्षुभिर्गच्छक्षैरेवानशनं विधाय प्रतिश्रयैकदेशे निर्हारिमं पादपोपगमनमकारि ॥ २६६ ॥

साम्प्रतं व्याघातिममाह—

वाघाइयमाएसो, अवरद्धो हुज्ज अन्नतरएणं ।
तोसलि महिसीइ हओ, एवं वाघाइयं मरणं ॥ २६७ ॥

विशेषेणाऽऽघातो व्याघातः–सिंहाऽऽदिकृतः शरीरविनाशस्तेन निर्वृत्तं तत्र वा भवं व्याघातिमं, कश्चित्सिंहाऽऽद्यन्यतरेणापराद्धो भवेद्–तेन यन्मरणं तद्व्याघातिमं, तत्र वृद्धवादाऽऽयात आदेशो दृष्टान्तः, यथा–तोसलिनामाऽऽचार्यो महिष्याऽऽरब्धश्चतुर्विधाऽऽहारपरित्यागेन मरणमभ्युपगतवान् एतद् व्याघातिमं मरणमिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—तोसलिनामाऽऽचार्योऽरण्यमहिषीभिः प्रारब्धः, तोसलिदेशे वा बह्व्यो महिष्यः सम्भवन्ति, ताभिश्च कदाचिदेकः साधुरटव्यन्तर्वर्त्त्यारब्धः, स च ताभिः क्षुद्यमानोऽनिर्वाहमवगम्य चतुर्विधाऽऽहारं प्रत्याख्यातवानिति । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

साम्प्रतमन्त्यमरणत्रयमाह—

भत्तपरिण्णा इंगिणि, पाओवगमं च तिन्नि मरणाइं ।
कन्नसमज्झिमजेट्ठा, धिइसंघयणेण उ विसिट्ठा ॥२२५॥

भक्तं—भोजनं तस्य परिज्ञा–ज्ञपरिज्ञयाऽनेकधेदमस्माभिर्भुक्तपूर्वमेतद्धेतुकं चाऽवद्यमिति परिज्ञानं, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च "सव्वं च असणपाणं, चउव्विहं जा य बाहिरा उवही । अब्भितरं च उवहिं, जावज्जीवं च वोसिरे ॥ १ ॥" इत्यागमवचनाच्चतुर्विधाऽऽहारस्य वा यावज्जीवमपि परित्यागाऽऽत्मकं प्रत्याख्यानं भक्तपरिज्ञोच्यते, इङ्ग्यते—प्रतिनियतप्रदेश एव चेष्ट्यते अस्यामनशनक्रियायामिति इङ्गिनी, पादैः–अधःप्रसर्पिमूलाऽऽत्मकैः पिबति पादपो–वृक्षः, उपशब्दश्चोपमेतिवत्सादृश्ययेऽपि दृश्यते, ततश्च पादपमुपगच्छति–सादृश्येन प्राप्नोतीति पादपोपगमं, किमुक्तं भवति ?– यथैव पादपः क्वचित् कथञ्चिन्निपतितः सममसममिति चाविभावयन्निश्चलमेवाऽऽस्ते, तथाऽयमपि भगवान् यद् यथा समविषमदेशेष्वङ्गमुपाङ्गं वा प्रथमतः पतितं न तत्ततश्चलयति । तथा च प्रकीर्णककृत्—

"णिच्चल णिप्पडिकम्मो, णिक्खिवए जं जहिं जहा अंगं ।
एवं पादोवगमं, णीहारिं वा अणीहारिं ॥ १ ॥
पाओवगमं भणियं, समें विसमे पायवो जहा पडितो ।
णवरं परप्पओगा, कंपेज्ज जहा चलतरु व्व ॥ ५४४ ॥

चः समुच्चये । इह चैवंविधानशनोपलक्षितानि मरणान्यप्येवमुक्तानि, अत एवाऽह–त्रीणि मरणानि, एतत्स्वरूपं च यथेदं विधेयं यच्चात्र सपरिकर्म्म अपरिकर्म्म च इत्यादिकं सूत्रकार एवोत्तरत्र तपोमार्गनाम्नि त्रिंशत्तमाध्ययनेऽभिधास्यत इति निर्युक्तिकृता नोक्तम् । द्वारनिर्देशाच्चावश्यं किञ्चिद्वाच्यमिति मत्वेदमाह–'कण्णस त्ति' सूत्रत्वात् कनिष्ठं—लघु जघन्यमिति यावत्, मध्यमं—लघुज्येष्ठयोर्मध्ये भावि, ज्येष्ठम्—अतिशयवृद्धमुत्कृष्टमित्यर्थः, एषां द्वन्द्वः तत एतानि, धृतिः–संयमं प्रति चित्तस्वास्थ्यं संहननं—शरीरसामर्थ्यहेतुः वज्रऋषभनाराचाऽऽदि ताभ्यां, प्राकृतत्वाच्चैकवचननिर्देशः, समाहाराऽऽश्रयणाद्वा,तुशब्दात्सपरिकर्म्माऽपरिकर्म्मताऽऽदिभिश्च विशेषणैर्विशिष्टानि–विशेषवन्ति,इदमुक्तं भवति–यद्यपि त्रितयमप्येतत्—

"धीरेणऽवि मरियव्वं, कापुरिसेण वि अवस्स मरियव्वं ।
तम्हा अवस्समरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥ १ ॥
संसाररंगमज्झे, धीबलसंनद्धबद्धकच्छातो ।
हंतूण मोहमल्लं, हराभि आराहणपडागं ॥ २ ॥
जह पच्छिमम्मि काले, पच्छिमतित्थयरदेसियमुयारं ।
पच्छा निच्छयपत्थं, उवेमि अब्भुज्जयं मरणं ॥ ३ ॥"

इति शुभाऽऽशयवानेव प्रतिपद्यते,फलमपि च विमानिकतामुक्तिलक्षणं त्रयस्याऽपि समानं, तथा चोक्तम्—"एयं पच्चक्खाणं, अणुपालेऊण सुविहिओ सम्मं । वेमाणिओ व देवो, हवेज्ज अहवाऽवि सिज्झिज्जा ॥ १ ॥" तथापि विशिष्टविशिष्टतरविशिष्टतमधृतिमतामेव तत्प्राप्तिरिति कनिष्ठत्वाऽऽदिस्तद्विशेष उच्यते, तथाहि–भक्तपरिज्ञामरणमार्यिकाऽऽदीनामप्यस्ति, यत उक्तम्—"सव्वावि य अज्जाओ, सव्वेऽवि य पढमसंघयणवज्जा । सव्वेऽवि देसविरया, पच्चक्खाणेण उ मरंति ॥ १ ॥" अत्र हि प्रत्याख्यानशब्देन भक्तपरिज्ञैवोक्ता, तत्र प्राक् पादपोपगमनाऽऽदेरन्यथाऽभिधानात्, इङ्गिनीमरणं तु विशिष्टतरधृतिसंहननवतामेव सम्भवतीत्यार्यिकाऽऽदिनिषेधत एवाऽवसीयते, पादपोपगमनं तु नाम्नैव विशिष्टतमधृतिमतामेवेत्युक्तप्रायं, ततश्च वज्रऋषभनाराचसंहननिनामेवैतत्, उक्तं हि–" पढमम्मि य संघयणे, वट्टंते सेलकुड्डसामाणे । तेसिं पि य वोच्छेओ, चोद्दसपु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्वीए वोच्छेए ॥ ५५० ॥" कथं चान्यथैवंविधविशिष्टधृतिसंहननाभावे—

" पुव्वभवियवेरेणं, देवो साहरइ कोऽवि पायाले।
मा सो चरिमसरीरे-ए वेयणं किं पि पावेज्जा ॥ १ ॥ "

तथा—

" देवो नेहेण नयइ, देवारण्णं व इंदभवणं वा।
जहियं इट्ठा कंता, सव्वसुहा हुंति अणुभावा ॥ २ ॥
उप्पएणे उवसग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य।
सव्वे पराजिणित्ता, पाओवगया परिहरंति ॥ ३ ॥
पुव्वावरउत्तरेहिं, दाहिणवाएहिँ आवडंतेहिं।
जह न वि कंपइ मेरू, तह झाणातो न वि चलंति ॥ ४ ॥

इति मरणविभक्तिकृदुक्तं महासामर्थ्यं सम्भवि, किञ्च— तीर्थकरसेवितत्वाच्च पादपोपगमनस्य ज्येष्ठत्वं, इतरयोश्चाविशिष्टसाधुसेवितत्वादन्यथात्वं, तथा चाऽऽवादि—

" सव्वे सव्वऽद्धाए, सव्वएणू सव्वकम्मभूमीसु।
सव्वगुरू सव्वहिया, सव्वे मेरूसु अहिसित्ता ॥ १ ॥
सव्वाहिं लद्धीहिं, सव्वेऽवि परीसहे पराजित्ता।
सव्वेऽवि य तित्थयरा, पातोवगया उ सिद्धिगया ॥ २ ॥
अवसेसा अणगारा, तीयपडुप्पएणऽणागया सव्वे।
केती पातोवगया, पच्चक्खाणिंगिणिं केती ॥ ३ ॥ "

इति कृतं प्रसङ्गेनेति गाथाऽर्थः ॥ २२५ ॥

इत्थं प्रतिद्वारगाथाद्वयवर्णनात् मूलद्वारगाथायां मरणविभक्तिप्ररूपणाद्वारमनुवर्णितम्, अधुनाऽनुभावप्रदेशाग्रद्वारद्वयमाह—

सोवक्कमो अ निरुव-क्कमो अ दुविहोऽणुभावमरणम्मि।
आउगकम्मपएस-ग्गणंतणंता पएसेहिं ॥ २२ ॥

सहोपक्रमेण—अपवर्त्तनकरणाऽऽख्येन वर्तत इति सोपक्रमश्च, निर्गत उपक्रमान्निरुपक्रमश्च द्विविधो,द्वैविध्यं चोक्तभेदेनैव, कोऽऽसौ ?–अनुभागः,क्व?–'मरणे'इत्यर्थात् मरणविषयाऽऽयुषि,तत्र हि सप्तभिरष्टभिर्वाऽऽकर्षैर्गवामिव मरुषु जलगण्डूषग्रहणरूपैर्यत्पुद्गलोपादानं तदनुभागोऽतिदृढ इत्यपवर्तयितुमशक्यतया निरुपक्रममुच्यते, यत्तु षड्भिः पञ्चभिश्चतुर्भिर्वा आगृहीतं—दलिकं तदपवर्तनाकरणेनोपक्रम्यते इति सोपक्रमं, न चैतदुभयमप्यायुःक्षयाऽऽत्मनि मरणे सम्भवति, तथा एति याति च इत्यायुस्तन्निबन्धनं कर्म्म आयुःकर्म्म तस्य विभक्तुमशक्यतया प्रकृष्टा देशाः प्रदेशास्तेषामग्रं-परिमाणमायुःकर्म्मप्रदेशाग्रम्, अनन्तानन्ताः— अनन्तानन्तसङ्ख्यापरिमिता मरणप्रक्रमेऽप्यर्थादायुःपुद्गलास्तद्विषयत्वाच्च मरणस्यैवमुपन्यासः, किमेतावन्तः कृत्स्नेऽप्यात्मनि ?, अत आह-' पएसेहिं ति' प्रक्रमात् सुव्यत्ययाच्चाऽऽत्मप्रदेशेषु, आत्मप्रदेशो ह्येकैकस्तत्प्रदेशैरनन्तानन्तैरावेष्टितः संवेष्टितः, तथा च वृद्धव्याख्या-" इदाणिं पदेसऽग्गं—अणंताणंता आउगकम्मपोग्गला जेहिं एगमेगो जीवपएसो आवेढिय परिवेढितो। " इति गाथाऽर्थः ॥२२६॥

[८] सम्प्रति कति म्रियन्ते एकसमयेनेति द्वारमाह—

दुन्नि व तिन्नि व चत्ता-रि पंच मरणाइ अवीइमरणम्मि।
कइ मरइ एगसमयं-सि विभासावित्थरं जाणे ॥२२७॥
सव्वे भवत्थजीवा, मरंति आवीइअं सया मरणं।
ओहिं च आइअंतिय,दुन्नि वि एयाइ भयणाए ॥२२८॥
ओहिं च आइअंतिअ, बालं तह पंडिअं च मीसं च।
छउमं केवलिमरणं, अन्नुन्नेणं विरुज्झंति ॥ २२९ ॥

द्वे वा त्रीणि वा, वाशब्दस्योत्तरत्रानुवृत्तेः चत्वारि वा पञ्च वा मरणानि वक्ष्यमाणविवक्षातः प्रक्रमादेकस्मिन् समये सम्भवन्ति, आवीचिमरणे सतीति शेषः, अनेन चास्य सततावस्थितत्वमेतदविवक्षया च तदृद्ध्यादिभेदपरिकल्पनेत्याह—कति म्रियन्त एकसमये ?, इति चतुर्थद्वारस्य विशेषेण भाषणं विभाषणं विभाषा—व्याख्या विविधैर्वा प्रकारैर्भाषणं विभाषा—भेदाभिधानं तया विस्तरः— प्रपञ्चस्तं विस्तरं जानीहि जानीयाद्वा, निगमनमेतत्, प्रस्तुतमेवार्थं प्रकटयितुमाह-'सव्वे' निरवशेषाः, तत् किं मुक्तिभाजोऽपीत्याह-' भवत्थजीवाः' भवन्त्यस्मिन् कर्म्मवशवर्तिनो जन्तव इति भवः, तत्र तिष्ठन्ति भवस्थाः, ते च ते जीवाश्चेति विशेषणसमासः, म्रियन्ते, आवीचिकमवीचिकं वा मरणमाश्रित्येति शेषः, यद्वा-विभक्तिव्यत्ययादावीचिकेन मरणेन म्रियन्ते। ' सदा ' सर्वकालं, ' ओहिं च त्ति ' अवधिमरणं, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततश्च ' आइयंतिय त्ति ' आत्यन्तिकमरणं च, द्वे अप्येते ' भजनया ' विकल्पनया, किमुक्तं भवति ?—यद्यप्यावीचिमरणवत् अवध्यात्यन्तिकमरणे अपि चतसृष्वपि गतिषु सम्भवतः तथाऽप्यायुःक्षयसमय एव तयोः सम्भवान्न सदाभावः, अत आवीचिकमरणमेव सदेत्युक्तम्, अनेनावीचिमरणस्य सदाभावेन लोके मरणत्वेनाप्रसिद्धिः अविवक्षायां हेतुरुक्त इति भावनीयम्। सम्प्रति ' दोन्नि वि ' इत्यादि व्यक्तीकरोति—' ओहिं च आइयंतिय त्ति, ' चशब्दो भिन्नक्रमः, ततोऽवधिमरणमात्यन्तिकमरणं च, ' बालं ' बालमरणं च, तथेत्युत्तरभेदापेक्षया समुच्चये, ' पण्डितं च ' पण्डितमरणं, मिश्रं च बालपण्डितमरणं च, चशब्दाद् वैहायसगृध्रपृष्ठमरणे, भक्तपरिज्ञेङ्गिनी पादपोपगमनानि च, अन्योन्येन परस्परेण विरुध्यन्ते, युगपदसम्भवात्, तत्र चाविरतस्यावध्यात्यन्तिकमरणयोः अन्यतरद्बालमरणं चेति द्वे, तद्भवमरणेन सह त्रीणि, वशार्त्तेन चत्वारि, कथञ्चिदात्मघाते च वैहायसगृध्रपृष्ठयोरन्यतरेण पञ्च। आह—वलन्मरणान्तःशल्यमरणे अपि बालमरणभेदावेव, यत आगमः—" बालमरणे दुवालसविहे पन्नत्ते। तं जहा-वलायमरणे, वसट्टमरणे, अंतोसल्लमरणे, तब्भवमरणे- गिरिपडणे, तरुपडणे, जलप्पवेसे, जलणप्पवेसे, विसभक्खणे, सत्थोवहणणे, वेहाणसे, गिद्धपट्ठे त्ति।" एतेषु च यद्यपि गिरिपतनाऽऽदिषट्कस्य वैहायस एवान्तर्भावः तथापि वलन्मरणान्तःशल्यमरणयोः प्रक्षेपे कथं नोक्तसङ्ख्याविरोधः !, उच्यते, इहाविरतस्यैव बालमरणं विवक्षितम्। उक्तं हि— ' अविरयमरणं बालमरणं ' अनयोस्त्वेकत्र संयमस्थानेभ्यो निवर्तनम्, अन्यत्र मालिन्यमात्रं विवक्षितं, न तु सर्वथा विरतेरभाव एवेति कथं बालमरणे सम्भवः ?, तथा छद्मस्थमरणमपि विरतानामेव रूढमिति नोक्तसङ्ख्याविरोधः, एवं देशविरतस्याऽपि द्व्यादिभङ्गभावना कार्या, नवरं बालमरणस्थाने बालपण्डितमरणं वाच्यं, विरतस्य त्ववध्यात्यन्तिकमरणयोरन्यतरत् पण्डितमरणं चेति द्वे, छद्मस्थकेवलिमरणयोश्चान्यतरदिति त्रीणि, भक्तपरिज्ञेङ्गिनीपाद-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पोपगमनानामन्यतरेण सह चत्वारि, कारणिकस्य तु वैहायसगृध्रपृष्ठयोश्चान्यतरेण सह पञ्च, दृढसंयमं प्रत्येवमुक्तम्, शिथिलसंयमस्य त्ववध्यात्यन्तिकमरणयोरन्यतरत्, कुतश्चित्कारणाद्वैहायसगृध्रपृष्ठयोश्चान्यतरदिति द्वे कथञ्चिच्छल्यसम्भवे चान्तःशल्यमरणेन सह त्रीणि, बलन्मरणेन सह चत्वारि, छद्मस्थमरणेन तु पञ्च, पण्डितमरणस्य यथोक्तभक्तपरिज्ञानाऽऽदीनां वा विशुद्धसंयमत्वादस्याऽभाव एवेति। आह—विरतस्यावस्थाद्वयेऽपि तद्भवमरणप्रक्षेपे कथं न षष्ठमरणसम्भवः?, उच्यते-विरतस्य देवेष्वेवोत्पाद इति तत्रैवोत्पत्त्यभावान्न तद्भवमरणसम्भव इति गाथात्रयार्थः ॥ २२७ । २२८ । २२९ ॥ गतं कति म्रियन्त एकसमय इति द्वारम्।

इदानीं कतिकृत्वो म्रियते एकैकस्मिन्?, इति द्वारमाह—

संखमसंखमणंता, कमो उ इक्किक्कगम्मि अपसत्थे।
सत्तट्ठग अणुबंधो, पसत्थए केवलिम्मि सइं ॥ २३० ॥

'संखमसंखं ति' आर्षत्वात् सङ्ख्याः-सङ्ख्याताः असङ्ख्या-अविद्यमानसङ्ख्या अनन्ता—अपर्यवसिताः,वारा इति प्रक्रमः। 'कमो उ त्ति' क्रमः—परिपाटी, तुशब्दश्च कायस्थितेरल्पबहुत्वापेक्षयाऽयं ज्ञेय इति विशेषद्योतकः। 'इक्केक्कगम्मि त्ति' एकैकस्मिन् 'अप्रशस्ते' बालमरणाऽऽदौ निरूप्यमाणे, तत्र सामान्येन पञ्चेन्द्रियाविरतदेशविरतौ च सङ्ख्याताः, शेषाः पृथिव्युदकाग्निवायुद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः असङ्ख्याताः, वनस्पतयोऽनन्ताः, एते हि कायस्थित्यपेक्षया यथाक्रमं बहुबहुतरबहुतमस्थितिभाज इति कृत्वा। प्रशस्ते कति वारा म्रियते?, इत्याह-'सत्तऽट्ठग त्ति' सप्त वाऽष्ट वा सप्ताष्टास्ते परिमाणमस्येति सप्ताष्टकः, कोऽसौ?—'अनुबन्धः' सातत्येन भवनं तन्मरणानामिति, ततोऽयमर्थः—सप्त वा अष्ट वा वारा म्रियते, क्व?—'प्रशस्तके' सर्वविरतिसम्बन्धिनि पण्डितमरणे, इह च चारित्रस्य निरन्तरमवाप्त्यसम्भवात् तद्गत एव च प्रशस्तमरणभावादर्थाद् व्यवधानमपि देवभवैराश्रीयते, 'केवलिनि' यथाख्यातचारित्रवति समुत्पन्नकेवले, 'सइं ति' सकृद् एकमेव मरणमिति गाथाऽर्थः ॥२३०॥ उक्तं कतिकृत्वो म्रियत एकैकस्मिन्निति द्वारम्।

[६]सम्प्रति कतिभाग एकैकस्मिन्मरणे म्रियत इति द्वारमाह—

मरणे अणंतभागो, इक्किक्क मरइ आइमं मोत्तुं।
अणुसमयाऽऽई नेयं, पढमचरिमंतरं नत्थि ॥ २३१ ॥

'मरणे' प्रागुक्तरूपे अनन्तभाग एकैकस्मिन् म्रियते, किं सर्वस्मिन्नपि? नेत्याह-'आदिमम्' आवीचिमरणं, तस्यैवाऽऽद्यत्वात्, 'मुक्त्वा' अपहाय, इयमत्र भावना-शेषमरणस्वामिनो हि सर्वजीवापेक्षया अनन्तभाग एवेति तेष्वनन्तो भागो म्रियत इत्युच्यते, आवीचिमरणस्वामिनस्तु सिद्धविरहिताः सर्व एव जीवाः, ते चानन्ता इति कृत्वाऽनन्तभागहीनाः सर्वे जीवा म्रियन्ते इत्युच्यते। उक्तं कतिभागो म्रियते एकैकस्मिन्निति द्वारम् ॥ अधुनाऽनुसमयद्वारमाह 'अणुसमय त्ति' समयं समयमनु अनुसमयं वीप्सायामव्ययीभावः, ततश्चानुसमयं-सततम्, 'आदि' प्रथममावीचिमरणं 'ज्ञेयम्' अवबोद्धव्यम्, यावदायुस्तस्य प्रतिपादनात्, शेषाणां त्वायुषोऽन्त्यसमय एवैकत्र भावादनुसमयतानभिधानं, बहुसमयविषयत्वादनुसमयतायाः। तथा च वृद्धव्याख्या-"पढमे जाव आउं धरइ सेसाणं एगसमयं जहिं मरइ" 'न च मासं पायोवगया' इत्यागमेन विरोधः, तत्र पादपोपगमनशब्देन निश्चेष्टताया एवाभिधानात्, मरणस्य तु तत्राप्यायुस्त्रुटिसमय एव सद्भावात्,तुः पूरणे। गतमनुसमयद्वारम् ॥ इदानीं सान्तरद्वारमाह-तत्र प्रथमचरमयोरन्तरं-व्यवधानं 'नास्ति' न विद्यते, प्रथमस्यावीचिमरणस्य सदा सम्भवात्, चरमस्य भवापेक्षया केवलिमरणस्य पुनर्मरणाभावादिति भाव इति गाथाऽर्थः ॥ २३१ ॥

शेषाणामपि किमेवमित्याह—

सेसाणं मरणाणं, नेओ संतरनिरंतरो उ गमो।
साई सपज्जवसिया, सेसा पढमिल्लुगमणाई ॥ २३२ ॥

शेषाणां मरणानाम्-अवधिमरणाऽऽदीनां पञ्चदशानां ज्ञेयः, सहान्तरेण—व्यवधानेन वर्तत इति सान्तरः, निष्क्रान्तोऽन्तरान्निरन्तरश्च, तुशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात्। उक्तं हि-"तुशब्दो विशेषणपादपूरणावधारणसमुच्चयेषु," कोऽसौ?—गम्यते अनेन वस्तुस्वरूपमिति गमः—प्ररूपणा, इदमुक्तं भवति—यदाऽन्यतरद्बालमरणाऽऽदिकं प्राप्य म्रियते मृत्वा च भवान्तरे मरणान्तरमनुभूय पुनस्तदेवाऽऽप्नोति तदा सान्तरमिति प्ररूपणा, यदा तु बालमरणाऽऽदिकमवाप्य पुनस्तदेवाव्यवहितमाप्नोति तदा निरन्तरं भवति, तत्प्ररूपकत्वाच्चेह गमोऽपि सान्तरो निरन्तरश्चेत्युक्तः ॥ सम्प्रति गाथापश्चार्धेन कालद्वारमाह सादीनि च सपर्यवसितानि च सादिसपर्यवसितानि 'शेषाणि' षोडश वक्ष्यमाणापेक्षया अवधिमरणाऽऽदीनि, एकसामयिकतायास्तेषामभिहितत्वात्, प्रवाहापेक्षया तु शेषभङ्गोपलक्षणमेतत्, प्रवाहतोऽपि भङ्गत्रयपतितानि शेषमरणानि सम्भवन्ति। तथा च वृद्धाः-"बालमरणाणि अणाइयाणि वा अपज्जवसियाणि वा, अणादियाणि वा सपज्जवसियाणि वा, पंडियमरणाणि पुण साइयाणि सपज्जवसियाणि।" मुक्त्यवाप्तौ तदुच्छित्तिसम्भवादिति भावः। 'पढमिल्लुगं ति' प्रथमकम्-आवीचिमरणम् 'अनादि' आदिरहितं प्रवाहापेक्षयेति भावः,प्रतिनियताऽऽयुःपुद्गलाऽपेक्षया तु साद्यपि सम्भवति, उपलक्षणत्वाच्चास्यापर्यवसितं च अभव्यानां, भव्यानां पुनः सपर्यवसितमिति गाथाऽर्थः ॥ २३२ ॥

सम्प्रत्यतिगम्भीरतामागमस्य दर्शयन्नात्मौद्धत्यपरिहारायाऽह भगवान् निर्युक्तिकारः—

सव्वे एए दारा, मरणविभत्तीइ वण्णिआ कमसो।
सगलणिउणे पयत्थे,जिणचउदसपुव्वि भासंति ॥२३३॥

'सर्वाणि' अशेषाणि 'एतानि' अनन्तरमुपदर्शितानि 'द्वाराणि' अर्थप्रतिपादनमुखानि 'मरणविभक्तेः' मरणविभक्त्यपरनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्य 'वर्णितानि' प्ररूपितानि, मयेति शेषः। 'कमसो त्ति' प्राग्वत् क्रमतः, आह-एवं सकलाऽपि मरणवक्तव्यतोक्ता, उत नेत्याह-सकलाश्च समस्ता निपुणाश्च-अशेषविशेषकलिताः सकलनिपुणाः तान् पदार्थान् इह प्रशस्तमरणाऽऽदीन् जिनाश्च-केवलिनः चतुर्दशपूर्विणश्च-प्रभवाऽऽदयो जिनचतुर्दशपूर्विणो 'भाषन्ते'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यक्तमभिदधति , अहं तु मन्दमतित्वान्न तथा वर्णयितुं क्षम इत्यभिप्रायः। स्वयं चतुर्दशपूर्वित्वेऽपि यच्चतुर्दशपूर्व्युपादानं तत्तेषामपि षट्स्थानपतितत्वेन शेषमहात्म्यख्यापनपरमदुष्टमेव । भाष्यगाथा वा द्वारगाथाद्वयादारभ्य लक्ष्यन्त इति प्रेर्याऽनवकाश एव । इति गाथार्थः ॥ २३३ ॥

(१०) इहैव प्रशस्ताऽप्रशस्तमरणविभागमाह—

एगंतपसत्था ति-ण्णि इत्थ मरणा जिणेहिँ पण्णत्ता ।
भत्तपरिण्णा इंगिणि, पाउवगमणं च कमजिट्ठं ॥२३४॥

एकान्तेन-नियमेन प्रशस्तानि-श्लाघ्यानि, ' त्रीणि ' त्रिसङ्ख्यानि, ' अत्र ' एतेष्वनन्तराभिहितेषु, मरणेषु मरणानि, ' जिनैः ' केवलिभिः, ' प्रज्ञप्तानि ' प्ररूपितानि। तान्येवाऽऽह-भक्तपरिज्ञा, इङ्गिनी, ' पाववगमणं च' इति। पादपोपगमनं च । इदमपि त्रयं किमेकरूपम् ? , इत्याह-क्रमेण-परिपाट्या ज्येष्ठम्—अतिशयप्रशस्यं क्रमज्येष्ठं, यथोत्तरं प्रधानमिति भावः। शेषमरणान्यपि यानि प्रशस्तानि तेषामत्रैवान्तर्भावः। इतराणि कानिचित् कथञ्चित् प्रशस्तानि, अपराणि तु सर्वथैवाऽप्रशस्तानि । इति गाथार्थः ॥ २३४ ॥

इह च येनाऽधिकारस्तदाह—

इत्थं पुण अहिगारो, णायव्वो होइ मणुअमरणेणं ।
मुत्तुं अकाममरणं, सकाममरणेण मरियव्वं ॥ २३५ ॥

' अत्र ' एतेषु मरणेषु. पुनःशब्दो वाक्योपन्यासार्थः, अधिकारो,ज्ञातव्यो भवति मनुजमरणेन। किमुक्तं भवति ?-मनुष्यभवसम्भविना पण्डितमरणाऽऽदिना, तान्येव प्रत्युपदेशप्रवृत्तेः । सम्प्रत्युक्तार्थसंक्षेपद्वारेणोपदेशसर्वस्वमाह-मुक्त्वा अकाममरणं बालमरणाऽऽद्यमप्रशस्तम् , ' सकाममरणेन ' भक्तपरिज्ञाऽऽदिना प्रशस्तेन, मर्त्तव्यम्, इति गाथार्थः॥२३५॥

गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ।

सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

अण्णवंसि महोहंसि, एगे तरइ दुरुत्तरं ।
तत्थ एगे महापण्णे, इमं पण्हमुदाहरे ॥ १ ॥

अर्णो-जलं विद्यते यत्रासावर्णवः, "अर्णसो लोपश्च" (पा० ५-२-१०६ वार्त्तिकम्) इति वप्रत्ययः सकारलोपश्च, स च द्रव्यतः जलधिः, भावतश्च-संसारः,एतस्मिन्, कीदृशि ?-'महोहंसि त्ति' महानोघः-प्रवाहो द्रव्यतो-जलसम्बन्धी , भावतस्तु-भवपरम्पराऽऽत्मकः , प्राणिनामत्यन्तमाकुलीकरणहेतुः चरकाऽऽदिमतसमूहो वा यस्मिन् स महौघः तस्मिन्, महत्त्वं च-उभयत्राऽगाधतया अदृष्टपरपारतया च मन्तव्यम्। तत्र किम् ?, इत्याह-'एक' इति। असहायो रागद्वेषाऽऽदिसहभावविरहितो, गौतमाऽऽदिरित्यर्थः।'तरति' परं परमाप्नोति,तत्कालापेक्षया वर्त्तमाननिर्देशः।'दुरुत्तरं ति' विभक्तिव्यत्ययाद् दुरुत्तरे दुःखेनोत्तरितुं शक्ये, दुरुत्तरमिति क्रियाविशेषणं वा, न हि यथाऽसौ तरति तथाऽपरैर्गुरुकर्मभिः सुखेनैव तीर्यते, अत एव 'एक इति'सङ्ख्यावचनो वा, एक एव-जिनमतप्रतिपन्नाः, न तु चरकाऽऽदिमताऽकुलितचेतसोऽन्ये तथा तरितुमीशत इति। 'तत्रेति' गौतमाऽऽदौ तरणप्रवृत्ते; 'एक' इति तथाविधतीर्थकरनामकर्मोदयादनुत्तरावाप्तविभूतिरद्वितीयः। किमुक्तं भवति ?—तीर्थकरः, स ह्येक एव भरते सम्भवती-

ति। ' महापण्णे त्ति ' महती-निरावरणतया अपरिमाणा प्रज्ञा केवलज्ञानाऽऽत्मिका संवित् अस्येति महाप्रज्ञः। स किम् ? , इत्याह—' इमम् ' अनन्तरवक्ष्यमाणं हृदि विपरिवर्तमानतया प्रत्यक्षं प्रक्रमात्तरणोपायम्, ' पट्ठं ति ' स्पष्टम्-असन्दिग्धम्। पठ्यते च-' पण्हं ति ' पृच्छ्यत इति-प्रश्नम् , प्रष्टव्यार्थरूपम् 'उदाहरे त्ति ' भूते लिट् , तत उदाहरेद्-उदाहृतवान्। पठ्यते च-' अण्णवंसि महोघंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरं ' इति। अत्र सुब्व्यत्यये विशेषः, ततश्च-अर्णवाद् महौघाद् दुरुत्तरात् तीर्ण इव तीर्णः—तीरप्राप्त इति योगः, एको घातिकर्म्मसाहित्यरहितः, ' तत्रेति ' सदेवमनुजायां परिषदि, एकः—अद्वितीयः, स च तीर्थकृदेव, शेषं प्राग्वत्। इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

यदुदाहृतवांस्तदेवाऽऽह—

सन्ति मेए दुवे ठाणा, अक्खाया मारणंतिया ।
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा ॥ २ ॥

सन्तीति प्राकृतत्वात् वचनव्यत्ययेन स्तः-विद्येते, ' इमे ' प्रत्यक्षे; चः पूरणे, पठ्यते च—' संति मेए त्ति ' स्त एते, मकारोऽलाक्षणिकः, एवमन्यत्राऽपि यत्र नोच्यते तत्र भावनीयम्। ' द्वे ' द्विसङ्ख्ये; तिष्ठन्त्यनयोर्जन्तव इति स्थाने ' आख्याते ' पुरातनतीर्थकृद्भिरपि कथिते, अनेन तीर्थकृतां परस्परं वचनाऽव्याहतिरुपदर्शिता। ते च कीदृशे ?-' मारणंतिए त्ति ' मरणमेव अन्तो-निजनिजाऽऽयुषः पर्यन्तो मरणान्तः तस्मिन् भवे मारणान्तिके, त एव नामत उपदर्शयति—' अकाममरणम् ' उक्तरूपं, अनन्तरवक्ष्यमाणरूपं च, वक्ष्यमाणापेक्षया चः समुच्चये, एवेति पूरणे, ' सकाममरणम् ' उक्तरूपं वक्ष्यमाणस्वरूपं च तथा। इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

केषां पुनरिदं कियत्कालं च ?, इत्यत आह—

बालाणं अकामं तु, मरणं असतिं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सतिं भवे ॥ ३ ॥

बाला इव बालाः सदसद्विवेकविकलतया तेषाम् 'अकामं तु' त्ति। तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् अकाममेव मरणम् , असकृद्-वारंवारं भवेत् , ते हि विषयाभिष्वङ्गतो मरणमनिच्छन्त एव म्रियन्ते, तत एव च भवाऽटवीमटन्ति। ' पण्डितानां चारित्रवतां ' सह कामेन-अभिलाषेण वर्तते इति सकामं सकाममिव सकामं मरणं प्रति असंत्रस्ततया, तथात्वं चोत्सवभूतत्वात् तादृशां मरणस्य। तथा च वाचकः—" सञ्चिततपोधनानां, नित्यं व्रतनियमसंयमरतानाम् । उत्सवभूतं मन्ये, मरणमनपराधवृत्तीनाम् ॥ १ ॥ " न तु परमार्थतः तेषां सकामं सकामत्वं, मरणाभिलाषस्याऽपि निषिद्धत्वात्। उक्तं हि—" मा मा हु विचिंतेज्जा, जीवामि चिरं मरामि य लहुं ति। जइ इच्छसि तरिउं जे, संसारमहोदहिमपारं ॥ १ ॥ " इति । तुः पूर्वापेक्षया विशेषद्योतकः, तच्च ' उत्कर्षेण ' उत्कर्षोपलक्षितं , केवलिसम्बन्धीत्यर्थः। अकेवलिनो हि संयमजीवितं दीर्घमिच्छेयुरपि , मुक्त्यवाप्तिरितः स्यादिति । केवलिनस्तु तदपि नेच्छन्ति, क्षास्तां भवजीवितमिति। तन्मरणस्योत्कर्षेण सकामता , सकृद् ' एकवारमेव भवेद् , जघन्येन तु शेषचारित्रिणः सप्ताऽष्ट वा वारान् भवेदित्याऽऽकूतम्। इति सूत्रार्थः॥ ३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदुक्तं-' स्त इमे द्वे स्थाने ' तत्राऽऽद्यं तावदाह—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं ।
कामगिद्धे जहा बाले, भिसं कूराणि कुव्वति ॥ ४ ॥

' तत्रेति ' तयोरकाममरणसकाममरणाऽऽख्ययोः स्थानयोर्मध्ये, ' इदम् ' अनन्तरमभिधास्यमानरूपं, ' प्रथमम् 'आद्यं स्थानम्, 'महावीरेणेति' चरमतीर्थकृता, ' तत्रैको महाप्रज्ञः' इति मुकुलितोक्तेरभिव्यक्त्यर्थमेतत् , ' देशितं ' प्ररूपितम् । किं तत् ?, इत्याह-' कामेषु-' इच्छामदनाऽऽत्मकेषु ' गृद्धः-' अभिकाङ्क्षावान् कामगृद्धो, ' यथा ' इत्युपप्रदर्शनार्थः, 'बालः' इत्युक्तरूपो, 'भृशम्' अत्यर्थं, 'क्रूराणि' रौद्राणि, कर्म्माणि इति गम्यते । तानि च प्राणव्यपरोपणाऽऽदीनि, 'कुव्वति त्ति' करोति-क्रिययाऽभिनिर्वर्तयति , शक्ताऽशक्तावपि क्रूरतया तन्दुलमत्स्यवन्मनसा कृत्वा च प्रक्रमादकाम एव म्रियते । इति सूत्राऽर्थः ॥ ४ ॥

इदमेव ग्रहणकवाक्यं प्रपञ्चयितुमाह—

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छइ ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रती ॥ ५ ॥

'य' इति-अनिर्दिष्टस्वरूपो, गृद्धः, काम्यन्त इति कामाः,भुज्यन्त इति भोगाः, ततश्च, कामाश्च ते भोगाश्च कामभोगाः, तेषु-अभिलषणीयशब्दाऽऽदिषु, यद्वा-कामौ च शब्दरूपाऽऽख्यौ भोगाश्च स्पर्शरसगन्धाऽऽख्याः कामभोगाः तेषु । उक्तं हि—'कामा दुविहा पण्णत्ता-सद्दा, रूवा य ।' (कामानामनेकविधत्वम् 'काम' शब्दे तृतीयभागे ४३१ पृष्ठे गतम्)'भोगा त्तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-गंधा, रसा,फासा य ।' इति (किं स्वरूपाः भोगा इति 'भोग' शब्दे पञ्चमभागे १६१० पृष्ठे उक्तम्) (कामभोगाः कतिविधा इति ' कामभोग' शब्दे तृतीयभागे ४४२ पृष्ठे विस्तरः) ' एकः ' कश्चित् क्रूरकर्मा तन्मध्यात् कूटमिव कूटं प्रभूतप्राणिनां यातनाहेतुत्वान्नरक इत्यर्थः । यथैव हि कूटनिपतितो मृगो व्याधैरनेकधा हन्यते, एवं नरकपतितोऽपि जन्तुः परमाधार्मिकैरिति, तस्मै कूटाय, "गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ०" ।(पा० २-३-१२)इत्यादिना चतुर्थी,'गच्छति' याति । यद्वा-यो गृद्धः'कामभोगेष्विति' कामेषु स्त्रीसङ्गेषु भोगेषु धूपनविलेपनाऽऽदिषु स'एकः'सुहृदादिसाहाय्यरहितः कूटाय गच्छति, अथवा-कूटं द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतो मृगाऽऽदिबन्धनम्, भावतस्तु-मिथ्याभाषणाऽऽदि तस्मै गच्छतीत्यनेकार्थत्वात् प्रवर्तते, स हि मांसाऽऽदिलोलुपतया मृगाऽऽदिबन्धनान्यारभते, मिथ्याभाषणाऽऽदीनि चाऽऽसेवत इति, प्रेरितश्च कैश्चिद्वदति-'न मे' इति । न मया 'दृष्टः' अवलोकितः, कोऽसौ ?-'परलोको' भूतभाविजन्माऽऽत्मकः,कदाचिद्विषयाभिरतिरप्येवंविधैव स्यात् ?-अत आह-चक्षुषा लोचनेन दृष्टा-प्रतीता चक्षुर्दृष्टा 'इयम्' इति तामेव प्रत्यक्षां निर्दिशति-रम्यतेऽस्यामिति रतिः,स्पर्शनाऽऽदिसम्भोगजनिता चित्तप्रह्लत्तिः । तस्यायमाशयः—कथं दृष्टपरित्यागतोऽदृष्टपरिकल्पनयाऽऽत्मानं विप्रलम्भेयम् । इति सूत्रार्थः॥५॥

पुनस्तदाशयमेवाभिव्यञ्जयितुमाह—

हत्थाऽऽगया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए ?, अत्थि वा नऽऽत्थि वा पुणो ।६।

हसन्ति तेनाऽऽवृत्य मुखं घ्नन्ति वा घात्यमनेनेति हस्तस्तम् आगताः—प्राप्ताः हस्ताऽऽगताः, उपमार्थोऽत्र गम्यते, ततो हस्ताऽऽगताः इव स्वाधीनतया, क एते ?—'इमे' प्रत्यक्षोपलभ्यमानाः काम्यन्त इति कामाः-शब्दाऽऽदयः, कदाचिदागामिनोऽप्येवंविधा एव स्युरित्याह—काले सम्भवन्तीति कालिकाः—अनिश्चितकालान्तरप्राप्तयो ये ' अनागताः' भाविजन्मसम्बन्धिनः, कथं पुनरमी अनिश्चितप्राप्तय इत्याह-' को जाणइ त्ति ' उत्तरस्य पुनःशब्दस्येह सम्बन्धनात् कः पुनर्जानाति ?, नैव कश्चित् , यथा—परलोकोऽस्ति नास्ति वेति । अयं चास्याऽऽशयः-परलोकस्य सुकृताऽऽदिकर्म्मणां वाऽस्तित्वनिश्चयेऽपि-'को हि हस्तगतं द्रव्यं, पादगामि करिष्यति' इति न्यायतः क इव हस्ताऽऽगतान् कामानपहाय कालिककामाऽर्थं यतेत, तत्त्वतस्तु परलोकनिश्चय एव न समस्ति, तत्र प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्तेः । अनुमानस्य तु प्रवृत्तावपि गोपालघटिकाऽदिधूमादग्न्यनुमानवदन्यथाऽप्युपलम्भनान्निश्चायकत्वासम्भवान्न ततस्तदस्तित्वनिश्चयो, नास्तित्वनिश्चयो वा, किन्तु-सन्देह एव । न त्वयमेवं विवेचयति-यथाऽवाप्ता अपि कामा दुरन्ततया त्यक्तुमुचिताः, दुरन्तत्वं च तेषां शल्यविषाऽऽदिभिरुदाहरणैः प्रतीतमेव । तथा च वक्ष्यति—
" सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा । कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गतिं ॥ १ ॥" न हि विषाऽऽदीनि मुखमधुराण्यप्यायातिविरसतया विवेकिभिर्न हीयन्ते । यदपि परलोकसन्देहाऽभिधानं, तदपि न पापपरिहारोपदेशं प्रति बाधकं, पापानुष्ठानस्येहैव चौरपारदारकाऽऽदिषु महाऽनर्थहेतुतया दर्शनात् । परलोकनास्तित्वाऽनिश्चये च-तत्राऽपि तथाऽनर्थहेतुतया सम्भाव्यमानत्वाद्वल्मीककरप्रवेशनाऽऽदिवत् प्रेक्षावद्भिः परिहर्तुमुचितत्वात् , न च परलोकास्तित्वं प्रति सन्देहः । तन्निश्चायकाऽनुमानस्य तदहर्जातबालकस्तनाभिलाषाऽऽदिलिङ्गबलोत्पन्नस्य तथाविधाध्यक्षवदव्यभिचारित्वेन तत्र तत्र समर्थितत्वादित्यलं प्रसङ्गेन । इति सूत्रार्थः॥६॥

अन्यस्तु कथञ्चिदुत्पादितप्रत्ययोऽपि कामान्
परिहर्तुमशक्नुवन्निदमाह—

जणेण सद्धिं होक्खामि, इति बाले पगब्भइ ।
कामभोगाऽणुरागेणं, केसं संपडिवज्जइ ॥ ७ ॥

जायत इति जनो-लोकः, तेन ' सार्धं ' सह भविष्यामि, किमुक्तं भवति ?—बहुजनो भोगाऽऽसक्तो तदहमपि तद्गतिं गमिष्यामि, यद्वा—' होक्खामि त्ति ' भोक्ष्यामि-पालयिष्यामि, यथा ह्ययं जनः कलात्राऽऽदिकं पालयति तथाऽहमपि , न हीयान् जनोऽज्ञ इति , बालः-अज्ञः ' प्रगल्भते ' धाष्टर्यमवलम्बते , अलीकवाचालतया च स्वयं नष्टः परानपि नाशयति, न विवेचयति यथा—किमुन्मार्गप्रस्थितेऽनाविवेकिजनेन बहुनाऽपि ? मम विवेकिनः प्रमाणीकृतेन ?, स्वकृतकर्मफलभुजो हि जन्तवः , स चैवं कामभोगेषु-उक्तरूपेषु अनुरागः—अभिष्वङ्गः कामभोगानुरागः-तेन ' क्लेशम् ' इह परत्र च विविधबाधाऽऽत्मकं , सम्प्रतिपद्यते ' प्राप्नोति । इति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

यथा च कामभोगाऽनुरागेण क्लेशं संप्रतिपद्यते तथा वक्तुमाह—

तओ दंडं समारभति, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयग्गामं विहिंसइ ॥ ८ ॥

' तत ' इति । कामभोगानुरागात् (से इति) स धाष्टर्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वान् दण्डयते संयमसर्वस्वापहरणेनाऽऽत्मा अनेनेति दण्डः मनोदण्डाऽऽदिस्तं 'समारभते' प्रवर्तत इति, केषु?—त्रस्यन्ति-तापाऽऽद्युपतप्ता छायाऽऽदिकं प्रत्याभिसर्पन्तीति त्रसाः द्वीन्द्रियाऽऽदयस्तेषु,तथा शीताऽऽतपाऽऽद्युपहता अपि स्थानान्तरं प्रत्यनभिसर्पितया स्थानशीलाः स्थावरास्तेषु च, अर्थः-प्रयोजनं वित्तावाप्त्याऽऽदिः तदर्थमर्थाय, चस्य व्यवहितसम्बन्धत्वात् अनर्थाय च-यदात्मनः सुहृदादेर्वा नोपयुज्यते, ननु किमनर्थमपि कश्चिद्दण्डं समारभते, एवमेतत् तथाविधपशुपालवत्। तत्र सम्प्रदायः-यथैकः पशुपालः प्रतिदिनं मध्याह्नगते रवौ अजासु महान्यग्रोधतरुं समाश्रितासु "तत्थुत्ताणतो णिविएणो वेणुविदलेण अजोद्गीर्णकोलास्थिभिः तस्य वटस्य पत्राणि छिद्रीकुर्वन् तिष्ठति, एवं तेन स वटपादपः प्रायसश्छिद्रपत्रीकृतः, अन्नया तत्थेगो रायपुत्तो दातियधाडितो तच्छायसमस्सितो पेच्छए य तस्स वडस्स सव्वाणि पत्ताणि छिद्दितानि, तो तेण सो पसुपालतो पुच्छितो-केणयाणि पत्ताणि छिद्दीकयाणि?, तेण भणइ-मया, एयाणि क्रीडापूर्वं छिद्दितानि, तेण सो बहुणा दव्वजाएण विलोभेउं भणंति-सक्केसि जस्साहं भणामि तस्स अच्छीणि छिद्दउं?, तेण भणति-छुद्दु अब्भासत्थो होउं तो सक्केमि। तेण णयरं नीतो, रायमग्गसन्निविट्ठे घरे ठवितो, तस्स रायपुत्तस्य भाया राया, सो तेण मग्गेण अस्सवाहणिथाए णिज्जइ[1], एएण भणति-एयस्स अच्छीणि पाडेहि त्ति, तेण य गोलियधणुएण तस्स णिग्गच्छमाणस्स दो वि अच्छीणि पाडियाणि, पच्छा सो रायपुत्तो राया जातो, तेण य सो पसुपालो भणति-ब्रूहि वरं, किं तं प्रयच्छामि?, तेण भणति-मज्झ तमेव गामं देहि जत्थ अच्छामि[3], तेण सो दिएणो, पच्छा तेण तम्मि पच्चंतगामे उच्छू रोविओ तुंबीतो[4] य, निष्फएणेसु तुंबाणि गुले सिद्धिउं[5] तं गुडतुंबयं भुक्त्वा २ गायति सः-"अट्टमट्टं च सिक्खिज्जा, सिक्खियं ण णिरत्थयं। अट्टमट्टपसाएण, भुंजए गुडतुंबयं॥१॥" तेण ताणि वडपत्ताणि अणट्ठाए छिद्दियाणि, अच्छीणि पुण अट्ठाए पाडियाणि।" दण्डमारभत इत्युक्तं, तत्किमसावारम्भमात्र एवावतिष्ठत इत्याह—'भूयग्गाम त्ति' भूताः—प्राणिनस्तेषां ग्रामः—समूहस्तं विविधैः प्रकारैर्हिनस्ति—व्यापादयति, अनेन च दण्डत्रयव्यापार उक्तः। इति सूत्रार्थः॥८॥

किमसौ कामभोगानुरागेणैतावदेव कुरुते?, उतान्यदपीत्याह—

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयंति मन्नइ॥९॥

हिंसनशीलो हिंस्रः अनन्तरोक्तनीत्या, तथैवंविधश्च सन्नसौ 'बालः' उक्तरूपो 'मृषावादीति' अलीकभाषणशीलः, 'माइल्ले त्ति' माया-परवञ्चनोपायचिन्ता तद्वान्, 'पिशुनः' परदोषोद्घाटकः 'शठः' तत्तन्नेपथ्यादिकरणतोऽन्यथाभूतमात्मानमन्यथा दर्शयति, मण्डिकचौरवत्। (तच्छूलारोपणकथा 'मंडिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१ पृष्ठे गता) अत एव च भुञ्जानः 'सुरां' मद्यं 'मांसं' पिशितं 'श्रेयः' प्रशस्यतरमेतदिति मन्यते, उपलक्षणत्वात् भाषते च-"न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने।" इत्यादि, तदनेन मनसा वचसा कायेन चासत्यत्वमस्योक्तम्। इति सूत्राऽर्थः॥९॥

पुनस्तद्वक्तव्यतामेवाऽऽह—

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुनागु व्व मट्टियं॥१०॥

'कायस त्ति' सूत्रत्वात्, कायेन-शरीरेण, वचसा-वाचा उपलक्षणत्वात् मनसा च 'मत्तो' दृप्तः, तत्र कायमत्तो मदान्धगजवत् यतस्ततः प्रवृत्तिमान्, यद्वाऽहो अहं बलवान् रूपवान् वा, इतिचिन्तयन् वचसा स्वगुणान् ख्यापयन्, अहो अहं सुस्वर इत्यादि वा चिन्तयन्, मनसा च मदाऽऽध्मातमानसः अहो अहमवधारणाशक्तिमानिति वा मन्वानो 'वित्ते' द्रविणे, 'गृद्धो' गृद्धिमान्, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततः स्त्रीषु च गृद्धः, तत्र वित्ते गृद्ध इति अदत्ताऽऽदानपरिग्रहोपलक्षणं, तद्भावभावित्वात्तयोः, स्त्रीषु गृद्ध इत्यनेन मैथुनाऽऽसेवित्वमुक्तं, स हि स्त्रियः संसारसर्वस्वभूता इति मन्यते, तथा च तद्वचः—"सत्यं वच्मि हितं वच्मि, सारं वच्मि पुनः पुनः। अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सारङ्गलोचनाः॥१॥" तदभिरतिमांश्च मैथुनाऽऽसेव्येव भवति, स एवंविधः किम्? इत्याह—'दुहओ त्ति' द्विधा-द्वाभ्यां रागद्वेषात्मकाभ्यां बहिरन्तः-प्रवृत्त्यात्मकाभ्यां वा प्रकाराभ्यां, सूत्रत्वाद् द्विविधं वा इहलोकपरलोकवेदनीयतया पुण्यपापात्मकतया वा, 'मलम्' अष्टप्रकारं कर्म 'संचिनोति' बध्नाति, क इव किमित्याह—'शिशुनागो' गण्डूपदोऽलस उच्यते, स इव मृत्तिकां, स हि स्निग्धतनुतया बही रेणुभिरवगुण्ठ्यते, तामेव चाश्नीते, इति बहिरन्तश्च द्विधाऽपि मलमुपचिनोति, तथाऽयमपि, एतदृष्टान्ताऽभिधाने त्वयमभिप्रायो-यथाऽसौ बहिरन्तश्चोपचितमलः खरतरदिवाकरकरनिकरसंस्पर्शतः शुष्यन्निहैव क्लिश्यति विनाशं चाप्नोति, तथाऽयमप्युपचितमलः आशुकारिकर्मवशत इहैव जन्मनि क्लिश्यति विनश्यति च। इति सूत्रार्थः॥१०॥

अमुमेवार्थं व्यक्तीकर्तुमाह—

तओ पुट्ठो आयंकेण, गिलाणो परितप्पति।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेही अप्पणो॥११॥

'तओ त्ति' ततः, ततो वा दण्डाऽऽरम्भणाद्युपार्जितमलतः, स्पृष्टः, केन?-'आतङ्केन' आशुघातिना शूलविशूचिकाऽऽदिरोगेण तत्तद्दुःखोदयाऽऽत्मकेन वा 'ग्लान' इति मन्दोपगतहर्षो वा, परीति-सर्वप्रकारं तप्यते। किमुक्तं भवति?—बहिरन्तश्च खिद्यते, 'प्रभीत' इति प्रकर्षेण त्रस्तः, कुतः?—'परलोगस्स त्ति' परलोकात्, सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे षष्ठी, किमिति?-क्रियत इति कर्म-क्रिया तदनुप्रेक्षत इत्येवंशीलः कर्मानुप्रेक्षी, यत इति गम्यते, कस्य?-आत्मनः, स हि हिंसाऽलीकभाषणादिकामात्मचेष्टां चिन्तयन् न किञ्चिन्मया शुभमाचरितं, किंतु-सदैवाजरामरवच्चेष्टितमिति चिन्तयंश्चेतस्याऽऽतङ्कतश्च तनावपि खिद्यते, भवति हि विषयाकुलितचेतसोऽपि प्रायः प्राणोपरमसमयेऽनुतापः। तथा चाऽऽहुः—

"भवित्रीं भूतानां परिणतिमनालोच्य नियतां,
पुरा यद्यत्किञ्चिद्विहितमशुभं यौवनमदात्।
पुनः प्रत्यासन्ने महति परलोकैकगमने,
तदेवैकं पुंसां व्यथयति जराजीर्णवपुषाम्॥१॥" इति सूत्राऽर्थः॥११॥

---

१ छुण्ठु, २-नाति, ३-तिष्ठामि, ४ तुम्ब्य, ५ पक्त्वा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमुमेवार्थं व्यक्तीकर्तुमाह—

सुया मे णरए ठाणा, असीलाणं च जा गती ।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥ १२ ॥

'सुय त्ति' श्रुतानि—आकर्णितानि 'मे' इति । मया 'नरके' सीमन्तकादिनाम्नि, कानि ?—'ठाणा' इति लिङ्गव्यत्ययेनोत्पत्तिस्थानानि घटिकाऽऽलयाऽऽदीनि येष्वतिसम्पीडिताङ्गा—दुःखमाकृष्यमाणाः बहिर्निष्क्रामन्ति जन्तवः, यद्वा-नरके—रत्नप्रभादिनरकपृथिव्यात्मके स्थानानि सीमन्तकाप्रतिष्ठादीनि कुम्भीवैतरण्यादीनि वा, अथवा-स्थानानि-सागरोपमाऽऽदिस्थित्यात्मकानि, तत्किमियताऽपि परितप्यत इत्यत आह—'अशीलानाम्' अविद्यमान-सदाचाराणां या गतिर्नरकाऽऽत्मिका सा च श्रुतेति सम्बन्धः, कीदृशानाम् ?-'बालानाम्' अज्ञानां 'क्रूरकर्मणां' हिंस्रमृषाभाषकाऽऽदीनाम्, कीदृशी गतिरित्याह-प्रगाढा नाम अत्युत्कटतया निरन्तरतया च प्रकर्षवत्यो, 'यत्र' यस्यां गतौ, वेद्यन्त इति वेदनाः-शीतोष्णशाल्मल्याश्लेषणादयः, तदयमस्याशयः-ममैवंविधानुष्ठानस्येदृश्येव गतिः । इति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

तथा—

तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मे तमणुस्सुयं ।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो, सो पच्छा परितप्पति ॥१३॥

'तत्रेति' नरकेषु उपपाते भवमौपपातिकं 'स्थानं' स्थितिः 'यथा' येन प्रकारेण, भवतीति शेषः, 'मे' मया तदित्यनन्तरोक्तपरामर्शी 'अनुश्रुतम्' अवधारितं, गुरुभिरुच्यमानामिति शेषः, औपपातिकमिति च ब्रुवतोऽस्यायमाशयः-यदि गर्भजत्वं भवेत् भवेदपि तदवस्थायां छेदभेदादिनारकदुःखान्तरम्, औपपातिकत्वे त्वन्तमुहूर्त्तानन्तरमेव तथाविधवेदनोदय इति कुतस्तदन्तरसम्भवः ?, तथा च—'आहाकम्मेहिं ति' आधानमाधाकरणम्, आत्मनेति गम्यते, तदुपलक्षितानि कर्माणि, आधाकर्माणि तैः आधाकर्मभिः—स्वकृतकर्मभिः,यद्वा आर्षत्वात्,'आहे त्ति' आधाय कृत्वा, कर्माणीति गम्यते, ततस्तैरेव कर्म्मभिः, 'गच्छन्' यान, प्रक्रमान्नरकं ,यद्वा-'यथा कर्मभिः' गमिष्यमाणगत्यनुरूपैः तीव्रतीव्रतराद्यनुभावान्वितैर्गच्छंस्तदनुरूपमेव स्थानं, 'स' इति बालः, 'पश्चाद्' इत्यायुषि हीयमाने 'परितप्यते' यथा धिङ्मामसदनुष्ठायिनं, किमिदानीं मन्दभाग्यः करोमि ?, इत्यादि शोचते । इति सूत्रार्थः ॥१३॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण दृढयन्नाह-

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोतिण्णो, अक्खभग्गम्मि सोयइ ॥ १४ ॥

'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासार्थः । शक्नोति शक्यते वा धान्यादिकमनेन वोढुमिति शकटं तेन चरति शाकटिकः गन्त्रीवाहकः 'जाणं ति' जानन्नवबुध्यमानः 'समम्' उपलादिरहितं 'हित्वा' त्यक्त्वा, कम् ?—महांश्चासौ विस्तीर्णतया प्राधान्येन च पन्थाश्च महापथः, "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" (पा० ५-४-७४) इत्यकारः समासान्तः, तं 'विषमम्' उपलाऽऽदिसङ्कुलं 'मार्गं' पन्थानम् 'ओतिण्णो त्ति' अवतीर्णः—गन्तुमुपक्रान्तः, पठ्यते च—'ओगाढो त्ति' तत्र चाऽवगाढ आरूढः प्रपन्नः इति चैकोऽर्थः, अश्नीते नवनीतादिकमित्यक्षो—धूः तस्य भङ्गो—विनाशः अक्षभङ्गः तस्मिन्, पाठान्तरतश्चाऽक्षे भग्ने, शोचते यथा-धिङ् मम परिज्ञानं यज्जानन्नपीत्थमपायमवाप्तवान् । इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

सम्प्रत्युपनयमाह—

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयइ ॥ १५ ॥

'एव मिति' शाकटिकवत् 'धर्मं' क्षान्त्यादिकं यतिधर्मं सदाचारात्मकं वा 'विउक्कम्म त्ति' व्युत्क्रम्य विशेषेणोल्लङ्घ्य न धर्म्मोऽधर्म्मः, नञ्विपक्षेऽपि वर्त्तते इति धर्मप्रतिपक्षः, तं-हिंसाऽऽदिकं 'प्रतिपद्य' अभ्युपगम्य 'बालः' अभिहितरूपः । मरणं-मृत्युस्तस्य मुखमिव मुखं मृत्युमुखं—मरणगोचरं 'प्राप्तो' गतः, किमित्याह—अक्षे भग्न इव शोचति, किमुक्तं भवति ?—यथा—अक्षभङ्गे शाकटिकः शोचति, तथाऽयमपि स्वकृतकर्मणामिहैव मारणान्तिकवेदनात्मकं फलमनुभवन्नात्मानमनुशोचति, यथा हा किमेतज्जानताऽपि मयैवमनुष्ठितम् । इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

शोचनानन्तरं च किमसौ करोतीत्याह—

तओ से मरणं तम्मि, बाले संतस्सई भया ।
अकाममरणं मरई, धुत्ते वा कलिणा जिए ॥ १६ ॥

'तत' इति आतङ्कोत्पत्तौ यच्छोचनमुक्तं तदन्तरं 'से' इति स मरणमेवान्तो मरणान्तस्तस्मिन्, उपस्थित इति शेषः, 'बालो' रागाद्याऽऽकुलितचित्तः 'संत्रस्यति' समुद्विजते बिभेतीति यावत्, कुतः ?-'भयात्' नरकगतिगमनसाध्वसाद्, अनेनाकामत्वमुक्तं, स च किमेवंविधात् मरणाद्विमुच्यते ? उत नेत्याह-अकामस्य-अनिच्छतो मरणमकाममरणं तेन, सूत्रे चार्षत्वाद् द्वितीया, 'म्रियते' प्राणांस्त्यजति, क इव कीदृशः सन् ?—'धूर्त इव' द्यूतकार इव, वाशब्दस्योपमार्थत्वात्, 'कलिना' एकेन, प्रक्रमात् दायेन, जितः सन्नात्मानं शोचति,यथा ह्ययमेकेन दायेन जितः सन्नात्मानं शोचति तथाऽसावपीत्वरैर्विपाककटुभिः सङ्क्लेशबहुलैर्मनुजभोगैर्दिव्यसुखं हारितः शोचन्नेव म्रियते । इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

प्रस्तुतमेवार्थं निगमयितुमाह—

एयं अकाममरणं, बालाणं तु पवेइयं ।
इत्तो सकाममरणं, पंडियाण सुणेह मे ॥ १७ ॥

'एतद्' अनन्तरमेव दुष्कृतकर्मणां परलोकाद्विभ्यतां यन्मरणमुक्तं तदकाममरणं, बालानामेव, तुशब्दस्यैवार्थत्वात्, 'प्रवेदितं' प्रकर्षेण प्रतिपादितं, तीर्थकृद्गणधराऽऽदिभिरिति गम्यते । पण्डितमरणप्रस्तावनार्थमाह—'इत्तो त्ति' इतः-अकाममरणादनन्तरं सकाममरणं पण्डितानां सम्बन्धि 'शृणुत' आकर्णयत 'मे' मम, कथयत इत्युपस्कारः । इति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥

यथाप्रतिज्ञातमाह—

मरणं पि सपुण्णाणं, जहा मे तमणुस्सुयं ।
विप्पसण्णमणाघायं, संजयाणं बुसीमओ ॥ १८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरणमपि आस्तां जीवितमित्यपिशब्दार्थः, 'पुण' कर्मणि शुभे, इत्यस्माद्धातोः 'उणादयो बहुलम्' (पा०३-३-१) इति बहुलवचनाद्भावे क्यपि पुण्यम्, उक्तं हि— "पुण कर्म्मणि निर्दिष्टः, शुभविशेषप्रकाशको धातुरयम्। भावप्रत्यययोगा-द्विभक्तिनिर्देशसिद्धमेतद्रूपम् ॥ १ ॥" सह तेन वर्त्तन्त इति सपुण्यास्तेषां न त्वन्येषामपुण्यवतां, किं सर्वमपि ?, नेत्याह— 'यथा' येन प्रकारेण 'मे' मम, कथयत इति गम्यते, तदित्युपक्षेपः, तत्रोपात्तम् 'अनुश्रुतम्' अवधारितं, भवद्भिरिति शेषः, सुष्ठु—प्रसन्नं मरणसमयेऽप्यकलुषं कषायकालुष्यापगमात्. मनः—चेतो येषां ते सुप्रसन्नमनसः महामुनयस्तेषां ख्यातं स्वसंवेदनतः प्रसिद्धं सुप्रसन्नमनःख्यातम्, यद्वा—'सुप्पसन्नेहि अक्खायं' अत्र च सष्ठु प्रसन्नैः पापपङ्कापगमनेनात्यन्तनिर्मलीभूतैः, शेषतीर्थकृद्भिरिति गम्यते, आख्यातम्। पठ्यते च—'विप्पसण्णमणाघायं ति' तत्र च विशेषेण विविधैर्वा-भावनाऽऽदिभिः प्रकारैः प्रसन्ना-मरणेऽप्यपहतमोहरेणुतयाऽनाकुलचेतसो विप्रसन्नाः, तत्सम्बन्धि मरणमप्युपचाराद्विप्रसन्नं, न विद्यते आघातः तथाविधयतनयाऽन्यप्राणिनामात्मनश्च विधिवत् संलिखितशरीरतया यस्मिंस्तदनाघातं, केषां पुनरिदम्?, उच्यते—'संयतानां' समिति—सम्यग् यतानां—पापोपरतानां, चारित्रिणामित्यर्थः। 'वुसीमतो त्ति' आर्षत्वाद्वश्यवतां वश्य इत्यायत्तः. स चेहाऽऽत्मा इन्द्रियाणि वा, वश्यानि विद्यन्ते येषां ते अमी वश्यवन्तः तेषाम्. अयमपरः सम्प्रदायार्थः—'वसंति वा साहुगुणेहिं वुसीमंतः, अहवा वुसीमा—संविग्गा तेसिं ति' एतच्चार्थात् परिडतमरणमेव, ततोऽयमर्थः—यथैतत् संयतानां वश्यवतां विप्रसन्नमनाघातं च संम्भवति, न तथाऽपुण्यप्राणिनाम्। "अन्ते समाहिमरणं, अभव्वजीवा ण पावेंति त्ति" वचनात्, विशिष्टयोग्यताभाजामेव तत्प्राप्तिसम्भवात्। इति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥

यथा चैतदेवं तथा दर्शयितुमाह—

न इमं सव्वेसु भिक्खूसुं, ण इमं सव्वेसु गारिसु।
नानासीला य गारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो।१९।

'न' इत्यवधारणफलत्वाद्वाक्यस्य नैव 'इदम्' इति परिडतमरणं, 'सव्वेसु भिक्खूसुं ति' सूत्रत्वात् सर्वेषां भिक्षूणां परदत्तोपजीविनां व्रतिनामिति यावत्, किन्तु-केषाञ्चिदेव परोपचितपुण्यानुभाववतां भावभिक्षूणां, तथा च-गृहस्थानां दूरापास्तमेव, अत एवाऽऽह—नेदं परिडतमरणं 'सव्वेसु गारिसु त्ति' सर्वेषामगारिणां गृहिणां, चारित्रिणामेव तत्सम्भवात्, तथात्वे च-तेषामपि तत्त्वतो यतित्वाद्, उभयत्र विषयसम्भ्रम्यन्ततया वा नेयम् यथा चैतदेवं तथोपपत्तित आह—नाना अनेकविधं शीलं व्रतं स्वभावो वा येषां ते नानाशीलाः, 'अगारस्था' गृहस्थाः, तेषां हि नैकरूपमेव शीलं किन्त्वनेकभङ्गसम्भवादनेकविधं, देशविरतिरूपस्य तस्यानेकधाभिधानात्, सर्वविरतिरूपस्य च तेष्वसम्भवात्, 'विषमम्' अतिदुर्लक्षतयाऽतिगहनं विसदृशं वा शीलमेषां विषमशीलाः, के ते?—भिक्षवः, न हि सर्वेऽप्यनिदानिनोऽविकलचारित्रिणो वा तत्कालं म्रियन्ते जिनमतप्रतिपन्ना अपि, तीर्थान्तरीयास्तु दूरोत्सारिता एव, तेषु हि गृहिणस्तावदत्यन्तं नानाशीला एव, यतः-केचिद् गृहाऽऽश्रमप्रतिपालनमेव महाव्रतमिति प्रतिपन्नाः, अन्ये तु-सप्तशिक्षापदशतानि गृहिणां व्रतमित्याद्यनेकधैव ब्रुवते, भिक्षवोऽप्यत्यन्तं विषमशीला एव, यतस्तेषु केषाञ्चित्पञ्चयमनियमाऽऽत्मकं व्रतमिति दर्शनम्, अपरेषां तु कन्दमूलफलाशितैव इति, अन्येषामात्मतत्त्वपरिज्ञानमेवेति विसदृशशीलता, न च तेषु क्वचिदविकलचारित्रसम्भव इति सर्वत्र परिडतमरणाभावः। इति सूत्रार्थः ॥१९॥

(११) विषमशीलतामेव भिक्षूणां समर्थयितुमाह—

संति एगेहिँ भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥ २० ॥

'सन्ति' विद्यन्ते 'एकेभ्यः' कुप्रवचनेभ्यो भिक्षुभ्यः 'गारत्थ त्ति' सूत्रत्वादगारस्थाः, संयमेन-देशविरत्यात्मकेनोत्तराः—प्रधानाः संयमोत्तराः, कुप्रवचनभिक्षवो हि जीवाद्यास्तिक्यादपि बहिष्कृताः सर्वथाऽचारित्रिणश्चेति कथं न सम्यग्दृशो देशचारित्रिणो गृहिणस्तेभ्यः संयमोत्तराः सन्तु?, एवं सत्यगारस्थेष्वेव तदस्त्वित्यत आह—'अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्य' इति अनुमतिवर्जसर्वोत्तमदेशविरतिप्राप्तेभ्योऽपि साधवः संयमोत्तराः, परिपूर्णसंयमत्वात्तेषाम्। तथा च वृद्धसम्प्रदायः-"एगो सावगो साहुं पुच्छति-सावगाणं साहूणं किमंतरं?, साहुणा भणति—सरिसवमंदरंतरं, ततो सो आउलीहूओ पुणो पुच्छति-कुलिंगीणं सावगाण य किमंतरं?, तेण भणति-तदेव सरिसवमंदरं ति, ततो समासासितो, जतो भणियं—"देसेक्कदेसविरया, समणाणं सावगा सुविहियाणं। जेसिं परपासंडा, सईमवि कलं न अग्घंति ॥ १ ॥" तदनेन तेषां चारित्राभावदर्शनेन परिडतमरणाभाव एव समर्थितः। इति सूत्रार्थः ॥ २० ॥

(१२) ननु कुप्रवचनभिक्षवोऽपि विचित्रलिङ्गधारिण एवेति कथं तेभ्योऽगारस्थाः संयमोत्तराः?-अत आह—

चीराजिणं निगिणिणं, जडीसंघाडिमुंडिणं।
एयाइं पि न तायंति, दुस्सीलं परियागतं ॥ २१ ॥

चीराणि च-चीवराणि अजिनं च-मृगादिचर्म चीराऽजिनं, 'णिगिणिणं ति' सूत्रत्वान्नाग्न्यं 'जडि त्ति' भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य जटित्वं, सङ्घाटी-वस्त्रसंहतिजनिता, 'मुंडिणं ति' यत्र शिखाऽपि स्वसमयतश्छिद्यते ततः प्राग्वत्, मुरिडत्वम्, 'एतान्यपीति' निजनिजप्रक्रियाविरचितव्रतिवेषरूपाणि लिङ्गान्यपि, किं पुनर्गार्हस्थ्यमित्यपिशब्दार्थः। किमित्याह—नैव त्रायन्ते भवाद् दुष्कृतकर्मणो वेति गम्यते, कीदृशम्?-दुश्शीलं' दुराचारम्, 'परियागयं ति' पर्यायाऽऽगतं-प्रव्रज्यापर्यायप्राप्तम्, आर्षत्वाच्च याकारस्यैकस्य लोपः, यद्वा-'दुस्सीलं परियागयं ति' मकारोऽलाक्षणिकः, ततो दुःशीलमेव दुष्टशीलाऽऽत्मकः पर्यायस्तमागतं दुःशीलपर्यायाऽऽगतं, न हि कषायकलुषचेतसो बहिर्विकल्पवृत्तिरतिकष्टहेतुरपि नरकाऽऽदिकुगतिनिवारणायाऽलं, ततो न लिङ्गधारणाऽऽदिविशिष्टहेतुः। इति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥

(१३) आह-कथं गृहाद्यभावेऽप्यमीषां दुर्गतिरिति?, उच्यते—

पिंडोलए व दुस्सीलो, नरगाओ न मुच्चइ।

१—अत्र पूर्वार्द्धे चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठाः पाः, उत्तरार्द्धेऽष्ट चाः।

१—समाश्वस्त.। २—सतीमपि। ३—अर्घन्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कमति दिवं ॥२२॥

'पिंडोलए व त्ति' वाशब्दोऽपिशब्दार्थः, ततश्च 'पिडिसक्षाते' पिण्ड्यते तत्तद्गृहेभ्य आदाय सङ्घात्यत इति पिण्डः तमवलगति—सेवते पिण्डावलगो, यः स्वयमाहाराभावतः परदत्तोपजीवी सोऽपि, आस्तां गृहादिमानित्यर्थः। दुःशीलः प्राग्वत्, 'नरकात्' स्वकर्मोपस्थापितात् सीमन्तकादेर्न मुच्यते, अत्र चोदाहरणं तथाविधद्रमकः, तत्र च सम्प्रदायः-"रायगिहे णयरे एगो पिंडोलओ उज्जाणियाए विणिग्गए जणे भिक्खं हिंडइ, ण य तस्स केणइ किंचि दिएणं, सो तेसिं वेभारपव्वयकडगसन्निविट्ठाण पव्वतोवरिं चडिऊण महति महालयं सिलं चालेइ, एएसिं उवरिं पाडेमि त्ति रोद्दज्झाई विच्छुट्टिऊणं ततो सिलातो निवडितो सिलातले संचुण्णियसव्वकातो य मरिऊण अप्पइट्ठाणे णरए समुप्पन्नो।" तर्हि किमत्र तत्त्वतः । सुगतिहेतुरित्याह—'भिक्खाए व त्ति' भिक्षामत्ति अकति वा भिक्षादो भिक्षाको, वा विकल्पे, अनेन यतिरुक्तः । गृहे तिष्ठति गृहस्थः स वा, शोभनं निरतिचारतया सम्यग्भावानुगततया च व्रतं-शीलं परिपालनात्मकमस्येति सुव्रतः, 'क्रामति' गच्छति 'दिवं' देवलोकं, मुख्यतो मुक्तिहेतुत्वेऽपि व्रतपरिपालनस्य दिवं क्रामतीत्यभिधानं जघन्यतोऽपि देवलोकप्राप्तिरिति ख्यापनार्थम्, उक्तं हि-" अविराहियसामएणस्स साहुणो सावगस्स य जहएणो । उववातो सोहम्मे, भणितो तेलोक्कदंसीहिं ॥ १ ॥ " अनेन व्रतपरिपालनमेव तत्त्वतः सुगतिहेतुरित्युक्तम्। इति सूत्रार्थः ॥२२॥

(१४) यद्व्रतयोगाद्गृहस्थोऽपि दिवं क्रामति तदुक्तमाह—

अगारिसामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगराइं न हावए ॥ २३ ॥

अगारिणो-गृहिणः सामायिकं-सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिरूपं तस्याङ्गानि-निःशङ्किताकालाध्ययनाणुव्रताऽऽदिरूपाणि अगारिसामायिकाङ्गानि,'सड्ढि त्ति' सूत्रत्वात् श्रद्धा-रुचिरस्याऽस्तीति श्रद्धावान्, कायेनेत्युपलक्षणत्वान्मनसा वाचा च 'फासइ त्ति' स्पृशति सेवते, पोषणं पोषः, स चेह धर्मस्य तं धत्त इति पोषधः-आहारपोषधाऽऽदिः, तं 'दुहतो पक्खं ति' तत एव द्वयोरपि सितेतररूपयोः पक्षयोश्चतुर्दशीपूर्णिमास्यादिषु तिथिषु 'एगराइं' ति अपेर्गम्यमानत्वादेकरात्रमपि, उपलक्षणत्वाच्चैकदिनमपि, 'न हावए त्ति' न हापयति-न हानिं प्रापयति, रात्रिग्रहणं च दिवा व्याकुलतया कर्तुमशक्नुवन् रात्रावपि पोषधं कुर्यात्, इह च सामायिकाङ्गत्वेनैव सिद्धेः, यदस्य भेदेनोपादानं तदादरख्यापनार्थमदुष्टमेव, यद्वा-यत एवं गृहस्थोऽपि सुव्रतो दिवं क्रामति अतोऽगारी सामायिकाङ्गानि स्पृशेत् पोषधं च न हापयेदित्युपदेशपरतया व्याख्येयम्। इति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥

प्रस्तुतमेवार्थमुपसंहर्तुमाह—

एवं सिक्खासमावन्नो, गिहवासेऽवि सुव्वओ ।
मुचति छवि-पव्वाओ, गच्छे जक्ख-सलोगयं ॥ २४ ॥

'एवम्' अमुनोक्तन्यायेन, शिक्षया-व्रतासेवनात्मिकया समापन्नो-युक्तः शिक्षासमापन्नो, गृहवासेऽपि आस्तां प्रव्रज्यापर्याय इत्यपिशब्दार्थः, 'सुव्रतः' शोभनव्रतो, मुच्यते— कुतः ?-छविः-त्वक् पर्वाणि च-जानुकूर्पराऽऽदीनि छविपर्व तद्योगादौदारिकशरीरमपि छविपर्व ततः, तदनन्तरं च 'गच्छेद्' यायात् यक्षा:-देवाः समानो लोकोऽस्येति सलोकस्तद्भावः सलोकता यक्षैः सलोकता यक्षसलोकता ताम्, इयं च देवगतावेव भवतीत्यर्थाद्देवगतिमिति, अनेन च पण्डितमरणावसरेऽपि प्रसङ्गतो बालपण्डितमरणमुक्तम्। इति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

(१५) साम्प्रतं प्रस्तुतमेव पण्डितमरणं फलोपदर्शनद्वारेणाह—

अह जे संवुडे भिक्खू- दुण्हमेगयरे सिया ।
सव्वदुक्खप्पहीणे वा, देवे वावि महिड्डिए ॥ २५ ॥

'अथ' इत्युपप्रदर्शने,'य' इत्यनुद्दिष्टनिर्देशे, 'संवृत' इति पिहितसमस्ताऽऽश्रवद्वारः, 'भिक्षु' रिति भावभिक्षुः, स च द्वयोरन्यतरः-एकतरः, 'स्यात्' भवेद्, ययोर्द्वयोरन्यतरः स्यात् तावाह-सर्वाणि-अशेषाणि यानि दुःखानि-क्षुत्पिपासेष्टवियोगानिष्टसंयोगादीनि तैः प्रकर्षेण-पुनरनुत्पत्त्यात्मकेन हीनो-रहितः सर्वदुःखप्रहीणः, स्यादिति सम्बन्धः। यद्वा-सर्वदुःखानि प्रहीणान्यस्येति सर्वदुःखप्रहीणः, आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् निष्ठान्तस्य परनिपातः, स च सिद्ध एव, ततः स वा देवो वा, अपिः सम्भावने, सम्भवति हि संहननादिवैकल्यतो मुक्त्यनवाप्तौ देवोऽपि स्यादिति। कीदृग् ?-महती ऋद्धिः—सुखादिसम्पदस्येति महर्द्धिकः। इति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥

(१६) आह गृहीमो देवो वा स्यादिति यत्र चासौ देवो भवति तत्र कीदृशा आवासाः ? कीदृशाश्च देवा ? इत्याह—

उत्तराइं विमोहाइं, जुइमंताणुपुव्वसो ।
समाइण्णाइ जक्खेहिं, आवासाइ जसंसिणो ॥ २६ ॥
दीहाउया इड्डिमंता, समिद्धा कामरूविणो ।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥ २७ ॥

'उत्तरा' उपरिवर्तिनोऽनुत्तरविमानाऽऽख्याः सर्वोपरिवर्तित्वात्तेषां, विमोहा इव अल्पवेदाऽऽदिमोहनीयोदयतया विमोहाः, अथवा-मोहो द्विधा—द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतोऽन्धकारो, भावतश्च मिथ्यादर्शनादिः, स द्विविधोऽपि सततरत्नोद्योतितत्वेन सम्यग्दर्शनस्यैव च तत्र सम्भवेन विगतो येषु ते विमोहाः, द्युतिः—दीप्तिरन्यातिशायिनी विद्यते येषु ते द्युतिमन्तः ; 'अणुपुव्वसो त्ति' प्राग्वदनुपूर्वतः क्रमेण विमोहादिविशेषणविशिष्टाः, सौधर्मादिषु ह्यनुत्तरविमानावसानेषु पूर्वपूर्वापेक्षया प्रकर्षवन्त्येव विमोहत्वाऽऽदीनि, 'समाकीर्णाः' व्याप्ताः, 'यक्षैः' देवैः, आ—समन्ताद्वसन्ति तेष्वित्यावासाः, प्राकृतत्वाच्च सर्वत्र नपुंसकतया निर्देशः,' देवास्तु तत्र 'यशस्विनः' श्लाघान्विताः, 'दीर्घं'—सागरोपमपरिमिततया आयुरेषामिति दीर्घायुषः, 'ऋद्धिमन्तो' रत्नादिसम्पदुपेताः, 'समिद्धा' अतिदीप्ताः 'कामरूपिणः' कामः—अभिलाषस्तेन रूपाणि कामरूपाणि तद्वन्तः, 'विविधवैक्रियशक्त्यन्विता इत्यर्थः। न चैतदनुत्तरेष्वनुपपन्नं विशेषणमिति वाच्यम्?, विकरणशक्तेस्तत्रापि सत्वात्। 'अधुनोपपन्नसङ्का-

१-उद्यानिकायै । २-विछुट्य ।

१—दोण्हमन्नयरं इति-पाठान्तरम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शाः ' प्रथमोत्पन्नदेवतुल्याः, अनुत्तरेषु हि वर्णद्युत्यादि यावदायुस्तुल्यमेव भवति। ' भूयोऽर्चिमालिप्रभा ' इति, भूयःशब्दः प्राचुर्ये, ततः प्रभूताऽऽदित्यदीप्तयो, न ह्येकस्यैवाऽऽदित्यस्य तादृशी द्युतिरस्तीति भूयोग्रहणम्। इति सूत्रार्थः॥ २६॥ २७॥

(१७) उपसंहर्तुमाह—

ताणि ठाणाइँ गच्छंति, सिक्खित्ता संजमं तवं।

भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संति परिनिव्वुडा॥२८॥

' तानि ' अभिहितरूपाणि तिष्ठन्त्येषु, सुकृतिनो जन्तव इति स्थानानि—आवासाऽऽत्मकानि, ' गच्छन्ति ' यान्ति, उपलक्षणत्वाद्गता गमिष्यन्ति च, उपलक्षणं चैतत् सौधर्माऽऽदिगमनस्य, तत्राऽपि तेषां केषाञ्चिद्गमनसम्भवात्। ' शिक्षित्वा ' अभ्यस्य, ' संयमं ' सप्तदशभेदं, ' तपो ' द्वादशभेदं, क इत्याह—' भिक्खाए वा गिहत्थे व त्ति ' प्राकृतत्वाद्वचनव्यत्ययेन भिक्षाको वा, गृहस्थो वा भावतो यतय एवेति यावत्, अत एवाह—' जे ' इति ये, शान्त्या—उपशमेन परिनिर्वृताः—शीतीभूता विध्यातकषायाऽनलाः शान्तिपरिनिर्वृताः, यद्वा—ये केचन ' सन्ति ' विद्यन्ते परिनिर्वृताः, अत्र च देवो वा स्यादित्येकवचनप्रक्रमेऽपि यद्बहुवचनाभिधानं तद्व्याप्त्यर्थं, ततो न य एक एवेश्वराद्यनुगृहीतः स एव सम्यग्दर्शनाऽऽदिमानपि दिवं क्रामति किन्तु सर्वोऽपि इत्युक्तं भवति। इति सूत्रार्थः॥ २८॥

एतच्चाऽऽकर्ण्य मरणेऽपि यथाभूता महात्मानो भवन्ति तथाऽऽह—

तेसिं सुच्चा सपुज्जाणं, संजयाणं वुसीमओ।

ण संतसंति मरणंते, सीलवंता बहुस्सुआ॥ २६॥

' तेषाम् ' अनन्तराभिहितस्वरूपाणां भावभिक्षूणां, ' श्रुत्वा ' आकर्ण्य, उक्तरूपस्थानावाप्तिमिति शेषः। कीदृशाम्?। ' सत्पूज्यानां ' सतां पूजार्हाणां, सती वा पूजा येषां ते सत्पूजास्तेषां, ' संयतानां ' संयमवतां, ' वुसीमओ त्ति ' प्राग्वत्, ' न संत्रस्यन्ति ' नोद्विजन्ते, कदा?—मरणे मरणेन वाऽन्तो मरणान्तस्तस्मिन् आवीचीमरणाऽपेक्षया वाऽन्त्यमरणे, प्राकृतत्वाच्च परनिपातः। समुपस्थित इति शेषः। ' शीलवन्तः ' चारित्रिणो, ' बहुश्रुता ' विविधाऽऽगमश्रवणावदातीकृतमतयः, इदमुक्तं भवति—य एवाविदितधार्मिकगतयोऽनुपार्जितधर्माणश्च त एव मरणादुद्विजन्ते, यथा—क्वाऽस्माभिर्मृत्वा गन्तव्यमिति, उपार्जितधर्माणस्तु धर्मफलमवगच्छन्तो न कुतोऽप्युद्विजन्ते, यथा—क्वाऽस्माभिर्मृत्वा गन्तव्यम्। यदुक्तम्—" चरितो निरुपक्लिष्टो, धर्मो हि मयेति निर्वृतः स्वस्थः। मरणादपि नोद्विजते, कृतकृत्योऽस्मीति धर्माऽऽत्मा॥ १॥ " इति सूत्रार्थः॥ २६॥

इत्थं सकामाऽकाममरणस्वरूपमभिधाय शिष्योपदेशमाह—

तुलिया विसेसमायाय, दयाधम्मस्स खंतिए।

विप्पसीइज्ज मेधावी, तहाभूएण अप्पणा॥ ३०॥

' तोलयित्वा ' परीक्ष्यात्मानं, धृतिदार्ढ्याऽऽदिगुणान्वितमिति गम्यते। ' विशेषं ' प्रक्रमाद्भक्तपरिज्ञाऽऽदिकं मरणभेदं ' आदाय ' बुद्ध्या गृहीत्वाऽभ्युपगम्येति यावत्, दयाप्रधानो धर्मो दयाधर्मो—दशविधयतिधर्मरूपः, तस्य सम्बन्धिनी या क्षान्तिस्तया, उपलक्षणत्वात्—मार्दवाऽऽदिभिश्च। ' विप्रसीदेत् ' विशेषेण प्रसन्नो भवेत्, न तु मरणादुद्विजेतेति भावः। ' मेधावी ' मर्यादावर्त्ती, ' तथाभूतेन ' उपशान्तमोहोदयेन, यदिवा—यथैव मरणकालात्प्रागनाकुलचेता अभूत्, मरणकालेऽपि तथैवावस्थितेन तथाभूतेनाऽऽत्मना स्वयमयमपरकल्पोऽपि विप्रसीदेत्, कषायपङ्कापगमतः स्वच्छतां भजेत्, न तु कृतद्वादशवर्षसंलेखनतथाविधतपस्विवन्निजाङ्गुलीभङ्गाऽऽदिना कषायितामवलम्बेत मेधावी। किं कृत्वा?—तोलयित्वा बालमरणपण्डितमरणे, ततश्च ' विशेषं ' बालमरणात् पण्डितमरणस्य विशिष्टत्वलक्षणम्, ' आदाय ' गृहीत्वा, तथा दयाधर्मस्येति चशब्दस्य गम्यमानत्वात् दयाधर्म्मस्य च—यतिधर्मस्य विशेषं—शेषधर्मातिशायित्वलक्षणमादायेति सम्बन्धः। ' कया विप्रसीदेत्?—' क्षान्त्या, तथाभूतेनेति निष्कषायेणाऽऽत्मनोपलक्षितः। इति सूत्रार्थः॥ ३०॥

विप्रसन्नश्च यत् कुर्यात्तदाह—

तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालीसमंतिए।

विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स कंखए॥ ३१॥

' तत् ' इति कषायोपशमानन्तरं, ' काले ' मरणकाले, ' अभिप्रेते ' अभिरुचिते, कदा च मरणमभिप्रेतम्?, यदा योगा नोत्सर्प्पन्ति। ' सड्ढि त्ति ' प्राग्वत्; श्रद्धावान्, तादृशमिति भयोत्थम्, ' अन्तिके ' समीपे गुरूणां मरणस्य वा, ' विनयेद् ' विनाशयेत्, कम्?—लुनाति लीयन्ते वा तेषु यूका इति लोमानि तेषां हर्षो लोमहर्षस्तं—रोमाञ्चं, हा! मम मरणं भविष्यतीति भयाभिप्रायसम्प्राप्यं, किंच—' भेदं ' विनाशं, ' देहस्य ' शरीरस्य, काङ्क्षेदिव काङ्क्षेत्, त्यक्ततत्परिकर्म्मत्वात्। अथवा—' तालिसन्ति ' सुव्यत्ययात् तादृशो यादृशः प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकाले संलेखनाकाले वा अन्तकालेऽपि तादृशः श्रद्धावान् सन्, उक्तं हि—" जाए सद्धाए णिक्खंतो, परियायट्ठाणमुत्तमं तमेव अणुपालेज्ज त्ति। " ईदृशश्च परीषहोपसर्गजं लोमहर्षं विनयेदिति सम्बन्धः। इति सूत्रार्थः॥ ३१॥

(१८) निगमयितुमाह—

अह कालम्मि संपत्ते, आघायाय समुच्छयं।

सकाममरणं मरति, तिण्हमन्नयरं मुणी॥ ३२॥

' अथेति ' मरणाभिप्रायानन्तरं, ' काले ' इति मरणकाले, संप्राप्ते ' णिप्फाइया य सीसा ' इत्यादिना क्रमेण समायाते, ' आघायाय त्ति ' आर्षत्वात् आघातयन्, संलेखनादिभिरुपक्रमणकारणैः समन्ताद् घातयन्—विनाशयन्, कं? समुच्छ्रयम्—अन्तः कार्मणशरीरं ' बहिरौदारिकं ' यद्वा—' समुस्सतं ति ' सुब्व्यत्ययात्समुच्छ्रयस्याऽऽघाताय—विनाशाय, काले सम्प्राप्त इति सम्बन्धनीयम्। किमित्याह—सकामस्य—उक्तनीत्या साभिलाषस्य मरणं—सकाममरणं, तेन म्रियते, त्रयाणां—भक्तपरिज्ञेङ्गिनीपादपोपगमनानामन्यतरेण, सूत्रत्वात् सर्वत्र विभक्तिव्यत्ययः। ' मुनिः ' तपस्वी। इति सूत्रार्थः॥ ३२॥ उत्त० ५ अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१९)साम्प्रतमुपसंहरति-एवमुक्तनीत्या तेषामेकान्तवादिनां न स्वाख्यातो धर्मो भवति, नापि शास्त्रप्रणयनेन सुप्रज्ञापितो भवति । किं स्वमनीषिकया भवतेदमभिधीयते ?, नेत्याह-यदिवा-किम्भूतस्तर्हि सुप्रज्ञापितो धर्म्मो भवतीत्याह—

से जहेयं भगवया पवेइयं, आसुपन्नेण जाणया, पासया, अदुवा-गुत्ती वओगोयरस्स त्ति बेमि । सव्वत्थ संमयं पावं, तमेव उवाइकम्म एस महं विवेगे वियाहिए । गामे वा, अदुवा रणे, नेव गामे, नेवं रण्णे, धम्ममाऽऽयाणह । पवेइयं माहणेण मइमया । जामा तिन्नि उदाहिया । जेसु इमे आयरिया संवुज्झमाणा समुट्ठिया जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया । (सूत्र-२००)

तद्यथा-'इदं' स्याद्वादरूपं वस्तुनो लक्षणं समस्तव्यवहाराऽनुयायि क्वचिदप्यप्रतिहतं, 'भगवता' श्रीवर्द्धमानस्वामिना, प्रवेदितम् । एतद्वा-अनन्तरोक्तं भगवता प्रवेदितमिति ? किम्भूतेनेति दर्शयति-आशुप्रज्ञेन निरावरणत्वात् सततोपयुक्तेनेत्यर्थः । किं यौगपद्येन ?, नेति दर्शयति-'जानता' ज्ञानोपयुक्तेन, तथा—'पश्यता' दर्शनोपयुक्तेनैतत्प्रवेदितं, यथा-नैषामेकान्तवादिनां धर्म्मः स्वाख्यातो भवति । अथवा-गुप्तिर्वाग्गोचरस्य-भाषासमितिः कार्येत्येतत्प्रवेदितं भगवता । यदिवा-अस्तिनास्तिध्रुवाध्रुवाऽऽदिवादिनां वादायोत्थितानां त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां प्रावादुकशतानां वादलब्धिमतां प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपन्यासद्वारेण तदुपन्यस्तदूषणोपन्यासेन च तत्पराजयाऽऽपादनतस्सम्यगुत्तरं देयम् । अथवा गुप्तिर्वाग्गोचरस्य विधेयेत्येतदहं ब्रवीमि । वक्ष्यमाणं चेत्याह-तान् वादिनो वादायोत्थितानेवं ब्रूयाद्-यथा भवतां सर्वेषामपि पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पत्यारम्भः कृतकारितानुमतिभिरनुज्ञातोऽतः सर्वत्र 'सम्मतम्' अभिप्रेतमप्रतिषिद्धं, 'पापं' पापानुष्ठानं, मम तु नैतत्सम्मतमित्येतद्दर्शयितुमाह-'तदेव' एतत्पापानुष्ठानमुपसामीप्येनाऽतिक्रम्य-अतिलङ्घ्य, यतोऽहं व्यवस्थितोऽत एष मम विवेको व्याख्यातः । तत्कथमहं सर्वाऽप्रतिषिद्धाऽऽस्रवद्वारैः संभाषणमपि करिष्ये ?, आस्तां तावद्वाद इत्येवमसमनोज्ञविवेकं करोतीति । अत्राऽऽह चोदकः-कथं तीर्थिकाः सम्मतपापा अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयोऽचरित्रिणोऽतपस्विनो वेति ?, तथा हि-तेऽप्यकृष्टभूमिवनवासिनो मूलकन्दाऽऽहारा वृक्षाऽऽदिनिवासिनश्चेति । अत्राऽऽहाऽऽचार्यः-नारण्यवासाऽऽदिना धर्मः, अपि तु-जीवाजीवपरिज्ञानात् तत्पूर्वकानुष्ठानाच्च, तच्च तेषां नास्तीत्यतोऽसमनोज्ञास्ते इति । किं च-सदसद्विवेकिनो हि धर्मः, स च-ग्रामे वा स्यात् अथवा-अरण्ये, नैवाधारो ग्रामो, नैवारण्यं धर्मनिमित्तं, यतो भगवता न वासमितरद्वाऽऽश्रित्य धर्मः प्रवेदितः, अपि तु जीवादितत्त्वपरिज्ञानात् सम्यगनुष्ठानाच्च, अतस्तं धर्ममाजानीत । 'प्रवेदितं' कथितं, 'माहणेण त्ति' भगवता, किम्भूतेन ?, मतिमता मननं सर्वपदार्थपरिज्ञानं मतिस्तद्वता मतिमता, केवलिनेत्यर्थः । किंभूतो धर्म्मः प्रवेदित इत्याह-'यामा' व्रतविशेषाः, त्रय उदाहृताः । तद्यथा-प्राणातिपातो मृषावादः परिग्रहश्चेति, अदत्ताऽऽदानमैथुनयोः परिग्रह एवान्तर्भावात् त्रयग्रहणं । यदिवा-यामा-वयोविशेषाः, तद्यथा-अष्टवर्षादात्रिंशतः प्रथमः, तत ऊर्द्धमाषष्टेः द्वितीयः, ततः ऊर्द्धं तृतीय इति अतिबालवृद्धयोर्व्युदासः । यदिवा-यम्यते उपरम्यते संसारभ्रमणादेभिरिति यामाः ज्ञानदर्शनचारित्राणीति, ते 'उदाहृता' व्याख्याताः । यदि नामैवं ततः किम् ?, इत्याह-'येषु' अवस्थाविशेषेषु ज्ञानाऽऽदिषु वा, 'इमे देशार्या' अपाकृतहेयधर्म्मा वा, सम्बुध्यमानाः सन्तः समुत्थिताः, के ?—ये 'निर्वृताः' क्रोधाऽऽद्यपगमेन शीतीभूताः पापेषु कर्मसु 'अनिदाना' निदानरहिताः, ते व्याख्याताः प्रतिपादिता इति ।

(२०) क्व च पुनः पापकर्म्मस्वनिदाना इत्यत आह—

उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सव्वावंति च णं पाडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारंभेणं तं परिन्नाय, मेहावी नेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभाविज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंतेऽवि समणुजाणेज्जा, जे वऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति, तेसिं पि वयं लज्जामो, तं परिन्नाय मेहावी, तं वा दंडं अन्नं वा नो दंडभी दंडं समारंभिज्जासि त्ति बेमि । (सूत्र-२०१) विमोक्षाध्ययनोद्देशकः ८-१ ।

ऊर्द्धमधस्तिर्यग्दिक्षु 'सर्वतः' सर्वैः प्रकारैः, सर्वा याः काश्चन दिशः, चशब्दादनुदिशश्च, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, 'प्रत्येकं जीवेषु' एकेन्द्रियसूक्ष्मेतराऽऽदिकेषु, यः कर्म्मसमारम्भः जीवानुद्दिश्य य उपमर्दरूपः क्रियासमारम्भः, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, तं कर्म्मसमारम्भं, ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा, प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत । कोऽसौ ?-'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थित इति, कथं प्रत्याचक्षीत ?-इत्याह-नैव स्वयमात्मना, 'एतेषु' चतुर्दशभूतग्रामावस्थितेषु, 'कायेषु' पृथिवीकायाऽऽदिषु, 'दण्डम्' उपमर्दं, समारभेत, न चापरेण समारम्भयेत्, नैवान्यान् समारभमाणान् समनुजानीयात्, ये चान्ये दण्डं समारभन्ते, सुब्व्यत्ययेन तृतीयार्थे षष्ठी । तैरपि वयं लज्जाम इत्येवं कृताध्यवसायः सन्, तज्जीवेषु कर्म्मसमारम्भं महते ऽनर्थाय, परिज्ञाय, ज्ञात्वा, 'मेधावी' मर्यादावान्, तथा पूर्वोक्तं दण्डम्, अन्यद्वा-मृषावादाऽऽदिकं दण्डाद्बिभेतीति दण्डभीः सन्, नो दण्डं प्राण्युपमर्दाऽऽदिकं, समारभेथाः, करणत्रिकयोगत्रिकेण परिहरेदिति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमि । इति पूर्ववत् । विमोक्षाध्ययने प्रथमोद्देशक इति ।

(२१)साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशकेऽनग्रसंयमप्रतिपालनाय कुशीलपरित्यागोऽभिहितः, स चैतावताऽकल्पनीयपरित्यागमृते न सम्पूर्णतामियाद् अतोऽकल्पनीयपरित्यागार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यैतस्योद्देशकस्याऽऽदिसूत्रम्—

से भिक्खू परिकमिज्ज वा, चिट्ठिज्ज वा, निसीइज्ज वा, तुयट्टिज्ज वा, सुसाणंसि वा, सुन्नागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुंभाराययणंसि वा, हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं, तं भिक्खुं उवसंकमित्तु,

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहावई बूया-आउसंतो ! समणा ! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुच्छणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारम्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसिट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएमि, आवसहं वा समुस्सिणोमि, से भुंजह वसह, आउसंतो ! समणा ! भिक्खू ! तं गाहावइं समणसं सवयसं पडियाइक्खे। आउसंतो गाहावई ! नो खलु ते वयणं आढामि, नो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा, पा० ४ वत्थं वा, प० ४ पाणाइं भू० ४ वा समारम्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसिट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएसि,आवसहं वा समुस्सिणासि,से विरओ आउसो ! गाहावई !! एयस्स अकरणयाए। (सूत्र-२०२)

स-कृतसामायिकः सर्वसावद्याकरणतया प्रतिज्ञामन्दरमारूढो, भिक्षणशीलो भिक्षुः, भिक्षार्थमन्यकार्याय वा,'पराक्रमेत' विहरेत्, तिष्ठेद्वा ध्यानव्यग्रो, निषीदेद्वा अध्ययनाध्यापनश्रवणश्रावणाऽऽदतः, तथा-श्रान्तः क्वचिदध्वनाऽऽदौ त्वग्वर्त्तनं वा विदध्यात्। क्वैतानि विदध्यादिति दर्शयति-'श्मशाने वा' शवानां शयनं श्मशानं पितृवनं तस्मिन् वा तत्र च त्वग्वर्त्तनं न सम्भवत्यतो यथासम्भवं पराक्रमणाद्यायोज्यम्। तथाहि-गच्छवासिनस्तत्र स्थानाऽऽदिकं न कल्पते, प्रमादस्खलिताऽऽदौ व्यन्तराद्युपद्रवात्। तथा जिनकल्पार्थं सत्त्वभावनं भावयतोऽपि न पितृवनमध्ये निवासोऽनुज्ञातः, प्रतिमाप्रतिपन्नस्य तु यत्रैव सूर्योऽस्तमुपयाति तत्रैव स्थानम्। जिनकल्पिकस्य वा तदपेक्षया श्मशानसूत्रम्; एवमन्यदपि यथासम्भवमायोज्यम्। शून्यागारे वा, गिरिगुहायां वा, 'हुरत्थाव' त्ति अन्यत्र वा ग्रामादेर्बहिः, तं भिक्षुं क्वचिद्विहरन्तं, गृहपतिरुपसंक्रम्य विनेयदेशं गत्वा, 'ब्रूयाद्' वदेदिति। यच्च ब्रूयात्तद्दर्शयितुमाह-साधुं श्मशानाऽऽदिषु पराक्रमणाऽऽदिकां क्रियां कुर्वाणमुपसङ्क्रम्य-उपेत्य,पूर्वसंस्थितो वा गृहस्थः प्रकृतिभद्रकोऽभ्युपेतसम्यक्त्वो वा साध्वाचाराऽकोविदः साधुमुद्दिश्यैतद् ब्रूयात्-यथैते लब्धापलब्धभोजिनः त्यक्तारम्भाः सानुक्रोशाः सत्यशुचय एतेषु निक्षिप्तमक्षयमित्यतोऽहमेतेभ्यो दास्यामीत्यभिसंधाय साधुमुपतिष्ठते,वक्ति च-आयुष्मन्! भोः श्रमण! अहं संसारार्णवं समुत्तितीर्षुः,'खलुः' वाक्यालङ्कारे, 'तवार्थाय' युष्मन्निमित्तं, अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा तथा वस्त्रं वा पतद्ग्रहं वा कम्बलं वा पादपुञ्छनं वा समुद्दिश्य-आश्रित्य, किं कुर्यादिति दर्शयति-('पाणाइं' इति चतुष्पदीव्याख्या स्व स्व शब्दे ।) तान् प्राणाऽऽदीन् समारभ्य उपमर्द्य, तथाहि-अशनाऽऽद्यारम्भे प्राण्युपमर्दोऽवश्यंभावी, एतच्च समस्तं व्यस्तं वा कश्चित्प्रतिपद्येत,इयं चाविशुद्धिकोटिर्गृहीता, सा चेमा-"आहाकम्मुद्देसिय-मीसज्जा बायरा य पाहुडिया। पूइअ-अज्झोयरगो, उग्गमको-डी अ छब्भेआ ॥ १ ॥ " विशुद्धिकोटिं दर्शयति-'क्रीतं' मूल्येन गृहीतं, 'पामिच्चंति' अपरस्मादुच्छिन्नमुधतकं गृहीतं,बलात्कारितया वा न्यस्मादाच्छिद्य राजोपसृष्टो वा अन्येभ्यो गृहिभ्यः साधोर्दास्यामीत्याच्छिन्द्यात्। तथा-'अनिसृष्टं' परकीयं यत्तदन्तिके तिष्ठति न च परेण तस्य निसृष्टं-दत्तं तदनिसृष्टं, तदेवंभूतमपि साधोर्दानाय प्रतिपद्यते। तथा-स्वगृहादाहृत्य 'चेएमि' त्ति, ददामि तुभ्यं वितरामि, एवमशनाऽऽदिकमुद्दिश्य ब्रूयात्। तथा-'आवसथं वा' युष्मदाश्रयं, समुच्छृणोमि-आदरारभ्याऽपूर्वं करोमि, संस्कारं वा करोमि, इत्येवं प्राञ्जलिरवनतोत्तमाङ्गः सन् अशनाऽऽदिना निमन्त्रयेत्। यथा-भुङ्क्ष्वाशनाऽऽदिकं, मत्संस्कृताऽऽवसथे वस इत्यादि। द्विवचनबहुवचने अप्यायोज्ये। साधुना तु-सूत्रार्थविशारदेनादीनमनस्केन प्रतिषेधितव्यमित्याह-आयुष्मन्! श्रमण! भिक्षो! तं गृहपतिं समनसं-सवयसमन्यथाभूतं वा प्रत्याचक्षीत। कथमिति चेद्दर्शयति-यथा आयुष्मन्! भो गृहपते! न खलु तवैवम्भूतं वचनमहमाद्रिये , खलुशब्दोऽपिशब्दार्थे, स च समुच्चये , नापि तवैतद्वचनं ' परिजानामि ' आसेवनपरिज्ञानेन परिविदधेऽहमित्यर्थः । यस्त्वं मम कृतेऽशनाऽऽदिप्राण्युपमर्देन विदधासि,यावदावसथसमुच्छ्रयं विदधासि , भो आयुष्मन्! गृहपते! विरतः-अहमेवम्भूतादनुष्ठानात्। कथम्?-एतस्य-भवदुपन्यस्तस्याकरणतयेत्यतो भवदीयमभ्युपगमं न जानेऽहमिति।

(२२) तदेवं प्रसह्याऽशनाऽऽदिसंस्कारप्रतिषेधः प्रतिपादितो यदि पुनः कश्चिद्विदितसाध्वभिप्रायः प्रच्छन्नमेव विदध्यात्तदपि कुतश्चिदुपलभ्य प्रतिषेधयेदित्याह-

से भिक्खुं परिक्कमिज्ज वा ०जाव हुरत्था वा कहिंची विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए, असणं वा पा०४,वत्थं प०वा ४,०जाव आहट्टु चेएइ। आवसहं वा समुस्सिणाइ,भिक्खू परिघासेउं,तं च भिक्खू जाणिज्जा सहसम्मइयाए परवागरणेण अन्नेसिं वा सुच्चा अयं खलु गाहावई मम अट्ठाए असणं वा पा०४,वत्थं वा प०४,० जाव आवसहं वा समुस्सिणाई, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि। (सूत्र-२०३)

तं भिक्षुं क्वचित् श्मशानाऽऽदौ विहरन्तमुपसङ्क्रम्य प्राञ्जलिर्वन्दित्वा गृहपतिः प्रकृतिभद्रकाऽऽदिकः कश्चित्,आत्मगतया प्रेक्षयाऽनाविष्कृताभिप्रायः,केनचिदलक्ष्यमाणो यथाऽहमस्य दास्यामीत्यशनाऽऽदिकं प्राण्युपमर्देनाऽऽरभेत। किमर्थमिति चेद्दर्शयति-तदशनाऽऽदिकं भिक्षुं ' परिघासयितुं ' भोजयितुं, साधुभोजनार्थमित्यर्थः । आवसथं च साधुभिरधिवासयितुमिति, तदशनाऽऽदिकं साध्वर्थं निष्पादितं भिक्षुः 'जानीयात्' परिच्छिन्द्यात्। कथमित्याह-स्वसन्मत्या परव्याकरणेन वा तीर्थकरोपदिष्टोपायेन वा, अन्येभ्यो वा तत्परिजनाऽऽदिभ्यः श्रुत्वा, जानीयादिति वर्त्तते, यथा अयं खलु गृहपतिर्मदर्थमशनाऽऽदिकं प्राण्युपमर्देन विधाय मह्यं ददात्यावसथं च समुच्छ्रणोति, तद्भिक्षुः सम्यक् 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य, अवगम्य च ज्ञात्वा, ' ज्ञापयेत्' तं गृहपतिम्, अनासेवनया यथा-अनेन विधानेनोपकल्पितमाहाराऽऽदिकं नाहं-भुञ्जे, एवं तस्य ज्ञापनं कुर्यात्, यद्यसौ श्रावकस्ततो लेशतः पिण्डनिर्युक्तिं कथयेद् , अन्यस्य च प्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृतिभद्रकस्योद्गमाऽऽदिदोषानाविर्भावयेत्, प्रासुकदानफलं च प्ररूपयेत्, यथाशक्तितो धर्म्मकथां च कुर्यात् । तद्यथा—(काले देशे क०, दानं सत्पुरुषे०, दुःखसमुद्रं प्रा०, अत्रत्यैषा श्लोकत्रयी 'दाण' शब्दे ४ भागे २४६० पृष्ठेऽस्ति) इत्यादि, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीत्येतत्पूर्वोक्तम् ।

वक्ष्यमाणं चेत्याह—

भिक्खुं च खलु पुट्ठा वा, अपुट्ठा वा, जे इमे आहच्च गंथा वा फुसंति। से हंता, हणह, खणह, छिंदह, दहह, पयह, आलुंपह, विलुंपह, सहसाकारेह, विप्परामुसह, ते फासे धीरो पुट्ठो अहियासए। अदुवा—आयारगोयरमाइक्खे तक्कियाणमणेलिसं। अदुवा–वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहए, आयतगुत्ते बुद्धेहिं एयं पवेइयं। (सूत्र-२०४)

'चः' समुच्चये, 'खलुः' वाक्यालङ्कारे, भिक्षणशीलो भिक्षुस्तं भिक्षुं, पृष्ट्वा कश्चित्, यथा-भो भिक्षो ! भवदर्थमशनाऽऽदिकमावसथं वा संस्करिष्येऽननुज्ञातोऽपि तेनाऽसौ तत्करोत्यवश्यमयं चाटुभिर्बलात्कारेण वा ग्राहयिष्यते। अपरस्त्वीषत्साध्वाचारविधिज्ञोऽतोऽपृष्ट्वैव छद्मना ग्राहयिष्यामीत्यभिसन्धायाऽशनाऽदिकं विदध्यात्। स च तदपरिभोगे श्रद्धाभङ्गात् चाटुशताग्रहणाच्च रोषाऽऽवेशान्निःसुखदुःखतया लोकज्ञा इत्यनुशयाच्च राजानुसृष्टतया च न्यक्कारभावनातः प्रद्वेषमुपगतो हननाऽऽदिकमपि कुर्यादिति दर्शयति–एकाधिकारे वह्नतिदेशाद्ये इमे प्रश्नपूर्वकमप्रश्नपूर्वकं वा आहाराऽऽदिकं 'ग्रन्थात्' महतो द्रव्यव्ययाद्, आहृत्य ढौकित्वा, आहृतग्रन्था वा, व्ययीकृतद्रव्या वा, तदपरिभोगे 'स्पृशान्ति' उपतापयन्ति, कथमिति चेद्दर्शयति–'स' ईश्वराऽऽदिः प्रद्विष्टः सन्, हन्ता स्वतोऽपरांश्च हननाऽऽदौ चोदयति। तद्यथा–हतैनं साधुं दण्डाऽऽदिभिः 'क्षणुत' व्यापादयत छिन्नहस्तपादाऽऽदिकं, दहत अग्न्यादिना, पचत उरुमांसाऽऽदिकं, आलुम्पत वस्त्राऽऽदिकं, विलुम्पत सर्वस्वापहारेण, सहसा कारयत–आशु पञ्चत्वं नयत, तथा–विविधं परामृशत नानापीडाकरणैर्बाधयत, 'तान्' चैवम्भूतान् 'स्पर्शान्' दुःखविशेषान्, 'धीरः' अक्षोभ्यः, तैः स्पर्शैः 'स्पृष्टः' सन्, अधिसहेत। तथा–अपरैः क्षुत्पिपासापरीषहैः; स्पृष्टः सन्नाधिसहेत। न तु पुनरुपसर्गैः परीषहैर्वा तर्जितो विक्लवतामापन्नस्तदुद्देशिकाऽऽदिकमभ्युपेयात्। अनुकूलैर्वा सान्त्ववादाऽदिभिरुपसर्गितो नाऽऽदद्यात्। अपि तु–सति सामर्थ्ये जिनकल्पिकादन्य आचारगोचरमाचक्षीतेत्याह—नानाविधोपसर्गजनितान् स्पर्शानधिसहेत। 'अथवा' साधूनामाचारगोचरम्—आचारानुष्ठानविषयं ; मूलोत्तरगुणभेदाभिन्नमाचक्षीत। न पुनर्नयैर्द्रव्यविचारम्। तत्रापि मूलगुणस्थैर्यार्थमुत्तरगुणान् तत्रापि पिण्डैषणाविशुद्धिमाचक्षीत। अत्र च पिण्डैषणासूत्राणि पठितव्यानि । अपि च—" यत्स्वयमदुःखितं स्या—न्न च परदुःखे निमित्तभूतमपि । केवलमुपग्रहकरं, धर्म्मकृते तद्धेवेदेयम् ॥ १ ॥ " किं सर्वस्य सर्वं कथयेत् ?, नेति दर्शयति–'तर्कयित्वा' पर्यालोच्य पुरुषं, तद्यथा—कोऽयं पुरुषः कश्चनतोऽभिगृहीतोऽनभिगृहीतो मध्यस्थः प्रकृतिभद्रको वेत्येवमुपयुज्य यथार्हं–यथाशक्ति चाऽऽवेदयेत्। सत्यां च शक्तौ पञ्चावयवेनान्यथा वा वाक्येन 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशं, स्वपरपक्षस्थापनाव्युदासद्वारेणाऽऽवेदयेदिति। अथ सामर्थ्यविकलः स्यात् कुप्यति वा कथ्यमानेऽसावनुकूलप्रत्यनीकस्ततो वाग्गुप्तिर्विधेयेत्याह—सति सामर्थ्ये शृण्वति वा दातरि आचारगोचरमाचक्षीत। 'अथवा' इत्यन्यथाभावे तु–'वाग्गुप्त्या' व्यवस्थितः सन्नात्महितमाचरन् 'गोचरस्य' पिण्डविशुद्ध्यादेराचारगोचरस्य 'आनुपूर्व्या' उद्गमप्रश्नाऽऽदिरूपया, सम्यग् शुद्धिं, प्रत्युपेक्षेत। किम्भूतः ? आत्मगुप्तः सन्, सततोपयुक्त इत्यर्थः। नैतन्मयोच्यत इत्याह—'बुद्धैः' कल्प्याकल्प्यविधिज्ञैः, 'एतत्' पूर्वोक्तं, प्रवेदितम्। (अग्रेतनं सव्याख्यं सूत्रद्वयम्—'दाण' शब्दे ४ भागे २४६२ पृष्ठे, 'मज्झिमेणं ति' सूत्रं च–'धम्म' शब्दे ४ भागे २६७५–२६७६ पृष्ठे गतम्)

(२३) केचित्तु मध्यमवयसि समुत्थिता अपि परीषहेन्द्रियैर्ग्लानतां नीयन्त इति दर्शयितुमाह—

आहारोवचया देहा, परीसहपभंगुरा पासह एगे सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं। (सूत्र–२०८)

आहारेणोपचयो येषां ते आहरोपचयाः, के ते ?—दिह्यन्त इति देहाः, तदभावे तु म्लायन्ते म्रियन्ते वा, तथा–'परीषहप्रभञ्जिनः' परीषहैः सद्भिर्भङ्गुरा देहा भवन्ति, ततश्चाऽऽहारोपचितदेहा अपि प्राप्तपरीषहा वाताऽऽदिक्षोभेण वा पश्यत यूयम्, 'एके' क्लीवाः, सर्वैरिन्द्रियैर्ग्लायमानैः क्लीवतामीयुः। तथाहि-क्षुत्पीडितो न पश्यति, न शृणोति, न जिघ्रतीत्यादि। तत्र केवलिनोऽप्याहारमन्तरेण शरीरं ग्लानभावं यायाद्, आस्तां तावदपरः प्रकृतिभङ्गुरशरीर इति। स्यान्मतम्—अकेवल्यकृतार्थत्वात् क्षुद्वेदनीयसद्भावाच्चाऽऽहारयति, दयाऽऽदीनि व्रतान्यनुपालयति। केवली तु नियमात् सेत्स्यतीत्यतः किमर्थं शरीरं धारयति ?–तद्धरणार्थं चाऽऽहारयतीति ?, अत्रोच्यते–तस्याऽपि चतुष्कर्म्मसद्भावान्नैकान्तेन कृतार्थता, तत्कृते शरीरं बिभृयात्, तद्धरणं च नाऽऽहारमन्तरेण क्षुद्वेदनीयसद्भावाच्चेति । तथाहि—वेदनीयसद्भावात्तत्कृता एकादशाऽपि परीषहाः केवलिनो व्यस्तसमस्ताः प्रादुष्ष्यन्ति, इत्यत आहारयत्येव केवलीति स्थितम्। अत आहारमृते ग्लानतेन्द्रियाणामिति प्रतिपादितम्।

(२४) विदितवेद्यश्च परीषहपीडितोऽपि किं कुर्यादित्याह—

ओए दयं दयइ, जे संनिहाणसत्थस्स खेयन्ने से भिक्खू कालन्ने बलन्ने मायन्ने खणन्ने विणयन्ने समयन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाइ अपडिन्ने दुहओ छित्ता नियाइं। (सूत्र–२०९)

'ओजः, एको रागाऽऽदिरहितः सन्, सत्यपि क्षुत्पिपासाऽऽदिपरीषहे 'दयामेव दयते' कृपां पालयति, न परीषहैस्तर्जितो दयां खण्डयतीत्यर्थः। कः पुनर्दयां पालयतीत्याह-यो हि लघुकर्मा सम्यङ्निधीयते-नारकाऽदिगतिषु येन तत्सन्निधानं कर्म, तस्य स्वरूपनिरूपकं शास्त्रं तस्य, खेदज्ञो–निपुणो, यदि वा—सन्निधानस्य–कर्म्मणः शस्त्रं–संयमः सन्निधानशस्त्रं तस्य, खेदज्ञः–सम्यक् संयमस्य वेत्ता, यश्च संयमविधिज्ञः

१—व्याकुलीभावम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स भिक्षुः,कालज्ञः उचिताऽनुचिताऽवसरज्ञः,एतानि च सूत्राणि लोकविजयपञ्चमोद्देशकव्याख्यानुसारेण नेतव्यानीति। तथा-बलज्ञो मात्रज्ञः क्षणज्ञो विनयज्ञः समयज्ञः परिग्रहममत्वेन अचरन् कालेनोत्थायी अप्रतिज्ञः उभयतः छेत्ता, स चैवम्भूतः संयमानुष्ठाने निश्चयेन याति निर्यातीति। (अग्रेतनं सव्याख्यं सूत्रम्—' सीयफासपरीसह ' शब्दे—चतुर्थोद्देशकस्य चत्वारि सव्याख्यानि सूत्राणि च ' वत्थ ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(२५) यः पुनरल्पसत्त्वतया भगवदुपदिष्टं नैव सम्यग् जानीयात्स एतदध्यवसायी स्यादित्याह—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए, से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थाऽवि तस्स कालपरियाए, सेऽवि तत्थ विअंतिकारए , इच्चेयं विमोहाऽऽयतणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं ति बेमि। (सूत्र-२१५)

' णम् ' इति वाक्यालङ्कारे, यस्य भिक्षोर्मन्दसंहननतया एवम्भूतोऽध्यवसायो भवति। तद्यथा—स्पृष्टः खल्वहमस्मि रोगाऽऽतङ्कैः शीतस्पर्शाऽऽदिभिर्वा स्त्र्याद्युपसर्गैर्वा, ततो ममास्मिन्नवसरे शरीरविमोक्षं कर्त्तुं श्रेयो; ' नालं ' न समर्थोऽहमस्मि,'शीतस्पर्श' शीताऽऽपादितं दुःखविशेषं, भावशीतस्पर्शं वा स्त्र्याद्युपसर्गम् ' अध्यासयितुम् ' अधिसोढुम्, इत्यतो भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनमुत्सर्गतः कर्त्तुं युक्तम्; न च तस्य ममाऽस्मिन्नवसरेऽवसरो यतो मे कालक्षपाऽसहिष्णुरुपसर्गः समुत्थितो रोगवेदनां वा चिराय सोढुं नालमतो वेहानसं गार्द्धपृष्ठं वा आपवादिकं मरणमत्र साम्प्रतम्। न पुनरुपसर्गितस्तदेवाभ्युपेयादित्याह-'स' साधुः,वसु-द्रव्यं स चात्र संयमः स विद्यते यस्याऽसौ वसुमान्, 'सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनाऽऽत्मना कश्चित्' अर्थकटाक्षनिरीक्षणादुपसर्गसम्भवे सत्यपि तदकरणतया आ-समन्ताद्वृत्तो-व्यवस्थित आवृत्तः, यदिवा-शीतस्पर्श-वाताऽऽदिजनितं दुःखविशेषमसहिष्णुस्तच्चिकित्साया अकरणतया वसुमान्, सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनाऽऽत्मना आवृत्तो-व्यवस्थित इति। स चोपसर्गितो वाताऽऽदिवेदनां चाऽसहिष्णुः किं कुर्यादित्याह-इुर्हैतौ, यस्माच्चिराय वाताऽऽदिवेदनां सोढुमसहिष्णुः;यदिवा—यस्मात् सीमन्तिनी उपसर्गयितुमुपस्थिता विषभक्षणोद्बन्धनाद्युपन्यासेनाऽपि न मुञ्चति, ततः ' तपस्विनः ' प्रभूततरकालनानाविधोपायोपार्जिततपोधनस्य, तदैव श्रेयो यदा ' एकः ' कश्चित् , निजैः सपत्नीकोऽपवरके प्रवेशितः,आरूढप्रणयप्रेयसीप्रार्थितस्तन्निर्गमोपायमलभमान आत्मोद्बन्धनाय विहायोगमनं तदाऽऽदद्यात्, विषं वा भक्षयेत्, पतनं वा कुर्याद्, दीर्घकालं वा शीतस्पर्शाऽऽदिकमसहिष्णुः सुदर्शनवत् प्राणान् जह्यात्। (सुदर्शनकथाम् ' सुदंसण ' शब्दे वक्ष्यामि) ननु च वेहानसाऽऽदिकं बालमरणमुक्तं, तच्चाऽनर्थाय, तत्कथं तस्याऽभ्युपगमः ?, तथा चाऽऽगमः—"इच्चेएणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ ० जाव अणाइयं च णं अणवयग्गं चाउरंतं संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो परियट्टइ त्ति। "
अत्रोच्यते—नैष दोषोऽत्रास्माकमार्हतानां, नैकान्ततः किञ्चित्प्रतिषिद्धमभ्युपगतं वा मैथुनमेकं विहाय। अपि तु-द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य तदेव प्रतिषिध्यते, तदेव चाभ्युपगम्यते, उत्सर्गोऽप्यगुणायाऽपवादोऽपि गुणाय कालज्ञस्य साधोरिति। एतद्दर्शयितुमाह—दीर्घकालं संयमप्रतिपालनं विधाय,संलेखनाविधिना कालपर्यायेण भक्तपरिज्ञाऽऽदिमरणं गुणायेति। एवंविधे त्ववसरे ' तत्राऽपि ' वेहानसगार्द्धपृष्ठाऽऽदिमरणेऽपि कालपर्याय एव, यद्वत्कालपर्यायमरणं गुणाय, एवं वेहानसाऽऽदिकमपीत्यर्थः। बहुनाऽपि कालपर्यायेण यावन्मात्रं कर्माऽसौ क्षपयति, तदसावल्पेनाऽपि कालेन कर्मक्षयमवाप्नोतीति दर्शयति-'सोऽपि' वेहानसाऽऽदेर्विधाता,न केवलमानुपूर्व्या भक्तपरिज्ञाऽऽदेः कर्त्तेत्यपिशब्दार्थः ' तत्र ' तस्मिन् वेहानसाऽऽदिमरणे ' विअंतिकारए त्ति ' विशेषेणान्तिर्व्यन्तिः—अन्तक्रिया तस्याः कारको व्यन्तिकारकः, तस्य हि तस्मिन्नवसरे तद्वेहानसाऽऽदिकमौत्सर्गिकमेव मरणं, यतोऽनेनाप्यापवादिकेन मरणेनानन्ताः सिद्धाः, सेत्स्यन्ति च, उपसञ्जिहीर्षुराह—'इत्येतत्' पूर्वोक्तं वेहानसादिमरणं, विगतमोहानां-' आयतनम् ' आश्रयः कर्त्तव्यतया, तथा-'हितम्' अपायपरिहारतया, तथा-'सुखं' जन्मान्तरेऽपि सुखहेतुत्वात् , तथा-' क्षमं ' युक्तं-प्राप्तकालत्वात्। तथा-निःश्रेयसं कर्मक्षयहेतुत्वात् , तथा-' आनुगामिकं ' तदर्जित-पुण्याऽनुगमनात्, इति-ब्रवीमिशब्दौ पूर्ववद्। विमोक्षाध्ययनस्य चतुर्थोद्देशकः समाप्तः। आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ०। (भक्तपरिज्ञा 'भत्तपच्चक्खाण' शब्दे पञ्चमभागे १३५८ पृष्ठे गता)

(२६) तस्य च भिक्षोरभिग्रहविशेषात् सपात्रमेकं वस्त्रं धारयतः, परिकर्म्मितमतेर्लघुकर्म्मतया एकत्वभावनाऽध्यवसायः स्यादिति दर्शयितुमाह—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ। एगे अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न याऽहमवि कस्स वि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा। लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमण्णागए भवइ ०जाव समभिजाणिया। (सूत्र-२१६)

' णम् ' इति वाक्यालङ्कारे , यस्य भिक्षोः, ' एवं ' इति वक्ष्यमाणं भवति , तद्यथा-एकोऽहमस्मि संसारे पर्यटतो न मे पारमार्थिक उपकारकर्तृत्वेन द्वितीयोऽस्ति , न चाहमन्यस्य दुःखापनयनतः कस्यचिद् द्वितीय इति, स्वकृतकर्मफलेभ्वरत्वात्प्राणिनाम्। एवमसौ साधुरेकाकिनमेवाऽऽत्मानमन्तरात्मानं सम्यगभिजानीयात्। नास्याऽऽत्मनो नरकाऽऽदिदुःखत्राणतया शरण्यो द्वितीयोऽस्तीत्येवं सन्दधानो यदुद्रोगाऽऽदिकमुपतापकारणमापद्यते , तत्तदपरशरणनिरपेक्षो मयैवैतत्कृतं, मयैव सोढव्यमित्येतदध्यवसायी सम्यगधिसहते। कुत एतदधिसहते? इत्यत आह—' लाघवियं ' इत्यादि चतुर्थोद्देशकवद्गतार्थम्। यावत् ' सम्मत्तमेव समभिजाणिय त्ति '। इह द्वितीयोद्देशके उद्गमोत्पादनैषणाप्रतिपादिता। तद्यथा-" आउसंतो ! समणा ! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा पडिग्गहं वा कम्बलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसिट्ठं आहट्टु चेएमि।" इत्यादिना ग्रन्थेनेति। तथा-अनन्तरोद्देशके ग्रहणैषणा प्रतिपादिता। "सिया य से एवं वयंतस्स वि परो अभिहडं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलएज्जा।" इत्यादिना ग्रन्थेन। (ततो ग्रासैषणाऽवशिष्यते, अतस्तत्प्रतिपादकं सूत्रम् 'भोयण' शब्दे पञ्चमभागे १६२७ पृष्ठे सव्याख्यमुक्तम्)

(२७) तस्य चान्तप्रान्ताशितयाऽपचितमांसशोणितस्य जरदस्थिसन्ततेः क्रियाऽवसीदत्कायचेष्टस्य शरीरपरित्यागबुद्धिः स्यादित्याह—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ, से गिलामि च खलु अहं, इमंसि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए से अणुपुव्वेण आहारं संवट्टिज्जा। अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टिता—कसाए पयणुए किच्चा—समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिवुडच्चे। (सूत्र–२२१)

'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, यस्यैकत्वभावनाभावितस्य भिक्षोराहारोपकरणलाघवं गतस्य, 'एवं' इति वक्ष्यमाणोऽभिप्रायो, भवति। 'से' इति तच्छब्दार्थे, तच्छब्दोऽपि वाक्योपन्यासार्थे, 'चः' शब्दः समुच्चये, 'खलुः' अवधारणे, अहं चाऽस्मिन् 'समये' अवसरे संयमावसरे, 'ग्लायामि' ग्लानिमेव गतो रूक्षाऽऽहारतया तत्समुत्थेन वा रोगेण पीडितोऽतो न शक्नोमि रूक्षतपोभिरभिनिष्टप्तं, 'शरीरकमा-नुपूर्व्या' यथेष्टकालाऽऽवश्यकक्रियारूपया, 'परिवोढुं' नालमहं क्रियासु व्यापारयितुम्, अस्मिन्नवसरे इदं प्रतिक्षणं शीर्यमाणत्वाच्छरीरकमिति मत्वा, 'स' भिक्षुः, आनुपूर्व्या चतुर्थषष्ठाऽऽचाम्लाऽऽदिकया आहारं 'संवर्त्तयेत्' संक्षिपेत्, न पुनर्द्वादशसंवत्सरसंलेखनाऽऽनुपूर्वीह गृह्यते, ग्लानस्य तावन्मात्रकालस्थितेरभावाद्। अतस्तत्कालयोग्ययाऽऽनुपूर्व्या द्रव्यसंलेखनार्थमाहारं निरुन्ध्यादिति। द्रव्यसंलेखनया संलिख्य च यदपरं कुर्यात्तदाह—षष्ठाष्टमदशमद्वादशाऽऽदिकयाऽऽनुपूर्व्याऽऽहारं, संवर्त्य—कषायान् प्रतनून् कृत्वा-सर्वकालं हि कषायतानवं विधेयं, विशेषतस्तु संलेखनावसरे इत्यतस्तान् प्रतनून् कृत्वा सम्यगाहिता-व्यवस्थापिता अर्चा शरीरं येन स समाहितार्चः, नियमितकायव्यापार इत्यर्थः। यदिवा-अर्चा-लेश्या सम्यगाहिता-जनिता लेश्या येन स समाहितार्चः, अतिविशुद्धाध्यवसाय इत्यर्थः। यदिवा-अर्चा क्रोधाध्यवसायाऽऽत्मिका ज्वाला समाहिता-उपसमिता अर्चा येन स तथा, 'फलं' कर्मक्षयरूपं, तदेव फलकं तेनाऽऽपदि-संसारभ्रमणरूपायामर्थः-प्रयोजनं फलकापदर्थः स विद्यते यस्याऽसौ फलकाऽऽपदर्थी, यदिवा-फलकवद्वास्यादिभिरुभयतो बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्चावकृष्टः फलकावकृष्ट इत्येवं विगृह्याऽऽर्षत्वात् 'फलगावयट्ठी' इत्युक्तं, यदिवा-तक्ष्यमाणोऽपि दुर्वचनवास्यादिभिः कषायाभावतया फलकवदवतिष्ठते तच्छीलश्चेति फलकावस्थायी, वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः। स एवम्भूतः प्रतिदिनं साकारभक्तप्रत्याख्यायी बलवति रोगावेगे उत्थाय अभ्युद्यतमरणोद्यमं विधायाऽभिनिर्वृत्तार्चः शरीरसन्तापरहितो धृतिसंहननाऽऽद्युपेतो महापुरुषाऽऽचीर्णमार्गानुविधायीङ्गितं मरणं कुर्यात्।

कथं कुर्यादित्याह—

अणुपविसित्ता गामं वा णगरं वा खेडं वा कब्बडं वा मडंबं वा पट्टणं वा दोणमुहं वा आगरं वा सन्निवेसं वा नेगमं वा रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा, तणाइं जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता–अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणए पडिलेहिय प०(२)पमज्जिय प०(२) तणाइं संथरिज्जा, तणाइं संथरित्ता–इत्थवि समए इत्तरियं कुज्जा, तं सच्चं सच्चवाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आईयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहूय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणयाए भेरवमणुचिन्ने तत्थावि तस्स कालपरियाए० जाव अणुगामियं ति बेमि। (सूत्र–२२२) विमोक्षाध्ययने षष्ठ उद्देशकः।

('गामं' यावत् 'रायहाणिं' इत्यादि शब्दार्थाः स्वस्वशब्दे) एतेष्वेतानि वा प्रविश्य तृणानि याचेत, ततः किमित्याह-संस्तारकाय प्रासुकानि दर्भवीरणाऽऽदिकानि क्वचिद्-ग्रामाऽऽदौ, तृणस्वामिनमशुषिराणि तृणानि याचित्वा स तान्यादाय 'एकान्ते' गिरिगुहादौ, अपक्रमेद्—गच्छेत्, एकान्तं रहोऽपक्रम्य च प्रासुकं महास्थण्डिलं प्रत्युपेक्षते। किम्भूतं तद्दर्शयति-अल्पान्यण्डानि कीटिकाऽऽदीनां यत्र तदल्पाण्डं तस्मिन्, अल्पशब्दोऽत्राभावे वर्त्तते, अण्डकरहित इत्यर्थः। तथा-अल्पाः प्राणिनो-द्वीन्द्रियाऽऽदयो यस्मिन् तत्तथा, तथा-अल्पानि बीजानि नीवारश्यामाकाऽऽदीनां यत्र तत्तथा तथा-अल्पानि हरितानि-दूर्वाप्रवालाऽऽदीनि यत्र तत्तथा, तथा-'अल्पावश्याये' अधस्तनोपरितनावश्यायविप्रुड्वर्जिते, तथा-'अल्पोदके' भौमान्तरिक्षोदकरहिते, तथा-'उत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानरहिते' तत्रोत्तिङ्गः-पिपीलिकासन्तानकः, पनको-भूम्यादावुल्लिविशेषः, उदकमृत्तिका-आचराप्कायाऽऽर्द्रीकृता मृत्तिका, मर्कटसन्तानको—लूतातन्तुजालं, तदेवम्भूते महास्थण्डिले तृणानि संस्तरेत्। किं कृत्वा?—तत् स्थण्डिलं चक्षुषा 'प्रत्युपेक्ष्य' (२) वीप्सया भृशभावमाह। एवं रजोहरणाऽऽदिना 'प्रमृज्य' (२) अत्रापि वीप्सया भृशार्थता सूचिता। संस्तीर्य च तृणान्युच्चारप्रस्रवणभूमिं च प्रत्युपेक्ष्य पूर्वाभिमुखसंस्तारकगतः करतलललाटस्पर्शिधृतरजोहरणः कृतसिद्धनमस्कार आवर्त्तितपञ्चनमस्कारोऽत्रापि समये, अपिशब्दादन्यत्र वा समये, 'इत्वरम्' इति, पादपोपगमनाऽपेक्षया नियतदेशप्रचाराभ्युपगमादिङ्गितमरणमुच्यते; न तु पुनरित्वरं साकारं प्रत्याख्यानम्। साकारप्रत्याख्यानस्यान्यस्मिन्नपि काले जिनकल्पिकाऽऽदेरसम्भवात्। किं पुनर्यावत्कथिकभक्तप्रत्याख्यानावसर इति। इत्वरं हि रोगाऽऽतुरः श्रावको विधत्ते। तद्यथा-यद्यहमस्माद्रोगात् पञ्चषैरहोभिर्मुक्तः स्यां ततो भोक्ष्ये, नान्यथेत्यादि। तदेवमित्वरम् इङ्गितमरणं, धृतिसंहननाऽऽदिबलोपेतः स्वकृतत्वग्वर्त्तनाऽऽदिक्रियो यावज्जीवं चतुर्विधाऽऽहारनियमं कुर्यादिति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्तं च—

" पच्चक्खइ आहारं, चउव्विहं णियमओ गुरुसमीवे।
इंगियदेसम्मि तहा,चिट्ठं पि हु नियमओ कुणइ॥ १॥
उव्वत्तइ परिअत्तइ, काइकम्माईऽवि अप्पणा कुणइ।
सव्वमिह अप्पणच्चिअ, ण अन्नजोगेण धितिबलिओ॥ २॥

तच्चेङ्गितमरणं किम्भूतं किम्भूतश्च प्रतिपद्यत इत्याह-तद्-इङ्गितमरणं सद्भ्यो हितं सत्यं, सुगतिगमनाविसंवादनात् सर्वज्ञोपदेशाच्च सत्यं-तथ्यम्, तथा स्वतोऽपि सत्यं वदितुं शीलमस्येति सत्यवादी,यावज्जीवं यथोक्तानुष्ठानाद्-यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारनिर्वहणादित्यर्थः,तथा'ओजः' रागद्वेषरहितः, तथा ' तीर्णः ' संसारसागरं, भाविनि भूतवदुपचारात्तीर्णवत्तीर्ण इत्यर्थः, तथा ' छिन्ना ' अपनीता ' कथं ' कथमपि या ' कथा ' रागकथादिका विकथारूपा येन स छिन्नकथंकथः,यदिवा-'कथमहमिङ्गितमरणप्रतिमां निर्वहिष्ये'इत्येवंरूपा या कथा सा छिन्ना येन स छिन्नकथंकथः, दुष्करानुष्ठानविधायी हि कथंकथी भवति,स तु पुनर्महापुरुषतया न व्याकुलतामियादिति;तथा-आ-समन्तादतीव इता-ज्ञाता परिच्छिन्ना जीवाद्योऽर्था येन सोऽयमातीतार्थः आदत्तार्थो वा, यदिवा-अतीताः-सामस्त्येनातिक्रान्ताः अर्थाः प्रयोजनानि यस्य स तथा, उपरतव्यापार इत्यर्थः; तथा-आ—समन्तादतीव इतो-गतोऽनाद्यनन्ते संसार आतीतः न आतीतः अनातीतः; अनादत्तो वा संसारो येन स तथा, संसारार्णवपारगामीत्यर्थः। स एवम्भूत इङ्गितमरणं प्रतिपद्यते, विधिना ' त्यक्त्वा ' प्रोज्झ्य स्वयमेव म्रियते इति भिदुरं प्रतिक्षणविशरारु ' कायं ' कर्मवशाद् गृहीतमौदारिकं शरीरं त्यक्त्वा, तथा ' संविधूय ' परीषहोपसर्गान् प्रमथ्य ' विरूपरूपान् ' नानाप्रकारान् सोढ्वा 'कस्मिन्' सर्वज्ञप्रणीत आगमे 'विस्रम्भणतया' विश्वासास्पदे तदुक्तार्थाविसंवादाध्यवसायेन भैरवं-भयानकमनुष्ठानं क्लीबैर्दुरध्यवसमिङ्गितमरणाख्यमनुचीर्णवान् अनुष्ठितवानिति, तच्च तेन यद्यपि रोगातुरतया व्यधायि तथापि तत्कालपर्यायागततुल्यफलमिति दर्शयितुमाह-तत्राऽपि रोगपीडाहितेङ्गितमरणाभ्युपगमेऽपि, न केवलं कालपर्यायेणेत्यपिशब्दार्थः, 'तस्य' कालज्ञस्य भिक्षोरसावेव कालपर्यायः, कर्मक्षयस्योभयत्र समानत्वादिति, आह च -'सेवि तत्थ वियंतिकारए' इत्यादि पूर्ववद्गतार्थम्, इति-ब्रवीमिशब्दावपि चुक्तार्थाविति विमोक्षाध्ययनस्य षष्ठोद्देशकः समाप्तः।

(२८) साम्प्रतं सप्तमव्याख्या प्रतन्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके एकत्वभावनाभावितस्य धृतिसंहननताद्युपेतस्येङ्गितमरणमभिहितम्, इह तु सैवैकत्वभावना प्रतिमाभिर्निष्पाद्यते इति कृत्वाऽतस्ताः प्रतिपाद्यन्ते, तथा विशिष्टतरसंहननोपेतश्च पादपोपगमनमपि विदध्यादित्येतच्चेत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए सीयफासं अहियासित्तए तेउफासं अहियासित्तए दंसमसगफासं अहियासित्तए एगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं चऽहं नो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पेइ कडिबंधणं धारित्तए।(सूत्र २२३)

यो भिक्षुः प्रतिमाप्रतिपन्नोऽभिग्रहविशेषादचेलो-दिग्वासाः पर्युषितः-संयमे व्यवस्थितो 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'तस्य' भिक्षोः ' एव ' मिति-वक्ष्यमाणोऽभिप्रायो भवति,तद्यथा-शक्नोम्यहं तृणस्पर्शमपि सोढुं धृतिसंहननाद्युपेतस्य वैराग्यभावनाभावितान्तःकरणस्याऽऽगमेन प्रत्यक्षीकृतनारकतिर्यग्वेदनाऽनुभवस्य न मे तृणस्पर्शो महति फलविशेषेऽभ्युद्यतस्य किञ्चित् प्रतिभासते, तथा-शीतोष्णदंशमशकस्पर्शमधिसोढुमिति, तथा एकतरान् अन्यतरांश्चानुकूलप्रत्यनीकान् विरूपरूपान् ' स्पर्शान् ' दुःखविशेषानध्यासयितुं-सोढुमिति, किं त्वहं ह्रीः-लज्जा तया गुह्यप्रदेशस्य प्रच्छादनं ह्रीप्रच्छादनम् ,तच्चाहं त्यक्तुं न शक्नोमि,एतच्च प्रकृतिलज्जालुकतया साधनविकृतरूपतया वा स्यात्, एवमेभिः कारणैः ' से ' तस्य कल्पते-युज्यते ' कटिबन्धनं 'चोलपट्टकं कर्त्तुम्, स च विस्तरेण चतुरङ्गुलाधिको हस्तो दैर्घ्येण कटिप्रमाण इति गणनाप्रमाणेनैकः। पुनरेतानि कारणानि न स्युः ततोऽचेल एव पराक्रमेत।

एतत्प्रतिपादयितुमाह—

अदुवा तत्थ परकमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसन्ति सीयफासा फुसन्ति तेउफासा फुसन्ति दंसमसगफासा फुसन्ति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे ०जाव समभिजाणिया।(सूत्र-२२४)

स एवं कारणसद्भावे सति वस्त्रं बिभृयाद्। अथवा-नैवासौ जिह्रेति ततोऽचेल एव पराक्रमेत, तं च तत्र संयमेऽचेलं पराक्रममाणं भूयः-पुनस्तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति-उपतापयन्ति, तथा-शीतोष्णदंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्तीति,तथैकतरानन्यतरांश्च विरूपरूपान् स्पर्शाननुदीर्णानधिसहते असावचेलोऽचेललाघवमागमयन्नित्यादि गतार्थं यावत् ' सम्मत्तमेव समभिजाणिय त्ति '।

(२९) किं च—प्रतिमाप्रतिपन्न एव विशिष्टमभिग्रहं गृह्णीयात्,तद्यथा-अहमन्येषां प्रतिमाप्रतिपन्नानामेव किञ्चिद्दास्यामि, तेभ्यो वा ग्रहीष्यामीत्येवमाकारं चतुर्भङ्गिकयाभिग्रहविशेषमाह—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि। १। जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा पा०४ आहट्टु दलइस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि।२। जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-अहं च खलु असणं वा पा०४ आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि।३। जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा पा०४ आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि।४। अहं च खलु तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएणं असणेण वा पा०४ अभिकङ्ख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए, अहं वाऽवि तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएणं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असणेण वा पाणेण वा० ४ अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि लाघवियं आगममाणे० जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया (सूत्र-२२५)

एतच्च पूर्वं व्याख्यातमेव, केवलमिह संस्कृतेनोच्यते। यस्य भिक्षोरेवं भवति-वक्ष्यमाणम्, तद्यथा-अहं च खल्वन्येभ्यो भिक्षुभ्योऽशनादिकमाहृत्य दास्याम्यपराहृतं च स्वादयिष्यामीत्येको भङ्गः १; तथा-यस्य भिक्षोरेवं भवति तद्यथा-अहं च खल्वन्येभ्योऽशनादिकमाहृत्य दास्याम्यपराहृतं च नो स्वादयिष्यामीति द्वितीयः २; यस्य भिक्षोरेवं भवति तद्यथा—अहं च खल्वन्येभ्योऽशनादिकमाहृत्य नो दास्याम्यपराहृतं च स्वादयिष्यामीति तृतीयः ३; तथा-यस्य भिक्षोरेवं भवति-तद्यथा-अहं च खल्वन्येभ्यो भिक्षुभ्योऽशनादिकमाहृत्य नो दास्याम्यपराहृतं च नो स्वादयिष्यामीति चतुर्थः ४। इत्येवं चतुर्णामभिग्रहाणामन्यतरमभिग्रहं गृह्णीयात्; अथवा-एतेषामेवाद्यानां त्रयाणां भङ्गानामेकपदेनैव कश्चिदभिग्रहं गृह्णीयादिति दर्शयितुमाह—यस्य भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहविशेषो भवति, तद्यथा—अहं च खलु तेन यथाऽतिरिक्तेन-आत्मपरिभोगाधिकेन, यथैषणीयेन यत्तेषां प्रतिमाप्रतिपन्नानामेषणीयमुक्तम्-तद्यथा-पञ्चसु प्राभृतिकासु अग्रहः द्वयोरभिग्रहः, तथा यथापरिगृहीतेन-आत्मार्थं स्वीकृतेनाशनादिना निर्जरामभिकाङ्क्ष्य साधर्म्मिकस्य वैयावृत्त्यं कुर्यां; यद्यपि ते प्रतिमाप्रतिपन्नत्वादेकत्र न भुञ्जते तथाऽप्येकाभिग्रहापादितानुष्ठानत्वात् सांभोगिका भण्यन्ते, अतस्तस्य समनोज्ञस्य करणाय उपकरणार्थं वैयावृत्त्यं कुर्यामित्येवंभूतमभिग्रहं कश्चिद् गृह्णाति। तथाऽपरं दर्शयितुमाह—वाशब्दः पूर्वस्मात् पक्षान्तरमाह—अपिशब्दः पुनःशब्दार्थे,अहं वा पुनस्तेन यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेनाशनेन पानेन खादिमेन स्वादिमेन निर्जरामभिकाङ्क्ष्य साधर्म्मिकैः क्रियमाणं वैयावृत्त्यं स्वादयिष्यामि-अभिलषिष्यामि यो वाऽन्यः साधर्म्मिकोऽन्यस्य करोति तं चानुमोदयिष्यामि-यथा सुष्ठु भवता कृतमेवं भूतया वाचा, तथा कायेन च प्रसन्नदृष्टिमुखेन, तथा मनसा चेति; किमित्येवं करोति ?-'लाघविकम्' इत्यादि गतार्थम्।

(३०) तदेवमन्यतराभिग्रहवान् भिक्षुरचेलः सचेलो वा शरीरपीडायां सत्यामसत्यां वा आयुःशेषतामवगम्योद्यतमरणं विदध्यादिति दर्शयितुमाह—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-से गिलामि खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेणं परिविहित्तए, से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टिज्ज, संवट्टिज्जा कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे अणुपविसित्ता गामं वा नगरं वा ०जाव रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा ०जाव संथरिज्जा इत्थऽवि समए कायं च जोगं च ईरियं च पच्चक्खाइज्जा , तं सच्चं सच्चावाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आइयट्ठे अणाईए चिच्चाणं भेउरं कायं संविहुणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणाए भेरवमणुचिन्ने तत्थऽवि तस्स कालपरियाए, सेऽवि तत्थ विअन्तिकारए इच्चेयं विमोहाऽऽययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं ति बेमि। (सूत्र-२२६)

णमिति वाक्यालङ्कारे, यस्य भिक्षोरेवम्भूतो वक्ष्यमाणोऽभिप्रायो भवति, तद्यथा—ग्लायामि खल्वहमित्यादि यावत्तृणानि संस्तरेत्, संस्तीर्य च तृणानि यदपरं कुर्यात्तदाह-अत्रापि समये अवसरे न केवलमन्यत्रानुज्ञाप्य संस्तारकमारुह्य सिद्धसमक्षं स्वत एव पञ्चमहाव्रतारोपणं करोति, तत्र-चतुर्विधमप्याहारं प्रत्याचष्टे, ततः पादपोपगमनाय कायं च-शरीरं प्रत्याचक्षीत, तद्योगं च-आकुञ्चनप्रसारणोन्मेषनिमेषादिकम्, तथेरणमीर्यां तां च सूक्ष्मां कायवाग्गतां मनोगतां वाऽप्रशस्तां प्रत्याचक्षीत, तच्च सत्यं सत्यवादीत्याद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयम्। इति-ब्रवीमिशब्दावपि क्षुण्णार्थाविति विमोक्षाध्ययनस्य सप्तमोद्देशकः समाप्तः। ७। उक्तः सप्तमोद्देशकः।

(३१) साम्प्रतमष्टम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशकेषु रोगाऽऽदिसम्भवे कालपर्यायागतं परिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनविधानमुक्तम्, इह तु तदेवानुपूर्वीविहारिणां कालपर्यायागतमुच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रमुच्यते—

अनुष्टुप्—

अणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज ।
वसुमन्तो मइमन्तो, सव्वं नच्चा अणेलिसं ॥ १ ॥
दुविहं पि विइत्ताणं, बुद्धा धम्मस्स पारगा ।
अणुपुव्वीइ संखाए, आरम्भाय तिउट्टई ॥ २ ॥
कसाए पयणू किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए ।
अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अंतियं ॥ ३ ॥
जीवियं नाभिकंखिज्जा, मरणं नाऽवि पत्थए ।
दुहओऽवि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा ॥ ४ ॥

आनुपूर्वी क्रमः, तद्यथा-प्रव्रज्या-शिक्षा-सूत्रा-ऽर्थग्रहणपरिनिष्ठितस्यैकाकिविहारित्वमित्यादि, यदिवा—आनुपूर्वी-संलेखनाक्रमश्चत्वारि विकृष्टानीत्यादि, तया—आनुपूर्व्या यान्यभिहितानि, कानि पुनस्तानि ?—'विमोहानि' विगतो मोहो येषु येषां वा येभ्यो वा तानि, तथा-भक्तपरिज्ञे-ङ्गितमरण-पादपोपगमनानि यान्येवंभूतानि यथाक्रममायातानि धीराः—अक्षोभ्याः समासाद्य-प्राप्य वसु-द्रव्यं संयमस्तद्वन्तो वसुमन्तः, तथा मननं मतिः हेयोपादेयहानोपादानाध्यवसायस्तद्वन्तो मतिमन्तः,तथा सर्वं कृत्यमकृत्यं च ज्ञात्वा यद्यस्य वा भक्तपरिज्ञानादिकं मरणविधानमुचितं धृतिसंहननाद्यपेक्षयाऽनन्यसदृशम् अद्वितीयम्,सर्वं ज्ञात्वा समाधिमनुपालयेदिति॥१॥ किं च-द्वे विधे प्रकारावस्येति द्विविधं तपो बाह्यमभ्यन्तरं च, तद्विदित्वा-आसेव्य; यदिवा-मोक्षाधिकारे विमोक्ष्यं द्विविधं, तदपि बाह्यं शरीरोपकरणादि आन्तरं रागादि, तद् हेयतया विदित्वा त्यक्त्वेत्यर्थः,हेयपरित्यागफलत्वात् ज्ञानस्य, 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे, के विदित्वा ? 'बुद्धा' अवगततत्त्वाः धर्म्मस्य श्रुतचारित्राख्यस्य पारगाः सम्यग्वेत्तारः, ते बुद्धा धर्मस्वरूपवेदिनः, 'आनुपूर्व्या' प्रव्रज्यादिक्रमेण संयममनुपाल्य मम जीवतः कश्चिद् गुणो नास्तीत्यतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीरमोक्षाऽवसरः प्राप्तः, तथा-कस्मै मरणायालमहमित्येवं 'ज्ञात्वा' आरम्भणमारम्भः शरीरधारणायाऽन्नपानाद्यन्वेषणाऽऽत्मकस्तस्मात् त्रुट्यति-अपगच्छतीत्यर्थः, सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे चतुर्थी, पाठान्तरं वा 'कम्मुणाओ तिअट्टई' कर्माष्टभेदं तस्मात् त्रुटयिष्यतीति त्रुट्यति 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' (पा०-३-३-१३१) इत्यनेन भविष्यत्कालस्य वर्त्तमानता ॥२॥ स चाभ्युद्यतमरणाय संलेखनां कुर्वन् प्रधानभूतां भावसंलेखनां कुर्यादित्येतद्दर्शयितुमाह-कषः-संसारस्तस्याऽऽयाः-कषाऽऽयाः क्रोधादयश्चत्वारस्तान् प्रतनून् कृत्वा ततो यत्किञ्चनाश्नीयात् तदपि न प्रकाममिति दर्शयति-'अल्पाहारः' स्तोकाशी, षष्ठाष्टमादिसंलेखनाक्रमायातं तपः कुर्वन् यत्रापि पारयेत् तत्राप्यल्पमित्यर्थः । अल्पाहारतया च क्रोधोद्भवः स्यादतस्तदुपशमो विधेय इति दर्शयति-तितिक्षते-असहशजनादपि दुर्भाषितादि क्षमते, रोगातङ्कं वा सम्यक् सहत इति; तथा च संलेखनां कुर्वन्नाहारस्याल्पतया 'अथे' त्यानन्तर्ये 'भिक्षुः' 'मुमुक्षुः ग्लायेत्' आहारेण विना ग्लानतां व्रजेत्,क्षणे क्षणे मूर्च्छे-ह्याहारस्यैवान्तिकं पर्यवसानं व्रजेदिति, चत्वारि विकृष्टानीत्यादिसंलेखनाक्रमं विहायाशनं विदध्यादित्यर्थः, यदिवा-ग्लानतामुपगतः सन्नाहारस्यान्तिकं-समीपं न व्रजेत्, तथाहि-आहारयामि तावत्कतिचिद्दिनानि पुनः संलेखनाशेषं विधास्येऽहमित्येवं नाहारान्तिकमियादिति ॥ ३ ॥ किं च-तत्र संलेखनायां व्यवस्थितः सर्वदा वा साधुर्जीवितं-प्राणधारणलक्षणं नाभिकाङ्क्षेत्, नापि क्षुद्वेदनापरीषहं सहमानो मरणं प्रार्थयेद् । 'उभयतोऽपि' जीविते मरणे वा, न सङ्गं विदध्यात् ॥ ४ ॥

(३२) जीविते मरणे च तथा किं भूतस्तर्हि स्यादित्याह—

मज्झत्थो निज्जराऽपेही, समाहिमणुपालए ।
अन्तो बहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥ ५ ॥
जं किंचू-वक्कमं जाणे, आऊखेमस्समप्पणो ।
तस्सेव अन्तरद्धाए, खिप्पं सिक्खिज्ज पण्डिए ॥ ६ ॥
गामे वा अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया ।
अप्पपाणं तु विन्नाय, तणाई संथरे मुणी ॥ ७ ॥
अणाहारो तुयट्टिज्जा, पुट्ठो तत्थऽहियासए ।
नाइवेलं उवचरे, माणुस्सेहि वि पुट्ठवं ॥ ८ ॥

रागद्वेषयोर्मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, यदिवा-जीवितमरणयोर्निराकाङ्क्षतया मध्यस्थो निर्जरामपेक्षितुं शीलमस्येति निर्जरापेक्षी, स एवंभूतः समाधिं-मरणसमाधिमनुपालयेत्-जीवितमरणाऽऽसंशारहितः कालपर्यायेण यद् मरणमापद्यते तत् समाधिस्थोऽनुपालयेदिति भावः । अन्तः कषायान् बहिरपि शरीरोपकरणादिकं व्युत्सृज्य आत्मनि—अधि-अध्यात्मम्-अन्तःकरणं तच्छुद्धं सकलद्वन्द्वोपरमाद् विस्रोतसिकारहितमन्वेषयेत्-प्रार्थयेदिति ॥५॥ किं च-उपक्रमणमुपक्रमः उपायस्तं यं कञ्चन जानीत, कस्योपक्रमः ? 'आयुःक्षेमस्य' आयुषः क्षेमं सम्यक् पालनं तस्य, कस्य सम्बन्धि तदायुः ?—आत्मनः, एतदुक्तं भवति—आत्मायुषो यं क्षेमप्रतिपालनोपायं जानीत तं क्षिप्रमेव शिक्षेत्—व्यापारयेत् पण्डितो—बुद्धिमान्, तस्यैव संलेखनाकालस्य 'अन्तरद्धाए' त्ति अन्तरकालेऽर्द्धसंलिखित एव देहे देही यदि कश्चित् वातादिक्षोभात् आतङ्कः आशुजीवितापहारी स्यात्, ततः समाधिमरणमभिकाङ्क्षन् तदुपशमोपायमेषणीयविधिनाऽभ्यङ्गादिकं विदध्यात्, पुनरपि संलिखेत्, यदिवा-आत्मनः आयुःक्षेमस्य जीवितस्य यत्किमप्युपक्रमणम्—आयुःपुद्गलानां संवर्त्तनं समुपस्थितं तज्जानीत, ततस्तस्यैव संलेखनाकालस्य मध्येऽव्याकुलितमतिः क्षिप्रमेव भक्तपरिज्ञानादिकं शिक्षेत—आसेवेत पण्डितो-बुद्धिमानिति ॥ ६ ॥ संलेखनाशुद्धकायश्च मरणकालं समुपस्थितं ज्ञात्वा किं कुर्यादित्याह—ग्रामः प्रतीतो ग्रामशब्देन चात्र प्रतिश्रय उपलक्षितः, प्रतिश्रय एव स्थण्डिलं संस्तारकभुवं प्रत्युपेक्ष्य, तथाऽरण्ये वेत्यनेन चोपाश्रयाद् वहिरित्येतदुपलक्षितम्, उद्याने गिरिगुहायामरण्ये वा स्थण्डिलं प्रत्युपेक्ष्य-विज्ञाय चाल्पप्राणं-प्राणिरहितं ग्रामादियाचितानि प्रासुकानि दर्भादिमयानि तृणानि संस्तरेत् 'मुनिः' यथोचितकालस्य वेत्तेति ॥ ७ ॥ संस्तीर्य च तृणानि यत्कुर्यात्तदाह-न विद्यते आहारोऽस्येत्यनाहारः, तत्र यथाशक्ति-यथासमाधानं च त्रिविधं चतुर्विधं वाऽऽहारं प्रत्याख्यायारोपितपञ्चमहाव्रतः क्षान्तः—क्षामितसमस्तप्राणिगणः समसुखदुःख आवर्जितपुण्यप्राग्भारतया मरणादबिभ्यत् संस्तारके त्वग्वर्त्तनं कुर्यात्, तत्र च स्पृष्टः परीषहोपसर्गैस्त्यक्तदेहतया सम्यक् तानध्यासयेद्-अधिसहेत, 'तत्र' मानुष्यैरनुकूलप्रतिकूलैः परीषहोपसर्गैः,'स्पृष्टो'-व्याप्तो, नातिवेलमुपचरेत्-न मर्यादोल्लङ्घनं कुर्यात्, पुत्रकलत्रादिसम्बन्धाद् नार्त्तध्यानवशगो भूयात्,प्रतिकूलैर्वा परीषहोपसर्गैर्न क्रोधनिघ्नः स्यादिति ॥ ८ ॥

एतदेव दर्शयितुमाह—

संसप्पगा य जे पाणा, जे य उड्ढमहाचरा ।
भुञ्जन्ति मंससोणियं, न छणे न पमज्जए ॥ ९ ॥
पाणा देहं विहिंसन्ति, ठाणाओ न वि उब्भमे ।
आसवेहिं विवित्तेहिं, तिप्पमाणोऽहियासए ॥ १० ॥
गन्थेहिं विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए ।
पग्गहियतरगं चेयं, दवियस्स वियाणओ ॥ ११ ॥
अयं से अवरे धम्मे, नायपुत्तेण साहिए ।
आयवज्जं पडीयारं, विजहिज्जा तिहा तिहा ॥ १२ ॥

संसर्पन्तीति संसर्पकाः-पिपीलिकाक्रोष्ट्रादयो ये प्राणाःप्राणिनः, ये चोर्ध्वचरा-गृध्रादयः, ये चाधश्चराः बिलवासित्वात् सर्पादयस्त एवंभूता नानाप्रकाराः 'भुञ्जन्ते' अभ्यवहरन्ति मांसं सिंहव्याघ्रादयः, तथा शोणितं मशकादयः, तांश्च प्राणिनः आहारार्थिनः समागतानवन्ति—सुकुमारवद्धस्ताऽऽदिभिर्न क्षणुयात्—न हन्यात्, न च भक्ष्यमाणं शरीरावयवं रजोहरणादिना प्रमार्जयेदिति ॥ ९ ॥ किंच—प्राणाः—प्राणिनो देहं मम हिंसन्ति, न तु पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्राणीत्यतस्त्यक्तदेहाशिनस्तानन्तरायभयाद् न निषेधयेत्, तस्माच्च स्थानान्नाप्युद्भ्रमेत्—नान्यत्र यायात्; किंभूतः सन् ? आश्रवैः—प्राणातिपातादिभिर्विषयकषायादिभिर्वा 'विविक्तैः' पृथग्भूतैरविद्यमानैः

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभाऽध्यवसायी तैर्भक्ष्यमाणोऽप्यमृतादिना तृप्यमाण इव सम्यक् तत्कृतां वेदनां तैस्तप्यमानो वाऽध्यासयेद्—अधिसहेत ॥ १० ॥ किं च—ग्रन्थैः सबाह्याभ्यन्तरैः शरीररागादिभिः 'विविक्तैः' त्यक्तैः सद्भिर्ग्रन्थैर्वा अङ्गाऽनङ्गप्रविष्टैरात्मानं भावयन् धर्मशुक्लध्यानान्यतरोपेतः 'आयुःकालस्य' मृत्युकालस्य 'पारगः' पारगामी स्यात्, यावदन्त्या उच्छ्वासनिःश्वासास्तावत्तद्विदध्याद्, एतन्मरणविधानकारी सिद्धिं त्रिविष्टपं वा प्राप्नुयादिति,गतं भक्तपरिज्ञामरणम्॥ साम्प्रतमिङ्गितमरणं श्लोकार्धादिनोच्यते तद्यथा—' प्रगृहीततरकं चेदम्' प्रकर्षेण गृहीततरं प्रगृहीततरं तदेव प्रगृहीततरकम्, 'इदमिति' वक्ष्यमाणमिङ्गितमरणम्, एतद्धि भक्तप्रत्याख्यानात् सकाशान्नियमेन चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानादिङ्गितप्रदेशसंस्तारकामात्रविहाराभ्युपगमाच्च विशिष्टतरधृतिसंहननाद्युपेतेन प्रकर्षेण गृह्यत इति, कस्यैतद्भवति ?—द्रव्यं-संयमः स विद्यते यस्यासौ द्रविकस्तस्य 'विजानतो' गीतार्थस्य जघन्यतोऽपि नवपूर्वविशारदस्य भवति, नाऽन्यस्येति, अत्रापीङ्गितमरणे यत्संलेखना-तृणसंस्तारादिकमभिहितं तत्सर्वं वाच्यम् ॥ ११ ॥ अयमपरो विधिरित्याह—' अयं स ' इति सोऽयम् ' अपरः ' अन्यो भक्तप्रत्याख्यानाद्भिन्न इङ्गितमरणस्य 'धर्म्मो' विशेषो 'ज्ञातपुत्रेण' वीरवर्द्धमानस्वामिना सुष्ठ्वाहितः-उपलब्धः स्वाहितः,अस्य चानन्तरं वक्ष्यमाणत्वात् प्रत्यक्षासन्नवाचिनेदमभिधानम्, अत्रापीङ्गितमरणे प्रव्रज्यादिको विधि संलेखना च पूर्ववद् द्रष्टव्या। तथोपकरणादिकं हित्वा स्थण्डिलं प्रत्युपेक्ष्यालोचितप्रतिक्रान्तः पञ्चमहाव्रतारूढश्चतुर्विधमाहारं प्रत्याख्याय संस्तारके तिष्ठति, अयमत्र विशेषः-आत्मवर्जं प्रतिचारम्-अङ्गव्यापारं विशेषेण जह्यात्-त्यजेत् ' त्रिविधत्रिविधेने ' ति-मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिः स्वव्यापारव्यतिरेकेण परित्यजेत्, स्वयमेव चोद्वर्त्तनपरिवर्तनं कायिकयोगादिकं विधत्ते ॥ १२ ॥ (३३) सर्वथा प्राणिसंरक्षणं पौनःपुन्येन विधेयमिति दर्शयितुमाह—

हरिएसु न निवज्जिज्जा, थण्डिलं मुणिया सए।
विओसिज्ज अणाहारो, पुट्ठो तत्थऽहियासए॥ १३ ॥
इंदिएहिं गिलायन्तो, समियं आहरे मुणी।
तहा विसे अगरिहे, अचले जे समाहिए॥ १४ ॥
अभिक्कमे पडिक्कमे, सङ्कुचए पसारए।
कायसाहारणऽट्ठाए, इत्थं वाऽवि अचेयणे॥ १५ ॥
परिक्कमे परिकिलन्ते, अदुवा चिट्ठे अहायए।
ठाणेण परिकिलन्ते, निसीइज्जा य अंतसो॥ १६ ॥

हरितानि-दूर्वाङ्कुरादीनि तेषु न शयीत, स्थण्डिलं मत्वा शयीत,तथा-स बाह्याभ्यन्तरमुपधिं व्युत्सृज्य त्यक्त्वाऽनाहारः सन् स्पृष्टः परीषहोपसर्गैः 'तत्र' तस्मिन् संस्तारके व्यवस्थितः सन् सर्वमध्यासयेद् अधिसहेत ॥ १३ ॥ किं च—स ह्यनाहारतया मुनिर्ग्लायमान इन्द्रियैः शमिनो भावः शमिता-समता तां साम्यं वा आत्मन्याहारयेद्-व्यवस्थापयेत्-नाऽऽर्त्तध्यानोपगतो भूयादिति यथासमाधानमास्ते, तद्यथा-सङ्कोचननिर्विण्णो हस्तादिकं प्रसारयेत्,तेनापि निर्विण्ण उपविशेत्, यथेङ्गितदेशे सञ्चरेद्वा, तथाऽप्यसौ स्वकृतचेष्टत्वाद् गर्ह्य एव। किंभूत इति दर्शयति-अचलो यः समाहितः, यद्यप्यसाविङ्गितप्रदेशे स्वतः शरीरमात्रेण चलति तथाऽप्यभ्युद्यतमरणाद् न चलतीत्यचलः, सम्यगाहितं-व्यवस्थापितं धर्म्मध्याने शुक्लध्याने वा मनो येन स समाहितः,भावाचलितश्चेङ्गितप्रदेशे चङ्क्रमणादिकमपि कुर्यादिति ॥१४॥ एतद् दर्शयितुमाह-प्रज्ञापकापेक्षया अभिमुखं क्रमणमभिक्रमणम्-संस्तारकाद् गमनमित्यर्थः, तथा-प्रतीपं-पश्चादभिमुखं क्रमणं प्रतिक्रमणमागमनमित्यर्थः,नियतदेशे गमनागमने कुर्यादिति यावत्, तथा-निष्पन्नो निषण्णो वा यथासमाधानं भुजादिकं सङ्कोचयेत् प्रसारयेद्वा, किमर्थमेतदिति चेद् दर्शयति-कायस्य शरीरस्य प्रकृतिपेलवस्य साधारणार्थं, कायसाधारणाच्च तत्पीडाकृतायुष्कोपक्रमपरिहारेण स्वायुःस्थितिक्षयाद् मरणं यथा स्यात्, न पुनस्तेषां महासत्त्वतया शरीरपीडोत्थापितचित्तस्यान्यथाभावः स्यादिति भावः। ननु च निरुद्धसमस्तकायचेष्टस्य शुष्ककाष्ठवदचेतनतया पतितस्य प्रचुरतरपुण्यप्राग्भारोऽभिहित इति, नायं नियमः, संविशुद्धाध्यवसायतया यथाशक्त्याऽऽरोपितभारनिर्वाहिणः तत्तुल्य एव कर्म्मक्षयः अत्राप्यसौ, वाशब्दात् तत्र वा पादपोपगमनेऽचेतनवत्सक्रियोऽपि निष्क्रिय एव, यदि वा-अत्रापि इङ्गितमरणेऽचेतनवच्छुष्ककाष्ठवत्सर्वक्रियारहितो यथा पादपोपगमने तथा सति सामर्थ्ये तिष्ठेद् ॥ १५ ॥ एतत्सामर्थ्याभावे चैतत्कुर्यादित्याह-यदि निषण्णस्याऽनिषण्णस्य वा गात्रभङ्गः स्यात् ततः परिक्रामेत् चङ्क्रम्याद्-यथा नियमिते देशेऽकुटिलया गत्या गताऽऽगतानि कुर्यात्,तेनापि श्रान्तः सन् अथवोपविष्टस्तिष्ठेत्, 'यथा यतो' यथाप्रणिहितगात्र इति, यदा पुनः स्थानेनापि परिक्लममियात् तद् यथा-निषण्णो वा पर्यङ्केण वा अर्द्धपर्यङ्केण वोत्कुटुकासनो वा परितास्यति तदा निषण्णः स्यात्,तत्राप्युत्तानको वा पार्श्वशायी वा दण्डायतो वा लगण्डशायी वा यथासमाधानमवतिष्ठेत् ॥ १६ ॥

किं च—

आसीणोऽणेलिसं मरणं, इंदियाणि समीरए।
कोलावासं समासज्ज, वितहं पाउरे सए॥ १७॥
जओ वज्जं समुप्पज्जे, न तत्थ अवलम्बए।
तउ उक्कसे अप्पाणं, फासे तत्थऽहियासए॥ १८॥
अयं चा-(ययतरे) त्तरे सिया, जो एवमणुपालए।
सव्वगायनिरोहेऽवि, ठाणाओ न वि उब्भमे ॥१९॥
अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।
अचिरं पडिलेहित्ता, विहरे चिट्ठ माहणे॥ २०॥

'आसीनः'—आश्रितः, किं तत् ?—मरणम्, किंभूतम्,—'अनीदृशम्' अनन्यसदृशमितरजनदुरध्यवसेयम्, तथाभूतश्च किं कुर्यादिति दर्शयति—इन्द्रियाणीष्टानिष्टस्वविषयेभ्यः सकाशाद्रागद्वेषाकरणतया सम्यगीरयेत्-प्रेरयेदिति, कोला-घुणकीटकास्तेषामावासः कोलावासस्तमन्तर्घुणदतमुद्देहिकानिचितं वा 'समासाद्य' लब्ध्वा तस्माद्यद्वितथम्-आगन्तुकतदुत्थजन्तुरहितमवष्टम्भ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाय प्रादुरेषयेत्-प्रकटं प्रत्युपेक्षणयोग्यमशुषिरमन्वेषयेत् ॥१७॥ इङ्गितमरणे चोदनामभिधाय यन्निषेध्यं तद्दर्शयितुमाह-'जओ गाहा' 'यतो' यस्मादनुष्ठानादवष्टम्भनादेर्वज्रवद्वज्रं गुरुत्वात्कर्म्म, अवद्यं वा पापं वा तत्समुत्पद्येत प्रादुःष्यात्, न तत्र घुणक्षतकाष्ठादाववलम्बेत । नावष्टम्भनादिकां क्रियां कुर्यात्, तथा 'ततः' तस्मादुत्क्षेपणापक्षेपणादेः काययोगाद् दुष्प्रणिहितवाग्योगादार्तध्यानादि मनोयोगाच्चावद्यसमुत्पत्तिहेतोरात्मानमुत्कर्षेद्-उत्क्रामयेत् । पापोपादानादात्मानं निवर्तयेदिति यावत्। तत्र च धृतिसंहननाद्युपेतोऽप्रतिकर्म्मशरीरः प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायकण्डकोऽपूर्वापूर्वपरिणामारोही सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारेण पदार्थस्वरूपनिरूपणाहितमतिः अन्यदिदं शरीरं त्याज्यमित्येवं कृताध्यवसायः सर्वान् स्पर्शान् दुःखविशेषाननुकूलप्रतिकूलोपसर्गपरीषहापादितान्, तथा वातपित्तश्लेष्मद्वन्द्वेतरप्रोद्भूतान् कर्म्मक्षयायोद्यतो मयैवैतदवद्यं कृतं सोढव्यं चेत्येतदध्यवसायी अध्यासयेद्-अधिसहेत, यतो यन्मया त्यक्तं शरीरकमेतदेवोपद्रवन्तिन पुनर्जिघृक्षितं धर्म्माचरणमित्याकलय्य सर्वपीडासहिष्णुर्भवेदिति ॥१८॥ गत इङ्गितमरणाधिकारः॥ साम्प्रतं पादपोपगमनमाश्रित्याह-(अयं गाहा) अनन्तरमभिधास्यमानत्वाचोऽयं प्रत्यक्षो मरणविधिः स चाऽऽयततरो न केवलं भक्तपरिज्ञायाः, इङ्गितमरणविधिरायततरः, अयं च तस्मादायततर इति चशब्दार्थः। आयततर इत्याङभिविधौ सामस्त्येन यत आयतः। अयमनयोरतिशयेनायत आयततरः। यदिवा—अयमनयोरतिशयेनात्तो-गृहीत आत्ततरः, यत्नेनाध्यवसित इत्यर्थः। तदेवमयं पादपोपगमनमरणविधिरात्ततरो दृढतरः स्याद् भवेत्। अत्रापि यदिङ्गितमरणे प्रवज्यासंलेखनादिकमुक्तं तत्सर्वं द्रष्टव्यमिति । यद्यसावायततरः ततः किमिति दर्शयति-यो भिक्षुः 'एवम्' उक्तविधिनैव पादपोपगमनविधिमनुपालयेत् सर्वगात्रनिरोधेऽपि, उत्तप्यमानकायोऽपि मूर्च्छन्नपि मरणसमुद्घातगतो वा भक्ष्यमाणमांसशोणितोऽपि क्रोष्टुगृध्रपिपीलिकादिभिर्महासत्त्वतयाऽऽशंसितमहाफलविशेषः संस्तस्मात्स्थानात् प्रदेशात् द्रव्यतो भावतोऽपि शुभाध्यवसायस्थानाच्च व्युद्भ्रमेत्—न स्थानान्तरं यायात् ॥ १६ ॥ किंच-अयमित्यन्तःकरणनिष्पन्नत्वात्प्रत्यक्षः 'उत्तमः' प्रधानो मरणविधिः सर्वोत्तरत्वाद्धर्म्मो-विशेषः पादपोपगमनरूपो मरणविशेष इति । उत्तमत्वे कारणं दर्शयति-'पूर्वस्थानस्य प्रग्रह' इति पञ्चम्यर्थे षष्ठी। पूर्वस्थानाद्भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणरूपात्प्रकर्षेण ग्रहोऽत्र पादपोपगमने प्रगृहीततरमेतदित्यर्थः। तथाहि—अत्र यदिङ्गितमरणानुमतं कायपरिस्पन्दनं तदपि निषेध्यते अच्छिन्नमूलपादपवन्निश्चेष्टो निष्क्रियो दह्यमानश्छिद्यमानो वा विषमपतितो वा तथैवास्ते न तस्मात्स्थानाच्चलति, चिलातपुत्रवत्। एतदेव दर्शयति-अचिरं स्थानं, तच्च स्थण्डिलं तत्पूर्वविधिना प्रत्युपेक्ष्य तस्मिन् प्रत्युपेक्षिते स्थण्डिले विहरेदिति। अत्र पादपोपगमनाधिकाराद् विहरणं तद्विधिपालनमुक्तम्। तच्च स्थानात् स्थानान्तरसंक्रमणम्। एतदेव च दर्शयति-तिष्ठेत् सर्वगात्रनिरोधेऽपि स्थानान्तरासङ्क्रमणं कुर्यादित्यर्थः। कोऽसौ ?'माहणे' त्ति साधुः। स हि निषण्णो निषण्ण ऊर्ध्वस्थितो वा निष्प्रतिकर्म्मा यद्यथा निक्षिप्तमङ्गमचेतन इव न चालयेदिति यावत् ॥ २० ॥

एतदेव प्रकारान्तरेण दर्शयितुमाह—

अचित्तं तु समासज, ठावए तत्थ अप्पगं ।
वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा ॥ २१ ॥

न विद्यते चित्तमस्मिन्नित्यचित्तम्—अचेतनं जीवरहितमित्यर्थः। तच्च स्थण्डिलं फलकादि वा 'समासाद्य' लब्ध्वा फलकेऽपि समर्थः कश्चित्काष्ठे वाऽवष्टभ्य तत्राऽऽत्मानं स्थापयेत्। व्यवस्थाप्य च त्यक्तचतुर्विधाहारो मेरुरिव निष्प्रकम्पः कृतालोचनादिपरिकर्मा गुरुभिरनुज्ञातो व्युत्सृजेत्। 'सर्वशः' सर्वात्मना 'कायं' देहम्। व्युत्सृष्टदेहस्य च यदि केचन परीषहोपसर्गाः स्युस्ततो भावयेत्-'न मे देहे परीषहाः' मत्सम्बन्धी देह एव न भवति, परित्यक्तत्वात्, तदभावे कुतः परीषहाः ?; यदिवा—न मम देहे परीषहाः। सम्यक्करणेन सहमानस्य तत्कृतपीडयोद्वेगाभावात्, अतः परीषहान् कर्मशत्रुजयसहायानितिकृत्वाऽपरीषहान् एव मन्येत ॥ २१ ॥

ते पुनः कियन्तं कालं सोढव्या इत्याशङ्काव्युदासार्थमाह—

जावज्जीवं परिसहा, उवसग्गा इत्ति संखाय ।
संवुडे देहभेयाए, इय पन्नेऽहियासए ॥ २२ ॥

'यावज्जीवं' यावत् प्राणधारणं तावत् परीषहा उपसर्गाश्च सोढव्या इत्येतत् 'सङ्ख्याय' ज्ञात्वा तानध्यासयेदिति। यदिवा—न मे यावज्जीवं परीषहोपसर्गा इत्येतत् सङ्ख्याय-ज्ञात्वाऽधिसहेत। यदिवा-'यावज्जीव' मिति। यावदेव जीवितं तावत् परीषहोपसर्गजनिता पीडेति,तत्पुनः कतिपयनिमेषाऽवस्थायि । एतदवस्थस्य ममान्तमल्पमेवेत्यत एतत्सङ्ख्याय—ज्ञात्वा संवृतो यथानिक्षिप्तत्यक्तगात्रो देहभेदाय शरीरत्यागायोत्थित इति कृत्वा 'प्राज्ञः' उचितविधानवेदी, यद्यत्कायपीडाकार्युपतिष्ठते तत्तत्सम्यगधिसहेत ॥ २२ ॥

एवम्भूतं च साधुमुपलभ्य कश्चिद्राजादिर्भोगैरुपनिमन्त्रयेत् तत्प्रतिपादनार्थमाह—

भेउरेसु न रज्जिज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि ।
इच्छालोभं न सेविज्जा, धुववन्नं संपेहिय ॥ २३ ॥

भेदनशीला भिदुराः शब्दादयः कामगुणास्तेषु प्रभूततरेष्वपि 'न रज्येत्'न रागं यायात्। पाठान्तरं वा-'कामेसु बहुलेसु वि' इच्छामदनरूपेषु कामेषु बहुलेषु-अनल्पेष्वपीत्यर्थः । यद्यपि राजा राज्यकन्यादानादिनोपप्रलोभयेत् तथापि तत्र न गार्ध्यमियात्। तथा इच्छारूपो लोभ इच्छालोभः चक्रवर्तीन्द्रत्वाद्यभिलाषादिको निदानविशेषस्तमसौ निर्जरापेक्षी न सेवेत, सुरर्द्धिदर्शनमोहितो ब्रह्मदत्तवन्निदानं न कुर्यादित्यर्थः। (ब्रह्मदत्तकथा 'बंभदत्त' शब्दे पञ्चमभागे १२७१ पृष्ठे गता) तथा चागमः—'इह लोगाऽऽसंसप्पओगे १ परलोगासंसप्पओगे २ जीवियासंसप्पओगे ३ मरणासंसप्पओगे ४ कामभोगासंसप्पओगे ५" इत्यादि, 'वर्णः' संयमो मोक्षो वा स च सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयत्वात्; पाठान्तरं वा 'धुववन्न' मित्यादि। ध्रुवः-अव्यभिचारी स चासौ वर्णश्च ध्रुववर्णस्तं संप्रेक्ष्य ध्रुवां वा शाश्वतीं यशःकीर्तिं पर्यालोच्य कामेच्छालोभविक्षेपं कुर्यादिति ॥ २३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं च—

सासएहिं निमन्तिज्जा, दिव्वं मायं न सद्दहे ।

तं पडिवुज्झ माहणे, सव्वं नूमं विहूणिय ॥ २४ ॥

शाश्वता यावज्जीवम् अपरिक्षयात् प्रतिदिनदा-नाद् वाऽर्थास्तैस्तथाभूतैर्विभवैः कश्चिन्निमन्त्रयेत् तत्प्रतिबुध्यस्व—यथा शरीराऽर्थं धनं मृग्यते तदेव शरीरमशाश्वतमिति । तथा दिव्यां मायां न श्रद्दधीत । तद्यथा- यदि कश्चिद्देवो मीमांसया प्रत्यनीकतया वा भक्त्या वाऽन्यथा वा कौतुकादिना नानर्द्धिदानतो निमन्त्रयेत् , तां च तत्कृतां मायां न श्रद्दधीत । तथा बुध्यस्व—यथा देवमायैषा, अन्यथा कुतोऽयमाकस्मिकः पुरुषो दुर्लभमेतद् द्रव्यं प्रभूततरमेवंभूते क्षेत्रे काले भावे च दद्यात् ?; एवं द्रव्यादिनिरूपणया देवमायां बुध्यस्व इति । तथा देवाऽङ्गना वा यदि दिव्यं रूपं विधाय प्रार्थयेत् तामपि बुध्यस्वेति । ' माहणे ' त्ति साधुः ' सर्वम् ' अशेषं ' नूमं ' ति कर्म्म मायां वा तत् तां वा ' विधूय ' अपनीय देवादिमायां बुध्यस्वेति क्रिया ॥ २४ ॥

किञ्च—

सव्वट्ठेहिँ अमुच्छिए, आउकालस्स पारए ।

तितिक्खं परमं नच्चा, विमोहन्नयरं हियं ॥ २५ ॥ ति बेमि ।

सर्वे च तेऽर्थाश्च सर्वार्थाः, पञ्चप्रकाराः कामगुणास्तत्सम्पादका वा द्रव्यनिचयास्तैस्तेषु वा अमूर्च्छितः-अनध्युपपन्नः । आयुःकालस्य यावन्मात्रं कालमायुः संतिष्ठते असौ आयुःकालस्तस्य पारम्-आयुष्कपुद्गलानां क्षयो-मरणं तद्गच्छतीति पारगः । यथोक्तविधिना पादपोपगमनव्यवस्थितः प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायः स्वायुःकालान्तगः स्यादिति । तदेवं पादपोपगमनविधिं परिसमाप्योपसंहारद्वारेण त्रयाणामपि मरणानां कालक्षेत्रपुरुषावस्थाश्रयणात् तुल्यकक्षतां पश्चार्धेन दर्शयति-तितिक्षा-परीषहोपसर्गापादितदुःखविशेषसहनं तत् त्रयाणामपि परमं-प्रधानमस्तीति ज्ञात्वा-अवधार्य ' विमोहान्यतरं हित ' मिति । विगतो मोहो येषु तानि विमोहानि । भक्तपरिज्ञे-ङ्गितमरण-पादपोपगमनानि तेषामन्यतरत् कालक्षेत्रादिकमाश्रित्य तुल्यफलत्वाद्धितम् अभिप्रेतार्थसाधनादतो यथाशक्ति त्रयाणामन्यतरत् तुल्यबलत्वाद् यथावसरं विधेयम् । इतिः अधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । नयविचारादिकमनुगतं वक्ष्यमाणं च द्रष्टव्यमिति । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । (मारणान्तिकसमुद्घातवक्तव्यता ' मारणंतियसमुग्घाय'शब्दे) ('संथार' शब्दे 'संलेहणा' शब्देऽपि च किंचिद् वक्ष्यामि) ('अब्भुज्जयमरण'शब्दे प्रथमभागे ६६३ पृष्ठे अभ्युद्यतमरणवक्तव्यता)

यत एवं ततः किं कर्त्तव्यम् ? इति गुरुरुपदेशमाह—

तम्हा चंदगविज्झं, सकारणं उज्जुएण पुरिसेणं ।

जीवो अविरहियगुणो, कायव्वो मुक्खमग्गम्मि ॥६८॥

'तम्हा ' तस्मात्कारणात् चन्द्रकवेध्यं—वामदक्षिणावर्त्तभ्रमदष्टचक्राऽऽरकमध्यनिर्गच्छदूर्द्ध्वमुखशरप्रयोगतो भूस्थकुण्डिकागततैलान्तःप्रतिबिम्बितगगनस्थाधोमुखपुत्तलिकावामलोचनरूपश्चन्द्रकस्तद्रूपं वेध्यं राधावेध इत्यर्थः । साध्यमित्यध्याहारः । केन पुरुषेण । किंभूतेन उद्युक्तेन-उद्यमवता सावधानेनेत्यर्थः । कथं ? सकारणं स्वर्गापवर्गादिश्रीलाभहेतोरित्यर्थः । यथा राधावेधः सकारणं राज्यादिलाभकृते केनापि साध्यते एवं चन्द्रकवेध्यमिवानशनं सकारणं मोक्षादिलाभकृते सावधानेन साधयितव्यमिति भावः । तत्साधनोपायश्चायमित्याह—'जीवो ' जीव आत्मा अविरहितगुणोऽमुक्तज्ञानदर्शनचारित्रगुणः कर्त्तव्यः । क्व ? मोक्षमार्गज्ञानदर्शनचारित्रतपोरूपे । तद्व्यवस्थितो हि चन्द्रकवेध्यसमां प्रान्ताराधनां साधयतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥ आतु० । (अत्र विशेषः ' अणसण ' शब्दे प्रथमभागे ३०२ पृष्ठे गतः) ।

(३४) अत्र मरणविधिर्जिनपतिप्रकीर्णकान्तर्गते दशमे मरणविधिप्रकीर्णके उक्तस्तद्यथा—

तिहुयणसरीरिविंदं, सप्पवयणरयणमंगलं नमिउं ।
समणस्स उत्तमऽट्ठे, मरणविहीसंगहं वुच्छं ॥ १ ॥
सुणह सुयसारनिहसं, ससमयपरसमयवायनिम्मायं ।
सीसो समणगुणऽड्ढं, परिपुच्छइ वायगं कंचि ॥ २ ॥
अभिजाइसत्तविक्कम-सुयसीलविसुत्तिखंतिगुणकलियं ।
आयारविणयमद्दव-विज्जाचरणागरमुदारं ॥ ३ ॥
कित्तीगुणगब्भहरं, जसखाणिं तवनिहिं सुयसमिद्धं ।
सीलगुणनाणदंसण-चरित्तरयणाऽऽगरं धीरं ॥ ४ ॥
तिविहं तिकरणसुद्धं, मयरहियं दुविहठाणपुणरत्तं ।
विणयेण कमविसुद्धं, चउस्सिरं बारसावत्तं ॥ ५ ॥
दुओणयं अहाजायं, एयं काउण तस्स किइकम्मं ।
भत्तीइभरियहियओ, हरिसवसुभिन्नरोमंचो ॥ ६ ॥
उवदेसहेउकुसलं, तं पवयणरयणसिरिघरं भणइ ।
इच्छामि जाणिउं जे, मरणसमाहिं समासेणं ॥ ७ ॥
अब्भुज्जुयं विहारं, इच्छं जिणदेसियंविउपसत्थं ।
नाउं महापुरिसदे-सियं तु अब्भुज्जुयं मरणं ॥ ८ ॥
तुज्झित्थ सामि सुअजल-हिपारगा समणसंघनिज्जवया ।
तुज्झं खु पायमूले, सामन्नं उज्जमिस्सामि ॥ ९ ॥
सो भरियमहुरजलहर-गंभीरसरो निसन्नओ भणइ ।
सुण दाणि धम्मवच्छल-मरणसमाहिं समासेणं ॥१०॥
सुण जह पच्छिमकाले, पच्छिमतित्थयरदेसियमुयारं ।
पच्छा निच्छिय पच्छं, उविंति अब्भुज्जुयं मरणं ॥११॥
पव्वज्जाई सव्वं, काऊणाऽऽलोअणं च सुविसुद्धं ।
दंसणनाणचरित्ते,निस्सल्लो विहर चिरकालं ॥ १२ ॥
आउव्वेयसमत्ती, तिगिच्छए जह विसारओ विज्जो ।
रोगाऽऽयंकाऽऽगहिओ, सो निरुयं आउरं कुणइ ॥१३॥
एवं पवयणसुयसा-रपारगो सो चरित्तसुद्धीए ।
पायच्छित्त विहिन्नू, तं अणगारं विसोहेइ ॥ १४ ॥

(सम्यक्त्वाऽऽराधकविषयिका अत्रत्याश्चतस्रो गाथाः'आराहणा' शब्दे द्वितीयभागे ३८५ पृष्ठे उक्ताः ।)

अरहंतसिद्धचेइय-गुरुसु सुयधम्मसाहुवग्गे य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आयरियउवज्झाए, पव्वयणे सव्वसंघे य ॥ १९ ॥
एएसु भत्तिजुत्ता, पूयंता अहरहं अणण्णमणा ।
सम्मत्तमणुसरंता, परित्तसंसारिया हुंति ॥ २० ॥
सुविहिय इमं पइण्णं, असद्दहंतेहिँ ऽणेगजीवेहिं ।
बालमरणाणि तीए, मयाइँ काले अणंताइं ॥ २१ ॥
एगं पंडियमरणं, मरिऊण पुणो बहूणि मरणाणि ।
न मरंति अप्पमत्ता, चरित्तमाराहियं जेहिं ॥ २२ ॥
दुविहम्मि अहक्खाए, सुसंबुडा पुव्वसंगओ मुक्का ।
जे उ चयंति सरीरं, पंडियमरणं मयं तेहिं ॥ २३ ॥
एयं पंडियमरणं, जे धीरा उवगया उवाएणं ।
तस्स उवाए उ इमा, परिकम्म विहीउ जुंजीया ॥२४॥
जे कुम्म(केस)संखताडण-मारुअजिअगगणपंकयतरूणं।
सरिकप्पासुयकप्पिय-आहारविहारचिट्ठाणा ॥ २५ ॥
निच्चं तिदंडविरया, तिगुत्तिगुत्ता तिसल्लनिस्सल्ला ।
तिविहेण अप्पमत्ता,जगजीवदयावरा समणा ॥ २६ ॥
(अत्रत्या वक्तव्यता 'आराहग' शब्दे द्वितीयभागे ३७७ पृष्ठे उक्ता तत एवावसेया।)
फासेहिं ति चरित्तं, सव्वं सुहसीलयं पजहिऊणं ।
घोरं परीसहचमुं, अहियासिंतो धिइबलेणं ॥ ४५ ॥
सद्दे रूवे गंधे, रसे य फासे य निग्घिणधिईए ।
सव्वेसु कसाएसु य, निहंतु परमोसया होहि ॥ ४६ ॥
चइऊण कसाए इं-दिए य सव्वे य गारवे हंतुं ।
तो मलियरागदोसो, करेह आराहणासुद्धिं ॥ ४७ ॥
दंसणनाणचरित्ते, पव्वज्जाईसु जो अईयारो ।
तं सव्वं आलोयहि, निरवसेसं पणिहियप्पा ॥ ४८ ॥
जह कंटएण विद्धो, सव्वंगे वेयणद्दिओ होइ ।
तह चेव उद्धियम्मि उ, नीसल्लो निव्वुओ होइ ॥४९॥
एवमणुद्धियदोसो, माइल्लो तेण दुक्खिओ होइ ।
सो चेव चत्तदोसो, सुविसुद्धो निव्वुओ होइ ॥ ५० ॥
रागद्दोसाऽभिहया, ससल्लमरणं मरंति जे मूढा ।
ते दुक्खसल्लबहुला, भमंति संसारकंतारे ॥ ५१ ॥
जे पुण तिगारवजढा, नीसल्ला दंसणे चरित्ते य ।
विहरंति मुक्कसंगा, खवंति ते सव्वदुक्खाइं ५२ ॥
सुचरमवि संकिलिट्ठं, विहरितं झाणसंवरविहीणं ।
नाणी संवर जुत्तो, जिणइ अहोरत्तमित्तेणं ॥ ५३ ॥
जं निज्जरेइ कम्मं, असंवुडो सुबहुणा वि कालेणं ।
तं संवुडो तिगुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ ५४ ॥
सुबहुस्सुयाऽवि संता, जे मूढा सीलसंजमगुणेहिं ।
न करंति भावसुद्धिं, ते दुक्खनिभेलणा हुंति ॥५५॥
जे पुण सुयसंपन्ना, चरित्तदोसेहिँ नोवलिप्पंति ।
ते सुविसुद्धचरित्ता, करंति दुक्खक्खयं साहू ॥ ५६ ॥
पुव्वमकारियजोगो, समाहिकामोऽवि मरणकालम्मि ।
न भवइ परीसहसहो, विसयसुहपराइओ जीवो ॥५७॥
तं एवं जाणंतो, महंतरं लाहगं सुविहिएसु ।
दंसणचरित्तसुद्धी,निस्सल्लो विहर तं धीर ! ॥ ५८ ॥
इत्थ पुण भावणाओ, पंच इमा हुंति संकिलिट्ठाओ ।
आराहिंत सुविहिया, जा निच्चं वज्जिणिज्जाओ ॥ ५९ ॥
कंदप्पा देवकिव्विस-अभिओगा आसुरी य संमोहा ।
एयाओ संकिलिट्ठा, असंकिलिट्ठा हवइ छट्ठा ॥६०॥
कंदप्पा कोक्कुइया, दवसीलो निच्च हासणकहाओ ।
विम्हाविंतो उ परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥ ६१ ॥
नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं ।
माई अवण्णवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ॥६२॥
मंताऽभिओगं कोउग, भूईकम्मं च जो जणे कुणइ ।
सायरसइड्ढिहेउं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥ ६३ ॥
अणुवद्धरोसवुग्गह-संपत्त तहा निमित्तपडिसेवी ।
एएहिँ कारणेहिं, आसुरियं भावणं कुणइ ॥ ६४ ॥
उम्मग्गदेसणा णा-ण-दूसणा मग्गविप्पणासो अ ।
मोहेण मोहयंत-सि भावणं जाण संमोहं ॥ ६५ ॥
एयाउ पंच वज्जिय, इणमो छट्ठीइँ विहर तं धीर ! ।
पंचसमिओ तिगुत्तो, निस्संगो सव्वसंगेहिं ॥ ६६ ॥
एयाएँ भावणाए, विहरविसुद्धाइ दीहकालम्मि ।
काऊण अंतसुद्धिं, दंसणनाणे चरित्ते य ॥६७॥
पंचविहं जे सुद्धिं, पंचविहविवेगसंजुयमकाउं ।
इह उवणमंति मरणं, ते उ समाहिं न पाविंति ॥६८॥
पंचविहं जे सुद्धिं, पत्ता निखिलेण निच्छियमईया ।
पंचविहं च विवेगं, ते हु समाहिं परं पत्ता ॥६९॥
लहिऊणं संसारे, सुदुल्लहं कहं वि माणुसं जम्मं ।
न लहंति मरणदुलहं, जीवा धम्मं जिणक्खायं ॥७०॥
किच्छाहि पावियम्मि वि, सामण्णे कम्मसत्तिओसन्ना ।
सीयंति सायदुलहा, पंकासन्नो जहा नागो ॥ ७१ ॥
जह कागणीइ हेउं, मणिरयणाणं तु हारए कोडिं ।
तह सिद्धसुहपरुक्खा, अबुहा र(स)ज्जंति कामेसुं ॥७२॥
चोरो रक्खसपहओ, अत्थऽत्थी हणइ पंथियं मूढो ।
इय लिंगी सुहरक्खस-पहओ विसयाउरो धम्मं ॥७३॥
तेसु वि अलद्धपसरा, अवियण्हा दुक्खिया गयमईया ।
समुविंति मरणकाले, पगामभयभेरवं णरगं ॥ ७४ ॥
धम्मो न कओ साहू, न जेमिओ न नियंससियं सणहं ।
इणिह परंपरासु-त्ति य नेवय पत्ताइँ सुक्खाइं ॥ ७५ ॥
साहूणं नोवकयं, परलोअच्छेयसंजमो न कओ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुहओ वि तओ विहलो,अह जम्मो धम्मरुक्खाणं ॥७६॥
दिक्खं मइलेमाणा, मोहमहावत्तसागराऽभिहया ।
तस्स अपडिकमंता, मरंति ते बालमरणाइं ॥ ७७ ॥
इय अवि मोहपउत्ता, मोहं मुत्तूण गुरुसगासम्मि ।
आलोइय निस्सल्ला, मरिउं आराहगा तेऽवि ॥ ७८ ॥
इत्थ विसेसो भण्णइ, छलणा अवि नाम हुज्ज जिणकप्पो ।
किं पुण इयरमुणीणं, तेण विही देसिओ इणमो ॥७९॥
अप्पविहीणा जाहे, धीरा सुयसारझरियपरमत्था ।
ते आयरियविदिन्नं, उविंति अब्भुज्जयं मरणं ॥८०॥
आलोयणाइ संले–हणाइ खमणाइ काल उस्सग्गे ।
उग्गासे संथारे, निसग्ग वेरग्ग मुक्खाए ॥ ८१ ॥
झाणविसेसो लेसा, सम्मत्तं पायगमणयं चेव ।
चउदसओ एस विही, पढमो मरणम्मि नायव्वो ॥८२॥
विणओवयारमाण–स्स भंजणा पूयणा गुरुजणस्स ।
तित्थयराण य आणा,सुयधम्माराहणाऽकिरिया ॥८३॥
छत्तीसा ठाणेसु य, जे पवयणसारझरियपरमत्था ।
तेसिं पासे सोही, पन्नत्ता धीरपुरिसेहिं ॥ ८४ ॥
वयछक्ककायछक्कं, वारसगं तह अकप्प गिहिभाणं ।
पलियंक गिहिनिसिज्जा,ससोभ पलिमज्जण सिणाणं ।८५।
आयारवं च उवधा–रवं च ववहारविहिविहिन्नू य ।
उव्वीलगा य धीरा, परूवणाए विहिण्णू य ॥ ८६ ॥
तह य अवायविहिण्णू ,निज्जवगा जिणमयम्मि गहियत्था
अपरिस्साई य तहा, विस्सासरहस्सनिच्छिड्डा ॥ ८७ ॥
पढमं अट्ठारसगं, अट्ठ य ठाणाणि एव भणियाणि ।
इत्तो दस ठाणाणि य, जेसु उट्ठावणा भणिया ॥ ८८ ॥
अणवट्ठतिगं पारं–चिगं च तिगमेय छहि गिहीभूया ।
जाणंति जे उ एए–सुअरयणकरंडगा सूरी ॥ ८९ ॥
सम्मद्दंसणचत्तं, जे य वियाणंति आगमविहिन्नू ।
जाणंति चरित्ताओ, अनिग्गयं अपरिसेसाओ ॥ ९० ॥
जो आरंभे वट्टइ, चिअत्तकिचो अणणुतावी य ।
सोगो य भवेदसमो, जेसूवट्ठावणा भणिया ॥ ९१ ॥
एएसु विहिविहण्णू, छत्तीसा ठाणएसु जे सूरी ।
ते पवयणसुहकेऊ, छत्तिसगुण त्ति नायव्वो ॥ ९२ ॥
तेसिं मेरुमहोयहि–मेयणि-सासि-सूर-सरिसकप्पाणं ।
पायमूले य विसोही, कराणिज्जा सुविहियजणेणं ॥९३॥
काइयवाइयमाणसि–यसेवण दुप्पओगसंभूयं ।
जो अइयारो कोई, तं आलोए अगूहिंतो ॥ ९४ ॥
अमुगम्मि इउ काले, अमुगत्थे अमुगगामभावेणं ।
जं जह निसेवियं खलु, जेण य सव्वं तहाऽऽलोए ॥९५॥
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणसल्लं च ।

तं संखेवा दुविहं, दव्वे भावे य बोद्धव्वं ॥ ९६ ॥
वि(ति)विहं तु भावसल्लं, दंसणनाणे चरित्तजोगे य ।
सच्चित्ताऽचित्तेऽवि य, मीसए याऽवि दव्वम्मि ॥९७॥
मुहुमं पि भावसल्लं, अणुद्धरित्ता उ जो कुणइ कालं ।
लज्जाए गारवेण य,न हु सो आराहओ भणिओ ॥९८॥
तिविहं पि भावसल्लं, समुद्धरित्ता उ जो कुणइ कालं ।
पव्वज्जाई सम्मं, स होइ आराहओ मरणे ॥ ९९ ॥
तम्हा सुत्तरमूलं, अविकूलमविदुयं अणुव्विग्गो ।
निम्मोहियमणिगूढं, सम्मं आलोअए सव्वं ॥१००॥
जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥ १०१ ॥
कयपावोऽवि मणूसो, आलोइय निंदिउं गुरुसगासे ।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरियभरु व्व भारवहो ॥१०२॥
लज्जाए गारवेण य, जे नाऽऽलोयंति गुरुसगासम्मि ।
धम्मं तं पि सुयसमिद्धा, न हु ते आराहगा हुंति ॥१०३॥
जह सुकुसलो वि वेज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं ।
तं तह आलोयव्वं, सुट्ठुऽवि ववहारकुसलेणं ॥ १०४ ॥
जं पुव्वं तं पुव्वं, जहाणुपुव्विं जहक्कमं सव्वं ।
आलोइज्ज सुविहिओ, कमकालविहिं अभिंदंतो॥१०५॥
असंपरजोगेहि य, एवं समुवट्ठिए पओगेहिं ।
अमुगेहि य अमुगेहि य, अमुयगसंठाणकरणेहिं ॥१०६॥
वणेहि य गंधेहि य, सद्दफरिसरसरूवगंधेहिं ।
पडिसेवणा कया पज्ज-वेहि कया जेहि य जहिं च ।१०७।
जो जोगओ अपरिणा–मओ–अ दंसणचरित्तअइयारो ।
छट्ठाणबाहिरो वा, छट्ठाणऽब्भंतरो वाऽवि ॥ १०८ ॥
तं उज्जुभावपरिणउ, रागं दोसं च पयणु काऊणं ।
तिविहेण उद्धरिज्जा, गुरुपामूले अगूहिंतो ॥१०९॥
न वि तं सत्थं च विसं,च दुप्पउत्तु व्व कुणइ वेयालो ।
जं तं व दुप्पउत्तं, सप्पु व्व पमाइणो कुद्धो ॥ ११० ॥
जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहवोहीयत्तं, अणंतसंसारियत्तं च ॥ १११ ॥
तो उद्धरंति गारव–रहिया मूलं पुणब्भवलयाणं ।
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणं च ॥ ११२ ॥
रागेण व दोसेण व, भएण हासेण तह पमाएणं ।
रोगेणाऽऽयंकेण व, वत्तीइ पराभिओगेणं ॥ ११३ ॥
गिहिविज्जापडिएण व, सपक्खपरधम्मिओवसग्गेणं ।
तिरियंजोणिगएण व, दिव्व मणूसोवसग्गेणं ॥११४॥
उवहीइ व नियडीइ व, तह सावयपिल्लिएण व परेणं ।
अप्पाण भएण कयं, परस्स छंदाणुवत्तीए ॥ ११५ ॥
सहसक्कारमणाभो–गओ अ यं पवयणाऽहिगारेणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्निकरणे विसोही, पुस्रागारो य पन्नत्ता ॥ ११६ ॥
उज्जुअमालोइत्ता, इत्तो अकरणपरिणामजोगपरिसुद्धो।
सो पयणुइपइकम्मं, सुग्गइमग्गं अभिमुहेइ ॥ ११७ ॥
उवहीनियडिपइट्ठो, सोहिं जो कुणइ सोगईकामो।
माई पलिकुंचंतो, करेइ वुंदुंछियं मूढो ॥ ११८॥
आलोयणाऽऽइदोसे, दस दोग्गइ बंधणे परिहरंतो।
तम्हा आलोइज्जा, मायं मुत्तूण निस्सेसं ॥ ११६॥
जे मे जाणंति जिणा, अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु।
ते तह आलोएमी, उवट्ठिओ सव्वभावेणं ॥ १२०॥
एवं उवट्ठियस्स वि, आलोएउं विसुद्धभावस्स।
जं किंचिऽवि विस्सरियं, सहसाकारेण वा चुक्कं ॥१२१॥
आराहओ तह वि सो, गारवपरिकुंचणामयविहूणो।
जिणदेसियस्स धीरो, सद्दहगो मुत्तिमग्गस्स ॥ १२२ ॥
आकंपए अणुमाणए, जं दिट्ठं बायरं च सुहुमं च।
छन्नं सद्दाउलगं, बहुजणअव्वत्ततस्सेवी ॥१२३॥
आलोयणाएँ दोसे, दस दुग्गइवड्ढणा पमुत्तूणं।
आलोइज्ज सुविहिओ, गारवमायामयविहूणो ॥१२४॥
तो परियागं च बलं, आगमकालं च कालकरणं च।
पुरिसं जीयं च तहा, खित्तं पडिसेवणविहिं च ॥१२५॥
जोग्गं पायच्छित्तं, तस्स य दाऊण विंति आयरिया।
दंसणनाणचरित्ते, तवे य कुणमप्पमायंति ॥ १२६ ॥
अणसणमूणोयरिया, वित्तिच्छेओ रसस्स परिचाओ।
कायस्स परिकिलेसो, छट्ठो संलीणया चेव ॥ १२७ ॥
विणए वेयावच्चे, पायच्छित्ते विवेगसज्झाए।
अब्भितरं तवविहिं, छट्ठं झाणं वियाणाहि ॥ १२८ ॥
बारस विहम्मि तवे, अब्भितरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
नऽवि अत्थि नऽवि य होहि, सज्झायसमं तवोकम्मं १२६।
जे पयणुभत्तपाणा-सुयहेऊ ते तवस्सिणो समए।
जो अ तवो सुयहीणो, बाहिरयो सो छुहाहारो ॥१३०॥
छट्ठऽट्ठमदसमदुवा-लसेहिं अबहुस्सुयस्स जा सोही।
तत्तो बहुतरगुणिया, हविज्ज जिमियस्स नाणिस्स ।१३१।
कल्लं कल्लंऽपि वरं, आहारो परमिओ अ पंतो अ।
न य खमणो पारणए, बहु बहुतरोॅ बहुविहो होइ ।१३२।
एगाऽहेण तवस्सी, हविज्ज नत्थित्थ संसओ कोऽई।
एगाऽहेण सुयहरो, न होइ धन्तं पि तुरमाणो ॥१३३॥
सो नाम अणसणतवो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥१३४॥
जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहिँ वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ १३५ ॥

नाणे आउत्ताणं, नाणीणं नाणजोगजुत्ताणं।
को ? निज्जरं तुलिज्जा, चरणे य परक्कमंताणं ॥ १३६ ॥
नाणेण वज्जणिज्जं, वज्जिज्जइ किज्जई य करणिज्जं।
नाणी जाणइ करणं, कज्जमकज्जं च वज्जेउं ॥ १३७॥
नाणसहियं चरित्तं, नाणं संपायगं गुणसयाणं।
एसा जिणाण आणा, नऽत्थि चरित्तं विणा णाणं ।१३८।
नाणं सुसिक्खियव्वं, नरेण लद्धूण दुल्लहं बोहिं।
जो इच्छइ नाउं जे, जीवस्स विसोहणामग्गं ॥ १३६ ॥
नाणेण सव्वभावा, णज्जंती सव्वजीवलोअम्मि।
तम्हा नाणं कुसले-ण सिक्खियव्वं पयत्तेणं ॥ १४० ॥
न हु सक्का नासेउं, नाणं अरहंतभासियं लोए।
ते धन्ना ते पुरिसा, नाणी य चरित्तजुत्ता य ॥ १४१ ॥
बंधं मुक्खं गइरा-गयं च जीवाण जीवलोयम्मि।
जाणंति सुयसमिद्धा, जिणसासणचेइयविहिएणू॥१४२॥
भद्दं सुबहुसुयाणं, सव्वपयत्थेसु पुच्छणिज्जाणं।
नाणेण जोवयारे, सिद्धिं पि गएसु सिद्धेसु ॥ १४३ ॥
किं ? इत्तो लट्ठयरं, अच्छेरयरं व सुंदरतरं वा।
चंदमिव सव्वलोगा, बहुस्सुयमुहं पलोएंति ॥ १४४ ॥
चंदाउ नीइ जुण्हा, बहुसुयमुहाउ नीइ जिणवयणं।
जं सोऊण सुविहिया, तरंति संसारकंतारं ॥ १४५ ॥
चउदसपुव्वधराणं, ओहीनाणीण केवलीणं च।
लोगुत्तमपुरिसाणं, तेसिं नाणं अविन्नाणं ॥ १४६ ॥
नाणेण विणा करणं, न होइ नाणंऽपि करणहीणं तु।
नाणेण य करणेण य, दोहि वि दुक्खक्खयं होइ ॥१४७॥
दढमूलमहाणंमि वि, वरमेगोऽवि सुयसीलसंपण्णो।
माहु सुयसीलविगला, काहिसि माणं पवयणम्मि।१४८।
तम्हा सुयंमि जोगो, कायव्वो होइ अप्पमत्तेणं।
जेणऽऽप्पाण परंऽपि य, दुक्खसमुद्दाउ तारेइ ॥ १४६ ॥
परमत्थंमि सुदिट्ठे, अविणट्ठेसु तवसंजमगुणेसु।
लब्भइ गई विसुद्धा, सरीरसारे विणट्ठंमि ॥ १५० ॥
अविरहिया जस्स मई, पंचहिँ समिईहिँ तिहिँ वि गुत्तीहिं।
न य कुणइ रागदोसे, तस्स चरित्तं हवइ सुद्धं ॥१५१॥
उक्कोसचरित्तोऽवि य, परिवडई मिच्छभावणं कुणइ।
किं ? पुण सम्मदिट्ठी, सरागधम्मंमि वट्टंतो ॥ १५२ ॥
तम्हा घत्तह दोसु वि, काउं जे उज्जमं पयत्तेणं।
सम्मत्तंमि चरित्ते, करणंमि य मा पमाएह ॥ १५३ ॥
जाव य सुई न नासइ, जाव य जोगा न ते पराहीणा।
सद्धा जाव न हाई, इंदियजोगा अपरिहीणा ॥ १५४ ॥
जाव य खेमसुभिक्खं, आयरिया जाव अत्थि निज्जवगा।
इड्ढी गारवरहिया, नाणचरणदंसणंमि रया ॥ १५५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ताव खमं काउं जे, सरीरनिक्खेवणं विउपसत्थं ।
समयपडागाहरणं, सुविहियइट्ठं नियमजुत्तं ॥ १५६ ॥
हंदि अणिच्चा सड्ढा, सुई य जोगा य इंदियाइं च ।
तम्हा एयं नाउं, विहरह तव संजमुज्जुत्ता ॥ १५७ ॥
ता एयं नाऊणं, ओवायं नाणदंसणचरित्ते ।
धीरपुरिसाऽणुचिण्णं, करिंति सोहिं सुयसमिद्धा ॥१५८॥
अब्भिंतरबाहिरयं, अह ते काऊण अप्पणो सोहिं ।
तिविहेण तिविहकरणं, तिविहे काले वियडभावा ॥१५९॥
परिणामजोगसुद्धा, उवहिविवेगं च गणविसग्गे य ।
अज्जाइ य उवस्सय-वज्जणं च विगईविवेगं च ॥ १६० ॥
उग्गम-उप्पायण ए-सणा विसुद्धिं च परिहरणसुद्धिं ।
सन्निहि सन्निचयंमि य, तववेयावच्चकरणे य ॥१६१॥
एवं करंतु सोहिं, नवसारयसलिलनहतलसभावा ।
कमकालदव्वपज्जव-अत्तंपरजोगकरणे य ॥ १६२ ॥
तो ते कयसोहीया, पच्छित्ते फासिए जहाथाम्मं ।
पुप्फाऽवकिन्नगम्मि य, तवंमि जुत्ता महासत्ता ॥१६३॥
तो इंदियपरिकम्मं, करिंति विसयसुहनिग्गहसमत्था ।
जयणाइ अप्पमत्ता, रागदोसे पयणुयंता ॥ १६४ ॥
पुव्वमकारियजोगा, समाहिकामा वि मरणकालम्मि ।
न भवंति परीसहसहा, विसयसुहपमोइया अप्पा ॥१६५॥
इंदियसुहसाउलओ, घोरपरीसहपराइयपरज्झो ।
अकयपरिकम्मकीवो, मुज्झइ आराहणाकाले ॥१६६॥
वाहंति इंदियाइं, पुव्विं दुन्नि य भियप्पयाराइं ।
अकयपरिकम्मकीवं, मरणेसु असंपउत्तं पि ॥१६७॥
आगममयप्पभाविय-इंदियसुहलोलुया पइट्ठस्स ।
जइ वि मरणे समाही, हुज्ज न सा होइ बहुयाणं ॥१६८॥
असमत्तसुओ वि मुणी, पुव्विं सुकयपरिकम्मपरिहत्थो ।
संजमनियमपइन्नं, सुहमत्तहिओ समत्थेइ ॥१६९॥
न चयंति किंचि काउं, पुव्विं सुकयपरिकम्मजोगस्स ।
खोहं परीसहचमू-धिइबलपराइया मरणे ॥१७०॥
तो ते वि पुव्वचरणा, जयणाए जोगसंगहविहीहिं ।
तो ते करेंति दंसण-चरित्तसइ भावणाहेउं ॥ १७१ ॥
जा पुव्वभाविय किर, होइ सुई चरणदंसणे बहुहा ।
सा होइ बीयभूया, कयपरिकम्मस्स मरणम्मि ॥१७२॥
तं फासेहिँ चरित्तं, तुमं पि सुहसीलयं पमुत्तूणं ।
सव्वं परीसहचमुं, अहियासन्तो धिइबलेणं ॥१७३॥
सद्दे रूवे गंधे, रसे य फासे य सुविहियजणेहिं ।
सव्वेसु कसाएसु अ, निग्गह परमो सया होहि ॥१७४॥
सव्वे रसे पणीए, णिज्जू हेऊण पंतलुक्खेहिं ।
अक्खयरेणुवहाणे-ण संलिहे अप्पगं कमसो ॥१७५॥
संलेहणा य दुविहा, अब्भिंतरिया य बाहिरा चेव ।
अब्भिंतरियकसाए, बाहिरिया होइ य सरीरे ॥१७६॥
उग्गमउप्पायण ए-सणाविसुद्धेण अक्खपाणेणं ।
मियविरसलुक्खलूहेण, दुब्बलं कुणसु अप्पाणं ॥१७७॥
उल्लीणोल्लीणेहि य,अहव न एगंतवद्धमाणेहिं ।
संलिह सरीरमेयं, आहारविहिं पयणुयंतो ॥१७८॥
तत्तो अणुपुव्वेणाऽऽ-हारं उवहिं सुओवएसेणं ।
विविहतवोकम्मेहि य, इंदियविकीलियाईहिं ॥१७९॥
तिविहाहिँ एसणाहि य, विविहेहि अभिग्गहेहिँ उग्गेहिं ।
संजममविराहिंतो, जहाबलं संलिहसरीरं ॥ १८० ॥
विविहाहि व पडिमाहि य, बलवीरियजई य संपहोइ सुहं ।
ताओ वि न वाहिंति, जहक्कमं संलिहंतम्मि ॥ १८१ ॥
छम्मासिया जहन्ना, उक्कोसा वारिसेव वरिसाइं ।
आयंबिलं महेसी, तत्थ य उक्कोसयं बिंति ॥ १८२ ॥
छट्ठऽट्ठमदसमदुवा-लसेहिँ, भत्तेहिँ चित्तकट्ठेहिं ।
मियलहुकं आहारं, करेहिँ आयंबिलं विहिणा ॥१८३॥
परिवड्ढिओवहाणो,ण्हारुविरावियवियडपासुलिकडीओ ।
संलिहियतणुसरीरो, अज्झप्परओ मुणी निच्चं ॥१८४॥
एवं सरीरसंले-हणाविहिं बहुविहं पि फासिंतो ।
अज्झवसाणविसुद्धिं, खणं पि तो मा पमाइत्था ॥१८५॥
अज्झवसाणविसुद्धी, विवज्जिया जे तवं विगिट्ठमवि ।
कुव्वंति बालले सा, न होइ सा केवला सुद्धी ॥१८६॥
एयं सरागसंले-हणाविहिं जइ जई समायरई ।
अज्झप्पसंजुयमई, सो पावइ केवलं सुद्धिं ॥१८७॥
निखिला फासेयव्वा, सरीरसंलेहणाविही एसा ।
इत्तो कसायजोगा, अज्झप्पविहिं परम वुच्छं ॥ १८८ ॥
कोहं खमाइ माणं, मद्दवया अज्जवेण मायं च ।
संतोसेण व लोहं,निज्जिण चत्तारि वि कसाए ॥१८९॥
कोहस्स व माणस्स व, मायालोभेसु वा न एएसिं ।
वच्चइ वसं खणं पिहु, दुग्गइगइवड्ढणकराणं ॥१९०॥
एवं तु कसायऽग्गिं, संतोसेणं तु विज्झवेयव्वो ।
रागद्दोसपवत्तिं, वज्जेमाणस्स विज्झाइ ॥१९१॥
जावंति केइ ठाणा, उदीरगा हुंति हु कसायाणं ।
ते उ सया वज्जंतो, विमुत्तसंगो मुणी विहरे ॥ १९२ ॥
संतोवसंतधिइमं, परीसहविहिं च समहियासंतो ।
निस्संगयाइ सुविहिय !, संलिहमोहे कसाए य ॥१९३॥
इट्ठाणिट्ठेसु सया, सद्दफरिसरूवरसगंधेहिं ।
सुहदुक्खनिव्विसेसो, जियसंगपरीसहो विहरे ॥१९४॥
समिईसु पंचसमिओ, जिणाहितं पंच इंदिए सुट्ठु ।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिहिँ गारवेहिँ रहिओ; होह तिगुत्तो य दंडेहिं ॥१९५
सव्वासु आसवेसु अ, अट्टे रुद्दे अ तं विसुद्धप्पा।
रागदोसपवंचे, निज्जिणिउं सव्वणोज्जुत्तो ॥१९६॥
को दुक्खं पाविज्जा?, कस्स य दुक्खेहिं विम्हओ हुज्जा?।
को व न लभिज्ज मुक्खं?, रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥१९७॥
न वि तं कुणइ अमित्तो, सुट्ठु विय विराहिओ समत्थो वि।
जं दो वि अनिग्गहिया, करंति रागो य दोसो य॥१९८॥
तं मुयह रागदोसे, सेयं चिंतेह अप्पणो निच्चं।
जं तेहिँ इच्छह गुणं, तं वुक्कह बहुतरं पच्छा ॥१९९॥
इह लोए आयासं, अयसं च करेंति गुणविणासं च।
पसवंति य परलोए, सारीरमणोगए दुक्खे ॥ २०० ॥
धिद्धी अहो अकज्जं, जं जाणंतो वि रागदोसेहिं।
फलमउलं कडुयरसं, तं चेव निसेवए जीवो ॥ २०१ ॥
तं जइ इच्छसि गंतुं, तीरं भवसायरस्स घोरस्स।
तो तव संजमभंडं, सुविहियगिएहाहि तूरंतो ॥ २०२ ॥
बहुभयकरदोसाणं, सम्मत्तचरित्तगुणविणासाणं।
न हु वसमागंतव्वं, रागद्दोसाण पावाणं ॥ २०३ ॥
जं न लहइ सम्मत्तं, लद्धूण वि जं न एइ वेरग्गं।
विसयसुहेसु य रज्जइ, सो दोसो रागदोसाणं ॥ २०४ ॥
भवसयसहस्सदुलहे, जाइजरामरणसागरुत्तारे।
जिणवयणंमि गुणागर!,खणमवि मा काहिसि पमायं २०५
दव्वेहिँ पज्जवेहि य, ममत्तसंगेहिँ सुट्ठु वि जियप्पा।
निप्पणयपेमरागो, जइ सम्मं नेइ मुक्खत्थं ॥२०६॥
एवं कयसंलेहं, अब्भिंतरवाहिरंमि संलेहे।
संसारमुक्खबुद्धी, अनियाणोदाणि विहराहि॥ २०७ ॥
एवं कहियसमाहिय, तहविह संवेगकरणगंभीरो।
आउरपचक्खाणं, पुणरवि सीहाऽवलोएणं ॥ २०८ ॥
न हु सा पुणरुत्तविही, जा संवेगं करेइ भणंती।
आउरपचक्खाणे, तेण कहा जोइया मुज्जो ॥ २०९ ॥
एस करेमि पाणमं, तित्थयराणं अणुत्तरगईणं।
सव्वेसिं च जिणाणं, सिद्धाणं संजयाणं च ॥ २१० ॥
जं किंचि वि दुच्चरियं, तमहं निंदामि सव्वभावेणं।
सामाइयं च तिविहं, तिविहेण करेमऽणागारं ॥ २११ ॥
अब्भिंतरं च तह बा–हिरं च उवहिं सरीरसाहारं।
मणवयकायऽतिकरण–सुद्धोहं मित्ति पकरेमि ॥२१२॥
बंधपओसं हरिसं, रइमरइं दीणयं भयं सोगं।
रागद्दोसविसायं, उस्सुगभावं च पयहामि ॥ २१३ ॥
रागेण व दोसेण व, अहवा अकयण्णुया पडिनिवेसं।
जो मे किंचिवि भणिओ, तमहं तिविहेण खामेमि॥२१४॥
सव्वेसु य दव्वेसु य, उवट्ठिओ एस निम्ममत्ताए।
आलंबणं च आया, दंसणनाणे चरित्ते य ॥ २१५ ॥
आया पच्चक्खाणे, आया मे संजमे तवे जोगो।
जिणवयणविहिविलग्गो, अवसेसविहिं तु दंसेहि।२१६।
मूलगुण उत्तरगुणा जे मे नाऽऽराहिया पमाएणं।
ते सव्वे निंदामि, पडिक्कमे आगमिस्साणं॥ २१७ ॥
एगो सयं कडाइं, आया मे नाणदंसणवलक्खो।
संजोगलक्खणा खलु, सेसा मे बाहिरा भावा ॥२१८॥
पत्ताणि दुहसयाइं, संजोगस्साणुएण जीवेणं!
तम्हा अणंतदुक्खं, चयामि संजोगसंबंधं ॥ २१९ ॥
अस्संजममणाणं, मिच्छत्तं सव्वओ ममत्तं च।
जीवेसु अजीवेसु य, तं निंदे तं च गरिहामि ॥२२०॥
परिजाणे मिच्छत्तं, सव्वं अस्संजमं अकिरियं च।
सव्वं चेव ममत्तं, चयामि सव्वं च खामेमि॥ २२१ ॥
जे मे जाणंति जिणा, अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु।
ते तह आलोएमि, उवट्ठिओ सव्वभावेणं॥ २२२ ॥
उप्पन्ना उप्पणुन्ना, माया अणुमग्गओ निहंतव्वा।
आलोयणनिंदणगरि–हणाहिँ न पुणो त्ति या विइयं२२३
जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोयव्वं, मायं मुत्तूण निस्सेसं ॥ २२४ ॥
सुबहुं पि भावसल्लं, आलोएऊण गुरुसगासम्मि।
निस्सल्लो संथारं, उवेइ आराहओ होइ ॥ २२५ ॥
अप्पं पि भावसल्लं, जेणालोयंति गुरुसगासम्मि।
धंतं पि सुयसमिद्धा, न हु ते आराहगा हुंति ॥२२६॥
न वि तं विसं च सत्थं, दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जंतं व दुप्पउत्तं, सप्पु व्व पमायओ कुविओ॥ २२७ ॥
जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्ठकालंमि।
दुल्लहवोहीयत्तं, अणंतसंसारियत्तं च ॥ २२८ ॥
तो उद्धरंति गारव–रहिया मूलं पुणब्भवलयाणं।
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणं च ॥ २२९ ॥
कयपावोऽवि मणूसो, आलोइय निंदिय गुरुसगासे।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरियभरु व्व भारवहो।॥२३०॥
तस्स य पायच्छित्तं–जं मग्गविऊ गुरू उवइस्संति।
तं तह अणुचरियव्वं, अणवत्थपसंगभीएणं॥ २३१ ॥
दसदोसविप्पमुक्कं, तम्हा सव्वं अमग्गमाणेणं।
जं किंचि कयमकज्जं, आलोए तं जहावत्तं ॥ २३२ ॥
सव्वं पाणारंभं, पच्चक्खामि त्ति अलियवयणं च।
सव्वं अदिन्नदाणं, अब्बंभपरिग्गहं चेव ।२३३ ॥
सव्वं च असणपाणं, चउव्विहं जा य बाहिरा उवही।
अब्भिंतरं च उवहिं, जावज्जीवं वोसिरामि ॥ २३४ ॥
कंतारे दुब्भिक्खे, आयंके वा महया समुप्पन्ने।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जं पालियं न भग्गं, तं जाणसु पालणासुद्धं ॥ २३५ ॥
रागेण व दोसेण व, परिणामे वा न दूसियं जं तु।
तं खलु पच्चक्खाणं, भावविसुद्धं मुणेयव्वं ॥ २३६ ॥
पीयं थणयच्छीरं, सागरसलिलाउ बहुयरं हुज्जा।
संसारे संसरंतो, माऊणं अन्नमन्नाणं ॥ २३७॥
नऽत्थि किर सो पएसो, लोए वालऽग्गकोडिमित्तोऽवि।
संसारे संसरंतो, जत्थ न जाओ मओ वाऽवि ॥२३८॥
चुलसीई किर लोए, जोणीणं पमुहसयसहस्साइं।
इक्किक्कम्मि य इत्तो, अणंतखुत्तो समुप्पन्नो ॥ २३९ ॥
उड्ढमहे तिरियम्मि य, मयाणि बालमरणाणिऽणंताणि।
तो ताणि संभरंतोः पंडियमरणं मरीहामि ॥ २४० ॥
माया मित्ति पिया मे, भाया भज्ज त्ति पुत्तधूया य।
एयाणिऽचिंतयंतो, पंडियमरणं मरीहामि ॥ २४१ ॥
मायापिइबंधूहिं, संसारत्थेहिँ पूरिओ लोगो।
बहुजोणिनिवासीहिं, न य ते ताणं च सरणं च॥२४२॥
इक्को जायइ मरइ, इक्को अणुहवइ दुक्कयविवागं।
इक्को अणुसरइ जीओ, जरमरणचउग्गईगुविलं॥२४३॥
उव्वेवणयं जम्मण-मरणं नरएसु वेयणाओ य।
एयाणि संभरंतो, पंडियमरणं मरीहामि ॥ २४४ ॥
इक्कं पंडियमरणं, छिंदइ जाईसयाणि बहुयाणि।
तं मरणं मरियव्वं, जेण मओ मुक्कओ होइ ॥२४५॥
कइयाणु तं सुमरणं, पंडियमरणं जिणेहिँ पन्नत्तं।
सुद्धो उद्धियसल्लो,पाओवगमं मरीहामि ॥ २४६ ॥
संसारचक्कवाले, सव्वे वि य पुग्गला मए बहुसो।
आहारिया य परिणा-मिया य न य तेसु तित्तो हं।२४७।
आहारनिमित्तेणं, मच्छा वच्चंतिऽणुत्तरं नरयं।
सच्चित्ताहारविहिं, तेण उ मणसाऽवि निच्छामि॥२४८॥
तणकट्ठेण व अग्गी, लवणसमुद्दो नईसहस्सेहिं।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं कामभोगेहिं ॥ २४९॥
लवणयमुहसामाणो, दुप्पूरो धणरओ अपरिमिज्जो।
न हु सक्को तिप्पेउं, जीवो संसारियसुहेहिं ॥ २५० ॥
कप्पतरुसंभवेसु य, देवुत्तरकुरुवंसपसूएसुं।
परिभोगेण न तित्तो, ण य नरविज्जाहरसुरेसु ॥२५१॥
देविंदचक्कवट्टि-त्तणाइं रज्जाइं उत्तमा भोगा।
पत्ता अणंतखुत्तो, नयहं तित्तिं गओ तेहिं ॥ २५२ ॥
पयखीरुच्छुरसेसु य, साऊसु महोदहीसु बहुसोऽवि।
उववन्नो न य तण्हा, छिन्ना ते सीयलजलेहिं ॥२५३॥
तिविहेण वि सुहमउलं, जम्हा कामरइविसयसुक्खाणं।
बहुसो वि समणुभूयं,न य तुह तण्हा परिच्छिन्ना॥२५४॥
जा काइ पत्थणाओ, कया मए रागदोसवसएणं।
पडिबंधेण बहुविहा, तं निंदे तं च गरिहामि ॥२५५॥
हंतूण मोहजालं, छित्तूण य अट्ठकम्मसंकलियं।
जम्मणमरणऽरहट्टं, भित्तूण भवाण मुचिहिसि ॥२५६॥
पंच य महव्वयाइं, तिविहं तिविहेण आरुहेऊणं।
मणवयणकायगुत्तो, सज्जो मरणं पडिच्छिज्जा ॥२५७॥
कोहं माणं मायं, लोहं पिज्जं तहेव दोसं च।
चइऊण अप्पमत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२५८॥
कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं पियपरस्स परिवायं।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२५९॥
किण्हं नीलं काउं, लेसं झाणाणि अप्पसत्थाणि।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २६० ॥
तेऊ पम्हं सुक्कं, लेसा झाणाणि सुप्पसत्थाणि।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२६१॥
पंचिंदियसंवरणं, पंचेव निरुंभिऊण कामगुणे।
अच्चासायणविरओ, रक्खामि महव्वए पंच ॥२६२॥
सत्तभयविप्पमुक्को, चत्तारि निरुम्भिऊण य कसाए।
अट्ठमयट्ठाणजढो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२६३॥
मणसा मणसच्चविऊ, वायासच्चेण करणसच्चेण।
तिविहेण अप्पमत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२६४॥
एवं तिदंडविरओ, तिकरणसुद्धो तिसल्लनिस्सल्लो।
तिविहेण अप्पमत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२६५॥
सम्मत्तं समिईओ, गुत्तीओ भावणाओ नाणं च।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२६६॥
संगं परिजाणामि, सल्लं पि य उद्धरामि तिविहेणं।
गुत्तीओ समिईओ, मज्झं ताणं च सरणं च ॥ २६७ ॥
जह खुहियचक्कवाले, पोयं रयणभरियं समुद्दंमि।
निज्जामया धरिंती, कयरयणा बुद्धिसंपन्ना ॥२६८॥
तवपोअं गुणभरियं, परीसहुम्मीहिँ धणियमाइद्धं।
तह आराहिंति तिऊ, उवएसवलंबगा धीरा ॥२६९॥
जइ ताव ते सुपुरिसा,आयारो वि य भरा निरवयक्खा।
गिरिकुहरकंदरगया, साहंति य अप्पणो अट्ठं ॥२७०॥
जइ ताव सावयाकुल-गिरिकंदरविसमदुग्गमग्गेसु।
धणियं धिइबद्धकच्छा, साहंति य उत्तमं अट्ठं ॥२७१॥
किं पुण अणगारसहा-यगेण वेरग्गसंगहबलेणं।
परलोएण ण सक्का, संसारमहोदहिं तरिउं ॥२७२॥
जिणवयणमप्पमेयं, महुरं कन्नाऽमयं सुणंताणं।
सक्का हु साहुमज्झा, साहेउं अप्पणो अट्ठं २७३॥
धीरपुरिसपण्णत्तं, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं।
धन्ना सिलातलगया, साहेंती अप्पणो अट्ठं ॥२७४॥
बाहेइ इन्दियाइं, पुव्वमकारिय पइट्ठचारिस्स।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अकयपरिकम्मकीवं, मरणेसु अ संपउत्तम्मि ॥२७५॥
पुव्वमकारियजोगो, समाहिकामो वि मरणकालम्मि ।
न भवइ परीसहसहो, विसयसुहपराइओ जीवो ॥२७६॥
पुव्विं कारियजोगो, समाहिकामो य मरणकालम्मि ।
होइ उ परीसहसहो, विसयसुहनिवारिओ जीवो ॥२७७॥
पुव्विं कारियजोगो, अनियाणो ईहिऊण सुहभावो ।
ताहे मलियकसाओ, सज्जो मरणं पडिच्छिज्जा ॥२७८॥
पावाणं पावाणं, कम्माणं अप्पणो सकम्माणं ।
सक्का पलाइउं जे, तवेण सम्मं पउत्तेणं ॥ २७९ ॥
इक्कं पंडियमरणं, पडिवज्जइ सुपुरिसो असंभंतो ।
खिप्पं सो मरणाणं, काहिइ अंतं अणंताणं ॥ २८० ॥
किं तं पंडियमरणं, काणि व आलंबणाणि भणियाणि ।
एयाइं नाऊणं, किं आयरिया पसंसंति ?॥२८१॥
अणसणपाउवगमणं, आलंबणझाणभावणाओ अ ।
एयाइं नाऊणं, पंडियमरणं पसंसंति ॥२८२॥
इंदियसुहसाउलओ, घोरपरीसहपराइयपरज्झो ।
अकयपरिकम्मकीवो, मुज्झइ आराहणाकाले ॥२८३॥
लज्जाएँ गारवेणं , बहुसुयमएण वाऽवि दुच्चरियं ।
जे न कहंति गुरूणं, न हु ते आराहगा हुंति ॥ २८४ ॥
सुज्झइ दुक्करकारी, जाणइ मग्गं ति पावए कित्तिं ।
विणिगूहित्तो निंदं, तम्हा आलोयणा सेया ॥ २८५ ॥
अग्गिम्मि य उदयम्मि य, पाणेसु य पाणबीयहरिएसुं ।
होइ मओ संथारो, पडिवज्जइ जो असंभंतो ॥ २८६ ॥
नऽवि कारणं तणमओ,संथारो नऽवि य फासुया भूमी ।
अप्पा खलु संथारो, होइ विसुद्धो मरंतस्स ॥ २८७ ॥
जिणवयणमणुगया मे, होउ मई झाणजोगमल्लीणा ।
जह तम्मि देसकाले, अमूढसन्नो चए देहं ॥ २८८ ॥
जाहे होइ पमत्तो, जिणवयणरहिओ अणायत्तो ।
ताहे इंदियचोरा, करेंति तवसंजमविलोमं ॥ २८९ ॥
जिणवयणमणुगयमई, जं वेलं होइ संवरपविट्ठो ।
अग्गी व वायसहिओ, समूलडालं डहइ कम्मं ॥ २९० ॥
जह डहइ वायसहिओ, अग्गी हरिएऽवि रुक्खसंघाए ।
तह पुरिसकारसहिओ, नाणी कम्मं खयं नेइ ॥ २९१ ॥
जह अग्गिम्मि व पबले, खडपूलिय खिप्पमेव झामेइ ।
तह नाणीऽवि सकम्मं, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ २९२ ॥
न हु मरणम्मि उवग्गे, सक्को वारसविहो सुयक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेउं, धंतं पि समत्थचित्तेणं ॥ २९३ ॥
इक्कम्मिऽवि जम्मि पए, संवेगं कुणइ वीयरागमए ।
वच्चइ नरो अविग्घं, तं मरणं तेण मरितव्वं ॥ २९४ ॥

इक्कम्मिऽवि जम्मि पए, संवेगं कुणइ वीयरागमए ।
सो तेण मोहजालं, छिंदइ अज्झप्पजोगेणं ॥ २९५ ॥
जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वाऽऽयरेण करणिज्जं ।
तसबायरभूयहियं, पंथं निव्वाण मग्गस्स ॥ २९६ ॥
समणोऽहं ति य पढमं, बीयं सव्वत्थ संजओऽम्हि त्ति ।
सव्वं च वोसिरामी, जिणेहिँ जं जं पडिकुट्ठं ॥ २९७ ॥
मणसाऽवि ऽचिंतणिज्जं, सव्वं भासएँऽभासणिज्जं च ।
काएण य ऽकरणिज्जं,वोसिरि तिविहेण सावज्जं ॥२९८॥
अस्संजमवोसिरणं, उवहिविवेगो तहा उवसमो अ ।
पडिरूवजोगविहिओ, खंतो मुत्तो विवेगो य ॥ २९९ ॥
एयं पचक्खाणं, आउरजणआवईसु भावेणं ।
अन्नतरं पडिवन्नो, जंपंतो पावइ समाहिं ॥ ३०० ॥
मम मंगलमरिहंता,सिद्धा साहू सुयं च धम्मो य ।
तेसिं सरणोवगओ, सावज्जं वोसिरामि त्ति ॥ ३०१ ॥
सिद्धे उवसंपन्नो, अरिहंते केवली य भावेणं ।
इत्तो एगत्तरेणऽवि, पएण आराहओ होइ ॥ ३०२ ॥
समुइन्नवेयणो पुण, समणो हिययम्मि किं निवेसिज्जा ? ।
आलंबणं च काउं, काऊण मुणी दुहं सहइ ॥ ३०३ ॥
नरएसु ऽणुत्तरेसु अ, अणुत्तरा वेयणाओ पत्ताओ ।
वट्टंतेण पमाए, ताओ वि अणंतसो पत्ता ॥ ३०४ ॥
एयं सयं कयं मे, रिणं व कम्मं पुरा असायं तु ।
तमहं एस धुणामि, मणम्मि सत्तं निवेसिज्जा ॥ ३०५ ॥
नाणाविहदुक्खेहि य, समुइन्नेहि उ सम्म सहणिज्जं ।
न य जीवो उ अजीवो, कयपुव्वो वेयणाईहिं ॥ ३०६ ॥
अब्भुज्जयं विहारं, इत्थं जिणदेसियं विउपसत्थं ।
नाउं महापुरिससे-वियं जं अब्भुज्जयं मरणं ॥३०७॥
जह पच्छिमम्मि काले, पच्छिमतित्थयरदेसियमुयारं ।
पच्छा निच्छयपत्थं, उवेइ अब्भुज्जयं मरणं ॥ ३०८ ॥
छत्तीसमट्ठियाहि य, कडजोगी संगहबलेणं ।
उज्जमिऊणं वारस-विहे य तवनियमठाणेणं ॥ ३०९ ॥
संसाररंगमज्झे, धिइबलसंनद्धबद्धकच्छाओ ।
हंतूण मोहमल्लं, हराहि आराहणपडागं ॥ ३१० ॥
पोराणयं च कम्मं, खवेइ अन्नन्नबंधणायाइं ।
कम्मकलंकलवल्लिं, छिंदइ संथारमारूढो ॥ ३११ ॥
धीरपुरिसेहिँ कहियं, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं ।
उत्तिण्णोऽम्हि हु रंगं, हरामि आराहणपडागं ॥ ३१२ ॥
धीर ! पडागाहरणं, करेहि जह तंसि देसकालम्मि ।
सुत्तत्थमणुगुणिंतो, धिइनिच्चलबद्धकच्छाओ ॥ ३१३ ॥
चत्तारि कसाए ति-न्नि गारवे पंच इंदियग्गामे ।
जिणिउं परीसहसहे, हराहि आराहणपडागं ॥ ३१४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न य मणसा चिंतिज्जा, जीवामि चिरं मरामि व लहुं ति।
जइ इच्छसि तरिउं जे, संसारमहोअहिमपारं ॥३१५॥
जइ इच्छसि नीसरिउं, सव्वेसिं चेव पावकम्माणं।
जिणवयणनाणदंसण–चरित्तभावुज्जुओ जग्ग ॥३१६॥
दंसणनाणचरित्ते, तवे य आराहणा चउक्खंधा।
सा चेव होइ तिविहा, उक्कोसा मज्झिम जहन्ना ॥३१७॥
आराहेऊण विऊ, उक्कोसाराहणं चउक्खंधं।
कम्मरयविप्पमुक्को तेणेव भवेण सिज्झिज्जा ॥ ३१८ ॥
आराहेऊण विऊ, मज्झिमआराहणं चउक्खंधं।
उक्कोसेण य चउरो, भवे उ गंतूण सिज्झिज्जा ॥ ३१९ ॥
आराहेऊण विऊ, जहण्णमाराहणं चउक्खंधं।
सत्तऽट्ठभवग्गहणे, परिणामेऊण सिज्झिज्जा ॥ ३२० ॥
धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेणऽवि अवस्स मरियव्वं।
तम्हा अवस्समरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥ ३२१ ॥
एयं पच्चक्खाणं, अणुपालेऊण सुविहिओ सम्मं।
वेमाणिओ व देवो, हवेज्ज अहवाऽवि सिज्झिज्जा ॥३२२॥
एसो सवियारकओ, उवक्कमो उत्तमऽट्ठकालम्मि।
इत्तो उ पुणो वुच्छं, जो उ कमो होइ अवियारे ॥३२३॥
साहू कयसंलेहो, विजियपरीसहकसायसंताणो।
निज्जवए मग्गिज्जा, सुयरयणसहस्सनिम्माए ॥३२४॥
पंचसमिए तिगुत्ते, अणिस्सिए रागदोसमयरहिए।
कडजोगी कालण्णू, नाणचरणदंसणसमिद्धे ॥३२५॥
मरणसमाहीकुसले, इंगियपत्थियसभाववेत्तारे।
ववहारविहिविहण्णू, अब्भुज्जयमरणसाराहिणो ॥३२६॥
उवएसहेउकारण–गुणनिसढा णायकारणविहण्णू।
निव्वाणणाणकरणे–चयारसुयधारणसमत्थे ॥ ३२७ ॥
एगंतगुणे रहिया, बुद्धीइ चउव्विहाइँ उववेया।
छंदण्णू पव्वइया, पच्चक्खाणंमि य विहण्णू ॥३२८॥
दुण्हं आयरियाणं, दो वेयावच्चकरणिज्जुत्ता।
पाणगवेयावच्चे, तवस्सिणो वत्ति दो पत्ता ॥ ३२९ ॥
उव्वत्तण परिवत्तण, उच्चारुस्सासकरणजोगेसुं।
दो वायग त्ति णज्जा, अ सुत्त करणे जहन्नेणं ॥ ३३० ॥
असहहवेयणाए, पायच्छित्ते पडिक्कमणाए य।
जोगाऽऽयकहाजोगे, पच्चक्खाणे य आयरिओ ॥३३१॥
कप्पाऽकप्पविहिण्णू, दुवालसंगसुयसारही सव्वं।
छत्तीसगुणोवेया, पच्छित्तवियारया धीरा ॥३३२॥
एए ते निज्जवया, परिकहिया अट्ठ उत्तमट्ठंमि।
जेसिं गुणसंखाणं, न समत्था पायया वुत्तुं ॥३३३॥
एरिसयाण सगासे, सूरीणं पवयणप्पवाईणं।
पडिवज्जिज्ज महत्थं, समणो अब्भुज्जयं मरणं ॥३३४॥

आयरियउवज्झाए सीसे साहम्मिए कुलगणे य।
जे मे किया सकाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥३३५॥
सव्वस्स समणसंघ–स्स भावओ अंजलिं करे सीसे।
सव्वं खमावयित्ता, खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥३३६॥
गरहित्ता अप्पाणं, अपुणक्कारं पडिक्कमित्ताणं।
नाणम्मि दंसणम्मि अ, चरित्तजोगाऽइयारे य ॥३३७॥
तो सीलगुणसमग्गो, अणुवहयक्खो बलं च थामं च।
विहरिज्ज तवसमग्गो, अनियाणो आगमसहाओ ॥३३८॥
तवसोसियंगमंगो, संधिसिराजालपागडसरीरो।
किच्छाहियपरिहत्थो, परिहरइ कलेवरं जाहे ॥३३९॥
पच्चक्खाइ य ताहे, अन्नन्नसमाहिपत्तियंमित्ती।
तिविहेणाहारविहिं, दियसुग्गइकायपगईए ॥३४०॥
इहलोए परलोए, निरासओ जीविए अ मरणे य।
सायाऽणुभवे भोगे, जस्स य अवहट्टणाईए ॥ ३४१ ॥
निम्ममो निरहंकारो, निरासयो ऽकिंचणो अपडिकम्मो।
वोसट्ठविसट्ठंगो, चत्तचियत्तेण देहेणं ॥ ३४२ ॥
तिविहेणऽवि सहमाणो, परिसहे दूसहे अ ऊसग्गे।
विहरिज्ज विसयतण्हा–रयमलमसुभं विहुणमाणो ॥३४३॥
णेहक्खए व दीवो, जह खयमुवणेइ दीववट्टिम्मि।
खीणाहारसिणेहो, सरीरवट्टिं तह खवेइ ॥ ३४४ ॥
एव परज्झा असई, परक्कमे पुव्वभणियसूरीणं।
पासम्मि उत्तमऽट्ठे, कुज्जा तो एस परिक्कम्मं ॥३४५॥
आगरसमुट्ठियं तह, अज्झुसिरवागत्तणपत्तकडए य।
कट्ठसिलाफलगंमि व, अणभिज्जयं निप्पकप्पंमि ॥३४६॥
निस्संधिणातणंमि व, सुहपडिलेहेण जंतिपसत्थेणं।
संथारो कायव्वो, उत्तर-पुव्वस्सिरो वाऽवि ॥ ३४७ ॥
दोसुत्थ अप्पमाणे, अंधकारे समंमि अ णिसिट्ठे।
निरुवहयंमि गुणमणे, वणंमि गुत्ते य संथारो ॥३४८॥
जुत्ते पमाणरइओ, उभउकालपडिलेहणासुद्धो।
विहिविहिओ संथारो, आरुहियव्वो तिगुत्तेणं ॥३४९॥
आरुहियचरित्तभरो, अनेसु उ परमगुरुसगासम्मि।
दव्वेसु पज्जवेसु य, खित्ते काले य सव्वम्मि ॥३५०॥
एएसु चेव ठाणेसु, चउसु सव्वो चउव्विहाऽऽहारो।
तवसंजमु त्ति किच्चा, वोसिरियव्वो तिगुत्तेणं ॥ ३५१ ॥
अहवा समाहिहेउं, कायव्वो पाणगस्स आहारो।
तो पाणगं पि पच्छा, वोसिरियव्वं जहाकाले ॥३५२॥
निसिरित्ता अप्पाणं, सव्वगुणसमन्नियम्मि निज्जवए।
संथारसन्निविट्ठो, अनियाणो चेव विहरिज्जा ॥३५३॥
इहलोए परलोए, अनियाणो जीविएं य मरणे य।
वासीचंदणकप्पो, समो य माणाऽवमाणेसु ॥ ३५४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अह महुरं फुडवियडं, तहप्पसायकरणिज्जविसयकयं।
इज्ज कहं निज्जवओ, सुईसमन्नाहरणहेउं ॥ ३५५ ॥
इहलोए परलोए, नाणचरणदंसणम्मि य अवायं।
दंसेइ नियाणंमि य, मायामिच्छत्तसल्लेणं ॥ ३५६ ॥
बालमरणे अवायं, तह य उवायं अबालमरणम्मि।
उस्सासरज्जुवेहा-णसे य तह गिद्धपट्ठे य ॥ ३५७ ॥
जह य अणुद्धियसल्लो, ससल्लमरणेण केइ मरिऊण।
दंसणनाणविहूणो, मरंति असमाहिमरणेणं ॥ ३५८ ॥
जह सायरसे गिद्धा, इत्थि अहंकारपावसुयमत्ता।
ओसन्नबालमरणा, भमंति ससारकंतारं ॥ ३५९ ॥
अह मिच्छत्तससल्ला, मायासल्लेण जह ससल्ला य।
जह य नियाणससल्ला, मरंति असमाहिमरणेणं ।३६०।
जह वेयणावसट्टा, मरंति जह केइ इंदियवसट्टा।
जह य कसायवसट्टा, मरंति असमाहिमरणेणं ॥३६१॥
जह सिद्धिमग्ग दुग्गइ-सग्गग्गलमोडणाणि मरणाणि।
मरिऊण केइ सिद्धिं, उविंति सुसमाहिमरणेणं ॥३६२॥
एवं बहुप्पयारं, तु अवायं उत्तमऽट्ठकालम्मि।
दंसंति आवयण्णू, सल्लुद्धरणे सुविहियाणं ॥३६३॥
दिंति य सिं उवएसं, गुरुणो नाणाविहेहिं हेऊहिं।
जेण सुगइं भयंतो, संसारभयदुओ होइ ॥ ३६४ ॥
न हु तेसु वेयणं खलु, अहो चिरम्मि त्तिं दारुणं दुक्खं।
सहणिज्जं देहेणं, मणसा एवं विचिंतिज्जा ॥ ३६५ ॥
सागरतरणत्थ मई, इयस्स पोयस्स जए धूवे।
जो रज्जुमुक्खकालो,न सो विलंब त्ति कायव्वो ॥३६६॥
तिल्लविहूणो दीवो, न चिरं दिप्पइ जगंमि पच्चक्खं।
न य जलरहिओ मच्छो, जिअइ चिरं नेव पउमाई ॥३६७॥
अन्नं इमं सरीरं, अन्नोऽहं इय मणंमि ठाविज्जा।
जं सुचिरेणऽवि मोत्तं, देहे को ? तत्थ पडिबंधो ॥३६८॥
दूरत्थं पि विणासं, अवस्सभावं उवट्ठियं जाण।
जो अह वट्टइ कालो,अणागओ इत्थ आसिएहा ।३६९।
जं सुचिरेण वि होहिइ, अणावसंतम्मि को ? ममीकारो।
देहे निस्संदेहे, पिएऽवि सुयणत्तणं नऽत्थि ।।३७०॥
उवलद्धो सिद्धिपहो, न य अणुचिण्णो पमायदोसेणं।
हा जीव! अप्पवेरिय!, न हु ते एयं न तिप्पिहिइ ॥३७१॥
नऽत्थि य ते संघयणं, घोरा य परीसहा अहे निरया।
संसारो य असारो, अइप्पमाओ अ तं जीव ! ॥३७२॥
कोहाऽऽइकसाया खलु, बीयं संसारभेरवदुहाणं।
तेसु पमत्तेसु सया, कत्तो सुक्खो य मुक्खो वा ? ॥३७३॥
जाओ परव्वसेणं, संसारे वेयणाओ॔ घोराओ॔।
पत्ताओ॔ नारगत्ते, अहुणा ताओ विचिंतिज्जा ॥३७४॥

इणिंह सयं वासिस्स उ, निरुवमसुक्खावसणमुहकडुयं।
कल्लाणमोसहं पिव, परिणामसुहं न तं दुक्खं ॥३७५॥
संबंधिबंधवेसु अ, न य अणुराओ खणं पि कायव्वो।
ते च्चिय हुंति अमित्ता, जह जणणी बंभदत्तस्स ।३७६।
वसिऊण व सुहिमज्झे, वच्चइ एगाणिओ इमो जीवो।
मुत्तूण सरीरघरं, जह कण्हो मरणकालम्मि ॥३७७॥
इणिंह व मुहुत्तेणं, गोसे व सुए व अद्धरत्ते वा।
जस्स न णज्जइ वेला, कद्दिवसं ? गच्छई जीवो ॥३७८॥
एवमणुचिंतयंतो, भावणुभावाणुरत्तसियलेसो।
तद्दिवसमरिउकामो, व होइ झाणम्मि उज्जुत्तो ॥३७९॥
नरग-तिरिक्खगईसु य, माणुसदेवत्तणे वसंतेणं।
जं सुहदुक्खं पत्तं, तं अणुचिंतिज्ज संथारे ॥३८० ॥
नरएसु वेयणाओ, अणोवमा सीयउण्हवेराओ।
कायनिमित्तं पत्ता, अणंतखुत्तो बहुविहाओ ॥३८१॥
देवत्ते माणुस्से, पराहिओगत्तणं उवगएणं।
दुक्खपरिकिलेसविही, अणंतखुत्तो समणुभूया ॥३८२॥
भिन्निंदिय पंचिंदिय-तिरिक्खकायंमिऽणेगसंठाणे।
जम्मणमरणरहट्टं, अणंतखुत्तो गओ जीवो । ३८३॥
सुविहिय ! अईयकाले, अणंतकाएसु तेण जीवेणं।
जम्मणमरणमणंतं, बहुभवगहणं समणुभूयं ॥३८४॥
घोरम्मि गब्भवासे, कलमलजंबालअसुइबीभच्छे।
वसिओ अणंतखुत्तो, जीवो कम्माणुभावेणं ॥ ३८५ ॥
जोणीमुहनिग्गच्छं-तेण संसारे॔ इमेण जीवेणं।
रसियं अइबीभच्छं,कडीकडाहंऽतरगएणं ॥ ३८६ ॥
जं असियं बीभच्छं, असुई घोरम्मि गब्भवासम्मि।
तं चिंतिऊण य सयं, मुक्खंमि मइं निवेसिज्जा ॥३८७॥
वसिऊण विमाणेसु य, जीवो पसरंतमणिमऊहेसु।
वसिओ पुणो वि सुचिय,जोणिसहस्संऽधयारेसु ॥३८८॥
वसिऊण देवलोए, निच्चुज्जोए सयंपभे जीवो।
वसइ जलवेगकलमल-विउलवलयामुहे घोरे ॥३८९॥
वसिऊण सुरनरीसर-चामीयर रिद्धिमणहरघरेसु।
वसिओ नरगनिरंतर-भयभेरवपंजरे जीवो ॥३९०॥
वसिऊण विचित्तेसु अ, विमाणगणभवणसोभसिहरेसुं।
वसइ तिरिएसु गिरिगुह-विवरमहाकंदरदरीसु ॥३९१॥
भुत्तूण वि भोगसुहं, सुरनरखयरेसु पुण पमाएणं।
पियइ नरएसु भेरव-कलंततउतंबपाणाइं ॥ ३९२ ॥
सोऊण मुइयणरवइभवे, अ जयसद्दमंगलरवोघं।
सुणइ णरएसु दुहपर-मक्कंदुद्दामसद्दाइं ॥३९३॥
निहण हण गिण्ह दह पय-उब्बंध पबंध बंध रुधाद्धाहिं।
फाले लोले घोले, थूरे खारेहि॔ से गत्तं ॥ ३९४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बेयरणिखारकलिमल–वेसल्लंकुसलकरकयकुलेसुं।
वसिओ नरएसु जीओ,हण हण घणघोरसद्देसुं ॥३९५॥
तिरिएसु व भेरवसद्द–पक्खणपरवक्खणच्छणसएसु।
वसिओ उव्वियमाणो, जीवो कुडिलम्मि संसारे ॥३९६॥
मणुयत्तणेऽवि बहुविह–विणिवायसहस्सभेसणघणंमि।
भोगपिवासाणुगओ, वसिओ भयपंजरे जीवो ॥३९७॥
वसियं दरीसु वसियं, गिरीसु वसियं समुद्दमज्झेसु।
रुक्खऽग्गेसु य वसियं, संसारे संसरंतेण ॥३९८॥
पीयं थणअच्छीरं, सागरसलिलाओ बहुयरं हुज्जा।
संसारंमि अणंते, माईणं अण्णमण्णाणं ॥ ३९९ ॥
नयणोदगं पि तासिं, सागरसलिलाओ बहुयरं हुज्जा।
गलियं रुयमाणीणं, माईणं अण्णमण्णाणं ॥४००॥
नऽत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसरिसं न विज्जए दुक्खं।
तम्हा जरमरणकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥ ४०१ ॥
अन्नं इमं सरीरं, अण्णो जीवु त्ति निच्छियमईओ।
दुक्खपरिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥ ४०२ ॥
जावइयं किंचि दुहं, सारीरं माणसं व संसारे।
पत्तो अणंतखुत्तो, कायस्स ममत्तदोसेणं ॥ ४०३ ॥
तम्हा सरीरमाई, अब्भिंतर बाहिरं निरवसेसं।
छिंद ममत्तं सुविहिय!, जइ इच्छसि मुच्चिउ दुहाणं ॥४०४॥
सव्वे उवसग्गपरी–सहे य तिविहेण निज्जिणाहि लहु।
एएसु निज्जिएसुं, होहिसि आराहओ मरणे ॥४०५॥
मा हुय सरीरसंता–विओ अ तं झाहि अट्टरुद्दाइं।
सुट्ठुऽवि रूवियलिंगे, वियट्टरुद्दाणि रूवंति ॥४०६॥
मित्तसुयबंधवाइसु, इट्ठाणिट्ठेसु इंदियऽत्थेसुं।
रागो वा दोसो वा, ईसि मणेणं न कायव्वो ॥४०७॥
रोगाऽऽयंकेसु पुणो, विउलासु य वेयणासूइन्नासु।
सम्मं अहियासंतो, इणमो हियएण चिंतिज्जा ॥४०८॥
बहु पलियसागराइं, सहाणि मे नरयतिरियजाईसुं।
किं? पुण सुहावसाणं, इणमो सारं नरदुहंति ॥ ४०९ ॥
सोलस रोगाऽऽयंका, सहिया जह चक्किणा चउत्थेणं।
वाससहस्सा सत्त उ, सामण्णधरं उवगएणं ॥ ४१० ॥
तह उत्तमऽट्ठकाले, देहे निरवक्खयं उवगएणं।
तिलछित्तलावगा इव, आयंका विसहियव्वाओ ॥४११॥
पारियवायगभत्तो, राया पट्टीइ सेट्ठिणो मूढो।
अच्चुण्हं परमन्नं, दासी य सुकोवियमणूसा ॥४१२॥
सा य सलिलुल्ललोहिय–मंसवसापेसिथिग्गलं घित्तुं।
उप्पइया पट्टीओ, पाई जह रक्खसवहु व्व ॥४१३॥
तेण य निव्वेएणं, निग्गंतूणं तु सुविहियसगासे।
आरुहियचरित्तभरो, सीहो रसियं समारूढो ॥४१४॥
तंमि य महिहरसिहरे, सिलायले णिम्मले महाभागो।
वोसिरइ थिरपइन्नो, सव्वाहारं महतणू य ॥४१५॥
तिविहोवसग्गसहिउं, पडिमं सो अद्धमासियं धीरो।
ठाइ य पुव्वाऽभिमुहो, उत्तमाधिइसत्तसंजुत्तो ॥४१६॥
सा य पगतंतलोहिय–मेयवसामंसल परीपट्ठी।
खज्जइ खगेहिँ दूसह, निसड्डचंचुप्पहारेहिं ॥४१७॥
मसएहिं मच्छियाहि य, कीडीहि वि मंससंपलग्गाहिं।
खज्जंतो वि न कंपइ, कम्मविवागं गणेमाणो ॥४१८॥
रत्तिं च पयइ विहसिय, सियालियाहिं णिरणुकंपाहिं।
उवसग्गिज्जइ धीरो, नाणाविहरूवधाराहिं ॥४१९॥
चिंतेइ य खरकरवय–असिपंजरखग्गमुग्गरपहाओ।
इणमो न हु कट्ठयरं,दुक्खं निरयऽग्गिदुक्खाओ ॥४२०॥
एवं च गओ पक्खो, बीओ पक्खो य दाहिणदिसाए।
अवरेणऽवि पक्खो वि य. समइक्कंतो महेसिस्स ॥४२१॥
तह उत्तरेण पक्खं, भगवं अविकंपमाणसो सहइ।
पडिओ य दुमासंते, नमो त्ति वुत्तुं जिणिंदाणं ॥ ४२२॥
कंचणपुरंमि सिट्ठी, जिणधम्मो नाम सावओ आसी।
तस्स इमं चरियपयं, तउ एयं कित्तिमुणिस्स ॥४२३॥
जह तेण वितथ मुणिणा, उवसग्गा परमदूसहा सहिया।
तह उपसग्गा सुविहिय!, सहियव्वा उत्तमट्ठंमि ॥४२४॥
निप्फेडियाणि दुन्नि वि,सीसाऽऽवेढेण जस्स अच्छीणि।
न य संजमाउ चलिओ,मेअज्जो मंदरगिरि व्व ॥४२५॥
जो कुंचगाऽवराहे, पाणिदया कुंचगं पि नाऽऽइक्खे।
जीवियमणुपेहंतं, मेयज्जरिसिं नमंसामि ॥४२६॥
जो तिहिँ पएहिँ धम्मं, समइगओ संजमं समारूढो।
उवसमविवेगसंवर, चिलाइपुत्तं नमंसामि ॥ ४२७ ॥
सोएहिँ अइगयाओ, लोहियगंधेण जस्स कीडीओ।
खायंति उत्तमंगं, तं दुक्करकारयं वंदे ॥४२८॥
देहो पिपीलियाइं, चिलाइपुत्तस्स चालणि व्व कओ।
तणुओऽवि मणपओसो,न य जाओ तस्स ताणुवरिं ॥४२९॥
धीरो चिलाइपुत्तो, मूइंगलियाहिं चालणि व्व कओ।
न य धम्माओ चलिओ, तं दुक्करकारयं वंदे ॥४३०॥
गयसुकुमालमहेसी, जह दड्ढो पिइवणंसि ससुरेणं।
न य धम्माओ चालिओ, तं दुक्करकारयं वंदे ॥४३१॥
जह तेण सो हुयाऽसो, सम्मं अइरेगदूसओ सहिओ।
तह सहियव्वो सुविहिय!,उवसग्गो देहदुक्खं च ॥४३२॥
कमलामेलाऽऽहरणे, सागरचंदोदईहिँ, नभसेणं।
आगंतूण सुरत्ता, संपइ संपाइणो वारे ॥ ४३३ ॥
जायस्स खमा तइया, जो भावो जा य दुक्करा पडिमा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तं अणगारगुणागर !, तुमं पि हियएण चिंतेहि ।४३४।
सोऊण निसासमए, नलिणिविमाणस्स वण्णणं धीरो ।
संभरियदेवलोओ, उज्जेणि अवंतिसुकुमालो ॥ ४३५ ॥
घित्तूण समणदिक्खं, नियमुज्झिय सव्वदिव्वआहारो ।
बाहिं वंसकुडंगे, पायवगमणं निवन्नो उ ॥ ४३६ ॥
वोसट्ठनिसट्ठंगो, तहिं सो भल्लुंकियाइखइओ उ ।
मंदरगिरिनिकंपं, तं दुक्करकारयं वंदे ॥ ४३७ ॥
मरणंमि जस्स मुक्कं, सुकुसुमगंधोदयं च देवेहिं ।
अज्ज वि गंधवई सा, तं च कुडंगी सरट्ठाणं ॥ ४३८ ॥
जह तेण तत्थ मुणिणा, सम्मं समणेण इंगिणी तिण्हा ।
तह तूरह उत्तमऽट्ठं, तं च मणे संनिवेसेह ॥ ४३९ ॥
जो निच्छएण गिण्हइ, देहच्चाएवि न अट्ठियं कुणइ ।
सो साहेइ सकज्जं, जह चंदवडिंसओ राया ॥ ४४० ॥
दीवाभिग्गहधारी, दूसह घणविणयनिच्चलनगिंदो ।
जह सो तिन्नपइण्णो, तह तूरह तुमं पइन्नम्मि ॥४४१॥
जह दमदंतमहेसी, पंडयकोरवमुणी थुयगरहिओ ।
आसि समो दुण्हं पि हु, एव समा होह सव्वत्थ ।४४२।
जह खंदगसीसेहिं, सुक्कमहाझाणसंसियमणेहिं ।
न कओ मणप्पओसो, पीलिज्जंतेसु जंतम्मि ॥ ४४३ ॥
तह धन्नसालिभद्दा, अणगारा दो वि तवमहिड्ढीया ।
वेभारगिरिसमीचे, नालंदाए समीवंमि ॥४४४॥
जुअलसिलासंथारे, पायवगमणं उवगया जुगवं ।
मासं अणूणगं ते, वोसट्ठनिसट्ठसव्वंऽगा ॥ ४४५ ॥
सीयायवऽऽझडियंऽगा, लग्गुट्ठियमंसण्हारुणि विणट्ठा ।
दोऽवि अणुत्तरवासी, महेसिणो रिद्धिसंपण्णा ॥ ४४६ ॥
अच्छेरयं–च लोए, ताण तहिं देवयाऽणुभावेणं ।
अज्जऽवि अट्ठिनिवेसं, पंकिव्व सनामगा हत्थी ॥४४७॥
जह ते समं सचम्मे, दुबलविलग्गेऽवि णो सयं चलिया ।
तह अहियासेयव्वं, गमणे थेवंपिमं दुक्खं ॥ ४४८ ॥
अयलग्गाम कुडुंबिय, सुरइयसयदेवसमणयसुभद्दा ।
सव्वे उ गया खमगं, गिरिगुहनिलयन्नियच्छीय ॥४४९॥
ते तं तवोकिलंतं, वीसामेऊण विणयपुव्वागं ।
उवलद्धपुण्णपावा, फासुयसुमहं करेसीह ॥ ४५० ॥
सुगहियसावयधम्मा, जिणमहिमाणेसु जणियसोहग्गा ।
जसहरमुणिणो पासे, निक्खंता तिव्वसंवेगा ॥ ४५१ ॥
सुगिहियजिणवयणाऽमय–परिपुट्ठा सीलसुरहिगंधऽड्ढा ।
विहरिय गुरुस्सगासे, जिणवरवसुपुज्जतित्थम्मि ॥४५२॥
कणगाऽवलिमुत्तावलि–रयणावलिसीहकीलियकलंता ।
काहीय ससंवेगा, आयंबिल वड्ढमाणं च ॥ ४५३ ॥

आसरिया य मणोहर–सिहरंतरसंचरंतपुक्खरयं ।
आइकरचलणपंकय–सिरसेवियमालहिमवंतं ॥ ४५४ ॥
रमणिज्झहरयतरुवर–परहुअसिहिभमर महुयरिविलोले ।
अमरगिरिविसयमणहर,जिणवयणसुकाणणुद्देसे॥४५५॥
तम्मि सिलायलपुहवी, पंच वि देहट्ठिईसु मुणियत्था ।
कालगया उववण्णा, पंच वि अपराजियविमाणे ॥४५६॥
ताओ चइऊण इहं, भारहवासे असेसरिउदमणा ।
पंडुनराहिवतणया, जाया जयलच्छिभत्तारा ॥ ४५७ ॥
ते कण्हमरणदूसह–दुक्खसमुप्पन्नतिव्वसंवेगा ।
सुट्ठियथेरसगासे, निक्खंता खायकित्तीया ॥ ४५८ ॥
जिट्ठो चउदसपुव्वी, चउरो इक्कारसंऽ–गवी आसी ।
विहरिय गुरुस्सगासे, जसपडहभरंतजियलोया ॥४५९॥
ते विहरिऊण विहिणा, नवरि सुरट्ठं कमेण संपत्ता ।
सोउं जिणनिव्वाणं भत्तपरिन्नं करेसी य ॥ ४६० ॥
घोराऽभिग्गहधारी, भीमो कुंतऽग्गगहियभिक्खाओ ।
सत्तुंजयसेलसिहरे, पाओवगओ गयभवोघो ॥ ४६१ ॥
पुव्वविराहियवंतर–उवसग्गसहस्समारुयनगिंदो ।
अविकंपो आसि मुणी, भाईणं इक्कपासम्मि ॥ ४६२ ॥
दो मासे संपुण्णे, सम्मं धिइधणियवद्धकच्छाओ ।
ताव उवसग्गिओ सो,जाव उ परिनिव्वुओ भगवं ।४६३।
सेसा वि पंडुपुत्ता, पाओवगया उ निव्वुया सव्वे ।
एवं धिइसंपण्णा, अन्ने वि दुहाओ मुच्चंति ॥ ४६४ ॥
दंडो वि य अणगारो, आयावणभूमिसंठिओ वीरो ।
सहिऊण बाणघायं, सम्मं परिनिव्वुओ भगवं ॥४६५॥
सेलम्मि चित्तकूडे, सुकोसलो सुट्ठिओ उ पडिमाए ।
नियजणणीए खइओ, वग्घीभावं उवगयाए ॥ ४६६ ॥
पडिमायगओ अ मुणी, लंबेसु ठिओ बहूसु ठाणेसुं ।
तह वि य अकलुसभावो, साहु खमा सव्वसाहूणं ।४६७।
पंच सया परिवुडया, वइररिसी पव्वए रहावत्ते ।
मुत्तूण खुड्डगं किर, अन्नं गिरिमस्सिओ सुजसो ।४६८।
तत्थ य सो उवलतले, एगागी धीरनिच्छयमईओ ।
वोसिरिऊण सरीरं, उण्हम्मि ठिओ वियप्पाणो ।४६९।
ता सो अइसुकुमालो, दिणयरकिरणऽग्गितावियसरीरो ।
हविपिंड व्व विलीणो, उववण्णो देवलोयम्मि ॥ ४७० ॥
तस्स य सरीरपूयं, कासीय रहेहि लोगपालाओ ।
तेण रहावत्तगिरी, अज्ज वि सो विस्सुओ लोए ॥४७१॥
भगवं पि वइरसामी, विइयगिरिंदेवयाइकयपूओ ।
संपूइओत्थ मरणे, कुंजरभरिएण सक्केणं ॥ ४७२ ॥
पूइयसुविहियदेहो, पयाहिणं कुंजरेण तं सेलं ॥
कासीय सुरवरिंदो, तम्हा सो कुंजरावत्तो ॥ ४७३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्तो य जोगसंगह—उवहाणक्खाणयम्मि कोसंबी ।
रोहगमवंतिसेणो, रुज्झेइ मणिप्पभो भासो ॥ ४७४॥
धम्मगणुसीलजुयलं, धम्मजसे तत्थऽरणदेसम्मि ।
भत्तं पच्चक्खाइय, सेलम्मि उ वच्छगातीरे ॥ ४७५ ॥
निम्मम निरहंकारो, एगागी सेलकंदरसिलाए ।
कासीय उत्तमऽट्ठं, सो भावो सव्वसाहूणं ॥ ४७६ ॥
उण्हम्मि सिलावट्टे, जह तं अरहण्णएण सुकुमालं ।
विग्घारियं सरीरं, अणुचिंतिज्जा तमुच्छाहं ॥ ४७७ ॥
गुब्बर पाओवगओ, सुबुद्धिणा णिग्घिणेण चाणक्को ।
दड्ढो न य संचलिओ, साहू धिइचिंतणिज्जाओ ॥४७८॥
जह सोऽविसप्पएसी, वोसट्ठनिसिट्ठचत्तदेहो उ ।
वंसीपत्तेहिं विनि—ग्गएहिँ आगासमुक्खित्तो ॥४७६॥
जह सा बत्तीसघडा, वोसट्ठनिसट्ठचत्तदेहागा ।
धीरा वाएण उ दी—वएण विगालिम्मि ओलइया ॥४८०॥
जंतेण करकएण व, सत्थेहिं व सावएहिँ विविहेहिं ।
देहे विद्धस्संते, ईसिं पि अकप्पणारुमणा ॥ ४८१ ॥
पडणीययाइ केसिं, चम्मंसे खीलएहि निहणित्ता ।
महुघयमक्खियदेहं, पिवीलियाणं तु दिज्जाहिं ॥४८२॥
जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायरेण करणिज्जं ।
मुच्चइ हु ससंवेगो, इत्थ इलापुत्तदिट्ठंतो ॥ ४८३ ॥
समुइएसु य सुविहिय !, घोरेसु परीसहेसु सहणेणं ।
सो अत्थो सरणिज्जो, जोऽधीओ उत्तरऽज्झयणे ॥४८४॥
उज्जेणि हत्थिमित्तो, सत्थसमग्गो वणम्मि कट्ठेणं ।
पायहरो संवरण—चिल्लगभिक्खावणसुरेसुं ॥ ४८५ ॥
तत्थेव य धणमित्तो, चेल्लगमरणं नईइ तण्हाए ।
निच्छिण्णेसुऽणज्जंत—विंटियव्विस्सारणं कासि ॥४८६॥
मुणि—चंदेण विदिण्णस्स, रायगिहिपरिसहो महाघोरो ।
जत्तो हरिवंसविहू, सणस्स वूच्छं जिणिंदस्स ॥४८७॥
रायगिहनिग्गया खलु, पडिमापडिवन्नगा मुणी चउरो ।
सीय विहूय कमेणं, पहरे पहरे गया सिद्धिं ॥ ४८८ ॥
उसिणे तगररहन्नग—चंपामसएसु सुमणभद्दरिसी ।
खमसमण अज्जरक्खिय, अचेल्लय यत्ते य उज्जेणी ॥४८६॥
अरई य जाइसूरो, भव्वो अ दुलहबोहीओ ।
कोसंबीए कहिओ, इत्थीए थूलभद्दरिसी ॥ ४६० ॥
कुल्लइरंमि य दत्तो, चरियाइपरीसहे समक्खाओ ।
सिद्धिसुयतिगिच्छणणं, अंगुलदीवो य वासम्मि ॥४६१॥
गयपुरकुरुदत्तसुओ, निसीहिया अडविंदेसपडिमाए ।
गाविकुविएण दड्ढो, गयसुकुमालो जहा भगवं ॥४६२॥
तो अणगारा धिज्जा—इयाइ कोसंबिसोमदत्ताइ ।
पाओवगयाणादिणे, सिज्जाए सागरे छूढा ॥ ४६३ ॥

महुराइमहुरखमओ, अक्कोसपरीसहे उ सविसेसो ।
वीओ रायगिहम्मि उ, अज्जुणमालारदिट्ठंतो ॥४६४॥
कुम्भारकडे नगरे, खंदगसीसाण जंतपीलणया ।
एवंविहे कहिज्जइ, जह सहियं तस्स सीसेहिं ॥ ४६५ ॥
तह झाणणाणवुत्तं, गीए संपठियस्स समुयाणं ।
तत्तो अलाभगम्मि उ, जह कोहं निज्जिणे कण्हो ॥४६६॥
किसिपारासरढंढो, बीयं तु अलाभगे उदाहरणं ।
कण्हबलभद्दमन्नं, चइऊण खमाविओ सिद्धो ॥४६७॥
महुरा जियसत्तुसुओ, अणगारो कालवेसिओ रोगे ।
मोग्गल्लसेलसिहरे, खइओ किल सरसियालेणं ॥४६८॥
सावत्थी जियसत्तू, तणवो निक्खमणपडिमतणफासे ।
वीरिय पविय विकंचण, कुसलेसणकड्डणासहणं ॥४६६॥
चंपासु णंदगं चिय, साहुदुगुंछाइजल्लखउरंगे ।
कोसंबी जम्मनिक्खमण—वेयणं साहुपडिमाए ॥५००॥
महुराइ इंददत्तो, सक्कारा पायछेयणे सड्ढो ।
पन्नाइ अज्जकालग, सागरखमणो य दिट्ठंतो ॥५०१॥
नाणे असगडताओ, खंभगनिधि अणहियासणे भद्दो ।
दंसणपरीसहम्मिउ, आसाढभूई उ आयरिया ॥५०२॥
चरियाए मरणंमि उ, समुइएणपरीसहो मुणीएवं ।
भाविज्ज निउणजिणमय—उवएससुईइअप्पाणं ॥५०३॥
उम्मग्गसंपयायं, मणहत्थिं विसयसुमरियमणंतं ।
नाणंकुसेण धीरो, धरेइ दित्तंपि व गइंदं ॥ ५०४ ॥
एए उ अहासूरा, महिड्ढिएको व भाणिउं सत्तो ? ।
किं वातिमूवमाए, जिणगणधरथेरचरिएसुं ॥ ५०५ ॥
किं चित्तं जइ नाणी, सम्मद्दिट्ठी करंति उच्छाहं ।
तिरिएहिवि दुरणुचरो, केहिवि अणुपालिओ धम्मो५०६
अरुणासिहं दट्ठूणं, मच्छोसणी महासमुद्दंमि ।
हाण गहिउ त्ति काले, झसत्ति संवेगमावण्णो ॥५०७॥
अप्पाणं निंदंतो, उत्तरिऊणं—महन्नवजलाओ ।
सावज्जजोगविरओ, भत्तपरिण्णं करेसी य ॥ ५०८ ॥
खगतुंडभिन्नदेहो, दूसहसूरग्गितावियसरीरो ।
कालं काऊण सुरो, उववन्नो एव सहणिज्जं ॥ ५०६ ॥
सो वानरंजूहवई, कंतारे सुविहियाऽणुकंपाए ।
भासुरवरबुंदिधरो, देवो वेमाणिओ जाओ ॥ ५१० ॥
तं सीहसेणगयवर—चरियं सोऊण दुक्करंऽरसे ।
को हु णु तवे पमायं, करेज्ज जाओ मणुस्सेसुं ? ॥५११॥
भुयगपुरोहियडक्को, राया मरिऊण सल्लइवणंमि ।
सुपसत्थगंधहत्थी, बहुभयगयमेलणो जाओ ॥५१२॥
सो सीहचंदमुणिवर—पडिमापडिबोहिओ सुसंवेगो ।
पाणवहाऽलियचोरिय—अब्बंभपरिग्गहनियत्तो ॥५१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रागदोसनियत्तो, छट्ठक्खमणस्स पारणे ताहे ।
आसासिऊणं पंडं, आयवतत्तं जलं पासी ॥ ५१४ ॥
खमगत्तण निम्मंसो, धवणिसिरो जालसंतयसरीरो ।
विहरिय अप्पप्पाणो, मुणिउवएसं विचिंततो ॥ ५१५॥
सो अन्नयाणिदाहे, पंकोसन्नो वणं निरुत्थारो ।
चिरवेरिएण दिट्ठो, कुकुडसप्पेण घोरेणं ॥ ५१६ ॥
जिणवयणमणुगुणितो, ताहे सव्वं चउव्विहाऽऽहारं ।
वोसिरिऊण गइंदो, भावेण जिणे नमंसीय ॥ ५१७॥
तत्थ य वणयरसुरवर, विम्हियकीरंतपूयसक्कारो ।
मज्झत्थो आसी किर, कलहेसु य जज्जरिज्जंतो ॥५१८॥
सम्मं सहिऊण तओ, कालगओ सत्तमंमि कप्पंमि ।
सिरितिलयंमि विमाणे, उक्कोसठिई सुरो जाओ ॥५१९॥
सुयदिट्ठिवायकहियं, एयं अक्खाणयं निसामित्ता ।
पंडियमरणंमि मई, दढं निवेसिज्जभावेणं ॥ ५२० ॥
जिणवयणमणुस्सद्धा, दोऽवि भुयंगा महाविसा घोरा ।
कासीय कोसियासय, तणूसु भत्तं भुइंगाणं ॥५२१॥
एगो विमाणवासी, जाओ वरविज्जपंजरसरीरो ।
बीओ उ नंदणकुले, बलु त्ति जक्खो महिड्ढीओ ॥५२२॥
हिमचूलसुरुप्पत्ती, भद्दगमहिसी य थूलभद्दो य ।
वेरोसवसमे कहणा, सुरभावे दंसणे खमणो ॥५२३॥
बावीसमाणुपुव्विं, तिरिक्खमणुयावि भेसणट्ठाए ।
विसयाऽणुकंपरक्खण, करेज्ज देवा उ उवसग्गं ॥५२४॥
संघयणधिईजुत्तो, नव दस पुव्वी सुएण अंगा वा ।
इंगिणि पाओवगमं, पडिवज्जइ एरिसो साहू ॥ ५२५ ॥
निच्चल निप्पडिकम्मो, निक्खिवए जं जहिं जहा अंगं ।
एयं पाओवगमं, सनिहारिं वा अनीहारिं ॥ ५२६ ॥
(अत्रत्याः पादोपगमनविषयिका अष्ट गाथाः 'पाओवगमण' शब्दे बृहत्कल्पोक्ताः सव्याख्या गतास्तत एवावगन्तव्याः)
देवोनेहेण णए, देवागमणं च इंदगमणं वा ।
जहियं इड्ढी कंता, सव्वसुहा हुंति सुहभावा ॥५३५॥
उवसग्गे तिविहेऽवि य, अणुकूले चेव तह य पडिकूले ।
सम्मं अहियासंतो, कम्मक्खयकारओ होइ ॥ ५३६ ॥
एयं पाओवगमं, इंगिणि पडिकम्मवण्णियं सुत्ते ।
तित्थयरगणहरेहि य,साहूहि य सेवियमुयारं ॥ ५३७॥
सव्वे सव्वऽद्धाए, सव्वन्नू सव्वकम्मभूमीसु ।
सव्वगुरू सव्वहिया, सव्वे मेरूसु अहिसित्ता ॥ ५३८ ॥
सव्वाहिऽवि लद्धीहिं, सव्वेऽवि परीसहे पराइत्ता ।
सव्वेऽवि य तित्थयरा,पाओवगया उ सिद्धिगया॥५३९॥
अवसेसा अणगारा, तीयपडुप्पन्नणागया सव्वे ।
केई पाओवगया, पच्चक्खाणिंगिणिं केई ॥ ५४० ॥

सव्वाऽवि अ अज्जाओ,सव्वेऽवि य पढमसंघयणवज्जा ।
सव्वे य देसविरया, पच्चक्खाणेण य मरंति ॥ ५४१ ॥
सव्वसुहप्पभवाओ, जीवियसाराओ सव्वजणिगाओ ।
आहाराओ रयणं, न विज्जए उत्तमं लोए ॥ ५४२ ॥
विग्गहगए य सिद्धे, मुत्तुं लोगंमि जम्मिया जीवा ।
सव्वे सव्वाऽवत्थं, आहारे हुंति आउत्ता ॥ ५४३ ॥
तं तारिसगं रयणं, सारंजं सव्वलोयरयणाणं ।
सव्वं परिचइत्ता, पाओवगया पविहरंति ॥ ५४४ ॥
एयं पाओवगमं, निप्पडिकम्मं जिणेहिं पन्नत्तं ।
तं सोऊणं खमओ, ववसायपरक्कमं कुणई ॥ ५४५ ॥
धीरपुरिसपन्नत्ते, सप्पुरिसनिसेविए परमरम्मे ।
धण्णा सिलायलगया, निरावयक्खा णिवज्जंति ॥५४६॥
सुव्वंति य अणगारा, घोरासु भयाणियासु अडवीसुं ।
गिरिकुहरकंदरासु य, विजणेसु य रुक्खहेट्ठेसुं ॥ ५४७ ॥
धीधणियबद्धकच्छा, भीया जरमरणजम्मणसयाणं ।
सेलसिलासयणत्था, साहंति उ उत्तमट्ठाइं ॥ ५४८ ॥
दीवोदहिऽरसेसु य, खयरा वहियासु पुणरवि य तासु ।
कमलसिरीमहिलादिसु, भत्तपरिन्ना कया थीसु ॥५४९॥
जइ ताव सावयाकुल-गिरिकंदरविसमकडगदुग्गासुं ।
साहिंति उत्तमट्ठं, धिइधणियसहायगा धीरा ॥ ५५० ॥
किं पुण अणगारसहा-यगेण अन्नुन्नसंगहवलेणं ।
परलोए य न सक्का, साहेउं अप्पणो अट्ठं ?॥ ५५१ ॥
सम्मुइन्नेसु अ सुविहिय !, उवसग्गमहब्भयेसु विविहेसुं ।
हियएण चिंतणिज्जं, रयणनिही एस उवसग्गो ॥ ५५२ ॥
किं जायं जइ मरणं, अहं च एगागिओ इहं पाणी ।
वसिओ हं तिरियत्ते, बहुसो एगागिओऽरन्ने ॥५५३॥
वसिऊण वि जणमज्झे, वच्चइ एगागिओ इमो जीवो ।
मुत्तूण सरीरघरं, मच्चुमुहाऽऽकड्ढिओ संतो ॥ ५५४ ॥
जह बीहंति अ जीवा, विविहाण विहासियाण एगागी ।
तह संसारगएहिं, जीवेहिं विहेसिया अन्ने ॥ ५५५ ॥
सावयभयाऽभिभूओ, बहुसु अडवीसु निरभिरामासु ।
सुरहिहरिणमहिससयर-करवोडियरुक्खछायासु ॥५५६॥
गयगवयखग्गगंडय-वग्घतरच्छच्छभल्लचरियासु ।
भल्लुंकिकंकदीविय, संचरसब्भावकिणासुं ॥ ५५७ ॥
मत्तगइंदनिवाडिय-भिल्लपुलिंदावकुंडियवणासुं ।
वसिओऽहं तिरियत्ते, भीसणसंसारचारम्मि ॥ ५५८ ॥
कत्थ य मुद्धमिगत्ते, बहुसो अडवीसु पयइविसमासु ।
वग्घमुहाव डिएणं, रसियं अइभीयहियएणं ॥ ५५९ ॥
कत्थइ अइदुप्पिक्खो, भीसणविगरालघोरवयणोऽहं ।
आसिमहं वि य विग्घो, रुरुमहिसवराहविद्दवओ ॥५६०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कत्थइ दुव्विहिएहिं, रक्खसवेयालभूयरूवेहिं।
छलिओ वहिओ य अहं, मणुस्सजम्मंमि निस्सारो॥५६१॥
पयइ कुडिलम्मि कत्थइ,संसारे पाविऊण भूयत्तं।
बहुसो उव्वियमाणो, मए वि वीहाविया सत्ता॥५६२॥
विरसं आरसमाणो, कत्थइ रणे सुधाइओ अह यं।
सावयगहणंमि वणे, भयभीरूखुभियचित्तोऽहं॥५६३॥
पत्तं विचित्तविरसं, दुक्खं संसारसागरगएणं।
रसियं च असरणेणं, कयं तदंतंतरगएणं॥ ५६४॥
तइया कीस न हायइ, जीवो जइया सुसाणपारिविद्धं।
भल्लुंकिकंकवायस–सएसु ढोकिज्जए देहं॥ ५६५॥
ता तं खिज्जिणिऊणं, देहं मुत्तूण वच्चए जीवो।
सो जीवो अविणासी, भणिओ तेलुकदंसीहिं॥५६६॥
तं जइ ताव न मुचइ, जीवो मरणस्स उव्वियंतोऽवि।
तम्हा मज्झन जुज्जइ, दाउण भयस्स अप्पाणं॥५६७॥
एवमणुचिंतयंता, सुविहिय! जरमरणभावियमईया।
पावंति कयपयत्ता, मरणसमाहिं महाभागा॥ ५६८॥
एवं भावियचित्तो, संथारवरंमि सुविहिय! सयाऽवि।
भावेहि भावणाओ, बारसजिणवयणदिट्ठाओ॥५६९॥
इह इत्तो चउरंगे, चउत्थमग्गं सुसाहुधम्मंमि।
वन्नेइ भावणाओ, वारसिमो वारसंगविऊ॥ ५७०॥
समणेण सावएण य, जाओ निच्चं पि भावणिज्जाओ।
दढसंवेगकरीओ, विसेसओ उत्तमट्ठंमि॥५७१॥
पढमं अणिच्चभावं, असरण यं एगयं च अन्नत्तं।
संसारमसुभयाऽवि य, विविहं लोगस्सहावं च॥५७२॥
कम्मस्स आसवं सं–वरं च निज्जरणमुत्तमे य गुणे।
जिणसासणंमि बोहिं, च दुल्लहं चिंतए मइमं॥ ५७३॥
सव्वट्ठाणाइ असा–सयाइं इह चेव देवलोगे य।
सुरअसुरनराईणं, रिद्धिविसेसा सुहाइं वा॥ ५७४॥
मायापिईहिँ सहव—ड्ढिएहिँ मित्तेहिँ पुत्तदारेहिं।
एगयओ सहवासो, पीई पणओऽवि अ अणिच्चो॥५७५॥
भवणेहिं व वणेहि य, सयणाऽऽसणजाणवाहणाईहिं।
संजोगो वि अणिच्चो,तह परलोगेहिं सह तेहिं॥५७६।
बलवीरियरूवजोव्वण,–सामग्गिसुभगया वपूसोभा।
देहस्स य आरुग्गं, असासयं जीवियं चेव॥ ५७७॥
जम्मजरामरणभये, अभिदुए विविहवाहिसंतत्ते।
लोगम्मि नऽत्थि सरणं, जिणिंदवरसासणं मुत्तुं॥५७८॥
आसेहि य हत्थीहि य, पव्वयमित्तेहिँ निच्चमित्तेहिं।
सावरणपहरणेहि य, बलवयमत्तेहिं जोहेहिं॥५७९॥
महया भडचडगरपह–करेण अवि चक्कवट्टिणा मच्चू।
न य जियपुव्वो केणऽइ, नीइबलेणाऽवि लोगंमि॥५८०॥
विविहेहि मंगलेहि य, विज्जामंतोसहीपओगेहिं।
न वि सक्का तारेउं, मरणाणऽवि रुणसोएहिं॥ ५८१॥
पुत्ता मित्ता य पिया, सयणो बंधवजणो अ अत्थो य।
न समत्था ताएउं, मरणा सिंदाऽवि देवगणा॥५८२॥
सयणस्स य मज्झगओ, रोगाभिहओ किलिस्सइ इहेगो।
सयणोऽवि य से रोगं,न विरिंचइ नेव नासेइ॥ ५८३॥
मज्झंमि बंधवाणं, इक्को मरइ कलुणरुयंताणं।
न य णं अन्नेति तओ, बंधुजणो नेव दाराइं॥ ५८४॥
इक्को करेइ कम्मं, फलमवि तस्सेकओ समणुहवई।
इक्को जायइ मरइ य, परलोयं इक्कओ जाइ॥ ५८५॥
पत्तेयं पत्तेयं, नियगं कम्मफलमणुहवंताणं।
कोकस्स जए सयणो?,को कस्स व परजणो भणिओ? ५८६
को केण समं जायइ, को केण समं च परभवं जाइ।
को वा करेइ किंची, कस्स व को कं नियत्तेइ?॥ ५८७॥
अणुसोअइ अन्नजणं, अन्नभवं तरगयं तु बालजणो।
न वि सोयइ अप्पाणं, किलिस्समाणं भवसमुद्दे॥५८८॥
अन्नं इमं सरीरं, अन्नोऽहं बंधवाऽविमे अन्ने।
एवं नाऊण खमं, कुसलस्स न तं खमं काउं?॥५८९॥
हा! जह मोहियमइणा, सुग्गइमग्गं अजाणमाणेणं।
भीमे भवकंतारे, सुचिरं भमियं भयकरम्मि॥ ५९०॥
जोणिसयसहस्सेसु य, असयं जायं मयं वऽणेगासु।
संजोगविप्पओगा, पत्ता दुक्खाणि य बहूणि॥५९१॥
सग्गेसु य नरगेसु य, माणुस्से तह तिरिक्खजोणीसुं।
जायं मयं च बहुसो, संसारे संसरंतेणं॥ ५९२॥
निब्भत्थणाऽवमाणण, वहबंधणरुंधणा धणविणासो।
ऽणेगा य रोगसोगा, पत्ता जाईसहस्सेसुं॥ ५९३॥
सो नऽत्थि इहोगा सो,लोए वालऽग्गकोडिमित्तो वि।
जम्मणमरणाऽबाहा, अणेगसो जत्थ न य पत्ता।५९४।
सव्वाणि सव्वलोए, रूवीदव्वाणि पत्तपुव्वाणि।
देहोवक्खरपरिभो–गयाइ दुक्खेसु य बहूसुं॥ ५९५॥
संबंधिबंधवत्ते, सव्वे जीवा अणेगसो मज्झं।
विविहवहवेरजणया, दासा सामी य मे आसी॥५९६॥
लोगसहावो धी धी, जत्थ व मायामया हवइ धूया।
पुत्तोऽवि य होइ पिया, पियाऽवि पुत्तत्तणमुवेइ॥५९७॥
जत्थ पियपुत्तगस्सऽवि, माया छाया भवंतरगयस्स।
तुट्ठा खायइ मंसं, इत्तो किं कट्ठयरमन्नं?॥ ५९८॥
धी संसारोजहियं, जुवाणओ परमरूवगव्वियओ।
मरिऊण जायइ किमी, तत्थेव कलेवरे नियए॥५९९॥
बहुसो अणुभूयाइं, अईयकालम्मि सव्वदुक्खाइं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाविहिइ पुणो दुक्खं,न करेहिइ जो जणो धम्मं ।६००।
धम्मेण विणा जिणदे-सिएण नऽन्नत्थ अत्थि किंचि सुहं ।
ठाणं वा कज्जं वा, सदेवमणुयाऽसुरे लोए ॥ ६०१ ॥
धम्मं अत्थं कामं, जाणिय कज्जाणि तिन्नि मिच्छंति ।
जं तत्थ धम्मकज्जं, तं सुभमियराणि असुभाणि ।६०२।
आयासकिलेसाणं, वेराणं आगरो भयकरो य ।
बहुदुक्खदुग्गइकरो, अत्थो मूलं अणत्थाण ॥ ६०३ ॥
किच्छाहिँ पाविउं जे, पत्ता बहुभयकिलेसदोसकरा ।
तक्खणसुहा बहुदुहा, संसारविवड्ढणा कामा ॥६०४॥
नऽत्थि य इह संसारे, ठाणं किंचिऽवि निरुवद्दयं नाम ।
ससुराऽसुरेसु मणुए, नरएसु तिरिक्खजोणीसुं ॥६०५॥
बहुदुक्खपीलियाणं, मइमूढाणं अणप्पवसगाणं ।
तिरियाणं नऽत्थि सुहं, नेरइयाणं कओ ? चेव ॥६०६॥
हयगब्भवासजम्मण-वाहिजरामरणरोगसोगेहिं ।
अभिभूए माणुस्से, बहुदोसेहिं न सुहमत्थि ॥ ३०७ ॥
मंसऽट्ठियसंघाए, मुत्तपुरिसभरिये नवच्छिद्दे ।
असुइं परिस्सवंते, सुहं सरीरम्मि किं ? अत्थि ॥६०८॥
इट्ठजणविप्पओगो, चवणभयं चेव देवलोगाओ ।
एयारिसाणि सग्गे, देवाऽवि दुहाणि पाविंति ॥६०९॥
ईसाविसायमको-हलोहदोसेहिँ एवमाईहिं ।
देवाऽवि समभिभूया,तेसु वि य कहं?सुहं अत्थि ।६१०।
एरिसयदोसपुण्णे, खुत्तो संसारसायरे जीवो ।
जं अइचिरं किलिस्सइ, तं आसवहेउअं सव्वं ॥६११॥
रागद्दोसपमत्तो, इंदियवसओ करेइ कम्माइं ।
आसवदारेहिँ अवि-गुहेहिँ तिविहेण करणेणं ।६१२॥
धिद्धी मोहो जेणिह, हियकामो खलु सपावमायरइ ।
न हु पावं हवइ हियं, विसं जहा जीवियऽत्थिस्स ।६१३॥
रागस्स य दोसस्स य, धिरत्थु जं नाम सद्दहंतो वि ।
पावेसु कुणइ भावं, आउरविज्ज व्व अहिएसुं ॥ ६१४ ॥
लोभेण अहव घत्थो, कज्जं न गणइ आयअहियं पि ।
अइलोहेण विणस्सइ,मच्छु व्व जहा गलंगिलिओ ।६१५।
धम्मं अत्थं कामं, तिन्निऽवि बुद्धो जणो परिचयइ ।
ताइं करेइ जेहि उ, किलस्सई इहं परभवे य ॥६१६॥
हुंति अजुत्तस्स विणा-सगाणि पंचिंदियाणि पुरिसस्स ।
उरगा इव उग्गविसा, रहिया मंतोसहिँ विणा ॥६१७॥
आसवदारेहिँ सया, हिंसाईएहिँ कम्ममासवइ ।
जह नावाइविणासे, छिद्देहिं जलं उयहिमज्झे ॥६१८॥
कम्माऽऽसवदाराइं, निरुंभियव्वाइँ इंदियाइं च ।
हंतव्वा य कसाया, तिविहं तिविहेण मुक्खत्थं ॥६१९॥
निग्गहियकसाएहिं, आसवा मूलओ हया हुंति ।
अहियाऽऽहारे मुक्के, रोगा इव आउरजणस्स ॥ ६२० ॥
नाणेण य झाणेण य, तवोबलेण य बलानिरुभंति ।
इंदियविसयकसाया, धरिया तुरगा व रज्जूहिं ॥६२१॥
हुंति गुणकारगाइं, सुयरज्जूहिं धणियं नियमियाइं ।
नियगाणि इंदियाइं, जइणो तुरगा इव सुदंता ॥६२२॥
मणवयणकायजोगा, जे भणिया करणसण्णिया तिण्णि।
ते जुत्तस्स गुणकरा, हुंति अजुत्तस्स दोसकरा ॥६२३॥
जो सम्मं भूयाइं, पासइ भूए अ अप्पभूए य ।
कम्ममलेण न लिप्पइ, सो संवरियासवदुवारो ॥६२४॥
धण्णा सत्तहियाइं, सुणंति धण्णा करंति सुणियाइं ।
धन्ना सुग्गइमग्गं, मरंति धण्णा गया सिद्धिं ॥६२५॥
धण्णा कलत्तनियले-हिँ विप्पमुक्का सुसत्तसंजुत्ता ।
वारीओव गयवरा, घरवारीओऽवि निप्फिडिया ।६२६॥
धण्णा उ करेंति तवं, संजमजेगेहिँ कम्ममट्ठविहं ।
तवसलिलेणं मुणिणो, धुणंति पोराणयं कम्मं ॥६२७॥
नाणमयवायसहिओ, सीलुज्जलिओ तवोमओ अग्गी ।
संसारकरणबीयं, दहइ दवग्गी व तणरासिं ॥ ६२८ ॥
इणमो सुगइगइपहो, सुदेसिउं उक्खओ जिणवरेहिं ।
ते धन्ना जे एयं पह-मणवज्जं पवज्जंति ॥ ६२९ ॥
जाहे य पावियव्वं, इह-परलोए य होइ कल्लाणं ।
ता एयं जिणकहियं, पडिवज्जइ भावओ धम्मं ॥६३०॥
जह जह दोसोवरओ, जह जह विसएसु होइ वेरग्गं ।
तह तह वियाणयाहि, आसन्नं से पयं परमं ।६३१॥
दुग्गो भवकंतारे, भममाणेहिं सुचिरं पणट्ठेहिं ।
दिट्ठो जिणोवइट्ठो, सुग्गइमग्गो कह वि लद्धो ।६३२॥
माणुस्सदेसकुलका-लजाइइंदियबलोवयाणं च ।
विन्नाणं सद्धा दं-सणं च दुलहं सुसाहूणं ॥ ६३३ ॥
पत्तेसु वि एएसुं, मोहस्सुदएण दुल्लहो सुपहो ।
कुपहबहुयत्तेण य, विसयसुहेणं च लोभेणं ।६३४॥
सो य पहो उवलद्धो, जस्स जए बाहिरे जणो बहुओ ।
संपत्तिचिय न चिरं, तम्हा न खमो पमाओ मे ।६३५॥
जह जह दढप्पइण्णो, समणो वेरग्गभावणं कुणइ ।
तह तह असुभं आयव-हयं व सीयं खयमुवेइ ॥ ६३६ ॥
एगअहोरत्तेणऽवि दड्ढपरिणामा अणुत्तरं जंति ।
कंडरिओ पुंडरिओ, अहरगईउड्ढगमणेसुं ॥ ६३७ ॥
बारसऽवि भावणाओ, एवं संखेवओ समत्ताओ ।
भावेमाणो जीवो, जाओ समुवेइ वेरग्गं ॥ ६३८ ॥
भाविज्ज भावणाओ, पालिज्ज वयाइं रयणसरिसाइं ।
पडिपुण्णपावखमणे, अइरा सिद्धिं पि पावहिसि ॥६३९॥
कत्थइ सुहं सुरसमं, कत्थइ निरओवमं हवइ दुक्खं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कत्थइ तिरियसरिच्छं, माणुसजाई बहुविचित्ता ॥६४०॥
दट्ठूणऽवि अप्पसुहं, माणुस्सं रोगदोससंजुत्तं ।
सुट्ठुऽवि हियमुवइट्ठं, कज्जं न मुणेइ मूढजणो ॥ ६४१ ॥
जह नाम पट्टणगओ, संते मुल्लंमि मूढभावेणं ।
न लहंति नरा लाहं, माणुसभावं तहा पत्ता ॥६४२॥
संपत्ते बलविरिए, सब्भावपरिक्खणं अजाणंता ।
न लहंति बोहिलाभं, दुग्गइमग्गं च पावंति ॥ ६४३ ॥
अम्मापियरो भाया, भज्जा पुत्ता सरीर अत्थो य ।
भवसागरम्मि घोरे, न हुंति ताणं च सरणं च ॥६४४॥
नऽवि माया नऽवि य पिया,न पुत्तदारा न चेव बंधुजणो।
न वि य धणं न वि धन्नं, दुक्खमुइन्नं उवसमेंति ॥६४५॥
जइयासयणिज्जगओ, दुक्खत्तो सयणबंधुपरिहीणो ।
उव्वत्तइ परियत्तइ, उरगो जह अग्गिमज्झम्मि ॥६४६॥
असुइ सरीरं रोगा, जम्मणसयसाहणं छुहा तण्हा ।
उण्हं सीयं वाओ–पहाभिघाया यऽणेगविहा ॥६४७॥
सोगजरामरणाइं, परिस्समोदीणया य दारिद्दं ।
तह य पियविप्पओगा, अप्पियजणसंपओगा य ।६४८।
एयाणि य अण्णाणि य, माणुस्से बहुविहाणि दुक्खाणि।
पच्चक्खं पिक्खंतो, को न मरइ तं विचिंतंतो ? ॥६४९॥
लद्धूण वि माणुस्सं, सुदुल्लहं केइ कम्मदोसेणं ।
सायासुहमणुरत्ता, मरणसमुद्देऽवगाहिंति ॥ ६५० ॥
तेण उ इहलोगसुहं, मुत्तूणं माणसंसियमईओ ।
विरतिक्खमणभीरू, लोगसुइकरण दोगुंछी ॥ ६५१ ॥
दारिद्दुक्खवेयण, बहुविहसीउण्हखुप्पिवासाणं ।
अरइभयसोगसामिय–तक्करदुब्भिक्खमरणाइं ॥६५२॥
एएसिं तु दुहाणं जं पडिवक्खं सुहंति तं लोए ।
जं पुण अचंतसुहं, तस्स परुक्खा सया लोया ॥६५३॥
जस्स न छुहा न तण्हा, न य सीउण्हं न दुक्खमुक्किट्ठं।
न य असुइयं सरीरं, तस्सऽसणाईसु किं कज्जं ? ॥६५४॥
जह निंबदुमुप्पन्नो, कीडो कडुयंऽपि मन्नए महुरं ।
तह मुक्खसुहपरुक्खा, संसारदुहं सुहं बिंति ॥ ६५५ ॥
जे कडुयदुमुप्पन्ना कीडा, वरकप्पपायवपरुक्खा ।
तेसिं विसालवल्ली, विसं व सग्गो य मुक्खो य ॥६५६॥
तह परतित्थियकीडा, विसयविसंकुरविमूढदिट्ठीया ।
जिणसासणकप्पतरु–वरपारुक्खरसा किलिस्संति।६५७।
तम्हा सुक्खमहातरु, सासयसिवफलयसुक्खसत्तेणं ।
मुत्तूण लोगसण्णं, पंडियमरणेण मरियव्वं ॥६५८॥
जिणमयभाविअचित्तो, लोगसुईं मलविरेयणं काउं ।
धम्मंमि तओझाणे, सुके य मईं निवेसह ॥६५९॥
सुणह-जह जिणवयणाम-य भावियहियएण झाणवावारो।
करणिज्जो समणेणं, जं झाणं जेसु झायव्वं ॥ ६६० ॥
एयं मरणविभत्तिं, मरणविसोहिं च नाम गुणरयणं ।
मरणसमाही तइयं, संलेहणसुयं चउत्थं च ॥ ६६१ ॥
पंचम भत्तपरिण्णा, छट्ठं आउरपच्चक्खाणं च ।
सत्तम महपच्चक्खाणं, अट्ठम आराहणपइण्णो ॥ ६६२ ॥
इमाओ अट्ठ सुयाओ, भावा उ गहियंमि लेस अत्थाओ ।
मरणविभत्ती रइयं, बियनाम मरणसमाहिं च ॥ ६६३ ॥
इति सिरिमरणविभत्तीपइण्णयं संमत्तं ॥ ८ ॥

द० प० १० प्रक० । (केन प्रकारेण म्रियमाणो जीवो वर्धते हापयति चेति 'खंदग' शब्दे तृतीयभागे गतम्) । (न केचिदकाले म्रियन्ते, इति हिंसा न दोषावहेति 'हिंसा' शब्दे निराकरिष्यते)

चोद्दसरज्जूलोए, गोयम ! वालऽग्गकोडिमित्तं पि ।
तं नऽत्थि पएसं जत्थ, अणंतमरणे न संपत्ते ॥१॥

महा० ५ अ० ।

ण य संसारंमि सुहं, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स ।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मोक्खो उवाएउ ॥ १ ॥

महा० ६ अ० । (मरणभेदाः " मरणविभत्तिं " शब्दे)

मरणंत–मरणान्त–पुं० । मरणरूपोऽन्तो मरणान्तः । स० ३२ समo । यावच्चरमोच्छ्वासः । ध० २ अधि० । चरमकाले,दश० ५ अ० २ उ० । " मरणंते वीति " (३६ गाथायाः व्याख्या 'मज्ज' शब्दे गता)

मरणकाल–मरणकाल–पुं० । मरणेन विशिष्टः कालो मरणकालः । अद्धाकाल एव, मरणमेव वा कालो, मरणस्य कालपर्यायत्वान्मरणकालः । तृतीये कालभेदे, भ० ।

से किं तं मरणकाले ? मरणकाले दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-जीवो वा सरीराउ । सरीरं वा जीवाउ । सेत्तं मरणकाले (सूत्र–२४४)

(जीवो वा सरीरेत्यादि) जीवो वा शरीरात् , शरीरं वा जीवात् वियुज्यत इति शेषः । वाशब्दौ शरीरजीवयोरवधिभावस्येच्छानुसारिता प्रतिपादनार्थाविति । भ० ११ श० ११ उ० ।

मरणजयज्झवसिय–मरणजयाध्यवसित–न० । सुभटभावतुल्ये, मर्त्तव्यं वा जयो वा प्राप्तव्य इति प्रवृत्तसुभटाध्यवसायसदृशे, (गाथा–५२०) पं० ब० २ द्वार ।

मरणदुक्खपडिकूल–मरणदुःखप्रतिकूल–पुं० । मरणलक्षणस्य दुःखस्य, मरणदुःखयोर्वा प्रतिकूलाः प्रतिपन्थिनः । मरणक्लेशपरिपन्थिषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

मरणदेसकाल–मरणदेशकाल–पुं० । मरणप्रस्तावे, (गाथा–११) तं० । (व्याख्या 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे गता)

मरणभय–मरणभय–न० । मरणमायुष्कक्षयलक्षणं तदेव भयं मरणभयम् । भयस्थानभेदे, (सूत्र–७) स० ६ सम० । स्था० ।

मरणविभत्ति–मरणविभक्ति–स्त्री० । मरणानि–प्राणत्यागलक्षणानि । तानि च द्विधा–प्रशस्तानि अप्रशस्तानि च । तेषां विभजनं–पार्थक्येन स्वरूपप्रकटनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा मरणविभक्तिः । नं० । आगमबाह्योत्कालिकद्वाविंशे श्रुतभेदे,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"मरणविभत्ति त्ति" मरणानि-प्राणत्यागलक्षणानि अनुसमयादीनि वर्त्तन्ते यत्र-यथोक्तम्—

"आवीइ १ ओहि२ अंतिय ३-वलायमरणं४वसट्टमरणं च ५।
अन्तोसल्लं ६ तब्भव ७-बालं ८ तह पंडियं ९ मीसं १० ॥१॥
छउमत्थमरण११केवलि१२-वेहाणस१३गिद्धपट्ठमरणं च १४।
मरणं भत्तपरिण्णा १५-इङ्गिणि१६ पाओवगमणं च १७।२।"

तत्राऽऽवीचिमरणम् आ-समन्ताद्वीचय इव वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपराऽपरायुर्दलिकोदयात् पूर्वपूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणावस्था यस्मिन् तदावीचिमरणम्। अथवा-वीचिर्विच्छेदस्तदभावादवीचिस्तल्लक्षणं मरणमवीचिमरणम्। 'ओहि त्ति' अवधिमरणम्, अवधिर्मर्यादा। ततश्च यानि नारकादिभवनिबन्धनतयाऽऽयुःकर्म्मदलिकान्यनुभूय म्रियते, यदि पुनः तान्येवानुभूय मरिष्यति तदा तदवधिमरणम्। संभवति हि-गृहीतोज्झितानामपि कर्म्मदलिकानां पुनर्ग्रहणं परिणामवैचित्र्यादिति। "अंतिय त्ति" आत्यन्तिकमरणम्-यानि नारकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते, मृतो वा न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यतीति।

वलवन्मरण-वशार्त्तमरणस्वरूपं यथा—

"संजमजोगविसन्ना, मरन्ति जे तं वलायमरणं तु ४।
इंदियविसयवसगया, मरन्ति जे तं वसट्टं तु ५॥५॥"

अन्तःशल्यमरणस्वरूपं यथा—

"लज्जाए गारवेण य, बहुसुयमएण वावि दुच्चरियं।
जे न कहन्ति गुरूणं, न हु ते आराहगा होन्ति॥१॥
गारवपङ्कनिवुड्डा, अइयारं जे परस्स न कहिन्ति।
दंसणनाणचरित्ते, ससल्लमरणं हवइ तेसिं॥२॥
एयं ससल्लमरणं, मरिऊणं महाभए दुरंतंमि।
सुचिरं भमंति जीवा, दीहे संसारकंतारे॥३॥-६॥"

तद्भवमरणस्वरूपमिदम्—

"मोत्तुं अकम्मभूमग-नरतिरिए सुरगणे य णेरइए।
सेसाणं जीवाणं, तब्भवमरणं तु केसिंचि॥७॥
तस्मिन्नेव भवे उत्पद्यमानानामिति भावना।

अथ वालादिमरणसप्तकस्वरूपं यथा-

"अविरयमरणं बालं ८, मरणं विरयाण पण्डियं बेंति ९।
जाणाहि बालपण्डिय, मरणं पुण देसविरयाणं १०॥१॥
मणपज्जवोहिनाणी, सुयमइणाणी मरन्ति जे समणा।
छउमत्थमरणमेयं ११, केवलिमरणं तु केवलिणो १२।२।
गिद्धादिभक्खणं गि-द्धपट्ठ १३ उब्बन्धणाइवेहासं १४।
एए दुन्नि वि मरणा, कारणजाए अणुन्नाया।३।"।
पा०। (विशेषः स्वस्वस्थानादवगन्तव्यः)

मरणवसाण–मरणाऽवसान–न०। प्राणवियोगसमये, विपा० १ श्रु० १ अ०।

मरणाऽऽसंसप्पओग–मरणाशंसाप्रयोग–पुं०। अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाया अतिचारभेदे, उपा०१ अ०। आ०। आव०। कश्चित्कर्कशक्षेत्रे कृतानशनः प्रागुक्तपूजाद्यभावे क्षुधार्त्तो वा चिन्तयति, किमिति शीघ्रं न म्रियेऽहमिति मरणाऽऽशंसाप्रयोगः। ध० २ अधि०। आव० (अत्र विशेषः "आसंसप्पओग" शब्दे)

मरणास–मरणाशा–स्त्री०। कस्यांचिदवस्थायां मरणप्राप्तिसंभावनायाम्, (सूत्र-४४६) भ० १२ श० ५ उ०।

मरमाण–म्रियमाण–त्रि०। प्राणांस्त्यजति, भ० १८ श०३उ०।

मरहट्ठ–महाराष्ट्र–पुं०। "महाराष्ट्रे"॥ ८।१।६९॥ इति सूत्रान्महाराष्ट्रशब्दे आदेराकारस्याद्वा भवति। मरहट्ठं। मरहट्ठो। प्रा० १ पाद। "महाराष्ट्रे हरोः"॥ ८।२।११९॥ महाराष्ट्रशब्दे हरोर्व्यत्ययो भवति। मरहट्ठ। प्रा० २ पाद। नर्मदायाः दक्षिणे कावेर्याश्चोत्तरे देशभेदे, स चानार्यदेशत्वेन परिगणितः (सूत्र-४) प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

मराल–मराल–पुं०। हंसे, "ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने, मराल इव मानसे" श्लोक-(१) अष्ट ५ अष्ट०। आव०। जडे, "मसिणं सणिअं मट्ठं, मंदं अलसं जडं मरालं च। खेलं निहुअं सइरं, वीसत्थं मंथरं थिमिअं॥१५॥" पाइ० ना० १५ गाथा। हंसे, "धयरट्ठा कायम्बहंसा धवलसउणा मराला य" पाइ० ना० ५९ गाथा।

मरालि–मरालि–पुं०। म्रियत इव शकटाऽऽदौ योजितो राति च ददाति लतादि लीयते च भुवि पतनेनेति मरालिः। गाथा (सूत्र ४) दुष्टपशौ, गवि, अश्वे च। उत्त० १ अ०।

मराली–देशी–सारसी-दूती-सखीषु, दे० ना० ६ वर्ग० १४२ गाथा।

मरिउं–मृत्वा–अव्य०। मृतिम् आसेव्य इत्यर्थे, (गाथा-४२) पञ्चा० १५ विव०।

मर्तुम्–अव्य०। मारणं कर्तुमित्यर्थे, तं०।

मरिएव्व–मर्तव्य–न०। "तव्यस्य इएव्वउं एवा"॥८।४।४३८॥ अपभ्रंशे तव्यप्रत्ययस्यैते आदेशाः स्युः। इति तव्यत इएव्वाऽऽदेशः। कर्तव्ये प्राणत्यागे, "एउ गृण्हेप्पिणु ध्रुं मइं, जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ। मह्नु करिएव्वउं किंपि णवि, मरिएव्वउं परं देज्जइ। प्रा० ४ पाद।

मरिस–मृष–धा०। मर्षणे, "वृषादीनामरिः"॥८।४।२३५॥ वृषाऽऽदीनां धातूनामृवर्णस्यारिरित्यादेशो भवति। मरिसइ। मृष्यते। प्रा० ४ पाद।

मरीइ–मरीचि–पुं०। किरणे, आ० म० १ अ०। रा०। औ०। स्था०। स०। आ० चू०। सू० प्र०। जं०। जातमात्रो मरीचिमुक्तवानित्यतो मरीचिमान् मरीचिः। अभेदोपचारान्मतुपो लोपाद्वेति। आ० म० १ अ०। मरीचिनामके भरतचक्रवर्तिपुत्रे, कल्प० १ अधि० २ क्षण। ऋषभपौत्रे, आ० म० १ अ०।

अह भणइ नरवरिंदो, तायइ मीसि त्ति आइपरिसाए।
अन्नोऽवि कोऽवि होही, भरहे वासम्मि तित्थयरो॥४२२॥

अथ भणति नरवरेन्द्रो भरतः। तात! अस्या एतावत्या पर्षदो मध्यात् अन्योऽपि-एकतरोऽपि कश्चिद्भविष्यति भारते वर्षे तीर्थकरः।

स्वाम्युक्तमाह—

तत्थ मरीई नामं, आइपरिव्वायगो उसभनत्ता।
सज्झायझाणजुत्तो, एगंते झायइमहप्पा॥४२२॥
तं दाएइ जिणिंदा, एव नरिंदेण पुच्छिओ संतो।
धम्मवरचक्कवट्टी, अपच्छिमो वीरनामु त्ति॥४२३॥

तत्र समवसरणैकदेशे मरीचिर्नाम आदिः प्रथमः परिव्रा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जकः ऋषभस्य नत्ता-पौत्रः स्वाध्यायध्यानयुक्तः एकान्ते ध्यायति महात्मा तं दर्शयति जिनेन्द्रः । एवं नरेन्द्रेण पृष्टः सन् एष धर्मवरचक्रवर्ती अपश्चिमो वीरनामा भविष्यतीति शेषः। आ० म० १ अ०।

इदानीं प्रकृतां मरीचिवक्तव्यतां पृच्छतां कथयतीत्यादिना प्रतिपादयति—

पुच्छंताण कहेई, उवट्ठिए देइ साहुणो सीसे ।
गेलन्नि अपडिअरणं,कविला इत्थं पि इहयं पि ॥४३७॥

गमनिका-पृच्छतां कथयति । उपस्थितान् ददाति साधुभ्यः शिष्यान् ग्लानत्वेऽप्रतिजागरणं कपिलः अत्राऽपि इहाऽपि । भावार्थः,स हि प्राग्व्यावर्णितस्वरूपो मरीचिर्भगवति निर्वृते साधुभिः सह विहरन् पृच्छतां लोकानां कथयति-धर्म्मं जिनप्रणीतमेव धर्म्माक्षिप्तांश्च प्राणिन उपस्थितान् ददाति साधुभ्यः शिष्यानिति। अन्यदा स ग्लानः संवृत्तः। साधवोऽप्यसंयतत्वान्न प्रतिजाग्रति । स चिन्तयति-निष्ठितार्थाः खल्वेते। नाऽसंयतस्य कुर्वन्ति,नापि ममैतत् कारयितुं युज्यते । तस्मात्कञ्चन प्रतिजागरकं दीक्षयामीति (आ० म०) (अत्रान्यद्वक्तव्यं 'कविल' शब्दे तृतीयभागे ३८७ पृष्ठे गतम्) मरीचिनाप्यनेन संसारोऽभिनिर्वर्त्तितः ।

त्रिपदीकाले च नीचैर्गोत्रकर्म्मबद्धमिति । अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह—

दुब्भासिएण इक्केण, मरीई दुक्खसायरं पत्तो ।
भमिओ कोडाकोडिं, सागरसरिनामधेज्जाणं ॥४३८॥

दुर्भाषितेन एकेनोक्तलक्षणेन मरीचिर्दुःखसागरं प्राप्तः । भ्रान्तः कोटीनां कोटी कोटिकोटी ताम् । केषामित्याह-(सागरसरिनामधेज्जाणं ति) सागरसदृशनामधेयानां सागरोपमानामिति गाथाऽर्थः ।

तम्मूलं संसारो, नीआगोत्तं च कासि तिवइंमि ।
अपडिक्कंतो बंभे, कविलो अंतद्धिओ कहए ॥ ४३९ ॥

तन्मूलं-दुर्भाषितमूलं संसारः सञ्जातः । तथा स एव नीचैर्गोत्रं च कृतवान् निष्पादितवान्, त्रिपद्यां प्राग्वर्णितस्वरूपायामिति । (अपडिक्कंतो बंभे त्ति) स मरीचिश्चतुरशीतिपूर्वशतसहस्राणि सर्वायुष्कमनुपाल्य तस्मात् दुर्भाषिताद्-दुर्वाचा अप्रतिक्रान्तोऽनिवृत्तः ब्रह्मलोके दशसागरोपमस्थितिर्द्देवः सञ्जात इति । आ० म० १ अ० । (अत्र कपिलविषयकं वक्तव्यं 'कविल' शब्दे तृतीयभागे ३८७ पृष्ठे गतम्)

इक्खागेसु मरीई, चउरासीई अ बंभलोगंमि ।
कोसिउ कुल्लागंमि, (गेसुं) असीइमाउं च संसारे ।४४०।

गमनिका—इक्ष्वाकुषु मरीचिरासीत् । चतुरशीतिं च पूर्वशतसहस्राण्यायुष्कं पालयित्वा 'बंभलोयम्मि' ब्रह्मलोके कल्पे देवः संवृत्तः । ततश्चायुष्कक्षयाच्च्युत्त्वा (कोसिउकोल्लागेसु ति) कोल्लाकसन्निवेसे कौशिको नाम ब्राह्मणो बभूव । (असीतिमाउं च संसारे त्ति) स च तत्राशीतिं पूर्वशतसहस्राण्यायुष्कमनुपाल्य (संसारे त्ति) तिर्यग्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणे पर्यटित इति गाथार्थः ।

संसारे कियन्तमपि कालमटित्वा स्थूणायां नगर्यां जात इति । अमुमेवार्थं 'थूणा' इत्यादिना प्रतिपादयति—

थूणाइ पूसमित्तो, आउं बावत्तरिं च सोहम्मे ॥
चेइअ अग्गिज्जोओ, चोवट्ठीसाणकप्पंमि ॥ ४४१ ॥

स्थूणायां नगर्यां पुष्पमित्रो नाम ब्राह्मणः संजातः (आउं बावत्तरिं च सोहंमे त्ति) तस्यायुष्कं द्विसप्ततिः पूर्वशतसहस्राण्यासीत्। परिव्राजकदर्शने च प्रव्रज्यां गृहीत्वा तां पालयित्वा कियन्तमपि कालं स्थित्वा सौधर्म्मे कल्पेऽजघन्योत्कृष्टस्थितिः समुत्पन्न इति । ('चेइयअग्गिज्जोओ चोवट्ठी साणकप्पम्मि' त्ति) सौधर्मच्युतः चैत्यसन्निवेशे अग्निद्योतो ब्राह्मणः सञ्जातः तत्र चतुःषष्टिपूर्वशतसहस्राण्यायुष्कमासीत् । परिव्राट् च सञ्जातो मृत्वा च ईशाने देवोऽजघन्योत्कृष्टस्थितिः संवृत्त इति गाथाऽर्थः ।

मंदिरे अग्गिभूइ, छप्पणा उ सणंकुमारंमि ।
सेअवि भारद्दाओ, चोआलीसं च माहिंदे ॥ ४४२ ॥

गमनिका-ईशानात् च्युतो(मंदिरे इति)मन्दिरसन्निवेशे अग्निभूतिनामा ब्राह्मणो बभूव । तत्र षट्पञ्चाशत्पूर्वशतसहस्राणि जीवितमासीत् । परिव्राजकश्च बभूव । मृत्वा (सणंकुमारम्मि त्ति) सनत्कुमारे कल्पे विमध्यमस्थितिर्देवः समुत्पन्न इति (सेअवि भारद्दाए चोयालीसं च माहिंदे त्ति) सनत्कुमाराच्च्युतः श्वेताम्ब्यां नगर्यां भारद्वाजो नाम ब्राह्मण उत्पन्न इति। तत्र च चतुश्चत्वारिंशत् पूर्वशतसहस्राणि जीवितमासीत् । परिव्राजकश्चाभवत् , मृत्वा च माहेन्द्रे कल्पेऽजघन्योत्कृष्टस्थितिर्देवो बभूवेति गाथार्थः ।

संसरिअ थावरो रा-यगिहे चउतीस बंभलोगंमि ।
छसु वि पारिव्वज्जं,भमिओ तत्तो अ संसारे ॥ ४४३ ॥

गमनिका—माहेन्द्राच्च्युत्त्वा , संसृत्य कियन्तमपि कालं संसारे, ततः स्थावरो नाम ब्राह्मणो राजगृहे समुत्पन्न इति । तत्र च चतुस्त्रिंशत् पूर्वशतसहस्राण्यायुष्कं परिव्राजक आसीत् । मृत्वा च ब्रह्मलोकेऽजघन्योत्कृष्टस्थितिर्देवः संजातः । एवं षट्स्वपि वारासु परिव्राजकत्वमधिकृत्य दिवमवाप्तवान् (भमिओ तत्तो अ संसारे) ततः ब्रह्मलोकाच्च्युत्त्वा भ्रान्तः संसारे प्रभूतं कालमिति गाथार्थः ।

रायगिह विस्सनंदी, विसाहभूई अ तस्स जुवराया ।
जुवरण्णो विस्सभूई, विसाहनंदी अ इअरस्स ॥ ४४४ ॥
रायगिह विस्सभूई, विसाहभूइसुओ खत्तिए कोडी ।
वाससहस्सं दिक्खा, संभूअजइस्स पासंमि ॥ ४४५ ॥

भावार्थः खल्वस्य गाथाद्वयस्य कथानकादवसेयः। तच्चेदम्- "रायगिहे नगरे विस्सनंदीराया। तस्स भाया विसाहभूती। सो य जुवराया । तस्स जुवरण्णो धारिणीए देवीए विस्सभूतीनाम पुत्तो जाओ । रण्णोऽवि पुत्तो विसाहनंदि त्ति । तस्स विस्सभूतिस्स वासकोडी आऊ । तत्थ पुप्फकरंडकं नाम उज्जाणं। तत्थ सो विस्सभूती अंतेउरवरगतो सच्छंदसुहं पवियरइ। ततो जा सा विसाहनंदिस्स माया तीसे दासचेडीओ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुप्फकरंडए उज्जाणे पत्ताणि पुप्फाणि य आणेंति। पेच्छंति य विस्सभूतिं कीडंतं। तासिं अमारसो जाओ। ताहे सा- हंति जहा-एवं कुमारो ललइ। किं अम्ह रज्जेण वा वलेण वा जइ विसानंदी न भुंजइ एवंविहे भोए। अम्ह नामं चेव। रज्जं पुण जुवरन्नो पुत्तस्स जस्सेरिसं ललियं। सा तासिं अंतिए सोउं देवी ईसाए कोवघरं पविट्ठा। जइ ताव रायाणए जीवतए एसा अवत्था जाहे राया मतो भविस्सइ ताहे इत्थ अम्हे को गणेहि त्ति ?। राया गमेइ। सा पसायं न गिण्हइ किं मे रज्जेण तुमे वत्ति। पच्छा तेण अमच्चस्स सिट्ठं। ताहे अमच्चो वि तं गमेति तह वि न ठाइ। ताहे अमच्चो भणइ—रायं! मा देवीए वयणातिक्कमो कीरउ। मा मारेहिइ अप्पाणं। राया भणति को उवाओ होज्जा। ण य अम्हं वंसे अन्नम्मि अभिगते उज्जाणे अण्णो अतीति। तत्थ वसंतमासं ठिओ। मासं जेत्तु अच्छइ। अमच्चो भणइ-उवाओ कज्जइ जहा अमुगो पच्चंतराया उक्कट्ठो अ- णज्जंता पुरिसा कूडलेहे उवणेंतु एवमेतेण कयगेण कूड- लेहा रन्ना उवट्ठाविया। ताहे राया जत्तं गिण्हइ। तं वि- स्सभूतिणा सुयं। ताहे भणति। मए जीवमाणे तुब्भे किं निग्गच्छह ? ताहे सो गओ। ताहे चेव इमो अइयओ। सो गओ। तं पच्चंतं जाव न किं चि पेच्छइ अडुमरं तं ताहे आहिंडित्ता जाहे नत्थि कोइ अतिक्कमइ। ताहे पुणरवि पुप्फकरंडयं उज्जाणमागओ। तत्थ दारवालादंडगहिअग्गह- त्था भणंति-मा अईह सामी! सो भणति। किं निमित्तं। एत्थ विसाहनंदी कुमारो रमइ। ततो एयं सोऊण कुविओ वि- स्सभूई। तेण नायं केण अहं निग्गच्छाविओ त्ति। तत्थ कविट्ठलता अणेगफलभरसमोणया सा मुट्ठिप्पहारेण आ- हया। ताहे तेहिं कविट्ठेहिं भूमी अत्थुया। तो भणति—एवं अहं तुब्भं सीसाणि पाडिंतो। जइ अहं महल्लपिउणो गो- रवं न करेंतो। अहं भे छम्मेण नीणिओ। तम्हा अलाहि भोगेहिं। तओ निग्गओ भोगा अवमाणमूलं ति। अज्जसं- भूयाणं थेराणं अंतिए पव्वइओ। तं पव्वइयं सोउं ताहे रा- या संतेउरपरियणो जुवराया य निग्गओ। ते तं खमावेंति। ण य तेसिं सो आणत्तिं गेण्हइ। ततो वहुहिं छट्ठऽट्ठमादिएहिं अप्पाणं भावेमाणो विहरति। एवं सो विहरमाणो महुरं न- गरिं गओ। इओ य विसाहनंदी कुमारो तत्थ महुराए पिउ- च्छाए रन्नो अग्गमहिसीए धूया लद्धेल्लिया। तत्थ से रायमग्गे- आवासो दिन्नो। सो य विस्सभूती अणगारो मासखमणपार- णगे हिंडंतो तं पएसमागते जत्थ ठाणे विसाहनंदी कुमारो अ- त्थइ। ताहे तस्स पुरिसेहिं कुमारो भण्णइ। सामि! तुब्भे एयं न या- णह? सो भणति। न याणामि। तेहिं भणइ। एस सो विस्सभूती कुमारो। ततो तस्स तं दट्ठूण रोसो जाओ। एत्थंतरे सूइयाए गावीए पेल्लिओ पडिओ। ताहे तेहिं उक्कुट्ठिकलयलो कओ। इमं च तेहिं भणियं। तं वलं तुब्भ कविट्ठपाडणं च कहिं गयं ? ताहे तेण ततो पलोइयं दिट्ठो य णेण सो पावो। ताहे अमरिसे- णं तं गाविं अग्गसिंगेहिं गहाय उड्ढं स वहति। सुदुव्वलस्स वि सिंघस्स किं सियालेहिं वलं लंघिज्जइ? ताहे चेव नियत्तो इमो दुरप्पा अज्ज वि मम रोसं वहइ। ताहे सो नियाणं करेइ। जइ इमस्स तवनियमस्स वंभचेरस्स फलमत्थि तो आगमेसाणं अ- परिमियवलो भवामि। तत्थ सो अणालोइयपडिक्कंतो महासुक्के उववण्णो। तत्थुक्कोसठितीओ देवो जातो। ततो चइऊण पोय- णपुरे णगरे पुत्तो पयावइस्स मिगावईए देवीए कुच्छिंसि उव- वण्णो। तस्स कहं पयावती नामं? तस्स पुव्विं रिउसत्तु त्ति नामं होत्था। तस्स भद्दाए देवीए अन्नए अयले नामं कुमारे होत्था। त- स्स य अयलस्स भगिणी मियावती नाम दारिया अतीव रूव- वती। सा य उम्मुक्कवालभावा सव्वालंकारविभूसिया पिउ- पायवंदिगा गया। तेण सा उच्छंगे निवेसिया, सो तीसे रूवे जोव्वणे य अंगफासे य मुच्छिओ। तं विसज्जेत्ता पउरजण- वयं वाहरइ। ताहे भणइ। जं एत्थ रयणं उप्पज्जइ तं कस्स?। ते भणंति-तुब्भं एवं तिन्नि वारा साहिते सा चेडी उवट्ठाविया। ताहे लज्जिया निग्गया तेसिं सव्वेसिं कुव्वमाणाणं गंधव्वेण विवाहेण सयमेव विवाहिया। उप्पाइयाणणं भारिया। सा भ- द्दापुत्तेण अयलेण समं दक्खिणापहे माहेस्सिरिं पुरिं निवेसेइ, महंतीए इस्सरीए कारिअ त्ति माहेस्सरी, अयले मायं ठवेऊण पिउमूलमागओ। ताहे लोएण पयावतीनामं कयं। पयाओणे- ण पडिवण्णा पयावति त्ति"। वेदेऽप्युक्तम् "प्रजापतिः स्वां दुहितरमकामयत्"। ताहे महासुक्काओ चइऊणं तीए मिया- वतीए कुच्छिंसि उववण्णो। सत्त सुविणा दिट्ठा। सुमिणपाढगेहिं पढमवासुदेवो आइट्ठो। कालेण जातो तिण्णि य से पिट्ठकरंडग त्ति तिविट्ठू नामं कयं। मायाए परिमक्खिओ उण्हतेल्लेणंति जो- व्वणगमणुप्पत्तो। इत्तो य महामंडलिओ आसग्गी राया। सो निमित्तियं पुच्छइ। कतो मम भयं ति? तेण भणियं जो चंडमेहं दूयं आधरिसेहि त्ति। अवरंते य महावलगं मारेसीहं ति। ततो ते भयं ति। तेण सुयं जहा पयावतिपुत्ता महावलगा। ताहे तत्थ दूयं पेसेइ, तत्थ अंतेउरपेच्छणयं वट्टइ तत्थ य दूतो पवि- ट्ठो राया उट्ठिओ। पेच्छयणं भग्गं कुमारा पेच्छगेण अक्खित्ता भणंति। को एस? तेहिं भणियं जहा आसग्गीवरण्णो दूओ। ते भणंति। जाहे एस वच्चेज्जा ताहे कहेज्जाह। सो राइणा पूएऊण विसज्जिओ। पधाविओ अप्पणो विसयस्स कहियं कुमारा- णं। तेहिं गंतूण अद्धपहे हओ। तस्स जे सहाया ते सव्वे दिसो दिसिं पलाया। रण्णा सुयं जहा आध- रिसिओ दूओ, संभंतेण निपत्तिओ। ताहे रण्णा विउणं तिउणं दाऊण मा हु रणो साहिज्जसु जं कुमारेहिं कयं। तेण भणियं न साहेमि। ताहे जे ते पुरओ गया तेहिं सिट्ठं जहा आधरिसिओ दूओ। ताहे सो राया कुविओ। तेण दू- एण नायं। जहा-रन्नो पुव्वं कहिएल्लयं। जहावत्तं सिट्ठं। ततो आसग्गीवेण अन्नो दूओ पेसिओ। पच्चपयावइं गंतूण भणा- हि-मम सालिं रक्खाहि भक्खिज्जमाणं। गतो दूओ। रन्ना कुमारा उवलद्धा। किह अकालमच्चू खवलिओ। तेण अम्हे आवारए चेव जत्ता आणत्ता। राया पहाविओ। ते भणंति-अ- म्हे वच्चामो। ते रुंभंता मड्डाए गता। गंतूण खेत्तिए भणंति। किह अन्ने रायाणो रक्खियाइया। ते भणंति-आसहत्थिरह- पुरिसपागारं काऊण केच्चिरं जाव करिसणं पविट्ठं। ति विदट्ठू भणति-कोएयचिरमच्छइ[3]? मम तं पएसं दरिसेह। ते- हिं कहियं-एयाए गुहाए ताहे कुमारो रहेण तं गुहं पविट्ठो लोगेण दोहिं वि पासेहिं कलयलो कओ। सीहो वियंभंतो निग्गओ। कुमारो चिंतेइ-एस पादेहिं अहं रहेण। विस- रिसं जुद्धं आसिक्खेडगहत्थो रहाओ ओइन्नो। ताहे पुणो वि- चिंतेइ-एस दाढाणखायुद्धो अहमसिखेडगेण। एवमवि अ-

१ बलात् +२ आमन्त्रितः। ३ तिष्ठति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समंजसं। तं पि अपणे असिखेडगं छड्डियं। सीहस्स अमरिसो जाओ। एगं ताह रहेण गुहमतिगतो एगागी,वितियं भूमिं ओइएणे, ततियं आयुधाणि विमुकाणि। अज्जणं विणिवाएमि वयणेण त्ति–महया अवदालिएणं उक्कंदं काऊण संपत्तो। महया ताहे कुमारेण एगेण हत्थेण उवरिल्लो ओट्ठो एगेणं हेट्ठिल्लो गहिओ। तओ तेण जुएणपडगेण विव दुहा काऊण मुक्को। ताहे लोगेण उक्किट्ठकलयलो कओ। अहासन्निहियाए देवयाए आभरणवत्थकुसुमवरिसं वरिसियं। ताहे सीहो तेण अमरिसेण फुरफुरेंतो अच्छइ। एवं नाम अहं कुमारएण जुद्धेण मारिओ त्ति। तं च किर कालं भगवओ गोयमसामी रहसारही आसी। तेण भएणति–मा तुमं अमरिसं वहाहि। एस नरसीहो तुमं मियाधिवो। ता जति सीहो सीहेण मारिओ को एत्थ अवमाणो। ताणि सो वयणाणि मधुमिव पिवति। सो मरित्ता नरएसु उववएणो। सो कुमारो तं चम्मं गहाय नगरस्स पहाविओ। ते य गामेल्लए भएइ–गच्छह भो ! तस्स घोडयगीवस्स कहेह, जहा–अच्छसु वीसत्थो। तेहिं गंतूणं सिट्ठं। रुट्ठो दूयं विसज्जेइ। एए पुत्ते तुमं मम ओलग्गए पट्ठवेहि। तुमं महल्लो। जाहे पेच्छामि, सक्कारेमि,रज्जाणि य देमि। तेण भणियं अच्छंतु कुमारा, सयं चेव णं ओलग्गामि त्ति। ताहे सो भणति–किं न पेसेसि? अओ जुद्धसज्जो निग्गच्छति। सो दूओ तेहिं गंतूणं सिट्ठं,रुट्ठो दूयं विसज्जेइ। तेहिं आधरिसित्ता धाडिओ। ताहे सो आसग्गीवो सव्वबलेण उवट्ठिओ। इयरे वि देसंते ठिया। सुबहुं कालं जुज्झिऊण हयगयरहनरादिक्खयं च पिच्छिऊण कुमारेण दूओ पेसिओ। जहा–अहं च तुमं च दोन्नि वि जुद्धं संपलग्गामो। किं वा वहुएण अकारिजणेण मारिएणं? एवं होउ त्ति। विइयदिवसे रहेहिं संपलग्गा। जाहे आउहाणि खीणाणि ताहे चक्कं मुयइ तं तिविट्ठुस्स तुंवेण उरे पडियं। तेणेव सीसं छिन्नं, देवेहिं च घुट्ठं, जहेस तिविट्ठू पढमो वासुदेवो उप्पन्नो त्ति। तो सव्वे रायाणो पणिवायमुवगया उयइयं अद्धभरहं,कोडियसिला दंडवाहाहिं धारिया। एवं रहावत्तपव्वयसमीवे जुद्धमासी। एवं परिहायमाणे बले करहेण किर जाणुगाणि जाव किह वि पाविया। तिविट्ठू चुलसीतिं वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता कालं काऊण सत्तमाए पुढवीए अप्पतिट्ठाणे नरए तेत्तीसं सागरोवमट्ठितिओ नेरइओ उववन्नो। " अयमासां भावार्थः।

अक्षरार्थस्त्वभिधीयते–राजगृहे नगरे विश्वनन्दिनामा राजा अभूत्। विशाखभूतिश्च तस्य युवराजेति। तस्य युवराजस्य धारिणीदेव्या विश्वभूति–नामा पुत्र आसीत्। विशाखनन्दिश्चेतरस्य राज्ञ इत्यर्थः। तत्रेत्थमधिकृतो मरीचिजीवः (रायगिहे विस्सभूइ त्ति) राजगृहे नगरे विश्वभूतिनामा विशाखभूतिसुतः क्षत्रियोऽभवत्। तत्र च वर्षकोट्यायुष्कमासीत्। तस्मिंश्च भवे वर्षसहस्रं दीक्षा प्रव्रज्या कृता सम्भूतयतेः पार्श्वे। तत्रैव–

गोत्तासिउ महुराए, सनिआणो मासिएण भत्तेणं।
महसुक्के उववन्नो, तओ चुओ पोअणपुरंमि ॥ ४४६ ॥

गमनिका–पारणके प्रविष्टो गोत्रासितो मथुरायां निदानं चकार। मृत्वा च सनिदानोऽनालोचिताप्रतिक्रान्तो मासिकेन भक्तेन महाशुक्रे कल्पे उपपन्नः उत्कृष्टस्थितिर्देव इति। ततो महाशुक्राच्च्युतः पोतनपुरे नगरे॥

पुत्तो पयावइस्स, मिआवईदेविकुच्छिसंभूओ।
नामेण तिविट्ठु त्ति, आई आसी दसाराणं ॥ ४४७ ॥

गमनिका–पुत्रः प्रजापते राज्ञः मृगावतीदेवीकुक्षिसम्भूतो नाम्ना त्रिपृष्ठः "आदिः" प्रथम आसीत् दसाराणां,तत्र वासुदेवत्वं च चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि पालयित्वाऽधःसप्तमनरकपृथिव्यामप्रतिष्ठाने नरके त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिर्नारकः सञ्जात इति।

अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह–

चुलसीईमप्पइट्ठे, सीहो नरएसु तिरियमणुएसु।
पिअमित्तचक्कवट्टी, मूआइ विदेहि चुलसीइ ॥ ४४८ ॥

गमनिका–चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि वासुदेवभवे खल्वायुष्कमासीत्। तदनुभूय अप्रतिष्ठाने नरके समुत्पन्नः तस्मादप्युद्वृत्य सिंहो बभूव। मृत्वा च पुनरपि नरक एवोत्पन्न इति। (तिरियमणुएसु त्ति) पुनः कतिचिद्भवग्रहणानि तिर्यग्मनुष्येषूत्पद्य (पियमित्तचक्कवट्टीमूआइविदेहि चुलसीइ त्ति) अपरविदेहे मूकायां राजधान्यां धनञ्जयनृपतेर्धारणीदेव्यां प्रियमित्राभिधानश्चक्रवर्ती समुत्पन्नः। तत्र चतुरशीतिपूर्वशतसहस्राण्यायुष्कमासीदिति गाथाऽर्थः।

पुत्तो धणंजयस्स, पुट्टिल परिआउकोडि सव्वट्ठे।
णंदण छत्तग्गाए, पणवीसाउं सयसहस्सा ॥ ४४९ ॥

गमनिका–तत्राऽसौ प्रियमित्रपुत्रो धनंजयस्य धारणीदेव्याश्च भूत्वा चक्रवर्त्तिनो भोगान् भुक्त्वा कथंचित् सञ्जातसंवेगः सन् (पुट्टिलो इति) प्रोष्ठिलाचार्यसमीपे प्रव्रजितः (परियाउकोडिसव्वट्ठे त्ति) प्रव्रज्यापर्यायो वर्षकोटिर्बभूव। मृत्वा महाशुक्रे कल्पे सर्वार्थविमाने सप्तदशसागरोपमस्थितिर्देवोऽभवत्। (णंदण छत्तग्गाए पणवीसाउं सयसहस्से त्ति) ततः सर्वार्थसिद्धाच्च्युत्वा छत्राग्रायां नगर्यां जितशत्रुनृपतेर्भद्रादेव्या नन्दनो नाम कुमार उत्पन्न इति। पञ्चविंशतिवर्षशतसहस्राण्ययुष्कमासीदिति गाथार्थः।

तत्र च बाल एव राज्यं चकार। चतुर्विंशतिवर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा ततः–

पव्वज्ज पुट्टिले सय–सहस्स सव्वत्थ मासभत्तेणं।
पुप्फुत्तरि उववन्नो, तओ चुओ माहणकुलंमि ॥४५०॥

गमनिका–राज्यं विहाय प्रव्रज्यां कृतवान् (पोट्टिले त्ति) प्रोष्ठिलाचार्यान्तिके (सयसहस्सं ति) वर्षशतसहस्रं यावदिति। कथम्?, सर्वत्र मासभक्तेन अनवरतमासोपवासेनेति भावार्थः। अस्मिन् भवे विंशतिभिः कारणैस्तीर्थकरनामगोत्रं कर्म्म निकाचयित्वा मासिकया संलेखनयाऽऽत्मानं क्षपयित्वा षष्टिभक्तानि विहाय आलोचितप्रतिक्रान्तो मृत्वा (पुप्फुत्तरि उववन्नो त्ति) प्राणते कल्पे पुष्पोत्तरावतंसके विमाने विंशतिसागरोपमस्थितिर्देव उत्पन्न इति (तत्तो चुओ माहणकुलंमि त्ति) ततः पुष्पोत्तरात् च्युतो ब्राह्मणकुण्डग्रामे नगरे ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य देवानन्दायाः पत्न्याः कुक्षौ समुत्पन्न इति गाथाऽर्थः।

कानि पुनर्विंशतिकारणानि? यैस्तीर्थकरनामगोत्रं कर्म्म तेनोपनिबद्धमित्यत आह–

अरिहंत सिद्ध पवयण, गुरु थेरबहुस्सुए तवस्सीसुं।
वच्छलया एएसिं, अभिक्खनाणोवओगे य ॥ १७९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दंसणविणए आव–स्सए य सीलव्वए निरइआरो।
खणलवतवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥ १८० ॥
अपुव्वनाणग्गहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिँ कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ १८१ ॥
पुरिमेण पच्छिमेण य, एए सव्वेऽवि फासिया ठाणा।
मज्झिमएहिँ जिणेहिं, एक्कं दो तिष्णि सव्वे वा।।१८२॥

(आव०) टीका सुगमत्वान्न गृहीता। ग्रन्थादेवावसेया।

माहणकुंडग्गामे, कोडालसगुत्तमाहणो अत्थि।
तस्स घरे उववण्णो, देवाणंदाएँ कुच्छिंसि ॥ ४५७ ॥

अस्या व्याख्या। पुष्पोत्तराच्च्युतो ब्राह्मणकुण्डग्रामे नगरे कोडालसगोत्रब्राह्मणः ऋषभदत्ताभिधानोऽस्ति। तस्य गृहे उत्पन्नः देवानन्दायाः कुक्षाविति गाथार्थः। आव० १ अ०। आ० म०।

मरीइकवय–मरीचिकवच–न०। किरणजाले, रा०।"मरीइकवयंविणिम्मुयमाणे" मरीचिकवचं किरणजालपरिक्षेपं विनिर्मुञ्चन्। रा०।

मरीइया–मरीचिका–स्त्री०। मरीचिः किरणजालः सैव मरीचिका। औ०। मृगतृष्णायाम्, जलवदवभासमाने किरणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रा०।

मरीय–मरीच–पुं०। स्वनामख्याते कटुफलवृक्षे,तत्फले च। न०। कल्प० १ अधि० ७ क्षण। प्रज्ञा०। आ० म०।

मरु–मरु–पुं०। निर्जलदेशे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। औ०। आ० म०। यत्रारूढैरधस्तलं न दृश्यते तावदुच्चैः पर्वते, नि० चू० ११ उ०।

मरुग–मरुक–पुं०। ब्राह्मणे, बृ० १ उ० २ प्रक०। धिग्वर्णे, दश० ६ अ० ४ उ०।

मरुगाहरण–मरुकाहरण–न०। ब्राह्मणोदाहरणे समयप्रसिद्धौ, (गाथा–४६) पञ्चा० १५ विव०। (तद्वृत्तम् द्वितीयभागे ४२६ पृष्ठे)

मरुता–मरुता–स्त्री०। स्वनामख्यातायां श्रेणिकमहाराजाग्रमहिष्याम्, सा च वीरान्तिके प्रव्रज्य विंशतिवर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य सिद्धेति। अन्त० ७ वर्ग ५ अ०।

मरुत्थल–मरुस्थल–न०। देशविशेषे, (सूत्र०–२११) कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

मरुदेव–मरुदेव–पुं०। अस्यामवसर्पिण्यां भरते जातानां पञ्चदशकुलकराणां मध्ये त्रयोदशे कुलकरे,(सूत्र–२८)जं०२वक्ष०। अवसर्पिण्यां भरतजेषु सप्तकुलकरेषु षष्ठे कुलकरे, (सूत्र–१५१) स० १५७ सम०। कल्प०। स्था०। आ० चू०। ति०। ऐरवते वर्षे आगामिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति एकोनविंशे तीर्थंकरे, (५६ सूत्र) स० १५६ सम०। प्रव०। शत्रुंजयाख्ये-तीर्थे,शत्रुञ्जयः सिद्धक्षेत्रे तीर्थराजो मरुदेवो भगीरथ इति पर्यायोक्तेः। ती०१ कल्प। मल्लिजिनसमकालिके ऐरवतजे तीर्थंकरे, ति०।

मरुदेवज्झयण–मरुदेवाध्ययन–न०। कल्पकिरणावल्यां मरुदेव्यध्ययनं विभावयन् वीरः सिद्धिं गतः। तत्र मरुदेव्यध्ययनं कया रीत्या विभावितं तत्सम्यक् प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्– कल्पसूत्रावचूर्णौ मरुदेव्यध्ययनं विभावयन्–प्ररूपयन्नित्येव व्याख्यातमस्ति न तु विभावनरीतिः। २० प्र०। सेन०१ उल्ला०।

मरुदेवा–मरुदेवा–स्त्री०। नाभिकुलकरपत्न्याम्, आ० म० १ अ०। आ० चू०। औ०। ऋषभदेवमातरि, ति०। आ० क० स्था०। कल्प०। प्रव०। स०। आव०।

मरुदेवी–मरुदेवी–स्त्री०। प्रथमतीर्थंकरमातरि, (गाथा ६२४) पं० व० ३ द्वार।

मरुपक्कंदण–मरुप्रस्कन्दन–न०। मरोर्धावित्वा मरणार्थमधः कूर्दने नि० चू० ११ उ०।

मरुपडण–मरुपतन–न०। मरोः (यत्र पर्वते आरूढैरधस्तलं न दृश्यते) मरणबुद्ध्याऽधः पतने, नि०चू० ११ उ०।

मरुप्पवाय–मरुप्रपात–पुं०। निर्जलदेशप्रपाते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। औ०।

मरुय–मरुक–पुं०। विप्रे, जीत०। आ० चू०। आ० म०। नि० चू०। पा०। गन्धद्रव्ये गान्धिकप्रसिद्धे,ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। रा०। आग्नेयापरनामकेषु लोकान्तिकदेवेषु, स्था०।

मरुया देवा दुविहा पण्णत्ता तं जहा—एगसरीरे चेव बिसरीरे चेव।

मरुतो देवा लोकान्तिकदेवविशेषाः (स्था०) ते चैकशरीरिणो विग्रहे कार्मणशरीरत्वात् तदनन्तरं वैक्रियभावात्। द्विशरीरिणः। द्वयोः शरीरयोः समाहारो द्विशरीरं तदस्ति येषां ते तथा। (सूत्र–८०) स्था० २ ठा० २ उ०।

मरुयग–मरुवक–पुं०। वकजातिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

मरुयवसभकप्प–मरुकवृषभकल्प–पुं०। देवनाथभूते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

मरुजवृषभकल्प–पुं०। देशोत्पन्नगन्धभूते अङ्गीकृतकार्यनिर्वाहके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

मरुल–देशी–भूते, प्रेते, दे० ना० ६ वर्ग ११४ गाथा।

मरो–देशी–मशके,उलूके च। दे० ना० ६ वर्ग १४० गाथा।

मल–मृद्–धा०। मर्दने, "मृदो मल-मढ-परिहट्ट-खड्ड-चड्ड-मड्डपन्नाडाः" ८।४।१२६ इति मृद्नातेर्मलाऽऽदेशः। मलइ। मढइ। मृद्नाति। प्रा० ४ पाद।

मल—अस्त्री०। पापविद्किट्टेषु, इह मलाः प्रक्रमाच्चित्तस्यैव सम्बन्धिनः परिगृह्यन्ते, ते च रागादयो रागद्वेषमोहाः जातिसंग्रहीताः। व्यक्तिभेदेन भूयांसः। षो० ३ विव०। स्वेदे, दे० ना० ६ वर्ग १११ गाथा। द्रव्यमलः शरीरसंभवः, भावमलः कर्मजनितः। कल्प० १ अधि० ६ क्षण। जीवस्य ज्ञानावरणादिकर्मश्लेषनिमित्तभावे, यो०विं०। पापे, आ० म० १ अ०। 'कम्मंति वा खुहंति वा वोणंति वा कलुसंति वा वोच्छंति वा वेरंति वा पंको त्ति वा मलो त्ति वा एते एगट्ठिया' नि० चू०२० उ०। पूर्वबद्धं कर्ममलम्। अथवा–निकाचितं मलम्, अथवा–सांपरायिकं मलम्। ल०। आव०। ध०।

१ नोट—सोमिलेति। आ० म०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मलस्तु योग्यता योग-कषायाख्यात्मनो मता।
अन्यथाऽतिप्रसङ्गः स्या-ज्जीवत्वस्याविशेषतः ॥ २७ ॥
मलस्तु योगकषायाख्यात्मनो योग्यता। तस्या एव बहुत्वाल्पत्वास्यां दोषोत्कर्षापकर्षोपपत्तेः अन्यथा-जीवत्वस्याविशेषतः सर्वत्र साधारणत्वादतिप्रसङ्गः, मुक्तेष्वपि बन्धापत्तिलक्षणः स्यात् ॥ २७ ॥ द्वा० १२ द्वा०। रयो मलोपकमप्याः योगो रयोवद्धो मलो पुव्वोवचितो मला आग। अहवा योरयो वज्झमाणो मलो पुव्वोवचित सेलो अवावट्टो रयो निकाइओ मलो। अहवा-इरियावहितं रयो संपराइयं मलो" आ० चू० २ अ०। अतिचारे, अभ्यन्तरमललिप्तोऽपि देवानामर्चनं लोके करोति। बाह्यमललिप्तः पुनर्न करोति। व्य०७ उ०। ('असज्झाइय' शब्दे प्रथमभागे ८३४ पृष्ठे प्रसङ्गतः किंचिदुक्तम्) बाह्याङ्गसमुत्थे स्वदेहवारिसम्पर्कोत्कठिनीभूते रजसि, आव० ४ अ०। आ० म०। ज्ञा०।

मलअ-देशी०। गिर्येकदेशे, पवने च। दे० ना० ६ वर्ग १४४ गाथा। "मलओ उज्जाणं आरामो" पाइ० ना० १३८ गाथा।

मलंपिअ-देशी-गर्विष्ठे, दे० ना० ६ वर्ग १२२ गाथा।

मलन-मर्दन-न०। विनाशे, यो० विं०। अस्थिषु सुखत्वादिना शरीरस्य संबाधने, स्था० ४ ठा० २ उ। बृ०। फालने, स० ११ अङ्ग।

मलपंकपुव्वय-मलपङ्कपूर्वक-न०। शुक्ररेतोजनिते, उत्त० १ अ०। "मलपंकपुव्वयंति" जीवशुद्ध्यपहारितया मलवन्मलः स चासौ "पावे वज्जे वेरे पंके पणए य त्ति" वचनात्पङ्कश्च कर्ममलपङ्कः। स पूर्वं कार्यात् प्रथमभावितया कारणमस्येति मलपङ्कपूर्वकम्। यद्वा-"माओ य पिऊ सुक्कं ति" वचनात् रक्तशुक्रे एव मलपङ्के, उत्त० १ अ०।

मलपरिसह-मलपरीषह-पुं०। मलः प्रस्वेदजलसम्पर्कतः कठिनीभूतं रजः स एव परिषहो मलपरीषहः (६९१ गाथा) प्रव०८६ द्वार। जल्लपरीषहापरनामके परीषहभेदे, भ० ८ श० ८ उ०। "मल त्ति" स्वेदवारिसंपर्कात्कठिनीभूतं रजः मलोऽभिधीयते। स वपुषि स्थिरतामितो ग्रीष्मे संतापजनितघर्मजलार्द्रतां गतो दुर्गन्धिमहान्तमुद्वेगमापादयति। तदपनयनाय कदाचिदभिषेकाभिलाषं कुर्यात्। आव० ४ अ०। मलो हि "ग्रीष्माऽऽतापपरिक्लिन्नान्, सर्वाङ्गीणान्महामुनिः। नोद्विजेत न सिस्नासे-न्नोद्वर्तयेत् सहेत तु।" ध० ३ अधि०।

मलपरिसहविजय-मलपरीषहविजय-पुं०। अप्कायिकादिजन्तुपीडापरिहारायामरणादस्नानव्रतधारिणः पटुरविकिरणप्रपातजनितप्रस्वेदवारिसम्पर्कलग्नपवनानीतपांशुनिचयस्य मलापनयनासङ्कल्पितमनसः सज्ज्ञानदर्शनचारित्रविमलसलिलप्रक्षालनेन कर्ममलनिराकरणाय नित्यमुद्यतमतेर्मलपीडासहने, पं० सं० ४ द्वार।

मलय-मलय-पुं। चन्दनद्रुमोत्पत्तिप्रसिद्धे गिरौ, जं० ३ वक्ष०। ज्ञा०। रा०। जी०। औ०। नि०। मलयोद्भवत्वान्मलयम्। श्रीखण्डे, जी०३ प्रति० ४ अधि०। आ० म०। प्रज्ञा०। भद्दिलपुरे मलया (आर्यक्षेत्रम्) प्रव० २७५ द्वार। सूत्र०। नवके आस्तरणविशेषे, मलयदेशोत्पन्नवस्त्रविशेषे, मलयोत्पन्नपट्टसूत्रे, अनु०। आचा०।

मलयकेउ-मलयकेतु-पुं०। स्वनामख्याते सार्थवाहसुते, दर्श० ३ तत्त्व।

मलयकेदु-मलयकेतु-पुं०। स्वनामख्याते राक्षसकुमारे, "अय्य एशे क्खु कुमाले मलयकेदू" प्रा० ४ पाद।

मलयगा(ग्गा)म-मलयग्राम-पुं०। स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र छद्मस्थविहारेण विहरन् वीरस्वामी पिशाचादिरूपेणोपसर्गितः। आ० चू० १ अ०।

मलयगिरि-मलयगिरि-पुं०। सप्ततिकाख्य-षष्ठकर्मग्रन्थकर्मप्रकृतिपञ्चसंग्रहज्योतिष्करण्डप्रज्ञापनाजीवाभिगमाद्यनेकग्रन्थवृत्तिक्षेत्रसमासाद्यनेकप्रकरणकारके स्वनामख्याते सूरौ, कर्म० १ कर्म०।

षष्ठकर्मग्रन्थस्यादिमवृत्तानि—
अशेषकर्मांशतमस्समूह-क्षयाय भास्वानिव दीप्ततेजाः।
प्रकाशिताशेषजगत्स्वरूपः,प्रभुः स जीयाज्जिनवर्द्धमानः ॥१॥
जीयाज्जिनेशसिद्धान्तो, मुक्तिकामप्रदीपनः ॥
कुश्रुत्यातपतप्तानां, सान्द्रो मलयमारुतः ॥ २ ॥
चूर्णयो नावगम्यन्ते, सप्ततेर्मन्दबुद्धिभिः ॥
ततः स्पष्टावबोधार्थं, तस्याष्टीकां करोम्यहम् ॥ ३ ॥
ऋहर्निशं चूर्णिविचारयोगा-न्मन्दोऽपि शक्तो विवृतिं विधातुम्।
निरन्तरं कुम्भनिकर्षयोगाद्ग्रामोऽपि कूपे समुपैति घर्षीम्॥४॥
कर्म० ६ कर्म०।

तथान्तिमवृत्तम्—
प्रकरणमेतद्विषमं, सप्ततिकाख्यं विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि गलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥१॥
कर्म० ६ कर्म०।
"बह्वर्थमल्पशब्दं, प्रकरणमेतद्विवृण्वतामखिलम्।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ ३ ॥
पं० सं० ५ द्वार ५ प्रक०।
"दुर्बोधातपकष्ट-व्यपगमलेप्वेव विमलकीर्तिभरः।
टीकामिमामकार्षी-न्मलयगिरिः पेसलवचोभिः ॥ १ ॥
व्य० १० उ०।
"ज्योतिःकरण्डकमिदं, गम्भीरार्थं विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ २ ॥
ज्यो० २१ पाहु०।
जीवाजीवाभिगमं, विवृण्वताऽवापि मलयगिरिणेह।
कुशलं तेन लभन्तां, मुनयः सिद्धान्तसद्बोधम् ॥ ३ ॥
जी० १० प्रति०।
एनामतिगम्भीरां, कर्मप्रकृतिं विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ ६ ॥
क० प्र०।
नत्वा गुरुपदकमलं, प्रभावतस्तस्य मन्दशक्तिरपि।
आवश्यकनिर्युक्तिं, विवृणोमि यथागमं स्पष्टम् ॥ ३ ॥ आ० म० १ अ०। श्रीमलयगिरिकृतः श्रीआवश्यकबृहद्वृत्तिप्रथमखण्डः समाप्तः। आ० म० १ अ० १ खण्ड।
नन्द्यध्ययनं पूर्वं, प्रकाशितं येन विषमभावार्थम्।
तस्मै श्रीचूर्णिकृते, नमोऽस्तु विदुषे परोपकृते ॥ १ ॥
मध्ये समस्तभूपीठं, यशो यस्याऽभिवर्द्धते।
तस्मै श्रीहरिभद्राय, नमष्टीकाविधायिने ॥ २ ॥
वृत्तिर्वा चूर्णिर्वा, रम्यापि न मन्दमेधसां योग्या।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभवदिह तेन तेषा-मुपकृतये यत्न एष कृतः ॥ ३ ॥
बह्वर्थमल्पशब्दं, मन्द्यध्ययनं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥४॥ नं० ।
कृत्वा प्रज्ञापनाटीकां, पुण्यं यदवापि मलयगिरिरनवम् ।
तेन समस्तोऽपि जनो, लभतां जिनवचनसद्बोधम् ॥ १ ॥
जयति हरिभद्रसूरि-र्टीकाकृद्विवृतविषमभावार्थः ।
यद्वचनवशादहमपि, जातो लेशेन विवृतिकरः ॥ २ ॥
प्रज्ञा० ३६ पद ।

सूर्यप्रज्ञप्तिमिमा-मतिगम्भीरां विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, साधुजनस्तेन भवतु कृती ॥ ३ ॥
सू० प्र० २० पाहु० ।

चन्द्रप्रज्ञप्तिमिमा-मतिगम्भीरां विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, साधुजनस्तेन भवतु कृती ॥ ३३ ॥
मलयगिरेः समयो गुरुपरंपरादिकं च न ज्ञायते तथाऽपि-हरिभद्रसूरेर्वाकृतन इति ज्ञायते। चं० प्र० २० पाहु० ।

मलयप्पभसूरि-मलयप्रभसूरि-पुं० । चन्द्रगच्छीय-मानतुङ्ग-सूरिशिष्ये, अयं विक्रम-संवत्-१२६० विद्यमान आसीत् अनेन स्वगुरुकृते सिद्धजयत्युपरि टीका कृता । जै०इ० ।

मलयय-मलयज-पुं० । मलयो नाम देशस्तत्संभवो मलयजः। मलयदेशोद्भवे चन्दने, स्था० ५ ठा० ३ उ० । बृ० ।

मलयरुह-मलयरुह-न० । चन्दने, " (३७७) मलयरुहं चंदनं च इकंगं " पाइ० ना० १४७ गाथा ।

मलयवई-मलयवती-स्त्री० । काम्पिल्यदुहितरि ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिभार्यायाम्, उत्त० १३ अ० ।

मलयवुत्ती-देशी-रजस्वलायाम्, दे०ना०६ वर्ग १२५ गाथा ।

मलवट्टी-देशी-युवत्याम्, दे० ना० ६ वर्ग १२४ गाथा ।

मलहर-देशी-तुमुले, दे०ना० ६ वर्ग १२० गाथा ।

मलार-मलार-पुं० । मलमिवारा प्राजनकविभागो यस्यासौ मलारः। गलिगवे, सम्म० ३ काण्ड ।

मलावधंसि-मलापऽध्वंसिन्-त्रि०। मलवदत्यन्तमात्मनि लीनतया मलोऽष्टप्रकारं कर्म तदपध्वंसते इत्येवं शीलो मलाऽपध्वंसी। मलविनाशकृत् जीवितं बृंहयित्वा लाभान्तरे लाभविच्छेदेऽन्तर्बहिश्च मालाश्रयत्वान्मल औदारिकशरीरम्,तदपध्वंसी । अष्टकर्म्मलक्षणमलस्यापध्वंसको-निवारको मलापध्वंसी। उत्त० ४अ०। औदारिकशरीरमोचके,उत्त० ४ अ०।

मलिअ-देशी-लघुक्षेत्रकुण्ययोः, दे० ना० ६वर्ग १४४ गाथा ।

मलिण-मलिन-त्रि०।कलुषे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। "मलिणवत्थे" मलिनानि वस्त्राणि यस्याऽसौ मलिनवस्त्रः । दर्श० ३ तत्त्व ।

मलिम्मुय-मलिम्लुच-पुं० । तस्करे, अष्ट० १४ अष्ट० ।

मलिय-मलित-त्रि० । अधःकृते, संथा० । कृतमानभङ्गे.औ०। पुरुषाभिलषणीयर्येषिदङ्गमर्दने, न० । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

मलियकण्टय-मलितकण्टक-न० । मलिता मानभञ्जनादित्यर्थः कण्टकादयो यत्र राज्ये तन्मलितकण्टकम्। स्था० ६ ठा० । मलिता उपद्रवं कुर्वाणा मानम्लानिमापादिताः कण्टका यत्र तन्मलितकण्टकम्। मलितदायादे,रा०। सूत्र०।

मलियसत्तु-मलितशत्रु-न० । मलितास्तद्धतसैन्यत्रासापादनतो मानम्लानिमापादिताः शत्रवो यत्र तन्मलितशत्रु । मलिताः कृतमानभङ्गाः शत्रवोऽगोत्रजा यत्र राज्ये तत्। अ-गोत्रजशत्रुरहिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । औ ।

मलीमस-मलीमस-त्रि० । मलिने, " (६०२) मइलं मलीमसं " पाइ० ना० २५६ गाथा ।

मलुस्सग्ग-मलोत्सर्ग-पुं० । पुरीषोत्सर्गे, "मूत्रोत्सर्गं, मलोत्सर्गं-मैथुनं स्नानभोजनम् । सन्ध्यादिकर्म्मपूजां च कुर्याज्जापं च मौनवान् " ॥१॥ ध० २ अधि० । (अत्र विशेषतो वक्तव्यं 'थंडिल' शब्दे चतुर्थभागे गतम्)

मल्ल-मल्ल-पुं०।भुजयुद्धकारिणि,जं० २ वक्ष०। विपा० । मौष्टिकयुद्धकारिणि, औ० । नि० चू० । बलयुक्ते, आ० म० । कुड्यावष्टम्भस्थाणौ, बलहरणाश्रिते छित्वराधारभूते ऊर्ध्वाऽऽयते वा काष्ठे, भ० ८ श० ६ उ० । कठिनीभूते रजसि, औ० । संथा० । एकविंशतितमे भविष्यत्तीर्थंकरे नारदजीवे, ती० २० कल्प ।

माल्य-"अधो-म-न-याम्"॥८।२।७८॥ इति यकारलोपः । तदनन्तरम्,अवशिष्टस्य-'अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम्'॥८।२।८९॥ इति लकारस्य द्वित्वम्। माल्यम्। मल्लं। प्रा० । जात्यादिकुसुमे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उत्त०। ग्रथितपुष्पे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

चउव्विहे मल्ले पण्णत्ते । तं जहा-गंथिमे वेढिमे पूरिमे संघाइमे । (सूत्र-३७४)

मालायां साधु; माल्यं पुष्पम्। तद्वचनापि माल्यम् ग्रन्थः संदर्भः सूत्रेण ग्रन्थनं तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमं मालादि । वेष्टनं वेष्टस्तेन निर्वृत्तं वेष्टिमं मुकुटादि , पूरणेन-निर्वृत्तं पूरिमं मृन्मयमनेकच्छिद्रं वंशशलाकादिपञ्जरं वा यत् पुष्पैः पूर्यते इति । संघातेन निर्वृत्तं सङ्घातिमम् । यत्परस्परतः पुष्पनालादिसंघातेनोपजन्यत इति। स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्र० । पुष्पध्वजि, ध० २ अधि० । प्रश्न० । पुष्पदामनि, आ० म० १ अ० । ग्रथितपुष्पमालायाम् ,जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पञ्चा०।औ०। मालायाम्, (३५०) " मल्लं माला दामं " पाइ० ना० १४० गाथा ।

मल्लइ-मल्लकिन्-पुं० । राजविशेषे, औ० । भ० । रा० ।

मल्लकिट्ट-मल्लकिट्ट-न० । एकादशे देवलोकविमानभेदे, स० २१ सम० ।

मल्लखेड्ड-मल्लक्ष्वेडा-स्त्री० । मल्लक्रीडायाम् , दर्श० १ तत्त्व ।

मल्लग-मल्लक-पुं० । न० । शरावे, नं० । ज्ञा० । नि०चू० । विशे० । खण्डशरावे, भिक्षाभाजने. ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

मल्लजुज्झ-मल्लयुद्ध-न० । मल्लयोर्हस्ताहस्तियुद्धे,औ० । ज्ञा०।

मल्लजोय-माल्ययोग-पुं० । नवमालिकावकुलचम्पकपुन्नागाऽशोकमालतीविचकिलादिषु ग्रथनार्हकुसुमेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

मल्लदाम-माल्यदामन्-न०। मालायै हितानि माल्यानि पुष्पा-

नोट-१ छित्वराणि-वंशादिमयानि छादनाधारभूतानि किलिञ्जानि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णि। तेषां माला इति। ज्ञा० १ श्रु० ।कुसुममालासु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। पुष्पस्रजि, औ०। आ० म०। भ०।

मल्लदामकलाव–माल्यदामकलाप–पुं०। पुष्पमालासमूहे, "मल्लदायकलाव त्ति" पुष्पमालासमूहा इति। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। औ०। रा०।

मल्लदिन्न–मल्लदत्त–पुं०। मल्लीतीर्थकृदनुजे विदेहवरराजपुत्रे, स्था० ७ ठा०। ज्ञा०।

मल्लपेहा–मल्लप्रेक्षा–मल्लानां प्रेक्षणके,जी०३प्रति०४ अधि०।

मल्लय–देशी–अपूपभेद–शराव–कुसुम्भरक्त–चषकेषु, दे०ना० ६ वर्ग १४५ गाथा।

मल्लराम–मल्लराम–पुं०। कस्मिंश्चित् परिवर्त्ते गोशालकजीवशरीरे, "विप्पजहामित्ता मल्लरामस्स सरीरगं अणुप्पविस्सामि" भ० १५ श०।

मल्लवाइ–मल्लवादिन्–पुं०। मल्लनामके जिनानन्दसूरिशिष्ये, वल्लभीपुरराजशिलादित्यसमक्षं स्वगुरुविजेतुर्बौद्धाचार्यस्य विजयेन वादिविरुदमाप्ते स्वनामख्याते आचार्ये, पद्मचरित्रनामकं रामायणमनेनैव रचितम्। विक्रमसंवत् ३१४ वर्षेऽयमासीत्। जै० इ०।

मल्लाणि–देशी–स्त्री०। "मातुलान्याम् (८७०) मल्लाणी मामी" पाइ० ना० २५३ गाथा।

मल्लाणी–देशी–स्त्री०।मातुलान्याम्, दे०ना०६वर्ग ११२ गाथा।

मल्लि–मल्लि–स्त्री०। परीषहादिमल्लजयान्निरुक्तान्मल्लिः। तथा गर्भस्थे मातुः सुरभिकुसुममाल्यशयनीयदोहदो देवतया पूरित इति मल्लिः। ध० २ अधि०। 'इयाणिं मल्लि त्ति' इह परिषहादिमल्लजयात् प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च मल्लिः। तत्थ सव्वेहिं पि परीसहमल्ला रागदोसा य 'निहय त्ति' सामन्नं। आ० चू०।

विशेषस्त्वेवम्–

वरसुरहिमल्लसयणंमि, डोहलो तेण होइ मल्लिजिणो (१०८६)

गब्भगए माऊए, सव्वोउगवरसुरभिकुसुममल्लसयणिज्जे दोहलो जातो। सो य देवताए पडिसंमाणिओ दोहलो तेण स "मल्लि" त्ति णामं कतं। आव० २ अ०। अस्यामवसर्पिण्यां जाते भारतवर्षेकोनविंशतितमे तीर्थकरे, अनु०। स्था०।

मल्लिपूर्वभवः–

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे वासे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चच्छिमे णं निसढस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं सीयोयाए महाणदीए दाहिणेणं सुहावहस्स वक्खारपव्वतस्स पच्चच्छिमेणं पचच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं। एत्थ णं सलिलावती–नामं विजए पन्नत्ते। तत्थ णं सलिलावतीविजए वीयसोया नामं रायहाणी पण्णत्ता, नवजोयणवित्थिन्ना० जाव पच्चक्खं देवलोगभूया। तीसे णं वीयसोगाए रायहाणीए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए इंदकुंभे नामं उज्जाणे तत्थ णं वीयसोगाए रायहाणीए बले नामं राया। तस्सेव धारिणी पामोक्खं देविसहस्सं उवरोधे होत्था। तते णं सा धारिणी देवी अन्नया कदाइ सीहं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा० जाव महब्बले नामं दारए जाए उम्मुक्क० जाव भोगसमत्थे। तते णं तं महब्बलं अम्मापियरो सरिसियाणं कमलसिरीपामोक्खाणं पंचण्हं रायवरकन्नासयाणं एगदिवसेणं पाणिं गेण्हावेंति। पंच पासायसया पंचसतो दातो० जाव विहरति। थेरागमणं इंदकुंभे उज्जाणे समोसढे परिसा निग्गया। बलो वि निग्गओ धम्मं सोच्चा णिसम्म जं नवरं महब्बलं कुमारं रज्जे ठावेति० जाव एक्कारसंगवी बहूणि वासाणि सामण्णपरियायं पाउणित्ता जेणेव चारुपव्वए मासिएणं भत्तेणं सिद्धे, तते णं सा कमलसिरी अन्नदा सीहं सुमिणे०जाव बलभद्दो कुमारो जाओ। जुवराया याऽवि होत्था। तस्स णं महब्बलस्स रन्नो इमे छप्पियवालवंयसगा रायाणो होत्था। तं जहा–अयले १, धरणे २, पूरणे ३, वसु ४, वेसमणे ५, अभिचंदे ६, सहजायया० जाव संहिच्चा ते णित्थरियव्वे त्ति कट्टु अन्नमन्नस्सेयमट्ठं पडिसुणेंति। तेणं कालेणं तेणं समएणं इंदकुंभे उज्जाणे थेरा समोसढा, परिसा णिग्गया महब्बले णं धम्मं सोच्चा जं नवरं छप्पियबालवयंसए आपुच्छामि बलभद्दं च कुमारं रज्जे ठावेमि० जाव छप्पियबालवयंसए आपुच्छति। तते णं ते छप्पिय बालवयंसए महब्बलं रायं एवं वदासी–जति णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे पव्वयह, अम्हं के अन्ने आहारे वा० जाव पव्वयामो। तते णं से महब्बले राया ते छप्पियबालवयंसए एवं वदासी–जति णं तुब्भे मए सद्धिं० जाव पव्वयह तो णं गच्छह जेट्ठे पुत्ते सएहिं सएहिं रज्जेहिं ठावेह पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ दुरूढा ०जाव पाउब्भवंति। तते णं से महब्बले राया छप्पियबालवयंसए पाउब्भूते पासति पासित्ता हट्ठ तुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता बलभद्दस्स अभिसेओ, आपुच्छति। तते णं से महब्बले० जाव महया इड्ढीए पव्वतिए एक्कारस अंगाइं बहूहिं चउत्थ० जाव भावेमाणे विहरति। तते णं तेसिं महब्बलपामोक्खाणं सत्तण्हं अणगाराणं अन्नया कयाइ एगयओ सहियाणं इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था जण्णं अम्हं देवाणुप्पिया ! एगे तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति। तए णं अम्हेहिं सव्वेहिं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति पडिसुणित्ता बहूहिं चउत्थ० जाव विहरति। तते णं से महब्बले अणगारे इमेणं कारणेणं इत्थिणामगोयं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कम्मं निव्वत्तेसु जति णं ते महब्बलवज्जा छ अणगारा चउत्थं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति। ततो से महब्बले अणगारे छट्ठं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। जति णं ते महब्बलवज्जा अणगारा छट्ठं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति ततो से महब्बले अणगारे अट्ठमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति। एवं अट्ठमं तो दसमं अह दसमं तो दुवालसं। इमेहि य णं वीसाएहि य कारणेहिं आसेवियबहुलीकएहिं तित्थयरनामगोयं कम्मं निव्वत्तिंसु। तं जहा–

अरहंत सिद्ध पवयण, गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छल्लया य तेसिं, अभिक्खणाणोवओगे य॥ १॥
दंसण विणए आव-स्सए य सीलव्वए निरइयारं।
खणलव तव चियाए, वेयावच्चे समाही य॥२॥
अपुव्वणाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीओ॥३॥"

तए णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति०जाव एगराइयं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति। तते णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा खुड्डागं सीहनिकीलियं तवोकम्मं उवसपज्जित्ता णं विहरंति (क्षुद्रकसिंहनिष्क्रीडिततपस्स्वरूपम् 'सीहणिकीलिय' शब्दे वक्ष्यामि) तए णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा खुड्डागं सीहनिकीलियं तवोकम्मं दोहिं संवच्छरेहिं अट्ठावीसाए अहोरत्तेहिं अहासुत्तं ०जाव आणाए आराहेत्ता जेणेव थेरे भगवंते तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता थेरे भगवंते वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामो णं भंते! महालयं सीहनिकीलियं तहेव जहा खुड्डागं। नवरं चोत्तीस इमाओ नियत्तए एगाए परिवाडीए कालो एगेणं संवच्छरेणं छहिं मासेहिं अट्ठारसहि य अहोरत्तेहिं समप्पेति (विस्तरतः महासिंहनिष्क्रीडितस्वरूपं 'महासीहणिकीलिय' शब्दे वक्ष्यामि) सव्वं पि सीहनिकीलियं छहिं वासेहिं दोहि य मासेहिं वारसहिं य अहोरत्तेहिं समप्पेति। तए णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा महालयं सीहनिकीलियं अहासुत्तं ०जाव आराहेत्ता जेणेव थेरे भगवंते तेणेव उवागछंति उवागच्छित्ता थेरे भगवंते वंदंति नमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता बहूणि चउत्थ०जाव विहरंति। तते णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा तेणं ओरालेणं सुका भुक्खा जहा खंदओ नवरं थेरे आपुच्छित्ता चारुपव्वयं दुरूहंति दुरूहंतित्ता०जाव दोमासियाए संलेहणाए सवीसं भत्तसयं चतुरासीतिं वाससयसहस्सातिं सामण्णपरियागं पाउणंति पाउणंतित्ता चुलसीतिं पुव्वसयसहस्सातिं सव्वाउयं पालइत्ता जयंते विमाणे देवत्ताए उववन्ना। (सूत्र० ६४)

तत्थ णं अत्थेगतियाणं देवाणं बत्तीसं सागरोवमाइं ठिती। तत्थ णं महब्बलवज्जाणं छण्हं देवाणं देसूणाइं बत्तीससागरोवमाइं ठिती। महब्बलस्स देवस्स पडिपुन्नाइं बत्तीसं सागरोवमाइं ठिती। तते णं ते महब्बलवज्जा छप्पियदेवा ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विसुद्धपितिमातिवंसेसु रायकुलेसु पत्तेयं पत्तेयं कुमारत्ताए पच्चायासी, तं जहा–पमिबुद्धी इक्खागुराया चंदच्छाए अंगराया संखे कासिराया रुप्पी कुणालाहिवती अदीणसत्तू कुरुराया जितसत्तू पंचालाहिवई, तते णं से महब्बले देवे तिहिं णाणेहिं समग्गे उच्चट्ठाणट्ठिएसु गहेसु सोमासु दिसासु वितिमिरासु विसुद्धासु जइ तेसु सउणेसु पयाहिणाणुकूलंसि भूमिसप्पिंसि मारुतंसि पवायंसि निप्फन्नसस्समेइणीयंसि कालंसि पमुइयपक्कीलिएसु जणवएसु अद्धरत्तकालसमयंसि अस्सिणीणक्खत्तेणं जोगमुवागएणं जे से हेमंताणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे फग्गुणसुद्धे तस्स णं फग्गुणसुद्धस्स चउत्थिपक्खेणं जयंताओ विमाणाओ बत्तीसं सागरोवमट्ठितीयाओ अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे मिहिलाए रायहाणीए कुंभगस्स रन्नो पभावतीए देवीए कुच्छिसि आहारवक्कंतीए सरीरवक्कंतीए भववक्कंतीए गब्भत्ताए वक्कंते, तं रयणिं च णं चोद्दसमहासुमिणा वन्नओ। भत्तारकहणं सुमिणपाढगपुच्छा ०जाव विहरति। तते णं तीसे पभावतीए देवीए तिण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं इमेयारूवे डोहले पाउब्भूते धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाओ णं जलथलयभासुरप्पभूएणं दसद्धवन्नेणं मल्लेणं अत्थुयपच्चत्थुयंसि सयणिज्जंसि सन्निसन्नाओ सण्णिवन्नाओ य विहरंति, एगं च महं सिरिदामगंडं पाडलमल्लियचंपयअसोगपुन्नागनागमरुयगदमणगअणोज्जकोज्जयपउरं परमसुहफासदरिसणिज्जं महया गंधद्धणिं मुयंतं अग्घायमाणीओ डोहलं विणेंति। तते णं तीसे पभावतीए देवीए इमेयारूवं डोहलं पाउब्भूतं पासित्ता अहासन्निहिया वाणमंतरा देवा खिप्पामेव जलथलय० जाव दसऽद्धवन्नमल्लं कुंभग्गसो य भारग्गसो य कुंभगस्स रन्नो भवणंसि वा० साहरंति। एगं च णं महं सिरिदामगंडं० जाव मुयंतं उवणेंति। तए णं सा पभावती देवी जलथलय० जाव मल्लेणं डोहलं विणेति। तए णं सा पभावती देवी पसत्थडोहला० जाव विहरइ। तए णं सा पभावती देवी नवण्हं मासाणं अद्धट्ठमाण य रत्तिंदियाणं जे से हेमंताणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे मग्गसिरसुद्धे तस्स णं० एकारसीए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अस्सिणीनक्खत्तेणं उच्चट्ठा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ण०जाव पमुइयपक्कीलिएसु जणवएसु आरोयाऽऽरोयं एकूणवीसतिमं तित्थयरं पयाया। (सूत्र-६५)

तेणं कालेणं तेणं समएणं अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीओ मयहरीयाओ जहा जंबुद्दीवपन्नत्तीए जम्मणं सव्वं नवरं मिहिलाए कुंभयस्स पभावतीए अभिलाओ संजोएयव्वो० जाव नंदीसरवरे दीवे महिमा। तया णं कुंभए राया बहूहिं भवणवति० ४ तित्थयर० जाव कम्मं० जाव नामकरणं, जम्हा णं अम्हे इमीए दारियाए माउए मल्लसयणिज्जंसि डोहलेऽवि णीते तं होउ णं णामेणं मल्ली। जहा महाबले नाम० जाव परिवड्ढिया।

" सा वड्ढती भगवती, दियलोयचुता अणोवमसिरीया।
दासीदासपरिवुडा, परिकिन्ना पीढमद्देहिं ॥ १ ॥
असियसिरया सुनयणा, बिंबोट्ठी धवलदंतपंतीया।
वरकमलकोमलंऽगी, फुल्लुप्पलगंधनीसासा ॥ २ ॥ "

(सूत्र-६६)। तए णं सा मल्ली विदेहवररायकन्ना उम्मुक्कबालभावा० जाव रूवेण जोव्वणेण य लावन्नेण य अतीव अतीव उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा जाया याऽवि होत्था। तते णं सा मल्ली देसूणवाससयजाया ते छप्पि रायाणो विपुलेण ओहिणा आभोएमाणी आभोएमाणी विहरति, तं जहा-पडिबुद्धिं०जाव जियसत्तुं पंचालाहिवई। तते णं सा मल्ली कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता तुब्भे णं देवाणुप्पिया! असोगवणियाए एगं महं मोहणघरं करेह अणेगखंभसयसन्निविट्ठं, तस्स णं मोहणघरस्स बहुमज्झदेसभाए छ गब्भघरए करेह। तेसि णं गब्भघरगाणं बहुमज्झदेसभाए जालघरयं करेह। तस्स णं जालघरयस्स बहुमज्झदेसभाए मणिपेढियं करेह० जाव पच्चप्पिणंति। तते णं मल्ली मणिपेढियाए उवरिं अप्पणो सरिसियं सरित्तयं सरिव्वयं सरिसलावन्नजोव्वणगुणोववेयं कणगमइं मत्थयच्छिड्डं पउमुप्पलपिहाणं पडिमं करेति करेत्ता जं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारेति ततो मणुन्नाओ असणपाणखाइमसाइमाओ कल्लाकल्लिं एगमेगं पिंडं गहाय तीसे कणगामतीए मत्थयछिड्डाए० जाव पडिमाए मत्थयंसि पक्खिवमाणी पक्खिवमाणी विहरति। तते णं तीसे कणगमतीए०जाव मत्थयछिड्डाए पडिमाए एगमेगंसि पिंडे पक्खिप्पमाणे पक्खिप्पमाणे ततो गंधे पाउब्भवति। से जहा नामए अहिमडे त्ति वा०जाव एत्तो अणिट्ठतराए अमणामतराए। (सूत्र-६७)

तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसलानाम जणवए, तत्थ णं सागेए नाम नयरे तस्स णं उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए, एत्थ णं महं एगे णागघरए होत्था। दिव्वे सच्चे सच्चोवाए संनिहिअपाडिहेरे। तत्थ णं नगरे पडिबुद्धिनाम इक्खागुराया परिवसति, पउमावती देवी, सुबुद्धी अमच्चे सामदंड०, तते णं पउमावतीए अन्नया कयाइं नागजन्नए याऽवि होत्था। तते णं सा पउमावती नागजन्नमुवट्ठियं जाणित्ता जेणेव पडिबुद्धि० करयल० एवं वयासी-एवं खलु सामी! मम कल्लं नागजन्नए याऽवि भविस्सति तं इच्छामि णं सामी! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी नागजन्नयं गमित्तए। तुब्भेऽवि णं सामी! मम नागजन्नयंसि समोसरह। तते णं पडिबुद्धी पउमावतीए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेति, तते णं पउमावती पडिबुद्धिणा रन्ना अब्भणुन्नाया हट्ठ० कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति कोडुंबियपुरिसं सद्दावित्ता एवं वदासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! मम कल्लं नागजण्णए भविस्सति तं तुब्भे मालागारे सद्दावेह सद्दावेहित्ता एवं वदह-एवं खलु पउमावईए देवीए कल्लं नागजन्नए भविस्सइ, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया! जलथलय० दसऽद्धवन्नं मल्लं णागघरयंसि साहरह एगं च णं महं सिरिदामगंडं उवणेह। तते णं जलथलय०दसऽद्धवन्नेणं मल्लेणं णाणाविहभत्तिसुविरइयं हंसमियमउरकोंचसारसचक्कवायमयणसालकोइलकुलोववेयं ईहामिय ०जाव भत्तिचित्तं महग्घं महरिहं विपुलं पुप्फमंडवं विरएह। तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एगं महं सिरिदामगंडं ०जाव गंधद्धणिं मुयंतं उल्लोयंसि ओलंबेह ओलंबेहित्ता पउमावतिं देविं पडिवालेमाणा पडिवालेमाणा चिट्ठह। तते णं ते कोडुंबिया ०जाव चिट्ठंति। तते णं सा पउमावती देवी कल्लं कोडुंबिए एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सागेयं नगरं सब्भिंतरवाहिरियं आसितसम्मज्जितोवलित्तं ०जाव पच्चप्पिणंति। तते णं सा पउमावती दोच्चं पि कोडुंबिय० खिप्पामेव लहुकरणजुत्तं०जाव जुत्तामेव उवट्ठवेह। तते णं तेऽवि तहेव उवट्ठावेंति। तते णं सा पउमावती अंतो अंतेउरंसि एहाया०जाव धम्मियं जाणं दुरूढा, तए णं सा पउमावई नियगपरिवालसंपरिवुडा सागेयं नगरं मज्झं मज्झेणं णिज्जाति णिज्जित्ता जेणेव पुक्खरणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता पुक्खरणिं ओगाहइ ओगाहित्ता जलमज्जणं०जाव परमसुइभूया उल्लपडसाडया जातिं तत्थ उप्पलातिं ०जाव गेण्हति गेण्हित्ता जेणेव नागघरए तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तते णं पउमावतीए दासचेडीओ बहूओ पुप्फपडलगहत्थगयाओ धूवकडुच्छुगहत्थगयाओ पिट्ठतो समणुगच्छंति, तते णं पउमावती सव्विड्ढिए जेणेव नागघरे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता नागघरयं अणुपविसति अणुपविसित्ता लोमहत्थगं उवागच्छति०जाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धूवं डहति धूवं डहित्ता पडिबुद्धिं , पडिवालेमाणी प-
डिवालेमाणी चिट्ठति । तते णं पडिबुद्धी एहाए हत्थिखंध-
वरगते सकोरंट०जाव सेयवरचामराहिं हयगयरहजोहमहया
भडगचडकरपहकरेहिं साकेयनगरं मज्झं० णिग्गच्छति णि-
ग्गच्छित्ता जेणेव नागघरे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता
हत्थिखंधाओ णिग्गच्छति णिग्गच्छित्ता पच्चोरुहति पच्चो-
रुहित्ता आलोए पणामं करेइ करेत्ता पुप्फमंडवं अणुपविसति
अणुपविसित्ता पासति तं एगं महं सिरिदामगंडं । तए
णं पडिबुद्धी तं सिरिदामगंडं सुइरं कालं निरिक्खइ
निरिक्खित्ता तंसि सिरिदामगंडंसि जायविम्हए सुबुद्धिं
अमच्चं एवं वयासी–तुमन्नं देवाणुप्पिया ! मम दोच्चेणं ब-
हूणि गामागर ०जाव सन्निवेसाइं आहिंडसि बहूणि राय-
ईसर ०जाव गिहातिं अणुपविससि तं अत्थि णं तुमे कहिं
चि एरिसए सिरिदामगंडे दिट्ठपुव्वे जारिसए णं इमे
पउमावतीए देवीए सिरिदामगंडे ?, तते णं सुबुद्धी पडि-
बुद्धिं रायं एवं वदासी–एवं खलु सामी ! अहं अन्नया
कयाइं तुब्भं दोच्चेणं मिहिलं रायहाणिं गते । तत्थ णं मए
कुंभगस्स रन्नो धूयाए पउमावईए देवीए अत्तयाए मल्लीए
संवच्छरपडिलेहणगंसि दिव्वे सिरिदामगंडे दिट्ठपुव्वे । तस्स
णं सिरिदामगंडस्स इमे पउमावतीए सिरिदामगंडे सयस-
हस्सतिमं कलं ण अग्घति, तते णं पडिबुद्धी सुबुद्धिं अ-
मच्चं एवं वदासी–केरिसिया णं देवाणुप्पिया ! मल्ली विदे-
हरायवरकन्ना जस्स णं संवच्छरपडिलेहणयंसि सिरिदाम-
गंडस्स पउमावतीए देवीए सिरिदामगंडे सयसहस्सतिमं पि
कलं न अग्घति ?, तते णं सुबुद्धी पडिबुद्धिं इक्खागुरायं
एवं वदासी–विदेहरायवरकन्नगा सुपइट्ठियकुम्मुन्नयचारुच-
रणा वन्नओ, तते णं पडिबुद्धी सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए
एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सिरिदामगंडजणितहासे दूयं सद्दावेइ
सद्दावित्ता एवं वयासी–गच्छाहि णं तुमं देवाणुप्पिया !
मिहिलं रायहाणिं तत्थ णं कुंभगस्स रन्नो धूयं पभावती-
ए देवीए अत्तियं मल्लिं विदेहवररायकण्णगं मम भारियत्ता-
ए वरेहि जति वि य णं सा सयं रज्जुसुका, तते णं से
दूए पडिबुद्धिणा रन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठ० पडि
सुणेंति पडिसुणित्ता जेणेव सए गिहे जेणेव चाउग्घंटे
आसरहे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता चाउग्घंटं
आसरहं पडिकप्पावेति पडिकप्पावेत्ता दुरूढे ०जाव हय-
गयमहया भडचडगरेणं साएयाओ णिग्गच्छति णिग्गच्छि-
त्ता जेणेव विदेहजणवए जेणेव मिहिला रायहाणी
तेणेव पहारेत्थ गमणाए । (सूत्र ६८) ज्ञा०१ श्रु० ८ अ० ।
(अत्र अरहन्नकवक्तव्यता 'अरहण्णय' शब्दे १ भागे व्या-
ख्याता तत एवावसेया)

तेणं कालेणं तेणं समएणं कुणाला नाम जणवए होत्था ।
तत्थ णं सावत्थी नामं नगरी होत्था । तत्थ णं रुप्पी कुणा-
लाहिवई नामं राया होत्था । तस्स णं रुप्पिस्स धूया धारि-
णीए देवीए अत्तया सुबाहुनामं दारिया होत्था । सुकुमाल-
पाणिपाया रूवेण य जोव्वणेणं लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्कि-
ट्ठसरीरा जाया याऽवि होत्था । तीसे णं सुबाहुए दारियाए
अन्नदा चाउम्मासियमज्जणए जाए याऽवि होत्था । तते णं
से रुप्पी कुणालाऽहिवई सुबाहुए दारियाए चाउम्मासिय-
मज्जयणं उवट्ठियं जाणति, जाणित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दा-
वेति सद्दावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाऽणुप्पिया ! सु-
बाहुए दारियाए कल्लं चाउम्मासियमज्जणए भविस्सति, तं
कल्लं तुब्भे णं रायमग्गमोगाढंसि चउक्कंसि जलथलयद-
सऽद्धवन्नमल्लं साहरेह ०जाव सिरिदामगंडे ओलइन्ति । तते
णं से रुप्पी कुणालाहिवती सुवन्नगारसेणिं सद्दावेति स-
द्दावेत्ता, एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! राय-
मग्गमोगाढंसि पुप्फमंडवंसि णाणाविहपंचवन्नेहिं तंदुलेहिं
णगरं आलिहह, तस्स बहुमज्झदेसभाए पट्टयं रएह रएह-
इत्ता०जाव पच्चप्पिणंति । तते णं से रुप्पी से कुणालाहिवई
हत्थिखंधवरगए चाउरंगिणीए सेणाए महया भड० अंते-
उरपरियालसंपरिवुडे सुबाहुं दारियं पुरतो कट्टु जेणेव
रायमग्गे जेणेव पुप्फमण्डवे तेणेव उवागच्छति उवाग-
च्छित्ता हत्थिखंधातो पच्चोरुहति पच्चोरुहित्ता पुप्फमंडवं
अणुपविसति अणुपविसित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभि-
मुहे सन्निसन्ने । तते णं ताओ अंतेउरियाओ सुबाहुं दारि-
यं पट्टयंसि दुरूहेंति दु०त्ता सेयपीतएहिं कलसेहिं ण्हाणेंति
२त्ता सव्वालंकारविभूसियं करेंति२त्ता पिउणो पायं वंदिउं
उवणेंति । तते णं सुबाहुदारिया जेणेव रुप्पी राया तेणेव
उवाच्छति उवागच्छित्ता पायग्गहणं करेति । तते णं से
रुप्पी राया सुबाहुं दारियं अंके निवेसेति निवेसित्ता सुबा-
हुए दारियाए रूवेण य जोव्वणे०जाव विम्हिए वरिसधरं
सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वयासी–तुमं णं देवाणुप्पिया !
मम दोच्चेणं बहूणि गामागरनगरगिहाणि अणुपविससि,
तं अत्थि याइं ते कस्सइ रन्नो वा ईसरस्स वा कहिं चि
एयारिसए मज्जणए दिट्ठपुव्वे जारिसए णं इमीसे सुबा-
हुदारियाए मज्जणए ? तते णं से वरिसधरे रुप्पिं करयल०
एवं वयासी–एवं खलु सामी ! अहं अन्नया तुब्भेणं दो-
च्चेणं मिहिलं गए, तत्थ णं मए कुंभगस्स रन्नो धूयाए
पभावतीए देवीए अत्तयाए मल्लीए विदेहरायकन्नगाए म-
ज्जणए दिट्ठे । तस्स णं मज्जणगस्स इमे सुबाहुए दा-
रियाए मज्जणए सयसहस्सइमं पि कलं न अग्घेति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तए णं से रुप्पी राया वरिसधरस्स अंतिए एयमट्ठं सोचा णिसम्म सेसं तहेव मज्जणगजणितहासे दूयं सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं वयासी–जेणेव मिहिला नयरी तेणेव पहारित्थगमणाए ३। (सूत्र ७१)

तेणं कालेणं तेणं समएणं कासी नाम जणवए होत्था, तत्थ णं बाणारसी नाम नगरी होत्था। तत्थ णं संखे नामं कासीराया होत्था। तते णं तीसे मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए अन्नया कयाई तस्स दिव्वस्स कुंडलजुयलस्स संधी विसंघडिए याऽवि होत्था। तते णं से कुंभए राया सुवन्नगारसेणिं सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं वदासी–तुब्भे णं देवाऽणुप्पिया! इमस्स दिव्वस्स कुंडलजुयलस्स संधिं संघाडेह, तए णं सा सुवन्नगारसेणी एतमट्ठं तह त्ति पडिसुणेंति पडि०त्ता तं दिव्वं कुंडलजुयलं गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव सुवन्नगारभिसियाओ तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता सुवन्नागारभिसियासु णिवेसेति णिवेसित्ता बहूहिं आएहि य ० जाव परिणामेमाणा इच्छंति, तस्स दिव्वस्स कुंडलजुयलस्स संधिं घडित्तए णो चेव णं संचाएंति संघडित्तए, तते णं सा सुवन्नगारसेणी जेणेव कुंभए तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता करयल० वद्धावेत्ता एवं वदासी–एवं खलु सामी! अज्ज तुब्भे अम्हे सद्दावेह सद्दावेत्ता० जाव संधिं संघाडेत्ता एतमाणं पचप्पिणह। तते णं अम्हे तं दिव्वं कुंडलजुयलं गेण्हामो जेणेव सुवन्नगारभिसियाओ ०जाव नो संचाएमो संघाडित्तए। तते णं अम्हे सामी! एयस्स दिव्वस्स कुंडलस्स अन्नं सरिसयं कुंडलजुयलं घडेमो। तते णं से कुंभए राया तीसे सुवन्नगारसेणीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु एवं वदासी–से केणं तुब्भे कलायाणं भवह? जे णं तुब्भे इमस्स कुंडलजुयलस्स नो संचाएह संधिं संघाडेत्तए?, ते सुवन्नगारे निव्विसए आणवेत्ति, तते णं ते सुवन्नगारा कुंभेणं रण्णा निव्विसया आणत्ता समाणा जेणेव साति साति गिहाति तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता सभंडमत्तोवगरणमायाओ मिहिलाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निक्खामंति निक्खमित्ता विदेहस्स जणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव कासीजणवए जेणेव वाणारसीनयरी तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता अग्गुज्जाणंसि सगडीसागडं मोएन्ति मोएइत्ता महत्थं ०जाव पाहुडं गेण्हंति गेण्हित्ता बाणारसीनयरीं मज्झं मज्झेणं जेणेव संखे कासीराया तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता करयल० जाव एवं अम्हे णं सामी! मिहिलातो नयरीओ कुंभएणं रन्ना निव्विसया आणत्ता समाणा इहं हव्वमागता तं इच्छामो णं सामी! तुब्भं बाहुच्छायापरिग्गहिया निब्भया निरुव्विग्गा सुहं सुहेणं परिवसिउं। तते णं संखे कासीराया ते सुवन्नगारे एवं वदासी–किन्नं तुब्भे देवाणुप्पिया! कुंभएणं रन्ना निव्विसया आणत्ता?, तते णं ते सुवन्नगारा संखं एवं वदासी–एवं खलु सामी! कुंभगस्स रन्नो धूयाए पभावतीए देवीए अत्तयाए मल्लीए कुंडलजुयलस्स संधी विसंघडिए, तते णं से कुंभए सुवन्नगारसेणिं सद्दावेति सद्दाविता० जाव निव्विसया आणत्ता, तं एए णं कारणेणं सामी! अम्हे कुंभएणं निव्विसया आणत्ता, तते णं से संखे सुवन्नगारे एवं वदासी–केरिसिया णं देवाणुप्पिया! कुंभगस्सधूया पभावती देवी अत्तया मल्ली वि० तते णं ते सुवन्नगारा संखरायं एवं वदासी–णो खलु सामी! अन्ना काई तारिसिया देवकन्ना वा गंधव्वकन्नगा वा ०जाव जारिसिया णं मल्ली विदेहवररायकन्ना। तते णं से संखे कुंडलजुअलजणितहासे दूतं सद्दावेति० जाव तहेव पहारेत्थ गमणाए। (सूत्र–७२)

तेणं कालेणं तेणं समएणं कुरुजणवए होत्था। हत्थिणाउरे नगरे अदीणसत्तू नामं राया होत्था ०जाव विहरति। तत्थ णं मिहिलाए कुंभगस्स पुत्ते पभावतीए अत्तए मल्लीए अणुजायए मल्लदिन्नए नाम कुमारे ०जाव जुवराया याऽवि होत्था। तते णं मल्लदिन्ने कुमारे अन्नया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति सद्दावित्ता ०गच्छह णं तुब्भे मम पमोदवणंसि एगं महं चित्तसभं करेह अणेग ०जाव पचप्पिणंति। तते णं से मल्लदिन्ने चित्तगरसेणिं सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वयासी–तुब्भे णं देवाणुप्पिया! चित्तसभं हावभावविलासविब्बोयकलिएहिं रूवेहिं चित्तेह चित्तेहित्ता ० जाव पंचप्पिणह। तते णं सा चित्तगरसेणी तह त्ति पडिसुणेंति पडिसुणित्ता जेणेव सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता तूलियाओ वन्नए य गेण्हिंति गेण्हित्ता जेणेव चित्तसभा तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता अणुपविसंति अणुपविसित्ता भूमिभागे विरंचंति विरंचित्ता भूमिं सज्जेंति सज्जित्ता चित्तसभं हावभाव ०जाव चित्तेउं पयत्ता याऽवि होत्था। तते णं एगस्स चित्तगरस्स इमेयारूवा चित्तगरलद्धी लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया, जस्स णं दुपयस्स वा चउपयस्स वा अपयस्स वा एगदेसमवि पासति तस्स णं देसाणुसारेणं तयाणुरूवं निव्वत्तेति, तए णं से चित्तगरदारए मल्लीए जवणियंतरियाए जालंऽतरेण पायंऽगुट्ठं पासति। तते णं तस्स णं चित्तगरस्स इमेयारूवे ०जाव सेयं खलु ममं मल्लीए वि पायंऽगुट्ठाणु–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारेण सरिसगं ० जाव गुणोववेयं रूवं निव्वत्तित्तए, एवं संपेहेति संपेहित्ता भूमिभागं सज्जेति सज्जित्ता मल्लीएऽवि पायंऽगुट्ठाऽणुसारेण०जाव निव्वत्तेति। तते णं सा चित्तगरसेणी चित्तसभं ० जाव हावभावे चित्तेति चित्तित्ता जेणेव मल्लदिन्ने कुमारे तेणेव उवागच्छ०जाव एतमाणत्तियं पच्चप्पिणंति। तए णं मल्लदिन्ने चित्तगरसेणिं सक्कारेइ सक्कारित्ता विपुलं जीवियाऽरिहं पीइदाणं दलेइ दलयित्ता पडिविसज्जेइ। तए णं मल्लदिन्ने अन्नया एहाइ अंतेउरपरियालसंपरिवुडे अम्मधाईए सद्धिं जेणेव चित्तसभा तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता चित्तसभं अणुपविसइ अणुपविसित्ता हावभावविलासविव्वोयकलियाइं रूवाइं पासमाणे पासमाणे जेणेव मल्लीए विदेहवररायकन्नाए तयाणुरूवे णिव्वत्तिए तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तए णं से मल्लदिन्ने कुमारे मल्लीए विदेहवररायकन्नाए तयाणुरूवं निव्वत्तियं पासति पासित्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था–एस णं मल्ली विदेहवररायकन्न त्ति कट्टु लज्जिए वीडिए विअडे सणियं सणियं पच्चोसक्कइ। तए णं मल्लदिन्नं अम्मधाई पच्चोसक्कंतं पासित्ता एवं वदासी–किन्नं तुमं पुत्ता! लज्जिए वीडिए विअडे सणियं सणियं पच्चोसक्कइ? तते णं से मल्लदिन्ने अम्मधातिं एवं वदासी–जुत्तं णं अम्मो! मम जेट्ठाए भगिणीए गुरुदेवयभूयाए लज्जणिज्जाए मम चित्तगरणिव्वत्तियं सभं अणुपविसित्तए? तए णं अम्मधाई मल्लदिन्नं कुमारं व०–नो खलु पुत्ता! एस मल्ली, एस णं मल्लीविदेह ० चित्तगरएणं तयाणुरूवे णिव्वत्तिए। तते णं मल्लदिन्ने अम्मधाईए एयमट्ठं सोच्चा आसुरुत्ते एवं वयासी–केस णं भो चित्तयरए अपत्थियपत्थिए ०जाव परिवज्जिए जे णं मम जेट्ठाए भगिणीए गुरुदेवयभूयाए ०जाव निव्वत्तिए त्ति कट्टु तं चित्तगरं वज्झं आणवेइ। तए णं सा चित्तगरसेणी इमीसे कहाए लद्धऽट्ठा समाणा जेणेव मल्लदिन्ने कुमारे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं ०जाव वद्धावेइ वद्धावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु सामी! तस्स चित्तगरस्स इमेयारूवा चित्तकरलद्धी लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया, जस्स णं दुपयस्स वा ०जाव णिव्वत्तेति तं मा णं सामी! तुब्भे तं चित्तगरं वज्झं आणवेह। तं तुब्भे णं सामी! तस्स चित्तगरस्स अन्नं तयाऽणुरूवं दंडं निव्वत्तेह। तए णं से मल्लदिन्ने तस्स चित्तगरस्स संडासगं छिंदावेइ छिंदावेइत्ता निव्विसयं आणवेइ। तए णं से चित्तगरए मल्लदिन्ने णं णिव्विसए आणत्ते समाणे सभंडमत्तोवगरणमायाए मिहिलाओ णयरीओ णिक्खमइ णिक्खमित्ता विदेहं जणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव हत्थिणाउरे नयरे जेणेव कुरुजणवए जेणेव अदीणसत्तू राया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता भंडणिक्खेवं करेइ करित्ता चित्तफलगं सज्जेइ सज्जित्ता मल्लीए विदेह० पायंऽगुट्ठाऽणुसारेण रूवं णिव्वत्तेइ णिव्वत्तित्ता कक्खंतरंसि छुब्भइ छुभित्ता महत्थं ३, ०जाव पाहुडं गेण्हइ गेण्हित्ता हत्थिणापुरं नयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव अदीणसत्तू राया तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता तं करयल ०जाव वद्धावेइ वद्धावित्ता पाहुडं उवणेति उवणित्ता एवं खलु अहं सामी! मिहिलाओ रायहाणीओ कुंभगस्स रन्नो पुत्तेणं पभावतीए देवीए अत्तएणं मल्लदिन्नेणं कुमारेणं निव्विसए आणत्ते समाणे इह हव्वमागए तं इच्छामि णं सामी! तुब्भं बाहुच्छायापरिग्गहिए ०जाव परिवसित्तए। तते णं से अदीणसत्तू राया तं चित्तगरदारयं एवं वदासी–किन्नं तुमं देवाणुप्पिया! मल्लदिन्नेणं निव्विसए आणत्ते?, तए णं से चित्तयरदारए अदीणसत्तूरायं एवं वदासी-एवं खलु सामी! मल्लदिन्ने कुमारे अन्नया कयाई चित्तगरसेणिं सद्दावेइ सद्दा (वे) वित्ता एवं वयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया! मम चित्तसभं तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव मम संडासगं छिंदावेइ छिंदावित्ता निव्विसयं आणवेइ, तं एवं खलु सामी! मल्लदिन्नेणं कुमारेणं निव्विसए आणत्ते। तते णं अदीणसत्तू राया तं चित्तगरं एवं वदासी-से केरिसए णं देवाणुप्पिया! तुमे मल्लीए तदाणुरूवे रूवे निव्वत्तिए?, तते णं से चित्तग० कक्खंतराओ चित्तफलयं णीणेति णीणित्ता अदीणसत्तुस्स उवणेइ ० त्ता एवं वयासी-एस णं सामी! मल्लीएऽवि० तयाणुरूवस्स रूवस्स केइ आगारभावपडोयारे निव्वत्तिए णो खलु सक्का केणइ देवेण वा ०जाव मल्लीए विदेहरायवरकण्णगाए तयाणुरूवे रूवे निव्वत्तित्तए। तते णं अदीणसत्तू पडिरूवजणितहासे दूयं सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वदासी-तहेव ०जाव पहारेत्थ गमणयाए। (सूत्र-७३)

तेणं कालेणं तेणं समएणं पंचाले जणवए कंपिल्लपुरे नयरे जियसत्तू नाम राया पंचालाऽहिवई, तस्स णं जितसत्तुस्स धारिणीपामोक्खं देविसहस्सं आरोहे होत्था। तत्थ णं मिहिलाए चोक्खा नामं परिवाइया रिउव्वेद ०जाव परिणिट्ठिया याऽवि होत्था। तते णं सा चोक्खा परिव्वाइया मिहिलाए बहूणं राईसर०जाव सत्थवाहपभितीणं पुरतो दाणधम्मं च तित्थाभिसेयं च सोयधम्मं च आघवेमाणी पन्नवेमाणी परूवेमाणी उवदंसेमाणी विहरति। तते णं सा चोक्खा परिव्वाइया अन्नया कयाइ तिदंडं च कुंडियं च ०जाव धाउरत्ताओ य गेण्हइ गेण्हित्ता परिव्वाइगाऽऽवसहाओ पडि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निक्खमइ पडिनिक्खमित्ता पविरलपरिव्वाइया सद्धिं संपरिवुडा मिहिलं रायहाणिं मज्झं मज्झेणं जेणेव कुंभगस्स रन्नो भवणे जेणेव कण्णंतेउरे जेणेव मल्लीविदेह ०तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता उदयपरिफासियाए दब्भोवरि पच्चत्थुयाए भिसियाए निसीयति निसीयतित्ता मल्लीए विदेह ०पुरतो दाणधम्मं च ०जाव विहरति । तते णं मल्ली विदेहा चोक्खं परिव्वाइयं एवं वयासी–तुब्भे णं चोक्खे ! किं मूलए धम्मे पन्नत्ते ?, तते णं सा चोक्खा परिव्वाइया मल्लिं विदेहं एवं वयासी–अम्हं णं देवाणुप्पिए ! सोयमूलए धम्मे पण्णवेमि, जएणं अम्हं किंचि असुई भवइ तस्स उदएण य मट्टियाए ०जाव अविग्घेणं सग्गं गच्छामो । तए णं मल्ली विदेह० चोक्खं परिव्वाइयं एवं वदासी–चोक्खा ! से जहानामए केई पुरिसे रुहिरकयं वत्थं रुहिरेण चेव धोवेज्जा अत्थि णं चोक्खा ! तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं धोव्वमाणस्स काई सोही ? नो इणट्ठे समट्ठे एवामेव चोक्खा ! तुब्भे णं पाणाइवाएणं ०जाव मिच्छादंसणसल्लेणं नऽत्थि काई सोही, जहा व तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव धोव्वमाणस्स । तए णं सा चोक्खा परिव्वाइया मल्लीए विदेह० एवं वुत्ता समाणा संकिया कंखिया विइ(ति) गिच्छिया भेयसमावण्णा जाया याऽवि होत्था । मल्लीए णो संचाएति किंचि वि पामोक्खमाइक्खित्तए तुसिणीया संचिट्ठति । तते णं तं चोक्खं मल्लीए बहुओ दासचेडीओ हीलेंति निंदति खिंसंति गरहंति अप्पेगतिया हेरुयालंति अप्पेगइया मुहमक्कडिया करेंति अप्पेगइया वग्घाडीओ करेंति अप्पेगइया तज्जमाणीओ निच्छुभंति । तए णं सा चोक्खा मल्लीए विदेह० दासचेडियाहिं ०जाव गरहिज्जमाणी हीलिज्जमाणी आसुरुत्ता ०जाव मिसिमिसेमाणी मल्लीए विदेहरायवरकण्णाए पओसमावज्जति, भिसियं गेण्हति गेण्हित्ता कण्णंतेउराओ पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता मिहिलाओ निग्गच्छति निग्गच्छित्ता परिव्वाइया संपरिवुडा जेणेव पंचालजणवए जेणेव कंपिल्लपुरे बहूणं राईसर- ०जाव परूवेमाणी विहरति । तए णं से जियसत्तू अन्नदा कदाई अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे एवं ०जाव विहरति । तते णं सा चोक्खा परिव्वाइया संपरिवुडा जेणेव जितसत्तुस्स रण्णो भवणे जेणेव जितसत्तू तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता अणुपविसति अणुपविसित्ता जियसत्तुं जएणं विजएणं वद्धावेति । तते णं से जितसत्तू चोक्खं परि ०एज्जमाणं पासति पासित्ता सीहासणाओ अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठित्ता चोक्खं सक्कारेति सक्कारित्ता आसणेणं उवणिमंतेति । तते णं सा चोक्खा उदगपरिफासियाए० जाव भिसियाए निविसइ, जियसत्तुं रायं रज्जे य ०जाव अंतेउरे य कुसलोदंतं पुच्छइ । तते णं सा चोक्खा जियसत्तुस्स रन्नो दाणधम्मं च ०जाव विहरति । तते णं से जियसत्तू अप्पणो ओरोहंसि ०जाव विम्हिए चोक्खं एवं वदासी–तुमं णं देवाणुप्पिया ! बहूणि गामाऽऽगर ०जाव अडह, बहूण य रातीसरगिहातिं अणुपविससि, तं अत्थियाइं ते कस्स वि रन्नो वा ०जाव एरिसए ओरोहे दिट्ठपुव्वे जारिसए णं इमे मह उवरोहे ?, तए णं सा चोक्खा परिव्वाइया जियसत्तुं (एवं वदासी)–ईसिं अवहसियं करेइ करित्ता एवं वयासी–एवं च सरिसए णं तुमं देवाणुप्पिया ! तस्स अगडदद्दुरस्स ?, के णं देवाणुप्पिए ! से अगडदद्दुरे ?, जियसत्तू से जहानामए अगडदद्दुरे सिया । से णं तत्थ जाए तत्थेव बुड्ढे अण्णं अगडं वा तलागं वा दहं वा सरं वा सागरं वा अपासमाणे चेवं मण्णइ–अयं चेव अगडे वा ०जाव सागरे वा, तए णं तं कूवं अण्णे सामुद्दए दद्दुरे हव्वमागए । तए णं से कूवदद्दुरे तं सामुद्ददद्दुरं एवं वदासी–से केस णं तुमं देवाणुप्पिया ! कत्तो वा इह हव्वमागए ?, तए णं से सामुद्दए दद्दुरे तं कूवदद्दुरं एव वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अहं सामुद्दए दद्दुरे, तए णं से कूवदद्दुरे तं सामुद्दयं दद्दुरं एवं वयासी-के महालए णं देवाणुप्पिया ! से समुद्दे ?, तए णं से सामुद्दए दद्दुरे तं कूवदद्दुरं एवं वयासी–महालए णं देवाणुप्पिया ! समुद्दे । तए णं से दद्दुरे पाएणं लीहं कड्ढइ कड्ढित्ता एवं वयासी–ए महालए णं देवाणुप्पिया ! से समुद्दे ?, णो इणट्ठे, समट्ठे, महालए णं मे समुद्दे । तए णं से कूवदद्दुरे पुरच्छिमिल्लाओ तीराओ उप्पिडित्ता णं गच्छइ गच्छित्ता एवं वयासी-ए महालए णं देवाणुप्पिया ! से समुद्दे ?, णो इणट्ठे समट्ठे । तहेव एवामेव तुमं पि जियसत्तू अन्नेसिं बहूणं राईसर ०जाव सत्थवाहपभिईणं भज्जं वा भगिणिं वा धूयं वा सुण्हं वा अपासमाणे जाणेसि जारिसए मम चेव णं ओरोहे तारिसए णो अण्णस्स तं एवं खलु जियसत्तू ! मिहिलाए नयरीए कुंभगस्स धूता पभावतीए अत्तिया मल्ली नामं ति रूवेण य जुव्वणेण ०जाव नो खलु अण्णा काई देवकन्ना वा जारिसिया मल्ली । विदेहवररायकण्णाए छिन्नस्स वि पायंऽगुट्ठस्स इमे तवोरोहे सयसहस्सतिमंऽपि कलं न अग्घइ त्ति कट्टु जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया । तते णं से जितसत्तू परिव्वाइयाजणितहासे दूयं सद्दावेति सद्दावित्ता ०जाव पहारेत्थ गमणाए ६ । (सूत्र—७४)

तते णं तेसिं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं दूया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जेणेव मिहिला तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तते णं छप्पि य दूतका जेणेव मिहिला तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता मिहिलाए अग्गुज्जाणंसि पत्तेयं पत्तेयं खंधावारनिवेसं करेंति करित्ता मिहिलं रायहाणीं अणुपविसंति अणुपविसित्ता जेणेव कुंभए तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता पत्तेयं पत्तेयं करयल० साणं साणं राईणं वयणातिं निवेदंति–तते णं से कुंभए तेसिं दूयाणं अंतिए एयमट्ठं सोचा आसुरुत्ते ०जाव तिवलियं भिउडिं एवं वयासी–न देमि णं अहं तुब्भं मल्लिं विदेहवरकन्नं ति कट्टु ते छप्पि दूते असक्कारिय असम्माणिय अवद्दारेणं णिच्छुभावेति। तते णं जितसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं दूया कुंभएणं रन्ना असक्कारिया असम्माणिया अवद्दारेणं णिच्छुभाविया समाणा जेणेव सगा सगा जाणवया जेणेव सयातिं सयातिं णगराइं जेणेव सगा सगा रायाणो तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता करयलपरि०एवं वयासी–एवं खलु सामी! अम्हे जितसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं दूया जमगसमगं चेव जेणेव मिहिला ०जाव अवद्दारेणं निच्छुभावेति। तं ण देइ णं सामी! कुंभए मल्ली वि, साणं साणं राईणं एयमट्ठं निवेदेंति। तते णं से जियसत्तुपामोक्खा छप्पि रायाणो तेसिं दूयाणं अंतिए एयमट्ठं सोचा निसम्म आसुरुत्ता अण्णमण्णस्स दूयसंपेसणं करेंति करित्ता एवं वदासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं छण्हं राईणं दूया जमगसमगं चेव ०जाव निच्छूढा, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं कुंभगस्स जत्तं गेण्हित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एतमट्ठं पडिसुणेंति पडिसुणित्ता ण्हाया सण्णद्धा हत्थिखंधवरगया सकोरंटमल्लदामा ०जाव सेयवरचामराहिं० महया हयगयरहपवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडा सव्विड्ढीए ०जाव रवेणं सएहिं सएहिं नगरेहिंतो ०जाव निग्गच्छंति निग्गच्छित्ता एगयओ मिलायंति २ त्ता जेणेव मिहिला तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तते णं कुंभए राया इमीसे कहाए लद्धऽट्ठे समाणे बलवाउयं सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वदासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! हय ०जाव सेण्णं सन्नाहेह ०जाव पच्चप्पिणंति। तते णं कुंभए ण्हाते सण्णद्धे हत्थिखंधवरगए सकोरंटवरदाममल्लए सेयवरचामरए महया ० मिहिलं मज्झंमज्झेणं णिज्जाति २ त्ता विदेहं जणवयं मज्झंमज्झेणं जेणेव देसअंते तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता खंधावारनिवेसं करेति करित्ता जियसत्तुप्पामोक्खा छप्पि य रायाणो पडिवालेमाणे जुज्झसज्जे पडिचिट्ठति। तते णं ते जियसत्तुपामोक्खा छप्पि य रायाणो जेणेव कुंभए तेणेव उवागच्छन्ति उवागच्छित्ता कुंभएणं रन्ना सद्धिं संपलग्गा याऽवि होत्था। तते णं ते जियसत्तुपामोक्खा छप्पि रायाणो कुंभयं रायं हयमहियपवरवीरघाइयनिवडियचिंधद्धयप्पडागं किच्छप्पाणोवगयं दिसो दिसिं पडिसेहिंति। तते णं से कुंभए जितसत्तुपामोक्खेहिं छहिं राईहिं हयमहित०जाव पडिसेहिए समाणे अथामे अचवले अवीरिए०जाव अधरिसणिज्जमित्ति कट्टु सिग्घं तुरियं० जाव वेइयं जेणेव मिहिला तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता मिहिलं अणुपविसति अणुपविसित्ता मिहिलाए दुवारातिं पिहेइ पिहेत्ता रोहसज्जे चिट्ठति, तते णं ते जितसत्तुपामोक्खा छप्पि रायाणो जेणेव मिहिला तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता मिहिलं रायहाणिं णिस्संचारं णिरुचारं सव्वतो समंताओ रुंभित्ता णं चिट्ठंति। तते णं से कुभए मिहिलं रायहाणिं रुद्धं जाणित्ता अब्भंतरियाए उवट्ठाणसालाए सीहासणवरगए तेसिं जितसत्तुपामोक्खाणं छण्हं रातीणं छिद्दाणि य विवराणि य मम्माणि य अलभमाणे बहूहिं आएहि य उवाएहि य उप्पत्तियाहि य० ४ बुद्धीहिं परिणामेमाणे परिणामेमाणे किंचि आयं वा उवायं वा अलभमाणे ओहतमणसंकप्पे०जाव झियायति। इमं च णं मल्ली विदेहरायवरकन्नगा ण्हाया०जाव बहूहिं खुज्जाहिं परिवुडा जेणेव कुंभए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता कुभगस्स पायग्गहणं करेति। तते णं कुंभए मल्लिं विदेहराय० णो आढाति नो परियाणाइ तुसिणीए संचिट्ठति। तते णं मल्ली वि० कुंभगं एवं वयासी–तुब्भे णं ताओ! अण्णदा ममं एज्जमाणं० जाव निवेसेह। किण्णं तुब्भं अज्ज ओहतमणसंकप्पा झियायह ?, तते णं कुंभए मल्लिं विदेह० एवं वयासी–एवं खलु पुत्ता! तव कज्जे जितसत्तुपामुक्खेहिं छहिं रातीहिं दूया संपेसिया तेणं मए असक्कारिया०जाव निच्छूढा,तते णं ते जितसत्तुपामुक्खा तेसिं दूयाणं अंतिए एयमट्ठं सोचा परिकुविया समाणा मिहिलं रायहाणिं निस्संचारं०जाव चिट्ठंति। तते णं अहं पुत्ता तेसिं जितसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं अंतराणि अलभमाणे० जाव झियायामि। तते णं सा मल्ली विदेहरायवरकन्नगा कुंभयं रायं एवं वयासी–मा णं तुब्भे ताओ! ओहयमणसंकप्पा०जाव झियायह। तुब्भे णं ताओ! तेसिं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं पत्तेयं पत्तेयं रहसियं दूयसंपेसे करेह। एगमेगं एवं वहह–तव देमि मल्लिं विदेहरायवरकन्नं ति कट्टु संझाकालसमयंसि पविरलमणूसंसि निसंतंसि पडिनिसंतंसि पत्तेयं पत्तेयं मिहिलं रायहाणिं अणुप्पवेसेह २ गब्भघरएसु अणुप्पवेसेह मिहिलाए राय–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हाणीए दुवाराइं पिधेह पिधेत्ता रोहसज्जे चिट्ठह, तते णं कुंभए एवं वयासी–तं चेव०जाव पवेसेति रोहसज्जे चिट्ठति। तते णं ते जितसत्तुपामोक्खा छप्पि य रायाणो कल्लं पाउब्भूया०जाव जालंऽतरेहिं कणगमयं मत्थयच्छिड्डं पउमुप्पलपिहाणं पडिमं पासति। एस णं मल्ली विदेहरायवरकण्ण त्ति कट्टु मल्लीए विदेह० रूवे य जोव्वणे य लावण्णे य मुच्छिया गिद्धा० जाव अज्झोववण्णा अणिमिसाए दिट्ठीए पेहमाणा पेहमाणा चिट्ठंति। तते णं सा मल्ली विदेह० ण्हाया०जाव पायच्छित्ता सव्वालंकार० बहूहिं खुज्जाहिं ०जाव परिक्खित्ता जेणेव जालघरए जेणेव कणयपडिमा तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तीसे कणगपडिमाए मत्थयाओ तं पउमं अवणेति। तते णं गंधे णिद्धावति से जहानामए अहिमडेति वा ० जाव असुभतराए चेव। तते णं ते जियसत्तुपामोक्खा तेणं असुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणा सएहिं सएहिं उत्तरिज्जएहिं आसातिं पिहेंति पिहित्ता परम्मुहा चिट्ठंति। तते णं सा मल्ली विदेह० ते जितसत्तुपामोक्खे एवं वयासी–किण्णं तुब्भे देवाणुप्पिया! सएहिं सएहिं उत्तरिज्जेहिं० जाव परम्मुहा चिट्ठह ?, तते णं ते जितसत्तुपामोक्खा मल्लिं विदेह० एवं वयंति एवं खलु देवाणुप्पिए!। अम्हे इमेणं असुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणा सएहिं सएहिं० जाव चिट्ठामो। तते णं मल्ली विदेह० ते जितसत्तुपामुक्खे० जइ ता देवाणुप्पिया! इमीसे कणग० जाव पडिमाए कल्लाकल्लिं ताओ मणुण्णाओ असण पा० ४ एगमेगे पिंडे पक्खिप्पमाणे पक्खिप्पमाणे इमेयारूवे असुभे पोग्गलपरिणामे इमस्स पुण ओरालियसरीरस्स खेलाऽऽसवस्स वंताऽऽसवस्स पित्ताऽऽसवस्स सुक्कसोणियपूयाऽऽसवस्स दुरूवऊसासनीसासस्स दुरूवमुत्तपूतियपुरीसपुण्णस्स सडण ० जाव धम्मस्स केरिसए परिणामे भविस्सति ?, तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया! माणुस्सएसु कामभोगेसु सज्जह रज्जह गिज्झह मुज्झह अज्झोववज्जह। एवं खलुदेवाणुप्पिया! तुम्हे अम्मे इमाओ तच्चे भवग्गहणे अवरविदेहवासे सलिलावतिंसि विजए वीयसोगाए रायहाणीए महब्बलपामोक्खा सत्त वि य वालवयंसया रायाणो होत्था, सह जाया ०जाव पव्वतिता। तए णं अहं देवाणुप्पियाया! इमेणं कारणेणं इत्थीनामगोयं कम्मं निव्वत्तेमि जति णं तुब्भं चोत्थं उवसंपज्जित्ता णं विहरह। तते णं अहं छट्ठं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि, सेसं तहेव सव्वं। तते णं तुब्भे देवाणुप्पिया! कालमासे कालं किच्चा जयंते विमाणे उववण्णा तत्थ णं तुब्भे देसूणातिं वत्तीसातिं सागरोवमाइं ठिती. ते णं तुब्भे ताओ देवलोयाओ अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे ०जाव साइं साइं रज्जातिं उवसंपज्जित्ता णं विहरह। तते णं अहं देवाणुप्पिया! ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं ०जाव दारियत्ताए पच्चायाया।

"किं थ तयं पम्हुट्ठं, जं थ तया भोजयंतपवरंमि।
वुत्था समयानिबद्धं, देवा! तं संभरह जातिं ॥ १ ॥"

तते णं तेसिं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं रायाणं मल्लीए विदेह ०अंतिए एतमट्ठं सोचा णिसम्म सुभेणं परिणामेणं पसत्थेणं अज्झवसाणेणं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं० ईहावूह ०जाव सण्णि जाइस्समरणे समुप्पन्ने। एयमट्ठं सम्मं अभिसमागच्छंति। तए णं मल्ली अरहा जितसत्तुपामोक्खे छप्पि रायाणो समुप्पण्णजाइस्समरणे जाणित्ता गब्भघराणं दाराइं विहाडावेति। तते णं ते जितसत्तुपामोक्खा जेणेव मल्ली अरहा तेणेव उवागच्छंति उवगच्छित्ता तते णं महब्बलपामोक्खे सत्त वि य वालवयंसा एगयओ अभिसमन्नागया याऽवि होत्था। तते णं मल्लीए अरहा ते जितसत्तुपामोक्खे छप्पि य रायाणो एवं वयासी–एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! संसारभयउव्विग्गा०जाव पव्वयामि तं तुब्भे णं किं करेह किं ववसह ०जाव किं भे हियसामत्थे ?, जियसत्तु०मल्लिं अरहं एवं वयासी–जति णं तुब्भे देवाणुप्पिया! संसार ०जाव पव्वयह अम्हे णं देवाणुप्पिया! के अण्णे आलंवणे वा आहारे वा पडिबंधे वा जह चेव णं देवाणुप्पिया! तुब्भे अम्हे इओ तच्चे भवग्गहणे बहुसु कज्जेसु य मेढीपमाणं ०जाव धम्मधुरा होत्था तहा चेव णं देवाणुप्पिया! इण्हिं पि ०जाव भविस्सह, अम्हे वि य णं देवाणुप्पिया! संसारभउव्विग्गा ०जाव भीया जम्मणमरणाणं, देवाणुप्पियाणं सद्धिं ०मुंडा भवित्ता०जाव पव्वयामो। तते णं मल्ली अरहा ते जितसत्तुपामोक्खे एवं वयासी–जं णं तुब्भे संसार ०जाव मए सद्धिं पव्वयह तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया!। सएहिं सएहिं रज्जेहिं जेट्ठे पुत्ते रज्जे ठावेह ठवेत्ता पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ दुरूहह, दुरूढा समाणा मम अंतियं पाउब्भवह। तते णं ते जितसत्तुपामोक्खा मल्लिस्स अरहतो एतमट्ठं पडिसुणेंति। तते णं मल्ली अरहा ते जितसत्तु ० गहाय जेणेव कुंभए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता कुंभगस्स पाएसु पाडेति। तते णं कुंभए ते जितसत्तु ०विपुलेणं असण पा०४ पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेति ०जाव पाडविसज्जेति, तते णं ते जितसत्तुपामोक्खा कुंभएणं रण्णा विसज्जिया समाणा जेणेव साइं साइं रज्जातिं जेणेव नगरातिं तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता सगाइं रज्जातिं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उवसंपज्जित्ता विहरंति । तते णं मल्ली अरहा संवच्छ-राऽवसाणे निक्खमिस्सामि त्ति मणं पहारेति। (सूत्र-७५)

तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्कस्साऽऽसणं चलति,तते णं सक्के देविंदे देवराया आसणं चलियं पासति पासित्ता ओहिं पउंजति पउंजित्ता मल्लिं अरहं ओहिणा आभोएति आ-भोइत्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे मिहिलाए कुंभगस्स० मल्ली अरहा निक्खमिस्सामि त्ति मणं पहारेति, तं जीयमेयंऽती-यपच्चुप्पन्नमणागयाणं सक्काणं० ३ अरहंताणं भगवंताणं निक्खममाणाणं इमेयारूवं अत्थसंपयाणं दलित्तए,तं जहा-

"तिण्णेव य कोडिसया, अट्ठासीदिं च होंति कोडीओ।
असीतिं च सयसहस्सा, इंदा दलयंति अरहाणं ॥१॥"

एवं संपेहेति संपेहित्ता वेसमणं देवं सद्दावेति सद्दावित्ता० एवं खलु देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे ०जाव असीतिं च सयसहस्साइं दलइत्तए, तं गच्छह णं देवा-णुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे कुंभगभवणंसि इमे-यारूवं अत्थसंपदाणं साहराहि साहरित्ता खिप्पामेव मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि। तते णं से वेसमणे देवे सक्केणं देविंदेणं एवं वुत्ते हट्ठे करयल ०जाव पडिसुणेइ पडिसु-णित्ता जंभए देवे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे णं देवाणुप्पिया! जम्बुद्दीवं दीवं भारहं वासं मिहिलं रायहाणिं कुंभगस्स रन्नो भवणंसि तिन्नेव य कोडि-सया अट्ठासीयं च कोडीओ असीयं च सयसहस्साइं अ-यमेयारूवं अत्थसंपयाणं साहरह साहरित्ता मम एयमाण-त्तियं पच्चप्पिणह। तते णं ते जंभगा देवा वेसमणेणं० जाव सुणेत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति अवक्कमित्ता० जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति विउव्वित्ता ताए उ-क्किट्ठाए०जाव वीईवयमाणा जेणेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जेणेव मिहिला रायहाणी जेणेव कुंभगस्स रण्णो भवणे तेणे-व उवागच्छंति २ त्ता कुंभगस्स रन्नो भवणंसि तिन्नि कोडि-सया ०जाव साहरंति साहरित्ता जेणेव वेसमणे देवे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता करयल ०जाव पच्चप्पिणंति, तते णं से वेसमणे देवे जेणेव सक्के देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता करयल ०जाव पच्चप्पिणति। तते णं मल्ली अरहा कल्लाकल्लिं ०जाव मागहओ पायरासो त्ति बहूणं सणाहाण य अणाहाण य पंथियाण य पहि-याण य करोडियाण य कप्पडियाण य एगमेगं हिरण्ण-कोडिं अट्ठ य अणूणातिं सयसहस्सातिं इमेयारूवं अत्थ-संपदाणं दलयति, तए णं से कुंभए मिहिलाए रायहाणीए तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे देसे बहूओ महाणससालाओ करेति,तत्थ णं बहवे मणुया दिण्णभइभत्तवेयणा विपुलं अ-सण०४उवक्खडेंति उवक्खडेत्ता जे जहा आगच्छंति तं० पंथिया वा पहिया वा करोडिया वा कप्पडिया वा पासं-डत्था वा गिहत्था वा तस्स य तहा आसत्थस्स वीसत्थ-स्स सुहासणवरगत० तं विपुलं असणं पा०४परिभाएमाणा परिवेसेमाणा विहरंति, तते णं मिहिलाए सिंघाडग०जाव बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमातिक्खति एवं खलु देवाणु-प्पिया! कुंभगस्स रण्णो भवणंसि सव्वकामगुणियं किमि-च्छियं विपुलं असणं पाणं० ४ बहूणं समणाण य० जाव परिवेसिज्जति,

"वरवरिया घोसिज्जति, किमिच्छियं दिज्जए बहुविहीयं।
सुरअसुरदेवदाणव-नरिंदमहियाण निक्खमणे ॥१॥"

तते णं मल्ली अरहा संवच्छरेणं तिन्नि कोडिसया अट्ठासीतिं च होंति कोडीओ असीतिं च सयसहस्साइं इमेयारूवं अत्थसंपदाणं दलइत्ता निक्खमामि त्ति मणं पहारेति। (सूत्र-७६)

तेणं कालेणं तेणं समएणं लोगंतिया देवा बंभलोए कप्पे रिट्ठे विमाणपत्थडे सएहिं सएहिं विमाणेहिं सएहिं सएहिं पासायवडिंसएहिं पत्तेयं पत्तेयं चउहिं सामाणिय-साहस्सीहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणिएहिं सत्तहिं अ-णियाहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहिं लोगंतिएहिं देवेहिं सद्धिं संपरिवुडा महया हय-नट्टगीयवाइय० जाव रवेणं भुंजमाणा विहरइ, तं जहा-

"सारस्स य माइच्चा, वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुसिया अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य॥ १ ॥"

तते णं तेसिं लोयंतियाणं देवाणं पत्तेयं पत्तेयं आसणाति चलंति तहेव० जाव अरहंताणं निक्खममाणाणं संबोहणं करेत्तए त्ति तं गच्छामो णं अम्हे वि मल्लिस्स अरहतो संबोहणं करेमि त्ति कट्टु एवं संपेहेंति संपेहित्ता उत्तरपुर-च्छिमं दिसीभायं० वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति स-मोहणित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं एवं जहा जंभगा० जाव जेणेव मिहिला रायहाणी जेणेव कुंभगस्स रन्नो भवणे जेणेव मल्ली अरहा तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता अं-तलिक्खपडिवन्ना सखिंखिणियाइं० जाव वत्थातिं पवरप-रिहिया करयल० ताहिं इट्ठा०एवं वयासी-बुज्झाहि भगवं! लोगनाहा पवत्तेहि धम्मतित्थं जीवाणं हियसुहनिस्सेयस-करं भविस्सति त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयंति वइत्ता मल्लिं अरहं वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता जा-मेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया। तते णं मल्ली अरहा तेहिं लोगंतिएहिं देवेहिं संबोहिए स-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माणे जेणेव अम्मापिअरो तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता करयल० इच्छामि णं अम्मयाओ, तुब्भेहिं अब्भणुणाते मुंडे भवित्ता ०जाव पव्वतित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तते णं कुंभए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वदासी–खिप्पामेव अट्ठसहस्सं सोवणियाणं ०जाव भोमेज्जाणं ति, अण्णं च महत्थं० जाव तित्थयराऽभिसेयं उवट्ठवेह ०जाव उवट्ठवेंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे असुरिंदे ०जाव अच्चुयपज्जवसाणा आगया, तते णं सक्के देविंदे देवराया आभिओगिए देवे सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वदासी–खिप्पामेव अट्ठसहस्सं सोवणियाणं ०जाव अण्णं च तं विउलं उवट्ठवेह ०जाव उवट्ठवेंति, ते वि कलसा ते चेव कलसे अणुपविट्ठा । तते णं से सक्के देविंदे देवराया कुंभराया मल्लिं अरहं सीहासणंसि पुरत्थाऽभिमुहं निवेसेइ अट्ठसहस्सेणं सोवणियाणं ०जाव अभिसिंचंति । तते णं मल्लिस्स भगवओ अभिसेए वट्टमाणे अप्पेगतिया देवा मिहिलं च सब्भितरं बाहिं जाव०सव्वतो समंता परिधावंति, तए णं कुंभए राया दोच्चं पि उत्तरावक्कमणं ०जाव सव्वाऽलंकारविभूसियं करेति करित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी–खिप्पामेव मणोरमं सीयं उवट्ठवेह ते उवट्ठवेंति, तते णं सक्के देविंदे देवराया आभिओगिए० खिप्पामेव अणेगखंभ० जाव मणोरमं सीयं उवट्ठवेह०जाव साऽवि सीया तं चेव सीयं अणुपविट्ठा । तते णं मल्ली अरहा सीहासणाओ अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठित्ता जेणेव मणोरमा सीया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता मणोरमं सीयं अणुपयाहिणीकरेमाणा मणोरमं सीयं दुरूहति दुरूहित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने, तते णं कुंभए अट्ठारससेणिप्पसेणीओ सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वदासी–तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! ण्हाया ०जाव सव्वालंकारविभूसिया मल्लिस्स सीयं परिवहह ०जाव परिवहंति । तते णं सक्के देविंदे देवराया मणोरमाए दक्खिणिल्लं उवरिल्लं वाहं गेण्हति, ईसाणे उत्तरिल्लं उवरिल्लं वाहं गेण्हति, चमरे दाहिणिल्लं हेट्ठिल्लं, वली उत्तरिल्लं हेट्ठिल्लं अवसेसा देवा जहारिहं मणोरमं सीयं परिवहंति ।

"पुव्विं उक्खित्ता माणुस्सेहिंतो हट्ठरोमकूवेहिं ।
पच्छा हवंति सीयं, असुरिंदसुरिंदनागिंदा ॥ १ ॥
जलचवलकुंडलधरा, सच्छंदविउव्वियाऽऽभरणधारी ।
देविंददाणविंदा, वहंति सीयं जिणिंदस्स ॥ २ ॥"

तते णं मल्लिस्स अरहओ मणोरमं सीयं दुरूढस्स इमे अट्ठऽट्ठमंगलगा पुरतो अहाणु०एवं निग्गमो जहा जमालिस्स । तते णं मल्लिस्स अरहतो निक्खममाणस्स अप्पेगइया देवा मिहिलं आसिय०अब्भितरवासविहि गाहा०जाव परिधावंति, तते णं मल्ली अरहा जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता सीयाओ पच्चोरुहति पच्चोरुहित्ता आभरणाऽलंकारं पभावती पडिच्छति । तते णं मल्ली अरहा सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति, तते णं सक्के देविंदे देवराया मल्लिस्स केसे पडिच्छति, खीरोदगसमुद्दे पक्खिवइ । तते णं मल्ली अरहा णमोऽत्थु णं सिद्धाणं ति कट्टु सामाइयचरित्तं पडिवज्जति, जं समयं च णं मल्ली अरहा चरित्तं पडिवज्जति, तं समयं च णं देवाणं माणुसाण य णिग्घोसे तुरियनिणायगीयवातियनिग्घोसे य सक्कस्स वयणसंदेसेणं णिलुक्के याऽवि होत्था । जं समयं च णं मल्ली अरहा सामातियं चरित्तं पडिवन्ने तं समयं च णं मल्लिस्स अरहतो माणुस्सधम्माओ उत्तरिए मणपज्जवनाणे समुप्पन्ने । मल्ली णं अरहा जे से हेमंताणं दोच्चे मासे चउत्थे पक्खे पोससुद्धे तस्स णं पोससुद्धस्स एक्कारसीपक्खेणं पुव्वऽण्हकालसमयंसि अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं अस्सिणीहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं तिहिं इत्थीसएहिं अब्भितरियाए परिसाए तिहिं पुरिससएहिं बाहिरियाए परिसाए सद्धिं मुंडे भवित्ता पव्वइए, मल्लिं अरहं इमे अट्ठ रायकुमारा अणुपव्वइंसु; तं जहा—

" णंदे य णंदिमित्ते, सुमित्ते बलमित्ते भाणुमित्ते य ।
अमरवति अमरसेणे, महसेणे चेव अट्ठमए ॥ १ ॥ "

तए णं से भवणवइ–वाणमंतर–जोइसिय—वेमाणिया मल्लिस्स अरहतो निक्खमणमहिमं करेंति करित्ता जेणेव नंदीसरवरे०अट्ठाहियं करेंति करित्ता० जाव पडिगया । तते णं मल्ली अरहा जं चेव दिवसं पव्वतिए तस्सेव दिवसस्स पुव्वाऽ (पच्च) वरण्हकालसमयंसि असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टयंसि सुहासणवरगयस्स सुहेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं पसत्थाहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तया वरणकम्मरयविकरणकरं अपुव्वकरणं अणुपविट्ठस्स अणंते ०जाव केवलनाणदंसणे समुप्पन्ने । (सूत्र–७७)

तेणं कालेणं तेणं समएणं सव्वदेवाणं आसणाति चलंति समोसढा सुणेंति अट्ठाहियमहाम० नंदीसरं जामेव दिसं पाउ ०कुंभए वि निगच्छति । तते णं ते जितसत्तुपामुक्खा छप्पि य० जेट्ठपुत्ते रज्जे ठावेत्ता पुरिससहस्सवाहिणीयाओ दुरूढा सव्विड्ढीए जेणेव मल्ली अर०जाव पज्जुवासंति, तते णं मल्ली अर० तीसे महालियाए कुंभगस्स तेसिं च जियसत्तुपामुक्खाणं धम्मं कहेति परिसा जामेव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। कुंभए समणोवासए जाते, पडिगए पभावती य। तते णं जितसत्तू छप्पि रायाणो धम्मं सोच्चा आलित्तए णं भंते! ०जाव पव्वइया, चोद्दसपुव्विणो अणंते केवले सिद्धा। तते णं मल्ली अरहा सहसंववणाओ निक्खमति निक्खमित्ता वहिया जणवयविहारं विहरइ, मल्लिस्स णं भिसगपामोक्खा अट्ठावीसं गणा, अट्ठावीसं गणहरा होत्था। मल्लिस्स णं अरहओ चत्तालीसं समणसाहस्सीओ उक्को० बंधुमतिपामोक्खाओ पणपन्नं अज्जियासाहस्सीओ उक्को० सावयाणं एगासतसाहस्सी चुलसीतिं सहस्सा० सावियाणं तिन्नि सयसाहसीओ पण्णट्ठिं च सहस्सा छस्सया चोद्दसपुव्वीणं वीसं सया ओहिनाणीणं वत्तीसं सया केवलणाणीणं पणतीसं सया वेउव्वियाणं अट्ठ सया मणपज्जवनाणीणं चोद्दस सया वाईणं वीसं सया अणुत्तरोववातियाणं। मल्लिस्स अरहओ दुविहा अंतगडभूमी होत्था, तं जहा-जुयंतकरभूमी परियायंतकरभूमी य ०जाव वीसतिमाओ पुरिसजुगाओ जुयंतकरभूमी, दुवालसपरियाए अंतमकासी। मल्ली णं अरहा पणुवीसं धणूतिमुड्ढं उच्चत्तेणं वण्णेणं वियंगुसमे समचउरंससंठाणे वज्जरिसभनारायसंघयणे मज्झदेसे सुहं सुहेणं विहरित्ता जेणेव सम्मेयपव्वए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता संमेयसेलसिहरे पाओवगमणुववण्णे मल्ली ण य एगं वाससतं आगारवासं पणपण्णं वाससहस्सातिं वाससयऊणातिं केवलिपरियागं पाउणित्ता पणपण्णं वाससहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता जे से गिम्हाणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे चित्तसुद्धे तस्स णं चेतसुद्धस्स चउत्थीए भरणीए णक्खत्तेणं अद्धरत्तकालसमयंसि पंचहिं अज्जियासएहिं अब्भिंतरियाए परिसाए पंचहिं अणगारसएहिं बाहिरियाए परिसाए मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं वग्घारियपाणी खीणे वेयणिज्जे आउए नामे गोए सिद्धे एवं परिनिव्वाणमहिमा भाणियव्वा जहा जंबुदीवपन्नत्तीए, नंदीसरे अट्ठाहियाओ पडिगयाओ। एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं अट्ठमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति वेमि। (सूत्र७८)ज्ञा०१ श्रु०८अ०।

मल्ली णं अरहा पणवीसं धणू उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था। (स० २५ सम०।) मल्लिस्स णं अरहओ पणपन्नवाससहस्साइं परमाउं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे। स० ५४ सम०।

मल्लिवक्तव्यता प्रतिबद्धे अष्टमे ज्ञाताध्ययने, स० १८ सम०। आ० चू०। भरतवर्षे भविष्यत्येकोनविंशे तीर्थकरे, (समवायाङ्गे त्वयं विवादशब्देनोक्तः। प्रव० ७ द्वार) प्रश्न०। आव०।

मल्ली णं अरहा अप्पसत्तमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, तं जहा-मल्लिविदेहरायवरकण्णगा पडिबुद्धी इक्खागराया नंदच्छाए अंगराया रुप्पी कुणालाऽहिवई संखे कासीराया अदीणसत्तू कुरुराया जियसत्तू पंचालराया। स्था० ७ ठा०।

श्रीमल्लिजिनस्य द्वादशपर्षदामवस्थितिर्देशनादौ सर्वजिनवत्किंवा भिन्नत्वमिति प्रश्ने, उत्तरम्-देशनाकाले द्वादशपर्षदामवस्थितिस्सर्व्वजिनसमाना वैयावृत्त्यं तु साध्व्यः कुर्व्वन्तीति। १४६ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

मल्लिक-मल्लिक-पारसीकः शब्दः। स्वामिनि, ती० ३६ कल्प।

मल्लिजिण-मल्लिजिन-पुं०। एकोनविंशे अवसर्पिणीतीर्थकरे, प्रव० २७ द्वार। आ० चू०।

मल्लिज्झयण-मल्ल्यध्ययन-न०। श्रीज्ञातासूत्रेऽष्टमाध्ययने अदीनशत्रुराजस्य मल्लीस्वरूपाऽवगमाधिकारे, "तए णं से मल्लदिन्ने कुमारे तस्स चित्तगरस्स संडासगं छिंदावेति," इत्यत्र संदंशकशब्देन किमुच्यते? तस्य किं छेदितम्? वृत्तौ व्याख्यातं न दृश्यते। आवश्यकवृत्त्युपदेशमालादौ षष्टीवृत्तिश्राद्धविधिप्रमुखग्रन्थेषु मृगावतीसंबन्धे संदंशक एव लिखितोऽस्ति, परं संदंशकस्यैवार्थः कः? तेन तस्यार्थः साक्षरं प्रसाद्य इति प्रश्ने, उत्तरम्-संदंशकशब्देनात्राङ्गुष्ठप्रदेशिन्योरग्रमुच्यते यतो विशेषावश्यकवृत्तौ चित्रकरसम्बन्धाधिकारे निरपराधस्यैकचित्रकरस्याङ्गुष्ठप्रदेशिन्योरग्रं छेदितं शतानीकनरपतिनेत्युक्तमस्तीति। १७१ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

मल्लियच्छ-मल्लिकाक्ष-त्रि०। मल्लिका-विचकिलस्तद्वदक्षिणी यस्य स मल्लिकाक्षः। शुक्लाक्षे, "हरिमेलामउलमल्लियच्छाणं"। औ०।

मल्लिया-मल्लिका-स्त्री०। विचकिलपुष्पे,यल्लोके वेलीति प्रसिद्धम्। जं० ३ वक्ष०। ज्ञा०। औ०। उत्त०। स्नानमल्लिकाविशेषे, आ० म० १ अ०। कल्प०। प्रज्ञा०।

मल्लियामंडव-मल्लिकामण्डप-पुं०। मल्लिकामये मण्डपे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मल्लिणाय-मल्लिज्ञान-न०। मल्ली एकोनविंशतितमजिनस्थानोत्पन्ना तीर्थकरी सैव ज्ञानम्। ज्ञाताधर्म्मकथाया अष्टमेऽध्ययने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

मल्लिसेण-मल्लिषेण-पुं०। नागेन्द्रगच्छीये उदयप्रभसूरिशिष्ये, स च १२१४ शके वर्त्तमान आसीत्। स्याद्वादमञ्जरीम्-अन्ययोगव्यवच्छेदिकां टीकां च व्यरीरचत्। जै० इ०।

मल्हणं-देशी-लीलायाम्, दे० ना० ६ वर्ग० ११६ गाथा।

मस-मष-पुं०। चणकाकृतौ शरीरोत्थे कृष्णवर्णे गोलमांसे, अनु०।

मसग-मशक-पुं०। चतुरिन्द्रियजन्तौ,उत्त० ३६ अ०। आचा०। विशे०। आ० क०। जं०। प्रश्न०। औ०। ज्ञा०।

मसगघर-मशकगृह-न०। स्वनामख्याते मशकनिवारणे पर्यङ्कच्छादनवस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

मसाण-श्मशान-न०। "आदेः श्मश्रुश्मशाने"। ८। २। ८६। इत्यादेर्लुक्। मसाणं। प्रा० २ पाद। पितृवने, दश० १०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अ०। शवस्थाने, स्था० १० ठा०। आ० म०। प्रेतवने, "पेअवणं पिउवणं मसाणं च" पाइ० ना० १५८ गाथा।

मसाणपाल--श्मशानपाल--पुं०। शवदाहस्थानरक्षके, "उज्झति स्म श्मशाने सा, रक्तकम्बलवेष्टितम्। श्मशानपालो मातङ्गः, प्रेक्ष्य पत्न्यै तमर्पयत्" ॥१॥ आ० क० ४ अ०। आव०।

मसाणपिउ--श्मशानपितृ--पुं०। स्वनामख्याते यक्षे, "मसाणमज्झे मसाणपिउनाम जक्खो अइप्पसिद्धो अत्थि"। दर्श० १ तत्त्व।

मसाणसामंत--श्मशानसामन्त--पुं०। श्मशानसमीपे, स्था० १० ठा०।

मसार--मसार--पुं०। मसृणीकारके पाषाणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

मसारगल्ल--मसारगल्ल--पुं०। रत्नविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उत्त०। सूत्र०। रा०। प्रज्ञा०। जं०। आ० म०। स्था०।

मसारगल्लकांड--मसारगल्लकाण्ड--न०। मसारगल्लप्रभे रत्नप्रभाया नरकपृथ्व्याः काण्डे, स्था० १० ठा०।

मसि--मषि-(षी)--स्त्री०। कज्जले, भ० १५ श०। जं०। मषीप्रधाने भाजने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। मनुष्योपलक्षिते लेखनजीविनि, पुं०। तं०।

मसिगुलिया--मषीगुलिका--स्त्री०। घोलितकज्जलगुटिकायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मसिण--मसृण--"मसृण मृगाङ्क मृत्यु शृङ्ग घृष्टे वा" ॥८।१।१३०॥ इति ऋत इत्वा। मसिणं। मसणं। प्रा० १ पाद। कोमलत्वचि, रा०। सुकुमारस्पर्शे, बृ० ३ उ०। औ०। अपरुषे, औ०। नि० चू० ६ उ०। श्लक्ष्णे, स्था० ४ ठा० २ उ०। विशे०। रम्ये, दे० ना० ६ वर्ग ११८ गाथा। मन्दे, "मसिणं मणिअं मट्ठं, मंदं अलसं जडं मरालं च। खेलं निहुअं सइरं, वीसत्थं मंथरं थिमिअं ॥१५॥" पाइ० ना० १५ गाथा। कोमले, पाइ० ना० ६१ गाथा।

मसिणिअ--मसृणित--त्रि०। चिक्कणे, "रोसाणीअं मसिणिअं" (६६४) पाइ० ना० २२४ गाथा।

मसीद--मसीति--अयं पारसीकः शब्दः। अल्लोपासनस्थाने यवनानां देवालये, श्रीवस्तुपालेन चतुःषष्टिर्मसीतयः कारिताः, दक्षिणस्यां श्रीपर्वतं यावत् पश्चिमायां प्रभासं यावत् उत्तरस्यां केदारं यावत् पूर्वस्यां वाराणसी यावत्। ती० ४१ कल्प।

मसीमूसा--मषीमूषा--स्त्री०। मषीप्रधाना मूषा। मषीप्रधाने ताम्रादिधातुप्रतापनभाजने, मषी च मूषकश्चेति द्वन्द्वे। कज्जलोन्दुरुविशेषयोः, पुं०। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

मसूर--मसूर--पुं०। स्वनामख्याते धान्यभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। प्रव०। प्रज्ञा०। भिलिङ्गे, चणकिकायाम्, इत्यन्ये। (सूत्र २४६)॥ भ० ६ श० ७ उ०। मसूरो मालवादिदेशप्रसिद्धा धान्यविशेषाः। जं० २ वक्ष०। विशे०। प्रज्ञा०। मसूरः चणकः। दशा० ६ अ०। "मसूरा चणइयाओ।" स्था० ५ ठा० ३ उ०। लोमयुक्ते पक्षिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

मसूरग--मसूरक--पुं०। न०। आसनविशेषे, धान्यविशेषे च दर्श० ५ तत्त्व। ज्ञा०। कल्प०। चर्मधृते कूपादिपूर्णे वल्वलगदिकादिके, बृ० ३ उ०।

मह--काङ्क्ष--धा०। गृद्धौ, "काङ्क्षराहाहि लङ्घाहिल लङ्ख वच्चवंफ-मह सिह विलुम्पाः" ॥ ८।४।१९२॥ इति काङ्क्षतेर्महादेशः। महइ। कंखइ। प्रा० ४ पाद। "मे मइ मम मह महं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं ङसा" ॥ ८। ३। ११३ ॥ अस्मदो ङसा षष्ठ्येकवचने महादेशः। मह। मम। प्रा० ३ पाद।

मह--महपूजायामिति धातोः क्विपि महः गा०। आ० म० १ अ०। प्रतिनियतदिवसभाविन्युत्सवे, जं० २ वक्ष०।

महत्--त्रि०। विस्तीर्णे, चं० प्र० १७ पाहु०। सूत्र०। विशाले, रा०। प्रबले, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। प्रधाने, आव० ४ अ०। उत्सवे, न०। "छणं महं (८३८)" पाइ० ना० २४८ गाथा।

महअर--देशी--गह्वरपतौ, दे० ना० ६ वर्ग० १२३ गाथा।

महइमहालय--महातिमहाल(ता-स्त्री०)य--त्रि०। महती चासावतिमहती चेति महातिमहती तस्यै। आलप्रत्ययश्चेह प्राकृतप्रभवः। महान्तश्च तेऽतिमहालयाश्चेति महातिमहालयाः। अथवा-लय इत्येतस्य स्वार्थिकत्वान्महातिमहान्त इत्यर्थः। स्था० ३ ठा० ४ उ०। रूढिवशादतिमहति, ध० ३ अधि०। "तए णं ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं तीसे य महइमहालियाए परिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेंति" भ० २ श० ५ उ०। रा०। स्था०। महामहान्त इति वक्तव्ये समयभाषया "महइमहालया" इत्युक्तम्। स्था० ४ ठा० २ उ०। विपा० ("महइमहालया" इति पदं 'कुरा' शब्दे तृतीयभागे ५८६ पृष्ठे विस्तरतः व्याख्यातम्)

दो कुराओ पण्णत्ताओ। देवकुरा चेव, उत्तरकुरा चेव। तत्थ णं दो महतिमहालता महद्दुमा पण्णत्ता। तं जहा-कूडसालमली चेव, पउमरुक्खे चेव। (९३×) स्था० २ ठा० ३ उ०।

महतिमहालियं महती चासौ अतिमहालिका च गुर्वी महातिमहालिका अत्यन्तगुरुका इत्यर्थः। विपा० १ श्रु० ३ अ०।

अतिमहत आह—

तओ महइमहालया पण्णत्ता। तं जहा-जंबुद्दीवे मंदरे, मंदरेसु। सयंभुरमणे समुद्दे, समुद्देसु। बंभलोए कप्पे, कप्पेसु। (२०५)

द्विरुच्चारणं च महच्छब्दस्य मन्दरादीनां सर्वगुरुत्वख्यापनार्थम्। अव्युत्पन्नो वा अयमतिमहदर्थे वर्तत इति (मंदरेसु त्ति) मेरूणां मध्ये जम्बूद्वीपकस्य सातिरेकलक्षयोजनप्रमाणत्वाच्छेषाणां चतुर्णां सातिरेकपञ्चाशीतियोजनसहस्रप्रमाणत्वादिति। स्वयंभूरमणो महान् सुमेरोरारभ्य तस्य शेषसर्वद्वीपसमुद्रेभ्यः समधिकप्रमाणत्वात् तेषां तस्य च क्रमेण किंचिन्न्यूनाधिकरज्जुपादप्रमाणत्वादिति। ब्रह्मलोकस्तु महान् तत्प्रदेशे पञ्चरज्जुप्रमाणत्वाल्लोकविस्तरस्य तत्प्रमाणतया च विवक्षितत्वात् ब्रह्मलोकस्येति। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

महई--महती--स्त्री०। वाद्यविशेषे, रा०। प्रौढायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। महाविषयायाम्, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रशस्तायाम्, विपा० १ श्रु० ३ अ० । भ०। सर्वधर्मानुष्ठानानां बृहत्त्याम्, प्रश्न० " महंति त्ति " सर्वधर्मानुष्ठानानां बृहती, आह च-" एकं चित्र एत्थ वयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिँ सव्वेहिं। पाणाऽतिवायविरमण-मवसेसा तस्स रक्खा य " ॥ १ ॥ प्रश्न० १ संव० द्वार।

महंगो–देशी–उष्ट्रे, दे० ना० ६ वर्ग ११७ गाथा।

महंत–महत्–त्रि०। शीघ्रादित्वात्तथारूपम्। प्रा० २ पाद। बृहत्तरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । विस्तीर्णे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । महाविस्तीर्णे, विशाले, गुरुके, प्रश्न० ४ संव० द्वार। प्रशस्ते, विपा० १ श्रु० ३ अ०। सूत्र०।

तत्र महच्छब्दनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो खलु महंतम्मि, निक्खेवो छव्विहो होति ॥१४२॥

(णामं ठवणेत्यादि) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाऽऽत्मको महति षड्विधो निक्षेपो भवति—तत्र नामस्थापने, सुज्ञाने। द्रव्यं महदागमतो, नो आगमतश्च। आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु–ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा। तत्रापि सचित्तद्रव्यं महत् औदारिकादिकं शरीरम्, तत्रौदारिकं योजनसहस्रपरिमाणं मत्स्यशरीरम्, वैक्रियं तु योजनशतसहस्रपरिमाणम्, तैजसकार्मणे तु लोकाऽऽकाशप्रमाणे,तदेतदौदारिकवैक्रियतैजसकार्मणरूपं चतुर्विधं द्रव्यं सचित्तमहद्। अचित्तमहत्–समस्तलोकव्याप्यचित्तमहास्कन्धः,मिश्रं तु तदेव मत्स्यादिशरीरम्, क्षेत्रमहत् लोकाकाशं,कालमहत् सर्वाऽद्धा, भावमहदौदयिकादिभावरूपतया षोढा। तत्रौदयिको भावः सर्वसंसारिषु विद्यत इति कृत्वा बह्वाश्रयत्वान्महान् भवति। कालतोऽप्यसौ त्रिविधः। तद्यथा–अनाद्यपर्यवसितोऽभव्यानाम्, अनादिसपर्यवसितो भव्यानां, सादिसपर्यवसितो नारकादीनामिति क्षायिकस्तु केवलज्ञानदर्शनात्मकः साद्यपर्यवसितत्वात्,कालतो महान् क्षायौपशमिकोऽप्याश्रयबहुत्वादनाद्यपर्यवसितत्वाच्च महानिति। औपशमिकोऽपि दर्शनचारित्रमोहनीयानुदयतया शुभभावत्वेन च महान् भवति। पारिणामिकस्तु समस्तजीवाजीवाश्रयत्वादाश्रये महत्वान्महानिति। सान्निपातिकोऽप्याश्रयबहुत्वादेव महानिति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

महदभिधित्सुराह—

णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले पहाणे पइभावे।
एएसि महंताणं, पडिवक्खे खुड्डया होंति ॥१७८॥

नाममहत्–महदिति नाम,स्थापनामहत्–महदिति स्थापना, द्रव्यमहान्–अचित्तमहास्कन्धः। दश० ३ अ०। तत्रागमतो ज्ञातानुपयुक्तो द्रव्यमहत्, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तम् द्रव्यमहत्, अचित्तमहास्कन्धः दण्डादिकरणेन यश्चतुर्भिः समयैः सकललोकमापूरयति। (उत्त०पाई ६ अ०) क्षेत्रमहल्लोकालोकाकाशम्, कालमहान्–अतीतादिभेदः सम्पूर्णः कालः। प्रधानमहत्–सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्, सचित्तं त्रिविधम्, द्विपदचतुष्पदापदभेदात्। तत्र द्विपदानां तीर्थकरः प्रधानः, चतुष्पदानां हस्ती, अपदानां पनसः, अचित्तानां वैडूर्यरत्नम्, मिश्राणां तीर्थकर एव वैडूर्यादिविभूषितः प्रधानः इत्यत एव चैतेषां महत्त्वमिति प्रतीत्यं आपेक्षिकम्, तद्यथा-आमलकं प्रतीत्य महत् विल्वम्, विल्वं प्रतीत्य कपित्थमित्यादि। भावमहत्त्रिविधम्, प्राधान्यतः कालतः आश्रयतश्चेति। प्राधान्यतः क्षायिको महान् मुक्तिहेतुत्वेन तस्यैव प्रधानत्वान्, कालतः पारिणामिकः जीवत्वाजीवत्वपरिणामस्यानाद्यपर्यवसितत्वान्न कदाचिज्जीवा अजीवतया परिणमन्ते अजीवाश्च जीवतयेति, आश्रयतस्त्वौदयिकः प्रभूत (संसारि) सत्त्वाश्रयत्वात्, सर्वसंसारिणामेवासौ विद्यत इति। दश० ३ अ०। प्रभुत्वे, औ०। महायामे, औ०। महच्छब्दस्य बहवोऽर्थाः। तथाहि–महच्छब्दो बहुत्वे, यथा महाजन इति। अस्ति बृहत्त्वे, यथा महाघोषः। अस्तीत्यर्थे, यथा महाभयमिति। अस्ति प्राधान्ये यथा महापुरुष इति तत्रेह प्राधान्ये वर्तमानो गृहीत इति।

एतान्निर्युक्तिकारो दर्शयितुमाह—

पाहन्ने महसद्दो, दव्वे खेत्ते य कालभावे य।

तत्र महावीरस्तव इत्यत्र यो महच्छब्दः स प्राधान्ये वर्तमानो गृहीतः, तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा। प्राधान्ये नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यप्राधान्यं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा। सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात् त्रिधैव। तत्र द्विपदेषु तीर्थकरचक्रवर्त्यादिकम्,चतुष्पदेषु हस्त्यश्वादिकम्,अपदेषु प्रधानं कल्पवृक्षादिकम्,यदिवा–इहैव ये प्रत्यक्षा रूपरसगन्धस्पर्शैरुत्कृष्टाः पौण्डरीकादयः पदार्थाः, अचित्तेषु–वैडूर्यादयो नानाप्रभावा मणयो,मिश्रेषु तीर्थकरो विभूषित इति। क्षेत्रतः प्रधाना–सिद्धिः धर्मचरणाश्रयणान्महाविदेहं च,उपभोगाङ्गीकरणेन तु देवकुर्वादिकं क्षेत्रम्, कालतः प्रधानं त्वेकान्तसुषमादि, यो वा कालविशेषो धर्मचरणप्रतिपत्तियोग्य इति। भावप्रधानं तु क्षायिको भावः तीर्थकरशरीरापेक्षयौदयिको वा, तत्रेह द्वयेनाप्यधिकार इति। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। आ०म०। दीर्घे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। महत्तत्त्वे, सत्त्वरजस्तमोरूपात्प्रधानान्महान्–बुद्धिरित्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। महत्त्वं मेरोरपि महत्तरशरीरकरणसामर्थ्यम्,तथा प्राप्तिर्भूमिष्ठस्याङ्गुल्यग्रेण मेरुपर्वताग्रप्रभाकरादिस्पर्शनसामर्थ्यमिति योगशास्त्रवृत्तौ–" कफविप्रुण्मलामर्श–सर्वौषधिमहर्द्धयः " इत्यस्य व्याख्याने प्रोक्तमस्ति परमत्रोत्कर्षतोऽप्युत्सेधाङ्गुलमानेन लक्षयोजनप्रमाणस्य वैक्रियशरीरस्य संभवान्मेरोरपि महत्तरशरीरकरणं, भूमिष्ठस्याङ्गुल्यग्रेण मेर्वग्रादिस्पर्शनं कथं घटते ? इति प्रश्ने, उत्तरम्–यद्यपि " सरीरमुस्सेहंऽगुलेण तह त्ति " उत्सेधाङ्गुलेन शरीरमानमुक्तमस्ति, तथापि तत्प्रायिकं संभाव्यते तेन न काप्यनुपपत्तिः। अन्यथा भूमिष्ठस्याङ्गुल्यग्रेण मेरुपर्वताग्रादिस्पर्शासंभवात्। किं च–यद्येकान्ततः शरीरमुत्सेधाङ्गुलेनैव स्यात्, तदा प्रज्ञापनोपाङ्गादावुक्तो द्वादशयोजनप्रमाणशरीरोऽसालिकाजीवो महाविदेहादिचक्रिणां प्रमाणाङ्गुलेन द्वादशयोजनप्रमाणस्य स्कन्धावारस्य विनाशहेतुः कथं संभवति। कथं वा कृतलक्षयोजनवैक्रियरूपेण सौधर्मदेवलोकं गतेन चमरेन्द्रेण एकः पादः पद्मवरवेदिकायां मुक्तोऽपरश्च सुधर्मासभायामित्यादिकं भगवत्याद्युक्तं संभवतीति। ६ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्तर–त्रि०। आयामतो महति, भ० १३ श० ३ उ०।

मलय–महामलय–पुं०। महाँश्चासौ मलयश्च महामलयः। वन्ध्ये, स्था० ६ ठा०।

महंतर–महदन्तर–न०। विवरे, "एवं सच्चामहत्तरं" महदन्तरं धर्मविशेषकर्मणो वा विवरं ज्ञात्वा, यदि वा-मनुष्यार्यक्षेत्रादिकमवसरं सदनुष्ठानस्य ज्ञात्वा। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

महाविक्कम–महाविक्रम–त्रि०। महान् विक्रमो विहारक्रमेण प्रभूतक्षेत्रव्याप्तिरूपो येषां ते तथा। प्रभूतं क्षेत्रं विहृतवत्सु, नं०।

महंऽधकार–महान्धकार–पुं०। तमस्काये, स्था०४ ठा० २ उ०। महातमोरूपत्वात्तस्य। भ० ६ श० ५ उ०।

महक्खंधवग्गणा–महास्कन्धवर्गणा–स्त्री०। पुद्गलस्कन्धादिविस्रसा परिणामेन टङ्ककूटपर्वतादिसमाश्रितेषु पुद्गलेषु, पं० सं० ५ द्वार।

महक्खया–महाख्या–स्त्री०। एकत्र पट्टे सप्तसप्ततिप्रतिमाप्रतिष्ठायाम्, ध० २ अधि०।

महगोव–महागोप–पुं०। अर्हति, विशे०।

अडवीए देसयत्तं, तहेव णिज्जामया समुद्दम्मि।
छक्कायरक्खणऽट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति" ॥ २६५६ ॥

विशे०। (व्याख्यातैषा 'अरिहंत' शब्दे प्रथमभागे ७६८पृष्ठे)

महग्गह–महाग्रह–पुं०। अङ्गारकादिषु भावकेतुपर्यवसानेषु चन्द्रपरिवारभूतेषु ग्रहेषु, स०।

एगमेगस्स णं चंदिमसूरियस्स अट्ठासीइ अट्ठासीइ महग्गहा परिवारो पण्णत्ता।

एकैकस्यासंख्यातानामपि प्रत्येकमित्यर्थः। चन्द्रमाश्च सूर्यश्च चन्द्रमःसूर्यं तस्य, चन्द्रसूर्ययुगलस्य इत्यर्थः। अष्टाशीति महाग्रहाः, एते च यद्यपि चन्द्रस्यैव परिवारोऽन्यत्र श्रूयते तथापि सूर्यस्यापीन्द्रत्वादेत एव परिवारतया अवसेया इति। स० ८८ सम०।

संख्यातो महाग्रहानाह—

दो इंगालगा, दो वियालगा, दो लोहितक्खा, दो सणिच्चरा, दो आहुणिया, दो पाहुणिया, दो कणा, दो कणगा, दो कणकणगा, दो कणगविताणगा, दो कणगसंताणगा, दो सोमा, दो सहिया, दो आसासणा, दो कज्जोपगा, दो कव्वडगा, दो अयकरगा, दो दुंदुभगा, दो संखा, दो सखंवन्ना, दो संखवन्नाभा, दो कंसा, दो कंसावन्ना, दो कंसन्नाभा, दो रुप्पी, दो रुप्पाभासा, दो णीला, दो णीलोभासा, दो भासा, दो भासरासी, दो तिला, दो तिलपुप्फवण्णा, दो दगा, दो दगपंचवन्ना, दो काका, दो कक्कंधा, दो इंदग्गीवा, दो धूमकेऊ, दो हरी, दो पिंगला, दोबुद्धा, दो सुक्का, दो वहस्सती, दो राहू, दो अगत्थी, दो माणवगा, दो कासा, दो फासा, दो धुरा, दो पमुहा, दो-वियडा, दो विसंधी, दो नियल्ला, दो पइल्ला, दो जडियाइलगा, दो अरुणा, दो अग्गिल्ला, दो काला, दो महाकालगा, दो सोत्थिया, दो सोवत्थिया, दो वद्धमाणगा, दो पूसमाणगा, दो अंकुसा, दो पलम्बा, दो निचालोगा, दो णिच्चुज्जोता, दो सयंपभा, दो ओभासा, दो सेयंकरा, दो खेमंकरा, दो आभंकरा, दो पभंकरा, दो अपराजिता, दो अरया, दो असोगा, दो विगतसोगा, दो विमला, दो वितत्ता, दो वितत्था, दो विसाला, दो साला, दो सुव्वता, दो अणियट्टा, दो एगजडी, दो दुजडी, दो करकरिगा, दो रायग्गला, दो पुप्फकेतू, दो भावकेऊ। (सूत्र ६०)

अङ्गारकादयोऽष्टाशीतिर्ग्रहाः सूत्रसिद्धाः, केवलमस्मद्दृष्टपुस्तकेषु केषुचिदेव यथोक्तसंख्या संवदतीति सूर्यप्रज्ञप्त्यनुसारेणासाविह संवादनीया। तथाहि, तत्सूत्रम्-"तत्थ खलु इमे अट्ठासीई महग्गहा पन्नत्ता, तं जहा-इंगालए १ वियालए २ लोहियक्खे ३ सणिच्छरे ४ आहुणिए ५ पाहुणिए ६ कणे ७ कणए ८ कणकणए ९ कणवियाणए १० कणसंताणए ११ सोमे १२ सहिए १३ अस्सासणे १४ कज्जोयए १५ कव्वडए १६ अयकरए १७ दुंदुभए १८ संखे १९ संखवण्णे २० संखवन्नाभे २१ कंसे २२ कंसवण्णे २३ कंसवन्नाभे २४ णीले २५ णीलोभासे २६ रुप्पी २७ रुप्पोभासे २८ भासे २९ भासरासी ३० तिले ३१ तिलपुप्फवण्णे ३२ दगे ३३ दगपंचवण्णे ३४ काए ३५ काकंधे ३६ इंदग्गी ३७ धूमकेऊ ३८ हरी ३९ पिंगले ४० बुहे ४१ सुक्के ४२ वहस्सई ४३ राहू ४४ अगत्थी ४५ माणवगे ४६ कासे ४७ फासे ४८ धुरे ४९ पमुहे ५० वियडे ५१ विसंधी ५२ नियल्ले ५३ पयले ५४ जडियाइल्लए ५५ अरुणे ५६ अग्गिल्लए ५७ काले ५८ महाकाले ५९ सोत्थिए ६० सोवत्थिए ६१ वद्धमाणगे ६२ पलंबे ६३ णिच्चालोए ६४ निच्चुज्जोए ६५ सयंपभे ६६ ओभासे ६७ सेयंकरे ६८ खेमंकरे ६९ आभंकरे ७० पभंकरे ७१ अपराजिए ७२ अरए ७३ असोगे ७४ वीयसोगे ७५ विमले ७६ वियत्ते ७७ वितत्थे ७८ विसाले ७९ साले ८० सुव्वए ८१ अनियट्टी ८२ एगजडी ८३ दुजडी ८४ करकरिए ८५ रायग्गले ८६ पुप्फकेऊ ८७ भावकेऊ ८८" स्था० २ ठा० ३ उ०।

अङ्गारको१विकालको२लोहिताक्षः३शनैश्चरः ४आधुनिकः ५ प्राधुनिकः६ कणः७कणकः८कणकणकः९कणवितानकः १०कणसन्तानकः११सोमः१२सहितः१३ आश्वासनः१४ कार्योपगः १५कर्बुरकः१६अयस्कारकः१७दुन्दुभकः १८शङ्खः१९ शङ्खनाभः२०शङ्खवर्णाभः२१कंसः २२कंसनाभः२३कंसवर्णाभः२४ नीलः २५ नीलावभासः २६ रूपी २७ रूपावभासः२८भस्मः २९ भस्मराशिः ३० तिलः ३१ तिलपुष्पवर्णः ३२ दकः ३३ दकवर्णः ३४ कायः ३५ काकन्ध्यः ३६ इन्द्राग्निः ३७ धूमकेतुः ३८ हरिः ३९ पिङ्गलः ४० बुधः ४१ शुक्रः ४२ बृहस्पतिः ४३ राहुः ४४ अगस्तिः ४५ माणवकः ४६ कामस्पर्शः ४७ धुरः ४८ प्रमुखः ४९ विकटः ५० विसन्धिकल्पः ५१ प्रकल्पः ५२ जटालः ५३ अरुणः ५४ अग्निः ५५ कालः ५६ महाकालः ५७ स्वस्तिकः ५८ सौवस्तिकः ५९ वर्धमानः ६० प्रलम्बः ६१ नित्यालोकः ६२ नित्योद्योतः ६३ स्वयम्प्रभः ६४ अवभासः ६५ श्रेयस्करः ६६ क्षेमङ्करः ६७ आभङ्करः ६८ प्रभङ्करः ६९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अरजाः ७० विरजाः ७१ अशोकः ७२ वीतशोकः ७३ विततः ७४ विवस्त्रः ७५ विशालः ७६ शालः ७७ सुव्रतः ७८ अनिवृत्तिः ७९ एकजटी ८० द्विजटी ८१ करः ८२ करकः ८३ राजा ८४ अर्गलः ८५ पुष्पः ८६ भावः ८७ केतुः ८८। कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

इदं संग्रहणीगाथाभिर्नियन्त्रितम्, तथाहि—
"इंगालए वियालए, लोहियक्खे सणिच्छरे चेव।
आहुणिए पाहुणिए, कणगसनामाउ पंचेव (११)॥१॥
सोमे सहिए आसा-सणे य कज्जोवए य कव्वडए।
अयकरए दुंदुहए, संखसनामाउ तिन्नेव (२१)॥२॥
तिन्नेव कंसनामा, णीला रुप्पी य होंति चत्तारि।
भास तिलपुप्फवन्ने, (दगे य) दगपण (पंच) वएणे य कायकाकंधे (३६)॥३॥
इंदग्गि धूमकेऊ, हरि पिंगलए बुहे य सुक्के य।
वहस्सइ राहु अगत्थी,माणवए कास फासे य (४८)॥४॥
धूरे पमुहे वियडे, विसंधि णियले तहा पयल्ले य।
जडियाइलए अरुणे, अग्गिलकाले महाकाले (५६)॥५॥
सोत्थिय सोवत्थिय व-द्धमाणगे तहा पलंवे य।
निच्चालोए णिच्चु-ज्जोए, सयंपभे चेव ओभासे (६७)॥६॥
सेयंकर खेमंकर, आभंकर पभंकर य बोद्धव्वे।
अरए विरए य तहा, असोग तह वीयसोगे य (७५)॥७॥
विमल वितत्त वितत्थे, विसाल तह साल सुव्वए चेव।
अनियट्टी एगजडी, य होइ विजडी य बोद्धव्वे (८४)॥८॥
करकरए रायग्गल, बोद्धव्वे पुप्फ भावकेऊ य (८८)।
अट्ठासीइ गहा खलु, णेयव्वा आणुपुव्वीए॥९॥"
स्था० २ ठा० ३ उ०।

महग्घ–महार्घ–त्रि०। महामूल्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आव०। उत्त०। "महग्घवरपट्टणुग्गयं" महार्घा बहुमूल्या वरे प्रधाने पत्तने वस्त्ररत्नोत्पत्तिस्थाने उद्गता निष्पन्ना ततः कर्मधारयस्तम्। कल्प०। प्रश्न०। संथा०। दर्श०। बहुमूल्ये, विपा० १ श्रु० ३ उ०। सू० प्र०। कल्प०। आ० म०। भ०। महतां योग्ये, भ० १५ श०। आ० म०।

महऽग्घय–महार्घक–त्रि०। महती अर्घा यस्य स महार्घः महार्घ एव महार्घकः। बहुमूल्ये, उत्त० २० अ०।

महचंद–महाचन्द्र–पुं०। स्वनामख्याते शोभाञ्जनीपुरीराजे, विपा० १ श्रु० ४ अ०। जिनदासपितरि, सौगन्धिकानगरीराजे, विपा० २ श्रु० ६ अ०।

महच्च–महार्च–महार्च्य–माहत्य–पुं०। महार्चो महार्च्यो वा माहत्यं महत्त्वं तद्योगात् माहत्यः गुणगुणिनोरभेदोपचारात्। ईश्वरे, स्था० ३ ठा० १ उ०। भ०।

महच्चपरिसा–महार्च्यपरिषद्–स्त्री०। महार्चानां–सततपूज्यानां महार्चा वा परिषद् महार्चपरिषद्। प्रधानपर्षदि, पूजनीयानां पर्षदि च। भ० १ श० १ उ०।

महज्जुइय–महाद्युतिक–त्रि०। महती द्युतिः शरीरगताऽऽभरणगता च येषामिति महाद्युतयः। प्रज्ञा० २ पद। महती द्युतिस्तपोदीप्तिजा लेश्या वा अस्येति महाद्युतिः। उत्त० १ अ०। स्था०। जी०। औ०। आ० म०। रा०। सू० प्र०। जं० प्र०। स्था०। ज्ञा०। उत्त०। शरीराभरणाद्यपेक्षया अतिद्युतौ, तपोदीप्तिसमुत्पन्नलेश्यायुक्ते च। भ० १ श० ७ उ०। स्था०।

महऽज्झयण–महाऽध्ययन–न०। महान्ति च तान्यध्ययनानि च पूर्वश्रुतस्कन्धाध्ययनेभ्यो महत्त्वादेतेषामिति। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। आ० चू०। पुण्डरीकादिप्रभृतिषु सूत्रकृतो द्वितीयस्कन्धस्य सप्तस्वध्ययनेषु, बृ० ६ उ०। स्था०।

महड्ढि–महर्द्धि–स्त्री०। यावच्छक्तितुलितायां परिवारादिकायामृद्धौ, रा०।

महड्ढिय–महर्द्धिक–त्रि०। महती ऋद्धिर्विमानपरिवारादिका यस्य स महर्द्धिकः। जी० ३ प्रति २ उ०। अनुत्तरवैमानिकादौ, दश० ६ अ० ४ उ०। विमानपरिवारादिकाया ऋद्धेरत्यद्भुतत्वात्। आ० म० १ अ०। भ०। औ०। ऋद्धिविकुर्वणतया सहिते, उत्त० १ अ०। औ०। विमानपरिवारादिसम्पदुपेते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सू० प्र०। जं०। महती महाप्रमाणा प्रशस्या वा ऋद्धिश्चक्रवर्तिनमपि योधयेदित्यादिका विकरणशक्तिस्तृणाग्रादपि हिरण्यकोटिरित्यादिरूपा वा समृद्धिरस्येति। उत्त० १ अ०। संप्राप्तषट्खण्डराज्ये, उत्त० १ अ०। महती ऋद्धिश्छत्रादिराजचिह्नरूपा यस्य सः। कल्प० १ अधि० १ क्षण। महती ऋद्धिरावासरत्नादिका यस्य स महर्द्धिकः। स्था० २ ठा० ३ उ०। महती ऋद्धिः सुखादिसम्पदस्य स महर्द्धिकः। उत्त० ५ अ०। वृद्धिभूतिके, उत्त० १३ अ०। ग्रामस्य नगरस्य वा रक्षाकारिणि, बृ० ६ उ०। व्य०। महेश्वरे, पञ्चा० ८ विव०। (लेश्यादिक्रमेण यथोत्तरं महर्द्धिकत्वं यथा अर्वागल्पर्द्धिकत्वमिति 'लेस्सा' शब्दे वक्ष्यते)

महण–मथन–पुं०। मथने,विनाशके, पितृगेहे, दे० ना० ६ वर्ग ११४ गाथा।

महणदेवी–महणदेवी–स्त्री०। स्वनामख्यातायां कान्यकुब्जेश्वरसुतायाम्, "सा च जनका कुञ्चलिकापदे गुर्जरधरित्रीमवाप्य तदाधिपत्यं मुक्त्वा मृता सती तत्रैव देशाधिष्ठात्री समजनि।" ती० ४१ कल्प।

महणसिंह–महणसिंह–पुं०(विक्रमसंवत्–१२४३)अर्बुदतीर्थोद्धर्तुर्लल्लस्य पितरि, ती० ७ कल्प। (अत्र विस्तरः 'अब्बुय' शब्दे प्रथमभागे ६८८ पृष्ठे गतः 'तत्राऽऽद्यतीर्थस्योद्धर्ता' इत्यादि ४६ श्लोकेन)

महणिगा(या)–महणिका–स्त्री०। कान्यकुब्जेश्वरसुतायाम्, गुर्जरदेशाधिष्ठात्र्यां देव्याम्, ती० २५ कल्प (अत्रत्यवर्णनम् 'अरिट्ठणेमि' शब्दे प्रथमभागे ७६७ पृष्ठे कृतम्।)

महणिज्ज–महनीय–त्रि०। पूज्ये, अवन्तिषु प्रसिद्धस्याभिनन्दनदेवस्य स्वनामख्याते सेवके, "महनीयाभिख्यो मे दुःस्वाङ्गुलीयं भगवदुद्देशेन कृतवान्।" ती० ३१ कल्प।

महण्णव–महार्णव–पुं०। महासमुद्रे, बृ० ४ उ०।

महण्णवा–महार्णवा–स्त्री०। महार्णवा इव यावद्बहूदकत्वान्महार्णवगामिन्यो वा यास्ता महार्णवाः। "इमा पंच महण्णवागंगा जमुणा सरऊ एरावई वा कोसी मही।" प्रति०। ग० ३ अधि०। स्था०। नि० चू०। (पञ्च महार्णवाः 'णइसंतार' शब्दे व्याख्यातावश्चतुर्थभागे १७३६ पृष्ठे।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्तर-महत्तर-त्रि०। अयं महान् अयं महानयमनयोरतिशयेन महान्महत्तरः "अतिशायने तरप्तमपाविति तरप्" प्रव०४ द्वार। पूज्ये, स्था० ४ ठा० १ उ०। कञ्चुकिभिन्ने अन्तःपुररत्नके, औ०। ग्रामकूटे ग्राममहत्तरे, नि० चू० २ उ०।

महत्तरकप्प-महत्तरकल्प-पुं०। पूज्यस्थानीये, औ०।

महत्तरग-महत्तरक-पुं०। अन्तःपुरकार्यचिन्तके, भ० ११ श० ११ उ०। "जे रण्णो समीवं अंतेपुरिया णयंति आणेंति वा रिउण्हायं वा कहेंति कुवियं वा पसादेंति कहेंति य रण्णो विदिते कारणे अण्णतो ऽवि य अगितो काउं वयंति ते महत्तरगा" अन्तःपुररत्नके, औ०। ग्रामप्रधाने,व्य० ७ उ०।तदाश्रितजनापेक्षया उत्तमे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विपा०। जं०। गुरुतरत्वे, आ० म० १ अ०। राज्यकार्यकारके, व्य०।

महत्तरकलक्षणमाह—

गंभीरो मद्दवितो, कुसलो जाइविणयसंपन्नो।
जुवरण्णाए सहितो, पेच्छइ कज्जाइँ महत्तरओ॥

यो गम्भीरो लब्धबुद्धिमध्यभागो, मार्दवितो मार्दवोपेतः। संजातं मार्दवमस्येति तारकादिदर्शनादितच्प्रत्ययः। कुशलः सकलनीतिशास्त्रदक्षो जातिविनयसंपन्नो युवराजेन सहितः सन् प्रेक्षते कार्याणि राज्यकार्याणि स महत्तरक इति। व्य० १ उ०।

महत्तरा-महत्तरा-स्त्री०। प्रवर्तिन्याम्, आव० ६ अ०।

महत्तरागार-महत्तराकार-पुं०। प्रत्याख्यानापवादभेदे,पंचा०५ विव०। प्रव०। आव०। पं० व०। (विशेषार्थः 'पुरिमड्ढ'शब्दे पञ्चमभागे १०१० पृष्ठे गतः)

महत्तरिया-महत्तरिका-स्त्री०। प्रधानतमायाम्, स्था० ६ ठा०। महत्तरिका नाम दिशाकुमारिका। तुल्यविभवादिकुमारिकाणामनतिक्रमणीयवचनायां दिक्कुमारिकायाम्,आ०म०१अ०।

महत्तो-अस्मद्-पञ्चम्येकवचनम् ङसि। "मइ मम मह मज्झ ङसौ"॥८।३।१११॥ इति अस्मदः पञ्चम्येकवचने महादेशः। ङसेस्तु त्तो आदेशः। प्रा० ३ पाद।

महऽत्थ-महार्थ-त्रि०। महान् परिमितो द्रव्यपर्यायात्मकतयाऽर्थोऽभिधेयं यस्य तन्महार्थम्। उत्त० १३ अ०। महान्प्रभूतोऽर्थः-फलं स्वरूपाद्यभिधेयं यस्य तन्महार्थम्। महागोचरे, पा०। महान्-प्रधानो हेयोपादेयप्रतिपादकत्वेनार्थो यस्मिंस्तन्महार्थम्। दश० २ अ०। महाप्रयोजने, ज्ञा०१ श्रु० १ अ०। बृहदभिधेये, पञ्चा० ७ विव०। भ०। विपा०। पं० सं०। कर्म०। नं०। पञ्चा०। चं० प्र०। सामायिके द्वादशाङ्गपिण्डार्थत्वात्। आ० म० १ अ०। अल्पाक्षरलेपिद्वादशाङ्गसंग्राहित्वात्। आ० म०१ अ०। महानर्थो-ज्ञानवैराग्यादिको यस्मात्स महार्थः। मोक्षपथे, तं०। विशे०। 'महत्थ त्ति' महानर्थो यस्य स महार्थः। आ० म० १ अ० ('सिद्धपर्यहिं महत्थं' १ इत्यादिगाथाः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे व्याख्याताः)

महऽत्थत्त-महार्थत्व-न०। बृहदभिधेयतायाम्, औ०। स० ३५ सम०।

महऽत्थरूवा-महार्थरूपा-स्त्री०। महान् द्रव्यपर्यायभेदसहितो निश्चयव्यवहारसहितश्चार्थो यस्य तन्महार्थं तादृशं रूपं यस्याः सा महार्थरूपा। महार्थलक्षणायाम्, उत्त० १३ अ०।

महऽत्थरूवा वयणप्पभूया,
गहाणुगीया नरसंघमज्झे।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया,
इह ज्जयंते समणोऽम्हि जाओ॥ १२॥

उत्त० १३ अ०।

महत्थार-देशी-भाण्डे, भोजने, इति सातवाहनः। दे० ना० ६ वर्ग १२५ गाथा।

महद्दह-महाह्रद-पुं०। वर्षधरपर्वतोपरितनेषु ह्रदेषु, स्था० २ ठा० ३ उ०। (अत्रत्या सर्वा वक्तव्यता 'दह' शब्दे चतुर्थभागे २४८६ पृष्ठे गता)

महऽद्धि-महार्द्धि-स्त्री०। अर्द्दगतौ, याचने च इति वचनादर्द्धियाञ्चा। महती ज्ञानोपष्टम्भादिकारणविकलत्वादपरिमाणा अर्द्धिर्महाऽर्द्धिः। परिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार।

महद्दुम-महाद्रुम-पुं०। वलेर्वैरोचनेन्द्रस्य पदात्यनीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा०।

महद्धण-महाधन-त्रि०। महामूल्ये,बृ० ३ उ०। औ०। आचा०।

महन्द-महान्तः-जसि विभक्तौ रूपम्। अधः क्वचित्॥८।४। २६१॥इति शौरसेन्यां तस्य दः। महन्दो। विशाले,प्रा०४पाद।

महपंचभूय-महापञ्चभूत-न०। महान्ति च तानि सर्वलोकव्यापित्वाद् भूतानि महाभूतानि। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्येषु भूतेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

महपाण-महापान-न०। अतिदीर्घकालिके ध्याने, तं०।

महापानशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह—

पियइ त्ति व अत्थपए, मिणइ त्ति व दो वि अविरुद्धा।२५७।

पिवतीति वा मिनोतीति वेति द्वावपि शब्दावेतावविरुद्धौ तत्त्वत एकार्थावित्यर्थः। तत एवं व्युत्पत्तिः। पिवति अर्थपदानि यत्र स्थितस्तत् पानं, महच्च तत्पानं च महापानमिति। व्य० ६ उ०।

अथ महाप्राणध्याने कः कियन्तं कालमुत्कर्षतस्तिष्ठतीति प्रतिपादनार्थमाह—

वारस वासा भरहा-ऽहिवस्स छच्चेव वासुदेवाणं।
तिण्णि य मंडलियस्स, छम्मासा पागयजणस्स॥२५६॥

महाप्राणध्यानमुत्कर्षतो भरताधिपस्य चक्रवर्तिनो द्वादश वर्षाणि यावत्, वासुदेवानां बलदेवानां च षडेवेत्यर्थः। त्रीणि वर्षाणि माण्डलिकस्य, षण्मासान् यावत्प्राकृतजनस्य। व्य० ६ उ०। स्वनामख्याते ब्रह्मलोकविमाने, उत्त० १८ अ०।

महपूआ-महापूजा-स्त्री०।प्रभावनादिना बृहद्वन्दने,सर्वाङ्गाभरणविशिष्टाङ्गपत्रभङ्गीरचनपुष्पग्रहकदलीगृहपुत्रिकाजलयन्त्रादिरचनानानागीतनृत्याद्युत्सवैर्महापूजा। ध० २ अधि०।

महऽप्प-महात्मन्-पुं०। महान्निर्मलो निष्कषाय आत्मा यस्य स महात्मा। अकषायिणि, उत्त० १२ अ०। सम्यगात्मभावपरिणते, अष्ट० ३२ अष्ट०। आचा०। दश०। महानात्मा। यस्य स महात्मा। अनुग्रहपरायणतया महोदारे, ध० १ अधि०। स्था०। महानुभावतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महानचिन्त्यशक्त्युपेत आत्मा-स्वभावो यस्य स महात्मा। तीर्थकरे, नं०। आ० म० १ अ०। महान्प्रशस्यो विशिष्टवीर्योल्लसित आत्मा अस्येति महात्मा। उत्त० १२ अ०। आ० म०।

महप्पगब्भ-महाप्रगल्भ-पुं०। स्फारे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

महप्पवास-महाप्रवास-पुं०। दीर्घनिद्रायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०।

महप्पभ-महाप्रभ-पुं०। इक्षुवरद्वीपदेवे, सू० प्र० १९ पाहु०। द्वी०।

महप्पिय-महाप्रिय-त्रि०। अतिवल्लभे, दश० १ अ०।

महब्बल-महाबल-पुं०। पर्वताद्युत्पाटनसामर्थ्योपेते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। विशिष्टशारीरप्राणे, औ०। कल्प० १ अधि० १ क्षण। भ०। औ०। प्रज्ञा०। हस्तिनापुरराजस्य बलस्य पुत्रे, भ०।

तत्कथा चैवम्—

तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिणा(ग)पुरे णामं णयरे होत्था, वएणओ, सहसंबवणे णामं उज्जाणे, वएणओ, तत्थ णं हत्थिणा(ग)पुरे णामं णयरे बले णामं राया होत्था, वएणओ, तस्स णं बलस्स रएणो पभावईणामं देवी होत्था, सुकुमाल वएणओ, ०जाव विहरइ। तए णं सा पभावई देवी अएणया कयाइ तंसि तारिसगंसि वासघरंसि अब्भिंतरओ सचित्तकम्मे बाहिरओ दूमियघट्ठमट्ठे विचित्तउल्लोगचिल्लियतले मणिरयणपणासियंधकारे बहुसमसुविभत्तदेसभाए पंचवएणसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए काला(गु)गरुपवरकुंदरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे सुगंधवरगंधिए गंधवट्टिभूए तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगणवट्टिए उभओ बिब्बोयणे दुहओ उन्नए मज्झेणय गंभीरे गंगापुलिणवालुयउद्दालसालिसए ओयवियखोमियदुगुल्लपट्टपडिच्छयणे सुविरइयरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुडे सुरम्मे आईणगरूयबूरणवणीयतुल्लफासे सुगंधवरकुसुमचुण्णसयणोवयारकलिए अद्धरत्तकालसमयंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी अयमेयारूवं उरालं कल्लाणं सिवं धएणं मंगलं सस्सिरीयं महासुविणं पासित्ता णं पडिबुद्धा, तं जहा-हाररययखीरसागरससंककिरणदगरययमहासेलपंडुरतरोरुरमणिज्जपिच्छणिज्जं थिरलट्ठपउट्ठवट्टपीवरसुसिलिट्ठविसिट्ठतिक्खदाढाविडंबियमुहं परिकम्मियजच्चकमलकोमलमाइयसोभंतलट्ठउट्ठं रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालतालुजीहं मूसागयपवरकणगतावियआवत्तायंतवट्टतडियविमलसरिसनयणं विसालपीवरोरुपडिपुएणविउलखंधं मिउविसयसुहुमलक्खणपसत्थवित्थिएणकेसराडोवसोभियं ऊसियसुनिम्मियसुजायअप्फोडियलांगूलं सोमाकारं लीलायंतं जंभायंतं नहयलाओ उवयमाणं नियगवयणमतिवयंतं सीहं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धा। तए णं सा पभावई देवी अयमेयारूवं ओरालं०जाव सस्सिरीयं महासुविणं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धा समाणी हट्ठतु०जाव हियया धाराहयकलंबपुप्फगं पिव समूससियरोमकूवा तं सुविणं ओगिएहइ ओगिणिहत्ता सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता अतुरियमचवलमसंभंताए अविलंबियाए रायहंससरिसीए गईए जेणेव बलस्स रएणो सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता बलं रायं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुएणाहिं मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धएणाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरीयाहिं मिउमहुरमंजुलाहिं गिराहिं संलवमाणी संल०२ पडिबोहेइ पडिबोहेत्ता बलेणं रएणा अब्भणुएणाया समाणी णाणामणिरयणभत्तिचित्तंसि सिंहासणंसि णिसीयइ णिसीयित्ता आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया बलं रायं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं० जाव संलवमाणी सं०२ एवं वयासी-एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! अज्ज तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगणं तं चेव० जाव णियगवयणमतिवयंतं सीहं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धा, तं णं देवाणुप्पिया! एयस्स ओरालस्स० जाव महासुमिणस्स के मएणे कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ? तए णं से बले राया पभावईए देवीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए धाराहयणीवसुरभिकुसुमचंचुमालइयतणुयऊससियरोमकूवे तं सुमिणं ओगिएहइ ओगिणिहत्ता ईहं पविसइ पविसित्ता अप्पणो साभाविएणं मइपुव्वएणं बुद्धिविएणाणेणं तस्स सुमिणस्स अत्थोग्गहणं करेइ करेत्ता पभावतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं० जाव मंगलाहिं मिउमहुरसस्सिरीयाहि संलवमाणे संलवमाणे एवं वयासी-ओरालेणं तुम्मे देवी! सुविणे दिट्ठे कल्लाणेणं तुम्मे देवी सुविणे दिट्ठे० जाव सस्सिरीएणं तुम्हे देवी! सुविणे दिट्ठे आरोग्गतुट्ठिदीहाउकल्लाणमंगलकारएणं तुम्हे देवी! सुविणे दिट्ठे। अत्थलाभो देवाणुप्पिए! भोगलाभो देवाणुप्पिए! पुत्तलाभो देवाणुप्पिए! रज्जलाभो देवाणुप्पिए! एवं खलु तुम्हे देवाणुप्पिए! णवएहं मासाणं बहुपडिपुएणाणं अद्धट्ठराइंदियाणं विइक्कंताणं अम्हं कुलकेउं कुलदीवं कुलपव्वयं कुलवडिंसयं कुलतिलयं कुलकित्तिकरं कुलनंदिकरं कुलजसकरं कुलाधारं कुलपायवं कुलविवद्धणकरं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुएणपंचिंदियसरीरं० जाव ससिसोमाकारं कंतं पियदंसणं सुरूवं देवकुमारसमप्पभं दारगं पयाहिसि। सेऽवि य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णं दारए उम्मुक्कबालभावे विणायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते सूरे वीरे विक्कंते वित्थिण्णविपुलबलवाहणे रज्जवई राया भविस्सई। तं उराले णं तुम्हे देवी ! सुविणे दिट्ठे ०जाव आरोग्गतुट्ठि०जाव मंगलकारएणं तुम्हे देवी! सुविणे दिट्ठे त्ति कट्टु पभावतीं देवीं ताहिं इट्ठाहिं०जाव वग्गूहिं०जाव दोच्चं पि तच्चं पि अणुवूहइ। तए णं सा पभावई देवी बलस्स रण्णो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ करयल ०जाव एवं वयासी–एवमेयं देवाणुप्पिया ! तहमेयं देवाणुप्पिया ! अवितहमेयं देवाणुप्पिया ! असंदिद्धमेयं देवाणुप्पिया ! इच्छियमेयं देवाणुप्पिया ! पडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया ! इच्छियपडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया ! से जहेयं तुम्हे वदह त्ति कट्टु तं सुमिणं सम्मं पडिच्छइ पडिच्छित्ता बलेणं रण्णा अब्भणुण्णाया समाणी णाणामणिरयणभत्तिचित्ताओ भद्दाऽऽसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठेत्ता अतुरियमचवल०जाव गईए जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता सयणिज्जंसि णिसीयति णिसीयित्ता एवं वयासी–मा मे से उत्तमे पहाणे मंगल्ले सुमिणे अण्णेहिं पावसुमिणेहिं पडिहम्मिस्सइ त्ति कट्टु देवगुरुजणसंबद्धाहिं पसत्थाहिं मंगल्लाहिं धम्मियाहिं कहाहिं सुविणजागरियं पडिजागरमाणी पडि० २ विहरइ। तए णं से बले राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! अज्ज सविसेसं बाहिरियं उवट्ठाणसालं गंधोदयसित्तसुइयसंमज्जिओवलित्तं सुगंधपवरपंचवण्णपुप्फोवयारकलियं कालागरुपवरकुंदरुक्क ०जाव गंधवट्टिभूयं करेह कारावेह करित्ता कारवित्ता य सीहासणं रयावेह सीहासणं रयावेइत्ता तमेतं० जाव पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा ०जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सविसेसं बाहिरियं उवट्ठाणसालं ०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से बले राया पच्चूसकालसमयंसि सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ पायपीढाओ पच्चोरुहित्ता जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता अट्टणसालं अणुप्पविसइ जहा उववाइए तहेव अट्टणसाला तहेव मज्जणघरे ०जाव ससि व्व पियदंसणे नरवई मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइत्ता उवागच्छित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे णिसीयइ णिसीयित्ता अप्पणो उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए अट्ठ भद्दासणाइं सेयवत्थपच्चुत्थयाइं सिद्धत्थगकयमंगलोवयाराइं रयावेइ रयावेत्ता अप्पणो अदूरसामंते णाणामणिरयणमंडियं अहियपेच्छणिज्जं सहग्घवरपट्टणुग्गयं सण्हपट्टभत्तिसयचित्तत्ताणं ईहामियउसभ०जाव भत्तिचित्तं अब्भिंतरियं जवणियं अंछावेइ अंछावेत्ता णाणामणिरयणभत्तिचित्तं अत्थरयमिउमसूरगोच्छगं सेयवत्थपच्चुत्थं अंगसुहफासुयं सुमउयं पभावईए देवीए भद्दासणं रयावेइ रयावेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अट्ठंऽगमहानिमित्तसुत्तत्थधारए विविहसत्थकुसले सुविणलक्खणपाढए सद्दावेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा ०जाव पडिसुणेत्ता बलस्स रण्णो अंतियाओ पडिणिक्खमंति पडिणिक्खमित्ता सिग्घं तुरियं चवलं चंडं वेइयं हत्थिणापुरं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छंति णिग्गच्छित्ता जेणेव तेसिं सुविणलक्खणपाढगाणं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता ते सुविणलक्खणपाढए सद्दावेंति। तए णं ते सुविणलक्खणपाढगा बलस्स रण्णो कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठा ण्हाया कयवलिकम्मा ०जाव सरीरा सिद्धऽत्थगहरियालिया कयमंगलमुद्धाणा सएहिं सएहिं गिहेहिंतो णिग्गच्छंति णिग्गच्छित्ता हत्थिणापुरं णयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव बलस्स रण्णो भवणवरवडिंसए तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता भवणवरवडिंसए पडिदुवारंसि एगओ मिलंति एगओ मिलित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव बले राया तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता करयल ०बलं रायं जएणं विजएणं वद्धावेंति। तए णं ते सुविणलक्खणपाढगा बलेणं रण्णा वंदियपूइयसक्कारियसम्माणिया समाणा पत्तेयं पत्तेयं पुव्वण्णत्थेसु भद्दासणेसु णिसीयंति। तए णं से बले राया पभावइं देविं जवणियंतरियं ठावेइ ठावेत्ता पुप्फफलपडिपुण्णहत्थे परेणं विणएणं ते सुविणलक्खणपाढए एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! पभावई देवी अज्ज तंसि तारिसगंसि वासघरंसि ०जाव सीहं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धा। तं णं देवाणुप्पिया ! एयस्स उरालस्स ०जाव के मण्णे कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ ?। तए णं ते सुविणलक्खणपाढगा बलस्स रण्णो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा तं सुविणं ओगिण्हंति तं इहं अणुपविसंति अणुपविसित्ता तस्स सुविणस्स अत्थोग्गहणं करेंति करेत्ता ते अण्णमण्णेणं सद्धिं संचालेंति संचालेत्ता तस्स सुविणस्स लद्धऽट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा बलस्स रण्णो पुरओ सुविणसत्थाइं उच्चारेमाणे उ०२ एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं सुविणसत्थंसि बायालीसं सुविणा, तीसं महासुविणा, बावत्तरि सव्वसुविणा दिट्ठा, तत्थ णं देवाणुप्पिया ! तित्थगरमायरो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा चक्कवट्टिमायरो वा तित्थगरंसि वा चक्कवट्टिंसि वा गब्भं वक्कममाणंसि एतेसिं तीसाए महासुविणाणं इमे चउद्दस महासुविणे पासित्ता णं पडिवुज्झंति। तं जहा-
" गय उसभ सीहअभिसेय-दामससी दिणयरं झयं कुंभं।
पउमसरसागरविमा-णभवणरयणुच्चयसिहिं च ॥ १॥"
वासुदेवमायरो वा वासुदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुविणाणं अण्णयरे सत्त महासुविणे पासित्ता णं पडिवुज्झंति। बलदेवमायरो वा बलदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुविणाणं अण्णयरे चत्तारि महासुविणे पासित्ता णं पडिवुज्झंति। मंडलियमायरो वा मंडलियंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुविणाणं अण्णयरं एगं महासुविणं पासित्ता णं पडिवुज्झंति। इमं च णं देवाणुप्पिया! पभावईए देवीए एगे महासुविणे दिट्ठे तं ओराले णं देवाणुप्पिया! पभावईए देवीए सुविणे दिट्ठे ०जाव आरोग्गतुट्ठिदीहाउकल्लाणमंगलकारएणं देवाणुप्पिया! पभावईए देवीए सुविणे दिट्ठे, अत्थलाभो देवाणुप्पिया! भोगलाभो देवाणुप्पिया! पुत्तलाभो रज्जलाभो देवाणुप्पिया! एवं खलु देवाणुप्पिया! पभावई देवी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं ०जाव वीइक्कंताणं तुब्भं कुलकेउं ०जाव दारगं पयाहिसि। से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे ०जाव रज्जवई राया भविस्सइ, अणगारे वा भावियऽऽप्पा। तं उराले णं देवाणुप्पिया! पभावईए देवीए सुविणे दिट्ठे ०जाव आरोग्गतुट्ठिदीहाउकल्लाण ०जाव दिट्ठे। तए णं से बले राया सुविणलक्खणपाढगाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ करयल ०जाव कट्टु ते सुविणलक्खणपाढगे एवं वयासी-एवमेयं देवाणुप्पिया! ०जाव से जहेयं तुब्भे वदह त्ति कट्टु तं सुविणं सम्मं पडिच्छइ पडिच्छित्ता सुविणलक्खणपाढए विउलेणं असणपाणखाइमसाइमपुप्फवत्थगंधमल्लाऽलंकारेणं सक्कारेइ सम्माणेइ सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयइ दलयइत्ता पडिविसज्जेइ पडिविसज्जेत्ता सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता जेणेव पभावई देवी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता पभावतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं०जाव संलवमाणे सं० २ एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिये! सुविणसत्थंसि बायालीसं सुविणा तीसं महासुविणा बावत्तरिं सव्वसुविणा। तत्थ णं देवाणुप्पिए! तित्थयरमायरो वा चक्कवट्टिमायरो वा तं चेव० जाव अण्णयरं एगं महासुविणं पासित्ता णं पडिवुज्झंति। इमे णं तुम्हे देवाणुप्पिए! एगे महासुविणे दिट्ठे० जाव रज्जवई राया भविस्सइ अणगारे वा भावियऽप्पा, तं ओराले णं तुम्हे देवी! सुविणे दिट्ठे० त्ति कट्टु पभावतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं ०जाव दोच्चं पि तच्चं पि अणुबूहइ। तए णं सा पभावई देवी बलस्स रण्णो अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठकरयल ०जाव एवं वयासी-एवमेयं देवाणुप्पिया! ०जाव तं सुविणं सम्मं पडिच्छइ पमिच्छित्ता बलेणं रण्णा अब्भणुण्णाया समाणी णाणामणिरयणभत्ति०जाव अब्भुट्ठेइ अतुरियमचवल ०जाव गईए, जेणेव सए भवणे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता सयं भवणं अणुप्पविट्ठा। तए णं सा पभावई देवी ण्हाया कयबलिकम्मा० जाव सव्वाऽलंकारविभूसिया तं गब्भं णाऽइसीतेहिं णाऽइउण्हेहिं णाऽइतित्तेहिं णाऽइकडुएहिं णाऽइकसाएहिं णाऽइअंबिलेहिं णाऽइमहुरेहिं उउब्भयमाणसुहेहिं भोअणच्छादणगंधमल्लेहिं जं तस्स गब्भस्स हिंतं मितं पत्थं गब्भपोसणं तं देसे य काले य आहारमाहारेमाणी विवित्तमउएहिं सयणासणेहिं पतिरिक्कसुहाए मणाणुकूलाए विहारभूमीए पसत्थदोहला संपुण्णदोहला सम्माणियदोहला अवमाणियदोहला वोच्छिण्णदोहला विणीयदोहला ववगयरोगसोगमोहभयपरित्तासा तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवहइ। तए णं सा पभावई देवी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धऽट्ठमाणराइंदियाणं वीइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरं लक्खणवंजणगुणोववेयं० जाव ससिसोमाकारं कंतं पियदंसणं सुरूवं दारगं पयाता। तए णं तीसे पभावईए देवीए अंगपडियारियाओ पभावतिं देविं पसूयं जाणित्ता जेणेव बले राया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता करयल० जाव बलं रायं जएणं विजएणं बद्धावेंति जएणं विजएणं बद्धावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! पभावई देवी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं० जाव दारगं पयाता, तं रायण्णं देवाणुप्पिया! णं पियट्ठयाए पियं णिवेदेमो पियं भे भवउ। तए णं से बले राया अंगपडियारियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव धाराहयणीव०जाव रोमकूवे तासिं अंगपडियारियाणं मउडवज्जं जहामालियओमोयं दलयइ दलइत्ता से तं रययमयं विमलसलिलपुण्णभिंगारं पडिगिण्हइ पडिगिण्हित्ता मत्थए धोवइ मत्थए धोवित्ता विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयइ पीइदाणं दलइत्ता सक्कारेइ सम्माणेइ सम्माणइत्ता पडिविसज्जेइ। (सूत्र-४२८)
तए णं से बले राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरे णयरे चारगसोहणं करेह चारग ०करेत्ता माणुम्माणप्पमाणवद्धणं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करेह माणु० करेत्ता हत्थिणाउरं णयरं सब्भिंतरं बाहिरियं आसियसम्मज्जिओवलित्तं० जाव करेहि य कारवेहि य करेत्ता य कारवेत्ता य जूवसहस्सं वा चक्कसहस्सं वा पूयामहामहिमसक्कारं वा ऊसवेह ऊसवेत्ता ममेयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं से कोडुंबियपुरिसा बलेणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से बले राया जेणेव उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तं चेव ०जाव मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता उस्सुक्कं उक्करं उक्किट्ठं अदिज्जं अमेज्जं अभडप्पवेसं अदंडकोदंडिमं अधरिमं गणियावरनाडइज्जकलियं अणेगताला-चराणुचरियं अणुद्धुयमुयंगं अमिलायमल्लदामं पमुदियपक्कीलियं सपुरजणजाणवयं दसदिवसे ठिइवडियं करेंति। तए णं से बले राया दसदियाए ठिइवडियाए वट्टमाणीए सतिए य साहस्सिए य सयसाहस्सिए य जाए य दाए य भाए य दलमाणे य दवावेमाणे य सतिए य साहस्सिए य सयसाहस्सिए य लंभे पडिच्छमाणे य पडिच्छावेमाणे य एवं विहरइ। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठिइवडियं करेंति, तइए दिवसे चंदसूरदंसावणियं करेंति, छट्ठे दिवसे जागरियं करेंति, एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते णिव्वत्ते असुइ जाइकम्मकरणे संपत्ते वारसाऽहदिवसे विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति उवक्खडावेत्ता जहा सिवो ०जाव खत्तिए य आमंतेइ आमंतेत्ता तओ पच्छा ण्हाया कयबलिक० तं चेव ०जाव सक्कारेंति सम्माणेंति त्ता तस्स व मित्तणाइ ०जाव (राईण य) खत्तियाण य पुरओ अज्जयपज्जयपिउपज्जयागयं बहुपुरिसपरंपरप्परूढं कुलाऽणुरूवं कुलसरिसं कुलसंताणतंतुविवद्धणकरं अयमेयारूवं गोण्णं-गुणनिप्फण्णं नामधेज्जं करेंति। जम्हा णं अम्हं इमे दारए बलस्स रण्णो पुत्ते पभावईए देवीए अत्तए तं होउ णं अम्हं इमस्स दारगस्स नामधेज्जं महब्बले तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्जं करेंति महब्बल इति। तए णं से महब्बले दारए पंचधाईपरिग्गहिए। तं जहा-खीरधाई एवं जहा दढप्पइण्णे०जाव णिव्वायणिव्वाघायं ति सुहं सुहेणं परिवड्ढति। तए णं तस्स महब्बलस्स दारगस्स अम्मापियरो आणुपुव्वेणं ठिइवडियं च चंदसूरदंसणावणियं वा जागरियं वा नामकरणं वा परंगामणं वा पयचंकामणं वा जेमावणं वा पिंडवद्धणं वा पजंपावणं वा कण्णवेहणं वा संवच्छरपडिलेहणं वा चोलोयणगं वा उवणयणं च अण्णाणि य बहूणि गब्भाऽऽधाणजम्मणमादियाइं कोउयाइं करेंति। तए णं तं महब्बलं कुमारं अम्मापिअरो साइरेगट्ठवासगं जाणित्ता सोभणंसि

१—दशाहिकायाम्।

तिहिकरणमुहुत्तंसि एवं जहा दढप्पइण्णे ०जाव अलं भोगसमत्थे जाए याऽवि होत्था। तए णं तं महब्बलं कुमारं उम्मुक्कबालभावं अलं भोगसमत्थं विजाणित्ता अम्मापिअरो अट्ठ पासायवडेंसए कारेंति। अब्भुग्गयमूसियपहसिए इव वण्णओ, जहा रायप्पसेणइज्जे०जाव पडिरूवे, तेसि णं पासायवडिंसगाणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगं भवणं कारेंति। अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं वण्णओ। जहा रायप्पसेणइज्जे, पेच्छाघरमंडवंसि०जाव पडिरूवे। (सूत्र-४२१)

तए णं तं महब्बलं कुमारं अम्मापियरो अण्णया कयाइ सोभणंसि तिहिकरणदिवसणक्खत्तमुहुत्तंसि ण्हायं कयबलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं सव्वालंकारविभूसियं पमक्खणं ण्हाणं गीयवाइयपसोहणट्ठगतिलगकंकणअविहवबहूवणीयं मंगलं सुजंपिएहि य वरकोउयमंगलोवयारकयसंतिकम्मं सरिसियाणं सरित्तियाणं सरिव्वयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं विणीयाणं कयकोउयमंगलपायच्छित्ताणं सरिसएहिं रायकुलेहिं आणिल्लियाणं अट्ठण्हं रायवरकण्णाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हाविंसु। तए णं तस्स महब्बलस्स कुमारस्स अम्मापियरो अयमेयारूवं पीतिदाणं दलयंति, तं जहा-अट्ठ हिरण्णकोडीओ अट्ठ सुवण्णकोडीओ अट्ठ मउडे मउडप्पवरे अट्ठ कुंडलजोए कुंडलजुयप्पवरे अट्ठ हारे हारप्पवरे अट्ठ अद्धहारे अद्धहारप्पवरे अट्ठ एगावलीओ एगावलिप्पवराओ एवं मुत्तावलीओ एवं कणगावलीओ एवं रयणावलीओ अट्ठ कडगजोए कडगजोयप्पवरे एवं तुडियजोए अट्ठ खोमजुवलाइं खोमजुवलप्पवराइं एवं वडगजुवलाइं एवं पट्टजुवलाइं एवं दुगुल्लजुवलाइं अट्ठ सिरीओ अट्ठ हिरीओ एवं धिईओ कित्तीओ बुद्धीओ लच्छीओ अट्ठ नंदाइं अट्ठ भद्दाइं अट्ठ तले तलप्पवरे सव्वरयणामए णियगवरभवणकेउ अट्ठ झए झयप्पवरे अट्ठ वए वयप्पवरे (दस गोसाहस्सिएणं वए णं) अट्ठ नाडगाइं नाडगप्पवराइं वत्तीसवद्धेणं नाडएणं अट्ठ आसे आसप्पवरे सव्वरयणामए सिरिघरपडिरूवए अट्ठ हत्थी हत्थिप्पवरे सव्वरयणामए सिरिघरपडिरूवए अट्ठ जाणाइं जाणप्पवराइं अट्ठ जुग्गाइं जुग्गप्पवराइं एवं सिवियाओ एवं संदमाणीओ एवं गिल्लीओ थिल्लीओ अट्ठ वियडजाणाइं वियडजाणप्पवराइं अट्ठ रहे पारिजाणीए अट्ठ रहे संगामिए अट्ठ आसे आसप्पवरे अट्ठ हत्थी हत्थिप्पवरे अट्ठ गामे गामप्पवरे (दसकुलसाहस्सीएणं गामे णं) अट्ठ दासे दासप्पवरे, एवं दासी-

१—दश गोसहस्रेण एको व्रजः।

२—दश कुलसहस्रेण एको ग्रामः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओ एवं किंकरे एवं कंचुइज्जे एवं वरिसहरे एवं-महत्तरए अट्ठ सोवरिणए ओवलंबणदीवे अट्ठ रुप्पमए ओ-वलंबणदीवे अट्ठ सुवरणरुप्पमए ओवलंबणदीवे अट्ठ सोवरिणए उक्कंचणदीवे एवं चेव तिरिण वि अट्ठ सोवरिणए पंजरदीवे एवं चेव तिरिण वि, अट्ठ सोवरिणए थाले अट्ठ रुप्पमए थाले अट्ठ सोवरणरुप्पमए थाले अट्ठ सोवरिणयाओ पत्तीओ ३ अट्ठ सोवरिणयाइं थासि (घोसि) याइं ३ अट्ठ सोवरिणयाइं मंगल्लाइं अट्ठ सोवरिणयाओ तलियाओ ३ अट्ठ सोवरिणयाओ कवाचियाओ ३ अट्ठ सोवरणमए अपवडए अट्ठ सोवरिणयाओ अवयकाओ ३ अट्ठ सोवरिणए पा-यपीढए ३ अट्ठ सोवरिणयाओ भिसियाओ ३ अट्ठ सोवरिणयाओ करोडियाओ ३ अट्ठ सोवरिणए पल्लंके ३ अट्ठ सोवरिणयाओ पडिसेज्जाओ३ अट्ठ हंसाऽऽसणाइं अट्ठ कोंचासणाइं एवं गरुडासणाइं उण्णतासणाइं पणयास-णाइं दीहासणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मकरासणाइं अट्ठ पउमासणाइं अट्ठ दिसासोवत्थियासणाइं अट्ठ तेल्ल-समुग्गे जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव अट्ठ सरिसवसमुग्गे अट्ठ खुज्जाओ जहा उववाइए ०जाव अट्ठ पारिसीओ अट्ठ छत्ते अट्ठ छत्तधारीओ चेडीओ अट्ठ चामराओ अट्ठ चा-मरधारीओ चेडीओ अट्ठ तालियंटे अट्ठ तालियंटधारी-ओ चेडीओ अट्ठ करोडियधारीओ चेडीओ अट्ठ खीर-धाईओ० जाव अट्ठ अंकधाईओ अट्ठ अंगमद्दियाओ अट्ठ उम्मद्दियाओ अट्ठ रहावियाओ अट्ठ पसाहियाओ अट्ठ चंदणपेसीओ अट्ठ चुरणगपेसीओ अट्ठ कीडाकारीओ अट्ठ दवकारीओ अट्ठ उवत्थाणियाओ अट्ठ नाडइज्जाओ अट्ठ कोडुंबिणीओ अट्ठ महाणसिणीओ अट्ठ भंडागारि-णीओ अट्ठ अब्भाधारिणीओ अट्ठ पुप्फधारिणीओ अट्ठ पाणधारिणीओ अट्ठ बलिकारियाओ अट्ठ सेज्जाकारियाओ अट्ठ अब्भिंतरियाओ पडिहारीओ अट्ठ बाहिरियाओ प-डिहारीओ अट्ठ मालाकारीओ अट्ठ पेसणकारीओ अरणं वा सुबहुं हिरएणं वा सुवरणं वा कंसं वा दूसं वा विउलधणकणग० जाव संतसावदेज्जं अलाहि० जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं पकामं परिभोत्तुं प-कामं परिभाएउं। तए णं से महब्बले कुमारे एगमेगाए भज्जाए एगमेगं हिरणकोडिं दलयइ। एगमेगं सुवरणको-डिं दलयइ। एगमेगं मउडं मउडप्पवरं दलयइ। एवं तं चेव सव्वं०जाव एगमेगं पेसणकारिं दलयइ। अरणं च सुबहुं हिरणं वा सुवरणं वा ०जाव परिभाएउं। तए णं से महब्बले कुमारे उप्पिं पासायवरगए जहा जमाली विहरइ। (सू०४३०) तेणं कालेणं तेणं समएणं विमलस्स अरहओ पओप्पए धम्मघोसे णामं अणगारे जाइसंपएणे वएणओ,जहा केसिसामिस्स,०जाव पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाऽणुपुव्विं चरमाणे गामाऽणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव हत्थिणाउरे णयरे जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिरहइ उगिरिहत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे ०जाव विहरइ। तए णं हत्थिणापुरे णयरे सिंघाडगति-य ०जाव परिसा पज्जुवासइ। तए णं तस्स महब्बलस्स कुमारस्स तं महया जणसद्दं वा जणवूहं वा एवं जहेव ज-माली तहेव वि(इ)त्तं[1] तहेव कंचुइज्जपुरिसे सद्दावेइ। कंचूइज्ज-पुरिसो तहेव अक्खाइ, णवरं धम्मघोसस्स अणगारस्स आगमणगहियविणिच्छए करयल ०जाव णिग्गच्छइ। एवं खलु देवाणुप्पिया! विमलस्स अरहओ पउप्पए धम्म-घोसे णामं अणगारे सेसं तं चेव०जाव सोऽवि तहेव, रह-वरेण णिग्गच्छइ। धम्मकहा जहा केसिसामिस्स, सोऽवि तहेव अम्मापियरं आपुच्छइ। णवरं धम्मघोसस्स अण-गारस्स अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्व-इत्तए,तहेव वुत्तपडिवुत्तयाओ णवरं इमाओ य ते जाया! वि-पुलरायकुलवालियाओ कला ०सेसं तं चेव ० जाव ताहे, अकामाइं चेव महब्बलं कुमारं एवं वयासी-तं इच्छामो ते जाया! एगदिवसमवि रज्जसिरिं पासेमि, तए णं से महब्बले कुमारे अम्मापिउवयणमणुवत्तमाणे तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं से बले राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ। एवं जहा सिवभद्दस्स तहेव रायाभिसेओ भाणिअव्वो० जाव अभिसिंचइ, अभिसिंचइत्ता करयलपरि०महब्बलं कु-मारं जएणं विजएणं वद्धावेंति जएणं विजएणं वद्धावेत्ता एवं वयासी-भण जाया! किं देमो किं पयच्छामो?, सेसं जहा जमालिस्स तहेव ०जाव। तए णं से महब्बले अणगारे धम्मघोसस्स अणगारस्स अंतिए सामाइयमाइ-याइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थ० जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहुपडि-पुरणाइं दुवालसवासाइं सामरणपरियागं पाउणइ, पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए आलोइ-यपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदि-मसूरिय ०जहा अम्मडो ०जाव बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववरणे, तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं दस सागरोव-माइं ठिई पएणत्ता, तत्थ णं महब्बलस्स वि देवस्स दस सागरोवमाइं ठिई पएणत्ता, से णं तुम्हं सुदंसणा! बंभलोए कप्पे दस सागरोवमाइं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे वि-

१-प्रपौत्रः प्रशिष्य इत्यर्थः। २-विदित्वा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरित्तए। तत्र्यो चेव देवलोगाओ आउक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव वाणियगामे णयरे सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाए। (सूत्र-४३१)

तए णं तुम्मं सुंदसणा ! उम्मुक्कबालभावेणं विण्णायपरिणयमेत्तेणं जोव्वणगमणुप्पत्तेणं तहारूवाणं थेराणं अंतियं केवलिपण्णत्ते धम्मे निसंते, सेऽवि य धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। तं सुट्ठ णं तुमं सुदंसणा ! इदाणिं पि करेसि। से तेणऽट्ठेणं सुदंसणा ! एवं वुच्चइ अत्थि णं एतेसिं पलिओवमसागरोवमाइं खएइ वा अवचएइ वा, तए णं तस्स सुदंसणस्स सेट्ठिस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोचा णिसम्म सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं लेस्साविसुज्झमाणीहिं तया (णाणा) वरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स सण्णीपुव्वे जाईसरणे समुप्पन्ने। एयमट्ठं सम्मं अभिसमेति। तए णं ते सुदंसणे सेट्ठी समणेणं भगवया महावीरेणं संभारियपुव्वभवे दुगुणाणि य सड्ढसंवेगे आणंदसंपुण्णणयणे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता एवं वसासी-एवमेतं भंते ! ०जाव से जहेयं तुज्झे वदह त्तिकट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमइ। सेसं जहा उसभदत्तस्स ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणं, णवरं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ, सेसं तं चेव सेवं भंते। भंते ! त्ति। (सूत्र-४३२) भ० ११ श० ११ उ०।

(एतद्व्याख्या पादमात्रव्याख्यानपरेत्यनुपयोगित्वादुपेक्षिता)

सत्तमस्स उक्खेवओ महापुरणयरं रत्तासोगं उज्जाणं रत्तपालजक्खो बले राया सुभद्दा देवी महब्बले कुमारे रत्तवईपामोक्खाओ पंच सया कण्णा पाणिग्गहणं तित्थगराऽऽगमणं०जाव पुव्वभवो मणिपुरं णयरं णागदत्ते गाहावई इंदपुरे अणगारे पडिलाभिते० जाव सिद्धे। विपा०२श्रु०७अ०।

वीरंगतपितरि रोहीडकनगरराजे, नि० १ श्रु०५ वर्ग १ अ०। 'सम्मद्दंसण' शब्दे उदाहरिष्यमाणे साकेतराजे, आ० चू० ४ अ०। भरतक्षेत्रे भविष्यति षष्ठे वासुदेवे, ति०। मल्लिजिनस्य पूर्वभवजीवे सलिलावतीविजये वीतशोकानगरीराजबलस्य पुत्रे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ० स्था०। अपरविदेहे गन्धिलावतीविजये गन्धमादनवक्षस्कारपर्वते गन्धारजनपदे गन्धसमृद्धनगरस्य राज्ञः शतबलस्य नप्तरि अतिबलस्य पुत्रे, आव०१अ०।आ०म०।

महब्भय-महाभय-न०। अतिभीतौ, प्रश्न०१आश्र०द्वार। मद्धयं यस्मादसौ महाभयः। महाभयहेतौ, त्रि०। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। भयहेतुत्वाद् दुःखमेव महाभयम्। तच्च मरणकारणमिति महदित्युच्यते। आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०। महच्च तद्भयं च महाभयम्, नातः परमन्यदस्तीति महाभयम्। आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०। उत्त०। पौनःपुन्येन संसारपर्यटनतया नरकाऽऽदिस्वभावदुःखे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

महाभयं परिग्रहस्य यद्भवति प्रकृतिरियं परिग्रहस्य—

से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एतेसु चेव परिग्गहावंति। एतदेव एगेसिं महब्भयं भवति (सूत्र-१४६) आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

महब्भूय-म(हब्भू)हाभूत-न०। अमहतो महतो भवनं महद्भूतम्। महत्त्वेन भवने, स्था० ४ ठा० १ उ०। सूत्र०। महाभूतानि सर्वलोकव्यापित्वान्महत्त्वविशेषणम्। पृथिव्यादिषु भूतेषु, आ० म० १ अ०। सूत्र०।

महभद्दपडिमा-महाभद्रप्रतिमा-स्त्री०। प्रतिमाभेदे, "पुव्वाए दिसाए अहोरत्तं,एवं चउसु वि दिसासु चत्तारि अहोरत्ता" ४८५ गा० टी० "पडिमा भद्द महाभद्दा" (४६६ गा०) आ०म०१ अ०।

महम्मदसाह-महम्मदशाह-पुं०। पारसीकः शब्दः। स्वनामख्याते यवनराजे, ती० ४८ कल्प।

महया-महती-स्त्री०। अतिशयेन महत्याम्, रा०। औ०। महता बृहता तृतीयान्तमेतत्। औ०। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। महाप्रमाणायाम्, रा०। "महया भडचडगविंदपरिक्खित्त०" महाभटानां विस्तारवत्संघेन परिक्षिप्त इत्यर्थः। भ० ७ श० ६ उ०। जं०। "महया महिंदकुंभसमाणा" अतिशयेन महान्तो महेन्द्रकुम्भसमानाः। कुम्भानामिन्द्रः इन्द्रकुम्भः राजदन्तादिदर्शनादिन्द्रशब्दस्य पूर्वनिपातः। महाँश्चासाविन्द्रकुम्भश्च तस्य समानाः, महेन्द्रकुम्भसमानाः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। "महया वासिकच्छत्तसमाणा" महान्ति महाप्रमाणानि वार्षिकाणि-वर्षाकाले यानि पानीयरक्षणाऽर्थं कृतानि तानि वार्षिकाणि, तानि च तानि छत्राणि च तत्समानानि। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। नि० चू०। "महयाऽऽहयणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं" (सूत्र ५६७+) स्था० ८ ठा०।

महर-देशी-असमर्थे, दे० ना० ६ वर्ग ११२ गाथा।

महरिसी-महर्षि-पुं०। महामुनौ, पञ्चा० १२ विव०। साधौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। ऋषय एवान्यतरलब्ध्युपेता महर्षयः। "आमोसहिविप्पोसहि" इत्याद्यष्टाविंशतिविधलब्ध्युपेता महर्षयः। लब्ध्युपेतेषु साधुषु, पा०।

महरिह-महार्ह-त्रि०। महच्च तदर्हश्च महार्हम्। स्था०८ ठा०। महतां वा योग्यम्। भ०६ श०३३ उ०। विपा०। महान्तमुपभोक्तारमर्हति, यदिवा-महम्-उत्सवं क्षणमर्हतीति महार्हम्। उत्सवयोग्ये, रा०। महतां योग्ये, महं वा पूजामर्हति। महान् वा अर्हः पूजाऽस्येति। प्रशस्ततया पूज्ये, विपा०१श्रु०३अ०। स०।

महल्ल-महत्-त्रि०। अतिशयमहति, आव० १ अ०। ज्ञा०। बृहति, बृ० ३ उ०। दीर्घे, औ०। आ० म०। महतो वृक्षान् प्रेक्ष्य नैवं वदेद्-यथा प्रासादयोग्या अमी वृक्षा इति। यत्तु वदेत्तदाह-"महल्लपेहाए रुक्खा" एवं वदेत्। आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ०। वृद्ध-निवह-पृथुल-मुखर-जलधिषु, दे०ना० ६ वर्ग० १४३ गाथा।

महल्लउह-महोह-न०। ऊहशतसहस्ररूपायां संख्यायाम्, ज्यो० २ पाहु०।(स्पष्टतया'काल' शब्दे तृतीयभागे ४७६पृष्ठे प्रोक्तम्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महल्लउहंग--महोहाङ्ग--न०। महाऽटटशतसहस्ररूपायां संख्या-
याम् , ज्यो० २ पाहु० । ('काल' शब्दे ३ भागे स्फुटीभूतम्)

महल्लग--महत्--त्रि० । ज्येष्ठे, " महल्लगं वा वृद्धं वा " दश० ५
अ० ३ उ० । आ० म० । आचा० ।

महल्लियदुवारिया--महाद्वारिका--स्त्री० । वृहद्द्वारायां वसतौ,
आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

महल्लियाविमाणपविभत्ति--महाविमानप्रविभक्ति--स्त्री० । महा
ग्रन्थार्थे विमानप्रविभक्त्याख्ये ग्रन्थे, स्था० १० ठा० । पा० ।

महव्वय--महाव्रत--न० । महान्ति--बृहन्ति च तानि व्रतानि च
नियमतो महाव्रतानि । महत्त्वं चैषां सर्वजीवादिविषयत्वेन
महाविषयत्वात् । पा० । सूत्र० । नं० । ध० । आव० । आचा० ।
महच्च तद्व्रतं च महाव्रतम् , महत्त्वं चास्य श्रावकसम्बन्ध्य-
णुव्रतापेक्षयेति । सर्वथा हिंसात्यागेषु,ध०३अधि० । आचा० ।
प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणेषु,आव०४ अ० । प्रव० । स्था० ।

पचं महव्वया पसत्ता । तं जहा-सव्वाओ पाणाऽइवायाओ
वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं० जाव सव्वाओ प-
रिग्गहाओ वेरमणं । (सूत्र-३८६)

(पंच महव्वयेत्यादि) " पञ्चेति " संख्यान्तरव्यवच्छेदस्तेन
न चत्वारि प्रथमपश्चिमतीर्थयोः पञ्चानामेव भावात् ,महान्ति
बृहन्ति तानि च तानि व्रतानि च-नियमा महाव्रतानि । महत्त्वं
चैषां सर्वजीवादिविषयत्वेन महाविषयत्वात् । उक्तं च-" पढ-
मम्मि सव्वजीवा, वीए चरिमे य सव्वदव्वाइं । सेसा महव्वया
खलु, तदेक्कदेसेण दव्वाणं"॥१॥ इति । तेषां द्रव्याणमेकदेशेने-
त्यर्थः । तथा-यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेनेति प्रत्याख्यानरूप-
त्वाच्च तेषामिति । देशविरतापेक्षया महतो वा गुणिनो व्रतानि
महद्व्रतानीति, पुंलिङ्गनिर्देशस्तु प्राकृतत्वादिति । प्रज्ञप्तानि-
तथाविधशिष्यापेक्षया प्ररूपितानि महावीरेण आद्यती-
र्थकरेण च न शेषैरित्येतत् किल सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं
प्रतिपादयामास । तद्यथा-सर्वस्मात्-निरवशेषात्-त्रसस्थाव-
रसूक्ष्मवादरभेदभिन्नात् ; कृतकारितानुमतिभेदाच्चेत्यर्थः ।
अथवा-द्रव्यतः षड्जीवनिकायविषयात्, क्षेत्रतस्त्रिलोकस-
म्भवात् , कालतोऽतीतादे रात्र्यादिप्रभवाद्वा, भावतो रागद्वे-
षसमुत्थाच्च न तु परिस्थूरादेवेति भावः । प्राणानामिन्द्रियो-
च्छ्वासायुरादीनामतिपातः प्राणिनः सकाशाद्विभ्रंशः प्राणाति-
पातः, प्राणिप्राणवियोजनमित्यर्थः । तस्माद्विरमणम् सम्य-
ग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं निवर्त्तनमिति । तथा सर्वस्मात् सद्भावप्र-
तिषेधा १ ऽसद्भावोद्भावना २ ऽर्थान्तरोक्ति ३ गर्हाभेदात् ४
कृतादिभेदाच्च । अथवा-द्रव्यतः सर्वधर्मास्तिकायादिद्रव्यवि-
षयात्,क्षेत्रतः सर्वलोकालोकगोचरात्,कालतोऽतीतादे रात्र्या
दिवर्तिनो वा, भावतः कषायनोकषायादिप्रभवात् । मृषा अ-
लीकं वदनं वादो मृषावादस्तस्माद्विरमणं विरतिरिति, तथा
सर्वस्मात् कृतादिभेदात् । अथवा-द्रव्यतः सचेतनाचेतनद्रव्य-
विषयात् , क्षेत्रतो ग्रामनगरारण्यादिसम्भवात् , कालतोऽती
तादे रात्र्यादिप्रभवाद्वा,भावतो रागद्वेषमोहसमुत्थात् । अदत्तं
स्वामिना अवितीर्णं तस्याऽऽदानं ग्रहणमदत्ताऽऽदानं तस्माद्वि-
रमणमिति, तथा सर्वस्मात् कृतकारितानुमतिभेदाद् , अथ
वा-द्रव्यतो दिव्यमानुषतैरश्चभेदात् रूप-रूपसहगतभेदाद्वा ।
तत्र रूपाणि निर्जीवानि प्रतिमारूपाण्युच्यन्ते, रूपसहगतानि
तु सजीवानि । भूषणविकलानि वा रूपाणि, भूषणसहितानि
रूपसहगतानीति । क्षेत्रतस्त्रिलोकसम्भवात् , कालतोऽतीता-
दे रात्र्यादिसमुत्थाद्वा,भावतो रागद्वेषप्रभवात् । मिथुनं स्त्रीपुं-
सद्वन्द्वं तस्य कर्म्म मैथुनं तस्माद्विरमणमिति, तथा सर्वस्मात्
कृतादेः । अथवा-द्रव्यतः सर्वद्रव्यविषयात् , क्षेत्रतः लोकस-
म्भवात् ,कालतोऽतीतादे,रात्र्यादिप्रभवाद्वा, भावतो रागद्वेष-
विषयात् ; परिगृह्यते आदीयते परिग्रहणं वा परिग्रहस्तस्मा-
द्विरमणमिति । स्था० ५ ठा० १ उ० । उत्त० । " पंच महव्व-
याइं राइभोहणच्छट्ठाइं " । प्रव० ७२द्वार । (एतानि सभावना-
नि 'पाणाइवाया' ऽऽदिशब्देषूक्तानि) आ०चू० । प्रव० । अङ्ग० ।
आव० । पञ्चा० । (अन्तर्गृहे महाव्रतानि नाख्यातव्यानीत्यु-
क्तम् ' अंतरगिह ' शब्दे प्रथमभागे ८८ पृष्ठे) (पाक्षिकप्र-
तिक्रमणविधिगताति सूत्राणि ' पडिक्कमण ' शब्दे पञ्चम-
भागे २६४ पृष्ठे उक्तानि) । केषां तीर्थे पञ्च केषां वा च-
त्वारि महाव्रतानीति ' वय ' शब्दे वक्ष्यते) (सौगतानां दश
महाव्रतानि इति ' पलंब ' शब्दे ५ भागे ७१५ पृष्ठे उक्तम्)

महाव्रतानां फलानि--

वैरत्यागोऽन्तिके तस्य, फलं चाऽकृतकर्मणः ।
रत्नोपस्थानसद्वीर्य--लाभो जनुरनुस्मृतिः ॥ ६ ॥

तस्याऽहिंसाभ्यासवतोऽन्तिके संनिधौ वैरत्यागः सहज-
विरोधिनामप्यहिनकुलादीनां हिंसात्वपरिहारः, तदुक्तम्--
(अहिंसाप्रतिष्ठायाम्--" तत्संनिधौ वैरत्यागः " पाद २
सू० ३५) सत्याभ्यासवतश्चाकृतकर्मणोऽविहितानुष्ठानस्यापि
फलं तदर्थोपनतिलक्षणक्रियमाणा हि क्रिया यागादिकाः फलं
स्वर्गादिकं प्रयच्छन्ति । अस्य तु सत्यं तथा प्रकृष्यते, यथा-
ऽकृतायामपि क्रियायां योगी फलमाश्रयते तद्वचनाच्च यस्य
कस्यचित् क्रियामकुर्व्वतोऽपि फलं भवतीति । तदाह--(स-
त्यप्रतिष्ठायाम्--" क्रियाफलाश्रयत्वम् " पाद २ सू० ३६)
अस्तेयाभ्यासवतश्च रत्नोपस्थानं तत्प्रकर्षान्निरभिलाषस्यापि
सर्व्वतो दिक्कानि रत्नान्युपतिष्ठन्त इत्यर्थः । ब्रह्मचर्याभ्यास-
वतश्च सतो निरतिशयस्य वीर्यस्य लाभः, वीर्यनिरोधो हि
ब्रह्मचर्यं, तस्य प्रकर्षाच्च वीर्यं शरीरेन्द्रियमनस्सु प्रकर्षमाग-
च्छतीति (अपरिग्रहविषयिका व्याख्या ' परिग्गह ' शब्दे
५भागे५५६ पृष्ठे) । द्वा० २१ द्वा० । आ०चू० । दश० । (प्रथमं म-
हाव्रतम् प्राणातिपातविरमणम् तच्च ' पडिक्कमण ' शब्दे
पञ्चमभागे २८५ पृष्ठे दर्शितम्) (द्वितीयं महाव्रतं मृषावा-
दविरमणं तच्च ' मुसावायवेरमण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे
दर्श्यते) (तृतीयं महाव्रतम् अदत्तादानविरमणं तच्च ' अ-
दत्तादानविरमण' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे गतम्) (चतुर्थं
मैथुनविरमणं तच्च ' बंभचेर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२५६
पृष्ठे उक्तम्) (पञ्चमं महाव्रतं परिग्रहविरमणं तच्च ' परि-
ग्गहवेरमण ' शब्दे पञ्चमभागे ५५७ पृष्ठे गतम्) ।

इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहि-
यऽट्ठाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । (सूत्र-६) ।

(इच्चेयाइं इत्यादि) इत्येतान्यनन्तरोदितानि पञ्च महा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि । किमित्याह–आत्महिताय आत्महितो मोक्षस्तदर्थम्, अनेनान्यार्थं तत्त्वतो व्रताभावमाह, तदभिलाषानुमत्या हिंसादावनुमत्यादिभावात् , 'उपसंपद्य' सामीप्येनाङ्गीकृत्य व्रतानि विहरामि साधुविहारेण तद्–भावे चाङ्गीकृतानामपि व्रतानामभावात् । दोषाश्च हिंसा–दिकर्तॄणाम्-अल्पायुर्जिह्वाच्छेददारिद्र्यपण्डकदुःखितत्वादयो वाच्या इति । दश० ४ अ० ।

अत्रान्तरे सप्तचत्वारिंशदधिकप्रत्याख्यानभङ्गकशताऽधि–कारः । तत्रेयं गाथा—

" सीयालं भंगसयं , पच्चक्खाणंमि जस्स उवलद्धं ।
सो पच्चक्खाणकुसलो , सेसा सव्वे अकुसला उ ॥ १ ॥ "

दश० ४ अ० ।

सप्तचत्वारिंशदधिकभङ्गशतं वक्ष्यमाणलक्षणं, प्रत्याख्याने–प्रत्याख्यानविषयं, यस्योपलब्धं भवति स इत्थंभूतः प्रत्याख्याने कुशलो–निपुणः , शेषाः सर्वे अकुशलाः–तदनभिज्ञा इति गाथासमासार्थः ।

अवयवार्थस्तु भङ्गकयोजनाप्रधानः स चैवं द्रष्टव्यः—

" तिन्नि तिया तिन्नि दुया, तिन्नि क्केक्का य होंति जोएसु ।
ति दु एक्कं ति दु एक्कं, ति दु एक्कं चेव करणाइं ॥१॥ "

त्रयस्त्रिकाः (३३३) त्रयो द्विकाः (२२२) त्रयश्चैककाः (१११) भवन्ति । योगेषु—कायवाङ्मनोव्यापारलक्षणेषु त्रीणि द्वयमेकं त्रीणि द्वयमेकं त्रीणि द्वयमेकं चैव करणानि मनोवाक्कायलक्षणानि इति पदघटना । भावार्थस्तु स्थापनया निर्दिश्यते । सा चेयम्—

३३३–२२२–१११ काऽत्र भावना ?।"न करेमि न कारवेमि क-
३२१–३२१–३२१ रंतं पि अन्नं न समणुजाणामि मणेणं वा-
१३३–३९९–३९९ । याए काएणं " एक्को भेदो । इयाणिं वि-
तिओ–ण करेइ न कारवेइ करंतं पि अन्नं न समणुजाणाइ मणेणं वायाए इक्को भंगो । तहा मणेणं काएणं विइओ भंगो । तहा वायाए काएण य तइओ भंगो । विइओ मूलभेओ गओ । इयाणिं तइओ–ण करेइ ण कारवेइ करंतं पि अन्नं न समणुजाणइ मणेणं एक्को, वायाए विइओ, काएणं तइओ , गओ ततिओ मूलभेओ । इयाणिं चउत्थो–ण करेइ ण कारवेइ मणेणं वायाए काएणं इक्को, ण करेइ करंतं णाणुजाणइ विइओ , ण कारवेइ करंतं णाणुजाणइ तइओ,गओ चउत्थो मूलभेओ । इयाणिं पंचमो–ण करेइ ण कारवेइ मणेणं वायाए एक्को, ण करेइ करंतं णाणुजाणइ विइओ, ण कारवेइ करंतं णाणुजाणइ तइओ, एए तिन्नि भंगा मणेणं वायाए लद्धा, अन्ने वि तिन्नि मणेणं काएण य लब्भंति, तहा अवरे वि वायाए काएण य लब्भंति तिन्नि, एवमेव सव्वे एए णव, पंचमोऽप्युक्तो मूलभेदः । इयाणिं छट्ठो-ण करेइ ण कारवेइ मणेणं एक्को, तहा ण करेइ करंतं णाणुजाणइ मणेणं विइओ, ण कारवेइ करंतं णाणुजाइण मनसैव तृतीयः, एवं वायाए काएण वि तिन्नि तिन्नि भंगा लब्भंति । एते वि सव्वे णव । उक्तः षष्ठो मूलभेदः । सप्तमोऽभिधीयते–ण करेइ मणेणं वायाए काएणं एक्को, एवं ण कारवेइ मणादीहिं वितिओ, करंतं णाणुजाणइ, ततिओ । सप्तमोऽप्युक्तो मूलभेदः । इदानीमष्टमः–ण करेइ मणेणं वायाए एक्को, मणेणं काएण य वितिओ, तहा वायाए काएण य तइओ, एवं न कारवेइ एत्थं पि तिन्नि भंगा, एवमेव करंतं णाणुऽजाणइ एत्थं पि तिन्नि भंगा, एए सव्वे णव । उक्तोऽष्टमः । इदानीं नवमः–ण करेइ मणेणं इक्को, ण कारवेइ वितिओ, करंतं णाणुजाणइ तइओ, एवं वायाए वितियं, काएण वि होइ ततियं, एवमेते सव्वे वि मिलिया नव, नवमोऽप्युक्तः ।

आगतगुणनमिदानीं क्रियते—

" लद्धफलमाणमेयं, भंगा उ हवंति (अ) ऊणपन्नासं ।
तीयाणागयसंपति, गुणियं कालेण होइ इमं ॥ १ ॥
सीयालं भंगसयं, कह कालतिएण होति गुणणा उ ।
तीतस्स पडिक्कमणं, पच्चुप्पन्नस्स संवरणं ॥ २ ॥
पच्चक्खाणं च तहा, होइ य एसस्स एस गुणणा उ ।
कालतिएणं भणियं, जिणगणधरवायएहिं च ॥ ३ ॥ "

इति गाथार्थः । दश० ४ अ० ।

साम्प्रतं यतनाया अवसरस्तथा चाऽऽह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से पुढविं वा भित्तिं वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा सिलागहत्थेण वा न आलिहेज्जा न विलिहेज्जा न घट्टेज्जा न भिंदेज्जा अन्नं न आलिहावेज्जा न विलिहावेज्जा न घट्टावेज्जा न भिंदावेज्जा अन्नं आलिहंतं वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । (सूत्र–१०)

'से' इति निर्देशे स योऽसौ महाव्रतयुक्तो, भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा आरम्भपरित्यागाद्धर्म्मकायपालनाय, भिक्षणशीलो भिक्षुः एवं भिक्षुक्यपि पुरुषोत्तमो धर्म इति भिक्षुर्विशेष्यते, तद्विशेषणानि च भिक्षुक्या अपि द्रष्टव्यानीति, आह–संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्म्मा–तत्र सामस्त्येन यतः संयतः सप्तदशप्रकारसंयमोपेतः । विविधम्—अनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः । प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मेति–प्रतिहतं स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन प्रत्याख्यातं हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन पापं कर्म ज्ञानावरणीयादि येन स तथाविधः । ' दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, रात्रौ सुप्तो दिवा जाग्रत् , कारणिक एकः, शेषकालं परिषद्गतः, इदं च वक्ष्यमाणं न कुर्यात् । (से पुढविं वा इत्यादि) तद्यथा–पृथिवीं वा, भित्तिं वा, शिलां वा, लोष्टं वा, तत्र पृथिवी–लोष्टादिरहिता, भित्तिः–नदीतटी, शिला–विशालः पाषाणः, लोष्टः–प्रसिद्धः । तथा सह रजसा–आरण्यपांशुलक्षणेन वर्त्तते इति सरजस्कस्तं सरजस्कं वा कायं 'कायमिति' देहं तथा सरजस्कं वा वस्त्रं चोलपट्टकादि "एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्" इति पात्रादिपरिग्रहः, एतत्किमित्याह–हस्तेन वा पादेन वा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काष्ठेन वा कलिञ्चेन वा-क्षुद्रकाष्ठरूपेण अङ्गुल्या वा शलाकया वा अयःशलाकादिरूपया शलाकाहस्तेन वा शलाकासंघातरूपेण (णालिंहिज्ज त्ति) नालिखेत् न विलिखेत्। न घट्टयेत् न भिन्द्यात् तत्र ईषत्सकृद्वा लेखनं, नितरामनेकशो वा विलिखनं, घट्टनं चालनं,भेदो विदारणम्,एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथा अन्यमन्येन वा नालेखयेन्न विलेखयेत् न घट्टयेत् न भेदयेत्। तथा अन्यं स्वत एव आलिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत्। दश० ४ अ०। (अग्रेतनं सूत्रम्'आउक्काय'शब्दे द्वितीयभागे२७ पृष्ठे गतं तद्व्याख्याऽपि किंचित्तत्र) एतत् किमित्याह-(नामुसेज्ज त्ति)नामृषेत् न संस्पृशेत् नाऽऽपीडयेत् न प्रपीडयेत् नाऽऽस्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नाऽऽतापयेत् न प्रतापयेत्। तत्र सकृदीषद्वा स्पर्शनमामर्षणम्, अतोऽन्यत् संस्पर्शनम्। एवं सकृदीषद्वा पीडनमापीडनमतोऽन्यत् प्रपीडनम्-एवं सकृदीषद्वा स्फोटनमास्फोटनम्, अतोऽन्यत्प्रस्फोटनम्, एवं सकृदीषद्वा तापनमातापनम् विपरीतं प्रतापनम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथा अन्यमन्येन वा नामर्षयेत् न संस्पर्शयेत् नापीडयेत् न प्रपीडयेत् नास्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नातापयेत् न प्रतापयेत्, तथा अन्यं स्वत एव आमृषन्तं वा संस्पृशन्तं वा आपीडयन्तं वा प्रपीडयन्तं वा आस्फोटयन्तं वा प्रस्फोटयन्तं वा आतापयन्तं वा प्रतापयन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत्।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राम्रो वा एगम्रो वा परिसागम्रो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से अगणिं वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा न उंजिज्जा न घट्टेज्जा न उज्जालेज्जा न पज्जालेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं न उंजावेज्जा न घट्टावेज्जा न उज्जालावेज्जा न पज्जालावेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं उंजंतं वा घट्टंतं वा उज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। सूत्र-१२।

(जाव जागरमाणे व त्ति) पूर्ववदेव (से अगणिं वेत्यादि) तद्यथा-अग्निं वा अङ्गारं वा मुर्मुरं वा अर्चिर्वा ज्वालां वा अलातं वा शुद्धाग्निं वा उल्कां वा इहाऽयःपिण्डानुगतोऽग्निः, ज्वालारहितोऽङ्गारः, विरलाग्निकणं भस्म मुर्मुरः, मूलाग्निविच्छिन्ना ज्वाला अर्चिः, प्रतिबद्धा ज्वाला, अलातमुल्मुकम्, निरिन्धनः शुद्धोऽग्निः, उल्का गगनाऽग्निः, एतत्किमित्याह—(न उंजेज्जा) नोत्सिञ्चेत् (न घट्टेज्जा) न घट्टयेत् न उज्ज्वालेयत् न निर्वापयेत्। तत्रोञ्जनमुत्सेचनं, घट्टनं सजातीयादिना चालनम्, उज्ज्वालनं व्यजनादिभिर्वृद्ध्यापादनं, निर्वापणं विध्यापनम्। एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथा अन्यमन्येन वा नोत्सेचयेत् न घट्टयेत् नोज्ज्वालयेत् न निर्वापयेत्, तथा अन्यं स्वत एव उत्सिञ्चयन्तं वा घट्टयन्तं वा उज्ज्वालयन्तं वा निर्वापयन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत्।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राम्रो वा एगम्रो वा परिसागम्रो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से सिएण वा विहुणेण वा तालिअंटेण वा पत्तेण वा पत्तभंगेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकन्नेण वा हत्थेण वा मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वाऽवि पुग्गलं न फूमेज्जा न वीएज्जा अन्नं न फूमावेज्जा न वीयावेज्जा अन्नं फूमंतं वा वीयंतं वा न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥१३॥

(से भिक्खू वेत्यादि-यावत्-जागरमाणे वा) इति पूर्ववदेव। (से सिएण वेत्यादि) तद्यथा सितेन वा विधवनेन वा तालवृन्तेन वा पत्रेण वा शाखया वा शाखाभङ्गेन वा पेहुणेन वा पेहुणहस्तेन वा चेलेन वा चेलकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा। इह सितं चामरं, विधवनं-व्यजनं, तालवृन्तं तदेव मध्यग्रहणच्छिद्रं द्विपुटं, पत्रं पद्मिनीपत्रादि, शाखा वृक्षडालं शाखाभङ्गं तदेकदेशः, पेहुणं मयूरादिपिच्छं, पेहुणहस्तकस्तत्समूहः, चेलं-वस्त्रं, चेलकर्णस्तदेकदेशः, हस्तमुखे प्रतीते, एभिः किमित्याह-आत्मनो वा कायं स्वदेहमित्यर्थः, बाह्यं वा पुद्गलम् उष्णौदनादि,एतत्किमित्याह-(न फूमिज्जा इत्यादि) न फूत्कुर्यात् न व्यजेत्। तत्र फूत्करणं मुखेन धमनं,व्यजनं चमरादिना वायुकरणम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथा अन्यमन्येन वा न फूत्कारयेत् न व्याजयेत्। तथा अन्यं स्वत एव फूत्कुर्वन्तं वा व्यजन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववदेव।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राम्रो वा एगम्रो वा परिसागम्रो वा-सुत्ते वा जागरमाणे वा से बीएसु वा बीयपइट्ठेसु वा रूढेसु वा रूढपइट्ठेसु वा जाएसु वा जायपइट्ठेसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठेसु वा छिन्नेसु वा छिन्नपइट्ठेसु वा सचित्तेसु वा सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा न गच्छेज्जा न चिट्ठेज्जा न निसीइज्जा न तुयट्टेज्जा अन्नं न गच्छावेज्जा न चिट्ठावेज्जा न निसीयावेज्जा न तुयट्टावेज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीयंतं वा तुयट्टंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। १४।

(से भिक्खू वेत्यादि-यावत्-जागरमाणे वेति) पूर्ववदेव। (से बीएसु वेत्यादि) तद्यथा-बीजेषु वा बीजप्रतिष्ठितेषु वा रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठितेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा सचित्तेषु सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु वा, इह बीजं शाल्यादि तत्प्रतिष्ठितम् आहारशयनादि गृह्यते। एवं सर्वत्र वेदितव्यम्। रूढानि स्फुटितबीजानि, जातानि स्तम्बीभूतानि,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरितानि दूर्वादीनि, छिन्नानि परश्वादिभिर्वृक्षात् पृथक् स्थापितानि, आर्द्राणि अपरिणतानि तदङ्गानि गृह्यन्ते, सचित्तान्यण्डकादीनि, कोलो घुणः तत्प्रतिनिश्रितानि तदुपरिवर्त्तीनि दार्वादीनि गृह्यन्ते। एतेषु किमित्याह—"न गच्छेज्जा" न गच्छेत् न तिष्ठेत् न निषीदेत् न त्वग्वर्त्तेत। तत्र गमनमन्यतोऽन्यत्र, स्थानमेकत्रैव, निषीदनम् उपवेशनं, त्वग्वर्त्तनं स्वपनम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्। तथाऽन्यमेतेषु न गमयेत् न स्थापयेत्, न निषीदयेत्, न स्वापयेत्। तथाऽन्यं स्वत एव गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा निषीदन्तं वा स्वपन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत्।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राश्रो वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिपीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा कंबलंसि वा पायपुंछणंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सिज्जगंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाये तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय एगंतमवणेज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा ॥ सूत्र-१५ ॥

(से भिक्खू वा इत्यादि—यावत्-जागरमाणे व त्ति) पूर्ववदेव (से कीडं वा इत्यादि) तद्यथा-कीटं वा पतङ्गं वा कुन्थुं वा पिपीलिकां वा, किमित्याह-हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरुणि वा उदरे वा वस्त्रे वा रजोहरणे वा गोच्छके वा उण्डके वा दण्डके वा पीठे वा फलके वा शय्यायां वा संस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिनि उपकरणजाते कीटादिरूपं त्रसं कथंचिदापतितं सन्तं संयत एव सत्प्रयत्नेन वा प्रत्युपेक्ष्य-पौनःपुन्येन सम्यक् प्रमृज्य पौनःपुन्येनैव सम्यक्-किमित्याह-एकान्ते तस्याऽनुपघातके स्थाने अपनयेत् परित्यजेत् नैनं त्रसं संघातमापादयेत् नैनं त्रसं संघातं परस्परगात्रसंस्पर्शपीडारूपमापादयेत् प्रापयेत्। अनेन परितापनादिप्रतिषेध उक्तो वेदितव्यः। "एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणाद्" अन्यकारणानुमतिप्रतिषेधश्च, शेषमत्र प्रकटार्थमेव। नवरम्-उण्डकं-स्थण्डिलं, शय्या—संस्तारिका व सतिर्वेत्युक्ता यतना। दश० ४ अ०। (महाव्रतानां विषयः 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते)

महसउणिपूअणारिपु—महाशकुनिपूतनारिपु—पुं०। कृष्णवासुदेवे, कृष्णपितृवैरिण्या महाशकुनिपूतनाभिधानाया विद्याधर्योषितो विकुर्वितगन्त्रीरूपाया गन्त्रीसमारोपितवालावस्थकृष्णया कृष्णपक्षपातिदेवतया विनिपातितत्वात्। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

महसिव—महाशिव—पुं०। षष्ठवलदेववासुदेवयोः पितरि, आव० १ अ०। स०।

महसेण—महासेन—पुं०। ऋषभपुत्राणां सप्तचत्वारिंशत्तमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। चन्द्रप्रभस्वामिजिनस्य पितरि, आव० १ अ०। प्रव०। ति०। बलभिलराजात् पूर्वानन्तरे अवन्तीराजे, "बलमित्तभाणुमित्ता, सट्ठीवत्ता य होंति महसेणा। गद्दभसयमेगं पुण, पडिवण्णो तोसगो राया" ॥ ६१५ ॥ ति०।

महसेणवण—महासेनवन—न०। स्वनामके उद्याने, यत्र उत्पन्नकेवलो वीरप्रभुः संप्रस्थितः। आ० म० १ अ०। "उप्पन्नम्मि अणंते, नट्ठम्मि य छाउमत्थिए णाणे। राईए संपत्तो, महसेणवणं तु उज्जाणं ॥१॥" आ० चू० १ अ०। महसेनवनोद्यानलक्षणं क्षेत्रम्। विशे०। ति०।

महा—मघा—स्त्री०। पितृदैवत्ये नक्षत्रभेदे, "दो महाऊ दो फग्गुणीऊ।" अनु०। स्था०। "महानक्खत्ते सत्त तारे पण्णत्ते" स० ७ सम०। स्था०।

महाइसाइ—महातिशायिन्—त्रि०। अचिन्त्यशक्तौ, जी०१प्रति०।

महाकंदिय—महाक्रन्दित—पुं०। व्यन्तरदेवभेदे, प्रज्ञा० २ पद। औ०।

महाकच्छ—महाकच्छ—पुं०। ऋषभदेवसहप्रव्रजिते भिक्षाऽलाभात्तापसत्वं गते विनमिपितरि कच्छभ्रातरि, आ०चू० १ अ०। दर्श०। आ० क०। आ० म०। कल्प०। जम्बूद्वीपमन्दरस्य पूर्वे शीतोदाया उत्तरे चक्रवर्त्तिविजये, स्था० ८ ठा०। दो महाकच्छा। स्था० २ ठा०।

कहि णं भंते! महाविदेहे वासे महाकच्छे णामं विजये पण्णत्ते?। गोअमा! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं पम्हकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चत्थिमेणं गाहावईए महाणईए पुरत्थिमेणं एत्थ णं महाविदेहे वासे महाकच्छे णामं विजए पण्णत्ते। सेसं जहा कच्छविजयस्स णवरं अरिट्ठा रायहाणी ०जाव महाकच्छे इत्थ देवे महिड्ढिए अट्ठो अ भाणिअव्वो।

अथ तृतीयं विजयं प्रश्नयन्नाह—कहि णमित्यादि, स्पष्टं नवरं यावत्पदात्-' तत्थ णं अरिट्ठाए रायहाणीए महाकच्छे णामं राया समुप्पज्जइ, महया हिमवंत ०जाव सव्वं भरहो अवणं भाणिअव्वं। णिक्खमणवज्जं सेसं भाणिअव्वं ०जाव भुंजइ माणुस्सए सुहे, महाकच्छणामधेज्जे' इति ग्राह्यम्, ईदृशेनाभिलापेनार्थो महाकच्छशब्दस्य भणितव्यः। जं० ४ वक्ष०।

महाकच्छा—महाकच्छा—स्त्री०। अतिकायस्य महोरगेन्द्रस्याऽग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०।

महाकट्ठ—महाकष्ट—त्रि०। दुरनुचरे, षो० १ विव०।

महाकडिल—महाकडिल्ल—न०। गहने, पं०व० ४ द्वार।

महाकण्ह—महाकृष्ण—पुं०। स्वनामख्याते महाकृष्णायाः कुमारे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। स च श्रेणिकान्महाकृष्णायामुत्पद्य वर्षत्रयपर्यायात्षष्ठे लान्तककल्पे उत्पद्य चतुर्दशसागरोपमाण्युत्कृष्टस्थितिकमायुरनुपाल्य ततश्च्युतो महाविदेहे सेत्स्यतीति। नि० १ श्रु० १ वर्ग ६ अ०।

महाकण्हा—महाकृष्णा—स्त्री०। स्वनामख्यातायां श्रेणिकमहाराजभार्यायाम्, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। अन्त०। सा च वीरान्तिके प्रव्रज्य क्षुद्रं सर्वतो भद्रमुपसंपद्य सिद्धेति। अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकप्प–महाकल्प–पुं०। गोशालककल्पिते कालपरिमाणभेदे, भ० १५ श०।

महाकप्पसुय–महाकल्पश्रुत–न०। स्थविरादिकल्पप्रतिपादके कल्पश्रुतभेदे, नं०। पा०। आ० म०।

महाकमल–महाकमल–न०। चतुरशीतिकमलाङ्गशतसहस्ररूपे संख्याभेदे, ज्यो०२ पाहु०। ('काल' शब्दे ३ भागे स्फुटितम्)

महाकम्म–महाकर्म्मन्–पुं०। महान्ति गुरूणि स्थित्यादिभिस्तथाविधप्रमाणाद्यभिव्यङ्ग्यानि कर्म्माणि यस्य सः महाकर्मा। स्था० ४ ठा० ३ उ०। स्थित्याद्यपेक्षयाऽलघुकर्मणि, भ० ६ श० ३ उ०।

महाकम्मतर–महाकर्मतर–त्रि०। अतिशयेन महत्कर्म ज्ञानावरणादिकं यस्य स तथा। भ० ७ श० १० उ०। अतिशयेन महान्ति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि बन्धमाश्रित्य यस्य सः। प्रभूतकर्मबन्धके, भ० ५ श० ६ उ०।

महाकल्लाण–महाकल्याण–न०। परमश्रेयसि, पञ्चा०६विव०।

महाकहा–महाकथा–स्त्री०। प्रबन्धेन महाजनस्य तत्त्वदेशनायाम्, भ० ७ श० १० उ०।

महाकाय–महाकाय–त्रि०। महान्–प्रशस्तः कायो यस्य स महाकायः। भ० १४ श० २ उ०। महाशरीरे, उपा० २ अ०। बृहद्देहे, औ०। महान् कायो येषां ते महाकायाः, योजनलक्षप्रमाणशरीरविकुर्वणात्। सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। औत्तराहाणां महोरगाणामिन्द्रे, प्रज्ञा० २ पद। महोरगभेदे, प्रज्ञा० १ पद। भ०। स०। स्था०।

महाकाल–महाकाल–पुं०। अतिश्यामवर्णे परमाधार्मिके देवे, यो नारकाणां श्लक्ष्णमांसानि खण्डयित्वा खादयति वर्णतश्च महाकालो भवति स महाकालः। भ० ३ श० ७ उ०। प्रश्न०। प्रव०। आव०। स०। आ० चू०।

कप्पंति कागिणीमं–सगाणि छिंदंति सीहपुच्छाणि।
खावंति य नेरइए, महाकाला पावकम्मरए॥ ७७॥

महाकालाख्या नरकपालाः पापकर्मनिरतान् नारकान् नानाविधैरुपायैः कदर्थयन्ति, तद्यथा—काकिणीमांसकानि श्लक्ष्णमांसखण्डानि कल्पयन्ति नारकान् कुर्वन्ति। तथा (सीहपुच्छाणि त्ति) पृष्ठीवर्ध्रास्तांश्छिन्दन्ति, तथा ये प्राक् मांसाशिनो नारका आसन् तान् स्वमांसानि खादयन्तीति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। निधिभेदे, जं०। आ० चू०। दर्श०। ति०। प्रव०। स्था०। (निधयस्तु 'णिहि' शब्दे ४ भागे २१५१ पृष्ठे दर्शिताः) एकोनषष्टितमे महाग्रहे, स्था०।

दो महाकाला। स्था० २ ठा० ३ उ०। कल्प०। चं० प्र०। सू० प्र०।

केतुकस्य महापातालस्याधिपतौ देवे, स्था० ४ ठा० २ उ०। प्रव०। औत्तराहाणां पिशाचानामिन्द्रे, प्रज्ञा० २ पद। स्था०। षष्ठे पिशाचनिकाये, प्रज्ञा० १ पद। सप्तमनरकपृथिव्यां स्वनामख्याते महानरके, प्रज्ञा० २ पद। सूत्र०। स्था०। जी०। स०। महारुद्रभेदे लौकिकदेवे, आव० ६ अ०। उज्जयिनीश्मशाने, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ०। तत्रस्थे महादेवलिङ्गे, संथा०। आ० म०। (तदुत्पत्तिः 'अणिस्सिओवहाण' शब्दे प्रथमभागे, ३३६ पृष्ठे) अष्टमदेवलोके स्वनामख्याते विमाने, स० १८ सम०। प्रभञ्जनस्य वायुकुमारेन्द्रस्य वेलम्बस्य द्वीपकुमारेन्द्रस्य च दक्षिणलोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ०। महाकाल्या अयं महाकालः। श्रेणिकस्य राज्ञो महाकाल्यामग्रमहिष्यां जाते पुत्रे, स च संग्रामे मृत्वा चतुर्थनरकपृथिव्यामुत्पद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति। नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०।

महाकालंऽतर–महाकालान्तर–न०। स्वनामख्याते स्थाने, यत्र पातालचक्रवर्ती पार्श्वनाथः। ती० ४३ कल्प।

महाकाली–महाकाली–स्त्री०। श्रेणिकभार्यायां महाकालमातरि, सुमतितीर्थकरस्य शासनदेव्याम्, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। (तद्वर्णनम् 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२६८ पृष्ठे गतम्)

महाकिण्हा–महाकृष्णा–स्त्री०। रक्ताख्यमहानदीसङ्गते नदीभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

महाकिरिय–महाक्रिय–त्रि०। महती क्रिया कायिक्यादिका कर्मबन्धहेतुर्यस्य स महाक्रियः। प्रभूतकायिक्यादिक्रियाकृति, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

महाकिलेस–महाक्लेश–त्रि०। महान् क्लेशो यस्मिन् स महाक्लेशः। अतिक्लेशसाध्ये, उत्त० २३ अ०।

महाकुट्ठ–महाकुष्ठ–न०। धात्वन्तःप्रवेशादसाध्यत्वाच्च महत्कुष्ठमिति। तथाविधकुष्ठरोगे, सप्त महाकुष्ठानि, तद्यथा—अरुणोदुम्बरनिश्यजिह्वकापालकाकनादपौण्डरीकदद्रुकुष्ठानि। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

महाकुमुद–महाकुमुद–न०। सप्तमदेवलोकविमानभेदे, स० १७ सम०।

महाकुमुय–महाकुमुद–न०। संख्याभेदे, सा चैवम्–चतुरशीतिमहाकुमुदाङ्गशतसहस्राण्येकं महाकुमुदम्। ज्यो० २ पाहु०।

महाकुमुयंग–महाकुमुदाङ्ग–न०। संख्याभेदे, सा चैवम्–चतुरशीतिकुमुदशतसहस्राण्येकं महाकुमुदाङ्गम्। (विशेषतः 'काल'शब्दे तृतीयभागे ४७८ पृष्ठे वर्णितम्) ज्यो० २ पाहु०।

महाकुल–महाकुल–पुं०। महत्कुलमिक्ष्वाक्वादिकमस्येति। इक्ष्वाक्वादिकुलोत्पन्ने, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। महच्च तत्कुलमिति। इभ्यकुलादौ, न०। नि० चू० ८ उ०।

महाखंदग–महास्कन्दक–पुं०। षष्ठे भूतनिकाये, प्रज्ञा० १ पद।

महागंगा–महागङ्गा–स्त्री०। गोशालकपरिभाषिते सप्तगङ्गात्मके मानभेदे, "सत्त गंगाओ एगा महागंगा।" भ० १५ श०।

महागर–महाकर–पुं०। बृहत्खनौ, महाकरा ज्ञानादिभावरत्नापेक्षया। दश० ६ अ० १ उ०।

महागह–महाग्रह–पुं०। ग्रहभेदे, महाग्रहाश्च मनुष्यतिरश्चामुपघातानुग्रहकारित्वात्। स्था०।

अट्ठ महागहा पण्णत्ता। तं जहा–चंदे १, सूरे २, सुक्के ३, बुहे ४, बुहस्सई ५, अंगारए ६, सणिंचरे ७, केऊ ८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्था० ८ ठा० । (अत्र 'महग्गह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विशेषतो वर्णितम्)

महागिरि-महागिरि-पुं० । गौतमगोत्रस्य स्थूलभद्रस्य शिष्ये पैलापत्यगोत्रे स्थविरे, "थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा-थेरे अज्जमहागिरि एलावच्चसगोत्ते, थेरे अज्जसुहत्थी वासिट्ठसगुत्ते ।" महागिरिर्दशपूर्वी साधुः । कल्प० २ अधि० ८ दाण । आव० । शिष्यौ द्वौ स्थूलभद्रस्य, महागिरिसुहस्तिनौ" आ० क० ४ अ० । आ० चू० । अश्वमित्रे, यो हि महागिरिशिष्यस्य कौडिन्याभिधानस्य शिष्यो मिथिलायां नगर्यां लक्ष्मीगृहे चैत्ये निह्नवो जातः । स्था० ७ ठा० । विशे० । आ० म० । आ० चू० । उत्त० । घ० र० । उल्लुकातीरस्थे धनगुप्त-गुरौ, विशे० । मेरौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । (अत्रत्यो विशेषः 'अज्जमहागिरि' शब्दे प्रथमभागे गतः ।)

महागिह-महागृह-न० । इभ्यगृहे, महाकुले च । गि०चू०८उ० ।

महागुण-महागुण-पुं० । महांश्चासौ गुणश्च महागुणः । सकलगुणाऽऽधारत्वात् । महाव्रते, पा० ।

महागुरु-महागुरु-त्रि । कापुरुषैर्दुर्वहे, आचा०२ श्रु० ४ चू० ।

महागोव-महागोप-पुं० । गोपो गोरक्षकः, स चेतरगोरक्षकेभ्योऽतिविशिष्टत्वान्महानिति महागोपः । उपा० ७ अ० । अतीव गोरक्षणे कुशले, व्य० ३ उ० । आ० म० । आ० चू० । क० । (विशेषतो वर्णनं 'एमोरिह' शब्दे चतुर्थभागे १८५२ पृष्ठे गतम्)

महाघोर-महाघोर-त्रि० । अतीवरौद्रे, जी० १ प्रति० । महा भयानके, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । स्था० ।

महाघोस-महाघोष-पुं० । औदीच्यानां स्तनितकुमाराणामिन्द्रे, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । स० । यस्तु भीतान् पलायमानान् नारकान् पशूनिव वाटकेषु महाघोषं कुर्वन्निरुणद्धि स महाघोषः । पञ्चदशे परमाधार्मिकनिकाये, भ० ३ श० ७ उ० । प्रश्न० । स्था० । प्रव० । आव० । स० । आ० चू० ।

भीए य पलायंते, समंततो तत्थ ते णिरुंभंति ।
पसुणो जहा पसुबहे, महघोसा तत्थ णेरइए ॥ ८४ ॥

(भीए इत्यादि) महाघोषाभिधाना भवनपत्यसुराधमविशेषाः परमाधार्मिका व्याधा इव परपीडोत्पादनेनैवाऽतुलं हर्षमुद्वहन्तः क्रीडया नानाविधैरुपायैर्नारकान् कदर्थयन्ति, तांश्च भीतान् प्रपलायमानान् मृगानिव समन्ततः-सामस्त्येन तत्रैव-पीडोत्पादनस्थाने निरुम्भन्ति-प्रतिबध्नन्ति, पशून्-वस्तादिकान् यथा पशुबधे समुपस्थिते नश्यतस्तद्वधकाः प्रतिबध्नन्त्येवं तत्र नरकावासे नारकानिति । सूत्र० १ श्रु०५ अ० १ उ० । भारतवर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते सप्तमकुलकरे, स० । ऐरवतवर्षे भविष्यति द्वाविंशे तीर्थकरे,स० । तृतीयदेवलोकविमानभेदे. न० । स० ६ सम० ।

महाचंद-महाचन्द्र-पुं० । ऐरवते वर्षे भविष्यत्यष्टमे तीर्थकरे, स० १५९ सम० । "सिरिचंदे दढकेतू,महाचंदे य केवली । दीहे पासे य अरहा, समाहिं पडिदिसंतु मे ।" ति० ।

महाचीण-महाची(न)ण-पुं० । चीनदेशमुख्यभागे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

महाजंत-महायन्त्र-न० । इक्ष्वादिपीडनयन्त्रे, उत्त० १६ अ० ।

महाजंबू-महाजम्बू-स्त्री० । जम्ब्वाः सुदर्शनायाः शेषलघुजम्ब्वपेक्षया प्रधानजम्ब्वाम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

महाजक्ख-महायक्ष-पुं० । अजितनाथस्य शासनयक्षे, प्रव०२६ द्वार । (तत्स्वरूपवर्णनम् 'जिणजक्ख' शब्दे चतुर्थभागे)

महाजण-महाजन-पुं० । विशिष्टपरिषदि, दश०१अ० । सूत्र० ।

महाजय-महाजय-त्रि० । महान्जयः कर्मशत्रुपराभवनलक्षणो यस्मिन्नसौ महाजयः । महतां कर्माऽरीणां विनाशके, उत्त० १२ अ० ।

महाजस-महायशस्-पुं० । महद् विस्तीर्णं सर्वस्मिन्नपि जगति विस्तृततत्वाद्यशः श्लाघाऽस्येति महायशाः । चं०प्र०१७ पाहु० । सू० प्र० । उत्त० । अपरिमितकीर्तौ, उत्त० १२ अ० । ज्ञा० । जं० । जी० । भुवनत्रयगतख्यातित्वात् । आ०म०१अ० । आ० चू० । बृहत्प्रख्यातिके, भ० १ श० ७ उ० । विख्यातसद्गुणे, दश० ६ अ० २ उ० । स्था० । दश० । स्था० । भरतपौत्रे आदित्ययशसः पुत्रे, स्था० ८ ठा० । आ० चू० । आ० म० । ऐरवतवर्षे भविष्यच्चतुर्थे तीर्थकरे, स० ।

महाजाइ-महाजाति-स्त्री० । गुल्मभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जं० ।

महाजाण-महायान-न० । यान्त्यनेन मोक्षमिति यानं चारित्रम्, तच्चानेकभवकोटिदुर्लभं, लब्धमपि प्रमाद्यतस्तथाविधकर्मोदयात्स्वप्नावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते, महच्च तद् यानं च महायानम् । मोक्षसाधके चारित्रे, यदिवा-महद्यानं सम्यग्दर्शनचारित्रादित्रयं यस्य स महायानः मोक्षः । मोक्षे, पुं० । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

महाजुद्ध-महायुद्ध-न० । परस्परं मार्यमाणमारकतया युद्धे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० ।

महाजुम्म-महायुग्म-न० । महान्ति च तानि युग्मानि महायुग्मानि । महाराशिषु, भ० ।

कइ णं भंते ! महाजुम्मा पण्णत्ता ?, गोयमा ! सोलस महाजुम्मा पण्णत्ता, तं जहा-कडजुम्मकडजुम्मे १, कडजुम्मतेओगे २, कडजुम्मदावरजुम्मे ३, कडजुम्मकलिओगे ४, तेओगकडजुम्मे ५, तेओगतेओगे ६, तेओगदावरजुम्मे ७, तेओगकलिओगे ८, दावरजुम्मकडजुम्मे ९, दावरजुम्मतेओगे १०, दावरजुम्मदावरजुम्मे ११, दावरजुम्मकलिओगे १२, कलिओगकडजुम्मे १३, कलिओगतेओगे १४, कलिओगदावरजुम्मे १५, कलिओगकलिओगे १६, से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सोलस महाजुम्मा पण्णत्ता । तं जहा-कडजुम्मकडजुम्मे ० जाव कलिओगकलिओगे ?, गोयमा ! जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेऽवि कडजुम्मा से तं कडजुम्मकडजुम्मे, १, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कडजुम्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से तं कडजुम्मतेओगे २, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए,जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कडजुम्मा से तं कडजुम्मदावरजुम्मे३, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए,जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कडजुम्मा से तं कडजुम्मकलिओगे ४, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए,जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेओगे से तं तेओगकडजुम्मे ५, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए,जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेओया से तं तेओगतेओगे ६ जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए,जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेओया से तं तेओगदावरजुम्मे७,जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेओया से तं तेओगकलिओगे ८, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा से तं दावरजुम्मकडजुम्मे ९, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा से तं दावरजुम्मतेओगे १०, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा से तं दावरजुम्मदावरजुम्मे ११,जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा से तं दावरजुम्मकलिओगे १२, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा से तं कलिओगकडजुम्मे १३, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा से तं कलिओगतेओगे १४, जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए,जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा से तं कलिओगदावरजुम्मे १५,जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा से तं कलिओगकलिओगे १६, से तेणऽट्ठेणं ०जाव कलिओगकलिओगे। (सूत्र–८५५)

(कइ णं भंते ! इत्यादि) इह युग्मशब्देन राशिविशेषा उच्यन्ते, ते च क्षुल्लाका अपि भवन्ति, यथा प्राक् प्ररूपिता अतस्तद्व्यवच्छेदाय विशेषणमुच्यते । महान्ति च तानि युग्मानि च महायुग्मानि, (कडजुम्मकडजुम्मे त्ति) यो राशिः सामायिकेन चतुष्कापहारेणापह्रियमाणश्चतुःपर्यवसितो भवत्यपहारसमया अपि चतुष्कापहारेण चतुःपर्यवसिता एवाऽसौ राशिः कृतयुग्मा इत्यभिधीयते । अपह्रियमाणद्रव्यापेक्षया तत्समयापेक्षया चेति द्विधा कृतयुग्मत्वादेवमन्यत्रापि शब्दार्थौ योजनीयः । स च किल जघन्यतः षोडशात्मकः, एषां हि चतुष्कापहारतश्चतुरग्रत्वात्समयानां च चतुःसंख्यत्वादिति १, (कडजुम्मतेओए त्ति) यो राशिः प्रतिसमयं चतुष्कापहारेणापह्रियमाणस्त्रिपर्यवसानो भवति तत्समयाश्चतुःपर्यवसिता एवासावपह्रियमाणापेक्षया त्र्योजः, अपहारसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मत्र्योज इत्युच्यते । तच्च जघन्यत एकोनविंशतिस्तत्र हि चतुष्कापहारेण त्रयोऽवशिष्यन्ते , तत्समयाश्चत्वार एवेति २, एवं राशिभेदसूत्राणि तद्विवरणसूत्रेभ्योऽवसेयानि। इह च सर्वत्राप्यपहारसमयापेक्षमाद्यं पदम् अपह्रियमाणद्रव्यापेक्षं तु द्वितीयमिति, इह च तृतीयादारभ्योदाहरणानि कृतयुग्मद्वापरे राशावष्टादशादयः। कृतयुग्मकल्योजे सप्तदशादय,–स्त्र्योजकृतयुग्मे द्वादशादयः,एषां चतुष्कापहारे चतुरग्रत्वात्तत्समयानां च त्रित्वादिति। त्र्योजत्र्योजराशौ तु पञ्चदशादयः, त्र्योजद्वापरे तु चतुर्दशादयः, त्र्योजकल्योजे त्रयोदशादयः, द्वापरकृतयुग्मेऽष्टादयः, द्वापरत्र्योजराशावेकादशादयो, द्वापरद्वापरे दशादयो, द्वापरकल्योजे नवादयः, कल्योजकृतयुग्मे चतुरादयः,कल्योजत्र्योजराशौ सप्तादयः, कल्योजद्वापरे षडादयः, कल्योजकल्योजे तु पञ्चादय इति । भ० ३५ श० ।

महाठवणिया–महास्थापनिका–स्त्री० । शवपरिष्ठापनिकायाम् , ध० ३ अधि० ।

महाडड–महाडड–न०।चतुरशीतिलक्षगुणितेषु त्रुटितेषु,ज्यो० २ पाहु० । ('काल' शब्दे तृतीयभागे ४७८ पत्रे स्फुटितम्)

महाढक्का–महाढक्का–स्त्री० । भेरीवाद्ये, भ० ५ श० ४ उ० । जी०।

महाण–अस्माकम्–त्रि० । " णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण महाण मज्झाण आमा" ॥८।३। ११४॥ इत्यस्मदः आमासहितस्य महाणाऽऽदेशः । प्रा० ३ पाद ।

महाणई–महानदी–स्त्री० । गुरुनिम्नगायाम् , स्था० ५ ठा० २ उ० । आ० म० । विस्तीर्णनद्याम् , नि० चू० १२ उ० । महा० । जं० (कुत्र कति महानद्य इति 'जंबूदीव' शब्दे चतुर्थभागे १३७६ पृष्ठे गतम्)

मन्दरदक्षिणतः षट् , उत्तरतः षट् महानद्यः—

जंबूमंदरदाहिणेणं छमहाणईओ पण्णत्ताओ,तं जहा-गंगा सिंधू रोहिया रोहियंसा हरी हरिकंता । जंबूमंदरउत्तरेणं छ महाणईओ पण्णत्ताओ,तं जहा–णरकंता णारिकंता सुवण्णकूला रुप्पकूला रत्ता रत्तवई । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

जंबूमंदरदाहिणेणं चुल्लहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ पउमदहाओ महादहाओ तओ महाणदीओ पवहंति । तं जहा-गंगा सिंधू रोहियंसा । जंबूमंदरस्स उत्तरेणं सिहरीओ वासहरपव्वयाओ पोंडरीयदहाओ महादहाओ तओ महाणदी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओ पवहंति । तं जहा-सुवन्नकूला रत्ता रत्तावती । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

(सिन्धुमहानद्या विस्तारपूर्वकवक्तव्यता 'गंगा' शब्दे तृतीयभागे ७८५ पृष्ठे गता)

रत्तारत्तवतीओ णं महाणदीओ पवाहे सातिरेगे चउवीसं कोसे वित्थारेणं पराणत्ताओ । स० २४ सम० ।

जंबूमंदरदाहिणेणं गंगासिंधूओ महाणईओ दस महाणईओ समप्पेंति । तं जहा-जउणा १ सरऊ २ आवी ३ कोसी ४ मही ५ सिंधू ६ वितत्था ७ विभासा ८ एरावई ९ चंदभागा १० । जंबूमंदरउत्तरेणं रत्तारत्तवईओ महाणईओ दस महाणईओ समप्पेंति, तं जहा-किराहा महाकिराहा नीला महानीला तारा महातारा इंदा० जाव महाभागा । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

(गङ्गामहानदीवक्तव्यता 'गंगा' शब्दे तृतीयभागे ७८५पृष्ठे गता)

जंबूमंदरस्स दाहिणेणं सिंधुमहानदीं पंच महाणईओ समप्पेंति । तं जहा-सतदू विभासा वितत्था एरावई चंदभागा २। जंबूमंदरउत्तरेणं रत्तां महाणई पंच महाणईओ समप्पेंति । तं जहा-किराहा महाकिराहा नीला महानीला महातीरा । जंबूमंदरस्स उत्तरेणं रत्तावई महाणई पंच महाणईओ समप्पेंति इंदा इंदसेणा सुसेणा वारिसेणा महाभागा ४। (सूत्र-४७०) स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

जंबुद्दीवे दीवे सत्त महाणदीओ पुरत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समप्पेंति । तं जहा-गंगा रोहिया हरी सीता णरकंता सुवन्नकूला रत्ता । जंबूद्दीवे दीवे सत्त महानदीओ पच्चत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समप्पेंति । तं जहा-सिंधू रोहियंसा हरिकंता सीतोदा णारिकंता रुप्पकूला रत्तवई । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

जंबूद्दीवे णं दीवे चउद्दस महानईओ पुव्वावरेणं लवणसमुद्दं समप्पेंति । तं जहा-गंगा सिंधू रोहिआ रोहिअंसा हरी हरिकंता सीया सीओदा नरकंता नारिकंता सुवराणकूला रुप्पकूला रत्ता रत्तवई । स० १४ सम० ।

सीआसीओयाणं महाणईओ मुहमूले दस दस जोअणाइं उव्वेहेणं पराणत्ताओ । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

महाणंदियावत्त-महानन्द्यावर्त्त-पुं० । घोषस्य स्तनितकुमारस्योत्तरदिक्पाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । विमानभेदे, न० । स० १७ सम० ।

महाणगर-महानगर-पुं० । प्रभूतलोकावासे नगरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । (महानगरपागारकवाडफलिहभूयं ति) महानगरमिव महानगरं विविधसुखहेतुत्वसाधर्म्याद्धर्म्मः तस्य प्राकार इव कपाटमिव परिघमिव यत्तन्महानगरप्राकारकपाटपरिघभूतामिति । प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

महाणगरी-महानगरी-स्त्री० । तीर्थभूते पुरीभेदे, महानगर्यां मुहराडविहारे श्रीमदादिनाथः१ । ती० ४३ कल्प ।

महाणडो-देशी-रुद्रे, दे० ना० ६ वर्ग १२१ गाथा ।

महाणय-महानद-पुं० । ब्रह्मपुत्रादौ प्रभूतजलवाहिनि नदे, "महानयसोयपडियं समुद्दमतिगयं तच्च मच्छमगरेहिं छिन्नं।" आ० म० १ अ० ।

महाणरग-महानरक-पुं० । बृहदायामविष्कम्भे निरये, जी० ।

सत्तमाए णं पुढवीए पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाणरगा पण्णत्ता, तं जहा-काले महाकाले रोरुए महारोरुए अपइट्ठाणे । जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

महाणरगसरिस-महानरकसदृश-त्रि० । रौरवादितुल्ये, दश० १ चू० ।

महाणलिण-महानलिन-न० । चतुरशीतिनलिनाङ्गशतसहस्त्ररूपायां संख्यायाम्, ज्यो० २ पाहु० । ('काल' शब्दे ३ भागे ४७८ पत्रे स्फुटीभूतम्) सप्तमदेवलोकविमानभेदे, स० १८ सम० ।

महाणस-महानस-पुं० । रसवत्याम्, आ० चू० १ अ० ।

महाणसिणी-महानसिनी-स्त्री० । रसवतीकारिकायाम्, भ० ११ श० ११ उ० ।

महाणसिय-महानसिक-त्रि० । महानसे नियुक्ता महानसिकाः सूपकारेषु, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । आव० ।

महाणाग-महानाग-पुं० । प्रधानसर्प्पे, आव० ४ अ० । उत्त० । स्था० । कश्चित्क्षपकः प्रस्तुतपारणकः सक्षुल्लकः समारब्धभिक्षार्थभ्रमणकः कथंचिन्मारितमराडूकिकः क्षुल्लकप्रेरितोऽप्रतिपन्नतद्वचनः पुनरावश्यककाले स्मारिततदर्थः समुत्पन्नकोपः क्षुल्लकोपघातायाभ्युत्थितो वेगादागच्छन् स्तम्भे आपतितो मृतो ज्योतिष्केषूत्पन्नोऽनन्तरं च्युतो जातिस्मरदृष्टिविषसर्प्पतयोत्पन्नः । सर्प्पदष्टमृतपुत्रेण च सर्पेषु कुपितेन राज्ञाऽऽदिष्टजनमार्यमाणेषु नागेषु नागविनाशकनरेण केनाऽप्यौषधिबलादाकृष्यमाणो दृष्टकोपविपाकतया च मद्दृष्टिविषेण मा घातकपुरुषविघातो भवत्विति भावनया पुच्छतो निर्गच्छन् यथा निर्गमं च खराड्यमानः कोपलक्षणभावापायं परिहृतवानिति । तथा स एवानन्तरं नागदत्ताभिधानराजसुततयोत्पन्नो बालत्व एव प्रतिपन्नप्रव्रज्योऽत्यन्तसंविग्नस्तिर्यग्भवाभ्यासाच्चात्यन्तक्षुधालुरादित्योदयादस्तसमयं यावद्भोजनशीलोऽसाधारणगुणावर्जितदेवताभिवन्दितोऽत एव तद्गच्छगतमासादिक्षपकचतुष्टयस्येर्ष्याविषयीभूतो विनयार्थं तेषामुपदर्शितस्वार्थानीतभोजनः तैश्च मत्सराद्भोजनमध्यनिष्ठ्यूतनिष्ठीवनोऽत्यन्तोपशान्तचित्तवृत्तितया संजातकेवलः पुनर्देवतावन्दितस्तेषामपि क्षपकाणां संवेगहेतुत्वेन केवलज्ञानदर्शनसमृद्धिसंपादकः कोपरूपं भावापायं परिजहारेति । अथवा-कोपादिलक्षणो भावापायो भवति क्षपकस्येवेति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

महाणिज्जर-महानिर्जर-त्रि० । महती निर्जरा कर्मक्षयलक्षणा यस्य । बृहत्कर्मक्षयकारिणि, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

१-पार्श्वनाथः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ, तं जहा-अगिलाए आयरियवेयावच्चं करेमाणे १, एवं उवज्झायवेयावच्चं करेमाणे २, थेरवेयावच्चं करेमा० ३, तवस्सिवेयावच्चं करे० ४, गिलाणवेयावच्चं करेमाणे ॥ ५ ॥ पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ । तं जहा-अगिलाए सेहवेयावच्चं करेमाणे १, अगिलाए कुलवेयावच्चं करेमाणे २, अगिलाए गणवेयावच्चं करेमाणे ३, अगिलाए संघवेयावच्चं करेमाणे ४, अगिलाए साहम्मियवेयावच्चं करेमाणे ॥ ५ ॥ (सूत्र-३६७)

महानिर्जरो बृहत्कर्मक्षयकारी महानिर्जरत्वाच्च महदात्यन्तिकं पुनरुद्भवाभावात् पर्यवसानमन्तो यस्य स तथा । (अगिलाए त्ति) अग्लान्या अखिन्नतया बहुमानेनेत्यर्थः, आचार्यः पञ्चप्रकारः । तद्यथा—प्रव्राजनाचार्यो, दिगाचार्यः, सूत्रस्योद्देशनाचार्यः, सूत्रस्य समुद्देशनाचार्यो, वाचनाचार्यश्चेति । तस्य वैयावृत्यं व्यावृतस्य शुभव्यापारवतो भावः कर्म वा वैयावृत्यं, भक्तादिभिः धर्मोपग्रहकारिवस्तुभिरुपग्रहकरणमाचार्यवैयावृत्यम् , तत् कुर्वाणो विदधदिति, एवमुत्तरपदेष्वपि, नवरमुपाध्यायः-सूत्रदाता । स्थविरः स्थिरीकरणात् । अथवा-जात्या षष्टिवार्षिकः, पर्यायेण विंशतिवर्षपर्यायः । श्रुतेन समवायधारी, तपस्वी-मासक्षपकादिः । ग्लानः-अशक्तो व्याध्यादिभिरिति । तथा (सेह त्ति) शैक्षकोऽभिनवप्रव्रजितः । साधर्मिकः समानधर्मा लिङ्गतः प्रवचनतश्चेति । कुलम्-चान्द्रादिकं साधुसमुदायविशेषरूपं प्रतीतम् , गणः-कुलसमुदायः । संघो गणसमुदाय इत्येवं सूत्रद्वयेन दशविधं वैयावृत्त्यमाभ्यन्तरतपोभेदभूतं प्रतिपादितमिति । उक्तं च—" आयरिय उवज्झाए, थेर तवस्सी गिलाणसेहाणं । साहम्मिय कुल गण संघ-संगयं तमिह कायव्वं ॥ १ ॥ " इति । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

तिहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ, तं जहा-कया णं अहं अप्पं वा बहुयं वा सुयं अहिज्जिस्सामि, कया णमहमेकल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरिस्सामि, कया णमहमपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खए पाओवगए कालमणवकंखमाणे विहरिस्सामि, एवं समणसा सवयसा सकायसा पागडेमाणे (पहारेमाणे) णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ । तिहिं ठाणेहिं समणोवासते महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं जहा-कया णं अहमप्पं वा बहुअं वा परिग्गहं परिचइस्सामि १, कया णं अहं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वयिस्सामि २, कयाणं अहं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खए पाओवगए कालमणवकंखमाणे विहरिस्सामि ३, एवं समणसा सवयसा सकायसा पागडेमाणे (जागरमाणे) समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ । (सू०२१०)

(तिहीत्यादि) सुगमम् । नवरम्—महती निर्जरा कर्मक्षपणा यस्य स तथा । महत्-प्रशस्तमात्यन्तिकं वा, पर्यवसानम्-पर्यन्तं, समाधिमरणतो-ऽपुनर्मरणतो वा जीवितस्य, यस्य स तथा । अत्यन्तं शुभाशयत्वादिति, (एवं स मणस त्ति) एवमुक्तलक्षणत्रयं, स इति-साधुः (मणस त्ति) मनसा, ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात्, एवं (सवयस त्ति) वचसा (सकायस त्ति) कायेनेत्यर्थः, सकारागमः प्राकृतत्वादेव, त्रिभिरपि करणैरित्यर्थः । अथवा-स्वमनसेत्यादि, प्रधारयन्—पर्यालोचयन् क्वचित्तु "पागडेमाणे त्ति" पाठस्तत्र प्रकटयन् व्यक्तीकुर्वन्नित्यर्थः । यथा श्रमणस्य तथा श्रमणोपासकस्यापि त्रीणि निर्जरादिकारणानीति दर्शयन्नाह—" तिही " त्यादि, कण्ठ्यम् । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

महाणिज्जामग-महानिर्यामक-पुं० । अर्हति, भवसमुद्रपारगामित्वात् तेषाम् । आ० चू० १ अ० ।

महाणिद्दा-महानिद्रा-स्त्री० । मिथ्यात्वाज्ञानमय्यां निद्रायाम्, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

महाणिमित्त-महानिमित्त-न० । शास्त्रविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । " महाणिमित्तं जहा भोमुप्पातं सुविणं अंतलिक्खं अंगं सरं लक्खणं वंजणं । " आ० चू० १ अ० ।

महाणिरय-महानिरय-पुं० । बृहत्प्रमाणे नरके, स्था० ।

अहोलोगे णं पंच अणुत्तरा महइमहालया महाणिरया पन्नत्ता, तं जहा-काले महाकाले रोरुए महारोरुए अप्पइट्ठाणे ।

(अहोलोगे त्ति) सप्तमपृथिव्यामनुत्तराः-सर्वोत्कृष्टवेदनादित्वात्ततः परं नरकाभावाद्वा, महत्त्वं च चतुर्णां क्षेत्रतोऽप्यसंख्यातयोजनत्वात् । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

महाणिल-महानिल-पुं० । महावाते, अष्ट० २२ अष्ट० ।

महाणिसीह-महानिशीथ-न० । निशीथग्रन्थाद् ग्रन्थार्थाभ्यां महत्तरे ग्रन्थे, पा० । नं० ।

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इहं खलु छउमत्थसंजमकिरियाए वट्टमाणे जे णं केइ साहू वा साहुणी वा से णं इमेणं परमत्थतत्तसारसब्भूयत्थपसाहगसुमहत्थातिसयपवरवरमहानिसीहसुयक्खंधसुयाऽणुसारेणं तिविहं तिविहेणं सव्वभावंतरंतरेहि णं णीसल्ले भवित्ता णं आयहियऽट्ठाए अचंतघोरवीरुग्गा कट्ठतवसंजमाऽणुट्ठाणेसु सव्वपमायालंबणविप्पमुक्के । अणुसमयमहणिसमणालसत्ताए सययं अणुचिन्ने अणुष्परमसद्धासंवेगवेरग्गमग्गगए णिणियाणे अणिगूहियबलवीरियपुरिसकारपरक्कमे अगिलाणीए वोसट्ठचत्तदेहे सुणिच्छिए एगग्गचित्ते अभिक्खणं अभिरमिज्जमाणे णं रागदोसमोहविसयकसायनाणालंबणा अणेगप्पमायं इड्डिरससायागारवरोद्दऽट्टज्झाणविगहाभिच्छत्तविरइदुट्ठयोगअणायघणसेवणाकुसीलादिसंसग्गी पेसुण्णज्झक्खाणं कलहजात्यादिमयमच्छरामरिसममीकार अहंका-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रादिअणेगभेयभिसतामसभावकलुसिएणं हियएणं हिंसाऽलियचोरिकमेहुणपरिग्गहाऽऽरंभसंकप्पादिगोयरे अज्झवसिए घोरपयंडमहारोद्दघणविकसपावकम्ममललेवखवलिए असंवुडाऽऽसवदारे एक्कं खणलवमुहुत्तणिमिसणिमिसद्धब्भंतरंतरमविसल्ले विरत्तेज्जा। महा० १ अ०।

महानिसीहस्स चउत्थऽज्झयणं। अत्र चतुर्थाध्ययने वहवः सैद्धान्तिकाः कोविदालापका न सम्यक् श्रद्दधत्येवं तैरश्रद्दधानैरस्माकमपि न सम्यक् श्रद्धानम्, इत्याह हरिभद्रसूरिः—न पुनः सर्वमेवेदं चतुर्थाध्ययनम्, अन्यानि वा अध्ययनानि अस्यैव कतिपयैः परिमितैरालापकैरश्रद्दधानमित्यर्थः, यतः स्थानसमवायजीवाभिगमप्रज्ञापनादिषु न कथंचिदिदमाचक्ष्ये यथा प्रतिसन्तापस्थलमस्ति, तद्गुहावासिनस्तु मनुजास्तेषु च परमाधार्मिकाणां पुनः पुनः सप्ताष्टवारान् यावदुपपातः, तेषां च तैर्दारुणैर्वज्रशिलाघरट्टसंपुटैर्गिलितानां परिपीड्यमानानामपि संवत्सरं यावत्प्राणव्यापत्तिर्न भवतीति। वृद्धवादस्तु पुनर्यथा तावदिदमार्षं सूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र, प्रतिष्ठाप्रभूताश्चात्र श्रुतस्कन्धा, अर्थाः सुष्ठ्वतिशयेन सातिशयाः गणधरोक्तानि चेह वचनानि। तदेवं स्थिते न किंचिदाशङ्कनीयम्। महा० ५ अ०।

" चत्तारि सहस्साइं, पंच सयाओ तहेव पन्नासं।
चत्तारि सिलोगा वी, महानिसीहंमि पाएणं " प्रति०।

('चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२२६ पृष्ठे एतत्प्रामाण्यमुक्तम्)

महाणिहाण–महानिधान–न०। गर्तेषु कृपणनिहिते धने, कल्प० १ अधि० ४ क्षण।

महाणिहि-महानिधि–पुं०। चक्रवर्त्तिनां नैसर्गिकादिषु निधिषु, स्था० ८ ठा०। (नव महानिधयः 'णिहि' शब्दे चतुर्थभागे, २१५१ पत्रे उक्ताः) स्था० ६ ठा०। जं०। ति०।

महाणील–महानील–पुं०। रत्नविशेषे, जी०३ प्रति०४ अधि०।

महाणीलसरिस–महानीलसदृश–त्रि०। महानीलं यत्किमपि वस्तुजातं लोकप्रसिद्धं तेन सदृशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

महाणीला–महानीला–स्त्री०। रक्तानदीसङ्गते महानदीभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

महाणुभाग–महानुभाग–पुं०। महाननुभागो विशिष्टवैक्रियादिकरणविषयाऽचिन्त्या शक्तिर्यस्य। चं० प्र० २० पाहु०। महामाहात्म्यसहिते, उत्त० १२ अ०। व्य०। अचिन्त्यसामर्थ्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। व्य०। अद्भुतशापानुग्रहविषयसामर्थ्यसद्भावात्। आ० म० १ अ०। महाप्रतापे, प्रश्ना० २ पद। भ०। नि०। महाप्रधाने, ग० १ अधि०। अचिन्त्यशक्तियुक्ते, औ०। आव०। आ० म०। स्था०। ज्ञा०। चं० प्र०। अचिन्त्यातिशये, उत्त० १२ अ०। स्था०।

महाणुभाव–महानुभा(न)व–पुं०। महानतिशायी अनुभागः स्वर्गापवर्गप्रदानादिलक्षणं यस्य सः। पा०। महाननुभावो महिमा यस्य स तथा। कल्प० १ अधि० १ क्षण। सूत्र०। महाप्रभाववति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। अचिन्त्यशक्तिके, पो० १ विव०। प्रज्ञा०। विशिष्टवैक्रियादिकरणाऽचिन्त्यसामर्थ्ये, भ० १ श० ७ उ०। सू० प्र०। दर्श०। हा०।

महातमप्पभा–महातमःप्रभा–स्त्री०। महातमसः प्रभा यस्यां सा महातमःप्रभा। अतिशयकृष्णद्रव्योपलक्षितेत्यर्थः। अनु०। महातमसोऽतिशायितमसः प्रभा बाहुल्यं यत्र सा महातमःप्रभा। सप्तमनरकपृथिव्याम्, प्रव० १७२ द्वार।

महातव–महातपस्–त्रि०। महत् प्रशस्तमाशंसादिदोषरहितत्वात् तपो यस्य स तथा। जं० १ वक्ष०। सू० प्र०। प्रशस्ततपसि, विपा०। रा०। औ०। चं० प्र०। ज्ञा०।

महातवस्सि–महातपस्विन्–पुं०। विशिष्टतपोधने, हा०।

महातवोवतीरप्पभव–महातपस्तीरप्रभव–न०। राजगृहस्य बहिर्वैभारपर्वतस्यादूरे उष्णजले प्रस्रवणे, भ०२श०५उ०। स्था०। आ० म०। आ० चू०। विशे०। " महातवोवतीरप्पभवे त्ति " (व्याख्याऽस्य 'अएणउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४५६ पृष्ठे गता)

महातीरा–महातीरा–स्त्री०। रक्ताख्यमहानदीसंगते नदभेदे, स्था० ३ ठा० २ उ०। ध०।

महाथंडिल-महास्थण्डिल-न०। शवपरिष्ठापनभूमौ, वृ० १ उ०। (क्षेत्रप्रत्युपेक्षणायां महास्थण्डिलप्ररूपणा 'विहार' शब्दे)

महाथल–महास्थल–न०। मथुरायां लौकिकतीर्थभूते स्वनामके स्थले, ती०।

महादाण–महादान–न०। उत्तमविश्राणने, पञ्चा० ८ विव०। दीनतपस्यादौ गुर्वनुज्ञया दाने, पञ्चा० २ विव०। हा०।

प्रकर्षवतः पुण्यानुबन्धिपुण्यस्य तीर्थकरत्वं फलमुक्तं, तीर्थकरस्य च पुण्यप्रकर्षरूपत्वेन जगद्गुरुत्वाद्दानेन महता भाव्यं, संख्यावच्च तत्तस्य श्रूयत इति कथं तद्दानस्य महत्त्वमित्यधुनोपदर्शयन्नाह—

जगद्गुरोर्महादानं, संख्यावच्चेत्यसंगतम्।
शतानि त्रीणि कोटीनां, सूत्रमित्यादि चोदितम् ॥१॥

जगद्गुरोर्भुवनभर्तुर्जिनस्य, महादानम्–अतिशायिवितरणम् वरवरिकारूपम्, संख्यावच्च परिगणितम्, चशब्दः समुच्चये। इति एतदसंगतम्–विरुद्धम्। तथाहि–महादानं चेत् संख्यावत् कथं? संख्यावत् महादानं कथमिति? संख्यावत्त्वं तस्य कथं सिद्धमित्यारेकायामाह–यतः 'शतेत्यादि' इह च शतानि त्रीणि कोटीनामित्यतः परमित्यादीति पदं द्रष्टव्यम्, ततश्च शतानि त्रीणि कोटीनामित्याद्येव प्रभृति आदिशब्दाद्–" अट्ठासीइं च होंति कोडीओ" इत्यादेः परिग्रहः। सूत्रमर्थसूचनपरं वचनं चोदितम्। 'संवच्छरे दिन्नं' पाठान्तरेण शास्त्रे इत्यादि चोदितमिति। तत्र शास्त्रे–आगमे, शेषं तथैवेति परवच इति ॥ १ ॥

एवं जिनस्य महादानविरुद्धतामभिधाय बुद्धस्य महादानसाङ्गत्यमभिधातुं पर एवाऽऽह—

अन्यैस्त्वसंख्यमन्येषां, स्वतन्त्रेषूपवर्ण्यते।
तत्तदेवेह तद्युक्तं, महच्छब्दोपपत्तितः ॥ २ ॥

अन्यैस्त्वपरैः, पुनर्जिनापेक्षया बौद्धैः, असंख्यम्–अविद्यमानपरिमाणम्, अन्येषां–जिनादपरेषां बोधिसत्त्वानां, स्वतन्त्रेषु स्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कीयशास्त्रेषु, उपवर्ण्यते-प्रतिपाद्यते। तद्यथा-"एते हाटकराशयः प्रविततताः शैलप्रतिस्पर्द्धिनो, रत्नानां निचयाः स्फुरन्ति किरणैराक्रम्य भानोः प्रभाम्। हाराः पीवरमौक्तिकौघरचितास्तारावलीभासुरा, यानादौ विजहाय वस्त्रगृहतः स्वैरं जनो गच्छति।" 'तदिति' तस्मात्तदेव बुद्धदानमसंख्यातमेव। इह दानविचारे तदिति 'महादानं' युक्तं-संगतम्, कुत इत्याह-'महच्छब्दोपपत्तितः'महाधनस्य तत्रैव बुद्धदान उपपद्यमानत्वात्, संख्यातदानापेक्षया असंख्यातदानस्यानुपचरितमहत्त्वसिद्धेरिति ॥ २ ॥

ततः किमत आह—

ततो महानुभावत्वा-त्तेषामेवेह युक्तिमत्।
जगद्गुरुत्वमखिलं, सर्वं हि महतां महत् ॥ ३ ॥

यतो बोधिसत्त्वानां महच्छब्दोपपत्तितः महादानं युक्तं ततस्तस्मात् महादानयोगात्,महानुभावत्वात्-अचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात्,तेषामेव-बोधिसत्त्वानामेव न जिनस्य, इहास्मिन् लोके युक्तिमत्-सोपपत्तिकम्, किं तदित्याह-जगद्गुरुत्वं भुवनभर्तृत्वम्, किंभूतमित्याह-अविद्यमानं खिलं गुरुत्वाविषयो यत्र जगद्गुरुत्वे तदखिलम्, सर्वव्यापकं संपूर्णमिति यावत्कुत एतदेवमित्याह-सर्वं-निरवशेषं दानादिक्रियाजालम्, हि यस्मात् महताम्-महासत्त्वानाम्, महत् सातिशयं भवति। अतो महादानयोगात्त एव महानुभावा जगद्गुरवश्च भवन्ति नान्य इति। इह च तेषामिति धर्मी,जगद्गुरुत्वं साध्यं,महानुभावत्वं हेतुः, महतां महदिति च हेत्वसिद्धितापरिहार इति ॥३॥

पूर्वपक्षमुपसंहरन्नाह—

एवमाहेह सूत्रार्थं, न्यायतोऽनवधारयन्।
कश्चिन्मोहात्ततस्तस्य, न्यायलेशोऽत्र दर्श्यते ॥ ४ ॥

एवम्-अनन्तरोक्तप्रकारम्, आह-ब्रूते पूर्वपक्षवादी, इह-प्रक्रमे सूत्रस्य (तिन्नेव य कोडिसया) इत्यादेरागमस्यार्थोऽभिधेयः सूत्रार्थस्तमनवधारयन्निति योगः। किं सर्वथाऽनवधारयन्नेत्याह—न्यायतो—न्यायमाश्रित्यार्थापत्तिगम्यमर्थमित्यर्थः। अनवधारयन् अनवबुध्यमानः, कश्चिदित्यसंबद्धभाषित्वात् अनिर्दिश्यमानः सौगत इति भावः। मोहाद्-अज्ञानात्। यत एवं ततस्तस्मात्कारणात्तस्य-मूढवादिनो, न्यायलेशो युक्तिमात्रा, अत्र-दानव्यतिकरे, दर्श्यते-अभिधीयते इति।

तत् प्रतिपादनायैवाऽऽह—

महादानं हि संख्याव-दर्थ्यभावाज्जगद्गुरोः।
सिद्धं वरवरिकात-स्तस्याः सूत्रे विधानतः ॥ ५ ॥

महादानम्—अतिशायिविश्राणनम्, हिशब्दो दानमहत्त्वभावनार्थः। यत् संख्यावद्-विद्यमानपरिमाणं,तद् अर्थ्यभावात्-प्रयोजनिनामविद्यमानत्वान्न पुनरौदार्याभावाद् द्रव्याभावाद्वा,जगद्गुरोः-भुवननायकस्य जिनस्य, कुत एतदवगतमित्याह-सिद्धं-निर्णीतम्, 'वरं वृणुत'२ इत्येवमाख्यानं वरवरिका, तस्या वरवरिकातो हेतोः। न च तस्या अप्यसिद्धिरित्याह-तस्या वरवरिकायाः सूत्रे निर्युक्तिरूपे आगमे विधानतो विहितत्वात्, तथाहि—

"सिंघाडगतियचउक्क, चच्चरचउमुहमहापहपहेसु।
दारेसु पुरवराणं, रत्थामुहमज्झयारेसु।
वरवरिया घोसिज्जइ, किमिच्छियं दिज्जए बहुविहीए।
सुरअसुरदेवदाणव-नरिंदमहियाण निक्खमणे ॥ ५ ॥" इति।

अथ वरवरिकया दीयमानमर्थ्यभावात्तत्संख्यावदिति कुतः सिद्धमित्यत्राऽऽह—

तया सह कथं संख्या, युज्यते व्यभिचारतः।
तस्माद्यथोदितार्थं तु, संख्याग्रहणमिष्यताम् ॥६॥

तया-वरवरिकया, सह-सार्द्धं, कथं-केन प्रकारेण न कथंचिदित्यर्थः। संख्या-परिमाणं,युज्यते-संगच्छते कुत इत्याह-व्यभिचारतो—विसंवादात् अर्थिसद्भावे सतीति गम्यम्, तथा हि-अर्थिनः प्रभूता महेच्छाश्च दानं वरवरिकया दीयत इति कथं तन्नियतसंख्यं भवितुमर्हति। यस्मादेवं तस्माद्यथोदितार्थं तु अनन्तराऽस्मदुक्तप्रयोजनमेव, तथाविधार्थ्यभावप्रतिपादनार्थपरमेव संख्यासंग्रहणं 'तिन्नेव य कोडिसए' इत्यादिदानसंख्याविधानमिष्यतामभ्युपगम्यतां न पुनरौदार्याभावद्रव्याभावाभ्यामिति। ननु यदि तीर्थकरानुभावादशेषदेहिनां सन्तोषभावादर्थ्यभावः स्यात्तदा संख्याकरणमप्ययुक्तम्? अल्पस्यापि दानस्यासंभवादित्यत्रोच्यते-देवताशेषाय इव संवत्सरमात्रेणाप्रभूतप्राणिग्राह्यत्वाद्युक्तमेव संख्यावत्त्वमिति, अनेन महादानं संख्यावच्चेत्यसङ्गतमित्येतत्परवचो निरस्तमिति ॥ ६ ॥

अथ यदुक्तं ततो महानुभावत्वादित्यादि तदुपदर्शयन्नाह—

महानुभावताऽप्येषा, तद्भावे न यदर्थिनः।
विशिष्टसुखयुक्तत्वात्, सन्ति प्रायेण देहिनः ॥ ७ ॥

महानुभावताऽपि-अतिशायिप्रभावताऽपि न केवलं देहिनां सन्तोषसंपत्संपादनेन संख्योपेतमेव दानं महादानमित्यपिशब्दार्थः। एषा-एषैव वक्ष्यमाणस्वरूपा न पुनर्देहिनामसंख्यातवित्तवितरणरूपा। तामेवाह-तद्भावे-जगद्गुरुसद्भावे (न)नैव 'यदिति'यदेतदर्थिनस्तुच्छतया परमार्थनशीलाः सन्तीति संबन्धः। कुत इत्याह-विशिष्टसुखयुक्तत्वादपेक्षया सातिशयानन्दसंपदुपेतत्वात्, सुखं च सन्तोषो,यदाह-"सज्ज्ञानं परमं मित्र-मज्ञानं परमो रिपुः। सन्तोषः परमं सौख्य-माकाङ्क्षा दुःखमुत्तमम्॥१॥" सन्ति-भवन्ति, प्रायेण-बाहुल्येन, अनेन च निरुपक्रमकर्मजनितधनादानवाञ्छास्तद्भावेऽप्यर्थिनः केचित् संभवन्तीत्यावेदयति। भवति चैवम्, यतः-"जगत्प्रिये सुरूपे च, शशिनो रश्मिमण्डले। सत्यप्यम्भोजिनीखण्डं, न विकाशं प्रपद्यते" ॥ १ ॥ अत एव संख्यातदानसंभवोऽन्यथा तदसंभव एव स्यादिति। देहिनः-प्राणिनः, दृश्यन्ते च द्रव्याणां प्रभावविशेषाः, यतः"समुद्गच्छत्यसौ कोऽपि, हेतुर्गगनमण्डले। यस्मात्प्रमुदितप्राणि, जायते जगतीतलम् ॥ १ ॥" तदेवमसंख्येयदानस्य महादानत्वाभावादसंख्येयदानदायिनां महानुभावत्वासिद्धेरसिद्धो हेतुरित्यभिहितमिति ॥ ७ ॥

तथा—

धर्मोद्यताश्च तद्योगा-त्ते तदा तत्त्वदर्शिनः।
महन्महत्त्वमस्यैव-मयमेव जगद्गुरुः ॥ ८ ॥

धर्मोद्यताश्च-कुशलानुष्ठाननिरताश्च भवन्ति, न केवलमनर्थिन इति चशब्दार्थः। तद्योगाज्जगद्गुरुसंबन्धात्,ते-देहिनः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदा तस्मिन् जगद्गुरुकाले, तथा तत्त्वदर्शिनो भवन्ति । अथवा कुतस्ते धर्मोद्यता इत्याह—यतस्तत्त्वदर्शिनः, तत्त्वं च "क्लेशायासपराः प्रायः, प्राणिनां बाह्यसंपदः । एकान्तेन परायत्तं, सुखसन्तोष इष्यते ॥ १ ॥" इत्यादिकम् । ततश्च किमित्याह—महद्-अतिशायि, महत्त्वं-माहात्म्यं महानुभावत्वम्, अथवा महद्भ्यो महतां वा महत्त्वं महन्महत्त्वम्, अस्य जिनस्यैव, व्यवच्छेदफलत्वाद्वचनस्येति नान्येषां बोधिसत्त्वादीनाम् । एवमनन्तरोदितया नीत्या संख्यावद्दानतो महादानदायित्वेन महानुभावतेत्येवंरूपया अयमेव जिनपतिरेव न तु बोधिसत्त्वो जगद्गुरुर्भुवनभर्त्तेति । अनेन च बोधिसत्त्वलक्षणे धर्मिणि महानुभावत्वलक्षणस्य हेतोरसिद्धतोक्ता, महानुभावत्वनिबन्धनमहादानस्यामहत्त्वख्यापनात् । जिनलक्षणे च धर्मिणि महादानताख्यापनतो महानुभावत्वहेतोः सिद्धताभिधानेन जिनस्य जगद्गुरुतोक्ता, अतो निरस्तं ततो महानुभावेत्यादि दूषणमिति ॥ ८ ॥ हा० २६ अष्ट० । न्यायात्तत्त्वल्पमपि हि भृत्यानुपरोधतो महादानं दीनतपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानम्, (अन्यत्तु 'दाण' शब्दे चतुर्थभागे २४८९ पत्रे व्याख्यातम्)

महादामड्डि-महादामास्थिन्-पुं० । ईशानेन्द्रस्य देवस्य वृषभानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

महादिसा-महादिशा-स्त्री० । पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरदिक्षु, ताश्च मेरुपर्वते रुचकस्थाने गोस्तनाकाराश्चतस्रो द्विप्रदेशादयो द्व्युत्तराः शकटार्द्धसंस्थाना महादिशः पूर्वाद्याश्चतस्रः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० म० । भ० ।

महादुम-महाद्रुम-पुं० । जम्ब्वादिषु, जम्बूद्वीपादिनामनिबन्धनेषु शाश्वतवृक्षेषु, स्था० । (अस्य वक्तव्यता तृतीयभागे 'कुरा' शब्दे ५८६ पृष्ठे गता ।) अष्टमदेवलोकविमानभेदे, स० १८ सम० ।

महादुमसेण-महाद्रुमसेन-पुं० । श्रेणिकस्य धारण्यां जाते पुत्रे, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य सर्वार्थसिद्ध उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यति । अणु० २ वर्ग ६ अ० ।

महादेव-महादेव-पुं० लोकप्रसिद्ध्या शिवे, वीतरागदेवे, हा० । महादेवस्य च तात्त्विकं महत्त्वमखिलजनासुलभस्वभावेभ्योऽतिशयेभ्यः, ते चापायापगमज्ञानवचनसुखप्रवृत्तयः । तत्र चापायापगमातिशयपूर्वकत्वाच्छेषाणाम्, तमेव तावत्तस्य श्लोकद्वयेनाऽऽह—

यस्य संक्लेशजननो, रागो नास्त्येव सर्वथा ।
न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु, शमेन्धनद[वा]ऽनलः ॥१॥
न च मोहोऽपि सज्ज्ञान-च्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत् ।
त्रिलोकख्यातमहिमा, महादेवः स उच्यते ॥ २ ॥

यस्य देवताविशेषस्य रागो नास्त्येव महादेवः स उच्यते इति संबन्धः तत्र यस्य कस्याप्यनिर्द्धारिताभिधानस्य पारगतसुगतहरिहरहिरण्यगर्भादिदेवस्येति सामान्यनिर्देशः, एतेन च माध्यस्थ्यमात्मनो दर्शितम्, आह च—"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥१॥" माध्यस्थ्यदर्शनेन चाऽऽत्मीयवचसि श्रोतॄणामुपादेयताबुद्धिरुपहिता, यस्मादनाग्रहादेव वक्तुः सकाशात्तत्त्वाधिगमो भवति । यदाह—"आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्षपातरहितस्य तु युक्ति-र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥ १ ॥" रागस्याव्यभिचरितस्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह—समिति—सामस्त्येन क्लेशनं विबाधनं 'क्लिश् विबाधन' इति वचनात् । संक्लेशः—आत्मनः स्वाभाविकस्वास्थ्यबाधनं, तं जनयति उत्पादयतीति संक्लेशजननः । अथ व्यभिचार एव विशेषणमर्थवद्भवति, न चासंक्लेशजननोऽपि रागोऽस्ति येनाऽसौ व्यवच्छिद्यते न चाधिकृतमहादेवस्य प्रकारान्तरेणापि रागो विवक्ष्यते इति विशेषणमनर्थकम् ? नैवम् अविदितस्वभावस्य स्वभावाविर्भावनाय विशेषणस्याभिमतत्वात् । यथा परमाणुरप्रदेश इति, कोऽसावित्याह-जीवस्वरूपोपरञ्जनाद्रागोऽभिष्वङ्गलक्षणः, नास्त्येव-न विद्यत एव, इदं चावधारणं रागांशस्याप्यभावप्रतिपादनार्थम्, स चोपशान्तमोहावस्थायामुदयापेक्षया, कदाचिद् रागभेदापेक्षया वा स्यादतः सत्ताद्यपेक्षयाऽपि तद्व्यवच्छेदार्थमाह—सर्वथा सर्वैः प्रकारैर्बन्धोदयसत्तालक्षणैर्विषयरागस्नेहरागदृष्टिरागरूपैर्द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिष्वङ्गस्वभावैर्वेति । तथा न च नैव द्वेषोऽप्यप्रीतिलक्षणो न केवलं रागो नास्त्येव द्वेषोऽपि नास्त्येव सर्वथेत्यपिशब्दार्थः । केष्वित्याह—सत्त्वेषु प्राणिषु सत्त्वग्रहणं च प्रायः संव्यवहारार्हप्राणिनां प्राणविषयस्यैव क्रोधमानात्मकद्वेषस्य दर्शनात्, अप्राणिषु पुनरसौ महामोहविजृम्भितमेव । उक्तं च " किं एत्तो कट्ठयरं, मूढो जं थाणुगंमि अप्फुडिओ । थाणुस्स तस्स रूसइ, न अप्पणो दुप्पउत्तस्स ॥ १ ॥ " अत एव रागस्य विषयविशेषानभिधानेनोपादानं कृतं, तस्य संव्यवहारार्हप्राणिनामपि जीवाजीवविषयतयोपलम्भात् । जीवाजीवविषयत्वादेव महाविषयतया प्राधान्याद्रागस्यादावुपादानम् । नन्वप्रीतिमात्रलक्षणस्य द्वेषस्यानिष्टस्पर्शादिविषयेष्वप्राणिष्वपि दर्शनाद्, देवताविशेषस्य च सर्वविषयस्य द्वेषाभावस्य विवक्षितत्वाच्च युक्तं सत्त्वग्रहणमिति ? नैवम्, अनेन हि प्रतिपन्थिरूपप्राणिविषयद्वेषाभावप्रतिपादनेन निखिलजनविदितसपत्ननिपातनादिफलद्वेषवतीनां पराभिमतदेवतानां महत्त्वाभावस्य वक्तुमिष्टत्वाद् । यस्य च प्रतिपन्थ्यप्रतिपन्थिष्वपि प्राणिष्वपि द्वेषो नाऽस्ति तस्याप्राणिषु सुतरामसौ न संभवतीति । किंस्वरूपो द्वेष इत्याह—शम उपशमः क्षान्त्यादिभावः स एवेन्धनं दाह्यं दार्वादि तस्य दहने दवानल इव, 'दवानलो-वनाग्निः' शमेन्धनदवानलः । इदमपि स्वरूपविशेषणं न तु व्यवच्छेदकं सर्वस्यापि द्वेषस्यैवंरूपत्वादिति । तथा न च नैव मोहोऽपि मूढताऽपि, न केवलं रागो द्वेषश्च नास्ति सर्वथा मोहोऽपि नास्त्येव सर्वथा यस्य स महादेवः, इति । प्रकृतं मोहमेव स्वरूपतो विशेषयन्नाह—सत् शोभनं यथावत् पदार्थपरिच्छेदितया तच्च तत् ज्ञानं च बोधः सज्ज्ञानम् । सतां वा सद्भूतानामर्थानां ज्ञानं सज्ज्ञानं, तच्छादयितुमावरीतुं शीलं धर्मो वा यस्य स तथा । सज्ज्ञानच्छादकत्वादेव अशुद्धं कल्मषकलङ्काङ्कितं वृत्तं वर्त्तनं चेष्टितं करोति शरीरिणां विदधाति यः सोऽशुद्धवृत्तकृत् । किम्भूतोऽसौ महादेव इत्याह—त्रयो लोकाः समाहृतास्त्रिलोकं त्रिभुवनं, तत्र ख्यातः प्रसिद्धो महिमा महत्त्वं यस्य स त्रिलोकख्यातमहिमा । त्रिलोकख्यातमहिमा च भवत्येव निखिलनरनिकरनाकिनिकायनायकलोककदर्थनसमर्थरागादिरिपुनिकरनिराकरणस-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मर्थसकलपुरुषचक्रचूडामणेः पुरुषविशेषस्य। यदाह-"रागद्वेषमहामोहैः, कदर्थितजगज्जनैः। नाभिभूतं मनो यस्य, महिम्ना तस्य कः समः" दिव-क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदकान्तिस्वप्नगतिष्विति वचनाद्दीव्यते स्तूयते इति देवः स्तवनीयः। स च प्रेक्षावतामसाधारणगुणगणमाणिक्यमकरनिकेतनायमानत्वेन महानेव स्तवनीय इति। महांश्चासौ देवश्चेति महादेवः। स-इति असावेवोच्यते अभिधीयते,महादेवस्वरूपवेदिभिर्न पुना रागादिरिपुपराक्रतपराक्रम इति। अथ सर्वप्राणिनां रागादिमत्त्वोपलब्धेर्न सर्वथा तदभावः कस्यापि सम्भवतीति? नैवं सर्वप्राणिनामनुपलब्धेः प्रतिनियतप्राण्युपलब्धेश्च व्यभिचारित्वात्। किं च स्वात्मन्यपि क्वचिद्विषयविशेषे रागाद्यभावदर्शनात्, कस्यापि सार्वदिकः सार्वत्रिकः सर्वथा च रागाद्यभावो भवन्न विरुध्यते। आह च—"दृष्टो रागाद्यसद्भावः, क्वचिदर्थे यथाऽऽत्मनः। तथा सर्वत्र कस्यापि, तद्भावे नास्ति बाधकम्॥१॥" तथा रागादयो भावाः सम्भाव्यमानसर्वथात्क्षयाः देशतः क्षयोपलब्धेः, ये पौद्गलिकभावा अल्पबहुबहुतरादिक्षयेण देशतः क्षयवन्तस्ते सर्वतः क्षयवन्तोऽपि दृष्टाः, यथा रविकरावारिका घनपङ्क्तयः देशतः क्षयवन्तश्च रागादयोऽतः संभाव्यमानसर्वथात्क्षया इति। आह च—"देशतो नाशिनो भावा, दृष्टा निखिलनश्वराः। मेघपङ्क्त्यादयो यद्व-देवं रागादयो मताः" ॥१॥ अथ संभवत्यप्यात्यन्तिकरागाद्यभावे तस्य चित्तवृत्तिरूपत्वेन दुर्विज्ञेयत्वात्कथं तद्वान् पुरुषविशेषोऽवगन्तव्य? इति, अत्रोच्यते-तस्य स्वरूपाच्चरिताच्च। तथाहि-यस्य रूपमत्कामिनीकामनायुधमनक्षमालं चरितं च शृङ्गारादिरसापरिकरितमेकान्तशान्तरसानुरञ्जितजेयान्तरारिजयवन्नासमञ्जसं च स एवासाविति प्रतिपत्तव्यम्।

यदाह—

"रागोऽङ्गनासङ्गमनानुमेयो,
द्वेषो द्विषद्दारणहेतिगम्यः।
मोहः कुवृत्तागमदोषसाध्यो,
नो यस्य देवः स स चैवमर्हन्॥ १॥
शृङ्गारादिरसाङ्गारै-र्न दूनं देहिनां हितम्।
एकान्तसान्ततोपेत-मार्हतं वृत्तमद्भुतम्॥ २॥"

देवतान्तराणां तु रागाद्यभावानुचितरूपचरितत्वं सुप्रसिद्धमेव। तथाहि-

ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृशि सरुक् व्यालुप्तशिश्नो हरः,
सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक् सोमः कलङ्काङ्कितः।
स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुःसंस्थैरुपस्थैः कृतः,
सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि॥ १॥

तथा—

"यद् ब्रह्मा चतुराननः समभवद्देवो हरिर्वामनः,
शक्रो गुह्यसहस्रसंकुलतनुर्यच्च क्षयी चन्द्रमाः।
यज्जिह्वादलनामवापुरहयो राहुः शिरोमात्रतां,
तृष्णे! देवि! विडम्बनेयमखिला लोकस्य युष्मत्कृता॥२॥"

तथा "ब्रह्मा लूनशिरा" इत्येतत्कथमत्रोच्यते-किलैकदा त्रयस्त्रिंशद्देवकोट्यो मिलिताः, तत्र च ते परस्परं मातापितृवर्णनं कुर्वन्ति स्म। तत्र च तैरुक्तमहो महेश्वरस्य न ज्ञायते मातापितराविति, न तावस्य बभूवतुरिदं च देववचनमुपश्रुत्य ब्रह्मणः पञ्चममुखेन गर्दभमुखाकारेण समत्सरमभिहितम्,यदुत मय्यपि सर्वपदार्थज्ञातरि जीवति सति क एवं ब्रुवते,यथा महेश्वरस्य पितरौ न ज्ञायते,यतोऽहं जानामि। ततः स तस्य तौ वक्तुमारेभे। ततो महेश्वरेणाप्रकाश्यप्रकाशनारम्भकुपितेन कनिष्ठिकानखशुक्तिकरवालव्यापारणेन निखिलसुरसमूहसमक्षं झटिति निकृत्तं तद् ब्रह्मणो गर्दभशिर इत्येवं ब्रह्मा लूनशिराः। अन्ये त्वाहुः। किल-ब्रह्मवासुदेवयोरात्ममहत्त्वविषयो विवादः समजनि। विवदन्तौ च तौ महादेवमुपस्थितौ। महादेवेन चाभिहितावलं भवतो विवादेन,य एव मदीयलिङ्गस्यान्तं लभते स एव युवयोर्महांस्तदन्यस्त्वितर इति। ततो वासुदेवो लिङ्गस्यान्तोपलम्भनार्थमधस्ताद्गतवान्, स च प्रभूतं यावन्महावेगेन गत्वाऽपि अप्राप्ततदन्तः पातालवज्राग्निना च गन्तुमशक्तस्तत्सन्तापादेव च कृष्णीभूतशरीरः प्रतिनिवृत्य महादेवान्तिकमाजगाम, निवेदितवांश्च यथा नास्ति भवल्लिङ्गस्यान्त इति। ब्रह्मा तूपरिष्टात्तथैव गतोऽप्राप्ततदन्तश्च निर्विण्णो लिङ्गमस्तकान्निपतन्तीं मालामासादितवान्। तां चासौ पप्रच्छ,कुतो भवतीति। तयोक्तं महेश्वरलिङ्गमस्तकात्। कियांश्च ते कालः। ततः समागच्छन्त्या तयोक्तं षण्मासाः। ततो ब्रह्मणोक्तमहं लिङ्गतोपलम्भाय प्रस्थितः किं तु भवत्या यो मार्गः षड्भिर्मासैरतिक्रान्तस्तस्यातिबहुत्वान्निर्विण्णोऽहं निवर्त्तिष्ये। ततो महादेवपृष्टया त्वया साक्ष्यं दातव्यम्। तयाऽपि प्रतिपन्नं ततस्तां गृहीत्वा शम्भुसमीपमाजगाम। समागत्य चोक्तवान्, लब्धो मया लिङ्गान्तः। एषा च संप्रत्ययार्थं ततो माला मयाऽऽनीता। ततः पृष्टाऽसौ,तयाऽप्युक्तमेवमेतत्ततोऽनन्तमपि मल्लिङ्गं सान्तं व्यवस्थापयत एतावित्यसद्भूतभाषणकुपितेन शम्भुना कनिष्ठिकानखकुठारेण ब्रह्मणो गर्दभशिरो लूनम्,माला त्वस्पृश्यतया शापितेति। "हरिर्दृशि सरुक्," इत्येतदेवं श्रूयते। किल-दुर्वासा महर्षिरुर्वशीं कामितवान्,तया चासावुक्तः। यद्यपूर्वेण यानेन त्वं स्वर्गे समागच्छसि ततोऽहं भवन्तमिच्छामि,तेन च प्रतिपन्नमेतत्। गत वांश्चासौ वासुदेवसमीपं,कृता च तेन तस्य प्रतिपत्तिः। पृष्टश्च तेनाऽऽगमनकारणम्, उक्तं च तेन स्वर्गेऽहं गन्तुमिच्छामि। ततो भवता स भार्येण गोरूपधारिण्या रथारूढोऽहं स्वर्गे नेतव्यो, न च गच्छता पश्चाद्भागो निरूपणीयः। प्रतिपन्नं च तथा तद्भक्तिभयाभ्यां वासुदेवेन,नेतुं च प्रवृत्तः। ततः स्त्रीत्वात्तथाविधगमनशक्तिविकलां लक्ष्मीं प्राजनकदण्डेन मुनिः पुनः पुनः प्रणुणोद,तच्च स्नेहादसहमानेन वासुदेवेन तदभिमुखं निभालितं, तेन च प्रतिपन्नवैतथ्यकारित्वात् कुपितेन वासुदेवो लोचने प्राजनकदण्डेन प्रणोदित इत्येवं हरिर्लोचने सरोगः संवृत्त इति। अन्ये त्वाहुः-किलैकदा वासुदेवः सरित्तटे तपस्यति स्म। तत्र च तापसी काचित् स्नाति स्म। तेन च तस्या निरावरणाया अङ्गेषु सकामा दृष्टिर्निवेशिता। तयाऽपि च लक्षितोऽसौ, ततः शापेन सरोगलोचनः कृत इति। 'व्यालुप्तशिश्नो हर' इत्येतत्पुनरेवं, किल-दारुवनाभिधाने तपोवने तापसाः परिवसन्ति स्म। तदुटजेषु च भिक्षार्थं महेश्वरो गृहीतसमस्तस्वकीयालङ्कारो घण्टाटङ्कारतुम्बुरुझङ्काररवमुखरितदिक्चक्रवालः समागच्छति। तापसीश्च स्वदर्शनजनितकामविकाराः परिभुङ्क्ते स्म, ततोऽन्यदा ऋषिभिर्विज्ञातम्, तथाविधव्यतिकरैः कोपातिरेकाच्छापेन तल्लिङ्गस्य च्छेदः कृतः। तत्र च निखिलजनानां तच्छेदोऽभवत् प्रजानुत्पत्तिश्च। ततो देवैरकाल एव संहारो मा भूदिति तापसाः प्रसादितास्ते च लिङ्गं तथैव चक्रुः। उक्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदा तस्मिन् जगद्गुरुकाले,तथा तत्त्वदर्शिनो भवन्ति। अथवा कुतस्ते धर्मोद्यता इत्याह—यतस्तत्त्वदर्शिनः,तत्त्वं च"क्लेशायासपराः प्रायः, प्राणिनां बाह्यसंपदः। एकान्तेन परायत्तं, सुखसन्तोष इष्यते॥ १॥ " इत्यादिकम्। ततश्च किमित्याह-महद्-अतिशायि, महत्त्वं-माहात्म्यं महानुभावत्वम्, अथवा महद्भयो महतां वा महत्त्वं महन्महत्त्वम्,अस्य जिनस्यैव,व्यवच्छेदफलत्वाद्वचनस्येति नान्येषां बोधिसत्त्वादीनाम्। एवमनन्तरोदितया नीत्या संख्यावद्दानतो महादानदायित्वेन महानुभावतेत्येवंरूपया अयमेव जिनपतिरेव न तु बोधिसत्त्वो जगद्गुरुर्भुवनभर्त्तेति। अनेन च बोधिसत्त्वलक्षणे धर्म्मिणि महानुभावत्वलक्षणस्य हेतोरसिद्धतोक्ता, महानुभावत्वनिबन्धनमहादानस्यामहत्त्वख्यापनात्। जिनलक्षणे च धर्म्मिणि महादानताख्यापनतो महानुभावत्वहेतोः सिद्धताभिधानेन जिनस्य जगद्गुरुतोक्ता,अतो निरस्तं ततो महानुभावेत्यादि दूषणमिति॥ ८॥ हा० २६ अष्ट०। न्यायात्तत्स्वल्पमपि हि भृत्यानुपरोधतो महादानं दीनतपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानम्, (अन्यत्तु 'दाण' शब्दे चतुर्थभागे २४८६ पत्रे व्याख्यातम्)

महादामड्ढि–महादामास्थिन्–पुं०। ईशानेन्द्रस्य देवस्य वृषभानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ०।

महादिसा–महादिशा–स्त्री०। पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरदिक्षु,ताश्च मेरुपर्वते रुचकस्थाने गोस्तनाकाराश्चतस्रो द्विप्रदेशादयो द्व्युत्तराः शकटार्द्धसंस्थाना महादिशः पूर्वाद्याश्चतस्रः। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आ० म०। भ०।

महादुम–महाद्रुम–पुं०। जम्ब्वादिषु, जम्बूद्वीपादिनामनिबन्धनेषु शाश्वतवृक्षेषु, स्था०। (अस्य वक्तव्यता तृतीयभागे 'कुरा' शब्दे ५८६ पृष्ठे गता।) अष्टमदेवलोकविमानभेदे, स० १८ सम०।

महादुमसेण–महाद्रुमसेन–पुं०। श्रेणिकस्य धारण्यां जाते पुत्रे, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य सर्वार्थसिद्धे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यति। अणु० २ वर्ग ६ अ०।

महादेव–महादेव–पुं०। लोकप्रसिद्धया शिवे, वीतरागदेवे,हा०।

महादेवस्य च तात्त्विकं महत्त्वमखिलजनासुलभस्वभावेभ्योऽतिशयेभ्यः,ते चापायापगमज्ञानवचनसुखप्रवृत्तयः। तत्र चापायापगमातिशयपूर्वकत्वाच्छेषाणाम्, तमेव तावत्तस्य श्लोकद्वयेनाऽऽह—

यस्य संक्लेशजननो, रागो नास्त्येव सर्वथा।
न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु, शमेन्धनदवाऽनलः ॥१॥
न च मोहोऽपि सज्ज्ञान–च्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत्।
त्रिलोकख्यातमहिमा, महादेवः स उच्यते ॥ २ ॥

यस्य देवताविशेषस्य रागो नास्त्येव महादेवः स उच्यते इति संबन्धः तत्र यस्य कस्याप्यनिर्द्धारिताभिधानस्य पारगतसुगतहरिहरहिरण्यगर्भादिदेवस्येति सामान्यनिर्देशः, एतेन च माध्यस्थ्यमात्मनो दर्शितम्, आह च–"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥१॥" माध्यस्थ्यदर्शनेन चाऽऽत्मीयवचसि श्रोतॄणामुपादेयताबुद्धिरुपहिता, यस्मादनाग्रहादेव वक्तुः सकाशात्तत्त्वाधिगमो भवति। यदाह–"आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा। पक्षपातरहितस्य तु युक्ति–र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥ १॥" रागस्याव्यभिचरितस्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह–समिति–सामस्त्येन क्लेशनं विबाधनं'क्लिशू' विबाधन इति वचनात्। संक्लेशः–आत्मनः स्वाभाविकस्वास्थ्यबाधनं, तं जनयति उत्पादयतीति संक्लेशजननः। अथ व्यभिचार एव विशेषणमर्थवद्भवति, न चासंक्लेशजननोऽपि रागोऽस्ति येनाऽसौ व्यवच्छिद्यते न चाधिकृतमहादेवस्य प्रकारान्तरेणापि रागो विवक्ष्यते इति विशेषणमनर्थकम्? नैवमविदितस्वभावस्य स्वभावाविर्भावनाय विशेषणस्याभिमतत्वात्। यथा परमाणुरप्रदेश इति,कोऽसावित्याह-जीवस्वरूपोपरञ्जनाद्रागोऽभिष्वङ्गलक्षणः,नास्त्येव-न विद्यत एव,इदं चावधारणं रागांशस्याप्यभावप्रतिपादनार्थम्, स चोपशान्तमोहावस्थायामुदयापेक्षया,कदाचिद् रागभेदापेक्षया वा स्यादतः सत्ताद्यपेक्षयाऽपि तद्व्यवच्छेदार्थमाह–सर्वथा सर्वैः प्रकारैर्बन्धोदयसत्तालक्षणैर्विषयरागस्नेहरागदृष्टिरागरूपैर्द्रव्यक्षेत्रकाल–भावाभिष्वङ्गस्वभावैर्वेति। तथा न च नैव द्वेषोऽप्यप्रीतिलक्षणो न केवलं रागो नास्त्येव द्वेषोऽपि नास्त्येव सर्वथेत्यपिशब्दार्थः। केष्वित्याह–सत्त्वेषु प्राणिषु सत्त्वग्रहणं च प्रायः संव्यवहारार्हप्राणिनां प्राणविषयस्यैव क्रोधमानात्मकद्वेषस्य दर्शनात्, अप्राणिषु पुनरसौ महामोहविजृम्भितमेव। उक्तं च "किं एत्तो कट्ठयरं, मूढो जं थाणुगंमि अप्फुडिओ। थाणुस्स तस्स रूसइ, न अप्पणो दुप्पउत्तस्स॥ १॥" अत एव रागस्य विषयविशेषानभिधानेनोपादानं कृतं, तस्य संव्यवहारार्हप्राणिनामपि जीवाजीवविषयतयोपलम्भात्। जीवाजीवविषयत्वादेव महाविषयतया प्राधान्याद्रागस्यादावुपादानम्। नन्वप्रीतिमात्रलक्षणस्यद्वेषस्यानिष्टस्पर्शादिविषयेष्वप्राणिष्वपि दर्शनाद्,देवताविशेषस्य च सर्वविषयस्य द्वेषाभावस्य विवक्षितत्वान्न युक्तं सत्त्वग्रहणमिति? नैवम्,अनेन हि प्रतिपन्थिरूपप्राणिविषयद्वेषाभावप्रतिपादनेन निखिलजनविदितसपत्ननिपातनादिफलद्वेषवतीनां पराभिमतदेवतानां महत्त्वाभावस्य वक्तुमिष्टत्वाद्। यस्य च प्रतिपन्थ्यप्रतिपन्थिष्वपि प्राणिष्वपि द्वेषो नाऽस्ति तस्याप्राणिषु सुतरामसौ न संभवतीति। किंस्वरूपो द्वेष इत्याह–शम उपशमः क्षान्त्यादिभावः स एवेन्धनं दाह्यं दार्वादि तस्य दहने दवानल इव, 'दवानलो–वनाग्निः' शमेन्धनदवानलः। इदमपि स्वरूपविशेषणं न तु व्यवच्छेदकं सर्वस्यापि द्वेषस्यैवंरूपत्वादिति। तथा न च नैव मोहोऽपि मूढताऽपि,न केवलं रागो द्वेषश्च नास्ति सर्वथा मोहोऽपि नास्त्येव सर्वथा यस्य स महादेवः, इति। प्रकृतं मोहमेव स्वरूपतो विशेषयन्नाह—सत् शोभनं यथावत् पदार्थपरिच्छेदितया तच्च तत् ज्ञानं च बोधः सज्ज्ञानम्। सतां वा सद्भूतानामर्थानां ज्ञानं सज्ज्ञानं, तच्छादयितुमावरीतुं शीलं धर्मो वा यस्य स तथा। सज्ज्ञानच्छादकत्वादेव अशुद्धं कल्मषकलङ्काङ्कितं वृत्तं वर्त्तनं चेष्टितं करोति शरीरिणां विदधाति यः सोऽशुद्धवृत्तकृत्। किम्भूतोऽसौ महादेव इत्याहत्रयो लोकाः समाहृतास्त्रिलोकं त्रिभुवनं, तत्र ख्यातः प्रसिद्धो महिमा महत्त्वं यस्य स त्रिलोकख्यातमहिमा। त्रिलोकख्यातमहिमा च भवत्येव निखिलनरनिकरनाकिनिकायनायकलोककदर्थनसमर्थरागादिरिपुनिकरनिराकरणस-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मर्थसकलपुरुषचक्रचूडामणेः पुरुषविशेषस्य । यदाह–"राग-द्वेषमहामोहैः, कदर्थितजगज्जनैः । नाभिभूतं मनो यस्य, महिम्ना तस्य कः समः" दिव–क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदकान्तिस्वप्नगतिष्विति वचनाद्दीव्यते स्तूयते इति देवः स्तवनीयः । स च प्रेक्षावतामसाधारणगुणगणमाणिक्यमकरनिकेतनायमानत्वेन महानेव स्तवनीय इति । महांश्चासौ देवश्चेति महादेवः । स–इति असावेवोच्यते अभिधीयते,महादेवस्वरूपवेदिभिर्न पुना रागादिरिपुपराकृतपराक्रम इति । अथ सर्वप्राणिनां रागादिमत्त्वोपलब्धेर्न सर्वथा तदभावः कस्यापि सम्भवतीति ? नैवं सर्वप्राणिनामनुपलब्धेः प्रतिनियतप्राण्युपलब्धेश्च व्यभिचारित्वात् । किंच स्वात्मन्यपि क्वचिद्विषयविशेषे रागाद्यभावदर्शनात्, कस्यापि सार्वदिकः सार्वत्रिकः सर्वथा च रागाद्यभावो भवन्न विरुध्यते । आह च—"दृष्टो रागाद्यसद्भावः, क्वचिदर्थे यथाऽऽत्मनः । तथा सर्वत्र कस्यापि, तद्भावे नास्ति बाधकम्॥१॥" तथा रागादयो भावाः सम्भाव्यमानसर्वथाक्षयाः देशतः क्षयोपलब्धेः, ये पौद्गलिकभावा अल्पबहुबहुतरादिक्षयेण देशतः क्षयवन्तस्ते सर्वतः क्षयवन्तोऽपि दृष्टाः, यथा रविकराचारिका घनपङ्क्तयः देशतः क्षयवन्तश्च रागादयोऽतः संभाव्यमानसर्वथाक्षया इति । आह च—"देशतो नाशिनो भावा, दृष्टा निखिलनश्वराः । मेघपङ्क्त्यादयो यद्व-देवं रागादयो मताः" ॥ १ ॥ अथ संभवत्यप्यात्यन्तिकरागाद्यभावे तस्य चित्तवृत्तिरूपत्वेन दुर्विज्ञेयत्वात्कथं तद्वान् पुरुषविशेषोऽवगन्तव्य ? इति, अत्रोच्यते–तस्य स्वरूपाच्चरिताच्च । तथाहि–यस्य रूपमत्कामिनीकामनायुधमनक्षमालं चरितं च शृङ्गारादिरसापरिकरितमेकान्तशान्तरसानुरञ्जितजेयान्तरारिजयवन्नासमञ्जसं च स एवासाविति प्रतिपत्तव्यम् ।

यदाह—

"रागोऽङ्गनासङ्गमनानुमेयो,
द्वेषो द्विषद्दारणहेतिगम्यः ।
मोहः कुवृत्तागमदोषसाध्यो,
नो यस्य देवः स स चैवमर्हन् ॥ १ ॥
शृङ्गारादिरसाङ्गारै–र्न दूनं देहिनां हितम् ।
एकान्तसान्ततोपेत–मार्हतं वृत्तमद्भुतम् ॥ २ ॥ "

देवतान्तराणां तु रागाद्यभावानुचितरूपचरितत्वं सुप्रसिद्धमेव । तथाहि–

ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृशि सरुक् व्यालुप्तशिश्नो हरः,
सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक् सोमः कलङ्काङ्कितः ।
स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुःसंस्थैरुपस्थैः कृतः,
सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि ॥ १ ॥

तथा—

"यद् ब्रह्मा चतुराननः समभवद्देवो हरिर्वामनः,
शक्रो गुह्यसहस्रसंकुलतनुर्यच्च क्षयी चन्द्रमाः ।
यज्जिह्वाद्दलनामवापुरहयो राहुः शिरोमात्रतां,
तृष्णे ! देवि ! विडम्बनेयमखिला लोकस्य युष्मत्कृता ॥२॥"

तथा "ब्रह्मा लूनशिरा" इत्येतत्कथमत्रोच्यते-किलैकदा त्रयस्त्रिंशद्देवकोट्यो मिलिताः, तत्र च ते परस्परं मातापित्रवर्णनं कुर्वन्ति स्म । तत्र च तैरुक्तमहो महेश्वरस्य न ज्ञायते मातापितराविति, न तावस्य बभूवतुरिदं च देववचनमुपश्रुत्य ब्रह्मणः पञ्चममुखेन गर्दभमुखाकारेण समत्सरमभिहितम् ,यदुत मय्यपि सर्वपदार्थज्ञातरि जीवति सति क एवं ब्रुवते,यथा महेश्वरस्य पितरौ न ज्ञायते,यतोऽहं जानामि । ततः स तस्य तौ वक्तुमारेभे । ततो महेश्वरेणाप्रकाश्यप्रकाशनारम्भकुपितेन कनिष्ठिकानखशुक्तिकरवालव्यापारेण निखिलसुरसमूहसमक्षं झटिति निकृत्तं तद् ब्रह्मणो गर्दभशिर इत्येवं ब्रह्मा लूनशिराः । अन्ये त्वाहुः । किल–ब्रह्मवासुदेवयोरात्ममहत्त्वविषयो विवादः समजनि । विवदन्तौ च तौ महादेवमुपस्थितौ । महादेवेन चाभिहितावलं भवतो विवादेन,य एव मदीयलिङ्गस्यान्तं लभते स एव युवयोर्महांस्तदन्यस्त्वितर इति । ततो वासुदेवो लिङ्गस्यान्तोपलम्भनार्थमधस्ताद्गतवान् , स च प्रभूतं यावन्महावेगेन गत्वाऽपि अप्राप्ततदन्तः पातालवज्राग्निना च गन्तुमशक्नुवंस्तत्सन्तापादेव च कृष्णीभूतशरीरः प्रतिनिवृत्य महादेवान्तिकमाजगाम, निवेदितवांश्च यथा नास्ति भवल्लिङ्गस्यान्त इति । ब्रह्मा तूपरिष्टात्तथैव गतोऽप्राप्ततदन्तश्च निर्विण्णो लिङ्गमस्तकान्निपतन्तीं मालामासादितवान् । तां चासौ पप्रच्छ,कुतो भवतीति । तयोक्तं महेश्वरलिङ्गमस्तकात् । कियांश्च ते कालः । ततः समागच्छन्त्या तयोक्तं षण्मासाः । ततो ब्रह्मणोक्तमहं लिङ्गतोपलम्भाय प्रस्थितः किं तु भवत्या यो मार्गः षड्भिर्मासैरतिक्रान्तस्तस्यातिबहुत्वान्निर्विण्णोऽहं निवर्त्तिष्ये । ततो महादेवपृष्टया त्वया साक्ष्यं दातव्यम् । तयाऽपि प्रतिपन्नं ततस्तां गृहीत्वा शम्भुसमीपमाजगाम । समागत्य चोक्तवान् , लब्धो मया लिङ्गान्तः । एषा च संप्रत्ययार्थं ततो माला मयाऽऽनीता । ततः पृष्टाऽसौ,तयाऽप्युक्तमेवमेतत्ततोऽनन्तमपि मल्लिङ्गं सान्तं व्यवस्थापयत एतावित्यसद्भूतभाषणकुपितेन शम्भुना कनिष्ठिकानखकुठारेण ब्रह्मणो गर्दभशिरो लूनम्,माला त्वस्पृश्यतया शापितेति । "हरिर्दृशि सरुक्," इत्येतदेवं श्रूयते । किल-दुर्वासा महर्षिरुर्वशीं कामितवान्,तया चासावुक्तः । यद्यपूर्वेण यानेन त्वं स्वर्गे समागच्छसि ततोऽहं भवन्तमिच्छामि,तेन च प्रतिपन्नमेतत् । गत वांश्चासौ वासुदेवसमीपं,कृता च तेन तस्य प्रतिपत्तिः । पृष्टश्च तेनाऽऽगमनकारणम् , उक्तं च तेन स्वर्गेऽहं गन्तुमिच्छामि । ततो भवता स भार्येण गोरूपधारिणा रथारूढोऽहं स्वर्गे नेतव्यो, न च गच्छता पश्चाद्भागो निरूपणीयः । प्रतिपन्नं च तथा तद्भक्तिभयाभ्यां वासुदेवेन,नेतुं च प्रवृत्तः । ततः स्त्रीत्वात्तथाविधगमनशक्तिविकलां लक्ष्मीं प्राजनकदण्डेन मुनिः पुनः पुनः प्रणुनोद,तच्च स्नेहादसहमानेन वासुदेवेन तदभिमुखं निभालितं, तेन च प्रतिपन्नवैतथ्यकारित्वात् कुपितेन वासुदेवो लोचने प्राजनकदण्डेन प्रणोदित इत्येवं हरिर्लोचने सरोगः संवृत्त इति । अन्ये त्वाहुः–किलैकदा वासुदेवः सरित्तटे तपस्यति स्म । तत्र च तापसी काचित् स्नाति स्म । तेन च तस्या निरावरणाया अङ्गेषु सकामा दृष्टिर्निवेशिता । तयाऽपि च लक्षितोऽसौ, ततः शापेन सरोगलोचनः कृत इति । 'व्यालुप्तशिश्नो हर' इत्येतत्पुनरेवं, किल–दारुवनाभिधाने तपोवने तापसाः परिवसन्ति स्म । तदुटजेषु च भिक्षार्थं महेश्वरो गृहीतसमस्तस्वकीयालङ्कारो घण्टाटङ्कारतुम्बुरुझङ्काररवमुखरितदिक्चक्रवालः समागच्छति । तापसीश्च स्वदर्शनजनितकामविकाराः परिभुङ्क्ते स्म, ततोऽन्यदा ऋषिभिर्विज्ञातम्, तथाविधव्यतिकरैः कोपातिरेकाच्छापेन तल्लिङ्गस्य च्छेदः कृतः । तत्र च निखिलजनानां तच्छेदोऽभवत् प्रजानुत्पत्तिश्च । ततो देवैरकाल एव संहारो मा भूदिति तापसाः प्रसादितास्ते च लिङ्गं तथैव चक्रुः । उक्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वन्तश्चेदम्, 'पूर्वकाले सदा स्तब्धमासीदितस्तु भोगार्थित्वे एव स्तब्धीभविष्यतीति' ततो जना अपि लिङ्गयन्तो जाताः प्रजोत्पत्तिश्चेति। "सूर्योऽप्युल्लिखित इति" एतदेवं, किल-सूर्यस्य रत्नादेवीनामा भार्याऽऽसीत्तस्याश्च यमाभिधानः पुत्रोऽभूत्। सा च आदित्यतापमसहमाना स्वकीयस्थाने स्वप्रतिच्छायां व्यवस्थाप्य समुद्रतटे गत्वा वडवारूपेण तिष्ठति स्म। प्रतिच्छाया च शनैश्चरभद्राभिधाने अपत्ये जनितवती। अन्यदा यमेन बहिस्तादागतेन भोजनं याचिता प्रतिच्छाया,सा तु तन्न दत्तवती। ततः कोपात्तेन पार्ष्णिप्रहारेण प्रहता, तया च तत्पादः शापेन क्षयीकृतः। तेन च पितुस्तन्निवेदितम्,सोऽप्यचिन्तयत्। कथं स्वमातैवं करोति। ततो नूनं नेयमस्य मातेत्यालोचयता दृष्टा तन्माता वडवारूपा। ततः सूर्यस्तत्र गत्वा तामनिच्छन्तीमपि बलादेव बुभुजे। तत्र चाश्विनौ देवौ जातौ। तया च रोषारुणनयनावलोकनेनाऽसौ कुष्ठीकृतः। ततश्च सूर्यो निरुजार्थं धन्वन्तरिमुपतस्थौ। स चोवाच। न शरीरोल्लेखनं विना तव प्रगुणताऽस्ति, ततः सूर्येण तनूल्लेखनार्थं देववर्द्धकिरभ्यर्थितः। स उवाच, सहिष्णुना भवितव्यं,नो चेत्त्यक्ष्यामि त्वाम्, तेनोक्तमेवमस्तु। ततो मस्तकादारभ्य जानुनी यावदुल्लेखने कृते गाढं पीडितेन सूर्येण सीत्कारः कृतः। तत उल्लेखनादसौ विरराममेति। एवमनिच्छद्योषिद्भोगलक्षणात् पुरुषमार्गस्खलनादसौ विपदं प्राप्तवानिति। अन्ये पुनरित्थमाहुः। वडवारूपां स्वभार्यामुपभुज्य तत्पितुरुपालम्भं दत्तवान्,यथेयं त्वद्दुहिता मां विहायाऽन्यत्र तिष्ठति। स उवाच। त्वच्छरीरतापमसहमाना किं करोत्वियं वराकी। ततो यद्यनया ते प्रयोजनं ततः शरीरमुल्लेखय, ततः सूर्यो देववर्द्धकिमुपतस्थौ। शेषं तथैव। 'अनलोऽप्यखिलभुक्'एवमुच्यते,किल-कश्चिदृषिः स्वकीयोटजावस्थितं वैश्वानरं भक्तिभरेणाहुतिभिः पूजयति स्म। स चान्यदा मदीयभार्या भवता रक्षणीयेत्यभिधाय प्रयोजनेन बहिर्गतः। ततः केनचिदृषिणाऽऽगत्य वैश्वानरसमक्षमेव सोपभुक्ता, क्षणान्तरे समागतोऽसौ, तेन चेङ्गिताकारनिपुणतया परपुरुषसेवितेति लक्षिताऽसौ। पृष्टश्च तेन वैश्वानरः, सा च,यथेह कः समागत आसीत्ततस्तौ न किंचिदूचतुः। ज्ञानोपयोगेन च ज्ञातोऽसावुपपतिस्तेन, ततो रक्षणीयस्यारक्षणात् पृच्छतश्चानिवेदनात् कुपितोऽसौ वैश्वानरं प्रति सर्वभक्षको भवत्वेवं शापं च दत्तवान्। ततश्चाशुच्यादेरप्यसौ भक्षणस्वभावो जातो,यच्च किल वैश्वानरो भुङ्क्ते तत् सर्वं देवानामुपतिष्ठति, मुखं ह्यसौ देवानाम्,ततश्च देवैरशुच्यादिरसास्वादनादुद्विग्नैर्ज्ञानेनोपलब्धशापव्यतिकरैरागत्य स मुनिः प्रसादयितुमारेभे। न चासौ प्रससाद,तथापि देवानुवृत्या वैश्वानरस्य सप्त जिह्वाः कृताः। ततोऽसौ सप्तार्चिरुच्यते। तत्र द्वाभ्यामाहुतीरेवासौ भुङ्क्ते ताश्च देवानाममृतत्वेनोपतिष्ठन्ति। पञ्चभिस्तु सर्वभक्षक एवावस्थापित इति। 'सोमः कलङ्काङ्कित इति' तत् पुनरेवं, किल-चन्द्रो बृहस्पतिसमीपेऽध्येतुं गतो देवाचार्यत्वात्तस्य, तेन च तद्गृहेऽधीयमानेन तद्भार्योपभुक्ता, ज्ञातं च तद् बृहस्पतिना, शापितश्चासौ तेन, यथा—रे गुरुतल्पग! कलङ्किना कालं भवितव्यमिति। स्वर्नाथो भगसहस्रसंकुलतनुः पुनरेवं संवृत्तः। किल-गौतममुनेरहिल्यानामा भार्या बभूव, तद्रूपाक्षिप्तचेताः सुरपतिस्तदुटजे प्रविश्य तां रेमे,बहिश्च समागतो मुनिः। सोऽपि तद्भयान्मार्जाररूपं कृत्वा तद्गृहान्निर्गत्य स्वर्गं गतवान्। मुनिस्तु नायं प्राकृतो विडालः,ततःकोऽयमिति पर्यालोचयन्निन्द्रं ज्ञातवान्। ततः कोपादसाविन्द्रदेहे भगसहस्रं शापेन विहितवान्, स्वच्छात्रांश्च तदुपभोगाय प्रेषितवान्। मुनिस्तु न ययौ, देवैस्त्वसावृषिः प्रसादितस्तेन च भगा लोचनीकृता इति। 'ब्रह्मा चतुर्मुख' एवं जातः, किल-ब्रह्मा महोद्याने तपस्यति, तत्क्षोभणार्थं च रूपस्य तिल तिलमादाय कृता तिलोत्तमा, अतस्तां प्रेषयामास। अन्याश्च तस्य समाधिध्वंसनाय पूर्वाभिमुखस्थितस्याग्रे गीतनृत्याद्युपचारं चक्रुः। तत्राक्षिप्तलोचनमानसं वीक्ष्य दक्षिणतो गत्वा तथैव ताः चक्रुः। स च ध्वस्तसमाधिरपि लज्जामानाभ्यां तदभिमुखो भवितुमशक्नुवंस्ताः प्रति द्वितीयं मुखं कृतवान्, एवमपरस्यां दिशि गतासु तृतीयमुत्तरतो गतासु चतुर्थमुपरि च गतासु पञ्चमं गर्द्दभमुखम्, एवं पञ्चमुखः संजातः। शम्भुना च गर्द्दभशिरसि छिन्ने चतुर्मुख इति। हरिस्तु वामन एवं, किल-बलेर्दानवस्य बन्धनार्थं विष्णुर्वामनो भूत्वा मठिकानिमित्तं पदत्रयमात्रां भुवं तमेव याचितवान्। बालिना च प्रतिपन्ने तद्दाने पदत्रयेण त्रिलोकमाक्रम्य स्थानवर्जितं तं पाताले निहितवानिति। क्षयी चन्द्रमाः कथमत्रोच्यते, किल-दक्षस्य सप्तविंशतिर्दुहितरस्ताश्च चन्द्रेण परिणीताः, तासु च मध्ये रोहिण्यामासक्तोऽसौ शेषाभिस्त्वपमानिताभिः पितुर्निवेदितम्,तेन च कुपितेन शापात्क्षयी कृतोऽसौ पुनर्देवैः प्रसादितेन चानुग्रहादेकत्र पक्षे वृद्धिमानिति। नागाः पुनरेवं द्विजिह्वाः, किल देवैः क्षीरसमुद्रमथनादमृतमुत्पादितं,तस्य च कुण्डानि भृतानि दर्भैश्चाच्छादितानि। सर्पास्तद्रक्षणे नियुक्ताः, तत एकान्तमाकलय्य तैस्तत्पातुमारब्धं, दर्भैश्च तज्जिह्वा द्विधाकृताः। अन्ये त्वाहुः अमृतपानभृतानां तेषामिन्द्रेण वज्रक्षेपात् जिह्वाभेदो विहित इति। 'राहोः शिरोमात्रता' पुनरेवम्,देवैः किलामृतस्य कुण्डानि भृतानि, विष्णुश्च तद्रक्षायां नियुक्तः। ततश्च कार्यान्तरव्याक्षिप्तस्य तद्राहुणा पातुमारब्धं, विष्णुना च तं तथा वीक्ष्य चक्रक्षेपेण तच्छिरश्छेदः कृतः, पीतामृतत्वात्तच्छिरोऽजरामरं संवृत्तमिति। व्याख्यातं 'ब्रह्मा लूनशिरा' इत्यादि वृत्तद्वयमिति। तथा-

स एष भुवनत्रयप्रथितसंयमः शङ्करो,
विभर्त्ति वपुषाऽधुना विरहकातरः कामिनीम्।
अनेन किल निर्जिता वयमिति प्रियायाः करं,
करेण परिताडयन् जयति जातहासः स्मरः ॥ १ ॥

तथा—

दिग्वासा यदि तत्किमस्य धनुषा शस्त्रस्य किं भस्मना।
भस्माऽथाऽस्य किमङ्गना यदि च सा कामं परिद्वेष्टि किम्॥
इत्यन्योन्यविरुद्धचेष्टितमिदं पश्यन्निजस्वामिनो,
भृङ्गी सान्द्रशिरावनद्धपरुषं धत्तेऽस्थिशेषं वपुः ॥ १ ॥

एवमपायापगमातिशयद्वारेण महादेवत्वमुक्तमथगुणातिशयादिप्रतिपादनतस्तदेवाऽऽह—

यो वीतरागः सर्वज्ञो, यः शाश्वतसुखेश्वरः।
क्लिष्टकर्मकलातीतः, सर्वथा निष्कलस्तथा ॥ ३ ॥
यः पूज्यः सर्वदेवानां, यो ध्येयः सर्वयोगिनाम्।
यः स्रष्टा सर्वनीतीनां, महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यो वीतरागः स महादेव;उच्यते क्रिया सर्व्वत्र योज्या । तत्र 'य'इति अनिर्दिष्टनामा,'वि'इति विशेषेण इतो गतो नष्टो रागः प्रेम यस्य स वीतरागः। द्वेषक्षय एव च सति रागक्षयो भवतीति वीतद्वेष इत्यपि द्रष्टव्यम् । तथा सर्वं समस्तं द्रव्यप्रदेशपर्यायरूपं वस्तु जानाति विशेषग्रहणतः समस्तावरणक्षयाविर्भूतकेवलसंवेदनेनाववुध्यत इति सर्वज्ञः । सर्वज्ञत्वाव्यभिचरितत्वात्सर्वदर्शित्वस्येति सर्वदर्शीत्यपि द्रश्यम् । ननु रागद्वेषमोहाभावः प्राक् प्रतिपादित एव, तत्प्रतिपादने च वीतरागत्वसर्वज्ञत्वे अवगते एव तत्स्वरूपत्वादेतयोरिति, किमिह वीतरागसर्वज्ञत्वोपादानेनेति ? अत्रोच्यते-यत एव रागादयो न सन्त्यत एव वीतरागः सर्वज्ञश्च,यत इत्येवं हेतुफलभावेन मलक्षयात् पीतवर्णप्रकर्षवत्कनकमित्यादिन्यायेन गुणातिशयविवक्षणाददोषः, एवंविधन्यायस्य वाक्येषु सद्भिस्तत्र तत्राऽऽश्रितस्य दर्शनाच्चेति । अथवा—कैश्चिद्वैराग्यज्ञानादयः प्राकृता इष्यन्ते, ते च कैवल्यावस्थायां प्रकृतेर्वियुक्तत्वाद्विनिवर्त्तन्ते इति, तन्मतव्यपोहार्थत्वाददोषः । तथाहि—ज्ञानवैराग्यादयश्चैतन्यस्वभावाः,चैतन्यं चात्मनो रूपम्-"चैतन्यं पुरुषस्वरूपम् " इति वचनादिति कथं तन्निवृत्तिः अन्ये पुनराचार्याः-" यस्य संक्लेशजनन " इत्यादि श्लोकद्वयमर्हच्छद्मस्थावस्थामाश्रित्य व्याख्यान्ति । यतः संक्लेशजननानि रागादिविशेषणानि तस्यामेवावस्थायां व्यवच्छेदफलानि भवन्ति । तथाहि-यस्य संक्लेशजनन एव रागो नास्ति, शमेन्धनदवानल एव च द्वेषः, सज्ज्ञानाच्छादनाशुद्धवृत्तकारक एव च मोहो नास्ति, न पुनः सत्तागततत्कर्मदलिकरूपोऽपि स महादेव इति । "यो वीतराग " इत्यादि तु भवस्थकेवलिनमाश्रित्येति । ननु महत्त्वं छद्मस्थावस्थायामनुचितं ततो महत्तरावस्थान्तरस्य सद्भावात् ? नैवम्-एवं हि सिद्धत्वलक्षणस्य महत्तमावस्थान्तरस्य सद्भावात् केवलिनोऽप्यमहत्त्वप्रसङ्ग इति । अन्यथा वा कथंचिदपौनरुक्त्यं भावनीयम् । इह च वीतरागग्रहणेन सरागादीनां महादेवत्वप्रतिषेध उक्तः । तत्र च भावना प्रागुपदर्शिता । सर्वज्ञ इत्यनेन च कपिलस्य महादेवत्वमपाकृतं, तस्य च तन्मतेनैव सर्वज्ञत्वासंभवात् । तथाहि—" बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते " इति तन्मतम् । बुद्धेश्च प्रकृतिविकारतया कैवल्यावस्थायां प्रकृतिनिवृत्तौ, निवृत्तित्वात्पदार्थमात्रचेतनाऽपि तस्य न स्यात्, किं पुनः सर्वज्ञत्वम् । न चैष पक्षो ज्यायान् , चेतनात्मकपुरुषाभ्युपगमे हि चेतनाव्याघातकारिप्रकृतिवियोगे पुरुषस्य सर्वज्ञत्वेनैवाभ्युपगन्तुं युक्तत्वादिति । तथा अनेनैव च बुद्धस्यापि महादेवत्वं किंचिज्ज्ञानत्वात्तन्निवारितम् । यदाहुस्तच्छिष्यकाः—सर्वं पश्यतु वा मा वा, इष्टमर्थं तु पश्यतु । कीटसंज्ञापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥ १ ॥ " इति । किं च किंचिज्ज्ञत्वमपि तस्य न घटते, एकास्याप्यर्थस्य सकलस्वपरपर्यायविशेषितस्यासर्वज्ञत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात् । यत आह—" एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः । सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥ १ ॥ " अथ सर्वज्ञो न संभवत्येव सत्तासाधकप्रमाणाग्राह्यत्वात् , तस्य शशविषाणवत् । यदाह-"सर्वज्ञोऽसाविति ह्येत-त्तत्कालैरपि बोद्धृभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान-शून्यैर्ज्ञातुं न शक्यते ॥ १ ॥ " इति ? नैवं सत्तासाधकप्रमाणाग्राह्यत्वस्यासिद्धत्वादाह च-तथाहि—ये अपचयधर्माणस्ते अत्यन्तक्षयिणोऽपि संभवन्ति यथा सामग्रीविशेषाद्धस्त्ररत्नमालादयः, अपचयधर्मकाश्च ज्ञानावरणाद्ययोऽतः सर्वथा क्षयिणोऽपि संभवन्तीति, तेषां चात्यन्तापचये सर्वज्ञत्वादयो भवन्त्येव । न च ज्ञानावरणादीनामपचयधर्मत्वमसिद्धं स्वसन्तानेऽपि ज्ञानादेरुपचयविशेषानुभूत्या तदावरणापचयविशेषस्य सिद्धिरिति । उक्तं च-" दोषावरणयोर्हानि-र्निःशेषास्त्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो, वहिरन्तर्म्मलादयः ॥ १ ॥" तथा-य एते वन्धमोक्षपरलोकादयोऽतीन्द्रियभावास्ते कस्यापि प्रत्यक्षाः अनुमानगोचरत्वाद्, यथाऽग्न्यादय इति । उक्तं च-" सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः, प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादि-रिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥१॥" इति । एवं च तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानशून्यैरप्यनुमानेनाऽवगम्यते असावचतुर्वेदिना चतुर्वेदीवेति । तथा 'यः शाश्वतसुखेश्वरः' क्रिया पूर्ववत्, पुनर्यच्छब्दोपादानमवस्थाविशेषोपदर्शकम् । अयमभिप्रायो,वीतरागत्वं सर्वज्ञत्वं च रागादिक्षयादाविर्भूतं भवस्थकेवलाद्यवस्थायां महत्त्वकारणं, शाश्वतसुखेश्वरत्वादि तु विशेषणद्वयं भवातीतावस्थायां महत्त्वकारणमिति । तत्र शश्वन्नित्यं भवतीति शाश्वतम्, तच्च तत्सुखं च निर्वाणजनितानन्दरूपम्,अपरस्य शाश्वतत्वानुपपत्तेरिति शाश्वतसुखम् । तस्येश्वरः स्वामी,स्वयं तत्प्राप्तत्वाच्छाश्वतसुखेश्वरः । ननु सर्वस्यापि वस्तुनः क्षणिकत्वात्कथं सुखस्य शाश्वतत्वम् ? अत्रोच्यते-न हि सर्वथा वस्तुनः क्षणिकत्वमुत्पादविनाशध्रौव्यरूपत्वात् । इह च बहु वक्तव्यं तत्तु पञ्चदशाष्टकादवसेयमिति । न च तथाभूतसुखस्यासंभव एव, सुखावरणस्यापचयदर्शनेनात्यन्तिकस्यापि तदपचयस्य संभाव्यमानत्वादिति च पूर्वमुक्तप्रायमिति,अनेन च विशेषणेन प्रतिक्षणक्षयाघ्रातवस्तुवादिपरिकल्पितदेवस्य न महत्त्वम्, तन्मतेन एवंविधसुखाद्यभावात्, तदभावे च महत्त्वव्युदासः । तस्य कल्पनामात्रत्वादिति । तथा क्लिष्टाः क्लेशस्वरूपभवहेतुत्वेन क्लेशिकाः, याः कर्मकलाः-ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारकर्मांशास्तेभ्योऽतीतोऽपेतो यः स क्लिष्टकर्मकलातीतः। अनेन च ये मन्यन्ते-"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥१॥" इति । तत्संमतदेवस्य महत्त्वव्युदासः । क्लिष्टकर्मकलाभावे हि भवावतारासंभावाद् । आह च-"अज्ञानपांशुपिहितं,पुरातनं कर्मबीजमविनाशि । तृष्णाजलाभिषिक्तं, मुञ्चति जन्मान्तरं जन्तोः" ॥१॥ अशुभस्वरूपभवावतारिणश्च स्वकीयतीर्थनिकारासहिष्णोः प्राकृतस्येव कीदृशं महत्त्वमिति । तथा सर्वथा सर्वैः प्रकारैः निष्कलः सर्वशरीरावयवविरहितस्तदभावे हि सुखसंभवो, यदाह-शरीरमनसोरभावे दुःखाभावः, शरीरत्वेन च दुःखसंभवे कीदृशं महत्त्वम् । अनेन च यच्छरीरतोऽस्य महत्त्वं प्रतिपन्नाः "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः " इत्येतस्य वाक्यस्य श्रूयमाणार्थाभ्युपगमात्तन्मतं व्युदस्तम् , एवंविधस्यासंभवात् , तदसंभवश्च विश्वस्य सर्वतश्चक्षुषैव व्याप्तत्वात्तदन्येषामवयवानामनाधारत्वेनाभावप्रसङ्गात्, तैरेव वाक्यान्तरेणान्यथाविधस्य महत्त्वाभिधानेन स्वमतविरोधाच्च । आह च-"अपाणिपादो जवनो गृहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति विश्वं न च तस्य वेत्ता,तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्"॥१॥ अन्ये तु व्याख्यान्ति-' क्लिष्टकर्मकलातीतो ' घातितघाति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मा भवस्थकेवली, सर्वथा निष्कलः क्षीणभवोपग्राहिकर्मा सिद्धकेवलीति । तथेति विशेषणसमुच्चये । तथा यः पूज्योऽभ्यर्चनीयः सर्वदेवानां निःशेषभवनपत्यादीनाम्,वीतरागत्वादिगुणयुक्तो हि पूज्यत एव देवादिभिः । तत्पूज्यत्वेनैव च तत्प्रतिमानामपि पूजनीयत्वम् । अथवा सर्वे अखिला हरिहरादयो,देवाः-स्तुत्या,येषां-तद्दर्शनप्रतिपन्नानां समुहापेक्षया,ते सर्वदेवा बौद्धादयस्तेषां यः पूज्यः।यतः ते निजं निजं शास्तारं पूजयन्तोऽप्युक्तलक्षणं महादेवमेव पूजयन्ति । तथाहि-तदुपदेशात् स्वर्गापवर्गसंसर्गो भविष्यतीति मन्यमानास्तमर्चयन्ति । उपदेशश्चोपेयाविसंवादी , तत्परिज्ञाने वीतरागद्वेषत्वे च सत्येव भवति नान्यथा । ततश्च सर्वज्ञत्वादिगुणमध्यारोप्य स्वशास्तारं पूजयन्तीत्यतः परमार्थतः स एव पूजितो भवतीति । ततः सुष्ठूक्तम्"यः पूज्यः सर्वदेवानाम्"इति । तथा यो ध्येयो-ध्यातव्यः, सर्वयोगिनां-निःशेषाध्यात्मचिन्तकानाम् । योगिनोऽपि हि वीतरागत्वादिगुणगौरवोपगतमेव ध्यायन्ति, तथाविधश्चोक्तप्रकारेणार्हन्नेवेति । तथा यः स्रष्टा-उत्पादकः प्रकाशनद्वारेण, सर्वनीतीनां-समस्तनैगमादिनयानां सामादिनीतीनां वा । न च ऋषभेणैव सामादयो लोकव्यवहारार्थं नीतयःस्रष्टा इति स एव महादेवो न त्वजितादय इति वाच्यम् ? सर्वस्य वाग्विषयस्य पूर्वगतश्रुतेः तैरप्युपदर्शितत्वात्तेऽपि नीतिस्रष्टार एवेति "महादेवः स उच्यते"इति व्याख्यातमेव । अथैतत्पूर्वमुक्तमपि पुनः कस्मादभिहितम् ? अत्रोच्यते सर्वभावानां द्विविधं रूपं,व्यावहारिकं पारमार्थिकं चेति,तत्र पारमार्थिकमहादेवत्वख्यापनार्थमिदमुक्तमिति ॥ ४ ॥

अधिकृतमहादेवं लक्षणान्तरेण लक्षयितुमाह—

एवं सद्वृत्तयुक्तेन, येन शास्त्रमुदाहृतम् ।
शिववर्त्म परं ज्योति-स्त्रिकोटीदोषवर्जितम् ॥ ५ ॥

एवमित्यनन्तरोक्तप्रकारं,यत्सद्वृत्तमनिन्दितवर्त्तनं रागद्वेषक्षयकरणादिकं भवावस्थोचितं न पुनः शाश्वतसुखेश्वरत्वादिसिद्धावस्थोचितं सिद्धावस्थायां शास्त्रोदाहरणाभावात्,तेन युक्तः संगतो योऽसावेवं सद्वृत्तयुक्तः,तेन देवताविशेषेण । येन-अनिर्दिष्टनाम्ना, शिक्ष्यन्ते पदार्था अनेनेति शास्त्रमागमः, उदाहृतं प्रणीतम्,किंभूतमित्याह-शिवस्य मोक्षस्य वर्त्मेव वर्त्म-पन्थाः शिववर्त्म । तथा परम्-अनन्यसाधारणं, ज्योतिरिव ज्योतिः-प्रदीपो महामोहतमःपटलप्रतिहतिपक्षमलत्वात् , तथा तिसृषु कोटीषु आदिमध्यान्तलक्षणशास्त्रविभागेषु ये दोषाः पूर्वापरविरोधादयः।अथवा-तिसृषु कोटीषु शास्त्रहेम्नःकषच्छेदतापरूपपरीक्षालक्षणासु ये दोषास्तदशुद्धयः तैर्वर्जितं विरहितं यत्तत्तथा,स महादेवउच्यते इति प्रक्रमः । इह च एवं सद्वृत्तयुक्तेनेत्यनेन कामुकाद्युचितासमञ्जसानुष्ठानवतां शास्त्राणां महादेवत्वस्य निषेध उक्तः । रागादिजन्यासमञ्जसचेष्टावतामपि महत्त्वकल्पने सर्वस्यापि तत्प्रसङ्गात् । आह च "कामानुपक्तस्य रिपुप्रहारिणः,प्रपश्चिनोऽनुग्रहशापकारिणः। सामान्यपुंवर्गसमानधर्मिणो, महत्त्वक्लृप्तौ सकलस्य तद्भवेत ॥१॥" शास्त्रमुदाहृतमनेनत्वनुदाहृतमपि ये शास्त्रमभ्युपगच्छन्ति तन्मतमपास्तम् ,वदन्ति च तद्वादिनः-तथा "तस्मिन् ध्यानसमापन्ने, चिन्तारत्नवदास्थिते । निस्सरन्ति यथा कामं,कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः॥१॥" तन्निरासश्चैवम्-" कुड्यादिनिःसृतानां तु, न स्यादाप्तोपदिष्टता । विश्वासश्च न तासु स्या-त्केनेमाः कीर्तिता इति ॥ १ ॥" किं च यद्यपि तस्य भगवतोऽचिन्त्यपुण्यसंभारतया अतिशयाः सन्ति तथापि वक्तृत्वविरोधनाऽस्तीति । किं वक्तृत्वव्याघातकारिणा कुड्यादिनिर्गतदेशनाकल्पोन्नति उदाहृतं शास्त्रं शिववर्त्मेत्यनेन पुरुषानुदाहृतस्याप्रामाण्यमाविष्करोति तस्यासंभवादेव , तदसंभवश्चैवम्-या या वचनरचना सा सा पौरुषेयी दृष्टा यथाकुमारसंभवादिः,वचनरचना च वेद इति । तस्मात्पौरुषेयोऽसाविति । विरुद्धं च विवक्षाताल्वादिव्यापारपुरुषधर्मजन्यवचनस्वरूपस्य वेदस्यापौरुषेयत्वम् । यदाह-" ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो, वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च । पुंसश्च ताल्वादिरतः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः ॥ १ ॥" शास्त्रं शिववर्त्मेत्यनेन तु ये शास्त्रस्याप्रामाण्यमाश्रितास्तन्मतमपास्तम् । ये हि मन्यन्ते प्रत्यक्षगोचरेऽर्थे वचनस्य व्यभिचारदर्शनान्न तत्प्रमाणम् , न चैतद्युक्तं सुनिश्चिताप्तप्रणीतस्यैव वचनस्य प्रमाणत्वाभ्युपगमात्,न चेतरवचनस्य व्यभिचारमुपलभ्य सर्वेवचनानामप्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं युक्तम्,इतरथा-मरीचिकानिचयचुम्बजलावभासिप्रत्यक्षमसत्यमवलोकितमिति सकलाध्यक्षाणामप्रामाण्यप्रसङ्गः । तदप्रामाण्ये चानुमानमपि न प्रमाणं स्यात् , प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य । तथा च द्वे एव प्रमाणे—प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति वचनं व्याहतिमापद्येतेति । । उक्तं चागमप्रामाण्यवादिभिः—

स्वर्गाद्यतीन्द्रियगतौ वच एव मानं,
येनान्यमानविषया न भवन्ति ते हि ।
किं चागमाभिहितमेव समर्थयन्ति,
नापूर्वमर्थमनुशासति साधनज्ञाः ॥ १ ॥

त्रिकोटीदोषवर्जितमनेन तु यत् परीक्षाक्षमं न भवति न तच्छिववर्त्मेत्युक्तं भवति , अपरीक्षाक्षममपि धर्मशास्त्रं कैश्चिदभ्युपगतम् , यदाहुः—

पुराणं मानवो धर्मः, साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ १ ॥ इति ।

इहार्थेऽन्ये वदन्ति—

अस्ति वक्तव्यता काचि-त्तेनेदं न विचार्यते ।
निर्दोषं काञ्चनं चेत्स्या-त्परीक्षाया बिभेति किम् ॥ १ ॥

आप्तशास्त्रिकैः पुनराप्तवचनमेवमनूद्यते—

निकषच्छेदतापाभ्यां, सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात् ॥ १ ॥

शास्त्रगतकषादिपरीक्षात्रयस्य च स्वरूपमिदम् , विधिप्रतिषेधः कषः । आह च—

पाणवहाईणं, पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो ।
झाणज्झयणाईणं, जो य विही एस धम्मकसो ॥ १ ॥

विधिप्रतिषेधयोरबाधकस्य सम्यक् तत्पालनोपायभूतस्यानुष्ठानस्योक्तिश्छेदः । यदाह—

वज्झाऽणुट्ठाणेणं, जेण न वाहिज्जए तयं नियमा ।
संभवइ य परिसुद्धं, सो पुण धम्ममि छेओत्ति ॥ १ ॥

बन्धमोक्षादिसद्भावनिबन्धनात्मादिभाववादस्तापः । उक्तं च-

जीवाइभाववाओ, बन्धाइपसाहगो इहं तावो ।
एएहिं सुपरिसुद्धो, धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥ १ ॥

कषादिशुद्धयस्त्वेवम्—मनोवाक्कायकरणकारणानुमतिभिरर्थानर्थाश्रयेणाजन्मसूक्ष्मबादराणां प्राणातिपातादीनां प्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिषेधो रागादिनिग्रहप्रतिग्रहहेतुभूतयोश्च ध्यानतपसोर्विधिर्यत्र शास्त्रे तत्कषशुद्धम् । आह च—

सुहुमो असेसविसओ, सावज्जे जत्थ अत्थि पडिसेहो ।
रागाइविउडणसहं, झाणाइ य एस कससुद्धो ॥ १ ॥"

यत्र पुनरेवंविधौ प्रतिषेधविधाने भवतो, न तत् कषशुद्धम्, यथा—

प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा ।
प्राणैश्च विप्रयोगः, पञ्चभिरापद्यते हिंसा ॥ १ ॥

तथा अनस्थ्नां जन्तूनां सकटभरवधे एका हिंसा । यत्रैव विसंवादस्तदेव चासत्यमित्यादि, अयं हि पापप्रतिषेधो नात्यन्तिकः, यथा—

अष्टवर्गान्तिकं वीजं, कवर्गस्य च पूर्वकम् ।
वह्निनोपरिसंयुक्तं, गगनेन विभूषितम् ॥ १ ॥

अर्हमित्यर्थः ।

एतदेव परं तत्त्वं, योऽभिजानाति तत्त्वतः ।
संसारबन्धनं छित्त्वा, स गच्छेत् परमां गतिम् ॥ १ ॥

इत्यादिस्वरूपश्च विधिर्न रागादिविकुट्टनसहः यतः—सुचिरमप्येतद्ध्यानध्यायिनस्तदुत्तरकालं रागादयः स्वरूपस्था एव, रागादीनां पुनरैहिकामुष्मिकापायजनकत्वचिन्तयितुस्तदुत्तरकालमपि ते प्रतनवो भवन्तः सर्वथा न भवन्त्यपीति रागाद्यपायध्यानं श्रेष्ठो विधिः । अत एव ध्यानान्तरत्यागेन ध्यान विधिरेवं सद्भिरभिधीयते—

रागद्दोसकसाया—सवाइकिरियासु वट्टमाणाणं ।
इहपरलोगावाए, झाए झावज्ज परिवज्जी ॥ १ ॥

तथा छेदशुद्धं शास्त्रं यत्र समितिगुप्त्यादिकमुक्तविधिप्रतिषेधापायभूतं तदनुष्ठानमुपदर्श्यते । आह च—

एएण न वाहिज्जइ, संभवइ य तं दुगं पि नियमेण ।
एयवयणेण सुद्धो, जो सो छेएण सुद्धो त्ति ॥ १ ॥

तदशुद्धं, प्राणिसंरक्षण—शुभध्यानकरण—विशुद्धपिण्डग्रहणोपायभूतवस्त्रपात्राद्युपकरणप्रतिषेधप्रवणं बोटिकशास्त्रमिवेति । अथवा—देवताराधनाय साधूनां संगीतकरणाद्युपदेशप्रवणम् । आह च—

जह देवाणं संगीअ—याइकज्जम्मि उज्जमो जइणो ।
कंदप्पाईकरणं, असज्जवयणाभिहाणं च ॥ १ ॥

तापशुद्धं पुनः ।

आत्माऽस्ति सपरिणामी, बद्धः स तु कर्मणा विचित्रेण ।
मुक्तश्च तद्वियोगात्, हिंसाऽहिंसादितद्धेतुः ।

इत्यादिभाववादः प्रधानम्, एवंविधे ह्यात्मादिवस्तुनि सति विधिप्रतिषेधादिकं सर्वमुक्तरूपमुपपद्यते, न पुनरन्यथाविध इति । तदन्यथाविधवस्तु प्रणयनप्रवणं तु शास्त्रं तापाशुद्धमिति । तदेवं येनैवंविधं शास्त्रमुदाहृतं महादेवः स उच्यते इति । एतमर्थं मुख्यवृत्त्या वदताऽनेन श्लोकेन गौणवृत्त्या नानाविधोऽर्थ उक्त इति ॥ ५ ॥

ननु यो वीतरागः स कथमाराध्यते ? नतावत् स्तुत्यादिभि सरागत्वप्रसङ्गात्, नापि निन्दादिभिः स्तवादीनां वैयर्थ्यप्रसङ्गात्, उपेक्षयाऽप्याराधने स एव दोष इत्याशङ्क्याऽऽह—

यस्य चाराधनोपायः, सदाज्ञाभ्यास एव हि ।
यथाशक्तिविधानेन, नियमात्स फलप्रदः ॥ ६ ॥

न केवलम् येन शास्त्रमुदाहृतं स महादेव उच्यते यस्य च देवविशेषस्याऽऽराधनोपाय आज्ञाभ्यास एव स महादेव उच्यते, इति चशब्दार्थः, क्रियासंबन्धश्चेति । आराधनं—प्रसादनम्, आराधनमिवाऽऽराधनं तत्फलप्रसाधकत्वात्, न पुनराराधनमेव सरागत्वप्रसङ्गात् । प्रसादाभावेऽपि च प्रसादफलसिद्धिर्वस्तुस्वभावत्वाद् । आह च—

"वत्थुसभावो एसो, अचिंतचिंतामणी महाभागे ।
थोऊणं तित्थयरे, पाविज्जइ वंछिओ अत्थो ॥ १ ॥

तथा—

उवगाराभावंमि वि, पुज्जाणं पूयगस्स उवयारो ।
मंताइसरणजलणाइ, सेवणे जह तहेहं पि ॥ २ ॥

तत्रोपायो हेतुराराधनोपायः, सदा—सर्वस्मिन्नपि दुष्षमादिकालेऽपि, अनेन किल विशिष्टकाल एवाज्ञायाः कर्तुं शक्यत्वात्तदैव तदभ्यास आराधनोपायः । दुःषमायां त्वनागामिक प्रवृत्तिरप्युपायस्तत्राऽऽज्ञाया अभ्यसितुमशक्यत्वादिति यस्य मतिः स्यात्तन्मतं प्रत्यस्तम् । यत आह—" समयपवित्ती सव्वा, आणावज्झत्ति भवफला चेव । तित्थयरुद्देसेण वि, न तत्तओ सा तदुद्देसा ॥१॥" आज्ञायन्ते अधिगम्यन्ते मर्यादया अभिविधिना वा अर्था यया सा आज्ञा—आगमः, तस्या अभ्यासो ग्रहण—भावना—पारतन्त्र्यलक्षण आज्ञाभ्यासः । स एव न पुनस्तद्धक्तितोऽपि तदाज्ञापेता प्रवृत्तिः, पूजादिकं तु तदाज्ञाभ्यास एव तस्य द्रव्यस्तवरूपत्वात् । हिशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । ननु यथोक्तस्याऽऽज्ञाभ्यासस्यातिदुष्करत्वात्, कालसंहननादिदोषवतामनाराधनप्रसङ्ग इत्याशङ्कायामाह—यथा—शक्ति, शक्तेः—शरीरसामर्थ्यस्यानतिक्रमो यथाशक्ति,तेन शक्तेरनुल्लङ्घनेनाऽगोपायनेन चेत्यर्थः । एवं हि वीर्याचारःकृतो भवति । आह च—"अणिगूहियवलविरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउंतो। जुंजइ य जहाथामं, नायव्वो वीरियायारो ॥४३॥" (नि० चू० १ उ०) आज्ञाभ्यासस्यैव विशेषणार्थमाह—विधानेन विधिना द्रव्यक्षेत्रकालभावानुवर्त्तनलक्षणेनाऽऽत्ययतुलनारूपेणाऽऽगमिकन्यायेनेति भावः । आह च—" तम्हा सव्वाणुन्ना, सव्वनिसेहो य पवयणे नत्थि । आयं वयं तुलेज्जा, लाहाकंखि व्व वाणियओ ।" नत्वाऽऽज्ञाभ्यासेनाऽऽराधितो यद्यसौ फलप्रदो,ऽनाराधितस्तर्हि न तथा स्यादित्येवं विषमवृत्तिरसौ स्यादित्यत आह—नियमाद्—अवश्यंभावेन, 'स' इति स एव च आज्ञाभ्यासो—यस्य संबन्धी, फलप्रदोऽभिप्रेतार्थसाधको महादेवः स उच्यते इति प्रकृतम् । अतस्तस्य फलाप्रदायित्वात्तदाज्ञाभ्यासस्यैव च फलप्रसाधकत्वात् कुतो विषमवृत्तित्वदोष इति ॥ ६ ॥

एतदेव दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह—

सुवैद्यवचनाद्यद्व—द्व्याधेर्भवति संक्षयः ।
तद्वदेव हि तद्वाक्याद्, ध्रुवः संसारसंक्षयः ॥ ७ ॥

सुवैद्यवचनात्—भिषग्वरोपदेशाद्, यद्वदेन प्रकारेण व्याधेः—कुष्ठादिरोगस्य, भवति—जायते, संक्षयः—सामस्त्येनापुनर्भावितया विनाशः, तद्वदेव—तेनैव प्रकारेण तथैवेत्यर्थः । तस्य देवविशेषस्य वाक्यमुपदेशस्तद्वाक्यं तस्माद्, ध्रुवो—ऽवश्यंभावी संसरणं संसारस्तस्य संक्षयोऽत्यन्तविनाशः संसारसंक्षयो भवति । इह संसारशब्देन भवाद्भवान्तरसंचरणमुच्यते,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेन च परलोकसत्तावेदिता। तत्र चेदं प्रमाणम्—" कार्यं कार्यान्तराज्जातं, कार्यत्वादन्यकार्यवत्। जन्मेदमपि कार्यत्वं, न व्यतिक्रम्य वर्त्तते।" जन्म च ज्ञानसन्तानविशेषरूपमतस्तद्रूपमेव तदुपादानकरणभूतं जन्मान्तरमनुमीयते न पित्रादिरूपम्, तस्योपादानकारणत्वे हि तद्धर्मानुगमप्रसङ्ग इति॥ ७॥

प्रकरणार्थमुपसंहरन् विवेचितगुणमहादेवनमस्करणायाह—

एवंभूताय शान्ताय, कृतकृत्याय धीमते।
महादेवाय सततं, सम्यग्भक्त्या नमो नमः॥ ८॥

एवम्भूताय-अनन्तरोक्तरूपां गुणसंपदं प्राप्ताय न परपरिकल्पिताय, शान्ताय-रागद्वेषोपशमवते, अनुवादरूपं चेदं विशेषणमिति न पुनरुक्तताऽऽशङ्कनीया। तथा कृतानि-विहितानि, न तु विधेयानि समाप्तप्रयोजनत्वात्कृत्यानि-कार्याणि, येन स कृतकृत्यस्तस्मै। तथा धीः-केवलज्ञानलक्षणा बुद्धिर्यस्य स्ति स धीमान् तस्मै धीमते, एतदप्यनुवादपरमेवा अन्यैस्तु-धीमते सत्त्ववते इति व्याख्यातम्। महादेवाय—अनन्तरनिर्णीतस्वरूपाय सततमनवरतं, सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः। सम्यक् चासौ भक्तिश्च-प्रीतिविशेषः सम्यग्भक्तिस्तया सम्यग्भक्त्या, 'नमो नम इति' नमस्कारोऽस्तु। द्विर्वचनेन तु भक्तिकृतं संभ्रममुपदर्शितवानिति॥८॥ हा०१अष्ट०।

महादेवी-महादेवी-स्त्री०। काङ्क्तीयराजविशेषपुत्र्याम्, ती० ४६ कल्प।

महादोस-महादोष-पुं०। महान्तश्च ते दोषाश्च महादोषाः। दारुणदुःखहेतुत्वात्प्रकृष्टदूषणेषु, पा०।

महाधणु-महाधनुष्-पुं०। बलदेवस्य देवक्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य देवलोके उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति। नि० ५ वर्ग० ६ अ०।

महाधम्मकहि(ण)-महाधर्मकथिन्-पुं०। तीर्थकृति, उपा०।

आगएणं देवाणुप्पिया! इहं महाधम्मकही!, से केणं देवाणुप्पिया! महाधम्मकही? समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही। से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही? एवं खलु देवाणुप्पिया समणे भगवं महावीरे महइमहालयंसि संसारंसि बहवे जीवे नस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्जमाणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे उम्मग्गपडिवन्ने सप्पहविप्पणट्ठे मिच्छत्तबलाभिभूए अट्ठविहकम्मतमपडलपडोच्छन्ने बहूहिं अट्ठेहि य ०जाव वागरणेहि य चाउरंताओ संसारकन्ताराओ साहत्थिं वित्थारेइ, से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया! एवं वुच्चइ—समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही॥ उपा० ७ अ०।

महाधायईरुक्ख-महाधातकीवृक्ष-पुं०। धातकीखण्डनामनिबन्धने शाश्वतवृक्षे, स्था० १० ठा०।

महापइट्ठा-महाप्रतिष्ठा-स्त्री०। जिनबिम्बप्रतिष्ठाभेदे, षो० ७ विव०।

महापइण्ण-महाप्रतिज्ञ-त्रि०। दृढव्रताभ्युपगतवति, उत्त० २० अ०।

महापइरिक्कतर-महाप्रतिरिक्ततर-त्रि०। महत्प्रतिरिक्तं विजनमतिशयेन येषु ते तथा। अत्यन्तजनरहितेषु, भ० १३ श०४ उ०।

महापउम-महापद्म-पुं०। जम्बूद्वीपे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति प्रथमतीर्थकरे, स०।

महापद्मतीर्थकृत्कथा चैवम्—

एस णं अज्जो! सेणिए राया भिंभिसारे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए सीमंतए नरए चउरासीइवाससहस्सट्ठिइयंसि नरगंसि नेरइयत्ताए उववज्जिहिति, से णं तत्थ नेरइए भविस्सति। काले कालोभासे ०जाव परमकिण्हे वन्नेणं, से णं तत्थ वेयणं वेदिहिति उज्जलं ०जाव दुरहियासं, से णं तओ नरगाओ उव्वट्टित्ता आगमिस्साए उस्सप्पिणीए इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले पुंडेसु जणयतेसु सयदुवारे नयरे संमुइयस्स कुलगरस्स भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि पुमत्ताए पच्चायाहिति। तए णं सा भद्दा भारिया नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाण य राइंदियाणं विइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुन्नपंचिंदियसरीरं लक्खणवंजण ०जाव सुरूवं दारगं पयाहिति, जं रयणिं च णं से दारए पयाहिति तं रयणिं च णं सयदुवारे नगरे सब्भिंतरबाहिरए भारग्गसो य कुंभग्गसो य पउमवासे य रयणवासे य वासे वासिहिति। तए णं तस्स दारयस्स अम्मापियरो इक्कारसमे दिवसे विइक्कंते ०जाव बारिसाहे दिवसे अयमेयारूवं गोणं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं काहिंति। जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि जातंसि समाणंसि सयदुवारे नगरे सभिंतरबाहिरिए भारग्गसो य कुंभग्गसो य पउमवासे य रयणवासे य वासे वुट्ठे तं होउ णं अम्हं इमस्स दारगस्स नामधिज्जं महापउमे। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधिज्जं काहिंति महापउमेत्ति। तए णं महापउमं दारगं अम्मापियरो साइरेगं अट्ठवासजायगं जाणित्ता महता रायाभिसेएणं अभिसिंचिहिंति, से णं तत्थ राया भविस्सइ। महया हिमवंतमहंतमलयमंदररायवन्नओ ०जाव रज्जं पसाहेमाणे विहरिस्सइ। तए णं तस्स महापउमस्स रन्नो अन्नया कयाइ दो देवा महिड्ढिया ०जाव महेसक्खा सेणाकम्मं काहिंति। तं जहा-पुन्नभद्दे य माणिभद्दे य। तए णं सयदुवारे नगरे बहवे राईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहप्पभिईओ अन्नमन्नं सद्दावेहिंति। एवं वइस्संति। जम्हा णं देवाणुप्पिया! अम्हं महापउमस्स रन्नो दो देवा महिड्ढिया ०जाव महेसक्खा सेणाकम्मं कारिंति, तं जहा-पुन्नभद्दे य माणिभद्दे य, तं होउ णं अम्हं देवाणुप्पिया! महापउमस्स रन्नो दुच्चे वि नामधिज्जे देवसेणे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तए णं तस्स महापउमस्स रन्नो दुच्चे वि नामधिज्जे भविस्सइ देवसेणे त्ति देवसेणे त्ति।

'एस णं' मित्यादि 'जस्सीलसमायारो' इत्यादिगाथापर्यन्तं सूत्रं सुगमं चैतन्नवरम्, एषोऽनन्तरोक्तः 'आर्या' इति श्रमणामन्त्रणम्। (भिंभि त्ति) ढक्का सा सारो यस्य स तथा। किल तेन कुमारत्वे प्रदीपनके जयढक्का गेहान्निष्काशिता, ततः पित्रा भिम्भिसार उक्त इति। सीमन्तके नरकेन्द्रके प्रथमप्रस्तटवर्त्तिनि चतुरशीतिवर्णसहस्रस्थितिषु नारकेषु मध्ये नारकत्वेनोत्पत्स्यते, कालः स्वरूपेण, कालावभासः काल एवावभासते पश्यतां यावत्करणात् (गंभीरलोमहरिसे) गम्भीरो महान् लोमहर्षो भयविकारो यस्य स तथा। भीमो विकरालः। (उत्तासणओ) उद्वेगजनकः। (परमकिण्हे वन्नेणं ति) प्रतीतम्, स च तत्र नरके वेदनां वेदयिष्यति, उज्ज्वलां विपक्षस्य लेशेनाप्यकलङ्कितां, यावत्करणात् त्रीणि मनोवाक्कायलक्षणानि उपरिमध्यमाधस्तनकायविभागत्वात्, तुलयति—जयतीति, त्रितुला तां, क्वचिद्विपुलामिति पाठः, तत्र विपुला—शरीरव्यापिनी ताम्, तथा प्रगाढां प्रकर्षवतीं, कटुकां—कटुकरसोत्पादिकाम्, कर्कशां—कर्कशस्पर्शसंपादिकाम्। अथवा कटुकद्रव्यमिव कटुकामनिष्टाम्, एवं कर्कशामपि, चण्डां—वेगवतीं झटित्येव मूर्च्छोत्पादिकाम्, वेदना हि द्विधा, सुखा दुःखा चेति। सुखव्यवच्छेदार्थं दुःखामित्याह। दुर्गां-पर्वतादिदुर्गमिव कथमपि लङ्घयितुमशक्यां, दिव्यां-देवनिर्मिताम्, किं बहुना दुराधिसह्यां—सोढुमशक्यामिति। इहैव जम्बूद्वीपे नासंख्येयतमे। (पुमत्ताए त्ति) पुंस्तया। (पच्चायाहिइ त्ति) प्रत्याजनिष्यते, (बहुपडिपुन्नाणं ति) अतिपरिपूर्णानाम्, अर्द्धमष्टमं येषु तान्यर्द्धाष्टमानि तेषु। रात्रिन्दिवेषु-अहोरात्रेषु व्यतिक्रान्तेषु, इह षष्ठी सप्तम्यर्थे, सुकुमारौ-कोमलौ पाणी च पादौ च यस्य स सुकुमारपाणिपादस्तम्, प्रतिपूर्णानि स्वकीयस्वकीयप्रमाणतः, प्रतिपुण्यानि वा पवित्राणि पञ्च इन्द्रियाणि-करणानि यस्मिंस्तत्तथा। अहीनम्-अङ्गोपाङ्गप्रमाणतः प्रतिपूर्णपञ्चेन्द्रियं प्रतिपुण्यपञ्चेन्द्रियं वा शरीरं यस्य सः अहीनप्रतिपूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरः, अहीनप्रतिपुण्यपञ्चेन्द्रियशरीरो वा तम्, तथा-लक्षणं-पुरुषलक्षणं शास्त्राभिहितम्, 'अस्थिष्वर्थाः सुखं मांस' इत्यादि, मानोन्मानादिकं, व्यञ्जनं मषतिलकादि, गुणाः-सौभाग्यादयः, अथवा लक्षणव्यञ्जनयोर्ये गुणास्तैरुपेतो लक्षणव्यञ्जनगुणोपेतः, 'उववेओ त्ति।' तु प्राकृतत्वाद्वर्णागमतः, अथवा-उप—अपेत इति स्थिते शकन्ध्वादिदर्शनादकारलोप इत्युपपेत इति, लक्षणव्यञ्जनगुणोपपेतस्तम्। (दशवैकालिके चतुर्थाऽध्ययने) लक्षणव्यञ्जनस्वरूपमिदमुक्तम्—

माणुम्माणपमाणा-दिलक्खणं वंजणं तु मसगाई।
सहजं च लक्खणं वं-जणं तु पच्छा समुप्पन्नं ॥ ३६ ॥ इति।

लक्षणमेवाधिकृत्य विशेषणान्तरमाह-'माणुम्माणे' त्यादि, तत्र-मानं-जलद्रोणप्रमाणता, सा ह्येवं-जलभृतेकुण्डे प्रमातव्यपुरुष उपवेश्यते, ततो यज्जलं कुण्डान्निर्गच्छति तद्यदि द्रोणप्रमाणं भवति तदा स पुरुषः मानोपपन्न इत्युच्यते, उन्मानं-तुलारोपितस्यार्द्धभारप्रमाणता, प्रमाणम्-आत्माङ्गुलेनाष्टोत्तरशताङ्गुलोच्छ्रयता। उक्तं च—

जलदोण १ मद्धभारं २, समुहाइं समुस्सिओ व जो नवउ ३।
माणुम्माणपमाणं, तिविहं खलु लक्खणं एयं ॥ ३७ ॥ इति।

ततश्च मानोन्मानप्रमाणैः प्रतिपूर्णानि-सुष्ठु जातानि सर्वाण्यङ्गानि—शिरःप्रभृतीनि यस्मिंस्तत्, तथाविधं सुन्दरमङ्गं शरीरं यस्य स तथा, तं मानोन्मानप्रमाणप्रतिपूर्णसुजातसर्वाङ्गसुन्दराङ्गम्, तथा शशिवत्सौम्याकारं, कान्तं-कमनीयं, प्रियं-प्रेमावहं दर्शनं यस्य स शशिसौम्याकारकान्तप्रियदर्शनस्तम्। अत एव सुरूपमिति दारकं प्रजनिष्यति भद्रेति सम्बन्धः। ('जं रयणिं च' त्ति) यस्यां च रजन्यां (तं रयणिं च त्ति) तस्यां रजन्यां, पुनरिति, अर्द्धरात्र एव तीर्थकरोत्पत्तिरिति रजनीग्रहणम्, (से दारए पयाहिइ त्ति) दारकः प्रजनिष्यते उत्पत्स्यत इति, (सब्भिंतरबाहिरए त्ति) सहाभ्यन्तरेण बाह्यकेन च नगरभागेन यन्नगरं तत्र, सर्वत्र नगर इत्यर्थः। विंशत्या पलशतैर्भारो भवति। अथवा—पुरुषोत्क्षेपणीयो भारो भारक इति, यः-प्रसिद्धः, अग्रं—परिमाणं, ततो भार एवाग्रं भाराग्रं तेन भाराग्रेण, भाराग्रशो—भारपरिमाणतः, एवं कुम्भाग्रशो, नवरम्-कुम्भ-आढकषष्ठ्यादिप्रमाणतः, पद्मवर्षश्च रत्नवर्षश्च वर्षिष्यति भविष्यतीत्यर्थः, 'जाव' त्ति, करणात् 'निव्वत्ते असुइजाइकम्मकरणे संपत्ते' त्ति, दृश्यं' तत्र 'निर्वृत्ते' निर्वर्त्तित इत्यर्थः। पाठान्तरतः 'निवत्ते' वा निवृत्ते-उपरते, अशुचीनाममेध्यानां, जातकर्म्मणां—प्रसवव्यापाराणां, करणे—विधाने, सम्प्राप्ते—आगते, (बारसाहदिवसे त्ति) द्वादशानां पूरणो द्वादशः, स एवाख्या यस्य स द्वादशाख्यः, स चासौ दिवसश्चेति विग्रहः। अथवा—द्वादशं च तदहश्च द्वादशाहस्तन्नामको दिवसो द्वादशाहदिवस इति, (अयं ति) इदं वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षासन्नं (एयारूवं ति) एतदेव रूपं-स्वभावो यस्य न मात्रयाऽपि प्रकारान्तरापन्नमित्यर्थः किं तन्नामधेयं-प्रशस्तं नाम, किंविधं गौणं न पारिभाषिकम्, गौणमित्यमुख्यमपि स्यादित्याह-(गुणनिप्फण्णं ति) गुणानाश्रित्य पद्मवर्षादिनिष्पन्नं गुणनिष्पन्नमित्यक्षरघटना (महापउमे त्ति) तत्पित्रोः पर्यालोचनाभिलापानुकरणम्, (तए णं ति) पर्यालोचनानन्तरम्, (महापउम इति) महापद्म इत्येवं रूपम्। (साइरेगट्ठवासजायगं ति) सातिरेकाणि साधिकान्यष्टौ वर्षाणि जातानि यस्य स तथा तम्, (रायवण्णओ त्ति) राजवर्णको वक्तव्यः। स चायम्—(महता हिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे) महता गुणसमूहेनान्तर्भूतभावप्रत्ययत्वाद्वा महत्तया हिमवांश्च वर्षधरपर्वतविशेषो महांश्चासौ मलयश्च विन्ध्य इति चूर्णिकारः, महामलयः स च मन्दरश्च मेरुमहेन्द्रश्च शक्रादिस्त इव सारः प्रधानो यः स तथा। (अच्चंतविसुद्धदीहरायकुलवंसप्पसूए) अत्यन्तविशुद्धः सर्वथा निर्दोषः दीर्घश्च पुरुषपरम्परापेक्षया यो राज्ञां भूपालानां कुललक्षणो वंशः सन्तानस्तत्र प्रसूतो जातो यः स तथा। (निरन्तररायलक्खणविराइयंगुवंगो) नैरन्तर्येण राजलक्षणैश्चक्रस्वस्तिकादिभिर्विराजितान्यङ्गानि शिरःप्रभृतीन्युपाङ्गानि च अङ्गुल्यादीनि यस्य स तथा। (बहुजणबहुमाणपूइए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए समुदिए त्ति) प्रतीतम्। (मुद्धाभिसित्ते) पितृपितामहादिभिर्मूर्द्धन्यभिषिक्तो यः स तथा। (माउपिउसुजाए) सुपुत्रो विनीतत्वादेनेत्यर्थः। (दयप्पत्ते) दयाप्राप्तो, दयाकारीत्यर्थः। (सीमंकरे) मर्यादाकारी। (सी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंधरे) मर्यादां पूर्वपुरुषकृतां धारयति नाऽऽत्मनाऽपि लोपयति यः स तथा (खेमंकरे) नोपद्रवकारी । (खेमंधरे) क्षेमं धारयत्यन्यकृतमिति यः स तथा । (माणुस्सिदे जणवयपिया) लोकपिता वत्सलत्वात् । (जणवयपुरोहिए) जनपदस्य पुरोधाः-पुरोहितः शान्तिकारीत्यर्थः । (सेउकरे) सेतुं मार्गमापद्गतानां निस्तरणोपायं करोति यः स तथा । (केउकरे) चिह्नकरः अद्भुतकारित्वादिति । (नरपवरे) नरैः प्रवरो नरा वा प्रवरा यस्य स तथा । (पुरिसवरे त्ति) पुरुषप्रधानः । (पुरिससीहे) शौर्याद्यधिकतया । (पुरिसासीविसे) शापसमर्थत्वात् । (पुरिसपुरिपुंडरिए) पूज्यत्वात्सेव्यत्वाच्च (पुरिसवरगंधहत्थी) शेषराजगजविजयित्वात् , (अड्ढे) धनेश्वरत्वात् , (दित्ते) दर्पत्वात् , (वित्ते) प्रसिद्धत्वात् , (वत्थिएणविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइएणे) पूर्ववत् । (वहुधणवहुजायरूवरयए) (आओगपओगसंपउत्ते)आयोगप्रयोगा द्रव्योपार्जनोपायविशेषाः संप्रयुक्ताः प्रवर्त्तिता येन स तथा । (विच्छड्डियपउरभत्तपाणे) (बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए पडिपुएणजंतकोसकोट्ठागारायुहागारे) यन्त्राणि-जलयन्त्रादीनि,कोशः-श्रीगृहं,कोष्ठागारं-धान्यागारम्, आयुधागारं-प्रहरणकोशः (बलवं) हस्त्यादिसैन्ययुक्तः(दुब्बलपच्चामित्ते) अबलप्रातिवेशिकराजः। (ओहयकंटयं निहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं एवं ओहयसत्तुं)उपहता राज्यापहारात्, निहता-मारणात्, मलिता-मानभञ्जनाद्,उद्धृता देशनिष्काशनात्कण्टका दायादा यत्र राज्ये तत्तथा, अतएव अकण्टकम्, एवं शत्रवोऽपि, नवरं शत्रवस्तेभ्योऽन्ये (पराइयसत्तुं) विजयवत्त्वादिति (ववगयदुब्भिक्खमारिभयविप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं पसंतडिंवडमरं) डिम्वानि-विघ्ना, डमराणि-कुमाराद्युत्थानादीनि । (रज्जं पसासेमाणे त्ति) पालयन्, (विहरिस्सइ त्ति) 'दो देवा महिड्ढिया' इत्यत्र यावत्करणात् "महज्जुइया महाणुभागा-महायसा महाबला" इति दृश्यम्(सेणाकम्मं ति)।सेनायाः सैन्यस्य कर्म व्यापारः शत्रुसाधनलक्षणः,सेनाविषयं वा कर्म इतिकर्त्तव्यतालक्षणं सेनाकर्म । पूर्णभद्रश्च दक्षिणयक्षनिकायेन्द्रो,माणिभद्रश्चोत्तरयक्षनिकायेन्द्रः,(बहवे राईसरेत्यादि) राजा-महामाण्डलिकः,ईश्वरो युवराजो माण्डलिकोऽमात्यो वा। अन्ये तु व्याचक्षते-अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वर इति, तलवरः-परितुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धभूषितो, माडम्बिकश्छिन्नमडम्बाधिपः,कौटुम्बिकः कतिपयकुटुम्बप्रभुः,इभ्योऽर्थवान्, स च किल यदीयपुञ्जीकृतद्रव्यराश्यन्तरितो हस्त्यपि नोपलभ्यत इत्येतावताऽर्थेनेति भावः। श्रेष्ठी-श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टभूषितोत्तमाङ्गः,पुरज्येष्ठा वणिक् सेनापतिः नृपतिनिरूपितो हस्त्यश्वरथपदातिसमुदायलक्षणायाः सेनायाः प्रभुरित्यर्थः,सार्थवाहः-सार्थनायकः,एतेषां द्वन्द्वः,ततश्च राजादयः प्रभृतिरादिर्येषां ते तथा, (देवसेणे त्ति) देवावेव सेना यस्य, देवाधिष्ठिता वा सेना यस्य देवसेन इति। (देवसेणातीति) देवसेन इत्येवं रूपम् ।

तए णं तस्स देवसेणस्स रण्णो अन्नया कयाइ-सेयसंखतलविमलसन्निकासे चउद्दंते हत्थिरयणे समुप्पज्जिहिति । तए णं से देवसेणे राया तं सेयं संखतलविमलसन्निकासं चउद्दंतहत्थिरयणं दुरूढे समाणे सयदुवारं नगरं मज्झं मज्झेणं अभिक्खणं २ अतिज्जाहि णिज्जाहि य, तए णं सयदुवारे नगरे बहवे राईसरतलवर ० जाव अन्नमन्नं सद्दाविहिंति सद्दाविहित्ता एवं वइस्संति-जम्हा णं देवाणुप्पिया ! अम्हं देवसेणस्स रण्णो सेतसंखतलविमलसन्निकासे चउद्दंते हत्थिरयणे समुप्पन्ने य , तं होउ णं अम्हं देवाणुप्पिया ! देवसेणस्स रण्णो तच्चे वि नामधिज्जे विमलवाहणे, तए णं तस्स देवसेणस्स रण्णो तच्चे वि नामधिज्जे भविस्सइ विमलवाहणे । तए णं से विमलवाहणे राया तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता अम्मापीईहिं देवत्तगएहिं गुरुमहत्तरेहिं अब्भणुन्नाए समाणे उदुंमि सरए संबुद्धे अणुत्तरे मोक्खमग्गे, पुणरवि लोगंतिएहिं जीयकप्पिएहिं देवेहिं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं मणामाहिं ओरालाहिं कल्लाणाहिं धन्नाहिं सिवाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरीआहिं वग्गूहिं अभिणंदिज्जमाणे अभिथुवमाणे य बहिया सुभूमिभागे उज्जाणे एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयाहिति, तस्स णं भगवंतस्स साइरेगाइं दुवालसवासाइं निच्चं वोसट्ठकाए वियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति (तं जहा-दिव्वा वा माणुस्सा वा तिरिक्खजोणिया वा)ते उप्पन्ने संमं सहिस्सइ खमिस्सइ तितिक्खिस्सइ अहियासिस्सइ, तए णं से भगवं इरियासमिए भासासमिए०जाव गुत्तबंभयारी अममे अकिंचणे छिन्नग्गंथे निरुवलेवे कंसपाईव मुक्कतोए जहा भावणाए ०जाव सुहुयहुयासणेत्ति वा तेयसा जलंते ।

कंसे संखे जीवे, गगणे वाते य सारए सलिले ।
पुक्खरपत्ते कुंमे, विहगे खग्गे य भारं(रुं)डे ॥ १ ॥
कुंजरवसहे सीहे, नगराया चेव सागरमखोभे ।
चंदे सूरे कणगे, वसुंधराचेव सुहुयहु (य) ए ॥ २ ॥

नत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधे भवइ, से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-अंडएइ वा पोयएइ वा उग्गहेइ वा पग्गहिएइ वा,जं णं जं णं दिसं इच्छइ तं णं तं णं दिसं अपडिबद्धे सुचिभूए लहुभूए अणुप्पगंथे संजमेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरिस्सइ। तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं नाणेणं अणुत्तरेणं दंसणेणं अणुवचरिएणं,एवं-आलएणं विहारेणं अज्जवे मद्दवे लाघवे खंती मुत्ती गुत्ती सव्वसंजमतवगुणसुचरियसोवचियफलपरिनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए०जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जिहिति। तए णं से भगवं अरहा जिणे भविस्सइ,केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स परियागं जाणइ, पासइ-सव्वलोए सव्वजीवाणं आगइं गतिं ठियं चयणं उववायं तक्कं

१-पुस्तकान्तरे नास्त्ययं पाठः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मणोमाणसियं भुत्तं कडं परिसेवियं आवीकम्मं,रहोकम्मं अ-
रहा अरहस्स भागी तं तं कालं मणसवयसकाइए जोगे व-
ट्टमाणाणं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावे जाणमाणे पा-
समाणे विहरइ । तए णं से भगवं तेणं अणुत्तरेणं केवल-
वरनाणदंसणेणं सदेवमणुयासुरलोगं अभिसमिच्चा, स-
मणाणं निग्गंथाणं ([1]जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा-
दिव्वा वा माणुसा वा तिरिक्खजोणिया वा ते उप्पन्ने सं-
मं सहिस्सइ,खमिस्सइ,तितिक्खिस्सइ,अहियासिस्सइ । तते
णं से भगवं अणगारे भविस्सति, इरियासमिते भासा०एवं
जहा–वद्धमाणसामी तं चेव निरवसेसं ० जाव अव्वावारवि-
उसजोगजुत्ते,तस्स णं भगवंतस्स एतेणं विहारेणं विहरमा-
णस्स दुवालसहिं संवच्छरेहिं वीतिक्कंतेहिं तेरसहि य पक्खे-
हिं तेरसमस्स णं संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अ-
णुत्तरेणं णाणेणं जहा भावणाते केवलवरनाणदंसणे
समुप्पज्जिहिंति, जिणे भविस्सति, केवली सव्वन्नू स-
व्वदरिसी स णेरइए० जाव) पंच महव्वयाइं सभावणाइं
छच्च जीवनिकाए धम्मं देसमाणे विहरिस्सइ ।

(सेतत्यादि) श्रेयान् अतिप्रशस्यः श्वेतो वा, कीदृगि-
त्याह–शङ्खतलेन कम्बुरूपेण, विमलेन–पङ्कादिरहितेन, सन्नि-
काशः सङ्काशः सदृशो यः स शङ्खतलविमलसंनिकाशः ।
(दुरूढे त्ति) आरूढः, (समाणे त्ति) सन् अतियास्यति–प्र-
वेक्ष्यति,निर्यास्यति–निर्गमिष्यतीति क्वचिद्वर्त्तमाननिर्देशो दृ-
श्यते, स च तत्कालापेक्ष इति । एवं सर्वत्र, (गुरुमहत्तरएहिं
ति) गुर्वोर्मातापित्रोर्महत्तराः पूज्याः । अथवा–गौरवार्हत्वेन
गुरवो महत्तराश्च वयसा वृद्धत्वाद्ये ते गुरुमहत्तराः । (पुण-
रवि त्ति) महत्तराभ्यनुज्ञातानन्तरं लोकान्ते लोकाग्रलक्ष-
णे सिद्धस्थाने भवा लौकान्तिकाः, भाविनि भूतवदुपचारन्या-
येन चैवं व्यपदेशः, अन्यथा–ते कृष्णराजीमध्यवासिनो लो-
कान्तभावित्वं च तेषामनन्तरभव एव सिद्धिगमनादिति ।
जीतकल्पः–आचरितकल्पो जिनप्रतिबोधनलक्षणो विद्यते
येषां ते जीतकल्पिकाः । आचरितमेव तेषामिदं न तु तैस्ती-
र्थकरः प्रतिबोध्यते स्वयं बुद्धत्वाद्भगवत इति । (ताहिं ति)
ताभिर्विवक्षिताभिः, (वग्गूहिं ति) वाग्भिर्यकाभिरानन्द
उत्पाद्यत इति भावः । इष्टाभिरिष्यन्ते स्म याः, कान्ताभिः
कमनीयाभिः, प्रियाभिः प्रेमोत्पादिकाभिः,विरूपा अपि कार-
णवशात्प्रिया भवन्तीत्यत उच्यते–मनोज्ञाभिः शुभस्वरूपाभिः
मनोज्ञा अपि शब्दतोऽर्थतो न हृदयंगमा भवन्तीत्यत आह–
(मणामाहिं ति) मनः अमन्ति गच्छन्ति यास्तास्तथा, ताभि–
रुदारेणोदात्तेन स्वरेण प्रयुक्तत्वादर्थेन वा युक्तत्वादुदाराभिः,
कल्यमारोग्यम् , अणन्ति—शब्दयन्तीति कल्याणास्ताभिः,
शिवस्योपद्रवाभावस्य सूचकत्वात् शिवाभिः,धनं लभन्ते धने
वा साध्व्यो धन्यास्ताभिः, मङ्गले दुरितक्षये साध्व्यो मङ्गल्या-
स्ताभिः, सह श्रिया वचनार्थशोभया यास्ताः सश्रीकास्ताभि·
र्वाग्भिरिति संबन्धनीयम् ,अभिनन्द्यमानः समुल्लास्यमानः,(व

हिय त्ति) नगराद्बहिस्तादिति, इतो वाचनान्तरमनुश्रित्य
लिख्यते । (साइरेगाइं ति) । अर्द्धसप्तमैर्मासैर्द्वादश वर्षाणि
यावत् व्युत्सृष्टे काये परिकर्मवर्जनतस्त्यक्ते देहे परीषहा-
दिसहनतः,तथा सहिष्यति उत्पत्स्यमानेषूपसर्गेषु, तथा भा-
वतः क्षमिष्यत्युत्पन्नेषु क्रोधाभावतः,तितिक्षिष्यति दैन्याभा–
वतः,अध्यासिष्यते अविचलतयेति, " जाव गुत्ते त्ति " कर-
णादिदं दृश्यम्—" एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेव–
णासमिए" । भाण्डमात्राया आदाने निक्षेपे च समित इत्य–
र्थः । (उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणासमिए)
खेलो–निष्ठीवनं, सिङ्घाणो नासिकाश्लेष्मा,जल्लो–मलः, (म-
णगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते) त्रिगुप्तत्वात्, गुप्तात्मे–
त्यर्थः । (गुत्तिंदिए) स्वविषयेषु रागादिनेन्द्रियाणामप्रवृत्तेः,
(गुत्तबंभचारी) गुप्तं नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिः रक्षितं ब्रह्म
मैथुनविरमणं चरतीति विग्रहस्तथा–(अममे) अविद्यमान-
ममेत्यभिलापो निरभिष्वङ्गत्वात् । (अकिंचणे) । नास्ति
किंचनं द्रव्यं यस्य स तथा । (छिन्नग्गंथे) छिन्नो ग्रन्थो
धनधान्यादिस्तत्प्रतिबन्धो वा येन स तथा । क्वचित् " कि-
न्नग्गंथे " इति पाठः । तत्र–कीर्णः क्षिप्तः । (निरुवलेवे) द्रव्य–
तो निर्मलदेहत्वाद्भावतो बन्धहेत्वभावान्निर्गत उपलेपो य-
स्मादिति निरुपलेपः,एतदेवोपमानैरभिधीयते । (कंसपातीव-
मुक्कतोए) । कांस्यपात्रीव कांस्यभाजनविशेष इव मुक्तं त्यक्तं
न लग्नमित्यर्थः तोयमिव बन्धहेतुत्वात्तोयं स्नेहो येन स मुक्त-
तोयः, यथा भावनायामाचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धपञ्चदशा–
ध्ययने तथाऽयं वर्णको वाच्य इति भावः । कियद् दूरं यावदि-
त्याह–(जाव सुहुए इत्यादि) सुष्ठु हुतं क्षिप्तं घृतादीति गम्यते,
यस्मिन् स सुहुतः,स चासौ हुताशनश्च वह्निरिति सुहुतहुता–
शनस्तद्वत्तेजसा ज्ञानरूपेण तपोरूपेण वा ज्वलन् दीप्यमानः ।

अतिदिष्टपदानां संग्रहं गाथाभ्यामाह—" कंसे " गाहा ।
' कुंजर ' गाहा । (कंसे त्ति) कंसपा इव (मुक्कतोये)
[संखे त्ति] शंख इव [निरंगणे] रङ्गणं रागाद्युपरञ्जनं तस्मा-
न्निर्गत इत्यर्थः । [जीवे त्ति] जीव इव । [अप्पडिहय–
गई] संयमे गतिः प्रवृत्तिर्न हन्यतेऽस्य कथंचिदिति
भावः । [गगणे त्ति] गगनमिव निरालम्बनो न
कुलग्रामाद्यालम्बन इति भावः । [वाये य त्ति] वायु
रिव [अप्पडिबद्धो] ग्रामादिष्वेकरात्रादिवासात् । [सा–
यरसलिले व त्ति] [सायरसलिलं व सुद्धहियये] अकलुष·
मनस्त्वात् । [पुक्खरपत्ते त्ति] [पुक्खरपत्तं पि व निरुवलेवे]
प्रतीतम् । [कुम्मो इव गुत्तिंदिए] कच्छपो हि कदा–
चिदवयवपञ्चकेन गुप्तो भवत्येवमसावपीन्द्रियपञ्चकेनेति ।
(विहगे त्ति) विहग इव । (विप्पमुक्के) मुक्तपरिच्छद–
त्वादनियतवासाच्चेति । (खग्गे य त्ति) (खग्गिविसाणं
व एगजाए) खड्ग आटव्यो जीवविशेषस्तस्य विषाणं
शृङ्गं तदेकमेव भवति, तद्वदेकजात एकभूतो रागादिस–
हायवैकल्यादिति । (भारुंडे त्ति) भारुण्डपक्षीव । (अप्पम-
त्ते) भारुण्डपक्षिणः किल एकं शरीरं पृथग्ग्रीवं त्रि·
पादं च भवति, तौ चात्यन्तमप्रमत्ततयैव निर्वाहं लभेते
इति । तेनोपमेति ॥ १ ॥ (कुंजरे त्ति) कुञ्जर इव सो-
ण्डीरे हस्तीव शूरः कषायादिरिपून् प्रति । (वसहे त्ति)
(वसभे इव जायथामे) गौरिवोत्पन्नबलः प्रतिज्ञातवस्तु–

[1]—' जे केइ ' इत्यारभ्य–' जाव ' इत्यन्तं पुस्तकान्तरे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भरनिर्वाहक इत्यर्थः। (सीहे त्ति) (सीहो इव दुद्धरिसे) प- रीषहादिभिरनभिभवनीय इत्यर्थः। (नगराया चेव त्ति मंदरो इव अप्पकंपे) मेरुरिवानुकूलाद्युपसर्गैरविचलितसत्त्वः। (सागरमखोहि त्ति) मकारोऽलाक्षणिकः। सागरवदक्षो- भः सागराक्षोभ इति, सूत्रसूचा सूत्रं च-सागरो इव गम्भी- रे हर्षशोकादिभिरक्षोभितत्वादिति। (चंदे त्ति) (चंदे इव सोमलेसे) अनुपतापकारिपरिणामः। (सूरे त्ति) (सूरे इव- दित्ततेए) दीप्ततेजा द्रव्यतः शरीरदीप्त्या, भावतो ज्ञानेन। (कणगे त्ति) (जच्चकणगं पिव जायरूवे) जातं लब्धं रूपं स्वरूपं रागादिकुद्रव्यविरहाद्येन स तथा। [वसुंधरा- चेव त्ति]। वसुन्धरा इव। [सव्वफासविसहे] स्पर्शाः शीतोष्णादयोऽनुकूलेतराः। [सुहयहुय त्ति]। व्याख्यात- मेवेति। [नत्थीत्यादि] नास्ति तस्य भगवतो महापद्म- स्यायं पक्षो यदुत कुत्रापि प्रतिबन्धः स्नेहो भविष्यती- ति। [श्रंडए इव त्ति]। अण्डजो हंसादिर्ममायमित्युल्ले- खेन वा प्रतिबन्धो भवति। अथवा—अण्डकं मयूर्यादी- नामिदं रमणकं मयूरादेः कारणमिति प्रतिबन्धः स्यादिति। अथवा—अण्डजं पट्टसूत्रजमिति वा, पोतजो—हस्त्यादि- रयमिति वा प्रतिबन्धः स्यात्। अथवा—पोतको बालक इति वा। अथवा—पोतकं वस्त्रमिति वा प्रतिबन्धः स्यात्। आहारेऽपि च विशुद्धे सरागसंयमवतः प्रतिबन्ध स्या- दिति दर्शयति—[उग्गहिए व त्ति] अवगृहीतं परिवेष- णार्थमुत्पाटितं, प्रगृहीतं भोजनार्थमुत्पाटितमिति। अथवा- अवग्रहिकमित्यवग्रहोऽस्यास्तीति। वसतिःपीठफलादिः, औ- पग्रहिकं वा दण्डकादिकमुपधिजातम्, तथा—प्रकर्षेण ग्र- होऽस्येति प्रग्रहिकम्, औधिकमुपकरणं पात्रादीति। अथवा- अण्डजे वा पोतजे वेत्यादि व्याख्येयम्—इकारस्त्वागमिक इति। [जं जं ति] यां यां दिशं, णमिति वाक्यालङ्कारे, तुशब्दो वाऽयं तदर्थ एव इच्छति तदा विहर्तुमिति शेषः, तां तां दिशं विहरिष्यतीति सम्बन्धः, सप्तम्यर्थे चेयं द्वि- तीया, तस्यां तस्यामित्यर्थः। शुचिभूतो भावशुद्धितो लघु- भूतोऽनुपधित्वेन गौरवत्यागेन च, [अणुप्पगंथे त्ति] अनुरूपतया औचित्येन विरतेर्न त्वपुण्योदयादणुरपि वा सूक्ष्मोऽप्यल्पोऽपि प्रगतो ग्रन्थो धनादिर्यस्य यस्माद्वाऽसाव- णुप्रग्रन्थोऽपेर्वृत्त्यन्तर्भूतत्वादणुप्रग्रन्थो वा। अथवा-[अणु- प्पत्ति] अनर्घ्योऽनर्पणीयोऽढौकनीयः परेषामाध्यात्मिक- त्वात्, ग्रन्थवद् द्रव्यवत् ग्रन्थो ज्ञानादिर्यस्य सोऽनर्घ्यग्रन्थ इति। [भावेमाणे त्ति] वासयन्नित्यर्थः। [अणुत्तरे- णं ति] नास्त्युत्तरं प्रधानमस्मादिति अनुत्तरस्तेन। (ए- वमिति) [अणुत्तरेणं ति] विशेषणमुत्तरत्रापि संबन्धनी- यमित्यर्थः। आलयेन वसत्या, विहारेणैकरात्रादिना, आर्ज- वादयः क्रमेण मायामानगौरवक्रोधलोभनिग्रहाः,गुप्तिर्मनः प्र- भृतीनां, तथा सत्यं च द्वितीयं महाव्रतं, संयमश्च प्रथमं तपोगुणाश्चानशनादयः सुचरितं सुष्ठ्वासेवितम्। [सोय- वियं ति] प्राकृतत्वात्, शौचं च तृतीयं महाव्रतम्, अथवा-[विय त्ति] विच्च विज्ञानमिति द्वन्द्वः, ततश्चैता- न्येवेता एव वा। [फल त्ति] फलप्रधानः परिनिर्वा- णमार्गो निर्वृतिनगरीपथः सत्यादिपरिनिर्वाणमार्गस्तेन, ध्यानयोः शुक्लध्यानद्वितीयतृतीयभेदलक्षणयोरन्तरं मध्यं ध्यानान्तरं तदेव ध्यानान्तरिका, तस्यां वर्तमानस्य शुक्लस्य

द्वितीयाद्धेदादुत्तीर्णस्य तृतीयमप्राप्तस्येत्यर्थः। अनन्तमनन्त- विषयत्वाद्, अनुत्तरं सर्वोत्तमत्वात्, निर्व्याघातं धरणीधरा- दिभिरप्रतिहतत्वात्. निरावरणं सर्वावरणापगमात्, कृत्स्नं सर्वार्थविषयत्वात्, प्रतिपूर्णं स्वरूपतः पौर्णमासीचन्द्रवत्,के- वलमसहायम्, अत एव वरं, ज्ञानदर्शनं प्रतीतम्, केवलवरज्ञा- नदर्शनमिति। (अरह त्ति) अर्हन् अष्टविधमहाप्रातिहार्यरू- पपूजायोगात्, जिनो रागादिजेतृत्वात्, केवली परिपूर्णज्ञाना- दित्रययोगात्, सर्वज्ञः सर्वविशेषार्थबोधात्, सर्वदर्शी सकल- सामान्यार्थावबोधात्ततश्च सह देवैश्च वैमानिकज्योतिष्कल- क्षणैर्मर्त्यैश्च मनुजैरसुरैश्च भवनपतिव्यन्तरलक्षणैर्यः स, सदे- वमर्त्यासुरस्तस्य लोकः पञ्चास्तिकायात्मकस्तस्य। (परिया- गं ति) जातावेकवचनमिति, पर्यायान् विचित्रपरिणामान्। (जाणइ पासइ त्ति) ज्ञास्यति द्रक्ष्यति चेत्यर्थः। एतच्च देवादिग्रहणं प्रधानापेक्षयमन्यथा सर्वजीवानां सर्वपर्यायान् ज्ञास्यति, अत एवाह—(सव्वलोए इत्यादि) (चयणं ति) वैमानिकज्योतिष्कमरणम्। उपपातं नारकदेवानां जन्म, तर्के विमर्शं, मनश्चिन्तं, मनसि भवं मानसिकं, चिन्तितं वस्तु, भु- क्तमोदनादि, कृतं घटादि, प्रतिषेवितम्—आसेवितं प्राणिव- धादि, आविष्कर्म-प्रकटक्रियां, रहः कर्म-विजनव्यापारं, ज्ञा- स्यतीत्यनुवर्त्तते। तथा-अरहा, न विद्यते रहो विजनं यस्य सर्वज्ञत्वादसावरहा, अत एव रहस्यस्य प्रच्छन्नस्याभावो ऽरहस्यं तद्भजते, इत्यरहस्यभागी, तं तं कालमाश्रित्येति शेषः। सप्तमी वेयमतस्तस्मिंस्तस्मिन् काले इत्यर्थः, (मन- सवयसकाइए त्ति) मानसश्च वाचसश्च कायिकश्च मानस- वाचसकायिकं तत्र, योगे-व्यापारे, ह्रस्वत्वं च प्राकृतत्वा- दिति, वर्त्तमानानाम्-व्यवस्थितानां, सर्वभावान्-सर्वपरि- णामान् जानन् पश्यन्विहरिष्यति। (अभिसमेच्च त्ति) अ- भिसमेत्य अवगम्य। (सभावणाइं ति) सह भावनाभिः प्रतिव्रतं पञ्चभिरिर्यासमित्यादिभिर्यानि तानि सभावनानि तासां च स्वरूपमावश्यकान् मन्तव्यं षट् च जीवनिकायान् रक्षणीयतया,(धम्मं ति) एवंरूपं चारित्रात्मकं, सुगतौ जी- वस्य, धरणाद्धर्मं श्रुतधर्मं च देशयन् प्ररूपयाञ्चिति।

अथ महापद्मस्यात्मनश्च सर्वज्ञत्वात्सर्वज्ञयोश्च मताभेदात्, भेदे चैकस्याऽयथावस्तुदर्शनेनाऽसर्वज्ञताप्रसङ्गादित्युभयोर्भ- गवान् समां वस्तुप्ररूपणां दर्शयन्नाह—

से जहानामए अज्जो ! मए समणाणं निग्गंथाणं एगे आरम्भट्ठाणे पण्णत्ते। एवामेव महापउमे वि अरहा समणा- णं निग्गंथाणं एगं आरम्भट्ठाणं पन्नवेहिंति। से जहाना- मए अज्जो ! मते समणाणं निग्गंथाणं दुविहे बंधणे पण्णत्ते। तं जहा-पेज्जबंधणे दोसबंधणे। एवामेव महापउमे वि अरहा समणाणं निग्गंथाणं दुविह बंधणं पन्नवेहिंति। तं जहा-पेज्जबंधणं च दोसबंधणं च, से जहानामते अज्जो ! मते समणाणं णिग्गंथाणं तओ दंडा पण्णत्ता, तं जहा-मण- दंडे वयदंडे कायदंडे, एवामेव महापउमे वि समणाणं नि- ग्गंथाणं तओ दंडे पण्णवेहिंति, तं जहा-मणोदंडं कायदंडं वयदंडं, से जहानामए एएणं अभिलावेणं चत्तारि कसाया पण्णत्ता, तं जहा-कोहकसाए माणकसाए मायाकसाए लो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इकसाए । पंच कामगुणे पणत्ते, तं जहा-सद्दे गंधे रूवे रसे फासे । छ जीवनिकाया पणत्ता, तं जहा-पुढवीकाइया०जाव तसकाइया, एवामेव०जाव तसकाइया । सेजहाणामए एए- णं अभिलावेणं सत्त भयट्ठाणा पणत्ता, एवामेव महापउ- मेवि अरहा समणाणं निग्गंथाणं सत्त भयट्ठाणे पन्नवेहिंति। एवमट्ठ मयट्ठाणे, णव बंभचेरगुत्तीओ,दसविहे समणधम्मे, एवं ०जाव तेत्तीसमासातणाओ त्ति, से जहानामए अ- ज्जो ! मए समणाणं णिग्गंथाणं नग्गभावे मुंडभावे अ- ण्हाणए अदंतवणे अच्छत्तए अणुवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरप्प- वेसे ०जाव लद्धावलद्धवित्तीओ ०जाव पणत्ताओ । एवा- मेव महापउमे वि अरहा समणाणं णिग्गंथाणं णग्गभावे० जाव लद्धावलद्धवित्तीओ० जाव पन्नवेहिंति ।

(से जहेत्यादि) (अत्रत्या किञ्चिद्व्याख्या 'आरंभट्ठाण' शब्दे द्वितीयभागे ३७२ पृष्ठे गता) इतः शेषमावश्यके प्रायः प्रसिद्धमिति न लिखितम्, तथा फलकम्-प्रतलम्, आयतं- काष्ठम्, स्थूलमायतमेव, लब्धानि च सन्मानादिना, अपल- ब्धानि च न्यक्कारपूर्वकतया, यानि भक्तादीनि तैर्वृत्तयो नि- र्वाहा लब्धापलब्धवृत्तयः ।

से जहाणामए अज्जो ! मए समणाणं निग्गंथाणं आहाकम्मिएइ वा उद्देसिएइ वा मीसजाएइ वा अ- ज्झोयरएइ वा पूइए कीए पामिच्चे अच्छिज्जे अ- णिसट्ठे अभिहडेइ वा कंतारभत्तेइ वा दुब्भिक्खभत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा वद्दलियभत्तेइ वा पाहुणगभत्तेइ वा मूलभोयणेइ वा कंदभोयणेइ वा फलभोयणेइ वा बी- यभोयणेइ वा हरियभोयणेइ वा पडिसिद्धे एवामेव म- हापउमे वि अरहा समणाणं आहाकम्मियं वा ०जा- व हरियभोयणं वा पडिसेहिस्सइ, से जहानामए अ- ज्जो ! मए समणाणं पंचमहव्वइए सपडिक्कमणे अचेल- ए धम्मे पणत्ते, एवामेव महापउमे वि अरहा समणाणं निग्गंथाणं पंचमहव्वइयं ०जाव अचेलगं धम्मं प- न्नवेहिंति, से जहानामए अज्जो ! मए पंचाणुव्वइए सत्त सिक्खावइए दुवालसविहे सावगधम्मे पणत्ते, एवा- मेव महापउमे वि अरहा पंचाणुव्वइयं ०जाव सावग- धम्मं वन्नविस्संति, से जहानामए अज्जो ! मए समणाणं सिज्जायरपिंडेइ वा रायपिंडेइ वा पडिसिद्धे, एवामेव महाप- उमे वि अरहा समणाणं सिज्जायरपिंडेइ वा रायपिंडेइ वा पडिसेहिंति । से जहानामए अज्जो ! मए नव गणा इक्का- रस गणहरा एवामेव महापउमस्स वि अरहओ नव गणा इक्कारस गणहरा भविस्संति । से जहानामए अज्जो ! अहं तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता ०जाव पव्वइए दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्खा छउमत्थपरियागं पाउणित्ता, तेरसहिं पक्खेहिं ऊणगाइं तीसं वासाइं केव- लिपरियागं पाउणित्ता, बायालीसं संवच्छराइं सामन्न- परियागं पाउणित्ता, बावत्तरि वासाइं सव्वाउयं पालइ- त्ता सिज्झिस्सं ०जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेस्सं । एवा- मेव महापउमे वि अरहा तीसं वासाइं अगारवासमज्झे व- सित्ता०जाव पव्वहिति, दुवालससंवच्छराइं०जाव बावत्तरि वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिज्झिहिंति ०जाव सव्वदु- क्खाणमंतं काहिंति ।

जस्सीलसमायारो, अरहा तित्थंकरो महावीरो ।
तस्सीलसमायारो, होइ उ अरहा महापउमे ॥ १ ॥
(सू०-६६३)

(आहाकम्मिएइ त्ति) आधाय आश्रित्य साधून्, कर्म सचेतनस्याचेतनीकरणलक्षणा अचेतनस्य वा पाकलक्षणा क्रिया यत्र भक्तादौ तदाधाकर्म, तदेवाधाकर्मिकम् । उक्तं च-

सच्चित्तं जमचित्तं , साहूणट्ठाए कीरए जं च ।
अच्चित्तमेव पच्चइ , आहाकम्मं तयं भणियं ॥ १ ॥ इति ।

इह च इकारः सर्वत्रागमिकः, इतिशब्दो वाऽयमुपप्रदर्श- नार्थपरो,वा विकल्पार्थः । (उद्देसियं ति) अर्थिनः पाखण्डिनः श्रमणान्निर्ग्रन्थान् चोद्दिश्य दुर्भिक्षात्ययादौ यद्भक्तं वितीर्यते तदौद्देशिकमिति,उद्देशे भवमौद्देशिकम् , इति शब्दार्थः । यद्वा तथैव यदुद्धरितं सद्दध्यादिभिर्विमिश्रय दीयते, तापयित्वा वा तदपि तथैवेति । इहाभिहितम्-

उद्दिसिय साहुमाई, ओमच्चयभिक्खवियरणं जं च ।
उद्धरिअं मीसेउं, ततियं उद्देसियं तं तु ॥ १ ॥ इति ।

(मीसजाए व त्ति) गृही संयतार्थमुपस्कृततया मिश्रं जातमुत्पन्नं मिश्रजातम् , यदाह—" पढमं चिय गिहि- संजय-मीसं उवक्खडइ मीसगं तंतु " इति । (अज्झो- यरए त्ति) स्वार्थमूलाद्ग्रहणे साध्वाद्यर्थं कणप्रक्षेपणम- ध्यवपूरकः, आह च—" सट्ठामूलद्दहणे, अज्झोयर होइ पक्खेवो " इति । (पूइए त्ति) शुद्धमपि कर्माद्यवयवैरपवि- त्रीकृतं पूतिकम् । उक्तं च-" कम्मावयवसमेयं, संभाविज्जइ जयंतु तं पूई । " इति । (कीय त्ति) द्रव्येण भावेन वा क्रीतं स्वीकृतं यत्तत् क्रीतमिति । यतोऽभ्यधायि "दव्वाइएहि कि- णणं, साहूणट्ठाइ कीयं तु " इति । (पामिच्चं) प्रामित्यकं साध्वर्थमुद्धारगृहीतं, यतोऽभिहितम्-" पामिच्चं साहूणं, अट्ठाओ च्छिदिउं वियावेइ"इति । आच्छेद्यं-बलात् भृत्यादि- सत्कमाच्छिद्य यत् स्वामी साधवे ददाति । भणितं च-"अ- च्छिज्जं वा च्छिदिय, जं सामी भिच्चमाईणं"इति । अनिसृष्टं साधारणं बहूनामेकादिना अननुज्ञातं दीयमानम् । आह च- " अणिसिट्ठं सामन्नं, गोट्ठियमाईण दयउ एगस्स " इति । अभ्याहृतं स्वग्रामादिभ्यः आहृत्य यद्ददाति । यतोऽवाचि- " सग्गामपरग्गामा, जमाणियं अभिहडं तयं होइ " इति । एषां शब्दार्थः प्रायः प्रकट एवेति, कान्तारभक्तादय आधा- कर्मादिभेदा एव । तत्र कान्तारमटवी तत्र भक्तं भोजनं यत् साध्वाद्यर्थं तत्तथा, एवं शेषाएयपि,नवरं ग्लानो रोगोपशा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्तये यद्ददाति ग्लानेभ्यो वा यद्दीयते, तथा वर्द्दलिका-मेघाडम्बरं, तत्र हि वृष्ट्या भिक्षाभ्रमणाक्षमो भिक्षुकलोको भवतीति गृहीतमर्थं विशेषतो भक्तं दानाय निरूपयतीति, प्राघूर्णका आगन्तुकभिक्षुका एव, तदर्थं यद्भक्तं तत्तथा,प्राघूर्णको वा गृही स यद्दापयति तदर्थं संस्कृत्य तत्तथा, मूलं पुनर्नवादीनां तस्य भोजनं तदेव वा भोजनं,भुज्यत इति भोजनमिति कृत्वा, कन्दः-सूरणादिः,फलं-त्रपुष्यादि,बीजं-दाडिमादीनां, हरितं-मधुरतृणादिविशेषः, जीववधनिमित्तत्वाच्चैषां प्रतिषेध इति। (पंचमहव्वइए इत्यादि) प्रथमपश्चिमतीर्थंकराणां हि पञ्च महाव्रतानि शेषाणां महाविदेहजानां च चत्वारीति पञ्चमहाव्रतिकः। एवं सह प्रतिक्रमणेन उभयसंध्यमावश्यकेन यः स तथा, अन्येषां तु कारणजात एव प्रतिक्रमणमिति, उक्तं च—

"सपडिक्कमणो धम्मो,पुरिमस्स यं पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाए जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं" ॥ १ ॥ इति।

तथा अविद्यमानानि जिनकल्पिकविशेषापेक्षया असत्त्वादेव, स्थाविरकल्पिकापेक्षया तु जीर्णमलिनखण्डितश्वेताल्पत्वादिना, चेलानि-वस्त्राणि, यस्मिन् स तथा। धर्मश्चारित्रं, न च सति चेले अचेलता न लोके प्रतीता। यत उक्तम्—

"जह जलमवगाहंतो, बहुचेलो वि सिरवेढियकडिल्लो।
भन्नइ नरो अचेलो, तह मुणओ संतचेला वि ॥ १ ॥"

अतः—

"परिसुद्धजुन्नकुच्छिय, थोवाऽनिययण्ण-भोगभोगेहिं।
मुणओ मुच्छारहिया, संतेहिँ अचेलया हौंति ॥ २ ॥"

अनियतैरन्यभोगे च सति भोग्यैरित्यर्थः। न च वस्त्रं संसक्तिरागादिनिमित्ततया चारित्रविघाताय।ऽऽध्यात्मशुद्धेः शरीराहारादिवदिति। न हि शरीरात् यूकादिसंसक्तिर्न भवति रागो वा नोत्पद्यते। उक्तं च—

"अह कुणसि थुल्लवत्था-इएसु मुच्छं धुवं सरीरे वि।
अकेज्ज दुल्लभतरे, काहिसि मुच्छं विसेसेणं ॥ १ ॥" इति।

अक्रयणीय इत्यर्थः। अध्यात्मशुद्ध्यभावे अचेलकत्वमपि न चारित्राय, यथोक्तम्—

"अपरिग्गहावि परसं—तिएसु मुच्छाकसायदोसेहिं।
अविणिग्गहियप्पाणो, कम्ममलमणंत मज्जंति॥१॥" इति।

अथ जिनोदाहरणादचेलकत्वमेव श्रेय इति न वक्तव्यमेतत्, यतोऽभ्यधायि—

"न परोवएसविसया, न य छउमत्था परोवएसं पि।
देंति न य सीसवग्गं, दिक्खंति जिणा जहा सव्वे ॥ १ ॥
तह सेसेहि य सव्वं, कज्जं जइ तेहि सव्वसाहम्मं।
एवं च कओ तित्थं, न चेदचेल त्ति को गाहो ॥२॥" इति।

अपिच उचितचेलसद्भावे चारित्रधर्मो भवत्येव तदुपकारित्वाच्छरीराहारादिवदिति, अथ कथं चेलस्य चारित्रोपकारितेति चेत्? उच्यते—शीतादित्राणतो जीवसंसक्तिनिमित्ततृणपरिहारादिहेतुत्वाद्, उक्तं च—

"तणगहणानलसेवा. निवारणा धम्मसुक्कझाणट्ठा।
दिट्ठं कप्पग्गहणं, गिलाणमरणट्ठया चेव ॥ १ ॥" इति।

तथा (सेज्जायरे त्ति) शेरते यस्यां साधवः सा शय्या, तया तरति भवसागरमिति शय्यातरो-वसतिदाता, तस्य पिण्डो भक्तादिः शय्यातरपिण्डः, स च अशनादिः ४ वस्त्रादिः ४ सूच्यादि ४ श्चेति। तद्ग्रहणे दोषास्त्वमी—

"तित्थंकरपडिकुट्ठो, अन्नायं उग्गमो वि य न सुज्झे।
अविमुत्ति अलाघवया, दुल्लहसेज्जाविउच्छेओ ॥१॥" इति।

राजाश्चक्रवर्त्तिवासुदेवादेः पिण्डो राजपिण्डः, इदानीमुभयोरपि जिनयोः समानतानिगमनार्थमाह—"जस्सीलगाहा"—यौ शीलसमाचारौ स्वभावानुष्ठाने यस्य स यच्छीलसमाचारस्तावेव शीलसमाचारौ यस्य स तथेति। महापद्मजिनो हि महावीरवदुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रजन्मादिव्यतिकर इति। स्था० ६ ठा० ३ उ०। ति०।

अरहा णं महापउमे अट्ठ रायाणो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वावेइस्सति। तं जहा—पउमं पउमगुम्मं नलिलं नलिनगुम्मं पउमद्धयं धणुद्धयं कणगरहं भरहं (सू०—६२५)

(अरहा णमित्यादि) सुगमं, नवरम्। (महापउमे त्ति) महापद्मो भविष्यदुत्सर्पिण्यां प्रथमतीर्थंकरः श्रेणिकराजजीव इति। इहैव नवस्थानके वक्ष्यमाणव्यतिकर इति (मुंडा भवित्त त्ति) मुण्डान् भावयित्वेति। स्था० ८ ठा० ३ उ०। वीरमहापद्मयोरन्तरम् ८४००७ वर्षाणि ५ मासाः। आव० १ अ०। नं०। पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिणीनगरीराजे पुण्डरीककण्डरीकयोः पितरि,आ० म० १ अ०। दर्श०। ('तेतलिपुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २३५२ पृष्ठे कथा) निधिभेदे, दर्श०। आ०चू०। "वत्थाण य उप्पत्ती, णिप्फत्ती चेव सव्वभत्तीणं। रंगाण य धोव्वाण य, सव्वा एसा महापउमे ॥ ५ ॥" आ० चू० १ अ०। जं०। प्रव०। स्था०। ति०। महापद्मादयो निधयः। आ० म० १ अ०। भारते वर्षे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति नवमचक्रवर्तिनि, स०। अवसर्पिण्यां जाते हस्तिनापुरराजे नवमचक्रवर्तिनि,स०७७सम०। आव०। प्रव०। स्था०। (अयमष्टमचक्रवर्तीति लक्ष्मीवल्लभः) उत्त०।

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
चइत्ता उत्तमे भोए, महापउमो तवं चरे ॥ ४१ ॥

हे मुने! महापद्मोऽपि अष्टमचक्री महर्द्धिकः तपोऽचरत्। किं कृत्वा-भारतं वासं त्यक्त्वा, पुनरुत्तमान् प्रधानान् भोगान् त्यक्त्वा ॥ ४१ ॥

अत्र महापद्मचक्रवर्तिदृष्टान्तः—इहैव जम्बूद्वीपे भारते वर्षे कुरुक्षेत्रे हस्तिनागपुरं नाम नगरम्, तत्र श्रीऋषभवंशप्रसूतः पद्मोत्तरो नाम राजा, तस्य ज्वाला नाम महादेवी, तस्याः सिंहस्वप्नसूचितो विष्णुकुमारनामा प्रथमः पुत्रो, द्वितीयश्चतुर्दशस्वप्नसूचितो महापद्मनामा, द्वावपि वृद्धिं गतौ, महापद्मो युवराजः कृतः। इतश्च उज्जयिन्यां नगर्यां श्रीधर्मनामा राजा, तस्य नमुचिनामा मन्त्री, अन्यदा तत्र श्रीमुनिसुव्रतस्वामिशिष्यः सुव्रतो नाम सूरिः समवसृतः। तद्वन्दनार्थं लोकः स्वविभूत्या निर्गतः, प्रासादोपरिस्थितेन राज्ञा दृष्टः, पृष्टाश्च सेवकाः। अकालयात्रया कायं लोको गच्छति? ततो नमुचिमन्त्रिणा भणितम्। देव! अत्र उद्याने श्रमणाः समागताः, तेषां यो भक्तो लोकः स तद्वन्दनार्थं गच्छति, राज्ञा भणितं वयमपि यास्यामः, नमुचिना उक्तम्—तर्हि त्वया तत्र मध्यस्थेन भाव्यम्, यथाऽहं वादं कृत्वा तान्निरुत्तरीकरोमि। राजा नमुचिसहि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्तत्र गतः । नमुचिना भणितम् । भो श्रमणा ! यदि यूयं
धर्मतत्त्वं जानीथ तर्हि वदथ ? सर्वेऽपि मुनयः क्षुद्रोऽय-
मिति कृत्वा मौनेन स्थिताः, ततो नमुचिर्भृशं रुष्टः सू-
रिं प्रति भणति—एष वयज्ञः किं जानाति ? ततः सूरि-
भिर्भणितं, भणामः किमपि–'यदि ते मुखं खर्जति' इदं व-
चः श्रुत्वा अनेकशास्त्रविचक्षणेन क्षुल्लकशिष्येण भणितम्,
भगवन् ! अहमेवैनं निराकरिष्यामि इत्युक्त्वा क्षुल्लकेन
स वादे निरुत्तरीकृतः । साधूनामुपरि द्वेषं गतः, रात्रौ च
चरवृत्त्या एकाक्येव मुनिवधार्थमागतो, देवतया स्त-
म्भितः, प्रभाते तदाश्चर्यं दृष्ट्वा राज्ञा लोकेन च स भृशं
तिरस्कृतो विलक्षीभूतो गतो हस्तिनागपुरम्, महापद्मयु-
वराजस्य मन्त्री जातः । इतश्च पर्वतवासी सिंहबलो
नाम राजा, स च कोट्टाधिपतिरिति महापद्मदेशं विनाश्य
कोट्टे प्रविशति, ततो रुष्टेन महापद्मेन नमुचिमन्त्री पृष्टः,
सिंहबलराजग्रहणे किंचिदुपायं जानासि ? नमुचिनोक्तं
सुष्ठु जानामि । ततो महापद्मप्रेरितोऽसौ सैन्यवृतो गतो
निपुणोपायेन दुर्गं भङ्क्त्वा सिंहबलो बद्ध आनीतश्च
महापद्मान्तिके, महापद्मेनोक्तम्, नमुचे ! यत्तवेष्टं तन्मार्गय ।
नमुचिनोक्तम्, साम्प्रतं वरः कोशेऽस्तु, अवसरे मार्गयिष्या-
मि, एवं यौवराज्यं पालयतो महापद्मस्य कियान् कालो
गतः । अन्यदा महापद्ममात्रा ज्वालादेव्या जिनरथः का-
रितः, अपरमात्रा च मिथ्यात्ववासितया जिनधर्मप्रत्यनी-
कया लक्ष्मीनाम्न्या ब्रह्मरथः कारितो, भणितश्च पद्मो-
त्तरो नाम राजा, यथा एष ब्रह्मरथः प्रथमं नगरमध्ये प-
रिभ्रमतु, जिनरथः पश्चात्परिभ्रमतु, इदं च श्रुत्वा ज्वालादे-
व्या प्रतिज्ञा कृता । यदि जिनरथः प्रथमं न भ्रमिष्यति
तदा परजन्मनि ममाहारः । ततो राज्ञा द्वावपि रथौ निरुद्धौ,
महापद्मेन स्वजनन्याः परमामधृतिं दृष्ट्वा नगरान्निर्गतः
केनापि न ज्ञातः, परदेशे गच्छन् महाटव्यां प्रविष्टः । तत्र
च परिभ्रमन् तापसाऽऽलये गतः, तापसैर्दत्तसन्मानस्तत्र
तिष्ठति । इतश्चम्पायां नगर्यां जनमेजयो राजा परिवसति ।
स च कालनरेन्द्रेण प्रतिरुद्धः, ततो महान् संग्रामो बभूव
जनमेजयो नष्टः । तस्यान्तःपुरमपीतस्ततो नष्टम्, जनमेजय-
स्य राज्ञो नागवतीनाम भार्या, सा मदनावलीपुत्र्या समं
नष्टा आगता तं तापसाश्रमम् । समाश्वासिता कुलपतिना
तत्रैव स्थिता, कुमारमदनावल्योः परस्परमनुरागो जातः,
कुलपतिना तन्मात्रा च तयोः परस्परमनुरागो ज्ञातः । कु-
लपतिना नागवत्या मात्रा च भणिता मदनावली, यथा
पुत्रि ! त्वं किं न स्मरसि नैमित्तिकवचनम् ? यथा चक्र-
वर्त्तिनस्त्वं प्रथमपत्नी भविष्यसि, ततः कथं यत्र तत्रा-
नुरागं करोषि, कुलपतिनाऽपि कुमारस्य विसर्जनार्थमुक्तम्,
कुमार ! त्वमितो गच्छ, तदानीं त्वरितमेव ततो निर्गतः कु-
मारः, एवं मनोरथं चकार । यथाऽहमेतस्याः सङ्गमेन भ-
रताधिपो भूत्वा ग्रामाकरनगरादिषु सर्वत्र जिनभवनानि
कारयिष्यामीति भ्रमन् कुमारोऽथ प्राप्तः सिन्धुनन्दनं ना-
मनगरम् । तत्रोद्यानिकामहोत्सवे नगरान्निर्गता नरा नार्यश्च
विविधक्रीडाभिः क्रीडन्ति । अस्मिन्नवसरे राज्ञः पट्टहस्ती
आलानस्तम्भमुन्मूल्य गृहहट्टभित्तिभङ्गं कुर्वन् नगराद्बहि-
र्युवतीजनमध्ये समायातः । ताश्च तं तथाविधं दृष्ट्वा
दूरतः प्रधावितुमसमर्थाः तत्रैव स्थिताः । यावदसौ ता-
५२

सामुपरि शुण्डापातं करोति तावता दूरदेशस्थितेन महाप-
द्मेन करुणापूर्णहृदयेन हक्कितोऽसौ करी, सोऽपि वेगेन च-
लितः कुमाराभिमुखम्, तदानीं ताः सर्वा अपि भणन्ति । हा-
हाऽस्मद्रक्षणार्थं प्रवृत्तोऽयं करिणा हिंस्यते, एवं तासु प्रलप-
न्तीषु पश्यन्तीषु च तयोः करिकुमारयोर्घोरः संग्रामो बभूव ।
सर्वेऽपि नागरजनास्तत्राऽऽयाताः । सामन्तभृत्यसहितो मह-
सेनराजोऽपि तत्राऽऽयातः । भणितं च नरेन्द्रेण, कुमार ! अनेन
समं संग्रामं मा कुरु, कृतान्त इव रुष्टोऽसौ तव विनाशं करि-
ष्यतीति । महापद्म उवाच । राजन् ! विश्वस्तो भव, पश्य मम
कलामित्युक्त्वा क्षणेन तं मत्तकरिणं स्वकलया वशीकृत-
वान् आरूढश्च तं मत्तगजं महापद्मः, स्वस्थाने नीतवान्, सा-
धुकारेण तं लोको पूजितवान् । यथा एष कोऽपि महापुरुषः
प्रधानकुलसमुद्भवोऽस्ति, अन्यथा कथमीदृशं रूपविज्ञानं
चास्य भवति । ततो राज्ञा स्वगृहे नीत्वा कुमारस्य विविधो-
पचारकरणपूर्वकं कन्याशतं दत्तम्, तेन समं विषयसुखमनुभ-
वतस्तस्य महापद्मकुमारस्य दिवसास्तत्र सुखेन यान्ति । तथा-
ऽपि स तां मदनावलिं हृदयान्न विस्मारयति । अन्यदा रजन्यां
शय्यातोऽसौ वेगवत्या विद्याधर्याऽपहृतः, निद्राक्षये सा तेन
दृष्टा, मुष्टिं दर्शयित्वा सा कुमारेण भणिता, किं त्वमेवं माम-
पहरसि ? तया भणितं कुमार ! शृणु वैताढ्ये सूरोदयनाम
नगरमस्ति । तत्रेन्द्रधनुर्नाम विद्याधराधिपतिरस्ति, तस्य
भार्या श्रीकान्ता वर्त्तते, तस्याः पुत्री जयचन्द्रानाम्नी वर्त्तते ।
सा च पुरुषद्वेषिणी नेच्छति कथमपि वरम् । ततो नरपत्या-
ज्ञया मया सर्वत्र वरनरेन्द्रा विलोक्य २ पट्टिकायां लि-
खिताः, सर्वेऽपि तस्या दर्शिता न कोऽपि रुचितः । अन्यदा
मया तस्यास्तव रूपं दर्शितम्, तद्दर्शनानन्तरमेव सा कामाव-
स्थया गृहीता, भणितं च तया, यद्येष भर्त्ता न भविष्यति
तदाऽवश्यं मया मर्त्तव्यम् । अन्यपुरुषस्य मम यावज्जीवं निवृ-
त्तिरेव, एष तस्या व्यतिकरो मया तन्मातृपित्रोर्ज्ञापितः । ताभ्यां
त्वदानयनाय अहं प्रयुक्ता, अविश्वसन्त्यास्तस्या विश्वासार्थं
मया इयं प्रतिज्ञा कृता, यद्यहं तं त्वरितं नाऽऽनयामि तदा ज्वा-
लाकुले ज्वलने प्रविशामि । ततः कुमार ! यदि तव प्रसादेन
मम मरणं न सम्पद्यते, यथा च मे प्रतिज्ञानिर्वाहो भवति
तथा प्रसादं कुरु । ततस्तदाज्ञया नया महापद्मः सूर्योदये
तत्र नीतः, खेचराधिपतिर्मिलितः । तेन च सुमुहूर्त्ते तस्याः पा-
णिग्रहणं कारितः, पूजिता च वेगवति । इतश्च जयचन्द्राया
मातुलभ्रातरौ गङ्गाधरमहीधरनामानौ विद्याधरावतिप्रच-
ण्डौ इमं व्यतिकरं ज्ञात्वा अनेकभटसहितौ महापद्मेन समं
संग्रामार्थमागतौ । महापद्मोऽपि तयोरागमनं श्रुत्वा सूरोद-
यपुराद्बहिर्विद्याधरभटपरिवृतो निर्गतः, संलग्नस्तयोः सं-
ग्रामः, तदानीं महापद्मेन स्यन्दनाः कुञ्जरा अश्वाः सुभटाः
परबलसत्काः सर्वेऽपि बाणैर्विद्धाः । भग्नं स्वं बलं दृष्ट्वा
गङ्गाधरमहीधरौ स्वयमुत्थितौ, महापद्मेन उभावपि हतौ ।
ततो लब्धजयः स महापद्मः उत्पन्नस्त्रीरत्नवर्जसर्वरत्नः प्राप्त-
नवनिधिर्द्वात्रिंशत्सहस्रमण्डलेश्वरसेवितपादपद्मः परिणीतै-
कोनचतुःषष्टिसहस्रान्तःपुरो हयगजरथपदातिकोशसंप-
न्नोऽष्टमश्चक्रवर्त्ती जातस्तथापि षट्खण्डभरतराज्यं स मद-
नावल्या रहितं नीरसं मन्यते । अन्यदा तस्मिन्नाश्रमपदे गत-
स्य तस्य महापद्मचक्रिणः तापसैर्महान् सत्कारः कृतः,
जनमेजयेनापि राज्ञा मदनावली तस्मै दत्ता, तेन परिणीता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्चीरत्नं बभूव। ततो महापद्मश्चक्रवर्तिऋद्धिसमेतो हस्तिनागपुरं प्राप्तः, प्रणनाम च जननीजनकपादान्, ताभ्यामप्यधिकस्नेहेन प्रेक्षितः। अत्रान्तरे तत्रैव समवसृतो मुनिसुव्रतस्वामिशिष्यो नागसूरिः,ततो निर्गतः सपरिवारः पद्मोत्तरराजः, तं वन्दित्वा पुरो निषण्णः, गुरुणा च तत्पुरो भवनिर्वेदजननी देशना कृता, तां श्रुत्वा वैराग्यमापन्नो राजा गुरुं प्रत्येवमुवाच। भगवन्नहं राज्यं स्वस्थं कृत्वा भवदन्तिके प्रव्रजिष्यामि। गुरुणा भणितम् ,मा विलम्बं कुर्विति। गुरुं प्रणम्य नगरे प्रविष्टो राजा , आकारिता मन्त्रिणः प्रधानपरिजना विष्णुकुमारश्च। सर्वेषामपि राज्ञा एवमुक्तम्। भो भो! श्रुता भवद्भिः संसारासारता अहमेतावत्कालं वञ्चितः, यच्छ्रामण्यं नानुष्ठितवान्। ततःसाम्प्रतं विष्णुकुमारं निजराज्येऽभिषिच्य प्रव्रज्यां गृह्णामि। ततो विष्णुकुमारेण विज्ञप्तम् , तात ! ममापि किंपाकोपमैर्भोगैः, सृतम् , तव मार्गमेवानुसरिष्यामि। ततो विष्णुकुमारस्य दीक्षानिश्चयं ज्ञात्वा पद्मोत्तरराजेन महापद्म आकारितो भणितश्च, पुत्र ! ममेदं राज्यं प्रतिपद्यस्व, विष्णुकुमारोऽहं च प्रव्रज्यां प्रतिपद्यावः। अथ विनीतेन महापद्मेन च भणितम् , तात ! निजराज्याभिषेकं विष्णुकुमारस्यैव कुरु,अहं पुनरेतस्यैवाज्ञाप्रतीच्छुको भविष्यामि। राज्ञा भणितम् , वत्स ! मयोक्तोऽप्ययं राज्यं न प्रतिपद्यते। अवश्यमयं मया समं प्रव्रजिष्यति। ततः शोभनदिवसे महापद्मस्य कृतो राज्याभिषेकः। विष्णुकुमारसहितः पद्मोत्तरराजः सुव्रतसूरिसमीपे प्रव्रजितः। ततो महापद्मो विख्यातशासनश्चक्रवर्त्ती जातः । स्वमातृपरमातृकारितौ तौ द्वावपि रथौ तथैव स्तः। महापद्मचक्रिणा तु जननीसक्तो जिनरथो नगरीमध्ये भ्रामितः,जिनप्रवचनस्य कृता उन्नतिः। तत्प्रभृति बहुलोको धर्मोद्यममतिर्जिनशासनं प्रतिपन्नः, तेन महापद्मचक्रिणा सर्वस्मिन्नपि भरतक्षेत्रे ग्रामाकरनगरोद्यानादिषु कारितानि जिनायतनान्यनेककोटिलक्षप्रमाणानि। पद्मोत्तरमुनिरपि पालितनिष्कलङ्कश्रामण्यः शुद्धाध्यवसायेन कर्म्मजालं क्षपयित्वा समुत्पन्नकेवलज्ञानः संप्राप्तः सिद्धिमिति। विष्णुकुमारमुनेरपि उग्रतपोविहारनिरतस्य वर्द्धमानज्ञानदर्शनचारित्रपरिणामस्य आकाशगमनादिवैक्रियलब्धय उत्पन्नाः । स कदाचिन्मेरुवत्तुङ्गदेहो गगने व्रजति , कदाचिन्मदनवद् रूपवान् भवति । एवं नानाविधलब्धिपात्रः स संजातः। इतश्च ते सुव्रताचार्याः बहुशिष्यपरिवृता वर्षारात्रस्थित्यर्थं हस्तिनागपुरोद्याने समायाताः, ज्ञाताश्च तेन विरुद्धेन नमुचिना, अवसरं ज्ञात्वा तेन राज्ञे विज्ञप्तम् , यथा पूर्वप्रतिपन्नं मम वरं देहि । चक्रिणा उक्तम्, यथेष्टं मार्गय। नमुचिना भणितम् , राजन् ! अहं वेदभणितेन विधिना यज्ञं कर्त्तुमिच्छामि, अतो राज्यं मे देहि । चक्रिणा नमुचिः स्वराज्येऽभिषिक्तः, स्वयमन्तःपुरे प्रविश्य स्थितः। नमुचिर्यज्ञपा(वा)टकमागम्य यागनिमित्तं दीक्षितो बभूव। राज्येऽभिषिक्तस्य तस्य वर्द्धापनार्थं जैनयतीन् वर्जयित्वा सर्वेऽपि लिङ्गिनो लोकाश्च समायाताः । नमुचिना सर्वलोकसमक्षमुक्तम् , सर्वेऽपि लोका मम वर्द्धापनार्थं समायाताः, जैनयतयः केऽपि नाऽऽयाताः, एवं छलं प्रकाश्य सुव्रताचार्या आकारिताः, आगताः, नमुचिना भणिताः। भो जैनाचार्याः ! यो यदा ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा राज्यं प्राप्नोति स तदा पाषण्डकैरागत्य द्रष्टव्यः, इयं लोकस्थितिः, यतो राजरक्षितानि तपोधनानि भवन्ति । यूयं पुनः स्तब्धाः सर्वे पाखण्डदूषकाः निर्मर्यादा मां निन्दथ । अतो मदीयं राज्यं मुक्त्वाऽन्यत्र यथासुखं व्रजत। यो युष्माकं मध्ये कोऽपि नगरे भ्रमन् द्रक्ष्यते स मे वध्यो भविष्यति। सुव्रताचार्यैरुक्तम् , राजन्नस्माकं राजवर्द्धापनाचारो नास्ति, तेन वयं त्वद्वर्द्धापनकृते नाऽऽयाताः। न च वयं किंचिन्निन्दामः, किं तु समभावास्तिष्ठामः। ततः स रुष्टः प्रतिभणति, यदि श्रमणं सप्तदिनोपरि अहं द्रक्ष्ये तमहमवश्यं मारयिष्यामि, नात्र सन्देहः । एतन्नमुचिवाक्यं श्रुत्वा आचार्याः स्वस्थानमायाताः सर्वेऽपि साधवः पृष्टाः, किमत्र कर्त्तव्यम्। ततः एकेन साधुना भणितं, यथा सदा सेविततपोविशेषो विष्णुकुमारनामा महामुनिः साम्प्रतं मेरुपर्व्वतचूलास्थो वर्त्तते, स च महापद्मचक्रिणो भ्राताऽस्ति, ततस्तद्वचनादयमुपशमिष्यति, आचार्यैरुक्तं तदाकारणार्थं यो विद्यालब्धिसम्पन्नः स तत्र व्रजतु । तत एकेन साधुना उक्तम् , अहं मेरुचूलां यावद्गगने गन्तुं शक्तोऽस्मि, पुनः प्रत्यागन्तुं न शक्तोऽस्मि । गुरुणा भणितम्—विष्णुकुमार एव त्वामिहानेष्यति, तथेति प्रतिपद्य स मुनिराकाशे उत्पतितः । क्षणमात्रेण मेरुचूलायां प्राप्तः, तमायान्तं दृष्ट्वा विष्णुकुमारेण चिन्तितम् , किञ्चिद् गुरुकं सङ्घकार्यं समुत्पन्नम् , यदयं मुनिर्वर्षाकालमध्येऽत्रायातः । ततः स मुनिर्विष्णुकुमारं प्रणम्य आगमनप्रयोजनं कथितवान् , विष्णुकुमारस्तं मुनिं गृहीत्वा स्तोकवेलया आकाशमार्गेण गजपुरे प्राप्तः। वन्दितास्तेन गुरवः, गुर्वाज्ञया साधुसहितो विष्णुकुमारमुनिर्नमुचिपर्षदि गतः, सर्वैः सामन्तादिभिर्वन्दितः, नमुचिस्तु तथैव सिंहासने तस्थिवान्, न मनाक् विनयं चकार । विष्णुना धर्मकथनपूर्वं नमुचेरेवं भणितम् , वर्षाकालं यावन्मुनयोऽत्र तिष्ठन्ति। नमुचिना भणितम्, किमत्र पुनः पुनर्वचनप्रयासेन, पञ्च दिवसान् यावन्मुनयोऽत्र तिष्ठन्तु। विष्णुना भणितं तव उद्याने मुनयस्तिष्ठन्तु। ततः संजातामर्षेण नमुचिना एवं भणितम्, सर्वैः पाषण्डाधमैर्भवद्भिर्न मद्राज्ये स्थेयम्,मद्राज्यं त्वरितं त्यजत, यदि जीवितेन कार्यम्। ततः समुत्पन्नकोपानलेन विष्णुना भणितम्, तथापि त्रयाणां पादानां स्थानं देहि। ततो भणितं नमुचिना, दत्तं त्रिपदीस्थानं परं यं त्रिपद्या बहिर्द्रक्ष्यामि तस्य शिरश्छेदं करिष्यामि। ततः स विष्णुकुमारः कृतनानाविधरूपो वृद्धिं गच्छन् क्रमेण योजनलक्षप्रमाणरूपो जातः। क्रमाभ्यां दर्दरं कुर्वन् ग्रामाकरनगरसागराकीर्णां भूमिमाकम्पयन् शिखरिणां शिखराणि पातयति स्म । त्रिभुवने क्षोभं कुर्वन् स मुनिः शक्रेण ज्ञातः। तस्य कोपोपशान्तये शक्रेण गायनदेव्यः प्रेषिताः। ताश्चैवं गायन्ति स्म—"सपरसंतावओ, धम्मवणदावओ, दुग्गइगमणहेऊ। कोवो ताओवसमं, करेसु भयवं ति" एवमादीनि गीतानि ता वारं वारं श्रावयन्ति स्म। स मुनिर्नमुचिं सिंहासनात्पातितवान् , दत्तपूर्वापरसमुद्रपादः स सर्वजनं भापयति स्म। ज्ञातवृत्तान्तो महापद्मश्चक्री तत्राऽऽयातः, तेन समस्तसङ्घेन सुरासुरैश्च शान्तिनिमित्तं विविधोपचारैः स उपशामितः। तत्प्रभृति विष्णुकुमारस्त्रिविक्रम इति ख्यातः। उपशान्तकोपः स मुनिरालोचितः प्रतिक्रान्तः शुद्धश्च। यत उक्तम्—

" आयरिए गच्छंमि, कुलगणसंघे अ चेइअविणासे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आलोयपडिकन्तो, सुद्धो जं निज्जरा विउला ॥ १ ॥"

निष्कलङ्कं श्रामण्यमनुपाल्य समुत्पन्नकेवलः स विष्णुकुमारः सिद्धिं गतः। महापद्मचक्रवर्त्यपि क्रमेण दीक्षां गृहीत्वा सुगतिभागभूद् इति महापद्मदृष्टान्तः। उत्त० १८ अ०। ती०। ति०। श्रेणिकपुत्रसुकालस्यात्मजे, नि०। एवं सुकालसत्कमहापद्मदेव्याः पुत्रस्य महापद्मस्यापीयमेव वक्तव्यता। भगवत्समीपे गृहीतव्रतः पञ्चवर्षव्रतपर्यायपालनपरः एकादशाङ्गधारी चतुर्थषष्ठाष्टमादि बहु तपःकर्म्म कृत्वा ईशानकल्पे देवः समुत्पन्नो द्विसागरोपमस्थितिकः। सोऽपि ततश्च्युतो महाविदेहे सेत्स्यति ॥ नि० १ श्रु० १ वर्ग २ अ०। विन्ध्यगिरिपादमूले पुण्ड्रेषु जनपदेषु शतद्वारे नगरे सुमते राज्ञो भद्राख्यां भार्यायामुत्पत्स्यमाने गोशालकजीवे, भ० १४ श० ६ उ०। ('गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०३१ पृष्ठादारभ्य कथा गता) सप्तमदेवलोकविमानभेदे, नपुं०। स० १७ सम०। महाहिमवदुपरि ह्रदे, स०।

महापउममहापुंडरीयदहाणं दो दो जोयणसहस्साइं आयामेणं पण्णत्ता। (सूत्र-११५)

महापद्ममहापुण्डरीकह्रदौ महाहिमवद्रुक्मिवर्षधरयोरुपरिवर्त्तिनौ ह्रीबुद्धिदेव्योर्निवासभूताविति। स० ११५ सम०। स्था०। पाटलिपुत्रनगरराजे नवमनन्दे, आ०चू० ४ अ०। शिखरितलकूटविशेषाधिपतौ देवे, द्वी०। शक्रत्रयस्त्रिंशोत्पातपर्वतराजधान्याम्, द्वी०। चतुरशीतिलक्षगुणितेषु महापद्माङ्गेषु, ज्यो० २ पाहु०। ('काल' शब्दे स्फुटितमेतत्)

महापउमद्दह–महापद्मह्रद–पुं०। स्वनामख्याते ह्रदे, स्था०।

दो महापउमद्दहा। (स्था० २ ठा० ३ उ०।)

दो महापउमद्दहवासिणीओ हिरीओ देवीओ। स्था० २ ठा० ३ उ०

(द्वौ त्रयो षद् वा महाह्रदा इति 'दह' शब्दे चतुर्थभागे २४८६ पृष्ठे गतम्)

महापउमरुक्ख–महापद्मवृक्ष–पुं०। धातकीखण्डोत्तरकुरुमध्यगे धातकीखण्डनामनिबन्धने शाश्वतवृक्षे, स्था० १० ठा०। पुष्करवरद्वीपात्पश्चिमे मेरुपर्वतादुत्तरदक्षिणयोरपान्तरालवृक्षविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

महापउमा–महापद्मा–स्त्री०। श्रेणिकपुत्रसुकालस्य भार्यायाम्, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०।

महापच्चक्खाण–महाप्रत्याख्यान–न०। महच्च तत्प्रत्याख्यानं चेति समासः। चरमप्रत्याख्याने, तद्वर्णनपरे उत्कालिकश्रुतविशेषे च। पा०। "एसत्थ भावत्थो थेरकप्पेण जिणकप्पेण वा विहरित्ता अंते थेरकप्पिया बारसवासे संलेहणं करेत्ता, जिणकप्पिया पुण विहारेणेव संलीढा, तहा वि जहाजुत्तं संलेहणं करेत्ता, निव्वाघायं सचेट्ठा चेव भवचरिमं पच्चक्खंति, एयं सवित्थरं जत्थऽज्झयणे वन्निज्जइ तमज्झयणं महाप्रत्याख्यानमिति"। पा०। नं०।

महापज्जवसाण–महापर्यवसान–न०। महत्प्रशस्तमात्यन्तिकं वा पर्यवसानं पर्यवसमाधिमरणान्तः,अपुनर्मरणान्तो वा जीवितस्य यस्य स तथा। तद्भवसिद्धिगामिनि, स्था०३ ठा०४ उ०।

महापडिण्णा–महाप्रतिज्ञा–स्त्री०। गुरुप्रतिज्ञायाम्। पञ्चा० १६ विव०।

महापण्ण–महाप्रज्ञ–त्रि०। महती प्रज्ञाऽस्येति महाप्रज्ञः। उत्त० ३ अ०। सम्यग्दर्शनज्ञानवति, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। विपुलबुद्धौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

महापण्णवणा–महाप्रज्ञापना–स्त्री०। महत्तरे प्रज्ञापनाग्रन्थे, नं०। पा०।

महापत्थाण–महाप्रस्थान–न०। मरणकालभाविनि, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०।

महापम्ह–महापक्ष्म–पुं०। जम्बूद्वीपमन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे महापुरीराजधानीभूषितविजये क्षेत्रे, स्था० ८ ठा०।

दो महापम्हा। स्था० २ ठा०।

महापरिग्गह–महापरिग्रह–पुं०। धनधान्यद्विपदचतुष्पदवस्तुक्षेत्रादिपरिग्रहवति, सूत्र० २ श्रु० १५ अ०।

महापरिग्गहया–महापरिग्रहता–स्त्री०। अपरिमाणपरिग्रहतायाम्, भ० ८ श० ६ उ०।

महापरिण्णा–महापरिज्ञा–स्त्री०। महती परिज्ञा अन्तक्रियालक्षणा सम्यग्विधेयेति महापरिज्ञा। स्था० ६ ठा०। आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य सप्तमेऽध्ययने, तच्चेदानीं व्यवच्छिन्नम्। आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। प्रश्न०। आव०।

"जेणुद्धरिआ विज्जा, आगासगमा महापरिन्नाओ।
वंदामि अज्जवइरं, अपच्छिमो जो सुअहराणं ॥ १ ॥"

आ० क० १ अ०। आ० म०। स०।

महापवेसणतर–महाप्रवेशनतर–पुं०। महत्प्रवेशनं गत्यन्तरान्नरकगतौ जीवानां प्रवेशो येषु ते तथा। यत्र बहवो नैरयिका आगत्य प्रविशन्ति तेषु नरकेषु, भ० १३ श० ४ उ०।

महापव्वय–महापर्वत–पुं०। हिमवदादिषु वर्षधरपर्वतेषु, ओघ०।

महापसु–महापशु–पुं०। महापशुपुरुषे प्रज्ञा० २ पद। व्य०।

महापह–महापथ–पुं०। विस्तीर्णतया प्राधान्येन महांश्चासौ पन्थाश्च महापथः। राजमार्गे, उत्त० ५ अ०। अनु०। ज्ञा०। जी०। आ० म०। दशा०। भ०। कल्प०। औ०। रा०। प्रश्न०।

महापाडिहारिय–महाप्रातिहार्य–न०। जिनानामशोकवृक्षादिषु प्रातिहार्येषु, नं०।

महाऽपाय–महाऽपाय–त्रि०। महानपायो यस्याः सकाशात्सा तथा। महतोऽपायस्य हेतौ, पो० १४ विव०।

महापायाल–महापाताल–पुं०। महान्तस्तदन्यक्षुल्लकव्यवच्छेदेन पातालमिवागाधत्वाद् गम्भीरत्वात्पातालाः पातालव्यवस्थितत्वाद् वा पातालाः, महान्तश्च ते पातालाश्चेति महापातालाः। लवणसमुद्रमध्यस्थितेषु वडवामुखादिषु जलवाय्वाधारेषु, स्था० ४ ठा० २ उ०। ('लवणसमुद्द' शब्दे चैतं व्याख्यास्यन्ते)

महापालि–महापालि–स्त्री०। पालिरिव पालिर्जीवितजलधा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रणाद् भवस्थितिः, महती चासौ पालिश्चेति। सागरोपमलक्षणायां भवस्थितौ, तस्या एव महत्त्वाद्। उत्त० १८ अ०।

महापिंगायतण–महापिङ्गायतन–पुं०। महापिङ्गाऽऽख्यर्ष्यपत्ये, चं० प्र० १० पाहु०।

महापिउ–महापितृ–पुं०। पितुर्ज्येष्ठभ्रातरि, विपा० १श्रु०३अ०।

महापीढ–महापीठ–पुं०। पूर्वविदेहपुष्कलावतीविजयपुण्डरीकिणीनगरीजा ते ऋषभदेवपूर्वभवजीववज्रनाभस्य भ्रातरि, आ० चू० १ अ०। आ०म०। पञ्चा०। आ० क०। ऋषभपुत्रे, "सुबाहू य महापीढो य पव्वायाता" आ० चू० १ अ०।

महापुंडरीय–महापुण्डरीक–पुं०। रुक्मिवर्षधरपर्वतोपरिस्थे बुद्धिदेव्यावासह्रदे, स्था० २ ठा० ३ उ०। स०। औ०। जी०। कालोदसमुद्रदेवे, स्था० १० ठा०। विशाले श्वेताम्बुजे, नपुं०। रा०। जं०। सप्तमदेवलोकविमानभेदे, स० १७ सम०।

महापुर–महापुर–न०। स्वनामख्याते नगरे, विपा०२श्रु०७अ०।

महापुरा–महापुरा–स्त्री०। महापद्मविजयक्षेत्रराजधान्याम्, महापद्मो विजयो महापुरी राजपूर्यदमावतीवक्षस्कारः, "महापुरं णयरं रत्तासोगं उज्जाणं रत्तपालो जक्खो बले राया सुभद्दा देवी महाबले कुमारे रत्तवती पामोक्खा णं पंच सया" विपा० २ श्रु० ७ अ०। धातकीखण्डान्तर्गते विजयक्षेत्रे जातायां नगर्याम्, स्था०।

दो महापुरा। स्था० २ ठा० ३ उ०।

महापुरिस–महापुरुष–पुं०। प्रधानपुरुषे, आसितद्वैपायनपाराशरादिमहर्षिषु, वल्कलचीर–तारागणर्षिप्रभृतौ। (एषां महापुरुषत्वेन वर्णनं भारतादिषु) सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। जात्याद्युत्तमे, प्रश्न० ४ संव० द्वार। महापुरुषा बलदेवतीर्थंकरादयः। पं० व० ३ द्वार। औत्तराहाणां किंपुरुषाणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०। प्रज्ञा०। भ०।

महापुरिसचरित्त–महापुरुषचरित्र–न०। स्वनामख्याते तीर्थंकरचरितनिबद्धे ग्रन्थे, संघा० १ अधि०। प्रश्न०।

महापुरिससेविय–महापुरुषसेवित–त्रि०। तीर्थकरादिसेविते, पं०सू० २ सूत्र।

महापुरिसाणुचिण्ण–महापुरुषानुचीर्ण–त्रि०। महापुरुषैस्तीर्थकरगणधरादिभिरुत्तमनरैरनुचीर्णमेकदाऽऽसेवनात्पश्चादप्यासेवितं महापुरुषानुचीर्णम्। तीर्थकरादिभिराचरिते, पा०। सूत्र०।

महापोय–महापोत–पुं०। महाबोहित्थे, आव० ४ अ०।

महाफलिह–महास्फटिक–न०। शिखरिपर्वतस्थ उत्तरकूटानामुत्तरदिशि कूटे, द्वी०।

महाबल–महाबल–पुं०। महद्बलं शरीरप्राणो यस्य स महाबलः। जी०३ प्रति०१ अधि०२ उ०। सू० प्र०। प्राणवति, स्था० ८ ठा०। आव०। चं० प्र०। प्रशस्तबले, स०। ऐरवते भविष्यति त्रयोदशे तीर्थकरे, ति०। जं०। स०। आव०। ती०। भारतवर्षे भविष्यति तृतीये बलदेवे, स०। कल्प०।

महाबाहु–महाबाहु–पुं०। भारतवर्षे भविष्यति द्वितीयबलदेवे, स०। ती०। श्रोत्रेन्द्रियलम्पटस्य ब्रह्मस्थलपुरस्थदामस्य राज्ञो लघुभ्रातरि, ग० २ अधि०। "महाबाहू नाम वासुदेवो पुच्छइ" अपरविदेहवासुदेवे, आव० ४ अ०। आ० चू०। कल्प०।

महाभद्दा–महाभद्रा–स्त्री०। अहोरात्रकायोत्सर्गरूपायामहोरात्रचतुष्टयमानायां प्रतिमायाम्, स्था० २ ठा० ३ उ०। कल्प०। औ०। आ० म०। स्था०। (अस्या व्याख्या 'पडिमा' शब्दे पञ्चमभागे ३३२ पृष्ठे गता) भूतद्वीपदेवे, पुं०। सू० प्र० १६ पाहु०। स०।

महाभवोघ–महाभवौघ–पुं०। चतुर्गतिके संसारसागरे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

महाभाग–महाभाग–पुं०। महांश्चासौ भागश्च महाभागः। भागशब्दः पूजावचनम्। महापूज्ये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। उत्त०। पञ्चा०। आ० म०। ग०। भागोऽचिन्त्या शक्तिराह च भाष्यकृद्–"भागोऽचिन्त्या शक्तिरिति" महान् भागोऽस्य महाभागः। अचिन्त्यशक्तियुक्ते, त्रि०। आ० म०। महान्तं भजतीति महाभागः। जिनाराधके, आ० चू० १ अ०।

महाभागा–महाभागा–स्त्री०। रक्तावतीनदीसङ्गते नदीभेदे, स्था० १० ठा०।

महाभिताव–महाभिताप–पुं०। महाभितापिते सन्तापोपेते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। महादुःखैककार्ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

महाभिसेय–महाभिषेक–पुं०। ईश्वरतलवरादीनामभिषेकाणां महत्तरोऽभिषेको महाभिषेकः। राजत्वेनाभिषिक्ते, नि० चू० ६ उ०।

महाभीम–महाभीम–त्रि०। अतिभयानके, दर्श० ४ तत्त्व। आव०। औत्तराहाणां देवानामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०। प्रज्ञा०। भ०। अष्टमप्रतिवासुदेवे, स०। ति०।

महाभीमसेण–महाभीमसेन–पुं०। जम्बूद्वीपभरतखण्डेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते सप्तमे कुलकरे, स्था० १० ठा०।

महाभुज–महाभुज–पुं०। शिखरतलकूटविशेषाधिपतौ पल्योपमायुःस्थितिके देवविशेषे, द्वी०।

महाभूयवर–महाभूतवर–पुं०। भूतवरसमुद्रदेवे, सू० प्र० १६ पाहु०।

महाभेरव–महाभैरव–न०। मध्यमपापासमीपे उद्याने, आ० म० १ अ०।

महाभेरी–महाभेरी–स्त्री०। बृहत्प्रमाणायां भेर्याम्, अनु०।

महामइगढिय–महामतिग्रथित–त्रि०। महाबुद्धिपुरुषरचितसन्दर्भे, षो० ६ विव०।

महामंडलिय–महामाण्डलिक–पुं०। अनेकदेशाधिपतौ देवे, अनु०। जी०। प्रज्ञा०।

महामंति–महामन्त्रिन्–पुं०। मन्त्रिमण्डलप्रधाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। भ०। औ०। विशेषाधिकारवति, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। रा०।

महामगर–महामकर–पुं०। जलचरजीवभेदे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

महामणिपेढ–महामणिपीठ–पुं०। बृहति बह्वर्थे पीठे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महामरुता-महामरुता-स्त्री० । श्रेणिकस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम् , अन्त० १ श्रु० ७ वर्ग । (सा च वीरान्तिके प्रव्रज्य विंशतिवर्षपर्याया सिद्धा इत्यन्तकृद्दशानां सप्तमवर्गे सप्तमाध्ययने सूचितम्)

महामह-महामह-पुं० । इन्द्रमहादिषु, आव० ।

के य ते पुण महामहा ? उच्यन्ते—

आसाढी इंदमहो, कत्तिअ सुगिम्हए अ बोद्धव्वे ।
एए महामहा खलु, एएसिं चेव पाडिवया ॥ १३३८॥

आसाढी—आसाढपुन्निमा , इह लाडाणं सावणपुन्निमाए भवति, इंदमहो आसोयपुन्निमाए भवति, ' कत्तिय त्ति ' कत्तियपुन्निमाए चेव सुगिम्हओ चेत्तपुन्निमा। आव० ४ अ० । नि० चू० । आचा० ।

महामहद्वारमाह—

सक्कमहादीएसु य, पमत्तमाणं सुराछले ठवणा ।
पीणिज्जंतु व अदढा, इतरे उ वहंति न पढंति ॥४१२॥

महामहाः-शक्रमहादयः, आदिशब्दात्सुग्रीष्मकमहादिपरिग्रहः, तेषु (ठवण त्ति) एता गाढयोगप्रतिपन्नास्तेषां योगो निक्षिप्यते, किं कारणमिति चेत्? अत आह-मा तं प्रथमतः सन्तं काचित् मिथ्यादृष्टिर्देवता छलयेत्। अन्यच्च-तेषु दिवसेषु विकृतयो लभ्यन्ते, ततो ये अदृढा दुर्बलाः सन्ति तैर्विकृतिपरिभोगत आप्यायन्तामिति योगनिक्षेपणम्। ये पुनरितरे-आगाढयोगवाहिनः तेषां योगो न निक्षिप्यते केवलमन्यत् नो दिशन्ति नापि पठन्ति। व्य० ४ उ० ।

महामाउ-महामातृ-स्त्री० । पितृज्येष्ठभ्रातृजायायाम् , मातृज्येष्ठायां सपत्न्याम् , विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

महामाठर-महामाठर-पुं० । ईशानेन्द्रस्य देवराजस्य रथाऽनीकाधिपतौ, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

महामाहण-महामाहन-पुं० । महाँश्चासौ माहनश्चेति । मनःप्रभृतिकरणादिभिराजन्मसूक्ष्मादिभेदभिन्नजीवहननानिवृत्ते, उत्त० ३ अ० ।

महामुणि-महामुनि-पुं० । मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, सर्वज्ञत्वात्। महांश्चासौ मुनिश्च महामुनिः । अथवा-मुनयः साधवस्तेषां महान् प्रधानो महामुनिः । विशे० । महातपस्विनि,उत्त० २ अ० । सूत्र० । जिनकल्पिकादौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । प्रशस्तयतौ , उत्त० २ अ० । यथावस्थितत्रैकालवेदिनि, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । आचा० । आ० म० । ज्ञानसम्पन्ने , पो० १ विव० । आ० चू० । दर्श० । परमनिर्ग्रन्थे, अष्ट० ३१ अष्ट० ।

महामुणिचरित-महामुनिचरित-न० । महान्तश्च ते मुनयश्च महामुनयः स्थूलभद्रवज्रस्वाम्यादयः पूर्वर्षयस्तेषां चरितानि-चेष्टितानि । महामुनिचेष्टितेषु , ध० ३ अधि० ।

महामेह-महामेघ-पुं० । प्रभूतजलदायके वृहन्मेघे, अनु० । (एते ' उस्सप्पिणी ' शब्दे द्वितीयभागे ११६६ पृष्ठे दर्शिताः)

महामेहणिउरंबभूय-महामेघनिकुरम्बभूत-पुं० । महान् जलभारावनतः प्रावृट्कालभावी मेघनिकुरम्बो मेघसमूहस्तथा भूतो गुणैः प्राप्तो महामेघनिकुरम्बभूतः । महामेघवृन्दोपमे, जी० ३ प्रति० १ उ० ।

महामोह-महामोह-पुं० । महाँश्चासौ मोहश्च महामोहः । मिथ्यात्वे, दर्श० १ तत्त्व । भवशते दुःखवेदनीये कर्मणि, दशा० ६ अ० । आचा० । रा० । (महामोहकारणानि ' मोहणिज्जट्ठाण, शब्दे वक्ष्यामि) योगिपरिभाषया रागे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

महायत्तो-देशी-आर्द्रे, दे० ना० ६ वर्ग ११६ गाथा ।

महायारकहा-महाचारकथा-स्त्री० । महत्या आचारकथायाः प्रतिपादके दशवैकालिकस्याध्ययने, दश० ।

जो पुव्विं उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो ।
सच्चेव य होइ कहा, आयारकहाए महईए ॥ २४५ ॥

यः पूर्वं क्षुल्लकाचारकथायां निर्दिष्टः उक्तः, आचारः-ज्ञानाचारादिः, असावहीनातिरिक्तो वक्तव्यः । सैव च भवति कथा, आक्षेपण्यादिलक्षणा वक्तव्या । चशब्दात्तदेव क्षुल्लकप्रतिपक्षोक्तं महद् वक्तव्यम् , आचारकथायां महत्यां प्रस्तुतायामिति गाथार्थः । दश० ५ अ० २ उ० ।

महारंभ-महारम्भ-त्रि० । महानारम्भो वहनोष्ट्रमण्डलिकागन्त्रीप्रवाहकृषिपशुपोषणादिको यस्य स महारम्भः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । महानिच्छापरिमाणेनाकृतमर्यादया वृहदारम्भः पृथिव्याद्युपमर्दनलक्षणो यस्य स महारम्भः । चक्रवर्त्यादिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । पञ्चेन्द्रियादिव्यपरोपणप्रधानकर्मकारिणि, स्था० ३ ठा० १ उ० । सूत्र० । दशा० ।

महारंभया-महारम्भता-स्त्री० । चक्रवर्तित्वादौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

महारण-महारण-न० । महासंग्रामे, स० ।

महारम्म-महारम्य-त्रि० । अतिरमणीये, पञ्चा० ८ विव० ।

महारयण-महारत्न-न० । प्रधानरत्ने,'महारत्नं वज्रं'स०।आव०।

महारह-महारथ-पुं० । प्रकरणादत्र नारायणः-तस्मिन् , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

महाराय-महाराज-पुं० । लोकपाले,नि० १ श्रु० १ वर्ग ७ अ० । आ० म० । स्था० । भ० ।

महारायत्त-महाराजत्व-न० । लोकपालत्वे, स० ७८ सम० ।

महारिट्ठ-महारिष्ट-पुं० । बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य नाट्यानीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा० ।

महारिसि-महर्षि-पुं० । संयतात्मनि,आ० म० १ अ० । सूत्र० ।

महारिह-महार्ह-त्रि० । महार्हे, तं० । ज्ञा० । महमुत्सवमर्हतीति महार्हः । परमोत्सवार्हे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० । विपा० । बहुमूल्ये, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

महारोरुय-महारौरुक-पुं० । सप्तमनरकपृथ्वीस्वरूपे महानरके, स्था० ५ ठा० ३ उ० । जी० । ज्यो० । सूत्र० । प्रज्ञा० । स० ।

महारोहिणी-महारोहिणी-स्त्री० । स्वनामख्यातायां महाविद्यायाम् , आ० चू० ४ अ० ।

महालक्खो-देशी-तरुणे, दे० ना० ६ वर्ग १२१ गाथा । भाद्रपदीयश्राद्धपक्षे, दे० ना० ६ वर्ग १२७ गाथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महालच्छी-महालक्ष्मी-स्त्री० । महाविष्णोर्भार्यायां पालगोपालस्यापरमातरि, तं० ।

महालय-महालय-पुं० । महान् महतां वा आलय आश्रितः । राजमार्गे, भावतस्तु महद्भिस्तीर्थकरादिभिरप्याश्रिते सम्यग्दर्शनादिमुक्तिमार्गे, उत्त० १० अ० । सूत्र० । स्था० । आचा० । क्षेत्रस्थितिभ्यां महत्सु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । स० । " मा कासि कम्माइँ महालयाइँ " उत्त० १३ अ० । सूत्र० । उत्सवाश्रयभूते, स० ५३ सम० ।

महालयसव्वतोभद्दा-महालयसर्वतोभद्रा-स्त्री० । सर्वतोभद्रप्रतिमाभेदे, अन्त० ।

महालयं सव्वतोभद्दं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तं जहा—चउत्थं करेति, चउत्थं करित्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारित्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करित्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारित्ता अट्ठमं करेति, अट्ठमं करित्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारित्ता दसमं करेति, दसमं करित्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दुवालसं करेति, दुवालसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोद्दसं करेति, चउद्दसं करित्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता सोलसमं करेति, सोलसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दसमं करेति, दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकागगुणियं पारेत्ता दुवालसं करेति, दुवालसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउद्दसं करेति, चउद्दसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता सोलसं करेति, सोलसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठमं करेति, अट्ठमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता सोलसं करेति, सोलसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता सव्वकासगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठमं करेति, अट्ठमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दसमं करेति, दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दुवालसं करेति, दुवालसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोद्दसं करेति, चोद्दसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठमं करेति, अट्ठमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दसमं करेति, दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दुवालसं करेति, दुवालसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोद्दसमं करेति, चोद्दसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता सोलसं करेति, सोलसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोद्दसं करेति, चोद्दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता सोलसमं करेति, सोलसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठमं करेति, अट्ठमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दसमं करेति, दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दुवालसं करेति, दुवालसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठमं करेति, अट्ठमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दसमं करेति, दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दुवालसं करेति, दुवालसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोद्दसमं करेति, चोद्दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता सोलसमं करेति, सोलसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दुवालसं करेति, दुवालसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोद्दसमं करेति, चोद्दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता सोलसमं करेति, सोलसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठमं करेति, अट्ठमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता दसमं करेति, दसमं करेत्ता, एक्केकाए, लयाए अट्ठ मासा पंच य दिवसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चउण्हं दो वासा अट्ठ मासा वीसं दिवसा सेसं तहेव० जाव सिद्धा। (सूत्र-२३)

अन्त० ८ वर्ग ७ अ०। महालया आलयप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वाद्। अतिशयातिशयगुरुके, भ० १ श० १ उ०। विपा०। अनु०।

महालो-देशी--जारे, दे० ना० ६ वर्ग ११६ गाथा।

महालस-महालस-त्रि०। अत्यन्तमलसे, महा० ३ अ०।

महालोहिअक्ख--महालोहिताक्ष--पुं०। बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य महिषानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ०।

महावक्कऽत्थ-महावाक्यार्थ--पुं०। प्रक्षिप्तेतरसर्वधर्मात्मकत्व-वस्तुप्रतिपादकानेकान्तवादविषयार्थे, षो० ११ विव०।

महावक्कत्थय-महावाक्यार्थज--त्रि०। अनेकान्तविषयार्थज-न्ये, षो० ११ विव०।

महावच्छ--महावत्स--पुं० जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वे शीताया महानद्या दक्षिणेऽपराजितराजधानीयुक्ते विजयक्षेत्रयुगले, स्था० ८ ठा०। महावत्सो विजयोऽपराजिता राजधानी वैश्रमणकूटो नाम वक्षस्काराद्रिः। जं० ४ वक्ष०।

महावज्जा-महावर्ज्या--स्त्री०। लोकपीडया सावद्यायां वसतौ, पं० व० ३ द्वार। ('वसहि' शब्दे दर्शयिष्यते)

महावण-महावन--न०। मथुरायां स्वनामख्याते वने, ती० ८ कल्प। उत्त०।

महावप्प-महावप्र--पुं०। जम्बूमन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या उत्तरे जयन्तिकापुरीप्रतिबद्धे विजयक्षेत्रयुगले, स्था० ८ ठा०। आ० क०।

दो महावप्पा। स्था० २ ठा० ३ उ०।

महावराह-महावराह--पुं०। महाकायसूकरे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

महावल्ली--देशी-नलिन्याम्, दे० ना० ६ वर्ग १२२ गाथा।

महावाय--महावात-पुं०। उद्दण्डवाते, ज्ञा० १ श्रु० १० अ०। अनल्पवाते, भ० ५ श० २ उ०। आचा०।

महावाउ-महावायु-पुं०। ईशानेन्द्रस्य पीठानीकाधिपतौ अश्वराजे, स्था० ५ ठा० १ उ०।

महाविगइ--महाविकृति--स्त्री०। महारसे, महाविकारकारित्वात्। महाविकृतयो महारसत्वेन महाविकारकारित्वान्महतः सत्त्वोपघातस्य कारणत्वात्। स्था०।

चत्तारि महाविगईओ पण्णत्ताओ। तं जहा-महुं मंसं मज्जं णवणीयं। (सूत्र-२७४)

मद्यभेदे च। स्था० ४ ठा० १ उ०।

महाविजय-महाविजय-न०। महान् विजयो यत्र तत् महाविजयम्। पुष्पोत्तरनामके विजयिनि विमानभेदे, कल्प०। (पुप्फुत्तर त्ति) पुष्पोत्तरनामकम् (पवरपुण्डरीयाओ त्ति) प्रवरेषु अन्यश्रेष्ठविमानेषु पुण्डरीकमिव श्वेतकमलमिव अतिश्रेष्ठमित्यर्थः। तस्मात् (महाविमाणाउ त्ति) महाविमानात्। कल्प० १ अधि० १ क्षण। जी०। आ० चू०।

महाविज्ज-महावैद्य-पुं०। केवलिचतुर्दशपूर्ववित्प्रभृतौ भवरोगनिदानवेत्तरि, आव० ४ अ०। अष्टाङ्गायुर्वेदरूपस्य धन्वन्तरिप्रणीतस्य वैद्यकशास्त्रस्य यथाऽऽम्नायमधीतवति, बृ० १ उ०।

महाविज्जा-महाविद्या-स्त्री०। महापुरुषप्रदत्तविद्यायाम्, आ० म० १ अ०।

महाविदेह-महाविदेह-पुं०। जम्बूद्वीपमध्यगते वर्षे, जं०।

तद्वक्तव्यतामाह—

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे णामं वासे पण्णत्ते ?। गोअमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं पुर (च्छि) त्थिमलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं पच्चत्थिमलवणसमुद्दस्स पुरत्थिमेणं, एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे णामं वासे पण्णत्ते। पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे पलिअंकसंठाणसंठिए दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरत्थिम० जाव पुट्ठे, पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं ०जाव पुट्ठे, तित्तीसं जोअणसहस्साइं छच्च चुलसीए जोअणसए चत्तारि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं ति। तस्स बाहा पुरत्थिमपच्चत्थिमे णं तेत्तीसं जोअणसहस्साइं सत्त य सत्तसट्ठे जोअणसए सत्त य एगूणवीसइभाए जोअणस्स आयामेणं ति, तस्स जीवा बहुमज्झदेसभाए पाईणपडीणायया दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठा पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं ०जाव पुट्ठा, एवं पच्चत्थिमिल्लाए ०जाव पुट्ठा, एगं जोयणसयसहस्सं आयामेणं ति, तस्स धणुं उभओ पासिं उत्तरदाहिणेणं एगं जोअणसयसहस्सं अट्ठावण्णं जोअणसहस्साइं एगं च तेरसुत्तरं जोअणसयं सोलस य एगूणवीसइभागे जोयणस्स किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं ति।

"कहि णमित्यादि' क भदन्त ! इत्यादि सूत्रं स्वयं योज्यम्, नवरं महाविदेहं नाम वर्षं-चतुर्थं क्षेत्रं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य चतुर्थस्य क्षेत्रविभागकारिणो दक्षिणेनेत्यर्थः। (णिसहस्स इत्यादि) व्यक्तम्, नवरं पल्यङ्कसंस्थानसंस्थितमायतचतुरस्रत्वात्, विस्तारेण त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि षट् च योजनशतानि चतुरशीत्यधिकानि चतुरश्चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य विष्कम्भेन, निषधविष्कम्भाद् द्विगुणविष्कम्भकत्वात्। अथ बाहादिसूत्रत्रयमाह-(तस्स बाहा इत्यादि) तस्य महाविदेहस्य वर्षस्य पूर्वापरभागेन बाहा प्रत्येकं त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि सप्त च योजनशतानि सप्तषष्ट्यधिकानि सप्त च एकोनविंशतिभागान् योजनस्य आयामेनेति। ननु "महया धणुपट्ठाओ, डहरागं सोहिआ हि धणुपट्ठं। जं तत्थ हवइ से-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सं, तस्सद्धे णिद्दिसे वाहं ॥ १ ॥ " इति वचनात् । महतो धनुःपृष्ठाद्विदेहानां दक्षिणार्द्धस्योत्तरार्द्धस्य च संबन्धिनो लक्षमेकमष्टपञ्चाशत् सहस्राणि शतमेकं त्रयोदशाधिकं योजनानां षोडश च कलाः सार्द्धा योजन १५८११३ कलाः १६ कलार्द्धं चेत्येवं परिमाणाल्लघुधनुःपृष्ठं निषधादिसंबन्धिलक्षमेकं चतुर्विंशतिसहस्राणि त्रीणि शतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि योजनानां नव च कला योजन१२४३४६ कलाः९ इत्येवं परिमाणं शोधय। ततश्च शेषमिदं त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि सप्त शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि योजनानां सप्त च कलाः सार्द्धाः योजनानां ३३७६७ कलाः ७ कलार्द्धं ½ च, एषामर्द्धे षोडश योजनसहस्राणि अष्टौ शतानि त्र्यशीत्यधिकानि योजनानां त्रयोदश च कलाः सपादा इत्येवं रूपा बाहा विदेहानां सम्भवन्ति, अत्र तु त्रयस्त्रिंशत् सहस्रादिरूपा उक्ता तत्किमिति ?, उच्यते-सर्वत्र वैताढ्यादिषु पूर्वबाहा अपरबाहा च यावती दक्षिणतस्तावती उत्तरतोऽपि परं व्यवहितत्वेन सा संमील्य नोक्ता, इयं तु संमिलितत्वात्संमील्यैवोक्ता, सूत्रे दक्षिणबाहाप्रमाणैवोत्तरबाहेत्येनमर्थं बोधयितुमिति । अथास्य जीवामाह—(तस्स जीवा इत्यादि) तस्य विदेहस्य जीवा बहुमध्यदेशभागे विदेहमध्ये इत्यर्थः । अन्येषां तु वर्षवर्षधराणां चरमप्रदेशपङ्क्तिर्जीवा, अस्य तु मध्यप्रदेशपङ्क्तिरित्यर्थः, इयमेव च जम्बूद्वीपमध्यम् , अत एव चायामेन लक्षयोजनमाना, मध्यमात्परतस्तु जम्बूद्वीपस्य सर्वत्र दक्षिणत उत्तरतो वा लक्षान्न्यूनन्यूनमानत्वात् , अथास्य धनुःपृष्ठमाह—(तस्स धणुं इत्यादि) तस्य विदेहस्योभयोः पार्श्वयोः एतदेव विवृणोति—(उत्तरदाहिणे णं ति) उत्तरपार्श्वे दक्षिणपार्श्वे वा एकं योजनलक्षम् अष्टपञ्चाशच्च योजनसहस्राणि एकं च योजनशतं त्रयोदशोत्तरं षोडश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य किञ्चिद्विशेषाधिकान् परिक्षेपेण, यच्चान्यत्र सार्द्धाः षोडश कला उक्तास्तदत्र किंचिद्विशेषाधिकपदेन संगृहीतम् ,उद्धरितकलांशास्तु विवक्षिता इति । अत्राधिकार्थसूचनार्थं करणान्तरं वक्ष्यते—जम्बूद्वीपपरिधिस्तिस्रो लक्षाः षोडश सहस्राणि द्वे शते सप्तविंशत्यधिके योजनानां क्रोशत्रयमष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलान्येकमर्द्धाङ्गुलम् , योजन ३१६२२७ क्रोश ३ धनूंषि १२८ अङ्गुलानि १३ अर्द्धाङ्गुलम् तत्र योजनराशिरर्द्धीक्रियते, लब्धमेकं लक्षमष्टापञ्चाशत् सहस्राणि शतमेकं त्रयोदशाधिकं योजनानि १५८११३, यत्त्वेकं योजनं शेषं तत्कलाः क्रियन्ते लब्धाः एकोनविंशतिः कोशत्रये च लब्धाः सपादाश्चतुर्दश कलाः, उभयमीलने जाताः सपादास्त्रयस्त्रिंशत् कलाः, तासामर्द्धे लब्धाः सार्द्धाः षोडश कलाः । यश्च कलाया अष्टमो भागोऽधिक उद्धरति यामि च धनुषामर्द्धे लब्धानि चतुःषष्टिर्धनूंषि यानि च सार्द्धत्रयोदशाङ्गुलानामर्द्धे पादोनानि सप्ताङ्गुलानि तदेतत्सर्वमल्पत्वान्न विवक्षितमिति।

अधुना विदेहवर्षस्य भेदान्निरूपयन्नाह—

महाविदेहे णं वासे चउव्विहे चउप्पडोआरे पण्णत्ते । तं जहा-पुव्वविदेहे १, अवरविदेहे २, देवकुरा ३, उत्तरकुरा ४ । महाविदेहस्स णं भंते ! वासस्स केरिसए आगारभावपडोआरे पण्णत्ते ?। गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ०जाव कित्तिमेहिं चेव अकित्तिमेहिं चेव । महाविदेहे णं भंते ! वासे मणुआणं केरिसए आयारभावपडोआरे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तेसि णं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउअं पालेंति पालेत्ता अप्पेगइया णिरयगामी ०जाव अप्पेगइया सिज्झंति ०जाव अंतं करेंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-महाविदेहे वासे म० २ गोअमा ! महाविदेहे णं वासे भारहेरवयहेमवयहेरण्णवयहरिवासरम्मगवासेहिंतो आयामविक्खम्भसंठाणपरिणाहेणं वित्थिण्णतराए चेव विपुलतराए चेव महंततराए चेव सुप्पमाणतराए चेव महाविदेहा य इत्थ मणूसा परिवसंति, महाविदेहे य इत्थ देवे महिड्ढिए ०जाव पलिओवट्ठिइए परिवसइ, से तेणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ-महाविदेहे वासे म०२, अदुत्तरं च णं गोअमा ! महाविदेहस्स वासस्स सासए णामधेज्जे पण्णत्ते, जं ण कयाइ णाऽसि ण कयाइ णऽत्थि ण कयाइ ण भविस्सइ ।। सूत्र-८५ ।।

(महाविदेहे णं इत्यादि) महाविदेहं वर्षं चतुर्विधं-चतुष्प्रकारं पूर्वविदेहाद्यन्यतरस्य महाविदेहत्वेन व्यपदिश्यमानत्वात् , अत एव चतुर्षु-पूर्वापरविदेहदेवकुरूत्तरकुरुरूपेषु क्षेत्रविशेषेषु प्रत्यवतारः-समवतारो विचारणीयत्वेन यस्य तत्तथा, चतुर्विधस्य पर्यायो वाऽयम् , तत्र पूर्वविदेहो यो मेरोर्जम्बूद्वीपगतः प्राग्विदेहः, एवं पश्चिमतः सोऽपरविदेहः, दक्षिणतो देवकुरुनामा विदेहः, उत्तरतस्तु उत्तरकुरुनामा विदेहः। ननु पूर्वापरविदेहयोः समानक्षेत्रानुभावकत्वेन महाविदेहव्यपदेश्यताऽस्तु, देवकुरूत्तरकुरूणां त्वकर्मभूमिकत्वेन कथं महाविदेहत्वेन व्यपदेशः ? उच्यते-प्रस्तुतक्षेत्रयोर्भरताद्यपेक्षया महाभोगत्वात् महाकायमनुष्ययोगित्वान्महाविदेहदेवाधिष्ठेयत्वाच्च महाविदेहवाच्यता समुचितैवेति सर्वं सुस्थम् । अथास्य स्वरूपं वर्णयितुमाह—(महाविदेह इत्यादि) प्राग्वत् , अत्र यावत्करणात् " आलिंगपुक्खरेइ वा ०जाव णाणाविह पंचवण्णेहिं मणीहिं तणेहि अ उवसोभिए " इति । संप्रत्यत्र मनुजस्वरूपमाह—'महाविदेहे णं' इत्यादि प्राग्वत् , आभ्यां सूत्राभ्यामस्य कर्मभूमित्वमभाणि, अन्यथा कर्षकादिप्रवृत्तानां तृणादीनां कृत्रिमत्वं तद्वंशजातानां च मनुष्याणां पञ्चमगतिगामित्वं न स्यात्। अथास्य नामार्थं प्रश्नयन्नाह—" से केण ट्ठेणमित्यादि "प्राग्वत् ,प्रश्नसूत्रं सुगमम्। उत्तरसूत्रे-गौतम ! महाविदेहवर्षं भारतैरवतहैमवतहैरण्यवतहरिवर्षरम्यकवर्षेभ्यः आयामविष्कम्भसंस्थानपरिणाहेन, समाहारादेकवद्भावः।तत्राऽऽयामादित्रिकं प्रतीतम्, परिणाहः-परिधिः, अत्र च व्यस्ततया विशेषणनिर्देशेऽपि योजना यथासम्भवं भवतीत्यायामेन महत्तरक एव लक्षप्रमाणजीवाकत्वात् , तथा विष्कम्भेन विस्तीर्णतरक एव साधिकचतुरशीतिषट्शताधि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कत्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्रप्रमाणत्वात्, तथा संस्थानेन पल्यङ्करूपेण विपुलतरक एव पार्श्वद्वयेऽपीषयोस्तुल्यप्रमाणत्वात्। हैमवतादीनां पल्यङ्कसंस्थितत्वेऽपि पूर्वजगतीकोणानां संवृतत्वेन पूर्वापरयोर्वैषम्यादिति। तथा परिणाहेन सुप्रमाणतरक एव, एतद्धनुःपृष्ठस्य जम्बूद्वीपपरिध्यद्धमानत्वादिति, अत एव महान्—अतिशयेन,विशिष्टो-गरीयान्, देहः-शरीरमाभोग इति यावत् येषां ते महाविदेहाः। अथवा-महान्-अतिशयेन, विशिष्टो गरीयान्, देहः-शरीरं कलेवरं येषां ते तथा, ईदृशास्तत्रत्या मनुष्याः, तथाहि-तत्र विजयेषु सर्वदा पञ्चधनुःशतोच्छ्रया देवकुरूत्तरकुरुषु त्रिगव्यूतोच्छ्रयाः ततो महाविदेहमनुष्ययोगादिदमपि क्षेत्रं महाविदेहाः। महाविदेहश्चशब्दः स्वभावाद्बहुवचनान्त एव, एतच्च प्रागेवोक्तम्। ततो बहुवचनेन व्यवह्रियते, दृश्यते च क्वचिदेकवचनान्तोऽपि, तदपि प्रमाणम्, पूर्वमहर्षिभिस्तथाप्रयोगकरणात्। अथवा-महाविदेहनामा देवोऽत्राधिपत्यं परिपालयति, तेन तद्योगादपि महाविदेह इति, शेषं प्राग्वत्। जं० ४ वक्ष०। स्था०। प्रव०। प्रज्ञा०। विपा०। स०। आ० चू०। (उत्तरकुरुवक्तव्यता 'उत्तरकुरा' शब्दे द्वितीयभागे ७५७ पृष्ठे गता) (कच्छादिविजयानां वर्णकः कच्छाऽऽदिशब्देषु) पिशाचविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

जम्बुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-पुव्वविदेहे, अवरविदेहे, देवकुरा, उत्तरकुरा।

स्था० ४ ठा०। (महाविदेहे कल्याणचिन्ता 'कल्लाण' शब्दे तृतीयभागे ३८४ पृष्ठे कृता।)

महाविदेहा–महाविदेहा–स्त्री०। शरीराद्बहिर्नैरपेक्ष्येण मनोवृत्तौ, द्वा०। शरीराद्बहिर्या शरीरनैरपेक्ष्येण मनोवृत्तिः सा महाविदेहेत्युच्यते, शरीराऽहंकारविगमात्। अत एवाकल्पितत्वेन महत्त्वात् शरीराऽहंकारे सति हि बहिर्वृत्तिर्मनसः कल्पितोच्यते। तस्याः कृतसंयमायाः सकाशात् प्रकाशस्य शुद्धसत्त्वलक्षणस्य यदावरणं क्लेशकर्मादि तत्क्षयो भवति, सर्वे चित्तमलाः क्षीयन्त इति यावत्। तदुक्तम्—"बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षय इति। द्वा० २६ द्वा०।

महाविमाण–महाविमान–न०। अनुत्तरविमानेषु, स्था०।

उड्ढलोगे पंच अणुत्तरा महइमहाविमाणा पण्णत्ता। तं जहा—विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिए, सव्वट्ठसिद्धे।

स्था० ५ ठा० २ उ०। सूत्र०।

महाविल–देशी–व्योम्नि, दे०ना० ६ वर्ग १२१ गाथा।

महाविस–महाविष–पुं०। महज्जम्बूद्वीपप्रमाणशरीरस्यादिविषतया भवनात् विषं यस्य सः। ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। प्रधानविषयुक्ते, आव० ४ अ०। जम्बूद्वीपप्रमाणस्यापि शरीरस्य व्यापनसमर्थे विषे, भ० १५ श०।

महाविसय–महाविषय–त्रि०। बृहद्गोचरे, पञ्चा० ८ विव०। आव०। दर्श०।

महाविहि–महाविधि–पुं०। बृहद्विधौ,सूत्र०१ श्रु० २ अ०१उ०।

महावीर–महावीर–पुं०। महांश्चासौ वीरश्च कर्मविदारणसहिष्णुर्महावीरः। तं०। 'शूर' 'वीर' विक्रान्तौ। कषायादिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीरः। आ० म० १ अ०। दश०। स्था०।

एगे समणे भयवं महावीरे इमीसे ओसप्पिणीए चउव्वीसाए तित्थगराणं चरमतित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे। (सूत्र–५३)

(एगे समणे इत्यादि) एकः—असहायः, अस्य च सिद्ध इत्यादिना संबन्धः, श्राम्यति—तपस्यतीति श्रमणः, भज्यत इति भगः-समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, उक्तं च—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना॥१॥" इति।

स विद्यते यस्येति भगवान्, तथा विशेषेणेरयति—मोक्षं प्रति गच्छति गमयति वा प्राणिनः, प्रेरयति वा—कर्माणि निराकरोति, वीरयति वा—रागादिशत्रून् प्रति पराक्रमयति इति वीरः, निरुक्तितो वा वीरो, यदाह—

"विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते।
तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद् वीर इति स्मृतः॥१॥"

इतरवीराऽपेक्षया महांश्चासौ वीरश्चेति महावीरः, भाष्योक्तं च-

"तिहुयणविक्खायजसो, महाजसो नामओ महावीरो।
विक्कंतो य कसायाऽऽइ-सत्तुसेन्नपराजयओ॥१॥
ईरेइ विसेसेण व, खिवइ कम्माइ गमयइ सिवं वा।
गच्छइ अ तेण वीरो, स महं वीरो महावीरो॥२॥" इति।

अस्यामवसर्पिण्यां चतुर्विंशतेस्तीर्थकराणां मध्ये चरमतीर्थकरः सिद्धः—कृतार्थो जातः। बुद्धः—केवलज्ञानेन बुद्धवान् बोध्यम्, मुक्तः कर्मभिः, यावत्करणात् 'अंतकडे' अन्तो भवस्य कृतो येन सोऽन्तकृतः 'परिनिव्वुडे' परिनिर्वृतः कर्मकृतविकारविरहात् स्वस्थीभूतः, किमुक्तं भवति?—"सव्वदुक्खपहीणे" सर्वाणि शारीराऽऽदीनि दुःखानि प्रक्षीणानि-प्रहीणानि वा यस्य स, सर्वदुःखप्रक्षीणः सर्वदुःखप्रहीणो वा। सर्वत्र बहुव्रीहौ क्तान्तस्य यः परनिपातः स आहिताग्न्यादिदर्शनादिति। इह च तीर्थकरेष्वेतस्यैवैकत्वं मोक्षगमने, न तु ऋषभादीनां, दशसहस्रादिपरिवृतत्वेन तेषां सिद्धत्वात्, उक्तं च—

"एगो भगवं वीरो,तेत्तीसाए सह निव्वुओ पासो।
छत्तीसएहिँ पंचहिँ,सएहिँ नेमी उ सिद्धिगओ॥१॥"इति।

स्था० १ ठा०। सूत्र०। कर्मदारणसहिष्णौ, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। सर्वलोकचमत्कृतिकारिणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। आव०। आ० चू०। रा०। ग०। अने०। प्रज्ञा०। पा०। विशे०। स्था०। सूत्र०। अनु०। प्रव०। ल०। (संपूर्णोऽधिकारः 'वीर' शब्दे वक्ष्यते)

समणेणं भगवया महावीरेणं अट्ठ रायाणो मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वाविया। तं जहा-"वीरंगय वीरजसे, संजयए णिज्जए य रायरिसी। सेयसिवे उदायणे, तह संखे कासि वद्धणे॥१॥" (सूत्र–६२१) स्था० ८ ठा० ३ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वंदामि महाभागं, महामुणिं महायसं महावीरं ।
अमरनररायमहियं, तित्थयरमिमस्स तित्थस्स ॥

आ० म० १ अ० । स्था० । पञ्चा० । भ० । जं० । आचा० । स० । आ० चू० । श्रीवीरतीर्थंकृतो द्विसप्ततिवर्षाण्यायुर्मानमुक्तं, तज्जन्मदिनाद्वा गर्भोत्पत्तेर्वा तदायुर्विचार्यमाणं मिथो विघटते तत्किमिति प्रश्ने, उत्तरम्—जन्मपत्राद्यपेक्षया तु जन्मतः, परमार्थतस्तु गर्भोत्पत्तित आयुःपरिमाणं गण्यते, द्वासप्तत्यादिवर्षमानप्रतिपादनं तु न्यूनाधिकमासदिवसानामविवक्षणान्न विसंवदतीति । ६४ प्र० । सेन० २ उल्ला० । श्रीवीरो द्वाविंशे भवे राजा, त्रयोविंशे भवे चक्री, चक्रिणो देवनारकाऽऽगता भवन्त्यन्यतो वेति प्रश्ने, उत्तरम्—आवश्यकवीरचरित्राद्यनुसारेण सिंहभवानन्तरं नारकभवादुद्धृत्य-तिर्यग्मनुष्यादिभवेषु भ्रान्त्वा चक्री जातो, राजभवस्तु स्तोत्रेष्वेव दृश्यते नान्यत्र, तेनादिशब्दग्रहणात्सुरादिभवोऽपि संभाव्यत इति । ११३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । निर्वाणावसरे श्रीवीरेण षोडश प्रहरान् यावद्देशना दत्ता, सा कस्माद्दिनादारभ्य कस्मिन् दिने पूर्णा जातेति प्रश्ने, उत्तरम्—चतुर्दशीदिनादारभ्यामावास्यायाः पाश्चात्यघटिकाद्वयरात्रौ देशना पूर्णा जाता संभाव्यते, यतोऽमावास्यायामेकोनत्रिंशन्मुहूर्ते निर्वाणं कथितमस्ति षोडश प्रहरास्तु ततोऽर्वाग् जाता युज्यन्त इति । ४५० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । महावीरेण कर्णशलाकाकर्षणे कथमाक्रन्दः कृतः, अनन्तबलत्वादिति प्रश्ने, उत्तरम्—अनन्तबलत्वं भगवतां क्षायिकवीर्यमाश्रित्यैवोक्तम्, "अपरिमियबला जिणवरिंदा" इत्यत्र तथा व्याख्यानात्, ततः प्रबलपीडावशाद्भगवत आक्रन्दसंभवेऽपि न किमप्यनुपपन्नमिति । ४६५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

महावीरथुइ–महावीरस्तुति–स्त्री० । वीरस्तवनात्मके सूत्रकृताङ्गस्य षष्ठेऽध्ययने, स० १५ सम० ।

महावीरभासिय–महावीरभाषित–न० । प्रश्नव्याकरणानां तृतीयेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ।

महावीहि–महावीथि–स्त्री० । महती चासौ वीथिश्च । सम्यग्दर्शनादिरूपे मोक्षमार्गे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

महावुट्ठिकाय–महावृष्टिकाय–पुं० । प्रभूतवृष्टौ, स्था० ।

तिहिं ठाणेहिं महावुट्ठिकाए सिया । तं जहा–तंसि च णं देसंसि वा पएसंसि वा बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति, देवा जक्खा नागा भूया सम्ममाराहिया भवंति अन्नत्थ समुट्ठियं उदगपोग्गलं परिणयं वासिउकामं तं देसं साहरंति, अब्भवद्दलगं च णं समुट्ठियं परिणयं वासिउकामं णो वाउकातो विहुणाति, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं महावुट्ठिकाए सिया । (सूत्र–१७६) स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

महावेग–महावेग–पुं० । महोरगविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । भूतनिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

महावेज्ज–महावैद्य–पुं० । अष्टाङ्गायुर्वेदवेत्तरि वैद्ये, वृ० १ उ० ।

महावेयण–महावेदन–न० । महापीडायाम्, भ० ६ श० ३ उ० ।

महावेयणतर–महावेदनतर–त्रि० । महती वेदना जीवानां यस्मात्स तथा । जीवानां महत्या वेदनाया उत्पादके, भ० ७ श० १० उ० ।

महावोंदि–महावोन्दि–स्त्री० । महाप्रभावतनौ, भ० ३ श० २ उ० ।

महास–महाऽश्व–पुं० । बृहत्तुरङ्गे, औ० ।

महासंगाम–महासंग्राम–पुं० । चक्रादिव्यूहरचनोपेततया संव्यवस्थे महारणे, जं० २ वक्ष० ।

महासंजत्तिय–महासांयात्रिक–पुं० । तीर्थंकरे, आ० चू० १ अ० ।

महासड्ढि–महाश्रद्धिन्–त्रि० । महती चासौ श्रद्धा च महाश्रद्धा, सा विद्यते भोगेषु तदुपायेषु वा यस्य स तथा । भोगाशक्तचित्ते, "अमराइ महासड्ढी" आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

महासढ–महाशठ–पुं० । अतिशठे, "जाणंति य णं तहा पिया माइल्ले महासढेयं ।" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

महासण्णाह–महासन्नाह–पुं० । बृहत्पुरुषाणामपि बहूनां सन्नाहे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

महासत्त–महासत्त्व–पुं० । अवैक्लव्याध्यवसायव्रति, पञ्चा० १२ विव० ।

महासत्ता–महासत्ता–स्त्री० । सर्वत्र सदित्येवमनुगताकारावबोधहेतुभूते सामान्ये, स्था० ७ ठा० । यद्वशादविशेषेण सर्वत्र सदिति प्रत्यय इति । आ०म० १ अ० ।

महासत्थ–महाशस्त्र–न० । नागबाणादि–दिव्यास्त्रेषु, नागबाणादयो हि बाणा महाशस्त्राणि तेषामद्भुतविचित्रशक्तित्वात् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

महासत्थणिवयण–महाशस्त्रनिपतन–न० । नागबाणाऽऽदीनां दिव्यास्त्राणां प्रक्षेपणे, नागबाणाऽऽदयो हि बाणा महाशस्त्राणि तेषामद्भुतविचित्रशक्तित्वात् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

महासत्थवाह–महासार्थवाह–पुं० । महावणिजि, आ०चू०१अ० ।

महासद्द–महाशब्द–पुं० । शृगाले, "भुल्लुंकिआ भसुआ महासद्दा" पाइ० ना० १२७ गाथा ।

महासद्दा–देशी–शृगाले, दे०ना० ६ वर्ग १२० गाथा ।

महासमण–महाश्रमण–पुं० । महातपस्विनि, द्वादशादितपश्चारिणि, पं०व० १ द्वार । "भारद्दायसगोत्ते, सूयगडंगे महासमणनामे । अगुणत्तीससतेहिं, जाहिं वरिसाण वोच्छित्ति ॥ १० ॥" ति० ।

महासमुद्द–महासमुद्र–पुं० । स्वयम्भूरमणादि–बृहत्सागरे, पञ्चा० ४ विव० ।

महासयय–महाशतक–पुं० । स्फीतचित्ते राजगृहवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, उपा० ।

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे गुणसिले चेइए सेणिए राया, तत्थ णं रायगिहे महासयए णामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे जहा आणंदो, णवरं अट्ठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिरण्णकोडिओ सकंसाओ णिहाणपउत्ताओ अट्ठ हिरण्णकोडिओ सकंसाओ वुड्ढिपउत्ताओ अट्ठ हिरण्णकोडिओ सकंसाओ पवित्थरपउत्ताओ। अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएणं, वएणं, तस्स णं महासयगस्स रेवईपामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था, अहीण ०जाव सुरूवाओ। तस्स णं महासयगस्स रेवईए भारियाए कोलघरियाओ अट्ठ हिरण्णकोडिओ अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं होत्था। अवसेसाणं दुवालसण्हं भारियाणं कोलघरिया एगमेगा हिरण्णकोडी एगमेगे य वए दसगोसाहस्सिएणं वए णं होत्था। (सूत्र-४६) ते णं काले णं ते णं समए णं सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, जहा आणंदो तहा णिग्गच्छइ तहेव सावयधम्मं पडिवज्जइ, णवरं अट्ठ हिरण्णकोडिओ सकंसाओ- उच्चारेइ, अट्ठ वया रेवईपामोक्खाहिं तेरसहिं भारियाहिं अवसेसं मेहुणविहिं पच्चक्खाइ, सेसं सव्वं तहेव, इमं च णं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ कल्लाकल्लिं च णं कप्पइ मे वे दोणियाए कंसपाईए हिरण्णभरियाए संववहरित्तए, तए णं से महासयए समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे०जाव विहरइ। तए णं समणे भगवं महावीरे वहिया जणवयविहारं विहरइ। (सूत्र-४७) तए णं तीसे रेवईए गाहावइणीए अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंब ०जाव इमेयारूवे अज्झत्थिए० ४ एवं खलु अहं इमासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं विघाएणं णो संचाएमि महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं माणुस्सयाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरित्तए, तं सेयं खलु ममं एयाओ दुवालस वि सवत्तियाओ अग्गिप्पओएणं वा सत्थप्प ०वा विसप्प ०वा जीवियाओ ववरोवित्ता, एयासिं एगमेगं हिरण्णकोडिं, एगमेगं वयं सयमेव उवसंपज्जित्ता णं महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं ०जाव विहरित्तए, एवं संपेहेइ एवं संपेहित्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अंतराणि च छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणी विहरइ, तए णं सा रेवई गाहावइणी अण्णया कयाइ तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अंतरं जाणित्ता छ सवत्तीओ सत्थप्पओएणं उद्दवेइ उद्दवेइत्ता छ सवत्तीओ विसप्पओगेणं उद्दवेइ उद्दवेइत्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं कोलघरिअं एगमेगं हिरण्णकोडिं एगमेगं वयं सयमेव पडिवज्जइ २ त्ता महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ। तए णं सा रेवई गाहावइणी मंसलोलुया मंसेसु मुच्छिया ०जाव अज्झोववण्णा बहुविहेहिं मंसेहि य सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च महुं च मेरगं च मज्जं च सीधुं च पसन्नं च आसाएमाणी० ४ विहरइ। (सूत्र-४८) तए णं रायगिहे णयरे अण्णया कयाइ अमाघाए घुट्ठे याऽवि होत्था, तए णं सा रेवई गाहावइणी मंसलोलुया मंसेसु मुच्छिया कोलघरए पुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी-तुब्भे देवाणुप्पिया! मम कोलघरिएहिंतो वएहिंतो कल्लाकल्लिं दुवे दुवे गोणपोयए उद्दवेह उद्दवेइत्ता ममं उवणेह, तए णं ते कोलघरिया पुरिसा रेवईए गाहावइणीए तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति पडिसुणित्ता रेवईए गाहावइणीए कोलघरिएहिंतो वएहिंतो कल्लाकल्लिं दुवे दुवे गोणपोयए वहेंति २ त्ता रेवईए गाहावइणीए उवणेंति, तए णं सा रेवई गाहावइणी तेहिं गोणमंसेहिं सोल्लेहि य०४ सुरं च०६आसाएमाणी०४ विहरइ। (सूत्र-४६) तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स वहूहिं सील ०जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वइकंता, एवं तहेव जेट्ठपुत्तं ठवेइ ०जाव पोसहसालाए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं सा रेवई गाहावइणी मत्ता लुलिया विइण्णकेसी उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी वि० २ जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता मोहुम्मायजणणाइं सिंगारियाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणी महासययं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो महासयया! समणोवासया! धम्मकामया पुण्णकामया सग्गकामया मोक्खकामया धम्मकंखिया० ४ धम्मपिवासिया० ४ किण्हं तुब्भे देवाणुप्पिया! धम्मेण वा पुण्णेण वा सग्गेण वा मोक्खेण वा? जण्णं तुमं मए सद्धिं उरालाइं० जाव भुंजमाणे णो विहरसि। तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए एयमट्ठं णो आढाइ णो परियाणइ अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ, तए णं सा रेवई गाहावइणी महासययं समणोवासयं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी- हं भो तं चेव भणइ, सोऽवि तहेव ०जाव अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे विहरइ, तए णं सा रेवई गाहावइणी महासयएणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणी अपरियाणिज्जमाणी जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया। (सूत्र-५०) तए णं से महासयए समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसम्पज्जित्ता णं विहरइ, पढमं अहासुत्तं० जाव एक्कारस वि तए णं से महासयए तेणं उरालेणं ०जाव किसे धमणिसंतए जाए। तए णं तस्स महासययस्स समणोवासयस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकाले धम्मजागरियं जागर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माणस्स अयं अज्झत्थिए० ४ । एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं जहा आणंदो तहेव अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसियसरीरे भत्तपाणपडियाइक्खिए कालं अणवकंखमाणे विहरइ, तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स सुभेणं अज्झवसाणेणं ० जाव खओवसमेणं ओहिणाणे समुप्पन्ने पुरत्थिमेणं लवणसमुद्दे जोयणसाहस्सियं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणेणं पच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं० जाव चुल्लहिमवंतं वासहरपव्वयं जाणइ पासइ, अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुयं णरयं चउरासीइवाससहस्सट्ठिइयं जाणइ पासइ। (सूत्र-५१) तए णं सा रेवई गाहावइणी अण्णया कयाइ मत्ता० जाव उत्तरिज्जयं विकड्ढेमाणी विकड्ढेमाणी जेणेव महासयए समणोवासए जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ २ त्ता महासययं तहेव भणइ० जाव दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-हं भो तहेव, तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० ४ ओहिं पउंजइ २ त्ता ओहिणा आभोएइ २ त्ता रेवइं गाहावइणिं एवं वयासी-हं भो रेवई ! अपत्थियपत्थिए० ४ एवं खलु तुमं अंतो सत्तरत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया समाणी अट्टदुहट्टवसट्टा असमाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए णरए चउरासीइवाससहस्सट्ठिइएसु णेरइएसु णेरइयत्ताए उववज्जिहिसि,तए णं सा रेवई गाहावइणी महासयएणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणी एवं वयासी-रुट्ठेणं ममं महासयए समणोवासए हीणे णं ममं महासयए समणोवासए अवज्झायाणं। अहं महासयएणं समणोवासएणं ण णज्जइ णं अहं-केणऽवि कुमारेणं मारिज्जिस्सामि त्ति कट्टु भीया तत्था तसिया उव्विग्गा संजायभया सणियं सणियं पच्चोसक्कइ २ त्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता ओहय ०जाव झियायइ, तए णं सा रेवई गाहावइणी अंतो सत्तरत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया अट्टदुहट्टवसट्टा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए णरए चउरासीइवाससहस्सट्ठिइएसु णेरइएसु नेरइयत्ताए उववण्णा। (सूत्र-५२)। तेणं कालेणं तेणं समए णं समणे भगवं महावीरे समोसरणं ०जाव परिसा पडिगया गोयमाऽऽइसमणे भगवं महावीरं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा ! इहेव रायगिहे णयरे ममं अंतेवासी महासयए णामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिममारणंतियसंलेहणाए झूसियसरीरे भत्तपाणपडियाइक्खिए कालं अणवकंखमाणे विहरइ, तए णं तस्स महासययस्स रेवई गाहावइणी मत्ता ०जाव विकड्ढेमाणी २ जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता मोहुम्माय ०जाव एवं वयासी-तहेव ०जाव दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० ४ ओहिं पउंजइ ओहिं पउंजइत्ता ओहिणा आभोएइ २ त्ता रेवइं गाहावइणिं एवं वयासी- ०जाव उववज्जिहिसि, णो खलु कप्पइ गोयमा ! समणोवासगस्स अपच्छिम ०जाव झूसियसरीरस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स परो संतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूतेहिं अणिट्ठेहिं अकंतेहिं अप्पिएहिं अमणुण्णेहिं अमणामेहिं वागरणेहिं वागरित्तए तं गच्छह णं देवाणुप्पिया ! तुमं महासययं समणोवासयं एवं वयाहि-णो खलु देवाणुप्पिया ! कप्पइ समणोवासगस्स अपच्छिम ०जाव भत्तपाणपडियाइक्खियस्स परो संतेहिं ०जाव वागरित्तए, तुमे य णं देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी संतेहिं० ४ अणिट्ठेहिं० ६ वागरणेहिं वागरिया तं णं तुमं एयस्स ठाणस्स आलोएहि ०जाव जहारिहं च पायच्छित्तं च पडिवज्जाहि, तए णं से भगवं गोयमे समणस्स भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ २ त्ता तओ पडिणिक्खमइ २ त्ता रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसइ अणुपविसित्ता जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे जेणेव महासयए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, तए णं से महासयए समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ २ त्ता हट्ठ० जाव हियए भगवं गोयमं वंदइ णमंसइ, तए णं से भगवं गोयमे महासययं समणोवासयं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ एवं भासइ एवं पण्णवेइ एवं परूवेइ-णो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया ! समणोवासगस्स अपच्छिम०जाव वागरित्तए, तुमे णं देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी संतेहिं ०जाव वागरिया तं णं तुमं देवाणुप्पिया ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि० जाव पडिवज्जाहि। तए णं से महासयए समणोवासए भगवओ गोयमस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ २ त्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ ०जाव अहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जइ। तए णं से भगवं गोयमे ! महासयगस्स समणोवासयस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ २ त्ता रायगिहं णगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ २ त्ता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ णमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं भगवं समणे महावीरे अण्णया कयाइ रायगिहाओ णयराओ पडिणिक्खमइ २ त्ता वहिया जणवयविहारं विहरइ (सूत्र५३) तए णं से महासयए समणोवासए बहूहिं सील०जाव भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासगपरियायं पाउणित्ता एक्कारस उवासगपडिमाओ सम्मं काएण फासित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे अरुणवडिंसए विमाणे देवत्ताए उववण्णे । चत्तारि पलिओवमाइं ठिई महाविदेहे वासे सिज्झिहिति वुज्झिहिति णिक्खेवो । (सूत्र-५४)

अष्टम (मध्ययन) मपि सुगमं तथापि किमपि तत्र लिख्यते-(सकंसाओ त्ति) सह कांस्येन द्रव्यमानविशेषेण यास्ताः सकांस्याः (कोलघरियाओ त्ति) कुलगृहात्पितृगृहादागताः कौलगृहिकाः । (सू०४७) (अंतराणि य त्ति) अवसरान् छिद्राणि-विरलपरिवारत्वानि विरहान् एकान्तानिति, (मंसलोलेत्यादि) मांसलोलाः—मांसलम्पटाः, एतदेव विशिष्यते-मांसमूर्च्छितास्तद्दोषानभिज्ञत्वेन मूढा इत्यर्थः, मांसग्रथिता—मांसानुरागतन्तुभिः संदर्भिताः, मांसगृद्धाः—तद्भोगेऽप्यजातकांक्षाविच्छेदाः, मांसाध्युपपन्नाः-मांसैकाग्रचित्ताः, ततश्च वहुविधैर्मांसैः सामान्यैस्तद्विशेषैश्च, तथाचाह-(सोल्लिएहि य त्ति) शूल्यकैश्च—शूलसंस्कृतकैः, तलितैश्च—घृतादिनाऽग्नौ संस्कृतैः, भर्जितैश्च—अग्निमात्रपक्वैः सहेति गम्यते, सुरां च—काष्ठपिष्टनिष्पन्नां, मधु च-क्षौद्रं, मेरकं च—मद्यविशेषं, मद्यं च—गुडधातकीप्रभवं, सीधु च—तद्विशेषं, प्रसन्नां च-सुराविशेषम्, आस्वादयन्ती-ईषत्स्वादयन्ती, कदाचित् विस्वादयन्ती—विविधप्रकारैर्विशेषेण वा स्वादयन्तीति, कदाचिदेव परिभाजयन्ती स्वपरिवारस्य परिभुञ्जाना सामस्त्येन विवक्षिततद्विशेषान् (सू० ४८) 'अमाघातो' रूढिशब्दत्वात् अमारिरित्यर्थः (कोलघरिए त्ति) कुलगृहसंबन्धिनः, गोणपोतकौ-गोपुत्रकौ, उद्दवेह त्ति) विनाशयत (सू० ४६) (मत्त त्ति) सुरादिमदवती (लुलिता) मदवशेन घूर्णिता, स्खलत्पदेत्यर्थः, विकीर्णाः-विक्षिप्ताः केशा यस्याः सा तथा, उत्तरीयकम्-उपरितनवसनं विकर्षयन्ती मोहोन्मादजनकान् कामोद्दीपकान्, शृङ्गारिकान्—शृङ्गाररसवतः, स्त्रीभवान् कटाक्षसन्दर्शनादीन् उपसंदर्शयन्ती (हं भो त्ति) आमन्त्रणम् । महाशयया ! इत्यादेर्विरहसीतिपर्यवसानस्य रेवतीवाक्यस्यायमभिप्रायः । अयमेवास्य स्वर्गो मोक्षो वा यन्मया सह विषयसुखानुभवनम्, धर्मानुष्ठानं हि विधीयते स्वर्गाद्यर्थम्, स्वर्गादिश्चेष्यते सुखार्थम्, सुखं चैतावदेव तावद् दृष्टं यत्कामासेवनमिति । भणन्ति च—

"जइ नत्थि तत्थ सीमं-तिणीउ मणहरपियंगुवण्णाओ ।
तारे सिद्धंतिय ! वं-धणं खु मोक्खो न सो मोक्खो ॥ १ ॥

तथा—

सत्यं वच्मि हितं वच्मि, सारं वच्मि पुनः पुनः ।
अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सारङ्गलोचनाः ॥ २ ॥
द्विरष्टवर्षा योषि-त्पञ्चविंशतिकः पुमान् ।
अनयोर्निरन्तरा प्रीतिः, स्वर्ग इत्यभिधीयते ॥ ३ ॥" इति ।

[सूत्र-५०] [अलसए णं ति] विसूचिकाविशेषलक्षणेन ।

तल्लक्षणं चेदम्—

" नोर्ध्वं व्रजति नाधस्ता-दाहारो न च पच्यते ।
आमाशये लसीभूत-स्तेन सोऽलसकः स्मृतः ॥ १ ॥" इति।

(हीणे त्ति], प्रीत्या हीनः-त्यक्तः (अवज्झाय त्ति) अपध्याता दुर्ध्यानविषयीकृता (कुमारेणं ति) दुःखमृत्युना (सूत्र ५२) (नो खलुकप्पइ गोयमेत्यादि) (संतेहिं ति) सद्भिर्विद्यमानार्थैः (तच्चेहिं ति) तथ्यैः-तत्त्वरूपैर्वाऽनुपचारिकैः (तहिएहिं ति) तमेवोक्तं प्रकारमापन्नैर्न मात्रयाऽपि न्यूनाधिकैः । किमुक्तं भवति?-सद्भूतैरिति, अनिष्टैः-अवाञ्छितैः, अकान्तैः-स्वरूपेणाकमनीयैः, अप्रियैः-अप्रीतिकारकैः, अमनोज्ञैः-मनसा न ज्ञायन्ते नाभिलष्यन्ते वक्तुमपि यानि तैः । अमन आपैः न मनसा आप्यन्ते-प्राप्यन्ते चिन्तयाऽपि यानि तैः, वचने चिन्तने च येषां मनो नोत्सहत इत्यर्थः, व्याकरणैः वचनविशेषैः । उपा० ८ अ० । स्था० । ध० । ध० र० ।

महासरीर-महाशरीर--पुं० । बृहत्तनौ, भ० १४ श० २ उ० ।

महासलिल-महासलिल--त्रि० । बहूदके, बृ० ४ उ० । ग० ।

महासलिलजल--महासलिलजल--न० । महासलिला नाम गङ्गाऽऽद्यो महानद्यस्तासां जलं महासलिलाजलम् । महानदीजले, बृ० २ उ० ।

महासव-महाश्रव-पुं० । महान्ति कर्मणामाश्रवद्वाराणि वर्त्तन्तेऽस्येति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । बृहन्मिथ्यात्वादिकर्मवन्धहेतुके, भ० ६ श० ३ उ० ।

नैरयिकाणां महाऽऽश्रवादिकत्वमाह—

सिय भंते ! नेरइया महाऽऽसवा महाकिरिया महावेयणा महाणिज्जरा ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे १, सिय भंते ! नेरइया महाऽऽसवा महाकिरिया महावेयणा अप्पनिज्जरा ? हंता सिया २, सिय भंते ! नेरइया महाऽऽसवा महाकिरिया अप्पवेयणा महाणिज्जरा ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ३, सिय भंते ! नेरइया महाऽऽसवा महाकिरिया अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ४, सिय भंते ! नेरइया महासवा अप्पकिरिया महावेदणा महानिज्जरा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ५, सिय भंते ! नेरइया महाऽऽसवा अप्पकिरिया महावेयणा अप्पनिज्जरा ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ६, सिय भं ! नेरतिया महासवा अप्पकिरिया अप्पवेदणा महानिज्जरा ? णो तिणट्ठे समट्ठे ७, सिय भंते ! नेरतिया महासवा अप्पकिरिया अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ?, णो तिणट्ठे समट्ठे८,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिय भंते ! नेरइया अप्पाऽऽसवा महाकिरिया महावेदणा महानिज्जरा ? णो तिणट्ठे समट्ठे ९, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा महाकिरिया महावेदणा अप्पनिज्जरा ? णो तिणट्ठे समट्ठे १०, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा महाकिरिया अप्पवेयणा महानिज्जरा ? णो तिणट्ठे समट्ठे ११, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा महाकिरिया अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ? णो तिणट्ठे समट्ठे १२, सिय भंते ! नेरइयां अप्पासवा अप्पकिरिया महावेयणा महानिज्जरा ? णो तिणट्ठे समट्ठे १३, सिय भंते ! नेरतिया अप्पासवा अप्पकिरिया महावेदणा अप्पनिज्जरा ? णो तिणट्ठे समट्ठे १४, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा अप्पकिरिया अप्पवेयणा महानिज्जरा ? णो तिणट्ठे समट्ठे १५, सिय भंते ! नेरया अप्पासवा अप्पकिरिया अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा ? णो तिणट्ठे समट्ठे १६, एते सोलस भंगा। सिय भंते ! असुरकुमारा महासवा महाकिरिया महावेदणा महानिज्जरा ? णो तिणट्ठे समट्ठे, एवं चउत्थो भंगो भाणियव्वो, सेसा पन्नरस भंगा खोडेयव्वा, एवं० जाव थणियकुमारा। सिय भंते ! पुढविकाइया महासवा महाकिरिया महावेयणा महानिज्जरा ? हंता सिया। एवं० जाव सिय भंते ! पुढविकाइया अप्पासवा अप्पकिरिया अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा ? हंता सिया, एवं० जाव मणुस्सा, वाण-मंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा सेवं भंते ! भंते त्ति। (सूत्र-६५४)

इयं स्थापना—

आ०	म	म	म	म	म	म	म	म	अ	अ	अ	अ	अ	अ	अ	अ
कि०	म	म	म	म	अ	अ	अ	अ	म	म	म	म	अ	अ	अ	अ
वे०	म	म	अ	अ	म	म	अ	अ	म	म	अ	अ	म	म	अ	अ
नि०	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ
		ना०		असुरा०												

ना० २ असुरादेः ४ पृथ्व्यादेः १६ व्यन्तरादेः ४

'सिय भंते !' इत्यादि, 'सिय त्ति' स्युः-भवेयुर्नैरयिकाः-महाश्रवाः प्रचुरकर्मबन्धनात्, महाक्रियाः कायिक्यादिक्रियाणां महत्त्वात्, महावेदना वेदनायास्तीव्रत्वात्, महानिर्जराः कर्मक्षपणबहुत्वात्; एषां च चतुर्णां पदानां षोडश भङ्गा भवन्ति, एतेषु च नारकाणां द्वितीयभङ्गकोऽनुज्ञातस्तेषामाश्रवादित्रयस्य महत्त्वात् कर्मनिर्जरायास्त्वल्पत्वात्, शेषाणां तु प्रतिषेधः। असुरादिदेवेषु च चतुर्थभङ्गोऽनुज्ञातः, ते हि महाश्रवा महाक्रियाश्च विशिष्टाविरतियुक्तत्वात्, अल्पवेदनाश्च प्रायेणासातोदयाभावात्, अल्पनिर्जराश्च प्रायोऽशुभपरिणामत्वात्, शेषास्तु निषेधवीयाः। पृथिव्यादीनां तु चत्वार्यपि पदानि तत्परिणतेर्विचित्रत्वात् सव्यभिचाराणीति षोडशापि भङ्गका भवन्तीति। उक्तं च-" वीएण तु नेरइया, होंति चउत्थेण सुरगणा सव्वे। ओरालसरीरा पुण, सव्वेहि पएहिँ भणियव्वा"॥१॥ इति। भ० १६श०४उ०।

महासवतर-महाश्रवतर-त्रि०। महाश्रवतरा एव महान्त आश्रवाः पापोपादानहेतवः आरम्भादयो येषामासीरन् ते महाश्रवाः अतिशयेन महाश्रवा महाश्रवतराः। अतिवृहत्कर्मसु, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

महासव्वओभद्दपडिमा-महासर्वतोभद्रप्रतिमा-स्त्री०। सर्वतोभद्रप्रतिमाभेदे, औ०। सर्वतो भद्रा पुनर्यस्यां दशसु दिक्षु प्रत्येकमहोरात्रं कायोत्सर्गं करोति, यस्यां च दशाऽहोरात्राणि मानमिति। अथवा—द्विविधा सर्वतोभद्रा-क्षुद्रा, महती च। तत्र क्षुद्रायाः स्थापना—स्थापनोपायगाथा चेयमत्र—

" एगाई पंचंऽते, ठविउं, मज्झं तु आइमणुपंति।
सेसे कमेण ठविउं, जाणेज्जा सव्वओभद्दं॥१॥"

तपोदिनानीह पञ्चसप्ततिः, पारणकदिनानि तु पञ्चविंशतिः, सर्वाणि दिनानि शतमेकस्यां परिपाट्यां चतसृषु त्वेतदेव चतुर्गुणम्। एवं महत्यपि, नवरम्, एकादयः सप्तान्तास्तस्यामुपवासा भवन्ति।

स्थापनोपायगाथा त्वियम्—

" एगाई सत्तंऽता, ठविउं मज्झं तु आइमणुपंति।
सेसक्कमेण ठविउं, जाण महासव्वओभद्दं॥१॥"

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

१	२	३	४	५	६	७	प्र०पङ्क्तिः
४	५	६	७	१	२	३	द्वितीयापं०
७	१	२	३	४	५	६	तृतीयापं०
३	४	५	६	७	१	२	चतुर्थीपं०
६	७	१	२	३	४	५	पञ्चमीपं०
२	३	४	५	६	७	१	षष्ठीपं०
५	६	७	१	२	३	४	सप्तमीपं०

इह च षण्णवत्यधिकं शतं तपोदिनानां स्यादेकोनपञ्चाशच्च पारणकदिनानि, एवं चाष्टौ मासाः पञ्च दिनानि, चतसृषु परिपाटीष्वेतदेव चतुर्गुणमिति। औ०।

महासामण्ण-महासामान्य-सर्वपदार्थानुयायिन्यां सत्तायाम्, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। आ० म०। विशे०।

महासामत्थ-महासामार्थ्य-न०। महासामर्थ्यम् आद्यसंहननत्रययुक्ततया वज्रकुड्यसमानधृतितया च कायमनसोः शक्तौ, ध० ४ अधि०।

महासामाण-महासामान-न०। सप्तमदेवलोकविमानभेदे, स० १७ सम०।

महासाल-महाशाल-पुं०। पृष्ठचम्पाराजस्य शालस्य भ्रातरि पृष्ठचम्पायुवराजे, आ०क० १ अ०। आ० म०। ती०। उत्त०।

महासावग-महाश्रावक-पुं०। दयादानप्रधाने श्रावके, " एवं व्रतस्थितो भक्त्या,सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन्। दयया चातिदीनेषु, महाश्रावक उच्यते"॥१॥ महत्पदविशेषणं च अन्येभ्योऽतिशायित्वात्, यतः श्रावकत्वमविरतानामेकाद्यणुव्रतधारि-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णां च शृणोतीति व्युत्पत्त्योच्यते, यदाह-
"संपत्तदंसणाई, पइदिअहं जइ जणा सुणेई अ।
सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं विंति ॥१॥
श्रद्धालुतां श्राति पदार्थचिन्तना-
द्धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।
किरत्यपुण्यानि सुसाधुसेवना-
दथापि तं श्रावकमाहुरञ्जसा ॥ २ ॥"
इति निरुक्ताच्च श्रावकत्वं सामान्यस्यापि प्रसिद्धम्,विवक्षितस्तु निरतिचारसकलव्रतधारी सप्तक्षेत्र्यां धनवपनाद्दर्शनप्रभावकतां परमां दधानो दीनेषु चात्यन्तकृपापरो महाश्रावक उच्यते इत्यलं प्रसङ्गेन।

इदानीं महाश्रावकस्य दिनचर्यारूपम्—उक्तशेषं विशेषतो गृहस्थधर्ममाह—

नमस्कारेणावबोधः, स्वद्रव्याद्युपयोजनम्।
सामायिकादिकरणं, विधिना चैत्यपूजनम् ॥६०॥

नमस्कारेण-सकलकल्याणपुरपरमेष्ठिभिरधिष्ठितेन "नमो अरिहंताणं" मित्यादि प्रतीतरूपेण, अवबोधो निद्रापरिहारः, तत्पाठं पठन्निद्रां जह्यादित्यर्थः। अयं विशेषतो गृहिधर्मो भवतीत्येवमग्रेऽप्यन्वयः। तथा स्वस्मिन्—आत्मनि, द्रव्यादेः-द्रव्यक्षेत्रकालभावानाम्, उपयोजनम्-उपयोगकरणम्, (ध०) (सामायिकादीत्यादि) सामायिकम्-मुहूर्तं यावत्समभावरूपनवमव्रताराधनम्, प्रथमावश्यकं वा, आदिशब्दात्षड्विधावश्यकप्रतिबद्धरात्रिकप्रतिक्रमणग्रहणम्। (ध०) (विधिनेति) विधिना अनुपदमेव वक्ष्यमाणपुष्पादिसंपादनमुद्रान्यसनादिना प्रसिद्धेन, चैत्यपूजनम्-द्रव्यभावभेदाद् अर्हत्प्रतिमार्चनम्। ध० २ अधि०। (महाश्रावकस्य गृहिधर्मविध्यन्तर्गतसामायिकविधिः 'सामाइय' शब्दादवगन्तव्यः) (चैत्यपूजनविधिः 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२४४ पृष्ठे गतः)

महासावज्जा-महासावद्या-स्त्री०। श्रमणसाधुनिश्राभेदेनाग्न्यादिमत्यां वसतौ, आचा०। (अस्या वक्तव्यता 'वसहि' शब्दे वक्ष्यते)

महासाहसिय-महासाहसिक-पुं०। सहसाऽविमर्शात्मकेन बलेन वर्त्तते, भाविनमर्थमविभाव्य यः प्रवर्त्तते स साहसिकः। अविमृश्यकारिणि, स्था०।

महासियाल-महाशृगाल-पुं०। महादेहप्रमाणे शृगाले, "अणासिया णाम महासियाला" (सूत्र०) महादेहप्रमाणा महान्तः शृगाला नरकपालविकुर्विता अनशिता बुभुक्षिताः, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

महासिलाकंटय-महाशिलाकण्टक-पुं०। जीवितभेदकत्वात् महाशिलाकण्टकः। कूणिकचेटकसंग्रामे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। भ०।

तद्वर्णनमाह-

णायमेयं अरहया सुयमेयं अरहया विण्णायमेयं अरहया महासिलाकंटए संगामे, महासिलाकंटए णं भंते! संगामे वट्टमाणे के जइत्था के पराजइत्था ?, गोयमा! वज्जी विदेहपुत्ते जयित्था, नव मल्लई नव लेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो पराजयित्था। तए णं से कोणिए राया महासिलाकंटकं संगामं उवट्ठियं जाणित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! उदाइं हत्थिरायं पडिकप्पेह हयगयरहजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेह २ त्ता०जाव मम एयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह। तए णं से कोडुंबियपुरिसा कोणिएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव अंजलिं कट्टु एवं सामी! तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति पडिसुणेत्ता खिप्पामेव छेयायरिओवएसमइकप्पणाविकप्पेहिं सुनिउणेहिं एवं जहा उववाइए० जाव भीमं संगामियं अओज्झं उदाइं हत्थिरायं पडिकप्पेंति, हयगयरह०जाव सण्णाहेंति सण्णाहेत्ता जेणेव कूणिए राया तेणेव उवागच्छंति २ त्ता करयलपरिग्गहियं ०जाव कूणियस्स रण्णो तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति। तए णं से कूणिए राया जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ मज्जणघरं अणुपविसित्ता, ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए संनद्धबद्धवम्मियकवये उप्पीलियसणपट्टीए पिणिद्धगेविज्जे विमलवरवद्धचिंधपट्टे गहियाउहप्पहरणे सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणे चउचामरवालवीइयंगे मंगल'जय जय' सद्दकयालोए एवं जहा उववाइए० जाव उवागच्छित्ता उदाइं हत्थिरायं दुरूढे, तए णं से कूणिए राया (हारोत्थयसुकयरइयवच्छे जहा उववाइए०) जाव सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं उद्धु०२ हयगयरहपवरजोहक लियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे महया भडचडगविंदपरिक्खित्ते जेणेव महासिलाकंटए संगामे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता महासिलाकंटगं संगामं उयाए पुरओ य से सक्के देविंदे देवराया एगं महं अभेज्जं कवयं वइरपडिरूवगं विउव्वित्ता णं चिट्ठइ। एवं खलु दो इंदा संगामं संगामेति, तं जहा-देविंदे य, मणुस्सिंदे य। एगहत्थिणा वि णं पभू कूणिए राया पराजयित्तए, तए णं से कूणिए राया महासिलाकंटगं संगामं संगामेमाणे नव मल्लई नव लेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो हयमहियपवरवीरघाइया वि पडियचिंधद्धयपडागे किच्छप्पाणगए दिसोदिसिं पडिसेहित्था। से केणऽट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ महासिलाकंटए संगामे ?, गोयमा! महासिलाकंटए णं संगामे वट्टमाणे जे तत्थ आसे वा हत्थी वा जोहे वा सारही वा तणेण वा पत्तेण कट्ठेण वा सकराए वा अभिहम्मंति सव्वे से जाणइ महासिलाए अहं अभिहए महासिलाए अहं अभिहए से तेणऽट्ठेणं गोयमा! महासिलाकंटए संगामे।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महासिलाकंटए णं भंते ! संगामे वट्टमाणे कइ जणसयसाहस्सीओ वहियाओ ? गोयमा! चउरासीइ जणसयसाहस्सीओ वहियाओ । ते णं भंते ! मणुया निस्सीला ०जाव निप्पच्चक्खाणपोसहोववासा, संरुट्ठा परिकुविया समरवहिया अणुवसंता कालमासे कालं किच्चा कहिं गया कहिं उववन्ना ? गोयमा ! उस्सन्नं णरगतिरिक्खजोणिएसु उववन्ना ।

(महासिलाकंटए संगामे त्ति) महाशिलैव कण्टको जीवितभेदकत्वान्महाशिलाकण्टकस्ततश्च यत्र तृणशलाकादिनाऽप्यभिहतस्याश्वहस्त्यादेर्महाशिलाकण्टकेनेवाभ्याहतस्य वेदना जायते स सङ्ग्रामो महाशिलाकण्टक एवोच्यते, द्विर्वचनं चोल्लेखस्यानुकरणे, एवं च किलाऽयं संग्रामः संजातः, चम्पायां कूणिको राजा बभूव, तस्य चानुजौ हल्लविहल्लाभिधानौ भ्रातरौ सेचनकाभिधानगन्धहस्तिनि समारूढौ दिव्यकुण्डलदिव्यवसनदिव्यहारविभूषितौ विलसन्तौ दृष्ट्वा पद्मावत्यभिधाना कूणिकराजस्य भार्या मत्सराद्धस्तिनोऽपहराय तं प्रेरितवती, तेन तौ तं याचितौ, तौ च तद्भयाद्वैशाल्यां नगर्यां स्वकीयमातामहस्य चेटकाभिधानस्य राज्ञोऽन्तिकं सहस्तिकौ सान्तःपुरपरिवारौ गतवन्तौ, कूणिकेन च दूतप्रेषणतो मार्गितौ, न च तेन प्रेषितौ, ततः कूणिकेन भाणितम्—यदि न प्रेषयसि तौ तदा युद्धसज्जो भव, तेनाऽपि भाणितम्—एष सज्जोऽस्मि, ततः कूणिकेन कालादयो दश स्वकीयाऽभिन्नमातृका भ्रातरो राजानश्चेटकेन सह संग्रामायाहूताः,तत्रैकैकस्य त्रीणि त्रीणि हस्तिनां सहस्राणि, एवं रथानामश्वानां च, मनुष्याणां तु प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः कोटयः। कूणिकस्याप्येवमेव,एवं च व्यतिकरं ज्ञात्वा चेटकेनापि अष्टादश गणराजाः मिलिताः, तेषां चेटकस्य च प्रत्येकमेवमेव हस्त्यादिपरिमाणम् , ततो युद्धं सम्प्रलग्नं, चेटकराजश्च प्रतिपन्नव्रतत्वेन दिनमध्ये एकमेव शरं मुञ्चति,अमोघबाणश्च सः। तत्र च कूणिकसैन्यैर्गरुडव्यूहश्चेटकसैन्यैश्च सागरव्यूहो विचरितः। ततश्च कूणिकस्य कालो दण्डनायको युध्यमानस्तावद्गतो यावच्चेटकः , ततस्तेनैकशरनिपातेनासौ निपातितो भग्नं च कूणिकबलम् , गते च द्वे अपि बले निजं निजमावासस्थानम् । एवं च दशसु दिवसेषु चेटकेन विनाशिता दशापि कालादयः , एकादशे तु दिवसे चेटकजयार्थं देवताराधनाय कूणिकोऽष्टमभक्तं प्रजग्राह । ततः शक्रचमरावागतौ , ततः शक्रो बभाण, चेटकः श्रावक इत्यहं न तं प्रति प्रहरामि , नवरं भवन्तं संरक्षामि । ततोऽसौ तद्रक्षार्थं वज्रप्रतिरूपकमभेद्यकवचं कृतवान् , चमरस्तु द्वौ संग्रामौ विकुर्वितवान् , महाशिलाकण्टकं रथमुशलं चेति (जइत्थ त्ति) जितवान् (पराजयित्थ त्ति) पराजितवान्–हारितवानित्यर्थः । (वज्जि त्ति) वज्री–इन्द्रः (विदेहपुत्ते त्ति) कूणिक एतावेव तत्र जेतारौ नान्यः कश्चिदिति (नव मल्लइ त्ति) मल्लकिनामानो राजविशेषाः । (नव लेच्छइ त्ति)लेच्छकिनामानो राजविशेषा एव।(कासी कोसलग त्ति) काशी–वाराणसी, तज्जनपदोऽपि काशी, तत्सम्बन्धिन आद्या नव, कोशला अयोध्या तज्जनपदोऽपि कोशला, तत्सम्बन्धिनो नव द्वितीयाः । (गणरायाणो त्ति) समुत्पन्ने प्रयोजने ये गणं कुर्वन्ति ते गणप्रधाना राजानो गणराजाः सामन्ता इत्यर्थः । ते च तदानीं चेटकराजस्य वैशालीनगरीनायकस्य साहाय्याय गणं कृतवन्त इति । अथ महाशिलाकण्टके संग्रामे चमरेण विकुर्विते सति कूणिको यदकरोत्तद्दर्शनार्थमिदमाह–(तए णमित्यादि) ततो महाशिलाकण्टकसंग्रामविकुर्वणानन्तरम् । (उदायिं ति) उदायिनामानम् । (हत्थिरायं ति) हस्तिप्रधानम् । (पडिकप्पेह त्ति) संनद्धं कुरुत । (पच्चप्पिणह त्ति) प्रत्यर्पयत–निवेदयतेत्यर्थः । (हट्ठतुट्ठ त्ति) इह यावत्करणादेवं दृश्यम्–" हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया नंदिया पीइमणा " इत्यादि। तत्र हृष्टतुष्टम्—अत्यर्थं तुष्टं, हृष्टं वा विस्मितं तुष्टं च तोषवच्चित्तं–मनो यत्र तत्तथा , तत् हृष्टतुष्टचित्तं यथा भवति इत्येवमानन्दिता ईषन्मुखसौम्यतादिभावैः समृद्धिमुपगताः, ततश्च नन्दिताः समृद्धितरतामुपगताः, प्रीतिः प्रीणनम्–आप्यायनं मनसि येषां ते प्रीतिमनसः । (अंजलिं कट्टु त्ति) इदं त्वेवं दृश्यम्–" करयलपरिग्गहियं दसणहं सिरसाऽवत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु " तत्र शिरसा अप्राप्तम्–असंस्पृष्टं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वेत्यर्थः । (एवं सामी ! तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति त्ति) एवं स्वामिन् ! तथेति आज्ञया इत्येवंविधशब्दभणनरूपो यो विनयः स तथा तेन, वचनं राज्ञः सम्बन्धि प्रतिशृण्वन्ति—अभ्युपगच्छन्ति । (छेयायरिओवएसमइकप्पणाविगप्पेहिं ति) छेको निपुणो य आचार्यः—शिल्पोपदेशदाता तस्योपदेशात् या मतिः बुद्धिस्तस्या ये कल्पना–विकल्पाः क्लृप्तिभेदास्ते तथा तैः प्रकल्पयन्तीति योगः। (सुनिउणेहिं ति) कल्पनाविकल्पानां विशेषणम् । नरैर्वा सुनिपुणैः (एवं जहा उववाइए त्ति) तत्र चेदं सूत्रमेवम्–(उज्जलनेवत्थहव्वपरिवच्छियं) उज्ज्वलनेपथ्येन–निर्मलवेषेण (हव्वं ति) शीघ्रं परिक्षिप्तः परिगृहीतः परिवृतो यः स तथा तम् । (सुसज्जं वम्मियसंनद्धबद्धकवइयं उप्पीलियवत्थकच्छगेवज्जगबद्धगलगवरभूसणविराइयं) वर्मणि नियुक्ता वार्मिकास्तैः संनद्धः कृतसन्नाहो वार्म्मिकसन्नद्धः, बद्धः कवचिकः सन्नाहविशेषो यस्य स बद्धकवचिकः, उत्पीडिता गाढीकृता वक्षसि कक्षा हृदयरज्जुर्यस्य स तथा, ग्रैवेयकं बद्धं गलके यस्य स तथा, वरभूषणैर्विराजितो यः स तथा , ततः कर्म्मधारयोऽतस्तम् । (अहियतेयजुत्तं विरइयवरकण्णपूरसललियपलंबावचूलचामरोयरकयंऽधयारं ति) विरचिते वरकर्णपूरे प्रधानकर्णाऽऽभरणविशेषौ यस्य स तथा , सललितानि प्रलम्बानि अवचूलानि यस्य स तथा, चामरोत्करेण कृतमन्धकारं यत्र स तथा, ततः कर्मधारयोऽतस्तम् । (चित्तपरिच्छोयपच्छयं) चित्रपरिच्छोको लघुः प्रच्छदो वस्त्रविशेषो यस्य स तथा, अतस्तम् । (कणगघडियसुत्तगसुबद्धकच्छं) कनकघटितसूत्रकेण सुष्ठु बद्धा कक्षा उरोबन्धनं यस्य स तथा, तम् । (बहुपहरणावरणभरियजुज्झसज्जं) बहूनां प्रहरणानामावरणानां च स्फुरकङ्कटादीनां भृतो युद्धसज्जश्च यः स तथा , अतस्तम् । (सच्छत्तं सज्झयं सघंटं) (पंचामेलियपरिमंडियाभिरामं) पञ्चभिरापीडिकाभिश्चूडाभिः परिमण्डितोऽभिरामश्च—रम्यो यः

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स तथा,अतस्तम्, (ओसारियजमलजुयलघंटं) अवसारित-
म्-अवलम्बितं, यमलं-समं, युगलम्-द्वयं, घण्टयोर्यत्र स
तथा,अतस्तम्, (विज्जुपिणद्धं व कालमेहं) भास्वरप्रहरणा-
भरणादीनां विद्युत्कल्पना कालत्वाच्च गजस्य मेघसमते-
ति। (उप्पाइयपव्वयं व सक्खं) औत्पातिकपर्वतमिव सा-
क्षादित्यर्थः, (मत्तं मेहमिव गुलगुलंतं) (मणपवणजइ-
णवेगं) मनःपवनजयी वेगो यस्य स तथाऽतस्तम् । शेषं
तु लिखितमेवास्ति । वाचनान्तरे त्विदं साक्षाल्लिखितमेव
दृश्यत इति। (कयवलिकम्मे त्ति) देवतानां कृतबलिकर्म्मा।
(कयकोउयमंगलपायच्छित्ते त्ति) कृतानि कौतुकमङ्गला-
न्येव प्रायश्चित्तानीव दुःस्वप्नादिव्यपोहायावश्यकर्त्तव्य-
त्वात्, प्रायश्चित्तानि येन स तथा, तत्र कौतुकानि म-
षीपुण्ड्रादीनि, मङ्गलानि सिद्धार्थकादीनि । (सन्नद्धबद्धव-
म्मियकवए त्ति) सन्नद्धः सन्नहनिकया, तथा बद्धः क-
शाबन्धनतो, वर्म्मितो वर्म्मतया, कृतोऽङ्गे निवेशना-
त्कवचः कङ्कटो येन स तथा, ततः कर्म्मधारयः । (उप्पी-
लियसरासणपट्टिए त्ति) उत्पीडिता गुणसारणेन कृता-
ऽवपीडा शरासनपट्टिका धनुर्दण्डो येन स तथा,
उत्पीडिता वा बाहौ बद्धा शरासनपट्टिका बाहुपट्टिका
येन स तथा, (पिणद्धगेवेज्जविमलवरबद्धचिंधपट्टे त्ति)
पिनद्धं-परिहितं, ग्रैवेयकं-ग्रीवाभरणं, येन स तथा, वि-
मलवरो बद्धश्चिह्नपट्टो योधचिह्नपट्टो येन स तथा, ततः
कर्म्मधारयः। (गहियाउहपहरणे त्ति) गृहीतानि आयु-
धानि,शस्त्राणि-प्रहरणाय परेषां प्रहारकरणाय येन स तथा,
अथवा-आयुधान्यक्षेप्यशस्त्राणि खड्गादीनि, प्रहरणानि तु क्षे-
प्यशस्त्राणि नाराचादीनि, ततो गृहीतान्यायुधानि प्रहरणानि
येन स तथा, (सकोरंटमल्लदामेणं ति) सह कोरण्टप्र-
धानैः कोरण्टकाभिधानकुसुमगुच्छैर्माल्यदामभिः-पुष्पमा-
लाभिर्यत्तत्तथा तेन, (चउचामरवालवीइयंगे त्ति) चतुर्णां
चामराणां वालैर्वीजितमङ्गं यस्य स तथा। (मंगलजयसद्द-
कयालोए त्ति) मङ्गलो माङ्गल्यो जयशब्दः कृतो-जनैर्वि-
हित आलोके दर्शने यस्य स तथा, " एवं जहा उववाइए
जाव " इत्यनेनेदं सूचितम्—" अणेगगणनायगदंडनायग-
राईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियमंतिमहामंतिगणगदोवारिय-
अमच्चचेडपीढमद्दणगरणिगमसेट्ठिसेणावइसत्थवाहदूयसं-
धिपालसद्धिं संपरिवुडे धवलमहामेहणिग्गए विव गहगण-
दिप्पंतरिक्खतारागणाण मज्झे ससि व्व पियदंसणे नरवई
मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ मज्जणघराओ पडिनिक्ख
मित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणामेव उदाई ह-
त्थिराया तेणामेव उवागच्छइ " त्ति। तत्रानेके ये गणना-
यकाः-प्रकृतिमहत्तराः,दण्डनायकाः-तन्त्रपाला,राजानो-मा-
ण्डलिका, ईश्वरा-युवराजाः, तलवराः-परितुष्टनरपतिप्रदत्त-
पट्टबन्धविभूषिता राजस्थानीयाः, माडम्बिकाः-छिन्नमड-
म्बाधिपाः,कौटुम्बिकाः-कतिपयकुटुम्बस्य प्रभवोऽवलगकाः,
मन्त्रिणः-प्रतीताः,महामन्त्रिणो-मन्त्रिमण्डलप्रधानाः, गण-
काः-ज्योतिषिकाः, भाण्डागारिका इत्यन्ये । दौवारिकाः
प्रतीहाराः, अमात्या-राज्याधिष्ठायकाः, चेटाः-पादमूलिकाः,
पीठमर्द्दाः-आस्थाने आसनासीनसेवकाः वयस्या इत्यर्थः,
नगरमिह सैन्यनिवासिप्रकृतयः,निगमाः-कारणिकाः वणिजो
वा, श्रेष्ठिनः श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमाङ्गाः,
सेनापतयो नृपतिनिरूपितचतुरङ्गसैन्यनायकाः, सार्थवाहाः
प्रतीताः, दूता-अन्येषां राजादेशनिवेदकाः, सन्धिपालाः-रा-
ज्यसन्धिरक्षकाः, एतेषां द्वन्द्वस्ततस्तैः। इह तृतीयाबहुवच-
नलोपो द्रष्टव्यः। (सद्धिं ति) सार्द्धं सहेत्यर्थः, न केवलं
तत्सहितत्वमेवापि तु तैः समिति समन्तात् परिवृतः परिक-
रित इति, (हारोत्थयसुकयरइयवच्छे) हारावस्तृतेन हारा-
वच्छादनेन सुष्ठु कृतं रतिकं वक्षः उरो यस्य स तथा,
(जहा उववाइए त्ति) तत्र चैवमिदं सूत्रम्—" पालं-
बपलम्बमाणपडसुकयउत्तरिज्जे इत्यादि " तत्र प्रलम्बेन
दीर्घेण प्रलम्बमानेन डुम्बमानेन पटेन सुष्ठु कृतम्, उत्तरी-
यम्-उत्तरासङ्गो येन स तथा, (महया भडचडगविंदप-
रिक्खित्ते त्ति) महाभटानां विस्तारवत्सङ्घेन परिकरित
इत्यर्थः, (ओयाए त्ति) उपयातः उपगतः (अभेज्जकवयं
ति) परप्रहरणाभेद्यावरणम् (वइरपडिरूवं ति) वज्रस-
दृशम्। (एगहत्थिणा वि त्ति)। एकेनाऽपि गजेनेत्यर्थः।
(पराजिणित्तए त्ति) परानभिभवितुमित्यर्थः। (हयम-
हियपवरवीरघाइयविवडियचिंधद्धयपडागे त्ति) हताः-प्र-
हारदानतो, मथिता-माननिर्मथनतः, प्रवरवीराः-प्रधानभटा
घातिताश्च येषां ते तथा, विपतिताश्चिह्नध्वजाः-चक्रादिचि-
ह्नप्रधानध्वजाः पताकाश्च तदन्या येषां ते तथा,ततः कर्म्मधार-
योऽतस्तान्। (किच्छपाणगए त्ति) कृच्छ्रगतप्राणान् कष्टे प-
तितप्राणानित्यर्थः (दिसो दिसिं ति) दिशः सकाशादन्यस्यां
दिशि अभिमतदिक्त्यागाद्दिगन्तराभिमुखेनेत्यर्थः,अथवा-दि-
गेवाऽपदिक्, नशनाभिप्रायेण यत्र प्रतिषेधने तद्दिगपदिक् त-
द्यथा-भवत्येवम्, (पडिसेहित्थ त्ति) प्रतिषेधितवान् युद्धा-
न्निवर्त्तितवानित्यर्थः। (सारुट्ठ त्ति) संरुष्टा मनसा (परिकु-
विय त्ति) शरीरे समन्ताद्दर्शितकोपविकाराः। (समरवहिय
त्ति) संग्रामे हताः। भ० ७ श० ६ उ०।

महासीह-महासिंह-पुं०। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे अस्यामुत्सर्पि-
ण्यां जाते षष्ठे बलदेववासुदेवस्य पितरि, स्था० ९ ठा०।

महासीहणिक्कीलिय-महासिंहनिष्क्रीडित-न०। बृहत्प्रमाणे
तपसि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। प्रव०।

औपपातिके चैवं व्याख्यातम्। इयं च स्थापना—

१			१६
२	१	१४	१५
३	२	१३	१४
४	३	१२	१३
५	४	११	१२
६	५	१०	११
७	६	९	१०
८	७	८	९
९	८	७	८
१०	९	६	७
११	१०	५	६
१२	११	४	५
१३	१२	३	४
१४	१३	२	३
१५	१४	१	२
१६	१५		१

एकादयः षोडशान्ताः पुनः षोडशाद-
य एकान्ताः स्थाप्यन्ते, तत्र द्व्यादीनां
षोडशान्तानामग्रे प्रत्येकमेकादयः प-
ञ्चदशान्ताः स्थाप्यन्ते, तथा ये षोड-
शादय एकान्ताः स्थापितास्तेषु पञ्चद-
शादीनां द्व्यन्तानामादौ चतुर्दशाद-
यः स्थापनीयाः चतुर्दशादिना चाभि-
लापेन ते समुत्कीर्तनीयाः। दिनमानं
चैकस्यां परिपाट्यामिदमत्र-द्वे षोड-
शानां सङ्कलने १३६,१३६ एका पञ्चद-
शानां १२० चतुर्दशानामप्येवमेव १०५
एकषष्टिश्च ६१ पारणकानीति, सर्वसं-
कलने च ५५८, एवं च वर्षमेकं षट् च
मासा दिनान्यष्टादशेति,परिपाटीचतु
ष्टये चतुर्गुणमेतदेव-६ वर्षाणि, २ मा-
सौ, १२ दिनानि। औ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महासिंहनिष्क्रीडितं तप आह—

इग दुग इग तिगदुग चउ,तिग पण चउ छक्क पंच सत्त छगं।
अड सत्त नव ड दस नव,एक्कारस दस य वारसगं ॥१५३३॥
एक्कार तेर वारस, चउदस तेरस य पनर चउदसगं ।
सोलस पनरस सोलाइ, होइ विवरीयमेकंतं ॥१५३४॥

अथोक्तशेषं दिनसर्वसंख्यां चाह—

एए उ अभत्तट्ठा, इगसट्ठी पारणाणमिह होइ ।
एसा एगा लइया, चउग्गुणाए पुण इमाए ॥१५३५॥
वरिसछगं मासदुगं, दिवसाइँ तहेव वारस हवंति ।
एत्थ महासीहनिकी–लियंमि तिन्ने तवच्चरणे ॥१५३६॥

(व्याख्या स्थापनास्वरूपं चौपपातिकवत्) प्रव० २७१द्वार।

महासीहसेण–महासिंहसेन–पुं०। राजगृहे श्रेणिकराजस्य धारणिकुक्षिसंभवे पुत्रे, "सेसा महादुमसेणमाती पंच सव्वट्ठसिद्धे" अणु० २ वर्ग १२ अ०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायः संलेखनया मृत्वा सर्वार्थसिद्धे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यति)

महासुक्क–महाशुक्र–पुं०। सप्तमदेवलोके तदिन्द्रे च । स्था० २ ठा० ३ उ०। अनु०। प्रज्ञा०। (अत्रत्यं पूर्वोक्तं प्रश्नसूत्रम् 'अंतेवासि' शब्दे प्रथमभागे गतम्)

अथ तत्स्वरूपप्रतिपादनायाह—

ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे०जाव अदूरसामंते उड्ढं जाणू ०जाव विहरति, तए णं तस्स भगवओ गोयमस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु दो देवा महिड्ढिया ०जाव महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पाउब्भूया, तं नो खलु अहं ते देवे जाणामि कयराओ कप्पाओ वा सग्गाओ वा विमाणाओ वा कस्स वा अत्थस्स अट्ठाए इहं हव्वमागया ?, तं गच्छामि णं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि ०जाव पज्जुवासामि, इमाइं च णं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामि त्ति कट्टु एवं संपेहति सम्पेहित्ता उट्ठाए उट्ठेति २ त्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे० जाव पज्जुवासति, गोयमादि। समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-से णूणं तव गोयमा ! झाणंतरियाए वट्टमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ०जाव जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए से णूणं गोयमा ! अत्थे समट्ठे ?, हंता अत्थि, तं गच्छाहि णं गोयमा ! एए चेव देवा इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेहिंति, तए णं भगवं गोयमे ! समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुनाए समाणे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव ते देवा तेणेव पहारेत्थ गमणाए, तए णं ते देवा भगवं गोयमं पज्जुवासमाणं पासंति पासित्ता हट्ठतुट्ठा० जाव हयहियया खिप्पामेव अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठेत्ता खिप्पामेव पच्चुवागच्छंति पच्चुपागच्छित्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता०जाव णमंसित्ता एवं वयासी--एवं खलु भंते ! अम्हे महासुक्कातो कप्पातो महासग्गतो महाविमाणाओ दो देवा महिड्ढिया०जाव पाउब्भूता, तए णं अम्हे समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो वंदित्ता णमंसित्ता मणसा चेव इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छामो--कति णं भंते ! देवाणुप्पिया णं अंतेवासीसयाइं सिज्झिहिंति०जाव अंतं करेहिंति ? , तए णं समणे भगवं महावीरे अम्हेहिं मणसा पुट्ठे अम्हं मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरेति–एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम सत्त अंतेवासीसयाइं ०जाव अंतं करेहिंति , तए णं अम्हे समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा चेव पुट्ठेणं मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरिया समाणा समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो २ ० जाव पज्जुवासामो त्ति कट्टु भगवं गोयमं वंदंति नमसंति २ त्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। (सूत्र–१८६)

(ते णमित्यादि) 'महाशुक्रात्' सप्तमदेवलोकात् (झाणंतरियाए त्ति) अन्तरस्य विच्छेदस्य करणमन्तरिका ध्यानस्यान्तरिका ध्यानान्तरिका–आरब्धध्यानस्य समाप्तिरपूर्वस्यानारम्भणमित्यर्थः । अतस्तस्यां वर्त्तमानस्य (कप्पाओ त्ति) देवलोकात् (सग्गाओ त्ति) स्वर्गाद्, देवलोकदेशात्प्रस्तटादित्यर्थः, (विमाणाओ त्ति) प्रस्तटैकदेशादिति, (वागरणाइं ति) व्याक्रियन्त इति व्याकरणाः प्रश्नार्थाः, अधिकृता एव कल्पविमानादिलक्षणाः। भ० ५ श० ४ उ० ।

महासुमि(वि)ण–महास्वप्न–पुं० । महत्तमफलसूचके स्वप्ने, ज्ञा०। भ०।

महासुविणा बावत्तरि ७२ सव्वसुविणा दिट्ठा, तत्थ णं देवाणुप्पिया ! तित्थगरमायरो वा चक्कवट्टिमायरो वा तित्थगरंसि वा चक्कवट्टिंसि वा गब्भं वक्कममाणंसि एएसि तीसाए महासुविणाणं इमे चोद्दस महासुविणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति, तं जहा—

गय १ वसह २ सीह ३ अभिसेय ४–
दाम ५ ससि ६ दिणयरं ७ झयं ८ कुंभं ६ ।
पउमसर १० सागर ११ विमाण–
भवण १२ रयणुच्चय १३ सिहिं च १४ ॥ १ ॥

(महासुविण त्ति) महाफलत्वात् [वावत्तरिं ति] त्रिंशतो द्विचत्वारिंशतश्च मीलनादिति । [गब्भं वक्कममाणंसि त्ति] गर्भं व्युत्क्रामति—प्रविशतीत्यर्थः, [गयवसहेत्यादि] इह च–[अभिसेय त्ति] लक्ष्म्या अभिषेकः [दाम त्ति] पुष्पमाला, [विमाणभवण त्ति] एकमेव, तत्र वि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानाकारं भवनं विमानभवनम् , अथवा—देवलोकाद्योऽव-तरति तन्माता विमानं पश्यति । यस्तु नरकात् तन्माता भवनमिति । भ० ११ श० ११ उ० ।

कतिविधाः स्वप्नाः—

कतिविहे णं भंते ! सुविणदंसणे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पंचविहे सुविणदंसणे पण्णत्ते । तं जहा—अहातच्चे पयाणे चिंतासुविणे तव्विवरीए अव्वत्तदंसणे, सुत्ते णं भंते ! सुविणं पासति , जागरे सुविणं पासति, सुत्त-जागरे सुविणं पासति ? । गोयमा ! नो सुत्ते सुविणं पासइ,नो जागरे सुविणं पासइ, सुत्तजागरे सुविणं पासइ, (भ०) संवुडे णं भंते ! सुविणं पासइ, असंवुडे सुविणं पासइ, संवुडांऽसंवुडे सुविणं पासइ ? । गोयमा ! संवुडे ऽवि सुविणं पासइ, असंवुडेऽवि सुविणं पासइ, सुंवुडासंवु-डेऽवि सुविणं पासइ। संवुडे सुविणं पासइ अहातच्चं पासइ असंवुडे सुविणं पासइ तहाऽवि तं होज्जा अण्णहा वा तं होज्जा, संवुडाऽसंवुडे सुविणं पासइ एवं चेव, जीवा णं भंते ! किं संवुडा असंवुडा संवुडासंवुडा ? गोयमा ! जीवा संवुडाऽवि असंवुडा ऽवि संवुडासंवुडा वि, एवं जहेव सुत्ताणं दंडओ तहेव भाणियव्वो, कइ णं भंते ! सुविणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! बायालीसं सुविणा पण्णत्ता । कइ णं भंते ! महासुविणा पण्णत्ता। गोयमा ! तीसं महासुविणा पण्णत्ता । कइ णं भंते ! सव्वसुविणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! बावत्तरिं सव्व-सुविणा पण्णत्ता । तित्थगरमायरो णं भंते ! तित्थगरंसि गब्भं वक्कममाणंसि कइ महासुविणे पासित्ता णं पडिबु-ज्झंति ? गोयमा ! तित्थगरमायरो णं तित्थगरंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महासुविणाणं इमे चउद्दस महासुविणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति, तं जहा—गयउस-भसीह ०जाव सिहिं च । चक्कवट्टिमायरो णं भंते ! चक्क-वट्टिंसि गब्भं वक्कममाणंसि कइ महासुविणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति ?, गोयमा ! चक्कवट्टिमायरो चक्कवट्टिंसि ०जाव वक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महासुविणाणं एवं जहा तित्थगरमायरो ०जाव सिहिं च । वासुदेवमायरो णं पुच्छा, गोयमा ! वासुदेवमायरो ०जाव वक्कममाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुविणाणं अण्णयरे सत्त महासु-विणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति । बलदेवमायरो वा णं पु-च्छा, गोयमा ! बलदेवमायरो ०जाव एएसिं चउद्दसण्हं महासुविणाणं अण्णयरे चत्तारि महासुविणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति, मंडलियमायरो णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! मंडलियमायरो ०जाव एएसिं चउद्दसण्हं महासुविणाणं अण्णयरं एगं महासुविणं०जाव पडिबुज्झंति, (सूत्र—५७८) समणे भगवं महावीरे छउमत्थकालियाए अंतिमराइयंसि इमे दस महासुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे, तं जहा—एगं च णं महं घोररूवदित्तधरं तालपिसायं सुविणे पराजियं पासित्ता णं पडिबुद्धे १ । एगं च णं महं सुक्किल्लपक्खगं पुंसकोइलं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे २ । एगं च णं महं चित्तविचित्तपक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे ३ । एगं च णं महं दामदुगं सव्वरयणामयं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे ४ । एगं च णं महं सेयगो-वग्गं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे ५ । एगं च णं महं पउ-मसरं सव्वओ समंता कुसुमियं सुविणे पासित्ता णं पडि-बुद्धे ६ । एगं च णं महं सागरं उम्मीवीयीसहस्सकलियं भुयाहिं तिण्णं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे ७। एगं च णं महं दिणयरं तेयसा जलंतं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे ८ । एगं च णं महं हरिवेरुलियवण्णाभेणं णियगेणं अंतेणं माणुसुत्तरं पव्वयं सव्वओ समंता आवेढियं परिवेढियं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे ९ । एगं च णं महं मंदरे पव्वए मंदरचूलियाए उवरिं सीहासणवरगयं अप्पाणं सुवि-णे पासित्ता णं पडिबुद्धे १० । जं णं समणे भगवं महा-वीरे एगं महं घोररूवदित्तधरं तालपिसायं सुविणे पराजि-यं पासित्ता णं ०जाव पडिबुद्धे, तं णं समणेणं भगवया महावीरेणं मोहणिज्जे कम्मे मूलाओ उग्घातिए १ । जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं सुक्किलं ०जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे सुक्कज्झाणोवगए विहरइ २ । जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्त० जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमयपर-समयं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेति पण्णवेति परू-वेइ दंसेइ निदंसेइ उवदंसेइ, तं जहा—आयारं सूयगडं ०जाव दिट्ठिवायं ३ ।, जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं दामदुगं सव्वरयणामयं सुविणे पासित्ता णं प-डिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे दुविहं धम्मं पण्ण-वेइ, तं जहा—अगारधम्मं वा, अणगारधम्मं वा ४ । जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं सेयगोवग्गं० जाव पडिबुद्धे तं णं समणस्स भगवओ महावीरस्स चाउव्वण्णाइण्णे समणसंघे पण्णत्ते । तं जहा—समणाओ, सम-णीओ, सावयाओ, सावियाओ ५ । जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं पउमसरं ०जाव पडिबुद्धे, तं णं सम-णे ०जाव महावीरे चउव्विहे देवे पण्णवेइ । तं जहा—भव-णवासी, वाणमंतरे, जोइसिए, वेमाणिए ६ । जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं सागरं०जाव पडिबुद्धे, तं णं सम-णेणं भगवया महावीरेणं अणादिए अणवदग्गे० जाव संसारकंतारे तिण्णे ७ । जं णं समणे भगवं महावी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एगं महं दिणयरं० जाव पडिबुद्धे, तं णं समणस्स भगवत्रो महावीरस्स अणंते अणुत्तरे० जाव केवलवर-णाणदंसणे समुप्पएणे ८। जं णं समणेणं ० जाव वीरेणं एगं महं हरियवेरुलिय ०जाव पडिबुद्धे, तं णं समणस्स भगवत्रो महावीरस्स ओराला कित्तिवएणसद्दसिलोया सदेवमणुयासुरे लोगे परिभवंति-इति खलु समणे भगवं महावीरे इति खलु समणे० ६। जं णं समणे भगवं महावीरे मंदरे पव्वए मंदरचूलियाए ०जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगए केवली धम्मं आघवेइ०जाव उपदंसेइ। (सूत्र-५७६)

इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंऽते एगं महं हयपंतिं वा गयपंतिं वा०जाव वसभपंतिं वा पासमाणे पासइ,दुरूहमाणे दुरूहइ, दुरूढमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव बुज्झइ, तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ, ०जाव अंतं करेइ। इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं दामिणिं पाईणपडीणायतं दुहओ समुद्दे पुट्ठं पासमाणे पासइ, संवेल्लेमाणे संवेल्लेइ, संवेल्लियमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव अप्पाणं बुज्झइ, तेणेव भवग्गहणेणं ० जाव अंतं करेइ। इत्थी वा पुरिसे वा एगं महं रज्जुं पाईणपडीणायतं दुहओ लोगंऽते पुट्ठं पासमाणे पासइ, छिंदमाणे छिंदइ, छिएणमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव जाव० अंतं करेइ। इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं किएहसुत्तगं वा ०जाव सुकिल्लसुत्तगं वा पासमाणे पासइ, उग्गोवेमाणे उग्गोवेइ, उग्गोवियमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव ०जाव अंतं करेइ। इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंऽते एगं महं अयरासिं वा तंवरासिं वा तउयरासिं वा सीसयरासिं वा पासमाणे पासइ, दुरूहमाणे दुरूहइ, दुरूढमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव बुज्झइ, दोच्चे भवग्गहणे सिज्झइ, ०जाव अंतं करेइ। इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं हिरएणरासिं वा सुवएणरासिं वा रयणरासिं वा वइररासिं वा पासमाणे पासइ, दुरूहमाणे दुरूहइ, दुरूढमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव बुज्झइ, तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ,०जाव अंतं करेइ। इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं तणरासिं वा जहा तेयणिसग्गे ०जाव अवकररासिं वा पासमाणे पासइ, विक्खिरमाणे विक्खिरइ, विक्खिएणमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव बुज्झइ, तेणेव०जाव अंतं करेति, इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं सरथंभं वा वीरणथंभं वा वंसीमूलथंभं वा वल्लीमूलथंभं वा पासमाणे पासइ, उम्मूलेमाणे उम्मूलेइ, उम्मूलितमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव बुज्झइ, तेणेव०जाव अंतं करेइ। इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं खीरकुंभं वा दधिकुंभं वा घयकुंभं वा मधुकुंभं वा पासमाणे पासइ, उप्पाडेमाणे उप्पाडेइ, उप्पाडितमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव बुज्झइ, तेणेव ०जाव अंतं करेइ। इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं सुरावियडकुंभं पा सोवीरवियडकुंभं वा तेल्लकुंभं वा वसाकुंभं वा पासमाणे पासइ, भिंदमाणे भिंदइ, भिन्नमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव बुज्झइ, दोच्चेणं भवग्गहणेणं ०जाव अंतं करेइ। इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं पउमसरं कुसुमितं पासमाणे पासइ, ओगाहेमाणे ओगाहइ,ओगाढमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव तेणेव०जाव अंतं करेइ। इत्थी वा ०जाव सुविणंते एगं महं सागरं उम्मी वीयी०जाव कलियं पासमाणे पासइ, तरमाणे तरइ, तिएणमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव तेणेव ०जाव अंतं करेइ। इत्थी वा पुरि ०जाव सुविणंते एगं महं भवणं सव्वरयणामयं पासमाणे पासति, दुरूहमाणे दुरूहति, दुरूढमिति अप्पाणं मएणइ, अणुपविसमाणे अणुपविसति, अणुपविट्ठमिति अप्पाणं मएणति, तक्खणामेव बुज्झति, तेणेव ०जाव अंतं करेति, इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं विमाणं सव्वरयणामयं पासमाणे पासइ, दुरूहमाणे दुरूहइ, दुरूढमिति अप्पाणं मएणइ, तक्खणामेव बुज्झइ, तेणेव० जाव अंतं करेइ। (सूत्र-५८०)

(कइविहे) इत्यादि, (सुविणदंसणे' त्ति) स्वप्नस्य-स्वापक्रियानुगतार्थविकल्पस्य, दर्शनम्-अनुभवनं, तच्च स्वप्नभेदात्पञ्चविधमिति, (अहातच्चे त्ति) यथा येन प्रकारेण तथ्यं-सत्यं, तत्त्वं वा तेन यो वर्त्ततेऽसौ यथातथ्यो यथातत्त्वो वा, स च दृष्टार्थाविसंवादी फलाविसंवादी वा। तत्र दृष्टार्थाविसंवादी-स्वप्नः किल कोऽपि स्वप्नं पश्यति,यथा-'मह्यं फलं हस्ते दत्तं' जागरितस्तथैव पश्यतीति, फलाविसंवादी तु किल कोऽपि गोवृषकुञ्जराद्यारूढमात्मानं पश्यति बुद्धश्च कालान्तरे सम्पदं लभते इति, (पयाणे त्ति) प्रतननं-प्रतानो विस्तारस्तद्रूपस्स्वप्नो यथातथ्यः तदन्यो वा प्रतान इत्युच्यते, विशेषणकृत एव चानयोर्भेदः, एवमुत्तरत्रापि (चिंतासुमिणे त्ति) जाग्रदवस्थस्य या चिन्ता अर्थचिन्तनं तत्संदर्शनात्मकः स्वप्नः चिन्तास्वप्नः, (तव्विवरीय त्ति) यादृशं वस्तु स्वप्ने दृष्टं तद्विपरीतस्यार्थस्य जागरणे यत्र प्राप्तिः स तद्विपरीतस्वप्नः, यथा—कश्चिदात्मानं मेध्यविलिप्तं स्वप्ने पश्यति जागरितस्तु मेध्यमर्थं कंचन प्राप्नोतीति, अन्ये तु-तद्विपरीतमेवमाहुः-कश्चित् स्वरूपेण मृत्तिकास्थलमारूढः स्वप्ने च पश्यत्यात्मानमश्वारूढमिति, (अव्वत्तदंसणे त्ति) अव्यक्तम्-अस्पष्टं, दर्शनम्-अनुभवः स्वप्नार्थस्य यत्रासावव्यक्तदर्शनः। स्वप्नाधिकारादेवेदमभिधातुमाह—' सुत्ते ण ' मित्यादि, (सुत्तजागरे त्ति) नातिसुप्तो नातिजाग्रदित्यर्थः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इह सुप्तो जागरश्च द्रव्यभावाभ्यां स्यात्तत्र द्रव्यतो-निद्रापेक्षया, भावतश्च विरत्यपेक्षया, तत्र च स्वप्नव्यतिकरो निद्रापेक्षया उक्तः। अथ विरत्यपेक्षया जीवादीनां पञ्चविंशतेः पदानां सुप्तत्वजागरत्वे प्ररूपयन्नाह-'जीवा ण' मित्यादि, तत्र (सुत्त त्ति) सर्वविरतिरूपनैश्चयिकप्रबोधभावात्,(जागर त्ति) सर्वविरतिरूपप्रवरजागरणसद्भावात्। (सुत्तजागर त्ति) अविरतिरूपसुप्तप्रबुद्धतासद्भावादिति। पूर्वं स्वप्नद्रष्टार उक्ताः। अथ स्वप्नस्यैव तथ्यातथ्यविभागदर्शनार्थं तानेवाह-'संवुडे ण' मित्यादि, संवृतः निरुद्धाश्रवद्वारः सर्वविरत इत्यर्थः, अस्य च जागरस्य च शब्दकृत एव विशेषः—द्वयोरपि सर्वविरताभिधायकत्वात्, किंतु-जागरः सर्वविरतियुक्तो बोधापेक्षयोच्यते। संवृतस्तु तथाविधबोधोपेतसर्वविरत्यपेक्षयेति, (संवुडे णं सुविणं पासइ अहातच्चं पासइ त्ति) सत्यमित्यर्थः, संवृतश्चेह विशिष्टतरसंवृतत्वयुक्तो ग्राह्यः। स च प्रायः क्षीणमलत्वात् देवतानुग्रहयुक्तत्वाच्च सत्यं स्वप्नं पश्यतीति। अनन्तरं संवृतादिः स्वप्नं पश्यतीत्युक्तम्। अथ संवृतत्वाद्येव जीवादिषु दर्शयन्नाह-'जीवा ण' मित्यादि। स्वप्नाधिकारादेवेदमाह-'कइ ण' मित्यादि, (बायालीसं सुविण त्ति) विशिष्टफलसूचकस्वप्नापेक्षया द्विचत्वारिंशदन्यथाऽसंख्येयास्ते संभवन्तीति, (महासुविण त्ति) महत्तमफलसूचकाः (बावत्तरि त्ति) एतेषामेव मीलनात्। (अंतिमराइयंसि त्ति) रात्रेरन्तिमे भागे (घोररूवदित्तधरं ति) घोरं यद्रूपं दीप्तं च दृप्तं वा तद्धारयति यः स तथा, तम्। (तालपिसायं ति) तालो—वृक्षविशेषः, स च स्वभावाद्दीर्घो भवति, ततश्च ताल इव पिशाचस्तालपिशाचस्तम्, एषां च पिशाचाद्यर्थानां मोहनीयादिभिः स्वप्नफलविषयभूतैः सह साधर्म्यं स्वयमभ्यूह्यम्, (पुंसकोइलगं ति) पुंस्कोकिलं—कोकिलपुरुषमित्यर्थः, (दामदुगं ति) मालाद्वयम्। (उम्मीवीइसहस्सकलियं ति) इहोर्मयो महाकल्लोलाः वीचयस्तु ह्रस्वाः, अथवा-ऊर्म्मीणां वीचयो विविक्तत्व्यानि तत्सहस्रकलितम्, (हरिवेरुलियवण्णाभेणं ति) हरिच्च—तन्नीलं वैडूर्यवर्णाभं चेति समासस्तेन-(आवेढियं ति) अभिविधिना वेष्टितं सर्वत इत्यर्थः। (परिवेढियं ति) पुनःपुनरित्यर्थः। (उवरिं त्ति) उपरि (गणिपिडगं ति) गणीनाम्-अर्थपरिच्छेदानां पिटकमिव पिटकम्—आश्रयो गणिपिटकम्, गणिनो वा आचार्यस्य पिटकमिव 'सर्वस्वभाजनमिव गणिपिटकम्। [आघवेइ त्ति] आख्यापयति सामान्यविशेषरूपतः, [पन्नवेति त्ति] सामान्यतः [परूवेइ त्ति] प्रतिसूत्रमर्थकथनेन, [दंसेइ त्ति] तदभिधेयप्रत्युपेक्षणादिक्रियादर्शनेन, [निदंसेइ त्ति] कथञ्चिदगृह्णतोऽनुकम्पया निश्चयेन पुनः पुनर्दर्शयति [उवदंसेइ त्ति]सकलनययुक्तिभिरिति, [चाउव्वण्णाइन्ने त्ति] चातुर्वर्णश्चासावाकीर्णश्च ज्ञानादिगुणैरिति चातुर्वर्णाकीर्णः। [चउव्विहे देवे पन्नवेइ त्ति] प्रज्ञापयति-प्रतिबोधयति शिष्यीकरोतीत्यर्थः, [अणंते त्ति] विषयानन्तत्वात् [अणुत्तरे त्ति] सर्वप्रधानत्वात् 'यावत्करणादिदं दृश्यम्-'निव्वाघाए' कटकुड्यादिनाऽप्रतिहतत्वात्, 'निरावरणे' क्षायिकत्वात्, 'कसिणे' सकलार्थग्राहकत्वात्, 'पडिपुन्ने' अंशेनापि स्वकीयेनान्यूनत्वादिति। [सू०—

५७६] [सुविणंते त्ति] स्वप्नान्ते—स्वप्नस्य विभागे अवसाने वा 'गयपंतिं वा' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-'नरपंतिं वा एवं किन्नरकिंपुरिसमहोरगगंधव्व त्ति' (पासमाणे पासइ त्ति) पश्यन् पश्यत्तागुणयुक्तः सन् पश्यति—अवलोकयति, (दामिणिं ति) गवादीनां बन्धनविशेषभूतां रज्जुम्। (दुहओ त्ति) द्वयोरपि पार्श्वयोरित्यर्थः। (संवेल्लेमाणे त्ति) संवेल्लयन्—संवर्त्तयन् (संवेल्लियमिति अप्पाणं मन्नइ त्ति) संवेल्लितान्तामित्यात्मना मन्यते विभक्तिविपरिणामादिति। (उग्गोवेमाणे त्ति) उद्गोपयन् विमोहयन्नित्यर्थः। (जहा तेयनिसग्ग त्ति) यथा गोशालके, अनेन चेदं सूचितम्—(पत्तरासीति वा तयारासीति वा भुसरासीति वा तुसरासीति वा गोमयरासीति व त्ति) [सुरावियडकुंभं ति] सुरारूपं यद् विकटम्-जलं तस्य कुम्भो यः स तथा। [सोवीरगवियडकुंभं व त्ति] इह सौवीरकं-काञ्जिकमिति। भ० १६ श० ६ उ०।

महासुमिणभावणा-महास्वप्नभावना-स्त्री०। महास्वप्नानि गजवृषभादीनि भाव्यन्ते यासु ताः महास्वप्नभावनाः। अङ्गबाह्यश्रुतविशेषे, पा०। पं० व०।

महासुव्वया-महासुव्रता-स्त्री०। भगवतोऽरिष्टनेमेः प्रथमश्राविकायाम्, आ० म० १ अ०।

महासेण-महासेन-पुं०। मल्लितीर्थकरस्याष्टमे गणधरे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। राजगृहे श्रेणिकराजस्य धारणीकुक्षिसम्भवे पुत्रे, अणु० १ वर्ग २ अ०। ['महासीहसेण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२१ ऽस्य वक्तव्यतोक्ता] जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे सुप्रतिष्ठितनगरे स्वनामख्याते राजनि, विपा० १ श्रु० ६ अ०। कृष्णस्य वासुदेवस्यावल्गकपुरुषे, आ० म० १ अ०। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां सप्तमकुलकरे, स०। ऐरवते वर्षे भविष्यति पञ्चदशे तीर्थकरे, स०। आ० चू०। ईशानेन्द्रस्य देवस्य नाट्यानीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा०।

महासेणकण्ह-महासेनकृष्ण-पुं०। श्रेणिकभार्याया महासेनकृष्णायाः पुत्रे, नि० १ वर्ग ६ अ०। [स च संग्रामे मृत्वा चतुर्थनरकपृथिव्यामुपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति निरयावलिकायाः प्रथमवर्गे षष्ठेऽध्ययने सूचितम्]

महासेणकण्हा-महासेनकृष्णा-स्त्री०। स्वनामख्यातायां श्रेणिकभार्यायाम्, नि०। अन्त०। [सा च वीरान्तिके प्रव्रज्य आचामाम्लं तपःकर्मोपसंपाद्य सिद्धा] वक्तव्यता यथा—

एवं महासेणकण्हा वि, नवरं आयंबिलवड्ढमाणं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति, तं जहा—आयंबिलं करेति, आयंबिलं करेत्ता चउत्थं करेति चउत्थं करेत्ता बे आयंबिलाइं करेति बे आयंबिलाइं करेत्ता चउत्थं करेति चउत्थं करेत्ता तिन्नि आयंबिलाइं करेति तिन्नि आयंबिलाइं करेत्ता चउत्थं करेति चउत्थं करेत्ता चत्तारि आयंबिलाइं करेति चत्तारि आयंबिलाइं करेत्ता चउत्थं करेति चउत्थं करेत्ता पंच आयंबिलाइं करेति पंच आयंबिलाइं करेत्ता चउत्थं करेति चउत्थं करेत्ता छ आयंबिलाइं करेति छ आयंबिलाइं करेत्ता चउत्थं करेति चउत्थं करेत्ता,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं एकोत्तरियाए वड्डीए आयंबिलाइं वड्ढंति चउत्थंऽ—तरियाइं ०जाव आयंबिलसयं करेति आयंबिलसयं करेत्ता चउत्थं करेति, तते णं सा महासेणकण्हा अज्जा आयंबिलवड्ढमाणं तवोकम्मं चोद्दसहिं वासेहिं तिहि य मासेहिं वीसहि य अहोरत्तेहिं अहासुत्तं ० जाव सम्मं काएणं फासेति ० जाव आराहेत्ता जेणेव अज्जचंदणा अज्जा तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता बहूहिं चउत्थेहिं ० जाव भावेमाणी विहरति, तते णं सा महासेणकण्हा अज्जा तेणं ओरालेणं ० जाव उवसोभेमाणी चिट्ठइ, तए णं तीसे महासेणकण्हाए अज्जाए अन्नया कयाऽवि पुव्वरत्तावरत्तकाले चिंता जहा खंदयस्स ० जाव अज्जचंदणं पुच्छइ ०जाव संलेहणा, कालं अणवकंखमाणी विहरति। तते णं सा महासेणकण्हा अज्जा अज्जचंदणाए अज्जाए अंतियं सामाइयातिं एकारस अंगाइं अहिज्जित्ता बहुपडिपुन्नातिं सत्तरसवासातिं परियायं पालइत्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं भूसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता जस्सऽट्ठाए कीरइ ०जाव तमट्ठं आराहेति चरिमउस्सासणीसासेहिं सिद्धा बुद्धा। अन्त० ८ वर्ग १० अ०।

महासेय–महासेक–पुं०। औत्तराहाणामिन्द्रे, स्था०।

दो कुंभंडिंदा पएणत्ता, तं जहा–सेए चेव, महासेए चेव। स्था० २ ठा० ३ उ०।

महासेल–महाशैल–पुं०। महाहिमवति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। वैताढ्ये, कल्प० १ अधि० २ क्षण।

महासोक्ख–महासौख्य–त्रि०। महत्सौख्यं प्रभूतसद्वेदनीयोदयवसाद्यस्य स महासौख्यः। अत्यन्तसुखयुक्ते, सू० प्र० २० पाहु०। जं०। औ०। आ० म०। जी०। प्रज्ञा०। महानदे, स्था० २ ठा० ३ उ०। विशिष्टसुखयोगादिति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। चं० प्र०।

महासोदाम–महासौदाम–पुं०। बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य पीठानीकाधिपतौ अश्वराजे, स्था० ५ ठा० १ उ०।

महाहरि–महाहरि–पुं०। दशमचक्रवर्त्तिनः पितरि, स०।

महाहिताव–महाभिताप–त्रि०। महादुःखोत्पादके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

महाहिमवंत–महाहिमवत्–पुं०। हैमवतक्षेत्रस्योत्तरतः सीमाकारिणि वर्षधरपर्वते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। स्था०। रा०। दो महाहिमवंता। स्था० २ ठा० ३ उ०।

महाहिमवंतकूड–महाहिमवत्कूट–न०। महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य स्वनामकदेवभवनाधिष्ठिते कूटे स्था० १० ठा०।

कहि णं भंते! जम्बुद्दीवे दीवे महाहिमवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते ?। गोयमा! हरिवासस्स दाहिणेणं हेमवयस्स वासस्स उत्तरेणं पुरत्थिमलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं पच्चत्थिमलवणसमुद्दस्स पुरत्थिमेणं, एत्थ णं जम्बुद्दीवे दीवे महाहिमवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणवित्थिण्णे पलियंकसंठाणसंठिए दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए ०जाव पुट्ठे पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे दो जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णासं जोअणाइं उव्वेहेणं चत्तारि जोअणसहस्साइं दोण्णि अ दसुत्तरे जोअणसए दस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं, तस्स बाहा पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं णव जोअणसहस्साइं दोण्णि अ छावत्तरे जोअणसए णव य एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणं, तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायया दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठा पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठा पच्चत्थिमिल्लाए ०जाव पुट्ठा तेवण्णं जोअणसहस्साइं नव य एगतीसे जोअणसए छच्च एगूणवीसइभाए जोअणस्स किंचि विसेसाहिए आयामेणं, तस्स धणुं दाहिणेणं सत्तावण्णं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तेणउए जोअणसए दस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं, रुअगसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइयाहिं दोहि अ वणसंडेहिं संपरिक्खित्ते महाहिमवंतस्स णं वासहरपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, ०जाव णाणाविहपञ्चवण्णेहिं मणीहि अ तणेहि अ उवसोभिए०जाव आसयंति सयंति य। (सूत्र—७९)

(कहि णं भंते ! इत्यादि) सर्वं प्राग्वत् , नवरं द्वे योजनशते उच्चत्वेन क्षुद्रहिमवद्वर्षधरतो द्विगुणोच्चत्वात् पञ्चाशद्योजनान्युद्वेधेन-भूप्रविष्टत्वेन , मेरुवर्जसमयक्षेत्रगिरीणां स्वोच्चत्वचतुर्थांशेनोद्वेधत्वात् चत्वारि योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते दशोत्तरे दश च योजनैकोनविंशतिभागान् विष्कम्भेन हैमवतक्षेत्रतो द्विगुणत्वात् , अथास्य बाहादिसूत्रमाह—(तस्स त्ति) सूत्रत्रयमपि व्यक्तम् , प्रायः प्राग्व्याख्यातसूत्रसदृशगमकत्वात् , नवरमत्रास्य सर्वरत्नमयत्वमुक्तम् , बृहत्क्षेत्रविचारादौ तु पीतस्वर्णमयत्वमिति तेन मतान्तरमवसेयम् , अनेनैव मतान्तराभिप्रायेण जम्बूद्वीपपट्टादावस्य पीतवर्णत्वं दृश्यते , अथास्य स्वरूपाविर्भावनायाह—(महाहिमवंतस्स णमित्यादि) सर्वं जगतीपद्मवरवेदिकावनखण्डकवद् ग्राह्यम्।

सम्प्रति अत्र ह्रदस्वरूपमाह—

महाविमवंतस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महापउमद्दहे णामं दहे पण्णत्ते , दो जोअणसहस्साइं आयामेणं एगं जोअणसहस्सं विक्खंभेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छे रययामयकूले, एवं आयामविक्खंभविहूणा जा चेव पउमद्दहस्स वत्तव्वया सा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेव गोअव्वा, पउमप्पमाणं दो जोअणाइं अट्ठो ०जाव महापउमद्दहवराणाभाइं हिरी अ इत्थ देवी ० जाव पलिओवमट्ठिइया परिवसइ, से एएणऽट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ, अदुत्तरं च णं गोअमा ! महापउमद्दहस्स सासए णामधिज्जे पण्णत्ते। जं ण कयाइ णाऽसि, जं ण कयाइ नऽत्थि, जं ण कयाइ ण भविस्सइ, तस्स णं महापउमद्दहस्स दक्खिणिल्लेणं तोरणेणं रोहिआ महाणई पव्वूढा समाणी सोलस पंचुत्तरे जोणसए पंच य एगूणवीसइभाए जोअणस्स दाहिणाभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवित्तिएणं मुत्तावलिहारसंठिएणं साइरेगदोजोअणसइएणं पवाएणं पवडइ, रोहिआ णं महाणई जओ पवडइ एत्थ णं महं एगा जिब्भिया पण्णत्ता, सा णं जिब्भिआ जोअणं आयामेणं अद्धतेरसजोअणाइं विक्खंभेणं कोसं बाहल्लेणं मगरमुहविउट्टसंठाणसंठिआ सव्ववइरामई अच्छा, रोहिआ णं महाणई जहिं पवडइ एत्थ णं महं एगे रोहिअप्पवायकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते, सवीसं जोअणसयं आयामविक्खंभेणं पण्णत्तं, तिण्णि असीए जोअणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे सो चेव वण्णओ, वइरतले वट्टे समतीरे ० जाव तोरणा, तस्स णं रोहिअप्पवायकुंडस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे रोहिअदीवे णामं दीवे पण्णत्ते, सोलसजोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पण्णासं जोअणाइं परिक्खेवेणं दो कोसे ऊसिए जलंताओ सव्ववइरामए अच्छे, से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेण सव्वओ समता संपरिक्खित्ते, रोहिअदीवस्स णं दीवस्स उप्पि बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं सेसं त चेव पमाणं च अट्ठो अ भाणिअव्वो। तस्स णं रोहिअप्पवायकुंडस्स दक्खिणिल्लेणं तोरणेणं रोहिआ महाणई पव्वूढा समाणी हेमवयं वासं एज्जेमाणी ए० २ सद्दावइं वट्टवेअड्ढपव्वयं अद्धजोअणेणं असंपत्ता पुरत्थाभिमुही आवत्ता समाणी हेमवयं वासं दुहा विभजमाणी विभजमाणी अट्ठावीसाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा अहे जगइं दालइत्ता पुरत्थिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ, रोहिआ णं जहा रोहिअंसा तहा पवाहे अ मुहे अ भाणिअव्वा इति ० जाव संपरिक्खित्ता। तस्स णं महापउमद्दहस्स उत्तरिल्लेणं तोरणेणं हरिकंता महाणई पव्वूढा समाणी सोलस पंचुत्तरे जोअणसए पंच य एगूणवीसइभाए जोअणस्स उत्तराभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवित्तिएणं मुत्ताऽऽवलिहारसंठिएणं साइरेगदुजोअणसइएणं पवाएणं पवडइ, हरिकंता महाणई जओ पवडइ एत्थ णं महं एगा जिब्भिआ पण्णत्ता, दो जोयणाइं आयामेणं पणवीसं जोअणाइं विक्खंभेणं अद्धं जोअणं बाहल्लेणं मगरमुहविउट्टसंठाणसंठिआ सव्वरयणामई अच्छा, हरिकंता णं महाणई जहिं पवडइ एत्थ णं महं एगे हरिकंतप्पवायकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते, दोण्णि अ चत्ताले जोअणसए आयामविक्खंभेणं सत्तअउणट्ठे जोयणसए परिक्खवेणं अच्छे, एवं कुंडवत्तव्वया सव्वा नेयव्वा० जाव तोरणा। तस्स णं हरिकंतप्पवायकुंडस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे हरिकंतदीवे णामं दीवे पण्णत्ते, बत्तीसं जोअणाइं आयामविक्खंभेणं एगुत्तरं जोअणसयं परिक्खेवेणं दो कोसे ऊसिए जलंताओ सव्वरयणामए अच्छे,से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेणं ०जाव संपरिक्खित्ते वण्णओ भाणिअव्वो त्ति, पमाणं च सयणिज्जं च अट्ठो अ भाणिअव्वो। तस्स णं हरिकंतप्पवायकुंडस्स उत्तरिल्लेणं तोरणेणं ०जाव पव्वूढा समाणी हरिवस्सं वासं एज्जेमाणी एज्जेमाणी विअडावइं वट्टवेअड्ढं जोअणेणं असंपत्ता पचत्थाभिमुही आवत्ता समाणी हरिवासं दुहा विभयमाणी विभयमाणी छप्पणाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा अहे जगइं दलइत्ता पचत्थिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ, हरिकंता णं महाणई पवहे पणवीसं जोअणाइं विक्खम्भेणं अद्धजोअणं उव्वेहेणं तयणंतरं च णं मायाए मा०२ परिवद्धमाणी परिवद्धमाणी मुहमूले अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खम्भेणं पंच जोअणाइं उव्वेहेणं, उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं, दोहि अ वणसंडेहिं संपरिक्खित्ता। (सूत्र–८०)

'महाहि' इत्यादि, प्रायः पद्मद्रहसूत्रानुसारेण व्याख्येयम्। अथैतद्दक्षिणद्वारनिर्गतां नदीं निर्दिशन्नाह—(तस्स णमित्यादि) तस्य महापद्मद्रहस्य दाक्षिणात्येन तोरणेन रोहिता महानदी प्रव्यूढा—निर्गता सती षोडशपञ्चोत्तराणि योजनशतानि पञ्च चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य दक्षिणाभिमुखी पर्वतेन गत्वा महाता घटमुखप्रवृत्तिकेन मुक्तावलिहारसंस्थितेन सातिरेकद्वियोजनशतिकेन, सातिरेकत्वं च रोहिताप्रपातकुण्डोद्वेधापेक्षया बोध्यम्, प्रपातेन प्रपतति, षोडशेत्यादिसंख्यानयनं तु चतुःसहस्रद्विशतदशयोजनतदेकोनविंशतिभागात्मकभागदशकाद्गिरिव्यासात् सहस्रयोजनात्मके द्रहव्यासेऽपनीते सत्यर्द्धीकृताद्भवति, अन्यत् सर्वं रोहितांशागमेन वाच्यम्। अथ सा यतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रपतति तदास्पदं दर्शयति—' रोहिआ णामित्यादि ' प्राग्वत्। अथ यत्र प्रपतति तदाह-' रोहिआ णामित्यादि ' प्राग्व्याख्यातप्रायम्, नवरं सविंशतिकं योजनशतं गङ्गाप्रपातकुण्डतो द्विगुणायामविष्कम्भत्वात्, त्रीणि योजनशतानि अशीत्यधिकानि किञ्चिद्विशेषोनानि, ऊनत्वकरणेन योजनानि ३७६ क्रोशः १ कियद्धनुरधिकस्तेन किञ्चिदूनाशीतिरुक्ता इत्यर्थः, परिक्षेपेणेति। अधुनाऽस्य द्वीपवक्तव्यमाह-'तस्स ण' मित्यादि व्यक्तम्, नवरं गङ्गाद्वीपतो द्विगुणायामविष्कम्भत्वात्, षोडश योजनानि रोहिताद्वीपप्रमाणमित्यर्थः, 'से णमित्यादि' सुगमम्, ' रोहिअदीव इत्यादि ' सुगमम्, नवरं शेषं विष्कम्भादिकं प्रमाणं तदेव, कोऽर्थः ?—अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनक्रोशमुच्चत्वेनेति, चशब्दाद्रोहितादेवीशयनादिवर्णकोऽपि, अर्थश्च 'से केणट्ठेणं भन्ते ! रोहिअदीवे ' इत्यादि, सूत्रावगम्यः। सम्प्रति यथेयं लवणगामिनी तथाऽऽह-' तस्सेत्यादि ' तस्य-रोहिताप्रपातकुण्डस्य दाक्षिणात्येन तोरणेन द्वारेणेत्यर्थः, रोहिता महानदी प्रव्यूढा-निर्गता सती हैमवतं वर्षम् आगच्छन्ती २ हैमवतक्षेत्राभिमुखमायान्तीत्यर्थः, शब्दापातिनामानं वृत्तवैताढ्यपर्वतमर्द्धयोजनेन क्रोशद्वयेनासम्प्राप्ता-असंस्पृष्टा दूरस्थितेत्यर्थः, पूर्वाभिमुखी आवृत्ता सती हैमवतं वर्षं द्विधा विभजन्ती २-द्विभागं कुर्वती २ अष्टाविंशत्या सलिलासहस्रैः समग्रा-पूर्णा, भरतनदीतो द्विगुणनदीपरिवारत्वात्, अधोभागे जगतीं जम्बूद्वीपकोट्टं दारयित्वा पूर्वभागेन लवणसमुद्रं समुपसर्पति, प्रविशतीत्यर्थः। अथ लाघवार्थं रोहितांशातिदेशेन रोहितावक्तव्यमाह-' रोहिआणं ति ' अतिदेशसूत्रत्वादेव प्राग्वत्। अथास्म''दुत्तरगामिनीयं नदी क्वावतरतीत्याशङ्क्याह-' तस्स णामति ' व्यक्तम्, ' हरिकंता ' इत्यादि कण्ठ्यम्, अत्र ' सव्वरयणामई ' ति पाठो बह्वादर्शदृष्टोऽपि लिपिप्रमादापतित एव सम्भाव्यते, बृहत्क्षेत्रविचारादिषु सर्वासां जिह्विकानां वज्रमयत्वेनैव भणनात्, जलाशयानां प्रायो वज्रमयत्वेनैवोपपत्तेश्च, ' हरिकंता ण ' मित्यादि, व्यक्तम्, नवरं हरिकान्ताप्रपातकुण्डं द्वे योजनशते चत्वारिंशदधिके आयामविष्कम्भाभ्यां सप्तयोजनशतानि एकोनषष्ठानि एकोनषष्ट्यधिकानि परिधिना इति, ' तस्स ण ' मित्यादि, सूत्रत्रयं प्राक्सूत्रानुसारेण वोद्धव्यम्, नवरं विकटापातिनं वृत्तवैताढ्यं योजनेनासम्प्राप्ता पश्चिमेनावृत्ता सती हरिवर्षं नाम क्षेत्रं वक्ष्यमाणस्वरूपं द्विधा विभजमाना २ षट्पञ्चाशता नदीसहस्रैः समग्रा-परिपूर्णा, हैमवतक्षेत्रनदीतो द्विगुणनदीपरिवारत्वात् पश्चिमेन भागेन लवणोदधिमुपैति। सम्प्रत्यस्याः प्रवाहादि कियन्मानमित्याह-' हरिकंता ' इत्यादि, हरिकान्ता महानदी प्रवहे-द्रहनिर्गमे, पञ्चविंशतियोजनानि-विष्कम्भेन अर्द्धयोजनमुद्वेधेन तदनन्तरं च मात्रया मात्रया-क्रमेण २ प्रतियोजनं समुदितयोरुभयोः पार्श्वयोः चत्वारिंशद्धनुर्वृद्ध्या, प्रतिपार्श्वं धनुर्विंशतिवृद्ध्येत्यर्थः, परिवर्द्धमाना २ मुखमूले-समुद्रप्रवेशेऽर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भेन पञ्च योजनान्युद्वेधेन, उभयोः पार्श्वयोर्द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां द्वाभ्यां च वनखण्डाभ्यां सम्परिक्षिप्ता।

अथैतस्य कूटवक्तव्यमाह—

से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ महाहिमवंते वासहरपव्वए वासहरपव्वए ? गोअमा ! महाहिमवंते णं वासहरपव्वए चुल्लहिमवंतं वासहरपव्वयं पणिहाय आयामुच्चत्तुव्वेहविक्खम्भपरिक्खेवेणं महंततराए चेव दीहतराए चेव, महाहिमवंते अ इत्थ देवे महि(ड्ढि)ड्ढिए ०जाव पलिओवमट्ठिइए परिसवइ। (सूत्र-८१)

साम्प्रतं महाहिमवतो नामार्थं निरूपयन्नाह-' से केणट्ठेणं ' मित्यादि,व्यक्तम्। नवरमुत्तरसूत्रे महाहिमवान् वर्षधरपर्वतः क्षुद्रहिमवन्तं वर्षधरपर्वतं प्रणिधाय प्रतीत्य क्षुद्रहिमवदपेक्षयेत्यर्थः, योजनाया विचित्रत्वात् आयामापेक्षया दीर्घतरक एव उच्चत्वाद्यपेक्षया महत्तरक एवेति, अथवा-महाहिमवन्नामाऽत्र देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, सूत्रे आयामोच्चत्वेत्यादावेकवद्भावः समाहाराद् बोध्यः। जं० ४ वक्ष०। स०।

जीवाभिगमे चैवं व्याख्यातम्—

[महाहिमवंतमलयमंदरगिरिगुहासमन्नागयाणमिति] महाहिमवान्—हैमवतक्षेत्रस्योत्तरतः सीमाकारी वर्षधरपर्वतः उपलक्षणं शेषवर्षधरपर्वतानाम्, मलयपर्वतस्य मन्दरगिरेश्च—मेरुपर्वतस्य च गुहासमन्वागतानाम्, वाशब्दा विकल्पार्थाः, एतेषु हि स्थानेषु प्रायः किन्नरादयः प्रमुदिता भवन्ति तत एतेषामुपादानम्, [एगतो सहियाणं ति] एकस्मिन् स्थाने सहितानां समुदितानाम्, [समुहागयाणं ति] परस्परसंमुखागतानां-संमुखं स्थितानाम्, नैकोऽपि कस्याऽपि पृष्ठं दत्वा स्थित इत्यर्थः, पृष्ठदाने हर्षविघातोत्पत्तेः। जी० ३ प्रति०। जं०।

महाहिलोगबल-महाहिलोकबल-पुं०। भरतक्षेत्रजाऽऽजिनसमकालिके ऐरवतजेऽष्टादशे तीर्थकरे, ति०।

महिअ-मथित-त्रि०। विलोडिते, विरोलिअं मंथिअं महिअं" पाइ० ना० १६१ गाथा।

महिआ-महिका-स्त्री०। नीहारे, "सिएहा नीहारो धूमिआ य मांहआ य धूममहिसी य" पाइ० ना० ३८ गाथा। मेघसमूहे, ' घणनिवहो कालिआ महिआ '। पाइ० ना० १५७ गाथा।

महिंद-महेन्द्र-पुं०। शक्रादिदेवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। सूत्र०। चतुर्थदेवलोके, तदिन्द्रे च। औ०। सप्तमतीर्थकरस्य प्रथमभिक्षादायके, स०। नि०। ['ठाण ' शब्दे चतुर्थभागे १७०६ पृष्ठेऽयं लोक उक्तः] पर्वतविशेषे, औ०। आ० म०।

महिंदकुंभसमान-महेन्द्रकुम्भसमान-त्रि०। महान्तो महेन्द्रकुम्भसमानाः, कुम्भानामिन्द्रः इन्द्रकुम्भः, राजदन्तादिदर्शनादिन्द्रशब्दस्य पूर्वनिपातः-महांश्चासाविन्द्रकुम्भश्च तस्य समानाः महेन्द्रकुम्भसमानाः। महाकलशप्रमाणे, जं० १ वक्ष०।

महिंदज्झय-महेन्द्रध्वज-पुं०। महेन्द्रा इत्यतिमहान्तः समयपरिभाषया ते च ते ध्वजाश्चेति, अथवा-महेन्द्रस्येव शक्रादेर्ध्वजा महेन्द्रध्वजा, अत्युच्छ्रितेष्विन्द्रध्वजेषु, स्था०।

तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि महिंदज्झया पएणत्ता।

स्था० ४ ठा० २ उ०। राय०। विश्वपुरे धरणेन्द्रस्य राज्ञः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुत्रे, ग० ३ अधि० । मणिपीठिकामध्यगता महेन्द्रध्वजाः सिद्धायतनवर्णकादवबोद्धव्याः। जं० ४ वक्त०।

महिंदप्पभसूरि-महेन्द्रप्रभसूरि-पुं०। अञ्चलगच्छीये सिंहतिलकसूरिशिष्ये, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १३६२ वर्षे जातः विक्रमसंवत् १४४४ वर्षे स्वर्गं गतः। जै० इ०।

महिंदफल-महेन्द्रफल-न०। इन्द्रयवे, उत्त० २ अ० ।

महिंदसीह-महेन्द्रसिंह-पुं०। सनत्कुमारस्य चक्रवर्तिनो मित्रे सूरिकालिन्दीतनये, उत्त० १८ अ०। स्था०।

महिंदसूरि-महेन्द्रसूरि-पुं०। धर्मघोषसूरिशिष्ये आतुरप्रत्याख्यानवृत्तिकृति,आतु०। अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १२२८ वर्षे जातः १३०६ वर्षे स्वर्गतः। विक्रमसंवत् १२९४ वर्षेऽनेन शतपदिकानाम ग्रन्थो रचितः महेन्द्रसिंहसूरिरित्यपरमस्य नाम। द्वितीयोऽपि महेन्द्रसूरिर्हेमचन्द्राचार्यशिष्यः, तद्रचिताऽनेकार्थसङ्ग्रहग्रन्थे अनेकार्थकैटवाकरकौमुदीनाम टीकाऽस्ति। जै० इ०।

महिच्छ-महेच्छ-त्रि०। महती राज्यविभवपरिवारादिका सर्वातिशायिनी स्वच्छान्तःकरणप्रवृत्तिर्यस्य सः। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। दशा०। अधिकोपधियुक्ते, स्था० ६ ठा०। प्रश्न०।

महिट्ठ-महिष्ट-न०। तक्रसंसृष्टे, विपा० १ श्रु० १ अ०।

महिड्डिय-महर्द्धिक-त्रि०। महती ऋद्धिर्यस्य सः। दिव्यानुकारिलक्ष्मीके, उत्त० ११ अ०। प्रज्ञा०। चं० प्र०।

महिमकिरिया-महिमक्रिया-स्त्री०। शवदाहस्थाने मृतमाहात्म्यकरणे, "भरहो वि भगवतो थूपं काऊण चक्करयणस्स अट्ठाहिया महिमकिरिया" आ० म० १ अ०।

महिमा-महिमन्-पुं०। महोत्सवे, प्रा० १ पाद।

महिमा-स्त्री०। "वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्" ॥ ८। १। ३५ ॥ महिमाशब्दश्च स्त्रीलिङ्गोऽपि दृश्यते। महोत्सवे,प्रा०। पञ्चा० १ विव०। विशिष्टे काले पूजायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०। आ०म०।महत्त्वप्राप्तौ अङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनयोग्यतायाम्, द्वा० २६ द्वा०। सूत्र०।

महिय-महित-त्रि०। पूजिते, आ० चू० ५ अ०। उत्त०। विशे०। न०। ज्ञा०। आ० म०। औ०। प्रज्ञा०। पुष्पादिभिः पूजिते, ध०२ अधि०। आव०। नि०। आ० म०। आ० चू०। स०। औ०। नमस्कृते, आ० चू०५ अ०। सेव्यतया वाञ्छिते, उत्त०३ अ०। अभिष्टुते, अनु०। प्रश्न०। पूजने, न०। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। मथित-त्रि०। विलोडिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। स्त्रियाम्-मथिता मानमन्थनात् विलोडितेत्यर्थः। ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। भ०। स०। आ० म०। रा०। प्रश्न०। दध्नि, प्रव० ४ द्वार।

महियदुय-महिकाद्रुक-न०। घृतसम्बन्धिकिट्टे, बृ० १ उ०।

महियल-महितल-न० भूतले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

महियलपइट्ठिय-महीतलप्रतिष्ठित-त्रि०। महीतलस्थिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

महिया-महिका-स्त्री०। धूमिकारूपे अप्काये, ओघ०। गर्भमासादिषु सायं प्रातर्वा धूमिकापातो महिकेत्युच्यते। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। आ० म०। जी०। आ० चू०। कल्प०। अनु०। प्रव०। जी०। गर्भमासेषु सूक्ष्मवर्षे, प्रज्ञा० १ पद। दश०। भ०। नि० चू०। विशे०। स्था०। आव०। आचा०।

महिरुह-महीरुह-पुं०। वृक्षे, दश० १ अ०।

महिला-मिथिला-स्त्री०। विदेहजनपदे स्वनामख्यातायां नगर्याम्, 'तेणं समएणं महिला णामं णयरी होत्था' चं०प्र० १ पाहु०। आव०। विशे०। निह्नवानामुत्पत्तिस्थाने, उत्त० ६ अ०। आ० क०। आ० चू०।

महिला-स्त्री०। स्त्रियाम्, बृ० २ उ०। आ० चू०। को०। प्रव०।

नाणाविहेहिं कम्मेहिं सिप्पयाईहिं पुरिसे मोहंति त्ति महिलाओ।

(नाणा०) नानाविधैः कर्मभिः कृषिवाणिज्यादिभिः शिल्पकादिभिश्च कुम्भकार-लोहकार-चित्रकार-तन्तुवाय-नापित-विज्ञानैः पुरुषान् [मोहन्तीति] मोहं प्रापयन्ति धातूनामनेकार्थत्वात्, विडम्बयन्तीत्यर्थः, इति महिलाः। यद्वा—नानाविधैः कर्मभिः मैथुनसेवादिभिः शिल्पादिभिश्च मस्तकादौ कवर्यादिविज्ञानैः, पुरुषान् बालनरान् मोहयन्तीति आत्मसात्कुर्वन्तीति स्वस्वार्थपूरणायेति महिलाः, [पुरि त्ति] पुरुषान् मत्तान्-उन्मत्तान् मुक्तगुरुजनकजननीबान्धवभगिनीमित्राविलज्जान् कुर्वन्ति प्रमदाः, महान्तं राटिं कलिं जनयन्ति उत्पादयन्तीति महिलाः। तं०। "रामा रमणी सीमं—तिणी वहू वामलोअणा विलया। महिला जुवई अवला, निअंबिणी अंगणा नारी" ॥ १२ ॥ पाइ० ना० १२ गाथा।

महिलासभाव-महिलास्वभाव-पुं०। स्त्रीस्वभावे,ध० ३ अधि०।

महिलिया-महिलिका-स्त्री०। महान्तं राटिं कलिं जनयन्ति उत्पादयन्तीति महिलिकाः। तं०। स्त्रियाम्, अनु०।

महिल्ल-महत्-त्रि०। सर्वेभ्योऽपि वृद्धतरे, वृ० ३ उ०।

महिउट्ठियाकमलसरिसोवम-महोध्द्रिकाकमलसदृशोपम—त्रि०। महाभाजनखण्डतुल्ये, उपा० २ अ०।

महिवट्ठ-महीपृष्ठ-न०। भूतले, उत्तरपदत्वात्। "पृष्ठे वानुत्तरपदे" ॥ ८। १। १२६ ॥ इति ऋत इत्वं न। प्रा०।

महिवाल-महीपाल-पुं०। "पो वः" ॥८। १। २३१ ॥ इति पकारस्य दन्त्योष्ठ्यो वः। महिवालो। राजनि, प्रा० १ पाद।

महिस-महिष-पुं०। मह्यां शेते इति महिषः। द्विखुरजीवविशेषे, अनु०। प्रव०। आ० म०। प्रज्ञा०।

महिसंदो-देशी-शिग्रुतरौ, दे० ना० ६ वर्ग १२० गाथा।

महिसकरण-महिषकरण-न०। महिषानुद्दिश्य किंचित्करणे तादृशे स्थाने, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ०।

महिसगाम-महिषग्राम-पुं०। भरतक्षेत्रे वैताढ्यपर्वते उत्तरश्रेण्यां स्वनामख्याते ग्रामे, ती० ६ कल्प।

महिसाणिय-महिषानीक-न०। महिषसैन्ये, स्था० ७ ठा०।

महिसिक्कं-देशी-महिषीसमूहे, दे० ना० ६ वर्ग १२४ गाथा।

महिसी-महिषी-स्त्री०। राजभार्यायाम्, स्था० ४ ठा० १

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उ०। "सेरिही महिसी" पाइ० ना० २१६ गाथा।

महिहर-महीधर-पुं०। पर्वते, "(७६) सेलो अयलो अद्दी सिलोच्चयो महिहरो धरो सिहरी" पाइ० ना० ५० गाथा।

मही-मही-स्त्री०। पृथिव्याम्, उत्त० २७ अ०। वृ०। आ० म०। मनःशिलायाम्, जै०गा०। भुवि, दश० ५ अ० १ उ०। सूत्र०। महावातोत्क्षिप्तसचित्तपृथिव्याम्, विशे०। रत्नप्रभादिपृथिवीषु, आव० ४ अ०। समुद्रगते महानदीभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ०। जै० गा०। "वसुहा वसुन्धरा वसुमई मही मेइणी धरा धरिणी" पाइ० ना० २६ गाथा।

महीरुह-महीरुह-पुं०। वृक्षे, "साही विडवी वच्छो महीरुहो पायवो दुमो य तरू" पाइ० ना० ५४ गाथा।

महीवलय-महीवलय-न०। समस्तधरणीतले, दर्श० ३ तत्त्व।

महीहर-महीधर-पुं०। चम्पायां नगर्यां कालीनामपर्वतस्याधोभागे कुण्डनामसरोवरे हस्तियूथाधिपतौ हस्तिनि, ती० १४ कल्प। प्रसन्नचन्द्रभूपालपुत्रे, द्वी०। आ० क०।

महु-मधु-न०। अतिशायिशर्करादिमधुरद्रव्ये, विशे०। आ० म०। क्षौद्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। प्रव०। ज्ञा०। उपा०। नि० चू०। पुष्पोद्भवे मद्ये, उत्त० १६ अ०। पश्चा०। कुसुमसम्भवे काले, स्था० ७ ठा०। "मधूणि तिन्नि-मच्छियं पोत्तियं भामरं च" आ० चू० ६ अ०। माक्षिकपौत्तिकभ्रमरभेदं त्रिधा मधु। पं० व० २ द्वार। विपा०। दश०। ध०। आ० चू०। स्था०। मद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। पश्चा०। जी०। नि० चू०। औ०। नि०। "इदुतोः दीर्घः"॥८।३।१६॥ महूहिं। प्रा०। "मइरेअं महुवारो सीहू सरओ महुं अवक्करसो"। पाइ० ना० ६४ गाथा। मधुनि, न०। "सारहं महुं" पाइ० ना० २२४ गाथा। वसन्ततौ, पुं०। "सुरही महू वसंतो" पाइ० ना० १५६ गाथा। "मज्जे महुम्मि मंसंमि, नवणीयंमि चउत्थए। उप्पज्जंति असंखाया, तव्वन्ना तत्थ जंतुणो॥१॥" इत्यत्र मद्यादिचतुष्के ये जीवा उत्पद्यन्ते ते कियदिन्द्रिया इति प्रश्ने, उत्तरम्-मद्ये मधुनि नवनीते च द्वीन्द्रियाः, मांसे एकेन्द्रिया बादरनिगोदरूपा द्वीन्द्रियाश्च, मनुष्यमांसे तु एकेन्द्रिया बादरनिगोदरूपा द्वीन्द्रियाः सम्मूर्छिममनुष्यपञ्चेन्द्रियरूपाश्च। सम्मूर्च्छन्तीति शास्त्रानुसारेण संभाव्यत इति ६७ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

महूअ-मधूक-न०। मधूके वा॥८।१।१२२॥ इति ऊत उद्वा। महुअं। महूअं। 'महुआ' नामकवृक्षभेदे, प्रा०। श्रीदामाख्यपक्षि-मागधयोः, दे०ना० ६ वर्ग १४४ गाथा।

महुअर-मधुकर-पुं०। भ्रमरे, कल्प० १ अधि० २ क्षण। फुल्लंधुआ रसाऊ, भिंगा भसला य महुअरा अलिणो। इंदिंदिरा दुरेहा, धुअगाया छप्पया भमरा॥११॥ पाइ० ना० ११ गाथा।

महुआसव-मध्वासव-पुं०। मधु किमप्यतिशायिशर्करादिमधुरद्रव्यं, मध्विव वचनमाश्रवन्तीति मध्वाश्रवाः। लब्धिविशेषकलितेषु, ये हि तथाविधलब्धिवशान्मधुतुल्यं वचनं वदन्ति। आ० चू० १ अ०। पा०। आ० म०।

महुकरसम-मधुकरसम-त्रि०। भ्रमरतुल्ये, दश० १ अ०।

महुकरी-मधुकरी-स्त्री०। भ्रमर्याम्, औ०।

महुकुंभ-मधुकुम्भ-पुं०। मधुनः क्षौद्रस्य कुम्भो मधुकुम्भः, मधुभृतं मध्वेव वा कुम्भः मधुकुम्भः। मधुपूरिते घटे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

महुकेटभ-मधुकैटभ-पुं०। चतुर्थे प्रतिवासुदेवे, प्रव० २११ द्वार। आव०। ति०।

महुगुलिया-मधुगुटिका-स्त्री०। क्षौद्रवर्तिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

महुघाय-मधुघात-पुं०। मधुग्राहकेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

महुतण-मधुतृण-न०। तृणविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

महुप्पल-महोत्पल-न०। शतपत्रे कमले, "अंबुरुहं सयवत्तं, सरोरुहं पुंडरीअ-मरविंदं। राईवं तामरसं, महुप्पलं पंकयं नलिणं॥१०॥" पाइ० ना० १० गाथा।

महुप्पिय-मधुप्रिय-पुं०। सिद्धार्थपुरे विमलश्रेष्ठिनः तिक्तकटुकषायादिषु लम्पटे पुत्रे, ग० २ अधि०।

महुप्पिहाण-मधुपिधान-त्रि०। मधुभृतं मध्वेव वा पिधानं स्थगनं यस्यासौ मधुपिधानः।मधुना पिहिते,स्था०४ठा०४उ०।

महुमह-मधुमथ-पुं०। उपेन्द्रे, "सउरी दसारनाहो, वइकुंठो महुमहो उविंदो य" पाइ० ना० २१ गाथा।

महुमहण-मधुमथन-पुं०। मधुदैत्यनाशके विष्णौ, विशे०। स्था०। आ० म०।

महुमुह-देशी-पिशुने, दे० ना० ६ वर्ग० १२२ गाथा।

महुमेह-मधुमेह-पुं०। वस्तिरोगे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

महुमेहिय-मधुमेहिक-त्रि०। मधुमेहो विद्यते यस्यासौ मधुमेही। मधुतुल्यप्रस्रावणवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। मधुवर्णमूत्रानवरतप्रस्राविणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। प्रश्न०। विपा०। रा०। आ० क०। द्विखुरजीवविशेषे, औ०।

महुयर-मधुकर-पुं०। भ्रमरे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। आ० म०। मधुकरैर्भ्रमरैर्मदजलगन्धाकृष्टैः-कृतमन्धकारं यस्य स तथा। औ०।

महुर-मधुर-त्रि०। श्रुतिपेशले, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। ज्ञा०। मत्तकोकिलारुतवन्मधुरस्वरे, अनु०। स्था०। भाषया कोमले, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। शर्कराद्याश्रिते, अनु०। क्षीरदध्यादिषु, तं०। खण्डशर्कराद्याश्रिते रसभेदे, कर्म० १ कर्म०। कोमले, औ०। विशे०। आह्लादनबृंहणकृति, स्था०।

एगे महुरे (सूत्र) स्था० १ ठा०।

मध्वादिके, दश० ५ अ० ५ अ० १ उ०। "पित्तं वातं कफं हन्ति, धातुवृद्धिकरो गुडः। जीवनक्लेशकृद्वाल-वृद्धक्षीणौजसां हितः॥१॥" जं० २ वक्ष०। ज्ञा०। अनु०। श्रोत्रप्रिये, रा०। अकठोरे, भ० ६ श० ३३ उ०। कोकिलारुतवन्मधुरस्वरे, जं० १ वक्ष०। रा०। मधुरं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रिधा, शब्दार्थाभिधानतः। स्था० ७ ठा०। मनोज्ञे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। सूत्रार्थोभयैः श्रव्ये, दश० २ अ०। आ० म०। वृ०। औ०। मधुराः-कोमलशब्दा, गम्भीरा-महाध्वनयो, दुरवधार्यमप्यर्थं श्रोतॄन् ग्राहयन्ति यास्ता ग्राहिकाः, पदचतुष्टयस्य कर्मधारयः। " मधुरगंभीरगाहि-याहिं मियमधुरगम्भीरसस्सिरीया" क्वचिद् दृश्यते। तत्र च मिताऽक्षरतो, मधुरा शब्दतो, गम्भीरा अर्थतो ध्वनितश्च सश्रीरात्मसम्पद् यासां तास्तथा। भ० ६ श० ३१ उ०। सुन्दरे, " ललिअं वग्गुं मंजुं मंजुलयं पेसलं कलं महुरं " पाइ० ना० ८८ गाथा।

महुरणाम-मधुरनामन्-न०। रसनामभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरमिष्टत्वादिवन्मधुरं भवति तद् मधुरनाम। कर्म० १ कर्म०।

महुररसा-मधुररसा-स्त्री०। अनन्तजीववनस्पतिविशेषे,प्रज्ञा० १ पद।

महुरवयण-मधुरवचन-पुं०। मधुरं वचनं यस्यासौ मधुरवचनः। रसवद्वचने, व्य० १० उ०। दशा०।

महुरवयणया-मधुरवचनता-स्त्री०। मधुरं यथावदर्थतो विशिष्टार्थवत्तयाऽर्थावगाढत्वेन शब्दतश्चापरुषत्वसौन्दर्य-गाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन श्रोतुराह्लादं जनयति तदेवंविधं वचनं यस्य स तथा, तद्भावो मधुरवचनता। वचनसम्पद्भेदे, उत्त० १ अ०। स्था०।

महुरस्सर-मधुरस्वर-पुं०। कलध्वनौ, "महुरस्सरगीयसुस्सराइं " मधुरस्वरगीतसुस्वराणि। प्रश्न० ४ संव० द्वार।

महु(धु)रा-मथुरा-स्त्री०। शूरसेनदेशराजधान्याम्, "दो महुराओ-दक्खिणा,उत्तरा या" आव० ४ अ०। सूत्र०। आ० म०। प्रज्ञा०। विशे०। मथुरा नगरी शूरसेनाख्यो देशः। प्रव० २७५ द्वार। आ० क०। विपा०। आ० म०। वृ०। आ० चू०। कृष्णजन्मस्थाने, आव० १ अ०। स्था०।

मथुराकल्पः—

सत्तसते वीसइमे, नमिऊण जिणेसरे जयसरणे।
भवियजणमंगलकरं, मधुराकप्पं पवक्खामि ॥ १ ॥
तित्थेसु पासनाहस्स, वट्टमाणंमि दुन्नि मुणिसीहा।
धम्मरुइ धम्मघोसा, नामेणं आसि निस्संगा ॥ २ ॥

ते य छट्ठट्ठमदसमदुवालसमपक्खोववासमासियदोमासिअ-तिमासिअखमणाइं कुणंता भव्वे पडिबोहिंता कयावि महुराउरिं विहरिआ। दीहा नव जोअणाइं वित्थिण्णा पासट्ठिअजउणाजलपक्खालिअवरप्पयारविभूसिआ धवलहरदेउलवावीकूवपुक्खरणीजिणभवणहट्टोवसोहिआ पढंतविविहवाउत्थिअवविप्पसत्था हुत्था। तत्थ ते मुणिवरा अणेगतरुकुसुमफललयाइण्णे भूअरमणाभिहाणे उववणे उग्गहं अणुण्णविअ वीआवासारत्तं चउमासं कओववासा। तेसिं सज्झायतवचरणपसमाइगुणेहिं आवज्जिया उववणसामिणी कुबेरदेवया। तओ सा रत्तिं पयडीहोऊण भणइ—भयवं! तुम्ह गुणेहिं अईवाहं हिट्ठा, तो किं पि वरं वरेह। ते भणंति—अम्हे निस्संगा, न किं पि मग्गामो। तओ धम्मं सुणाविता अविरयसाविआ सा तेहिं कया। अन्नया कत्तिअधवलट्ठमिरयणीए सिज्झायरि त्ति आउच्छिआ कुबेरा मुणि-वरेहिं, जहा-साविए! दढसंमत्ताए जिणवंदणपूयणोवउत्ताए य होअव्वं, वट्टमाणजोगेण चउमासयं काऊण अन्नगामे पारणत्थं विहरिस्सामो। तीए ससोगाए वुत्तं-भयवं! इत्थेव उववणे कीस न सव्वकालं चिट्ठह। साधू भणंति-

" समणाणं सउणाणं, भमरकुलाणं च गोउलाणं च।
अणियाओ वसहीओ, सारइयाणं व मेहाणं " इति।

तीए विण्णत्तं-जइ एवं ता साहेह धम्मकज्जं जहादंसं संपाडेमि अमोहं देवदंसणं ति। साधूहिं वुत्तं-जइ ते अनिबंधो ता संघसहिए अम्हे मेरुंमि नेऊण चेइयाइं वंदावेहि। तीए भणियं—तुम्हे दो जणे अहं देवे तत्थ वंदावेमि त्ति। महुरासंघे चालिए मिच्छादिट्ठी देवा कयाऽवि विग्घं कुणंति। साधू भणंति—अम्हेहिं आगमबलेणं चेव सत्ती, महुरासंघं नेउं न तुह सत्ती तो अलाहि, अम्हे दुण्हं तत्थ गमणेणं। तओ विलक्खीभूआए देवीए भणिअं जइ एवं ता पडिमाहिं सोहिअं मेरुआगारं काउं दावेमि, तत्थ संघसहिआ तुम्हे देवे वंदह। साधूहिं पडिवन्नए कंचणघडिओ रयणाऽऽविचइओ अणेगसुरपरिचरिओ तोरणज्झयमालालंछिओ सिहरोवरि छत्तित्तयसालि रत्ति थूभो विम्हाविओ मेहलातिगमंडिओ, इक्किक्काए मेहलाए चाउद्दिसिं पंचवण्णरयणमयाइं बिंबाइं। तत्थ मूलपडिमा सिरिसुपासस्सामिणो पइट्ठाविया। पहापाला आ वि बुद्धा, तं थूभं पिच्छंति, परुप्परं कलहंति। अ। केइ भणंति-वासुइलंछणो एस सयंभूदेवो, अन्ने भणंति—सेससिज्झाठिओ नारायणो एस, एवं बंभ-धरणिंद-सूर-खंदाइसु विभासा, बुद्धा भणंति—न एस थूभो किं तु बुद्धि डलत्ति, तओ मज्झत्थपुरिसेहिं भणिअं-मा कलहेह। एस ताव देवनिम्मिओ ता सो देवो संसयं भंजिस्सइ त्ति। अप्पणो देवं पडे सुलिहित्ता निअंगुट्ठीसमेआ अत्थह, जस्स देवो भविस्सइ तस्सेव इक्को पडो थंडिस्सइ, अन्नेसिं पडो देवो नासहिइ। संघेणाऽवि सुपाससामिपडो लिहिओ। तत्थ लेहिअ २ देवपडा समुवट्ठाविआ पूअं काउं नवमीरत्तीए दरिसणिणो गायंताविआ अद्धरत्ते उद्दंडपवणो तणसक्करपत्थरजुत्तो वसरिओ, तेण सव्वेऽवि पडा तोडिता नीया पालिया गज्जिअरवेण नट्ठा दिसो दिसिं जणा, इक्को चेव सुपासपडाविओ विम्हिआ लोआ, एस अरिहंतो देवो त्ति, सो पडो सयलपुरे भामिओ। यमजत्ता पवत्तिआ,तएहवणं पारद्धं,पढमण्हवणकए कलहंता सावया। महल्लपुरिसेहिं गोलएसु नामगब्भेसु जस्स नाम कुमारीहत्थे एइ सो दरिद्दो ईसरो वा पढमं एहवणं करेउ। एवं दसमरयणीए ववत्था कया। तओ एगारसीए दुद्धदहियघयकुंकुमचंदणाईहिं कलससहस्सेहिं सड्ढा एहावेंसु पिच्छन्नट्ठिआ सुरा एहाविंति। अज्ज वि तदेव जत्ताए आचिंति। कमेण सव्वेहिं एहवणे कए पुप्फधूववत्थमहाधयआहारणाहिं आरोविंति। साधूणं वत्थघयगुलाईहिं ति वारसीए तीए मालावडाविआ,एवं ते मुणिवरा देवं वंदिय सयलसंघमाणंदिआ चउमासं काउं अण्णत्थ पारणं काऊण तित्थं पयासिअ थुअकमाकमेण सिद्धिं पत्ता। तत्थ सिद्धखित्तं जायं। तओ मुणिविउआदुरिआ देवी निच्चं जिणवयणरया अद्धपलिओयमं आउअं भुंजित्ता चविऊण माणुसत्तं पाविऊण उत्तमपयं पत्ता। तीए ठाणे जा जा उप्पज्जइ सा सा कुबेर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्ति भणइ। तीए परिरक्खिज्जंतो थूभो बहुं कालं उग्घाडविओ जाव पासससामी उप्पएणा। इत्थंतरे मधुराए रएणा लोभपरवसेण जणो हक्कारिऊण भणिओ। एयं कणयमणिनिम्मिअं थूभं कड्डिअ मह भंडारे खिवह। तओ सारघडिअकुहाडेहिं जाव लोओ कट्टणत्थं घाए पदिएणे ताव ते कुहाडा न लग्गंति। तेसिं चेव घायदायगाणं अंगेसु घाया लग्गंति। तशो राइणा अपत्तिअं, तेण सयं वि अ घाओ दिएणो कुहाडेणं उच्छलिअ रएणो सीसं छिएणं। तओ देवयाए कुद्धाए पयडीहोऊण भणिआ—जाणवया, पावा! किमेयमाढत्तं जहा राया तहा तुम्हे वि मरिस्सह। ते उ तेहिं भीएहि धूवकडुच्छुयहत्थेहिं देवया खामिया, देवीए भणिअं—जइ जिणहरं अच्चेह ता उवसग्गाओ मुच्चह। जो जिणपडिमं सिद्धालयं वा पूइस्सइ तस्स घरं थिरं होही, अन्नहा पडिस्सइ। अओ चेव मंगलचेइयपरूवणाए कप्पो छेयग्गंथे महुराभवणाइं निदंसणीकयाइं एइ, वरिसं जिणपडा पुरे भामेयव्वो त्ति कुहाडयछुट्टी य कायव्वा। जो इत्थ राया भवइ तेण जिणपडिमा पइट्ठाविअ जीविस्सति अन्नहा न जीविहिति। तं सव्वं देवयावयणं तहेव काउमाढत्तं लोएहिं, अन्नया पाससामी केवलिविहारेण विहरंतो मधुरं पत्तो, समोसरणे धम्मं साहइ, दूसमाणुभावं च भाविणं पयासेइ। तओ भगवंते अन्नत्थ विहरिए संघं हक्कारिअ भणियं—जाव राए, जहा आसन्ना दूसमा परूविओ सामिणा लोओ राया य लोभघत्था होहि त्ति अहं च पमत्ता। जयवि राओ सा उग्घाडए एयं थूभं सव्वकालं सक्कामि रक्खिउं तओ संघाएसेण इट्टाहिं ढक्केमि, तुज्झेहि वि बाहरे पाससामी सेलमईओ पुज्जिअव्वो। जइ य अम्ह वइसमणए अन्ना वि देवी होही सा अब्भिंतरे पूअं करिस्सइ। तओ वहुगुणं ति अणुमन्निअं संघेण देवीए तहेव कयं। तओ वीरनाए सिद्धिं गए साहिएहिं तेरससएहिं वरिसाणं वप्पहट्टी सूरी उप्पएणो, तेण वि एहिं तित्थं उद्धरिअं। पासजिणो पूआविओ। सासयपूअकरणत्थं काणणकूवकुट्टा काराविआ। चउरासीइए णिए दो वि आउसंघेण इट्टाओ खसंतीओ मुणित्ता पत्थरेहिं वेढाविओ उक्खिन्नाविउमाढत्तो थूभो देवयाए सुमिणंतरे वारिओ, न उग्घाडेयव्वो एसु त्ति, तओ देवयावयणेणं न उग्घाडिओ। सुघडिअपत्थरेहिं परिवेढिओ अ। अज्ज वि देवेहिं रक्खिज्जइ। वहुपडिमसहस्सेहिं देउलेहिं आवासाणिआएसेहिं मणहराए गंधउडीए चिन्नाणिआ अंबाइआखित्तपालाईहि अ संजुत्तं एयं जिणभवणं विरायति। इत्थ नयरीए कएहवासुदेवस्स भावितित्थंकरस्स जम्मो, अज्जमंगू आयरिअस्स जक्खभूअस्स हुंडिअजक्खस्स य चोरजीवस्स इत्थ देउलं चिट्ठइ। इत्थ पंच थलाइं। तं जहा-अक्कथलं चीरथलं पउमथलं कुरुथलं महाथलं दुवालस वणाइं, तं जहा-लोहवणं भद्दवणं मधुवणं छिन्नवणं तालवणं कुमुअवणं भंडीरवणं खइरवणं कामिअवणं कोलवणं बहुलावणं महावणं। इत्थ पंच लोइअतित्थाइं, तं जहा-विस्संतिअतित्थं असिकुंडतित्थं वेकुंठतित्थं कालिंजरतित्थं चक्कतित्थं। सेत्तुंजे रिसहं गिरिनारे नेमिं भरुअच्छे मुणिसुव्वयं माढरए वीरं मधुराए सुपासे घडिअदुगब्भंतरे नमित्ता सोरट्ठे हुंढणं विहारेत्ता गोवालगिरिंमि जो भुंजेज्जइ तेण अमरसयसेविअकरकमलेण सिरिवप्पहट्टसूरिणा अट्ठसयछव्वीसे-८२६ विक्कमसंवच्छरे सिरिवीरबिंबं मधुराए ठाविअं। इत्थ सिरिवद्धमाणजीवेण विस्सभूइणा अपरिमिअबलत्तणकए निदाणं कयं, इत्थ जउणावंकजउणराएण हयस्स दंडअणगारस्स केवले उप्पन्ने महिमत्थं इंदो आगओ। इत्थ जिअसत्तुनरिंदपुत्तो कालवेसिअमुणी अरिसरोगद्दिओ मुग्गिलगिरिंमि सदेहे वि निप्पहो उवसग्गे अहिआसिसु। इत्थ संखरायरिसी तवप्पहावं दट्ठुं सोमदेवद्दिओ गयउरे दिक्खं घेत्तूण सयं गंतूण कासिए हरिए सवलरिसी देवपुज्जो जाओ। इत्थ उप्पन्ना रायकन्ना निव्वुइनाम राहावेहिणो सुरिंदस्स सयंवरा जाया। इत्थ कुवेरदिन्नाए कुवेरसेणाजणणी कुवेरदत्तो अ भाया ओहिनाणेण नाउं अट्ठारसनत्तुएहिं पडिबोहिया। इत्थ अज्जमंगू सुअसागरपारगो इड्ढिरससायगारवेहिं जक्खत्तमुवागम्म जीहा य मारणेण साधूणं अप्पमायकरणत्थं पडिबोहमकासी। इत्थ कंबलसवलनामाणो वसहपोआ जिणदाससंसग्गीए पडिबुद्धा नागकुमारा होऊण वीरवरस्स भगवओ नावारूढस्स उवसग्गं निवारिंसु। इत्थ अन्निआपुत्तो पुप्फचूलं पव्वाविअ संसारसायराओ उत्तारित्था। इत्थ इंददत्तो पुरोहिओ गवक्खट्ठिओ मिच्छद्दिट्ठी अहो वच्चंतस्स साधुस्स मत्थयउवरिं पायं कुणंतो सड्ढेण गुरुभत्तीए पायहीणो कओ। इत्थ भूअघरे ठिआ निग्घोहवत्तव्वयं निआओ परिमाणं च पुच्छिअ तुट्ठचित्तेण सक्केण अज्जरक्खिअसूरी वंदिआ उवस्सयस्स अन्नओ जुत्तं दारं कयं। इत्थ वत्थपूसमित्तो घयपूसमित्तो दुव्वलिआपूसमित्तो अ लद्धिसंपन्ना विअरिआ। इत्थ दूसहदुब्भिक्खे दुवालसवारिसिए नियत्ते सयलसंघमेलिअआगमाणुगो पवत्तिओ खंदिलायरिएण। इत्थ देवनिम्मिअथूभे पक्खक्खमणेण देवयं आराहित्ता जिणभद्दखमासमणेहिं उद्देहिआ भक्खियपुत्थयपत्तत्तणेण तुट्टं भग्गं महानिसीहं संधिअं। इत्थ खवगस्स तवेण तुट्ठासासणदेवया तव्वणिणअपरिग्गहिअं इमं तित्थं संघवयणाओ आरहंतया पत्तं अक्कासीदेवीए अइलोभपरच्चसंजणं काउं सोवणिओ थूभं पच्छत्तं काउं इट्टमयं तओ वप्पहट्टिवयणाओ अउमराएण उवरि सिलाकलावत्तिअं कारिअं। इत्थ संखराओ कलावई अ पंचमजम्मे देवसीहकणयसुंदरीनामाणो समणोवासया रज्जसिरिं भुंजित्था। एवंविहाणं अणेगेसिं संविहाणामेसा नयरी उप्पत्तिभूमी। इत्थ कुवेरा नरवाहणा, अंबिया य सीहवाहणा, खित्तवालो अ सारमेअवाहणो तित्थस्स रक्खं कुणंति।

"इय एस महुरकप्पो, जिणपहसूरीहिं वरिणओ कं पि।
भविएहिं सइ पढिअइ, इहपरलोइयसुहत्थीहिं ॥ १ ॥
भविआण पुराणरिद्धी, जा जायइ महुरतित्थजत्ताए।
अस्सि कप्पेति सुए, सा जायइ अवहिअमणाणं ॥ २ ॥"

इति श्रीमथुराकल्पः समाप्तः। ती० ८ कल्प।

महुराभिहाणा–मथुराभिधाना–स्त्री०। मधुरं श्रुतिपेशलमभिधानमुच्चारणं यस्याः सा। मथुराभिधानगाथायुक्तायाम्, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। आ० म०।

महुरालिअ–देशी–परिचिते, दे० ना० ६ वर्ग १२५ गाथा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महुलट्ठि-मधुयष्टि-स्त्री० । यष्ट्यां लः ॥ ८ । १ । २४७ ॥ इति यस्य लः । मुहलेठीतिख्याते औषधिभेदे, प्रा० १ पाद ।

महुला-मधुला-स्त्री० । पादगण्डे, "पादे गंडं महुला भण्णति" नि० चू० २ उ० । उत्त० ।

महुल्ल-मम-त्रि० । मे मइ मम मह महं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं ङसा ॥ ८ । ३ । ११३ ॥ इति ममस्थाने महादेशः । ततः । स्वार्थे कश्च वा ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति उल्लप्रत्ययः । स च डित् । मह पिउल्लओ । महुल्लं । प्रा० ।

महुवण-मधुवन-न० । मथुरायां स्वनामप्रसिद्धे वने, ती० ८ कल्प ।

महुवार-मधुवार-पुं० । दारुणि, " मइरेअं महुवारो सीहु सरओ महुं अवक्करसो " पाइ० ना० ६४ गाथा ।

महुसिंगी-मधुशृङ्गी-स्त्री० । औषधिवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

महुसित्थ-मधुसिक्थ-न० । मधुयुक्तं सिक्थं मधुसिक्थम् । मधूच्छिष्टे, नं० । मदने, भ० ८ श० ६ उ० । स० । आ० म० । अलक्तकपथो येन पदेनालक्तकः कामिन्या पात्यते तावन्मात्रया लिम्पति कर्दमः स मधुसिक्थकोऽभिधीयते । ओघ० ।

महुसित्थजल-मधुसिक्थजल-न० । अलक्तकमार्गावगाहिकर्दमस्योपरि वहति जले, ओघ० ।

महुस्सव-महोत्सव-पुं० । बहुजनजानपदादिमेलनपूर्वकमुत्सवस्थाने, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० ।

महेंद-महेन्द्र-पुं० । ऐरावतवर्षे भविष्यति पञ्चदशे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार ।

महेड्ड-देशी-पङ्के, दे० ना० ६ वर्ग ११६ गाथा ।

महेय(क्ख)-महेक्ष-पुं० । ऊर्णाविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

महेलापहाण-महिलाप्रधान-पुं० । स्त्रीवशवर्तिषु पुरुषेषु, पिं० । (ते च ' माणपिंड ' शब्दे दर्शयिष्यन्ते)

महेस-महेश-पुं० । ईश्वरे, " महेशानुग्रहात्केचिद्, योगसिद्धिं प्रचक्षते । क्लेशाद्यैरपरामृष्टः, पुंविशेषः स चेष्यते ॥१॥" द्वा० १६ द्वा० । यो० बिं० । स्था० ।

महेसक्ख-महेशाख्य-पुं० । महेश्वर इत्याख्या यस्य सः । महेश्वरत्वेन ख्याते, स्था० ८ ठा० । सू० प्र० । जं० ।

महेसर-महेश्वर-पुं० । औत्तराहाणां भूतवादिनामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । दर्श० । आव० । शिवे, आव० ६ अ० ।

महेसरदत्त-महेश्वरदत्त-पुं० । कौशाम्ब्यां बृहस्पतिदत्तनाम्नो ब्राह्मणस्य पूर्वभवजीवे, स्था० १० ठा० । (' बहप्फइदत्त ' शब्दे पञ्चमभागे १२६५ पृष्ठे कथा गता)

महेसरसूरि-महेश्वरसूरि-पुं० । कालिकाचार्यकथा-संयममञ्जर्याख्ययोर्ग्रन्थयोः कर्त्तरि आचार्ये मुनिचन्द्रसूरिकृताऽऽवश्यकसप्तत्युपरिटीकाकारके देवसूरिशिष्ये, जै० इ० ।

महेसि-महर्षि-पुं० । महांश्चासावृषिश्च महर्षिरत्यन्तोग्रतपश्चरणानुष्ठायित्वादतुलपरीषहोपसर्गसहनाच्चेति । यतौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । तपोविशेषशोषितकल्मषे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । मुमुक्षौ, दश० १ चू० । मोक्षैषिणि, दश० ६ अ० १ उ० । महान्तश्च ते सर्वज्ञत्वात्तीर्थप्रवर्त्तनादतिशयत्वाद् वा ऋषयश्च मुनयो महर्षयस्तैस्तीर्थकरैरित्यर्थः । तीर्थकृत्सु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सूत्र० । अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुत्वान्महर्षिषु, महान् बृहत्स्वर्गादिफलापेक्षया मोक्षस्तमिच्छति-अभिलषतीति महेषी महर्षिर्वा । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । उत्त० । एकान्तोत्सवरूपत्वान्मोक्षस्तमिच्छत्येवं शीलो महेषी । उत्त० ४ अ० । महामुनौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । सूत्र० । उत्त० । महागणधरादिषु, आतु० ।

महोक्ख-महोक्ष-पुं० । युवगवे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

महोघ-महौघ-पुं० । अपारसंसारसागरे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

महोदग-महोदक-पुं० । महाजले, पो० ८ विव० । नि० ।

महोदय-महोदय-पुं० । पुण्यानुबन्धिपुण्यविभूतिलाभे, पो० ८ विव० ।

महोदर-महोदर-पुं० । बहुभोजिनि, " महोदरो जो बहु भुंजइ " । नि० चू० १ उ० ।

महोदहि-महोदधि-पुं० । स्वयंभूरमणसमुद्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

महोरग-महोरग-पुं० । व्यन्तरविशेषे, जं० १ वक्ष० । अनु० । स्था० । भ० । " महोरगाणं अइकाया महाकाया " प्रज्ञा० २ पद । उरःपरिसर्पभेदे, जी० १ प्रति० । महोरगास्तु मनुष्यक्षेत्रबहिर्भाविनो यच्छरीरं योजनसहस्रप्रमाणमुत्कर्षतः आख्यायत इति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सम्प्रति महोरगानभिधित्सुराह—

से किं तं महोरगा ? महोरगा अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा-अत्थेगइया अंगुलं पि अंगुलपुहत्तिया वि वियत्थिं पि वियत्थिपुहत्तिया वि रयणिं पि रयणीपुहत्तिया वि कुच्छिं पि कुच्छिपुहत्तिया वि धणुं पि धणुपुहत्तिया वि गाउयं पि गाउयपुहत्तिया वि जोयणं पि जोयणपुहत्तिया वि जोयणसयं पि जोयणसयपुहत्तिया वि जोयणसहस्सं पि, ते णं थले जाता जले वि चरंति, थले वि चरंति, ते णऽत्थि इहं बाहिरएसु दीवेसु समुद्देसु हवंति, जे यावन्ने तहप्पगारा । सेत्तं महोरगा ।

(से किं तं इत्यादि) सुगमम्, नवरं वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलप्रमाणा, रत्निर्हस्तः, कुक्षिर्द्विहस्तमानः, धनुश्चतुर्हस्तम्, गव्यूतं द्विधनुःसहस्रप्रमाणम्, चत्वारि गव्यूतानि योजनम्, इदं च वितस्त्यादि—उच्छ्रयाङ्गुलापेक्षया द्रष्टव्यम्, शरीरप्रमाणस्य परिचिन्त्यमानत्वात्, तथा-अस्तीति निपातोऽत्र बहुत्वाभिधायी प्रतिपदं च संबध्यते, ततोऽयमर्थः—सन्त्येके केचन महोरगा अङ्गुलमपि शरीरावगाहनया भवन्ति, तथा सन्त्येके केचन येऽङ्गुलपृथक्त्विका अपि, अङ्गुलपृथक्त्वं विद्यते येषां ते अङ्गुलपृथक्त्विकाः " अतोऽनेकस्वरात् " ॥ ७ । २ । ६ ॥ इति इकप्रत्ययः, तेऽपि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीरावगाहनया भवन्ति, अङ्गुलपृथक्त्वमानशरीरावगाहना अपि भवन्तीति भावः, एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि। (ते णं, इत्यादि) ते—अनन्तरोदितस्वरूपा महोरगाः स्थलचरविशेषत्वात् स्थले जायन्ते, स्थले च जाताः सन्तो जलेऽपि स्थल इव चरन्ति स्थलेऽपि चरन्ति तथा भवस्वाभाव्यात्, यद्येवं ते कस्मादिह न दृश्यन्ते, इत्याशङ्कायामाह—(ते नऽत्थि इहं, इत्यादि) ते—यथोक्तस्वरूपा महोरगा इह—मानुषे क्षेत्रे (नत्थि त्ति) न सन्ति, किं तु बाह्येषु द्वीपसमुद्रेषु भवन्ति, समुद्रेष्वपि च पर्वतदेवनगर्यादिषु स्थलेषूत्पद्यन्ते न जलेषु, स्थूलतरत्वात्। तत इह न दृश्यन्ते। (जे यावन्ने तहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये अङ्गुलदशकादिशरीराऽवगाहनमानास्तथाप्रकाराः सन्ति तेऽपि महोरगा ज्ञातव्याः। उपसंहारमाह—(सेत्तं, इत्यादि) ते समासओ, इत्यादि प्राग्वद् भावनीयम्। प्रज्ञा० १ पद।

महोरगकंठ–महोरगकण्ठ–न०। रत्नविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। औ०।

महोवगरण–महोपकरण–न०। द्रव्यनिचये, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

महोसहि–महौषधि–स्त्री०। दूर्वायाम्, लज्जालुक्षुपे, "सहदेवी तथा व्याघ्री, बला चातिबला तथा। शङ्खपुष्पी तथा सिंही, अष्टमी च सुवर्चला" ॥ १ ॥ महौषध्यष्टकं प्रोक्तम्। वाच०। औषधिविशेषे, ती० ६ कल्प।

महोसिण–महोष्ण–त्रि०। अत्युष्णे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

मा–मा–अव्य०। निषेधे, जी० १ प्रति०। उत्त०। ज्ञा०। नि० चू०। तं०। औ०। दर्श०। प्रतिषेधे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। व्य०। नि० चू०। पञ्चा०। सूत्र०। स्था०। अनागतप्रत्युत्पन्नकालविषयं प्रतिषेधे, बृ० १ उ०। "मा य घडं भिंद मा य भिंदिहिसि" माकारो वर्तमानाऽनागतकालप्रतिषेधको, यथा–मा घटं भेत्स्यति, चकारौ समुच्चयार्थौ। शरीरे, तं०। माः चन्द्रमासयोः, पुं०। है०।

माअलिआ–देशी–मातृष्वसरि, दे० ना० ६ वर्ग १३१ गाथा।

माइ–मातृ–स्त्री०। मातुरिद् वा ॥ ८। १। १३५ ॥ इति ऋत इद् वा। माइहरं। माउहरम्। प्रा०। जनन्याम्, पञ्चा० १७ विव०। आचा०।

मायिन्–त्रि०। मायाप्रतिसेवनशीले, व्य० ३ उ०। मायाविनि, व्य० १ उ०। सूत्र०। उत्त०। स्था०। परवञ्चनादिबुद्धौ, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। स्वशक्तिगूहनादिना मायावान्। बृ० १ उ०।

माइअंग–मात्रङ्ग–न०। मात्रङ्गे, भ०। (माइअंग त्ति) आर्तवविकारबहुलानीत्यर्थः (मत्थुलुंग त्ति) मस्तकभेज्जकम्, अन्ये त्वाहुः—मेदः फिप्फिसादि मस्तुलुङ्गमिति। भ० १ श० ७ उ०। हे गणधर! गौतम! त्रीणि मातुरङ्गानि प्रज्ञप्तानि मया अन्यैश्च जगदीश्वरैः मांसम्–पललम्, शोणितम्–रुधिरम्, (मत्थुलुंगे त्ति) मस्तकभेजकम्, अन्ये त्वाहुर्मेदः–फिप्फिसादि मस्तुलिङ्गमिति। तं०।

माइं–अव्य०। माइं माऽर्थे ॥ ८। २। १९१ ॥ माइमिति माऽर्थे प्रयोक्तव्यम्। 'माइं काहिअ रोसं' मा कार्षी रोषम्। प्रा०।

माइंदा–देशी–आमलक्याम्, दे० ना० ६ वर्ग १२९ गाथा।

माइगण–मातृगण–पुं०। मातुरिद् वा ॥ ८। १। १३५ ॥ इति ऋत इत्वम्। माइगणो। मातृसमूहे, प्रा०।

माइट्ठाण मातृस्थान–न०। मायायाम्, मातरः स्त्रियोऽभिधीयन्ते, तासां स्थानमाश्रयो मातृस्थानं माया। स्त्रियो हि प्रायो मायाश्रिता भवन्ति। स्त्रीत्वमपि प्रायो मायानिबन्धनम्। अथवा–मातृशब्देन माया उच्यते, ततश्च तस्याः स्थानं विषयो मातृस्थानम्। मायिनां वा स्थानमिति मायिस्थानं मायैव प्रायो बाहुल्येन केषांचित्तत्र संभवत्येवेति। पञ्चा० १७ विव०। आचा०। आव०। दशा०।

माइदेव–मातृदेव–पुं०। मातुरिद् वा ॥ ८। १। १३५ ॥ इति ऋत इत्वम्। माइदेवो। मातरं देवत्वेन मन्यमाने, प्रा०। आ० क०।

माइय–मात्रित–त्रि०। मात्रावति परिमिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। ऋत्वादिवालयुक्तत्वात्। ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। मयूरिते, औ०।

माइली–देशी–मृदुनि, दे० ना० ६ वर्ग १२९ गाथा।

माइल्ल–मायाविन्–पुं०। परवञ्चनोपायविदि, उत्त० ५ अ०। महाशठे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। उत्त०। स्था०।

माइल्लया–मायाविता–स्त्री०। परवञ्चनबुद्धिमत्तायाम्, भ० ८ श० ९ उ०।

मायिता–स्त्री०। परवञ्चनबुद्धिमत्तायाम्, भ० ८ श० ९ उ०।

माइवाहय–मातृवाहक–पुं०। विकलेन्द्रियजीवविशेषे, अनु०।

माई–देशी–रोमशे, दे० ना० ६ वर्ग १२८ गाथा।

माउआ–मातृका–स्त्री०। उदृत्वादौ ॥ ८। १। १३१ ॥ इति ऋत उत्वम्। प्रा०। सख्याम्, "आली तह माउआ सही अत्ता" पाइ० ना० १०८ गाथा। सखी–दुर्गयोः, दे० ना० ६ वर्ग १४७ गाथा।

माउओय–मात्रोजस्–न०। जनन्या आर्तवे शोणिते, तं०।

माउक्क–मृदुत्व–न०। आत् कृशा-मृदुक-मृदुत्वे वा ॥ ८। १। १२७ ॥ इति आदेः ऋत आद्वा। माउक्कं। मउअं। प्रा०। शक्त-मुक्त-दष्ट-रुग्ण-मृदुत्वे को वा ॥ ८। २। २ इति संयुक्तस्य विकल्पेन ककारः। माउक्कं। माउत्तणं। मर्दने, कोमले, प्रा०।

माउगंत–मातृकान्त–न०। इह वर्ण्यं यतो व्यज्यते तदादिभूतत्वान्मातृकेव मातृका। अन्तश्चेह दशान्त उच्यते। मातृका चान्तश्च मातृकान्तं द्वन्द्वैकवद्भावः। मातृकायामन्ते च। बृ० ३ उ०।

माउग्गाम–मातृग्राम–पुं०। समयपरिभाषया स्त्रीवर्गे, बृ० १ उ०। पं०व०। "माउग्गामो मरहट्ठविसयभासाए वा इत्थ माउग्गामो भण्णति" नि० चू० ६ उ०। ('मेहुण' शब्दे व्याख्यास्यते)

माउच्छ–देशी–मृदुनि, दे० ना० ६ वर्ग १२९ गाथा।

माउच्छंद–मातृच्छन्द–पुं०। मात्रभिप्राये, व्य० ४ उ०।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माउच्छा–मातृष्वसृ–स्त्री०। मातृपितुः स्वसुः सिश्रा-छौ॥८।२।१४२॥ इति स्वसृस्थाने छादेशः। प्रा० ढुं० ३ पाद। मातुर्भगिन्याम्, "माउच्छा माउसिया" पाइ० ना० २५३ गाथा।

माउजीवरसहरणी–मातृजीवरसहरणी–स्त्री०। मातृजीवस्य रसहरणी मातृजीवरसहरणी। नाभिजाले, तं०।

माउपिउसुजाय–मातापितृसुजात–त्रि०। मातापितृभ्यां सुजातो मातापितृसुजातः। समस्तगर्भाधानप्रभृति-संभविदोषविकले, रा०। सूत्र०।

माउमंडल–मातृमण्डल–न०। मातुरिद् वा॥८।१।१३५॥ इति मातृशब्दस्य ऋत इत्त्वम्, पक्षे उत्त्वम्। मातृसमूहे,प्रा०।

माउय–मातृक–त्रि०। मातृसम्बन्धिनि, भ० १ श० ७ उ०। स्था०।

माउयएक्कय–मात्रेकक–पुं०। एककभेदे, स्था०। (माउयएक्कए त्ति) मातृकापदैककम्—एकं मातृकापदम्। तद्यथा—"उप्पन्नेइ वेत्यादि" इह प्रवचने दृष्टिवादे समस्तनयवादबीजभूतानि मातृकापदानि भवन्ति। तद्यथा-"उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ व त्ति।" अमूनि वा मातृकापदानीव अ-आ-इत्येवमादीनि, सकलशब्दशास्त्रार्थव्यापारव्यापकत्वान्मातृकापदानीति। स्था० ४ ठा० २ उ०।

माउयंग–मात्रङ्ग–न०। आर्त्तवपरिणतिप्राये, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

माउयकाय–मातृकाकाय–पुं०। मातृकेति मातृकापदानि 'उप्पन्नेइ वा' इत्येवमादीनि तत्समूहो मातृकाकायः। कायभेदे, (आव०) 'उप्पएणेइ वा धुवेइ वा' इत्यादीनि। तत्पदसमूहे, आव० ५ अ०। जं०। ('काय' शब्दे तृतीयभागे ४४७ पृष्ठे दर्शितम्)

माउयक्खर–मातृकाक्षर–न०। अकाराद्यक्षरेषु, स०।

बंभीए णं लिवीए छायालीसं माउयक्खरा पण्णत्ता।

लेख्यविधौ, पद्चत्वारिंशन्मातृकाक्षराणि। तानि च—ककारादीनि हकारान्तानि सक्षकाराणि ऋॠऌॡ इत्येवं तदक्षरपञ्चकवर्जितानि संभाव्यन्ते। स० ४६ सम०।

माउयण–मृदुत्व–न०। मर्दने, प्रा०।

माउया–मातृका–स्त्री०। अकाराद्यक्षरेषु, स० ४५ सम०। जनन्याम्, पाइ० ना०। उत्तरौष्ठरोमणि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। मातृकेव मातृका। प्रवचनपुरुषस्योत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणायां पदत्रय्याम्, स्था० १० ठा०। विपा०। आव०।

माउयाणुश्रोग–मातृकानुयोग–पुं०। द्रव्यानुयोगभेदे, स्था०। (माउयाणुश्रोगे त्ति) इह मातृकेव मातृका प्रवचनपुरुषस्योत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणा पदत्रयी, तस्या अनुयोगो, यथा- उत्पादवज्जीवद्रव्यं बाल्यादिपर्यायाणामनुक्षणमुत्पत्तिदर्शनादनुत्पादे च वृद्धाद्यवस्थानामप्राप्तिप्रसङ्गादसमञ्जसापत्तेः, तथा—व्ययवज्जीवद्रव्यं प्रतिक्षणं बाल्याद्यवस्थानां व्ययदर्शनादव्ययवत्त्वे च सर्वदा बाल्यादिप्राप्तेरसमञ्जसमेव। तथा-यदि सर्वथाऽप्युत्पादव्ययवदेव तन्न केनापि प्रकारेण ध्रुवं स्यात्तदा अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्राप्त्या पूर्वदृष्टानुस्मरणाभिलाषादिभावानामभावप्रसङ्गेन च सकलेहलोकपरलोकालम्बनानुष्ठानानामभावतोऽसमञ्जसमेव, ततो द्रव्यतयाऽस्य ध्रौव्यमिति। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमात्मद्रव्यमित्यादिर्मातृकापदानुयोगः। स्था० १० ठा०।

माउयापय–मातृकापद–न०। अआइत्यादिकेषु, सकलशब्दार्थव्यापारव्यापकत्वात्तेषाम्। स्था० ४ ठा० २ उ०।

दिट्ठिवायस्स णं छायालीसं माउयापया पएणत्ता।

(दिट्ठिवायस्स त्ति) द्वादशाङ्गस्य (माउयापय त्ति) सकलवाङ्मयस्य अकारादिमातृकाः पदानीव दृष्टिवादार्थप्रसवनिबन्धनत्वेन मातृकापदानि उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणानि, तानि च सिद्धश्रेणिमनुष्यश्रेण्यादिना विषयभेदेन कथमपि भिद्यमानानि पद्चत्वारिंशद्भवन्तीति समभाव्यते। स० ४६ सम०। दृष्टिवादान्तर्गतसिद्धश्रेणिकादिपरिकर्ममूलभेदे, स०। आ० चू०।

माउल–मातुल–पुं०। मातुर्भ्रातरि, आ० म० १ अ०। आव०।

माउलिंग–मातुलिङ्ग–बीजपूरे, अणु०। बृ०। आ० म०। आचा०। प्रा०। ल० प्र०। प्रव०। प्रज्ञा०। गुच्छवनस्पतिविशेषे प्रज्ञा० १ पद। अनु०।

माउलिंगपेसिया–मातुलिङ्गपेशिका–स्त्री०। बीजपूरखण्डे, दशा० १० अ०। आ० म०।

माउवग्ग–मातृवर्ग–पुं०। स्त्रीजने, बृ० ४ उ०।

माउवाह–मातृवाह–पुं०। कोद्रव इव प्रतीते द्वीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति०।

माउसिय–मातृस्वसृक–पुं०। गौणान्त्यस्य॥८।१।१३४॥ इति अन्त्यस्य ऋतः उत्। मातृभगिनीपुत्रे, प्रा० १ पाद।

माउसिया–मातृष्वसृ–स्त्री०। मातृपितुः स्वसुः सिश्रा-छौ॥८।२।१४२॥ इतिमातृशब्दात्परस्य स्वसृशब्दस्य सियाऽऽदेशः। प्रा०। मातृभगिन्याम्, दश० ७ अ०। विपा०। "माउच्छा माउसिश्रा" पाइ० ना० २५३ गाथा।

माउसियावइ–मातृस्वसृपति–पुं०। जननीभगिनीभर्तरि, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

माउहर–मातृगृह–न०। गौणान्त्यस्य॥८।१।१३४॥ इति ऋत उत्। मातृभवने, प्रा० १ पाद।

मागंदिय–माकंदिक–पुं०। मकन्दीपुत्राभिधाने अनगारे, भ० १७ श० १७ उ०। (वीरेण माकन्दिकपुत्रस्य संवादः 'मायंदि' शब्दे दर्शयिष्यते)

ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे नगरे होत्था, वन्नश्रो, गुणसिलए चेइए वन्नश्रो ० जाव परिसा पडिगया। ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भवगश्रो महावीरस्य ०जाव अंतेवासी मागंदियपुत्ते नामं अणगारे पगइभद्दए जहा मंडियपुत्ते ० जाव पज्जुवासमाणे, एवं वयासी—से नूणं भंते! काउलेसे पुढविकाइए काउलेस्सेहिंतो पुढविकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुसं विग्गहं लभति लभित्ता केवलं बोहिं बुज्झति, केवलं बोहिं बुज्झित्ता तश्रो पच्छा सिज्झति ० जाव अंतं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करेति ?, हंता ! मागंदियपुत्ता ! काउलेस्से पुढविकाइए० जाव अंतं करेति। से नूणं भंते ! काउलेस्से आउकाइए काउलेस्सेहिंतो आउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुसं विग्गहं लभति, लभित्ता केवलं बोहिं बुज्झति० जाव अंतं करेति ?, हंता ! मागंदियपुत्ता ! ०जाव अंतं करेति। से नूणं भंते ? काउलेस्से वणस्सइकाइए एवं चेव ०जाव अंतं करेति। सेवं भंते ! भंते ! त्ति, मागंदियपुत्ते ! अणगारे समणं भगवं महावीरं ०जाव नमंसित्ता जेणेव समणे निग्गंथे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणे निग्गंथे एवं वयासी-एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से पुढविकाइए तहेव ०जाव अंतं करेति, एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से आउकाइए ०जाव अंतं करेति। एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से वणस्सइकाइए ०जाव अंतं करेति। तए णं ते समणा निग्गंथा मागंदियपुत्तस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स ०जाव एवं परूवेमाणस्स एयमट्ठं नो सद्दहंति नो पत्तियंति नो परूवेंति एयमट्ठं असद्दहमाणा अप्पत्तयमाणा अपरूवेमाणा जेणेवसमणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-एवं खलु भंते ! मागंदियपुत्ते अणगारे अम्हं एवमाइक्खति ०जाव परूवेति। एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से पुढविकाइए ०जाव अंतं करेति, एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से आउकाइए ०जाव अंतं करेति, एवं वणस्सइकाइए वि ०जाव अंतं करेति। से कहमेयं भंते ! एवं ? अज्जो त्ति समणे भगवं महावीरे ते समणे निग्गंथे आमंतित्ता एवं वयासी-जं णं अज्जो ! मागंदियपुत्ते अणगारे तुज्झे एवं आइक्खति ०जाव परूवेति एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से पुढविकाइए०जाव अंतं करेति, एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से आउकाइए ०जाव अंतं करेति, एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से वणस्सइकाइए वि० जाव अंतं करेति, सच्चेणं एसमट्ठे, अहं पि णं अज्जो ! एवमाइक्खामि एवं सद्दहामि एवं पत्तयामि एवं परूवयामि एवं खलु अज्जो ! कण्हलेस्से पुढविकाइए कण्हलेस्सेहिंतो पुढविकाइएहिंतो ०जाव अंतं करेति, एवं खलु अज्जो ! नीललेस्से पुढविकाइए ०जाव अंतं करेति, एवं काउलेस्से वि जहा पुढविकाइए ०जाव अंतं करेइ, एवं आउकाइए वि, एवं वणस्सइकाइए वि, सच्चे णं एसमट्ठे सेवं भंते ! भंते ! त्ति। समणा निग्गंथा समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव मागंदियपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता मागंदियपुत्तं अणगारं वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति। (सूत्र-६१८)

(ते णं काले णमित्यादि) (जहा मंडियपुत्ते त्ति) अनेनेदं सूचितम् (पगइउवसंते पगइपयणुकोहमाणमायालोभे इत्यादि) इह च पृथिव्यब्वनस्पतीनामनन्तरभवे मानुषत्वं प्राप्त्वाऽन्तक्रिया सम्भवति न तेजोवायूनाम्, तेषामानन्तर्येण मानुषत्वाप्राप्तेरतः पृथिव्यादित्रयस्यैवान्तक्रियामाश्रित्य 'से नूणं' इत्यादिना प्रश्नः कृतो न तेजोवायूनामिति। अनन्तरमन्तक्रियोक्ता।

अथान्तक्रियायां ये निर्जरापुद्गलास्तद्वक्तव्यताम-भिधातुमाह—

तए णं से मागंदियपुत्ते अणगारे उट्ठाय उट्ठेति जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो सव्वं कम्मं वेदेमाणस्स सव्वं कम्मं निज्जरेमाणस्स सव्वं मारं मरमाणस्स सव्वं सरीरं विप्पजहमाणस्स, चरिमं कम्मं वेदेमाणस्स चरिमं कम्मं निज्जरेमाणस्स चरिमं मारं मरमाणस्स चरिमं सरीरं विप्पजहमाणस्स, मारणंतियकम्मं वेदेमाणस्स मारणंतियकम्मं निज्जरेमाणस्स मारणंतियमारं मरमाणस्स मारणंतियसरीरं विप्पजहमाणस्स जे चरिमा निज्जरा पोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो ! सव्वं लोगं पि णं ते उग्गाहित्ता णं चिट्ठंति ?, हंता ! मागंदियपुत्ता ! अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो ०जाव ओगाहित्ता णं चिट्ठंति। छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से तेसिं निज्जरापोग्गलाणं किंचि आणत्तं वा णाणत्तं वा एवं जहा इंदियउद्देसए पढमे ०जाव वेमाणिया ०जाव तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति आहारेंति, से तेणऽट्ठेणं निक्खेवो भाणियव्वो त्ति—न पासंति आहारंति। नेरइया णं भंते ! निज्जरा पुग्गला न जाणंति न पासंति आहारंति, एवं ०जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं। मणुस्सा णं भंते ! निज्जरा पोग्गले किं जाणंति पासंति आहारंति, उदाहु न जाणंति न पासंति नाऽऽहारंति ?, गोयमा ! अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारंति, अत्थेगइया न जाणंति न पासंति आहारंति,से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारंति, अत्थेगइया न जाणंति न पासंति आहारंति ?, गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-सन्नीभूया य, असन्नीभूया य। तत्थ णं जे ते असन्नीभूया ते न जाणंति, न पासंति, आहारंति। तत्थ णं जे ते सन्नीभूया ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-उवउत्ता, अणुवउत्ता य। तत्थ णं जे ते अणुवउत्ता ते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न जाणंति न पासंति, आहारंति। तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति आहारंति। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुचइ अत्थेगइया न जाणंति, न पासंति, आहारेंति, अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारंति, वाणमंतरजोइसिया जहा नेरइया। वेमाणिया णं भंते! ते निज्जरापोग्गले किं जाणंति, पासंति, आहारेंति,। उदाहु–न जाणंति न पासति न आहारंति?। गोयमा! जहा मणुस्सा नवरं वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—माइमिच्छदिट्ठीउववन्नगा य, अमाइसम्मदिट्ठीउववन्नगा य। तत्थ ण जे ते मायिमिच्छदिट्ठीउववन्नगा ते णं न-जाणंति, न पासंति, आहारंति। तत्थ णं जे ते अमायिसम्मदिट्ठीउववन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-अणंतरोववन्नगा य, परंपरोववन्नगा य। तत्थ णं जे ते अणंतरोववन्नगा ते णं न जाणंति, न पासंति, आहारंति, तत्थ णं जे ते परंपरोववन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा–पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य। तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं न जाणंति, न पासंति, आहारंति। तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–उवउत्ता य, अणुवउत्ता य। तत्थ णं जे ते अणुवउत्ता ते ण जाणंति न पासंति, आहारंति। (सूत्र-६१६)

(अणगारस्सेत्यादि) भावितात्मा-ज्ञानादिभिर्वासितात्मा, केवली चेह संग्राह्यः, तस्य सर्वं कर्म-भवोपग्राहित्रयरूपमायुषो भेदेनाभिधास्यमानत्वात्, वेदयतः-अनुभवतः प्रदेशविपाकानुभवाभ्याम्, अत एव सर्वं कर्म्म भवोपग्राहिरूपमेव, निर्जरयतः-आत्मप्रदेशेभ्यः शातयतः, तथा सर्वम्सर्वायुःपुद्गलापेक्षं, मारं—मरणम् अन्तिममित्यर्थः म्रियमाणस्य—गच्छतः, तथा सर्वं-समस्तं शरीरम्-औदारिकादि विप्रजहतः, एतदेव वि[?]पिततरमाह—(चरमं कम्ममित्यादि) चरमं कर्म्म आयुषश्चरमसमयवेद्यम्, वेदयतः एवं निर्जरयतः, तथा चरमं चरमायुःपुद्गलक्षयापेक्षम् मारं—मरणम् म्रियमाणस्य गच्छतः, तथा-चरमं शरीरं यच्चरमावस्थायामस्ति तत्त्यजतः, एतदेव स्फुटतरमाह-' मारणंतियं कम्मं ' इत्यादि मरणस्य सर्वायुष्कक्षयलक्षणस्यान्तः-समीपं मरणान्तः आयुष्कचरमसमयस्तत्र भवं मारणान्तिकम्,कर्म-भवोपग्राहित्रयरूपं वेदयतः एवं निर्जरयतः। तथा मारणान्तिकं—मारणान्तिकायुर्दलिकापेक्षम् मारं—मरणं कुर्वतः, एवं शरीरं त्यजतः, ये चरमाः-सर्वान्तिमाः निर्जरापुद्गलाः-निर्जीर्णकर्मदलिकानि सूक्ष्मास्ते पुद्गलाः प्रज्ञप्ताः भगवद्भिः हेश्रमण! आयुष्मन्! इति भगवत आमन्त्रणम्, सर्वलोकमपि तेऽवगाह्य-तत्स्वभावत्वेनाभिव्याप्य तिष्ठन्तीति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-' हंता मागंदियपुत्ते' त्यादि (छउमत्थे णं ति) केवली हि जानात्येव तानिति न तद्गतं किञ्चित्प्रष्टव्यमस्तीति कृत्वा ' छउमत्थे' त्युक्तम्। छद्मस्थश्चेह निरतिशयो ग्राह्यः (आणत्तं व त्ति) अन्यत्वम्। अनगारद्वयसम्बन्धिनो ये पुद्गलास्तेषां भेदः (णाणत्तं व त्ति) वर्णादिकृतं नानात्वम् (एवं जहा इंदियउद्देसए पढमे त्ति) एवं यथा प्रज्ञापनायाः पञ्चदशपदस्य प्रथमोद्देशके तथा शेषं वाच्यम्, अर्थातिदेशश्चायं तेन यत्रेह ' गोयमे ' त्ति पदं तत्र ' मागंदियपुत्ते त्ति' द्रष्टव्यम्, तस्यैव प्रच्छकत्वात्, तच्चेदम्-" ओमत्तं वा तुच्छत्तं वा गरुयत्तं वा लहुयत्तं वा जाणति पासति?, गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ छउमत्थेणं मणूसे तेसिं निज्जरापुग्गलाणं णो किंचि आणत्तं वा० ६ जाणति पासति?, गोयमा! देवेऽवि य णं अत्थेगइए जे णं तेसिं निज्जरा-पोग्गलाणं (नो) किंचि आणत्तं वा० ६ न जाणति न पासति?, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ, छउमत्थे णं मणूसे तेसिं निज्जरापोग्गलाणं (नो) किंचि आणत्तं० वा ६ न जाणइ न पासइ, सुहुमा णं ते पुग्गला पन्नत्ता समणाउसो! सव्वलोगं पि य णं ते ओगाहित्ता णं चिट्ठंति" एतच्च व्यक्तम्, नवरम् (ओमत्तं त्ति) अवमत्वम्—ऊनता (तुच्छत्तं ति) तुच्छत्वम्—निःसारता, निर्वचनसूत्रे तु (देवेऽवि य णं अत्थेगइए त्ति) मनुष्येभ्यः प्रायेण देवः पटुप्रज्ञो भवतीति देवग्रहणम्, ततश्च देवोऽपि चास्त्येककः कश्चिद्विशिष्टावधिज्ञानविकलो यस्तेषां निर्जरापुद्गलानां न किञ्चिदन्यत्वादि जानाति किं पुनर्मनुष्यः। एकग्रहणाच्च विशिष्टावधिज्ञानयुक्तो देवो जानातीत्यवसीयते इति, " जाव वेमाणिए त्ति " अनेनेन्द्रियपदप्रथमोद्देशकाभिहित एव प्राग्व्याख्यातसूत्रानन्तरवर्ती चतुर्विंशतिदण्डकः सूचितः, स च कियद् दूरं वाच्यः?, इत्याह-" ०जाव तत्थ णं जे ते उवउत्ता इत्यादि " एवं चासौ दण्डकः-"नेरइया णं भंते! निज्जरा पुग्गले, किं जाणंति पासंति आहारंति, उदाहु–न जाणंति ० " शेषं तु लिखितमेवास्ति इति, गतार्थं चैतत्, नवरमाहारयन्तीत्यत्र सर्वत्र ओज आहारो गृह्यते, तस्य शरीरविशेषग्राह्यत्वात् तस्य चाहारकत्वे सर्वत्र भावात्, लोमाहारप्रक्षेपाहारयोस्तु त्वग्मुखयोर्भाव एव भावात्, यदाह—

सरि(री) रेणोयाहारो, तया य फासेण लोमआहारो।
पक्खेवाहारो पुण, कावलिओ होइ नायव्वो॥ १॥

मनुष्यसूत्रे तु सञ्ज्ञिभूता विशिष्टावधिज्ञान्यादयो गृह्यन्ते, येषां ते निर्जरापुद्गलाः ज्ञानविषयाः। वैमानिकसूत्रे तु वैमानिका-अमायिसम्यग्दृष्ट्य उपयुक्तास्तान् जानन्ति ये विशिष्टावधयो, मायिमिथ्यादृष्टयस्तु न जानन्ति मिथ्यादृष्टित्वादेवेति। भ० १८ श० ३ उ०।

कर्म्माधिकारादिदमाह—

जीवा णं भंते! पावे कम्मे जे य कडे ० जाव जे य कज्जिस्सइ अत्थि याइ तस्स केइ णाणत्ते?, हंता अत्थि, से केणट्ठेणं भंते! एवं वुचइ जीवा णं पावे कम्मे जे य कडे ० जाव जे य कज्जिस्सति अत्थि याइ तस्स णाणत्ते?, मागंदियपुत्ता! से जहानामए-केइ पुरिसे धणुं परामुसइ २ त्ता उसुं परामुसइ २ त्ता ठाणं ठाइ २ त्ता आययकन्नाययं उसुं करेंति आययकन्नाययं० त्ता उड्ढं वेहासं उव्विहइ, से नूणं मागंदियपुत्ता! तस्स उसुस्स उड्ढं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेहासं उव्वीढस्स समाणस्स एयति वि णाणत्तं ०जाव तं तं भावं परिणमति वि णाणत्तं ?, हंता भगवं ! एयति वि णाणत्तं ०जाव परिणमति वि णाणत्तं, से तेणऽट्ठेणं मागंदियपुत्ता ! एवं वुच्चइ ०जाव तं तं भावं परिणमति वि णाणत्तं, नेरइयाणं पावे कम्मे जे य कडे एवं चेव नवरं ०जाव वेमाणियाणं। (सूत्र–६२१)

('जीवा णं' मित्यादि) (एयइ वि नाणत्तं ति) एजते कम्पते यदसावपुिस्तदपि नानात्वम्–भेदोऽनेजनावस्थापेक्षया, यावत्करणात् " वेयइ वि णाणत्तं " इत्यादि द्रष्टव्यम्, अयमभिप्रायः–यथा बाणस्योर्ध्वक्षिप्तस्यैजनादिकं नानात्वमस्ति एवं कर्म्मणः कृतत्वक्रियमाणत्वकरिष्यमाणत्वरूपं तीव्रमन्दपरिणामभेदात्तदनुरूपकार्यकारित्वरूपं च नानात्वमवसेयमिति।

अनन्तरं कर्म्म निरूपितं तच्च पुद्गलरूपमिति पुद्गलानधिकृत्याह–

नेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति तेसि णं भंते ! पोग्गलाणं से य कालंसि कति भागं आहारेंति कति भागं निज्जरेंति ?, मागंदियपुत्ता ! असंखेज्जइभागं आहरेंति अणंतभागं निज्जरेंति। चक्किया णं भंते ! केइ तेसु निज्जरापोग्गलेसु आसइत्तए वा ०जाव तुयट्टित्तए वा ?, णो तिणट्ठे समट्ठे अणाहरणमेयं वुइयं समणाउसो ! एवं०जाव वेमाणियाणं। सेवं भंते ! भंते त्ति। (सूत्र–६२२)

(नेरइए इत्यादि) (से य कालंसि त्ति) एष्यति काले ग्रहणानन्तरमित्यर्थः (असंखेज्जइभागं आहारिंति त्ति) गृहीतपुद्गलानामसंख्येयभागमाहारीकुर्वन्ति गृहीतानामेवानन्तभागं निर्जरयन्ति–मूत्रादिवत्त्यजन्ति, (चक्किय त्ति) शक्नुयात् (अणाहरणमेयं वुइयं ति) अध्रियतेऽनेनेत्याधरणम्–आधारस्तन्निषेधोऽनाधरणम्–आधर्त्तुमक्षमम्, एतन्निर्जरापुद्गलजातमुक्तं जिनैरिति। भ० १८ श० ३ उ०।

मागह–मागध–त्रि०। मगधेषु भवं मागधम्। मगधदेशव्यवहृते, स्था० ८ ठा०। मगधदेशोद्भवे, व्य० १० उ०। भ०। भट्टे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। मङ्गलपाठके ' अनु०। वन्दीभूते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। सूते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (' जोयण ' शब्दे चतुर्थभागे १६५७ पृष्ठे व्याख्या गता) चारणे, " मंगलपाढयमागह–चारणवेआलिआ वंदी " पाइ० ना० ३२ गाथा।

मागहजोयण–मागधयोजन–न०। मगधेषु भवं मागधं मगधदेशव्यवहृतम्, तस्य योजनमध्वमानविशेषः–अष्टधनुःसहस्राणि। मगधदेशव्यवहृते अध्वमानविशेषे, स्था० ८ ठा०। (' मागहस्स० ' ६३४ इत्यादिसूत्रं सव्याख्यानम् ' जोयण ' शब्दे चतुर्थभागे १६५७ पृष्ठे गतम्)

मागहतित्थकुमार–मागधतीर्थकुमार–पुं०। मगधदेशीयतीर्थङ्करपुत्रे, आ० म० १ अ०।

मागहपत्थय–मागधप्रस्थक–पुं०। " दो असईओ पसई, दो पसईओ उ सेतिया होइ। चउसेइओ उ कुडओ, चउकुडओ पत्थओ नेओ "।१। त्ति मगधदेशव्यवहृते प्रस्थे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०। तं०। औ०। (मागधप्रस्थमानम् 'पत्थग' शब्दे पञ्चमभागे ४२६ पृष्ठे गतम्)

मागहभासा–मागधभाषा–स्त्री०। मगधदेशप्रचलितभाषायाम्, आ० चू० १ अ०।

मागहिया–मागधिका–स्त्री०। मगधदेशीयगाथायाम्, औ०। जं०। तं०। स०। कूलवालुकसङ्गतगणिकायाम्, आव० ४ अ०। ज्ञा०।

माघवई–माघवती–स्त्री०। सप्तमनरकपृथिव्याम्, स्था० ७ ठा०। प्रव०। भ०। जी०।

माडंबिय–माडम्बिक–पुं०। छिन्नजाश्रयविशेषरूपं मडम्बमुच्यते। तस्याधिपतिर्माडम्बिकः। छिन्नजनाश्रयदेशस्वामिनि, अनु०। ज्ञा०। भ०। स्था०। वृ०। जं०। जी०। कल्प०।

माडिअं–देशी–गृहे, दे० ना० ६ वर्ग १२८ गाथा।

माढर–माठर–पुं०। माठरर्षिगोत्रापत्ये, अनु०।'थेरे संभूयविजए माढरसगुत्ते'न(त)गरायां नगर्यां कस्यचिदाचार्यस्याष्टसु शिष्येष्वन्यतमे शिष्ये, व्य० १ उ०। शक्रस्य देवेन्द्रस्य रथानीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा०।

माढरी–माठरी–स्त्री०। अनेकजीववनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा०१पद।

माढी–माठी–स्त्री०। कवचे, " माढी कवयं उरत्थयं " पाइ० ना० १२१ गाथा।

माण–मान–न०। मीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति मानम्। "नो णः" ॥८।१।२२८॥ इति नस्य णः। प्रा०। स्वलक्षणे मानोन्माने, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। " माणं ति वा परिच्छेदं ति वा गहणप्पगारे त्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ०। यथार्थज्ञाने, " मानं ज्ञानं यथार्थं स्यात्। " द्वा० ११ द्वा०। प्रमाणे, आव० ४ अ०। मीयतेऽनेनेति मानम्। कुडवपलहस्तादिके मापनप्रकारे, प्रव० ६ द्वार। दुरभिनिवेशारोहे, युक्तोक्ताग्रहणे च। ध० १ अधि०।

धान्यप्रमाणं रसप्रमाणं चेति द्विविधं मानम्–

से किं तं माणे ?, माणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–धन्नमाणप्पमाणे अ, रसमाणप्पमाणे अ। से किं तं धन्नमाणप्पमाणे ?, धन्नमाणप्पमाणे–दो असईओ पसई, दो पसईओ सेतिया, चत्तारि सेइआओ कुडओ, चत्तारि कुडया पत्थो, चत्तारि पत्थया आढगं, चत्तारि आढगाइ दोणो, सट्ठि आढयाइं जहन्नए कुंभे, असीइ आढयाइं मज्झिमए कुंभे, आढयसयं उक्कोसए कुंभे, अट्ठ य आढयसइए वाहे,एएणं धन्नमाणपमाणेणं किं पओअणं ?,एएणं धन्नमाणपमाणेणं–मुत्तोली-मुह-इदुर-अलिंद-ओचारि-संसियाणं धन्नाणं धन्नमाणप्पमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ, से तं धन्नमाणप्पमाणे। से किं तं रसमाणप्पमाणे ?, रसमाणप्पमाणे धन्नमाणप्पमाणाओ चउभागविवड्ढिए अब्भिंतरसिहाजुत्ते रसमाणप्पमाणे विहिज्जइ, तं जहा–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चउसट्ठिआ ४ (चउपलपमाणा) बत्तीसिआ ८ सोलसिआ १६ अड्ढभाइआ ३२ चउभाइया ६४ अद्धमाणी १२८ माणी २५६दो चउसट्ठिआओ बत्तीसिआ,दो बत्तीसिआओ सोलसिया, दो सोलसिआओ अड्ढभाइआ, दो अड्ढभाइआओ चउभाइया,दो चउभाइयाओ अद्धमाणी, दो अद्धमाणीओ माणी, एएणं रसमाणपमाणेणं किं पओअणं ?, एएणं रसमाणेणं-वारक-घडक-करक-कलसिअ-गागरि-दइअ-करोडिअ-कुंडिअ-संसियाणं रसाणं रसमाणप्पमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ। से तं रसमाणप्पमाणे। से तं माणे॥

पुनरपि मानप्रमाणं द्विधा—धान्यमानप्रमाणं च, रसमानप्रमाणं च । तत्र मानमेव प्रमाणं मानप्रमाणं धान्यविषयं मानप्रमाणं धान्यमानप्रमाणम्, तच्च—(दो असईओ ' इत्यादि) अस्रुते तत्प्रभवत्वेन समस्तधान्यमानानि व्याप्नोतीत्यसतिः—अवाङ्मुखहस्ततलरूपा, तत्परिच्छिन्नं धान्यमपि तथोच्यते, तद्द्वयेन निष्पन्ना नावाकारताव्यवस्थापितप्राञ्जलकरतलरूपा प्रसृतिः, द्वे च प्रसृती सेतिका, सा च नेह प्रसिद्धा गृह्यते, मागधदेशप्रसिद्धस्यैवात्र मानस्य प्रतिपिपादयिषितत्वाद्, अत इयं तत्प्रसिद्धा काचिदवगन्तव्या, चतस्रः सेतिकाः कुडवः, ते चत्वारः प्रस्थः, अमी चत्वारः आढक इत्यादि सूत्रसिद्धमेव, यावदष्टभिराढकशतैर्निर्वृत्तो वाहः। अत्राह शिष्यः—एतेनाऽसत्यादिना धान्यमानप्रमाणेन किं प्रयोजनम्—किमनेन विधीयते इत्यर्थः, अत्रोत्तरम्—एतेन धान्यमानप्रमाणेन 'मुक्तोलीमुखेदुरालिन्दापचारिसंश्रीतानां' मुक्तोल्याद्याधारगतानां धान्यानां धान्यस्य यन्मानम्—इयत्तालक्षणं तदेव प्रमाणं, तस्य निर्वृत्तिः सिद्धिस्तस्या लक्षणं परिज्ञानं भवति। एतावदत्र धान्यमस्तीति परिज्ञानं भवतीत्यर्थः। तत्र मुक्तोली—मोट्टा (द्दा) अध उपरि च सङ्कीर्णा मध्ये त्वीषद्विशाला कोष्ठिका, मुखं—गन्त्या उपरि यद्दीयते सुम्बादिव्यूतं, ढञ्चनकादि तत्—इदुरं, अलिन्दकंकुण्डल्कम्, अपचारि-दीर्घतरधान्यकोष्ठाकारविशेषः। रसमानप्रमाणमाह—(से किं तमित्यादि) रसो मद्यादिस्तद्विषयं मानमेव प्रमाणं रसमानप्रमाणम्, किमित्याहधान्यमानप्रमाणात्। सेतिकादेश्चतुर्भागविवर्द्धितम्—चतुर्भागाधिकम् अभ्यन्तरशिखायुक्तं यद् रसमानं विधीयते क्रियते तद्रसमानप्रमाणमुच्यते, धान्यस्याऽद्रवरूपत्वात्किल शिखा भवति, रसस्य तु द्रवरूपत्वान्न शिखासम्भवोऽतो बहिः शिखाभावात्। धान्यमानाश्चतुर्भागवृद्धिलक्षणया अभ्यन्तरशिखया युक्तत्वाद्याभ्यन्तरशिखायुक्तमित्युक्तम्, तद्यथा-चतुःषष्टिकेत्यादि, इदमुक्तं भवति—षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपलमाना माणिकानाम वक्ष्यमाणं रसमानम्,तस्य चतुःषष्टितमभागनिष्पन्ना अर्थादेव चतुष्पलप्रमाणा चतुःषष्टिका, एवं माणिकाया एव द्वात्रिंशत्तमभागवर्तित्वादष्टपलप्रमाणा द्वात्रिंशिका, तथा माणिकाया एव षोडशभागवर्तित्वात् षोडशपलप्रमाणा षोडशिका, तस्या एवाष्टमभागवर्तित्वात् द्वात्रिंशत्पलप्रमाणा अष्टभागिका, तस्या एव चतुर्भागवर्तित्वात् चतुःषष्टिपलमाना चतुर्भागिका, तस्या एवार्द्धभागवर्तिनी अष्टाविंशत्यधिकपलशतमानाऽर्द्धमाणिका, इदं च बहुषु वाचनाविशेषेषु न दृश्यत एव, षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपलप्रमाणा माणिका, द्वाभ्यां चतुःषष्टिकाभ्यामेका द्वात्रिंशिका भवतीत्यादि गतार्थमेव, यावदेतेन रसमानप्रमाणेन किं प्रयोजनम् ?, अत्रोत्तरम् एतेन रसमानप्रमाणेन वारकघटककरकगर्गरीदृतिककरोडिकाकुण्डिकासंश्रितानां-रसानां-रसस्य यन्मानं तदेव प्रमाणं तस्य निर्वृत्तिः-सिद्धिस्तस्या लक्षणं-परिज्ञानं भवति,तत्रातीव विशालमुखा कुण्डिकैव करोडिका उच्यते, शेषं प्रतीतम्, कचित्'कलसिए' त्ति दृश्यते, तत्र लघुतरः कलश एव कलशिकेत्यभिधीयते, एवमन्यदपि वाचनान्तरमभ्यूह्यम्। ' से तमित्यादि,निगमनद्वयम्। अनु०। विशे०। ज्ञा०। स्था०। उत्त०। आ० म०। पञ्चा०। सूत्र०। व्य०। नि० चू०।

बारस अट्ठ य छक्कग-माणं भणियं जिणेहिँ सोहिकरं।
तेण परं जे मासा, साहसंता परिसडंति ॥ २१६ ॥

मीयते—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति मानम्। व्य० १ उ०। नि० चू०। अङ्गुलासंख्येयभागादिके, विशे०। स्था०। भ०। कर्म०। आचा०। अनु०। उदकद्रोणपरिमाणशरीरतायाम्, स०। जलद्रोणप्रमाणतायाम्, कथं ? जलस्यातिभृते कुण्डे पुरुषे निवेशिते यज्जलं निस्सरति तद्यदि द्रोणमानं तदा मानप्राप्तो भवति। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रव०। स्था०। भ०। लक्षणं—मानोन्मानादि, तत्र मानं जलद्रोणमानता जलभृतकुण्डिकायां हि मातव्यः पुरुषः प्रवेश्यते। तत्प्रवेशे च यज्जलं ततो निस्सरति तद् यदि द्रोणमानं भवति तदाऽसौ मानोपेत उच्यते, भ० २ श० १ उ०। तं०। नि० चू०। विपा०। रा०। गुणानुरागे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। कल्प०। नि०। आदरे, उत्त० १६ अ०। मननमवगमनं मन्यतेऽनेनेति मानः। स्था० ४ ठा० १ उ०। सुव्रतगुर्वादीनामप्यतिभक्तिकारिणि, दर्श० १ तत्त्व। स्तम्भे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। स्तब्धतायाम्, ध० ३ अधि०। बलादिसमुत्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। गर्वे, पुं०। सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। अभिमाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ०। अहमितिप्रत्ययहेतौ, उत्त० ६ अ०। अहङ्कारे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। प्रव०। आव०। स्था०। (अस्य चातुर्विध्यम् 'कसाय' शब्दे तृतीयभागे ३९६—३९८ पृष्ठे उक्तम्)

मानोऽपि नामादिभेदाच्चतुष्प्रकारः-कर्म्मद्रव्यमानः, तथैव नोकर्म्मद्रव्यमानः, स्तब्धद्रव्यलक्षणः। भावमानस्तु तद्विपाकः। स च चतुर्द्धा यथाह—" तिण्णि सयला कट्ठट्ठिय सेलत्थंभोवमो माणो " अत्रोदाहरणम् " सो सुभूमो तत्थ संवट्टइ। विज्जाहरपरिग्गहितो जातो, सो किर चक्कवट्टी भविस्सइ त्ति मेघनादविज्जाहरो इत्थीरयणनियधूया पउमसिरिदाणनिमित्तं तस्स समीवे सया इच्छइ। अन्नया तेण विसाइहिं परिक्खिज्जइ। इतो य रामो नेमित्तियं पुच्छइकतो य मम विणासो त्ति ?, तेण भणियं—जो एयं सीहासणे निविसिहिइ एयातो दाढतो पयडीभूयातो खाहिति। ततो ते भयं। ततो तेण अवारियभत्तं कयं। तत्थ सीहासणं धुरे ठवियं। दाढातो से अग्गतो कया तो एवं वच्चइ कालो, इतो य सुभूमो मायं पुच्छइ—किं एत्तिओ लोगो अन्नोऽवि अत्थि ? तीए सव्वं कहियं। सो तं सोऊणमभिमाणेण हत्थिणाउरं गतो। तं सभं पविट्ठो, देवया रडिऊण नट्ठा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततो दाढातो परमत्तं जीयंता माहणा तं परिहारं ओलग्गा मेघनादेण विज्जाहरणं ताणि पहरणाणि तेसिं चेव उवरिं पाडिज्जंति। सो वासत्थो भुंजइ। रामस्स परिकहियं संनद्धो आगतो परसुं मुयइ विज्झातो, इयरो य तं चेव थालं गहाय उट्ठितो चक्करयणं जायं, तेण से रामस्स सीसं छिन्नं। पच्छा तेण सुभूमेण माणेण एक्कवीसं वारा निब्बंभणा पुढवी कया गब्भा वि फालिया। आ० म० १ अ०। आ० चू० । आ० क०। (माने—यमदग्निपरशुरामकथा ‘ जमदग्गि ’ शब्दे चतुर्थभागे १४०० पृष्ठे उक्ता) मानफले , (अचङ्कारित-भट्टोदाहरणम् ‘अचंकारियभट्टा’ शब्दे प्रथमभागे १८१ पृष्ठे उक्तम्) “न चासौ मानः क्रियमाणो गुणाय ” सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। मानपरिणामजनके कर्मणि च। भ० १५ श०। मा-नपिण्डे, स्था० ३ ठा० ४ उ । ऋषभदेवस्यैकसप्ततितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

माणइत्त-मानवत्-त्रि० । आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः॥ ८।२।१५६॥ माणइत्तो । मानवति, प्रा०।

माणंझाण-मानध्यान-न० । बाहुबलिविश्वभूतिसुभूमपर्शु-रामाग्निवेशागतसङ्गमकादीनामिव दुर्ध्याने , आतु०।

माणंसी-देशी-मायावि-चन्द्रवध्वोः, दे० ना० ६ वर्ग १४७ गाथा।

माणकर-मानकर-पुं० । कथमहमभ्यर्थितः कथयिष्यामीत्य-वलेपसर्जिते, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

माणकसाइ-मानकषायिन्-पुं० । मानेन कषायिताऽऽत्मनि, प्रज्ञा० १४ पद।

माणकसाय-मानकषाय-पुं० । मानरूपे कषाये, प्रज्ञा० १४ पद। (‘पडिकमण’ शब्दे पञ्चमभागे २६६ पृष्ठे। ‘ कसाय ’ शब्दे तृतीयभागे ३६७ पृष्ठे विस्तरोऽस्य गतः)

माणकिरिया-मानक्रिया-स्त्री० । जात्यादिमदमत्तस्य परेषां हेलनादिकरणे, स्था० ५ ठा० २ उ० । अभ्युत्थानविन-यासनदानाञ्जलिप्रग्रहैर्मानकारापणे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। सूत्र०।

माणण-मानन-न०। पूजने, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

माणणऽट्ठ-माननार्थ-पुं०। माननं पूजनं सत्कारः तेनार्थः-प्र-योजनम् माननार्थः। अभ्युत्थानविनयासनदानाञ्जलिप्रग्रहैर्मान निमित्ते, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

माणणिस्सिय-माननिश्रित-न० । माननिमित्ते मृषाभेदे, प्रज्ञा० १८ पद। मूर्च्छाभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ०।

माणतुंगसूरि-मानतुङ्गसूरि-पुं० । भक्तामरस्य कर्तरि, ‘ श्री-मानतुङ्गसूरिः, कर्ता भक्तामरस्य गणभर्त्ता। ” ग० ३ अ-धि०। एतदुत्पत्तिस्त्वेवम्—वाराणस्यां धनदेवपुत्रः मानतु-ङ्गनामा दिगम्बरजैनदीक्षां गृहीत्वा महाकीर्तिनामाऽजनि। भगिन्युपदेशाद्दिगम्बरेष्वेषणाशुद्धिमदृष्ट्वा अजितसिंहसूरि-पार्श्वे श्वेताम्बरजैनत्वेन दीक्षित एतन्नामाऽभिदधे। तत्र-त्येन हर्षदेवेन राज्ञा मयूरभट्टादिषु ब्राह्मणेषु सूर्यस्तोत्रा-दि भाणत्वी दृष्टमात्रेषु जैनेष्वप्यस्ति चमत्कृतिर्नवेति जि-ज्ञास्यमानेन निगडबद्धोऽयं सूरिर्भक्तामरस्तोत्रं भणित्वा त-त्स्तुष्टया शासनदेव्या छिन्नेषु निगडेषु तेनैव राज्ञा प-रितोषित इति। जै० इ०।

माणदंसि (न्)-मानदर्शिन्-त्रि० । मानस्य स्वरूपतो वेत्तरि, परिहर्तरि च। आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

माणदेवसूरि-मानदेवसूरि-पुं० । चोलदेशे कल्याणकपुरे १२३३ विक्रमसंवत्सरे वीरप्रतिमाप्रतिष्ठापके जिनपतिसूरि-क्षुद्रपितरि, ती० २१ कल्प। प्रद्युम्नसूरिशिष्यो मानदेवसू-रिः। ग० ३ अधि०।

माणपडिसंलीण-मानप्रतिसंलीन-त्रि०। निरुद्धमाने, स्था० ४ ठा० २ उ०।

माणपत्त-मानप्राप्त-त्रि०। मानमिते पुरुषे, तत्र मानं ज-लद्रोणताप्रमाणम्, जलस्यातिभृते कुण्डे पुरुषे निवेशिते यज्जलं निस्सरति तद् यदि द्रोणमानं भवति तदा पुरुषो मानप्राप्त उच्यते। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। नि०।

माणपव्वय-मानपर्वत-पुं० पर्वतभेदे, यत्र बाहुबलिना तपः कृतम्। आ० म० १ अ०।

माणपिंड-मानपिण्ड-पुं० । मानो—गर्वस्तद्धेतुकः पिण्डो मानपिण्डः, प्रव० ६७ द्वार । अष्टमे उत्पादनादोषे , यथा-साधूनां समक्षं पणं कृत्वा तदाऽहं लब्धिमान् यदा भव-तां सरसमाहारममुकगृहादानीय ददामीत्युक्त्वा गृहस्थं विडम्ब्य गृह्णाति तदाऽष्टमो मानपिण्डाऽऽख्यो दोषः। उत्त० २४ अ०। आचा०। पञ्चा०।

जे भिक्खू माणपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥६७॥

अभिमाणतो पिंडग्गहणं करेति त्ति माणपिंडो आणा-दिया य (दोषाः) पच्छित्तं च चउलहुं।

गाहा—

जे भिक्खू माणपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१८२॥

कंठ्यम्।

इमं माणपिंडे लक्खणं—

उच्छाहितो परेण व, लद्धपसंसाहि वा समुत्तइओ।
अवमाणिओ परेण व, जो एसति माणपिंडो सो ॥१८३॥

तव्वतिरित्तो परो, तेण महाकुलं पसूता तिण्हिं वयणेहिं उच्छाहितो, ततो माणट्ठितो जए सति सो माणपिंडो। तहा परेण चेव तुमं लद्धीए अण्णण्णसरिसो एवं पसंसितो समु-त्तइओ त्ति माणाभिभूतो। अहवा—विविधोपायं पक्खंद हं भणाति-देहि मे इतो भत्तं। भत्तसामिणा वुत्तं-देमि त्ति। प-डिभणति साहू-अवस्सं दायव्वं ति। अतिमाणतो तल्लंभो उज्जमं करेतस्स माणपिंडो भवति।

एत्थ इमं उदाहरणं। गाहा—

इट्टगछणंमि परिपिं-डिताण उल्ला उ को णु हु पएति।
आणेज्ज इट्टगातो, खुड्डो पव्वाहऽहं आणे ॥१८४॥

अत्थि गिरिफुल्लिगा णगरी, तत्थ य आयरिया बहुसिस्स-परिवारी परिवसंति। अण्णदा इट्टगच्छणे त्ति इट्टगा सुत्ता। ऊसवो तम्मि वट्टंते साहू परोप्परि पिंडिता उल्लावं करेंति। को अम्हं अज्ज इट्टगच्छणे वट्टमाणे इट्टगा उप्पज्जत्तियाओ आ-णेज्जति। खुड्डगो भणति-अहं आणेमि त्ति । साधू भणंति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा—

जति वि य ता पज्जत्ता, अगुलघताहिं ण ताहि मे कज्जं ।
जारिसियाओ इच्छह, ता आणेऽहं ति निक्खंतो॥१८५॥

जइ वि तुमं ता पज्जत्ताओ आणेहिसि तहाऽवि अम्हं ताहिं गुलघयवज्जियाहिं ण कज्जं, एवमण्णो कोइ खुड्डो भणति-जारिसाओ तुज्झे भणह तारिसाओ आणेमि त्ति वोत्तुं भायणे घेत्तुं उवओगं काउं णिग्गतो, परियट्टंतेण दिट्ठा एगम्मि घरे पभूता उवसेवइया तत्थ आगारी।

गाहा—

ओभासिय पडिसिद्धो, भणति अगारिं अवस्सिमा मज्झं ।
जति भणसि तो मे णा–साए कुणसु मोयं तु ॥ १८६ ॥

तीए पडिसिद्धो, ताहे खुड्डो भणति-इमा इट्टगता अवस्सं मज्झं भविस्संति, आहत्ति य । अगारी पडिभणाति-जति एया लभसि तो तुं मे णासाए-मोयं कतं; सूत्रित इत्यर्थः। सो खुड्डो ततो घराओ णिग्गतो।

इमं गाहा—

कस्स घरं पुच्छिऊण, परिसाए कतरोऽमुगो य पुच्छंते ।
किं तो अम्हं जायसु,सो किविणो ण दाहिता तुज्झं॥१८७॥

पुच्छिए कहियं इंददत्तस्स,कत्थ सो? इमो परिसाए अच्छति। ताहे परिसं गंतुं पुच्छति-कयरो तुज्झं इंददत्तो त्ति। तत्थ अण्णे भणंति-किं तेण, सो किविणो इत्थिवसो य ण तुज्झं दाहिति। जति तो अम्हे जायसु दाहामो जहिच्छियं। ताहे इंददत्तेण—

द्राहंति णेण भणितं,जति ण भवसि छण्हिमेसि पुरिसाणं।
अण्णतरो तो तेहिं, परिसा मज्झंमि जायामि ॥ १८८ ॥

ताहे खुड्डो भणइ-जइ इमेसिं छण्हं पुरिसाणं अण्णतरो ण भवसि तो ते हं इमाए परिसाए मज्झे किंचि पणएमि,ततो तेण अण्णतेहि य भणियं कयमेते छ पुरिसा इमे सुणसु।नि०चू१३उ०।

सम्प्रति मानपिण्डस्य संभवमाह—

उच्छाहिओ परेण व, लद्धिपसंसाहिँ वा समुत्तइओ ।
अवमाणिओ परेण य, जो एसइ माणपिंडो सो॥४६५॥

उत्साहितः-त्वमेवास्य करणे समर्थ इत्येवमुत्कर्षितः, परेण-अपरेण साध्वादिना, (वा) विकल्पे, तथा लब्धिप्रशंसाभ्याम् (समुत्तइओ) गर्वितो, यथाऽहं यत्र क्वापि व्रजामि तत्र सर्वत्रापि लभे, तथैव च जनो मां प्रशंसतीत्येवमभिमानवान्, यद्वा-न किमपि त्वया सिद्ध्यतीत्येवमपमानितोऽपरेणाहङ्कारवशाद्य एषयति पिण्डं स तस्य मानपिण्डः। अत्र च क्षुल्लकोदाहरणम्-गिरिपुष्पिते नगरे सिंहाभिधानाः सूरयः सपरिवाराः समाययुः, अन्यदा च तत्र सेवकिकाक्षणः समजनि, तस्मिंश्च दिवसे सूत्रपौरुष्यनन्तरमेकत्र तरुणश्रमणानां समवायोऽभवत्, बभूव च परस्परं समुल्लापः, तत्र कोऽप्यवादीत्-को नामैतेषां मध्ये यः प्रातरेव सेवकिका आनेष्यति?, तत्र गुणचन्द्राभिधः क्षुल्लकः प्रत्यवादीद्-अहमानेष्यामि। ततः सोऽभाणीत्-यदि ताः सर्वसाधूनां न परिपूर्णा घृतगुडरहिता वा ततो न ताभिः प्रयोजनम्, तस्माद्यद्यवश्यमानेतव्यास्तर्हि परिपूर्णाः घृतगुडसम्मिश्राश्चानेतव्याः, क्षुल्लक आह-यादृशीस्त्वमिच्छसि तादृशीरानेष्यामि, एवं च कृत्वा प्रतिज्ञां, नान्दीपात्रमादाय भिक्षार्थं निर्जगाम। प्रविष्टश्च क्वापि कौटुम्बिकगृहे, दृष्टाश्च तत्र प्रचुराः सेवकिकाः घृतगुडादीनि च प्रभूतानि प्रगुणीकृतानि, ततोऽनेकधा वचनभङ्गीभिः सुलोचनाभिधाना कौटुम्बिकगृहिणी याचिता, तया च सर्वथा प्रतिषिद्धो—न किमपि ते ददामीति, ततः संजातामर्षेण वभणे क्षुल्लकेन—नियमादिमाः सेवकिकाः सघृतगुडा मया गृहीतव्याः, सुलोचनाऽपि सामर्षं क्षुल्लकवचः श्रुत्वा संजातप्रकोपा प्रत्युवाच—यदि त्वमेतासां सेवकिकानां किमपि लभसे ततो मे नासापुटे त्वया प्रस्रवणं कृतमिति। ततः क्षुल्लकोऽचिन्तयद्—अवश्यमेतन्मया विधातव्यम्, एवं च विचिन्त्य गृहान्निर्ययौ। पप्रच्छ च कस्यापि पार्श्वे कस्येदं गृहम्? इति। सोऽवादीत्—विष्णुमित्रस्य, ततः पुनरपि क्षुल्लकः पृच्छति—स इदानीं क्व वर्तते ?, तेनोक्तम्—पर्षदि, ततः पर्षदि गत्वा सहर्ष इव पर्षज्जनान् पृष्टवान्—भो! युष्माकं मध्ये को विष्णुमित्रः?, जना अवादिषुः—किं साधो! तव तेन प्रयोजनम्?, साधुरवोचत्—तं किमपि याचिष्ये, स च तेषां सर्वेषामपि प्रायो भगिनीपतिरिति सहासं तैरवाचि—कृपणोऽसौ न ते किमपि दास्यतीत्यस्मानेव याचस्व, ततो विष्णुमित्रो मा मेऽपभ्राजनाऽभूदिति तेषामग्रतः कृत्वा वभाण-भो! भो! विष्णुमित्रोऽहं याचस्व मां किमपि, मा केलिवचनममीषां कर्णेऽकार्षीः, ततोऽवादीत् क्षुल्लकः—याचेऽहं यदि त्वं महेलाप्रधानानां षण्णां पुरुषाणामन्यतमो न भवति। ततः पर्षज्जना अवादिषुः—के ते षट् पुरुषा महेलाप्रधानाः? येषामन्यतमोऽयमाशङ्क्यते। ततः क्षुल्लक आह-श्वेताङ्गुलिः, बकोड्डायकः, किङ्करः, स्नायकः, गृध्र इव रिङ्खी, हदज्ञ इति, एतेषां च षण्णामपि कथानकान्यमूनि—क्वचिद्ग्रामे कोऽपि पुरुषो निजभार्याच्छन्दानुवर्त्ती, स च प्रातरेव जातबुभुक्षो निजभार्यां भोजनं याचते, सा च वदति—नाहमालस्येनोत्थातुमुत्सहे, ततस्त्वमेव समाकर्ष चुल्ल्या भस्म प्रक्षिप, तत्र प्रातिवेश्मिकगृहादानीय वह्निं प्रज्वालय तमिन्धनप्रक्षेपेण, समारोपय चुल्ल्याः शिरसि स्थालीम्, एवं यावत्पक्त्वा कथय, ततोऽहं परिवेषयामीति, स च तथैव प्रतिदिवसं कुरुते, ततो लोकेन प्रातरेवास्य चुल्ल्या भस्मसमाकर्षणेन श्वेतीभूताऽङ्गुलिदर्शनात्सहासं श्वेताऽङ्गुलिरिति नाम कृतम्, एष श्वेताऽङ्गुलिः। तथा—क्वचिद्ग्रामे कोऽपि पुरुषो निजभार्यामुखदर्शनसुखलम्पटस्तदादेशवर्ती, अन्यदा तया भार्यया वभणे—यथाऽहमालस्येन युक्ता, ततस्त्वमेवोदकं तडागादानय, स च देवताऽऽदेशमिव भार्याऽऽदेशमभिमन्यमानः प्रतिवदति—यदादिशसि प्रिये! तदहं करोमि। ततो दिवसे मा लोको मां द्राक्षीदिति रात्रौ पश्चिमयामे समुत्थाय प्रतिदिवसं तडागादुदकमानयति। तस्य च तत्र गमनागमने कुर्वतः पदसञ्चारशब्दश्रवणतो घटभरणबुद्बुदशब्दश्रवणतश्च तडागपालीवृक्षेषु प्रसुप्ता बका उत्थायोड्डीयन्ते। एष च वृत्तान्तो लोकेन विदितः, ततोऽस्यार्थस्य सूचनार्थं हास्येन बकोड्डायक इति नाम कृतम्। एष बकोड्डायकः। तथा—क्वचिद् ग्रामे कोऽपि पुरुषो भार्यास्तनजघनादिस्पर्शलम्पटो भार्याच्छन्दानुवर्त्ती, स च प्रातरेवोत्थाय कृताञ्जलिप्रग्रहो वदति—दयिते! किं करो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मि ?, सा च वदति—तडागादुदकमानय, ततो यत्प्रिया समादिशतीत्युदित्वा तडागादुदकमानयति, पुनरपि भणति—किं करोमि प्राणेश्वरि ?, सा वदति-कुसूलादाकृष्य तण्डुलान् कण्डय, एवं यावद्भोजनादूर्ध्वं मम पादान् प्रक्षाल्य घृतेन फाणयेति, स च सर्वं तथैव करोति । तत एवं लोकेन ज्ञात्वा तस्य किङ्कर इति नाम निवेशितम्, एष किङ्करः । तथा-क्वचिद् ग्रामे कोऽपि पुरुषो भार्याऽऽदेशवर्त्ती, स चान्यदा निजभार्यामवादीत्-प्राणेश्वरि ! स्नातुमहमिच्छामि, तयोक्तम्—यद्येवं तर्ह्यामलकान् शिलायां वर्त्तय, परिधेहि स्नानपोतिकाम्,अभ्यङ्गय तैलेनात्मानं, गृहाण च घटं, ततस्तडागे स्नात्वा घटं च जलेन भृत्वा समागच्छेति। स च देवताऽऽदेशमिव भार्याऽऽदेशं शिरसि निधाय तथैव करोति,एवं च सर्वदैव ततो लोकेनास्यार्थस्य प्रकटनार्थं हासेनास्य स्नायक इति नाम कृतम् । एष स्नायकः। पिं०। (मानपिण्डे गृध्र इव रिङ्खीति दृष्टान्तः 'गिद्धइवरिंखि' शब्दे तृतीयभागे ८७५ पृष्ठे गतः) तथा क्वचिद् ग्रामे भार्यामुखप्रलोकनसुखलम्पटस्तदादेशकारी कोऽपि पुरुषः, तस्यान्यदा स्वभार्यया सह विषयसुखमनुभवतः पुत्रो बभूव । स च पालनक एवं स्थितोऽतिबालत्वात् पुरीषमुत्सृजति, तेन च पुरीषेण पालनकं बालवस्त्राणि च खरण्ट्यन्ते, ततः सा भणति—बालस्य पुते प्रक्षालय, पालनकं बालवस्त्राणि च । ततो यत्प्रिया समादिशति तत्करोमीति वदँस्तथैव करोति, एवं सर्वदैव । ततो लोकेनैतद् ज्ञात्वा हदनं प्रक्षालयितुं बालस्य जानातीति कृत्वा हदज्ञ इति नाम तस्य कृतम्। एष हदज्ञः । तत एवमुक्ते चुल्लकेन सर्वैरपि पर्षज्जनैरेककालमट्टाट्टहासेन हसद्भिरभाणि-चुल्लक ! एष षण्णामपि पुरुषाणां गुणानाददाति तन्मैनं महेलाप्रधानं याचिष्ट । विष्णुमित्रोऽवादीत्-नाहं षण्णां पुरुषाणां समानस्तस्माद्याचस्व मामिति, ततः चुल्लकेनोक्तम्—देहि मे घृतगुडसंयुक्ताः पात्रभरणप्रमाणाः सेवकिकाः, विष्णुमित्रेणोक्तम्-ददामि। ततः चुल्लकं गृहीत्वा निजगृहाभिमुखं चलितवान् , समागतो निजगृहद्वारे, ततः चुल्लकेनाभाणि—प्रथममपि तव गृहे समागतोऽहमासं परं तव भार्यया प्रतिज्ञा व्यधायि यथा-न किमपि ते दास्यामि, तत इदानीं यदुक्तं तत्समाचार , तत एवमुक्ते विष्णुमित्रोऽवादीत्-यद्येवं तर्हि क्षणमात्रमेव गृहद्वारेऽवतिष्ठस्व पश्चादाकारयिष्यामि, ततः प्रविष्टो गृहमध्ये मित्रः,पृष्टा च तेन निजभार्या-यथा राद्धाः सेवकिकाः प्रगुणीकृतानि घृतगुडादीनि ?,तयोक्तम्-कृतं सर्वं परिपूर्णम् , ततो गुडं प्रलोक्य स्तोक एष गुडो नैतावता सरिष्यतीति मालादानय प्रभूतं गुडं येन द्विजान् भोजयामीति, ततः सा तद्वचनादारूढा मालम् अपनीता तेन निःश्रेणिः।तत आकार्य चुल्लकं पात्रभरणप्रमाणा ददौ तस्मै सेवकिकाः घृतगुडादीनि च दातुमारब्धानि , अत्रान्तरे गुडमादाय सुलोचना मालादुत्तरितुं प्रवृत्ता परं न पश्यति निःश्रेणिम् , ततो विस्मितहृदया प्रसरं यावदालोकते तावत्पश्यति चुल्लकाय घृतगुडसंयुक्ताः सेवकिका दीयमाना,ततोऽहमनेन चुल्लकेनाभिभूतेत्यभिमानपूरितहृदया माऽस्मै देहि मा स्मै देहीति महता शब्देन पूत्कुरुते, चुल्लकोऽपि तस्याः सम्मुखमवलोक्य मया तव नासिकापुटे मूत्रितमिति निजनासापुटेऽङ्गुल्यभिनयेन दर्शयति, दर्शयित्वा च भृतघृतगुडसेवकिकापात्रो जगाम निजवसताविति।

एतदेव रूपकाष्टकेन दर्शयति—

इट्टगछणंमि परिपिं-डियाण उल्लावको णु हु पगेव ।
आणिज्ज इट्टगाओ ?, खुड्डो पच्चाह आणेमि ॥ ४६६ ॥
जइ वि य ता पज्जत्ता, अगुलघयाहिं न ताहिँ णो कज्जं ।
जारिसियाओ इच्छह,ता आणेमि त्ति निक्खंतो ॥४६७॥
ओहासिय पडिसिद्धो,भणइ अगारिं अवस्सिमा मज्झं ।
जइ लहसि त्तो तं मे, नासाए कुणसु मोयं ति ॥४६८॥
कस्स घरं पुच्छिऊणं, परिसाएऽमुगो कयरो पुच्छित्तु ।
किं तेणऽम्हे जायसु,सो किविणो दाहिइ न तुज्झ॥४६६॥
दाहि त्ति तेण भणिए,जइ न भवसि छण्हमेसि पुरिसाणं।
अन्नयरो तो तेऽहं, परिसामज्झंमि पणयामि ॥ ४७० ॥
सेयंऽगुलि वगुड्डावे,किंकरे ण्हायए तहा ।
गिद्धा व रिंखि हदन्नए, एए पुरिसाहमा छओ ॥४७१॥
जायसु न एरिसोऽहं, इट्टगा देहि पुव्वमइगंतुं ।
माला उत्तारि गुलं,भोएमि दिए त्ति आरूढा ॥ ४७२ ॥
सिइअवणण पडिलाभण,दिस्सियरी वोलमंगुली नासं ।
दुण्हेगयरपओसो, आयविवत्ती य उड्डाहो ॥ ४७३ ॥

सुगमम्। नवरम् (इट्टगछणंमि) सेवकिकाक्षणे (पगवेति) प्रभाते एव (मोयं ति) सूत्रणं, प्रणयामि इति याचे, (सिइअवणण त्ति) निःश्रेण्यपनयनम्, इत्थम्भूतश्च मानपिण्डो न ग्राह्यः, यतो द्वयोरपि दम्पत्योः प्रद्वेषो भवति, ततस्तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदः, कदाचिदेकतरस्य ततस्तत्रापि स एव दोषः। अपि च-सैवमपमानिता कदाचिदभिमानवशादात्मविपत्तिं कुर्यात्, तत उड्डाहः प्रवचनमालिन्यम्। उक्तो मानपिण्डदृष्टान्तः। पिं०। जीत०। नि० चू०। आचा०।

माणमय–मानमद–पुं०। मानगर्वे, दश० ६ अ० ४ उ०।

माणमाण–मानयत्–त्रि०। तदनुभावमनुभवति, भ० १ श० ४ उ०।

माणमुंड–मानमुण्ड–त्रि०। मुण्डयत्यपनयतीति मुण्डः,मानेन मुण्डः मानमुण्डः। मुण्डभेदे, स्था० १० ठा०।

माणमूरण–मानमूरण–त्रि०। मानमर्दने, आ० म० १ अ०। सर्वगर्वोद्दलने, पा०। ध०।

माणव–मानव–पुं०। मा निषेधे, नवः प्रत्ययो मानवः।भ० २० श० ३ उ०। पुरुषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। दश०। आचा०। मनुजे,आचा०१ श्रु०५ अ० ४ उ०। मनुष्ये,आचा०१ श्रु० २ अ० १ उ०। "मणुआ नरा मणुस्सा, मच्चा तह माणवा पुरिसा " पाइ० ना० ६० गाथा। मनुप्रोक्ते, " पुराणं मानवो धर्मः,साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। मनुष्ये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। आचा०।

माणवग–माणवक–पुं०। षट्चत्वारिंशत्तमे महाग्रहे, स्था०। दो माणवगा। स्था० २ ठा० ३ उ०। कल्प०। चं० प्र०। सू० प्र०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुधर्मसभामध्यावस्थितस्वाभिधाने स्तम्भे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । सू० प्र० । स० । जी० । निधिभेदे, दर्श० १ तत्त्व । आ० चू० । नि० ।

जोहाण य उप्पत्ती, आभरणाणं च पहरणाणं च ।
सव्वा य जुद्धनीई, माणवगे दंडनीई य ॥ ८ ॥

(सूत्र-६६)। जं० ३ वक्ष० । (अस्याः व्याख्या 'भरह' शब्दे ५ भागे १४६१ पृष्ठे गता) अष्टमे निधौ,प्रव० २१३ द्वार । द्वी० । जी० । कल्प० । आ० म० । स्था० । जं० । आव० ।

माणवगण-मानवगण-पुं० । वसिष्ठगोत्रस्य ऋषिगुप्तान्निर्गते गणे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

माणवचेइयखंभ-मानवचैत्यस्तम्भ-पुं० । सौधर्मकल्पे स्वनामख्याते चैत्यस्तम्भे , सुधर्मसमध्यभागे मणिपीठिकोपरि षष्टियोजमानो माणवको नाम चैत्यस्तम्भोऽस्ति । स० ।

सोहकम्मे कप्पे सुहम्माए सभाए माणवए चेइयक्खंभे हेट्ठा उवरिं च अद्धतेरस अद्धतेरस जोयणाणि वज्जेत्ता मज्झे पणतीसं जोयणेसु वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु जिणसकहाओ पण्णत्ताओ ।

सौधर्मकल्पे सौधर्मावतंसकादिषु विमानेषु सर्वेषु पञ्च पञ्च सभा भवन्ति-सुधर्मसभा १ उपपातसभा २ अभिषेकसभा ३ अलंकारसभा ४ व्यवसायसभा ५, तत्र सुधर्मसभामध्यमागे मणिपीठिकोपरि षष्टियोजनमानो माणवको नाम चैत्यस्तम्भोऽस्ति । तत्र (वइरामएसु त्ति) वज्रमयेषु, तथा-गोलवद् वृत्ता वर्त्तुला ये समुद्गका-भाजनविशेषास्तेषु (जिणसकहाओ त्ति) जिनसक्थीनि तीर्थकराणां मनुजलोकनिर्वृतानां सक्थीनि अस्थीनि-प्रज्ञप्तानीति । स० ३६ सम० ।

माणवत्तियदंड-मानप्रत्ययिकदण्ड-पुं० । जात्याद्यष्टमदस्थानोपहतमनसः पराभवदर्शिनो दण्डे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

नवमं क्रियास्थानं मानप्रत्ययिकमाख्यायते-

अहावरे णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे जातिमएण वा कुलमएण वा बलमएण वा रूवमएण वा तवमएण वा सुयमएण वा लाभमएण वा इस्सरियमएण वा पन्नामएण वा अन्नतरेण वा मयट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेति निंदेति खिंसति गरहति परिभवइ अवमणेति इत्तरिए अयं अहमंसि पुण विसिट्ठजाइकुलबलाइगुणोववेए एवं अप्पाणं समुक्कस्से, देहच्चुए कम्मवित्तिए अवसे पयाइ, तं जहा-गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं, माराओ मारं, णरगाओ णरगं, चंडे थद्धे चवले माणियावि भवइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ, णवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिए । (सूत्र-२५)

तद्यथानाम कश्चित्पुरुषो जात्यादिगुणोपेतः सन् जातिकुलबलरूपतपःश्रुतलाभैश्वर्यप्रज्ञामदाख्यैरष्टभिर्मदस्थानैरन्यतरेण वा मत्तः परमवमबुद्ध्या हीलयति , तथा-निन्दति जुगुप्सते, गर्हति परिभवति, एतानि चैकार्थिकानि कथञ्चिद्भेदं वोत्प्रेक्ष्य व्याख्येयानीति । यथा परिभवति तथा दर्शयति-इतरोऽयं जघन्यो हीनजातिकः, तथा-मत्तः कुलबलरूपादिभिर्दूरमपभ्रष्टः सर्वजनावगीतोऽयमिति । अहं पुनर्विशिष्टजातिकुलबलादिगुणोपेतः, एवमात्मानं समुत्कर्षयेदिति । साम्प्रतं मानोत्कर्षविपाकमाह-(देहच्चुए इत्यादि) तदेवं जात्यादिमदोन्मत्तः सन्निहैव लोके गर्हितो भवति, अत्र च जात्यादिपदद्वयादिसंयोगा द्रष्टव्याः, ते चैवं भवन्ति-जातिमदः कस्यचिन्न कुलमदः, अपरस्य कुलमदो न जातिमदः, परस्योभयम् , अपरस्यानुभयम् इत्येवं पदत्रयेणाष्टौ चतुर्भिः षोडशेत्यादि यावदष्टभिः पदैः षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयमिति, सर्वत्र मदाभावरूपश्चरमभङ्गः शुद्ध इति । परलोकेऽपि च मानी दुःखभाग् भवतीत्यनेन प्रदर्श्यते-स्वायुषः क्षये देहात् च्युतो भवान्तरं गच्छन् शुभाशुभकर्मद्वितीयः कर्मपरायत्तत्वादवशः-परतन्त्रः प्रयाति,तद्यथा-गर्भाद्गर्भं पञ्चेन्द्रियापेक्षम् , तथा-गर्भादगर्भं विकलेन्द्रियेषूत्पद्यमानः, पुनरगर्भाद्गर्भमेवमगर्भादगर्भम् , एतच्च नरककल्पगर्भदुःखापेक्षायामभिहितम् ,उत्पद्यमानदुःखापेक्षया त्विदमभिधीयते जन्मन एकस्मादपरं जन्मान्तरं व्रजति, तथा मरणं मारस्तस्मान्मारान्तरं व्रजति,तथा नरकदेश्यात्-श्वपाकादिवासाद्रत्नप्रभादिकं नरकान्तरं व्रजति । यदिवा-नरकात्सीमन्तकादिकादुद्धृत्य सिंहमत्स्यादावुत्पद्य पुनरपि तीव्रतरं नरकान्तरं व्रजति । तदेवं नटवद्रङ्गभूमौ संसारचक्रवाले स्त्रीपुंनपुंसकादीनि बहून्यवस्थान्तराण्यनुभवति । तदेवं मानी परपरिभवे सति चण्डो-रौद्रो भवति परस्यापकरोति, तदभावे ह्यात्मानं व्यापादयति । तथा-स्तब्धश्चपलो यत्किञ्चनकारी मानी सन् सर्वोऽप्येतदवस्थो भवतीति । तदेवं तत्प्रत्ययिकम्-माननिमित्तं सावद्यं कर्म आधीयते संबध्यते । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रव० । आव० । आ० चू० ।

माणवाइ(न्)-मानवादिन्-त्रि० । उच्चैर्गोत्रनिमित्तमानवादशीले, " एगे गोयावादी माणवादी कंसि वा एगे गिज्झे तम्हा पंडिए " आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

माणविजय-मानविजय-पुं० । श्रीविजयानन्दसूरिशिष्यपण्डितश्रीकान्तिविजयगणिचरणसेविनि धर्मसंग्रहवृत्तिकारके स्वनामख्याते महोपाध्याये, ध० २ अधि० ।

श्रीमद्वीरजिनेन्द्रपट्टपदवीसीमन्तिनीमण्डनं ,
प्रख्यावानजनिष्ट हीरविजयः सूरिः सतामग्रणीः ।
येनाऽकब्बरराट् प्रबोध्य विहितो दुष्कर्मकर्त्ताऽप्यहो,
धर्मोक्त्या त्रिदिवस्य केशिगणिनेवाहः प्रदेशी नृपः ॥ १ ॥
अमलमलमकार्षीत्सद्गुरोस्तस्य पट्टं,
विजयिविजयसेनः सूरिरुग्रप्रतापः ।
महति सदसि शाहेर्वादिनो निष्प्रतापान् ,
रविरिव निजगोभिस्तारकान् यश्चकार ॥ २ ॥
विजयतिलकसूरिर्भूरिसूरिप्रकृष्टो,
दिनमणिरुदयाद्रौ तस्य पट्टे बभूव ।
कुमततिमिरमुग्रं प्रास्य शुद्धोपदेशप्रसृमरकिरणैर्यो भव्यपद्मांश्चकार ॥ ३ ॥
तदीये पट्टेऽभूद्विजयिविजयानन्दसुगुरु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यशस्वी तेजस्वी मधुरवचनः सौम्यवदनः।
कषायैर्निर्मुक्तः प्रशमगुणयुक्तः सुविहित-
स्तपागच्छाधीशः सकलवसुधाधीशमहितः॥ ४॥
जयति विजयराजः सूरिरेतस्य पट्टे,
सकलगुणगरिष्ठः शिष्टलोकैः प्रशस्यः।
प्रथितपृथुजयश्रीरुग्रपुण्यप्रभावः,
कलितसकलशास्त्रः प्रास्तमिथ्यात्वजालः॥ ५॥
तदनु पट्टपतिर्विहितोऽधुना,
विजयराजतपागणभूभुजा।
विजयमान इति प्रथिताह्वयो,
विजयतेऽतुलभाग्यनिधिः सुधीः॥ ६॥
इतश्च—
विजयानन्दसूरीणां, विनेया विनयान्विताः॥
श्रीशान्तिविजयाह्वानाः, शोभन्ते पण्डितोत्तमाः॥ ७॥
आजन्मादपि शीलसत्यमृदुताक्षान्त्यार्जवाद्या गुणाः,
भूयांसो गुरुभक्तता च विपुला येषु प्रकृष्टा अपि।
प्रोत्साहाय गुणार्थिनां स्वगुरुभिर्व्यक्तीकृता भूतले,
सर्वत्राखिलगच्छकार्यविनियोगेन प्रसन्नात्मभिः॥ ८॥
तेषां विनेय उदितादरतो विवव्रे,
ग्रन्थं च मानविजयाभिधवाचकोऽमुम्।
क्षुण्णं यदत्र मतिमन्दतया भवेत्त—
न्मेधाविभिर्मयि कृपां प्रणिधाय शोध्यम्॥ ९॥
सत्तर्ककर्कशधियाऽखिलदर्शनेषु,
मूर्धन्यतामधिगतास्तपगच्छधुर्याः।
काश्यां विजित्य परयूथिकपर्षदोऽन्या,
विस्तारितप्रवरजैनमतप्रभावाः॥ १०॥
तर्कप्रमाणनयमुख्यविवेचनेन,
प्रोद्बोधितादिममुनिश्रुतकेवलित्वाः।
चक्रुर्यशोविजयवाचकराजिमुख्याः,
ग्रन्थेऽत्र मय्युपकृतिं परिशोधनाद्यैः॥ ११॥
बाल इव मन्दगतिः, सामाचारीविचारदुर्गम्ये।
अत्राभूवं गतिमां-स्तेषां हस्तावलम्बेन॥ १२॥
सिद्धान्तव्याकरण-च्छन्दः काव्यादिशास्त्रनिष्णातैः।
लावण्यविजयवाचक-शक्रैः समशोधि शास्त्रमिदम्॥ १३॥
वर्षे पृथ्वीगुणमुनि-चन्द्र (१७३१) प्रमिते च माधवे मासे।
शुक्लतृतीयादिवसे, यत्नः सफलोऽयमजनिष्ट॥ १४॥
किं च—
समग्रदेशोत्तमगुर्जरेषु,
अहम्मदावादपुरे प्रधाने,
श्रीवंशजन्मा मतिआभिधानो,
वणिग्वरोऽभूच्छुभकर्मकर्ता॥ १५॥
नित्यं गेहे दानशाला विशाला,
तीर्थोद्यत्या तीर्थराजादियात्रा।
सप्तक्षेत्र्यां वित्तवापश्च यस्य,
स्तोतुं प्रायो ह्यसदाद्यैरशक्यः॥ १६॥
साधुः श्रीशान्तिदासः प्रवरगुणनिधिस्तत्सुतोऽभूदुदारो,
धात्र्यां विख्यातनामा जगद्गुसमधिकाऽनेकसत्कृत्यकृत्यः।
रङ्कानामन्नवस्त्रौषधिसुवितरणाद्येन दुष्कालनाम,
प्रध्वस्तं शस्तभूता बहुविधिमहिता जातिसाधर्मिकाश्च॥ १७॥
पुत्रन्यस्तसमस्तगेहकरणी यस्य स्फुटं वार्द्धके,
सिद्धान्तश्रवणादिधर्मकरणे बद्धस्पृहस्यानिशम्।
सद्धर्मद्वयसंविधानरचनाशुश्रूषणोत्कण्ठिन-
स्तस्य प्रार्थनयाऽस्य गुम्फनविधौ जातः प्रयत्नो मम॥ १८॥
ज्ञानाराधनमतिना, विनयादिगुणान्वितेन वृत्तिरियम्।
प्रथमादर्शे लिखिता, गणिना कान्त्यादिविजयेन॥ १९॥
धात्री संपद्विधात्री भुजगपतिधृता सार्णवा यावदास्ते,
प्रोच्चैः सौवर्णशृङ्गोल्लिखितसुरपथो मन्दराद्रिश्च यावत्।
विश्वं विद्योतयन्तौ तमनु शशिरवी भ्राम्यतश्चेह यावत्,
ग्रन्थो व्याख्यायमानो विबुधजनवरैर्नन्दतादेष तावत्॥ २०॥
ये ग्रन्थार्थविभावनातिनिपुणाः सम्यग्गुणग्राहिणः,
सन्तः सन्तु मयि प्रसन्नहृदयास्ते किं खलैस्तैरिह।
येषां शुद्धसुभाषितामृतरसैः सिक्तोऽपि चित्ते भृशं,
ग्रीष्मर्त्तौ मरुभूमिकास्विव पयोलेशो न संलक्ष्यते॥ २१॥
विलोक्यानेकशास्त्राणि, विहिताद् ग्रन्थतस्त्विह।
प्रेत्यापि बोधिलाभोऽस्तु, परमानन्दकारणम्॥ २२॥
ध० ३ अधि०। मानोदयनिरोधे, उत्त० २९ अ०। औ०।

माणविप्पव–मानविप्लव–पुं०। मीयतेऽनेनेति मानम्–कुडवादिपलादि हस्तादि वा, तस्य विप्लवो विपर्यासः अन्यथा करणम्। मानस्य हीनाधिकत्वे, ध० २ अधि०।

माणवी–मानवी–स्त्री०। श्रेयांसस्य श्रीवत्सापरनाम्न्यां शासनदेव्याम्, वैताढ्यपर्वते स्वनामख्यातायां विद्याधरश्रेणौ, आ० चू० १ अ०। प्रव०।

माणस–मानस–त्रि०। मनःपर्यायज्ञानयुक्ते, विशे०। मनःसम्बन्धिनि, नं०। आव०। स्था०। प्रव०। अन्तःकरणे, स० ३४ सम०। जी०। मनोमात्रवृत्तिनिर्वृत्ते, ध० २ अधि०। चित्ते, "चित्तं माणसं" पाइ० ना० २४१ गाथा।

माणसण्णा–मानसंज्ञा–स्त्री०। मानोदयादहङ्कारात्मिकोत्सेकादिपरिणतिरेव संज्ञायतेऽनयेति मानसंज्ञा। स्था० १० ठा०। संज्ञाविशेषे, प्रज्ञा० ७ पद। भ०।

माणसपज्जाय–मानसपर्याय–पुं०। मानसा मनःसम्बधिनः पर्याया विषया यस्य तन्मनःपर्यायम्। मनःपर्यायज्ञाने, नं०।

माणसपव्वय–मानसपर्व्वत–पुं०। स्वनामख्याते पर्वते, यत्र बाहुबलिना मानाध्मातेन केवलोत्पत्तये प्रतिमाऽभिगृहीता। आ० म० १ अ०।

माणसिय–मानसिक–त्रि०। मनसि जातं मानसिकं मनस्येव यद्वर्त्तते तन्मानसिकम्। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। मनसा चिन्तिते, स्था० ६ ठा०। नि०। मनः प्रयोजनमस्य मानसिकः। ध० २ अधि०। मनसा निर्वृत्तः मानस एव वा मानसिकः। मनःकृते, आव० ४ अ०। उत्त०। कल्प०। आ० चू०।

माणसियजोग–मानसिकयोग–पुं०। मनोद्रव्याणां चिन्तायां व्यापारणे, विशे०।

माणा–माना–स्त्री०। मानानुगतायां क्रियायाम्, आव० ३ अ०।

माणि–मानिन्–पुं०। मानेन युक्तो मानी। अनु०। गर्विते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। नापि मानी भवेत्–न गर्वं विदध्यात्। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। अहङ्कारिणि, जी० १ प्रति०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जात्यादिमदोपेते, चं० प्र० १० पाहु० । कच्छस्य यावत्पुष्कलावतीविजयस्य दीर्घवैताढ्यपर्वतस्य स्वनामख्यातेषु कूटेषु, स्था० ६ ठा० । पद्मविजयस्य यावद् गन्धिलावतीविजयस्य स्वनामख्यातेषु पर्वतेषु, स्था० ६ ठा० ।

माणिअ–मानित–त्रि० । अनुभूते, " अणुहूअं माणिअं " पाइ० ना० २१३ गाथा । दे० ना० ।

माणिकी–माणिकी–स्त्री० । रूतपूरितपट्टरूपायामाकुञ्चिकायाम् , जीत० ।

माणिक्क–माणिक्य–पुं० । मणिभेदे, आचा० २ श्रु० ३ चू० । कोलपाकपत्तने मन्दोदरीदेवताऽवसरे श्रीऋषभदेवे, ती० ४३ कल्प । भगवतीवृत्तिकारप्रेरके दायिकसुते वणिजि, "अस्याः (भगवत्याः) करणव्याख्या–श्रुतिलेखनपूजनादिषु यथार्हम् । दायिकसुतमाणिक्यः, प्रेरितवानस्मदादिजनान् "। भ०४१श० ।

माणिक्कचंदसूरि–माणिक्यचन्द्रसूरि–पुं०।राजगच्छीये सागरचन्द्रसूरिशिष्ये, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १२७६ विद्यमान आसीत् । पार्श्वनाथचरितनामग्रन्थं व्यरीरचत् । जै० इ० ।

माणिक्कदंडग–माणिक्यदण्डक–पुं० । मुनिसुव्रतस्वामितीर्थे, प्रतिष्ठानपुरे अयोध्यायां विन्ध्याचले माणिक्यदण्डके मुनिसुव्रतः । ती० ४३ कल्प ।

माणिक्कदेव–माणिक्यदेव–पुं० । कोलपाकपत्तने मन्दोदरीदेवतावसरे श्रीऋषभदेवे, ती० ४२ कल्प ।

"श्रीकोलपाकप्रासाद–भरणं शरणं सताम् ।
माणिक्यदेवनामान–मानमामि जिनर्षभम् ॥ १ ॥"

श्रीमाणिक्यदेवनमस्कारः—

" श्रीकोलपाकपुरलक्ष्मिशिरोवतंस—
प्रासादमध्यमनिषध्यमधिष्ठितस्य ।
माणिक्यदेव इति यः पृथितः पृथिव्यां,
तस्याङ्घ्रियुग्ममभिनौमि जिनर्षभस्य ॥ १ ॥
तीर्थेशिनां समुदयो मुदितेन्द्रचन्द्रः,
कोटीरकोटितटघृष्टपदासनानाम् ।
मद्दुःखदारुणदुरुत्खनशालिलेखा,
पेषाय मत्तकरिणः करणं दधातु ॥ २ ॥
हेतूपपत्तिसुनिरूपितवस्तुतत्त्वं,
स्याद्वादपद्धतिनिवेशितदुर्नयौघम् ।
सत्सिद्धवल्लिविपिनं भुवनैकपूजां,
पात्रं जिनेन्द्रवचनं शरणं प्रपद्ये ॥ ३ ॥
आरुह्य खे चरति खेचरचक्रिणं या,
नाभेयशासनरसालवनान्यपुष्टा ।
चक्रेश्वरी रुचिरचक्रविरोचिहस्ता,
शस्ताय साऽस्तु नवविद्रुमकायकान्तिः ॥४॥" ती०४६ कल्प।

सिरिकोल्लपाकपुरवर–मंडणमाणिक्कदेवरिसहस्स ।
लिहिमो जहासुअं किं–चि कप्पमप्पेण गव्वेण ॥ १ ॥

पुव्विं किर अट्ठावयनगवरे सिरिभरहेसरेण णिअ—णिअवण्णप्पमाणसंठाणजुत्ताओ सीढो चेव लोआणुग्गहणत्थं तेण वेकारिआ सच्छमरगयमाणिमई । जहा—जुअलखंधेसु चिवुगे दिवायरो, भालयले चंदो, नाहीए सिवलिंगं, अओ चेव माणिक्कदेवु त्ति विक्खाया । सायंकालंऽतरे जत्तागएहिं खेअरेहिं दिट्ठा अपुव्वरूवि त्ति विम्हिअमणेहिं विमाणे ठाविऊण वेयड्ढगिरिं नीया बक्खिणसेढीए, तिहिं भत्तिभरभरिअचित्तेहिं पूइज्जइ । अन्नया भमंतेण नारयरिसिणा वेयड्ढगएणं तं पडिमं दट्ठूण पुच्छिआ विज्जाहरा, कुओ एअं पत्तं । तओ तेहिं वुत्तं—अट्ठावयाओ आणिअ त्ति । जप्पभिइ एसा अम्हेहिं पूइउं पक्कंता तप्पभिइ दिने दिने वड्ढिया इड्ढीए, तं सोऊण नारओ सग्गे इंदस्स तप्पडिममाहप्पं कहेइ । इंदेणाऽवि सग्गे आणाविता भत्तीए पूइउमाढत्ता जाव मुणिसुव्वयनमिनाहाणं अंतरालं । इत्थंऽतरे लंकाए तेलुक्ककंटओ रावणो उप्पण्णो, तस्स भज्जा मंदोदरी परमसम्मदिट्ठी । तीए तं रयणविंबमाहप्पं नारयाओ सोऊण तप्पआणगाढाभिग्गहो गहिओ, तं वुत्तंतं मुणित्ता महारायरावणेण इंदो आराहिओ । तेणऽवि तुट्ठेण समप्पिआ सा पडिमा, महादेवीए तीए तुट्ठाए तिकालं पूइज्जइ । अन्नया दसग्गीवेण सीआ देवी अवहरिया, मंदोदरीए अणुसिट्ठो चित्तं न मुंचति । तओ सुमिणे पडिमाअहिट्ठायगेण रावणविणासो लंकाभंगो अ अक्खिओ मंदोअरीए । तओ तीए विंबं सायरे खिविअं तत्थ सुरेहिं पूइज्जइ । इओ अ कन्नाणदेसे कल्लाणनयरे संकरो नाम राया जिणभत्तो हुत्था । तत्थ केणऽवि मिच्छादिट्ठिणा वंतरेण कुविएण मारी विउव्विया । अहणो राया, तं दुक्खिअं नाउं देवी पउमावई रत्तिं सुविणे भणइ–जइ महाराओ रयणायराओ माणिक्कदेवं निअपुरे आणित्ता पूएसि तो हियं होइ । तओ राया सागरपासे गंतूण उववासं करेइ , लवणाहिवो संतुट्ठो होऊण पयडो रायाणं भणइ—गिण्हह जहिच्छाए रयणाइं , रन्ना विन्नत्तं–न मे रयणाइएहिं कज्जं, मंदोदरीठविअं विंबं देहि त्ति । तओ सुरेण विंबं कड्ढिऊण अप्पिअं, रन्नो भणियं च–तुह देसे सुही लोओ होही परं पंथे गच्छंतस्स जत्थ संसओ होही तत्थेव विंबं ठाहिति । तओ पच्छिवो पक्खिवो ससिन्नो देवयापभावेण अन्नइ य , जुअलखंधट्ठिअसगडारोविअं विंबं मग्गओ आगच्छइ । दुग्गं मग्गं लंघित्ता राया संसयं मणे धरइ, किं आगच्छइ न वित्ति । तओ सासणदेवीए तिलंगदेसे कोल्लपाकनयरे दक्खिणवाणारसि त्ति पंडिएहिं वण्णिज्जमाणे पडिमा ठाविआ । पुव्विं अइणिम्मलमरगयमणिमयं आसि विंबं चिरकालं खारोअहिनीरसंगेण कठिणगं जायं । एक्कारसलक्खा असीइसहस्सा नवसयाइं पंचुत्तराइं वरिसाइं सग्गाओ आणीअस्स भगवओ माणिक्कदेवस्स संवुद्धाइं, तत्थ राया पवरं पासायं कारावेइ । किं च—दुवालस गामे देवपूअणट्ठं देइ, तम्मि भयवं अंतरिक्खे ठिओ छ सयाइं असीयाइं६८०विक्कमवरिसाइं,तओ मिच्छत्तप्पवेसं नाउं सीहासणं ठिओ नियकंतीए भविआणं लोअणेसु अमयरसं वरिसेइ । किंमेसा पडिमा टंकेहिं उक्किन्ना, खाणीओ वा आणिआ, किं सक्कसिप्पिणा घडिआ , वज्जमई वा , नीलमणिमई वेति न निच्छिज्जइ , रंभाखंभनिभेव दीसइ । अज्ज वि किर भगवओ ण्हावणोदगे दीवो पज्जलइ, तित्थाणुभावओ चेइअमंडवाओ भरंता जलसीआ राजति अ जणाणं वत्थाइं अल्लि त्ति । एवं अणेगविहपभावा सुरस्स महातित्थस्स माणिक्कदेवस्स जत्ता महूसवं पूअं च जे करेंति, कारविंति, अणुमोअंति अ ते इह लोए परलोए अ सुहसिरिं पाविंति ।

" माणिक्कदेवकप्पो, इअ एसो वन्निओ समासेणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिरिजिणपहसूरीहिं, भमिश्राणं कुणउ कल्लाणं ॥ १ ॥ ”
इतिश्रीमाणिक्यदेवतीर्थकल्पः । ती० ५० कल्प ।

माणिक्कपुत्त–माणिक्यपुत्र–पुं० । नासिकपुरे ब्रह्मगिरिस्थित-जिनप्रासादोद्धारके पल्लीपालवंशोद्भवे ईश्वरपुत्रे,ती०२७कल्प।

माणिक्कसुंदरसूरि–माणिक्यसुन्दरसूरि–पुं० । अञ्चलगच्छीये स्वनामके आचार्ये, अनेन मलयसुन्दरीचरित्रं यशोधरचरित्रं पृथ्वीचन्द्रचरित्रं चेति ग्रन्था रचिताः । अयमाचार्यः विक्रमसंवत्–१४६१ वर्षे आसीत् । जै० इ० ।

माणिभद्द–माणिभद्र–पुं० । उत्तरयक्षनिकायेन्द्रे,स्था०६ठा० । प्रज्ञा० । दक्षिणभरते दीर्घवैताढ्यस्य माणिभद्राभिधानदेवस्याऽऽवासे चतुर्थे कूटे, स्था०९ ठा० । ऐरवते वर्षे दीर्घवैताढ्यस्य चतुर्थे कूटे, स्था० ६ ठा० । सौधर्मे कल्पे स्वनामख्याते विमाने, तद्वास्तव्ये देवे च । नि० । स्था० । भ० । पिं० । आ० म० । आ० चू० । शत्रुञ्जयतीर्थोद्धारकारके स्वनामख्याते वणिजि, ती० ।
नन्दिः सूरिरथाश्चर्य–श्रीप्रभो माणिभद्रकः ।
धनमित्रो यशोमित्र–स्तथा विकटधर्मिकः ॥ १ ॥
सुमङ्गलः शूरसेन, इत्यस्योद्धारकारकाः ।
ती० १ कल्प । प्रज्ञा० । स्था० । मिथिलायां नगर्यां स्वनामख्याते चैत्ये, चं० प्र० १ पाहु० । ति० ।

माणिम–मान्य–त्रि० । अभ्युत्थानाज्ञाकरणादिना माननीये, दश० १ चू० ।

माणिय–मानित–त्रि० । सम्मानिते, अनु० । ज्ञा० ।

माणी–माणी–स्त्री० । ऊर्द्धलोकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्,ति० ।

माणीपुर–माणीपुर–न० । नागदत्तगृहपत्यावासनगरे, विपा० २ श्रु० ७ अ० ।

माणुम्माणप्पमाणसुजायसव्वंऽगसुंदरंऽग–मानोन्मानप्रमाणसुजातसर्वाङ्गसुन्दराङ्ग–त्रि० । मानोन्मानप्रमाणैः सुन्दराण्यङ्गानि शिरःप्रमुखाणि यत्र एवंविधं सुन्दरमङ्गं यस्य स तथा । मानोन्मानेन प्रमाणेन परिपूर्णसुन्दराङ्गे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । स्था । स० । विपा० । प्रश्न० । रा० । [माणुम्माणपमाणपडिपुन्नसुजातसव्वंगसुंदरंगी इति] तत्र मानं जलद्रोणप्रमाणता । कथमिति चेत् ? उच्यते–जलस्यातिभृते कुण्डे पुरुषे स्त्रियां वा निवेशितायां यज्जलं निस्सरति तद्यदि द्रोणप्रमाणं भवति तदा स पुरुषः स्त्री वा मानप्राप्त उच्यते । तथा–उन्मानम्–अर्द्धभारप्रमाणता, सा चैवम्–तुलायामारोपितः पुरुषः स्त्री वा यद्यर्द्धभारं तुलति तदा स उन्मानप्राप्तोऽभिधीयते । प्रमाणं–स्वाङ्गुलेनाष्टोत्तरशतोच्छ्रायिता, ततो मानोन्मानप्रमाणैः प्रतिपूर्णान्यनूनानि सुजातानि जन्मदोषरहितानि सर्वाणि अङ्गानि शिरःप्रभृतीनि यानि तैः सुन्दराङ्गी । रा० ।

माणुम्माणियट्ठाण–मानोन्मानितस्थान–न० । मानं–प्रस्थकादि, उन्मानं–नाराचादि । यदिवा–मानोन्मानमित्यश्वादीनां वेगादिपरीक्षा तत्स्थानानि । मानोन्मानवर्णनस्थाने, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० । एगस्स बलमाणं अन्नेण अणुमीयत इति माणुम्माणियं, जहा–धन्ने कंबलसबला । अथवा–माणपेते यो माणुम्माणियं विज्जादिएहिं रुक्खादीण मिज्जतीति ऐमं । अथवा–ऐमं वट्टं सिक्खावज्ज तस्स अंगाणि ए मिज्जंती गहिता कव्वा । अथवा–वत्थपुप्फचंमादी वा कप्पं रुक्खादिभंगो । नि० चू० १२ उ० ।

माणुस–मानुष–पुं० । मनुष्याणामयं मानुषः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । मनुष्यभवसम्बन्धिनि, सू०प्र० २० पाहु० । प्रव० । आचा० । स्था० । सूत्र० । “ संसारजलधिविभ्रष्टं मानुष्यं खद्योतक–तडिल्लताविलसितप्रतिमम् । ” आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । मनुष्यभवे, विशे० ।

माणुसत्त–मानुसत्व–न० । मनसि शेते मानुषः । अथवा–मनोरपत्यमिति वाक्ये मनोर्जातावञ्चतौ षुक् चेत्यञि प्रत्यये पुगागमे च मानुषत्वम् । मनुजभवे, उत्त० ३ अ० । सूत्र० ।
ये सत्त्वा मानुषत्वं न लभन्ते तानाह–
सत्तममहिनेरइया, तेऊ वाऊ अणंतसंघट्टो ।
न लहंति माणुसत्तं, तहा असंखाउआ सव्वे ॥१३६६॥
सप्तमपृथिवीनैरयिकाः, तैजस्कायिकाः, वायुकायिकाः, तथा–असंख्यातवर्षायुषः सर्वे तिर्यङ्–मनुष्याश्चानन्तरमुद्वृत्ता मानुष्यं न लभन्ति–मृत्वाऽनन्तरभवे मनुजेषु नोत्पद्यन्ते इत्यर्थः । शेषास्तु सुरनरतिर्यङ्नारकाः नरेषु उत्पन्ते । प्रव० २५० द्वार । ध० । महा० ।
गोयम ! अन्नं पि जं भणसि, तं पि तुब्भ कहेमहं ।
एत्थं जम्मे नरो कोई, कसिणुग्गं संजमे तवं ॥
जइ णो सक्कई काउं, जे तहा वि सुगइपिवासिश्रो नियमं । पक्खिक्खीरस्स एगवाल उप्पडणं रयहरणस्स गिहं दंसियं पत्तियं तुपरि धारियं से कुणो पि एयं पि न जावज्जीवं पालेउं ता इमस्स वि ।
“गोयमा ! तुज्झ बुद्धीए, सिद्धिखित्तस्स उप्परं ।
मंडवियाए भवेयव्वं, दुक्करकारि तवे तु (ए) णं ॥ १ ॥”
णवरं एयारिसं भवियं किमट्ठं, गोयमा ! एयं पुणो तं पुच्छामि । महा० ६ अ० ।
मनुष्यादिक्रमदुर्लभताख्यापनायाऽऽह निर्युक्तिकारः–
माणुस्सखेत्तजाई, कुलरूवाऽऽरोग्गमाउयं बुद्धी ।
समणोग्गहसद्धासं–जमो य लोगम्मि दुलहाइं । ८३१ ॥
इंदियलद्धी निव्व–त्तणा य पज्जत्ति निरुवहयखेयं ।
धायारोग्गं सद्धा, गाहगउवओगअट्ठो य । (अन्यदीया)
चोल्लग पासग धन्ने, जूए रयणे य सुमिण चक्के य ।
चम्म जुगे परमाणू, दस दिट्ठंता मणुयलंभे ॥ ८३२ ॥
मानुष्यम्–मनुजत्वम्, क्षेत्रम्–आर्यम्, जातिः–मातृसमुत्था, कुलम्–पितृसमुत्थम्, रूपम्–अन्यूनाङ्गता, आरोग्यम्–रोगाभावः, आयुष्कम्–जीवितम्, बुद्धिः–परलोकप्रवणा, श्रवणं–धर्मसम्बद्धम्, अवग्रहः–तदवधारणम् । अथवा–श्रवणावग्रहो–यत्यवग्रहः, श्रद्धा–रुचिः, संयमश्च–अनवद्यानुष्ठानलक्षणः, एतानि स्थानानि लोके दुर्लभानि, एतदवाप्तौ च विशिष्टसामायिकलाभ इति गाथार्थः । ८३२ । अथ चैतानि दुर्लभानि । इन्द्रियलब्धिः–पञ्चेन्द्रियलब्धिरित्यर्थः, निर्वर्त्तना च इन्द्रियाणामेव, पर्याप्तिः–स्वविषयग्रहणसामर्थ्यलक्षणा, (निरुवहत त्ति) निरुपहतेन्द्रियता–क्षेमम्–विषयस्य, धातम्–सुभिक्षम्, आरोग्यम्–नीरोगता, श्रद्धा–भक्तिः, ग्राहकः–गुरुः, उपयोगः–श्रोतुस्तदभिमुखता, (अट्ठो य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्ति) अर्थित्वं च धर्म इति गाथार्थः। भिन्नकर्तृकी किलेयम्। जीवो मानुष्यं लब्ध्वा पुनस्तदेव दुःखेन लप्स्यते, बहून्तरायान्तरितत्वात्, ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिमित्रब्राह्मणचोल्लकभोजनवत्।

अत्र कथानकम्-बंभदत्तस्स एगो कप्पडिओ, ओलग्गओ, बहुसु आवत्तिसु अवत्थासु य सव्वत्थ सहायो आसि, सो य रज्जं पत्तो, वारससंवच्छरिओ अभिसेओ कओ, कप्पडिओ तत्थ अल्लियावं पि ए लहति, ततोऽणेण उवाओ चिंतितो, उवाहणाओ धए वंधिऊण धयवाहएहिं समं पधावितो, रएणा दिट्ठो, उत्तिएणेणं अवगूहितो, अएणे भणंति-तेण दारवाले सेवमाणेण वारसमे संवच्छरे राया दिट्ठो, ताहे राया तं दट्ठूण संभंतो, इमो सो वराओ मम सुहदुक्खसहायगो, एत्ताहे करेमि वित्तिं, ताहे भणति किं देमि त्ति ?, सो भणति देह कच्चोल्लए घरे घरे जाव सव्वंमि भरहे, जाधे [हे] णिट्ठितं होज्जा ताहे पुणो वि तुब्भ घरे आढवेऊण भुंजामि, राया भणति-किं ते एतेण ?, देसं ते देमि, तो सुहं छत्तछायाए हत्थिखंधवरगतो हिंडिहिसि, सो भणति-किं मम एद्दहेण आडंबरेण ?, ताहे सो दिएणो चोल्लगो, ततो पढमदिवसे राइणो घरे जिमितो, तेण से जुवलयं दीणारो य दिएणो, एवं सो परिवाडीए सव्वेसु रायउलेसु वत्तीसाए रायवरसहस्सेसु तेसिं च जे भोइया, तत्थ य णगरे अणेगाओ कुलकोडीओ, णगरस्स चेव सो कता अंतं कहिति, ताधे गामेसु ताहे पुणो भरहवासस्स, अवि सो वच्चेज्जे अंतं ए य माणुसत्तणातो भट्ठो पुणो माणुसत्तणं लहइ १।

(पासग त्ति) चाणक्कस्स सुवएणं णऽत्थि, ताधे केण उवाएण विढविज्ज सुवएणं ?, ताधे जंतपासया कता, केइ भणंति-वरदिएणगा, ततो एगो दक्खो पुरिसो सिक्खावितो, दीणारथालं भरियं, सो भणति-जति ममं कोइ जिणति सो थालं गेएहतु, अह अहं जिणामि तो एगं दीणारं जिणामि, तस्स इच्छाए जं तं पडति अतो ए तीरइ जिणितुं, जहा सो ए जिप्पइ एवं माणुसलंभोऽवि, अवि णाम सो जिप्पेज्ज ए य माणुसातो भट्ठो पुण माणुस्सत्तणं २।

(धएणे त्ति) जत्तियाणि भरहे धएणाणि ताणि सव्वाणि पिंडिताणि, तत्थ पत्थो सरिसवाणं छूढो, ताणि सव्वाणि आइआलित्ताणि, तत्थेगा जुएणथेरी सुप्पं गयाय ते विणिज्ज पुणोऽवि य पत्थं पूरेज्ज, अवि सा देवप्पसादेण पूरेज्ज ए य माणुसत्तणं ३।

(जुए) जधा एगो राया, तस्स सभा अट्ठखंभसतसंनिविट्ठा, जत्थ अत्थाणियं देति, एक्केक्को य खंभो अट्ठसयंसिओ, तस्स रएणो पुत्तो रज्जकंखी चिंतेति-थेरो राया, मारिऊण रज्जं गिएहामि, तं च अमच्चेण णायं, तेण रएणो सिट्ठं, ततो राया तं पुत्तं भणति-अम्ह जो ए सहइ अणुक्कमं सो जूतं खेल्लति, जति जिणति रज्जं से दिज्जति, कह पुण जिणियव्वं ?, तुज्झ एगो आओ, अवसेसा अम्हं आया, जति तुमं एगेण आएण अट्ठसतस्स खंभाणं एक्केक्कं अंसियं अट्ठसते वारा जिणासि तो तुज्झ रज्जं, अवि य देवताविभासा ४।

('रतणे' त्ति)-जहा एगो वाणियओ वुड्ढो, रयणाणि से अत्थि, तत्थ य महे महे अएणे वाणियया कोडिपडागाओ उब्भेंति, सो ए उब्भवेति, तस्स पुत्तेहिं थेरे पउत्थे ताणि रयणाणि देसीवाणिययाएं हत्थे विक्कीताणि, वरं अम्हेऽवि कोडिपडागाओ उब्भवेंता, ते य वाणियगा समंततो पडिगया पारसकूलादीणि, थेरो आगतो, सुतं जधा विक्कीताणि, ते अंबाडेति, लहुं रयणाणि आणेह, ताहे ते सव्वतो हिंडितुमारद्धा, किं ते सव्वरयणाणि पिंडिज्ज ?, अवि य देवप्पभावेण विभासा ५।

(' सुविणए ' त्ति) एगेण कप्पडिएण सुमिणए चंदो गिलितो, कप्पडियाणं कथितं, ते भणंति-संपुएणचंदमंडलसरिसं पोवलियं लभिहिसि, लद्धा घरच्छादणियाए, अएणेण वि दिट्ठो, सो एहाइऊण पुप्फफलाणि गहाय सुविणपाढगस्स कथेति, तेण भणितंराया भविस्ससि। इत्तो य सत्तमे दिवसे तत्थ राया मतो अपुत्तो, सो य णिव्विएणो अच्छति, जाव आसो अधियासितो आगतो, तेण तं दट्ठूण हेसितं पदक्खिणीकतो य, ततो विलइओ पुट्ठे, एवं सो राया जातो, ताहे सो कप्पडिओ तं सुणेति, जधा तेण वि दिट्ठो एरिसो सुविणओ, सो वि आदेसफलेण किर राया जातो, सो य चिंतेति-वच्चामि जत्थ गोरसो तं पिवेत्ता सुवामि, जाव पुणो तं चेव सुमिणं पेच्छामि, अत्थि पुण सो पेच्छेज्जा ?, अवि य सो ए माणुसातो ६।

(चक्क त्ति दारं) इंदपुरं णगरं, इंददत्तो राया, तस्स इट्ठाणं वराणं देवीणं बावीसं पुत्ता, अएणे भणंति-एक्काए चेव देवीए पुत्ता, राइणो पाणसमा, अएणा एक्का अमच्चधूया सा परं परिणितेण दिट्ठेल्लिया, सा अएणता कताइ रिउएहाता समाणी अच्छति, रायणा य दिट्ठा, का एस त्ति ?, तेहिं भणितं-तुब्भे देवी एसा, ताहे सो ताए समं रत्तिं एक्कं वसितो, सा य रितुएहाता तीसे गब्भो लग्गो, सा य अमच्चेण भणिएल्लिता-जया तुमं गब्भो आहूतो भवति तदा ममं साहिज्जसु, ताए तस्स कथितं-दिवसो मुहुत्तो जं च रायाएण उल्लवितं सातियंकारो, तेण तं पत्तए लिहितं, सो सारवेति, एवएहं मासाणं दारओ संजातो, तस्स दासचेडाणि तद्दिवसं जाताणि, तं जहा-अग्गियओ पव्वतओ बहुलियो सागरो य, ताणि य सहजातगाणि, तेण कलायरियस्स उवणीतो, तेण लेहाइताओ गणियप्पहाणाओ कलाओ गाहितो, जाहे ताओ गाहिंति आयरिया ताधे ताणि तं कड्ढंति वाउल्लेंति य, पुव्वपरिचएणं ताणि रोडंति, तेण ताणि ए चेव गणिताणि, गहिताओ कलाओ, ते य अएणे बावीसं कुमारा गाहिज्जंता तं आयरियं पिट्टेति अवयणाणि य भणंति, जति सो आयरिओ पिट्टति ताहे गंतूणं मातूण साहंति, ताहे ताओ तं आयरियं खिसंति-कीस आहणसि ? किं सुलभाणि पुत्तजम्माणि? अतो ते ए सिक्खिता। इओ य महुराए पव्वयओ राया, तस्स सुता णिव्वुती णाम दारिया, सा रएणो अलंकिया उवणीता, राया भणति-जो तव रोयति भत्तारो, तो ताए भणितं-जो सूरो वीरो विक्कंतो सो मम भत्ता होउ, से पुण रज्जं दिज्जा, ताधे सा तं बलवाहणं गहाय गता इंदपुरं णगरं, तस्स इंददत्तस्स वहवे पुत्ता, इंददत्तो तुट्ठो चिंतेइ-एणं अहं अएणेहिंतो राईहिंतो लट्ठो तो आगता, ततो तेण उस्सि-

१ प्रवेशम्। २ करभोजनम्। ३ आडम्बरेण।

१ पारसकूलादिस्थानानि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तपडागं नगरं कारितं, तत्थ एक्कम्मि अक्खे अट्ठ चक्काणि, तेसिं पुरतो धिइल्लिया ठाविया, सा अच्छिम्मि विंधितव्वा, ततो इंददत्तो राया सन्नद्धो णिग्गतो सहपुत्तेहिं। सा वि कएणा सव्वालंकारभूसिया एगंमि पासे अच्छति, सो रंगो ते य रायाणो ते य दंडभडभोइया जारिसो दोवतीए, तत्थ रएणो जेट्ठो पुत्तो सिरिमाली णाम कुमारो, सो भणितो—पुत्त ! एस दारिया रज्जं च घेत्तव्वं, अतो विंध एतं पुत्तलियं ति, ताधे सोऽकतकरणो तस्स समूहस्स मज्झे धणुं चेव गेरिहणुं ण तरत्ति, कहऽविऽणेण गहितं, तेण जतो वच्चतु ततो वच्चतु त्ति मुक्को सरो, सो चक्के अप्फिडिऊण भग्गो, एवं कस्सइ एक्कं अरगंतरं वोलीणो,कस्सइ दोरिण,कस्सइ तिरिण,अरणेसिं बाहिरेण चेव णीति, ताधे राया अधितिं पगतो—अहोऽहं एतेहिं धरिसितो त्ति, ततो अमच्चेण भणितो—कीस अधितिं करेह ? राया भणति—एतेहिं अहं अप्पधाणो कतो, अमच्चो भणति—अत्थि अरणो तुब्भ पुत्तो मम धूताए तणइओ सुरिंददत्तो णाम, सो समत्थो विंधितुं, अभिरणाणि से कहिताणि, कहिं सो ? दरिसितो, ततो सो राइणा अवगूहितो, भणितो सेयं-तव, एए अट्ठ रहचक्के भेत्तूण पुत्तलियं अच्छिम्मि विंधित्ता रज्जसुक्कं णिव्वुतिदारियं संपावित्तए, ततो कुमारो जधाऽऽणवेह त्ति भणिऊण ठाणं ठाइ, तूणधणुं गेरहति, लक्खाभिमुहं सरं सज्जेति, ताणि य दासरूवाणि चउदिसं ठिताणि रोडिंति, अरणे य उभयतो पासिं गहितखग्गा, जति कह वि लक्खस्स चुक्कति ततो सीसं छिंदितव्वं ति, सोऽवि से उवज्झाओ पासे ठितो भयं देति—मारिज्जसि जति चुक्कसि, ते बावीसं पि कुमारा मा एस विन्धिस्सति त्ति विसेसउल्लंठाणि विग्घाणि करेंति, ततो ताणि चत्तारि ते य दो पुरिसे बावीसं च कुमारे अगणंतेण ताणं अट्ठएहं रहचक्काणं अंतरं जाणिऊण तंमि लक्खे णिरुद्धाए दिट्ठीए अरणमतिं अकुणमाणेण सा धिइल्लिया वामे अच्छिम्मि विद्धा, ततो लोगेण उक्किट्ठिसीहणादकलकलुम्मिस्सो साधुकारो कतो, जधा तं चक्कं दुक्खं भेत्तुं एवं माणुसत्तणं पि ७।

(चम्मेति)—जधा एगो दहो जोयणसयसहस्सवित्थिरणो चम्मेण णद्धो, एगं से मज्झे छिड्डं जत्थ जत्थ कच्छभस्स गीवा मायति, तत्थ कच्छभो वाससते वाससते गते गीवं पसारे ति, तेण कह वि गीवा पसारिता, जाव तेण छिड्डेण निग्गता, तेण जोतिसं दिट्ठं कोमुदीए पुप्फफलाणि य, सो आगतो, सयणिज्जयाणं दाएमि आणेत्ता सव्वतो पलोयति, ण पेच्छति, अवि सो, ण य माणुस्सातो ८।

युगदृष्टान्तप्रतिपादनायाऽऽह—

पुव्वं ते होज्ज जुगं, अवरंते तस्स होज्ज समिला उ ।
जुगछिड्डम्मि पवेसो,इय संसइओ मणुयलंभो ॥ ८३३ ॥

जलनिधेः पूर्वान्ते भवेद् युगम्,अपरान्ते तस्य भवेत् समिला तु, एवं व्यवस्थिते सति यथा युगच्छिद्रे प्रवेशः संशयितः, 'इय' एवं संशयितो मनुष्यलाभो दुर्लभ इति गाथार्थः ।

जह समिला पब्भट्ठा, सागरसलिले अणोरपारंमि ।
पविसेज्ज जुग्गछिड्डं, कह वि भमंती भमंतंमि ॥८३४॥

यथा समिला प्रभ्रष्टा, 'सागरसलिले'—समुद्रपानीये, (अणोरपारमिति) देशीवचनं प्रचुरार्थे, उपचारत आराद्भागपरभागरहित इत्यर्थः, प्रविशेत् युगच्छिद्रं कथमपि भ्रमन्ती भ्रमति युग इत्येवं दुर्लभं मानुष्यमिति गाथार्थः ।

सा चंडवायवीची, पणुल्लिया अवि लभेज्ज जुगछिड्डं ।
ण य माणुसाउ भट्ठो, जीवो पडिमाणुसं लहइ ॥८३५॥

सा समिला चण्डवातवीचीप्रेरिता सत्यपि लभेत् युगच्छिद्रं, न च मानुष्याद् भ्रष्टो जीवः प्रतिमानुषं लभत इति गाथार्थः॥६॥

इदानीं परमाणू १०—जहा एगो खंभो महापमाणो, सो देवेण चुरणेऊण अविभागिमाणि खंडाणि काऊण णालियाए पक्खित्तो, पच्छा मंदरचूलियाए ठितेण फुमितो, ताणि णट्ठाणि, अत्थि पुण कोऽवि ?, तेहिं चेव पोग्गलेहिं तमेव खंभं णिव्वत्तेज्ज ? णो त्ति, एस अभावो एवं भट्ठो माणुसातो ण पुणो। अहवा—सभा अणेगखंभसतहस्ससंनिविट्ठा, सा कालंऽतरेण झामिता पडिता, अत्थि पुण कोइ ?, तेहिं चेव पोग्गलेहिं करेज्जा, णो त्ति, एवं माणुस्सं दुल्लहं ॥ १० ॥

इय दुल्लहलंभं मा—णुसत्तणं पाविऊण जो जीवो ।
ण कुणइ पारत्तहियं, सो सोयइ संकमणकाले ॥८३६॥

इय—एवं दुर्लभलाभं मानुषत्वं प्राप्य यो जीवो न करोति परत्र हितं-धर्मं, दीर्घत्वमलाक्षणिकम्, स शोचति, संक्रमणकाले—मरणकाले, इति गाथार्थः ।

जह वारिमज्झछूढो, व्व गयवरो मच्छउ व्व गलगहियो ।
वग्गुरपडिउ व्व मओ, संवट्टइओ जह व पक्खी ॥८३७॥

यथा वारिमध्यक्षिप्त इव गजवरो, मत्स्यो वा गलगृहीतः, वागुरापतितो वा मृगः, संवर्त्तं जालम् इतः प्राप्तो यथा वा पक्षी, इति गाथार्थः ।

सो सोयइ मच्चुजरा, समोच्छुओ तुरियणिद्दपक्खित्तो ।
तायारमविंदंतो, कम्मभरपणोल्लिओ जीवो ॥ ८३८ ॥

सोऽकृतपुण्यः शोचति, मृत्युजरासमास्तृतो—व्याप्तः, त्वरितनिद्रया प्रक्षिप्तः, सरणनिद्रयाऽभिभूत इत्यर्थः, त्रातारम् अविन्दन्—अलभमानित्यर्थः, कर्मभरप्रेरितो जीव इति गाथार्थः ।

स चेत्थं मृतः सन्—

काऊणमणेगाइं, जम्ममरणपरियट्टणसयाइं ।
दुक्खेण माणुसत्तं,जइ लहइ जहिच्छया जीवो ॥८३९॥

कृत्वाऽनेकानि जन्ममरणपरावर्त्तनशतानि दुःखेन मानुषत्वं लभते जीवो यदि यदृच्छया, कुशलपक्षकारी पुनः सुखेन मृत्वा सुखेनैव लभत इति गाथार्थः ।

तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलयाचंचलं माणुसत्तं ।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥८४०॥

तत्तथा दुर्लभलाभं विद्युल्लताचञ्चलं मानुषत्वं लब्ध्वा यः प्रमाद्यति—प्रमादं करोति स कापुरुषो न सत्पुरुष इति गाथार्थः । आव० १ अ० ।

माणुसत्तण—मानुषत्व—न० । मनुजत्वे, "माणुसत्तणमागया" प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

माणुसय—मानुष्यक—न० । मानुष्यके लोके आर्यक्षेत्रे, सूत्र० १ श्रु०१६ अ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माणुसरंधण-मानुषरन्धन-न० । चुल्ल्यादिषु, आचा० ।

माणुसीगब्भ-मानुषीगर्भ-पुं० । जठरसंभवे गर्भे, स्था० ।

चत्तारि मणुसीगब्भा पण्णत्ता । तं जहा-इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए बिंबत्ताए। सिलोगो-

"अप्पं सुक्कं बहुं ओयं, इत्थी तत्थ पजायइ ।
अप्पं ओयं बहुं सुक्कं, पुरिसो तत्थ जायइ ॥ १ ॥
दोण्हं पि रत्तसुक्काणं, तुल्लभावे नपुंसओ ।
इत्थीओज समाओगे, बिंबं तत्थ पजायइ ॥२॥"
(सूत्र-६७७)

(इत्थित्ताए त्ति) स्त्रीतया, बिम्बमिति गर्भप्रतिबिम्बं गर्भाकृतिरार्त्तवपरिणामो न तु गर्भ एवेति । उक्तं च—

"अवस्थितं लोहितमङ्गनायाः, वातेन गर्भ ब्रुवतेऽनभिज्ञाः ।
गर्भाकृतित्वात्कटुकोष्णतीक्ष्णैः,श्रुते पुनः केवल एव रक्ते ॥१॥
गर्भ जडा भूतहृतं वदन्ति, "इत्यादि । वैचित्र्यं गर्भस्य कारणभेदादिति श्लोकाभ्यां तदाह-(अप्पमित्यादि) शुक्रं-रेतः पुरुषसम्बन्धि, ओज-आर्त्तवं रक्तं स्त्रीसम्बन्धि, यत्र गर्भाशय इति गम्यत इति । तथा स्त्रिया ओजसा समायोगोवातवशेन तत् स्थिरीभवनलक्षणस्त्योजः समायोगस्तस्मिन्सति विम्बं तत्र गर्भाशये प्रजायते । अन्यैरप्यत्रोक्तम्—

अत एव च शुक्रस्य, बाहुल्याजायते पुमान् ।
रक्तस्य स्त्री तयोः साम्ये, क्लीबः शुक्रार्त्तवे पुनः ॥ १ ॥
वायुना बहुशो भिन्ने, यथास्वं बह्वपत्यता ।
वियोनिविकृताकारा, जायन्ते विकृतैर्मलैः ॥ २ ॥
इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

माणुसुत्तर--मानुषोत्तर-पुं० । मनुष्यक्षेत्रादुत्तरतः परतो वर्त्तत इति मानुषोत्तरः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । पुष्करवरस्य द्वीपस्य बहुमध्यदेशभागे मनुष्यक्षेत्रसीमाकारिणि पर्वते, चं० प्र० १६ पाहु० ।

मानुषनगस्योच्चत्वादि—

माणुसुत्तरे णं भंते ! पव्वते केवतियं उड्ढं उच्चत्तेणं ? केवतियं उव्वेहेणं ? केवतियं मूले विक्खंभेणं ? केवतियं मज्झे विक्खंभेणं ? केवतियं सिहरे विक्खंभेणं ? केवतियं अंतो गिरिपरिरयेणं ? केवतियं बाहिं गिरिपरिरयेणं ? केवतियं मज्झे गिरिपरिरयेणं ? केवतियं उवरि गिरिपरिरयेणं ?, गोयमा ! माणुसुत्तरेणं पव्वते सत्तरस एगवीसाइं जोयणसयाति उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि तीसे जोयणसये कोसं च उव्वेहेणं मूले दस बावीसे जोयणसते विक्खंभेणं मज्झे सत्तवीसे जोयणसते विक्खंभेणं उवरि चत्तारि चउवीसे जोयणसते विक्खंभेणं अंतो गिरिपरिरयेणं एगा जोयणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं, तीसं च सहस्साइं दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसते किंचि विसेसाहिए परिक्खवेणं, बाहिरगिरिपरिरयेणं एगा जोयणकोडी बायालीसं च सतसहस्साइं छत्तीसं च सहस्साइं सत्त चोदसोत्तरे जोयणसते परिक्खेवेणं, मज्झे गिरिपरिरयेणं एगा जोयणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं चोत्तीसं च सहस्सा अट्ठ तेवीसे जोयणसते परिक्खेवेणं,उवरि गिरिपरिरएणं एगा जोयणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं बत्तीसं च सहस्साइं णव य बत्तीसे जोयणसते परिक्खेवणं, मूले विच्छिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुये अंतो सण्हे मज्झे उदग्गे बाहिं दरिसणिज्जे ईसिं सण्णिसण्णे सीहणिसाई अवद्धजवरासिसंठाणसंठिए सव्वजंबूणयामए अच्छे सण्हे ०जाव पडिरूवे, उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेदियाहिं दोहि य वणसंडेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते वण्णओ दोण्हऽवि ॥

(माणुसुत्तरे णमित्यादि) मानुषोत्तरो णमिति वाक्यालङ्कारे पर्वतः 'कियत्'-किंप्रमाणमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन ? कियदुद्वेधेन ? कियन्मूलविष्कम्भेन ? कियदुपरि विष्कम्भेन ? कियद् अन्तर्गिरिपरिरयेण, गिरेरन्तः परिक्षेपेण ?, कियद् बहिर्गिरिपरिरयेण गिरेर्बहिः परिच्छेदेन ? कियन्मूलगिरिपरिरयेण ? गिरेर्मूले परिरयेण, एवं कियन्मध्यगिरिपरिरयेण ? , एवं कियदुपरि गिरिपरिरयेण प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! सप्तदशयोजनशतानि एकविंशानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन १७२१ चत्वारि त्रिंशानि योजनशतानि क्रोशमेकं च 'उद्वेधेन' उण्डत्वेन ४३०, मूले दश द्वाविंशत्युत्तराणि योजनशतानि विष्कम्भेन १०२२ मध्ये सप्त त्रयोविंशत्युत्तराणि योजनशतानि विष्कम्भतः ७२३, उपरि चत्वारि चतुर्विंशत्युत्तराणि योजनशतानि विष्कम्भेन ४२४ एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे एकोनपञ्चाशदधिके योजनशते किञ्चिद्विशेषाधिके अन्तर्गिरिपरिरयेण १४२३०२४९, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि षट्त्रिंशत्सहस्राणि सप्त चतुर्दशोत्तराणि योजनशतानि बहिर्गिरिपरिरयेण १४२३६७१४ , एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि अष्टौ त्रयोविंशत्युत्तराणि योजनशतानि मध्यगिरिपरिरयेण १४२३४८२३, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि नव च द्वात्रिंशदुत्तराणि योजनशतानि उपरि गिरिपरिरयेण १४२३२९३२, इदं च मध्ये उपरि च गिरिपरिरयपरिमाणं बहिर्भागापेक्षमवसातव्यम्, अभ्यन्तरं छिन्नटङ्कतया मूले मध्ये उपरि च सर्वत्र तुल्यपरिरयपरिमाणत्वाद्, मूले विस्तीर्णोऽतिपृथुत्वात्,मध्ये संक्षिप्तो मध्यविस्तारत्वात्, उपरि तनुकः स्तोकबाहल्यभावात्, अन्तः श्लक्ष्णो मृष्ट इत्यर्थः । मध्ये उदग्रः प्रधानः, बहिः दर्शनीयः, नयनमनोहारी , ईषत्—मनाक् सन्निषण्णः सिंहनिषीदनेन निषीदनात् तथा चाह—सिंहनिषादी सिंहवन्निषीदतीत्येवं शीलः सिंहनिषादी, यथा सिंहोऽग्रतनं पादयुगलमुत्तम्य पश्चात्तनं तु पादयुग्मं सङ्कोच्य पुताभ्यां मनाग् लग्नो निषीदति तथा निषण्णश्च शिरःप्रदेशे उन्नतः पश्चाद्भागे तु निम्नो निम्नतरः, एवं मानुषोत्तरोऽपि जम्बूद्वीपदिशि छिन्नटङ्कः, स चोन्नतः पाश्चात्यभागे तूपरितनभागादारभ्य पृथुत्वप्रदेशवृद्ध्या निम्नो निम्नतर इति, एतदेवातिव्यक्तमाह-(अवद्धजवरासिसंठाणसंठिए इति) अपगतमर्द्धं यस्य सोऽपार्द्धः स चासौ यवश्च राशिश्च अपार्द्धयवराशी, तयोरिव यत्संस्थानं यस्य तेन संस्थितः, यथा यवो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राशिश्च धान्यानामपान्तराले ऊर्ध्वाधोभागेन छिन्नो मध्यभागे छिन्नटङ्क इव भवति , बहिर्भागे तु शनैः शनैः पृथुत्ववृद्धया निम्नो निम्नतरस्तद्देशोऽपि, यवग्रहणं पृथग्व्याख्यातमन्यत्र केवलांपार्द्धयवसंस्थानतयाऽपि प्रतिपादनात् , उक्तञ्च—

"जंबूणयामश्रो सो, रम्मो श्रद्धजवसंठिश्रो भणिश्रो ।
सीहनिसादीएणं, दुहा कश्रो पुक्खरद्दीवो ॥ १ ॥"

(सव्वजंबूणयामए इति) सर्वात्मना जम्बूनदमयः ' श्रच्छे॰ जाव पडिरूवे ' इति प्राग्वत्। (उभश्रो पासिमित्यादि) उभयोः पार्श्वयोरन्तर्भागे मध्यभागे चेत्यर्थः, प्रत्येकमेकैकभागेन द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां वनखण्डाभ्यां च, सर्वतः—सर्वासु दिक्षु, समन्ततः—सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि पद्मवरवेदिकावनखण्डयोः प्रमाणं वर्णकश्च प्राग्वत् ।

साम्प्रतं नामनिमित्तमभिधित्सुराह—

से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—माणुसुत्तरे पव्वते माणुसुत्तरे पव्वते ?, गोयमा ! माणुसुत्तरस्स णं पव्वतस्स अंतो मणुया उप्पिं सुवण्णा बाहिं देवा अदुत्तरं च णं गोयमा ! माणुसुत्तरपव्वतं, मणुया ण कयाइ वीतिवइंसु वा वीतिवयंति वा वीतिवइस्संति वा, णण्णत्थ चारणेहिं वा विज्जाहरेहिं वा देवकम्मुणा वाऽवि, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! अदुत्तरं च णं ०जाव णिच्चेत्ति ।

(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—मानुषोत्तरः पर्वतः मानुषोत्तरः पर्वतः ? इति; भगवानाह—गौतम ! मानुषोत्तरपर्वतस्य अन्तः—मध्ये मनुष्याः उपरि सुवर्णाः—सुवर्णकुमारा देवाः, बहिः सामान्यतो देवाः, ततो मनुष्याणामुत्तरः—पर इति मानुषोत्तरः । अथाऽन्यद् गौतम ! मानुषोत्तरं पर्वतं मनुष्याः न कदाचिदपि व्यतिव्रजितवन्तः व्यतिव्रजन्ति व्यतिव्रजिष्यन्ति वा, किं सर्वथा न ? इत्याह—तान्यत्र चारणेन, पञ्चम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात्, चारणात् जङ्घाचारणलब्धिसंपन्नात् विद्याधराद् देवकर्मण एव क्रियया देवोत्पादनादित्यर्थः, चारणादयो व्यतिव्रजन्त्यपि मानुषोत्तरं पर्वतमिति तद्वर्जनम् , ततो मानुषाणामुत्तरः उच्चैस्तरोऽलङ्घनीयत्वान्मानुषोत्तरः, तथा चाह—'से एएणऽट्ठेणं' इत्याद्युपसंहारवाक्यं गतार्थम् । जी॰ ३ प्रति॰ २ उ॰ । स्था॰ । महामानसे, ' गोसालग ' शब्दोक्तमहाकल्पप्रतिमायुष्कवति, भ॰ १५ श॰ । सू॰प्र॰ । चं॰ प्र॰ । द्वी॰ । स॰ ।

माणुसुल्लास—माणुसोल्लास—पुं॰ । चित्तोत्साहे, जी॰ १ प्रति॰।

माणुस्स—मानुष्य—न॰ । मनुष्यभावे, उत्त॰ ३ अ॰ । मनुष्यजत्वे, उत्त॰ ३ अ॰ । ननु—" पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतक-तडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥१॥" आचा॰ १ श्रु॰ ५ अ॰ ३ उ॰ । सूत्र॰ । मानुष्यं जलबुद्बुदसमानम् । पं॰ चू॰ २ कल्प । चं॰ प्र॰ ।

माणुस्सक्खेत्त—मानुष्यक्षेत्र—न॰ । कर्मभूमिकान्तर्द्वीपगानां मनुष्याणामावासरूपे अर्द्धतृतीयद्वीपलक्षणे मनुष्यलोके, जी॰ ३ प्रति॰ ४ अधि॰ । चं॰ प्र॰ । नृक्षेत्र रहिर्वर्त्तिनः सिंहादयः श्वापदाः पलभोजिनो वा भोगभूमिजतिर्यञ्च इव पृथ्वीफलाद्याहारिणो वा भवन्तीति प्रश्ने , उत्तरम्—मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्वर्त्तिनां व्याघ्रादिहिंसकजीवानां प्रायः पलभोजित्वं सम्भाव्यते , समुद्रादिमत्स्यानामिव , न तु भोगभूमिजव्याघ्रादीनामिव केवलपृथ्वीवृक्षफलादिभोजित्वम् । किं च—यथा भोगभूमिजव्याघ्रादीनामल्पकषायित्वं भोगभूमिजपृथ्व्यादीनां च यथा विशिष्टरसपरिणामो न तथेतरेषामिति सम्भावनानिदानम् , एतद्विषये विशेषाक्षराणि न स्मरन्तीति ॥ ४७ प्र॰ ॥ सेन॰ २ उल्ला॰ । (मानुष्यक्षेत्रे ज्योतिष्का उक्ताः ' जोइसिय ' शब्दे चतुर्थभागे १५६२ पृष्ठे)

माणुस्सग—मानुष्यक—त्रि॰ । मनुष्यभवयोग्ये, सूत्र॰ २ श्रु॰ २ अ॰ । मनुष्यभवसम्बन्धिनि, । ज्ञा॰ १ श्रु॰ १ अ॰ । चं॰ प्र॰ । मनुष्योचिते , कल्प॰ १ अधि॰ ५ क्षण । स्था॰ । मनुष्यजत्वे, उत्त॰ ३ अ॰ । भ॰ ।

माणुस्सभव—मानुष्यभव—पुं॰ । मनुजत्वे, ध॰ र॰ १ अधि॰ ।

माणोववण्ण—मानोपपन्न—त्रि॰ । जलद्रोणप्रमाणशरीरे, मानं , जलद्रोणप्रमाणता सा ह्येवम्—जलभृते कुण्डे प्रमातव्यपुरुष उपवेश्यते, ततो यज्जलं कुण्डान्निर्गच्छति तद् यदि द्रोणप्रमाणं भवति तदा स पुरुषो मानोपपन्न इत्युच्यते । स्था॰ ६ ठा॰ ३ उ॰ ।

मातंग—मातङ्ग—पुं॰ । सुपार्श्वस्य तीर्थकृतः शासनरक्षके यक्षे , स च नीलवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो विल्वपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वयश्च । प्रव॰ २६ द्वार । चण्डाले , प्रति॰ । " वाटधानकमातङ्गा ब्राह्मणास्तेन चक्रिरे ।" श्रा॰ क॰ ४ अ॰ । हस्तिनि, जी॰ ३ प्रति॰ १ अधि॰ २ उ॰ । श्मशानपाले, श्रा॰ क॰ ४ अ॰ । स्था॰ ।

मातंगमुणि—मातङ्गमुनि—पुं॰ । वाराणस्यां वलनामके मातङ्गजातीये साधौ,ती॰ ३७ कल्प। ('वाणारसी'शब्दे कथा वक्ष्यते)

मातंजण—मातञ्जन—पुं॰ । देवकुरुषु शीतादक्षिणकूलवर्तिनि गजदन्तकपर्वते, स्था॰ ।

दो मातंजणा । (सूत्र—×) स्था॰ २ ठा॰ ३ उ॰ ।

मातिका—मातृका—स्त्री॰ । उत्पत्तिभूमौ,प्रश्न॰ १ आश्र॰ द्वार।

मातिट्ठाण—मातृस्थान—न॰ । मायाप्रधाने वचसि, सूत्र॰ १ श्रु॰ ६ अ॰ ।

मातुलिंग—मातुलिङ्ग—न॰ । बीजपुरे, आचा॰ २ श्रु॰ १ चू॰१ अ॰ ८ उ॰ । प्रज्ञा॰ ।

मादलिया—देशी—मातरि, दे॰ ना॰ ६ वर्ग १३१ गाथा ।

माधव—माधव—पुं॰ । श्रीपुरराजश्रीधरस्य पुरोहिते , श्रा॰ क॰ १ अ॰ ।

माभाई—देशी—अभयप्रदाने, दे॰ ना॰ ६ वर्ग॰ १२६ गाथा ।

माभीसिअ—देशी—अभयप्रदाने, दे॰ ना॰ ६ वर्ग १२६ गाथा ।

मामग—मामक—त्रि॰ । ममेदमहमस्येत्येवं परिग्रहाग्रहिणि, सूत्र॰ १ श्रु॰ २ अ॰ २ उ॰ । दर्श॰ । आत्मीये, आचा॰ १ श्रु॰ २ अ॰ ५ उ॰ । मा मदीयं गृहं श्रमणाः प्रविशन्त्विति प्रतिषेधकारिणि, ध॰ ३ अधि॰ । बृ॰ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मामण-देशी--ममीकारार्थे, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

मामी-देशी--मातुलान्याम्, " मम्मी मल्लाणी मामी " अयोऽप्यमी मातुलानीवाचकाः । दे० ना० ६ वर्ग ११२ गाथा ।

मामि--अव्य० । सख्यामन्त्रणे, मामि हला हले सख्या वा ॥ ८ । २ । १६५ ॥ एते सख्यामन्त्रणे वा प्रयोक्तव्याः । मामि सरिसक्खराण वि । प्रा० २ पाद ।

मामी-देशी० । मातुलस्त्रियाम्, " मल्लाणी मामी " पाइ० ना० २५२ गाथा ।

मायंग-मातङ्ग-पुं० । पाणे, आव० ४ अ० । आ० म० । डोम्बे, मातङ्गीविद्याप्रधाने वैताढ्यपर्वतवासिनि विद्याधरनिकाये, आ० चू० १ अ० । चण्डाले, " मायंगा तह जणंगमा पाणा " पाइ० ना० १०५ गाथा । हस्तिनि, " पीलू मओ मयगलो मायंगो सिंधुरो करेणू य । दोघट्टो दंती चा--रणो करी कुंजरो हत्थी " ॥ पाइ० ना० ६ गाथा ।

माकन्द-पुं० । आम्रे, " अंबा मायंद--चूअ सहयारा " पाइ० ना० १४५ गाथा ।

मायंगविज्जा-मातङ्गविद्या-स्त्री० । विद्याभेदे, यदुपदेशादतीतादि कथयति । स्था० १० ठा० ।

मायंगी--मातङ्गी-स्त्री० । मातङ्गाख्यानां विद्याधरमनुष्याणां विद्यायाम्, आ० चू० १ अ० । मातङ्गाख्यान्त्यजजातिस्त्रियाम्, नि० चू० १ उ० ।

मायंजण-मातञ्जन-पुं० । जम्बूद्वीपे मेरोरुत्तरे सीतायां महानद्या दाक्षिणकूले स्वनामख्याते पर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

मायंझाण-मायाध्यान-न० । परप्रतारणरूपा या माया तस्या ध्यानं मायाध्यानम् । परप्रतारणचिन्तने, भ्रातृद्वयचित्तपरीक्षां कुर्वत्या धनश्रिया इव । आतु० ।

मायंद-देशी-आम्रे, दे० ना० ६ वर्ग १२८ गाथा ।

मायंदी (ण्)-माकन्दिन्-पुं० । स्वनामख्याते वणिजि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । (तस्य तत्पुत्रस्य च वक्तव्यता ' जिणपालिय ' शब्दे चतुर्थभागे १४६४ पृष्ठादारभ्य गता)

मायंदी-देशी-श्वेतवस्त्रायां प्रव्रजितायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १२६ गाथा ।

मायण्ण--मात्रज्ञ-त्रि० । मात्रामन्नपानेन स्वस्योदरपूर्तिप्रमाणं जानातीति मात्रज्ञः । उत्त० २ अ० । आचा० । सूत्र० । लौल्यतोऽपि मात्रोपयोगिनि, उत्त० २ अ० ।

मायण्णिय-मायान्वित-त्रि० । मायाविनि, सूत्र०१श्रु० १३ अ० ।

मायण्हिआ-मृगतृष्णा-स्त्री० । मृगतृष्णायाम्, " मायण्हिआ झला " पाइ० ना० २३२ गाथा ।

मायदंसि(न्)-मायादर्शिन्-त्रि० । मायायाः स्वरूपतो वेत्तरि, परिहर्त्तरि च । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

माया-माता-स्त्री० । जनन्याम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । नि०चू० । प्रसूतौ, जं० २ वक्ष० । जनकान्मातुः पूज्यत्वम्-" उपाध्यायादृशाचार्य, आचार्याणां शतं पिता । सहस्रं तु पितुर्माता, गौरवेणातिरिच्यते ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० । नि० । स० ।

मात्रा-स्त्री० । समयमात्रार्थमेव परिमिताहारग्रहणे, नं० । सूत्र० । भ० । आचा० । मीयते वाऽनयेति माया । माया हिंसनं वञ्चनमित्यर्थः, स्था० ४ ठा० १ उ० । शाठ्ये, स्था० २ ठा० १ उ० । शठतया मनोवाक्कायप्रवर्त्तने, स्था० ५ ठा० २ उ० । स्वपरव्यामोहोत्पादके वचसि, उत्त० ६ अ० । सर्वत्र स्ववीर्यनिगूहने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । परवञ्चनबुद्धौ, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । सूत्र० । परवञ्चनाभिप्राये, व्य० ४ उ० । आचा० । आव० । प्रश्न० । आ० म० । उत्त० । निकृतौ, आव० ४ अ० । जी० । अपाच्छादने, आतु० । परवञ्चनाभिप्रायेण शरीराकारनेपथ्यमनोवाक्कायकौटिल्यकरणे, दर्श० १ तत्त्व । ज्ञा० । माया चतुर्विधा नामादिभेदतः-कर्मद्रव्यमाया योग्यादिभेदाः पुद्गलाः, नोकर्मद्रव्यमाया निधानप्रयुक्तानि द्रव्याणि, भावमाया नोआगमतस्तत्कर्मद्रव्यविपाकलक्षणा तस्याश्चत्वारो भेदाः । " मायावले हि गोमि त्ति मिढसिंगघणवंसमूलसया " । आ० म० १ अ० ।

" उग्गतवसंजमवओ-पगिट्ठफलसाहगस्स विजियस्स ।
धम्मविसए वि सुहुमा, वि होइ माया अणत्थाय ॥१॥
जह मल्लिस्स महाबलभ-वंमि तित्थयरनामबंधेऽवि ।
तवविसयथोवमाया, जाया जुवइत्तहेउ त्ति ॥२॥ "

ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । (मायायामशठ उदाहरणम्-' पच्छित्त ' शब्दे पञ्चमभागे १६६ पृष्ठे गतम् ।)

स्त्रीत्वनिबन्धने कारणमाह—

से भयवं ! ता कयरेणं कम्मविवागेणं तेणं गच्छाहिवइणा होऊण पुणो इत्थित्तं समज्जियति? । गोयमा ! मायापच्चएणं । से भयवं ! कयरेणं से मायापच्चए जेण पयणीकयं संसारे वीसयलपावा य पणाविय विजुहजणे णिंदे सुरहिबहुदव्वघयखंडचुन्नसुसकरियसमभावपमाणपागनिप्फन्नमोयगमल्लगे इव तस्स भक्खे सयलदुक्खके साणमाणए सयलसुहासणस्स परमपवित्तमस्स णं अहिंसालक्खणसमणधम्मस्स विग्घे सम्मग्गलानिरयदारभूए सयलअकित्तिकलंककलहवेराइणवनिहाणनिम्मलकुलस्स णं दुद्धरिसअकज्जकज्जलकणएहमसीखंपसे तेणं गच्छाहिवइणा इत्थी भावे णिव्वित्तिए त्ति । गोयमा ! णो तेणं गच्छाहिवई तेहिएणं अणुमवि माया कया से णं तहा पुहवइचक्कहरे भवित्ता णं परलोगाभिभूए णिविण्णकामभोगे तणमिव परिचिचाणं तं तारिसं चोद्दसरयणनवनिही तो चोसट्ठीसहस्से वरजुवईणं वत्तीसं साहस्सीओ उ अणादिवरनरिंदछन्नउइगामकोडीओ ०जाव णं छखंडभरहवासस्स णं देविंदोवमं महारायलच्छितीयं बहुपुन्नवाईए णीसंगे पव्वइए य थोवकालेणं सयलगुणोहधारी महातवस्सी सुयहरे जाए, जोगे णाऊणं सुगुरूहिं गच्छाहिवई समणुन्नाए तहेव गोयमा ! तेणं सुदिट्ठसुग्गइपहेणं जहोवइट्ठसमणट्ठेणं मग्गेणं उग्गाभिग्गहविहारत्ताए घोरपरीसहोवसग्गहियासणेणं रागदोसकसायविवज्जणेणं आगमाणुसारेणं सुविहियगणपरिवालणेणं आजम्मसमणाकप्पपरिभोगवज्जणेणं छक्कायसमारंभविवज्जणेणं ईसं पि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिव्वोरालियमेहुणपरिणामविप्पमुक्केणं इहपरलोगासंसाइणियाणमायाइसल्लविप्पमुक्केणं णीसल्लालोयणणिंदणगरिहणेणं जहोवइट्ठपायच्छित्तकरणेणं सव्वथा पडिवद्धत्तेणं सव्वपमायालंवणविप्पमुक्केणं इयइणिद्दिट्ठअवसेसिकए अणेगभवसंचिए कम्मरासी अएणगभवे तेण माया कया तप्पच्चईणं गोयमा ! सविवागे,से भयवं ! कयरा उण अन्नभवे तेणं महाणुभागेणं माया कया जीएणं एरिसो दारुणविवागो गोयमा ! से णं महाणुभागस्स गच्छाहिवइणो जीवेण णूणाहिए फललक्ख इमेव भवग्गहणा । महा० २ चू० ।

उपधा, " माय त्ति वा उवहि त्ति वा एगट्ठं " । नि० चू० १५ उ० । भ० । स० ।

मायाफले पाण्डुरार्योदाहरणं यथा—

एगा पासत्था सरीरोवगरणवाउसा निच्चं सुकिल्लवासं परिहिता वि चिट्ठत्ति,लोगेण से णामं कयं–"पंडुरज्ज"त्ति । सा य विज्जामंतवसीकरणुच्चाडणकोउएसु य कुसला जणेसु पउंजति , जणो अ से पणयसिरो कयंजलिओ चिट्ठति, अवट्ठवयातिक्कंता वेरग्गमुवगया गुरुं विन्नवेइ—आलोयणं पयच्छामि त्ति , आलोइए पुणो विएणवेति ण दीहं कालं अहं पव्वज्जं काउं समत्था ताहे गुरूहिं अप्पं कालं परिकमावेत्ता विज्जामंताइयं सव्वं छड्डावेत्ता अणसणगं पच्चक्खावियं आयरिएहिं , समणा समणीओ अ उभयवग्गो वि वारिऊण लोगस्स कहेयव्वं सा भत्ते पच्चक्खाएण जहा पुव्वं वहुजणपरिवुडा अत्थि तइया तहा अच्छति, अप्पसाहुसाहुणीपरिवारा चिट्ठइ, ताहे सा अरतिं करेति , तओ तीए लोगवसीकरणविज्जा मणसा आवाहिया, ताहे जणो पुप्फधूवगंधहत्थो अलंकियविभूसिओ वदवंदेहिं एतुमाढत्तो । ताहे उभयवग्गो पुच्छिओ गुरुणा किं ते जणस्स अक्खायं, ते भणंति–णेव त्ति, सा पुच्छिया भणति–मए विज्जाए अभिओइओ एति–गुरूहिं भणियाए वट्टति, ताहे पडिक्कंता सम्मंतितो लोगो आगंतु एवं तओ वाराए सम्मं पडिक्कंता चउत्थवाराए पुच्छियाणं सम्ममाउट्टा भणति अ–पुव्वब्भासा अहुणा आगच्छति अणालोए उ कालगया, सोहम्मे एरावणस्स अग्गमहिसी जाया । ताहे सा भगवओ वद्धमाणस्स समोसरणे आगया । धम्मकहाऽवसाणे हत्थिणीरूवं काउं भगवतो पुरओ ठिच्चा महता सद्देण वातकम्मं करेति , ताहे भगवं गोयमो जाण गच्छं पुच्छेति—भगवया पुव्वभवे से वागरिउमो अएणो वि कोइ साह्व साहुणी वा मायं काहिति तेण एआए वायकम्मं कयं, भगवया वागरियं तम्हा एरिसी माया दुरंता न कायव्व त्ति ॥ ग० २ अधि० । दर्श० । आ० क० ।

अथ मायोदाहरणम्—

" वसन्तपुरमित्यस्ति, पुरं सर्वश्रियां निधिः ।
किमेकं नगरेऽमुष्मिन्, वर्ण्यते वर्णनाधिके ॥ १ ॥
स्वः पुरेण समं धात्रा, जानेऽदस्तोलितं पुरा ।
महर्द्धित्वात्तितौ लग्न—मल्पद्धर्याऽन्यत्स्वगाद्दिवम् ॥ २ ॥
जितशत्रुर्नृपस्तत्र, प्रताप इव मूर्त्तिमान् ।
यस्य तेजस्तमोऽरीणां, वृद्धिं निन्ये कुतूहलम् ॥ ३ ॥
तत्र द्वौ भ्रातरावास्ता—माद्यो धनपतिर्वणिक् ।
धनावहो द्वितीयस्तु, धनश्रीर्भगिनी तयोः ॥ ४ ॥
सा चाभूद्बालविधवा, भोगकर्मान्तरायतः ।
ययुस्तत्रान्यदाऽऽचार्याः, श्रीधर्मघोषसूरयः ॥५॥
तत्पार्श्वे धर्ममाकर्ण्य, कुटुम्बं प्रत्यबोधि तत् ।
सा व्रतं गृह्णती स्नेहा—द्भ्रातृभ्यां नान्वमन्यत ॥ ६ ॥
साऽथ धर्मार्थिनी धर्म—व्ययं प्राज्यं व्यधान्मुहुः ।
भ्रातृजाये मुहुर्बूत, किमु वैहासिनो गृहम् ॥ ७ ॥
साऽथ दध्यौ किमाभ्यां मे, भ्रात्रोश्चित्तं परीक्षये ।
उपवासगृहं भ्रातृ—जायां सा माययाऽन्यदा ॥ ८ ॥
उवाच मलिनं किं ते, मस्तकं चीवराणि च ।
साटिकाऽपि न चोक्षा ते, का ते शिक्षा प्रदीयते ॥ ९ ॥
श्रुत्वोत्तरार्द्धं तद्भर्त्ता, दध्यौ स्वैरिण्यसौ ध्रुवम् ।
नो चेदेवमुपालम्भं, दत्तेऽस्याः किं मम स्वसा ॥ १० ॥
साऽथान्तरा गता तल्पे, वारितोपविशत्यपि ।
मा मा भूस्त्वं ममासन्ना, दृशोरग्रं त्यजाधमे ! ॥ ११ ॥
साऽवदत्किं मया कान्त !, दुष्कृतं कृतमादिश ।
नेनानुक्ता लुठन्त्यस्था–भूमिं रात्रिं रुदत्यसौ ॥ १२ ॥
खिन्नाङ्गी निरगात्प्रात–र्ननान्दोचे किमीदृशी ।
मा रुदेत्याह नौ जाने, मन्तुं निःसारिता गृहात् ॥ १३ ॥
तयोक्तं तिष्ठ वि(श्व)स्वस्ता, मा भैमीर्भ्रातरं जगौ ।
भ्रातः किमेतत्सोऽवादी–त्कार्यं दुःशीलया न मे ॥ १४ ॥
तयाऽभाणि कुतो ज्ञातं, त्वदुपालम्भतः स्वसुः ! ।
ऊचे सा भ्रातरेतत्ते, पाण्डित्यं वाग्विचारणे ॥ १५ ॥
अस्नानान्मलिनं शीर्षं, वस्त्राण्यक्षालनात्तथा ।
शाटिकाऽपि न ते चोक्षे–त्युपालम्भो न दोषतः ॥ १६ ॥
लज्जितोऽथ स्वयं तस्याः, स मिथ्यादुष्कृतं ददौ ।
दद्ध्यौ चैष मम भ्राता, श्वेतकृष्णप्रतीतिमान् ॥ १७ ॥
हस्तं रक्षेरिति प्रोक्ता, भ्रातृजाया द्वितीयका ।
पत्याऽचोरीति साऽपास्ता, बोधितः सोऽपि बान्धवः ॥१८॥
धान्यानि खण्डयन्ती त्वं हस्तं रक्षेरितीरिता ।
निर्वृतः सोऽपि साऽक्षासी–त्तथेत्यस्यापि मद्वचः ॥ १९ ॥
मायाभ्याख्यानतः किं तु, सा तत्कर्मण्यकाचयत् ।
साऽथान्यादा प्रवव्राज, सजायौ भ्रातरावपि ॥ २० ॥
परिपाल्य व्रतं सर्वे, गच्छन्ति स्म दिवं ततः ।
भ्रातरौ प्रथमं च्युत्त्वा पुरे साकेतनामनि ॥ २१ ॥
इभ्यस्याशोकदत्तस्य, पुत्रत्वेनोदपद्यताम् ।
आद्यः समुद्रदत्तोऽन्यः, ख्यातः सागरदत्तकः ॥ २२ ॥
च्युत्त्वा स्वसा गजपुरे, शङ्खश्राद्धसुताऽभवत् ।
सर्वाङ्गसुन्दरी नाम्ना, सर्वेष्वङ्गेषु सुन्दरा ॥ २३ ॥
यातरावपि ते च्युत्त्वा, नगरे कोशलापुरे ।
नन्दनस्य सुते जाते, श्रीमती कान्तिमत्यथ ॥ २४ ॥
अन्यदाऽशोकदत्ताख्यः श्रेष्ठी गजपुरं गतः ।
शङ्खश्रेष्ठिसुतामीक्षां–चक्रे सर्वाङ्गसुन्दरीम् ॥ २५ ॥
कृत समुद्रदत्तस्य, प्रार्थिता सा ददौ स ताम् ।
पुत्रमानीय तत्राऽथ, चक्रे वीवाहमद्भुतम् ॥ २६ ॥
कृतश्वशुरवासाऽगा–दन्यदा सा पितुर्गृहे ।
तामानेतुं जगामाथ, समुद्रः श्वाशुरान्तिके ॥ २७ ॥
उपचारोऽभवच्चूयां–स्तत्र स्नानाऽशनादिकः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिव्यं वासगृहं याव-न्निशायां स प्रवेक्ष्यति ॥ २८ ॥
तावत् सर्वाङ्गसुन्दर्या-स्तत्प्राक्कर्मोदयं गतम्।
ततोऽपश्यत्स निर्गच्छ-त्पुंछायामथ दध्यिवान् ॥ २६ ॥
अनिद्रस्तत्र तल्पस्थो, दुःशीलाऽसौ प्रिया स्फुटम्।
अथायाता प्रियोपान्ते, न तेनोल्लापिताऽपि सा ॥ ३० ॥
ततः साऽत्यन्तमुद्विग्ना-ऽगमयत्तां निशां प्रगे।
एकस्याख्याय विप्रस्य, तद्भर्त्ता स्वं पुरं ययौ ॥ ३१ ॥
अथातो कोशलपुरे, गत्वा नन्दनपुत्रिके।
गरिष्ठः श्रीमतीं कान्ति-मतीं लघुरुपायत ॥ ३२ ॥
तदाकर्ण्याधृतिर्जज्ञे, गतागतमपि स्थितम्।
सर्वाङ्गसुन्दरी साऽथ, प्रवव्राज क्रमेण च ॥ ३३ ॥
विहरन्ती प्रवर्त्तिन्या, साकं साकेतमागमत्।
प्राग्भवभ्रातृजायेते, तां प्रति प्रेमतत्परे ॥ ३४ ॥
गच्छतो वन्दनार्थं, तत्पती तु न वत्सलौ।
अत्रान्तरेऽस्या द्वितीयं, मायाकर्मोदयं मतम् ॥ ३५ ॥
भिक्षार्थं साऽन्यदाऽऽयाता, श्रीमती वासवेश्मगा।
गुम्फन्ती हारमुज्झित्वा, तस्यै दातुं लघूत्थिता ॥ ३६ ॥
भित्तिरुत्तीर्य तं हारं, चित्रकेकी तदाऽगिलत्।
स्वस्थानस्था च साध्वी तद्, दृष्ट्वाऽऽश्चर्येण विस्मिता ॥३७॥
साऽऽत्तभिक्षा ययौ हारं, श्रीमती तत्र नैक्षत।
पृष्टाः सर्वे तयाऽवोच-न्नात्रागात्कोऽप्यमुं विना ॥ ३८ ॥
ततः साध्व्याः प्रवादोऽभू-त्तयाऽज्ञापि प्रवर्त्तिनी।
सोचे भद्रे! विचित्रोऽयं, परिणामोऽत्र कर्मणाम् ॥ ३६ ॥
श्रीमती-कान्तिमत्यौ च, हसतस्तत्प्रियौ ततः।
साध्वी साध्वीति वादिन्यौ, भाक्तिक्यौ स्तो युवामिति ॥४०॥
तयोर्विपरिणामस्तु, न जातो जातु तां प्रति।
साध्व्यप्युग्रैस्तपोभिस्त-द्दुष्कर्म निरमूलयत् ॥ ४१ ॥
अन्यदा श्रीमतीवास-वेश्मन्यस्ति सभर्तृका।
सहारस्तावदुद्वान्त-श्चित्रादुत्तीर्य केकिना ॥ ४२ ॥
ततस्तौ दम्पती दृष्ट्वा, हारं संवेगमागतौ।
सैव साध्वी ध्रुवं साध्वी, न चाख्यद् दृष्टमप्यदः ॥ ४३ ॥
अथ तानि क्षमयितुं, प्रवृत्तान्यखिलान्यपि।
अत्रान्तरे बभूवास्याः, केवलज्ञानमुज्ज्वलम् ॥ ४४ ॥
देवैश्च महिमा चक्रे, पृष्टास्ते प्राग्भवं जगौ।
तत् श्रुत्वा प्राव्रजंस्तानि, मायाचेष्टितमीदृशम् ॥ ४५ ॥
आ० क० १ अ०। आचा०। (संज्वलनी माया 'कसाय' शब्दे तृतीयभागे ३६८ पृष्ठे व्याख्याता) मायाप्रधानोऽतिचारो मायैवेति। स्था० ८ ठा०। मयाविषये, स्था० ३ ठा० ३ उ०। अपराधे, " माई मायं कट्टु आलोएज्जा। " स्था० ८ ठा०। अविद्याप्रपञ्चहेतौ, वेदान्तप्रपञ्चसिद्धे जगदुपादाने, स्या०। कपटे, "माया कवडं कइअवं" पाइ० ना० १५७ गाथा। जनन्याम्, " माया जणणी " पाइ० ना० २५२ गाथा।

मायाकारग-मायाकारक-त्रि०। परवञ्चकमृगादिबन्धके,तं०। इन्द्रजालिके, स्या०।

मायाकिरिया-मायाक्रिया-स्त्री०। कौटिल्येनान्यद्विचिन्त्य वाचाऽन्यदभिधायान्यदाचर्यते यया सा क्रिया। क्रियाभेदे, ध० ३ अधि०। आ० चू०।

मायागारवसहिय-माया(तृ)गौरवसहित-त्रि०। मातृस्थानयुक्ते ऋद्ध्यादिगौरवयुक्ते, दश० ८ अ०।

मायाणियडिजुत्त-मायानिकृतियुक्त-त्रि०। माया परवञ्चनबुद्धिर्निकृतिर्बकवृत्त्या गलकर्त्तकानामिवावस्थानम्। परप्रतारणपरे, रा०। वञ्चनाभिप्रायेण तदनुरूपबाह्याकाराच्छादनेन च युक्ते, व्य० ४ उ०।

मायाणिस्सिय-मायानिश्रित-न०। मृषाभेदे, यथा मालाकारप्रभृतय आहुः-नष्टो गोलक इति। स्था० १० ठा०।

मायातणय-मायातनय-पुं०। निर्विशेषाद्वैतवादिनि, स्या०।

मायापडिसंलीणया-मायाप्रतिसंलीनता-स्त्री०। मायोदयनिरोधे, उदयप्राप्ताया मायाया विफलीकरणे, स्था०४ ठा०२ उ०।

मायापिंड-मायापिण्ड-पुं०। मायया वेषपरावर्त्तनादिना प्रतारणेन दापयत्यात्मने भक्तादिदानाय च परं प्रयोजयति यः। तस्मिन्, पञ्चा० १३ विव०। उत्पादनादोषभेदे, उत्त० २४ अ०। आचा०। नवमे उत्पादनादोषे, जीत०। पञ्चा०। प्रव०। ध०। आचा०।

सम्प्रति मायापिण्डदृष्टान्तमाह—

रायगिहे धम्मरुई, आसाढभूई य खुड्डओ तस्स।
रायनडगेहपविसण, संभोइय मोयए लंभो ॥ ४७४ ॥
आयरियउवज्झाए, संघाडगकाणखुज्ज तद्दोसी।
नडपासणपज्जत्तं, निकायण दिणे दिणे दाणं ॥४७५॥
धूयदुए संदेसो, दाणसिणेहकरणं रहे गहणं।
लिंगं मुयत्ति गुरुसि-ट्ठ विवाहे उत्तमा पगई ॥४६६॥
रायघरे य कयाई, निम्महिलं नाडगं तडागत्था।
ता य विहरंति मत्ता, उवरि गिहे दोऽवि पासुत्ता॥४७७॥
वाघाएण नियत्तो, दिस्स वि चेला विरागसंवेगोही।
इंगियनाए पुच्छा, पजीवणं रट्ठवालम्मि॥ ४७८ ॥
इक्खागवंसभरहो, आयंसघरे य केवलालोओ।
हाराइखिवणगहणं, उवसग्ग न सो नियत्तो त्ति ॥४७६॥
तेण समं पव्वइया, पंचनरसय त्ति नाडए डहणं।
गेलन्नखमगपाहुण, थेरा दिट्ठा य बीयं तु ॥ ४८० ॥

(विशेषत आसां कथानकानि व्याख्यानं च 'आसाढभूइ' शब्दे द्वितीयभागे ४७६ पृष्ठे गतम्) सूत्रं सुगमम्। नवरं (रायनडगेहपविसणं ति) राजविदितो यो नटो विश्वकर्मा तस्य गृहे प्रवेशः, त्वग्दोषी कुष्ठी। उपसर्गः-प्रव्रज्याग्रहणे निवारणम्। दहनं नाटकपुस्तकस्य। अत्रैवापवादमाह-(गेलन्नेत्यादि) ग्लानो-मन्दः, क्षपकः-मासक्षपकादिः,प्राघूर्णकः स्थानान्तरादायातः। स्थविरः-वृद्धः। आदिशब्दाद्-सङ्घकार्यादिपरिग्रहः। तेषामर्थाय द्वितीयमपवादपदमिति भावः,सेव्यते ग्लानाद्यनिर्वाहे मायापिण्डोऽपि ग्राह्य इत्यर्थः। पिं०।

मायाभत्त-मातृभक्त-त्रि०। बहुमानबुद्ध्या भक्ते,विपा० १ श्रु० ६ अ०।

मायामिच्छत्तसल्ल-मायामिथ्यात्वशल्य-न०। मायामिथ्यात्वरूपे शल्ये, द० प०।

इहलोए परलोए, नाणचरणदंसणम्मि य अवायं।
दंसेइ नियाणम्मि य, मायामिच्छत्तसल्लेणं ॥ ३५६ ॥

द०प० १५५१ गाथा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मायामुंड-मायामुण्ड-त्रि०। मायामुण्डिते, स्था० १० ठा०।

मायामोस-मायामृषा-अव्य०। माया च निकृतिर्मृषा च मिथ्यावादो मायया वा सह मृषा मायामृषा, प्राकृतत्वान्मायामोसम्। दोषद्वयप्रयोगे, प्रव० २३७ द्वार।

एगे मायामोसे (सूत्र) स्था० १ ठा०।

मायामृषाद्वये, दशा० ६ अ०।

एयं च दोसं दट्ठूण, नायपुत्तेण भासियं।
अणु मायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए॥ ४९॥

दश० ५ अ० २ उ०।

मायावत्तिया-मायाप्रत्यया-स्त्री०। माया-अनार्जवमुपलक्षणत्वात् क्रोधादिरपि सा प्रत्ययः कारणं यस्याः सा मायाप्रत्यया। भ० १ श० २ उ०। प्रव०। मायानिबन्धने क्रियाभेदे, स० १३ सम०।

अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिए त्ति आहिज्जइ, जे इमे भवंति गूढाऽऽयारा तमोकसिया उलूगपत्तलहुआ पव्वयगुरुया ते आरियाऽवि संता अणारियाओ भासाओ वि पउंजंति, अन्नहा संतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति, अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति। से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले, तं सल्लं णो सयं णिहरति, णो अन्नेण णिहरावेति, णो पडिविद्धंसेइ, एवमेव निण्हवेइ, अविउट्टमाणे अंतो अंतो रियइ, एवमेव माई मायं कट्टु णो आलोएइ णो पडिक्कमेइ णो णिंदइ णो गरहइ णो विउट्टइ णो विसोहेइ णो अकरणाए अब्भुट्ठेइ णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ, माई अस्सिं लोए पच्चायाइ माई परंसि लोए (पुणो पुणो) पच्चायाइ निंदइ गरहइ पसंसइ णिच्चरइ ण नियट्टइ णिसिरिय दंडं छाएति, माई असमाहडसुहलेस्से याऽवि भवइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ, एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिए त्ति आहिए॥ सूत्र-२७॥

ये केचनामी भवन्ति पुरुषाः, किंविशिष्टाः? गूढ आचारो येषां ते गूढाऽऽचाराः—गलकर्तकग्रन्थिच्छेदादयः, ते च नानाविधैरुपायैर्विश्रम्भमुत्पाद्य पश्चादपकुर्वन्ति, प्रद्योतादेरभयकुमारादिवत्। ते च मायाशीलत्वेनाप्रकाशचारिणः, तमसि कषितुं शीलं येषां ते तमःकाषिणस्त एव च तमःकाषिकाः पराविज्ञाताः क्रियाः कुर्वन्तीत्यर्थः। ते च स्वचेष्टयैवोलूकपत्रवल्लघवः, कौशिकपिच्छवल्लघीयांसोऽपि पर्वतवद् गुरुमात्मानं मन्यन्ते। यदिवा—कार्यप्रवृत्तेः पर्वतवन्नोत्तम्भयितुं शक्यन्ते, ते चाऽर्यदेशोत्पन्ना अपि सन्तः शाठ्यादात्मप्रच्छादनार्थमपरभयोत्पादनार्थं चानार्यभाषाः प्रयुञ्जते, परव्यामोहार्थं स्वमतिपरिकल्पितभाषाभिरपराविदिताभिर्भाषन्ते, तथाऽन्यथा व्यवस्थितमात्मानम् अन्यथा-साध्वाकारेण मन्यन्ते व्यवस्थापयन्ति च, तथा अन्यत्पृष्टा मातृस्थानतोऽन्यदाचक्षते, यथाऽऽम्रान् पृष्टाः केदारकानाचक्षते, वादकाले वा कश्चिन्नाथ—(न्याय) वादितया व्याकरणे प्रवीणस्तर्कमार्गमवतारयति, यथा वा 'शरदि वाजपेयेन यजेते' त्यस्य वाक्यस्यार्थं पृष्टस्तदर्थानभिज्ञः कालातिपातार्थं शरत्कालं व्यावर्णयति, तथाऽन्यस्मिन्नर्थे कथयितव्येऽन्यमेवार्थमाचष्टे। तेषां च सर्वार्थविसंवादिनां कपटप्रपञ्चचतुराणां विपाकोद्भवनाय दृष्टान्तं दर्शयितुमाह—(से जहेत्यादि) तत् यथानाम कश्चित्पुरुषः संग्रामादपक्रान्तोऽन्तः—मध्ये, शल्यम्—तोमरादिकं यस्य सोऽन्तःशल्यः, स च शल्यघट्टनवेदनाभीरुतया तच्छल्यं न स्वतो 'निर्हरति' अपनयति—उद्धरति, नाप्यन्येनोद्धारयति, नापि तच्छल्यं वैद्योपदेशेनौषधोपयोगादिभिरुपायैः 'प्रतिध्वंसयति'—विनाशयति, अन्येन केनचित्पृष्टो वाऽपृष्टो वा तच्छल्यं निष्प्रयोजनमेव निह्नुते-अपलपति, तेन च शल्येनासावन्तर्वर्त्तिना (अविउट्टमाणे त्ति) पीड्यमानः, (अंतो अंतो त्ति) मध्ये मध्ये पीड्यमानोऽपि रीयते व्रजति, तत्कृतां वेदनामधिसहमानः क्रियासु प्रवर्त्तत इत्यर्थः। साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकमाह—(एवमेवेत्यादि) यथाऽसौ सशल्यो दुःखभाग् भवति-एवमेवासौ मायी—मायाशल्यवान् यत्कृतमकार्यं तन्मायया निगूहयन् मायां कृत्वा न तां मायामन्यस्मै आलोचयति—कथयति, नापि तस्मात् स्थानात् प्रतिक्रामति—न ततो निवर्तते, नाप्यात्मसाक्षिकं तन्मायाशल्यं निन्दति, तद्यथा—धिङ् मां यदहमेवंभूतमकार्यं कर्मोदयात्तत् कृतवान्, तथा नापि परसाक्षिकं गर्हति आलोचनार्हसमीपे गतो, नापि च जुगुप्सते, तथा 'नो विउट्टति' नापि तन्मायाख्यं शल्यमकार्यकरणात्मकं विविधम्-अनेकप्रकारं त्रोटयति—अपनयति, यदस्याऽपराधस्य प्रायश्चित्तं तत्तेन पुनस्तदकरणतया (न) निर्वर्तयतीत्यर्थः, नापि तन्मद्यादिकमकार्यं सेवित्वाऽऽलोचनार्हायात्मानं निवेद्य तदकार्याकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठते,प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यापि नोद्युक्तविहारी भवतीत्यर्थः, तथा नापि गुर्वादिभिरभिधीयमानोऽपि यथार्हम् अकार्यनिर्वहणयोग्यं प्रायः चित्तं शोधयतीति प्रायश्चित्तं—तपःकर्मविशिष्टं चान्द्रायणाद्यात्मकं प्रतिपद्यते-अभ्युपगच्छति। तदेवं मायया सत्कार्यप्रच्छादको ऽस्मिन्नेव लोके मायावीत्येवं सर्वकार्येष्वेवाविश्रम्भणत्वेन प्रत्यायाति—प्रख्यातिं याति, तथाभूतश्च सर्वस्यापि अविश्वास्यो भवति। तथा चोक्तम्-

"मायाशीलः पुरुषः; यद्यपि न करोति किञ्चिदपराधम्।
सर्वस्याविश्वास्यो, भवति तथाऽप्यात्मदोषहतः॥ १॥"

इत्यादि, तथापि मायावित्वादसौ परस्मिन् लोके जन्मान्तरावाप्तौ सर्वाधमेषु यातनास्थानेषु नरकतिर्यगादिषु पौनःपुन्येन प्रत्यायाति, भूयो भूयस्तेष्वेवारघट्टघटीयन्त्रन्यायेन प्रत्यागच्छतीति। तथा नानाविधैः प्रपञ्चैर्वञ्चयित्वा परं निन्दति जुगुप्सते, तद्यथा—अयमज्ञः पशुकल्पो नानेन किमपि प्रयोजनमिति, एवं परं निन्दयित्वाऽऽत्मानं प्रशंसयति, तद्यथा-असावपि मया वञ्चित इत्येवमात्मप्रशंसया तुष्यति, तथा चोक्तम्-'येनाऽपत्रपते साधु-रसाधुस्तेन तुष्यति' इति, एवं चासौ लब्धप्रसरोऽधिकं निश्चयेन वा चरति—तथाविधानुष्ठायी भवतीति निश्चरति। तत्र च गृद्धः सन् तस्मात् मातृस्थानान्न निवर्तते, तथाऽसौ मायावलेपेन दण्डं प्राण्युपमर्दकारिणं निसृज्य-पातयित्वा पश्चात् छादयति—अपलपति, अन्यस्य वोपरि प्रक्षिपति, स च मायाची सर्वदा वञ्चनपरायणः संस्तन्मनाः सर्वानुष्ठानेष्वप्येवंभूतो भवति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असमाहृता—अनङ्गीकृता शोभना लेश्या येन स तथा आर्तध्यानोपहततया असावशोभनलेश्य इत्यर्थः। तदेवमपगतधर्मध्यानोऽसमाहितोऽशुद्धलेश्यश्चापि भवति। तदेवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकम्—मायाशल्यप्रत्ययिकं सावद्यं कर्माऽऽधीयते। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। स्था०। आव०। भ०। मायावत्तिया दुहा-आयवंचणकिरिया, परवंचणकिरिया च। आ० चू० ४ अ०। ('किरिया' शब्दे तृतीयभागे ५३३ पृष्ठे विशेषः)

मायावि(न्)—मायाविन्—त्रि०। माया-निकृतिः साऽस्यास्तीति मायावी। मायिनि, आव० ४ अ०। द्वा०। आचा०।

मायाविजय—मायाविजय—पुं०। मायाया विजयकरणे, उत्त०।

मायाविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?, मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ॥ ६६॥

हे भगवन्! मायाविजयेन जीवः किं फलं जनयति ?, गुरुराह-हे शिष्य! मायाविजयेन जीवः ऋजुभावं शरलत्वम् उत्पादयति ततश्च मायावेदनीयं कर्म न बध्नाति पूर्वनिबद्धं च कर्म निर्जरयति-क्षपयति॥ ६६॥ उत्त० २६ अ०।

मायासण्णा—मायासंज्ञा—स्त्री०। माया-मायोदयेनाशुभसंक्लेशादनृतसंभाषणादिक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति मायासंज्ञा। मायारूपे संज्ञाभेदे, स्था० १० ठा०। आचा०। प्रज्ञा०। भ०।

मायासल्ल—मायाशल्य—न०। माया-निकृतिः सैव शल्यम्। मायारूपे शल्ये, स० १ सम०। भावशल्ये, दश० ५ अ०। मायाशल्ये पण्डुरार्या रुद्रश्चोदाहरणम्। आव० ४ अ०।

मायि(ण्)—मायिन्—त्रि०। मायाऽस्यास्तीति मायी। वञ्चके, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। स्था०।

मायोवम—मायोपम—त्रि०। स्वप्नेन्द्रजालसदृशे, विशे०।

मार—मार—पुं०। मारयतीति मारः। यमे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। बहुशो म्रियन्ते स्वकर्मवशाः प्राणिनो यस्मिन् स मारः। संसारे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। मरणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। आचा०। भ०। ज्ञा०। मृङ् प्राणत्यागे धातुः। अदेल्लुक्यादेरत आः॥ ८। ३। १५३॥ णेरदेल्लोपेषु कृतेष्वादेरकारस्य आः। मारइ। प्रा०।

मारग—मारक—त्रि०। प्राणवियोजयितरि, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। आचा०।

मारण—मारण—न०। प्राणवियोजनं, आव० ४ अ०। आ० म०। प्रश्न०। नि०।

मारणअ—मर्तृ—त्रि०। तृनः अणअः॥ ८। ४। ४४३॥ इति सूत्राद् अपभ्रंशे तृन्प्रत्ययस्य अणअ आदेशः। प्राणवियोजयितरि; प्रा०।

मारणंतिय—मारणान्तिक—न०। मरणस्य सर्वायुष्कक्षयलक्षणस्य अन्तः-समीपं मरणान्तः-आयुष्कचरमसमयः, तत्र भवं मारणान्तिकम्। मरणान्तसमयोद्भवे, स०। आ० चू०।

मारणंतियअहियासण—मारणान्तिकाध्यासन—न०। कल्याणमिति बुद्ध्या मारणान्तिकोपसर्गसहने, भ० १७ श० ३ उ०।

मारणंतियसमुग्घाय—मारणान्तिकसमुद्घात—पुं०। उत्प्राबल्येन हननं वेदनीयादिकर्मप्रदेशानां निर्जरणं-घातः सम्-एकीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः। मरणमेव प्राणिनामन्तकारित्वादन्तो मरणान्तः, तत्र भवो मारणान्तिकः स चाऽसौ समुद्घातश्च। अन्तर्मुहूर्तशेषायुष्ककर्माश्रये, प्रव० २३१ द्वार। स्था०। स०। मुमूर्षोरसुमत आदित्सितोत्पत्तिप्रदेशे आलोकान्तादात्मप्रदेशानां भूयो भूयः प्रक्षेपसंहारात्मके समुद्घाते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

तत्स्वरूपम्-एवं मरणसमुद्घातगत आयुष्कर्मपुद्गलान् परिशातयति, नवरं मरणसमुद्घातगतो विक्षिप्तस्वप्रदेशो वदनोदरादिरन्ध्राणि स्कन्धाद्यपान्तरालानि चापूर्य्य विष्कम्भबाहल्याभ्यां स्वशरीरप्रमाणमायामतः स्वशरीरातिरेकतो जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागम्, उत्कर्षतोऽसंख्येयानि योजनान्येकदिशि क्षेत्रमभिव्याप्य वर्तेत इति वक्तव्यम्। प्रज्ञा० ३६ पद।

मारणान्तिकसमुद्घातसमवहतस्योपपातः—

जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु अन्नयरंसि निरयावासंसि नेरइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते ! तत्थ गते चेव आहारेज्ज वा परिणामेज्ज वा सरीरं वा बंधेज्जा ?, गोयमा ! अत्थेगतिए तत्थ गए चेव आहारेज्ज वा परिणामेज्ज वा सरीरं बंधेज्ज वा, अत्थेगतिए तओ पडिनियत्तति, ततो पडिनियत्तित्ता इह समागच्छति समागच्छित्ता दोच्चं पि मारणंतियसमुग्घाएणं समोहणइ दोच्चं पि मारणंतियसमुग्घाएणं समोहणित्ता इमी से रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु अन्नयरंसि निरयावासंसि नेरइयत्ताए उववज्जित्तए, ततो पच्छा आहारेज्ज वा परिणामेज्ज वा सरीरं वा बंधेज्जा, एवं ०जाव अहे सत्तसमा पुढवी। जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहए २ जे भविए चउसट्ठीए असुरकुमारावाससयसहस्सेसु अन्नयरंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमारत्ताए उववज्जित्तए जहा नेरइया तहा भाणियव्वा ०जाव थणियकुमारा। जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहए २ जे भविए असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु अन्नयरंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं केवतियं गच्छेज्जा केवतियं पाउणेज्जा ? गोयमा ! लोयंतं गच्छेज्जा लोयंतं पाउणेज्जा, से णं भंते ! तत्थ गए चेव आहारेज्ज वा परिणामेज्ज वा सरीरं वा बंधेज्जा ?, गोयमा ! अत्थेगइए चेव तत्थ गए चेव आहारेज्ज वा परिणामेज्ज वा सरीरं वा बंधेज्ज अत्थेगतिए तओ पडिनियत्तति तओ पडिनियत्तित्ता इह हव्वमागच्छइ इह हव्वमागच्छित्ता दोच्चं पि मारणंतियसमुग्घाएणं समोहणति २ त्ता मंदरस्स

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पव्वयस्स पुरच्छिमेणं अंगुलस्स असंखेज्जभागमेत्तं वा संखेज्जतिभागमेत्तं वा वालयं वा वालऽग्गपुहत्तं वा एवं लिक्खं जूयं यवं अंगुलं ०जाव जोयणकोडिं वा जोयणकोडाकोडिं वा संखेज्जेसु वा असंखेज्जेसु वा जोयणसहस्सेसु लोगंऽते वा एगपदेसियं सेढिं मोत्तूण असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु अन्नयरंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयत्ताए उववज्जेत्ता,तत्रो पच्छा आहारेज्ज वा परिणामेज्ज वा सरीरं वा बंधेज्जा, जहा पुरच्छिमेणं मंदरस्स पव्वयस्स आलावश्रो भणिश्रो, एवं दाहिणेणं पचच्छिमेणं उत्तरेणं उड्ढं अहे, जहा पुढविकाइया तहा एगिंदियाणं सव्वेसिं, एक्केक्कस्स छ आलावगा भाणियव्वा। जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहए २ त्ता जे भविए असंखेज्जेसु वेइंदियावाससयसहस्सेसु अन्नयरंसि बेइंदियावासंसि बेइंदियत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! तत्थ गए चेव जहा नेरइया, एवं ०जाव अणुत्तरोववाइया। जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे भविए एवं पञ्चसु अणुत्तरेसु महतिमहालएसु महाविमाणेसु अण्णयरंसि अणुत्तरविमाणंसि अणुत्तरोववाइयदेवत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते ! तत्थ गए चेव ०जाव आहारेज्ज वा परिणामेज्ज वा सरीरं वा बंधेज्ज। सेवं भंते ! भंते ! त्ति। (सूत्र–२४५)

(तत्थ गए चेव त्ति) नरकावासप्राप्त एव (आहारेज्ज वा) पुद्गलानादद्यात्, (परिणामेज्ज व त्ति) तेषामेव खलरसविभागं कुर्यात्, (सरीरं वा बंधेज्ज त्ति) तैरेव सरीरं निष्पादयेत्। (अत्थेगइए त्ति) यस्तस्मिन्नेव समुद्घाते म्रियते (ततो पडिनियत्त त्ति) ततो—नरकावासात्समुद्घाताद्वा, (इह समागच्छइ त्ति) स्वशरीरे (केवइयं गच्छेज्ज त्ति) कियद् दूरं गच्छेत्? गमनमाश्रित्य, (केवइयं पाउणेज्ज त्ति) कियद् दूरं प्राप्नुयात्?, अवस्थानमाश्रित्य, (अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तं वेत्यादि) इह द्वितीया सप्तम्यर्थे द्रष्टव्या, अङ्गुलम् इह यावत्करणादिदं दृश्यम्—" विहत्थिं वा रयणिं वा कुच्छिं वा धणुं वा कोसं वा जोयणं वा जोयणसयं वा जोयणसहस्सं वा जोयणसयसहस्सं वा इति" 'लोगंते वा' इत्यत्र गत्वेति शेषः, ततश्चायमर्थः–उत्पादस्थानानुसारेणाङ्गुलासंख्येयभागमात्रादिके क्षेत्रे समुद्घातेतो गत्वा, कथम्? इत्याह—'एगपएसियं सेढिं मोत्तूण त्ति' यद्यप्यसंख्येयप्रदेशावगाहस्वभावो जीवस्तथापि नैकप्रदेशश्रेणिवर्त्यसंख्यप्रदेशावगाहनेन गच्छति, तथा स्वभावत्वादित्यतस्तां मुक्त्वेत्युक्तमिति। भ० ६ श० ६ उ०। (मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतस्य किंप्रमाणा महत्त्वावगाहनेति 'श्रोगाहणा' शब्दे तृतीयभागे ८१ पृष्ठे गतम्)

मारणंऽतिया–मारणान्तिकी–स्त्री०। मरणमेवान्तो मरणाऽन्तः तत्र भवा मारणान्तिकी। आव० ६ अ०। स्था०। आ०चू० स०। मरणान्ते भवायां संलेखनायाम्, स्था० २ ठा० १ उ०।

मारा–मारा–स्त्री०। मार्यन्ते प्राणिनो यस्यां शालायां सा मारा। शूलायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। मणिलक्षणविशेषे, रा०।

माराभिसंकि (न्)–माराभिशङ्किन्–त्रि०। मरणं मारस्तदभिशङ्की। मरणादुद्विजे, आचा०।

मारामुक्क–मारामुक्त–त्रि०। मार्यन्ते प्राणिनो यस्यां शालायां सा मारा–शूला, तस्या मुक्तो यः स मारामुक्तः। मारणान्मारकपुरुषाद्वा मुक्तो–विच्छुटितः। माराद्विच्छुटिते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

मारि–मारयित्वा–अव्य०। क्त्व इ–इउ–इवि–अवयः॥ ८। ४। ४३६॥ इति क्त्व इः। प्राणेभ्यो मोचयित्वेत्यर्थे, "हिअडा जइ वेरियघणा, तो किं अब्भिचडाहुँ। अम्हांहिँ बेहत्थडा, जइ पुण मारि मराहुं।" प्रा०।

मारि–स्त्री०।अत्यन्तजनमारके रोगे,स०३४ सम०। नं०। जं०। आ० क०। तं चेव चित्तगरं मारेइ अह न चिंतिज्जं इतो य भूयजणमारिं करेइ। आ० म० १ अ०। व्य०। स्था०।

मारिअ–मारित–त्रि०। प्राणैर्विहीनीकृते, उत्त० १६ अ०। अपभ्रंशेऽप्रत्ययः। " जइ भग्गा पारक्कडा, तो सहि मज्झु पिएण। अह भग्गा अम्हहं तणा, तो ते मारिअडेण। " प्रा० ४ पाद।

मारिलग्गा–देशी–कुत्सितायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १३१ गाथा।

मारी–मारी–स्त्री०। मरके, " तेसिं मारी विउव्विया लोगो, मरउमाइद्धो "। आ० म० १ अ०।

मारुअ–मारुत–पुं०। पवने, " अणिलो गंधवहो मारुओ। समीरो पहंजणो पवणो" पाइ० ना० २५ गाथा।

मारुय–मारुत–पुं०। वायौ, उत्त० २ अ०। ज्ञा०। कल्प०। प्रश्न०। दर्श०। आव०।

मारुयपक्क–मारुतपक्व–त्रि०। वायुपक्वे, विपा० १ श्रु० ८ अ०।

माल–माल–पुं०। उपरितनभागे, प्रव० ५ द्वार। आव०। पञ्चा०। मञ्चादिके, पिं०। आचा०। श्वापदादिरक्षार्थेषु, तद्विशेषेष्वेव गन्धमालकाकारेषु पर्वतदेशेषु, इत्यन्ये। ज्ञा०१ श्रु० १ अ०। भ०। आराममञ्जुमञ्चेषु, दे० ना० ६ वर्ग १४६ गाथा।

मालई–मालती–स्त्री०। स्वनामख्यातायां विजयसेनराजमहिष्यां पुरन्दरयशसो मातरि, ध०र० १ अधि० १२ गुण। लताविशेषे, " मालई जाई " पाइ० ना० २७३ गाथा।

मालंकार–मालंकार–पुं०। बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य हस्त्यनीकाधिपतौ, " मालंकारे हत्थिराया कुंजराणीयाहिवइ। " स्था० ५ ठा० १ उ०।

मालकच्छ–मालकच्छ–पुं०। स्वनामख्याते गोशालकतेजोपहतवीररुजादर्शनजखेदखिन्नस्य सिंहमुनेः रोदनस्थाने, स्था० १० ठा०।

मालकड–कृतमाल–त्रि०। कृता माला येन सः कृतमालः। प्राकृतत्वात् मालकडेति। मालां परिहिते, तं०।

मालकम्म–मालकर्मन्–न०। मालनिष्पादनरूपे कर्मणि, आ–चा० १ श्रु० २ चू० ४ अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मालघर–मालगृह–न० । मालाख्यवनस्पतिविशेषगृहे, जं० १ वक्ष० ।

मालणीय -मालनीय–त्रि० । परिचारणीये, जं० १ वक्ष० ।

मालतीकुसुमदाम–मालतीकुसुमदाम–न० । जातिपुष्पमालायाम्, उत्त० २ अ० ।

मालय–मालक–पुं० । गृहस्योपरितनभागे, बृ० २ उ० । स्वार्थे कः " अक्कुड्डो होइ मंचो मालो य घरोवरिं होइ " स्था० ३ ठा० १ उ० । ज्ञा० ।

मालव–मालव–पुं० । भारतवर्षीये अवन्तीजनपदे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । प्रव० । म्लेच्छविशेषे, व्य० ४ उ० । प्रज्ञा० । सूत्र० ।

मालवंत–माल्यवान्–पुं० । जम्बूद्वीपे उत्तरकुरुषु कच्छविजये वक्षस्कारपर्वते, जं० ४ वक्ष० । स्था० । स० । मेरोः पूर्वोत्तरस्मिन् गजदन्तपर्वते, स्था० ६ ठा० ।

दो मालवंता । (सूत्र– +) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे मालवंते णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते ?, गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं उत्तरकुराए पुरच्छिमेणं कच्छस्स चक्कवट्टिविजयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं महाविदेहे वासे मालवंते णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते , उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिण्णे जं चेव गंधमायणस्स पमाणं विक्खंभो अ णवरमिमं णाणत्तं सव्ववेरुलियामए अवसिट्ठं तं चेव ० जाव गोयमा ! नवकूडा पण्णत्ता ।

(कहि णमित्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम्, उत्तरसूत्रे-गौतम ! मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरपौरस्त्ये ईशानकोणे नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणस्यामुत्तरकुरूणां पूर्वस्यां कच्छनाम्नश्चक्रवर्तिविजयस्य पश्चिमायामत्रान्तरे महाविदेहेषु माल्यवन्नाम्ना वक्षस्कारपर्वतः प्रज्ञप्त इति शेषः, पूर्वदक्षिणयोरायतः पूर्वपश्चिमयोर्विस्तीर्णः, किं बहुना विस्तरेण ? यदेव गन्धमादनस्य पूर्वोक्तवक्षस्कारगिरेः प्रमाणं विष्कम्भश्च तदेव ज्ञातव्यमिति शेषः । जं० ४ वक्ष० । (माल्यवत्कूटानां व्याख्या ' कूड ' शब्दे तृतीयभागे ६२३ पृष्ठे गता)

मालवंतदह–माल्यवद्ह्रद–पुं० । उत्तरकुरुषु स्वनामख्याते ह्रदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । जी० ।

मालवंतपरियाय–माल्यवत्पर्याय–पुं० । जम्बूद्वीपमन्दरस्योत्तरे रम्यकहैरण्यवतवर्षे स्वनामख्याते वृत्तवैताढ्यपर्वते , स्था० ।

दो मालवंतपरियागा । (सूत्र–+)स्था० २ ठा० ३ उ० ।

मालवतेण–मालवस्तेन–पुं० । माल्यवत्पर्वतोपरि विषमप्रदेशवासिनि स्तेने, "मालवगो पव्वगो तस्सुवरिं सव्वं विसमं तत्थ तेणया वसंति ते मालवतेणा । तेसु पडिएसु णासते जणेण समं इतरे वित्तिकइतवेणं कोई भणेति मालवतेणा पडिया । नि० चू० २ उ० ।

माला–माला–स्त्री० । कण्ठसूत्रगलावलम्बिशृङ्खलाविशेषे , औ० । आभरणविशेषे, औ० । कुसुमस्रजि, औ० । " ओली माला राई, रिंछोली आवली पंती " पाइ० ना० ६३ गाथा । आचा० । प्रज्ञा० । कुसुमदामनि, औ० । समूहे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । ज्योत्स्नायाम् , दे० ना० ६ वर्ग १२८ गाथा ।

मालाउत्त–मालागुप्त–त्रि० । गृहस्योपरितनभागरचिते, मालको गृहस्योपरितनो भागः, अभिहितश्च–" अक्कुड्डो होइ मंचो मालो य घरोवरिं होइ । " स्था० ३ ठा० १ उ० ।

मालाकुंकुम–देशी–प्रधानकुङ्कुमे, दे० ना० ६ वर्ग १३२ गाथा ।

मालागार–मालाकार–पुं० । मालाग्रन्थनोपजीविनि जातिविशेषे, आव० ४ अ० । जं० ।

मालागारी-मालाकारी–स्त्री० । हारि(त)गोत्रस्य श्रीगुप्तस्थविराक्षिर्गतस्य चारणगणस्य शाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

मालाण–मालान–त्रि० । विस्तीर्णे, औ० ।

मालामउल–मालामुकुट–पुं० । मालाप्रधाने मुकुटे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

मालारोवण–मालारोपण–न० । मालानामुपर्युपरि स्थापने , जी० १ प्रति० ।

मालि–मालिन्–पुं० । वनस्पतिविशेषे, स० ७४ सम० । रा० । जी० । दशग्रीवनिजके, ती० ५१ कल्प ।

मालिअय–मालितक–त्रि० । मालाकारके, " ओरालिअयं च मालिअयं " पाइ० १६६ गाथा ।

मालीघरग–मालिगृहक–न० । मालिर्वनस्पतिविशेषः तन्मयानि गृहकाणि मालिगृहकाणि । माल्याख्यवनस्पतिगृहे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । जं० ।

मालिज्ज–मालीय–न० । श्रीगुप्तस्थविरान्निर्गतस्य चारणगणस्य पञ्चमकुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

मालिया–मालिका–स्त्री० । मालायाम् , स्रजि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

मालुगा–मालुका–स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ० । जी० । एकास्थिकफलीवृक्षविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रज्ञा० । जं० । आचा० । रा० । वल्ल्याम् , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । प्रज्ञा० । देशविशेषप्रतीते वनस्पतौ , प्रज्ञा० १ पद । उज्जयिन्यामस्वर्षेर्ब्राह्मणस्य भार्यायाम् , आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० ।

मालुयाकच्छ–मालुकाकक्ष–पुं० । एकास्थिकफला वृक्षविशेषा मालुकाः प्रज्ञापनायामभिहितास्तेषां कक्षो-गहनं मालुकाकक्षः । चिर्भिटिकाकक्ष इति तु जीवाऽभिगमचूर्णिकाकारः । मालुकाख्यवनस्पतिगहने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० ।

मालुयामंडवग–मालुकामण्डपक–पुं० । एकास्थिकफला वृक्षविशेषा मालुकास्तद्युक्ता मण्डपाः । मालुकायुक्तेषु मण्डपेषु , रा० । जी० ।

मालूर–मालूर–न० । बिल्वे, " मालूरं सिरिहलं बिल्लं " पाइ० ना० १४८ गाथा । कपित्थे, दे० ना० ६ वर्ग १३० गाथा ।

मालोहड–मालाऽपहृत–न० । मालाद्–मञ्चादेरपहृतं–साध्वर्थमानीतं यद् भक्तादि तन्मालापहृतम् । पिं० । मालात्–सिक्ककादे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रपहृतं-साध्वर्थमानीतम् मालापहृतम् । प्रव० ६७ द्वार । उ-च्चस्थानादुत्तार्याऽऽनीयाऽऽहारादि ददत उद्गमनदोषे, उत्त० २४ अ० । आचा० । पिं० ।

मालाऽपहृतद्वारमाह—

मालोहडं पि दुविहं, जहन्नमुक्कोसगं च बोद्धव्वं ।
अग्गतलेहिँ जहन्नं, तव्विवरीयं तु उक्कोसं ॥ ३५७ ॥

मालाऽपहृतं द्विविधं, तद्यथा-जघन्यम्, उत्कृष्टं च । तत्र यद् भून्यस्ताभ्यां पादयोरग्रभागाभ्यां फलकसंज्ञाभ्यां पार्ष्णिभ्यां चोत्पाटिताभ्यामूर्ध्वविगलितोच्चसिक्ककादिस्थितं दात्र्या दृष्टेरगोचरं यद्दीयते तज्जघन्यं मालापहृतम् । तद्विपरीतं—जघन्यविपरीतं बृहन्निःश्रेण्यादिकमारुह्य प्रासादोपरितलादानीय दीयते तदुत्कृष्टं मालापहृतम् ।

संप्रत्यनयोरेव दृष्टान्तौ सदोषौ वक्तुकाम आह—

भिक्खू जहन्नगम्मी, गेरुय उक्कोसयम्मि दिट्ठंतो ।
अहिडसणमालपडणे, य एवमाई भवे दोसा ॥३५८॥

जघन्ये मालापहृते भिक्षुर्वन्दको दृष्टान्तः, उत्कृष्टे गैरुकः कापिलः, तत्र जघन्ये मालापहृते अहिदशनम्—सर्पदशनम्, उत्कृष्टे मालात्पतनमित्येवमादयो दोषा अभूवन् ।

तत्र भिक्षुदृष्टान्तं गाथाद्वयेनाऽऽह—

मालाऽभिमुहं दट्ठूण, आगारिं निग्गओ तओ साहू ।
तच्च(व्व)न्निय आगमणं,पुच्छा य अदिन्नदाणं ति ।३५९।
मालम्मि कुडे मोयग, सुगंधअहिपविसणं करे डक्का ।
अन्नदिणसाहुआगम, निद्दयकहणा य संबोही ॥३६०॥

जयन्तपुरं नाम नगरम्, तत्र यज्ञदिन्नो नाम गृहपतिः, तस्य भार्या वसुमती, अन्यदा च तद्गृहे धर्मरुचिर्नाम संयतो भिक्षार्थं प्रविवेश, तं च नियमितेन्द्रियमरक्तद्विष्टमेषणासमितमवलोक्य समुत्पन्नविशिष्टदानपरिणामेन यज्ञदिन्नेन वसुमती सादरं बभणे, यथा-देहि साधवेऽस्मै अमुकान् मोदकानिति, ते च मोदका ऊर्ध्वं विलगितोच्चसिक्ककमध्ये व्यवस्थिते घटेऽवतिष्ठन्ते, ततः सा तद्ग्रहणार्थमुत्थिता, साधुश्च तां मालापहृतां भिक्षामवबुध्यमानस्तद्गृहान्निर्जगाम । ततस्तत्कालं तस्मिन्नेव गृहे भिक्षायै भिक्षुरागमत् । पप्रच्छ च तं यज्ञदिन्नो यथा किं भोः—(समं) तेन सिक्ककादानीय दीयमाना भिक्षा न जगृहे ?, ततः स प्रवचनमात्सर्यादेवमुवाच- अदत्तदाना अमी खलु वराकास्ततो न लभन्ते पूर्वकर्मविनियोगतो युष्मादृशामीश्वराणां गृहेषु स्निग्धमधुरादिकं भोजनं भोक्तुम्, किंतु-तैर्दुर्गतगृहेष्वन्तप्रान्तादिकं लब्ध्वा भोक्तव्यमिति, ततो यज्ञदिन्नेन तस्यापि तानेव मोदकान् वसुमती दापिता, सा तस्मिन्नेव सिक्ककविलगिते घटे मोदकानादातुमचालीत्, घटे च महोत्तमद्रव्यनिष्पन्नमोदकगन्धाघ्राणवशतः कथमपि भुजङ्गमः समागतोऽवतिष्ठते, वसुमती चोत्पाट्य पार्ष्णिपादाग्रतलभरेण यावन्मोदकघटे कङ्केल्लिपल्लवोपमं करं प्रक्षिपति तावद् भुजङ्गमः कामुक इव सादरं तं प्रत्यगृह्णात्, ततो हा ! दष्टा दष्टेति पूत्कारं कुर्वती भूमौ निपपात, दष्टे च, यज्ञदिन्नेन फूत्कारं कुर्वन् दन्दशूकः, ततस्तत्क्षणादेव समाहूताः परममन्त्रवादिनः, समानीतानि च नानाविधानि भेषजानि, ततोऽद्याप्यायुरत्रुटितमिति मन्त्रौषधप्रभावतः सा नीरुग् बभूव, समाजगाम च भूयोऽप्यपरस्मिन् दिने स एव धर्मरुचिः संयतो भिक्षायै, (धर्मरुचेर्विशेषतो वृत्तम् ' धम्मरुइ ' शब्दे चतुर्थभागे २७३० पृष्ठे गतम्) उपालेभे च यज्ञदिन्नेन । यथा—दयाप्रधानो धर्मः तत् किं भोः साधो ! सुविहित ! तव तदानीं सर्पं पश्यतोऽप्युपेक्षा प्रावर्तिष्ट ?, स प्राह—नाहमद्राक्षं तदानीं दन्दशूकम्, केवलमयमस्माकं सार्वज्ञ उपदेशो, यथा-मा ग्राहिषुः साधवो ! मालादपहृतां भिक्षामिति, ततोऽहं प्रतिनिवृत्तः, एवं चोक्ते यज्ञदिन्नः स्वचेतसि चिन्तयामास—अहो निरपायो भगवता निरुपादेशि भिक्षूणां धर्मः, य एव चेत्थं निरपायं धर्ममुपदिशति स्म स एव सर्वज्ञो न खलु सुधाभ्यवहारमन्तरेण सुधोद्गार उज्जृम्भते, एवं न यावत् ज्ञेयव्यापिज्ञानमन्तरेणेत्थं सकलकालमनपायिनो धर्मस्योपदेशप्रवृत्तिः, बुद्धिप्रागल्भ्ये हि वचसि प्रागल्भ्यमुपालम्भि, तस्मात् स एव सर्वज्ञ इति, इत्थं च विचिन्त्य भक्तिवशोच्छलितपुलकजालोपशोभिततनुः सादरं धर्मरुचिश्रमणमवन्दत, वन्दित्वा च जिनप्रणीतं धर्मं पप्रच्छ, स च कथयामास संक्षेपतः, ततो जिनप्रणीतवाक्यामृतरसास्वादतः तेषामवजगाम सकलमपि 'मायासूनवीयादि' संपादितकुवासनामयं गरलम्, पश्यति च यथाऽवस्थितानि हेयोपादेयानि वस्तूनि, प्रमोदते च जात्यन्ध इव चक्षुर्लाभे स विशेषतरम्, ततो मध्याह्ने विशेषतो गुरुसमीपे समागत्य धर्मं श्रुत्वा जातसंवेगौ दम्पती अपि प्रव्रज्यां प्रपेदाते । सूत्रं सुगमम् ।

संप्रत्यस्मिन्नेव जघन्ये मालापहृतेऽन्यानपि दोषानभिधित्सुराह—

आसंदिपीढमंचक-जंतोडूखलपडंत उभयवहे ।
वोच्छेयपओसाई, उड्डाहमनाणिवाओ य ॥ ३६१ ॥

आसन्दी—मश्चिका, पीठम्—गोमयादिमयमासनम्, मञ्चकः—प्रतीतः, यन्त्रम्—व्रीह्यादिदलनोपकरणम्, उदूखलः प्रतीतः, एतेष्वारुह्य, उपलक्षणमेतत्, पार्ष्णी चोत्पाट्य ऊर्ध्वविगलितसिक्ककादिस्थितमोदकादिग्रहणे कथमपि यदि मञ्चकादिह्लसनतो दात्री निपतति तर्हि उभयवधः, दात्र्या पृथिव्यादिकायादीनां च विनाशः । तत्र दात्र्या हस्तादिभङ्गतो, यदि वा—विसंस्थुलपतनतः कथमप्यस्थानाभिघातसंभवात् प्राणव्यपरोपणमपि, तया च निपतन्त्या भूम्याद्याश्रितानां पृथ्वीकायादीनामपि, विनाशः । यथैतस्मै भिक्षामहं ददती प्रागपि महत्यनर्थे पतितेति न कोऽप्यस्मै दास्यतीति तद्गृहे तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदः, तथा मुण्डेनानेन परमार्थतः पातितेति कस्यापि गृहस्वामिनः साधुविषयः प्रद्वेषोऽपि भवति । आदिशब्दात्ताडनादिपरिग्रहः । प्रद्वेषदग्धोऽहि कोऽपि कोपान्धतया ताडनमपि कुर्यात् । कोऽपि निर्भर्त्सनम्, कोऽपि वधमपि, तथा च-प्रवचनस्योड्डाहः खिसा यथा—साध्वर्थमेषा भिक्षामाहरन्ती परासुरभूत्, तस्मान्नामी साधवः कल्याणकारिणः लोके चाज्ञानवादः—एवंविधमपि दात्र्या अनर्थमेते न जानन्तीत्येवं मूर्खताप्रवादः; तस्माज्जघन्यमपि मालापहृतमवश्यं परिहर्तव्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

म् । तदेवमुक्तो जघन्यस्य मालापहृतस्य सदोषो दृष्टान्तो ऽन्येऽपि च दोषाः ।

संप्रत्युत्कृष्टस्य तानाह—

एमेव य उक्कोसे, वारण-निस्सेणि गुव्विणीपडणं ।
गब्भित्थिकुच्छिफोडण,पुरओ मरणं कहणवोही॥३६२॥

जयन्ती नाम पुरी, तत्र सुरदत्तो नाम गृहपतिः, तस्य भार्या वसुन्धरा, अन्यदा च तद्गृहे गुणचन्द्राऽभिधः साधुर्भिक्षार्थं प्राविशत्, तं च प्रशान्तमनसमिहपरलोकनिःस्पृहं मूर्तं धर्ममिव समागच्छन्तमवेक्ष्य सुरदत्तो वसुन्धरामभिहितवान्—यथा देहि साधवे मालादानीय मोदकानिति, सा च तदानीमन्तर्वत्नी, परं पत्युरादेशं देवताऽऽदेशमिव प्रतीच्छन्ती मोदकानयनाय मालाभिमुखां निःश्रेणिमारोढुमयतिष्ट, साधुश्च न कल्पते मालापहृता भिक्षा संयतानामिति तां विनिवार्य तद्गृहान्निःससार, ततस्तत्क्षण एव कोऽपि कापिलो भिक्षार्थं तस्मिन्नेव गृहे प्राविशत्, सुरदत्तेन च स पृष्टो—यथा—भोः किं संयतेन मालादानीयमाना भिक्षा न प्रतिजगृहे ?, ततः स मात्सर्यवशादसंबद्धं किमप्यभाषिष्ट ततस्तस्मायपि सुरदत्तो वसुन्धरया मोदकान् दापितवान् वसुन्धरा च मोदकानयनार्थं निःश्रेणिमारोहन्ती कथमपि पादह्लसनतो विसंस्थुलाङ्गी न्यपतत्, अधश्च व्रीहिदलनयन्त्रकमासीत्, ततस्तत्कीलकस्तस्या निपतन्त्याः कुक्षिं द्विधा पाटयामास, निर्गतश्च परिस्फुरंस्ततो गर्भः, कीलकविदारिततया महापीडातिशयभावतः पश्यतामेव सकललोकानां सदुःखं स्पन्दमानः पञ्चत्वमगमत्, तथा वसुन्धरा च । तत उच्छलितः पापीयसः कापिलस्यावर्णवादः । अन्यदा च भूयोऽपि तस्मिन्नेव गृहे स एव साधुर्भिक्षार्थमाजगाम । सुरदत्तश्च तमप्राक्षीत्—भगवन् ! यथा यूयं ज्ञानचक्षुषा दात्र्या विनाशमवेक्षमाणा भिक्षां परिहृतवन्तः तथाऽस्माकमपि किं नाचीकथत ? , येन तदानीं सा मालं नारोहयेत् । ततः साधुरवोचत्—नाहं किमपि जाने, केवलमयमस्माकं सार्वज्ञ उपदेशः—यथा न कल्पते साधूनां मालापहृता भिक्षेति , ततः सपूर्ववदचिन्तयद्धर्ममश्रौषीत्, प्रव्रज्यां चाग्रहीदिति । सूत्रं सुगमम् । नवरम् , एवमेव जघन्यमालापहृते इवोत्कृष्टेऽपि मालापहृते 'पडंतउभयवहो' इत्यादयो दोषा वक्तव्याः । तत्र दात्र्या वधे उदाहरणम् 'वारणनिस्सेणि' इत्यादि ।

संप्रति मालापहृतमेव भङ्ग्यन्तरेणाऽऽह—

उड्डमहे तिरियं पि य, अहवा मालोहडं भवे तिविहं ।
उड्ढे य महोयरणं, भणियं कुंमाइसू उभयं ॥ ३६३ ॥

अथवा-मालापहृतं त्रिविधम् , तद्यथा—ऊर्ध्वम् , अधः , तिर्यक् च । तत्र उर्ध्वमेतदनन्तरोक्तमूर्ध्वविलगितसिक्ककादिगतम् , अधो भूमिगृहादाववतरणम्—प्रवेशः,तत्राधोऽवतरणेन यद्दीयते तदप्युपचारादधोऽवतरणम् , तथा—कुम्भादिषु कुम्भोष्ट्रिकाप्रभृतिषु यद्वर्तते देयं तदुभयम्—ऊर्ध्वाधोमालापहृतस्वभावं भणितं तीर्थकरादिभिः । तथाहि—वृहत्तरोच्चैस्तरकुम्भादिमध्यव्यवस्थितस्य देयस्य ग्रहणाय येन दात्री पार्ष्ण्युत्पाटनादि करोति तेनोर्ध्वमालापहृतम् , येन त्वधो मुखं बाहुमतिप्रभूतं व्यापारयति तेनाधो मालापहृतम् , दोषा अत्रापि पूर्ववद्भावनीयाः ।

अत्रैवापवादमाह—

दद्दर सिल सोवाणे, पुव्वाऽऽरूढे अणुच्चमुक्खित्ते ।
मालोहडं न होई, सेसं मालोहडं होई ॥ ३६४ ॥

दर्दरः निरन्तरकाष्ठफलकमयो निश्श्रेणिविशेषः, शिला प्रतीता, सोपानानि—इष्टकामयान्यवतरणानि , एतान्यारुह्य यद्ददाति तन्मालापहृतं न भवति । केवलं साधुरप्येषणाशुद्धिनिमित्तं प्रासादस्योपरि दर्दरादिना चटति, अपवादेन भूस्थोऽप्यानीतं गृह्णाति । तथा पूर्वारूढः साध्वागमनादग्रतः स्वयोगेन निःश्रेण्यादिना प्रासादोपरि चटितो दाता यद्ददाति साधुपात्रके, कथंभूते ? इत्याह—अनुच्चोत्क्षिप्ते, किमुक्तं भवति ?—भूमिस्थः संयतो दृष्टेरधः पात्रं धारयन् यावत्प्रमाणे उच्चैःस्थाने स्थितो दाता पात्रे हस्तं प्रक्षिप्य ददाति तावत्प्रमाणे पूर्वारूढो यद्ददाति तन्मालापहृतं न भवति । शेषं तु सर्वमप्यनन्तरोक्तं मालापहृतमवसेयम् ।

इहानुच्चोत्क्षिप्तोच्चोत्क्षिप्तयोः स्वरूपमाह—

तिरियायय-उज्जुगएण, गिण्हई जं करेण पासंतो ।
एयमणुच्चुक्खित्तं, उच्चुक्खित्तं भवे सेसं ॥ ३६५ ॥

तिर्यगायतेन-दीर्घेण , ऋजुकेन-सरलेन , करेण—हस्तेन पात्रं दृष्ट्या निभालयन् यद् गृह्णाति तदित्थंभूतं पात्रमनुच्चोत्क्षिप्तमुच्यते, शेषं पुनरुच्चोत्क्षिप्तम् , इयमत्र भावना-यद् दृष्टेरुपरि बाहुं प्रसार्य देयवस्तुग्रहणाय पात्रं ध्रियते तत्तथा ध्रियमाणमुच्चोत्क्षिप्तमिति, एतेन चोर्ध्वाधोमालापहृतव्याख्यानेन तिर्यगपि मालापहृतं व्याख्यातं द्रष्टव्यम्, तत्राप्ययं कल्प्याकल्पविधिः—यत्पादस्याधो मञ्चिकादि दत्त्वा गवाक्षादौ स्थितं दानाय बाहुं प्रसार्य महता कष्टेन समाकर्षति तन्न कल्पते । यच्च भूमौ स्वभावस्था गवाक्षादौ स्थितमयत्नेन किञ्चिद्बाहुं प्रसार्य साधोर्दानाय गृह्णाति तन्मालापहृतं न भवति, अतस्तत्कल्पते । पिं० ।

निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ता समारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं, समणऽट्ठाए व दावए ॥ ६७ ॥

निःश्रेणिम् , फलकम्-पीठम् , (उस्सवित्ता) उत्सृत्य-ऊर्ध्वं कृत्वा इत्यर्थः, आरोहेन्मञ्चम् , कीलकं च उत्सृत्य, कमारोहेदित्याह-प्रासादम्, श्रमणार्थम्—साधुनिमित्तम् , दायको-दाता आरोहेत्, एतदप्यग्राह्यम् । इति सूत्रार्थः ॥

अत्रैव दोषमाह—

दुरूहमाणी पवडिज्जा, हत्थं पायं व लूसए ।
पुढवीजीवे विहिंसिज्जा, जे अ तन्निस्सिया जगे ॥६८॥

(दुरूहमाणि त्ति) आरोहन्ती प्रपतेत् , प्रपतन्ती च हस्तं पादं वा लूषयेत्, स्वकं स्वत एव खण्डयेत् , तथा-पृथ्वीजीवान् विहिंस्यात् , कथंचित्तत्रस्थान् , तथा यानि च तन्निःश्रितानि (जगन्ति) प्राणिनस्तांश्च हिंस्याद् । इति सूत्रार्थः ॥

एआरिसे महादोसे, जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं, न पडिगिण्हंति संजया ॥६९॥

(एआरिसे त्ति) ईदृशान् अनन्तरोदितरूपान्-महादोषान् ज्ञात्वा, महर्षयः साधवः । यस्माद्दोषकारिणीयं तस्मात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मालापहृताम्-मालादानीतां भिक्षां न प्रतिगृह्णन्ति संयताः, पाठान्तरं वा-" हंदि मालोहडंति, " इन्दीत्युपप्रदर्शने। इति सूत्रार्थः॥ दश० ५ अ० १ उ०। पञ्चा०। जीत०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा ०जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा असणं पाणं खाइमं साइमं खंधंसि वा थंभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि वा अंतलिक्खजायंसि वा उवणिक्खित्ते सिया तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ० जाव अफासुयं णो पडिग्गहेज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं असंजए भिक्खुपडियाए पीढं वा फलगं वा णिस्सेणिं वा उदूहलं वा आहट्टु, उस्सविय दुरूहेज्जा, से तत्थ दुरूहमाणे पयलिज्ज वा पवडिज्ज वा से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्थं वा पायं वा बाहुं वा उरं वा उदरं वा सीसं वा अण्णतरं वा कायंसि इंदियजालं लूसेज्ज वा पाणाणि वा भूयाणि वा जीवाणि वा सत्ताणि वा अभिहणेज्ज वा वित्तासेज्ज वा लेसिज्ज वा संघसेज्ज वा संघट्टेज्ज वा परियावेज्ज वा किलामिज्ज वा ठाणाओ ठाणं संकामेज्ज वा तं तहप्पगारं मालोहडं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा लाभे संते णो पडिग्गहिज्जा।

स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं चतुर्विधमप्याहारं जानीयात्, तद्यथा-स्कन्धे अर्द्धप्राकारे, स्तम्भे वा शैलदारुमयादौ, तथा-मञ्चके वा माले वा प्रासादे वा हर्म्यतले वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारेऽन्तरिक्षजाते स आहारः, उपनिक्षिप्तः-व्यवस्थापितो भवेत्, तं च तथाप्रकारमाहारं मालाहृतमिति मत्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्, केवली ब्रूयात्-यत आदानमेतदिति। तथाहि-असंयतो भिक्षुप्रतिज्ञया साधुदानार्थं पीठकं वा फलकं वा निःश्रेणिं वा उदूखलं वाऽऽहृत्य-ऊर्ध्वं व्यवस्थाप्याऽऽरोहेत्। स तत्राऽऽरोहन् प्रचलेद् वा प्रपतेद्वा, स तत्र प्रचलन् प्रपतन् वा हस्तादिकमन्यतरद्वा काये इन्द्रियजालं (लूसेज्ज त्ति) विराधयेत्, तथा-प्राणिनो भूतानि जीवान् सत्त्वानभिहन्याद् वित्रासयेद्वा, लेशयेद्वा-संश्लेषं वा कुर्यात्, तथा-संघर्षं वा कुर्यात्, तथा-सङ्घट्टं वा कुर्यात्, एतच्च कुर्वन्स्तान् परितापयेद्वा, क्लामयेद्वा, स्थानात्स्थानं संक्रामयेद्वा, तदेतज्ज्ञात्वा यदाहारजातं तथाप्रकारं मालाहृतं तल्लाभे सति नो प्रतिगृह्णीयादिति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ०।

सुत्तं-

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा मालोहडं वा ०जाव असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दिज्जमाणं पडिगाहेज वा पडिगाहंतं वा साइज्जइ॥ २४८॥

गाहा-

मालोहडं पि तिविहं, उड्ढमहो उभयओ व णायव्वं।
एक्केक्कं पि य दुविहं, जहण्णमुक्कोसयं चेव॥ ४१॥

उड्ढं मालोहडं-विभूमादिसु, अहो मालोहडं-भूमिघरादिसु, उभयमालोहडं-मंचादिसु-मञ्चश्रेणिस्थितः। अहवा-कुंडिमादिसु भूमिठितो अधोसिरा जं अग्गतले हिट्ठाउं जं उवारेइ तं जहण्णं, पीठगादिसु जं आरोढुं ओआरेइ तं सव्वं उक्कोसं।

गाहा-

भिक्खू जहण्णय गेरुत, उकोसयंमि नायव्वो।
अहिदसणमालपडणे, एवमादी भवे दोसा॥ ४२॥

सिक्कतो ओआरिउकामा साहुणा पडिसिद्धा तव्वन्नियट्ठा। गिएहइ अहिणा डका मया, मालाओ ओआरिउकामा साहुणो पडिसिद्धा, परिव्वाओ य वा ओतारेंती पडिया जंतखीले पोट्टं फाडियं मया। इमे उक्कोसे उदाहरणं। नि० चू० १७ उ०। पं० चू०। पं० भा०। ध०। ग०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा कोठियातो वा कोलेज्जातो वा असंजए भिक्खुपडियाए उक्कोज्जिय अवउज्जिय ओहरिय आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं साइमं वा लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। (सूत्र-३७)

भिक्षुर्यदि पुनरेवंभूतमाहारं जानीयात्, तद्यथा-कोष्ठिकातः मृन्मयकुशूलसंस्थानायाः, तथा-(कोलेज्जाओ त्ति) अधोवृत्तखाताकारात् असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया-साधुमुद्दिश्य कोष्ठिकातः (उक्कुज्जिय त्ति) ऊर्ध्वकायमुन्नम्य-ततः कुब्जीभूय, तथा (कोलेज्जाओ अवउज्जिय त्ति) अधोऽवनम्य, तथा-(ओहरिय त्ति) तिरश्चीनो भूत्वा आहारमाहृत्य दद्यात्, तच्च भिक्षुस्तथाप्रकारमधोमालाहृतमितिकृत्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् इति।

अधुना पृथिवीकायमधिकृत्याऽऽह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा मट्टियाउलित्तं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा लाभे संते नो पडिगाहेज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं असंजए भिक्खुपडियाए मट्टिओवलित्तं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उब्भिंदमाणं पुढविकायं समारंभिज्जा तह तेउवाउवणस्सइतसकायं समारंभिज्जा पुणरवि उल्लिंपमाणे पच्छाकम्मं करिज्जा, अह भिक्खू णं पुव्वोवइट्ठा एस पइन्ना एस हेऊ एस कारणे जं तहप्पगारं मट्टिओवलित्तं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा लाभे संते नो पडिगाहिज्जा।

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुः गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा-पिठरकादौ मृत्तिकयाऽवलिप्तमाहारं तथाप्रकारमित्यवलिप्तं केनचित्परिज्ञाय पश्चात्कर्म्मभयाच्चतुर्विधमप्याहारं लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्, किमिति? यतः केवली ब्रूयात्-कर्म्मादानमेतदिति, तदेव दर्शयति-असंयतो-गृहस्थः, भिक्षुप्रतिज्ञया मृत्तिकोपलिप्तमशनादिकम्-अशनादिभाजनं तच्चोद्भिन्दन् पृथिवीकायं समारभेत्, स एव केवल्याह, तथा-तेजोवायुवनस्पतित्रसकायं समारभेत् दत्ते सत्युत्तरकालं पुनरपि शेषपरार्थं तद्भाजनमवलिम्पन्, पश्चात्कर्म्म कुर्यात्, अथ भिक्षू-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णं पूर्वोपदिष्टा एषा प्रतिज्ञा एष हेतुरेतत्कारणमयमुपदेशः । यत् तथाप्रकारं मृत्तिकोपलिप्तमशनादिजातं लाभे सति नो प्रतिगृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । स्था० ।

मास-माष-पुं०।(उडद)धान्यभेदे, आचा०१श्रु०१अ०५उ०।आ० म०। जं०। पञ्चभिर्गुञ्जाभिः परिमिते मानविशेषे, तं०। प्रज्ञा०।

माषाः—

मासा ते भंते ! किं भक्खेया, अभक्खेया ? । सोमिला! मासा मे भक्खेया वि, अभक्खेया वि ? । से केणऽट्ठेणं०जाव अभक्खेया वि । से नूणं ते सोमिला ! बंभन्नएसु नएसु दुविहा मासा पण्णत्ता, तं जहा-दव्वमासा य, कालमासा य । तत्थ णं जे ते कालमासा ते णं सावणाऽऽदीया आसाढपज्जवसाणा दुवालस । तं जहा-सावणे भद्दवए आसोए कत्तिए मग्गसिरे पोसे माहे फग्गुणे चित्ते वइसाहे जेट्ठामूले आसाढे । ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे दव्वमासा ते दुविहा पण्णत्ता,तं जहा-अत्थमासा य, धण्णमासा य । तत्थ णं जे ते अत्थमासा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-सुवन्नमासा य, रुप्पमासा य । ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नमासा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-सत्थपरिणया य, असत्थपरिणया य। एवं जहा धन्नसरिसवा ०जाव से तेणऽट्ठेणं ०जाव अभक्खेया वि। भ० १८ श० १० उ० ।

मास-पुं० । पक्षद्वयात्मके कालविशेषे, विशे० । आ० म० । भ० । अनु० । कल्प० । प्रव० । जं० । कर्म० । स्था० ।

इदानीं (भाष्यकारः) मासनिक्षेपप्ररूपणार्थमाह-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
मासस्स परूवणया, पगयं पुण कालमासेणं ॥ १३ ॥

(नामं ति) मासशब्दसंबन्धात् नाममासः, एवं स्थापनामासः । (दविए त्ति) द्रव्यमासः , एवम् क्षेत्रमासकालमासौ, भावमासश्च, एषा षड्विधा मासस्य प्ररूपणता-प्ररूपणस्य—प्ररूपणशब्दस्य भावः—प्रवृत्तिनिमित्तं प्ररूपणता प्ररूपणेत्यर्थः। प्रकृतमधिकारः पुनरत्र कालमासेन एष गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषुर्नामस्थापने सुप्रतीतत्वादनादृत्य (भाष्यकारः) द्रव्यमासादिव्याख्यानार्थमाह—

दव्वे भवे निव्व-त्तिओ य खेत्तम्मि जम्मि वण्णणया ।
काले जहिँ वणिज्जइ, नक्खत्तादीव पंचविहो ॥ १४ ॥

द्रव्यमासो द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो मासशब्दार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्त्रिविधः, तद्यथा-ज्ञशरीरभव्यशरीरत द्व्यतिरिक्तश्च । तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्वत् । तद्व्यतिरिक्तमाह-(दव्वे भव्वे निव्वत्तिओ त्ति) द्रव्ये मासो, भव्य इति भावी एकभविकादि । इह मास इति रूपं प्राकृते माषशब्दस्यापि भवति । तत एकभविकादिरत्र माषो द्रष्टव्यः । तत्र एकभविको नाम यो देवो मनुष्यस्तिर्यङ् वा अनन्तरमुद्धृत्य माषो भविष्यति बद्धायुष्को येन माषभवायुर्बद्धम् अभिमुखनामगोत्रो यो माषभवं समुत्पत्तुकामः समवहतः स्वदेशान् तत्र विक्षिपन् वर्तते । अथवा—तद्व्यतिरिक्तो द्रव्यमाषो द्विधा-(निव्वत्तिओ य त्ति) मूलगुणनिर्वर्तनानिर्वर्त्तितः, उत्तरगुणनिर्वर्तनानिर्वर्त्तितश्च । तत्र मूलगुणनिर्वर्तनानिर्वर्तितो नाम-येन जीवेन तत्प्रथमतया माषभवानुगतनामगोत्रकर्मोदयतो माषद्रव्यप्रायोग्यानि द्रव्याणि गृहीतानि, उत्तरगुणनिर्वर्त्तनानिर्वर्त्तितो माषस्तम्बश्चित्रकर्मणि लिखितः । (खेत्तम्मि इत्यादि) यस्मिन् क्षेत्रे माषस्य वर्णना स माषक्षेत्रप्राधान्यविवक्षायां तत्क्षेत्रमाषः । उपलक्षणमेतत् । तेन यस्मिन् क्षेत्रे मासकल्पः क्रियते स मासः क्षेत्रप्राधान्यविवक्षणात्तत्र क्षेत्रे मास इत्यपि द्रष्टव्यम् । तथा-यत्र काले यो मासो वर्ण्यते स कालप्रधानताविवक्षणात्तत्कालमासः, अथवा-श्रावणभाद्रपदादिकः । यदि वा-स्वलक्षणनिष्पन्नो नाक्षत्रादिकः पञ्चविधः-पञ्चभेदः कालमासः ।

(भाष्यकारः) तानेव भेदानुपदर्शयति—

नक्खत्ते चंदेया, उउ आइच्चे य होइ बोधव्वो ।
अभिवड्ढिए य तत्तो, पंचविधो कालमासो उ ॥ १५ ॥

नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः । किमुक्तं भवति—चन्द्रश्चारं चरन् यावता कालेनाभिजित आरभ्योत्तराषाढानक्षत्रपर्यन्तं गच्छति तत्कालप्रमाणो नाक्षत्रमासः । यदि वा—चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डले परिवर्त्तनतो निष्पन्न इत्युपचारतो मासोऽपि नक्षत्रम् । तथा-(चंदेया इति) चन्द्र भवश्चान्द्रः युगादौ श्रावणे मासे बहुलपक्षप्रतिपद आरभ्य यावत्पौर्णमासीपरिसमाप्तिस्तावत्कालप्रमाणश्चान्द्रो मासः । एकपौर्णमासीपरावर्त्तश्चान्द्रो मास इति यावत् । अथवा-चन्द्रचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽपि चन्द्रः। चः समुच्चये । दीर्घत्वमार्षत्वात्, (उउ इति) ऋतुः स च किल लोकरूढ्या षष्ट्यहोरात्रप्रमाणो द्विमासात्मकस्तस्यार्द्धमपि मासः , अवयवे समुदायोपचारात् । ऋतुरेव अर्थात्परिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणः । एष एव ऋतुमासः कर्ममास इति वा, सावनमास इति वा, व्यवह्रियते । उक्तं च—" एस चेव उउमासो कम्ममासो सावणमासो भण्णइ " इति । तथा-[आदिच्चे इति] आदित्यस्यायमादित्यः । प्रत्युक्तपदयमादित्यदितेर्योऽणपवादो वेति ण्यप्रत्ययः । व्यञ्जनात् यम्यन्तस्य सरूपे वा । इति पाक्षिकस्य एकस्य यकारस्य लोपः । स चैकस्य दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य वा त्र्यशीत्यधिकदिनशतप्रमाणस्य षष्ठभागमानः, यदि वा-आदित्यचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽप्यादित्यः । (अभिवड्ढिए य तत्तो इति) ततश्चतुर्थादादित्यान्मासादनन्तरः पञ्चमो मासोऽभिवर्द्धितः, अभिवर्द्धितो नाम मुख्यतस्त्रयोदशचन्द्रमासप्रमाणः, संवत्सरे द्वादशचन्द्रमासप्रमाणात्संवत्सरादेकेन मासेनाभिवर्द्धितत्वात् परं तद् द्वादशभागप्रमाणो मासोऽप्यवयवे समुदायोपचारादभिवर्द्धितः, एष पञ्चविधः कालमासः । तु: पूरणार्थः । तदेवमुक्ता नामतो नाक्षत्रादयः पञ्चापि मासाः ।

सांप्रतमेतेषामेव मासानां दिनपरिमाणमभिधित्सुस्तदानयनाय (भाष्यकारः) करणमाह—

रिक्खाई मासाणं, करणमिणमं तु आणणोवाओ ।
जुगदिणरासिं ठाविय, अट्ठारसयाइं तीसाइं ॥ १६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऋतेषु चन्द्रस्य परिवर्त्तनतो मासोऽप्याधेये आधारोपचारात् ऋतुः, ऋतु आदिर्येषां ते ऋतादयः, आदिशब्दात्-चन्द्रमासादिपरिग्रहः। तेषामृत्वादीनां मासानामानयनोपायकरणमिदं-वक्ष्यमाणम् । तदेवाह-(जुगदिणेत्यादि) युगे चन्द्र-चन्द्राऽ-भिवर्द्धित-चन्द्रा-ऽभिवर्द्धितसंवत्सरप्रमाणे दिनराशिरहोरात्रराशिर्युगदिनराशिस्तं स्थापयित्वा, कियत्प्रमाणमित्याह-अष्टादश शतानि त्रिंशानि त्रिंशदधिकानि एतावान् दिनराशिर्युगे भवतीति, कथमवसीयते इति चेत् ?, उच्यते-इह सूर्यस्य दक्षिणम् उत्तरं वा अयनं त्र्यशीत्यधिकदिनशतात्मकम्, युगे च पञ्च दक्षिणायनानि पञ्चोत्तरायणानि सर्वसंख्यया दशायनानि, ततस्त्र्यशीत्यधिकं दिनशतं दशकेन गुण्यते इत्यागतो यथोक्तो दिनराशिरेवं प्रमाणं दिनराशिं स्थापयित्वा ।

(भाष्यकारः) किमित्याह—

ताहे हराहि भागं, रिक्खाईयाण दिनकरंऽताणं ।
सत्तट्ठी-बावट्ठी-एगट्ठी-सट्ठिभागेहिं ॥ १७ ॥

ततो-दिनराशिस्थापनानन्तरमृत्वादीनामृतुमासप्रभृतीनां, दिनकरान्तानां सूर्यमासपर्यन्तानां नक्षत्रचन्द्रर्त्वादित्यमासानामित्यर्थः । दिनमानानयनाय यथाक्रमं सप्तषष्टिद्वाषष्ट्येकषष्टिषष्टिभागैः सप्तषष्ट्यादिभिर्भागहारैरित्यर्थः भागं (हराहि त्ति) हर । ततो यथोक्तं नक्षत्रादिमासगतदिनपरिमाणमागच्छति । तच्चोत्तरत्र दर्शयिष्यते ।

सांप्रतमभिवर्द्धितमासगतदिनपरिमाणानयनाय नेदं करणमिति (भाष्यकारः) करणान्तरमाह—

अभिवड्ढियकरणं पुण, ठाविय रासिं इमं तु कायव्वं ।
ऊणालीससयाइं, पणट्ठाइं अणूणाइं ॥ १८ ॥

अभिवर्द्धितकरणमभिवर्द्धितमासगतदिनपरिमाणानयनाय करणं पुनरिदं वक्ष्यमाणं कर्त्तव्यं-प्रयोक्तव्यमिति प्रयोगः । तदेवाह—स्थापयित्वा राशिं किं प्रमाणमित्यत आह—एकोनचत्वारिंशतानि पञ्चपष्टीनि पञ्चषष्ट्यधिकान्यनूनानि-परिपूर्णानि । केषां राशिरयमिति चेत् ?, उच्यते-अभिवर्द्धितमासगतदिनचतुर्विंशत्युत्तरशतभागानाम्। तथाहि-अभिवर्द्धितमासस्य दिनपरिमाणमेकत्रिंशदहोरात्रा एकविंशत्युत्तरं शतं भागानाम्,अहोरात्राश्च प्रत्येकम् एकत्रिंशत् चतुर्विंशत्युत्तरशतेन गुण्यन्ते जातान्यष्टात्रिंशत् शतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि-३८४४ उपरितनं च एकविंशत्युत्तरं शतं तत्र प्रक्षिप्यते जातो यथोक्तप्रमाणो राशिः ३९६५ ।

(भाष्यकारः) तं स्थापयित्वा किमित्याह—

एयस्स भागहरणं, चउवीसेणं सएण कायव्वं ।
जे लद्धा ते दिवसा, सेसा भागा मुणेयव्वा ॥ १९ ॥

एतस्य अनन्तरोदितस्य पञ्चषष्ट्यधिकैकोनचत्वारिंशच्छतप्रमाणस्य राशेश्चतुर्विंशेन-चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणं, भागे च हृते ये अङ्का लब्धास्ते दिवसा ज्ञातव्याः । शेषास्त्वङ्का उद्व(द्ध)रिताः अहोरात्रस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाः ।

भाष्यम्—

अहवा वि तीसइ गुणे, सेसे तेणेव भागहारेणं ।
भइयम्मि जं तु लब्भइ, ते उ मुहुत्ता मुणेयव्वा ॥२०॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने । तच्च प्रकारान्तरमिदम्—लब्धदिवसानामुपरि भागास्तावत्तदवस्था एव ध्रियन्ते, तथैव शास्त्रे व्यवहारदर्शनात् । अथवा—अपिः समुच्चये । समुच्चयप्रकारान्तरस्यैवान्यस्य श्रूयमाणत्वात् , शेषे उद्ध(द्व)रिते राशौ मुहूर्त्तानयनाय त्रिंशद्गुणे कृते ततस्तेनैव चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रमाणेन भागहारेण भक्ते यत् लभ्यते ते मुहूर्त्ता ज्ञातव्याः ।

तस्स वि जं अवसेसं, बावट्ठीए उ तस्स गुणकारो ।
गुणकारभागहारे, बावट्ठीए य उववट्टो ॥२१॥ (भा०)

तस्यापि मुहूर्त्तस्य संबन्धि यदवशेषमुद्ध(द्व)रितं तस्य मुहूर्त्तगतद्वाषष्टिभागानयनाय द्वाषष्ट्या गुणकारः-गुणकरणम्। किमुक्तं भवति—यदवशेषं तिष्ठति तत्तु द्वाषष्ट्या गुण्यते, ततो ' गुणकारभागहारे इति ' यस्योपरितनस्य राशेर्गुणकरमभवत्स गुणकारयोगात् गुणकारः । अधस्तनस्तु गुणकारश्च भागहारश्च गुणकारभागहारम् । समाहारो द्वन्द्वस्तस्मिन् षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदः तत एतदुक्तं भवति—गुणकारभागरयोर्द्वाषष्ट्या अपवर्तः-अपवर्त्तना क्रियते ।

दोहिं तु हिए भागे, जे लद्धा तेऽवि सट्ठिभागा उ ।
एएसिमागयफलं, रिक्खाईणं कमेण इमं ॥२२॥ (भा०)

भागहारराशेश्चतुर्विंत्यधिकशतप्रमाणस्य द्वाषष्ट्याऽपवर्त्तनायां जातौ द्वौ, ताभ्यां तु द्वाभ्यां हृते भागे येऽङ्का लब्धास्ते द्विषष्टिभागा एव । तुरेवकारार्थः । मुहूर्त्तस्य ज्ञातव्याः । सांप्रतमागतप्रतिपादनार्थमिदमाह-(एएसिमित्यादि) एतेषां भागहाराणामृत्वादीनां नक्षत्रादिमासानां दिनपरिमाणनयनाय भागं हरतां यत् आगतमेव फलमागतफलं तत् क्रमेण ऋत्वादिमासपरिपाट्या इदं वक्ष्यमाणम् ।

(भाष्यकारः) तदेवाह—

अहोरत्तं सत्तवीसं, तिसत्त सत्तट्ठिभागनक्खत्तो ।
चंदो उ उगुणतीसं, विसट्ठिभागा य बत्तीसं ॥२३॥

नाक्षत्रो नक्षत्रसंबन्धी मासः सप्तविंशतिरहोरात्राः सप्तषष्टिभागाः,त्रिःसप्तत्रयो वाराः सप्त एकविंशतिरित्यर्थः२७ $\frac{21}{67}$ । तथाहि-युगदिनराशिस्त्रिंशदधिकाष्टादशशतप्रमाणो ध्रियते तस्य सप्तषष्टिर्युगे नक्षत्रमासा इति सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्रा एकविंशतिरहोरात्रस्य सप्तषष्टिभागाः । तथा चान्द्रः चन्द्रमास एकोनत्रिंशदहोरात्रा द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य द्वात्रिंशत् २९। $\frac{32}{62}$ तथाहि-तस्यैव युगदिनराशिस्त्रिंशदधिकाऽष्टादशशतमानस्य युगे चन्द्रमासा द्वाषष्टिरिति, द्वाषष्ट्या भागे हृते एतावदेव लभ्यते इति ।

भाष्यम्—

उडुमासो तीस दिणा, आइच्चो तीस होइ अद्धं वा ।
अभिवड्ढि एकतीसा, इगवीससयं च भागाणं ॥ २४ ॥

ऋतुमासः परिपूर्णानि त्रिंशद्दिनानि एकाषष्टिर्युगे ऋतुर्मासा इत्येकं षष्ट्यानन्तरोदितस्य ध्रुवराशेर्भागहरणे, एतावतो लभ्यमानत्वात् , आदित्यः—आदित्यमासो भवति । त्रिंशदहोरात्रा अहोरात्रस्यार्द्धं यतः सूर्यस्य युगे मासाः षष्टिस्ततः षष्ट्यां ध्रुवराशेर्भागहरणे एतावल्लभ्यते इति अभिवर्द्धितोऽभिवर्द्धितमासः एकत्रिंशदहोरात्रा एकस्य चाहोरात्रस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामेकविंशं शतमेकविंशत्यधिकं शत-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मू ३१ । १३२/१२४ । तथाहि-एकोनचत्वारिंशच्छतानां पञ्चषष्ट्यधिकानां ३६६५ चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन भागे न्हियमाणे यथोक्तं लभ्यते एवेति ।

अथवा (भाष्यकारः) न भागैः संख्या किंतु मुहूर्त्तादिभिरत आह—

एक्कत्तीसं च दिणा, इगुतीस मुहुत्तसत्तरसभागा ।
एत्थं पुण अहिगारो, नायव्वो कम्ममासेणं ॥ २५ ॥

एकत्रिंशद्दिनानि एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ताः सप्तदश द्वाषष्टिभागाः ३१-२९-१७-६२ एकत्रिंशद्दिनानि तावत्पूर्ववत् , ततो यदेकविंशत्युत्तरं शतमवशेषं जातं तत् अहोरात्रस्य त्रिंशन् मुहूर्त्ता इति मुहूर्त्तानयनाय त्रिंशता गुण्यते, जातानि त्रिंशदधिकानि षट्त्रिंशत् शतानि ३६३० एतेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणम् , लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ताः २९, शेषमवतिष्ठते चतुस्त्रिंशत् ३४, सार्द्धषष्टिभागानयनाय द्वाषष्ट्या गुण्यते जातान्येकविंशतिशतान्यष्टोत्तराणि २१०८। तेषां चतुर्विंशत्युत्तरशतेन भागो न्हियते लब्धाः परिपूर्णाः सप्तदश १७ द्वाषष्टिभागाः । अत्र पुनः प्रायश्चित्तविधावधिकारः प्रकृतं ज्ञातव्यो नक्षत्रादीनां मासानां मध्ये कर्ममासेन ।

संप्रति (भाष्कारः) भावमासप्रतिपादनार्थमाह—

मूलादिवेदगो खलु, भावे जो वा वि जाणतो तस्स ।
न हि अग्गिनाणतोऽग्गी,णाणं भावो ततोऽणण्णो ॥२६॥

भावे—भावमासो द्विधा—आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र नोआगमतः खलु मूलादिवेदकः । मूलकन्दकाण्डपत्रपुष्पफलवेदकः । किमुक्तं भवति—यो धान्यमाषजीवो धान्यमाषभवे वर्त्तमानो मूलरूपतया कन्दरूपतया काण्डरूपतया पत्ररूपतया पुष्परूपतया फलरूपतया वा धान्यमाषभवायुर्वेदयते स नोआगमतो भावमाषः, प्राकृते माषशब्दस्यापि मास इतिरूपसंभवादागमत आह—(जो वाऽवि जाणतो तस्स) तस्य-माषस्य मासस्य वा यो ज्ञायको-ज्ञाता अपि शब्दादुपयुक्तश्च स आगमतो भावमासः । " उपयोगो भावनिक्षेपः" इति वचनात् । अत्र-पर आह (नहीत्यादि) ननु यदि मासस्य ज्ञाता तत्र चोपयुक्तस्तथापि कथमसौ भावमासः ?, तर्ह्यग्निज्ञानोपयुक्तो माणवकोऽग्निः दाहपाकाद्यर्थक्रियाकारित्वाभावात् । अत्र सूरिराह—(नाणमित्यादि) यदेतदुक्तम्-तदसत् सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् , इहाद्यर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः, तथाहि-घटोऽपि घट इत्यभिधीयते , घटशब्दोऽपि , घटज्ञानमपि घट इति । एतच्च सर्ववादिनामविसंवादस्थानम् । ततो मासज्ञानमपि मासशब्दवाच्यं तच्च भावो जीवगुणत्वात् । स च ज्ञानलक्षणो भावस्तस्मादात्मनोऽनन्य इति मासज्ञानोपयुक्तो भावमासः अत्र षड्विधमासनिक्षेपमध्ये कालमासेनाधिकारस्तत्रापि कर्ममासेनेत्यनन्तरमेवोक्तम् , शेषास्त्वपाकरणबुद्ध्योपन्यस्ताः । एतदेव निक्षेपप्ररूपणायाः फलं यत्प्रस्तुतस्य व्याकरणम् , अप्रस्तुतस्य निराकरणमिति । यदुक्तम्—
"अप्रस्तुतार्थपाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवानिति ।" तदेवं मासनिक्षेपप्ररूपणा कृता । व्य० १ उ० १ प्रक० । ज्यो० । बृ० । नि० चू० । दर्श० ।

नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः किमुक्तं भवति ?-चन्द्रश्चारं चरन् यावता कालेनाभिजित आरभ्योत्तराषाढानक्षत्रपर्यन्तं गच्छति तत्प्रमाणो नाक्षत्रो मासः, यदिवा-चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डले परिवर्त्तनतानिष्पन्न इत्युपचारतो मासोऽपि नक्षत्रम् (जं०) युगादौ श्रावणमासे बहुलपक्षप्रतिपद आरभ्य यावत् पौर्णमासीपरिसमाप्तिस्तावत्कालप्रमाणश्चान्द्रो मासः , एकपूर्णिमापरावर्तश्चान्द्रो मास इति यावत् , अथवा-चन्द्रनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽपि चन्द्रः, स च द्वादशगुणश्चन्द्रसंवत्सरः, चन्द्रमासनिष्पन्नत्वादिति, द्वितीयतुर्यावप्येवं व्युत्पत्तितोऽवगन्तव्यौ, तृतीयस्तु युगसंवत्सरोऽभिवर्द्धितो नाम मुख्यतस्त्रयोदशचन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरो द्वादशचन्द्रमासप्रमाणः संवत्सर उपजायते, कियता कालेन सम्भवतीत्युच्यते—इह युगं चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितरूपपञ्चसंवत्सरात्मकं सूर्यसंवत्सरापेक्षया परिभाव्यमानमन्यूनातिरिक्तानि पञ्च वर्षाणि भवन्ति, सूर्यमासश्च सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणश्चन्द्रमासश्चैकोनत्रिंशद्दिनानि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा दिनस्य, ततो गणितसम्भावनया सूर्यसंवत्सरसत्कत्रिंशन्मासातिक्रमे एकश्चान्द्रमासोऽधिको लभ्यते, स च यथा लभ्यते तथा पूर्वाचार्यप्रदर्शितेयं करणगाथा—

" चंदस्स जो विसेसो,आइच्चस्स य हविज्ज मासस्स ।
तीसइगुणिओ संतो, हवइ हु अहिमासगो इक्को ॥ १ ॥ "

अस्या अक्षरगमनिका-आदित्यसम्बन्धिनो मासस्य मध्यात् चन्द्रस्य—चन्द्रमासस्य यो भवति विश्लेषः, इह विश्लेषे कृते सति यदवशिष्यते तदप्युपचाराद्विश्लेषः, स त्रिंशता गुणितः सन् भवत्येकोऽधिकमासः, तत्र सूर्यमासपरिमाणात् सार्द्धत्रिंशदहोरात्ररूपाच्चन्द्रमासपरिमाणमेकोनत्रिंशद्दिनानि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा दिनस्येत्येवंरूपं शोध्यते, ततः स्थितं पश्चाद्दिनमेकमेकेन द्वाषष्टिभागेन न्यूनम् , तच्च दिनं त्रिंशता गुण्यते जातानि त्रिंशद्दिनानि एकश्च द्वाषष्टिभागस्त्रिंशता गुणितो जाताः त्रिंशद् द्वाषष्टिभागास्ते त्रिंशद्दिनेभ्यः शोध्यन्ते ततः स्थितानि शेषाणि एकोनत्रिंशद्दिनानि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा दिनस्य एतावत्परिमाणश्चन्द्रमास इति । भवति सूर्यसंवत्सरसत्कत्रिंशन्मासातिक्रमे एकोऽधिकमासो, युगे च सूर्यमासाः षष्टिः ततो भूयोऽपि सूर्यसंवत्सरसत्कत्रिंशन्मासातिक्रमे द्वितीयोऽधिकमासो भवति, उक्तं च—

" सट्ठीए अइआए, हवइ हु अहिमासगो जुगद्धम्मि ।
बावीसे पव्वसए, हवइ अ बीओ जुगंऽतमि ॥ १ ॥ "

अस्याप्यक्षरगमनिका-एकस्मिन् युगे-अनन्तरोदितस्वरूपे पर्वणां—पक्षाणां षष्टौ अतीतायां—षष्टिसंख्येषु पक्षेष्वतिक्रान्तेषु इत्यर्थः, एतस्मिन् अवसरे युगार्द्धे—युगार्द्धप्रमाणे एकोऽधिकमासो भवति । द्वितीयस्त्वधिकमासो द्वाविंशे द्वाविंशत्यधिके पर्वशते—पक्षशतेऽतिक्रान्ते युगस्यान्ते-युगस्य पर्यवसाने भवति, तेन युगमध्ये तृतीये संवत्सरेऽधिकमासः, पञ्चमे वेति द्वौ युगेऽभिवर्द्धितसंवत्सरौ । यद्यपि सूर्यवर्षपञ्चकात्मके युगे चन्द्रमासद्वयवन्नक्षत्रमासाधिक्यसम्भवस्तथापि नक्षत्रमासस्य लोके व्यवहाराविषयत्वात् , कोऽर्थः ?—यथा चन्द्रमासो लोके विशेषतो यवनादिभिश्च व्यवह्रियते तथा न नक्षत्रमास इति । एतेषां च नक्षत्रादिसंवत्सराणां मासदिनमानानयनादिप्रमाणं संवत्सराधिकारे वक्ष्यते । एते च चन्द्रादयः पञ्च-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युगसंवत्सराः पर्व्वभिः पूर्यन्ते इति तानि कति प्रतिवर्षं भवन्तीति पृच्छन्नाह—'पढमस्स ण' मित्यादि, प्रथमस्य युगाऽऽदौ प्रवृत्तस्य, भगवन् ! चन्द्रसंवत्सरस्य कति पर्वाणि पक्षरूपाणि प्रज्ञप्तानि ?, गौतम ! चतुर्विंशतिः पर्वाणि, द्वादशमासात्मकत्वेनास्य प्रतिमासं पर्वद्वयसंभवात्, द्वितीयस्य चतुर्थस्य च प्रश्नसूत्रे एवमेव, अभिवर्द्धितसंवत्सरसूत्रे षड्विंशतिः पर्वाणि तस्य त्रयोदशचन्द्रमासात्मकत्वेन प्रतिमासं पर्वद्वयसम्भवात्, एवमन्योऽभिवर्द्धितोऽपि, सर्वाग्रमाह—एवमेव पूर्वापरमीलनेन चतुर्विंशं पर्वशतं भवतीत्याख्यातम् । अथ तृतीयः—' प्रमाणसंवत्सरे ' इत्यादि, प्रमाणसंवत्सरः कतिविधः प्रज्ञप्तः ? गौतम !, पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—नाक्षत्रं चान्द्रः ऋतुसंवत्सरः आदित्यः अभिवर्द्धितश्च । अत्र नक्षत्रचन्द्राभिवर्द्धिताख्याः स्वरूपतः प्रागभिहिताः, ऋतवो लोकप्रसिद्धा वसन्तादयः तद्व्यवहारहेतुः संवत्सरः ऋतुसंवत्सरः, ग्रन्थान्तरे चास्य नाम सावनसंवत्सरः कर्मसंवत्सर इति । आदित्यचारेण दक्षिणोत्तरायणाभ्यां निष्पन्नः आदित्यसंवत्सरः । प्रमाणप्रधानत्वादस्य संवत्सरस्य प्रमाणमेवाभिधीयते, तस्य च मासप्रमाणाधीनत्वादादौ मासप्रमाणम्, तथाहि—इह किल चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितनामकसंवत्सरपञ्चकप्रमाणे युगे अहोरात्रराशिस्त्रिंशदधिकाष्टादशशतप्रमाणो भवति, कथमेतदवसीयते इति चेत्, उच्यते इह सूर्यस्य दक्षिणमुत्तरं वाऽयनं त्र्यशीत्यधिकदिनशतात्मकम्, युगे च पञ्च दक्षिणायनानि पञ्च चोत्तरायणानि इति । सर्वसंख्यया दशायनानि, ततस्त्र्यशीत्यधिकं दिनशतं दशकेन गुण्यते इत्यागच्छति यथोक्तो दिनराशिः । एवंप्रमाणं दिनराशिं स्थापयित्वा नक्षत्रचन्द्रऋत्वादिमासानां दिनानयनार्थं यथाक्रमं सप्तषष्ट्येकषष्टिषष्टिद्वाषष्टिलक्षणैर्भागहारैर्भागं हरेत्, ततो यथोक्तं नक्षत्रादिमासचतुष्कगतदिनपरिमाणमागच्छति, तथाहि—युगदिनराशेः १८३० रूपः, अस्य सप्तषष्टिर्युगे मासा इति सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, यल्लब्धं तन्नक्षत्रमाससमानम्, तथाऽस्यैव युगदिनराशेः १८३० रूपस्य एकषष्टिर्युगे ऋतुमासा इति एकषष्ट्या भागहरणे लब्धम् ऋतुमाससमानम् । तथा युगे सूर्यमासाः षष्टिरिति ध्रुवराशेः १८३० रूपस्य षष्ट्या भागहारे यल्लब्धं तत्सूर्यमाससमानम्, तथाऽभिवर्द्धिते वर्षे तृतीये पञ्चमे वा त्रयोदश चन्द्रमासा भवन्ति, तद्वर्षं द्वादशभागीक्रियते तत एकैको भागोऽभिवर्द्धितमास इत्युच्यते, इह किलाभिवर्द्धितसंवत्सरस्य त्रयोदशचन्द्रमाससमानस्य दिनप्रमाणं त्र्यशीत्यधिकानि त्रीणि शतानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागाः, कथमिति चेत्, उच्यते—चन्द्रमाससमानं दिनानि २९ $\frac{३२}{६२}$ एतद्रूपं त्रयोदशभिर्गुण्यते जातानि सप्तसप्तत्युत्तराणि त्रीणि शतानि दिनानां, षोडशोत्तराणि चत्वारि शतानि चांशानां ते च दिनस्य द्वाषष्टिभागास्ततो दिनानयनार्थं द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धानि षड् दिनानि, तानि च पूर्वोक्तदिनेषु मील्यन्ते जातानि त्रीणि शतानि त्र्यशीत्यधिकानि दिनानां चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागाः, ततो वर्षे द्वादश मासाः इति । मासाऽऽनयनाय द्वादशभिर्भागो ह्रियते लब्धा एकत्रिंशदहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्त्यहोरात्रा एकादश, ते च द्वादशानां भागं न प्रयच्छन्ति तेन यदि एकादश चतुश्चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागमीलनार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते तदा पूर्णो राशिर्न त्रुट्यति शेषस्य विद्यमानत्वात्, तेन सूक्ष्मेक्षिकार्थं द्विगुणीकृतया द्वाषष्ट्या चतुर्विंशत्यधिकशतरूपया एकादश गुण्यन्ते जातम्-१३६४ चतुश्चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा अपि सवर्णनार्थं द्विगुणीक्रियन्ते कृत्वा च मूलराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातम्-१४५२ एषां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धमेकविंशत्युत्तरं शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानाम् । एतावदभिवर्द्धितमासप्रमाणम्, एतेषां क्रमेणाङ्कस्थापना, यथा इदं च नाक्षत्रादिमासमानं वर्षे द्वादशमासा इति द्वादशगुणं स्वस्ववर्षमानं जनयन्ति,

स्थापना यथा—

	नक्षत्रः	चन्द्रः	ऋतुः	सूर्यः	अभिवर्द्धितः
दिन-	२७	२९	३०	३०	३१
भाग	२१	३२	०	३०	१२१
०	६२	६२	०	६०	१२४

	नक्षत्रः	चन्द्रः	ऋतुः	सूर्यः	अभिवर्द्धितः
दिन	३२७	३५४	३६०	३६६	३८३
भाग	५१	१२	०	०	४४
०	६७	६७	०	०	६२

नाक्षत्रादिसंवत्सरमानम्, स एष प्रमाणसंवत्सर इति निगमनवाक्यम्, एषां च मध्ये ऋतुमासऋतुसंवत्सरावेव लोकैः पुत्रवृद्धिकलान्तरवृद्ध्यादिषु व्यवह्रियेते, निरंशकत्वेन सुबोधत्वात्, यदाह–

"कम्मो निरंसयाए, मासो ववहारकारगो लोए ।
सेसा उ संसयाए, ववहारे दुक्करा घेत्तुं ॥ १ ॥"

अत्र व्याख्या—आदित्यादिसंवत्सरमासानां मध्ये कर्मसंवत्सरसम्बन्धी मासो निरंशतया–पूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणतया लोकव्यवहारकारकः स्यात्, शेषास्तु सूर्यादयो व्यवहारे ग्रहीतुं दुष्कराः सांशतया न व्यवहारपथमवतरन्तीति, निरंशता चैवम्–षष्टिः पलानि घटिका, ते च द्वे मुहूर्तः, ते च त्रिंशदहोरात्रः, ते च पञ्चदश पक्षः, तौ द्वौ मासः, ते च द्वादश संवत्सर इति । शास्त्रवेदिभिस्तु सर्वेऽपि मासाः स्वस्वकार्येषु नियोजिताः । तथाहि–अत्र नक्षत्रमासप्रयोजनं संप्रदायगम्यम् ।

"वैशाखे श्रावणे मार्गे, पौषे फाल्गुन एव हि ।
कुर्वीत वास्तुप्रारम्भं न तु शेषेषु सप्तसु ॥ १ ॥"

इत्यादौ चन्द्रमासस्य प्रयोजनम्, ऋतुमासस्य तु पूर्वमुक्तम्, 'जीवे सिंहस्थे धन्विमीनस्थितेऽर्के, विष्णौ निद्राणे चाधिमासे न लग्नम्' इत्यादौ तु सूर्यमासाभिवर्द्धितमासयोरिति, पूर्वं नक्षत्रसंवत्सरादयः स्वरूपतो निरूपिताः, अत्र तु दिनमानानयनादिप्रमाणकरणेन विशेषेण निरूपिता इति न पौनरुक्त्यं विभाव्यम् । निशीथभाष्यकाराशयेन नक्षत्रचन्द्रर्तुसूर्याभिवर्द्धितरूपकं मासपञ्चकम् । जं० ७ वक्ष० ।

वासाणं पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?, गोयमा ! चत्तारि णक्खत्ता णेंति, तं जहा–उत्तरासाढा अभिई सवणो धणिट्ठा । उत्तरासाढा चउद्दस अहोरत्ते णेइ, अभिई सत्त अहोरत्ते णेइ, सवणो अट्ठ अहोरत्ते णेइ, धणिट्ठा एगं अहोरत्तं णेइ । तंसि च णं मासंसि चउरंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरिअट्टइ, तस्स णं मासस्स चरिमदिवसे दो पदा चत्तारि अ अंगुला पोरिसी भवइ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वासाणं भंते ! दोच्चं मासं कइ णक्खत्ता णेंति ? , गोयमा ! चत्तारि-धनिट्ठा सयभिसया पुव्वाभद्दवया उत्तराभद्दवया। धणिट्ठा णं चउद्दस अहोरत्ते णेइ, सयभिसया सत्त अहोरत्ते णेइ, पुव्वाभद्दवया अट्ठ अहोरत्ते णेइ, उत्तराभद्दवया एगं। तंसि च णं मासंसि अट्ठंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टइ। तस्स मासस्स चरिमे दिवसे दो पया अट्ठ य अंगुला पोरिसी भवइ। वासाणं भंते ! तइयं मासं कइ णक्खत्ता णेंति ?, गोयमा ! तिण्णि णक्खत्ता णेंति, तं जहा-उत्तरभद्दवया रेवई अस्सिणी। उत्तरभद्दवया चउद्दस राइंदिए णेइ, रेवई पण्णरस, अस्सिणी एगं। तंसि च णं मासंसि दुवालसंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टइ। तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाइं तिण्णि पयाइं पोरिसी भवइ। वासाणं भंते ! चउत्थं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?, गोयमा ! तिण्णि-अस्सिणी भरणी कत्तिआ। अस्सिणी चउद्दस, भरणी पन्नरस, कत्तिआ एगं। तंसि च णं मासंसि सोलसंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरिअट्टइ। तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिण्णि पयाइं चत्तारि अंगुलाइं पोरिसी भवइ। हेमन्ताणं भंते ! पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?, गोयमा ! तिण्णि-कत्तिआ रोहिणी मिगसिरं। कत्तिआ चउद्दस, रोहिणी पण्णरस, मिगसिरं एगं अहोरत्तं णेइ। तंसि च णं मासंसि वीसंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरिअट्टइ। तस्स णं मासस्स जे से चरिमे दिवसे तंसि च णं दिवसंसि तिण्णि पयाइं अट्ठ य अंगुलाइं पोरिसी भवइ। हेमताणं भन्ते ! दोच्चं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?, गोयमा ! चत्तारि णक्खत्ता णेंति, तं जहा-मिअसिरं अद्दा पुणव्वसू पुस्सो। मिअसिरं चउद्दस राइंदिआइं णेइ, अद्दा अट्ठ णेइ, पुणव्वसू सत्त राइंदिआइं णेइ पुस्सो एगं राइंदिअं णेइ। तया णं चउव्वीसंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टइ। तस्स णं मासस्स जे से चरिमे दिवसे तंसि च णं दिवसंसि लेहट्ठाइं चत्तारि पयाइं पोरिसी भवइ। हेमन्ताणं भंते ! तच्चं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?, गोयमा ! तिण्णि पुस्सो असिलेसा महा। पुस्सो चोद्दस राइंदिआइं णेइ, असिलेसा पण्णरस, महा एक्कं। तया णं वीसंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरिअट्टइ। तस्स णं मासस्स जे से चरिमे दिवसे तंसि च णं दिवसंसि तिण्णि पयाइं अट्ठंऽगुलाइं पोरिसी भवइ। हेमंताणं भन्ते ! चउत्थं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?, गोयमा ! तिण्णि णक्खत्ता णेंति, तं जहा-महा पुव्वाफग्गुणी उत्तराफग्गुणी। महा चउद्दस राइंदिआइं णेइ, पुव्वाफग्गुणी पण्णरस राइंदिआइं णेइ, उत्तराफग्गुणी एगं राइंदिअं णेइ। तया णं सोलसंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरिअट्टइ। तस्स णं मासस्स जे से चरिमे दिवसे तंसि च णं दिवसंसि तिण्णि पयाइं चत्तारि अंगुलाइं पोरिसी भवइ। गिम्हाणं भन्ते ! पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?, गोअमा ! तिण्णि णक्खत्ता णेंति, उत्तराफग्गुणी हत्थो चित्ता। उत्तराफग्गुणी चउद्दस राइंदिआइं णेइ, हत्थो पण्णरस राइंदिआइं णेइ, चित्ता एगं राइंदिअं णेइ। तया णं दुवालसंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरिअट्टइ। तस्स मासस्स जे से चरिमे दिवसे तंसि च णं दिवसंसि लेहट्ठाइं तिण्णि पयाइं पोरिसी भवइ। गिम्हाणं भन्ते ! दोच्चं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?, गोयमा ! तिण्णि णक्खत्ता णेंति, तं जहा-चित्ता साई विसाहा। चित्ता चउद्दस राइंदिआइं णेइ, साई पण्णरस राइंदिआइं णेइ, विसाहा एगं राइंदिअं णेइ। तया णं अट्ठंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरिअट्टइ। तस्स णं मासस्स जे से चरिमे दिवसे तंसि च णं दिवसंसि दो पयाइं अट्ठंऽगुलाइं पोरिसी भवइ। गिम्हाणं भन्ते ! तच्चं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?, गोयमा ! चत्तारि णक्खत्ता णेंति, तं जहा-विसाहा अणुराहा जेट्ठा मूलो। विसाहा चउद्दस राइंदिआइं णेइ, अणुराहा अट्ठ राइंदिआइं णेइ, जेट्ठा सत्त राइंदिआइं णेइ, मूलो एक्कं राइंदिअं। तया णं चउरंऽगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरिअट्टइ। तस्स णं मासस्स जे से चरिमे दिवसे तंसि च णं दिवसंसि दो पयाइं चत्तारि अ अंगुलाइं पोरिसी भवइ। गिम्हाणं भन्ते ! चउत्थं मासं कति णक्खत्ता णेंति, गोयमा ! तिण्णि णक्खत्ता णेंति तं जहा-मूलो पुव्वासाढा उत्तरासाढा। मूलो चउद्दस राइंदिआइं णेइ, पुव्वासाढा पण्णरस राइंदिआइं णेइ, उत्तरासाढा एगं राइंदिअं णेइ। तया णं वट्टाए समचउरंससंठाणसंठिआए णग्गोहपरिमण्डलाए सकायमणुरंगिआए छायाए सूरिए अणुपरिअट्टइ। तस्स णं मासस्स जे से चरिमे दिवसे तंसि च णं दिवसंसि लेहट्ठाइं दो पयाइं पोरिसी भवइ। एतेसि णं पुव्ववण्णिआणं पयाणं इमा संगहणी। तं जहा—

" जोगो देवयतारग्ग-गोत्तसंठाणचन्दरविजोगो।
कुलपुण्णिमअवमंसा,णेआ छाया य बोद्धव्वा ॥ १॥"

(सूत्र—१६२)

वर्षाणाम् वर्षाकालस्य चतुर्मासप्रमाणस्य प्रथममासं श्रावणलक्षणं कति नक्षत्राणि स्वयमस्तङ्गमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया क्रमेण नयन्ति ?, द्विकर्मकत्वादस्य समाप्तिमिति ग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्यते, कोऽर्थः ?—वक्ष्यमाणसंख्याङ्कस्वस्वदिनेषु इमानि नक्षत्राणि यदा अस्तमयन्ति तदा श्रावणमासेऽहोरात्रसमाप्तिरित्यर्थः, तेनैतानि रात्रिपरिसमापकत्वाद्रात्रिनक्षत्राण्युच्यन्ते, भगवानाह—गौतम ! चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति, तद्यथा—उत्तराषाढा अभिजिच्छ्रवणो धनिष्ठा च । तत्रोत्तराषाढा प्रथमान् चतुर्दश अहोरात्रान् नयति, तदनन्तरमभिजिन्नक्षत्रं सप्ताहोरात्रान्नयति, ततः श्रवणनक्षत्रमष्टौ अहोरात्रान्नयति, एवं च सर्वसङ्कलनया श्रावणमासस्यैकोनत्रिंशदहोरात्रा गतास्ततः परं श्रावणमासस्य सम्बन्धिनं चरमेकमहोरात्रं धनिष्ठा नक्षत्रं नयति । एवं श्रावणमासं चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति । अस्य च नेतृद्वारस्य प्रयोजनं रात्रिज्ञानादौ ।

" जं नेइ जया रत्तिं, णक्खत्तं तंमि णहचउब्भागे ।
संपत्ते विरमेज्जा, सज्झायपओसकालंमि ॥ १ ॥ "

इत्यादौ, तदनुरोधेन च दिनमानज्ञानायाह—तस्मिंश्च श्रावणमासे प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिनमन्यान्यमण्डलसंक्रान्त्या तथा कथञ्चनापि परावर्त्तते यथा तस्य श्रावणमासस्य पर्यन्तेषु चतुरङ्गुलाधिका द्विपदा पौरुषी भवति । अत्र चायं विशेषः-यस्यां संक्रान्तौ यावद्दिनरात्रिमानं तच्चतुर्थोऽशः पौरुषीयामः प्रहर इति यावत्,आषाढपूर्णिमायां च द्विपदप्रमाणा-पौरुषी, तस्यां च श्रावणसत्कचतुरङ्गुलप्रक्षेपे चतुरङ्गुलाधिका पौरुषी भवति । माने मेयोपचारादभेदनिर्देशः, तेन चतुरङ्गुलाधिकपौरुष्या छाययेति विशेषणविशेष्यभावः । एतदेवाह—तस्य श्रावणमासस्य चरमे दिवसे द्वे पदे चत्वारि चाङ्गुलानि पौरुषी भवति । अथ द्वितीयं मासं पृच्छति-' वासाणं ' मित्यादि, वर्षाणां वर्षाकालस्य भदन्त ! द्वितीयं भाद्रपदलक्षणं मासं कति नक्षत्राणि नयन्ति ?, अस्य वाक्यस्य भावार्थः प्राग्वद् भावनीयः । गौतम ! चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति, तद्यथा—धनिष्ठा शतभिषक् पूर्वभद्रपदा उत्तरभद्रपदा च । तत्र धनिष्ठा आद्यान् चतुर्दश अहोरात्रान् नयति, तदनन्तरं शतभिषक् सप्ताहोरात्रान् नयति, ततः परमष्टावहोरात्रान् पूर्वभद्रापदा नयति,तदनन्तरमेकमहोरात्रमुत्तरभद्रपदा नयति । एवमेनं भाद्रपदमासं चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति, तस्मिंश्च मासेऽष्टाङ्गुलपौरुष्या—अष्टाङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्योऽनुपरावर्त्तते । अत्र भावार्थः प्राग्वद् भावनीयः । एतदेवाह—तस्य भाद्रपदमासस्य चरमे दिवसे द्वे पदे अष्ट चाङ्गुलानि पौरुषी भवति । अथ तृतीयं पृच्छति-(वासाणं भंते ! त्ति, इत्यादि) वर्षाणां भदन्त ! तृतीयं मासं कति नक्षत्राणि नयन्ति ? , गौतम ! त्रीणि नक्षत्राणि-उत्तरभद्रपदा रेवती अश्विनी च । तत्रोत्तरभद्रपदा चतुर्दश रात्रिन्दिवान् नयति, रेवती पञ्चदश रात्रिन्दिवान् नयति, अश्विनी एकं रात्रिन्दिवं नयति । एवं तृतीयं मासं त्रीणि नक्षत्राणि नयन्ति, तस्मिंश्च मासे द्वादशाङ्गुलपौरुष्या-द्वादशाङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्योऽनुपरावर्त्तते । भावार्थः पूर्ववत् । एतदेवाह—तस्य मासस्य चरमे दिवसे रेखापादपर्यन्तवर्त्तिनी सीमा तत्स्थानि त्रीणि पदानि पौरुषी भवति । किमुक्तं भवति ?—परिपूर्णानि त्रीणि पदानि पौरुषी भवति । अथ चतुर्थं पृच्छति—(वासाणमित्यादि) वर्षाणां वर्षाकालस्य भदन्त ! चतुर्थं कार्त्तिकलक्षणं मासं कति नक्षत्राणि नयन्ति ?, गौतम ! त्रीणि—अश्विनी भरणी कृत्तिका च । तत्राश्विनी चतुर्दशाहोरात्रान् , भरणी पञ्चदशाहोरात्रान् ,कृत्तिका एकमहोरात्रं नयति । तस्मिंश्च मासे षोडशाङ्गुलपौरुष्या—षोडशाङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्योऽनुपरावर्त्तते । भावार्थः पूर्ववत् । एतदेवाह-तस्य मासस्य चरमे दिवसे त्रीणि पदानि चत्वारि चाङ्गुलानि पौरुषी भवति । गतो वर्षाकालः । अथ हेमन्तकालं पृच्छति-(हेमन्ताण मित्यादि) हेमन्तानां-हेमन्तकालस्य भदन्त ! प्रथमं मार्गशीर्षलक्षणं मासं कति नक्षत्राणि नयन्ति ? , गौतम ! त्रीणि नक्षत्राणि-कृत्तिका रोहिणी मृगशिरश्च । तत्र कृत्तिका चतुर्दशाहोरात्रान् , रोहिणी पञ्चदशाहोरात्रान् , मृगशिर एकमहोरात्रं नयति । तस्मिंश्च मासे विंशत्यङ्गुलपौरुष्या—विंशत्यङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्योऽनुपरावर्त्तते । भावार्थः पूर्ववत् । एतदेवाह—तस्य मासस्य यश्चरमो दिवसस्तस्मिन् ! दिवसे त्रीणि पदानि अष्ट चाङ्गुलानि पौरुषी भवतीति । अथ द्वितीयं पृच्छति-(हेमन्ताणं भन्ते ! इत्यादि) हेमन्तकालस्य भदन्त ! द्वितीयं पौषनामकं मासं कति नक्षत्राणि नयन्ति ? , गौतम ! चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति । तद्यथा—मृगशिरः आर्द्रा पुनर्वसुः पुष्यश्च । तत्र मृगशिरश्चतुर्दश रात्रिन्दिवान्नयति , आर्द्रा अष्टौ रात्रिंदिवान् , पुनर्वसुः सप्त रात्रिन्दिवान् , पुष्यः एकं रात्रिन्दिवं नयति । तदा चतुर्विंशत्यङ्गुलपौरुष्या–चतुर्विंशत्यङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्योऽनुपरावर्त्तते । भावार्थः पूर्ववत् । तस्य मासस्य चरमे दिवसे रेखा-पादपर्यन्तवर्त्तिनी सीमा, तत्स्थानि चत्वारि पदानि पौरुषी भवति । किमुक्तं भवति ?-परिपूर्णानि चत्वारि पदानि पौरुषी भवति । अथ तृतीयं पृच्छति-(हेमन्ताणमित्यादि) एतत् सुगमम् । अथ चतुर्थं पृच्छति—" हेमन्ताणं भन्ते ! चउत्थं इत्यादि " सुगमम् । अतीतो हेमन्तः । अथ ग्रीष्मं पृच्छति-' गिम्हाणं भन्ते ! पढमं ' इत्यादि, तथा ' गिम्हाणं भन्ते ! दोच्चं ' इत्यादि, तथा ' गिम्हाणं भन्ते ! तच्चं मासं ' इत्यादि , तथा ' गिम्हाणं भन्ते चउत्थं ' इत्यादि , चत्वार्यपि इमानि ग्रीष्मकालसूत्राणि सुबोधानि, प्रायः प्राक्तनसूत्रानुसारित्वात् । नवरं तस्मिंश्चाषाढे मासे प्रकाश्यवस्तुनो वृत्तस्य वृत्तया समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितस्य समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितया न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानस्य न्यग्रोधपरिमण्डलया उपलक्षणमेतत् शेषसंस्थानसंस्थितस्य प्रकाश्यस्य वस्तुनः शेषसंस्थानसंस्थितया । आषाढे हि मासे प्रायः सर्वस्यापि प्रकाश्यस्य वस्तुनो दिवसस्य चतुर्भागेऽतिक्रान्ते शेषे वा स्वप्रमाणा छाया भवति, निश्चयतः पुनराषाढमासस्य चरमदिवसे तत्रापि सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमाने सूर्ये, ततो यत् प्रकाश्यं वस्तु यत्संस्थानं भवति तस्य छायाऽपि तथासंस्थानोपजायते । तत उक्तम्-वृत्तस्य वृत्तया इत्यादि । एतदेवाह-स्वकायमनुरङ्गिन्या, स्वस्य-स्वकीयस्य छायानिबन्धनस्य वस्तुनः कायः शरीरं स्वकायस्तमनुरज्यते-अनुकारं विदधातीत्येवंशीला अनुरङ्गिनी, द्विषद्द्रुहेत्यादिना, श्रीसिद्ध० " युजभुञ्ज- द्विष० " । ५-२-४० । इति घिनञ्प्रत्ययस्तया स्वकायमनुरङ्गिन्या छायया सूर्योऽनुप्रतिदिवसं परावर्त्तते । एतदुक्तं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवति-आषाढस्य प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिवसमन्या-न्यमण्डलसंक्रान्त्या तथा कथंचनापि सूर्यः परावर्त्तते यथा सर्वस्यापि प्रकाश्यस्य वस्तुनो दिवसस्य चतुर्भागेऽतिक्रान्ते शेषे वा स्वानुकारा स्वप्रमाणा च छाया भवतीति। शेषं सुगमम्। इदं च पौरुषीप्रमाणं व्यवहारत उक्तम्। निश्चयतः सार्द्धत्रिंशताऽहोरात्रैश्चतुरङ्गुला वृद्धिर्हानिर्वा वेदितव्या। जं० ७ वक्ष०। (पौरुषीप्रमाणप्रतिपादकाः पूर्वाचार्यप्रसिद्धाः करणगाथाः 'पोरिसी' शब्दे पञ्चमभागे ११२८ पृष्ठे सव्याख्या गताः)

अथ मासानां संख्यामाह—

एगमेगस्स णं भंते! संवच्छरस्स कइ मासा पण्णत्ता? गोश्रमा! दुवालस मासा पएणत्ता, तेसिं णं दुविहा णामधेज्जा पएणत्ता, तं जहा-लोइश्रा, लोउत्तरिया य। तत्थ लोइश्रा णामा इमे, तं जहा-सावणे भद्दवए० जाव आसाढे, लोउत्तरिश्रा णामा इमे, तं जहा-

"अभिणंदिए पइट्ठे अ, विजए पीइवद्धणे।
सेअंसे य सिवे चेव, सिसिरे अ सहेमवं॥ १॥
णवमे वसंतमासे, दसमे कुसुमसंभवे।
एक्कारसे निदाहे अ, वणविरोहे अ बारसमे॥ २॥"

एकैकस्य भदन्त! संवत्सरस्य कति मासाः प्रज्ञप्ताः? गौतम! द्वादश मासाः प्रज्ञप्ताः, तेषां द्विविधानि नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-लौकिकानि, लोकोत्तराणि च। तत्र लोकः प्रवचनबाह्यो जनस्तेषु प्रसिद्धत्वेन तत्सम्बन्धीनि लौकिकानि। लोकः प्रागुक्त एव तस्मात्सम्यग्ज्ञानादिगुणयुक्तत्वेन उत्तराः-प्रधानाः लोकोत्तराः जैनास्तेषु प्रसिद्धत्वेन तत्सम्बन्धीनि लोकोत्तराणि। अत्र वृद्धिविधानस्य वैकल्पिकत्वेन यथाश्रुतरूपसिद्धिः। तत्र लौकिकानि नामान्यमूनि,तद्यथा-श्रावणो भाद्रपदः यावत्करणात् आश्वयुजः कार्त्तिको मार्गशीर्षः पौषो माघः फाल्गुनश्चैत्रो वैशाखो ज्येष्ठ आषाढ इति। लोकोत्तराणि नामान्यमूनि, तद्यथा—प्रथमः श्रावणः, अभिनन्दितो द्वितीयः,प्रतिष्ठितस्तृतीयो, विजयश्चतुर्थः,प्रीतिवर्द्धनः पञ्चमः, श्रेयान् षष्ठः, शिवः सप्तमः,शिशिरः अष्टमः हिमवान्, सूत्रे च पदपूरणाय सहशब्देन समासः तेन हिमवता सह शिशिर इत्यागतं शिशिरः हिमवांश्चेति, नवमो वसन्तमासः, दशमः कुसुमसम्भवः, एकादशो निदाघः, द्वादशो वनविरोह इति। अत्र सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्तौ अभिनन्दितस्थाने अभिनन्दः वनविरोहस्थाने तु वनविरोधी इति। जं० ७ वक्ष०। अवसरे, "कालमासे कालं किच्चा" मरणावसरे मरणं विधायेत्यर्थः। औ०। जं०। स०।

आसाढे णं मासे एगुणतीसइराइंदियाइं राइंदियग्गेणं पण्णत्ता,(एवं चेव)भद्दवए णं मासे कत्तिए णं मासे पोसे णं मासे फग्गुणे णं मासे वइसाहे णं मासे, चंददिणेणं एगूणतीसं मुहुत्ते सातिरेगे मुहुत्तग्गेणं पएणत्ता। स० २९ सम०।

मासउस-माषतुष-पुं०। आगमप्रसिद्धे जडसाधौ, पञ्चा० ११ विव०।

मासकप्प-मासकल्प-पुं०। एकत्र मासावस्थितिरूपे समाचारे, पञ्चा० १७ विव०। जीत०। ध०। दर्श०। पं०भा०। पं० चू०। ध०। औ०। बृ०। ओघ०। (विहारशब्देऽयं व्याख्यास्यते)

मासकल्पद्वारमाह—

दुविहो य मासकप्पो, जिणकप्पो चेव थेरकप्पो य।
एक्केक्को वि य दुविहो, अट्ठियकप्पो अ ठियकप्पो॥

द्विविधो मासकल्पः, तद्यथा-जिनकल्पः स्थविरकल्पश्च। पुनरेकैको द्विविधः-अस्थितकल्पः, स्थितकल्पश्च। तत्र मध्यमसाधूनां मासकल्पः अस्थितः, पूर्वपश्चिमानां तु स्थितः। ततः पूर्वपश्चिमाः साधवो नियमात् ऋतुबद्धे मासे मासेन विहरन्ति। मध्यमानां पुनरनियमः, कदाचिन्मासं पूरयित्वाऽपि निर्गच्छन्ति। कदाचित्तु देशोनपूर्वकोटीमप्येकत्र आसते। बृ० ६ उ०।

से गामंसि वा० जाव कप्पइ णिग्गंथाणं हेमंतगिम्हासु एगं मासं वत्थए॥६॥

(इति सूत्रम् वसहि शब्दे) त्रिंशदहोरात्रमानमेकमृतुमासं कल्पते वस्तुमिति तदनुभावार्थः। अथ येषां मासकल्पेन विहारो भवति तन्नामग्राहं गृहीत्वा तद्विधिमभिधित्सुराह-

जिणसुद्धअहालंदे, गच्छे मासो तहेव अज्जाणं।
एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥ ३३१॥

जिनकल्पिकानां शुद्धपरिहारिकाणां यथालन्दकल्पिकानां गच्छवासिनां स्थविरकल्पिकानामित्यर्थः। तथैवार्य्याणां साध्वीनां यथा येषां मासकल्पो भवति तथैतेषां सर्वेषामपि नानात्वं वक्ष्यामि यथानुपूर्व्या यथोद्दिष्टपरिपाट्या। बृ० १ उ०। साधूनां मासकल्पादिविधिना विहार ऐकान्तिकोऽन्यथा वा इति? प्रश्ने, उत्तरम्—साधूनां मासकल्पादिविहारो नैकान्तिको, यतः कारणाभावे ते मासकल्पादिविधिनैव विहरन्ति, कारणे तु "पंचसमिश्रा तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे। वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिश्रा॥ १॥" इत्यादिवचनाद्बहुतरमपि कालमेकत्र तिष्ठन्तीति। सेन० १ उल्ला० १५ प्र०।

मासखमण-मासक्षपण-न०। पक्षद्वयात्मकमासपर्यन्ते निराहारे, बृ० ३ उ०।

मासणिव्वाहि-मासनिर्वाहिन्-त्रि०। मासनिर्वहणसमर्पके, पं० व० ५ द्वार।

मासपण्णी-माषपर्णी-स्त्री०। औषधिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

मास(प)पुरिवट्टा-मासपरिवर्त्ता-स्त्री०। भङ्गदेशराजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद। प्रश्न०। प्रव०। सूत्र०।

मासपूरिया-मासपूरिका-स्त्री०। स्थविरान्निर्गतस्यार्यरोहणस्योद्देहगणस्य शाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

मासपेया-माषपेया-स्त्री०। माषपिष्टमय्यां पेयायाम्, आ०क० ६ अ०।

मासपोलिया-माषपोलिका-स्त्री०। माषपिष्टभृतायां पोलिकायाम्, स० १ सम०।

मासफल-माषफल-न०। श्वेतसर्षपपोडशके, ज्यो० १ पाहु०।

मासल-मांसल-त्रि०। मांसादेर्वा॥ ८।१।२९॥ इत्यनुस्वार-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोपः । प्रा० । उपचितरसे, प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० । जी० । वहले जी० ३ प्रति ४ अधि० ।

मासलोल–मांसलोल–त्रि० । मांसलम्पटे, उपा० ८ अ० ।

मासससगलिया–मांससगलिका–स्त्री० । उडदफलीपाणके, भ० १५ श० ।

मासिअ–देशी–पिशुने, दे० ना ६ वर्ग १२२ गाथा ।

मासिय–मासिक–त्रि० । मासेन निर्वृत्तं मासिकम् । मास–निष्पन्ने, व्य० १ उ० । स्था० । आचा० । नि० चू० । मासोऽस्य परिमाणं मासमर्हति वा मासनिष्पन्नं वा मासिकम् । नि० चू० २० उ० । कल्प० । जं० ।

मासियभिक्खुपडिमा–मासिकभिक्षुप्रतिमा–स्त्री० । मासपरिमाणे भिक्षुप्रतिमाविशेषे, तत्र हि मासं यावदेका दत्तिर्भक्तस्यैकैव च पानकस्येति । औ० ।

मासिया–मासिकी–स्त्री० । मासप्रमाणायां भिक्षुप्रतिमायाम् पञ्चा० १८ विव० । ज्ञा० । स० । आ० चू० । ('भिक्खुपडिमा' शब्दे पञ्चमभागे १५७३ पृष्ठे व्याख्यातैषा)

मासु–श्मश्रु–पुं० । आदेः श्मश्रु–श्मशाने ॥ ८ । २ । ८६ ॥ इत्यादेर्वर्णस्य लुक् । मासू । मंसू । मस्सू । कूर्चके, ओष्ठरोमणि, च । प्रा० ।

मासुरी–देशी–श्मश्रुणि, दे० ना० ६ वर्ग १३० । गाथा । "मंसू खड्ं च मासुरी कुच्चं" पाइ० ना० ११२ गाथा ।

माह–माघ–पुं० । खघथधभाम् ॥ ८ । १ । १८७ ॥ स्वरात्परेषामसंयुक्तानामनादिभूतानामेषां प्रायो हो भवति । माहो । प्रा० । माघीपूर्णिमायुक्ते, आ० म० १ अ० । प्रश्न० । जी० । कुन्दकुसुमे, दे० ना० ६ वर्ग १२८ गाथा । माघमासे, "सिसिरो फग्गुण–माहो" पाइ० ना० २०७ गाथा ।

माहण–माहन–ब्राह्मण–पुं० । मा हनेत्येवं–योऽन्यं प्रति वक्ति स्वयं हननिवृत्तः सन्नसौ माहनः । ब्रह्म वा ब्रह्मचर्यं–कुशलानुष्ठानं वाऽस्यास्तीति ब्राह्मणः । भ० १ श० ७ उ० । मा वधीरित्येवं प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । उत्तरगुणमूलगुणवति संयते, स्था० ५ ठा० २ उ० । मा हन इति परं प्रत्याचक्षाणे स्वयं हनननिवृत्ते मूलगुणधरे, स्था० ३ ठा० १ उ० । साधौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । सूत्र० । आतु० । जीवहिंसानिषेधकारिणि दर्श० ५ तत्त्व । सूत्र० । द्विजातौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । मुनौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । भ० । सूत्र० । तीर्थकृति "माहणेणं मईमया" (१ गाथा) सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । दश० । भ० । नि० चू० । औ० । स्वयं हनननिवृत्तत्वात्परं प्रति मा हनेति वादिनमुपलक्षणत्वादेव मूलगुणक्त इति भावः । श्रावके, माहनः श्रावकः । भ० २ श० ५ उ० । आ० चू० । आचा० । आ० म० । नं० । औ० । (किं ब्राह्मण्यम्, के शिष्याः इति 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ५६ पृष्ठे गतम्) ब्राह्मणस्त्रियाम्, स्त्री० । "धिग्ब्राह्मणीर्धवाऽभावे, या जीवति मृता इव । धन्या मन्ये जनैश्शूद्री, पतिलक्षेऽप्यनिन्दिता॥१॥" स्था० ४ ठा० १ उ० ।

माहणकुंडग्गाम–ब्राह्मणकुण्डग्राम–पुं० । मगधदेशे स्वनामख्याते ग्रामे, आ० चू० १ अ० । कल्प० । आचा० ।

माहणकुल–ब्राह्मणकुल–न० । ब्राह्मणसन्ताने, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

माहणग्गाम–ब्राह्मणग्राम–पुं० । ब्राह्मणकुण्डग्रामे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

माहणज्झयण–ब्राह्मणाध्ययन–पुं० । कौशाम्ब्यां वृहस्पतिदत्तनामके पुत्रे, स्था० १० ठा० । (कौशाम्ब्यां वृहस्पतिदत्तनामा ब्राह्मणः, तद्वृत्तम्–'कम्मविवागदसा' शब्दे तृतीयभागे ३४४ पृष्ठे गतम्)

माहणपुत्त–ब्राह्मणपुत्र–पुं० । ब्राह्मणसन्ताने, स्था० ६ ठा० ।

माहणवसिट्ठणाय–ब्राह्मणवशिष्ठन्याय–पुं० । ब्राह्मण आयातो वशिष्ठोऽप्यायात इति सामान्यग्रहणेन विशेषस्यापि ग्रहणे सत्यपि पृथगुपन्यासार्थके लोकन्याये, आ० म० १ अ० ।

माहणसत्थ–ब्राह्मणशास्त्र–न० । ब्राह्मणसम्बन्धिनि शास्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

माहणी–ब्राह्मणी–स्त्री० । ब्राह्मणस्त्रियाम्, उत्त० ४ अ० । आ० म० ।

माहप्प–पुं० न० । माहात्म्य–न० । वाद्यर्थ–वचनाद्याः ॥८।१।३३॥ इति पुंस्त्वं वा । माहप्पं । माहप्पो । प्रा० । अद्भुतायां शक्तौ, व्य० १ उ० । महानुभावतायाम्, उत्त० २ अ० । द्वा० । दर्श० ।

माहमाला–माघमाला–स्त्री० । माघमासे मालापूजायाम्, जीवा० ।

कुग्गाहुच्छाइयसुह–विवेयपसरा रसंति एवं ऽन्ने ।
णो माहमाल जुत्ता, सिद्धंऽते जेण पडिसिद्धा ॥ ४३ ॥

कुग्राहेण–दुष्टाभिप्रायेण, उच्छादितः–अपनीतः, शुभः–प्रशस्तो, विवेकप्रसरः–कृत्यानुष्ठानविभागो येषां ते रसन्ति–जल्पन्ति । एवम्–वक्ष्यमाणप्रकारेण, अन्ये–अपरे । तदेवाह–(नो)–नैव, माघमाला प्रतीता, युक्ता–संगता । किमितीत्याह–सिद्धान्ते–आगमे यस्मात्प्रतिषिद्धा–निवारितेति गाथार्थः । तमेव निषेधं दर्शयितुं पराभिप्रायेण किंचिदूनं गाथार्द्धमाह–

लोइयतित्थेसुं ण्हा–णदाणइचाइवयउ······

लौकिकतीर्थेषु–पराभिमतपुण्यक्षेत्रेषु, अनुस्वारोऽत्र पूर्ववत्, स्नानदानमित्यादिवचः, आदिशब्दात् संक्रान्तिग्रहः । तत्र स्नानं–तत्तीर्थेषु जलादिना, दानं तु तत्सम्मतक्षेत्रे द्रव्यादिवितरणं न कार्यमिति प्रक्रमाद् दृश्यम् श्रावकाणाम्, अयमभिप्रायः–यत् किमपि लौकिकैर्धर्मार्थं विधीयते पूर्वोक्तं तच्छ्रावकैः कर्तुं न युज्यते।माघमालामपि ते आदिशब्दाद् गृह्णन्ति इति भावः। अत्रोत्तरार्द्धसार्द्धां किंचिदधिकां गाथां पराभिमतयुक्तिसहितामाह–

·······························वं नो ।
जं जं लोए कीरइ, तं तं जइ सव्वमकज्जं ॥ ४४ ॥
तो जत्ता रहभमणं, उववासो देवभवणपूयाऽऽइ ।
मा कुणह सया तुम्हा, लोए किज्जंति जुत्तीतो ॥ ४५ ॥

तत्–परोक्तं, नेति निषेधे । यद्यल्लोके–परदर्शने क्रियते तत् तत् यदि सर्वम्–समस्तम्, अकार्यं ततस्तस्मात्, यात्राऽपि–विशिष्टमहिमा, रथभ्रमणं–जैनस्यन्दनभ्र–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मणम्, आदिशब्दात्प्रतिमाप्रेक्षणकादिग्रहः। मेति निषेधे, कुरुत--विधत्त, कर्मपदं तु सर्वत्र स्वयं संबन्धनीयम्, सदा-सर्वदा (तुम्हे त्ति) यूयम्। कस्मात् लोके-परमते क्रियन्ते-विधीयन्ते युक्तितः कारणादिति गाथार्थः।

परोत्सादनपूर्वं स्वपक्षस्य पुष्टिमाह-

एयं पि जुज्जइ चिय, जइ सक्का, वारियं भवेज्ज इमं।
समईए वारिताणं, अंतरायं जतो भणियं ॥ ४६ ॥

एतदपि--भवदुक्तमपि न केवलं मदुक्तम्, युज्यत एव-घटत एव, यदि साक्षात्प्रकटम्, वारितम्—निषिद्धम्, भवेत् इदम्-मालारोपणं, "माघमाला न क्रियत" इति, स्वमत्या-निजाभिप्रायेण,वारयताम्-प्रतिषेधं कुर्वताम्, अन्तरायोऽष्टमप्रकृतिविशेषलक्षणो भवतीति गम्यते, यस्माद्भणितं शतककर्मग्रन्थ इति शेष इति गाथार्थः।

तदेवाह--

पाणिवहाईनिरओ, जिणपूयामोक्खमग्गविग्घयरो।
अज्जेइ अंतरायं, ण लहइ जेणिच्छियं लाभं ॥ ४७ ॥

प्राणिवधादिनिरतो-जीवव्यापादनसक्तः, आदिग्रहणात् मृषावादादिग्रहः, जिनपूजा सर्वज्ञाभ्यर्चनम्, मोक्षमार्गो यथावस्थितशुद्धप्ररूपणादिलक्षणः, तयोर्विघ्नकरो-भञ्जकः, अर्जयति-स्वीकरोति अन्तरायकर्म विशेषितस्यैव फलमाह-नो निषेधे, लभते-प्राप्नोति, येन कर्मणोपार्जितेन इच्छितम्-अभिलषितं, लाभम्-धनधान्यादिकम्। अयमभिप्रायः-इयं माघमाला-जिनपूजा न भवति, भवति वा ?, यदि न भवति ततो ऽनिर्दोषा, वारयतापि यूयम्, भवति चेत् ततो निश्चितं मद्भणितं फलं भवतां हठादागच्छति। इति गाथार्थः।

अत्रापि जीवोपदेशमाह-

मा मा तुमं णिवारसु, पूयं रे जीव ! जिणवरिंदाणं।
जइ सयलसोक्खवल्ली-णमप्पणो महसि उल्लासं ॥४८॥

मा मेति-अत्यादरकरणार्थं, वीप्सानिर्देशो निषेधार्थः, त्वम्-भवान्, निवारय-निषेधय, पूजाम्-सपर्यां, रे जीवेत्यामन्त्रणे, जिनवरेन्द्राणाम्-सर्वज्ञप्रतिकृतीनाम्, यदीति स्वाभिप्रायसूचकार्थः, सकलसौख्यवल्लीनां-समस्तसातलतानामात्मनो-जीवस्य-महसि-वाञ्छसि,उल्लासम्-वृद्धिम्। इति गाथार्थः।

तथा कोऽयं तवाभिनिवेशो यदुत लौकिकं न क्रियते अविरुद्धं तदपि विधीयते इति दर्शयन् विशेषावश्यकोक्तां गाथामाह--

जं अत्थओ अभिन्नं, अण्णत्था सद्दओ वि तह चेव।
तंमि पओसो मोहो, विसेसतो जिणमयठियाणं ॥४९॥

यत्-किमपि अनवधारितरूपम्,अर्थतः सिद्धं येन अभिन्नम् व्यतिरिक्तोचितम्,अन्वर्थात्-युक्ताभिधेयात्, शब्दतोऽपि वचनतोऽपि, तथा चैवाभिन्नमेव च तस्मिन् शब्दार्थाभिन्ने जिनवचनमाश्रित्य प्रद्वेषो-मत्सरो, मोहो मूढतेयं विशेषतः आदरेण जिनमतस्थितानाम्-सर्वज्ञागमस्थितानाम्, यथा- "पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम्। अहिंसा सत्यमस्तेयं,त्यागो मैथुनवर्जनम्"॥१॥ इत्यादिषु। इति गाथार्थः।

सूत्रेणैव ससंबद्धां गाथामाह—

किं वाऽणुमयं हरिभ-द्दसूरिणो किं वि लोइयं जेण।
भणियं विस्सट्ठवणे, विहिमागमलोगनीईए ॥ ५० ॥

'किं वा' अभ्युच्चये,अनुमतम्-सम्मतम्, हरिभद्रसूरेरावश्यकादिवृत्तिकर्तुः, किमपि-तत्सर्वतीर्थस्नानादिकं, लौकिकम्-लोकाचीर्णं, यस्माद्भणितं-प्रतिपादितं विश्वस्थापने-विश्वस्थापनपञ्चाशके। किं भणितं तदाह-(विहिमागमलोगनीईए त्ति) विधानं वक्ष्ये-अभिधास्ये, आगमनीत्या-लोकनीत्या वा। इति गाथार्थः।

यद्यत्र लोकग्रहणं ततः किमित्याह-

लोयग्गहणाउ सिरिअभय-सूरिहिँ जं तत्थ वक्खायं।
अविरुद्धं लोइयमवि, कीरइ पासायकरणाई ॥ ५१ ॥

लोकग्रहणात्--लोकशब्दप्रतिपादनात्, श्रीअभयदेवसूरिभिः—भगवत्यादिशास्त्रवृत्तिकारिभिः, तत्र-बिम्बस्थापनपञ्चाशकवृत्तौ, व्याख्यातम्—विवृतम्। किं तदित्याह—अविरुद्धम्—अदूष्यम्, लौकिकमपि—इतरदर्शनसत्कमपि सकलमेवेत्यपिशब्दार्थः। क्रियते-विधीयते,प्रासादकरणादि-श्रीवत्सादिप्रासादविधानादि, आदिशब्दात्-शेषाविरुद्धपरिग्रहः। इदमत्र हृदयम्--सकललौकिकैर्निजदेवकुले वास्तुविद्योक्तप्रासादादिः कार्यते सोऽस्माकमपि देवसदने विधीयते न तत्र मिथ्यात्वम्,मालापीयमस्माभिरस्मिन् आदिशब्दे क्षिप्यते, अतोऽनवद्या। इति गाथार्थः। समाप्तोऽयं माघमाला-प्रतिपादकः सप्तमोऽधिकारः। जीवा० ७ अधि०।

माहविआ-माधविका-स्त्री०। माधवलतायाम्, " अइमुत्तो माहविआ " पाइ० ना० २५६ गाथा।

माहसिणाण-माघस्नान-न०। माघमासे स्नाननियमे, यद्दिनतः प्रारभ्य शैवा माघस्नानं कुर्वते तद्दिनत एवारभ्य केचन श्राद्धा अपि स्वगृहे उष्णोदकादिना स्नात्वा जिनधाम्नि गत्वा जिनपूजां कुर्वन्ति, मासप्रान्ते जिनभक्त्यर्थं रात्रिजागरणं मोदकादिलम्भनिकामपि कुर्वते,माघस्नानमिदमुच्यते, तत्करणे च मिथ्यात्वं स्यादित्युक्त्वा केचन एतत्कृत्यं निषेधयन्तः सन्ति, तत्प्रमाणमप्रमाणं वेति ? प्रश्ने, उत्तरम्-माघमासं यावदुष्णोदकादिना स्नानकरणं पूजाकरणं तत्प्रान्ते रात्रिजागरणं लम्भनिकादिकरणं च न युक्तिमत्प्रतिभाति प्रसङ्गदोषादिभयादनाचीर्णत्वादिति। ३०४ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

माहरयण-देशी-वस्त्रे, दे० ना० ६ वर्ग १३२ गाथा।

माहिंद-माहेन्द्र-पुं०। चतुर्थदेवलोके, तदिन्द्रे च। स० ७० सम०। आ० चू०। प्रव०। स्था०। जं०। प्रश्न०। अहोरात्रस्य त्रिंशत्तमे मुहूर्त्ते, स० ३० सम०। जं०। ज्यो०। विशे०। चं० प्र०। अनु०। उत्तराहाणां माहेन्द्रकल्पस्येन्द्रे,स्था० २ ठा० ३ उ०। अनु०।

माहिल-देशी-महिषीपाले, दे० ना० ६ वर्ग १३० गाथा।

माहिवाअ-देशी-शिशिरवाते, दे० ना० ६ वर्ग १३१ गाथा।

माही-माघी-स्त्री०। मघानक्षत्रे भवा पूर्णिमा माघी। मघानक्षत्रभाविन्याममायाम्,पूर्णिमायां च। सू० प्र० १० पाहु०। जं०।

माहु-माहु-अव्य०। यस्मादर्थे, नि० चू० १ उ०।

माहुर-देशी-शाके, दे० ना० ६ वर्ग १३० गाथा।

माहुरक- माधुरक--पुं०। अनम्लरसे, आ० म० १ अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माहुरयविहि–माधुरकविधि–पुं०। अनम्लरसे,उपा०। ('माहुरयविहिपरिमाणं करेइ' इत्यादिना 'आणंद' शब्दे द्वितीयभागे ११० पृष्ठे सूत्रितम्) (माहुरय त्ति) अनम्लरसानि शालनकानि। उपा० १ अ०।

माहुरवायणा–माथुरवाचना–स्त्री०। मथुराजातायां वाचनायाम्, ज्योतिष्करण्डकातिरिक्तसूत्राणां माथुरी वाचना। ज्यो० २ पाहु०।

माहुराहार–माथुराहार–पुं०। मथुरायाः परिभोग्ये तत्समासन्ने देशे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

माहुरी–माथुरी–स्त्री०। मथुरापुरीसङ्घटितत्वात् इयं वाचना माथुरीत्यभिधीयते। मथुरापुरीजातायां वाचनायाम्, नं०। सा च तत्कालयुगप्रधानानां स्कन्दिलाचार्याणामभिमता तैरेव चार्थतः शिष्यबुद्धिं प्रापिता इति तदनुयोगात्तेषामाचार्याणां संबन्धीति व्यपदिश्यते। नं०। ('खंदिल' शब्दे तृतीयभागे ६६८ पृष्ठे अत्र मतान्तरं निरूपितम्)

माहुलिंग– मातुलिङ्ग–न०। वितस्ति वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे हः॥ ८। १। २१४॥ इति तकारस्य हकारः। बीजपूरे, प्रा० १ पाद।

माहिं(हिं)दज्झय–माहेन्द्रध्वज–पुं०। माहेन्द्रा इत्यतिमहान्तः समयभाषया, ते च ते ध्वजाश्चेति। अथवा–माहेन्द्रस्य शक्रादेर्ध्वजा माहेन्द्रध्वजाः। महत्सु ध्वजेषु, इन्द्रध्वजादिषु, प्रव० २६६ द्वार।

माहेसरजाया–माहेश्वरजाया–स्त्री०। मायायाम्, अने०।

माहेसरी–माहेश्वरी–स्त्री०। महत्या ईश्वर्या कृतेति माहेश्वरी। त्रिपृष्ठपाचलाख्यवलदेववासुदेवनिवेशितायां स्वनामख्याता-यां पुर्य्याम्, यत्र वज्रस्वामिना बौद्धानां जयोऽकारि। आ० म० १ अ०। आ० चू०। पञ्चा०। आ० क०। प्रज्ञा०। ब्राह्म्यादिलिपिभेदे, स० १८ सम०।

मि–मि–अव्य०। मार्दवे, आ० म० १ अ०। मीति वाक्यालंकारे, आ० म० १ अ०। णे णं मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं अमा॥ ८। ३। १७०॥ इत्यमा सह अस्मदो 'मि' आदेशः। माम्–इत्यर्थे, प्रा० ३ पाद। नि० चू०।

मिअ–मित–न०। परावर्तनं कुर्वतः परेण वा क्वचित् पृष्टस्याक्षरसंख्यया पदसंख्यया वा परिच्छिन्ने, आ० म० १ अ०। तुच्छे, "मिअं तुच्छं" पाइ० ना० २६५ गाथा।

मृग–पुं०। हरिणे, 'मृग इव' तनुत्वभीरुत्वादितद्धर्मयुक्ते, स्था० ४ ठा० २ उ०।

मिअंक–मृगाङ्क–पुं०। मसृण-मृगाङ्क–मृत्यु–शृङ्ग–धृष्टे वा॥ ८। १। १३०॥ इति ऋत इत्त्वम्। मिअङ्को। प्रा०। चन्द्रे, पं० व० १ द्वार।

मिअंग–मृदङ्ग–पुं०। इदुतौ वृष्ट–वृष्टि-पृथङ्-मृदङ्ग–नप्तृके॥ ८। १। १३७॥ इति ऋत इकारोकारौ। मिअंगो। पक्षे–मुइंगो। वाद्यभेदे, प्रा०। ('मुइंग' शब्दे व्याख्यास्यते)

मिअगंध–मृगगन्ध–पुं०। सुषमसुषमाकालभाविनि, जं० ४ वक्ष०।

मिअसिर–मृगशिरस्–न०। नक्षत्रभेदे, अभिजितमादिं कृत्वा द्वादशं नक्षत्रं मृगशिरः। जं० ७ वक्ष०।

मिआवई–मृगावती–स्त्री०। प्रथमवलदेववासुदेवमातरि, आ० व० १ अ०।

मिउ–मृदु–त्रि०। प्रतनुपरिणामे, बृ० १ उ०। वहिर्वृत्त्या विनयवति, उत्त० २७ अ०। कोमले, नं०। स्था०। विशदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रा०। मनोज्ञे, रा०। जं०। अस्तब्धे, ध० ३ अधि०। सुकुमारे, औ०। अकर्कशे, तं०। जी०। उत्त०। स्पृश्ये, तिनिसलतादिगतो मृदुः। कर्म० १ कर्म०।

मिउकम्म–मृदुकर्मन्–न०। मृदुसंज्ञकनक्षत्रेषु करणीये कार्ये, "अणुराहा रेवई चेव, चित्ता मिअसिरं तहा। मिउनेयाणि चत्तारि, मिउकम्मं तेसु कारये॥ १॥" दश० १ अ०।

मिउकालुणिया–मृदुकारुणिका–स्त्री०। श्रोतुर्हृदयमार्दवजननान्मृद्वी चासौ कारुणिकी च कारुण्यवती मृदुकारुणिकी। पुत्रादिवियोगदुःखदुःखितमात्रादिकृतकारुण्यरसगर्भप्रलापप्रधानायां विकथायाम्, स्था० ७ ठा०। ग०।

मिउकुंडलकुंचियकेस–मृदुकुण्डलकुञ्चितकेश–त्रि०। मृदवः कुण्डलमिव दर्भादिकुण्डलकमिव कुञ्चिताश्च केशा यस्य स तथा। आभुग्नकेशवति, भ० १५ श०।

मिउणाम–मृदुनामन्–न०। स्पर्शनामभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं हंसरुतादिवन्मृदु भवति तन्मृदुनाम। कर्म० १ कर्म०।

मिउपिंड–मृत्पिण्ड–पुं०। मृत्तिकापिण्डे, पञ्चा० १ विव०।

मिउमद्दवसंपण्ण–मृदुमार्दवसम्पन्न–पुं०। मृदु–मनोज्ञं–परिणामसुखावहमिति भावः यन्मार्दवं तेन सम्पन्नाः। कपटमार्दवानुपेतेषु, तं०। कल्प०। रा०।

मिउमसूरग–मृदुमसूरक–पुं०। आस्तरणविशेषे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

मिउविसय–मृदुविशद–त्रि०। कोमलविशदगुणयुक्तेषु, "मिउविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लियग्गसिरयाउ" मृदवः–कोमलाः, विशदा–निर्मलाः, प्रशस्तानि–शोभनानि अस्फुटितत्वप्रभृतीनि लक्षणानि येषां ते प्रशस्तलक्षणाः, संवेल्लितं संवृतमग्रं येषां शेखरककरणात् ते संवेल्लिताग्राः, शिरोजाः केशा यासां ताः। जी० ३ प्रति० १ उ०।

मिंजा–मिञ्जा–स्त्री०। अस्थिमध्यवर्तिनि धातौ, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। औ०। रा०। बीजे, स्था० १० ठा०।

मिंजिया–मिञ्जिका–स्त्री०। त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति०।

मिंठ–मिण्ठ–पुं०। अकामनिर्जराशब्दे उक्ते स्वनामख्याते पुरुषे, आ० म० १ अ०।

मिंढ–मेढ्र–न०। लिङ्गे, ध० ३ अधि०। मेषे, स्था० ४ ठा० १ उ०। हस्तिपके इति संभाव्यते। आ० क० ४ अ०।

मिंढमुह–मेण्डमुख–न०। यमदग्निश्वशुरपुरे, दर्श० ४ तत्त्व।

मिंढिआ–देशी०। गड्डरिकायाम्, "मिंढिआओ अविलाओ" पाइ० ना० २१६ गाथा।

मिंढियमुह–मेढिकमुख–पुं०। स्वनामख्याते अनार्यदेशे, प्रव० २७४ द्वार। भ०। स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र वीरस्वामि–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नो रोगातङ्काः प्रादुर्भूताः। यत्र च रेवती श्राविका अवात्सीत्। आ० म० १ अ०।

मिग(य)-मृग-पुं०। बालशिक्षके, व्य० ३ उ०। आरण्यपशौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। अज्ञानिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। दर्श०। दश०। विपा०। औ०।

मिगकोट्ठग-मृगकोष्ठक-न०। यमदग्निऋषिपिश्वशुरपुरे, आ० म० १ अ०।

मिगचरिया-मृगचर्या-स्त्री०। मृगभोजनपानविधौ, उत्त० १९ अ०।

मिगज्झय-मृगध्वज-पुं०। मृगालेख्यरूपोपेते ध्वजे, रा०।

मिगतण्हा-मृगतृष्णा-स्त्री०। जलभ्रान्तौ, अष्ट० ७ अष्ट०।

मिगमण-मृगमनस्-त्रि०। भीरौ, स्था० ४ ठा० २ उ०।

मिगलुद्धय-मृगलुब्धक-त्रि०। मृगानेव मारयित्वा भुञ्जानेषु वानप्रस्थेषु, औ०। नि०।

मिगरहिय-मृगरहित-त्रि०। मृगत्वेन रहितो मृगरहितः। गीतार्थावस्थे, दर्श० ४ तत्त्व।

मिगलोयणा-मृगलोचना-स्त्री०। राजीमत्याः स्वनामख्यातायां सख्याम्, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

मिगवण-मृगवन-न०। वीतभयनगरस्य बहिरुद्याने, भ० १३ श० ६ उ०। रा०।

मिगवालुंकी-मृगवालुङ्की-स्त्री०। लोकप्रसिद्धे वालुङ्कीतिप्रतीते वनस्पतौ, कटुकरसत्वात्कृष्णलेश्याया एतत्सदृश आस्वादः। प्रज्ञा० १७ पद ४ उ०।

मिगसमान-मृगसमान-त्रि०। मृगसदृशे, व्य० २ उ०।

मिगसिर-मृगशिरस्-न०। सोमदैवत्ये त्रितारे नक्षत्रभेदे, चं० प्र० १ पाहु०। सू० प्र०। ज्यो०। अनु०। स०।

मिगसीसाऽवली-मृगशीर्षावली-स्त्री०। मृगपशोः शीर्षपुद्गलानां दीर्घरूपायां श्रेणौ, जं० ७ वक्ष०।

मिगावई-मृगावती-स्त्री०। कौशाम्ब्यां नगर्यां सहस्रानीकस्य राजपुत्रशतानीकभार्यायां चेटकराजदुहितरि उदयनराजमातरि, भ० २ श० ५ उ०। आव०। आ० चू०। आ० म०।

जम्बूद्वीप इह द्वीपः, पोतवल्लवणोदधौ।
कूपस्तम्भो यत्र मेरु-र्गङ्गा सितपटः पुनः ॥ १ ॥
तत्रास्ति भरतक्षेत्रं, बहुधाऽन्यमनोरमम्।
आश्चर्यं खात्पातोऽस्मि-न्निदानं च न कुत्रचित् ॥ २ ॥
श्रीसंकेतनिकेताभं, तत्र साकेतपत्तनम्।
सदाचारपरो यत्र, ज्योतिश्चक्रायते जनः ॥ ३ ॥
तत्र चेशानकोणेऽस्ति, मेदिनीमुकुटोपमम्।
सुरप्रियस्य यक्षस्या-यतनं शिखराद्भुतम् ॥ ४ ॥
स च सप्रातिहार्योऽस्ति, यक्षस्तत्तद्भवद्भयैः।
वर्षे वर्षे चित्रयित्वा, क्रियते सुमहान्महः ॥ ५ ॥
चित्रितश्च सदा तं स, हन्ति चित्रकरं नरम्।
चित्र्यते चेन्न तल्लोके-मारिमारभतेतराम् ॥ ६ ॥
ततश्चित्रकराः सर्वे, प्राक्रमन्त पलायितुम्।
न कान्दिशीकः को वा स्या-त्कृतान्तेन कटाक्षितः ॥ ७ ॥
राज्ञा ज्ञातं पलाय्यैते, यदि यास्यन्ति चित्रकाः।
यक्षो रक्षोवदीर्ष्यालु-र्भाव्ययं तद्वधाय नः ॥ ८ ॥
प्रतिभूः संकलाबद्धा, श्रेणिश्चित्रकृतां कृता।
कवलालीव यक्षस्य, क्रमग्राह्या महीभृता ॥ ९ ॥
लेखयित्वाऽथ तन्नाम, पत्राण्यक्षेपयद् घटे।
प्रत्यब्दं नाम निर्याति, यस्य चित्र्योऽथ तेन सः ॥ १० ॥
एवं च सति कौशाम्ब्या-श्चित्रं शिक्षितुमागमत्।
चित्रकृद्दारकश्चित्र-कृतां पुण्यैरिवेरितः ॥ ११ ॥
वसंस्तत्र स चित्राणि, चित्रकर्माणि शिक्षितः।
तस्यासीन्मित्रमेकश्च, स्थविरीपुत्रचित्रकः ॥ १२ ॥
स्थविरीसुतनामाङ्कं, वर्षे तस्मिश्च पत्रकम्।
कुम्भतो निरगादागा-न्नखः पितृपतेरिव ॥ १३ ॥
स्थविरी सा तदाकर्ण्य, तत्कर्णकटुकं वचः।
रुरोद रोदयन्ती च, रोदसी अपि दैन्यतः ॥ १४ ॥
किं ममाशालतां दैव !, कुठारेणैव कृन्तसि।
सूनुर्ममैक एवायं, मृतेऽस्मिन् का गतिर्मम ॥ १५ ॥
रुदन्तीं विलपन्तीं च, श्रुत्वा तां मित्रवत्सलः।
कौशाम्बीचित्रकः स्माह, मातर्माऽरुन्तुदं रुदः ॥ १६ ॥
माऽतः कातरतां कार्षी-र्धीरतां धारयाऽधुना।
चित्रयिष्याम्यहं यक्षं, रक्षिष्यामि सुतं तव ॥ १७ ॥
बभाषे स्थविरी भद्र !, न त्वं पुत्रोऽसि किं मम।
उद्घाट्यं वा पिधेयं वा, नेत्रयोः पुत्र ! किं द्वयोः ॥ १८ ॥
स ऊचे सत्यमेवैत-न्मातः किंतु निशम्यताम्।
निजप्राणैः परप्राणा-स्त्रायन्ते पौरुषं हि तत् ॥ १९ ॥
परिधायांऽशुके धौते, कृतषष्ठतपाः शुचिः।
पटप्रान्तेनाष्टपुटे-नावेष्ट्य मुखकोटरम् ॥ २० ॥
सुगन्धिपयसा स्नात्रं, विधाय कलशैर्नवैः।
वर्णकान् वर्णकस्थाना-न्यकार्षीत्कूर्चिका नवाः ॥ २१ ॥
सोऽथ यक्षं प्रयत्नेन, चित्रयामास चित्रकृत्।
भक्त्या कुर्वन् जिनस्येव, मण्डनं चन्दनादिभिः ॥ २२ ॥
चित्रं निर्माय निःशेषं, यक्षमक्षमयत्ततः।
तुतोष सोऽपि तद्भक्त्या, भक्तिग्राह्या हि देवताः ॥ २३ ॥
यक्षस्तं स्माह तुष्टोऽहं, तद् वरं वृणु सोऽवदत्।
वरोऽयमेव मे देव !, मा वधीः कञ्चनाप्यतः ॥ २४ ॥
यक्षस्तं पुनरप्याख्य-त्सिद्धमेतद्भवद्गिरा।
परोपकारसारत्वं, स्वस्मै याचस्व किञ्चन ॥ २५ ॥
सोऽवदद्देव ! यस्यांश-मपि पश्यामि देहिनः।
तस्यानुरूपरूपस्य, चित्रे स्याच्निर्मितिर्मम ॥ २६ ॥
एवमस्त्विति यक्षोक्ते, ज्ञाते राज्ञा स सत्कृतः।
ततो लब्धवरो हृष्टः, कौशाम्बीनगरीमगात् ॥ २७ ॥
शतानीको नृपस्तत्र, चित्रमत्र जगत्त्रये।
विस्तृतं यद्यशश्छत्रं, बद्धं गुणगुणैरपि ॥ २८ ॥
आसीन्मृगावती तस्य, राज्ञो राज्ञी शिरोमणिः।
लावण्यकूपे यद्रूपे, क्रीडति स्मरदर्दुरः ॥ २९ ॥
अथान्यदा सभासीनः, पृच्छति स्म नरेश्वरः।
किं मे नास्त्यस्ति चान्येषा-मेतद् दूत ! निवेदय ॥ ३० ॥
दूतेन भणितं देव !, नास्ति चित्रसभा तव।
तदैव पर्षच्चित्राया-ऽऽदिशच्चित्रकरान्नृपः ॥ ३१ ॥
चित्रकृद्भिः सभा वाह्या, सर्वैर्भागेन चित्रिता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवानां मनसा कार्य-सिद्धिर्वाचा महीभुजाम् ॥ ३२ ॥
तस्य चित्रकृतो यक्ष-पार्श्वप्राप्तवरस्य तु।
नृपस्यान्तःपुरक्रीडा-स्थानं चित्रार्थमर्पितम् ॥ ३३ ॥
तेन चित्रकृता तत्र, कदाचिज्जालिकान्तरे।
मृगावत्याः पदाङ्गुष्ठः, कथंचिन्निरवर्ण्यत ॥ ३४ ॥
ततस्तदनुसारेण, देव्या रूपे विनिर्मिते।
मषीबिन्दुः पपातोरौ, तस्योन्मीलयतो दृशौ ॥ ३५ ॥
उत्सारितोऽपि तेनाऽसौ, पौनःपुन्यात्पपात सः।
पश्चात्तेनाप्यनेनैवं, भाव्यमत्रेति निश्चितम् ॥ ३६ ॥
अथ चित्रसभां पश्य-न्नृपस्तद्देशमागतः।
ददर्श विन्दुमूरुस्थं, देव्या रूपेऽकुपत्ततः ॥ ३७ ॥
नूनमेतेन मद्राज्ञी, घर्षितेति रुषा नृपः।
तं वध्यमादिशच्चित्र-करं क्रोधो हि दुर्द्धरः ॥ ३८ ॥
अथोचुश्चित्रकाः क्षमापं, देवाऽयं वरलब्धिकः।
दोषासङ्गोऽपि नास्त्यस्य, ततो दिनपतेरिव ॥ ३९ ॥
अथास्यादर्शि कुब्जास्यं, राज्ञा तं सोऽलिखत्ततः।
तथापि तर्जन्यङ्गुष्ठौ, छेदयामास तस्य राट् ॥ ४० ॥
सोऽपि तस्यैव यक्षस्य, गत्वाऽग्रेऽनशनोऽपतत्।
यक्षेणोचे चित्रयेस्त्व-मिदानीं वामपाणिना ॥ ४१ ॥
सोऽथ द्वेषी शतानीके, तद्देवीरूपमालिखत्।
तत्प्रद्योतनरेन्द्रस्य, गत्वाऽवन्तीमदर्शयत् ॥ ४२ ॥
तां तेन विदितां ज्ञात्वा, तदर्थी तस्य भूपतिः।
प्रैषीद्दूतं स्मरार्त्ता हि, कृत्याकृत्यं विदन्ति किम् ? ॥ ४३ ॥
सोऽपि निर्भर्त्स्य तं दूतं, निरसार्षीन्मषीमुखम्।
प्रियापरिभवं सोढुं, रङ्कोऽपि क्षमते न हि ॥ ४४ ॥
प्रद्योतोऽप्यागतं वीक्ष्य, दूतं नूतनमण्डनम्।
अमर्षणस्तत्क्षणात्तं, सर्वौघेणाभ्यषेणयत् ॥ ४५ ॥
शतानीकोऽपि तं ज्ञात्वा, मृतो भीत्याऽतिसारतः।
कातरोऽपि हि शूरः स्या-ज्जातु शूरोऽपि कातरः ॥ ४६ ॥
मृगावत्या महासत्या, रक्षितुं शीलमात्मनः।
बुद्धिं कृत्वा ततो दूते-नोच्यताऽवन्ति भूपतिः ॥ ४७ ॥
एष्याम्यहं तवोपान्ते,परं बालो ममारिभिः।
बाधिष्यते स ऊचे तां, दृष्ट्वा मां कोऽस्य बाधिता ॥ ४८ ॥
सा स्माहोच्छीर्षके सर्पो, योजनानां शतेऽभिषक्।
ततो निर्मापयाऽत्र त्वं, वप्रं वर्मेव मे पुरः ॥ ४९ ॥
कारयामीति राज्ञोक्ते, देव्यूचे पुनरप्यदः।
अवन्त्यामिष्टिकाः साध्य-स्तत्ताभिः क्रियतामयम् ॥५०॥
चतुर्दश नृपास्तस्य, स्वाधीनाः सबलास्ततः।
उपकौशाम्ब्यवन्तीत-स्ते परंपरया धृताः ॥ ५१ ॥
इष्टिकास्तैः समानाय्य, प्राकारस्तत्र कारितः।
तृणैः कणैः पूरयित्वा, रोधसज्जीकृता पुरी ॥ ५२ ॥
सिद्धसाध्या प्रद्योतस्य, सा विसंवदिता ततः।
दध्यौ चावैति चेद्वीरः, स्वामी तत्प्रव्रजाम्यहम् ॥ ५३ ॥
प्रद्योतश्च विलक्षोऽस्था-द्यावत्तावज्जिनाधिपः।
श्रीवीरः समवासार्षी-द्वैरं शान्तं जलेऽग्निवत् ॥ ५४ ॥
श्रीवीरो धर्ममाचख्यौ, प्रतिबुद्धो बहुर्जनः।
मृगावती च प्रद्योतं, पृच्छति स्म व्रतार्थिनी ॥ ५५ ॥
सोऽपि तस्यां सभायान्तां, लज्जमानोऽन्वमन्यत।
साऽथ पुत्रमुदयनं, तस्य न्यासमिवार्प्पयत् ॥ ५६ ॥
श्रीवीरपद्महस्तेन, प्रवव्राज मृगावती।
अष्टावङ्गारवत्याद्याः, प्रद्योतस्य च वल्लभाः ॥ ५७ ॥

आ० क० १ अ०। ति०। (उपालम्भेऽप्यस्याः कथा-) स्वपुत्रीकामुकस्य प्रजापतेर्भार्याभूतायां पुत्र्यां प्रथमवासुदेवमातरि, कल्प० १ अधि० २ क्षण। आ० चू०। आ० म०। ति०।

मिगिंद-मृगेन्द्र-पुं०। सिंहे, स्वनामख्याते दार्शनिके विदुषि च। स्था० १ ठा०।

मिगी-मृगी-स्त्री०। मृगीरूपेणोपघातकारिण्यां विद्यायाम्, विशे०। आ० म०। कल्प०।

मिगीपद-मृगीपद-न०। समयभाषया स्त्रीगुह्ये भगे, नि० चू० ४ उ०।

मिच्चु-मृत्यु-पुं०। मसृण-मृगाङ्क-मृत्यु-शृङ्ग-धृष्टे वा ॥ ८।१।१३०॥ इति ऋत इद्वा। मिच्चू। मच्चू। मरणे, प्रा०।

मिच्छ-मिथ्यात्व-न०। मिथ्याभावे, विनयभ्रंशे, स्था० ७ ठा०। मिथ्यादृष्टित्वे, पञ्चा० १० विव०। भ०।

म्लेच्छ-पुं०। पारसीकादौ, 'मिच्छं पडिवरणे' बृ० १ उ० ३ प्रक०।

मिच्छक्कार-मिथ्याकार-पुं०। मिथ्याकरणं मिथ्याकारः। मिथ्याक्रियायाम्, ध० ३ अधि०। कस्याश्चित्स्खलितस्य मिथ्या मदीयं दुष्कृतमिति भणने, बृ० १ उ० २ प्रक०। ध०। पञ्चा०। उपा०। आ० म०। मिथ्या वितथमनृतमिति पर्यायाः। आ० म० १ अ०। ('मिच्छादुक्कड' शब्दे एतद्विषयान् प्रादुष्करिष्यामि)

मिच्छज्झाण-मिथ्याध्यान-न०। मिथ्या विपर्यस्तदृष्टित्वं तद्ध्यानं मिथ्याध्यानम्। जमालिगोविन्दप्रभृतीनामिव दुर्ध्याने, आतु०।

मिच्छतिग-मिथ्या(त्व)त्रिक-न०। मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्षणे मिथ्यात्वत्रये, कर्म० ४ कर्म०।

मिच्छत्त-मिथ्यात्व-न०। ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले ॥ ८।२।२१॥ इति थ्यस्थाने छः। प्रा०। उत्त०। विपर्यासे, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ०। तत्त्वार्थाश्रद्धाने, आव० ५ अ०। अतत्वाध्यवसायरूपे विपर्यस्तावबोधे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। कर्म०। आ० चू०। भगवद्वचनाश्रद्धाने, द्वा० १० द्वा०। अतत्वरुचौ, ध० ३ अधि०। विपर्यस्तश्रद्धाने, स्था० ३ ठा० ३ उ०। संप्रति मिथ्यात्वमाह-(मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ति) (मिच्छं ति) मिथ्यात्वं जिनधर्माद्विपरीतं विपर्यस्तं ज्ञेयमिति शेषः। अत्रायमाशयः-रागद्वेषमोहादिकलङ्काङ्किते अदेवेऽपि देवबुद्धिः। "धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मपरायणः। सत्त्वानां धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते" ॥१॥ इत्यादिप्रतिपादितगुरुलक्षणविलक्षणेऽगुरावपि गुरुबुद्धिः। कर्म० १ कर्म०।

(त्रिविधं मिथ्यात्वम्)-

तिविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते। तं जहा-अकिरिया अविणए अणाणे।

मिथ्यात्वं विपर्यस्तश्रद्धानमिह न विवक्षितम्, प्रयोगक्रियादीनां वक्ष्यमाणतद्भेदानामसंबध्यमानत्वात्, ततोऽत्र मिथ्यात्वं क्रियादीनामसम्यग्रूपता मिथ्यादर्शनानाभोगादिजनितो विपर्यासो दुष्टत्वमशोभनत्वमिति भावः। स्था० ३ ठा० ३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उ० । (अकिरियाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) षद् मिथ्यात्वस्थानानि । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । उत्त० । संथा० ।

णऽत्थि ण णिचो ण कुणइ,कयं ण वेएइ णऽत्थि णिव्वाणं।
णऽत्थि य मोक्खोवाओ, छ मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ ५४ ॥

सम्म० ३ काण्ड । (व्याख्यातानि षडपि स्थानानि ' अणेगंतवाय ' शब्दे प्रथमभागे ४३२ पृष्ठे)

मिथ्यात्वप्रतिक्रमणम्-

मिच्छत्तं—दव्वओ, भावओ य । तत्थ दव्वओ—आगम—णोआगमादि य अणेगविहं । भावतो पुण मिच्छत्तमोहणीयकम्मोदयसमुत्थे तच्च भावासद्दहणाऽसग्गादिलिंगे असुभे आयपरिणामे पएणत्ते । तं तिविहं-संसयियं, अभिग्गाहितं, अणभिग्गहितं । णिमित्तं पुण एतस्स अबोधो, असदभिनिवेसो, संसओ वा । आ० चू० ६ अ० १६५८ गाथाकी टीका ।

मिथ्यात्वं च लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विधा । एकैकमपि देवविषयगुरुविषयभेदाद् द्विविधम्,तत्र लौकिकदेवगतं-लौकिक देवानां-हरिहरब्रह्मादीनां प्रणामपूजादिना तद्भवनगमनादिना च तत्तद्देशप्रसिद्धमनेकविधं ज्ञेयम् १ । लौकिकगुरुगतमपि लौकिकगुरूणां ब्राह्मणतापसादीनां नमस्कृतिकरणं , तदग्रे, पतनं, तदग्रे नमः शिवायेत्यादिभणनं, तत्कथाश्रवणं, तदुक्तक्रियाकरणतः कथाश्रवणबहुमानकरणादिना च विविधम् २। लोकोत्तरदेवगतं तु परतीर्थिकसंगृहीतजिनबिम्बार्चनादिना इहलोकार्थं जैनयात्रागमनमाननादिना च स्यात् ३ । लोकोत्तरगुरुगतं च पार्श्वस्थादिषु गुरुत्वबुद्ध्या वन्दनादिना गुरुस्तूपादावैहिकफलार्थं यात्रोपयाचितादिना चेति भेदचतुष्टयी । तदुक्तं दर्शनशुद्धिप्रकरणे—

दुविहं लोइअमिच्छं, देवगयं गुरुगयं मुणेयव्वं ।
लोउत्तरं पि दुविहं, देवगयं गुरुगयं चेव ॥ ३५ ॥
चउभेअं मिच्छत्तं, तिविहं तिविहेण जो विवज्जेइ ।
अकलंकं सम्मत्तं, होइ फुडं तस्स जीवस्स ॥ ३६ ॥

त्रिविधं त्रिविधेनेत्यत्र भावनामेवमाहुः-

एअं अणंतरुत्तं, मिच्छं मणसा न चिंतइ करेमि ।
सयमेव सो कारउ, अन्नेण कए व सुट्टु कयं ॥ १ ॥
एवं वाया न भणइ, करेइ अण्णं च न भणइ करेहि ।
अन्नकयं न पसंसइ, न कुणइ सयमेव काएणं ॥ २ ॥
करसन्नभमुहखेवा-इएहिँ[1] न य कारवेइ अन्नेणं ।
अन्नकयं न पसंसइ, अएणेण कयं न सुट्टु कयं ॥ ३ ॥

ननु त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यातमिथ्यात्वस्य मिथ्यादृष्टिसंसर्गे कथं नानुमतिरूपमिथ्यात्वप्रसङ्ग इति चेन्न,तस्याऽप्यतिचाररूपस्य वर्जनीयत्वस्यैवोक्तत्वात् । स्वकुटुम्बादिसम्बन्धिनो मिथ्यादृशो वर्जनाशक्तौ संवासानुमतिः स्यादिति चेन्न, आरम्भिणा संवासे आरम्भक्रियाया बलात्प्रसवात् संवासानुमतिसंभवेऽपि मिथ्यात्वस्य भावरूपत्वेन तदसंभवात् । अन्यथा संयतस्य मिथ्यादृष्टिनिश्राया अपि संभवेन तत्संवासानुमतेर्दुर्वारत्वादिति दिक् । यद्यपि तत्त्ववृत्त्या अदेवादेर्देवत्वादिबुद्ध्याऽऽराधने एव मिथ्यात्वं तथाऽप्यैहिकाद्यर्थमपि यत्ताद्याराधनमुत्सर्गतस्त्याज्यमेव, परम्परया मिथ्यात्ववृद्धिस्थिरीकरणादिप्रसङ्गेन प्रेत्य दुर्लभबोधित्वापत्तेः । यतः-

अन्नेसिं सत्ताणं, मिच्छत्तं जो जणेइ मूढप्पा ।
सो तेण निमित्तेणं, न लहइ बोहिं जिणाभिहिअं ॥ १ ॥

रावणकृष्णाद्यालम्बनमपि नोचितमेव कालभेदात् , यतस्तत्समयेऽर्हद्धर्मस्येतरधर्मेभ्योऽतिशायित्वेन न मिथ्यात्ववृद्धिस्तादृशी, सम्प्रति च स्वभावतोऽपि मिथ्यात्वप्रवृत्तिर्दुर्निवारैवेति ।

अथ मिथ्यात्वं पञ्चविधम् , यदाह-

आभिग्गहिअमणाभि-ग्गहं च तह अभिनिवेसिअं चेव ।
संसइअमणाभोगं, मिच्छत्तं पंचहा एअं ॥ १ ॥ ध० २ अधि० । (आभिग्रहिकमिथ्यात्वम् ' आभिग्गहियमिच्छत्त ' शब्दे द्वितीयभागे २५२ पृष्ठे गतम्) अनाभिग्रहिकं प्राकृतजनानां, सर्वे देवा वन्द्या न निन्दनीया, एवं सर्वे गुरवः सर्वे धर्मा इतीत्याद्यनेकविधम् । २ । आभिनिवेशिकम् जानतोऽपि यथास्थितं दुरभिनिवेशविप्लावितधियो गोष्ठामाहिलादेरिव ।३। अभिनिवेशोऽनाभोगात्प्रज्ञापकदोषाद्वा वितथश्रद्धानवति सम्यग्दृष्टावपि स्याद्,अनाभोगाद् गुरुनियोगाद्वा सम्यग्दृष्टेरपि वितथश्रद्धानभणनात्, तथा चोक्तमुत्तराध्ययननिर्युक्तौ—

" सम्मद्दिट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ।
सद्दहइ असब्भावं, अणभोगा गुरुणिओगा वा ॥१॥ " इति ।

तद्वारणाय दुरिति विशेषणं, सम्यग्वक्तृवचनानिवर्त्तनीयत्वं तदर्थः । अनाभोगादिजनितो मुग्धश्राद्धादीनांवितथश्रद्धानरूपोऽभिनिवेशस्तु सम्यग्वक्तृवचननिवर्तनीय इति न दोषः , तथापि जिनभद्रसिद्धसेनादिप्रावचनिकप्रधानविप्रतिपत्तिविषयपक्षद्वयेऽप्यन्यतरस्य वस्तुनः शास्त्रबाधितत्वात्तदन्यतरश्रद्धानवतोऽभिनिवेशित्वप्रसङ्ग इति तद्वारणार्थं ' जानतोऽपीति ' शास्त्रतात्पर्यबाधप्रतिसंधानवतः, सिद्धसेनादयश्च स्वाभ्युपगतमर्थं शास्त्रतात्पर्यबाधं प्रतिसंधायापि पक्षपातेन न न प्रतिपन्नवन्तः,किन्त्वविच्छिन्नप्रावचनिकपरम्परया शास्त्रतात्पर्यमेव स्वाभ्युपगतार्थानुकूलत्वेन प्रतिसंधायेति न तेऽभिनिवेशिनः । गोष्ठामाहिलादयस्तु शास्त्रतात्पर्यबाधं प्रतिसंधायैवान्यथा श्रद्धधत इति न दोषः, इदमपि मतिभेदाभिनिवेशादिमूलभेदादनेकविधम्-जमालिगोष्ठामाहिलादीनाम् । उक्तं च [चतुर्थोद्देशे] व्यवहारभाष्ये-

" मइभेएण जमाली, पुव्विं वुग्गाहिएण गोविंदो ।
संसग्गीए भिक्खू, गोट्ठामाहिलअहिणिवेसे ॥ २६६ ॥ " त्ति

सांशयिकं देवगुरुधर्मेष्वयमन्यो वेति संशयानस्य भवति । सूक्ष्मार्थादिविषयस्तु संशयः साधूनामपि भवति, स च " तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइअं " इत्याद्यागमोदितभगवद्वचनप्रामाण्यपुरस्कारेण निवर्त्तते , स्वरसवाहितया अनिवर्त्तमानश्च सः सांशयिकमिथ्यात्वरूपः सन्ननाचारापादक एव,अत एवाकाङ्क्षामोहोदयादाकर्षप्रसिद्धिः । इदमपि सर्वदर्शनजैनदर्शनतदेकदेशपदवाक्यादिसंशयभेदेन बहुविधम् । अनाभोगिकं विचारशून्यस्यैकेन्द्रियादेर्वा विशेषज्ञानविकलस्य भवति । इदमपि सर्वांशविषयाव्यक्तबोधस्वरूपं विवक्षितकिञ्चिदंशाव्यक्तबोधस्वरूपं चेत्यनेकविधम् । एतेषु मध्ये आभिग्राहिकाऽऽभिनिवेशिके गुरुके विपर्यासरूपत्वेन सा-

[1] –काएण न करेमि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नुबन्धक्लेशमूलत्वात्। शेषाणि च त्रीणि विपरीतावधारण-रूपविपर्यासव्यावृत्तत्वेन तेषां क्रूरानुबन्धफलकत्वाभावात्, तदुक्तं चोपदेशपदे—

एसो अ एत्थ गुरुओ, णाणज्झवसातसंसया एवं।
जम्हा असप्पवित्ती, एत्तो सव्वत्थऽणत्थफला ॥ १ ॥

दुष्प्रतिकाराऽसत्प्रवृत्तिहेतुत्वेन एष विपर्यासोऽत्र गरीयान् नत्वनध्यवसायसंशयावेवंभूतातत्त्वाभिनिवेशाभावात्, तयोः सुप्रतीकारत्वेनात्यन्तानर्थसंपादकत्वाभावादित्येतत्तात्पर्यार्थः। ध० २ अधि०। वृ०। दर्श०। सूत्र०। पं०सं०। कर्म०। आतु०।

मतिभेदादिना मिथ्यात्वं भवतीति—

मतिभेया, १ पुव्वुग्गह २,
संसग्गीए य ३ अभिनिवेसेणं ४।
गोविंदे य ५ जमाली १,
सावग २ तव्वन्निए ३ गोट्ठे ४ ॥ २६८ ॥

कस्यापि मतिभेदान्मिथ्यात्वं स्यात्, कस्यापि पूर्वव्युद्ग्रहात्, कस्यापि संसर्गात्, कस्यचिद्भिनिवेशेन, अत्रार्थे निदर्शनान्याह—(गोविंदे य इत्यादि) अत्र गोविन्दजमालिशब्दयोर्व्यत्ययेनोपन्यासो गाथानुलोम्यात्; परमार्थतः पुनरेवं पाठः—जमालिर्गोविन्दश्श्रावकः तवनियः श्रावकभिक्षुः गोष्ठे गोष्ठामाहिल, एतानि यथाक्रमं निदर्शनानि।

तथा चाऽऽह—

मतिभेएण जमाली, पुव्वुग्गहिएण होइ गोविंदो।
संसग्गिसावगभिक्खू,गोट्ठामाहिल अभिनिवेसे ॥२६६॥

मतिभेदेन मिथ्यादृष्टिर्जायते यथा—जमालिः,पूर्वव्युद्गृहीतेन भवति मिथ्यादृष्टिर्यथा—गोविन्दः, संसर्गात् यथा—श्रावकभिक्षुः, अभिनिवेशेन यथा—गोष्ठामाहिलः, एतानि च दर्शितानि सुप्रतीतानीति न कथ्यन्ते इति। व्य० ६ उ०।

मिथ्यात्वानि—

दसविधे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा—अधम्मे धम्मसण्णा १ धम्मे अधम्मसण्णा २ अमग्गे मग्गसण्णा ३ मग्गे उम्मग्गसन्ना ४ अजीवेसु जीवसन्ना ५ जीवेसु अजीवसन्ना ६ असाहुसु साहुसन्ना ७ साहुसु असाहुसण्णा ८ अमुत्तेसु मुत्तसन्ना ९ मुत्तेसु अमुत्तसण्णा १०। सूत्र ७३४।

तत्र अधर्मे—श्रुतलक्षणविहीनत्वादनागमे अपौरुषेयादौ धर्मसंज्ञा—आगमबुद्धिर्मिथ्यात्वम्, विपर्यस्तत्वादिति १, धर्मे कषच्छेदादिशुद्धे सम्यक्श्रुते आप्तवचनलक्षणेऽधर्मसंज्ञा, सर्व एव पुरुषा रागादिमन्तोऽसर्वज्ञाश्च पुरुषत्वादहमिवेत्यादिप्रमाणतोऽनाप्तास्तदभावान्न तदुपदिष्टं शास्त्रं धर्म इत्यादिकुविकल्पवशादनागमबुद्धिरिति २, तथा—उन्मार्गो निर्वृतिपुरीं प्रति अपन्थाः वस्तुतत्त्वापेक्षया विपरीतश्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपस्तत्र मार्गसंज्ञा—कुवासनातो मार्गबुद्धिः ३, तथा—मार्गेऽमार्गसंज्ञेति प्रतीतम् ४, तथा—अजीवेषु आकाशपरमाण्वादिषु जीवसंज्ञा—'पुरुष एवेदम्' इत्याद्यभ्युपगमादिति। तथा—

क्षितिजलपवनहुताशन—यजमानाकाशचन्द्रसूर्याख्याः।
इति मूर्त्तयो महेश्वर—सम्बन्धिन्यो भवन्त्यष्टौ ॥१॥ इति ५।

तथा जीवेषु पृथिव्यादिष्वजीवसंज्ञा, यथा न भवन्ति पृथिव्यादयो जीवाः उच्छ्वासादीनां प्राणिधर्माणामनुपलम्भाद् घटवदिति ६, तथा असाधुषु—षड्जीवनिकायवधानिवृत्तेऽप्यौद्देशिकादिभोजिष्वब्रह्मचारिषु—साधुसंज्ञा, यथा—साधव एते सर्वपापप्रवृत्ता अपि ब्रह्ममुद्राधारित्वादित्यादिविकल्परूपेति ७, तथा—साधुषु—ब्रह्मचर्यादिगुणान्वितेषु असाधुसंज्ञा, एते हि कुमारप्रव्रजिता नास्त्येषां गतिरपुत्रत्वात् स्नानादिविरहितत्वाद्वेत्यादिविकल्पात्मिकेति ८, तथा—अमुक्तेषु सकर्म्मसु लोकव्यापारप्रवृत्तेषु मुक्तसंज्ञा, यथा—

अणिमाद्यष्टविधं प्रा—प्यैश्वर्यं कृतिनः सदा।
मोदन्ते निर्वृतात्मान—स्तीर्णाः परमदुस्तरम् ॥ १ ॥

इत्यादिविकल्पात्मिकेति ९, तथा मुक्तेषु—सकलकर्मकृतविकारविरहितेष्वनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्ययुक्तेषु अमुक्तसंज्ञा, न सन्त्येवेदृशा मुक्ताः, अनादिकर्मयोगस्य निवर्त्तयितुम् शक्यत्वादनादित्वादेव आकाशात्मयोगस्येवेति। न सन्ति वा मुक्ताः मुक्तस्य विध्यातदीपकल्पत्वादात्मन एव वा नास्तित्वादित्यादिविकल्परूपेति १०। स्था० १० ठा० ३ उ०।

अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च,"मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥१॥ स्था०। कर्म०।

अकार्ये कृते मिथ्यात्वदोषः—

मिच्छत्तं लोअस्स, न वयणमेयमिह तत्तओ एवं।
वितहासेवणसंका—कारणओ अहिगमेअस्स ॥५६३॥

मिथ्यात्वं लोकस्य भवति। कथमित्याह—न वचनम् एतज्जैनम् 'इह' अधिकारे, 'तत्त्वतः'—परमार्थतः एवम्, अन्यथाऽयमेवं न कुर्यादिति शङ्कया, वितथासेवनया—हेतुभूतया, शङ्काकारणत्वाल्लोकस्य अधिकं मिथ्यात्वमेतस्य—वितथकर्तुरिति गाथार्थः ॥५६३॥ पं० व० २ द्वार। नि० चू०। वृ०। मिथ्यामोहनीये कर्मणि, "मिच्छत्तं वेयंतो, जं अन्नाणी कहं परिकहेइ। लिंगत्थो व गिही वा, सा अकहा देसिया समए" ।२१५। दश० ३ अ०। यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्वाऽश्रद्धानं तन्मिथ्यात्वम्। पं० सं० ३ द्वार। कर्म०। मिथ्यात्वमोहनीयकर्मपुद्गलसाचिव्यविशेषादात्मपरिणामे, आव०४ अ०। "मिश्रं तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्धं तु मिथ्यात्वम्" कर्म०१ कर्म०। "न मिथ्यात्वसमः शत्रुर्न मिथ्यात्वसमं विषम्। न मिथ्यात्वसमो रोगो, न मिथ्यात्वसमं तमः" ॥१॥ ध० १ अधि०। ('असदायार' शब्दे प्रथमभागे ८४० पृष्ठे एतदाद्याः श्लोका दर्शिताः) मिथ्याक्रियाद्यभिलाषे, आतु०। इहलोकार्थम् एकाक्षनालिकेरादिपूजने मिथ्यात्वं भवति न वा? इति प्रश्ने, उत्तरम् ऐहिकफलार्थं दक्षिणावर्तशङ्खादेरिव एकाक्षनालिकेरादेरपि पूजने मिथ्यात्वं ज्ञातं नास्तीति ॥ १६ ॥ सेन० १ उल्ला०। श्राद्धानां गोत्रदेवीपूजने मिथ्यात्वं लगति न वा? इति प्रश्ने, उत्तरम्—यस्य तथाविधं धैर्यं भवति तेन गोत्रदेवी न पूजनीया एव कुमारपालेनेव, तदभावे तु कदाचित्तत्पूजनेऽप्युच्चारितसम्यक्त्वभङ्गो न भवति यतो देवताभियोगेनेति सम्यक्त्वो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च्चारे छिरिडकाऽप्यस्तीति ॥ ३१७ ॥ सेन०३ उल्ला० । चतुर्विधमिथ्यात्वमध्ये लोकोत्तरमिथ्यात्वं गुरु किं वा लौकिकम् , प्राग् लोकोत्तराल्लौकिकं गुरुतरमिति श्रुतमभूद् , अधुना तु लौकिकाल्लोकोत्तरं श्रूयते, तद्व्यक्त्या प्रसाद्यमिति ? प्रश्ने, उत्तरम्—प्रतिक्रमणसूत्रवृत्तिप्रभृतिग्रन्थेषु मिथ्यात्वं लौकिकं देवगतं १ गुरुगतं च २, तथा-लोकोत्तरं देवगतं १ गुरुगतं चेति चतुर्विधमिथ्यात्वमध्ये इदं महदिदं लघ्वित्यक्षराणि तथाविधग्रन्थे न दृष्टानीति द्रव्यक्षेत्रकालभावानुसारेण कथ्यतं इति ॥ ३६ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

मिच्छत्तकिरिया—मिथ्यात्वक्रिया—स्त्री० । मिथ्यात्वमतत्त्वश्रद्धानं तदेव जीवव्यापारत्वात् क्रिया । अथवा-मिथ्यात्वे मिथ्यादर्शने क्रिया । क्रियाभेदे, मिथ्यत्वक्रिया तु सर्वाः प्रकृतीर्विंशत्युत्तरसंख्यास्तीर्थकराऽऽहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गत्रिकरहिता यया बध्नाति सा मिथ्यात्वक्रियेत्यभिधीयते । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । भ० ।

मिच्छत्तख(ओ)उवसम—मिथ्यात्वक्षयोपशम—पुं० । मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वमोहनीयकर्मदलिकस्य क्षयेणोदीर्णस्य विनाशेन सहोपशमो विपाकोदयापेक्षया विष्कम्भितोदयत्वं मिथ्यात्वक्षयोपशमः । मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमे, पञ्चा० १ विव० ।

मिच्छत्तपडिक्कमण—मिथ्यात्वप्रतिक्रमण—न० । आभोगानाभोगसहसाकारैर्मिथ्यात्वगमनान्निवृत्तौ, स्था०५ ठा० ३ उ० ।

मिच्छत्तपरिहाणि--मिथ्यात्वपरिहाणि—स्त्री० । मिथ्यात्वं जिनप्रणीततत्त्वविपरीतश्रद्धानलक्षणं तस्य परिहाणिः सर्वथा त्यागः । त्रिविधत्रिविधेन विथ्यात्व प्रत्याख्याने, ध०२अधि० ।

मिच्छत्तमहण्णवतारणतरिया-मिथ्यात्वमहार्णवतारणतरिका-स्त्री० । कुवासनोदधिपरमयाने, दर्श० ५ तत्त्व ।

मिच्छत्तमहामोहंधयारमूढ--मिथ्यात्वमहामोहान्धकारमूढ-त्रि० । महाँश्चासौ मोहश्च महामोहः,मिथ्यात्वमेव महामोहस्तस्य तस्मात्तेन वाऽन्धकारं सम्यक्त्वस्यावरणं तस्मिंस्तेन वा मूढो मिथ्यात्वमहामोहाऽन्धकारमूढः । मिथ्यादृष्टौ, दर्श० १ तत्त्व ।

मिच्छत्ताहिणिवेस—मिथ्यात्वाभिनिवेश—पुं० । मिथ्यात्वाद् मिथ्यादर्शनोदयाद् योऽभिनिवेश आग्रहः स तथा । भ० ६ श० ३३ उ० । विपर्यासे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

मिच्छादिट्ठि- मिथ्यादृष्टि—पुं० । मिथ्या विपर्यासवती जिनाभिहितार्थसार्थाश्रद्धानवती दृष्टिर्दर्शनं यस्य सः । मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदयादरुचितजिनवचने , स० ६ सम० । मिथ्या विपरीता दृष्टिर्यस्य स मिथ्यादृष्टिः । नं० । उदितमिथ्यात्वमोहनीयविशेषे , स० १४ सम० । विपर्यस्तरुचौ, पञ्चा० १२ विव० । शाक्यादिशासनस्थे, बृ० १ उ० । दर्श० । अज्ञाननियतक्रियावादिके,सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । प्रज्ञा० । विपरीतबोधे, औ० । सूत्र० । स्था० । उत्त० ।

मिथ्यादृष्टेः स्वरूपमाह—

मिच्छादिट्ठी नियमा, उवइट्ठं पवयणं न सद्दहइ ।
सद्दहइ असब्भावं, उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ २५ ॥

मिथ्यादृष्टिः जीवो गुरुभिरुपदिष्टं प्रवचनं नियमात् न श्रद्धत्ते—न सम्यग्भावेनात्मनि परिणमयति, श्रद्धत्ते चेत् उपदिष्टमनुपदिष्टं वा प्रवचनं तर्हि, असद्भूतं मिथ्यारूपमित्यर्थः । श्रद्धत्ते, न सम्यग् यथावदिति ॥ २५ ॥ क० प्र० । आ० चू० ।

पयमक्खरं वि जो एगं, सव्वन्नूहिँ पवेदियं ।
नाएज्ज अन्नहा भासे, मिच्छादिट्ठी स निच्छियं ' ॥

महा० २ अ० । " सूत्रोक्तस्यैकस्या—प्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः । मिथ्यादृष्टिः सूत्रं, हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥१॥ " आ० म० १ अ० । स० । स्था० । आव० । "एकस्मिन्नप्यर्थे, संदिग्धे प्रत्ययोऽर्हति विनष्टः । मिथ्यात्वदर्शनं तत्स चादिहेतुर्भवगतीनाम् ॥ १ ॥ " तस्मान्मुमुक्षुणा व्यपगतशङ्केन सता जिनवचनं सत्यमेव सामान्यतः प्रतिपत्तव्यं संशयास्पदमपि सत्यमेव सर्वज्ञाभिहितत्वात् , तदन्यपदार्थवत् , मतिदौर्बल्यादिदोषात्तु कार्त्स्न्येन सकलपदार्थस्वभावावधारणमशक्यम् । आव० ६ अ० । ध० । आ० म० । (मिथ्यादृष्टिराचार्योऽपि भवति । मिथ्यादृष्टेः किं लिङ्गम् इति ' पवयण ' शब्दे पञ्चमभागे ७८४ पृष्ठे प्रतिपादितम्) सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं, मिथ्यादृष्टेर्भवेद् विपर्यासः । आव० १ अ० ।

जइ एवं तेण तुहं, अन्नाणी कोऽवि नऽत्थि संसारी ।
मिच्छादिट्ठीणं ते, अन्नाणं नाणमियरेसिं ॥ ३१८ ॥

यद्येवमुक्तप्रकारेण संशयादयोऽपि ज्ञानम् , तेन तव ' अज्ञानी नास्ति कोऽपि संसारी जीव ' इति प्राप्तम् , मोक्षे सर्वस्याऽपि ज्ञानं परेणाऽभ्युपगम्यत इति संसारिणामेवाऽयमतिप्रसङ्गलक्षणो दोषः, इत्यभिप्रायवता संसारी इति विशेषणमकारि । एतदुक्तं भवति—' संशयादयोऽज्ञानम् , निर्णयस्त्वबाधितो ज्ञानम् ' इति तावल्लोकव्यवहारस्थितिः । यदि च-भवता संशयादीनामपि ज्ञानरूपता व्यवस्थाप्यते तर्हि समुच्छिन्नोऽयमज्ञानव्यवहारः, ततः कथं नाऽतिप्रसङ्गः ?, दृश्यते च लोकेऽज्ञानव्यवहारः , स कथं नीयते ? इति । अत्रोत्तरमाह—(मिच्छादिट्ठीणमित्यादि) मिथ्यादृष्टीनां सम्बन्धिनस्ते संशयविपर्ययाऽनध्यवसायाः , निर्णयश्चाज्ञानम् , इतरेषां तु सम्यग्दृष्टीनां सम्बन्धिनस्ते ज्ञानम् , इति नाऽज्ञानव्यवहारोच्छेदः । अयमभिप्रायः—लोकव्यवहाररूढो ज्ञानाऽज्ञानव्यवहारोऽत्र न विवक्षितः, किन्तु-आगमाभिप्रायरूढो नैश्चयिकः । आगमे च संशयादिरूपं, निश्चयरूपं वा मिथ्यादृष्टेः सर्वमप्यज्ञानम् , सम्यग्दृष्टेस्तु तदेव सर्वं ज्ञानम् , इत्येवं ज्ञानाऽज्ञानव्यवहारो रूढः । ततश्च यदादौ संशयादित्वेनाऽवग्रहादीनामज्ञानत्वं प्रेरितम् , तदयुक्तम् , न हि संशयादित्वमज्ञानभावस्य निमित्तमागमविचारे, किन्तु—मिथ्यादृष्टिसम्बन्धित्वम् , तच्चेह नास्ति , सम्यग्दृष्टिसम्बन्धिनामेवाऽवग्रहादीनामिह विचारयितुमुपक्रान्तत्वात् , इति भावः, इति गाथार्थः । विशे० । " सम्मदिट्ठिपरिग्गहियं सम्मसुयं , मिच्छदिट्ठिपरिग्गहियं मिच्छसुयं " बृ० १ उ० ।

तद् यथेह प्रदीपस्य, स्वच्छाऽभ्रपटलैर्गृहम् ।
न करोत्यावृतिं काञ्चि—देवमेतद्भवैरपि ॥ १ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकपुञ्जी द्विपुञ्जी च, त्रिपुञ्जी वाऽननुक्रमात् ।
दर्शन्युभयवाँश्चैव, मिथ्यादृष्टिः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

कर्म० १ कर्म० । सम्यग्दृष्टिव्यतिरिक्तानां सर्वथा निर्जरा नास्त्येव ? काचिदस्ति-वा इति ? प्रश्ने, उत्तरम्-सम्यग्दृष्टिव्यतिरिक्तानां जीवानां सर्वथा निर्ज्जरा नास्त्येव इति वक्तुं न शक्यते ।

" अणुकंपऽकामनिज्जर, बालतवे दाणविणयविब्भंगे ।
संजोगविप्पओगे , वसणूसवइड्ढिसक्कारे ॥ १ ॥ "

इति आवश्यकनिर्युक्तौ मिथ्यादृशां सम्यक्त्वप्राप्तिहेतुत्वकामनिर्ज्जराया उक्तत्वात् केषाञ्चिच्चरकपरिव्राजकादीनां स्वाभिलाषपूर्वकं ब्रह्मचर्यपालनाऽदत्तादानपरिहारादिभिर्ब्रह्मलोकं यावद्गच्छतां सकामनिर्ज्जराया अपि सम्भवाच्चेति ॥१७॥ सेन० १ उल्ला० ।" चरगपरिव्वायबंभलोगो जा " इति वचनानुसारेण द्वादशे स्वर्गे ग्रैवेयके च मिथ्यात्विनः केऽवतरन्तीति ? प्रश्ने, उत्तरम्—द्वादशे स्वर्गे गोसालकमतानुसारिण आजीविका मिथ्यादृशो व्रजन्ति, ग्रैवेयके तु यतिलिङ्गधारिनिह्नवादयो मिथ्यादृष्टयो व्रजन्तीत्यौपपातिकादौ प्रोक्तमस्तीति १३१ । सेन०३ उल्ला०। उत्सूत्रभाषिणां सम्यग्दृष्टित्वमुत मिथ्यादृष्टित्वमिति प्रश्ने उत्तरम्—उत्सूत्रभाषिणां मिथ्यादृष्टित्वमाश्रित्य विप्रतिपत्तिः कापि नास्ति, " सूत्रोक्तस्यैकस्या—प्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः । मिथ्यादृष्टिः " इत्यादिवचनादिति ॥ ३७० ॥ सेन० ३ उल्ला० । " तहेव काणं काण त्ति " वचनमुद्भाव्य न मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यादृष्टित्ववचनव्यवहारः कठिनवचनत्वादिति केचनापि प्रतिपादयन्तीति ? प्रश्ने, उत्तरम्—मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यादृष्टिरिति कथनं तदकथनं च यथासमयं विधेयमिति ॥ ३७२ ॥ सेन० ३ उल्ला० । " दक्खिन्नदयालुत्तं, पियभासित्ताइविविहगुणनिवहं । सिवमग्गकारणं जं, तमहं अणुमोअए सव्वं ॥ १ ॥ " " सेसाणं जीवाणं० ॥ २ ॥ " " एमाइं अण्णं पि अ० ॥ ३ ॥ " एतदाराधनापताकागाथात्रयानुसारेण मिथ्यादृष्टीनां दाक्षिण्यदयालुत्वादिकं प्रशस्यते न वेति ? प्रश्ने, उत्तरम्—एतदाराधनापताकाप्रकीर्णकसंबन्धिगाथात्रयमस्ति तन्मध्ये यति-॥ १ ॥ देशविरतिश्रावका-॥ २ ॥ ऽविरतसम्यग्दृष्टि-॥ ३ ॥ जिनशासनसंबन्धिभिर्विनाऽन्येषां दाक्षिण्यदयालुत्वादिकं प्रशस्यतयोक्तं, ततो युक्तं ज्ञातं नास्ति, यत एते गुणाः श्रीजिनैरनेतव्याः एव कथितास्सन्तीति ॥ ४४५ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

हीरविजयसूरीश्वरप्रसादीकृतद्वादशजल्पमध्येऽनुमोदनाजल्पोऽस्ति, तत्र दानरुचिपणुं स्वाभावि विनीतपणुं अल्पकषाईपणुं परोपकारीपणुं भव्यपणुं इत्यादिका ये ये मार्गानुसारिसाधरणगुणा मिथ्यात्विसम्बन्धिनस्तथा परपक्षिसम्बन्धिनश्चानुमोदनार्हा लिखितास्सन्ति, तदाश्रित्य केचन नवीनं विपरीतार्थं कुर्वन्तः श्रूयन्ते, तद्यथा-येषामसद्ग्रहो नास्ति तेषामेवैते गुणा अनुमोदनयोग्याः, परं यस्य कस्यापि जल्पस्यासद्ग्रहो भवति तस्यैते गुणा नानुमोदनार्हा इत्येतदाश्रित्य सम्यग् निर्णयः प्रसाद्य इति ? प्रश्ने, उत्तरम्—असद्ग्रहमन्तरेणान्येषां ये मार्गानुसारिसाधारणगुणास्तेऽनुमोदनार्हा नाऽन्ये इति वदन्ति तदसत्यमेव, यतो येषां मिथ्यात्वं भवति तेषां कश्चिदसद्ग्रहोऽवश्यं भवत्येवान्यथा सम्यक्त्वमेव प्रतिपाद्यते, शास्त्रमध्ये तु मिथ्यात्वरूपासद्ग्रहे सत्यप्येते मार्गानुसारिगुणा अनुमोदनार्हाः कथितास्सन्ति, यदुक्तमाराधनापताकायाम्—

जिणजम्माईऊसव-करणं तह महरिसीण पारणए ।
जिणसासणंमि भत्ती, पमुहं देवाण अणुमन्ने ॥ ३०८ ॥
तिरिआण देसविरइं, पज्जंताऽऽराहणं च अणुमोए ।
सम्मद्दंसणलंभं, अणुमन्ने नारयाणं पि ॥ ३०९ ॥
सेसाणं जीवाणं, दाणरुइत्तं सहावविणियत्तं ।
तह पयणु कसायत्तं, परोवगारित्तभव्वत्तं ॥ ३१० ॥
दक्खिन्नदयालुत्तं, पिअभासित्ताइविविहगुणनिवहं ।
सिवमग्गकारणं जं, तं सव्वं अणुमयं मज्झ ॥ ३११ ॥
इअ परकयसुकयाणं, बहूणमणुमोअणा कया एवं ।
अह नियसुचरियनियरं, सरेमि संवेगरंगेणं ॥३१२॥ इति ।
अहवा सव्वं चिअ वी—अरायवयणाणुसारि जं सुकडं ।
कालत्तए वि तिविहं, अणुमोएमो तयं सव्वं ॥ ५८ ॥ इति ।

चतुश्शरणेऽपि, अथ च मिथ्यात्विनां परपक्षिणां च दयामुखः कश्चिदपि गुणो नानुमोदनीय इति ये वदन्ति तेषां सा मा मतिः कथं कथ्यत इति ॥ १०३ ॥ सेन० ४ उल्ला० । चरकपरिव्राजकतामलयादिमिथ्यादृष्टीनां तपश्चरणाद्यज्ञानकष्टं कुर्वतां सकामनिर्ज्जरा भवत्यकामनिर्जरा वा इति, केचन वदन्ति तेषामकामनिर्ज्जरैवेति साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-ये चरकपरिव्राजकादिमिथ्यादृष्टयोऽस्माकं कर्मक्षयो भवत्विति धिया तपश्चरणाद्यज्ञानकष्टं कुर्वन्ति तेषां तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिसमयसारसूत्रवृत्तियोगशास्त्रवृत्त्यादिग्रन्थानुसारेण सकामनिर्ज्जरा भवतीति सम्भाव्यते, यतो योगशास्त्रचतुर्थप्रकाशवृत्तौ सकामनिर्ज्जराया हेतुर्बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं तपः प्रोक्तम्, तत्र षट्प्रकारं बाह्यं तपो, बाह्यत्वं च बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वात्कुतीर्थिकैर्गृहस्थैश्च कार्यत्वाच्चेति, तथा—लोकप्रतीतत्वात्कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यत्वाद्बाह्यत्वमिति । त्रिंशत्तमोत्तराध्ययनचतुर्दशसहस्रीवृत्तौ एतदनुसारेण षड्विधबाह्यतपसः कुतीर्थिकासेव्यत्वमुक्तं, परं सम्यग्दृष्टिसकामनिर्ज्जरापेक्षया तेषां स्तोका भवति, यदुक्तं भगवत्यष्टमशतकदशमोद्देशके (देसाराहए त्ति) बालतपस्वी स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः, सम्यग्बोधरहितत्वात्क्रियापरत्वाच्चेति, तया च मोक्षप्राप्तिर्न भवति स्तोककर्म्मांशनिर्ज्जरणात् , भवत्यपि च भावविशेषाद्वल्कलचीर्यादिवद् , यदुक्तम्-

आसंवरो अ सेयं-वरो अ बुद्धो य अहव अन्नो वा ।
समभावभाविअप्पा, लहेइ मुक्खं न संदेहो ॥ १ इति ।

यदि तेषामकामनिर्ज्जरैवाङ्गीक्रियते तर्हि-" जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इतो चुए पेच्चा देवे सिया ? , गोयमा ! अत्थेगतिए देवे सिआ, अत्थेगतिए नो देवे सिआ , से केणऽट्ठेणं ०जाव इतो चुए पेच्चा अत्थेगतिए देवे सिआ अत्थेगतिए नो देवे सिआ ?, गोयमा ! जे इमे जीवा अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेरवासेणं अकामसीयाऽऽयवदंसमसगअन्हाणगसेयजल्लमलपंकपरिदाहेणं अप्पतरं वा भुज्जतरं वा कालं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्पाणं परिकिलेस्संति, परिकिलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति" श्रीभगवतीसूत्रप्रथमशतकप्रथमोद्देशकौपपातिकसूत्रादौ अकामनिर्जरया व्यन्तरेषूत्पादः कथितोऽस्ति, तत्कथं सङ्गच्छते, यतः संग्रहण्यादौ—" चरगपरिव्वायबंभलोगो जा " इति वचनात् पञ्चमदेवलोके तेषामुत्पादस्य भणितत्वादिति विरोधापत्तेः, हारिभद्र्यामपि—

अणुकंपऽकामनिज्जर-बालतवे दाणविणयविब्भंगे।
संजोगविप्पओगे, वसणूसवइड्ढिसक्कारे ॥ १ ॥

इत्यत्राकामनिर्जराबालतपसोर्भेदद्वयभणनं व्यर्थमेव, एकेनाकामनिर्जरालक्षणेन चरितार्थत्वात्। तथा-" चउहिं ठाणेहिं जीवा देवत्ताए कम्मं पकरेंति । तं जहा—सरागसंजमेणं १ संजमासंजमेणं २ बालतवोकम्मेणं ३ अकामनिज्जराए ' ४ " एतद्वृत्तिलेशः—सकषायसंयमेन-सकषायचारित्रेण वीतरागसंयमिनामायुषो बन्धाभावात् १ संयमासंयमस्य द्विस्वभावत्वाद्देशसंयमः २, बाला—मिथ्यादृशस्तेषां तपःकर्म्म—तपःक्रिया बालतपःकर्म्म तेन ३, अकामेन-निर्जरां प्रत्यनभिलाषेण निर्जरा अकामनिर्जरणहेतुर्बुभुक्षादिसहनं यत्सा अकामनिर्जरा तया इति । स्थानाङ्गसूत्रचतुर्थस्थानके तथा—

अकामनिर्जरारूपा—त्पुण्याज्जन्तोः प्रजायते।
स्थावरत्वं त्रसत्वं वा, तिर्यक्त्वं वा कथंचन ॥ १०८ ॥

इत्यत्र-पुण्यादिति-पुण्यं न पुण्यप्रकृतिरूपं, किन्तु-लाघवरूपम्, तस्मात् स्थावरत्वादिकं प्राप्यते, तामलितापसादीनां तु शास्त्रेष्विन्द्रत्वादिप्राप्तिः कथिताऽस्ति, सा च सकामनिर्जरया भवति, यदुक्तं तत्त्वार्थभाष्यनवमाध्ययनवृत्तौ-'अमरेषु तावदिन्द्रसामानिकादिस्थानानि प्राप्नोतीति' नतु ज्ञेया सकामा यमिना ' मित्यत्र यदि यमिनाम्-यतीनामेव, सकामनिर्जरा प्रोच्यते श्रावकाणामविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनां च का गतिरिति चेत् उच्यते—यमिनामिति सामान्यतयोक्तेः श्रावकादीनामपि तारतम्येन द्वादशदेवलोकादिदायका सकामा भवतीति ज्ञायते, श्राद्धादीनामित्यत्रादिशब्दाद्बालतपस्विनामपि कथमिति चेत्, शृणु, बालमसमर्थं सन्मार्गप्रदाने सकलकर्मक्षये वा, बालं च तत्तपश्च बालतपः, तच्चाग्निप्रवेशभृगुगिरिप्रपतनादिकायक्लेशरूपम्, कायक्लेशश्च, ' कायकिलेसो संलीणया ये ' त्यागमवचनाद्बाह्यतपः तच्च समामनिर्जराहेतुरिति ॥ १०५ ॥ सम्यग्दृशां मिथ्यात्वदृशां पक्षमपक्षिणां च तपागच्छाचार्यप्रभृतिभिः प्रत्याख्यानं कार्यते तन्मार्गानुसारि भवति न वा इति प्रश्ने, उत्तरम्-तत्सर्वमपि प्रत्याख्यानं मार्गानुसारीति ज्ञातमस्ति, परं प्रत्याख्यानकर्ता यदि प्रत्याख्यानविधिं न जानाति तदा तस्य तद्विधिं प्रज्ञाप्य कार्यते इति विशेषो ज्ञेयः॥१०६॥ सेन० ४ उल्ला०।

मिच्छदिट्ठिय-मिथ्यादृष्टिक-त्रि०। सम्यक्त्वगुणरहिते, स्था०। दुविहा णेरइया पण्णत्ता । तं जहा-सम्मदिट्ठिया चेव, मिच्छदिट्ठिया चेव, एगिंदियवज्जा सव्वे।
एकेन्द्रियाणां सम्यक्त्वं नास्ति। स्था० २ ठा० २ उ०।

मिच्छदिट्ठिगुणट्ठाण-मिथ्यादृष्टिगुणस्थान-न०। प्रथमगुणस्थाने, पं० सं० १ द्वार । मिथ्या-विपर्यस्ता दृष्टिरर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत्, स मिथ्यादृष्टिस्तस्य गुणस्थानं ज्ञानादिगुणानामविशुद्धिप्रकर्षविशुद्ध्यपकर्षकृतः स्वरूपविशेषो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्। ननु यदि मिथ्यादृष्टिस्ततः कथं तस्य गुणस्थानसंभवः, गुणा हि ज्ञानादिरूपास्तत्कथं तद्दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुरिति ?, उच्यते-इह यद्यपि सर्वथाऽतिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयादर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति, तथाऽपि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता भवतिअन्यथा जीवत्वप्रसङ्गात्। यदाह आगमः—" सव्वजीवाणं पि अ णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ; जइ पुण सोऽवि आवरिज्जिज्जा, तो णं जीवो अजीवत्तणं पाविज्ज त्ति। " तथाहि—समुन्नतातिवहलजीमूतपटलेन दिनकररजनिकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभानाशः संपद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनिविभागाभावप्रसङ्गात्। उक्तं च-" सुट्ठु वि मेहसमुदये, होइ पहा चंदसूराणं " इति। एवमिहाऽपि प्रबलमिथ्यात्वोदयेऽपि काचिदविपर्यस्ताऽपि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसंभवः। यद्येवं ततः कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्त्यपेक्षयाऽन्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादपि, नैष दोषः, यतो-भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि द्वादशाङ्गार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद्गदितमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते, तस्य भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाशात्। तदुक्तम्—

पयमक्खरं पि एक्कं, पि जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं।
सेसं रोयंतो वि हु, मिच्छद्दिट्ठी जमालि व्व ॥ १ ॥ इति।

किं पुनर्भगवदर्हदभिहितसकलजीवाऽजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकल इति। कर्म० २ कर्म०।

मिच्छदुग-मिथ्याद्विक-न०। मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणे मिथ्यादृष्टिद्विके, कर्म० ४ कर्म०।

मिच्छराय-म्लेच्छराज-पुं०। अनार्यनृपे, आव० ४ अ०।

मिच्छा-मिथ्या-अव्य०। विपरीते, आव० ४ अ०। विशे०। सूत्र०। असमीचीने, स्था० ३ ठा० ३ उ०। उत्त०। सूत्र०। अनु०। असत्ये, उत्त० ४ अ०। " मिच्छा मोहं वितहं अलिअं असच्चं असब्भूअं" पाइ० ना० ५३ गाथा। मिथ्या वितथमनृतमिति पर्यायाः। स्था० १० ठा०। प्रश्न०। ध०। विपर्यस्तदृष्टित्वे, आतु०। आ० म०। मिच्छ त्ति वा वितहं ति वा असच्चं ति वा असब्भयं ति वा अकरणिज्जं ति वा एगट्ठा। आ० चू० १ अ०।

मिच्छाकार-मिथ्याकार-पुं०। कृतपातकस्य परितापरूपे प्रायश्चित्ते, आव० ४ अ०।

मिच्छाकिरिया-मिथ्याक्रिया-स्त्री०। जिनोक्तरीतिविपर्ययेणेत्यादिपदार्थाभ्युपगमे, आ० चू० ४ अ०। आव०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिच्छाचार–मिथ्याचार–पुं० । मिथ्याऽलीको विशिष्टभावशून्य आचारो यस्य स मिथ्याचारः । बाह्यक्लिष्टलिङ्गे, "बाह्येन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते ॥ १ ॥ " पो० १ विव० ।

मिच्छाणाण–मिथ्याज्ञान–न० । विपर्यस्तप्रतिपत्तौ , प्रव० १०७ द्वार ।

मिच्छादंड–मिथ्यादण्ड–पुं० । मिथ्यैवानपराधिष्वेव दोषमारोप्य दण्डो मिथ्यादण्डः । अनपराधदण्डे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । दशा० । मिथ्यात्वपूर्वायां हिंसायाम्, स्था० ७ ठा० ।

मिच्छादंसण–मिथ्यादर्शन–न० । मिथ्या–विपरीतं दर्शनं मिथ्यादर्शनम् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । मोहकर्मोदयजे, आ० चू० ४ अ० । आव० । विपर्यस्तदर्शने , आतु० । अतत्स्वार्थश्रद्धाने, स० ३ सम० । प्रज्ञा० । औ० । स्था० । अतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशे, तत्त्वे चातत्त्वाभिनिवेशे, सूत्र० १ श्रु०१६ अ० । मिथ्यादर्शनं च पञ्चधा–अभिग्रहिकानभिग्रहिकाभिनिवेशिकानाभोगिकसांशयिकभेदादुपाधिभेदतो बहुतरभेदं चेति । स्था० १ ठा० ।

मिच्छादंसणे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा–अभिग्गहियमिच्छादंसणे चेव, अणभिग्गहियमिच्छादंसणे चेव । स्था० २ ठा० १ उ० । (स्वस्वस्थाने व्याख्याते)

मिच्छादंसणकिरिया–मिथ्यादर्शनक्रिया–स्त्री० । मिथ्यादर्शनप्रत्ययिक्यां क्रियायाम् , भ० ३ श० २ उ० ।

मिच्छादंसणकिरिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–आयरियमिच्छादंसणवत्तिया, तव्वइरित्तमिच्छादंसणकिरिया चेति । स्था० २ ठा० ।

मिच्छादंसणलद्धि–मिथ्यादर्शनलब्धि–पुं० । मिथ्यादृष्टौ,भ० ८ श० २ उ० ।

मिच्छादंसणवत्तिया–मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी–स्त्री० । मिथ्यादर्शनं प्रत्ययो हेतुर्यस्याः सा मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी । मोहोदयजे क्रियाभेदे, प्रति० । स्था० । आव० ।

मिच्छादंसणसल्ल–मिथ्यादर्शनशल्य–न० । तोमरादिशल्यतुल्ये मिथ्यात्वे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । " मिच्छादंसणसल्ले " मिथ्यात्वदर्शनम्–विपर्यस्तदृष्टिस्तदेव तोमरादिशल्यमिव शल्यं दुःखहेतुत्वात् मिथ्यादर्शनशल्यमिति । स्था० १ ठा० । प्रव० ।

मिच्छादुक्कड–मिथ्यादुष्कृत–न० । प्रतिक्रामामीत्यत्र प्रतिक्रमणे, आ० म० १ अ० प्रतिक्रामामीत्यत्र प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतमभिधीयते, तच्च द्विधा । द्रव्यतो , भावतश्च । तथा चाह निर्युक्तिकारः–

दव्वम्मि निण्हगाई, कुलालमिच्छं ति तत्थुदाहरणं ।
भावम्मि तदुवउत्तो, मिगावई तत्थुदाहरणं ॥

द्रव्ये–द्रव्यप्रतिक्रमणे, प्रतिक्रमणप्रतिक्रमणवतोरभेदोपचारात् ,निह्नवादि–आदिशब्दादनुपयुक्तादिपरिग्रहः । तत्रोदाहरणम्–कुलालमिथ्यादुष्कृतम् , तच्चेदम्–एगस्स कुंभकारस्स कुडीए साहुणो ठिया , तत्थेगो चेल्लगो तस्स कुंभगारस्स भंडाणि अंगुलिधणुहएणं कक्करेहिं विंधई , कुंभगारेण पडिगयं, तेण दिट्ठो , भणिओ य–कीस मे भंडाणि विंधेसि ? , खुड्डगो भणइ–' मिच्छा दुक्कडं ति ' एवं सो पुणो वि विंधिऊण मिच्छा दुक्कडं देइ । पच्छा कुंभगारेण तस्स खुड्डगस्स कण्णामोडओ दिन्नो । सो भणइ–दुक्खाविज्जामि अहं, कुंभगारो भणइ–मिच्छा मि दुक्कडं । एवं सो पुणो २ कण्णामोडयं दाऊण मिच्छा मि दुक्कडं ति करेइ । पच्छा चेल्लगो भणइ–अहो सुंदरं मिच्छादुक्कडं ति । कुंभकारो भणति–तुज्झ वि एरिसं चेव मिच्छादुक्कडं ति । पच्छा ठितो विंधियव्वस्स । " जं दुक्कडं ति मिच्छा, तं चेव निसेवई पुणो पावं । पच्चक्खमुसावाई, मायानियडिप्पसंगो य ॥ ६८५ ॥ " एवं दव्वपडिक्कमणं ।

भावप्रतिक्रमणं प्रतिपादयति–

(भावंमि इत्यादि) भावप्रतिक्रमणम् । तदुपयुक्त एव तस्मिन्नधिकृते शुभव्यापारे उपयुक्तो यत्करोति प्रतिक्रमणं तद्भावप्रतिक्रमणम् । तत्रोदाहरणं मृगापतिस्तच्चेदम्–भयवं वद्धमाणसामी कोसंबीए समोसरितो, तत्थ चंदसूरा भयवंतं वंदिउं सविमाणा ओइण्णा । तत्थ मिगावती अज्जा उदयणमाया दिवसो त्ति काउं चिरं ठिया । सेसाओ साहुणीओ तितथयरं वंदिऊण पडिगयाओ । चंदसूरा वि तित्थयरं वंदिऊण पडिगया, सिग्घमेव वियालीभूयं । मिगावती संभंता गया अज्जचंदणासगासं । एयातो ताव पडिक्कंताउं मिगावती आलोएउं पवत्ता । अज्जचंदणाए भन्नति–कीस अज्जे ! चिरं ठियाऽसि ? न जुत्तं नाम तुमं कुलप्पसूयाए एगागिणीए चिरं अच्छियं ति, सा सब्भावेण ' मिच्छा मि दुक्कडं ' ति, भणमाणी अज्जचंदणाए पाएसु पडिया । अज्जचंदणाऽवि ताए वेलाए संथारगं गया, ताहे निद्दा आगया पसुत्ता, मिगावतीए वि मा खुज्जिहि त्ति सो हत्थो संथारगं वडावितो । साऽवि बुद्धा भणइ–किमेयं ति अज्ज च तुमं अच्छसि त्ति दुक्कडं निद्दापमाएणं न उट्ठवियाऽसि मियावती तीए भणति–एस सप्पो मा ते खाहि त्ति, हत्थो वडावितो । सा भणइ, कहिं से दरिसेइ, अज्जचंदणा अपेच्छमाणी भणइ । अज्जे ! किं ते अतिसओ । सा भणइ–आमं, तो किं छाउमत्थो केवलिगो वा । सा भणइ केवलिगो । पच्छा अजचंदणा पाएसु पडिऊण भणइ–'मिच्छा मि दुक्कडं' केवली आसाइतो, एवं भावपडिक्कमणे एत्थ गाहा ।

जइ य पडिक्कमियव्वं, अवस्सकाऊण पावयं कम्मं ।
तं चेव न कायव्वं, तो होइ पए पडिक्कंतो ॥ ६८३ ॥

आ० म० १ अ० ।

संप्रति मिथ्याकारविषयप्रतिपादनार्थमाह–

संजमजोगे अब्भु–ट्ठियस्स जं किंचि वितहमायरियं ।
मिच्छा एयं ति विया–णिऊण मिच्छ त्ति कायव्वं ।६८३।

संयमयोगः–समितिगुप्तिरूपः, तस्मिन् विषये अभ्युत्थितस्य–सतो,यत् किंचिद्वितथम्–अन्यथा, आचरितम्–आसेवितम्, संभूतमिति वाक्यशेषः । मिथ्या–विपरीतम्,एतदिति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विज्ञाय, किम् ?, 'मिच्छ त्ति कायव्वं' इति । मिथ्येति कर्त्तव्यम्, तद्विषये मिथ्यादुष्कृतं दातव्यमित्यर्थः ।

संयमयोगविषयायां च प्रवृत्तौ वितथासेवनमिथ्यादुष्कृतं दोषापनयनायालं, न तूपेत्य करणविषयायां नाप्यसकृत् करणगोचरायाम्, तथाचाऽमुमेवोत्सर्गं प्रतिपादयन्नाह–

जइ य पडिक्कमियव्वं, अवस्स काऊण पावयं कम्मं ।
तं चेव न कायव्वं, तो होइ पए पडिक्कंतो ॥६८३॥

यदि च प्रतिक्रन्तव्यम्–निवर्त्तितव्यम्, मिथ्यादुष्कृतं दातव्यमित्यर्थः । अवश्यं नियमेन कृत्वा पापकं कर्म्म, ततश्च तदेव पापकं कर्म न कर्त्तव्यम्, ततो भवति पदे–उत्सर्गपदविषये प्रतिक्रान्तः । अथवा–पदे प्रतिक्रान्त इति । किमुक्तं भवति ?–सुतरां प्रतिक्रान्त इति ।

संप्रति यथाभूतस्येदं मिथ्यादुष्कृतं सुदत्तं भवति तथाभूतमभिधित्सुराह–

जं दुक्कडं ति मिच्छा, तं भुज्जो कारणं अपूरंतो ।
तिविहेण पडिक्कंतो, तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा ॥६८४॥

यदिति–अनिर्दिष्टस्य निर्देशः कारणमिति योगः, ततश्च यत् कारणं यद्वस्तु दुष्टं कृतं दुष्कृतमित्येवं विज्ञाय, 'मिच्छे' ति सूचनात् सूत्रमिति कृत्वा मिथ्यादुष्कृतं दातव्यमिति शेषः । भूयः पुनरपि तत्कारणमपूरयन्–अकुर्वन् अनाचरन्निति भावः । यो वर्त्तत इति वाक्यशेषः । तत्र स्वयं कायेनाप्यकुर्वन् अपूरयन्नभिधीयते । तत आह–[तिविहेण पडिक्कंतो तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा] त्रिविधेन–मनोवाक्कायलक्षणेन योगेन कृतकारितानुमतिभेदयुक्तेन प्रतिक्रान्तो–निवृत्तस्तस्माद्–दुष्कृतकारणात् तस्यैव खलुशब्दोऽवधारणे दुष्कृतं–प्रागुक्तं दुष्कृतं फलदातृत्वमधिकृत्य मिथ्या, भवतीति क्रियाध्याहारः । अथवा–तस्यैव मिथ्यादुष्कृतं भवति, नान्यस्येति ।

सांप्रतं यस्य मिथ्यादुष्कृतं दत्तमपि न सम्यग् भवति तत्प्रतिपादनार्थमाह–

जं दुक्कडं ति मिच्छा, तं चेव निसेवए पुणो पावं ।
पच्चक्खमुसावई, मायानियडिप्पसंगो य ॥६८५॥

यत्पापरूपं किंचिदनुष्ठानं दुष्कृतमिति विज्ञाय 'मिच्छा' मिथ्या दुष्कृतदानविषयीकृतम्, यस्तदेव निषेवते पुनः पापं स प्रत्यक्षमृषावादी, कथम् ?, दुष्कृतमेतदित्यभिधाय पुनरासेवनात्, तथा तस्य मायानिकृतिप्रसङ्गश्च, स हि दुष्टान्तरात्मा निश्चयतश्चेतसा अनिवृत्त एव गुर्वादिरञ्जनार्थं मिथ्यादुष्कृतं प्रयच्छति, कुतः ?,–पुनरासेवनात्, तत्र मायैव निकृतिः तस्याः प्रसङ्गो मायानिकृतिप्रसङ्गः ।

कः पुनरस्य मिथ्यादुष्कृतपदस्यार्थ इत्याह–

'मि' त्ति मिउमद्दवत्ते, 'छ' त्ति य दोसाण छायणे होइ ।
'मि' त्ति य मेराएँ ठिओ, 'दु' त्ति दुगुंछामि अप्पाणं ६८६
'क्क' त्ति कडं मे पावं, 'ड' त्ति य डेवेमि तं उवसमेणं ।
एसो मिच्छादुक्कड, पयक्खरत्थो समासेण ॥ ६८७ ॥

मीत्ययं वर्णो मृदुमार्दवे वर्त्तते, तत्र मृदुत्वं कायेनम्रता, मार्दवं–भावनम्रता, मृदु च मार्दवं च मृदुमार्दवे । ते अस्य स्त इति मृदुमार्दवः । अभ्रादिभ्यः ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । तद्भावस्तत्त्वं तस्मिन् । तथा 'छ' इत्ययं वर्णो दोषाणामसंयमयोगलक्षणानामाच्छादने–स्थगने भवति । 'मि' इत्ययं वर्णो मर्यादायां चारित्ररूपायां स्थितोऽहमित्यस्यार्थस्यऽभिधायकः । 'दु' इत्ययं वर्णो जुगुप्से–निन्दामि दुष्कृतकारिणमात्मानमित्यस्मिन्नर्थे वर्त्तते । 'क्क' इत्ययं वर्णः कृतं मया पापमित्येवमभ्युपगमाऽर्थे वर्त्तते, 'ड' इत्ययं वर्णो डेवेमिलङ्घयामि अतिक्रमामि, तत्–कृतं पापम्, केनेत्याह–उपशमेनेत्यस्मिन्नर्थे, एषोऽनन्तरोक्तः प्राकृतशैल्या मिथ्यादुष्कृतपदस्याक्षरार्थः । समासेन–संक्षेपेण, । आह–कथं प्रत्येकमक्षराणामुक्तार्थता पदवाक्ययोरेवार्थदर्शनात् । उच्यते–इह यथा वाक्यैकदेशत्वात्पदस्यार्थोऽस्ति तथा पदैकदेशत्वाद्वर्णस्यापीत्यदोषः, अन्यथा पदस्याप्यर्थशून्यत्वप्रसङ्गः प्रत्येकमक्षरेष्वर्थाभावात्, प्रयोगश्च–यत् यत्र प्रत्येकं न विद्यते तत्समुदायेऽपि न भवति, यथा–सिकतासु तैलम्, इष्यते च वर्णसमुदयात्मकस्य पदस्यार्थस्तस्मादन्यथाऽनुपपत्तेर्वर्णानामप्यर्थः प्रतिपत्तव्य इत्यलं प्रसङ्गेन । आ० म० १ अ० । (मिथ्यादुष्कृतभेदाश्च–अष्टादशलक्षाः चतुर्विंशतिसहस्राः एकं शतं विंशतिश्च १८२४१२० भवन्ति । ते च युक्तितः 'पडिक्कमण' शब्दे पञ्चमभागे २७२ पृष्ठे दर्शिताः)

मिच्छादुक्कडप्पओग–मिथ्यादुष्कृतप्रयोग–पुं० । मिथ्यादुष्कृतशब्दप्रयोगे, " जं कहमवि पावकम्मे आसेवितेऽकरणितमेयं ति तदभिप्पाएण अपुणकरणतो य अब्भुट्ठियं मिच्छादुक्कडं ति " । आ० चू० १ अ० ।

मिच्छापडिवण्ण–मिथ्याप्रतिपन्न–त्रि० । असम्यक् पिण्डैषणाद्यभिग्रहवति, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० ।

मिच्छापवयण–मिथ्याप्रवचन–न० । शाक्यादितीर्थिकशासने, स्था० ६ ठा० ।

मिच्छाभिणिवेस–मिथ्याभिनिवेश–पुं० । असदभिनिवेशे, पो० ११ विव० । स्था० ।

मिच्छायार–मिथ्याचार–पुं० । मिथ्यात्वाविरतिकषायदुष्टयोगजमोक्षमार्गविपरीतसमाचारे, पञ्चा० २ विव० ।

मिच्छावाय–मिथ्यावाद–पुं० । जिनप्रणीततत्त्वविरुद्धत्वाद्–सम्यग्वादे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

मिच्छासंठियभावण–मिथ्यासंस्थितभावन–त्रि० । मिथ्या विपरीता संस्थिता स्वानुग्रहारूढा भावना–अन्तःकरणवृत्तिर्येषां ते मिथ्यासंस्थितभावनाः । मिथ्यात्वोपहतदृष्टिषु, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

मिच्छासुय–मिथ्याश्रुत–न० । मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यादृष्टिप्रणीते विपरीताऽर्थतया परिणते श्रुतज्ञाने, कर्म० १ कर्म० । विशे० । नं० ।

से किं तं मिच्छासुअं ?, मिच्छासुअं जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पिअं, तं जहा– भारहं रामायणं भीमासुरुक्खं कोडिल्लयं सगडभद्दिआओ खोड (घोडग) मुहं कप्पासिअं नागसुहुमं कणसत्तरी वइसेसिअं बुद्धवयणं तेरासिअं काविलिअं लोगायर्यं सट्ठितंतं माढरं पुराणं वागरणं भागवं पायंजली पुस्सदेवयं लेहं गणिअं सउणरुअं नाडयाइं, अहवा–बावत्तरिकलाओ चत्तारि अ वेआ संगोवंगा, एआइं मिच्छदि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहिश्राइं मिच्छासुश्रं, एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुश्रं, अहवा– मिच्छदिट्ठिस्स वि एयाइं चेव सम्मसुश्रं, कम्हा ?, सम्मत्तहेउत्तणश्रो, जम्हा ते मिच्छदिट्ठिश्रा तेहिं चेव समएहिं चोइश्रा समाणा केइ सपक्खदिट्ठीश्रो चयंति। से तं मिच्छासुश्रं। (सूत्र–४१)

('से किं त' मित्यादि) अथ किं तन्मिथ्याश्रुतम् ?, आचार्य आह–मिथ्याश्रुतं यदिदमज्ञानिकैः, तत्र यथाऽल्पध ना लोकेऽधना उच्यन्ते, एवं सम्यग्दृष्टयोऽप्यल्पज्ञानभावादज्ञानिका उच्यन्ते, तत आह–मिथ्यादृष्टिभिः, किं स्वच्छन्दबुद्धिमतिविकल्पितम्। तत्रावग्रहे हेतुर्बुद्धिः, अपायधारणे मतिः, स्वच्छन्देन स्वाभिप्रायेण तत्त्वतः सर्वज्ञप्रणीतानुसारमन्तरेणेत्यर्थः, बुद्धिमतिभ्यां विकल्पितं, स्वच्छन्दबुद्धिमतिविकल्पितम्। स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितमित्यर्थः, तद्यथा–' भारतमित्यादि, यावत् चत्तारि वेया संगोवंगा ' भारतादयश्च ग्रन्था लोके प्रसिद्धास्ततो लोकत एव तेषां स्वरूपमवगन्तव्यम्, ते च स्वरूपतो यथावस्थितवस्त्वभिधानविकलतया मिथ्याश्रुतमवसेयाः, एतेऽपि च स्वामिसम्बन्धचिन्तायां भाज्याः, तथा-चाह–' एयाइं ' इत्यादि, एतानि भारतादीनि शास्त्राणि मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वपरिगृहीतानि भवन्ति ततो विपरीताभिनिवेशवृद्धिहेतुत्वान्मिथ्याश्रुतम्, एतान्येव च भारतादीनि शास्त्राणि सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वपरिगृहीतानि भवन्ति सम्यक्त्वेन यथावस्थिताऽसारतापरिभावनरूपेण परिगृहीतानि तस्य सम्यक्श्रुतं, तद्गतासारतादर्शनेन स्थिरतरसम्यक्त्वपरिणामहेतुत्वात्, (' अहवे ' त्यादि,) अथवा–मिथ्यादृष्टेरपि सतः कस्यचिदेतानि भारतादीनि शास्त्राणि सम्यक्श्रुतम्। शिष्य आह–कस्मात् ?, आचार्य आह-सम्यक्त्वहेतुत्वात्, सम्यक्त्वहेतुत्वमेव भावयति-यस्मात्ते मिथ्यादृष्टयः तैरेव समयैः सिद्धान्तैर्वेदादिभिः पूर्वापरविरोधेन यथा रागादिपरीतः पुरुषस्तावन्नातीन्द्रियमर्थमवबुध्यते रागादिपरीतत्वाद् अस्मादृशवद् वेदेषु चातीन्द्रियाः प्रायोऽर्था व्यावर्ण्यन्ते अतीन्द्रियार्थदर्शी च वीतरागः सर्वज्ञो नाभ्युपगम्यते, ततः कथं वेदार्थप्रतीतिरित्येवमादिलक्षणेन नोदिताः सन्तः केचन विवेकिनः सत्या (शाक्या) दय इव स्वपक्षदृष्टीः स्वदर्शनानि त्यजन्ति, भगवच्छासनं प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः,तत एवं सम्यक्त्वहेतुत्वाद्वेदादीन्यपि शास्त्राणि केषाञ्चिन्मिथ्यादृष्टीनामपि सम्यक्श्रुतम्। ('से त' मित्यादि) तदेतन्मिथ्याश्रुतम्। नं०। वृ०।

मिच्छुकड–मिथ्यादुष्कृत–न०। प्रतिक्रमणे, महा० १ चू०।

मिच्छोवएस–मिथ्योपदेश–पुं०। असदुपदेशरूपे,द्वितीयेऽतिचारे,ध०।मिथ्योपदेशः–असदुपदेशः, प्रतिपन्नसत्यव्रतस्य हि परपीडाकरं वचनमसत्यमेव, ततः प्रमादात् परपीडाकरणे उपदेशेऽतिचारो यथा-वाह्यन्तां खरोष्ट्रादयो, हन्यन्तां दस्यव इति। यद्वा–यथास्थितोऽर्थस्तथोपदेशः साधीयान्, विपरीतस्तु अयथार्थोपदेशः, यथा-परेण संदेहापन्नेन पृष्टे न तथोपदेशः, यद्वा-विवाहे स्वयं परेण वा अन्यतराभिसंधानोपायोपदेशः। अयं च यद्यपि मृषावादयामीत्यत्र भ-ते भङ्ग एव, न वदामीति व्रतान्तरे न किञ्चन तथापि सहसाकारानाभोगाभ्यामतिक्रमादिभिर्वा मृषावादे परप्रवर्त्तने व्रतस्यातिचारः। अथवा–व्रतसंरक्षणबुद्ध्या परवृत्तान्तकथनद्वारेण मृषोपदेशं यच्छतोऽतिचारोऽयं व्रतसापेक्षत्वान्मृषावादे परप्रवर्त्तनाच्च भग्नाभग्नरूपत्वाद् व्रतस्येति द्वितीयोऽतिचारः। ध० २ अधि०।

मिच्छोवजीवि–मिथ्योपजीविन्–त्रि०। मिथ्याचारप्रवृत्ते मायाविनि, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

मिच्छोवयार–मिथ्योपचार–पुं०। मातृस्थानगर्भे क्रियाविशेषे, आव० १ अ०।

मिज्जमाण–मीयमान–त्रि०। तोल्यमाने, आचा०। सूत्र०।

मार्यमाण–त्रि०। हिंसायां बहुक्रूरकर्मा–चौरोऽयं पारदारिक इति वा इत्येवं कर्मणा परिच्छिद्यमाने हिंस्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

मिज्झ–मेध्य–त्रि०। शुचिद्रव्ये, स्था० १० ठा०।

मिट्ठ–मिष्ट–त्रि०। इत्कृपादौ॥ ८। १। १२८॥ इति आदेऋत इत्वम्। प्रा० १ पाद।

मिणगोणस–मिणगोनस–पुं०। सर्पजातिविशेषे, व्य० १ उ०।

मिणाय–देशी–बलात्कारे, दे० ना० ६ वर्ग १२६ गाथा।

मिणाल–मृणाल–न०। कमलनाले, आचा० १ श्रु०१अ०५उ०।

मित्त–मित्र–न०। सुहृदि,विपा० १ श्रु० ३ अ०। कल्प०। नि०। भ०। जी०। औ०। पश्चात् स्नेहवति, स्था० ४ ठा० ३ उ०। विपा०। सकलकालमव्यभिचारिहितोपदेशदायिनि,जं० २ वक्ष०। विज्ञातश्लोकपदवर्णादिसंख्ये, अनु०। स्था०। ज्ञा०। उत्त०। सू०प्र०। आचा०। अहोरात्रस्य चतुर्थे मुहूर्त्ते, चं० प्र० १० पाहु०। सूत्र०। ज्यो०। स०। जं०। कल्प०।अनुराधानक्षत्रस्य देवतायाम्, स्था० २ ठा० ३ उ०।

छच्चवे य आरभडो, सोमित्तो पंचअंगुलो होई।
चत्तारि य वइरिज्जो, दुचेव य सावसू होइ॥ ४०॥

द० प०। ८६५ गाथा। जं०। मित्रनाम्नि देवे, जं० ७ वक्ष०। उज्झितकदारजन्मभूमिवाणिजग्रामराजे,विपा० १ श्रु० २ अ०। [उज्झियय' शब्दे द्वितीयभागे ७४६ पृष्ठे कथा गता] "जगन्मित्रं यत्र मित्र–सुमित्रान्वयपङ्कजे। अश्वावबोधनिर्व्यूढव्रतोऽभूत्सुव्रतो जिनः॥ १॥" ती० १० कल्प। मार्तण्डे, पुं०। "अक्को तरणी मित्तो, मत्तंडो दिणमणी पयंगो य। अहिमयरो पच्चूहो, दिअसयरो अंसुमाली अ।" पाइ० ना० ४ गाथा। वयस्ये, "मित्तो सही वयंसो" पाइ० ना० १०० गाथा। मणिपदायाः शास्तरि स्वनामख्याते राजनि,विपा०२श्रु०६अ०।

मित्तकेसी–मित्रकेशी–स्त्री०। जम्बूद्वीपे रुचकपर्वतस्य रत्नोच्चयकूटवास्तव्यायां दिशाकुमारीमहत्तरिकायाम्,स्था०८ठा०।

मित्तगा–मित्रका–स्त्री०। बलिलोकपालसोमस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ०।

मित्तजण–मित्रजन–पुं०। सहवर्द्धितादिसुहृल्लोके,स०। उत्त०। प्रश्न०।

मित्तणंदि–मित्रनन्दिन्–पुं०। वरदत्तकुमारपितरि स्वनामख्याते राजनि, विपा० २ श्रु० १० अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मित्तदाम–मित्रदामन्–पुं०। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे अतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते प्रथमकुलतीर्थकरे, स०। स्था०।

मित्तदेव–मित्रदेव–पुं०। आरण्यकलपोतपन्ने धनदेवे, तद्देव्याम्, स्त्री०। उत्त० २२ अ०।

मित्तदेवा–मित्रदेवा–स्त्री०। मित्रनामा देवो यस्याः सा। अनुराधायाम्, सू० प्र० १० पाहु०।

मित्तदोसदंड–मित्रद्वेषदण्ड–पुं०। मात्रादीनामल्पेऽप्यपराधे महादण्डनिर्वर्त्तने, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

मित्तदोसवत्तिय–मित्रद्वेषप्रत्ययिक–पुं०। अमित्रक्रियायाम्, मातापितृस्वजनादीनामल्पेऽप्यपराधे तावद् यद्दण्डं कुरुते दहनाङ्कनताडनवधबन्धनादिकं तन्मित्रद्वेषप्रत्ययिकक्रियास्थानम्। प्रव० १२१ द्वार। स०। आ० चू०। आव०।

मित्रदोषप्रत्ययिकं क्रियास्थानमाह–

अहावरे दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भइणीहिं वा भज्जाहिं वा धूयाहिं वा पुत्तेहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निव्वत्तेति। तं जहा–सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवति, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवति, अगणिकाएणं कायं उवडहित्ता भवति, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तयाइ वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा अणयरेण वा दवरएण पासाइं उद्दालित्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीएण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति, तहप्पगारे पुरिसजाए संवसमाणे दुम्मणा भवति, पवसमाणे सुमणा भवति,तहप्पगारे पुरिसजाए दंडपासी दंडगुरुए दंडपुरक्कडे अहिए इमंसि लोगंसि अहिए परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसि याऽवि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जंति दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिए॥ सूत्र–२६॥

तद्यथानाम कश्चित्पुरुषः प्रभुकल्पो मातापितृसुहृत्स्वजनादिभिः सार्द्धं परिवसँस्तेषां च मातापित्रादीनामन्यतमेनानाभोगतया यथाकथंचिल्लघुतमेऽप्यपराधे वाचिके–दुर्वचनादिके, तथा कायिके–हस्तपादादिके, संघट्टनरूपे कृते सति स्वयमेव आत्मना क्रोधाध्मातो गुरुतरं दण्डं दुःखोत्पादकं निर्वर्त्तयति–करोति। तद्यथा–शीतोदके विकटे–प्रभूते, शीते वा शिशिरादौ तस्य–अपराधकर्तुः कायमधो वोलयिता भवति, तथोष्णोदकविकटेन कायं शरीरमपसिञ्चयिता। तत्र विकटग्रहणादुष्णतैलेन काञ्जिकादिना वा कायमुपतापयिता भवति। तथाऽग्निकायेनोल्मुकेन तप्तायसा वा कायमुपदाहयिता भवति। तथा–जोत्रेण वा वेत्रेण वा नेत्रेण वा त्वचा वा सनादिकया लतया वाऽन्यतमेन वा दवरकेण ताडनतस्तस्यापराधकर्त्तुः शरीरपार्श्वाणि (उद्दालयितुं ति)चर्माणि लुम्पयितुं भवति,तथा–दण्डादिना कायमुपताडयिता भवतीति। तदेवमल्पापराधिन्यपि महाक्रोधदण्डवर्ति तथाप्रकारे पुरुषजाते एकत्र वसति सति तत्सहवासिनो मातापित्रादयो दुर्मनसस्तदनिष्टाशङ्कया भवन्ति। तस्मिंश्च प्रवसति देशान्तरे गच्छति गते वा तत्सहवासिनः सुमनसो भवन्ति। तथाप्रकारश्च पुरुषजातोऽल्पेऽप्यपराधे महान्तं दण्डं कल्पयतीति। एतदेव दर्शयितुमाह–दण्डस्य पार्श्वे दण्डपार्श्वे, तद्विधते यस्यासौ दण्डपार्श्वी, स्वल्पतया स्तोकापराधेऽपि कुप्यति दण्डं च पातयति। तमप्यतिगुरुमिति दर्शयितुमाह–दण्डेन गुरुको दण्डगुरुः। यस्य च दण्डो महान् भवति असौ दण्डेन गुरुर्भवति। तथा दण्डः पुरस्कृतः सदा पुरस्कृतदण्ड इत्यर्थः। स चैवंभूतः स्वस्य परेषां चास्मिन् लोकेऽस्मिन्नेव जन्मनि अहितः प्राणिनामहितदण्डपातनात्, तथा परस्मिन्नपि जन्मन्यसावहितस्तच्छीलतया चासौ यस्य कस्यचिदेव येन केनचिदेव निमित्तेन क्षणे क्षणे संज्वलयतीति संज्वलनः, स चात्यन्तक्रोधनो वधबन्धच्छविच्छेदादिषु शीघ्रमेव क्रियासु प्रवर्त्तते तदभावेऽप्युत्कटद्वेषतया मर्मोद्घाटनतः पृष्ठिमांसमपि खादेत्तत्तदसौ ब्रूयात् येनासावपि परः संज्वलयेत् ज्वलितश्चान्येषामपकुर्यात्, तदेवं खलु तस्य महादण्डप्रवर्त्तयितुस्तद्दण्डप्रत्ययिकं सावद्यं कर्माऽऽधीयते। तदेतद्दशमं क्रियास्थानं मित्रद्रोहप्रत्ययिकमाख्यातमिति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

मित्तप्पभ–मित्रप्रभ–पुं०। स्वनामख्याते चम्पापुरीश्वरे, आ० क० ४ अ०। आव०। आ० चू०। (संवेगशब्दे कथा)

मित्तबल–मित्रबल–पुं०। सुहृत्पक्षाद्बले,तन्मित्रबलं मे भविष्यति येनाहमापदं सुखेनैव निस्तरिष्यामीति। आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

मित्तरूप–मित्ररूप–पुं०। मित्रस्येव रूपमाकारो बाह्योपचारकारणत्वाद्यस्य स मित्ररूपः। मित्राभासे, स्था०४ठा०४उ०।

मित्तल–देशी–कन्दर्पे, दे० ना० ६ वर्ग १२६ गाथा।

मित्तव–मित्रवत्–त्रि०। मित्राणि विद्यन्ते यस्य स मित्रवान्। उत्त० ३ अ०। सहपांशुक्रीडितादिके, उत्त० ३ अ०।

मित्तवई–मित्रवती–स्त्री०।सुदर्शनश्रेष्ठिस्त्रियाम्,आ०चू०६अ०।

मित्तवायग–मित्रवाचक–पुं०। स्वनामख्याते सुप्रसिद्धे श्रुतस्थविरे, व्य० १ उ०।

मित्तवाहण–मित्रवाहन–पुं० जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां द्वितीये तीर्थकरे, स्था० ७ ठा०।

मितविरिय–मित्रवीर्य–पुं०। सम्भवजिनशिष्ये, ति०।

मित्तसिरि–मित्रश्री–पुं०। आमलकल्पावास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, येन जीवप्रादेशिकनिह्नवाचार्यस्तिष्यगुप्तः कूरसिक्थादिना प्रतिचालितः। विशे०। आ० चू०। आ० म०।स्था०।

मित्तसेण–मित्रसेन–पुं०। स्वनामख्याते अयोध्यानगरीराजजयचन्द्रमित्रे, ध० र०।

आसीत् पुर्यामयोध्याया–मयोध्यायामरातिभिः।
धर्मकर्मणि निस्तन्द्रो,–जयचन्द्रो महीपतिः॥ १॥
तस्य प्रियतमा चारु–दर्शना चारुदर्शना।
सूनुश्चानूनपुण्यश्री–श्चन्द्रश्चन्द्रसदृक् दशाः॥ २॥
शृङ्गारबहुलः श्येन–पुरोहिततनूद्भवः।
तान्मत्रं मित्रसेनोऽभूत्–केलिकौतूहलप्रियः॥ ३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकदा तत्पुरोद्याने, दुर्ध्याने धनपावकः ।
आगादागाम्यतीतादि-वेदिसूरिर्युगन्धरः ॥ ४ ॥
तं नन्तुं दन्तुरानन्दो-च्छिन्नरोमाञ्चकञ्चुकः ।
जगाम जगतीनाथः, सुमित्रसुतसंयुतः ॥ ५ ॥
राजा निष्प्रतिमं रूपं, दृष्ट्वा तस्य मुनीशितुः ।
पप्रच्छ स्वच्छधीरेवं, विस्मयस्मेरलोचनः ॥ ६ ॥
सत्यप्यसदृशे रूपे, साम्राज्यविभवोचिते ।
कुतो वैराग्यतः पूज्यै-र्जगृहे दुष्करं व्रतम् ॥ ७ ॥
गुरुराह मया दृष्टः, सोऽरघट्टो नराधिप ! ।
सदा युक्तो वहन्नित्यं, संपूर्णो भवनामकः ॥ ८ ॥
चत्वारो रागविद्वेष-मिथ्यात्वस्मरसंज्ञिताः ।
दृढा सारथयस्तत्र, मोहः सीरपतिः पुनः ॥ ९ ॥
विनाऽपि चारिवारिभ्यां, सबला वेगशालिनः ।
महाकायाः कषायाख्या, वृषभास्तत्र षोडश ॥ १० ॥
हास्यशोकभयाद्यास्तु, कर्कशा कर्मकारकाः ।
जुगुप्सारत्यरत्यरत्याद्या-स्तेषां च परिचारिकाः ॥ ११ ॥
दुष्टयोगप्रमादाख्यं, तत्र तुम्बद्वयं महत् ।
विलासोल्लासविब्बोके-हावभावादिकाः स्वराः ॥ १२ ॥
तत्रासंयतजीवाख्यः, कूपोऽदृष्टतलः सदा ।
पापाविरतिपानीय-संभारपरिपूरितः ॥ १३ ॥
पापाविरतिनीरौघ-मग्नपूरितरेचितम् ।
सुदीर्घं जीवलोकाख्यं, घटीयन्त्रमभङ्गुरम् ॥ १४ ॥
पट्कार उच्चकैर्मृत्यु-रज्ञानं तु प्रतीच्छकः ।
दृढं मिथ्याभिमानाख्यं, तस्य दार्वटिकं सदा ॥ १५ ॥
अतिसंक्लिष्टचित्ताख्या, तत्र निर्वहणी पृथुः ।
अतिद्राघीयसी कुल्या, भोगलोलुपताऽभिधा ॥ १६ ॥
क्षेत्रं विवक्षितं जन्म, माला दुःखस्य संहतिः ।
अपरापरजन्माख्याः, केदारा गणनातिगाः ॥ १७ ॥
पानान्तिकस्त्वसद्बोधो, बीजं कर्मकदम्बकम् ।
दुष्टो जीवपरीणामो, वापकस्तत्र सोद्यमः ॥ १८ ॥

ततश्च—

उप्तं तेनारघट्टेन, सिक्तं निष्पत्तिमागतम् ।
प्रभूतसुखदुःखादि, सस्यं नानाविधं नृप ! ॥ १९ ॥
एवं भवारघट्टाति-भ्रमणोद्भ्रान्तचेतसा ।
दीक्षा तद्भयघाताय, मयाऽऽदायि नरेश्वर ! ॥ २० ॥
श्रुत्वेति नृपतिर्भीम-भवाद्भीतमना भृशम् ।
न्यस्य चन्द्रसुते राज्यं, शमसाम्राज्यमाददे ॥ २१ ॥
समित्रश्चन्द्रराजोऽपि, राजन् ! राज्यश्रिया तया ।
सम्यग्दर्शनसंशुद्धं, गृहिधर्ममशिश्रियत् ॥ २२ ॥
नत्वा गुरुपदद्वन्द्वं, निजं धाम जगाम राट् ।
अन्यत्र मुनिराजोऽपि—विजह्रे सपरिच्छदः ॥ २३ ॥
अन्यदा मित्रसेनेन, राजाऽभाणि रहस्यदः ।
किमप्यपूर्वं विज्ञानं, दर्शयामि सखे ! तव ॥ २४ ॥
स प्राह दर्शय क्षिप्रं, ततोऽसौ जम्बुकस्वरम् ।
तथाऽरसद् यथा रेसुः, पूर्वं हि जम्बुका अपि ॥ २५ ॥
चुकूजुः कुक्कुटा उच्चैः, कृते कुक्कुटकूजिते ।
निशीथेऽपि निशाप्रान्त-मुन्निद्रा मेनिरे जनाः ॥ २६ ॥
तथा शृङ्गाररसाराणि, वाक्यान्याह यथा जनः ।
दृढशीलोऽपि जायेत, मन्मथोन्माथितो भृशम् ॥ २७ ॥
ततो राजाऽऽह मित्रैवं, माऽतिचारीर्निजं व्रतम् ।
सविकारवचो वक्तुं, न युक्तं शीलशालिनाम् ॥ २८ ॥
शृङ्गारसारभाषित्व—मेव मुक्तोऽपि नोज्झति ।
यदा केलिप्रियत्वेन, तदा राज्ञाऽप्युपेक्षितः ॥ २९ ॥
प्रोषितभर्तृस्त्रियोऽग्रे, सविकारगिरोऽन्यदा ।
स तथाऽऽख्यद्यथा सद्यः, सा भून्मदनविह्वला ॥ ३० ॥
तां तथा सविकाराङ्गीं, दृष्ट्वा तद्देवरः क्रुधा ।
तं बबन्ध दृढैर्बन्धै, रे विटोऽसीत्युदीरयन् ॥ ३१ ॥
तदाकर्ण्य नृपो मङ्क्षु, मोचयित्वा तमाख्यत ।
व्रतातीचारवृत्तस्य, पुष्पं प्राप्तमिदं त्वया ॥ ३२ ॥
फलं तु नरके घोरे, लप्स्यसे तीव्रवेदनाः ।
यत्तदा वारितोऽपि त्वं, नातिचारादुपारमः ॥ ३३ ॥
जिनं देवं गुरून् साधूं—स्तदद्यापि सखे ! स्मर ।
गर्हस्व दुष्कृतं सर्वं, क्षमय प्राणिसंहतिं ॥ ३४ ॥
सोऽपि प्राह सखे गाढं, बन्धनैः पीडितोऽस्म्यहम् ।
न स्मरामि ततः किंचित्, प्रतीकारं कुरुष्व मे ॥ ३५ ॥
इति जल्पन्नसौ मृत्वा, गजोऽभूद्विन्ध्यभूधरे ।
ततो बहुभवं भ्रान्त्वा, क्रमान्मोक्षमवाप्स्यति ॥ ३६ ॥
सविकारवचो वार्द्धि—कुम्भभूश्चन्द्रभूपतिः ।
राज्यं न्यस्य सुते दीक्षां, गृहीत्वा च ययौ शिवम् ॥ ३७ ॥
इत्यवेत्य कृतिनः स्वचेतसा, मित्रसेनचरितं गतांहसः ।
चञ्चदुच्चतरदुःखलक्षितं, संत्यजन्तु सविकारजल्पितम् ।३८।
ध० र० २ अधि० २ लक्ष० ।

मित्ता—मात्रा—स्त्री० । तुल्ये, मात्राशब्दात्तात्पर्यार्थविश्रान्ते-स्तुल्यवाची । यदाह निशीथचूर्णिकृत्—मात्राशब्दस्तुल्य-वाचीति । व्य० १ उ० ।

मित्रा—स्त्री० । योगदृष्टिभेदे, मित्रादृष्टिस्तृणाग्निकणोपमा न तत्त्वतोऽभीष्टकार्यक्षमा सम्यक्प्रयोगकालं यावदनवस्थानात् अल्पवीर्यतया, ततः पटुबीजसंस्काराधानानुपपत्तेः विकल-प्रयोगभावाद् भावतो वन्दनादिकार्यायोगात् । ध० १ अधि० ।

मित्रां दृष्टिमत्र सप्रपञ्चं निरूपयन्नाह—

मित्रायां दर्शनं मन्दं, योगाङ्गं च यमो भवेत् ।
अखेदो देवकार्यादा-वन्यत्राद्वेष एव च ॥ १ ॥

(मित्रायामिति) मित्रायां दृष्टौ । दर्शनं मन्दम्—स्वल्पो बोधः । तृणाग्निकणोद्योतेन सदृशः । योगाङ्गं च यमो भ-वेदिच्छादिभेदः । अखेदोऽव्याकुलतालक्षणः । देवकार्यादा-वादिशब्दाद्-गुरुकार्यादिपरिग्रहः । तथा तथोपनतेऽस्मिंस्त-थापरितोषान्न खेदः, अपि तु प्रवृत्तिरेव, शिरोगुरुत्वादि-दोषभाक्त्वेऽपि भवाभिनन्दिनो भोगकार्यवत् । अद्वेषश्चाम-त्सरश्चापरत्र त्वदेवकार्यादौ तथा तत्त्वावेदितया मात्सर्यवीर्य-बीजसद्भावेऽपि तद्भावाङ्कुरानुदयात्, तथाविधानुष्ठानमधि-कृत्यात स्थितस्य हि करुणांशबीजस्यैवेषत्स्फुरणमिति । १ । द्वा० २१ द्वा० (यमस्वरूपं सभेदम् 'जम' शब्दे चतुर्थभागे १३९१ पृष्ठे गतम्) मित्रदेवताके नक्षत्रभेदे, स्था० ।

दो मित्ता । सूत्र । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

बाधनेन वितर्काणां, प्रतिपक्षस्य भावनात् ।
योगसौकर्यतोऽमीषां, योगाङ्गत्वमुदाहृतम् ॥ ३ ॥

(बाधनेनेति) वितर्काणां योगपरिपन्थिनां हिंसादीनां प्र-तिपक्षस्य भावनात्, बाधनेनानुत्थानोपहतिलक्षणेन योग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्य सौकर्यतः सामग्रीसंपत्तिलक्षणादमीषामहिंसादीनां यमानां योगाङ्गत्वमुदाहृतम् , न तु धारणादीनामिव समाधेः साक्षादुपकारकत्वेन, न वासनादिवदुत्तरोत्तरोपकारकत्वेनैव, किं तु-प्रतिबन्धकहिंसाद्यपनायकतयैवेत्यर्थः । तदुक्तम्-"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनमिति ॥" (२—३३) ॥ ३ ॥

क्रोधाल्लोभाच्च मोहाच्च, कृतानुमितकारिताः ।
मृदुमध्याधिमात्राश्च, वितर्काः सप्तविंशतिः ॥ ४ ॥

(क्रोधादिति) क्रोधः-कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मस्तस्मात् । लोभः-तृष्णालक्षणस्ततश्च । मोहश्च-सर्वक्लेशानां मूलमनात्मन्यात्माभिमानलक्षणः । इत्थं च कारणभेदेन त्रैविध्यं दर्शितं भवति । तदुक्तम्—"लोभक्रोधमोहमूल" इति । (२—३४ पूर्वकाः) व्यत्ययाभिधानेऽप्यत्र मोहस्य प्राधान्यम् , स्वपरविभागपूर्वकयोर्लोभक्रोधयोस्तन्मूलत्वादिति वदन्ति । ततः कारणत्रयात् कृतानुमितकारिता एतेऽहिंसादयो नवधा भिद्यन्ते । तेऽपि मृदवो मन्दाः, मध्याश्चातीव्रमन्दाः, अधिमात्राश्च तीव्रा इति प्रत्येकं त्रिधा भिद्यन्ते । तदुक्तम्—" मृदुमध्याधिमात्राः " (इति २—३४। वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्यधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्) इत्थं च सप्तविंशतिर्वितर्का भवन्ति । अत्र मृद्वादीनामपि प्रत्येकं मृदुमध्याधिमात्रभेदो भावनीय इति वदन्ति ॥ ४ ॥

दुःखाज्ञानानन्तफला, अमी इति विभावनात् ।
प्रकर्षं गच्छतामेत-द्यमानां फलमुच्यते ॥ ५ ॥

(दुःखेति) दुःखं प्रतिकूलतयाऽवभासमानो राजसश्चित्तधर्मः, अज्ञानम्-मिथ्याज्ञानम् , संशयविपर्ययादिरूपम् । ते अनन्ते-अपरिच्छिन्ने फलं येषां ते तथोक्ताः । अमी वितर्का इति विभावनाच्चिरन्तरं ध्यानात् प्रकर्षं गच्छतां यमानामेतद्वक्ष्यमाणं फलमुच्यते ॥५॥ द्वा० २१ द्वा० । (तत्फलम् ' महव्वय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्) (परिग्रहविषयः ' परिग्गह ' शब्दे पञ्चमभागे ५५६ पृष्ठे गतः)

इत्थं यमप्रधानत्व-मवगम्य स्वतन्त्रतः ।
योगबीजमुपादत्ते, श्रुतमत्र श्रुतादपि ॥ ७ ॥

(इत्थमिति) इत्थम्-उक्तप्रकारेण, स्वतन्त्रतः-स्वाभिमतपातञ्जलादिशास्त्रतो, यमप्रधानत्वमवगम्य । अत्र मित्रायां दृष्टौ निवृत्तासद्ग्रहतया सद्गुरुयोगे श्रुताज्जिनप्रवचनात् श्रुतमपि योगबीजमुपादत्ते तथास्वाभाव्यात् ॥ ७ ॥

उक्तयोगबीजमेवाह—

जिनेषु कुशलं चित्तं, तन्नमस्कार एव च ।
प्रणामादि च संशुद्धं, योगबीजमनुत्तमम् ॥८॥

(जिनेष्विति) जिनेषु-अर्हत्सु, कुशलम्—द्वेषाद्यभावेन प्रीत्यादिमच्चत्तम् अनेन मनोयोगवृत्तिमाह । तन्नमस्कार एव जिननमस्कार एव च, तथा मनोयोगप्रेरितः, इत्यनेन वाग्योगवृत्तिमाह । प्रणामादि च पञ्चाङ्गादिलक्षणम् , आदिशब्दान्मण्डलादिग्रहः । संशुद्धमशुद्धव्यवच्छेदार्थमेतत् तस्य सामान्येन यथाप्रवृत्तकरणभेदत्वात्तस्य च योगबीजत्वानुपपत्तेरेतत्सर्वं सामस्त्यप्रत्येकभावाभ्यां योगबीजं मोक्षयोजकानुष्ठानकारणमनुत्तमं सर्वप्रधानं विषयप्राधान्यात् ॥ ८ ॥

चरमे पुद्गलावर्ते, तथा भव्यत्वपाकतः ।
प्रतिबन्धोज्झितं शुद्ध-मुपादेयधिया ह्यदः ॥९॥

(चरम इति) अदो हि एतच्च चरमेऽन्त्ये पुद्गलावर्ते भवति । तथा-भव्यत्वस्य पाकतो मिथ्यात्वकटुकत्वनिवृत्त्या मनागमाधुर्यसिद्धेः । प्रतिबन्धेनासङ्गेनोज्झितम्—आहारादिसंज्ञोदयाभावात् , फलाभिसन्धिरहितत्वाच्च । तदुपात्तस्य तु स्वतः प्रतिबन्धसारत्वात् । अत एवोपादेयधियाऽन्यापोहेनादरणीयत्वबुद्ध्या शुद्धम् । तदुक्तम्—" उपादेयधियाऽत्यन्तं, संज्ञाविष्कम्भणान्वितम् । फलाभिसन्धिरहितं, संशुद्धं ह्येतदीदृशम् ॥ १ ॥ " ॥ ६ ॥

प्रतिबन्धैकनिष्ठं तु, स्वतः सुन्दरमप्यदः ।
तत्स्थानस्थितिकार्यैव, वीरे गौतमरागवत् ॥१०॥

(प्रतिबन्धेति) प्रतिबन्धे-स्वासङ्गे एका-केवला निष्ठा यस्य तत्तथा । अदो-जिनविषयकुशलचित्तादि, तत्स्थानस्थितिकार्यैव तथास्वभावत्वात् , वीरे-वर्धमानस्वामिनि गौतमरागवत् गौतमीयबहुमानवत् । असङ्गशक्त्यैव ह्यनुष्ठानमुत्तरोत्तरपरिणामप्रवाहजननेन मोक्षफलपर्यवसानं भवति, इति विवेचितं प्राक् ॥ १० ॥

सरागस्याप्रमत्तस्य, वीतरागदशानिभम् ।
अभिन्दतोऽप्यदो ग्रन्थिं, योगाचार्यैर्यथोदितम् ॥११॥

(सरागस्येति) अदः शुद्धयोगबीजोपादानं ग्रन्थिमभिन्दतोऽपि जीवस्य चरमयथाप्रवृत्तकरणसामर्थ्येन, तथाविधक्षयोपशमादतिशयितानन्दानुभवात् । सरागस्याप्रमत्तस्य—सतो यतेर्वीतरागदशानिभं सरागस्य वीतरागत्वप्राप्ताविव योगबीजोपादानवेलायामपूर्वः कोऽपि स्वानुभवसिद्धोऽतिशयलाभ इति भावः । यथोदितं योगाचार्यैः ॥ ११ ॥

ईषदुन्मज्जनाभोगो, योगचित्तं भवोदधौ ।
तच्छक्त्यतिशयोच्छेदि, दम्भोलिर्ग्रन्थिपर्वते ॥ १२ ॥

(ईषदिति) योगचित्तम्—योगबीजोपादानप्रणिधानचित्तम् , भवोदधौ—संसारसमुद्रे, ईषन्मनागुन्मज्जनस्याभोगः। तच्छक्ते—भवशक्तेरतिशयस्योद्रेकस्योच्छेदि—नाशकम् , ग्रन्थिरूपे पर्वते दम्भोलि—र्वज्रम् नियमात्तद्भेदकारित्वात् । इत्थं चैतत्फलपाकारम्भसदृशत्वादस्येति समयविदः ॥१२॥

आचार्यादिष्वपि ह्येत-द्विशुद्धं भावयोगिषु ।
न चान्येष्वप्यसारत्वा-त्कूटेऽकूटधियोऽपि हि ॥ १३ ॥

(आचार्यादिष्वपीति)-आचार्यादिष्वपि-आचार्योपाध्यायतपस्व्यादिष्वपि, एतत्-कुशलचित्तादि, विशुद्धम्—संशुद्धमेव, भावयोगिषु—तात्त्विकगुणशालिषु, योगबीजम् , न चान्येष्वपि—द्रव्याचार्यादिष्वपि कूटेऽकूटधियोऽपि हि असारत्वादसुन्दरत्वात् । तस्याः सद्योगबीजत्वानुपपत्तेः॥१३॥

श्लाघनाद्यसदाशंसा—परिहारपुरःसरम् ।
वैयावृत्त्यं च विधिना, तेष्वाशयविशेषतः ॥ १४ ॥

(श्लाघनेति) श्लाघनादेः-स्वकीर्त्यादेः, याऽसत्यसुन्दराऽऽशंसा—प्रार्थना, तत्परिहारपुरस्सरम् वैयावृत्त्यं च—व्यापृत-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावलक्षणमाहारादिदानेन विधिना—सूत्रोक्तन्यायेन, तेषु-भावयोगिष्वाचार्येषु, आशयविशेषतश्चित्तोत्साहातिशयात् योगबीजम् ॥ १४ ॥

भवादुद्विग्नता शुद्धौ–पधदानाद्यभिग्रहः ।
तथा सिद्धान्तमाश्रित्य, विधिना लेखनादि च ॥ १५ ॥

(भवादिति) भवात्-संसारात्, उद्विग्नता इष्टवियोगाद्यनिमित्तकसहजत्यागेच्छालक्षणा । शुद्धः-निर्दोष औषधदानादेरभिग्रहो भावाभिग्रहस्य विशिष्टक्षयोपशमलक्षणस्य भिन्नग्रन्थ्येव भावेऽपि द्रव्याभिग्रहस्य स्वाश्रयशुद्धस्यान्यस्यापि संभवात् । तथा सिद्धान्तम्—आर्षं वचनमाश्रित्य, न तु कामादिशास्त्राणि । विधिना—न्यायात्तधनसत्प्रयोगादिलक्षणेन लेखनादिकं च योगबीजम् ॥ १५ ॥

लेखनादिकमेवाह—

लेखना पूजना दानं, श्रवणं वाचनोद्ग्रहः ।
प्रकाशनाऽथ स्वाध्याय–श्चिन्तना भावनेति च ॥ १६ ॥

(लेखनेति) लेखना-सत्पुस्तकेषु । पूजना-पुष्पवस्त्रादिभिः । दानम्-पुस्तकादेः । श्रवणम्—व्याख्यानस्य । वाचना—स्वयमेवास्य, उद्ग्रहो-विधिग्रहणमस्यैव । प्रकाशना गृहीतस्य भव्येषु । अथ स्वाध्यायो वाचनादिरस्यैव । चिन्तना ग्रन्थार्थताऽस्यैव भावनेति चैतद्गोचरैव । योगबीजम् ॥ १६ ॥

बीजश्रुतौ परा श्रद्धा–ऽन्तर्विश्रोतसिकाव्ययात् ।
तदुपादेयभावश्च, फलौत्सुक्यं विनाऽधिकः ॥ १७ ॥

बीजश्रुतौ—योगबीजश्रवणे । परा-उत्कृष्टा, श्रद्धा—'इदमित्थमेव' इति प्रतिपत्तिरूपा । अन्तर्विश्रोतसिकायाश्चित्ताशङ्काया व्ययात् । तस्याः बीजश्रुतेरुपादेयभावश्चादरपरिणामश्च । फलौत्सुक्यम्—अभ्युदयाशंसात्वरालक्षणम्, विनाऽधिकोऽतिशयितो योगबीजम् ॥ १७ ॥

निमित्तं सत्प्रणामादे–र्भद्रमूर्तेरमुष्य च ।
शुभो निमित्तसंयोगो–ऽवञ्चकोदयतो मतः ॥ १८ ॥

(निमित्तमिति) अमुष्य चानन्तरोदितलक्षणयोगिनो जीवस्य । भद्रमूर्त्तेः-प्रियदर्शनस्य, सत्प्रणामादेर्योगबीजस्य-निमित्तम् । शुभः-प्रशस्तः । निमित्तसंयोगः-सद्योगादिसम्बन्धः सद्योगादीनामेव निःश्रेयससाधननिमित्तत्वाजायते । अवञ्चकोदयाद्-वक्ष्यमाणसमाधिविशेषोदयात् ॥ १८ ॥

योगक्रियाफलाख्यं च, साधुभ्योऽवञ्चकत्रयम् ।
श्रुतः समाधिरव्यक्त, इषुलक्ष्यक्रियोपमः ॥ १९ ॥

(योगेति) साधुभ्यः—साधूनाश्रित्य । योगक्रियाफलाख्यम्, अवञ्चकत्रयम्-योगावञ्चकक्रियावञ्चकफलावञ्चकलक्षणम् । अव्यक्तः समाधिः श्रुतः, तदधिकारे पाठात् । इषुलक्ष्यक्रियोपमः-शरशरव्यक्रियासदृशः । यथा शरस्य शरव्यक्रिया तदविसंवादिन्येव, अन्यथा तत्क्रियात्वायोगात्, तथा सद्योगावञ्चकादिकमपि सद्योगाद्यविसंवाद्येवेति भावः ॥ १९ ॥

हेतुरत्रान्तरङ्गश्च, तथा भावमलाऽल्पता ।
ज्योत्स्नादाविव रत्नादि–मलापगम उच्यते ॥ २० ॥

(हेतुरिति)-अत्र सत्प्रणामादौ । अन्तरङ्गश्च हेतुः । तथा-भावमलस्य कर्मसम्बन्धयोग्यतालक्षणस्याल्पता । ज्योत्स्नादाविव रत्नकान्त्यादाविव रत्नादिमलापगम उच्यते । तत्र-मृत्पुटपाकादीनामिवात्र सद्योगादीनां निमित्तत्वेनैवोपयोगादिति भावः ॥ २० ॥

सत्सु सत्त्वधियं हन्त, मले तीव्रे लभेत कः ।
अङ्गुल्या न स्पृशेत् पङ्गुः,शाखां सुमहतस्तरोः ॥ २१ ॥

(सत्स्विति) सत्सु-साधुषु, सत्त्वधियम्-साधुत्वबुद्धिं, हन्त तीव्रे-प्रबले, मले-कर्मबन्धयोग्यतालक्षणे-सति को लभेत ?, ततो लाभशङ्केरयोगान्न कोऽपीत्यर्थः, अङ्गुल्या पङ्गुः सुमहतस्तरोः शाखां न स्पृशेत्, तत्प्राप्तिनिमित्तस्योच्चत्वस्यारोहशक्तेर्वा अभावात् । तद्वत्प्रकृतेऽपि भावनीयम् ॥ २१ ॥

वीक्ष्यते स्वल्परोगस्य, चेष्टा चेष्टार्थसिद्धये ।
स्वल्पकर्ममलस्यापि, तथा प्रकृतकर्मणि ॥ २२ ॥

(वीक्ष्यत इति) स्वल्परोगस्य मन्दव्याधेश्चेष्टा राजसेवादिप्रवृत्तिलक्षणा, चेष्टार्थस्य-कुटुम्बपालनादिलक्षणस्य, सिद्धये—निष्पत्तये, वीक्ष्यते न तु तीव्ररोगस्येव प्रत्यपायाय । स्वल्पकर्ममलस्यापि पुंसः, तथा प्रकृतकर्मणि—योगबीजोपादानलक्षणे । ईदृशस्यैव स्वप्रतिपन्ननिर्वाहक्षमत्वात् ॥ २२ ॥

यथाप्रवृत्तकरणे, चरमे चेदृशी स्थितिः ।
तत्त्वतोऽपूर्वमेवेद–मपूर्वासत्तितो विदुः ॥ २३ ॥

(यथेति) यथाप्रवृत्तकरणे चरमे पर्यन्तवर्तिनि च । ईदृशी—योगबीजोपादाननिमित्ताऽल्पकर्मत्वनियामिका । स्थितिः-स्वभावव्यवस्था, अपूर्वस्य-अपूर्वकरणस्यासत्तितः-सन्निधानात् फलव्यभिचारायोगात् । इदं चरमं यथाप्रवृत्तिकरणम् । तत्त्वतः-परमार्थतः अपूर्वमेव, विदु—र्जानते, योगविदः । यत उक्तम्—"अपूर्वासन्नभावेन, व्यभिचारवियोगतः । तत्त्वतोऽपूर्वमेवेद-मिति योगविदो विदुः॥१॥" ॥२३॥

प्रवर्तते गुणस्थान–पदं मिथ्यादृशीह यत् ।
अन्वर्थयोजना नून–मस्यां तस्योपपद्यते ॥ २४ ॥

(प्रवर्तत इति) यदिह-जिनप्रवचने, गुणस्थानपदं मिथ्यादृशि—मिथ्यादृष्टौ पुंसि प्रवर्त्तते अस्खलद्वृत्तियोगविषयीभवति । तस्य-गुणस्थानपदस्य, नूनम्-निश्चितम् । अस्याम् मित्रायां दृष्टौ । अन्वर्थयोजना-योगार्थघटना । उपपद्यते । सत्प्रणामादियोगबीजोपादानगुणभाजनत्वस्यास्यामेवोपपत्तेः । तदुक्तं हरिभद्रसूरिभिः—प्रथमं यद् गुणस्थानं, सामान्येनोपवर्णितम् । अस्यां तु तदवस्थायां मुख्यमन्वर्थयोगतः ॥ १ ॥ इति ॥ २४ ॥

व्यक्तमिथ्यात्वधीप्राप्ति–रप्यन्यत्रेयमुच्यते ।
घने मले विशेषस्तु, व्यक्ताव्यक्तधियोर्नु कः ॥ २५ ॥

(व्यक्तेति) अन्यत्र-ग्रन्थान्तरे, व्यक्तमिथ्यात्वधीप्राप्तिः-मिथ्यात्वगुणस्थानपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन । इयं मित्रा दृष्टिरेवोच्यते । व्यक्तत्वेन तत्रास्या एव ग्रहणात् । घने-तीव्रे, मले तु सति । नु इति वितर्के । व्यक्ताव्यक्तयोर्धियोः को विशेषः ? दुष्टाया धियो व्यक्ताया अव्यक्तापेक्षया प्रत्युतातिदुष्टत्वान्न कथंचिद् गुणस्थानत्वनिबन्धनत्वमिति भावः । विचित्रतया नि–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गमस्य बहुभेदत्वात्। तद्भेदविशेषाश्रयणेन वाऽन्यत्र तथाभिधानमिति परिभावनीयं सूरिभिः ॥२५॥

यमः सद्योगमूलस्तु, रुचिवृद्धिनिबन्धनम्।
शुक्लपक्षद्वितीयाया, योगश्चन्द्रमसो यथा ॥ २६ ॥
उत्कर्षादपकर्षाच्च, शुद्ध्यशुध्योरयं गुणः।
मित्रायामपुनर्बन्धात्, कर्मणां स प्रवर्तते ॥ २७ ॥
गुणाभासस्त्वकल्याण-मित्रयोगे न कश्चन।
अनिवृत्ताग्रहत्वेना-भ्यन्तरज्वरसन्निभः ॥ २८ ॥
मुग्धः सद्योगतो धत्ते, गुणं दोषं विपर्ययात्।
स्फटिकोऽनुविधत्ते हि, शोणश्यामसमत्विषम् ॥२९॥
यथौषधीषु पीयूषं, द्रुमेषु स्वर्द्रुमो यथा।
गुणेष्वपि सतां योग-स्तथा मुख्य इहेष्यते ॥ ३० ॥
विनैनं मतिमूढानां, येषां योगोत्तमस्पृहा।
तेषां हन्त विना नाव-मुत्तितीर्षा महोदधेः ॥ ३१ ॥
तन्मित्रायां स्थितो दृष्टौ, सद्योगेन गरीयसा।
समारुह्य गुणस्थानं, परमाऽऽनन्दमश्नुते ॥ ३२ ॥

शिष्टा सप्तश्लोकी सुगमा। द्वा० २१ द्वा०।

मित्तिज्ज-मैत्रेय-पुं०। वत्सगोत्रावान्तरगोत्रप्रवर्त्तके ऋषौ, तद्गोत्रीयेषु च। स्था० २ ठा० १ उ०।

मित्तियावई-मृत्तिकावती-स्त्री०। दशार्णदेशप्रधाननगर्याम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रव०।

मित्तिवअ-देशी-ज्येष्ठे, दे० ना० ६ वर्ग १३२ गाथा।

मित्ती-मैत्री-स्त्री०। स्नेहपरिणामे, ध० १ अधि०। द्वा०।

सुखचिन्ता मता मैत्री, सा क्रमेण चतुर्विधा।
उपकारी स्वकीयस्व-प्रतिपन्नाऽखिलाश्रया ॥ ३ ॥

(सुखेति) सुखचिन्ता-सुखेच्छा, मैत्री मता। सा क्रमेण-विषयभेदेन, चतुर्विधा। उपकारी स्वोपकर्त्ता, स्वकीयोऽनुपकर्त्ताऽपि नालप्रतिबद्धादिः, स्वप्रतिपन्नश्च-स्वपूर्वपुरुषाश्रितः स्वाश्रितो वा, अखिलाश्च प्रतिपन्नत्वसंबन्धनिरपेक्षाः सर्व एव तदाश्रया तद्विषया। तदुक्तम्-"उपकारिस्वजनेतरसामान्यगता चतुर्विधा मैत्रीति।" द्वा० १७ द्वा०। षो०। अष्ट०। उत्त०। स्था०।

"जो जारिसेण मित्तिं, करेइ अचिरेण (सो) तारिसो होइ। कुसुमेहिं सह वसंता, तिलावि तग्गंधिया हुंति॥१॥" आव० ३ अ०। ११२४। गाथाकीटीका। आ० चू०।

मित्तीभाव-मैत्रीभाव-पुं०। मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री। तस्या भावो भवनं सत्ता। निष्कपटतया सुमित्रवन्मैत्रीकरणे, ध० र०। संप्रति सद्भावतो मैत्रीभाव इति चतुर्थं भेदमाह-(मित्तीभाओ य सब्भाव त्ति) मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री, तस्या भावो भवनं सत्ता, सद्भावान्निष्कपटतया सुमित्रवन्निष्कपटमैत्रीं करोतीत्यर्थः, मैत्रीकपटभावयोश्छायाऽऽतपयोरिव विरोधात्। उक्तं च-शाठ्येन मित्रं कलुषेण धर्मं, परोपतापेन समृद्धिभावम्। सुखेन विद्यां परुषेण नारीं, वाञ्छन्ति ये व्यक्तमपण्डितास्ते ॥१॥ इति। ध० र० २ अधि०।

मित्तीवंदण-मैत्रीवन्दन-न०। मैत्रीनिमित्ते प्रीतिमिच्छतो वन्दने, आव० ३ अ० "एमेव य मित्तीए" आव० ३ अ०। एवमेवेति कोऽर्थो-यथा निरोहकदोषदुष्टं वन्दते, तथा मैत्र्याऽपि हेतुभूतया कश्चिद्वन्दते आचार्येण समं मैत्री मम भविष्यति इत्यर्थस्तदिदं मैत्रीवन्दनकम्। बृ० ३ उ०।

मिदुपम्ह-मृदुपक्ष्म-न०। मृदूनि कोमलानि पक्ष्माणि दशिकारोमाग्रभागरूपाणि यस्य तन्मृदुपक्ष्म। कोमलदशाग्ररजोहरणे, बृ० ३ उ०।

मिप्पिंड-मृत्पिण्ड-पुं०। अर्द्धमृद्गोले, मिप्पिंडो घडस्स कारणं, न घडो मिप्पिंडकारणं। अनु०।

मिम्मय-मृण्मय-त्रि०। मृत्तिकानिष्पन्ने, बृ० १ उ०।

मिय-मृग-पुं०। आटव्ये पशौ, स० ३४ सम०। सूत्र०। उत्त०। सामान्यहरिणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। भ०। प्रज्ञा०। सूत्र०। मृगसदृशे भीरौ, स्था० ४ ठा० २ उ०।

मित-त्रि०। परिमिताक्षरे, प्रश्न० २ संव० द्वार। मितं णाम जं अक्खरेहिं पदेहिं सिलोगेहिं मितं। आ० चू० १ अ०। आव०। मितं-परिमितम्। जी० ३ प्रति० २ उ०। नियतवर्णादिपरिणामे, आ० म० १ अ०। परिमिते, भ० ११ श० ११ उ०। विशे०। वर्णपदवाक्यापेक्षया परिमिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। संक्षिप्ताक्षरे, अनु०। स्था०। ज्ञा०। आव०। तं०। परिच्छिन्ने, विशे०। उत्त०। स्तोके, उत्त० १ अ०। परिमाणवति गर्भजमनुष्यजीवद्रव्यादौ, भ० ५ श० ४ उ०।

मियंक-मृगाङ्क-पुं०। चन्द्रमसि, बृ० १ उ०। मृगचिह्ने विमाने, सू० प्र० २० पाहु०।

मियगंध-मृगगन्ध-पुं०। युगलिकमनुष्यजातिभेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। मृगमदगन्धौ, भ० ६ श० ७ उ०।

मियगमण-मितगमन-न०। प्रयोजनवशतो गमने, व्य० ४ उ०।

मियचक्क-मृगचक्र-न०। मृगा हरिणशृगालादयः आरण्यास्तेषां ध्वनिः-रुतं ग्रामनगरप्रवेशादौ सति शुभाशुभं यत्र चिन्त्यते तन्मृगचक्रम्। निमित्तशास्त्रभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

मियजस-मितयशस्-पुं०। स्वनामख्याते पुष्कलावतीविजये मणितोरणपुरीराजे चक्रवर्त्तिनि, उत्त० ६ अ०।

मियतण्हा-मृगतृष्णा-स्त्री०। मरीचिकायाम्, ज्ञा०१श्रु०१अ०।

मियपणिहाण-मृगप्रणिधान-त्रि०। मृगेषु प्रणिधानमन्तःकरणवृत्तिर्यस्यासौ मृगप्रणिधानः। क्व मृगान् द्रक्ष्यामीत्येतदध्यवसायिनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

मियप्पवाद-मितात्मवाद-पुं०। संख्यातीतानामात्मनामभ्युपगमे, स्या०।

मियभासि(ण्)-मितभाषिन्-पुं०। मितं परिमिताक्षरं तद्भाषणशीलो मितभाषी। प्रस्तावे स्तोकहितजल्पनशीले, व्य०१उ०।

मियभासिया-मितभाषिता-स्त्री०। प्रस्तावे स्तोकहितजल्पनशीलतायाम्, द्वा० १२ द्वा०। व्य०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संप्रति (भाष्यकारः) मितभाषित्वव्याख्यानार्थमाह—

तं पुण अणुच्चसद्दं, वोच्छिन्नं मिय पभासए मउयं ।
मम्मेसु अदूयंतो, सिया व परिपागवयणेणं ॥ ७२ ॥

तत इह लोकहितं,परलोकहितं वा पुनर्भाषते,अनुच्चशब्दम् , न विद्यते उच्चः शब्दः स्वरो यस्य तत्तथा । तद् व्यवच्छिन्नं विविक्तममिलिताक्षरमित्यर्थः । मितं-परिमितं प्रभूतार्थसंग्राहकं—स्तोकाक्षरमित्यर्थः । तथा मृदुकम्-कोमलं, श्रोतृमनसां प्रह्लादकारि इत्थंभूतमपि मर्मानुवेधितया विपाकदारुणं स्यात् । अत आह-मर्मसु अदूयन्मर्माण्यविध्यन् इत्यर्थः । स्याद्वा तथाविधं कञ्चनमशिक्षणीयमधिकृत्य परुषस्य मर्मानुवेधकस्य च वक्ता परिपाकवचनेन-अन्यापदेशेन यथा दोषः । स्त्रीसेवादय इह परत्र वा अकल्याणकारिणो यथा अमुकस्य, तस्मात्कुलोत्पन्नेन शीलप्रमुखेषु गुणेष्वादरः कर्त्तव्यः । एष मितभाषी । व्य० १ उ० ।

मियभोगि-मितभोगिन्-त्रि० । स्तोकभोजिनि, आव० ५ अ० ।

मियमहुरमंजुला-मितमधुरमञ्जुला-स्त्री० । मिता अल्पशब्दा बह्वर्थाश्च, मधुराः श्रोत्रसुखकारिणः, मञ्जुलाः सुललितवर्णमनोहराः । ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः । मितमधुरमञ्जुलादिभिर्युक्तायां भाषायाम् , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

मियलंछण-मृगलाञ्छन-न० । मृगरूपे चिह्ने , नं० ।

मियलोमिय-मृगलोमिक-न० । मृगेभ्यो ह्रस्वका मृगाकृतयो बृहत्पुच्छा आटविकजीवविशेषास्तल्लोमनिष्पन्नं मृगलोमिकम् । मृगलोमजे सूत्रे, अनु० । आ० म० । स्था० ।

मियवादि-मितवादिन्-पुं० । मितं परिमिताक्षरं वदितुं शीलमस्येति मितवादी । मितभाषिणि, बृ० ३ उ० । पा० ।

मियवाहण-मितवाहन-पुं० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति प्रथमकुलकरे, स० ।

मियवित्तिय-मृगवृत्तिक-पुं० । मृगैर्हरिणैराटव्यपशुभिर्वृत्तिर्वर्त्तनं यस्य स मृगवृत्तिकः । मृगमांसैराजीवके , सूत्र० २ श्रु० २ अ० । भ० ।

मियवीहि-मृगवीथि-स्त्री० । ग्रहचारयोग्ये गगनभागे, मृगवीथी चेन्द्रदेवतादि स्यात् । स्था० ६ ठा० ।

मियसंकप्प-मृगसंकल्प-पुं० । मृगेषु संकल्पो यस्यासौ मृगसङ्कल्पः । मृगवधाध्यवसिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

मियसिंग-मृगशृङ्ग-न० । मृगविषाणे , आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

मियसिरा-मृगशिरस्-न० । चन्द्रदेवताके नक्षत्रभेदे, स्था० ।

दो मियसिराओ (सूत्र) स्था० २ ठा० ६ उ० । विशे० ।

मिया-मृगा-स्त्री० । सुग्रीवनगरे बलभद्रभूपस्याग्रमहिष्याम्, उत्त० १८ अ० । मृगग्रामाभिधाननगरराजस्य विजयनाम्नो भार्यायाम्, स्था० १० ठा० ।

मियागाम-मृगाग्राम-पुं० । मृगापुत्रजन्मस्थाने ग्रामविशेषे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

मियाचारिया-मृगाचारिता-स्त्री० । मृगापुत्रवक्तव्यताप्रतिबद्धे उत्तराध्ययनानामेकोनविंशेऽध्ययने, स० ३६ सम० ।

मियाधिव-मृगाधिप-पुं० । सिंहे, आ० म० १ अ० ।

मियापुत्त-मृगापुत्र-पुं० । मृगग्रामाभिधाननगरराजस्य विजयनाम्नो भार्यायाः पुत्रे, स्था० १० ठा० ।

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थयरेणं ०जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता, तं जहा-मियापुत्ते य १, ०जाव अंजू य १० । पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पन्नत्ते ?, तते णं से सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं मियग्गामे नामे णगरे होत्था-वण्णओ, तस्स णं मियग्गामस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए चंदणपायवे नामं उज्जाणे होत्था, सव्वोउयवण्णओ, तत्थ णं सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खायणे होत्था, चिरातीए जहा पुन्नभद्दे, तत्थ णं मियग्गामे णगरे विजए नामं खत्तिए राया परिवसइ-वन्नओ । तस्स णं विजयस्स खत्तियस्स मिया नामं देवी होत्था अहीणवण्णओ, तस्स णं विजयस्स खत्तियस्स पुत्ते मियाए देवीए अत्तए मियापुत्ते नामं दारए होत्था, जातिअंधे जाइमूए जातिबहिरे जातिपंगुले य हुंडे य वायव्वे य, नऽत्थि णं तस्स दारगस्स हत्था वा पाया वा कन्ना वा अच्छी वा नासा वा, केवलं से तेसिं अंगोवंगाणं आगई आगतिमित्ते, तते णं सा मियादेवी तं मियापुत्तं दारगं रहस्सियंसि भूमिघरंसि रहस्सिएणं भत्तपाणेणं पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ । (सूत्र-२)

(एवं खलु त्ति) एवम्—वक्ष्यमाणप्रकारेण , खलुः वाक्यालंकारे, (सव्वोउयवण्णओ त्ति) सर्वर्त्तुककुसुमसंछन्ने (नंदणवणप्पगासे इत्यादि) उद्यानवर्णनको वाच्य इति, (चिराइए त्ति) चिरादिकं चिरकालीनप्रारम्भमित्यादिवर्णकोपेतं वाच्यम् , यथा—पूर्णभद्रचैत्यमौपपातिके । (अहीणवन्नओ त्ति) ' अहीणपुन्नपंचिंदियसरीरे ' इत्यादि वर्णको वाच्यः, (अत्तए त्ति) आत्मजः—सुतः, (जाइअंधे त्ति) जात्यन्धो जन्मकालादारभ्यान्ध एव , (हुंडे य त्ति) हुण्डकश्च-सर्वावयवप्रमाणविकलः, (वायव्वे त्ति) वायुरस्यास्तीति वायवो-वातिक इत्यर्थः , (आगई आगइमेत्ते त्ति) अङ्गावयवानाम् आकृतिः-आकारः, किंविधा ? इत्याह-आकृतिमात्रम् । आकारमात्रं-नोचितस्वरूपेत्यर्थः, (रहस्सि य त्ति) राहसिके—जनेनाविदिते ।

तत्थ णं मियग्गामे णगरे एगे जातिअंधे पुरिसे परिवसइ, से णं एगेणं सक्खुत्तेणं पुरिसेणं पुरओ दंडएणं पगड्ढिज्जमाणे पगड्ढिज्जमाणे फुट्टहडाहडसीसे मच्छियाचडगरपहकरेणं अन्निज्जमाणमग्गे मियग्गामे नयरे गेहे गेहे कालुणवडियाए वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवं महावीरे० जाव समोसरिए० जाव परिसा निग्गया। तए णं से विजए खत्तिए इमीसे कहाए लद्धऽट्ठे समाणे जहा कोणिए तहा निग्गते० जाव पज्जुवासइ। तते णं से जातिअंधे पुरिसे तं महया जणसद्दं० जाव सुणेत्ता तं पुरिसे एवं वयासी–किन्नं देवाणुप्पिया! अज्ज मियग्गामे णगरे इंदमहेइ वा ०जाव निग्गच्छइ?, तते णं से पुरिसे तं जातिअंधपुरिसं एवं वयासी–नो खलुदेवाणुप्पिया! इंदमहेइ वा०जाव णिग्गच्छति, एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे ०जाव विहरति, तते णं एते० जाव निग्गच्छंति, तते णं से अंधपुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी–गच्छामो णं देवाणुप्पिया! अम्हे वि समणं भगवं०जाव पज्जुवासामो, तते णं से जातिअंधे पुरिसे पुरतो दंडएणं पगढिज्जमाणे पगढिज्जमाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागए २ त्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ करेत्ता वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता० जाव पज्जुवासति,तते णं समणे भगवं महावीरे विजयस्स रन्नो तीसे य महइमहालियाते परिसाए विवित्तं धम्ममाइक्खति जहा जीवा विचज्झंति परिसा० जाव पडिगया, विजए वि गते।(सूत्र–३)

(फुट्टहडाहडसीसे त्ति) फुट्टन्ति–स्फुटितकेशसंचयत्वेन विकीर्णकेशम्, (हडाहडं ति) अत्यर्थं शीर्षं शिरो यस्य स तथा, (मच्छियाचडगरपहयरेणं ति) मक्षिकाणां प्रसिद्धानां चटकरप्रधानो–विस्तरवान् यः प्रहकरः–समूहः स तथा। अथवा–मक्षिकाचटकराणां तद्वृन्दानां यः प्रहकरः स तथा तेन (अणिज्जमाणमग्गे त्ति) अन्वीयमानमार्गः, अनुगम्यमानमार्गः, मलाविलं हि वस्तु प्रायो मक्षिकाभिरनुगम्यत एवेति, (कालुण्णवडियाए त्ति) कारुण्यवृत्त्या (वित्तिं कप्पेमाणे त्ति) जीविकां कुर्वाणः। (जाव समोसरिए त्ति) इह यावत्करणात् "पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे" इत्यादिवर्णको दृश्यः, 'तं महया जणसद्दं च' त्ति, सूत्रत्वान्महाजनशब्दं च, इह यावत्करणात् "जणवूहं च जणबोलं च" इत्यादि दृश्यम्। तत्र जनव्यूहः चक्राद्याकारः–समूहस्तस्य शब्दस्तदभेदाज्जनव्यूह एवोच्यते अतस्तम्, बोलः अव्यक्तवर्णो ध्वनिरिति, (इंदमहेइ व त्ति) इन्द्रोत्सवो वा, इह यावत्करणात्–"खंदमहे वा रुद्दमहे वा०जाव उज्जाणजत्ताइ वा जन्नं बहवे उग्गा भोगा, ०जाव एगदिसिं एगाभिमुहा" इति दृश्यम् इतो यद्वाक्यं तदेवमनुसर्तव्यं, सूत्रपुस्तके सूत्राद्दर्शनादेव सन्तीति, 'तए णं से पुरिसे तं जाइअंधपुरिसं एवं वयासी–नो खलु देवाणुप्पिया! अज्ज मियग्गामे नयरे इंदमहे वा ०जाव जत्ताइ वा जन्नं एए उग्गा० ०जाव एगदिसिं एगाभिमुहा णिग्गच्छंति, एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे०जाव इह समागते इह संपत्ते इहेव मियग्गामे णगरे मिगवणुज्जाणे अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति, तए णं से अंधपुरिसे तं पुरिसे एवं वयासी"–इति,'विजयस्स तीसे य धम्म' त्ति इदमेवं दृश्यम्–'विजयस्स रन्नो तीसे य महइमहालियाते परिसाए विवित्तं धम्ममाइक्खइ जहा जीवा वज्झंती' त्यादि परिषद्–यावत् परिगता।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूतिनामं अणगारे०जाव विहरइ। तते णं से भगवं २ गोयमे तं जातिअंधपुरिसं पासइ २ त्ता जायसड्ढे ०जाव एवं वयासी–अत्थि णं भंते! केई पुरिसे जातिअंधे जातिअंधारूवे? हंता अत्थि, कहणं भंते! से पुरिसे जातिअंधे जातिअंधारूवे?, एवं खलु गोयमा! इहेव मियग्गामे नगरे विजयस्स खत्तियस्स पुत्ते मियादेवीए अत्तए मियापुत्ते नामं दारए जातिअंधे जातिअंधारूवे, नऽत्थि णं तस्स दारगस्स ०जाव आगतिमित्ते, तते णं सा मियादेवी ०जाव पडिजागरमाणी २ विहरति। तते णं से भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसति २ त्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते! अहं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे मियापुत्तं दारगं पासित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया!, तते णं से भगवं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुन्नाए समाणे हट्ठे तुट्ठे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ पडिनिक्खमइ २ त्ता अतुरियं ०जाव सोहेमाणे २ जेणेव मियग्गामे णगरे तेणेव उवागच्छति २ त्ता मियग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव मियादेवीए गेहे तेणेव उवागए, तते णं सा मियादेवी भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ २ त्ता हट्ठ–तुट्ठ ०जाव एवं वयासी–संदिसंतु णं देवाणुप्पिया! किमागमणपयोयणं?, तते णं भगवं गोयमे मियादेविं एवं वयासी–अहण्णं देवाणुप्पिए! तव पुत्तं पासितुं हव्वमागए, तते णं सा मियादेवी मियापुत्तस्स दारगस्स अणुमग्गजायते चत्तारि पुत्ते सव्वालंकारविभूसिए करेति २ त्ता भगवतो गोयमस्स पादेसु पाडेति २ त्ता एवं वयासी–एए णं भंते! मम पुत्ते पासह, तते णं से भगवं गोयमे मियादेविं एवं वयासी–नो खलु देवाणुप्पिया! अहं एए तव पुत्ते पासिउं हव्वमागते, तत्थ णं जे से तव जेट्ठे मियापुत्ते दारए जाइअंधे जातिअंधारूवे जं णं तुमं रहस्सियंसि भूमिघरंसि रहस्सिएणं भत्तपाणेणं पडिजागरमाणी २ विहरसि। तं णं अहं पासिउं हव्वमागए,तते णं सा मियादेवी भगवं गोयमं एवं वयासी–से के णं गोयमा! से तहारूवे णाणी वा तवस्सी वा जेणं तव एसमट्ठे मम ताव रहस्सिकए तुब्भं हव्वमक्खाए जओ णं तुब्भे जाणह?, तते णं भगवं गोयमे मियादेविं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! मम धम्माऽऽयरिए समणे भगवं महावीरे जतो णं अहं जाणामि, ०जावं च णं मि–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यादेवी भगवया गोयमेणं सद्धिं एयमहं संलवति तावं च णं मियापुत्तस्स दारगस्स भत्तवेला जाया याऽवि होत्था, तते णं सा मियादेवी भगवं गोयमं एवं-वयासी-तुब्भे णं भंते ! इहं चेव चिट्ठह जा णं अहं तुब्भं मियापुत्तं दारगं उवदंसेमि त्ति कट्टु जेणेव भत्तपाणघरे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता वत्थपरियट्टयं करेति वत्थपरियट्टयं करित्ता कट्ठसगडियं गिण्हति कट्ठसगडियं गिण्हित्ता विपुलस्स असणपाणखाइमसाइमस्स भरेति विपुलस्स असणपाणखाइमसाइमस्स भरित्ता तं कट्ठसगडियं अणुकड्ढमाणी २ जेणामेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता भगवं गोयमं एवं वयासी-एह णं तुब्भे भंते ! मम अणुगच्छह जा णं अहं तुब्भं मियापुत्तं दारगं उवदंसेमि, तते णं से भगवं गोयमे मियं देविं पिट्ठओ समणुगच्छति, तते णं सा मियादेवी तं कट्ठसगडियं अणुकड्ढमाणी २ जेणेव भूमिघरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता, चउप्पुडेणं वत्थेणं मुहं बंधेति मुहं बंधमाणी भगवं गोयमं एवं वयासी—तुब्भेऽवि णं भंते ! मुहपोत्तियाए मुहं बंधह, तते, णं से भगवं गोयमे मियादेवीए एवं वुत्ते समाणे मुहपोत्तियाए मुहं बंधेति, तते णं सा मियादेवी परम्मुही भूमिघरस्स दुवारं विहाडेति, तते गंधे निग्गच्छति से जहा नामए अहिमडेति वा सप्पकडेवरेइ वा ० जाव ततोऽवि णं अणिट्ठतराए चेव ० जाव गंधे पन्नत्ते, तते णं से मियापुत्ते दारए तस्स विपुलस्स असणपाणखाइमसाइमस्स गंधेणं अभिभूते समाणे तंसि विपुलंसि असणपाण ० मुच्छित्ते तं विपुलं असणं पा० ४ आसएणं आहारेति आहारित्ता खिप्पामेव विद्धंसेति विद्धंसेत्ता ततो पच्छा पूयत्ताए य सोणियत्ताए य परिणामेति । तं पि य णं पूयं च सोणियं च आहारेति, तते णं भगवओ गोयमस्स तं मियापुत्तं दारयं पासित्ता अयमेयारूवे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था अहो णं इमे दारए पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं असुभाणं पावाणं कडाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणे विहरति । ण मे दिट्ठा णरगा वा णेरइया वा पच्चक्खं खलु अयं पुरिसे नरयपडिरूवियं वेयणं वेयति त्ति कट्टु मियं देविं आपुच्छति २ त्ता मियाए देवीए गिहाओ पडिनिक्खमति गिहा० २ त्ता मियग्गामं णगरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति २ त्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति २ त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ २ त्ता वंदति नमंसति २ त्ता एवं वयासी-एवं खलु अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मियग्गामं नगरं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसामि जेणेव मियाए देवीए गेहे तेणेव उवागते, तते णं सा मियादेवी ममं एज्जमाणं पासइ पासित्ता हट्ठा तं चेव सव्वं ०जाव पूयं च सोणियं च आहारेति, तते णं मम इमे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था-अहो णं इमे दारए पुरा ०जाव विहरइ । (सूत्र-४)

(जाइअंधे त्ति) जातेरारभ्यान्धो जात्यन्धः, स च चक्षुरुपघातादपि भवतीत्यत आह-(जायअंधारूवे त्ति) जातम्—उत्पन्नमन्धकं नयनयोरादित एवानिष्पत्तेः कुत्सिताङ्गं रूपं स्वरूपं यस्याऽसौ जातान्धकरूपः , (अतुरियं ति) अत्वरितं मनःस्थैर्यात् , यावत्करणादिदं दृश्यम्-" अचवलमसंभंते जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए पुरओ रियं ति" तत्र अचपलं-कायचापल्याभावात् क्रियाविशेषणे चैते, तथा—असंभ्रान्तः—भ्रमरहितः, युगम्—यूपस्तत्प्रमाणो भूभागोऽपि युगं तस्यान्तरे मध्ये प्रलोकनं यस्याः सा तथा तया दृष्ट्या-चक्षुषा, (रियं ति) ईर्या-गमनं तद्विषयो मार्गोऽपीर्योऽतस्ताम्, (जेणेव त्ति) यस्मिन् देशे २, 'हट्ठ० जाव त्ति' इह 'हट्ठतुट्ठमाणंदिए' इत्यादि दृश्यम्,एकार्थाश्चैते शब्दाः ३ (हव्वं ति) शीघ्रम् (जओ णं ति) यस्मात् (जाया यावि होत्था) जाता चाप्यभवदित्यर्थः। (वत्थपरियट्टे ति) वस्त्रपरिवर्त्तनम्। (से जहा नामए त्ति) तद्यथा नामेति वाक्यालङ्कारे। ' अहिमडेइ वा सप्पकडेवरेइ वा ' इह यावत्करणात् ' गोमडेइ वा सुणहमडेइ वा ' इत्यादि द्रष्टव्यम्, (ततो वि णं ति)ततोऽपि—अहिकडेवरादिगन्धादपि (अणिट्ठतराए चेव त्ति) अनिष्टतर एव गन्ध इति गम्यते, इह यावत्करणात् ' अकंततराए चेव अप्पियतराए चेव अमणुन्नतराए चेव अमणामतराए चेव ' त्ति दृश्यम्, एकार्थाश्चैते ' मुच्छिए ' इत्यत्र ' गढिते गिद्धे अज्झोववन्ने ' इति पदत्रयमन्यद् दृश्यम् , एकार्थान्येतानि चत्वार्यपीति। ' अज्झत्थिए ' इत्यत्र ' चिंतिए कप्पिए पत्थिए मणोगए संकप्पे ' इति दृश्यम् , एतान्यप्येकार्थानि ' पुरा पोराणाणं दुच्चिन्नाणं ' इहाक्षरघटना—पुराणानाम्-जरठानां, कक्खडीभूतानामित्यर्थः , (पुरा) पूर्वकाले दुश्चीर्णानां-प्राणातिपातादिदुश्चरितहेतुकानाम् (दुप्पडिक्कंताणं ति) दुःशब्दोऽभावार्थस्तेन प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना अप्रतिक्रान्तानाम्—अनिवर्त्तितविपाकानामित्यर्थः, (असुभाणं ति) असुखहेतूनाम्, (पावाणं ति) पापानां-दुष्टस्वभावानाम् , (कम्माणं ति) ज्ञानावरणादीनाम् ।

से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसि (किं नामए वा किं गोए वा) कयरंसि गामंसि वा नयरंसि वा किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा समायरित्ता केसिं वा पुरा ०जाव विहरति ?, गोयमाऽऽइसमणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सयदुवारे नामं नगरे होत्था, रिद्धत्थिमिए वन्नओ, तत्थ णं सयदुवारे नगरे धणवई नामं राया हुत्था वण्णओ, तस्स णं सयदुवारस्स नगरस्स अदूरसामंते दाहिणपुरच्छिमे दिसीभाए विजयवद्धमाणे णामं खेडे होत्था रिद्धत्थिमियसमिद्धे,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्स णं विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पंच गामसयाइं आ-भोए याऽवि हुत्था, तत्थ णं विजयवद्धमाणे खेडे इक्काई णामं रट्ठकूडे होत्था, अहम्मिए ०जाव दुप्पडियाणंदे, से णं इक्काई रट्ठकूडे विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पंचण्हं गाम-सयाणं आहेवच्चं ०जाव पालेमाणे विहरइ, तए णं से इक्काई विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पंच गामसयाइं बहूहिं करेहि य भरेहि य विद्धीहि य उक्कोडाहि य पराभवेहि य दिज्जेहि य भेज्जेहि य कुंतेहि य लंछपोसेहि य आलीवणेहि य पंथकोट्टेहि य उवीलेमाणे २ विहम्मेमाणे २ तज्जेमाणे २ तालेमाणे २ निद्धणे करेमाणे २ विहरति। तते णं से इक्काई रट्ठकूडे विजयवद्धमाणस्स खेडस्स बहूणं राईसरत-लवरमाडंबियकोडुंबियसेट्ठिसत्थवाहाणं अन्नेसिं च बहूणं गामेल्लगपुरिसाणं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य संतेसु य गुज्झेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य सुणमाणे भणति-न सुणेमि, असुणमाणे भणति—सुणेमि, एवं पस्समाणे भासमाणे गिण्हमाणे जाणमाणे, तते णं से इक्काई रट्ठकूडे एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मे कलिकलुसं समज्जिणमाणे विहरति। (सूत्र-५)

'पुव्वभवे के आसि' इत्यत एवमवधेयम् (किं नामए वा किं गोत्तए वा) तत्र नाम-याहच्छिकमभिधानम्, गोत्रं तु-यथा र्थं कुलं वा "कयरंसि गामंसि वा नगरंसि वा किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा समायरेत्ता केसिं वा पुरा पोराणाणं दुच्चिन्नाणं दुप्पडिकंताणं असुहाणं पावाणं कम्माणं पा-वगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ' त्ति। (गोयमा इ त्ति) गौतम इत्येवमामन्त्र्य इति गम्यते (रिद्धित्थिमिए त्ति) ऋद्धिप्रधानं स्तिमितं च-निर्भयं यत्त-त्तथा, (वण्णओ त्ति) नगरवर्णकः, स चौपपातिकवद् द्रष्टव्यः, (अदूरसामंते त्ति) नातिदूरे नच समीपे इत्यर्थः, (खेडे त्ति) धूलीप्राकारम्, (रिद्ध त्ति) 'रिद्धत्थमियस-मिद्धे' इति द्रष्टव्यम्, (आभोए त्ति) विस्तारः, (रट्ठकूडे त्ति) राष्ट्रकूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिकः ४ (अहम्मिए त्ति) अधार्मिको, यावत्करणादिदं दृश्यम्-' अधम्माणुए अध-म्मिट्ठे अधम्मपलोई अधम्मपलंजणे अधम्मसमुदाचारे अ-धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणे दुस्सीले दुव्वए ' त्ति, तत्र अधार्मिकत्वप्रपञ्चनायोच्यते-'अधम्माणुए' अधर्मं-श्रुतचा-रित्राभावम् अनुगच्छतीत्यधर्मानुगः, कुत एतदेवमित्याह-अधर्म एव इष्टो वल्लभः पूजितो वा यस्य सोऽधर्मिष्ठः अतिशयेन वाऽधर्मी धर्मवर्जित इत्यधर्मिष्ठः, अत एवा-धर्माख्यायी-अधर्मप्रतिपादकः; अधर्मख्यातिर्वा; अविद्यमा, नधर्मोऽयमित्येवं प्रसिद्धिकः, तथाऽधर्मं प्रलोकयति-उ-पादेयतया प्रेक्षते यः स तथा, अत एवाधर्मप्ररञ्जनः अधर्म-रागी, अत एवाधर्मः समुदाचारः—समाचारो यस्य स तथा, अत एवाधर्मेण-हिंसादिना वृत्तिं-जीविकां कल्पयन् सन् दुःशीलः-शुभस्वभावहीनः, दुर्व्रतश्च-व्रतवर्जितः, दुष्प्रत्यानन्दः-साधुदर्शनादिना नानन्द्यत इति। १। (आहेवच्चं ति) अधि-पतिकर्म्म, यावत्करणादिदं दृश्यम्-"पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे" त्ति, तत्र पुरोवर्त्तित्वम् अग्रेसरत्वम्, स्वामित्वम्-नायकत्वं, भर्तृत्वं पो-षकत्वम्, महत्तरकत्वम्-उत्तमत्वम्, आज्ञेश्वरस्य-आज्ञाप्रधान स्य; यत्सैनापतित्वं तदाज्ञेश्वरसेनापत्यं कारयन्-नियोगिकैर्वि-धापयन् पालयन् स्वयमेवेति। २। (करेहि य त्ति) करैः क्षेत्रा द्याश्रितराजदेयद्रव्यैः [भरेहि य त्ति] तेषामेव प्राचुर्यैः [विद्धीहि य त्ति] वृद्धिभिः कुटुम्बिनां वितीर्णस्य धान्यस्य द्विगुणादेर्ग्रहणैः, वृत्तिभिरिति कश्चित्, तत्र वृत्तयो राजा-देशकारिणां जीविकाः [उक्कोडाहि य त्ति] लञ्चाभिः [परा-भएहि य त्ति] पराभवैः (देज्जेहि य त्ति) अनाभवद्दातव्यैः (भे-ज्जेहि य त्ति) यानि पुरुषमारणाद्यपराधमाश्रित्य ग्रामा-दिषु दण्डद्रव्याणि निपतन्ति कौटुम्बिकान् प्रति च भेदे-नोद्ग्राह्यन्ते तानि भेद्यानि अतस्तैः (कुंतेहि य त्ति) कुन्तकम्-एतावद्द्रव्यं त्वया देयमित्येवं नियन्त्रणया नियोगिकस्य दे-शादेर्यत् समर्पणमिति, (लंछपोसेहि य त्ति) लञ्छाः—चौरविशेषाः संभाव्यन्ते तेषां पोषाः पोषणानि तैः, (आ-लीवणेहि य त्ति) व्याकुललोकानां मोषणार्थं ग्रामादिप्रदीप-नकैः (पंथकोट्टेहि य त्ति) सार्थघातैः (उवीलेमाणे त्ति) अवपीलयन् बाधयन्। (विहम्मेमाणे त्ति) विधर्म्मयन्-स्वाचारभ्रष्टान् कुर्वन् (तज्जमाणे त्ति) कृतावष्टम्भान् त-र्जयन्—ज्ञास्यथ रे यन्मम इदं च इदं च न दत्से इत्येवं भेषयन् (तालेमाणे त्ति) कशाचपेटादिभिस्ताडयन् (णिद्धणे करेमाणे त्ति) निर्द्धनान् कुर्वन् विहरति। (तए णं से इक्काई रट्ठकूडे विजयवद्धमाणस्स खेडस्स) सत्कानां (बहूणं राईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियसेट्ठिसत्थ-वाहाणं) इह तलवराः-राजप्रसादवन्तो राजोत्थासनिकाः, माडम्बिकाः—मडम्बाधिपतयो मडम्बं च—योजनद्वयाभ्य-न्तरेऽविद्यमानग्रामादिनिवेशः सन्निवेशविशेषः शेषाः प्रसि-द्धाः। (कज्जेसु त्ति] कार्येषु प्रयोजनेषु अनिष्पन्नेषु [कार-णेसु त्ति] सिसाधयिषितप्रयोजनोपायेषु विषयभूतेषु ये मन्त्रादयो व्यवहारान्तास्तेषु, तत्र मन्त्राः—पर्यालोचनानि गुह्यानि—रहस्यानि, निश्चया-वस्तुनिर्णयाः, व्यवहारा-वि-वादास्तेषु विषये ४। [एयकम्मे] एतद्व्यापारः एतदेव वा काम्यम् कमनीयं यस्य स तथा, [एयप्पहाणे त्ति] एतत्प्र-धानः एतन्निष्ठ इत्यर्थः, [एयविज्जे त्ति] एषैव विद्या—वि-ज्ञानं यस्य स तथा [एयसामायारे त्ति] एतज्जीतकल्प इ-त्यर्थः, [पावकम्मं ति] अशुभं ज्ञानावरणादि [कलिकलु-सं ति] कलहहेतुकलुषं मलीमसमित्यर्थः।

तते णं तस्स इक्काईयस्स रट्ठकूडस्स अन्नया कयाइं सरी-रगंसि जमगसमगमेव सोलस रोग ऽऽयंका पाउब्भूया, तं जहा-सासे १ कासे २ जरे ३ दाहे ४, कुच्छिसूले ५ भगंदरे ६। अरिसा ७ अजीरए ८ दिट्ठी ६, मुद्धसूले १० अकारए ११॥१॥ अच्छिवेयणा १२ कन्नवेयणा १३ कंडू १४ उदरे १५ कोढे १६। तते णं से इक्काई रट्ठकूडे सोलसहिं रोगाऽऽयंकेहिं अभिभूए समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! विजयवद्धमाणे खेडे संघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहपहेसु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणा २ एवं वदह–इहं खलु देवाणुप्पिया! इक्काई रट्ठकूडस्स सरीरगंसि सोलस रोगाऽऽयंका पाउब्भूया, तं जहा–सासे १ कासे २ जरे ३, ०जाव कोढे १६, तं जो णं इच्छति देवाणुप्पिया! विज्जो वा विज्जपुत्तो वा जाणुओ वा जाणुयपुत्तो वा तेगिच्छी वा तेगिच्छीपुत्तो वा इक्काई रट्ठकूडस्स तेसिं सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तए तस्स णं इक्काई रट्ठकूडे विपुलं अत्थसंपयाणं दलयति, दोचं पि तच्चं पि उग्घोसेह उग्घोसेइत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह, तते णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव पच्चप्पिणंति, तते णं से विजयवद्धमाणे खेडे इमं एयारूवं उग्घोसणं सोच्चा निसम्म बहवे विज्जा य० ६ सत्थकोसहत्थगया सएहिं सएहिं गिहेहिंतो पडिनिक्खमंति २ त्ता विजयवद्धमाणस्स खेडस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव इक्काई रट्ठकूडस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता इक्काई रट्ठकूडस्स सरीरगं परामुसंति २ त्ता तेसिं रोगाणं निदाणं पुच्छंति २ त्ता इक्काई रट्ठकूडस्स बहूहिं अब्भंगेहि य उव्वट्टणाहि य सिणेहपाणेहि य वमणेहि य विरेयणेहि य अवद्दहणाहि य अवण्हाणेहि य अणुवासणाहि य वत्थिकम्मेहि य निरुहेहि य सिरावेहेहि य तच्छणेहि य पच्छणेहि य सिरोवत्थीहि य तप्पणाहि य पुडपागेहि य छल्लीहि य मूलेहि य कंदेहि य पत्तेहि य पुप्फेहि य फलेहि य बीएहि य सिलियाहि य गुलियाहि य ओसहेहि य भेसज्जेहि य इच्छंति तेसिं सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसमावित्तए नो चेव णं संचाएंति उवसामित्तए। तते णं ते बहवे विज्जा य विज्जपुत्ता य जाहे नो संचाएंति तेसिं सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तए ताहे संता तंता परितंता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। तते णं इक्काई रट्ठकूडे विज्जेहि य ६ पडियाइक्खिए परियारगपरिचत्ते निविएणोसहभेसज्जे सोलसरोगायंकेहिं अभिभूए समाणे रज्जे य रट्ठे य ०जाव अंतेउरे य मुच्छिए रज्जं च रट्ठं च आसाएमाणे पत्थेमाणे पीहेमाणे अभिलसमाणे अट्टदुहट्टवसट्टे अड्ढाइज्जाइं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसेणं सागरोवमट्ठितीएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने, से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव मियग्गामे णगरे विजयस्स खत्तियस्स मियाए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने। तते णं तीसे मियाए देवीए सरीरे वेयणा पाउब्भूया उज्जला० जाव जलंता, जप्पभिइं च णं मियापुत्ते दारए मियाए देवीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए उववन्ने तप्पभिइं च णं मियादेवी विजयस्स अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुन्ना अमणामा जाया याऽवि होत्था। तते णं तीसे मियाए देवीए अन्नया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियाए जागरमाणीए इमे एयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था एवं खलु अहं विजयस्स खत्तियस्स पुव्विं इट्ठा कं० ६ धेज्जा वेसासिया अणुमया आसी, जप्पभिइं च णं मम इमे गब्भे कुच्छिंसि गब्भत्ताए उववन्ने तप्पभिइं च णं अहं विजयस्स खत्तियस्स अणिट्ठा०जाव अमणामा जाया यावि होत्था। निच्छति णं विजए खत्तिए मम नामं वा गोयं वा गिरिहत्तए वा किमंग! पुण दंसणं वा परिभोगं वा १, तं सेयं खलु मम एयं गब्भं बहूहिं गब्भसाडणाहि य पाडणाहि य गालणाहि य मारणाहि य साडित्तए वा पा०४, एवं संपेहेइ संपेहित्ता बहूणि खाराणि य कडुयाणि य तूवराणि य गब्भसाडणाणि य खायमाणी य पीयमाणी य इच्छति तं गब्भं साडित्तए वा०४ नो चेव णं से गब्भे सडइ वा० ४ तते णं सा मियादेवी जाहे नो संचाएति तं गब्भं सडित्तए वा० ४ ताहे संता तंता परितंता अकामिया असवसा तं गब्भं दुहं दुहेणं परिवहइ, तस्स णं दारगस्स गब्भगयस्स चेव अट्ठ नालीओ अब्भितरप्पवहाओ अट्ठ नालीओ बाहिरप्पवहाओ अट्ठ पूयप्पवहाओ अट्ठ सोणियप्पवहाओ दुवे दुवे कएणंतरेसु दुवे दुवे अच्छिंतरेसु दुवे दुवे नक्कंतरेसु दुवे दुवे धमणिअंतरेसु अभिक्खणं अभिक्खणं पूयं च सोणियं च परिस्सवमाणीओ२ चेव चिट्ठंति। तस्स णं दारगस्स गब्भगयस्स चेव अग्गिए नामं वाही पाउब्भूए जे णं से दारए आहारेति से णं खिप्पामेव विद्धंसमागच्छति पूयत्ताए सोणियत्ताए य परिणमति, तं पि य से पूयं च सोणियं च आहारेति। तते णं सा मियादेवी अन्नया कयाइं नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं दारगं पयाया जातिअंधे० जाव आगइमित्ते। तते णं सा मियादेवी तं दारगं हुंडं अंधारूवं पासति २ त्ता भीया० ४ अम्मधाइं सद्दावेति २ त्ता एवं वयासी–गच्छह णं देवाणुप्पिया! तुमं एयं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झाहि। तते णं सा अम्मधाई मियादेवीए तह त्ति एयमट्ठं पडिसुणेति २ त्ता जेणेव विजए खत्तिए तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं एवं वयासी–एवं खलु सामी! मियादेवी नवण्हं मासाणं० जाव आगतिमित्ते, तते णं सा मियादेवी तं हुंडं अंधारूवं पासति २ त्ता भीया तत्था उव्विग्गा संजायभया ममं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! एयं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झाहि, तं संदिसह णं सामी! तं दारगं अहं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एगंते उज्झामि उदाहु मा ?, तते णं से विजए खत्तिए तीसे अम्मधाईए अंतिए एयमट्ठं सोचा तहेव संभंते उट्ठाए उट्ठेति उट्ठाइत्ता जेणेव मियादेवी तेणेव उवागच्छति २ त्ता मियदेवीं एवं वयासी-देवाणुप्पिया ! तुब्भं पढमं गब्भे तं जइ णं तुब्भे एयं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झासि ततो णं तुब्भे पया नो थिरा भविस्सति । तो णं तुमं एयं दारगं रहस्सियगंसि भूमिघरंसि रहस्सिएणं भत्तपाणेणं पडिजागरमाणी २ विहराहि, तो णं तुब्भं पया थिरा भविस्सति, तते णं सा मियादेवी विजयस्स खत्तियस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेति पडिसुणित्ता तं दारगं रहस्सियंसि भूमिघरंसि रहस्सियभत्तपाणेणं पडिजागरमाणी विहरति, एवं खलु गोयमा ! मियापुत्ते दारए पुरा पुराणाणं ०जाव पचणुब्भवमाणे विहरति । (सूत्र-६) ।

(जमगसमगं ति) युगपत् (' रोगायंक ' त्ति) रोगाः-व्याधयस्त एवातङ्काः—कष्टजीवितकारिणः । 'सासे' इत्यादि श्लोकः, 'जोणिसूले' त्ति अपपाठः । 'कुच्छिसूले' इत्यास्यान्यत्र दर्शनात्, (भगंदले त्ति) भगन्दरः (अकारए त्ति) अरोचकः, 'अच्छिवेयणा' इत्यादि श्लोकातिरिक्तम् , (उदरे त्ति) जलोदरं शृङ्गाटकादयः स्थानविशेषाः । (विज्जो व त्ति) वैद्यशास्त्रे चिकित्सायां च कुशलः (विज्जपुत्तो व त्ति) तत्पुत्रः (जाणुओ व त्ति) ज्ञायकः केवलशास्त्रकुशलः (तेगिच्छओ व त्ति) चिकित्सामात्रकुशलः, (अत्थसंपयाणं दलयइ त्ति) अर्थदानं करोतीत्यर्थः । (सत्थकोसहत्थगय त्ति) शस्त्रकोशो—नखरदनादिभाजनं हस्ते गतो-व्यवस्थितो येषान्ते तथा, (अवद्दहणाहि य त्ति) दम्भनैः (अवण्हाणेहि य त्ति) तथाविधद्रव्यसंस्कृतजलेन स्नानैः (अणुवासणाहि य त्ति) अपानेन जठरे तैलप्रवेशनैः (वत्थिकम्मेहि य त्ति) चर्म्मवेष्टनप्रयोगेण शिरःप्रभृतीनां स्नेहपूरणैः गुदे वा वर्त्यादिक्षेपणैः (निरुहेहि य त्ति) निरुहः अनुवास एव केवलं द्रव्यकृतो विशेषः (सिरावेहेहिय त्ति) नाडीवेधैः (तच्छणेहि य त्ति) क्षुरादिना त्वचस्तनूकरणैः (पच्छणेहि य त्ति) ह्रस्वैस्त्वचो विदारणैः (सिरोवत्थीहि य त्ति) शिरोवस्तिभिः शिरसि बद्धस्य चर्मकोशकस्य द्रव्यसंस्कृततैलाद्यापूरणलक्षणाभिः, प्रागुक्तवस्तिकर्म्माणि सामान्यानि अनुवासनानि रुहशिरोवस्तयस्तु तद्भेदाः (तप्पणाहि य त्ति) तर्प्पणैः स्नेहादिभिः शरीरबृंहणैः (पुडपागेहि य त्ति) पुटपाकाः पाकविशेषनिष्पन्नाः औषधिविशेषाः (छल्लीहि य त्ति) छल्लयो—रोहिणीप्रभृतयः । (सिलियाहि य त्ति) शिलिकाः-किराततिक्तकप्रभृतिकाः [गुलियाहि य त्ति] द्रव्यवटिकाः (ओसहेहि य त्ति) औषधानि एकद्रव्यरूपाणि (भेसज्जेहि य त्ति) भैषज्यानि-अनेकद्रव्ययोगरूपाणि पथ्यानि चेति । (संत त्ति) श्रान्ता देहखेदेन (तंत त्ति) तान्ताः मनःखेदेन (परितंत त्ति) उभयखेदेनेति ' रज्जे य रट्ठे य ' इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्-"कोसे य कोट्ठागारे य वाहणे य" त्ति । 'मुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववण्णे त्ति ' एकार्थाः, ' आसाएमाणे ' इत्यादय एकार्थाः (अट्टदुहट्टवसट्टे त्ति) आर्तो मनसा दुःखितो, दुःखार्तो देहेन, वशार्तस्तु—इन्द्रियवशेन पीडितः ततः कर्मधारयः, (उज्जला) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-" विउला कक्कसा पगाढा चंडा दुहा तिव्वा दुरहियास " त्ति । एकार्था एव । " अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुन्ना अमणामा " एतेऽपि तथैव, (पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि त्ति) पूर्वरात्रो-रात्रेः पूर्वभागः, अपररात्रो-रात्रेः पश्चिमो भागस्तल्लक्षणो यः कालसमयः—कालरूपः समयः स तथा तत्र (कुडुंबजागरियाए त्ति) कुटुम्बचिन्तयेत्यर्थः (अज्झत्थिए त्ति) अध्यात्मिकः आत्मविषयः, इह चान्यान्यपि पदानि दृश्यानि, तद्यथा—(चिंतिए त्ति) स्मृतिरूपः (कप्पिए त्ति) बुद्ध्या व्यवस्थापितः (पत्थिए त्ति) प्रार्थितः प्रार्थनारूपः (मणोगए त्ति) मनस्येव वृत्तो बहिरप्रकाशितः, संकल्पः—पर्यालोचः, ' इट्ठे ' त्यादीनि पञ्चैकार्थिकानि प्राग्वत् (धिज्जे त्ति) ध्येया (वेसासिय त्ति) विश्वसनीया (अणुमय त्ति) विप्रियदर्शनस्य पश्चादपि मता अनुमतेति, (नामं ति) पारिभाषिकी संज्ञा (गोयं ति) गोत्रम् अन्वर्थिकी सञ्ज्ञैवेति (किमंग पुण त्ति) किं पुनः ' अंग ' इत्यामन्त्रणे, (गब्भसाडणाहि य त्ति) शातनाः-गर्भस्य खण्डशो भवनेन पतनहेतवः (पाडणाहि य त्ति) पातनाः यैरुपायैरखण्ड एव गर्भः पतति (गालणाहि य त्ति) यैर्गर्भो द्रवीभूय क्षरति (मारणाहि य त्ति) मरणहेतवः । (अकामिय त्ति) निरभिलाषाः [असयंवस त्ति] अस्वयंवशा [अट्ठनालीओ त्ति] अष्टौ नाड्यः-शिराः [अब्भितरप्पवहाउ त्ति] शरीरस्याभ्यन्तर एव रुधिरादि स्रवन्ति यास्तास्तथोच्यन्ते, [बाहिरप्पवहाउ त्ति] शरीराद्बहिः पूयादि क्षरन्ति यास्तास्तथोक्ताः, एता एव षोडश विभज्यन्ते ' अट्ठे ' त्यादि कथमित्याह—[दुवे दुवे त्ति] द्वे पूयप्रवाहे द्वे च शोणितप्रवाहे, ते क्व क्वेत्याह—[कन्नंतरेसु] श्रोत्ररन्ध्रयोः एवमेताश्चतस्रः, एवमन्या अपि व्याख्येयाः, नवरं धमन्यः कोष्ठकद्वन्द्वान्तराणि [अग्गियए त्ति] अग्निको भस्मकाभिधानो वायुविकारः ' जाइअंधे ' इत्यत्र यावत्करणात् ' जाइमूए ' इत्यादि दृश्यम्, [हुंडं ति] अव्यवस्थिताङ्गावयवम् [अंधारूवं ति] अन्धाकृतिः ' भीया ' इत्यत्रैतद् दृश्यम् ' तत्था उव्विग्गा संजायभया ' भयप्रकर्षाभिधानायैकार्थाः शब्दाः, 'करयले' त्यत्र ' करयलपरिग्गहियं दसणहं मत्थए अंजलिं कट्टु' इति दृश्यम् , ' नवण्ह ' मित्यत्र ' मासाणं बहुपडिपुन्नाण ' मित्यादि दृश्यम् , तथा—' जाइअंध ' मित्यादि च, [संभंते त्ति] उत्सुकः [उट्ठाते उट्ठेइ त्ति] उत्थानेनोत्तिष्ठति, [पय त्ति] प्रजाः—अपत्यानि, [रहस्सिगयंसि त्ति] राहस्यिके विजने इत्यर्थः । (पुरा पोराणाणं ति) पुरा-पूर्वकाले कृतानामिति गम्यम् , अत एव ' पुराणानाम्—चिरन्तनानाम् , इह च यावत्करणात् ' दुच्चिन्नाणं दुप्पडिकंताणं ' इत्यादि ' पावगं फलवित्तिविसेस ' मित्यन्तं द्रष्टव्यम् ।

मियापुत्ते णं भंते ! दारए इओ कालमासे कालं किचा कहिं गमहिति ? कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! मियापुत्ते दारए छव्वीसं वासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किचा इहेव जंबुदीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पायमूले सीहकुलंसि सीहत्ताए पच्चायाहिति, से णं तत्थ सीहे भविस्सति अहम्मिए ०जाव साहसिए सुबहुं पावं० जाव समज्जिणति ०जाव समज्जिणित्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोससागरोवमट्ठितीएसु ०जाव उववज्जिहिति, से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता सरीसिवेसु उववज्जिहिति,तत्थ णं कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं, से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता पक्खीसु उववज्जिहिति, तत्थ वि कालं किच्चा तच्चाए पुढवीए सत्तसागरोवमाइं, से णं ततो सीहेसु य, तयाऽणंतरं चोत्थीए उरगो पंचमीए इत्थीओ छट्ठीए मणुआ ० अहेसत्तमाए, ततोऽणंतरं उव्वट्टित्ता से जाइं इमाइं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छकच्छभगाहमगरसुसुमाराऽऽदीणं अद्धतेरसजातिकुलकोडिजोणिपमुहसयसहस्साइं तत्थ णं एगमेगंसि जोणीविहाणंसि अणेगसतसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता २ तत्थेव भुज्जो २ पच्चायाइस्सति, से णं ततो उव्वट्टित्ता एवं चउप्पएसु उरपरिसप्पेसु भुयपरिसप्पेसु खहयरेसु चउरिंदिएसु तेइंदिएसु बेइंदिएसु वणप्फइएसु कडुयरुक्खेसु कडुयदुद्धिएसु वाउ० तेऊ० आऊ० पुढवी० अणेगसयसहस्सखुत्तो, से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता सुपइट्ठपुरे नगरे गोणत्ताए पच्चायाहिति । से णं तत्थ उम्मुक्क ०जाव बालभावे अन्नया कयाइं पढमपाउसंसि गंगाए महानईए खलीयमट्टियं खणमाणे तडीए पेल्लिए समाणे कालगए तत्थेव सुपइट्ठे पुरे नगरे सेट्ठिकुलंसि पुमत्ताए पच्चायाइस्सति । से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे० जाव जोव्वणगमणुपत्ते तहारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइस्सति, से णं तत्थ अणगारे भविस्सति ईरियासमिए० जाव बंभयारी । से णं तत्थ बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं ततो अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे जाइं कुलाइं भवंति अड्ढाइं जहा दढपइन्ने सा चेव वत्तव्वया कलाओ० जाव सिज्झिहिति । एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं०जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमि । (सूत्र-७) ॥ १ ॥

'अहम्मिए' इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम् 'बहुनगरनिग्गयजसे सूरे दढप्पहारी ति' व्यक्तं च । (कालमासे त्ति] मरणावसरे, 'सागरोवम० जाव' त्ति 'सागरोपमट्ठिईएसु नेरइयत्ताए' द्रष्टव्यम् ,[जाइकुलकोडीजोणिप्पमुहसयसहस्साइं ति] जातौ पञ्चेन्द्रियजातौ कुलकोटीनां योनिप्रमुखानि-योनिद्वाराणि, योनिशतसहस्राणि तानि तथा । [जोणीविहाणंसि त्ति] योनिभेदे । (खलीणमट्टिय त्ति) खलीनाम्—आकाशस्थाम्, छिन्नतटोपरिवर्त्तिनीं, मृत्तिकामिति (उम्मुक्क० जाव त्ति) 'उम्मुक्कबालभावे विन्नयपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुपत्ते त्ति' दृश्यम् । तत्र विज्ञ एव विज्ञकः स चासौ परिणतमात्रश्च बुद्ध्यादिपरिणामापन्न एव विज्ञकपरिणतमात्रः । (अणंतरं चयं चइत्त त्ति) अनन्तरं शरीरं त्यक्त्वा च्यवनं वा कृत्वा (जहा दढपइन्ने त्ति) औपपातिके यथा दृढप्रतिज्ञाभिधानो भव्यो वर्णितस्तथा अयमपि वाच्यः, कस्मादेवमित्याह—(सा चेव त्ति) सैव दृढप्रतिज्ञसम्बन्धिनी,अस्या अपि वक्तव्यतेति , तामेव स्मरयन्नाह-(कलाओ त्ति) कलास्तेन गृहीष्यन्ते दृढप्रतिज्ञेनेव, यावत्करणाच्च प्रव्रज्याग्रहणादिः तस्येवास्य वाच्यम् , यावत्सेत्स्यतीत्यादि पदपञ्चकमिति ततः सेत्स्यति कृतकृत्यो भविष्यति भोत्स्यते केवलज्ञानेन सकलं ज्ञेयं ज्ञास्यति, मोक्ष्यति, सकलकर्मविमुक्तो भविष्यति, परिनिर्वास्यति सकलकर्मकृतसन्तापरहितो भविष्यति, किमुक्तं भवति ?-सर्वदुःखानामन्तं करिष्यतीति । विपा० १ श्रु० १ अ० । सुग्रीवनगरराजस्य बलभद्रस्य बलश्रीः नामके पुत्रे । उत्त० ।

नामनिष्पन्ननिक्षेपे मृगापुत्रीयमिति नामतो मृगायाः पुत्रस्य च निक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो उ मिआए,चउक्कओ दुव्विहो उ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो,नोआगमतो य सो तिविहो ।४०५।
जाणग सरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एगभवियबद्धाउय, अभिमुहओ नाम गोए य ॥४०६॥
मिअआउनामगोयं, वेयंतो भावओ मिओ होइ ।
एमेव य पुत्तस्स वि, चउक्कओ होइ निक्खेवो ॥ ४०७॥

गाथात्रयं प्राग्वत् । नवरं मृगाभिलापेन नेयम् ।

नामनिरुक्तिमाह—

मिगदेवीपुत्ताओ, बलसिरिनामा समुट्ठियं जम्हा ।
तम्हा मिगपुत्तिज्जं, अज्झयणं होइ नायव्वं ॥ ४०८ ॥

मृगा—नाम्ना, देवी-अग्रमहिषी, तस्याः पुत्रः-सुतो, मृगादेवीपुत्रस्तस्माद्बलश्रीनाम्नः समुत्थितम्—समुत्पन्नम् , यस्मात्तस्मान्मृगापुत्रीयम् मृगापुत्रीयनामकं,मृगाशब्देन मृगादेव्युक्तेरध्ययनमिदमिति शेषः, भवति—ज्ञातव्यम्; अवबोद्धव्यम् , इति गाथार्थः । गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ।

सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, अतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् , तच्चेदम्—

सुग्गीवे नयरे रम्मे, काणणुज्जाणसोहिए ।
राया बलभद्दु त्ति, मिया तस्सऽग्गमाहिसी ॥ १ ॥
तेसिं पुत्ते बलसिरि, मियापुत्त त्ति विस्सुए ।
अम्मापिऊहिं दइए, जुवराया दमीसरे ॥ २ ॥
नंदणे सो उ पासाए, कीलिए सह इत्थिहिं ।
देवो दोगुंदगो चेव, निच्चं मुइयमाणसो ॥ ३ ॥
मणिरयणकुट्टिमतले, पासायालोअणे ठिओ ।
आलोएइ नगरस्स, चउक्कतियचच्चरे ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुग्रीवे—सुग्रीवनाम्नि नगरे, रम्ये—रमणीये, काननैः-वृहद्वृक्षाश्रयैर्वनैः, उद्यानैः-आरामैः क्रीडावनैर्वा, शोभिते-राजिते, काननोद्यानशोभिते, राजा-नृपो, बलभद्र इति नाम्नेति शेषः। मृगा-मृगानाम्नी, 'तस्य' इति-बलभद्रस्य राज्ञः, (अग्गमहिसि त्ति) अग्रमहिषी—प्रधानपत्नी। तयोः-राज्ञोः, पुत्रः-बलश्रीः-बलश्रीनामा, मातापितृविहितनाम्ना लोके च मृगापुत्र इति, विश्रुतः-विख्यातः, ('अम्मापिऊणं' ति) अम्बा-पित्रोः, दयितः—वल्लभः, युवराजः-कृतयौवराज्याभिषेको, दमिनः-उद्धतदमनशीलास्ते च राजानः, तेषाम् ईश्वरः-प्रभुर्दमीश्वरः। यद्वा-दमिनः-उपशमिनः, तेषां सहजोपशमभावत ईश्वरो दमीश्वरः, भाविकालापेक्षं चैतत्। नन्दने-लक्षणोपेततया समृद्धिजनके, सः-मृगापुत्रः, 'तुः'-वाक्यान्तरोपन्यासार्थः, प्रासादे क्रीडति-विलसति, सह-समम्, स्त्रीभिः-प्रमदाभिः। क इव ?-देवः-सुरः, (दोगुंदगो चेव त्ति) चः-पूरणे, दोगुन्दग इव, दोगुन्दगाश्च त्रायस्त्रिंशाः। तथा च वृद्धाः-'त्रयस्त्रिंशा देवा नित्यं भोगपरायणा दोगुन्दगा" इति भणन्ति। नित्यम्—सदा मुदितमानसः-हृष्टचित्तः,। सन्नैवं क्रीडन् कदाचिन्मणयश्च-विशिष्टमहात्म्याश्चन्द्रकान्तादयो, रत्नानि च-गोमेयकादीनि, मणिरत्नानि, तैरुपलक्षितं कुट्टिमतलं यस्मिन्नसौ मणिरत्नकुट्टिमतलः,गमकत्वाद्बहुव्रीहिः, तस्मिन्। आलोक्यन्ते दिशोऽस्मिन् स्थितैरित्यालोकनं प्रासादे प्रासादस्य वाऽऽलोकनं प्रासादालोकनम् तस्मिन्, सर्वोपरिवर्त्तिचतुरिकारूपे गवाक्षे वा, स्थितः-उपविष्टः, आलोकते कुतूहलतः पश्यति, कानि ?-नगरस्य तस्यैव-सुग्रीवनाम्नः, सम्बन्धीनि चतुष्कत्रिकचत्वराणि प्रतीतान्येव। इति सूत्रचतुष्टयार्थः।

ततः किमित्याह—

अह तत्थ अइच्छंतं, पासई समणसंजयं।
तवनियमसंजमधरं, सीलड्ढं गुणआगरं ॥ ५ ॥
तं पेहई मियापुत्ते, दिट्ठीए अणिमिसाइ उ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं, दिट्ठपुव्वं मए पुरा ? ॥ ६ ॥
साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्झवसाणंमि सोहणे।
मोहं गयस्स संतस्स, जाईसरणं समुप्पन्नं ॥ ७ ॥
देवलोगचुओ संतो, माणुसं भवमागओ।
सन्निनाणसमुप्पन्ने, जाइं सरइ पुराणयं ॥ (प्र०) ॥
जाईसरणे समुप्पन्ने, मियापुत्ते महिड्ढिए।
सरइ पोराणिअं जाइं, सामणं च पुराकयं ॥ ८ ॥

अथ-अनन्तरम्, तत्र इति—तेषु ! चतुष्कत्रिकचत्वरेषु, (अतिच्छंतं ति) अतिक्रामन्तं पश्यति, श्रमणसंयतमिति श्रमणस्य शाक्यादेरपि सम्भवात्तद्व्यवच्छेदार्थं संयतग्रहणम्,तपश्च-अनशनादि,नियमश्च-द्रव्याद्यभिग्रहात्मकः, संयमश्च-उक्तस्वरूपस्तान् धारयति तपोनियमसंयमधरस्तम् अत एव शीलम्-अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूपम्, तेनाढ्यम्-परिपूर्णं शीलाढ्यम्, तत एव च गुणानाम्-ज्ञानादीनामाकर इव गुणाकरस्तम्। तमिति श्रमणसंयतम्, (पेहइ त्ति) प्रेक्षते, मृगापुत्रः-युवराजः, दृष्ट्या-दृशा, (अणिमिसाइ उ त्ति) तुशब्दस्यैवकारार्थत्वादविद्यमाननिमेषयैव, क्व मन्ये-जाने, ईदृशम्-एवंविधम्, रूपम्-आकारः, दृष्टपूर्वम्-अवलोकितं मया, (पुरा इति) पूर्वजन्मनि ?, शेषं प्रतीतमेव, नवरम्, अध्यवसाने इत्यन्तःकरणपरिणामे, शोभने प्रधाने, क्षायोपशमिकभाववर्तिनीति यावत्, मोहं क्वेदं मया दृष्टम् क्वेदमित्यतिचिन्तातश्चित्तसङ्घट्टजमूर्च्छात्मकम्, गतस्य-प्राप्तस्य, सतः। तथा (सरति त्ति) स्मरति,पौराणिकीम्, जातिम्-जन्म, श्रामण्यं च-श्रमणभावम्, पुराकृतम्-जन्मान्तरानुष्ठितम्। इति सूत्रचतुष्टयार्थः।

एतदेवातिस्पष्टताहेतोरनुवदितुमाह निर्युक्तिकृत्-

सुग्गीवे नयरंमि अ, राया नामेण आसि बलभद्दो।
तस्सासि अग्गमहिसी, देवी उ मिगावई नामं ॥४०७॥
तेसिं दुण्ह वि पुत्तो, आसी नामेण बलासिरी धीमं।
वयरोसभसंघयणो, जुवराया चरमभवधारी ॥४७८॥
उन्नंदमाणहिअओ, पासाए नंदणंमि सो रम्मे।
कीलइ पमदासहिओ, देवो दोगुंदगो चेव ॥ ४०९ ॥
अह अन्नया कयाई, पासायतलंमि सो ठिओ संतो।
आलोएइ पुरवरे, रुंदे मग्गे गुणसमग्गे ॥ ४१० ॥
अह पिच्छइ रायपहे. वोलंतं समणसंजयं तत्थ।
तवनियमसंजमधरं, सुअसागरपारगं धीरं ॥ ४११ ॥
अह देहइ रायसुओ, तं समणं अणिमिसाइदिट्ठीए।
कहि एरिसयं रूवं, दिट्ठं मन्ने मए पुव्वं ? ॥ ४१२ ॥
एवमणुचिंतयंतस्स, सन्नीणाणं तहिं समुप्पन्नं।
पुव्वभवे सामन्नं, मए वि एवं कयं आसि ॥४१३॥

गाथासप्तकं स्पष्टमेव, नवरम् धृतिमान्—चित्तस्वास्थ्यवान्, (वज्रऋषभमिति) अर्थाद्वज्रऋषभनाराचं संहननं यस्य स तथा, चरमभवधारी-पर्यन्तजन्मवर्त्ती, तथा (उण्णंदमाणहियओ त्ति) उत्-प्राबल्येन, नन्दद्—आनन्दं गच्छत्, हृदयम्—मनो, यस्य स तथा, प्राकृतत्वात् शतृविषये शानच्। तथा-रुन्दान्-विस्तीर्णान्, मार्गान्—विपणिमार्गादीन्, गुणैः-ऋजुत्वसमत्वादिभिः, समग्राः-परिपूर्णाः गुणसमग्रास्तान्। तथा श्रुतसागरपारगं धीरमिति तपोनियमसंयमधरमित्यस्य सूत्रपदस्य हेतुदर्शनद्वारतस्तात्पर्यव्याख्यानम्, अनेनैव च भावभिक्षुत्वमुपदर्शितम्, अत एवान्यस्यैवं विशेषणायोगाच्छ्रमणसंयतमित्याह, संज्ञिज्ञानं चेह सम्यग्दृशः स्मृतिरूपमतिभेदात्मकम्। इति गाथासप्तकाऽवयवार्थः।

सम्प्रति यदसावुत्पन्नजातिस्मरणः कृतवाँस्तदाह—

विसएहिँ अरज्जंतो, रज्जंतो संजमंमि य।
अम्मापियरं उवागम्म, इमं वयणमब्बवी ॥ ९ ॥

(विसएहिं ति) सुव्यत्ययाद् विषयेषु—मनोज्ञशब्दादिषु, अरज्जन् अभिष्वङ्गमकुर्वन्, क्व ? संयमे, उक्तरूपे, चः—पुनरर्थः, (अम्मापियरं ति) अम्मा (म्बा) पितरौ, उपागम्य-उपसृत्य, इदम्-अनन्तरवक्ष्यमाणं, वचनम्। अब्रवीत्, इत्याह। इति सूत्रार्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं तदब्रवीदित्याह—

सुआणि मे पंच महव्वयाणि,
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु ।
निव्विएणकामो मि महएणवाओ,
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो ! ॥ १० ॥

श्रुतानि—आकर्णितानि, अन्यजन्मनीत्यभिप्रायः, [मे] मया, (पंच इति) पञ्चसंख्यानि, महाव्रतानि—हिंसाविरमणादीनि, तथा नरकेषु दुःखं च—असातम्, इहैव वक्ष्यमाणं (तिरिक्खजोणिसु त्ति) चशब्दस्याप्रयुज्यमानस्यापि "अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्" इत्यादाविव गम्यमानत्वात् तिर्यग्योनिषु च, सर्वत्र चायं न्यायो द्रष्टव्यः, उपलक्षणं चैतद् देवमनुष्यभवयोः, ततः किमित्याह—(णिव्विएणकामो मि त्ति) निर्विण्णकामः—प्रतिनिवृत्ताभिलाषोऽस्म्यहम् ,कुतः?—महार्णव इव महार्णवः—संसारस्तस्माद् , यतश्चैवमतः—अनुजानीत—अनुमन्यध्वम्, मामिति शेषः, [पव्वइस्सामि त्ति] प्रव्रजिष्यामि [अम्मो त्ति] पूज्यतरत्वाद्विशिष्टप्रतिबन्धास्पदत्वाच्च मातुरामन्त्रणम् ,यो हि भविष्यदुःखं नावैति, तत्प्रतीकारहेतुं वा, स कदाचिदित्थमेवासीत् अहं तूभयत्रापि विज्ञ इति कथं न दुःखप्रतीकारोपायभूतां महाव्रतात्मिकां प्रव्रज्यां प्रतिपत्स्ये । इति सूत्रगर्भार्थः ।

अमुमेवार्थमनुवादतः स्पष्टयितुमाह निर्युक्तिकृत्—

सो लद्धबोहिलाभो, चलणे जणगाण वंदिउं भणइ ।
वीसज्जिउमिच्छामो, काहं समणत्तणं ताया ! ॥ ४१४ ॥

सः इति—मृगापुत्रो, लब्धः—प्राप्तो बोधिलाभो—जिनधर्मप्राप्तिरूपो येन स तथा, चरणान्—पादान् , जनकयोः—मातापित्रोः, वन्दित्वा भणति, यथा विसर्जयितुम्—मुत्कलयितुम् ,वयमात्मानमिति गम्यते,इच्छामः—अभिलषामः, किमिति ?, यतः—[काहं ति] वचनव्यत्ययात्—करिष्यामः , श्रमणत्वम्—प्रव्रज्याम् , तात इति—पितः !, उपलक्षणत्वात्—मातश्च । इति गाथार्थः ।

इदानीं तौ कदाचिद्भोगैरुपनिमन्त्रयेयातामित्यभिप्रायतः यत्तेनोक्तं तत्सूत्रकृदाह—

अम्म ! ताय ! मए भोगा, भुत्ता विसफलोवमा ।
पच्छा कडुयविवागा, अणुबंधदुहावहा ॥ ११ ॥
इमं सरीरं अणिचं, असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं । १२ ॥
असासए सरीरंमि, रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसंनिभे ॥ १३ ॥

सूत्रत्रयं प्रतीतार्थमेव,नवरम्,विषमिति-विषवृक्षस्तस्य फलं विषफलं तदुपमाः । तदुपमत्वमेव भावयितुमाह-पश्चात्कटुक इव कटुकोऽनिष्टत्वेन विपाको येषां ते तथा, आपातत एव मधुरा इति भावः । अनुबन्धदुःखावहाः—अनवच्छिन्नदुःखदायिनः । यथा हि-विषफलमास्वाद्यमानमादौ मधुरम् उत्तरकालं च कटुकविपाकं, सातत्येन च दुःखोपनेतृ, एवमेतेऽपीति । किञ्च—अमी कामाः स्पर्शप्रधानाः, स्पर्शश्च शरीराश्रयः, तच्चेदं शरीरम् , अनित्यम्—अशाश्वतम् , अशुचि—स्वाभाविकशौचरहितम् । अशुचिसंभवम्—अशुचिरूपशुक्रशोणितोत्पन्नम्, अशाश्वतः—कथञ्चिदवस्थितत्वेऽप्यनित्यः आवासः— प्रक्रमाजीवस्यावस्थानम् यस्मिन्नित्यशाश्वतावासम्, पुनः 'इदमि' त्यभिधानमतीवासारत्वावेशसूचकम्, दुःखम्-असातं तद्धेतवः क्लेशाः-ज्वरादयो रोगाः,दुःखक्लेशाः, शाकपार्थिवादिवत्समासस्तेषाम् भाजनम् , यतश्चैवमतोऽशाश्वते शरीरे , रतिम्-चित्तस्वास्थ्यम्, नोपलभे न प्राप्नोम्यहम् भोगेषु सत्स्वपीति गम्यते, शरीराश्रयत्वात्तेषामिति भावः । शरीराशाश्वतत्वमेवाह—पश्चात् पुरा वा त्यक्तव्ये शरीरे इति प्रक्रमः । तद्धि पश्चादिति-भुक्तभोगावस्थायां, वार्द्धक्यादौ, पुरा-अभुक्तभोगितायां वा बाल्यादौ, त्यज्यत इति, यद्वा-पश्चादिति—यथास्थितया आयुःक्षयोत्तरकालं पुरा वेत्युपक्रमहेतोर्वर्षशताद्यासंकलितजीवितप्रमाणात्प्रागपि, त्यक्तव्ये-अवश्यत्याज्ये, फेनबुद्बुदसंनिभे-क्षणदृष्टनष्टतया, अनेनाशाश्वतत्वमेव भावितमिति न पौनरुक्त्यम् । इति सूत्रत्रयार्थः ।

एवं भोगनिमन्त्रणपरिहारमभिधाय प्रस्तुतस्यैव संसारनिर्वेदस्य हेतुमाह—

माणुसत्ते असारंमि, वाहीरोगाण आलए ।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ॥ १४ ॥
जम्मदुक्खं जरादुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो ॥१५॥
खित्तं वत्थु हिरएणं च, पुत्तं दारं च बंधवा ।
चइत्ताण इमं देहं, गंतव्वमवसस्स मे ॥ १६ ॥
जह किंपागफलाणं, परिणामो न सुंदरो ।
एवं भुत्ताण भोगाण, परिणामो न सुंदरो ॥ १७ ॥

सूत्रचतुष्टयं स्पष्टम् , नवरम् व्याधयः—अतीव बाधाहेतवः कुष्ठादयो, रोगाः—ज्वरादयस्तेषाम् आलये—आश्रये, जरामरणग्रस्ते—वार्द्धक्यमृत्युक्रोडीकृते , अनेन मानुषत्वासारत्वमेव भावितम् , क्षणमपि—न रमे नाभिरतिं लभेऽहमिति । इत्थं मनुष्यभवस्यानुभूयमानत्वेन निर्वेदहेतुत्वमभिधाय सम्प्रति चतुर्गतिकस्याऽपि संसारस्य तदाह— 'जम्मं ' इत्यादिना, अत्र च ' अहो ' इति सम्बोधने [दुक्खो हु त्ति] दुःखहेतुरेव संसारो जन्मादिनिबन्धनत्वात्तस्य, यत्र—यस्मिन्, गतिचतुष्टयात्मके संसारे, क्लिश्यन्ति—बाधामनुभवन्ति, जन्मादिदुःखैरेवेति गम्यते, जन्तवः—प्राणिनः, इह च दुःखानुभवबाधारत्वेन संसारस्य दुःखहेतुत्वमिति भावः । तथा—' खेत्तं ' इत्यादिनेष्टवियोगोऽशरणत्वं च संसारान्निर्वेदहेतुरुक्तः, तथा—किम्पाकः—वृक्षविशेषः, तस्य फलान्यतीव सुस्वादानि । अनेन चोपसंहारसूत्रेणोदाहरणान्तरद्वारेण भोगदुरन्ततैव निर्वेदहेतुरुक्ता । इति सूत्रचतुष्टयावयवार्थः ।

इत्थं निर्वेदहेतुमभिधाय दृष्टान्तद्वयोपन्यासतः स्वाभिप्रायमेव प्रकटयितुमाह—

अद्धाणं जो महंतं तु, अपहेज्जो पवज्जई ।
गच्छंतो से दुही होइ, छुहातएहाइपीडिओ ॥ १८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छंतो से दुही होई, वाहिरोगेहिँ पीडिओ ॥ १६ ॥
अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेज्जो पवज्जई ।
गच्छंतो से सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ॥ २० ॥
एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छंते से सुही होई, अप्पकम्मे अवेयणे ॥ २१ ॥
जहा गेहे पलित्तंमि, तस्स गेहेस्स जो पहू ।
सारभंडाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ ॥ २२ ॥
एवं लोए पलित्तंमि, जराए मरणेण य ।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिँ अणुमन्निओ ॥ २३ ॥

सूत्रषट्कं प्रकटार्थमेव, केवलमत्र प्रथमसूत्रेण दृष्टान्त उक्तः, अत्र च अध्वानम्-मार्गम्,पथि साधु पाथेयम् सम्बलकं तद्यस्याविद्यमानं सोऽपाथेयः, प्रपद्यते—अङ्गीकुरुते । क्षुत्तृष्णापीडितत्वं चेह दुःखित्वभवने हेतुः । द्वितीयसूत्रेण दार्ष्टान्तिकोपदर्शने, व्याधिरोगपीडितत्वं चात्र दुःखित्वभवने निमित्तं, दारिद्र्याद्यादिपीडोपलक्षणं चैतत् । उत्तरसूत्रद्वयेन चैतत्सूत्रद्वयोक्तस्यैवाऽर्थस्य व्यतिरेक उक्तः, तत्र सुखित्वे हेतुः-क्षुत् तृष्णाधिवर्जितत्वमुक्तम् । धर्म-पापविरतिरूपम् , अपिः-पूरणे, कृत्वा-विधाय , गच्छन्नुपलक्षणत्वाद्गतश्च , सः इति—धर्मकर्त्ता, प्रक्रमात्पाथेयोपमधर्मसहितः सुखी भवति । सुखित्वे चाल्पकर्मत्वं हेतुरवेदनत्वं च । अत्र च प्रस्तावात्कर्म पापं वेदना चासातरूपा गृह्यते, अनेन धर्मकर्मकरणाकरणयोर्गुणदोषदर्शनाद्धर्मकरणाभिप्रायः प्रकटितः। 'जहा'इत्यादिना च सूत्रद्वयेन तमेव दृढयति । अत्र च यथा सारभाण्डानि-महामूल्यवस्त्रादीनि, ((णीणेइ त्ति) निष्काशयति । असारम्—जरद्वस्त्रादि, (अवउज्झइ त्ति) अपोहति-त्यजति । एवम् लोके—जगति, (पलित्तंमि त्ति) प्रदीप्ते अत्याकुलीकृते, आत्मानम्-सारभाण्डतुल्यम् , तारयिष्यामि-जरामरणप्रदीप्तलोकपारं नेष्यामि , धर्मकरणेनेति प्रक्रमः, असारं तु कामभोगादि त्यक्ष्यामि इति भावः । अनेन धर्मकरणे विलम्बासहिष्णुत्वमुक्तम् । युष्माभिरिति द्वित्वेऽपि पूज्यत्वाद् बहुवचनम् , (अणुमन्निओ त्ति) अनुमतः अभ्यनुज्ञातः । इति सूत्रषट्कावयवार्थः ।

एवं च तेनोक्ते—

तं बिंतऽम्मापियरो, सामन्नं पुत्त ! दुच्चरं ।
गुणाणं तु सहस्साणि, धारेयव्वाइँ भिक्खुणा ॥ २४ ॥
समया सव्वभूएसुं, सत्तुमित्तेसु वा जगे ।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवा य दुक्करं ॥ २५ ॥
निच्चकालप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥ २६ ॥
दंतसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥ २७ ॥
विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥ २८ ॥
धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारंभपरिच्चागो, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥ २६ ॥
चउव्विहेऽवि आहारे, राईभोयणवज्जणा ।
संनिहीसंचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥ ३० ॥
छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंसा मसगा य वेयणा ।
अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तणफासा जल्लमेव य ॥ ३१ ॥
तालणा तज्जणा चेव, वहबंधपरीसहा ।
दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया ॥ ३२ ॥
कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ अ दारुणो ।
दुक्खं बंभव्वयं घोरं, धारेउं अमहप्पणो ॥ ३३ ॥
सुहोइओ तुमं पुत्ता, सुकुमालो सुमज्जिओ ।
न हुऽसी पभू तुमं पुत्ता !, सामन्नमणुपालिया ॥ ३४ ॥
जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महब्भरो ।
गरुओ लोहभारु व्व, जो पुत्ता ! होइ दुव्वहो ॥३५॥
आगासे गंगसोउ व्व, पडिसोउ व्व दुत्तरे ।
बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो (य) गुणोयही ॥३६ ॥
वालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे ।
असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ॥ ३७ ॥
अहीवेगंतदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे ।
जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं ॥ ३८ ॥
जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करं ।
तह दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥ ३६ ॥
जहा दुक्खं करेउं जे, होइ वायस्स कुत्थलो ।
तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेणं समणत्तणं ॥ ४० ॥
जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करं मंदरो गिरी ।
तहा णिहुअ-णीसंकं, दुक्करं समणत्तणं ॥ ४१ ॥
जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणाऽऽयरो ।
तहा अणुवसंतेणं, दुक्करं दमसायरो ॥ ४२ ॥
भुंज माणुस्सए भोए, पंचलक्खणए तुमं ।
भुत्तभोगी तओ जाया !, पच्छा धम्मं चरिस्ससि ॥४३॥

सूत्रविंशतिः सुगमैव । नवरम् (तमिति) बलश्रियम् मृगापुत्रापरनामक युवराजम्, (विंति त्ति) ब्रूतः-अभिधत्तः, (अम्मापियरो त्ति) अम्बापितरौ श्रामण्यं पुत्र ! दुश्चरं, ' यतस्तत्र गुणानाम् श्रामण्योपकारकाणां शीलाङ्गरूपाणां सहस्राणि, धारयितव्यानि-आत्मनि स्थापयितव्यानि , प्राक् तुशब्दस्यैवकारार्थस्येह सम्बन्धाद्धारयितव्यान्येव व्रतग्रहण इति गम्यते । भिक्षुणा—भिक्षणशीलेन सता, पठ्यते च-(भिक्खुणो त्ति) भिक्षोः सम्बन्धिनां गुणानामिति योगः । तथा समता-रागद्वेषाविधानतस्तुल्यता , सर्वभूतेषु—समस्तजन्तुषु, उदासीनेष्विति गम्यते, शत्रुमित्रेषु वा—अपकार्युपकारिषु , जगति—लोके अनेन सामायिकमुक्तम् , तथा—प्राणातिपातविरतिः प्रथमव्रतरूपा, (जावज्जीव त्ति) यावज्जीवम्-दुष्करम् दुरनुचरमेत-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिति शेषः। नित्यकालप्रमत्तेनेत्यप्रमत्तग्रहणं निद्रादिप्रमादवशगो हि मृषाऽपि भाषेतेति नित्याऽऽयुक्तेन-सततोपयुक्तेन, अनुपयुक्तस्यान्यथाऽपि भाषणसंभवाद्। एतच्च दुष्करं, यच्चान्वयव्यतिरेकाभ्यामेकस्याप्यर्थस्याभिधानं तत्स्पष्टतार्थमदुष्टमेवेत्येवं सर्वत्र भावनीयम्। अनेन द्वितीयव्रतदुष्करत्वमभिहितम्। [दंतसोहणमाविस्स त्ति] मकारोऽलाक्षणिकः, अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् दन्तशोधनादेरपि अतितुच्छस्यास्तामन्यस्य, तथा अनवद्यैषणीयस्य दत्तस्यापीति गम्यते। [गिरहण त्ति] ग्रहणमिति तृतीयव्रतदुष्करत्वोक्तिः। [कामभोगरसएणुण त्ति] कामभोगाः--उक्तरूपास्तेषां रसः आस्वादः कामभोगरसः। यद्वा--रसाः शृङ्गारादयः, ततः--कामभोगाश्च रसाश्च कामभोगरसास्तज्ज्ञेन, तदज्ञस्य हि तदनवगमात्तद्विषयोऽभिलाप एव न भवेत्। तथा च--सुकरत्वमपि स्यादित्याशयेनैवमभिधानम्, अनेन चतुर्थव्रतदुष्करत्वमुक्तम्। परिग्रहः--सत्सु स्वीकारस्तद्विवर्जनम्, तथा सर्वे-निरवशेषा, ये आरम्भाः-द्रव्योत्पादनव्यापाराः तत्परित्यागः, अनेन निराकाङ्क्षत्वमुक्तम्। निर्ममत्वं च, गम्यमानत्वाच्चस्य, सर्वत्र ममेति बुद्धिपरिहारः, अनेन पञ्चमहाव्रतदुष्करतोक्ता। संनिधीयते नरकादिष्वनेनात्मेति संनिधिः, घृतादेरुचितकालातिक्रमेण स्थापनं स चाऽसौ सञ्चयश्च संनिधिसञ्चयः स चैव वर्जयितव्यः इत्येतत् सुदुष्करम्। अनेन षष्ठव्रतदुष्करत्वमुक्तम्, दिवागृहीतदिवोभुक्तादिभङ्गचतुष्टयरूपत्वात्तस्य। 'छुहे' त्यादिना परीषहाभिधानम्, अत्र च दंशमशकवेदना तद्भक्षणोत्थदुःखानुभवरूपा, दुःखशय्या च-विषमोन्नतत्वादिना दुःखहेतुर्वसतिः, ताडना करादिभिराहननम्, तर्जना-अङ्गुलिभ्रमणभ्रूत्क्षेपादिरूपा, वधश्च-लकुटादिप्रहारो, बन्धश्च-मयूरबन्धादिः, तावेव परीषहौ वधबन्धपरीषहौ, याञ्चा-प्रार्थना, चकारोऽनुक्ताशेषपरीषहसमुच्चयार्थः,। दुःखशब्दश्चेह सुदुदुःखमित्यादिप्रत्येकं योजनीयः, इह च बन्धताडने बधपरीषहेऽन्तर्भवतः। तर्जना--आक्रोशे, भिक्षाचर्या च भेदोपादानं च व्युत्पत्त्यर्थमिति भावनीयम्, कपोताः--पक्षिविशेषास्तेषामियम् कापोती, येयम्-वृत्तिःनिर्वहणोपायः, यथा हि--ते नित्यशङ्किताः कणकीटकादिग्रहणे प्रवर्त्तन्ते, एवं भिक्षुरप्येषणादोषशङ्क्येव भिक्षादौ प्रवर्त्तते, सा च दुरनुचरत्वेन दारयति कातरमनांसीति दारुणेत्युत्तरेण योगः, अभिधेयवशाच्च लिङ्गविपरिणामः, उपलक्षणं चैतत्समस्तोत्तरगुणानामिति। यच्चेह ब्रह्मव्रतस्य पुनर्दुर्धरत्वाभिधानं तदस्यातिदुष्करत्वख्यापनार्थम्। उपसंहारमाह--सुखम्--सातम्, तस्योचितः--योग्यः, सुखोचितः, सुकुमारः--अकठिनदेहः, सुमज्जितः--सुष्ठु स्नपितः, सकलनेपथ्योपलक्षणं चैतत्, इह च सुमज्जितत्वं सुकुमारत्वे हेतुः, उभयं चैतत्सुखोचितत्वे। अतश्च ['न हु सि' त्ति] नैव, असि--भवसि, प्रभुः--समर्थः, श्रामण्यम्--अनन्तरोदितगुणरूपम्, [अणुपालेउं ति] अनुपालयितुम्, इह च सुखोचितत्वाभिधानमनीदृशो हीदृशं दुःखमपि न दुःखमिति मन्यते। पुनरप्रभुत्वमेवोदाहरणैः समर्थयितुमाह--अविश्रामः--यत्रोद्धृतेन न विश्रम्यते गुणानाम्--यतिगुणानाम्, तुः-पूरणे, महाभरः--महासमूहो, गुरुको लोहभार इव यो दुर्वहः स वोढव्य इति शेषः। त्वं तु सुखोचित इत्यतो न प्रभुरसीत्युत्तरत्रापि योजनीयम्! आकाशे गङ्गाश्रोतोवद् दुस्तर इति योज्यते, लोकरूढ्या चैतदुक्तम्, तथा-प्रतिश्रोतोवत् यथा प्रतीपं जलप्रवाहो दुस्तरः-दुःखेन तीर्यत इति, बाहुभ्याम्--(सागरो चेव त्ति) सागरवच्च दुस्तरो यः सः, तरितव्यः--पारगमनायावगाहयितव्यः, कोऽसौ?, गुणाः--ज्ञानादयस्ते उदधिरिव गुणोदधिः, कायवाङ्मनोनियन्त्रणा चात्र दुष्करत्वे हेतुः, निरास्वादः--नीरसो विषयगृद्धानां वैरस्यहेतुत्वात् (अहीत्यादि) अहिरिव एकोऽन्तो--निश्चयो यस्याः सा तथा, सा चासौ दृष्टिश्चैकान्तदृष्टिस्तया--अनन्याक्षिप्तया, अहिपक्षे-दृशा, अन्यत्र तु बुद्ध्योपलक्षितम्, एकान्तदृष्टिकं वा चारित्रं दुश्चरम्, विषयेभ्यो मनसो दुर्निवारत्वादिति भावः, (जवा लोहमया चेव, त्ति) एवकारस्योपमार्थत्वाद्यवा लोहमया इव चर्वयितव्याः, किमुक्तं भवति?--लोहमययवचर्वणवत्सुदुष्करं चारित्रम्। 'अग्निशिखा'--अग्निज्वालादीप्ता इत्युज्ज्वला ज्वाला कराला वा, द्वितीयार्थे चात्र प्रथमा, ततो यथाऽग्निशिखां दीप्तां पातुं सुदुष्करं, नृभिरिति गम्यते। यदिवा-लिङ्गव्यत्ययात् सर्वधात्वर्थत्वाच्च करोतेः सुदुष्करा--सुदुःशका, यथाऽग्निशिखा दीप्ता पातुं भवतीति योगः। एवमुत्तरत्रापि भावना। 'जे' इति निपातः सर्वत्र पूरणे, 'कोत्थल' इह वस्त्रकम्बलादिमयो गृह्यते चर्ममयो हि सुखेनैव भ्रियेतेति, 'क्लीबेन' निःसत्त्वेन निभृतं निःशङ्कम् इत्यत्र निभृतम्-निश्चलं विषयाभिलाषादिभिरक्षोभ्यम् 'निःशङ्कम्'-शरीरादिनिरपेक्षं शङ्काख्यसम्यक्त्वातिचारविरहितं वा। अनुपशान्तेन--उत्कटकषायेण, इह च दमसागर इत्यनेन प्राधान्यख्यापनार्थं केवलस्यैवोपशमस्य समुद्रोपमाभिधानम् पूर्वत्र तु गुणोदधिरित्यनेन निःशेषगुणानामिति न पौनरुक्त्यम्॥ यतश्चैवम्-तारुण्ये दुष्करा प्रव्रज्या अतो भुङ्क्ष्वेत्यादिना पितरौ कृत्योपदेशं भूतः, भुज्यन्त इति भोगास्तान्, पञ्चलक्षणकान्, शब्दादिपञ्चकस्वरूपान्, ततः इति-भोगभुक्तेरनन्तरम्, (जाय त्ति) जात! पुत्र! पश्चादिति--वार्द्धक्ये, (चरिस्ससि त्ति) चरेः। इति विंशतिसूत्रावयवार्थः॥ २४(०)४३॥

सम्प्रति तद्वचनानन्तरं यन्मृगापुत्र उक्तवांस्तदाह--

तं वितऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं।
इह लोगे निप्पिवासस्स,नऽत्थि किंचि वि दुक्करं॥४४॥
सारीरमाणसा चेव, वेयणाउ अणंतसो।
मए सोढाइँ भीमाइं, असइं दुक्खभयाणि य॥ ४५॥
जरामरणकंतारो चाउरंते भयागरे।
मया सोढाणि भीमाइं, जम्माइं मरणाणि य॥ ४६॥
जहेहं अगणी उएहो, इत्तोऽणंतगुणो तहिं।
नरएसु वेयणा उएहा, अस्साया वेइया मए॥ ४७॥
जहा इहं इमं सीयं, इत्तोऽणंतगुणं तहिं।
नरएसु वेयणा सीया, अस्साया वेइया मए॥ ४८॥
कंदंतो कंदुकुभीसु, उद्धपाओ अहोसिरो।
हुयासणे जलंतंमि पक्कपुव्वो अणंतसो॥ ४९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महादवऽग्गिसंकासे, मरुंमि वइरवालुए।
कालंबवालुणाए उ, दड्डपुव्वो अणंतसो ॥ ५० ॥
रसंतो कंदुकुंभीसु, उड्डं बद्धो अबंधवो।
करवत्तकरकयाईहिं, छिन्नपुव्वो अणंतसो ॥ ५१ ॥
अइतिक्खकंटगाइस्से, तुंगे सिंबलिपायवे।
खेवियं पासबद्धेणं, कड्ढोकड्ढाहिँ दुक्करं ॥ ५२ ॥
महाजंतेसु उच्छू वा, आरसंतो सुभेरवं।
पीलिओ मि सकम्मेहिं, पावकम्मो अणंतसो ॥ ५३ ॥
कूवंतो कोलसुणएहिं, सामेहिं सबलेहि य।
पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरंतो अणेगसो ॥५४॥
असीहिँ अयसिवएणेहिं, भल्लीहिं पट्टिसेहि य।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य, उववन्नो पावकम्मुणा ॥५५॥
अवसो लोहरहे जुत्तो, जलंते समिलाजुए।
चोइओ तुत्तजुत्तेहिं, रुज्झो वा जह पाडिओ ॥५६॥
हुआसणे जलंतंमि, चिआसु महिसो विव।
दद्धो एक्को अ अवसो, पावकम्मेहिँ पाविओ ॥५७॥
बला संडासतुंडेहिं, लोहतुंडेहिँ पक्खिहिं।
विलुत्तो विलवंतोऽहं, ढंकगिद्धेहिँऽणंतसो ॥५८॥
तएहाकिलंतो धावंतो, पत्तो वेयरणिं नइं।
जलं पाहंति चिंतंतो, खुरधाराहिं विवाइओ ॥ ५९ ॥
उएहाभितत्तो संपत्तो, असिपत्तं महावणं।
असिपत्तेहिँ पडंतेहिं, छिन्नपुव्वो अणेगसो ॥ ६० ॥
मुग्गरेहिं भुसुंढीहिं, सूलेहिं मुसलेहि य।
गया संभग्गगत्तेहिं, पत्तं दुक्खं अणंतसो ॥ ६१ ॥
खुरेहिं तिक्खधाराहिं, छुरियाहिं कप्पणीहि य।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो, उक्कित्तो अ अणेगसो। ६२।
पासेहिं कूडजालेहिं, मिओ वा अवसो अहं।
वाहिओ बद्धरुद्धो अ, विवसो चेव विवाइओ ॥ ६३ ॥
गलेहिं मगरजालेहिं, वच्छो वा अवसो अहं।
उल्लिओ फालिओ गहिओ, मारिओ अ अणंतसो। ६४।
विदंसएहिं जालेहिं, लिप्पाहिं सउणो विव।
गहिओ लग्गो अ बद्धो अ, मारिओ अ अणंतसो ॥६५॥
कुहाडपरसुमाईहिं, वड्ढईहिं दुमो विव।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो, तच्छिओ अ अणंतसो ॥६६॥
चवेडमुट्ठिमाईहिं, कुमारेहिं अयं पिव।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो, चुण्णिओ अ अणंतसो ॥६७॥
तत्ताइं तंबलोहाइं, तउआइं सीसगाणि य।
पाइओ कलकलंताइं, आरसंतो सुभेरवं ॥ ६८ ॥
तुहप्पियाइं मंसाइं, खंडाइं सुल्लगाणि य।
खाविओ मि समंसाइं, अग्गिवण्णाइँऽणेगसो ॥ ६९ ॥
तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ अ महूणि य।
पज्जिओ मि जलंतीओ, वसाओ रुहिराणि य ॥ ७० ॥
निच्चं भीएण तत्थेणं, दुहिएणं वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा, वेयणा वेइया मए ॥ ७१ ॥
तिव्वचंडप्पगाढाओ, घोराओ अइदुस्सहा।
महब्भयाओ भीमाओ, नरएसुं वेइया मए ॥ ७२ ॥
जारिसा माणुसे लोए, ताया दीसंति वेयणा।
इत्तो अणंतगुणिया, नरएसुं दुक्खवेयणा ॥ ७३ ॥
सव्वभवेसु अस्साया, वेयणा वेइया मए।
निमिसंतरमित्तं पि, जं साया नऽत्थि वेयणा ॥ ७४ ॥

सूत्राएयेकत्रिंशत् प्रतीतान्येव। नवरम्, तद्—अनन्तरोक्तम्, (विंति) ब्रुवन्तौ—अभिदधतौ, अम्बापितरौ, प्रक्रमान्मृगापुत्र आह, यथा—एवमित्यादि, पठ्यते च—'सो वे- अम्मापियरो! त्ति' स्पष्टमेव। नवरमिह अम्बापितराविल्यामन्त्रणपदं, पठन्ति च—[तो वेंतऽम्मापियरो त्ति] (विंति त्ति) वचनव्यत्ययात् ततो ब्रूते अम्बापितरौ मृगापुत्र इति प्रक्रमः, (एवमिति) यथोक्तं भवद्भ्याम्, तथा—'एतत्' प्रव्रज्यादुष्करत्वं—यथा स्फुटम् सत्यतामनतिक्रान्तमवितथमिति यावत्, तथाऽपि इहलोके निष्पिपासस्य—निःस्पृहस्य, इहलोकशब्देन च 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश' इति कृत्वा पैहलौकिकाः स्वजनधनसम्बन्धादयो गृह्यन्ते, नास्ति—न विद्यते, किञ्चित् अतिकष्टमपि शुभानुष्ठानमिति गम्यते। अपिः—संभावने, दुष्करम्—दुरनुष्ठेयम्, भोगादिस्पृहायावेवास्य दुष्करत्वादिति भावः। निःस्पृहताहेतुमाह—शारीरेत्यादिना, तत्राप्याद्यसूत्रद्वयेन सामान्येन संसारस्य दुःखरूपत्वमुक्तम्, इह च शरीरमानसयोर्भवाः शारीरमानस्यो वेदनाः प्रस्तावादसातरूपाः, [दुक्खभयाणि य त्ति] दुःखोत्पादकानि राजविड्वरादिजमितानि, (भयानि) दुःखभयानि, जरामरणाभ्यामतिगहनतया कान्तारं जरामरणकान्तरं तस्मिंश्चत्वारो—देवादिभवा अन्ता—अवयवा यस्यासौ चतुरन्तः—संसारः, तत्र सोढानि तदुत्थवेदनासहनेनानुभूतानि, भीमानि—अतिदुःखजनकत्वेन रौद्राणि शारीरमानस्यो वेदना यत्रोत्कृष्टाः सोढा यथेत्यादिभिः सूत्रैः, तदाह—यथा—इह मनुष्यलोकेऽग्निरुष्णोऽनुभूयते अतः—इत्येवमनुभूयमानादनन्तगुणः, (तर्हि ति) तेषु, येष्वहमुत्पन्न इति भावः, तत्र च बादराग्नेरभावात्पृथिव्या एव तथाविधः स्पर्श इति गम्यते, ततश्चोष्णानुभवात्मकत्वेन, असातः—दुःखरूपा, वेदिता मया। पठन्ति च—(इत्तोऽणंतगुणा तहिं ति) अत्र च अतः—इहत्याग्नेरनन्तगुणा नरकेषूष्णा वेदना वेदिता मयेति योज्यम्॥ तथा इदम्—यदनुभूयते, इह—मनुष्यलोके शीतम्—तच्च माघादिसंभवं हिमकणानुषक्तमात्यन्तिकं परिगृह्यते, इहापि पठन्ति—'एत्तोऽणंतगुणा तहिं ति' प्राग्वत्। (कंदुकुम्भीसु) पाकभाजनविशेषासु लोहादिमयीषु, हुताशने अग्नौ देवमायाकृते, महादवाग्निना संकाशः—सदृशः, अतिदाहकतया महादवाग्निसङ्काशस्तस्मिन्, इह चान्यस्य दाहकरस्यासंभवादित्थमुपमाभिधानम्, अन्यथेहत्याग्नेरनन्तगुण एव तत्रोष्णपृथिव्यनुभाव उक्तः। मरौ इति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरुवालुकानिवह इव, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशसंभवादन्तर्भूते वार्थत्वाच्चात एव वज्रवालुकानदीसम्बन्धिपुलिनमपि वज्रवालुकाः तत्र, यद्वा-वज्रवद्वालुका यस्मिन् स तथा तस्मिन्नरकप्रदेश इति गम्यते, कदम्बवालुकायां च-तथैव कदम्बवालुकानदीपुलिने च महादवाग्निसङ्काश इति योज्यते। ऊर्द्धम्-उपरि वृक्षशाखादौ बद्धः—नियन्त्रितो, माऽयमितो नश्यत्वितिप्य-बान्धव इति च तत्राशरणतामाह, करपत्रम् प्रतीतम्। क्रकचमपि तद्विशेष एव, (खेदियं ति) खिन्नम् खेदः, क्लेशोऽनुभूतः, क्षिपितं वा पापमिति गम्यते, (कड्ढोकड्ढाहिं ति)कर्षणापकर्षणैः परमाधार्मिककृतैः, दुष्करम् इति—दुस्सहम्। (उच्छू व त्ति) वाशब्दः उपमार्थे,तत इक्षुरिव, आरसन्-आक्रन्दन्, स्वकर्मभिः—हिंसाद्युपार्जितैः ज्ञानावरणादिभिः, पापकर्मा-पापानुष्ठानः। (कूवंतो त्ति)कूजन्, (कोलसुणएहिं ति) सूकरस्वरूपधारिभिः श्यामैः शबलैश्च परमाधार्मिकविशेषैः, पातितो भुवि, फाटितो जीर्णवस्त्रवत्, छिन्नो वृक्षवदुभयदंष्ट्रादिभिरितिगम्यते। विस्फुरन्-इतस्ततश्चलन् (असीहिं ति] प्रहरणविशेषैः, पठ्यते च-(असीहिं ति] असिभिः—खड्गैः, अत एव—[अतसीति] अतसीपुष्पम्, तद्वर्णाभिः-कृष्णाभिः, पट्टिशैश्च-प्रहरणविशेषैः, छिन्नः-द्विधाकृतः, भिन्नः—विदारितः, विभिन्नः—सूक्ष्मखण्डीकृतः। यद्वा-छिन्नः-ऊर्ध्वम्,भिन्नः-तिर्यग्,विभिन्नः-विविधप्रकारैरूर्ध्वम्,तिर्यक् च। अवतीर्णो-नरक इति गम्यते। पापकर्मणेति हेतुदर्शनं पापानुष्ठानपरिहार्यताख्यापनार्थम्। लोहरथे—लोहमयशकटे, [जुत्तो त्ति] युजेरन्तर्भावितण्यर्थत्वाद्योजितः परमाधार्मिकैरिति सर्वत्र गम्यते। ज्वलति—दीप्यमाने कदाचिद्दाहभीत्या ततो नश्येदपीत्याह—समिलोपलक्षितं युगं यस्मिन् स तथा, तत्र समिलायुते वा, पाठान्तरतश्च-ज्वलत्समिलायुगे, (चोइओ त्ति) प्रेरितः तोत्रयोक्त्रैः-प्राजनकबन्धनविशेषैर्मर्मघट्टनाहननाभ्यामिति गम्यते, ' रोज्झः—पशुविशेषः, वा समुच्चये भिन्नक्रमः, यथा—औपम्ये, ततो रोज्झवत्पातितो वा लकुटादिपिट्टनेनेति गम्यते, हुताशने ज्वलतिक्वेत्याह—चितासु—परमाधार्मिकनिर्मितेन्धनसञ्चयरूपासु; [महिसो विव त्ति] "पिव मिव विव वा इवार्थे"इति वचनात्, महिष इव, दग्धः-भस्मसात्कृतः, पक्वः-भटित्रीकृतः, [पावितो त्ति] पापमस्यास्तीति भूम्नि मत्वर्थीयष्ठक्, पापिकः। बलात्—हठात्, संदंशः—प्रतीतः, तदाकृतीनि तुण्डानि मुखानि येषां ते संदंशतुण्डास्तैः, तथा—लोहवन्निष्ठुरतया तुण्डानि येषां ते तैर्लोहतुण्डैः [पक्खिहिं ति] पक्षिभिर्ढङ्कगृध्रैरिति योगः, एते च वैक्रिया एव, तत्र तिरश्चामभावात्, विलुप्तः—विविधं छिन्नः, तस्य चैवं कदर्थ्यमानस्य तृडुत्पत्तौ का वार्त्तेत्याह—तृष्णया क्लान्तो ग्लानिमुपगतस्तृष्णाक्लान्तः, [पाहंतीति] पास्यामीति चिन्तयन्, [खुरधाराहिं ति] क्षुरधाराभिरतिच्छेदकतया वैतरणीजलोर्मिभिरिति शेषः, विपाटितः, पाठान्तरतश्च 'विपादितः' व्यापादित इत्यर्थः, उष्णेन-वज्रवालुकादिसम्बन्धिना तापेन,अभि-आभिमुख्येन तत्र उष्णाभितप्तः, संप्राप्तः,असयः-खड्गाः, तद्वेदकतया पत्राणि पर्णानि यस्मिंस्तदसिपत्रम्। मुद्गरादिभिः—आयुधविशेषैः, गता-नष्टा, आशा-परित्राणगोचरमनोरथात्मिका यत्र तद्गताशं यथा भवत्येवम्, [भग्गगत्तेहिं ति] भग्नगात्रेण सता प्राप्तं दुःखमिति योगः, कल्पितः वस्त्रवत् खण्डितः कल्पनीभिः, पाटितः-द्विधाकृतः,ऊर्ध्वं क्षुरिकाभिः, छिन्नः-खण्डितः क्षुरैरिति। पश्चानुपूर्व्या सम्बन्धः, इत्थं च-(उक्कितो य त्ति) उत्कान्तश्चायुःक्षये मृतश्चेत्यर्थः, पाठान्तरतो वोत्कृतः त्वगपनयनेन प्रत्येकं वा क्षुरादिभिः कल्पितादीनां सम्बन्धः। पाशैः-कूटजालैः प्रतीतैरेव बन्धनविशेषैः, अवशः-परवशः, वाहितः-विप्रलब्धः, पठ्यते च-(गहितो त्ति) गृहीतो बद्धो बन्धनेन रुद्धो बहिःप्रचारनिषेधनेन, अनयोर्विशेषणसमासः (विवाइतो त्ति) विपादितो विनाशित इत्यर्थः, तथा-गलैः-बडिशैः, मकरैः-मकराकारानुकारिभिः, परमाधार्मिकैः, जालैश्च तद्विरचितैर्वैक्रियैः, अनयोर्द्वन्द्वः-समूहवाची वा जालशब्दः, तत्पुरुषश्च समासः। तथा-(उल्लिउ त्ति) आर्षत्वाद् उल्लिखितो गलैः, पाटितो मकरैर्गृहीतश्च जालैः। यद्वा-गृहीतोऽपि मकरजालैरेव, मारितश्च सर्वैरपि, विशेषेण दशन्ती विदंशकाः श्येनादयस्तैर्जालैः-तथाविधबन्धनैः [लिप्पाहिं ति] लेपैर्वज्रलेपादिभिः श्लेषद्रव्यैः [सउणो विव त्ति] शकुन इव पक्षीव गृहीतो विदंशकैर्जालैश्च लग्नश्च, श्लिष्टो—लेपद्रव्यैर्बद्धः तैर्जालैश्च, मारितश्च सर्वैरपि, कुट्टितः—सूक्ष्मखण्डीकृतः पाटितश्छिन्नश्च प्राग्वत्, तक्षितश्च त्वगपनयनतो द्रुम इवेति सर्वत्रयोज्यम्। [चवेडमुट्ठिमाईहिं ति] चपेटामुष्ट्यादिभिः, प्रतीतैरेव, कुमारैः अयस्कारैः [अयं पि व त्ति] अय इव घनादिभिरिति गम्यते। ताडितः आहतः, कुट्टितः इह छिन्नः, भिन्नः खण्डीकृतः, चूर्णितः श्लक्ष्णीकृतः,प्रक्रमात्परमाधार्मिकैः, तस्ताम्रादीनि वैक्रियाणि पृथिव्यनुभावभूतानि वा[कलकलंत त्ति]अतिकाथतः कलकलशब्दं कुर्वन्ति। तव प्रियाणि मांसानि खण्डरूपाणि (सोल्लगाणि त्ति) भटित्रीकृतानि स्मारयित्वेति शेषः। स्वमांसानि मच्छरीरादेवोत्कृत्योत्कृत्य ढौकितानि, अग्निवर्णानि-अतितप्ततयाऽग्निच्छायानि, सुरादीनि-मद्यविशेषरूपाणि, इहापि स्मारयित्वेति शेषः [पज्जितो मि त्ति] पायितोऽस्मि [जलंतीओ त्ति] ज्वलन्तीरिव ज्वलन्तीरत्युष्णतया, वशा रुधिराणि च, ज्वलन्तीति लिङ्गविपरिणामेन सम्बन्धनीयम्। [णिच्चमित्यादि] नरकवक्तव्यतोपसंहारसूत्रत्रयम्, अत्र च भीतेन उत्पन्नसाध्वसेन, तथा त्रसी उद्वेगे, त्रस्तेन उद्विग्नेनात एव दुःखितेन, संजातविविधदुःखेन, व्यथितेन च कम्पमानसकलाङ्गोपाङ्गतया चलितेन, दुःखसंबद्धेति वेदनाविशेषणं सुखसम्बन्धिन्या अपि वेदनायाः सम्भवाद्, वेदिते ति चानुभूता, तीव्रा अनुभागतोऽत एव चण्डाः-उत्कटाः प्रगाढाः-गुरुस्थितिकास्तत एव घोराः—रौद्राः अतिदुस्सहाः अत्यन्तदुरध्यासास्तत एव च महद् भयं यकाभ्यस्ता महाभयाः। पठ्यते च—महालयाः महत्यः, भीमाः—श्रूयमाणा अपि भयप्रदाः, एकार्थिकानि वैताम्यत्यन्तभयोत्पादनायोक्तानि, इह च वेदना इति प्रक्रमः॥ कथं पुनस्तस्यास्तीव्रादिरूपत्वमित्याशङ्क्य ' जारिसे ' त्यादिना इहत्यवेदनापेक्षया नरकदुःखवेदनाया अनन्तगुणत्वमाह, [वेयण त्ति] प्रक्रमाद् दुःखवेदना। न केवलं नरक एव दुःखवेदना मयाऽनुभूता किन्तु-सर्वास्वपि गतिष्विति पुनर्निगमनद्वारेणाह-' सव्वे ' त्यादिना, इह च असाताः-दुःखरूपा, निमेषः-अक्षिनिमीलनम् तस्यान्तरं व्यवधानं यावता कालेनासौ भूत्वा पुनर्भवति तन्मात्रमपि—तत्परिमाणमपि कालमिति शेषः [यद् इति]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यस्मात्, साता सुखरूपा नास्ति वेदना, तत्त्वतो वैषयिकसुखमसुखमेव, ईर्ष्याद्यनेकदुःखानुविद्धत्वाद्विपाकदारुणत्वाच्च। सर्वस्य चास्य प्रकरणस्यायमाशयः-य एवमहं निमेषान्तरमात्रमपि कालं न सुखं लब्धवान् स कथं तत्त्वतः सुखोचितः सुकुमारो वेति शक्यते वक्तुम्?,येन च नरकेष्वत्युष्णशीतादयो महावेदना अनेकशः सोढास्तस्य महाव्रतपालनं क्षुदादिसहनं वा कथमिव बाधाविधायि?, तत्त्वतस्तस्य परमानन्दहेतुत्वात्,तत्प्रव्रज्यैव मया प्रतिपत्तव्येत्येकत्रिंशत्सूत्रावयवार्थः।

तत्रैवमुक्त्वोपरते-

तं बिंतऽम्मापियरो, छंदेणं पुत्त ! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया ॥ ७५ ॥

तम्—मृगापुत्रं ब्रूतोऽम्बापितरौ, छन्दः—अभिप्रायस्तेन स्वकीयेनेति गम्यते, किमुक्तं भवति ?—यथाऽभिरुचितं पुत्र ! प्रव्रज—प्रव्रजितो भव, 'नवरम्' इति—केवलम्, पुनः विशेषणे, श्रामण्ये-श्रमणभावे, दुःखम्-दुःखहेतुः, निष्प्रतिकर्मता कथञ्चिद्रोगोत्पत्तौ चिकित्साऽकरणरूपा इति सूत्रार्थः।

इत्थं जनकाभ्यामुक्ते—

सो बिंतऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं।
परिकम्मं को कुणई, अरण्णे मिगपक्खिणं ? ॥ ७६ ॥
एगभूओ अरण्णे वा, जहा ऊ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥ ७७ ॥
जया मिगस्स आयंको, महारण्णंमि जायई।
अच्छंतं रुक्खमूलंमि, को णं ताहे चिगिच्छई ? ॥ ७८ ॥
को वा से ओसहं देइ, को वा से पुच्छई सुहं।
को से भत्तं व पाणं वा, आहरित्तु पणामई ? ॥ ७९ ॥
जया य से सुही होइ, तया गच्छइ गोअरं।
भत्तपाणस्स अट्ठाए, वल्लराणि सराणि य ॥ ८० ॥
खाइत्ता पाणियं पाउं, वल्लरेहिं सरेहि य।
मिगचारियं चरित्ता णं, गच्छई मिगचारियं ॥ ८१ ॥
एवं समुट्ठिए भिक्खू, एवमेव अणेगए।
मिगचारियं चरित्ता णं, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥ ८२ ॥
जहा मिए एग अणेगचारी,
अणेगवासे धुवगोअरे अ।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे,
नो हीलए नो वि य खिंसइज्जा ॥ ८३ ॥

स इति—युवराजः, (बिंति त्ति) आर्षत्वाद् ब्रूते अम्बापितरौ, यथैतन्निष्प्रतिकर्मतया दुःखरूपत्वं युवाभ्यामुक्तं यथा स्फुटमिति प्राग्वत्, परं परिभाव्यतामिदम्-परिकर्म—रोगोत्पत्तौ चिकित्सारूपं, कः करोति ?, न कश्चिदित्यर्थः, क्व ?—अरण्ये, केषां ?, मृगपक्षिणाम्, अथ चैतेऽपि जीवन्ति विचरन्ति च, ततः किमस्या दुःखरूपत्वमिति भावः, यतश्चैवमतः—'एगेत्यादि' सर्वं स्पष्टमेव। नवरम्, एकभूतः—एकत्वं प्राप्तोऽरण्ये (वेति) वा पूरणे, (जहा उ त्ति) यथैव, एवमिति-एकभूतः, संयमेन—तपसा चेति, धर्मचरणहेतुः। यदा—आतङ्कः-आशुघाती रोगो, महारण्य इति-महाग्रहणममहति ह्यरण्येऽपि कश्चित्कदाचित्पश्येत्, दृष्ट्वा च कृपातश्चिकित्सेदपि, श्रूयते हि—केनचिद्भिषजा व्याघ्रस्य चक्षुरुद्घाटितमटव्यामिति, वृक्षमूल इति-तथाविधावासाभावदर्शनम्, (को णं ति) 'अवा सन्धिलोपो बहुलम्' इति वचनाद् अज्लोपे, क एनम् तदा—आतङ्कोत्पत्तिकाले, चिकित्सति—औषधाद्युपदेशेन नीरोगं कुरुते ?, न कश्चिदित्यर्थः, चिकित्सके चासति को वेति-वाशब्दः समुच्चये, औषधं ददातीत्येवमुत्तरोत्तराप्राप्तिरुपदर्शनीया॥ (आहरित्तु त्ति) आहृत्य, पणामयेत—अर्पयेत् " अर्पेः पणामः " इति वचनात्॥ कथं तर्हि तस्य निर्वहणम् ?, इत्याह—यदा स सुखी भवति, स्वत एव रोगाभाव इति गम्यते, गच्छति—याति गौरिव परिचितेतरभूभागपरिभावनारहितत्वेन, चरणम्—भ्रमणमस्मिन्निति गोचरस्तं भक्तमिव-भक्तं—तद्भक्ष्यम् तृणादि, तच्च पानं च भक्तपानं, तस्य अर्थाय प्रयोजनाय, गोचरमेव विशेषत आह-वल्लराणि-गहनानि, उक्तं च—" गहणमवाणियदेसं रण्णे छेत्तं च वल्लरं जाण " सरांसि च-जलस्थानानि, खादित्वा निजभक्ष्यमिति गम्यते, वल्लरेषु सरःसु वेति सुब्व्यत्ययेन नेयम्, तथा मृगाणां चर्या-इतश्चेतश्चोत्प्लवनात्मकम् चरणं मृगचर्या ताम्, मितचारितां वा परिमितभक्षणात्मिकाम्, चरित्वा-आसेव्य, परिमिताहारा एव हि स्वरूपेणैव मृगा भवन्ति, विशेषाभिधायित्वाच्च न पौनरुक्त्यम्, ततश्च गच्छति—याति, मृगाणां चर्या-चेष्टा, स्वातन्त्र्योपवेशनादिका यस्यां सा मृगचर्या-मृगाश्रयभूस्ताम्। अनेन च सूत्रपञ्चकेन दृष्टान्त उक्तः, उत्तरेण सूत्रद्वयेनात्मन्येतदुपसंहारः, इह च- 'एव' मिति मृगवत्समुत्थितः-संयमानुष्ठानम् प्रत्युद्यतस्तथाविधाऽऽतङ्कोत्पत्तावपि न कश्चित् चिकित्साऽभिमुख इति भावः। एवमेव-मृगवदेव, (अणेगय त्ति) अनेकगो यथा ह्यसौ वृक्षमूले नैकस्मिन्नेवास्ते-किं तु—कदाचित्क्वचिदेवमेषोऽप्यनियतस्थानस्थतया, पठ्यते च-[अणिएयणे त्ति] अनिकेतनः, अगृहः, स चैवं मृगचर्यां चरित्वा मृगवदातङ्काभावे भक्तपानार्थं गोचरं गत्वा तल्लब्धभक्तपानोपष्टम्भतश्च विशिष्टसम्यग्ज्ञानादिभावतः, शुक्लध्यानारोहणादपगताशेषकर्मांश ऊर्ध्वं दिशमिति सम्बन्धः। प्रकर्षेण क्रामति—गच्छति प्रक्रामति, किमुक्तं भवति ?- सर्वोपरिस्थानस्थितो भवति, निर्वृत इति यावत्, एवं च निर्वृतिरेवेह मृगचर्योपमार्थत उक्ता, तत्र हि मृगोपमा मुनय इत इतश्चाप्रतिबद्धविहारितया विहृत्य गच्छन्तीति॥ मृगचर्यामेव स्पष्टयितुमाह-यथा मृगः (एग त्ति) एकः-अद्वितीयः, अनेकचारी—नैकत्रैव भक्तपानार्थं चरतीत्येवंशीलः, अनेकवासः-नैकत्र वासः—अवस्थानमस्यास्तीति, ध्रुवगोचरश्च—सर्वदा गोचरलब्धमेवाहारमाहारयतीति, एवम् मृगवदेकत्वादिविशेषणविशिष्टो मुनिः, गोचर्याम्-भिक्षाटनम्, प्रविष्टो न हीलयेद्-अवजानीयात्, कदशनादीति गम्यते, नापि च (खिंसएज्ज त्ति] निन्देत्तथाविधाहाराप्राप्तौ स्वं परं वा इह च मृगपक्षिणामुभये-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षामुपक्षेपे यन्मृगस्यैव पुनः पुनर्दृष्टान्तत्वेन समर्थनं तत्तस्य प्रायः प्रशमप्रधानत्वादिति सम्प्रदाय इति सूत्राष्टकार्थः ।

एवं मृगचर्यास्वरूपमुक्त्वा यत्तेनोक्तं यच्च पितृभ्यां पितृवचनानन्तरं च यदसौ कृतवांस्तदाह—

मिगचारियं चरिस्सामि, एवं पुत्ता ! जहासुहं ।
अम्मापिऊहिँ ऽणुण्णाओ, जहाइ उवहिं तओ ॥ ८४ ॥
मिगचारियं चरिस्सामो, सव्वदुक्खविमुक्खणिं ।
तुब्भेहिं अम्ब ! ऽणुण्णाओ, गच्छ पुत्त ! जहासुहं ॥८५॥
एवं सोऽम्मापियरं, अणुमाणित्ताण बहुविहं ।
ममत्तं छिंदई ताहे, महानागु व्व कंचुयं ॥ ८६ ॥
इड्ढी वित्तं च मित्ते य, पुत्तदारं च नायओ ।
रेणुअं व पडे लग्गं, निद्धुणित्ताण निग्गओ ॥ ८७ ॥

गाथाचतुष्टयं स्पष्टमेव । नवरम्, मृगस्येव चर्या—चेष्टा, मृगचर्या तां निष्प्रतिकर्मतादिरूपां चरिष्यामीति, बलश्रिया युवराजेनोक्ते पितृभ्यामभाणि—एवं यथा भवतोऽभिरुचितं तथा यथासुखं तेऽस्त्विति शेषः, एवं चानुज्ञातः सन् जहाति—त्यजति, उपधिम्—उपकरणमाभरणादि, द्रव्यतो; भावतस्तु—छद्मादि येनात्मा नरक उपधीयते, ततश्च प्रव्रजतीत्युक्तं भवति । उक्तमेवार्थं सविस्तरमाह—(सव्वदुक्खविमोक्खणिं) सकलासातविमुक्तिहेतुम् (तुब्भेहिं ति) युवाभ्यामम्ब ! उपलक्षणत्वात् पितश्च, अनुज्ञातः अनुमतः सन् ,तावाहतुः—गच्छ मृगचर्ययेति प्रक्रमः, पुत्र ! यथासुखम्—सुखानतिक्रमेण, अनुमन्य—अनुज्ञाप्य, ममत्वम्—प्रतिबन्धम्, छिनत्ति—अपनयति, महानाग इव कञ्चुकम्, यथाऽसावतिजरठतया चिरप्ररूढमपि कञ्चुकमपनयति, एवमसावपि ममत्वमनादिभवाभ्यस्तमुपलक्षणत्वात् मायादींश्च ॥ अनेनान्तरोपधित्याग उक्तः, बहिरुपधित्यागमाह—ऋद्धिम्—करितुरगादिसम्पदम्, वित्तम्—द्रव्यम्, (णायओ त्ति) ज्ञातीन्—सोदरादीन्, (णिद्धणित्त त्ति] निर्धूयेव निर्धूय, त्यक्त्वेति यावत्, निर्गतः—निष्क्रान्तो गृहादिति गम्यते, प्रव्राजित इति योऽर्थः । इति सूत्रचतुष्टयार्थः ।

एनमेवार्थं स्पष्टयितुमाह निर्युक्तिकृत्—

नाऊण निच्छयमई, एव करेहि त्ति तेहिँ सो भणिओ ।
धन्नोऽसि तुमं पुत्ता !, जंसि विरत्तो सुहसएसु ॥४१५॥
सीहत्ता निक्खमिउं, सीहत्ता चेव विहरसु पुत्ता ! ।
जह नवरि धम्मकामा, विरत्तकामा उ विहरंति ॥४१६॥
नाणेण दंसणेण य, चरित्ततवनियमसंजमगुणेहिं ।
खंतीए मुत्तीए, होहि तुमं वड्ढमाणो उ ॥ ४१७ ॥
संवेगजणिअहासो, मुक्खगमणबद्धचिंधसन्नाहो ।
अम्मापिऊण वयणं, सो पंजलिओ पडिच्छी य ॥४१८॥

गाथाचतुष्टयं पाठसिद्धमेव, नवरमाद्यगाथात्रयेण एवं पुत्र ! यथासुखम् इत्येतत्सूचितार्थाभिधानतो व्याख्यातम्, चतुर्थगाथया त्वविशिष्टसूत्रं भावार्थाभिधानतः, सुखशतेभ्य इति बहुत्वोपलक्षणं शतग्रहणम्, (सीहत्ता इति) सिंहतया निष्क्रम्य—प्रव्रज्य, सिंहतयैव विहर पुत्र ! इति जात !, किमुक्तं भवति ?—यथा सिंहः स्वस्थानादिनिरपेक्ष एव निष्क्रामति, निष्क्रम्य च तथैव निरपेक्षवृत्त्या विहरति,एवं त्वमपि विहरेति,'नवरं' ति परं धर्म एव कामः—अभिलाषो येषां ते धर्मकामाः, 'विरत्तकामे' त्ति प्राग्वत् कामविरक्ताः—विषयपराङ्मुखाः, 'चरित्रतपोनियमसंयमगुणै' रित्यत्र चारित्रान्तर्गतत्वे ऽपि तपःप्रभृतीनामुपदेशात्सामान्यविशेषयोश्च कथञ्चिद्भिन्नत्वाच्च न पौनरुक्त्यम्, तथा संवेगो—मोक्षाभिलाषस्तेन जनितो हासो—मुखविकाशात्मकोऽस्येति संवेगजनितहासः—मुक्त्युपायोऽयं दीक्षेत्युत्सवमिव तां मन्यमानः प्रहसितमुख इत्यर्थः, पठन्ति च—(संवेगजणियसड्ढो त्ति) स्पष्टमेव, तथा मोक्षो—मुक्तिस्तद्गमनाय बद्धमिति—धृतं चिह्नं धर्मध्वजादि, तदेव सन्नाहो—दुर्वचनशरप्रसरनिवारकः क्षान्त्यादिर्वा येन स तथा, (पडिच्छीय त्ति) प्रत्यैषीत्, प्रतिपन्नवानिति गाथाचतुष्टयार्थः ॥

ततोऽसौ कीदृक् सञ्जात इत्याह—

पंचमहव्वयजुत्तो, पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो अ ।
सब्भिंतरबाहिरिए, तवोकम्मंमि उज्जुओ ॥ ८८ ॥
निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो ।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ॥ ८९ ॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥ ९० ॥
गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु अ ।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबंधणो ॥ ९१ ॥
अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासी चंदणकप्पो अ, असणेऽणासणे तहा ॥ ९२ ॥
अप्पसत्थेहिँ दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो ।
अज्झप्पझाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणो ॥ ९३ ॥

सूत्रषट्कं निगदसिद्धमेव । नवरम् (सब्भितरबाहिरिए त्ति) सहाभ्यन्तरैः—प्रायश्चित्तादिभिर्बाह्यैश्च—अनशनादिभिर्भेदैर्वर्तत इति सबाह्याभ्यन्तरं तस्मिन् प्रधानत्वाच्च प्रथममभ्यन्तरोपादानम् । 'निर्ममाः'—ममत्वबुद्धिपरिहारतः निस्सङ्गः—सङ्गहेतुधनादित्यागतः, समश्च—न रागद्वेषवान्निर्ममत्वादेरेव ॥ लाभेत्यादिना समत्वमेव प्रकारान्तरेणाह, अत्र च—'समः' न लाभादौ चित्तोत्कर्षभाग् नाप्यलाभादौ दैन्यवान्, जीविते मरणे समो, नैकत्राप्याकाङ्क्षावान्, [माणावमाणओ त्ति] मानापमानयोः,गौरवादीनि सूत्रे सुब्व्यत्ययेन सप्तम्यन्ततया निर्दिष्टानि पञ्चम्यन्ततया व्याख्येयानि, निवृत्त इति च सर्वत्र सम्बन्धनीयम् , अबन्धनः—रागद्वेषबन्धनरहितः । अत एव अनिश्रितः—इहलोके परलोके वाऽनिश्रितो नेह लोकार्थं परलोकार्थं वाऽनुष्ठानवान्, ' णो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा ' इत्याद्यागमात् । पुनरनिश्रिताभिधानं च मन्दमतिविनेयानुग्रहार्थमदुष्टमेव वासीचन्दनकल्प इत्यनेन समत्वमेव विशेषत आह, वासीचन्दनशब्दाभ्यां च तद्व्यापारकपुरुषावुपलक्षितौ , ततश्च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि किलैको वास्या तक्ष्णोति, अन्यश्च गोशीर्षादिना चन्दनेनालिम्पति, तथाऽपि रागद्वेषाभावतो द्वयोरपि तुल्यः, कल्पशब्दस्येह सदृशपर्यायत्वात्, 'अनशने' इति च नञाऽभावे कुत्सायां वा, ततश्चाशनस्य—भोजनस्याभावे कुत्सिताशनभावे वा कल्पः, इह चेष्टितोऽधिकाराणां प्रवृत्तिरिति पूर्वत्र समस्तमपि कल्प इत्यनुवर्त्तते, अप्रशस्तेभ्यः-प्रशंसाऽनास्पदेभ्यः, द्वारेभ्यः—कर्मोपार्जनोपायेभ्यो हिंसादिभ्यः, सर्वतः-सर्वेभ्यो य आश्रवः-कर्मसंलगनात्मकः स पिहितः-तद् द्वारस्थगनतो निरुद्धो येनासौ पिहिताश्रवः,सापेक्षस्यापि गमकत्वात् समासः, यद्वा-प्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः सर्वेभ्यो निवृत्त इति गम्यते, अत एव पिहिताश्रवः,कैः पुनरयमेवंविधः ?-अध्यात्मेत्यात्मनि ध्यानयोगाः-शुभध्यानव्यापारा अध्यात्मध्यानयोगास्तैः, अध्यात्मग्रहणं तु परस्थानां तेषामकिञ्चित्करत्वाद्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, प्रशस्तः-प्रशंसास्पदो, दमश्च-उपशमः शासनं च-सर्वज्ञागमात्मकं यस्य स प्रशस्तदमशासन इति सूत्रषट्कार्थः ।

सम्प्रति तत्फलोपदर्शनायाह—

एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य ।
भावणाहिं विसुद्धाहिं, सम्मं भावित्तु अप्पयं ॥ ९४ ॥
बहुयाणि उ वासाणि, सामन्नमणुपालिया ।
मासिएण उ भत्तेणं, सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ॥ ९५ ॥

सूत्रद्वयमुत्तानार्थमेव, नवरम्, भावनाभिः—महाव्रतसम्बन्धिनीभिर्वक्ष्यमाणाभिरनित्यत्वादिविषयाभिर्वा,विशुद्धाभिः—निदानादिदोषरहिताभिर्भावयित्वा-तन्मयतां नीत्वा (अप्पयं ति) आत्मानम्, (मासीएण उ भत्तेणं ति) मासे भवं मासिकं तेन, तुः पूरणे, भक्तेन-भोजनेन मासोपवासोपलक्षकत्वादस्य मासोपवासेनेति यावत्, सिद्धिम्-निष्ठितार्थताम्, सकलकर्मक्षयेणेति गम्यते, अनुत्तराम्-सकलसिद्धिप्रधानाम्, अनेनाञ्जनसिद्ध्यादि व्यवच्छेदमाहेति सूत्रद्वयार्थः ।

"इड्ढी" त्यादिसूत्रकदम्बकस्य तात्पर्यार्थमाह निर्युक्तिकृत्—

इड्ढीए निक्खंतो, काउं समणत्तणं परमघोरं ।
तत्थ गओ सो धीरो, जत्थ गया खीणसंसारा ॥४१९॥

सुगमैव नवरम्,ऋद्ध्या-दीनानाथदानादिकया विभूत्या निष्क्रान्तः सन् परमघोरम्-कातरजनातिशयदुरनुचरं,यत्र गताः क्षीणसंसारा इति मोक्ष इत्यभिप्राय इति गाथाऽवयवार्थः ।

साम्प्रतं सकलाध्ययनार्थोपसंहारद्वारेणोपदिशन्नाह सूत्रकृत्—

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, मियापुत्ते जहामिसि ॥ ९६ ॥

व्याख्यातप्रायमेव, संगता प्रज्ञा येषां ते संप्रज्ञाः, संपन्ना वा ज्ञानादिभिः (जहामिसि त्ति) मकारोऽलाक्षणिको यथेत्यौपम्याभिधायी, ऋषिः-मुनिः इति सूत्रावयवार्थः ।

इत्थमन्योक्त्योपदिश्य पुनर्भङ्ग्यन्तरेणोपदिशन्नाह—

महप्पभावस्स महाजसस्स,
मियाइपुत्तस्स निसम्म भासियं ।
तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं,
गइप्पहाणं च तिलोअविस्सुतं ॥ ९७ ॥
वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं,
ममत्तबंधं च महाभयावहं ।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं,
धारेह निव्वाणगुणावहं महं ॥ ९८ ॥ ति बेमि ॥

सूत्रद्वयं निगदसिद्धमेव, नवरम्, मृगापुत्रस्य भाषितं-संसारदुःखरूपतावेदकं यत्नेन पित्रोः पुरत उक्तम्, प्रधानं तपो यत्र चरिते तत्प्रधानतपो, व्यत्ययनिर्देशश्च प्राग्वत्, चरितं च-चेष्टितम् [गतिप्पहाणं च इति] प्रधानगतिं च मुक्तिमिति योऽर्थः,त्रिलोकविश्रुताम् जगत्त्रितयप्रतीताम्, अनेन च फललिप्सवो हि प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्त इति काका फलमाह । एतन्निशमनाच्च ममत्वं बन्ध इव तत्प्रवृत्तिविघातितया ममत्वबन्धस्तं च, महाभयावहं तत एव चौरादिभ्यो महाभयावाप्तेः धर्मो धूरिव महासत्त्वैरुह्यमानतया धर्मधुरा-महाव्रतपञ्चकात्मिका तां, तथा निर्वाणगुणा-अनन्तज्ञानदर्शनवीर्यसुखादयस्तदावहां-तत्प्रापिकां धर्मधुराम् धारयतेति सम्बन्धः । इह च निर्वाणगुणावहत्वं सुखावहत्वे हेतुः [महं ति] अपरिमितमाहात्म्यतया महतीं, सूत्रत्वाच्चैवं निर्देश इति सूत्रद्वयार्थः । इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्, उक्तोऽनुगमः । सम्प्रति नयास्तेऽपि प्राग्वदेव । उत्त० १९ अ० ।

मियासण-मृगासन-न० । आसनभेदे, येषामधो मृगा व्यवस्थिता भवन्ति । जं० १ वक्ष० ।

मिताशन-त्रि० । मितभोक्तरि, दश० ८ अ० ।

मिरिआ-देशी-कुट्याम्, दे० ना० ६ वर्ग १३२ गाथा ।

मिरिय-मरिच-पुं० । इः स्वप्नादौ ॥८।१।४६॥ इत्यादेरस्येत्त्वम्, प्रा० । स्वनामख्याते वृक्षे, वाच० । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

मिलक्खु-म्लेच्छ-पुं० । अव्यक्तभाषासमाचारेषु, 'म्लेच्छ' अव्यक्तायां वाचि इति वचनात् । भाषाग्रहणं चोपलक्षणम्, तेन शिष्टासंमतसकलव्यवहारा म्लेच्छा इति प्रतिपत्तव्यम् । प्रश्न० १ पद । सूत्र० । आर्यदेशोत्पन्नोऽक्तस्यानुवादकोऽपरिज्ञातशब्दार्थो म्लेच्छः । उक्तं च—

" मिलक्खु अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासए ।
ण हेउं से वियाणाइ, भासियं ताणुभासए ॥ १ ॥
एवमन्नाणिया नाणं, वयंता भासियं सयं ।
निच्छयत्थं न जाणंति, मिलक्खु व्व अबोहिए ॥ २ ॥ "

नं० । [वर्बरशवरपुलिन्दादिकाः 'अणारिय' शब्दे प्रथमभागे ३१६ पृष्ठे उक्ताः]

मिलक्खुभासाविसारय-म्लेच्छभाषाविशारद-पुं० । अनार्यभाषानिपुणे, आ० चू० १ अ० ।

मिला-म्लै-धा० । हर्षक्षये, स्वरादनतो वा ॥ ८ । ४ । २४० ॥ अकारान्तवर्जितात्स्वरान्ताद्धातोरन्तेऽकारागमो वा भवति । मिलाइ । मिलाअइ । म्लायति । प्रा० । म्लेर्वा-पव्वायौ ॥८।४ । १८ ॥ म्लायतेः वा-पव्वाय इत्यादेशौ वा भवतः । पव्वाइ । पव्वायइ । प्रा० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिलाण–म्लान–त्रि०। म्लानियुक्ते, वाच०। लात्॥८।२।१०६॥ संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इद्भवति। मिलाइ। मिलाणं। प्रा०। "पव्वायं वसुआयं, सुसिअं वायं मिलाणत्थे" पाइ० ना० ८३ गाथा।

मिलायमाण–म्लायमान–त्रि०। म्लानिं गच्छति, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

मिलिच्छ–म्लेच्छ–पुं०। ह्रस्वः संयोगे॥८।१।८४॥ दीर्घस्य यथादर्शनं संयोगे परे ह्रस्वो भवति। मिलिच्छे। अनार्ये, प्रा० १ पाद।

मिलिय–मिलित–त्रि०। सहिते, स्था० १० ठा०। व्य०। समुदिते, विशे०। विभक्ते, व्य० ६ उ०। अनेकशास्त्रसंबन्धीनि सूत्राण्येकत्र मीलयित्वा यत्र पठति तन्मिलितमसदृशधान्यमेलकवद्। अथवा–परावर्तमानस्य यत्र पदादिविच्छेदो न प्रतीयेत तन्मिलितम्। अनु०। आ० म०।

मिव–अव्य०। इवशब्दार्थे, मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा॥८।२।१८२॥ एते इवार्थे अव्ययसंज्ञकाः प्राकृते वा प्रत्युज्यन्ते। कुमुअं मिव। प्रा० १ पाद।

मिस–मिष–न०। छले, "छलं अवएसो निहं च मिसं" पाइ० ना० १४२ गाथा।

मिसमिसंत–मिसमिसत्–त्रि०। चिकचिकायमाने, औ०। देदीप्यमाने, कल्प० १ अधि० १ क्षण। रा०। औ०। तं०। आ० म०। ज्ञा०। मिसमिसीति मिलन्तः शब्दं कुर्वन्तः क्रमयो यत्र तन्मिसमिसत्क्रमिकम्। तं०।

मिसमिसीमाण–त्रि०। देदीप्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। क्रोधाग्निना दीप्यमाने, भ० ७ श० ६ उ०। क्रोधज्वालया ज्वलिते, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। विपा०।

मिस्स–मिश्र–धा०। संयोजने, मिश्रेर्वीसाल-मेलवौ॥८।४।२८॥ मिश्रयतेर्ण्यन्तस्य वीसाल-मेलवौ आदेशौ वा भवतः। वीसालइ। मेलवइ। मिस्सइ। प्रा० ४ पाद।

मिश्र–न०। संभोगोत्पन्ने पलकर्दमादिके गन्धकरतूर्यादिके, तं०। सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने, प्रव० २२४ द्वार। संयुक्ते, उत्त० १ अ०।

मिस्सकहा–मिश्रकथा–स्त्री०। संकीर्णपुरुषार्थाऽभिधायके विकथाभेदे, द्वा०।

धर्मार्थकामाः कथ्यन्ते, सूत्रे काव्ये च यत्र सा।
भिश्राख्या विकथा तु स्याद्, भक्तस्त्रीदेशराड्गता॥२०॥

(धर्मेति) यत्र सूत्रे काव्ये च धर्मार्थकामा मिलिताः कथ्यन्ते, सा मिश्राख्या कथा, संकीर्णपुरुषार्थाभिधानात्। विकथा कथालक्षणविरहिता तु स्याद्। भक्तस्त्रीदेशराड्गता भक्तादिविषया। यदाह–"इत्थिकहा भत्तकहा, रायकहा चोरजणवयकहा य॥ नडनट्टजल्लमुट्ठिय, कहा उ एसा भवे विकहा॥१॥" द्वा० ६ द्वा०।

सांप्रतं मिश्रकथामाह–

धम्मो अत्थो कामो, उवइस्सइ जत्थ सुत्तकव्वेसुं।
लोगे वेए समए, सा उ कहा मीसियाणाम॥२०६॥

धर्मः-प्रवृत्त्यादिरूपः, अर्थो–विद्यादिः, कामः–इच्छा मदनादिः, उपदिश्यते-कथ्यते, यत्र सूत्रकाव्येषु–सूत्रेषु काव्येषु च–तल्लक्षणवत्सु, केत्याह–लोके–रामायणादिषु, वेदे–यज्ञक्रियादिषु, समये–तरङ्गवत्यादिषु, सा पुनः कथा मिश्रा–मिश्रानाम, संकीर्णपुरुषार्थाभिधानाद्। इति गाथार्थः। दश० ३ अ०।

मिस्सकेसी–मिश्रकेशी–स्त्री०। औत्तराहरुचकपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, आ० चू० १ अ०। द्वी०। जं०।

मिस्सवल्ली–मिश्रवल्ली–स्त्री०। जनकसंबन्ध्यादिषु, व्य०।

संप्रति मिश्रवल्लीप्रतिपादनार्थमाह–

माउम्माया पिया भाया, भगिणी एवं पिऊण वि।
पुत्तो धूया य तहा, भाउयमादी चउण्हं पि॥१३६॥
अट्ठेव पज्जयाणं, चउवीसं भाउभगिणिसहियाणि।
एवं इच्चिय माउल–सुयादओ परयरा वल्ली॥१३७॥

मातुर्भ्राता१पिता२भ्राता३भगिनी४च, एवं पितुरपि चत्वारि वक्तव्यानि। तद्यथा-माता पिता भ्राता भगिनी च। भ्रात्रादीनां चतुर्णां प्रत्येकं द्वौ द्वौ द्रष्टव्यौ। तद्यथा-पुत्रो, दुहिता च। भ्रातुः पुत्रो दुहिता, भगिन्या अपि पुत्रो दुहिता च, अष्टौ च प्रार्यकाणि भ्रातृभगिनीसहितानि। तद्यथा-मातामह्या अपि-माता पिता भ्राता भगिनी। पितामहस्यापि माता पिता भ्राता भगिनी। सर्वसंख्यया मिश्रकाणां चतुर्विंशतिः अष्टावार्यकाणि, अष्टौ प्रार्यकाणि, अष्टौ च मात्रादिचतुष्टयस्य प्रत्येकं द्विधाभवनाद्। तथा च-एतावत्येव मिश्रवल्ली। मातुलसुतादयः परतरा वल्ली। ते च मातुलसुतादयो यदि तमपि धारयन्ति तदा स लभते, अथाचार्यमभिधारयन्ति तदा आचार्यस्य। ये पुनः परतरे स्वजना ये चान्ये ते सर्वेऽनभिधारयतो वा आचार्यस्य वा भवन्ति। व्य० १० उ०।

मिस्सीभाव–मिश्रीभाव–पुं०। गृहस्थपरिव्राजकादीनां सहवसतौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०। द्रव्यतो लिङ्गमात्रसद्भावाद्, भावतो गृहस्थसमकल्पत्वात्। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

मिहिआ–देशी–मेघसमूहे, दे० ना० ६ वर्ग १३२ गाथा।

मिहिया–मिहिका–स्त्री०। प्रालेये, स्था० १० ठा०। शिशिरादौ वातेरिते हिमकणे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

मिहिला–मिथिला–स्त्री०। विदेहजनपदप्रतिबद्धे पुरीभेदे, सू० प्र० १ पाहु०। जं०। भ०। आ० म०। सूत्र०। उत्त०। प्रव०। प्रज्ञा०। स्था०।

श्रीमल्लिनमिजिणाणं, पयपउमं पणमिऊण सुरपणयं।
मिहिलामहापुरीए, कप्पं जंपामि लेसेणं॥१॥

इहेव भारहे वासे पुव्वदेसे विदेहा णाम जणवओ, संपइ काले "तीरहु" त्ति देसो त्ति भण्णइ। जत्थ उ पइगेहं महुरमंजुलफलभारोणयाणि कयलीवणाणि दीसंति। पहिया य वियड्ढियाणि दुद्धसिद्धाणि पायसं च भुंजंति। पए पए वावीकूवतलायवईओ अइमहुरोदगं, पागयजणाऽवि सक्कयभासाविसारया अणेगसत्थपसत्थअब्भत्थिणिउणा य जणा, तत्थ रिद्धित्थिमियसमिद्धा मिहिला णाम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णगरी हुत्था। संपइ जगइ पसिद्धा। एयाइ नाइदूरेण जणयमहाराजस्स भाउणो कणयस्स निवासट्ठाणं कणइपुरं वट्टइ। तत्थ मिहिलाए णयरीए कुंभरायपभावईसंभवस्स भगवओ मल्लिणाहस्स इत्थीतित्थयरस्स णेमिजिणस्स य विजयनिवप्पा देवी नंदणस्स चवणजम्मणदिक्खाकेवलनाणकल्लाणयाइं जायाइं। इत्थ अट्ठमस्स सिरिवीरगणहरस्स अंकपियस्स जम्मो। इत्थ जुगबाहुमयणरेहाणं पुत्तो नमी नाममहाराया वलयमद्दवइयरेण पत्तेयबुद्धो सोहम्मिंदपरिक्खियवेरनिच्छओ संवुत्तो। इत्थेव लच्छीघरे चेइए अज्जमहागिरिसीसो कोडिन्नगुत्तो आसमित्तो सिरिवीरनिव्वाणाओ वीसुत्तरे वाससयदुगेऽवालीए अणुप्पवायपुव्वे निउणियं णाम वत्थुं पढंतो विप्पडिवन्नो, सामुच्छेइयदिट्ठिं पवत्तिऊण पावयणियथेरेहिं अणेगंतवायजुत्तीहिं निवारिज्जमाणो वि चउत्थो निह्नवो जाओ। सिरिमहावीरसामिपयपंकयपवित्तियजलाओ वाणगंगागंडईनईओ मिलित्ता एयं नयरं पवित्तियंति। इत्थ चरमतित्थयरो छव्वासारत्ते अवट्ठिओ इत्थ जणयसुया (सीआ) महासईए जम्मभूमिट्ठाणे महल्लो वडविडवीपसिद्धो। इत्थ सिरिरामसीयाणं विवाहट्ठाणं साकुल्लकुडं ति लोगे रूढं पायालर्लिगाइं णियलोइयतित्थाणि अ णेगाणि चिट्ठंति। तित्थयरमल्लिनाहचेइए वइरुट्टा देवी कुबेरजक्खो अ। नेमिजिणचेइए गंधारी देवी भिउडिजक्खो अ आराहयजणाणं विग्घं अवहरंति त्ति।

इय मिहिलाकप्पमिणं, सुणंति वायंति जिणपहविआणा।
तेसिं खवेइ कंठे, वरमालं मुत्तिसिरिमहिला ॥ १ ॥

इति मिथिलातीर्थकल्पः। ती० १८ कल्प। उत्त०। आ०म०। आव०।

मिहुण–मिथुन–न०। ख–घ–थ–ध–भाम् ॥ ८। १। १८७ ॥ इति थस्य हः। मिहुणं। प्रा०। स्त्रीपुंसयुग्मे, रा०। जं०। जी०। स्था०। दाम्पत्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०।

मिहुणइत्थिया–मिथुनस्त्री–स्त्री०। युगलिकस्त्रियाम्, आ० म० १ अ०। (आसां वर्णकः ' उसह ' शब्दे द्वितीयभागे १३३३ पृष्ठेऽकारि)

मिहुणग–मिथुनक–न०। सहोत्पन्ने स्त्रीपुरुषयुग्मे, स्था० १० ठा०।

मिहुणगक्खेत्त–मिथुनकक्षेत्र–न०। सदा युगलिकोत्पत्तिभूमिरूपायामकर्मभूमौ, स्था० १० ठा०।

मिहुणपुरिस–मिथुनपुरुष–पुं०। युगलिकपुरुषे, आ० म० १ अ०।

मिहुणय–मिथुनक–न०। युगले, " मिहुणयं जुअले " पाइ० ना० २२२ गाथा।

मिहो–मिथस्–अव्य०। परस्परं शब्दार्थे, अष्ट० १४ अष्ट०। षो०।

मिहोकहा–मिथःकथा–स्त्री०। परस्परं भक्तादिविकथाकरणे, व्य० ३ उ०। अन्योन्यं कथायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

मिहोसाहम्मियखामण–मिथःसाधर्मिकक्षामण–न०। परस्परं साधर्मिकैः क्षमाकारणायाम्। (सा च पर्युषणायामवश्यं कर्त्तव्येति सम्प्रदायः) कल्प० १ अधि० १ क्षण।

मीअ–देशी–समकाले, दे० ना० ६ वर्ग १३३ गाथा।

मीढल–मीढल–न०। वर्णकद्रव्यभेदे, ल० प्र०।

मीण–मीन–पुं०। मत्स्ये, बृ० १ उ०। " सउला सहरा मीणा, तिमी झसा अणिमिसा मच्छा " पाइ० ना० ४० गाथा।

मीमांसग–मीमांसक–पुं०। वेदार्थतात्पर्यनिर्धारणात्मकमीमांसाशास्त्राध्येतरि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। सम्म०।

मीमांसा–मीमांसा–स्त्री०। विचारणायाम्, मीमांसकाः–चोदनालक्षणो धर्मः। न च सर्वज्ञः कश्चिद् विद्यते। मुक्त्यभावश्चेति, एवमाश्रिताः। विशे०। सद्विचारे, षो० १६ विव०। द्वा०।

मीरा–मीरा–स्त्री०। मर्यादायाम्, नरकपातनास्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

मीराकरण–मीराकरण–न०। करैर्द्वारादेराच्छादने, बृ० १ उ०। नि० चू०।

मीलण–मीलन–न०। संप्रसारे समवाये, आ० म० १ अ०। संधाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। घटनायाम् संयोजने, आ० म० १ अ०।

मीलय–मीलक–पुं०। समये एकवाक्यताकारके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

मीस–मिश्र–त्रि०। लुप्त–य–र–व–श–ष–सां श–ष–सां दीर्घः ॥ ८। १। ४३ ॥ इत्यादिमस्वरस्य दीर्घः। रलोपे मिश्रम्। मीसं। प्रा०। मिलिते, विशे०। सान्निपातिकनामनि, विशे०। आलोचनाप्रतिक्रमणलक्षणोभयार्हत्वान्मिश्रम्। व्य० १ उ०। पञ्चा०। ग०। प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ०। व्य०। उपमार्हशब्दे उक्तमेतत् सत्यं च मृषा चेति वचने, यथा–धवखदिरपलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेषु अशोकवनमेवेदमिति विकल्पनपरम्। अत्र हि कतिपयाशोकवृक्षाणां सद्भावात् सत्यता, अन्येषामपि धवादीनां सद्भावादसत्यता, व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते, परमार्थतः पुनरिदमसत्यमेव, यथा विकल्पितार्थायोगात्। प्रव० २३७ द्वार। व्य०।

मीसखंध–मिश्रस्कन्ध–पुं०। सचेतनाचेतनसंकीर्णो मिश्रः। स चाऽसौ द्रव्यस्कन्धश्चेति मिश्रस्कन्धः। हस्त्यश्वरथखड्गादिसेनाङ्गे, अनु०। प्रव०।

मीसग–मिश्रक–न०। साध्वर्थं गृहस्थार्थं वादित उपस्कृते, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

मीसजाय–मिश्रजात–पुं०। मिश्रेण गृहसाध्वादिप्रणिधानलक्षणभावेन जातमुत्पन्नं पाकादिभावमुपगतं मिश्रजातमन्नाद्येव। पञ्चा० १३ विव०। गृहिसंयतमिश्रोपस्कृते तत्र संभवत्युत्पादनादोषे, दश० ५ अ०। पञ्चा०। जीत०। ग०। ध०। पं० चू०। स्था०। प्रव०।

संप्रति मिश्रजातद्वारमाह–

मीसज्जायं जावं–तियं च पासंडिसाहुमीसं च।
सहसंतरं न कप्पइ, कप्पइ कप्पे कए तिगुणे ॥ २७१ ॥

मिश्रजातं त्रिधा, तद्यथा–यावदर्थिकम्, पाखण्डिमिश्रम्, साधुमिश्रं च। तत्र यावन्तः केचन गृहस्थाः, अगृहस्था वा भिक्षाचराः समागमिष्यन्ति तेषामपि भविष्यति कुटुम्बे चेति बुद्ध्या सामान्येन भिक्षाचरयोग्यं कुटुम्बयोग्यं चैकत्र मिलितं यत्पच्यते तद्यावदर्थिकं मिश्रजातम्। यत्तु केवलपाखण्डियोग्यमात्मयोग्यं चैकत्र पच्यते तत्पाखण्डिमिश्रम्। यत्पुनः केवलसाधुयोग्यमात्मयोग्यं चैकत्र पच्यते तत्सा–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धुमिश्रम् । श्रमणानां पाखण्डिष्वन्तर्भावविवक्षणात् श्रमणमिश्रं पृथग् नोक्तम् । एतच्च मिश्रजातं सहस्रान्तरमपि—सहस्रान्तरे गतमपि-येन तत्कृतं तेनान्यस्मै दत्तं तेनाप्यन्यस्मै यावत्सहस्रतमाय दत्तं, ततोऽपि परं यदि साधवे ददाति तथापि न कल्पते । भाजनशुद्धौ विधिमाह—येन भाजनेन तन्मिश्रं गृहीतं तस्मिन् भाजने मिश्रपरित्यागानन्तरं कल्पे प्रक्षालने त्रिगुणे कृते अन्यत्—शुद्धं गृहीतुं कल्पते, नान्यथा ।

एनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याचिख्यासुः प्रथमतो मिश्रजातस्य संभवमाह—

दुग्गासे तं समइ—च्छिउं व अद्धाणसीसए जत्ता ।
सड्ढी बहुभिक्खयरे, मीसज्जायं करे कोई ।।२३।।

दुःखेन ग्रासो यत्र तद् दुर्ग्रासम्-दुर्भिक्षम् ,तस्मिन् भिक्षाचरसत्वानुकम्पया, यद्वा—तद् दुर्भिक्षं समतिक्रान्तः कश्चित् बुभुक्षाकष्टं महत्परिज्ञाय । यदिवा-अध्वशीर्षके-कान्तारादिनिर्गमरूपे प्रवेशरूपे खिन्नभिक्षाचरानुकम्पया । यद्वा—यात्रायाम्-तीर्थयात्रादिरूपे उत्सवविशेषे, दानश्रद्धया काऽपि श्रद्धी-श्रद्धावान् , बहून् भिक्षाचरानुपलभ्य, मिश्रजातम् पूर्वोक्तशब्दार्थं करोति ।

संप्रति यावदर्थिकस्य मिश्रजातस्य परिज्ञानोपायमाह—

जावंतट्ठा सिद्धं, नेयं तं देह कामियं जइ णं ।
बहुसु व अपहुप्पंते, भणाइ अन्नं पि रंधेह ।। २७२ ।।

काचित् किमपि साधवे ददती कयाचित् प्रतिषिध्यते नेदं दीयमानं यावदर्थं सिद्धम् यावन्तः केचनापि भिक्षाचराः समागमिष्यन्ति तेषामर्थाय सिद्धम्-किं तु विवक्षितम् , तस्मात्तदेहि यतिभ्यः, कामितं यावद् गृह्णन्ति, तावत्प्रमाणम्, यद्वा—प्रचुरेषु भिक्षाचरेषु समागच्छत्सु अग्रेतनप्रमाणे राध्यमाने, अप्रभवति—अपूर्यमाणे, गृहनायको भणति, नैतावता राद्धेन संरिष्यति, ततोऽन्यदप्यधिकं प्रक्षिप्य राध्नुहि, एवं श्रुते यावदर्थिकं मिश्रं परिज्ञायते, ज्ञात्वा च परिहर्तव्यमिति ।

संप्रति पाखण्डिमिश्रसाधुमिश्रे प्रतिपादयति—

अत्तऽट्ठा रंधंते, पासंडीणं पि बिइयओ भणइ ।
निग्गंथऽट्ठा तइओ, अत्तऽट्ठाएऽवि रंधंते ।। २७३ ।।

आत्मार्थं कुटुम्बार्थं गृहिण्या, राध्यमाने-पच्यमाने, गृहनायको यावदर्थिकमिश्रप्रवर्तकगृहनायकापेक्षया द्वितीयो भणति, यथा-पाखण्डिनामप्यर्थायाधिकं प्रक्षिप, तथा-आत्मार्थमेव राध्यमाने तृतीयो गृहनायको ब्रूते, यथा-निर्ग्रन्थानामर्थायाधिकं प्रक्षिपेति । तत एवं श्रुते पाखण्डिमिश्रसाधुमिश्रयोरपि परिज्ञानं भवति । संप्रति यदुक्तमेतत् मिश्रजातं पुरुषसहस्रान्तरगतमपि न कल्पते इति ।

तद् दृष्टान्तेन भावयति—

विसघाइयपिसियासी, मरइ तमन्नोऽवि खाइउं मरइ ।
इय पारंपरमरणे, अणुमरइ सहस्ससो जाव ।। २७४ ।।

इह कोऽपि वेधकेन—विषेण घातितः, तस्य पिशितं योऽश्नाति सोऽपि म्रियते, तस्याऽपि मांसं यो भक्षयति सोऽपि म्रियते, एवं परंपरया मरणे तावद् अनु—पाश्चात्यः, पाश्चात्यो म्रियते, यावत्ते म्रियमाणाः संख्यया सहस्रशो भवन्ति । इत्थं सहस्रवेधकस्य विषस्य प्रभावः यत्सहस्रान्तरगतममि मारयतीति भावः ।

एवं मीसज्जायं, चरणप्पं हणइ साहुसुविसुद्धं ।
तम्हा तं नो कप्पइ, पुरिससहस्संतरगयं पि ।। २७५ ।।

एवम् सहस्रवेधकविषमिव, यावदर्थिकपाखण्डिसाधुविषयम् , मिश्रजातमप्येकेनान्यस्मै दत्तं तेनाप्यन्यस्मायित्येवं परम्परया पुरुषसहस्रान्तरगतमपि साधोः सुविशुद्धं चरणात्मानं हन्ति, तस्मान्न कल्पते साधूनां सहस्रान्तरगतमपि मिश्रम् ।

संप्रति साधुविषयं विधिमाह—

निच्छोडिए करीसेण, वाऽवि उवट्टिए तओ कप्पा ।
सुक्काविचा गिण्हइ, अन्नचउत्थे असुक्के वि ।। २७६ ।।

मिश्रे कथमपि गृहीते पश्चात्तस्मिंस्त्यक्ते सति भाजने निच्छोटितें अङ्गुल्यादिना निरवयवे कृते । यद्वा—करीषेण शुष्कगोमयरूपेण उद्वर्तिते, पश्चात् त्रयः कल्पा दीयन्ते , तत आतपे तद्भाजनं शोषयित्वा पश्चात्तस्मिन्नच्यते-शुद्धं गृह्णाति नान्यथा , पूतिदोषसंभवात् । अन्ये तु सूरयः प्राहुः—चतुर्थे कल्पे दत्ते सति अशुष्केऽपि गृह्णन्ति , नास्ति कश्चिद्दोषः । अयं च प्रक्षालनविधिः सर्वत्राप्यशोधिकोटिग्रहणे वेदितव्यः । पिं० । आचा० ।

मिश्रजातग्रहणे प्रायश्चित्तमाह—

जे भिक्खू वा अणंतकायसंमिस्सं जुत्तं आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ।। ५ ।।

जे भिक्खू वा अणंतकातो मूलकंदो अल्लगपुडादि वा एवमादिसम्मिस्सं जो भुंजति तस्स चउगुरु ।

गाहासूत्रम्—

जों भिक्खू असणादी, भुंजेज्ज अणंतकायसंजुत्तं ।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधनं पावे ।। ५३ ।।

आणादिया दोसा भवंति ।

इमे दोसा । गाहा—

तं कायपरिच्चयई, तेण य वत्तेण समं वयती ।
अतिखट्टअणुचितेण य, विसूतिगादीणि आयाए ।।५४।।

इमा आयविराधणा । तेण रसालेण अतिखट्टेण-अणुचितेण य विसूतितादी भवे, मरेज्ज वा , अजीरंतो वा अण्णतरो रोगातंको भवेज्ज, एवं आयविराहणा । जम्हा एते दोसा तम्हा ण भोत्तव्वं ।

कारणे भुंजेज्जा । गाहा—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणा इमा तत्थ कायव्वा ।। ५५ ।।

पूर्ववत् ।

इमा वक्खमाणजयणा । गाहा—

ओमं तिभागमद्धे, तिभाग आयंबिले चउत्थादी ।
निम्मिस्से मिस्सेया, परित्तणं ते य जतणा य ।।५६।।

जहा एव सुत्ते वक्खमाणो जहा वा पेढे भणिया, तहा वत्तव्वा, इमो से अक्खरत्थो । तुमं एसणिज्जं भुंजति, तिभा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गेण्ह वा ऊणं एसणिज्जं भुंजति, अद्धं वा एसणिज्जं, तिभागं वा एसणिज्जं आयंबिलेण वा अच्छति, चउत्थं वा करेति, ण य अणंतकायसम्मिस्सं भुंजति। जाहे णिम्मिसं ण लब्भति ताहे परित्तकायमिस्सं गेण्हति। जाहे तं पि न लब्भति ताहे अणंतकायं गेण्हति। जाहे तं पि न लब्भति ताहे अणंतकायमिस्सं गेण्हति। जा य पणगादिजयणा सा दट्ठव्वा। नि० चू० १० उ०।

पढमं चिय गिहिसंजय-मीसो वक्खडाइ मीसं तु ॥ ६॥

प्रथमत एवादित एवारभ्य गृहिसंयतयोर्मिश्रं साधारणमुपसंस्कृतं साधितं यत्तत्तथा, तदादिर्यस्य तद्गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतादि। आदिशब्दाद्-गृहियावदर्थिकमिश्रगृहिपाखण्डिमिश्रग्रहः। मिश्रं तु मिश्रजातं पुनः। इति गाथार्थः। पञ्चा० १३ विव०।

मीसदवियकप्प-मिश्रद्रव्यकल्प-पुं०। सचित्ताचित्तोभयद्रव्यकल्पे, पं० भा० २ कल्प। पं० चू०।

मीसनाम-मिश्रनामन्-न०। उपसर्गनामसमुदायनिष्पन्ने नामभेदे, यथा संयतः। आ० म० १ अ०।

मीसपरिणय-मिश्रपरिणत-त्रि०। त्रिविधपुद्गलभेदे, प्रयोगविस्रसाभ्यां परिणता यथा पटपुद्गला एव प्रयोगेण पटतया परिणतवस्तूनि। स्था० ३ ठा० ३ उ०। (विशेषार्थस्तु 'पोग्गल' शब्दे पञ्चमभागे ११०४ पृष्ठे गतः)

मीसपुढवी-मिश्रपृथिवी-स्त्री०। सचित्ताचित्तोभयरूपपृथिव्याम्, नि० चू० १ उ०।

मीसय-मिश्रक-पुं०। "सिद्धे णो असण्णी णो सण्णी णो भव्वो णोअभव्वो" त्ति वचनात्। सिद्धे, विशे०।

मीसालिअ-मिश्र-त्रि०। मिश्राद् डालियः ॥ ८। २। १७०॥ इति डालियप्रत्ययः। मीसालिअं। पक्षे-मीसं। संयुक्ते, प्रा०।

मीसोहि-मिश्रावधि-पुं०। आनुगामिकाननुगामिकोभयस्वरूपेऽवधिज्ञाने, यस्य ह्युत्पन्नस्यावधेर्देशो व्रजति स्वामिना सहान्यत्र देशस्तु प्रदेशान्तरचलितपुरुषस्योपहतैकलोचनवदन्यत्र न व्रजति असौ मिश्र उच्यते। विशे०।

मुअंगी-देशी-कीटिकायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १३४ गाथा।

मुआइणी-देशी-डुम्ब्याम्, दे० ना० ६ वर्ग १३५ गाथा।

मुइंग-मृदङ्ग-पुं०। इः स्वप्नादौ ॥ ८। १। ४६॥ इत्वप्राप्तौ आर्षे उकारोऽपि। प्रा०। मर्दले, स्था० ७ ठा०। ज्ञा०। औ०। अनु०। चं० प्र०। स्था०। प्रश्न०। कल्प०। भ०। लघुमर्दले, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। आ० म०। रा०। नि० चू०। आचा०। जं०। नं०। पिपीलिकायाम्, आव० ५ अ०। "मुइंगो मुरओ" पाइ० ना० २६६ गाथा।

मुइंगमत्थय-मृदङ्गमस्तक-न०। मृदङ्गानां-मर्दलानां मस्तकानीव मस्तकानि। मृदङ्गानामुपरिभागेषु मृदङ्गमुखपुटेषु, भ० ६ श० ३३ उ०। विपा०।

मुइंगमालिया-देशी-कीटिकाविशेषे, संथा०।

मुइंगलि(आ)या-देशी-पिपीलिकादौ, पं० व० १ द्वार। सङ्का०।

मुइंगाकार-मृदङ्गाकार-पुं०। मर्दलाकृतौ, ". मुइंगाकारोवमे से खंधे" मृदङ्गाकारेण मर्दलाकृत्योपमा यस्य स मृदङ्गोपमः [से] तस्य स्कन्धोंऽशदेशः। उपा० २ अ०।

मुइय-मुदित-त्रि०। हर्षवति, रा०। ज्ञा०। उत्त०। प्रमोदवति, औ०।

मुइया-मुदिता-स्त्री०। परसुखेऽप्रीतिपरिहारे, सन्तुष्टौ, षो० ४ विव०।

आपातरम्ये सद्धेता-वनुवन्धयुते परे।
सन्तुष्टिर्मुदिता नाम, सर्वेषां प्राणिनां सुखे ॥ ५॥

(आपातेति) मुदिता नाम सन्तुष्टिः सा चाद्याऽऽपातरम्ये-अपथ्याहारतृप्तिजनितपरिणामासुन्दरसुखकल्पे, तत्कालमात्ररमणीये स्वपरगते वैषयिके सुखे, द्वितीया तु सद्धेतौ-शोभनकारणे ऐहिकसुखविशेष एव परिहृष्टहितमिताहारपरिभोगजनितस्वादुरसास्वादसुखकल्पे, तृतीया चानुबन्धयुते-अव्यवच्छिन्नसुखपरंपरया देवमनुजजन्मसुकल्याणप्राप्तिलक्षणे इहपरभवानुगते, चतुर्थी तु परे प्रकृष्टे मोहक्षयादिसंभवे अव्याबाधे च सर्वेषां प्राणिनां सुखे इत्येवं चतुर्विधा। तदुक्तम्-" सुखमात्रे सद्धेतावनुबन्धयुते परे च मुदिता तु।" द्वा० १८ द्वा०।

मुइयमाणस-मुदितमानस-त्रि०। निरन्तरहृष्टचित्ते, उत्त० १६ अ०।

मुउल-मुकुल-न०। कुड्मले, विशे०। आम्रफलकोरके, स्था० ४ ठा० १ उ०। कोरकावस्थायां कलिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु०१ अ०। संकुचिते, आ० म० १ अ०। जी०।

मुंज-मुञ्ज-पुं०। शरपर्ण्याम्, स्था० ५ ठा० ३ उ०। शरपत्रत्वचि, नि० चू० १ उ०। तृणविशेषे, बृ० २ उ०। सूत्र०। आचा०।

मुंजकार-मुञ्जकार-पुं०। मुञ्जमयोपस्करकरणोपजीविनि, अनु०।

मुंजतिण-मुञ्जतृण-पुं०। काश्यपमूलगोत्रावान्तरमूलगोत्रविशेषप्रवर्तके ऋषौ, तदपत्येषु च। स्था० ७ ठा०।

मुंजपाउयायार-मुञ्जपादुकाकार-पुं०। मुञ्जमयपादुकाकरणोपजीविनि शिल्पिनि, प्रज्ञा० १ पद।

मुंजमेहला-मुञ्जमेखला-स्त्री०। मुञ्जमये कटीदवरके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

मुंजापिच्चिय-मुञ्जापिच्चित-न०। कुट्टितशरपर्णीत्वङ्मये रजोहरणे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

मुंजायण-मौञ्जायन-पुं०। मुञ्जनामकर्षिगोत्रापत्ये। उत्सौन्दर्यादौ ॥ ८। १। १६०। इत्यौत उत्। मुंजायणो। प्रा० १ पाद।

मुंड-मुण्ड-पुं०। लुञ्चितशिरसि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। मुण्डितशिरसि, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। प्रव्रजिते, औ०। दशा०। दश०। नि० चू०। क्षुरेण मुण्डे, व्य० ४ उ०। बृ०। कल्प०।

पंच मुंडा पण्णत्ता, तं जहा-सोतिंदियमुंडे० जाव-फासिंदियमुंडे २, अहवा-पंच मुंडा-पण्णत्ता, तं जहा-कोहमुंडे माणमुंडे मायामुंडे लोभमुंडे सिरमुंडे। (सूत्र-४४३)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुण्डनम्-मुण्डः, अपनयनम्, स च द्वेधा-द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र द्रव्यतः-शिरसः केशापनयनम्, भावतस्तु-चेतसः इन्द्रियार्थगतप्रेमाप्रेम्णोः कषायाणां वाऽपनयनमिति मुण्डलक्षणधर्मयोगात् पुरुषो मुण्ड उच्यते। तत्र श्रोत्रेन्द्रिये श्रोत्रेन्द्रियेण वा मुण्डः, पादेन खञ्ज इत्यादिवत् श्रोत्रेन्द्रियमुण्डः शब्दे रागादिखण्डनात् श्रोत्रेन्द्रियार्थमुण्ड इति भावः, इत्येवं सर्वत्र। क्रोधे मुण्डः-क्रोधमुण्डस्तच्छेदनादेवमन्यत्रापि, तथा शिरसि शिरसा वा मुण्डः शिरोमुण्ड इति। स्था० ५ ठा० ३ उ०। आव०। कल्प०। अणु०। प्रज्ञा०।

मुंडकेवलि-(ण्)-मुण्डकेवलिन्-पुं०। द्रव्यभावमुण्डनप्रधाने तथाविधबाह्यातिशयशून्ये केवलिनि, यो० विं०।

संविग्नो भवनिर्वेदा-दात्मनिःसरणं तु यः।
आत्मार्थं संप्रवृत्तोऽसौ, सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥१६०॥

तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे,
देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने,
संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥ १ ॥

एवं लक्षणसंवेगभाक् भवनिर्वेदात्-संसारनैर्गुण्याद्, आत्मनिःसरणं तु-जरामरणादिदारुणदहनदह्यमानभवभवनोदराहरात्मनो निष्काशनं, पुनर्यश्चिन्तयतीति गम्यते। आत्मार्थं संप्रवृत्तः-स्वप्रयोजनमात्रप्रतिबद्धचित्तः, असौ पूर्वोक्तरूपः। सदा-सततमेव, स्याद्भवेत् द्रव्यभावमुण्डनप्रधानो, मुण्डश्च केवली च केवलज्ञानदर्शनवान् मुण्डकेवली। केवलेयेव तथाविधबाह्यातिशयशून्यः, अत्र दृष्टान्तः-पीठ-महापीठसाधुयुगलकमिति। यो० विं०। [पीठ-महापीठयोर्वृत्तं द्वितीयभागे ११२७ पृष्ठे गतम्] द्वा०। स्था०। आव०। मुण्डकेवली किंलक्षणो भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्-"संविग्नो भवनिर्वेदा-दात्मनिःसरणं तु यः। आत्मार्थं संप्रवृत्तोऽसौ, सदा स्यान्मुण्डकेवली" ॥ १ ॥ इति पञ्चसङ्ग्रहवृत्तौ, तदनुसारेण यः पुनः सम्यक्त्वावाप्तौ भवनैर्गुण्यदर्शनतस्तन्निर्वेदादात्मनिस्सरणमेव केवलमभिवाञ्छति, तथैव चेष्टते, स मुण्डकेवली भवतीति ॥ १२ ॥ सेन० ३ उल्ला०।

मुंडग-मुण्डक-न०। स्थण्डिले, दश० ४ अ०।

मुंडण-मुण्डन-न०। द्रव्यतः-केशापनयने, भावतस्तु-क्रोधाद्यपनयने, पञ्चा० २ विव०। स्था०। शिरोलोचने, स्था० २ ठा० १ उ०। आव०। ("अज्जेणं खुरमुंडेणं वा लुक्कसिरएण वा होयव्वं सिया" इति 'पज्जुसणाकप्प' शब्दे पञ्चमभागे २४७ पृष्ठे उक्तम्) कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

मुंडत्थल-मुण्डस्थल-न०। विंशतितीर्थकृत्स्थाने, ती० ४४ कल्प।

मुंडभाव-मुण्डभाव-पुं०। दीक्षितत्वे, भ० १ श० १ उ०। शिरोलोचे, महावीरस्वामिना महापद्मेन चानुज्ञातः। स्था० ६ ठा०।

मुंडरुइ-मुण्डरुचि-पुं०। दीक्षाग्रहणाभिरुचौ, उत्त० २० अ०।

मुंडा-देशी-मृग्याम्, दे० ना० ६ वर्ग १३३ गाथा।

मुंडावणा-मुण्डापना-स्त्री०। शिरोलोचनेन लोचे, बृ० ४ उ०। प्रज्ञा०। भ०। (तओ नो कप्पइ० (५) इत्यादिसूत्रं सभाष्यम् 'पव्वज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७७२ पृष्ठे उक्तम्)

मुण्डापनाविधिमाह-

इयाणिं मुंडावणा-सोहणे दिवसे चेतियाणं पुरओ पव्वावणिज्जं, अप्पणो वा सगासे ठवित्ता चेइए वंदित्ता परिहियचोलपट्टस्स रयहरणं देंति। "ताहे अट्ठेति" अस्य व्याख्या-जो थिरहत्थो आयरितो तिन्नि अट्ठातो गेण्हति समत्थो वा सव्वं लोयं करेति असति आयरियस्स थिरहत्थस्स अंतो पव्वावेति थिरहत्थो तस्स लोयकरणं सामाइयं च इमेरिसे ठाणे कज्जति।

गाथा-

दव्वादी अपसत्थे, मोत्तु पसत्थेसु फासुगाहारं।
लग्गाति वा तुरंते, गुरुअणुकूले व होज्जा य ॥ ४५७ ॥

अट्ठिमादि अप्पसत्थदव्वा, ऊसरमादी अप्पसत्थखेत्ता रित्तातिहिमादी अप्पसत्थकालो, दिट्ठिमादी अप्पसत्थो भावो, एते अप्पसत्थे मोत्तुं पसत्थेसु दव्वादिएसु पव्वाविज्जति। तस्स गुरुणो य अणुकूलेसु तारावलचंद्रबलेसु जाव य दव्वादिया पसत्था ण लब्भंति, ताव फासुगाहारं धरेंति, सन्नातगभया वा तुरंतो पसत्थलग्गबलेणं पव्वाविज्जति, उभयसाहारणे अलब्भमाणे गुरुअणुकूले पव्वाविज्जति। अहाजातेणं ति सणिसेज्जं रयोहरणं मुहपोत्तिया चोलपट्टो एयं अहाजातं दातुं वामपासट्ठियस्स आयरितो भणाति-इमस्स साधुस्स सामाइयस्स आरुहावणं-करेमि काउस्सग्गं, अन्ने भणंति-उच्चारोवणं करेति, उभयधाऽवि अविरुद्धं, अन्नत्थूससिएणं०जाव वोसिरामि त्ति "लोगस्सुज्जोअगरं" चिंतितो "नमो अरिहंताणं ति" पारंति, "लोगस्सुज्जोयगरं" कड्ढिता पच्छा पव्वावणिज्जेण सह सामाइयसुत्तं भिक्खुत्तो कड्ढति। पच्छा सेहो-"इच्छामि खमासमणो" त्ति वंदति, वंदिय पच्चुट्ठितो भणाति-संदिसह किं भणामो गुरुवयणं वंदितुं पवेदेहि, ताहे वंदिय पच्चुट्ठितो भणाति-तुब्भेहिं मे सामाइयं आरुहितं 'इच्छामि अणुसट्ठिं' गुरुवयणं-नित्थारगपारगो गुरुगुणेहिं वड्ढाहि त्ति।

गाहा-

तिगुणपयाहिणपादे, नित्थारो गुरुगुणेहि वड्ढाहि।
अणहिंडंते सिक्खं, समताणीएहिँ गाहंति ॥४५८॥

ताहे वंदित्ता णमोकारमुच्चरंतो पयाहिणं करेति, पादेसु निवडति, एवं वितियं ततियं च वारा। ताहे साधूण णिवेदिज्जति, एक्केक्कस्स तरंतो वा समुदिताणं वंदितुं सो भणाति, गुरुहिं आरुहियं मे सामाइयं 'इच्छामि अणुसट्ठिं' ते भणंति-नित्थारगपारगो आयरियगुणेसु वड्ढसु, एसा मुंडावणा। नि० चू० ११ उ०।

पव्वाविओ सिअ त्ति अ, मुंडावेउं अणायरणजोगो।
अहवा मुंडावित्ते, दोसा अणिवारिया पुरिमा ॥ ५७५ ॥

तथा प्रव्राजितः 'स्यात्' कथंचिदनाभोगादिना मुण्डयितुमनाचरणयोग्यः अनासेवनीयः, यस्तं मुण्डयति तस्य मुण्डयतः अमुण्डनीयदोषाः अनिवारिता भवन्त्येवेत्यर्थः। पूर्वे येऽप्रव्राजनीयास्तान् प्रव्राजयत एवं सर्वत्र भावनीयम्। इति गाथार्थः। पं० व० २ द्वार। पं० भा०। ('पव्वज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७४६ पृष्ठे विस्तर उक्तः)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुंडावली–मुण्डावली–स्त्री० । मुण्डाः स्थाणुविशेषा येषु म-हिषे वाटादौ परिघाः परिच्छिद्यन्ते तेषामावालिः । निरन्तर-व्यवस्थापितानां पङ्क्तौ, अणु० ।

मुंडावित्तए–मुण्डयितुम्–अव्य० । शिरोलोचेन लुञ्चितं कुर्वा-णे, बृ० ४ उ० । स्था० ।

मुंडाविय–मुण्डित–त्रि० । मुण्डितस्य तस्य शिष्यत्वेनानुमा-नात् लुञ्चितशिरसि, भ० १५ श० ।

मुंडि(ण्)–मुण्डिन्–पुं० । मुण्डिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० ।

मुंडिय–मुण्डित–त्रि० । शिरोलुञ्चनेन मुण्डीकृते, भ० २ श० १ उ० ।

मुंडिवग–मुण्डिवक–पुं० । स्वनामख्याते सङ्घवर्द्धननगरराजे, आ० चू० ४ अ० । (' झाणसंवरजोग ' शब्दे चतुर्थभागे १६७३ पृष्ठे कथा गता ।)

मुंडी–देशी–नारङ्गयाम् , दे० ना० ६ वर्ग १३३ गाथा ।

मुंढा–मूर्द्धन्–पुं० । श्रद्धर्द्धि–मूर्द्धार्द्धेऽन्ते वा ॥ ८ । २ । ४१ ॥ इति संयुक्तस्य ढो वा । मुंढा । मुद्धा । प्रा० । वक्रादावन्तः ॥ ८ । १ । २६ ॥ इत्यनुस्वारः । मस्तके, प्रा० १ पाद ।

मुंमुर–मुर्मुर–पुं० । फुम्फुकादौ, भस्ममिश्रिताग्निकणे, प्रश्ना० १ पद । नि० चू० । आ० म० ।

मुकुंद–मुकुन्द–पुं० । बलदेवे, अनु० । मुरजविशेषे, जं० २ व-क्ष० । आतोद्यविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । जी० । नं० । भ० ।

मुक्क–मुक्त–त्रि० । मुत्कले, विशे० । नि० चू० । मुत्कलीकृते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । क्षिप्ते, औ० । त्यक्ते, स्था० ६ ठा० । विशे० । उच्छ्व-ह्वले, दश० ८ अ० । परित्यक्ते, आव० ३ अ० । अन्यज-न्मनि जीवेनोज्झिते शरीरे, उत्त० १ अ० । कल्प० । नि-र्लोभे, द्वा० २७ द्वा० । निर्वृत्तिप्राप्ते, स्था० । अनु० । आव० । मुक्तः परमब्रह्मवादिनां परात्मा । यो० विं० । केषाञ्चिन्मते मुक्तोऽपि पुनः संसरति, " दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम् । मुक्तः स्वयं कृतभवश्च प-रार्थशूर–स्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । आचा० । मोक्षप्रस्तावे, विशे० ।

मूक–पुं० । सेवादौ वा ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति द्वित्वम् । मुक्को । मूओ । वाक्शक्तिविकले, प्रा० २ पाद ।

मुक्कजोगि(न्)–मुक्तजोगिन्–पुं० । त्यक्तज्ञानादियोगे, मुक्कजोगी णाम जेण मुक्को जोगो णाणदंसणचरित्ततवणियमसंजमा-दिसु सो य मुक्कजोगी । नि० चू० २० उ० ।

मुक्कट्टहास–मुक्ताट्टहास–पुं० । कृतमहाहासध्वनौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

मुक्कधुर–मुक्तधुर–पुं० । धूः–संयमधुरा, सा मुक्ता–परित्यक्ता येन स मुक्तधुरः । संयमभ्रष्टे, बृ० ३ उ० ।

मुक्कमउड–मुक्तमुकुट–पुं० । यथोक्तप्रमाणे, मुकुटोपरिवर्तिनि, बृ० ४ उ० ।

मुक्कमज्जाय–मुक्तमर्याद–त्रि० । मर्यादारहिते, " उच्छिडिमं मु-क्कमज्जायं " पाइ० ना० १८० गाथा ।

मुक्कय–देशी–याऽसौ वोढुं प्रकृता तद्वर्जितानामन्यासां नि-मन्त्रितानां वधूनां विवाहे, दे० ना० ६ वर्ग १३५ गाथा ।

मुक्कल–मुत्कल–त्रि० । त्रुटिते, अग्रथिते, विशे० । आ० म० । उपाश्रये समागच्छन् मुत्कलः श्राद्धः । ' निसिहीति ' । तस्मान्निर्गच्छंश्च ' आवस्सहीति ' वक्ति न वेति प्रश्ने, उत्त-रम्–मुत्कलः श्राद्धः ' निसिहीति ' वक्ति न त्वावश्यकी-ति ॥ २७४ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

मुक्कलांचल–मुक्तलाञ्चल–न० । त्रुटितवस्त्रकोणे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

मुक्कला–मुत्कला–स्त्री० । स्वतन्त्रस्त्रियाम् , " सच्छंदा उद्दा-मा , निरग्गला मुक्कला विसंखलया । निरवग्गहा य सइरा, निरंकुसा हुंति अप्पवसा " पाइ० ना० १३ गाथा ।

मुक्कलिय–मुत्कलित–त्रि० । अनुज्ञाते, दर्श० ३ तत्त्व ।

मुक्कवास–मुक्तपास–त्रि० । पाशान्मुक्ते, उत्त० २३ अ० ।

मुक्किट्ठा–देशी–हिक्कायाम् , दे० ना० ६ वर्ग १३४ गाथा ।

मुक्कुरुड–देशी–राशौ, दे० ना० ६ वर्ग १३६ गाथा ।

मुक्केल्लय–मुक्त–त्रि० । प्राकृतत्वात्स्वार्थे इल्लकप्रत्ययः । अन्य-जन्मनि जीवेनोज्झिते शरीरे, अनु० । ('सरीर' शब्दे बद्धानि मुक्तानि च शरीराणीति वक्ष्यते)

मुक्ख–मुख्य–त्रि० । अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम् ॥ ८ । २ । ८९ ॥ मुक्खो । प्रा० । प्रधाने, स्था० १ ठा० । विशे० । आ० म० । " गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः " । स्था० १ ठा० ।

मूर्ख–पुं० । अज्ञे, " मूर्खत्वं हि सखे ! ममापि रुचिरं तस्मिन् यदष्टौ गुणा, निश्चिन्तो बहुभोजनोऽत्रपमनाः नक्तंदिवा शायकः । कार्याकार्यविचारणान्धबधिरो मानापमाने समः, प्रायेणामयवर्जितो दृढवपुर्मूर्खः सुखं जीवति ॥ १ ॥ " उत्त० २ अ० । "बाला मूढा मंदा, अयाणया बालिसा जडा मुक्खा " पाइ० ना० ७१ गाथा ।

मोक्ष–पुं० । परमनिःश्रेयसि, पा० । सर्वतः कर्मक्षयो मोक्षः । स्था० १ ठा० । (मोक्षनिर्ज्जरयोर्भेदः ' णिज्जरा ' शब्दे चतु-र्थभागे २०५६ पृष्ठे गतः)

मुक्खपउम–मोक्षपद्म–न० । कमलवदभिलषणीये पङ्कजे, " एउं सोउं सरीरस्स, वासाणं गणियपागडमहत्थं । मुक्ख-पउमस्स ईहह, सम्मत्तसहस्सपत्तस्स ॥१॥ " । तं० ।

मुखपिसाय–मुखपिशाच–पुं० । पिशाचभेदे, प्रश्ना० १ पद ।

मुखभंडक–मुखभाण्डक–न० । मुखाभरणे, औ० ।

मुगुंदमह–मुकुन्दमह–पुं० । षष्ठीतत्पुरुषः । बलदेवोत्सवे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० । वासुदेवोत्सवे च । भ० ६ श० ३३ उ० ।

मुगुंस–मुगुंस–पुं० । खाडहिलाकृतौ जन्तुभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ' मुगुंसपुच्छं व तस्स भुमओ ' उपा० २ अ० ।

मुग्ग–मुद्ग–पुं० । (मूँग) धान्यभेदे, जं० २ वक्ष० । आचा० । अणु० । स्था० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुग्गडा-मुधा-अव्य०। वृथाशब्दार्थे, ते मुग्गडा इराविश्रा जे परिगिट्ठा ताहं। प्रा० ४ पाद।

मुग्गपर्णी-मुद्गपर्णी-स्त्री०। साधारणबादरवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

मुग्गफली-मुद्गफली-स्त्री०। मूँगफलीतिख्याते भक्ष्यफले, आव० ६ अ०।

मुग्गर-मुद्गर-पुं०। काष्ठलोहादिमये सग्रन्थिमुष्टिकोपरिसङ्कीर्णवृत्ताधोविस्तीर्णे मल्लोपकरणे, उत्त० १६ अ०। सूत्र०। मोगरेति ख्याते पुष्पजातिभेदे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

मुग्गल-मोगल-पुं०। पारसीकशब्दः। यवनजातिभेदे, ती० १६ कल्प।

मुग्गलि-मोद्गलि-पुं०। मौद्गलापत्ये, ननु वा यथा मौद्गलिस्वातिपुत्राभ्यां शौद्धोदनिध्वङ्जीकृत्य प्रकाशितः स्वरुचिविरचितो मार्गः। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

मुग्गस-देशी-नकुले, दे० ना० ६ वर्ग ११८ गाथा।

मुग्गसु-देशी-नकुले, दे० ना० ६ वर्ग ११८ गाथा।

मुग्गसेल-मुद्गशैल-पुं०। मुद्गप्रमाणे पाषाणविशेषे, मुग्गसेले नामं पच्छा मेहस्स मूले भणति। आ० म० १ अ। आ० चू०। नं०। मुद्गवद् वृत्तत्वश्लक्ष्णत्वादिधर्मयुक्तः किञ्चिद् भूतले निमग्नः किञ्चित्प्रकाशश्चिकचिकायमानो बादरादिप्रमाणो लघूपलस्वरूपो मुद्गशैलः। विशे०।

मुग्गुरुड-देशी-राशौ, दे० ना० ६ वर्ग० १३६ गाथा।

मुच्छंझाण-मूर्च्छाध्यान-न०। मूर्च्छा अत्यर्थं पूर्वप्राप्तस्य राज्यादेरभिष्वङ्गः। कनकध्वजस्येव दुर्ध्यानभेदे, आतु०।

मुच्छणा-मूर्च्छना-स्त्री०। स्वरविशेषे, अनु०। स्था०। जं०। (वक्तव्यं 'सर' शब्दे वक्ष्यते)

मुच्छा-मूर्च्छा-स्त्री०। द्वितीय-तुर्ययोरुपरि पूर्वः॥ ८। २। ६०। इति द्वित्वप्रसङ्गे छकारोपरि चकारः। प्रा०। सदसद्विवेकनाशे, स्था०।

दुविहा मुच्छा पण्णत्ता, जहा-पिज्जवत्तिया चेव, दोसवत्तिया चेव। स्था० २ ठा० ४ उ०।

(व्याख्या स्वस्थशब्दे) मोहे, स्था० २ ठा० ४ उ०। इतनष्टपदार्थशोचनायाम्; ध० ३ अधि०। मोहनेनाचेतनीभवने, संरक्षणानुबन्धे च। स० ५१ सम०। परिग्रहे, स्था० १ ठा०। गृद्धौ, विशे०। आतु०। सूत्र०।

मूर्छा-धा०। मोहसमुच्छ्राययोः, प्रज्ञा० १ पद।

मुच्छावसणट्ठचेयगरुई-मूर्च्छावशनष्टचेतोगुर्वी-स्त्री०। मूर्च्छावशानष्टचेतसि गुर्वी अलघुशरीरा। मूर्च्छितत्वेन गुर्व्याम्, भ० ६ श० ३३ उ०।

मुच्छिऊण-मूर्च्छित्वा-अव्य०। अचेतनां प्राप्येत्यर्थे, महा० २ चू०।

मुच्छिज्जंत-मूर्च्छर्यमान-त्रि०। मूर्च्छनारूपेण बाध्यमाने, आ० चू० १ अ०।

मुच्छिय-मूर्च्छित-त्रि०। गृद्धे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ०। गाढमर्मप्रहारादिना (आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०) अध्युपपन्ने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०। मुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववण्णे त्ति एगट्ठा। विपा० १ श्रु० १ अ०। व्याकुलीभूते, अष्ट० ३२ अष्ट०। (मुच्छिए इति) मूर्छनं मूर्च्छा सा संजाता अस्या इति मूर्च्छिता। उत्तरमन्दया उत्तरमन्दाभिधया गन्धारस्वरान्तर्गतया सप्तम्या मूर्च्छनया मूर्च्छिता, तस्याः अयमाशयः। गन्धारस्वरस्य सप्त मूर्च्छना भवन्ति, तथाहि—

"नंदी य खुड्डिया पू-रिमा य चोत्थी य सुद्धगंधारा।
उत्तरगंधारा वि अ, हवई सा पंचमी मुच्छा॥ १॥
सुट्ठुत्तरमायामा, छट्ठी सा नियमसो उ बोद्धव्वा।
उत्तरमंदा य तहा, हवई सा सत्तमी मुच्छा॥ २॥"

अथ किंस्वरूपा मूर्च्छना? उच्यते—गन्धारादिस्वरस्वरूपं मोचनेन गायतोऽतिमधुरा अन्यान्यस्वरविशेषा यान् कुर्वन्, आस्तां श्रोतॄन् मूर्छितान् करोति, किं तु-स्वयमपि मूर्च्छित इव तान् करोति, यदिवा-स्वयमपि साक्षान्मूर्च्छां करोति। यदुक्तम्—

"अन्नन्नसरविसेसे, उप्पायंतस्स मुच्छणा भणिया।
कत्ता वि मुच्छिओ इव, कुणए मुच्छं व सो व त्ति॥ १॥"

गन्धारस्वरान्तर्गतानां च मूर्छनानां मध्ये सप्तमी उत्तरमन्दा मूर्छना किलातिप्रकर्षप्राप्ता ततस्तदुपादानम्, तया च मुख्यवृत्त्या वादयिता मूर्छितो भवति परमभेदोपचाराद्वीणाऽपि मूर्छितेत्युक्ता, साऽपि यद्यङ्के सुप्रतिष्ठिता न भवति ततो न मूर्छना प्रकर्षं विदधाति। जं० १ वक्ष०। प्रश्न०। अंतो बहिं वा अडयं भिएणं वा मुच्छियं ति वा एगट्ठं। नि० चू० १७ उ०। गृद्धे, अध्युपपन्ने, ममत्वबहुले, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। उत्त०। आव०। आचा०। मूढे, गतविवेकचैतन्ये, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। सूत्र०। स्था०। एकीभावतामापन्ने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। कामोत्कटतृष्णे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। अत्यन्तासक्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। उत्त०। स्था०।

मुज्झत-मुह्यत्-त्रि०। मुहेर्गुम्म—गुम्मडौ॥ ८। ४। २०७॥ इति मुहेर्गुम्मगुम्मडादेशाभावे ह्रस्य ज्झादेशः। मोहं गच्छति, प्रा० ४ पाद।

मुट्ठि-मुष्टि-स्त्री०। ष्टस्याऽनुष्ट्रेष्टासंदष्टे॥ ८। २। ३४॥ इति ष्टस्य ठः। बद्धपञ्चाङ्गुलीके हस्ते, प्रा०। आ० क०। नि० चू०। भ०। उत्त०। स्था०। "बुक्का मुट्ठी" पाइ० ना० २२६ गाथा।

मुट्ठिजुद्ध-मुष्टियुद्ध-न०। योद्धयोः परस्परं मुष्ट्या हनने, जं० २ वक्ष०। स०। ज्ञा०। औ० आचा०।

मुट्ठिपोत्थय-मुष्टिपुस्तक-न०। चउरंगुलदीहो वा, "बद्धागिइमुट्ठिपुत्थगो अहवा। चउरंगुलदीहोचिय, चउरंसो होइ विन्नेओ॥ १॥" इत्युक्तलक्षणे पुस्तकभेदे, बृ० ३ उ०। (चउरंगुल त्ति) अङ्गुलचतुष्टयप्रमाणो दीर्घो वा आकृता-वृत्ताकृतिर्वर्तुलाकारो मुष्टिपुस्तकः। अथवा-अङ्गुलचतुष्कायामः चतुष्कोणो मुष्टिपुस्तकः। स्था० ४ ठा० १ उ०। दश०। जीत०। नि० चू०। आव०।

मुट्ठिय-मौष्टिक-पुं०। मुष्टिप्रहारिणि मल्लविशेषे, अनु०। ज्ञा०। जी०। स्था०। जं०। रा०। म्लेच्छजातीये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। लघुतरे घने, भ० १६ श० १ उ०।

मुष्टिकृत-त्रि०। सङ्कुचिताङ्गे, विशे०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुट्ठिक-स्त्री० । लघुमुष्टौ, रा० ।

मुट्ठिवागरण-मुष्टिव्याकरण-न० । व्याकरणभेदे , कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

मुट्ठिवाय-मुष्टिवात-पुं० । अतिवेगेनायुद्धादिग्रहणाथ मुष्टिब-न्धनेनोत्पन्ने वाते, भ० ३ श० २ उ० ।

मुण-ज्ञा-धातु० । अवबोधने , ज्ञो जाण-मुणौ ॥ ८।४।७॥ जानातेर्जाणमुण इत्यादेशौ भवतः । जाणइ । मुणइ । प्रा० ४ पाद । विशे० ।

मुणाल-मृणाल-न० । पद्मनाले, उदृत्वादौ ॥ ८।१।१३१ ॥ इति उत् । प्रा० । जी० । ज्ञा० । आव० । प्रश्न० । औ० । प्रज्ञा० । जं० । पद्मतन्तौ , जं० १ वक्ष० । प्रश्न० । " विसं मुणालं " पा-इ० ना० २५६ गाथा ।

मुणालिया-मृणालिका-स्त्री० । पद्मतन्तौ : जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । रा० । पद्मिन्याम् , नं० । जं० ।

मुणि-मुनि-पुं० । मुणति-प्रतिजानीते, सर्वविरतिमिति मुनिः । विरतिमति, उत्त० १२ अ० । मनुते, मन्यते वा, जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः । अतीन्द्रियज्ञानवति परोक्ष-ज्ञे , आ० म० १ अ० । सूत्र० । आव० । आचा० । द्वा० । अष्ट० । दर्श० ।

मुनिस्वरूपं निर्दिशति-सन्ति च लोके अनिर्ग्रन्था निर्ग्रन्थाऽऽरोपमत्ता आत्मना अशुद्धा अभिमानतः तत्त्वविवेकविकलाः तेषामेवोपदेशाय विशुद्धगुरुतत्त्वावबोधार्थं चाह । तत्र-मन्यते त्रिकालविषयत्वेन आत्मानमिति मुनिः । तत्र नाममुनिः, स्थापनामुनिः , सुगमः । द्रव्यमुनिः ज्ञशरीरभव्य-शरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात् अनुपयुक्तो लिङ्गमात्रद्रव्यक्रियावृत्तिसाध्योपयोगशून्यस्य प्रवर्त्तनविकल्पादिषु कषायनिवृत्तस्य परिणतिचक्रे असंयमपरिणतस्य द्रव्यनिर्ग्रन्थत्वम् । भावमुनिः चारित्रमोहनीयक्षयोपशमक्षायिकोत्पन्नस्वरूपरमणपरभावनिवृत्तः परिणतिविकल्पप्रवृत्तिषु द्वादशकषायोद्रेकमुक्तः नैगमसंग्रहव्यवहारनयैः द्रव्यक्रियाप्रवृत्तद्रव्यास्रवविरक्तस्य मुनित्वम् , ऋजुसूत्रनयेन भावाभिलापसंकल्पोपगतस्य शब्दसमभिरूढैवंभूतनयैः प्रमत्तात् क्षीणमोहं यावत् परिणतौ सामान्यविशेषचक्रे स्वतत्त्वैकत्वपरमशमतामृतरतस्य मुनित्वम् ,अत्र सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रप्राग्भावयुक्तस्य द्रव्यभावाश्रवविरतस्वरूपरतस्यावसरः ।

मन्यते यो जगत्सर्वं , स मुनिः परिकीर्त्तितः ।
सम्यक्त्वमेव तन्मौनं, मौनं सम्यक्त्वमेव च ॥ १ ॥

मन्यते इति-यः शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यलक्षणलक्षितो, जगद्-लोकं , जीवाजीवलक्षणं मन्यते , जानाति यथार्थोपयोगेन द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकस्वभावगुणपर्यायैः निमित्तोपादानकारणकार्यभावोत्सर्गापवादपद्धत्या जानाति स मुनिः-अवगततत्त्वः , परिकीर्त्तितः-कथितः , श्रीतीर्थंकरगणधरैः मुनेर्निर्ग्रन्थस्य इदं मौनम् , एवेति निर्धारणे। तत् सम्यक्त्वं, यत् यथा ज्ञातं तथा कृतमिति तत् सम्यक्त्वम् एव मुनित्वं, सम्यक्त्वं वा। पुनः सम्यक्त्वम्,एव मौनं निर्ग्रन्थत्वम् । अत्र यत् शुद्धश्रद्धाननिर्धारितात्मस्वभावः तत्र अवस्थानं चरणम् , यच्च सम्यग्दर्शनेन निर्धारितं सम्यग्ज्ञानेन विभक्तं स्वरूपोपादेयत्वं तच्च तथैव भवति, रमणं चरणं मुनित्वम्, अतः सम्यक्श्रद्धागृहीतकरणं तदेवंभूतनयेन सम्यक्त्वम्, एवंभूतनयेन सम्यग्मुनित्वम् सम्यक्स्वरूपम् इति ज्ञपरिज्ञाप्रत्यख्यानपरिज्ञाप्राप्तमेव कार्यसाधकं तन सम्यक्त्वमुनित्वे अभेदः । सम्यग्दृष्टिभिः यच्चतुर्थगुणस्थानकसाध्यत्वेन धारितं तथाकरणं यत्र मुनिभावे निष्पादितसिद्धावस्थायाम् इत्यनेन शुद्धसिद्धत्वस्य धर्मनिर्धारः सम्यक्त्वम् । आचाराङ्गे-" जं सम्मत्तं पासह, तं मोणं पासह-जं मोणं पासह, तं सम्मत्तं पासह, ण इमं सक्कं कामायरेहिं पवत्तेहिं गारवावसंठेहिं ।

"मुणी मोणं समाधाय, धुणे कम्मसरीरगं ।
पंतं लूहं च सेवंति, वीरा सम्मत्तदंसिणो ॥ १ ॥ ";

तथाच पञ्चास्तिकायेषु-" जीवः चेतनालक्षणः " । तत्र स्त्र्यात्मबद्धोऽपि-विभावग्रस्तोऽपि, सत्तया निर्मलाऽऽनन्दी निर्धार्य-तदावरणविगमाय मोहहेतुतद्द्रव्याश्रवान् हेयतयोपलक्षितान् हेयतया करोति इति सम्यक्त्वं मुनिस्वरूपम् ॥ १ ॥

आत्माऽऽत्मन्येव यच्छुद्धं, जानात्यात्मानमात्मना ।
सेयं रत्नत्रये ज्ञप्ति-रुच्याऽऽचारैकता मुनेः ॥ २ ॥

(आत्मा इति) अत्र ज्ञानादिगुणानामभेदकरणभूतानां ज्ञायकत्वकार्यकर्ता आत्मा एव , अत्रोपादानस्वरूपे षट्कारकचक्रमय एव आत्मा । स्वयमेव कर्तृकार्यरूपोऽपि कारणरूपसंप्रदानापादानाधिकरणः स्वयमेवेति व्याख्यातं भाष्ये श्रीजिनभद्रक्षमाश्रमणैः, अत एव आत्मा जीवः कर्तृरूपः, आत्मना-आत्मीयज्ञानवीर्येण करणभूतेन आत्मानं अनन्तास्तित्व-वस्तुद्रव्यत्व-सत्त्व-प्रमेयत्व-सिद्धत्वधर्मैकदम्बकोपेतं कार्यत्वापन्नम् आत्मनि आधारभूते अस्तित्वाद्यनन्तधर्मपर्यायपात्रभूते जानाति, सा इयं जानातिरूपा प्रवृत्तिः, सा एव रत्नत्रये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणे ज्ञप्तिःरुचिः, आचारः-भासननिर्द्धाराचाररूपः, एतेषाम् एकता-अभेदपरिणतिः, मुनेः अस्ति, इत्यनेन आत्मना-आत्मानं ज्ञात्वा, तद्रुचिः तदाचरणं-मुनेः स्वरूपम् । भावना च मिथ्यात्वाज्ञानासंयमैकत्वेन पौद्गलिकसुखं सुखत्वेन निर्धार्य-ज्ञात्वा च, तदाचरणप्रवृत्तस्यानन्तकालं तत्त्वानवबोधेन दाघज्वरपरिगतार्द्रमृत्तिकालेप इवावगुण्ठितः कर्मपुद्गलेन चोपलब्धः तत्त्वश्रद्धानज्ञानरमणानुभवलवोऽपि तेनैव निसर्गाद्धिगमादिकारणेन अनादिनिधनोऽयं जीवोऽनन्तज्ञानादिपर्यायालिप्तामूर्त्तस्वभावोऽवगतः, निर्द्धारितश्च, साध्योऽहं, साधकोऽहं, सिद्धोऽहं, ज्ञानदर्शनाद्यनन्तगुणमयोऽहम् इति ज्ञप्तिरुच्या आचरणरूपं मुनिस्वरूपम् । उक्तं च-

"आत्मानमात्मना वेत्ति, मोहत्यागाद् यदात्मनि ।
तदेव तस्य चारित्रं, तज् ज्ञानं तच्च दर्शनम् ॥ १ ॥"

पुनःहरिभद्रपूज्यैः षोडशके-

"बालः पश्यति लिङ्गं, मध्यमवृत्तिर्विचारयति वृत्तम् ।
आगमतत्त्वं तु बुधः, परीक्षते सर्वयत्नेन ॥१॥ "

अतः तत्त्वैकत्वं चारित्रम् ॥ २ ॥

पुनस्तदेव द्रढयति-

चारित्रमात्मचरणाद् , ज्ञानं वा दर्शनं मुनेः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धज्ञाननये साध्यः, क्रियालाभात् क्रियानये ॥ ३ ॥

(चारित्रमिति) आत्मचरणात्-आत्मस्वरूपरमणात् परभावप्रवृत्तित्यागात्; चारित्रम्-आत्मस्वरूपावबोधः, ज्ञानं-स्वीयासंख्येयप्रदेशव्यापकत्वेन सहजलक्षणज्ञानाद्यनन्तपर्यायः अहं नान्य इति निर्द्धारः । दर्शनम्—इत्यनेन आत्मा ज्ञानदर्शनोपयोगगुणद्वयलक्षणः । एवम् उक्तं च भाष्ये-" आत्मनो गुणद्वयमेव व्याख्यानयन्ति" इति तन्मते-ज्ञाने स्थिरत्वं चारित्रं, तेन ज्ञानचारित्रयोरभेद एव, ज्ञानमेवात्मपरिणाममयी वृत्तिः । सम्यक्त्वम्-आस्रवरोधः, तत्त्वज्ञानैकता चारित्रम्, एवं व्यापारभेदात् ज्ञानस्यैवावस्थात्रयम् । उक्तं च-

" एवं जिणपएणत्ते, सद्दहमाणस्स भावओ भावे ।
पुरिसस्साभणि बाए, दंसणसद्दो हवइ जुत्तो ॥ १ ॥ "

तथा च क्रियानये क्रियालाभात् साध्यनिष्पादनाय इति प्रथमं च क्रियानयसाध्यं तत्त्वप्राग्भावे च सर्वं ज्ञाननयसाध्यमस्ति, वस्तुतः ज्ञानप्रवृत्तिरेव चरणं ज्ञानमयमेवात्मधर्मत्वात्, अतः ज्ञानस्वरूप एवात्मा ॥ ३ ॥

यतः प्रवृत्तिर्न मणौ, लभ्यते वा न तत्फलम् ।
अतात्त्विकी मणिज्ञप्ति-र्मणिश्रद्धा च सा यथा ॥ ४ ॥

(यतः प्रवृत्तिरिति) अशुद्धज्ञाने निष्फलत्वं द्रढयति, यथा-"अतात्त्विकी मणिज्ञप्तिः-अमणौ मण्यारोपे, अमणौ मणिश्रद्धा, तस्मिन् तत्फलं न लभ्यते-न प्राप्यते, यतः मणेः सकाशात् मणिप्रवृत्तिः विषापहारादिका भवतीत्यर्थः । उक्तं च—

" पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे, आयंतए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलवप्पगासे,अम्हग्घपं होइ य जाणएसु ।१४॥"

तथा यतो न शुद्धात्म-स्वभावाचरणं भवेत् ।
फलं दोषनिवृत्तिर्वा, न तज् ज्ञानं न दर्शनम् ॥ ५ ॥

(तथा इति)तथा-तेन प्रकारेण, यतः-एकान्तद्रव्याचरणचारित्रात्, शुद्धात्मस्वभावाचरणं-शुद्धः परभावरहितः योऽसौ आत्मस्वभावः स्वरूपलक्षणः तस्याऽऽचरणं तदेकत्वं तन्मयत्वं न भवेत्, तेन प्रवर्त्तनेन फलं शुद्धात्मस्वभावलाभरूपं न परमात्मपदनिष्पत्तिः,न दोषाणां-रागादीनां,निवृत्तिः अभावः। न । वा-अथवा, तत्-सर्वमपि, प्रवर्त्तनं बाललीलाकल्पं शुद्धात्मस्वरूपालम्बनमन्तरेण अवेद्यसंवेद्यरूपं ज्ञानं-तज्ज्ञानं,तथा-सकलपरभावसङ्गोपाधिकाशुद्धात्माध्यवसायमुक्तातात्त्विकामूर्त्तचिन्मयानन्दात्मीयसहजभाव एवाहमिति निर्द्धारविकलं तद्दर्शनं, न—नैवेत्यर्थः, अत एव श्रुतेन केवलात्मज्ञानं तदभेदज्ञानम् उत्सर्गज्ञानं च श्रुताक्षरावलम्बि सर्वद्रव्योपयोगं भेदज्ञानं सर्वाक्षरसंपन्नश्च यावद् द्रव्यश्रुताऽवलम्बी तावद् भेदज्ञानी । उक्तं च समयप्राभृते—

" जो सुएणाभिगच्छइ, अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुअकेवलमिसिणो, भणंति लोगप्पदीवयरा ॥ १ ॥
जो सुअनाणं सव्वं, जाणइ सुअकेवली तमाहु जिणा ।
नाणं आयासव्वं, जम्हा सुअकेवली तम्हा ॥ २ ॥ "

आत्मस्वरूपज्ञानं च प्राभृते-

" अहमिको खलु सुद्धो, निम्मओ नाणदंसणसमग्गो ।
तम्मि ठिओ तच्चित्तो, सव्वे एए खयं नेमि ॥ १ ॥"

निर्मलनिष्कलङ्कज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण आत्मा, तज्ज्ञानं ज्ञानम् । उक्तं च-

"देहादेवलजो वसइ, देय अणाइअणंत ।
सो परजाएहु जोइया, अत्तत तंत नमंत ॥१॥"

आत्मज्ञानेनैव सिद्धिः, साध्यमपि पूर्णात्मज्ञानं, तदर्थमेव वदन्ति दर्शनान्तरीयाः, प्राणायामयन्ति—रेचकादिपवनम्, अवलम्बयन्ति मौनं, भ्रमन्ति गिरिवननिकुञ्जेषु, तथाऽप्यर्हत्प्रणीतागमश्रवणात् स्याद्वादस्वपरपरीक्षपरीक्षितस्वस्वभावावबोधमन्तरेण न कार्यसिद्धिः, अतः प्राप्तावसरे तदेवानन्तगुणपर्यायात्मकमात्मज्ञानमात्मनाऽऽत्मनि करणीयम् । उक्तं च—

"आत्माऽज्ञानभवं दुःख—मात्मज्ञानेन हन्यते ।
अभ्यस्यं तत्तथा तेन, येन (आत्मा) ज्ञानमयो भवेत् ॥१॥ "

यथा शोफस्य पुष्टत्वं, यथा वा वध्यमण्डनम् ।
तथा जानन् भवोन्माद-मात्मतृप्तो मुनिर्भवेत् ॥ ६ ॥

यथा इति—यथा येन प्रकारेण, शोफस्य—पुष्टत्वं शरीरस्थौल्यं न पुष्टत्वे इष्टं, वा-अथवा, यथा वध्यस्य—मारणार्थं स्थापितस्य, मण्डनं—कणवीरमालाद्यारोपणात्मकम्, एवंरूपं भवोन्मादं जानन्-भवस्वरूपम् एवंविधं जानन्, मुनिः-समस्तपरभावत्यागी, आत्मतृप्तः आत्मस्वरूपे-अनन्तगुणात्मके, तृप्तः-तुष्टो भवेत्, संसारस्वरूपं विरूपमसारं निष्फलम् अभोग्यं तुच्छं तं ज्ञात्वा, मुनिः स्वरूपे मग्नो भवति ॥६॥

सुलभं वागनुच्चारं, मौनमेकेन्द्रियेष्वपि ।
पुद्गलेष्वप्रवृत्तिस्तु, योगानां मौनमुत्तमम् ॥ ७ ॥

(सुलभमिति) वागनुच्चारम्-वचनाप्रलापरूपं, मौनम् सुलभं-सुप्राप्यं, तत् एकेन्द्रियेष्वपि अस्ति । तन्मौनं मोक्षसाधकं नास्ति । पुद्गलेषु-पुद्गलस्कन्धजवर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानादिषु, योगानां-द्रव्यभावमनोवचनकाययोगानां, या अप्रवृत्तिः रम्या, रम्यतया अव्यापकत्वं तदभिमुखं वीर्यापसरणपरिसर्पणरहितं, मौनम् उत्तमम्-प्रशस्यम्, भावना च-परभावानुगतचेतनावीर्यप्रवर्त्तनं चापल्यं तद्रोधः मौनम् उत्तमम्—उत्कृष्टं, आयत्यात्मनीनं योगचापल्यं च नात्मकार्यं तेन तद्रोधः श्रेयान् । योगस्वरूपम् कर्मप्रकृतौ—आत्मनो वीर्यगुणस्य क्षायोपशमप्राप्तस्यासंख्येयानि स्थानानि सर्वजघन्यं प्रथमं योगस्थानं सूक्ष्मनिगोदिनः॥ एवं सूक्ष्मनिगोदेषु उत्पद्यमानस्य जन्तोः भवति । इह जीवस्य वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदनके न छिद्यमानं छिद्यमानं यदा विभागं न प्रयच्छति, तदा स एवांशो विभागः,ते च वीर्यस्याविभागाः,एकैकस्मिन् जीवप्रदेशे चिन्त्यमाना जघन्येनाप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः, उत्कर्षतोऽप्येतत्संख्याः, किंतु-जघन्यपदभाविवीर्याविभागापेक्षया असंख्येयगुणा द्रष्टव्याः,येषां जीवप्रदेशानां समाः तुल्यसंख्यया वीर्याविभागा भवन्ति सर्वेभ्योऽपि चान्यभ्योऽपि जीवप्रदेशगतवीर्याविभागेभ्यः स्तोकतमाः ते जीवप्रदेशा घनीकृतलोकासंख्येयभागासंख्येयप्रतरगतप्रदेशराशिप्रमाणाः समुदिता एका वर्गणा । सा च जघन्या स्तोकाविभागयुक्तत्वाद्, जघन्यवर्गणातः परे ये जीवप्रदेशाः एकेन वीर्याविभागेनाभ्यधिका घनीकृतलोकासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयप्रतरगतप्रदेशराशिप्रमाणा वर्त्तन्ते । तेषां समुदायो द्वितीया वर्गणा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततः परं द्वाभ्यां वीर्याविभागाभ्यामधिकानामुक्तसंख्याकानामेव जीवप्रदेशानामेव समुदायस्तृतीया वर्गणा, एवमेकैकवीर्याविभागवृद्ध्या वर्द्धमानानां तावन्तो जीवप्रदेशानां समुदायरूपा वर्गणा असंख्येया वक्तव्याः, ताश्च कियत्य इति इदं घनीकृतलोकस्य या एकैकप्रदेशपङ्क्तिरूपा श्रेणिः तस्याः श्रेणेरसंख्येयतमे भागे यावन्तः आकाशप्रदेशाः तावन्मात्रा वर्गणा समुदिता एकं स्पर्द्धकम्, स्पर्धन्त इवोत्तरोत्तरवृद्ध्या वर्गणा अत्र इति स्पर्धकम्, पूर्वोक्तस्पर्द्धकगतचरमवर्गणायाः परतो जीवप्रदेशा नैकेन वीर्याविभागेनाधिकाः प्राप्यन्ते नाऽपि द्वाभ्यां नाऽपि त्रिभिः नाऽपि संख्येयैः, किं त्वसंख्येयलोकाकाशप्रमाणैरभ्यधिकाः प्राप्यन्ते, ततस्तेषां समुदायो द्वितीयस्य स्पर्द्धकस्य प्रथमा वर्गणा, ततः जीवप्रदेशानामेकेन वीर्याविभागेनाधिकानां समुदायो द्वितीया वर्गणा, द्वाभ्यां वीर्याविभागाभ्यामधिकानां समुदायः तृतीया वर्गणा, एवं तावद्वाच्यं यावत् श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा भवन्ति, तासां च समुदायः द्वितीयं स्पर्द्धकं, ततः पुनरप्यसंख्येयलोकाकाशः प्रदेशप्रमाणैः वीर्याविभागैरभ्यधिकाः प्राप्यन्ते, ततस्तेषां समुदायः तृतीयस्य स्पर्द्धकस्य प्रथमा वर्गणा, ततः एकैकवीर्याविभागवृद्ध्या द्वितीयादयो वर्गणास्तावद्वाच्या यावत् श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा भवन्ति, तासां च समुदायः तृतीयं स्पर्द्धकम्, एवमसंख्येयानि स्पर्द्धकानि वाच्यानि, एवं पूर्वोक्तानि स्पर्द्धकानि श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि जघन्यं योगस्थानम्, एतच्च सूक्ष्मनिगोदस्य सर्वाल्पवीर्यस्य भवप्रथमसमये वर्त्तमानस्य प्राप्यते, ततः अस्य जीवस्याधिकतरवीर्यस्य येऽल्पतरवीर्या जीवप्रदेशाः तेषां समुदायः प्रथमा वर्गणा, ततः एकेन वीर्याविभागेन वृद्धानां समुदायो द्वितीया वर्गणा। द्वाभ्यामधिकानां समुदायस्तृतीया वर्गणा। एवमेकैकवीर्याविभागवर्द्धमानानां यावत् श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा भवन्ति, तासां समुदायः प्रथमस्पर्द्धकम्। ततः प्राक्तनयोगस्थानप्रदर्शितप्रकारेण द्वितीयादीनि स्पर्द्धकानि वाच्यानि, तानि च यावत् श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति, ततस्तेषां समुदायो द्वितीयं योगस्थानम्। ततोऽन्यस्य जीवस्याधिकतरवीर्यस्योपदर्शितप्रकारेण तृतीयं योगस्थानं वाच्यम्। एवमन्योऽन्यजीवापेक्षया तावत् योगस्थानानि वाच्यानि यावत्सर्वोत्कृष्टं योगस्थानं भवति। तानि च योगस्थानानि सर्वाण्यपि श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति। क्षयोपशमवैचित्र्यात्सर्वमवसेयम्। ननु जीवानामनन्तत्वात् प्रतिजीवं च योगस्थानस्य प्राप्यमाणत्वात् अनन्तानि योगस्थानानि प्राप्नुवन्ति, कथमुच्यते असंख्येयानि?। उच्यते-यतः एकैकस्मिन् योगस्थाने सदृशे सदृशे वर्त्तमानाः स्थावरजीवा अनन्ताः प्राप्यन्ते. ततः सर्वजीवापेक्षयाऽपि सर्वाणि योगस्थानानि केवलपरिज्ञया परिभाव्यमानानि असंख्येयान्येव प्राप्यन्ते नाधिकानि.एकस्मिन् योगस्थाने एको जीवः जघन्यत एकं समयम् उत्कृष्टतोऽष्टौ समयान् यावत्तिष्ठति। एवं योगस्थानतारतम्ये सर्वजीवेषु योगबाहुल्यं गाथाक्रमेण वक्तव्यम्—

"सुहुमनिगोआइ क्खण-प्पजोगबायरविगलअमणमणा।
अपज्जलहुपढमदुगुरु, पज्जस्सियरो असंखगुणो॥ १॥
असमत्ततसुक्कोसो, पजहन्नियर एव ठिइठाणा।"

इत्यष्टाविंशतिभेदाल्पबहुत्वमवगन्तव्यम्। योगबाहुल्ये बहुकर्मग्राही, मन्दत्वे अल्पपुद्गलग्राही इत्येवं या योगानां पुद्गलग्रहणरूपा प्रवृत्तिः तस्या रोधः मौनम् उत्तमं किं सत्त्वस्य बाह्ययोगरोधेन?। तस्मात् सकलविमलज्ञानाद्यनन्तगुणगणमहामाहात्म्यपरमात्मभावरसिकैः आत्मनो योगप्रवृत्तिपुद्गलानुगतयो रोधनीया इत्युपदेशः॥ ७॥

ज्योतिर्मयीव दीपस्य,क्रिया सर्वाऽपि चिन्मयी।
यस्यानन्यस्वभावस्य, तस्य मौनमनुत्तरम्॥ ८॥

(ज्योतिर्मयीवेति)तस्य—तत्त्वैकत्वपरिणतस्य,मौनम्-योगनिग्रहरूपं, स्वधर्मप्राग्भावकर्त्तृत्वभोक्तृत्वे व्यापारिताशेषवीर्यस्य कर्मविकरणापूर्वकरणकिट्टीकरणादिषु स्थापितवीर्यकरणस्य परभावाप्रवृत्तत्वेन—मौनम्-योगचापल्यतावारणारूपम्, अनुत्तरम्—सर्वोत्कृष्टं, यस्य क्रियागुणप्रकर्षप्रवर्त्तना वीर्यप्रवृत्तस्यापि, चिन्मयी—स्वरूपज्ञानमयी, आत्मानुभवैकत्वरूपा, तथा—दीपस्य या क्रिया-उत्क्षेपणनिक्षेपणादिका सा सर्वापि ज्योतिर्मयी ज्ञानप्रकाशयुक्ता, तथा यस्य वन्दननमनादिगुणस्थानारोहरूपा क्रिया तत्त्वज्ञानप्रकाशिका तस्य अनन्यस्वभावस्य-न विद्यते—अन्यः परः स्वभावो यस्य सः, तस्य परभावव्यापकचेतनाभिसंधिवीर्यरहितस्य साधोः मौनम् अनुत्तरम्, वियत्सुस्वभावानुरोधादेव तत्कारकात् वियत्संपूर्णता, तदुक्तौ, 'कुम्भस्येव दशाऽऽत्मनः' इति न्यायात् ज्ञानिनः क्रियाज्ञान्युपकारका ज्ञातव्या ज्ञाननयस्यात्मनः तत्त्वैकत्वाध्यासितस्वरूपारोहका या क्रिया सा ज्ञानस्वरूपप्रकाशनहेतुः आवरणनिमित्तमसत्क्रिया आवरणापगमाय सत्क्रियानिमित्तं भवति, तत्त्वमग्नस्य न कारणीभवति, अतः तत्त्वज्ञानस्वरूपैकत्वध्यानलीनानां मुनीनां तेषाम् एव नमस्करणयोः॥ ८॥ अष्ट० १३ अष्ट०। प्रतिज्ञातसावद्यविरतौ, उत्त० २७ अ०। साधौ, आव० ४ अ०। विशे०। सूत्र०। नि० चू०। सूत्र०। दश०। ध०। अद्रोहाध्यवसायवति, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। यथावस्थितसंसारस्वभाववेत्तरि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। आचा०। तीर्थकृति, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। यतौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। भ०। आव०। सर्वज्ञे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। महर्षौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। मननशीले, उत्त० ६ अ०। वाचंयमे, उपा० २ अ०। संयते, दश० ५ अ०। मोक्षमात्रनिष्ठे, दश० ५ अ०। तपस्विनि, दश० १० अ०। मौनिनि, औ०। तत्त्वज्ञानिनि, अष्ट० २२ अष्ट०। आ० म०। रागद्वेषवर्जिते, आ० म० १ अ०। त्रिविधपरीषहसहनशीले, आ० म० १ अ०। "जइणो तवस्सिणो तावसा रिसी भिक्खुणो मुणी समणा" पाइ० ना० ३२ गाथा।

मुणिअ—ज्ञात—त्रि०। विदिते, "कलिअं विइयं विण्णायं अहिगयं बुदिभअं मुणिअं" पाइ० ना० ६१ गाथा।

मुणिअतत्त—ज्ञाततत्त्व—पुं०। ज्ञातपरमार्थे, "मुणिअतत्तस्स" (८५१ गाथा) पं० व० ३ द्वार। जी०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुणिंद-मुनीन्द्र-पुं० । ह्रस्वस्संयोगे ॥ ८ । १ । ८४ ॥ इति संयुक्तपरत्वाद् ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । परमज्ञानिनि समयज्ञे, षो० १ विव० ।

मुणिगण-मुनिगण-पुं० । व्रतादौ, आव० ३ अ० ।

मुणिचंद-मुनिचन्द्र-पुं० । सागरचन्द्रस्य मुनेः समीपे प्रव्रज्य ब्रह्मदत्तपूर्वभवजीवस्य पुत्रस्य चित्रस्यापि च पूर्वभवजीवस्य गोपालदारकस्य प्रव्राजके, उत्त० १३ अ० । (तत्कथा 'बंभदत्त' शब्दे पञ्चमभागे १२७२ पृष्ठे उक्ता) मण्डलप्रकरणकारके सूरौ, मण्ड० । स्था० । आ० चू० । ('मेअज्ज' शब्दे कथा) कुमारसन्निवेशे भगवद्वीरेण सह मिलिते पार्श्वापत्तीये साधौ, आ० म० १ अ० । आ० चू० । अनेकान्तजयपताकाकृति सूरौ, अने० । तपागच्छप्रथमसूरौ, ग० ।

"श्रीसर्वदेवसूरि--र्जज्ञे पुनरेव गुरुचन्द्रः ॥ २२ ॥
जातौ तस्य विनेयौ, सूरियशोभद्रनेमिचन्द्राह्वौ ।
ताभ्यां मुनीन्द्रश्रीमुनि--चन्द्रौ गुरू समभूताम् ॥ २३ ॥"

ग० ३ अधि० । अनेन गाथाकोशः तीर्थमालास्तवः रत्नत्रयकुलकं हरिभद्रसूरिकृतधर्मबिन्दुटीका चेति ग्रन्था रचिताः । द्वितीयोऽप्येतन्नामा चन्द्रप्रभसूरिशिष्यः देवप्रभसूरिगुरुः चौलुक्कवंशीयस्य आनलराजस्य प्रव्राजयिता, तृतीयश्च वडगच्छे देवसूरिगुरुः आवश्यकसप्ततिग्रन्थकर्ता । जै० इ० ।

मुणिजण-मुनिजन-पुं० । साधुजने, जी० १ प्रति० ।

मुणित्ता-मुनिता-स्त्री० । प्रव्रजितत्तायाम् , आ० म० १ अ० ।

मुणिदेवसूरि-मुनिदेवसूरि-पुं० । शान्तिनाथचरित्रग्रन्थकृति, द्वितीयोऽपि मुनिदेवाचार्य इति प्रसिद्धः सुभाषितरत्नकोषनामग्रन्थकर्त्ता । जै० इ० ।

मुणिपरिसा-मुनिपर्षद्-स्त्री० । मौनवत्साधुषु, औ० ।

मुणिपुङ्गव-मुनिपुङ्गव-पुं० । तीर्थकरगणधरादिषु , दर्श० ४ तत्त्व ।

मुणिय-ज्ञात-त्रि० । विदिते, आ० चू० १ अ० । नं० । स्वनामख्याते पिशाचे, आ० चू० १ अ० ।

मुणियपरमऽत्थ-ज्ञातपरमार्थ-पुं० । अभ्युद्यतविहारेण विहर्त्तुमवसरः साम्प्रतमस्माकमित्येवमवगतार्थे, बृ० ६ उ० । ज्ञातसिद्धान्तार्थे, पञ्चा० १५ विव० ।

मुणिरयणसूरि-मुनिरत्नसूरि-पुं० । चन्द्रगच्छीये समुद्रघोषसूरिशिष्ये जिर्नसिंहसूरिगुरौ, अनेन अममस्वामिचरित्रनामग्रन्थो रचितः, अयं ११६० विक्रमसंवत्सरे आसीत् । जै० इ० ।

मुणिवंस-मुनिवंश-पुं० । यतिमुनिशब्दयोः पर्यायत्वात् । मुनिकुले, स० ।

मुनिवर-मुनिवर-पुं० । श्रमणश्रेष्ठे, ग० १ अधि० ।

मुणिवसभ-मुनिवृषभ-पुं० । सातिशयादिमुनिमुङ्गवे, पञ्चा० २ विव० ।

मुणिविजय-मुनिविजय-पुं० । अञ्चिकाचार्यपुष्पचूलकथानामग्रन्थस्य कारके अमरविजयशिष्ये, जै० इ० ।

मुणिवेजयंत-मुनिवैजयन्त-पुं० । मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिर्भगवान् वैजयन्तः प्रधानः समस्तलोकस्य महातपसा वैजयन्तीवोपरिव्यवस्थित इति मुनिप्रवरे श्रीवीरजिने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

मुणिसुंदर-मुनिसुन्दर-पुं० । सोमसुन्दरगणीन्द्रशिष्ये, 'श्रीदेवसुन्दरगुरोः पट्टे श्रीसोमसुन्दरगणीन्द्राः । अभवन् युगप्रधानाः शिष्यास्तेषां च पञ्चैते श्रीमुनिसुन्दरसूरिः येन स्तोत्ररत्नकोशो नाम ग्रन्थो व्यरचि। ग०३अधि०।अस्य जन्मविक्रमसंवत्१४३६ दीक्षा विक्रमसंवत् १४४३ अस्ति । अयं च वाचकपदम् १४६६ सूरिपदम् १४७८ स्वर्गगमनम् १५०३ प्राप्तवान् पाण्डित्यप्रभावादयं कालीसरस्वतीवादिगोकुलषण्डसहस्राधिधानीत्यादिविरुदानि लेभे । जै०इ० । "वीरात् त्रिनन्दाङ्कशरद्यचीकर-त्त्वचैत्यपूते भुवसेनभूपतिः । यस्मिन्महैः संसदि कल्पवाचनामाद्यात्तदानन्दपुरं न कः स्तुते ॥१॥" कल्प० १ अधि०७ क्षण ।

मुनिसुव्वय-मुनिसुव्रत-पुं० । मनुते जगतस्तिकालावस्थामिति मुनिः । मुनेरुदेतौ चास्य वेति इप्रत्यये उपान्त्यस्योत्वम् । शोभनानि व्रतानि यस्येति सुव्रतः मुनिश्चासौ सुव्रतः, तथा-गर्भस्थे जननी मुनिवत्सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः । ध० २ अधि० । "जाया जणणी जं सुव्वइ त्ति मुणिसुव्वओ तम्हा" ध० २ अधि० । आव० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते विंशतितमे तीर्थकरे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । स्था० । अनु० । प्रव० । "एक्कारसमो देवईजीवो मुणिसुव्वओ" ती०२० कल्प । देवक्या जीवे भाविन्यामुत्सर्पिण्यां जनिष्यमाणे एकादशे तीर्थकरे, प्रव० ४६ द्वार । ति० । आ० क० ।

मुणिसेण-मुनिसेन-पुं० । पुष्पकलावतीविजये पुण्डरीकिण्यां नगर्यां जाते सागरसेनभ्रातरि, आ० चू० १ अ० । ('उसभ' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे श्रेयांसेन स्वपूर्वभवकथने ललिताङ्गदेवप्रस्तावे कथोक्ता)

मुणी-देशी-अगस्तिद्रुमे, दे० ना० ६ वर्ग १३३ गाथा ।

मुणिऊण-ज्ञात्वा-अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे, पञ्चा० ६ विव० ।

मुणियव्व-ज्ञातव्य-त्रि० । ज्ञातव्ये, उत्त० २ अ० । मन्तव्ये, प्रव २०४ द्वार । वेदितव्ये, जं० १ वक्ष० । आव० । पञ्चा० ।

मुत्त-मुक्त-त्रि० । त्यक्ते, पा० । सूत्र० । चतुर्गतिविपाकचित्रकर्मबन्धमुक्तत्वान्मुक्तः। ल०। मुक्तस्त्यक्तः सङ्गो द्रव्यतः पुनर्मुक्तो भावतोऽभिष्वङ्गाभावात् । स्था० । 'चत्तारि पुरिसाजाया०'(२६६ इत्यादि सूत्रम् 'पुरिसजाय' शब्दे पञ्चमभागे१०३३पृष्ठे गतम्) निर्लोभतायुक्ते,ग०२अधि०।बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहिते,आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । बाह्याभ्यन्तरग्रन्थिबन्धनान्मोचके,स०१ सम० । दश० । भ० । भवोपग्राहिकर्मणि, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । चतुर्गतिविपाकचित्रकर्मबन्धमुक्ते, ध० २ अधि० । सकलकर्मकृतविकारविरहिते , स्था० १० ठा० । क्षिप्ते , जी० ३ प्रति ४ अधि० । ज्ञा० । सूत्र० । न० । प्रश्नव्याकरणे , अष्ट० १६ अष्ट० । आव० । स्था० । प्रश्न० । दर्श० । रा० । आ० क० ।

मूर्त्त-त्रि० । तस्याऽधूर्त्तादौ ॥८ । २ । ३०॥ इति धूर्त्तादित्वात्तस्य टो न । मुत्तो । प्रा० प्रव० । वर्णादिमति, स्था० ५ ठा० ३ उ० । रूपिणि , आव० ४ अ० । करप्रेरिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कर्मपञ्जरान्मुक्तः । कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुत्तग-मुक्तक-न०। स्वनामख्याते, पुष्पे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

मुत्तत्त-मूर्त्तत्व-न०। मूर्त्तो रूपरसगन्धस्पर्शादिसन्निवेशता तस्या धरणस्वभावो मूर्त्तत्वम्। मूर्त्तस्वभावे, "मूर्तिं दधाति मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वं विपर्ययात्।" द्रव्या० १२ अध्या०। लोकदृष्टव्यवहारेण मूर्त्तस्वभाव एवात्मा इत्येके। द्रव्या० ११ अध्या०।

मुत्तपुरीसुस्सग्ग-मूत्रपुरीषोत्सर्ग-पुं०। मूत्रपुरीषत्यागे, "मूत्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं, मैथुनं स्नानभोजनम्। सन्ध्यादिकर्मपूजां च, कुर्याज्जापं च मौनवत्॥ १॥" ध० २ अधि०। नि० चू०।

मुत्तमल-मुक्तमल-पुं०। मलरहिते, दर्श० ४ तत्त्व।

मुत्तरूव-मुक्तरूप-त्रि०। वैराग्यपिशुनाकारे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

मुत्तसक्करा-मूत्रशर्करा-स्त्री०। पाषाणके मूत्ररोगे, नि० चू० १ उ०।

मुत्ता-मुक्ता-स्त्री०। मुक्ताफले, आ० म० १ अ०। स्था०। रा०।

मुत्ताकलाव-मुक्ताकलाप-न०। मौक्तिकाहारे कल्प० १ अधि० २ क्षण।

मुत्ताजाल-मुक्ताजाल-न०। मुक्ताफलसमूहे, ज्ञा० १श्रु०१ अ०। मुक्ताफलमये दामसमूहे, रा०।मुक्ताजालानामन्तरेषु यान्युत्स्तानि लम्बमानानि हेमजालानि-सुवर्णसमूहाः। रा०। जी०।

मुत्तादाम-मुक्तादामन्-न०। मुक्ताफलमालायाम्, रा०। औ०।

मुत्ताफल-मुक्ताफल-न०। मौक्तिके, मुक्ताफलानि सचित्तानि अचित्तानि वा पृथिवीकायदलान्यप्कायदलानि वेति प्रश्ने, उत्तरम्—मुक्ताफलान्यचित्तानि पृथ्वीकायरूपाणि च भवन्तीति ॥ २१५ ॥ सेन० ३ उल्ला०।

मुत्तामणिमय-मुक्तामणिमय-त्रि०। मुक्ता-मुक्ताफलानि,मणयश्चन्द्रकान्ताद्या रत्नाविशेषाः, मुक्तारूपा वा मणयो रत्नानि मुक्तामणयस्तद्विकारो मुक्तामणिमयः। मुक्तामणिविकारे, स० ६४ सम०।

मुत्ताऽऽलय-मुक्ताऽऽलय-पुं०। मुक्तानामाश्रयत्वादालयः मुक्तालयः। ईषत् प्राग्भारायां पृथिव्याम्, जं० ३ वक्ष०। स०।

मुत्तावली-मुक्तावली-स्त्री०।मुक्ताफलमये आभरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। जी०। आचा०। जं०। मुत्ताफलशरीरे हारे, स०७४ सम०। रा०। औ० भ०। "मुत्तावली य हारो" पाइ० ना०११५ गाथा। स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च। मुक्तावलिद्वीपे मुक्तावलिभद्र-मुक्तावलिमहाभद्रौ, मुक्तावलौ समुद्रे मुक्तावलिवर-मुक्तावलिमहावरौ,मुक्तावलिवरे द्वीपे-मुक्तावलिवरभद्र-मुक्तावलिवरमहाभद्रौ, मुक्तावलिवरे समुद्रे-मुक्तावलिवर—मुक्तावलिमहावरौ, मुक्तावलिवरावभासे द्वीपे-मुक्तावलिवरावभासभद्र-मुक्तावलिवराभासमहाभद्रौ, मुक्तावलिवराभवासे समुद्रे—मुक्तावलिवरावभासवर—मुक्तावलिवरावभासमहावरौ। जी० ३ प्रति० २ उ०। मुक्तावलिः-मौक्तिकहारः, तदाकारस्थापनया यत्तपस्तन्मुक्तावलीत्युच्यते। तपोभेदे, प्रव०।

मुक्तावलीतपः प्राह—

एगो दुगाइ एक्कग--अंतरिआ जाव सोलस हवंति।
पुण सोलस एगंता, एकंतरिया अभत्तट्ठा ॥ १५३७ ॥
पारणयाणं सट्ठी, परिवाडी चउक्कगंमि चत्तारि।
वरिसाणि हुंति मुत्ता-वलीतवे दिवससंखाए ॥१५३८॥

मुक्तावली-मौक्तिकहारः, तदाकारस्थापनया यत्तपः तन्मुक्तावलीत्युच्यते। तत्रादौ तावदेककः स्थाप्यते,ततो द्विकत्रिकादय एककान्तरिता भवन्ति। यावत्षोडश। ततः पुनः प्रत्यागत्या षोडशादय एककपर्यन्ता एककान्तरिता स्थाप्यन्ते। स्थापना चेयम्—

१	१
२	२
१	१
३	३
१	१
४	४
१	१
५	५
१	१
६	६
१	१
७	७
१	१
८	८
१	१
६	६
१	१
१०	१०
१	१
११	११
१	१
१२	१२
१	१
१३	१३
१	१
१४	१४
१	१
१५	१५
१	१
१६	१६

अयमर्थः-पूर्वं तावदेक उपवासः, ततो द्वौ, ततः पुनरेकः, ततस्त्रयः, तत एकः, ततश्चत्वारः, तत एकः, ततः पञ्च, तत एकः, ततः षट्, तत एकः, ततः सप्त, तत एकः, ततोऽष्टौ, तत एकः, ततो नव, तत एकः, ततो दश, तत एकः, तत एकादश, तत एकः, ततो द्वादश, तत एकः, ततस्त्रयोदश, तत एकः, ततश्चतुर्दश, तत एकः, ततः पञ्चदश, तत एकः, ततः षोडशोपवासाः, एवमर्द्धमुक्तावल्या निष्पन्नं द्वितीयमप्यर्द्धमेवं द्रष्टव्यम्, केवलमत्र प्रतिलोमगत्या उपवासान् करोति, तद्यथा-षोडशोपवासान् कृत्वा एकमुपवासं करोति। ततः पञ्चदश, तत एकमित्येवमेकोपवासान्तरितमेकोत्तरहान्या तावन्नेयं यावत्पर्यन्ते द्वावुपवासौ कृत्वा एकमुपवासं करोति इति, एते अभक्तार्था उपवासाः, सर्वाग्रेण च त्रीणि शतानि, तथाहि-द्वे षोडशसंकलने १५०-१५० अष्टाविंशतिश्च चतुर्थानि। तथा—षष्टिः पारणकानि, ततो जातमेकं वर्षम्, एतदपि तपः प्राग्वच्चतसृभिः परिपाटीभिः समाप्यते, ततो भवन्ति मुक्तावलीतपसि दिवससंख्यया चत्वारि वर्षाणीति। अन्तकृद्दशासु पुनर्य एव प्रथमपङ्क्तिपर्यन्तवर्तिनः षोडश, द्वितीयपङ्क्तिप्रारम्भेऽपि त एव, एक एव षोडशक इति तात्पर्यम्। प्रव० २७१ द्वार।

पितुसेणकण्हाऽवि नवरं मुत्तावलीतवोकम्मं उवसंपजित्ता णं विहरति। तं जहा—चउत्थं करेति, चउत्थं करित्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-छट्ठं करेति, छट्ठं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता--चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ताअट्ठमं करेति, अट्ठमं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-दसमं करेति, दसमं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सव्वकामगुणियं पारेत्ता-दुवालसं करेति, दुवालसं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चोद्दसमं करेति, चोद्दसमं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-सोलसमं करेति, सोलसमं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-अट्ठारसं करेति, अट्ठारसं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-वीसतिमं करेति, वीसतिमं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-बावीसइमं करेति, बावीसइमं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चोव्वीसइमं करेति, चोव्वीसइमं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-छव्वीसइमं करेति, छव्वीसइमं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-अट्ठावीसं करेति अट्ठावीसं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चगत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-तीसइमं करेति, तीसइमं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-बत्तीसइमं,बत्तीसइमं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, सव्वकामगुणियं पारेत्ता-चोत्तीसइमं करेति, एवं तहेव ओसारेति ०जाव चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता-सव्वकामगुणियं पारेति, एक्काए कालो-एक्कारस मासा पनरस य दिवसा चउण्हं तिण्हि वरिसा दस य मासा सेसं ०जाव सिद्धा।(सूत्र-२५) अन्त० ८ वर्ग ६ अ०।

मुत्तावलीभद्द-मुक्तावलीभद्र-पुं०। मुक्तावलीद्वीपस्य पूर्वार्द्धाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मुत्तावलीमहाभद्द-मुक्तावलीमहाभद्र-पुं०। मुक्तावलीद्वीपपरार्द्धाधिपे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मुत्तावलीवर-मुक्तावलीवर-पुं०। मुक्तावलीसमुद्रस्य पूर्वोऽर्द्धोऽधिपदेवे, स्वनामख्याते द्वीपभेदे च। तत्र मुक्तावलीवरभद्रमुक्तावलीवरमहाभद्रौ देवौ। जी० १ प्रति०।

मुक्तावलीवरभद्द-मुक्तावलीवरभद्र-पुं०। मुक्तावलीवरद्वीपस्य समुद्रस्य च पूर्वार्द्धाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

मुत्तावलीवरमहावर-मुक्तावलिवरमहावर-पुं०। मुक्तावलीवरद्वीपस्य समुद्रस्य च परार्द्धाधिपतौ देवे,जी०३प्रति०४अधि०।

मुत्तासुत्ति-मुक्ताशुक्ति-स्त्री०। मुक्ताफलयोन्याकारायां हस्तविन्यासमुद्रायाम्, पञ्चा० ३ विव०। प्रव०। सङ्घा०। मुक्ता मौक्तिकानि तासां शुक्तिरुत्पत्तिस्थानम्। मुक्तोत्पत्तिस्थाने, दर्श० १ तत्त्व।

मुत्ताहल-मुक्ताफल-न०। फो भ-हौ॥ ८।१।२२६॥ कचित्तु हः। मुत्ताहलं। शुक्तिजे रत्ने, (मोती) प्रा० १ पाद।

मुत्ति-मुक्ति-स्त्री०। मोचनं मुक्तिः। लोभपरित्यागभावनायाम्, आव० ४ अ०। बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु तृष्णाविच्छेदे, ध० ३ अधि०। रा०। ज्ञा०। निर्लोभतायाम्, उत्त० २६ अ०। आव०। स्था०। लोभोदयनिरोधे,औ०। ध०। पा०। पञ्चा०। धर्मोपकरणेऽप्यमूर्च्छायाम्, द्वा० २७ द्वा०। स्था०। प्रश्न०। निरन्तरं बहवो जीवा मुक्तौ यान्ति परं मुक्तौ संकीर्णे न जायते, संसारश्च रिक्तो न भवति, तत्र को दृष्टान्त इति प्रश्ने, उत्तरम्-यथा भूमिकमृत्तिका मेघजलप्रेरिता समुद्रमध्ये निरन्तरं याति, तथापि समुद्रः पूर्णो न भवति, भूमिकायां च गर्ता न भवन्ति, तथा, मुक्तावप्ययमेव दृष्टान्तो ज्ञेय इति। ॥ ४५७ ॥ सेन० ३ उल्ला०।

कवलभोजित्वेऽपि कृतार्थत्वं केवलिनो व्यवस्थापितम्। सर्वथा कृतार्थत्वं चास्य मुक्तौ व्यवतिष्ठते इति बहुविप्रतिपत्तिनिरासेन मुक्तिरत्र व्यवस्थाप्यते।

दुःखध्वंसः परो मुक्ति-र्मानं दुःखत्वगत्र च।
आत्मकालान्यगध्वंस-प्रतियोगिन्यवृत्तिमत्॥ १॥

दुःखध्वंस इति-परो दुःखध्वंसो मुक्तिः। परत्वं च समानकालीनसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानदेशत्वं वर्धमानग्रन्थे श्रूयते। तत्र च यद्यत्स्वसमानकालीनस्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावसमानदेशमिदानींतनदुःखध्वंसादि तत्तद्भेदो निवेश्यः। अन्यथा-चरमदुःखध्वंससमानकालीनसमानाधिकरणदुःखप्रागभावाप्रसिद्धेः। "वस्तुतः समानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसो मुक्तिः" इत्येकं लक्षणम्। अपरं च-"समानकलीनदुःखप्रागभावसमानाधिकरणो दुःखध्वंस" इति। लक्षणद्वये तात्पर्यम्। तेन नासमानदेशत्वविवेचनेऽन्यतरविशेषणवैयर्थ्यम्। मानं प्रमाणं, चात्र मुक्तौ, दुःखत्वमिति पक्षः। आत्मकालान्यग आत्मकालान्याकाशादिवृत्तिर्यो ध्वंसः शब्दादेस्तत्प्रतियोगिनि शब्दादाववृत्तिमदवर्त्तमानम्। शब्दादिवृत्तित्वेनार्थान्तरवारणार्थमेतत् पक्षविशेषणं, बाधास्फूर्तिदशायां तत्सिद्धिप्रसङ्गात्, नियतबाधस्फोरणेनैतत्साफल्याद्। अवृत्तिदुःखत्वमित्युक्तावसिद्धिः। दुःखत्वस्य दुःखवृत्तित्वाध्वंसेत्याद्युक्तावपि ध्वंसप्रतियोगिनि कालान्यवृत्तीत्याद्युक्तावपि कालान्यात्मवृत्तिदुःखध्वंसप्रतियोगिनि कालान्यत्वत्यागे चा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्मान्यकालवृत्ति-दुःखध्वंसप्रतियोगिनि दुःखे विद्यमानत्वात् सैवेति संपूर्णम् । आत्मकालपदेन तदुपाध्योरपि ग्रहाच्च न तस्यास्तादवस्थ्यम् ॥ १ ॥

सत्कार्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावोऽसुखस्य यः ।
तदनाधारगध्वंस-प्रतियोगिनि वृत्तिमत् ॥ २ ॥

सदिति—असुखस्य—दुःखस्य, यः प्रागभावस्तदनाधारो महाप्रलयस्तत्र गच्छति यो ध्वंसो दुःखी यस्तत्प्रतियोगिनि दुःखे वृत्तिमदिति साध्यम्, वृत्तिमदित्युक्तौ सिद्धसाधनं, दुःखत्वस्य दुःखे विद्यमानत्वात् । प्रतियोगिवृत्तित्वोक्तावपि दुःखात्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्तित्वेन, तद्ध्वंसेत्याद्युक्तावपि दुःखध्वंसाङ्गीकारात्तदेव । प्रागभावानाधारवृत्तित्वस्य ध्वंसविशेषणत्वे दृष्टान्तासिद्धिः । प्रदीपावयवानां प्रदीपप्रागभावाधारत्वात्तदर्थं दुःखेत्यादि । प्रदीपावयवास्तु दुःखप्रागभावा (ना) धारभूता इति दृष्टान्तसंगतिः । दुःखानधिकरणेत्यादिकरणे खण्डप्रलयेनार्थान्तरता स्यादिति दुःखप्रागभावनिवेशः । सत्कार्यमात्रवृत्तित्वादिति हेतुः । वृत्तित्वमात्मत्वे व्यभिचारिकार्यवृत्तित्वमनन्तत्वे ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपस्य तस्याकार्ये आत्मादौ कार्ये ध्वंसे च सत्त्वात् । कार्यमात्रवृत्तित्वमपि ध्वंसत्वे व्यभिचारवृत्तित्वे (व्यभिचारि तदर्थं भाववृत्ते) सतीति विशेषणे दीयमानेऽपि न तदुद्धारः। प्रागभावध्वंसस्य प्रतियोगितद्ध्वंसस्वरूपत्वेन ध्वंसत्वस्यापि भाववृत्तित्वात् । ततः सदिति कार्यविशेषणम् ॥ २ ॥

दीपत्ववदिति प्राहु-स्तार्किकास्तदसंगतम् ।
बाधाद् वृत्तिविशेषेष्टा-वन्यथार्थान्तराप्ययात् ॥ ३ ॥

दीपत्ववदिति, दृष्टान्तः, इति-तार्किकाः-नैयायिकाः । इत्थं सर्वमुक्तिसिद्धौ चैत्रदुःखत्वादिकं पक्षीकृत्य तत्तन्मुक्तित्वसाधनोपपत्तेः । तत्तार्किकमतमसंगतम् न्यायपेतम् । वृत्तिविशेषस्याभावीयविशेषणतया दुःखप्रागभावानाधारवृत्तित्वस्येष्टौ साध्यकोटिनिवेशोपगमे बाधात् । दुःखध्वंसस्य दुःखसमवायिन्येव तया वृत्तित्वस्य त्वयोपगमात् । अन्यथा सम्बन्धमात्रेण तदिष्टौ अर्थान्तराप्ययादर्थान्तरानुद्धारात् आकाशादावपि दुःखध्वंसस्य व्यभिचारितादिसम्बन्धेन वृत्तित्वात्प्रकृतान्यसिद्धेः । कालिकदैशिकविशेषणतान्यतरसम्बन्धेन वृत्तित्वोक्तावपि कालोपाधिवृत्तित्वेन तदनपायात् । कालिकेन दुःखप्रागभावानाधारत्वनिवेशे च दृष्टान्तासङ्गतेः । मुख्यकालवृत्तित्वविशिष्टकालिकसम्बन्धेन तन्निवेशेऽपि आत्मनस्तथात्वात् । उक्तान्यतरसंबन्धेन तन्निवेशेऽपि तथासम्बन्धगर्भव्याप्त्यग्रहादिति भावः ॥ ३ ॥

विपक्षबाधकाभावा-दनभिप्रेतसिद्धितः ।
अन्तरैतदयोग्यत्वा-च्छङ्का योगापहेति चेत् ॥ ४ ॥

विपक्षेति-विपक्षे—हेतुसत्त्वेऽपि साध्यासत्त्वे, बाधकस्यानुकूलतर्कस्याभावात् । तथा चानभिप्रेतसिद्धितोऽनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात् । कालान्यत्वगर्भसाध्यं प्रत्यपि उक्तहेतोरविशेषात् । एतदुक्तसाध्यमन्तरा सर्वमुक्त्यसिद्धौ अयोग्यत्वाशङ्का। य एव न कदापि मोक्ष्यते तद्वदहं यदि स्यां तदा मम विफलं परिव्राजकत्वमित्याकारा, योगापहा—योगप्रतिबन्धिकेत्यद एव विपक्षबाधकमिति चेत् ॥ ४ ॥

नैवं शमादिसंपत्त्या, स्वयोग्यत्वविनिश्चयात् ।
न चान्योऽन्याश्रयस्तस्याः, संभवात् पूर्वसेवया ॥ ५ ॥

नैवमिति—एवं न यथोक्तं विपक्षबाधकं भवता, शमादीनां शमदमभोगाभिष्वङ्गादीनां मुमुक्षुचिह्नानां संपत्त्या । स्वयोग्यत्वस्य विनिश्चयात्-तेषां तद्व्याप्यत्वात् । न चान्योन्याश्रयो योगप्रवृत्तौ सत्यां शमादिसम्पत्तिस्ततश्चाधिकारविनिश्चयात्सेति संभावनीयम्, तस्याः-शमादिसंपत्तेः पूर्वसेवया योगप्रवृत्तेः प्रागपि, सम्भवात्-योगप्रवृत्तेरतिशयितशमादिसम्पादकत्वेनैव फलवत्त्वात् । सामान्यतस्तु तत्र कर्मविशेषक्षयोपशम एव हेतुरिति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ ५ ॥

शमाद्युपहिता हन्त, योग्यतैव विभिद्यते ।
तदवच्छेदकत्वेन, संकोचस्तेन तस्य न ॥ ६ ॥

शमादीति—शमादिभिर्मुमुक्षुलिङ्गैरुपहिता हन्त योग्यतैव विभिद्यते । सामान्ययोग्यतातः समुचितयोग्यतायाः प्राग् भेदसमर्थनात् । तेन कारणेन तदवच्छेदकत्वेन योग्यतावच्छेदकत्वेन तस्य शमादेः संकोचो न योग्यतावच्छेदकत्वलक्षणः, योग्यताविशेषस्यैव अतिशयितशमादौ तद्द्वारा च मोक्षे हेतुत्वात् ॥ ६ ॥

ननु शमादावपि संसारित्वेनैव हेतुतेति सर्वमुक्त्याक्षेप इत्यत आह—

संसारित्वेन गुरुणा, शमाऽऽदौ च न हेतुता ।
भव्यत्वेनैव किं त्वेषे-त्येतदन्यत्र दर्शितम् ॥ ७ ॥

संसारित्वेनेति—संसारित्वेन नित्यज्ञानादिमद्भिन्नत्वरूपेण गुरुणा नानापदार्थघटितेन शमादौ च हेतुता न तव कल्पयितुमुचितेति शेषः । किं तु-भव्यत्वेनैवैषा हेतुता, शमाद्यनुगतकार्यजनकतावच्छेदकतयाऽऽत्मत्वव्याप्यजातिविशेषस्य कल्पयितुमुचितत्वाद् । द्रव्यत्वादावप्यनुगतकार्यस्यैव मानत्वात् । आत्मत्वेनैव शमादिहेतुत्वे विशेषसामग्र्यभावेनेश्वरेऽतिप्रसङ्गाभावे समर्थनीयेऽन्यत्रापि तेन तस्य सुवचत्वाद्भव्यत्वाभव्यत्वशङ्कयैव भव्यत्वनिश्चयेन प्रवृत्त्यप्रतिबन्धादिति । एतदन्यत्र न्यायालोकादौ दर्शितम् ॥ ७ ॥

परमात्मनि जीवात्म-लयः सेति त्रिदण्डिनः ।
लयो लिङ्गव्ययोऽत्रेष्टो, जीवनाशश्च नेष्यते ॥ ८ ॥

परमात्मनीति—परमात्मनि, जीवात्मलयः-सा-मुक्तिरिति, त्रिदण्डिनो वदन्ति । अत्रैतन्मते लयो लिङ्गव्यय इष्टोऽस्माकमप्यभिमतः । एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि च सूक्ष्ममात्रया संभूयावस्थितानि जीवात्मनि सुखदुःखावच्छेदकानि लिङ्गशब्देनोच्यन्ते, तद्व्ययश्च परमार्थतो नामकर्मक्षय एवेति । जीवनाशस्तु नेष्यते, उपाधिशरीरनाशे औपाधिकजीवनाशस्याप्यकामम्यत्वात् ॥ ८ ॥

बौद्धास्त्वालयविज्ञान-सन्ततिः सेत्यकीर्तयन् ।
विनाऽन्वयिनमाधारं, तेषामेषा कदर्थना ॥ ९ ॥

बौद्धास्त्विति—बौद्धास्तु, आलयविज्ञानसन्ततिः-प्रवृत्तिविज्ञानोपप्लवरहिता संहृतज्ञेयाकारा ज्ञानक्षणपरंपरा, सा-मुक्तिरित्यकीर्तयन् यथोक्तम्—

“ चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं, भवान्त इति कथ्यते ॥ १ ॥”

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न च शरीरादिनिमित्ताभावे तदनुपपत्तिः, पूर्वपूर्वविशिष्टक्षणानामेव तद्धेतुत्वाद्विशिष्टभावनात एव तेषां विसभागपरिक्षये प्रवृत्तेः। तेषामन्वयिनं त्रिकालानुगतात्मलक्षणमाधारं विना एषा मुक्तिः कदर्थना। सन्तानस्यावास्तवत्वेन बद्धमुक्तव्यवस्थानुपपत्तेः। सर्वथाऽभावीभूतस्य क्षणस्योत्तरसदृशक्षणजननासामर्थ्यादिति ॥ ६ ॥

विवर्त्तमानज्ञेयार्था-पेक्षायां सति चाश्रये।
अस्यां विजयतेऽस्माकं, पर्यायनयदेशना ॥ १० ॥

विवर्तमानेति-विवर्त्तमानाः—प्रतिक्षणमन्यान्यपर्यायभाजो ये ज्ञेयार्थास्तदपेक्षायामाश्रये चान्वयिद्रव्यलक्षणे सति। अस्याम्-उक्तमुक्तौ अस्माकं पर्यायनयदेशना विजयते प्रतिक्षितद्रव्यस्य बौद्धसिद्धान्तस्य परमार्थतः पर्यायार्थिकनयान्तःपातित्वात्। तदुक्तं संमतौ (३ काण्डे)—"सुद्धोअणतण यस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो" (४८) ॥ १० ॥

स्वातन्त्र्यं मुक्तिरित्यन्ये, प्रभुता तन्मदः क्षयी।
अथ कर्मनिवृत्तिश्चेत्, सिद्धान्तोऽस्माकमेव सः ॥११॥

स्वातन्त्र्यमिति-स्वातन्त्र्यं मुक्तिरित्यन्ये वदन्ति। तत् स्वातन्त्र्यं यदि प्रभुता तदा मदः, स च क्षयी। अथ चेत् कर्मनिवृत्तिस्तदाऽस्माकमेव स सिद्धान्तः ॥ ११ ॥

पुंसः स्वरूपावस्थानं, सेति सांख्याः प्रचक्षते।
तेषामेतदसाध्यत्वं, वज्रलेपोऽस्ति दूषणम् ॥ १२ ॥

पुंस इति-पुंसः पुरुषस्य,स्वरूपावस्थानम्-प्रकृतितद्विकारोपधानविलये चिन्मात्रप्रतिष्ठानं सा मुक्तिरिति सांख्याः प्रचक्षते। तेषामेतस्य मुक्तेरसाध्यत्वं दूषणं वज्रलेपोऽस्ति एकान्तनित्यात्मरूपायास्तस्या नित्यत्वादुपचरितसाध्यत्वस्याप्रयोजकत्वात् ॥ १२ ॥

पूर्वचित्तनिवृत्तिः सा—ग्रिमानुत्पादसंगता।
इत्यन्ये श्रयते तेषा—मनुत्पादो न साध्यताम् ॥ १३ ॥

पूर्वेति-अग्रिमानुत्पादसंगताऽग्रिमचित्तानुत्पादविशिष्टा पूर्वचित्तनिवृत्तिः सा मुक्तिरित्यन्ये, तेषामनुत्पादः साध्यतां न श्रयत इति मुक्तेरपुरुषार्थत्वापत्तिरेव दोषः ॥ १३ ॥

सात्महानमिति प्राह, चार्वाकस्तत्तु पाप्मने।
तस्य हातुमशक्यत्वा—त्तदनुद्देशतस्तथा ॥ १४ ॥

सेति—आत्महानं सा-मुक्तिरिति चार्वाकः प्राह। तत्तु वचनं श्रूयमाणमपि पाप्मने भवति। तस्यात्मनो हातुमशक्यत्वादसतो नित्यनिवृत्तत्वात्, सतश्च वीतरागजन्मादर्शनन्यायेन नित्यत्वात्, सर्वथा हानासिद्धेः। तथा—पर्यायार्थतया तद्धानावपि तदुद्देशत आत्महानानभिलापात्। मुक्तिपदार्थस्य च निरुपधीच्छाविषयत्वात् ॥ १४ ॥

नित्योत्कृष्टसुखव्यक्ति-रिति तौतातिता जगुः।
नित्यत्वं चेदनन्तत्व-मत्र तत्संमतं हि नः ॥ १५ ॥

नित्येति-नित्यम्, उत्कृष्टं च-निरतिशयं,यत्सुखं तद्व्यक्तिर्मुक्तिरिति तौतातिता जगुः। अत्र मते नित्यत्वमनन्तत्वं चेत्तत्तदा,नः-अस्माकं, हि-निश्चितं, संमतम्। सिद्धसुखस्य साद्यपर्यवसितत्वाभिधानात्। तस्य च मुक्तावभिव्यक्तेः ॥ १५ ॥

अथानादित्वमेतच्चे-त्तथाप्येष नयोऽस्तु नः।
सर्वथोपगमे च स्या-त्सर्वदा तदुपस्थितिः ॥ १६ ॥

अथेति—अथैतन्मुक्तिसुखे, नित्यत्वमनादित्वं चेत्तथापि न एष नयोऽस्तु संसारदशायां कर्माच्छन्नस्यापि सुखस्य द्रव्यार्थतया शाश्वतात्मस्वभावत्वात्। सर्वथोपगमे च-एकान्ततोऽनादित्वाश्रयणे च, सर्वदा-संसारदशायामपि, तदुपस्थितिर्मुक्तिसुखाभिव्यक्तिः, स्यात्। अभिव्यञ्जकाभावेन तदा तदभिव्यक्त्यभावसमर्थने च घटादेरपि दण्डाद्यभिव्यङ्ग्यत्वस्य सुवचत्वे साङ्ख्यमतप्रवेशापातात् ॥ १६ ॥

वेदान्तिनस्त्वविद्यायां, निवृत्तायां विविक्तता।
सेत्याह साऽपि नो तेषा-मसाध्यत्वादवस्थितेः ॥१७॥

वेदान्तिनस्त्विति-वेदान्तिनस्तु, अविद्यायां निवृत्तायां, विविक्तता—केवलात्मावस्थानं, सा-मुक्तिरित्याहुः। साऽपि नो तेषां युक्तेति शेषः। अवस्थितेर्विज्ञानसुखात्मकस्य ब्रह्मणः प्रागप्यवस्थानादसाध्यत्वात्, कण्ठगतचामीकरन्यायेन भ्रमादेव नात्र प्रवृत्तिरिति तु भ्रान्तपर्षदि वक्तुं शोभत इति भावः ॥ १७ ॥

कृत्स्नकर्मक्षयो मुक्ति-रित्येष तु विपश्चिताम्।
स्याद्वादामृतपानस्यो-द्गारः स्फारनयाश्रयः ॥ १८ ॥

कृत्स्नेति—कृत्स्नानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां क्षयो मुक्तिः, एष तु विपश्चिताम्-एकान्तपण्डितानां स्याद्वादामृतपानस्योद्गारः स्फारा ये नयास्तत्तत्तन्त्रप्रसिद्धार्थास्तदाश्रयः षड्दर्शनसमूहमयत्वस्य जैनदर्शने संमतत्वात् ॥ १८ ॥

नयानेवात्राभिव्यनक्ति—

ऋजुसूत्रादिभिर्ज्ञान-सुखादिकपरम्परा।
व्यङ्ग्यमावरणोच्छित्त्या, संग्रहेणेष्यते सुखम् ॥ १६ ॥

ऋजुसूत्रादिभिरिति—ऋजुसूत्रादिभिर्नयैर्ज्ञानसुखादिकपरम्परा मुक्तिरिष्यते शुद्धनयैस्तैरुत्तरोत्तरविशुद्धपर्यायमात्राभ्युपगमात् ज्ञानादीनां क्षणरूपतायाः क्षणसन्तत्याऽपि सिद्धेः, तस्याः क्षणतादात्म्यनियतत्वात्, क्षणस्वरूपे तथादर्शनात्। संग्रहेण संग्रहनयेनावरणोच्छित्त्या व्यङ्ग्यं सुखं मुक्तिरिष्यते। तद्धि जीवस्य स्वभावः सेन्द्रियदेहाद्यपेक्षाकारणस्वरूपावरणेनाच्छाद्यते, प्रदीपस्यापवारकावस्थितपदार्थप्रकाशकत्वस्वभाव इव तदावारकशरावादिना तदपगमे तु प्रदीपस्येव जीवस्यापि विशिष्टप्रकाशस्वभावोऽयत्नसिद्ध एवेति। शरीराभावे ज्ञानसुखाद्यभावोऽप्रेर्य एव। अन्यथा शरावाद्यभावे प्रदीपादेरभावप्रसङ्गात्। शरावादेः प्रदीपाद्यजनकत्वान्नोक्तप्रसङ्ग इति चेन्न, तथाभूतप्रदीपपरिणत्यजनकत्वे शरावादेस्तदनावारकत्वप्रसङ्गादिति ॥ १६ ॥

क्षयः प्रयत्नसाध्यस्तु, व्यवहारेण कर्मणाम्।
न चैवमपुमर्थत्वं, द्वेषयोनिप्रवृत्तितः ॥ २० ॥

क्षय इति—व्यवहारेण तु प्रयत्नसाध्यः कर्मणां क्षयो मुक्तिरिष्यते, अन्वयव्यतिरेकानुविधानेन तत्प्रवृत्तेः ज्ञानादीनां कर्मक्षये तदनुविधानात्। न चैवं कर्मक्षयस्य मुक्तित्वाभ्युपगमेऽपुमर्थत्वं, मुक्तेर्द्वेषयोनिप्रवृत्तितः साक्षाद् दुःखहेतुनाशोपायेच्छाविषयत्वेन परमपुरुषार्थत्वाविरोधात् ॥ २० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःखद्वेषे हि तद्धेतून्, द्वेष्टि प्राणी नियोगतः।
जायतेऽस्य प्रवृत्तिश्च, ततस्तन्नाशहेतुषु ॥ २१ ॥

दुःखद्वेषे हीति-दुःखद्वेषे हि सति प्राणी तद्धेतून् दुःखहेतून्, नियोगतो-निश्चयतो, द्वेष्टि अस्य दुःखहेतुद्विषश्च ततस्तन्नाशहेतुषु-दुःखोपायनाशहेतुषु ज्ञानादिषु प्रवृत्तिर्जायते, दुःखद्वेष्यस्य दुःखहेतुनाशोपायेच्छा दुःखहेतुद्वेषयोस्तयोश्च दुःखहेतुनाशहेतुप्रवृत्तौ स्वभावतो हेतुत्वात्। अनुस्यूतैकोपयोगरूपत्वेऽपि क्रमानुवेधेन हेतुहेतुमद्भावाविरोधात्, क्रमिकाक्रमिकोभयस्वभावोपयोगस्य तत्र तत्र व्यवस्थापितत्वात् ॥ २१ ॥

इत्थं चात्र दुःखं मा भूदित्युद्देशे दुःखहेतुनाशविषयकत्वं फलितमित्येतदन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—

अन्यत्राप्यसुखं मा भू-न्माङोऽर्थेऽत्रान्वयः स्थितः।
दुःखस्यैवं समाश्रित्य, स्वहेतुप्रतियोगिताम् ॥ २२ ॥

अन्यत्रापीति-अन्यत्रापि प्रायश्चित्तादिस्थलेऽपि, असुखं मा भूत्, अत्र माङोऽर्थे ध्वंसे एवम्-उक्तरीत्या दुःखस्य स्वहेतुप्रति योगितामाश्रित्यान्वयः स्थितः। तत्पापजन्यदुःखाप्रसिद्ध्या तद्ध्वंसस्यासाध्यत्वात्। अस्तु वा दुःखद्वेषस्यैवायमुल्लेखः मुख्यप्रयोजनाविषयकेच्छाविषयत्वेन च मुख्यप्रयोजनत्वमविरुद्धमिति भावः ॥ २२ ॥

स्वतोऽपुमर्थताऽप्येव-मिति चेत् कर्मणामपि।
शक्त्या चेन्मुख्यदुःखत्वं, स्याद्वादे किं नु बाध्यताम् ॥२३॥

स्वत इति—एवमपि, स्वतोऽपुमर्थता निरुपाधिकेच्छाविषयत्वेन सुखदुःखहान्यन्यतरस्यैव स्वतः पुमर्थत्वादिति चेत् कर्मणामपि शक्त्या चेन्मुख्यदुःखत्वं तदा स्याद्वादे किं नु बाध्यताम् ?, दुःखहेतोरपि कथंचिद् दुःखत्वात्, दुःखक्षयत्वेन रूपेण कर्मक्षयस्य त्वन्नीत्याऽपि मुख्यप्रयोजनत्वानपायाद् रूपान्तरेण तत्त्वस्य चाप्रयोजकत्वात् ॥ २३ ॥

स्वतः प्रवृत्तिसाम्राज्यं, किं चाखण्डसुखेच्छया।
निराबाधं च वैराग्य-मसङ्गे तदुपक्षयात् ॥ २४ ॥

स्वत इति—किं च स्वतो निरुपाधिकतया प्रवृत्तिसाम्राज्यमखण्डसुखेच्छयाऽखण्डसुखसंदलितत्वात् कर्मक्षयस्य, नन्वेवं सुखेच्छया वैराग्यव्याहतिरित्यत आह-असङ्गेऽसङ्गानुष्ठाने तदुपक्षयात् सुखेच्छाया अपि विरमान्निराबाधं च वैराग्यम्, "मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः" इतिवचनात्। न चेदेवं सुखेच्छया वैराग्यस्यैव दुःखद्वेषात् प्रशान्तत्वस्यापि व्याहतिरेवेति भावः ॥ २४ ॥

समानायव्ययत्वे च, वृथा मुक्तौ परिश्रमः।
गुणहानेरनिष्टत्वा-त्ततः सुष्ठूच्यते ह्यदः ॥२५॥

समानेति-समानाऽऽयव्ययत्वे च सुखदुःखाभावाभ्यामभ्युपगम्यमाने मुक्तौ वृथा परिश्रमः। गुणहानेरनिष्टत्वाच्चदनुचिद्धदुःखनाशोपायेऽनिष्टानुबन्धित्वज्ञानेन प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरयोगात् ततो ह्यदः सुष्ठूच्यते ॥ २५ ॥

दुःखाभावोऽपि नावेद्यः, पुरुषार्थतयेष्यते।
न हि मूर्छाद्यवस्थार्थं, प्रवृत्तो दृश्यते सुधीः ॥ २६ ॥

दुःखाभावोऽपीति-दुःखाभावोऽपि, न अवेद्यः—स्वसमानाधिकरणसमानकालीनसाक्षात्कारविषयः, पुरुषार्थतयेष्यते न हि मूर्छाद्यवस्थार्थं सुधीः प्रवृत्तो दृश्यते। अन्यथा तदर्थमपि प्रवृत्तिः स्यात्। अतो गुणहानेरनिष्टत्वेन दुःखाभावरूपायां मुक्तौ तदर्थप्रवृत्तिव्याघात एव दूषणमिति भावः ॥ २६ ॥

एतेनैतदपास्तं हि, पुमर्थत्वेऽप्रयोजकम्।
तज्ज्ञानं दुःखनाशश्च, वर्तमानोऽनुभूयते ॥ २७ ॥

एतेनेति—एतेन, गुणहानेरनिष्टत्वेन, हि-निश्चितम्, एतदपास्तम्। यदुक्तं महानैयायिकेन पुमर्थत्वे तज्ज्ञानं पुमर्थज्ञानमप्रयोजकं, दुःखनाशश्च वर्त्तमानोऽनुभूयते, विनश्यदवस्थेन योगिसाक्षात्कारेणेति ॥ २७ ॥

गुणहानेरष्टित्वं, वैराग्यान्नाऽथ वेद्यते।
इच्छाद्वेषौ विना नैवं, प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः ॥ २८ ॥

गुणहानेरिति-अथ गुणहानेरनिष्टत्वं वैराग्यान्न वेद्यते कामान्धत्वादिव पारदार्ये बलवद्दुःखानुबन्धित्वं, ततः प्रवृत्त्यव्याघात इति भावः। एवं सति इच्छाद्वेषौ विना सुखदुःखयोः प्राप्यनाश्ययोरिति शेषः। प्रवृत्तिर्न स्यात्। परवैराग्ये प्रवृत्तिकरणयोस्तयोर्निवृत्तेरपरवैराग्ये च गुणवैतृष्ण्यस्यैवाभावाद् गुणहानेरनिष्टत्वाप्रतिसन्धानानुपपत्तेर्गुणहानेरनिष्टत्वे प्रतिसंहिते प्राक्तनप्रवृत्त्यनुपपत्तौ तत्संस्कारतोऽप्यसङ्गप्रवृत्तेर्दुर्वचत्वमिति न किञ्चिदेतत् ॥ २८ ॥

ननु श्रुतिबाधान्न मुक्तौ सुखसिद्धिरित्यत आह—

अशरीरं वा वसन्त-मित्यादिश्रुतितः पुनः।
सिद्धो हन्त्युभयाभावो, नैकसत्तां यतः स्मृतम् ॥ २९ ॥

अशरीरमिति-अशरीरं वा वसन्तमित्यादिश्रुतितः " अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत " इति श्रुतेः, पुनरुभयाभावः-सुखदुःखोभयाभावः सिद्धः एकसत्तां सुखसत्तां न हन्ति। एकवत्यपि द्वित्वावच्छिन्नाभावप्रत्ययात्। अस्तु वा तत्राप्रियपदसन्निधानात् प्रियपदस्य वैषयिकसुखपरत्वमेवेत्यपि द्रष्टव्यम्। यतः स्मृतम् ॥ २९ ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्र, बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
तं वै मोक्षं विजानीयाद्, दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ ३० ॥

सुखमिति—स्पष्टः ॥ ३० ॥

उपचारोऽत्र नाबाधात्, साक्षिणी चात्र दृश्यते।
नित्यं विज्ञानमानन्दं, ब्रह्मेत्यप्यपरा श्रुतिः ॥ ३१ ॥

उपचार इति-अत्र मुक्तिसुखप्रतिपादिकायाम्-उक्तस्मृतौ, उपचारो न दुःखाभावे सुखपदस्य लाक्षणिकत्वम्। अबाधाद्-बाधाभावात्, जन्यस्याप्यभावस्येव भावस्यापि कस्यचिदनन्तत्वसंभवात्। अत्र मुक्तिसुखे-' नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ' इति अपराऽपि श्रुतिः साक्षिणी वर्त्तते, तया नित्यज्ञानानन्दब्रह्माभेदबोधनादिति ॥ ३१ ॥

परमानं दलयतां, परमानं दयावताम्।
परमानन्दपीनाः स्मः, परमानन्दचर्चया ॥ ३२ ॥

परमानमिति—परेषामेकान्ताभिनिविष्टानां मानं कुहेतुं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रलयतां स्याद्वादमुद्गरेण, किं भूतं ? परः प्रकृष्टो मानो दर्पो यस्मात्तत्तथा । दयावतामनेकान्तप्रणयितया जगदुद्दिधीर्षावतां सिताम्बरसाधूनां परमानन्दचर्चया-महोदयमीमांसया वयं परमेणोत्कृष्टेनानन्देन, पीनाः-पुष्टाः स्मः ॥ ३२ ॥ द्वा० ३१ द्वा० ।

मुक्तिफलम्—

मुत्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?, मुत्तीए णं अकिंचणत्तं जणयइ, अकिंचणे य जीवे अत्थलोभाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जे भवइ ॥ ४७ ॥

हे भगवन् ! मुक्त्या—निर्लोभत्वेन, जीवः किं जनयति ?, गुरुराह—हेशिष्य ! मुक्त्या अकिञ्चनत्वम्—निष्परिग्रहत्वम्, उत्पादयति । अकिञ्चनत्वेन जीवः अर्थलोभानाम् अप्रार्थनीयो भवति, कोऽर्थः-योऽकिञ्चनो-निष्परिग्रहो भवति-स पुरुषोऽर्थे लोभो येषां तेऽर्थलोभाः द्रव्यार्थिनश्चौरादयः पुरुषास्तेषाम् अप्रार्थनीयः-तैरवञ्चनीयः, चौरादयो हि निष्परिग्रहं किं कुर्वन्ति, परिग्रहवतां चौरेभ्यो भीतिः स्यात् । उत्त० २६ अ० । अशेषकर्मप्रच्युतौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । भवोपग्राहिकर्मभ्यः प्रच्युतौ, पं० सं० २ द्वार । कर्म० । ध० । मोक्षगतौ, आतु० । निःसङ्गतायाम्, आ० चू० ४ अ० । मुच्यन्ते सकलकर्मभिर्यस्यामिति मुक्तिः । ईषत्प्राग्भारायां पृथिव्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० । परमपदे, " लोअग्गं परमपयं मुत्ती सिद्धी सिवं च निव्वाणं " पाइ० ना० २० गाथा ।

मुत्ति–स्त्री० । शरीरे, विशे० । " मुत्ती गत्तं बुंदी संघयणं निग्गहो तणू काओ " पाइ०ना० ५६ गाथा । आ० म० । स्था० । वर्णादिमत्त्वे, यद्योगान्मूर्त्तं भवति । स्था० ४ ठा० १ उ० । गुणविशेषाश्रये, सम्म० । " व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिः " [न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६६] इति । अस्यार्थो वार्त्तिककारमतेन—"विशिष्यत इति विशेषः गुणेभ्यो विशेषो गुणविशेषः कर्म्माभिधीयते, द्वितीयश्चात्र गुणविशेषशब्द एकशेषं कृत्वा निर्दिष्टः तेन गुणपदार्थो गृह्यते—गुणाश्च ते विशेषाश्च गुणविशेषाः—विशेषग्रहणमाकृतिनिरासार्थम् । तथाहि-आकृतिः संयोगविशेषस्वभावा, संयोगश्च गुणपदार्थान्तर्गतः ततश्चासति विशेषग्रहणे आकृतेरपि ग्रहणं स्यात्, न च तस्या व्यक्तावन्तर्भाव इष्यते पृथक् स्वशब्देन तस्या उपादानात् । आश्रयशब्देन द्रव्यमभिधीयते—तेषां गुणविशेषाणामाश्रयस्तदाश्रयो द्रव्यमित्यर्थः सूत्रे 'तत्' शब्दलोपं कृत्वा निर्देशः कृतः, एवं च विग्रहः कर्त्तव्यः—गुणविशेषाश्च गुणविशेषाश्चेति गुणविशेषाः तदाश्रयश्चेति गुणविशेषाश्रयः, समाहारद्वन्द्वाश्रयम् " लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्य " [अ० २ पा० २ सू० २६ महाभाष्ये पृ० ४७१ पं० ८] इति नपुंसकलिङ्गाऽनिर्देशः । तेनायमर्थो भवति-योऽयं गुणविशेषाश्रयः सा व्यक्तिश्चोच्यते मूर्त्तिश्चेति । तत्र यदा द्रव्ये मूर्त्तिशब्दस्तदाऽधिकरणसाधनो द्रष्टव्यः मूर्छन्त्यस्मिन्नवयवा इति मूर्त्तिः, यदा तु रूपादिषु तदा कर्तृसाधनः—मूर्छन्ति द्रव्ये समवयन्तीति रूपादयो मूर्त्तिः । व्यक्तिशब्दस्तु द्रव्ये कर्म्मसाधनः रूपादिषु करणसाधनः " [अ० २ आ० २ सू० ६८ न्यायवा० पृ० ३३२ पं० ३-२४] भाष्यकारमतेन च यथाश्रुति सूत्रार्थः—गुणविशेषाणामाश्रयो द्रव्यमेव व्यक्तिर्मूर्त्तिश्चेति तस्येष्टम् । यथोक्तम्-"गुणविशेषाणां रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानाम् गुरुत्व-द्रवत्व-घनत्व-संस्काराणाम् अव्यापिनश्च परिमाणविशेषस्याश्रयो यथासम्भवं तद् द्रव्यं मूर्त्ति (मूर्त्तिः) मूर्च्छितावयवत्वात् " [न्यायद० वात्स्या० भा० पृ० २२४] इति । सम्म० १ काण्ड १ गाथा ।

मुत्तिअट्ठिन्–मुक्त्यर्थिन्–पुं० । मुक्तेः परमपदस्यार्थी अभिलाषी । कैवल्यसुखार्थिनि, ध० ३ अधि० ।

मुत्तिअदोस–मुक्त्यद्वेष–पुं० । मनाङ्मुक्त्यनुरागे, द्वा० ।

उक्तेषु पूर्वसेवाभेदेषु मुक्त्यद्वेषं प्राधान्येन पुरस्कुर्वन्नाह—

उक्तभेदेषु योगीन्द्रै-र्मुक्त्यद्वेषः प्रशस्यते ।
मुक्त्युपायेषु नो चेष्टा,मलनायैव यत्ततः ॥ १ ॥

(उक्तभेदेष्विति) मलनायैव—विनाशनिमित्तमेव, तद्विभवोपायोत्कटेच्छया स्यात् । सा च न मुक्त्यद्वेष इति मुक्त्युपायमलनाभावप्रयोजकोऽयम् ।

विषान्नतृप्तिसदृशं, यद्यतो व्रतदुर्ग्रहः ।
उक्तः शास्त्रेषु शस्त्राग्नि-व्यालदुर्ग्रहसन्निभः ॥ २ ॥

(विषेति) तन्मुक्त्युपायमलनं विषाऽन्नतृप्तिसदृशम् आपाततः सुखाभासहेतुत्वेऽपि बहुतरदुःखानुबन्धित्वात् । यद्-यस्माद् व्रतानां दुर्ग्रहोऽसम्यगङ्गीकारः उक्तः । शास्त्रेषु योगस्वरूपनिरूपकग्रन्थेषु, शस्त्राग्निव्यालानां यो दुर्ग्रहो-दुर्गृहीतत्वं, तेन सन्निभः-सदृशः, असुन्दरपरिणामत्वात् ॥२॥ द्वा० १३ द्वा० ।

संमोहादननुष्ठानं, सदनुष्ठानरागतः ।
तद्धेतुरमृतं तु स्या-च्छ्रद्धया जैनवर्त्मनः ॥ १३ ॥

(संमोहादिति) संमोहात् संनिपातोपहतस्येव सर्वतोऽनध्यवसायादननुष्ठानमुच्यते, अनुष्ठानमेव न भवतीतिकृत्वा । सदनुष्ठानरागतस्तात्त्विकदेवपूजाद्याचारभावबहुमानादिधार्मिककालभाविदेवपूजाद्यनुष्ठानं तद्धेतुरुच्यते । मुक्त्यद्वेषेण मनाग् मुक्त्यनुरागेण वा शुभभावलेशसंगमादस्य सदनुष्ठानहेतुत्वात्, जैनवर्त्मनो—जिनोदितमार्गस्य, श्रद्धया-इदमेव तत्त्वमित्यध्यवसायलक्षणया त्वनुष्ठानममृतं स्याद्, अमरणहेतुत्वात् । तदुक्तम्-". जिनोदितमिति त्वाहुर्भावसारमदः पुनः । संवेगगर्भमत्यन्त—ममृतं मुनिपुङ्गवाः ! ॥ १ ॥ " ॥ १३ ॥ द्वा० १३ द्वा० ।

मुत्तिणिलय–मुक्तिनिलय–पुं० । शत्रुञ्जये, ती० १ कल्प ।

मुत्तितिथि–मुक्तिस्त्री–स्त्री० । मुक्तिरूपयोषिति, " मुञ्चाग्रहमिमं मात—र्मानुषीषु न मे मनः । मुक्तिस्त्रीसङ्गमोत्कण्ठ—मकुण्ठमवतिष्ठते ॥ १ ॥ " कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

मुत्तिधारापुडग–मुक्तिधारापुटक–न० । मुक्तिसम्पुटे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

मुत्तिपह–मुक्तिपथ–पुं० । मोक्षमार्गे, 'ज्ञानदर्शनचारित्राणि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्ग ' इति । नं० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुत्तिमग्ग–मुक्तिमार्ग–पुं०। मुक्तिर्निष्परिग्रहत्वम्-अलोभतेत्यर्थः सैव निर्वृत्तिपुरस्य मार्ग इव मार्गः। बृ०६उ०।मुक्तिरहितार्थ-कर्मप्रच्युतिस्तस्या मार्गो मुक्तिमार्गः। ध० ३ अधि०। मुक्तेर-शेषकर्मप्रच्युतिलक्षणायाः मार्गः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रा-त्मको यस्मिंस्तन्मुक्तिमार्गम्। सूत्र० १ श्रु०७ अ०। ज्ञानलक्षण-चारित्रात्मके, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। ज्ञानदर्शनचारि-त्रात्मके, दश० ६ अ०। अहितविच्युतेरुपाये, भ० ६ श० ३३ उ०। सकलधर्मवियोगहेतौ, प्रासनिर्लोभताके च। औ०।

मुत्तिसुह–मुक्तिसुख–न०। मोक्षसुखे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। तथा–"तणसंथारनिसण्णो वि, मुणिवरो भट्ठरागमय-मोले। जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि॥१॥" सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। आचा०। सिद्धिसुखे, मुक्तिः सर्वसुखानां सं-सारिकाणां मध्ये साद्यपर्यवसितत्वादुत्तमम्। संथा०।

मुत्तुं–मुक्त्वा–अव्य०। छोडयित्वेत्यर्थे, व्य० ८ उ०। परित्य-ज्येत्यर्थे, ग० २ अधि०।

मुत्तोली–मुक्तोली–स्त्री०। अधः उपरि च सङ्कीर्णायां मध्ये त्वीषद्विशालायां कोष्ठिकायाम्, जं० ३ वक्ष०। अनु०।

मुदागर–मुदाकर–पुं०। हर्षजनके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

मुदितादिगुण–मुदितादिगुण–पुं०। सद्वंशसमुत्पन्ने मूर्द्धाभि-षिक्तादिगुणवति राजनि, "मुदितादिगुणो राया," मुदिता-दिगुणः—सद्वंशजादिगुणः, आदिशब्दान्मूर्द्धाभिषिक्तादिग्रहः। पञ्चा० १७ विव०।

मुद्दप्पाया–मुद्राप्राया–स्त्री०। मुद्राकल्पायाम्, पञ्चा०४ विव०।

मुद्दय–मुद्रक–पुं०। ग्राहभेदे, प्रश्न० १ पद।

मुद्दा–मुद्रा–स्त्री०। अङ्गुल्याभरणविशेषे, अनु०। शैल्याम्, द्र-व्या० ७ अध्या०। प्रव०। हस्ताद्यङ्गविन्यासविशेषे, योगमु-द्राजिनमुद्रामुक्ताशुक्तिमुद्रात्मकं सूत्रपाठसमकभावितया मू-लमुद्रात्रयम्। सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०। दर्श०। प्रति०।

मुद्दापुरिस–मुद्रापुरुष–पुं०। मुद्रापदविभूषिते राजपुरुषे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

मुद्दिया–मुद्रिता–स्त्री०। मृत्तिकादिमुद्रायुक्ते, बृ० २ उ०। ज्ञा०। लाञ्छिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। बृ०। भ०।

मुद्रिका–स्त्री०। हस्ताङ्गुलीसम्बन्धिनि आभरणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। तं०। कल्प०। औ०।

मृद्वीका–स्त्री०। द्राक्षायाम्, नं०। बृ०। ध०। ग०। पं० व०। प्रश्न०। आचा०। स्था०। जी०।

मुद्दियापिंगलंगुलि–मुद्रिकापिङ्गलाङ्गुलि–त्रि०। मुद्रिकाभिः पिङ्गलाः पीतवर्णा अङ्गुलयो यस्य। कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

मुद्दियामहुर–मृद्वीकामधुर–न०। मृद्वीका द्राक्षा तद्वत्सैव वा मधुरम्। द्राक्षामिष्टे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

मुद्दियासार–मृद्वीकासार–पुं०। मृद्वीका द्राक्षा तत्सारनिष्प-न्नासवविशेषो मृद्वीकासारः। आसवभेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। प्रश्न०।

मुद्दी–देशी–चुम्बने, दे० ना० ६ वर्ग १३३ गाथा।

मुद्ध–मुग्ध–पुं०। क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳵक-ᳵ-पामूर्ध्वे लुक्॥८॥।२। ७७॥ इति गलुक्। प्रा०। अव्युत्पन्नमतौ, जी० १ प्रति०। पञ्चा०।

मूर्धन्–पुं०। ललाटे, प्रव० २ द्वार। शिरसि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

मुद्धजणहियय–मुग्धजनहृदय–न०। मुग्धः स्वल्पमतिर्यो जनो लोकस्तस्य हृदयं मानसम्। अल्पप्रज्ञाभिप्राये, जी० १ प्रति०।

मुद्धमइ–मुग्धमति–पुं०। अव्युत्पन्नमतौ, मूढमतौ, षो० ६ वि-व०। स्था०।

मुद्धय–मूर्द्धज–पुं०। केशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। प्रति०। प्रश्न०।

मुद्धसूल–मूर्द्धशूल–न०। मस्तकपीडायाम्, विपा० १ श्रु० १ अ०। ज्ञा०।

मुद्धाभिसित्त–मूर्द्धाभिषिक्त–पुं०। सर्वैरपि प्रत्यन्तराजैः प्रता-पमसहमानैर्नान्यथास्माकं गतिरिति परिभाव्य मूर्द्धभिर्मस्त-कैरभिषिक्तः पूजितो मूर्द्धाभिषिक्तः। रा०। नि० चू०। सूत्र०। राजनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। अष्टमदिवसतिथौ, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

मुब्भ–देशी–गृहान्तस्तिर्यग्दारुणि, दे० ना० ६ वर्ग १६३ गाथा।

मुमुक्खु–मुमुक्षु–पुं०। संसारोद्विग्नमनसि, संसारोद्विग्नम-ना मुमुक्षुः संयमतपसी पीडाकरत्वेन न वेत्ति। आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। मोक्षपुरगन्तरि, विशे०। आ० म०।

मुम्मुय–मूकमूक–पुं०। प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद्वा तथा रूपम्, मूकादपि मूके, गद्गदभाषित्वेनाव्यक्तभाषिणि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

मुम्मुर–मुर्मुर–पुं०। अङ्गारे, पिं०। फुम्फुकाग्नौ, भस्ममिश्रि-ताग्निकणे, जी० १ प्रति०। भ०। स्था०। उत्त०। सूत्र०। प्रविरलाग्निकणानुविद्धे भसनि, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। करीषेऽग्नौ, पिं०। करीष-करीषाग्न्योः, दे० ना० ६ वर्ग १४७ गाथा।

मुम्मुही–मुञ्मुखी–स्त्री०। मोचनं मुक् जराराक्षसीसमाक्रा-न्तशरीरगृहस्य जीवस्य मुचं प्रति मुखम्-आभिमुख्यं यस्यां सा मुङ्मुखीति। वर्षशतायुषो नवम्यां दशायाम्। स्था० १० ठा० ३ उ०। तं०।

नवमी मुम्मुहीनाम, जं नरो दसमस्सिओ।
जराघरे विणस्संते, जीवो वसइऽकामओ॥ ६॥

नवमी मुन्मुखी नाम वर्त्तते, यां मुन्मुखीं दशां नर आश्रितो जराघरे-शरीरे, विनश्यति सति जीवोऽकामको विषयादि-वाञ्छारहितो वसति। तं०। दश०।

मुय–मृत–त्रि०। विनष्टे, आचा० १ श्रु०४ अ० २ उ०। सूत्र०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुद-स्त्री०। मोदनं मुद्। हर्षे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

मुयंग-मृदङ्ग-पुं०। मर्दले, सू० प्र० १८ पाहु०। लघुमर्दले, जं० ३ वक्ष०। रा०। विपा०।

मुयंगपुक्खर-मृदङ्गपुष्कर-न०। मृदङ्गो लोकप्रतीतो मर्दलस्तस्य पुष्करं मृदङ्गपुष्करम्। मर्दलस्य चर्मपुटके, रा०। जं०। जी०।

मुयग्ग-मुदग्र-पुं०। जीवे विभङ्गज्ञाने, बाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितशरीरो जीव इत्यवष्टम्भवद्, भवनपत्यादिदेवानां बाह्याभ्यन्तरपुद्गलपर्यादानतो वैक्रियकरणदर्शनादिति। स्था०७ठा०।

मुयच्च-मृतार्च-मुदर्च-पुं०। मृतेन स्नानविलेपनसंस्काराभावादर्चा-तनुः; शरीरं, यस्य स मृतार्चः। यद्वा-मोचनं मुद् तद्भूता शोभना अर्चा-पद्मादिका लेश्या, यस्य स भवति मुदर्चः। प्रशस्तदर्शलेश्ये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। अकषायिणि, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०।

मुया-मुत्-स्त्री०। प्रीतौ, द्वा० १८ द्वा०।

मुर-स्फुट-धा०। हास्येन स्फोटे, हासेन स्फुटेर्मुरः॥ ८। ४। ११४॥ हास्येन करणेन यः स्फुटिस्तस्य मुरादेशो भवति। मुरइ। हासेन स्फुटति। प्रा० ४ पाद।

मुरई-देशी-असत्याम्, दे० ना० ६ वर्ग १३५ गाथा।

मुरंडी-मुरण्डी-स्त्री०। मुरण्डदेशोद्भवायाम्, रा०। सूत्र०।

मुरय-मुरज-पुं०। महाप्रमाणे मर्दले. रा०। जं। गलघण्टिकायाम्,औ०। जी०। आ० म०। कल्प०। ज्ञा०। महामर्दले, भ० ६ श० ३३ उ०। औ०। मानाविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०। वाद्यभेदे, "मुइंगो मुरओ" पाइ० ना० २६६ गाथा।

मुररि-मुररि-पुं०। आभरणविशेषे, औ०। भ०।

मुरिअ-देशी-त्रुटिते, दे० ना० ६ वर्ग १३५ गाथा।

मुरियवंस-मौर्यवंश-पुं०। चन्द्रगुप्तवंशे, नि० चू० १६ उ०।

मुरुंड-मुरुण्ड-पुं०। अनार्यदेशभेदे,सूत्र० १ श्रु० ५ अ०१ उ०। प्रव०। प्रज्ञा०। नि०चू०। प्रश्न०। स्वनामख्याते पाटलिपुत्रनगरराजे, स्वनामख्याते प्रतिष्ठानपुरराजे च। नं०। 'पाटलीपुत्रनगरे, मुरुण्डोऽभून्महीपतिः। आचार्यः पादलिप्ताख्यस्तत्र विद्याजलार्णवः॥ १॥' आ० क० ३ अ०। व्य०। आ० म०। बृ० नि० चू०। ('विजा' शब्दे कथा) मुरुण्डदेशोद्भवे, त्रि०। भ० ६ श० ३३ उ०। ज्ञा०।

मुरुंडजड-मुरुण्डजड-पुं०। मुरुण्डस्य राज्ञो हस्तिनि, बृ० ३ उ०।

मुरुंडदुत्त-मुरुण्डदूत-पुं०। मुरुण्डस्य राज्ञो दूते, बृ० १ उ० ३ प्रक०। व्य०।

मुरुक्ख-मूर्ख-पुं०। पद्म-छद्म-मूर्ख-द्वारे वा॥ ८। २। ११२॥ इत्यनेन संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उद्वेति खात्पूर्वमुत्। मुक्खो। मुरुक्खो। मूढे, प्रा० २ पाद।

मुरुगा-मुरुका-स्त्री०। त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति०।

मुरुमुंड-देशी-जूटे, दे० ना० ६ वर्ग ११७ गाथा।

मुरुमुरिअ-न०। कामचिन्तायाम्, "मुरुमुरिअं रूरुइअं" पाइ० ना० १८२ गाथा।

मुलासिअ-देशी-स्फुलिङ्गे, दे० ना० ६ वर्ग १३५ गाथा।

मुल्ल-मूल्य-न०। अर्घे, नि० चू० २० उ०। आव०। "मुल्लाइं वेअणाइं" पाइ० ना० १६२ गाथा।

मुव्विसयंगारवुट्ठाभा-मुद्विषयाङ्गारवृष्ट्याभा-त्रि०। मुदो हर्षस्य विषयो यस्तस्मिन्नङ्गारवृष्ट्याभा अङ्गारवृष्टिसदृशा। प्रमोदविषयार्थोपघातकारिण्याम्, पो० १४ विव०।

मुस-मुष-धा०। स्तेये, व्यञ्जनाददन्ते॥ ८। ४। २३६॥ इति व्यञ्जनान्तधातोरन्तेऽकारः। मुसइ। मुष्णाति। प्रा०।

मुसंढि-मुषण्ढि-पुं०। प्रहरणविशेषे, लपेटाभिधाने शस्त्रभेदे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०। प्रश्न०। रा०। प्रज्ञा०। स०। साधारणवनस्पतिकायभेदे, जी० १ प्रति०। उत्त०। प्रज्ञा०।

मुसल-मुसल-न०। मुहुर्मुहुर्लसतीति मुसलम्। धान्यकण्डनोपकरणे, अनु०। चतुर्हस्तप्रमाणेऽवमानविशेषे, ज्यो० २ पाहु०। अनु०। उत्त०। सूत्र०। भ०। प्रश्न०। ति०। जं०। "छण्णउअंगुलिमाणेणं धणूनालियाजुगे अक्खे मुसले वि" स० ९६ सम०।

मुसलाउह-मुसलायुध-पुं०। बलदेवे, "रामो सीरी मुसलाउहो बलो कामपालो य" पाइ० ना० २३ गाथा।

मुसह-देशी-मनआकुलत्वे, दे० ना० ६ वर्ग १३४ गाथा।

मुसा-मृषा-अव्य०। मृषाशब्दस्त्वव्ययोऽलिङ्गश्चेति। स्था० १० ठा०। अचौरे चौरोऽयमित्याख्यानवचने, दश० ६ अ०। अन्यथास्थिततत्त्वस्यान्यथाप्रतिपादने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। मिथ्याऽनृतं मृषेति पर्यायाः। विशे०। पञ्चा०। "असन्तोऽपि स्वका दोषाः,पापशुद्ध्यर्थमीरिताः।न मृषायै विसंवाद-विरहात्तस्य कस्यचित्॥१॥" पं०व०४ द्वार। नि० चू०। अलीके, प्रव० ६ द्वार। आतु०। स्था०। नि० चू०। उत्त०। मृषेत्यसत्यंभूतनिह्नवादि। उत्त० १ अ०। स्था०। सूत्र०।

मुसाणुबंधि(ण्)-मृषानुबन्धिन्-न०। पिशुनासभ्यासद्भूतघातादिवचनप्रणिधाने, ध० ३ अधि०।

मुसादण्ड-मृषादण्ड-पुं०। अलीकजन्ये वधे, "आयट्ठ नायगाईण, वावि अट्ठाइ जो मुसं वयइ। सो मोसपच्चईओ, दंडो छट्ठो हवइ एसो॥ १॥" आव० ४ अ०।

अहावरे छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति, अण्णेण वि मुसं वाएइ मुसं वयंतं पि अण्णं समणुजाणइ, एवं खलु

१ अत्र मृषाशब्दः स्त्रियाम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ, छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिए त्ति आहिए ॥ २२ ॥

अथापरं षष्ठं क्रियास्थानं मृषावादप्रत्ययिकमाख्यायते— तत्र च पूर्वोक्तानां पञ्चानां क्रियास्थानानां सत्यपि क्रियास्थानत्वे प्रायशः परोपघातो भवतीति कृत्वा दण्डसमादानसंज्ञा कृता, षष्ठादिषु च बाहुल्येन न परव्यापादनं भवतीत्यतः क्रियास्थानमित्येषा संज्ञोच्यते । तद्यथानाम कश्चित्पुरुषः स्वपक्षावेशाद्—आग्रहादात्मनिमित्तं यावत् परिवारनिमित्तं वा सद्भूतार्थनिह्नवरूपमसद्भूतोद्भावनस्वभावं वा स्वयमेव मृषावादं वदति । तद्यथा—नाहं मदीयो वा कश्चिच्चौरः, स च चौरमपि सद्भूतमप्यर्थमपलपति । तथा—परम्-अचौरं चौरमिति वदति । तथाऽन्येन मृषावादं भाणयति,तथाऽन्यांश्च मृषावादं वदतः समनुजानीते । तदेवं खलु तस्य योगत्रिककरणत्रिकेण मृषावादं वदतस्तत्प्रत्ययिकं सावद्यं कर्म,आधीयते-संबध्यते । तदेतत्षष्ठं क्रियास्थानं मृषावादप्रत्ययिकमाख्यातमिति । सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

मुसावाइ–मृषावादिन्-पुं० । असत्यवक्तरि, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० । अलीकभाषणशीले,उत्त० ५ अ० । प्रश्न०।

मुसावाय–मृषावाद–पुं० । मृषा—मिथ्या, वदनं वादः । उद्दोन्मृषि ॥ ८ । १ । १३६ ॥ इति ऋत उत् । प्रा० । अलीकभाषणे , स्था० १ ठा० । अनृताभिधाने , ध० २ अधि० । सूत्र० । पा० । असद्भूतार्थभाषणे , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । पा० । आव० । दर्श० । असदभिधानं मृषेति वचनात्। स च द्रव्यभावभेदाद् द्विधा । स्था० १ ठा० । नि०चू० । अभूतोद्भावनादिभेदाच्चतुर्द्धा । स्था० १ ठा० । पा० । मृषावादश्चतुर्विधः । तद्यथा—सद्भावप्रतिषेधः, असद्भावोद्भावनम्, अर्थान्तरम्, गर्हा च । तत्र सद्भावप्रतिषेधो यथा—नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, पापं च इत्यादि । असद्भावोद्भावनं यथा-अस्त्यात्मा सर्वगतः, श्यामाकतन्दुलमात्रो वा इत्यादि । अर्थान्तरम्—गामश्वम् अभिदधत इत्यादि। गर्हा—काणं काणमभिदधत इत्यादिः । पुनरयं क्रोधादिभावोपलक्षितश्चतुर्विधः । तद्यथा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । द्रव्यतः-सर्वद्रव्येष्वन्यथाप्ररूपणात्। क्षेत्रतो-लोकालोकयोः । कालतः-रात्र्यादौ । भावतः-क्रोधादिभिरिति । द्रव्यादिचतुर्भङ्गी पुनरियम्-"दव्वओ णामेगे मुसावाए,णो भावओ । भावओ णामेगे,णो दव्वओ । एगे दव्वओ वि,भावओ वि । एगे णो दव्वओ णो भावओ । तत्थ कोइ कहिं चि हिंसुज्जओ भणइ—इओ तए पसुमिगाइणो, दिट्ठ त्ति, सो दयाए दिट्ठा वि भणइ, ण दिट्ठ त्ति, एस दव्वओ मुसावाओ, णो भावओ। अवरो मुसं भणीहामि त्ति परिणओ सहसा सच्चं भणइ, एस भावओ, न दव्वओ । अवरो मुसं भणामि त्ति परिणओ, मुसं चेव भणति, एस दव्वओ वि, भावओ वि । चरिमभंगो पुण सुण्णो "। दश० ४ अ० । जीत० ३१ गाथाकाचूर्णि ।

मुसावायं—सुहुमं, बायरं च । तत्थ सुहुमं-पयलाउल्ला मरुए एवमादि, बादरो-कन्नालीगादि । महा० ३ अ० । आ० चू० । दश० ।

इयाणिं मुसावात (द) पडिसेवणा दप्पकप्पेहिं भण्णति तत्थ वि पुव्वं दप्पिया पडिसेवणा भणति—

दुविधो य मुसावातो, लोइअ लोउत्तरो समासेणं ।
दव्वे खेत्ते काले, भावंमि य होइ कोधादी ॥ २६० ॥

दुविहो-दुभेदो, मुसा-अनृतं, वदनं—वादः, अलिअवयणभासणेत्यर्थः । लोइय त्ति-असंजयमिच्छादिट्ठिलोगो घेप्पति। उत्तरग्गहणातसंजतसम्मदिट्ठिग्गहणं कज्जति । समासो-संखेवो, पिंडार्थेत्यर्थः । यसद्दो मूलभेदावधारणे, पुणो एक्केको चउभेदो—दव्वे, खेत्ते, काले, भावंमि य । यसद्दो समुच्चये । कोहाति । आदिसद्दातो—माणमायालोभा । एत्थ लोइतो ताव चउव्विहो भण्णति ।

तत्थ वि दव्वे पुव्वं—

विवरीयदव्वकहणे, दव्वब्भूओ य दव्वहेऊ वा ।
खेत्तणिमित्तं जंमि व, खित्ते काले वि एमेव ॥ २६१ ॥

दव्वस्स अणाहारणी जा भासा सा दव्वमुसावाओ भण्णति । कहं पुण दव्वअणाहारणीए भण्णति?,विवरीयदव्वकहणे। विवरीयं-विपर्यस्तं, कहणं-आख्यानं, यथा गाम् अश्वं कथयति जीवमजीवं ब्रवीति, दव्वभूतो णाम-अणुवउत्तो भावस्तथेत्यर्थः, सो जं अलियं भासति तो दव्वमुसावाओ, वा—विकप्पसमुच्चये दव्वं हिरण्णादि हेऊ—कारणं, दव्वकारणत्थी मुसं वदति त्ति वुत्तं भवति । जहा-कोइ दव्वं लभीहामि त्ति अलियं संखेज्जं वदति । वाकारो विकप्पसमुच्चये गतो दव्वमुसावातो ।

इदाणिं खेत्ते भण्णति—खेत्तं लभीहामि त्ति मुसावातं भणति, जंमि वा खेत्ते मुसावायं भासति सो खेत्तमुसावातो, वाकारो विकप्पदरिसणे । इमो विकप्पो—विवरीयं वा खेत्तं कहेति, अणुवउत्तो वा खेत्तं परूवेति, एसो खेत्तमुसावातो । इदाणिं काले भण्णति-काले वि एमेव त्ति—जहा खेत्ते, तहाकाले वि णवरं कालणिमित्तं तिण्णि घडइ ।

इदाणिं भावमुसावातो भण्णति-भावमुसावातस्स भद्दबाहुसामिकता वक्खाणगाहा—

कोधम्मि पिता पुत्ता, माणे धणं व माय उवधी य ।
लोभंमि कूडसक्खी-णिक्खेवगमादिणो लोगे ॥२६२॥

कोहंमि-पिता;पुत्ता;उदाहरणं,माणे-धणं;उदाहरणं,मायाए उवहि उदाहरणं, लोभंमि, कूडसक्खित्त-उदाहरणं,जे लोभाभिभूता दव्वं घेत्तूण कूडसक्खित्तं करेंति एस लोभओ भावमुसावाओ। चोदगाह-णणु दव्वनिमित्तं एस दव्वे भणितो । आचार्याह-सत्यं, तत्र तु महती द्रव्यमात्रा द्रष्टव्या । इह तु लोभाभिभूतत्वात् स्वल्पमात्रा एव मृषं ब्रवीति । किं च—जे वणियादयो लोगे णिक्खेवगं णिक्खित्तं लोभाभिभूता अवलवंति एस वि लोभतो भावमुसावातो दट्ठव्वो । आदिसद्दाओ वि वीसंभमप्पियमप्पगासं अवलवंति जे । पश्चार्द्धं व्याख्यातमेव ।

पुव्वद्धस्स पुण सिद्धसेणायरिओ वक्खाणं करेति ।

कोहेण ण एस पिया, मम त्ति पुत्तो ण एस वा मज्झं ।
हत्थो कस्स व हसति, पूएसु घरा लुभति धणं ॥२६३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुत्तो पिउणो रुट्ठो भणाति-न एस पिया ममं ति,अहं पिया वा। पुत्तस्स पिया रुट्ठो भणाति—ण एस वा मज्झं पुत्तो त्ति। कोहंमि पिता पुत्त त्ति गतं। 'धरणं माणं पि' अस्य व्याख्या-हत्थो पच्छद्धं दुअग्ग कुडुंबीणं विवातो। हत्थो कस्स बहुस्सइ त्ति,हत्थो हसत्यनेन मुखमावृत्य इति हस्तः। कस्स त्ति क्षेपे, द्रष्टव्यं, ममं मोत्तुं कस्सऽराणस्स, बहुस्सति हत्थो भवेज्ज,इतरो वि एमेव पच्चाह। अहवा कस्स ति त्ति संसतवाती तुज्झं मज्झं वा ण णज्जति। बहुस इति बहुधन्नकारी,एवं तेसिं विवादे कुडुंबीणं मज्झत्थपुरिसधरणमवणं सरिसं वा वणजातेसु लूतेसु मलितेसु पूतेसु परिपूता परिसोहिता सर्वमलापनीतानीत्यर्थः। "घरा छुभति धरण त्ति" तत्थेगो मानावष्टब्धो मा हं जिब्बे, गृहात् धान्यमानीय खलधान्ये प्रक्षिपति, मीयमानेषु तस्यातिरेकत्वं संवृत्तं मम बहुस्स त्ति हत्थो त्ति, एस माणतो भावमुसावातो। धरणं माणं त्ति दारं गतं। इयाणिं मायउवहिम्मि त्ति मायउवहि त्ति उवहिरिति उवकरणं, ताणि य वत्थाणि तेहिं उवलक्खियं-उदाहरणं भएणति, अरणे पुण आयरिया एवं भणंति-जहा माय त्ति वा उवहि त्ति वा एगट्ठ त्ति, एत्थ उदाहरणं भएणति।

ससगेलासागढग मूल-देव खंडा य जिष्णउज्जाणे।
सामत्थणे को भत्तं, अक्खातं जे ण सद्दहति ॥ २६४ ॥

नि० चू० १ उ०। (अत्रार्थे धूर्ताख्यानम् 'धुत्तक्खाण' शब्दे चतुर्थभागे २७५६ पृष्ठे गतम्) गतो लोइओ मुसावातो। इयाणिं लोउत्तरिओ दव्वादिचउव्विहो मुसावातो भएणति-दव्वे ताव सचित्तं, अचित्तं, भएणति। धम्मदव्वं अधम्मदव्वत्तेण परूवयति। अधम्मदव्वं वा धम्मरूवेण। एवं सेसाणि वि दव्वाणि। खेत्तं—लोगागासं अलोगागासपज्जवेहिं परूवयति। अलोगं वा लोगपज्जवेहिं। भरहखेत्तं वा हेमवयखेत्तपज्जवेहिं परूवयति। हेमवयं वा भरहपज्जवेहिं परूवइ। एवं सेसाणि खेत्ताणि। काले-उस्सप्पिणी ओसप्पिणीपज्जवेहिं परूवइ। ओसप्पिणिं वा उस्सप्पिणिपज्जवेहिं परूवयइ। एवं सुसमसुसमाहिं कालविवच्चासं करेति। समयादिविवच्चासं वा करेइ। भावे-जं कोहेण वा, माणेण वा, माया वा, लोभेण वा,अभिभूतो वयणं भणाति। एरिसो भावमुसावातो। अह वा—लोउत्तरिओ भावमुसावातो दुविहो। जओ भएणति।

गाहा—

सुहुमो य बादरो वा, दुविधो लोउत्तरो समासेणं।
सुहुमो लोउत्तरिओ, णायव्वो इमेहिँ ठाणेहिं ॥२९७॥

सुहुमबायरसरूवं वक्खमाणं, समासो-संखेवो, इमेहि त्ति-वक्खमाणेहिं, पयलादीहिं, ठाणेहिं ति-पदेहिं, दारेहिं ति वुत्तं भवति।

ताणि य इमाणि ठाणाणि-दारगाहा-

पयला उल्ले मरुए, पच्चक्खाणे य गमण परियाए।
समुद्देस संखडी खु-ड्डए य परिहारिय मुहीओ ॥ २९८ ॥
अवस्सगमणं दिसासु, एगगुले चेव एगदव्वे य।
पडियाइक्खित्ता य,भुंजण पयलासि किं दिवा ण॥२९९॥

एताती दोण्णि दारगाहातो।

पयल त्ति दारं। गाहा—

पयलामि त्ति य लहुओ, दोच्च णिएहवे पुणो गुरुओ।
अएणदा इति णिएहवणे,लहुया गुरुगा बहुतराणं ॥३००॥

कोइ साहू पयलाइ दिवा, अएणेण साहुणा भएणति, पयलासि किं दिवा, तेण पडिभणियं-ण पयलामि, एवमवलवंतस्स पढवाराए मासलहुं। पुणो वि से उंघेउं पवत्तो, पुणो वि तेण साहुणा-मा पयलाहि त्ति। सो भणाति-ण पयलामि त्ति। एवं बितियवाराए दोच्च णिएहवे गुरुगो त्ति। बितियवाराए णिएहवेंतस्स मासगुरु भवतीत्यर्थः। अएणदा इति णिएहवे लहुग त्ति। ततो पुणरवि ण पयलामि त्ति। चउलहुगं भवति। गुरुगा बहुतरगाणं ति—तेण साहुणा दुतिअग्गाणं दंसिओ, पुणरवि णिएहवेति तेण से चउगुरुगा भवंति।

णिएहवणे पच्छित्तं, वड्ढेत्ति तू हि जा सपदं।
लहु गुरु मासे सुहुमो, लहुगाती बादरे होंति ॥३०१॥

पुव्वऽद्धं कंठं। णवरं समुदायत्थो भएणति—पंचमवारा णिएहवेंतस्स छ लहुअं। छट्ठीए छ गुरुअं। सत्तमवाराए छेदो। अट्ठमवाराए मूलं। णवमवाराए अणवट्ठो। दसमवाराए पारंची। चोदकाह—एस सव्वो सुहुममुसावातो। आयरियाह-लहुगुरुमासे सुहुमो त्ति-जत्थ जत्थ माससहुं, मासगुरु वा तत्थ तत्थ सुहुमो मुसावातो भएणति, चउलहुगादी बायरो मुसावातो भवतीत्यर्थः। पयले त्ति दारं गयं।

इदाणिं 'उल्ले त्ति' उल्लमिति वासं। गाहा—

किं वच्चसि वासंते ण, गच्छे णणु वासबिंदतो एते।
भुंजंति णीह मरुगा, कहिं ति णणु सव्वगेहेहिं ।३०२।

कोइ साहु वासे पडिमाणे अएणतरपओयणेण पट्ठिओ, अएणेण साहुणा भएणति—अज्जो! किं वच्चसि, वासंते, किम् इति परिप्रश्ने' व्रजसीत्यर्थः, वासंते वर्षे, तेण पट्ठितसाहुणा भएणाति, वासंतेऽहं ण गच्छे' एवं भणिऊण वासंते चेव पट्ठिओ, तेण साहुणा भएणाति-णणु अलियं, इतरो पच्चाह, ण, कहं, उच्यते-णणु वासं बिंदवो एते णणु-आसंकितावहारेण, वासं पाणीयं तस्स एए बिंदवो बिंदुमिति थिवुकं। सीसो पुच्छइ-एत्थ कतरो मुसावाओ?, गुरुराह—जो भणाति-णाहं वासंते गच्छे, एस मुसावातो छलवादोपजीवित्वाच्च। जो पुण भणाति-किं वच्चसि वासंते, एस मुसावातो ण भवति। कहं उच्यते—"करेज्ज वा से वासंते" इति वचनात्। उल्लेत्ति दारं गयं। इदाणिं 'मरुए' त्ति व्याख्या—भुंजंति पच्छद्धं—कोइ साहू कारणे विणिग्गतो उवस्सयमागंतूण साहू भणाति—णीह-णिगच्छह, भुंजंति मरुआ। अम्हे वि तत्थ गच्छामो। ते साहू उग्गाहियभायणा भणंति। कहिं ते मरुया भुंजंति?, तेण भणियं-णणु सव्वगेहेहिं। मरुए त्ति गयं। 'पच्चक्खाणे य' अस्य व्याख्या। बितियदारगाहा-ते चरिमो पादो पडिया दिक्खित्तये भुंजणयंति, ते पडिया तिक्खित्ताणुभुंजामि त्ति निषिद्धेत्यर्थः। पुनरपि भोगे मृषावादः।

अस्यैवार्थस्य स्पष्टतरं व्याख्यानं सिद्धसेनाचार्यः करोति-

भुंजसु पच्चक्खातं, ममं ति तक्खण पभुंजती पुट्ठो।
किं च इमे पंचविधा, पच्चक्खाता अविरती उ ॥३०३॥

कोइ साहू केण य साहुणा उवग्गहभोयणमंडलिवेलाकाले भणितो-एहि भुंजसु, तेण भणियं-भुंजह तुज्झे, पच्चक्खायं ममं ति, एवं भणिऊण मंडलिवेलाए तक्खणादेव भुंजंतो तेण सा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुणा पुट्ठो। अज्जो! तुमं भणासि-मम पच्चक्खायं ? सो भणति 'किं च' पच्छद्धं, पाणातिपातादिपंचविहा अविरती, सा मम पच्चक्खाया इति । पच्चक्खाण त्ति दारं गयं । इयाणिं गमणे त्ति अस्य व्याख्या-वितियदारगाहाए ततियपादो पडिअक्खियगमणंति- पडियाइक्खित्ता ण गच्छामि त्ति वुत्तं भवति। एवमभिधाय पुणरवि णिग्गमणं।

'मुसावायो'ऽस्यैवार्थस्य सिद्धसेनाचार्यः व्याख्यानं करोति-

वचसि णाहं वचे, तक्खण-वचंत-पुच्छिओ भणति ।
सिद्धंतं ण विजाणसि, णणु गंमति गम्ममाणं तु ॥३०४॥

कोति य साहुणा चेतियवंदणादिपयोयणे वच्चमाणेण अण्णे साहू भणितो-वचसि ? सो भणति णाहं वच्चे। वच तुमं। सो साधू पयातो। इतरो वि तस्स मग्गतो तक्खणादेव पयातो, तेण पुण पुव्वपयायसामिणेण अण्णेण साधू भण्णति-पुणो पुच्छितो कहं ण वच्चामि त्ति भणिऊण वच्चसि ? सो भणति-सिद्धंतं ण विजाणह?। कहम्?, उच्यते-णणु गंमति गम्ममाणं तु-गम्ममाणं गमणं णागम्ममाणं,जंमि य समए तुमे अहं पुट्ठो तंमि य समए ण चेवाहं गच्छेत्यर्थः। गमणे त्ति दारं गयं।

इयाणिं परिताए त्ति—

दस एतस्स य मज्झ य,पुच्छितो परियाग वेंति तु छलेण।
मज्झ णव त्ति य वंदित,भणाति ते पंचगा दसओ॥३०५॥

कोइ साहुणा वंदिउकामेण पुच्छिओ-कति वरिसाणि ते परिताओ ? सो एवं पुच्छितो भणति-एयस्स साहुस्स मज्झ य दस वरिसाणि परियाओ। एवं छलवायमंगीकृत्य ब्रवीति। सो पुच्छंतगसाहू भणति-मम णव वरिसाणि परियाओ। एवं भणिऊण य वंदिओ, ताहे सो पुच्छियसाहू भणति-णिवसह भंते ! तुज्झे वंदणिज्जा, सो साहू भणति-कहं मम नव वरिसाणि ?, तुज्झं दस वरिसाणि-सो छलवाई साहू भणति णणु वे पंचगा दस उ। मम पंच वरिसाणि परितातो। एयस्स य साहुणो पंच वरिसाणि चेव परिआओ। एवं वे पंचगा दसओ। परियाए त्ति गतं।

इदाणीं समुद्देस त्ति-

वट्टति तु समुद्देसो, किं अत्थह कत्थ एस गमणम्मि।
वट्टति य संखडी उ, घरेसु णणु आउखंडणता ॥३०६॥

कोति साहू कातिअभोमादिविणिग्गतं आदिच्चं परिवेसपरिवियं दट्ठूण ते साहवो सत्थे अत्थमाणा तुरियं भणंति—वट्टति उ समुद्देसो किं अत्थह उट्ठेह गच्छामो। ते साहू अलियं भासति त्ति गहियभासणा उट्ठिता उट्ठिता पुच्छंति—कत्थ सोमो। छलवादी भण्णति-णणु एस गमणमग्गम्मि आदिच्चपरिवेसं दर्शयतीत्यर्थः। समुद्देसे त्ति गयं।

संखडि त्ति पच्छद्धं। कोइ साहू पढमालियपाणगादिणिग्गतो, पच्चागओ भणति—इहऽज्ज णिवेसे पउराओ संखडीओ, ते य साहवो गंतुकामा पुच्छंति, कत्थ ताओ संखडीओ वट्टंति ?, सो छलवाई साहू भणति—वट्टंति संखडीओ घरेसु अप्पणप्पणएसु त्ति वुत्तं भवति। ते साहवो भणंति—कथं वा अपसिद्धा संखडीओ भण्णंति-सो छलवायसाहू भणति-णणु आखंडणया। णणु-आसंकिता, वाऽवधारणे जं पति जाइ य तमाउं भण्णति-जंमि वा ठियस्स सव्वकम्माणि उवभोगमागच्छंति तमाउं भण्णति, तस्स खंडणा-विनाशः सा ननु सर्वगृहेषु भवतीत्यर्थः। सखंडि त्ति गतं।

इदाणीं खुड्डए त्ति—

खुड्डग! जणणी ते मता य,रुणे जियइ त्ति एव भणितंमि।
माइत्ता सव्वजिया, भविंसु तेणेसा मता ते ॥ ३०७॥

कोई साहू उवस्सयसमीवे दट्ठूण मयं सुणीइं खुड्डयं भणाति-खुड्डग ! जणणी ते मता, खुड्डो बालो, जणणी माता मया-जीवपरिचत्ता। ताहे सो खुड्डो य रुण्णे, तं रुवंतं दट्ठूण सो साहू भणति—मा रुय जियइ त्ति, एवं भणियम्मि-खुड्डो अण्णे य साहू भणंति। किं खुड्डुं तुमं भणसि जहा मया, सो मुसावायसाहू भणति—एसा जा साणी मता एसा य तुज्झ माया भवति, खुड्डो य भणति—कहं एसा मज्झ माता भवति, सो भणति—मादित्ता पच्छद्धं भविंसु, अतीतकाले आसीदित्यर्थः, भणियं च भगवता—"एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स सव्वजीवा मातित्ताए पियत्ताए भातित्ताए भज्जत्ताए पुत्तत्ताए धूयत्ताए भूयपुव्वा। हंता गोयमा ! एगमेगस्स जीवस्स एगमेगे जीवे मादित्ताए० जाव भूयपुव्व त्ति" तेण ते एसा साणी माता भवतीत्यर्थः। खुड्डे त्ति दारं गयं।

इदाणिं परिहारिय त्ति-

ओसणे दट्ठूणं, दिट्ठा परिहारिय त्ति लहुकरणे।
कत्थुज्जाणे गुरुओ, अदिट्ठदिट्ठेसु लहु गुरुगा ॥३०८॥

कोइ साहू उज्जाणादिसु ओसण्णे दट्ठूण आगंतूणं भणति-मए दिट्ठा—परिहारिग त्ति, सो छलेण कहयति। इतरे पुण साहू जाणंति, जहा—परिहरितवावण्णा अणेण दिट्ठा इति तस्स एवं छलाभिप्पायतो कहंतस्सेव मासलहुं पायच्छित्तं भवति। पुणो ते साहुणो परिहरियसाहू दरिसणेसुगा पुच्छंति, कत्थ ते दिट्ठा, सो कहयति-उज्जाणे त्ति, एवं कहिंतस्स मासगुरुं। अदिट्ठादिट्ठेसु त्ति परिहारियदंसणोसुगालिया जाव ण पासंति ताव तस्स कहंतस्स चउलहुगा, दिट्ठेसु ओसण्णेसु कहंतस्स चउगुरुगा।

छल्लहुगा य णियत्ते, आलोए तंमि छग्गुरू होंति।
परिहरमाणा वि कहं, अप्परिहारी भवे छेदो ॥ ३०९॥

तेसु साहुसु णियत्तेसु कहयंतस्स छल्लहुगा भवंति, ते साहवो इरियावहियं पडिक्कमिउं गुरुणो गमणागमणं आलोएंति भणंति य—ओप्पासिया अणेण साहुणा, एवं तेसु आलोयंतेसु कहयंतस्स छग्गुरुगा भवंति। सो उत्तरं दाउमारद्धो पच्छद्धं परिहरंतीति परिहारगते परिहारमाणा वि कहं अपरिहारगा एवं उत्तरप्पयाणे छेदो भवति। ते साहवो भणंति—किं ते परिहरंति ?, जेण परिहारगा भण्णंति।

उच्यते—

खाणुगमादी मूलं, सव्वे तुब्भेगऽहं तु अणवट्ठो।
सव्वे वि बाहिरा वा, पवयण तुब्भे तु पारंची ॥ ३१०॥

उट्ठाय य ठियं कट्ठं खाणुगं भण्णति। आदिसद्दातो कंटगगड्डादि परिहरंति। तेण ते परिहारगा भण्णंति। एवं उत्तरपयाणे मूलं भवति। ततो तेहिं संवेगवयणेहिं साहूहिं भण्णति-व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ट्ठोऽसि, जो एवं मए वि उत्तरं पयच्छसि । ततो सो पडिभणति-सव्वे तुज्झे सहिता एगवयणा, एगोऽहं तु असहाओ जिणामि । ण पुण परिफग्गुवयणं मे जंपियं, एवं भणंतो अणवट्ठो भवति । ज्ञानमदावलिप्तो वा स्यादेवं ब्रवीति । सव्वे वि-पच्छद्धं, सव्वे असेसा, बाहिरा-आज्ञापवयणं-दुवालसंगं गणिपिडगं, तुब्भं त्ति णिद्देसे, तुसद्दो तावन्मात्रावधारणे, एवं सव्वाहिं खेवाओ पारंची भवति । परिहारिए त्ति गयं ।

इदाणिं मुहीओ त्ति-

भणइ य दिट्ठणियत्ते, आलोयाऽऽमंति घोडगमुहीओ ।
किं मणुसा सव्वेतो, सव्वे बाहिं पवयणस्स ॥३११॥

एगो साहू वियारभूमिं गओ, उज्जाणुद्देसे वलवाओ चरमाणीओ पासति । सो य पच्चागओ, साहूण विम्हयमुहो कहयति-सुणेह अज्जो । जारिसयं मे वोज्जं दिट्ठं तेहिं भण्णति-किमपुव्वं तुमे दिट्ठं ?, सो भणति-घोडगमुहीओ मे इत्थियाओ दिट्ठाओ, ते उज्जुसभावा-अणलियवाइणो त्ति साहू, साहुणो पत्तिया, जहा परिहारे तहा इहावि असेसं दट्ठव्वं । णवरं अक्खरत्थो भण्णति-'भणति घोडगमुहीओ दिट्ठा इति ' साहूहिं पुच्छिओ कत्थ ?, उज्जाणसमीवे त्ति, विति-यवयणं । साहवो दट्ठव्वाभिप्पायी वयंति,त्ति ततियवयणं दिट्ठ त्ति वलवाओ, चउत्थं पडिणियत्ता इति, पंचमं गुरू ण आलोएति, एवं वियमो, छट्ठं सहोढपच्चुत्तरपयाणं, आमं ति घोडगमुहीओ जेण दीहं मुहं, अहो मुहं च; अश्वतुल्या एवेत्यर्थः । सत्तमं पदं साहूहिं भण्णति-कहं ता इत्थियाओ ?, सो पडिभणाति-किं खाइंति मणुस्सा अट्ठमं पदं, सव्वे तुब्भे अहमेगो णवमं पदं, सव्वे बाहिरा पवयणस्स दसमं पदं ।

एतेसु दससु जहासंखेणिमं पायच्छित्तं ।

मासो लहुओ गुरुओ,चउरो मासा हवंति लहु गुरुगा ।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं वा ॥३१२॥

दुगं-अणवट्ठपारंचियं । सेसं कंठं । घोडगमुहीओ त्ति गतं ।

इदाणिं ' अवस्सगमणं ति ' अस्य व्याख्या—

गच्छसि ण ताव गच्छसि,किं खु ण जासि त्ति पुच्छितो भणति
वेला ण ताव जायति,परलोगं वावि मोक्खं वा ॥ ३१३ ॥

गच्छसि ण ताव त्ति-कोइ साहू, केणइ साहुणा पुच्छिओ-अज्जो ! गच्छसि भिक्खायरियाए, ण ताव गच्छिसि त्ति । एसा पुच्छा, गच्छंति सो भणति-अवस्सं गच्छामि । तेण साहुणा गिहीयभायणेवकरणेण भण्णति, अज्जो ! एहि वच्चामो । सो भणइ-अवस्सगंतव्वेण ताव गच्छामि । तेण साहुणा पुणो भण्णति, तुमे भणियं अवस्सं गच्छामि । तो किं खु ण जासि त्ति । एवं पुच्छितो भणति । वेला ण ताव पच्छद्धं-पर लोगगमणवेला ण ताव जायति, तो ण ताव गच्छामि, मोक्खगमणवेला वा, अपि पदार्थसंभावने । किं पुण संभावयति-अवस्सं परलोगं, मोक्खं वा, गमिष्यामीत्यर्थः । वा विकप्पे । गमणे त्ति गतं ।

इयाणिं ' दिस त्ति ' अस्य व्याख्या-

कतरं दिसं गमिस्ससि, पुव्वं अवरं गतो भणति पुट्ठो ।
किं वा ण होइ पुव्वा, इमा दिसा अवरगामस्स ॥३१४॥

एगो साधू एगेण साहुणा पुच्छितो—अज्जो ! कतरं दिसं भिक्खायरियाए [illegible]मिस्ससि ? सो एवं पुच्छितो भणति-पुव्वं । सो पुच्छंतगसाहू उग्गाहेऊ ण य गतो,अवरं दिसं इयरो वि पुव्वदिसि गमणमादी , अवरं गओ । अज्जो ! तुमे भणियं अहं पुव्वं गमिस्सामि ?, कीस अवरं दिसिमागतो ?, पुट्ठे भणइ-पुट्ठो पुच्छिउ त्ति-वुत्तं भवति, 'किं वा '-पच्छद्धं-अण्णस्स अवरगामस्स इमा पुव्वा दिसा किं ण भवति ? भवति चेव । दिस त्ति गतं ।

' एगकुले त्ति ' अस्य व्याख्या—

अहमेगकुलं गच्छं, वच्चह बहुकुलपवेसणे पुट्ठो ।
भणति कहं दोषि कुले, एगसरीरेण पविसिस्सं॥३१५॥

दारं—

वच्चह एगं दव्वं,घेच्छंऽणेगगह पुच्छितो भणति ।
गहणं तु लक्खणं पु-ग्गलाणणे णेसिते गहणे ॥३१६॥
अणिकाइते लहुसओ, णिकाइए बायरो य वत्थादी ।
ववहारदिसाखेत्ते, कोहातो सेवती जं वा ॥ ३१७ ॥

भिक्खणिमित्तुट्ठितेण साहुणा, साहू भण्णति-अज्जो ! एहि, वयामो भिक्खाए,सो भणति-वच्चह तुज्झे अहं एगं दव्वं वेच्छं ते गता गते,इतरो वि अडंतो ओदणदोचंगादी बहुदव्वे गेण्हंतो तेहिं साहूहिं दिट्ठो,पुच्छितो य-अज्जो ! तुमे भणितं एगं दव्वं घेच्छं, एवंऽणेगग्गहपुच्छितो भणति त्ति, अणेगाणि दव्वाणि गेण्हंतो पुच्छितो इमं भणाति-गहणं तु पच्छद्धं, गतिलक्खणो धम्मत्थिकाओ , ठितिलक्खणो अधम्मत्थिकाओ, अवगाहलक्खणो आगासत्थिकाओ , उवओगलक्खणो जीवत्थिकाओ , गहणलक्खणो पुग्गलत्थिकाओ, एएसिं पंचण्हं दव्वाणं पुग्गलत्थिकाय एव गहणलक्खणो एगो णण्णेसिं ति धम्मादियाण एयं गहणलक्खणं ण विद्यतेत्यर्थः । तेणेगं ति, तम्हा अहमेगं दव्वं गेण्हामि त्ति वुत्तं भवति । स तेसु पयलातिसु भणंतस्सेव मासलहुं पायच्छित्तं,एतेसु चेव पयलादिसु अभिणिवेसेण एक्केक्कपदातो पसंगपायच्छित्तं दट्ठव्वं ०जाव पारंचियं । एत्थ सुहुमबायरमुसावातलक्खणं भण्णति अणिकाचिते लहुसओ मुसावातो भवति,णिकातिते बादरो मुसावातो भवति । वत्था इति-अणिकायणिकायणाणं भेदो दरिसिज्जति-जहा केणति साहुणा कस्सति साहुस्स कंदप्पा वत्थं णूमियं,जस्स य तं वत्थं णूमियं सो सामण्णेणं पुच्छति-अज्जो ! केण वि मे वत्थं णूमितं?,कहयह,सव्वे भणंति-णेव त्ति एवं तस्स वत्थहारिणो अवलवंतस्स अणिकातियं वयणं भवति । जदा पुण तस्स तस्स साहुस्स केण य कहितं-जहाऽमुगेण साहुणा गहियं, तेण य सो पुट्ठो भणाति-णेव त्ति, एवं णिकायणा भवति । अहवा-जेण तं गहियं सो चेव पढमं पुट्ठो-अज्जो ! तुमे मे वत्थं ठवितं ?, सो भणति-णेव त्ति, एवं अणिकाइयवयणं,अतो परं जो पुच्छिज्जतो ण साहेति सा णिकायणा भवति । आदिशब्दाद्-एवमेव पात्रादिष्वप्यायोजनीयम् । अहवा-इमे बादरभेया ववहारं अण्णहा णिति दिसावहारं करेति,खेत्ते वा आहच्चं ण देति,ममाभव्वं ति काउं,एवं ववहारादी,कोहाईहिं सेवति, जता तया बादरो मुसावातो भवतीत्यर्थः,अहवा-एते ववहारादियाण विणा कोहणं ति बादरो एव मुसावातो दट्ठव्वो, कोहाति सेवती जं वत्ति-अण्णत्थ विद्धं कोहादिआविट्ठो मुसं भासति-सो सव्वो बादरो मुसावादो दट्ठव्वो इति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

' वत्था ' इति अस्य व्याख्या—

कंदप्पा परवत्थं, गूमेऊणं ण साहती पुट्ठो ।
जं वा णिग्गह पुट्ठो, भणिज्ज दुट्ठंऽतरप्पा वा ॥३१८॥

पुव्वद्धं गतार्थं । ववहारदिसाखेत्तपदाणं सामन्नत्थव्याख्या पच्छद्धं-जं वा-वयणं संवज्झति, निग्गहो-निश्चयः, पुट्ठो-पुच्छितो, भणेज्ज-भासेज्ज, दुट्ठं-कलुसियं, अंतरप्पा-चित्तं,इति एगट्ठं । वा विकप्पा,एव वादरो मुसावातो भवति, निश्चयकालेऽपि पृष्टो दुष्टान्तरात्मा भूत्वा यद्वचनमभिधत्ते स वादरो मृषावादो भवतीत्यर्थः ।

'कोहादी सेवती जं व' त्ति, अस्य व्याख्या-

कोहेण व माणेण व, मायालोभेण सेवियं जं तु ।
सुहुमं व बादरं वा, सव्वं तं बादरं जाण ॥ ३१६ ॥

सेवितं जं तु-मुसावाए वयणं संवज्झति तं दुविहं-सुहुमं वा,बादरं वा । तं कोहादीहिं भासियं सव्वं बादरं भवतीत्यर्थः।

'अणिकाइए' त्ति, जा गाहा पत्तिए गाहाए जे अवराहपदा तेसु पच्छित्तं भण्णति—

लहुगो लहुगा गुरुगा, अणवट्ठप्पो व होइ आएसो ।
तिण्हं एगतराए, पत्थारपसज्जणं कुज्जा ॥ ३२० ॥

लहुओ त्ति-सुहुममुसावाते पच्छित्तं-लहुग त्ति । बायरमुसावाते पच्छित्तं—लहुग त्ति । दिसावहारे—चउगुरुगा पायच्छित्तं,साहम्मियतेणे वि चउगुरुगा चेव । अहवा-साहम्मियतेणे-अणवट्ठो । आदेसो नाम-सुत्ताएसो, तेण अणवट्ठो भवति । तं चिमं सुत्तं-"तओ अणवट्ठप्पा पन्नत्ता । तं जहा-साहम्मियाणं तेण्णं करेमाणे,अण्णहम्मियाणं तेण्णं करेमाणे हत्थद्दालं दलेमाणे " * तिण्हं ति-तिविहो मुसावातो-जहन्नो, मज्झिमो, उक्कोसो । जत्थ मासलहुं भवति से जहण्णो मुसावातो । जत्थ मासगुरुं स मज्झिमो, जत्थ पारंचियं स उक्कोसो । एगतराए त्ति-जहण्णमुसावातं पढमतो भण्णति-भासति ततो पत्थारपसज्जणं कुज्जा । अहवा-मज्झिमं पढमं भासति ततो पत्थारपसज्जणं कुज्जा । अह उक्कोसं पढमतो भासति ततो पत्थारपसज्जणं कुज्जा । प्रस्तारो—विस्तारः, प्रसञ्जनं—प्रसङ्गः,तदेकैकस्मिन्नारोपयेदित्यर्थः । अहवा-तिण्हं ति-दिसावहारं, खेत्तं, कोहाती, सेसं पूर्ववत् । अहवा-तिण्हं-मासलहु, चउलहु, चउगुरुगं, एतेसिं एगतरातो पत्थारपसज्जणं कुज्जा । केति पढमं ति चउण्हं एगतराए त्ति—चउण्हं कोहादीणं एगतरेणावि मुसं वयमाणस्स पत्थारदोसो भवतीत्यर्थः। एसा मुसावायदप्पिया पडिसेवणा गता ।

इयाणिं कप्पिया भण्णति । दारगाहा—

उड्डाहरक्खणऽट्ठा, संजमहेउं व वोहिके तेणे ।
खेत्तंमि व पडिणीए, सेहे वा सेहलोए वा ॥ ३२१ ॥

उड्डाहरक्खणऽट्ठा मुसावातं भासति । संजमहेउं वा मुसावातं भासति । वोहियतेणेहिं वा गहितो मुसावातं भासति । पडिणीयखेत्ते वा मुसावातो भासियव्वो । सेहणिमित्तं वा मुसावातो भासियव्वो । सेहस्स वा लोयणिमित्तं मुसावातो भासिज्जति । उड्डाहसंजमवोहियतेणए पच्चक्खाणे त्ति ।

दारगाहा—

भुंजामो कमढगादिसु,मिगादि ण विपास अहव तुसिणीए ।
वोहिगगहणे दियाती, तेणेसु व एस सत्थो त्ति ॥३२२॥

जति धिज्जातियादयो पुच्छंति—तुज्झे कत्थ भुंजह, ताहे वत्तव्वं—भुंजामो कमढगादिसु । कमढगं णाम-करोडगागारं, अट्ठगेण कज्जति । आदिसद्दातो करोडगं चेव घेप्पति । एवं उड्डाहरक्खणट्ठा मुसावातो वत्तव्वो । संजमहेउं ति-जइ केइ लुद्धगादी पुच्छंति-कतो एत्थ भगवं ! दिट्ठा मिगादी, आदिसद्दातो सूअराति, ताहे दिट्ठेसु वि वत्तव्वं न विपासे त्ति-न दिट्ठ त्ति वुत्तं भवति । अहवा-तुसिणीओ अच्छति—भणति वा-न सुणेमि त्ति । एवं संजमहेउं मुसावातो । वोहियपच्छद्धं-वोहिएसु वा गहितो भणाति-दियादित्ति अब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणोऽहमिति ब्रवीति । तेणेसु वा गहितो भणाति । एस सत्थो त्ति चोरे भणति-णासह णासह त्ति, घेप्पह त्ति खेत्तंमि, पडिणीते प्रत्यनीकभाविते क्षेत्रे इत्यर्थः । तं च खेत्तं ।

दारगाहा—

भिक्खुगमादि उवासग,पुट्ठो दाणस्स णत्थि णासो त्ति ।
एस समत्तो लोओ, सक्को अभिधारती छत्तं ॥ ३२३ ॥

भिक्खुगमाइ त्ति-पडा, आदिसद्दातो परिव्वायग्गादि, तेहिं भावियं जं खेत्तं तत्थ उवासगा पुच्छंति । सठा ते परमत्थेण वा भगवं ! जम्हे भिक्खुगादीआणं दाणं दलयामो तस्स फलं किं अत्थि त्ति ? सो एवं पुट्ठो भणति-दाणस्स नऽत्थि णासो त्ति, जति वि य तेसिं दाणं दिण्णं अफलं तहा चेवं भणाति, मा ते उट्ठरुट्ठा धाडेहंतीत्यर्थः। सेहो त्ति-सेहो पवज्जाभिमुहो आगतो, पव्वतितो वा तं च सयणसगासे पुच्छंति-तत्थ जाणंता वि भणंति ण जाणामो, ण वा दिट्ठो त्ति, सेहस्स वा अणहियासस्स लोए कज्जमाणे बहु एव अत्थमाणे एवं वत्तव्वं एस समत्थो लोओ थोवं अच्छति । अण्णं च साहुस्स लोए कज्जमाणे तत्र स्थित एव शक्रो देवराजा,छत्रमभिधारयतीत्यर्थः । गता मुसावायस्स कप्पिया पडिसेवणा । गतो मुसावातो । नि०चू०१ उ०।

चतुर्विधेष्वपि मृषावादेषु जघन्यतोऽतिचारे सत्येकाशनकम् , मध्यमेऽतिचारे आचामाम्लम् , उत्कृष्टे क्षपणम् । जीत० ।

पाणे य णाइवायेज्जा, अदिन्नं पि य णादए ।
सादियं ण मुसं वूया, एस धम्मे उसीमओ ॥१॥

सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

मुसावायं वहिद्धं च, उग्गयं च अजाइ य ।
सत्था दाणाइँ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिआ ॥ १ ॥

मृषा—असद्भूतो वादो मृषावादस्तं विद्वान् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

तीर्थकृद्वचनानुसारेण वदतो मृषावादो न भवति—

णवरं ण मोक्खए पाणं, मुसावायं व आवई ।

अन्नं च—

रागं दोसं च मोहं व, भयछंदाणुवत्तियं ।
तित्थंकराण णो भूया, णो भवेज्जा उ गोयमा ! ।
मुसावायं न भासंतो, गोयमा ! तित्थंकरे उ ।

जेणं तु—

केवलनाणेणं तेसिं, सव्वं पच्चक्खं जगं ।
भूयं भव्वं भविस्सं च, पुन्नं पावं तहेव य ।
जं किंचि तिसु लोएसु, तं सव्वं तेसि पायडं ।

* अस्य सूत्रस्य व्याख्या 'अणवट्ठप्प ' शब्दे प्रथमभागे २६२ पृष्ठे गता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पायालं अवि उद्धमुहं, सग्गं पज्जा अहोमुहं एएणं।
तित्थयरमुहभणियं, वयणं होज्ज न अन्नहा ॥
नाणदंसणचारित्तं, तवं घोरं सुदुकरं।
सुग्गइमग्गो फुडो एस, परूवंती जहट्ठिओ ॥
अन्नहा न य तित्थयरा, वाया मणसा य कम्मुणा।
भणंति जाव भुवणस्स, पलयं हवइ तक्खणा ॥
जं हियं सव्वजगजीव-पाणभूयाण केवलं।
तमणुकंपाए तित्थयरा, धम्मं भासंति अवितहं ॥
जेणं तु समउविन्नेणं—
दोहग्गदुक्खदारिद्द-रोगसोगकुगइभयं।
ण भविज्जा उ विइएणं, संतो बुच्चेव तं तहा ॥

महा० ६ अ०।

मृषावादपरिहारे कथा—
"कोङ्कणः श्रावकः कोऽपि, पुंसा केनाप्यभण्यत।
नश्यन्तं प्रहरावन्त-मेतं तेनाहतो मृतः ॥ १ ॥
घातकं करणे नीत्वा-ऽकथयत्तुरगाधिपः।
पृष्टः कारणिकैः सोऽथ, साक्षी कस्तेऽत्र सोऽवदत् ॥ २ ॥
पुत्रोऽस्यैव स पृष्टोऽवक्, सत्यमेतत्ततः स तैः।
सत्कृत्याऽभ्यर्च्य निर्दोषो, मुक्तो निर्धाटितः परः ॥ ३ ॥"

आ० क० ६ अ०।

अत्रोदाहरणम्—('अलियवयण' शब्दे प्रथमभागे ७७३ पृष्ठे) (कारणे सति मृषावादं वदेदिति 'मुसोवएस' शब्दे वक्ष्यते)

मुसावायवत्तिय-मृषावादप्रत्ययिक-पुं०। मृषावाद आत्मपरोभयार्थमलीकवचनं तदेव प्रत्ययः कारणं यस्य दण्डस्य स तथा। स० १३ सम०। आत्मार्थं परेषां वा नायकादीनामर्थाय यो मृषा वदति तस्मिन् क्रियास्थाने, नपुं०। प्रव० १२१ द्वार। आतु०। ('मुसादण्ड' शब्दे सूत्रं दर्शितम्)

मुसावायवाय-मृषावादवाद-पुं०। मृषावादसत्के विकत्थने, "मुसावायस्स वायं वयमाणे कप्पस्स पत्थारे भवइ" मृषावादस्य सत्कं,वादं-विकथनं,वार्त्तां वा वदति साधौ प्रायश्चित्तप्रस्तारो भवतीति। स्था० ६ ठा०।

मुसावायविरइ-मृषावादविरति-स्त्री०। सर्वस्मान्मृषावादाद् विरतौ, महा०। "अलियवयणस्स विरई सावज्जं सव्वमवि न भासिज्जा" महा० १ चू०।

मुसावायवेरमण-मृषावादविरमण-न०। अलीकवचनान्निवृत्तौ, अहावरे दोच्चे भंते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, सव्वं भंते! मुसावायं पच्चक्खामि, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा, मुसं वायंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि,तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। दुच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं २। (सूत्र-४)

अथापरस्मिन् द्वितीये भदन्त! महाव्रते मृषावादाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! मृषावादं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा-क्रोधाद्वा लोभाद्वेत्यनेनाद्यन्तग्रहणान्मानमायापरिग्रहः भयाद्वा हास्याद्वेत्यनेन तु प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानादिपरिग्रहः। (णेव सयं मुसं वदेज्ज त्ति) नैव स्वयं मृषा वदामि, नैवान्यैर्मृषा वादयामि, मृषा वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानामीत्येतत् यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत्। दश० ४ अ०। (मुसावायशब्दे चतुर्विधोऽयं व्याख्यातः) (स्थूलान् मृषावादाद् विरमणं द्वितीयमणुव्रतम् 'अलियवयण' शब्दे प्रथमभागे ७७३ पृष्ठे गतम्) एतद्व्रतफलं विश्वासयशःस्वार्थसिद्धिप्रियांऽऽदेयाऽमोघवचनतादि, यथा—
"सव्वा उ मंतजोगा, सिज्झंती धम्मअत्थकामा य।
सच्चेण परिग्गहिया, रोगा सोगा य नस्संति ॥ १ ॥
सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सासकारणं परमं।
सच्चं सग्गद्दारं सच्चं सिद्धीइ सोपाणं ॥ २ ॥"
एतद्ग्रहणेऽतिचरणे च वैपरीत्येन फलम्—
"जं जं वयइ जाइं, अप्पिअवाई तहिं तहिं होइ।
न सुणइ सुहे सुसद्दे, सुणइ अ सोअव्वए सद्दे ॥ १ ॥
दुग्गंधो पूइमुहो, अणिट्ठवयणो अ फरुसवयणो अ।
जडएडमूअमम्मण-अलिअवयणजंपणे दोसा ॥ २ ॥"
इहलोए च्चिअ जीवा, जीहाछेअं वहं च बंधं वा।
अयसं धणनासं वा,पावंती अलियवयणाओ ॥ ३ ॥"
इत्यादि ॥ २६ ॥ ध० २ अधि०। पञ्चा०। श्रा०।

अथ द्वितीयव्रतस्य तान् (अतिचारान्) आह—
असौ द्विधाऽणुस्थूलाभ्यां, तत्राद्यः प्रचलादितः।
द्वितीयः क्रोधलोभादे-र्मिथ्याभाषा द्वितीयके ॥४६॥
द्वितीयके—मृषावादविरतिरूपेऽसावतिचारः, अणुस्थूलाभ्याम्-सूक्ष्मबादराभ्यां,प्रकाराभ्यां, द्विधा-द्विप्रकारो,भवतीति शेषः। तत्र—आद्यः सूक्ष्मः,प्रचलादितो निद्राविशेषादेर्मिथ्याभाषा-असत्यभाषणं भवति, यथा-प्रचलसि किं दिवा? इत्यादि चोदितः प्राह-नाहं प्रचलामि इत्यादि। क्रोधादेः—क्रोधलोभहास्यभयैर्मिथ्याभाषा द्वितीयो बादरः परिणामभेदाद्भवतीति, यतः पञ्चवस्तुके-" बिइअंमि मुसावाए, सो सुहुमो बायरो अ णायव्वो। पयलाइ होइ पढमो, कोहाइभिभासणं बिइओ ॥ ६५६ ॥" ध० ३ अधि०।

द्वितीयं व्रतमुच्यते—
थूलगमुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से य मुसावाए पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा-कन्नालीए गवालीए भोमालीए नासावहारे कूडसक्खि(त्ते)ज्जे। थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा ण भासियव्वा। तं जहा-सहसब्भक्खाणे रहस्सब्भक्खाणे सदारमंतभेए मोसुवएसे कूडलेहकरणे ॥ २ ॥

मृषावादो हि द्विविधः—स्थूलः, सूक्ष्मश्च। तत्र परिस्थूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टविवक्षासमुद्भवः स्थूलो, विपरीतस्त्वितरः। तत्र—स्थूल एव स्थूलकः स चासौ मृषावादश्चेति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समासः, तं श्रमणोपासकः प्रत्याख्यातीति पूर्ववत्, स च मृषावादः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः-पञ्चप्रकारः प्ररूपितः, तीर्थकरगणधरैः, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, कन्याविषयमनृतम्-अभिन्नकन्यकामेव भिन्नकन्यकां वक्ति, विपर्ययो वा, एवं गवानृतम्-अल्पक्षीरामेव गां बहुक्षीरां वक्ति, विपर्ययो वा, एवं भूम्यनृतम्-परसत्कामेवात्मसत्कां वक्ति, व्यवहारे वा नियुक्तोऽनाभवद्व्यवहारस्यैव कस्यचिद्रागाद्यभिभूतो वक्ति-अस्येयमाभवतीति। न्यस्यते--निक्षिप्यत इति न्यासः-रूप्यकाद्यर्पणं, तस्यापहरणं न्यासापहारः। अदत्तादानरूपत्वादस्य कथं मृषावादत्वमिति?, उच्यते-अपलपतो मृषावाद इति। कूटसाक्षित्वम् उत्कोचमात्सर्याद्यभिभूतः प्रमाणीकृतः, सन् कूटं वक्ति, अविधवायनृतस्यात्रैवान्तर्भावो वेदितव्यः। मुसावादे के दोसा? अकज्जंते वा के गुणा?, तत्थ दोसा, कएणगं चेव अकरणगं भणंते भोगंतरायदोसा, पदुट्ठा वा आतघातं करेज्ज, कारवेज्ज वा, एवं सेसेसु वि भाणियव्वा। णासावहारे य पुरोहितोदाहरणम्-सो जधा णमोक्कारे गुणे उदाहरणं--कौंकणगसावगो मणुस्सेण भणितो, घोडए णासंते आहणाहि त्ति, तेण आहतो मतो य, करणं णीतो पुच्छितो--को ते सक्खी?, घोडगसामिएण भणियं, एतस्स पुत्तो मे सक्खी, तेण दारएण भणितं--सच्चमेतं ति, तुट्ठा पूजितो सो, लोगेण य पसंसितो, एवमादिया गुणा मुसावादवेरमणे। इदं चातिचाररहितमनुपालनीयम्। तथा चाह--(थूलगमुसावादवेरमणस्स) व्याख्या-स्थूलकमृषावादविरमणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः ज्ञपरिज्ञया, न समाचरितव्याः। तद्यथेति पूर्ववत्, सहसा--अनालोच्य, अभ्याख्यानं सहसाऽभ्याख्यानम्, अभिशंसनम्--असदध्यारोपणं, तद्यथा-चौरस्त्वं पारदारिको वेत्यादि। रहः--एकान्तः, तत्र भवं रहस्यं, तेन तस्मिन् वा अभ्याख्यानं रहस्याभ्याख्यानम्, एतदुक्तं भवति-एकान्ते मन्त्रयमाणान् वक्ति--एते हीदं चेदं च राजापकारित्वादि मन्त्रयन्ति। स्वदारे मन्त्रभेदः स्वदारमन्त्रभेदः--स्वदारमन्त्र (भेद) प्रकाशनं--स्वकलत्रविश्रब्धविशिष्टावस्थामन्त्रितान्यकथनमित्यर्थः,कूटम्-असद्भूतं,लिख्यत इति लेखः, तस्य करणं-क्रिया कूटलेखक्रिया-कूटलेखकरणम्,अन्यमुद्राक्षरबिम्बस्वरूपलेखकरणमित्यर्थः। एतानि समाचरन्नतिचरति द्वितीयाणुव्रतमिति। तत्रापायाः प्रदर्श्यन्ते--सहसब्भक्खाणं खलपुरिसो सुणेज्जा सो वा इतरो वा मारिज्जेज्ज वा, एवं गुणो, वेसि त्ति भएणं अप्पाणं तं वा विरोधेज्जा, एवं रहस्सब्भक्खाणेऽवि। सदारमंतभेदे जो अप्पणो भज्जाए सद्धिं जाणि रहस्से वोल्लिताणि ताणि अण्णेसिं पगासेति। पच्छा सा लज्जिता अप्पाणं परं वा मारेज्जा। तत्थ उदाहरणम्--मथुरावाणिगो दिसीयत्ताए गतो, भज्जा से जाधे ण एति ताधे बारसमे वरिसे अरणेण समं घडिता। सो आगतो, रत्तिं अन्नायवेसेण कप्पडियत्तणेण पविसति, ताणं तद्दिवसं पगतं, कप्पडिओ य मग्गति, तीए य बहितव्वगं खज्जगादि, ताधे णियगपतिं वाहेति, अरणातचज्जाए ताधे पुणरवि गंतुं महता रिद्धिए आगतो सयणाण समं मिलितो, परोवदेसेण वयस्साण सव्वं कधेति, ताए अप्पा मारितो। आव० ६ अ०। (अत्रत्यमन्यद् 'मोसोवएस' शब्दे वक्ष्यते)

अथ द्वितीयं संवरद्वारं मृषावादविरत्यात्मकम्--

जंबू! वितियं च सच्चवयणं सुद्धं सुचियं सिवं सुजायं सुभासियं सुव्वयं सुकहियं सुदिट्ठं सुपतिट्ठियं सुपतिट्ठियजसं सुसंजमियवयणबुइयं सुरवरनरवसभपवरबलवगसुविहियजणबहुमयं परमसाहुधम्मचरणं तवनियमपरिग्गहियं सुगतिपहदेसियं च लोगुत्तमं वयमिदं विज्जाहरगगणगमणविज्जाण साहगं सग्गमग्गसिद्धिपहदेसियं अवितहं तं सच्चं उज्जुयं अकुडिलं भूयत्थं अत्थतो विसुद्धं उज्जोयकरं पभासकं भवति, सव्वभावाण जीवलोके अविसंवादि, जहत्थमधुरं पच्चक्खं देवयं व जं तं अच्छेरकारकं अवत्थंतरेसु बहुएसु माणुसाणं सच्चेण महासमुद्दमज्झे वि मूढाऽणिया विपोया सच्चेण य उदगसंभमंमि वि न वुज्झति न य मरंति थाहं ते लभंति। सच्चेण य अगणिसंभमंमि वि न डज्झंति, उज्जुगा मणूसा सच्चेण य तत्ततेल्लतउलोहसीसकाइं छिवंति धरेंति न य डज्झंति, मणूसा पव्वयकडकाहिं मुचंति न य मरंति। सच्चेण य परिग्गहिया असिपंजरगया समराओ वि णिइंति। अणहा य सच्चवादी वहबंधभिओगवेरघोरेहिं पमुच्चंति य अमित्तमज्झाहिं निइंति अणहा य सच्चवादी सादिव्वाणि य देवयाओ करेंति सच्चवयणे रताणं। तं सच्चं भगवं तित्थगरसुभासियं दसविहं चोद्दसपुव्वीहिं पाहुडत्थविदितं महरिसीण य समयप्पदिण्णं देविंदनरिंदभासियत्थं वेमाणियसाहियं महत्थं मंतोसहिविज्जासाहणत्थं चारणगणसमणसिद्धविज्जं मणुयगणाणं वंदणिज्जं अमरगणाणं च अच्चणिज्जं असुरगणाणं च पूयणिज्जं अणेगपासंडिपरिग्गहियं जं तं लोकम्मि सारभूयं गंभीरतरं महासमुद्दाओ थिरतरगं मेरुपव्वयाओ सोमतरगं चंदमंडलाओ दित्ततरं सूरमंडलाओ विमलतरं सरयनहतलाओ सुरभितरं गंधमायणाओ जे वि य लोगंमि अपरिसेसा मंता जोगा जवा य विज्जा य जंभका य अत्थाणि य सत्थाऽणि य सिक्खाओ य आगमा य सव्वाइं वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं। सच्चं पि य संजमस्स उवरोहकारकं किंचि न वत्तव्वं, हिंसासावज्जसंपउत्तं भेयविकहकारकं अणत्थवायकलहकारकं अणज्जं अववायविवायसंपउत्तं वेलंबं ओजधेज्जबहुलं निल्लज्जं लोयगरहणिज्जं दुदिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं अप्पणो थवणा परेसु निंदा,न तं सि मेहावी, ण तं सि धण्णो,न तं सि पियधम्मो, न तं कुलीणो,न तं सि दाणपती,न तं सि सूरो न तं सि पडिरूवो,न तं सि लट्ठो,न पंडिओ,न बहस्सुओ, न वि य तं तवस्सी, ण याऽवि परलोगनिच्छियमती सि, सव्वकालं जातिकुलरूववाहिरोगेण वाऽवि जं होइ वज्जणिज्जं दुहओ उवचारमतिकंतं एवंविहं सच्चं पि न वत्तव्वं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ कीदृशम् तत्—

अह केरिसकं पुणाइं सच्चं तु भासियव्वं ?, जं तं दव्वेहिं पज्जवेहि य गुणेहिं कम्मेहिं बहुविहेहिं सिप्पेहिं आगमेहि य नामक्खायनिवाओवसग्गतद्धियसमाससंधिपदहेउजोगियउणादिकिरियाविहाणधातुसरविभत्तिवन्नजुत्तं तिकल्लं दसविहं पि सच्चं जह भणियं तह य कम्मुणा होइ दुवालसविहा होइ भासा, वयणं पि य होइ सोलसवियं, एवं अरहंतमणुन्नायं समिक्खियं संजएण कालंमि य वत्तव्वं । (सूत्र–२४)

'जंबू' इत्यादि–तत्र जम्बूरिति शिष्यामन्त्रणम्, (बिइयं च त्ति) द्वितीयं पुनः संवरद्वारम्, सत्यवचनम्—सद्भ्यो–मुनिभ्यो, गुणेभ्यः, पदार्थेभ्यो वा, हितं सत्यम् । आह च–

"सच्चं हियं सयामिह, संतो मुणओ गुणा पयत्था वा"

तच्च तद्वचनं सत्यवचनम्, एतदेव स्तुवन्नाह—शुद्धम्—निर्दोषम्, अत एव शुचिकं–पवित्रम्, शिवं—शिवहेतुः, सुजातं–शुभविवक्षोत्पन्नम्, अत एव–सुभाषितं–शोभनव्यक्तवाग्रूपं, शुभाश्रितम्, सुखाश्रितं; सुधासितं वा, सुव्रतम्–शोभननियमरूपं, शोभनो नाम मध्यस्थः कथः[कथितं] प्रतिपादको [प्रतिपादयितव्यं] यस्य तत्सुकथितं, सुदृष्टम् अतीन्द्रियार्थदर्शिभिः, दृढमपवर्गादिहेतुतयोपलब्धं, सुप्रतिष्ठितं–समस्तप्रमाणैरुपपादितं, सुप्रतिष्ठितयशः–अव्याहतख्यातिकं, (सुसंजमियवयणबुइयं ति) सुसंयमितवचनैः–सुनियन्त्रितवचनैरुक्तं यत्तत्तथा, सुरवराणां—नरवृषभाणां (पवरबलवग त्ति) प्रवरबलवतां सुविहितजनस्य च बहुमतं—सम्मतं यत्तत्तथा, परमसाधूनां—नैष्ठिकमुनीनाम्, धर्म्मचरणम्—धर्मानुष्ठानं यत्तत्तथा, तपोनियमाभ्यां परिगृहीतम्—अङ्गीकृतं यत्तत्तथा, तपोनियमौ सत्यवादिन एव स्यातां नापरस्येति भावः, सुगतिपथदेशकं च, लोकोत्तमं व्रतमिदमिति व्यक्तम् । विद्याधरगगनगमनविद्यानां साधनं नासत्यवादिनस्ताः सिध्यन्तीति भावः । स्वर्गमार्गस्य–सिद्धिपथस्य च, देशकं–प्रवर्त्तकम् यत्तत्तथा, अवितथम्—वितथरहितम्, (तं सच्चं उज्जुगं ति) सत्याभिधानं यद् द्वितीयं संवरद्वारमभिहितं,तदृजुकम् ऋजुभावप्रवर्त्तितत्वात्, तथा–अकुटिलम्–अकुटिलस्वरूपत्वात् ; भूतः–सद्भूतोऽर्थः—अभिधेयो यस्य तद् भूतार्थम्, अर्थतः–प्रयोजनतो, विशुद्धं–निर्दोषं, प्रयोजनापन्नमिति भावः, उद्योतकरं—प्रकाशकारि, कथम् ?—यतः प्रभाषकं—प्रतिपादकं भवति,केषां कस्मिन्नित्याह–सर्वभावानां जीवलोके—जीवाधारे क्षेत्रे, प्रभाषकमिति विशिनष्टि, अविसंवादि–अव्यभिचारि, यथार्थमिति कृत्वा,मधुरं–कोमलं यथार्थमधुरं, प्रत्यक्षं दैवतमिव देवतेव यत्तद्, आश्चर्यकारकं–चित्तविस्मयकरकार्यकारकं, तदीदृशं, केषु कथमिति ? आह—अवस्थान्तरेषु—अवस्थाविशेषेषु, बहुषु मनुष्याणां, यदाह–

"सत्येनाग्निर्भवेच्छीतो, गाधं धत्तेऽम्बु सत्यतः ।
नासिश्छिनत्ति सत्येन, सत्याद्रज्जूयते फणी ॥ १ ॥"

एतदेवाह–सत्येन हेतुना महासमुद्रमध्ये तिष्ठन्ति न निमज्जन्ति, (मूढाऽणिया वि त्ति) मूढं नियतदिग्गमनाप्रत्ययम् (अणियं ति) अग्रम्—तुण्डम्, अनीकं वा—तत्प्रवर्तकं जनसैन्यं येषां ते तथा, तेऽपि,पोताबोधिस्थाः, तथा सत्येन च उदकसम्भ्रमेऽपि—सम्भ्रमकारणत्वादुदकप्लवः उदकसम्भ्रमस्तत्रापि (न वुज्झइ त्ति) वचनपरिणामान्नोह्यन्ते—नप्लाव्यन्ते, न च म्रियन्ते, स्ताघं च—गाधं च ते लभन्ते, सत्येन चाग्निसम्भ्रमेऽपि—प्रदीपनकेऽपि; न दह्यन्ते, ऋजुका—आर्जवोपेताः, मनुष्या–नराः सत्येन च तप्ततैलत्रपुलोहसीसकानि प्रतीतानि (छिवंति त्ति) छुपन्ति—धारयन्ति, हस्ताञ्जलिभिरिति गम्यते, न च दह्यन्ते मनुष्याः, पर्वतकटकात्—पर्वतैकदेशाद् विमुच्यन्ते न च म्रियन्ते, सत्येन च परिग्रहीता युक्ता इत्यर्थः, असिपञ्जरे–शक्तिपञ्जरे गताः, खड्गशक्तिव्यग्रकररिपुपुरुषवेष्टिता इत्यर्थः, समरादपि–रणादपि, (निंति त्ति) निर्यान्ति–निर्गच्छन्ति, अनघाश्च–अक्षतशरीरा इत्यर्थः, के इत्याह—सत्यवादिनः–सत्यप्रतिज्ञाः, वधबन्धाभियोगवैरघोरेभ्यः–ताडनसंयमनबलात्कारघोरशात्रवेभ्यः प्रमुच्यन्ते, अमित्रमध्यात् शत्रुमध्यान्निर्यान्ति, अनघाश्च निर्दोषाः सत्यवादिनः, सादेव्यानि च–सांनिध्यानि च,देवताः कुर्वन्ति;सत्यवचनरतानाम् । आह च–

"प्रियं सत्यं वाक्यं हरति हृदयं कस्य न जने ?,
गिरं सत्यां लोकः प्रतिपदमिमामर्थयति च ।
सुराः सत्याद्वाक्याद्ददति मुदिताः कामिकफल–
मतः सत्याद्वाक्याद् व्रतमभिमतं नास्ति भुवने ॥ १ ॥"

(तमिति) यस्मादेवं तस्मात्सत्यं द्वितीयं महाव्रतं भगवद्—भट्टारकं, तीर्थकरसुभाषितम् जिनैः सुष्ठूक्तं दशविधं—दशप्रकारं; जनपदसम्मतसत्यादिभेदेन दशवैकालिकादिप्रसिद्धं, चतुर्दशपूर्विभिः प्राभृतार्थवेदितं—पूर्वगतांशविशेषाभिधेयतया ज्ञातं महर्षीणां च, समयेन–सिद्धान्तेन, (पइन्नं ति) प्रदत्तं समयप्रतिज्ञा वा–समाचाराभ्युपगमः । पाठान्तरे–(महरिसिसमयपइन्नचिन्नं ति) महर्षिभिः, समयप्रतिज्ञा–सिद्धान्ताभ्युपगमः, समाचाराभ्युपगमो वेति चरितं यत्तत्तथा, देवेन्द्रनरेन्द्रैर्भाषितः–जनानामुक्तोऽर्थः–पुरुषार्थस्तत्साध्यो धर्मादिर्यस्य तत्तथा । अथवा–देवेन्द्रनरेन्द्राणां भासितः—प्रतिभासितोऽर्थः—प्रयोजनं यस्य तत्तथा । अथवा–देवेन्द्रादीनां भाषिताः,अर्था–जीवादयो जिनवचनरूपेण येन तत्तथा,तथा वैमानिकानां साधितं प्रतिपादितमुपादेयतया जिनादिभिर्यत्तत्तथा, वैमानिकैर्वा साधितं–कृतमासेवितं,समर्थितं वा यत्तत्तथा, महार्थं–महाप्रयोजनम्, एतदेवाह—मन्त्रौषधिविद्यानां साधनमर्थः—प्रयोजनं यस्य तद्विना तस्याभावात्तत्तथा, तथा चारणगणानां–विद्याचारणादिवृन्दानां, श्रमणानां च सिद्धाः विद्या आकाशगमनवैक्रियकरणादिप्रयोजना यस्मात्तत्तथा, मनुजगणानां च वन्दनीयं–स्तुत्यम्, अमरगणानां चार्चनीयं–पूज्यम्, असुरगणानां च पूजनीयम्, अनेकपाखण्डिपरिगृहीतं नानाविधव्रतिभिरङ्गीकृतं यत्तत्,लोके सारभूतं,गम्भीरतरं–महासमुद्रादतिशयेनाक्षोभ्यत्वात्' स्थिरतरकं–मेरुपर्वतात् अचलितत्वेन, सौम्यतरं चन्द्रमण्डलात्, अतिशयेन सन्तापोपशमहेतुत्वात्, दीप्ततरं सूरमण्डलात्, यथावद्वस्तुप्रकाशनात्; तेजस्विनां चात्यन्तानभिभवनीयत्वात्, विमलतरं शरन्नभस्तलादतिनिर्दोषत्वात्, सुरभितरमिव सुरभितरं, गन्धमाद–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाद्-गजदन्तकगिरिविशेषात्, सहृदयानामतीव हृदयाव-
र्जकत्वात्, येऽपि च लोकेऽपरिशेषा—निःशेषा, मन्त्राः—
हरिणेगमेषिमन्त्रादयः, योगाः-वशीकरणादिप्रयोजनाः, द्र-
व्यसंयोगाः,जपाश्च-मन्त्रविद्याजपनानि, विद्याश्च-प्रज्ञप्त्या-
दिकाः, जृम्भकाश्च-तिर्यग्लोकवासिनो देवविशेषाः, अस्त्रा-
णि च-नाराचादीनि क्षेप्यायुधानि, सामान्यानि वा, शा-
स्त्राणि च-अर्थशास्त्रादीनि, शस्त्राणि वा-खड्गादीनि, अक्षेप्या-
युधानि, शिक्षाश्च-कलाग्रहणानि, आगमाश्च-सिद्धान्ताः,
सर्वाण्यपि तानि सत्ये प्रतिष्ठितानि, असत्यवादिनां न केऽपि
मन्त्रादयोऽर्थाः स्वसाध्यसाधकाः प्रायो भवन्तीति भावः,
तथा-सत्यमपि सद्भूतार्थमात्रतया संयमस्योपरोधकारकं
बाधकं किञ्चिद् अल्पमपि न वक्तव्यं, किंरूपं तदित्याह-हिं-
सया-जीववधेन, सावद्येन च पापेन, आलापादिना सम्प्रयुक्तं
यत्तत्तथा, आह च-

तहेव काणं काणि त्ति, पंडगं पंडग त्ति य।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरि त्ति नो वए ॥ १ ॥

भेदः-चारित्रभेदस्तत्कारिका,विकथाः-स्त्र्यादिकथाः,तत्का-
रकं यत्तत्तथा,तथा अनर्थवादो-निष्प्रयोजनो जल्पः,कलहश्च-
कलिः,तत्कारकं यत्तत्तथा,अनार्यम्-अनार्यप्रयुक्तम्,अन्याय्यं
च अन्यायोपेतम्, अपवादः-परदूषणाभिधानं,विवादो विप्र-
तिपत्तिस्तत्सम्प्रयुक्तं यत्तत्तथा, वेलम्बं-परेषां विडम्बनकारि,
ओजो-बलं, धैर्यं च—धृष्टता, ताभ्यां, बहुलं, प्रचुरमोजोधै-
र्यबहुलं, निर्लज्जम्—अपेतलज्जं, लोकगर्हणीयं—लोकनिन्द्यं,
दुर्दृष्टम्-असम्यगीक्षितं, दुःश्रुतम्—असम्यगाकर्णितं,दुर्मु-
णितम्-असम्यग्ज्ञातम्, आत्मनः स्तावना—स्तुतिः, परेषां
निन्दा-गर्हा, निन्दामेवाह—(नसि त्ति) नासि—न भवसि,
त्वमिति गम्यते, मेधावी-अपूर्वश्रुतदृष्टग्रहणशक्तियुतः, तथा
न त्वमसि, धन्यो—धनं लब्धा, तथा नासि—न भवसि,
प्रियधर्मा—धर्मप्रियः, तथा न त्वं कुलीनः—कुलजातः,
तथा न असि—न भवसि दानपतिः दानदातेत्यर्थः, तथा न
त्वमसि सू(शू)रः-चारभटः, तथा न त्वमसि-न भवसि प्र-
तिरूपो-रूपवान्, न त्वमसि लष्टः-सौभाग्यवान्, न पण्डि-
तो-बुद्धिमान्, न बहुश्रुतः—आकर्णिताधीतबहुशास्त्रः, ब-
हुसुतो वा—बहुपुत्रो बहुशिष्यो वा, नापि च त्वं तप-
स्वी-क्षपकः, न चापि परलोकविषये निश्चिता-निःसंशया
मतिरस्येति परलोकनिश्चितमतिः, असि-भवसि, सर्वका-
लम्—आजन्मापीति, किं बहुनोक्तेन ?, वर्जनीयवचनविषय-
मुपदेशसर्वस्वमुच्यते, जातिकुलरूपव्याधिरोगेण चापीति,
इह जात्यादीनां समाहारद्वन्द्वः, ततो जात्यादिना निन्दिते-
न परचित्तपीडाकारित्वाद्यद्भवेद्, वर्जनीयं—परिहर्त्तव्यं,
तदेवंविधं सत्यमपि न वक्तव्यमिति वाक्यार्थः। तत्र जा-
तिः—मातृकः पक्षः, कुलं—पैतृकः पक्षः, रूपम्-आकृतिः,
व्याधिः—चिरस्थाता कुष्ठादिः, रोगः—शीघ्रतरघाती ज्वरा-
दिः, वा-विकल्पे, अपिः-समुच्चये, (दुहिलं ति) द्रोहवत्
पाठान्तरेण—" दुहओ त्ति " द्रव्यतो भावतश्च। उपचारं—
पूजाम्, उपकारं वा अतिक्रान्तम्, एवंविधं तु-एवंप्रकारं,
पुनः सत्यमपि-सद्भूततामात्रेण आस्तामसत्यं, न वक्त-
व्यं-न वाच्यम्, (अथ केरिसगं ति) अथशब्दः परिप्रश्ने,
कीदृशकं—किंविधम्-(पुणाइं ति) इह पुनरपि पूर्ववाक्या-
र्थापेक्षयोत्तरवाक्यार्थस्य विशेषद्योतनार्थः, (आइं ति)
वाक्यालंकारार्थः, (सच्चं तु त्ति) सत्यमपि भाषितव्यं,
वक्तव्यं, यत्तद् द्रव्यैः—त्रिकालानुगतिलक्षणैः पुद्गलादिभि-
र्वस्तुभिः, पर्यायैश्च—नवपुराणादिभिः, क्रमवर्तिभिर्धर्म्मैः,
गुणैः—वर्णादिभिः सह भाविभिर्द्धर्म्मैरेव, कर्म्मभिः—कृ-
ष्यादिव्यापारैः, बहुविधैः, शिल्पैः—साचार्यकैश्चित्रकर्म्मा-
दिभिः क्रियाविशेषैः, आगमैश्च सिद्धान्तार्थैर्युक्तमिति स-
म्बन्धः कार्यः, युक्तशब्दस्योत्तरत्र समस्तनिर्देशेऽपि प्राकृ-
तशैलीवशाद् द्रव्यादियुक्तत्वं वचनस्य तदभिधायकत्वाद्,
अथवा-द्रव्यादिषु विषये द्रव्यादिगोचरमित्यर्थः। तथा
'नामाख्यातनिपातोपसर्गतद्धितसमाससन्धिपदहेतुयौगिको-
णादिक्रियाविधानधातुस्वरविभक्तिवर्णयुक्तम्' इति—(अ-
स्य व्याख्या) तत्र नामेति पदशब्दसम्बन्धान्नामपदमेवमु-
त्तरत्रापि, तच्चाव्युत्पन्नेतरभेदाद् द्विधा। तत्र व्युत्पन्नम्—
देवदत्तादि, अव्युत्पन्नम् डित्थेत्यादि, आख्यातपदं—
साध्यक्रियापदं, यथा-अकरोत्, करोति, करिष्यति, तत्तद-
र्थद्योतनाय तेषु तेषु स्थानेषु निपतन्तीति निपाताः तत्प-
दं निपातपदं, यथा—च वा खल्वित्यादि, उपसृज्यन्ते-धा-
तुसमीपे नियुज्यन्त इत्युपसर्गास्तद्रूपं पदमुपसर्गपदम्-प्रपरा
अप इत्यादिवत्, तस्मै हितं तद्धितमित्याद्यर्थाभिधायका ये
प्रत्ययास्ते तद्धिताः, तदन्तं पदं तद्धितपदं,यथा-गोभ्यो हि-
तो गव्यो देशः, नाभेरपत्यं नाभेय इत्यादि,समसनं-समासः,
पदानामेकीकरणरूपः, तत्पुरुषादिः, तत्पदं—समासपदं,
यथा—राजपुरुषः इत्यादि,सन्धिः—सन्निकर्षः,तच्च तत् पदं,
यथा—दधीदं, तद्यथेत्यादि, तथा हेतुः-साध्याविनाभूतत्व-
लक्षणो, यथा—अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति, यौगिकं-य-
देतेषामेव द्व्यादिसंयोगवत्,यथा-उपकरोति सेनयाऽभिया-
ति अभिषेणयतीत्यादि, तथा-उणादि-उणप्रभृतिप्रत्ययान्तं
पदं, यथा—आशु,स्वादु, तथा—क्रियाविधानं—सिद्धक्रिया-
विधिः, काऽन्तप्रत्ययान्त [कृत्प्रत्ययान्त] पदविधिरित्यर्थः,
यथा—पाचकः पाक इत्यादि, तथा-धातवो—भ्वादयः क्रि-
याप्रतिपादकाः, स्वरा-अकारादयः, षड्जादयो वा सप्त,
क्वचिद्रसा इति पाठः, तत्र रसाः-शृङ्गारादयो नव, यथा—

"शृङ्गारहास्यकरुणा, रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च,नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥१॥"

विभक्तयः-प्रथमाद्याः सप्त, वर्णाः-ककारादिव्यञ्जनानि, ए-
भिर्युक्तं यत्तत्तथा,अथ सत्यं भेदत आह-त्रैकाल्यं-त्रिकालवि-
षयं दशविधमपि सत्यं भवतीति योगः, दशविधत्वं च सत्य-
स्य जनपदसम्मतसत्यादिभेदात्, आह च-

"जणवय १ संयम २ ठवणा ३,नामे४ रूवे ५ पडुच्च सच्चे य ६।
ववहार७ भाव ८ जोगे ९,दसमे ओवम्मसच्चे य१०॥१॥"त्ति।

जनपदसत्यं यथा—उदकार्थे कोङ्कणादिदेशरूढ्या पय इति
वचनं, संमतसत्यं यथा—समानेऽपि पङ्कसम्भवे गोपालादी-
नामपि सम्मतत्वेनारविन्दमेव पङ्कजमुच्यते, न कुवलयादीति
स्थापनासत्यं-जिनप्रतिमादिषु जिनादिव्यपदेशः, नामस-
त्यं यथा-कुलमवर्द्धयन्नपि कुलवर्धन इत्युच्यते, रूपसत्यं य-
था-भावतोऽश्रमणोऽपि तद्रूपधारी श्रमण इत्युच्यते, प्रती-
तसत्यं यथा-अनामिका कनिष्ठिकां प्रतीत्य दीर्घेत्युच्यते,
सैव मध्यमां प्रतीत्य ह्रस्वेति, व्यवहारसत्यं यथा—गिरिग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्तृणादिषु दह्यमानेषु व्यवहारात् गिरिर्दह्यत इति, भावसत्यं यथा—सत्यपि पञ्चवर्णत्वे शुक्लत्वलक्षणभावोत्कटत्वात्-शुक्ला बलाकेति, योगसत्यं यथा—दण्डयोगाद्दण्ड इत्यादि, औपम्यसत्यं यथा—समुद्रवत्तडाग इत्यादि, तथा-(जह भणियं तह य कम्मुणा होइ त्ति) यथा—येन प्रकारेण, भणितं- भणनक्रिया, दशविधसत्यं सद्भूतार्थतया भवति, तथा—तेनैव प्रकारेण, कर्मणा वा, अक्षरलेखनादिक्रियया सद्भूतार्थज्ञापनेन सत्यं दशविधमेव भवतीति, अनेन चेदमुक्तं भवति-न केवलं सत्यार्थं वचनं वाच्यम्, हस्तादिकर्म्माप्यव्यभिचार्यर्थसूचकमेव कर्तव्यम्, उभयत्राप्यव्यभिचारितया पराव्यसनस्याकुटिलाध्यवसायस्य च तुल्यत्वादिति, तथा-(दुवालसविहा य होइ भास त्ति) द्वादशविधा च भवति भाषा, तथा च-

" प्राकृतसंस्कृतभाषा, मागधपैशाचसौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो, देशविशेषादपभ्रंशः॥ १॥ "

इयमेव षड्विधा भाषा गद्यपद्यभेदेन भिद्यमाना द्वादशधा भवतीति, तथा वचनमपि षोडशविधं भवति, तथाहि—

"वयणतियं३लिङ्गतियं६,कालतियं९तह परोक्खपच्चक्खं११।
उवणीयाइचउक्कं१५,अज्झत्थं १६ चेव सोलसमं॥ १॥"

तत्र वचनत्रयम्—एकवचनद्विवचनबहुवचनरूपं, यथा वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः। लिङ्गत्रिकम्-स्त्रीपुंनपुंसकरूपम्, यथा-कुमारी,वृक्षः,कुण्डम्।कालत्रिकम्-अतीतानागतवर्तमानकालरूपम्,यथा-अकरोत्,करिष्यति,करोति।प्रत्यक्षं यथा-अयम्, एषः। परोक्षं यथा-सा। तथा-उपनीतवचनम् गुणोपनयनरूपं, यथा-रूपवानयम्। अपनीतवचनं—गुणापनयनरूपं, यथा-दुःशीलोऽयम्। उपनीतापनीतवचनम्-यत्रैकं गुणमुपनीय गुणान्तरमपनीयते, यथा-रूपवानयं किं तु-दुःशीलः। विपर्ययेण तु अपनीतोपनीतवचनं, तद्यथा—दुःशीलोऽयं किं तु रूपवान्। अध्यात्मवचनम्-अभिमतमर्थं गोपयितुकामस्य सहसा तस्यैव भणनमिति, (एवमिति) उक्तसत्यादिस्वरूपावधारणप्रकारेण अर्हदनुज्ञातं समीक्षितं, बुद्ध्या पर्यालोचितं, संयतेन संयमवता, काले च अवसरे, वक्तव्यम्, न तु जिनाननुज्ञातमपर्यालोचितमसंयतेनाकाले चेति भावना। आह च—

" बुद्धिए निपऊण, भासेज्जा उभयलोगपरिसुद्धं।
सपरोभयाण जं खलु, न सव्वहा पीडजणगं तु॥ १॥ "

एतदर्थमेव जिनशासनमित्येतदाह पञ्च भावनाः-

इमं च अलियपिसुणफरुसकडुयचवलवयणपरिरक्खणऽट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चा भावियं आगमेसि भद्दं सुद्धं नेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउसमणं, तस्स इमा पंच भावणाओ वितियस्स वयस्स अलियवयणस्स वेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पढमं सोऊण संवरट्ठं परमट्ठं सुट्ठु जाणिऊण न वेगियं न तुरियं न चवलं न कडुयं न फरुसं न साहसं न य परस्स पीलाकरं सावज्जं सच्चं च हियं च मियं च गाहगं च सुद्धं संगयमकाहलं च समिक्खितं संजतेण कालंमि य वत्तव्वं एवं अणुवीतिसमितिजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो।

'इमं चे' त्यादि—इमं च प्रत्यक्षं प्रवचनमिति योगः, अलीकम्-असद्भूतार्थं, पिशुनं-परोक्षस्य परस्य दूषणाविष्करणरूपम्, परुषम्-अश्राव्यभाषं, कटुकम्-अनिष्टार्थम्, चपलम्—उत्सुकतयाऽसमीक्षितम्, यद्वचनम्-वाक्यं, तस्य परिरक्षणलक्षणो योऽर्थस्तस्य भावस्तत्ता तस्यै च अलीकपिशुनपरुषकटुकचपलवचनपरिरक्षणार्थतायै,प्रावचनम्—प्रवचनं, शासनमित्यर्थः, भगवता श्रीमन्महावीरेण सुष्ठु कथितं सुकथितमित्यादि, 'पररक्खणट्ठयाए' त्ति यावत् पूर्ववत्। नवरं द्वितीयस्य व्रतस्य-अलीकवचनस्येति विशेषः, (पढमं ति) प्रथमं भावनावस्तु अनुविचिन्त्य समितियोगलक्षणम्, तच्चैवम्- श्रुत्वा- आकर्ण्य सद्गुरुसमीपे (संवरट्ठं ति) संवरस्य—प्रस्तावेन मृषावादविरतिलक्षणस्य, अर्थः—प्रयोजनं, मोक्षलक्षणं प्रस्तुतसंवराध्ययनस्य वा अर्थः—अभिधेयः,संवरार्थस्तम्, श्रवणाच्च (परमट्ठं सुट्ठु जाणिऊणं ति) परमार्थं—हेयोपादेयवचनैदम्पर्यं सुष्ठु—सम्यक् ज्ञात्वा, नैव, वेगितम्—वेगवत्, विकटपव्याकुलतयेत्यर्थः, वक्तव्यमिति योगः। न त्वरितम्,वचनचापल्यतः,न कटुकम् अर्थतः, न परुषं,वर्णतः,न साहसं साहसप्रधानमतर्कितं वा, न च परस्य जन्तोः पीडाकरं,सावद्यम्-सपापं यत्,वचनविधिं निषेधतोऽभिधाय। साम्प्रतं विधित आह-सत्यं च—सद्भूतार्थं, हितं च-पथ्यं, मितम्-परिमिताक्षरं, ग्राहकं च-प्रतिपाद्यस्य विवक्षितार्थप्रतीतिजनकं, शुद्धम्-पूर्वोक्तवचनदोषरहितं संङ्गतम्-उपपत्तिभिरबाधितम्, अकाहलं च-अमन्मनाक्षरं, समीक्षितम्-पूर्वं बुद्ध्या पर्यालोचितं, संयतेन-संयमवता, काले च—अवसरे, वक्तव्यं, नान्यथा, एवम्—उक्तेन भाषणप्रकारेण, (अणुवीइयसमितिजोगेणं ति) अनुविचिन्त्य- पर्यालोच्य, भाषणरूपा या समितिः—सम्यक्प्रवृत्तिः, सा अनुविचिन्त्यसमितिः तया योगः सम्बन्धः तद्रूपो वा व्यापारोऽनुविचिन्त्यसमितियोगस्तेन भावितो भवति, अन्तरात्मा—जीवः, किंविध इत्याह—संयतकरचरणनयनवदनः शूरः सत्यार्जवसंपन्न इति प्रतीतमिति॥ १॥ प्रश्न० २ संव० द्वार।

अहावरं दोच्चं महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं मुसावायं वतिदोसं से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा णेव सयं मुसं भासिज्जा, णेवऽण्णेणं मुसं भासावेज्जा, अण्णं पि मुसं भासंतं ण समणुजाणेज्जा तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा, तस्स भंते! पडिक्कमामि० जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति, तत्थिमा पढमा भावणा—अणुवीयिभासी से णिग्गंथे णो अणणुवीयिभासी, केवली बूया०—अणणुवीयिभासी से निग्गंथे समावज्जिज्जा मोसं वयणाए, अणुवीयिभासी से णिग्गंथे णो अणणुवीयिभासि त्ति पढमा भावणा। अहावरा दुच्चा भावणा—कोहं परियाणइ से निग्गंथे नो कोहणे सिया,केवली बूया—कोहप्पत्ते कोहत्तं समावइज्जा मोसं वयणाए,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोहं परियाणइ से निग्गंथे न य कोहणे सिय त्ति दुचा भावणा। आचा० २ श्रु० ३ चू०।

बितियं कोहो ण सेवियव्वो, कुद्धो चंडिकिओ मणूसो अलियं भणेज्ज, पिसुणं भणेज्ज, फरुसं भणेज्ज, अलियं पिसुणं फरुसं भणेज्ज, कलहं करेज्जा, वेरं करेज्जा, विकहं करेज्जा, कलहं वेरं विकहं करेज्जा। सच्चं हणेज्ज, सीलं हणेज्ज, विणयं हणेज्ज, सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज। वेसो हवेज्ज, वत्थुं भवेज्ज, गम्मो भवेज्ज, वेसो वत्थुं गम्मो भवेज्ज। एयं अन्नं च एवमादियं भणेज्ज। कोहऽग्गिसंपलित्तो तम्हा कोहो न सेवियव्वो, एवं खंतीइ भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चऽज्जवसंपन्नो। ततियं लोभो न सेवियव्वो, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं खेत्तस्स व वत्थुस्स व कतेण १, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं कित्तीए लोभस्स व कएण२, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं रिद्धीए व सोक्खस्स व कएण३, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं भत्तस्स व पाणस्स व कएण४, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं पीढस्स व फलगस्स व कएण ५, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं सेज्जाए व संथारगस्स व कएण ६, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं वत्थस्स व पत्तस्स व कएण ७, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं कंबलस्स व पायपुंछणस्स व कएण ८, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं सीसस्स व सिस्सीणीए व कएण ९, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं अन्नेसु य एवमादिसु बहुसु कारणसतेसु, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं तम्हा लोभो न सेवियव्वो, एवं मुत्तीए भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसपंन्नो।

(विइयं ति) द्वितीयं भावनावस्तु यत्क्रोधनिग्रहणम्, एतदेवाह-क्रोधो न सेवितव्यः, कस्मात्कारणादित्याह-क्रुद्धः-कुपितः, चाण्डिक्यं रौद्ररूपत्वं, सञ्जातमस्येति चाण्डिक्यितो मनुष्योऽलीकं भणेदित्यादि सुगमं, नवरं, वैरम्-अनुशयानुबन्धं, विकथां-परिवादरूपां, शीलं-समाधिं (वेसो त्ति) द्वेष्यः-अप्रियो भवेत् एष वस्तु-दोषावासगम्यः-परिभवस्थानं, निगमनमाह-(एयं ति) अलीकादिकं गृह्णते, तदन्यस्य भणनक्रियाया अविषयत्वात्, अन्यच्च-उक्तव्यतिरिक्तमेवमादिकम्-एवंजातीयं भणेत् क्रोधाग्निसंप्रदीप्तः सन् 'तम्हेत्यादि-संपन्नो' इत्येतदन्तं व्यक्तम् २। (ततियं ति) तृतीयं भावनावस्तु, किं तदित्याह-लोभो न सेवितव्यः, कस्मादित्यत आह-लुब्धो-लोभवान् लोलो व्रते चञ्चलो भणेदलीकम्, एतदेव विषयभेदेनाह-क्षेत्रस्य वा-ग्रामादेः, कृषिभूमेर्वा, वास्तुनो-गृहस्य, (कएण त्ति) कृते-हेतोः, लुब्धो लोलो भणेदलीकम्, एवमन्यान्यप्यष्ट सूत्राणि नेतव्यानि, नवरं, कीर्तिः-ख्यातिः, लोभस्य-औषधादिप्राप्तेः कृते, तथा ऋद्धेः-परिवारादिकायाः सौख्यस्य-शीतलच्छायादिसुखहेतोः कृते, तथा शय्यायाः वसतेः यत्र वा प्रसारितपादैः सुप्यते सा शय्या तस्यै, संस्तारकस्य वा-अर्द्धतृतीयहस्तस्य कम्बलखण्डादेः कृते पादप्रोञ्छनस्य-रजोहरणस्य कृते उपसंहरन्नाह-अन्येषु च एवमादिषु बहुषु कारणशतेष्वित्यादि व्यक्तमेव ३। प्रश्न० २ संव० द्वार। (अन्यद् 'भीय' शब्दे)

अहावरा तच्चा भावणा-लोभं परिजाणइ से णिग्गंथे णो य लोभणए सिया, केवली बूया-लोभपत्ते लोभी समावइज्जा मोसं वयणाए, लोभं परिजाणइ से णिग्गंथे णो य लोभणए सिय त्ति तच्चा भावणा।

तृतीयभावनायां तु लोभजयः कर्त्तव्यस्तस्यापि मृषावादे हेतुत्वादिति हृदयम्। आचा० २ श्रु० ३ चू०।

अहावरा चउत्था भावणा-भयं परिजाणइ से णिग्गंथे णो भयभीरुए सिया, केवली बूया-भयप्पत्ते भीरु समावदेज्जा मोसं वयणाए भयं परिजाणइ से णिग्गंथे नो भयभीरुए सिया, चउत्था भावणा। अहावरा पंचमा भावणा-हासं परिजाणइ से णिग्गंथे णो य हासणए सिया, केवली बूया-हासप्पत्ते हासी समावदेज्जा मोसं वयणाए, हासे परिजाणइ से णिग्गंथे णो हासणए सिय त्ति, पंचमी भावणा-एतावता दोच्चे महव्वए सम्मं काएण फासिए० जाव आणाए आराहिते याऽवि भवति दोच्चे भंते! महव्वए। आचा० २ श्रु०३ चू०।

पंचमगं हासं न सेवियव्वं अलियाइं असंतगाइं जंपंति हासइत्ता परपरिभवकारणं च हासं परपरिवायप्पियं च हासं परपीलाकारगं च हासं भेदविमुत्तिकारकं च हासं अन्नोन्नजणियं च होज्ज हासं अणोण्णगमणं च होज्ज-मम्मं अन्नोण्णगमणं च होज्ज कम्मं कंदप्पाभिओगगमणं च होज्ज हासं आसुरियं किव्विसत्तं वा जणेज्ज हासं, तम्हा हासं न सेवियव्वं। एवं मोणेण य भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणणयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपण्णो ५ एवंमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहिं वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धितिमया मतिमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सव्वजिणमणुन्नाओ, एवं वितियं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं अणुपालियं आणाए आराहियं भवति, एवं नायमुणिणा भगवया पन्नवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवितं सुदेसियं पसत्थं वितियं संवरदारं समत्तं ति बेमि॥ २५॥

(पंचमगं ति) पञ्चमकं-भावनावस्त्विति गम्यते, यदुत हास्यं न सेवितव्यं-परिहासो न विधेयः, यतः अलीकानि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सद्भूतार्थनिह्नवरूपाणि, (असंतगाइं ति) असन्ति असद्भूतार्थानि; वचनानीति गम्यते। अशोभनानि वा; अशान्तानि वा-अनुपशमप्रधानानि; जल्पन्ति-ब्रुवते (हासइत्त त्ति) हासवन्तः-परिहासकारिणः,परिभवकारणं च हास्यम्-अपमाननाहेतुरित्यर्थः परपरिवादः-अन्यदूषणाभिधानम् ' प्रियः-इष्टो; यत्र तत्तथा तद्विधं च हास्यं परपीडाकारकं च हास्यमिति व्यक्तम् (भेयविमुक्तिकारकं च त्ति) भेदः चारित्रभेदो; विमूर्तिश्च-विकृतनयनवदनादित्वेन विकृतशरीराकृतिः तयोः कारकं यत्तत्तथा तच्च हास्यम्। अथवा-राजदन्तादिदर्शनाद्विमुक्तेः-मोक्षमार्गस्य भेदकारकमिति वाच्ये भेदविमुक्तिकारकमित्युक्तम् , अन्योऽन्यजनितं च परस्परकृतं च, भवेद्धास्यं, यतस्ततोऽन्योऽन्यगमनं च-परस्परस्याभिगमनीयं च भवेत्-मर्मप्रच्छन्नपारदार्यादिदुश्चेष्टितं, तथाऽन्योन्यगमनं च--परस्पराधिगम्यं च भवेत्कर्म-लोकनिन्द्यजीवनवृत्तिरूपं, (कंदप्पाभियोगगमणं च त्ति) कन्दर्पाश्च-कान्दर्पिका देवविशेषा हास्यकारिणो भाण्डप्राया, आभियोग्याश्च--अभियोगार्हा, आदेशकारिणो देवाः, एतेषु गमनं गमनहेतुर्यत्तत्तथा तच्च भवेद्धास्यम् , अयमभिप्रायो-हास्यरतिसाधुश्चारित्रलेशप्रभावाद्देवेषूत्पद्यमानः कान्दर्पिकेषु आभियोगिकेषु चोत्पद्यते न महर्द्धिकेष्विति हास्यमनथायेति, आह च-

" जो संजओ वि, एयासु, अप्पवत्थासु वट्टइ कहिं चि।
तो तव्विहेसु गच्छइ, नियमा भइओ चरणहीणो ॥ १ ॥ "

(एयासु त्ति) कन्दर्प्पादिभावनास्विति तथा-(आसुरियं किब्बिसत्तं च जणेज्ज हासं ति) (आसुरियं ति) असुरभावम् , (किब्बिसत्तं ति) चाण्डालप्रायदेवविशेषत्वं, वा विकल्पे, जनयेत्-प्रापयेत् , जन्मान्तरहास्यकारि चारित्रजीवम् . हास्यं-हासः, यस्मादेवं तस्माद्धासं न सेवितव्यमिति। अथैतन्निगमनमाह-एवमुक्तेन हासवर्जनप्रकारेण मौनेन-वचनसंयमेन, भावितो भवत्यन्तरात्मा संयतादिविशेषणः ' एवमिण ' मित्याद्यध्ययननिगमनं पूर्वाध्ययनवद् व्याख्येयमिति। प्रश्न० २ संव० द्वार।

मुसुमूर-भञ्ज-धा०। भञ्जे, भञ्जे र्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जाः ॥ ८। ४। १०६ ॥ भञ्जेरेते नवादेशा भवन्ति। मुसुमूरइ। प्रा० ४ पाद।

मुसुमूरिअ-भग्न-त्रि०। चूर्णिते, " मुसुमूरिअं चुरिणअं " पाइ० ना० १८२ गाथा।

मुसोवएस-मृषोपदेश-पुं०। मृषा-अलीकं तस्योपदेशो मृषोपदेशः। इदमेवं च ब्रूहि त्वमेवं चाभिदध्याः कुलगृहेष्वित्यादिके असत्याभिधानशिक्षणे, प्रव०। मृषा-अलीकं तस्योपदेशो मृषोपदेशः, इदम् एवं एवं च ब्रूहि त्वम्-एवं च एवं च अभिदध्याः,कुलगृहेष्वित्यादिकमसत्याभिधानशिक्षाप्रदानमित्यर्थः। इह मतसंरक्षणबुद्ध्या परवृत्तान्तकथनद्वारेण मृषोपदेशं यच्छतः पञ्चमोऽतिचारः। प्रव० ६ द्वार।

कारणे ओभासेज्जाऽवि। गाहा-

वितियपदं उड्डाहे, संजमहेउं व वोहिए तेणे।
खेत्ते वा पडिणीए, सेहे वा वादिमादीसु ॥ ७० ॥

उड्डाहरक्खणत्थं जहा केणति पुट्ठो-तुज्झं लाभो एसु समुद्देसो ण व त्ति,वत्तव्वं संजमहेउं अत्थि,ते केति मिया दिट्ठा, दिट्ठेसु वि न दिट्ठ त्ति वत्तव्वं वोधि तामिच्छतेसिं भीओ भणिज्ज-एसो खंधावारो एति त्ति तेणेसु एस समत्थो एति त्ति अवसरह। खेत्ते धायारभाविए वंभणो अहमिति भासए जत्थ वा साहू न नज्जति तत्थ पुच्छितो भणति-से य परिव्वायगामे कोइ य कस्सइ साहुस्स पदुट्ठो सो व तं न जाणति ताहे भणेज्जा। नाहं सो,ण वा जाणे,परदेसं वा गओ-त्ति भणेज्जा,सेहं वा संणायगा पुच्छंति तत्थ भणिज्ज। नत्थेरिसो, ण जाणे, गतो वा परदेसं। वादे असंतेणावि परवादिं निगिण्हिज्जा। नि० चू०२ उ०। मोसुवतेसे परिव्वायगो मणुस्सं भणाते-किं किलिस्ससि ? , अहं ते जदि रुच्चति खिसणणे चेव दव्वं विढवावेमि, जहि किराडयं उच्छिण्णं मग्गाहि, पच्छा कालुद्देसेहिं मग्गेज्जासि,जाधे य वाउलो जणदाणगहणेण ताधे भणिज्जासि, सो तधेव भणति , जाधे विसंवदति ताधे ममं सक्खि उद्दिसेज्ज त्ति, एवं करणे ओहारितो जितो (न) दवावितो य। आव० ६ अ०। मोसोवदेसो नाम मोसं उवदिसंति, जहा-पवंचमोसभासणे पगारं दंसेति त्ति-मोसोवदेसे उदाहरणं-एगेण चोरेण खत्तं खणियं, खिंदियावत्तेहिं, वितियदिवसे तत्थ लोगो मिलितो चोरकम्मं पसंसति, चोरो वि तत्थे व अच्छइ, तत्थ एगो परिव्वायगो भणति-किं चोरस्स मुक्खत्तणं पसंसह ?, ताहे चोरेण विरहे सो परिव्वायओ पुच्छिओ-कहं मुक्खो, ताहे भणति एवं करेंतो वज्झेज्ज वा मारेज्ज वा, उवाएणं तं कज्जति जेण जीवेज इति, को उवाओ त्ति, भणणति-अहं कहेमि, के राडं दाणमग्गणवाउलं अच्छिन्नं मग्गेज्जाहि, ताहे सो वाउलत्तणेण पडिवयणं तव ण देहिति, ताहे कालुद्देसे दाणगहणं वाउलं चेव प्रतिदिवसं भणेज्जासि-देहि तं ममं देहि तं ममंति। बहुजणेणं बहुस्सुयं जाहे भणति-ण किंचि वि धरेमिं ताहे मए सक्खि उव दिसिज्जाहि , एवं करणे ओसारिओ दवाविता य। आ०चू० ६ अ०।

मुह-मुख-न०। वदने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। वक्त्रे, तं०। प्रति०। आस्ये , स्था० ६ ठा०। प्रश्न०। नि० चू०। तुण्डे, तं०। अग्रभागे, सू० प्र० ४ पाहु०। चं०प्र०। द्वारे , कल्प० १ अधि० २ क्षण। उपरितने भागे, तं०। स्था०। " वयणं मुहं च आणणं " पाइ० ना० १११ गाथा।

मुहच्छाया-मुखच्छाया-स्त्री०। मुखकान्तौ, प्रा० १ पाद।

मुहणंतय-मुखानन्तक-न०। मुखस्यानन्तकं वस्त्रं मुखानन्तकम्। मुखवस्त्रिकायाम् , प्रव० २ द्वार। (मुखानन्तकस्य प्रमाणं ' मुहपोत्तिया ' शब्दे करिष्यते)

गाहा-

मुहणंतगस्स गहणे, एमेव य गंतुनिसिलगहणं।
संमूढेणितरेण वि, गलते गहितो मया दो वि ॥३६४॥

एगेण साहुणा अतीव लट्ठं मुहणंतगं आणियं तग्गुरुणा गहियं, एत्थ वि सव्वं पुव्वक्खाणगसरिसं, नवरं तं मुहणंतगं च पच्चप्पिणंतस्स ण गहियं, जीवंते य गतो राया साधुविरहं लभित्ता मुहणंतगं गिण्हसि त्ति, भणंतो गाढं गले गेण्हेति, स मूढेण गुरुणा वि सो गहितो , दोऽवि मता। नि० चू० ११ उ०। जीत०। आव०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुहत्थढी-देशी-मुखेन पतने, दे० ना० ६ वर्ग १३६ गाथा ।

मुहपोत्तिया-मुखपोत्तिका-स्त्री० । मुखपोत्तिका मुखपिधानाय पोतं वस्त्रं मुखपोतं, तदेव ह्रस्वं चतुरङ्गुलाधिकवितस्तिमात्रप्रमाणत्वान्मुखपोतिका । मुखवस्त्रिकायाम्, पिं० । प्रव० । व्य० । पं० व । ह्रीं० ।

मुखवस्त्रिकाप्रमाणमाह—

चतुरंगुलं विहत्थी, एवं मुहणंतगस्स उ पमाणं ।
वितियं पि य प्पमाणं, मुहप्पमाणेण कायव्वं ॥

चतुरङ्गुलं चत्वार्यङ्गुलानि वितस्तिः चैका एतन्मुखानन्तकस्य-मुखवस्त्रिकायाः प्रमाणम्, द्वितीयमपि प्रमाणं भवति-किमित्याह-मुखप्रमाणेन मुखानन्तकं वक्तव्यम्, किमुक्तं भवति—वसतिं प्रमार्जयन् रजःप्रवेशरक्षणार्था, कोणद्वये गृहीता नासिकां मुखं च प्रच्छाद्य कृकाटिकायां यावत् वा ग्रन्थिं शक्नोति तावत्प्रमाणा मुखवस्त्रिका कर्तव्या । वृ० ३ उ० । "सन्ति सम्पातिमाः सत्त्वाः, सूक्ष्माश्च व्यापिनोऽपरे । तेषां रक्षानिमित्तं च, विज्ञेया मुखवस्त्रिका ॥१॥" उत्त०३ अ० ।

मुहमंगल-मुखमङ्गल-न० । चाटुवचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

मुहमंगलिय-मुखमाङ्गलिक-पुं० । मुखे मङ्गलं येषां ते मुखमाङ्गलिकाः । चाटुकारिषु, औ० । जं० । भ० । कल्प० । ज्ञा० । मुखे मङ्गलानि-प्रशंसावाक्यानीदृशस्त्वं त्वादृशस्त्वमित्येवं दैन्यभावमुपगतो वक्ति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

मुहमंडव-मुखमण्डप-पुं० । मुखद्वारे आयतनस्य मण्डपा मुखमण्डपाः । पट्टशालासु, स्था० ४ ठा० २ उ० । जी० ।

मुहमक्कडिया-मुखमर्कटिका-स्त्री० । मुखतिर्यक्त्वकरणे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

मुहमहुर-मुखमधुर-पुं० । मुखे आदौ मधुरा महाकामरसोत्पादकाः । परिणामासुन्दरेषु, तं० ।

मुहर-मुखर-त्रि० । मुखमतिभाषणमतिशयेन वदतीति मुखरः । स्था० ६ ठा० ३ उ० । मुखमस्यास्तीति मुखरः । अनालोचितभाषिणि, वाचाटे, प्रव० ६ द्वार । उत्त० ।

मुह(हा)रि-मुखारि-पुं० । मुखमेवाऽरिः शत्रुरनर्थकारित्वाद् येषां ते मुखारयः । असमीक्षितप्रलापिषु, अपर्यालोचितानर्थकवादिषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

मुहरोग-मुखरोग-पुं० । मुखगते रोगे, पञ्चषष्टिर्मुखरोगाः सप्तस्वायतनेषु जायन्ते, तत्रायतनानि—ओष्ठौ दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा तालु कण्ठः सर्वाणि चेति । तत्राष्टावोष्ठयोः, पञ्चदश दन्तमूलेष्वष्टौ दन्तेषु पञ्च जिह्वायां, नव तालुनि, सप्तदश कण्ठे, त्रयः सर्वेष्वायतनेष्विति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

मुहरोमराई-देशी-भ्रुवि, दे० ना० ६ वर्ग १३६ गाथा ।

मुहल-मुखर-पुं० । हरिद्रादौ लः ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इत्यसंयुक्तस्य लः । मुहलः । वाचाटे, प्रा० १ पाद । दे० ना० ।

मुहलरव-मुखररव-पुं० । वाचालशब्दे, "तुमुलं मुहलरवो" पाइ० ना० २४० गाथा ।

मुहवस-मुखवर्ण-पुं० । परतीर्थिकप्रशंसायाम्, नि० चू० ।

जे भिक्खू मुहवण्णं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ १७६ ॥

मुहं ति पवेसो तस्स चउव्विहो नामातीओ णिक्खेवो । णामट्ठवणातो गतातो, दव्वमुहं—गिहादिवत्थुपवेसो, तिन्नि सट्ठा पावा दुयसया, भावमुहस्स वन्नं आदत्ते गृह्णातीत्यर्थः ।
कथं पुण सो मुहवन्नं करेति ?, गाहा—

कुतित्थेसु कुसत्थेसु, कुधम्मकुव्वयकुदाणमादीसु ।
जे मुहवण्णं कुज्जा, उम्मग्गे आणमादीणि ॥ ७२ ॥

वितियगाहाए जहासंखं उदाहरणं गाहा—

गंगाती-सक्क-मल्ल-गणधम्मादी य गोव्वयादीया ।
भोमादीदाणा खलु, तिण्णि तिसट्ठा उ उम्मग्गा ॥७३॥

गंगा आदिग्गहणातो पहास प्रयाग अवरखंडसिरिमायकेयारादिया एते सव्वे कुतित्था । शाक्यमतं कपिलमतं ईसरमतादिया सव्वे कुसत्था । मल्लगणधम्मो सारस्स य गणधम्मो कूपसभादिया सव्वे कुधम्मा । गोव्वयादि सापेक्खिया पंचग्गितावया पंचगव्वासणिया एवमादिया सव्वे कुव्वया । भूमिदाणं गोदाणं आसहत्थिसुवन्नादिया य सव्वे कुदाणा । कुत्सितार्थाभिधाणे खलुशब्दः । तिन्नि तिसट्ठा पावा दुयसया जतिए वज्जा सेसा सव्वे उम्मग्गा । जो जत्थ भवन्तो तदणुकूलं भासंतस्स आणादिया दोसा, चउगुरुगं पच्छित्तं, मिच्छत्ते य पवत्तीकरणं, पवयणे ओभावणया, एते अदिन्नदाणपाणाइवाए ते चाटुकारिणो एतद्दोसपरिहरणऽत्थं, तम्हा णो कुतित्थियाण मुहवन्नं करेज्ज ।

गाथा—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
एएहिँ कारणेहिं, जयणाए कप्पती काउं ॥ ७४ ॥

सपक्खपंतासिवे परलिंगपडिवन्नो पसंसति । अहवा-असिवो मे सुअसंधरंते तब्भावियखेत्तेसु वल्लीसु वा पसंसेज्ज, परलिंगी वा जो रायदुट्ठे पसंसेज्जा तदणुवत्तिते पसंसेज्जा, रायभया वोहिभंगभएण वा सरणोवगतो पसंसेज्ज, अन्नतो गिलाणपाउग्गे अलभंते तेसु चेव लब्भति पसंसेज्जा ।

गाहा—

पणवणे च उवेहं, पुट्ठो वा माति वाहरं नेंत ।
आगाढे व अपुट्ठो, भणेज्ज लट्ठो तहा धम्मो ॥ ७५ ॥

कारणे चरगादिभावितेसु खेत्तेसु ठियस्स जति ते चरगादिया बहुजणमज्झे ससिद्धंतं पन्नवेति तत्थ उवेहं कुज्जा, मा पडितद्दकरणे खत्तातो णीणिज्जेज्ज, उवासगादिपुट्ठो अत्थि णं एतेसिं भिक्खुयाणं वये वा णियमे वा ताहे तेसिं दाणसड्ढयाणं अणुयुत्तीए भणिज्ज, एते वि बंभव्वयं धरेंति, आदिसद्दातो जीवेसु दयालुया । अन्नतरे वा आगाढे गिलाणादिकारणे भणेज्ज, इमा पसंसणे जयणा ।

गाहा—

जे जे सरिसा धम्मा, सव्वाऽहिंसादि तेहि उ पसंसे ।
एएसिं पि हु आता, अत्थि य णिच्चो कुणति व त्ति ॥७६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सरिसधम्मेहिं पसंसति-अम्ह वि तुम्हा वि सव्वे वया,अम्हे वि तुम्हे वि अहिंसा, अम्ह वि तुम्ह वि अदिन्नादाणं वज्जं, अम्ह वि तुम्ह वि अत्थियया, दव्वत्तेण वा जहा तुम्हं निच्चो, तहा अम्ह वि निच्चो, जहा अम्ह वि आता सुहासुहं कम्मं करेति , तहा तुम्ह वि ।

गाहा-

एवं ता सव्वाऽऽदी, भणेज्ज वेतूलिकेसिमं बूया ।
अम्ह वि ण सव्वभावा, इतरेतरभावतो सव्वे ॥ ७७ ॥

सत्-शोभनो, वादी-सद्वादी, आत्मास्तित्ववादीत्यर्थः । जे पुण वेतुलियातीसु इमं बूताविगयं तुण्हभावे वेतुलिया नास्तित्ववादिन इत्यर्थः, सव्वभावा इतरेतरभावतो । णत्थि त्ति नित्यत्वं अनित्यत्वे नास्ति, एवं आत्मा, अनात्मा कर्तृत्वमकर्तृत्वं, मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वं, सर्वगतत्वमसर्वगतत्वम् , घटत्वं पटत्वं, परमाणुत्वं द्विप्रदेसिकत्वं, कृष्णत्वं नीलत्वं, गोत्वमश्वत्वं च एवमादि । नि० चू० ११ उ० ।

मुहवास-मुखवास-पुं० । कर्पूरादिभिर्मुखस्य सौरभ्यापादने, चू० १ उ० ३ प्रक० । " तयाणंतरं च णं मुहवासविहिपरिमाणं करेइ, णएणत्थ पंच सोगंधिएणं । तंबोलेणं अवसेसं मुहवासविहिं पच्चक्खामि " एलालवङ्गकर्पूरकक्कोलजातीफललक्षणैः सुगन्धिभिर्द्रव्यैः अभिसंस्कृतं पञ्चसौगन्धिकम् । उपा० १ अ० ।

मुहवीणिया-मुखवीणिका-स्त्री० । मुखशब्दकरणे, नि० चू० ।

जे भिक्खू मुहवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

मुहवीणियातिहिं वादित्रशब्दकरणं, वितियसुत्ते मुहवीणियं करेंतो मोहा दिक्खे सद्दे करेति, अन्नतरग्रहणात् संयोगमवेक्खति , तं पगारमावण्णाणि तहप्पगाराणि ततवितत्तप्रकारमित्यर्थः ।

गाहा—

मुहगादिवीणिया खलु, जत्तियमेत्ता य आहिया सुत्ते ।
सद्दे अणुदिसे वा उदीरए तम्मि आणादी ॥ ११४ ॥

अणुदिएणे जो मोहं जणति उवसंतं वा उदीरति ।

गाहा-

सविकारअसामत्थ-मोहस्स उदीरणा य उभयो वि ।
पुणरावत्ती दोसा, य वीणिगाओ य सद्देसु ॥ ११५ ॥

सविगारता भवति , लोगो य भणति अहो इमो सविकारो पच्चतितो, मज्झत्थो रागदोसविजुत्तो सो पुण अमज्झत्थो अप्पणो परस्स य मोहमुईरेति पुणरावत्ती णाम-कोई भुत्तभोगी पव्वतितो, सो चिंतेति अम्ह वि महिलाओ एवं करेति, तस्स पुणरावत्ती भवति, अएणेसिं वा साहुणं सुणेत्ता पडिगमणादयो दोसा भवंति, वीणियासु वीणियासद्देसु य एते दोसा भवंति ।

गाहा-

इत्थि परियारसद्दे, रागे दोसे तहेव कंदप्पे ।
गुरुगा गुरुगा गुरुगा,लहुगा लहुगो कमेण भवे॥११६॥

इत्थिसद्दे चउगुरु, परियारसद्दे चउगुरु, अन्नतरसद्दं रागेण करेति चउगुरु, एतेसु तिसु चउगुरुगा, दोसेण करेति चउलहुगा, कंदप्पेण करेति मासलहुं ।

गाहा-

वितियपदमणप्पज्झे,करिज्ज अवि कोविओ व अप्पज्झे।
जाणंते वावि पुणो, सयणा सागारमादीसु ॥ ११७ ॥

अणप्पज्झो करेंतेति अविकोवितो वा सेहो करेति, दियागतो वा अद्धाणे गिलाणऽट्ठा सयणासद्दं करेति, भावसागरियपडिवद्धाए वा वसहीए सद्दं करेति जहा तं सुणेंति ।

जे भिक्खू दंतवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥३६॥
जे भिक्खू उट्ठवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ । ४० ॥
जे भिक्खू णासावीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ॥४१॥
जे भिक्खू कक्खवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ॥४२॥
जे भिक्खू हत्थवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥४३॥
जे भिक्खू नक्खवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥४४॥
जे भिक्खू पत्तवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥४५॥
जे भिक्खू पुप्फवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥४६॥
जे भिक्खू फलवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥४७॥
जे भिक्खू वीयवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ॥४८॥
जे भिक्खू हरियवीणियं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥४६॥
जे भिक्खू मुहवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥५०॥
जे भिक्खू दंतवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥५१॥
जे भिक्खू उट्ठवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥५२॥
जे भिक्खू णासावीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ॥५३॥
जे भिक्खू कक्खवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ॥५४॥
जे भिक्खू हत्थवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥५५॥
जे भिक्खू णहवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥५६॥
जे भिक्खू पत्तवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥५७॥
जे भिक्खू पुप्फवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥५८॥
जे भिक्खू फलवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ॥५६॥
जे भिक्खू वीयवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥५६॥
जे भिक्खू हरियवीणियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥६०॥
जे भिक्खू एवं अन्नयराणि तहप्पगाराणि वा असुदिएणाइं सद्दाइं उदीरेइ उदीरंतं वा साइज्जइ ॥६१॥नि०चू०५उ०।

मुहा-मुधा-अव्य० । व्यर्थे, " एमेय मुहा मुहिआ " पाइ० ना० १६६ गाथा ।

मुहिअ-देशी-एवमेव करणे, दे० ना० ६ वर्ग १३४ गाथा ।

मुहिआ-मुधिका-अव्य० । व्यर्थे, " एमेय मुहा मुहिआ " पाइ० ना० १६६ गाथा ।

मुहिया-मुधिका-स्त्री० । अवज्ञायाम् , जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

मुहु-मुहुर्-अव्य० । वारंवारमित्यर्थे, प्रति० । अष्ट० । उत्त० ।

मुहुत्त-मुहूर्त्त-पुं० । तस्याधूर्त्तादौ ।।८।२।३०।। इति धूर्त्तादिपर्युदासात्तस्य टो न । प्रा० । मीयत इति मुहूर्त्तः । मुहुरियर्तीति वा मुहूर्त्तः । पृषोदरादित्वादिष्टरूपसिद्धिः । कर्म० ५ कर्म० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घटिकाद्वयप्रमाणे कालविशेषे, नं०। आव०। आ० म०। अहोरात्रस्य त्रिंशत्तमे भागे द्विघटिकारूपे, दर्श० ५ तत्त्व। पञ्चा०। सूत्र०। आ० म०। 'बे नालिया मुहुत्तो' ज्यो० २पाहु०। आ० म०। विशे०। उत्त०। सूत्र०। स्था०। अनु०। तं०। मुहूर्त्तोऽसप्ततिलवप्रमाणः। उक्तं च–" लवाणं सत्तहत्तरि एस मुहुत्ते वियाहिए।" स्था० २ ठा० ४ उ०। " लवाणं सत्तहत्तरि एस मुहुत्ते वियाहिए "। भ० १ श० १ उ०। " तिन्नि सहस्सा सत्त य, सयाइं तेवत्तरिं च उच्छासा। एस मुहुत्तो भणिओ, सव्वेहिँ अणंतनाणीहिं॥१॥" जी०३ प्रति० ४ अधि०। त्रिभिः सहस्रैः सप्तभिश्शतैस्त्रिसप्तत्या उच्छ्वासैरेको मुहूर्त्तः। तं०। अनु०। ज्ञा०। भ०। सू० प्र०।

एगमेगस्स णं भंते! अहोरत्तस्स कइ मुहुत्ता पण्णत्ता। गोयमा! तीसं मुहुत्ता पण्णत्ता। तंजहा–

"रुद्दे सेए मित्ते, वाऊ सुविए तहेव अभिचंदे।
माहिंद बलव बंभे, बहुसच्चे चेव ईसाणे॥ १॥
तट्ठे अ भाविअप्पा, वेसमणे वारुणे अ आणंदे।
विजए अ वीससेणे, पायावच्चे उवसमे अ॥ २॥
गंधव्व अग्गिवेसे, सयवसहे आयवे य अममे अ।
अणवं भोमे वसहे, सव्वट्ठे रक्खसे चेव।३।" (सूत्र–१५२)

एकैकस्य भदन्त! अहोरात्रस्य कति मुहूर्त्ताः प्रज्ञप्ताः?, गौतम! त्रिंशन्मुहूर्त्ताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–प्रथमो–रुद्रः, द्वितीयः–श्रेयान्, तृतीयो–मित्रः, चतुर्थो–वायुः, पञ्चमः–सुपीतः, षष्ठः–अभिचन्द्रः, सप्तमो–माहेन्द्रः, अष्टमो–बलवान्, नवमो–ब्रह्मा, दशमो–बहुसत्यः, एकादश–ऐशानः, द्वादशस्त्वष्टा, त्रयोदशो–भावितात्मा, चतुर्दशो वैश्रमणः, पञ्चदशो वारुणः, षोडश–आनन्दः, सप्तदशो–विजयः, अष्टादशो–विश्वसेनः, एकोनविंशतितमः–प्राजापत्यः, विंशतितमः–उपशमः, एकविंशतितमो–गन्धर्वः, द्वाविंशतितमः–अग्निवेश्यः, त्रयोविंशतितमः–शतवृषभः, चतुर्विंशतितमः–आतपवान्, पञ्चविंशतितमः–अममः, षड्विंशतितमः–ऋणवान्, सप्तविंशतितमो–भौमः, अष्टाविंशतितमो–वृषभः, एकोनत्रिंशत्तमः–सर्वार्थः, त्रिंशत्तमो–राक्षसः। जं० ७ वक्ष०। रा०। आ० म०। कर्म०। सू० प्र०। स०। ज्यो०। चं० प्र०। (मुहूर्त्तलग्नदिवादिवलावलविचारः 'करण' शब्दे तृतीयभागे ३६७ पृष्ठे गतः)

मुहुत्तहियया–मुहूर्त्तहृदया–स्त्री०। क्षणिकरागरक्तायाम्, मुहूर्त्तानन्तरं प्रायोऽन्यत्र रागधारकत्वात्, कपिलाब्राह्मणीसक्तदासीवत्। तं०।

मुहुमुरिअ–देशी–रणरणके, दे० ना० ६ वर्ग १३६ गाथा।

मुहुमुह–मधुमुख–त्रि०। खले, "पोरच्छो पिसुणो मच्छरी खलो मुहुमुहो य उप्फालो" पाइ० ना० ७२ गाथा।

मुहुल–मुखर–त्रि०। वाचाले, "वाउल्लो जंपुल्लो, मुहुलो बहुजंपिरो य वायालो" पाइ० ना० ६६ गाथा।

मूअ–मूक–पुं०। अव्यक्तभाषिणि, ध० २ अधि०। आचा०। आव० ('जड्ड' शब्दे चतुर्थभागे जडमूकैडमूकयोर्व्याख्या दर्शिता)

मूअल–देशी–मूके, दे० ना० ६ वर्ग १३७ गाथा।

मूअल्ल–देशी–मूके, दे० ना० ६ वर्ग १३७ गाथा।

मूअवंदण–मूकवन्दन–न०। आलापाननुच्चारयतो वन्दने, ध० २ अधि०। "मुउव्व सद्दरहिओ, जं वंदइ मूअगं तं तु।" आलापकाननुच्चारयन् यद् वन्दते तन्मूकमिति; आव० ३ अ०। मूयं नाम–मूयो वंदति न किंचि वि उच्चारयति। आ० चू० ३ अ०। वृ०। प्रव०। नि० चू०। मूक इव हुं हुमित्यव्यक्त शब्दं कुर्वंस्तिष्ठत्युत्सर्गे इति मूकदोषः। कायोत्सर्गदोषभेदे, प्रव० ५ द्वार।

मूइय–मूकित–त्रि०। मूकीकृते, निःशब्दीकृते, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०।

मूगमुह–मूकमुख–पुं०। स्वनामख्याते अन्तर्द्वीपे, नं०।

मूगापुरी–मूकापुरी–स्त्री०। स्वनामख्यातायामपरविदेहपुर्य्याम्, "ततोऽपरविदेहेषु, मूकापुर्यां महीपतिः। धनञ्जयस्य धारिण्याः, पत्न्याः कुक्षौ समीयिवान्॥१॥" आ० क० १ अ०। आ० म०। कल्प०। आ० चू०।

मूढ–मूढ–त्रि०। मुह्यतिस्मेति मूढः। नि० चू० १ उ०। अज्ञानाविष्टे, द्वा० २ द्वा०। महामोहं गते, तं०। यथावस्थितवस्त्वधिगमशून्यमानसे, ध० ३ अधि०। स्नेहाज्ञानादिपरतन्त्रतयाऽवस्थितवस्त्वधिगमशून्यमानसे, ग० ५ अधि०। यथार्थोपयोगरहिते, अष्ट० १४ अष्ट०। व्यामोहवति, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। अपगतविवेके, आचा० १ श्रु० २ अ०३ उ०। "रागद्वेषाभिभूतत्वा–त्कार्याकार्यपराङ्मुखः। एष मूढ इति ज्ञेयो, विपरीतविधायकः॥१॥" आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। मोहनीयोदयादज्ञानाद्वा (आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०) किंकर्त्तव्यतयाऽऽकुले केन कृतेन ममैतद् दुःखमुपशमं यायादिति मोहिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रज्ञा०। मूढाः तत्त्वश्रद्धानं प्रति। भ० ७ श० ७ उ०। मूर्खे, पञ्चा० ८ विव०। मोहाकुलितमानसे, उत्त० ८ अ०। सदसन्मार्गानभिज्ञे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। महामोहमोहितमतौ, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। अविनिश्चिते, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। अज्ञानाच्छादितमतौ, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। गुणदोषानभिज्ञे, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

अथ मूढस्याष्टधा निक्षेपमाह–

दव्व दिसि–खेत्त–काले, गणणा–सारिक्ख–अभिणवे वेदे।
वुग्गाहणमण्णाणे, कसाय–मत्ते य मूढपदा॥ ३३०॥

द्रव्यमूढो, दिग्मूढश्च, क्षेत्रमूढः, कालमूढो, गणनामूढः, सादृश्यमूढः, अभिनवमूढो, वेदमूढश्चेति। अष्टधा मूढः। तथा–(वुग्गाहेण त्ति) व्युद्ग्राहेण मूढो व्युद्ग्राहित इति च एकोऽर्थः। स च वक्ष्यमाणद्वीपजातवणिक्सुतादिवत्। (अण्णाणि त्ति) तत्र कुसाधनं मिथ्याज्ञानं तच्च भारतरामायणादिषु शास्त्रेष्वतिसमुत्थं तेन यो मूढः सोऽपि व्युद्ग्राहितो भण्यते। कषायमूढस्तीव्रकषायवान्, स च कषायदुष्ट सर्पनालादिदृष्टान्तसिद्धे अन्तर्भवति। मत्तो नाम यक्षावेशेन मोहोदयेन वा उत्पन्नीभूतः स च अभिनवमूढादौ अवतरतीति। एतानि मूढपदानि भवन्तीति द्वारगाथासंक्षेपार्थः। साम्प्रतमेनामेव विवृणोति–

धूमादी बाहिरतो, अन्तो धुत्तूरगादिणा दव्वे।
जो दव्वं व ण जाणति, घडिगावोदो व्व दिट्ठं पि॥३३१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इह यो बाह्येनाभ्यन्तरेण वा द्रव्येण मोहमुपगतः स द्रव्यमूढ उच्यते । तत्र बाह्यतो—धूमादिनाऽऽकुलितो यो मुह्यति, अन्तरे—अभ्यन्तरे च धत्तूरकेण मदनकोद्रवौदनेन वा भुक्तेन यो मुह्यति । अथवा—यः पूर्वदृष्टं द्रव्यं कालान्तरे दृष्टमपि न जानाति स द्रव्यमूढो घटिकावोद्रवत् । "एगस्स वाणियस्स पादेसियस्स भज्जा पंडरंगेण समं संपलग्गा । पंडरंगेणं भन्नति—अणुरूयए हियए केरिसी रती—" विविक्तविर्ष न रसो हि कामः " तो नस्सामो मा पयासो होहिति त्ति । अणाहमडयं छोढुं पलीवित्ता नट्ठाणि, गंगातडं गयाइं । सो वणितो अन्नया आगओ, घरं दड्ढं पासित्ता ताणि य अट्ठियाणि संचिउमाढत्तो , भज्जासिणेहाणुरागेणं एयाणि अट्ठीणि से गंगं नेसि त्ति, ताणं अणाहमडयट्ठियाणि घडियाए छोढुं,गंगं गतो । तीए भज्जाए य दिट्ठो न य संजाणति । तीए पुच्छितो, को तुमं ? तेण अक्खायं-पावेसियस्स घरं दड्ढं, भज्जा य मे दड्ढा, ततो मए भज्जाणुरागेणं ताणि अट्ठियाणि गहियाणि, गंगं नेमि त्ति आगतो, गंगाए छुड्ढेहिं सुगतिं जाहिति । एयं पि ता से सेयं करेमि । तीसे अणुकंपा जाया, तीए भणियं, अहं सा तव भज्जा । न पत्तियत्ति, एयाणि अट्ठियाणि किं अलियाणि । बहुविहं भत्तपाणे काहेइ न पत्तियति । ताहे तीए जं पुव्विं कीलियं जं पि य भुत्तं एवमादि सव्वं साऽभिन्नाणं संवादियं ताहे पत्तिज्जिओ । एस दव्वमूढो ।

अथ दिग्मूढक्षेत्रमूढकालमूढानाह—

दिसि मूढो पुव्वावर-मण्णति खेत्ते तु खेत्तवच्चासं ।
दिवरातिविवच्चासो, काले पिंडारदिट्ठंतो ॥ ३३२ ॥

दिग्मूढो नाम-विपरीतां दिशं मन्यते, यथा पूर्वामपराम् । क्षेत्रमूढः—क्षेत्रं न जानाति । क्षेत्रस्य वा विपर्यासं करोति-विपरीतमवबुध्यत इत्यर्थः । रात्रौ वा परसंस्तारकमात्मीयं मन्यते एष क्षेत्रमूढः । कालमूढो—दिवसं रात्रिं मन्यते । अत्र पिण्डारदृष्टान्तः—एगो पिंडारगो उज्झामिगा सुत्तो, अनुवद्दले माहिमहधे पुढंति मढं पाउं दिवसतो सुत्तो, तओ उट्ठिओ,निद्दावसट्ठितो जोएइं मएणमाणो दिवा चेव महिसीउ घरे सुच्छोढूण उज्झामिगा घरं पट्ठितो किमेयं ति जणकिलकिलो जातो । तओ विलक्खीभूओ त्ति । एवं दिवा राइ विवच्चासं कुणंतो कालमूढो भएणइ ।

गणनामूढं सादृश्यमूढं चाह—

ऊणाऽहियमण्णंतो, उट्टारूढो व गणणतो मूढो ।
सारिक्खथाणुपुरिसो, कुडुंबिसंगामदिट्ठंतो ॥ ३३३ ॥

यो गणयन् न्यूनमधिकं वा मन्यते स उष्ट्रारूढ इव गणनामूढो भण्यते । एगो उट्टपालो उट्टाउ एगवीसं रक्खइ । अन्नया उट्टीए आरूढो गणितो जत्थ आरूढो तन्न गणेइ । सेसा वीसं गणेइ,पुणो वि गणेइ वीसं । नत्थि मे एगो उट्टेत्ति अएणे पुच्छइ, तेहिं भणितो जत्थारूढो एस ते इगवीसइमेण । सादृश्यमूढो यथा-स्थाणुं, पुरुषं मन्यते । अत्र च कुडुम्बिनो महत्तरसेनापती तयोः संग्रामेण दृष्टान्तः एगो गामचोरसेणावइणा चोरेहिं समं आगंतूण रत्तीए हतो, तत्थ य गामे जो महत्तरो सो तत्थ चोरो सेणावइस्स सरिसो । तओ संगामे उवट्ठिए चोरसेणावइं मारितो गामिल्लएहिं महियगत्ति भन्नमाणेहिं दट्ठो चोरेहिं य. गामसहयरो सेणावइ त्ति काउं पल्लिं नीओ, सो भणति-नाहं सेणाहिवो । चोरा भणंति पसरणपसाइउ त्ति पलवइ । अन्नया सो नासिउं सगामं गतो । ते भणंति—कोसि तुमं एगं पिसाओ वा तेण पडिरूवेण आगओ उभओ साभिन्नाणा कहिए पच्छा सो गहिं उभओ वि सयणा सारिक्खमूढा ।

अथाभिनवमूढमाह—

अभिभूतो संमुज्झति, सत्थग्गीवादिसावयादीहिं ।
अब्भुदयअणंगरती, वेदंमि पुरा य दिट्ठंतो ॥ ३३४ ॥

खङ्गादिना शस्त्रेण, प्रदीपनके वा अग्निना, वादकाले वादिना, अरण्ये श्वापदस्तेनादिभिश्चाभिभूतो यः संमुह्यति सोऽभिनवमूढः । वेदमूढस्तु स उच्यते । योऽभ्युदयेन-अतीव वेदोदयेन, अनङ्गरतिम्-अनङ्गक्रीडां, करोति । राजदृष्टान्तश्चात्र भवति । जहा—आणंदपुरं नगरं, जितारी राया, दीसत्थी भारिया । तस्स पुत्ता अणंगो नाम बालत्ते अच्छिरोगेणं गहितमिव रूयंतो अत्थति, अन्नया जणणी ते णिगिणिहपाए अह भावेण जाण ऊरू अंतरो छोढुं उवग्गहीतो दो वि तेसिं गुज्झा परोप्परं समुप्फिडिता तहेव तुणिहको ठिता लद्धो वेयो रुयंतं पुणो २ तहेव करेति, ठायति, रुयंतो पवट्टमाणो तत्थेव गिद्धो, मातुए वि अणुप्पियं, पिता से मतो, सो रज्जठितो तहावि तं मायरं परिभुंजति । स विवादीहिं वच्चमाणो वि णो ठितो धूवे त्ति " ।

वक्ष्यमाणं चार्थं संगृहीतुमिमां गाथामाह—

राया य खंतियाए, वणि महिलाए कुला कुडुंबिम्मि ।
दीवे य पंच सीले, अंधलग-सुवण्णकारे य ॥ ३३५ ॥

राजा-अनन्तरोक्तः, खन्तिकायामनुरक्तो वेदमूढः, वणिक् घटिकावोद्राख्यः स्वमहेलानुरक्तः-स्वमहेलामनुपलक्षयन् ,द्रव्यमूढः, कुडुम्बिनः सेनापतेः महत्तरस्य च कुलानि सादृश्यमूढे उदाहरणं, (दीवे त्ति) द्वीपाज्जातः पुरुषः, (एवं सीले त्ति) पञ्च शैलवास्तव्या निर्भेरोभिः व्युद्ग्राहितः, सुवर्णकारः, (अंधलग त्ति) धूर्त्तव्युद्ग्राहिता अन्धाः, (सुवण्णगारे त्ति) सुवर्णकारव्युद्ग्राहितः पुरुषः । एते चत्वारो व्युद्ग्राहणामूढा मन्तव्याः । एष संग्रहगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

बालस्स अच्छिरोगे, सागारियदेविसंफुसे तुसिणी ।
उभयवियत्तभिसेगे, णऽवादि वुत्तो वि मन्तीहिं ॥३३६॥
छोढुं अणाहमरयं, झामितुघरं पतिम्मि उ पउत्थो ।
धुत्तहरणुज्झपति, अट्ठिगंगकहिते च सद्दहणा ॥३३७॥
सेणावतिस्स सरिसो, वणितो गामेल्लतो णियो पल्लिं ।
णाहंति रणपिसायई, घरे वि दिट्ठोत्ति णेच्छंति॥३३८॥

इदं गाथात्रयं गतार्थम् । नवरम् (उभयवियत्तभिसेग त्ति) उभयोरपि-देवी-कुमारयोः, प्रीतिकरं तद्विषयासेवनं राज्याभिषेकेऽपि संजाते तामसौ न मुञ्चति । द्वितीयगाथायां (धुय हरणुज्झए ति) धूर्तेन तस्या वणिग्भार्याया हरणं, तस्या अपि पतिम् उज्झित्वा गङ्गातटे गमनं, तृतीयगाथायां (णाहंति इत्यादि) महत्तरेण नाहं सेनापतिरित्युक्तः चौरैश्चिन्तयति । एष रणपिशाचकी तैमैव चक्रि गृहेऽपि गतं तं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्तरं ते ग्रामेयका दग्ध इति कृत्वा नेच्छन्ति संगृहीतुम्। व्याख्यातो मूढः। वृ० ४ उ०। नि० चू०।

दुविहा मूढा पएणत्ता, तं जहा—णाणमूढा चेव, दंसण मूढा चेव। स्था० २ ठा० ४ उ०। (व्याख्या स्वस्वशब्दे)

तिविहा मूढा पण्णत्ता, तंजहा-नाणमूढा दंसणमूढा चरित्त-मूढा। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

मूढदिट्ठि—मूढदृष्टि—त्रि०। व्यामोहे, परतीर्थिनां राजादिकृतां पूजां मन्त्राद्यतिशयान् वा दृष्ट्वा तदागमान् वा श्रुत्वा देशतः स्तोको मतिव्यामोहः। जीत०।

मूढ-(ल) नइय-मूढ (ल) नयिक-न०। मूढा अविभाग-स्था नया यस्मिँस्तन्मूढनयं, तदेव मूढनयिकम्। प्राकृतत्वा-त् स्वार्थे इकप्रत्ययः। अथवा—मूलाश्च ते नयाश्च मूलनया-स्तेऽस्मिन् विद्यन्ते इति मूलनयिकम्। अतोऽनेकस्वरात् ॥ ७। २। ६॥ इतीकप्रत्ययः। अविभक्तनये कालिकश्रुते,आ० म० १ अ०। आ० चू०। नि० चू०।

मूढदिसाभाग-मूढदिग्भाग-पुं०। मूढोऽनिश्चितो दिशां भा-गो यस्य सः। विस्मृतदिग्भागे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

मूढभाव-मूढभाव-पुं० मूढतायाम्, कर्त्तव्याकर्त्तव्याज्ञताया-म्, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। मूढत्वे किंकर्त्तव्यताऽ-भावे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

मूढमइय-मूढमतिक-पुं०। कुबोधाच्छादितधिषणे, जी० १ प्रति०।

मूढलक्ख-मूढलक्ष-पुं०। समस्तज्ञेयविपरीतवेदने, आ० म० १ अ०।

मूढसण्ण-मूढसंज्ञ पुं०। विगतचेतने, असावधानमनसि, आ-तु०। मूढा-मूर्च्छिता, संज्ञा-ज्ञानं, यस्य स मूढसंज्ञः। अस्प-ष्टज्ञाने, अपूर्णज्ञाने, आतु०।

मूणभाव-मौनभाव-पुं०। तूष्णींभावे, "सो य मूणभावेण अ-त्थइ।" आ० म० १ अ०।

मूत्तूण-मुक्त्वा-अव्य०। स्फेटयित्वेत्यर्थे, व्य० ६ उ०।

मूया-मूका-स्त्री०। महाविदेहे स्वनामख्यातायां राजधान्या-म्, यत्र पूर्वभवे वीरजिनः प्रियमित्रनामा चक्रवर्त्यभूत्। कल्प० १ अधि० २ क्षण। आ० चू०।

मूर-भञ्ज-धा०। मर्दने, भञ्जेः वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर—पविरञ्ज—करञ्ज-नीरञ्जाः ॥ ८। ४। १०६॥ इति भ-ञ्जेर्मूरादेशः। मूरइ। भजइ। भनक्ति। प्रा० ४ पाद।

मूरण-भञ्जन-न०। मर्दने, आ० म० १ अ०।

मूल-मूल-न०। निवन्धने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। आद्यकारणे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। मूलमादिरित्यनर्थान्तरम्। आ० चू० १ अ०। "मरणस्स मूलं दुक्खं" उत्त० ३२ अ०। "मूले विरिथएणो मज्झे संखित्तो" सू० प्र० १० पाहु०।

मूले छक्कं दव्वे. ओदइ उवएस आइमूलं च।
खित्ते काले मूलं, भावे मूलं भवे तिविहं ॥ १७३ ॥

मूलस्य षोढा निक्षेपः-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदा-त्। नामस्थापने गतार्थे। द्रव्यमूलम्-ज्ञशरीर-भव्यशरीर-व्य-तिरिक्तं त्रिधा औदयिकमूलम्, उपदेशमूलम्,आदिमूलं चेति। तत्रौदयिकद्रव्यमूलम्-वृक्षादीनां मूलत्वेन परिणतानि यानि द्रव्याणि। उपदेशमूलम्-यच्चिकित्सको रोगप्रतिघातसमर्थं मूलमुपदिशत्यातुरायेति, तच्च-पिप्पलीमूलादिकम्। आदिमूलं नाम-यद् वृक्षादिमूलोत्पत्तावाद्यं कारणम्। तद्यत् स्थावरना-मगोत्रप्रकृतिप्रत्ययात्-मूलनिर्वर्त्तनोत्तरप्रकृतिप्रत्ययाच्च-मूल-मुत्पद्यते,एतदुक्तं भवति-तेषामौदारिकशरीरत्वेन मूलनिर्वर्त-कानां पुद्गलानामुदयिष्यतां कार्म्मणं शरीरमाद्यं कारणं, क्षेत्रमूलं यस्मिन् क्षेत्रमूलमुत्पद्यते, व्याख्यायते वा। एवं काल-मूलमपि, यावन्तं वा कालं मूलमास्ते, भावमूलं तु त्रिधा। इति गाथार्थः।

तथा हि-

ओदइयं उवदिट्ठा, आइतिगं मूलभावओदइअं।
आयरिओ उवदिट्ठा, विणयकसायादिओ आइ॥१७४॥

भावमूलं त्रिविधम्-औदयिकभावमूलम्, उपदेष्टृमूलम्, आ-दिमूलं चेति। तत्रौदयिकभावमूलं वनस्पतिकायमूलत्वम-नुभवन्नामगोत्रकर्म्मोदयात् मूलजीव एव, उपदेष्टृभावमूलं त्वाचार्य उपदेष्टा, यैः कर्म्मभिः प्राणिनो मूलत्वेनोत्पद्यन्ते, तेषामपि मोक्षसंसारयोर्वा यदादिभावमूलं तस्य चोपदेष्टेत्ये-तदेव दर्शयति-(विणयकसाआइओ आई) तत्र मोक्षस्यादि-मूलं ज्ञानदर्शनचारित्रतपऔपचारिकरूपः पञ्चधा विनयः, तन्मूलत्वान्मोक्षावाप्तेः। तथा चाह-

"विणया णाणं णाणाउ, दंसणं दंसणाहिँ चरणं तु।
चरणाहिंतो मोक्खो, मुक्खे सुक्खं अणाबाहं ॥ १॥"
"विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषा फलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरति—र्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥ २॥
संवरफलं तपोबल—मथ तपसो निर्जरा फलं दृष्टम्।
तस्मात्क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ ३॥
योगनिरोधाद् भवस-न्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः।
तस्मात्कल्याणानां, सर्वेषां भाजनं विनयः ॥ ४॥"

इत्यादि, संसारस्य त्वादिमूलं विषयकषाया इति। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। घातिकर्मचतुष्टये मोहनीयकर्मणि, मि-थ्यात्वे च। "अग्गं च मूलं च विगिं च धीरे, पलिच्छिदि-याणं णिक्कम्मदंसी" आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। ('अग्ग' शब्दे प्रथमभागे १६४ पृष्ठे व्याख्यातमिदं सूत्रम्) सहदेवीमूलिकाकल्पादितत्तच्छास्त्रविहिते मूल-कर्मणि, उत्त० १५ अ०। मूलिकाराजहंसीशङ्खपुष्पाशरपु-ङ्खादिगुणसूचके शास्त्रे, उत्त० १५ अ०। वृक्षजटायाम्, स्था० १० ठा० ३ उ। मूलानि सुप्रसिद्धानि यानि स्कन्ध-स्याधः प्रसरन्ति। रा०। उशीरपुनर्नवाविदारिकादिरूपे, दश० ५ अ० १ उ०। वनस्पतिभेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। विपा०। आचा०। पृथिवीकायादिजीवे, वृ० १ उ०। स०। नक्षत्रभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ०। मूलस्य निर्ऋतिर्देवता। ज्यो० ६ पाहु०। चं० प्र०। सू० प्र०। जं०।

मूले नक्खत्ते एकारसतारे। स० ११ सम०।

प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ०। महाव्रतारोपणे, भ०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२५ श० ७ उ० । महाव्रतानां मूलत आरोपणे, पञ्चा० १६ विव० । ग० । जं० । ध० । (मूलार्हप्रायश्चित्तं 'मूलारिह' शब्दे व्याख्यास्यामि) समीपे, आ० म० १ अ० । " निसन्नं तरुमूलम्मि, सुकुमालं सुहोचियं । " उत्त० २० अ० ।

मूलकम्म-मूलकर्मन्-न० । मूलं दशप्रायश्चित्तानां मध्येऽष्टमं तत्प्राप्तिनिबन्धनं कर्म गर्भधातनाद्यपि मूलकम्मं । मूलानां वा वनस्पत्यवयवानां कर्मौषध्याद्यर्थं छेदनादिक्रिया मूलकर्म । षोडश उत्पादनादोषे, ग० १ अधि० । ध० । प्रश्न० । पं० चू० । प्रव० । पञ्चा० । यदा पुत्रादिजन्मदूषणनिवारणार्थं मघाज्येष्ठाश्लेषामूलादिनक्षत्रशान्त्यर्थं मूलैः स्नानमुपदिश्याहारादिकं गृह्णाति तदा षोडशो मूलकर्मदोषः । उत्त० २४ अ० ।

सम्प्रति ' मूल ' त्ति व्याचिख्यासुराह—

अधिई पुच्छा आस-न्न विवाहे भिन्नकन्नसाहणया ।
आयमणपियणओसह-अक्खयजज्जीवअहिगरणं ॥५०६॥
जंघापरिजियसड्ढी, अद्धिइआणिज्जए मम सवत्ती ।
जेंगो जोणुग्घाडण-पडिसेहपओसउड्डाहो ॥ ५०७ ॥

कचित्पुरे धननाम्नः श्रेष्ठिनो भार्या धनप्रिया , तस्य दुहिता सुन्दरी, सा च भिन्नयोनिका , परमेनमर्थं माता जानाति , न पिता । सा च पित्रा तत्रैव पुरे कस्यापीश्वरपुत्रस्य परिणयनाय दत्ता. समागतः प्रत्यासन्नो विवाहो, मातुश्चिन्ता बभूव । एषा परिणीता सती यदि भर्त्रा भिन्नयोनिका ज्ञास्यते,ततस्तेनोज्झिता वराकी दुःखमनुभविष्यति । अत्रान्तरे च समागतः कोऽपि संयतो भिक्षार्थं, तेन सा पृष्टा , तया कथितः सर्वोऽपि वृत्तान्तः । ततः साधुनोक्तम्—मा भैषाः, अहमभिन्नयोनिकां करिष्यामि । तत आचमनौषधं पानौषधं च तस्यै प्रदत्तं, जाता अभिन्नयोनिका । तथा-चन्द्राननायां पुरि धनदत्तः सार्थवाहस्तस्य भार्या चन्द्रमुखा, तयोश्चान्यदा परस्परं कलहः प्रवृत्तः । ततोऽभिनिवेशेन तन्नगरवास्तव्यस्यैव कस्यापीश्वरस्य दुहिता धनदत्तेन परिणयनार्थं वृता, ज्ञातश्चायं वृत्तान्तश्चन्द्रमुखया , ततो बभूव महती तस्या अधृतिः , अत्रान्तरे च जङ्घापरिजितनामा साधुरागतो भिक्षार्थं, दृष्टा तेनाधृतिं कुर्वती चन्द्रमुखा, ततः पृष्टा-किं भद्रे ! त्वमधृतिमती दृश्यसे ?, ततः कथितस्तया सपत्नीव्यतिकरः , ततः साधुना समर्पितं तस्या औषधं , भणिता च सा कथमपि तस्या भक्तस्य पानस्य मध्ये देयं येन सा भिन्नयोनिका भवति , ततः स्वभर्त्रे निवेदयेः , येन सा न परिणीयते , तथैव कृतं, न परिणीता सा भर्त्रेति । सूत्रं सुगमम् । नवरम्-' जज्जीवम् ' इति यावज्जीवमधिकरणं-मैथुनप्रवृत्तिः , ' पडिसेहि ' इति साऽभिनवा परिणेतुमारब्धा भिन्नयोनिकेति ज्ञात्वा प्रतिषिद्धा । अयं चेदर्थस्तया ज्ञातो भवेत् , तर्हि तस्याः साधुं प्रति महान् प्रद्वेषो भवेत् , प्रवचनस्योड्डाहः ।

सम्प्रति 'विवाहे' इति पदं व्याख्यानयन्नाह—

मा ते फंसेज्ज कुलं, अदिज्जमाणा सुया वयं पत्ता ।
धम्मो य लोहियस्स, जइ बिंदू तत्तिया नरया ॥५०८॥
किं न ठविज्जइ पुत्तो , पत्तो कुलगोत्तकित्तिसंताणो ।
पच्छा वि य तं कज्जं, असंगहो मा य नासिज्जा॥५०६॥

कचिद् ग्रामे कोऽपि गृहपतिः, तस्य पुत्रिका वयःप्राप्ता, ततः कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् दृष्ट्वा तन्मातरमेवमभिदधाति, तव दुहिता वयःप्राप्ता—यौवनं प्राप्ता, तद्यदि सम्प्रति न परिणी (णाय्यते) यते, तर्हि केनापि तरुणेन सहाकार्यं समाचर्य कुलमालिन्यमुत्पादयिष्यति । तथा-(धम्मो त्ति) लोके एवं श्रुतिः—यदि कुमारी ऋतुमती भवेत् तर्हि यावन्तस्तस्या रुधिरबिन्दवो निपतन्ति तावतो वारान् तन्माता नरकं याति । तथा क्वचिद् ग्रामे कस्यापि कुटुम्बिनः पुत्रं यौवनिकामधिगतमवलोक्य साधुस्तन्मातरमेवं ब्रूते । यथा—कुलस्य गोत्रस्य कीर्तेश्च सन्तानो निबन्धनमेष तव पुत्रो यौवनं च प्राप्तः, ततः किं न सम्प्रति परिणाय्यते ?, अपि च—परिणीतः सन् कलत्रस्नेहेन स्थिरो भवति, अपरिणीतश्च कयाऽपि स्वच्छन्दचारिण्या सहोत्थाय गच्छेत् , पश्चादपि चैष परिणाययितव्यः तत्सम्प्रत्यपि कस्मान्न परिणाय्यते ? इति ।

सम्प्रति " दो दंडिणीओ आयाणपरिसाडे " इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह—

किं अद्धि इत्ति पुच्छा,सवित्तिणी गब्भिणि त्ति मे देवी ।
गब्भाहाणं तुज्झ वि, करेमि मा अद्धिइं कुणसु ॥५१०॥
जइ वि सुओ मे होही,तह वि कणिट्ठो त्ति(इ)यरो जुवराया।
देइ परिसाडणं से, नाए य पओसपत्थारो ॥ ५११ ॥

संयुगं नाम नगरं, तत्र सिन्धुराजो नाम राजा , तस्य सकलान्तःपुरप्रधाने द्वे पत्न्यौ, तद्यथा—शृङ्गारमतिः, जयसुन्दरी च । तत्रान्यदा बभूव शृङ्गारमतेर्गर्भाधानम्, इतरा च जयसुन्दरी नूनमस्याः पुत्रो भविष्यतीति विचिन्त्य मात्सर्यवशादधृतिं कुर्वत्यवतिष्ठते, अत्रान्तरे च समागतः कोऽपि साधुः, तेन सा पपृच्छे-किं भद्रे ! त्वमधृतिमती दृश्यसे ?, ततः सा तस्मै सपत्न्या व्यतिकरमचकथत् , साधुरप्यब्रवीत्—मा कार्षीरधृतिं, तवापि गर्भाधानमहं करिष्ये, ततस्तयोक्तं भगवन् ! यद्यपि युष्मत्प्रसादेन मे पुत्रो भावी, तथापि स कनिष्ठत्वेन यौवराज्यं न प्राप्स्यति, किं तु सपत्न्या एव सुतः, तस्य ज्येष्ठत्वात् । ततः साधुना तस्या भेषजमेकं गर्भाधानाय दत्तम् , अपरं तु दापितं सपत्न्या गर्भशातनायेति । सूत्रं सुगमम् । नवरमेतन्न कर्त्तव्यं, यतो गर्भशातने साधुकृते ज्ञाते सति प्रद्वेषो भवति, ततः शरीरस्यापि प्रस्तारः-विनाशः ।

सम्प्रति सर्वस्मिन्नपि मूलकर्म्मणि दोषान्-
प्रदर्शयति—

संखडिकरणे काया, कामपवित्तं च कुणइ एगत्थ ।
एगत्थुड्डाहाई, जज्जियभोगंतरायं च ॥ ५१२ ॥

संखडिकरणे-मा ते फं(भं)सेज्ज कुलं, तथा-'किं न ठविज्जइ' इत्यादि गाथाद्वयोक्ते वीवाहकरणे ' कायाः ' पृथिव्यादयो विराध्यन्ते , एकत्र पुनरक्षतयोनिकत्वकरणे गर्भाधाने च कामप्रवृत्तिं करोति , गर्भाधानाद्धि पुत्रोत्पत्तौ प्राय दृष्टा भवति, ततः काम्या जायते, इति मैथुनसंततिः । एकत्र पुनः गर्भपातने उड्डाहादि-प्रवचनमालिन्याऽऽत्मविनाशादि, एकत्र पुनः-क्षतयोनिकत्वकरणे यावज्जीवं भोगान्तरायः, चशब्दादुड्डाहादि च,तदेवमभिहितं मूलकर्म । पिं० । जी० । आचा० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलकरण-मूलकरण-न० । मूलगुणेषु सप्तप्रकारायां शोधौ, बृ० १ उ० । पञ्चानां शरीराणां पर्याप्तौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । मूलकरणं घटादिकं येनोपस्करेण--दण्डचक्रादिना अभिव्यज्यते--स्वरूपतः प्रकाश्यते तदुत्तरकरणं, कर्तुरुपकारकः सर्वोऽप्युपस्कारार्थ इत्यर्थः ॥ ५ ॥

पुनरपि प्रपञ्चतो मूलोत्तरकरणे प्रतिपादयितुमाह--

मूलकरणं सरीराणि, पंच तिसु कएणखंधमादीयं ।
दव्विंदियाणि परिणा-मियाणि विसओसहादीहिं ॥६॥

मूलकरणम्-औदारिकादीनि शरीराणि पञ्च तत्र चौदारिकवैक्रियाहारकेषु त्रिषूत्तरकरणं कर्णस्कन्धादिकं विद्यते, तथाहि-"सीसमुरोयरपिट्ठी दो बाहू ऊरुया य अट्ठंग " त्ति । त्रयाणामप्येतन्निष्पत्तिर्मूलकरणं, करणस्कन्धाद्यङ्गोपाङ्गनिष्पत्तिस्तूत्तरकरणम्, कार्मणतैजसयोस्तु स्वरूपनिष्पत्तिरेव मूलकरणम्,अङ्गोपाङ्गाभावाद्योत्तरकरणम् ,यदिवा-औदारिकस्य कर्णवेधादिकमुत्तरकरणं, वैक्रियस्य तूत्तरकरणम्--उत्तरवैक्रियं, दन्तकेशादिनिष्पादनरूपं वा, आहारकस्य तु गमनाद्युत्तरकरणं यदिवा-औदारिकस्य मूलोत्तरकरणे गाथापश्चार्द्धेन प्रकारान्तरेण दर्शयति-द्रव्येन्द्रियाणि,-कलम्बुकापुष्पाद्याकृतीनि मूलकरणं; तेषामेव परिणामिनां विषौषधादिभिः पाटवाद्यापादनमुत्तरकरणमिति ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

मूलग--मूलक-पुं० । मूली इति ख्याते कन्दविशेषे, स्था० ७ ठा० । प्रव० । प्रज्ञा० । स० । ध० । आचा० । जी० । भ० ।

मूलगपत्त-मूलकपत्र-न० । आद्ये परिपक्वप्राये पर्णे, कन्दविशेषस्य निस्सारपत्रे, बृ० १ उ० ।

मूलगवच्च-मूलकवर्चस्-न० । यत्र मूलकं शटितं पतितं तस्मिन्, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ।

मूलगुण-मूलगुण-पुं० । मूलानीव चारित्रकल्पद्रुमस्य मूलान्युत्तरे च तस्य शाखाद्यवयववद् ये गुणास्ते मूलगुणाः । पञ्चा० ५ विव० । प्राणातिपातादिविरमणेषु, आव० ५ अ० । पञ्चाणुव्रतानि मूलगुणा उच्यन्ते । श्रावकं धर्मतरोर्मूलकल्पत्वात् । ध० र० २ अधि० । आव० । महाव्रताणुव्रतेषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । विशे० । आव० । अनु० । पं० व० । ग० । स० । औ० । आतु० । पञ्चा० ।

पाणातिपातविरमण-मादी णिसिभत्तविरइपज्जंता ।
समणाणं मूलगुणा, तिविहं तिविहेण णायव्वा ॥ ३० ॥

प्राणातिपातविरमणादयो वधविरत्याद्याः, निशाभक्तविरतिपर्यन्ताः-रात्रिभोजननिवृत्त्यन्ताः,श्रमणानां-यतीनां मूलगुणा धर्मलक्षणकल्पवृक्षमूलकल्पा नियमाः, त्रिविधं करणकारणानुमतिरूपं वधादिकं, त्रिविधेन- मनोवाक्कायलक्षणकरणेन,प्रत्याख्यामीति प्रतिज्ञया,ज्ञातव्या-ज्ञेया, इति ॥३०॥ पञ्चा० १५ विव० । नं० ।

मूलगुणा-पंच महव्वयाणि राईभोयणछट्ठाइं । महा० ३ अ० । उत्तरगुणाणं पि भंगं नेइं, किं पुण मूलगुणाणं । महा० ४ अ० ।

मूलगुणातिचारे प्रायश्चित्तम्--

एगिंदियाण घट्टण-मगाढ-गाढ-परियावणुद्दवणे ।
निव्वीयं पुरिमड्ढे-गासणमायामगं कमसो ॥ ३१ ॥

एकेन्द्रियाणां--पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतीनां, मनाक् स्पर्शनं--संघट्टनम् , अत्राह-ननु पृथिव्यादीनां चतुर्णां घटते संघट्टनम्, अप्कायस्य तु कथं संघट्टनं सम्भवति?, तस्य द्रव्यरूपत्वेन स्पर्शमात्रेऽपि विना सम्भवात् । उच्यते-घटादिस्थस्याप्कायस्यापि मनाक्चरणादिना चालने संघट्टः सम्भवति । परितापनं द्विविधा-आगाढं, गाढं वा । तत्र संमर्दनं च जनाद्यैर्बहुतरपीडोत्पादनं गाढं, बहुतमपीडोत्पादनं चाऽऽगाढम् । उपद्रवणं-सर्वथा जीवावनाशनं, तच्च-पृथिव्यग्न्योरत्यन्तसंमर्दनाद्यैः, अप्कायस्य तु वह्नितापनदण्डाद्यभिघातनं पानपादादिचालना, वनस्पतेः पत्रपुष्पाङ्कुरादित्रोटनादिः, ततश्चैषां पञ्चानामपि प्रत्येकं संघट्टने-निर्विकृतिकम् , आगाढे परितापने-पुरिमार्द्धः, गाढपरितापने-एकाशनम् , उपद्रवणे--चाचामाम्ल इति ।

पुरिमाइखमणंतं, अणंतविगलिंदियाण पत्तेयं ।
पंचिंदियंमि एगा-सणाइँ कल्लाणगमहेगं ॥ ३२ ॥

अथानन्तवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं संघट्टनागाढपरितापोपद्रवणेषु यथासंख्यं पुरिमार्द्धादिक्षपणान्तं तपः पञ्चेन्द्रियसंघट्टस्तदहर्जातमूषकगृहकोलिकादिविषयो द्रष्टव्यः। तत्रैकाशनम् । आगाढपरितापे-आचामाम्लम् ,गाढपरितापे-चतुर्थं, प्रमादवशाच्चोपद्रवे-एककल्याणं, तच्चेदम्-निपुणएआओ " अधिकपदमधिकमक्षरं चाधिकार्थसंसूचकं भवतीत्यत्रार्थशब्दादधिकादनेकद्वीन्द्रियाद्युपघातप्रायश्चित्तमनुक्रमप्येतद्विज्ञेयम्, यथा-" एगाइदसंतेसु, एगाइदसंतयं सपच्छित्तं। तेण परं दसमं चिय,बहुएसु वि सगलविगलेसु ॥१॥" कऽप्यागमोघनद्यसामाचारीषु दृश्यते बहुषु पुस्तकेष्व विभाति पुनर्लिखिता गाथा, ततोऽयं एकादिषु दशान्तेषु, द्वीन्द्रियादिषूपहतेषु एकादिदशान्ते स्वप्रायश्चित्तं भवति, यद्यस्य द्वीन्द्रियादेरुपघाते अत्र जीतकल्पप्रायश्चित्तं भणितमस्ति तत्तस्य स्वप्रायश्चित्तमुच्यते, तदेकस्य द्वीन्द्रियादेरुपघाते एकं स्वप्रायश्चित्तं भणितमस्ति । द्वयोर्द्वे, त्रयाणां त्रीणि, यावद् दशानामुपघाते दश। तेनेति पञ्चम्यर्थे कृता तृतीया । ततः परमेकादशादिषु बहुष्वपि यावदसंख्येयेष्वपि सकलविकलेषु पञ्चेन्द्रियविकलेषूपहतेषु दशकमेव, दशैव स्वप्रायश्चित्तानि दातव्यानि भवन्तीत्यर्थः ।

इदानीं द्वितीयतृतीयपञ्चमव्रतातिचारप्रायश्चित्तमाह-

मोसाइसु मिहुणव-ज्जिएसु दव्वाइवत्थुभिन्नेसु ।
हीणे मज्झुक्कोसे, आसणमायामखमणाइं ॥ ३३ ॥

मृषावादाऽदत्तादानपरिग्रहाश्चतुर्विधा द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो मृषावादो--धर्मास्तिकायादिसर्वद्रव्यविषयः, अदत्तादानं ग्रामनगराश्रयः, कालतस्त्रयो--दिवा वा, रात्रौ वा । भावतस्त्रयोऽपि-रागेण वा द्वेषेण वा । ततश्चतुर्विधेष्वपि मृषावादादत्तादानपरिग्रहेषु विषयेषु हीने-जघन्येऽतिचारे-सत्येकाशनं, मध्ये-मध्यमेऽतिचारे आचामाम्लम् , उत्कृष्टे क्षपणं, मैथुनाभिचारप्रायश्चित्तं च मूलव्याख्यायां भणिष्यते । जीत० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलगुणट्ठाण-मूलगुणस्थान-न०। प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूप संयतैरारूढे स्थाने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

मूलगुणपच्चक्खाण-मूलगुणप्रत्याख्यान-न०। प्रत्याख्यानगुणभेदे, आ० क० ४ अ० ('पच्चक्खाण' शब्दे पञ्चमभागे ८८ पृष्ठे उदाहरणम्)

मूलगुणपडिवाय-मूलगुणप्रतिपात-पुं०। मूलच्छेद्ये, "मूलच्छेज्जं ति वा मूलगुणपडिवाउ त्ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ०।

मूलगुणपडिसेवना-मूलगुणप्रतिसेवना-स्त्री०। प्राणातिपातादिप्रतिसेवनायाम्, मूलगुणाः-आद्यगुणाः, प्रधानगुणा इत्यर्थः, तेसु पडिसेवणा जा सा छट्ठाणा भवति, छसु ठाणेसु भवति त्ति भणियं होति, ताणि य इमाणि-पाणादिवाओ १, मुसावाओ २, अदत्तादाणं ३, मेहुणं ४, परिग्गहो ५, रातिभोयणं च ६। नि० चू०।

'तत्थ जा सा मूलगुणपडिसेवणा सा इमा—

मूलगुणे छट्ठाणा, पढमे ठाणम्मि णवविधो भेदो।
सेसेसुक्कोसमज्झिम-जहण्णदव्वादिया चउहा॥ ८९॥

व्याख्या-मूलगुणा-आद्यगुणाः,प्रधानगुणा इत्यर्थः। तेसु पडिसेवणा जा,सा छट्ठाणा भवति, छसु ठाणेसु भवति त्ति भणियं होति। ताणि य इमाणि-पाणादिवाओ, मुसावाओ,अदत्तादाणं, मेहुणं, परिग्गहो, रातीभोयणं च। एत्थ पढमं ठाणं-पाणातिवातो तत्थ णवविहो भेओ, सो य इमो-पुढविक्काओ, आउक्काओ, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिया। 'सेसेसु त्ति'-मुसावाओ०जाव रातीभोयणं। एएसिं एक्केक्कं तिविहं ति य इमे तिभेदा-उक्कोसो, मज्झिमो, जहण्णो। 'दव्वादिया चउह त्ति'-उक्कोसमुसावाओ चउव्विहो—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ। मज्झिमो वि चउव्विहो—दव्वादि। एवं जहण्णो वि चउव्विहो—दव्वाति। एवं अदत्तादाणमवि दुवालसभेदं। मेहुणं पि। परिग्गहो वि। रातीभोजणं पि दुवालसभेदं। उक्कोसं पुण दव्वं एवं भवति—बहुत्ततो, सारतो वा, मुल्लतो वा। एवं मज्झिमे वि तिण्णि भेदा। जहण्णे वि तिण्णि भेदा। उक्कोसदव्वावलावे-उक्कोसो मुसावातो, मज्झिमे-मज्झिमो, जहण्णे-जहण्णो। एवं अदत्तादाणादिसु वि जोयणिज्जं। खेत्तओ-जं जत्थ खेत्ते अग्घियं-मज्झिमं, जहण्णं वा। कालतो-जं जत्थ काले अग्घितं-मज्झिमं, जहण्णं वा भावओ वि वण्णादिगुणेहिं-उक्कोसं मज्झिमं जहण्णं वा। एवं बुद्धीए आलोएउं जोयणा कायव्वा। अहवा-'सेसेसुक्कोसमज्झिमजहण्ण त्ति'-जेण मुसावाएण अभिहिएण पारंचियं भवति एस उक्कोसो मुसावाओ। जेण दस राइंदियाति ०जाव अणवट्ठं एस मज्झिमो। जेण पंच राइंदियाणि एस जहण्णो। एवं अदत्तादाणे वि० जाव रातीभोयणे वि। अहवा—दव्वादिया चउह त्ति। (नि० चू०) अहवा-एयं पदं एवं पढिज्जति-दप्पादिया चउहा जे ते मूलगुणे छट्ठाणा एए दप्पादि चउहा पडिसेवणाए पडिसेवेति।

सा य इमा दप्पे कप्पे दारगाहा—

दप्पे कप्प पमाद-ऽपमत्तऽणाभोग-हव्वतो चरिमा।
पडिलोमपरूवणता, अत्थेणं होति अणुलोमा॥ ९०॥

दप्पपडिसेवा, कप्पपडिसेवा, पमायपडिसेवा, अप्पमायपडिसेवा। जा सा पमत्तपडिसेवा, सा दुविहा-अणाभोगा, य हव्वओ[1] य। चरिमा णाम अप्पमत्तपडिसेवा, एतासिं कमो वण्णणत्थाणं अप्पमत्तादिपडिलोमपरूवणा कायव्वा, अत्थेणं पुण एसा चेव अनुलोमपरूवणया। एस अक्खरत्थो। इदाणिं वित्थरो भण्णति-चोदकाह—जति पाणातिवायादिछट्ठाणस्स दव्वादिचउहा पडिसेवा कता, तो जा पुव्वं भणिया 'दप्पे सकारणंमि य दुविहा,' सा इयाणिं ण घडए। जइ दुहा चउहा ण घडए, अह चउहा तो दुहा ण घडए। एवं पुव्वावरविरोहो। पन्नवगाह-नो-न घडए?, घटत एव, कथम्? उच्यते—

एसेव चतुह पडिसे-वणा तु संखेवतो भवे दुविधा।
दप्पा तु जो पमादो, एगत्त पुहत्त-अप्पमत्तस्स॥९१॥

एसेव त्ति—जा पुव्वभणिता चउहा—चउरो भेया, दप्पादिया, तु पूरणे। संखेवो—समासो, न वित्थारो त्ति भणियं। भवेज्ज दुहा-दुभेया,कहं?,दप्पाओ को? जो पमाओ-सो दप्पो तम्हा एगत्ता-एगा, दप्पा पडिसेवणा। कप्पा पुण अप्पमत्तस्स अप्पमातो कप्पो भण्णति, तम्हा एगत्ता एगा कप्पिया पडिसेवणा। एवं दो भण्णंति। अहवा-कारणकज्जमवेक्खतो एगत्तं पुहत्तं वा भवति। पमाया दप्पा भवति, अप्पमाया कप्पा भवति। जहा-तंतुओ पडो। तंतू कारणं, पडो कज्जं, जम्हा कारणंतरमावण्णा तंतव एव पडो, तम्हा तंतुपडाणं एगत्तं। जम्हा पुण तंतूहिं पडो कज्जति तम्हा अण्णत्तं, एवं पमाददप्पाणं एगत्तं, पुहत्तं वा। अप्पमायकप्पाण वि एगत्तं पुहत्तं वा। जतो एवं तम्हा दुविहा पडिसेवणा चउव्विहा वा ण एत्थ दोसो।

इयाणिं सीसो पुच्छति-कहं पमाओ दप्पो, अप्पमाओ वा कप्पो?, गुरू भण्णति सुणसु जहा भवति-

ण य सव्वो वि पमत्तो, आवज्जति तध वि सो भवे वधओ।
जह अप्पमादसहिओ,आवण्णो वी अवहओ उ॥९२॥

अतिवातलक्खणो दप्पो, अनुपयोगलक्खणो प्रमादः,णाणातिकारणावेक्ख अकप्पसेवणाकप्पो, उवओगपुव्वकरणक्रियालक्खणो अप्रमादः, एवं सरूवट्ठितेसु गाहत्थो अपयारिज्जति। ण इति पडिसेधे,सव्व इति अपरिसेसे,पमत्तो-पमायभावे वट्टंतो आवज्जति। पाणातिवायं जति वि य सो पमादभावे वट्टमाणो पाणातिवायं णातिवज्जति तहा वि सो णियमा भवे वहओ। सीसो पुच्छति—पाणाइवायं अणावण्णो कहं वहओ? गुरुराह-एत्थ वि अण्णो दिट्ठंतो कज्जति, जह अप्पमायपच्छद्धं, जहा जेण प्पगारेण 'अप्पमायसहिओ' अप्पमाययुक्तेत्यर्थः। 'आवण्णो वि' पाणातिवायं 'अवहगो' भवति, भणियं च-"उच्चालियंमि पादे०" गाहा। "ण य तस्स तण्णिमित्तो०" गाहा। जहा एस सति पाणातिवाए अप्पमत्तो अवहगो भवति, एवं असति पाणातिवाए पमत्तो वहगो भवति, जओ एवं तम्हा चउहा पडिसेवणा दुविहा भवति। दप्पिया, कप्पिया य। दप्पकप्पाणं कमो वण्णणत्थाणं। पुव्वं कप्पियवक्खाणं भणामि। चोदगाह-

१—हव्वओ-सहसाकारेण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततियपादए पडिलोमपरूवणता, कहं दप्पिकायाः पूर्वे निपातनं कृत्वा, कल्पिकाया व्याख्या कहं पूर्वम् उच्यते ? अत्रोच्यते—अत्थेणं होइ अणुलोमा—अर्थ प्रतीत्य कल्पिका एव पूर्वं भवतीत्यर्थः । कहमत्थेणं होति अणुलोमा—भण्णति—

अप्पसरमच्चियतरं, एगेसिं पुव्वजतणपडिसेवा ।
तं दोगह चेव जुज्जति, बहूण पुण अच्चितं अंते ॥ ९३ ॥

अप्पसर त्ति—अत्रैके आचार्या आहुः—" यदल्पस्वरं तत्सर्वं द्विपूर्वं निपतति " यथा-प्लक्षन्यग्रोधौ। 'अर्चिततरं ति' अएणे पुणराहुः—" यदर्चितं तत्पूर्वं निपतति " । यथा मातापितरौ, वासुदेवार्जुनौ इत्यादि । एतानि कारणाणि इच्छमाणा आयरिया पुव्वं जयणपडिसेवणं भणंति—वयं पुण ब्रूमः-तं दाएह चेव जुज्जति, तदिति ' अल्पस्वरत्वम्, अर्चितत्वं वा द्वाभ्यां चेति पदाभ्यां युज्यते घटतेत्यर्थः। ननु बहूनां चोदकाह-बहुआए कहं ?, उच्यते—' बहूण पुण अर्चितं अंते ' बहूनां पदानां पुण सद्दो अवधारणे अच्चियं, पदं अंते भवति । यथा-भीमार्जुनवासुदेवा, उक्कमकारणाणि अभिहितानि ।

इदाणिं समवतारो-

दोएहं वच्चं पुव्व-ऽचितं तु बहुयाण अचितं अप्पं ।
वच्चं तेण व पुव्वं, जतणा तेणं पडीलोमं ॥ ९४ ॥

जदा दो पयाणि कप्पिज्जंति—दप्पिया, कप्पिया य। तदा 'दोएहं वच्चं पुव्वच्चियं तु' कप्पियं अच्चियं पदं तं पुव्वं वत्तव्वमिति । यदा बहुपया कप्पिज्जंति, दप्पो, कप्पो, पमाओ अप्पमातो तदा ' बहुआएं अच्चियं अंते ', अंतपदं अप्पमातो सो पुव्वं वत्तव्वो। अहवा—अप्पं च एत्थं वच्चंतेण वा पुव्वं भणामो । जयणा इति-जयणपडिसेवणा। तेण इति-कारणेण, पडिलोम इति-पच्छाणुपुव्वीत्यर्थः । निश्चयतः इदं कारणं वयमिच्छमाणा कप्पियायाः पूर्वं निपातनं कृतवन्तः।

ण पमादो कातव्वो, जतणापडिसेवणा अतो पढमं ।
सा उ अणाभोगेणं, सहसक्कारेण वा होज्जा ॥ ९५ ॥

जम्हा पव्वयंतस्सेव पढमं अयमुवदेसो दिज्जति-अप्रमादः करणीयः-सदा प्रमादवर्जितेन भवितव्यम्, अतो एतेण च कारणेणं जयणापडिसेवणाए पुव्वणिवायं इच्छामो । ण तु अप्पसरमच्चियं काउं, बंधणलोमताए वा अंते अप्पमत्तपडिसेवणा भणिता, अत्थतो पुण वक्खाणं- तेहिं पढमं वक्खाणिज्जति तेण अणुलोमा चेव एसा अत्थओ, ण पडिलोमा। सिद्धं अणुलोमवक्खाणं स अप्पमायपडिसेवणा दुविहा-अणाभोगा हव्वतो अचरिमा तु एयं चेव पयं विप्पट्ठतरं णिक्खिवति, ' सा उ अणाभोगेणं ' पच्छद्धं कंठं। अणाभोगे, सहसक्कारे य दो दारा। अणाभोगो णाम अत्यन्तविस्मृतिः।

अणाभोगा-पडिसेवणा-सरूवं इमं-

अणतरपमादेणं, असंपउत्तस्स णोवउत्तस्स ।
रीयादिसु भूतत्थे-सु वट्टतो होतऽणाभोगो ॥ ९६ ॥

पंचविहस्स पमायस्स इंदियकसायवियडणिद्दाविगहा। एएसिं एगतरेणावि असंपउत्तस्स अयुक्तस्येत्यर्थः। 'णोवउत्तस्स रीयातिसु भूयत्थेसु' नो इति पडिसेहे, उवउत्तो मनसा दृष्ट्या वा युगांतरपलोगी।' रीय त्ति' रीयासमितिगहितो,आदिसद्दातो अक्खसमितीतो य। एतासु समितिसु कताति विस्सरिएणं अवउत्तेणं ण कयं होज्जा, अप्पकालं सरिते य मिच्छादुक्कडं देति, भूयत्थो णाम विआरविहारसंथारभिक्खातिसंजमसाहिका किरिया भूतत्थो, धावणवग्गणादिको अभूतत्थो अ, वट्टओ—पाणातिवाते, एवंगुणविसिट्ठो होय णाभोगो। अहवा एवं वक्खाणेज्जा-असंपउत्तस्स पाणातिवातेण इरियादिसमितीणं जो भूयत्थो तंमि अवट्टंतो ताह तेणाभोगो त्ति, सेसं पूर्ववत्। इह अणाभोगेण जति पाणातिवायं णावएणो तो का पडिसेवणा ?, उच्यते-जं तं अणुवउत्तभावं पडिसेवति सा एव पडिसेवणा इह नायव्वा। एत्तो अअणाभोगो ।

इयाणिं सहसक्कारो तस्सिमं सरूवं—

पुव्वं अपासिऊणं, छूढे पादंमि जं पुणो पासे ।
ण(य)तरति णियत्तेउं, पादं सहसाकरणमेतं ॥ ९७ ॥

पुव्वमिति-पढमं,चक्खुणा थंडिले पाणी पडिलेहेयव्वा,जति दिट्ठा तो वज्जणं।'अपासिऊणं ति'-जति ण दिट्ठा तंमि थंडिले पाणी। 'छूढे पायम्मि त्ति'-पुव्वं ण सिय थंडिलाओ उक्खित्ते पादे चक्खू पडिलेहिय थंडिलं असंपत्ते अंतरा वट्टमाणे पादे 'जं पुणो पासे त्ति'जमिति पुव्वमदिट्ठं पाणिणं पुणो पच्छा पस्से ज्ज चक्खुणा, 'ण तरति' ण सक्केति, पासणकिरियवावारपवित्तं पायं णियत्तेउं। पच्छा दिट्ठपाणिणो उवरिं णिसितो पाओ, तस्स य संघट्टणपरितावणकिलावणोद्दवणादीया अप्पमत्तकिरियोवउत्तेण पीडा कता,एसा जा सहसक्कारपडिसेवा-'सहसाकरणमेयं ति'-सहसाकरणं जाणमाणस्स परायत्तस्सेत्यर्थः। एतमिति एयं सरूवं सहसक्कारस्य। इयाणिं सहसक्कारसरूवोवलद्धं पंचसु वि समितीसु णियोतिज्जति। तत्थ पढमा इरियासमिती भएणति—

दिट्ठे सहसक्कारे, कुलिंगादी जह असिम्मि विसमे वा ।
आउत्तो इरियाति, तडिसंकम उवहिसंथारे ॥ ९८ ॥

जतणा असणातिकिरियापवत्तेण अप्पमत्तइरिओवउत्तेण दिट्ठो पाणी कायजोगो य पुव्वपयत्तो ण सक्कितो णिग्घेतुं, एवं सहसक्कारेण वावादितो, कुलिंगी आदिसद्दातो पंचिंदी वि जहा जेण एगोरेण, असी-खग्गं, विसमं-णिएणोणतं, आउत्तो-अप्रमत्तः, तडिसंकमणं वा आउत्तो करेति, तडी नाम-छिएणटंका, उवहिसंथारगं वा उप्पादेंतो सव्वत्थ आउत्तो जति वि कुलिंगं वावादेति तह वि अवधको सो भणिओ। चोदगाह-किं वुत्तं कुलिंगी? काणि वा लिंगाणि? को वा लिंगी ?।

पएणवग आह—

कुत्थितलिंगकुलिंगी, जस्स व पंचेंदिया असंपुएणा ।
लिंगिंदियाइँ अंतो, सलिंगतो घिप्पते तेहिं ॥ ९९ ॥

कुसद्दो अणिट्ठवायी, कुत्सितेन्द्रियेत्यर्थः। सेसं कंठं। जस्स त्ति'-जस्स पाणिणो, 'पंचेंदिया असंपुएण त्ति ' अत्थि पंचिं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिया, किं तर्हि—असंपुराग्म, जहा असंणिणो परिफुडत्थप-रिच्छेदणो ण भवति त्ति भणियं भवति। परिसे अत्थे एवं वयणं ण भवति, इमं तु पंच ण पुज्जंति त्ति भणियं भवति, द्वीन्द्रियादारभ्य यावत् चउरिंदियेत्यर्थः। सो कुलिंगी। लिंगमिति जीवस्य लक्षणं, यथा-अग्रत्यक्षोऽप्यग्निर्धूमेन लिङ्ग्यते ज्ञायतेत्यर्थः, एवं लिगागिंदियाणि अतो आत्मा लिङ्गमस्यास्तीति लिंगी। आत्मा लिंगी कहं घेप्पते?। तेहिं इन्द्रियैरित्यर्थः। चोदगाह-कहं पुण सो अप्पमत्तो विराहेति।

पराणवगाह-' असिंमि विसमे वा ' पयस्स वक्खाणं-

असिकंटकविसमादिसु, गच्छंतो सिक्खिओ वि जत्तेणं।
चुकइ एमेव मुणी, छलिज्जती अप्पमत्तो वि ॥ १०० ॥

असी-खग्गं, जहा तस्स धाराए गच्छंतो सुसिक्खियो वि आउत्तो वि लंछिज्जति, कंटगागिराणो वा जो पहो तेण गच्छंतस्स आउत्तस्स वि कंटओ लग्गति, विसमं—णिराणो णतं, आदिसद्दाओ णदीतरणाइसु जत्तेणं—प्रयत्नेन,चुक्कति छलिज्जति, एस दिट्ठंतो. इण मत्थो वरणाओ, एवमवधारणे मुणी-साहू, इरियासमिती गता। इदाणीं भासासमिती-कोति साहू सहसा सावज्जं भासं भासेज्ज, ण य सक्किओ णिग्घेतुं वाउगो एवं भासासमितीए सहसक्कारो सो भ्मत्थविसोहीए सुद्धो चेव। एत्थ भासासमितीसहसक्कारो भगणति।

असंजयमतरंते, वट्टइ तं पुच्छ होज्ज भासाए।
वट्टति असंजमो से, मा अणुमति केरिसं तम्हा ॥१०१॥

असंजतो—गिहत्थो, अतरंतो—गिलाणो, तं साहू पुच्छेज्ज सहसक्कारेण वट्टति त्ति लद्धंति। तं च किं असंजमो असंजमजीवियं वा एत्थ साहुणो सुहुमवायजोगेहिं अणुमती लब्भति, एवं होज्ज—भासाए त्ति—भासासमितीए, से सहसक्कारो वट्टति। असंजमो से गयत्थं मा अणुमती भविस्सति तम्हा एवं वत्तव्वं—केरिसं इह वयणे अत्थावत्तिपओगेण विहुमो वि अणुमतीदोसेण लब्भति। गता भासासमिती।

इदाणीं तिरिण समितीओ जुगवं भणंति—

दिट्ठमणेसियगहणे, गहणणिखेवे तहा णिसग्गे वा।
पुव्वाइट्ठो जोगो, तिगणो सहसा ण णिग्घेत्तुं ॥१०२॥

दिट्ठमणेसियगहणे त्ति-एसा एसणासमिती। गहणणिक्खेवे त्ति—आदाणणिक्खेवणासमिती। तहा णिसग्गे त्ति—एसा परिट्ठावणियासमिती। पच्छद्धेण तिराह वि सरूवं कंठं। एसणासमितीए उवउत्तो ण दिट्ठमणेसणिज्जं,पच्छा दिट्ठं, ण सक्किओ गहणजोगो णियत्तेउं, एवं सहसक्कारो एसणासमितीए भवति। एवं गहणणिक्खेवेसु वि, पुव्वाइट्ठो ण सक्कितो जोगो णिग्घेत्तुं तहा णिस्सग्गे वि भणिओ सहसक्कारो। एवं अणाभोगेण वा सहसक्कारेण वा पडिसेविए वि बंधो ण भवति।

जतो भगणइ—

पंचसमितस्स मुणिणो,आसज्ज विराधणा जदि हवेज्जा।
रीयंतस्स गुणवतो, सुव्वत्तमबंधओ सो उ ॥ १०३ ॥

पंचहिं समितीहिं समियस्स, जयंतस्सेत्यर्थः। मुणिणो-साधोः, आसज्जति परिसमत्थं पप्पपाणिविराहणा भवति। रीयंतस्स-कायजोगे पवत्तस्स, गुणवतः-गुणात्मनः, सुव्वत्तं परिस्फुटं, ' अबंधओ सो उ ' तुसद्दो अवधारणे। गया अप्पमायपडिसेवणा।

इयाणिं अवसेसाओ तिरिण। एतासिं कतरा पुव्वं भासियव्वा ?, उच्यते-अल्पतरत्वात्तृतीया वक्तव्या। पच्छा पढमा, वितिया य। एगट्ठा भणिर्णहिं ति। सा य पमायपडिसेवणा पंचविहा।

दारगाह—

कसायविकहवियडे, इंदियणिद्दप्पमाय पंचविहे।
कलुसस्स य णिक्खेवो,चउव्विधो कोहादि एक्कारे।१०४।

कसायपमादो, विगहापमादो, विगडपमादो, इंदियपमादो, णिद्दापमादो। ' कलुसस्स य त्ति ' कसायपडिसेवणागहिता, वसद्दाउ कसाया चउव्विहा—कोहो, माणो, माया, लोभो। एतेसिं एक्केक्कस्स णिक्खेवो चउव्विहो दव्वादी कायव्वो। सो य जहा आवस्सते तहा दट्ठव्वो,तत्थ कोहं तवे भणामि। कोहादि एक्कारे त्ति—कोहुप्पत्ती जा तं आदिं काउं एक्कारस भेओ भवति।

ते य एक्कारस भेया—

अप्पत्तिए असंखडि, णिच्छुभणे उवधिमेव पंतावे।
उद्दावण कालुस्से, असंपती वेव संपत्ती ॥ १०५ ॥

अप्पत्तियं—पच्चामरिसकरणं, असंखडं वाचि गो कलहो तसुवायं करेति जेण सगच्छातो णिच्छुभति, उवकरणं वा वोहिं वेत्त त्ति हारावेति वा। पंतावणे-लगुडादिभिः,उद्दवणं-मारणं, कालुस्से-कासओप्पत्ती घेप्पति। अप्पत्तियाति जाव पंतावणा असंपत्ति संपत्तीहिं गुणिया दस। आदिकसाउप्पत्तीए सहिता एते एक्कारस।

इमं पच्छित्तं-

लहुओ य दोसु दोसु अ, गुरुगो लहुगा य दोसु ठाणेसु।
दो चउ गुरु दो छल्लहु, अणवट्ठेक्कारस पदा तु ॥ १०६॥

गाहा—

अहवा लहुगो गुरुगो, गुरुगा गुरुगा य दोसु चउगुरुगा।
दो छल्लहु अणवट्ठो,चरिमं तह एकारस पयाणि ॥१०७॥
लहुओ य दोसु गुरुओ,लहुगा गुरुगा य दोसु ठाणेसु।
दो चउ गुरु दो छल्लहु,छग्गुरु अ छेद मूल दुगं ॥१०८॥

आदिकसाउप्पत्तीए-लहुओ, असंप्पत्तीए-लहुगो,संप्पत्तीए मासगुरुं, असंप्पत्तीए असंखडे-मासगुरुं, संप्पत्तीए-ल्ह,णिच्छुभणे असंप्पत्तीए-ल्ह, संप्पत्तीए-ल्ह, उवकरणस्स हारवणे असंप्पत्तीए-ल्ह, संप्पत्तीए-ल्ह, पंतावणस्स असंप्पत्तीए-ल्ह, संपत्तीए-अणवट्ठप्पो। एवं उद्दवणवज्जा एकारस पदा। अहवा—एक्कारस पदा आदिकसाउप्पत्तीकारणं वज्जेऊण उद्दावणसहिया एक्कारस इमा जयणा अप्पत्तीए-असंप्पत्तीए मासलहुं, संपत्तीए-मासगुरुं, असंखडे असंपत्तीए-मासगुरुं, संप्पत्तीए-ल्ह, णिच्छुभणे असंप्पत्तीए—ल्ह, संपत्तीए—ल्ह, उवकरणहारवणस्स असंपत्तीए-ल्ह, संत्तीए-ल्ह,पंतावणस्स असंपत्तीए-ल्ह, संपत्तीए-अणवट्ठप्पो, उद्दवणे-पारंची। अह वणणो—आदेसो भगणति—' लहुओ य दोसु० ' गाहा—एए पगणरस पायच्छित्ता एतेसिं ठाणणिओयणा भगणति। चो-

१—ल्ह इति पूर्ववदिलर्थे संकेतितमिव प्रतिभाति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दगाह—अत्थतो ताव ठाणणिओयणं इदं ताव णाउमिच्छामि कहमप्पत्तियमुप्पएणं।

पएणवगाह–

सहसा व पमादेणं, अप्पडिवंदे कसाइए लहुओ।
अहमवि य ण वंदिस्सं, असंप० संपत्ति लहुगुरुओ॥१०९॥

पगेण साहुणा साहू अभिमुहो दिट्ठो, सो य तेण वंदिओ, तेण य अएणकिरियावावारोवयुत्तेण, अएणतरपमायसहितेण वा, अप्पडिवंदे त्ति, तस्स साहुस्स वंदमाणस्स पडिवंदणं जं तं पडिवंदणं-न पडिवंदणं अपडिवंदणं अप्पणेणं च ण वंदिओ एवं तमप्पत्तियमुप्पएणं, इयाणिं णियोजणा तस्सेवं कसातियमेत्तस्स चेव लहुओ, तदुत्तरं कसातितो एवं चिंतेति-जया एसो वंदिस्सति-तदा अहमपि चेयं, न पडिवंदिस्सं तस्स असंपत्तीए-मासलहुं, संपत्तीए-मासगुरुं, अक्खरत्थो कंठो।

एमेवऽसंखडे वा, असंप० गुरुओ लहुग संपत्ते।
निच्छुभणमसंपत्ते, लहुय च्चिय णीणिते गुरुगा॥११०॥

असंखडे-असंपत्तीए-मासगुरुं, संपत्तीए-ङ्ह, णिच्छुभणे असंपत्तीए-ङ्ह, संपत्तीए-णीणितो णाम-णिच्छूढो धाडतेत्यर्थः-ङ्ह।

उवधीहरणे गुरुगा, असंप० संपत्तिओ य छल्लहुया।
पंतावणसंकप्पे, छल्लहुया अचलमाणस्स॥ १११ ॥

उवहिं हरामि वा, हारे (हरावे) मि वा असंपत्तीए—ङ्ह, संपत्तीए-ङ्ह, पंतावणसंकप्पो णाम-जट्ठिमुट्ठिकोप्परप्पहारेहिं हणामि त्ति चिंतयति, अचलमाणस्स त्ति—तदवत्थस्सेव कार्याकार्यमयुंजतस्स-ङ्ह।

गाहा–

पहरण मग्गण छग्गुरु, छेदो दिट्ठंमि अट्ठमं गहिते।
ओगिएणदिएणअममए, णवमं उद्दावणे चरिमं॥११२॥

इतो प्रहरणं लउडादि मग्गिउमारद्धो तत्थ से-ङ्ह, तेण य मग्गंतेण दिट्ठं चक्खुणिवाये कयमेत्ते चेव छेदो, गंतूण हत्थेण गहियं पच्छा से अट्ठमं, मासलहुआतो गणिज्जंतं—मूलं अट्ठमं भवति। जस्स रुसिओ तस्स उदिएणं पहरणं णवमं भवति, दिएणपहारे जति ण मतो तहा वि णवमं चेव 'अणवट्ठप्पं ति' भणियं होति, पहारे दिन्ने मतो सिया चरिमं, चरिमं णाम-पारंची, चरिमावस्थितत्वात्, पढमवितियततियआदेसाणं "सामएणलक्खणं" गाहा।

विसेसओ पढमा एसस्सिमा गाहा—

अप्पत्तियादि एवं, असंपसंपत्ति संगुणं दस उ।
कोधुप्पादणमेव तु, पढमं एक्कारस पदाणि॥ ११३ ॥

अप्पत्तियपदं आदि काउं जाव पंतावण ताव पंच पदा। एते असंपत्तिसंपत्तिपदेहिं गुणिता दस भवंति। एयं तिएहं वि आदेसाणं सामएणं। इमं पढमादेसे वइसेसयं। कोहउप्पायणमेव उ पढमं। एतेण सहिता एक्कारस पदा भवंति। सेसं कंठं।

एवं कोवि अहिकरणं काउं-

तिव्वाणुबद्धरोसे, अवमंतो धरेतु कुसलपडिसिद्धं।
तिएहं एगतराए, वच्चंते अंतरा दोसा॥ ११४ ॥

तिव्वो अणुवद्धो गृहीतेत्यर्थः, तिव्वेण वा रोसेण अणुबद्धो अप्पा जस्स सो तिव्वाणुवद्धरोसो अवमंतो असक्कंतो धरेतुमिति, खेमिओ, भावकुशलतित्थकरा पडिसिद्धो णिवारितो कोह इति वयणं दट्ठव्वं, एवं सो तेण तिव्वेण रोसेणाणुबद्धो जेण सेसहअहिकरणसमुप्पएणं तं पासितु मसक्कंतो गणातो वच्चितुमारद्धो। 'तिएहं एगतराए त्ति'-वक्खमाणं अंतरा इति मूलगुणातो णिग्गयस्स अएणं गणं अपावेंतस्स अंतरं भवति दोस इति विराहणा।

'तिएहमेगतराए' त्ति पदस्स वक्खाणं 'संयमआतविराहण' गाहा—

संजम आतविराधण, उभयं तत्तियं व गंधपच्छित्तं।
णाणादितिगं वावि, अणवत्थाईतिगं वावि॥ ११५ ॥

संजमो सत्तरसविहो, तस्स वा जाव सत्तरसभेयस्स वा विराहणं करेइ, आत इति—अप्पा तव्विराहणं वा, वालुक्खाणुकंटादीहिं वा, उभयं णाम—संजमो, आयविराहणा, विराहणासद्दो पत्तेयं। अहवा तिगं संजमविराहणा तत्तिगं से पच्छित्तं भवति। अहवा-तिगं णाणविराहणा सुत्तत्थ अगेएहंतस्स विस्सरियं वा अपुच्छंतस्स, दंसणविराहणा अपरिणतो चरगादीहिं वुग्गाहिज्जति, चारित्तविराहणा एगागी इत्थिगम्मो भवति। अहवा-तिगं अणवत्थादितिगं वा चि, एवं सो गणाओ णिग्गओ, अएणो वि साहू चिंतेति-अहं पि णिग्गच्छामि। अणवत्थीभूतो गच्छधम्मो, न जहावाइणो तहाकारिणो, मिच्छत्तं जणेति। अहिणवधम्माणं विराहणा। आयसंजमे आयविराहणा। खाणुकंटगादीसु संजमविराहणा इमा।

अथवा वायो तिविहो, एगिंदियमादि ०जाव पंचिंदी।
पंचएह चउत्थाई, अहवा एक्कादिकल्लाणं॥ ११६ ॥

अहव त्ति-विकप्पदरिसणे अ, वातो—दोसो, तिविहो त्ति-एगिंदिया वातो, विगलिंदिया वातो, पंचेंदिया वातो। अहवा-वातो तिविहो त्ति-पच्छित्ता वातो, सो य एगिंदियादि० जाव पंचेंदिएसु वा वातिएसु भवति, सो इमो पंचएह त्ति एगेंदिया ०जाव पंचेंदिया। 'चउत्थादि त्ति' चउत्थं आदि काउं ०जाव बारसमं। एगेंदिए चउत्थं, वेइंदिए छट्ठं, तेइंदिए अट्ठमं, चउरिंदिए दसमं, पंचेंदिए बारसमं, एक्को आएसो। अहवा एगिंदिए एगकल्लाणयं ०जाव पंचेंदिये पंच कल्लाणयं। बितिओ आदेसो—एतेसु जे एगिंदिएसु पच्छित्ता वाओ सो जहएणो, विगलिंदिएसु मज्झिमो, पंचेंदिएसु उक्कोसो, एस तिविहो पच्छित्ता वाओ। एए दो आदेसा दाणपच्छितं भणितं। अहवा—एए दो वि इमो ततिओ। आवत्तिपच्छित्तेण भएणति।

छक्काय चउसु लहुगा, परित्तलहुगा य गुरुगसाहारे।
संघट्टणपरितावण, लहु गुरु अतिवायणे मूलं॥११७॥

छक्काय त्ति—पुढवादी ०जाव तसकाइया। चउसु त्ति-एएसिं छएहं जीवणिकायाणं चउसु पुढवादिवाउक्काइयंतेसु संघट्टणे लहुगो, परितावणे गुरुगो, उद्दवणे चउलहुगा, परित्तवणस्सइकाइए वि, एवं चेव। साहारणवणस्सति काइए संघट्टणे मासगुरु, परितावणे-ङ्ह, उद्दवणे-ङ्ह, संघट्टणपरितावणे त्ति वयणा, सुत्तत्थे लहुगुरुगाइं ति—चउलहुं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चउगुरुं च गहितं । सेसा पच्छित्ता अत्थतो दट्ठव्वा । पंचिंदियसंघट्टणे छग्गुरुगा, परितावेत्ति छेओ, उद्दवे त्ति मूलं, दोसु अणवट्ठो, तिसु पारंची । एस अक्खरत्थो । इमो, वित्थरओ अत्थो-पुढवि-आउ-तेउ-वाउ-परित्तवणस्सतिकाए य एतेसु संघट्टणे मासलहुं, परितावणे मासगुरुं,उद्दवणे-ल्ह। अणंतवणस्सतिकाये संघट्टणे मासगुरुं, परितावणे-ल्ह । उद्दवणे-ल्ह । एवं बेइंदिएसु चउलहु, आढत्तं छल्लहुए ठाति । तेइंदिएसु चउगुरु, आढत्तं छग्गुरु ठाति, चउरिंदियाए छल्लहु आढत्तं छेए ठाति, पंचेंदिया छग्गुरुगा, आढत्तं मूले ठाति । एस पढमाऽऽसेवणा । अतो परं अभिक्खासेवणा-अभिक्खासेवणाए हेट्ठाणं मुच्चति, उवरि एक्कं वट्टिज्जति पुढवाति ०जाव परित्तवणस्सकाइयाए । वितियबाराए मासगुरुगाति चउगुरुगे ठाति, एवं जाव अट्ठमवाराए चरिमं (पारंची) पावति । णवमवाराए परितावणे चेव चरिमं, दसमवाराए संघट्टणे चेव चरिमं । एवं सेसाण वि सट्ठाणातो चरिमं पावेयव्वं, एस कोहो भणिओ । सेसकसाएसु वि यथासंभवं भाणियव्वं । कसाए त्ति दारं गयं । नि० चू० १ उ० । (अत्र स्त्रीकथाद्वारम् 'इत्थिकहा' शब्दे द्वितीयभागे ५८५ पृष्ठे गतम्) (अत्र भक्तकथाद्वारम् 'भत्तकहा' शब्दे पञ्चमभागे १३४२ पृष्ठे गतम्) (देशकथाद्वारम् 'देसकहा' शब्दे चतुर्थभागे २६२८ पृष्ठे गतम्) (अत्र राजकथाद्वारम् 'रायकहा' शब्दे वक्ष्यामि)

इदाणिं वियडे त्ति दारं—

वियडं गिण्हइ वियरति, परियाभाए तहेव परिभुंजे ।
लहुगा चतु जमलपदा,मददोसअगुत्ति गेही य ॥१३१॥

वियडं—मज्जं, तं सड्ढघराओ आवणाओ वा गेण्हइ, केवलं एवं वितियपदं । वितरइ त्ति-केणइ साहुणा आयरियाती कोइ पुच्छितो-अद्धमासवं गेण्हामि, सो भणइ-एवं करेहि, एवं वितरणं, एतं पढमपयं । वितियपयं बंधाणुलोमा गेण्हणे पदपदातो पच्छा कयं परियाभाए त्ति—देति परिवेसयतीत्यर्थः, एतं ततियं पयं । परिभुंजति-अभ्यवहरतीत्यर्थः चउत्थं पदं । कमसो दुट्ठतराणि, पच्छित्तं भण्णति—लहुगा इति-चउलहुगा, ते चउरो भवंति । कहं वितरमाणस्स चउलहुं गेण्हमाणस्स वि चउलहुं, परियाभाएमाणस्स वि चउलहुं, परिभुंजमाणस्स वि चउलहुं । जमलपदं णाम तवकालो तेहिं विसेसाहिया कज्जंति-पढमपए दोहिं वि लहुं, वितियपदे कालगुरुं ततियपदे तवगुरुं, चउत्थे दोहिं पि गुरु । दोसदरिसणत्थं भण्णइ-"मददोस अगुत्तिगेही य"-मददोसो नाम ।

"मद्यं नाम प्रचुरकलहं निर्गुणं नष्टधर्मं,
निर्मर्यादं विनयरहितं नित्यदोषं तथैव ।
निःसाराणां हृदयदहनं निर्मितं केन पुंसा,
शीघ्रं पीत्वा ज्वलितकुलिशो याति शक्रोऽपि नाशम् ।१।
वैरूप्यं व्याधिपिण्डः स्वजनपरिभवः कार्यकालातिपातो,
विद्वेषो ज्ञाननाशः स्मृतिमतिहरणं विप्रयोगश्च सद्भिः ।
पारुष्यं नीचसेवा कुलबलतुलनाधर्मकामार्थहानिः,
कष्टं भो षोडशैते निरुपचयकरा-मद्यपानस्य दोषाः ॥२॥"

अगुत्ती णाम अणेगाणि विप्पलवति वायाए, काएण णच्चति, मणसा बहुचिंताकुलो भवति, गेही—नाम अत्यर्थमासक्तिः मद्येन विना स्थातुं न शक्नोति 'विडये त्ति' दारं गयं ।

इदाणिं इंदिए त्ति दारं—

रागेतरगुरु लहुगा, सद्दे रूवे रसे य फासे य ।
गुरुगो लहुगो गंधे, जं वा आवज्जती जत्तो ॥ १३२ ॥

मायालोभेहिंतो रागो भवति, कोहो माणेहिंतो दोसो भवति, सद्दे रूवे रसे फासे य एतेसु चउसु इंदियत्थेसु रागं करेंतस्स चउगुरुगा पत्तेयं । अह तेसु दोसं करेति तो चउलहुयं पत्तेयं,गंधे रागं करेति मासगुरुं, दोसं करेंति मासलहुं । अह सच्चित्तपइट्ठिते गंधं जिग्घति मासगुरुं, अचित्तपइट्ठिते मासगुरुं,लहुं जं वा आवज्जति त्ति जिग्घमाणो जं संघट्टणपरितावणं करेति तणिप्फण्णं दिज्जति । अहवा-जं व त्ति-अनिर्दिष्टस्वरूपं आवज्जति-पावति । किं च-तं संघट्टणादीयं जत्तो त्ति एगिंदियाणं०जाव पंचेंदिया एत्थ पच्छित्तं दायव्वं । "छक्काये चउसु लहुगा०"गाहा । इंदिए त्ति दारं गयं । इदाणिं णिद्द त्ति दारं, सा पंचविहा-णिद्दा, निद्दानिद्दा, पयला,पयलापयला, थीणद्धी, । नि० चू० १ उ० । (अत्र निद्राद्वारम् 'णिद्दा' शब्दे चतुर्थभागे २०७२ पृष्ठे गतम्) (निद्रान्तर्गत-स्त्यानर्द्ध्युदाहरणम् ' थीणद्धि ' शब्दे चतुर्थभागे २४१२ पृष्ठे उक्तम् । तत्रैवोक्ता सव्याख्या गाथा इहापि किञ्चिद् व्याख्यायते) केसवो वासुदेवो जं तस्स बलं तव्वलाउ अद्धयवलं थीणद्धिणो भवति । तं च पढमसंघयणिणो य इदाणीं, पुण—सामण्णवला दुगुणं तिगुणं चउगुणं वा भवति । से अ एवं बलजुत्तो मा गच्छं रुसिओ विणासेज्ज, तम्हा सो लिंगपारंची कायव्वो । सो य साहुणयं भण्णति—मुय लिंगं णत्थि ओहचरणं, जति एवं गुरुणा भणितो मुक्तो सोहणं, अह ण मुयति तो समुदितो संघो भवति, हरति ण एगो,मा एगस्स पओसं गमिस्सति । पदुट्ठो य वावादयिस्सति ।

लिंगावहारणियमणत्थं भण्णति—

अवि केवलमुप्पाडे, ण य लिंगं देति अणति से सीसे ।
देसवत दंसणं वा, गिण्ह अणिच्छे पलातंति ॥१४२॥

अवि संभावणे, किं संभावयति-इमं जति वि तेणेव भवग्गहणेण केवलमुप्पाडेति तह वि से लिंगं ण दिज्जति । तस्स वा, अण्णस्स वा । एस णियमो अणसइणो, जो पुण अवहिणाणादी सति सो जाणति , ण पुण एयस्स थीणद्धिणिद्दोदयो भवति । देति से लिंगं इतरहा ण देति । लिंगावहारे पुण कज्जमाणे अयसुवदेसो-देसवउ त्ति सावगो होहि । थूलगपाणातिवायाइणियत्तो पंच अणुव्वयधारी, ताणि वा ण तरसि दंसणं गेण्ह, दंसणसावगो भवाहि त्ति भणियं भवति । अह एवं पि अणुणिज्जमाणो णेच्छति लिंगं मोत्तुं ता हरो उ मोत्तुं पलायति; देसांतरं गच्छतीत्यर्थः । पमायपडिसेवणे त्ति दारं गयं ।

इदाणीं पुव्वाणुपुव्विकमेण कप्पिया पडिसेवणा पत्ता, सा पुण पत्ता वि ण भवति, कम्हा ?, उच्यते सा सिस्ससेवमवहट्टाहिति,पुव्वमणुण्णा पच्छा पडिसेहो-अतो पुव्वं पडिसेहो भण्णति पच्छा अणुण्णा भणिहिति ।

दप्पादी परिसेवण, पच्छा उ होति आणुपुव्वीए ।
सट्ठाणे सट्ठाणे, दुविधा दुविधा य तिण्णि दुगा ॥१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दप्पिया पडिसेवणा भण्णति-आदिसद्दातो कप्पिया वि। आणुपुव्वीगहणातो पुव्विं दप्पियं भणामि, पच्छा कप्पियं, केसु पुण ठाणेसु-दप्पिया, कप्पिया वा, संभवति। भण्णति-जं तं हेट्ठा भणियं मूलगुणउत्तरगुणेसु मूलगुणे-पाणातिवाताइसु, उत्तरगुणे-पिंडविसोहादिसु, तत्थ मूलगुणेसु पढमे पाणातिवाते एवसु ठाणेसु पुढवातिसु सट्ठाणे सट्ठाणे वीप्सा "दुविहा दुविहा य तिण्णि दुगा।"

एएसिं तिण्ह वि दुगाणं इमा वक्खाणगाहा-

दुविधा दप्पे कप्पे, दप्पे मूलुत्तरे पुणो दुविधा।
कप्पंमि वि दुविकप्पा,जतखा जतणा य पडिसेवा॥१४४॥

पढमदुगे—दप्पिया, कप्पिया य। वितियदुगे—एक्केका मूलुत्तरे पुणो दुविहा। ततियदुगे-जा सा कप्पिया, मूलुत्तरे सा पुणो दुविहा जयणा जयणासु, जयणाजयणा णाम-तिपरियट्टं काऊण अप्पदुप्पणे पच्छा पणगादिपडिसेवणाए पडिसेवति, एसा जयणा। अहवा-पुढवाइसु सट्ठाणे सट्ठाणे दुविहा—दप्पे, कप्पे य दुतियदुगं वीप्साप्रदर्शनार्थम्। ततियदुगं मुलुत्तरे पुणो दुविहा पडिसेवणा। अहवा-आणुपुव्विग्गहणा पुढवाईकाया गहिता, तेसु य दुविहा पडिसेवणा—मूलगुणे वा, उत्तरगुणे वा। पढमसट्ठाणग्गहणेण मूलगुणा गहिता, दुतियसट्ठाणग्गहणेण उत्तरगुणा। मूलगुणे दुविहा—दप्पिया,कप्पिया य। उत्तरगुणे वि-दप्पिया, कप्पिया य। मूलगुणे जा कप्पिया उत्तरगुणे य जा कप्पिया, एताओ दो वि दुविहा-जयणाए य, अजयणाए य। एवेयं ततियदुगं, जे सट्ठाणा पुढवादी अत्थतो अभिहिता ते दप्पओ पडिसेवमाणस्स उव्वरियं पायच्छित्तं दिज्जइ।

पुढवीआउकाए, तेऊ वाऊ वणस्सती चेव।
विय तिय चउरो पंचिं-दिएसु सट्ठाणपच्छित्तं॥१४५॥

एतेसु सट्ठाणेसु पायच्छित्तं इमं "छक्काए चउसु लहुगा०" गाहा। एसा गाहा जहा पुव्वं वन्निया तहा दट्ठव्वा। पुढवाइसु संखेवओ पायच्छित्तमभिहियं॥

इयाणिं पुढवाईसु एक्केक्के विसेसं पायच्छित्तं भण्णति। तत्थ पढमं पुढविकाओ सो इमेसु दारेसु अणुगंतव्वो।

सक्खाइ हत्थपंथे, णिक्खित्ते सचित्तमीसपुढवीए।
गमणाइपप्पडंगुल, पमाणगहणे य करणे य॥१४६॥

दस दारा। एतेसिं दाराणं संखेवओ पायच्छित्तदाणं इमं-

पंचादिहत्थपंथे, णिक्खेत्ते लहुयमासियं मीसे।
कट्ठोल्लकट्ठोल्लकरणे,लहुगा पप्पडए चेव तसपाणा॥१४७॥

पंचादिति-ससरक्खादि सोरट्ठावसाणा वारस पुढविक्काईयहत्था। एतेसु जो आदिससरक्खहत्थो तंमि पणगं, सेसपुढविकायहत्थेसु पंथे य मासलहु, सचित्ते पुढविकाए अणन्तरणिक्खित्ते लहुगा। जत्थ जत्थ मीसो पुढविकाओ तत्थ तत्थ मासलहुं, मीसपुढविक्कायदरिसणं इमं कट्ठोल्लकट्ठेण-मेहलादिणा वाहियं, उल्लं णाम-आउक्काएण सो मीसो भवति,आउल्लगमादिकरणे-चउलहुगा,पप्पडए य चउलहुगा, वसहाओ गमणं अंगुलप्पमाणगहणे य-चउलहुगा, पप्पडए राती वि रेसु तसा पविसंति विराहिज्जंति, तक्कायणिप्फण्णं तत्थ पायच्छित्तं। इयाणीं ससरक्खादि दस दारा पत्तेयं पत्तेयं सपायच्छित्ता विवरिज्जंति, तत्थ पढमं दारं—ससरक्खादिहत्थ त्ति, ससरक्खणं आदिर्यस्य गणस्य सोऽयं ससरक्खादी गणो, कः पुनरसौ गणः?, उच्यते—पुरेकम्मे, उदउल्ले, ससिणिद्धे ससरक्खे, मट्टिआऊसे, हरियाले, हिंगुलए, मणोसिला, अंजणे, लोणे, गेरुय, वणिण्य,सेढिय,सोरट्ठिय, पिट्ठ, कुकुस, उक्कट्ठे, चेव, एते अट्ठारस कायणिप्फण्णा पिंडसणाए भणिया। हत्थो तत्थ जे पुढविकायहत्था तेहिं इह पओयणं, ण जे आउवणस्सतीकायहत्था, अतो पुढवीकायहत्था ण सेसकायहत्था, ण य विभागप्पदरिसणत्थं भण्णति।

ससणिद्ध दुहाकम्मे, रोद्धो, कुट्टे य कुंडए एते।
मोत्तूणं संजोगे, सेसा सव्वे तु पच्छिव्वा॥ १४८॥

हत्थुदयविंदू ण संविज्झति तं ससिणिद्धं। दुहाकम्मं ति पुरेकम्मं; पच्छाकम्मं च। उदउल्लं, एत्थेव दट्ठव्वं। एते आउक्कायहत्था। रोद्धो नाम-लोद्धो,रलयोरेकत्वाल्लोद्धो भवति। भण्णति—उक्कुट्ठो णाम—सचित्तवणस्सतिपत्तं कुरुफलाणि वा उक्केलं वुभंति, तेहिं हत्थो लित्तो एस उक्कुट्ठहत्थो भण्णति, कुंडगं णाम-सणहतंदुलकणियाओ, कुक्कुसा य कुंडगा भणंति, एते वणस्सतिकायहत्था। 'एते मोत्तूणं संजोगे' एते आउवणस्सतिहत्थे मोत्तूण, संजोगो णाम-जेहिं सह हत्थो जुज्जति स संजोगो भण्णति। अतो, एते—हत्थसंजोगे मोत्तूण, सेसा सव्वे उ पच्छिव्वा—पुढविकायहत्थ त्ति भणियं भवति, ते इमे ससरक्खादिहत्था आदिग्गहणातो मट्टियादि० जाव सोरट्ठिय त्ति एक्कारस हत्था।

एतेहिं इहाधिकारो अतो भण्णति—

करमत्ते संजोगो, सरक्खपणगं तु मासिलोणादि।
अत्थंडिलसंकमणे, कण्हा य पमज्जणे लहुगा॥१४९॥

करो त्ति-हत्थो, मत्तो य-भायणं, संजोगो णाम-चउक्कभंगो कायव्वो, सो य इमो—ससरक्खे हत्थे, ससरक्खे मत्ते, णो हत्थे, णो मत्ते। आदिभंगे संजोगे पायच्छित्तं दो पणगा, वितियततियेसु एक्केक्कं पणगं, चउत्थो भंगो सुद्धो। मासलोणादि त्ति—सीसो पुच्छति—कहं सरक्खहत्थाणंतरं मट्टियाहत्थं मोत्तूण लोणादिग्गहणं कज्जति?, आयरिय आह-एयं सेसहत्थाण मज्झग्गहणं कयं, अहवा—वंधाणुलोमा कयं इतरहा मट्टियाइहत्था भाणियव्वा, तेसु य एक्केक्कं करमत्तेहिं चउभंगो कायव्वो। पढमभंगे-दो मासलहुं,वितियततिएसु-एक्केक्कं मासलहुं, चरिमो सुद्धो। सरक्खादिहत्थे त्ति दारं गयं। इदाणिं पंथे त्ति-दारं-पंथे वच्चंतो थंडिलाओ अथंडिलं संकमति-अचित्तभूमीतो सचित्तभूमीं संकमति त्ति भणियं भवति। कण्हभूमीओ वा णीलभूमीं संकमति। एत्थ अविहि-विहिए, दरिसणत्थं भंगा। ते इमे अपमज्जणे त्ति। ण पडिलेहेति ण पमज्जति १, ण पडिलेहेइ पमज्जइ २, पडिलेहेति, ण पमज्भति ३, चउत्थभंगे-दो वि करेति, णवरं दुप्पडिलेहियं, दुप्पमज्जियं, ४, दुप्पडिलेहियं सुप्पमज्जियं ५, सुप्पडिलेहियं दुप्पमज्जियं ६, सुप्पडिलेहियं सुप्पमज्जियं ७, आदिल्लेसु तिसु भंगेसु मासलहू, पढमे-तवगुरुं, काललहुं, वितिए-तवलहुं, कालगुरुओ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततिए-दोहिं लहुश्रो, चउत्थपंचमछट्ठेसु पंच राइंदिया, एवं चेव तवकालविसेसिता, चरिमो सुद्धो। पंथे त्ति दारं गतं। इयाणिं णिक्खित्ते त्ति दारं-णिक्खित्तं दुविहं-सचित्तपुढविणिक्खित्तं, मीसपुढविणिक्खित्तं च। जं तं सचित्तपुढविणिक्खित्तं तं दुविहं-अणंतरणिक्खित्तं, परंपरणिक्खित्तं च। मीसे वि दुविहं-अणंतरे, परंपरे य।

एतेसु सचित्तमीसअणंतरपरंपरणिक्खित्तेसु पच्छित्तं-भएणति-

सचित्तणंतरपरं-परलहुगा य होंति लहुगा य।
मीसाणंतरलहुओ, पणगं तु परंपरपतिट्ठे ॥ १५० ॥

सचित्तपुढविकाए अणंतरणिक्खित्ते-चउलहुयं, परंपरणिक्खित्ते-मासलहुं, मीसे पुढविकाए अणंतरणिक्खित्ते-मासलहुं, परंपरणिक्खित्ते-पंचरातिंदिया। णिक्खित्ते त्ति दारं गयं। सा पुण मीसा पुढवी कहिं हवेज्जा भएणति-

खीरदुमहेट्ठपंथे, अभिणवकट्ठोल्लइंधणं मीसं।
पोरिसि एग दुग तिगे, थोविघणमज्झबहुए य ॥१५१॥

खीरदुमा-वडउडुंबरपिप्पला, एतेसिं महुररुक्खाण हेट्ठा मीसो, पंथे य अहिणवहलवाहिया य, पुढवीउल्लावासे य पडियमित्तं मीसं भवति। अहवा-कुंभकारादीमट्टिया। इंधणसहिया मीसा भवति, सा य कालतो एव चिरं थोविंधणसहिया एगपोरिसी मीसा सचित्ता, परतो-मज्झिंधणसहिया दो पोरिसीओ मीसा, परतो सचित्ता, बहुइंधणसहिता तिरिण पोरुसीओ मीसा, परतो सचित्ता। एगे आयरिया एवं भणंति। अएणे पुण भणन्ति-जहा एगदुगतिरिणपोरिसीओ मीसा होउं, परओ अचित्ता होति, एत्थ पुण इंधणविसेसा दोऽवि आदेसा घडावेयव्वा, साहारणिंधणेण एगदुतिपोरिसीणं मीसा, परतो सचित्ता भवति। असाधारणेणं पुण अचित्ता भवति। मीसकट्ठउल्लगे त्ति दारं गतं। इदाणीं गमणे त्ति दारं आदिग्गहणे णिसीयणं तुयट्टणं य घेप्पति-

गाउयदुगुणा दुगुणं, बत्तीसं जोयणाइ चरमपदं।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ १५२ ॥

सचित्तपुढविकायमज्झेण गाउयं गच्छति, गाउयं दुगुणं,-अद्धजोयणं, अद्धजोयणदुगुणं-जोयणं, जोयणं-दुगुणं-दो जोयणाइं, दो जोयणा दुगुणा-चउरो जोयणा, चउरो दुगुणा-अट्ठ जोयणा, अट्ठ दुगुणा-सोलस जोयणा, सोलस जोयणा-दुगुणा-बत्तीसं जोयणा, चरिमपदग्गहणातो पारंचियं णेयं। दुगुणेण गाउआदि बत्तीसजोयणावसाणेसु अट्ठसु ठाणेसु पायच्छित्तं भएणति-चत्तारि छच्च लहु गुरु, विसेसिया चउरो पायच्छित्ता भवंति। चउलहुअं, चउगुरुगं, छल्लहुयं, छग्गुरुयं ति, भणियं भवति। छेदो, मूलं, दुगं, अणवट्ठप्पं, पारंचियं, एते गाउयादिसु जहासंखं दायव्वा पायच्छित्ता।

एवं ता सचित्ते, मीसं पुण तेण अट्ठतीसे य।
अहवा अभिक्खगमणे, अट्ठहिँ दसहिं च चरमपदं ॥१५३॥

एवं ता सचित्ते पुढविकाए भणियं, मीसपुढविकाए भएणति-मीसपुढविकाए पुण गच्छमाणस्स गाउयादि दुगुणा दुगुणेण० जाव अट्ठावीसुत्तरं सतं चरिमपदं दस ठाणा भवंति; एत्थ पच्छित्तं पढमे मासलहुं ०जाव अट्ठावीसुत्तरसतपदे पारंचियं भवति। एतेसिं चेव अभिक्खसेवा भएणति-अभिक्खसेवा णाम-पुणो पुणो गमणं, तत्थ पायच्छित्तं वितियवाराए सचित्तपुढवीए गच्छमाणस्स गाउदादि चउगुरुगा आढत्तं० जाव सोलस, जोयणपदे पारंचियं, ततियवारा छ लहू आढत्तं, अट्ठजोयणपदे पारंचियं, एवं जाव अट्ठमवाराए गाउयं चेव गच्छमाणस्स पारंचियं, एवं मीसपुढविकाए वि अभिक्खगमणं, णवरं दसमवाराए गाउयते पारंचियं पावति। गमणेति त्ति दारंगतं। इदाणिं पप्पडए त्ति दारं-

पप्पडते य सचित्ते, लहुयादी अट्ठहिं भवे सपदं।
मासलहुगादिमीसे, दसहिँ पदेहिं भवे सपदं ॥१५४॥

पप्पडगो णाम-सरियाए उभयतडेसु पाणिएण जा रेल्लिया भूमी सा तंमि पाणिएण उहट्टमाणे तरिय वद्धा होउं उएहेण छित्ता पप्पडी भवति। तेण सचित्तेण जो गच्छति गाउयं तस्स चउलहुयं, दोसु गाउएसु चउगुरुयं, एवं दुगुणादुगुणेण जाव बत्तीसं जोयणे पारंचियं, अभिक्खसेवा य तहेव जहा पुढविकाए मीसे पप्पडए गाउयदुगुणादुगुणेण मासलहुगादि० जाव अट्ठावीसुत्तरसते जोयणसते पारंचियं। अभिक्खसेवा जहेव पुढविकाए। पप्पडिए त्ति दारं गतं।

इदाणिं आदिसद्दो वक्खाणिज्जति-'अंतिल्लदार व समुद्दो य एत्थ' गाहा-

ठाण णिसीय तुयट्टण, पाउल्लगमादि करणभेदे य।
होति अभिक्खासेवा, अट्ठहिँ दसहिं व सपदं तु ॥१५५॥

सचित्ते पुढविकाते पप्पडए य सचित्ते ठाणं निसीयणं तुयट्टणं वा करेंति; करेंतस्स पत्तेयं चउलहुयं, वाउल्लगमाति त्ति-वाउल्लगं णाम-पुरिसपुत्तलगो, तं सचित्तपुढवीए करेति, चउलहुयं, काऊण वा भंजति, तत्थ वि-लहू, आदिसद्दातो गयवसभातिरूवं करेति, भंजेति वा, तत्थ वि पत्तेयं चउलहुयं। एतेसिं चेव ठाणनिसीयणतुयट्टणकरणभेदणे य पत्तेयं पत्तेयं अभिक्खसेवाए अट्ठमवाराए पारंचियं पावति। मीसपुढविकाए वि ठाणादीणि करेमाणस्स पत्तेयं मासलघु, ठाणादिसु पत्तेयं अभिक्खसेवाए दसमवाराए सपदं पावइ। सपयं णाम-पारंचियं, आदिसइंतरालदारं गतं।

इदाणिं अंगुले त्ति दारं-

चउरंगुलप्पमाणा, चउरो दो चेव जाव चतुवीसा।
तं जुगमादीवुड्ढी, पमाणकरणे य अट्ठे वा ॥ १५६ ॥

अंगुलरयणा तात्र भएणति-चउरंगुलप्पमाणा। चउरो त्ति-अंगुलादारब्भ जाव चउरो अंगुला अहो खणति, एस पढमो-चउक्कगो। चउरंगुला परतो पंचंगुलादारब्भ जाव अट्ठंगुला-एस बितिओ चउक्कगो, एवं णवम अंगुलादारब्भ जाव वारस एस ततितो चउक्कगो, तेरसंगुलादारब्भ जाव सोलसमं एस-चउत्थो चउक्कगो, दो चेव जाव चउवीसा, सोलस अंगुला परतो दो अंगुलवुड्ढी कज्जति, अट्ठारस वीसा बावीसा चउव्वीसा अंगुलमादी वुड्ढीति अंगुलादारब्भ चउरंगुलिया दुअंगुलिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

य एसा वुड्ढी भणिया । आदिसद्दाओ मीसे वि एवं,णवरं तत्थ आदीए छ चउक्कगा कज्जंति, परतो चउरो दुगा । एवं वत्तीसं अंगुला भवंति, दस ठाणा । एसा अंगुलरयणा । एतेसिमं पच्छित्तं भण्णति-सच्चित्ते अंगुलादारब्भ जाव चउरो अंगुला खणति एत्थ चउलहुयं, पंचमातो जाव अट्ठमं एत्थ चउगुरुयं, एवमाओ जाव बारसमं एत्थ छल्लहुयं, तेरसमातो जाव सोलसमं एत्थ छग्गुरुयं, सत्तरस अट्ठारसमेसु—छेयो, अउणवीसवीसेसु मूलं, एक्कवीसवावीसेसु-अणवट्ठप्पो, तेवीसचउवीसेसु पारंची । अभिक्खसेवा भण्णति—पमायकरणे य अट्ठेव, अभिक्खणं करेति, तत्थ पमाणं अट्ठमवाराए पारंचियं । अहवा—पमाणकरणे य अट्ठेव त्ति—पमाणग्गहणेण पमाणदारं गहितं, करणग्गहणेण करणदारं गहियं । चसद्दाओ गहणदारं गहियं । अंगुलदारं पुण अहिगतं चेव । एतेसु चउसु वि अभिक्खसेवं करेंतस्स अट्ठमवाराए पारंचियं भवति । इदाणिं मीसगपुढविक्कायं खणंतस्स पायच्छित्तं भण्णति—मीसे पुढविक्काए-पढमं चउक्कं खणंतस्स मासलहु, वितियचउक्के—मासगुरु, ततियचउक्के चउलहु, चउत्थचउक्के—चउगुरु, पंचमे चउक्के छल्लहु, छट्ठे चउक्के—छग्गुरु, पणछव्वीसंगुलेसु—छेओ, सत्तट्ठवीसेसु—मूलं, अउणतीसतीसेसु—अणवट्ठो, अतो परं पारंचियं । मीसाभिक्खसेवाए दसमवाराए,पारंचियं पावति । अण्णे पुण आयरिया सच्चित्तपुढवीकायस्य खणणाभिक्खासेवं एवं गणयंति-अभिक्खणेणं अंगुलं एक्कंसि खणतिल्ह, वितियवाराए-ल्ह, ततियवाराए-ल्ह, चउत्थवाराए-ल्ह, एवं जाव चउवीसति वाराए-पारंचियं पावति । एवं मीसे वि वत्तीसवाराए—पारंचियं पावति ।

सीसो पुच्छति—कीस उवरि—चउरंगुलिया वुड्ढी कता ?, अहे-दुयंगुलिया, ?, आयरिओ भण्णति—

उवरिं तु अप्पजीवा, पुढवीसीतातवाणिलाभिहिता ।
चतुरंगुलपरिवुड्ढी, तेणुवरिं अहे दुअंगुलिया ॥ १५७ ॥

गाहा कंठा । अंगुलि त्ति दारं गतं ।

इयाणिं पमाणे त्ति दारं, तत्थ गाहा-

कलमत्तादद्दामल, चतु लहु दुगुणेण अट्ठहिं सपदं ।
मीसंमि दसहिँ सपदं,होति पमाणं स पत्थारो ॥१५८॥

कलो-चणगो, तप्पमाणं सच्चित्तपुढविक्कायं गेण्हति चउलहुयं,उवरिं कलमत्तातो जाव अद्दामलगप्पमाणं एत्थ वि-चउलहुयं चेव । दुगुणेणं ति-अओ परं दुगुणा वुड्ढी पयट्टति,दो अद्दामलगप्पमाणं सच्चित्तपुढविक्कायं गेण्हति चउगुरुयं, चउअद्दामलगप्पमाणं पुढविक्कायं गेण्हति-छल्लहुअं,अट्ठऽद्दामलगप्पमाणं गेण्हति-छग्गुरुं, सोलस अद्दामलगप्पमाणं गेण्हतितस्स-च्छेदो, वत्तीसद्दामलगप्पमाणं गेण्हति मूलं, चउसट्ठिअद्दामलगप्पमाणं गेण्हति-अणवट्ठो, अट्ठावीसुत्तरसयअद्दामलगप्पमाणं गेण्हति-पारंचियं,एवं अट्ठहिं वाराहिं सपयं पत्तो मीसंमि, दसहिं स-पयं होति, पमाणमिति-पमाणदारे, पत्थारो त्ति,अद्दामलगादिदुगुणादुगुणेणं०जाव पंचसयवारापत्थारो त्ति,अद्दामलगादिदुगुणादुगुणेणं जाव पंचसयवारा-... सुत्तरा एतेसु मासलहुगादिपारंचियावसाणा पच्छित्ता । एवं दसहिं सपदं । एसेव अत्थो पुणो भण्णति ।

अन्याचार्यरचिता गाहा—

कलमत्तादद्दामल-लहुगादी सपदमट्ठवीसेणं ।
पंचेव वारसुत्तर,ऽभिक्खऽट्ठहिँ दसहिँ सपदं तु॥१५९॥

गाहा कंठा । णवरं अभिक्खऽट्ठहिं दसहिं सपदं तु एसा अभिक्खसेवा गहिता, सचित्तपुढविक्काते अभिक्खसेवाए अट्ठहिं सपदं, मीसे अभिक्खासेवाए दसहिं सपदं । पमाणे त्ति दारं गयं ।

इदाणिं गहणे त्ति दारं तं चिमं-

गहणे पक्खेवंमि य, एगमणेगेहिँ होति चतुभंगो ।
जदि गहणा ततिमासा, एमेव य होति पक्खेवे ॥१६०॥

गहणं हत्थेण, पक्खेवो पुण मुहे भायणे वा, एतेसु य गहणपक्खेवेसु चउभंगो, सो इमो-एगं गहणं, एगो पक्खेवो । एगं गहणं, अणेगे पक्खेवा, अणेगाणि गहणाणि, एगो पक्खेवो, अणेगाणि गहणाणि अणेगे पक्खेवा । एवं चउभंगेसु पुव्ववत् स्थितेषु पढमभंगे-दो मासलहू, सेसेहिं तिहिं भंगेहिं जत्तियंगहणा पक्खेवा ततिया मासलहू । एवं भायणपक्खेवे मासलहुं, मुहपक्खेवे पुण णियमा-चउलहुं । गहणे त्ति दारं गयं ।

इदाणिं करणे त्ति दारं-

पाउल्लादीकरणे, लहुगा लहुगो य होति अचित्ते ।
परितावणादि णेयं,अधिववियासे य जं वन्नं ॥ १६१ ॥

पाउल्लगं वा पुरिसपुत्तलगं, आदिसद्दाओ-गोणादिरूवं करेति,एगं करेति चउलहुअं, दो करेति-चउगुरुगं,तिहिं-छल्लहुअं, चउहिं—छग्गुरुयं , पंचहिं—छेदो , छहिं—मूलं , सत्तहिं—अणवट्ठो , अट्ठहिं—चरिमं , (पारंची) मीसे वि एवं णवरं-मासलहुगादि, दसहिं-चरिमं पावति । अचित्ते पुढविक्काते पुत्तलगादि करेंति एत्थ वि असमायारिणिप्फण्णंमासलहुं, भवति ।'परितावणाति णेयं ति' वाउल्लयं करेंतस्स जा हत्थादिपरितावणा अणागाढादि भवति एत्थ पच्छित्तं अणागाढं परियावज्जति-ल्ह, गाढं परियावज्जति—ल्ह, परितावियस्स महादुक्खं भवति ६ , महादुक्खातो मुच्छा उप्पज्जति, फातीए मुच्छाए किच्छपाणे जातो छेदो, किच्छेण ऊससिउमारद्धो मूलं,मारणंतियसमुग्घातेण समोहतो अणवट्ठो, कालगतो चरिमं । अहवा-पुत्तलगं परविणासाय दप्पेण करेति, तं मंतेण अभिमंतेऊणं मम्मदेसे विंधति, तस्स य परस्स परितावणादिदुक्खं भवति, पायच्छित्तं तहेव । 'अहिववियासे य जं वण्णं ति'-अहिवो-राया,तस्स विणासो य करेति, तंमि य विणासिते जुवरायमच्चादीहिं णाए जं ते रुसिया तस्स अण्णस्स वा संघस्स वा वहबंधमारणं भत्तपाणउवहिणिक्खमणं वा णिवारिस्संति । एवमण्णं ति भणितं भवति । गया पुढविकायस्स दप्पिया पडिसेवणा ।

इदाणिं पुढविकायस्स चेव कप्पिया भण्णति । तत्थिमा दारगाहा—

अद्धाण कज्जसंभम-सागरिय पडिपहे य फिडिए य ।
दीहादी य गिलाणे, ओमे जतणा य जा तत्थ॥१६२॥

नव दारा,एते नवसु दारेसु जा तत्थ जयणा घडति सा तत्थ वत्तव्वा । तत्थ-अद्धाणे त्ति पढमं दारं । तंमि य अद्धाणदारे ससरक्खादिहत्थदारा दस अववदिज्जंति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्थ पढमं ससरक्खादिहत्थे त्ति दारं—

जति तु मलाभे गहणं, ससरक्खं कएहिं हत्थमत्तेहिं ।
तति वितिय पढमभंगे, एमेव य मट्टियालित्ते ॥१६३॥

तत्थ पढमं ततियभंगेण, पच्छा वितिएण, ततो पढमभंगेण एसेवऽत्थो अतिदिट्ठो,'एमेव य मट्टियालित्ते' त्ति हत्थे त्ति दारं अववदियं ।

इदाणिं पंथे त्ति दारं अववतिज्जति—

सागारतुरियमणभो-गतो य अपमज्जणे तहिं सुद्धो ।
मीसपरंपरमादी, णिक्खित्तं जाव गेण्हंति ॥ १६४ ॥

थंडिलाओ अण्णथंडिलं संकमंते सागारिय त्ति काउं पादेण पमज्जेज्जा, तुरंतो वा तेहिं गिलाणादिएहिं कारणेहिं ण पमज्जेज्जा, अणाभोगओ वा ण पमज्जेज्जा, पमज्जंतो सुद्धो, अप्पायच्छित्ती तहिंति अथंडिले असमायारीए वा पंथे त्ति दारं गतं। इदाणीं णिक्खित्तं ति दारं अववदति—मीसपरंपर-पश्चार्द्धं—एत्थ जयणा , पढमं मीसपुढविक्कायपरंपरणिक्खित्तं गेण्हति आदिसद्दातो असति मीसएणं अणंतरेणं गेण्हति, असति सच्चित्तपरंपरेणं गेण्हति असति सचित्तपुडविक्काये अणंतरणिक्खित्तं पि गेण्हइ । णिक्खित्तं ति दारं गतं ।

इदाणिं गमणे त्ति दारं अववतिज्जति, पुव्वमचित्तेण-
गंतव्वं, तस्सासति मीसे तेणं गम्मति—
तत्थिमा जयणा—

गच्छंता तु दिवसतो, तालिया अवहेतुमग्गओ अभए ।
थंडिल्लासति खुण्णे, ठाणाति करेंति कत्तिं वा ॥ १६५ ॥

गमणं दुहा—सत्थेण एगागिणो गच्छंति, दिवसतो तलिया उवहणेउ तो अवणेत्ता अणवाहणा गच्छंति, तस्स य सत्थस्स मग्गतो पिट्ठओ जति अभयं तो तलियाउ अवणेतु पिट्ठओ वच्चंति, सभए मज्झे वा पुरतो वाऽणुवाहणा गच्छंति, जत्थ अथंडिले सत्थसण्णिवेसो तत्थिमा जतणा-थंडिलस्स असति जं थामं सत्थिल्लजणेण खुण्णं मद्दियं, चउप्पएहिं वा मद्दियं तत्थ ट्ठाणं करेंति । आदिसद्दाओ निसीयणं तुयट्टणं भुंजणं वा, कत्ति त्ति छवडिया जति सव्वहा थंडिलं णत्थि तो तं कत्तियं पत्थरेउं ठाणाइ करेंति, कत्तिअभावे वा वासकप्पादि पत्थरेउं ट्ठाणाइ करेंति, सच्चित्ते वि पुढविक्काए गच्छंताणं एसेघ जयणा भाणियव्वा । गमणे त्ति दारं गतं ।

इदाणिं पप्पडंगुलदारा दो वि एगगाहाए अववइज्जंति—

एमेव य पप्पडए, सभयागासेव चिलिमिणिनिमित्तं ।
खणणं अंगुलमादी, आहारट्ठा व ऽहे वलिया ॥१६६॥

जहा पुढविक्काए गमणादीया जयणा तहा पप्पडए वि अविसिट्ठा जयणा णायव्वा । पप्पडए त्ति दारं गतं ।

इदाणिं खणणदारं अववज्जति—अरण्णादिसु जत्थ भयमत्थि तत्थ वाडीए कज्जमाणीए खणेज्जा वि । अहवा-आगासे उण्हेण परिताविज्जमाणा मंडलिनिमित्तं दिवसओ चिलिमिणीणिमित्तं खणणं संभवति, तं च अंगुलमादी जाव-चउव्वीसं वत्तीसं वा बहुतरगाणि वा, अहवा-मूलपलंबणिमित्तं खणेज्जा । अहवा—आहारऽट्ठा वा खणणं संभवति, उक्तं च-" अपि कर्दमपिण्डानां, कुर्यात्कुक्षिं निरन्तरम् " सीसो भणति-उवरि अखणया चेव संभवति, किं अहे खणति । आयरियाह—वातातवमादिहिं सोसियासरसा य अहे वलिया तेण अहे खणति। अंगुले त्ति दारं गयं ।

इदाणीं पमाणग्गहणकरणदारा एगगाहाए अववइज्जंति-

जावतिया उवउज्जति, पमाणगहणे व जाव पज्जत्तं ।
मंतेऊण य विंधति, पुत्तलमंमादि पडणीए ॥ १६७ ॥

जावतिया उवउज्जति तावतियं गेण्हति , पमाणमिति पमाणदारं गहितं । पमाणे त्ति दारं गयं । इदाणिं गहणदारं अववदिज्जति-अस्य विभाषागहणे य जाव पज्जत्तं ताव गिण्हति अणेगग्गहणं अणेगपक्खेवं पि कुज्जा अपज्जत्ते । गहणे त्ति दारं गयं ।

इदाणीं गहणवाउल्लकरणं अववतिज्जति-मंतेऊण गाहापश्चार्द्धं—जो साहू संघवेति तप्पडिणीतो तस्स पडिमा निम्माता णामंकिता कज्जति, सा मंतेणाभिमंतिऊणं मंमदेसे विज्झति,ततो तस्स वेयणा भवति,मरति वा, एतेण कारणेणं पुत्तलगं पि पडिणीयमद्दणणिमित्तं कज्जंति । इंडियवशीकरणमित्तं वा कज्जति । करणे त्ति दारं गयं ।

एवं ठाण-अद्धाणदारे-ससरक्खादिया सव्वे दारा अववादित्ता । अद्धाणे त्ति दारं गयं ।

इयाणिं कज्जसंभमा दो वि दारा जुगवं वक्खाणिज्जंति असिवादियं कज्जं भण्णति, अग्गिउदगचोरवोधिगादियं संभमं भण्णति । एतेसु गाहा—

जह चेव य अद्धाणे, अलाभगहणं सरक्खमादीहिं ।
वधकज्जसंभमंमि वि,वितियपदे जतणजा करणं॥१६८॥

जह अद्धाणदारे अलाभे सुद्धभत्तपाणस्स असंथरंताण ससरक्खमादी दारा अववतिता , तहा कज्जसंभमद्दारेसु वि वितियपदं अववायपयं तं एत्तेण ससरक्खादिदारेहिं जयणा कायव्वा । जाव करणं करणंति-उल्लगकरणं । कज्जसंभवे ति दारं गयं ।

इदाणिं सागारि-पडिपह-फिडिय-दारा तिण्णि
वि एगगाहाए वक्खाणिज्जंति—

पडिवत्ती य अकुसलो, सागारिय घेत्तु तं परिट्ठावे ।
दंडियमादिपडिपहे, उव्वत्तणमग्गफिडिता वा ॥१६९॥

कोइ साहू भिक्खाए अवइण्णो तस्स य ससरक्खमट्टियालित्तेहिं हत्थेहिं भिक्खा णिप्फेडिया, तओ स साहू चिंतयति एस एत्थ विज्जातितो विहू चिट्ठति। एस इमं पुच्छिस्सति-कीस ण गेण्हासि?, अहं च पडिवत्तीए अकुसलो। पडिवत्ती-प्रतिवचनं, जहा एतेण कारणेण वट्टति तहा अकुसलो-उत्तरदानासमर्थेत्यर्थः। ततो एवं सागारिए तमकप्पियं भिक्खं घेत्तुं पच्छा परिट्ठावेति,एवं करेंतो सुद्धो चेव। सेसा पदा पायसो ण संभवंति। सागारिए त्ति दारं गयं ।

इदाणीं पडिपहे त्ति दारं-पडिपहेण उंडितो एति , आसरहहत्थिमादिएहिं पडिणीओ वा पडिपहेण एति; ताहे उव्वत्तति पहाओ न पमज्जइ वा पादे एवं सच्चित्तपुढवीए वज्जेज्जा । पडिपहे त्ति दारं गयं ।

इदाणिं फिडिए त्ति दारं—मग्गतो वि पणट्ठो सच्चित्तमी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साए वा पुढवीए गच्छेज्जा पप्पडएण वा गच्छेज्जा फिडिए त्ति दारं गतं ।

इदाणीं दीहाहि त्ति दारं तत्थ गाहा—

रक्खाभूसणहेउं, भक्खणहेउं व मट्टियागहणं ।
दीहाहि व खइमाए, जतणा एसा उ णायव्वा ॥१७०॥

दीहाहिणा खइए मंतेणाभिमंतिऊण कडगबंधेण रक्खा कज्जति, मट्टियं वा मुहेबोजं डंको आऊ सिज्झति । आलिप्पति वा विसाकरिसणणिमित्तं मट्टियं वा भक्खयति । सप्पडक्को मारित्तकोट्ठो विसेण भाविस्सति । दीहाहिणा खइए एसा जयणा ।

जया पुण सा मट्टिया घेप्पइ तइया इमाए जयणाए—

दड्ढे मुत्ते छगणे, रुक्खे सुसुणाय वंमिए पंथे ।
हलखणणकुड्डमादी, अंगुलखित्तादिलोणे य ॥१७१॥

पढमं ताव जो पदेसो अग्गिणा दड्ढो तओ घेप्पति, तस्सासति गोमुत्तातिभाविया, ताव ततो जंमि पदेसे छगणछिप्पोल्लोवरिसोवट्ठाविया ततो घेप्पति, पिचुमंदकरीरचब्बूलादितुवररुक्खहेट्ठातो वा घेप्पति, " अलसो त्ति वा गंडूलगो त्ति वा सुसुणागो त्ति वा एगट्ठं । " ते णाहारेउं णीहारीया जा सा वा घेप्पति, तस्सासति वंमीए वम्मितो सप्पोतीतो वा घेप्पति, तस्सासति पंथे जत्थ वा जनपदखिग्घातविद्धत्था ततो घेप्पति, तओ हलस्स चउयादिसु जा लग्गा सा वा घेप्पति, खणणं अलित्तं तस्स वा जा अग्गे लग्गा सा वा घेप्पति, णवेसु वा गामागारादिणिवेसेसु घराण कुड्डेसु घेप्पति, अंगुलमादी अहो खणति खित्तादिणिमित्तं गिलाणणिमित्तेण लोणं घेप्पति, एते दो गिलाणदारा, एतेसिं सत्थहताए असती वा कतो घेत्तव्वा अतो भण्णति-

सत्थहयासति उवरिं, ओगेण्हति भूमितसयदट्ठाए ।
उवयारणिमित्तं वा, अह तं दूरं व खणितूणं ॥ १७२ ॥

वट्टादि सत्थहताणं असति ते सचित्तपुढवीए उवरिल्लं गेण्हति, अखणित्ता खम्ममाणाए पुण भूमीए जे तसा मंडुक्कादि ते विराहिज्जंति । अहवा—भूमिट्ठियाणं तसाणं च दयाणिमित्तं अहो न खणति उवरिल्लं गेण्हति उवयारणिमित्तं, वा—अहवा, अणुवहता सती पुढवी तीए कज्जं परिमंतेऊण किंचि कज्जं कायव्वं, अओ एतेण कारणेण अंगुलं वा दो वा तिण्णि वा खणिऊण गेण्हेज्जा । अंगुले त्ति गतं ।

खिन्नादिति कोइ गच्छे खित्तचित्तो दित्तचित्तो जक्खाइट्ठो ओमायपत्ते वा होज्ज सो रक्खियव्वो इमेण विहिणा ।

पुव्वखतो वर असती, खिचा दड्ढा खणिज्ज वा अगडं ।
अतरंतपरियरऽट्ठा, हत्था दिज्जंति जा करणं ॥ १७३ ॥

पुव्वखओ जो भूयरो वरो तंमि सो ठविज्जति, असति पुव्वखयस्स भूवरो धरस्स खित्तादीणं अट्ठाणिमित्ते ण खणेज्जा वा, अगडं, अगडो-कूवो, एस आदिसद्दो वक्खाओ । दीहाहि त्ति गयं । अतरंतपरियरट्ठा वा, अतरंतो-गिलाणो, तं परिचरंता तस्सट्ठा अप्पणट्ठा वा ससरक्खहत्थादिदारेहिं जयंति सव्वेहिं दारेहिं जाव रणदारं ।

इदाणिं गिलाणे त्ति दारं ।

लोणं च गिलाणट्ठा, घिप्पति मंदग्गिणं अणिट्ठाए ।
दुल्लहलोणे देसे, जहिं व तं होति सच्चित्तं ॥ १७४ ॥

गिलाणणिमित्तं वा लोणं घेप्पति, अगिलाणो वि जो मंदग्गी तस्सऽट्ठा वा घेप्पति तं पुण दुल्लभलोणे देसे घेप्पति, तत्थ दुल्लभलोणे देसे उवखडिज्जमाणे लोणं ण छुभति उवरि लोणं दिज्जति, तेण तत्थ मंदग्गी गेण्हति, तं पुण गेण्हमाणो जत्थ सच्चित्तं भवति तत्थ ण गेण्हति, तं सचित्तट्ठाणं परिहरति ।

इमा जयणा घेत्तव्वे—

सीतं पउरिंधणता, अचेलकाणिरोधभत्तघरवासे ।
सुत्तत्थजाणएणं, अप्पाबहुयं तु णायव्वे ॥ १७५ ॥

जंमि देसे सीयं पउरं जहा उत्तरावहे, तत्थ जे मंदपाउरणा ते पउरिंधणेहिं अग्गिं करंति, तंमि उव्वरगे जं लोणं तं ताव धूमादीहिं फासुतीभूतं गेण्हति । गाहापुव्वद्धत्थो सव्वो एत्थ भावेयव्वो । अहवा—सीतेण जं घत्थं तं घेप्पति, धुममाइणा वा पउरिंधणेण जं मीसं तं घेप्पति, अचेलगणिरोहे पुव्ववक्खाणं भत्तघरए वा जं ठियं तं घेप्पति, एतेसिं असति अणिव्वएणं पि घेप्पति, सचित्तं तं पुण सुत्तत्थजाणएण अप्पाबहुयं णाऊण घेत्तव्वं, किं पुण अप्पाबहुयं ?-इमं जइ तं लोणं ण गेण्हति तो गेलण्णं भवति, गेलण्णे य बहुतरा संजमविराहणा इतरहा न भवति । गेलण्णे त्ति दारं गयं ।

इदाणिं ओमे त्ति दारं—

ओमे वि गम्ममाणे, अद्धाणे जतण होति सव्वेव ।
अत्थंता व अलाभे, पुत्तुल्लभिचारकाउंटे ॥ १७६ ॥

ओमोदरियाए अण्णविसयं तं सव्वं जा तत्थ जयणा अद्धाणदारे भणिया, सव्वेव ओमोदरियाए गम्ममाणे जयणा असेसा दट्ठव्वा । अत्थंता-गिलाणादिपडिबंधेण अण्णविसयं अगच्छमाणा, अलाभे-भत्तपाणस्स, पुत्तुल्लगा-वाउलगा आउंटेति वाउल्लगाणं विज्जं साहित्ता किंचि इट्ठिमंतं आउंटावेति सो भत्तपाणं दवाविज्जति । गया पुढविकायस्स कप्पिया पडिसेवणा इदाणिं आउक्कायस्स दप्पिया भण्णति । तत्थिमा दारगाहा—

ससिणिद्धमादिसिण्हो, दुपयगमणे य धोव्वणे णावा ।
पमणे य गहणकरणे, णिक्खित्ते सेवती जं वा ॥ १७७ ॥

एते दस दारा, सिण्होदए सुगमणसद्दो पत्तेयं सेवती जं व त्ति-एते सेअंतभावि दस दारं, तत्थ ससिणिद्धे त्ति दारं-आदिसद्दाओ उदउल्लपुरपच्छकम्मा गहिया । सभेयससिणिद्धदारस्स णिक्खित्तदारस्स य सेवती जं व त्ति ।

एतेसिं तिण्ह वि जुगवं पच्छित्तं भण्णति-

पंचादी ससणिद्धे, उदउल्ले लहुय मासियं मीसे ।
पुरकम्म पच्छकम्मे, लहुगा आवज्जती जं वा ॥ १७८ ॥

पंच त्ति-पणगं तं ससणिद्धे भवति, इमेण भंगविकप्पेण ससिणिद्धे हत्थे, ससिणिद्धे मत्ते, चउभंगो । पढमे-दो पणगा, एक्कक्कं दोसु चरिमो सुद्धो, आदिशब्दो सस्निग्ध एव योज्यः उदउल्लादीनामाद्यत्वात्, णिक्खित्तं चउव्विहं-सचित्ते-अणंतरपरंपरे, मीसे-अणंतरपरंपरे । एते चउरो एत्थ मीसे परं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परे णिक्खित्ते पणगं,मीसाणंतरे मासियं,मीसे त्ति गतं। सचित्तपरंपरे मासियं चेव, सचित्ताणंतरे चउलहुअं, उदउल्ले चउभंगो, पढमे भंगे दो मासलहु, दोसु एक्केक्कं, चरिमो सुद्धो। पुरकम्मपच्छकम्मे लहुगा कंठं। 'आवज्जती जं व' त्ति-एक्केक्के दारे योज्जमिदं वाक्यं। आवज्जति-पावति, जं संघट्टणादिकं सेसकाते त दायव्वं।

इदाणिं 'सिणह' त्ति दारं, 'दप्पं दये' त्ति दारं। तत्थ—

गाउयदुगुणं बत्ती-सं जोयणाइँ चरमपदं।
चत्तारि छच्च लहुगुरु, छेदो मुलं तह दुगं च ॥ १७९ ॥

सचित्तेण उदगेण गाउय गच्छति, दो गाउया जोयणं, दो जोयणा चउरो अट्ठ सोलस बत्तीसं जोयणा पच्छद्धेण जहासंखं चउलहुगादी पच्छित्ता। दप त्ति दारं गयं।

इदाणिं 'सिणह' त्ति दारं भण्णति—

सिणहा मीसग हेट्ठो-वरिं च कोसाति अट्ठ वीससतं।
भुम्मुदयमंतलिक्खे, चतुलहुगादीउ बत्तीसा ॥ १८० ॥

सिणह त्ति वाउस त्ति वा एगट्ठ, सा हेट्ठतो उवरिं च। ताए दुविहाए मीसोदएण य गाउयं गच्छमाणस्स मासलहुं; दोसु गाउएसु—मासगुरुयं, जोयणे चउलहु; दोसु—छ्ह, चउसु—छ्ह, अट्ठसु—छ्ह, सोलससु छेदो, बत्तीसाए—मूलं, चउसट्ठीए-अणवट्ठो,वीससते-पारंची। सिणह त्ति दारं गयं। अविसिट्ठमुदगदारं भणियं, तव्विसेसप्पदरिसणत्थं पच्छद्धं। भण्णति-भूमीए उदगं भूम्युदगं नद्यादिषु, अंतलिक्खे उदगं अंतलिक्खोदगं वासोदयेत्यर्थः, तेण गच्छमाणस्स चउलहुगादीओ बत्तीसा, गतार्थम्।

इदाणिं सचित्तोदग—सिणह-मीसोदगाणं अभिक्खसेवा भण्णति। दारगाहा-

सचित्ते लहुगादी, अभिक्खगमणम्मि अट्ठहिं सपदं।
सिणहामीसे वुदए, मासादी दसहि चरिमं तु ॥१८१॥

सचित्तोदगेण सह गमणे चउलहुयं, वितियवाराए चउगुरुगं; एवं जाव अट्ठमवाराए—पारंचियं; सिणहामीसुदगे य पढमवाराए-मासलहुं, बितियवाराए-मासगुरुं, एवं जाव दसमवाराए—पारंचियं। सिणहुदग त्ति दारं गयं।

इदाणिं 'धुवणे' त्ति दारं-

सच्चित्तेण उ धुवणे, मुहणंतगमादि एव चतुलहुया।
अचित्ते धुवणंमि वि, अकारणे उवधिणिप्फण्णं ॥१८२॥

सच्चित्तेण उदगेण जइ वि मुहणंतगं धुवति तहावि चउलहुयं, अह अचित्तेण उदगेण अकारणे धुवति तओ उवहिणिप्फण्णं भवति। जहण्णे अकारणे—पणगं, मज्झिमे मासलहु,उक्कोसे चउलहुं। सच्चित्तेणाभिक्खं धोवणे अट्ठहिं सपदं, मीसेण दसहिं सपद, अचित्तेण वि णिकारणे अभिक्खं धोवणे उवहिणिप्फण्णं, सट्ठाणाओ चरिमं णेयव्वं। धोवणे त्ति दारं गयं।

इदाणिं 'णाव' त्ति दारं—

णावातरिमे चतुरो, एग समुद्दंमि तिण्णि य जलंमि।
ओयाणे उज्जाणे, तिरिच्छिसंतारिमे चेव ॥ १८३ ॥

णावातरिमे उदगे चउरो णावप्पगारा भवंति, तत्थ एगो समुद्दे भवति, जहा—तेयालगपट्टणाओ बारवई गम्मइ। तिण्णि य समुद्दातिरित्ते जले,ता य इमा 'ओयाणे' त्ति—अनुश्रोतोगामिनी, पानीयानुगामिनीत्यर्थः। 'उज्जाणे' त्ति-प्रतिलोमगामिनीत्यर्थः। तिरिच्छसंतारिमी नाम—कूलाक्कूले ऋजु गच्छतीत्यर्थः।

एवमवि चउव्विहे णावातारिमे इमं पायच्छित्तं—

तिरियोयाणुज्जाणे, समुद्दजाणे य चेव णावाए।
चतुलहुगा अंतगुरू, जोयणअद्धद्ध जा सपदं ॥ १८४ ॥

तिरिओयाणुज्जाणे समुद्दे णावा य चउसु वि चउलहुगा। अंतगुरु त्ति—समुद्दगामिणीए दोहिं वि तवकालेहिं गुरुगा, उज्जाणीए तवेण ओयाणीए कालेण तिरियाणीए दोहिं वि लहुं। जोयणअद्धद्ध जा सपदं ति—एतेसिं चउण्हं णावप्पगाराणं एगतमेणावि अद्धजोयणं गच्छति चउलहुयं। अतो परं अद्धजोयणवड्डीए जोयणे—चउगुरुयं, दोवड्ढे—छ्ह, दोसु—छ्ह,—अड्डाइज्जेसु—छेदो, तिसु—मूलं, तिसु-सद्धेसु अणवट्टप्पो, चउसु-पारंची, अभिक्खसेवाए अट्ठहिं सपदं पारंचियं ति वुत्तं भवइ।

णावोदगतारिमे पगते अण्णे वि उदगतरणप्पगारा भण्णंति-

संघट्टे मासादी, लहुगाओ जे य लेवणे उवरिं।
कुंभे दतिए तुंबे, उडुवे पण्णी य एमेव ॥ १८५ ॥

णिकारणे संघट्टेण गच्छति मासलहुयं, आदिसद्दातो अभिक्खसेवाए दसहिं सपद। अह लेवेण गच्छति तो चउलहुयं। अभिक्खसेवातो अट्ठहिं वाराहिं सपदं। अह लेवोवरि गच्छति-छ्ह, अट्ठहिं सपयं। कुंभे त्ति-कुभ एव, अहवा—चउकट्ठिं काउं कोणे कोणे घडओ बज्झति, तत्थ अवलंबिओ आरुभियं वा संतरणं कज्जति। दतिए त्ति-वायपुण्णो दतितो, तेण वा संतरणं कज्जति। तुंबे त्ति—मच्छियजालसरिसं जालं काऊण अलावुगाण भरिज्जति, तंमि आरुहेहिं संतरणं कज्जति। उडुवे त्ति—कोट्टिं वा तेण वा संतरणं कज्जइ। पण्णि त्ति—पण्णिमया महंता भारगा वज्जंति ते जमला बंधेऊण तेण अवलवियं संतरणं कज्जति। एमेव त्ति—जहा दगलेवादीसु चउलहुयं, अभिक्खसेवाए य अट्ठहिं सपदं, एमेव कुंभादिसु दट्ठव्वं। णाव त्ति दारं गतं।

इयाणिं पमाणे त्ति दारं--

कलमामद्दामलगा, करगादी सपदमट्ठवीसेणं।
एमेव य दवउदए, बिंदुमातंजली वड्ढी ॥ १८६ ॥

कलमो—चणगो भण्णति, तप्पमाणादि जाव अद्दामलगप्पमाणं गेण्हति, एत्थ चउलहुयं। कहं पुण कठिणोदगसंभवो भवति? भण्णइ—करगादी—उदगपासाणा वासे पडंति—ते करगा भण्णंति, आदिसद्दाओ हिम वा कढिणं। 'सपदमट्ठवीसेणं ति'—अद्दामलगादारब्भ दुगुणा दुगुणेण जाव अट्ठावीसं सतं अद्दामलगप्पमाणाणं एत्थ चउलहुगादी सपयं पावति। एमेव य दवउदगे—दवोदकेत्यर्थः। कलमस्थाने बिंदुर्द्रष्टव्यः, आर्द्रामलकस्थाने अञ्जलिर्द्रष्टव्यः। वड्ढि त्ति—दुगुणा दुगुणा वड्ढी जाव अट्ठवीससतं अंजलीणं चउलहुगादि पच्छित्तं, तहेव जहा कढिणोदके मी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोदकमेवमेव आर्द्रामलकांजलीप्रमाणं, णवरं दुगुणा दुगुणेण ताव णेयव्वं जाव पंच सता वारसुत्तरा पच्छित्तं मासलहुगादि। अभिक्खसेवाए दसहिं सपदं। पमाणे त्ति दारं गयं।

इदाणिं गहणे त्ति दारं—

जति गहणे तति मासा, पक्खेवे चेव होति चतुभंगो।
कुदुंभगादिकरणा उ,लहुगा तसरायगहणाती॥१८७॥

गहणपक्खेवेसु चउभंगो कायव्वो, एक्के गहणपक्खेवे–व्ह। जत्तिया गहणपक्खेवा पत्तेयं तत्तिया मासलहुगा भवंति; गहणे त्ति दारं गतं॥ इदाणिं करणे त्ति दारं। कुदुंभगादिकरणे य त्ति—कुदुंभगो—जलमंडूओ भण्णति, आदिसद्दाओ मुखरणतरं वा सद्दं करेति। कुदुंभगादि सचित्तोदके करेंतस्स—चउलहुयं, अभिक्खसेवाए अट्ठहिं—सपदं, मीसाउक्काए कुदुंभगादि करेंतस्स मासलहुं, अभिक्खसेवाए दसहिं सपदं। कुदुंभगादि वा करेंतो पूयरगादि तसं विराहेज्जा, तत्थ तसकायणिप्फण्णं। रायगहणादि त्ति सुंदरं कुदुंभगं करेसि त्ति मं पि सिक्खावेहि त्ति गेण्हेज्जा। आदिग्गहणातो उक्खिक्खमावेउं पासे धरेज्जा। करणे त्ति दारं गयं। गता आउक्कायस्स दप्पिया पडिसेवणा।

इदाणिं आउक्कायस्स कप्पिया पडिसेवणा भण्णति-

अद्धाणकज्जसंभम–सागारिय–पडिपहे य फिडिते य।
दीहादी य गिलाणे, ओमे जतणा य जा जत्थ॥१८८॥

एते अद्धाणादी नवाऽववायदारा। एतेसु ससणिद्धादी दस वि दारा जहासंभवं अववदियव्वा।

एत्थ पुण अद्धाणदारे इमे दारा पुढविसरिसा—

ससिणिद्धे उदउल्ले, पुरपच्छामाणगहणणिक्खित्ते।
गमणे य सहिय जाव, तहेव आउंमि वितियपदं॥१८९॥

कंठा।

गमणदारस्स जइ वि पुढवीए अतिदेसो कतो तहावि शेषप्रतिपादनार्थमुच्यते—

उवरिमसिणहाकप्पे, हेट्ठिल्लीए उ तलियमवणेत्ता।
एमेव दुविधमुदए, धुवणमगीएसु गुलियादि॥१९०॥

उवरिमसिणहाए पडंतीए वासाकप्पे सुपाउयं काउं गंतव्वं, अहो सिणहाए पुण तलियाओ अवणे ता गंतव्वं। एसा कारणे जयणा। जहा—सिणहाए विहि वुत्तो एमेव य दुविहमुदए वि–भोमे अंतलिक्खे य। गमणे त्ति दारं गतं॥ इदाणिं धोवणे त्ति दारं अववतिज्जति—धुवणमगीएसु गुलियादी–गिलाणादिकारणे जत्थ सचित्तोदगेण धुवणं कायव्वं तत्थिमा जयणा–अगीयत्थ त्ति अपरिणामगा, अतिपरिणामगा य। तेसिं पच्चयणिमित्तं अतिप्पसंगणिवारणत्थं च गुलियाउ धुविउमाणिज्जंति। दगगुलिया पुण यक्खो भण्णति। उदगम्मि भावियपोत्ता वा आदिसद्दाओ छगणादि घेत्तव्वं। धुवणे त्ति दारं गयं। नि० चू० १ उ०। (नदीसंतरणविषयः 'णईसंतार' शब्दे चतुर्थभागे १७३८ पृष्ठे गतः)

इमं जयणमतिक्कंतो—

असति तप्परिरयस्स, दुविधा तेणा य सावए दुविधे।
संघट्टणलेवुवरिं, दुजोयणा हाणि जा णावा॥१९४॥

जत्थ णावातारिमं ततो पदेसाओ दोहिं जोयणेहिं गओ थलपहेण गम्मइ, तं पुण थलपहं इमं णातिक्कंतो परा वा चरगो वा संडेवगो वा तेण दुजोयणिएण परिरएण गच्छतु। एवमाइणा चोदएण गच्छइ। अह असइ परिरयस्स जतो सइ वा इमेहिं दोसेहिं जुत्तो परिरओ–दुविहा तेण त्ति–सरीरोवकरणतेणा,सावते दुविह त्ति–सारण, सीहा वा लेवो तेण वा थलपहेण भिक्खं ण लब्भति वसही वा, तो दिवड्ढजोयणसंघट्टेण गच्छउ मा य णावाए। अह तत्थ वि एते चेव दोसा तो जोयणे लेवेण गच्छतु मा य णावाए। अह णऽत्थि लेवो सति वा दोसजुत्तो तो अद्धजोयणे लेवोवरिएण गच्छउ मा य णावाए। अह तं पि णऽत्थि दोसलं वा तदा णावाए गच्छतु। एवं दुजोयणहाणीए णावं पत्तो।

संघट्टलेवउवरीण य वक्खाणं कज्जति—

संघट्टासंघट्टो, णाभीलेवोपरेण लेवुवरिं।
एगो जले थलेगो, खिप्पगलणतीरमुस्सग्गो॥१९५॥

पुव्वद्धं कंठं। संघट्टे गमणजतणा भण्णति—एगं पायं जले काउं एगं थले,थलमिहागासं भण्णति सामाइगसण्णाए, एतेण विहाणेण वक्खमाणेण य जयणामुत्तिक्खो जया भवति तदा णिप्पगलिते उदगे तीरे इरियावहियाए उस्सग्गं करेति। संघट्टजयणा भणिया।

इयाणिं लेवलेवोवरिं च भण्णति जयणा—

णिब्भय गारत्थीणं, तु मग्गतो चोलपट्टमुस्सारे।
सभए अद्धद्धे वा, उत्तिण्णेसुं घणं पट्टं॥१९६॥

णिब्भयं–जत्थ, चोरभयं णऽत्थि तत्थ गारत्थीणं तु–मग्गतो गारत्थी–गिहत्था, तेसु जलमवतिण्णेसु मग्गतो पच्छतो जलं उयरइ त्ति भणियं होइ।पच्छितो य ठिता जहा जहा जलमवतरंति तहा तहा उवरुवरि चोलपट्टमुस्सारेंति,मा बहु उदगघातो भविस्सति। जत्थ पुण सभयं चोराकुलेत्यर्थः। अद्धद्धे जत्थ घणे त्तिं तत्थ। उत्तिण्णेसुं ति जलं अद्धेसु गिहत्थेसु अवतिण्णेसु घणंभायणं पट्टं चोलपट्टं बंधिउं मध्ये अवतरतीत्यर्थः।

जत्थ संतरणे चोलपट्टो उदउल्लेज्ज तत्थ इमा—जतणा—

दगतीरे ता चिट्ठे, णिप्पगलो जाव चोलपट्टो तु।
सभए पलंबमाणं, गच्छति काएण अफुसंतो॥१९७॥

दगं—पानीयं, तीरं–पर्यंतं, तत्थ ताव चिट्ठ—जाव णिप्पगलो चोलपट्टो। तुसद्दो निर्भयाऽवधारणे। अह पुण सभयं तो हत्थेण गेहेउं पलंबमाणं चोपलपट्टयं गच्छति। डंडगे वा काउं गच्छति। ण य तं पलंबमाणं दंडाऽग्रे वावस्थितं कायेन स्पृशतीत्यर्थः। एसा गिहिसहियम्मि दगुत्तरणे जयणा भणिया।

गिहिअसती पुण इमा जयणा—

असति गिहिणालियाए,आणक्खेउं पुणो वि परियरणं।
एगा भोगपडिग्गह,केई सव्वाणि ण य पुरतो॥१९८॥

असति सत्थिल्ले य गिहत्थाणं जतो पाडिवहिया उत्तरमाणा दीसंति तओ उत्तरियव्वं। असति वा तेसिं णालियाते, आणक्खेउं पुणो पुणो पडियरणं आयप्पमाणातो चउरंगुलाहिगो दंडो णालिया भण्णति, तीए आणक्खेउं उवघेत्तूण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परतीरं गंतुं आरपारमागमणं पडिउत्तरणं । णालियाए वा असति तरणं प्रति कयकरणे जो सो तं आणक्खेउं जया अग्गतो भवति तदा गंतव्वं । एवं जंघातारिमे विही भणिओ । इमा पुण अथाहे जयणा तं पढमं णावाए भ-एणति । एगा भोगपडिग्गहे त्ति-एगो भोगो एगो य योगो भएणति एगट्ठबंधणे त्ति भणियं भवति, होति तं च मत्त-गोवकरणाणं एगट्ठं । पडिग्गहो त्ति—पडिग्गहो सिक्कगे अ-होमुहं काउं पुढो कज्जति तो भेदात्मरक्षणार्थम् । केय त्ति-केचिदाचार्या एवं वक्खाणयंति—सव्वाणि त्ति—माउगो-पकरणं पडिग्गहो य पादोपकरणमसेसं पडिलेहिय, एता-भ्यामादेशद्वयाभ्यामन्यतमेनोपकरणं कृत्वा सीवरियं का-उं पादे य पमज्जिऊण णावारुहणं कायव्वं । तं च ण य पुरउ त्ति—पुरस्तादग्रतः प्रवर्तनदोषभयात् नो, अनवस्थान-दोषभयाच्च पिट्ठओ वि ण डुहेज्ज मा ताव विमुंचेज्ज अतिविकृष्टजलाध्वानभयाद्वा, तम्हा मज्झे रहेज्जा ।

तं चिमे ठाणे मुत्तुं—

ठाणतियं मोत्तूणं, उवउत्तो ठाति तत्थऽणावाहे ।
दतिउडुव तुंबेसु वि, एस विही होति संतरणे ॥१९९॥

देवयट्ठाणं कूपट्ठाणं निज्जामगट्ठाणं । अहवा-पुरतो मज्झे पिट्ठओ, पुरतो-देवयट्ठाणं,मज्झे-सिंचणट्ठाणं, पच्छा-तोरणट्ठाणं एते वज्जिया । तत्थऽणावाए-अणावाहे ठाणे ठायति । उव-उत्तो त्ति-णमोक्कारपरायणो सागारपच्चक्खाणं पच्चक्खा-उ य ठायति । जया पुण पत्तो तीरं तदा णो पुरतो उ-त्तरेज्जा, मासो महोदगे णिव्वुड्डेज्जा । ण य पिट्ठतो मा सो अ-वसारेज्जा णावा । एतद्दोसपरिहरणत्थं मज्झे उयरि-यव्वं । तत्थ य उत्तिरणे इरियावहियाए उस्सग्गो काय-व्वो जति वि ण संघट्टाति दगं । दत्तियउडुवतुंबेसु वि एस विही होति संतरणे । णवरं ठाणतियं ति मोत्तुं, णावत्ति दारं गयं ।

अधुना पमाणदारं-एत्थ पुण इमं जतणमतिक्कंतो सच्चित्तो-दगग्गहणं करेति,—

किंजियआयामासति, संसट्ठुसिणोदएसु वा असती ।
फासुगमुदगं सजढं, तस्सासति तसेहि जं रहियं ।२००।

पुव्वं ताव कंजियं गेण्हति, कंजियं-देसीभासाए आरनालं भण्णति । आयामं-अवसामणं,एतेसिं असतीए संसट्ठुसि-णोदगं गेण्हति , गवंगरसभायणं णिक्केयणं जं तं संस-ट्ठुसुणोदगं भण्णति । अहवा-कोसलविसयादिसु सक्कोयणा विणसेण भया सीतोदगे छुब्भति, तंमि य ओदणे भुणे तं अंबीभूतं जइ अतसा गतो घेप्पति एतं वा संसट्ठुसिणोदगं । एतेसिं असतीए जं वप्पादिसु फासुगमुदगं तं सजढं घेप्प-ति । तस्सासति त्ति-फासुयमुदगस्स असति फासुगं धम्म-करकादिपरिपूयं घेप्पति । सव्वहा फासुगासति सच्चित्तं । जं तसेहि रहियं ति ।

फासुयमुदगं ति जं वुत्तं एयस्स इमा वक्खा—

तुवरे फले य पत्ते, रुक्खसिलातुप्पमद्दणादीसु ।
पासंवणे-पवाए, आतवतत्तेऽवहे अ वहे ॥ २०१ ॥

तुवरसद्दो रुक्खसद्दे सवज्झति, तुवरवृक्ष इत्यर्थः, सो य तुवररुक्खो समूलपत्तपुप्फफलो, जंमि उदगे पडित्तंमि तेण परिणामियं तं घेप्पति, अहवा—तुवरफला—हरीत-क्यादयः, तुवरपत्ता—पलासपत्तादयः । रुक्ख त्ति—रुक्खे-कोटरे कडुफलपत्तातिपरिणामियं घेप्पति । सिल त्ति कचिच्छिलायां अण्णतररुक्खछल्ली कुट्टिता तंमि जं सं-घट्टियमुदगं तं परिणयं घेप्पति । जत्थ वा सिलाए तुप्प-परिणामियं उदगं तं घेप्पति । तुप्पो पुण मयकलेववरसा भ-एणति । मद्दणादीसु त्ति-हस्त्यादिमर्दितं आदिशब्दो हस्त्यादि क्रमप्रदर्शने । एएसिं तुवरादिफासुगोदगाणं असति, तो प-च्छद्धं-आयवतत्ते अवहे वहे पासंवणे पवाते । एष क्रमः । उक्र-मस्तु बंधानुलोम्यात्पुव्वं आयवतत्ते अप्पोदगं अवहं घेप्पति । असइ आयवतत्तं वहं घिप्पति, दोण्ह वि असती कुंडतडा-गादिपस्सवणोदगं घेप्पति, अण्णोण्णपुढविसंकमपरिणयत्ता-सव्वावपातस्सासति धारोदगं धारापातविपन्नत्वात् । अत्र सत्त्वाच्च ततः शेषोदगं ।

मद्दणादिसु त्ति जं पयं अस्य व्याख्या—

जड्डे खग्गे महिसे, गोणे गवए य सूयरमिगे य ।
ओप्परवाडी गहणे, चाउम्मासा भवे लहुया ॥ २०२ ॥

जड्डो-हत्थी, खग्गो-एगसिंगी अरण्णे भवति, महिसे-गोणे प्रसिद्धौ, गवये, प्रसिद्धः, सूयरमृगौ प्रसिद्धौ । जड्डादियाण उक्कमगहणे चउमासा भवे लहुया, अहवा—मद्दणाइयाणं वा उक्कमगहणे भवे लहुया, एसा पमाणदारे जयणा भणिया । एत्थ पुण मीसे सचित्तोदगाणं गहणे पत्ते जावतियं उवव-ज्जति तत्तियमेत्तस्स पढमभंगे गहणं, असंथरणे जाव अणे-गग्गहणं अणेगपक्खेवं पि करेज्जा । अद्धाणे त्ति दारं गतं ।

इदाणिं सेसा कज्जादी दारा अववदिज्जंति—

जह चेव य पुढवीए, कज्जे संभमसगारफिडिए य ।
ओमम्मि वि तह चेव तु,पडिणीया उट्ठणं काउं॥२०३॥

जहा पुढवीए तहा इमे वि दारा कज्जे संभमे सागारिते फिडिते य । चसद्दा पडिप्पहे य । 'ओमंमि वि तह चेव तु' तुसद्दो अवसेसावधारणार्थे । इमं पुण, ' पडिणीया उट्टणं काउं ' ति-अद्धाणाति जहासंभवं जोएज्जा । पडिणीया उट्टणं काउं का-मोपकरणं पि करेज्जा । सत्त दारगाहा ।

इदाणिं दीहादिगिलाणे त्ति दारा—

विसकुंभे से मंते, अगदोसधघंसणादिदीहादी ।
फासुगदगस्स असती, गिलाणकज्जट्ठ इतरं पि ॥२०४॥

विसकुंभो त्ति—लूता भण्णति, तत्थ से किं णिमित्तं उदगं घेतव्वं । मंते त्ति—आयमिउं मंतहति , अगओसहाणं वा पीसणणिमित्तं,विसघायमूलियाणं वा घंसणहेउं,आदिसद्दातो विषोपयुक्ततरभुक्ते वा एवमेव । दीहादि त्ति दारं गतं । इदाणिं गिलाणे त्ति-फासुगोदगस्स असति, गिलाणकार्ये इतरं पि सच्चित्तत्यर्थः । आउक्कायस्स कप्पिया पडिसेवणा गता ।

इयाणिं तेउक्कायस्स दप्पिया पडिसेवणा भण्णइ—

सागारियक्खेत्ते य, संघट्टण तावणा य णिव्वावे ।
तत्तो य इंधणे सं-कामयकरणं व जणणं व ॥ २०५ ॥

सागारिए त्ति दारं अस्य सिद्धसेनाचार्यो व्याख्यां करोति-

सव्वमसव्व रतणिओ, जोती दीवो य होति एक्केको ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीवगसव्वरतणिए, लहुगो सेसेसु चउलहुगा ॥२०६॥

एक्केको त्ति—जोती-उद्दित्तं,दीवो-प्रदीपः, ज्योतिः सर्वरात्रं ध्रियमाणो सार्वरात्रिकं, इतरस्त्वसार्वरात्रिकः। प्रदीपोऽप्येवमेव द्रष्टव्यः। एतेहिं चउराह विकप्पाण अराणतरेणावि जा जुत्ता वसही तीए ठायमाणाणिमं पच्छित्तं-दीवे असव्वरयणिए-लहुगो। सेसेसु त्ति-सव्वरातीए पदीवे दुविहजोइंमि य-चउलहुगा।

इमा पुण सागणियणिक्खित्तदाराणं दोराह वि भद्दबाहुसामिकता प्रायश्चित्तव्याख्यानगाथा—

पंचादी णिक्खित्ते, असव्वराति लहुमासियं मीसे।
लहुगा य सव्वरातिय, जं वा आवज्जती जत्थ ॥२०७॥

पंच त्ति—पणगं तं आदिं काउं जत्थ जं संभवति प्रायच्छित्तं तं तत्थ दायव्वं। णिक्खित्ते त्ति-सचित्तपरंपरणिक्खित्ते-असव्वराईए य पईवे-मासलहुगं। अहवा-पंचादीणिक्खित्ते त्ति—आदिणिक्खित्ते-पणगं, मिस्सागणिपरंपरणिक्खित्तेत्यर्थः, कथं पुनराद्यं द्वितीयपदे प्राप्ते पूर्वं तेन ग्रहणमिति करेज्जा-कृत्वा मासियं। मीसि त्ति-मीसाणंतरगणिणिक्खित्ते मासलहुयं, लहुगा य सव्वराइए त्ति-सव्वरातीए पदीवे दुविहजोयंमि-चउलहुगा। चशब्दात्सचित्ताणंतरणिक्खित्ते य। जं वा आवज्जती जत्थ त्ति-एयं सव्वदाराणं सामराणयं, जं संघट्टणादिकं आर्यावराहणं वा आयविराहणाणिप्फराणं वा,तसकायणिप्फराणं वा, आवज्जति-प्राप्नोति,जत्थ त्ति सागणियादिसु दारेसु जहासंभवं योज्जमिति वाक्यशेषः। सागणियणिक्खित्ते त्ति दारा गता।

इयाणिं संघट्टणे त्ति दारं, एयस्स इमा भद्दबाहुसामिकता वक्खाणगाहा—

उवकरणे पहिलेहा, पमज्जणाऽऽवासपोरिसिमणे य।
णिक्खमणे य पवेसे, आवडणे चेव पडणे य ॥२०८॥

उवकरणे पडिलेह त्ति पदं,एवं-'पमज्जणा' आवासगपोरिसि मणे य निक्खमणे य पवेसे आवडणे चेव पडणे य' एतावंति पदाणि, एतेषां सिद्धसेनाचार्य्यः व्याख्यां करोति—

पेह पमज्जण वासय, अग्गी ताणिऽकुव्वतो जा हाणी।
पोरिसिभंगमभंजण-जोई होति मणेसु रतिमरती ॥२०९॥

पेह त्ति-उवकरणे, पडिलेहा गहिता, पमज्जणे त्ति—चसद्दिपमज्जणा गहिता, वासय त्ति आवासगदारं गहितं, अग्गि त्ति-'एताणि पेहादीणि करेंतस्स अग्गी विराहिज्जति' त्ति वक्कसेसं। जोतियाए उवकरणं पडिलेहेति मासलहुअं। अह अगणीए छेदणगाणि वडंति तो चउलहुयं। अह अगणिविराहणाभया पेहादीणि ण करेंति, ताणि अकुव्वतो जा परिहाणि त्ति-तमावज्जते। उवकरणपडिलेहणपरिहाणीए असमायारिणिप्फराणं-मासलहुं, उवहिणिप्फराणं वा वसहिं ण पमज्जंति,अइगणिंता वा ण पमज्जंति-मासलहुं। अह पमज्जंति तहावि-मासलहुं। अपमज्जिते छेगणगेहिं अगणिकाओ विराहिज्जति तो—चउलहुयं। पोरिसि त्ति दारं—'पोरिसिभंगमभंजणजोती, व्याख्या पदं—सुत्तपोरिसिं भंजति—मासलहुं, अत्थपोरिसिं ण करेति-मासलहुगुरुं, सुत्तं णासेति-व्ह, अत्थं णासेति-व्ह, अभंगे पुण जोती विराहिज्जति। इदाणिं मणेसु त्ति दारं-'होइ मणेसु रतिमरती वा,' व्याख्यानपदं सजोतिवसहीए जति रती होज्ज सुहं अत्थिज्जति त्ति रागेणेत्यर्थः तो-चउगुरुयं। अह अरति मराणति-उज्जोते तो चउलहुयं।

आवस्सगपरिहाणी पुण इमा—

जइ उस्सग्गे ण कुणति,तति मासा सव्वकरण लहुगा य।
वंदणथुती अकरणे, मासा संडासगादिथुईसु य ॥२१०॥

'जति उस्सग्गे ण करेति तइ मासा' कंठं, सव्वावस्सगस्स अकरणे-चउलहुयं, अह करेइ तो जत्तिया उस्सग्गा करेइ तत्तिया चउलहुया, सव्वम्मि चउलहुयं चेव। जत्तिया ण देति वंदणए थुतीओ वा तत्तिया मासलहुया भवंति, अह करेंति तं चेव य-मासलहुं, संडासगपमज्जणे-अपमज्जणे वि-मासो।

णिक्खमणे पवेसिते त्ति दो दारा इमा व्याख्या—

आवस्सिया णिसीहिय-पमज्जआसज्ज अकरणे इमं तु।
पणगं लहु आवडणे, पडणे चउलहुग जं वणं ॥२११॥
सच्चित्तमीसअगणी, णिक्खित्ते संतणंतरे चेव।
सोधी जह पुढवी ता, वणदारस्सिमा वक्खा ॥२१२॥

णिक्खमंतो आवस्सियं ण करेति, पविसंतो णिसीहियं ण करेति, ता णिंतो वा ण पमज्जति, आसज्जं वा ण करेति एतेसिमं पायच्छित्तं—आवसिगातिसु जहासंखेण पणगं, मासलहू, अहावस्सिणिसीहिया करेंति तो पणगं चेव, असमायारीणिप्फराणं वा पमज्जासज्जाणं पुण करणे अगणिणिप्फराणं। णिक्खमणपवेसि त्ति दारा गया। आवडण—पडणे त्ति दारा-आवडणं-पक्खलणं तं पुण भूमिअसंपत्तो संपत्तो वा। जाणुकोप्परेहिं पडिओ पुण सव्वगत्ते भूमिए एत्थ आवडणे चउलहुग त्ति भणितं भवति। जं वणं ति आवडितो, पडिओ वा छराहजीवनिकायाण विराहणं करिस्सति, तरिणप्फरणेति भणियं होति। अहवा-आत्मविराधनाणिप्फराणं, अगणिणिप्फराणं। आवडणपडण त्ति दारा गता। गतं च संघट्टणदारं।

इयाणिं भावणे त्ति दारं—

सेहस्स वि सीदणता, ओसक्कतिसक्कणगइंधणयं।
विज्झविऊण तुयट्टण, अधवा वि भवे पलीवणता ॥२१३॥

अगणिसहितोवस्सए ठिऊणं सीयतो सेहो अप्पाणं पि तावेज्जा हत्थपादे वा। तावण त्ति दारं गयं। उक्कमेणं इंधणे त्ति दारं वक्खाणे त्ति—इंधणं-दारुयं, तमेवं करेंति उसक्कति सक्कए ति लहुं विज्झाउति, जलमाणिंधणाणं उकट्टणा—ओसक्कणा भराणति। जलउ त्ति-तेसिं चेव समीरणा अतिसक्कणा भराणति, अराणं वा इंधणं वा पक्खिवइ। इंधणे त्ति दारं गयं। इदाणिं संकमणे त्ति दारं—अराणेहिं णयणं ति स्थानान्तरसंक्रमेत्यर्थः, तत्पुनः शयनीयस्थानमावात्करोति, प्रदीपनकभयाद्वा। संकमणे त्ति दारं गयं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदाणिं णिव्वावण त्ति दारं—विज्झाविऊण तुयट्टणे त्ति-पलीवणगभया णिव्वावेतुं छारधूलीहिं स्वपितीत्यर्थः । इह वक्खाणुक्कमकरणं ग्रन्थलाघवार्थं । णिव्वावणे त्ति दारं गतं । इदाणिं करणं व त्ति दारं—अलातचक्रादिकरणेनेत्यर्थः । तत्रात्मविराधना अग्निविराधना वा । अहवा वि भवे पलीवणय त्ति-तेनालातेन भ्राम्यमाणेन प्रलीपणं स्यात् ।

तत्थ इमं पायच्छित्तं—

गाउयदुगुणादुगुणं, बत्तीसं जोयणाइं चरिमपदं ।
दट्ठूणं व वचंते, तुसिणीय पओस उड्डाहो ॥ २१४ ॥

पुव्वद्धं कंठं । णवरं चउलहुगादी पच्छित्तं दट्ठूण वचंते । तुसिणीए त्ति—देवउलादिंमि पलित्ते आत्मोपकरणं गृहीत्वा आत्मापराधभयात्साधवः प्रयाताः । ते य वच्चंते तुसिणीए दट्ठूणं गिहत्था पदोसं गच्छेज्जा । उड्डाहं व करेज्जा । ते य पदुट्ठा भत्तोवकरणं वसहिं वा ण देज्जा । पंतावणाई वा करेज्जा । से य वडेहिंति दहमुड्डाहं करेज्जा । चसद्दो समुच्चये करणे त्ति दारं गयं ।

इदाणिं संघट्टणादियाणं करणं ताण पच्छित्तं भण्णति—

संघट्टणादिएसुं , जयणावज्जेसु चउलहू हुंति ।
छप्पइकादिविराधण, इंधणे तसपाणमादी य ॥२१५॥

पुव्वद्धं कंठं । तावणद्दारे इमं विसेसं, पच्छित्तं-छप्पति-आइविराहण त्ति-तावेंतस्स छप्पतिगा विराहिज्जंति, तण्णिप्फण्णं पायच्छित्तं भवतीति वाक्यशेषः । आदिसद्दातो जइ वारे हत्थादी परावत्तेउं तावेति तइ चउलहुगा । इंधणे त्ति इंधणदारे इमं विसेसं पायच्छित्तं दायव्वमिति ।

इदाणिं जयणं ति दारं—

अहिगवजयणे मूलं, संठाणणिसेवणे य चउलहुगा ।
संघट्टणपरितावण, लहु गुरु अतिवायणे मूलं ॥ २१६ ॥

उत्तराधरअरणिमहणप्पयोगे अहिणवमग्गिं जणयति तत्थ से मूलं भवति । इदाणिं चशब्दो व्याख्यायते-सट्ठाणणिसेवणे य त्ति-जत्थ गिहत्थेहिं पज्जलिया अगणी तत्थ ठियं चेव आयपरप्पओगेण असंघट्टंतो सेवति तत्थ चउलहुगं । सय पज्जालिए पुण अगणिकाए पुढवादीयाण तसकायपज्जंताण संघट्टणपरितावणलहुगुरुगा, अतिवायणे मूलं । एवं कायणिप्फण्णं ।

चोदक आह—

जदि ते जणणे मूलं, हते वि णियमुप्पतीय ते चेव ।
इंधण पक्खेवंमि वि, तं चेव य लक्खणं जुत्तं ॥२१७॥

यदीत्यभ्युपगमे । ते भवतः उत्तराधरारणिप्पओगेण जणिए उत्पादितेत्यर्थः मूलं भवति । एवं ते हते विघातितेत्यर्थः । णियमा अवस्सं अण्णो अग्गी उप्पाइज्जिस्सति, तम्हा हते वि तं चेव मूलं भवतु । किंचान्यत्-इंधणपक्खेवंमि वि अन्योऽग्निरुत्पाद्यते । अपिः पदार्थसंभावने । उस्सक्कणे वि अन्योऽग्निरुत्पाद्यते । तं चेव य लक्खणं ति-तदेवान्याग्न्युत्पत्तिलक्षणं । चशब्दो लक्षणविशेषाभिधायी । जुत्तं योग्यं घटमानेत्यर्थः । तम्हा एतेसु वि मूलं भवतु ।

पुनरपि चोदक एवात्रोपपत्तिमाह—

अवि य हु जुत्तो दंडो, उवघाते ण तु अणुग्गहे जुत्तो ।
अणुकंपा पावतरी, णिक्किवता सुंदरी कहं णु ॥ २१८ ॥

अपि च-ममाभिप्रायात् , हुशब्दो-दंडावधारणे, जुत्तो-योग्यः, दंडणं दंडः । उवघाते त्ति—विनाशेत्यर्थः, न—प्रतिषेधे, तुशब्दः-प्रतिषेधावधारणे , स्तोकप्रायश्चित्तप्रदानविशेषणे वा । अणुग्गहे त्ति—अणुवघाते, उज्जालनेत्यर्थः, जुज्जे-युक्तं, अणुकंपणं-अणुकंपा, दयेति-भणियं होइ । सा पावतरी कहं? भवति-स्यात् , कथं बहुप्पच्छित्तप्पदाणातो णिक्किविता णिग्घिणिया सा सुंदरा-पहाणा, कहं ? , भवति-स्यात् , कथं अप्पपच्छित्तप्पदाणातो । कहं ति प्रश्नः, नु-वितर्के ।

आचार्याह—

उज्जालझंपगा णं, उज्जालो वण्णिओ तु बहुकम्मो ।
कम्मार इव पओत्ता, बहुदोसयरो ण भंजंतो ॥२१९॥

उज्जालः प्रज्वालकः, झंपको-णिव्वावको, णंशब्दो वाक्यालंकारार्थे । एतेसिं दोण्हं पुरिसाणं उज्जालो वण्णिओ भगवतीए बहुकम्मो । तुशब्दो निश्चितार्थावधारणे । अस्यार्थस्य प्रसाधनार्थं आचार्यो दृष्टान्तमाह-कम्मारे त्ति-कम्मकरो-लोहकारो, इव ओवम्मे, पओत्ता आयुधाणि णिव्वतित्ता सो बहुदोसतरो भवति, ण य ताणि आयुधाणि जो भंजतेत्यर्थः । तरशब्दो-महादोषप्रदर्शने, यथा-कृष्णः, कृष्णतरः, एवं बहुदोसो, बहुदोसतरो भवति । एष दृष्टान्तः । तस्योपसंहारः-एवं अग्निशस्त्रं पज्जालयंतो पुरिसो बहुदोसतरो-न निर्वापयंतेत्यर्थः । तेउक्कायस्स दप्पिया पडिसेवणा गता ।

इयाणिं तेउक्कायस्स कप्पिया पडिसेवणा भण्णति—

बितियपद असति दीहे,गिलाण अद्धाण सावते ओमे ।
सुत्तत्थजाणतेणं, अप्पाबहुयं तु नायव्वं ॥ २२० ॥

बितियं अववायपदं, उस्सग्गपदमंगीकृत्य, द्वितीयं अववायपदं । तत्थिमे दारा-असति, दीहे, गिलाणे, अद्धाणे, सावते ओमे । एए पंतीए ठावेऊण तेसिं हेट्ठातो सागणियादी जणणपज्जवसाणा णव दारा ठाविज्जंति । तत्थ सागणियदारस्स हेट्ठातो पेहाती पडणपज्जवसाणा णव दारा ठाविज्जंति । सेसा एक्कसरा । एते सागणियादी सभेया असति दारे अववदिज्जंति ।

तत्थ सागणिय त्ति दारं—

अद्धाण णिग्गमादी, असती ते जोतिरहियवसधीए ।
दीवमसव्वे सव्वे, असव्व सव्वे य जोतिंमि ॥२२१॥

अद्धाणं महंता अडवीओ ताओ णिग्गता, वसतिमप्राप्ता इत्यर्थः । आदिसद्दातो इमेसु ठाणेसु वट्टमाणा-"असिवे,ओमोदरिए, रायभए, खुहिय,उत्तमट्ठे य । फिडिय गिलाणविसेसे, देवया चेव, आयरिए ॥१॥" ते य वियाले चेवं, पत्ता गामं असत्तीए । जोतिरहियवसहीए , ठायंताणिमा जयणा ॥ पढमं असव्वरातीए दीवे, असति सव्वराईए दीवे तस्सासति असव्वराईए जोइए, असति सव्वरातीए जोइए, मि इत्ययं निपातः । सागणिय त्ति दारं गयं । णिक्खित्तदारववातो ण संभवति तो णाववइज्जति । संघट्टणं ति दारं भण्णति ।

संघट्टणभया पेहादिसु इमा जयणा कज्जति—

किडओ व चिलिमिणी वा,असती सभए व बाहि जं अंतं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ठागासति सभयंमि व,विज्झायऽगणिम्मि पेहंति ।२२२।

पदीवजोतीणं अंतरे वंसकिडगादी दिस्सासति,तस्सासति पोत्तादि चिलिमिणी दिज्जति, एवं काऊण पेहादी सव्वदारा करेंति। असति किडगचिलिमिणीणं वहि उवकरणं पेहेतु। वहिं सभए 'जं अंतं' अंतमिति जूएणं अचोरहरणीयमित्यर्थः, तं बाहिं पडिलेहिंति सारोवकरणं अच्छति तं विज्झाय अगणिंमि पेहंति। ठागासति त्ति—अह वहिं जंतुवकरणस्स चिट्ठाउ नऽत्थि सत्ति वा राए अंतुवकरणस्स वि भयं तो सव्वं चिय अंतसारोवहिं विज्झायऽगणिंमि पेहंति। पेहत्ति दारं गतं।

पमज्जणावासपोरिसिमणदारा चउरो वि एक्कगाहाए वक्खाणेति—

णिंता ण मपज्जंति, मूगावासं तु वंदणगहीणं।
पोरिसि वाहि मणेण व,सेहाण य देंति अणुसट्ठिं।।२२३।।

णिंता णिग्गच्छंता,पविसंता वा वसहिं न पमज्जंति त्ति वुत्तं होइ। मूगावासं ति—वायाए अणुचरणं, वंदणगहीणं-वंदनं न ददतीत्यर्थः। सुत्तत्थपोरिसीओ वाहिं करेंति। मणेण व त्ति—सजोतिवसहीए रागदोसं न गच्छंति, जे य सेहा होज्जा ताण य सेहाण देंति अणुसट्ठिं, सेहो—अगीतार्थः, चसद्दा गीतत्थाण य-अणुसट्ठिउवदेसो।

'मूगावासं तु वंदणगहीणं' अस्य व्याख्या—

आवास वाहिं असती,ठितवंदणविगडणाथुतिहीणं।
सुत्तत्थ वाहि अंतो,चिलिमिलि काऊण व भणंति।२२४।

अणूणमतिरित्तं वाहिमावस्सगं करेंति, वहिट्ठाणासति ठियत्ति,जो जत्थ ठितो सो तत्थ ठितो पडिक्कमति। वंदणगथुतीहिं हीणं, हीणसद्दो पत्तेयं, वियडणा—आलोयणा, तं जयणाए करेंति, वासकप्पपाउयाणिविट्ठा चेव ठिता भणंति। संदिसह त्ति—पोरिसिवाहि त्ति अस्य व्याख्या-सुत्तत्थपोरिसीओ स चिट्ठाए वाहिं करेति, असति वहिट्ठाणस्स अंतो चिंलिमिलिं काऊण भणति। वा विकल्पे। चिलिमिणिमादीण असति अणुपेहादी करेतीत्यर्थः।

अणुसट्ठि त्ति अस्य व्याख्या—

णाणुज्जोया साधू, दव्वजोतिम्मि मा हु सज्जित्था।
जस्स वि ण एति णिद्दा,स पाउओ णिमिल्लिओ गिम्हे २२५

अग्न्युद्योतो—द्रव्योद्योतः, भावे—ज्ञानोद्योतः, सज्जित्था-शक्तिः, गेहीत्यर्थः। उद्योते जस्स वि ण एति णिद्दा स पाउओ सुवति,अह गिम्हे पाउयस्स घम्मो भवेज्जा, तो णिमिल्लियलोयणो सुवति, मउलावियलोयणे त्ति वुत्तं भवति। चउरो वि दारा गता।

इदाणिं णिक्खमपवेस त्ति दारा—

तुसिणीआ निंति णिन्ति, चउमुगमादी कओइ अत्थिवंता।
सेहा य जोतिदूरे, जग्गंति य जा धरति जोति ।। २२६ ।।

तुसिणीया मोणेण,अनिंति पविसिन्ति,णिंति वा णिग्गच्छंति वा आवगस्सगणिसीयाओ णो कुवंति त्ति वुत्तं भवइ। णिक्खमपवेसा गता। इयाणिं आवडणपडणाओ मूगं अलापं, आदिशब्दादग्निशकटिका गृह्यते। आवडणपडणभयात्कचित् अस्पृश्यमाना इत्यर्थः। गता दो दारा। तावण त्ति दारं गयं।

इदाणिं इंधणे त्ति दारं—

अद्धाणादी अतिणि-द्दपेल्लिओ गीतो सकियं सुयति।
सावयतयउस्सिकण, तेण भए होति थाणाओ ।।२२७।।

अद्धाणादिपरिस्संतो अतिनिद्दापेल्लिओ—अतिनिद्राग्रस्तः गीयत्थग्गहणं जहा अगीयत्था ण पस्संति तहा तं जयणाए उसक्किउं सुवति, स एव गीयत्थो सीहसावयादिभए जयणाए उम्मुगाणि ओसक्कति। चोरभए उसक्कोवसक्कणाणं भयणा। कथं जति अतिक्कंतिया तेणा तो उसक्कणं न कज्जति। मा अग्गिं दट्ठुमागमिस्संति। अह थिरा चोरा तो उस्सक्किज्जति तं जलमाणिं अग्निं दट्ठुं जागरंति त्ति णाभिद्दवंति। एसा भयणा अपुव्विंधणपक्खेवं पि करेज्जा।

अद्धाणविवित्ता वा, पक्खड असती सयं तु जालेंति।
सूलादि व तावेउं, कज्जे छारेणमक्कमणा ।। २२८ ।।

अद्धाणं-पहो, विवित्ता-मुसिया, अद्धाणविवित्ता पक्खडा-परेण उज्जालिया,तस्स असती तत् स्वयमात्मनैव ज्वालयंति। एतदुक्तं भवति-शीतार्ता इंधनं प्रक्षिपंति। इंधणे त्ति दारं गयं। इदाणिं णिव्वावणे त्ति दारं भण्णति—पक्खडएण वा सयमुज्जालिएण वा सूलाति तावेउं, आदिसद्दातो विसूतिका कते कज्जे निष्ठितेत्यर्थः। पलीवणभया छारेणाक्कामति। णिव्वावणे त्ति दारं गयं।

इदाणिं संकमणे त्ति दारं—

सावयभय आणेंति व, तो उवमणा वाहि णीणिंति।
बाहिं पलीवणभया, छारे तस्सऽसति णिव्वावे ।।२२९।।

सावयभए अगणत्थतो आणयंति। तत्थ णातो वा तो उवमणा बाहिं णीणयंति, अह बाहिं पलीवणभया ण णीणयंति ताहे तत्थ ठियं छारेण छादयंति। तस्सासति त्ति छारस्स असत्यभावात् णिव्वावेंति उज्झावेंति त्ति एगट्ठं। असति त्ति दारं गयं।

दीहादिदारेसु सागणियादी दारा उवजुज्जंति तं जोएयव्वं इमं तु दीहादिदारसरूवं तत्थ दीहे त्ति दारं—

दाहच्छेयणडक्को, केण जग्गइकिरियट्ठता दीहे ।। दारं।
आहारतवणहेऊ, गिलाणकरणे इमा जतणा ।।२३०।।

दाहत्ति यं डक्क कयाति डंभेयव्वं तणिणमित्तं अगणी घेप्पति। छेदो वा कायव्वो तस्स देसस्स तो अंधकारे पदीवो जोती वा धरिज्जति। डक्को-दष्टः,केण त्ति-सप्पेण उन्नतरेण वा वातपित्तसिम्हस्स साध्येन असाध्येन वा तत्परिज्ञाननिमित्तं जोती घेप्पति जग्गति दट्ठो,जग्गाविज्जति मा विसं स ण णिज्जिहिति। उज्जलियं ण वा एवं दीहदट्ठस्स किरियणिमित्तं जोई घेप्पति। दीहि त्ति दारं गयं। इयाणिं गिलाणे त्ति दारं। पच्छऽद्धसमुदायत्थो। आहारो गिलाणस्स तावेयव्वो, तत्थ पुण तावणकारणे इमे दव्वा तावेयव्वा—

खीरुण्होदगलेवी, उत्तर णिक्खित्ते पच्छकरणं तु।
कायव्वगिलाणट्ठा,अकरणे गुरुगा य आणादी।।२३१।।

खीरं वा कढेयव्वं,उण्होदग वा चि, लेवी वा उक्खडेयव्वा इमाए जयणाए। उत्तरं त्ति उवचुल्लगो भण्णति-णिक्खित्तं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्थ ठवियं, सो पुण उवचुल्लो एवं तप्पति, जं चुल्लीए इंधणं पक्खिपति तस्स जलियस्स जाला अवचुल्लगं गच्छति एवं अहाकडगं तप्पइ, उवचुल्लगस्सासति पुव्वपक्खित्ति धणजलियचुल्लीए तावेज्जइ, असति मंगालगेसु वि पुव्वकतेसु पच्छकरणं एवं सव्वासतीए चुल्लिमंगालगा वा काउं अगणिमाणिय इंधणं पक्खिविय कायव्वमिति। तुः सर्वप्रकारकरणविशेषणे। चोदक आह–ननु अधिकरणं, आचार्य्याह–यद्यपि अधिकरणं तह वि कायव्वं, गिलाणस्स अकरणे गुरुगा य आणादी।

अह साहुणो सूलं विसूइया वा होज्ज तो तावणे इमा जयणा—

गमणादिणंतमुंमुर, इंगाले इंधणे य णिव्वावे।
आगाढे उंछणादी, जयणा करणं व संविग्गे ॥२२२॥

आइ त्ति—आदावेव जत्थ अगणी अहाकडो भियाति तत्थ गंतुं सूलादि तावेयव्वं।

अह जत्थ अगणी अहाकडो भियाति तत्थिमे कारणे होज्जा–

ठागसति अचियत्ते, गुज्झंगाणं पयावणे चेव।
आतपरिस्सा दोसा, आणणणिव्वावणेऽणंतं ॥२२३॥

ठांगो तत्थ णत्थि, अचियत्तं–अच्चित्तं वा गिहपइणो, अहवा-गुज्झंगाणि पतावेयव्वाणि ताणि य गिहत्थपुरतो ण सक्कति तावेउं तो ण गम्मति। अह तरुणीओ तत्थ थीओ सो य साहू इंदियणिग्गहं काउमसमत्थो तो आयसमुत्थदोसभया न गच्छति, परा गिहत्थीओ ताव तत्थुवसग्गंति एवं पि तत्थ ण गम्मइस्सति। इस्सालुगा गिहत्था ण खमंति। दोस त्ति–एवं वहुआ तत्थ दोसा णाऊण अगणीए तत्थ आणणा कायव्वा। कते कज्जे निव्वावणं कायव्वं, उज्झवणं ति वुत्तं हवइ। न तर्हि तो दोसले गंतव्वं। जं पुण आणणं तं इमाए जयणाए, णंत त्ति खुड्डगा थेरा वा हयसंका णंतगं तावेउं आणयंति तेण तं तावयंति। अह णंतगं अंतरा आणिज्जमाणं विज्झाति तो मुम्मुरमाणयंति। मुम्मुरो-अगणिकणियासहितो सुम्हच्छारो। मुंमुरे असति तेण वा अप्पणप्पमाणे इंगाले आणयंति। अणिंधणा णिज्जाला इंगाला भण्णति। ते पाडिहारिए आणयति। कते कज्जे तत्थेव ठावयंति। इंधणे त्ति-इंगालासति तेहिं वा अप्पणप्पमाणे जया वा खद्धग्गिणा पओयणं तया इंधणमवि पक्खिवंति। एवं कारणे गहणं कडे य कज्जे णिव्वावेयव्वो अगणी छारमादीहिं, मा पलीवणं भवे। आगाढग्गहणा इदं ज्ञापयति–जहा एस किरिया आगाढे णो अणागाढे अंछणं ति उसक्कणं, आदिशब्दादन्यत्र नयनं, जलनं जालणं ओसक्कणं ति एकट्ठं। करणं ति पडिणीयाउट्टणनिमित्तं करणमपि कुर्यात्। चशब्दात् ग्लानादिकार्यमवेक्ष्य जतनमपि कार्यं। संविग्गे त्ति–जो एताणि करेंतो वि संविग्गो सो एव करेति। गीतार्थपरिणामकेत्यर्थः। एस पुण पच्छद्धत्थो। सव्वेसु गिलाणादिदारेसु जहासंभवं घडावेयव्वो। गिलाणे त्ति दारं गयं।

इदाणिं अद्धाण सावए ओमे दारा, तिण्णि वि एगगाहाए वक्खाणेति—

अद्धाणंमि विवित्ता, सीतंमि पलंबपागहेउं वा। दारं।
परकडअसतीएँ सयं, जाले त्ति व सावयभए वा ॥२३४॥

१–साध–अवकाशः।

अद्धाणे—विवित्ता, मुषिता इत्यर्थः। सीतमिति—कंपाणे सति सीते पडते परकडअगणीए हत्थपायसरीराणं तावणं करेंति। पलंबपागहेउं व त्ति-पलंबा-फला, पागो—पचनं, हेतुः-कारणं, वा-विकप्पो, एष एव पलम्बपचनविकल्पः। एष पलंबपागो परकडाए चेव अगणीए कायव्वो। परकए असतीए, सयं जालेति-स्वयम्-आत्मनैव, वा उपप्रदर्शने। किं पुनस्तत्प्रदर्शयति-इदं ओमद्वारेऽप्येष एव प्रलंबार्थः। सावयासीहाई, तस्समुत्थे भए अग्गिं पज्जालयंति। गया तेउक्कायस्स कप्पिया पडिसेवणा। गतो तेउक्कातो।

इदाणिं वाउक्कायस्स दप्पिया पडिसेवणा भण्णति–

णिग्गच्छति वाहरती, छिड्डे पडिसेवणकरण फूमेइ।
दारुग्घाडकवाडे, संधावत्थे य छीयादी ॥ २३५ ॥

घम्माभिभूतो णिलयब्भंतराओ वाहिं णिग्गच्छति, अणिलाभिधारणनिमित्तं। वाहरति त्ति–शब्दयति वहिट्ठिओ भणति–एहि एहि इतो सीयलो वाऊ। छिड्डे पडिसेवति, छिड्डे छिड्डे ते पुणो लोए चोप्पालया भण्णंति। तेसु पुव्वकतेसु वाउपडिसेवणं करेति। करणं ति अपुव्वाणि वा छिड्डाणि वायुअभिधारणनिमित्तं करेति। फूमेति त्ति–घम्मद्दितो अण्णतरमंग फूमति, भत्तपाणमुण्हं वा। दारु त्ति दुवारं भण्णति, तं पुव्वकयमिट्टादीहिं ठाइयमुग्घाडेति, अपुव्व वा दारमुग्घाडेति त्ति वुत्तं भवति। उग्घाडसद्दो उभयघाई। दारे कवाडे य। उग्घाडेति वा कवाडं घम्मओ, अहवा दारमुग्घाडेति, उग्घाडं वा उग्घाडेति, उग्घाडेति त्ति वुत्तं भवति, एवं तिण्णि पदा कज्जंति। संधि त्ति–संधी दोण्हं घराणं अंतरा छिड्डी, तत्थ वात सातिज्जति। वत्थं चउरस्सगं काउं पडवायं करेति। छीतादि त्ति–छीत–छिक्कियं। आदिसद्दातो कासियं, ऊससियं, नीससिअं एते छीयादी अविहीए करेति त्ति।

सुप्पे य तालवेंटे, हत्थे मत्ते य चेलकण्णे य।
अच्छि फूमेइ पव्व–ए णालिय चेव पत्ते य ॥ २३६ ॥

सुप्पे य दालकारं भण्णति, सव्वजणवयप्पसिद्धं, तेण वायं करेति, जहा धण्णं पुणंतीओ। तालो–रुक्खो, तस्स वेंटं तालवेंटं तालपत्रशाखेत्यर्थः। सा य परिसा छिज्जति, हत्थो—सरीरेगदेसो। तेण वीययति, मत्तगो–मात्रक एव, तेण वा वातं करेति। चेलं–वस्त्रं, तस्य कण्णो चेलकण्णो तेण वा वीयति। अच्छि फूमेइ त्ति–अच्छी–अक्खी, तं कंदप्पा परस्स फूमति। फूमणसद्दो उभयवायी। पव्वए त्ति–वंसो भण्णति, तस्स मज्झे पव्वं भवति। णालिय त्ति–अपव्वा भण्णति, सा पुण लोगे तुरली भण्णति। एए वीयंति। पत्ते य त्ति–पत्त–पद्मिनीपत्रादि तैरात्मानं भक्तं वा वीयति।

संखे सिंगे करतल–वत्थी दतिए अभिक्खपडिसेवी।
पंचेव य छीतादी, लहुया लहुया य अट्ठेव ॥ २३७ ॥

संखो—जलचरप्राणिविशेषः, सिंगं—महिसीसिंगं, शंखं शृङ्गं वा धमेइ। करो—हस्तस्तस्य तलं करतलं—हस्तसंखं पूरेति त्ति वुत्तं भवति। अण्णतरं वा करतलेन वाद्यं करोति। वत्थी—चम्ममयो, सो य वेज्जसालाइसु भवति, तं च वायपुरणं करेति। दतिओ—दृतिकः, जेण णदीमादिसु संतरणं कज्जति, तं च वायपुरणं करोति। अभिक्खपडिसेवीति–एते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निग्गच्छबाहिराती ठाणा अभिक्खं पडिसेवंतो अप्पप्पणो ठाणातो चरिमं पावति । पंचेव य छीयादिसु-पणगं भवति । एत्थ वीसहिं वाराहिं सपयं पावति । लहुय त्ति—जेसु लहुमासं, तेसु दसहिं वाराहिं सपयं पावति । लहुगा य अट्ठेव य त्ति—जेसु चउलहुअं, तेसु अट्ठहिं वाराहिं सपदं भवति । विणेओ पुच्छति-भगवं ! तुब्भे भणत—जहा णिग्गच्छदारादिआए अप्पप्पणो पच्छित्तं सट्ठाणातो सपय पावति,तमहं सट्ठाणमेव ण याणामि कहेह । तं गुरू भणति—

साहच्छि फूम हत्थे, मत्ते पत्ते य चेलकणे य ।
करतलसाहा य लहू,सेसेसु य होंति चउलहुगा॥२३८॥
जति छिड्डा तति मासा, जा तिण्णि चतुलहु तेण परं ।
एवं ता करणंमि, पुव्वकया सेवणे चेव ॥ २३६ ॥

साहा साहूली-वृक्षसाखेत्यर्थः । अच्छिफुमणे वि एतेसु सव्वेसु मासलहू भवति, सेसेसु त्ति-जे ण भणिया तेसु चउलहुअं । साहावयवेण चसद्दा साहाभंगेण वा पेहुणेण वा पेहुणहत्थेण वा वीयइ त्ति वुत्तं भवति । सेसेसु होंति लहुआ उ, एतं अतिप्पसत्तं लक्खणं आयरिओ पच्चुद्धारं करेति । जइ छिड्डा गाहा-जइ छिड्डाणि करेति तति मासलहु॰जाव तिण्णि, तिण्णं परेणं चउलहु भवति । एवं ता अपुव्वछिड्डकरणे पच्छित्तं । पुव्वकयासेवणे चेव त्ति—पुव्वकते एक्कंमि वातपडिसेवणं करेइ—मासलहु । दोहिं दो मासलहु—तीहिं तिण्णि-मासलहू, तेण परं-चउलहू, भवति ।

कमढगमादी लहुगो, कासे य वियंभिएण पणगं तु ।
एक्केक्कपयादो पुण, पसज्जणा होतिऽभिक्खणातो ॥२४०॥

कमढं-साहुजणपसिद्धं, आदिशब्दातो कंसभायणादी । एतेसु मासलहु, कासिअं खासियं वियंभियं जंभाइतं—चसद्दाओ छित्तऊससिअनीससिएसु अविहीए पणगं । एक्केक्कपयादि त्ति-आत्मात्मीयपदात् अभीक्ष्णत उवरुवरि पदं पसज्जति, भवतीत्युक्तं भवति । सिस्साभिप्पायतो किमत्थं पच्छित्तं दिज्जति ।

एत्थ भण्णति—

वाससिसिरेसु वातो-बहिता सीतो गिहेसु य स उण्हो ।
विवरीओ पुण गिम्हे, दियराती सत्थमण्णोण्णं ॥ २४१ ॥

वास त्ति—वरिसाकालो, सिसिरो—शीतकालो, एतेसु, वाओ बहिया गिहाण सीतलो भवति । गिहेसु तु गृहाभ्यन्तरेषु सोम्हो-सोष्मः । एवं तावत्कालद्वये । तव्विवरीतो पुण गिम्हे त्ति—पुव्वाभिहितकालदुगाओ विवरीतो गिम्हे-उष्णकाले, गृहाभ्यन्तरे सीतो वायुः, बहिया उष्ण इति । दियराइ त्ति-वाससिसिरगिम्हेसु एयं वाउलक्खणं दिवसओ वि,रातीए वि । अहवा-दिवसओ-वाऊ उण्हो भवति, रातीए सीयलो भवति । तत्थ—शस्त्रं, जं जस्स विणासकारणं तं तस्स सत्थं भण्णति । अन्योऽन्यं शस्त्रं-परस्परं शस्त्रमित्यर्थः, वाससिसिरगिहब्भंतरवाओ बहिवातस्स सत्थं, बहिवातो वि गिहवायस्स सत्थं,एवं गिम्हे वि । एवं दिवा वातो सव्वरीवायस्स, सव्वरीवाओ वि दियवायस्स । जहं तेसिं वायाणं अण्णोण्णसत्थकारणत्तं दिट्ठं ।

एमेव देहवातो, बाहिरवातस्स होति सत्थं तु ।
वियणादिसमुत्थो वि य,स उप्पती सत्थमण्णस्स।२४२।

एवमेव अवधारणे, दिट्ठंतोपसंहारपदंसणत्थे वा । देहवाओ त्ति-सरीरवातः, सो य छीयादिसु संखसिंगपूरणे वा, दतियादिपूरणेसु वा भवति । सो य बाहिरवायस्स होइ । सत्थं तु एवं-वियणादिसमुत्थो, वि य त्ति—आदिशब्दः वियणगविहाणतालयंटाइप्पदरिसणत्थो । स इति—स्वेन स्वेन विधानेनोत्पन्नः, अन्योन्यशस्त्रं विज्ञेयमिति । अनेन कारणेन प्रायश्चित्तं दीयत इति ।

इमे य आयसंजमविराहणा दोसा भवंति—

संपातिमादिघातो, आउवगाओ य फूम वीयंतो ।
वायंतस्स य बाहा, दंडियमादी बहिक्करणं ॥ २४३ ॥

वीयणादिणा वीयंतस्स मच्छियादिसंपादिमादिघातो भवति, एसा संजमविराहणा । आउवघातो य फूम वीयंतो त्ति-फूमंतस्स मुहं सूखति, वीयंतस्स य बाहा दुक्खति , एसो उवघातो । सिंगं, संखं वा, वंसं वा वायेति दंडिओ गिण्हेज्जा, उप्पव्वायति त्ति वुत्तं भवति । आदिसद्दातो रायवल्लभो वा खित्तादि त्ति सहसा संखपूरणे कोई साहू गिहत्थो वा खित्तचित्तो भवेज्ज । आदिसद्दातो हरिसिओ दित्तचित्तो भवति । पमत्तो वा जक्खाइट्ठो हवेज्ज । उम्माओ वा से समुप्पज्जिज्ज । बहिक्करणं ति-पुणो पुणो संखं पूरयंतस्स बहिरत्तं भवति । चः समुच्चये । गता वाउकायस्स दप्पिया पडिसेवणा ।

इदाणिं वाउकायस्स कप्पिया पडिसेवणा भण्णति—

वितियपदे सेहादी,ऽद्धाण गिलाणाइक्कमे ।
सण्णा य उत्तिमट्ठे अ-णाधियासे य देस य ॥ २४४ ॥

सेहाति त्ति दारं—

सव्वे वि पदे सेहो, करिज्जऽणाभोगतो असेहो वि ।
सत्थो वच्चति तुरियं, अत्थं व उवेति आदिच्चो ॥ २४५ ॥

णिग्गमणादी सव्वे पदा सेहो अयाणमाणो करेज्ज,आदिसद्दातो आभोगतो अणाभोगतो असेहो वि णिगच्छणादी पदा करेज्ज । सेहादि त्ति दारं गतं । अद्धाण त्ति-अद्धाणं पडिवण्णा साहू सत्थेण समाणं, सो य सत्थो तुरियं वच्चिउकामो अत्थं वा उवेति आइच्चो, उसिणं च भत्तं तं निव्वावेउ वीयणादीहिं तुरियं भोयव्वमिति । अद्धाणे त्ति गयं । गिलाणादिक्कमे-" पढमालियकरण " गाहा-गिलाणवेयावच्चकरो पढमालियं करेति । तं च से उसिणं भत्तपाणं लद्धं जाव य तं सयमेव सीतीभवति ताव गिलाणस्स वेयावच्चवेलातिक्कमो भवति, अतो तं विधुवणादीहिं तुरियं णिव्वावेऊण भोत्तूण य गिलाणस्स य भत्तमाणयति ओसहं वा । गिलाणे त्ति दारं गयं । ओमे त्ति दारंपढमालियाकरणवेला फिट्टइ । एस पढमपादो ओमे वि घडावेयव्वो ।

दारगाहा—

सूरत्थमेति वाऊ, ओमे विधुणाति फूमणेणं वा ।
एतेहिँ कारणेहिं, सीतावण होति उभए वि ॥ २४६ ॥

सूरत्थमेति—ओमे त्ति-दुब्भिक्खं,तमि य दुब्भिक्खे अत्थवणवेलाए उसिणं भत्तपाणं लद्धं, जति तं सयं सीती होयमाणं पडिच्छंति जाव ताव य सूरत्थमेति , ण य सं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थरंति ताहे विधुवणादीहिं, विधुवणाति त्ति-विविधं धुणाति विधुवणाति वीयति त्ति वुत्तं भवति । अहवा-विधुवणाति त्ति-विहुअणो-वियणश्रो, तेन वीयति । फूमणेण व त्ति—मुहेण फूमति, एतेहिं सीयावणं करेति—सीतलीकरणमित्यर्थः । उभए वि त्ति-भत्तं, पानकं च । अहवा-सरीरमाहारो य । अहवा-ओदनं व्यंजनं च । ओमे त्ति गतं ।

सएण त्ति दारं--

सण्णा य सिंगमादी, मिलणट्ठविहे महल्लसत्थे वा ।

सेसेसु तु अभिधारण, कवाडमादीणि वुग्घाडे ॥२४७॥

सएणं त्ति-सएणा संगारेत्यर्थः । सिंगगमादी धमंति, संगारणिमित्तं तस्स य एवं संभवो भवति । मिलणट्ठविहे त्ति-दीहमद्धाणं तंमि परोप्परं फिडिया मिलणट्ठा सिंगगमादी धमंति । महल्लसत्थे वा-महंतो सत्थो खंधवारादी तंमि ण णज्जति, को कत्थ ठितो ताहे सिंगगमादी पूरेज्जति । गुरुसमीवे ततो सव्वे आगच्छंति । एतेण कारणेणं सिंगगमादीपूरणं करेज्जा । सएण त्ति दारं गयं । सेसेसु त्ति-उत्तमट्ठअणहियासदेसी दारा । तत्थ उत्तमट्ठट्ठियस्स घम्मो परिडाहो वा से कज्जति, अणहियासो घम्मं ण सहति, देसे वा जहा उत्तरावहे-अच्चत्थं घम्मो भवति । एतेसु तिसु वि दारेसु अभिधारणं करेति, कवाडमादीणि वा उग्घाडेति, आदिसद्दातो अपुव्वदारं उग्घाडेति छिड्डाणि वा करेति । गता तिरिण वि दारा । गता वाउक्कायस्स कप्पिया पडिसेवणा । गतो वाउक्काश्रो ।

इदाणिं वणस्सतिकायस्स दप्पिया पडिसेवणा भएणति—

बीयादिसुहुमवट्टण-णिक्खित्तपरत्तणंतकाए य ।

गमणादिकरणछेयण, दुरूहणप्पमाण गहणे य॥२४८॥

बीया-परित्ता अणंता य । आदिसद्दाश्रो दसविहो वणस्सती । सुहुमं ति-पुप्फाघट्टणसद्दो सव्वेसु पत्रेयं, णिक्खित्तं-न्यस्तं, तं पुण परित्तवणस्सतिकाए अणंतवणस्सतिकाए वा, गमणादिति-परित्ते णणंतेण वा गमणं करेति । आदिसदाश्रो ठाणणिसीयणतुयट्टणकरणं प्रतिमारूपं करेति । छेदणं-पणणछेदं करेति, दुरूहणं—आरुहणं, आर्द्रामलकादिप्रमाणग्गहणं हत्थेण चसद्दा पक्खेवो य । एस संखित्तो दारग्गहणत्थो विवरितो ।

इदाणिं पच्छित्तं भएणति—

पंचादीगुरु लहुगा, लहुगा गुरुगा परित्तणंताणं ।

गाउय जा वत्तीसा, चतुलहुगादी य चरिमपदं ॥२४९॥

पणगं तु बीयघट्टे, ओकुट्टे सुहुमघट्टणे मासे ।

सेसेसु पुढविसरिसं, मोत्तूणं छेदणदुरूहे ॥ २५० ॥

पंच त्ति-पणगं, आदित्ति—बीयदारे, लहुगुरुग त्ति—जति परित्तबीयसंघट्टेणेण भत्तं गेरहति तो लहुपणगं , अह अणंतबीयसंघट्टेण तो गुरुअं । लहुगा गुरुगा परित्तणंताणं ति—पणगा संवज्झंति परित्तसुहुमे पादादिणा संघट्टेति लहुपणगं, अणंते गुरुपणगं । अहवा—लहुगा गुरुगा परित्तणंताणं तिरिण खित्तदारं गहियं । परित्तवणस्सतिकाए अणंतरणिक्खित्ते लहुगा, अणंते-अणंतरणिक्खित्ते गुरुगा, परित्ताणंतवणस्सतिकाए परंपरणिक्खित्ते-लहुगुरुमासो । परित्ताणंतवणस्सतिकाए मीसे अणंतरणिक्खित्ते लहुगुरुमासो । तेसु चेव परंपरे जहासंखेणं लहुगुरुपणगं । गमणदारे गाउया०जाव तीसतिगाउयातो आरब्भ दुगणादुगुणेण०जाव वत्तीसं जोयणाणि गच्छइ । एत्थ अट्ठसु ठाणेसु चउलहुगादी । चरिमपदंति-गाउए चउलहुगं,एवं०जाव वत्तीसाए पारंचियं । एवं परित्ते,अणंते,गाउयादिदुगुणेण०जाव सोलस चउगुरुगादी चरिमं पावति । चसद्दो अवधारणे । पणगं तु बीयगाहा-पंचादी लहुगुरुय त्ति-पयस्स विराहणगाहापायस्स सिद्धसेनाचार्यः स्पष्टेनाभिधानेनार्थमभिधत्ते-पणगं ति-बीयघट्टे गतार्थं सचेयणवणस्सती उदूहले धन्नो पीसणीए वा पिट्ठो सरिसो उ कुट्टो भन्नइ, सो पुण परित्तो वा तस्संसट्ठेण हत्थमत्तेण भिक्खं गेरहइ । परित्ते—मासलहुं, अणंते—मासगुरुं, सुहुमा फुल्ला ते परित्ताऽणंता वा ते जीवंता घट्टेइ । मासे त्ति परित्तेसु-मासलहुं, अणंतेसु-मासगुरुं,सेस त्ति करणछेदणदुरूहणप्पमाणगहणद्दारा । एतेसु पुढविसरिसं मोत्तूणं छेदणदुरूहे कज्जं ।

छेदणदुरुहणवक्खाणं—

छेदण पत्तच्छेज्जे, दुरुहण सेवा तु जत्तिया कुणति ।

पच्छित्ता तु अणंते, गुरुगा लहुगा परित्तेसु ॥ ३५१ ॥

छेदणं ति-छेदणदारं, तत्थ पत्तच्छेज्जं करेति. नंदावत्तपुएणकलसादी दुरुहणं, तत्थ रुहंतो जत्तिया हत्थपादेहिं सेवा करेति तत्तिया पायच्छित्ता इति वक्कसेसं । ते य छेयणदुरूहणेसु पच्छित्ताश्रो, अणंते-गुरुगा, लहुगा य । परित्तेसु कंठा । छेयणदुरुहणा दो दारा गता ।

इयाणिं वियहारण अभिक्खसेवा भएणति—

अट्ठग सत्तग दस णव, वीसा तह अउणवीस जा सपदं ।

सचित्तमीसहरिय-त्तणंऽतऽणंते य बीयादी ॥ २५२ ॥

पुव्वद्धपच्छद्धाणं अत्थो जुगवं वच्चाति,सचित्त त्ति-सचित्तपरित्तवणस्सतिकाए चउलहुगादि , अट्ठहिं वाराहिं सपदं पावति, सच्चित्ताणंतवणस्सतिकाए चउगुरुगादि । सत्तहिं वाराहिं सपदं पावति । मीसहरिय त्ति-हरितग्गहणं बीजावस्थातिक्रान्तप्रतिपादनार्थं, मीसपरित्तवणस्सतिकाए मासलहुगादि, दसहिं सपदं , अणंतमीसे मासरुगादि, णवहिं सपदं । परित्ताणंते य त्ति—उभयत्र योज्यं । हरिए बीएसु य परित्तबीएसु पणगारद्धं , वीसतिवाराए सपदं पावति, अणंतबीएसु तह अउणवीसं जा सपदं । यथाद्यपदेषु तथापि एकैकवृद्धया जाव एक्कोणवीसइमं पदं भवतीत्यर्थः , आदिसद्दाश्रो एत्थ वि एयं चेव । वणस्सति कायदप्पिया पडिसेवणा गता ।

इयाणिं कप्पिया पडिसेवणा भएणति—

अद्धाणकज्जसंभम, सागारियपडिपहे य फिडिए य ।

दीहादी य गिलाणे,ओमे जतणा य जा तत्थ ॥२५३॥

एतेसु अद्धाणादिदारेसु ओमपज्जवसाणेसु बीयातिदारा अववातियव्वा, ते य जहा पुढविकाए तथाऽत्रापि द्रष्टव्याः ।

णवरं पंथे वच्चंताणं इमा जयणा—

पत्तेगे साहारण, थिराथिरक्कंत तह अणक्कंते ।

तलिया विभासकत्ता, मग्गउ खुत्ते य ठाणादी ॥२५४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्तेगो-पत्तेगवणस्सती, सो दुविहो—मीसो, सचित्तो य। साधारणो अणंतवणस्सई—सो दुविहो-मीसो सचित्तो य। मीसो णामं—थिरो—दढसंघयणे, अथिरो—अदढसंघयणे, अक्कंतो णाम—जनेनागच्छमानेन मलिनेत्यर्थः। इतरो पुण अणक्कंतो, एतेसु गमणे इमा जयणा—पुव्वं पत्तेगमीसथिरक्कंतेण णिप्पच्चवाएण गंतव्वं। असति एसगस्स पत्तेगमीसथिरअणक्कंतेण णिप्पच्चवाएण गंतव्वं। असतीते तस्स पत्तेगमीसअथिरअक्कंतेण णिप्पच्चवाएण गंतव्वं, असति पत्तेगमीसअथिरअणक्कंतेण णिप्पच्चवाएण गंतव्वं। एते चउरो विगप्पा पत्तेगमीसे। एतेसिं असतीए एतेण चेव कमेण चउरो अणंतवणस्सतिकाए मीसे विकप्पा। एतेसिं पि असतीए परित्तवणस्सतिकाए सचित्ते एतेणेव कमेण चउरो विकप्पा। एतेसिं असतीते अणंतवणस्सतिकाए सचित्ते एतेणेव कमेण चउरो विगप्पा। एते सोलस निप्पच्चवाए विगप्पा। सपच्चवाए वि सोलस। ते पुण सव्वहा य वज्जणिज्जा। जया पुण परित्ताणंतमीससचित्ताणंतरणातरेणावि सोलसण्हं विगप्पाणं गच्छंति, तदा तलिया विभासति। तलिया गमणातो भणति, विभासा—जइ कंटकादीहिं पाओवघाओ अत्थि तो ताओ ण मुच्चंति, अह णत्थि तो ताओ अवणेति। मग्गउ त्ति—पच्छितो णिब्भए गमणं करेंति, परित्तीकृतेत्यर्थः। कत्त त्ति—चम्मकं, जत्थ पुण अरण्णादिसु सण्णिविट्ठं थंडिलं ण भवे तत्थ गोणादिखुरणे ठाणे ठाणादीणि करेंति, ठाणं—उस्सग्गो. आदिसद्दातो—णिसीयणतुयट्टणाणि घेप्पंति, असति कत्तिए कप्पं काउं गोणातिखुरणे ठाणादीणि करेंति, असति कप्पस्स गोणातिखुरणे ठाणादी ण करेंति, असति खुरणस्स पदेसेसु वि करेंति। पंथजयणाऽभिहिता।

इमा दुहणद्दारस्स अववायविही—

सावय-तेण-भये वा, पंथं फिडिया वलंवकज्जे य।
रोहे अ छेदकरणं, पडिणीया अट्ठगीतेसु॥ २५५॥

सावता—सीहाती, तेहिं अभिभूतो रुक्खं रुहेज्ज, सरीरोवकरणतेणा तब्भया वा रुक्खं रुहेज्जा, पंथाओ वा फिडितो गामपलोयणनिमित्तं रुक्खं रुहेज्ज, पलंवाण वा कज्जे रुक्खं रुहेज्जा। इमो पुण छेयणदारावावातो—छेदो त्ति—विदारणं, करणं-क्रिया, तामपि कुर्यात्, पडिणीयाउट्टणणिमित्तं पडिणीयस्साभिभयं तस्स पुरतो कयलिक्खंभादि वट्टिज्जति, भिगुडीविडंवियमुहो होऊण भणति—जइ ण ठासि एवं सीसं खंडयामि जहस कयलीखंभो. एवं कयकरन्नो करेति। अगीतेसु त्ति पलंवाणि वा अगीतेसु वि करणे णिक्कारणं काऊण माणिज्जंति, एवं वा छेयसंभवो।

ताणि य पुण पलंवाणि घेत्तव्वा इमाए जयणाए—

फासुयजोणिपरित्ते, एगट्ठियऽवद्धभिन्नऽभिन्ने य।
वद्धट्ठिए वि एवं, एमेव य होंति वहुवीए॥ २५६॥

फासुअं ति—विद्धत्थं, जीवउप्पत्तिट्ठाणं जोणी भवति, परित्ता जोणी जस्स पलंवस्स तं भणति, परित्तजोणिं परित्तं अणंतं न भवति, एगट्ठिय त्ति-एगवीयं जहा अंवगो आवद्धो अट्ठिल्लगो तस्स तं अवद्धट्ठिं अनिष्पन्नमित्यर्थः, भिन्नमिति द्रव्यतो भावतो नियमाद्भिन्नं, कहं उच्यते-फासुगग्रहणात् एस पढमभंगो व्याख्यातः। अभिण्णे य त्ति द्वितीयभंगग्रहणमेतत्। अवद्धट्ठियपडिवक्खो घेप्पइ. वद्धट्ठिइए वि एवं वद्धट्ठियग्रहणात्। ततियचउत्था भंगा गहिया एवंशब्दग्रहणात्। जहा पढमवितियाण अंते भिण्णाभिण्णं एवं ततियचउत्थाण वि अंते भिण्णाभिण्णं कर्त्तव्यमिति। एगट्ठियपडिपक्खो घेप्पति। एमेव य होइ वहुवीए त्ति—एवं वहुवीए वि चउरो भंगा, अवद्धवद्धट्ठियाभिण्णाभिण्णेहिं कायव्वा। एते अट्ठ। अण्णे पत्तेयवणस्सतिपडिपक्खसाहारणेण अट्ठ, एते सोलस। अण्णे फासुगपडिपक्खे, अफासुगग्गहणेण सोलस। एते सव्वे वत्तीसं भंगा हेट्ठतो णायव्वा।

एमेव होंति उवरिं, एगट्ठिय तह य होंति वहुवीए।
साधारणस्स भावा, आदीए वहुगुणं जं वा॥ २५७॥

उवरिं रुक्खस्स एमेव वत्तीसं भंगा कायव्वा, एगफासुगजोणिपरित्तो एगट्ठिगअवद्धभिण्णस्स पडिवक्खा एवं वत्तीसं भंगा कायव्वा। एगट्ठिग तह य होंति वहुवीय त्ति-इमं पुण वयणं सेसाण फासुगजोणिपरित्ताइयाण वयणाणं सपडिवक्खाण सुयणत्थं गहितं। ताणि य इमाणि—फासुगजोणिपरित्तो एगट्ठिगअवद्धभिण्णसपडिवक्खा, एवं भंगा वत्तीसं उवरिं साहारणस्स भवंति, अनेन अधोवरि वत्तीसभंगक्रमेण फासुगस्स असति साहारणसरीरस्स अभावा अलाभेत्यर्थः, सचित्तं गृह्णाति। तत्रेदं वाक्यं-'आदीए वहुगुणं' जं च आदीए वहु गृह्णाति सेसाण वहुगुणं जनयति करोतीत्यर्थः। जं व त्ति—यद् द्रव्यं सचित्तं जं दव्वं वहुगुणं करेति, तं घेण्हति। परित्तं, अनंतं वा न तत्र क्रमं निरीक्षतेत्यर्थः। अहवा—साहारणस्वभावात् यद् द्रव्यं वहुगुणतरं तमादीयते गृह्णातीत्यर्थः। वणस्सतिकायस्स कप्पिया पडिसेवणा गता। गओ य वणस्सतिकायो।

इदाणिं वेइंदियादि तसकाए दप्पिया पडिसेवणा भणति—

संसत्तपंथभत्ते, सेज्जा उवही य फलगसंथारे।
संघट्टणपरितावण, लहु गुरु अतिवातणे मूलं॥२५८॥

वेइंदियादीहिं तसेहिं संसज्जइ पंथो, संसज्जति भत्तं, संसज्जति सेज्जा, संसज्जति उवही, संसज्जति फलहयं, संसज्जति संथारो। जंमि य विसए वेइंदियादीहिं पंथभत्तादी संसज्जति, तत्थ जइ दप्पेणं परिगमण करेति तत्थिमेण विकप्पेणिमं पायच्छित्तं—

संकप्पे पदभिंदण, पंथे पत्ते तहेव आवसे।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, संठाणं चेव आवसे॥२५६॥

संकप्प इति-गमणाभिप्पायं करेति, पदभिंदणमिति—गृहीतोपकरणो प्रयातः। पंथ त्ति-संसत्तविसयस्स जो पंथो तं पत्तो, पत्ते त्ति-संसत्तविसयं प्राप्तः। तहेव आवसे त्ति-तहशब्दो-पादपूरणे। एवशब्दः-प्रायश्चित्तावधारणे। आवसणो प्राप्त उच्यते। वेंदियादिसु संघट्टणपरितावणउद्दवणमिति। चत्तारि छच्च लहुगुरु त्ति-लहुगुरुशब्दः प्रत्येकं, चत्तारि लहुगुरुए छच्च लहुगुरुए ते चउरो पच्छित्ता संकप्पादिसु जहासंखेण जोएयव्वा। संकप्पे-चउलहु, पदभेदे-चउगुरु, पंथे-छल्लहु, पत्ते छग्गुरु, संठाणे चेव आवसणे त्ति-वेइंदियाईण संघट्टणविकप्पं आवसणस्स संठाणपच्छित्तं। चः-पूरणे। एव-अवधारणे। इदं पश्चार्द्धं व्याख्यातम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संघट्टणपरितावणे त्ति—वेइंदियाणं संघट्टणं करेइ, परितावणं करेति,उद्दवणं करेति । लहुगुरु त्ति-वेइंदिया संघट्टेति-चउलहुअं, परितावेति-चउगुरुअं, उद्दवेति-छल्लहुअं । तेइंदियाण संघट्टणादिसु पदेसु चउगुरुगादि छग्गुरुगे ठाति । चउरिंदियाण-छल्लहु,आदिछेदे ठाति । पंचेंदियाण संघट्टणे-छग्गुरुअं परितावणे-छेदो, उद्दवणे अतिवातणे, मूलं ति-पंचेंद्रियं व्यापाद्यमानस्य मूलेत्यर्थः । एसो चेव गाहापच्छद्धत्थो । अनेन गाथासूत्रेण स्पष्टतरो अभिहितः ।

जओ—

वियं तिय चउरो पंचिं-दिएहिँ घट्ट परिताव उद्दवणे ।
चतुलहुगादी मूलं, एगदुगतिएसु चरिमं तु ॥ २६० ॥

गतार्था । नवरं एगदुगतिएसु—चरिमं, ति, एगं पंचेंदियं वावाएति-मूलं, दोसु—अणवट्ठो, तिण्णि पंचेंदिया वावातेति-पारंचियं । तुशब्दो अभिक्खासेवनप्रदर्शनार्थः । एस दारगाथार्थः-समासार्थेनाभिहितः ।

इदाणिं पंथे त्ति दारं व्याख्यायते—

मूइंगउवइयमक्को-डगा य संबुक्कजलुगसंखणगा ।
एते उ उभयकालं, वासासण्णे य णेगविधा ॥ २६१ ॥

पंथे त्ति-गता, पंथो इमेहिं संसत्तो-मूइंगा—पिपीलिया, उवइगसमुद्देहिं काओ मक्कोडगा—कृष्णवर्णा प्रसिद्धा, संवुक्का—अणट्ठिया मंसपेसी दीर्घा पृष्ठिप्रदेशे आवर्त्तकडाहं भवति, क्वचिद्विषये पतितमात्रमेव भूमौ जलं जलूकाभिः संसज्जति, संखणगा—श्लक्ष्णा संखागारा भवंति, एते मूइंगादी पाणा बहुजले विसए उभयकालं भवंति, उडुवासासु त्ति भणियं भवति । वासासण्णे य त्ति—वासा—वर्षाकालः आसन्नमिति—प्राप्तः, वर्षाकाल एवेत्यर्थः । अहवा-वर्षाकाले भद्दवद्दासोयमासा, तस्सासण्णे पाउसकालो, तंमि अ पाउसकाले अहिणववुट्ठभूमीए अणेगविहा प्राणिनो भवंति-इत्यर्थः । चः—पूरणे, अकालवर्षबहुप्राणिसंमूर्च्छने वा । पंथे त्ति दारं गयं ।

इदाणिं भत्ते त्ति दारं—

दधितक्कंबिलमादी, संसत्ता सत्तुगा तु जहियं तु ।
मूइंगमच्छियासु य, आमहउड्डादि संसत्ते ॥ २६२ ॥

दहि—पसिद्धं, तक्कं उदसी छासि त्ति एगट्ठं । अंबिलं-पासेद्धं । आदिसद्दाओ—ओदणमादी. एते जत्थ संसत्ता आगंतुगेहिं तदुत्थेहिं वा संसत्ता, सत्तूगा, तुसद्दो आगंतुगतदुत्थितप्राणिभेदप्रदर्शने, जहियं तु त्ति—जहिं विसए, तुशब्दोऽवधारणे, किं अवहारयति ?, उच्यते--नियमा तत्र संजमविराधनेत्यर्थः । मूइंगा—पिपीलिया, मच्छिया-मक्षिका एव । मूइंगसंसत्ते अमेहा भवति, मेहाऽवघातो भवतीत्यर्थः । मच्छियासु संसत्ते उड्डं भवति, वमनमित्यर्थः । एसा आयविराहणा । चशब्दः संयमविराधनाप्रदर्शने । भत्ते त्ति दारं गयं ।

इदाणिं सेज्ज त्ति दारं । जत्थ सेज्जा संसज्जति तत्थिमाहिं चेट्ठाहिं ते पाणिणोऽवहेंति—

ठाण णिसीय तुअट्टण, णिक्खमण पवेस हत्थणिक्खेवे ।
उव्वत्तणमुल्लंघण-चिट्ठासेमासु वेच्छंति ॥ २६३ ॥

ठाणं-काउस्सग्गं, णिसीयणं उवविसणं, तुयट्टणं-संवट्टणं, णिक्खमणं-बहिया, पविसणं-अंतो, हत्थो-सरीरेगदेसो, तस्स णिक्खिवो भूमीए । अहवा-हत्थगो-रयहरणं भण्णति । तं वा णिक्खिवइ मूमीए न आत्मावग्रहादित्यर्थः । उव्वत्तणं नाम-परावर्तनं, एगसेज्जाए उवचिट्ठस्स तुयट्टस्स वा चिरं आसमाणस्स जदा सरीरं दुक्खिउमारद्धं तदा परिवत्तउमण्णहा ठाति त्ति वुत्तं होइ । उल्लंघणं—एलुगस्स, आदिसद्दाओ—संथारगस्स, सितिफलगाण वा एवमादिसु चेट्ठासु ते संसत्तवसहीए पाणिणोऽवहंति । किं-च जा एया ठाणनिसीयणादियाओ चिट्ठाओ भणिताओ ता जाओ संजमकरी ताओ इच्छंति इच्छिज्जंति ण इयरातो ।

तओ भण्णति—

जा चिट्ठा सा सव्वा, संजमहेउं ति होति समणाणं ।
संसत्तुवस्सए पुण, पच्चक्खमसंजमकरी तु ॥ २६४ ॥

जा इति-अणिद्दिट्ठसरूवा चेट्ठा घेप्पति । अहवा-जा इति कारणिककायक्रियाप्रदर्शनेत्यर्थः, कायक्रिया—चेष्टा भण्णति । सव्वा असेसा-पावविणिवत्ती संजमो भण्णति । हेऊ-कारणं, तुसद्दोऽवधारणे, होइ-भवति । समणाणं—साहूणं ति वुत्तं भवति । इह पुण संसत्तुवस्सए पच्चक्खमसंजमकरी किरिया साहूणं भवतीत्यर्थः । तुसद्दो—अवधारणे । वसहि त्ति दारं गयं ।

इदाणिं उवहि त्ति दारं—

छप्पति दोसा जग्गण, अजीर गेलण्ण तासि परितावे ।
ओदणपडिते भुत्ते, उदडुओरातिया दोसा ॥ २६५ ॥

छप्पति त्ति—जूआ भण्णति, ताहिं जत्थ विसए उवही संसज्जति तत्थ बहु दोसा भवंति, ते इमे-ताहिं खज्जमाणो जग्गति, जागरमाणस्स भत्तं ण जीरति, अजीरमाणे य गेलण्णं भवति । एत्थ गिलाणारोवणा भाणियव्वा । अहवा—ताहिं खज्जमाणो कंडूयइ, कंडूयमाणस्स खयं भवति । एवं वा गिलाणारोवणा । तासिं परितावो त्ति-तासिं छप्पयाणं कंडूयमाणे परितावणं करेति, संघट्टेति वा, उद्दवेइ वा, एत्थ तण्णिप्फण्णं पायच्छित्तं दट्ठव्वं । इह पुव्वऽद्धे आयसंजमविराहणा दोऽवि दरिसिया-इमा पुण आयविराहणा । ओअणवडिए भुत्ते त्ति—ओदणोकूरो, तत्थ पडिया छप्पतिता, सो य ओदणो भुत्तो, तंमि य भुत्ते उड्ड भवति, दओयरं वा भवति । दओदरं-जलोयरं भण्णति । उवहि त्ति दारं गयं ।

इयाणिं फलगसंथारे त्ति दारं-

संसत्तेऽपरिभोगो, परिभोगामंतरेण अधिकरणं ।
भत्तोवधिसंथारे, पीढगमादीसु दोसा उ ॥ २६६ ॥

संसत्ते त्ति-फलहसंथारेसु संसत्तेसु, अपरिभोगो त्ति-अभुज्जमाणेसु, परिभोगमंतरेणं ति-परिभोगस्स अंतरं परिभोगमंतरं परिभोगाभावेत्यर्थः । अधिकरणं ति-अपरिभुज्जमानं अधिकरणं भवति । कहं ? यतो अभिधीयते जं जुज्जति । उवकारो उवकरणं, तं सेहाइउवकरणं अतिरेगं अहिकरणं अज-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओ अजयं परिहरंतो, भत्तोवहिसंथारे पीढगमादीसु दोसा उ-एते जे अधिकरणं ते भणिया। तुशब्दः-दोसावधारणे।

अहवा इमे दोसा—

संसत्तेसु तु भत्ता-दिएसु सव्वेसिमे भवे दोसा।
संघट्टादि पमज्जण, अपमज्जण सज्जघातो य ॥२६७॥

पुव्वद्धं कंठं। संघट्टादि त्ति—संघट्टणं-फरिसणं, आदिसद्दातो—परितावणोद्दवणं एते भत्तादिसु सव्वेसु संभवंति। पमज्जण त्ति-संसत्ता सेज्जादी जति पमज्जति तो ते चेव संघट्टत्तादिदोसा भवंति। अपमज्जण त्ति—जइ ते सेज्जाति-संसत्तेणं पमज्जति तो 'सज्जघातो य त्ति'-सद्यो—वर्तमान एव, प्राणिनां घातो भवतीत्यर्थः। चसद्दो-समुच्चये। फलहसंथारय त्ति दारं गतं।

इदाणिं सव्वदारावसेसं भणति। एयं पुण जत्थ जत्थ—
दारे जुज्जइ तत्थ तत्थ घडावेयव्वं—

वेंटियगहणिक्खेवे, णिच्छुभने आतवायं वा।
संथारए णिसेज्जा, ठाणे य णिसीयण तुयट्टे ॥२६८॥

वेंटिय त्ति-उव्वट्टियं पमज्जियं, दुप्पडिलेहियं दुप्पमज्जियं, दुप्पडिलेहियं सुप्पमज्जियं। उवकरणलोली भन्नइ, तीए उवरणलोलीए गहणं करेति, णिक्खेवं वा। तत्थिमे सत्त भंगा—ण पडिलेहेति ण पमज्जति १, ण पडिलेहेति पमज्जेति २, पडिलेहेति ण पमज्जति ३, पडिलेहेति पमज्जति ४, जं त—पडिलेहितं पमज्जितं, तं दुप्पडिलेहियं दुप्पमजियं ५, सुप्पमज्जियं दुप्पडिलेहियं ६, सुप्पडिलेहियं, दुप्पमज्जियं। एतेसु पच्छित्तं पूर्ववत्। सुप्पडिलेहियं करेमाणस्स वि संघट्टणादिणिप्फण्णं पूर्ववत्। खलणिच्छुभणे वि एवं चेव, आयवो—उण्हं, आयववज्जा छाया ततो आयवो उवकरणं छायं संकामेति, एत्थ वि अपज्जमाणस्स पाणिविराहणा। कहं? उण्हजोणिया सत्ता छायाए विराहिज्जंति, छायाजोणिया वि उण्हे विराहिज्जंति, अतो अपमज्जमाणस्स पाणिविराहणा। एवं संथारगंऽवि पमज्जंतस्स संघट्टणादिणिप्फण्णं अकरेमाणस्स य सत्त भंगा, णिसेज्ज त्ति सुत्तत्थाणं निमित्तं जत्थ भूपदेसे णिसिज्जा कज्जति तत्थ पमज्जतस्स संघट्टणादिक अकरेमाणस्स सत्त भंगा। ठाणमिति-काउस्सग्गट्ठाण तत्थ वि एवं चेव,णिसीयणं-उवविसणट्ठाणं, तुयट्टणं—सुवणट्ठाणं, एतेसु वि एवं चेव पुढविसमस्सिएसु जीवेसु एस पायच्छित्तविही भणितो।

इमो पुण उवकरणसमस्सियं छप्पदिगादिसु विधी
भणति—

परिठावण संकामण, पप्फोडण धोव्व तावणे अविधी।
तसपाणंमि चउव्विहे, णायव्वं जं जहिं कमति ॥२६९॥

छप्पदिगाओ परिट्ठवेति, वत्थाओ वा वत्थे संकमेति, जहारेणुगुंडियं वत्थं पप्फोडिज्जति, एवं पप्फोडेति छप्पया संडतु त्ति, साडणनिमित्तं वा धोवणं करेति। उण्हे अगणीए वा तावेति। सव्वेसु तेसु पत्तेयं चउलहुयं। एवं ताव णिक्कारणगताणं। कारणे वि 'अविहि त्ति'-कारणगताणं पुण अविहीए संकामेंतस्स—चउलहुयं। संघट्टणपरितावणोद्दवणणिप्फण्णं च दट्ठव्वं। तसपाणम्मि त्ति-तसकायग्गहणं,सो य तसकाओ चउव्विहो इमो-वेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया, ण यव्वं-बोधव्वं। जं-पायच्छित्तं 'जहिं ति'-बेइंदियातिकाए कमति घडति—युज्जतेत्यर्थः, तं पुण परिट्ठावणादिद्दारेसु जहासंभवं जोएयव्वं। उदाहरणं मत्कुणपिसुकादयः।

वेंटियग्गहणणिक्खेवद्दाराणं इमा पच्छित्तगाहा—

अप्पडिलेहऽपमज्जण-सुद्धं सुद्धेण वेंटियादीसुं।
तिगमासय तिगपणए, लहुकालतवोभए जं वा ॥२७०॥

गतार्था। इमो अक्खरत्थो-अप्पडिलेहअप्पमज्जण त्ति—सत्त भंगा गहिया.सुद्धं सुद्धेणं ति-जति वि पाणे ण विराहेति तहावि पायच्छित्तं,णिक्कारणमसंजमविसयग्गमणातो ते पुण सत्त भंगा, 'वेंटियादिसुं ति'-आइल्लेसु तिसु भंगेसु मासलहुं ततो णंतरेसु तिसु पणगं,चरिमो सुद्धो। कायणिप्फण्णं वा 'लहुत्ति'-लहुमासपणगविसेसणं। अहवा-लहुं कालेण तवेण य उभएण विसेसेयव्वा, मासपणगा य, 'जं व त्ति'-जं च तसकायणिप्फण्णं तं च दट्ठव्वं। संकप्पादिपदेसु परिट्ठावणादिपदेसु इमो विही दट्ठव्वो—

णिक्कारणेऽविहि विधा-य वा विकज्जे य अविधिएण।

णिक्कारणे अविहि त्ति-पढमभंगो, विधीय त्ति, वितियभंगो गहितो, णिक्कारणे विधीय त्ति वुत्तं भवति। कज्जे अविहीए ण कप्पेति ततियभंगो गहितो, उवयुज्ज यत्र युज्यते तत्र भंगो योज्यो। गता दप्पिया पडिसेवणा।

इयाणिं कप्पिया भण्णति—

संकप्पादी तु पदा, कज्जंमि विधाय कप्पंति ॥ २७१ ॥

(इदं) पच्छद्धं कंठं। णवरं चउत्थभंगो गृहीतेत्यर्थः।
किं कज्जं का वा विही जेण णिद्दोसो भवति?, भण्णति—

पाणादिरहितदेसे, असिवोमादी तु कारणा होज्जा।
अत्थि तु वेलं तु मणा,व कुज्ज संसत्तसंकप्पं ॥२७२॥

पाणा-वेंदियादी, तेहिं रहिओ-वर्जितेत्यर्थः। को सो देसो जंमि देसे असिवं होज्जा,ओमोयरिया वा होज्जा। आदिसद्दातो आगाढरायदुट्ठं वा होज्जा।तुसद्दो अवधारणे।एवमादी कारणा जाणिऊण संजमविसयं मोत्तूणं असंजमविसयं गतुकामा, ते य तत्थ असंजमविसए अत्थिउकामा वा मज्झेण वा वेलउमणा कुर्यात्। वेंदियादियाण ठाणसंसत्तविसए गमणादिसंकप्पं, तत्थ जे ते वेले उ मणा तेसिं पंथे गच्छंताणिमा जयणा—

जं वेलं संसज्जति, तं वेलं मोत्तु णिब्भए जं ति।
सत्थे तु तलिय पिट्ठं ते, अक्कंतथिरातिसंजोगा ॥२७३॥

जं वेलं ति-यस्मिन् कालेत्युक्तं भवति,पच्चूसमज्झण्हअवरण्हादीसु जं वेलं पंथो संसज्जति' तं वेलं मोत्तुं असंसत्तवेलाए गच्छति त्ति वुत्त भवति। णिब्भए एवं गच्छंति। सत्थे उ त्ति-सभए सत्थेण गंतव्वं। तलिय त्ति-उवाहणातो अवणयंति, सत्थस्स य पिट्ठतो वच्चति। अक्कंतथिरादिसंजोग त्ति-अक्कंतजणवएण थिरा-दृढसंघयणा, संजोग त्ति-सो य सत्थो अक्कंतपहेण गच्छेज्जा, अणक्कंतेण वा। तत्थ जो अक्कतपहेण गच्छति तेण गंतव्वं, सो वि थिरसंघयणेसु वा अथिरसंघयणेसु वा गच्छेज्जा जो थिरसंघयणो तेण गंतव्वं। सो सभएण वा गच्छेज्जा, णिब्भएण वा। जो णिब्भओ तेण गंतव्वं। सो पुण दिया गच्छेज्जा, राओ वा, जो दिवा तेण गंतव्वं एसो चेव अत्थो सोलसभंगविगप्पेण वा वत्तव्वो। य इमे सोलस भंगा—अक्कंतथिर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णिब्भया दिवसतो एस पढमो भंगो, अक्कंतथिरणिब्भया रातो, एस वितियभंगो, एवं सोलस भंगा कायव्वा । एत्थ पढमभंगे अणुण्णा सेसेसु पडिसेहो । एवं ताव गच्छंताण जयणा भणिया ।

इमा पुण जत्थ सत्थो भत्तट्ठं ठाति, रंधणनिमित्तं ठाति, वसति वा तत्थ जयणा भण्णति—

ठाण णिसीय तुयट्टण, गहितेतरजग्गसुवणं वा ।
उब्भासथंडिले वा, उवकरणे सो व अणत्थ ॥ २७४ ॥

ठाणं—उस्सग्गो भण्णति, निसीयणं—उवविसणं, तुयट्टणं-णिवज्जणं, गहितेणं ति-उवकरणेणं, तसकायसंसत्तपुढवीए गहितो उवकरणा, सव्वराइं उस्सग्गेण अच्छंति । अह ण तरंति तो गहितोवकरणा चेव निसण्णा सव्वराइं अच्छंति । अह तह वि न सक्केंति ताहे जयणाए गहितोवकरणा णिवज्जंति । इयर त्ति—उवकरणणिक्खेवो । जग्गं ति-गहिते णिक्खित्ते वा सव्वरातिं जागरणा कायव्वा । अह ण तरंति जागरितुं तो जयणा सुवणं वा । इमा जयणा-पडिलेहियपमज्जणउव्वत्तणपरावत्तणावगुंठणपसारणा कायव्वा, सुवणं पुण निद्रावसगमनेत्यर्थः । अह सोवकरणस्स एगं थंडिलं ण होज्ज तो उब्भासथंडिले वा उब्भासं पच्चासण्णं तत्थोवकरणं ठवयति । सो वा अण्णत्थ सोवति साहू संवसति, अण्णत्थ त्ति थंडिलं संवज्झति । चोदगाह—सो य एवं पढियव्वो, सो वि किमर्थं पठ्यते ?, आचार्याह—वा—विकल्पप्रदर्शने, जति पच्चासण्णे थंडिलं नत्थि ता दूरे वि णिब्भए करेंति, उवकरणं एसेवऽत्थो ।

जम्हा पुव्वं पुढविकाए गतो तम्हा अतिदेसेण भण्णति-

जह चेव पुढविमादिसु, वसे जतणा तहेव तु तसेसु ।
णवरि पमज्जितु उवहिं, मोत्तूणं करेंति ठाणादि ॥२७५॥

जहा पुढविमादीसु सुवणे जयणा भणिया, तहा तसेसु वि वत्तव्वा, णवरं विसेसो पुढवीए पमज्जणा णत्थि, सच्चित्ता पुढवी तो इह पुण अच्चित्ता पुढवी, णवरं तससंसत्ता तो तसे पमज्जिऊण तत्थ उवकरणं मोत्तूण करेंति ठाणादी ।

तं पुण उवगरणं केरिसे ठाणे मोत्तव्वं भण्णति-

जत्थ तु ण विलग्गंती, उदइगमादी तहिं तु ठवयंति ।
संसप्पएसु भूमिं, पमज्जिउं छारठाणं वा ॥ २७६ ॥

जत्थ त्ति-भूपदेसं, तुसद्दो थंडिलावधारणे । ण प्रतिषेधावधारणे । लग्गंती—कंबल्यादिषु, उदइग त्ति-उद्देहिया, आदिसद्दातो य धण्णकारिमकोटकादयः, तहिं तु तत्र भूप्रदेशे उपकरणं स्थापयंतीत्यर्थः । अह पुण अन्नट्ठाणातो विलाओ वा आगंतूण, संसप्पएसु त्ति संसप्पंतीति संसप्पगा उस्सरंति त्ति वुत्तं भवति । तेसु ' संसप्पगेसु भूमिं पमज्जिउं ति'-जे तत्थ थंडिले पुव्वागता ते पमज्जिउं भूमिं पमज्जिऊण भूतं ददंतीति वक्कसेसं । छारट्ठाणं व त्ति-अह समंततो उदयिगमादी संभवो होज्जा ताहे छारट्ठाणं पाडलहउ तत्थ ठावयंतीत्यर्थः । अक्कंतथिरातिसंजोग-त्ति' इह वयण सामण्णेण अक्कंतथिरातिसंजोगा कता ।

तद्विशेषव्याख्याप्रतिपत्तिनिमित्तमुच्यते—

बिय तिय चउरो पंचिं-दिएसु अक्कंत तह मणक्कंते ।
थिरणिब्भतेतरेसु य, संजोगा दिवसरत्तिं वा ॥२७७॥

बेइंदिया संखणगमादी, तेइंदिया-पिपीलियादि, चउरिंदिया-इंदगोवादी , पंचेंदिया-मंडुकलियादी , एते जणपदेण अक्कंता वा, अणक्कंता वा, थिरा वा, णिब्भतो वा पहो होज्जा इयरग्गहणा अथिरसभयग्गहणं, संजोगा दिवसरत्तिं वा, पूर्ववत् , णवरं पुव्वं बेइंदिएसु अक्कंतथिरणिब्भयदिवसतो, ततो पच्छा अक्कंत अथिरणिब्भयदिवसओ, तओ पच्छा अणक्कंतथिरणिब्भयदिवसतो, तओ पच्छा अणक्कंत अथिरनिब्भयदिवसओ, एते चउरो भंगा । अण्णे एतेसु चेव ठाणेसु रत्तिए चउरो भंगा । एते अट्ठ । तओ पच्छा तेइंदिएसु एवं चेव अट्ठ । ततो पच्छा चउरिंदिएसु एवं चेव अट्ठ । तओ पच्छा पंचिंदिएसु वि एवं चेव अट्ठ । एते चउरो अट्ठगा वत्तीसं भंगा णिब्भएण भणिया । ततो पच्छा बेइंदियादिसु सभएण पुव्वकमेण वा अण्णे वत्तीसं भंगा णेयव्वा । एते सव्वे चउसट्ठिं । एस ताव कमो भणितो । इयरहा जत्थ जत्थ अप्पतरो दोसो तेण उक्कमेणावि गंतव्वं । एसा पंथे सट्ठाणे य जयणा भणिता । पंथे त्ति दारं गयं ।

इदाणिं भत्तदारजयणा भण्णति—

पत्ताणमसंसत्तं, उसिणं पउरं तु उसिण असतीए ।
सीतं मत्तगपेहिय, इतरत्थ छुभंति सागरिए ॥ २७८ ॥

पत्ताणं जत्थ देसे भत्तपाणं संसज्जति, तं देसं पत्ताणं इमा जयणा । असंसत्तं ति—असंसज्जितदव्वं ओदणादि जति पत्तमुण्हं तो गेण्हंति । पउरं-प्रभूतं, तु शब्दो-पादपूरणे, वक्खमाणविहिप्रदर्शने वा । उसिणं—उण्हं,तस्स असति अभावादित्यर्थः । अओ उसिणाभावा असंथरमाणा य सीतं गेण्हंति । जतो भण्णति-सीतं मत्तगपेहियं, सीयं-सीतलं, मत्तगो—तुच्छभायणं, तत्थ सीयलं गेण्हिय, पेहियं—प्रत्युपेक्ष्य, इतरत्थ त्ति—पडिग्गहे, छुभंति-प्रक्षिपंति । तं पुण वुज्झंति असागारिए गृहस्थेनादृश्यमानेत्यर्थः । सागारियग्रहणाच्च इदं ज्ञापयति, कदाचित्क्रमढगेऽपि गृह्यते ! तत्र च गृहीतं, पडिग्गहे प्रक्षिप्यमानं सागारिकं भवति, अओ असागारिके प्रक्षेप्तव्यमिति । अह मत्तगमादीहिं जं गहियं तं संसत्तं होज्जा ।

तस्सिमा परिट्ठावणविही—

तिणवइझुसिरट्ठाणे,जीवजढे चक्खुपेहिए णिसिरे ।
मातस्संस्सियघातो,ओदणभक्खी तसासिसु वा ॥२७९॥

तिण-दब्भमाती, वती-वाडी,झुसिरसद्दो एते चेव प्रत्येकं. अहवा—तिणकट्ठसंकरो जत्थ त झुसिरट्ठाणं भण्णति, एते य तिणाति जति जीवजढा जीववर्जिता इत्यर्थः, तेसु तिणाइसु चक्खुपहिएसु. णिसिरे—परित्यजेत्यर्थः । सा पुण णिसिरणा दुविहा—पुंजकणा , प्रकिरणा वा । बीजवत् आगंतुयेसु पिपीलियादिसु पकिरणा संभवति, तदुत्थेसु किमिगादिसु पुंजकणा संभवति । चोदकाह—किमर्थं तिणवतिमादिसु परिट्ठविज्जति ?, उच्यते-मा तस्संसितघातो-त्ति-मा इत्ययं प्रकृतार्थावधारणे , अविधिपरित्यागप्रतिषेधप्रदर्शने च । तदित्यनेन भक्तं संबध्यते । संसिता-आश्रिता,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घातो—मारणं, तम्मि संसिता—तस्संसिता, ताए घातो तस्संसितघातो केण पुण तस्संसिताण घातो भवेज्ज? उच्यते—ओदणभक्खी तसासिसु व त्ति-ओयणं जे भक्खयंति ते ओयणभक्खी, सुणगादी ते य ओदणं भक्खयंति। जे तस्संसिया पिपीलिकादी ते वि भक्खयंति त्ति वुत्तं भवति। पिपीलिकादितसकायं असंति भक्खयंति जे ते तसासिणा, ओदणभक्खि त्ति वुत्तं भवति। अतो मा तेसु ओदणभक्खिसु तसासिसु वा घातिज्जिसंसि त्ति काउं व त्ति घातिसु परिट्ठविज्जति भत्तं, एस जतणा भणिता।

जत्थ सत्तुका पुण संसज्जंति तत्थिमा जयणा—

तद्दिवसकताण तु स-त्तुगाण गहिताण चक्खुपडिलेहा।
तेण परं णव वारेऽ—सुद्धे णिसिरे तरे भुंजे ॥ २८० ॥

तुसद्दो—अवधारणे, तद्दिवसकताणं चेव, जवा मुग्गा पासाणजंतेण दलिया साहिया सत्तुगा भण्णंति, तेसिं गहिताणं आत्मीकृतानां चक्खुपडिलेहा भवतीत्यर्थः। चोदगाहणणु ण सव्वचियचक्खुपडिलेहणा को अभिघाता वा जेण चक्खुपडिलेहणं करेति इति? उच्यते—पिंडविसोही पडुच्च ण चक्खूवतिरित्ता पडिलेहा, इमो पुण से अभिप्पाओ भायणत्थस्सेव वत्थुणो अवलोयणा चक्खुपडिलेहा णरयत्ताणविगप्पणावस्थाप्येत्यर्थः। तेण परं ति-तद्दिवसकताए परओ दुदिवसातिकयाणं ति वुत्तं हवति। णव वारे त्ति-उक्कोसं णव वारा पडिलेहा कायव्वा। असुद्धे त्ति-जति णवहिं वाराहिं पडिलेहिज्जमाणा ण सुद्धा तो णिसिरे-परित्यजेत्। इयरे भुंजे त्ति, इतरे जे सुद्धा णवमवाराए अरत्तो वा ते भोक्तव्या इति।

कहं पुण सत्तुगाणं पडिलेहा भण्णति। दारं—

रयहरण पत्तबंधे, पइरित्तुच्छल्लियं पुणो पेहिति।
ऊरणिय आगराऽसति, कप्परथेवेसु छायाए ॥ २८१ ॥

पत्तगबंधे मलिनीकरणभया रयत्ताणं पत्थरेऊण तस्सुवरिं पत्तगबंधं,तंमि पत्तगबंधे सत्तुगा पइरित्तु-प्रकीर्य वाप्येत्यर्थः। उच्छल्लियं ति-एकपार्श्वे नयित्वा जा तत्थ पत्तगबंधे उयरिणिया लग्गा ता उद्धरेत्तु कप्परे कज्जंति। पुणो पेहिंति-पुणो पतिरित्तु छल्लित्तु पुणो पेहिज्जंति त्ति वुत्तं भवति। एवं णव वाराए सा सत्तुगपडिलेहणविही भणिया। ऊरणिया आगर त्ति—जा ऊरणिया पडिलेहमाणेण कप्परादिसु कता ताओ आगरातिसु परिट्ठावेयव्वा। को पुण आगरो भण्णति-जत्थ घरट्टादिसमीवेसु बहुं जं व भुसुट्टं सो आगरो भण्णति,असति त्ति-तस्सागरस्सासति-कप्परथेवेसु त्ति-कप्परथेवा सत्तुगा छोढूण तं कप्परं सीयले भूपदेसे छायाए परिट्ठविज्जति, जत्थ पाणगं संसज्जति तत्थ आयाम उसिणोदगं गेण्हति। पूतरगादिसंसत्तं च धम्मं करगादिणा गालिज्जति, जत्थ जत्थ गोरससोवीररसगादीहि संसज्जति तत्थ तत्थ तेसिं अग्गहणं सीयग्गहणं सीयग्गहियाए वा परिट्ठवणविही।जा परिट्ठावणाणिज्जुत्तीए भणिया सा दट्ठव्वा इति।भत्तपाणदारजयणा गता।

इदाणिं वसहिदारजयणा भण्णति—

दोण्णि उ पमज्जणाओ, उडुं वासासु ततिय मज्झण्हे।
वसहिँ बहुसो पमज्ज व, अतिसंघट्टणेहिं गच्छे ॥२८२॥

जत्थ वि वसही ण संसज्जति तत्थ वि दो वाराओ उडुबद्धिएसु मासेसु वसही पमज्जिज्जति, पच्चूसे, अवरण्हे य। एताओ चेव दो पमज्जणाओ, ततिया मज्झण्हे भवति। संसत्ताए पुण वसहीए बहुसो, पमज्जयं—कंठं, नवरं वकारो विकप्पदरिसणे। को पुण विकप्पो?, इमो—जइ उडुवासासु संसत्ता वि वसही पुव्वाभिहियप्पमाणे णेव असंसत्ता भवति, तो णाइरित्ता पमज्जणा नो चेव बहुसो पमज्जण त्ति। अह बहुवारा पमज्जिज्जमाणे अतिसंघट्टो पाणिणं भवति तो अण्णवसहिं गच्छतीत्यर्थः। अहंगदेसेसु मुइंगादि ण गरहवेज्जा।

अन्नयपाणिसंताणगो वा तत्थिमा विही—

मूइंगमादिणगरग, कुडमुहछारेण वा विलक्खेंति।
चोदेंति य अण्णोण्णं, विसेसओ सेह अइगोले ॥२८३॥

मुइंगा—पिपीलिया, आदिसद्दातो-मकोडादि, नगरं परघरं विसेसाओ आश्रयतीत्यर्थः। कुडमुहो-कुडकंतो तं तत्थ ठवयंति, छारेण वा परिहरंतो विलक्खितं करेइ। अणुवउत्ते य गच्छन्तो चोदंति य अन्नोन्नो, सेहो अहिणवदिक्खितो; अइगोलो पुण बालो णिद्धम्मो वा,' एते विसेसओ चोदयंतीत्यर्थः। वसहि त्ति दारजयणा गता।

इयाणिं उवहिदारजयणा भण्णति—

अइरेगो विधिगहणं, सत्तुवभोगेण मा हु संसज्जे।
महुरोदगेण धुवणं, अभिक्ख मा छप्पदा मुच्छे॥२८४॥

जत्थ विसए उवही संसज्जति, तत्थ चोलपट्टगादि उवहिअतिरित्ता घेप्पति। अह किमित्थं अतिरित्तोवहिग्गहणं स्यात्? उच्यते—सत्तुवभोगेण साहू संसज्जइ, एगपडोवयारस्स सततुवभोगाओ सततोवभोगादित्यर्थः। मा, हुरित्ययं यस्मादर्थे द्रष्टव्यः। संसज्जे त्ति—संसज्जति तस्मात् अइरित्तोवहिग्गहणं क्रियत इति, किंचित् मधुरोदगेण मधुरपाणएण उण्होदगादिणा धुवणं अभिक्खणं पुणो पुणो कज्जति त्ति वुत्तं भवति। स्यात्, किमर्थम् उच्यते—मा छप्पया मुच्छे संमूर्च्छेत्यर्थः।

जं वत्थं सोहेयव्वं तम्मि जति छप्पया होज्जा ता इमेण-विहिणा अण्णवत्थे संकामेयव्वा—

कायल्लीणं कातुं, तहिं सकामेतरं तु तस्सुवरिं।
अहवा कोणाकोणं, मेलेतुं ईसि घट्टेंति ॥ २८५ ॥

जं वत्थं न धुवियव्वं तं कायलीणं काउं वि, कायो सरीरं लीणं काउं अणंतरियं पावरिउं तहिं संकामेति, किं हत्थेनोद्धृत्य संक्रमेत्युच्यते, इतरं तु तस्सुवरिं इयरं जं धुवियव्वं, तुः—पूरणे. तस्स त्ति-पुव्वपाउणस्स उवरिं पाउणे। अहवा-अण्णोण्णसंकामणविही भण्णति—कोणमिति कण्णं धोव्वमाणस्स अधोव्वमाणस्स य वत्थस्स कण्णाकण्णं मेलेऊणं ईसिं सणयं छप्पदा घट्टेउं संकामेति। उवहिजयण त्ति दारं गयं।

इयाणिं फलगजयणा भण्णति—

फलगादीणि अभिक्खं,पमज्जणा हेट्ठि उवरि कातव्वा।
मा य हु संसज्जेज्जा,तेण अभिक्खं पतावेज्जा ॥२८६॥

फलगा-चंगपट्टादी, आदिसद्दातो—संथारगमीसगपीढगादी, एएसिं अभिक्खणं पुणो पुणो, पमज्जणा रयहरणे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ण हेट्ठुवरिं कायव्वा। मा-प्रतिषेधे। चपूरणे, हुशब्दो यस्मादर्थे, जम्हा छप्पदा विज्जमाणा फलगादीणं गमणादीहिं संसज्जंति, तेणं ति--तम्हा, अभिक्खणं-पुणो पुणो, तुम्हे, पदावेज्जा। फलहसंथाराण जयणा गया।

इदाणिं उवहिमादीणं सामएणा जयणा भएणति--

वेंटियमाईएसुं, जतणाकारी तु सव्वहिं सुज्झे।
अजयस्स सत्त भंगा, सट्ठाणं चेव आवएणे ॥ २८७ ॥

वेंटिगादि-उवगरणजाए गहणणिक्खेवादिकिरियासु जयणाकारी तु सव्वहिं सुद्धो; अप्रायश्चित्तीत्यर्थः। अजयणाकारिस्स पुव्वाभिहिता सत्त भंगा भवंति, पायच्छित्तं पूर्ववत्। अजयणाए य वट्टमाणो बेइंदियाईणं संघट्टणपरितावणउद्दवणादी आवएणे सट्ठाणपायच्छित्तं दट्ठव्वमिति।

अह कस्सऽवि वणभगंदलादी किमिया हवेज्ज, तेसिमा णीहरणपरिट्ठावणाविही भएणति--

पोग्गलमाई असती, समितं भगंदले छोढु णीसरति।
अणुएहे किमिकुट्ठादि,किमिया पिउडादि णीणेतुं।२८८।

कस्सइ साहुस्स भगंदलं होज्ज, तस्स ततो भंगदलाओ किमिया उद्धरियव्वा। पोग्गलं-मंसं, तं गहेऊण भगंदले पवेसिज्जति, ते किमिया तत्थ लग्गंति। असती पोग्गलस्स समिया घेप्पइ, समिता कणिक्का, महुघएहिं तुप्पेउं महिउं च भगंदले छुभति। ते किमिया तत्थ लग्गंति। जे य ते पोग्गलसमियादीसु लग्गा किमिया ते णीहरंति-परित्यजंति। अणुएहे छायाए त्ति वुत्तं भवति। तत्थ वि अद्दकडेवरादिसु, किमिकुट्ठादि किमिया' आदिसद्दाओ वणकिमियादी अद्दकलेवरादिसु परिट्ठवेति। आर्द्रकलेवरस्याभावात् पिउडादिसु छुभंति, पिउडं पुण-ओज्झं भएणति, णीणेउं भगंदलादिस्थानात्।

संसत्ता पोग्गलादी, पिउडे पोमे तहेव धम्मे य।
आयरिये गच्छंमि य, बोहियतेणे य कोंकणए ॥२८९॥

साहुणा वा भिक्खं हिंडंतेण संसत्तं पोग्गलं लद्धं, आदिसद्दातो मच्छभत्तं वा लद्धं, तं तं पि तहेव पुव्वाभिहियकडेवरादिसु परिट्ठवेंति। पिउडे वा पोमे वा 'पोमं' ति कुसुंभयं, अएणे पुण आयरिया पोमं पोममेव भएणंति। आर्द्रचम्मे वा महुघयतोप्पिते, परित्यजेत्यर्थः। एवं तसकायजयणा भणिया। भवे कारणं जेण तसकायविराहणं पि कुज्जा। किं पुण तं कारणं जेण तसकायविराहणं करेंति? भएणति-'आयरिए त्ति'-आयरियं कोइ पडिणीओ विणासिउमिच्छति, सो जइ अएणहा ण ठाइ तो से ववरोवणं पि कुज्जा, एवं गच्छट्ठाए वि। बोहिगतेणे य त्ति--जे मेच्छा माणुसाणि हरंति ते बोहिगतेणा भएणंति। अहवा-बोहिगा-मेच्छा, तेणा पुण इयरे चेव, एते आयरिस्स वा गच्छस्स वा वहाए उवट्ठिता। चसद्दातो-कोति संजतिं वला घेत्तुमिच्छति, चेतियाण वा--चेतियदव्वस्स विणासं करेइ,एवं ते सव्वे अणुसट्ठीए अट्ठायमाणा ववरोवेयव्वा। आयरियमादीणं नित्थारणं कायव्वं, एवं करेंतोऽवि सुद्धो। जहा सो कोंकणे एगो आयरिओ बहुसिस्सपरिवारो संझकालसमए बहुसाभयं अडविं पवएणो। तंमि य गच्छे एगो दढसंघयणी कोंकणगसाहू अत्थि। गुरुणा य भणियं अज्जो! जं एत्थदुट्ठसावयं किंचि गच्छं अभिभवति तं णिवारेयव्वं ण उवेहा कायव्वा। ततो तेण कोंकणगसाहुणा भणियं--कहं विराहितेहिं अविराहितेहिं णिवारेयव्वं?, गुरुणा भणियं-जइ सक्कइ तो अविराहितेहिं पच्छा विराहितेहिं वि ण दोसो। ततो तेण कोंकणगेण लवियं, सुवह वीसत्था अहं भे रक्खिस्सामि। तो साहवो सव्वे सुत्ता, सो एगागी जागरमाणो पासति सीहं आगच्छमाणं, तेण हडिति जंपियं, ण गतो, ततो पच्छा उट्ठइऊण सणियं लहुडेण आहओ। गतो परितावितो। पुणो आगतं पेच्छति। तेण चिंतियं न सुद्धपरिहारो ताविओ तेण पुणो आगओ, पुणो गाढयरं आहतो, गतो। पुणोऽवि ततियवारा एवं चेव, णवरं सव्वायामेण आहतो। गता राती। खेमेण पच्चूसे गछंता पेच्छंति। सीहं अणुपंथे मतं। पुणो अदूरे पेच्छंति वितितं, पुणो अदूरंते ततियं। जो सो दूरे सो पढमं सणियं आहओ, जो वि मज्झे सो वितिओ, जो णियडे सो चरिमो गाढं आहतो मओ। तेण कोंकणएण आलोइयमायरियाणं सुद्धो। एवं आयरियादी कारणेसु वावाएंतो सुद्धो। गता पाणातिवायस्स दप्पिया कप्पिया पडिसेवणा। गतो पाणातिवातो। (नि०चू० १ उ०। मृषावादस्य दर्पिकाकल्पिकामूलगुणप्रतिसेवना 'मुसावाय' शब्देऽस्मिन्नेवभागे गता)

इयाणिं अदिएणादाणं भएणति, तस्स पडिसेवणा दप्पिया, कप्पिया य। तत्थ दप्पिया ताव भएणति--

दुविधं च होइ तेणं, लोइय लोउत्तरं समासेणं।
दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य होइ कोहादी ॥ ३२४ ॥

दुविधं--दुभेयं, चः-पायपूरणे, होति--भवति,तेणणं-चौर्य्यं, कतमं--दुभेयम्? उच्यते-लोइयं, लोउत्तरं च। समासेन। व्याख्या पूर्ववत्।

तत्थ लोइयं चउव्विहं-दव्वेत्ति पच्छद्धं। एसा चिरंतणगाहा। एआए चिरंतणगाहाए-इमा भद्दबाहुसामिकया चेव वक्खाणगाहा--

महिसादिछेत्तजाते, जहियं वा जच्चिरं विवच्चासं।
मच्छरभिमाण धणो, दगमाया लोभओ सव्वं॥३२५॥

दव्वअदिएणादाणे महिसादि उदाहरणं, खेत्तअदिन्नादाणस्स छेत्तजाय त्ति-छेत्तं-खेत्तं,जाय त्ति विकप्पा। कालअदिएणादाणस्स वक्खाणं। जहियं वा जच्चिरं विवच्चासं ति--जम्मि काले-अवहरति, जावतियं वा कालं विवच्चासितं वत्थं भुंजति तं कालं तेएणं' भावम्मि य होति कोहादी' अस्य व्याख्या--मच्छरपच्छद्धं--मच्छरे त्ति--कोहो, अहिमाणेतत्थ धएणोदाहरणं, दगं--पानीयं, तं मायाए उदाहरणं, लोभओ सव्वं ति-जमेयं दव्वादि भणियं एयंमि सर्वत्र लोभो भवति इत्यर्थः। जं तं लोइयं दव्वतेएणं तं तिविधं--सचित्तं अचित्तं मीसं।

जतो भएणति--

दुपयचउप्पयमादी, सचित्ताचित्त होति वत्थादी।
मीसे सचामरादी, वत्थगमादी तु खेत्तम्मि ॥ ३२६ ॥
जाइयवत्थ दएएं, काले दाहं ण देइ पुणो वि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एसो उ विवज्जासो, जं च परकप्पणो कुणति ॥३२७॥

दुपयं-माणुस्सं, चउप्पदं-महिसमादि, आदिसद्दातो-अपदं, तं च-अंववडगादि, एयं जो अवहरति एयं सचित्तदव्वतेणं भवति। अचित्तं होइ वत्थादी, आदिसद्दातो-हिरण्णादी, मीसयदव्वतेणं-सचामरादिअस्सहरणं, आदिसद्दातो जं वा अण्णं सभंडं दुपदादि अवहरिज्जति तं सव्वं मीसदव्वतेणं। 'छेत्तजाए त्ति' अस्य व्याख्या-वत्थुमादीओ खेत्तम्मि, वत्थुं तिविहं-खातं, ऊसितं, खाओसियं। खात-भूमिगिहं, ऊसियं—पासादादि, खातोसियं—हेट्ठा भूमिगिह उवरिं पासाओ कओ। आदिसद्दाओ-सेतुं, केउ घेप्पति। एवमादियाण खेत्ताण जो अवहारं करेति तं खेत्तम्मि तेणं भवति। 'जद्दियं वा जचिर विवच्चासं ति' अस्य व्याख्या। जाइय गाहा-जाइतो—पाडिहारिता वत्था गहिया ते य गहणकाले एव भासिया-अमुए काले 'दाहं ति' अमुगकालं वसते परिभुंजऊणं गिम्हे पच्चप्पिणिस्सामि। 'ण देति पुणो वि त्ति' पुणो वि अवहिं काउं ण देति ताणि वस्त्राणीत्यर्थः। एसो उ विवज्जासो, 'एसो उ त्ति'-जो भणिओ। तुसद्दो अवधारणे, 'विवज्जासो त्ति'-ण जहा भासितं तहा करेति त्ति वुत्तं भवति। एवं अवहिकालाओ जावतियं कालं उवरिं अदत्तं भुंजति तं कालओ अदत्तादाणं भवति। जं च त्ति—वत्थादिवतिरित्तस्स अणिद्दिट्ठसरूवस्स गहणं, 'परं'-आत्मव्यतिरिक्तं न स्वकीयं परकीयमित्यर्थः। तं पुव्वाभिहियएण कालविवच्चासेण अप्पणा कुणति, आत्मीकरोतीत्यर्थः। 'अहवा-जं च परकप्पणो कुणति त्ति' सामण्णेण दिव्वादियाण वक्खाणं, जं च त्ति दव्वखेत्तकाला संवज्झंति तेसिं परसंतगाण जमप्पीकरणं त तेणं भवति त्ति वुत्तं भवति। काले त्ति गयं।

'मच्छरे त्ति' अस्य व्याख्या—

कोहा गोणादीणं, अवहारं कुणति बद्धवेरो तु।
माणे कस्स बहुस्सति, परधणसवत्थुपक्खेवो ॥३२८॥

पुव्वद्धं—कोहा-कोवेण जं गोणादीणं अवहरणं करेति। आदिसद्दातो-महिषाश्वादीनां, बद्धवैरत्वात्, तुसद्दो—कोहतेणणावधारणे। अहवा—सीसोपुच्छति-भगवं! कहं क्रोधात् स्तैन्यं भवति?। आचार्योऽऽह-गोणादीणं अवहरणं करेति, बद्धवैरो तु निर्णयः एवं कोहातो भावतेणं भवति। 'अहिमाणधणं' त्ति अस्य व्याख्या-माणे पच्छद्धं-जहा मुसावाए तहेहावि णवरं परधणं हरिऊण 'सवत्थुपक्खेवो त्ति'-स इति स्वात्मीयो, वत्थुरिति-धणणरा, सी, पक्खेवो पुण छुभणं भवति, मोहं-जीविस्सामि त्ति परायत्तं धणं अवहरिऊण सवत्थुए पक्खिवेत्ता भवति। पुव्वं मए भणितं-मम बहुस्सती हत्थो इदाणिं पच्चक्खं, एवं माणतो भावतेणं भवति।

'दगमायं ति' अस्य व्याख्या—

वारग सारणि अच्छा-वएसपाएण णिक भेत्तूणं।
लोहेण वणिगमादी, सव्वेसु वि वत्तती लाहो ॥३२९॥

वारगपुव्वद्ध वद्दवे करिसगा वारगेण सारणीए खेत्ताणि एज्जंति' वारगो—परिवाडी, सारणी—णिका, तत्थेगो करिसगो अण्णत्थ वारए अण्णावदेसा पाएण णिकं भेत्तूण, अण्णावदेसा अदंसियभावो ठितो चेव, सोऽहं णिउडमाणो दिस्सिस्सामि त्ति पाएण णिकं भेत्तूण फोडेऊण अप्पणो खेत्ते पाणियं छुभति, एवं भावओ मायातेणं भवति। 'लोभतो सव्वं ति' अस्य व्याख्या-'लोभेणं' पच्छद्धं लोभेण तेणं च णियमा तिण्णि-जं वाणियगा परस्स चक्खुं वंचेऊण-मप्पं करेंति, कूडतुलकूडकूडमप्पेहिं वा अवहरंति तं सव्वं लोभतेणं। अहवा-सव्वेसु कोहातिसु णिवडति लोभो त्ति सव्वेसु कोहातिसु लोभान्तर्भूत एवेत्यर्थः। एवं भावतो लोभतेणं भवति। लोइयं तेणं गतं।

इयाणिं लोउत्तरियं तेणं भणति—

सुहुमं य बादरं वा, दुविधं लोउत्तरं समासेणं।
तण डगल छार मल्लग-लेविंत्ति रिए य अविदिण्णे ॥३३०॥

सुहुमं-स्वल्पं, बादरं-णाम-बहुगं, पायच्छित्तविहागेण वा सुहुमबादरविकप्पो भवति। जत्थ पणगं-तं-सुहुमं, सेसं बादरं। चशब्दो—भेदसमुच्चये-दुविहं-दुभेदं लोगो-जणवतो, तस्स उत्तरं-पहाणं तम्मि ठिता जे ताण तेणं लोउत्तरं तेणं भवति, तं समासेण-संखेवेण दुविहं ति वुत्तं भवति। तस्सिमे भेदा-तणाणि-कुसुगादीणि, डगलगा-उवलमादी, अग्गिपरिणामिगमिंधणं छारो भण्णति। मल्लगं-सरावं, लेवो-भायणरंगणो, इत्तिरियं य त्ति-पंथं वच्चंता जत्थ विस्समितुकामो तत्थोग्गहं णाणुण्णवेइ। चसद्दाओ कुडमुहादयो घेप्पंति। अविदिण्णं त्ति वयणं सव्वेसु तणादिसु संवज्झति।

किं चान्यत्—

अविदिण्ण पाडिहारिय, सागारियपढम गहणखेत्ते य।
साधम्मियऽऽसधम्मिय-कुलगण संघे य तिविधं तु ॥३३१॥

अविदिण्णमिति—गुरूहिं पाडिहारियं ण पच्चप्पिणति, सागारियसंतियं अदिण्णं भुंजति, पढमसमोसरणे वा उवहिं गेण्हति, परखेत्ते वा उवहिं गेण्हति, साहम्मियाण वा किंचि अवहरति, अण्णधम्मियाण वा अवहरति, कुलस्स वा अवहरति, एवं गणस्स वा संघस्स वा, चसद्दो समुच्चये। तिविहं सचित्तादि दव्वं भण्णति।

एतेसिं तणाइयाण सामण्णतो ताव पच्छित्तं भणामि—

तणडगलगछारमल्लग-पणगं लेविंत्तिरीसु लहुगो तु।
दव्वादि विदिण्णे पुण, जिणेहिं उवधी उ णिप्फण्णं ॥३३२॥

तणेसु डगलगेसु छारेसु महल्लगे य अदिण्णे गहिए पणगं पच्छित्तं भवति। लेवे अदिण्णे गहिते पणगं पच्छित्तं भवइ। इत्तिरिए य रुक्खहेट्ठादिसु अणणुण्णविएसु लहुओ उ मासो भवति। तुशब्दात्-कुडमुहादिसु य। दव्वादिविदिण्णे पुण त्ति-दव्वे पतिविसिट्ठे अदिण्णे गृहीते, पुण विसेसणे, पुव्वाभिहिया पच्छित्ताओ, जिणा-तित्थगरा, तेहिं उवकरणणिप्फण्णं भणियं, जहण्णोवहिम्मि-पणगं, मज्झिमे-मासो, उक्कोसे चउमासो। एवं उवकरणणिप्फण्णं।

अविदिण्णे त्ति अस्य व्याख्या--

लद्धं ण णिवेदेंती, परिभुंजति वा णिवेदितमदिण्णं।
तत्थोवहिणिप्फण्णं, अणवट्ठप्पो व आदेसा ॥ ३३३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोइ साहू भिक्खादिविणिग्गतो उवकरणादिजातं लद्धुं न निवेदेति, लद्धं लभित्ता ण णिवेदेति। ण इति-पडिसेहे, णिवेदनम्-आख्यानम्, आयरियउवज्झायाणं ण कथयतीत्यर्थः। अहवा—परिभुंजति वा, अणिवेदितं चेव परिभुंजति। अहवा-णिवेदितं अदिएणं भुंजति, एवं अदत्तादाणं भवति। एत्थोवहिणिप्फरणं दट्ठव्वं। सुत्तादेसेण वा अणवट्ठो भवति।

'पडिहारिय त्ति' अस्य व्याख्या। दारगाहा—

पडिहारियं अदंते, गिहीण उवधीकतं तु पच्छित्तं।
सागारिसंतियं वा, जं भुंजति असमणुणातं॥ ३३४॥

गिहिसंतियं उवकरणं पडिहरणीयं पडिहारितं अदंते अणप्पिणंते तेसिं गिहीण उवहीकयं उवहिणिप्फरणं भवतीत्यर्थः। सागारिए त्ति-अस्य व्याख्या पच्छद्धं. सागारिओ सेज्जायरो तस्स संतिय स्वकीयं, वा-विकल्पे, जमिति उवगरणं, भुंजति परिभोगं करेति। असमणुण्णायंतस्स-अदितस्सेत्यर्थः। एत्थं ऽप तहेव उवहिणिप्फरणं।

'पढमगहणे त्ति' अस्य व्याख्या। दारगाहा—

गुरुगा उ समोसरणे, परखेत्ते ऽचित्त उवधिणिप्फण्णं।
सचित्ते चउगुरुगा, मीसे संजोगपच्छित्तं॥ ३३५॥

पढमसमोसरण—वरिसाकालो भएणति, तत्थ भगवया णाणुएणायं उवहिग्गहणं, तम्मि अणुएणाते गहणं करेंतस्स अदत्तं भवति। एत्थ चउगुरुगा पायच्छित्तं भवति। 'खेत्ते त्ति' अस्य व्याख्या-तिरिण पदा,परा-अरणगच्छिल्लगा तेसिं जं खेत्तं तं परखेत्तं, तंमि य परखेत्ते जति अचित्तं दव्वं गेरहति तत्थ से उवहिणिप्फरणं पायच्छित्तं भवति। सचित्ते चउगुरुग त्ति—अह परखेत्ते सचित्तं गेरहति तत्थ से चउगुरुयं पच्छित्तं भवति। मीसे त्ति-मीसो सोवहितो सीसो वा तं च संजोगपच्छित्त भवति। तत्थ जं अचित्तं तत्थोवहिणिप्फरणं, ज सचित्तं तत्थ चउगुरुयं। एयं संजोगपच्छित्तं भएणति।

'साहम्मिय त्ति' अस्य व्याख्या-

साधम्मिया य तिविधा, तेसिँ तेसं तु सचित्तमचित्तं।
खुड्डादी सचित्ते, गुरुगोवधिणिफरणमचित्ते॥ ३३६॥

समाणधम्मिया—साहम्मिया, स्वप्रवचनं प्रतिपन्नेत्यर्थः। चशब्दो-पादपूरणे। ते तिविहा—लिंगसाहम्मिया, पवयणसाहम्मिया, ठवणासाहम्मिया य, चउभगो-आदिल्ला तिरिण भंगा तिविहा साहम्मियं त्ति वुत्तं भवति। चउत्थो भगो असाहम्मिओ त्ति पडिसिद्धो। अहवा-तिविहा साहम्मियासाहू, पासत्थादि, सावगा य। अहवा-समणा, समणी, सावगा य। 'तेसिं ति' साहम्मिया संबज्झति। तेरणं अवहारो, तुशब्दो-पच्छब्दे च द्रष्टव्यः। सचित्त-सचेयणं, अचित्त-अचेयणं तेसिं तेसु ज त सचित्तमचित्तेत्यर्थः। किं पुण सचित्त भवति? खुड्डादी सचित्ते खुड्डो-सिसू वालो त्ति वुत्त भवति। आदिसद्दातो-अखुड्डा वि तंमि य सचित्ते अपहते गुरुगा पच्छित्तं भवति। अचित्ते पुण-उवहिणिप्फरणं भवति।

इदाणिं कुलगणसंघा जुगवं भएणति—

एते च्चिय पच्छित्ता, कुलम्मि दोहिं गुरू मुणेयव्वा।
तवगुरुया तु गणम्मि, कालगुरू होंति संघम्मि॥ ३३७॥

एते च्चिय-जे साहम्मियतेणे पच्छित्ता भणिता, ते च्चिय कुलतेणे वि दट्ठव्वा। नवरं दोहिं गुरू मुणेयव्वा, दोहिं तिकालतवेहिं, कुलपच्छित्ता गुरुगा कायव्वा इत्यर्थः। ते च्चिय पायच्छित्ता गणतेणे तवगुरुगा दट्ठव्वा काललहुगा, संघतेणे कालगुरू दट्ठव्वा तवलहुगा।

इदाणिं गिहिसाहम्मिएसु पच्छित्तं भएणति—

एते चेव गिहीणं, तवकालविसेसवज्जिया होंति।
डगलादिखेत्तऽवज्जं, पुव्वुत्तं तं पि य गिहीसुं॥ ३३८॥

एते च्चिय पच्छित्ता-जे कुलादिसु दत्ता, ते च्चिय गिहिसाहम्मीणं, णवरं तवकालविसेसेण तवकाल एव विसेसो तेण तवकालविसेसेण वज्जिया होंति। तवकालेहिं ण विसेसिज्जंति त्ति वुत्तं भवति। अहवा-'एते चेव' पुव्वद्धं-एयं अरणधम्मिएसु वक्खाणिज्जति। एते च्चिय पच्छित्ता जे साहम्मिएसु भणिता ते चेव अरणधम्मिएसु य गिहत्थेसु, णवरं तवकालविसेसवज्जिया होंति। इमं खेत्तदारे अभव्वविचारे भरणति। 'डगलादि' पच्छद्धं-डगला-पसिद्धा, आसिद्दातो तणछारमल्लगपीढफलगसंथारगा य घेप्पंति। खेत्तवज्जं ति—परगच्छिल्लयाण खेत्तम्मि वज्जं खेत्तवज्जं, एत्थ अगारो लुत्तो दट्ठव्वो। सो जदा आविर्भूतो भवति तदा एवं भवति-डगलादिखेत्ते अवज्जं, परखेत्ते डगलगादि गेरहंतो वि अपच्छित्ति त्ति वुत्तं भवति। 'पुव्वुत्तं ति' चोदगाह-णणु पुव्वुत्तं 'तणडगलछारमल्लगपणगं' पुव्वं पणगपच्छित्तं दाऊण इदाणिं अपच्छित्ती भणसि?,आयरियाह-सव्वं'पुव्वुत्तं तं पि य गिहीसु'तं पच्छित्तं जो गिही साहम्मिताओ अदत्तं गेरहइ. तस्स तं भवति। चसद्दो-पादपूरणे। अहवा-आयरिएणाभिहियं जहा परखेत्ते तणडगलाती गेरहंतो वि पच्छित्ती। सीसो भणाति-'डगलादिखेत्तवज्ज' पुव्वुत्तं डगलगादयो वि परखेत्ते वज्जेयव्वा,एवं पुव्व वक्खायं। आयरिओ भणइ-सव्वं तं पि य गिहीसु तं पुण गिहीसु त्ति वुत्तं भवति ण खेत्तिएसु।

'तिविहं दारं' अस्य व्याख्या—

सच्चित्तादी विविधं, अहवा उक्कोसमज्झिमजहरणं।
आहारोवधिसेज्जा, तिविहं चेवं दुपक्खो वि॥ ३३९॥

सचित्तं—सेहो सेही वा, आदिसद्दातो—अचित्तं मीसं च। तिविहं, अवहरति। अहवा तिविधं उक्कोसं वासकप्पादी, मज्झिमं चोलपट्टगादी, जहरणं मुहपोत्तियादी। अहवा-आहारो असणादि,उवहि वत्थपडिग्गहादि,सेज्जा वसही,एतं वा तिविधं अवहरति। दुपक्खो वि—दुपक्खो साधुपक्खो साहुणीपक्खो य। एवं जं भणियं तेरणं एयं सव्वं पि दुहा-सुहुमबायरभेदेण भिरणं दट्ठव्वं। इमेण पुण विहिणा सुहुमं पि बादरं दट्ठव्वं कहं?।

भएणति—

कोहेण व माणेण व, मायालोभेण सेवियं जं तु।
सुहुमं च बादरं वा, सव्वं तं बादरं होति॥ ३४०॥

क्रोधेनासेवित,क्रोधेनापहृतमित्यर्थः। एवं माणसेवितं, मायासेवितं, लोभसेवितं। यदिति द्रव्यजातं संबज्झति, तं पुण कोहादीहिं सुहुमं वा बायरं वा सेवितं, जति वि सुहुमं तहावि तं सव्वं बायरं होति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोहादीहिं जं सेवितं तस्स पच्छित्तं भएणति—

पंचादी लहु लहुया, गुरु अणवट्ठो व होंति आएसा।
चउएहं एगतराए, पत्थारपसज्जणं कुज्जा ॥ ३४१ ॥

पंचादि त्ति—आद्ये—पंच, इदमुक्तं भवति, जहएणेण पणगं भवति त्ति वुत्तं भवति। लहु त्ति—मज्झिमे मासलहुं भवति। लहुगा इति—उक्कोसे चउलहुगा भवंति। गुरुग त्ति-सचित्ते चउगुरुगा भवति। अहवा—जहएणमज्झिमे मासगुरु लहुं भवति। लहुगा इति—उक्कोसे चउलहुगा भवंति। गुरुग त्ति—सचित्ते चउगुरुगा भवंति। अहवा—जहएणमज्झिमउक्कोसे सचित्ते वा एतेसु सव्वेसु 'अणवट्ठप्पो य होति आदेसा' ण उवट्ठाविज्जतीति अणवट्ठो, होति-भवति, आदेशात् सूत्रादेशादित्यर्थः। तं पुण इमं सुत्तं-"तओ अणवट्ठप्पा पएणत्ता। तं जहा-साहम्मियाणं तेरणं करेमाणे,हत्थादालं दलेमाणे, मेहुणं सेवमाणे"। किंचान्यत्-'चउरहं' पच्छद्धं, चउएहं कोहादीणं एगतरेणावि पडिसेविते पत्थारो, पत्थारो णाम-कुलगणसंघविणासो भएणति, तंमि पसज्जणं पत्थारपसज्जणं कुज्जा। के? राजादयः। तम्हा णो कोहादीहिं अएणहा वा तेणियं कुज्जा इति। अदत्तादाणे दप्पिया पडिसेवणा गता।

इदाणिं कप्पिया पडिसेवणा भएणति—

असिवे ओमोरिए, रायदुट्ठे भए व गेलएणे।
दव्वासति वोच्छेदेऽ-संविग्गे वावि आगाढे ॥ ३४२ ॥

असिवं-मारि अभिहितं, ओमोदरिता-दुब्भिक्खं, रायदुट्ठे त्ति—राया दुट्ठो रायदुट्ठं भएणति। सत्तभदो भयं भएणति। सो पुण सत्तभेदो वोहिगतेणातिसु संभवति। गिलायतीति गिलाणो, दवयतीति दव्वं,तस्स असती दव्वासई-वोच्छेदो व्यवच्छेदो नासेत्यर्थः। स च सूत्रार्थयोः, संवेगमावरणो संविग्गो, ण संविग्गो--असंविग्गो, तंमि असंविग्गे वावि तेणियं कुज्जा। एवमादिसु आगाढेसु पओयणेसु बितियपदेण तेणियं कुज्जा।

"असिवे त्ति" अस्य व्याख्या—

असिवग्गहिततणादी, असंथरंते सयं पि गेएहेज्जा।
एमेव च उ अदिएणे,पडिहारिय पढमखेत्ते य ॥ ३४३ ॥

असिवं—मारी भएणति, तीए—गहिता असिवगहिता, ते असिवगहिता होतूण तणाईणि जाइयाणि अलभंता। आदिसद्दातो-डगलगच्छारमल्लगादी घेप्पंति। एरिसे कारणे अदिएणाणि वि गेएहंति, तहा वि सुद्धा भवंति। असंथरंते त्ति—असिवग्गहिते विसए असंथरमाणा असणादी सयं पि गेएहेज्जा, अदत्तेत्यर्थः। अहवा—असंथरं—दुब्भिक्खं, तत्थ अलहंता भत्तपाणं सयं पि गेरिहज्जा। एतं 'अदिएणे त्ति' दारं असिवे अववदितं। 'एमेव चउ अदिएणे त्ति'—एवं जहा असिवे अदिएणं अववदितं तहा—चउ त्ति--पाडिहारियं, वसहातो—सागारियसंतियं पढमगहणे य खेत्त य एते चउरो असिवग्गहिता होऊण अदिएणे वि गेएहेज्जा। अहवा-चउरो--दव्वं, खेत्तं, कालो, भावो य। एते वा असिवग्गहिता होऊण अदत्ते गेएहेज्जा। अहवा-चउरो—जहएणमज्झिमुक्कोसोवही सेहा य। अहवा—चउरो-साहम्मियसंतियं, सिद्धपुत्तसंतियं, सावगसंतियं, अएणतित्थीए य। एयाणि वा असिवग्गहिता होऊण अदत्ताणि गेएहेज्जा। अहवा-चउरो-असणं, पाणं, खातिमं, सातिमं एयाणि वा अदिएणाणि गेएहेज्जा। एयं सामएणं पाडिहारियस्स।

इमा पत्तेयं विभासा भएणत्ति—

असिवगहित त्ति काउं,ण देंति दुक्खं ठिता य णिच्छोढुं।
अवि य ममत्तं छिज्जति, छेययगहितोवभुत्तेसुं ॥ ३४४ ॥

पुव्वंसि चेव वट्टमाणेहिं तणातिउवकरणं च पाडिहारियं तं गहितं, तम्मि य काले अपुएणे अंतरा असिवं जायं, तेण य असिवेण ते साहवो गहिता, अतो असिवगहित त्ति काउं ण देंति। तं पारिहारियं गहितं मा एते गिहत्था असिवेण घेप्पेज्जा, इति ते वि य गिहत्था तेसु पाडिहारिएसु ममत्तं छिज्जंति, ममेदं जो य ममीकारस्तं ममत्तं, तेसु तणादिसु छिज्जंति। फिट्टइ त्ति वुत्तं भवति। कम्हा ममत्तं छिज्जति ?, भएणति-छेवगगहितोवभुक्तत्वात्, असिवं छेवगं भएणति; तेण गहिता छेवगगहिता तेहिं जाणि उवभुत्तादीणि तणफलगादीणि तेसु ताण गिहत्थाण ममत्तं छिज्जति, स्वल्पश्चादत्तादानदोषेत्यर्थः। अहवा-एसा गाहा एवं वक्खाणिज्जति-साहू असिवग्गहिता इति कृत्वा ते गिहत्था तेसिं साहूण तणफलगसेज्जा ण देंति असिवकारणत्वात् अतो अदत्ता वि घेप्पंति। तेसु अदत्तेसु गहितेसु ठितेसु वा, दुक्खं ठिता य णिच्छुहण त्ति-ण णिच्छुभंति तेसु चेव अदत्तगाहितेसु। 'अवि य' पच्छद्धं पूर्ववत्।

'असंथरे त्ति' अस्य व्याख्या—

साधम्मियत्थलीसुं, जायमदेंते भणावणगिहीसुं।
असती पगासगहणं, पलवति दुट्ठेसु छरणं पि ॥ ३४५ ॥

असिवगहिते विसये असिवगहिया वा साहू असंथरंता असिवग्गहितविसयउत्तिएणा वा दुल्लहभत्ते देसे पत्ता असंथरंता, साहम्मिय त्ति—समाणधम्मा-साहम्मिया, थली-देवद्रोणी, जायं ति—जाचयंतः आरहंतपासत्थपरिग्गहियदेवद्रोणीसु पुव्वं याचयन्तीत्यर्थः। अदेंते त्ति-जया ते पासत्था णेच्छंति दाउं तदा गिहत्थेहिं भणाविज्जंति, सव्वसामएणाए—देवद्रोणीए किन्न देह। असति त्ति-तहा वि अदेंताणं पगासगहणं, पगासं-प्रकटं स्वयमेव गहणं क्रियते। अह ते पासत्था बलवगा-राजकुलपुरवाउरविद्याश्रिता इत्यर्थः। दुट्ठेसु त्ति—स्वयमेव वा दुष्टा आसुकारिणः तदा तासु चेव साहम्मियथलीसु छएणमप्रकाशं गृह्यतेत्यर्थः।

साधम्मियत्थलीणं, सिद्धगए सावगऽएणतित्थीसु।
उक्कोसमज्झिमजह-णगम्मि जं अप्पदोसं तु ॥३४६॥

अह साहम्मियत्थलीणं अभावो होज्जा, ताहे गिहत्थेसु घेत्तव्वं, तेसु वि पुव्वं सिद्धपुत्तेसु, सभार्यको अभार्यको वा सो णियमा सुक्कंबरधरो खुरमुंडो ससिही असिही वा णियमा अडंडगो अपत्तगो वि य सिद्धपुत्तो भवति। सिद्धपुत्ताऽसति, सावगेसु त्ति—सावगा ते गिहीयाणुव्वता, अगिहीयाणुव्वता वा पच्छा तेसु घेप्पति। असति सावगाणं अएणतित्थीसु त्ति-अएणतिरिथया रत्तपडादी ताण थलीसु घे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्पइ सव्वत्थ पुण गेण्हंतो पुव्वं जहण्णं गिण्हइ, पच्छा मज्झिमं, पच्छा उक्कोसं। अहवा-उक्कोसे मज्झिमे जहण्णे वा जत्थेव अप्पतरो दोसो तं चेव गेण्हंति।

एमेव गिहत्थेसु वि, भद्दगमादीसु पढमतो गिण्हे।
अभियोगासति तालो-सोवणिविज्जाएँ अन्तधाणादी ३४७

एमेव त्ति-जहा सिद्धपुत्तसावगेसु अविदिन्नं गहियं, एमेव मिच्छादिट्ठिगिहत्थेसु वि भद्दगमादीसु पढमतो गिण्हंति, अण्णतित्थियसमीवतो पुव्वं अह भद्दगेसु अदिन्नं घेत्तव्वं, पच्छा अण्णतित्थिएसु वि एतेसु पुण सव्वेसु पगासं पच्छन्नं वा गेण्हंतस्स इमा जयणा। अभियोग त्ति-अभियोगो-वसीकरणं भन्नति, तं पुण विज्जाचुण्णमंतादीहिं तेण वसीकरेत्ता गेण्हइ। असति त्ति-वसीकरणस्स, ताहे तालुग्घाडणीए विज्जाए तालगाणि विहाडेऊण, ओसोवणविज्जाए य ओसोवेउं गेण्हंति, जेण अजणविज्जादिणा अदिस्सो भवति त अंतद्धाणं भण्णति। आदिसद्दातो-अणपायं जाणिऊण पगासं तेणमवि कज्जति। 'असिवे त्ति' दारं गयं।

एमेव य ओमम्मि वि, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अगतोसहादिदव्वं, कल्लाणगहंसतेल्लादी ॥ ३४८ ॥

जहा असिवद्दारे अदिण्णपाडिहारियादिदारा भणिया एवं ओमरायदुट्ठभयगेलण्णदारेसु वि अदिण्णे पाडिहारगादिदारा जहासंभवं उवउज्ज वक्तव्या। 'दव्वासति त्ति' दारं-अस्य व्याख्या-अगतो पच्छद्धं-कस्स वि गिलाणस्स, जेण दव्वेण तं गेलण्णं पगुणति तस्स य दव्वस्स असती अभावेत्यर्थः, तं पुण अगतोसहादिदव्वं, अगतं नकुलाद्यादि औषधं, एलादिचूर्णगादि वा, कल्लाणगं घृतं, हंसतेल्लं, हंसो—पक्खी भण्णति, सो फाडेऊण मुत्तपुरीसाणि णीहरिज्जंति, ताहे सो हंसो दव्वाण भरिज्जति, ताहे पुणरवि सो सीविज्जति, तेण तदवत्थेण तेल्लं पच्चति, तं हंसतेल्लं भण्णति। आदिसद्दातो-सतपागसहस्सपागा य तेल्ला घेप्पंति। एवमादियाण दव्वाण अभिओगादी पूर्वक्रमेण ग्रहणं कर्तव्यमिति।

'वोच्छेये त्ति' अस्य व्याख्या—

पत्तं वा उच्छेदे, गिहिखुड्डगमादिगं तु वुग्गाहे।
णिद्धम्मखुडगं वा, जतउ घडउ जमउ त्ति एमेव॥३४९॥

पत्तं णाम—सुत्तत्थतदुभयस्स ग्रहणधारणाशक्तेत्यर्थः। उच्छेप त्ति-उच्छेओ सुत्तत्थाणं; ववच्छेदो त्ति वुत्तं भवति। गिहासमे ठिता—गिहत्था, खुड्डगो—सिस्स, वालो त्ति वुत्तं भवति। आदिसद्दातो-अवालोऽवि। अहवा-साहम्मियण्णधम्मियाण वा,तुसद्दो-कारणावधारणे। विवरीयं गाहते-वुग्गाहते, मा गिहवासे रमह त्ति वुत्तं भवति। सिसुमितरं वा सूत्रार्थोभयच्छेदो योग्यमिच्छमानमपहरन्तीत्यर्थः। 'वोच्छेय त्ति' गयं। 'असंविग्गे त्ति' दारं-अस्य व्याख्या-'णिद्धम्म' पच्छद्धं-णिग्गतं धम्मा णिद्धम्मा, पासत्था इति, तेसिं संतियं खुड्डयं अखुड्डयं वा, एमेव जहा गिहत्थखुड्डगं तहा वुग्गाहिकेणावलंबणेण वुग्गाहे त्ति भण्णति। जयउ त्ति—संजमजोगेसु जयउ, घडउ उज्जमउ त्ति वुत्तं भवति। तेसिं पासत्थाणमुपरितो जहा विपरिणमति तहा कुर्यात्, अपहरति वाऽपी त्यर्थः। चोदगाह-जुत्तं सुत्तत्थोभयवोच्छेदे गिहिसाहम्मिएतरखुड्डगादिअवहरणं, किं पुण णिद्धम्मखुड्डगादिअवहरणं जं पुण णिद्धम्मं खुडगेतरं वा तत्थ ण्णु फुडं तेण्णं भवति।

आचार्याह—

तेसुं तमणुण्णातं, अण्णुण्णातग्गहणे वि सुद्धो तु।
कं तेणं असंजम-पंके खुत्तं तु कड्ढंते ॥ ३५० ॥

तेसुं ति-पासत्थेसु तमिति-खुड्डगो,सेहो वा,संवज्झति,अणुण्णायं—दत्तं, गेण्हति। पुव्वं पासत्थाणुण्णायं खुड्डगमितरं वा गेण्हतीत्यर्थः। जति वि तेहिं पासत्थेहिं अणणुण्णायं—अदत्तेत्यर्थः। ग्रहणमुपादानं तिविहं सुद्धो सर्वप्रकारेणेत्यर्थः, तुसद्दो-पूरणे। अहवा-चोदक आह-तेसु तु तमणुण्णातग्गहणं जुत्तं अणणुण्णायग्गहणे वि सुद्धो तु कहं? आचार्याह—अदत्ते वि 'कं तेणं' पच्छद्धं—ककारो खेवे दट्ठव्वो, जहा को राया ?, जो ण रक्खति, तेण्ण अवहारो-असंजमो अणुचरति, पंको—दव्वभावतो, दव्वओ चलणी, भावओ असंजम एव पंको भण्णति। असंजम एव पंको तंमि खुत्तो-णिमण्णो, तुसद्दो तस्मादर्थे द्रष्टव्यः। कड्ढणं आगरिसणं, उद्धरणमित्यर्थः। तस्माद् असंजमपंकादागतस्स कं तेणं भव तीत्यर्थः।

अपि च—

सुहसीलतेणगहितो, भवपल्लिं तेण जगडितमणाहे।
जो कुणति कूविगत्तं, सो वण्णं कुणति तित्थस्स॥३५१॥

सुहं-अणावाहं, सीलं-रूवो, तेणगो-अवहारी, गहितः—आत्मीकृतो, भवः-संसारः,बहुप्राण्युपमर्दो यत्र सा-पल्ली, तेण तन्मुखः, जगडितो-प्रेरितो, लोगे पुण भण्णति उवट्ठितो, अणाहो-असरणेत्यर्थः। सुहे सीलं सुहसीलं, सुहसील एव तेणगो सुहसीलतेणगो, तेण गहितो सुहसीलतेणगहितो। भव एव पल्ली-भवपल्ली, तेण जगडियमणाहे णिज्जमाणे जीवे, 'जो कुणति कूवियत्तं' ज इति अणिद्दिट्ठो, कुणति-करोति, कूविया-कुढिया भण्णति। जो एवं करेति सो वण्णं करेति। सो-इति, स इति निर्देशे, प्रभावणा वण्णो भण्णति, तं करेति तित्थस्स, तित्थं-चउवण्णो समणसंघो दुवालसंगं वा गणिपिडगं वा। अदिण्णादाणस्स कप्पिया पडिसेवणा गता। गतं अदिण्णादाणं।

इयाणिं मेहुणं भण्णति-तस्स दुविहा पडिसेवणा-दप्पिया, कप्पिया य, तत्थ दप्पियं ताव भणामि। दारं—

मेहुणं पि य तिविधं, दिव्वं माणुस्सयं तिरिच्छं वा।
दव्वे खेत्ते काले, भावंमि य होंति कोहादी ॥ ३५२ ॥

मेहुणं-जभन, तस्स भावो-मेहुणं। इह वा रहस्सं, तंमि उप्पण्णं मेहुणं, अविसद्दो-एवकारार्थे। चसद्दो पायपूरणे। मेहुणमवि त्रिविधेत्यर्थः। तिविह त्ति-तिविधं भेदं भण्णति। तिण्णि त्ति संखा, तिण्णि भेदा तिविहं, के ते तिण्णि य भेया ? भण्णति-दिव्वं, माणुस्सं, तेरिच्छं च। एक्केक्कं पुणो चउभेदं-'दव्वे' पच्छद्ध-चसद्दो समुच्चये, होति-भवति। आदिसद्दातो माणमायालोभा घेप्पंति।

'दव्वे त्ति' अस्य व्याख्या-

रूवे रूवसहगते, दव्वे खेत्ते य जंमि खेत्तंमि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुविधं छिण्णमछिण्णं, जहियं वा जच्चिरं कालं ॥३५३॥

अणाभरणा इत्थी–रूवं भण्णति। रूवसहियं पुण–तदंवाभरणसहियं। अहवा–अचेयणं इत्थीसरीरं रूवं भण्णति। तदेव सचेयणं रूवसहितं भण्णति। दव्वे त्ति–दव्वमेहुणं एवं वक्खाणं भण्णइ। खेत्ते य त्ति दारं गहितं। 'जंमि खेत्तम्मि' अस्य व्याख्या–जम्मि य खेत्तम्मि मेहुणं सेविज्जति वण्णिज्जति वा, तं खेत्तओ मेहुणं। 'काले त्ति' अस्य व्याख्या 'दुविहं' पच्छद्धं–कालओ जं मेहुणं तं दुविहं–छिण्णं अछिण्णं च। छिण्णं दिवसवेलादि वाराहिं वा, अछिण्णं अपरिमितं। जंमि वा काले मेहुणं सेविज्जति जावतियं वा कालं मेहुणं ति जावतियं वा वण्णिज्जति तं कालमेहुणं भण्णति।

'रूवे रूवसहगए' त्ति। अस्य व्याख्या–

जीवरहिओ उ देहो, पडिमाओ भूसणेहि वा वि जुतं।
रूवमिह सह गतं पुण, जीवजुयं भूसणेहिं वा ॥३५४॥

गतार्था।

'भावम्मि य होइ कोहाइ त्ति' अस्य व्याख्या–

कोहादी मच्छरता, अभिमाणपदोसऽकिच्चपडिणीए।
तव्वणिगि अमणुस्से, रुय घण उवसग्ग कप्पट्ठी।३५५।

कोहादिग्गणाउ भावदारं सूतितं। मच्छर त्ति–कोहेण मेहुणं सेवति। अभिमाणो–माणो, भण्णति। पदोसो त्ति–माणे गढितं तेण पदोसेणऽकिच्चं ति–अकिच्चपडिसेवणं करेति, मायालोभा दट्ठव्वा। अहवा–किच्चं करणीयं, रागकिच्चमिति यावत्, एसा माया घेप्पति। पडिणीयग्गहणातो लोभो घेप्पति, स च मोक्षप्रत्यनीकत्वात् प्रत्यनीकः। सेज्जायरधूअपच्चणीगोवसक्खणाओ वा, पच्चणीगो लोभो भण्णति, तव्वणिणगी रत्तपडिणीया कोवे उदाहरणं भविस्सति। अमणुस्स त्ति णपुंसगं एयं माणे उदाहरणं भविस्सइ। रुय त्ति–रोगे, एतं मायाए उदाहरणं भविस्सति। घणे त्ति घणविगती, उवसग्गे त्ति–उवसग्ग एव, कप्पट्ठी–सेज्जायरधूआ, कविलचेल्लगो लोभा सेज्जायरकप्पट्ठीए उवसग्गं करोतीत्यर्थः।

एसेवऽत्थो किंचि विसेसिओ भण्णति–

कोहातिसमभिभूओ, जो तु अबंभं णिसेवति मणुस्सो।
चउ अण्णतरा मूलु–प्पती तु सव्वत्थ पुण लोभो।३५६।

आदिसद्दाओ–माणमायालोभतः, समभिभूतो–आर्त इत्यर्थः। जो अणिदिट्ठो, अबंभं–मेहुणं, णिसेवति–आसेवति आचरतीत्यर्थः। मनोरपत्यं मनुष्यः, तस्स तत् तदाख्यं भवतीत्यर्थः। चउ त्ति–कोहादयो, तेसिं अण्णतराओ मूलुप्पत्तीओ आद्युत्पत्तिरित्यर्थः। तुशब्दो–अवधारणे। सव्वत्थ पुण लोभो कोहुप्पण्णे मेहुणाभावे लोभो भवति। एवं माणमायासु वि लोभो पुण सट्ठाणे भवति चेव।

"चेव तव्वणिणगि त्ति" अस्य व्याख्या–

सेहुब्भामगभिक्खुणि, अंतरवयभंग वियडणा कोऽवि।
अट्ठिओभासऽणिच्छे, सणज्झि अपुम त्ति माणम्मि।३५७।

एगो सेहो उब्भामगं गतो, भिक्खायरियाए त्ति वुत्तं भवति। सो य गामंतरा अडवीए भिक्खुणीं पासति। तस्स तं पासिऊण रोसो जाओ, एसा अरहंतपडिणीया इति किच्चा (तं) वयं से भंजामि त्ति मेहुणं सेवति। पच्छा गंतुं गुरुसमीवं आलोएति, भगवं! रोसेण मे वयभंगणिमित्तं मेहुणं सेवितमिति। 'अमणुस्स त्ति' अस्य व्याख्या–'अट्ठिओ' पच्छद्धं अट्ठियं पुणो पुणो ओभासति, यावतियं अणिच्छे अणभिलसंते, सणज्झिया समोसितिया। अपुमं ति–नपुंसक इति कहिते साहू। पडियस्स य समीवे इत्थी सुरूवं भिक्खुं दट्ठूण अज्झोववण्णा, सा तं पुणो पुणो भणति–भगवं! मम पडिसेवसु, सो णेच्छति। जाहे बहु वारा भणितो णेच्छति, ताहे तीए सो साहू भण्णति–तुमं णपुंसगो धुवं जेण मे रूवजोव्वणे वट्टमाणीं ण पडिसेवसि, तस्सेवं भणितस्य माणो जातो अहमेतीए अपुमं भणितो पडिसेवामि, तेण पडिसेविया। एवं माणे मेहुणमिति।

'रुय णि' अस्य व्याख्या–

विरहालंभे सूल–प्पतावणा एव सेवती मायी।
सेज्ञातरकप्पट्ठी–गोउलदधि अंतरा खुड्डो ॥ ३५८ ॥

विरहो–विजणं, तस्स अलंभे, सूलं–रोगविकारो, पयावणा अग्गीए। एव त्ति–एवं–अनेन प्रकारेण,सेवती–विसओवभोगं करेइ। कोइ साहू समासियाए इत्थीए साहिज्जति, साहुस्स बहुसाहुसमुदायतो विरहो णत्थि। ततो तेण साहुणा अलियमेवं भण्णति–मम सूलं कज्जति, अहमेतं गेहं गंतुं तावयामि। आयरिएण भणियं–गच्छ। सो गतो, तेण पडिसेविता। एवं मायाए मेहुणं भवति। 'घणउवसग्ग कप्पट्ठि त्ति अस्य व्याख्या–सेज्जातरपच्छद्धं, कम्मि य णिओए आयरिया बहुसिस्सपरिवारा वसंति, तम्मि य गच्छे कविलो नाम खुड्डगो अत्थि। सो सेज्जायरधूयाए अज्झोववण्णो सो तं पत्थयति, सा णेच्छति, अण्णया सा कप्पट्ठी दहिणिमित्तेण गोउलं गता। सो वि कविलगो तं चेव गोउलं भिक्खायरियाए पट्ठितो। सा तेण खुड्डगेण गामगोउलाणं अंतरा दिट्ठा।

उप्पातऽणिच्छपितु पर–सुच्छेए जुण्णगणियगहे।
ततिओ दिणो पुमम्मि, इत्थीवेए सछिड्डम्मि ॥ ३५६ ॥

सा तेणंतरा भारियाभावेणुप्पादिता अणिच्छमाणीओ उप्पातितं रुहिरं, अणिच्छमाणीए योनिभेदेनेत्यर्थः। तीए रेणुगुंडियगत्ताए गंतूण पिउणो अक्खायं, सो परसुं–(कुहाडं) गहाय निग्गतो, दिट्ठो यऽणेण, से पसवणं, छिन्नं, ततो उ णिक्खंतो, सो उ एगाए जुण्णगणियाए संगहिओ। तस्स य तत्थ ततिओ णपुंसगवेदो उदिण्णो। तओ इत्थिवेदो, तम्मि य पसवणपदेसे अहोट्ठो भगो जातो तीए गणियाए इत्थीवेसेण सो ठविओ, संववहरितुमाढत्तो इति अस्यैकस्मिन् जन्मनि त्रयो वेदाः प्रतिपद्यन्ते। अनेन च क्रमेण आदौ पुमं, ततो अपुमे,छिड्डे जाते इत्थिवेदे समुदिण्णे तइयवेदत्यर्थः। एवं तस्स कविलखुड्डगस्स सेज्जायरकप्पट्ठीए लोभा मेहुणमिति।

एसं माणुस्सगं भणितं, एवं कोहातीहिं दिव्वतिरिएसु वि दट्ठव्वं। एवमुक्कमिति त्रिधा भिद्यते। किं कारणं?, उच्यते–पुव्वभणियं तु कारणगाहा। इह दुहवि तेसोवलंभणिमित्तं भण्णति–

मेहुणं पि य तिविहं, दिव्वं माणुस्सयं तिरिच्छं च।
पडिसेवण आरोवण,जयणा तिविहे य जा भणिता।३६०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुव्वद्धं कंठं। एयं दव्वादियं जं भणियं तं एक्केक्कं तिविहं उक्कोसं मज्झिमं जहन्नं च। एते एव विकप्पा, दुविहे य त्ति-पुणो एक्केको भेदो दुगभेदेण भिज्जति त्ति वुत्तं भवति। पडिमाजुयदेहजुएणं ति वुत्तं भवति। एते अट्ठारस विकप्पा जे भणिय त्ति एतेसिं अट्ठारसण्हं विकप्पाणं एक्केके विकप्पे जा भणिता आरोवणा सा दट्ठव्वा। का य सा, इमा पडिसेवणाआरोवण त्ति-पडिसेवणे आरोवणा पडिसेवणाऽऽरोवणा, पडिसेवणापच्छित्तं ति वुत्तं भवति।

ठाणपायच्छित्तं च इणमेवत्थे किंचि विसेसं भण्णति—

दिव्वाइतिगं उक्को-सगाइँ एक्केकगं तु तं तिविधं।
तिपरिग्गहमेकेकं, सममत्तममत्ततो दुविधं॥ ३६१॥

दिव्वं, माणुस्सयं, तिरियं च। एक्केकयं पुणो तिविहं—उक्कोसं, मज्झिमं, जहन्नयं च। पुणो एक्केक्कं तिपरिग्गहं—डंडियकोडुंबियपायावच्चं च। पुणो एक्केक्कं दुविकप्पं—सममत्तममत्तभेदेण। एते य चेयणे अचेयणे भेया।

इमे पुण पायसो अचेयणे भवंति—

पडिमाजुतदेहजुयं, पडिमासण्णिहित एतरा दुविधं।
देहा तु दिव्ववज्जा, सचेतणमचेतणा होंति॥ ३६२॥

पडिमाए जुयं पडिमाजुअं-सह प्रतिमया सेवनमित्यर्थः। जं पडिमाजुयं तं दुविहं सण्णिहियपडिमा वा, असंनिहियपडिमा वा। दिव्ववज्जं ति-मणुयतिरियाण सचेयणा अचेयणा वि भवति। दिव्वा पुण सचेयणा एव, अचेयणा ण भवति, जम्हा पदीवजाला इव सहसा विद्धंसति। एयं सप्पभेयं इहेवज्झयणे बहुदंसे भणिहिति। गया दप्पियामेहुणपडिसेवणा। इदाणिं कप्पिया भण्णति, एवं सुरिणा भणिते चोदगाह—चिट्ठउ ताव कप्पिया पडिसेवणा दप्पियाणं ताव विसेसं भणाहि, कहं वा दप्पकप्पपडिसेवा भवति? । गुरुराह—

रागदोसाणुगता, सुदप्पिया कप्पिया तु तदभावा।
आराधण कप्पेणं, विराहओ होति दप्पेणं॥ ३६३॥

पीतिलक्खणो रागो, अपीतिलक्खणो दोसो, अणुगता-सहिया, णिकारणलक्खणो दर्पः, रागदोसाणुगया दप्पिया भवतीत्यर्थः। कारणपुव्वगो कप्पो, तदभावाद्रागदोसाभावात्सकारणे दोसाच्च कप्पिया भवतीत्यर्थः। शिष्यः पुनरपि पृच्छेत्-दर्पकल्पाभ्यां सेवणे किं भवति?, उच्यते-'आराहण' पच्छद्धं—कप्पेण ज्ञानादीनामाराधको भवति, तेषां चैव दर्पात् विराधको भवति। विराधको—विनाशकः। पुनरप्याह चोदकः-'जति रागदोसपच्चया तो दप्पिया पडिसेवणा भवति, मेहुणकप्पियाए अभावो पावति, अहवा—संबंधं? आचार्य एवाह, मेहुणे कप्पियाए अभावो। चोदगाह—णणु सव्वपदाण अववादधम्मया जुत्ता। आचार्याह-

कामं सव्वपदेसु वि, उस्सग्गववातधम्मता जुत्ता।
मोत्तुं मेहुणधम्मं, ण विणा सो रागदोसेहिं॥ ३६४॥

कामशब्दः इच्छार्थे अनुमतार्थे च, इह तु अनुमतार्थे द्रष्टव्यः। सव्वपयाणि मूलुत्तरपदाणि, अविसद्दो-अवधारणे, तेसु य उस्सग्गववातधम्मता जुत्ता। उस्सग्गो—पडिसेहो, अववातो—अणुण्णा, धम्मता-लक्खणता, जुत्ता-जुज्जते घटतेत्यर्थः। सव्वं सव्वेसु मूलगुणउत्तरपदेसु उस्सग्गववायलक्खणं जुज्जति, तहा वि मोत्तुं परित्यज्य, मेहुणं—जुगं, तस्स भावो मेहुणभावो, अबंभभावेत्यर्थः। किमर्थं?, उच्यते—ण विणा रागद्वेषाभ्यां सो मेहुणभावो भवतीत्यर्थः।

रागद्वेषादिसंभवे सत्यपि संयमजीवितादिनिमित्तं आसेवमाने स्वल्पप्रायश्चित्तमित्याह—

संजमजीवियहेउं, कुसलेणालंबणेण व ऽण्णेणं।
भयमाणे उ अकिच्चं, हाणी वुड्ढी व पच्छित्ता॥३६५॥

जीवितं दुविहं—संजमजीवितं, असंयमजीवितं च। असंजमजीवियवुदासो संजमजीवियकारणाए त्ति वुत्तं भवति। चिरं कालं संयमजीविएण जीविस्सामीत्यर्थः। कुसलं-पहाणं, विसोहिकारणमिति वुत्तं भवति। आलंबिज्जति जं तं तमालंबणं, तं दुविहं—दव्वे वल्लिवियाणाइ, भावे य—णाणादि। अण्णमिति पुव्वभणिताओ अण्णं एवमादीहिं कारणेहिं, 'भयमाणे उ अकिच्चं' भयसेवातो, तुसद्दो—अवधारणे, अकिच्चं—मेहुणं, तं कारणे सेवयंतो हाणी वा पच्छित्ते वुड्ढी वा पच्छित्ते भवतीति। पुनरप्याह चोदकः-जति कुसलालंबणसेवणे पच्छित्तं वुत्तं भवति कम्हा मेहुणे कप्पिया इति भणियं?।

उच्यते—

गीयत्थो जतणाए, कडजोगी कारणम्मि णिद्दोसो।
एगेसिं गीतकडो, अरत्तदुट्ठो उ जतणाए॥ ३६६॥

गीतो अत्थो जेण स गीतत्थो, गृहीतार्थ इत्यर्थः, जयणा जं जं अप्पतरं अवराहट्ठाणं तं तं पडिसेवयंतो जयणा भण्णति कडजोगी—जोगो किरिया सा कया जेण सो कडजोगी भण्णति। सा य तवे विसुद्धठाणसेवणे वा, कारणं पुण णाणादि एस पढमो भंगो। एत्थ य णिद्दोसो भवति गीयत्थो जयणाए कडजोगी, णिक्कारणे सेऽणिद्दोसो वितिय एस भंगो, एवं सोलस भगा कायव्वा। एत्थ पढमभंगे णो पडिसेवियं तो कप्पिया भवतीत्यर्थः, एगेसिं पुनराचार्यादीनाम् इह द्वात्रिंशद्भङ्गा भवन्ति। गीयत्थो कडजोगी अरत्तो अदुट्ठो जयणाए एस पढमो भंगो। गीयत्थो कडजोगी अरत्तो अदुट्ठो अजयणाए एसो वितियभंगो। एवं वत्तीसं भंगा कायव्वा। एवं एत्थ वा पढमभंगे पडिसेवयतो कप्पिया भवति। चोदगाह—जइ पढमभंगे कप्पिया णणु णिद्दोस एव? आचार्याह—

जदि सव्वसो अभावो, रागादीणं हवेज्ज णिद्दोसो।
जतणाजुतेसु तेसु तु, अप्पतरं होति पच्छित्ते॥३६७॥

यदीत्ययमभ्युपगमे सव्वसो—सर्वप्रकारेण, अभावो—सर्वप्रकारानुपलब्धिः, से किं अभावो रागादीणं, आदिसद्दातो दोसो, मोहो य, घेप्पति, यद्येवं तो मेहुणे हवेज्ज, णिद्दोसो अप्रायश्चित्तीत्यर्थः, ण पुण सव्वसो रागादीणं मेहुणे अभावो अप्पायच्छित्ती वा, णवरं 'जयणाजुतेसु' जयणा—यत्नः, ताए—जुता-उपेता इत्यर्थः। तेसु त्ति—जयणाकारिसु पुरिसेसु, तुसद्दो—अवधारणे यस्मादर्थे वा। अप्पतरं होइ पच्छित्तं-तम्हा जयणाए वट्टियव्वं ति उवदेसो।

'भयमाणे उ अकिच्चं' अस्य व्याख्या—

सामत्थणिव अपुत्ते, सचिव मुणीधम्मलक्खवेसणता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अणहविया तरुणुरोधो, एगेसिं पडिमदायणता॥३६८॥

एगो राया अपुत्तो, सचिवो-मंती, तेण समाणं। सामत्थणं—संप्रसारणं, अपुत्तस्स मे रज्जं दाइएहिं परिभेज्ज किं कायव्वं ?, सचिवाह—जहा परखेत्ते अण्णेण बीयं वावियं खेत्तिणो आहव्वं भवति, एवं तुह अंतेउरखेत्ते अण्णेण वि वीयं णिसट्ठं तुह चेव पुत्तो भवति, पडिसुतं रण्णा। को पविसिज्जतु। सचिवाह—पासंडिणो णिरुद्धेंदिया भवंति। ते पविसिज्जतु, एत्थ राया अणुमए कोइ मुणी धम्मलक्खेण पवेसेज्ज। मुणी-साहू भगवं! अंतेउरे धम्मकहक्खाणं कायव्वं लक्खं छुम्न, तेण धम्मकहाख्यानच्छद्मेन प्रवेशयन्ति। ते य जे तरुणा अणट्ठबीया ते पवेसिता अविणट्ठबीया इति वुत्तं भवति। अहवा—अणघा—णिरोगा, अणुवहयपंचेंदियसरीरा, बीया इति—सबीया, ते तरुणित्थियाहिं समाणं, ओरोहो अंतेपुरं, तत्थ बला भोगे भुजाविज्जंति। एत्थ कोइ साहू णेच्छइ भोत्तुं। उक्तं च—

"वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं,
न चापि भग्नं चिरसंचितं व्रतम्।
वरं हि मृत्युः सविशुद्धकर्म्मणो,
न चापि शीलस्खलितस्य जीवितम्॥१॥"

तस्स य एवं अणिच्छमाणस्स रायपुरिसेहिं सीसं कट्टियं। 'एगेसिं पडिमदायणत्ति' अण्णे पुण आयरिया भणंति-जहा ण सुट्ठु एगासे लेप्पयपडिमं काउं लक्खारसभरियाए सीसं छिण्णं, ततो पच्छा साहूणं भणति-जहा एयस्स अणिच्छमाणस्स सीसं छिण्णं, एवं जति णेच्छसि तुमं पि छिंदामो, एवं साभाविते कतके वा सिरच्छेदणे कए अभोगत्वेन व्यवसितानामिदमुच्यते—

सुद्धूल्लुसिते भीते, पच्चक्खाणे पडिच्छ (गच्छ) थेरविहू।
मूलं छेदो छग्गुरु, चउगुरुलहु मासगुरुलहुओ॥३६९॥

जस्स ताव सिरं छिण्णं सो सुद्धो। उल्लसिओ-एतेण वि ताव मिसेण इत्थी पावामो हरिसितो। अवरो जति ण सेवामि तो मे सिरं छिज्जति अतो भीतो सेवति। अवरो किमेव अणालोइयपडिक्कतो मरामि सेवामि ताव पच्छा आलोइयपडिक्कंतो कतपच्चक्खाणो मरिहामि त्ति आलंबणं काउं सेवति, अवरो इमं आलंबणं काउं सेवति, जीवंतो पडिच्छयाणं वायणं दाहामि त्ति सेवति। अवरो गच्छं रक्खिस्सामीति सेवति। अवरो चिंतयति-मया विणा थेराण ण कोवि किंतिकम्मं काहिति अहं जीवतो थेराणं वेयावच्चं काहिति सेवति। अवरो विहू—आयरिया, तेसिं वेयावच्चं जीवंतो करिस्सामि त्ति सेवति। एतेसिं उल्लसियादीणं पच्छद्धेणं जहासंखं पच्छित्ता—उल्लसिए—मूलं, भीये-छेदो, पच्चक्खाणे—छग्गुरुअं, पडिच्छे-चउगुरुगा, गच्छे-चउलहुगा, थेरे-मासगुरू, विहुए-मासलहुओ त्ति।

उल्लसितभीतपच्चक्खाणस्स य इमा वक्खाणगाहा—

निरुवहतजोणित्थीणं, विउव्वणं हरिसमुल्लसण मूलं।
भयरोमंचे छेदो, परिण्ण काहंति छग्गुरुगा॥३७०॥

पंचपंचासहएणं वरिसाणं उवरिं उवहयजोणी इत्थिया भवति, आरतो अणुवहयजोणी गर्भं गृह्णातीत्यर्थः। विउव्विया मंडियसाहिया ता दट्ठुं हरिसुल्लसितरोमस्स-मूलं भवति, भये पुण रोमंचे छेदो, परिण्णा—पच्चक्खाण। सेसं कंठं।

पडिच्छमादी एगगाहाए वक्खाणेति—

मा सीदिज्ज परेच्छा, गच्छा फुट्टेज्ज थेरसंपेच्छं।
गुरुणं वेयावच्चं, काहंति य सेवओ लहुओ॥३७१॥

भयमाणे उ अकिच्चे जहा वुड्ढीए पच्छित्तं तहा भणति—

लहुओ य होति मासो, दुब्भिक्खविसज्जणा य साहूणं।
णेहाणुरायरत्तो, खुड्डो वि य णेच्छते गंतुं॥३७२॥

असिवाइकारणेसु उप्पण्णेसु वा उप्पज्जिस्संति वा णाउं जइ य सयं गंतुमसमत्थो आयरिओ जंघाबलपरिक्खीणो साहू ण विसज्जेइ, तो आयरियस्स असमायारिणिप्फण्णं मासलहुं पच्छित्तं, अविसज्जेंतस्स य आणादी दोसा, तत्थ य असंथरंता एसणं पेल्लेज्जा, मरणं वा हवेज्ज भत्ताभावओ, जम्हा एते दोसा तम्हा गुरुणा विसज्जिअव्वो। गुरुणा सव्वो गच्छो विसज्जितो तत्थेगो खुड्डगो गुरूणं णेहाणुरागरत्तो णेच्छति गंतुं—

असती गच्छ विसज्जण, देसखंधाउ खुड्डओ सरणं।
णीसा भिक्खविमा उ, पविसितपतिदाण सेवा य॥३७३॥

असती भत्तपाणादी सव्वो गच्छो गओ, खुड्डोऽवि अणिच्छो पेसिओ। जया गच्छो देसखंधे गतो, देसंतेत्यर्थः, तदा सो खुड्डो णासिओ णियत्तो, गुरुणा भणियं-दुट्ठु ते कयं, जं निउत्तो, जा तस्स आयरियस्स णीसाहरेसु भिक्खा लब्भति तीए विभागं अहियतरं खुड्डगस्स देति, सो य खुड्डो चिंतयति-एसो वि आयरिओ किलेसितो। ततो गुरुमापुच्छिउं वीसुं पहिंडओ गतो, सो एक्कीए पविसितपतिइत्थियाए भण्णति-अहं ते भत्तं दलयामि जति मे पडिसेवसि। तेण पडिसुयं 'पविसियपतिदाणसेवा य' अस्य व्याख्या—

भिक्खं पि य परिहायति, भोगेहि णिमंतणा य साधुस्स।
गिण्हति एगंतरियं, लहुगा गुरुगा य चउमासा॥३७४॥
पडिसेवितस्स य तहिं, छमास छेदो उ होति मूलं च।
अणवट्ठप्पो पारं-चिओ अ पुच्छा य तिविधम्मि॥३७५॥

सो खुड्डगो चिंतयति-जइ एयं पडिसेवियं णेच्छामि मरीहामि, अह सेवामि तो जीवंतो पच्छित्तं, सुत्तत्थाणि य घेप्पत्थं, दीहं कालं संजमं करिस्सामि, एवं चिंतिऊण जयणं करेति, एगंतरियं भत्तं गेण्हति, पडिसेवति य। पढमदिवसे गेण्हंतस्सेवं-तस्स चउलहुगं, बितियदिवसे अब्भत्तट्ठं करेति, ततियदिवसे गेण्हंतस्सेवं तस्स-चउगुरुगं, एवं चोद्दसमे दिवसे-पारंचियं भवति, अह णिरंतरं पडिसेवति, ततो बितियदिणे चेव मूलं भवति। एसा वुड्ढी भणिता, 'पुच्छा य तिविहम्मि त्ति' सीसो पुच्छति-दिव्वमाणुसतिरिच्छेसु कहं मेहुणाभिलासो उप्पज्जति ?, आचार्याह—

वसधीए दोसेणं, दट्ठुं सरिउं व पुव्वभुत्ताइं।
तेगिच्छि सद्दमाती, असंजणातीसु थीजतणा॥३७६॥

वसही—सेज्जा, तीए दोसेण मेहुणाभिलासो उप्पज्जति, स्त्र्यादिसंसक्तेत्यर्थः। अहवा-इत्थि दट्ठुं पुव्वं-गिहत्थकाले जाणि इत्थियाहिं समं भुत्ताणि वा हसियाणि वा ललियाणि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा ताणि य समरिऊण मेहुणभावो भवति। एवं उप्पएणे किं कायव्वं ?,-भण्णति-तिगिच्छा कायव्वा। सा तिगिच्छा णिव्वी यातिं, तं अइक्कंतस्स सद्दमाईहिं-जत्थित्थिसद्दं सुणेति, रहस्ससद्दं वा, आदिग्गहणाओ-भएणति-आलिङ्गनोवगूहनचुंबनादयः, तत्रासौ स्थविरसहितो स्थाप्यते, यद्येवं स्यादुपशमः 'असंजण त्ति' असंगो-अगेहीत्यर्थः। ण ताए अचिय जयणाए गेही कायव्वा इति। एवं तिसु वि दिव्वाइसु जयणा दट्ठव्वा। गता मेहुणस्स कप्पिया पडिसेवणा। गयं मेहुणं।

इदाणिं परिग्गहो भएणति-तस्स दुविहा-पडिसेवणा-दप्पिया, कप्पिया य। तत्थ दप्पियं ताव भणामि—

दुविधो परिग्गहो पुण, लोइय लोउत्तरो समासेणं।
दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य होति कोधादी ॥ ३७७ ॥

पुणसद्दो-अवधारणे वा, एक्केक्को पुण दव्वादि दट्ठव्वो। सेसं कंठं।

दव्वखेत्तकालाणं इमा वक्खा—

सचित्तादी दव्वे, खेत्तम्मि गिहादि जच्चिरं कालं।
भावे तु कोधमादी, कोहे सव्वस्स हरणादी ॥ ३७८ ॥

सच्चित्तं दव्वं-दुपयं, चउप्पयं, अपयं वा। आदिग्गहणातो अचित्तमीसं, अचित्तं-हिरण्णादि,मीसं-सएणजोगसहियं आसादिए ताणि जो परिगेण्हति मुच्छितो सो दव्वपरिग्गहो भवति। गिहाणि खाओसितोभयकेउगादियाणि, खेत्ताणि परिगेण्हंतस्स खेत्तपरिग्गहो भवति, जम्मि वा खेत्ते वण्णिज्जति स खेत्तपरिग्गहो भवति। एते चेव दव्वखेत्तपरिग्गहा जच्चिरं कालं परिगेण्हंति जम्मि वा वण्णिज्जंति काले परिग्गहो स कालपरिग्गहो भवति। 'भावम्मि य होति कोहादि त्ति' अस्य व्याख्या-भावे उ पच्छद्धं-भावे तु भावपरिग्गहे तुसद्दो परिग्रहवाचकः, कोहाती, आदिसद्दातो-माणमायालोभा घेप्पंति। तत्थ कोहपरिग्गहस्स व्याख्या-'कोहे सव्वस्स हरणादी' कोहेण य रायादी रुट्ठो सव्वस्सं हरिउं अप्पणो पडिग्गहे करेति, एस कोहेण भावपरिग्गहो। आदिसद्दातो दंडेति अवकारिणो वा अवहरंति, कोहेण।

इदाणिं माणे—

दोगच्चवहतो माणे, धणिमं पूइज्जति त्ति अज्जिणति।
मायाणिधाणमाती, सुवण्ण दुव्वण्णकरणं वा ॥ ३७९ ॥

दोगच्चं—दारिद्दं, स विसयातो गतो—वहतो भएणति। माणे त्ति-एवं माणेण उवज्जिणइ भणियं, तत्थ दोगच्चेण वहतो माणेण व णिग्गतो सदेसातो जइ वि ण णंदति पुरिसो मुक्को परिभूय वासाओ। अहवा—धणिमंतो लोगे पूइज्जंति त्ति अहं पि पूइज्जिस्सामीति दरिद्दं न कश्चित्पूजयति इत्येवं माणओ परिग्गहं उवज्जिणति। 'माया णिहाणमादी' मायाए णिहाणयं णिहणति, आदिग्गहणाओ छद्मेन व्यवहरति। अहवा-करणे, हत्थे वा, किंचि माहरणं मा मे कोति हरिस्सइ त्ति सुवण्णं दुव्वण्णं करेति। एवं मायाए भावपरिग्गहो भवति। सव्वाणुपादिता लोभस्स, अलोभणाभिहतो जो वि एस कोहादिपरिग्गहो भणितो एसो वि लोभमंतरेण ण भवतीति उक्त एव लोभः। जम्हा अतीव मुच्छितो उवज्जिणति सो वा लोभे भावपरिग्गहो दट्ठव्वो त्ति, भणितो लोइयपरिग्गहो।

इदाणिं लोउत्तरिओ भएणति-सो समासओ दुविहो दारगाहाओ—

सुहुमो य बादरो वा, दुविहो लोउत्तरो समासेणं।
कागादि साण गोणे, कप्पट्ठगरक्खणममत्ते ॥ ३८० ॥
सेहादीए कुद्धे, सच्चित्ते अणेसणादि अचित्ते।
ओरालिए हिरण्णे, छक्कायपरिग्गहे जं च ॥ ३८१ ॥

ईसिं ममत्तभावो सुहुमो परिग्गहो भएणति, तिव्वो य ममत्तभावो बायरो परिग्गहो भएणति, एसो दुविहो वि पुणो चउहा वित्थारिज्जति, दव्वखेत्तकालभावे। तत्थ दव्वे'—कागादि'पच्छद्धं,अप्पणो पाणगादिसु काकं अवरज्झंतं णिवारेति, आदिग्गहणातो—साणसिगालादि साणं वा डसमाणं, गोणं वा वसहिमादिसु अवरज्झंतं, सेज्जायरादियाण वा कप्पट्ठगं अरणावदेसेण रक्खइ। सयणादिसु वा ममत्तं करेइ, सेहो वा पडिकुद्धो पव्वावेंतस्स परिग्गहो भवति, अणाभयं वा पव्वावणिज्जं सचित्तं पव्वावेंतस्स परिग्गहो भवति। आदिसद्दो भेदवाचकः,अणेसणीयं वा अचित्तं भत्तादि गेण्हंतस्स सपरिग्गहो भवति। आदिसद्दातो वा वत्थपादसेज्जा घेप्पंति, अचित्तग्गहणातो वा अतिरित्तोवहिग्गहणं करेति, स चानुपकारित्वात् परिग्गहो भवतीत्यर्थः, घडियरूवं द्रविणं ओरालियं भएणति, अघडियरूवं पुण हिरण्णं भएणति, एताणि गेण्हंतस्स परिग्गहो भवति, छक्कायसचित्ते जीवनिकाए गेण्हंतस्स परिग्गहो भवति। जं च त्ति—जं च एतेसु कागादिसु पायच्छित्तं तं च दट्ठव्वमिति।

एतेसिं कागाइयाण इमा चिरंतणा पायच्छित्तगाहा—

पंचादी लहुगुरुगा, एसणमादीसु जेसु ठाणेसु।
गुरुगा हिरण्णमादी, छक्कायविराधणे जं च ॥ ३८२ ॥

पंचग त्ति-पणगं तं आइ काउं एसणादिसु जत्थ जत्थ जं संभवति पायच्छित्तं तं दायव्वमिति। लहुगा गुरुगा य त्ति-पणगा एवं संवज्झंति,अहवा-पणगं आदिकाउं जाव चउलहुया,चउगुरुगा,जं जेसु ठाणेसु पायच्छित्तं संभवति तं दायव्वमिति। आदिसद्दातो ओप्पादणउग्गमा घेप्पंति, हिरण्णं गेण्हंतस्स चउगुरुगा। आदिसद्दातो-ओरालिए वि-चउगुरुगा। छक्कायविराहणे जं पायच्छित्तं दायव्वं तं चिमं-'छक्कायचउसु लहुगा, कारणगाहा।

इणमेवार्थं भाष्यकारो व्याख्यानयति—

गिहिणोऽवरज्झमाणे, सुणमज्जारादि अप्पणो वावि।
वारेऊण न कप्पति,जिणाण थेराण उ गिहीणं ॥३८३॥

गिहिणो-गिहत्थस्स, अवरज्झंति-अवराहं करेंति, साणो मज्जारो वा,आदिसद्दातो-गोणकागादओ वि घेप्पंति। अप्पणो वा एते भत्तादिसु अवरज्झंति ते अवरज्झमाणे वि वारेऊण ण कप्पंति,जिणाण-जिणकप्पियाण,थेरा-गच्छवासिणो,तेसिं गिहत्था मणत्था मणअवरज्झमाण वारेऊण ण कप्पंति। अप्पणो य वारेऊण ण कप्पंतीत्यर्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतेसु चेव कागादिसु पच्छित्तं भण्णति—

काकणिवारणि लहुओ, जावममत्तं तु लहुअ सेसेसु।
मज्झसवासादि त्ति व, तेण लहू रागिणो गुरुगा ॥३८४॥

काग णिवारेति-मासलहुं, सेसेसु त्ति-साणगोण-चउलहुगा, सेज्जातरममत्तेण कप्पट्ठगं रक्खति—चउलहुगं चेव, मज्झसवासा-एगग्रामनिवासिनः, स्वजना वा तेण सण्णातगादिसु ममत्तेण रक्खति तहावि-चउलहुगं, अह कप्पट्ठगं रागेण रक्खति तो—चउगुरुगं।

'सेहातिपडिकुट्ठ त्ति' अस्य व्याख्या—

भेताऽडतालसेहे, दुरूवहीणा तु ते भवे पिंडे।
घडितेतर मोरालं, वत्थादि गतं ण उ गेण्हंति ॥३८५॥

अडयालीसं भेदा, सेहाण अपव्वावणिज्जा य। ते य इमे—अट्ठारस-पुरिसेसुं, वीसुं इत्थीसु, दस-णपुंसगेसु, पचावण अणरिहा भणिया। माणे ण एतेसिं तु सरूवं पच्छित्तं च जहा अण्णसुत्ते तहा दट्ठव्वमिति। इह पुण सामण्णओ-चउगुरुगं पच्छित्तं, अणाभव्वं सचित्तं गेण्हंतस्स चउगुरुगा चेव, 'अणेसणे' इति अस्य व्याख्या—'दुरूवहीणा उ ते भवे पिंडे' पडिकुट्ठपिंडा येऽधिकृता ते दुरूवहीणा भेदा पिंडे भवन्तीत्यर्थः। अडयालीसभेदमज्झतो दो रूवा सोहिता,जाता छायालीसं। कहं पुण छायालीसं भण्णति—

"सोलसमुग्गमदोसा, सोलसमुप्पायणा य दोसा उ।
दस एसणाए दोसा, संजोयणमादि पंचेव ॥ १ ॥"

संजोयणे—अइप्पमाणं, इंगालधूमणिक्कारणा एते सव्वे समुदिता सत्तचत्तालीसं संभवंति। एत्थ मीसज्जायं अज्झोयरसरिसं काऊण ण फेडिज्जति अतो छायालीसं। अण्णे पुण आयरिया-सव्वाणुप्पाती संका इति काउं संकं अवणयंति। अण्णे पुण-संजोयणादिनिक्कारणवज्जिया छायालीसं करेंति, एतेसिं सरूवं जहा पिंडणिज्जुत्तीए पच्छित्तं, जहा कप्पपीढे ,तहा इहं पि दट्ठव्वमिति। अचित्ते जहन्नमज्झिमुक्कोसेसु तन्निप्फण्णं दट्ठव्वमिति। 'ओरालिए हिरण्णे' अस्य व्याख्या—'घडितेतरमोरालियं'घडियं आभरणादी ओरालं भण्णति, इतरं पुण अघडियं तं हिरण्णं भवति। एत्थ जहाकमणिद्देसे हिरण्णसद्दो लुत्तो दट्ठव्वो। अहवा-घडियं, इतरंअघडियं-सव्वसामण्णेणं ओरालियं, भण्णति। वत्थं-चासकप्पादि, आदिसद्दातो-पात्रादिधम्मोवकरणं सव्वं घेप्पति। गतशब्दो-धर्मोपकरणभेदावधारणे द्रष्टव्यः। अहवागगारो आदिसद्दे पविट्ठो, वत्थादिगं तं गोरेण वत्थादियाणिद्देसो, णकारो—प्रतिषेधे, तुशब्दो—परिग्रहावधारणे, गेण्हंतीति वुत्तं भवति। वत्थादिगं धर्मोपकरणं ण परिग्रहं मन्यन्तेत्यर्थः। तान्येव महद्धनानि मुच्छाए परिभुंजंतस्स परिग्रहो भवति—चउगुरुगं च से पच्छित्तं भवति। दव्वपरिग्गहो गतो।

इदाणिं खेत्तपरिग्गहो भण्णति—

ओगासे संथारो, उवस्सयकुलगामणगरदेसे य।
चत्तारि छच्च लहुगुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥३८६॥

ओगासो-पडिस्सगस्सेगदेसो, तम्मि पवातादिके रमणीये ममत्तं करेति,संथारगो-संथारगभूमी तीए ममत्तं करेइ, उवस्सओ-वसही, तीए वा ममत्तं करेति। एवं कुले-कुलं-कुडुंबं, गामणगरा-पसिद्धा, देसो पुण जहा-कच्छदेसो, सिंधुदेसो, सुरट्ठाऽऽदि, रायण भोती रज्जं भण्णति, सो पुण भोती एगविसओ वा होज्ज। एतेसु गामादिसु पच्छित्तं जहासंखेण 'चत्तारि छच्च ' पच्छद्धं-कंठं। खेत्तपरिग्गहो गतो।

इदाणिं काले भण्णति—

कालातीते काले, कालविवच्चासकालतोऽकाले।
लहुओ लहुया गुरुगा, सुद्धपदे सेवते जं च ॥ ३८७ ॥

कालातीए त्ति-कालतो-अतीतं कालातीतं, उडुबद्धे-मासातिरित्तं वसंतस्स, वासासु य अतिरित्तं वसंतस्स। काले त्ति-काले परिग्रहो भवति, णितियवासदोसा य भवंति। कालविवच्चासो त्ति-कालस्स विवच्चासो कालविवच्चासो तं करेति, कहं भण्णति—' कालओ अकाले त्ति, ' उडुबद्धे काले ण विहरति। अकाले त्ति वासाकाले विहरति, अहवा-दिवा ण विहरति, रात्रो विहरति, एस विपर्यासः। इदं प्रायश्चित्तम्-उडुबद्धे अतिरित्ते-मासलहुगो, वासातिरित्ते—चउलहुगा , कालविवच्चासे—चउगुरुगा , एते पच्छित्ता सुद्धपदे भवंति। सुद्धपदं णाम-जइ वि अवराहं ण पत्तो तहावि पच्छित्तं भवतीत्यर्थः। 'सेवते जं च त्ति' जं संजमपवयणआयविराहणं सेवति तण्णिप्फण्णं च पायच्छित्तं दट्ठव्वमिति। कालपरिग्रहो गतो।

इदाणिं भावपरिग्गहो भण्णति—

भावम्मि रागदोसा, ओवधिमादी ममत्तणिक्खित्ते।
पासत्थममत्तपरिग्गहे, लहुगा गुरुगा य जे जत्थ॥३८८॥

भावम्मि-भावपरिग्गहो रागेण दोसेण य भवति। उवहीउवहिओ , आदिसद्दातो—उवग्गहितो घेप्पति। तंमि दुविहे वि ममत्तं करेति, णिक्खित्तं णाम गरलिगाबद्धं स्थापयति चोरभएण वा णिक्खिवति, गोपयतीत्यर्थः। पासत्थादिसु वा ममत्तं करेति, ममीकारमात्रं रागेण वा परिगेण्हति आत्मपरिग्रहे स्थापयतीत्यर्थः। चसद्दातो-अहाछंदेसु, इत्थीसु य, ममत्तं परिग्गहं वा करेति। 'लहुगा गुरुगा य जे जत्थ त्ति '-रागादयो संबज्झंति ते तत्र दातव्याः। पासत्थादिसु ममत्ते-चउलहुगा, अह रागं करेति तो-चउगुरुगा, दोसेण पासत्थादीसु-चउलहुगा चेव, उवहिणिक्खित्तेसु-चउलहुगा सच्छंदित्थीसु-चउगुरुगा।

पासत्थादिअहाछंदित्थीसु अ इमा ममत्तव्याख्या—

मम सीस कुलि व्व गणि व, उवमम माति भाइणज्जोती।
एमेव ममत्त करेंते, पच्छित्ते मग्गणा होति ॥ ३८९ ॥

तेसु पासत्थादिसु एवं ममत्तं करेति, सेसं कंठं।

इमा भाष्यकर्त्तुः प्रायश्चित्तगाहा—

उवधिममत्ते लहुगा,तेणभया णिक्खिवंति ते चेव।
ओसण्णगिही लहुगा,सच्छंदित्थीसु चउगुरुगा॥ ३९० ॥

ते चेव त्ति-चउलहुगा, ओसण्णगंगेण य ममत्ते चउलहुगा चेव। सेसं गतार्थं। गतो भावपरिग्गहो। गता परिग्गहस्स दप्पिया पडिसेवणा।

इदाणिं कप्पिया भण्णति—

अणाभोगे गेलण्णे, अद्धाणे दुल्लभत्तजाते य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेहे गिलाणमादी, मज्जाया वावऽणुट्ठाहे ॥ ३९१ ।
अणाभोगे गेलएणे, श्रद्धाणे दुल्लभऽट्ठजाते य ।
सेहे गिलाणमादी, पडिकमे विज्जदुट्ठे य ॥ ३९२ ॥

एयाओ दोणि दारगाहाओ । एत्थ पढमदारगाहापुव्वद्धेण दव्वाववातो गहितो, पच्छद्धेण खेत्तावावाओ गहिओ । बितियदारगाहापुव्वद्धेण कालाववातो गहितो । पच्छद्धेण भावाववाओ गहितो ।

'अणाभोगे त्ति' अस्य व्याख्या—

सव्वपदाऽणाभोगा, गेलएणोसधिपदावणे वोरे ।
काकादिअहिपडंते, दव्वममत्तं च बालादी ॥ ३९३ ॥

सव्वे पदा-सव्वपदा, के ते सव्वपदा ?, कागादिसाणगोणछक्कायपरिग्गहवसाणा, एते सव्वपदा । एते जहा पडिसिद्धा तहा अणाभोगेण कुर्यादित्यर्थः । अणाभोगे त्ति गतं । 'गिलाणे त्ति' अस्य व्याख्या-' गेलएणोसहि त्ति' गिलाणस्स ओसहाणि उएहे कताणि, तत्थ कागे अहिपडंते णिवारेति, आदिसद्दातो सोणगोणा णिवारेति, एवं गिलाणकारणेण णिवारेंतो सुद्धो । गिलाणकारणेण वा कप्पट्ठगरक्खणममत्तं वा कुज्जा, जओ भएणति-' दव्वममत्तं च बालादि त्ति ' दव्वमिति दव्वदारज्ञापनार्थं, दव्वं वा लभिस्सामि त्ति ममत्तरक्खणं करेति, ममत्तं अएणतरदव्वणिमित्तं बाले सुहं मायापिरो से गिलाणस्स पडितप्पंति, बाले त्ति-बालस्स रक्खणं कुज्जा, गिलाणपडितप्पणत्थं, आदिसद्दातो—अबाले ताव रक्खणं कुज्जा, गिलाणट्ठायमिति—गेलएणट्ठा वा अडयालसेहा पडिकुज्जा पव्वाविज्जा ।

जतो भएणति—

अतरंत परियराण व, पडिकुट्ठा तप्प अहव विज्जस्स ।
तेसिऽट्ठायमणेसिं, विज्जहिरएणं विसे कणगं ॥ ३९४ ॥

अवरंतो—गिलाणो, पडियरगा—गिलाणट्ठगा वा, वकारो समुच्चये, पडिकुट्ठा—णिवारितो अपव्वावणिज्जति त्ति वुत्तं भवति । तप्पे त्ति—वावारवहणत्थे वट्टिस्सतीत्यर्थः । गिलाणस्स वा पडियरगाण वा वेयावच्चं करिष्यतीत्यतः प्रव्राजयति । अहवा-वेज्जस्स करिष्यति, ततो वा प्रव्राजयति । तेसिं गिलाणपडियरगविज्जाण अट्ठाय अणेसणं पि करेज्जा , गिलाणमंगीकृत्य वेज्जट्ठताय हिरएणं पि गेएहेज्जा । ओरालस्यावववादो ' विसे कणगं ति '—विषग्रस्तस्य सुवर्णं-कनकं, तं घेत्तुं घसिऊण विसणिग्घायणट्ठा तस्स पाणं दिज्जति । अतो गिलाणट्ठा ओरालियग्रहणं भवेज्ज ।

गिलाणट्ठा छक्कायपरिग्गहे त्ति अस्यापवादः—

कायाण वि उवओगा,गिलाणकज्जे व विज्जकज्जे वा ।
एमेव य श्रद्धाणा, सेज्जातरभत्तदाइसु वा ॥ ३९५ ॥

काया-पुढवादी छ, तेसिं पि उवओगो उवभोगो-भवेज्ज । गिलाणकज्जं व गिलाणस्सेव अप्पणो उवभोगाय लवणादि, वेज्जस्स वा उवभोगाय तदपि न दोसनिमित्तं, एवं गिलाणकारणेण कागादओ दव्वे अववदिता । गिलाणे त्ति गतं । इदाणिं श्रद्धाणे त्ति अस्य व्याख्या-' एमेव य ' पच्छद्धं-एमेवाऽवधारणे,जहा गिलाणट्ठा कागादिया दारा वुत्ता तहेव श्रद्धाणेऽपीत्यर्थः । श्रद्धाणपडिवएणो जो सेज्जातरो जो वा दाणाइ सड्ढो भत्तं देति, वाकारो समुच्चये, एतेसिं किंचि वि सारियं आतवे होज्जा, तत्थ कागगोणसाणा अहिवडंता णिवारिज्जा पि जं से उप्पजउ सुदठुतरं परितप्पिस्संतीति काउं कप्पट्ठगं पि रक्खेज्जा, ममत्तं वा करेज्जा । ओरालिए हिरएणे सेहाति त्ति परिकुट्ठा ।

एसणं छक्कायाण एगगाहाए वक्खाणेति—

दुक्खं कप्पो वोढुं, तेण हिरएणं कताकतं गेएहं ।
पडिकुट्ठा वि य तप्पे, एसणकप्पे असंथरणे ॥ ३९६ ॥

दीहद्धाणपडिवएणेहिं दुक्खं—श्रद्धाणकप्पो वुज्झति, तेण कारणेण, हिरएणं—द्रविणं, कताकतं—घडियरूवं अघडियरूवं वा श्रद्धाणे घेप्पति । श्रद्धाणपडिवएणाण चेव, पडिकुट्ठा-सेहा-भत्तपाणविस्सामणोवकरणवहणादीहिं तप्पिस्संतीति काउं दिक्खेज्जा, श्रद्धाणे वा असंथरंता एसणं पि पेल्लेज्जा, अणेसणीयं गेएहंतीत्यर्थः । श्रद्धाणे वा असंथरणे कायाण वि उवओगं करेज्जा । प्रलंबादेरित्यर्थः । श्रद्धाणे त्ति गयं ।

इदाणिं 'दुल्लभे त्ति' दारं—

दुल्लभदव्वं दाहिति, तेण णिवारे ममत्तमादिं च ।
पडिकुट्ठेसणधातुं, ओरालकओ व काया वा ॥ ३९७ ॥

दुक्खं लब्भति जं तं दुल्लभं, तं च सयपागसहस्सपागादियं दव्वं, तं--' दाहिति त्ति '-तेण कारणेण कागसुणगादि णिवारेति, ममत्तं वा करेति, आदिसद्दातो—कप्पट्ठगादि रक्खति, पडिकुट्ठं वा सेहे पव्वावेति । एवं दुल्लभं दव्वं लभितु समत्था भवति । अहवा—कोइ गिही तेरासियपुत्तेण लज्जमाणो भणाति-जइ मम पुत्तं तेरासियं पव्वावेसि तो इमं जं दुल्लभं दव्वं तुमं अणेसणीयं एयं चेव पयच्छामि । एवं दुल्लभदव्वट्ठता पडिकुट्ठेति पव्वावेज्जा, एसणं पि पेल्लेज्जा । एवं उग्गमउप्पायणेसणादोसेहिं जुत्तं दुल्लभं दव्वं गेएहतीत्यर्थः । दुल्लभदव्वट्ठतां च ओरालहिरएणं गेएहेज्जा । ताणि ओरालहिरएणाणि घेत्तूण तं दुल्लभदव्वं किणेज्जा, कायाव त्ति दुल्लभदव्वट्ठता वा सचित्तकाया गेएहेज्जा । कहं पवालादिणा सचित्तपुढविक्काएण तं दुल्लभदव्वं किणेज्जा । दुल्लभदव्वं ति गतं ।

इदाणिं अट्ठजाति त्ति दारं भएणति—

एमेव अट्ठजातं, तेण णिवारे ममत्तमादिं च ।
पडिकुट्ठेण व धातुं, ओरालकओ व काया वा ॥३९८॥

एमेवावहारणे, जहा दुल्लभदव्वे एवमेव अट्ठजाए वि दट्ठव्वं । जातशब्दो भेदवाचकः अर्थभेदेत्यर्थः, एते सेज्जातराति अट्ठजायं दाहिंतीति तेण तेसिं कागगोणसाणे अवरज्झंते णिवारेज्जा, कप्पट्ठगं वा रक्खेज्जा, ममत्तं वा करेज्जा, चकारो-समुच्चये,पडिकुट्ठं वा सेहं पव्वाविज्जति, तदट्ठाय दव्वट्ठाए त्ति वुत्तं भवति । सो पडिकुट्ठसेहो पव्वावितो दव्वजायं उत्पादयिष्यतीत्यर्थः । अट्ठजायं पि उप्पादेंतो एसणं पि पेल्लेज्जा, अहाभद्दगकुलेसु वा अणेसणीयं पि भिक्खं गेएहेज्जा,माउदुरुट्ठो ण दाहिति अट्ठजायं अट्ठणिमित्तेण वा काए गेएहेज्जा,कहं?,उच्यते-'धातु त्ति पासाणमट्टियादि गहेऊण जायरूवं सुवएणं तं उप्पाएज्जा धातुवायप्रयोगात् , पुणस-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्दो-विसेसणे दट्ठव्वो, आदिसद्दातो-रूप्पं तं च सीसगतउगादी धाउवायप्पओगा उप्पायपतीत्यर्थः । अहवा-जायरूवं जं च प्रवालवत् जातं तं जायरूवं भएणति । दव्वपरिग्गहाववातो गतो ।

इदाणिं खेत्तावबातो भएणति—

एमेव अद्धजाए, खेत्ताएँ ऽववातत्तो वोच्छं।
सेहे गिलाणमादी, मज्जाता वावऽणुड्डाहे ॥ ३९९ ॥

'सेहेत्ति' अस्य व्याख्या, गाहा—

उवासादीसु सेहो, ममत्तपडिसेवणं च कुज्जाहि ।
एमेव गिलाणे वी, णेह ममं तत्थ पउणिस्सं ॥४००॥

उवासो आदी जेसिं ताणि उवासादीणि, ताणि संथारउवस्सयकुलगामणगरदेसरज्जं च, एतेसु सेहो अयाणमाणो ममत्तं वा करेज्जा । अहवा—गिलाणो भणेज्जा, मम एत्थ देसे मा कोति अल्लियओ। एस पडिसेहो त्ति गओ। इदाणिं गिलाणे त्ति-' एमेव ' पच्छद्धं-एवमवधारणे, जहा सेहो उवासादिसु ममत्तं करेज्जा, एवं गिलाणो वि उवासादिसु ममत्तं करेज्जा । अहवा -सो गिलाणो एवं भणेज्जा-णेह मम तं गामं णगर देसं रज्जं वा, तत्थाहं णीओ पउणिस्सामीत्यर्थः। आदिसद्दातो अगिलाणो वि सन्नायगोवसग्गपत्तो भणेज्जा, णेह मम तं गामं,तत्थाऽहं णोवसग्गिज्जामि त्ति । गिलाणे त्ति गयं।

इदाणिं 'मज्जाय' त्ति अस्य व्याख्या—

सागारिअदिन्नेसु व, वासादिसु णिवारए सेहो ।
ठवणाकुलेसु ठविए-सु वारए अलसणिद्धम्मे ॥ ४०१ ॥

सागारिओ-सेज्जातरो, तेण जे उवासाए दिन्ना, तेसु उवासेसु सेहे अमज्जादिल्ले आयरमाणे णिवारेज्जा, आदिसद्दातोउवस्सओ घेप्पति । मज्जाय त्ति गतं । इदाणिं 'ठवणे त्ति ' अस्य व्याख्या ' ठवणा ' पच्छद्धं-ठवणकुला अतिशयकुला भएणंति, येष्वाचार्यादीनां भक्तमानीयते तेसु ठविएसु अलसणिद्धम्मे पविसंते णिवारितेत्यर्थः । ठवणे त्ति गतं ।

गामणगरदेसरज्जाणं अववातो भएणति-' उड्डाहे ' त्ति अस्य व्याख्या—

उड्डाहं च कुसीला, करेंति जहियं ततो णिवारेंति ।
अत्थंतेसु वि तहियं, पवयणहीला य उच्छेओ ॥४०२॥

जहियं ति-गामणगरदेसरज्जे, कुसीला-पासत्था,अकिरिय, पडिसेवणा,उड्डाहं करेज्जा'ततो त्ति'-गामणगरादियाओ णिवारेयव्वा-णिवारणा कायव्वा, इह गामे अकिरियपडिसेवणा ण कायव्वा । अत्थंतेसु वा तेसु पासत्थेसु तहियं गामेपवयणं-संघो तस्स हीला-णिंदा, भवति । भत्तपाणवसहिसेहादियाण वा विउच्छेदो, तेसु तम्हा ततो पारंचिये वि करेज्जा । उड्डाहे त्ति गयं ।

चोदग आह-एणु वारेंतस्स गामादिसु ममत्तं भवति । आचार्याह-ण भवति, कहं ?, उच्यते—

जो तु अमज्जाइल्लो, णिवारए तत्थ किं ममत्तं तु ।
होज्ज सिया ममकारो, जतियं ठाणं सयं सेवे ॥ ४०३ ॥

' ज ' य इत्यनुदिष्टस्य ग्रहणं, तुसद्दो-णिद्देसे. मज्जायासीमा ववत्था , न मज्जाया अमज्जाया, तो तीए जो वट्टति सो अमज्जादिल्लो,तं जो ताओ अमज्जातातो उ णिवारितो तत्थ किं ममत्तं तु, तत्थ—किमिति—अमज्जायपवत्तीणिवारणे, किमिति—क्षेपे, ममत्तं—ममीकारो, तुसद्दो अममत्तावधारणे, होज्ज--भवेज्ज, सिया—आसंकाए, अवधारणे वा, ममीकारः यदीत्यभ्युपगमे, तमिति अमज्जायट्ठाणं संवज्झति, स्वयमिति आत्मना संप्रत्यासेवतीत्यर्थः । खेत्तावबातो गतो ।

इदाणिं कालाववातो भएणति ' अणाभोगे त्ति ' अस्य व्याख्या, गाहा—

अणाभोगा अतिरित्तं, वसेज्ज अतरंतो तप्पडियरा वा ।
अद्धाणम्मि वि चरिमे, वाघाए दूरमग्गे वा ॥ ४०४ ॥

अणाभोगो-अत्यंत विस्मृतिः, किं उडुमासकप्पो वा, वासाकप्पो वा,पुण्णो न पुण्णो वा । एवं अणुवओगाओ अतिरित्तं पि वसिज्जा, अणाभोगे त्ति गयं । ' गेलएणे त्ति ' अस्य व्याख्या-अतरंतो तप्पडियरा वा । अतरंतो-गिलाणो, सो विहरिउमसमत्थो उडुवद्धं वासियं वा अइरित्तं वसेज्जा, गिलाणपडियरगा वा ग्लानप्रतिवद्धत्वात् , अतिरित्तं वसेज्जा । गिलाणे त्ति गतं । ' अद्धाणे त्ति ' अस्य व्याख्या-'अद्धाण'-पच्छद्धं—अद्धाणं पहपडिवत्ती तं पडिवन्ना अंतरायं वा संपडेज्जा, ततो कालविवचासो वि हवेज्जा । ' वाघातो त्ति' वाघातो णाम-विग्घं, तं वसहिभन्नादियाण होज्जा अतो तम्मि उप्पएणे वासासु वि गच्छेज्जा, अहवा-उडुवद्धियखेत्ताओ वासावासे खेत्तं गच्छंता अंतरा वाघातेण ठिता वासिउमारद्धो वाघातो चरमे अप्पयाया एवं वा कालविवचासं कुज्जा । दूरे वा तं वासकप्पखेत्तं अंतरा य बहू अवाया अतो ण गता , तत्थेव उडुवासिए खेत्ते वासकप्पं करेंति, एवं वा अतिरित्तं वसंति । अद्धाणे त्ति गतं ।

'दुल्लभे' त्ति अस्य व्याख्या—

धुवलंभे वा दव्वे, कइवणदिवसेहिँ वसति अतिरित्तं ।
उडुअतिरेको वासो, वासविहारे विवच्चासो ॥ ४०५ ॥

दुल्लभदव्वट्ठता अतिरित्तं पि कालं वसेज्जा, कहं ?, उच्यते-पुएणे मासकप्पे, वासाकप्पे वा, दुल्लभदव्वस्स धुवो—अवस्सं, लाभो भविस्सति, तेण ' कति त्ति ' थोवदिवसे अतिरित्तं पि वसेज्जा । उडुवद्धकाले अतिरेगो वासो एवं संभवति दुल्लभदव्वट्ठतो वासासु विहरंति, एवं कालविवच्चासं करेंति । दुल्लभे त्ति गतं ।

इदाणिं ' उत्तमट्ठे ' त्ति अस्य व्याख्या—

सप्पडियरो परिएणी, वास तदट्ठा व गम्मते वासे ।
संथरमसंथरे वा, ओमे वि भवे विवच्चासो ॥ ४०६ ॥

परिएणी-अणसणोवविट्ठो,तस्स जे वेयावच्चकारिणो ते पडियरगा,सो परिएणी सह पडियरएहिं अतिरित्तं पि कालं वसेज्जा,तदट्ठ त्ति परिएणी पडियरयणट्ठा वा गम्मते वासासु वि एस विवच्चासो । परिएण त्ति गतं । इदाणिं 'ओमे' इति अस्य व्याख्या सथरपच्छद्धं-जत्थ-संथरं तत्थ मासकप्पो अतिरित्तो वि कज्जति,जत्थासंथरं तत्थ ण गम्मति,जत्थ पुण वासकप्पट्ठिताण ओमं हवेज्जा, ततो वासासु वि गम्मति,एस विवच्चासो । अहवा-वासकप्पट्ठिताण उ णज्जति,जहा कत्तियमग्गसिराइसु मासेसु असंथरं भविस्सति, मग्गा य दुप्पगम्मा भविस्संति,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतो वासासु चेव संथरे विवच्चासो कज्जति। असंथरे पुण कातिका। श्रोमे त्ति गतं। गश्रो कालो।

इदाणिं भावावत्रातो भएणति। तत्थ 'सेह त्ति' दारं। अस्य व्याख्या—

सिज्जादिए स उभयं, करेज्ज सेधोवधिम्मि व ममत्तं।
अवि कोऽवि ममत्तणा तु, इयरगिहत्थेसु वि ममत्तं।४०७।

सेहो—अगीयत्थो, अभिणवदिक्खिश्रो वा, सो सेज्जादिए उभयं करेज्ज, उभयं णाम—रागदोसा, आदिसद्दातो—वासकुलगामनगरदेसरज्जादयो घेप्पंति। उवहिम्मि वा वासकप्पाइए ममत्तं कुज्जा। अवि कोऽवि ममत्तणा उ चेव इतरागिहत्थेसु वि ममत्तं कुज्जा, तुसद्दो—विकप्पदरिसणे। गीयत्थो वि कुज्जा, इतरे-पासत्थादयो। चोदगाह-अगीतो अगीयत्थतणातो पासत्थगादिसु ममत्तं करेज्जा, गीतो पुण जाणमाणो, कहं कुज्जा? आचार्य्याह—

जो पुण तट्ठाणाश्रो, णिवत्तती तस्स कीरति ममत्तं।
संविग्गपक्खिश्रो वा,कज्जम्मि व जातु पडितप्पे॥४०८॥

जो इति-पासत्थो पुणसद्दो-अवधारणे, तट्ठाणं पासत्थट्ठाणं तश्रो जो पासत्थो निवत्तति तश्रो णिवत्तमाणस्स कीरइ, ममत्तं न दोषेत्यर्थः। अणुज्जमंतो वि संविग्गपक्खितो जो तस्स वा कीरइ वा ममत्तं, कज्जं णाणादिगतं गेण्हं-तस्स जो पडितप्पति पासत्थो तस्स वा ममत्तं कज्जति, कुलगणादिगं वा कज्जं तं जो साहयिस्सति पासत्थो तस्स वा ममत्तं कज्जति, एवं गीयत्थो पासत्थादिसु ममत्तं कुज्जा। 'सेहे त्ति' गतं।

इदाणिं 'गिलाणमादि त्ति' दारं अस्य व्याख्या—

पासत्थादिममत्तं, अतरंतो भेसतट्ठता कुज्जा।
अतरंताण करिस्सति, माणसिविज्जट्ठता वितरो॥४०९॥

अतरंतो-गिलाणो, सो पासत्थादिसु ममत्तं कुज्जा। कहं?, उच्यते—किं कारणं?, उच्यते—भेसयट्ठता—भेसहं—ओसहं, तं दाहिति मे तेण कुज्जा। अतरंताण वा एस करिस्सति त्ति तेण से ममत्तं कुज्जा, अतरंतपडियरगा वा जे ताण असंथरंताण वट्टिस्सति, तेण वा ममत्तं कुज्जा। मम वा गिलाणीभूयस्स वट्टिस्सति तेण वा कुज्जा। माणसिविज्जट्ठता वा ममत्तं कुज्जा, माणसिविज्जा णाम—मणसा चिंतिऊण जं जावं करेति, तं लभति, तं मे स दाहिते त्ति ममत्तं कुज्जा, आदिसद्दाश्रो-इतरो वि कुज्जा, इतरो णाम-अगिलाणो सो वि एवं कुज्जा। गिलाणे त्ति गतं।

इदाणिं 'पडिकमे त्ति' अस्य व्याख्या—

पगतीए समते सा-धुजोणिश्रो तंसि अम्ह आसण्णो।
सद्दावणामवितरे, विज्जट्ठा तूभयं सेवे॥ ४१०॥

कोइ पासत्थो पासत्थत्तणातो पडिकमिउकामो सो एवं सद्दाविज्जति, पगती-सभावो सभावतो तुमं मम प्रियेत्यर्थः। पगतीश्रो वा वणियलोहकुंभकारादश्रो तेसिं जो सम्मश्रो तस्स ममत्तं कीरति। साहुजोणीश्रो णाम-साधुपाक्षिकः, आत्मनिन्दकः उद्यतप्रसंसाकारी सो भएणति, तुमं सदाकालमेव साहुजोणिश्रो इदाणिं उज्जम अम्ह च। सो भएणति तुमं अम्ह सज्जेति ओकुलिव्वो य ते सुट्ठु भणामो, इतरो पासत्थो से एवं अन्न वयणेहिं संवज्झति, संवद्धो अब्भुट्ठेहिति। पडिक्कमे त्ति गतं। इदाणिं 'विज्ज त्ति' अस्य व्याख्या-'विज्जट्ठा उभयं सेवि त्ति'-उभयं णाम-पासत्थगिहत्था, ते विज्जामंतजोगादिणिमित्तं सेवतेत्यर्थः। केती पुण एवं पढंति-'वेज्जट्ठा उभयं सेवेति'-वेज्जो—गिहत्थो, पासत्थो वा हवेज्ज, तं श्रोलग्गेज्जा सुहं, एवं सो गिलाणे उप्पण्णे गिलाणकिरियं करिष्यतीत्यर्थः। अहवा—उभयं वेज्जणियल्लगा य। वेज्जस्स गिलाणकिरियं करेंतस्स सेवं करेज्जा, वेज्जणियल्लाण वा सेवं करेज्जा, ताणि तं वेज्जं किरियं कारयिष्यंतीत्यर्थः। 'विज्जे त्ति' गतं।

इदाणिं 'दुट्ठे त्ति' दारं अस्य व्याख्या—

परिसं व राय दुट्ठं, सयं व उवचरति तं तु रायाणं।
अण्णो वा जो दुट्ठो, सलद्धिणीए व तं एवं॥४११॥

दुट्ठं णाम-राया पदुट्ठो होज्जा, तम्मि पदुट्ठे जा तस्स परिसा सा उमयरियव्वा, श्रोलग्गं कायव्वा इति वुत्तं भवति। जो वा तं रायाणं एगपुरिसो उवसामेहिति सो वा सेवियव्वो, उवसमणलद्धिसंपण्णो वा साहू सयमेव रायाणं उवचरति, तं तु प्रद्विष्टराजानमित्यर्थः। अण्णो वा जो राजवतिरित्तो भडभोइआदि जइ पउट्ठो तं पि सलद्धिश्रो जो साहू सो पदुट्ठणीए वा से सेवेज्ज एवं पदुट्ठं णिउत्तं गिहत्थेसु वि ममत्तं कुज्जा। पदुट्ठे त्ति दारं गतं। गश्रो भावपरिग्गहो। गता परिग्गहस्स कप्पिया पडिसेवणा। (रात्रिभोजनस्य मूलगुणप्रतिसेचनां 'राइभोयण' शब्दे वक्ष्यामि)।

मूलगुणपडिसेवय-मूलगुणप्रतिसेवक-पुं०। मूलगुणाः प्राणातिपातविरमणादयस्तेषां प्रातिकूल्येन सेवको मूलगुणप्रतिसेवकः। मूलगुणप्रतिसेवनाकारके, भ० २५ श० ६ उ०।

मूलगुणरहिय-मूलगुणरहित-पुं०। पञ्चमहाव्रतान्यतरखण्डनशीले, दर्श० ४ तत्त्व।

मूलगुणविजुत्त-मूलगुणवियुक्त-त्रि०। महाव्रतरहिते, सम्यग्ज्ञानक्रियारहिते च। पञ्चा० ११ विव०। ध०।

मूलगोत्त-मूलगोत्र-न०। उत्तरगोत्रापेक्षया मूलभूतान्यादिभूतानि गोत्राणि मूलगोत्राणि। कश्यपादिपुरुषप्रभवे मनुष्यसन्ताने, स्था० ७ ठा० ३ उ०। (मूलगोत्राणि सप्त तानि 'गोत्त' शब्दे तृतीयभागे ६५४ पृष्ठे गतानि)

मूलच्छेज्ज-मूलच्छेद्य-न०। मूलेनाष्टमस्थानवर्तिना प्रायश्चित्तेन छिद्यन्ते अपनीयते यद्दोषजातं तन्मूलच्छेद्यम्। अशेषचारित्रोच्छेदकारिणि, विशे०। मूलं संमत्तं पुणसद्दो अन्नेसि वि गुणाणं जेसिं उदये मूलच्छेज्जं भवति तं वि भासियव्वं। 'मूलच्छेज्जं ति वा मूलगुणपडिवाउ त्ति वा एगट्ठा।' आ० चू० १ अ०।

मूलजाय-मूलजात-न०। जात्यादिवनस्पतौ, तेषां हि मूलत एवोत्पत्तिः। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०।

मूलट्ठाण-मूलस्थान-न०। तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानम्, मूलस्य स्थानं मूलस्थानम्। कषायाश्रये, 'जे गुणे से मूलट्ठाणे,जे मूलट्ठाणे से गुणे' इति। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।(इदं सूत्रं 'गुण' शब्दे तृतीयभागे ६०८ पृष्ठे व्याख्यातम्। उपपादयिष्यते च 'लोगसार' शब्दे संक्षेपेण)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलणय-मूलनय-पुं० । सकलनयमूलभूतेऽनन्तधर्माध्यासिते वस्तुन्येकधर्मसमर्थनप्रवणे बोधिविशेषे, सर्वज्ञशासने सकलनयमूलभूतौ द्वावेव नयौ । तद्यथा-द्रव्यास्तिकनयः, पर्यायास्तिकनयश्च । आ० म० १ अ० । (द्वावप्येतौ 'णय' शब्दे चतुर्थभागे स्वस्वस्थाने दर्शितौ)

सत्त मूलणया पएणत्ता, तं जहा-नेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूते। (सूत्र-५५२) स्था० ७ ठा० ३ उ० । अनु० । (व्याख्या स्वस्वस्थाने)

मूलणिमेण-मूलनिमेण-न० । मूलाधारे, 'मूलनिमेणं पज्जवणयस्स उज्जुसुअवयणविच्छेदो' । सम्म० १ काएड ५ गाथा । (व्याख्या ' दव्वट्ठिय ' शब्दे चतुर्थभागे २४६८ पृष्ठे गता)

मूलत्ताण-मूलत्राण-न० । 'मुलतान' इति ख्याते सिन्धुसमीपनगरे, "तेषां शिशुना वृत्तिः, स्वोपज्ञा व्यरचि विनयकुशलेन । मूलत्राणाह्वपुरे, करवाणरसेन्दुमितवर्षे ॥१॥" मएड० ।

मूलदत्ता-मूलदत्ता-स्त्री० । जाम्बवतीपुत्रस्य शाम्बस्य भार्यायाम्, अन्त० १ श्रु० ५ वर्ग २ अ० । (सा चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्धेति अन्तकृद्दशानां पञ्चमे वर्गे दशमेऽध्ययने प्रत्यपादि)

मूलदल-मूलदल-न० । आदिभूतद्रव्ये, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

मूलदलियणेम-मूलदलिकनेम-त्रि० । मूलदलमादिभूतद्रव्यं, तस्य ' नेमं ति ' निभं सदृशम् । मूलद्रव्यसदृशे, प्रश्न०४ संव०द्वार ।

मूलदेव-मूलदेव-पुं० । स्वनामख्याते उज्जयिनीराजे, उत्त०४ अ० । (' मंडिय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथोक्ता) स्वनामख्याते धूर्तवादिनि,नि० चू० १ उ० ।व्य० । दश० । सत्था० । ग० । (' धुत्तक्खाण ' शब्दे चतुर्थभागे २७५६ पृष्ठे वक्ष्यतोक्ता) अहिच्छत्रायां पार्श्वस्वामिप्रतिमावैयावृत्त्यकरे व्यन्तरदेवे, ती० ६ कल्प । 'उप्पत्तिया' शब्दोक्ते स्त्रीवश्यके पुरुषे, नं० । आ० म० । आ० क० ।

मूलधुरा-मूलधुरा-स्त्री० । सर्वासां धुरां प्रशस्तधुरि, आ० म० १ अ० ।

मूलपगडि-मूलप्रकृति-स्त्री० । ज्ञानादिकर्मणां मूलभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

मूलपढमाणुओग-मूलप्रथमानुयोग-पुं० । पूर्वभवादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः । अर्हद्वक्तव्यताप्रतिबद्धे अनुयोगभेदे, स० ।

मूलपढमाणुओगे य,गंडियाणुओगे य । से किं तं मूलपढमाणुओगे ?, एत्थ णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा देवलोगगमणाणि आउं चवणाणि जम्मणाणि अ अभिसेया रायवरसिरीओ सीयाओ पव्वज्जाओ तवा य भत्ता केवलणाणुप्पाया अ तित्थपवत्तणाणि अ संघयणं संठाणं उच्चत्तं आउं वन्नविभागो सीसा गणा गणहरा य अज्जा पवत्तणीओ संघस्स चउव्विहस्स जं वावि परिमाणं जिणमणपज्जवओहिनाणसम्मत्तसुयनाणिणो य वाई अणुत्तरगई य जत्तिया सिद्धा पाओवगआ य जे जहिं जतियाइं भत्ताइं छेअइत्ता अंतगडा मुणिवरुत्तमा तमरओघविप्पमुक्का सिद्धिपहमणुत्तरं च पत्ता, एए अन्ने य एवमाइया भावा मूलपढमाणुओगे कहिआ आघविज्जंति पएणविज्जंति परूविज्जंति । सेत्तं मूलपढमाणुओगे । स० १४७ सम० । नं० ।

मूलपत्ती-मूलपत्नी-स्त्री० । प्रधानभार्यायाम्,आ० म० १अ० ।

मूलपयत्थ-मूलपदार्थ-पुं० । कणादपरिकल्पितद्रव्यादिपदार्थेषु , द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणाः षट् मूलपदार्थाः । विशे० । " दव्वगुणकम्मसाम-न्नविसेसा छट्ठओ य समवाओ । एए मूलपयत्था, छलुगेण पकप्पिया पढमं ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ० ।

मूलपायच्छित्त-मूलप्रायश्चित्त-न० । प्राणातिपातादौ पुनर्व्रतारोपणे, आव० ५ अ० ।

मूलपिंड-मूलपिण्ड-पुं० । यदनुष्ठानाद् गर्भसातनादेर्मूलमवाप्यते तद्विधानादवाप्तो मूलपिण्डः । षोडशे उत्पादनादोषे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

मूलफल-मूलफल-न० । कन्दफलस्वरूपे व्यञ्जनभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

मूलबीय-मूलबीज-पुं० । मूलमेव बीजं येषां ते मूलबीजाः । उत्पलकन्दादिषु , स्था० ४ ठा० १ उ० । दश० । जात्यादिषु, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० । स्था० । विशे० । आ० म० । मूलकारणे , दश० ६ अ० ।

मूलभरण-मूलभरण-न० । प्रासुकरसवत्यां सचित्तक्षेपे, मूलभरणं नाम प्रासुकायां रसवत्यां राजिकादीनि बीजानि संयतार्थं यत्प्रक्षिप्यन्ते । बृ० १ उ० ।

मूलभोयण-मूलभोजन-न० । मूलं पुनर्नवादीनां तस्य तदेव वा भोजनं,भुज्यत इति भोजनम् । स्था० ६ ठा० ३ उ० । मूलानि प्रतीतानि तेषां भोजनं भक्षणं परिभोगः । मूलाहारे , दश० २ अ० ।

मूलमंत-मूलवत्-त्रि० । मूलानि प्रभूतानि दूरावगाढानि सन्त्येषामिति मूलमन्तः । विशिष्टमूलशालिषु,रा० । ज्ञा० । औ० ।

मूलय-मूलक-न० । (मूली) मूलवनस्पतौ, प्रज्ञा० १ पद । भ० । स० । आचा० ।

मूलयवच्च-मूलकवर्चस्-न० । यत्र मूलकं सटित्वा विष्ठा भवति तादृशे स्थाने, नि० चू० ३ उ० ।

मूलराय-मूलराज-पुं० । चौलुक्यवंशीये स्वनामख्याते अणहिलपत्तनराजे, " आसीद्विशांपतिरमुद्रचतुःसमुद्र-मुद्राङ्कितक्षितिभरक्षमबाहुदण्डः । श्रीमूलराज इति दुर्धरवैरिकुम्भि-कण्ठीरवः शुचिचुलुक्यकुलावतंसः ॥ १ ॥ " प्रा० ४ पाद । ती० ।

मूलवत्थु-मूलवस्तु-न० । पूर्वगतश्रुतस्याध्ययनविशेषे, स्था० १० ठा० ३ उ० । मूलकारणे, यथा-श्रावकस्य सम्यक्त्वम् , वसन्त्यस्मिन्नणुव्रतादयो गुणास्तद्भावभावित्वेनेति वस्तु,मूलभूतं द्वारभूतं च तद्वस्तु च मूलवस्तु । तथा चोक्तम्-"द्वारं मूलप्रतिष्ठान-माधारो भाजनं निधिः । " आव० ६ अ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलवागरणि(ण्)-मूलव्याकरणिन्-पुं० । श्राद्यवक्तरि, ज्ञातरि, सम्म० १ काण्ड ।

मूलविराहणा-मूलविराधना-स्त्री० । प्राणातिपातादिविराधनायाम्, इयं मूलशब्देनोच्यते । जीत० । अन्ये त्वाषाढाद्याः संवत्सरा इति तदाद्यदिने ज्येष्ठपूर्णिमानन्तरप्रतिपदि संवत्सरस्तद्दिवसे मूलनक्षत्रं भवति, ततः प्राधान्याद‌न्यत्र नक्षत्रशब्देन मूलं भणन्ति, तेन मूलविराधना—प्राणातिपातादतिचाररूपा ज्ञाप्येति । जीत० ।

मूलवीरिय-मूलवीरिक-पुं० । वैताढ्यपर्वते विद्याधरनिकायभेदे, श्रा० चू० १ अ० ।

मूलवेणी-मूलवेणी-स्त्री० । गृहच्छदनस्य मूलाधारे, " पट्टी वंसो, दो धारणाश्रो, चत्तारि मूलवेणीश्रो । " आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

मूलसंघ-मूलसङ्घ-पुं० । ज्ञानदर्शनचारित्रादिधरे कुलादिस्थविरसमुदाये, पं० भा० ।

दंसणणाणचरित्ते, जो पुव्वपरूवणे य रयणा य ।
एसो य मूलसंघो, तिविहा थेरा करणजुत्ता । पं० भा० ५ कल्प ।

कुलथेरो गुणेहिं उववेश्रो, एवं गुणसंघथेरो वि, संघथेरो नियमा जुगप्पहाणो, इयरे भइया, सो पुण एक्केक्को सीयघरसमाणो एस मूलसंघो । पं० चू० ५ कल्प ।

मूलसिप्प-मूलशिल्प-न० । कुम्भकारादिशिल्पे, " पंच मूलसिप्पाणि—कुंभकारा चित्तगारा णंतिक्का[1] कम्मागारा कासवगा, " श्रा० चू० १ अ० ।

मूलसिरी-मूलश्री-स्त्री० । कृष्णवासुदेवपुत्रस्य साम्बस्याग्रमहिष्याम्, अन्त० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवतीनगरीए रेवतके नंदणवणे कण्हे वासुदेवे, तत्थ णं बारवतीए नयरीए कण्हस्स वासुदेवस्स पुत्ते जंबवतीए देवीए अत्तत्ते संबे नामं कुमारे होत्था, अहीण०, तस्स णं संबस्स कुमारस्स मूलसिरि नामं भारिया होत्था । वन्नश्रो-अरहा समोसढे कण्हे णिग्गते मूलसिरी वि णिग्गया जहा पउमा० नवरं देवाणुप्पिया ! कण्हं वासुदेवं आपुच्छामि ०जाव सिद्धा । एवं मूलदत्ता वि । (सूत्र० ११) । अन्त० १ श्रु० ५ वर्ग २ अ० ।

मूलहर-मूलहर-पुं० । यः पितृपैतामहोपार्जितमर्थमन्यायेन भक्षयति । तस्मिन्, ध० १ अधि० ।

मूला-मूला-स्त्री० । कौशाम्ब्यां नगर्यां धनवाहश्रेष्ठिभार्यायाम् श्रा० म० १ अ० । आ० चू० । (' वीर ' शब्दे विहारप्रस्तावे तत्कथा)

मूलाबीय-मूलाबीज-न० । शाकविशेषबीजेषु, भ०६ श०७ उ० ।

मूलारिह-मूलार्ह-न० । यस्य चासेवनायां सर्वपर्यायमपनीय पुनर्महाव्रतारोपणं क्रियते तन्मूलार्हम् । प्रायश्चित्तभेदे, जीत० ।

अधुना मूलार्हं गाथाचतुष्टयेनाह । कलापकम्—

आउट्टियाइ पंचि-दियघाए मेहुणे य दप्पेणं ।
सेसेसुक्कोसाभि-क्खसेवणाईसु तीसुं पि ॥ ८३ ॥
तवगव्वियाइएसु व, मूलुत्तरदोसवइयरगएसुं ।
दंसणचरित्तवंतो, चियत्तकिच्चे य सेहे य ॥ ८४ ॥
अच्चंतोसन्नेसु य, परलिंगदुगे य मूलकम्मे य ।
भिक्खुम्मि य विहियतवो-ऽणवट्ठपारंचियं पत्ते ॥८५॥
छेएण उ परियाए, ऽणवट्ठपारंचियासु साणे य ।
मूलं मूलावत्तिसु, बहुसो य पसज्जश्रो भणियं ॥ ८६ ॥

(आकुट्टिकया) पञ्चेन्द्रियघाते मैथुनं दर्पेणासेवते सतीत्वमस्या नाशयामीति बुद्ध्या स्त्रीसेवनायां, शेषेषु मृषावादादत्तादानपरिग्रहेषु त्रिष्वप्याकुट्टिकया उत्कर्षतोऽभीक्ष्णं वा पुनः पुनरासेवनादिषु आदिशब्दादनाकुट्टिकया पञ्चानामप्येषां कारणानुमत्योश्च मूलम् । तथा तपोगर्वितादिषु च तपोगर्विततपोऽसमर्थतपोऽश्रद्दधानतपोभिरदम्यमानेषु चतुर्ष्वप्येतेषु मूलोत्तरदोषव्यतिकरगतेषु मूलगुणा उत्तरगुणाश्च बहुप्रकारास्तेषां दोषो दूषणं भङ्गकरणं तस्य व्यतिकरः संपर्कस्तं गतेषु बहुशो मूलोत्तरगुणभङ्गकारिष्वित्यर्थः । वान्तदर्शनचारित्रे—इह दर्शने वान्ते नियमाच्चारित्रं वान्तमेव, चारित्रे पुनर्वान्ते दर्शने भजना—वान्तचारित्रोऽपि दर्शनं वमति, कोऽपि न वमति । ततो वान्तदर्शने वान्तचारित्रे च, त्यक्तानि कृत्यानि दशविधचक्रवालसामाचारीरूपाणि सर्वाणि येन स त्यक्तकृत्यस्तस्मिन्, शैक्षे च नवदीक्षितेऽनुपस्थापिते एतेषु च सर्वेषु मूलम् ॥ तथाऽत्यन्तावसन्नेषु च आसन्ना एव प्रव्राजिताः संविग्नैर्वा प्रव्राजितमात्रा एवावसन्नतया विहृतास्तेऽत्यन्तावसन्नास्तेषु परलिङ्गद्विके—परलिङ्गं गृहस्थलिङ्गं कच्छाबन्धनादिगृहस्थवेषरूपम्, अन्यतीर्थिकलिङ्गं वा तापसादिवेषरूपं तयोराकुट्टिकया दर्पेण वा स्वयं करणे, मूलकर्मणि च औषधादीनां स्त्रीणां गर्भाधानशाटनकरणरूपे, भिक्षौ च विहिततपसि-विहित दत्तं गुरुभिस्तपोरूप प्रायश्चित्तं यस्य तस्मिन् एवमङ्गीकृततपःप्रायश्चित्ते पुनरपि छेदमूलेऽतिक्रम्य तथाविधातिचारसेवनयाऽनवस्थाप्यं पाराञ्चिकं चापि प्राप्ते मूलम् । कोऽर्थः—भिक्षोर्नवमदशमप्रायश्चित्तापत्तावपि मूलमेव प्रायश्चित्तं भवति, आचार्योपाध्याययोस्तु पाराञ्चिकापत्तावप्यनवस्थाप्यमेव । यदुक्तं भाष्ये—

" इत्थ य जह नवदशमे, आवन्नस्सावि भिक्खुणो मूलं ।
दिज्जइ तहाभिसेगे, परं पयं होइ नवमं तु ॥ १ ॥ "

अभिषेकशब्देनाचार्योपाध्यायावुच्येते । परमत्राचार्यस्याकृतकरणस्य उपाध्यायस्य च कृतकरणस्यैतत् ज्ञेयं कृतकरणाचार्यस्यान्त्यप्रायश्चित्तप्रतिभणनात् । तथा छेदेन पुनः पुनरतीचारमाश्रित्य क्रियमाणेन व्रतपर्याये निरवशेषेऽपि छिन्ने इति शेषः, मूलम् ॥ अनवस्थाप्यपाराञ्चिकावसाने च अनवस्थाप्यपाराञ्चिकयोरनुष्ठितयोरनन्तरं पुनस्तथाविधातिचारसेवनया तदापत्तावपि मूलमेव दीयते । मूलापत्तिषु उपचारान् मूलापत्तिकारणेष्वतीचारेषु बहुशश्च प्रसजतः पुन पुनः प्रसक्तिं कुर्वाणस्य मूलम्, एतेषु यथोक्तस्थानेषु सर्वेषु

[1] णंतिक्का-वस्त्रकर्तारः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलं-मूलार्हप्रायश्चित्तं भणितम् ॥८३॥८४॥८२॥८६॥ जीत०। स्था०। औ०। व्य०।

मूलाहार-मूलाहार-पुं०। मूलमात्राहारे वनस्पतौ,ति०। औ०।

मूलिय-मौलिक-न०। मूले भवं मौलिकम्। मूलद्रव्ये, उत्त० ७ अ०। मूलधने, उत्त० ७ अ०।

मूलुत्तरगुणब्भट्ठ-मूलोत्तरगुणभ्रष्ट-त्रि०। मूलगुणाः-प्राणातिपातविरमणादयः, उत्तरगुणाः-पिण्डविशुद्ध्यादयस्तेभ्यो भ्रष्टः। मूलोत्तरगुणाभ्यां पतिते, ग० १ अधि०।

मूलुप्पत्ति-मूलोत्पत्ति-स्त्री०। आद्योत्पत्तौ, नि० चू० १ उ०।

मूसअ-मूषिक-पुं०। पथि-पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-बिभीतकेष्वत् ॥८।१।८८॥ इत्यनादेरिकारस्याकारः। मूसओ। प्रा०। आ० म०। आ० क०। उन्दुरौ, उत्त० ३२ अ०। स्था०। कल्प०। उन्दुरुविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। प्रज्ञा०।

मूसगविज्जा-मूषिकविद्या-स्त्री०। मूषिकप्रधाना विद्या मूषिकविद्या। परिव्राजकविकुर्वितमूषिकसहस्रकारिणि विद्याभेदे, आ० म० १ अ०। विशे०। कल्प०। आ० क०।

मूसरी-देशी-भग्ने, दे० ना० ६ वर्ग १३७ गाथा।

मूसल-देशी-पीने, दे० ना० ६ वर्ग १३७ गाथा।

मूसा-मूषा-स्त्री०। स्वर्णादितापनभाजनविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। मृण्मयभाजने,यत्र सुवर्णकारेण सुवर्णं प्रक्षिप्य गाल्यते। कल्प० १ अधि० २ क्षण। ज्ञा०। भ०। लघुद्वारे, दे० ना० ६ वर्ग १३७ गाथा।

मूसाअ-देशी-लघुद्वारे, दे० ना० ६ वर्ग १३७ गाथा।

मूसागय-मूसागत-त्रि०। मृण्मयभाजनविशेषगते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० "मूसागयपवरकणगताविर्यं" मूसा-स्वर्णादितापनभाजनं तद्गतं यत्प्रवरकनकं तापितं कृताग्नितापम् यत्तत्तथा। भ० ११ श० ११ उ०। कल्प०।

मूसिया-मूषिका-स्त्री०। मूषिकजातिस्त्रियाम्,जी०२ प्रति०।

मूसियार-मूषिकार-पुं०। पोट्टिलापत्युः कलादस्य पितरि, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०।

मूसियारि-मूषिकारी-पुं०। मार्जारे, आचा०।

मे-अस्मद्-ङस्-अव्य०। मे मइ मम मह महं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं ङसा ॥ ८।३।११३॥ अस्मदो ङसा सह एते नवाऽऽदेशा भवन्ति। इति मे आदेशः। गमेत्यर्थे, प्रा०। मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा ॥ ८।३।१०६॥ अस्मदः टा सह एते नवाऽऽदेशा भवन्ति। मयेत्यर्थे, प्रा०। प्रश्न०। ननु मे इत्यस्य मम मह्यं चेति व्याख्यानमुचितं षष्ठीचतुर्थ्योरेवैकवचनान्तस्यास्मत्पदस्य मे इत्यादेशादिति?, अत्रोच्यते—मे इत्ययं विभक्तिप्रतिरूपकोऽव्ययशब्दस्तृतीयैकवचनान्तोऽस्मच्छब्दार्थे वर्त्तते इति न दोषः। स्था० १ ठा०।

मेअ-मेद-पुं०। अनार्यदेशभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

मेअज्ज-मेतार्य-पुं०। श्रीवीरजिनस्य दशमगणधरे, विशे०। आव०। आ० म०। स०। विशे०। कल्प०। अस्य कथानकम्—साएते णगरे चंडवडंसओ राया तस्स, दुवे पत्तीओ—सुदंसणा पियदंसणा य। तत्थ सुदंसणाए दुवे पुत्ता—सागरचंदो, मुणिचंदो य। पियदंसणाए वि दो पुत्ता—गुणचंदो, बालचंदो य। सागरचंदो जुवराया, मुणिचंदस्स उज्जेणी दिण्णा कुमारभुत्तीए। इओ य चंडवडंसओ राया माहमासे पडिमं ठिओ वासघरे जाव दीवगो जलइ त्ति,तस्स सेज्जावाली चिंतेइ दुक्खं सामी अंधतमसे अच्छिहिति ताए बितिए जामे विज्झायंते दीवगे तेल्लं छूढं, सो ताव जलिओ जाव अद्धरत्तो, ताहे पुणो वि तेल्लं छूढं ताव जलिओ जाव पच्छिमपहरो, तत्थ वि छूढं, ततो राया सुकुमारो विहायंतीए रयणीए वेयणाभिभूओ कालगओ। पच्छा सागरचंदो राया जाओ। अण्णया सो माइसवत्तिं भणइ—गेण्ह रज्जं पुत्ताण ते भवउ त्ति, अहं पव्वयामि, सा णेच्छइ एएण रज्जं आयत्तं ति। तओ सा अतिज्जाणनिज्जाणेसु रायलच्छीए दिप्पंतं पासिऊण चिंतेइ-मए पुत्ताण रज्जं दिज्जंतं ण इच्छियं, ते वि एवं सोभन्ता, इयाणिं वि णं मारेमि। छिद्दाणि मग्गइ। सो य छुहालू, तेण सूतस्स संदेसओ दिण्णो। एत्तो चेव पुव्वण्हियं पट्ठविज्जासि, जइ विरावेमि। सूएण सीहकेसरओ मोदओ चेडीए हत्थेण विसज्जिओ। पियदंसणाए दिट्ठो, भणइ—पेच्छामि णं ति, तीए अप्पितो, पुव्वं णाए विसमक्खियया हत्था कया। तेहिं सो विसेण मक्खिओ। पच्छा भणइ-अहो सुरभी मोयगो त्ति पडिअप्पिओ। चेडीए ताए गंतूण रण्णो समप्पिओ। ते य दो वि कुमारा रायसगासे अच्छंति, तेण चिंतियं—किह अहं एतेहिं छुहाइएहिं खाइस्सं?, तेण दुहा काऊण तेसिं दोण्हं वि सो दिण्णो। ते खाइउमारद्धा, जाव विसवेगा आगंतुं पवत्ता, राइणा संभंतेण वेज्जा सद्दाविता, सुवण्णं पाइया, सज्जा जाया। पच्छा दासी सद्दाविया, पुच्छिया भणइ—ण केण वि दिट्ठो, णवरं एयाणं मायाए परामुट्ठो। सा सद्दाविया भणिया-पावे! तदा णेच्छसि रज्जं दिज्जंतं, इयाणिमिमणाऽहं ते अकयपरलोयसंबलो संसारे छूढो होंतो त्ति, तेसिं रज्जं दाऊण पव्वइओ। अण्णया संघाडओ साहूण उज्जेणीओ आगओ। सो पुच्छिओ—तत्थ णिरुवसग्गं?, ते भणंति—णवरं रायपुत्तो पुरोहियपुत्तो य बाहिन्ति पासंडत्थे साहुणो य सो गओ अमरिसेणं तत्थ, विस्सामिओ साहूहिं, ते य संभोइया साहू, भिक्खावेलाए भणिओ-आणिज्जउ, भणइ अत्तलाभिओ अहं, णवरं ठवणकुलाणि साहह। तेहिं से चेल्लओ दिण्णो, सो तं पुरोहियघरं दंसित्ता पडिगओ। इमो वि तत्थेव पइट्ठो वड्डवड्डेण सद्देणं धम्मं लाभेइ, अंतउरिआओ निग्गयाओ हाहाकारं करेंतीओ, सो वड्डवड्डेणं सद्देणं भणइ—किं एयं साविए त्ति, ते णिग्गया बाहिं बारं बंधंति, पच्छा भणंति—भगवं! पणच्चसु, सो पडिग्गहं ठवेऊण पणच्चिओ। ते ण याणंति वाएउं, भणंति—जुज्झामो, दोवि एक्कसरा ते आगया। मम्मेहिं आहया, जहा जंताणि तहा खलखलाविआ। तओ णिसिट्ठं हणिऊण बाराणि उग्घाडित्ता गओ। उज्जाणे अच्छति, राइणो कहियं। तेण मग्गाविओ। साहू भणंति—पाहुणओ आगओ, ण याणामो, गवेसंतेहिं उज्जाणे दिट्ठो। राया

१—स्थास्यति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गओ खामिओ य, णेच्छइ मोत्तुं, जइ पव्वयंति तो मुयामि। ताहे पुच्छिया, पडिसुयं। एगत्थ गहाय चालिया जहासट्ठाणे ठिया संधिणो लोयं काऊण पव्वाविया। रायपुत्तो सम्मं करेति मम पित्तियत्तो त्ति, पुरोहियसुयो दुगंछइ—अम्हे एएण कवडेण पव्वाविया। दो वि मरिऊण देवलोगं गया, संगरं करेंति—जो पढमं चयइ तेण सो संबोहेयव्वो, पुरोहियसुओ चइऊण तीए दुगंछाए रायगिहे मेईए पोट्टे आगओ। तीसे सिट्ठिणी वयंसिया, सा किह जाया ? सा मंसं विक्किणइ, ताए भण्णइ—मा अण्णत्थ हिंडाहि, अहं सव्वं किणामि, दिवसे २ आणेइ। एवं तासिं पीई घणा जाया, तेसिं चेव घरस्स समोसीयाणि ठियाणि। सा य सेट्ठिणी णिंदू, ताहे मेईए रहस्सियं चेव तीसे पुत्तो दिण्णो, सेट्ठिणीए धूया मइया जाया। सा मेईए गहिया, पच्छा सा सेट्ठिणी तं दारगं मेईए पाएसु पाडेति, तुब्भ पभावेण जीवउ त्ति, तेण से नामं कयं मेयज्जो त्ति। संवड्ढिओ,कलाओ गाहिओ,संबोहिओ देवेण, ण संबुज्झइ, ताहे अट्ठण्हं इब्भकण्णगाणं एगदिवसेण पाणी गेण्हाविओ। सिवियाए णगरिं हिंडइ, देवो वि मेयं अणुपविट्ठो रोइउमारद्धो, जइ मम वि धूया जीवंतिया तीसे वि अज्ज विवाहो कओ होंतो, भत्तं च मेताण कयं होंतं। ताहे ताए मेईए जहावत्तं सिट्ठं, तओ रुट्ठो देवाणुभावेण य ताओ सिवियाओ पाडिओ तुमं असरिसीओ परिणेसि त्ति खड्डाए छूढो। ताहे देवो भणइ—किह ?, सो भणइ—अवण्णो। भणइ—एत्तो मोएहि किंचि कालं अच्छामि वारस वरिसाणि, तो भणइ—किं करेमि ?, भणइ—रण्णो धूयं दवावेहि, तो सव्वाओ अकिरियाओ ओहाडियाओ भविस्संति। ताहे से छगलओ दिण्णो, सो रयणाणि वोसिरइ,तेण रयणाण थालं भरियं। तेण पिया भणिओ रण्णो धूयं वरेहि, रयणाणं थालं भरेत्ता गओ। किं मग्गसि ?—धूयं, णिच्छूढो, एवं थालं दिवसे २ गेण्हइ, ण य देइ। अभओ भणइ—कओ रयणाणि ?, सो भणइ—छगलओ हगइ। अम्ह वि दिज्जउ,आणीओ। मडगगंधाणि वोसिरइ। अभओ भणइ—देवाणुभावो। किं पुण ?, परिक्खिज्जउ, किह ?, भणइ—राया दुक्खं वेभारपव्वतं सामिं वंदिउं जाति, रहमग्गं करेहि। सो कओ, अज्ज वि दीसइ। भणिओ-पागारं सो वण्णं करेहि, कओ। पुणो वि भणिओ-जइ समुद्दं आणेसि तत्थ ण्हाओ सुद्धो होहिसि तो ते दाहामो। आणीओ, वेलाए ण्हाविओ, विवाहो कओ सिवियाए हिंडंतेण, ताओ वि से अण्णाओ आणियाओ। एवं भोगे भुंजति बारस वरिसाणि, पच्छा बोहितो। महिलाहि वि बारस वरिसाणि मग्गियाणि, दिण्णाणि य, चउव्वीसाए वासेहिं सव्वाणि वि पव्वइयाणि, णवपुव्वी जाओ। एकल्लविहारपडिमं पडिवण्णो। तत्थेव रायगिहे हिंडइ, सुवण्णकारगिहमागओ। सो य सेणियस्स सोवण्णियाणं जवाणमट्ठसतं करेइ, चेइयच्चणियाए परिवाडीए सेणिओ कारेइ तिसंझं। तस्स गिहं साहू अइगओ। तस्स एगाए वायाए भिक्खा ण णीणिया, सो य अइगओ। ते य जवा कोंचएण खाइया, सो आगओ ण पेच्छइ। रण्णो य चेतियच्चणियवेला ढुक्कइ, अज्ज अट्ठिखंडाणि कीरामि त्ति, साधुं संकइ। पुच्छइ, तुण्हिक्को अच्छइ। ताहे सीसावेढेण बंधति, भणिओ य—साहजेण गहिया। तहा आवेढिओ जहा अच्छीणि भूमीए पडियाणि। कोंचओ य दारुं फोडेंतेण सिलिंकाए आहओ गलए। तेण वन्ता, लोगो भणइ पाव ! एए ते जवा, सो वि भगवं कालगओ सिद्धो य। लोगो आगओ, दिट्ठो मेतज्जो, रण्णो कहियं, वज्झाणि आणत्ताणि, दारं ठइत्ता पव्वइयाणि भणंति—सावग ! धम्मेण वड्ढाहि, मुक्काणि। भणइ—जइ उप्पव्वयह तो भे कविल्लीए[1] कड्ढेमि, एवं समइमं अप्पए य परे य कायव्वं।

तथा च कथानकार्थैकदेशप्रतिपादनायाह—

जो कोंचगावराहे, पाणिदया कोंचगं तु णाइक्खे।
जीवियमणपेहंतं, मेयज्जरिसिं णमंसामि ॥ ८६९ ॥

यः क्रौञ्चकापराधे सति प्राणिदयया 'क्रोञ्चकं तु' क्रोञ्चकमेव न आचष्टे, अपि तु स्वप्राणत्यागं व्यवसितः, तमनुकम्पया जीवितमनपेक्षमाणं मेतार्यऋषिं नमस्य इति गाथार्थः ॥ ८६९ ॥

णिप्फेडियाणि दोण्णि वि, सीसावेढेण जस्स अच्छीणि।
ण य संजमाउ चलिओ,मेयज्जो मंदरगिरि व्व ॥ ८७० ॥

निष्कासिते भूमौ पातिते द्वे अपि शिरोवन्धनेन यस्याक्षिणी एवमपि कदर्थ्यमानोऽनुकम्पया 'न च'-नैव संयमाच्चलितो यस्तं मेतार्यऋषिं नमस्य इति गाथाभिप्रायः ॥ ८७० ॥ आव० १ अ०। स्था०। ('परलोग' शब्दे 'परभव' शब्दे च पञ्चमभागे एतद्वक्तव्यतोक्ता) गोत्रविशेषप्रवर्तके ऋषौ, यदन्वये पेढालपुत्रश्चासीत्। सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। धान्ये, दे० ना० ६ वर्ग १३८ गाथा।

मेअर-देशी—असहने, दे० ना० ६ वर्ग १३८ गाथा।

मेअलकन्ना-मेकलकन्या-स्त्री०। नर्मदायाम्, "मेकलकन्ना-य नम्मया रेवा" पाइ० ना० १३० गाथा।

मेइणी-मेदिनी-स्त्री०। क्षितौ, पृथिव्याम्, अनु०। प्रश्न०। आव०। "वसुहा वसुंधरा वसुमई मही मेइणी धरा धरिणी" पाइ० ना० २६ गाथा।

मेंठ-देशी—हस्तिपके, दे० गा० ६ वर्ग १३८ गाथा।

मेंठी-देशी—मेण्ढ्याम्, दे० ना० ६ वर्ग १३८ गाथा।

मेंढ-मेढ्र-न०। पुरुषचिह्ने, ग० १ अधि०। अङ्गादाने, वृ० ४ उ०। मेषे, स्था० ४ ठा० २ उ०। आ० म०।

मेंढयमुह-मेण्ढ्रकमुख-पुं०। स्वनामख्याते अन्तरद्वीपे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। नं०। प्रज्ञा०। उत्त०। ('अंतरदीव'शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

मेख-मेघ-पुं०। चूलिका-पैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ ॥ ८।४।३२५॥ यथासंख्यं भवतः। इति घस्य खः। मेघः। मेखो। जलदे, प्रा० ४ पाद।

मेखला-मेखला-स्त्री०। खस्य माला मेखलेति निरुक्तम्। अनु०। कटिसूत्रे, कट्याभरणे च। वाच०।

मेघंकरा-मेघङ्करा-स्त्री०। नन्दनवने नन्दनकूटवास्तव्यायां विदिक्कुमार्याम्, स्था० ६ ठा० ३ उ०। आचा०। आ० म०। ति०।

[1]—कटाहे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेघघणसंणिगास–घनमेघसन्निकाश–त्रि० । घनमेघसदृशे, सान्द्रजलदसमाने कालके, भ० २ श० १ उ० । जं० ।

मेघमाला–मेघमाला–स्त्री० । स्वनामख्यातायां वासुपूज्यसमयजातायामार्थिकायाम्, महा० ।

थेवाणं पि निविंत्ति जो, मणसा वि विराहए ।
सो मओ दुग्गइं गच्छे, मेघमाला जहऽऽज्जिया ।
मेघमालिज्जिया नाह !, जाणिमो भुव (ण) बंधव ! ।
मणसा वि निविंत्ति जा, खंडिउं दुग्गइं गया ।
वासुपुज्जस्स तित्थम्मि, भोलाणं कालगच्छवी ।
मेघमालिज्जिया आसि, गोयमा ! मणदुब्बला ।
सा नियमागासपक्खं, दाउं भिक्खाय निग्गया ।
अन्नओ णत्थि नीसारं, मंदिरोवरि संठिया ।
आसन्नमंदिरं अन्नं, लंघित्ता गंतुमिच्छुगा ।
मणसा चिंतते जाव, ताव पज्जलिया दुवे ।
नियमस्स भंगदोसेणं, डज्झित्ता पढमियं गया ।
एयं नायं सुहुमं पि, नियमं मा विराहिह ।
जं छिज्जा अक्खयं सोक्खं, अणंतं च अणोवमं ।
तवसंजमे वएसुं च, नियमो दंडनायगो ।
तमेव खंडमाणस्स,ण वए णो व संजमे । महा० ६ अ० ।

मेघमालि(ण्)–मेघमालिन्–पुं० पार्श्वस्वामिद्रुहि कमठासुरे जीवे, मेघकुमारजीवे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । (स्वामी प्रव्रज्यैकदा विहरन् तापसाश्रमे कूपसमीपे स्थितः, इहैव मेघमाली सुराधमः श्रीपार्श्वदेवमुपद्रोतुमागतः । 'पास ' शब्दे पञ्चमभागे ६०१ पृष्ठे आख्यानकमुक्तम्)

मेघमालिनी–मेघमालिनी–स्त्री० । ऊर्ध्वलोकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० । जं० ।

मेघवई–मेघवती–स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतनन्दनवनस्य पूर्वसिद्धायतनादेव दक्षिणतो दक्षिणपूर्वप्रासादात् उत्तरतो मन्दरकूटवासिन्यां दिक्कुमार्याम्, स्था० ६ ठा० । जं० ।

मेघविजय–मेघविजय–पुं० । हैमशब्दानुशासनोपरि चन्द्रप्रभानामटीकाकृति स्वनामख्याते उपाध्याये, जै० इ० ।

मेघाघास–मेघाघास–पुं० । कल्किनृपपुत्रदत्तस्य पौत्रे, कल्किनृपस्य–पुत्रो दत्तस्तस्य जितशत्रुस्तस्य च मेघाघास इति क्रमः । ति० । ती० ।

मेच्छ–म्लेच्छ–पुं० । अनार्यमनुष्ये, आ० म० १ अ० ।

मेच्छिय–म्लेच्छित–पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

मेज्ज–मेय–त्रि० । कुडवादिप्रमेये, ज्यो० २ पाहु० । मीयतेऽनेनेति मेयम् । माने, हस्ते, अनु० । ज्यो० । मेज्जं जं माणेणं पत्थगमातिणा मितिज्जति तं च तंडुलतेल्लघयमादि । नि० चू० १ उ० । मेज्जं लक्खघततेल्लादि । आ० चू० ६ अ० । मेयं यत् सेतिकापळादिना मीयते । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

मेज्झ–मेध्य–त्रि० । मेधोपकारिणि, आव० ३ अ० ।

मेडंभ–देशी–मृगतन्तौ, दे० ना० ६ वर्ग १३८ गाथा ।

मेढ–देशी–वणिक्सहाये, दे० ना० ६ वर्ग १३८ गाथा ।

मेढगमुह–मेषकमुख–पुं० । स्वनामख्याते अन्तरद्वीपे, अनार्यक्षेत्रभेदे च । स्था० ४ ठा० २ उ० । सूत्र० । ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

मेढविसाण–मेषविषाण–न० । मेषशृङ्गे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

मेढविसाणा–मेषविषाणा–स्त्री० । मेषशृङ्गसमानफलायां वनस्पतिजातौ, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

मेढि–मेथि–स्त्री० । मेथि–शिशिर–शिथिल–प्रथमे थस्य ढः ॥ ८ । १ । २१५ ॥ इति थस्य ढो भवति । हापवादः । मेढी । (मेथी) । शाकभेदे, प्रा० । खलकमध्यवर्तिन्यां स्थूणायाम्, यस्यां नियमिता गोपङ्क्तीर्धान्यं ग्राहयति, रा० । व्य० । भ० । ज्ञा० ।

मेढीभूय–मेढीभूत–पुं० । मेढ्युपमे, मेढीसदृशे, सर्वेषामर्थानां चिन्तके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

मेणाग–मेनाक–पुं० । समुद्रमध्यपर्वते, " वज्रात्त्रातः समुद्रेण, मैनाकोऽस्यानुजो गिरिः । " ती० ७ कल्प ।

मेत्ता–मात्रा–स्त्री० । लक्षणे, प्रव्रज्यालक्षणं द्रव्यलिङ्गमात्रमिति । नि० चू० १३ उ० । तुल्यत्वे, मात्राशब्दस्तुल्यवाची । नि० चू० २० उ० । (अत्रार्थे विशेषः'माया'शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः)

मेत्ताइभावसम्मिस्स–मैत्र्यादिभावसंमिश्र–त्रि० । मैत्र्यादिभावैः संमिश्रे, ध० १ अधि० । ('धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६६६ पृष्ठे विस्तरोऽत्र गतः)

मेत्ताइसंगय–मैत्र्यादिसङ्गत–त्रि० । मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षासङ्गते, षो० ८ विव० ।

मेत्ती–मैत्री–स्त्री० । प्रीतौ, षो० ।

एताश्चतुर्विधा इत्युक्तं तदेव चातुर्विध्यं प्रत्येकमभिधातुमाह–

उपकारिस्वजनेतर–सामान्यगता चतुर्विधा मैत्री ।
मोहासुखसंवेगा–न्यहितयुता चैव करुणेति ॥ ६ ॥

उपकारी च स्वजनश्चेतरश्च सामान्यं च । एतद्गता एतद्विषया चतुर्विधा–चतुर्भेदा मैत्री भवति । उपकर्तुं शीलमस्येत्युपकारी, उपकारं विवक्षितपुरुषसम्बधिनमाश्रित्य या मैत्री लोके प्रसिद्धा सा प्रथमा । स्वकीयो जनो नालप्रतिबद्धादिस्तस्मिन्नुपकारमन्तरेणापि स्वजन इत्येव या मैत्री तदुद्धरणादिरूपा प्रवर्त्तते सा द्वितीया । इतरः प्रतिपन्नः पूर्वपुरुषप्रतिपन्नेषु वा स्वजनसम्बन्धनिरपेक्षा या मैत्री सा तृतीया । सामान्ये सामान्यजने सर्वस्मिन्नेवाऽपरिचितेऽपि हितचिन्तनरूपा प्रतिपन्नत्वसम्बन्धनिरपेक्षा चतुर्थी मैत्री । मोहश्चासुखं च संवेगश्चान्यहितं च तैर्युता चैव समन्विता चैव करुणेति करुणा भवति । मोहोऽज्ञानं तेन युता ग्लानापथ्यवस्तुमार्गणप्रदानाभिलाषरूपा प्रथमा । असुखं सुखाभावो यस्मिन् प्राणिनि दुःखिते सुखं नास्ति तस्मिन्याऽनुकम्पा लोकप्रसिद्धा आहारवस्त्राशयनासनादिप्रदानलक्षणा सा द्वितीया । संवेगो मोक्षाभिलाषस्तेन सुखितेष्वपि सत्त्वेषु प्रीतिमत्तया सांसारिकदुःखप–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रित्राण्च्छा छद्मस्थानां या स्वभावतः प्रवर्त्तते सा तृतीया । अन्यहितयुता सामान्येनैव प्रीतिमत्तासम्बन्धविकलेष्वपि सर्व्वेष्वेवान्येषु सत्त्वेषु केवलिनामिव भगवतां महामुनीनां सर्व्वानुग्रहपरायणा हितबुद्ध्या चतुर्थी करुणा ॥ ६ ॥ षो० १३ विव० । कायोपशमे, आ० चू० ४ अ० ।

मेत्तीवंदन–मैत्रीवन्दन–न० । वन्दनकदोषभेदे, मेत्तीए समन्वितो त्ति । अहवा मेत्ती तेण समं कातुं मग्गति । आ० चू० ३ अ० । मैत्रीमाश्रित्य कश्चिद्वन्दते, आचार्येण सह मैत्रीं प्रीतिमिच्छन् वन्दते इत्यर्थः । तदिद मैत्रीवन्दनकमुच्यते । प्रव० २ द्वार ।

मेत्तुंडक–मेत्तुण्डक–न० । स्वनामख्याते तीर्थकरे स्थाने, यत्र वीरतीर्थकरप्रतिमा पूज्यते । ती० ४३ कल्प ।

मेद–मेदस्–न० । वशायाम्, स० । प्रज्ञा० ।

सेद–त्रि० । वन्यमनुष्यजातिभेदे, ती० ३१ कल्प ।

मेदपल्ली–भेदपल्ली–स्त्री० । मेदानां पल्ली मेदपल्ली । मेदानामावासभूतायां मालवदेशान्तर्वर्तिमङ्गलपुरप्रत्यासन्नायां महाटव्याम्, ती० ३१ कल्प । (तत्रत्याभिनन्दनदेवस्य प्रतिमाभङ्गोऽदर्शि ' अहिनंदण ' शब्दे प्रथमभागे ८८६ पृष्ठे)

मेधुणिया–मैथुनिकी–स्त्री० । मातुलदुहितरि, तत्थ मेधुणिया–माउलदुहिया । नि० चू० १ उ० ।

मेय–मेदस्–न० । अस्थिकृति शरीरस्य चतुर्थधातौ, उत्त० ७ अ० । तं० । प्रश्न० । ज्ञा० । म्लेच्छभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । स्था० ।

मेयप्पमाण–मेयप्रमाण–न० । कुडवादिमाने, ज्यो० ।

संप्रति मेयप्रमाणमाह—

तिन्नि उ पलाणि कुलवो, करिसऽद्धं चेव होइ बोधव्वो ।
चत्तारि चेव कुलवा, पत्थो पुण मागहो होइ ॥ २५ ॥
चउपत्थमाढगं पुण, चत्तारि य आढगाणि दोणो उ ।
सोलसदोणा खारी, खारीओ वीसई वाहो ॥ २६ ॥

इह कुलवो मागधदेशप्रसिद्धो यदा धरिमप्रमाणेन मातुमिष्यते तदा स त्रीणि पलानि एकस्य च कर्षस्य पलचतुर्भागरूपस्यार्द्धं बोद्धव्यः । चत्वारश्च कुडवा एकत्र पिण्डिता एकः प्रस्थो मागधो भवति । सोऽपि च धरिमप्रमाणचिन्तायां सार्द्धानि द्वादश पलान्यवगन्तव्यः ॥ २५ ॥ (चउपत्थमित्यादि) चत्वारः प्रस्थाः समाहृताश्चतुःप्रस्थसमुदायमेकमाढकं गणितज्ञा वदन्ति । तत्रापि तोल्यत्वचिन्तायां पञ्चाशत्पलान्यवसेयानि, चत्वारः पुनराढकाः समुदिता एको द्रोणः तत्रापि च द्रोणे पलपरिमाणचिन्तायां द्वे पलशते वेदितव्ये षोडश च द्रोणा एकत्र समुदिता एका खारी, तस्यां च खार्यां पलानि द्वात्रिंशत् शतानि भवन्ति । विंशतिश्च खार्य एकत्र पिण्डिता एको वाहस्तस्मिंश्च वाहे धरिमप्रमाणचिन्तायां चतुःषष्टिः पलानां सहस्राणां संख्या ॥ २६ ॥ ज्यो० २ पाहु० ।

मेयारिय–मेतार्य–पुं० । राजगृहे गुणशिलकचैत्यप्राकारकारके, ती० ।

" क्षितिप्रतिष्ठचणक–पुरर्षभपुराभिधम् ।
कुशाग्रपुरसंज्ञं च, क्रमाद्राजगृहाऽऽह्वयम् ॥ १४ ॥
अत्र चासीद् गुणशिलं, चैत्यं शैत्यकसंनिभम् ।
श्रीवीरो यत्र समवा–सरच्च गणनायकः ॥ १५ ॥
प्राकारं यत्र मेतार्यः, शातकौम्भमचीकरत् ।
सुरेण प्राप्य सुहृदा, मार्गे स्वाजीहयत्स्वकम् ॥१६॥ "

ती० १० कल्प । वीरजिनस्य दशमगणधरे, कल्प०१ अधि० ६ क्षण । आ० म० । (' मेअज्ज ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता)

मेरग–मेरक–पुं० । वनस्पतिविशेषे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० । मद्यविशेषे, प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० । जी० । दश० । मेरको लोकादवसातव्यः । जी० ३ प्रति ४ अधि० । सरकाभिधानमद्ये, उत्त० ३४ अ० । तृतीयवासुदेवप्रतिशत्रौ, आव० १ अ० । प्रव० ।

मेरा–मर्यादा–स्त्री० । मर्यादायाम्, नं० । " सीमा मेरा " पाइ०ना० २२७ गाथा । दे०ना० । मज्जायं ति वा ओह ति वा मेरं ति वा एगट्ठा । आ० चू० १ अ० । सीमा मेरा मर्यादा इत्येकार्थाः । पं० चू० २ कल्प । मेरा–मर्यादा, समाचारीत्यर्थः । बृ० ३ उ० । व्य० । मर्यादा–विधिरित्यर्थः । व्य० ३ उ० । स्था० । स्थितिर्मर्यादा व्यवस्थेत्यनर्थान्तरम् । व्य० ४ अ० । दशमचक्रिणो मातरि, आव० १ अ० । मर्यादेति देशीशब्दः । ग० २ अधि० । मुञ्जसरिकायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

मेराकहण–मर्यादाकथन–न० । सामाचारीप्रतिपादने मर्यादायाः–समाचार्याः कथनं, यथा साधूनामावश्यके आलोचनायां प्रायश्चित्तं दीयते नमस्कारपौरुष्यादिकं च प्रत्याख्यानं यद् यस्मै दातव्यमित्येवमादि सर्वं कथ्यत इति भावः । व्य० १ उ० ।

मेराकारि–मर्यादाकारिन्–त्रि० । मर्यादाकारिणि, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

मेरु–मेरु–पुं० । सकलतिर्यग्लोकमध्यभागस्य मर्यादाकारित्वात् मेरुः । मेरुदेवयोगाद् वा मेरुः । जम्बूद्वीपमध्यगे मन्दरपर्वते, सू० प्र० ५ पाहु० । जं० ।

जे मंदरस्स पुव्वेण, मणुस्सा दाहिणेण अवरेणं ।
जे याऽवि उत्तरेणं, सव्वेसिं उत्तरो मेरू ॥ ४६ ॥

आचा० १ श्रु० १ अ० उ० । (अस्या गाथाया व्याख्या 'दिसा' शब्दे ४ भागे गता । (अस्य षोडश नामानि ' गिरिराय ' शब्दे तृतीयभागे ८७६ पृष्ठे गतानि) (अस्य सर्वा वक्तव्यता ' मन्दर ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे उक्ता) मेरोमेखलास्वरूपं केनाकारेण विद्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्—अनेन स्थापिताकारेण

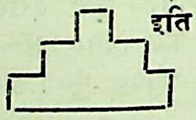

मेरोर्मध्ये, न तु वहिस्तान्मेखला वर्तते इति ॥ १४१ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

मेरुकंत–मेरुकान्त–पुं० । महोरगभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

मेरुगिरि–मेरुगिरि–पुं० । मन्दरपर्वते, आव० ४ अ० । स० ।

मेरुतुंगसूरि–मेरुतुङ्गसूरि–पुं० । स्वनामख्याते चन्द्रप्रभसूरिशिष्ये, तेन च महापुरुषचरित्रं स्थविरावली षड्दर्शनविचारः प्रबन्धचिन्तामणिश्चेति ग्रन्था विरचिताः । अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १३६३ वर्षे विद्यमान आसीत्, अञ्चलगच्छे श्रीमहेन्द्रसूरिशिष्योऽप्येतन्नामा आसीत् । ते-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न सूरिमन्त्रोद्धारः शतपदीसारोद्धारः मेघदूतकाव्यटीका चेति ग्रन्था विरचिताः । विक्रमसंवत्सरे १४०३ अयं जातः संवत्सरे १४१८ दीक्षितः, संवत्सरे १४२६ आचार्यः,संवत्सरे १४४६ गच्छनायकः, संवत्सरे १४७१ स्वर्गतः । जै० इ० ।

मेरुदेव–मेरुदेव–पुं० । मन्दरस्वामिनि देवे, दर्श० १ तत्त्व ।

मेरुपवडण–मेरुप्रपतन–न० । मेरोः पर्वतविशेषान् मुमूर्षूणामनशनेनाधःपतने, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ।

मेरुप्पमुह–मेरुप्रमुख–न० । मेरुजम्बूद्वीपलवणोदधिप्रभृतिषु, पञ्चा० ८ विव० ।

मेरेई–मैरेयी–स्त्री० । पिष्टोद्भवायां शाटितोत्पन्नान्नरसायां सुरायाम् , उत्त० १६ अ० ।

मेरेयग–मैरेयक–पुं० । मद्यविशेषे , जं० २ वक्ष० ।

मेल–मेल–पुं० । सङ्गमे , व्य० ५ उ० । " संगमो मेलो " पाइ० ना० २४१ गाथा ।

मेलणा–मेलना–स्त्री० । संबन्धे , व्य० १० उ ।

मेलय–मेलक–पुं० । सन्निपाते , स्था० ६ ठा० ३ उ० । (मेलकाः ' करण ' शब्दे तृतीयभागे ३६६ पृष्ठे गताः)

मेलव–मिश्र–धा० । सम्मेलने, मिश्रेर्वीसाल-मेलवौ ॥ ८ । ४ ॥ २८ ॥ मिश्रयतेर्ण्यन्तस्य वीसाल–मेलव इत्यादेशौ वा भवतः । वीसालवइ । मेलवइ । मिस्सइ । प्रा० ४ पाद ।

मेलिय--मेलित--त्रि० । प्रापिते, मेलियं सो तं न खाइ न पिवति । आ० म० १ अ० ।

मेली–देशी–संहतौ, दे० ना० ६ वर्ग १३८ गाथा ।

मेल्ल–मुच्–धा० । मोचने, मुचेश्छड्डावहेड–मेल्लोस्सिक्क–रेअवणिल्लुञ्छ–धंसाडाः ॥ ८ । ४ । ९१ ॥ मुञ्चतेरेते सप्तादेशा वा भवन्ति । छड्डइ । मेल्लइ । मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

मेस–मेष-पुं० । उरणके,विशे० । आ०म० । दश० । "गोः पदेऽपि पिवेन्मेषः, पयः सूक्ष्ममुखो यथा । कलुषीकुरुते नैव, सुशिष्योऽपि श्रुतं तथा॥१॥"आ०क० १अ० । यथा मेषोऽल्पेऽप्यम्भसि अनाघोलयन्नेवाऽम्भः पिवत्येवं साधुनाऽपि भिक्षाप्रविष्टेन बीजाक्रमणादिषु अनाकुलेन भिक्षा ग्राह्येत्येवंविधार्थसूचकत्वाद् द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनमपि मेषः । दशवैकालिकस्य प्रथमेऽध्ययने, दश० १ अ० ।

मेसर–मेसर–पुं० । पक्षिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जी० ।

मेह–मेघ–पुं० । पयोदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । पिं० । आ० म० । जं० । ओघ० । ति० । दश० । प्रश्न० । सेचने,सूत्र० १ श्रु० ४ अ०२उ० । चतुःसप्ततितमे ऋषभपुत्रे,कल्प० १ अधि० ७ क्षण । सुरभेदे,आ०क० १ अ० । राजगृहे नगरे स्वनामख्याते गृहपतौ, 'मेहो रायगिहे णयरे बहूइं वासाइं पयातो सिद्धो' मेघो राजगृहे वीरान्तिके प्रव्रज्य सिद्ध इति । अन्त० ४ वर्ग ५ अ० । कलम्बुकायां सन्निवेशे द्वौ भ्रातरौ मेघः, कालहस्ती च, आ० म० १ अ० । (वीरशब्दे विहारावसरे कथां वक्ष्यामि) सुमतिपितरि, आव० १ अ० । आ० चू० ।

मेहकुमार–मेघकुमार–पुं० । पाश्चात्यभवे हस्तिरूपे श्रेणिकपुत्रे, ही० ३ प्रका० ।

मेघकुमारवक्तव्यता—

सेणियस्स रन्नो धारणी नामं देवी होत्था , ० जाव सेणियस्स रन्नो इट्ठा ०जाव विहरइ । (सूत्र–८) तए णं सा धारिणी देवी अन्नया कयाइ तंसि तारिसगंसि छक्कट्ठकलट्ठमट्ठसंठियखंभुग्गयपवरवरसालभंजियउज्जलमणिकणगरतणथूवियविडंकजालद्धचंदणिज्जूहकंतरकणयालिचंदसालियाविभत्तिकलिते सरसच्छधाऊवलवण्णरइए बाहिरओ दूमियघट्ठमट्ठे अब्भिंतरओ पत्तसुविलिहियचित्तकम्मे णाणाविहपंचवण्णमणिरयणकुट्टिमतले पउमलयाफुल्लवल्लिवरपुप्फजातिउल्लोयचित्तियतले वंदणवरकणगकलससुविणिम्मियपडिपुंजियसरसपउमसोहंतदारभाए पयरगालंबंतमणिमुत्तदामसुविरइयदारसोहे सुगंधवरकुसुममउयपम्हलसयणोवयारे मणहिययनिव्वुइयरे कप्पूरलवंगमलयचंदनकालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतसुरभिमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे सुगंधवरगंधिए गंधवट्टिभूते मणिकिरणपणासियंधकारे किं बहुणा ?,जुइगुणेहिं सुरवरविमाणवेलंबियवरघरए तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगणवट्टिए उभओ बिब्बोयणे दुहओ उन्नए मज्झेण य गंभीरे गंगापुलिणवालुयाउद्दालसालिसए उयचियखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छयणे अत्थरयमलयनवयकुसत्तलिंवसीहकेसरपच्चुत्थए सुविरइयरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुए सुरम्मे आइणगरूयबूरणवणीयतुल्लफासे पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी २ एगं महं सत्तुस्सेहं रययकूडसन्निहं नहयलंसि सोम्मं सोम्मागारं लीलायंतं जंभायमाणं मुहमतिगयं गयं पासित्ता णं पडिबुद्धा । तते णं सा धारिणी देवी अयमेयारूवं उरालं कल्लाणं सिवं धन्नं मंगल्लं सस्सिरीयं महासुमिणं पासित्ता णं पडिबुद्धा समाणी हट्ठतुट्ठा चित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोम्मणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया धाराहयकलंबपुप्फगं पिव समूससियरोमकूवा तं सुमिणं ओगिण्हइ २ त्ता सयणिज्जाओ उट्ठेति २ त्ता पायपीढातो पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता अतुरियमचवलमसंभंताए अविलंबियाए रायहंससरिसीए गतीए जेणामेव सेणिए राया तेणामेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सेणियं रायं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धन्नाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरियाहिं हिययगमणिज्जाहिं हिययपल्हायणिज्जाहिं मियमहुररिभियगंभीरसस्सिरीयाहिं गिराहिं संलवमाणी २ पडिबोहेइ, पडिबोहेत्ता सेणिएणं रन्ना अब्भणुन्नाया समाणी णाणामणिकणगरयणभत्तिचित्तंसि भद्दासणंसि निसीयति २ त्ता आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कट्टु सेणियं रायं एवं वयासी-एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! अज्ज तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगणवट्टिए० जाव नियगवयणमइवयंतं गयं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा, तं एयस्स णं देवाणुप्पिया! उरालस्स० जाव सुमिणस्स के मन्ने कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सति ?। (सूत्र-६)

'धारणी नामं देवी होत्था ० जाव सेणियस्स रन्नो इट्ठा० जाव विहरइ' इत्यत्र द्विर्यावच्छब्दकरणादिदं द्रष्टव्यम्-'सुकुमालपाणिपाया अहीणपंचेंदियसरीरा लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणपमाणसुजायसव्वंगसुन्दरंगी ससिसोमाकारा कंता पियदंसणा सुरूवा करतलपरिमिततिवलियबलियमज्झा' करतलपरिमितो—मुष्टिग्राह्यस्त्रिवलीको-रेखात्रयोपेतो वलितो-बलवान् मध्यो-मध्यभागो यस्याः सा तथा, 'कोमुईरयणिकरविमलपडिपुन्नसोमवयणा' कौमुदीरजनीकरवत्—कार्त्तिकीचन्द्र इव विमलं-प्रतिपूर्णं सौम्यं च वदनं यस्याः सा तथा 'कुंडलुल्लिहियगंडलेहा' कुण्डलाभ्यामुल्लिखिता—घृष्टा गण्डलेखाः—कपोलविरचितमृगमदादिरेखा यस्याः स तथा 'सिंगारागारचारुवेसा' शृङ्गारस्य—रसविशेषस्यागारमिवागारम्। अथवा—शृङ्गारो-मण्डनभूषणाटोपः तत्प्रधानः आकारः आकृतिर्यस्याः सा तथा, चारुर्वेषो—नेपथ्यं यस्याः सा तथा ततः कर्मधारयः। तथा 'संगयगयहसियभणियविहियविलाससललियसंलावणिउणजुत्तोवयारकुसला' संगता उचिता गतहसितभणितविहितविलासा यस्याः सा तथा, तत्र विहितं-चेष्टितं, विलासो—नेत्रचेष्टा, तथा सह ललितेन-प्रसन्नतया ये संलापाः परस्परभाषणलक्षणास्तेषु निपुणा या सा तथा, युक्ता—संगता ये उपचारा—लोकव्यवहारास्तेषु-कुशला या सा तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः, 'पसाइया' चित्तप्रसादजनिका 'दरिसणिज्जा' यां पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति, 'अभिरूवा' मनोज्ञरूपा 'पडिरूवा' द्रष्टारं द्रष्टारं प्रति रूपं यस्याः सा तथा 'सेणियस्स रन्नो इट्ठा' वल्लभा कान्ता काम्यत्वात्, प्रिया प्रेमविषयत्वात्, 'मणुन्ना' सुन्दरत्वात्, 'नामधेज्जा' नामधेयवती प्रशस्तनामधेयवतीत्यर्थः, नाम वा धार्य—हृदि धरणीयं यस्याः सा तथा, 'वेसासिया' विश्वसनीयत्वात् 'सम्मया' तत्कृतकार्यस्य सम्मतत्वाद्बहुमता—बहुशो बहुभ्यो वाऽन्येभ्यः? सकाशान्मता बहुमता, बहुमानपात्रं वा, 'अणुमया' विप्रियकरणस्यापि पश्चान्मता अनुमता 'भंडकरंडगसमाणा' आभरणकरण्डकसमानोपादेयत्वात् 'तेल्लकेला-इव सुसंगोविया' तैलकेला—सौराष्ट्रप्रसिद्धो मृन्मयस्तैलस्य भाजनविशेषः स च भङ्गभयाल्लोच (ठन) नभयाच्च सुष्ठु संगोप्यते एवं साऽपि तथोच्यते। 'चेलपेडा' इव 'सुसंपरिगिहीया' वस्त्रमञ्जूषेवेत्यर्थः, 'रयणकरंडगोविवसुसारविया' सुसंरक्षितेत्यर्थः, कुत इत्याह, 'मा णं सीयं मा णं उण्हं मा णं दंसा मा णं मसगा मा णं वाला मा णं चोरा मा णं वाइयपित्तियसिंभियसन्निवाइयविविहरोगायंका फुसंतु त्ति कट्टु सेणिएणं रन्ना सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरति' मा शब्दा निषेधार्थाः, 'णं' कारा वाक्यालङ्कारार्थाः,

अथवा-'माणं' ति मैनामिति प्राकृतत्वात्, व्यालाः-श्वापदभुजगाः, रोगः, कालसहाः, आतङ्काः-सद्योघातिनः, इति कट्टु-इति कृत्वा इति हेतोर्भोगभोगान्-अतिशयवद्भोगानिति 'तए णं' ति ततोऽनन्तरं 'तंसि तारिसयंसि' त्ति यदिदं वक्ष्यमाणगुणं तस्मिस्तादृशके यादृशमुपचितपुण्यस्कन्धानामङ्गिनामुचितं 'वरघरए' त्ति संबन्धः, वासभवने इत्यर्थः, कथंभूते—'छक्कट्ठकं' गृहस्य बाह्यालन्दकं षड्दारुकमिति यदागमप्रसिद्धं, द्वारमित्यन्ये स्तम्भविशेषणमिदमित्यन्ये, तथा लष्टा-मनोज्ञा मृष्टा-मसृणाः संस्थिता—विशिष्टसंस्थानवन्तो ये स्तम्भास्तथा उद्गता—ऊर्ध्वं गता स्तम्भेषु वा उद्गता—व्यवस्थिताः स्तम्भोद्गताः प्रवराणां वराः—प्रवरवराः अतिप्रधाना याः शालभञ्जिकाः पुत्रिकाः, तथा उज्ज्वलानां मणीनां—चन्द्रकान्तादीनां कनकस्य रत्नानां-कर्केतनादीनां यास्तूपिका-शिखरं, तथा विटङ्कः-कपोतपाली वरण्डिकाऽधोवर्त्ती अस्तरविशेषः,जालं-सच्छिद्रो गवाक्षविशेषः, अर्द्धचन्द्रः अर्द्धचन्द्राकारं सोपानं निर्यूहकं—द्वारपार्श्वविनिर्गतदारु, अन्तरम्-अस्तरविशेष एव पानीयान्तरमिति सूत्रधारैर्यद् व्यपदिश्यते निर्यूहकद्वयस्य यान्यन्तराणि तानि वा निर्यूहकान्तराणि 'कणकाली' अस्तरविशेषश्चन्द्रसालिका च-गृहोपरिशाला एतेषां गृहांशानां या विभक्तिः-विभजनं विचिक्तता तया कलितं-युक्तं यत्तत्तथा तस्मिन्, 'सरसच्छवाडवडंवसरइए' त्ति स्थाप्यम्, कैश्चित् पुनरेवं संभावितमिदं 'सरसच्छधाऊवलवन्नरइए' त्ति तत्र सरसेन अच्छेन धातूपलेन—पाषाणधातुना गैरिकविशेषेणेत्यर्थः वर्णो रचितो यत्र तत्तथा 'बाहिरओ दूमियघट्ठमट्ठे' त्ति दूमितं-धवलितं घृष्टं-कोमलपाषाणादिना अत एव मृष्टं-'मसृणं यत्तत्तथा तस्मिन् तथा अभ्यन्तरतः प्रशस्तं-स्वकीय २ कर्मव्यापृतं शुचि-पवित्रं लिखितं चित्रकर्म यत्र तत्तथा तस्मिन्, तथा नानाविधानां जातिभेदेन पञ्चवर्णानां मणिरत्नानां सत्कं कुट्टिमतलं मणिभूमिका यस्मिंस्तत्तथा तत्र, तथा पद्मैः—पद्माकारैरेवं लताभिरशोकलताभिः पद्मलताभिर्वा मृणालिकाभिः पुष्पवल्लीभिः-पुष्पप्रधानाभिः पत्रवल्लिभिः तथा वराभिः पुष्पजातिभिः-मालतीप्रभृतिभिश्चित्रितमुल्लोकतलम्- उपरितनभागो यस्मिन् तत्तथा तत्र, इह च प्राकृतत्वेन 'उल्लोयचित्तियतले' इत्येवं विपर्ययनिर्देशो द्रष्टव्य इति, अथवा-पद्मादिभिरुल्लोकस्य चित्रितं तलम्-अधोभागो यस्मिन्निति,तथा वन्द्यन्त इति वन्दना-मङ्गल्याः ये वरकनकस्य कलशाः सुष्ठु-'निम्मिय' त्ति न्यस्ताः प्रतिपूजिताः-चन्दनादिचर्चिताः सरसपद्माः-सरसमुखस्थगनकमलाः शोभमाना द्वारभागेषु यस्य पाठान्तरापेक्षा चन्दनवरकनककलशैः सुन्यस्तैस्तथा प्रतिपुञ्जितैः-पुञ्जीकृतैः सरसपद्मैः शोभमाना द्वारभागा यस्य तत्तथा तस्मिन्, तथा प्रतरकाणि-स्वर्णादिमया आभरणविशेषास्तत्प्रधानैर्मणिमुक्तानां दामभिः—स्रग्भिः सुष्ठु विरचिता द्वारशोभा यस्य तत्तथा तस्मिन्, तथा सुगन्धिवरकुसुमैर्मृदुकस्य—मृदोः पक्ष्मलस्य च—पक्ष्मवतः शयनस्य—तूल्यादिशयनीयस्य यः उपचारः पूजा उपचारो वा स विद्यते यस्मिन्, मण इत्यस्य मत्वर्थीयत्वात् तत् सुगन्धिवरकुसुममृदुपक्ष्मलशयनीयोपचारवत्तच्च यद् हृदयनिर्वृतिकरं च—मनःस्वास्थ्यकरं तत्तथा तस्मिन्, तथा कर्पूरश्च लवङ्गानि च फलविशेषाः मलयचन्दनं च-पर्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तविशेषप्रभवं श्रीखण्डं कालागुरुश्च-कृष्णागुरुः प्रवरकुन्दुरुक्कं
च-चीडाभिधानो गन्धद्रव्यविशेषः तुरुष्कं च—सिल्हकं धू-
पश्च—गन्धद्रव्यसंयोगज इति द्वन्द्वः, एतेषां वा संबन्धी यो
धूपः तस्य दह्यमानस्य सुरभिर्यो मघमघायमानः-अतिशयवान्
गन्ध उद्धूतः-उद्भूतः तेनाभिरामम्-अभिरमणीयं यत्तत्तथा
तस्मिन् ,तथा सुष्ठु गन्धवराणां-प्रधानचूर्णानां गन्धो यस्मिन्
अस्ति तत् सुगन्धवरगान्धिकं तस्मिन् ,यथा गन्धवर्तिः गन्ध-
द्रव्यगुटिका कस्तूरिका वा गन्धस्तद्गुटिका गन्धवर्तिस्तद्भूते
सौरभ्यातिशयात्तत्कल्पे, तथा मणिकिरणप्रणाशितान्धकारे,
किं बहुना वर्णकेन ? , वर्णकसर्वस्वमिदं-द्युत्या गुणैश्च सुर-
वरविमानं विडम्बयति-जयति, यद्वरगृहकं तत्तथा तत्र तथा
तस्मिन् तादृशे शयनीये सहालिङ्गनवर्त्त्या-शरीरप्रमाणोपधा-
नेन यत्तत्सालिङ्गनवर्त्तिकं तत्र, 'उभओ विव्वोयणे त्ति' उभ-
यतः उभौ-शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य 'विव्वोयणे' त्ति उपधाने
यत्र तत्तथा तस्मिन् , 'दुहओ' त्ति उभयतः उन्नते मध्ये नतं च
तन्निम्नत्वाद्गभीरं च महत्त्वान्नतगम्भीरम् , अथवा-मध्येन च
भागेन तु गम्भीरे-अवनते गङ्गापुलिनवालुकाथाः अवदातः-
अवदलनं पादादिन्यासेऽधोगमनमित्यर्थः तेन'सालिसए' त्ति
सदृशकमतिनम्रत्वाद्यत्तत्तथा तत्र, दृश्यते च हंसतूल्यादि-
ष्वयं न्याय इति। तथा 'उयचिय' त्ति परिकर्मितं यत् क्षौमं-
दुकूलं-कार्पासिकमतसीमयं वा वस्त्रं तस्य युगलापेक्षया यः
पट्टः-एकः शाटकः स प्रतिच्छादनम्-आच्छादनं यस्य तत्तथा
तत्र,तथा आस्तरको मलको नवतः कुशक्तो लिम्बः सिंहकेस-
रश्चैते आस्तरणविशेषास्तैः प्रत्यवस्तृतम्-आच्छादितं यत्तत्त-
था, इह चास्तरको लोकप्रतीत एव मलककुशक्तौ तु रूढिग-
म्यौ नवतस्तु ऊर्णाविशेषमयो जीनमिति लोके यदुच्यते ,
लिम्बो-वालोरभ्रस्योर्णायुक्ता कृतिः सिंहकेसरो-जटिलकम्ब-
लः,तथा सुष्ठु विरचितं सुचि वा रचितं रजस्त्राणम्-आच्छा-
दनविशेषोपरिभोगावस्थायां यस्मिँस्तत्तथा तत्र, रक्तांशु-
कसंवृते—मशकगृहाभिधानवस्त्रावृते सुरम्ये तथा आजि-
नकं—चर्ममयो वस्त्रविशेषः स च स्वभावादतिकोमलो
भवति,तथा रूतं—कर्पासपक्ष्म, बूरो-वनस्पतिविशेषः नव-
नीतं—म्रक्षणम् एभिस्तुल्यः स्पर्शो यस्य , तूलं वा—अर्क-
तूलं तत्र पक्षे एतेषामिव स्पर्शो यस्य तत्तथा तत्र, पूर्व-
रात्रश्चासावपररात्रश्च पूर्वरात्रापरपात्रः स एव काललक्ष-
णः समयः न तु सामाचारादिलक्षणः पूर्वरात्रापररात्रकाल-
समयस्तत्र, मध्यरात्रे इत्यर्थः , इह चार्षत्वादेकरेफलोपेन
'पुव्वरत्तावरत्ते' त्युक्तम् , अपररात्रशब्दो वाऽयमिति सुत्त-
जागरा—नातिसुप्ता नातिजाग्रती , अत एवाह 'ओहीर-
माणी २' ति वारं वारमीषन्निद्रां गच्छन्तीत्यर्थः , एकं
महान्तं सप्तोत्सेधमित्यादिविशेषणं मुखमतिगतं गजं दृष्ट्वा
प्रतिबुद्धेति योगः , तत्र सप्तोत्सेधं सप्तसु—कुम्भादिषु
स्थानेषून्नतं सप्तहस्तोच्छ्रितं वा 'रययं ति' रूप्यं 'नहयलंसि'
त्ति नभस्तलान्मुखमतिगतमिति योगः , वाचनान्तरे त्वेवं
दृश्यते—'जाव सीहं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धा ' तत्र
यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्—'एक्कं च णं महंतं पंडुरं धव-
लयं सेयं'एकार्थशब्दत्रयोपादानं चात्यन्तशुक्लताख्यापनार्थम्,
एतदेवोपमानेनाह—'संखउलविमलदहिघणगोखीर (विम-
ल) फेणरयणिकरपगासं' शङ्खकुलस्येव विमलदध्न इव
घनगोक्षीरस्येव विमलफेनस्येव रजनीकरस्येव प्रकाशः—
प्रभा यस्य स तथा तम् , अथवा—'हाररजतखीरसागर-
दगरयमहासेलपंडुरतरोरुरमणिज्जदरिसणिज्जं' हारादिभ्यः
पाण्डुरतरो यः स तथा, इह च महाशैलो—महाहिमवान्
तथा ऊरुः—विस्तीर्णः रमणीयो—रम्योऽत एव दर्श-
नीय इति पदचतुष्टयस्य कर्मधारयोऽतस्तम् , तथा 'थिरल-
ट्ठपउट्ठपीवरसुसिलिट्ठविसिट्ठतिक्खदाढाविडंवियमुहं' स्थि-
रौ-अप्रकम्पौ लष्टौ-मनोज्ञौ प्रकोष्ठौ कूर्पराग्रेतनभागौ य-
स्य स तथा,पीवराः-स्थूलाः सुश्लिष्टाः-अविसर्वरा विशिष्टा-
मनोहरास्तीक्ष्णा या दंष्ट्रास्ताभिः कृत्वा—'विडंवियं ति'
विवृतं मुखं यस्य स तथा ततः कर्मधारयस्तम् , तथा 'प-
रिकम्मियजच्चकमलकोमलमाईयसोहंतलट्ठजुट्ठं' परिकर्मि-
तं—कृतपरिकर्मा 'माइय' त्ति मात्रावान् परिमित इत्यर्थः ,
शेषं प्रतीतम्, तथा 'रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालतालुनिल्लालि-
यग्गजीहं' रक्तोत्पलपत्रमिव मृदुकेभ्यः सुकुमारमतिकोम-
लं तालु च निर्लालिताग्रा—प्रसारिताग्रा जिह्वा च यस्य स
तम्, तथा 'महुगुलियभिसंतपिंगलच्छं' मधुगुटिकेव-क्षौद्र-
वर्त्तिरिव 'भिसंत' त्ति दीप्यमाने पिङ्गले कपिले अक्षिणी
यस्य स तथा तम्, तथा 'मूसागयपवरकणयतावियआवत्ता-
यंतवट्टतडियविमलसरिसनयणं' मूषागतं—मृन्मयभाजन-
विशेषस्थं यत्प्रवरकनकं तापितमग्निधमनात् 'आवत्तायंत'
त्ति आवर्त्तं कुर्वत् तद्वत् तथा वृत्ते च तर्द्दिते—विवृत्त
विमले च सदृशे च—समाने नयने यस्य स तथा तम् ,
अत्र च 'वट्टतट्ट' इत्येतावदेव पुस्तके दृष्टं संभावनया
तु वृत्ततर्द्दित इति व्याख्यातमिति, पाठन्तरेण तु—'वट्टप-
डिपुण्णपसत्थनिद्धमहुगुलियपिंगलच्छं' स्फुटश्चायं पाठः, त-
था 'विसालपीवरभमरोरुपडिपुण्णविमलखंधं' विशालो—
विस्तीर्णः पीवरो—मांसलः 'भ्रमरोरुः' भ्रमरा—रोमाव-
र्त्ता उरवो—विस्तीर्णा यत्र स तथा परिपूर्णो विमलश्च
स्कन्धो यस्य स तथा तम् , अथवा—'पडिपुण्णसुजायखंधं'
तथा 'मिदुविसदसुहुमलक्खणपसत्थविच्छिन्नकेसरसडं'
मृद्व्यो विशदा अविमूढाः सूक्ष्मा लक्षणप्रशस्ताः-प्रशस्तलक्ष-
णा विस्तीर्णाः केसरसटाः-स्कन्धकेसरजटा यस्य स तथा
तम् , अथवा—'निम्मलवरकेसरधरं' तथा 'ऊसियसुनि-
म्मियसुजायअप्फोडियलंगूलं' उच्छ्रितम्-ऊर्द्धं नीतं सुनिर्मितं
सुष्ठु भङ्गुरतया न्यस्तं सुजातं सद्गुणोपपेततया आस्फोटि-
तं भुवि लाङ्गूलं—पुच्छं येन स तथा तं सौम्यम् उपशान्तं
सौम्याकारं—शान्ताकृतिं , 'लीलायंतं' ति लीलां कुर्वन्तं
'जंभायंतं' विजृम्भमाणं शरीरचेष्टाविशेषं विदधानं
'गगणतलाओ ओवयमाणं सीहं अभिमुहं मुहे पवि-
समाणं पासित्ता पडिबुद्ध' त्ति 'अयमेयारूवं' ति इमं
महास्वप्नमिति संबन्धः , एतदेव—वर्णितस्वरूपं रूपं
यस्य स्वप्नस्य न कचिकृतमूनमधिकं वा स तथा तम् ,
'उरालं ति' उदारं प्रधानं कल्याणं-कल्याणानां शुभसमृ-
द्धिविशेषाणां कारणत्वात् कल्ये वा-नीरोगत्वमणति-गम-
यति कल्याणं तद्धेतुत्वात् , शिवम्-उपद्रवोपशमहेतुत्वात्
धन्यं धनावहत्वात् 'मंगल्यं' मङ्गले दुरितोपशमे साधु-
त्वात्सश्रीकं-सशोभनमिति 'समाणि' त्ति सती हृष्टतुष्टा-
अत्यर्थं तुष्टा, अथवा-हृष्टा विस्मिता तुष्टा-तोषवती, 'चित्त-
माणंदिय' त्ति चित्तेनानन्दिता आनन्दितं वा चित्तं यस्याः
सा चित्तानन्दिता, मकारः प्राकृतत्वात् , प्रीतिर्मनसि य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्याः सा प्रीतिमनाः, 'परमसोमणस्सिया' परमं सौमनस्यं संजातं यस्याः सा परमसौमनस्यिता, हर्षवशेन विसर्पद्-विस्तारयायि हृदयं यस्याः सा तथा, सर्वाणि प्रायः एकार्थिकान्येतानि पदानि प्रमोदप्रकर्षप्रतिपादनार्थत्वात् स्तुतिरूपत्वाच्च न दुष्टानि, आह च—"वक्ता हर्षभयादिभि—राक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन्निन्दन्। यत्पदमसकृद् ब्रूयात्, तत्पुनरुक्तं न दोषाय ॥ १ ॥" इति 'पच्चोरुहइ' त्ति प्रत्यवरोहति, अत्वरितं मानसौत्सुक्याभावेनाचपलं कायतः असंभ्रान्त्याऽस्खलन्त्या अविलम्बितया-अविच्छिन्नतया 'राजहंससरिसीए' त्ति राजहंसगमनसदृश्या गत्या 'ताहिं' ति या विशिष्टगुणोपेतास्ताभिर्गीर्भिरिति सम्बन्धः इष्टाभिः तस्य वल्लभाभिः कान्ताभिः—अभिलषिताभिः सदैव तेन प्रियाभिः अद्वेष्याभिः सर्वेषामपि मनोज्ञाभिः—मनोरमाभिः मनःप्रियाभिश्चिन्तयाऽपि उदाराभिः—उदारनादवर्णोच्चारादियुक्ताभिः कल्याणाभिः समृद्धिकारिकाभिः शिवाभिः—गीर्दोषानुपद्रुताभिः धन्याभिः—धनलम्भिकाभिर्मङ्गल्याभिः—मङ्गलसाध्वीभिः सश्रीकाभिः अलङ्कारादिशोभावद्भिः हृदयगमनीयाभिः हृदये या गच्छन्ति कोमलत्वात् सुबोधत्वाच्च तास्तथा ताभिः, हृदयप्रह्लादिकाभिः—हृदयप्रह्लादनीयाभिः आह्लादजनकाभिः 'मितमधुररिभितगम्भीरसश्रीकाभिः' मिताः-वर्णपदवाक्यापेक्षया परिमिताः मधुराः—स्वरतः रिभिताः स्वरघोलनाप्रकारवत्यः गम्भीराः-अर्थतः शब्दतश्च सह श्रिया-उक्तगुणलक्ष्म्या यास्तास्तथा, ततः पदपञ्चकस्य कर्मधारयस्ततस्ताभिः गीर्भिः—वाग्भिः संलपन्ती—पुनः पुनर्जल्पन्तीत्यर्थः, नानामणिकनकरत्नानां भक्तिभिः-विच्छित्तिभिश्चित्रं-विचित्रं यत्तत्तथा तत्र भद्रासने-सिंहासने आश्वस्ता गतिजनितश्रमापगमात्, विश्वस्ता संक्षोभाभावात्, अनुत्सुका वा 'सुहासणवरगय' त्ति सुखेन शुभे वा आसनवरे गता—स्थिता या सा तथा, करतलाभ्यां परिगृहीतः-आत्तः करतलपरिगृहीतस्तं शिरस्यावर्त्तं आवर्त्तनं—परिभ्रमणं यस्य स तथा शिरसावर्त्त इत्येके, शिरसा अप्राप्त इत्यन्ये, तमञ्जलिं मस्तके कृत्वा एवमवादीत्—'किं मन्ने' इत्यादि, को मन्ये कः कल्याणफलवृत्तिविशेषो भविष्यति, इह मन्ये वितर्कार्थो निपातः, 'सोच्च' त्ति श्रुत्वा श्रवणतः निशम्य-अवधार्य हृष्टतुष्टो यावद्विसर्पद्धृदयः। तथा वाचनान्तरे पुनरिह राज्ञीवर्णके चेदमुपलभ्यते—

तते णं सेणिए राया धारिणीए देवीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठ० जाव हियये धाराहयनीवसुरभिकुसुमचुंचुमालइयतणुऊससियरोमकूवे तं सुमिणं उग्गिण्हइ उग्गिण्हइत्ता ईहं पविसति २ त्ता अप्पणो साभाविएणं मइपुव्वएणं बुद्धिविन्नाणेणं तस्स सुमिणस्स अत्थोग्गहं करेति २ त्ता धारिणिं देविं ताहिं ०जाव हिययपल्हायणिज्जाहिं मिउमहुररिभियगंभीरसस्सिरियाहिं वग्गूहिं अणुवूहेमाणे एवं वयासी—उराले णं तुमे देवाणुप्पिए! सुमिणे दिट्ठे, कल्लाणा णं तुमे देवाणुप्पिए! सुमिणे दिट्ठे, सिवे धन्ने मंगल्ले सस्सिरीए णं तुमे देवाणुप्पिए! सुमिणे दिट्ठे, आरोग्गतुट्ठिदीहाउयकल्लाणमंगलकारए णं तुमे देवी सुमिणे दिट्ठे, अत्थलाभो ते देवाणुप्पिए!, पुत्तलाभो ते देवाणुप्पिए!, रज्जलाभो भोगसोक्खलाभो ते देवाणुप्पिए!, एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाण य राइंदियाणं विइक्कंताणं अम्हं कुलकेउं कुलदीवं कुलपव्वयं कुलवडिंसयं कुलतिलकं कुलकित्तिकरं कुलवित्तिकरं कुलणंदिकरं कुलजसकरं कुलाधारं कुलपायवं कुलविवद्धणकरं सुकुमालपाणिपायं ०जाव दारयं पयाहिसि, से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे विन्नयपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुपत्ते सूरे वीरे विक्कंते विच्छिन्नविपुलबलवाहणे रज्जवती राया भविस्सइ, तं उराले णं तुमे देवीए सुमिणे दिट्ठे ०जाव आरोग्गतुट्ठिदीहाउकल्लाणकारए णं तुमे देवी! सुमिणे दिट्ठे त्ति कट्टु भुज्जो २ अणुवुहेइ। (सूत्र-१०) तते णं सा धारणी देवी सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा ०जाव हियया करतलपरिग्गहियं ०जाव अंजलिं कट्टु एवं वयासी—एवमेयं देवाणुप्पिया! तहमेयं अवितहमेयं असंदिद्धमेयं इच्छियमेयं देवाणुप्पिए! पडिच्छियमेयं इच्छियपडिच्छियमेयं सच्चे णं एसमट्ठे जं णं तुज्झे वदह त्ति कट्टु तं सुमिणं सम्मं पडिच्छइ पडिच्छइत्ता सेणिएणं रन्ना अब्भणुन्नाया समाणी णाणामणिकणगरयणभत्तिचित्ताओ भद्दासणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठेत्ता जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सयंसि सयणिज्जंसि निसीयइ निसीयइत्ता एवं वदासी—मा मे से उत्तमे पहाणे मंगल्ले सुमिणे अन्नेहिं पावसुमिणेहिं पडिहम्मिहि त्ति कट्टु देवयगुरुजणसंबद्धाहिं पसत्थाहिं धम्मियाहिं कहाहिं सुमिणजागरियं पडिजागरमाणी विहरइ। (सूत्र-११)

'धाराहयनीयसुरभिकुसुमचुंचुमालइयतणुऊससियरोमकूवे' त्ति तत्र नीपः—कदम्बः, धाराहतनीपसुरभिकुसुममिव 'चंचुमालइय' त्ति पुलकिता तनुर्यस्य स तथा, किमुक्तं भवति?—'उससिय' त्ति उच्छ्वसिता रोमकूपा—रोमरन्ध्राणि यस्य स तथा, तं स्वप्नमवगृह्णाति अर्थावग्रहतः ईहामनुप्रविशति—सदर्थपर्यालोचनलक्षणां ततः 'अप्पणो' त्ति आत्मसंबन्धिना स्वाभाविकेन सहजेन मतिपूर्वेण-आभिनिबोधिकप्रभवेन बुद्धिज्ञानेन-मतिविशेषभूतौत्पत्तिक्यादिबुद्धिरूपपरिच्छेदेन अर्थावग्रहं-स्वप्नफलनिश्चयं करोति, ततोऽवादीत्-'उरालेण' मित्यादि, अर्थलाभ-इत्यादिषु भविष्यतीति शेषो दृश्यः, एवमुपबृंहयन्-अनुमोदयन् 'एवं खलु' त्ति एवंरूपादुक्तफलसाधनसमर्थात् स्वप्नात् दारकं प्रजनिष्यसीति संबन्धः, 'बहुपडिपुण्णाणं' ति अतिपूर्णेषु षष्ठ्याः सप्तम्यर्थत्वात् अर्द्धमष्टमं येषु तान्यर्द्धाष्टमानि तेषु रात्रिन्दिवेषु अहोरात्रेषु व्यतिक्रान्तेषु, कुलकेत्वादीन्येकादश पदानि, तत्र केतुः-चिह्नं ध्वज इत्यर्थः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केतुरिव केतुरद्भुतत्वात् कुलस्य केतुः कुलकेतुः, पाठान्तरेण 'कुलहेउं' कुलकारणम्, एवं दीप इव दीपः प्रकाशकत्वात् पर्वतोऽनभिभवनीयस्थिराश्रयसाधर्म्यात् अवतंसः शेखरः उत्तमत्वात्तिलको-विशेषकः भूषकत्वात् कीर्तिकरः-ख्यातिकरः, क्वचिद्वृत्तिकरामित्यपि दृश्यते, वृत्तिश्च-निर्वाहः,नन्दिकरो-वृद्धिकरः यशः-सर्वदिग्गामिप्रसिद्धिविशेषस्तत्करः पादपो वृक्षः आश्रयणीयच्छायत्वात् विवर्द्धनं विविधैः प्रकारैर्वृद्धिरेव तत्करं 'विएणयपरिणयमेत्ते' त्ति विज्ञकः परिणतमात्रश्च कलादिष्विति गम्यते, तथा शूरो दानतोऽभ्युपेतनिर्वाहणतो वा वीरः संग्रामतः विक्रान्तो भूमण्डलाक्रमणतः विस्तीर्णे विपुले अतिविस्तीर्णे बलवाहने सैन्यगवादिके यस्य स तथा, राज्यपती राजा स्वतन्त्र इत्यर्थः। 'त'मिति यस्मादेवं तस्मादुदारादिविशेषणः स्वप्नः 'तुमे' त्ति त्वया दृष्ट इति निगमनम्। 'एवमेत' दिति राजवचने प्रत्ययाविष्करणम्, एतदेव स्फुटयति-'तहमेयं' ति तथैव तद्यथा भवन्तः प्रतिपादयन्ति, अनेनान्वयतस्तद्वचनसत्यतोक्ता 'अवितहमेयं' ति अनेन व्यतिरेकभावतः 'असंदिद्धमेय' मित्यनेन संदेहाभावतः 'इच्छियं' ति इष्टम्-ईप्सितं वा 'पडिच्छियं' ति प्रतीष्टं प्रतीप्सितं वा अभ्युपगतमित्यर्थः, इष्टप्रतीष्टम् ईप्सित—प्रतीप्सितं वा धर्मद्वययोगात्, अत्यन्तादरख्यापनाय चवंनिर्देशः, 'इति कट्टु' त्ति इति भणित्वा 'उत्तमे' त्ति स्वरूपतः 'पहाणे' त्ति फलतः, एतदेवाह—'मंगल्ले' त्ति मङ्गले साधुः स्वप्न इति 'सुमिणजागरियं' ति स्वप्नसंरक्षणार्थं जागरिका तां 'प्रतिजाग्रति' प्रतिविदधती।

तए णं सेणिए राया पच्चूसकालसमयंसि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! बाहिरियं उवट्ठाणसालं अज्ज सविसेसं परमरम्मं गंधोदगसित्तसुइयसंमज्जिओवलित्तं पंचवन्नसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्भंतमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं करेह य कारवेह य एवमाणत्तियं पच्चप्पिणह, तते णं ते कोडुंबियपुरिसा सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव पच्चप्पिणंति, तते णं सेणिए राया कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मीलियम्मि अहापंडुरे पभाए रत्तासोगपगासकिंसुयसुयमुहगुंजद्धरागवंधुजीवगपारावयचलणनयणपरहुयसुरत्तलोयणजासुयणकुसुमज्जलियज्जलणतवणिज्जकलसहिंगुलयनिगररूवाइरेगरेहंतसस्सिरीए दिवागरे अह कमेण उदिए तस्स दिण (कर) करपरपरावयारपारद्धम्मि अंधयारे वालातवकुंकुमेण खइयव्व जीवलोए लोम्मि अंधयारे लोअणविसआणुआसविगसंतविसददंसियम्मि लोए कमलायणविसआणुआसविगसंतविसददंसियम्मि लोए कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते सयणिज्जाओ उट्ठेति २ त्ता जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ २ त्ता अट्टणसालं अणुपविसति २ त्ता अणेगवायामजोगवग्गणवामद्दणमल्लजुद्धकरणेहिं संते परिस्संते सयपागेहिं सहस्सपागेहिं सुगंधवरतेल्लमादिएहिं पीणणिज्जेहिं दीवणिज्जेहिं दप्पणिज्जेहिं मदणिज्जेहिं विम्हणिज्जेहिं सव्विंदियगायपल्हायणिज्जेहिं अब्भंगएहिं अब्भंगिए समाणे तेल्लचम्मंसि पडिपुण्णपाणिपायसुकुमालकोमलतलेहिं पुरिसेहिं छेएहिं दक्खेहिं पट्ठेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं निउणेहिं निउणसिप्पोवगतेहिं जियपरिस्समेहिं अब्भंगणपरिमद्दणुव्वलणकरणगुणनिम्माएहिं अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाए संवाहिए समाणे अवगयपरिस्समे नरिंदे अट्टणसालाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमइत्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता मज्जणघरं अणुपविसति अणुपविसित्ता समंत (मुत्त) जालाभिरामे विचित्तमणिरयणकोट्टिमतले रमणिज्जे ण्हाणमंडवंसि णाणामणिरयणभत्तिचित्तंसि ण्हाणपीढंसि सुहानिसन्ने सुहोदगेहिं पुप्फोदएहिं गंधोदएहिं सुद्धोदएहि य पुणो पुणो कल्लाणगपवरमज्जणविहीए मज्जिए तत्थ कोउयसएहिं बहुविहेहिं कल्लाणगपवरमज्जणावसाणे पम्हलसुकुमालगंधकासाइयलूहियंगे अहतसुमहग्घदूसरयणसुसंवुए सरससुरभिगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते सुइमालावन्नगविलेवणे आविद्धमणिसुवन्ने कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंवपलंवमाणकडिसुत्तसुकयसोहे पिणद्धगेविज्जे अंगुलेज्जगललियंगललियकयाभरणे णाणामणिकडगतुडियथंभियभुए अहियरूवसस्सिरीए कुंडलुज्जोइयाणणे मउडदित्तसिरए हारोत्थयसुकतरइयवच्छे पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जे मुद्दियापिंगलंगुलीए णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहनिउणोवियमिसिमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थआविद्धवीरवलए किं बहुणा ?, कप्परुक्खए चेव सुअलंकियविभूसिए नरिंदे सकोरिंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं उभओ चउचामरवालवीइयंगे मंगलजयसद्दकयालोए अणेगगणनायगदंडणायगराईसरतलवरमाडंवियकोडुंवियमंतिमहामंतिगणगदोवारियअमच्चचेडपीढमद्दनगरणिगमसेट्ठिसेणावइसत्थवाहदूयसंधिवालसद्धिं संपरिवुडे धव[illegible]ामहनिग्गए विव गहगणदिप्पंतरिक्खतारागणाण म[illegible]ासि व्व पियदंसणे नरवई मज्जणघराओ पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने। तते णं से सेणिए राया अप्पणो अदूरसामंते उत्तरपुरच्छिमे दिसिभागे अट्ठभद्दासणाइं सेयवत्थपच्चुत्थुयातिं सिद्धत्थमंगलोवयारकतसंतिकम्माइं रयावेइ रया-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वित्ता णाणामणिरयणमंडियं अहियपेच्छणिज्जरूवं महग्घवरपट्टणुग्गयं सएहबहुभत्तिसयचित्तट्ठाणं ईहामियउसभतुरयणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं सुखचियवरकणगपवरपेरंतदेसभागं अब्भिंतरियं जवणियं अंछावेइ अंछावइत्ता अच्छरगमउअमसूरगउच्छइयं धवलवत्थपच्चत्थुयं विसिट्ठं अंगसुहफासयं सुमउयं धारिणीए देवीए भद्दासणं रयावेइ रयावेइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दवित्ता एवं वदासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अट्ठंगमहानिमित्तसुत्तत्थपाढए विविहसत्थकुसले सुमिणपाढए सद्दावेइ सद्दवेइत्ता एयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह, तते णं ते कोडुंबियपुरिसा सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा हट्ठ ०जाव हियया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवो तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति २ त्ता सेणियस्स रन्नो अंतियाओ पडिनिक्खमंति पडिणिक्खमित्ता रायगिहस्स नगरस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव सुमिणपाढगगिहाणि तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता सुमिणपाढए सद्दावेंति । तते णं ते सुमिणपाढगा सेणियस्स रन्नो कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव हियया एहाया कयवलिकम्मा ०जाव पायच्छित्ता अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा हरियालियसिद्धत्थयकयमुद्धाणा सएहिं सएहिं गिहेहिंतो पडिनिक्खमंति २ त्ता रायगिहस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव सेणियस्स रन्नो भवणवडेंसगदुवारे तेणेव उवागच्छंति २ त्ता एगतओ मिलयंति २ त्ता सेणियस्स रन्नो भवणवडेंसगदुवारेणं अणुपविसंति अणुपविसित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता सेणियं रायं जएणं विजएणं वद्धावेंति, सेणिएणं रन्ना अच्चियवंदियपूतियमाणियसक्कारिया सम्माणिया समाणा पत्तेयं २ पुव्वन्नत्थेसु भद्दासणेसु निसीयंति, तते णं सेणिए राया जवणियंतरियं धारणीं देवीं ठवेइ ठवेइत्ता पुप्फफलपडिपुण्णहत्थे परेणं विणएणं ते सुमिणपाढए एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! धारिणी देवी अज्ज तंसि तारिसयंसि सयणिज्जंसि ०जाव महासुमिणं पासित्ता णं पडिबुद्धा, तं एयस्स णं देवाणुप्पिया ! उरालस्स ०जाव सस्सिरीयस्स महासुमिणस्स के मन्ने कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सति। तते णं ते सुमिणपाढगा सेणियस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सोचा णिसम्म हट्ठ०जाव हियया तं सुमिणं सम्मं ओगिएहंति २ त्ता ईहं अणुपविसंति२त्ता अन्नमन्नेणं सद्धिं संचालेंति संचालित्ता तस्स सुमिणस्स लद्धऽट्ठा गहियऽट्ठा पुच्छियऽट्ठा विणिच्छियऽट्ठा अभिगयऽट्ठा सेणियस्स रन्नो पुरओ सुमिणसत्थाइं उच्चारेमाणा २ एवं वदासी-एवं खलु अम्हं सामी ! सुमिणसत्थंसि बायालीसं सुमिणा तीसं महासुमिणा बावत्तरिं सव्वसुमिणा दिट्ठा, तत्थ णं सामी ! अरिहंतमायरो वा चक्कवट्टिमातरो वा अरहंतंसि वा चक्कवट्टिंसि वा गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महासुमिणाणं इमे चोद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति, तं जहा-"गयउसभसीहअभिसे-यदामससिदिणयरं झयं कुंभं। पउमसरसागरविमा-णभवणरयणुच्चयसिहिं च ॥ १ ॥" वासुदेवमातरो वा वासुदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसएहं महासुमिणाणं अन्नतरे चत्तारि महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति, बलदेवमातरो वा बलदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसएहं महासुमिणाणं अन्नतरे चत्तारि महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति,मंडलियमायरो वा मंडलियंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसएहं महासुमिणाणं अन्नतरं एगं महासुमिणं पासित्ता णं पडिबुज्झंति, इमे य णं सामी ! धारणीए देवीए एगे महासुमिणे दिट्ठे तं उराले णं सामी ! धारणीए देवीए सुमिणे दिट्ठे, ० जाव आरोग्गतुट्ठिदीहाउकल्लाणमंगल्लकारए णं सामी ! धारिणीए देवीए सुमिणे दिट्ठे, अत्थलाभो सामी ! सोक्खलाभो सामी ! भोगलाभो सामी ! पुत्तलाभो रज्जलाभो एवं खलु सामी ! धारिणीदेवी णवएहं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं० जाव दारगं पयाहिसि,से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुपत्ते सूरे वीरे विक्कंते विच्छिन्नविउलबलवाहणे रज्जवती राया भविस्सइ अणगारे वा भावियप्पा तं उराले णं सामी ! धारणीए देवीए सुमिणे दिट्ठे, ०जाव आरोग्गतुट्ठि ०जाव दिट्ठे त्तिकट्टु भुज्जो २ अणुवूहेंति । तते णं सेणिए राया तेसिं सुमिणपाढगाणं अंतिए एयमट्ठं सोचा णिसम्म हट्ठ ०जाव हियए करयल ०जाव एवं वदासी–एवमेयं देवाणुप्पिया ! ० जाव जन्नं तुब्भे वदह त्तिकट्टु तं सुमिणं सम्मं पडिच्छति २ त्ता ते सुमिणपाढए विपुलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेति सम्माणेति २ त्ता विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलयति २ त्ता पडिविसेज्जइ । तते णं से सेणिए राया सीहासणाओ अब्भुट्ठेति २ त्ता जेणेव धारिणी देवी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता धारिणीदेवीं एवं वदासी–एवं खलु देवाणुप्पिए ! सुमिणसत्थंसि बायालीसं सुमिणा ०जाव ए–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गं महासुमिणं ०जाव भुज्जो भुज्जो अणुवूहति, तते गं धारिणी देवी सेणियस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सोचा णिसम्म हट्ठ ०जाव हियया तं सुमिणं सम्मं पडिच्छति २ त्ता जेणेव सए वासघरे तेणेव उवागच्छति २ त्ता एहाया कयबलिकम्मा ०जाव विपुलाहिं ०जाव विहरति। (सूत्र-१२)

'पच्चूसे' त्यादि प्रत्यूषकाललक्षणो यः समयः-अवसरः स तथा तत्र कौटुम्बिकपुरुषान्-आदेशकारिणः'सद्दावेइ' त्ति शब्दं करोति शब्दयति 'उपस्थानशालाम्,आस्थानमण्डपं'गन्धोदकेने' त्यादि गन्धोदकेन सिक्ता शुचिका-पवित्रा संमार्जिता कचवरापनयनेन उपलिप्ता छगणादिना या सा तथा ताम्, इदं च विशेपणं गन्धोदकसिक्तसंमार्जितोपलिप्तशुचिकामित्येवं दृश्यम्, सिक्ताद्यनन्तरभावित्वाच्छुचिकत्वस्य, तथा पञ्चवर्णैः सरसः सुरभिश्च मुक्तः क्षिप्तः पुष्पपुञ्जलक्षणो यः उपचारः पूजा तेन कलिता या सा तथा तां 'काले' त्यादि पूर्ववत्, 'आणत्तियं पच्चप्पिणह' त्ति आज्ञप्तिम्-आदेशं प्रत्यर्पयत-कृतां सतीं निवेदयत, 'कल्लं' मित्यादि 'कल्लं' मिति श्वः प्रादुः-प्राकाश्ये ततः प्रकाशप्रभातायां रजन्यां 'फुल्लोत्पलकमलकोमलोन्मीलितं' फुल्लं-विकसितं तच्च तदुत्पलं च पद्मं फुल्लोत्पलं तच्च कमलश्च-हरिणविशेषः फुल्लोत्पलकमलौ तयोः कोमलम्-अकठोरमुन्मीलितं-दलानां नयनयोश्चोन्मीलनं यस्मिंस्तत्तथा तस्मिन्, अथ रजनीविभातानन्तरं पाण्डुरे-शुक्ले प्रभाते-उपसि 'रत्तासोगे' त्यादि रक्ताशोकस्य प्रकाशः प्रभा स च किंशुकं च पलाशपुष्पं शुकमुखं च गुञ्जा-फलविशेषो रक्तकृष्णस्तदर्द्धं बन्धुजीवकं च—बन्धूकं पारापतः-पक्षिविशेषः तच्चलननयने च परभृतः—कोकिलः तस्य सुरक्तं लोचनं च 'जासुमिण' इति जपा-वनस्पतिविशेषाः तस्याः कुसुमं च ज्वलितज्वलनश्च तपनीयकलशश्च हिङ्गुलको-वर्णकविशेषस्तन्निकरश्च-राशिरिति द्वन्द्वः, तत एतेषां यद्रूपं ततोऽतिरेकेण-आधिक्येन 'रेहंत' त्ति शोभमाना स्वा—स्वकीया श्रीः-वर्णलक्ष्मीर्यस्य स तथा तस्मिन्, 'दिवाकरे' आदित्ये अथ अनन्तरं क्रमेण-रजनीक्षयपाण्डुरप्रभातकरणलक्षणेन 'उदिते' उद्गते 'तस्स दिण (कर)करपरंपरावयारपारद्धम्मि अंधकारे' त्ति तस्य दिवाकरस्य दिने दिवसे अधिकरणभूते दिनाय वा यः करपरम्परायाः-किरणप्रवाहस्यावतारः अवतरणं तेन प्रारब्धम्-आरब्धमभिभवितुमिति गम्यते, अपराद्धं वा विनाशितं दिनकरपरम्परावतारप्रारब्धं तस्मिन् सति इह च तस्येति सापेक्षत्वेऽपि समासः, तथा दर्शनादन्धकारे—तमसि तथा बालातप एव कुङ्कुमं तेन खचिते इव जीवलोके सति,तथा लोचनविषयस्य—दृष्टिगोचरस्य यः'अणुयासो त्ति' अनुकाशो विकाशः प्रसर इत्यर्थस्तेन विकसंश्चासौ वर्द्धमानो विशदश्च स्पष्टः स चासौ दर्शितश्चेति लोचनविषयानुकाशविशददर्शितस्तस्मिन्, कस्मिन्नित्याह—लोके अयमभिप्रायः अन्धकारस्य क्रमेण हानौ लोचनविषयविकाशः क्रमेणैव भवति स च विकसन्तं लोकं दर्शयत्येव, अन्धकारसद्भावे दृष्टिप्रसरणे लोकस्य संकीर्णस्येव प्रतिभासनादिति, तथा कमलाकरा ह्रदादयस्तेषु खण्डानि—नलिनीखण्डानि तेषां बोधको यः तस्मिन् उत्थिते उदयानन्तरावस्थावाप्ते

'सूरे' आदित्ये किंभूते? सहस्ररश्मौ तथा 'दिनकरे' दिनकरणशीले तेजसा ज्वलति सतीति। 'अट्टणसाल' त्ति अट्टनशाला व्यायामशालेत्यर्थः, अनेकानि यानि व्यायामानि योग्या च—गुणनिका वल्गनं च—उल्ललनं व्यामर्दनं च-परस्परेण बाह्वाद्यङ्गमोटनं मल्लयुद्धं च प्रतीतं करणानि च बाहुभङ्गविशेषा मल्लशास्त्रप्रसिद्धानि तैः श्रान्तः सामान्येन परिश्रान्तोऽङ्गप्रत्यङ्गापेक्षया सर्वतः शतकृत्वो यत्पकं शतेन वा कार्षापणानां यत्पक्वं तच्छतपक्वमेवमितरदपि सुगन्धिवरतैलादिभिरभ्यङ्गैरिति योगः आदिशब्दात्—घृतकर्पूरपानीयादिग्रहः किम्भूतैः?—'प्रीणनीयैः' रसरुधिरादिधातुसमताकारिभिर्दीपनीयैः—अग्निजननैः दर्पणीयैः बलकरैः मदनीयैः—मन्मथबृंहणीयैर्मांसोपचयकारिभिः सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयैः अभ्यङ्गैः—स्नेहनैः अभ्यङ्गः क्रियते यस्य सोऽभ्यङ्गितः सन्, ततस्तैलचर्मणि—तैलाभ्यक्तस्य संवाधनाकरणाय यच्चर्म तत्तैलचर्म तस्मिन् संवाहिते 'समाणे' त्ति योगः कैरित्याह?-पुरुषैः, कथम्भूतैः?-प्रतिपूर्णानां पाणिपादानां सुकुमालकोमलानि अतिकोमलानि तलानि-अधोभागा येषां ते तथा तैः छेकैः अवसरज्ञैर्द्विसप्ततिकलापण्डितैरिति च वृद्धाः, दक्षैः-कार्याणामविलम्बितकारिभिः प्रष्ठैः-वाग्मिभिरिति वृद्धव्याख्या, अथवा—प्रष्ठैः-अग्रगामिभिः कुशलैः-साधुभिः संवाधनाकर्मणि मेधाविभिः—अपूर्वविज्ञानग्रहणशक्तिनिष्ठैः निपुणैः—क्रीडाकुशलैर्निपुणशिल्पोपगतैः—निपुणानि-सूक्ष्माणि यानि शिल्पानि-अङ्गमर्दनादीनि तान्युपगतानि-अधिगतानि यैस्ते तथा तैर्जितपरिश्रमैः,व्याख्यान्तरं तु छेकैः-प्रयोगज्ञैर्दक्षैः—शीघ्रकारिभिः 'पत्तट्ठेहिं' ति प्राप्तार्थैरधिकृतकर्मणि निष्ठां गतैः कुशलैः—आलोचितकारिभिः मेधाविभिः सकृच्छ्रुतदृष्टकर्मज्ञैः निपुणः—उपायारम्भिभिः निपुणशिल्पोपगतैः—सूक्ष्मशिल्पसमन्वितैरिति, अभ्यङ्गनपरिमर्दनोद्वलनानां करणे ये गुणास्तेपु निर्मातैः, अस्थ्नां सुखहेतुत्वादस्थिसुखा तया 'संवाहनये' ति विश्रामणया अपगतपरिश्रमः 'समंतजालाभिरामे' त्ति समन्तात्—सर्वतो जालकैर्धिच्छित्तिभिः छिद्रवद् गृहावयवविशेषैरभिरामो—रम्यो यः स्नानमण्डपः स तथा, पाठान्तरे—' समत्तजालाभिरामे' त्ति तत्र समस्तैर्जालकैरभिरामो यः स तथा, पाठान्तरेण—'समुत्तजालाभिरामे' सह मुक्ताजालैर्यो वर्त्ततेऽभिरामश्च स तथा तत्र, शुभोदकैः-पवित्रस्थानाहृतैः गन्धोदकैः—श्रीखण्डादिमिश्रैः पुष्पोदकैः—पुष्परसमिश्रैः शुद्धोदकैश्च स्वाभाविकैः कथं मज्जित इत्याह—' तत्र ' स्नानावसरे यानि कौतुकशतानि रक्षादीनि तैः ' पह्मले ' त्यादि पह्मला-पक्ष्मवती अत एव सुकुमाला गन्धप्रधाना काषायिका-कषायरक्ता शाटिका तया लूषितमङ्गं यस्य स तथा, अहतं मलमूषिकादिभिरनुपद्रुतं प्रत्यग्रमित्यर्थः, सुमहार्घं दूष्यरत्नं-प्रधानवस्त्रं तेन सुसंवृतः-परिगतस्तद्वा सुष्ठु संवृत-परिहितं येन स तथा, शुचिनी—पवित्रे माला च-पुष्पमाला वर्णकविलेपनं च-मण्डनकारि कुङ्कुमादि विलेपनं यस्य स तथा, आविद्धानि-परिहितानि मणिसुवर्णानि येन स तथा, कल्पितो—विन्यस्तो हारः-अष्टादशसरिकः अर्द्धहारो—नवसरिकः त्रिसरिकं च प्रतीतमेव यस्य स तथा, प्रालम्बो-झुम्बनकं प्रलम्बमानो यस्य स तथा, कटिसूत्रेण—कट्याभरणविशेषेण सुष्ठु कृता शोभा यस्य स तथा, ततः पदत्रयस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मधारयः, अथवा-कल्पितहारादिभिः सुकृता शोभा यस्य स तथा, तथा पिनद्धानि-परिहितानि ग्रैवेयकाङ्गुलीयकानि येन स तथा, तथा ललिताङ्गके अन्यान्यपि ललितानि कृतानि-न्यस्तानि आभरणाणि यस्य स तथा, ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः, तथा नानामणीनां कटकत्रुटिकैः-हस्तवाह्वाभरणविशेषैर्बहुत्वात् स्तम्भिताविव स्तम्भितौ भुजौ यस्य स तथा, अधिकरूपेण सश्रीकः-सशोभो यः स तथा, कुण्डलोद्योतिताननः मुकुटदीप्तशिरस्कः हारेणावस्तृतम्-आच्छादितं तेनैव सुष्ठु कृतरतिकं वक्षः-उरो यस्यासौ हारावस्तृतसुकृतरतिकवक्षाः, मुद्रिकापिङ्गलाङ्गुलीकः-मुद्रिकाः-अङ्गुल्याभरणानि ताभिः पिङ्गलाः—कपिलाः अङ्गुलयो यस्य स तथा, प्रलम्बेन—दीर्घेण प्रलम्बमानेन च सुष्ठु कृत्तं पटेनोत्तरीयम्—उत्तरासङ्गो येन स तथा, नानामणिकनकरत्नैर्विमलानि महार्हाणि—महार्घाणि निपुणेन शिल्पिना ' उविय ' त्ति परिकर्मितानि ' मिसिमिसंत ' त्ति दीप्यमानानि यानि विरचितानि निर्मितानि सुश्लिष्टानि सुगन्धीनि विशिष्टानि विशेषवन्त्यन्येभ्यो लष्टानि-मनोहराणि संस्थितानि प्रशस्तानि च आविद्धानि-परिहितानि वीरवलयानि येन स तथा, सुभटो हि यदि कश्चिदन्योऽप्यस्ति वीरव्रतधारी तदाऽसौ मां विजित्य मोचयत्वेतानि वलयानीति स्पर्द्धयन् यानि परिदधाति तानि वीरवलयानीत्युच्यन्ते , किं बहुना ? , वर्णितेनेति शेषः, कल्पवृक्ष इव सुष्ठु अलङ्कृतो विभूषितश्च फलपुष्पादिभिः कल्पवृक्षो राजा तु मुकुटादिभिरलङ्कृतो विभूषितस्तु वस्त्रादिभिरिति, सह कोरण्टकप्रधानैर्माल्यदामभिर्यच्छत्रं तेन ध्रियमाणेन, कोरण्टकः—पुष्पजातिः, तत्पुष्पाणि मालान्तेषु शोभार्थं दीयन्ते, मालायै हितानि माल्यानि—पुष्पाणि दामानि-माला इति, चतुर्णां चामराणां प्रकीर्णकानां वालैर्वीजितमङ्गं यस्येति वाक्यम् , मङ्गलभूतो जयशब्दः कृत आलोके—दर्शने लोकेन यस्य स तथा , तथा अनेके ये गणनायकाः—प्रकृतिमहत्तरा दण्डनायकाः तन्त्रपाला राजानो-माण्डलिकाः ईश्वराः—युवराजानो मतान्तरेणाणिमाद्यैश्वर्ययुक्ताः तलवराः—परितुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धविभूषिताः राजस्थानीयाः माडम्बिकाः-छिन्नमडम्बाधिपाः कौटुम्बिकाः—कतिपयकुटुम्बप्रभवोऽवलगकाः मन्त्रिणः-प्रतीताः महामन्त्रिणो-मन्त्रिमण्डलप्रधानाः हस्तिसाधनोपरिका इति वृद्धाः, गणका-गणितज्ञाः भाण्डागारिका इति वृद्धाः दौवारिकाः-प्रतीहाराः राजद्वारिका वा अमात्या-राज्याधिष्ठायकाः चेटाः—पादमूलिकाः पीठमर्दा-आस्थाने आसनासीनसेवका वयस्या इत्यर्थः ' नगरं ' नगरवासिप्रकृतयो निगमाः-कारणिकाः श्रेष्ठिनः-श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमाङ्गाः सेनापतयः-नृपतिनिरूपिताश्चतुरङ्गसैन्यनायकाः सार्थवाहाः-सार्थनायकाः दूताः-अन्येषां गत्वा राजादेशनिवेदकाः सन्धिपालाः-राज्यसन्धिरक्षकाः एषां द्वन्द्वः ततस्तैः, इह तृतीयाबहुवचनलोपो द्रष्टव्य', सार्द्धं-सह, न केवलं तत्सहितत्वमेवापि तु तैः समिति-समन्तात् परिवृतः-परिकरित इति, नरपतिर्मज्जनगृहात्प्रतिनिष्क्रामतीति सम्बन्धः, किंभूतः ? प्रियदर्शनः, क इव ?—धवलमहामेघनिर्गत इव शशी , तथा ' ससि व्व ' त्ति वत्करणस्यान्यत्र संबन्धस्ततो ग्रहगणदीप्यमानऋक्षतारागणानां मध्ये इव वर्त्तमान इति । सिद्धार्थकप्रधानो यो मङ्गलोपचारस्तेन कृतं शान्तिकर्म विघ्नोपशमकर्म येषु तानि तथा । ' णाणामणी ' त्यादि यवनिकामाच्छादयतीति संबन्धः, अधिकं प्रेक्षणीयं रूपं यस्यां रूपाणि वा यस्यां सा तथा ताम् , महार्घा चासौ वरपत्तने-वरवस्त्रोत्पत्तिस्थाने उद्गता च-व्यूता तां श्लक्ष्णानि बहुभक्तिशतानि यानि चित्राणि तेषां स्थानं , तदेवाह—ईहामृगाः—वृकाः ऋषभाः—वृषभाः, तुरगनरमकरविहगाः प्रतीताः व्यालाः-श्वापदभुजगाः किन्नरा-व्यन्तरविशेषाः रुरवो—मृगविशेषाः सरभा—आटव्याः महाकायपशवः पराशरेति पर्यायाः चमरा—आटव्या गावः कुञ्जरा—दन्तिनः वनलता—अशोकादिलताः पद्मलताः—पद्मिन्यः एतासां यका भक्तयो विच्छित्तयस्ताभिश्चित्रा या सा तथा तां, सुष्ठु खचिता मण्डिता वरकनकेन प्रवरपर्यन्तानाम्-अञ्चलकरणवर्त्तिलक्षणानां देशभागा अवयवा यस्यां सा तथा ताम् , आभ्यन्तरिकीम्-आस्थानशालाया अभ्यन्तरभागवर्त्तिनीं यवनिकां-काण्डपटम्'अंछावेइ' त्ति आयतां कारयति , आस्तरकेण प्रतीतेन मृदुकमसूरकेण च प्रतीतेनावस्तृतं यत्तत्तथा , धवलवस्त्रेण प्रत्यवस्तृतम्—आच्छादितं विशिष्टं—शोभनमङ्गस्य सुखः स्पर्शो यस्य तत्तथा , अष्टाङ्गम्-अष्टभेदं दिव्योत्पातान्तरिक्षादिभेदं यन्महानिमित्तं—शास्त्रविशेषः तस्य सूत्रार्थपाठाका ये ते तथा तान् " विणयेण वयण पडिसुणेंति ' त्ति प्रतिशृण्वन्ति—अभ्युपगच्छन्ति वचनं , विनयेन किम्भूतेनेत्याह-' एव ' मिति ' यथैव यूयं भणथ तथैव ' देवो ' त्ति हेदेव ! 'तहत्ति' त्ति—नान्यथा आज्ञया भवदादेशेन करिष्याम इत्येवमभ्युपगमसूचकपदचतुष्टयभणनरूपेणेति ' जाव हियय त्ति ' ' हरिसवसविसप्पमाणहियया, स्नानानन्तरं कृतं बलिकर्म यैः स्वगृहदेवतानां ते तथा ' जाव पायच्छित्त ' त्ति 'कयकोउयमंगलपायच्छित्ता ' तत्र कृतानि कौतुकमङ्गलान्येवेति प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नादिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्यैस्ते तथा, तत्र कौतुकानि-मषीतिलकादीनि मङ्गलानि तु-सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादीनि हरितालिका—दूर्वा सिद्धार्थका अक्षताश्च कृता मूर्द्धनि यैस्ते तथा , क्वचित् ' सिद्धत्थयहरियालियाकयमंगलमुद्धाणा ' एवं पाठः , स्वकेभ्य आत्मीयेभ्य इत्यर्थः । 'जएणं विजएणं वद्धावेंति ' जयेन विजयेन च वर्द्धस्व त्वमित्याचक्षत इत्यर्थः , तत्र जयः—परैरनभिभूयमानता प्रतापवृद्धिश्च विजयस्तु-परेषामभिभव इति , अर्चिताः--चर्चिताश्चन्दनादिना वन्दिताः-सद्गुणोत्कीर्तनेन पूजिताः-पुष्पैर्मानिता-दृष्टिप्रणामतः सत्कारिताः-फलवस्त्रादिदानतः सम्मानितास्तथाविधया प्रतिपत्त्या ' समाण ' त्ति सन्तः , ' अन्नमण्णेण सद्धिं ' ति अन्योऽन्येन सह इत्येवं ' संचालेंति ' त्ति संचालयन्ति संचारयन्तीति पर्यालोचयन्तीत्यर्थः, लब्धार्थाः स्वतः पृष्टार्थाः परस्परतः गृहीतार्थाः पराभिप्रायग्रहणतः तत एव विनिश्चितार्थाः अत एव अभिगतार्था अवधारितार्था इत्यर्थः, ' गब्भं वक्कममाणंसि ' त्ति गर्भे 'व्युत्क्रामति ' उत्पद्यमाने , अभिषेक इति—श्रियाः संबन्धी , विमानं यो देवलोकादवतरति तन्माता पश्यति, यस्तु नरकादुद्वृत्योत्पद्यते तन्माता भवनमिति चतुर्दशैव स्वप्नाः, वि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानभवनयोरेकतरदर्शनादिति। 'विरणायपरिणयमेत्ते' विज्ञातं-विज्ञानं परिणतमात्रं यस्य स तथा क्वचिद् 'विरणय' त्ति पाठः स च व्याख्यात एव, 'जीवियारिहं, ति आजन्म निर्वाहयोग्यम्।

तते णं तीसे धारिणीए देवीए दोसु मासेसु वीतिकंतेसु ततिए मासे वट्टमाणे तस्स गब्भस्स दोहलकालसमयंसि अयमेयारूवे अकालमेहेसु दोहले पाउब्भवित्था-धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ सपुन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ कयत्थाओ णं ताओ कयपुन्नाओ कयलक्खणाओ कयविहवाओ सुलद्धे णं तासि माणुस्सए जम्मजीवियफले जाओ णं मेहेसु अब्भुग्गतेसु अब्भुज्जुएसु अब्भुन्नतेसु अब्भुट्ठिएसु सगज्जिएसु सविज्जुएसु सफुसिएसु सथणिएसु धंतधोतरुप्पपट्टअंकसंखचंदकुंदसालिपिट्ठरासिसमप्पभेसु चिउरहरियालभेयचंपगसणकोरंटसारिसयपउमरयसमप्पभेसु लक्खारससरसरत्तकिंसुयजासुमणरत्तबंधुजीवगजातिहिंगुलयसरसकुंकुमउरब्भससरुहिरइंदगोवगसमप्पभेसु बरहिणनीलगुलियसुगचासपिच्छभिंगपत्तसासगनीलुप्पलनियरनवसिरीसकुसुमणवसद्दलसमप्पभेसु जच्चंजणभिंगभेयरिट्ठगभमरावलिगवलगुलियकज्जलसमप्पभेसु फुरंतविज्जुतसगज्जिएसु वायवसविपुलगगणचवलपरिसक्किरेसु निम्मलवरवारिधारापगलियपयंडमारुयसमाहयसमोत्थरंतउवरिउवरितुरियवासं पवासिएसु धारापहकरणिवायनिव्वावियमेइणितले हरियगणकंचुए पल्लवियपायवगणेसु वल्लिवियाणेसु पसरिएसु उन्नएसु सोभग्गमुवागएसु नगेसु नएसु वा वेभारगिरिप्पवायतडकडगविमुक्केसु उज्झरेसु तुरियपहावियपलोट्टफेणाउलं सकलुसं जलं वहंतीसु गिरिनदीसु सज्जज्जुणनीवकुडयकंदलसिलिंधकलिएसु उववणेसु मेहरसियहट्ठतुट्ठचिट्ठियहरिसवसपमुक्ककंठकेकारवं मुयंतेसु वराहिणेसु उउवसमयजणियतरुणसहयरिपणच्चितेसु नवसुरभिसिलिंधकुडयकंदलकलंवगंधद्धणिं मुयंतेसु उववणेसु परहुयरुयरिभितसंकुलेसु उद्दायंतरत्तइंदगोव-यथोवयकारुन्नविलवितेसु ओणयतणमंडिएसु ददुरपयंपिएसु संपिंडियदरियभमरमहुकरिपहकरपरिलिंतमत्तछप्पयकुसुमासवलोलमधुरगुंजंतदेसभाएसु उववणेसु परिसामियचंदसूरगहगणपणट्ठनक्खत्ततारगपहे इंदाउहबद्धचिंधपट्टंसि अंबरतले उड्डीणवलागपंतिसोभंतमेहविंदे कारंडगचक्कवायकलहंसउस्सुयकरे संपत्ते पाउसम्मि काले ण्हाया कयवलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ताओ किं ते वरपायपत्तणे उरमणिमेहलहाररइयकडगखुड्डयविचित्तवरवलयथंभियभुयाओ कुंडलउज्जोवियाणणाओ रयणभूसियंगाओ नासानीसासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिससंजुत्तं हयलालापेलवाइरेयं धवलकणयखचियंतकम्मं आगासफलिहसरिसप्पभं अंसुयं पवरपरिहियाओ दुगुल्लसुकुमालउत्तरिज्जाओ सव्वोउयसुरभिकुसुमपवरमल्लसोभितसिराओ कालाग(गु)रुधूवधूवियाओ सिरिसमाणवेसाओ सेयणयगंधहत्थिरयणं दुरूढाओ समाणीओ सकोरिंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडसंखकुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसन्निगासचउचामरवालवीजितंगीओ सेणिएणं रन्ना सद्धिं हत्थिखंधवरगएणं पिट्ठओ समणुगच्छमाणीओ चाउरंगिणीए सेणाए महता हयाणीएणं गयाणीएणं रहाणीएणं पायत्ताणीएणं सव्वड्ढीए सव्वज्जुइए ०जाव निग्घोसणादियरवेणं रायगिहं नगरं सिंघाडगतियचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु आसित्तसित्तसुचियसंमज्जिओवलित्तं ०जाव सुगंधवरगंधियं गंधवट्टीभूयं अवलोएमाणीओ नागरजणेणं अभिणंदिज्जमाणीओ गुच्छलयारुक्खगुम्मवल्लिगुच्छओच्छाइयं सुरम्मं वेभारगिरिकडगपायमूलं सव्वओ समंता आहिंडेमाणीओ २ दोहलं विणियंति, तं जइ णं अहमवि मेहेसु अब्भुवगएसु ०जाव दोहलं विणिज्जामि। (सूत्र-१३)

'दोहलो पाउब्भवित्थ' त्ति दोहदो-मनोरथः प्रादुर्भूतवान्, तथाहि-धनलब्धारो धन्यास्ता या अकालमेघदोहदं विनयन्तीति योगः 'अम्मयाओ' त्ति अम्बाः-पुत्रमातरः, स्त्रिय इत्यर्थः, संपूर्णाः-परिपूर्णाः आदेयवस्तुभिः (सपुरणयाः) कृतार्थाः—कृतप्रयोजनाः कृतपुरणयाः-जन्मान्तरोपात्तसुकृताः कृतलक्षणाः—कृतफलवच्छरीरलक्षणाः कृतविभवाः-कृतसफलसंपदः सुलब्धं तासां मानुष्यकं—मनुष्यसवन्धि जन्मनि-भवे जीवितफलं-जीवितव्यप्रयोजनं जन्मजीवितफलं, सापेक्षत्वेऽपि च समासः छान्दसत्वात्, या मेघेषु अभ्युद्गतेषु-अङ्कुरवदुत्पन्नेषु सत्सु, एवं सर्वत्र सप्तमी योज्या, अभ्युद्यतेषु—वर्द्धितुं, प्रवृत्तेषु अभ्युन्नतेषु-गगनमण्डलव्यापनेनोन्नतिमत्सु अभ्युत्थितेषु-प्रवर्षणाय कृतोद्योगेषु सगर्जितेषु—मुक्तमहाध्वनिषु सविद्युत्केषु प्रतीतं 'सफुसिएसु' त्ति प्रवृत्तप्रवर्षणबिन्दुषु सस्तनितेषु-कृतमन्दमन्दध्वनिषु ध्मातेन-अग्नियोगेन यो धौतः-शोधितो रूप्यपट्टो-रजतपत्रकं स तथा अङ्को—रत्नविशेषः शङ्खचन्द्रौ—प्रतीतौ कुन्दः—पुष्पविशेषः शालिपिष्टराशिः-व्रीहिविशेषचूर्णपुञ्ज एतत्समा प्रभा येषां ते तथा तेषु, शुक्लेष्वित्यर्थः, तथा चिकुरो—रागद्रव्यविशेष एव हरितालो-वर्णकद्रव्यं भेदस्तद्गुटिकाखण्डं चम्पकसनकारण्टकसर्षपग्रहणात्तत्पुष्पाणि गृह्यन्ते पद्मरजः—प्रतीतं तत्समप्रभेषु, वाचनान्तरे-सनस्थाने काञ्चनं सर्षपस्थाने 'सरिसगो त्ति' पठ्यते, तत्र चिकुरादिभिः सदृशाश्च ते पद्मरजः समप्रभाश्चेति विग्रहोऽतस्तेषु पीतेष्वित्यर्थः, तथा लाक्षारसेन सरसेन सरसरक्तकिंशुकेन जपासुमनोभिः रक्तबन्धुजीवकेन, रक्तबन्धुजीवकं हि पञ्चवर्णं भवतीति रक्तत्वेन विशिष्यते जातिहिङ्गुलकेन-वर्णकद्रव्येण, स कृत्रिमोऽपि भवतीति जात्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषितः, सरसकुङ्कुमेन, नीरसं हि विवक्षितवर्णोपेतं न
भवतीति सरसमुक्तं, तथा उरभ्रः ऊरणः शशः—शशकस्त-
यो रुधिरेण-रक्तेन इन्द्रगोपको-वर्षासु कीटकविशेषस्तेन च
समा प्रभा येषां ते तथा तेषु रक्तेष्वित्यर्थः, तथा बर्हिणो-
मयूराः नीलं-रत्नविशेषः गुलिका-वर्णकद्रव्यं शुकचाषयोः
पक्षिविशेषयोः पिच्छं-पत्रं भृङ्गः-कीटविशेषस्तस्य पत्रं-पक्षः
सासको-बीयकनामा वृक्षविशेषः, अथवा-' साम त्ति ' पाठः
तत्र श्यामा-प्रियङ्गुः नीलोत्पलनिकरः—प्रतीतः नवशिरीष-
कुसुमानि च नवशाड्वलं-प्रत्यग्रहरितम् एतत्समप्रभेषु नीलप्र-
भेषु नीलवर्णेष्वित्यर्थः, तथा जात्यं-प्रधानं यदञ्जनं-सौवीरकं
भृङ्गभेदः—भृङ्गाभिधानः कीटविशेषः विदलिताङ्गारो वा-
रिष्टकं—रत्नविशेषः, भ्रमरावली—प्रतीता। गवलगुलिका-
महिषशृङ्गगोलिका कज्जलं-मषी तत्समप्रभेषु कृष्णेष्वित्यर्थः
स्फुरद्विद्युत्काश्च सगर्जिताश्च ये तेषु, तथा वातवशेन विपुले
गगने चपलं यथा भवत्येवं ' परिसक्किरेसु ' त्ति परिष्वष्कि-
तुं शीलं येषां ते तथा तेषु, तथा निर्मलवरवारिधाराभिः प्र-
गलितः-क्षरितः प्रचण्डमारुतसमाहतः सन् ' समोत्थरंत '
त्ति समवस्तृणंश्च—महीपीठमाक्रामन् उपर्युपरि च सातत्येन
त्वरितश्च—शीघ्रो यो वर्षो—जलसमूहः स तथा तं
प्रवृष्टेषु—वर्षितुमारब्धेषु मेघेष्विति प्रक्रमः, धाराणां ' पह-
करो ' त्ति निकरस्तस्य निपातः-पतनं तेन निर्वापितं-शीत-
लीकृतं यत्तत्तथा तस्मिन्, निर्वापितशब्दाच्च सप्तम्येकवचन-
लोपो दृश्यः, कस्मिन्नित्याह-मेदिनीतले भूतले, तथा ह-
रितकानां-ह्रस्वतृणानां यो गणः स एव कञ्चुको यत्राच्छा-
दकत्वात् तत्तथा तत्र, ' पल्लविय ' त्ति इह सप्तमीबहुवचन-
लोपो दृश्यः, ततः पल्लवितेषु पादपगणेषु तथा वल्लीविता-
नेषु प्रसृतेषु—जातप्रसरेष्वित्यर्थः, तथोन्नतेषु भूप्रदेशेष्वि-
ति गम्यते सौभाग्यमुपगतेषु अनवस्थितजलत्वेनाकर्दमत्वात्
पाठान्तरे नगेषु पर्वतेषु नदेषु वा—ह्रदेषु तथा वैभाराभि-
धानस्य गिरेः ये प्रपाततटाः-भृगुतटाः कटकाश्च-पर्वतैक-
देशास्तेभ्यो ये विमुक्ताः—प्रवृत्तास्ते तथा तेषु, केषु ?—
'उज्झरेसु ' त्ति निर्झरेषु त्वरितप्रधावितेन यः 'पल्लोट्ट' त्ति
प्रवृत्तः—उत्पन्नः फेनस्तेन आकुलं व्याप्तम्। ' सकलुसं ' ति
सकालुष्यं जलं वहन्तीषु गिरिनदीषु सर्ज्जार्जुननीपकुटजा-
नां वृक्षविशेषाणां यानि कन्दलानि-प्ररोहाः शिलन्ध्राश्च-
छत्रकाणि तैः कलितानि यानि तानि तथा तेषु उपवनेषु,
तथा मेघरसितेन हृष्टतुष्टा—अतिहृष्टाश्चेष्टिताश्च कृतचेष्टा
ये ते तथा तेषु, इदं च सप्तमीलोपात्, हर्षवशात् प्रमुक्तो
मुत्कलीकृतः कण्ठो—गलो यस्मिन् स तथा स चाऽसौ
केकारवश्च तं मुञ्चत्सु बर्हिणेषु मयूरेषु, तथा ऋतुवशेन
कालविशेषबलेन यो मदस्तेन जनितं तरुणसहचरीभिः-यु-
वतिमयूरीभिः सह प्रनृत्तं प्रनर्त्तनं येषां ते तथा तेषु, बर्हि-
ष्वित्यन्वयः, नवः सुरभिश्च यः शिलीन्ध्रकुटजकन्दलक-
दम्बलक्षणानां पुष्पाणां गन्धस्तेन या घ्राणिः—तृप्तिस्तां मु-
ञ्चत्सु गन्धोत्कर्षतां विदधानेष्वित्यर्थः उपवनेषु-भवनास-
न्नवनेषु, तथा परभृतानां कोकिलानां यद्रुतं-रवो रिभितं-
स्वरघोलनावत्तेन संकुलानि यान्युपवनानि तानि तथा तेषु-
' उद्दाइंत ' ति शोभमाना रक्ता इन्द्रगोपकाः—कीटविशेषाः
स्तोककानां—चातकानां कारुण्यप्रधानं विलपितं च येषु
तानि तथा तेषूपवनेष्वित्यन्वयः, तथा अवनततृणैर्मण्डि-
तानि यानि तानि तथा तेषु, दर्दुराणां प्रकृष्टं जल्पितं येषु-
तानि तथा तेषु, संपिण्डिता—मिलिताः दृप्ता—दर्पिताः
भ्रमराणां मधुकरीणां च ' पहकर ' त्ति निकरा येषु तानि
तथा, ' परिलिन्त ' त्ति परिलीयमानाः संश्लिष्यन्तो मत्ताः
षट्पदाः कुसुमासवलोलाः—मकरन्दलम्पटाः मधुरं-कलं
गुञ्जन्तः—शब्दायमानाः देशभागेषु येषां तानि तथा ततः
कर्मधारयः ततस्तेषु उपवनेषु, तथा परिश्यामिताः—कृ-
ष्णीकृताः सान्द्रमेघाच्छादनात्, पाठान्तरेण-परिभ्रामिताः
कृतप्रभाभ्रंशा चन्द्रसूरग्रहाणां यस्मिन् प्रनष्टा च नक्षत्र-
तारकप्रभा यस्मिंस्तत्तथा तस्मिन्नम्बरतले इति योगः,
इन्द्रायुधलक्षणो बद्ध इव बद्धः चिह्नपट्टो-ध्वजपटो यस्मि-
स्तत्तथा तत्राम्बरतले—गगने उड्डीनबलाकापङ्क्तिशोभमान-
मेघवृन्देऽम्बरतले इति योगः, तथा कारण्डकादीनां पक्षि-
णां मानससरोगमनादि प्रत्यौत्सुक्यकरे संप्राप्ते-उक्तलक्षण-
योगेन समागते प्रावृषि काले, किंभूता ? ' अम्मयाओ ? ' इ-
त्याह-' एहायाओ ' इत्यादि. किं ते इति किमपरमित्यर्थः,
वरौ पादप्राप्तनूपुरौ मणिमेखला रत्नकाञ्ची हारश्च यासां
तास्तथा रचितानि-न्यस्तानि उचितानि-योग्यानि कटका-
नि प्रतीतानि खुड्डकानि च-अङ्गुलीयकानि यासां तास्तथा
विचित्रैर्वरवलयैः स्तम्भिताविव स्तम्भितौ भुजौ यासां ता-
स्तथा ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः। तथा " कुंडलोज्जोति-
ताणना वरपायपत्तनेउरमणिमेहलाहाररइयउचियकडगखु-
डुयएगावलिकंठमुरयतिसरयवरवलयहेमसुत्तकुंडलुज्जोति-
याणणाओ " त्ति पाठान्तरं तत्र वरपादप्राप्तनूपुरमणिमेख-
लाहारास्तथा रचितान्युचितानि कटकानि च खुड्डकानि च
एकावली च-विचित्रमणिकृता एकसरिका कण्ठमुरजश्च-
आभरणविशेषः त्रिसरकं च वरवलयानि च हेमसूत्रकं च-
संकलकं यासां तास्तथा, तथा कुण्डलोद्योतिताननास्ततो व-
रपादप्राप्तनूपुरादीनां कर्मधारयः रत्नविभूषिताङ्ग्यः नासा-
निःश्वासवातेनोह्यते यल्लघुत्वात्तत्तथा चक्षुर्हरं दृष्ट्याक्षेपक-
त्वात्, अथवा—प्रच्छादनीयाङ्गदर्शनाच्चक्षुर्हरति धरति वा
निवर्तयति यद्युवत्वात्तत्तथा, वर्णस्पर्शसंयुक्तं वर्णस्पर्शाति-
शायीत्यर्थः, हयलालाया-अश्वलालायाः सकाशात् ' पेलव '
त्ति पेलवत्वेन मृदुत्वलघुत्वलक्षणेनातिरेकः अतिरिक्तत्वं
यस्य तत् तथा, धवलं च तत् कनकेन खचितं-मण्डितम-
न्तयोः—अञ्चलयोः कर्म वानलक्षणं यस्य तत्तथा तच्चेति
वाक्यम्. आकाशस्फटिकस्य सदृशी प्रभा यस्य धवलत्वा-
त्तत्तथा, अंशुक-वस्त्रविशेषः प्रवरंमहानुस्वारलोपो दृश्यः
परिहिताः-निवसिताः दुकूलं च वस्त्रम् अथवा-दुकूलो वृक्ष-
विशेषः तद्वल्कलाज्जातं दुकूलं वस्त्रविशेष एव तत् सुकु-
मालमुत्तरीयम्-उपरिकायाच्छादनम् यासां तास्तथा, सर्व-
र्तुकसुरभिकुसुमैः प्रवरैर्माल्यैश्च-ग्रथितकुसुमैः शोभितं शि-
रो यासां तास्तथा, पाठान्तरे—' सर्वर्तुकसुरभिकुसुमैः सुर-
चिता प्रलम्बमाना शोभमाना कान्ता विकसन्ती चित्रा
माला यासां तास्तथा, एवमन्यान्यपि पदानि बहुवचना-
न्तानि संस्करणीयानि-इह वर्णके बृहत्तरो वाचनाभेदः,
तथा चन्द्रप्रभवैरवैडूर्यविमलदण्डाः शङ्खकुन्ददकरजोऽमृ-
तमथितफेनपुञ्जसन्निकाशाश्च ये चत्वारश्चामराः—चामराणि
तद्वालैर्वीजितमङ्गं यासां तास्तथा, अयमेवार्थो वाचनान्तरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्थमधीतः-' सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं २ सव्विड्ढीए ' त्ति छत्रादिराजचिह्नरूपया, इह यावत्करणादेवं द्रष्टव्यम्-' सव्वज्जुइए ' सर्वद्युत्या-आभरणादिसंबन्धिन्या सर्वयुक्त्या वा उचितेष्टवस्तुघटनालक्षणया ' सव्वबलेन ' सर्वसैन्येन ' सर्वसमुदायेन ' पौरादिमीलनेन ' सर्वादरेण ' सर्वौचितकृत्यकरणरूपेण सर्वविभूत्या—सर्वसंपदा सर्वविभूषया —समस्तशोभया सर्वसंभ्रमेण—प्रमोदकृतौत्सुक्येन सर्वपुष्पगन्धमाल्यालङ्कारेण ' सर्वतूर्यशब्दसंनिनादेन ' तूर्यशब्दानां मीलनेन यः संगतो नितरां नादो-महान् घोषस्तेनेत्यर्थः,अल्पेष्वपि ऋद्ध्यादिषु सर्वशब्दप्रवृत्तिर्दृष्टा अत आह-'महया इड्ढीए महया जुइए जुत्तीए वा महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगसमगप्पवाइएणं' 'यमकसमकं' युगपत् ,एतदेव विशेषेणाह-'संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरवमुइंगदुंदुहिनिग्घोसनाइयरवेणं , तत्र शङ्खादीनां नितरां घोषो निर्घोषो—महाप्रयत्नोत्पादितः शब्दो नादितं-ध्वनिमात्रमेतद्द्वयलक्षणो यो रवः स तथा तेन, 'सिंघाडे ' त्यादि , सिङ्घाटकादीनामयं विशेषः , सिङ्घाटकं-जलजबीजं फलविशेषः तदाकृतिपथयुक्तं स्थानं सिङ्घाटकं, त्रिपथयुक्तं स्थानं त्रिकं चतुष्पथयुक्तं चतुष्कं त्रिपथभेदि चत्वरं चतुर्मुखं-देवकुलादि महापथो राजमार्गः पन्थाः-पथिमात्रम् , तथा आसिक्तं—गन्धोदकेनेषत्सिक्तं सकृद्वा सिक्तं, सिक्तं त्वन्यथा शुचिकं—पवित्रं संमार्जितम्-अपहृतकचवरम् । उपलिप्तं च गोमयादिना यत्तत्तथा यावत्करणादुपस्थानशालावर्णकः पूर्वोक्त एव वाच्यः , एवंभूतं नगरमवलोकयन्त्यो गुच्छा वृन्ताकीप्रभृतीनां लताः सहकारादिलता वृक्षाः सहकारादयः गुल्मा वंशीप्रभृतयः वल्ल्यः त्रपुष्यादिकाः एतासां ये गुच्छाः पल्लवसमूहास्तैर्यत् ' ओच्छवियं ' ति अवच्छादितं वैभारगिरेर्ये कटकाः—देशास्तेषां ये पादाः अधोभागास्तेषां यन्मूलं—समीपं तत्तथा तत्सर्वतः समन्तात् ' आहिंडन्ति ' त्ति आहिण्डन्ते, अनेन चैवमुक्तव्यतिकरभाजां सामान्येन स्त्रीणां प्रशंसाद्वारेणात्मविषयोऽकालमेघदोहदो धारिण्याः प्रादुरभूदित्युक्तं,वाचनान्तरे तु-ओलोए माणीओ २ आहिंडेमाणीओ २ दोहलं विणिंति 'विनयन्त्यपनयन्तीत्यर्थः, तं जति णं अहमवि मेहेसु अब्भुग्गएसु ०जाव दोहलं विणेज्जामि ' विनयेयमित्यर्थः, संगतश्चायं पाठ इति ।

उक्तदोहदाप्राप्तौ यत्तस्याः संपन्नं तदाह—

तए णं सा धारणी देवी तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि असंपन्नदोहला असंपुन्नदोहला असंमाणियदोहला सुक्का भुक्खा णिम्मंसा ओलग्गा ओलुग्गसरीरा पमइलदुव्वला किलंता ओमंथियवयणनयणकमला पंडुइयमुही करयलमलिय व्व चंपगमाला णित्तेया दीणविवण्णवयणा जहोचियपुप्फगंधमल्लालंकारहारं अणभिलसमाणी कीडारमणकिरियं च परिहावेमाणी दीणा दुम्मणा निराणंदा भूमिगयदिट्ठीया ओहयमणसंकप्पा ० जाव झियायइ, तते णं तीसे धारिणीए देवीए अंगपडियारियाओ अब्भिंतरियाओ दासचेडियाओ धारिणीं देवीं ओलुग्गं०जाव झियायमाणीं पासंति पासित्ता एवं वदासी—किण्णं तुमे देवाणुप्पिए ! ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा ०जाव झियायसि ? तते णं सा धारिणी देवी ताहिं अंगपडियारियाहिं अब्भिंतरियाहिं दासचेडियाहिं एवं वुत्ता समाणी नो आढाति णो य परियाणाति अढायमाणी अपरियाणमाणी तुसिणीया संचिट्ठति, तते णं ताओ अंगपडियारियाओ अब्भिंतरियाओ दासचेडियाओ धारिणीं देवीं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-किं णं तुमे देवाणुप्पिए ! ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा० जाव झियायसि ?, तते णं सा धारिणी देवी ताहिं अंगपडियारियाहिं अब्भिंतरियाहिं दासचेडियाहिं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ता समाणी णो आढाति णो परियाणाति अणाढायमाणा अपरियाणमाणा तुसिणीया संचिट्ठति, तते णं ताओ अंगपडियारियाओ दासचेडियाओ धारिणीए देवीए अणाढातिज्जमाणीओ अपरिजाणिज्जमाणिओ तहेव संभंताओ समाणीओ धारिणीए देवीए अंतियाओ पडिनिक्खमंति २ त्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति २ त्ता करतलपरिग्गहियं ०जाव कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति वद्धावइत्ता एवं वयासी-एवं खलु सामी ! किं पि अज्ज धारिणी देवी ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा ०जाव अट्टज्झाणोवगया झियायति, तते णं से सेणिए राया तासिं अंगपाडियारियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म तहेव संभंते समाणे सिग्घं तुरियं चवलं वेइयं जेणेव धारिणी देवी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता धारिणीं देवीं ओलुग्गं ओलुग्गसरीरं ०जाव अट्टज्झाणोवगयं झियायमाणीं पासइ पासित्ता एवं वदासी-किन्नं तुमे देवाणुप्पिए ! ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा ०जाव अट्टज्झाणोवगया झियायसि ?, तते णं सा धारिणी देवी सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ता समाणी नो आढाइ ०जाव तुसिणीया संचिट्ठति, तते णं से सेणिए राया धारिणीं देवीं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वदासी-किन्नं तुमे देवाणुप्पिए ! ओलुग्गा ०जाव झियायसि ?, तते णं सा धारिणी देवी सेणिएणं रण्णा दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ता समाणी णो आढाति णो परिजाणाति तुसिणीया संचिट्ठइ, तते णं से सेणिए राया धारिणीं देवीं सवहसावियं करेइ २ त्ता एवं वयासी-किण्णं तुमं देवाणुप्पिए ! अहमेयस्स अट्ठस्स अणरिहे सवणयाए ? ता णं तुमं ममं अयमेयारूवं मणोमाणसियं दुक्खं रहस्सीकरेसि, तते णं सा धारिणी देवी सेणिएणं रन्ना सवहसाविया समाणी सेणियं रायं एवं वदासी-एवं खलु सामी ! मम

१ शृङ्गाटक इति वाचस्पत्यभिधाने ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्स उरालस्स ०जाव महासुमिणस्स तिरहं मासाणं ब-हुपडिपुन्नाणं अयमेयारूवे अकालमेहेसु दोहले पाउब्भूए धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ कयत्थाओ णं ताओ अम्मयाओ ०जाव वेभारगिरिपायमूलं आहिंडमाणीओ दोहणं विणिंति, तं जइ णं अहमवि० जाव डोहलं विणिज्जामि, तते णं हं सामी ! अयमेयारूवंसि अकालदोहलंसि अविणिज्जमाणंसि ओलुग्गा० जाव अट्टज्झाणोवगया झियायामि, एएणं अहं कारणेणं सामी ! ओलुग्गा ० जाव अट्टज्झाणोवगया झियायामि, तते णं से सेणिए राया धारिणीए देवीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा-णिसम्म धारिणीं देविं एवं वदासी—मा णं तुमं देवाणुप्पिए! ओलुग्गा०जाव झियायाहि, अहं णं तहा करिस्सामि जहा णं तुब्भं अयमेयारूवस्स अकालदोहलस्स मणोरहसंपत्ती भविस्सइ त्ति कट्टु धारिणीं देवीं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं मणामाहिं वग्गूहिं समासासेइ२त्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणामेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने धारिणीए देवी एवं अकालदोहलं बहूहिं आएहि य उवाएहि य उप्पत्तियाहि य वेणइयाहि य कम्मियाहि य परिणामियाहि च चउव्विहाहिं बुद्धीहिं अणुचिंतेमाणे२ तस्स दोहलस्स आयं वा उवायं वा ठिइं वा उप्पत्तिं वा अविंदमाणे ओहयमणसंकप्पे०जाव झियायति।(सूत्र-१४)

तदाणंतरं अभए कुमारे रहाते कयवलिकम्मे ०जाव सव्वालंकारविभूसिए पाए वंदते पहारेत्थगमणाए, तते णं से अभयकुमारे जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सेणियं रायं ओहयमणसंकप्पं ० जाव पासइ २ त्ता अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए मणोगते संकप्पे समुप्पज्जित्था-अन्नया य ममं सेणिए राया एज्जमाणं पासति पासइत्ता आढाति परिजाणति सक्करेइ सम्माणेइ आलवति संलवति अद्धासणेणं उवणिमंतेति मत्थयंसि अग्घाति, इयाणिं ममं सेणिए राया णो आढाति णो परियाणइ णो सक्कारेइ णो सम्माणेइ णो इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं ओरालाहिं वग्गूहिं आलवति संलवति नो अद्धासणेणं उवणिमंतेति णो मत्थयंसि अग्घाति य किंपि ओहयमणसंकप्पे झियायति,तं भवियव्वं णं एत्थ कारणेणं,तं सेयं खलु मे सेणियं रायं एयमट्ठं पुच्छित्तए, एवं संपेहेइ २ त्ता जेणामेव सेणिए राया तेणामेव उवागच्छइ २ त्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ वद्धावइत्ता एवं वयासी-तुब्भे णं ताओ ! अन्नया ममं एज्जमाणं पासित्ता आढाह परिजाणह ०जाव मत्थयंसि अग्घायह आसणेणं उवणिमंतेह, इयाणिं ताओ ! तुब्भे ममं णो आढाह, ०जाव नो आसणेणं उवणिमंतेह किं पि ओहयमणसंकप्पा ०जाव झियायह तं भवियव्वं ताओ ! एत्थ कारणेणं, तओ तुब्भे मम ताओ ! एयं कारणं अगूहेमाणा असंकेमाणा अनिण्हवेमाणा अप्पच्छाएमाणा जहाभूतमवितहमसंदिद्धं एयमट्ठमाइक्खह, तते णं हं तस्स कारणस्स अंतगमणं गमिस्सामि, तते णं से सेणिए राया अभएणं कुमारेणं एवं वुत्ते समाणे अभयकुमारं एवं वदासी—एवं खलु पुत्ता ! तव चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए तस्स गब्भस्स दोसु मासेसु अइक्कंतेसु तइयमाणे वट्टमाणे दोहलकालसमयंसि अयमेयारूवे दोहले पाउब्भवित्था--धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ तहेव निरवसेसं भाणियव्वं०जाव विणिंति, तते णं अहं पुत्ता ! धारिणीए देवीए तस्स अकालदोहलस्स बहूहिं आएहि य उवाएहिं ०जाव उप्पत्तिं अविंदमाणे ओहयमणसंकप्पे ०जाव झियायामि, तुमं आगयं पि न याणामि, तं एतेणं कारणेणं अहं पुत्ता ! ओहय ०जाव झियायामि,तते णं से अभयकुमारे सेणियस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ ०जाव हियए सेणियं रायं एवं वदासी-मा णं तुब्भे ताओ ! ओहयमणसंकप्पा ०जाव झियायह, अहण्णं तहा करिस्सामि जहा णं मम चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए अयमेयारूवस्स अकालडोहलस्स मणोरहसंपत्ती भविस्सइ त्ति कट्टु सेणियं रायं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं ० जाव समासासेइ, तते णं सेणिए राया अभयेणं कुमारेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे० जाव अभयकुमारं सक्कारेति संमाणेति २त्ता पडिविसज्जेति।(सूत्र-१५)

ततं णं से अभयकुमारे सक्कारियसम्माणिए पडिविसज्जिए समाणे सेणियस्स रन्नो अंतियाओ पडिनिक्खमइ २ त्ता जेणामेव सए भवणे तेणामेव उवागच्छति २ त्ता सीहासणे निसन्ने, तते णं तस्स अभयकुमारस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए ० जाव समुप्पज्जित्था, णो खलु सक्का माणुस्सएणं उवाएणं मम चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए अकालडोहलमणोरहसंपत्तिं करेत्तए णन्नत्थ दिव्वेणं उवाएणं, अत्थि णं मज्झ सोहम्मकप्पवासी पुव्वसंगतिए देवे महिड्ढीए ० जाव महासोक्खे, तं सेयं खलु मम पोसहसालाए पोसहियस्स बंभचारियस्स उम्मुक्कमणिसुवन्नस्स ववगयमालावन्नगविलेवणस्स निक्खित्तसत्थमुसलस्स एगस्स अबीयस्स दब्भसंथारोवगयस्स अट्ठमभत्तं परिगिण्हित्ता पुव्वसंगतियं देवं मणसि करेमाणस्स विहरित्तए, तते णं पुव्वसंगतिए देवे मम चुल्लमा-

१-पुस्तकान्तरे भारणी स्वनि पाठः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उयाए धारिणीए देवीए अयमेयारूवे अकालमेहेसु डोहलं विणेहिति, एवं संपेहेति २ त्ता जेणेव पोसहसाला तेणामेव उवागच्छति २ त्ता पोसहसालं पमज्जति २ त्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ २ त्ता डब्भसंथारगं पडिलेहेइ २ त्ता डब्भसंथारगं दुरूहइ २ त्ता अट्ठमभत्तं परिगिण्हइ २ त्ता पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी०जाव पुव्वसंगतियं देवं मणसि करेमाणे २ चिट्ठइ, तते णं तस्स अभयकुमारस्स अट्ठमभत्ते परिणममाणे पुव्वसंगतिअस्स देवस्स आसणं चलति, तते णं पुव्वसंगतिए सोहम्मकप्पवासी देवे आसणं चलियं पासति २ त्ता ओहिं पउंजति, तते णं तस्स पुव्वसंगतियस्स देवस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु मम पुव्वसंगतिए जंबूदीवे दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे वासे रायगिहे नयरे पोसहसालाए पोसहिए अभए नामं कुमारे अट्ठमभत्तं परिगिण्हित्ता णं मम मणसि करेमाणे २ चिट्ठति, तं सेयं खलु मम अभयस्स कुमारस्स अंतिए-पाउब्भवित्तए, एवं संपेहेइ २ त्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमति २ त्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति २ त्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं णिसिरति, तं जहा–रयणाणं १ वइराणं २ वेरुलियाणं ३ लोहियक्खाणं४ मसारगल्लाणं ५ हंसगब्भाणं ६ पुलगाणं ७ सोगंधियाणं ८ जोइरसाणं ९अंकाणं १० अंजणाणं ११ रयणाणं १२ जायरूवाणं १३ अंजणपुलगाणं १४फलिहाणं १५रिट्ठाणं१६,अहाबायरे पोग्गले परिसाडेइ २ त्ता अहासुहमे पोग्गले परिगिण्हइ२ त्ता अभयकुमारमणुकंपमाणे देवे पुव्वभवजणियनेहपीइबहुमाणजायसोगे तओ विमाणवरपुंडरियाओ रयणुत्तमाओ धरणियलगमणतुरितसंजणितगमणप्पयारो वाघुण्णितविमलकणगपयरगवडिंसगमउडुक्कडाडोवदंसणिज्जो अणेगमणिकणगरतणपहकरपरिमंडितभत्तिचित्तविणिउत्तगमणगजणियहरिसे पेंखोलमाणवरललितकुंडलुज्जलियवयणगुणजनितसोमरूवे उदितो विव कोमुदीनिसाए सणिच्छरंगारउज्जलियमज्झभागत्थे णयणाणंदो सरयचंदो दिव्वोसहिपज्जलुज्जलियदंसणाभिरामो उउलच्छिसमत्तजायसोहे पइट्ठगंधुद्धुयाभिरामो मेरुरिव नगवरो विगुव्वियविचित्तवेसे दीवसमुद्दाणं असंखपरिमाणनामधेज्जाणं मज्झं कारेणं वीइवयमाणो उज्जोयंतो पभाए विमलाते जीवलोगं रायगिहं पुरवरं च अभयस्स य तस्स पासं उवयाति दिव्वरूवधारी । (सूत्र–१६) तते णं से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने दसद्धवन्नाइं सखिंखिणियाइं पवरवत्थाइं परिहिए एको ताव एसो गमो, अण्णोऽवि गमो–ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए सीहाए उद्धुयाए जतिणाए छेयाए दिव्वाए देवगतीए जेणामेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जेणामेव दाहिणड्ढभरहे रायगिहे नगरे पोसहसालाए अभए कुमारे तेणामेव उवागच्छइ २ त्ता अंतरिक्खपडिवन्ने दसद्धवन्नाइं सखिंखिणियाइं पवरवत्थाइं परिहिए अभयं कुमारं एवं वयासी–अहण्णं देवाणुप्पिया ! पुव्वसंगतिए सोहम्मकप्पवासी देवे महड्ढिए जण्णं तुमं पोसहसालाए अट्ठमभत्तं परिगिण्हित्ता णं ममं मणसि करेमाणे चिट्ठसि तं एस णं देवाणुप्पिया ! अहं इहं हव्वमागए, संदिसाहि णं देवाणुप्पिया ! किं करेमि किं दलामि किं पयच्छामि किं वा ते हियइच्छितं ? , तते णं से अभए कुमारे तं पुव्वसंगतियं देवं अंतलिक्खपडिवन्नं पासइ पासित्ता हट्ठतुट्ठे पोसहं पारेइ २ त्ता करयल ०अंजलिं कट्टु एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए अयमेयारूवे अकालडोहले पाउब्भूते–धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ तहेव पुव्वगमेणं ०जाव विणिज्जामि, तण्णं तुमं देवाणुप्पिया ! मम चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए अयमेयारूवं अकालडोहलं विणेहि , तते णं से देवे अभएणं कुमारेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे अभयकुमारं एवं वदासी–तुमण्णं देहाणुप्पिया ! सुणिव्वुयविसत्थे अच्छाहि, अहण्णं तव चुल्लामाउयाए धारिणीए देवीए अयमेयारूवं डोहलं विणेमीति कट्टु अभयस्स कुमारस्स अंतियाओ पडिणिक्खमति २ त्ता उत्तरपुरच्छिमे णं वेभारपव्वए वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति २ त्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दण्डं निस्सरति ०जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति २ त्ता खिप्पामेव सगज्जियं सविज्जुयं सफुसियं तं पंचवन्नमेहणिणाओवसोहियं दिव्वं पाउससिरिं विउव्वेइ २ त्ता जेणेव अभए कुमारे तेणामेव उवागच्छइ २ त्ता अभयं कुमारं एवं वदासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए तव पियट्ठयाए सगज्जिया सफुसिया सविज्जुया दिव्वा पाउससिरी विउव्विया, तं विणेउ णं देवाणुप्पिया ! तव चुल्लमाउया धारिणी देवी अयमेयारूवं अकालडोहलं, तते णं से अभयकुमारे तस्स पुव्वसंगतियस्स देवस्स सोहम्मकप्पवासिस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे सयातो भवणाओ पडिणिक्खमति २ त्ता जेणामेव सेणिए राया तेणामेव उवागच्छति २ त्ता करयल० अंजलिं कट्टु एवं वदासी–एवं खलु ताओ ! मम पुव्वसंगतिएणं सोहम्मकप्पवासिणा देवेणं खिप्पामेव स-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गज्जिता सविज्जुता पंचवन्नमेहनिनाओवसोभिता दिव्वा पाउससिरी विउव्विया, तं विणेउ णं मम चुल्लमाउया धारिणी देवी अकालदोहलं । तते णं से सेणिए राया अभयस्स कुमारस्स अंतिए एतमट्ठं सोचा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति सद्दावेइत्ता एवं वदासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! रायगिहं नयरं सिंगाडगतियचउक्कचचर० आसित्तसित्त०जाव सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं करेह य कारावेह य मम एतमाणत्तियं पच्चप्पिणह,तते णं से कोडुंबियपुरिसा०जाव पच्चप्पिणंति,तते णं से सेणिए राया दोचं पि कोडुंबियपुरिसे एवं वदासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हयगयरहजोहपवरकलितं चाउरंगिणीं सेन्नं सन्नाहेह सेयणयं च गंधहत्थिं परिकप्पेह,ते वि तहेव०जाव पच्चप्पिणंति, तते णं से सेणिए राया जेणेव धारिणी देवी तेणामेव उवागच्छति २ त्ता धारिणीं देवीं एवं वदासी–एवं खलु देवाणुप्पिए ! सगज्जिया ०जाव पाउससिरी पाउब्भूता तणं तुमं देवाणुप्पिए ! एवं अकालदोहलं विणेहि । तते णं सा धारणी देवी सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा जेणामेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छति २ त्ता मज्जणघरं अणुपविसति २ त्ता अंतो अंतेउरंसि ण्हाता कतबलिकम्मा कतकोउयमंगलपायच्छित्ता किं ते वरपायपत्तणेउर ०जाव आगासफालियसमप्पभं अंसुयं नियत्था सेयणयं गंधहत्थिं दुरूढा समाणी अमयमहियफेणपुंजसन्निगासाहिं सेयचामरवालवीयणीहिं वीइज्जमाणी २ संपत्थिता, तते णं से सेणिए राया ण्हाए कयबलिकम्मे० जाव सस्सिरीए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं चउचामराहिं वीइज्जमाणेणं धारिणीं देवीं पिट्ठतो अणुगच्छति, तते णं सा धारिणी देवी सेणिएणं रन्ना हत्थिखंधवरगएणं पिट्ठतो पिट्ठतो समणुगम्ममाणमग्गा हयगयरहजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे महता भडचडगखंदपरिक्खित्ता सव्विड्ढीए सव्वजुइए ०जाव दुंदुभिनिग्घोसनादितरवेणं रायगिहे नगरे सिंगाडगतिगचउक्कचच्चर ० जाव महापहेसु नागरजणेणं अभिनंदिज्जमाणा २ जेणामेव वेभारगिरिपव्वए तेणामेव उवागच्छति २ त्ता वेभारगिरिकडगतडपायमूले आरामेसु य उज्जाणेसु य काणणेसु य वणेसु य वणसंडेसु य रुक्खेसु य गुच्छेसु य गुम्मेसु य लयासु य वल्लीसु य कंदरासु य दरीसु य चुण्ढीसु य दहेसु य कच्छेसु य नदीसु य संगमेसु य विवरतेसु य अच्छमाणी य पेच्छमाणी य मज्जमाणी य पत्ताणि य पुप्फाणि य फलाणि य पल्लवाणि य गिण्हमाणी य माणेमाणी य अग्घायमाणी य परिभुंजमाणी य परिभाएमाणी य वेभारगिरिपायमूले दोहलं विणेमाणी सव्वतो समंता आहिंडति, तते णं धारिणी देवी विणीतदोहला संपुन्नदोहला संपन्नदोहला जाया याऽवि होत्था, तते णं से धारिणी देवी सेयणयगंधहत्थिं दुरूढा समाणी सेणिएणं हत्थिखंधवरगएणं पिट्ठओ २ समणुगम्ममाणमग्गा हयगय ०जाव रहेणं जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छति २ त्ता रायगिहं नगरं मज्झंमज्झेणं जेणामेव सए भवणे तेणामेव उवागच्छति २ त्ता विउलाइं माणुस्साइं भोगभोगाइं०जाव विहरति। (सूत्र–१७) तते णं से अभए कुमारे जेणामेव पोसहसाला तेणामेव उवागच्छइ २ त्ता पुव्वसंगतियं देवं सक्कारेइ सम्माणेइ २ त्ता पडिविसज्जेति २ त्ता तते णं से देवे सगज्जियं पंचवन्नं मेहोवसोहियं दिव्वं पाउससिरिं पडिसाहरति २ त्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगते। (सूत्र–१८) तते णं सा धारिणी देवी तंसि अकालदोहलंसि विणीयंसि सम्माणियडोहला तस्स गब्भस्स अणुकंपणट्ठाए जयं चिट्ठति जयं आसयति जयं सुवति आहारं पि य णं आहारेमाणी णाइतित्तं णातिकडुयं णातिअंबिलं णातिमहुरं जं तस्स गब्भस्स हियं मियं पत्थयं देसे य काले य आहारं आहारेमाणी णाइचिंतं णाइसोगं णाइदेण्णं णाइमोहं णाइभयं णाइपरित्तासं भोयणच्छायणगंधमल्लालंकारेहिं गब्भं तं सुहं सुहेणं परिवहति । (सूत्र–१९)

' तए ण ' मित्यादि, ' अविणिज्जमाणंसि ' त्ति दोहदे अविनीयमाने—अनपनीयमाने सति असंप्राप्तदोहदा मेघादीनामजातत्वात्—असंपूर्णदोहदा तेषामजातत्वेनैवासंपूर्णत्वात् अत एव असन्मानितदोहदा तेषामननुभवनादिति, ततः शुष्का मनस्तापेन शोणितशोषात्, ' भुक्ख ' त्ति बुभुक्षाक्रान्तेव अत एव निर्मांसा ' ओलुग्ग ' ति अवरुग्णा–जीर्णेव, कथमित्याह–' ओलुग्गं ' ति अवरुग्णमिव–जीर्णमिव शरीरं यस्याः सा तथा, अथवा–अवरुग्णा चेतसा अवरुग्णशरीरा तथैव प्रमलितदुर्बला—स्नानभोजनत्यागात् क्लान्ता–ग्लानीभूता ' ओमंथिय ' त्ति अधोमुखीकृतं वदनं च नयनकमले च यया सा तथा, पाण्डुकितमुखी–दीनास्येव विवर्णं वदनं यस्याः सा तथा, क्रीडा–जलक्रीडादिका रमणमक्षादिभिः तत्क्रियां च परिहापयन्ती दीना दुःस्था दुःस्थं मनो यस्याः सा तथा, यतो निरानन्दा उपहतो मनसः संकल्पः–युक्तायुक्तविवेचनं यस्याः सा तथा, यावत्करणात् ' करतलपल्हत्थमुही अट्टज्झाणोवगया झियायइ ' त्ति आर्त्तध्यानं ध्यायतीति, ' नो आढाइ ' त्ति नाद्रियते–नादरं करोति नो परिजानाति–न प्रत्यभिजानाति विचित्तत्वात्, ' संभंताउ ' त्ति आकुलीभूताः शीघ्रमित्यादीनि चत्वार्येकार्थिकानि अतिसंभ्रमोपदर्शनार्थं ' जेणेवे ' त्यादि यत्र धारिणी देवी तत्रोपागच्छति समागत्य चावरुग्णादिविशेषणां धारणीं देवीं पश्यति,वाचनान्तरे तु–'जेणेव धारणी देवी तेणेव' इत्यतः पद्यारे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्थगमणाए ' इत्येतद्–दृश्यते, तत्र 'पहारेत्थ' संप्रधारितवा-न्–विकल्पितवानित्यर्थः गमनाय–गमनार्थं–तथा ' तए णं से सेणिए राया जेणेव धारणी देवी तेणेव उवागच्छति २ त्ता पासइ त्ति ' पश्यति सामान्येन ततोऽवरुग्णादिविशेषणां पश्यतीति, ' दोच्चं पि ' त्ति द्वितीयामपि वारामिति गम्यते, ' सवहसाविय ' त्ति शपथान्–देवगुरुद्रोहिका भविष्यसि त्वं यदि विकल्पं नाख्यासीत्यादिकान् वाक्यविशेषान् श्राविता श्रोत्रेणोपलम्भिता शपथैर्वा श्राविता शपथश्राविता शपथशापिता वा तां करोति, 'किएहं' 'किएं' मिति वा पाठो देवानुप्रिये ! एतस्यार्थस्यानर्हः श्रावणतायां ' मणोमाणसियं ' ति मनसि जातं मानसिकं मनस्येव यद्वर्त्तते मानसिकं—दुःखं वचनेनाप्रकाशितत्वान्मनोमानसिकं रहस्यीकरोषि गोपयसीत्यर्थः ' तिएह ' मित्यादि त्रिषु मासेषु ' बहुपडिपुन्नाणं ' ति ईषदूनेषु ' जत्तिहामि ' त्ति यतिष्ये क्वचित्करिष्यामिइति पाठः, ' अयमेयारूवस्स ' त्ति अस्यैवंरूपस्य ' मणोरहसंपत्ति ' त्ति मनोरथप्रधाना प्राप्तिर्यथा विचिन्तितेत्यर्थः,आयैः—लाभैरीप्सितार्थहेतूनामुपायैः—अप्रतिहतलाभकारणैः 'आयं वा उवायं वा ठियं वा'—स्थितं वा क्रमं वा स्थिरहेतुदोहदानां चेप्सितार्थस्य पाठान्तरे उत्पत्तिं वा तस्यैवेत्यर्थः, 'अविंदमाणे'त्ति अलभमानः'अयमेयारूवे'त्ति अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः आत्माश्रयः चिन्तितः–स्मरणरूपः प्रार्थितो–लब्धुमाशंसितः मनोगतः–अबहिः प्रकाशितः संकल्पो–विकल्पः 'संपेहेति'त्ति संप्रेक्षते पर्यालोचयति 'ताओ'त्ति हे तातेत्यामन्त्रणम् 'एयं कारणं' ति अपध्यानहेतुं दोहदापूर्तिलक्षणमिति भावः,कारणमिति क्वचिन्नाधीयत इति, एवं 'अगूहमाणे' त्ति अगोपायन्तः आकारसंवरेण अशङ्कमानाः–विवक्षितप्राप्तौ संदेहमविदधतः अनिह्नुवाना—अनपलपन्तः , किमुक्तं भवति ?–अप्रच्छादयन्तः यथाभूतं–यथावृत्तम् अवितथं नत्वन्यथाभूतम् असंदिग्धम्—असंदेहम् ' पयमट्ठं ' ति प्रयोजनं दोहदपूरणलक्षणमिति भावः ' अंतगमणं गमिस्सामि ' त्ति पारगमनं गमिष्यामीति, ' चुल्लमाउयाए ' त्ति लघुमातुः 'पुव्वसंगइय ' त्ति पूर्वे–पूर्वकाले संगतिः–मित्रत्वं येन सह स पूर्वसंगतिकः महर्द्धिको विमानपरिवारादिसंपदुपेतत्वाद्यावत्करणादिदं दृश्यम्–महाद्युतिकः—शरीराभरणादिदीप्तियोगान्महानुभागो वैक्रियादिकरणशक्तियुक्तत्वात् महायशाः–सत्कीर्त्तियोगान्महाबलः–पर्वताद्युत्पाटनसामर्थ्योपेतत्वात्, महासौख्यो विशिष्टसुखयोगादिति ' पोसहसालाए ' त्ति पौषधं पर्वदिनानुष्ठानमुपवासादि तस्य शाला–गृहविशेषः पौषधशाला तस्यां पौषधिकस्य–कृतोपवासादेः व्यपगतमालावर्णकविलेपनस्य , वर्णकं–चन्दनं , तथा निक्षिप्तं–विमुक्तं शस्त्रं–छुरिकादि मुशलं च येन स तथा तस्य एकस्य आन्तरव्यक्तरागादिसहायवियोगात्, अद्वितीयस्य तथाविधपदात्यादिसहायविरहात् , ' अट्ठमभत्तं ' ति समयभाषयोपवासत्रयमुच्यते ' अट्ठमभत्ते परिणममाणे ' त्ति पूर्यमाणे परिपूर्णप्राय इत्यर्थः, 'वेउव्वियसमुग्घाएणं' मित्यादि, वैक्रियसमुद्घातो वैक्रियकरणार्थो जीवव्यापारविशेषः, तेन समुपहन्यते–समुपहतो भवति समुपहन्ति वा क्षिपति प्रदेशानिति गम्यते , व्यापारविशेषपरिणतो भवतीति भावः, तत्स्वरूपमेवाह–' संखेज्जाइं ' इत्यादि , दण्ड इव दण्डः–ऊर्द्धाध आयतः शरीरबाहल्यो जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसमूहः, तत्र च

विविधपुद्गलानादत्ते इति दर्शयन्नाह–तद्यथा–रत्नानां–कर्केतनादीनां संबन्धिनः १ तथा वैराणां २ वैडूर्याणां ३ लोहिताक्षाणां ४ मसारगल्लाणां ५ हंसगर्भाणां ६ पुलकानां ७ सौगन्धिकानां ८ ज्योतीरसानाम् ९ अङ्कानाम् १० अञ्जनानां ११ रजतानां १२ जातरूपाणाम् १३ अञ्जनपुलकानां १४ स्फटिकानां १५ रिष्टानां १६, किमत आह–यथा बादरान् असारान् यथा सूक्ष्मान्–सारान् ततो वैक्रियं करोति, ' अभयकुमारमणुकंपमाणे ' त्ति अनुकम्पयन् ह्य तस्याष्टमोपवासरूपं कष्टं वर्त्तते इति विकल्पयन्नित्यर्थः,पूर्वभवे–पूर्वजन्मनि जनिता–जाता या स्नेहात्प्रीतिः–प्रियत्वं न कार्यवशादित्यर्थः बहुमानश्च–गुणानुरागस्ताभ्यां सकाशात् जातः शोकः—चित्तखेदो विरहसद्भावेन यस्य स पूर्वजनितस्नेहप्रीतिबहुमानजातशोकः , वाचनान्तरे—' पुव्वभवजनितस्नेहप्रीतिबहुमानजनितशोभस्तत्र शोभा—पुलकादिरूपा, तस्मात्स्वकीयात् विमानवरपुण्डरीकात् पुण्डरीकता च विमानानां मध्ये उत्तमत्वात् ' रयणुत्तमाउ ' त्ति रत्नोत्तमाद् रचनोत्तमाद्वा ' धरणीतलगमनाय ' भूतलप्राप्तये त्वरितः शीघ्रं संजनितः उत्पादितो गमनप्रचारो—गतिक्रियाप्रवृत्तिर्येन स तथा वाचनान्तरे— ' धरणीतलगमनसंजनितमनःप्रचारः ' इति प्रतीतमेव , व्याघूर्णितानि—दोलायमानानि यानि विमलानि कनकस्य प्रतरकाणि च—प्रतरवृत्तरूपाणि आभरणानि च कर्णपूर मुकुटं च मौलिः तेषामुत्कटो य आटोपः—स्फारता तेन दर्शनीयः—आदेयदर्शनो यः स तथा, तथा अनेकेषां मणिकनकरत्नानां ' पहकर ' त्ति निकरस्तेन परिमण्डितो—भक्तिभिश्चित्रो विनियुक्तकः–कट्यां निवेशितो ' मणु ' त्ति मकारस्य प्राकृतशैलीप्रभवत्वात् योऽनुरूपो गुणः—कटिसूत्रं तेन जनितो हर्षो यस्य स तथा प्रेङ्खोलमानाभ्यां–दोलायमानाभ्यां वरललितकुण्डलाभ्यां यदुज्ज्वलितम् उज्ज्वलीकृतं वदनं–मुखं तस्य यो गुणः–कान्तिलक्षणः तेन जनितं सौम्यं रूपं यस्य स तथा,वाचनान्तरे पुनरेवं विशेषणत्रयं दृश्यते–"वाघुन्नियविमलकणगपयरगवडेंसगपकंपमाणचललोलललियपरिलंवमाणनरमगरतुरगमुहसयविणिग्गउग्गिन्नपवरमोत्तियविरायमाणमउडुक्कडाडोवदरिसणिज्जे " तत्र व्याघूर्णितानि–चञ्चलानि विमलकनकप्रतरकाणि च अवतंसके च प्रकम्पमाने चललोलानि अतिचपलानि ललितानि–शोभावन्ति परिलम्बमानानि प्रलम्बमानानि नरमकरतुरगमुखशतेभ्यो—मुकुटाग्रविनिर्मितनन्मुखाकृतिशतेभ्यो विनिर्गतानि–निःसृतानि उद्गीर्णानीव—वान्तानीवोद्गीर्णानि यानि प्रवरमौक्तिकानि—वरमुक्ताफलानि तैर्विराजमानं—शोभमानं यन्मुकुटं तच्चेति द्वन्द्वः तेषां य उत्कट आटोपस्तेन दर्शनीयो यः स तथा, तथा ' अनेगमणिकणगरयणपहकरपरिमंडियभागभत्तिचित्तविणिउत्तगमणगुणजणियपंखोलमाणवरललितकुंडलुज्जलियअहियआभरणजणियसोभे ' अनेकमणिकनकरत्ननिकरपरिमण्डितभागे भक्तिचित्रे–विच्छित्तिविचित्रे विनियुक्ते–कर्णयोर्निवेशिते गमनगुणेन–गतिसामर्थ्येन जनिते—कृते प्रेङ्खोलमाने–चञ्चले ये वरललितकुण्डले ताभ्यामुज्ज्वलितेन उद्दीपनेनाधिकाभ्यामाभरणाभ्यामुज्ज्वलिताधिकैर्वाऽऽभरणैश्च–कुण्डलव्यतिरिक्तैर्जनिता शोभा यस्य स तथा, तथा"गयजलमलविमलदंसणविरायमाणरूवे " गतजलमलं–विगतमालिन्यं विमलं दर्शनम्—आकारो यस्य स तथा, अत एव विराज–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानं रूपं यस्य स तथा ततः कर्मधारयः, अयमेवोपमीयते-उदित इव कौमुदीनिशायां—कार्तिकपौर्णिमास्यां शनैश्चराङ्गारकयोः प्रतीतयोरुज्ज्वलितः-दीप्यमानः सन् यो मध्यभागे तिष्ठति स तथा, नयनानन्दो—लोचनाह्लादकः शरच्चन्द्र इति, शनैश्चराङ्गारकवत्कुण्डले चन्द्रवच्च तस्य रूपमिति, तथाऽयमेव मेरुणोपमीयते-दिव्यौषधीनां प्रज्वलनेनेव मुकुटादितेजसा उज्ज्वलितं यद्दर्शनं—रूपं तेनाभिरामो—रम्यो यः स तथा, ऋतुलक्ष्म्येव—सर्वर्तुककुसुमसंपदा समस्ता—सर्वा समस्तस्य वा जाता शोभा यस्य स तथा, प्रकृष्टेन गन्धेनोद्धूतेन—उद्धतेनाभिरामो यः स तथा मेरुरिव नगवर इव विकुर्वितविचित्रवेषः सन्नसौ वर्तते इति, ‘दीवसमुद्दाणं’ति द्वीपसमुद्राणाम् ‘असंखपरिमाणनामधेज्जाणं’ति असंख्यं परिमाणं नामधेयानि च येषां ते तथा तेषां मध्यकारेण—मध्यभागेन ‘वीइवयमाणे’ त्ति व्यतिव्रजन् गच्छन् उद्योतयन् विमलया प्रभया जीवलोकम् ‘ओपयइ’ त्ति अवपतति, अवतरति, अन्तरिक्षप्रतिपन्नः-आकाशस्थः दशार्द्धवर्णानि सकिङ्किणिकानि—क्षुद्रघण्टिकोपेतानि एकस्तावदेष गमः—पाठः, अन्योऽपि-द्वितीयो गमो—वाचनाविशेषः पुस्तकान्तरेषु दृश्यते, ‘ताए’ तया उत्कृष्टया गत्या त्वरितया-आकुलया न स्वाभाविक्या आन्तराकूततोऽप्येषा भवत्यत आह-चपलया कायतोऽपि चण्डया-रौद्रयाऽत्युत्कर्षयोगेन सिंहया-तद्दार्ढ्यस्थैर्येण उद्धतया—दर्पातिशयेन जयिन्या—विपक्षजेतृत्वेन छेकया-निपुणया दिव्यया—देवगत्या, अयं च द्वितीयो गमो जीवाभिगमसूत्रवृत्त्यनुसारेण लिखितः, ‘किं करेमि’ त्ति किमहं करोमि भवदभिप्रेतं कार्यं किं वा ‘दलयामि’ त्ति तुभ्यं ददामि, किं वा प्रयच्छामि भवत्संगतायान्यस्मै, किं वा ते हृदयेप्सितं—मनोवाञ्छितं वर्तत इति प्रश्नः, ‘सुनिव्वुयवीसत्थे’ त्ति सुष्ठु निर्वृतः स्वस्थात्मा विश्वस्तो—विश्वासवान् निरुत्सुको वा यः स तथा, ‘तातो’ त्ति हे तात ! ‘परिकप्पेह’ त्ति सन्नाहवन्तं कुरुत ‘अंतो अंतेउरंसि’ त्ति अन्तरन्तःपुरस्य “महया भडचडगरवंदपरिक्खित्त” त्ति महाभटानां यच्चटकरप्रधानं—विच्छर्दप्रधानं वृन्दं तेन संपरिक्षिप्ता, वैभारगिरेः कटतटानि—तदेकदेशतटानि पादाश्च-तदासन्नलघुपर्वतास्तेषां यन्मूलं तत्र, तथा आरामेषु च आरमन्ति येषु माधवीलतागृहादिषु दम्पत्यादीनि ते आरामास्तेषु पुष्पादिमद्वृक्षसंकुलानि उत्सवादौ बहुजनभोग्यानि उद्यानानि तेषु च तथा सामान्यवृक्षवृन्दयुक्तानि नगरासन्नानि काननानि तेषु च नगरविप्रकृष्टानि वनानि तेषु च तथा वनखण्डेषु च—एकजातीयवृक्षसमूहेषु वृक्षेषु चैकैकेषु गुच्छेषु च वृन्ताकीप्रभृतिषु गुल्मेषु च—वंशजालीप्रभृतिषु लतासु-च सहकारलतादिषु वल्लीषु च नागवल्ल्यादिषु च कन्दरासु—च गुहासु दरीषु—च शृगालाद्युत्कीर्णभूमिविशेषेषु ‘चुंढीसु य’ त्ति अखातालपोदकविदरिकासु यूथेषु च वानरादिसम्बन्धिषु, पाठान्तरेण-ह्रदेषु च कच्छेषु च गहनेषु च सरित्सु संगमेषु च-नदीमीलकेषु च विदरेषु च जलस्थानविशेषेषु ‘अच्छमाणी य’ त्ति तिष्ठन्ती प्रेक्षमाणा च पश्यन्ती दृश्यवस्तूनि मज्जन्ती च स्नान्ती ‘पल्लवाणि य’ त्ति पल्लवान् किशलयानि ‘माणेमाणी य’ त्ति मानयन्ती स्पर्शनद्वारेण ‘विणेमाण’ त्ति दोहलं विनयन्ती ‘तंसि अकालदोहलंसि विणीयंसि’ त्ति अकालमेघदोहदे विनीते सति सम्मानितदोहदा पूर्णदोहदेत्यर्थः, ‘जयं चिट्ठइ’ त्ति यतनया यथा गर्भबाधा न भवति तथा तिष्ठति ऊर्द्धस्थानेन ‘आसयइ’ त्ति आस्ते आश्रयति वा आसनं स्वपिति चेति हितं-मेधायुरादिवृद्धिकारणत्वान्मितमिन्द्रियानुकूलत्वात् पथ्यमरोगकारणत्वात् ‘नाइचिंतं’ ति अतीव चिन्ता यस्मिंस्तदतिचिन्तं तथा यथा न भवतीत्येवं गर्भं परिवहतीति सम्बन्धः, नातिशोकं नातिदैन्यं नातिमोहं—नातिकामासक्तिं नातिभयमेतदेवं संग्रहवचनेनाह—‘व्यपगते’त्यादि, तत्र भयम्—भीतिमात्रं परित्रासोऽकस्मात्, ऋतुषु यथायथं भज्यमानाः सुखा ये ते ऋतुभज्यमानसुखाः तैः ।

ततें णं सा धारिणी देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाणरातिंदियाणं वीतिक्कंताणं अद्धरत्तकालसमयंसि सुकुमालपाणिपादं ०जाव सव्वंगसुंदरंगं दारगं पयाया । तए णं ताओ अंगपडियारिआओ धारिणीं देवीं नवण्हं मासाणं ०जाव दारगं पयायं पासन्ति २ त्ता सिग्घं तुरियं चवलं वेतियं जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति २ त्ता सेणियं रायं जएणं विजएणं वद्धावेंति २ त्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वदासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! धारिणी देवी णवण्हं मासाणं ०जाव दारगं पयाया, तस्सं अम्हे देवाणुप्पियाणं पियं णिवेदेमो पियं भे भवउ, ततें णं से सेणिए राया तासिं अंगपडियारियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० ताओ अंगपडियारियाओ महुरेहिं वयणेहिं विपुलेण य पुप्फगंधमल्लालंकारेण सक्कारेति सम्माणेति २ त्ता मत्थयधोयाओ करेति पुत्ताणुपुत्तियं विर्त्ति कप्पेति २ त्ता पडिविसज्जेति । ततें णं से सेणिए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति २ त्ता एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! रायगिहं नगरं आसि य ०जाव परिगयं करेह २ त्ता चारगपरिसोहणं करेह २ त्ता माणुम्माणवद्धणं करेह २ त्ता एतमाणत्तियं पच्चप्पिणह ०जाव पच्चप्पिणंति । ततें णं से सेणिए राया अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ सद्दावेति २ त्ता एवं वदासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! रायगिहे नगरे अब्भिंतरबाहिरिए उस्सुक्कं उक्करं अभडप्पवेसं अदंडिमकुदंडिमं अधरिमं अधारणिज्जं अणुद्धुयमुइंगं अमिलायमल्लदामं गणियावरणाडइज्जकलियं अणेगतालायराणुचरितं पमुइयपक्कीलियाभिरामं जहारिहं ठिइवडियं दसदिवसियं करेह २ त्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह ते वि करेंति २ त्ता तहेव पच्चप्पिणंति, तए णं से सेणिए राया बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने सइएहि य साहस्सिएहि य सयसाहस्सिएहि य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाएहिं दाएहिं भागेहिं दलयमाणे २ पडिच्छेमाणे २ एवं च णं विहरति, तते णं तस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जातकम्मं करेंति २ त्ता बितिए दिवसे जागरियं करेंति २ त्ता ततिए दिवसे चंदसूरदंसणियं करेंति २ त्ता एवामेव निव्वत्ते सुइजातकम्मकरणे संपत्ते बारसाहदिवसे विपुलं असणं पाणं खातिमं सातिमं उवक्खडावेंति २ त्ता मित्तणातिणियगसयणसंबंधिपरिजणं बलं च बहवे गणणायगदंडणायग ०जाव आमन्तेति, ततो पच्छा एहाता कयवलिकम्मा कयकोउय ०जाव सव्वालंकारविभूसिया महति महालयंसि भोयणमंडवंसि तं विपुलं असणं पाणं खाइमं सातिमं मित्तनातिगणणायग ० जाव सद्धिं आसाएमाणा विसाएमाणा परिभाएमाणा परिभुंजेमाणा एवं च णं विहरति, जिमितभुत्तुत्तरागताऽवि य णं समाणा आयंता चोक्खा परमसुइभूया तं मित्तनातिनियगसयणसंबंधिपरिजणगणणायग० जाव विपुलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेति सम्माणेति २ त्ता एवं वदासी-जम्हा णं अम्हं इमस्स दारगस्स गब्भत्थस्स चेव समाणस्स अकालमेहेसु डोहले पाउब्भूते तं होउ णं अम्हं दारए मेहे नामेणं मेहकुमारे तस्स दारगस्स अम्मापियरो अयमेयारूवं गोणं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करेंति, तए णं से मेहकुमारे पंचधातीपरिग्गहिए, तं जहा-खीरधातीए मंडणधातीए मज्जणधातीए कीलावणधातीए अंकधातीए अन्नाहि य बहूहिं खुज्जाहिं चिलाइयाहिं वामणिवडभिबब्बरिवउसिजोणियपल्हवियइसिणियधोरुगिणिलासियललउसियदविलिसिंहलिआरविपुलिंदिपक्कणिबहलिमुरुंडि — सबरिपारसीहिं णाणादेसीहिं विदेसपरिमंडियाहिं इंगितचिंतियपत्थियवियाणियाहिं सदेसणेवत्थगहितवेसाहिं निउणकुसलाहिं विणीयाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरकंचुइअमहयरगवंदपरिक्खित्ते हत्थाओ हत्थं संहरिज्जमाणे अंकाओ अंकं परिभुज्जमाणे परिगिज्जमाणे चालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे रम्मंसि मणिकोट्टिमतलंसि परिमिज्जमाणे २ णिव्वायणिव्वाघायंसि गिरिकंदरमल्लीणेव चंपगपायवे सुहं सुहेणं वड्ढइ, तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो आणुपुव्वेणं नामकरणं च पजेमणं च एवं चंकम्मणगं च चोलोवणयं च महया महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं करिंसु। तते णं तं मेहकुमारं अम्मापियरो सातिरेगट्ठवासजातगं चेव गब्भट्ठमे वासे सोहणंसि तिहिकरणमुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेंति, तते णं से कलायरिए मेहं कुमारं लेहाइयाओ गणितप्पहाणाओ सउणरुतपज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सेहावेति सिक्खावेति, तं जहा-लेहं गणियं रूवं नट्टं गीयं वाइयं सरगयं पोक्खरगयं समतालं जूयं १० जणवायं पासयं अट्ठावयं पोरकच्चं दगमट्टियं अन्नविहिं पाणविहिं वत्थविहिं विलेवणविहिं सयणविहिं २० अज्जं पहेलियं मागहियं गाहं गीइयं सिलोयं हिरण्णजुत्तिं सुवन्नजुत्तिं सुवण्णजुत्तिं आभरणविहिं ३० तरुणीपडिकम्मं इत्थिलक्खणं पुरिसलक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं कुक्कुडलक्खणं छत्तलक्खणं डंडलक्खणं असिलक्खणं ४० मणिलक्खणं कागणिलक्खणं वत्थुविज्जं खंधारमाणं णगरमाणं वूहं परिवूहं चारं परिचारं चक्कवूहं ५० गरुलवूहं सगडवूहं जुद्धं निजुद्धं जुद्धातिजुद्धं अच्छिजुद्धं मुट्ठिजुद्धं बाहुजुद्धं गयाजुद्धं ईसत्थं ६० छरुप्पवायं धणुव्वेयं हिरन्नपागं सुवन्नपागं सुत्तखेडं वट्टनालियाखेडं पत्तच्छेज्जं कडच्छेज्जं सज्जीवं ७० निज्जीवं ७१ सउणरुयमिति ७२। (सूत्र-२०) तते णं से कलायरिए मेहं कुमारं लेहादियाओ गणियप्पहाणाओ सउणरुयपज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सिहावेति सिक्खावेइ सिहावेत्ता सिक्खावेत्ता अम्मापिऊणं उवणेति, तते णं मेहस्स कुमारस्स अम्मापितरो तं कलायरियं मधुरेहिं वयणेहिं विपुलेणं वत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेंति सम्माणेंति २ त्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयंति २ त्ता पडिविसज्जेंति। (सूत्र- २१) तते णं से मेहे कुमारे बावत्तरिकलापंडिए णवंगसुत्तपडिबोहिए अट्ठारसविहिप्पगारदेसीभासाविसारए गीइरइगंधव्वनट्टकुसले हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमद्दी अलं भोगसमत्थे साहस्सिए वियालचारी जाते यावि होत्था, तते णं से तस्स मेहकुमारस्स अम्मापियरो मेहं कुमारं बावत्तरिकलापण्डितं ० जाव वियालचारी जायं पासंति २ त्ता अट्ठपासायवडिंसए करेंति अब्भुग्गयमूसियपहसिए विव, मणिकणगरयणभत्तिचित्ते वाउद्धूतविजयवेजयंतीपडागाछत्ताइच्छत्तकलिए तुंगे गगणतलमभिलंघमाणसिहरे जालंतररयणपंजरुम्मिलिय व्व मणिकणगथूभियाए वियसितसयपत्तपुंडरीए तिलयरयणद्धयचंदच्चिए नानामणिमयदामालंकिते अंतो बहिं च सण्हे तवणिज्जरुइलवालुयापत्थरे सुहफासे सस्सिरीयरूवे पासादीए० जाव पडिरूवे एगं च णं महं भवणं करेंति, अणेगखंभसयसन्निविट्ठं लीलट्ठियसालभंजियागं अब्भुग्गयसुकयवइरवेतियातोरणवररइयसालभंजियासुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठितपसत्थवेरुलिय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खंभनाणामणिकणगरयणखचितउज्जलं बहुसमसुविभत्तनिचियरमणिज्जभूमिभागं ईहामिय ० जाव भत्तिचित्तं खंभुग्गयवइरवेइयापरिगयाभिरामं, विज्जाहरजमलजुयलजुत्तं पिव अच्चीसहस्समालणीयं रूवगसहस्सकलियं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं सुहफासं सस्सिरीयरूवं कंचणमणिरयणथूभियागं नाणाविहपंचवन्नघंटापडागपरिमंडियग्गसिरं धवलमरीचिकवयं विणिम्मुयंतं लाउल्लोइयमहियं० जाव गंधवट्टिभूयं पासादीयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं। (सूत्र-२२) तते णं तस्स मेहकुमारस्स अम्मापियरो मेहं कुमारं सोहणंसि तिहिकरणनक्खत्तमुहुत्तंसि सरिसियाणं सरिसवयाणं(सरिसव्वयाणं)सरिसलावन्नरूवजोव्वणगुणोववेयाणं सरिसएहिंतो रायकुलेहिंतो आणिअल्लियाणं पसाहणट्ठंगअविहववहुओवयणमंगलसुजंपियाहिं अट्ठहिं रायवरकण्णाहिं सद्धिं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हाविंसु। तते णं तस्स मेहस्स अम्मापितरो इमं एतारूवं पीतिदाणं दलयइ अट्ठ हिरण्णकोडीओ अट्ठ सुवण्णकोडीओ गाहाणुसारेण भावियव्वं० जाव पेसणकारियाओ, अन्नं च विपुलं धणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसावतेज्जं अलाहि ०जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं पकामं भोत्तुं पकामं परिभाएउं, तते णं से मेहे कुमारे एगमेगाए भारियाए एगमेगं हिरण्णकोडिं दलयति एगमेगं सुवन्नकोडिं दलयति० जाव एगमेगं पेसणकारिं दलयति, अन्नं च विपुलं धणकणग ०जाव परिभाएउं दलयति, तते णं से मेहे कुमारे उप्पिं पासा (य) तवरगते फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं वरतरुणिसंपउत्तेहिं वत्तीसइवद्धएहिं नाडएहिं उवगिज्जमाणे २ उवलालिज्जमाणे २ सद्दफरिसरसरूवगंधविउले माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणे विहरति।(सूत्र-२३) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणामेव रायगिहे नगरे गुणसिलए चेतिए ० जाव विहरति, तते णं से रायगिहे नगरे सिंघाडग ० महया बहुजणसद्देति, वा जाव ०बहवे उग्गा भोगा ० जाव रायगिहस्स नगरस्स मज्झं मज्झेणं एगदिसिं एगाभिमुहा निग्गच्छंति, इमं च णं मेहे कुमारे उप्पिं पासा (य) तवरगते फुट्टमाणेहिं मुयंगमत्थएहिं० जाव माणुस्सए कामभोगे भुंजमाणे रायमग्गं च ओलोयमाणे २ एवं च णं विहरति। तए णं से मेहे कुमारे ते बहवे उग्गे भोगे ०जाव एगदिसाभिमुहे निग्गच्छमाणे पासति पासित्ता कंचुइज्जपुरिसं सद्दावेति २ त्ता एवं वदासी-किं णं भो देवाणुप्पिया! अज्ज रायगिहे नगरे इंदमहेति वा खंदमहेति वा एवं रुद्दसिववेसमणनागजक्खभूयनईतलायरुक्खचेतियपव्वयउज्जाणगिरिजत्ताइ वा जओ णं बहवे उग्गा भोगा ०जाव एगदिसिं एगाभिमुहा णिग्गच्छंति, तते णं से कंचुइज्जपुरिसे समणस्स भगवओ महावीरस्स गहिया गमणपवत्तीए मेहं कुमारं एवं वदासी-नो खलु देवाणुप्पिया! अज्ज रायगिहे नयरे इंदमहेति वा ०जाव गिरिजत्ताओ वा, जं णं एए उग्गा ०जाव एगदिसिं एगाभिमुहा निग्गच्छन्ति एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे आइकरे तित्थकरे इहमागते इह संपत्ते इह समोसढे इह चेव रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए अहापडि ०जाव विहरति। (सूत्र-२४)

'मत्थयधोयाओ त्ति-धौतमस्तकाः करोति अपनीतदासत्वा इत्यर्थः। पौत्रानुपुत्रिकां पुत्रपौत्रादियोग्यामित्यर्थः, वृत्तिं-जीविकां कल्पयतीति। 'रायगिहं नगरं आसिय' इह यावत्करणादेवं दृश्यम्-'आसियसंमज्जिओवलित्तं' आसिक्तमुदकच्छटेन संमार्जितं कचवरशोधनेन उपलिप्तं गोमयादिना, केषु?-'सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु' तथा-सित्तसुइयसंमट्ठरत्थंतरावणवीहियं' सिक्तानि जलेनात एव शुचीनि-पवित्राणि संमृष्टानि कचवरापनयनेन रथ्यान्तराणि आपणवीथयश्च हट्टमार्गा यस्मिन् तत्तथा 'मंचातिमंचकलितं' मञ्चा-मालकाः प्रेक्षणकद्रष्टजनोपवेशननिमित्तम्। अतिमञ्चाः-तेषामप्युपरि ये तैः कलितं 'णाणाविहरागभूसियज्झयपडागमंडियं' नानाविधरागैः कुङ्कुमादिभिर्भूपिता ये ध्वजाः सिंहगरुडादिरूपकोपलाञ्छितबृहत्पट्टरूपाः पताकाश्च तदितरास्ताभिर्मण्डितं 'लाइयउल्लोइयमहियं' 'लाइयं'-छगणादिना भूमौ लेपनम्, 'उल्लोइयं'-सेटिकादिना कुड्यादिषु धवलनं ताभ्यां महितं पूजितं ते एव वा महितं-पूजनं यत्र तत्तथा 'गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितलं' गोशीर्षस्य-चन्दनविशेषस्य सरसस्य च-रक्तचन्दनविशेषस्यैव दर्दरेण-चपेटारूपेण दत्ता-न्यस्ताः पञ्चाङ्गुलयस्तला-हस्तका यस्मिन् कुड्यादिषु तत्तथा 'उवचियचंदणकलसं' उपचिता-उपनिहिता गृहान्तःकृतचतुष्केषु चन्दनकलशा-मङ्गल्यघटाः यत्र तत्तथा 'चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं' चन्दनघटाः सुष्ठु कृताः तोरणानि च प्रतिद्वारं द्वारस्य २ देशभागेषु यत्र तत्तथा 'आसत्तोसत्तविपुलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं' आसक्तो-भूमिलग्नः उत्सक्तश्च-उपरिलग्नो विपुलो वृत्तो 'वग्घारिय' त्ति प्रलम्बो माल्यदाम्नां-पुष्पमालानां कलापः-समूहो यत्र तत्तथा 'पंचवन्नसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं' पञ्चवर्णाः सरसाः सुरभयो ये मुक्ताः-करप्रेरिताः पुष्पपुञ्जास्तैर्य उपचारः-पूजा भूमेः तेन कलितं 'काला(गु)गरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं' कुंदुरुक्कं-चीडा तुरुक्कं सिल्हकं 'सुगंधवरगन्धियं गन्धवट्टिभूयं नडनट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंवगकहकहगपवगलासगअक्खायगलंखमंखतूणइल्लतुंववीणियअणेगतालायरपरिगीयं' तत्र नटा-नाटकानां नाट-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यिताराः नर्त्तकाः ये नृत्यन्ति श्रङ्किला इत्येके जल्ला-वरत्राखेलका राज्ञः स्तोत्रपाठका इत्यन्ये मल्लाः-प्रतीताः मौष्टिका-मल्ला एव ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति विडम्बकाः—विदूषकाः कथाकथकाः-प्रतीताः प्लवका ये उत्प्लवन्ते नद्यादिकं वा तरन्ति लासकाः-ये रासकान् गायन्ति जयशब्दप्रयोक्तारो वा भाण्डा इत्यर्थः, आख्यायका-ये शुभाशुभमाख्यान्ति लङ्खा-वंशखेलकाः मङ्खाः-चित्रफलकहस्ता भिक्षाटाः तूणइल्लाः-तूणाभिधानवाद्यविशेषवन्तः , तुम्बवीणका—वीणावादका अनेके ये तालाचराः-तालाप्रदानेन प्रेक्षाकारिणः तेषां परि-समन्ताद्गीतं—ध्वनितं यत्र सत्तथा कुरुत स्वयं, कारयतान्यै-स्तथा चारगशोधनं कुरुत कृत्वा च मानोन्मानवर्द्धनं कुरुत, तत्र मानं-धान्यमानं से(ति)टिकादि उन्मानं-तुलामानं कर्षादिकं श्रेणयः-कुम्भकारादिजातयः प्रश्रेणयः-तत्प्रभेदरूपाः । 'उस्सुक्क' मित्यादि, उच्छुल्काम्-उन्मुक्तशुल्कां स्थितिपतितां कुरुतेति संबन्धः, शुल्कं तु विक्रेतव्यं भाण्डं प्रति राजदेयं द्रव्यम् , उत्कराम्—उन्मुक्तकरां , करस्तु गवादीनां प्रतिवर्षं राजदेयं द्रव्यम् , अविद्यमानो भटानां—राजपुरुषाणाम् आज्ञादायिनां प्रवेशः कुटुम्बिमन्दिरेषु यस्यां सा तथा तामभटप्रवेशां, दण्डेन निर्वृत्तं दण्डिमं कुदण्डेन निर्वृत्तं कुदण्डिमं राजद्रव्यं तन्नास्ति यस्यां सा तथा तामदण्डिम-कुदण्डिमां, तत्र दण्डोऽपराधानुसारेण राजग्राह्यं द्रव्यम् , कुदण्डस्तु कारणिकानां प्रज्ञाद्यपराधान्महत्यप्यपराधिनोऽपराधे अल्पं राजग्राह्यं द्रव्यम् , अविद्यमानं 'धरिमं' ति ऋणद्रव्यं यस्यां सा तथा ताम् , अविद्यमानो धारणीयः—अधमर्णो यस्यां सा तथा ताम् , 'अणुद्दुयमुइंग' त्ति अनुद्धूता आनुरूप्येण वादनार्थमुत्क्षिप्ता अनुद्ध(द्धू)ता वा-वादनार्थमेव वादकैरत्यक्ता मृदङ्गा—मर्दला यस्यां सा तथा ताम् , 'अ [म्मा] यमिलायमल्लदाम ' त्ति अम्लानपुष्पमालां गणिकावरैः विलासिनीप्रधानैर्नाटकीयैः—नाटकप्रतिबद्धपात्रैः कलिता या सा तथा ताम् , अनेकतालाचरानुचरितां-प्रेक्षाकारिविशेषैः सेवितां प्रमुदितैः—हृष्टैः प्रक्रीडितैश्च—क्रीडितुमारब्धैर्जनैरभिरामा या सा तथा तां 'यथार्हाम्'यथोचितां स्थितिपतितां स्थितौ-कुलमर्यादायां पतिता-अन्तर्भूता या प्रक्रिया पुत्रजन्मोत्सवसंबन्धिनी सा स्थितिपतिता ताम्, वाचनान्तरे 'दसदिवसियं ठियपडियं' ति दशाहिकमहिमानमित्यर्थः कुरुत कारयत वा , 'सएहिं ' ति शतपरिमाणैः,'दाएहिं'ति दानैः वाचनान्तरे शतिकांश्चेत्यादि,यागान्—देवपूजाः दायान्—दानानि भागान्—लब्धद्रव्यविभागानिति, प्रथमे दिवसे जातकर्म-प्रसवकर्म नालच्छेदननिखननादिकं द्वितीयदिने जागरिकां-रात्रिजागरणं तृतीये दिवसे चन्द्रसूर्यदर्शनम् उत्सवविशेष एत इति,पाठान्तरे तु-प्रथमदिवसे स्थितिपतितां तृतीये चन्द्रसूर्यदर्शनिकां षष्ठे जागरिकां 'निवत्ते असुइजायकम्मकरणे ' त्ति निवृत्ते—अतिक्रान्ते अशुचीनां जातकर्मणां करणे ' निव्वत्ते सुइजायकम्मकरणे त्ति ' वा पाठान्तरं, तत्र निर्वृत्ते-कृते शुचीनां जातकर्मणां करणे 'बारसाहे दिवसे' त्ति द्वादशाख्ये दिवसे इत्यर्थः, अथवा—द्वादशानामह्नां समाहारो द्वादशाहं तस्य दिवसो येन द्वादशाहः पूर्यते तत्र तथा , मित्राणि—सुहृदः ज्ञातयो—मातापितृभ्रात्रादयः निजकाः-स्वकीयाः पुत्रादयः स्वजनाः-पितृव्यादयः संबन्धिनः-श्वशुरपुत्रश्वशुरादयः प-

रिजनो-दासीदासादिः बलं च-सैन्यं च गणनायकादयस्तु प्रागभिहिताः, 'महइमहालइ ' त्ति अतिमहति, आस्वादयन्तौ आस्वादनीयं, परिभाजयन्तौ अन्येभ्यो यच्छन्तौ मातापितराविति प्रकमः, 'जेमिय' त्ति जेमितौ भुक्तवन्तौ 'भुत्तुत्तर' त्ति भुक्तोत्तरं-भुक्तोत्तरकालम् 'आगय ' त्ति आगतावुपवेशनस्थाने इति गम्यते, 'समाणे' त्ति सन्तौ, किंभूतौ भूत्वेत्याह?-आचान्तौ शुद्धोदकयोगेन चोक्षौ लेपसिक्थाद्यपनयनेन अत एव परमशुचिभूताविति, 'अयमेयारूवे ' त्ति इदमेतद्रूपं गौणं कोऽर्थो ?-गुणनिष्पन्नं नामधेयं-प्रशस्तं नाम मेघ इति । क्षीरधात्र्या-स्तन्यदायिन्या मण्डनधात्र्या-मण्डिकया मज्जनधात्र्या स्नापिकया क्रीडनधात्र्या—क्रीडनकारिण्या अङ्कधात्र्या उत्सङ्गस्थापिकया कुब्जिकाभिः-वक्रजङ्घाभिः चिलातीभिः-अनार्यदेशोत्पन्नाभिर्वामनाभिः—ह्रस्वशरीराभिः वटभाभिः महत्कोष्ठाभिः बर्बरीभिः—बर्बरदेशसंभवाभिः बकुसिकाभिर्योनकाभिः पह्लविकाभिः ईसिनिकाभिः धोरुकिनिकाभिः लासिकाभिः लकुसिकाभिर्द्राविडीभिः सिंहलीभिः आरबीभिः पुलिन्द्रीभिः पक्कणीभिः बहलीभिः मुरुण्डीभिः शबरीभिः पारसीभिः 'नानादेशीभिः ' बहुविधाभिः अनार्यप्रायदेशोत्पन्नाभिरित्यर्थः,विदेशः स्वकीयदेशापेक्षया राजगृहनगरदेशस्तस्य परिमण्डिकाभिः इङ्गितेन-नयनादिचेष्टाविशेषेण चिन्तितं च-अपरेण हृदि स्थापितं प्रार्थितं च-अभिलषितं विजानन्ति यास्ताः तथा ताभिः, स्वदेशे यन्नेपथ्यं-परिधानादिरचना तद्वद् गृहीतो वेषो यकाभिस्तास्तथा ताभिः, निपुणानां मध्ये कुशला यास्तास्तथा ताभिः , अत एव विनीताभिर्युक्त इति गम्यते, तथा चेटिकाचक्रवालेन अर्थात् स्वदेशसंभवेन वर्षधराणां—वर्धितकरिन्थनरुन्धनप्रयोगेण नपुंसकीकृतानामन्तःपुरमहल्लकानां 'कंचुइज्ज ' त्ति कञ्चुकिनामन्तःपुरप्रयोजननिवेदकानां प्रतीहाराणां वा महत्तरकाणां च—अन्तःपुरकार्यचिन्तकानां वृन्देन परिक्षिप्तो यः स तथा, हस्ताद्धस्तं हस्तान्तरं संह्रियमाणः अङ्कादङ्कम्-उत्सङ्गादुत्सङ्गान्तरं, परिभोज्यमानः परिगीयमानः तथा-विधबालोचितगीतविशेषैः उपलाल्यमानः क्रीडादिलालनया, पाठान्तरे तु—'उवणच्चिज्जमाणे २ उवगाइज्जमाणे २ उवलालिज्जमाणे २ अवगूहिज्जमाणे २ ' आलिङ्ग्यमान इत्यर्थः, 'अवयासिज्जमाणे ' २ कथञ्चिदालिङ्ग्यमान एव, 'परिवंदिज्जमाणे ' २ स्तूयमान इत्यर्थः, 'परिचुंबिज्जमाणे ' २ इति प्रचुम्ब्यमानः २ चङ्क्रम्यमाणः, निर्वाते-निर्व्याघाते 'गिरिकन्दरे ' त्ति गिरिनिकुञ्जे आलीन इव चम्पकपादपः सुखं सुखेन वर्द्धते स्मेति,प्रचङ्क्रमणकं-भ्रमणं चूडोपनयनं—मुण्डनं, 'महया—इड्ढीसक्कारसमुदएणं ' ति महत्या ऋद्ध्या एवं सत्कारेण पूजया समुदयेन च जनानामित्यर्थः, 'अर्थत ' इति व्याख्यानतः करणतः—प्रयोगतः 'सेहावए ' ति सेधयति निष्पादयति शिक्षयति-अभ्यासं कारयति 'नवंगसुत्तपडिबोहिए ' त्ति नवाङ्गानि द्वे द्वे श्रोत्रे नयने नासिके जिह्वैका त्वगेका मनश्चैकं सुप्तानीव सुप्तानि—बाल्यादव्यक्तचेतानि प्रतिबोधितानि—यौवनेन व्यक्तचेतनावन्ति कृतानि यस्य स तथा, आह च व्यवहारभाष्ये—'सोत्ताई नव सुत्ता ' इत्यादि, अष्टादश विधिप्रकाराः—प्रवृत्तिप्रकाराः अष्टादशभिर्वा विधिभिः—भेदैः प्रचारः—प्रवृत्तिर्यस्यां सा तथा तस्यां, देशीभाषायां--देशभे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देन वर्णावलीरूपायां विशारदः-परिडतो यः स तथा, गीतिरतिर्गन्धर्वै—गीते नाट्ये च कुशलः, हयेन युध्यत इति हययोधी एवं रथयोधी बाहुयोधी बाहुभ्यां प्रमृद्गातीति बाहुप्रमर्द्दी साहसिकत्वाद्विकाले चरतीति विकालचारी । ' पासायवडिंसए ' त्ति अवतंसका इवावतंसकाः शेखराः, प्रासादाश्च तेऽवतंसकाश्च प्रासादावतंसकाः प्रधानप्रासादा इत्यर्थः ' अब्भुग्गयमूसिय ' त्ति अभ्युद्गतोच्छ्रितान् अत्युच्चानित्यर्थः, अत्र च द्वितीयाबहुवचनलोपो दृश्यः, ' पहसिए विव ' त्ति प्रहसितानिव श्वेतप्रभाप्रबलपटलतया हसन्त इवेत्यर्थः, तथा मणिकनकरत्नानां भक्तिभिः-विच्छित्तिभिश्चित्रा ये ते तथा वातोद्धूता याः विजयशूचिका वैजयन्त्यभिधानाः पताकाः छत्रातिच्छत्राणि च तैः कलिता ये ते तथा ततः कर्मधारयस्ततस्तान्, तुङ्गान् कथमिव?-गगनतलमभिलङ्घयच्छिखरान् 'जालंतररयणपंजरुम्मिल्लिय व्व'त्ति जालान्तेषु मत्तालम्बपर्यन्तेषु जालान्तरेषु वा जालकमध्येषु रत्नानि येषां ते तथा ततो द्वितीयाबहुवचनलोपो दृश्यः, पञ्जरोन्मीलितानि च-पृथक्कृतपञ्जराणि च प्रत्यग्रच्छायानित्यर्थः, अथवा—जालान्तररत्नपञ्जरैः-तत्समुदायविशेषैरुन्मीलितानीवोन्मीलितानि चोन्मीलितलोचनानि चेत्यर्थः, मणिकनकस्तूपिकानिति प्रतीतं विकसितानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च प्रतिरूपापेक्षया साक्षाद्वा येषु ते तथा तान्, तिलकैः-पुण्ड्रैः रत्नैः— कर्केतनादिभिः अर्द्धचन्द्रैः-सोपानविशेषैः भित्तिषु वा चन्दनादिमयैरालेख्यैः अर्चिता ये ते तथा तान्, पाठान्तरेण—' तिलकरत्नार्द्धचन्द्रचित्रान् ' नानामणिमयदामालंकृतान् अन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णान्—मसृणान् तपनीयस्य या रुचिरा वालुका तस्याः प्रस्तरः—प्रतरः प्राङ्गणेषु येषां ते तथा तान्, सुखस्पर्शान् सश्रीकाणि सशोभनानि रूपाणि—रूपकाणि येषु ते तथा तान्, प्रसादीयान्-चित्ताह्लादकान् दर्शनीयान्—यान् पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति, अभिरूपान्—मनोज्ञरूपान् द्रष्टारं द्रष्टारं प्रति रूपं येषां ते तथा तान् ; एकं महद्भवनमिति, अथ भवनप्रासादयोः को विशेषः ?, उच्यते—भवनमायामापेक्षया किञ्चित् न्यूनोच्छ्रायमानं भवति, प्रासादस्तु आयामद्विगुणोच्छ्राय इति, अनेकेषु स्तम्भशतेषु संनिविष्टं यत्तत्तथा, लीलया स्थिताः शालभञ्जिकाः—पुत्रिका यस्मिन् तत्तथा, अभ्युद्गता-सुकृता वज्रस्य वेदिका—द्वारमुण्डकोपरि वेदिका तोरणं च यत्र तत्तथा, वराभिः रचिताभिः रतिदाभिर्वा शालभञ्जिकाभिः सुश्लिष्टाः संबद्धाः विशिष्टा लष्टाः संस्थिताः प्रशस्ताः वैडूर्यस्य स्तम्भा यत्र तत्तथा, नानामणिकनकरत्नैः खचितं च उज्ज्वलं च यत्तत्तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः, ' बहुसम ' त्ति अतिसमः सुविभक्तो निचितो-निविडो रमणीयश्च भूभागो यत्र तत्तथा, ईहामृगवृषभतुरगनरमकरविहगव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्म—लताभक्तिचित्रमिति यावत् करणात् दृश्यम्, तथा स्तम्भोद्गतया-स्तम्भोपरिवर्तिन्या वज्रस्य वेदिकया परिगृहीतं-परिवेष्टितमभिरामं च यत्तत्तथा ' विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्तं ' ति विद्याधरयोर्यत् यमलं समश्रेणीकं युगलं-द्वयं तेनैव यन्त्रेण-संचरिष्णुपुरुषप्रतिमाद्वयरूपेण युक्तं यत्तत्तथा आर्षत्वादेवंविधः समास इति,तथा अर्चिषां किरणानां सहस्रैर्मालनीयं-परिवारणीयं ' भिसमाणं ' ति दीप्यमानं ' भिब्भिसमाणं ' ति अतिशयेन दीप्यमानं चक्षुःकर्तृ लोकने-अवलोकने दर्शने सति लिशतीव-दर्शनीयत्वातिशयात् श्लिष्यतीव यत्र तत्तथा, नानाविधाभिः पञ्चवर्णाभिर्घण्टाप्रधानपताकाभिः परिमण्डितमग्रशिखरं यस्य तत्तथा,धवलमरीचिलक्षणं कवचंकण्टकं तत्समूहमित्यर्थः विनिर्मुञ्चन्-विक्षिपन् सदृशीनां शरीरप्रमाणतो मेघकुमारापेक्षया परस्परतो वा सदृग्वयसां समानकालकृतावस्थाविशेषाणां सदृक्त्वचां सदृशच्छवीनां सदृशैर्लावण्यरूपयौवनगुणैरुपपेतानां, तत्र लावण्यं-मनोज्ञता रूपम् आकृतिर्यौवनं-युवता गुणाः-प्रियभाषित्वादयः,तथा प्रसाधनानि च मण्डनानि अष्टासु चाङ्गेषु अविधववधूभिः-जीवत्पतिकनारीभिर्यदवपदनं-प्रोङ्खनकं तच्च मङ्गलानि च दध्यक्षतादीनि गानविशेषो वा सुजल्पितानि च-आशीर्वचनानीति द्वन्द्वस्तैः करणभूतैरिति, इदं चास्मै प्रीतिदानं दत्ते स्म, तद्यथा-अष्टौ हिरण्यकोटीः हिरण्यं च रूप्यम्, एवं सुवर्णकोटीः, शेषं च प्रीतिदानं गाथानुसारेण भणितव्यं यावत्प्रेक्षणकारिकाः । गाथाश्चेह नोपलभ्यन्ते, केवलं ग्रन्थान्तरानुसारेण लिख्यन्ते—

" अट्ठहिरण्णसुवन्नय, कोडीओ मउडकुंडला हारा ।
अट्ठऽट्ठहार एका-वली उ मुत्तावली अट्ठ ॥ १ ॥
कणगावलिरयणावली-कडगजुगा तुडियजोयखोमजुगा ।
वडजुगपट्टजुगाइं, दुकूलजुगलाइं अट्ठ (वग्गा) ऽट्ठ ॥ २ ॥
सिरिहिरिधिइकित्तीउ, बुद्धी लच्छी य होंति अट्ठऽट्ठ ।
नंदा भद्दा य तला, झयवयनाडाइं आसेव ॥ ३ ॥
हत्थी जाणा जुग्गा, सीया तह संदमाणि गिल्लीओ ।
थिल्लीइ वियडजाणा, रहगामा दासदासीओ ॥ ४ ॥
किंकर कंचुइ मयहर-वरिसधरे तिविहदीवथाले य ।
पाई थासग पल्लग, कति वि य अवपड अवपक्का ॥ ५ ॥
पावीड भिसिय करोडि-याओ पल्लंकए य पडिसिज्जा ।
हंसाईहिँ विसिट्ठा, आसणभेया उ अट्ठऽट्ठ ॥ ६ ॥
हंसे१ कुंचे२ गरुडे३, ओण य४ पणए५ य दीह६ भद्दे७ य ।
पक्खे८ मयरे९ पउमे१०, होइ दिसासोत्थिए११ क्कारे ॥७॥
तेल्ले कोट्ठसमुग्गा, पत्ते चोए य तगर एला य ।
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला सासव समुग्गे ॥ ८ ॥
खुज्जा चिलाइ वामणि, वडभीओ बब्बरी उ वसियाओ ।
जोणियपल्हवियाओ, ईसणिया थोरुइणिया य ॥ ९ ॥
लासिय लउसिय दमिणी, सिंहलि तह आरवी पुलिंदीय ।
पक्कणि वहणि मुरंढी, सवरीओ पारसीओ य ॥ १० ॥
छत्तधरी चेडीओ, चामरधरतालियंटयधरीओ ।
सकरोडियाधरीओ, खीराती पंच धायीओ ॥ ११ ॥
अट्ठंगमद्दियाओ, उम्मद्दिगविमंडियाओ य ।
वण्णयचुण्णय पीसिय, कीलाकारी य दवगारी ॥ १२ ॥
उच्छाविया उ तह ना-डइल्ल कोडुंबिणी महाणसिणी ।
भंडारि अज्जधारी, पुप्फधरी पाणियधरी य ॥ १३ ॥
बलकारिय सेज्जाका-रियाओ अब्भंतरी उ बाहिरिया ।
पडिहारी मालारी, पेसणकारीउ अट्ठऽट्ठ ॥ १४ ॥ "

अत्र चायं पाठक्रमः, स्वरूपं च-' अट्ठ मउडे मउडपवरे अट्ठ कुंडले कुंडलजोयप्पवरे ' एवमौचित्येनाध्येयम्, हारार्द्धहारौ अष्टादशनवशरिकौ एकावली-विचित्रमणिका, मु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्तावली—मुक्ताफलमयी, कनकावली—कनकमाणिकमयी, कटकानि कलाचिकाभरणानि योगो-युगलं तुटिका—बाहुरक्षिका क्षौमं—कार्पासिकं वटकं—त्रिसरीमयं पट्टं-पट्टसूत्रमयं दुकूलं—दुकूलाभिधानवृक्षनिष्पन्नं वल्कं-वृक्षवल्कनिष्पन्नं, श्रीप्रभृतयः षट् देवताप्रतिमाः संभाव्यन्ते, नन्दादीनां लोकतोऽर्थोऽवसेयः, अन्ये त्वाहुः—नन्दं-वृत्तं लोहासनं भद्रं—शरासनं, मूढक इति यत्प्रसिद्धं, 'तल' त्ति-अस्यैवं पाठः "अट्ठतले तलप्पवरे सव्वरयणामए नियगवरभवणकेऊ" ते च तालवृक्षाः संभाव्यन्ते, ध्वजाः—केतवः, 'वए त्ति' गोकुलानि दशसाहस्रिकेण गोव्रजेनेत्येवं दृश्यम् 'नाडय' त्ति 'बत्तीसइबद्धेणं नाडएणं' मिति दृश्यम्, द्वात्रिंशद्बद्धं-द्वात्रिंशत्पात्रबद्धमिति व्याख्यातारः, 'आसे' त्ति 'आसे आसप्पवरे सव्वरयणामए सिरिघरपडिरूवे'-श्रीगृहं—भाण्डागारम्, एवं हस्तिनोऽपि, यानानि-शकटादीनि युग्यानि—गोल्लविषये प्रसिद्धानि जम्पानानि द्विहस्तप्रमाणानि चतुरस्राणि वेदिकोपशोभितानि शिविकाः—कूटाकारेणाच्छादिताः स्यन्दमानिकाः—पुरुषप्रमाणायामा—जम्पानविशेषाः, गिल्लयः—हस्तिन उपरिकोल्लरूपा मानुषं गिलन्तीवेति गिल्लयः, लाटानां यानि अड्डपल्यानानि तान्यन्यविषयेषु 'थिल्लीओ' अभिधीयन्ते, 'वियडजाणं' ति अनाच्छादितानि वाहनानि, 'रह' त्ति-संग्रामिका परियानिकाश्चारथाः, तत्र संग्रामरथानां कटीप्रमाणा-फलकवेदिका भवन्ति' वाचनान्तरे-रथानन्तरमश्वा हस्तिनश्चाभिधीयन्ते तत्र ते वाहनभूताः ज्ञेयाः, 'गाम' त्ति-दशकुलसाहस्रिको ग्रामः 'तिविहदीव' त्ति त्रिविधा दीपा अवलम्बनदीपाः शृङ्ख (ङ्खल) लावद्धा इत्यर्थः, उत्कम्पनदीपाः ऊर्ध्वदण्डवन्तः पञ्जरदीपा अभ्रपटलादिपञ्जरयुक्ताः त्रयोऽप्येते त्रिविधाः सुवर्णरूप्यतदुभयमयत्वादिति, एवं स्थालादीनि सौवर्णादिभेदात् त्रिविधानि वाच्यानि, 'कइविका' कलाचिका 'अवएज' इति तापिकाहस्तकः 'अवपक' त्ति अवपाक्या तापिकेति संभाव्यते, 'मिसियाओ' आसनविशेषाः करोटिकाधारिकाः—स्थगिकाधारिकाः द्रवकारिकाः—परिहासकारिकाः, शेषं रूढितोऽवसेयम्, 'अन्नं चे' त्यादि, विपुलं—प्रभूतं धनं—गणिमधरिममेयपरिच्छेद्यभेदेन चतुर्विधं, कनकं च—सुवर्णं-रत्नानि च—कर्केतनादीनि स्वस्वजातिप्रधानवस्तूनि वा मणयः—चन्द्रकान्तद्या मौक्तिकानि च शङ्खाश्च प्रतीता एव शिलाप्रवालानि च-विद्रुमाणि, अथवा-शिलाश्च-राजपट्टा गन्धपेषणशिलाश्च प्रवालानि च—विद्रुमाणि रक्तरत्नानि च—पद्मरागादीनि एतान्येव 'संत' त्ति सत् विद्यमानं यत् सारं—प्रधानं स्वापतेयं-द्रव्यं तद्दत्तवन्ताविति प्रक्रमः, किंभूतम् ?—'अलाहि' त्ति अलं—पर्याप्तं परिपूर्णं भवति 'याव' त्ति यावत्परिमाणम् आसप्तमात् कुललक्षणे वंशे भवः कुलवंश्यस्तस्मात् सप्तमं पुरुषं यावदित्यर्थः, प्रकामम्—अत्यर्थं दातुं-दीनादिभ्यो दाने एवं भोक्तुं स्वयं भोगे परिभाजयितुं—दायादादीनां परिभाजने तत्परिमाणं दत्तवन्ताविति प्रकृतम्, 'उप्पिं' ति उपरि 'फुट्टमाणेहिं मुयंगमत्थएहिं' स्फुटद्भिरिवातिरभसाऽऽस्फालनात् मृदङ्गमस्तकैः-मर्दलमुखपुटैः 'रायगिहे नगरे सिंघाडग' इत्यनेनालापकांशेनेदं द्रष्टव्यम्-'सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु' 'महया जणसद्देइ वा' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-' जणसमूहेइ वा जणबोलेइ वा जणकलकलेइ वा जणुम्मीइ वा जणुक्कलियाइ वा जणसन्निवाएइ वा बहुजनो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ एवं पन्नवेइ एवं भासइ एवं परूवेइ-एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थगरे ०जाव संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागए इह संपत्ते इह समोसढे इहेव रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावमाणे विहरइ—तं महाफलं खलु भो देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नामगोयस्स वि सवणयाए किमंग! पुण अभिगमणवंदणणमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए, एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमंग! पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए?, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो एयं नो पेच्च भवे हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए अणुगामित्ताए भविस्सइ' त्ति कट्टु त्ति 'बहवे उग्गा' इह यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्-' उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता एवं राइन्ना खत्तिया माहणा भडा जोहा मल्लई लेच्छई अन्ने य बहवे राईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहप्पभिथिओ अप्पेगइया वंदणवत्तियं अप्पेगइया पूयणवत्तियं एवं सक्कारवत्तियं सम्माणवत्तियं कोउहल्लवत्तियं असुयाइं सुणिस्सामो सुयाइं निस्संकियाइं करिस्सामो अप्पेगइया मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइस्सामो अप्पेगइया पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामो, अप्पेगइया जिणभत्तिरागेणं अप्पेगइया जीयमेयं ति कट्टु एहाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सिरसा कंठेमालकडा आविद्धमणिसुवन्ना कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तयसुकयसोभाभरणा पवरवत्थपरिहिया चंदणोवलित्तगायसरीरा अप्पेगइया हयगया एवं गयरहसिवियासंदमाणिगया अप्पेगइया पायविहारचारिणो पुरिसवग्गुरापरिक्खित्ता महया उक्किट्ठिसीहणायबोलकलकलरवेणं समुद्दरवभूयं पिव करेमाणा रायगिहस्स नगरस्स मज्झं मज्झेणं ति' अस्यायमर्थः—शृङ्गाटिकादिषु यत्र महाजनशब्दादयः तत्र बहुजनोऽन्योऽन्यमेवमाख्यातीति वाक्यार्थः 'महया जणसद्देइ व' त्ति महान् जनशब्दः—परस्परालापादिरूपः इकारो वाक्यालङ्कारार्थः वाशब्दः पदान्तरापेक्षया समुच्चयार्थः। अथवा-'सद्देइ व' त्ति-इह संधिप्रयोगात् इतिशब्दो द्रष्टव्यः, स चोपप्रदर्शने, यत्र महान् जनशब्द इति वा, यत्र जनव्यूह इति वा, तत्समुदाय इत्यर्थः, जनबोलः—अव्यक्तवर्णो ध्वनिः कलकलः—स एवोपलभ्यमानवचनविभागः ऊर्मिः-संबाधः एवमुत्कलिका—लघुतरः समुदाय एवं सन्निपातः-अपरापरस्थानेभ्यो जनानामेकत्र मीलनं तत्र, बहुजनोऽन्योऽन्यस्याख्याति—सामान्येन, प्रज्ञापयति विशेषेण, एतदेवार्थद्वयं पदद्वयेनाह—भाषते प्ररूपयति चेति, अथवा-आख्याति सामान्यतः प्रज्ञापयति विशेषतो बोधयति वा भाषते व्यक्तपर्यायवचनतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्ररूपयति उपपत्तितः 'इह आगए' त्ति राजगृहे 'इह संपत्ते' त्ति गुणशिलके 'इह समोसढे' त्ति साधूचितावग्रहे। एतदेवाह—'इहेव रायगिहे' इत्यादि 'अहापडिरूवं' ति यथाप्रतिरूपम्—उचितमित्यर्थः 'तमिति' तस्मात् 'महाफलं' ति महत्फलम्—अर्थो भवतीति गम्यम्, 'तहारूवाणं' ति तत्प्रकारस्वभावानां महाफलजननस्वभावानामित्यर्थः, 'नामगोयस्स' त्ति नाम्नो याहच्छिकस्याभिधानकस्य गोत्रस्य गुणनिष्पन्नस्य 'सवणयाए' त्ति श्रवणेन 'किमङ्ग! पुण' त्ति किमङ्ग! पुनरिति पूर्वोक्तार्थस्य विशेषद्योतनार्थम्, अङ्गेत्यामन्त्रणे, अथवा-परिपूर्ण एवायं शब्दो विशेषणार्थ इति, अभिगमनम्-अभिमुखगमनं वन्दनं-स्तुतिः नमस्यनं-प्रणमनं प्रतिप्रच्छनं—शरीरादिवार्ताप्रश्नः पर्युपासनं—सेवा एतद्भावस्तत्ता तया,तथा एकस्याप्यार्यस्य आर्यप्रणेतृकत्वात् धार्मिकस्य-धर्मप्रतिबद्धत्वात् 'वन्दामो' त्ति—स्तुमो नमस्यामः—प्रणमामः सत्कारयामः—आदरं कुर्मो वस्त्राद्यर्चनं वा सन्मानयामः—उचितप्रतिपत्तिभिः कल्याणं-कल्याणहेतुं मङ्गलं-दुरितोपशमहेतुं दैवतं-दैवं चैत्यमिव चैत्यं पर्युपासयामः—सेवामहे, एतत् नः—अस्माकं प्रेत्यभवे—जन्मान्तरे हिताय पथ्याऽन्नवत् सुखाय—शर्मणे क्षेमाय—संगतत्वाय निःश्रेयसाय—मोक्षाय आनुगामिकत्वाय—भवपरम्परासुखानुबन्धिसुखाय भविष्यतीति कृत्वा-इति हेतोर्बहव उग्रा-आदिदेवावस्थापिता रक्षवंशजाः उग्रपुत्राः—त एव कुमाराद्यवस्था एवं भोगाः—आदिदेवेनैवावस्थापितगुरुवंशजाताः राजन्या-भगवद्वयस्यवंशजाः क्षत्रियाः—सामान्यराजकुलीनाः भटाः-शौर्यवन्तो योधाः—तेभ्यो विशिष्टतरा मल्लकिनो लेच्छकिनश्च राजविशेषाः, यथा श्रूयन्ते चेटकराजस्याष्टादशगणराजानो नव मल्लकिनो नव लेच्छकिन इति, 'लेच्छइ त्ति' क्वचिद्वणिजो व्याख्याताः लिप्सव इति संस्कारेणेति, राजेश्वरादयः प्राग्वद्, 'अप्पेगइय' त्ति अप्येके केचन 'वंदणवत्तियं' ति वन्दनप्रत्ययं वन्दनहेतोः शिरसा कण्ठे च कृता—धृता माला यैस्ते शिरसाकण्ठेमालाकृताः कल्पितानि हारार्द्धहारत्रिसरकाणि प्रालम्बश्च-प्रलम्बमानः कटिसूत्रकं च येषान्ते तथा, तथाऽन्यान्यपि सुकृतशोभान्याभरणानि येषां ते तथा, ततः कर्मधारयः, चन्दनावलिप्तानि गात्राणि यत्र तत्तथाविधं शरीरं येषां ते तथा, 'पुरिसवग्गुर'त्ति-पुरुषाणां वागुरेव वागुरा-परिकरं च महया-महता उत्कृष्टिश्च-आनन्दमहाध्वनिः गम्भीरध्वनिः सिंहनादश्च बोलश्च-वर्णव्यक्तिवर्जितो ध्वनिरेव कलकलश्च—व्यक्तवचनः स एव एतल्लक्षणो यो रवस्तेन समुद्ररवभूतमिव जलधिशब्दप्राप्तमिव तन्मयमिवेत्यर्थो नगरमिति गम्यते कुर्वाणाः 'एगदिसिं' ति एकया दिशा पूर्वोत्तरलक्षणया एकाभिमुखा—एकं भगवन्तम् अभिमुखं येषां ते एकाभिमुखा निर्गच्छन्ति, 'इमं च णं' ति इतश्च 'रायमग्गं च आलोएमाणे एवं च णं विहरइ, तते णं से मेहे कुमारे ते बहवे उग्गे ०जाव एगदिसाभिमुहे निग्गच्छमाणे पासइ पासित्ता' इत्यादि स्फुटम्, इन्द्रमहः-इन्द्रोत्सवः एवमन्यान्यपि पदानि, नवरं स्कन्दः—कार्त्तिकेयः रुद्रः प्रतीतः शिवो-महादेवः वैश्रमणो-यक्षराद् नागो-भवनपतिविशेषः यक्षो भूतश्च व्यन्तरविशेषौ चैत्यं सामान्येन प्रतिमा पर्वतः—प्रतीत उद्यानयात्रा-उद्यानगमनं गिरियात्रा—गिरिगमनं 'गहियागमणपवित्तिए' त्ति परिगृहीतागमनप्रवृत्तिको गृहीतवार्त्त इत्यर्थः।

ततेणं से मेहे कंचुइज्जपुरिसस्स अंतिए एतमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति २ त्ता एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह, तह त्ति उवणेंति, तते णं से मेहे एहाते ०जाव सव्वाऽलंकारविभूसिए चाउग्घंटं आसरहं दुरूढे समाणे सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं महया भडचडगरविंदपरियालसंपरिवुडे रायगिहस्स नगरस्स मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति २ त्ता जेणामेव गुणसिलए चेतिए तेणामेव उवागच्छति २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स छत्तातिछत्तं पडागातिपडागं विज्जाहरचारणे जंभए य देवे ओवयमाणे उप्पयमाणे पासति पासित्ता चाउग्घंटाओ आसरहाओ पचोरुहति २ त्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छति, तं जहा-सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए एगसाडियउत्तरासंगकरणेणं चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं मणसो एगत्तीकरणेणं जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव उवागच्छति २ त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आदाहिणं पदाहिणं करेति २ त्ता वंदति णमंसइ २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स णच्चासन्ने नातिदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे अंजलियउडे अभिमुहे विणएणं पज्जुवासति, तए णं समणे भगवं महावीरे मेहकुमारस्स तीसे य महतिमहालियाए परिसाए मज्झगए विचित्तं धम्ममातिक्खति जहा जीवा वज्झंति मुच्चंति जह य संकिलिस्संति धम्मकहा भणियव्वा ०जाव परिसा पडिगया। (सूत्र-२५)

'चाउग्घंटं आसरहं' ति चतस्रो घण्टा अवलम्बमाना यस्मिन् स तथा, अश्वप्रधानो रथोऽश्वरथः, युक्तमेव अश्वादिभिरिति, 'दुरूढे' त्ति आरूढः 'महया' इयादि महद् यत् भटानां चटकरं वृन्दं विस्तारवत् समूहस्तल्लक्षणो यः परिवारस्तेन संपरिवृतो यः स तथा। जृम्भकदेवास्तिर्यग्लोकचारिणः 'ओवयमाणे' त्ति अवपततो व्योमाङ्गणादवतरतः 'उप्पयंते' त्ति भूतलादुत्पततो दृष्ट्वा 'सचित्ते' त्यादि सचित्तानां द्रव्याणां पुष्पताम्बूलादीनां 'विउसरणयाए' त्ति व्यवसरणेन व्युत्सर्जनेनाचित्तानां द्रव्याणामलङ्कारवस्त्रादीनामव्यवसरणेन—अव्युत्सर्जनेन क्वचिद् 'वियोसरणयेति' पाठः, तत्र अचेतनद्रव्याणां छत्रादीनां व्युत्सर्जनेन—परिहारेण, उक्तं च—'अवणेइ पंचककुहाणि रायवरवसभचिंधभूया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णि। छत्तं खग्गो वाहण,मउडं तह चामराओ य॥१॥' त्ति' एका शाटिका यस्मिंस्तत्तथा तच्च तदुत्तरासङ्गकरणं च उत्तरीयस्य न्यासविशेषस्तेन, चक्षुःस्पर्शे—दर्शने अञ्जलिप्रग्रहेण—हस्तजोटनेन मनस एकत्वकरणेन एकाग्रत्वविधानेनेति भावः, क्वचिद्—' एगत्तभावेणं ' ति पाठः, अभिगच्छतीति प्रक्रमः, ' महइमहालयाए ' त्ति महातिमहत्याः धर्म—श्रुतचारित्रात्मकम् आख्याति, स च यथा जीवा वध्यन्ते कर्मभिः मिथ्यात्वादिहेतुभिर्यथा मुच्यन्ते तैरेव ज्ञानाद्यासेवनतः यथा संक्लिश्यन्ते अशुभपरिणामा भवन्ति तथा आख्यातीति, इहावसरे धर्मकथा उपपातिकोक्ता भणितव्या, अत्र च बहुग्रन्थ इति न लिखितः।

तते णं से मेहे कुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोचा णिसम्म हट्ठतुट्ठे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आदाहिणं पदाहिणं करेति २ त्ता वंदति नमंसइ २ त्ता एवं वदासी—सद्दहामि णं भंते! णिग्गंथं पावयणं एवं पत्तियामि णं रोएमि णं अब्भुट्ठेमि णं भंते? निग्गंथं पावयणं एवमेयं भंते! तहमेयं अवितहमेयं इच्छितमेयं पडिच्छियमेयं भंते! इच्छितपडिच्छियमेयं भंते! से जहेव तं तुब्भे वदह जं नवरं देवाणुप्पिया! अम्मापियरो आपुच्छामि तओ पच्छा मुंडे भवित्ता णं पव्वइस्सामि, अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह, तते णं से मेहे कुमारे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति २ त्ता जेणामेव चाउग्घंटे आसरहे तेणामेव उवागच्छति २ त्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति २ त्ता महया भडचडगरपहकरेणं रायगिहस्स नगरस्स मज्झं मज्झेणं जेणामेव सए भवणे तेणामेव उवागच्छति २ त्ता चाउग्घंटाओ आसरहाओ पच्चोरुहति २ त्ता जेणामेव अम्मापियरो तेणामेव उवागच्छति २ त्ता अम्मापिऊणं पायवडणं करेति २ त्ता एवं वदासी—एवं खलु अम्मयाओ! मए समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए धम्मे णिसंते से वि य मे धम्मे इच्छिते पडिच्छिते अभिरुइए, तते णं तस्स मेहस्स अम्मापियरो एवं वदासी—धन्ने सि तुमं जाया! संपुन्नो० कयत्थो० कयलक्खणोऽसि तुमं जाया! जण्णं तुमे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे णिसंते से वि य ते धम्मे इच्छिते पडिच्छिते अभिरुइए, तते णं से मेहे कुमारे अम्मापियरो दोच्चं पि तच्चं पि एवं वदासी—एवं खलु अम्मयातो! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे निसंते से वि य मे धम्मे० इच्छियपडिच्छिए अभिरुइए तं इच्छामि णं अम्मयाओ तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता णं आगारातो अणगारियं पव्वइत्तए, तते णं सा धारिणी देवी तमणिट्ठं अकंतं अप्पियं अमणुन्नं अमणामं असुयपुव्वं फरुसं गिरं सोच्चा णिसम्म इमेणं एतारूवेणं मणोमाणसिएणं महया पुत्तदुक्खेणं अभिभूता समाणी सेयागयरोमकूवपगलंतविलीणगाया सोयभरपवेवियंगी णित्तेया दीणविमणवयणा करयलमलिय व्व कमलमाला तक्खणओलुग्गदुब्बलसरीरा लावन्नसुन्ननिच्छायगयसिरीया पसिढिलभूसणपडंतखुम्मियसंचुन्नियधवलवलयपब्भट्ठउत्तरिज्जा सुकुमालविकिन्नकेसहत्था मुच्छावसणट्ठचेयगरुई परसुनियत्त व्व चंपकलया निव्वत्तमहिम व्व इंदलट्ठी विमुक्कसंधिबंधणा कोट्टिमतलंसि सव्वंगेहिं धसत्ति पडिया, तते णं सा धारिणी देवी ससंभमोवत्तियाए तुरियं कंचणभिंगारमुहविणिग्गयसीयलजलविमलधाराए परिसिंचमाणा निव्वावियगायलट्ठी उक्खेवणतालवंटवीयणगजणियवाएणं सफुसिएणं अंतेउरपरिजणेणं आसासिया समाणी मुत्तावलिसन्निगासपवडंतअंसुधाराहिं सिंचमाणी पओहरे कलुणविमणदीणा रोयमाणी कंदमाणी तिप्पमाणी सोयमाणी विलवमाणी मेहं कुमारं एवं वयासी—(सूत्र—२६)

' सद्दहामी ' त्यादि, श्रद्दधे—अस्तीत्येवं प्रतिपद्ये नैर्ग्रन्थं प्रवचनं—जैनं शासनम्, एवं ' पत्तियामि ' त्ति प्रत्ययं करोम्यत्रेति भावः, रोचयामि—करणरुचिविषयीकरोमि चिकीर्षामीत्यर्थः, किमुक्तं भवति?—अभ्युत्तिष्ठामि अभ्युपगच्छामीत्यर्थः, तथा एवमेवैतत् यद्भवद्भिः प्रतिपादितं तत्तथैवेत्यर्थः, तथैव तद्यथा वस्तु, किमुक्तं भवति?—अवितथं—सत्यमित्यर्थः, अतः ' इच्छिए ' इत्यादि प्राग्वत्, ' इच्छिए ' त्ति इष्टः, पडिच्छिए ' त्ति पुनः पुनरिष्टः भाव, तो वा प्रतिपन्नः अभिरुचितः—स्वादुभावमिवोपगतः ' आगाराओ ' त्ति गेहात् निष्क्रम्यानगारितां—साधुतां प्रव्रजितुं मे, ' मणोमाणसिएणं ' ति मनसि भवं यन्मानसिकं तन्मनोमानसिकं तेन अबहिर्वृत्तिनेत्यर्थः, तथा स्वेदागतः—आगतस्वेदाः रोमकूपा येषु तानि स्वेदागतरोमकूपाणि, तत एव प्रगलन्ति—क्षरन्ति विलीनानि च क्लिन्नानि गात्राणि यस्याः सा तथा, शोकभरेण प्रवेपिताङ्गी कम्पितगात्रा या सा तथा, निस्तेजा, दीनस्येव—विमनस्क इव वदनं वचनं वा यस्याः सा तथा, तत्क्षणमेव—प्रव्रजामीति वचनश्रवणक्षण एव अवरुग्णं म्लानं दुर्बलं च शरीरं यस्याः सा तथा, लावण्येन शून्या लावण्यशून्या निच्छाया—गतश्रीका च या सा तथेति, पदचतुष्टयस्य कर्मधारयः, दुर्बलत्वात् प्रशिथिलानि भूषणानि यस्याः सा तथा, कृशीभूतबाहुत्वात्पतन्ति—विगलन्ति 'खुम्मिय' त्ति—भूमिपतनात् प्रदेशान्तरेषु नमितानि चूर्णितानि च—भूपातात् एव भग्नानि धवलवलयानि यस्याः सा तथा, प्रभ्रष्टमुत्तरीयं च यस्याः सा तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः, सुकुमारो विकीर्णः केशहस्तः—केशपाशो यस्याः सा तथा, मूर्च्छावशान्नष्टे चेतसि सति गुर्वी—अलघुशरीरा या सा तथा, परशुनिकृत्तेव चम्पकलता कुट्टिमतले पतितेति सं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्धः, निवृत्तमहा इव इन्द्रयष्टिः-इन्द्रकेतुर्वियुक्तसन्धिबन्ध-ना श्लथीकृतसन्धाना धसतीत्यनुकरणे ससंभ्रमं व्याकुलचि-त्ततया 'उवत्तियाए' त्ति अपवर्त्तितया क्षिप्तया त्वरितं-शीघ्रं काञ्चनभृङ्गारमुखविनिर्गता या शीतलजलविमलधारा तया परिषिच्यमाना निर्वापिता-शीतलीकृता गात्रयष्टि-र्यस्याः सा परिषिच्यमाननिर्वापितगात्रयष्टिः, उत्क्षेपको वंशदलादिमयो मुष्टिग्राह्यो डण्डमध्यभागः तालवृन्तं ता-लाभिधानवृक्षपत्रवृन्तं पत्रच्छोट इत्यर्थः, तदाकारं वा चर्म-मयं बीजनकं तु-वंशादिमयमेवान्तर्ग्राह्यदण्डम् एतैर्जनि-तो यो वातस्तेन 'सफुसिएणं' सोदकबिन्दुना अन्तःपुर-जनेन समाश्वसिता सती मुक्तावलीसन्निकाशा याः प्र-पतन्त्योऽश्रुधारास्ताभिः सिञ्चन्ती पयोधरौ, करुणा च विम-नाश्च दीना च या सा तथा, रुदन्ती-साश्रुपातं शब्दं वि-दधाना क्रन्दन्ती ध्वनिविशेषेण तेपमाना-स्वेदलालादि क्षर-न्ती शोचमाना-हृदयेन विलपन्ती-आर्त्तस्वरेण।

तुमं सि णं जाया! अम्हं एगे पुत्ते इट्ठे कंते पिए मणुन्ने म-णामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगस-माणे रयणे रयणभूते जीवियउस्सासयहिययाणंदजणणे उंबरपुप्फं व दुल्लभे सवणयाए किमङ्ग! पुण पासणयाए? णो खलु जाया! अम्हे इच्छामो खणमवि विप्पओगं सहित्तते तं भुंजाहि ताव जाया! विपुले माणुस्सए कामभोगे जाव ताव वयं जीवामो तओ पच्छा अम्हेहिं कालगतेहिं परिणयवए वड्ढियकुलवंसतंतुकज्जम्मि निरावयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भविता आगारातो अणगारियं पव्वइस्ससि। तते णं से मेहे कुमारे अम्मापिऊहिं एवं वुत्ते समाणे अम्मापियरो एवं वदासी-तहेव णं तं अम्म-तायो! जहेव णं तुम्हे ममं एवं वदह तुमं सि णं जाया! अम्हं एगे पुत्ते तं चेव० जाव निरावयक्खे समणस्स भग-वओ महावीरस्स० जाव पव्वइस्ससि, एवं खलु अम्मया-ओ! माणुस्सए भवे अधुवे अणियए असासए वसण-सओवद्दवाभिभूते विज्जुलयाचंचले अणिच्चे जलबुब्बुयस-माणे कुसग्गजलबिंदुसन्निभे संझब्भरागसरिसे सुविण-दंसणोवमे सडणपडणविद्धंसणधम्मे पच्छा पुरं च णं अ-वस्सविप्पजहणिज्जे से के णं जाणति अम्मयाओ! के पुव्विं गमणाए के पच्छा गमणाए?, तं इच्छामि णं अम्मयाओ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाते समाणे समणस्स भ-गवतो ०जाव पव्वतित्तए, तते णं तं मेहं कुमारं अम्मा-पियरो एवं वदासी-इमातो ते जाया! सरिसियाओ सरिसत्तयाओ सरिसवयाओ सरिसलावन्नरूवजोव्वण-गुणोववेयाओ सरिसेहिंतो रायकुलेहिंतो आणियल्लियाओ भारियाओ, तं भुंजाहि णं जाया! एताहिं सद्धिं विपुले माणुस्सए कामभोगे तओ पच्छा भुत्तभोगे समणस्स० जाव पव्वइस्ससि, तते णं से मेहे कुमारे अम्मापितरं एवं वदासी-तहेव णं अम्मयाओ! जन्नं तुब्भे ममं एवं वदह-इमाओ ते जाया! सरिसियाओ ०जाव समणस्स भगव-ओ महावीरस्स अंते पव्वइस्ससि, एवं खलु अम्मयाओ! माणुस्सगा कामभोगा असुई असासया वंतासवा पित्ता-सवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा दुरुस्सासनीसासा दुरूयमुत्तपुरीसपूयबहुपडिपुन्ना उच्चारपासवणखेलजल्ल-सिंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणितसंभवा अधुवा अणित्तिया असासया सडणपडणविद्धंसणधम्मा पच्छा पुरं च णं अवस्सविप्पजहणिज्जा, से के णं अम्मयाओ! जाणति के पुव्विं गमणाए के पच्छा गमणाए?, तं इच्छामि णं अम्मयाओ! ०जाव पव्वतित्तए। तते णं तं मेहं कुमारं अम्मापितरो एवं वदासी-इमे य ते जाया! अज्जयपज्ज-यपिउपज्जयागए सुबहुहिरन्ने य सुवण्णे य कंसे य दूसे य मणिमोत्तिए य संखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसावति-ज्जे य अलाहि०जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पगामं दाउं पगामं भोत्तुं पगामं परिभाएउं तं अणुहोहि ताव ०जाव जाया! विपुलं माणुस्सगं इड्ढिसक्कारसमुदयं तओ पच्छा अणुभूयकल्लाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पव्वइस्ससि, तते णं से मेहे कुमारे अम्मापियरं एवं वदासी-तहेव णं अम्मयाओ! जं णं तं वदह इमे ते जाया! अज्जगपज्जग ० जाव तओ पच्छा अणुभूय कल्लाणे पव्वइस्ससि, एवं खलु अम्मयाओ! हिरन्ने य सुवण्णे य० जाव सावतेज्जे अग्गिसाहिए चोरसाहिए रायसाहिए दाइयसाहिए मच्चुसाहिए अग्गिसामन्ने ०जाव मच्चुसामन्ने सडणपडणविद्धंसणधम्मे पच्छा पुरं च णं अवस्सविप्पजहणिज्जे से के णं जाणइ अम्मयाओ! के ०जाव गमणाए, तं इच्छामि णं ०जाव पव्वतित्तए। तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो जाहे नो संचालेइ मेहं कुमारं बहूहिं विसयाणुलोमाहिं आघवणाहि य पन्न-वणाहि य सन्नवणाहि य विन्नवणाहि य आघवित्तए वा पन्न वित्तए वा सन्नवित्तए वा विन्नवित्तए वा ताहे विसयपडि-कूलाहिं संजमभवउव्वेयकारियाहिं पन्नवणाहिं पन्नवेमाणा एवं वदासी-एस णं जाया! निग्गंथे पावयणे सच्चे अ-णुत्तरे केवलिए पडिपुन्ने णेयाउए संसुद्धे सल्लगत्तणे सि-द्धिमग्गे मुत्तिमग्गे निज्जाणमग्गे निवाणमग्गे सव्वदुक्खप्प-हीणमग्गे अहीव एगंतदिट्ठीए खुरो इव एगंतधाराए लोह-मया इव जवा चावेयव्वा वालुयाकवले इव निरस्साए गंगा इव महानदी पडिसोयगमणाए महासमुद्दो इव भुयाहिं-दुत्तरे तिक्खं चंकमियव्वं गरुअं लंबेयव्वं असिधार व्व संचरियव्वं, णो य खलु कप्पति जाया! समणाणं नि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गंथाणं आहाकम्मिए वा उद्देसिए वा कीयगडे वा ठवि-
यए वा रइयए वा दुब्भिक्खभत्ते वा कंतारभत्ते वा वद्-
लियाभत्ते वा गिलाणभत्ते वा मूलभोयणे वा कंदभोयणे
वा फलभोयणे वा बीयभोयणे वा हरियभोयणे वा भोत्तए
वा पायए वा, तुमं च णं जाया ! सुहसमुचिए णो चेव णं
दुहसमुचिए णालं सीयं णालं उण्हं णालं खुहं णालं
पिवासं णालं वाइयपित्तियसिंभियसन्निवाइयविविहे रो-
गायंके उच्चावए गामकंटए बावीसं परीसहोवसग्गे उदि-
न्ने सम्मं अहियासित्तए, भुंजाहि ताव जाया ! माणुस्सए
कामभोगे ततो पच्छा भुत्तभोगी समणस्स भगवओ महा-
वीरस्स०जाव पव्वतिस्ससि, तते णं से मेहे कुमारे अम्मा-
पिऊहिं एवं वुत्ते समाणे अम्मापितरं एवं वदासी–तहेव
णं तं अम्मयाओ ! जन्नं तुब्भे ममं एवं वदह एस णं
जाया ! निग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे० पुणरवि तं चेव
०जाव तओ पच्छा भुत्तभोगी समणस्स भगवओ महावी-
रस्स० जाव पव्वइस्ससि, एवं खलु अम्मयाओ ! णिग्गंथे
पावयणे कीवाणं कायराणं कापुरिसाणं इहलोगपडिब-
द्धाणं परलोगनिप्पिवासाणं दुरणुचरे पाययजणस्स णो-
चेव णं धीरस्स निच्छियस्स ववसियस्स एत्थं किं
दुक्करं करणयाए ? तं इच्छामि णं अम्मयाओ ! तु-
ब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे समणस्स भगवओ ०जाव
पव्वइत्तए । (सूत्र–२७)

'जाय' त्ति हे पुत्र ! इष्टः इच्छाविषयत्वात् कान्तः कम-
नीयत्वात् प्रियः प्रेमनिबन्धनत्वात् मनसा ज्ञायसे उपादेय-
तयेति मनोज्ञः मनसा अम्यसे–गम्यसे इति मनोऽमः, स्थैर्य-
गुणयोगात् स्थैर्यो वैश्वासिको–विश्वासस्थानं संमतः कार्य-
करणे बहुमतः बहुष्वपि कार्येषु बहुर्वाऽनल्पतयाऽस्तोक-
तया मतो बहुमतः, कार्थविधानस्य पश्चादपि मतोऽनुमतः,
'भाण्डकरण्डकसमानो' भाण्डम्–आभरणं, रत्नमिव रत्नं
मनुष्यजातावुत्कृष्टत्वात् रजनो वा रञ्जक इत्यर्थः, रत्नभूतः
चिन्तामणिरत्नादिकल्पो जीवितमस्माकमुच्छ्वासयसि–वर्द्ध-
यसीति जीवितोच्छ्वासः स एव जीवितोच्छ्वासिकः,
वाचनान्तरे तु–'जीविउस्सइए' त्ति–जीवितस्योत्सव इव जी-
वतोत्सवः स एव जीवितोत्सविकः,हृदयानन्दजननः उदुम्बर-
पुष्पं ह्यलभ्यं भवति अतस्तेनोपमानं, 'जाव ताव अम्हेहिं जी-
वामो'त्ति इह भुङ्क्ष्व तावद्भोगान् यावद्वयं जीवाम इत्येताव-
तैव विवक्षितसिद्धौ यत्पुनः तावत् शब्दस्योच्चारणं तद्भाषा-
मात्रमेवेति, परिणतवया 'वड्ढियकुलवंसतंतुकज्जम्मि' वर्द्धि-
ते वृद्धिमुपागते पुत्रपौत्रादिभिः कुलवंश एव—सन्तान एव-
तन्तुः दीर्घत्वसाधर्म्यात् कुलवंशतन्तुः स एव कार्यं—कृ-
त्यं तस्मिन्, ततः 'निरवेक्खे' त्ति निरपेक्षः सकलप्रयो-
जनानाम् 'अधुवे' त्ति न ध्रुवः सूर्योदयवत् न प्रतिनियतकाले
अवश्यंभावी, अनियतः ईश्वरादेरपि दरिद्रादिभावात्, अशा-
श्वतः क्षणविनश्वरत्वाद् व्यसनानि–द्यूतचौर्यादीनि तच्छतरु-
पद्रवैः स्वपरसंभवैः सदोपद्रवैर्वाऽभिभूतो–व्याप्तः,शटनं–कु-
ष्ठादिना अङ्गुल्यादेः पतनं—बाह्वादेः खड्गच्छेदादिना विध्वं-
सनं—क्षयः एते एव धर्म्मा यस्य स तथा, पश्चात्—विवक्षि-
तकालात्परतः 'पुरं च' त्ति पूर्वतश्च णमलंकृतौ 'अवस्स-
विप्पजहणिज्जे' अवश्यं त्याज्यः । 'से के णं 'जाणइ' त्ति अथ
को जानाति ? न कोऽपीत्यर्थः, अम्ब तातक ! पूर्वं–पित्रोः
पुत्रस्य चान्योऽन्यतः गमनाय परलोके उत्सहते कः पश्चाद्गम-
नाय तत्रैवोत्सहते इति, कः पूर्वं को वा पश्चान्म्रियते इत्यर्थः
वाचनान्तरे–मेघकुमारभार्यावर्णक एवमुपलभ्यते 'इमाओ ते
जायाओ विपुलकुलबालियाओ कलाकुसलसव्वकाललालिय-
सुहोइयाओ मद्दवगुणजुत्तनिउणविणओवयारपंडियवियक्ख-
णाओ' पण्डितानां मध्ये विचणाः पण्डितविचक्षणाः अ-
तिपण्डिता इत्यर्थः 'मंजुलमियमहुरभणियहसियविप्पेक्खि-
यगइविलासवट्ठियविसारयाओ' मञ्जुलं—कोमलं शब्दतः
मितं—परिमितं मधुरम्—अकठोरमर्थतो यद्भणितं तत्तथा
अवस्थितं–विशिष्टस्थिति शेषं कण्ठ्यम् 'अविकलकुलसील-
सालिणीओ विसुद्धकुलवंससंताणतंतुवद्धणपगब्भुब्भवप्प-
भाविणीओ' विशुद्धकुलवंश एव सन्तानतन्तुः विस्तारवत्त-
न्तुः तद्वर्द्धना ये प्रकृष्टा गर्भाः–पुत्रवरगर्भास्तेषां य उद्भवः-
संभवस्तल्लक्षणो यः प्रभावो–माहात्म्यं स विद्यते यासां ताः
तथा 'मणोणुकूलहिययइच्छियायो' मनोऽनुकूलाश्च ता
हृदयेनेप्सिताश्चेति कर्म्मधारयः, 'अट्ठ तुज्झगुणवल्लहा-
ओ' गुणैर्वल्लभा यास्तास्तथा 'भज्जाओ उत्तमाओ निच्चं
भावाणुरत्ता सव्वंगसुंदरीओ' त्ति 'माणुस्सगा कामभो-
ग' त्ति इह कामभोगग्रहणेन तदाधारभूतानि स्त्रीपुरुष-
शरीराण्यभिप्रेतानि अशुचयः अशुचिकारणत्वात् वान्तं-
वमनं तदाश्रवन्तीति वान्ताश्रवाः एवमन्यान्यपि, नवरं
पित्तं प्रतीतं खेलो निष्ठीवनं शुक्रं–सप्तमो धातुः शोणितं-
रक्तं दुरूपाणि–विरूपाणि यानि मूत्रपुरीषपूयानि तैर्बहुप्र-
तिपूर्णाः उच्चारः—पुरीषं प्रस्रवणं—मूत्रं खेलः—प्रतीतः
सिङ्घाणो—नासिकामलः वान्तादिकानि प्रतीतान्येतेभ्यः
संभवः—उत्पत्तिर्येषां ते तथा 'इमे य ते' इत्यादि,
इदं च ते आर्यकः पितामहः प्रार्यकः दितुः पितामहः पि-
तृप्रार्यकः—पितुः प्रपितामहः तेभ्यः सकाशादागतं यत्तत्त-
था, अथवा–आर्यकप्रार्यकपितृणां यः पर्यायः परिपाटिरि-
त्यनर्थान्तरं तेनागतं यत्तत्तथा, 'अग्गिसाहिए' इत्यादि,
अग्नेः स्वामिनश्च साधारणं 'दाइय' त्ति दायादाः पुत्रादयः,
एतदेव द्रव्यस्यातिपारवश्यप्रतिपादनार्थं पर्यायान्तरेणाह-
'अग्गिसामण्णे' इत्यादि, शटनं वस्त्रादेरतिस्थगितस्य-
पतनं–वर्णादिविनाशः विध्वंसनं च—प्रकृतेरुच्छेदः धर्म्मो
यस्य तत्तथा, 'जाहे नो संचाएति त्ति' यदा न शक्नु-
वन्तौ, 'बहूहिं विसए' त्यादि, बह्वीभिः विषयाणां—शब्दा-
दीनामनुलोमाः तेषु प्रवृत्तिजनकत्वेन अनुकूला विषया-
नुलोमास्ताभिः आख्यापनाभिश्च–सामान्यतः प्रतिपादनैः
प्रज्ञापनाभिश्च–विशेषतः कथनैः संज्ञापनाभिश्च—संबोधना-
भिर्विज्ञापनाभिश्च–विज्ञप्तिकाभिश्च सप्रणयप्रार्थनैः चकाराः
समुच्चयार्थाः आख्यातुं वा प्रज्ञापयितुं वा संज्ञापयितुं वा
विज्ञापयितुं वा न शक्नुत इति प्रक्रमः 'ताहे' त्ति त-
दा विषयप्रतिकूलाभिः शब्दादिविषयाणां परिभोगनिषेध-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कत्वेन प्रतिलोमाभिः संयमाद्भयमुद्वेगं च-चलनं कुर्वन्ति यास्ताः संयमभयोद्वेगकारिकाः संयमस्य दुष्करत्वप्रतिपादनपरास्ताभिः प्रज्ञापनाभिः प्रज्ञापयन्तौ एवमवादिष्टाम्-' निग्गंथे ' त्यादि , निर्ग्रन्थाः साधवस्तेषामिदं नैर्ग्रन्थं प्रवचनमेव प्रावचनं सद्भ्यो हितं सत्यं सद्भूतं वा नास्मादुत्तरं-प्रधानतरं विद्यत इत्यनुत्तरम् , अन्यदप्यनुत्तरं भविष्यतीत्याह-कैवलिकं केवलम्-अद्वितीयं केवलिप्रणीतत्वाद्वा कैवलिकं प्रतिपूर्णम्-अपवर्गप्रापकैर्गुणैर्भृतं नयनशीलं नैयायिकं मोक्षगमकमित्यर्थः, न्याये वा भवं नैयायिकं मोक्षगमकमित्यर्थः संशुद्धं सामस्त्येन शुद्धमेकान्ताकलङ्कमित्यर्थः शल्यानि मायादीनि कृन्ततीति शल्यकर्तनं सेधनं सिद्धिः हितार्थप्राप्तिस्तन्मार्गः सिद्धिमार्गः मुक्तिमार्गः अहितकर्मविच्युतेरुपायः, यान्ति तदिति यानं निरुपमं यानं निर्यानं सिद्धिक्षेत्रं तन्मार्गो निर्याणमार्गः एवं निर्वाणमार्गोऽपि नवरं निर्वाणं-सकलकर्मविरहजं सुखमिति सर्वदुःखप्रक्षीणमार्गः सकलाशर्मक्षयोपायः अहिरिव एकोऽन्तो निश्चयो यस्याः सा एकान्ता सा दृष्टिः बुद्धिर्यस्मिन्निर्ग्रन्थे प्रवचने-चारित्रपालनं प्रति तदेकान्तदृष्टिकम्। अहिपक्षे आमिषग्रहणैकतानतालक्षणा एकान्ता-एकनिश्चया दृष्टिः दृक् यस्य स एकान्तदृष्टिकः क्षुरप्र इव एकधारा द्वितीयधाराकल्पाया अपवादक्रियाया अभावात्, पाठान्तरेण-एकान्ता-एकविभागाश्रया धारा यस्य तत्तथा,लोहमया इव यवाः चर्वयितव्याः प्रवचनमिति प्रक्रमः, लोहमययवचर्वणमिव दुष्करं चरणमिति भावः, वालुकाकवलइव निरास्वादं वैषयिकसुखास्वादनापेक्षया प्रवचनम् , गङ्गेव महानदी प्रतिश्रोतसा गमनं प्रतिश्रोतोगमनं तद्भावस्तत्ता तया, प्रतिश्रोतोगमनेन गङ्गेव दुस्तरं प्रवचनमनुपालयितुमिति भावः, एवं समुद्रोपमानं प्रवचनमिति तीक्ष्णं खड्गकुन्तादिकं चङ्क्रमितव्यम्-आक्रमणीयं यदेतत्प्रवचनं तदिति, तथा खड्गादि क्रमितुमशक्यमेवमशक्यं प्रवचनमनुपालयितुमिति भावः, गुरुकं महाशिलादिकं लम्बयितव्यम्-अवलम्बनीयं प्रवचनं गुरु, कलम्बनमिव दुष्करं तदिति भावः, असिधारायां संचरणीयमित्येवंरूपं यद्व्रतं-नियमस्तदसिधाराव्रतं चरितव्यम्-आसेव्यं यदेतत्प्रवचनानुपालनं तद्वदेतद्दुष्करमित्यर्थः, कस्मादेतस्य दुष्करत्वमत उच्यते ' नो य कप्पइ ' त्यादि, ' रइए व ' त्ति औद्देशिकभेदस्तच्च मोदकचूर्णादिपुनर्मोदकतया रचितं भक्तमिति गम्यते, दुर्भिक्षभक्तं यद्भिक्षुकार्थं दुर्भिक्षे संस्क्रियते, एवमन्यान्यपि, नवरं कान्तारम्-अरण्यं वर्द्दलिका-वृष्टिः ग्लानः सन्नारोग्याय यद्ददाति तद् ग्लानभक्तम्, मूलानि पद्मसिन्नाटिकादीनां कन्दाः-सूरणादयः फलानि-आम्रफलादीनि बीजानि-शाल्यादीनि हरितं-मधुरतृणकद्रुमाण्डादि भोक्तुं वा पातुं वा नालं-न समर्थः शीताद्यधिसोढुमिति योगः, रोगाः-कुष्ठादयः आतङ्का-आशुघातिनः शूलादयः उच्चावचान्-नानाविधान् ग्रामकण्टकान्-इन्द्रियवर्गप्रतिकूलान् , ' एवं खलु अम्मयाओ !' इत्यादि यथा लोहचर्वणाद्युपमया दुरनुचरं-दुःखासेव्यं नैर्ग्रन्थम् प्रवचनं भवद्भिरुक्तमेवं-दुरनुचरमेव, केषां ?-क्लीबानां-मन्दसंहननानां कातराणां-चित्तावष्टम्भवर्जितानामत एव कापुरुषाणां कुत्सितनराणां, विशेषणद्वयं तु कण्ठ्यम्, पूर्वोक्तमेवार्थमाह-दुरनुचरं-दुःखासेव्यं नैर्ग्रन्थं प्रवचनमिति प्रकृतं , कस्येत्याह-प्राकृतजनस्य , एतदेव व्यतिरेकेणाह-' नो चेव णं ' नैव धीरस्य-साहसिकस्य दुरनुचरमिति प्रकृतम् , एतदेव वाक्यान्तरेणाह-निश्चितं-निश्चयवद् व्यवसितं-व्यवसायः कर्म्म यस्य स तथा तस्य, ' एत्थ ' त्ति अत्र नैर्ग्रन्थे प्रवचने किं दुष्करं ? , न किञ्चित् दुरनुचरमित्यर्थः, कस्यामित्याह-' करणतायां ' करणानां-संयमव्यापाराणां भावः करणता तस्यां, संयमयोगेषु मध्ये इत्यर्थः, तत्-तस्मादिच्छाम्यम्ब ! तात ! ।

तते णं तं मेहं कुमारं अम्मापियरो जाहे नो संचाइंति बहूहिं विसयाणुलोमाहि य विसयपडिकूलाहि य आघवणाहि य पन्नवणाहि य सन्नवणाहि य विन्नवणाहि य आघवित्तए वा पन्नवित्तए वा सन्नवित्तए वा विन्नवित्तए वा ताहे अकामए चेव मेहं कुमारं एवं वदासी-इच्छामो ताव जाया ! एगदिवसमवि ते रायसिरिं पासित्तए, तते णं से मेहे कुमारे अम्मापितरमणुवत्तमाणे तुसिणीए संचिट्ठति तते णं से सेणिए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति २ त्ता एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! मेहस्स कुमारस्स महत्थं महग्घं महरिहं विउलं रायाभिसेयं उवट्ठवेह, तते णं ते कोडुंबियपुरिसा ०जाव ते वि तहेव उवट्ठवेंति, तते णं से सेणिए राया बहूहिं गणणायगदंडणायगेहि य० जाव संपरिवुडे मेहं कुमारं अट्ठसएणं सोवन्नियाणं कलसाणं एवं रुप्पमयाणं कलसाणं सुवन्नरुप्पमयाणं कलसाणं मणिमयाणं कलसाणं सुवन्नमणिमयाणं कलसाणं रुप्पमणिमयाणं कलसाणं सुवन्नरुप्पमणिमयाणं कलसाणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्वोदएहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वपुप्फेहिं सव्वगंधेहिं सव्वमल्लेहिं सव्वोसहीहि य सिद्धत्थएहिं य सव्विड्डीए सव्वजुईए सव्वबलेणं ०जाव दुंदुभिनिग्घोसणादितरवेणं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचति २ त्ता करयल ०जाव कट्टु एवं वदासी-जयजयणंदा ! जय जय भद्दा ! जय णंदाभद्दा ! भद्दं ते अजियं जिणेहि जियं पालयाहि जियमज्झे वसाहि अजियं जिणेहि सत्तुपक्खं जियं च पालेहि मित्तपक्खं० जाव भरहो इव मणुयाणं रायगिहस्स नगरस्स अन्नेसिं च बहूणं गामागरनगर० जाव सन्निवेसाणं आहेवच्चं० जाव विहराहि त्ति कट्टु जयजयसद्दं पउंजंति, तते णं से मेहे राया जाते महया० जाव विहरति, तते णं तस्स मेहस्स रन्नो अम्मापितरो एवं वदासी-भण जाया ! किं दलयामो किं पयच्छामो किं वा ते हियइच्छिए सामत्थे (मन्ते) ?, तते णं से मेहे राया अम्मापितरो एवं व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दासी-इच्छामि णं अम्मयाश्रो ! कुत्तियावणाश्रो रयहरणं पडिग्गहगं च उवणेह कासवयं च सद्दावेह, तते णं से सेणिए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं वदासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सिरिघरातो तिन्नि सयसहस्साति गहाय दोहिं सयसहस्सेहिं कुत्तियावणाश्रो रयहरणं पडिग्गहगं च उवणेह सयसहस्सेणं कासवयं सद्दावेह, तते णं ते कोडुंबियपुरिसा सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा सिरिघराश्रो तिन्नि सयसहस्साति गहाय कुत्तियावणाश्रो दोहिं सयसहस्सेहिं रयहरणं पडिग्गहं च उवणेंति सयसहस्सेणं कासवयं सद्दावेंति, तते णं से कासवए तेहिं कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविए समाणे हट्ठे ०जाव हयहियए एहाते कतबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसातिं वत्थाइं मंगलाइं पवरपरिहिए अप्पमहग्घाभरणालंकितसरीरे जेणेव सेणिए राया तेणामेव उवागच्छति २ त्ता सेणियं रायं करयलमंजलिं कट्टु एवं वयासी-संदिसह णं देवाणुप्पिया ! जं मए करणिज्जं, तते णं से सेणिए राया कासवयं एवं वदासी-गच्छाहि णं तुमं देवाणुप्पिया ! सुरभिणा गंधोदएणं णिके हत्थपाए पक्खालेह सेयाए चउप्फालाए पोत्तीए मुहं बंधेता मेहस्स कुमारस्स चउरंगुलवज्जे णिक्खमणपाउग्गे अग्गकेसे कप्पेहि, तते णं से कासवए सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठ ०जाव हियए ०जाव पडिसुणेति २ त्ता सुरभिणा गंधोदएणं हत्थपाए पक्खालेति २ त्ता सुद्धवत्थेणं मुहं बंधति २ त्ता परेणं जत्तेणं मेहस्स कुमारस्स चउरंगुलवज्जे णिक्खमणपाउग्गे अग्गकेसे कप्पति, तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स माया महरिहेणं हंसलक्खणेणं पडसाडएणं अग्गकेसे पडिच्छति २ त्ता सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेति २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चा श्रादलयति २ त्ता सेयाए पोत्तीए बंधेति २ त्ता रयणसमुग्गयंसि पक्खिवति २ त्ता मंजूसाए पक्खिवति २ त्ता हारवारिधारसिंदुवारछिन्नमुत्तावलिपगासाइं अंसूइं विणिम्मुयमाणी २ रोयमाणी २ कंदमाणी २ विलवमाणी २ एवं वदासी-एस णं अम्हं मेहस्स कुमारस्स अब्भुदएसु य उस्सवेसु य पव्वेसु य तिहीसु य छणेसु य जन्नेसु य पव्वणीसु य अपच्छिमे दरिसणे भविस्सइ त्ति कट्टु उस्सीसा मूले ठवेति , तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अम्मापितरो उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेंति मेहं कुमारं दोच्चं पि तच्चं पि सेयपीयएहिं कलसेहिं एहावेंति २ त्ता पम्हलसुकुमालाए गंधकासाइयाए गायातिं लूहेंति २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायातिं अणुलिंपंति २ त्ता नासानीसासवायवोज्झं०जाव हंसलक्खणं पडगसाडगं नियंसेंति २ त्ता हारं पिणद्धंति २ त्ता अद्धहारं पिणद्धंति २त्ता एगावलिं मुत्तावलिं कणगावलिं रयणावलिं पालंबं पायपलंबं कडगाइं तुडिगाइं केउरातिं अंगयातिं दसमुद्दियाणंतयं कडिसुत्तयं कुंडलातिं चूडामणिं रयणुक्कडं मउडं पिणद्धंति २ त्ता दिव्वं सुमणदामं पिणद्धंति २ त्ता दद्दुरमलयसुंधिए गंधे पिणद्धंति, तते णं तं मेहं कुमारं गंठिमवेढिमपूरिमसंघाइमेण चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खगं पि व अलंकितविभूसियं करेंति, तते णं से सेणिए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति २ त्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अणेगखंभसयसन्निविट्ठं लीलट्ठियसालभंजियागं ईहामिगउसभतुरयनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं घंटावलिमहुरमणहरसरं सुभकंतदरिसणिज्जं निउणोविय मिसिमिसितमणिरयणघंटियाजालपरिक्खित्तं अब्भुग्गयवइरवेतियापरिगयाभिरामं विज्जाहरजमलजंतजुत्तं पिव अच्चीसहस्समालणीयं रूवगसहस्सकलियं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुलोयणलेस्सं सुहफासं सस्सिरीयरूवं सिग्घं तुरितं चवलं वेतियं पुरिससहस्सवाहिणीं सीयं उवट्ठवेह , तते णं ते कोडुंबियपुरिसा हट्ठतुट्ठा ०जाव उवट्ठवेंति , तते णं से मेहे कुमारे सीयं दुरूहति २ त्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने, तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स माया एहाता कयबलिकम्मा ०जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा सीयं दुरूहति २ त्ता मेहस्स कुमारस्स दाहिणे पासे भद्दासणंसि निसीयति, तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अंबधाती रयहरणं च पडिग्गहगं च गहाय सीयं दुरूहति २ त्ता मेहस्स कुमारस्य वामे पासे भद्दासणंसि निसीयति, तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स पिट्ठतो एगा वरतरुणी सिंगारागारचारुवेसा संगयगयहसियभणियचेट्ठियविलाससंलावुल्लावनिउणजुत्तोवयारकुसला आमेलगजमलजुयलवट्टियअब्भुन्नयपीणरतियसंठितपओहरा हिमरययकुंदेंदुपगासं सकोरंटमल्लदामधवलं आयवत्तं गहाय सलीलं ओहारेमाणी २ चिट्ठति, तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स दुवे वरतरुणीओ सिंगारागारचारुवेसाओ० जाव कुसलाओ सीयं दुरूहंति २ त्ता मेहस्स कुमारस्स उभओ पासिं नाणामणिकणगरयणमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ सुहुमवरदीहवालाओ संखकुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसन्निगासाओ चामराओ गहाय सलीलं ओहारेमाणीओ २ चिट्ठंति , तते णं तस्स मेहकुमारस्स

१-दूरूहति इत्यपि पाठः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एगा वरतरुणी सिंगारागार० जाव कुसला सीयं० जाव दुरूहति २ त्ता मेहस्स कुमारस्स पुरतो पुरत्थिमेणं चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं तालविंटं गहाय चिट्ठति, तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स एगा वरतरुणी ०जाव सुरूवा सीयं दुरूहति २ त्ता मेहस्स कुमारस्स पुव्वदक्खिणेणं सेयं रययमयं विमलसलिलपुन्नं मत्तगयमहामुहाकितिसमाणं भिंगारं गहाय चिट्ठति। तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति २ त्ता एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सरिसयाणं सरित्तयाणं सरिसवयाणं एगाभरणगहितनिज्जोयाणं कोडुंबियवरतरुणाणं सहस्सं सद्दावेह० जाव सद्दावेंति। तए णं कोडुंबियवरतरुणपुरिसा सेणियस्स रन्नो कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठा ण्हाया० जाव एगाभरणगहितणिज्जोया जेणामेव सेणिए राया तेणामेव उवागच्छंति २ त्ता सेणियं रायं 'एवं वदासी-संदिसह णं देवाणुप्पिया! जं णं अम्हेहिं करणिज्जं। तते णं से सेणिए तं कोडुंबियवरतरुणसहस्सं एवं वदासी-गच्छह णं देवाणुप्पिया! मेहस्स कुमारस्स पुरिससहस्सवाहिणीं सीयं परिवहेह। तते णं तं कोडुंबियवरतरुणसहस्सं सेणिएणं रन्ना एवं वुत्तं संतं हट्ठं तुट्ठं तस्स मेहस्स कुमारस्स पुरिससहस्सवाहिणीं सीयं परिवहति। तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स पुरिससहस्सवाहिणीं सीयं दुरूढस्स समाणस्स इमे अट्ठऽट्ठमंगलया तप्पढमयाए पुरतो अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया, तं० सोत्थियसिरिवच्छणंदियावत्तवद्धमाणगभद्दासणकलसमच्छदप्पण ०जाव बहवे अत्थऽत्थिया ०जाव ताहिं इट्ठाहिं० जाव अणवरयं अभिणंदंता य अभिथुणंता य एवं वदासी- जय जय णंदा! जय जय भद्दा! भद्दं ते अजियाइं जिणाहि इंदियाइं जियं च पालेहि समणधम्मं जियविग्घोऽवि य वसाहि तं देव! सिद्धिमज्झे निहणाहि रागदोसमल्ले तवेणं धितिधणियबद्धकच्छे मद्दाहि य अट्ठ कम्मसत्तू झाणेणं उत्तमेणं सुक्केणं अप्पमत्तो पाव य वितिमिरमणुत्तरं केवलं नाणं गच्छ य मोक्खं परमपयं सासयं च अयलं हंता परीसहचमुं णं अभीओ परीसहोवसग्गाणं धम्मे ते अविग्घं भवउ त्ति कट्टु पुणो पुणो मंगलजयजयसद्दं पउंजंति, तते णं से मेहे कुमारे रायगिहस्स णगरस्स मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति २ त्ता जेणेव गुणसिलए चेतिए तेणामेव उवागच्छति २ त्ता पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ पच्चोरुहति। (सूत्र- २८)

'महत्थं' ति महाप्रयोजनं महार्घं-महामूल्यं महार्हं-महापूज्यं महतां वा योग्यं राज्याभिषेकं राज्याभिषेकसामग्रीम् उपस्थापयत-सम्पादयत, सौवर्णादीनां कलशानामष्टौ शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि 'भोमेजाणं' ति भौमानां पार्थिवानामित्यर्थः सर्वोदकैः-सर्वतीर्थसंभवैः एवं मृत्तिकाभिरिति। 'जयजय' त्यादि, जय जय त्वं जयं लभस्व नन्दति नन्दयतीति वा नन्दः-समृद्धः समृद्धिप्रापको वा तदामन्त्रणं हे नन्द!, एवं भद्र! कल्याणकारिन्! हे जगन्नन्द! भद्रं ते भवत्विति शेषः,इह गमे यावत्करणादिदं दृश्यम्-'इन्दो इव देवाणं चमरो इव असुराणं धरणो इव नागाणं चन्दो इव ताराणं' ति, 'गामागर' इह दण्डके यावत्करणादिदं दृश्यम्-' नगरखेडकव्वडदोणमुहमडंवपट्टणसंवाहसन्निवेसाणं आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भत्ति(ट्टि)त्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहराहि' त्ति, तत्र करादिगम्यो ग्रामः आकरो-लवणाद्युत्पत्तिभूमिः अविद्यमानकरं नगरं धूलीप्राकारं खेटं कुनगरं कर्वटं यत्र जलस्थलमार्गाभ्यां भाण्डान्यागच्छन्ति तद् द्रोणमुखं यत्र योजनाभ्यन्तरे सर्वतो ग्रामादि नास्ति तन्मडम्बम्, पत्तनं द्विधा-जलपत्तनं, स्थलपत्तनं च। तत्र जलपत्तनं यत्र जलेन भाण्डान्यागच्छन्ति, यत्र तु स्थलेन तत् स्थलपत्तनम्, यत्र पर्वतादिदुर्गे लोका धान्यानि संवहन्ति स संवाहः, सार्थादिस्थानं सन्निवेशः, आधिपत्यम् अधिपतिकर्म रक्षेत्यर्थः, 'पोरेवच्चं' पुरोवर्त्तित्वमग्रेसरत्वमित्यर्थः स्वामित्वं-नायकत्वं भर्तृत्वं-पोषकत्वं महत्तरकत्वम्-उत्तमत्वम् आज्ञेश्वरस्य-आज्ञाप्रधानस्य सतः तथा सेनापतेर्भावः, आज्ञेश्वरसेनापत्यं कारयन् अन्यैर्नियुक्तकैः पालयन् स्वयमेव महता-प्रधानेन 'अहय' त्ति आख्यानकप्रतिबद्धं नित्यानुबन्धं वा यन्नाट्यं च-नृत्यं गीतं च-गानं तथा वादितानि यानि तन्त्री च-वीणा तलौ च-हस्तौ तालश्च-कांसिका त्रुटितानि च वादित्राणि तथा घनसमानध्वनिर्यो मृदङ्गः पटुना पुरुषेण प्रवादितः स चेति द्वन्द्वः ततस्तेषां यो रवस्तेनेति, 'इति कट्टु'-इति कृत्वा एवमभिधाय जयजयशब्दं प्रयुङ्क्ते श्रेणिकराज इति प्रकृतम्, ततोऽसौ राजा जातः,'महया' इह यावत्करणात् एवं वर्णको वाच्यः-" महया हिमवन्तमहंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धदीहरायकुलवंसप्पसूए निरंतरं रायलक्खणविराइयंगमंगे बहुजणबहुमाणपूइए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुदिए मुद्धाभिसित्ते " पित्रादिभिर्मूर्द्धन्यभिषिक्तत्वात् ' माउपिउसुजाए दयपत्ते ' दयावानित्यर्थः,' सीमंकरे ' मर्यादाकारित्वात् ' सीमंधरे ' कृतमर्यादापालकत्वात्, 'एवं खेमंकरे खेमंधरे' क्षेमम्-अनुपद्रवता, ' मणुस्सिंदे जणवयपिया ' हितत्वात् ' जणवयपुरोहिए' शान्तिकारित्वात् ' सेउकरे ' मार्गदर्शकः ' केउकरे ' अद्भुतकार्यकारित्वात्, केतुः-चिह्नं, ' नरपवरे ' नराः प्रवराः यस्येति कृत्वा, ' पुरिसवरे ' पुरुषाणां मध्ये वरत्वात्, ' पुरिससीहे ' शूरत्वात्, ' पुरिसआसीविसे ' शापसमर्थत्वात्, ' पुरिसपुंडरीए ' सेव्यत्वात्, ' पुरिसवरगंधहत्था ' प्रतिराजगजभञ्जकत्वात्, ' अड्ढे ' आढ्यः ' दित्ते ' दर्पवान् ' वित्ते ' प्रतीतः ' विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइन्ने ' विस्तीर्णविपुलानि-अतिविस्तीर्णानि भवनशयनासनानि यस्य स तथा यानवाहनान्याकीर्णानि-गुणवन्ति यस्य स तथा, ततः कर्मधारयः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'बहुधणवहुजायरूवरयए' बहुधनं—गणिमादिकं बहूनी च जातरूपरजते यस्य स तथा, 'आयोगपयोगसंपउत्ते, आयोगस्य—अर्थलाभस्य प्रयोगा—उपायाः संप्रयुक्ता—व्यापारिता येन स तथा 'विच्छड्डियपउरभत्तपाणे' विच्छर्दिते-त्यक्ते बहुजनभोजनदानेनावशिष्टोच्छिष्टसंभवात् संजातविच्छर्दे वा नानाविधभक्तिके भक्तपाने यस्य स तथा 'बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए' बहुदासीदासश्चासौ गोमहिषगवेलगभूतश्चेति समासः, गवेलका—उरभ्राः, 'पडिपुरणजंतकोसकोट्ठागाराउहागारे' यन्त्राणि—पाषाणक्षेपयन्त्रादीनि कोशो-भाण्डागारं कोष्ठागारं-धान्यगृहम् आयुधागारं—प्रहरणशाला, 'बलवं दुब्बलपच्चमित्ते' प्रत्यमित्राः-प्रातिवेशिकाः, 'ओहयकंटयं निहयकंटयं गलियकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं' कण्टकाः-प्रतिस्पर्द्धिनो गोत्रजाः उपहता विनाशनेन निहताः समृद्ध्यपहारेण गलिताः मानभङ्गेन उद्धृता देशनिर्वासनेन अत एवाकण्टकमिति, एवम् 'उवहयसत्तु' मित्यादि, नवरं शत्रवो गोत्रजा इति, 'ववगयदुब्भिक्खमारिभयविप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं पसंतडिंबडमरं' अन्वयव्यतिरेकाभिधानस्य शिष्टसंमतत्वात् न पुनरुक्ततादोषोऽत्र 'रज्जं पसाहेमाणे विहरइ' त्ति। 'जाया' इति हे जात! पुत्र! 'किं दलयामो' त्ति भवतोऽनभिमतं किं विघटयामो विनाशयाम इत्यर्थः, अथवा-भवतोऽभिमतेभ्यः किं दद्मः, तथा भवते एव किं प्रयच्छामः ?, 'किं वा ते हियइच्छियसामत्थे' त्ति को वा तव हृदयवाञ्छितो मन्त्र इति 'कुत्तियावणाउ' त्ति देवताधिष्ठितत्वेन स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणभूत्रितयसंभविवस्तुसंपादक आपणो—हट्टः कुत्रिकापणः तस्मात् आनीतं काश्यपकं च-नापितं शब्दितुम्-आकारितुमिच्छामीति वर्तते, श्रीगृहात्-भाण्डागारात् 'निक्के' त्ति सर्वथा विगतमलान् 'पोत्तियाइ' त्ति वस्त्रेण 'महरिहे' त्यादि, 'महरिहेणं' ति महतां योग्येन महापूज्येन वा हंसस्येव लक्षणं स्वरूपं शुक्लता हंसा वा लक्षणं-चिह्नं यस्य स तथा तेन शाटको—वस्त्रमात्रं स च पृथुलः पटोऽभिधीयत इति पटशाटकस्तेन 'सिंदुवारे' त्ति वृक्षविशेषो निर्गुण्डीति केचित् तत्कुसुमानि सिन्दुवाराणि तानि च शुक्लानि। 'एस णं' ति एतत् दर्शनमिति योगः णमित्यलंकारे, अभ्युदयेषु-राज्यलाभादिषु उत्सवेषु-प्रियसमागमादिमहेषु प्रसवेसु-पुत्रजन्मसु-तिथिषु-मदनत्रयोदशीप्रभृतिषु-क्षणेषु-इन्द्रमहादिषु यज्ञेषु-नागादिपूजासु पर्वणीषु च-कार्त्तिक्यादिषु अपश्चिमम्-अकारस्यामङ्गलपरिहारार्थत्वात् पश्चिमं दर्शनं भविष्यति, एतत्केशदर्शनमपनीतकेशावस्थस्य मेघकुमारस्य यद्दर्शनं सर्वदर्शनपाश्चात्यं तद्भविष्यतीति भावः, अथवा-न पश्चिममपश्चिमं-पौनःपुन्येन मेघकुमारस्य दर्शनमेतद्दर्शनेन भविष्यतीत्यर्थः। 'उत्तरावक्कमणं' ति उत्तरस्यां दिश्यपक्रमणम्-अवतरणं यस्मात्तदुत्तरापक्रमणम् उत्तराभिमुखं राज्याभिषेककाले पूर्वाभिमुखं तदासीदिति, 'दोच्चं पि' द्विरपि 'तच्चं पि' त्रिरपि 'श्वेतपीतैः' रजतसौवर्णैः 'पायपलंबं' ति पादौ यावद् यः प्रलम्बते अलङ्कारविशेषः स पादप्रलम्बः, 'तुडियाइं' ति बाहुरक्षकाः, केयूराङ्गदयोर्यद्यपि नाम कोशे बाह्वाभरणतया न विशेषः तथाऽपीहाकारभेदेन भेदो दृश्यः, दशमुद्रिकानन्तकं—हस्ताङ्गुलिसंबन्धि मुद्रिकादशकम् 'सुमणदामं' ति पुष्पमालां पिनह्यतः—परिधत्तः दर्दरः-चीवरावनद्धकुण्डिकादिभाजनमुखं तेन गालितास्तत्र पका वा ये 'मलय' त्ति मलयोद्भवं श्रीखण्डं तत्संबन्धिनः सुगन्धयो गन्धास्तान् पिनह्यतः, हारादिस्वरूपं प्राग्वत्, ग्रन्थिमं-यद् ग्रथ्यते सूत्रादिना वेष्टिमं-यद् ग्रथितं सद्वेष्ट्यते यथा पुष्पलम्बूसकः गेन्दुक इत्यर्थः, पूरिमं-येन वंशशलाकामयपञ्जरकादि कूर्चादि वा पूर्यते सांयोगिकं-यत्परस्परतो नालसंघातनेन संघात्यते अलंकृतं कृतालङ्कारं, विभूषितं जातविभूषम्। 'सढावेह ०जाव सद्दाविंति' 'एगा वरतरुणी' त्यादि शृङ्गारस्यागारमिव शृङ्गारागारम्, अथवा-शृङ्गारप्रधान आकारो यस्या आरुश्च वेषो यस्याः सा तथा, सङ्गतेषु गतादिषु निपुणा युक्तेषूपचारेषु कुशला च या सा तथा, तत्र विलासो नेत्रविकारो,यदाह-"हावो मुखविकारः स्या-द्भावश्चित्तसमुद्भवः। विलासो नेत्रजो ज्ञेयो, विभ्रमो भ्रूसमुद्भवः ॥ १ ॥ संलापो मिथो भाषा, उल्लपः काकुवर्णनम्।" आह च- "अनुलापो मुहुर्भाषा, प्रलापोऽनर्थकं वचः। काका वर्णनमुल्लापः, संलापो भाषणं मिथः ॥ १ ॥" इति। 'आमेलग' त्ति आपीडः—शेखरः स च स्तनः प्रस्तावाच्चूचुकस्तत्प्रधानौ आमेलकौ वा परस्परमीषत् संबद्धौ यमलौ-स मश्रेणिस्थितौ युगलौ-युगलरूपौ द्वावित्यर्थः, वर्त्तितौ-वृत्तौ अभ्युन्नतौ-उच्चौ पीनौ-स्थूलौ रतिदौ-सुखप्रदौ संस्थितौ वि शिष्टसंस्थानवन्तौ पयोधरौ-स्तनौ यस्याः सा तथा, हिमं च रजतं च कुन्दश्चेन्दुश्चेति द्वन्द्वः,एषामिव प्रकाशो यस्य तत्तथा संकोरण्टानि कोरण्टकपुष्पगुच्छयुक्तानि माल्यदामानि-पुष्पमाला यत्र तत्तथा, धवलमातपत्रं-छत्रं, नानामणिकनकरत्नानां महार्हस्य महार्घस्य तपनीयस्य च सत्कावुज्ज्वलौ विचित्रौ दण्डौ ययोस्ते तथा, अत्र कनक-तपनीययोः को विशेषः ?, उच्यते-कनकं पीतं, तपलीयं रक्तम्, इति। 'चिल्लियाओ' त्ति दीप्यमाने लीने इत्येके सूक्ष्मवरदीर्घवाले शंखकुन्ददकरजसाम् अमृतस्य मथितस्य सतो यः फेनपुञ्जस्तस्य च सन्निकाशे सदृशे ये ते तथा, चामरे चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्यविमलदण्डे, इह चन्द्रप्रभः चन्द्रकान्तमणिः, तालवृन्तं-व्यजनविशेषः मत्तगजमहामुखस्य आकृत्या आकारेण समानः-सदृशो यः स तथा तं भृङ्गारम् 'एगे' त्यादि, एकः—असदृशः आभरणलक्षणो गृहीतो निर्योगः-परिकरो यैस्ते तथा तेषां कौटुम्बिकवरतरुणानां सहस्रमिति। 'तए णं ते कोडुंबियवरतरुणपुरिसा सद्दाविय' त्ति शब्दिताः 'समाण' त्ति सन्तः, 'अट्ठट्ठमंगलय' त्ति अष्टावष्टाविति वीप्सायां द्विर्वचनं मङ्गलकानि—माङ्गल्यवस्तूनि, अन्ये त्वाहुःअष्टसंख्यानि अष्टमङ्गलसंज्ञानि वस्तूनीति 'तप्पढमयाए' त्ति तेषां विवक्षितानां मध्ये प्रथमता तत्प्रथमता तया 'वद्धमाणयं' ति शरावं, पुरुषारूढः पुरुष इत्यन्ये, स्वस्तिकपञ्चकमित्यन्ये, प्रासादविशेष इत्यन्ये 'दप्पण' त्ति आदर्शः, इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-" तयाऽणंतरं च णं पुरणकलसभिंगारा दिव्वा य छत्तपडागा सचामरा दंसणरइयआलोइयदरिसणिज्जा वाउद्धूयविजयवेजयंती य ऊसिया गगणतल-

१-कोरेण्ट शब्दोऽपि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया। तयाऽणंतरं च वेरुलियभिसंतविमलदंडं पलंबकोरंटमल्लदामोवसोहियं चंदमंडलनिभं विमलं आयवत्तं पवरं सीहासणं च मणिरयणपायपीढं सपाउया जोयसमाउत्तं बहुकिंकरकम्मकरपुरिसपायत्तपरिक्खित्तं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं। तयाऽणंतरं च णं बहवे लट्ठिग्गाहा कुंतग्गाहा चावग्गाहा धयग्गाहा चामरग्गाहा कुमरग्गाहा पोत्थयग्गाहा फलयग्गाहा पीढयग्गाहा वीणग्गाहा कूवग्गाहा हडप्फग्गाहा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया। तयाऽणंतरं च णं बहवे दंडिणो मुंडिणो सिहिणो पिंछिणो हासकरा डमरकरा चाडुकरा कीडंता य वायंता य गायंता य नच्चंता य हासंता य सोहिंता य साविंता य रक्खंता य आलोयं च करेमाणा जयजयसद्दं च पउंजमाणा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया । तयाऽणंतरं च णं जच्चाणं तरमल्लिहायणाणं थासगअहिलाणाणं चामरगंडपरिमंडियकडीणं अट्ठसयं वरतुरगाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं। तयाऽणंतरं च णं ईसिदन्ताणं ईसिमत्ताणं ईसिउच्छंगविसालधवलदंताणं कंचणकोसिपविट्ठदंताणं अट्ठसयं गयाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिअं। तयाऽणंतरं च णं सछत्ताणं सज्झयाणं सघंटाणं सपडागाणं सतोरणवराणं सनंदिघोसाणं सखिंखिणीजालपरिक्खित्ताणं हेममयचित्ततिणिसकणकनिज्जुत्तदारुयाणं कालायससुकयनेमिजंतकम्माणं सुसिलिट्ठवित्तमंडलधुराणं आइण्णवरतुरगसंपउत्ताणं कुसलनरछेयसारहिसुसंपरिग्गहियाणं वत्तीसतोणपरिमंडियाणं सकंकडवडंसकाणं सचावसरपहरणावरणभरियजुद्धसज्जाणं अट्ठसयं रहाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं तयाऽणतरं च णं असिसत्तिकौंततोमरसूललउडभिंडिमालधणुपाणसज्जं पायत्ताणीयं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं । तए णं से मेहे कुमारे हारोत्थसुकयरइयवच्छे कुंडलुज्जोइयाणणे मउडदित्तसिरए अब्भहियरायतेयलच्छीए दिप्पमाणे सकोरण्टमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुवमाणीहिं हयगयपवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए समणुगम्ममाणमग्गे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव पहारेत्थ गमणाए । तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स पुरओ महं आसा आसधरा उभओ पासे नागा नागधरा करिवरा पिट्ठओ रहा रहसंगेल्ली। तए णं से मेहे कुमारे अब्भागयभिंगारे पग्गहियतालयंटे ऊसवियसेयछत्ते पवीजियबालवीयणीए सव्विड्ढीए सव्वजुईए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वगन्धपुप्फमल्लालङ्कारेणं सव्वतुडियसद्दसन्निनाएणं महया इड्ढीए महया जुईए महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगपवाइएणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरवमुइंगदुंदुभिनिग्घोसनाइयरवेणं रायगिहस्स नगरस्स मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ। तए णं से तस्स मेहस्स कुमारस्स रायगिहस्स नगरस्स मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छमाणस्स बहवे अत्थत्थिया कामत्थिया भोगत्थिया लाभत्थिया किव्विसिया करोडिया कारवाहिया संखिया चक्किया लंगलिया मुहमंगलिया पूसमाणगा वद्धमाणगा ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं मणामाहिं मणाभिरामाहिं हिययगमणिज्जाहिं वग्गूहिं" त्ति। अयमस्यार्थः-तदनन्तरं च छत्रस्योपरि पताका छत्रपताका सचामरा चामरोपशोभिता तथा दर्शनरतिदा—दृष्टिसुखदा आलोके-दृष्टिविषये क्षेत्रे स्थिताऽत्युच्चतया दृश्यते या सा आलोकदर्शनीया, ततः कर्मधारयः, अथवा-दर्शने दृष्टिपथे मेघकुमारस्य रचिता—धृता या आलोकदर्शनीया च या सा तथा, वातोद्धूता विजयसूचिका च या वैजयन्ती—पताकाविशेषः सा तथा, सा च 'ऊसिया'-उच्छ्रिता ऊर्ध्वकृता पुरतः—अग्रतः यथानुपूर्वीक्रमेण सम्प्रस्थिता—प्रचलिता, 'भिसंत' त्ति दीप्यमानः,मणिरत्नानां सम्बन्धि पादपीठं यस्य सिंहासनस्य तत्तथा, स्वेन-स्वकीयेन मेघकुमारसम्बन्धिना पादुकायुगेन समायुक्तं यत्तत्तथा, बहुभिः किङ्करैः-किंकुर्वाणैः कर्मकरपुरुषैः पादात्येन च-पादातिसमूहेन शस्त्रपाणिना परिक्षिप्तं यत्तत्तथा 'कूय' त्ति कुतुपः 'हडप्फो' त्ति आभरणकरण्डकं 'मुंडिणो' मुण्डिताः 'सिहिणो' शिखावन्तः 'डमरकराः' परस्परेण कलहविधायकाः 'चाटुकराः' प्रियंवदाः 'सोहिता य' त्ति शोभां कुर्वन्तः 'साविता य' त्ति श्रावयन्तः आशीर्वचनानि रक्षन्तः न्यायम् आलोकं च कुर्वाणाः—मेघकुमारं तत्समृद्धिं च पश्यन्तः, जात्यानां काम्बोजादिदेशोद्भवानां तरमल्लिनो—बलाधायिनो वेगाधायिनो वा हायनाः—संवत्सरा येषां ते तथा तेषाम् , अन्ये तु-'भायल' त्ति मन्यन्ते, तत्र भायला-जात्यविशेषा एवेति गमनिकैवैषा,थासका-दर्पणाकाराः अहिलाणानि च कविकानि येषां सन्ति ते तथा, मतुब्लोपात्, 'चामरदण्डा' चामरदण्डास्तैः परिमण्डिता कटी येषां ते तथा तेषाम् , ईषद्दान्तानां-मनाग् ग्राहितशिक्षाणामीषन्मत्तानां, नातिमत्तां ते हि जनमुपद्रवयन्तीति., ईषत्-मनागुत्सङ्गः इवोत्सङ्गः-पृष्ठिदेशस्तत्र विशाला-विस्तीर्णा धवलदन्ताश्च येषां ते तथा तेषां, कोशी—प्रतिमा, नन्दिघोषः—तूर्यनादः, अथवा-सुनन्दीसत्समृद्धिको घोषो येषां ते तथा तेषाम्, सकिङ्किणि-सक्षुद्रघण्टिकं यज्जालं मुक्ताफलादिमयं तेन परिक्षिप्ता ये ते तथा तेषाम्, तथा हैमवतानि-हिमवत्पर्वतोद्भवानि चित्राणि तिनिशस्य—वृक्षविशेषस्य सम्बन्धीनि कनकनियुक्तानि—हेमखचितानि दारूणि—काष्ठानि येषां ते तथा तेषाम्, कालायसेन-लोहविशेषेण सुष्ठु कृतं नेमेः-गण्डमालायाः यन्त्राणां च रथोपकरणविशेषाणां कर्म येषां ते तथा तेषाम्, सुश्लिष्टे 'वित्त' त्ति-वेत्रदण्डवत् मण्डले वृत्ते धुरौ येषां ते तथा तेषाम्, आकीर्णा—वेगादिगुणयुक्ताः ये वरतुरगास्ते संप्रयुक्ता-योजिता येषु ते तथा तेषाम्, कुशलनराणां मध्ये ये छेकाः-दक्षाः सारथयस्तैः सुसंप्रगृहीता ये ते तथा तेषाम्, 'तोण' त्ति-शरभस्त्राः सह कण्टकैः-कवचैर्वंशैश्च वर्तन्ते ये ते तथा तेषाम्, सचापाः—धनुर्युक्ता ये शराः प्रहरणानि च खड्गादीनि आवरणानि च-शीर्षकादीनि तैर्यैं भृता युद्धसज्जाश्च युद्धप्रगुणाश्च ये ते तथा तेषाम्, 'लउड' त्ति लकुटाः अस्यादिकानि पाणौ हस्ते यस्य तत्तथा तच्च तत्सज्जं च-प्रगुणं युद्धस्येति गम्यते, पादातानीकं-पदातिकटकं हारावस्तृतं सुकृतरतिकं विहितसुखं वक्षो यस्य स तथा, मुकुटदीप्तशिरस्कः, 'पहारेत्थ गमणयाए' त्ति गमनाय प्रधारितवान्, 'मह' त्ति महान्तः अश्वाः, अश्वधराः ये अश्वान् धारयन्ति, नागा हस्तिनः नागधरा ये हस्तिनो धारयन्ति, क्वचिद्धरा इति पाठः, तत्राश्वा नागाश्च किं विधाः ?-अश्ववरा अश्वप्रधानाः, एवं नागवराः, तथा 'रथा रथसंगिणेल्ली' रथमाला क्वचित् 'रहसंगेल्ली' इ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ति पाठः, तत्र-रथसङ्केली-रथसमूहः। 'तए णं से मेहे कुमारे अब्भागयमिभगारे' इत्यादि वर्णकोपसंहारवचनमिति न पुनरुक्तम् 'सव्विड्डीए' त्यादि दोहदावसरे व्याख्यातम्, शङ्खः प्रतीतः, पणवो-भाण्डानां पटहः, पटहस्तु प्रतीत एव,भेरी-ढक्काकारा झल्लरी-वलयाकारा खरमुही-काहला हुडक्का प्रतीता महाप्रमाणो मर्दलो मुरजः, स एव लघुमृदङ्गो, दुन्दुभिः भेर्याकारा सङ्कटमुखी एतेषां निर्घोषो महाध्वानो नादितं च घण्टायामिव वादनोत्तरकालभावी स तथा तद्ध्वनिस्तल्लक्षणो यो रवस्तेन, अर्थार्थिनो-द्रव्यार्थिनः कामार्थिनः-शब्दरूपार्थिनः भोगार्थिनः गन्धरसस्पर्शार्थिनः लाभार्थिनः—सामान्येन लाभेप्सवः किल्विषिकाः-पातकफलवन्तो निःस्वान्धपङ्ग्वादयः कारोटिकाः--कापालिकाः करो—राजदेयं द्रव्यं तद्वहन्ति ये ते करवाहिकाः करेण वा बाधिताः—पीडिता ये ते करबाधिताः, शंखवादनशिल्पमेषामिति शांखिकाः शंखो वा विद्यते येषां माङ्गल्यचन्दनाधारभूतः ते शांखिकाः, चक्रं प्रहरणमेषामिति चाक्रिकाः योद्धारः चक्रं वाऽस्ति येषां ते चाक्रिकाः-कुम्भकारतैलिकादयः चक्रं वोपदर्श्य याचन्ते ये ते चाक्रिकाः चक्रधरा इत्यर्थः, लाङ्गलिकाः हालिकाः लाङ्गलं वा प्रहरणं येषां गले वा लम्बमानं सुवर्णादिमयं तद् येषां ते लाङ्गलिकाः—कार्पटिकविशेषाः मुखमङ्गलानि—चाटुवचनानि ये कुर्वन्ति ते मुखमाङ्गलिकाः पुष्यमाणवा-नग्नाचार्या, वर्द्धमानकाः स्कन्धारोपितपुरुषाः, 'इट्ठाहीं' त्यादि पूर्ववत्, 'जियविग्घो वि य वसाहि' त्ति इहैव संवन्धः, अपि च-जितविघ्नः त्वं हे-देव! अथवा-देवानां सिद्धेश्च मध्ये वस आसस्व, 'निहणाहि, त्ति विनाशय रागद्वेषौ मल्लौ, केन करणभूतेनेत्याह-तपसा-अनशनादिना, किंभूतः सन्?-धृत्या चित्तस्वास्थ्येन 'धणियं' ति अत्यर्थं पाठान्तरेण बलिका--दढा बद्धा कच्छा येन स तथा, मल्लं हि प्रतिमल्लो मुष्ट्यादिना करणेन वस्त्रादिदढबद्धकक्षः सन्निहन्तीति एवमुक्तमिति, तथा मर्दय अष्टौ कर्मशत्रून् ध्यानेनोत्तमेन-शुक्लेनाप्रमत्तः सन्, तथा 'पावय' त्ति प्राप्नुहि वितिमिरम्-अपगताज्ञानतिमिरपटलं नास्मादुत्तरमस्तीति अनुत्तरं केवलज्ञानं, गच्छ च मोक्षं परं पदं शास्वतमचलं चेत्येवं चकारस्य सम्बन्धः, किं कृत्वा?, हत्वा परिषहचमूं—परिषहसैन्यम्, णमित्यलङ्कारे, अथवा-किंभूतस्त्वं?—हन्ता विनाशकः परिषहचमूनाम्।

तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो मेहं कुमारं पुरओ कट्टु जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव उवागच्छंति २ त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति २ त्ता वंदंति नमंसंति २ त्ता एवं वदासी-एस णं देवाणुप्पिया! मेहे कुमारे अम्हं एगे पुत्ते इट्ठे कंते ०जाव जीवियाउसासए हिययणंदिजणए उंबरपुप्फं पिव दुल्लहे सवणयाए किमंग! पुण दरिसणयाए?, से जहानामए उप्पलेति वा पउमेति वा कुमुदेति वा पंके जाए जले संवड्ढिए नोवलिप्पइ पंकरएणं णोवलिप्पइ जलरएणं एवामेव मेहे कुमारे कामेसु जाए भोगेसु संवुड्ढे नोवलिप्पति कामरएणं,नोवलिप्पति भोगरएणं,एस णं देवाणुप्पिया! संसारभउव्विग्गे भीए जम्मणजरमरणाणं इच्छइ देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वतित्तए, अम्हे णं देवाणुप्पियाणं सिस्सभिक्खं दलयामो, पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया! सिस्सभिक्खं। तते णं से समणे भगवं महावीरे मेहस्स कुमारस्स अम्मापिउएहिं एवं वुत्ते समाणे एयमट्ठं सम्मं पडिसुणेति। तते णं से मेहे कुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमति २ त्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयति। तते णं से मेहकुमारस्स माया हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरणमल्लालंकारं पडिच्छति २ त्ता हारवारिधारसिंदुवारछिन्नमुत्तावलिपगासातिं अंसूणि विणिम्मुयमाणी २ रोयमाणी २ कंदमाणी २ विलवमाणी २ एवं वदासी-जतियव्वं जाया! घडियव्वं जाया! परिक्कमियव्वं जाया! अस्सिं च णं अट्ठे नो पमादेयव्वं अम्हं पि णं एमेव मग्गे भवउ त्ति कट्टु मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति २ त्ता जामेव दिसिं पाउब्भूता तामेव दिसिं पडिगया। (सूत्र- २९)

'एगे पुत्ते' इति धारिण्यपेक्षया, श्रेणिकस्य बहुपुत्रत्वात्, जीवितोच्छ्वासको हृदयनन्दिजनकः, उत्पलमिति वा—नीलोत्पलं पद्ममिति वा—आदित्यबोध्यं कुमुदमिति वा चन्द्रबोध्यम्। 'जइयव्व' मित्यादि, प्राप्तेषु संयमयोगेषु यत्नः कार्यो हे जात! पुत्र! घटितव्यम्—अप्राप्तप्राप्तये घटना कार्या पराक्रमितव्यं च—पराक्रमः कार्यः, पुरुषत्वाभिमानः सिद्धफलः कर्तव्य इति भावः, किमुक्तं भवति?-एतस्मिन्नर्थे—प्रव्रज्यापालनलक्षणे न प्रमादयितव्यमिति।

तते णं से मेहे कुमारे सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति २ त्ता जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव उवागच्छति २ त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति २ त्ता वंदति नमंसति २ त्ता एवं वदासी-आलित्ते णं भंते! लोए पलित्ते णं भंते! लोए आलित्तपलित्ते णं भंते! लोए जराए मरणेण य, से जहाणामए केई गाहावती आगारंसि झियायमाणंसि जे तत्थ भंडे भवति अप्पभारे मोल्लगुरुए तं गहाय आयाए एगंतं अवक्कमति एस मे णित्थारिए समाणे पच्छा पुरा हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सति एवामेव मम वि एगे आया भंडे इट्ठे कंते पिए मणुन्ने मणामे एस मे नित्थारिए समाणे संसारवोच्छेयकरे भविस्सति। तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाहिं सयमेव पव्वावियं सयमेव मुंडावियं सेहावियं सिक्खावियं सयमेव आयारगोयरविण-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यणेणइयचरणकरणजायामायावत्तियं धम्ममाइक्खियं । तते णं समणे भगवं महावीरे मेहं कुमारं सयमेव पव्वावेति सयमेव आयार० जाव धम्ममातिक्खइ-एवं देवाणुप्पिया ! गंतव्वं चिट्ठितव्वं णिसीयव्वं तुयट्टियव्वं भुंजियव्वं भासियव्वं एवं उट्ठाय उट्ठाय पाणेहिं भूतेहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमितव्वं अस्सिं च णं अट्ठे णो पमादेयव्वं। तते णं से मेहे कुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए इमं एयारूवं धम्मियं उवएसं णिसम्म सम्मं पडिवज्जइ तमाणाए तह गच्छइ तह चिट्ठइ० जाव उट्ठाय उट्ठाय पाणेहिं भूतेहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमइ। (सूत्र-३०) जं दिवसं च णं मेहे कुमारे मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए तस्स णं दिवसस्स पुव्वावरण्हकालसमयंसि समणाणं निग्गंथाणं आहारातिणियाए सेज्जासंथारएसु विभज्जमाणेसु मेहकुमारस्स दारमूले सेज्जासंथारए जाए यावि होत्था। तते णं समणा णिग्गंथा पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्माणुजोगचिंताए य उच्चारस्स य पासवणस्स य अइगच्छमाणा य निग्गच्छमाणा य अप्पेगतिया मेहं कुमारं हत्थेहिं संघट्टंति एवं पाएहिं सीसे पोट्टे कायंसि अप्पेगतिया ओलंडेंति अप्पेगइया पोलंडेइ अप्पेगतिया पायरयरेणुगुंडियं करेंति। एवं महालियं च णं रयणीं मेहे कुमारे णो संचाएति खणमवि अच्छिं निमीलित्तए तते णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं सेणियस्स रन्नो पुत्ते धारिणीए देवीए अत्तए मेहे ०जाव समणयाए तं जया णं अहं अगारमज्झे वसामि तया णं मम समणा णिग्गंथा आढायंति परिजाणंति सक्कारेंति सम्माणेंति अट्ठाइं हेऊतिं पसिणाति कारणाइं वाकराइं आतिक्खंति इट्ठाहिं कंताहिं वग्गूहिं आलवेंति संलवेंति, जप्पभिति च णं अहं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए तप्पभितिं च णं मम समणा नो आढायंति० जाव नो संलवंति। अदुत्तरं च णं मम समणा णिग्गंथा राओ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि वायणाए पुच्छणाए ०जाव महालियं च णं रत्तिं नो संचाएमि अच्छिं णिमीलावित्तए, तं सेयं खलु मज्झं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए ०जाव तेयसा जलंते समणं भगवं महावीरं आपुच्छित्ता पुणरवि आगारमज्झे वसित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति २ त्ता अट्टदुहट्टवसट्टमाणसगए णिरयपडिरूवियं च णं तं रयणिं खवेइ २ त्ता कल्लं पाउप्पभायाए सुविमलाए रयणीए ०जाव तेयसा जलंते जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव उवागच्छति २ त्ता तिक्खुत्तो आदाहिणं पदाहिणं करेइ २ त्ता वंदइ नमंसइ २ त्ता ०जाव पज्जुवासइ। (सूत्र- ३१)

आदीप्तः-ईषद् दीप्तः-प्रदीप्तः-प्रकर्षेण दीप्त आदीप्तप्रदीप्तोऽत्यन्तप्रदीप्त इति भावः, ' गाहावइ ' त्ति गृहपतिः ' झियायमाणंसि ' त्ति ध्मायमाने भाण्डं-पण्यं हिरण्यादि अल्पभारम्,पाठान्तरे-अल्पं च तत्सारं चेत्यल्पसारं मूल्यगुरुकम् ' आयाए ' त्ति आत्मनः ' पच्छा पुरा य ' त्ति पश्चादागामिनि काले पुरा च पूर्वमिदानीमेव लोके-जीवलोके,अथवा-पश्चाल्लोके आगामिजन्मनि पुरालोके-इहैव जन्मनि,पाठान्तरे-'पच्छाउरस्स' त्ति पश्चादग्निभयोत्तरकालम् आतुरस्य-बुभुक्षादिभिः पीडितस्येति। ' एगे भण्डे ' त्ति एकम्-अद्वितीयं भाण्डमिव भाण्डं 'सयमेवे' त्यादि-स्वयमेव प्रव्राजितं वेषदानेन आत्मानम् इति गम्यते , भावे वा क्तः प्रत्ययः प्रव्राजनमित्यर्थः, मुण्डितं-शिरोलोचेन सेधितं-निष्पादितं करणप्रत्युपेक्षणादिग्राहणतः, शिक्षितं सूत्रार्थग्राहणतः, आचारो-ज्ञानादिविषयमनुष्ठानं कालाध्ययनादि गोचरो-भिक्षाटनं विनयः-प्रतीतो वैनयिकं-तत्फलं कर्मक्षयादि चरणं-व्रतादि करणं-पिण्डविशुद्ध्यादि यात्रा-संयमयात्रा मात्रा-तदर्थमेवाहारमात्रा ततो द्वन्द्वः तत एषामाचारादीनां वृत्तिः वर्त्तनं यस्मिन्नसौ आचारगोचरविनयवैनयिकचरणकरणयात्रामात्रावृत्तिकस्तं धर्ममाख्यातम् अभिहितम् , ततः श्रमणो भगवान् महावीरः , स्वयमेव प्रव्राजयति यावत् धर्ममाख्याति , कथमित्याह—एवं गन्तव्यं युगमात्रभून्यस्तदृष्टिनेत्यर्थः , ' एवं चिट्ठियव्वं ' ति शुद्धभूमौ ऊर्ध्वस्थानेन स्थातव्यम् , एवं निषीदितव्यम्-उपवेष्टव्यं संदंशकभूमिप्रमार्जनादिन्यायेनेत्यर्थः , एवं त्वग्वर्त्तितव्यं—शयनीयं सामायिकाद्युच्चारणपूर्वकं शरीरप्रमार्जनां विधाय संस्तारकोत्तरपट्टयोर्बाहूपधानेन वामपार्श्वेन इत्यादिना न्यायेनेत्यर्थः , भोक्तव्यं-वेदनादिकारणतोऽङ्गारादिदोषरहितमित्यर्थः, भाषितव्यं—हितमितमधुरादिविशेषणतः , एवमुत्थायोत्थाय—प्रमादनिद्राव्यपोहेन विबुद्ध्य २ प्राणादिषु विषयेषु संयमो—रक्षा तेन ' संयन्तव्यम् '-संयतितव्यमिति , तत्र—" प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः , भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥ १ ॥ " किं बहुना ? अस्मिन् प्राणादिसंयमे न प्रमादयितव्यम् , उद्यम एव कार्य इत्यर्थः । प्रत्यपराह्णकालसमयो—विकालः, ' आहाराइणियाए ' त्ति यथा रत्नाधिकतया यथाज्येष्ठमित्यर्थः, शय्या—शयनं तदर्थं संस्तारकभूमयः, अथवा—शय्यायां वसतौ संस्तारकाः शय्यासंस्तारका वाचनायै-वाचनार्थं धर्मार्थमनुयोगस्य-व्याख्यानस्य चिन्ता धर्मानुयोगस्य वा-धर्मव्याख्यानस्य चिन्ता धर्मानुयोगचिन्ता तस्यै अतिगच्छन्तः-प्रविशन्तो निर्गच्छन्तश्चाऽऽलयादिति गम्यते,'ओलंडिंति,त्ति उल्लङ्घयन्ति 'पोलंडेन्ति' त्ति प्रकर्षेण द्विस्त्रिर्वोल्लङ्घयन्तीत्यर्थः, पादरजोलक्षणेन रेणुना पादरयाद्वा तद्वेगात् रेणुना गुण्डितो यः स तथा तं कुर्वन्ति। ' एवं महालियं च णं रयणिं ति ' इति महतीं च रजनीं यावदिति शेषः , मेघकुमारो 'नो संचाएति' त्ति न शक्नोति क्षणमप्यक्षि निमीलयितुम्-निद्राकरणायेति, आध्यात्मिकः-आत्मविषयश्चिन्तितः-स्मरणरूपः प्रार्थितः-अभिलाषात्मकः मनोगतः-मनस्येव वर्तते यो

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न बहिः स तथा सङ्कल्पो-विकल्पः समुत्पन्नः आगारमध्ये-गेहमध्ये वसामि अधितिष्ठामि, पाठान्तरतो-अगारमध्ये आवसामि, 'आढायंति' आद्रियन्ते 'परिजानन्ति' यदुतायमेवंविध इति 'सक्कारयंति' सत्कारयन्ति च वस्त्रादिभिरभ्यर्चयन्तीत्यर्थः 'सम्मानयन्ति' उचितप्रतिपत्तिकरणेन, अर्थान्-जीवादीन्, हेतून्-तद्गमकानन्वयव्यतिरेकलक्षणान्, प्रश्नान्-पर्यनुयोगान्, कारणानि-उपपत्तिमात्राणि व्याकरणानि-परेण प्रश्ने कृते उत्तराणीत्यर्थः, आख्यान्ति ईषत् संलपन्ति मुहुर्मुहुः, 'अदुत्तरं च णं'ति, अथवा-परम्-'एवं संपेहेइ'त्ति संप्रेक्षते पर्यालोचयति 'अट्टदुहट्टवसट्टमाणसगए' त्ति आर्त्तनध्यानविशेषेण दुःखार्त्त-दुःखपीडितं वशार्त्त-विकल्पवशमुपगतं यन्मानसं तद्गतः-प्राप्तो यः स तथा, निरयप्रतिरूपिकां च नरकसदृशीं दुःखसाधर्म्यात् तां रजनीं क्षपयति-गमयति।

तते णं मेहातिसमणे भगवं महावीरे मेहं कुमारं एवं वदासी-से णूणं तुमं मेहा! राम्रो पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि समणेहिं निग्गंथेहिं वायणाए पुच्छणाए ०जाव महालियं च णं राइं णो संचाएसि मुहुत्तमवि अच्छिं निमीलावेत्तए। तते णं तुब्भं मेहा! इमे एयारूवे अब्भत्थिए ०समुप्पज्जित्था-जया णं अहं अगारमज्झे वसामि तया णं मम समणा निग्गंथा आढायंति ०जाव परियाणंति, जप्पभितिं च णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वयामि तप्पभितिं च णं मम समणा णो आढायंति ०जाव नो परियाणंति अदुत्तरं च णं समणा निग्गंथा राम्रो अप्पेगतिया वायणाए ०जाव पायरयरेणुगुंडियं करेंति, तं से यं खलु मम कल्लं पाउप्पभायाए समणं भगवं महावीरं आपुच्छित्ता पुणरवि आगारमज्झे आवसित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेसि २ त्ता अट्टदुहट्टवसट्टमाणसे०जाव रयणीं खवेसि २ त्ता जेणामेव अहं तेणामेव हव्वमागए?, से णूणं मेहा! एस अत्थे समट्ठे?, हंता अत्थे समट्ठे। एवं खलु मेहा! तुमं इओ तच्चे अईए भवग्गहणे वेयड्ढगिरिपायमूले वणयरेहिं णिव्वत्तियणामधेज्जे से ते संखदलउज्जलविमलनिम्मलदहिघणगोखीरफेणरयणियरप्पयासे सत्तुस्सेहे णवाबए दसपरिणाहे सत्तंगपतिट्ठिए सोमे समिए सुरूवे पुरतो उदग्गे समूसियसिरे सुहासणे पिट्ठओ वराहे अजियाकुच्छी अच्छिद्दकुच्छी अलंबकुच्छी पलंबलंबोदराहरकरे धणुपट्ठागिइविसिट्ठपुट्ठे अल्लीणपमाणजुत्तवट्टियापीवरगत्तावरे अल्लीणपमाणजुत्तपुच्छे पडिपुन्नसुचारुकुम्मचलणे पंडुरसुविसुद्धनिद्धणिरुवहयविंसतिणहे छदंते सुमेरुप्पभे नामं हत्थिराया होत्था। तत्थ णं तुमं मेहा! बहूहिं हत्थीहि य हत्थीणियाहि य लोट्टएहि य लोट्टियाहि य कलभेहि य कलभियाहि य सद्धिं संपरिवुडे हत्थिसहस्सणायए देसए पागट्ठी पट्ठवए जूहवई वंदपरियट्टए अन्नेसिं च बहूणं एकल्लाणं हत्थिकलभाणं आहेवच्चं ० जाव विहरसि। तते णं तुमं मेहा! णिच्चप्पमत्ते सइं पललिए कंदप्परई मोहणसीले अवितण्हे कामभोगतिसिए बहूहिं हत्थीहि य० जाव संपरिवुडे वेयड्ढगिरिपायमूले गिरीसु य दरीसु य कुहरेसु य कंदरासु य उज्झरेसु य निज्झरेसु य वियरएसु य गड्डासु य पल्लवेसु य चिल्ललेसु य कडयेसु य कडयपल्ललेसु य तडीसु य वियडीसु य टंकेसु य कूडेसु य सिहरेसु य पब्भारेसु य मंचेसु य मालेसु य काणणेसु य वणेसु य वणसंडेसु य वणराईसु य नदीसु य नदीकच्छेसु य जूहेसु य संगमेसु य वावीसु य पोक्खरिणीसु य दीहियासु य गुंजालियासु य सरेसु य सरपंतियासु य सरसरपंतियासु य वणयरएहिं दिन्नवियारे बहूहिं हत्थीहि य ०जाव सद्धिं संपरिवुडे बहुविहतरुपल्लवपउरपाणियतणे निब्भए निरुव्विग्गे सुहं सुहेणं विहरासि। तते णं तुमं मेहा! अन्नया कयाइ पाउसवरिसारत्तसरयहेमंतवसंतेसु कमेण पंचसु उउसु समतिक्कंतेसु गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलमासे पायवघंससमुट्ठिएणं सुक्कतणपत्तकयवरमारुतसंजोगदीविएणं महाभयंकरेणं हुयवहेणं वणदवजालासंपलित्तेसु वणंऽतेसु धूमाउलासु दिसासु महावायवेगेणं संघट्टिएसु छिन्नजालेसु आवयमाणेसु पोल्लरुक्खेसु अन्तो २ झियायमाणेसु मयकुहितविणट्ठकिमियकद्दमनदीवियरगखीणपाणीयंतेसु वणंतेसु भिंगारकदीणकंदियरवेसु खरफरुसअणिट्ठरिट्ठवाहितविद्दुमग्गेसु दुमग्गेसु तण्हावसमुक्कपक्खपयडियजिब्भतालुयअसंपुडितंतुंडपक्खिसंघेसु ससंतेसु गिम्हउण्हवायखरफरुसचम्ममारुयसुक्कतणपत्तकयवरवाउलिभमंतदित्तसंभंतसावयाउलमिगतण्हाबद्धचिण्हपट्टेसु गिरिवरेसु संवट्टिएसु तत्थ मियपसयसिरीसिवेसु अवदालियवयणविवरणिल्लालियग्गजीहे महंततुंबइयपुन्नकन्ने संकुचियथोरपीवरकरे ऊसियलंगूले पीणाइयविरसरमियसद्देणं फोडयंतेव अंबरतलं पायदद्दरएणं कंपयंतेव मेइणितलं विणिम्मुयमाणे य सीयारं सव्वतो समंता वल्लिवियाणाइं छिंदमाणे रुक्खसहस्साति तत्थ सुबहूणि णोल्लायंते विणट्ठरट्ठे व्व णरवरिंदे वायाइद्धे व्व पोए मंडलवाए व्व परिब्भमंते अभिक्खणं २ लिंडणियरं पमुंचमाणे २ बहूहिं हत्थीहि य ०जाव सद्धिं दिसो दिसिं विप्पलाइत्था। तत्थ णं तुमं मेहा! जुन्ने जराजज्जरियदेहे आउरे झुंजिए पिवासिए दुब्बले किलंते नट्ठसुइए मूढदिसाए स-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थातो जूहातो विप्पहूणे वणदवजालापरद्धे उण्हेण त-एहाए य छुहाए य परब्भाहए समाणे भीए तत्थे तसिए उव्विग्गे संजातभए सव्वतो समंता आधावमाणे परिधावमाणे एगं च णं महं सरं अप्पोदयं पंकबहुलं अतित्थेणं पाणियपाए उइन्नो। तत्थ णं तुमं मेहा! तीरमतिगते पाणियं असंपत्ते अंतरा चेव सेयंसि विसन्ने। तत्थ णं तुमं मेहा! पाणियं पाइस्सामि त्ति कट्टु हत्थं पसारेसि, से वि य ते हत्थे उदगं न पावति। तते णं तुमं मेहा! पुणरवि कायं पच्चुद्धरिस्सामीति कट्टु बलियतरायं पंकंसि खुत्ते। तते णं तुमे मेहा! अन्नया कदाइ एगे चिरनिज्जूढे गयवरजुवाणए सगाओ जूहाओ करचरणदंतमुसलप्पहारेहिं विप्परद्धे समाणे तं चेव महद्दहं पाणीयं पाएउं समोयरेति। तते णं से कलभए तुमं पासति २ त्ता तं पुव्ववेरं सुमरति २ त्ता आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिकिए मिसिमिसेमाणे जेणेव तुमं तेणेव उवागच्छति २ त्ता तुमं तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं तिक्खुत्तो पिट्ठतो उच्छुभति उच्छुभित्ता पुव्ववेरं निज्जाएति २ त्ता हट्ठतुट्ठे पाणियं पिवति २ त्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तते णं तव मेहा! सरीरगंसि वेयणा पाउब्भवित्था उज्जला विउला तिउला कक्खडा ०जाव दुरहियासा पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए यावि विहरित्था। तते णं तुमं मेहा! तं उज्जलं ०जाव दुरहियासं सत्तराइंदियं वेयणं वेदेसि सवीसं वाससतं परमाउं पालइत्ता अट्टवसट्टदुहट्टे कालमासे कालं किच्चा इहेव जबुद्दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे गंगाए महाणदीए दाहिणे कूले विंझगिरिपायमूले एगेणं मत्तवरगंधहत्थिणा एगाए गयवरकरेणूए कुच्छिंसि गयकलभए जणिते। तते णं सा गयकलभिया णवण्हं मासाणं वसंतमासम्मि तुमं पायाया। तते णं तुमं मेहा! गब्भवासाओ विप्पमुक्के समाणे गयकलभए यावि होत्था, रत्तुप्पलरत्तसूमालए जासुमणारत्तपारिजातयलक्खारससरसकुंकुमसंझब्भरागवन्ने इट्ठे णिगस्स जूहवइणो गणियायारकणेरुकोत्थहत्थी अणेगहत्थिसयसंपरिवुडे रम्मेसु गिरिकाणणेसु सुहं सुहेणं विहरसि। तते णं तुमं मेहा! उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुपत्ते जूहवइणा कालधम्मुणा संजुत्तेणं तं जूहं सयमेव पडिवज्जसि। तते णं तुमं मेहा! वणयरेहिं निव्वत्तिय नामधेज्जे०जाव चउदंते मेरुप्पभे हत्थिरयणे होत्था। तत्थ णं तुमं मेहा! सत्तंगपइट्ठिए तहेव० जाव पडिरूवे। तत्थ णं तुमं मेहा! सत्तसइयस्स जूहस्स आहेवच्चं० जाव अभिरमेत्था। तते णं तुमं अन्नया कयाइ गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूले वणदवजालापलित्तेसु वणंतेसु सुधूमाउलासु दिसासु ०जाव मंडलवाए व्व, तते णं पारिब्भमंते भीते तत्थे ०जाव संजायभए बहूहिं हत्थीहि य० जाव कलभियाहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्वतो समंता दिसो दिसिं विप्पलाइत्था। तते णं तव मेहा! तं वणदवं पासित्ता अयमेयारूवे अज्झत्थिए ० जाव समुप्पज्जित्था। कहिं णं मन्ने मए अयमेयारूवे अग्गिसंभवे अणुभूयपुव्वे ?, तव मेहा! लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं अज्झवसाणेणं सोहणेणं सुभेणं परिणामेणं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स सन्निपुव्वे जातिसरणे समुप्पज्जित्था। तते णं तुमं मेहा! एयमट्ठं सम्मं अभिसमेसि, एवं खलु मया अतीए दोच्चे भवग्गहणे इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले ०जाव तत्थ णं महया अयमेयारूवे अग्गिसंभवे समणुभूए। तते णं तुमं मेहा! तस्सेव दिवसस्स पुव्वावरण्हकालसमयंसि नियएणं जूहेणं सद्धिं समन्नागए यावि होत्था। तते णं तुमं मेहा! सत्तुस्सेहे० जाव सन्निजाइसमरणे चउद्दंते मेरुप्पभे नाम हत्थी होत्था। तते णं तुज्झ मेहा! अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था-तं से यं खलु मम इयाणिं गंगाए महानदीए दाहिणिल्लंसि कूलंसि विंझगिरिपायमूले दवग्गिसंताणकारणट्ठा सएणं जूहेणं महालयं मंडलं घाइत्तए त्ति-कट्टु एवं संपेहेसि २ त्ता सुहं सुहेणं विहरसि। सते णं तुमं मेहा! अन्नया कयाइं पढमपाउसंसि महावुट्ठिकायंसि सन्निवइयंसि गंगाए महानदीए अदूरसामंते बहूहिं हत्थीहिं० जाव कलभियाहि य सत्तेहि य हत्थिसएहिं संपरिवुडे एगं महं जोयणपरिमंडलं महतिमहालयं मंडलं घाएसि। जं तत्थ तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा कंटए वा लया वा वल्ली वा खाणुं वा रुक्खे वा खुवे वा तं सव्वं तिखुत्तो आहुणिय एगंते एडेसि २ त्ता पाएणं उद्धवेसि हत्थेणं गेण्हसि। तते णं तुमं मेहा! तस्सेव मंडलस्स अदूरसामंते गंगाए महानदीए दाहिणिल्ले कूले विंझगिरिपायमूले गिरीसु य ० जाव विहरसि। तते णं मेहा! अन्नया कदाइ मज्झिमए वरिसारत्तंसि महावुट्ठिकायंसि सन्निवइयंसि जेणेव से मंडले तेणेव उवागच्छसि २ त्ता दोच्चं पि तच्चं पि मंडलं घाएसि २ त्ता एवं चरिमे वासारत्तंसि महावुट्ठिकायंसि सन्निवइयमाणंसि जेणेव से मंडले तेणेव उवागच्छसि २ त्ता दोच्चं पि तच्चं पि मंडलघायं करेसि, जं तत्थ तणं वा ०जाव सुहं सुहेण विहरसि। अह मेहा! तुमं गइंदभावम्मि वट्टमाणो कमेणं नलिणिवणविविहणगरे हेमंते कुंदलोद्धउद्धततुसारपउरम्मि अतिकंते अहिणवे गिम्हसम-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यंसि पत्ते वियट्टमाणेसु वणेसु वणकरेणुविविहदिण्णकय-
पंसुघाओ तुमं उउयकुसुमकयचामरकन्नपूरपरिमंडियाभि-
रामो मयवसविगसंतकडतडकिलिन्नगंधमदवारिणा सुरभि-
जणियगंधो करेणुपरिवारिओ उउसमत्तजणितसोभो
काले दिणयरकरपयंडे परिसोसियतरुवरसिहरभीमतरदंस-
णिज्जे भिंगाररवंतभेरवरवे णाणाविहपत्तकट्ठतणकयवरु-
द्धतपइमारुयाइद्धनहयलदुमगणे वाउलियादारुणतरे त-
ण्हावसदोसदूसियभमंतविविहसावयसमाउले भीमदरिस-
णिज्जे वट्टंते दारुणम्मि गिम्हे मारुतवसपसरपसरियवियं-
भिएणं अब्भहियभीमभेरवरवप्पगारेणं महुधारापडिय-
सित्तउद्धायमाणधगधगधगंतसद्दुद्धुएणं दित्ततरसफुलिंगेणं
धूममालाउलेणं सावयसयंतकरणेणं अब्भहियवणदवेणं
जालालोवियनिरुद्धधूमंधकारभीयो आयवालोयमहंततुंब-
इयपुन्नकन्नो आकुंचियथोरपीवरकरो भयवसभयंतदित्तन-
यणो वेगेण महामेहो व्व पवणोल्लियमहल्लरूवो जेणेव क-
ओ ते पुरा दवग्गिभयभीयहियएणं अवगयतणप्पएसरु-
क्खो रुक्खुद्देसो दवग्गिसंताणकारणट्ठाए जेणेव मंडले
तेणेव पहारेत्थ गमणाए, एक्को ताव एस गमो १। तते णं
तुमं मेहा ! अन्नया कयाइं कमेणं पंचसु उउसु समतिक्कं-
तेसु गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूले मासे पायवसंघससमु-
ट्ठिएणं ०जाव संवट्टिएसु मियसुपक्खिसरीसिवेसु दिसो
दिसिं विप्पलायमाणेसु तेहिं बहूहिं हत्थीहि य सद्धिं
जेणेव मंडले तेणेव पहारेत्थ गमणाए, तत्थ णं अन्ने बहवे
सीहा य वग्घा य विगा य दीविया य अच्छा य तरच्छा य
पारासरा य सरभा य सियाला विराला सुणहा कोला
ससा कोकंतिया चित्ता चिल्लला पुव्वपविट्ठा अग्गिभय-
विहुया एगयाओ विलधम्मेणं चिट्ठंति । तए णं तुमं मेहा !
जेणेव से मंडले तेणेव उवागच्छसि २ त्ता तेहिं बहूहिं
सीहेहिं० जाव चिल्ललएहि य एगयओ विलधम्मेणं चिट्ठ-
सि । तते णं तुमं मेहा ! पाएणं गत्तं कंडुइस्सामित्ति कट्टु
पाए उक्खित्ते तंसिं च णं अंतरंसि अन्नेहिं बलन्तेहिं सत्तेहिं
पणोलिज्जमाणे २ ससए अणुप्पविट्ठे । तते णं तुमं मेहा !
गायं कंडुइत्ता पुणरवि पायं पडिनिक्खमिस्सामि त्ति कट्टु
तं ससयं अणुपविट्ठं पाससि २ त्ता पाणाणुकंपाए भू-
याणुकंपाए जीवाणुकंपाए सत्ताणुकंपाए सो पाए अंतरा
चेव संधारिए, नो चेव णं णिक्खित्ते । तते णं तुमं मेहा !
ताए पाणाणुकंपाए ०जाव सत्ताणुकंपाए संसारे परित्तीकते
माणुस्साउए निबद्धे । तते णं से वणदवे अड्ढातिज्जातिं रातिं-
दियाइं तं वणं झामेइ २ त्ता निट्ठिए उवरए उवसंते वि-
ज्झाए यावि होत्था । तते णं ते बहवे सीहा य ० जाव-

चिल्लला य तं वणदवं निट्ठियं ०जाव विज्झायं पासंति
२ त्ता अग्गिभयविप्पमुक्का तण्हाए य छुहाए य परब्भा-
हया समाणा मंडलातो पडिनिक्खमंति२त्ता सव्वतो समं-
ता विप्पसरित्था, (तए णं ते बहवे हत्थि ० जाव छुहाए
य परब्भाहया समाणा तओ मंडलाओ पडिनिक्खमंति २
त्ता दिसो दिसिं विप्पसरित्था ।) तए णं तुमं मेहा ! जुन्ने
जराजज्जरियदेहे सिढिलवलितया पिणिद्धगत्ते दुब्बले
किलंते जुंजिए पिवासिते अथामे अबले अपरक्कमे अ-
चंकमणो वा ठाणुखंडे वेगेण विप्पसरिस्सामि त्ति कट्टु पाए
पसारेमाणे विज्जुहते विव रयतगिरिप्पब्भारे धरणितलंसि
सव्वंगेहि य सन्निवइए । तते णं तव मेहा ! सरीरगंसि
वेयणा पाउब्भूता उज्जला ०जाव दाहवक्कंतिए यावि विह-
रसि । तते णं तुमं मेहा ! तं उज्जलं ०जाव दुरहियासं
तिन्नि राइंदियाइं वेयणं वेएमाणे विहरित्ता एगं वाससतं
परमाउं पालइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रायगिहे
नयरे सेणियस्स रन्नो धारिणीए देवीए कुच्छिंसि कुमार-
त्ताए पच्चायाए । (सूत्र-३२)

'मेहाइ' त्ति हे मेघ ! इति, एवमभिलाप्य महावीरस्तमवा-
दीत्-'से णूण' मित्यादि, अथ नूनं-निश्चितं मेघ ! अस्ति
एषोऽर्थः ? 'हंते' ति कोमलामन्त्रणे अस्त्येषोऽर्थ इति
मेघेनोत्तरमदायि । 'वनचरकैः' शबरादिभिः, 'संखे' त्यादि
विशेषणं प्रागिव 'सत्तुस्सेहे' सप्तहस्तोच्छ्रितः, नवायतो—
नवहस्तायतः, एवं दशहस्तप्रमाणः मध्यभागे सप्ताङ्गानि—
पादकरपुच्छलिङ्गलक्षणानि प्रतिष्ठितानि भूमौ यस्य स तथा,
समः—अविषमगात्रः सुसंस्थितो-विशिष्टसंस्थानः, पाठा-
न्तरेण सौम्यसम्मितः तत्र सौम्यः अरौद्राकारो नीरोगो
वा सम्मितः-प्रमाणोपेताङ्गः, पुरतः—अग्रतः उदग्रः-उच्चः
समुच्छ्रितशिराः शुभानि सुखानि वा आसनानि-स्कन्धा-
दीनि यस्य स तथा , पृष्ठतः—पश्चाद्भागे वराह इव—
शूकर इव वराहः अवनतत्वात् , अजिकाया इवोन्नतत्वात्
कुक्षी यस्य स तथा, अच्छिद्रकुक्षिः मांसलत्वात् , अलम्बकु-
क्षिरपलक्षणवियोगात् , 'पलम्बलंबोयराहरकरे' त्ति-प्रलम्बं
च लम्बौ च क्रमेणोदरं च-जठरमधरकरौ च-ओष्ठहस्तौ
यस्य स तथा, पाठान्तरे-[प्र] लम्बौ लम्बोदरस्येव गणप-
तेरिव अधरकरौ यस्य स तथा, धनुःपृष्ठाकृतिः-आरोपि-
तज्यधनुराकारं विशिष्टं-प्रधानं पृष्ठं यस्य स तथा, आली-
नानि सुश्लिष्टानि प्रमाणयुक्तानि वर्त्तितानि-वृत्तानि पीवरा-
णि-उपचितानि गात्राणि-अङ्गानि अपराणि—वर्णितगात्रे-
भ्योऽन्यानि अपरभागगतानि वा यस्य स तथा, अथवा
आलीनादि विशेषणं गात्रम्-उरः अपरश्च-पश्चाद्भागो यस्य
स तथा, वाचनान्तरे विशेषणद्वयमिदम्-अभ्युद्गता-उन्नता
मुकुलमल्लिकेव-कोरकावस्थविचकिलकुसुमवद्धवलाश्च द-
न्ता यस्य सोऽभ्युद्गतमुकुलमल्लिकाधवलदन्तः, आनामितं
यच्चापं-धनुस्तस्येव ललितं-विलासो यस्याः सा तथा, सा
च संवल्लिता च-संवेल्लन्ती सङ्कोचिता या अग्रसुण्डा सुण्डा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रं यस्य स आनामितचापललितसंवेल्लिताग्रसुण्डः आलीनप्रमाणयुक्तपुच्छः प्रतिपूर्णाः सुचारवः कूर्म्मवच्चरणा यस्य स तथा, पाण्डुराः—शुक्लाः सुविशुद्धाः—निर्म्मलाः स्निग्धाः—कान्ता निरुपहताः—स्फोटादिदोषरहिता विंशतिर्नखा यस्य स तथा, तत्र त्वं हे मेघ ! बहुभिर्हस्त्यादिभिः सार्द्धं संपरिवृतः आधिपत्यं कुर्वन् विहरसीति सम्बन्धः । तत्र हस्तिनः—परिपूर्णप्रमाणाः लोट्टकाः—कुमारकावस्थाः कलभाः—बालकावस्थाः हस्तिसहस्रस्य नायकः—प्रधानः न्यायको वा—देशको हितमार्गादेः प्राकर्षी—प्राकर्षकोऽग्रगामी प्रस्थापको—विविधकार्येषु प्रवर्तको यूथपतिः—तत्स्वामी वृन्दपरिवर्द्धकः—तद्वृद्धिकारकः ‘ सइं पललिए ’ त्ति सदा प्रललितः—प्रक्रीडितः कन्दर्परतिः—केलिप्रियः मोहनशीलो—निधुवनप्रियः अवितृप्तो मोहने एवानुपरतवाञ्छः, तथा सामान्येन कामभोगेऽतृषितः गिरिषु च—पर्वतेषु दरीषु च—कन्दरविशेषेषु कुहरेषु च—पर्वतान्तरालेषु कन्दरासु च—गुहासु उज्झरेषु च—उदकस्य प्रपातेषु निर्झरेषु च—स्यन्दनेषु विदरेषु च—क्षुद्रनद्याकारेषु नदीपुलिनस्यन्दजलगतिरूपेषु वा गर्तासु च—प्रतीतासु पल्वलेषु च—प्रह्लादनशीलेषु चिल्ललेषु च—चिक्खिल्लमिश्रेषु कटकेषु च—पर्वततटेषु कटकपल्वलेषु पर्वततटव्यवस्थितजलाशयविशेषेषु तटीषु च—नद्यादीनां तटेषु वितटीषु च—तास्वेव विरूपासु, अथवा—वियडिशब्देन लोके अटवी उच्यते, टङ्केषु च—एकदिशि छिन्नेषु पर्वतेषु कुटकेषु च—अधोविस्तीर्णेषूपरिसंकीर्णेषु वृत्तपर्वतेषु हस्त्यादिबन्धनस्थानेषु वा शिखरेषु च—पर्वतोपरिवर्त्तिकूटेषु, प्राग्भारेषु च—ईषदवनतपर्वतभागेषु मञ्चेषु च—स्तम्भन्यस्तफलकमयेषु नद्यादिलङ्घनार्थेषु मालेषु च—श्वापदादिरक्षार्थेषु तद्विशेषेष्वेव मञ्चमालकाकारेषु पर्वतदेशेष्वित्यन्ये काननेषु च—स्त्रीपक्षस्य पुरुषपक्षस्य चैकतरस्य भोग्येषु वनविशेषेषु, अथवा—यत्परतः पर्वतोऽटवी वा भवति तानि काननानि—जीर्णवृक्षाणि वा तेषु वनेषु च—एकजातीयवृक्षेषु वनखण्डेषु च—अनेकजातीयवृक्षेषु वनराजीषु च—एकानेकजातीयवृक्षाणां पङ्क्तिषु नदीषु च—प्रतीतासु नदीकक्षेषु च—तद्गहनेषु यूथेषु च—वानरादियूथाश्रयेषु सङ्गमेषु च—नदीमीलकेषु वापीषु च—चतुरस्रासु पुष्करिणीषु च—वर्तुलासु पुष्करवतीषु वा दीर्घिकासु च—ऋजुसारिणीषु गुञ्जालिकासु च—वक्रसारिणीषु सरस्सु च—जलाशयविशेषेषु सरःपङ्क्तिकासु च—सरसां पद्धतिषु सरःसरःपङ्क्तिकासु च—यासु सरःपङ्क्तिषु एकस्मात् सरसोऽन्यस्मिन्नन्यस्मादन्यत्रैवं सञ्चारकपाटकेनोदकं संचरति तासु बहुविधास्तरुपल्लवाः प्रचुराणि पानीयतृणानि च यस्य भोग्यतया स तथा, निर्भयः शूरत्वात्, निरुद्विग्नः सदैव अनुकूलविषयप्राप्तेः, सुखं सुखेन अकृच्छ्रेण, ‘ पाउसे ’ त्यादि, प्रावृट्—आषाढश्रावणौ वर्षा—भाद्रपदाश्वयुजौ शरत्—कार्त्तिकमार्गशीर्षौ हेमन्तः—पौषमाघौ वसन्तः—फाल्गुनचैत्रौ एतेषु पञ्चसु ऋतुषु समतिक्रान्तेषु, ‘ ज्येष्ठामूलमासे ’ त्ति—ज्येष्ठमासे पादपघर्षणसमुत्थितेन शुष्कतृणपत्रलक्षणं कचवरं मारुतश्च तयोः संयोगेन दीप्तो यः स तथा तेन महाभयंकरेण—अतिभयकारिणा हुतवहेन—अग्निना यो जनित इति हृदयस्थम्, वनदवो—वनाग्निः तस्य ज्वालाभिः संप्रदीप्ता ये ते तथा तेषु च वनाऽन्तेषु सत्सु, अथवा—‘ पायवघंसससमुट्ठिएण ’ मित्यादिषु णकाराणां वाक्यालङ्कारार्थत्वात्सप्तम्येकवचनान्तता व्याख्येया, तथा धूमाकुलासु दिक्षु, तथा महावायुवेगेन संघट्टितेषु छिन्नज्वालेषु—त्रुटितज्वालासमूहेषु आपतत्सु—सर्वतः संपतत्सु तथा ‘ पोल्लरुक्खेसु ’ त्ति शुषिरवृक्षेसु अन्तरन्तः—मध्ये मध्ये ध्मायमानेषु—दह्यमानेषु तथा मृतैर्मृगादिभिः कुथिताः—कोथमुपनीता विनष्टाः—विगतस्वभावाः ‘ किमियकद्दम ’ त्ति कृमिवत्कर्दमा नदीनां विवरकाणां च क्षीणपानीयाः अन्ताः—पर्यन्ताः येषु, क्वचित् ‘ किमव ’ त्ति पाठः तत्र मृतैः कुथिताः विनष्टकृमिकाः कर्दमाः—नदीविदरकलक्षणाः क्षीणा जलक्षयात्पानीयान्ता—जलाशया येषु ते तथा तेषु वनान्तेषु—वनविभागेषु सत्सु, तथा भृङ्गारकाणां पक्षिविशेषाणां दीनः क्रन्दितरवो येषु ते तथा तेषु वनान्तेष्विति—वर्तते, तथा खरपरुषम्—अतिकर्कशमनिष्टं रिष्टानां—काकानां व्याहृतं शब्दितं येषु ते तथा विद्रुमाणीव—प्रवालानीव लोहितानि अग्नियोगात्पल्लवयोगाद्वा अग्राणि येषां ते विद्रुमाग्रास्ततः पदद्वयस्य २ कर्मधारयः, ततस्तेषु—द्रुमाग्रेषु वृक्षोत्तमेषु सत्सु, वाचनान्तरे—खरपरुषरिष्ठव्याहृतानि विविधानि द्रुमाग्राणि येषु ते खरपरुषरिष्ठव्याहृतविविधद्रुमाग्रास्तेषु वनान्तेष्विति, तथा तृष्णावशेन मुक्तपक्षाः—श्लथीकृतपक्षाः प्रकटितजिह्वातालुकाः असंपुटिततुण्डाश्च—असंवृतमुखाः ये पक्षिसङ्घास्ते तथा तेषु ‘ ससंतेसु ’ त्ति—श्वसत्सु श्वासं मुञ्चत्सु, तथा ग्रीष्मस्य ऊष्मा च—उष्णता उष्णपातश्च—रविकरसंतापः खरपरुषचण्डमारुतश्च—अतिकर्कशप्रबलवातः शुष्कतृणपत्रकचवरप्रधानवातोली चेति द्वन्द्वः ताभिर्भ्रमन्तः—अनवस्थिता दृप्ताः संभ्रान्ता ये श्वापदाः—सिंहादयः तैराकुला ये ते तथा, मृगतृष्णा—मरीचिका तल्लक्षणो बद्धः चिह्नपटो येषु ते तथा, ततः पदद्वयस्य कर्म्मधारयोऽतस्तेषु सत्सु, गिरिवरेषु—पर्वतराजेषु, तथा संवर्तकितेषु—संजातसंवर्तकेषु त्रस्ता—भीता ये मृगाश्च प्रसयाश्च—आटव्यचतुष्पदविशेषाः, सरीसृपाश्च—गोधादयस्तेषु, ततश्चासौ हस्ती अवदारितवदनविवरो निर्लालिताग्रजिह्वश्च य इति कर्म्मधारयः ‘ महंततुंबइयपुण्णकण्णे ’ महान्तौ तुम्बकितौ—भयादरघट्टतुम्बाकारौ कृतौ स्तब्धावित्यर्थः, पुण्यौ—व्याकुलतया शब्दग्रहणे प्रवणौ कर्णौ यस्य स तथा, संकुचितः ‘ थोर ’ त्ति स्थूलः पीवरो—महान् करो यस्य स तथा, उच्छ्रितलाङ्गूलः ‘ पीणाइय ’ त्ति—पीना या—मड्डा तया निर्वृत्तं पैनायिकं तद्विधं यद्विरसं रटितं तल्लक्षणेन शब्देन स्फोटयन्निवाम्बरतलं पाददर्दरेण पादघातेन कम्पयन्निव ‘ मेदिनीतल ’ मित्यादि, कण्ठ्यम्, ‘दिसो दिसिं’ ति दिक्षु चापदिक्षु च विपलायितवान्, आतुरो—व्याकुलः ‘ झुंझिए ’ त्ति बुभुक्षितः दुर्बलः—क्लान्तो ग्लानः नष्टश्रुतिको—मूढदिक्कः ‘ परब्भाहए ’ त्ति पराभ्याहतो बाधितो भीतो जातभयः त्रस्तो जातक्षोभः ‘ तसिए ’ त्ति शुष्क आनन्दरसशोषात् उद्विग्नः—कथमितोऽनर्थान्मोक्ष्येऽहमित्यध्यवसायवान्, किमुक्तं भवति ?—संजातभयः—सर्वात्मनोत्पन्नभयः आधावमानः—ईषत् परिधावमानः—समन्तात् ‘ पाणी(णि)यपाए ’ त्ति—पानं पायः पानीयस्य पायः पानीयपायस्तस्मिन्, जलपानायेत्यर्थः, ‘ सेयंसि विसन्ने ’ त्ति पङ्के निमग्नः, कायं प्रत्युद्धरिष्यामीति कृत्वा कायमुद्धर्त्तुमारब्ध इति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शेषः, 'वलियतरायं' ति गाढतरम्। 'तए ण' मित्यादि, इहैवमक्षरघटना—त्वया हे मेघ! एको गजवरयुवा करचरणदन्तमुशलप्रहारैर्विप्रालब्धो विनाशयितुमिति गम्यते, विपराद्धो वा—हतः सन् अन्यदा कदाचित् स्वकाद् यूथात् चिरम् 'निज्जूढे' त्ति निर्धाटितो यः स पानीयपानाय तमेव महाह्रदं समवतरति स्मेति, 'आसुरुत्ते' त्ति स्फुरितकोपलिङ्गः रुष्टः—उदितक्रोधः कुपितः—प्रवृद्धकोपोदयः चाण्डिक्यितः—संजातचाण्डिक्यः प्रकटितरौद्ररूप इत्यर्थः, 'मिसिमिसीमाणे' त्ति—क्रोधाग्निना देदीप्यमान इव, एकार्थिका वैते शब्दाः कोपप्रकर्षप्रतिपादनार्थं नानादेशजविनेयानुग्रहार्थं वा, 'उच्छुहइ'—अवष्टभ्नाति विध्यतीत्यर्थः, 'निज्जाए' त्ति—निर्यातयति समापयति, वेदनाः किंविधाः ?—उज्ज्वला विपक्षलेशेनापि अकलङ्किता विपुला शरीरव्यापकत्वात् क्वचित्—'तितुले' त्ति पाठस्तत्र त्रीनपि मनोवाक्कायलक्षणानर्थांस्तुलयति जयति तुलारूढानिव वा करोतीति त्रितुला कर्कशा—कर्कशद्रव्यमिवानिष्टेत्यर्थः, प्रगाढा प्रकर्षवती चण्डा—रौद्रा दुःखा—दुःखरूपा न सुखेत्यर्थः, किमुक्तं भवति ?—दुरधिसह्या, 'दाहवक्कंतीए' त्ति दाहो व्युत्क्रान्तः—उत्पन्नो यस्य स तथा स एव दाहव्युत्क्रान्तिकः 'अट्टवसट्टदुहट्टे' त्ति—आर्त्तवशम्—आर्त्तध्यानवशतामृतो—गतो दुःखार्त्तश्च यः स तथा, 'करेणुए' त्ति—करेणुकायाः 'रत्तुप्पले' त्यादि रक्तोत्पलवद्रक्तः सुकुमारकश्च यः स तथा, जपासुमनश्च आरक्तपारिजातकश्च वृक्षविशेषो लाक्षारसश्च सरसकुङ्कुमं च सन्ध्याभ्ररागश्चेति द्वन्द्वः, एतेषामिव वर्णो यस्य स तथा, 'गणियार' त्ति गणिकाकाराः—समकायाः करेणवस्तासां 'कोत्थं' ति—उदरदेशस्तत्र हस्तो यस्य कामक्रीडापरायणत्वात् स तथा, इह चेत्समासान्तो द्रष्टव्यः। 'कालधम्मुण' त्ति कालः—मरणं स एव धर्मो—जीवपर्यायः कालधर्मः 'निव्वत्तियनामधेज्जो' इह यावत्करणेन यद्यपि समग्रः पूर्वोक्तो हस्तिवर्णकः सूचितस्तथापि श्वेततावर्णकवर्ज्यो द्रष्टव्यः, इह रक्तस्य तस्य वर्णितत्वादत एवाग्रे 'सत्तुस्सेहे' इत्यादिकमतिदेशं वक्ष्यति यत् पुनरिह दृश्यते 'सत्तंगे' इत्यादि तद्वाचनान्तरम्, वर्णकाक्षेपं तु लिखितमिति। 'लेस्साही' त्यादि तेजोलेश्याद्यन्यतरलेश्यां प्राप्तस्येत्यर्थः, अध्यवसानं—मानसी परिणतिः परिणामो—जीवपरिणतिः, जातिस्मरणावरणीयानि कर्म्माणि मतिज्ञानावरणीयभेदाः क्षयोपशमः—उदितानां क्षयोऽनुदितानां विष्कम्भितोदयत्वम् ईहा—सदर्थाभिमुखो वितर्क इत्यादि प्राग्वत्, संज्ञिनः पूर्वजातिः—प्राक्तनं जन्म तस्या यत् स्मरणं तत्संज्ञिपूर्वजातिस्मरणम्, व्यस्तनिर्देशे तु संज्ञी पूर्वो भवो यत्र तत्संज्ञिपूर्वं संज्ञीति च विशेषणं स्वरूपज्ञापनार्थम्, न ह्यसंज्ञिनो जातिविषयं स्मरणमुत्पद्यत इति, 'अभिसमेसि' त्ति—अवबुध्यसे प्रत्यपराह्णः—अपराह्णः, 'तए ण' मित्यादिको ग्रन्थो जातिस्मरणविशेषणमाश्रित्य वर्णितः, 'दवग्गिजायकारणट्ठ' त्ति दवाग्नेः संजातस्य कारणस्य—भयहेतोर्निवृत्तये इदं दवाग्निसंजातकारणार्थम्, अर्थशब्दस्य निवृत्त्यर्थत्वात्, क्वचित्—'दवग्गिसंताणकारणट्ठ' त्ति दृश्यते, तत्र दवाग्निसन्त्राणकारणायेति व्याख्येयम्, 'मंडलंघाएसि' वृक्षाद्युपघातेन तत्करोतीत्यर्थः 'खुवेतयति व' त्ति क्षुवो ह्रस्वशिखः शाखी 'आहुणिय' त्ति प्रकम्प्य चलयित्वेत्यर्थः, 'उड्ढवेसि' त्ति उद्धरसि 'एडेसि' त्ति—छर्दयसि, 'दोच्चं पि' द्वितीयं तस्यैव मण्डलस्य घातम्, एवं तृतीयमिति, नलिनीवनविवधनकरे, इह विवधनं विनाशः, 'हेमंते' त्ति शीतकाले कुन्दाः—पुष्पजातीयविशेषाः लोध्राश्च—वृक्षविशेषास्ते च शीतकाले पुष्यन्त्यतस्ते उद्धताः—पुष्पसमृद्ध्या उद्धुरा इव यत्र स तथा, तथा तुषारं हिमं तत् प्रचुरं यत्र स तथा, ततः कर्मधारयः ततस्तत्र, ग्रीष्मे—उष्णकाले विवर्तमानो—विचरन् वनेषु वनकरेणूनां ताभिर्वा विविधा 'दिन्न' त्ति दत्ताः कजप्रसवैः—पद्मकुसुमैर्घाताः—प्रहारा येषु यस्य वा स तथा 'वणरेणुविविहदिन्नकयपंसुघाओ' त्ति पाठान्तरे तु वनरेणवो—वनपांशवो विविधम्—अनेकधा 'दिन्न' त्ति दत्ता दिक्ष्वात्मनि च क्रीडापरतया क्षिप्ता येन स तथा, तथा क्रीडयैव कृताः पांशुघाता येन स तथा, ततः पदद्वयस्य कर्म्मधारयः, 'तुमं' ति त्वम्, तथा कुसुमैः कृतानि यानि चामरवत्कर्णपूराणि तैः परिमण्डितोऽभिरामश्च यः स तथा. क्वचित्—'उउयकुसुम' त्ति पाठः, तत्र ऋतुजकुसुमैरिति व्याख्येयम्, तथा मदवशेन विकसन्ति कटतटानि—गण्डतटानि क्लिन्नानि—आर्द्रीकृतानि येन तत्तथा तच्च तद्गन्धमदवारि च तेन सुरभिजनितगन्धः—मनोज्ञकृतगन्धः करेणुपरिवृतः ऋतुभिः समस्ता समाप्ता वा—परिपूर्णा जनिता शोभा यस्य स तथा, काले किंभूते ?—दिनकरः करप्रचण्डो यत्र स तथा तत्र, परिशोषिताः—नीरसीकृताः तरुवराः श्रीधराः—शोभावन्तो येन परिशोषिता वा तरुवराणां श्रीः—संपद् धरायां—भुवि वा येन, पाठान्तरे—परिशोषितानि तरुवरशिखराणि येन स तथा स चासौ भीमतरदर्शनीयश्चेति, तत्र भृङ्गाराणां—पक्षिविशेषाणां रुवतां—रवं कुर्वतां भैरवो—भीमो रवः—शब्दो यस्मिन् स तथा तत्र, नानाविधानि पत्रकाष्ठतृणकचवराण्युद्धृतानि—उत्पाटितानि येन स तथा स चासौ प्रतिमारुतश्च—प्रतिकूलवायुस्तेन आदिग्धं—व्याप्तं नभस्तलं—व्योम 'पहुममाणे' त्ति पटुत्वादुपतापकारि यस्मिन्, पाठान्तरे उक्तविशेषणेन प्रतिमारुतेनादिग्धं नभस्तलं द्रुमगणश्च यस्मिन् स तथा, तत्र वातोल्या—वात्यया दारुणतरो यः स तथा तत्र, तृष्णावशेन ये दोषा—वेदनादयस्तैर्दोषिता—जातदोषा दूषिता वा भ्रमन्तो विविधा ये श्वापदास्तैः समाकुलो यः स तथा तत्र भीमं यथा भवत्येवं दृश्यते यः स भीमदर्शनीयः तत्र वर्तमाने दारुणे ग्रीष्मे, केनेत्याह—मारुतवशेन यः प्रसरः—प्रसरणं तेन प्रसृतो विजृम्भितश्च—प्रबलीभूतो यः स तथा तेन, वनदवेनेति योगः, अभ्यधिकं यथा भवत्येवं भीमभैरवः—अतिभीष्मो रवप्रकारो यस्य स तथा तेन, मधुधाराया यत्पतितं—पतनं तेन सिक्त उद्धावमानः प्रवर्द्धमानो धगधगायमानो—जाज्वल्यमानः स्पन्दोद्धतश्च—दह्यमानदारुस्पन्दप्रबलः, पाठान्तरे—शब्दोद्धतश्च यः स तथा तेन दीप्ततरोयः सस्फुलिङ्गश्च तेन धूममालाकुलेनेति प्रतीतम्, श्वापदशतान्तकरणेन—तद्विनाशकारिणा ज्वालाभिरालोपितः—कृताच्छादनो निरुद्धश्च—विवक्षितदिग्गमनेन निवारितो धूमजनितान्धकाराद् भीतश्च यः स तथा, आत्मानमेव पालयतीत्यात्मपालः, पाठान्तरेण—'आयवालो य' त्ति तत्र आतपालोकेन—हुतवहतापदर्शनेन महान्तौ तुम्बकितौ स्तब्धत-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या अरघट्टतुम्बाकृती-ससंभ्रमौ कर्णौ यस्य स तथा, आकुञ्चितस्थूलपीवरकरः भयवशेन भजन्ती दिश इति गम्यते, दीप्ते नयने यस्य स तथा, 'आकुंचियथोरपीवरकराभोयसव्वभवंतदित्तनयणे' त्ति पाठान्तरम्, तत्र-आभोगो-विस्तारः सर्वा दिशो भजन्ती दीप्ते नयने यस्येति, वेगेन महामेघ इव वातेनोदितमहारूपः,किमित्याह-येन यस्यां दिशि कृतो-विहितः ते त्वया पुरा-पूर्वं दवाग्निभयभीतहृदयेन अपगतानि तृणानि तेषामेव च प्रदेशा-मूलादयोऽवयवा वृक्षाश्च यस्मात्सोऽपगततृणप्रदेशवृक्षः, कोऽसौ ?-वृक्षोद्देशः-वृक्षप्रधानो भूमेरेकदेशो, रूक्षोद्देशो वा। किमर्थम् ?-दवाग्निसंत्राणकारणार्थ-दवाग्निसंत्राणहेतुरिदं भवत्वित्येतदर्थम्, तथा येनैव-यस्यामेव दिशि मण्डलं तेनैव तत्रैव प्रधारितवान् गमनाय, कथं बहुभिर्हस्त्यादिभिः सार्द्धमित्ययमेको गमः १। यत् पुनः 'तए णं तुमं मेहा ! अण्णया कयाइं कमेण पंचसु' इत्यादि दृश्यते तद्गमान्तरं मन्यामहे तच्च एवं द्रष्टव्यम्-'दोच्चं पि मंडलघायं करेसि ० जाव सुहं सुहेणं विहरसि, तए णं तुमं मेहा ! अन्नया कयाइ पंचसु उउसु अइक्कंतेसु' इत्यादि, यावत् 'जेणेव मण्डले तेणेव पहारेत्थ गमणाए' त्ति, सिंहादयः प्रतीताः नवरं वृका-वरुक्षाः द्वीपिकाः-चित्रकाः-'अच्छ' त्ति रिक्षाः तरच्छा-लोकप्रसिद्धाः परासराः-शरभाः शृगालविडालशुनकाः प्रतीताः कोलाः-शूकराः शशकाः प्रतीताः कोकन्तिकाः-लोमटकाः चित्राः चिल्ललगाः-आरण्या जीवविशेषाः, एतेषां मध्येऽधिकृतवाचनायां कानिचिन्न दृश्यन्ते, अग्निभयविद्रुताः-अग्निभयाभिभूताः 'एगओ' त्ति एकतो विलधर्मेण बिलाचारेण यथैकत्र बिले यावन्तो मर्कोटकादयः संमान्ति तावन्तस्तिष्ठन्ति, एवं तेऽपीति, ततस्त्वया हे मेघ ! गात्रेण गात्रं कण्डूयिष्ये इति कृत्वा-इति हेतोः पाद उत्क्षिप्तः-उत्पाटितः, 'तंसि च णं अंतरंसि' तस्मिंश्चान्तरे पादाक्रान्तपूर्वे अन्तराले इत्यर्थः। 'पादं निक्खेविस्सामि त्ति कट्टु' इह ध्रुवं निरूपयन्निति शेषः, 'पाणाणुकम्पये' त्यादिपदचतुष्टयमेकार्थं दयाप्रकर्षप्रतिपादनार्थम्, 'निट्ठिए' त्ति निष्ठां गतः कृतस्वकार्यो जात इत्यर्थः, उपरतोऽनालिङ्गितेन्धनाद् व्यावृत्तः उपशान्तो-ज्वालोपशमात् 'विध्माते-ऽङ्गारमुर्मुराद्यभावात् 'वाऽपी' ति समुच्चये, 'जीर्ण' इत्यादि शिथिला वलिप्रधाना था त्वक् तया पिनद्धं गात्रं-शरीरं यस्य स तथा, अथामा शारीरबलविकलत्वात् अबलः-अवष्टम्भवर्जितत्वात्, अपराक्रमो-निष्पादितस्वफलाभिमानविशेषरहितत्वात्, अचङ्क्रमणतो वा 'ठाणुखण्डे' त्ति ऊर्ध्वस्थानेन स्तम्भितगात्र इत्यर्थः 'रययगिरिपब्भारे' त्ति इह प्राग्भार-ईषदवनतं खण्डम्, उपमा चानेनास्य महत्त्वयैव, न वर्णतो रक्तत्वात्तस्य, वाचनान्तरे तु सित एवासाविति।

तते णं तुमं मेहा ! आणुपुव्वेणं गब्भवासाओ निक्खंते समाणे उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुप्पत्ते मम अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए,तं जति०जाव तुमे मेहा ! तिरिक्खजोणियभावमुवगएणं अपडिलद्धसम्मत्तरयणलंभेणं से पाणे पाणाणुकंपयाए० जाव अंतरा चेव संधारिते नो चेव णं निक्खित्ते किमंग ! पुण तुमं मेहा ! इयाणिं विपुलकुलसमुब्भवे णं निरुवहयसरीरदंतलद्धपंचिंदिए णं एवं उट्ठाणबलवीरियपुरिसगारपरक्कमसंजुत्ते णं मम अंतिए मुंडे भवित्ता आगारातो अणगारियं पव्वतिए समाणे समणाणं निग्गंथाणं राओ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि वायणाए० जाव धम्माणुओगचिंताए य उच्चारस्स वा पासवणस्स वा अतिगच्छमाणाण य निग्गच्छमाणाण य हत्थसंघट्टणाणि य संघपायट्टणाणि य० जाव रयरेणुगुंडणाणि य नो सम्मं सहसि खमसिं तितिक्खसि अहियासेसि ? तते णं तस्स मेहस्स अणगारस्स समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए एतमट्ठं सोच्चा णिसम्म सुभेहिं परिणामेहिं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहावूहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स सन्निपुव्वे जातीसरणे समुप्पन्ने एतमट्ठं सम्मं अभिसमेति । तते णं से मेहे कुमारे समणेणं भगवया महावीरेणं संभारियपुव्वजातीसरणे दुगुणाणीयसंवेगे आणंदयंसुपुन्नमुहे हरिसवसेणं धाराहयकदंवकं पिव समुस्ससितरोमकूवे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति २ त्ता एवं वदासी-अज्जप्पभितीणं भंते ! मम दो अच्छीणि मोत्तूणं अवसेसे काए समणाणं णिग्गंथाणं निसट्ठे त्ति कट्टु पुणरवि समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति २ त्ता एवं वदासी-इच्छामि णं भंते ! इयाणिं सयमेव दोच्चं पि सयमेव पव्वावियं सयमेव मुंडावियं ०जाव सयमेव आयारगोयरं जायामायावत्तियं धम्ममातिक्खह । तए णं समणे भगवं महावीरे मेहं कुमारं सयमेव पव्वावेइ ०जाव जायामायावत्तियं धम्ममाइक्खइ, एवं देवाणुप्पिया ! गन्तव्वं एवं चिट्ठियव्वं एवं णिसीयव्वं एवं तुयट्टियव्वं एवं भुंजियव्वं भासियव्वं उट्ठाय २ पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमितव्वं । तते णं से मेहे समणस्स भगवतो महावीरस्स अयमेयारूवं धम्मियं उवएसं सम्मं पडिच्छति २ त्ता तह चिट्ठति ०जाव संजमेणं संजमति । तते णं मेहे अणगारे जाए इरियासमिए अणगारवन्नओ भाणियव्वो । तते णं से मेहे अणगारे समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए एतारूवाणं थेराणं सामातियमातियाणि एकारस अंगाति अहिज्जति २ त्ता बहूहिं चउत्थछट्टऽट्ठमदसमदुवालसेहिं मासऽद्धमासखमणेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरति । तते णं समणे भगवं महावीरे रायगिहाओ नगराओ गुणसिलाओ चेतियाओ पडिनिक्खमति २ त्ता बहिया जणवयविहारं विहरति । (सूत्र-३२)

'अपडिलद्धसम्मत्तरयणलंभेणं' ति-अप्रतिलब्धः-असं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जातः, 'विपुलकुलसमुब्भवे ण' मित्यादौ णकारा वाक्यालङ्कारे निरुपहतं शरीरं यस्य स तथा, दान्तानि—उपशमं नीतानि प्राक्काले लब्धानि सन्ति पञ्चेन्द्रियाणि येन स तथा, ततः कर्मधारयः, पाठान्तरे—निरुपहतशरीरप्राप्तश्चासौ लब्धपञ्चेन्द्रियश्चेति समासः 'एव' मित्युपलभ्यमानरूपैरुत्थानादिभिः संयुक्तो यः स तथा, तत्र उत्थानं—चेष्टाविशेषः, बलं—शारीरं वीर्यं-जीवप्रभवं पुरुषकारः—अभिमानविशेषः पराक्रमः—स एव साधितफल इति, नो सम्यक् सहसे भयाभावेन क्षमसे क्षोभाभावेन तितिक्षसे दैन्यानवलम्बनेन अध्यासयसि अविचलितकायतया, एकार्थिकानि चैतानि पदानि, तस्य मेघस्यानगारस्य जातिस्मरणं समुत्पन्नमिति सम्बन्धः। समुत्पन्ने च तत्र किमित्याह—एतमर्थं पूर्वोक्तं वस्तु सम्यक् 'अभिसमेइ' त्ति अभिसमेति अवगच्छतीत्यर्थः। 'संभारियपुव्वजाईसरणे' त्ति संस्मारितं पूर्वजात्योः—प्राक्तनजन्मनोः सम्बन्धि सरणं—गमनं पूर्वजातिसरणं यस्य स तथा, पाठान्तरे—संस्मारितपूर्वभवः, तथा प्राक्कालापेक्षया द्विगुण आनीतः संवेगो यस्य स तथा, आनन्दाश्रुभिः पूर्णे भृतं प्लुतमित्यर्थो मुखं यस्य स तथा, 'हरिसवस' त्ति अनेन 'हरिसवसविसप्पमाणहियए' त्ति द्रष्टव्यम्, धाराहतं यत्कदम्बकं-कदम्बपुष्पं तद्वत् समुच्छ्रितरोमकूपो रोमाञ्चित इत्यर्थः, 'निसट्ठे' त्ति निसृष्टो दत्तः अनगारवर्णको वाच्यः, सचायम्—"इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिए मणसमिए वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते' मनःप्रभृतीनां समितिः—सत्प्रवृत्तिः गुप्तिस्तु-निरोधः, अत एव 'गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी' ब्रह्मगुप्तिभिः 'चाई'—सङ्गानां 'वणे लज्जू'—रज्जुरिवा वक्रव्यवहारात् लज्जालुर्वा संयमेन लौकिकलज्जया वा 'तवस्सी खंतिखमे' क्षान्त्या क्षमते यः स तथा 'जिइंदिए सोही' शोधयत्यात्मपरावविति शोधी शोभी वा 'अणिदाणे अप्पुस्सुए' अल्पौत्सुक्योऽनुत्सुक इत्यर्थः, 'अवहिल्ले' संयमादबहिर्भूतचित्तवृत्तिः'सुसामण्णरए इणमेव निग्गंथं पावयणं पुरओ त्ति कट्टु विहरइ' निर्ग्रन्थप्रवचनानुमार्गेण इत्यर्थः।

तते णं से मेहे अणगारे अन्नया कदाइ समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति २ त्ता एवं वदासी-इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबन्धं करेह। तते णं से मेहे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुन्नाते समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति। मासियं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं०सम्मं काएणं फासेति पालेति सोभेति तीरेति किट्टेति सम्मं काएणं फासेत्ता पालेत्ता सोभेत्ता तीरेत्ता किट्टेत्ता पुणरवि समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति २ त्ता एवं वदासी—इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाते समाणे दोमासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबन्धं करेह, जहा पढमाए अभिलावो तहा दोचाए तच्चाए चउत्थाए पंचमाए छम्मासियाए सत्तमासियाए पढमसत्तराइंदियाए दोचं सत्तरातिंदियाए तइयं सत्तरातिंदियाए अहोरातिंदियाए वि एगराइंदियाए वि, तते णं से मेहे अणगारे बारस भिक्खुपडिमाओ सम्मं काएणं फासेत्ता पालेत्ता सोभेत्ता तीरेत्ता किट्टेत्ता पुणरवि वंदति नमंसइ २ त्ता एवं वदासी—इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे गुणरतणसंवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। ज्ञा०। (गुणरत्नसंवत्सरतपःकर्म 'गुणरयणसंवच्छर' शब्दे तृतीयभागे ६२६ पृष्ठे गतम्) तते णं से मेहे अणगारे गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं अहासुत्तं ०जाव सम्मं काएणं फासेइ पालेइ सोभेइ तीरेइ किट्टेइ अहासुत्तं अहाकप्पं ० जाव किट्टेत्ता समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति २ त्ता बहूहिं छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरति। (सूत्र- ३३)।

'अहासुहं' ति यथासुखं-सुखानतिक्रमेण, मा पडिबन्धंविघातं विधेहि विवक्षितस्येति गम्यम्, 'भिक्खुपडिमं' ति अभिग्रहविशेषः, प्रथमा एकमासिकी एवं द्वितीयाद्याः सप्तम्यन्ताः क्रमेण द्वित्रिचतुष्पञ्चषट्सप्तमाः समानाः, अष्टमीनवमीदशम्यः प्रत्येकं सप्ताहोरात्रमानाः एकादशी अहोरात्रमाना द्वादशी एकरात्रमानेति। तत्र—

"पडिवज्जइ एयाओ, संघयणधिइजुओ महासत्तो।
पडिमाओ भावियप्पा, सम्मं गुरुणा अणुन्नाओ॥१॥
गच्छे च्चिय निम्माओ, जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा।
नवमस्स तइयवत्थू, होइ जहन्नो सुयाहिगमो॥२॥
वोसट्ठचत्तदेहो, उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पी।
एसण अभिग्गहिया, भत्तं च अलेवडं तस्स॥३॥
दुट्ठस्सहत्थिमाई, तओ भएणं पयं पि नो सरइ।
एमाइनियमसेवी, विहरइ जाऽखंडिओ मासो॥४॥"

इत्यादि ग्रन्थान्तराभिहितो विधिरासां द्रष्टव्यः। यच्चेह एकादशाङ्गविदोऽपि मेघानगारस्य प्रतिमानुष्ठानं भणितं तत्सर्वविदिसमुपदिष्टत्वादनवद्यमवसेयमिति, यथासूत्रम्—सूत्रानतिक्रमेण, यथाकल्पम्—प्रतिमाचारानतिक्रमेण, यथामार्गम्-ज्ञानाद्यनतिक्रमेण, क्षायोपशमिकभावानतिक्रमेण वा कायेन न मनोरथमात्रेण, फासेइ' त्ति उचितकाले विधिना ग्रहणात्, पालयति—असकृदुपयोगेन प्रतिजागरणात्, शोभयति—पारणकदिने गुरुदत्तशेषभोजनकरणात्, शोधयति वा-अतिचारपङ्कक्षालनात्, तीरयति—पूर्णेऽपि काले स्तोककालमवस्थानात्, कीर्त्तयति—पारणकदिने इदं चेदं चैतस्याः कृत्यं कृतमित्येवं कीर्त्तनात्। ज्ञा०। (गुणरत्नसंवत्सरतपःकर्मव्याख्या 'गुणरयणसंवच्छर' शब्दे तृतीयभागे ६२६ पृष्ठे गता)

तते णं से मेहे अणगारे तेणं उरालेणं विपुलेणं सस्सिरीएणं पयत्तेणं पग्गहिएणं कल्लाणेणं सिवेणं धन्नेणं मंगल्लेणं उदग्गेणं उदारएणं उत्तमेणं महाणुभावेणं तवोक-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

म्मेणं सुक्के लुक्खे लुक्खे निम्मंसे निस्सोणिए किडिकिडिया-भूए अट्ठिचम्मावणद्धे किसे धमणिसंतए जाते याऽवि हो-त्था, जीवं जीवेणं गच्छति जीवं जीवेणं चिट्ठति भासं भासित्ता गिलायति भासं भासमाणे गिलायति भासं भासिस्सामि त्ति गिलायति से जहा नाम ए(व)इंगालसगडि-याइ वा कट्ठसगडियाइ वा पत्तसगडियाइ वा तिलसगडि-याइ वा एरंडकट्ठसगडियाइ वा उण्हे दिन्ना सुक्का समाणी ससद्दं गच्छइ ससद्दं चिट्ठति एवामेव मेहे अणगारे ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, उवचिए तवेणं अवचिते मंससो-णिएणं हुयासणे इव भासरासिपरिच्छन्ने तवेणं तेएणं तव-तेयसिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणे२ चिट्ठति। तेणं का-लेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थ-गरे०जाव पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दुतिज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणामेव रायगिहे नगरे जेणामेव गुणसिलए चेतिए तेणामेव उवागच्छति २ त्ता अहाप-डिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भा-वेमाणे विहरति। तते णं तस्स मेहस्स अणगारस्स रात्रो पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिते०जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं तहेव०जाव भासं भासिस्सामीति गिलामि तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे सद्धा धिई संवेगे तं०जाव ताव अत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरि ए पुरिसगारपरक्कमे सद्धा धिई संवेगे०जाव इमे धम्मायरिए धम्मोवदेसए समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरति ताव ताव मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए०जाव तेयसा जलंते सूरे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता समणेणं भगवता महावीरेणं अब्भणुन्नायस्स समाणस्स सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहित्ता गोयमाऽऽदिए समणे निग्गंथे निग्गं-थीओ य खामेत्ता तहारूवेहिं कडाईहिं थेरेहिं सद्धिं विउलं प-व्वयं सणियं सणियं दुरूहित्ता सयमेव मेहघणसन्निगासं पुढविसिलापट्टयं पडिलेहेत्ता संलेहणाझूसणाए झूसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खितस्स पाओवगयस्स कालं अणवकं-खमाणस्स विहरित्तए, एवं संपेहेति २ त्ता कल्लं पाउप्प-भायाए रयणीए ०जाव जलंते जेणेव समणे भगवं महा-वीरे तेणेव उवागच्छति २ त्ता समणं भगवं महावीरं ति-क्खुत्तो आदाहिणं पदाहिणं करेइ २ त्ता वंदति नमंसति २ त्ता नऽच्चासन्ने नातिदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे अभि-मुहे विणएणं पंजलियपुडे पज्जुवासति,मेहे त्ति। समणे भग वं महावीरे मेहं अणगारं एवं वदासी-से णूणं तव मेहा! रात्रो पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमा-णस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिते० जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं इमेणं ओरालेणं०जाव जेणेव अहं तेणेव हव्वमा-गए,से णूणं मेहा! अट्ठे समट्ठे?,हंता! अत्थि अहासुहं देवा-णुप्पिया! मा पडिबंधं करेह। तते णं से मेहे अणगारे सम-णेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुन्नाए समाणे हट्ठ० जाव हियए उट्ठाइ उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं ति-क्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ २ त्ता वंदइ नमंसइ २ त्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुभेइ २ त्ता गोयमातिस-मणे निग्गंथे निग्गंथीओ य खामेति खामेत्ता य तहारूवे-हिं कडाईहिं थेरेहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं २ दुरूह-ति २ त्ता सयमेव मेहघणसन्निगासं पुढविसिलापट्टयं पडिलेहति २ त्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहति २ त्ता दब्भसंथारगं संथरति २ त्ता दब्भसंथारगं दुरूहति २ त्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयलपरिग्गहियं सिर-सावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वदासी-नमो त्थु णं अ-रिहंताणं भगवंताणं ०जाव संपत्ताणं, णमो त्थु णं सम-णस्स भगवओ महावीरस्स ०जाव संपाविउकामस्स मम धम्मायरियस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थ गयं इहगए पा-सउ मे भगवं तत्थ गते इहगतं ति कट्टु वंदति नमंसइ २ त्ता एवं वदासी-पुव्वं पि य णं मए समणस्स भगवओ महा-वीरस्स अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए मुसावाए अदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे कोहे माणे माया लोभे पेज्जे दोसे कलहे अब्भक्खाणे पेसुन्ने परपरिवाए अरतिरति मायामोसे मिच्छादंसणसल्ले पच्चक्खाते, इयाणिं पि णं अहं तस्सेव अंतिए सव्वं पाणातिवायं पच्चक्खामि ०जाव मिच्छादंसणसल्लं. पच्चक्खामि, सव्वं असणपाणखादि-मसातिमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं ०जाव विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतीति कट्टु एयं पि य णं चरमेहिं ऊ-सासनिस्सासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु संलेहणाझूसणाझू-सिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालं अणवकं-खमाणे विहरति। तते णं ते थेरा भगवंतो मेहस्स अणगा-रस्स अगिलाए वेयावडियं करेंति। तते णं से मेहे अण-गारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जित्ता बहु-पडिपुन्नाइं दुवालस वरिसाइं सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झोसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अण-सणाए छेदेत्ता आलोयियपडिक्कंते उद्धियसल्ले समाहिपत्ते आणुपुव्वेणं कालगए त। ते णं ते थेरा भगवंतो मेहं अणगारं आणुपुव्वेणं कालगयं पासंति २ त्ता परिनिव्वाणवत्तियं का-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस्सग्गं करेंति२त्ता मेहस्स आहारभंडयं गेण्हंति२त्ता विउलाओ पव्वयाओ सणियं२पच्चोरुहंति२त्ता जेणामेव गुणासिलए चेइए जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव उवागच्छंति २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति २ त्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी मेहे णामं अणगारे पगइभद्दए ०जाव विणीते से णं देवाणुप्पिएहिं अब्भणुन्नाए समाणे गोतमातिए समणे निग्गंथे निग्गंथीओ य खामेत्ता अम्हेहिं सद्धिं विउलं पव्वयं सणियं २ दुरूहति २ त्ता सयमेव मेघघणसन्निगासं पुढविसिलं पट्टयं पडिलेहति २ त्ता भत्तपाणपडियाइक्खित्ते आणुपुव्वेणं कालगए। एस णं देवाणुप्पिया! मेहस्स अणगारस्स आयारभंडए। (सूत्र-३४) 'भंतेत्ति' भगवं गोतमे समणं उ वंदति नमंसति २ त्ता एवं वदासी-एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी मेहे णामं अणगारे से णं भंते! मेहे अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए कहिं उववन्ने?, गोतमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा! मम अंतवासी मेहे णामं अणगारे पगतिभद्दए ०जाव विणीए से णं तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयातिं एक्कारस अंगाति अहिज्जति २ त्ता वारस भिक्खुपडिमाओ गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं काएणं फासेत्ता ०जाव किट्टेत्ता मए अब्भणुन्नाए समाणे गोयमाइथेरे खामेइ २ त्ता तहारूवेहिं ०जाव विउलं पव्वयं दुरूहति २ त्ता दब्भसंथारगं संथरति २ त्ता दब्भसंथारोवगए सयमेव पंचमहव्वए उच्चारेइ वारस वासातिं सामण्णपरियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झुसित्ता सट्ठिं भत्तातिं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते उद्धियसल्ले समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उद्धं चंदिमसूरग्गहगणणक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहूइं जोयणकोडीओ बहूइं जोअणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलंतगमहासुक्कसहस्साराणयपाणयारण च्चुते तिण्णि य अट्ठारसुत्तरे गेवेज्जविमाणावाससए वीइवइत्ता विजए महाविमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं मेहस्स वि देवस्स तेत्तीसं सागरोवमातिं ठिती पण्णत्ता। एस णं भंते! मेहे देवे ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं ठितिक्खएणं भवक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति?, गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति बुज्झिहिति मुच्चिहिति परिनिव्वाहिति सव्वदुक्खाणमंतं काहिति। एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं० जाव संपत्तेणं अप्पोपालंभनिमित्तं पढमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति वेमि। (सूत्र-३५)

'उरालेण' मित्यादि, उरालेन—प्रधानेन विपुलेन—बहुदिनत्वाद्विस्तीर्णेन सश्रीकेण—सशोभेन 'पयत्तेणं' ति गुरुणा प्रदत्तेन प्रयत्नवता वा प्रमादरहितेनेत्यर्थः, प्रगृहीतेन-बहुमानप्रकर्षाद् गृहीतेन, कल्याणेन-नीरोगताकरणेन शिवेन-शिवहेतुत्वात्, धन्येन-धनावहत्वात्, माङ्गल्येन-दुरितोपशमे साधुत्वात्, उदग्रेण—तीव्रेण, उदारेण—औदार्यवता निःस्पृहत्वातिरेकात्, 'उत्तमेणं' ति ऊर्ध्वं तमसः—अज्ञानाद्यत्तत्तथा तेन अज्ञानरहितेनेत्यर्थः, महानुभागेन—अचिन्त्यसामर्थ्येन, शुष्को—नीरसशरीरत्वात्, 'भुक्खे' त्ति-बुभुक्षावशेन-रुक्षीभूतत्वात्, किटिकिटिका-निर्मांसास्थिसम्बन्धी उपवेशनादिक्रियाभावी शब्दविशेषः तां भूतः-प्राप्तः स तथा, अस्थीनि चर्मणाऽवनद्धानि यस्य स तथा, कृशो—दुर्वलो, धमनीसन्ततः-नाडीव्याप्तो, जातश्चाप्यभूत्, 'जीवं जीवेण गच्छति' जीवबलेन-शरीरबलेनेत्यर्थः, 'भासं भासित्ता' इत्यादौ कालत्रयनिर्देशः 'गिलायति' त्ति ग्लायति ग्लानो भवति, 'से' इति अथार्थः अथशब्दश्च वाक्योपक्षेपार्थः, यथा-दृष्टान्तार्थः, नाम-इति संभावनायाम्, एव-इति वाक्यालङ्कारे, अङ्गाराणां भृता शकटिका-गन्त्री अङ्गारशकटिका, एवं काष्ठानां पत्राणां—पर्णानां 'तिल' त्ति तिलदण्डकानाम्, एरण्डशकटिका-एरण्डकाष्ठमयी, आतपे दत्ता शुष्का सतीति विशेषणद्वयम् आर्द्रकाष्ठपत्रभृतायाः तस्या न (शब्दः) संभवति, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः वाशब्दाः—विकल्पार्थाः, सशब्दं गच्छति तिष्ठति वा, एवमेव मेघोऽनगारः सशब्दं गच्छति, सशब्दं तिष्ठति, हुताशन इव भस्मराशिप्रतिच्छन्नः, 'तवेणं' ति तपोलक्षणेन—तेजसा, अयमभिप्रायो—यथा भस्मच्छन्नोऽग्निर्बहिर्वृत्त्या तेजोरहितोऽन्तर्वृत्त्या तु ज्वलति एवं मेघोऽनगारोऽपि बहिर्वृत्त्याऽपचितमांसादित्वान्निस्तेजा अन्तर्वृत्त्या तु शुभध्यानतपसा ज्वलतीति, उक्तमेवाह—तपस्तेजःश्रिया अतीवातीव उपशोभमानः २ तिष्ठतीति! 'तं अत्थि ता मे' त्ति तदेवमस्ति तावन्मे उत्थानादि न सर्वथा क्षीणं तदिति भावः। 'तं जाव ता मे' त्ति तत्-तस्मात् यावन्मेऽस्ति उत्थानादि ता इति—भाषामात्रेण यावच्च मे धर्माचार्यः 'सुहत्थी' ति पुरुषवरगन्धहस्ती शुभाः वा क्षायिकज्ञानादयोऽर्था यस्य स तथा, 'ताव ताव' त्ति तावच्च तावच्चेति वस्तुद्वयापेक्षया द्विरुक्तिः 'कडाईहिं' ति कृतयोग्यादिभिः, 'मेहघणसन्निगासं' ति घनमेघसदृशम्—कालमित्यर्थः, 'भत्तपाणपडियाइक्खियस्स' त्ति प्रत्याख्यातभक्तपानस्य "कालं' ति मरणम्, 'जेणेव इहं' ति इहशब्दविषयं स्थानम् इदमित्यर्थः 'संपलियंकनिसण्णे' त्ति पद्मासनसन्निविष्टः 'पेज्जे' त्ति अभिष्वङ्गमात्रं 'दोस' त्ति अप्रीतिमात्रम् अभ्याख्यानम्-असद्दोषारोपणं पैशुन्यं-पिशुनकर्म्म परपरिवादः-विप्रकीर्णपरदोषकथा अरतिरती धर्माधर्माङ्गेषु मायामृषा-वेषान्तरकरणतो लोकविप्रतारणं संलेखनां—कषायशरीरकृशतां स्पृशतीति संलेखनास्पर्शकः, पाठान्तरेण-संलेहणाझूसणाझूसिय' त्ति संलेखनासेवनाजु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ष्ट इत्यर्थः । 'मासियाए' त्ति मासिक्या मासपरिमाणया 'अप्पाणं भूसित्ते' त्ति क्षपयित्वा षष्टिं भक्तानि 'अणसणाए' त्ति अनशनेन, छित्त्वा—व्यवच्छेद्य, किल दिने २ द्वे द्वे भोजने लोकः कुरुते, एवं च त्रिंशता दिनैः षष्टिर्भक्तानां परित्यक्ता भवतीति, 'परिनिव्वाणवत्तिय' त्ति परिनिर्वाणम्—उपरतिः, मरणमित्यर्थः, तत्प्रत्ययो—निमित्तं यस्य सः परिनिर्वाणप्रत्ययः—मृतकपरिष्ठापना-कायोत्सर्ग इत्यर्थः, तं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति, 'आयारभंडगं' ति आचाराय—ज्ञानादिभेदभिन्नाय भाण्डकम्—उपकरणं वर्षाकल्पादि-आचारभाण्डकम्, 'पगइभद्दए' इत्यत्र यावत्करणादेवं दृश्यम्—'पगइउवसन्ते पगइपयणुकोहमाणमायालोभे मिउमद्दवसंपन्ने आलीणे भद्दए विणीए' त्ति तत्र प्रकृत्यैव—स्वभावेनैव भद्रकः—अनुकूलवृत्तिः प्रकृत्यैवोपशान्तः—उपशान्ताकारः, मृदु च तन्मार्दवं च मृदुमार्दवम्—अत्यन्तमार्दवम् इत्यर्थः, आलीनः-आश्रितो, गुर्वनुशासनेऽपि सुभद्रक एव यः स तथा 'कहिं गए' त्ति कस्यां गतौ गतः ? क्व च देवलोकादौ उत्पन्नो ? जातः, विजयविमानमनुत्तरविमानानां प्रथमं पूर्वदिग्भागवर्त्ति, तत्रोत्कृष्टादिस्थितेर्भावादाह-'तत्थे' त्यादि, आयुःक्षयेण-आयुर्दलिकनिर्जरणेन स्थितिक्षयेण-आयुष्कर्मणः स्थितेर्वेदनेन भवक्षयेण-देवभवनिबन्धनभूतकर्मणां गत्यादीनां निर्जरणेनेति । अनन्तरं देवभवसम्बन्धिनं 'चयं'—शरीरम् 'चइत्त' त्ति त्यक्त्वा, अथवा-च्यवं—च्यवनं कृत्वा, सेत्स्यति निष्ठितार्थतया विशेषतः सिद्धिगमनयोग्यतया महर्द्धिप्राप्त्या वा भोत्स्यते केवलालोकेन मोक्ष्यते सकलकर्मांशैः परिनिर्वास्यति-स्वस्थो भविष्यति, सकलकर्म्मकृतविकारविरहिततया, किमुक्तं भवति ?-सर्वदुःखानामन्तं करिष्यतीति । 'एवं खलु' त्यादि निगमनम् 'अप्पोपालंभनिमित्तं' आप्तेन-हितेन गुरुणेत्यर्थः, उपालम्भो—विनेयस्याविहितविधायिनः आप्तोपालम्भः स निमित्तं यस्य प्रज्ञापनस्य तत्तथा । प्रथमस्य ज्ञाताध्ययनस्य अयम्-अनन्तरोदितः मेघकुमारचरितलक्षणोऽर्थो-ऽभिधेयः- प्रज्ञप्तः-अभिहितः । अविधिप्रवृत्तस्य शिष्यस्य गुरुणा मार्गे स्थापनाय उपालम्भो देयो यथा-भगवता दत्तो मेघकुमाराय इत्येवमर्थं प्रथममध्ययनमित्यभिप्रायः । इह गाथा- "महुरेहिं निउणेहिं, वयणेहिं चोययंति आयरिया । सीसे कहिं चि खलिए, जह मेहमुणिं महावीरो ॥ १ ॥" इतिशब्दः समाप्तौ, ब्रवीमीति-प्रतिपादयाम्येतदहं तीर्थकरोपदेशेन, न स्वकीयबुद्ध्या, इत्येवं गुरुवचनपारतन्त्र्यं सुधर्मस्वामी आत्मनो जम्बूस्वामिने प्रतिपादयति । एवमन्येनापि मुमुक्षुणा भवितव्यमित्येतदुपदर्शनार्थमिति । ज्ञाताधर्मकथायां प्रथमं ज्ञातविवरणं मेघकुमारकथानकाख्यं समाप्तम् । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । मेघकुमारस्य पाश्चात्यभवे हस्तिरूपस्य यन्नाम दृश्यते तत्केन दत्तमिति ? प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र तत्पर्वतनितम्बादिनिवासिवनेचरैस्तन्नाम दत्तमिति श्रीज्ञाताधर्मसूत्रे उक्तमस्तीति बोध्यम् । ही० ३ प्रका० । मेघकारिभवनपतिदेवे, पञ्चा० २ विव० ।

मेघकुमारवाहण—मेघकुमारवाहन—न० । मेघकारिदेवसंशब्दने, पञ्चा० २ विव० ।

मेहघोस—मेघघोष—पुं० । कल्किप्रपौत्रधर्मदत्तपौत्रे स्वनामख्याते जितशत्रुपुत्रे, ती० १ कल्प ।

मेहचंद—मेघचन्द्र—पुं० । तिलङ्गजनपदस्थामरकुण्डनगरवासिनि पद्मिनीदेव्युपासके स्वनामख्याते दिगम्बरे, ती०- ४६ कल्प ।

मेहचारण—मेघचारण—पुं० । नभोवर्त्मनि प्रवितनजलधरपटलपटास्तरणे जीवानुपघातिचङ्क्रमणप्रभवे चारणविशेषे, ती० ४६ कल्प ।

मेहच्छीर—देशी—जले, दे० ना० ६ वर्ग १३६ गाथा ।

मेहण—मेहन—न० । मैथुनप्रधानाङ्गे, प्रजनने, लिङ्गे, भगे च । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

मेहणाद—मेघनाद—पुं० । स्वनामख्याते वैताढ्यपर्वतविद्याधरे, कृष्णेन स्थापिते रैवतक्षेत्रपाले, आ० क० १ अ० । आ० म० । नालन्दाक्षेत्रपाले, ती० १० कल्प । ('माण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३६ पृष्ठे उदाहरणम्) ।

मेहपुर—मेघपुर—न० । स्वनामख्याते भारतपुरे, दर्श० १ तत्त्व ।

मेहमालिणी—मेघमालिनी—स्त्री० । ऊर्ध्वलोकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, जं० ५ वक्ष० । आ० चू० । आ० क० । आ० म० । नन्दनवने हैमवतकूटस्थायां मेघमालिन्यां देव्याम्, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

मेहमुणि—मेघमुनि—पुं० । लुम्पकगच्छं त्यक्त्वा हीरविजयस्य शिष्यतां गते स्वनामख्याते मुनौ, "हित्वा लुम्पकगच्छसूरिपदवीं गार्हस्थ्यलीलोपमां, प्रोद्यद्बोधिरतो यदाह भजत श्रीहीरवीरान्तिकम् । आगस्त्यागपुनर्व्रतग्रहपरो यो भाग्यसौभाग्यभूः, स श्रीमेघमुनिर्न कैः सहृदयैर्धर्मार्थिषु श्लाघ्यते ॥१॥" प्रति० ।

मेहमुह—मेघमुख—पुं० । स्वनामख्याते भवनपतिदेवे मेघकुमारे, आ० म० १ अ० । स्वनामख्याते नागकुमारे, तद्द्वीपवासिनि जने च । प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । स्था० । स्वनामख्याते आपातकिरातानां नागकुमारे देवे, जं० ३ वक्ष० । दर्श० ।

मेहरह—मेघरथ—पुं० । जम्बूद्वीपे भारतवर्षे चतुर्विंशतिस्तीर्थकरास्तेषु षोडशः शान्तिनामा; तस्य पूर्वभविकजीवे, स० । स्वनामख्याते विद्याधरे पद्मश्रियाः पितरि, आ० चू० १ अ० । ('माण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा)

मेहराई—मेघराजी—स्त्री० । मेघराजीव या सा कृष्णत्वान्मेघराजीति वाऽभिधीयते । स्था० ८ अ० ३ उ० । मेघराजीति वा कालमेघरेखातुल्यत्वात् । द्वितीयकृष्णराजौ, भ० ६ श० ५ उ० ।

मेहला—मेखला—स्त्री० । खघथधभाम् ॥ ८ । १ । १८७ ॥ स्वरात्परेषामसंयुक्तानामनादिभूतानां ख-घ-थ-ध-भ इत्येतेषां वर्णानां प्रायो हो भवति । घ-मेहला । प्रा० । काञ्चीनामके कट्याभरणविशेषे, औ० । प्रश्न० । काञ्चीमेखलयोः कट्याभरणयोर्यद्यपि नामकोशे एकार्थताऽभिधीयते तथापि इह विशेषो रूढेरवसेयः । औ० । रत्नकाञ्च्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रसनायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । अनु० । "कच्छा कांची य मेहला रसणा" पाइ० ना० ११५ गाथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेहवई–मेघवती–स्त्री०। ऊर्ध्वलोकवास्तव्यायां दिशाकुमार्याम्, आ० चू० १ अ०। स्था०। आ० म०। आ० क०।

मेहसिरि–मेघश्री–स्त्री०। चमराग्रमहिष्या मेघायाः पूर्वभवमातरि, ज्ञा० २ श्रु० ३ वर्ग १ अ०।

मेहसीह–मेघसिंह–पुं०। षष्ठबलदेववासुदेवयोः पितरि, ति०।

मेहस्सर–मेघस्वर–त्रि०। मेघस्येवातिदीर्घः स्वरो यस्येति। मेघतुल्यगम्भीरशब्दे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। तं०।

मेहा–मेधा–स्त्री०। श्रुतग्रहणशक्तौ, स्था० ८ ठा० ३ उ०। अपूर्वश्रुतग्रहणबुद्धौ, स०। व्य०। सच्छास्त्रग्रहणपटुत्वे, पापश्रुतावज्ञाकारिज्ञानावरणीयक्षयोपशमजे चित्तधर्मे, ध० २ अधि०। प्रथमं विशेषसामान्यार्थावग्रहमतिरिच्योत्तरः सर्वोऽपि विशेषे सामान्यार्थावग्रहः। नं०। हेयोपादेयधियि, जं० ३ वक्ष०। अजडत्वे, ल०। अवधारणायाम्, विशे०। हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपायां प्रज्ञायाम्, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। सामान्यप्रज्ञायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। पटुतायाम्, आव० ५ अ०। बुद्धौ, 'मेहा मई मणीसा विन्नाणं धी धिई बुद्धी' पाइ० ना० ३१ गाथा। मर्यादायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

मेघा–स्त्री०। चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरकुमारराजस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ५ ठा० १ उ०। (अस्याः पूर्वोत्तरभवकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्ता।)

मेहाणीय–मेघानीक–न०। अभ्रपटले, जं० ३ वक्ष०।

मेहावि–मेधाविन्–त्रि०। मेधया मर्यादया धावत्येवंशीलमिति निरुक्तिवशादेवंभूतो हि गणस्य मर्यादाप्रवर्त्तको भवति अथवा–मेधा–श्रुतग्रहणशक्तिस्तद्वानेवंभूतो हि श्रुतमन्यतो झटिति गृहीत्वा शिष्याध्यापने समर्थो भवति। स्था० ६ ठा० ३ उ०। विज्ञानवति, आ० चू० ३ अ०। सूत्र०। अपूर्वश्रुतग्रहणशक्तिमति, उपा० ७ अ०। कल्प०। स्था०। प्रश्न०। सकृच्छ्रुतदृष्टकर्मज्ञे, अनु०। उपा०। ज्ञा०। हिताहितप्राप्तिपरिहाराभिज्ञे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। तत्त्वदर्शिनि, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। बुद्धिमति, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०। व्य०। उत्त०। कुशले, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ०। मर्यादावति, विवेकिनि च। सूत्र० १ श्रु० १० अ०। मर्यादाव्यवस्थिते, विदितवेद्ये च। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। सदसद्विवेकिनि च। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। मेधावी–ग्रहणधारणमर्यादामेधाविभेदात्त्रिधा। बृ० ६ उ०। सूत्र०। अध्ययनार्थावधारणशक्तिमति, मर्यादावर्तिनि च। उत्त० १ अ०। न्यायावस्थिते, आव० ३ अ०। संयते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। प्रति०। परस्पराभ्याहतपूर्वापरानुसन्धानदक्षे, रा०। जी०। आ० म०। स्वामिपदसंज्ञादिप्राप्तार्थाधारके, जं० ३ वक्ष०। अवधारणशक्तिमति, उत्त० २ अ०। सर्वभावज्ञे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। आ० म०।

अथ मेधाविद्वारमाह–

उग्गहणधारणाए, मेराए चेव होइ मेधावी।
तिविहम्मि अहीकारो, मेरासंजुत्तो मेधावी॥

मेधावी त्रिविधस्तद्यथा–ग्रन्थग्रहणमेधावी–सूत्रार्थग्रहणपटुप्रज्ञावान् १, धारणामेधावी–पूर्वाधीतयोः प्रभूतयोरपि सूत्रार्थयोश्चिरमवधारणाबुद्धिमान् २, मर्यादामेधावी–चरणकरणप्रवणमतिमान् ३, एभिस्त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गाः, तद्यथा–ग्रहणमेधावी धारणामेधावी मर्यादामेधावी १, ग्रहणमेधावी धारणामेधावी अमर्यादामेधावी २, इत्यादि इह यत्र यत्र भङ्गो न भवति तत्र तत्र न दातव्यं, यदि ददाति तदा प्रायश्चित्तम्, तत्र यदि पार्श्वस्थादिभ्यः सूत्रमर्थं वा ददाति तदा चत्वारो लघवः, यथाच्छन्देभ्यः प्रददाति(तदा) चत्वारो गुरुमासाः। 'तिविहम्मि अहीगारो' त्तिमर्यादामेधाविनो ग्रहणधारणामेधाभ्यां संपन्नस्य असंपन्नस्य वा दातव्यं, मर्यादाविकलयोरितरयोर्न दातव्यमिति त्रिविधेनापि दानरूपतया यथायोगमत्राधिकार इति। गाथायां तृतीयार्थे सप्तमी। अथ मर्यादामेधाविनोर्व्युत्पत्तिमाह–'मेरासंजुत्तो मेहावि' त्ति–मेरा–मर्यादा,तत्संयुक्तो मेधावी मर्यादामेधावी। शाकपार्थिवादित्वान्मध्यपदलोपी समासः। बृ० १ उ० १ प्रक०।

मेहिय–मेधिक–न०। स्थविरात्कामर्द्धेर्निर्गतस्य वैश्यपाटिकगणस्य द्वितीयगणे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

मेहुण–मैथुन–न०। मिथुनं-दाम्पत्यं,तत्र भवं मैथुनम्। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०। मिथुनस्य स्त्रीपुंसलक्षणस्य–भावः कर्म वा मैथुनम्। आतु०। ध०। प्रश्न०। बृ०। स्था०। आचा०। अब्रह्मचरणे, आ० चू० ४ अ०। स्त्र्यङ्गालोकनप्रसन्नवदनसंस्तम्भितोरुवेपथुलक्षणे, स्था० १० ठा० ३ उ०। सूत्र०। प्रव०। स्त्र्याद्यभिलाषसंज्ञानिवेदमोहोदयसंवेदने, आ० चू० ४ अ०। ध०। स्त्रीसंपर्के, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। कामसुखे, उत्त० २ अ०। कामक्रीडायाम्, ध० २ अधि०। कामाभिलापे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

त्रिविधं मैथुनम्–

तिविहे मेहुणे पण्णत्ते। तं जहा–दिव्वे, माणुस्सए, तिरिक्खजोणिए। तओ मेहुणं गच्छंति। तं जहा–देवा,मणुस्सा,तिरिक्खजोणिया। तओ मेहुणं सेवंति। तं तहा–इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा। (सूत्र–१२३)

'तिविहे मेहुणे' इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं मिथुनं–स्त्रीपुंसयुग्मं तत्कर्म मैथुनम्, नारकाणां तन्न सम्भवति द्रव्यत इति चतुर्थं नास्त्येवेति नोक्तम्। मिथुनकर्म्मण एव कारकानाह–'तओ' इत्यादि कण्ठ्यम्, तेषामेव भेदानाह–'तओ मेहुणं' इत्यादि–कण्ठ्यम्। स्था० ३ ठा० १ उ०। सूत्र०।

अथ मैथुनमभिधित्सुराह–

मेहुण्णं पि य तिविहं, दिव्वं माणुस्सयं तिरिक्खं च।
ठाणाइं मोत्तूणं, पडिसेवनसोधि सच्चेव॥ ६५॥

मैथुनमपि त्रिविधं, तद्यथा–दिव्यं, मानुष्यं, तैरश्चं च। अत्र च येषु स्थानेष्वेतानि दिव्यादीनि मैथुनानि सम्भवन्ति तानि मुक्त्वा स्थातव्यं, यदि तेषु तानि वा दिव्यादीनि प्रतिसेवते तदा तदेव स्थानप्रायश्चित्तं, सैव च प्रतिसेवनायां शोधिर्या प्रथमोद्देशके सागारिकसूत्रे अभिहिता।

अथ द्वितीयपदं सप्रायश्चित्तसमुच्चयं–तत्र परः प्रेरयति–

मूलुत्तरसेवासुं, अवरपदम्मि य णिसिज्झती सोधी।
मेहुणे पुण तिविहे, सोधीऽवट्ठायतो किह णु॥ ६६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलगुणोत्तरगुणप्रतिसेवनासु प्राणातिपातपिण्डविशोधिप्रभृतिविषयासु, अपरपदे—उत्सर्गापेक्षया अन्यस्मिन्नपवादाख्ये स्थाने शोधिः-प्रायश्चित्तम् तावन्निषिध्यते न दीयते इत्यर्थः। मैथुने-पुनस्त्रिविधेऽपि किमर्थमपवादतः प्रतिसेव्यमाने शोधिरभिधास्यते ? सूरिराह-द्विविधा प्रतिसेवना-दर्पिका, कल्पिका च।

अनयोः प्ररूपणार्थं तावदिदमाह—

रागद्दोसाणुगया, तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।
आराधणा उ कप्पे, विराधणा होति दप्पेणं ॥६७॥

रागद्वेषाभ्याम्-अनुगता-सहिता या प्रतिसेवना सा दर्पिका, या तु कल्पिका सा तदभावात्-रागद्वेषाभावाद्भवति। शिष्यः प्राह-दर्पेण कल्पेन वा सेविते किं भवतीति ?, उच्यते-कल्पेनासेविते ज्ञानादीनामाराधना भवति। दर्पेण प्रतिसेविते तेषामेव विराधना भवति। बृ० ४ उ। (अत्र विशेषः 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३७० पृष्ठे गतः)

त्रिविधे दिव्यमानुष्यतैरश्चलक्षणे मैथुने कथमभिलाष उत्पद्यते ?, सूरिराह—

वसहीए दोसेणं, दट्ठुं सरिउं व पुव्वभुत्ताइं।
तेगिच्छं सद्दमादी, असज्जणातीसु वा जतणा ॥ ८३ ॥

वसतेर्दोषेण-स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तिलक्षणेन। यद्वा—स्त्रियमालिङ्गनादिकं वा दृष्ट्वा गृहस्थकाले वा यानि स्त्रीभिः सार्द्धं भुक्तानि वा हसितानि वा उल्ललितानि वा, तानि स्मृत्वा मैथुनाभिष उत्पद्यते। एवमुत्पन्ने किं कर्त्तव्यमित्याह-'तेगिच्छ' इत्यादि चिकित्सा कर्त्तव्या। सा च निर्विकृतिकप्रभृतिका। तामतिक्रान्तस्य शब्दादिका वा यतना कर्त्तव्या। किमुक्तं भवति-यत्रस्थः-स्त्रीशब्दं रहस्यशब्दं वा शृणोति तत्र स्थविरसहितः स्थाप्यते। आदिशब्दाद्यत्रालिङ्गनादिकं पश्यति, तत्रापि स्थाप्यते। 'असज्जण त्ति' तस्यां शब्दश्रवणादिरूपायां चिकित्सायां सञ्जनं-सङ्गो गृद्धिरिति यावत्, सा तेन न कर्त्तव्या। एवं त्रिष्वपि दिव्यादिषु मैथुनेषु यतना मन्तव्या।

इदमेव सविशेषमाह—

विइयपदे तेगिच्छं, णिव्वीतियमादिगं अतिक्कंते।
सनिमित्तऽनिमित्तं पुण, उदयाहारे सरीरे य ॥८४॥

द्वितीयपदे निर्विकृतिकावमौदारिकनिर्बलाहारोर्द्धस्थानाचाम्लाभक्तार्थषष्ठाष्टमादिरूपां चिकित्सामतिक्रान्तस्य शब्दादिका अनन्तरोक्ता यतना भवति। एषा च सनिमित्ते अनिमित्ते वा मैथुनाभिलाषे भवति। तत्र सनिमित्तो-वसतिदोषादिनिमित्तसमुत्थः। अनिमित्तः पुनः—कर्मोदयेन आहारतः शरीरपरिवृद्धितश्च य उत्पद्यते। सर्वमेतद्यथा निशीथे प्रथमोद्देशके भणितं तथैव द्रष्टव्यम्। बृ० ४ उ०। (चतुर्विधं मैथुनम् 'मेहुणवेरमण' शब्दे वक्ष्यते) (संखडिविषये मैथुनसंभावना, अतः तत्र गमननिषेधसूत्रम् 'संखडि' शब्दे वक्ष्यते) (योनौ नवलक्षजीवास्तत्र हि स्त्रीपुरुषान् मैथुनं सेवमानान् दृष्ट्वा शुक्रं निष्काशयतो दोषाः, प्रायश्चित्तञ्च 'पच्छित्त' शब्दे पञ्चमभागे २०० पृष्ठे अनादिष्ट)

साध्व्या सह मैथुने दोषाः—

अणालोयंतो हु एकं पि, ससल्लमरणं मरे।
सयसाहस्स नारीणं, पोट्टं फालित्तु निग्घिणो ॥
सत्तट्ठमासिगब्भे च, फडफडंते णिगित्तई।
जो तस्स जत्तियं पावं, तत्तियं तं नवं गुणं ॥
एकसित्थीपसंगेणं, साहू बंधिज्ज मेहुणे।
साहुणीए सहस्सगुणं, मेहुणे क्खु णिसेविए ॥
कोडीगुणं तु पज्जेणं, तइए बोही पणस्सइ।
जो साहू इत्थि (मेराए, मेहुणे इत्थिया ठिए) ॥
बोहिलाभपरिब्भट्ठो, कहं चरओ सहाहिही।
अवोहिलाभियं कम्मं, संजओ संजई वि य।
मेहुणे सेविए आऊ, तेउकाई पबंधई ॥
जम्हा तीसु वि एएसु, ऽवरज्झंतो हु गोयमा !।
उस्सग्गे ववहारे, मग्गंठ (निट्ठ) वइ सव्वहा भगवंता ॥
एएणं नाएणं, जे गारत्थी मउक्कडो य।
रत्तिंदिया ण छड्डंति, इत्थियं तस्स का गई ॥
ते सरीरं सहत्थेणं, छिंदिऊणं तिलं तिलं।
अग्गिए जइ वि होमंति, तो विसुद्धी ण दीसइ ॥

महा० ६ अ० (मैथुनसङ्कल्पो न करणीय इति 'परदारगमण' शब्दे पञ्चमभागे ५२८ पृष्ठे गतम्)

मैथुनं सेवमानस्य कीदृशोऽसंयमः—

मेहुणे णं भंते ! सेवमाणस्स केरिसे असंजमे कज्जइ ?, गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे रूयनालियं वा बूरनालियं वा तत्तेणं कणएणं समभिधंसेज्जा एरिसएणं गोयमा ! मेहुणं सेवमाणस्स असंजमे कज्जइ, सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ० जाव विहरइ। (सूत्र-१०६)

'मेहुणवत्तिए नामं संजोए' त्ति प्रागुक्तम्। अथ मैथुनस्यैवासंयमहेतुताप्ररूपणसूत्रम्—'रूयनालियं व' त्ति रूतं कर्पासविकारस्तद्भृता नालिका शुषिरवंशादिरूपा रूतनालिका ताम्, एवं बूरनालिकामपि, नवरं बूरं वनस्पतिविशेषावयवविशेषः। 'समभिधंसेज्ज त्ति' रूतादिसमभिध्वंसनाद्, इह चायं वाक्यशेषो दृश्यः। एवं—मैथुनं सेवमानो योनिगतसत्त्वान्मेहनेनाभिध्वंसयेद्। एते च किल ग्रन्थान्तरे पञ्चेन्द्रियाः श्रूयन्त इति। 'एरिसए ण' मित्यादि च निगमनमिति। भ० २ श० ५ उ०।

मैथुने दोषाः।

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं।
नायरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥ १५ ॥

अब्रह्मचर्यं प्रतीतम्, घोरं-रौद्रं रौद्रानुष्ठानहेतुत्वात्, प्रमादम्-प्रमादवत् सर्वप्रमादमूलत्वात्, दुराश्रयम्-दुःसेवं विदितजिनवचनेनानन्तसंसारहेतुत्वात्, यतश्चैवमतो नाचरन्ति-नासेवन्ते, मुनयो लोके-मनुष्यलोके, किं विशिष्टाः ?,इत्याह-भेदायतनवर्जिनः-भेदः-चारित्रभेदः तदायतनं तत्स्थानमिदमेवोक्तन्यायाचद्वर्जिनः-चारित्रातिचारभीरवः। इति सूत्रार्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतदेव निगमयति—

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १६ ॥

मूलम्-बीजम् एतद् अधर्मस्य-पापस्येति पारलौकिकापायः महादोषसमुच्छ्रयम्-महतां दोषाणाम्-चौर्यप्रवृत्त्यादीनां-समुच्छ्रयं-संघातवद्, इत्यैहिकापायः,यस्मादेवं तस्मान् मैथुनसंसर्गम्-मैथुनसंबन्धं योपिदालापाद्यपि निर्ग्रन्था वर्जयन्ति। ण मिति वाक्यालंकारे। इति सूत्रार्थः। दश०६ अ०२ उ०। (मैथुनस्य दर्पिका कल्पिका च प्रतिसेवना-'मूलगुणपडिसेवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३७० पृष्ठे गता) " न य किंचि अणुरायं, पडिसिद्धं वावि जिनवरिंदेहिं। मोत्तुं मेहुणभावं, न विणा तं रागदोसेहिं १।" ध०३ अधि०। कथमेकान्ततो निषेधः? अत्रोच्यते-नैष दोषोऽत्रास्माकमार्हतानाम्, नैकान्ततः किंचित्प्रतिषिद्धम् अभ्युपगतं वा,मैथुनमेकं विहाय। अपि तु-द्रव्यक्षेत्रकालभावनाश्रित्य तदेव प्रतिषिध्यते, तदेव चाभ्युपगम्यते। उत्सर्गोऽप्यगुणाय,अपवादोऽपि गुणाय, कालज्ञस्य साधोः। आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ०।

मैथुनदोषेऽष्टकम्।

अथ यदुक्तम् "न च मैथुने" दोष इति तन्निराचिकीर्षुराह—

रागादेव नियोगेन, मैथुनं जायते यतः ।
ततः कथं न दोषोऽत्र, येन शास्त्रे निषिध्यते ॥ १ ॥

रागः-अभिष्वङ्गलक्षणः,अथवा-स्नेहरागविषयरागदृष्टिरागभेदात् त्रिविधो रागः। तत्राद्यः-अपत्यादिषु,द्वितीयः-पुंवेदादिरूपः, तृतीयः-वादिनां स्वदर्शनपक्षपातरूपः। तत्र रागात्-कामोदयरूपादेव शब्दोऽनाभोगमाध्यस्थ्यादिव्यवच्छेदार्थः, नियोगेन-अवश्यंभावेन अनेन च मैथुने माध्यस्थ्येन प्रवृत्त्यसंभवोपदर्शनेन मैथुनव्रतस्य निरपवादतामाह। आह च-"न वि किंचि अणुन्नायं,पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं। मोत्तुं मेहुणभावं,न विणा तं रागदोसेहिं॥१॥" इति। मैथुनस्य प्रायः स्त्रीपुरुषद्वन्द्वस्य कर्म मैथुनं जायते-उपपद्यते,यतो-यस्मात्तत् तस्मात्कथम्-केन प्रकारेण,न-नैव, दोषो-दूषणम्, रागलक्षणस्तज्जन्यकर्म्मबन्धलक्षणो वा। अत्रैतस्मिन् मैथुने येन कारणेन शास्त्रे-न च मैथुने दोष इत्येवंलक्षणे ग्रन्थे, निषिध्यते-निराक्रियते, त्वया दोष इति गम्यम्। अथवा—चकारदर्शनाद्येन च यतश्च शास्त्रे निषिध्यते मैथुनमतः कथं न दोषः इति हृदयम्। अथवा-यदि नाम रागाज्जायते मैथुनं तदा जायताम्, कुतोऽत्र दोषसद्भावः? उच्यते-येन कारणेन शास्त्रे निषिध्यते राग इत्यनुवर्तते। आह च—" को दुक्खं पाविज्जा, कस्स व सोक्खेहि विम्हओ हुज्जा। को व न लभेज्ज मोक्खं, रागद्दोसा जइ न होज्जा ॥ १ ॥" अतः शास्त्रनिषिद्धरागपूर्वकत्वान्मैथुने कथं न दोष इति हृदयम्। प्रयोगोऽत्र"यद्रागजन्यं तत्सदोषम्"यथा-हिंसाविशेषो, रागजन्यं च मैथुनम्, अतः सदोषमिति ॥ १ ॥

अथ पक्षैकदेशासिद्धोऽयं हेतुरिति परमतमाशङ्कमान आह—

धर्मार्थं पुत्रकामस्य, स्वदारेष्वधिकारिणः ।
ऋतुकाले विधानेन, यत्स्याद्दोषो न तत्र चेत् ॥ २ ॥

धर्मार्थम्-पुण्यनिमित्तम्,पुत्रकामस्य-सुतार्थिनः अपुत्रस्य हि धर्मो न भवति। यदुच्यते—" अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च। तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा, पश्चाद्धर्मं चरिष्यति ॥ १ ॥" इति। स्वदारेषु—स्वकलत्रेषु परकलत्रे वेश्यायां वा तदधिगमस्यानर्थहेतुत्वात्। यदाह-" कुलानि पातयन्त्यष्टौ, परदारानधिश्रयन्। स्वयं च नष्टसंस्कारः, पण्ढत्वं लभते मृतः ॥ १ ॥ " तथा—" वृषलीफेनपीतस्य, निःश्वासोपहतात्मनः। तस्याश्चैव प्रसूतेश्च, निष्कृतिर्नोपपद्यते ॥ १ ॥ " तस्याश्चैव प्रसूतेश्च—वृषलीप्रसवस्य च। निष्कृतिः—प्रतिक्रिया शुद्धिरित्यर्थः, अधिकारिणो—गृहस्थस्य न यतेः तस्य कलत्राद्यभावात्। ऋतुकाले-आर्त्तवसंभवावसरे अन्यदा दोषसंभवात्। यदाह—" ऋतुकाले व्यतिक्रान्ते, यस्तु सेवेत मैथुनम्। ब्रह्महत्याफलं तस्य, सूतकं च दिने दिने ॥१॥" विधानेन—स्त्रीशरीरे नवनीतदर्भाच्छादनदर्भमणिमूलबन्धनादिना स्मृतिमार्गाभिहितेन विधिना यन्मैथुनं स्याद्भवेद्दोषो-दूषणं,न-नैव,तत्र-मैथुने प्रवृत्तत्वाद्वेदनाकारणाश्रितभोजन इवेति,चेद्यदि मन्यसे त्वम्, परम्-अनेन च पक्षैकदेशासिद्धता हेतोर्दर्शिता, न च मैथुने दोष इत्यस्य च पक्षस्य विषयविशेषोपदर्शनेनाव्याहतिरभिहितेति।

अत्राचार्य उत्तरमाह—

नापवादिककल्पत्वा-न्नैकान्तेनेत्यसंगतम् ।
वेदं ह्यधीत्य स्नायाद्य-दधीत्यैवेति शासितम् ॥ ३ ॥

'धर्मार्थम्'इत्यादिविशेषणोपेतमैथुने न दोषः, इति यदुक्तं तत् न-नैव, कुत इत्याह-अपवादो—विशेषोक्तविधिः तत्रापवादे भव आपवादिकः स चासौ कल्पश्चाचार आपवादिककल्प आपवादिकप्रायं चापवादिककल्पं तद्भावस्तत्वं तस्मादापवादिककल्पत्वाद्, व्यसनगतस्य श्वमांसभक्षणवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः। अयमभिप्रायो-यद्यप्यपवादेन श्वमांसाद्यासेव्यते तथापि तत्स्वरूपेण निर्दोषं न भवति प्रायश्चित्ताद्यप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्, किं तर्हि गुणान्तरकारणत्वेन गुणान्तरार्थिना तदापद्यत इति। एवं मैथुनं स्वरूपेण सदोषमप्याकौमाराद्यतित्वपालनासहिष्णुः गुणान्तरापेक्षी समाश्रयते सर्वथा निर्दोषत्वे त्वकुमारत्वात् यतित्वपालनोपदेशोऽनर्थकः स्याद्गार्हस्थ्यत्यागोपदेशश्चेत्यतः साधूक्तं धर्मार्थादिविशेषणेन मैथुने दोषाभावः अपवादिककल्पत्वात्तस्येति। ततश्च नैकान्तेन सर्वथा मैथुने दोष इति यदुक्तम्' न च मैथुने ' इत्यनेन च वचनेन इत्येतदसङ्गतमयुक्तं रागादिभावेन कथंचित्तस्य सदोषत्वाद्धर्मार्थिनोऽपि हि पुंसो मैथुने मेहनविकारकारिणः कामोदयस्य तथाविधारम्भपरिग्रहयोश्चावश्यंभावित्वात्,न च कामोद्रेकं विना मेहनविकारविशेषः संभवति,भयाद्यवस्थायामिवेति। आपवादिककल्पत्वादिति क्वचित् पठ्यते। तत्रैकवाक्यतया व्याख्या कार्या। अथ कथमापवादिककल्पत्वं धर्मार्थादिविशेषणयुक्तमैथुनस्येत्याह—वेदम्—ऋगादिकं हिशब्दो—वाक्यालंकारार्थः अधीत्य-पठित्वा,स्नायात्-कलत्रसंग्रहाय स्नानं कुर्यादित्यत्र वेदवाक्ये वेदव्याख्यातृभिर्यदिति यस्मादधीत्यैव वेदं पठित्वैव, नाऽपठित्वा स्नायादित्येवावधारणे शासितं व्याख्यातमिति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विपर्ययमाह-

स्नायादेवेति न तु य-त्ततो हीनो गृहाश्रमः ।
तत्र चैतदतो न्यायात्, प्रशंसाऽस्य न युज्यते ॥४॥

वेदमधीत्य स्नायादेव, वेदाध्ययनानन्तरं कलत्रसंग्रहाय स्नानं कुर्यादेव इत्येव, न तु-न पुनरवधारणं शासितम्, अतः औत्सर्गिको मैथुनपरिहारः। आपवादिकमैथुनमित्यभिहितमनेन चापवादिकेऽपि तत्र रागभावसूचनातो-रागजन्यत्वहेतोः,पक्षैकदेशासिद्धता परिहृता। अथाधिकृतवाक्यार्थनिगमनायाऽऽह-यदिति-यस्मादेवमवधारणविधिः, ततस्तस्मात् कारणात् हीनः-जघन्यो,गृहाश्रमो-गृहस्थत्वम्, यत्याश्रमापेक्षयेति गम्यम्। ततः किमित्याह-तत्र च-तस्मिन् पुनर्गृहस्थाश्रमे, एतत्-मैथुनम्,धर्मार्थादिविशेषणं संभवति। तत्रैव दारसंग्रहाद्,अतः-एतस्माद्,न्यायाद्-नीतेः प्रशंसा-श्लाघा अस्य-मैथुनस्य न युज्यते-न घटते यत्याश्रमापेक्षया हीनगृहाश्रमसंभवित्वेन हीनत्वादस्येति भावः। यथोक्तं पुत्रार्थमित्यत्र 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इति, तदयुक्तम्-परमतेनैव तस्य बाधितत्वात्। यदाह-"अनेकानि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम्। दिवं गतानि विप्राणा-मकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥१॥" इति ॥४॥

अथ यदुक्तम् 'प्रशंसाऽस्य न युज्यते' इति, अत्र परमतमाशङ्कमान आह-

अदोषकीर्तनादेव, प्रशंसा चेत्कथं भवेत्।
अर्थापत्त्या सदोषस्य, दोषाभावप्रकीर्त्तनात् ॥५॥

अदोषः-दूषणाभावः तस्य कीर्त्तनं "न च मैथुने" इत्यनेन मनुवचनेन संशब्दनमदोषकीर्त्तनम्, तस्मादेव निमित्तान्तरव्यवच्छेदार्थमवधारणम्, प्रशंसा-श्लाघा मैथुनस्य युज्यत इति शेषः?, चेद्यद्येवं मन्यसे तदा यो दोषस्तमाह-कथम्-केन प्रकारेण न कथंचिदित्यर्थः, भवेत्-जायेत, प्रशंसेति वर्त्तते। अर्थापत्त्या च-वेदं ह्यधीत्य स्नायादिति पूर्वोक्तप्रमाणेन सदोषस्य-पापस्वरूपस्य मैथुनस्य दोषभावप्रकीर्त्तनात्। न च मैथुने इत्येवं लक्षणादोषाभावोक्तिमात्रादेवाप्रमाणकादिति। न-हि यदर्थापत्त्या दोषवदिति निश्चितं तदप्रमाणकेन वचनमात्रेण निर्दोषमिति प्रतिपत्तुं शक्यमिति भावः। अथवा 'प्रशंसाऽस्य न युज्यत' इति यदुक्तम् तदयुक्तम्, यतो न मया तत् प्रशंसितम्, किं तु-निर्दोषमित्युक्तशङ्कां परिहरन्नाह-'अदोषे' त्यादि अदोषकीर्त्तनमात्रादेव कथं प्रशंसाऽस्य भवतीति चेदिति परमतं, सूरिराह-अर्थापत्त्या भवति। अथ तामेवाह-सदोषस्य दोषाभावप्रकीर्त्तनात्प्रशंसा कृता भवतीति ॥५॥

यदुक्तमदोषकीर्त्तनात्प्रशंसाऽस्य युक्तेति तन्नादोषतोक्तेरेवान्याय्यत्वमुपदर्शयन्नाह-

तत्र प्रवृत्तिहेतुत्वा-त्त्याज्यबुद्धेरसंभवात्।
विध्युक्तेरिष्टसंसिद्धे-रुक्तिरेषा न भद्रिका ॥६॥

उक्तिः-'न मांसभक्षणे दोष' इत्यादिभणनम्। एषा-अनन्तराभिहिता इति, धर्मिनिर्देशः, न भद्रिका-न शोभनेति साध्यधर्मनिर्देशः, कुत इत्याह-तत्र मैथुनेऽर्थापत्त्या प्रागुपदर्शितदोषे प्रवृत्तिहेतुत्वात् प्राणिनां प्रवर्त्तननिबन्धनत्वादिति हेतुः, प्रयोगश्चैव या प्राणिनां सदोषपदार्थे प्रवृत्तिहेतुभूतोक्तिः सा न भद्रिका यथा हिंसानिर्दोषतोक्तिः सदोषमैथुनप्रवृत्तिहेतुश्चेयम्, न मांसेत्यादिकोक्तिरिति। प्रवृत्तिहेतुत्वमेव कुत इत्याह-"त्याज्यं मैथुनम्" एवंभूता या बुद्धिस्तस्या असंभवात्-अनुत्पादात् न मैथुने दोष एतामुक्तिं श्रद्दधानस्य न मे त्याज्यमिदमित्येषा बुद्धिराविरस्तीति त्याज्यबुद्ध्यभावे च को हि नाम न तत्र प्रवर्तेत,इत्यादित्याज्यबुद्ध्यसंभवः कुत इत्याह-विधिर्विधानमनुष्ठानं मैथुनस्य तस्योक्तिः-भणितिर्विध्युक्तिस्ततो विध्युक्तेः, को हि नाम मैथुने न दोषोऽस्तीति वचनाद्विधेयं मैथुनं न प्रतिपद्यते इति। नन्वनेन वचनेन दोषाभावमात्रमेव मैथुनस्योक्तमिति कथमियं विध्युक्तिः स्यादित्याह-इष्टस्यानादिमहामोहवासनावासितमानसानां देहिनामभिलषितस्य मैथुनस्येतो मैथुननिर्दोषताभिधायकवचनात्संसिद्धिर्निष्पत्तिरिष्टसंसिद्धिस्तत इष्टसंसिद्धेः, को हि तस्य निर्दोषतामवगम्य तदिष्टं न निष्पादयति। इष्टं चेदं सर्वप्राणभृतामित्याह च-"कामिनीसंनिभा नास्ति, देवताऽन्या जगत्त्रये। यां समस्तोऽपि पुंवर्गो, धत्ते मानसमन्दिरे ॥१॥" अत उक्तिरेषा न भद्रिकेति व्याख्यातमेव। अथवा-उक्तिरेषा न भद्रिकेत्यस्यां प्रतिज्ञायां प्रवृत्तिहेतुत्वादयो भिन्नाश्चत्वारो हेतव इति ॥६॥

मैथुनं प्रकारान्तरेण दूषयन्नाह-

प्राणिनां बाधकं चैत-च्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः।
नालिकातप्तकणक-प्रवेशज्ञाततस्तथा ॥७॥

प्राणिनां जीवानां बाधकमुपघातकम्। चशब्दो दूषणान्तरसमुच्चयार्थः। एतन्मैथुनं शास्त्रे व्याख्याप्रज्ञप्त्याख्यपञ्चमाङ्गे गीतं-गदितं महर्षिभिः-महामुनिभिः श्रीवर्द्धमानस्वामिप्रमुखैः। कथं बाधकं गीतमित्याह-नलिकायां-वेणुपर्वादिरूपायां तप्तस्याग्निना दीप्तस्य कणकस्य-लोहशलाकाविशेषस्य प्रवेशः-प्रक्षेपः स एव ज्ञातमुदाहरणम्, ततो नलिकातप्तकणकप्रवेशज्ञाततः, तथेति-तत्प्रकारात् रूतभृतनलिकेति विशेषणयुक्ता। तथा हि (भगवत्याम्-) "मेहुणं भंते! सेवमाणस्स केरिसए असंजमे कज्जइ?, गोयमा! से जहानामए केइ पुरिसे बूरनलियं वा रूयनलियं वा तत्तेणं २ अओकणएणं २ समहिधंसेज्जा मेहुणं सेवमाणस्स एरिसए णं असंजमे कज्जइ त्ति (भ० २ श० ५ उ०) ॥७॥

दूषणान्तरमाप्तवचनप्रसिद्धं मैथुनस्य ब्रुवाणः प्रकरणोपसंहारायाऽऽह-

मूलं चैतदधर्मस्य, भवभावप्रवर्द्धनम्।
तस्माद्विषान्नवत्त्याज्य-मिदं मृत्युमनिच्छता ॥८॥

मूलम्-कारणम्।चशब्दः समुच्चये। एतन्मैथुनमधर्मस्य-पापस्य यत एवमत एव भवभावस्य-संसारसत्तायाः, अथवा-भवे-संसारे ये भावा-उत्पादास्तेषां भवहेतूनां वा भावानां-परिणामानां प्राणवधादिक्रोधादीनां प्रवर्द्धनं वृद्धिकरमिति विग्रहः। उक्तञ्च-"मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं। तम्हा मेहुणसंसग्गं, णिग्गंथा वज्जयंति णं ॥१॥" यस्मादेवं तस्मात्कारणाद्विषान्नवत् हालाहलमिश्रभोजनमिव त्याज्यं-परिहार्यं-मृत्युं मरणमनिच्छता-अनभिलषता अमुमुर्षुणा यथा विषान्नं त्यजनीयमेवं मैथुनं त्याज्यमिति भावः ॥८॥ हा० २० अष्ट०। द्वा०। सूत्र०। (यो ह्याचार्यो गणावच्छेदको वा गणादपक्रम्य गणमनिक्षिप्य वा मैथुनं प्रतिसेवते स नोपदेष्टुं शक्नोतीति 'उ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देश' शब्दे द्वितीयभागे ८०६ पृष्ठे गतम्) (संयत्या मैथुनासक्तायाः प्रतिक्रिया 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४२६ पृष्ठे दर्शिता)

भयवं निम्भद्दसीलाणं, दरिसणं तं पि निच्छसी ।
पच्छित्तं वागरेसी य, इति उभयं न जुज्जए ॥
गोयमा ! भद्दसीलाणं, दुत (त्त) र संसारसागरे ।
धुवं तमणुकंपित्ता, पायच्छित्ते पदरिसिए ॥
भयवं ! किं पायच्छित्तेणं, छिंदिज्जा नारगाउयं ।
(अणु)चरिऊणं वि पच्छित्तं, वहवे दुग्गइं गए ॥
गोयमा ! जे समज्जेज्जा, ऽणंतं संसारियत्तणं ।
पच्छित्तेणं धुवं ते पि, छिंदे किं (पुणो) नरयाउयं ॥
पायच्छित्तस्स भावेण, नासत्तं किंचि वज्जए ।
बोहिलाभं पमोत्तूणं, हारियं तं न लब्भए ॥
तं वाउकायपरिभोगे, तेउकायस्स निच्छियं ।
अबोहिलाभियं कम्मं, वज्जए मेहुणेण य ॥
मेहुणं आउकायं च, तेउकायं तहेव य ।
तम्हा तओ वि जं तेणं, वज्जेज्जा संजइंदिए ॥
महा० २ अ० ।

निर्ग्रन्थ्याः उच्चारप्रस्रवणे कुर्वन्त्या इन्द्रियजातं परामृशेत् तन्निर्ग्रन्थिः स्वदेत् हस्तकर्मप्रतिसेवनाप्राप्ता-

निग्गंथीए य रातो वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजातीए वा पक्खिजातीए वा अन्नयरं इंदियजायं परामुसेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा हत्थकम्मपडिसेवणप्पत्ता आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ १३ ॥ निग्गंथीए य राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजातीए वा पक्खिजातीए वा अन्नयरंसि सोयंसि ओगाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जिज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ १४ ॥

अस्य सूत्रद्वयस्य संवन्धमाह-

पढमिल्लुगततियाणं, चरितो सत्थोवताण रक्खट्ठा ।
मेहुणरक्खट्ठा पुण, इंदियसोए य दो सुत्ता ॥ २३६ ॥

प्रथमतृतीययोर्व्रतयोः प्राणातिपातादत्तादानविरतिलक्षणयोः रक्षणार्थं तीर्थकराननुज्ञातशीतोदकपरिभोगे तयोर्भङ्गो मा भूदिति कृत्वा पूर्वसूत्रस्यार्थश्चरितो-गतो भणित इत्यर्थः । संप्रति तु मैथुनव्रतरक्षणार्थमिन्द्रियश्रोतो-विषये द्वे सूत्रे आरभ्येते । अनेन संवन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-निर्ग्रन्थ्या रात्रौ वा विकाले वा उच्चारं वा प्रस्रवणं वा विकुर्वत्या वा विशोधयन्त्या वा अन्यतरपशुजातीयो वानरादिकः पक्षिजातीयो वा मयूरादिकोऽन्यतरदिन्द्रियजातं परामृशेत्-स्पृशेत् सा च निर्ग्रन्थी तत्स्पर्शं स्वादयेत् सुन्दरोऽस्य स्पर्श इत्यनुमन्येत हस्तकर्मप्रतिसेवनप्राप्ता आपद्यते मासिकमनुद्घातिकं स्यात् । इह निर्ग्रन्थीनां परिहारतपो भवतीति कृत्वा 'परिहारट्ठाणं' ति पदं न पठनीयमेव । द्वितीयसूत्रमेवमेव व्याख्येयं नवरमन्यतरस्मिन् श्रोतसि योन्यादौ वानरादिरवगाहेत सा च मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता यदि स्वादयेत् ततश्चतुर्गुरुकमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः-

वानरछगलाहरिणा, सुणगादीया य पसुगणा होंति ।
वरिहिणि चासा हंसा,कुक्कुडसुणगादिणो पक्खी ।२४०।

वानरछगलहरिणाः शुनकादयश्च पशुगणा मन्तव्याः, वर्हिणश्चाषा हंसाः कुकुटाः शुनकादयश्च पक्षिण उच्यन्ते ।

जहि यं तु अणाययणा, पासवणुच्चारतहिं पडिकुट्ठं ।
लहुगो य होइ मासो,आणादि सती कुलघरे वा ॥२४१॥

यत्रैते पशुजातीयाश्च प्राणिनः संभवन्ति तदनायतनमुच्यते, तत्र निर्ग्रन्थीनामवस्थानं प्रस्रवणोच्चारपरिष्ठापनं च प्रतिकुष्टम्, यदि कुर्वन्ति तदा लघुमासः आज्ञादयश्च दोषाः । 'सई कुलघरे व त्ति' भुक्तभोगिन्याश्च स्मृतिकरणं कुलगृहे वा भूयस्तासां बान्धवादिभिर्नयनं क्रियते ।

इदमेव व्याचष्टे-

भुत्ताभुत्तविभासा, तस्सेवी कायि कुलघरे आसी ।
बंधवतप्पक्खी वा, दट्ठूण णयंति लज्जाए ॥ २४२ ॥

भुक्ताभुक्तविभाषा-भुक्तभोगिन्याः स्मृतिकरणम्, अभुक्तभोगिन्याश्च कौतुकमुत्पद्यत इत्यर्थः । तथा 'तस्सेवि त्ति' गृहवासे तैः पशुजातीयादिभिः प्रतिसेविता काचित् कुलगृहे आसीत्, सा तान् दृष्ट्वा स्मृतपूर्ववरा प्रतिगमनादीनि कुर्यात् । यद्वा-तासां बान्धवास्तत्पाक्षिका वा सुहृदस्तादृशेऽनायतने स्थितां तामार्यिकां दृष्ट्वा लज्जया भूयः गृहमानयन्ति ।

किं च-

आलिंगणादिया वा, अणिहुयमादीसु वा खिवेज्जा ।
एरिसगाण पवेसो, ण होति अंतेपुरेसुं पि ॥ २४३ ॥

ते पशुजातीया वानरादयस्तां संयतीमालिङ्गेयुः, सा वा संयती तानालिङ्गेत्, एवमादयो दोषा भवेयुः । अपि च-एते वानरादयः स्वभावादेवानिभृताः कन्दर्पवहुला मायिनश्च भवन्ति अतस्तैरनिभृतमायिभिः सा कदाचिदात्मानं निपवयेत् । ईदृशानां च पशुपक्षिजातीयानां प्रवेशो राज्ञोऽन्तःपुरेष्वपि न भवति-न दीयते । कारणेन पुनरन्यस्या वसतेरभावे तत्रापि तिष्ठेयुः ।

कारणगमणे उ तहिं, विविंचमाणीएँ आगतो लिहेज्जा ।
गुरुगो य होति मासो,आणादि सती तु सचेव ॥२४४॥

कारणे तत्रापि स्थितानामुच्चारभूमौ प्रस्रवणभूमौ वा गत्वा विविचन्त्याः परिष्ठापयन्त्या वानरादिः समागच्छेत् आगतश्च तामालिङ्गेत् । सा च यदि लिह्यात्-तत्स्पर्शं स्वादयेत् ततो गुरुमासः, आज्ञादयश्च दोषाः, स्मृतिश्च सा चैव पूर्वोक्ता भवति । अथ न स्वादयति ततः सा शुद्धा ।

यतना चेयं तत्र कर्त्तव्या-

वंदेण दंडहत्था, णिग्गंतुं आयरंति पडिचरणं ।
पविसंते वारेंति य, दिवा त्ति ण उ काइए एक्को ॥२४५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वृन्देन-द्वित्र्यादिव्रतिनीसमुदायेन दण्डकहस्ता निर्गच्छन्ति, निर्गत्य कायिकादिकमाचरन्ति,वानरादीनां च प्रतिचरणं कुर्वन्ति,ये तत्राऽभिद्रवन्ति तान् दण्डकेन ताडयन्ति, प्रतिश्रये वा प्रविशतो निवारयन्ति। दिवा अपि च-कायिकभूमिमेकाकिनी न गच्छति । व्याख्यातमिन्द्रियसूत्रम् ।

संप्रति श्रोतःसूत्रं व्याचष्टे—

एवं तु इंदिएहिं, सोते लहुगा य परिणए गुरुगा ।
बितियपदकारणम्मि य,इंदियसोए य आगाढे॥२४६॥

एवं तावदिन्द्रियसूत्रे प्रायश्चित्तविधिश्चोक्तः । यत्र तु पशुजातीयादयः श्रोतोऽवगाहनं कुर्वन्ति तत्र तिष्ठन्तीनां चतुर्लघु । तेषु श्रोतोवगाहनं कुर्वाणेषु यदि सा सुन्दरमिदमिति परिणता ततश्चतुर्गुरु । द्वितीयपदे आगाढे कारणे इन्द्रिये श्रोतसि च परामर्शं स्वादयेदपि । इदमुत्तरत्र भावयिष्यते–

कारणे एकाकिन्यास्तिष्ठन्त्यास्तावदियं यतना ।

गिहिणिस्सा एगागी, तहिं समं णिंति रत्तिमुभयस्स ।
दंडगसारक्खणया, वारेति दिवा य पेल्लंते ॥ २४७ ॥

गृहस्थनिश्रया कारणे काचिदेकाकिनी वसन्ती ताभिरविरतिकाभिः समं रात्रावुभयस्य प्रस्रवणोच्चारणस्य व्युत्सर्जनार्थं निर्गच्छति, निर्यान्ती च वानरादीनभिद्रवतो दण्डकेन संरक्षति । दिवा च प्रतिश्रयं प्रेरयतः—प्रविशतो निवारयति।

अथ गाढकारणं व्याचष्टे–

अट्ठाणसद्दआलिं-गणादिपयकम्मऽतित्थिता संती ।
अचित्तं पिंप(बिम्ब) अणिहुत,कुलघरसड्ढादिगेहे वा ।४८।

कस्याश्चिदार्यिकायाः सनिमित्तोऽनिमित्तो वा मोहोद्भवः संजातस्ततो निवृत्तिकादिकायां मोहचिकित्सायां कृतायामपि यदा न तिष्ठति तदा अस्थाने शब्दनिबद्धायां वसतौ स्थापनीया, ततो यत्राविरतिकानामालिङ्गनादिकं क्रियमाणं दृश्यते तत्र स्थाप्यते । तथाऽप्यनुपरते मोहे पादकर्म करोति। तदप्यतिक्रान्ता सती यदचित्तं पिम्पं हुण्डशिरादिकं तेन प्रतिसेवयति । तथाऽप्यतिष्ठन्ती योऽद्य न वृतस्तेनास्थानादिकं सर्वमपि कृत्वा ततः कुलगृहे भगिन्या भ्रातृजायाया वा आलिङ्गनादिकं क्रियमाणं प्रेक्षते, तदभावे श्राद्धिकायास्तदप्राप्तौ तथा भद्रिकाया अपि प्रेक्षते । प्रथममिन्द्रिये पश्चात् श्रोतःस्वपि यतनयन्ति । बृ० ५ उ० । " मेहुणं पडिसेवमाणे सबले भवति "। स० २१ सम० । ('सबल'शब्दे-व्याख्या) मैथुनमब्रह्म अतिक्रमादिना सेवमानोऽनुद्घातको भवति । स्था० ५ ठा० २ उ० । (यो हि स्त्रिया सह संयोगं नाभिलषति स धन्य इति ' इत्थी ' शब्दे द्वितीयभागे ६२० पृष्ठे उक्तम्) (मातृग्रामस्य मैथुनप्रतिज्ञया प्रतिसेवनादिकं निशीथचूर्णिसप्तमोद्देशकादवसेयम्) (मैथुनार्थं हस्तकर्म निशीथचूर्णौ प्रथमोद्देशके व्याख्यातम्) (सागारिकायां वसतौ न स्थेयं तत्र मैथुनदोषः स च 'वसहि' शब्दे वक्ष्यते) (प्रश्नव्याकरणोक्ता चतुर्थास्रवद्वारोक्ता निखिला वक्तव्यता ' अबंभ ' शब्दे प्रथमभागे ६७५ पृष्ठे उक्ता)मधुसर्पिषि, पौराणिकमते मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणं भवति । स्था० । मातुलपुत्रे, पुं० । बृ० १ उ० ।

मेहुणकम्म–मैथुनकर्म्मन्–न० । हस्तकर्मणि, व्य० २ उ० ।

मेहुणट्ठि(ण्)–मैथुनार्थिन्–पुं० । उद्भ्रामके, बृ० १ उ० ।

मेहुणधम्म–मैथुनधर्म–पुं० । अब्रह्मव्यापारे, आचा० २ श्रु०१ चू० १ अ० ३ उ० ।

मेहुणधम्मपरियारणा–मैथुनधर्मप्रतिचारणा–स्त्री० । मैथुनधर्मप्रतिसेवनायाम् , आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

मेहुणभाव–मैथुनभाव–पुं० । द्वन्द्वकर्मणि, "ण य किंचि अणुण्णायं,पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं । मोत्तुं मेहुणभावं,ण विणा तं रागदोसेहिं ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

मेहुणवडिया–मैथुनप्रतिज्ञा–स्त्री० । मिथुनभावो मैथुनं, मिथुनकर्म वा मैथुनम् ; अब्रह्मेत्यर्थः । मिथुनभावे प्रतिपत्तिः—प्रतिज्ञा मैथुनप्रतिज्ञा । मैथुनसेवनप्रतिज्ञायाम् , नि० चू०५ उ० ।

मेहुणवत्तिय–मैथुनप्रत्ययिक–पुं० । स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिर्वर्त्तितेऽरणिकाष्ठयोरिव संयोगे,सूत्र०२ श्रु० ३ अ० ।

मेहुणविरइ–मैथुनविरति–स्त्री० । मिथुनं स्त्रीपुंसद्वन्द्वं तस्य कर्म मैथुनं तस्माद् विरतिः । मैथुनविरमणे, प्रव० ६६ द्वार ।

मेहुणविहि–मैथुनविधि–पुं० । मैथुनप्रकारे, उपा० । " तदाणंतरं च णं सदारसंतोसिए परिमाणं करेइ, णण्णत्थ एक्काए सिवाणंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि । " उपा० १ अ० ।

मेहुणवेरमण–मैथुनविरमण–न० । मिथुनं स्त्रीपुंसद्वन्द्वं तस्य कर्म मैथुनं तस्माद् विरमणम् । पा० । ब्रह्मचर्ये, (तच्च देशतः श्रावकस्य चतुर्थमणुव्रतं भवतीति । ' सदारसंतोस ' शब्दे वक्ष्यते) सर्वतः साधोश्चतुर्थे महाव्रते, दश० ४ अ० । (अत्रत्यसूत्रम् 'पडिक्कमण' शब्दे पञ्चमभागे २६१ पृष्ठे गतम्)

मेहुणसंसग्ग–मैथुनसंसर्ग–पुं० । मैथुनसम्बन्धे, " मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं । तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ' ॥ १६ ॥ " दश० ६ अ० २ उ० ।

मेहुणसण्णा–मैथुनसंज्ञा–स्त्री० । मैथुनं संज्ञायतेऽनयेति मैथुनसंज्ञा । पुंवेदोदयान्मैथुनाय स्त्र्यङ्गालोकनप्रसन्नवदनसंस्तम्भितोरुवेपथुप्रभृतिलक्षणायां क्रियायाम् ,स्था०१ ठा०३ उ०। भ०। आव० । स्त्र्यादिवेदोदयरूपायां संज्ञायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । चतुर्भिर्हेतुभिर्मैथुनसंज्ञोत्पद्यते । स्था० ।

चउहिं ठाणेहिं मेहुणसन्ना समुप्पज्जति, तं जहा–चितमंससोणिययाए मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मतीए तदट्ठोवओगेणं । (सूत्र–४)

चिते—उपचिते, मांसशोणिते यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता तया चितमांसशोणिततया, मत्या—सुरतकथाश्रवणादिजनितबुद्ध्या, तदर्थोपयोगेन—मैथुनलक्षणार्थानुचिन्तनेनेति । अविमुक्ततया–सपरिग्रहतया मत्या सचेतनादिपरिग्रहदर्शनादिजनितबुद्ध्या तदर्थोपयोगेन–परिग्रहानुचिन्तनेनेति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । मैथुनविरतेरतिक्रमः ' पडिक्कमण ' शब्दे पञ्चमभागे २६५ पृष्ठे गतः)

मेहुणशाल–मैथुनशाल–न० । रतिगृहे, नि० चू० ८ उ० ।

मेहुणसुमिण–मैथुनस्वप्न–पुं० । स्वप्ने मैथुनकरणे, ' मेहुणसुमिणे अट्ठ सयं ' मैथुनस्वप्नेऽष्टशतमष्टोत्तरशतोच्छ्वासमानं कायोत्सर्गं कुर्यादित्यर्थः । जीत० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेहु (णु) णिआ–देशी-श्याली-मातुलात्मजयोः, दे०ना० ६ वर्ग १४८ गाथा ।

मेहुणिय–मैथुनिक–पुं० । मातुलपुत्रे, बृ० ४ उ० ।

मेहुणिया–मैथुनिकी–स्त्री० । मैथुनजीवनायां पण्याङ्गनायाम्, व्य० १ उ० । मातुलदुहितरि, बृ० ४ उ० ।

मेहोदय–मेघोदक–न० । मेघेषु वर्षत्सु यत्किंस्मिश्चिन्निर्लेपे शुभे स्थानेऽधिक्रियते तन्मेघोदकम् । मेघजले, ज्यो० २ पाहु० ।

मेहोह–मेघौघ–पुं० । मेघानामोघः—संघातो मेघौघः । मेघसमूहे, रा० । "मेहोहरसियं" मेघस्येवौघेन प्रवाहेन रसितं यस्याः सा मेघौघरसिता । आ० म० १ अ० । रा० ।

मोअ–देशी—अधिगतचिर्भिटिकादिवीजकोशयोः, दे०ना० ६ वर्ग १४८ गाथा ।

मोक्कणिआ–देशी–असितपक्षोदरे, दे० ना०६ वर्ग १४० गाथा ।

मोक्ख–मोक्ष–पुं० । मुच्—घः । परित्यागे, श्रा० । निसर्गे, विशे० । आत्यन्तिके पृथग्भागे, उत्त० १ अ० । छुटने, आ० चू० १ अ० । संसारप्रतिपक्षभूते, जी० १ प्रति० । दुःखापगमे, मोक्षकारणे वा संयमानुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । निर्वाणे, पञ्चा० १ विव० । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कर्मणामत्यन्तोच्छेदे, ध० १ अधि० । सूत्र० । जीवस्य रागद्वेषमदमोहजन्मरोगादिदुःखक्षयरूपेऽवस्थाविशेषे, ध० २ अधि० । सकलकर्मांशैः (नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०) मुक्तत्वे, आ०चू०१ अ० । सकलकर्मवियोगे, औ० । सर्वकर्माभावलक्षणे,आत्मनस्तादात्म्यावस्थाने, अष्ट० २७ अष्ट० । सव्वकम्मावगमो मोक्खो भएणति । नि० चू १ उ० । कृत्स्नकर्मक्षये,स्या० । उपा० ।

नीसेसकम्मविगमो, मुक्खो जीवस्स सुद्धरूवस्स ।

साइअपज्जवसाणं, अव्वाबाहं अवत्थाणं ॥ ८३ ॥

निःशेषकर्मविगमो मोक्षः–"कृत्स्नकर्मक्षयान् मोक्ष" इति वचनात् । (तत्त्वार्थाऽधिगमसूत्रम्–१०१) जीवस्य शुद्धस्वरूपस्य–कर्मसंयोगापादितरूपरहितस्येत्यर्थः । साद्यपर्यवसानम् अव्यावाधम्–व्यावाधावर्जितमवस्थानम्–अवस्थितिः जीवस्यासौ मोक्ष इति । साद्यपर्यवसानता चेह व्यक्त्यपेक्षया न तु सामान्येन , तेन मोक्षस्याप्यनादिमत्त्वमिति । श्रा० । कर्मविचटने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । " पुष्टिः पुण्योपचयः, शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता । अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन् , क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ॥१॥ " षो० ३ विव० । ('धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६६६ पृष्ठे व्याख्यातम्)

तस्योपात्तपुंस्त्रीशरीरस्य सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां कृत्स्नकर्मक्षयस्वरूपा सिद्धिः ॥ ५७ ॥

तस्य—अनन्तरनिरूपितस्वरूपस्य आत्मनः, उपात्तपुंस्त्रीशरीरस्य—स्वीकृतपुरुषयोषिद्वपुषः, एतेन स्त्रीनिर्वाणद्वेषिणः काष्ठास्वरान् शिक्षयन्ति । सम्यग्ज्ञानं च यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधः, क्रिया च तपश्चरणादिका , ताभ्याम् । ननु सम्यग्दर्शनमपि कृत्स्नकर्मक्षयकारणमेव । यदाहुः—(उमास्वातिवाचकाः)—" सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इति । तत्कथमिह नोपदिष्टम् ? । उच्यते—सम्यग्ज्ञानोपादानेनैव तस्याक्षिप्तत्वात् , द्वयोरप्यनयोः सहचरत्वात् । सम्यग्ज्ञानस्य क्रियातः पृथगुपादानाद् या क्रिया सम्यग्ज्ञानपूर्विका सैव तत्कारणं न पुन मिंथ्यात्वमलपटलावलुप्तविवेकविकलानां मिथ्याज्ञानपूर्विका कन्दफलमूलशैवालकवलनादिका । कृत्स्नस्य–अष्टप्रकारस्यापि न तु कतिपयस्य जीवन्मुक्तेरनभिधित्सितत्वात् ; कर्मणः ज्ञानावरणीयादेरदृष्टस्य न तु बुद्धयादिगुणानामपि, नापि ज्ञानमात्रसन्तानस्य, क्षयः–सामस्त्येन प्रलयः स्वरूपं यस्याः सा तथा; एतेन नैयायिकसौगतोपकल्पितमुक्तिप्रतिक्षेपः । एवंविधा सिद्धिर्मोक्षो भवति । रत्ना० ७ परि० । " सम्यग्भावपरिज्ञानाद् , विरक्ताभावतो जनाः । क्रियां सत्कृत्याऽविघ्नेन, गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ १ ॥" दशा० १ अ० । (मोक्षसिद्धिः 'केवलिसमुग्घाय' शब्दे तृतीयभागे६५६पृष्ठे तत्रैव केवलिनः सर्वा समुद्घातक्रिया च प्रत्यपादि) " विनिर्मुक्ताशेषबन्धनस्य प्राप्तनिजस्वरूपस्यात्मनो लोकान्तेऽवस्थानं मोक्षः "बन्धवियोगो मोक्षः " इति वचनात् । सम्म० ३ काण्ड । ('बंध' शब्दे पञ्चमभागे ११६४ पृष्ठेऽत्र विशेषो गतः) सर्वकर्मनिर्जरावद्भिस्तु स्वसंवेदनाध्यक्षतः परमपदप्राप्तिहेतोः सम्यग्दर्शनज्ञानदेः स्वसंवेदितत्वात्सर्वकर्मापगमाविर्भूतचै— तन्यसुखस्वभावात्मस्वरूपस्य मोक्षस्याप्यनन्तरोक्तन्यायतः प्रतिपत्तिः मता,तथाहि–यदुत्कर्षतारतम्यात्यस्यापचयतारतम्यं तत्प्रकर्षनिष्ठागमने भवति तस्यात्यन्तिकः क्षयः यथा–उष्णस्पर्शतारतम्याच्छीतस्पर्शस्य, भवति च ज्ञान–वैराग्यादेरु– (कर्षतारतम्यादज्ञान—रागादेरपचयतारतम्यमित्यनुमानतो भगवदागमतश्चास्मदादेरपवर्गसिद्धिः । भगवतां तु केवलाध्यक्षत इति । सम्म०३ काण्ड०६३ गा०टी० । आचा० । नं० । स्था० । विशे० । ('निव्वाण' शब्दे 'बन्ध' शब्दे च मोक्षतत्त्वसिद्धिर्विस्तरेण प्रपञ्चिता)

एगे मोक्खे (सूत्र–१०)

मोचनं कर्मपाशवियोजनमात्मनो मोक्षः , आह च—' कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः , ' स चैको ज्ञानावरणीयादिकर्मा— पेक्षयाऽष्टविधोऽपि मोचनसामान्यात् , मुक्तस्य वा पुनर्मोक्षाभावात् । ईषत्प्राग्भाराख्यक्षेत्रलक्षणो वा द्रव्यार्थतयैकः, अथवा—द्रव्यतो मोक्षो निगडादितः , भावतः कर्मतस्तयोश्च मोचनसामान्यादेको मोक्ष इति । स्था० १ ठा० । स० । ' णत्थि बंधे य मोक्खे य, णेवं सन्नं निवेसए । अत्थि बंधे य मोक्खे य, एवं सन्नं निवेसए ॥ १५ ॥ ' सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । ('अत्थिवाय' शब्दे प्रथमभागे ५२० पृष्ठे व्याख्यातैषा) (सिद्धशब्देऽप्यत्र वीक्ष्यः) (मोक्षे सुखमस्तीति 'सिद्ध' शब्दे वक्ष्यामि)

सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्मपरमार्थतत्त्वं तत्संप्राप्तिर्मोक्ष इति वेदान्तिनः । ज्ञानं सुखं वा मोक्षेऽवतिष्ठते सत्तातस्यादिति नैयायिकाः , प्रत्यवतिष्ठन्ते—एवं च आत्मविशेषगुणोच्छेदस्वरूपां मुक्तिमज्ञानादङ्गीकृतवतः परानुपहसन्नाह—

न संविदानन्दमयी च मुक्तिः, सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः ॥८

तथा न संविदित्यादि, मुक्तिः–मोक्षः न संविदानन्दमयी– न ज्ञानसुखस्वरूपा । संविद्–ज्ञानम् , आनन्दः–सौख्यम् , ततो द्वन्द्वः, संविदानन्दौ प्रकृतौ यस्यां सा संविदानन्दमयी; एतादृशी न भवति । " बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काररूपाणां नवानामात्मनो वैशेषिकगुणानामत्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्तोच्छेदो मोक्ष " इति वचनात्। चशब्दः पूर्वोक्ताभ्युपगमद्वयसमुच्चये। ज्ञानं हि क्षणिकत्वादनित्यम्, सुखं च सप्रक्षयतया सातिशयतया च न विशिष्यते, संसारावस्थातः इति। तदुच्छेदे आत्मस्वरूपेणावस्थानं मोक्षः इति। प्रयोगश्चात्र-नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानः—अत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात्, यो-यः सन्तानः सः-सोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, यथा प्रदीपसन्तानः, तथा चायम्, तस्मादत्यन्तमुच्छिद्यत इति। तदुच्छेद एव महोदयः, न कृत्स्नकर्मक्षयलक्षण इति। " न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति "। " अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः "। इत्यादयोऽपि वेदान्तास्तादृशीमेव मुक्तिमादिशन्ति। अत्र हि प्रियाप्रिये-सुखदुःखे ते चाशरीरं-मुक्तं न स्पृशतः।

अपि च—

" यावदात्मगुणाः सर्वे, नोच्छिन्ना वासनादयः।
तावदात्यन्तिकी दुःख-व्यावृत्तिर्न विकल्प्यते ॥ १ ॥
धर्माधर्मनिमित्तो हि, सम्भवः सुखदुःखयोः।
मूलभूतौ च तावेव, स्तम्भौ संसारसद्मनः ॥ २ ॥
तदुच्छेदे च तत्कार्य-शरीराद्यनुपप्लवात्।
नात्मनः सुखदुःखे स्तः,इत्यसौ मुक्त उच्यते ॥ ३ ॥
इच्छाद्वेषप्रयत्नादि, भोगाऽऽयतनबन्धनम्।
उच्छिन्नभोगाऽऽयतनो, नाऽऽत्मा तैरपि युज्यते ॥ ४ ॥
तदेवं धिषणाऽऽदीनां, नवानामपि मूलतः।
गुणानामात्मनो ध्वसः, सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः ॥ ५ ॥
ननु तस्यामवस्थायां, कीदृगात्माऽवशिष्यते ?।
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः, परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥ ६ ॥
ऊर्मिषट्काऽतिगं रूपं, तदस्याऽऽहुर्मनीषिणः।
संसारबन्धनाऽधीन-दुःखक्लेशाद्यदूषितम् ॥ ७ ॥"

कामक्रोधलोभगर्वदम्भहर्षा—ऊर्मिषट्कमिति। तदेतदभ्युपगमत्रयमित्थं समर्थयद्भिः, अत्वदीयैः—त्वदाज्ञाबहिर्भूतैः कणादमतानुगामिभिः, सुसूत्रमासूत्रितम्—सम्यगागमः प्रपञ्चितः। अथवा-'सुसूत्रमिति' क्रियाविशेषणम् शोभनं सूत्रं वस्तुव्यवस्थाघटनाविज्ञानं यत्रैवमासूत्रितं तत्तच्छास्त्रार्थोपनिबन्धः कृतः, इति हृदयम्। " सूत्रं तु सूचनाकारि, ग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयोः "। इत्यनेकार्थवचनात्। अत्र च सुसूत्रमिति विपरीतलक्षणयोपहासगर्भं प्रशंसावचनम्। यथा-" उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता चिरम् " इत्यादि। उपहसनीयता च युक्तिरिक्तत्वात् तदङ्गीकाराणाम् (स्या०) यदपि " न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति " व्यवस्थापनाय अनुमानमवादि सन्तानत्वादिति। तत्राभिधीयते—ननु किमिदं सन्तानत्वम्-स्वतन्त्रम्-अपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा एकाश्रया अपरापरोत्पत्तिर्वा ?, तत्राद्यः पक्षः सव्यभिचारः, अपरापरेषामुत्पादकानां घटपटकटादीनां सन्तानत्वेऽप्यत्यन्तमनुच्छिद्यमानत्वात्। अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि तादृशं सन्तानत्वं प्रदीपे नास्तीति साधनविकलो दृष्टान्तः। परमाणुपाकजरूपादिभिश्च व्यभिचारी हेतुः, तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात्। अपि च—सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्च भविष्यति-विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात्, इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादप्यनैकान्तिकोऽयम्। किं च—स्याद्वादवादिनां नास्ति कश्चिदत्यन्तमुच्छेदः द्रव्यरूपतया स्थास्नूनामेव सतां भावानामुत्पादव्यययुक्तत्वाद्, इति विरुद्धश्चेति नाधिकृतानुमानाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदरूपा सिद्धिः सिध्यति। नापि " न हि वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ती" त्यागमेन शरीरराहित्ये सुखदुःखाभावप्रतिपादनान्न मोक्षे सुखमध्यवसातव्यम्। तत्र हि शुभाऽशुभाऽदृष्टपरिपाकजन्ये सांसारिकप्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते अपेक्ष्य व्यवस्थितः। मुक्तिदशायां तु—सकलादृष्टक्षयहेतुकमैकान्तिकमात्यन्तिकं च केवलं प्रियमेव—तत्कथं प्रतिषिध्यते ? आगमस्य चायमर्थः—सशरीरस्य गतिचतुष्टयान्यतमस्थानवर्तिनश्चात्मनः प्रियाप्रिययोः परस्परानुषक्तयोः सुखदुःखयोः, अपहतिः—अभावो नास्तीति; अवश्यं हि तत्र सुखदुःखाभ्यां भाव्यम्, परस्परानुषक्तत्वं च समासकरणादभ्यूह्यते। अशरीरं मुक्ताऽऽत्मानं वाशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् अशरीरमेव; वसन्तं-सिद्धिक्षेत्रमध्यासीनं प्रियाप्रिये-परस्परानुषक्ते सुखदुःखे, न स्पृशतः। इदमत्र हृदयम्-यथा किल संसारिणः सुखदुःखे परस्परानुषक्ते स्यातां, न तथा मुक्तात्मनः, किंतु—केवलं सुखमेव दुःखमूलस्य शरीरस्यैवाभावात्। सुखं तु आत्मस्वरूपत्वादवस्थितमेव, स्वस्वरूपावस्थानं हि मोक्षः, अत एव चाशरीरमित्युक्तम्। आगमार्थश्चायमित्थमेव समर्थनीयः; यत एतदर्थानुपातिन्येव स्मृतिरपि दृश्यते--" सुखमात्यन्तिकं यत्र, बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। तं वै मोक्षं विजानीयाद्, दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ १ ॥ " न चायं सुखशब्दो दुःखाभावमात्रे वर्तते—मुख्यसुखवाच्यतायां बाधकाभावात्, अयं रोगाद् विप्रमुक्तः सुखी जात इत्यादिवाक्येषु च सुखीति प्रयोगस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गाच्च। दुःखाभावमात्रस्य—रोगाद्विप्रमुक्तः इतीयतैव गतत्वात्। न च भवदुदीरितो मोक्षः पुंसामुपादेयतया संमतः, को हि नाम—शिलाकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनमात्मानमुपपादयितुं यतेत दुःखसंवेदनरूपत्वादस्य; सुखदुःखयोरेकस्याभावेऽपरस्यावश्यं भावात्। अत एव तदुपहासःश्रूयते-"वरं वृन्दावने रम्ये,क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम्। न तु वैशेषिकीं मुक्तिं, गौतमो गन्तुमिच्छति ॥१॥ " सोपाधिकसावधिकपरिमितानन्दनिष्यन्दात् स्वर्गादप्यधिकं तद्विपरीतानन्दमम्लानज्ञानं च मोक्षमाचक्षते विचक्षणाः। यदि तु जडः पाषाणनिर्विशेष एव तस्यामवस्थायामात्मा भवेत् तदलमपवर्गेण,संसार एव वरमस्तु। यत्र तावदन्तराऽन्तराऽपि दुःखकलुषितमपि कियदपि सुखमनुभुज्यते, चिन्त्यतां तावत्-किमल्पसुखानुभवो भव्यः उत सर्वसुखोच्छेद एव ?। अथास्ति तथाभूते मोक्षे लाभातिरेकः प्रेक्षादक्षाणाम्,ते ह्येवं विवेचयन्तिसंसारे तावद् दुःखास्पृष्टं सुखं न संभवति,दुःखं चावश्यं हेयम्, विवेकहानं चानयोरेकभाजनपतितविषमधुनोरिव दुःशकम्, अत एव द्वे अपि त्यज्येते, अतश्च संसारान्मोक्षः श्रेयान्। यतोऽत्र दुःखं सर्वथा न स्याद्। वरमियती कादाचित्कसुखमात्राऽपि त्यक्ता, न तु तस्याः कृते दुःखभार इयान् व्यूढ इति। तदेतत्सत्यम्, सांसारिकसुखस्य मधुदिग्धधाराकरालमण्डलाग्रग्रासवद् दुःखरूपत्वादेव युक्तैव मुमुक्षूणां तज्जिहासा, किन्त्वात्यन्तिकसुखविशेषलिप्सूनामेव। इहापि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयनिवृत्तिजं सुखमनुभवसिद्धमेव, तद्यदि मोक्षे विशिष्टं नास्ति ततो मोक्षो दुःखरूप एवापद्यत इत्यर्थः। ये अपि विष-मधुनी एकत्र संपृक्ते त्यज्येते ते अपि सुखविशेष-लिप्सयैव। किञ्च-यथा प्राणिनां संसारावस्थायां सुखमिष्टं दुःखं चानिष्टं, तथा मोक्षावस्थायां दुःखनिवृत्तिरिष्टा सुखनिवृत्तिस्तु अनिष्टैव। ततो यदि त्वदभिमतो मोक्षः स्यात्तदा न प्रेक्षावतामत्र प्रवृत्तिः स्यात्, भवति चेयम्। ततः सिद्धो मोक्षः सुखसंवेदनस्वभावः, प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरन्यथा-ऽनुपपत्तेः। अथ यदि सुखसंवेदनैकस्वभावो मोक्षः स्यात्तदा तद्रागेण प्रवर्तमानो मुमुक्षुर्न मोक्षमधिगच्छेत्। न हि रागिणां मोक्षोऽस्ति, रागस्य बन्धनात्मकत्वात्, नैवम्। सांसारिकसुख एव रागो बन्धनात्मकः विषयादिप्रवृत्ति-हेतुत्वाद्, मोक्षसुखे तु रागस्तन्निवृत्तिहेतुत्वान्न बन्धनात्मकः। परां कोटिमारूढस्य च स्पृहामात्ररूपोऽप्यसौ निवर्तते, "मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति वचनात्। अन्यथा भवत्पक्षेऽपि दुःखनिवृत्त्यात्मकमोक्षाङ्गीकृतौ दुःखविषयं कषायकालुष्यं केन निषिध्येत?, इति सिद्धं कृत्स्नकर्मक्षयात्परमसुखसंवेदनात्मको मोक्षः न बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूप इति। स्या०। ध०। आव०।

सकलकर्मक्षयाद्यत्स्यात्तद्दर्शयितुमाह—

कृत्स्नकर्मक्षयान् मोक्षो, जन्ममृत्य्वादिवर्जितः।
सर्वबाधाविनिर्मुक्त, एकान्तसुखसङ्गतः॥ १॥

मोक्ष एवान्यैः परमपदसंज्ञयाऽभिहित इति परमपदरूपं दर्शयन्नाह—

यन्न दुःखेन संभिन्नं, न च भ्रष्टमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं यत्, तज्ज्ञेयं परमं पदम्॥ २॥

एकान्तसुखसंगतो मोक्ष इत्युक्तं तत्र परविप्रतिपत्तिं दर्शयन्नाह—

कश्चिदाहान्नपानादि, भोगाभावादसंगतम्।
सुखं वै सिद्धिनाथानां, प्रष्टव्यः स पुमानिदम्॥ ३॥

तदेव प्रष्टव्यमाह—

किंफलोऽन्नादिसंभोगो, बुभुक्षादिनिवृत्तये।
तन्निवृत्तेः फलं किं स्यात्, स्वास्थ्यं तेषां तु तत्सदा॥ ४॥

अमुमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाऽऽह—

अस्वस्थस्यैव भैषज्यं, स्वस्थस्य तु न दीयते।
अवाप्तस्वास्थ्यकोटीनां, भोगोऽन्नादेरपार्थकः॥ ५॥

यत एवमत एवम्—

अकिञ्चित्कारकं ज्ञेयं, मोहाभावाद्रताद्यपि।
तेषां कण्ड्वाद्यभावेन, हन्त कण्डूयनादिवत्॥ ६॥

सिद्धसुखं स्वरूपत आह-

अपरायत्तमौत्सुक्य-रहितं निष्प्रतिक्रियम्।
सुखं स्वाभाविकं तत्र, नित्यं भयविवर्जितम्॥ ७॥

इदं च परैः परमानन्द इत्यभिहितमेतदेवाऽऽह—

परमानन्दरूपं तद्, गीयतेऽन्यैर्विचक्षणैः।
इत्थं सकलकल्याण-रूपत्वात्सांप्रतं ह्यदः॥ ८॥

अथ केषामिदमवसेयमित्यत आह—

संवेद्यं योगिनामेत—दन्येषां श्रुतिगोचरः।
उपमाऽभावतोऽव्यक्त-मभिधातुं न शक्यते॥ हा० ३२ अष्ट०।

('ठाण' शब्दे 'सिद्ध' शब्दे च सिद्धानां स्थानप्ररूपणावसरेऽप्युक्त एवोऽर्थः। सम्मतितर्के च-"ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं" इति सम्मतितर्के द्वितीये काण्डे प्रथमगाथाया-व्याख्यानावसरे प्रपञ्चतो भावितं तत एवावगन्तव्यम्, विस्तरभियाऽत्र न लिख्यते) विशे०।

ण य संसारम्मि सुहं, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मोक्खो उवाए उ।
सव्वभावंतरेहिं णं गोयम! त्ति बेमि।

महा० ६ अ०। (न स्त्री मोक्षमेतीति दिगम्बरमतम्, स्त्री अपि निर्वाणं गन्तुं शक्नोतीति स्वमतप्रदर्शनपुरःसरमस्माभिरुपपादि 'इत्थिलिंगसिद्ध' शब्दे द्वितीयभागे ५६० पृष्ठे) (कृत्स्नकर्मक्षयान् मोक्षो भवत्वितीदमपि निदानत्वेन मन्यते इत्यादि 'आरुग्गबोहिलाभ' शब्दे द्वितीयभागे ३८६ पृष्ठे) आव०। ल०। (ज्ञानमात्रान्मोक्षः, क्रियाया एव मोक्षः, समुदिताद् वा द्वयादिति 'णाणणय' 'किरियाणय'-'णाणकिरियाणय'-शब्देषु व्यवस्थितम्) आ० चू०। आचा०।

ज्ञानक्रियामिश्रतयैवैताः क्लेशहानोपायभूता भवन्ति नान्यथेति विवेचयन्नाह—

ज्ञानं च सदनुष्ठानं, सम्यक्सिद्धान्तवेदिनः।
क्लेशानां कर्मरूपाणां, हानोपायं प्रचक्षते॥ १॥

(ज्ञानं चेति) सज्ज्ञानम्—सदनुष्ठानं च सम्यग्—अवैपरीत्येन सिद्धान्तवेदिनः कर्मरूपाणां क्लेशानां हानोपायम्—त्यागसामग्रीम् प्रचक्षते-प्रकथयन्ति। "संजोगसिद्धीइ फलं वयंति" इत्यादिग्रन्थेन॥ १॥

नैरात्म्यदर्शनादन्ये, निबन्धनवियोगतः।
क्लेशप्रहाणमिच्छन्ति, सर्वथा तर्कवादिनः॥ २॥

(नैरात्म्यति) नैरात्म्यदर्शनात्-सर्वत्रैवात्माभावावलोकनात्। अन्ये-बौद्धाः, निबन्धनवियोगतो—निमित्तविरहात् क्लेशप्रहाणम्—तृष्णाहानिलक्षणमिच्छन्ति, सर्वथा—सर्वैः प्रकारैस्तर्कवादिनः; न तु शास्त्रानुसारिणः॥ २॥

अत एव स्वमतं पुरस्कर्तुमाहुः—

समाधिराज एतच्च, तदेतत्तत्त्वदर्शनम्।
आग्रहच्छेदकार्येत-त्तदेतदमृतं परम्॥ ३॥

(समाधिराज इति) समाधिराजः सर्वयोगाग्रेसरत्वात्। एतच्च नैरात्म्यदर्शनम्, तदेतत्तत्त्वदर्शनम् परमार्थावलोकनतः; आग्रहच्छेदकारि—मूर्च्छाविच्छेदकम्, एतत्तदेतदमृतम्—पीयूषम्, परं—भावरूपम्॥ ३॥

जन्मयोनिर्यतस्तृष्णा, ध्रुवा सा चात्मदर्शने।
तदभावे च नेयं स्या-द्बीजाभाव इवाङ्कुरः॥ ४॥

(जन्मेति) यतः-यस्मात् तृष्णा-लोभलक्षणा जन्मयोनिः-पुनर्भवहेतुः ध्रुवा-निश्चिता। सा च-तृष्णा आत्मदर्शने-अहमस्मीति निरीक्षणरूपे तदभावे आत्मदर्शनाभावे च नेयं तृष्णा स्यात्; अङ्कुर इव बीजाभावे॥ ४॥

न ह्यपश्यन्नहमिति, स्निह्यत्यात्मनि कश्चन।
न चात्मनि विना प्रेम्णा, सुखहेतुषु धावति॥ ५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(नहीति) न-नैव हिः-यस्मात् अपश्यन्-अनिरीक्षमाणः अहमित्युल्लेखेन, स्निह्यति-स्नेहवान् भवति ; आत्मनि विषयभूते कश्चन बुद्धिमान् । नचात्मनि प्रेम्णा विना सुखहेतुषु धावति-प्रवर्तते कश्चन । तस्मादात्मदर्शनस्य वैराग्यप्रतिपन्थित्वान्नैरात्म्यदर्शनमेव मुक्तिहेतुरिति सिद्धम् ।५।

एतद् दूषयति-

नैरात्म्यायोगतो नैत-द्भावक्षणिकत्वयोः ।
आद्यपक्षेऽविचार्यत्वा-द्धर्माणां धर्मिणं विना ॥ ६ ॥

(नैरात्म्येति) एतदन्येषां मतं न युक्तम् , अभावक्षणिकत्वयोः-अर्थाद् आत्मना विकल्पमानयोः सतोः; नैरात्म्यायोगतः । आद्यपक्षे-आत्मनोऽभावपक्षे धर्मिणम्-आत्मानं विना; धर्माणाम्-सदनुष्ठानमोक्षादीनाम् अविचार्यत्वाद्-विचारायोग्यत्वात् , नहि वन्ध्यासुताभावे तद्गतान् सुरूपकुरूपत्वादीन् विशेषांश्चिन्तयितुमारभते कश्चिदिति ॥ ६ ॥

वक्त्राद्यभावतश्चैव, कुमारीसुतबुद्धिवत् ।
विकल्पस्याप्यशक्यत्वा-द्वक्तुं वस्तु विना स्थितम् ॥७॥

(वक्त्रादीति) वक्त्रादीनां-नैरात्म्यप्रतिपादकतद्द्रष्ट्रादीनाम् अभावतश्चैव । आद्यपक्षे नैरात्म्यायोगतो नैतदिति संबन्धः । ज्ञानवादिमते त्वाह-कुमारीसुतबुद्धिवत्-अकृतविवाहस्त्रीपुत्रज्ञानवत् । विकल्पस्यापि प्रतिपादकादिगतस्य स्थितं वस्तु विना वक्तुम् अशक्यत्वात् । कुमारीसुतबुद्धिरपि हि प्रसिद्धयोः कुमारीसुतपदार्थयोः संबन्धमेवारोपितमवगाहते, प्रकृते त्वात्मन एवाभावात्तत्प्रतिपादकादिव्यपदेशौ निर्मूल एव । क्वचित्प्रमितस्यैव क्वचिदारोप्यत्वात् । इत्थं च-"यथा कुमारी शयनान्तरेऽस्मिन् , जातं च पुत्रं विगतं च पश्येत् । जाते च हृष्टाऽपगते विषण्णा, तथोपमान् जानत सर्वधर्मान् ॥१॥" इत्यादि परेषां शास्त्रमपि संसारासारतार्थवादमात्रपरतयैवोपयुज्यते इति द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

द्वितीयेऽपि क्षणादूर्ध्वं, नाशादन्याप्रसिद्धितः ।
अन्यथोत्तरकार्याङ्ग-भावाविच्छेदतोऽन्वयात् ॥ ८ ॥

(द्वितीयेऽपीति) द्वितीयेऽपि पक्षे , नैरात्म्यायोगतो नैतदिति संबन्धः । क्षणादूर्ध्वम् क्षणिकस्यात्मनो नाशात् अन्यस्य-अनन्तरक्षणस्य अप्रसिद्धितः-आत्माश्रयानुष्ठानफलाद्यनुपपत्तेः । अन्यथा-भावादेव भावाभ्युपगमे उत्तरकार्यं प्रति अङ्गभावेन-परिणामिभावेन अविच्छेदतोऽन्वयात् , पूर्वक्षणस्यैव कथञ्चिदभावीभूतस्य तथापरिणमने क्षणद्वयानुवृत्तिध्रौव्यात् । सर्वथाऽसतः खरविषाणादेरिवोत्तरभावपरिणमनशक्त्यभावात् , सदृशक्षणान्तरसामग्रीसंपत्तेरतियोग्यताविच्छिन्नशक्त्यैवोपपत्तेरिति ॥ ८ ॥

किं च-क्षणिको ह्यात्माऽभ्युपगम्यमानः स्वनिवृत्तिस्वभाकः स्यात् , उतान्यजननस्वभावः, उताहो उभयस्वभावः ?, इति त्रयी गतिः । तत्राद्यपक्षे आह-

स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे, न क्षणस्यापरोदयः ।
अन्यजन्मस्वभावत्वे, स्वनिवृत्तिरसंगता ॥ ८ ॥

(स्वनिवृत्तीति) स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे क्षणस्य आत्मक्षणस्य अभ्युपगम्यमाने नापरोदयः-सदृशोत्तरक्षणोत्पादः स्यात्, पूर्वक्षणस्योत्तरक्षणजननास्वभावत्वात् । द्वितीये त्वाह-अन्यजन्मस्वभावत्वे-सदृशापरक्षणोत्पादकस्वभावत्वे स्वनिवृत्तिरसंगता तदजननस्वभावत्वादेव ॥ ९ ॥

तृतीये त्वाह-

उभयैकस्वभावत्वे, न विरुद्धोऽन्वयोऽपि हि ।
न च तद्धेतुकः स्नेहः, किं तु कर्मोदयोद्भवः ॥ १० ॥

(उभयेति) उभयैकस्वभावत्वे स्वनिवृत्तिसदृशापरक्षणोभयजननैकस्वभावत्वे, अन्वयोऽपि हि न विरुद्धः । यदेव किञ्चिन्निवर्तते तदेवापरक्षणजननस्वभावमिति शब्दार्थान्यथानुपपत्त्यैवान्वयसिद्धेः, उक्तोभयैकस्वभावत्ववत् पूर्वापरकालसंबन्धैकस्वभावत्वस्याप्यविरोधात् । इत्थमेव प्रत्यभिज्ञाक्रियाफलसामानाधिकरण्यादीनां निरुपचरितानामुपपत्तेरिति निर्लोठितमन्यत्र । न च तद्धेतुकः-आत्मदर्शनहेतुकः स्नेहः किं तु कर्मोदयोद्भवो-मोहनीयकर्मोदयनिमित्तकः । अतो नायमात्मदर्शनापराध इति भावः ॥ १० ॥

ननु यद्यप्यात्मदर्शनमात्रनिमित्तको न स्नेहः, क्षणिकस्याप्यात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण समवलोकनात्तदुद्भवप्रसङ्गात् , किं तु-ध्रुवात्मदर्शनतो नियत एव स्नेहोद्भवस्तद्गतागामिकालसुखदुःखावाप्तिपरिहारचिन्तावश्यकत्वादित्यत्राऽऽह-

ध्रुवे क्षणेऽपि न प्रेम, निवृत्तमनुपप्लवात् ।
ग्राह्याकार इव ज्ञाने-ऽन्यथा तत्रापि तद्भवेत् ॥ ११ ॥

(ध्रुवे क्षणेऽपीति) ध्रुवे क्षणेऽपि-ध्रुवात्मदर्शनेऽपि, न प्रेम-समुत्पत्तुमुत्सहते ! निवृत्तम्-उपरतम् उपप्लवात्-संक्लेशक्षयात् विसभागपरिक्षयाभिधानात् , ज्ञाने ग्राह्याकार इव भवन्मते उपप्लववशाद्धि तत्र तदवभासस्तदवभासे तु तन्निवृत्तिरिति । तथा च सिद्धान्तो वः-" ग्राह्यं न तस्य ग्रहणं न तेन,ज्ञानान्तरग्राहतयाऽपि शून्यम् । तथापि च ज्ञानमयः प्रकाशः, प्रत्यक्षरूपस्य तथाऽऽविरासीत् ॥ १ ॥ " इति । अन्यथोपप्लवं विनाऽपि ध्रुवात्मदर्शनेन प्रेमोत्पत्त्यभ्युपगमे तत्रापि त्वन्मतप्रसिद्धात्मन्यपि तत्प्रेम भवेत् , आत्मदर्शनमात्रस्यैव लाघवेन प्रेमहेतुत्वात् । ध्रुवत्वभावनमेव मोहादिति तु स्ववासनामात्रमिति न किञ्चिदेतत् ॥ ११ ॥

विवेकख्यातिरुच्छेत्री, क्लेशानागनुपप्लवा ।
सप्तधा प्रान्तभूप्रज्ञा, कार्यचित्तविमुक्तिभिः ॥ १२ ॥

(विवेकेति) विवेकख्यातिः प्रतिपक्षभावनाबलादविद्याप्रविलये विनिवृत्तज्ञातृत्वकर्तृत्वाभिमानाया रजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेरन्तर्मुखायाश्चिच्छायासंक्रान्तिः अनुपप्लवा अन्तरान्तराव्युत्थानरहिता क्लेशानामुच्छेत्री । यदाह-'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः'(२-२६)सा च सप्तधा सप्तप्रकारैःप्रान्तभूप्रज्ञा-सकलसालम्बनसमाधिपर्यन्तभूमिधीर्भवति । कार्यचित्तविमुक्तिभिः-चतुस्त्रिप्रकाराभिः । तत्र न मे ज्ञातव्यं किंचिदस्ति, क्षीणा मे क्लेशाः, न मे क्षेतव्यं किंचिदस्ति, अधिगतं (ता) मया हानप्राप्तविवेकख्यातिरिति कार्यविषयनिर्मलज्ञानरूपाश्चतस्रः कार्यविमुक्तयः । चरितार्था मे बुद्धिगुणाः कृताधिकारा मोहबीजाभावात् कुतोऽमीषां प्ररोहः, सात्मीभूतश्च मे समाधिरिति, स्वरूपप्रतिष्ठोऽहमिति गुणविषयज्ञानरूपास्तिस्रः कार्यविमुक्तय इति । तदिदमुक्तम्-" तस्य सप्तधा प्रान्तभूप्रज्ञेति " (२-२७) ॥ १२ ॥

१-' विस ' इति बौद्धानां पारिभाषिकः शब्दः । विष इति वा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बलान्नश्यत्यविद्याऽस्या, उत्तरेपामियं पुनः।
प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो-दाराणां क्षेत्रमिष्यते ॥ १३ ॥

(बलादिति) अस्या-विवेकख्यातेः बलादविद्या नश्यति। इयम्-अविद्या पुनरुत्तरेषाम्-अस्मितादीनां क्लेशानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणां क्षेत्रमिष्यते। तदुक्तम्-" अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणामिति" (२-४) ॥ १३ ॥

स्वकार्यं नारभन्ते ये, चित्तभूमौ स्थिता अपि।
विना प्रबोधकबलं, ते प्रसुप्ताः शिशोरिव ॥ १४ ॥

(स्वकार्यमिति) ये-क्लेशाः चित्तभूमौ स्थिता अपि स्वकार्यं नारभन्ते; विना प्रबोधकस्य-उद्बोधकस्य बलम्-उद्रेकम्; ते—क्लेशाः प्रसुप्ताः शिशोरिव—बालकस्येव ॥ १४ ॥

भावनात्प्रतिपक्षस्य, शिथिलीकृतशक्तयः।
तनवोऽतिबलापेक्षा, योगाभ्यासवतो यथा ॥ १५ ॥

(भावनादिति) भावनाद्-अभ्यासात् प्रतिपक्षस्य-स्वविरोधपरिणामलक्षणस्य शिथिलीकृता कार्यसंपादनं प्रति शक्तिर्येषां ते तथा तनवो—वासनावरोधतया चेतस्यवस्थिताः, न तु बालस्येवानवरुद्धवासनात्मानः। अतिबलापेक्षाः-स्वकार्यारम्भे प्रभूतसामग्रीसापेक्षाः, नतूद्बोधकमात्रापेक्षाः योगाभ्यासवतो यथा-रागादयः क्लेशाः ॥ १५ ॥

अन्येनोच्चैर्बलवता-ऽभिभूतस्वीयशक्तयः।
तिष्ठन्तो हन्त विच्छिन्ना, रागो द्वेषोदये यथा ॥ १६ ॥

(अन्येनेति) अन्येन-स्वातिरिक्तेन उच्चैर्बलवता-अतिशयितबलेन क्लेशेन अभिभूतस्वीयशक्तयस्तिष्ठन्तो हन्त विच्छिन्नाः क्लेशा उच्यन्ते; यथा-रागो द्वेषोदये। न हि रागद्वेषयोः परस्परविरुद्धयोर्युगपत्संभवोऽस्तीति ॥ १६ ॥

सर्वेषां सन्निधिं प्राप्ता, उदाराः सहकारिणाम्।
निर्वर्तयन्तः स्वं कार्यं, यथा व्युत्थानवर्तिनः ॥ १७ ॥

(सर्वेषामिति) सर्वेषां सहकारिणां सन्निधिम्-सन्निकर्षं प्राप्ताः स्वं कार्यं निर्वर्तयन्त उदारा उच्यन्ते; यथा-व्युत्थानवर्तिनो योगप्रतिपन्थिदशावस्थिताः ॥ १७ ॥

अविद्या चास्मिता चैव, रागद्वेषौ तथापरौ।
पञ्चमोऽभिनिवेशश्च, क्लेशा एते प्रकीर्तिताः ॥१८ ॥

(अविद्या चेति) क्लेशानां विभागोऽयम्। तदुक्तम्-" अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः" इति (२-३) ॥१८॥

विपर्यासात्मिकाऽविद्या, ऽस्मिता दृग्दर्शनैकता।
रागस्तृष्णा सुखोपाये, द्वेषो दुःखाङ्गनिन्दनम् ॥ १९ ॥

(विपर्यासात्मिकेति) विपर्यासः-अतस्मिंस्तद्ग्रहस्तदात्मिका अविद्या; यथा-अनित्येषु घटादिषु नित्यत्वस्य, अशुचिषु कायादिषु शुचित्वस्य, दुःखेषु विषयेषु सुखरूपस्य, अनात्मनि च शरीरादावात्मत्वस्य अभिमानः। तदुक्तम्-" अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति" (२-५)। दृग्दर्शनयोः—पुरुषरजस्तमोऽनभिभूतसात्त्विकपरिणामयोः भोक्तृ-भोग्यत्वेनावस्थितयोरेकता अस्मिता। तदुक्तम्-"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता " (२-६)। सुखोपाये-सुखसाधने तृष्णा सुखज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वो लोभपरिणामो रागः। तदुक्तम्—" सुखानुशयी रागः " इति (२-७) दुःखाङ्गानाम्—दुःखकारणानाम् ' निन्दनं दुःखाभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वकं विगर्हणं द्वेषः। यत उक्तम्-"दुःखानुशयी द्वेषः" इति (२-८) ॥ १९ ॥ (अत्रत्यो विंशतितमः श्लोकः ' अभिणिवेस' शब्दे प्रथमभागे ७१५ पृष्ठे गतः)

एभ्यः कर्माशयो दृष्टा-दृष्टजन्मानुभूतिभाक्।
तद्विपाकश्च जात्यायु-र्भोगाख्यः संप्रवर्तते ॥ २१ ॥

(एभ्य इति) एभ्यः—उक्तेभ्योऽविद्यादिभ्यः क्लेशेभ्यः, कर्माशयो भवति। दृष्टादृष्टजन्मनोरनुभूतिं भजति यः स तथा, तद्विपाकः—कर्मविपाकश्च जात्यायुर्भोगाख्यः संप्रवर्तते निरूपिततत्त्वमेतत् ॥ २१ ॥

परिणामाच्च तापाच्च, संस्काराद् द्विविधोऽप्ययम्।
गुणवृत्तिविरोधाच्च, हन्त दुःखमयः स्मृतः ॥ २२ ॥

(परिणामाच्चेति) अयम्-कर्मविपाको दुःखाह्लादफलत्वेन द्विविधोऽपि ' ते ह्लादपरितापफला ' (२-१४) (पुण्यापुण्यहेतुत्वात्) इत्यत्र तच्छब्दपरामृष्टानां जात्यायुर्भोगानां द्वैविध्यश्रवणात्। परिणामाच्च—यथोत्तरं गार्ध्याभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतदुःखापरिहारलक्षणाद् दुःखान्तरजननलक्षणाच्च। तापाच्च-उपभुज्यमानेषु—सुखसाधनेषु सुखानुभवकालेऽपि सदावस्थिततत्प्रतिपन्थिद्वेषलक्षणात्। संस्काराच्च-अभिमतानभिमतविषयसन्निधाने सुखदुःखसंविदोरुपजायमानयोः स्वक्षेत्रे तथाविधसंस्कारतथाविधानुभवपरंपरया संस्कारानुच्छेदलक्षणात्। गुणवृत्तिविरोधाच्च—गुणानां सत्त्वरजस्तमसां वृत्तीनाम्—सुखदुःखमोहरूपाणां परस्पराभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धानां जायमानानां सर्वत्रैव दुःखानुवेधाच्चेत्यर्थः। हन्त दुःखमयो—दुःखैकस्वभावः स्मृतः। तदुक्तम्—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः " इति (२-१५) ॥ २२ ॥

इत्थं दृग्दृश्ययोगात्माऽ-विद्यको भवविप्लवः।
नाशान्नश्यत्यविद्यायाः, इति पातञ्जला जगुः ॥ २३ ॥

(इत्थमिति) इत्थं—दुःखरूपो दृग्दृश्ययोः—पुरुषबुद्धितत्त्वयोः योगो-विवेकाख्यातिपूर्वकः संयोग आत्मा-कारणं यस्य स तथा। अविद्यकः-अविद्यारचितो भवविप्लवः-संसारप्रपञ्चोऽविद्याया नाशान्नश्यति। अविद्यानाशात्स्वकार्यदृग्दृश्यसंयोगनाशे तत्कार्यभवप्रपञ्चनाशोपपत्तेरिति पातञ्जला जगुः—भणितवन्तः ॥ २३ ॥

एतद् दूषयति—

नैतत्साध्वपुमर्थत्वात्, पुंसः कैवल्यसंस्थितेः।
क्लेशाभावेन संयोगा-जन्मोच्छेदो हि गीयते ॥ २५ ॥

(नैतदिति) न एतत्-पातञ्जलमतं साधु—न्याय्यम् पुंसः कैवल्यसंस्थितेः सदातनत्वेनापुमर्थत्वात्-पुरुषप्रयत्नासाध्यत्वात्, हि—यतः, क्लेशाभावेन संयोगस्याविद्यकस्य स्वयमेव निवृत्तस्याजन्मानुत्पाद उच्छेदो गीयते। तदेव च पुरुषस्य कैवल्यं व्यपदिश्यत इति न पुनर्मूर्तद्रव्यवत्संयोगपरित्यागोऽस्य युज्यते; कूटस्थत्वहानिप्रसङ्गात् इति हि परसिद्धान्तः। तदुक्तम्-" तदभावात्संयोगाभावो हानमिति" (२-२५) ॥ २४ ॥

१ आख्यातिसंशावाचके ख्यातिशब्दोऽपि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतदेवाऽऽह—

तात्त्विको नात्मनो योगो, ह्येकान्तापरिणामिनः ।
कल्पनामात्रमेवं च, क्लेशास्तद्धानमप्यहो ॥ २५ ॥

(तात्त्विक इति) तात्त्विकः-पारमार्थिको नात्मनो हि योगः-संबन्धः एकान्तापरिणामिनः सतो युज्यते । एवं च अहो इति आश्चर्ये, क्लेशास्तद्धानमपि कल्पनामात्रम् ; उपचरितस्य भवप्रपञ्चस्य प्रकृतिगतत्वं विनाऽपि अविद्यामाननिर्मितत्वेन बौद्धनयेन, वेदान्तिनयेनाऽपि च वक्तुं शक्यत्वात् ; मुख्यार्थस्य च भवन्मतनीत्याऽव्याप्यसिद्धत्वादित्यर्थः ॥ २५ ॥

कल्पनिकत्वेनैवैतन्मतम् , अन्यदपीत्थं दूषयन्नाह—

नृपस्येवाभिधानाद्यः, सातबन्धः प्रकीर्तितः ।
अहिशङ्काविषज्ञाना-च्चेतरोऽसौ निरर्थकः ॥२६॥

(नृपस्येति) नृपस्येव तथाविधनरपतेरिवाभिधनाद् राजाऽयमिति भणनरूपाद् यः सातबन्धः-सुखसंबन्धरूपः प्रकीर्तितः, नित्येऽप्यात्मनि परैः । अहिनाऽदष्टस्यापि तथाविधप्रघट्टकवशादहिशङ्काविषज्ञाच्चेतरोऽसातबन्धः असौ निरर्थकः कल्पनामात्रस्यार्थासाधकत्वादेव ? अथ प्रकृतौ कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानोपवर्णनमात्रमेतत् , तन्निरासार्थमेव च सकलशास्त्रार्थोपयोग इति को दोषः ? तत्त्वार्थसिद्ध्यर्थमुपचाराश्रयणस्यापि अदुष्टत्वादिति चेन्न, तत्त्वार्थस्यैवात्मनश्चिद्रूपत्वे मुक्त्यवस्थायां विषयपरिच्छेदकत्वस्याप्यापत्तेः ज्ञानस्य ज्ञानत्ववत्सविषयकत्वस्यापि स्वभावत्वात् ,अन्तःकरणाभावेऽर्थपरिच्छेदाभावस्य च निरावरणज्ञाने तस्याहेतुत्वेन वक्तुमशक्यत्वात् , दिदृक्षाभावेऽपि दर्शनानिवृत्तेः । प्राकृताप्राकृतज्ञानयोः सविषयकत्वाविषयकत्वस्वभावभेदकल्पनस्य चान्याय्यत्वात् । आत्मचैतन्येऽविषयकत्वस्वाभाव्यवत्सविषयकत्वस्वाभाव्यकल्पने बाधकाभावात् । किं च-विवेकाख्यातिरूपसंयोगाभावोऽपि विवेकाख्यातिरूप एवेति, विषयग्राहकचैतन्यस्य स्वतन्त्रनीत्यैवोपपत्तेः; मुक्तावपि निर्विषयचिन्मात्रतत्त्वार्थासिद्धिः । तदुक्तं हरिभद्राचार्यैः—" आत्मदर्शनतश्च स्या-न्मुक्तिर्यत्तन्त्रनीतितः । तदस्य ज्ञानसद्भावस्तन्त्रयुक्त्यैव साधितः ॥ १ ॥ " इति । ननु विवेकाख्यातिरपि अन्तःकरणधर्म एव, तस्मिंश्च प्रकृतौ प्रविलीने न तद्धर्मस्थित्यवकाशः , नचैवं संयोगोन्मज्जनप्रसङ्गः ; परेषां घटविलयदशायां घटप्रागभावानुन्मज्जनवदुपपत्तेः इत्थं च प्रकृतेरेव तत्त्वतः संयोगहानम् , आत्मनस्तूपचारादिति नास्माकमयमुपालम्भः शोभत इति चेन्न , उपचारस्यापि संबन्धाविनाभावस्याश्रयणे चिन्मात्रधर्मकत्वत्यागात्सर्वज्ञत्वस्वभावपरित्यागस्य स्ववासनामात्रविजृम्भितत्वादित्याचार्याणामाशयात् ॥ २६ ॥

पुरुषार्थाय दुःखेऽपि, प्रवृत्तेर्ज्ञानदीपतः ।
हानं चरमदुःखस्य, क्लेशस्येति तु तार्किकाः ॥ २७ ॥

(पुरुषार्थायेति) ज्ञानदीपतः—तत्त्वज्ञानप्रदीपाद् अज्ञानध्वान्तनाशात् , पुरुषार्थाः-पुरुषार्थनिमित्तं, दुःखेऽपि प्रवृत्तेः राजसेवादौ तथा दर्शनात् । चरमदुःखस्य क्लेशस्य स्वयमुत्पादितस्य हानमिति तु तार्किकाः—नैयायिकाः; अतीतस्य स्वत एवोपरतत्वात् , अनागतस्य हातुमशक्यत्वात् , वर्तमानस्यापि विरोधिगुणप्रादुर्भावेनैव नाशात् । चरमदुःखमुत्पाद्य तन्नाशस्यैव पुरुषार्थकत्वादिति भावः ॥ २७ ॥

एतदपि मतं दूषयति—

ब्रूते हन्त विना कश्चि-ददोऽपि न मदोद्धतम् ।
सुखं विना न दुःखार्थं, कृतकृत्यस्य हि श्रमः ॥ २८ ॥

(ब्रूत इति) अदोऽपि वचनं मदोद्धतं विना कश्चिदित्यनन्तरमपेर्गम्यमानत्वात् , कश्चिदपि न ब्रूते । हि-यतः , कृतकृत्यस्य सुखं विना-स्वसुखातिशयितसुखं विना दुःखार्थं श्रमो नास्ति । राजसेवादावपि हि सुखार्थं प्रवृत्तिर्दृश्यते । कटुकौषधपानादावपि आगामिसुखाशयैव; अन्यथा विवेकिनो—दुःखजिहासोर्मरणादावपि प्रवृत्त्यापत्तेः ; न च मोक्षे सुखमिष्यते भवद्भिरिति व्यर्थः सर्वः प्रयासः ॥ २८ ॥

किं च—चरमदुःखत्वं तत्त्वज्ञानजन्यतावच्छेदकमपि न संभवतीत्याह—

चरमत्वं च दुःखत्व-व्याप्या जातिर्न जातितः ।
तच्छरीरप्रयोज्याऽतः, साङ्कर्यान्नान्यदर्थवत् ॥ २९ ॥

(चरमत्वं चेति) चरमत्वं च दुःखत्वव्याप्या जातिः न तच्छरीरप्रयोज्या, अतो—जातितः साङ्कर्यात् मैत्रीयचरमदुःखचैत्राचरमदुःखवर्तिन्योस्तयोश्चैत्रचरमदुःख एव समावेशात् । चैत्रशरीरप्रयोज्यजातिव्याप्यायाश्चैत्रचरमसुखदुःखादिनिष्ठाया भिन्नाया एव चरमत्वजातेरुपगमे तु सुखत्वादिनैव साङ्कर्यात् । अन्यत्समानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनत्वलक्षणं चरमत्वं नार्थवत् , न तत्त्वाज्ञानजन्यतावच्छेदकम् अर्थादेव समाजात्तदुपपत्तेः । कार्यवृत्तियावद्धर्माणां कार्यतावच्छेदकत्वे चैत्रावलोकितमैत्रनिर्मितघटत्वादेरपि तथात्वप्रसङ्गात् । तथा च नियतितत्त्वाश्रयणापत्तेरिति दिक् ॥ २९ ॥

अन्यमतदूषणेन निर्व्यूढं स्वमतमुपन्यस्यन्नाह—

सुखमुद्दिश्य तद्दुःखा-निवृत्त्या नान्तरीयकम् ।
प्रक्षयः कर्मणामुक्तो, युक्तो ज्ञानक्रियाध्वना ॥ ३० ॥

(सुखमिति) तत्—तस्मात् दुःखानिवृत्त्या नान्तरीयकं व्याप्तं सुखमुद्दिश्य कर्मणाम्—ज्ञानावरणादीनां प्रक्षयो ज्ञानक्रियाध्वना युक्त उक्तः ॥ ३० ॥

क्लेशाः पापानि कर्माणि, बहुभेदानि नो मते ।
योगादेव क्षयस्तेषां, न भोगादनवस्थितेः ॥ ३१ ॥
ततो निरुपमं स्थान-मनन्तमुपतिष्ठते ।
भवप्रपञ्चरहितं, परमानन्दमेदुरम् ॥ ३२ ॥

द्वा०२५ द्वा० । (अनयोर्व्याख्या 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६३३ पृष्ठे गता) एवं पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मोक्ष इति भागवताः। आचा० १ श्रु०४ अ० २ उ० । " षडिन्द्रियाणि षड् विषयाः षड् बुद्धयः सुखं दुःखं शरीरश्चेत्येकविंशतिभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तोच्छेदान्मोक्ष " इति नैयायिकमतम् । बुद्धिसुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काररूपाणां नवानां विशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्षः । जै० गा० । (अत्र विस्तरः सम्मतितर्कग्रन्थादवसेयः)

मोक्षस्वरूपमाह—

मोक्षः कर्मक्षयो नाम, भोगसंक्लेशवर्जितः ।
तत्र द्वेषो दृढाज्ञाना-दनिष्टप्रतिपत्तितः ॥ ३३ ॥

(मोक्ष इति) दृढाज्ञानाद्-अबाध्यमिथ्याज्ञानात् । भवा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भिष्वङ्गाभावेनानिष्टानुबन्धिन्यपि मोक्षेऽनिष्टानुबन्धित्वेनानिष्टप्रतिपत्तेः ॥ २२ ॥

भवाभिनन्दिनां सा च, भवशर्मोत्कटेच्छया ।
श्रूयन्ते चैतदालापा, लोके शास्त्रेऽप्यसुन्दराः ॥ २३ ॥

(भवेति) सा च—मोक्षेऽनिष्टप्रतिपत्तिश्च भवाभिनन्दिनाम्—उक्तलक्षणानाम् भवशर्मणो-विषयसुखस्योत्कटेच्छया भवति, द्वयोरेकदोषजन्यत्वात् ॥ २३ ॥

मदिराक्षी न यत्रास्ति, तारुण्यमदविह्वला ।
जडस्तं मोक्षमाचष्टे, प्रिया स इति नो मतम् ॥ २४ ॥

(मदिराक्षीति) लोकालापोऽयम् ॥ २४ ॥

वरं वृन्दावने रम्ये, क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम् ।
न त्वेवाविषयो मोक्षः, कदाचिदपि गौतम ! ॥ २५ ॥

(वरमिति) गौतमेति गालवस्य शिष्यामन्त्रणम् । ऋषिवचनमिदमिति शास्त्रालापोऽयम् ॥ २५ ॥

द्वेषोऽयमत्यनर्थाय, तदभावस्तु देहिनाम् ।
भवानुत्कटरागेण, सहजाल्पमलत्वतः ॥२६॥

(द्वेष इति) अयम्-मुक्तिविषयो द्वेषोऽत्यनर्थाय-बहुलसंसारवृद्धये । तदभावस्तु मुक्तिद्वेषाभावः पुनर्देहिनाम्-प्राणिनाम् भवानुत्कटरागेण-भवोत्कटेच्छाभावेन सहजम्-स्वाभाविकम् । यदल्पमलत्वं ततः मोक्षरागजनकगुणाभावेन तदभावेऽपि गाढतरमिथ्यात्वदोषाभावेन तद्द्वेषाभावो भवतीत्यर्थः ॥२६॥ (" मलस्तु० " (२७) इति श्लोकः 'मल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः)

प्रागबन्धान्न बन्धश्चेत् , किं तत्रैव नियामकम् ।
योग्यतां तु फलोन्नेयां, बाधते दूषणं न तत् ॥२८॥

(प्रागिति) प्राक्-पूर्वम् अबन्धाद्-बन्धाभावाज्जीवत्वरूपाविशेषेऽपि न बन्धो मुक्तस्य चेत् किं तत्रैव-प्रागबन्धे एव, नियामकम् ; योग्यतात्वं विना । योग्यतां तु फलोन्नेयाम्-फलबलकल्पनीयां तद्दूषणं न बाधते । तत्र कुतो न योग्यता ?, इत्यत्र फलाभावस्यैवोत्तरत्वात् । युक्तं चैतत् बन्धस्य बध्यमानयोग्यतापेक्षत्वनियमाद्वस्त्रादीनां मञ्जिष्ठादिरागरूपबन्धने तथा दर्शनात् ; तद्वैचित्र्येण फलभेदोपपत्तेस्तस्या अन्तरङ्गत्वात्तत्परिपाकार्थमेव हेत्वन्तरापेक्षणादित्याचार्याः ॥ २८ ॥ (" दिदृक्षा० " (२९) इतिश्लोकः ' दिदिक्खा ' शब्दे चतुर्थभागे २५२० पृष्ठे गतः)

प्रत्यावर्तं व्ययोऽप्यस्या-स्तदल्पत्वेऽस्य संभवः ।
अतोऽपि श्रेयसां श्रेणी, किं पुनर्मुक्तिरागतः ॥३०॥

(प्रत्यावर्तमिति) प्रत्यावर्तम्-प्रतिपुद्गलावर्तम् व्ययोऽपि-अपगमोऽपि अस्याः-योग्यतायाः दोषाणां क्रमह्रासं विना भव्यस्य मुक्तिगमनानुपपत्तेः । तदल्पत्वे-योग्यताल्पत्वे अस्य—मुक्त्यद्वेषस्य संभव-उपपत्तिः । तदुक्तम्-" एवं चापगमोऽप्यस्याः, प्रत्यावर्तं सुनीतितः । स्थित एव तदल्पत्वे भावशुद्धिरपि ध्रुवा ॥ १ ॥ " अतोऽपि-मुक्त्यद्वेषादपि श्रेयसां श्रेणी-कुशलानुबन्धसन्ततिः , किं पुनर्वाच्यं मुक्तिरागतस्तदुपपत्तौ ॥ ३० ॥

नचायमेव रागः स्या-न्मृदुमध्याधिकत्वतः ।

तत्रोपाये च नवधा, योगिभेदप्रदर्शनात् ॥ ३१ ॥

(न चेति) न चायमेव-मुक्त्यद्वेष एव रागः स्यात्-मुक्तिरागो भवेदिति वाच्यम्, मृदुमध्याधिकत्वतो जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावात् । तत्र मुक्तिरागे उपाये च नवधा नवभिः प्रकारैर्योगिभेदस्य प्रदर्शनाद्-उपवर्णनात् (अतः परं नवधा योगिभेदप्रतिपादिकाव्याख्या 'जोइ' शब्दे चतुर्थभागे १५८७ पृष्ठे)

द्वेषस्याभावरूपत्वा-दद्वेषश्चैक एव हि ।
रागात् क्षिप्रं क्रमाच्चातः, परमानन्दसंभवः ॥ ३२ ॥

(द्वेषस्येति) अद्वेषश्च द्वेषस्याभावरूपत्वादेक एव हि । अतो न तेन योगिभेदोपपत्तिरित्यर्थः ; फलभेदेनापि भेदमुपपादयति-ततो मुक्तिरागात् क्षिप्रमनतिव्यवधानेन अतो मुक्त्यद्वेषात्क्रमेण मुक्तिरागापेक्षया बहुद्वारपरम्परालक्षणेन परमानन्दस्य निर्वाणसुखस्य संभवः ॥ ३२ ॥ द्वा० १२ द्वा० ।

मुक्त्यद्वेषं प्राधान्येन पुरस्कुर्वन्नाह—

उक्तभेदेषु योगीन्द्रै-र्मुक्त्यद्वेषः प्रशस्यते ।
मुक्त्युपायेषु नो चेष्टा, मलनायैव यत्ततः ॥ १ ॥
विपान्नतृप्तिसदृशं, तद्यतो व्रतदुर्ग्रहः ।
उक्तः शास्त्रेषु शस्त्राग्नि-व्यालदुर्ग्रहसन्निभः ॥ २ ॥

(अनयोर्व्याख्या ' मुत्तिअदोस ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

ननु दुर्गृहीतादपि श्रामण्यात्सुरलोकलाभः केषांचिद्भवतीति कथमत्रासुन्दरतेत्यत्राऽऽह—

ग्रैवेयकाप्तिरप्यस्मा-द्विपाकविरसाऽहिता ।
मुक्त्यद्वेषश्च तत्रापि, कारणं न क्रियैव हि ॥ ३ ॥

ग्रैवेयकाप्तिरिति) अस्माद्—व्रतदुर्ग्रहात् ग्रैवेयकाप्तिरपि--शुद्धसमाचारवत्सु साधुषु चक्रवर्त्यादिभिः पूज्यमानेषु दृष्टेषु संपन्नतत्पूजास्पृहाणां तथाविधान्यकारणवतां च केषांचिद्व्यापन्नदर्शनानामपि प्राणिनां नवमग्रैवेयकप्राप्तिरपि विपाकविरसा-बहुतरदुःखानुबन्धबीजत्वेन परिणतिविरसा, अहिता-अनिष्टा तस्वतश्चौर्यार्जितबहुविभूतिवदिति द्रष्टव्यम् । तत्रापि-नवमग्रैवेयकप्राप्तावपि च मुक्त्यद्वेषः कारणं न केवला क्रियैव हि अखण्डद्रव्यश्रामण्यपरिपालनलक्षणा । तदुक्तम्—" अनेनापि प्रकारेण, द्वेषाभावोऽत्र तत्त्वतः । हितस्तु यत्तदेतेऽपि , तथा कल्याणभागिनः ॥ १ ॥ " इति ॥ ३ ॥

लाभाद्यर्थितयोपाये, फले चाप्रतिपत्तितः ।
व्यापन्नदर्शनानां हि, न द्वेषो द्रव्यलिङ्गिनाम् ॥ ४ ॥

(लाभेति) व्यापन्नदर्शनानां हि द्रव्यलिङ्गिनामुपाये-चारित्रक्रियादौ लाभाद्यर्थितयैव न द्वेषो रागसामभ्यां द्वेषानवकाशात् । फले च-मोक्षरूपे अप्रतिपत्तित एव न द्वेषः । न हि ते मोक्षं स्वर्गादिसुखाद्भिन्नं प्रतीयन्ति, यत्र द्वेषावकाशः स्यात् । स्वर्गादिसुखाभिन्नत्वेन प्रतीयमाने तु तत्र तेषां राग एव । वस्तुतो भिन्नस्य तस्य प्रतीतावपि स्वेष्टविघातशङ्कया तत्र द्वेषो न स्यादिति द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

मुक्तौ च मुक्त्युपाये च , मुक्त्यर्थं प्रस्थिते पुंसः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यस्य द्वेषो न तस्यैव , न्याय्यं गुर्वादिपूजनम् ॥ ५ ॥

(मुक्तौ चेति)-स्पष्टः ॥ ५ ॥

गुरुदोषवतः स्वल्पा , सत्क्रियाऽपि गुणाय न ।
भौतहन्तुर्यथा तस्य , पदस्पर्शनिषेधनम् ॥ ६ ॥

(गुर्वेति) गुरुदोषवतः-अधिकदोषवतः स्वल्पा-स्तोका सत्क्रियाऽपि सच्चेष्टाऽपि गुणाय न भवति यथा—भौतहन्तुः-भस्मव्रतिघातकस्य तस्य—भौतस्य पदस्पर्शनस्य-चरणसंघट्टनस्य निषेधनम् । कस्यचित् खलु शबरस्य कुतोऽपि प्रस्तावात्-" तपोधनानां पादेन स्पर्शनं महतेऽनर्थाय संपद्यत " इति श्रुतधर्मशास्त्रस्य, कदाचिन्मयूरपिच्छैः प्रयोजनमजायत । यदाऽसौ निपुणमन्वेषमाणो न लेभे ; तदा श्रुतमनेन यथा-भौतसाधुसमीपे तानि सन्ति, ययाचिरे च तानि तेन तेभ्यः ; परं न किंचिल्लेभे । ततोऽसौ शस्त्रव्यापारपूर्वकं तान्निगृह्य जग्राह तानि , पादेन स्पर्शं च परिहृतवान् । यथाऽस्य पादस्पर्शपरिहारो गुणोऽपि शस्त्रव्यापारेणोपहतत्वान्न गुणः , किं तु दोष एव । एवं मुक्तिद्वेषिणां गुरुदेवादिपूजनं योजनीयम् ॥ ६ ॥

मुक्त्यद्वेषान्महापाप-निवृत्त्या यादृशो गुणः ।
गुर्वादिपूजनात्तादृक् , केवलान्न भवेत् क्वचित् ॥ ७ ॥

(मुक्त्यद्वेषादिति)-स्पष्टः ॥ ७ ॥

एकमेव ह्यनुष्ठानं , कर्तृभेदेन भिद्यते ।
सरुजेतरभेदेन , भोजनादिगतं यथा ॥ ८ ॥

(एकमेवेति) एकमेव ह्यनुष्ठानम्-देवतापूजनादि कर्तृभेदेन चरमाचरमावर्तगतजन्तुकर्तृकतया भिद्यते-विशिष्यते सरुजेतरयोः-सरोगनीरोगयोर्भोक्त्रोर्भेदेन भोजनादिगतम् भोजनपानशयनादिगतम् , यथा अनुष्ठानम् । एकस्य रोगवृद्धिहेतुत्वात् , अन्यस्य बलोपचायकत्वादिति । सहकारिभेद एवायं न तु वस्तुभेद इति चेन्न , इतरसहकारिसमवहितत्वे न फलव्याप्यतापन्नया तदवच्छेदकं कारणं भेदस्यैव कल्पनौचित्यात्तथैवानुभवादिति "कल्पलतायां" विपञ्चितत्वात् ॥ ८ ॥

भवाभिष्वङ्गतस्तेना-नाभोगाच्च विषादिषु ।
अनुष्ठानत्रयं मिथ्या , द्वयं सत्यं विपर्ययात् ॥ ९ ॥

(भवेति) तेन कर्तृभेदादनुष्ठानभेदेन भेदनम् भवाभिष्वङ्गतः—संसारसुखाभिलाषात् । अनाभोगतः—सन्मूर्च्छनजप्रवृत्तितुल्यतया च विषादिष्वनुष्ठानेषु मध्ये अनुष्ठानत्रयमादिमं मिथ्या-निष्फलम् , द्वयमुत्तरं च सफलम् ; विपर्ययात्-भवाभिष्वङ्गानाभोगाभावात् ॥ ९ ॥

इहामुत्र फलापेक्षा, भवाभिष्वङ्ग उच्यते ।
क्रियोचितस्य भावस्या-नाभोगस्त्वतिलङ्घनम् ॥ १० ॥

(इहेति) प्रागेव शब्दार्थकथनाद्गतार्थोऽयम् ॥ १० ॥

विषं गरोऽननुष्ठानं, तद्धेतुरमृतं परम् ।
गुर्वादिपूजानुष्ठान-मिति पञ्चविधं जगुः ॥ ११ ॥

(विषमित-) पञ्चानामनुष्ठानानामयमुद्देशः ॥ ११ ॥

विषं लब्ध्याद्यपेक्षातः, क्षणात्सच्चित्तमारणात् ।
दिव्यभोगाभिलाषेण, गरः कालान्तरे क्षयात् ॥ १२ ॥

(विषमिति) लब्ध्याद्यपेक्षातो—लब्धिकीर्त्यादिस्पृहातो यदनुष्ठानं तद्विषम् उच्यते । क्षणात्-तत्कालं चित्तस्य शुभान्तःकरणपरिणामस्य, नाशनात् तदात्तभोगेनैव तदुपक्षयात् । अन्यदपि हि स्थावरजङ्गमभेदभिन्नं विषं तदानीमेव नाशयति । दिव्यभोगस्याभिलाष-ऐहिकभोगनिरपेक्षस्य सतः स्वर्गसुखवाञ्छालक्षणस्तेन अनुष्ठानं गर उच्यते । कालान्तरे—भवान्तरलक्षणे, क्षयाद्-भोगात्पुण्यनाशेनानर्थसंपादनात् । गरो हि कुद्रव्यसंयोगजो विषविशेषः, तस्य च कालान्तरे विषविकारः प्रादुर्भवतीति उभयापेक्षाजनितमतिरिच्यते नोभयापेक्षायामप्यधिकस्य बलवत्त्वादिति संभावयामः ॥ १२ ॥

संमोहादननुष्ठानं, सदनुष्ठानरागतः ।
तद्धेतुरमृतं तु स्या-च्छ्रद्धया जैनवर्त्मनः ॥ १३ ॥

(व्याख्या 'मुत्तिअदोस' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

चरमे पुद्गलावर्ते, तदेवं कर्तृभेदतः ।
सिद्धमन्यादृशं सर्वं, गुरुदेवादिपूजनम् ॥ १४ ॥

(चरम इति) निगमनं स्पष्टम् ॥ १४

सामान्ययोग्यतैव प्राक्, पुंसः प्रवृत्ते किल ।
तदा समुचिता सा तु, संपन्नेति विभाव्यताम् ॥ १५ ॥

(सामान्येति) सामान्ययोग्यता—मुक्त्युपायस्वरूपयोग्यता, समुचितयोग्यता तु तत्सहकारियोग्यतेति विशेषः । पूर्वं ह्येकान्तेन योग्यस्यैव देवादिपूजनमासीत् , चरमावर्ते तु समुचितयोग्यभावस्येति 'चरमावर्तदेवादिपूजनस्यान्यावर्तदेवादिपूजनादन्यादृशत्वमिति' योगबिन्दुवृत्तिकारः ॥ १५ ॥

चतुर्थं चरमावर्ते, प्रायोऽनुष्ठानमिष्यते ।
अनाभोगादिभावे तु, जातु स्यादन्यथाऽपि हि ॥ १६ ॥

(चतुर्थमिति) चरमावर्ते प्रायो-बाहुल्येन चतुर्थम्-तद्धेतुनामकम् अनुष्ठानमिष्यते । अनाभोगादिभावे तु जातु-कदाचिदन्यथाऽपि स्यादिति प्रायोग्रहणफलम् ॥ १६ ॥

शङ्कते—

नन्वद्वेषोऽथवा रागो, मोक्षे तद्धेतुतोचितः ।
आद्ये तत्स्यादभव्याना-मन्त्ये न स्यात्तदद्विषाम् ॥१७॥

(नन्विति) मुक्त्यद्वेषप्रयुक्तानुष्ठानस्य तद्धेतुत्वे-अभव्यानुष्ठानविशेषे अतिव्याप्तिः ; नवमग्रैवेयकप्राप्तेर्मुक्त्यद्वेषप्रयुक्तत्वप्रदर्शनात् । मुक्तिरागप्रयुक्तानुष्ठानस्य तत्त्वे तु मनाग् रागप्राक्कालीनमुक्त्यद्वेषप्रयुक्तानुष्ठानेऽव्याप्तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥

न चाद्वेषे विशेषस्तु, कोऽपीति प्राग् निदर्शितम् ।
ईषद्रागाद्विशेषश्चे-दद्वेषोपक्षयस्ततः ॥ १८ ॥

(न चेति) अद्वेषे विशेषस्तु न च कोऽप्यस्ति अभावत्वादिति प्राक्-पूर्वद्वात्रिंशिकायां निदर्शितम् । ईषद्रागाच्चेद्विशेषस्तर्हि तत एवाद्वेषस्योपक्षयः विशेषणेनैव कार्यसिद्धौ विशेष्यवैयर्थ्यात् । इत्थं च मुक्त्यद्वेषेण मनाग् मुक्त्यनुरागेण वा तद्धेतुत्वमिति वचनव्याघात इति भावः ॥ १८ ॥

उत्कटानुत्कटत्वाभ्यां, प्रतियोगिकृतोऽस्त्वयम् ।
नैवं सत्याम्रुपेक्षायां, द्वेषमात्रवियोगतः ॥ १९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(उत्कटेति) अभव्यानां मुक्तौ उत्कटद्वेषाभावेऽप्यनुत्कटद्वेषो भविष्यति, अन्येषां तु द्वेषमात्राभावादेवानुष्ठानं तद्धेतुः स्यादिति पूर्वार्धार्थः । नैवम्—उपेक्षायां सत्यां द्वेषमात्रस्य वियोगतः । अन्यथा स्वेष्टसांसारिकसुखविरोधित्वेनोत्कटोऽपि द्वेषस्तेषां मुक्तौ स्यादित्युत्तरार्धार्थः ॥ १६ ॥

समाधत्ते—

सत्यं बीजं हि तद्धेतो–रेतदन्यतरार्जितः ।
मुक्त्यद्वेषो न तेनाति–प्रसङ्गः कोऽपि दृश्यते ॥ २० ॥

(सत्यमिति) तद्धेतोः–अनुष्ठानस्य हि बीजम् ; एतयोर्मुक्त्यद्वेषरागयोरन्यतरेणार्जितः–जनितः क्रियारागः–सदनुष्ठानरागः । तेनातिप्रसङ्गः कोऽपि न दृश्यते । अभव्यानामपि स्वर्गप्राप्तिहेतुमुक्त्यद्वेषसत्त्वेऽपि तस्य सदनुष्ठानरागाप्रयोजकत्वाद्बाध्यफलापेक्षासहकृतस्य सदनुष्ठानरागानुबन्धित्वात् ॥ २० ॥

अपि बाध्या फलापेक्षा, सदनुष्ठानरागकृत् ।
सा च प्रज्ञापनाधीना, मुक्त्यद्वेषमपेक्षते ॥ २१ ॥

(अपीति) बाध्या–बाधनीयस्वभावा फलापेक्षाऽपि—सौभाग्यादिफलवाञ्छाऽपि सदनुष्ठाने रागकृत्—रागकारिणी । सा च—बाध्यफलापेक्षा च प्रज्ञापनाधीना—उपदेशायत्ता मुक्त्यद्वेषमपेक्षते कारणत्वेन ॥ २१ ॥

यतः—

अबाध्या सा हि मोक्षार्थ–शास्त्रश्रवणघातिनी ।
मुक्त्यद्वेषे तदन्यस्यां, बुद्धिर्मार्गानुसारिणी ॥ २२ ॥

(अबाध्येति) अबाध्या हि सा–फलापेक्षा ; मोक्षार्थशास्त्रश्रवणघातिनी तत्र विरुद्धत्वबुद्ध्याधानाद्व्यापन्नदर्शनानां च तच्छ्रवणं न स्वारसिकमिति भावः । तत्—तस्मान्मुक्त्यद्वेषे सति अन्यस्यां—बाध्यायां फलापेक्षायां समुचितयोग्यतावशेन मोक्षार्थशास्त्रश्रवणस्वारस्योत्पन्नायां बुद्धिर्मार्गानुसारिणी–मोक्षपथाभिमुख्यशालिनी भवतीति; भवति तेषां तीव्रपापक्षयात् सदनुष्ठानरागः ॥ २२ ॥

तत्तत्फलार्थिनां तत्त–त्तपस्तन्त्रे प्रदर्शितम् ।
मुग्धमार्गप्रवेशाय, दीयतेऽप्यत एव च ॥ २३ ॥

(तत्तदिति) तत्तत्फलार्थिनां—सौभाग्यादिफलकाङ्क्षिणाम् ; तत्तत्तपो–रोहिण्यादितपोरूपम् अत एव तन्त्रे प्रदर्शितम् ; अत एव मुग्धानां मार्गप्रवेशाय दीयतेऽपि गीतार्थैः । यदाह–" मुद्धाण हियट्ठया सम्मं " । नह्येवमत्र विषादित्वप्रसङ्गो न वा तद्धेतुत्वभङ्गः, फलापेक्षाया बाध्यत्वात् । इत्थमेव मार्गानुसरणोपपत्तेः ॥ २३ ॥

इत्थं च वस्तुपालस्य, भवभ्रान्तौ न बाधकम् ।
गुणाद्वेषो न यत्तस्य, क्रियारागप्रयोजकः ॥ २४ ॥

(इत्थं चेति) इत्थं च-मुक्त्यद्वेषविशेषोक्तौ च वस्तुपालस्य पूर्वभवे साधुदर्शनेऽप्युपेक्षया अज्ञाततद्गुणरागस्य चौरस्य भवभ्रान्तौ—दीर्घसंसारभ्रमणे न बाधकम् । यद्-यस्मात्तस्य गुणाद्वेषः क्रियारागप्रयोजको नाभूत् । इष्यते च तादृश एवाऽयं तद्धेत्वनुष्ठानोचितत्वेन संसारह्रासकारणमिति ॥ २४ ॥

जीवातुः कर्मणां मुक्त्य–द्वेषस्तदयमीदृशः ।
गुणरागस्य बीजत्व–मस्यैवाव्यवधानतः ॥ २५ ॥
धारालग्नः शुभो भाव, एतस्मादेव जायते ।
अन्तस्तत्त्वविशुद्ध्या च, विनिवृत्ताग्रहत्वतः ॥ २६ ॥
अस्मिन् सत्साधकस्येव, नास्ति काचिद्विभीषिका ।
सिद्धेरासन्नभावेन, प्रमोदस्यान्तरोदयात् ॥ २७ ॥
चरमावर्त्तिनो जन्तोः, सिद्धेरासन्नता ध्रुवम् ।
भूयांसोऽमी व्यतिक्रान्ता–स्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ ॥२८॥
मनोरथिकमित्थं च, सुखमास्वादयन् भृशम् ।
पीड्यते क्रियया नैव, बाढं तत्राऽनुरज्यते ॥ २९ ॥
प्रसन्नं क्रियते चेतः, श्रद्धयोत्पन्नया ततः ।
मलोज्झितं हि कतक–क्षोदेन सलिलं यथा ॥ ३० ॥
वीर्योल्लासस्ततश्च स्या–त्ततः स्मृतिरनुत्तरा ।
ततः समाहितं चेतः, स्थैर्यमप्यवलम्बते ॥ ३१ ॥
अधिकारित्वमित्थं चाऽ–पुनर्बन्धकतादिना ।
मुक्त्यद्वेषक्रमेण स्यात् , परमानन्दकारणम् ॥ ३२ ॥

जीवातुरित्याद्यारभ्याष्टश्लोकी सुगमा । ३२ । द्वा० १३ द्वा० ।
" जे जत्तिया य हेऊ, भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे ।
गणणाईया लोया, दोण्ह वि पुणा भवे तुल्ला ॥ १ ॥ "

अस्या व्याख्या–रागद्वेषज्ञानवतां जन्तूनां वधाद्यनिवृत्तानां वितथप्ररूपणादिप्रवृत्तानां ये—सूक्ष्मबादरजीवसर्वद्रव्यादयो भावा यावन्मात्राश्च हेतवो–निमित्तानि संसारस्य रागादिविरहितानां सम्यक्श्रद्धानवतामवद्याविवितथप्ररूपणादिप्रवृत्तानां त एव सर्वजीवादयो भावास्तावन्मात्रा हेतवो मोक्षे मोक्षस्यापीत्यर्थः । उक्तं च–" अहो ध्यानस्य माहात्म्यं, येनैकाऽपि हि कामिनी । अनुरागविरागाभ्यां, स्याद्भवाय शिवाय च ॥ १ ॥ " ननु भवत्वेवं, किं तु–कियत्संख्या अमी भवशिवहेतवः ? इत्याह–द्वयोरपि भवमोक्षयोः संबन्धिनां हेतूनां प्रत्येकं गणनया—एकद्वित्र्यादिरूपया अतीता—अतिक्रान्ता–लोका भवन्ति पूर्णा नैकेनापि आकाशप्रदेशेन हीनाः परस्परं तुल्या अन्यूनाधिकसंख्याः , न तु त्रैलोक्यान्तर्वर्तिजीवादिपदार्थानामनन्तत्वेनानन्ता एव भवमोक्षयोर्हेतवो भवन्त्यतस्ते कथमसंख्येया इत्युक्तम् ? , सत्यम्–यद्यपि जीवादयो भावा अनन्तास्तथापि तैः सर्वैरपि विसदृशान्यसंख्येयान्येवाध्यवसायस्थानानि जन्यन्ते नानन्तानि ; तेभ्यः परतोऽन्याध्यवसायानां पूर्वाध्यवसायेष्वेवान्तर्भावात् । अतस्तज्जन्याध्यवसायस्थानानामसंख्येयत्वेनार्था अप्युपचारादसंख्येयत्वेनोक्ता इत्यदोषः, अतः स्थितमेकाऽपि जीवोपमर्दादिका विराधना परिणामवैचित्र्येण कर्मबन्धहेतुस्तन्निर्जराहेतुश्च जायते । इति गाथार्थः । पञ्चा० टिप्पणी १ विव० ।

अथ द्वादशाङ्गस्य सारमाह—

सोउं सुयण्णवं वा, दुग्गेज्झं सारमेत्तमेयस्स ।
घेच्छं तयंति पुच्छइ, सीसो चरणं गुरु भणइ॥११२७॥

' वा ' इति—अथवा पातनान्तरसूचकः 'सोउं ति'–सामायिकादिबिन्दुसारपर्यन्तं श्रुतार्णवम् दुर्ग्राह्यम्—अतिदुस्तरं श्रुत्वा;यदि समस्तमपि तं ग्रहीतुं न शक्यामि तर्हि सारमात्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेतस्य श्रुतार्णवस्य ग्रहीष्यामि इति सञ्चिन्त्य शिष्यस्तत्सारमात्रं पृच्छति-कोऽस्य द्वादशाङ्गस्य सारः ? इति सोपस्कारमिह व्याख्येयम् । तत्र गुरुर्भणति-तस्यापि श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणमिति । एतत्पुनरपृष्टेनापि गुरुणा निर्युक्तिगाथान्ते प्रोक्तम्-" सारश्चरणस्य निर्वाण " मिति ॥ ११२७ ॥

अथ प्रेरकः प्राह—

अन्नाणओ हय त्ति य,किरिया नाणकियाहिँ निव्वाणं।
भणियं तो किह चरणं,सारो नाणस्स तमसारो ।११२८।

ननु 'हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया' इत्यादिवचनादज्ञानतो हतैव क्रिया, इति, ज्ञान-क्रियाभ्यां समुदिताभ्यामेव निर्वाणमागमे भणितम्-अनेकस्थानेषु प्रतिपादितम् । ततः कथं ज्ञानस्य सारश्चरणम् , तत्तु ज्ञानमसारः ?, इति ॥ ११२८ ॥

अत्रोत्तरमाह-

चरणोवलद्धिहेऊ, जं नाणं चरणओ य निव्वाणं ।
सारो त्ति तेण चरणं, पहाणगुणभावओ भणियं ११२९
नाणं पयासयं विगु-त्ति विसुद्धिफलं च जं चरणं ।
मोक्खो य दुगाहीणो,चरणं नाणस्स तो सारो ।११३०।

यद्-यस्माद् मतिश्रुतादिकं ज्ञानं चरणोपलब्धेः—चारित्रप्राप्तेरेव मुख्यं कारणम् , ज्ञानं विना चरणविषयस्य जीवाजीवादेर्हेयोपादेयादेश्च वस्तुनोऽपरिज्ञानात्,अपरिज्ञातस्य च यथावत् कर्तुमशक्यत्वात् । चरणाच्च तपःसंयमरूपाद् निर्वाणमुपजायते। अतो निर्वाणस्य सर्वसंवररूपस्य चरणमेव मुख्यम्-प्रधानं कारणम्, ज्ञानं तु कारणकारणत्वाद् गौणं तस्य कारणम् । अतस्तेन-कारणेन प्रधानगुणभावाज्ज्ञानस्य सारश्चरणं भणितम् । प्रधानगुणभावमेव भावयति—" नाणमित्यादि " ज्ञानं यस्मात् कृत्याकृत्यादिवस्तुनः प्रकाशकमेव वस्तुपरिज्ञानमात्रे व्याप्रियत इत्यर्थः । चरणं पुनर्गुप्तिविशुद्धिफलम्-गुप्तिः-संवरः, विशुद्धिस्तु-कर्मनिर्जरा, गुप्तिविशुद्धी फलं यस्य तत् तथा । एवं च सति ज्ञान-चरणलक्षणद्वयाधीनो मोक्षः, केवलं प्रधानतया चरणस्याऽधीनोऽसौ, गौणतयैव च ज्ञानस्य । ततः प्रधानगुणभावाच्चरणं ज्ञानस्य सार इति ॥ ११२९ ॥ ११३० ॥

प्रकारान्तरेणापि ज्ञानाच्चारित्रस्य प्रधानत्वं भावयन्नाह—

जं सव्वनाणलाभा-णंतरमहवा न मुच्चए सव्वो ।
मुच्चइ य सव्वसंवर-लाभे तो सो पहाणयरो ॥११३१॥

अथवा—यद्—यस्मात् सर्वं जानातीति सर्वज्ञानम्—केवलज्ञानं, तल्लाभानन्तरमेव सर्वोऽपि प्राणी न मुच्यते—न मुक्तिं प्राप्नोति, मुच्यते च यस्माच्छैलेश्यवस्थायां सर्वसंवरलाभेऽवश्यमेव सर्वः, ततो ज्ञायते केवलज्ञानादप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मुख्यो मोक्षकर्ता सर्वसंवर एव प्रधानतरः, स च क्रियारूपत्वाच्चारित्रमिति ॥ ११३१ ॥

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह—

लाभे वि जस्स मोक्खो, न होइ जस्स य स होइ स पहाणो ।
एवं च्चिय सुद्धनया, निव्वाणं संजमं बेंति ॥ ११३२ ॥

यस्य—मत्यादिज्ञानपञ्चकस्य लाभेऽप्यनन्तरमेव मोक्षो न भवति, तज्ज्ञानं मोक्षस्यानन्तर्येण कारणत्वाभावात् 'अप्रधानम्' इति शेषः । यल्लाभानन्तरमेव च स मोक्षोऽवश्यं भवति स संवरो ज्ञानात्प्रधानः । एवमेव च संयमस्य प्रधानकारणतां मन्यमानः शुद्धनयाः-ऋजुसूत्र-शब्दादयः संयममेव निर्वाणमाहुः, अत्यन्तप्रत्यासन्नकारणे सर्वसंवरसंयमे कार्यस्य निर्वाणस्योपचारात् ; न तु ज्ञानं निर्वाणं ते ब्रुवते, तस्य व्यवहितकारणत्वादिति भावः । तथा चोक्तम्-'तवसंजमो अणुमओ, निग्गंथं पवयणं च ववहारो । सद्द-ज्जुसुयाणं पुण, निव्वाणं संजमो चेव ॥ १ ॥' इति ॥ ११३२ ॥

प्रेरकः प्राह—

आह पहाणं नाणं, न चरित्तं नाणमेव वा सुद्धं ।
कारणमिह न उ किरिया,सा वि हु नाणप्फलं जम्हा।११३३

ज्ञानवादी प्राह-ज्ञानमेव प्रधानं मोक्षकारणं, न चारित्रम् । यदिवा—शुद्धं ज्ञानमेवैकं मोक्षस्य कारणं, न तु क्रिया । यस्मादसावपि ज्ञानफलमेव-ज्ञानकार्यमेव । ततश्च यथा मृत्तिका घटस्य कारणं भवन्त्यपि तदपान्तरालवर्तिनां पिण्डशिवक-कुशूलादीनामपि कारणं भवति, एवं ज्ञानमपि मोक्षस्य कारणं तदपान्तरालभाविनां सर्वसंयमक्रियादीनामपीति । यथा च क्रिया ज्ञानस्य कार्यम् , तथा शेषमपि यत्क्रियानन्तरभावि मोक्षादिकम् , यच्च क्रियाया अर्वाग्भावि बोधिलाभकाले तत्त्वपरिज्ञानादिकं राग-द्वेषनिग्रहादिकं च तत् सर्वं ज्ञानस्यैव कार्यम् । यच्चेह सकलजनप्रत्यक्षं मनश्चिन्तितमहामन्त्रपूतविषभक्षण-भूत-शाकिनीनिग्रहादिकं तत् सर्वं क्रियारहितस्य ज्ञानस्यैव कार्यम् । अतो दृष्टेनाऽदृष्टमपि निर्वाणं ज्ञानस्यैव कार्यमित्यनुमीयत इति ॥११३३॥

एतद्दर्शयन्नाह—

जह सा णाणस्स फलं, तह सेसं पि तह बोहकाले वि ।
नेयपरिच्छेयमयं, रागादिविणिग्गहो जो य ॥११३४॥
जं च मणोचिंतियमं-तपूतविसभक्खणाइबहुभेयं ।
फलमिह तं पच्चक्खं,किरियारहियस्स नाणस्स ॥११३५॥

द्वे अप्युक्तार्थे एव ॥ ११३४ ॥ ११३५ ॥

एवं ज्ञानवादिना परेणोक्ते सत्याचार्यः प्राह—

जेणं चिय नाणाओ, किरिया तत्तो फलं च तो दो वि ।
कारणमिहरा किरिया-रहियं चिय तं पसाहेज्जा ॥११३६॥

येनैव च यस्मादेव कारणात् ज्ञानात् क्रिया भवति, ततस्तस्याश्च क्रियायाः समनन्तरमिष्टं फलमवाप्यते; तत एव ते-ज्ञानक्रिये द्वे अप्यभीष्टफलस्य मोक्षादेः कारणं भवतः । अन्यथा-ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षभवनपरिकल्पनमनर्थकमेव स्यात् क्रियारहितमेव ज्ञानमात्मलाभानन्तरमेव झगित्यभीष्टफलं केवलमपि प्रसाधयेत् क्रियावदिति ॥ ११३६ ॥

अपि च—

नाणं परंपरमणं-तरा उ किरिया तयं पहाणयरं ।
जुत्तं कारणमहवा, समयं तो दोण्हि जुत्ताइं ॥११३७॥

यदि ज्ञानं परम्परया कार्यस्योपकुरुते, क्रिया त्वानन्तर्येण , ततो यदेवानन्तरमुपकुरुते तदेव प्रधानं कारणं युक्तम् । अथ समकं—युगपद् द्वे अपि ज्ञानक्रिये कार्योत्पत्तावुपकुरुतः, तर्हि द्वयोरपि प्राधान्यं युक्तम् , नत्वेकस्य ज्ञानस्येति॥११३७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं च—ज्ञानात् क्रिया भवन्त्यपि मोक्षस्य कारणमसाविष्यते, नवा ? । यदि नेष्यते, तर्हि तामनपेक्ष्यैव केवलादपि ज्ञानात् क्रियावद् मोक्षोऽपि भवेत् , अकरणस्याऽनपेक्षणीयत्वात् ॥ ११३७ ॥

अथ क्रियाऽपि कार्यस्य कारणमिष्यते, तत्राऽऽह–

कारणमंतं मोत्तुं, किरियमणंतं कहं मयं नाणं ? ।
सहचारित्ते व कहं, कारणमेकं न पुणरेकं ? ॥ ११३८ ॥

नन्वेवं सत्यानन्तर्योपकारित्वादन्त्यकारणभूतां क्रियां मुक्त्वा कथं परम्परोपकारित्वादनन्त्यं ज्ञानं कारणं भवतोऽभिमतम् ? इति निवेद्यताम् ? । अथ ब्रूषे-नेहाऽन्त्यानन्त्यविभागः, किं तु कार्यस्योत्पित्सोः सहैव युगपद् द्वे अप्युपकुरुतः, तर्ह्येवं हन्त ! द्वयोरपि सहचारित्वे कथमेकं ज्ञानं मोक्षस्य कारणम् , न पुनरेकं क्रियारूपं कारणमिष्यते ? । न ह्याग्रहग्रहग्रस्ततां विहायापरो हेतुरिहोपलभ्यत इति भावः ॥ ११३८ ॥

यदुक्तम्—' रागादिविणिग्गहो जो य त्ति ' तत्राऽऽह—

रागाइसमो संजम-किरिय चिय नाणकारणा होज्जा ।
तीसे फले विवाओ, तं तत्तो नाणसहियाओ ॥११३९॥

रागादिशमो रागादिनिग्रहस्तावत्संयमक्रियैव भण्यते, नापरं किञ्चित् सा च, ज्ञानं कारणं यस्याः सा ज्ञानकारणा-ज्ञानफला भवेदेव,नेहाऽस्माकं काचिद् विप्रतिपत्तिः । किंतु-यत् तस्याः समनन्तरं मोक्षादिकं फलमुपजायते तत्र विवादमः, तथाहि-तत्किं ज्ञानादेव केवलादुपजायते, आहोस्वित् केवलक्रियातः, उत-ज्ञान-क्रियोभयात् ? इति त्रयी गतिः । तत्र न तावदाद्यः पक्षः, ज्ञानादपान्तराले भवताऽपि क्रियोत्पत्तेरभ्युपगमात् , नापि द्वितीयः पक्षो युक्तः, ज्ञानशून्यक्रियातो मोक्षादिकार्याभ्युपगमे उन्मत्तादिक्रियातोऽपि मुक्तिप्रसङ्गात् । तस्मात् तृतीय एव पक्षो युज्यते, अत एवाह—"तं तत्तो नाणसहियाउ त्ति" तद् मोक्षादिकार्यं ततस्तस्याः क्रियायाः सकाशादुत्पद्यते । कथंभूतायाः ? , ज्ञानसहिताया इति ॥ ११३९ ॥

यदुक्तम् 'जं च मणोचिन्तियमंतपूतेत्यादि ' । तत्राऽऽह–

परिजवणाई किरिया, मंतेसु वि साहणं न तम्मत्तं ।
तण्णाणओ य न फलं, तं नाणं जेणमकिरियं ॥११४०॥

विषघात-नभोगमनादिहेतुषु मन्त्रेष्वपि परिजपनादिक्रिया मन्त्रसहायिनी कार्यस्य साधनं—कार्यसाधिकेत्यर्थः, न तु तन्मात्रं—मन्त्रमात्रमेव तत्साधकम् । अथाभिधत्से-ननु प्रत्यक्षविरुद्धमिदम् , यतो दृष्टं क्वचिद् मन्त्रानुस्मरणज्ञानमात्रादप्यभीष्टफलम्; इत्याह—तज्ज्ञानाच्च-केवलाद् मन्त्रानुस्मरणज्ञानाच्च न तत्फम् , येन कारणेनाऽक्रियमेव तज्ज्ञानम् , अमूर्तत्वात्, यच्चाक्रियं न तत् कार्याणि कुरुते, यथा-आकाशम्, अक्रियं च ज्ञानम्, इति कथं कार्याणि कुर्यात् ? यच्च करोति तत् सक्रियं दृष्टम् , यथा-कुलालः, न चैवं ज्ञानम्,इति न तत्केवलं किमपि करोति । न चेदं प्रत्यक्षविरुद्धम् , न हि क्रियासाहाय्यरहितं ज्ञानं क्वचिदपि फलमुपाहरदुपलभ्यत इति ॥ ११४० ॥

अथ प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

तो तं कत्तो भन्नइ, तं समयनिबद्धदेवओवहियं ।
किरियाफलं चिय जओ, न मंतनाणोवओगस्स ।११४१।

यदि केवलमन्त्रज्ञानकृतं नभोगमनादि कार्यं न भवति, ततस्तर्हि कुतस्तत् ? इति वाच्यम् ? । भण्यतेऽत्रोत्तरम्-तद् नभोगमनादिकार्यं समयनिबद्धदेवतोपहितं सत् क्रियाफलमेव यस्मात् , ततो न ज्ञानोपयोगमात्रस्यैव फलमिति । इदमुक्तं भवति-समयः-संकेतस्ततो यत्र यत्र देवतानां समये—सङ्केते उपनिबद्धा मन्त्रास्तत्र तत्र देवताकृतमेव तत्तत् फलम् , देवताश्च सक्रिया एव । अतः सक्रियदेवताभिरुपाहृतं सत् तत्क्रियाफलमेव यतः , अतो न केवलस्य ज्ञानमात्रोपयोगस्य फलमिति स्थितम् । आह—ननु देवताह्वानं तावत् केवलादेव मन्त्रानुस्मरणज्ञानोपयोगाद् भवति, न वा ?, इति वक्तव्यम् । यदि भवति, तर्हि शेषकार्याण्यपि केवलात् तत एव किं नेष्यन्ते ? । अथ न भवति तर्हि कथमसाविहाऽऽगत्य नभोगमनविषवीर्यापहारादिकार्याणि कुर्यात् ? । अत्रोच्यते-देवताह्वानं भवति, परं न केवलादेव मन्त्रस्मरणज्ञानोपयोगमात्रात्; किंतु-पुनः पुनस्तज्जपन-पूजनादिक्रियासहायात् तस्माद् देवताह्वानमपि संपद्यते , इत्यलं विस्तरेणेति ॥ ११४१ ॥

आह-किं ज्ञानं सर्वथैव निष्क्रियम् ?, किं वा कांचिदेव विशिष्टां क्रियामधिकृत्य तन्निष्क्रियम् ?, इति । अत्रोच्यते-वस्तुपरिच्छेदमात्रं तत् करोति, तत्करणादेव च सहकारिकारणतया जीवस्य चारित्रक्रियां जनयति , यत्तु विशिष्टं मोक्षलक्षणं कार्यं , तन्निर्वर्तकं ज्ञानमानन्तर्येण न भवति, इत्येतद् दिदर्शयिषुः , तथा वक्ष्यमाणं च संबन्धयितुमाह—

वत्थुपरिच्छेयफलं, हवेज्ज किरियाफलं च तो नाणं ।
न उ निव्वत्तयमिट्ठं,सुद्धं चिय जं तओऽभिहियं।११४२।

' किरियाफलं ति ' क्रियैव फलं यस्य तत् क्रियाफलम् । शेषं सुगमम् । इति गाथार्थः ॥ ११४२ ॥

किं पुनरभिहितम् ?, इत्याह—

सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउणइ मोक्खं ।
जो तवसंजममइए, जोगे न चएइ वोढुं जे ॥ ११४३ ॥

श्रुतज्ञानेऽपि, अपिशब्दाद्—मत्यादिज्ञानेष्वपि जीवो वर्तमानः सन् न प्राप्नोति मोक्षम् , इत्यनेन प्रतिज्ञार्थः सूचितः । यः कथंभूतः ? , इत्याह—यस्तपःसंयमात्मकान् योगान् न शक्नोति वोढुम् , इत्यनेन हेत्वर्थ इति । दृष्टान्तस्त्वभ्यूह्यः , वक्ष्यति वा । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ११४३ ॥

अथ सूचितप्रयोगम् , वक्ष्यमाणनिर्युक्तिगाथासंबन्धं च विवक्षुराह-

सक्किरियाविरहाओ, इच्छियसंपावयं न नाणं ति ।
मग्गण्णू वाऽचिट्ठो, वायविहीणोऽहवा पोओ ॥११४४॥

केवलमेव ज्ञानं नेप्सितार्थसंप्रापकम् , सत्क्रियाशून्यत्वात् यथा-स्वसमीहितदेशप्रापणक्षमसच्चेष्टाविरहितो मार्गज्ञः पुरुषः स्वाभिलषितदेशाप्रापकः । अथवा—नौरत्र एव दृष्टान्तः, यथा—ईप्सितदिक्संप्रापकवातसत्क्रियारहितः पोत ईप्सितदिगसंप्रापकः, सत्क्रियाविरहितं च ज्ञानम् , तस्माद् नेष्टार्थसंपादकं तत् । इति गाथार्थः ॥ ११४४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथाहि-

जह छेयलद्धनिज्जा-मओ वि वा णियगइच्छियं भूमिं ।
वाएण विणा पोओ, न चएइ महण्णवं तरिउं ॥११४५॥
तह नाणलद्धनिज्जा-मओ वि सिद्धिवसहिं न पाउणइ ।
निउणो वि जीवपोओ,तवसंजममारुयविहीणो॥११४६॥
संसारसागराओ , उच्छुड्डो मा पुणो निबुड्डेज्जा ।
चरणगुणविप्पहीणो, बुड्डइ सुबहुं पि जाणंतो॥११४७॥

छेको-दक्षो लब्धः-प्राप्तो निर्यामको येन-पोतेन स त-थाविधः, अपिशब्दात्-सुकर्णधाराद्यधिष्ठितोऽपि, वणिज इ-ष्टां-वणिगिष्टां तां भूमिं महार्णवं तीर्त्वा वातेन विना पो-तो न शक्नोति ' प्राप्तुम् ' इति वाक्यशेषः। उपनयमाह- तथा श्रुतज्ञानलब्धनिर्यामकोऽपि, अपिशब्दात्-सुनिपुण-मतिकर्णधाराद्यधिष्ठितोऽपि संयम-तपो नियममारुतस-त्क्रियारहितो निपुणोऽपि जीवपोतो भवार्णवं तीर्त्वा स-म्मनोरथवणिजोऽभिप्रेतां सिद्धिवसतिं न प्राप्नोति । त-स्मात्-तपःसंयमानुष्ठानेऽप्रमादवता भवितव्यमिति । तथा चोपदेशमाह-' संसारेत्यादि ' विनेयस्योपदिश्यते भो-दे-वानुप्रिय ! कथं कथमपि महता कष्टेनातिदुर्लभं श्रीस-र्वज्ञधर्मान्वितं मानुषजन्म त्वया लब्धम् । तत्प्राभाच्च सं-सारसागरादुन्मग्न इवोन्मग्नस्त्वं वर्तसे । अतश्चरणकर-णाद्यनुष्ठानप्रमादेन मा तत्रैव निमाङ्क्षीरिति । न च वक्त-व्यम्-विशिष्टश्रुतज्ञानयुक्तोऽहं तद्बलेनैव-वस्तुपरिज्ञानमा-त्रादेव मुक्तिमासादयिष्यामीति; यतश्चरणगुणविप्रहीणः सु-बह्वपि श्रुतज्ञानेन जानन् ब्रुडति-निमज्जति, पुनरपि संसा-रसमुद्रे। अतो ज्ञानमात्रसमुत्थमवष्टम्भमपहाय चरणकर-णानुष्ठान एवोद्यमो विधेयः । इति निर्युक्तिगाथात्रयार्थः ॥ ११४५ ॥ ११४६ ॥ ११४७ ॥

तृतीयगाथाभावार्थं भाष्यकारो दृष्टान्तेनाऽऽह-

संसारसागराओ , कुम्मो इव कम्मचम्मविवरेण ।
उम्मज्जिउमिह जइणं, नाणाइपगासमासज्ज ॥ ११४८ ॥
दुलहं पि जाणमाणो, सयणसिणेहाइणा तयं तत्तो ।
संजमकिरियारहिओ, तत्थेव पुणो निबुड्डेज्जा ॥११४९॥

अयमत्र भावार्थः-यथा-कश्चित् कूर्मः कच्छपस्तृणपत्रपट लप्रचुरातिनिविडशेवालाच्छादितोदकान्धकारमहाह्रदान्तर्ग-तोऽनेकजलचरक्षोभादिव्यसनव्यथितमानसः सर्वतः परि-भ्रमन् कथमपि शेवालरन्ध्रमासाद्य-तेनैवोपरि निर्गत्य च शरत्पार्वणचन्द्रचन्द्रिकास्पर्शसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वब-न्धुभूतान्यजलचरस्नेहाकृष्टचित्तः, तेषामपि वराकाणाम-दृष्टकल्याणानामहमिदं सुरलोककल्पं किमपि दर्शयामि, इत्यवधार्य पुनस्तदेव ह्रदमध्यं प्रविष्टः । अथ समाह्ू-ताशेषजलचरवृन्दस्तद्रन्ध्रोपलब्ध्यर्थं पर्यटन् , अपश्यंश्च; क-ष्टतरं व्यसनमनुभवति । एवमयमपि जीवकच्छपोऽनादि-कर्मसन्तानाच्छादिताद् मिथ्याज्ञानतिमिरानुगताद् विविध-शिरोनेत्रव्यथाज्वरकुष्ठभगन्दरादिशारीरेष्टविप्रयोगानिष्टसंप्र-योगादिमानसदुःखजलचरसमूहानुगतात् संसारसागरात् कथञ्चिदेव मनुष्यभवप्राप्तियोग्यकर्मोदयलक्षणं रन्ध्रमासाद्य-मानुषत्वप्राप्त्योन्मग्नः सन् जिनवरेन्द्रचन्द्रवाक्चन्द्रिकासं-गमसुखमनुभूय दुष्प्रापोऽयं जिनवचनबोधिलाभः इत्येवं जा-नन्नपि स्वजनस्नेहविषयानुरक्तचित्ततया पुनरपि तत्रैव भव-सागरे निमज्जेत्। अत उच्यते-'मा त्वमित्थमस्मिन्नेव भवसा गरे निमाङ्क्षीः, किंतु-सदनुष्ठानेष्वप्रमादपरो भव' इति। अक्ष-रार्थस्तु सुगम एव, नवरं मनुष्यभवप्राप्त्यावारककर्मैव चर्म-शेवालः कर्मचर्म तस्य विवरोऽनुदयावस्था तेन । 'जइ-णमित्यादि ' जैनं ज्ञानादिप्रकाशं-ज्ञानदर्शनचारित्रस्व-रूपावबोधात्मकं तत्स्वरूपश्रवणादिद्वारेण गुरुभ्यः समा-साद्येति । ' तयं ति ' ज्ञानादिप्रकाशं दुर्लभमपि ' जानानः ' इत्यत्र संबध्यते, स्वजनस्नेहादिना ततो वियोजितः संयम-क्रियारहितः पुनरपि तत्रैव भवसागरे निमज्जेदेष संसारि-जीवः । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ११४८ ॥ ११४९ ॥

अत्र प्रेरकः प्राह-

आहऽन्नाणी कुम्मो, पुणो निमज्जेज्ज न उण तन्नाणी ।
सक्किरियापरिहीणो,बुड्डइ नाणी जहऽन्नाणी॥११५०॥
नेच्छइ य न य मएण, अन्नाणी चेव सो मुणन्तो वि ।
नाणफलाभावाओ,कुम्मो व निबुड्डएँ भवोहे ॥११५१॥

आह परः-ननु चाज्ञानी-हिताहितविभागपरिज्ञानशून्यः, पुनरपि तत्रैव जले निमज्जेत् कूर्मः, नेह किमपि चित्रम्। एतत्तु न विदुषां मतं, यत्-जैनमार्गज्ञो हिताहितविभागवे-त्ता ज्ञान्यपि भवसागरे पुनर्निमज्जति । अत्राचार्यः प्राह- ज्ञान्यपि पुनर्भवसागरे निमज्जति, सत्क्रियाविरहात्, अज्ञा-निकूर्मवत् समुद्र इति। वा इति-अथवा, निश्चयनयमतेन जानन्नप्यज्ञान्येवासौ सत्क्रियापरिहीणः, ज्ञानफलस्य विर-तेरभावात्। अतोऽज्ञानी कूर्म इव पुनर्ब्रुडति-निमज्जति भ-वौघे संसारसमुद्रसंबन्धिनि जन्मजराऽऽमयमरणसलिल-प्रवाहे। इति गाथाद्वयार्थः॥ ११५० ॥ ११५१ ॥

अत एवाह निर्युक्तिकारः-

सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता,दीवसयसहस्स कोडी वि ?॥११५२॥

सुबह्वपि श्रुतमधीतं चरणविप्रहीणस्य निश्चयतोऽज्ञानमेव। अतस्तस्य फलशून्यत्वादकिञ्चित्करमेव । यथा-अन्धस्य दी-पशतसहस्रकोट्यपि प्रदीप्ता न किञ्चित् करोति। दीपानां शतसहस्राणि लक्षा इत्यर्थः, तेषां कोटी, अपिशब्दात्- तद्द्व्यादिकोटयोऽपि। इति निर्युक्तिगाथार्थः॥११५२॥

अथ भाष्यम्-

संतं पि तमन्नाणं, नाणफलाभावओ सुबहुयं पि ।
सक्किरियापरिहीणं,अंधस्स पईवकोडि व्व ॥११५३॥

गतार्थैव ॥ ११५३ ॥

अत्र प्रेर्यमुत्थाप्य परिहरति-

अंधोऽणवबोहो च्चिय, बोहफलं पुण सुयं किमन्नाणं ।
बोहो वि तओ विफलो,तस्स जमंधस्स अवबोहो॥११५४॥

आह नन्वत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमेव, यतोऽन्धोऽ-नवबोध एव। न खलु तस्य बहुभिरपि प्रदीपकोटिभिः प्रज्व-लिताभिघटाद्यवबोधो जन्यते, स्वयं चक्षुर्विकलत्वात् तस्य। श्रुतज्ञानं तु सचक्षुषः प्रदीपवत् बोधफलमेव, ततः कि-मिदमज्ञानमभिधीयते ? किमिति केवलाधीतश्रुतस्य तद्-

१-सेवाल इति दन्त्यादिरपि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किञ्चित्करमुच्यते ?, इति भावः । अत्रोत्तरम्—बोधोऽपि तकोऽसौ श्रुतजनितस्तस्य करणहीनस्य विफलो यस्मात्, तस्माद् अनवबोध एव,इति भावः, यथा-ऽन्धस्य ' अवबोहो त्ति ' अवबोधः । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ११५४ ॥

व्यतिरेकमाह—

अप्पं पि सुयमहीयं, पगासयं होइ चरणजुत्तस्स ।
एक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्सा पयासेइ ॥११५५॥

अल्पमपि श्रुतमधीतं चरणयुक्तस्य तद्धेतुत्वात् प्रकाशकं भवति-प्रकाशकं भएयते, क्रियाहेतुत्वेन सफलत्वाज्ज्ञानत्वेन व्यपदिश्यत इति तात्पर्यम् । यथैकोऽपि प्रदीपो हेयोपादेयपरिहारोपादानादिक्रियाहेतुत्वाच्चक्षुष्मतः प्रकाशयति प्रकाशको भएयते । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ११५५ ॥

भाष्यम्—

किरियाफलसंभवओ, अप्पं पि सुयं पगासयं होइ ।
एक्को विहु चक्खुमओ, किरियाफलदो जह पईवो॥११५६।

पूर्वार्धस्यान्ते ' चरणयुक्तस्य ' इति शेषः । शेषमुक्तार्थमेव ॥ ११५६ ॥

वक्ष्यमाणवृत्तं संबन्धयन्नाह—

न हि नाणं विफलं चिय,किलेसफलयं पि चरणरहियस्स ।
निप्फलपरिवहणाओ,चंदणभारो खरस्सेव ॥ ११५७॥

न हि ज्ञानं चरणरहितस्य विफलम्, इत्येतावतैव तिष्ठति, किन्तु—पठनगुणनचिन्तनादिभिः क्लेशफलदमपि भवति, यथा निष्फलवहनाच्चन्दनकाष्ठभारः खरस्य विफलः, क्लेशप्रदश्च ॥ इतिगाथाद्वयार्थः ॥ ११५७ ॥

तथा चाह निर्युक्तिकारः—

जहा खरो चंदणभारवाही,
भारस्स भागी न उ चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो,
नाणस्स भागी न उ सुग्गईए ॥ ११५८ ॥

यथेह खरश्चन्दनकाष्ठभारमुद्वहंस्तज्जनितश्रमादिकष्टभाजनमेव भवति, न तु चन्दनस्य तद्रसोपकल्पितविलेपनादिभाग् भवतीत्यार्थः । एवं चरणेन हीनः श्रुतज्ञान्यपि तद्भारमुद्वहन् ज्ञानभागेव भवति, तत्पठन-परावर्तन-चिन्तनादिकृतकष्टभाजनमेव भवतीत्यर्थः, न तु सुदेवत्व-सुमानुषत्व-सिद्धिलक्षणायाः सुगतेरिति ॥ ११५८॥

अथ मा भूदित्थं विनेयस्यैकान्तेन ज्ञानेऽनादरः, क्रियायां चैतच्छून्यायामपि पक्षपातः, इत्यतो द्वयोरपि केवलयोरिष्टफलासाधकत्वमुपदर्शयन्नाह—

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पङ्गुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥ ११५९ ॥

अत्राक्षरार्थः सुगम एव, भावार्थं तु भाष्यकारो वक्ष्यति । इति निर्युक्तिवृत्तश्लोकार्थः ॥ ११५९ ॥

अथ भाष्यकारोऽनन्तरोक्तश्लोकभावार्थमाह—

हयमिह नाणं किरिया-हीणं ति जओ हयं ति जं विफलं ।
लोयणविन्नाणं पिव, पंगुस्स महानगरदाहे ॥ ११६० ॥

१-छन्दोऽनुरोधात्सौत्रत्वाद्वा दीर्घान्तः ।

काहिइ नाणचायं, किरियाए चेव मोक्खमिच्छंतो ।
मा सीसो तो भणइ,हया य अन्नाणओ किरिया ।११६१।

हतमिह ज्ञानम् । किंविशिष्टम् ?, इत्याह—क्रियाहीनमिति यत्र चारित्रक्रिया नास्तीत्यर्थः । ननु कथं क्रियाहीनं ज्ञानं हतम् उच्यते ?, इत्याह—यतो यस्माद् यद् विफलं तदिह हतं विवक्षितम्, फलं च ज्ञानस्य क्रियैव । ततो विगतफलं ज्ञानं क्रियाहीनमेवोच्यते, नान्यत् । अत्र च प्रयोगः—हतं ज्ञानमेव केवलम् सत्क्रियाहीनत्वात् महानगरप्रदीपनकदाहे पलायनक्रियारहितपङ्गुलोचनज्ञानवदिति । एवमुक्ते सति क्रियात एव मोक्षमिच्छन् ज्ञानेऽनादृतस्तत्त्यागं मा कार्षीच्छिष्यः, इत्यतो भएयते—हताऽज्ञानतः क्रिया—हता मोक्षलक्षणफलरहिताऽज्ञानपरिगृहीता निह्नवादेः क्रिया,सम्यग्दृष्टेरपि ज्ञानोपयोगशून्यस्य क्रिया हतैव तथाविधफलविकलत्वात् सर्वतः संकटप्रदीप्तनगरे दह्यमानगृहाद्यभिमुखपलायमानान्धगतिक्रियावदिति । तस्मादन्योऽन्यापेक्षे समुदिते एव ज्ञानक्रिये मोक्षस्य साधनमेष्टव्ये,न प्रत्येकमिति॥११६०।११६१॥

एतदेवाह—

अइसंकड पुरदाह-म्मि अंधपरिधावणाइकिरिय व्व ।
तेणऽन्नोन्नविक्खा,साहणमिह नाणकिरियाओ ।११६२।

गतार्थैव ॥ ११६२ ॥

अत्र परः प्राह—

पत्तेयमभावाओ, निव्वाणं समुदियासु वि न जुत्तं ।
नाणकिरियासु वोत्तुं,सिकतासमुदायतेल्लं व ॥ ११६३ ॥

आह—ननु भवत्प्रतिपादितन्यायेन प्रत्येकावस्थायां ज्ञानक्रिययोर्निर्वाणसाधकसामर्थ्याभावात् समुदिताभ्यामपि ज्ञानक्रियाभ्यां निर्वाणं वक्तुं न युक्तम्, सिकतासमुदाये तैलवत् । अत्र प्रयोगः—इह यद् यतः प्रत्येकावस्थायां नोत्पद्यते तत् ततः समुदायेऽपि न भवति, यथा सिकताकणेषु प्रत्येकमभवत् तैलं तत्समुदायेऽपि न भवति । न जायते च प्रत्येकं ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः, अनस्तत्समुदायादप्यसौ न युज्यत इति । तदेतदयुक्तम्, प्रत्यक्षविरुद्धत्वात्; तथाहि—मृत्तन्तुचक्रचीवरादिभ्यः प्रत्येकमभवन्तोऽपि तत्समुदायाद् घटादिपदार्थसार्थाः प्रादुर्भवन्तो दृश्यन्त,अतोऽत्रस्य मोक्षस्यापि ज्ञानक्रियासमुदायात् प्रादुर्भूतिरविरुद्धैवेति॥११६३॥

किञ्च—

वीसुं न सव्वह चिय, सिकतातेल्लं व साहणाभावो ।
देसोवगारिया जा,सा समवायम्मि संपुएणा ॥११६४॥

न च विष्वक्-पृथक् सर्वथैव सिकताकणानां तैल इव साध्ये ज्ञानक्रिययोर्मोक्षं प्रति साधनत्वाभावः, किन्तु-या च यावती च तयोर्मोक्षं प्रति देशोपकारिता प्रत्येकावस्थायामप्यस्ति,सा च समुदाये संपूर्णा भवति, इत्येतावान् विशेषः; अतः संयोग एव ज्ञानक्रिययोः कार्यसिद्धिः । इति गाथापञ्चकार्थः ॥ ११६४ ॥

एतदेवाह—

संजोगसिद्धीइ फलं वयंति,
नहे (हु ए) गचकेण रहो पयाइ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंधो य पंगू य वणे समिच्चा,
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥ ११६५ ॥

ज्ञानक्रिययोः संयोगनिष्पत्तावेव मोक्षलक्षणं फलमाचक्षते तीर्थकराः । न हि लोकेऽप्येकचक्रेण रथः प्रवर्तते । एवमन्यदपि सर्वं सामग्रीजन्यमेव कार्यमवगन्तव्यम् । तथा चान्धपङ्ग्वोरुदाहरणमिह वक्तव्यम् ; तद्यथा—कस्यापि नगरस्य सत्को लोकः कुतोऽपि राजभयादरण्यं गतः । तत्रापि तस्करधाटीभयाद् वाहनादिकमुज्झित्वा प्रपालयितः । अन्धपङ्गू पुनरनाथौ तत्रैव स्थितौ । तत्र च दवाग्नौ सर्वतः प्रदीप्ते तौ परस्परं संप्रयुक्तौ पङ्गुरन्धेन स्वस्कन्धमारोपितः । स चान्धस्य सम-विषम-स्थाणु-कण्टकादिकं कथयति । अतस्तस्य सत्केन चाक्षुषज्ञानेन, अन्धसत्कया च गतिक्रियया सम्यग् मार्गप्रवृत्त्या क्षेमेण नगरं प्रविष्टाविति । एवं सर्वत्र संयोगात् फलसिद्धिर्भावनीया । इति निर्युक्तिवृत्त्यर्थः ॥ ११६५ ॥

अत्र भाष्यम्—

दुगसंजोगम्मि फलं, सम्मकिरिओवलद्धिभावाओ ।
इट्ठपुरागमणं पिव, संजोए अन्धपंगूणं ॥ ११६६ ॥
वइरेगो जं विफलं, न तत्थ सम्मकिरिओवलद्धीओ ।
दीसंति गमणविफले, जहेगचक्के भुवि रहम्मि ॥ ११६७ ॥

अनेन गाथाद्वयेन प्रस्तुतार्थसिद्धयेऽन्वय-व्यतिरेकप्रयोगौ निर्दिष्टौ, तथाहि-द्विकं ज्ञानक्रियालक्षणं तत्संयोग एव फलं मोक्षलक्षणं भवति । कुतः ?, अत्र संयोगे सम्यक्क्रियोपलब्धिभावादिति । क्रिया-चारित्ररूपा, उपलब्धिस्तु-ज्ञानम् । इह यत्र यत्र सम्यक्क्रियाज्ञाने तत्र तत्रेष्टफलसिद्धिः, यथा-अन्धपङ्गुसम्यक्क्रियाज्ञानसंयोगे, सम्यक्क्रियाज्ञाने चात्र द्वयसंयोगे, तस्मादतो मोक्षफलसिद्धिः । इत्यन्वयप्रयोगः । अथ व्यतिरेकप्रयोग उच्यते-यद् विफलं न तत्र सम्यक्क्रिया-ज्ञाने दृश्येते यथा-भुवि पृथिव्यां गतिक्रियारहिते विघटितैकचक्रे रथे, सम्यक्क्रिया-ज्ञाने चात्र द्वयसंयोगे, तस्मादतो मोक्षफलप्राप्तिरिति ॥ ११६७ ॥

वक्ष्यमाणनिर्युक्तिगाथासंबन्धनार्थमाह-

सहकारित्ते तेसिं, किं केणोवकुरुते सहावेणं ।
नाणचरणाणमहवा, सहावनिद्धारणमियाणिं ॥ ११६८ ॥

आह-ज्ञानक्रिययोः सहकारित्वे सति किं केन स्वभावेनोपकुरुते-किमविशेषेणोपकुरुतः, शिबिकावाहकपुरुषसङ्घातवत् ?; आहोस्विद् भिन्नस्वभावतया, गतिक्रियायां नयनचरणादिवत् ?। अत्रोच्यते-भिन्नस्वभावतया, यत आह-'नाणं पयासयंमित्यादि' इत्येका वक्ष्यमाणगाथायाः प्रस्तावना । अथवा—संक्षिप्ताऽन्या प्रस्तावनोच्यते, यथा—तयोरेव ज्ञानचरणयोरिदानीं स्वभावनिर्धारणं क्रियते, इति संक्षेपविस्तरकृत एव भेदः, न तु पारमार्थिकः । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ११६८ ॥

नाणं पयासयं सो-हओ तवो संजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हं पि समाओगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥ ११६६ ॥

इह यथा किञ्चिदुद्घाटद्वारं बहुवातायनजालकच्छिद्रं वाताकृष्टादिप्रचुररेणुकचवरपूरितं शून्यगृहम् । तत्र च वस्तुकामः कोऽपि तत् सुशोधयिषुर्द्वारवातायनजालकानि सर्वाण्यपि बाह्यरेणुकचवरप्रवेशनिषेधार्थं स्थगयति । मध्ये च प्रदीपं प्रज्वलयति । पुरुषं च कचवराद्याकर्षणाय व्यापारयति । तत्र च प्रदीपो रेणवादिमलप्रकाशनव्यापारेणोपकुरुते, द्वारादिस्थगनं तु बाह्यरेणवादिप्रवेशनिषेधेन, पुरुषस्तु रेणवाद्याकर्षणात् तच्छोधनेन । एवमिहापि जीवापवरक उद्घाटाश्रवद्वारः सद्गुणशून्यो मिथ्यात्वादिहेत्वाकृष्टकर्मकचवरपूरितो मुक्तिसुखनिवासहेतोः शोधनीयो वर्तते । तत्र च प्रदीपस्थानीयं ज्ञानं जीवादिवस्तूनां प्रकाशकम् , तपस्तु पुरुषस्थानीयं कर्म कचवरशोधकम्, संयमस्तु द्वारादिस्थगनकल्पो गुप्तकरो नूतनकर्मकचवरप्रवेशनिषेधकः । एवं त्रयाणामपि ज्ञानादीनां समायोगे समवाये मोक्षो जीवस्य जिनशासने भणितः । एवं शुद्धस्वरूपे जीवमन्दिरे सिद्धिसुखानि संततं निवसन्ति । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ११६६ ॥

आह-ननु जीवापवरकशोधने किमिति ज्ञानादीनां त्रितयमप्यपेक्ष्यते, यावताऽन्यतरेणैकेनापि तच्छुद्धिर्भविष्यति ?, इत्याशङ्क्यैकस्मात् कार्यसिद्धिनिराकरणेन त्रितयसमुदायादेव तत्सिद्धिं समर्थयन्नाह भाष्यकारः—

असहायमसोहिकरं, नाणमिह पगासमेत्तभावाओ ।
सोहेइ घरकयारं, जह सुपगासो वि न पईवो ॥ ११७० ॥
न य सव्वविसोहिकरी, किरिया वि य जमपगासधम्मा सा ।
जह न तमो गेहमलं, नरकिरिया सव्वहा हरइ ॥ ११७१ ॥
दीवाइपयासं पुण, सकिरियाए विसोहियकयारं ।
संवरियकयारागम-दारं सुद्धं घरं होइ ॥ ११७२ ॥
तह नाणदीवविमलं, तवकिरियासुद्धकम्मयकयारं ।
संजमसंवरियमुहं, जीवघरं होइ सुविसुद्धं ॥ ११७३ ॥

इह न ज्ञानमसहायमेकाक्येव शोधयितुमलम् ; प्रकाशमात्रस्वभावत्वात्, यदक्रियं प्रकाशमात्रस्वभावं न तद् विशुद्धिकरं दृष्टम्, यथा न गृहरजोमलविशुद्धिकृद् दीपः । यच्च विशुद्धिकरं न तत् प्रकाशमात्रस्वभावम्, यथेष्टाऽनिष्टप्राप्तिपरिहारपरिस्पन्दवान् नयनादिप्रकाशधर्मा देवदत्तः, प्रकाशमात्रस्वभावं च ज्ञानम्, तस्मादसहायत्वाद् न विशुद्धिकरं तदिति । क्रियाऽप्येकाकिनी न सर्वशुद्धिकरी, अप्रकाशधर्मकत्वात्, यद् यदप्रकाशधर्मकं न तत् सर्वविशुद्धिकरम्, यथा-न समस्तगृहरजोमलविशुद्धयेऽन्धक्रिया, चक्षुष्मतो वा क्रिया; यथा—तमोयुक्तं गृहं तमोगृहं तस्य न सर्वविशुद्धयेऽलम् । या च सर्वविशुद्धयेऽलं न साऽप्रकाशस्वभावा, यथा—चक्षुष्मतो नरस्य वितमस्कगृहे समस्तरजोमलापनयनक्रिया, अप्रकाशस्वभावा चैकाकिनी क्रिया, अतो न सर्वविशुद्धिकरीति । त्रितयादपि समुदितात् तर्हि शुद्धिर्न भविष्यतीति चेत् ? नैवम्, इत्याह—दीपादिप्रकाशं पुनर्यथा गृहं सत्क्रियया विशोधितकचवरं संभृतकचवरागमहेतुभूतद्वारं सर्वथा शुद्धं भवति; तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानदीपविमलितं तपःक्रियया शोधितकर्मकचवरं संयमेन संभृतसमस्ताश्रवद्वारं जीवगृहं सुविशुद्धं सिद्धि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुखसंदोहनिवासयोग्यं भवतीत्यर्थः । इति ॥ ११७० ॥ ११७१ ॥ ११७२ ॥ ११७३ ॥

आह—ननु पूर्वं ज्ञानक्रियालक्षणाद् द्वयाद् मोक्षः, इदानीं तु ज्ञानतपःसंयमरूपात् त्रितयादसावुच्यते, इति कथं न पूर्वापरविरोधः ?, इत्याशङ्क्याऽऽह—

संजमतवोमई जं, संवरनिज्जरफलामया किरिया ।
तो तिगसंजोगो वि हु,ताउ च्चिय नाणकिरियाओ॥११७४

संयमतपोमयी संवरनिर्जरफला च यद्—यस्मात् तीर्थकरगणधराणां मता—संमता क्रिया, ततस्तस्माज्ज्ञानतपःसंयमरूपस्त्रिकसंयोगोऽप्यसौ ; ते एव पूर्वोक्ते ज्ञानक्रिये, नाधिकं किञ्चिदिति । इदमुक्तं भवति—एकैव चारित्रक्रिया संयमतपोभेदाद् द्विधा भिद्यते, तपःसंयमरूपत्वाच्चारित्रस्य । अत एव-संवरो निर्जरा च तस्याः फलम्, संयमस्याऽऽश्रवद्वारसंवरहेतुत्वात्, तपसस्तु कर्मनिर्जराकारणत्वात् । अतो यद्यपीह ज्ञानादित्रयाद् मोक्ष उच्यते, तथापि तपःसंयमयोः क्रियायामेवैकस्यामन्तर्भावाज्ज्ञानक्रियालक्षणद्वयादेवायम्, इति न कश्चिद् विरोधः। अपरस्त्वाह-ननु-"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति प्रसिद्धम्, अत्र तु ज्ञानचारित्राभ्यां स प्रतिपाद्यते, इति कथं न विरोधः?। एतदप्ययुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, यतो-ज्ञानग्रहणेनैवेह सम्यक्त्वमाक्षिप्यते, सम्यक्त्वमन्तरेण ज्ञानस्याप्यभावात्, मिथ्यादृष्टिज्ञानस्याज्ञानत्वेनासकृत्प्रतिपादनात्, तथा-ज्ञानविशेष एव सम्यक्त्वम्, इतिप्रागत्राप्युक्तमेव, तद्यथा—'नाणमवायधिईओ, दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ । तह तत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं १' तस्माज्ज्ञानान्तर्गतमेव सम्यक्त्वम्, अतो ज्ञानग्रहणात् तद् गृहीतमेव, इत्यलं प्रसङ्गेन । तदेवं व्याख्याता 'नाणं पयासयं' इत्यादि गाथा ॥ ११७४ ॥

अथ 'भावे खओवसमिए' इत्याद्युत्तरगाथासंबन्धनार्थमाह-

न लहइ सिवं सुयम्मि वि, वट्टंतो अचरणो त्ति जं तस्स ।
हेऊ खओवसमओ, जह वट्टंतोऽवहिण्णाणे ॥ ११७५ ॥

इह 'जं ति' 'सुयनाणम्मि वि जीवो वट्टंतो सो न पाउणइ मोक्खं' इत्यादि गाथायां यत् पूर्वं प्रतिज्ञातमित्यर्थः । किं प्रतिज्ञातम् ?, इत्याह-'न लभते शिवं-मोक्षं श्रुतेऽपि वर्तमानोऽचरणो जीवः' इति । तस्य प्रतिज्ञातस्य हेतुरयं द्रष्टव्यः। कः?,इत्याह-'खओवसमओ त्ति' क्षायोपशमिकत्वात्-श्रुतज्ञानस्य क्षायोपशमिकभाववर्तित्वात्, मोक्षस्य च क्षायिकज्ञान एव भावादिति भावः। यथाऽवधिज्ञाने वर्तमान इति दृष्टान्तः ॥ ११७५ ॥

अत्र परः प्राह-ननु यद्येवम्, तर्हि चरणसहितादपि श्रुताद् मोक्षो न भवत्येव, अस्मादेव हेतोः अमुष्मादेव च दृष्टान्तादिति । कः किमाह ?-क्षायोपशमिके चरणसहितेऽपि ज्ञाने न भवत्येव मोक्ष इति सिद्धसाध्यतैव, किन्तु-क्षायिकज्ञानचारित्राभ्यामेव मोक्ष इति । एतदेवाह-

सकिरियम्मि वि नाणे,मोक्खो खइयम्मि न उ खओवसमे।
सुत्तं च खओवसमे, न तम्मि तो चरणजुत्ते वि।११७६।

गतार्थैव ॥ ११७६ ॥

आह-यद्येवं क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वेनैव श्रुताद् मोक्षो निषिद्ध इत्यतश्चरणसहितात् ततः प्राग् यद् मोक्षाभिधाने तच्छून्यचित्तमापितमेव । नैवम्, यतः साक्षादानन्तर्येणैव श्रुताद् मोक्षो निषिध्यते, पारम्पर्येण तु तस्मादप्यसौ भवत्येव, यस्मात् श्रुतज्ञानचारित्राभ्यां क्षायिकज्ञानचारित्रे लभ्येते, ताभ्यां च मोक्षः संप्राप्यते । ततश्चारित्रयुक्तं श्रुतं मोक्षहेतुरिति यदुक्तं प्राक्, तदप्यविरुद्धमेवेति ।

एतदेवाह—

जं सुयचरणेहिंतो, खाइयनाणचरणाणि लब्भंति ।
तत्तो सिवं सुयं तो, सचरणमिह मोक्खहेउ त्ति ।११७७।

व्याख्यातार्थैव ॥ ११७७ ॥

ननु कुतः पुनरिदमवसीयते यत् क्षायोपशमिके भावे श्रुतं वर्तते ?। उच्यते-आगमे तथैवाभिधानात्। कः पुनरेवमागमः ? इत्याह-'भावे खओवसमिए' इत्यादि इत्येवमेकया पातनयेयं गाथा संबध्यते ।

अथ पातनान्तरं चिकीर्षुराह—

अहवा निज्जिणे च्चिय, कम्मे नाणं ति किं य चरणेणं ।
न सुयं खयओ केवल-नाणचरित्ताइँ खइयाइं ॥११७८॥
तेसु य ठियस्स मोक्खो, तो सुयमिह सचरणं तदट्ठाए ।
तं कह मीसं खइयं, च केवलं जं सुएऽभिहियं ॥११७९॥

'अहव त्ति' अथवा, पर आह-ननु च स्वावारके कर्मणि तावत् सर्वथा निर्जीर्णे-परिक्षीणे सर्वमपि ज्ञानमुत्पद्यते, न तूदयप्राप्ते । ततश्च यथा चारित्रमन्तरेणापि कथमपि तज्ज्ञानावरणं कर्म क्षीणम्, तथा मोक्षलाभावारकमपि कथमप्येवमेव क्षयमुपयास्यति, ततो ज्ञानादेव केवलाद् मोक्षो भविष्यति, किं चारित्रेणेति ?। अत्रोत्तरमाह—'न सुयं खयउ त्ति' सर्वमपि ज्ञानं स्वावरणे सर्वथा क्षीणे समुत्पद्यते, इत्येतदसिद्धम्, यस्मात् श्रुतज्ञानम्, उपलक्षणत्वाद् मत्यवधिमनःपर्यायज्ञानानि च न स्वावरणक्षयात्, किन्तु—तत्क्षयोपशमादेवैतानि जायन्ते । क्षायिकं त्वेकमेव केवलज्ञानम्, तथा क्षीणमोहसवन्धि चारित्रं च क्षायिकम्, तयोश्च स्थितस्याऽऽनन्तर्येण मोक्षो जायते। ततः सचरणं श्रुतमिह तदर्थाय क्षायिकज्ञान-चारित्रलाभाय भवति, इत्येवं परम्परया चारित्रसहितात् श्रुताद् मोक्षप्राप्तेः पूर्वोक्तं न विरुध्यते। परः प्राह—कथं पुनरिदं विज्ञायते—तत् श्रुतज्ञानं मिश्रं क्षायोपशमिकं, केवलज्ञानं तु क्षायिकमिति ?। आचार्यः प्राह—यद्—यस्मात्, श्रुते-आगमेऽभिहितमेतत्। इति गाथाद्वयार्थः ॥ ११७९ ॥

किं तदभिहितम् ?, इत्याह—

भावे खओवसमिए, दुवालसंगं पि होइ सुयनाणं ।
केवलियनाणलंभो,ऽन्नणत्थ खए कसायाणं ॥११८०॥

भवनम्—भावः, भवतीति वा—भावः, तत्र भावे श्रुतज्ञानं भवति। कस्मिन् ?, इत्याह—क्षयोपशमाभ्यां निर्वृत्तः, क्षयोपशमावेव वा क्षायोपशमिकस्तत्रैव भवति, न त्वौदयिकादिके। कियत् ?, इत्याह—द्वादशाङ्गानि यत्र तद् द्वादशाङ्गम्, अपिशब्दाद्—बाह्यमपि सर्वम्, तथा—प्रत्यवधिमनःपर्यायज्ञानत्रयमपि, तथा—क्षायिकौप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शमिकभाववृत्तिवर्ज्यसामायिकचतुष्टयमपि। केवलस्य भावः कैवल्यं घातिकर्मवियोग इत्यर्थः, तस्मिन् कैवल्ये सति ज्ञानं कैवल्यज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः, तल्लाभः पुनः कषायाणाम्—क्रोधादीनां सर्वथा क्षये सत्येव भवति, नान्यत्र नान्येन प्रकारेण। इह च यद्यपि घातिकर्मसु चतुर्ष्वपि क्षीणेषु केवलज्ञानं भवति, न तु केवलेषु कषायेषु; तथापि प्राधान्यख्यापनार्थं तेषामेव ग्रहणम्, तत्क्षये शेषकर्मक्षयस्याऽवश्यंभावित्वात्। इति निर्युक्तिगाथार्थः॥११८०॥

भाष्यम्—

सव्वं पि किमुय देसो, केवलवज्जाणि चावि सद्देणं।
चत्तारि खओवसमे, सामइयाइं च पाएणं॥ ११८१॥
सव्वकसायावगमे केवलमिह नाणदंसणचरित्तं।
देसक्खए वि सम्मं, धुवं सिवं सव्वखइएसुं॥ ११८२॥

सर्वमपि श्रुतं क्षायोपशमिकभाववर्ति, किमुत तद्देशः, इत्यपिशब्दभावार्थः। अथवा-अपिशब्दात्-केवलज्ञानवर्ज्यानि चत्वारि ज्ञानानि, सामायिकानि च सम्यक्त्वश्रुतदेशसर्वविरमणरूपाणि चत्वारि, प्रायोग्रहणाद्क्षायिकौपशमिकानीति। इह 'नाणत्थ खए कसायाणं' इति केवलज्ञानविषयसामान्योक्तावतिप्रसङ्गाद्, विशेषं दर्शयति-केवलज्ञानम्, केवलदर्शनम्, केवलं परिपूर्णं क्षायिकं चारित्रं चेति। एतानि त्रीणि सर्वेषामेव क्रोधादिकषायाणामपगमे क्षये भवन्ति। क्षायिकं सम्यक्त्वं पुनस्तेषामनन्तानुबन्धिचतुष्टयरूपदेशक्षयेऽपि भवति। ततः सर्वेष्वपि ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रेषु क्षायिकेषु जातेषु सत्सु ध्रुवं—निश्चितं शिवं-मोक्षो भवति जीवस्येति॥ ११८१॥ ११८२॥ विशे०। द० प०। (मोक्षे नवसद्भावपदार्थज्ञानं मोक्षतत्त्वप्रतिपादकमिति 'तत्त' शब्दे चतुर्थभागे २१८१ पृष्ठे गतम्) (धर्मस्य फलं मोक्षः इति 'अत्थ' शब्दे प्रथमभागे ५०७ पृष्ठे गतम्) (केवलज्ञानानन्तरं मोक्षः इति 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे२६८१ पृष्ठे गतम्) (प्रातः स्नानादिषु मोक्षमिच्छतां मतम् 'उदग' शब्दे द्वितीयभागे ७६६ पृष्ठे गतम्)

महेशानुग्रहान्मोक्ष इति पातञ्जलमतमवशिष्यते—
एतदेवाह—

अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र, तत्स्वाभाव्यनिबन्धनः।
अतोऽन्यथा त्वदः सर्वं, न मुख्यमुपपद्यते॥ ७॥

"महेशानुग्रहाद्बोधनियमौ" इति वचनाद् अन्यतो-महेशाद्, अनुग्रहः अपि-उपकारोऽपि शुद्धज्ञानक्रियालाभलक्षणः, किं पुनः पूर्वोक्तौ संसारापवर्गावित्यपिशब्दार्थः। अत्र योगचिन्तायाम्, किम् ?, इत्याह-तत्स्वाभाव्यनिबन्धनः-स-महेशानुग्रहयोग्यः स्वभावो यस्य,स तथा; तद्भावस्तत्स्वाभाव्यम्; तन्निबन्धनं—हेतुर्यस्य स तथा। विपर्यये बाधामाह—अतः—तत्स्वाभाव्यात्, अन्यथा तु-अन्येन प्रकारेण, पुनः केवलमहेशानुग्रहादिरूपेण, अदः—संसारित्वादि, सर्वम्—कृत्स्नम्, न—नैव, मुख्यम्—अनुपचरितम्, उपपद्यते—घटते। यथा हि—कर्पासादिः स्वभावत एवायोग्यो लाक्षारसादिना रज्यमानोऽपि न तात्त्विकं रागं प्रतिपद्यते, किं तु-रागाभासमेव, एवमात्मनां योग्यताविरहे महेशेन क्रियमाणावप्यनुग्रहनिग्रहौ न तात्त्विकौ स्याताभिति, तत्स्वाभाव्यमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। तदभ्युपगमे च तत एव संसारमोक्षोपपत्त्या न किंचिन्महेशानुग्रहादिना प्रयोजनमस्तीति सिद्धम् "आत्मा तदन्ययोगात्संसारी" इत्यादि॥ यो० विं०।

अनुग्रहोऽप्यनुग्राह्य-योग्यतापेक्ष एव तु।
नाणुः कदाचिदात्मा स्या-द्देवतानुग्रहादपि॥ १२॥

अनुग्रहोऽपि महेशकृतः किं पुनः शेषक्रियाविशेष इत्यपिशब्दार्थः। अनुग्राह्यस्य—अनुग्रहविषयस्य,जन्तोर्योग्यतापेक्ष एव तु—योग्यतामेवापेक्ष्य न पुनरन्यथा। अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया भावयति—न—नैव, अणुः—पुद्गलविशेषः कदाचित्—क्वापि काले, आत्मा—जीवः स्यात्। कुतोऽपीत्याह—देवतानुग्रहादपि—देवताया दिव्यविशेषरूपाया, अनुग्रहः-प्रसादः, तस्मादपि किं पुनस्तदभाव इत्यपि शब्दार्थः॥

अमुमेवार्थं भावयति—

कर्मणो योग्यतायां हि, कर्ता तद्व्यपदेशभाक्।
नान्यथाऽतिप्रसङ्गेन, लोकसिद्धमिदं ननु॥ १३॥

कर्मणः—क्रियाविषयस्य, सामान्येन मुद्गादेर्वस्तुनो योग्यतायाम्—योग्यभावे, हि-यस्मात्कारणात्, कर्ता—पाचकादिः; तद्व्यपदेशभाक्—तं पाचकादिरूपं व्यपदेशं भजते यः स तथा। विपक्षे बाधामाह-न—नैव, अन्यथा—अन्येन प्रकारेण कर्मणः पाकादियोग्यताविरहे कर्ता तद्व्यपदेशभाक्। कथमित्याह—अतिप्रसङ्गेन—अतिव्याप्तिलक्षणेन; लोकसिद्धं बालाबालादिजनप्रतीतम् इदम् पूर्वोक्तं वस्तु ननु—निश्चितम्, नास्मिन्नर्थेऽन्यत्प्रमाणं गवेषणीयमिति भावः।

पुनरप्यमुमेवार्थं पुरस्कृत्याऽऽह—

अन्यथा सर्वमेवैत-दौपचारिकमेव हि।
प्राप्नोत्यशोभनं चैत-त्तत्त्वतस्तदभावतः॥ १४॥

अन्यथा-स्वयोग्यतामन्तरेणापि, कर्मणो यदि कर्त्ता तद्व्यपदेशभागिष्यते; तदा सर्वमेवैतद् बाह्यम्, आभ्यन्तरं च, कार्यजातम्। किमित्याह-औपचारिकमेव-उपचारमात्रोद्भवमेव, हि-स्फुटम्, प्राप्नोति-प्रसज्यते, माणवकसिंहत्ववत्। यदि नामैवं, तथापि को दोष इत्याह-अशोभनं च-अशोभनं पुनः,एतत्-सर्वमेवौपचारिकतयाऽभ्युपगम्यमानम्। कुत इत्याह-तत्त्वतः-पारमार्थिक्या वृत्त्या, तदभावतः-औपचारिकवस्तुनोऽभावात् न ह्युपचरिता भावा माणवकसिंहतादयः पारमार्थिकं सिंहादिरूपं भजन्ते। एवं मोक्षादयोऽप्यात्मनः स्वयोग्यताया विरहे महेशानुग्रहादेः परैरभ्युपगम्यमाना न पारमार्थिकरूपभाजो भवेयुरिति।

किं च—

उपचारोऽपि च प्रायो, लोके यन्मुख्यपूर्वकः।
दृष्टस्ततोऽप्यदः सर्व-मित्थमेव व्यवस्थितम्॥ १५॥

उपचारोऽपि च-उपचरितवस्तुव्यवहाररूपः किं पुनर्मुख्यपूर्वको व्यवहार इत्यपिचशब्दार्थः। प्रायो—बाहुल्येन लोके-व्यवहारार्हे जने यद्—यस्माद् मुख्यपूर्वकः—निरुपचरितव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तुव्यवहारापेक्षः, दृष्टः-उपलब्धः । प्रायोग्रहणं कचिद् व्यभिचारार्थम् "तेन मेरुमन्थानेन मथितो नीरनिधिः सुरैः" इत्यादयोऽत्यन्तमसंबद्धाः, केचिल्लोकव्यवहारपूर्वकाः, किं तु मिथ्याविकल्पवासनाप्रकोपपूर्वका इति । ततोऽपि मुख्यपूर्वकत्वादप्युपचारस्य, किं पुनः—प्रागुक्तयुक्तेरित्यपिशब्दार्थः । अदः—एतत्स्वयोग्यताया एव सकाशात्कर्मबन्धादि सर्वम्—निरवशेषम् इत्थमेव व्यवस्थापितनीत्यैव व्यवस्थितम्—प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥ यो०विं० । अविद्यानिवृत्तिर्मोक्षः । सम्म० १ काण्ड । प्रकृतिपुरुषदर्शनान्निवृत्तायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्षः इति साङ्ख्याः जै० गा० । "अहः सर्वत्र तत्त्वेन, मुमुक्षूणामसंगतः । मुक्तौ धर्मा अपि प्राय—स्त्यक्तव्याः किमनेन तत् ॥ १ ॥" इति ॥ ३२ ॥ द्वा० २३ द्वा० । [भव्यानामेव मोक्ष इति 'बन्धमोक्खसिद्धि' शब्दे पञ्चमभागे १२४३ पृष्ठे बन्धमोक्षसद्भावे प्रत्यपादि] "निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् । विनिवृत्तपराशाना-मिहैव मोक्षः सुविहितानाम्" यो० विं० । [हवनात्सिद्धि वदतां मतम् 'अग्गिहोत्त' शब्दे प्रथमभागे १७७ पृष्ठे गतम्] [मोक्षोपायं 'मोक्खमग्गगइ' शब्दे वक्ष्यामि] [वेदयित्वैव पापकर्मणो मोक्षः इति 'पापकम्म' शब्दे पञ्चमभागे ८७६ पृष्ठे गतम्] केवलिभिर्यस्मिन् काले येषां जीवानां मोक्षगमनं दृष्टं तस्मिन्नेव काले ते जीवा मोक्षं यान्ति नवेति, केचन वदन्ति—पुण्यं पापं च कुर्वतां जीवानां कालस्थितेर्हानिर्वृद्धिश्च भवतीति ? प्रश्ने, उत्तरम्—येषां जीवानां यस्मिन् काले केवलिभिर्मोक्षगमनं दृष्टमस्ति तस्मिन्नेव काले ते जीवा मोक्षं यान्ति परं केवलिभिः सर्वेसामप्यपि सहैव दृष्टाऽस्ति तस्मान्न काऽप्याशङ्केति ॥ ५० ॥ सेन० ३ उल्ला० । त्रयोदशचतुर्दशगुणस्थानयोर्हि—चरमसमयं यावत् षट्संहननसत्ता केन हेतुना ? यतो मोक्षगमनमाद्येनैव भवतीति ? प्रश्ने, उत्तरम्-यद्यपि मोक्षगमनमाद्येनैव भवति तथापि प्राक्तनसंहननानां सत्तासद्भावे को विचार इति । ॥ १६६ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

मोक्खंग—**मोक्षाङ्ग**—न० । मोक्षकारणे, पं० व० ३ द्वार । सिद्धिकारणे, पञ्चा० ६ विव० ।

मोक्खंगपत्थणा—**मोक्षाङ्गप्रार्थना**—स्त्री० । मोक्षाङ्गानाम्-निर्वृतिकारणानां प्रार्थना-आशंसा, अथवा—मोक्षाङ्गं चासौ प्रार्थना चेति, मोक्षाङ्गस्य वा प्रार्थना मोक्षाङ्गप्रार्थना । मोक्षाशंसायाम्, पञ्चा० ४ विव० ।

मोक्खंगया—**मोक्षाङ्गता**—स्त्री० । निर्वाणहेतुतायाम्, पञ्चा० ६ विव० ।

मोक्खकंखिय—**मोक्षकाङ्क्षित**—त्रि० । मोक्षे काङ्क्षा संजाताऽस्येति मोक्षकाङ्क्षितः । सिद्धिकाङ्क्षके, तं० ।

मोक्खकामय—**मोक्षकामक**—त्रि० । मोक्षे-शिवेऽनन्तानन्तसुखमये कामोऽभिलाषो यस्य सः मोक्षकामकः । सिद्धिकामुके,तं० ।

मोक्खट्ठ—**मोक्षार्थ**—पुं० । सकलकर्मविनिर्मुक्तिनिमित्त, हा०४ अष्ट० । सिद्ध्यर्थे, पञ्चा० ८ विव० ।

मोक्खएसि(ण्)—**मोक्षान्वेषिन्**—त्रि० । स्थित्यनुभागप्रदेशरूपस्य चतुर्विधस्यापि यो मोक्षस्तदुपायो वा तमन्वेष्टुं मृगयितुं शीलमस्येति मोक्षान्वेषी । सिद्धिमार्गगवेषितरि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

मोक्खतरु—**मोक्षतरु**—पुं० । मोक्षरूपे वृक्षे, संथा० ।

मोक्खतित्थ—**मोक्षतीर्थ**—न० । अयोध्यान्तर्गते स्वनामख्याते तीर्थे, तत्र हि नमिस्तीर्थकृत्पूज्यते । ती० ४३ कल्प ।

मोक्खत्थ—**मोक्षार्थ**—पुं० । सिद्ध्यर्थे, पञ्चा० ८ विव० ।

मोक्खत्थि—**मोक्षार्थिन्**—त्रि० सिद्धिकामे, पञ्चा० ८ विव० ।

मोक्खदेव—**मोक्षदेव**—पुं० । 'कोकावसहिपासणाह' शब्दे तृतीयभागे ६७३ पृष्ठे उक्ते स्वनामख्याते श्रावके, ती० ३६ कल्प ।

मोक्ख(द्दे)दोस—**मोक्षद्वेष**—पुं० । सर्वाङ्गसुखखानिभूतायां मुक्तौ मत्सरे, यो० विं० । ('मोक्ख' शब्देऽत्रैव प्रत्यपादि)

मोक्खद्ध—**मोक्षाध्वन्**—पुं० । निर्वाणमार्गे, पञ्चा० ३ विव० ।

मोक्खद्धदुग्गगहण—**मोक्षाध्वदुर्गग्रहण**—न० । निर्वाणमार्गे पर्वतवनादिदुर्गाश्रयणकल्पे, पञ्चा० ।

अथ वन्दनामेव मोक्षाध्वदुर्गतया समर्थयन्नाह—

मोक्खद्धदुग्गगहणं, एयं तं सेसगाण वि पसिद्धं ।
भावेयव्वमिणं खलु, सम्मंति कयं पसंगेणं ॥ १६ ॥

मोक्षाध्वनि—निर्वाणमार्गे दुर्गग्रहणमिव-पर्वतवनादिदुर्गाश्रयणमिव मोक्षाध्वदुर्गग्रहणम् । यथा ह्यध्वनि प्रवृत्तस्य तस्करादिभिरभिभूयमानस्य दुर्गसमाश्रयणं त्राणं भवति, एवं मोक्षाध्वनि प्रवृत्तस्य कर्मचौरादिभिरभिभूयमानस्य यत्त्राणहेतुस्तन्मोक्षाध्वदुर्गग्रहणमुच्यते, अथवा—मोक्षाध्वा च दुर्गग्रहणमिव दुर्गग्रहणं च मोक्षाध्वदुर्गग्रहणम् । पञ्चा० ३ विव० ।

मोक्ख(द्ध)द्धाणसेवा—**मोक्षाध्वसेवा**—स्त्री० । मोक्षो—निर्वाणं, तस्य अध्वा—मार्गः, सम्यग्दर्शनज्ञानचरणलक्षणः, तस्य सेवा-अनुष्ठानम्, मोक्षाध्वसेवा । संमयानुष्ठाने, हा० ४ अष्ट० ।

मोक्खपय—**मोक्षपद**—न० । सद्बोधकारणत्वात्कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणस्य मोक्षस्य प्रतिपादके पदे । अबन्धपदे, अनु० ।

मोक्खपह—**मोक्षपथ**—पुं० । मोक्षस्य पन्थाः । अपवर्गमार्गे, आव० ४ अ० । तीर्थकरे, तत्प्रदर्शकत्वात् कारणे कार्योपचारात् । आव० ५ अ० । जैनशासने, आ० चू० ५ अ० ।

मोक्खपहसामिय—**मोक्षपथस्वामिक**—पुं० । सिद्धिमार्गप्रभौ, पञ्चा० ८ विव० ।

मोक्खपहो(हाव)यारग—**मोक्षपथावतारक**—पुं० । सम्यग्दर्शनादिषु प्राणिनां प्रवर्तके, स० ।

मोक्खपिवासिय—**मोक्षपिपासित**—त्रि० । मोक्षफलालुप्ते, तं० ।

मोक्खफल—**मोक्षफल**—त्रि० । मोक्षः फलमस्मादिति मोक्षफलः । मोक्षजनके, पञ्चा० ८ विव० ।

मोक्खमग्ग—**मोक्षमार्ग**—पुं० । मोक्षोऽष्टकर्मणां न्यासस्तस्य मार्गो ज्ञानादिर्मोक्षमार्गः । तस्मिन्, उत्त०३२अ० । मोक्षस्य मार्ग इव मार्गो यत्तत्तथा । प्रश्न० ५ संव० द्वार । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्ये, (सूत्र० १ श्रु० १३ अ०) । निर्वाणपथे, ग० २ अधि० । कर्म० । दश० । जिनपूजा-सर्वज्ञाभ्यर्चनं मोक्ष-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मार्गः । जी० १ प्रति० । आचा० । सूत्र० । स्था० । बृ० । नं०। विशिष्टमेव सुखमभिलषणीयं न यत्किञ्चित् तर्हि विशिष्टमेकान्तेन सुखं मोक्ष एव विद्यते न रागादौ क्षुदादौ वा तस्मात्तदेवाभिलषणीयं, न शेषमिति । योऽपि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपो मोक्षमार्ग उक्तः सोऽपि युक्त्या विचार्यमाणः प्रेक्षावतामुपादेयतामश्नुते । तथाहि–सकलमपि कर्मजालं मिथ्यात्वाज्ञानप्राणिहिंसादिहेतुकम् । ततः सकलकर्मनिर्मूलनाय सम्यग्दर्शनाद्यभ्यास एव घटते । नं० ।

मोक्खमग्गगइ–मोक्षमार्गगति–न० । मोक्षमार्गगतेः प्रतिपादके अष्टाविंशे उत्तराध्ययने, उत्त० ।

सम्प्रति यथाऽस्य मोक्षमार्गगतिरिति नाम
तथा दर्शयितुमाह–

मुक्खो मग्गो अ गई, वरिगज्जइ जम्ह इत्थ अज्झयणे ।
तं एअं अज्झयणं, नायव्वं मुक्खमग्गगई ॥ ५०२ ॥

मोक्षः प्राप्यतया मार्गस्तत्प्रापणोपायतया, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततः गतिश्च–सिद्धिगमनरूपा तदुभयफलतया वर्ण्यते प्ररूप्यते यस्माद् अत्रेति–प्रस्तुतेऽध्ययने तत्–तस्मादेतदध्ययनं ज्ञातव्यं मोक्षमार्गगतिः इति; मोक्षमार्गगतिनामकम्; अभिधेयेऽभिधानोपचारादिति भावः । इति गाथार्थः ।

उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, सम्प्रति सूत्रा–
नुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्–

मुक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं ।
चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं ॥ १ ॥

मोक्षणं मोक्षः–अष्टविधकर्मोच्छेदस्तस्य मार्गः उक्तरूपस्तेन गतिः–अनन्तरोक्ता मोक्षमार्गगतिस्ताम्, कथ्यमानामिति गम्यते । 'तच्चं' ति तथ्याम्–अवितथां शृणुत–आकर्णयत जिनभाषिताम्–तीर्थकृदभिहितां, चत्वारि कारणानि वक्ष्यमाणलक्षणानि तैः संयुक्ता–समन्विता चतुष्कारणसंयुक्ता ताम् । नन्वमूनि–चत्वारि कारणानि कर्मक्षयलक्षणस्य मोक्षस्यैव, गतेस्तु तदनन्तरभावित्वात् स एवेति कथं चतुष्कारणवतीत्वमस्या न विरुध्यते ?, उच्यते–व्यवहारतः कारणकारणस्यापि कारणत्वाभिधानाददोषः, अत एव चानन्तरकारणस्यैव कारणत्वमित्याशङ्काऽपोहार्थमस्य विशेषणस्योपन्यासः, अन्यथा हि मोक्षमार्गेण गतिरिति विग्रहे गतिं प्रति मार्गस्य कारणत्वं प्रतीयत एव, तद्रूपाणि चामूनि चत्वारि कारणानीति । तथा–ज्ञानदर्शने लक्षणं–चिह्नं यस्याः सा ज्ञानदर्शनलक्षणा, यस्य हि तत्सत्ता तस्यावश्यंभाविनी मुक्तिरिति निश्चीयते, अत एव चानयोर्मूलकारणतां दर्शयितुमित्थमुपन्यासः । यद्वा–मोक्ष–उक्तलक्षणे मार्गः–शुद्धो 'मृजू शुद्धौ' इति धातुपाठात्तस्य गतिः–प्राप्तिस्तां, ज्ञानदर्शने–विशेषसामान्योपयोगरूपे लक्षणम्–असाधारणं स्वरूपं यस्याः सा तथा ताम् । न चेह निर्युक्तिकृता मार्गगत्योरन्यथा व्याख्यानात्तद्विरोधः, अनन्तगमपर्यायत्वात्सूत्रस्य, शिष्यासंमोहाय कस्यचिदेवार्थस्य तेनाभिधानात्, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ।

यदुक्तं 'मोक्षमार्गगतिं शृणुत' इति तत्र मोक्षमार्गं तावदाह–

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ २ ॥

ज्ञायते अवबुध्यतेऽनेन वस्तुतत्त्वमिति ज्ञानं, तच्च सम्यग्ज्ञानमेव ज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमसमुत्थं मत्यादिभेदम् । दृश्यते तत्त्वमस्मिन्निति दर्शनम्, इदमपि सम्यग्रूपमेव, दर्शनमोहनीयक्षयक्षयोपशमोपशमसमुत्पादितमर्हदभिहित–जीवादितत्त्वरुचिलक्षणात्मशुभभावरूपम्, 'एव' अवधारणे भिन्नक्रमश्चोत्तरत्र योक्ष्यते, चरन्ति–गच्छन्त्यनेन मुक्तिमिति चरित्रम्, एतदपि सम्यग्रूपमेव, चारित्रमोहनीयक्षयादित्रयप्रादुर्भूतसामायिकादिभेदं सदसत्क्रियाप्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणम्, तपति पुरोपात्तकर्माणि क्षपणेनेति तपो–बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं यदर्हद्वचनानुसारि तदेव समीचीनमुपादीयते । इत्थं चैतत्, सर्वत्र मोक्षमार्गगतिप्रस्तावाद्विपर्यस्तज्ञानादिना तत्कारणतानुपपत्तेः अन्यथा–अतिप्रसङ्गात्तथेति, सर्वत्र चशब्दः समुच्चये, सर्वत्र समुच्चयाभिधानं समुदितानामेव मुक्तिमार्गत्वख्यापकम् एष एव 'मार्ग' इति मार्गशब्दवाच्यः, अस्यैव मुक्तिप्रापकत्वात् प्रज्ञप्तः–प्रज्ञापितः जिनैः–तीर्थकृद्भिः वरम्–समस्तवस्तुव्यापितया, अव्यभिचारितया च द्रष्टुम्–प्रेक्षितुं शीलमेषां ते वरदर्शिनस्तैः । इह च चारित्रभेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्यैव क्षपणं प्रति असाधारणहेतुत्वमुपदर्शयितुम्, तथा च वक्ष्यति–"तवसा (व) विसुज्झइ" त्ति । इति सूत्रार्थः ।

सम्प्रत्येतस्यैवानुवादद्वारेण फलमुपदर्शयितुमाह–

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सुग्गइं ॥ ३ ॥

पूर्वार्द्धं व्याख्यातमेव, एनम्–इति–अनन्तरम्; उक्तरूपं मार्गम्–पन्थानम् अनुप्राप्ताः–आश्रिता जीवाः गच्छन्ति–यान्ति 'सुग्गइं' ति सुगतिम्–शोभनगतिम्, प्रक्रमान्मुक्तिम् । इति सूत्रार्थः । उत्त० । ज्ञानादीनि मुक्तिमार्ग इत्युक्तम्, अतस्तत्स्वरूपमिहाभिधेयम्, तच्च तद्भेदाभिधानेऽभिहितमेव भवतीति मत्वा 'यथोद्देशस्तथा निर्देश' इति न्यायतो ज्ञानभेदानाह–(ते च ज्ञानभेदाः 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९३८ पृष्ठे गताः) (अन्येषां पदानां व्याख्या स्वस्वस्थानादवसेया)

ज्ञानादीनां मध्ये कस्य कतरो व्यापारः ?, उच्यते–

नाणेण जाणई भावे, संमत्तेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥ ३५ ॥

ज्ञानेन–मत्यादिना जानाति–अवबुध्यते भावान्–जीवादीन्, दर्शनेन च–उक्तरूपेण 'सद्दहि' त्ति श्रद्धत्ते, चारित्रेण–अनन्तराभिहितेन 'निगिण्हाति' त्ति निराश्रवो भवति पठ्यते च–'न गिण्हति' त्ति तत्र न गृह्णाति–नादत्ते कर्मेति गम्यते, तपसा परिशुद्ध्यति–पुरोपचितकर्मक्षपणतः शुद्धो भवति, उक्तं हि–"संजमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले" त्ति । इति सूत्रार्थः । अनेन मार्गस्य फलं मोक्ष उक्तः ।

सम्प्रति तत्फलभूतां गतिमाह–

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खप्पहीणऽट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥ ३६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षपयित्वा क्षयं नीत्वा पूर्वकर्माणि-पूर्वोपचितज्ञानावरणादीनि संयमः-सम्यक् पापेभ्य उपरमणं चारित्रमित्यर्थः, तेन तपसा-उक्तरूपेण चशब्दाद्-ज्ञानदर्शनाभ्यां च। नन्वेवमनन्तरं तपस एव कर्मक्षपणहेतुत्वमुक्तम् इह तु ज्ञानादीनामपीति कथं न विरोधः ?, उच्यते-तपसोऽप्येतत्पूर्वकस्यैव क्षपणहेतुत्वमिति ज्ञापनार्थमित्थमभिधानम् , अत एव मोक्षमार्गत्वमपि चतुर्णामप्युपपन्नं भवति, ततश्च-'सव्वदुक्खप्पहीणट्ठ' त्ति प्राकृतत्वात्प्रकर्षेण हीनानि—हानिं गतानि प्रक्षीणानि वा सर्वदुःखानि यस्मिन् , यद्वा-सर्वदुःखानां प्रहीणं प्रक्षीणं वा यस्मिंस्तत्तथा,तच्च सिद्धिक्षेत्रमेव तदर्थयन्त इवार्थयन्ते सर्वार्थेच्छोपरमेऽपि तद्गामितया ये ते तथाविधाः प्रक्रामन्ति-भृशं गच्छन्ति । अथवा-प्रहीणानि वा सर्वदुःखान्यर्थाश्च प्रयोजनानि येषां ते तथाविधाः प्रक्रामन्ति सिद्धिमिति शेषः, 'महेसिणो' त्ति महर्षयोः; महैषिणो वा प्राग्वन्महामुनयः। इति सूत्रार्थः ॥ उत्त० पाइ० २८ अ०।

मोक्खवरमुत्तिमग्ग–मोक्षवरमुक्तिमार्ग–पुं० मोक्षे सकलकर्मक्षयलक्षणे गन्तव्ये मुक्तिरेव निर्लोभतैव मार्गः पन्थाः मोक्षवरमुक्तिमार्गः। मोक्षानाशंसायाम् , प्रश्न० ५ संव० द्वार।

मोक्खविगुण–मोक्षविगुण–पुं० । सिद्धयननुगुणे, पञ्चा० ६ विव०।

मोक्खविणय–मोक्षविनय–पुं० । मोक्षविषयो विनयो मोक्षविनयः। 'विणय' शब्दे वक्ष्यमाणस्वरूपे विनयभेदे, दश० ६ अ० १ उ०।

मोक्खविसारय–मोक्षविशारद–पुं० । मोक्षमार्गस्य सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्य प्ररूपके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

मोक्खसुह–मोक्षसुख–न० । सिद्धिसुखे, आचा०।

मोक्खहेउ–मोक्षहेतु–पुं० । सर्वकर्मक्षयकारणे,पञ्चा०३ विव०।

मोक्खोवाय–मोक्षोपाय–पुं०। मोक्षस्य निर्वृतेरुपायः-सम्यक्साधनम्। सम्यग्दर्शनचारित्ररूपेषु मुक्तिसाधनेषु, ध० २ अधि०। "दोसा जेण णिरुंभंति, जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं। सो सो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु वमणं व ॥ १ ॥" नि० चू० १६ उ०।

मोग्गर–देशी–मुकुले , दे० ना० ६ वर्ग १३६ गाथा।

मोग्गरग–मुद्गरक–पुं०। न०। ओत् संयोगे ॥ ८। १। ११६ ॥ इति संयोगपरत्वादादेरुतः ओत्वम् । प्रा० । मगदन्तिकापुष्पे, ध० २ अधि० । क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स ≍क ≍प् पामूर्ध्वं लुक् ॥ ८। २। ७७ ॥ एषां संयुक्तवर्णसंबन्धिनामूर्ध्वं स्थितानां लुग्भवति। प्रा० । गुल्मविशेषे, जं०। काष्ठादिमये मल्लोपकरणे, प्रश्न० १ आश्र०द्वार।

मोग्गरपाणि–मुद्गरपाणि–पुं०। मुद्गरहस्ते स्वनामख्याते यक्षे, अन्त०। (अस्य 'अज्जुणय' शब्दे प्रथमभागे २२४ पृष्ठे कथोक्ता)

मोग्गलायण–मौद्गलायन–पुं०। मुद्गलस्यर्षेर्गोत्रापत्ये,अभिजिन्नक्षत्रं मोद्गलायनगोत्रम्। चं० प्र० १० पाहु०। सू०प्र०। जं०।

मोच–मोच–पुं०। प्रस्रवणे, कायिकायाम् , सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। अर्द्धजङ्घायाम् , दे० ना० ६ वर्ग १३६ गाथा।

मोचमेह–मोचमेह–पुं० । मोचः—प्रस्रवणं; कायिकेत्यर्थः तेन मेहः-सेचनम्। कायिकव्युत्सर्जने, "कोसं च मोचमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगलणं च ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

मोट्टाय–रम्–धा०। क्रीडायाम् , रमेः संखुड्ड-खेड्डोब्भाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-मोट्टाय-णीसर-वेल्लाः ॥ ८। ४। १६८ ॥ इति रमतेर्मोट्टायादेशः। मोट्टायइ। रमते। प्रा० ४ पाद।

मोट्ठिय–मौष्टिक–पुं०। मुष्टिप्रमाणे प्रोतचर्मरज्जुके पाषाणगोलके, उपा० २ अ०।

मोंढेर–मौंढेर–न०। मोठजातीयब्राह्मणवणिजामुत्पत्तिपुरे, तत्र वीरजिनः पूज्यते। ती० ४३ कल्प।

मोड–देशी–जूटे, दे० ना० ६ वर्ग ११७ गाथा।

मोडणा–मोटना–स्त्री० । गात्रभञ्जनायाम् , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। मर्दने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

मोडिय–मोटित–न० । गात्रमोटने, बृ० १ उ०। वालिताङ्गेषु, विपा० १ श्रु० ६ अ०। दशा०। भग्नाङ्गेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। भग्नेषु, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

मोण–मौन–पुं०। न०। मुनेरयं मौनः। मुनेर्भावो वा मौनम्। वाचः संयमने, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०। संयमानुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। अशेषसावद्यानुष्ठानवर्जने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। द्य०। प्रति०। सूत्र०। आव०। साधुधर्मे , उत्त० १४ अ०। सूत्र०। मुन्याचारे, उत्त० १४ अ०। सम्यक्चारित्रे , उत्त० १५ अ०। मौनव्रते, स्था० ५ ठा० १ उ०। आचा०। सम्यक्त्वे, प्रति०। श्रा०। मुनेरिदं मौनम्। सर्वज्ञोक्ते प्रवचने, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। ध०। "मुणी मोणं समादाय, धुणे कम्म सरीरगं" मुनिर्जगत्त्रयस्य मन्ता मौनं मुनित्वमशेषसावद्यानुष्ठानवर्जनरूपं समादाय गृहीत्वा धुनीयाच्छारीरकमौदारिकं कर्म; शरीरं चेति। आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । "मूत्रोत्सर्गे मलोत्सर्गे, मैथुनं स्नानभोजनम्। सन्ध्यादिकर्म पूजां च, कुर्याज्जापं च मौनवत् ॥१॥" ध० २ अधि०। "सुलभं वागनुच्चार—मौनमेकेन्द्रियेष्वपि । पुद्गलेष्वप्रवृत्तिस्तु , योगानां मौनमुत्तमम् ॥ १ ॥" अष्ट० १३ अष्ट०। आ० म०। (मौनाष्टकम् 'मुणि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

मोणचरय–मौनचरक–पुं०। मौनम्-मौनव्रतं तेन चरति मौनचरकः। तथाविधाभिग्रहवशात् मौनेनैव भिक्षाचरके, स्था० ५ ठा० १ उ०। औ०।

मोणपय–मौनपद–न० । मुनीनामिदं मौनं तच्च तत्पदं च मौनपदम्। संयमे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

मोणिंद–मौनीन्द्र–पुं०। वीतरागे,तत्प्रवचने च। द्वा० ८ द्वा०।

मोणिंदपय–मौनीन्द्रपद–न०। मौनीन्द्रं पद्यते गम्यतेऽनेनेति मौनीन्द्रपदम्। संयमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। सर्वज्ञप्रणीते मार्गे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

मोएड–मुण्ड–न०। ओत्संयोगे ॥ ८। १। ११६ ॥ इति संयुक्तपरत्वादादेरुत ओत्वम्। मोएडं। मुखे, प्रा० १ पाद।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोत्तव्व–मोक्तव्य–त्रि०। रुदभुजमुचां तोऽन्त्यस्य ॥ ८। ४। २१२॥ एषामन्त्यस्य क्त्वा—तुम्–तव्येषु परतः तो भवति। मोत्तव्वं। छोटनीये, प्रा० ४ पाद।

मोत्ति–मुक्ति–स्त्री०। लोभनिग्रहे, स्था० ४ ठा० १ उ०। निष्परिग्रहत्वे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

मोत्तिमग्ग–मुक्तिमार्ग–पुं०। मुक्तिः–निष्परिग्रहत्वम्; अलोभत्वमित्यर्थः। सैव मार्ग इव मार्गः। निर्वृतिपुरस्य मार्गकल्पे अलोभे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

मोत्तिय–मौक्तिक–न०। मुक्ताफले, आ० म० १ अ०। ज्ञा०। अनु०। औ०। तदाश्रिते द्वीन्द्रियविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। जी०। इहैके सत्त्वाः पूर्व्वं नानाविधयोनिकाः स्वकृतकर्मवशगास्त्रसस्थावरशरीरेषु सचित्ताचित्तेषु पृथ्वीकायत्वेनोत्पद्यन्ते, यथा–शिरःसु–मणयः; करिदन्तेषु–मौक्तिकानि, विकलेन्द्रियेष्वपि शुक्त्यादिषु यौक्तिकानि, स्थावरेष्वपि पारकरादिषु[1] जीवा लवणभावेनोत्पद्यन्ते, एतान्यक्षराणि सूत्रकृदङ्गदीपिकायां सन्तीत्युक्त्वा मौक्तिकानि सचित्तानि खरतराः कथयन्तः सन्ति, प्रश्नोत्तरग्रन्थे तु—अचित्तानि तानि भवन्तीत्युक्तमस्ति, तत्कथम्? इति प्रश्ने, उत्तरम्–सूत्रकृदङ्गदीपिकादौ मौक्तिकानि यद्यपि सचित्तत्वेनोत्पद्यन्ते इत्युक्तमस्ति, तथापि तान्यनुयोगद्वारादौ अचित्तत्वेनोक्तानि, तेनोत्पत्तिस्थाने तानि सचित्तानि, तन्निर्गतानि चाचित्तानीति बहुश्रुताः, ये च सर्वदा तेषां सचित्तत्वं वदन्ति तेषां आढ्यादिहस्तेन विहरणाद्यप्रसङ्गः[2] ॥ २८६ ॥ सेन० ३ उल्ला०। मौक्तिकानि सचित्तानि, अचित्तानि वा कुत्र वा कथितानि सन्तीति?, अत्र मौक्तिकानि विद्धानि, अविद्धानि वा अचित्तानि ज्ञेयानि, यतः श्रीअनुयोगद्वारसूत्रे मौक्तिकरत्नादीनि अचित्तपरिग्रहमध्ये कथितानि सन्तीति ॥ १६ ॥ तथा सर्वार्थसिद्धविमाने मौक्तिकवलयानि शास्त्रे कथितानि?, परंपरातो वाऽभिधीयन्ते?. शास्त्रे चेत्तदक्षराणि प्रसाद्यानीति?, अत्र सर्वार्थसिद्धविमाने मौक्तिकवलयाक्षराणि छुटितगाथासु परंपरया भुवनभानुकेवलिचरित्रे च सन्ति, तथा च तद्गाथाः–

" तत्थ य महाविमाणे, उवरिमभागं पि वट्टए एगं।
सायररस (६४) मणमाणं, मुत्ताहलमुज्जलजलोहं ॥ १ ॥
मज्झगयस्स इमस्स य, वलयाकारेण ताव सोहंति।
चत्तारि मुत्तिआइं, नित्तानल (३२) माणपमाणाइं ॥ २ ॥
पुणरवि बीए वलए, अड (८) संखा कलिअमुत्तिअकलावो।
निउचंद (१६) मणपमाणा, दिप्पइ खजलं च मलमुक्को ॥३॥
चंदकला (१६) संखाइं, चंदकलानिम्मलत्तजुत्ताइं।
तइए वलए अडमण—पमिआइं मुत्तिआणि तओ ॥ ४ ॥
लोअणकिसाणु३२पमिआणि, मुत्तिअफलाणि तुरिअवलयंमि
जलहि (४) मणसरीराइं, नायव्वाइं विअट्टेहिं ॥ ५ ॥
वेअरस (६४) संखया पुण, पंडियमुत्तिअफलाणि जाणाहिं।
पंचमवलयम्मि तओ, लोअण (२) मणभारमाणाइं ॥ ६ ॥
कुंजरलोअणवसुहा (१२८)–मिआणि मुत्ताहलाणि नेआणि।
इगमणभारवहाइं, छट्ठे वलयम्मि वट्टाइं ॥ ७ ॥
मुत्ताहलमंतट्ठिअ—अणेगवज्जंतवायलहरीहिं।
वलयगमुत्तिअनिअरो, समुत्थलिअ आहणेइ जया ॥ ८ ॥
एअं महाविमाणं, महुररवेकंतभायणं जायं।
कत्थऽविऽन्नत्थ नऽत्थि, एरिसं सद्दमहुरत्तं ॥ ९ ॥
तत्थ विमाणम्मि सुरा, तन्नायरसेगमोहिअसचित्ता।
समयग्गि (३३) सायरम्मि अ, सुहेण पूरंति निअमाउं
॥ १० ॥ " ही० ४ प्रका०।

मोत्तुं–मोक्तुम्–अव्य०। क्त्वः तुमत्तूणऽतुआणाः ॥८।२।१४६॥ क्त्वाप्रत्ययस्य तुम्–अत्–तूण–तुआण इत्येते आदेशा भवन्ति। इति क्त्वाप्रत्ययस्य तुमादेशः। प्रा०। रुद्–भुज–मुचां तोऽन्त्यस्य ॥ ८। २। २१२ ॥ एषामन्त्यस्य क्त्वा–तुम्–तव्येषु भवति। मोत्तुं। प्रा०। हातुमित्यर्थे, बृ० ३ उ०।

मोत्तूणं–मुक्त्वा–अव्य०। युवर्णस्य गुणः ॥ ८। ४। २३७ ॥ धातोरिवर्णस्योवर्णस्य च क्त्वियपि गुणो भवति। प्रा०। रुद भुज–मुचां तोऽन्त्यस्य ॥ ८। ४। २१२ ॥ एषामन्त्यस्य क्त्वातुमतव्येषु परतः तो भवति। मोत्तूण। प्रा०। परिहृत्येत्यर्थे, पिं०। विहायेत्यर्थे, श्रा०।

मोत्था–मुस्ता–स्त्री०। ओत्संयोगे ॥ ८। १। ११६ ॥ इत्युकारस्यौकारः। 'नागरमोथा' इति ख्याते गन्धद्रव्ये, प्रा०।

मोदग–मोदक–पुं०। लड्डुके, प्रज्ञा० १७ पद ४ उ०।

मोय–मोक–पुं०। कायिक्याम्, व्य० ६ उ०। प्रस्रवणे, व्य० ६ उ०। बृ०। ग०। उत्त०।

अन्योऽन्यस्य मोकमादातुं न कल्पते–

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मोएणं आयमित्तए, नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायङ्केहिं॥४७॥
नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मोये आइत्तए नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ ४८ ॥

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्योन्यस्य–परस्परस्य मोकमाचमितुमापातुं वा, किं सर्वथैव नेत्याह–गाढाः–अहिविषविशूचिकादयः, आगाढाश्च–ज्वरादयो रोगातङ्कास्तेभ्योऽन्यत्र न कल्पते, तेषु कल्पते इत्यर्थः। एष सूत्रार्थः।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः—

मोएण अप्पमप्पस्स, आयमणे चउगुरुं च आणाई।
मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा भावसंबन्धो ॥ २६७ ॥

अन्योन्यस्य–संयतः संयतीनानां मोकेन निशाकल्प इति कृत्वा रात्रौ यद्याचामति तदा चतुर्गुरु, आज्ञादयश्च दोषाः, मिथ्यात्वं च भवेत्। न यथा वादी तथा कारीतिं कृत्वा, यद्वा—कश्चिदभिनवधर्मा तं निरीक्ष्य मिथ्यात्वं गच्छेत्। अहो अमी समला इति, उड्डाहश्च भामिनीघटिकादिज्ञापने भवति, विराधना च संयमस्याऽऽत्मनो वा भवति। तत्र संयमविराधना तेन स्पर्शेनैकतरस्य भावसंबन्धो भवेत्। ततश्च प्रतिगमनादयो दोषाः। आत्मविराधना च–"चिंतइ दट्ठुमिच्छइ" इत्यादि क्रमेण ज्वरदाहादिका।

किञ्च—

दिवसं पि ता ण कप्पइ, किं पुण णिसि मोएणऽप्पमप्पस्स।
अत्थंगते किमप्पं, न करेज्ज अकिच्चपडिसेवं ॥ २६८ ॥

दिवसेऽपि तावन्न कल्पते अन्योन्यस्य मोकेनाचमितुं किं पुनः निशि–रात्रौ, अस्तं गते हि परस्परं मोकाचमनेऽपि

[1] –पुस्तकद्वये पारकरादिषु इत्येव पाठः। [2]–विहरणं भिक्षाऽऽदानम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृते किन्नाम तदकृत्यमस्ति यस्य प्रतिसेवां न कुर्यातम्।

वत्तुं पि ता गरहितं, किं पुण घित्तुं करा विलातो वा।
सस्सपइट्ठो गोणो, दुरक्खओ सस्सअब्भासे ॥ २९९ ॥

वक्तुमपि तावदेतत् मोकरमणं गर्हितम्, किं पुनः संयत्याः करात् विलाद् वा मोकं ग्रहीतुम्। अपि च-घासः-चारिः तस्याश्चरणार्थम् गौः प्रविष्टः सन् तस्याभ्यासे धान्यमूले चरन् दुर्दयो भवति, धान्यं महादुःखेन रक्ष्यते इत्यर्थः। एवमयमपि संयत्या मोकेनाचामनप्रसङ्गतः सेवनक्रियां कुर्वन्नवारयितुं शक्य इति भावः।

दिवसउ सपक्ख लहुगा, अद्धाणाऽऽगाढगच्छजयणाए।
रत्तिं च दोहिँ लहुगा, विइयं आगाढजयणाए ॥३००॥

दिवसतः स्वपक्षेऽपि संयतः संयतीनां,संयतिः संयतानां मोकेन यदाचामति तदा चतुर्लघु, शैक्षाणां तदवलोकनादन्यथाभावो भवेत्। गृहस्थपरतीर्थिकाश्चोड्डाहं कुर्युः।

कथमित्याह—

अद्विसरक्खा वि जिता,लोए णत्थेरिसेऽण्णधम्मेसुं।
सरिसेणं सरिससोही, कीरइ कत्थाइ सोहेज्जा ॥ ३०१ ॥

अहो अमी ते श्रमणा यैरेवं मोकेनाचामद्भिरस्थिसरजस्का अपि जिताः,अस्मिन् लोके अन्ये बहवो धर्मा विद्यन्ते परं कुत्रापीदृशं शौचं न दृष्टं, सदृशेन च सदृशस्य या शोधिः क्रियते सा किं कुत्रचिच्छोधयेत्-शुद्धं कुर्यात्? अशुचिना क्षाल्यमानं न शुध्यतीति भावः। द्वितीयपदे—अध्वनि वर्तमानस्य गच्छस्यान्यस्मिन् वा आगाढे कारणे तेन यदि कश्चन मोकेनाचामेत्, अथ रात्रौ निष्कारणं मोकेनाचामति ततश्चतुर्लघु; द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघु। 'रत्ति दवे वि लहुगो' त्ति—पाठान्तरम्, तत्र-रात्रौ द्रवं पानकमाचमनार्थं यदि परिवासयति ततश्चतुर्लघु, संवयपनकसम्मूर्छनादयश्चानेकविधा दोषाः। आह च बृहद्भाष्यकृत्—'रत्तिदवपरिवासे, लहुगा दोसा हवंतऽणेगविहा' इति द्वितीयपदं आगाढे-कारणे यतनया रात्रावपि मोकेनाचामेत् द्रवं वा परिवासयेत्।

तत्राध्वनि द्वितीयपदं व्याचष्टे—

निच्छुभई सत्थाओ, भत्तं वारेइ तक्करदुगं वा।
परमुहवंचनलब्भइ, सा वि य उच्छिट्ठविज्जाउ ॥ ३०२ ॥

यद्यध्वनि प्रतिपन्नं गच्छं प्रत्यनीकः सार्थवाहादिः सार्थान्निष्काशयति, भक्तं वा वारयति। यद्वा-तस्करद्विकम्-उपधिशरीरस्तेनद्वयमुपद्रोतुमिच्छति;तत्र कस्यापि साधोराभिचारिका विद्या समस्ति,यया परिजापितया स आवर्ज्यते। स च साधुस्तदानीं संज्ञालेपकृतः, पुनः प्रासुकं द्रवं तत्र न लभ्यते,साऽपि चोच्छिष्टविद्या ततो मोकेनाचम्य तां परिजपत्।

अथाऽऽगाढपदं व्याख्याति—

अत्तुकडे व दुक्खे, अप्पा वा वेयणा अवेआ य।
तत्थ वि सो चेव गमो, उच्छिट्ठगमंतविज्जा वा ॥३०३॥

अत्युत्कटं वा शूलादकं दुःखं कस्याप्युत्पन्नमल्पा वा वेदना सर्पदंशनादिरूपा संजाता या शीघ्रमायुः क्षयेत्, ततस्तत्रापि स एव गमो मन्तव्यः,प्रासुकद्रवाभावे मोकेनाचामेदित्यर्थः। तत्र उच्छिष्टं मन्त्रं विद्यां वा परिजप्य तं साधुमाशुशीघ्रं प्रगुणं कुर्यात्।

अत्र यतनामाह—

मत्तगें मोयायमणं,अभिगय आइण्ण एस निसिं कप्पो।
संफासुड्डाहादि य, मोयगमत्ते भवे दोसा ॥ ३०४ ॥

कायिकामात्रके मोकं गृहित्वा तेनाचमनं कर्तव्यम्, अभिगतस्य-गीतार्थस्याचीर्णमेतत्;एष च निशाकल्प उच्यते। पानकाभावेन रात्रावेव प्रायः क्रियमाणत्वात्। अथ मोकं विना स्वपक्षसागारिकान् गृह्णन्ति ततः संस्पर्शोड्डाहादयो दोषाः, एवं रात्रौ मोकेनाचमनीयं, न पुनस्तदर्थं द्रवं स्थापनीयम्।

द्वितीयपदे स्थापयेदपि कथमित्याह—

पिट्ठं को चिय सेहे, जइ सरई मा व हुज्ज से सन्ना।
जयणाएँ ठवेंति दवं,दोसा य भवे निरोहम्मि ॥ ३०५ ॥

यदि कोऽपि शैक्षः पिट्ठं सरति, अतीव व्युत्सर्जनं करोति इत्यर्थः। स चाद्यापि मोकाचमनेनाभावित इति कृत्वा तदर्थं यतनया द्रवं स्थापयन्ति। सामान्यतो वा 'से' तस्य शैक्षस्य रजन्यां न कस्माद् व्युत्सर्जनं भवेदिति कृत्वा द्रवं स्थापयन्ति। अथ न स्थाप्यते ततः—स रात्रौ संज्ञासंभवे पानकाभावे निरोधं कुर्यात्; निरोधे च परितापमरणादयो दोषा भवेयुः। एवं तावदाचमने भणितम्।

अथापि च तान्दोषानाह-

मोयं तु अन्नमन्नस्स, आयमणे चउगुरुं च आणाई।
मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा देविदिट्ठंते ॥ ३०६ ॥

अन्योन्यस्य मोकं यद्यापिबति तदा चतुर्गुरु, आज्ञादयश्च दोषाः, मिथ्यात्वं च सागारिकादिस्तदवलोक्य गच्छेत्, उड्डाहो वा भवेत्, विराधना च संयमस्यात्मनो वा भवति। तत्र च देवीदृष्टान्तः।

तमेवाऽऽह—

दीहे ओसहरचितं, मोयं देवीएँ पज्जिओ राया।
आसाय पुच्छ कहणं,पडिसेवा मुच्छिओ गलितं ॥३०७॥
अह रन्ने तो रते, सुक्कग्गहणं तु पुच्छणा वेज्जे।
जइ सुक्कमत्थि जीवइ,खीरेण य भच्छिओ ण मओ ॥३०८॥

एगो राया महाविसेण अहिणा खइओ, विज्जेण भणियं-जइ परं मोयं आयइ तो न मरइ, तओ देवीए तेण ओसहेहिं वासेऊण दिन्नं। तेण थोवावसेसं आसाइयं। तओ पउणे पुच्छइ-किं ओसहं? तेहिं कहिओ, सो राया तेण वसी कओ, दिया रत्तिं च पडिसेविउमारद्धो। देवीए नायं, मओ होइ त्ति, सक्कं कप्पासेण सावि य अवमाणे सीसओ होज्जा उ मरिउमारद्धो। विज्जेण भणियं—जइ एयस्स चेव सुक्कं अत्थि तो जीवइ, तीए भणियं—अत्थि। खीरेण समं कडेउं दिन्नं पउणो जाओ" अदूरगमनिका-दीर्घेणाहिना भक्षितो राजा, देव्याः संबन्धि मोकेनौषधं भावितं पायितः। तत्र आस्वादे जाते पृच्छा कृता, ततः कथनं, ततो दिवा रात्रौ च प्रतिसेवां मूर्छितः करोति, प्रभूतं च शुक्रं गलितम्। अथानन्तरं राज्ञि मरणाय त्वरमाणे देव्या शुक्रग्रहणं, वैद्यस्य च पृच्छा, यदि शुक्रमस्ति ततो जीवति। एवं कथिते क्षीरेण समं तदेव शुक्रं पायितस्ततो न मृतः। एवमेव मो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केन पीतेन साधुरपि वशीक्रियेत, वशीकृतश्चात्र भाषेत, प्रतिगमनादीनि वा कुर्यात्। तस्मान्न पातव्यम्। कारणे पुनराचमनमापानं वा कुर्यात्।

तथा चाऽऽह–

सुत्तेणेवऽववाओ, आयमइ पियेज्ज वावि आगाढे ।
आयमणं आमयऽणा–मए य पियणं तु रोगम्मि ॥३०६॥

सूत्रेणैवापवादो दर्श्यते–आगाढे रोगातङ्के आचामेद्, पिवेद् वेति यदुक्तं सूत्रे तत्राचमनं निर्लेपनमामये–रोगे,अनामये च निशाकल्पं भवति; पानं तु रोग एव संभवति नान्यदा।

तत्रायं विधिः–

दीहरयणादिगमणं, सागारियपुच्छिए य अइगमणं ।
रत्तिं सागारियजुयाणं, कप्पइ गमणं जहिं च भयं ॥३१०॥

दीर्घेण एकस्याऽपि साधो रदनेन क्षणे कृते स्वपक्षमेकाभावे संयतिप्रतिश्रये गमनम्, ततस्तासां सागारिके पृष्टे सति अतिगमनम्–प्रवेशः कर्तव्यः। अथ संयत्याः सर्पदशनं जातं ततस्तासां सागारिकयुक्तानां साधुवसतौ गमनं कल्पते। तत्र च भयं तदा दीपको ग्रहीतव्यः इति वाक्यशेषः, इति । एष संग्रहगाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति–

निद्दाखुत्ता उववा–सिया य योसिट्ठमत्तगा वावि ।
सागारियाइसहिया, सभए दीवेण य ससद्दा ॥ ३११ ॥

अहिना भक्षितः साधुः स्वपक्ष एव साधूनां मोकं पाय्यते, अथ तेषां नाऽस्ति मोकम्, कुत इत्याह–नियमाहारं तद्दिवसं भुक्ता उपवासिका वा ततो नास्ति मोकम् । अथवाव्युत्सृष्टमात्रकास्ते तत्क्षण एव मोकं व्युत्सृष्टमपरं च नास्तीति भावः। ततो निर्ग्रन्थीनां प्रतिश्रये गन्तव्यम् । यदि निर्भयं तत एवमेव गम्यते। अथ सभयं ततः सागारिकादिना केनचित् द्वितीयेन दीपकेन च सहिताः सशब्दा गच्छन्ति। ततः संयतीवसतिं प्रविशन्तो यदि नैषेधिकां कुर्वन्ति ततश्चतुर्गुरु।

तथा–

तुसिणीए चउगुरुगा, मिच्छत्ते सारियस्स आसंका ।
पडिबुद्धबोहियासु य, सागारियकज्जदीवणया ॥३१२॥

तूष्णीका अपि यदि प्रविशन्ति तदा चतुर्गुरु, मिथ्यात्वं वा कश्चित् तूष्णीभावेन प्रविशतो दृष्ट्वा गच्छेत् । सागारिकस्य वा शङ्का भवति। किमत्र कारणं यदेवममी अस्यां वेलायामागता इति स्तेना अमी इति वा मन्यमानो ग्रहणाकर्षणादिकं कुर्यात्, आहन्याद् वा। ततस्तूष्णीकैरपि न प्रवेष्टव्यं किन्तु-प्रथमं सागारिक उत्थापनीयः ततस्तेन प्रतिबुद्धेनोत्थितेन बोधितासु संयतीषु सागारिकस्य कार्यदीपना कर्तव्या। एकः साधुरहिना दष्ट इह चौषधं स्थापितमस्ति तदर्थं वयमागताः।

ततः प्रवर्त्तिनी भणति–

मोयं ति देइ गणिणी, थोवं चिय ओसहं लहुं णेव ।
मा मग्गेज्ज सागारो, पडिसेहे वावि वुच्छेओ ॥३१३॥

अहिदष्टस्यौषधं मोकमिति प्रयच्छत। ततो गणिनी–प्रवर्तिनी यतनया मोकं गृहीत्वा साधूनां ददाति,भणति च स्तोकमेवेदमौषधमत्र दैववशान्नातः परमन्यदस्तीत्यर्थः। अतो लघु शीघ्रं नयत। किमर्थमित्थं कथयति ? इत्याह–मा सागारिको 'ममापि एतदौषधं प्रयच्छत' इत्येवं मार्गयेत्। यदा तु नास्त्यतः परमिति प्रतिषेधः कृतस्तदा व्यवच्छेदः कृतो भवतीति न भूयो मार्गयति इत्यर्थः।

न वि ते कहिंति अमुको, खइओ ण वि तावि एत अमुईए ।
घेत्तुं णयणं खिप्पं, ते वि य वसहिं सयमुवेंति ॥३१४॥

ते साधवो न कथयन्ति यथा अमुकः साधुरहिना खादितः, ता अप्यार्यिका न कथयन्ति यथैतन्मोकममुकस्याः सत्कमिति; गृहीत्वा च क्षिप्रं नयनं कर्तव्यं पूर्वोक्तेन च विधिना ते स्वकाम्–आत्मीयां वसतिमुपयान्ति।

आह–अमुकः साधुः दष्टोऽमुकस्या वा मोकमिदमिति कथ्यते ततः को दोषः? इत्याह–

जायति सिणेहो एवं, भिण्णरहस्सत्तया य वीसंभो ।
तम्हा न कहेयव्वं, को व गुणो होइ कहिएणं ॥३१५॥

एवं कथ्यमाने तया स्नेहो जायते,भिन्नरहस्यता च भवति। रहस्ये भिन्ने विश्रम्भो भवति। यत एते दोषास्तस्मान्न कथयितव्यम्। को वा गुणस्तेन कथितेन भवति न कोऽपीत्यर्थः यदा स यतिर्दीर्घजातीयेन दष्टो भवति तदाऽयं विधिः–

सागारिय सहियाँ नियमा,दीवगहत्था वएज्ज जइनिलयं ।
सागारियं तु बोहे,सो वि जई स एव य विही उ ॥३१६॥

आर्यिका नियमात्सागारिकसहिताः शय्यातरसहायाः सभये वा दीपकहस्ता यतीनां निलयं व्रजेयुः। स च संयतिसागारिक इतरसंयतसागारिकं बोधयति, सोऽपि प्रतिबुद्धः साधून् बोधयति। अत्रापि स एव विधिर्मोकदाने द्रष्टव्यः। बृ० ५ उ०।

मोयग–मोचक–पुं०। मोचयत्यन्यानपीति मोचकः। ध० २ अधि०। चतुर्गतिविपाकचित्रकर्मबन्धादुच्छोटके तीर्थकरे, ल०।" मोयगाणं तिरणाणं तारयाणं, " रा०। जी०। स०। सेवकानां मोचके, कल्प० १ अधि० २ क्षण।

मोदक–पुं०। लड्डुके, प्रश्न० ५ संव० द्वार। नि० चू०। बृ०। ('अकप्पिय' शब्दे प्रथमभागे ११६ पृष्ठे संस्कृत्वमुक्तम्) अत्र मोदकदृष्टान्तं पूर्वसूरयो व्यावर्णयन्ति–यथा–वातापहारी द्रव्यनिचयनिष्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमपहरति; पित्तापहद्रव्यनिर्वृत्तः पित्तं, श्लेष्मापहद्रव्यसंजनितः श्लेष्माणमित्यादि । स्थित्या तु स एव कश्चिद्दिनमेकमवतिष्ठते, अपरस्तु–दिनद्वयम्, अन्यस्तु दिवसत्रयं यावन्मासादिकमपि कालं कश्चिदवतिष्ठते, ततः परं–विनश्यति । स एवानुभावेन रसापर्यायेण स्निग्धमधुरत्वादिलक्षणेन कश्चिदेकगुणानुभावः, परस्तु–द्विगुणानुभावः, अन्यस्तु–त्रिगुणानुभाव इत्यादि। प्रदेशाः कणिकादिद्रव्यप्रमाणरूपास्तैः प्रदेशैः स एव कश्चिदेकप्रसृतिप्रमाणः, अपरस्तु प्रसृतिद्वयमानः,अन्यस्तु पुनः–प्रसृतित्रयप्रमाण इत्यादि। कर्म० ५ कर्म०।

मोयण–मोचन–न०। पृथग्भावे, प्रव० २ द्वार। ध०।

मोयणवंदण–मोचनवंदन–न०।षड्विंशे वन्दनकदोषे,'लोइय–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कराउ मुक्का, न मुच्चिमो वन्दणकरस्स," आ० चू० ३ अ०। आव०। करमिव-राजदेयभागमिव मन्यते,ददद् वन्दनकमाईतः कर इति, गृहीतव्रताश्च वयं लौकिककरान्मुक्तास्तावन्न मुच्यामहे तु वन्दनकरस्यार्हतस्येति मोचनवन्दनकमिति। प्रव० २ द्वार।

मोयपडिमा-मोकप्रतिमा-स्त्री०। प्रश्रवणप्रतिमायाम्, स्था० ४ ठा० १ उ०। नि० चू०। सा च-जुद्रा, महती चेति द्विविधा। व्य०।

दोपडिमाओ पएणत्ताओ। तं जहा-खुड्डिया चेव मोयपडिमा १। महल्लिया चेव मोयपडिमा २। खुड्डियाणं मोयपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पति से पढमणिदाहकालसमयंसि वा, चरिमणिदाहकालसमयंसि वा बहिया ठाइयव्वा गामस्स वा नगरस्स वा ०जाव (बृहत्कल्प-१ उद्दे० ६ सूत्रात्- खेडस्स वा कव्वडस्स वा मडंबस्स वा पट्टणस्स वा आगरस्स वा दोणमुहस्स वा निगमस्स वा) रायहाणीए वा वणंसि वा वणदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा भोच्चा आरुभइ चोदसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ, सोलसमेणं पारेइ, जाए जाए मोए आ (पा) ईयव्वे दिया आगच्छेइ। आईयव्वे रायं आगच्छइ, णो आईयव्वे य सपाणे मत्ते आगच्छइ णो आईयव्वे अप्पाणे मत्ते आगच्छइ, आईयव्वे एवं सबीए ससणिद्धे ससरक्खे मत्ते आगच्छइ, णो आईयव्वे असरक्खे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे ताए जाए जाए मोए आईयव्वे,तं जहा-अप्पे वा बहुए वा एवं खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्तं ०जाव अणुपालिया भवइ ॥३७॥ महल्लिया णं मोयपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पति से पढमसरयकालंसि०जाव पव्वयविदुग्गंसि वा भोच्चा आरुभइ सोलसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ अट्ठारसमेणं पारेइ। जाए जाए मोए आईयव्वे तह चेव आणाए अणुपालिया भवइ ॥ ३८॥

द्वे प्रतिमे प्रज्ञप्ते, तद्यथा-क्षुल्लिका च मोकप्रतिमा १। महती च मोकप्रतिमा २। मोकं-कायिकी। तदप्युत्सर्गप्रधाना प्रतिमा मोकप्रतिमा। तत्र क्षुल्लिकाणामिति प्राग्वत्। मोकप्रतिमां प्रतिपन्नस्याऽनगारस्य कल्पते (से) तस्य प्रथमनिदाघकालसमये वा बहिर्ग्रामस्य वा यावत्करणात् नगरादिपरिग्रहः। राजधान्यां वा वने वा, एकजातीयद्रुमसंघातः-वनं, विदुर्गं वा-नानाजातीयद्रुमसंघाते, पर्वते प्रतीते, पर्वतविदुर्गे-अनेकपर्वतसङ्घातरूपे भुक्त्वा यदि प्रतिमामारोहति-प्रतिपद्यते, तदा चतुर्दशेनन भक्तेन पारयति-समापयति। अथ अभुक्त्वा आरोहति तदा षोडशकेन भक्तेन पारयति, तेन च जातं जातं मोकं-कायिकी (आईयव्वे) पातव्यम् ,आगमने च दिवा आगच्छति। एवं महत्या अपि प्रतिमायाः सूत्रं वाच्यम्। विशेषोऽपि पाठसिद्ध एव।

संप्रति भाष्यप्रपञ्चः तत्र मोकप्रतिमाशब्दार्थमाह—

सव्वातो पडिमातो, साधुं मोयंति पावकम्मेहिं।
एएण मोयपडिमा, अहिगारो इहं तु मोएणं ॥ ८८ ॥

मोचयति पापकर्मभ्यः साधुमिति मोका उदकादित्वादन्यदपि कुर्वन्ति,सा चासौ प्रतिमा च मोकप्रतिमा। एतेनान्वर्थेन सर्वा अपि प्रतिमाः साधुं पापकर्मभ्यो मोचयन्तीति कृत्वा मोकप्रतिमाः प्राप्नुवन्ति,ततो विशेषप्रतिपादनार्थमिहाधिकारः-प्रयोजनं मोकेन, मोका-परित्यागप्रधाना प्रतिमा मोकप्रतिमेति। (व्य०)। (अत्रत्यविषमपदानां व्याख्या 'वरा' शब्दे)

सम्प्रति येन विधिना बहिर्निर्गच्छति तं विधिमाह—

निसिज्जं च चोलपट्टं-कप्पं घेत्तूण मत्तगं चेव।
एगंते पडिवज्जति, काऊण दिसाण वाऽऽलोयं ॥ ९०॥

निषद्यां सोऽत्तरा चोलपट्टकल्पं मात्रकं च-कायिकीमात्रकं गृहीत्वा ग्रामादेर्बहिर्विनिर्गच्छति। विनिर्गत्यैकान्ते प्रतिमां प्रतिपद्यते। तत्र कायिकीसमागमे तां मात्रके व्युत्सृज्य नाऽपाते-असंलोके दिशां(शं)वाऽलोकं कृत्वा आपिबति, यद्यपि सः ज्ञानातिशयातिशयज्ञानेनैव जानाति सागारिकोऽस्ति नवेति तथापि सामाचारी पालिता भवत्विति कृत्वा दिशालोकं कृत्वा व्युत्सृजत्यापिबति वा।

सम्प्रति कल्पादिग्रहणे प्रयोजनमाह—

पाउणइ तं पवाए, तत्थ निरोहेण जिज्जए दोसा।
सिणहाइपरित्ताणं, च कुणति अच्चुण्हवाते वा ॥९१॥

तं कल्पं प्रतिवाते प्रावृणोति, तत्र च प्रावरणे कृते वातनिरोधेन यः प्रवाते वा तत्सम्पर्केणापादितो दोषः स जीर्यते। यदि वा-स कल्पः ' सिणहादिपरित्राणं ' श्लक्ष्णादि-सचित्तरजःपरित्राणं करोति। अथवा-प्रत्युष्णे वाते वाति स प्राव्रियते मोकमापिबेदित्युक्तम्।

तत्र मोकस्वरूपमाह—

साभावियं च मोयं, जाणइ जं वाऽवि होइ विवरीयं।
पाणबीय ससणिद्धं, ससरक्खाधिराय न पिएज्जा ॥९२॥

स प्रतिमाप्रतिपन्नो यन्मोकं स्वाभाविकं, यच्च भवति विपरीतं तत्सर्वं जानाति। तत्र स्वाभाविकमापिबति। इतरद्-विपरीतं प्राणसंसक्तम्-बीजसम्मिश्रं सस्निग्धं सरजस्काधिराजकलितं न पिबति।

तत्र प्राणसंसक्तं कथयति—

किमिकुट्ठे सिया पाणा, ते य उण्हाभितावियो।
मोएण सह मेज्जएहु, निसिरे ते उ छायाए ॥ ९३ ॥

कृमिसंकुलं कोष्ठम्-उदरं तत्र कृमिकोष्ठे स्युः प्राणिनः कृमिरूपास्ते चोष्णेनाभितापिताः सन्तो मोकेन कायिक्या सार्धमागच्छेयुस्ततस्तान् छायायां निसृजेत्।

बीजादिप्रतिपादनार्थमाह—

बीयं तु पोग्गला सुक्का, ससणिद्धा तु चिक्कणा।
पडंति सिथिले देहे, खमणुण्हाभितावियो ॥ ९४ ॥

बीजं नाम—शौक्राः पुद्गलास्ते च द्विधा-चिक्कणाः, अचिक्कणाश्च। तत्राचिक्कणा बीजग्रहणेन गृहीताः, चिक्कणाः स-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्निग्धा उच्यन्ते। ते उभयेऽपि शिथिले देहे तपसोनोष्णेन वाऽभितापिताः सन्तः पतन्ति। (व्य० ६ उ०) (प्रमेहकणिका 'पमेहकणिया' शब्दे पञ्चमभागे ५०१ पृष्ठे गता)

संप्रति द्रव्यादितो मार्गणामाह—

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य होइ सा चउविगप्पा।
दव्वे उ होइ मोयं, खेत्ते गामाइयाण बहिं॥ ६८॥
काले दिया व रातो, भावे साभावियं व इयरं वा।
सिद्धाए पडिमाए, कम्मविमुक्को हवइ सिद्धो॥ ६६॥
देवो महड्डितो वाऽवि, रोगातोऽहवों मुचति।
जाती कणगवण्णो उ, आगते य इमो विही॥ १००॥

सा चुल्लिका मोकप्रतिमा चतुर्विकल्पा-चतुराश्रिता भवति, तद्यथा-द्रव्ये, क्षेत्रे, काले, भावे च। तत्र-द्रव्ये भवति। मोकमापातव्यम्, क्षेत्रे-ग्रामादीनां बहिः, काले-दिवा रात्रौ वा, भावे-तन्मोकं स्वाभाविकम्; इतरद् वा। तत्र स्वाभाविकमापिवति, इतरद् त्यजति। अस्यां च प्रतिमायां सिद्धायां कश्चित्कालं कुर्वन् कर्मविमुक्तः सिद्धो भवति। यदि वा-देवो महर्द्धिकः, अथवा-काले-कारणाभावे रोगाद् विमुच्यते। शरीरेण कनकवर्णो जायते। पालितायां प्रतिमायामुपाश्रयमागतस्यायं वक्ष्यमाणो विधिः।

तमेवाऽऽह—

उण्होदगे य थोवे, तिभागमद्धे तिभागथोवे य।
महुरमभिन्ना महुरग, एक्केक्कं सत्त दिवसाइं॥ १०१॥

उष्णोदकादिकमधिकृतगाथोपन्यस्तमुक्तक्रमेण एकैकं सप्त दिवसान् कुर्यादिति गाथापदयोजना। भावना त्वियम्-सप्त दिवसानुष्णोदकेन ओदनं भुङ्क्ते, चशब्दाद्—द्वितीयान् सप्त दिवसान् जूषमण्डेन पाययेत् (जापयेत्)।

एतदेवाऽऽह—

ओदणं उसिणोदेणं, दिणे सत्त तु भुंजिउं।
जूसमंडेण वा अन्ने, दिणे जावेइ सत्तओ॥ १०२॥

पाठसिद्धम्। 'थोव' त्ति अन्यान् तृतीयान् सप्त दिवसान् त्रिभागे उष्णोदके स्तोकं मधुरमोल्लणं मिश्रयित्वा तेन सह भुङ्क्ते, 'तिभागे' त्ति तदनन्तरमन्यान् सप्त दिवसान् मधुरस्योल्लणस्य त्रिभागं द्वौ भागौ उष्णोदकस्य मीलयित्वा तेन सह भुङ्क्ते, 'अद्धे' इति-ततः परमन्यान् सप्त दिवसानर्द्धमधुरोल्लणस्य मिश्रयित्वा तेन सह कूरं भुङ्क्ते, 'तिभाग' त्ति तदनन्तरमन्यान् सप्त दिवसान् त्रिभागमुष्णोदकस्य द्वौ भागौ मधुरोल्लणस्य मिश्रयित्वा तेन सह भुङ्क्ते 'थोवे य' त्ति ततः परमन्यान् सप्त दिवसान् मधुरोल्लणे स्तोकमुष्णोदकं प्रक्षिप्य तेन सह भुङ्क्ते। एवं पञ्च सप्तकान् मधुरकभिन्नान् स्तोकादिकान् मधुरकसहितान् भुङ्क्ते।

एतदेवाऽऽह—

मधुरोल्लणेण थोवेण, मीसे तइयसत्तए।
तिभागव्वजुयं चेव, तिभागो चेव मिस्सियं॥ १०३॥

पूर्वव्याख्यानुसारेणेयं गाथा स्वयं भावनीया, अधिकार्थाभावात्। तदनन्तरमन्यान् मधुरकेण उल्लणेण सह उपलक्षणमेतत् अन्यैर्वा यूषप्रकारैः सह भक्तं भुङ्क्ते, ततः परमन्यान् सप्तसप्तकान् यानि तस्य व्याधेरविरुद्धानि तैर्दध्यादिभिः सह भावयित्वा भुङ्क्ते। तदनन्तरं सर्वप्रचारा भवति।

एतदेवाऽऽह—

महुरेणं सत्तन्ने, भावित्ता उल्लणादिणा।
दहिगादीण भावित्ता, ताहे वा सत्तसत्तए॥ १०४॥

अत्रादिशब्दादन्येषां यूषप्रकाराणां परिग्रहः। व्याख्यातप्रायम्।

साम्प्रतमुपसंहारमाह—

एवमेसा उ खुड्डीया, पडिमा होइ समाणिया।
भोच्चाऽऽरुहंते चोद्दसेण, अभोच्चा सोलसेण तु॥ १०५॥

एवमेषा चुल्लिका मोकप्रतिमा भवति। सा च भुक्त्वा आरोहता-प्रतिपद्यमानेन चतुर्दशकेन समानीता-समाप्तिं नीता भवति। अभुक्त्वा प्रतिपद्यमानेन-षोडशकेन। आरुहन्ते इत्यत्र सप्तमी तृतीयार्थे प्रतिपत्तव्या।

संप्रति महती मोकप्रतिमां व्याख्यातुमाह—

एमेव महल्ली वि उ, अट्ठारसमेण नवरि निट्ठाति।
परिहारो अट्ठ दिवसा, नहु रोगि बलिस्स वा एसा॥ १०६॥

एवमेव—अनेनैव प्रकारेण महत्यपि मोकप्रतिमा द्रष्टव्या। नवरं सा अष्टादशकेन निष्ठां याति, परिहारस्तपोऽष्टौ दिवसान्, न च स रोगी भवति प्रतिमाप्रभावात्। यदि वा-बलिन एषा प्रतिमा भवति, नेतरस्य।

पडिवत्ती पुण तासिं, चरमनिदाहे व पढमसरते वा॥
संघत्तणधितिजुत्तो, फासुयती दो वि एयातो॥ १०७॥

प्रतिपत्तिः पुनरेतयोः प्रतिमयोश्चरमनिदाघे वा प्रथमशरदि वा। एते च द्वे अपि प्रतिमे स्पर्शयति आद्यं संहननं च योऽन्यतमसंहननयुक्तो धृत्या च वज्रकुड्यसमानः। व्य० ६ उ०।

मोयमही-मोकमही-स्त्री०। प्रश्रवणभूमौ, व्य० ६ उ०।

मोया-मोचा-स्त्री०। कदलीवृक्षे, ल० प्र०।

मोयाफल-मोचाफल-न०। कदलीवृक्षफले, ल० प्र०।

मोयावइत्ता-मोचयित्वा-अव्य०। प्रव्रज्याभेदे, यथैकेन साधुना तैलार्थत्वादासन्नप्राप्तभगिनीवदिति। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

मोयाविय-मोचित-त्रि०। छोटिते, आ० म० १ अ०।

मोर-मोर-पुं०। केकिनि, अनु०। स्था०। रा०। जं०। मोरो मउरो इति तु मोर—मयूर—शब्दाभ्यां सिद्धम्। प्रा० १ पाद। श्वपचे, दे० ना० ६ वर्ग १४० गाथा। मयूरे, "मोरो सिही बरहिणो" पाइ० ना० ४२ गाथा।

मयूर-पुं०। बर्हिणि, रा०।

मोरउल्ला-अव्य०। मुधाशब्दार्थे, मोरउल्ला मुधा॥ ८।२। २१४॥ मोरउल्ला इति मुधाशब्दार्थे प्रयोक्तव्यम्। मोरउला मुधेत्यर्थः। प्रा० २ पाद।

मोरंगचूलिया-मयूराङ्कचूलिका-स्त्री०। आभरणविशेषे, व्य० ३ उ०।

मोरंड-मोरण्ड-(क)-पुं०। तिलादिमोदके, बृ० १ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोरग-मयूरक-न०। मयूरपिच्छनिष्पन्ने संस्तारकादौ,आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०। कुण्डले, बृ० ४ उ०। मयूरकाभिधाने सन्निवेशे; यत्र कुण्डपुरान्निर्गत्य महावीरस्वामी गतः। स्था० १० ठा०।

मोरग्गीवा-मयूरग्रीवा-स्त्री०।मयूरकण्ठे, रा०। प्रज्ञा०।

मोरत्तअ-देशी-श्वपचे, चाण्डाले इत्यन्ये। दे० ना० ६ वर्ग१४० गाथा।

मोरपिच्छ-मयूरपिच्छ-न०।मयूरबर्हे, "मोरपिच्छकयमुद्धयं" कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

मोरसिहा-मयूरशिखा-स्त्री०। महौषधिभेदे, ती० ६ कल्प।

मोराग-मोराक-पुं०। स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र विहरन्तं वीरस्वामिनं तापसाश्रमे सिद्धार्थमित्रकुलपतिर्मिलितः। कल्प० १ अधि० ६ क्षण। आ० क०। आ० म०। आ० चू०।

मोरिय-मौर्य-पुं०। मगधजनपदेषु स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र मौर्यो मण्डिकपुत्रश्च जज्ञे, आ० चू० १ अ०। "रायगिहे मोरियवंसप्पसूओ बलभद्दो नाम राया समणोवासओ" उत्त० ३ अ०। आ० क०। चन्द्रगुप्ते, ती० २० कल्प।

मोरियग्गाम-मौर्यग्राम-पुं०। चन्द्रगुप्तग्रामे,आ० क० १ अ०।

मोरियपुत्त-मौर्यपुत्र-पुं०। मण्डिकमातृपुत्रे मौर्यात्मजे वीरजिनस्य सप्तमे गणधरे, स० ११ सम०। कल्प०। आम०।

(मौर्यपुत्रगणधरवक्तव्यता 'देव' शब्दे चतुर्थभागे २६०७ पृष्ठे गता)

थेरे णं मोरियपुत्ते पणसट्ठिवासाइं अगारमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए। (सू० ६६)

मौर्यपुत्रो भगवतो महावीरस्य सप्तमो गणधरः तस्य पञ्चषष्टिवर्षाणि गृहस्थपर्यायः। स० ६५ सम०।

थेरे णं मोरियपुत्ते पंचाणउइं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे० जाव प्पहीणे। (सू० ९५)

तस्य (मौर्यपुत्रस्य) पञ्चनवतिवर्षाणि सर्वायुः। कथम्—गृहस्थत्वछद्मस्थत्वकेवलित्वेषु क्रमेण पञ्चषष्टिचतुर्दशषोडशानां वर्षाणां भावात्। स० ९५ सम०।

मोरियवंस-मौर्यवंश-पुं०। चन्द्रगुप्तराजवंशे, ती० २ कल्प।

मोरी-मौरी-स्त्री०। परिव्राजकप्रयुक्तसर्वविद्याप्रतिपक्षभूतायां विद्यायाम्, आ० म० १ अ०। विशे०।

मोलिकड-मौलिकृत-त्रि०। आबद्धपरिधानकच्छे, स० ११ सम०।

मोल्ल-मूल्य-न०। ओत् कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्ये ॥ ८। १। १२४ ॥ अनेनोकारस्य ओत्त्वम्। मोल्लं। प्रा० १ पाद। अर्घ्ये, आ० म०। उत्त०।

मोस-मृषा-अव्य०। प्राकृतत्वात् मृषा। अनृते, स्था० ५ ठा० १ उ०। मृषावादे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। असदर्थाभिधाने, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ०। असत्ये, स्था० ३ ठा० ३ उ०। प्रश्न०। प्रव०। उत्त०। स०।

मृषावादस्य चतुर्विधत्वमाह—

चउव्विहे मोसे पण्णत्ते, तं जहा-कायअणुज्जुयया,भासअणुज्जुयया, भावअणुज्जुयया, विसंवादणाजोगे।

मृषा-असत्यम्, नवरम्-ऋजुकस्य-अमायिनो भावः कर्म्म वा ऋजुकता कायस्य ऋजुकता कायर्जुकता, न ऋजुकता अनृजुकता एवमितरे अपि, नवरं भावो—मन इति। कायर्जुकतादयश्च शरीरवाङ्मनसां यथावस्थितार्थप्रत्यायनार्थाः प्रवृत्तयः, तथा अनाभोगा।दिना गवादिकमश्वादिकं यद्वदति कस्मैचित् किञ्चिदभ्युपगम्य वा यन्न करोति सा विसंवादना। स्था० ४ ठा० १ उ०।

दसविहे मोसे पण्णत्ते। तं जहा-" कोहे माणे माया,लोभे पिज्जे तहेव दोसे य। हास भये अक्खाइय, उवघाए निस्सिए दसमे ॥ १ ॥ "

(दसेत्यादि) 'मोसे' त्ति। प्राकृतत्वात् मृषा-अनृतमित्यर्थः। 'कोहे' गाहा 'कोहे' त्ति क्रोधे निश्रितमिति सम्बन्धात् क्रोधाश्रितं (कोपाश्रितं) मृषेत्यर्थः। तच्च यथा-क्रोधाभिभूतोऽदासमपि दासमभिधत्त इति। माने—निश्रितं यथा—मानाध्मातः कश्चित्केनचिदल्पधनोऽपि पृष्टः सन्नाह—महाधनोऽहमिति। 'माय' त्ति मायायां निश्रितं यथा-मायाकारप्रभृतयश्चाहुः-नष्टो गोलकः, इति। ' लोभे ' त्ति। लोभे निश्रितं वणिक्प्रभृतीनामन्यथा क्रीतमेवेत्थं क्रीतमित्यादि। ' पिज्ज ' त्ति प्रेमणि निःश्रितमतिरक्तानां दासोऽहं तवेत्यादि, ' तहेव दोसे य ' त्ति द्वेषे निःश्रितं मत्सरिणां गुणवत्यपि निर्गुणोऽयमित्यादि। ' हासे ' त्ति हासे निश्रितं यथा—कन्दर्पिकाणां कस्मिंश्चित्कस्यचित्सम्बन्धिनि गृहीते पृष्टानां न दृष्टमित्यादि। 'भये' त्ति भयनिश्रितं तस्करादिगृहीतानां तथा तथा असमञ्जसाभिधानम्, ' अक्खाइय ' त्ति आख्यायिकानिश्रितं तत्प्रतिबद्धोऽसत्प्रलापः, ' उवघायनिस्सिय ' त्ति। उपघाते—प्राणिवधे निश्रितम्-आश्रितं दशमं मृषा, अचौरे चौरोऽयमित्यभ्याख्यानवचनम्, मृषाशब्दस्त्वव्ययोऽलिङ्गश्चेति। स्था० १० ठा० ३ उ०। ('मुसावाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३२० पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

मोसमणप्पओग-मृषामनःप्रयोग-पुं०। मनःप्रयोगभेदे, स० १३ सम०।

मोसलि-मोसलि-पुं०। स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र तोसलिग्रामाद् गतो वीरभगवान् विद्धतः। आ० म० १ अ०। आ० चू०।

मोसली (लि)-स्त्री०। ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्कुड्यादिपरामर्शे, उत्त० २६ अ०। प्रत्युपेक्षमाणवस्त्रभागेन तिर्यगूर्ध्वमधो वा घट्टने, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

मोसवत्तिय-मृषाप्रत्ययिक-न०। सद्भूतनिह्नवासद्भूतारोपणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। " अहावरे छट्ठे किरियाठाणे मोसवत्तिए त्ति " इत्यादिषष्ठक्रियास्थानप्रतिपादकं सूत्रम् (२२) 'मुसादंड' शब्दे अस्मिन्नेव भागे गतम्।

मोसा-मृषा-अव्य०। असत्ये भाषाभेदे,स्था०४ ठा० १ उ०। प्रव०। प्रज्ञा०। (मृषा दशधा सा च 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे इहापि 'मोस' शब्दे उक्ता)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोसाणुबंधि–मृषानुबन्धिन्–न० । मृषा असत्यं तदनुबध्नातीति पिशुनाऽसभ्याऽसद्भूतादिभिर्वचनभेदैस्तन्मृषानुबन्धि । रौद्रध्यानभेदे, भ० २५ श० ७ उ० । "पिसुणाऽसब्भासब्भूयभूयघायाइवयणपणिहाणं । मायाविणोऽतिसंधण, परस्स पच्छन्नपावस्स ॥ १ ॥" स्था० ४ ठा० १ उ० । अलीकवचनेन स धर्मोपघातकुमार्गप्ररूपणनिन्दादि विधत्ते । दर्श० ४ तत्त्व ।

मोसभासाणुगय–मृषाभाषानुगत–त्रि० । असत्यवादान्विते, पञ्चा० ४ विव० ।

मोसोवएस–मृषोपदेश–पुं० । असदुपदेशे, आव० ६ अ० । परेषामसत्योपदेशे, उत्त० १ अ० । अज्ञातमन्त्रौषधाद्युपदेशने, ध० २ अधि० ।

मोसोवएसया–मृषोपदेशता–स्त्री० । मृषा अलीककथनविषय उपदेशः यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता । मृषोपदेशकता इदमेवं चैवं च ब्रूहि इत्यादिकमसत्याभिधानशिक्षणे, पञ्चा० १ विव० । आ० चू० ।

मोह–मयूख–पुं० । न वा मयूख–लवण–चतुर्गुण–चतुर्थचतुर्दश–चतुर्वार–सुकुमार–कुतूहलोदूखलोलूखले ॥ ८ । १ । १७१ ॥ इत्यादेः स्वरस्य परेण व्यञ्जनेन सहोद् वा । ततः खस्य हः । किरणे, प्रा० १ पाद ।

मोघ–त्रि० । ख–घ–थ–ध–भाम् ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इति घस्य हः । प्रा० १ पाद । निष्फले, बृ० ४ उ० । "मिच्छा मोहं विहलं, अलियं असच्चं असब्भूअं" पाइ० ना०५३ गाथा ।

मोह–पुं० । मोहनं मोहः । वितथग्रहे, विशे० । तद्दोषदर्शने मूढत्वे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । रागद्वेषरूपे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । विपर्यासे, विशे० । द्विविधो मोहः–ज्ञान–दर्शनभेदात् । स्था० ।

मोहे दुविहे[2] पण्णत्ते, तं जहा–णाणमोहे चेव, दंसणमोहे चेव ।

ज्ञानं मोहयति–आच्छादयतीति ज्ञानमोहो–ज्ञानावरणादयः, एवम्–' दंसणमोहे चेव ' सम्यग्दर्शनमोहोदय इति । स्था० २ ठा० ४ उ० । " रागो द्वेषश्च मोहश्च, भवमालिन्यहेतवः । एतदुत्कर्षतो ज्ञेयो, हन्तोत्कर्षोऽस्य तत्त्वतः ॥ १ ॥ " द्वा० ६ द्वा० । सदसद्विवेकनाशे, स्था० २ ठा० ४ उ० । तिमिरोपप्लुतबुद्धिलोचनस्यानिश्चये, दश० १ अ० । आत्मनो वैचित्त्यकारणेऽज्ञानत्वे, आतु० । अज्ञाने, उत्त० १६ अ० । षो० । द्वा० । आ० चू० । आव० । अबोधौ, स्था० ३ ठा० १ उ० । चित्तव्याकुलतायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । मूढतायाम्, पञ्चा० ४ विव० । प्रश्न० । गृहकर्तव्यताजनितवैचित्त्यात्मके हेयोपादेयविवेकाभावे, उत्त० ३ अ० । आ०म० ।

मोहेण गब्भं मरणाइ एइ, एत्थ मोहे पुणो पुणो ।
(सूत्र–१४२ +)

(मोहेणेति) मोहः अज्ञानं मोहनीयं वा मिथ्यात्वकषायविषयाभिलाषमयम्, तेन मोहेन मोहितः सन् कर्म बध्नाति, तेन च गर्भमवाप्नोति, ततोऽपि जन्म पुनर्बालकुमारयौवनादिवयोविशेषाः, पुनर्विषयकषायादिना कर्मोपादायाऽऽयुषःक्षयान्मरणमवाप्नोति, आदिग्रहणात्पुनर्गर्भमित्यादि, नरकादियातनास्थानमेतीत्यतोऽभिधीयते ' एत्थ ' इत्यादि, अत्र–अस्मिन्ननन्तरोक्ते मोहे–मोहकार्ये गर्भमरणादिके पौनःपुन्येनाऽनादिकमपर्यन्तं चतुर्गतिकं–संसारकान्तारं पर्यटति, नास्मादपैतीति यावत् । कथं पुनः संसारे न बंभ्रम्यात्?, तदुच्यते–मिथ्यात्वकषायविषयाभिलाषाभावात् । असावेव कुतो ?, विशिष्टज्ञानोत्पत्तेः । सैव कुतो ?, मोहाभावात् । यद्येवमितरेतराश्रयत्वम्, तथाहि–मोहोऽज्ञानं मोहनीयं वा, तदभावो विशिष्टज्ञानोत्पत्तेः, साऽपि तदभावादिति भणता स्पष्टमेवेतरेतराश्रयत्वमुक्तम् ।) आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । (निराकरणं 'संसार' शब्दे वक्ष्यते । "एत्थ मोहे पुणो पुणो२" अत्र–अस्मिन्निच्छाप्रणीतादिके हृषीकानुकूले मोहे, कर्मरूपे वा मोहे निमग्नाः पुनः पुनस्तत् कुर्वन्ति । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । मूर्च्छायाम्, ध० २ अधि० । अथ स्थिरता मोहत्यागाद् भवति, आत्मनः परिणतिचापल्यं मोहोदयात्, मोहोदयश्च निर्धाररूपसम्यग्दर्शनस्वरूपरमणचारित्रवारकश्च, क्षयोपशमी चेतनावीर्यादीनां विपर्यासपररमणतत्त्वादिपरिणमनरूप इति, तेन चापल्यम्, अतो मोहोदयवारणेन स्थिरता भवति, तेन त्यागाष्टकं वितन्यते, नामस्थापनामोहः, सुगमः । द्रव्येण मदिरापानादिना मोहोमूढतापरिणामः, द्रव्याद्–धनस्वजनवियोगात् द्रव्ये–शरीरपरिग्रहादौ द्रव्यरूपो मोहः,मोहनगीतादिषु गन्धर्वादीनां वाक्येषु,अनुपयुक्तस्य आगमतो नोआगमतो रागवत् । भावतो मोहः अप्रशस्तः, समस्तपापस्थानहेतुपरद्रव्येषु, कुदेवकुगुरुकुधर्मेषु । प्रशस्तो मोक्षमार्गे–सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोहेतुषु सुदेवगुर्वादिषु । तत्र मोहत्याग उत्सर्जनं,भिन्नीकरणम्, अत्र यावान् अप्रशस्तमोहस्तावान् सर्वथा त्याज्य एव अशुद्धत्वनिबन्धनत्वात् । प्रशस्तमोहसाधने असाधारणहेतुत्वेन पूर्णतत्त्वनिष्पत्तेः अर्वाक् क्रियमाणोऽपि अनुपादेयः । श्रद्धया विभावत्वेनैवावधार्यः । यद्यपि–परावृत्तिस्तथापि अशुद्धपरिणतिरतः साध्ये सर्वमोहपरित्याग एव श्रद्धेय आद्यनयचतुष्टये कर्मवर्गणापुद्गलेषु तद्योगेषु तद्ग्रहणप्रवृत्त्या सङ्कल्पे कर्मपुद्गलेषु बध्यमानेषु सत्तागतेषु चलोदीरितेषु उदयप्राप्तेषु अशुद्धविभावपरिणामरूपमोहहेतुषु मोहत्वम्,शब्दादिनयत्रये मोहपरिणतचेतनापरिणामेषु मिथ्यात्वासंयमप्रशस्ताप्रशस्तरूपेषु मोहत्वम्; अत आत्मनः अभिनवकर्महेतुः मोहपरिणामः । मोहेनैव जगद् बद्धं मोहमूढा एव भ्रमन्ति संसारे । यतो ज्ञानादिगुणसुखरोधकेषु च तेषु अनन्तवारम् अनन्तजीवैर्भुक्तमुक्तेषु जडेषु अग्राह्येषु पुद्गलेषु मनोज्ञाऽमनोज्ञेषु ग्रहणाऽग्रहणरूपो विकल्पो मोहोद्भवः; तेनायं पुद्गलासक्तो मोहपरिणत्या पुद्गलानुभवी स्वरूपानवबोधेन मुग्धः परिभ्रमति । अतो मोहत्यागो हितः । उक्तं च–

" आया नाणसहावी, दंसणसीलो विसुद्धसुहरूवो ।
सो संसारे भमई, एसो दोसो खु मोहस्स ॥ १ ॥
जो उ अमुत्तिअकत्ता,असंगनिम्मलसहावपरिणामी ।
सो कम्मकवयबद्धो, दीणो सो मोहवसगत्ते ॥ २ ॥
ही दुक्खं आयभवं, मोहमहाऽऽप्पाणमेव धंसेई ।
जस्सुदये णियभावं, सुद्धं सव्वं पि नो सरई ॥ ३ ॥ "

१–आधुनिकपुस्तके ' असत्ये ' ति पाठः । २–अयं पाठष्टीकायामस्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्येवंमोहस्य विजृम्भितं मत्वा त्याज्य इति कथयति—

अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥ १ ॥

अहं ममेति-मोहस्याऽऽत्मा शुद्धपरिणामस्य उपचारतो नृपेतिसंज्ञस्य. अहं: ममः इति-अयं मन्त्रः जगदान्ध्यकृत्-ज्ञानचक्षूरोधकः। अहमिति,स्वस्वभावेनोन्मादः, पर इत्यनेन अहं ममेति परभावकरणे कर्तृतारूपोऽहङ्कारः अहं, सर्वस्वपदार्थतो भिन्नेषु पुद्गलजीवादिषु इदं ममेति परिणामो ममकारः। इत्यनेन 'अहं ममेति' परिणतया सर्वपरत्वं, स्वतया कृतम्। एषोऽशुद्धाध्यवसायो मोहजः मोहोद्योतकश्च, शुद्धज्ञानाञ्जनरहितानां जीवानां आन्ध्यकृत्-स्वरूपावलोकनशक्तिध्वंसकृत्, 'हीति'र्निश्चितम्। अयमेव नञ्पूर्वः 'प्रतिमन्त्रो' विपरीतमन्त्रः मोहजित्-मोहजये मन्त्रः। तथा च-नाहं, एते मे परे भावा ममापि एते न, भ्रान्तिः एषा; साम्प्रतं यथार्थपदार्थज्ञानेनाहं पराधिपो न परभावा मम। उक्तं च—

" एगो हं नऽत्थि मे कोऽई, नाहमन्नस्स कस्स वि।
एवं अदीणमणसो, अप्पाणमणुसासई ॥ १ ॥
एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ २ ॥
संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरंपरा।
तम्हा संजोगसंबंधं, सव्वं तिविहेण वोसिरे ॥ ३ ॥ "

इत्येवं विभाव्य द्रव्यकर्मतनुधनस्वजनेषु भिन्नतां नीतेषु स्वभावैकत्वेन मोहजयो दृष्टः, अतः अहङ्कारममकारत्याग इष्ट इति ॥ १ ॥

पुनस्तदेव भावयति—

शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं, शुद्धज्ञानं गुणो मम।
नान्योऽहं न ममान्ये चे-त्यदो मोहास्त्रमुल्बणम् ॥ २ ॥

शुद्धात्मद्रव्यमिति,शुद्धो निर्मलः सकलपुद्गलाश्लेषरहितो ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्याव्याबाधामूर्त्ताद्यनन्तगुणपर्यायनित्यानित्याद्यनन्तस्वभावमयः असंख्यप्रदेशी स्वभावपरिणामी स्वरूपकर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मोपेतः, आत्मा शुद्धात्मा। तदेव-शुद्धात्मद्रव्यम् एव अहं अनन्तस्याद्वादस्वसत्ताप्राग्भवरासिकः,अनवच्छिन्नानन्दपूर्णः परमात्मा परमज्योतीरूपः,अहं शुद्धं निरावरणं सूर्यचन्द्रादिसहायविकलप्रकाशम्,एकसमये त्रिकालत्रिलोकगतसर्वद्रव्यपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यावबोधकं ज्ञानं मम गुणः,कर्त्ता ज्ञानस्य,मे कार्यं ज्ञानं, ज्ञानकरणान्वितो ज्ञानपात्रो-ज्ञानात् जानन्,ज्ञानाधारोऽहम्, ज्ञानमेव मम स्वरूपम्, इत्यवगच्छन् अन्यधर्माधर्माकाशपुद्गलास्ततोऽन्यत् जीवपदार्थसार्थः जीवपुद्गलसंयोगजपरिणामः अन्यः सर्वः,अहं न,मत्तो भिन्ना एव एते पूर्वोक्ता भावा मम द्रव्यादिचतुष्टयेन भिन्नत्वात्। यो हि व्याप्यव्यापकभावाद् भिन्नः स मम न, यः असंख्यप्रदेशे स्वक्षेत्रे अभेदतया स्वपर्यायपरिणामः स मम इति। स्वस्वरूपे स्वत्वं, परे परत्वपरिणामः 'मोहास्त्रं'-मोहच्छेदकम् अस्त्रम् ईदृग्भेदज्ञानविभक्तेन मोहक्षयः, अतः सर्वपरभावभिन्नत्वं विधेयम्। अत एव निर्ग्रन्थास्त्यजन्ति आस्रवान्, श्रयन्ति गुरुचरणान्, वसन्ति वनेषु, उदासीभवन्ति विपाकेषु, अभ्यस्यन्ति आगमव्यूहम्, अनादिपरभावच्छेदाय प्रयत्न उत्तमानाम् ॥ २ ॥

यो न मुह्यति लग्नेषु, भावेष्वौदयिकादिषु।
आकाशमिव पङ्केन, नाऽसौ पापेन लिप्यते ॥ ३ ॥

'यो न मुह्यति' इति यो जीवः तत्त्वविलासी औदयिकादिषु भावेषु-शुभाशुभकर्मविपाकेषु आदिशब्दात्—परभावानुगक्षयोपशमे अशुद्धपारिणामिकभावग्रहः, तेषु लग्नेषु-आत्मनि स्वक्षेत्रीभूतेषु यो न मुह्यति मोहेकीभावं न प्राप्नोति, भेदज्ञानविवेकेन त्यक्तपरसंयोगः अवश्योदितेषु यः अव्यापकः स पापेन कर्मणा न लिप्यते। किमिव—पङ्केन आकाशमिव। यथा—आकाशस्थपङ्कः आकाशस्य न लेपकृत्, तत्र—अपरिणमनात्। एवं शमसंवेगनिर्वेदनिगृहीतपरभावस्य अवश्योदयावपाके भुज्यमानेऽपि अव्यापकत्वाद् न लेपः। स हि—पूर्वकर्मनिर्जरारूपं कार्यं करोति, स्वीयपरिणामस्य भिन्नरक्षणेन अकर्तृत्वं तस्य परभावानाम्। उक्तं च अध्यात्मबिन्दौ—

" स्वत्वेन स्वं परमपि, परत्वेन जानन् समस्ता—
न्यद्रव्येभ्यो विरमणमियच्चिन्मयत्वं प्रपन्नः।
स्वात्मन्येवाभिरतिमुपयन् स्वात्मशीली स्वदर्शी-
त्येवं कर्त्ता कथमपि भवेत् कर्मणो नैष जीवः ॥ १ ॥
न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी अ परिग्गही अ,सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥२॥"

एवं परद्रव्ये अरमन् आत्मा मुच्यते, अत एव सर्वसङ्गपरिहारः,असङ्गो हि मुच्यतां निमित्तं, मुक्त्याऽस्य गार्ध्यनिमित्तान् धनस्वजनाङ्गनाभोगभोजनादीन् त्यजति कारणाभावे कार्याभावः, इति भावाश्रयपरिणतिरोधसंयमः, तद्रक्षणाय वृद्ध्यर्थं हिताय आश्रवत्यागो मुनीनाम्, भावना च—यैः परभावा अभोग्या अग्राह्याः कृताः ते कथं तत्र रमन्ते? ॥३॥

पश्यन्नेव परद्रव्य-नाटकं प्रतिपाटकम्।
भवचक्रपुरःस्थोऽपि, नामूढः परिखिद्यति ॥ ४ ॥

'पश्यन्नेवेति'-स्वरूपाच्युतिस्वधर्मैकत्वे अमूढः—तत्त्वज्ञानी, स्वरूपसाधनोद्यतः, प्रतिपाटकम्—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियरूपपाटके नरतिर्यग्देवनरकलक्षणे सर्वस्थाने परद्रव्यनाटकं जन्मजरामरणादिरूपं संस्थाननिर्माणवर्णादिभेदविचित्रं, पश्यन् एव न परिखिद्यति—न खेदवान् भवति। जानाति च पुद्गलकर्मविपाकजां चित्रतां, न मत्स्वरूपं, भ्रान्तानां भवत्येव, न तत्त्वपूर्णानाम्। कथंभूतः? अमूढः भवचक्रपुरस्थः अपि, अनादिस्वकृतकर्मपरिणामनृपराजधानीचतुर्गतिरूपभवचक्रक्रोडगतोऽपि, आत्मानं भिन्नं जानन् न खिद्यति, परस्मैपदं तु काव्ये प्रयुक्तत्वात् "खिद्यति काये जडः" इति पाठदर्शनात्। इत्यनेन कर्मविपाकचित्रतां भुञ्जन्नपि अखिन्नः तिष्ठति; कर्तृत्वकाले न अरतिः-अनादरः तर्हि भोगकाले को द्वेष उदयागतभोगकाले इष्टानिष्टतापरिणतिरेव अभिनवकर्महेतुः अतः अव्यापकतया भवितव्यम्, शुभोदयोऽपि आवरणः, अशुभोदयोऽप्यावरणः, गुणावरणत्वेन तुल्यत्वात् का इष्टानिष्टता? ॥ ४ ॥

विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवोच्चतालमुत्ताल-प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥ ५ ॥

विकल्पचषकैरिति—विकल्पाश्चित्तकल्लोला एव चषकाः—मद्यपानपात्राणि तैः, हीति-निश्चितम् , अयं जीवः पीतो मोह एव आसवो-मादकरसो येन सः पीतमोहासवः पुरुषो, भवोच्चतालं-भवः—संसारः स एव, उच्चतालं-मद्यपगोष्ठीक्षेत्रं प्रति उच्चतालं पुनः पुनः उच्चस्वरेण तालदानरूपं प्रपञ्चं-विस्तारमधितिष्ठति—प्राप्नोति । इत्यनेन मोही जीवो मदिरामत्तवत् चापल्यवैकल्यं करोति, परं स्वत्वेन, स्वं च परत्वेन; कलयन् आत्मानम् अकायनिष्पादनपटिष्ठं प्रवर्त्तयन् स्वस्थानभ्रष्टो भ्रमति । अत एव मोहत्यागः श्रेयान् ॥ ५ ॥

निर्मलस्फटिकस्येव, सहजं रूपमात्मनः ।
अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति ॥ ६ ॥

'निर्मलस्फटिकस्येवेति,' निर्मलस्फटिकस्य वरणनिस्सङ्गस्फटिकस्य इव आत्मनो ज्ञापकद्रव्यस्य सहजं-स्वाभाविकं शुद्धं रूपम् अस्ति इत्यनेन वस्तुवृत्त्या आत्मा स्फटिकवत् निर्मल एव-निस्सङ्ग एव । संग्रहनयेन आत्मा परोपाधिसङ्गी एव नास्ति परमज्ञापकचिदानन्दरूपः अध्यास्तोपाधिसम्बन्धः, प्राप्तपुद्गलसंसर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धः अनेकग्लानम्लानावस्थो जडः वस्तुस्वरूपापरिज्ञानी । तत्र उपाधिभावे मुह्यति, एकत्वं प्राप्नोति, यथा-मूर्खः श्यामनीलपीतादिपुष्पसंयोगात् स्फटिकाभेदरीत्या नीलपीतस्वभावं जानाति; तथा वस्तुस्वरूपाववोधविकलो जीवो मिथ्यात्वाऽविरतिकषाययोगनिमित्ताद् वद्धैकेन्द्रियादि-नामकर्मोदयात् एकेन्द्रियादिभावमापन्नम् एकेन्द्रियादिरूपमेव मन्यते । एकेन्द्रियोऽहं, विकलोऽहं, पञ्चेन्द्रियोऽहं जानाति । परं शुद्धं स्वीयं सच्चिदानन्दरूपं निर्मलं स्वरूपं नाववोधतीति मूर्खतापरिणतिः तत्त्वज्ञः खानिस्थवज्रं समलं सावरणं समृदपि रत्नपरीक्षकवत् वज्रत्वेन अवधारयति । एवं ज्ञानावरणाद्यावृतम् अतदाकारं ज्ञानज्योतिः प्रकाशविकलमपि आत्मानं पूर्णानन्दं सहजाप्रयासानन्दसंदोहं सर्वज्ञं सर्वतत्त्वस्वरूपाभिन्नमात्मानं सम्यग्ज्ञानवलेन निर्धारयति इति, इत्यनेन आत्मा शुद्ध एव श्रद्धेयः । उपाधिदोषस्तु सन्नपि तादात्म्याभावात् संसर्गत्वात् भिन्न एव निर्धार्य इति ॥ ६ ॥

मोहात् जीवः; परवस्तु आत्मत्वेन जानन् आरोपजं सुखं सुखत्वेन अनुभवति, भेदज्ञानी तु आरोपजं सुखं दुःखमेवेति निवारणाय यत् तदुपदिशन्नाह-

अनारोपसुखं मोह-त्यागादनुभवन्नपि ।
आरोपप्रियलोकेषु, वक्तुमाश्चर्यवान् भवेत् ? ॥ ७ ॥

अनारोपे—अनारोपजं—सहजं सुखं स्वगुणज्ञाननिर्द्धारप्रागभावरूपं सुखं मोहत्यागात्—मोहक्षयोपशमात् अनुभवन्नपि—भुञ्जन्नपि, आरोपो—मिथ्योपचारः प्रियो येषां ते आरोपप्रियाः ते च ते लोकाश्च आरोपप्रियलोकाः तेषु आरोपसुखं वक्तुम् आश्चर्यवान् भवेत् ? अत्र काकूक्तिः अपि तु न भवेत् , येन आरोपजं सुखं प्राप्तं स आरोपसुखे आश्चर्यवान्-चमत्कारवान् भवति । अथवा-अनारोपसुखानुभवी आरोपप्रियलोकेषु अग्रे आरोपजं सुखं सुखम् इति वक्तुमपि आश्चर्यवान् भवति, वक्तुं न समर्थो भवति सुखाभावात् सुखकारणाभावात् । तच्च वस्तुवृत्त्या दुःखरूपे सुखम् इति लोकार्थम् उक्तेऽपि स्वयम् आश्चर्यवान् भवेत् । किमुक्तम् ?-इदं मया ?, नेदं सुखम् अतः परसंभवे सुखे सुखाभासो निवारणीयो मोहमूलत्वात् , पौद्गलिके सुखे सुखभ्रान्तिरेव आभ्यन्तरमिथ्यात्वादिति ॥ ७ ॥

यश्चिद्दर्पणविन्यस्त-समस्ताचारचारुधीः ।
क्व नाम स्वपरद्रव्ये-ऽनुपयोगिनि मुह्यति ? ॥ ८ ॥

(यश्चिद्दर्पण इति)-यः पुरुषः आगमानुगताशयः चिद्-ज्ञानं सर्वपदार्थपरिच्छेदकं तदेव दर्पणम्-आदर्शः तेन विन्यस्ताः-स्थापिताः समस्ता ज्ञानाद्याचाराः तेन चारुः मनोहरा धीर्बुद्धिर्यस्य स पुरुषः, नाम इति—कोमलामन्त्रणे परद्रव्ये-पुद्गलादौ अनुपयोगिनि अकिञ्चित्करे कस्मिन्नपि कार्ये गृहीतुमयोग्ये क्व मुह्यति ? इत्यर्थः, यो ज्ञानादिपञ्चाचारेण संस्कारितोपयोगी आत्मानन्दं ज्ञानदर्पणे पश्यति स परद्रव्ये कथं मुह्यति ?, नैवेति । तत्त्वज्ञानविकलानाम् अनादिमिथ्यात्वाऽसंयमवतां स्वरूपानुभवशून्यानामेव परद्रव्यानुभवः । तत्र सुखभ्रान्तिरूपो मोहः । स्वभावधर्मनिर्द्धारभासनरमणानुभवसुखाऽऽस्वादलीनानां न मोहः, अत आत्मस्वरूपैकत्वमेव मोहत्यागोपायः, अत एव अनादिभ्रान्तिमपहाय आत्मानुभवरसिकतया भवितव्यम् । आत्मस्वरूपश्रद्धानभासनरमणानुभववता स्थातव्यम्, इति तत्त्वम् । आगमश्रवणकुसङ्गत्यागात् तत्त्वरुचिस्तत्त्वज्ञानवलेन संयोगजं सर्वमनित्यम्,अशरणं संसारहेतुः,आत्मा एकः,सर्वपदार्थान्तरम् आत्मव्यतिरिक्तं परस्पर्श एवाशुचि, परानुयायिता एव आश्रवाः , स्वरूपानुगमनं संवरः, उदीरणके अमग्नता इत्यादि परिणत्या मोहत्यागो विधेयः । अष्ट० ४ अष्ट० । लोभक्रोधमोहेषु मोहः प्रधानम् , स्वपरविभागपूर्वकयोर्लोभक्रोधयोस्तन्मूलत्वात् । द्वा० २१ द्वा० । मुह्यत्यनेन जानन्नपि जन्तुरिति मोहः । दर्शनमोहनीयादौ , उत्त० ८ अ० । मिथ्यादर्शने , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । मुह्यति-मूढो भवति जीवोऽनेनेति मोहः । मद्यवति मोहनीये कर्मणि , उत्त० ३३ अ० । सूत्र० । पुरुषवेद्युदयरूपे (वृ० १ उ० ३ प्रक०।) कामोद्रेके, व्य० ४ उ० । (मोहेनाऽऽचार्योपाध्यायानामवधावनम् ' आयरिय ' शब्दे द्वितीयभागे ३१८पृष्ठे दर्शितम्) कामानुरागे , ग० ३ अधि० । मोहनीयोदये , मोहनीयं नाम येनाऽऽत्मा मुह्यति तच्च ज्ञानावरणं मोहनीयं वा यथायथं द्रष्टव्यम् , । तादृशं मोहं प्राप्तस्य चिकित्सा । व्य० २ उ० । पं० सू० । विकृतित्यागिनो मोहोदयः । पं० व० ।

ओघतो विकृतिपरिभोगदोषमाह—

विगई परिणइधम्मो, मोहो जमुदिज्जए उदिसे अ ।
सुट्ठु वि चित्तजयपरो, कहं अकज्जे न वट्टिहिई ॥३८३॥

विकृति परिणतिधर्मः कीदृगित्याह—मोहो यत् उदीर्यते ततः किमित्याह—उदीर्णे च मोहे सुष्ठ्वपि चित्तजयपरः प्राणी कथमकार्ये न वर्त्तिष्यत इति गाथार्थः ।

दावानलमज्झगओ, को तदुवसमट्ठयाएँ जलमाई ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संतेऽवि न सेविज्जा, मोहानलदीविए उवमा ॥ ३८४ ॥

दावानलमध्यगतः सन् कस्तदुपशमार्थं जलादीनि सन्त्यपि न सेवेत ? सर्व एव सेवेत इत्यर्थः,। मोहानलदीप्तेऽप्युपमेति जलादिसंस्थानीया योषितः सेवेत इति गाथार्थः। पं० व० २ द्वार। मिथ्यात्वमोहनीयोदये, षो० ११ विव०। आचा०। मोहयति ज्ञानिनमपि प्राणिनं सदसद्विवेकविकलं करोतीति मोहः। लिहादित्वादच्प्रत्ययः। कर्म० १ कर्म०। मोहनीयकर्मणि, पं० सं० ५ द्वार। दर्श०। त्रिंशन्मोहनीयस्थानेषु, आतु०। मुह्यतीति मोहः। मिथ्याप्रत्यये, सम्म० १ काण्ड। बृ०।

अथ मोहद्वारमाह—

भावोवहयमईओ, मुज्झइ नाणचरणंतराईसु।
इड्ढीओ य बहुविहा, दट्ठुं परतित्थियाणं तु ॥ ३८५ ॥

भावेन शङ्कादिपरिणामेनोपहता दूषिता मतिर्यस्य स भावोपहतमतिकः, एवंविधो मुह्यति-वैचित्त्यमुपयाति, ज्ञानावरणान्तरादिषु। ज्ञानान्तराणि नाम ज्ञानविशेषास्तद्विषयो व्यामोहो यथा-यदि नाम परमाण्वादिसकलरूपिद्रव्यावसानविषयग्राहकत्वेन संख्यातीतरूपाण्यवधिज्ञानानि तत् किमपरेण मनःपर्यवज्ञानेनेति। चरणान्तरव्यामोहो यथा-यदि सामायिकं सर्वसावद्यविरतिरूपं छेदोपस्थापनीयमप्येवंविधमेव तत्को नामाऽनयोर्विशेषः। आदिशब्दाद्दर्शनान्तरवाचनादिपरिग्रहः। ऋद्धिश्च बहुविधा-अनेकप्रकारा, समृद्धिः परतीर्थिकानां दृष्ट्वा यन्मुह्यति स मोह उच्यते। बृ० १ उ० २ प्रक०। एष च मोहः संमोहभावनाया हेतुः। सूक्ष्मभावेषु परतीर्थिकसमृद्ध्यालोकने च मोहने, ध० ३ अधि०। आचा०। योगिपरिभाषयाऽविद्यायाम्, स्या०। मोहनं मोहः। वेदरूपमोहनीयोदयसम्पाद्यत्वादज्ञानरूपत्वाद् वा मैथुने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। मोहहेतुत्वात् मोहः। कर्मबन्धविशेषे मोहनीयकर्मबन्धने, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०।

मोहज्झाण-मोहध्यान-न०। मोहनं मोहः आत्मनो वैचित्त्यं हा करणमज्ञानत्वमित्यर्थः, तस्य ध्यानम्। मोहात्कृष्णतनुं वहतो बलभद्रस्येव दुर्ध्याने, आतु०।

मोहंत-मुह्यत्-त्रि०। कामक्रीडां कुर्वति, नि० चू० १७ उ०। आचा०।

मोहगब्भवेरग्ग-मोहगर्भवैराग्य-न०। "एको नित्यस्तथा बद्धः, क्षय्यसत्येह सर्वथा। आत्मेति निश्चयाद् भूयो, भवनैर्गुण्यदर्शनात् ॥१॥ त्यक्त्वा मायोपशान्तस्य, सद्वृत्तस्यापि भावतः। वैराग्यं तद्गतं यत्त—न्मोहगर्भमुदाहृतम् ॥ २॥" इति 'वेरग्ग' शब्दे वक्ष्यमाणलक्षणे वैराग्यभेदे, हा० १० अष्ट०। द्वा०।

मोहजाल-मोहजाल-न०। सान्तरप्रकृतिके मोहनीयकर्मणि, "मोहणिज्जं कम्मं सभेदं मोहजालं भवति, "पप्फोडियमोहजालस्स" आ० चू० ५ अ०।

मोहण-मोहन-न०। मैथुनासेवनायाम्, "रमिय मोहणाइं" इति नाममालावचनात्। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। निधुवने, मोहकारणे च। ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०। भ०।

मोहणकरा-मोहनकरी-स्त्री०। मोहोदयकरणशीले विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

मोहणघर-मोहनगृह-न०। मोहनं मैथुनसेवा तत्प्रधानानि गृहकाणि। वासभवनेषु, जं० १ वक्ष०। रा०। ज्ञा०। सम्मोहोत्पादके गृहे, रतिगृहे वा। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। जी०।

मोहणसील-मोहनशील-त्रि०। निधुवनप्रिये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। निधुवनशीले, भ० १४ श० ८ उ०।

मोहणिंदा-मोहनिन्दा-स्त्री०। मूढताया अनादरे, ध०। 'उपायतो मोहनिन्दा' इति-उपायतः—उपायेनानर्थप्रधानानां मूढपुरुषलक्षणानाम् प्रपञ्चनरूपेण मोहस्य-मूढताया निन्दा-अनादरणीयताख्यापनेति। यथा—

"अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
कर्म चारभते दुष्टं, तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ १ ॥
अर्थवन्त्युपपन्नानि, वाक्यानि गुणवन्ति च।
नैव मूढो विजानाति, मुमूर्षुरिव भेषजम् ॥ २ ॥
सम्प्राप्तः पण्डितः कृच्छ्रं, पूजया प्रतिबुध्यते।
मूढस्तु कृच्छ्रमासाद्य, शिलेवाम्भसि मज्जति ॥ ३ ॥"

अथवोपायतो मोहफलोपदर्शनद्वारलक्षणान्मोहनिन्दा कार्या। ध० १ अधि०।

मोहणिज्ज-मोहनीय-न०। मोहयति सदसद्विकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयम्। प्रव० २१५ द्वार। मोहाय योग्यं मोहनीयम्। उत्त० ३३ अ०। "मज्जं व मोहणीयं" इति मद्यमिव मदिरासदृशं मोहयतीति मोहनीयं कर्म। प्रवचनीयादयः ॥ ५।१।८॥ इति सूत्रेण कर्तर्यनीयप्रत्ययः। यथा हि मद्यपानमूढः प्राणी सदसद्विवेकविकलो भवति। तथामोहनीयेनापि कर्मणा मूढो जन्तुः सदसद्विवेकविकलो भवति। कर्म० १ कर्म०। कर्मभेदे, उत्त० २ अ०।

मोहणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-दंसणमोहणिज्जे चेव, चरित्तमोहणिज्जे चेव। (सूत्र-१०५)

मोहयतीति मोहनीयम्, तथाहि-"जह मज्जपाणमूढो, लोए पुरिसो परव्वसो होइ। तह मोहेण वि मूढो, जीवो उ परव्वसो होइ ॥ १ ॥" इति। स्था० २ ठा० ४ उ०। आचा०। अनु०। पं०सं०। उत्त०।

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥
सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥ ९ ॥
चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं च, नोकसायं तहेव य ॥ १० ॥
सोलसविहभेएणं कम्मं तु कसायजं।
सत्तविह नवविहं, वा कम्मं नोकसायजं ॥ ११ ॥

मोहनीयमपि द्विविधम्, न केवलं वेदनीयम्, विषयतश्चैतद् द्विधेति। द्वैविध्यमाह,-दर्शने-तत्त्वरुचिरूपे चरणे-चा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रित्रे तथा-किमुक्तं भवति?-दर्शनमोहनीयं, चारित्रमोहनीयं च। तत्र दर्शने-दर्शनविषयं प्रक्रमान्मोहनीयं त्रिविध-मुक्तं भवति, चरणे-चरणविषयं मोहनीयं द्विविधं भवेत्, ।८। यथा। दर्शनमोहनीयत्रैविध्यम् तथाह-सम्यग्भावः सम्यक्त्वं शुद्धदलिकरूपं यदुदयेऽपि तत्त्वरुचिः स्यात्, चैव इति-पूरणे। मिथ्याभावः मिथ्यात्वम्-अशुद्धदलिकरूपं यतस्तत्त्वे अत-त्त्वम् अतत्त्वेऽपि तत्त्वमिति बुद्धिरुत्पद्यते, सम्यग्मिथ्या-त्वमेव च-शुद्धाशुद्धदलिकरूपम्। यतः-उभयस्वभावता जन्तोर्भवति, इह च सम्यक्त्वादयो जीवधर्मास्तद्धेतुत्वाच्च द-लिकेषु एतद्व्यपदेशः। एतास्तिस्रः प्रकृतयो मोहनीयस्य दर्श-ने-दर्शनविषयस्य ॥ ६ ॥ चरित्रे मुह्यतेऽनेनेति मोहनं च-रित्रमोहनं कर्म, यतः श्रद्दधानोऽपि यदि कथंचनाहमेनं प्र-तिपद्य इति जानन्नपि तत्फलादि न प्रतिपद्यते, उत्तरत्र तु-शब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् तत्पुनर्द्विविधं व्याख्यातं श्रुतधरैरि-ति शेषः,पठन्ति च"चरित्तमोहणिज्जं दुविहं वोच्छामि अणुपु-व्वसो' त्ति स्पष्टमेव, कथं तद् द्विविधम्? इत्याह-कषा-याः क्रोधादयस्तद्रूपेण वेद्यतेऽनुभूयते यत्तत्कषायवेदनीयं चः समुच्चये। 'नोकषायमिति' प्रस्तावान्नोकषायवेदनीयम्। नोकषायाः कषायसहवर्तिनो हास्यादयस्तद्रूपेण यद् वेद्यते। तथेति समुच्चये।१०। अनयोरपि भेदानाह-षोडश-विधः-षोडशप्रकारो यो भेदो-नानात्वं तेन, लक्षणे-तृतीया। यद्वा- षोडशविधं, भेदेन-भिद्यमानतया चिन्त्य मानम्, प्राकृतत्वादनुस्वारलोपः, कर्म-क्रियमाणत्वात्। तुः-पुनरर्थे भिन्नक्रमश्च। कषायेभ्यो जायत इति कषायजम् 'यं वेयति तं बंधइ' इति वचनात्कषायवेदनीयमित्यर्थः। षोड-शविधत्वं चास्य क्रोधमानमायालोभानां चतुर्णामपि प्रत्ये-कमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदत-श्चतुर्विधत्वात्, 'सत्तविह' त्ति प्राग्वद्बिन्दुलोपात्सप्तविधं वा कर्म, नोकषायेभ्यो जायत इति नोकषायजं, नो-कषायवेदनीयमित्यर्थः। तत्र सप्तविधम्-हास्यरत्यरति-भयशोकजुगुप्साः षट्, वेदश्च सामान्यविवक्षयैक एवेति, यदा तु वेदः स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिधेति विवक्ष्यते तदा षड्भिस्त्रयो मिलिता नव भवन्तीति नवविधमिति। उत्त० ३३ अ०। कर्म०। प्रव०।

मोहनीयकर्मांशानाह-

अभवसिद्धियाणं जीवाणं मोहणिज्जस्स कम्मस्स छव्वी-सं कम्मंसा संतकम्मा पण्णत्ता, तं जहा-मिच्छत्तमोहणिज्जं, सोलस-कसाया, इत्थीवेदे, पुरिसवेदे, नपुंसकवेदे, हासं, अरति-रति-भयं, सोगं, दुगुंछा, ।(सू० २६ +)

मोहणिज्जस्स कम्मस्स सत्तावीसं उत्तरपगडीओ संतक-म्मंसा पण्णत्ता।(सू० २७ +)

मोहनीयकर्मणोऽष्टाविंशतिविधस्य मध्ये सप्तविंशतिरुत्तरप्र-कृतयः सत्कर्मांशाः सत्तायामित्यर्थः,एकस्योद्वलितत्वादिति।

मोहणिज्जस्स कम्मस्स अट्ठावीसं कम्मंसा संतकम्मा प-ण्णत्ता, तं जहा-सम्मत्तवेयणिज्जं मिच्छत्तवेयणिज्जं स-म्मामिच्छत्तवेयणिज्जं सोलस कसाया णव नोकसाया। (सू० २८)। स० २८ सम०।

यावन्मोहनीयं तावद्दोषाः-

कम्माण रायभूयं, वेअंतं जाव मोहणिज्जं तु।
संभावणिज्ज दोसा, चिट्ठइ ता चरमदेहाऽवि ॥ ६३ ॥

पं० व० १ द्वार। व्याख्याऽस्या गाथायाः 'पवज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७३८ पृष्ठे गता)

कति कर्मवृक्षाः किंमूलाश्चेत्याह-

अट्ठविहकम्मरुक्खा, सव्वेते मोहणिज्जमूलागा।
कामगुणमूलगं वा, तम्मूलागं च संसारो ॥ १७८ ॥

अष्टविधकर्मवृक्षाः,ते सर्वेऽपि मोहनीयमूलाः, न केवलं क-षायाः, कामगुणा अपि मोहनीयमूलाः, यस्माद् वेदोदयाद् कामाः, वेदश्च मोहनीयान्तःपातीत्यतस्तन्मोहनीयं मूलम्-आद्यं कारणं यस्य संसारस्य स तथा इति गाथार्थः। त-देवं पारम्पर्येण संसारकषायकामानां कारणत्वान्मोहनीयं प्रधानभावमनुभवति, तत्क्षये चावश्यंभावी कर्मक्षयस्त-था चाभाणि-"जहा मत्थयसूईए, हयाए हम्मए तलो। तहा कम्माणि हम्मन्ति, मोहणिज्जे खयं गए ॥ १ ॥" आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। (मोहनीयस्य कर्मणोऽनुभावः 'अणु-भाग' (व) शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे गतः)

मोहणिज्जस्स णं कम्मस्स सत्तरिं सागरोवमकोडा-कोडीओ अवाहूणिया कम्मट्ठिई कम्मणिसेगे पण्णत्ते। (सू० ७० ×)

'अवाहूणिया कम्मट्ठिई कम्मणिसेगे पण्णत्ते' त्ति इह कि-लाऽऽत्मा अविशिष्टमेव कर्म पुद्गलोपादानं कृत्वा उत्तरकालं ज्ञानावरणीयादिकर्मणां स्वं स्वमबाधाकालं मुक्त्वा ज्ञाना-वरणीयादिप्रकृतिविभागतया अनाभोगिकेन वीर्येणोदयस-हितं तद्दलिकं निषिञ्चति, उदययोग्यं रचयतीत्यर्थः। अ-तो द्विविधा स्थितिः-कर्मत्वापादनमात्ररूपा; अनुभवरूपा च। यतः स्थितिः-अवस्थानं तेन भावेनाप्रच्यवनम्; तत्र कर्मत्वापादनरूपां तामधिकृत्य सप्ततिः सागरोपमकोटीको-ट्यः, अनुभवरूपां त्वधिकृत्य सप्तवर्षसहस्रोनेति, तत्र 'अ-बाह' त्ति किमुक्तं भवति-? बन्धावलिकायाः आरभ्य या-वत्सप्तवर्षसहस्राणि तावत्कर्म न बाधते, नोदयं यातीत्यर्थः। ततोऽनन्तरसमये कर्मदलिकं पूर्वनिषिक्तमुदये प्रवेशयति। निषेको नाम-ज्ञानावरणादिकर्मदलिकस्यानुभवनार्थं रचना, तच्च प्रथमसमये बहुकं निषिञ्चति, द्वितीसमये विशेषही-नं, तृतीयसमये विशेषहीनमेवं यावदुत्कृष्टस्थिति कर्मद-लिकं तावद् विशेषहीनं निषिञ्चति। तथा चोक्तम्-" मोत्तू-ण समगवाहं, पढमाए ठिईए बहुतरं दव्वं। सेसे विसेस-हीणं, जावुक्कोसं ति सव्वासिं ॥ १ ॥" बाधृ-लोडने, बाधत इति बाधा, कर्मण उदय इत्यर्थः, न बाधा अबाधा, अन्तरं कर्मोदयस्येत्यर्थः, तया ऊनिका अबाधोनिका, क-र्मस्थितिः कर्मनिषेको भवति इत्येवमेके प्राहुः। अन्ये पुन-राहुः-अबाधाकालेन वर्षसहस्रसप्तकलक्षणेनोना कर्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थितिः- सप्तसहस्राधिकसप्ततिसागरोपमकोटाकोटिलक्षणा कर्मनिषेको भवति, स च कियान् ?, उच्यते-'सत्तरिं सागरोवमकोडाकोडीओ त्ति'। स० ७० सम०। (मोहनीयस्य कर्मणः बन्धोदयसत्तास्थानैः सह संवेधः। 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६३ पृष्ठे चिन्तितः) (काङ्क्षामोहनीयकर्मणो वक्तव्यता, 'कंखामोहणिज्ज' शब्दे तृतीयभागे १६४ पृष्ठे उक्ता)

मोहनीयबन्धादि—

जीवे णं भंते! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं उवट्ठाएज्जा? हंता! उवट्ठाएज्जा। से भंते! किं वीरियत्ताए उवट्ठावेज्जा अवीरियत्ताए उवट्ठावेज्जा?, गोयमा! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, नो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, जइ वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा किं बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा बालपंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा?, गोयमा! बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा णो पंडियवीरियत्ताए ऊवट्ठाएज्जा नो बालपंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा।

'मोहणिज्जेणं' ति मिथ्यात्वमोहनीयेन 'उदिण्णेणं' ति उदितेन 'उवट्ठाएज्ज' त्ति उपतिष्ठेत उपस्थानम्—परलोकक्रियास्वभ्युपगमं कुर्यादित्यर्थः। 'वीरियत्ताए' त्ति-वीर्ययोगाद्वीर्यः—प्राणी तद्भावो वीर्यता, अथवा—वीर्यमेव स्वार्थिकप्रत्ययाद् वीर्यता वीर्याणां वा भावो वीर्यता, तया, 'अवीरियत्ताए' त्ति अविद्यमानवीर्यतया वीर्याभावेनेत्यर्थः, 'नो अवीरियत्ताए' त्ति—वीर्यहेतुकत्वादुपस्थानस्येति। 'बालवीरियत्ताए' त्ति बालः—सम्यगर्थानवबोधात् सद्बोधकार्यविरत्यभावाच्च मिथ्यादृष्टिस्तस्य या वीर्यता—परिणतिविशेषः सा तथा, तया। 'पंडियवीरियत्ताए' त्ति पण्डितः—सकलावद्यवर्जकस्तदन्यस्य परमार्थतो निर्ज्ञानत्वेनापण्डितत्वाद्, यदाह—" तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः। तमसः कुतोऽस्ति शक्ति-र्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम्?॥१॥" इति; सर्वविरत इत्यर्थः। 'बालपंडियवीरियत्ताए' त्ति बालो देशे विरत्यभावात्, पण्डितो देश एव विरतिसद्भावादिति बालपण्डितो—देशविरतः। इह च मिथ्यात्वे उदिते मिथ्यादृष्टित्वाज्जीवस्य बालवीर्येणैवोपस्थानं स्यान्नेतराभ्याम्। एतदेवाह—गोयमेत्यादि।

उपस्थानविपक्षोऽपक्रमणमतस्तदाश्रित्याऽऽह—

जीवे णं भंते! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं अवक्कमेज्जा?, हंता! अवक्कमेज्जा, से भंते! ०जाव बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ३?, गोयमा! बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, नो पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, सिय बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा। जहा उदिन्नेणं, दो आलावगा, तहा उवसंतेण वि दो आलावगा भाणियव्वा, नवरं उवट्ठाएज्जा पंडियवीरियत्ताए, अवक्कमेज्जा बालपंडियवीरियत्ताए।

'जीवे णं' इत्यादि-'अवक्कमेज्ज' त्ति अपक्रामेद्-अपसर्पेत्, उत्तमगुणस्थानकाद्धीनतरं गच्छेदित्यर्थः, बालवीर्यतयाऽपक्रामेत् मिथ्यात्वमोहोदये सम्यक्त्वात् संयमाद्देशसंयमाद् वा अपक्रामेत्—मिथ्यादृष्टिर्भवेदिति। 'णो पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्ज' त्ति न हि पण्डितवीर्यत्वादपक्रामेत्, न हि पण्डितत्वात्प्रधानतरं गुणस्थानकमस्ति यतः पण्डितवीर्येणापसर्पेत्। 'सिय बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्ज' त्ति स्याद् बालपण्डितवीर्यत्वादपक्रामेत् स्यात्कदाचिच्चारित्रमोहनीयोदयेन संयमादपगत्य बालपण्डितवीर्येण देशविरतो भवेदिति। वाचनान्तरं त्वेवम्—'बालवीरियत्ताए नो पंडियवीरियत्ताए नो बालपण्डियवीरियत्ताए' त्ति तत्र च मिथ्यात्वमोहोदये बालवीर्यस्यैव भावादितरवीर्यद्वयनिषेध इति उदीर्णविपक्षत्वादुपशान्तस्येत्युपशान्तसूत्रद्वयं तथैव, नवरम्—'उवट्ठाएज्जा पंडियवीरियत्ताए' त्ति उदीर्णालापकापेक्षया उपशान्तलापकयोरयं विशेषः—प्रथमालापके सर्वथा मोहनीयेनोपशान्तेन सता उपतिष्ठेत क्रियासु पण्डितवीर्येण, उपशान्तमोहावस्थायां पण्डितवीर्यस्यैव भावादितरयोश्चाभावात्, वृद्धैस्तु काञ्चिद् वाचनामाश्रित्येदं व्याख्यातम्, मोहनीयेनोपशान्तेन सता न मिथ्यादृष्टिर्जायते, साधुः श्रावको वा भवतीति। द्वितीयालापके तु-'अवक्कमेज्ज बालपंडियवीरयत्ताए' त्ति मोहनीयेन हि उपशान्तेन संयतत्वाद् बालपण्डितवीर्येणापक्रामन्देशसंयतो भवति, देशतस्तस्य मोहोपशमसद्भावात्, न तु मिथ्यादृष्टिः, मोहोदय एव तस्य भावात्, मोहोपशमस्य चेहाधिकृतत्वादिति।

अथापक्रामतीति यदुक्तं तत्र सामान्येन प्रश्नयन्नाह—

से भंते! किं आयाए अवक्कमइ अणायाए अवक्कमइ?, गोयमा! आयाए अवक्कमइ णो अणायाए अवक्कमइ, मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे से कहमेयं भंते! एवं?, गोयमा! पुव्विं से एयं एवं रोयइ, इयाणिं से एयं एवं नो रोयइ एवं खलु एयं एवं। (सूत्र-३६)

'से भंते किं' इत्यादि 'से' त्ति असौ जीवः अथार्थो वा 'से' शब्दः 'आयाए' त्ति आत्मना 'अणायाए' त्ति अनात्मना परत इत्यर्थः। अपक्रामति अपसर्पति, पूर्वं पण्डितत्वरुचिर्भूत्वा पश्चान्मिश्ररुचिर्मिथ्यारुचिर्वा भवतीति, कोऽसौ?, इत्याह—मोहनीयं कर्म मिथ्यात्वमोहनीयं चारित्रमोहनीयं वा वेदयन् उदीर्णमोह इत्यर्थः। 'से कहमेयं भंते' त्ति अथ कथं-केन प्रकारेण एतद्-अपक्रमणम् 'एवं' ति मोहनीयं वेदयमानस्येति। इहोत्तरम् 'गोयमेत्यादि' पूर्वमपक्रमणात्प्रागसौ अपक्रमणकारी जीवः एतज्जीवादि अहिंसादि वा वस्तु। एवं—यथा जिनैरुक्तं रोचते—श्रद्धत्ते करोति वा, इदानीं-मोहनीयोदयकाले स जीवः एतज्जीवादि अहिंसादि वा एवं-यथा जिनैरुक्तं नो रोचते न श्रद्धत्ते न करोति वा, एवं खलु उक्तप्रकारेण एतत्-अपक्रमणम्-एवं मोहनीयवेदन इत्यर्थः। भ०१ श०४उ०। मोहयतीति मोहनीयम्। मिथ्यादर्शनादिके ज्ञानावरणीयादिके वा कर्मणि, सूत्र०१ श्रु०२ अ०३ उ०।

मोहणिज्जट्ठाण-मोहनीयस्थान-न०। मोहनीयं सामान्येनाष्टप्रकारं कर्म विशेषतश्चतुर्थी प्रकृतिस्तस्य स्थानानि निमित्तानि मोहनीयस्थानानि। मोहनीयकर्मबन्धनिमित्तेषु, स० ३६ सम०। दशा०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नाम नयरी होत्था, व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सओ-पुन्नभद्दे चेइए, कोणिए राया, धारिणी देवी, सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहितो, परिसा पडिगया, अज्जो त्ति समणे भगवं महावीरे बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वदासी-एवं खलु अज्जो! तीसं मोहणिज्जट्ठाणाइं जाइं इत्थी वा पुरिसो वा अभिक्खणं २ आयारमाणे वा मोहणिज्जत्ताए कम्मं पकरेति । तं जहा-

जे केइ तसे पाणे, वारिमज्झं विगाहिता ।
उदएणं कम्ममारेति, महामोहं पकुव्वति ॥ १ ॥

व्याख्या प्राग्वत्-'तेणं कालेणं' इति । तस्मिन् काले तस्मिन् समये तस्मिन् पूर्णभद्रे चैत्ये ' समणे भगवं महावीरे ' त्ति श्रमणो भगवान् महावीरः अर्हन् सर्वदर्शी सप्तहस्तप्रमाणशरीरोच्छ्रयः समचतुरस्रसंस्थानो वज्रर्षभनाराचसंहननः कज्जलप्रतिमकालिमोपेतस्निग्धाकुञ्चितप्रदक्षिणावर्त्तमूर्द्धजः उत्तप्ततपनीयाभिरामकेशान्तकेशभूमिरातपत्राकारोत्तमाऽङ्गसन्निवेशः परिपूर्णशशाङ्कमण्डलादप्यधिकतरवदनशोभः पद्मोत्पलसुरभिगन्धनिःश्वासो वदनत्रिभागप्रमाणकम्बूः शश चारुकन्धरः सिंहशार्दूलवत्परिपूर्णविपुलस्कन्धप्रदेशो महापुरकपाटवत्पृथुलवक्षस्थलाभोगो यथास्थितलक्षणोपेतश्रीवत्सः परिघोपममलम्बबाहुयुगलो रविशशिचक्रकोशादिप्रशस्तलक्षणोपेतपाणितलः सुजातपार्श्वो झषोदरः सूर्यकरस्पर्शसंजातविकोशपद्मोपमनाभिमण्डलः सिंहवत्संवर्त्तितकटीप्रदेशो निगूढजानुः कुरुविन्दवृत्तगुल्फयुगलः सुप्रतिष्ठितकूर्मचारुचरणः प्रशस्तलक्षणाङ्कितचरणनतप्रदेशोऽनाश्रवः निर्ममः छिन्नश्रोता निरुपलेपोपगतप्रेमरागोद्वेगः चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतो गगनगतेन धर्मचक्रेण आकाशगतेन छत्रेण आकाशगताभ्यां चामराभ्याम् आकाशगतेनातिस्वच्छस्फटिकविशेषमयेन सपादपीठेन सिंहासनेन पुरतो देवैः प्रकृष्यमाणेन १ धर्मध्वजेन चतुर्दशभिः श्रमणसहस्रैः परिवृतो यथा स्वकल्पं सुखेन विहरन्, यथारूपमवग्रहं गृहीत्वा संयमेन तपसा चात्मानं भावयन्, 'जाव' त्ति यावत्करणात् तीर्थकरसाधुवर्णकः सर्वोऽपि वाच्यः । ' समोसरणं ' त्ति समवसरणवर्णनं भगवत औपपातिकग्रन्थादवसेयम् ' परिसा-गय ' त्ति चम्पानगरीवास्तव्यो लोको भगवन्तमागतं श्रुत्वा भगवद्वन्दनार्थं स्वस्मात्स्वस्मादाश्रयादाकृष्टः कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्तोऽल्पमहार्घाभरणालङ्कृतशरीरः स्वस्वपरिकरसमेतो हस्त्यादिवाहनारूढो निजचरणविहारचारी च सन् निर्गतः;भगवता च धर्मकथा कथिता; श्रुत्वा च तां हृष्टचित्तो वन्दित्वा-भगवन् ! स्वाख्यातो भगवद्धर्म इत्युक्त्वा पर्षत् स्वस्थानं प्रतिगता । तदा-' अज्जो ' त्ति प्राग्वत् ' तीस ' त्ति-त्रिंशत्संख्यानि ' मोहणिज्जट्ठाणाइं ' ति मोहनीयस्थानानि-मोहनीयं सामान्येनाष्टप्रकारं कर्म विशेषतश्चतुर्थी प्रकृतिः, तस्याः स्थानानि-निमित्तानि मोहनीयस्थानानि । यानि इति पूर्वतनतीर्थङ्करैः प्रतिपादितानि यानि इमानि अनन्तरवक्ष्यमाणानि स्त्री वा पुरुषो वा अभीक्ष्णम् २आचरन् असकृच्छ्ठाध्यवसायादितया वा समाचरन् असकृत्तीव्राध्यवसायपरिगतो वा मोहनीयतया इति-मोहनीयकर्मत्वेन

१-'पडिगया' इत्यपि पाठः ।

कर्म प्रकरोति । तद्यथा-'जे के'इत्यादि श्लोकः । यः-कश्चन त्रसान् स्त्रीपुरुषगृहस्थपाखण्डिप्रभृतीन् वारिमध्ये विगाह्य-प्रविश्य परिव्राजकवत् 'उदएणं'ति उदयेन तथा हिंसादिप्रवर्तककर्मोदयेन उदकेन वा शस्त्रभूतेन मारयति । कथमित्याह-आक्रम्य पादादिना, स इति गम्यते । मार्यमाणस्य महामोहोत्पादकत्वात् संक्लिष्टचित्तत्वात् , भवशते दुःखवेदनीयमात्मना महामोहं प्रकरोति-जनयति । तदेवंभूतं त्रसमारणैकं मोहनीयस्थानमेवं सर्वत्रेति ।

पाणिणा संपिहित्ता णं, सोयमावरिय पाणिणं ।
अंतो णदंतं मारेति, महामोहं पकुव्वइ ॥ २ ॥

पाणिना हस्तेन संपिधाय स्थगयित्वा, किं तत् ? श्रोतो-रन्ध्रमुखमित्यर्थः , तथा-आवृत्य-अवरुध्य प्राणिनं, ततः अन्तर्नदन्तं-गलमध्ये रवं कुर्वन्तं घुरघुरायमाणमित्यर्थः स इति गम्यते महामोहं प्रकरोतीति द्वितीयम् ॥ २ ॥

जायतेयं समारब्भ, बहुं ओरुज्झिय जणं ।
अंतो धूमेण मारेति, महामोहं पकुव्वति ॥ ३ ॥

जाततेजसम्-वैश्वानरं समारभ्य-प्रज्वाल्य बहु-प्रभूतम्-अवरुध्य महामण्डपवाटादिषु प्रक्षिप्य जनं लोकमन्तर्मध्ये मण्डपादेर्धूमेन-वह्निलिङ्गेन, अथवा-अन्तर्धूमो यस्यासावन्तर्धूमः तेन जाततेजसा विभक्तिविपरिणामात् मारयति यः, असौ महामोहं प्रकरोतीति तृतीयम् ॥ ३ ॥

सीसम्मि जो पहणेइ, उत्तमंगम्मि चेयसा ।
विभज्ज मत्थयं फाले, महामोहं पकुव्वति ॥ ४ ॥

शीर्षे-शिरसि यः प्रहन्ति खड्गमुद्गरादिना प्रहरति प्राणिनमिति गम्यते, किंभूते शिरसि स्वभावतः उत्तमाङ्गे सर्वावयवानां प्रधानावयवे तद्विघातेऽवश्यं मरणात् ,चेतसा-संक्लिष्टेन मनसा न यथाकथंचिदित्यर्थः, तथा विभाज्य मस्तकं प्रकृष्टप्रहारदानेन स्फोटयति ग्रीवादिकं कायमपीति गम्यते। स इत्यस्य गम्यमानत्वात्,स महामोहं प्रकरोतीति चतुर्थम्।

सीसावेढेण जे केइ, आवेढेइ अभिक्खणं ।
तिव्वासुभसमायारे, महामोहं पकुव्वइ ॥ ५ ॥

शीर्षवेष्टेनार्द्रचर्मादिमयेन यः कश्चिद् वेष्टयति स्त्रीपुरुषादिः त्रसान् इति गम्यते । अभीक्ष्णं भृशं तीव्रोऽशुभसमाचारः स इत्यस्य गम्यमानत्वात्स मार्यमाणस्य महामोहोत्पादकत्वेन आत्मनो महामोहं प्रकुरुते इति पञ्चमम् ॥ ५ ॥

पुणो पुणो पणिहिए, नासे उवहसे जणं ।
फलेणं अदुव दंडेणं, महामोहं पकुव्वइ ॥ ६ ॥

पौनःपुन्येन प्रणिधिना-मायया यथा-वाणिजकादिवेषं विधाय गलाकर्तकाः पथि गच्छता सह गत्वा विजनं विश्रब्धं वा मारयन्ति, तथा च-विनाशे उपहसेत् आनन्दातिरेकात् जनं मूर्खलोकं हन्यमानं, केन हत्वा फलेन योगविभावेन मातुलिङ्गादिना, अथवा-तथा दण्डेन-प्रसिद्धेन इति गम्यते । महामोहं प्रकरोतीति षष्ठम् ॥ ६ ॥

गूढायारी निगूहेज्जा, मायं मायाएँ छायए ।
असच्चवाई णिण्हाइ, महामोहं पकुव्वइ ॥ ७ ॥

गूढाचारी-प्रच्छन्नाचारवान् निगूहयेत्-गोपयेत्, स्वकीयं प्रच्छन्नं दुष्टमाचारं, तथा मायां परकीयां, मायया स्वकीयया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छादयेत्—जयेत्। यथा—शकुनिमारकाः छदैरात्मानमावृत्य शकुनीन् गृह्णन्तः स्वकीयमायया शकुनिमायां छादयन्ति, तथा असत्यवादी निह्नवी अपलापकः स्वकीययोर्मूलगुणोत्तरगुण-प्रतिषेधयोः सूत्रार्थयोर्वा महामोहं प्रकरोतीति सप्तमम् ॥७॥

धंसेइ जो अभूएणं, अकम्मं अत्तकम्मुणा ।
अदुवा तुम मकासि त्ति, महामोहं पकुव्वइ ॥ ८ ॥

ध्वंसयति छायायां भ्रंशयति यः पुरुषान् अभूतेनासद्भूतेन कम्?अकर्मकम्-अविद्यमानं दुश्चेष्टितम् ,आत्मकर्मणा-आत्मकृतऋषिघातादिना दुश्चेष्टितेन दुष्ट्यापारेण, अथवा-यदन्येन कृतं तदाश्रित्य परस्य समक्षमेव त्वमकार्षीरेतन्महापापमिति वदति । क्रियाया गम्यमानत्वात् स इत्यस्यापि गम्यमानत्वात् महामोहं प्रकरोतीत्यष्टमम् ॥ ८ ॥

जाणमाणो परीसाए, सच्चमोसा ण भासए ।
अच्छीण डंडोल्लुरए, महामोहं पकुव्वति ॥ ६ ॥

जानानो यथा अनृतमेतत्परिषदः सभायां बहुजनमध्ये इत्यर्थः, सत्यामृषा किञ्चित्सत्यानि सत्यनिबद्धानि किञ्चिदसत्यानि वस्तूनि वाक्यानि वा भाषते अक्षीणं दण्डोल्लुयरतकलहः यः स इति गम्यते महामोहं प्रकरोतीति नवमम् ॥६॥

अणायगस्स नयवं, दारं तस्सेव धंसई ।
विपुलं विक्खोभइत्ता णं, किच्चा णं पडिबाहिरं ॥ १० ॥

अनायकः-अविद्यमाननायको राजा तस्य नयवान्-नीतिमान् अमात्यः, स तस्यैव राज्ञो दारान्-कलत्रं द्वारं वा अर्थागमस्योपायं ध्वंसयित्वा भोगभोगान् विदारयतीति सम्बन्धः, किं कृत्वा विपुलं प्रचुरमित्यर्थः, विक्षोभ्य सामन्तादिपरिकरभेदेन संक्षोभ्य नायकं तस्य क्षोभं जनयित्वेत्यर्थः, कृत्वा-विधाय णमित्यलङ्कारे प्रतिबाह्यमनधिकारिणं दारेभ्योऽर्थागमद्वारेभ्यो वा दारान् राज्यं वा स्वयमधिष्ठायेत्यर्थः ॥ १० ॥

उवगतं पि झंपित्ता, पडिलोमाहिँ वग्गुहिं ।
भोगभोगे वियारेइ, महामोहं पकुव्वति ॥ ११ ॥

तथा उपगतमपि समीपमागच्छन्तमपि सर्वस्वमपहृत्य प्रतेनानुलोमैः करुणैश्च वचनैर्निरनुकूलयितुमुपस्थितमित्यर्थः, झम्पयित्वा-नष्टवचनावकाशं कृत्वा प्रतिलोमाभिस्तस्य प्रतिकूलाभिर्वाग्भिर्वचनैरेतादृशस्तादृशस्त्वमित्यादिभिरित्यर्थः , भोगभोगान् विशिष्टशब्दादीन् विदारयति—हरति योऽसौ महामोहं प्रकरोतीति दशमम् ॥ ११ ॥

अकुमारभूतो जे केइ, कुमारभूए त्ति हं वए ।
इत्थीहिँ गिद्धे वसए, महामोहं पकुव्वइ ॥ १२ ॥

अकुमारभूतः—अकुमारब्रह्मचारी सन् यः कश्चित्कुमारभूतोऽहं कुमारब्रह्मचारी अहमिति वदति , अथवा—स्त्रीषु गृद्धो वशकश्च स्त्रीणामेवायत्त इत्यर्थः , अथवा—वसति आस्ते स महामोहं प्रकरोतीत्येकादशम् ॥ ११ ॥

अबंभयारी जे केइ, बंभयारि त्ति हं वए ।
गद्दहो व्व गवं मज्झे, विस्सरं नदती नदं ॥ १३ ॥
अप्पणो अहियं बाले, मायामोसं बहुन्न से ।
इत्थीविसयभावीए, महामोहं पकुव्वति ॥ १४ ॥

अब्रह्मचारी मैथुनादनिवृत्तो यः कश्चित्तत्काल एवाऽऽसेव्य, 'ब्रह्मचारी सांप्रतमहं'मित्यतिधूर्त्ततया परप्रवञ्चनाय वदति । तथा य एवमशोभावहं सतामनादेयं भणन् , गर्दभ इव गवां मध्ये विचरन् वृषभवन्मनोज्ञं नदति—नदं नादं शब्दमित्यर्थः , तथा य एवं भणन् , आत्मनोऽहितो न हितकारी बालो मूढो माया मृषा बहुशो व्यावृत्तं प्रभूतं भाषतेऽसूत्तं निन्दितं भाषते , कया स्त्रीविषयगृद्धया हेतुभूतया यः स इत्थंभूतो महामोहं प्रकरोतीति द्वादशम् ॥ १२ ॥

जं णिस्सितो उव्वहइ, जससाऽहिगमेण वा ।
तस्स लुब्भइ वित्तम्मि, महामोहं पकुव्वति ॥ १५ ॥

यं राजानं राजामात्यादिकं वा निश्रित उद्वहते जीविकालाभेनात्मानं धारयति । कथं यशसा, तस्य राजादेः सैत्कोऽयमिति प्रसिद्धया अभिगमेन वा सेवया आश्रितराजादेस्तस्य-निर्वाहकारकस्य राजादेर्लुभ्यते वित्ते-द्रव्ये यः स महामोहं प्रकरोतीति त्रयोदशम् ॥ १३ ॥

इस्सरेणऽदुवा गामे-ण ऽणिस्सरे इस्सरीकए ।
तस्स संपग्गहीयस्स, सिरी तुलयमागया ॥ १६ ॥
ईसादोसेण आभट्ठो, कलुसाऽऽविलचेतसा ।
जो अंतरायं चेएइ, महामोहं पकुव्वइ ॥ १७ ॥

ईश्वरेण-प्रभुणा 'अदुवा' अथवा ग्रामेण जनसमूहेन अनीश्वर ईश्वरीकृतः, तस्य पूर्वावस्थायामनीश्वरस्य संप्रगृहीतस्य पृच्छादिना श्रीर्लक्ष्मीरतुला असाधारणा आगता-प्राप्ता अतुलं वा यथा भवतीत्येवं श्रीः समागता, आगतश्रीकश्च प्रभ्वाद्युपकारकविषये ईर्ष्यादोषेणाविष्टो युक्तः कलुषेण द्वेषलोभादिलक्षणया येनाविलमाकुलं वा चेतो यस्य स तथा । यः अन्तरायम्—व्यवच्छेदं तं भोगानां चेतयते-करोति प्रभ्वादेरसौ महामोहं प्रकरोतीति चतुर्दशम् ॥ १४ ॥

सप्पी जहा अंडपुडं, भत्तारं जो विहिंसइ ।
सेणावतिं पसत्थारं, महामोहं पकुव्वइ ॥ १८ ॥

सर्पी-नागी यथा 'अण्डपुडं' अण्डकपुटं स्वकीयमण्डकसमूहमित्यर्थः, अण्डकस्य वा पुटं संवद्धदलद्वयरूपं हिनस्ति, एवं भर्तारम् पोषयितारं यो विहिनस्ति सेनापतिम्-राजानं, प्रशास्तारम् राजामात्यं धर्मपाठकं वा स महामोहं प्रकरोतीति, तन्मरणे बहुजनदुस्थता भवतीति पञ्चदशम् ।१५।

जो णायगं च रट्ठस्स, नेयारं निगमस्स य ।
सेट्ठिं बहुरवं हंता, महामोहं पकुव्वइ ॥ १६ ॥

यो नायकं वा—प्रभुं राष्ट्रस्य राष्ट्रमहत्तरादिकमिति भावः तथा—नेतारं-प्रवर्तयितारं प्रयोजनेषु निगमस्य, वाणिजकसमूहस्य कं श्रेष्ठिनं-श्रीदेवताङ्कितपट्टबन्धम् , किम्भूतं बहुरवं भूरिशब्दं प्रभूततरयशसमित्यर्थः हत्वा महामोहं प्रकुरुते। इति षोडशम् ॥ १६ ॥

बहुजणस्स नेयारं, दीवं ताणं च पाणिणं ।
एयारिसं नरं हंता, महामोहं पकुव्वइ ॥ २० ॥

बहुजनस्य-पञ्चपादीनां लोकानां नेतारं-नायकं द्वीपः-संसारसागरान्तरगतानाश्वासनम् । अथवा-दीप इव दीपोऽज्ञानान्धकारावृतबुद्धिदृष्टिप्रसरणां हेयोपादेयवस्तुस्तोमप्रकाशकत्वात् । अत एव त्राणम्-आपद्रक्षणं प्राणिनामेताद-

१—मोहनीयस्थानपरकमिदम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शा गणधरादयो भवन्ति, नवरं प्रावचनिकादिपुरुषं हत्वा महामोहं प्रकरोतीति सप्तदशम्॥ १७॥

उवट्ठियं पडिविरयं, संजतं सुसमाहियं ।
विउकम्पधम्माउ भंसेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥ २१ ॥

उपस्थितं—प्रव्रज्यायां प्रव्रजितुमित्यर्थः, प्रतिविरतं–सावद्ययोगेभ्यो निवृत्तं प्रव्रजितमित्यर्थः, संयतं साधुमुपस्थितं तपांसि कृतवन्तं शोभनं वा तपः श्रितमाश्रितं क्वचित्—'जे भिक्खू जगजीवणं' ति पाठः । तत्र-जगन्ति-जङ्गमानि अहिंसकत्वेन जीवयतीति जगज्जीवनस्तं विविधैः प्रकारैरुपक्रम्याऽऽक्रम्य बलादित्यर्थः । धर्माद् व्रतचारित्रलक्षणाद् भ्रंशयतियः स महामोहं प्रकरोतीति अष्टादशम्॥ १८॥

तहेवाणंतणाणीणं, जिणाणं वरदंसिणं ।
तेसिं अवण्णवं बाले, महामोहं पकुव्वइ ॥ २२ ॥

यथैव प्राकृतं मोहनीयस्थानं तथैवेदमपि अनन्तज्ञानिनां ज्ञानस्यानन्तविषयत्वेन अक्षयत्वेन वा जिनानामर्हतां वरदर्शिनां क्षायिकदर्शनत्वात् तेषां ये ज्ञानाद्यनेकातिशयसंपदुपेतत्वेन भुवनत्रये प्रसिद्धाः 'अवण्णवं' अवर्णवादो वक्तव्यत्वेन यस्यास्ति सोऽवर्णवान् यथा-नास्ति कश्चित् सर्वज्ञो ज्ञेयस्यानन्तत्वात्, तत्रोच्यते—अदूषणं चैतत्तुल्यत्तिसमय एव केवलज्ञानं युगपल्लोकालोकौ पश्यदुपजायते यथा अपवरकान्तर्वर्तिदीपकलिकाऽपवरकमध्यप्रकाशस्वरूपा इत्यभ्युपगमादिति, बालोऽज्ञानो महामोहं प्रकरोतीति एकोनविंशतितमम्॥ १९॥

णेयाइअस्स मग्गस्स, दुट्ठे ऽवयरई बहुं ।
तं तिप्पयंतो भावेण, महामोहं पकुव्वइ ॥ २३ ॥

नैयायिकस्य-न्यायमनतिक्रान्तस्य मार्गस्य-सम्यग्दर्शनादेर्मोक्षपथस्य दुष्टो द्विष्टो वा अपकरोतीति-अपकारं करोतीति बहु-अत्यर्थं पाठान्तरेणापहरति बहुजनं विपरिणमयतीति भावः, तं मार्गं 'तिप्पयंतो' त्ति निन्दया द्वेषेण वा वासयति परम्, अपरम् च यः स महामोहं प्रकरोतीति विंशतितमम्॥२०॥

आयरियउवज्झाएहिं, सुत्तं विणयं च गाहिए ।
ते चेव खिंसई बाले, महामोहं पकुव्वइ ॥ २४ ॥

आचार्योपाध्यायैः श्रुतं स्वाध्यायं विनयं च ग्राहितः-शिक्षितः तानेव खिंसति-निन्दति अल्पश्रुता एते इत्यादि ज्ञानतः ज्ञानवन्तः अन्यतीर्थिकसंसर्गकारिण इत्यादि दर्शनतः, मन्दधर्माणः पार्श्वस्थादिस्थानवर्तिनः तैः सहालापनाभिवादनादिकरणाविदः इत्यादि चारित्रतः, यः स एवंभूतो बालो महामोहं प्रकरोतीत्येकविंशतितमम्॥ २१॥

आयरियउवज्झायाणं, सम्मं नो परितप्पइ ।
अप्पडिपूयए थद्धे, महामोहं पकुव्वइ ॥ २५ ॥

आचार्यादीन् श्रुतदानग्लानावस्थाप्रतिचरणादिभिस्तर्पितवतः उपकृतवतः सम्यङ् न प्रतितर्पति विनयाहारोपध्यादिभिर्न प्रत्युपकरोति। तथा-अप्रतिपूजको न पूजाकारी तथा स्तब्धः-मानवान् स महामोहं प्रकरोतीति द्वाविंशतितमम्॥२२॥

अबहुस्सुए वि जे केइ, सुएणं पविकत्थइ ।
सज्झायवायं वयइ, महामोहं पकुव्वइ ॥ २६ ॥

अबहुश्रुतश्च यः कश्चिच्छ्रुतेन—ज्ञानेन प्रविकथ्यते-स्वश्लाघाम् करोति, यथा-गणयहं वाचकोऽहं केनचित्पृष्टं यथा भवान्, स बहुश्रुतो योऽस्माभिः श्रुतः, तदा स एवं वदति सोऽहमिति सद्भाववादं भवति । तत्सद्दशत्वम् आत्मनः ख्यापयति यः स महामोहं प्रकरोति । श्रुतवानहमनुयोगधरोऽहमित्येवम्, अथवा-कस्मिंश्चित्त्वमनुयोगाचार्यो वाचको वेति पृच्छति प्रतिभणति, आत्मनः स्वाध्यायवादं वदति, विशुद्धपाठकोऽहमित्यादिकं यः स महामोहं श्रुतालाभहेतुं प्रकरोतीति त्रयोविंशतितमम्॥ २३॥

अतवस्सि य जे केइ, तवेणं पविकत्थइ ।
सव्वलोए परे तेणे, महामोहं पकुव्वइ ॥ २७ ॥

सुगमम्। पूर्वार्धं कण्ठ्यम्। नवरं सर्वलोकात्-सर्वजनात् सकाशात्परः-प्रकृष्टः स्तेनः-चौरो भावचौरत्वात् स महामोहं तपस्विताऽलाभहेतुं प्रकरोतीति चतुर्विंशतितमम्॥ २४॥

साहारणऽट्ठा जे केइ, गिलाणम्मि उवट्ठिते ।
पभू ण कुव्वती किच्चं, मज्झऽप्पेस ण कुव्वति ॥२८॥
सढे णियडिपण्णाणे, कलुसाउलचेयसा ।
अप्पणो य अबोहीए, महामोहं पकुव्वइ ॥ २९ ॥

साधारणार्थमुपकारार्थं यः कश्चिदाचार्यादिर्ग्लाने—रोगवति उपस्थिते-प्रत्यासन्नीभूते प्रभुः—समर्थ उपदेशेनौषधादिदानेन च स्वतोऽन्यतश्चोपकारं न करोति कृतमुपेक्षत इत्यर्थः, केनाभिप्रायेणेत्यर्थः ममाप्येष न करोति किञ्चनापि कृत्यम् समर्थोऽपि सन्निति द्वेषेणासमर्थोऽयं वा बालत्वादिना किंकृतेनास्य पुनरुपकर्तुमशक्तत्वादिति लोभेनेति शठः—कैतवयुक्तः शक्तिलोपनात्, निकृतिर्माया तद्विषये प्रज्ञानं यस्य स तथा । ग्लानः प्रतिजागरणीयो मा भवत्विति ग्लानवेषमहं करोमिति विकल्पवानित्यर्थः, अत एव कलुषाकुलचेताः आत्मनश्चाबोधिको भवान्तराप्राप्तव्यजिनधर्मको ग्लानाप्रतिजागरणेनाज्ञाविराधनात् । चशब्दात्परेषां वा बोधिकः अविद्यमानाबोधिरस्मादिति व्युत्पादनात्। यदि तदीयं ग्लानाप्रतिचरणमुपलभ्य जिनधर्मपराङ्मुखो भवति तेषामबोधिस्तत्कृत इति स एवंभूतो महामोहं प्रकरोतीति पञ्चविंशतितमम्॥ २५॥

जे कहाहिगरणाइं, संपउंजे पुणो पुणो ।
सव्वतित्थाण भेयाए, महामोहं पकुव्वइ ॥ ३० ॥

यः कथा—वाक्यप्रबन्धशास्त्रमित्यर्थः, तद्रूपाण्यधिकरणानि कथाधिकरणानि कौटिल्यशास्त्रादीनि प्राण्युपमर्दनप्रवर्तकत्वेन तेषामात्मनो दुर्गतावधिकरणात्, कथा वा क्षेत्राणि कृषि-गानरूपतेत्यादिकया अधिकरणानि तथाविधप्रवृत्तिरूपाणि। अथवा—कथा—राजकथादिका अधिकरणानि च यन्त्रादीनि कलहा वा कथाधिकरणानि तानि संयुङ्क्ते पुनःपुनः, एवं सर्वतीर्थानां भेदाय संसारतरणकरणात् तीर्थानि ज्ञानादीनि तेषां सर्वथा नाशाय प्रवर्तमानः स महामोहं प्रकरोतीति षड्विंशतितमम्॥ २६॥

जो य अहम्मिए जोए, संपउंजे पुणो पुणो ।
सहाहेउं सव्वहेउं, महामोहं पकुव्वइ ॥ ३१ ॥

व्यक्तम्, नवरम्-अधार्मिको योगनिमित्तवशीकरणादिप्रयोगः। किमर्थं श्लाघाहेतोः सर्वहेतोर्मित्रनैमित्त इत्यर्थः, इति सप्तविंशम्॥ २७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो य माणुस्सए भोगे, अदुवा पारलोइए ।
तेऽतिप्पंतो आसायइ, महामोहं पकुव्वइ ॥ ३२ ॥

यश्च मानुष्यकान् भोगान्, अथवा-पारलौकिकान् 'ते' इति विभक्तिविपरिणामत्वात् तेषु वा अतृप्यन् तृप्तिमगच्छन् आस्वादते-अभिलषति आश्रयति वा स महामोहं प्रकरोतीति अष्टाविंशतितमम् ॥ २८ ॥

इड्ढी जुइ जसो वन्नो, देवाणं बलवीरियं ।
तेसिं अवरणयं बाले, महामोहं पकुव्वइ ॥ ३३ ॥

ऋद्धिः—विमानादिसम्पत्, द्युतिः-शरीराभरणदीप्तिः, यशः कीर्तिः, वर्णः-शुक्लादिः शरीरसम्बन्धी देवानां-सम्यग्दृशाम् वैमानिकादीनां बलम्-शारीरं वीर्यम्-जीवप्रभवमस्तीत्यध्याहारः तेषामिह अपरोक्षगम्यमानत्वात् तेषामपि देवानामनेकातिशायिगुणवतामवर्णवान्-अश्लाघाकारी अथवा—अवर्णवान् केनोल्लेखेन देवानामृद्धिर्देवानां द्युतिरित्यादि काका व्याख्येयं न किञ्चिद्देवानामृद्ध्यादिकमस्ति इत्यवर्णवादभावार्थः । यद्वा—किममी कामग्रस्ता धर्मानुष्ठानं कर्तुमसमर्थाः अविरता इति कथनमपि महान् दोषः । तथा चोक्तम्-" पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोहियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा—अरहंताणमवन्नं वदमाणे १, अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे २, आयरियउवज्झायाणमवन्नं वदमाणे ३, चाउवन्नस्स संघस्स अवन्नं वदमाणे ४, विवक्कतवबंभचेराणं देवाणमवन्नं वदमाणे ५, " तत्र पञ्चमपदव्याख्या- 'विपक्कं' सुपरिनिष्ठितं प्रकर्षपर्यन्तमुपगतमित्यर्थः तपश्च ब्रह्मचर्यं च भवान्तरे येषां, विपक्कं वा उदयागतं तपो ब्रह्मचर्य तद्धेतुकं देवायुष्कादि कर्म येषां ते तेषामवर्णवादं वदन् दुर्लभबोधितया कर्म करोति । तदेवम्-"न सन्त्येव देवाः कदाचनानुपलभ्यमानत्वात्, किं वा तैः विटैरिव कामासक्तमनोभिरविरतैः, तथा निर्निमेषैश्चेष्टैश्च क्रियमाणैरिव प्रवचनकार्यानुपयोगिकैश्चेत्यादिकम्" य एवंभूतः स महामोहं प्रकरोतीत्येकोनत्रिंशत्तमम् ॥ २९ ॥

अपस्समाणो पस्सामि, देवा जक्खा य गुज्झगा ।
अन्नाणी जिणपूयट्ठी, महामोहं पकुव्वइ ॥ ३४ ॥

अपश्यन्नपि यो ब्रूते-पश्यामि देवानित्यादि । तत्र देवा वैमानिकज्योतिष्काः यक्षाश्च-व्यन्तरा गुह्यकाश्च—भवनवासिनः तान् तान् स्वरूपेणाज्ञानी, जिनस्येव पूजामर्थयते यः स जिनपूजार्थी गोशालकवत् स महामोहं प्रकरोतीति त्रिंशत्तमम् ॥ ३० ॥

साम्प्रतमुक्तरूपाणि मोहनीयस्थानानि
उपसंहरन्नुपदेशसर्वस्वमाह—

एते मोहगुणा वुत्ता, कम्मंता चित्तवड्ढणा ।
जे तु भिक्खू विवज्जेज्जा, चरिज्ज ऽत्तगवेसए ॥ ३५ ॥

एते—अनन्तरोक्ताः मोहगुणाः, अथवा-मोहानां गुणाः गुणकारका मोहसम्बन्धं प्रतीति मोहगुणाः न मोहं प्रति यद्वा-मोहाश्च ते मोहगुणाश्च-मोहगुणाः; प्राकृतत्वात्पूर्वपदलोपः, यथा-'गुणेहिं-साहुगुणेहिं' इत्यादौ, कथं भूताः?, इत्याह- कर्मता—कर्मकारणानि, अथवा—कर्माण्येव अन्तः-अवसानं फलं येषां ते कर्मान्ताः, चित्तवर्धनाः—मोहरूपस्य चित्तस्य वर्धना वृद्धिकारणानि ' चित्तवद्धणा वा ' पाठः; तत्रापि-चित्तम्—संक्लेशरूपम् अशुभम् बन्धरूपं तद्वर्धनाः, तान् इत्यध्याहार्यम्, ' जे उ ' त्ति यान् मोहप्रकारान् भिक्षुः—महात्मा वर्जयित्वा चरेत्, संयमाध्वनि चरेत् वा—आचरेत् क्षान्त्यादिकं दशप्रकारं धर्मम्, कथंभूतः सन्—' अत्तगवेसए ' आप्ताः-तीर्थकराः तेषां गवेषको नाम-तद्वचनानुसरणपरः आप्तगवेषकः, यद्वा-आत्मानं गवेषयति, न परम् इत्यात्मगवेषकः; संवेगपर आत्मचिन्तकः ।

पुनः कुर्याद् ? इत्याह-

जं पि जाणे इतो पुव्वं, किच्चाकिच्चं बहुं जढं ।
तं चत्ता ताणि सेवेज्जा, जेहिं आयारवं सिया ॥ ३६ ॥

यतः जानीयात् वक्ष्यमाणम् इतः-अस्मात्प्रव्रज्याकालात् पूर्वं कृत्यम्—कुटुम्बपोषणसुतोत्पादनादिकम् अकृत्यम्-चौरहननकूटतुलाव्यापारपरवञ्चनादिकं बहु-अनेकप्रकारम् ' जढं ' त्यक्तम्, तथा बहुजढं नाम—मातापित्रादिस्वजनबन्धं तं त्यक्त्वा वान्त्वा वा, तानि यथोचितानि सेवेत यैराचारवान् चारित्रवान् स्यात्—भवेत् ।

आयुगुत्तो उ सुद्धप्पा, धम्मे ठिच्चा अणुत्तरे ।
वमे कम्मे सए दोसे, विसमासीविसो जहा ॥ ३७ ॥

आचारवानिति अध्याहार्यम्, एवंविधश्च सन् यो गुप्तो गुप्तियुक्तः, अथवा—आचारेण ज्ञानाचारादियुक्तः शुद्धः—पापकृत्यपरित्यागेन आत्मा यस्यासौ शुद्धात्मा, धर्मे दशविधे क्षान्त्यादिके स्थित्वा अनुत्तरे अनल्पे ततो जीवः निर्मलत्वादेव वमेत्—त्यजेत्, स्वीयान्-आत्मीयान् दोषान् विषयकषायरूपान्, कः? किमिव-आशीविषो—विषमिव, यथा-सर्पो विषं त्यजेत् त्यक्त्वा वा न पुनरावर्तेत एवमसावपीति उपनयो व्यक्तः ।

स च यथाभूतो यच्चाप्नोति तदाह—

सुवंतदोसे सुद्धप्पा, धम्मऽट्ठी विदितापरे ।
इहेव लभते कित्तिं, पेचाय सुगतिं चरिं ॥ ३८ ॥

सुष्ठ्वतिशयेन वान्तदोषः शुद्धात्मा धर्मः-श्रुतचारित्रलक्षणस्तस्यार्थो विद्यतेऽस्मिन्निति धर्मार्थी विदितं-ज्ञातम् अपरं-मोक्षो येन स विदितापरः, अपरग्रहणात् पूर्वग्रहणमपि; दत्त इत्युक्ते, देवदत्तग्रहणवत् । स चैवंभूत इहैव लभते-प्राप्नोति कीर्तिं प्रशंसारूपाम् । अथवा—कीर्तिमित्युपलक्षणमामर्षौपध्यादिकमप्याप्नोति 'पेचाय' त्ति प्रेत्य परलोके सुगतिं-सुष्ठु गतिं मुक्तिरूपां लभते ।

उक्तोपसंहारमाह—

एवं अभिसमागम्म, सूरा दढपरक्कमा ।
सव्वमोहविणिम्मुक्का, जातीमरणमिच्छिया ॥ ३९ ॥

एवम्—पूर्वोक्तप्रकारेण अवधारणे वा, अभिः—आभिमुख्ये सम्—एकीभावे आङ्—मर्यादाऽभिविध्योः गम्लृसृपृ गतौ । सर्वे गत्यर्थाः धातवः ज्ञानार्था ज्ञेयाः । ज्ञात्वा गुणदोषानित्यर्थः; शूराः-तपसि परीषहसहेन च दृढपराक्रमाः समाधृततपउपधानाद्यनुष्ठाननिर्वाहकाः न तु तद्भञ्जकाः, अथवा—ज्ञाननयकथनात् करणनयोऽपि गृहीतोऽत्र, ते चैवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति ततः किमस्य फलमित्युच्यते, 'सव्वमोहे ' त्ति सर्वमोहः—अष्टकर्मप्रकृतिरूपः तस्माद्विशेषेण नितरामतिशयेन मुक्ताः यदा निरवशेषो मोहो गतो भवति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदा कारणस्याभावात् कार्यस्याभावो भवति, तत्त्वाभावे तत्त्वकरणं मोहकार्यम्, जातिमरणे अतिक्रान्ते अतीते काले एवं सांप्रतागामिकालयोर्भावना कार्या। ब्रवीमि इति पूर्ववत्। दशा० ६ अ०। आ० चू०। स्था०। प्रश्न०। आव०।

मोहणिज्जवग्ग–मोहनीयवर्ग–पुं०। मोननीयप्रकृतिसमुदाये, क० प्र० १ प्रक०।

मोहतरु–मोहतरु–पुं०। मोहस्तरुरिव अशुभपुष्पफलदानभावे न मोहतरुः। तरुरूपत्वेन विवक्षिते मोहे, पं० व० १ द्वार।

मोहतिगिच्छा–मोहचिकित्सा–स्त्री०। तपसा मोहक्षये, नि० चू० ४ उ०।

मोहतिमिरंसुमालि–मोहतिमिरांशुमालिन्–पुं०। मोहस्तिमिरमिव मोहतिमिरं सद्दर्शनावारकत्वेन तस्यांशुमालीवांशुमाली। मोहापनयनादादित्यकल्पे, पं० सू० ४ सूत्र।

मोहदंसि–मोहदर्शिन्–पुं०। मोहं स्वरूपतो वेत्यनर्थपरित्यागरूपत्वात् ज्ञानस्य परिहरति च समानमपि पश्यति परिहरति चेति। मोहपरिज्ञाज्ञातरि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

मोहदुग–मोहद्विक–न०। दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीययुग्मे, क० प्र० २ प्रक०।

मोहदुगुंच्छा–मोहजुगुप्सा–स्त्री०। स्त्रीपरिभोगहेतुवेदादिमोहनीयनिन्दायाम्, पञ्चा० १ विव०।

मोहद्धंतविणासिणी–मोहध्वान्तविनाशिनी–स्त्री०। अज्ञानतिमिरापहारिण्याम्, द्वा० २४ द्वा०।

मोहपयडि–मोहप्रकृति–स्त्री०। मोहनीयकर्मभेदे, आव०५ अ०।

मोहपसत्त–मोहप्रसक्त–त्रि०। विषयरक्ते, तं०।

मोहपास–मोहपाश–पुं०। मोहरूपे बन्धनरज्जौ, "वेरग्गतिक्खखग्गेहिं", छिंदिउं मोहपासअं जे उ। गिण्हंति महासत्ता, अविट्ठपियसंगमा दिक्खं" सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

मोहभेसज्ज–मोहभैषज्य–न०। मोहचिकित्सने, बृ० १ उ०।

मोहमहब्भयप(वड्ढ)यड्ढय–मोहमहाभयप्रकर्षक–त्रि०। मोहो-मूढता महाभयम्–अतिभीतिस्तयोः प्रकर्षकः–प्रवर्तकः यः स मोहमहाभयप्रकर्षकः प्रवर्तको वा। अज्ञानभयजनके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

मोहमोहियमइ–मोहमोहितमति–त्रि०। मोहेन मोहिता मतिर्यस्य स तथा। मुग्धेषु कामक्रीडासक्तेषु, प्रश्न०४आश्र० द्वार।

मोहर–मौखर–न०। मौखर्येण पूर्वसंस्तवपश्चात्संस्तवादिना बहुभाषित्वेन यल्लभ्यते तत् मौखरम्। उत्पादनादोषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार। मुखर एव मौखरः। मुखरतया चाटुकरणतः आत्मानं पुत्रतयाऽभ्युपगमयति, स्था० १० ठा० ३ उ०।

मोहरज्ज–मोहराज्य–न०। मूढताप्रकर्षे, "दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम्। मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशून्य–स्त्वच्छासनप्रतिहतेषु न मोहराज्यम्।१।" आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०।

मोहरिय–मौखरिक–त्रि०। मुखमतिभाषणातिशयेन वदतीति मुखरः। अथवा–मुखेनारिमावहतीति निपातान्मौखरिकः। मुखरे, स्था०६ ठा०३उ०। नानाविधासम्बद्धाभिधायिषु, औ०। ध० र०। "मोहरिए सच्चवयणस्स परिमंथू" बृ०। मुखं प्रभूतभाषणातिशायि वदनमस्यास्तीति मुखरः; स एव मौखरिको–बहुभाषी विनयादेराकृतिगणत्वादिकण्प्रत्ययः। यद्वा–मुखेनारिमावहतीति व्युत्पत्त्या निपातनात् मौखरिकः। सत्यवचनस्य मृषावादविरतेः परिमन्थुः मौखर्ये सति मृषावादसम्भवात्। बृ० ६ उ०।

(स च मौखरिकः 'कुक्कुइय' शब्दे तृतीयभागे ५७४ पृष्ठे गतः)
(मौखरिकत्वेऽपवादः 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २३० पृष्ठे गतः)

मौखर्य–न०। मुखमस्यास्तीति मुखरोऽनालोचितभाषी वाचाटस्तस्य भावः कर्म वा मौखर्यम्। धार्ष्ट्यप्रायेऽसत्यासंबद्धापलापित्वे, अनर्थदण्डविरतेर्द्वितीयेऽतिचारे, अतिचारत्वं चास्य पापोपदेशसंभवात्। प्रव० ६ द्वार। था०। पञ्चा०। ध०। आ० चू०। मोहरिओ मुहेण आयरियाए। जहा कुमारा मच्चेणं रन्नो तुरियं किं पि कज्जं० जाव को सिग्घं ओहोज्जति। आ० चू० ४ अ०।

मोहली–मौखली–स्त्री०। महौषधिभेदे, ती० ६ कल्प।

मोहविगारसमेय–मोहविकारसमेत–त्रि०। मनोविभ्रमदोषसमन्विते, षो० ११ विव०।

मोहविस–मोहविष–न०। विवेकचैतन्यापहारिणि विषे, पञ्चा० १४ विव०।

मोहसण्णा–मोहसंज्ञा–स्त्री०। मिथ्यादर्शनरूपाद् मोहोदयात्संज्ञाने, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

मोहसम–मोहशम–पुं०। मोहस्य मोहनीयस्य शमः शमक उपशमकः। उपशमश्रेण्यारूढे निवृत्तिवादरे, सूक्ष्मसंपराये च। कर्म० ५ कर्म०।

मोहावत्त–मोहावर्त–पुं०। मोहो–मोहनीयं कर्म तदेवातिभ्रमिजनकत्वादावर्त्तत इत्यावर्त्तः, सोऽस्मिन्नस्तीति मोहावर्तः। मोहरूपावर्तसङ्कुले, दर्श० ४ तत्त्व।

मोहिय–मोहित–त्रि०। मैथुनसेवां कुर्वति, रा०। निधुवने, न०। ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

मोहुद्दाम–मोहोद्दाम–पुं०। सकलसमनल्पोपकत्वाद्दावानलकल्पे मोहे, प्रति०।

मोहुम्माद–मोहोन्माद–पुं०। मोहजनिते उन्मादे, प्रति०।

मोहुम्मायजणण–मोहोन्मादजनन–न०। कामोद्दीपके, उपा० ५ अ०।

मोहोदय–मोहोदय–पुं०। क्लिष्टचित्तपरिणामे, पं०व० ४ द्वार।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्री-
मद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
मकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीअभिधानराजेन्द्रः।

रकार

र-र-अव्य०। पुं०। अयं वर्णः मूर्द्धस्थानीयः अन्तस्थः। रा-ड। वह्नौ, उग्रे, कामानले, वाच०। सूर्ये, अग्नौ, धने, एका०। शिवे, वज्रे, कामे, नरे, रुचौ, आराधने, निधौ, पिण्डे, निरये च। एका०। जले, रोगे, वेगे, न०। एका०। विरसे, स्त्याने, तीक्ष्णे, च। त्रि०। एका०। किलशब्दार्थे, दश० १ अ०। पादपूरणे च। वृ० ३ उ०। व्य०। ग०। आ० म०। आव०।

रअ-रच-धा०। प्रतियत्ने, चुरा०। पर०। रचेरुग्गाहा-ऽवह-विडविड्डाः॥ ८।४।९४॥ इति आदेशत्रयाभावे, रअइ। रचयति। प्रा० ४ पाद।

रजस्-न० धूलौ, "रेणू पंसू रओ पराओ य" पाइ० ना० १३ गाथा।

रअअ-रजत-न०। क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ॥८।१।१७७॥ इति। जकारतकारयोर्लुक्। रअअं। रूप्यधातौ, प्रा०। लुकि सति। अवर्णो यः श्रुतिः॥ ८। १। १८०॥ इति अकारौ यश्रुतिकौ। रययं। प्रा०। प्राकृते तु-रअअमित्येव भवति। रअदं तु-सौरसेनीमागध्योः। प्रा० १ पाद।

रअण-रत्न-न०। क्ष्मा-श्लाघा-रत्नेऽन्त्यव्यञ्जनात्॥ ८।१।१०१॥ इत्यनेन तकारनकारयोर्मध्ये ह्स्वाकारः। प्रा०। माणिक्यादिप्रस्तरे, स्वस्वजातिषु श्रेष्ठे च। वाच०।

रअणिअर-रजनिचर-पुं०। राक्षसे, चौरे, यामिकभटे च। प्रा० ४ पाद।

रइ-रति-स्त्री०। रमणं रतिः। क्रीडायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। आ० म०। औ०। उत्त०। सूत्र०। ज्ञा०। रा०। मानसे विकारे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। अभीष्टपदार्थानामुपरि मनःप्रीतौ, प्रव० ४१ द्वार। मनोऽभिप्रेतवस्तुनः-प्राप्तिजनितचित्तानन्दे, दर्श० १ तत्त्व। मन्मथवाञ्छायाम्, तं०। दयिताङ्गसङ्गजनितायाम् (उत्त० १६ अ०) मैथुनप्रीतौ, उत्त० १४ अ०। विषयाभिष्वङ्गे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। आसक्तौ, चं० प्र० २० पाहु०। "एगा रई" रतिश्च तथाविधानन्दरूपा। स्था० १ ठा०। मोहनीयकर्म्मोदयजन्ये तथाविधानन्दरूपे विकारे, ध० २ अधि०। विषयेषु मोहनीयोदयाच्चित्ताभिरतौ, दशा० ६ अ०। रुच्या कामभोगे, नि० चू० १ उ०। असंयमे प्रीतौ, उत्त० ६ अ०। रम्यते अस्यामिति रतिः। स्पर्शनादिभोगजनितायां चित्तप्रह्लत्तौ, उत्त० ५ अ०। रम्यतेऽनयेति रतिः। क्रीडायाम्, दश० १ अ०। रतिवेदनीयकर्म्मणि, दश० १ चू०। उपचारात् रतिकारणे सुरतव्यापाराङ्गे ललनादौ, अनु०। रतिविषयगते ललनावगूहनादिके, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। "नग्नः प्रेत इवाविष्टः, क्वणन्तीमुपगृह्य ताम्। गाढायासितसर्वाङ्गः, स सुखी रमते किल॥ १॥" विशे०। प्रश्न०। पद्मप्रभस्य षष्ठजिनस्य प्रवर्त्तिन्याम्, प्रव० ८ द्वार। स०। भूतानन्दस्य नाट्यानीकाधिपतौ, पुं०। स्था० ५ ठा० २ उ०। मनोज्ञेषु असंयमे वा रमणं सा रतिः। आभ्यन्तरपरिग्रहे, वृ० १ उ०।

रइआसण-रचिताशन-न०। लोकोत्तररीत्या त्रयोदशतिथिदिने, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

रइकम्म-रतिकर्म्मन्-न०। यदुदयेन सचित्ताचित्तेषु बाह्यद्रव्येषु जीवस्य रतिरुत्पद्यते-तस्मिन् कर्म्मणि, स्था० ६ ठा ३ उ०।

रइकर-रतिकर-पुं०। नन्दीश्वरद्वीपे दक्षिणपूर्वाऽऽदिकोणवर्तिषु स्वनामख्यातेषु पर्वतेषु, रा०।

रइकरपव्वय-रतिकरपर्वत-पुं०। नन्दीश्वरद्वीपे विदिग्व्यवस्थितेषु पर्वतेषु, स्था०।

रतिकरपर्वतवक्तव्यता—

णंदीसरवरस्स णं दीवस्स चक्कवालविक्खंभस्स बहुमज्झदेसभागे चउसु विदिसासु चत्तारि रतिकरगपव्वता पण्णत्ता। तं जहा-उत्तरपुरच्छिमिल्ले रतिकरगपव्वते, दाहिणपुरच्छिमिल्ले रइकरगपव्वए, दाहिणपच्चत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वते, उत्तरपच्चत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वए। ते णं रतिकरगपव्वता दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दस गाउयसताइं उव्वेहेणं सव्वत्थसमा झल्लरिसंठाणसंठिया दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसते परिक्खेवेणं, सव्वरयणामया, अच्छा ०जाव पडिरूवा। तत्थ णं जे से उत्तरपुरच्छिमिल्ले रतिकरगपव्वते, तस्स णं चउदिसिं ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबुदीवपमाणाओ चत्तारि रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णंदुत्तरा णंदा उत्तरकुरा देवकुरा, कण्हाते कण्हरातीते रामाए रामरक्खियाते। तत्थ णं जे से दाहिणपुरच्छिमिल्ले रतिकरगपव्वते, तस्स णं चउदिसिं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबुदीवपमाणातो चत्तारि रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-समणा सोमणसा अच्चिमाली मणोरमा पउमाते सिवाते सतीते अंजूए। तत्थ णं जे से दाहिणपच्चत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वते तत्थ णं चउदिसिं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबुदीवपमाणमेत्तातो चत्तारि रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-भूता भूतवडेंसा गोथूभा सुदंसणा, अमलाते अच्छराते णवमिताते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रोहिणीते। तत्थ णं जे से उत्तरपच्चत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वते तत्थ णं चउद्दिसिमीसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबुद्दीवप्पमाणमित्तातो चत्तारि रायहाणीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—रयणा रतणुच्चता सव्वरतणा रतणसंचया वसूते वसुगुत्ताते वसुमित्ताते वसुंधराए। (सू० ३०७)

बहुमध्यदेशभागे—उक्तलक्षणे विदिक्षु—पूर्वोत्तरादासु रतिकरणाद्रतिकराः, ४ राजधान्यः क्रमेण कृष्णादीनामिन्द्राणीनामिति, तत्र दक्षिणलोकार्द्धनायकत्वाच्छक्रस्य पूर्वदक्षिणदक्षिणापरविदिग्द्वयरतिकरयोस्तस्येन्द्राणीनां राजधान्य इतरयोरीशानस्योत्तरलोकार्द्धाधिपतित्वात् तस्येति,एवञ्च नन्दीश्वरे द्वीपे अञ्जनकदधिमुखेषु ४–१६विंशतिर्जिनायतनानि भवन्ति, अत्र च देवाः चातुर्मासिकप्रतिपत्सु सांवत्सरिकेषु चान्येषु च बहुषु जिनजन्मादिषु देवकार्येषु समुदिता अष्टाह्निका महिमाः कुर्वन्तः सुखं सुखेन विरहन्तीत्युक्तं जीवाभिगमे, ततो यान्यन्यपि तथाविधानि सन्ति सिद्धायतनानि तदा न विरोधः, सम्भवन्ति च तानि उक्तनगरीषु विजयनगर्यामिवेति, तथा दृश्यते च पञ्चदशस्थानोद्धारलेशः—"सोलसदहिमुहसेला, कुंदामलसंखचंदसंकासा। कणयनिभा बत्तीसं, रइकरगिरि बाहिरा तेसिं ॥ १ ॥" द्वयोर्द्वयोर्वाप्योरन्तराले बहिःकोणयोः प्रत्यासन्नौ द्वौ द्वावित्यर्थः, "अंजणगाइगिरीणं, णाणामणिपज्जलंतसिहरेसु। बावन्नं जिणणिलया, मणिरयणसहस्स कूडवरा ॥ १ ॥" इति, तत्त्वन्तु बहुश्रुता विदन्तीति एतच्च पूर्वोक्तं सर्वं सत्यं जिनोक्तत्वात्। स्था० ४ ठा० २ उ०।

रतिकराणामुच्चत्वादिवक्तव्यता—

सव्वे वि णं रइकरगपव्वया दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दस गाउयसयाइं उव्वेहेणं सव्वत्थसमा झल्लरिसंठिया दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पन्नत्ता। (सू० ७२५)

रतिकरा नन्दीश्वरद्वीपे विदिग्व्यवस्थिताः चत्वारश्चतुःस्थानकाभिहितस्वरूपाः। स्था० १० ठा० ३ उ०। द्वी०। जी०। (रतिकरपर्वतानामुच्चत्वादिवक्तव्यता 'अंजणग' शब्दे प्रथमभागे ४६ पृष्ठे विस्तरतो गता)

रइगेल्ली—देशी—रतितृष्णेति केचित्। दे० ना०७ वर्ग ३ गाथा।

रइणाह—रतिनाथ—पुं०। कामदेवे, 'मयरद्धओ अणंगो, रइणाहो वम्महो कुसुमवाणो"। पाइ० ना० ७ गाथा।

रइतरंगा—रतितरङ्गा—स्त्री०। तरङ्गनन्दननामराजस्य भार्यायाम्, दश० ५ अ० १ उ०।

रइप्पभा—रतिप्रभा—स्त्री०। किन्नरेन्द्रस्य अग्रमहिष्याम्, किन्नरस्स णं किन्नरिंदस्स चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ। तं जहा—वडेंसा, केतुमती, रतिसेणा, रतिप्पभा। (सू० २७३) स्था० ४ ठा० १ उ०।

रइप्पिय—रतिप्रिय—पुं०। किन्नरेन्द्रे, नवमे किन्नरभेदे च। प्रज्ञा० १ पद।

रइप्पिया—रतिप्रिया—स्त्री०। किन्नरस्य किन्नरेन्द्रस्य अग्रमहिष्याम्, ज्ञा० २ श्रु० ४ वर्ग १ अ०। भ०। पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे उक्ता)

रइमंदिर—रतिमन्दिर—न०। रतिक्रीडागृहे, "सोवणयं रइमंदिरं" पाइ० ना० १०८ गाथा।

रइमेल्ल—देशी—अभिलषिते, दे० ना० ७ वर्ग ३ गाथा।

रइमोहणिज्ज—रतिमोहनीय—न०। यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्तं वा बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु जीवस्य रतिः प्रमोदो भवति। मोहनीयकर्मणि, कर्म० ६ कर्म०। पं० सं०।

रइय—रचित—त्रि०। निर्मिते, न्यस्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। पञ्चा०। औ०। स०। रा०। विहिते, औ०। रचितमौद्देशिकादिभेदाद्यन्मोदकचूर्णादि पुनर्मोदकतया कूरदध्यादिकं वा यत्करम्बकादितया विरचितं तद्रचितमित्युच्यते। औ०। रा०। रचितं नाम-संयतनिमित्तं कांस्यपात्रादौ मध्ये भक्तं निवेश्य पार्श्वेषु व्यञ्जनानि बहुविधानि स्थाप्यन्ते। औद्देशिकतया विरचिते भक्तादौ, व्य० ३ उ०।

रतिद—त्रि०। रम्ये, सुखप्रदे च। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। ज्ञा०। औ०। रा०। प्रश्न०।

रइय(य)भोइ—रचितकभोजिन्—पुं०। रचितकं नाम कांस्यपात्रादिदेयबुद्ध्या वैचित्र्येण स्थापितं तद् भुङ्क्ते इत्येवंशीलो रचितकभोजी। धातुपात्रभोजिनि साधौ, व्य० १ उ०।

रइल्लिय—रजस्वल—त्रि०। रजोयुक्ते, भ० ८ श० ३ उ०।

रइवंत—रतिमत्—पुं०। रतिः कामप्रिया विद्यतेऽस्येति रतिमान्। कन्दर्पे, तं०।

रइवक्का—रतिवाक्या—स्त्री०। रतिकारकाणि—रतिजनकानि तानि वाक्यानि येन कारणेनास्यां चूडायां तेन निमित्तेन रतिवाक्या;एषां च रतिकर्तॄणां वाक्यानि यस्यां सा रतिवाक्या। रतिजनकवाक्यदोषप्रतिबद्धायां चूडायाम्, दश०।

प्रथमा रतिवाक्यचूडा, अस्याश्चानुयोगद्वारोपन्यासः। पूर्ववक्तावद्यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे, रतिवाक्येति द्विपदं नाम, तत्र रतिनिक्षेप उच्यते—तत्रापि नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यभावरत्यभिधित्सयाऽऽह—

दव्वे दुहा उ कम्मे, नो कम्मरई अ सद्दव्वाई।
भावरई तस्सेव उ, उदए एमेव अरई वि ॥ ३६२ ॥

द्रव्यरतिः-आगम नोआगमज्ञशरीरेतरातिरिक्ता द्विधा, कर्मद्रव्यरतिः, नोकर्मद्रव्यरतिश्च। तत्र कर्मद्रव्यरती रतिवेदनीयं कर्म, एतच्च बद्धमनुदयावस्थं गृह्यते, नोकर्मद्रव्यरतिस्तु शब्दादिद्रव्याणि, आदिशब्दात्—स्पर्शरसादिपरिग्रहः। रतिजनकानि—रतिकारणानि। भावरतिः 'तस्यैव तु' रतिवेदनीयस्य कर्मण उदये भवति, एवमेवारतिरपि द्रव्यभावभेदभिन्ना यथोक्तरतिप्रतिपक्षतो विज्ञेया इति गाथार्थः। उक्ता रतिः।

इदानीं वाक्यमतिदिशन्नाह—

वक्कं तु पुव्वभणिअं, धम्मे रइकारगाणि वक्काणि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जेण मिमीए तेणं, रइवक्के सा हवइ चूडा ॥ ३६३ ॥

वाक्यं तु पूर्वभणितं—वाक्यशुद्धयध्ययनेऽनेकप्रकारमुक्तम् धर्मे—चारित्ररूपे रतिकारकाणि—रतिजनकानि तानि च वाक्यानि, येन कारणेन अस्यां चूडायां तेन निमित्तेन रतिवाक्यैषा चूडा, रतिकर्तॄणि वाक्यानि यस्यां सा रतिवाक्या इति गाथार्थः ।

इह च रत्यभिधानं सम्यक्सहनेन गुणकारिणीत्वोपदर्शनार्थम् । आह च—

जह नाम आउरस्सिह, सीवणछेज्जेसु कीरमाणेसु ।

जंतणमपत्थकुच्छाऽऽ-मदोसविरई हिअकरी उ ॥३६४॥

यथा नामेति—प्रसिद्धमेतत् आतुरस्य—शरीरसमुत्थेन आगन्तुकेन वा व्रणेन ग्लानस्य इह—लोके सीवनच्छेद्येषु—सीवनच्छेदनकर्मसु क्रियमाणेषु सत्सु—किमित्याह-यन्त्रणं गलयन्त्रादिना अपथ्यकुत्सा—अपथ्यप्रतिषेधः आमदोषविरतिः-अजीर्णदोषनिवृत्तिः हितकारिण्येव विपाकसुन्दरत्वादिति गाथार्थः ।

दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

अट्ठविहकम्मरोगा-उरस्स जीवस्स तह तिगिच्छाए ।

धम्मे रई अधम्मे, अरई गुणकारिणी होइ ॥३६५॥

अष्टविधकर्मरोगातुरस्य-ज्ञानावरणीयादिरोगेण भावग्लानस्य जीवस्य—आत्मनः तथा-तेनैव प्रकारेण चिकित्सायाम्—संयमरूपायां प्रक्रान्तायामस्नानलोचादिना पीडाभवेऽपि धर्मे-श्रुतादिरूपे रतिः-आसक्तिः अधर्मे—तद्विपरीते अरतिः-अनासक्तिः गुणकारिणी भवति, निर्वाणसाधकत्वेनेति गाथार्थः ।

एतदेव स्पष्टयति—

सज्झायसंजमतवे, वेआवच्चे अ झाणजोगे अ ।

जो रमइ नो रमइ असं-जमम्मि सो वच्चई सिद्धिं ॥३६६॥

स्वाध्याये-वाचनादौ संयमे-पृथिवीकायसंयमादौ तपसि-अनशनादौ वैयावृत्त्ये च-आचार्यादिविषये ध्यानयोगे च-धर्मध्यानादौ यो रमते-स्वाध्यायादिषु सक्त आस्ते, तथा न रमते-न सक्त आस्ते असंयमे-प्राणातिपातादौ स व्रजति सिद्धिं गच्छति मोक्षम् । इह च संयमतपोग्रहणे सति स्वाध्यायादिग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थमिति गाथार्थः ।

उपसंहरन्नाह—

तम्हा धम्मे रइका-रगाणि ऽरइकारगाणि उ (य)अहम्मे ।

ठाणाणि ताणि जाणे, जाइं भणिआइँ अज्झयणे ॥३६७॥

तस्मात् धर्मे-चारित्ररूपे रतिकारकाणि—रतिजनकानि अरतिकारकाणि च—अरतिजनकानि च अधर्मे-असंयमे स्थानानि तानि-वक्ष्यमाणानि जानीयात्; यानि भणितानि-प्रतिपादितानि इह अध्ययने प्रक्रान्ते इति गाथार्थः । उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः । दश० १ चू० ।

रइसेट्ठ–रतिश्रेष्ठ–पुं० । किन्नरभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

रइसेणा–रतिसेना–स्त्री० । किन्नरस्य अग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

रउग्घाय–रजउद्घात–पुं० । रजस्वलासु दिक्षु, यासु समन्ततो धार इव दृश्यते । व्य० ७ उ० । भ० । आव० । महाबन्धावारगमनसमुद्धता इव विश्रसा परिणामतः समन्तात् रेणुपतनं रउग्घातो भएणति, अहवा-एस रउग्घाओ पुण पांसु रता भएणति । नि० चू० १६ उ० । आ० चू० ।

रओहरण–रजोहरण–न० । बाह्यम्, आभ्यन्तरं च । रजो ह्रियते अनेनेति रजोहरणम्, तत्र बाह्यरजोऽपहारित्वमस्य सुप्रतीतम्, आन्तररजोऽपहरणसमर्थश्च परमार्थतः संयमयोगास्तेषां च कारणमिदं धर्मलिङ्गमिति कारणे कार्योपचाराद्रजोहरणमित्युच्यते । पिं० । रजो ह्रियते अपनीयते येन तद्रजोहरणम् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । पं० व० । (रजोहरणशब्दार्थः 'पवज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७४६ पृष्ठे गतः) प्रव० १ द्वार । पादप्रोञ्छने, पञ्चा० १० विव० ।

रजोहरणप्रमाणम्—

बत्तीसंऽगुलदीहं, चउवीसं अंगुलाइँ दंडस्स ।

सेसदसापडिपुन्नं, रयहरणं होइ माणेणं ॥ ८१४ ॥

द्वात्रिंशदङ्गुलदीर्घं रजोहरणं भवति सामान्येन, तत्र चतुर्विंशतिरङ्गुलानि दण्डस्य, तस्य रजोहरणस्य शेषाः अष्टाङ्गुला दशाः प्रतिपूर्णं सह पादपुञ्छननिषद्यया रजोहरणं भवति मानेन-प्रमाणेन इति गाथाऽर्थः ॥ पं० व० ३ द्वार । ध० ।

रजोहरणस्वरूपमाह

घणं मूले थिरं मज्झे, अग्गे मद्दवजुत्तया ।

एगंगियं अज्झुसिरं, पोरायामं तिपासियं ॥ २६२ ॥

मूले-हस्तग्रहणप्रदेशे रजोहरणं घनम्—निविडवेष्टितम् । मध्ये—मध्यभागे स्थिरम्—दृढम् अग्रे-दशिकापर्यन्ते मार्दवयुक्तता, दशिका मृदुस्पर्शा विधेया इत्यर्थः । एकाङ्गिकं नाम तज्जातदशिकं नवाद्यादिखण्डनिष्पन्नम्, अज्झुसिरम्-न रोमबहुलं, न वा ग्रन्थिलम्; 'पोरायामं' ति पर्वायामम् अङ्गुष्ठपर्वणि प्रतिष्ठितायाः प्रदेशिन्या यावत्तदपान्तरालं तावत्प्रमाणायामम् 'तिपासियं' ति त्रिभिर्दवरकवेष्टिकैः पाशितं बद्धम्, एवंविधं रजोहरणं कर्त्तव्यम् ।

इदमेव स्पष्टतरमाह—

अप्पोलं मिदुपम्हं, पडिपुन्नं हत्थपूरिमं ।

तिपरियल्लमणीसट्ठं, रयहरणं धारए मुणी ॥ २६३ ॥

दृढवेष्टनादस्य शिरः दण्डं वा, तथा मृदूनि-कोमलानि पक्ष्माणि-दशिकारोमाग्रभागरूपाणि यस्य तन्मृदुपक्ष्मकम् । प्रतिपूर्णं बाह्येन निषद्याद्वयेन युक्तं, हस्तपूरिममेव यथा हस्तं पूरयति तथा कर्त्तव्यमित्यर्थः । त्रिपरिवर्त्त—त्रीन् वारान् वेष्टनीयम्, अनिसृष्टं नाम हस्तप्रमाणादवग्रहादस्फेटितम्, एवंविधं रजोहरणं मुनिर्धारयेत् ।

उन्नियं उट्टियं चेव, कंबलं पायपुंछणं ।

रयणीए माणमित्तं, कुज्जा पोरपरिग्गहं ॥ २६४ ॥

और्णिकम्-ऊर्णामयम् औष्ट्रिकं वा-उष्ट्ररोममयं यत्कम्बलं तत्पादप्रोञ्छनं रजोहरणं कर्त्तव्यम्, रत्निप्रमाणं—हस्तप्रमाणायामं दण्डकं, पर्वपरिग्रहम् अङ्गुष्ठपर्वलग्नप्रदेशिनीशुषिरपूरकम् एवंविधं रजोहरणं कुर्यात् । बृ० ३ उ० ।

पञ्च रजोहरणानि । सूत्रम्—

कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इमाइं पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा-उणिए य उट्टिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साणए वच्चयपिप्पए मुंजविप्पए नाम पंचमे ॥ ३० ॥

अथास्य सम्बन्धमाह—

उदितो खलु उक्कोसो,उवहिं मज्झिममिदाणि वोच्छामि।
संखा व एस सरिसी, पाउंछणसुत्तसंबंधो ॥ ३७५ ॥

उदितो–भणितः खलु–अनन्तरसूत्रे और्णिको मौक्तिककल्परूप उपधिः, इदानीं तु मध्यम उपधिः—रजोहरणलक्षणमहमस्मिन् सूत्रे वक्ष्यामि । यद्वा अनयोः सूत्रयोर्या पञ्चलक्षणा सङ्ख्या एषा सदृशी वस्त्राणां रजोहरणानां च तुल्या, अत इदं पादप्रोञ्छनं रजोहरणं तद्विषयं सूत्रमारभ्यते; एष सम्बन्धः, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (सूत्रस्य ३०) व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च इमानि पञ्च रजोहरणानि धारयितुं वा परिहर्तुं वा । तद्यथेत्युपदर्शनार्थः । और्णिकम् ऊर्णिकानाम्, ऊर्णाभिर्निर्वृत्तम् और्णिकम् । उष्ट्ररोमनिर्वृत्तम् औष्ट्रिकम्, सानकं–सनवृक्षजातम् । वल्कलाज्जातं वल्कलस्तृणविशेषस्तस्य 'चिप्पकः' कुट्टितस्त्वग्रूपः तेन निष्पन्नं वल्कलविप्पकम्, मुञ्जः—शरस्तम्बस्तस्य विप्पकाद्यातं पुञ्जविप्पकं नाम पञ्चमम्, इति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः-

अब्भंतरं च वज्झं, हरति रयं तेण होइ रयहरणं ।
तं उण्णि उट्टि सणयं, वच्चयविप्पं च मुंजं च ॥ ३७६ ॥

यस्माद् आभ्यन्तरं बाह्यं च रजो हरति तेन रजोहरणं भवति । तत्र–यद्बाह्यं रजो हरति तदाभ्यन्तरं कथं पुनरपहरतीति ?, उच्यते—रजोहरणेन प्रमार्जिते भूभागे य आदाननिक्षेपाद्यः संयमव्यापारा विधीयन्ते, अष्टकर्मरूपमाभ्यन्तरं रजो हरति, अतः कारणे कार्याध्यारोपं विधाय तदप्याभ्यन्तररजोहरणमुच्यते । उक्तं च–" संजमजोगे एत्थं, रओहरा तेसि कारणं जेणं । रयहरणं उवयारा, संजम भन्नइ रओकम्मं" तच्च पञ्चविधम्–और्णिकम्, औष्ट्रिकम्, शानकम्, वच्चकविप्पकम्, मुञ्जविप्पकं चेति ।

तत्राद्यानि त्रीणि सुप्रसिद्धानि,अन्त्यद्वयं व्याख्यानयति-

वच्चकमुञ्जे कत्तं–ति विप्पितुं तेहि भूयए गोणी ।
पाउरणत्थरणाणि य, करेंति देसं समासज्ज ॥ ३७७ ॥

क्वचिद्धर्मचक्रभूमिकादौ देशे वच्चकं दर्भाकारं तृणविशेषं, मुञ्जं शरस्तं च प्रथमं विप्पित्वा—कुट्टयित्वा तदीयो यः क्षोदस्तं कर्त्तयन्ति, ततस्तैर्वच्चकसूत्रैर्मुञ्जसूत्रैश्च गोणीवारको भूयते । प्रावरणास्तरणानि च देशं–देशविशेषमासाद्य कुर्वन्ति, अतस्तन्निष्पन्नं रजोहरणं वच्चकविप्पक मुञ्जविप्पकं वा भण्यते ।

रयहरणपणगस्स, परिवाडीए य होति गहणं तु ।
उप्परिवाडीगहणे, आवज्जति मासियं लहुअं ॥ ३७८ ॥

रजोहरणपञ्चकस्यानन्तरोक्तस्य परिपाटिकया ग्रहणं भवति । व्यत्ययपरिपाट्या तु ग्रहणे आपद्यत मासिकं लघुकम् ।

का पुनः परिपाटिरित्याह—

तिविहोण्णिय असईए, उट्टियमादीण गहणधरणं तु ।
उप्परिवाडीगहणे, तत्थ वि सट्ठाणपच्छित्तं ॥ ३७६ ॥

यथा कृतादिभेदात्त्रिविधं यदौर्णिकं तत्प्रथमतो गृहीतव्यं, यथा कृतलाभवर्गः प्राग्वत् द्रष्टव्यः । अथौर्णिकं न प्राप्यते तत औष्ट्रिकादीनामपि चतुर्णां यथाक्रमं ग्रहणं धारणं वा कर्त्तव्यम् । अथोत्परिपाट्या यथोक्तव्यत्यासेन ग्रहणं करोति ततस्तत्राऽपि स्वस्थानं प्रायश्चित्तं मध्यमोपधिनिष्पन्नं लघुमासिकमिति भावः ।

आह—किमर्थं प्रथममौर्णिकं स्तूयते—

उट्टसणा कुत्थंती, ओल्ला रयरेसु मुद्दवं णऽत्थि ।
तेणोण्णियं पसत्थं, असतीए उक्कम्मं कुज्जा ॥३८०॥

'उट्टसण' त्ति उष्ट्रिकसणकरजोहरणके वर्षाकाले व्यवधारितवृष्टिकायेनार्द्रीभवने सति कुथ्यतः, ततश्च पनकसम्मूर्छनादयो दोषाः, प्रमार्जनाकार्यं च न भवति । अथार्द्रेणाऽपि प्रमार्जने कृते सति दशिकान्तेषु गोलकाः प्रतिबध्यन्ते । मलिनीभूते च तत्राप्कायविराधना । तथा इतरयोर्वच्चकमुञ्जविप्पकाख्यरजोहरणयोर्मार्दवं नास्ति, स्वभावत एव कठिनत्वात्; तेन कारणेनौर्णिकरजोहरणमौष्ट्रिकादिभ्यः प्रशस्तम् । और्णिकस्यासत्यभावे उत्क्रमं कुर्यात् । औष्ट्रिकादीन्यपि यथालाभं गृह्णीयादिति भावः । बृ० २ उ० । स्था० । (द्वितीयरजोहरणप्रयोजनम् 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६६ पृष्ठे दर्शितम्) " जन्तवो बहवः सन्ति, दुर्दर्शा मांसचक्षुषाम् । तेभ्यः स्मृतं दयार्थं तु, रजोहरणधारणम् ॥१॥" उत्त० ३ अ० । पिं० ।

रजोहरणं दारुदण्डकं गृह्णीयात् । सूत्रम्—

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणयं गिण्हइ गिण्हंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

'जे' त्ति—णिद्देसे भिक्खू—पूर्वोक्तः दारुमओ दंडओ जस्स तं दारुदंडयं, पादे पुंछति जेण तं पाउपुंछणं, वा पट्टओ य निसिज्जवज्जियं रओहरणमित्यर्थः ।

तं जो करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

तं जो करेति करंतं वा सातिज्जति तस्स मासलहुं पच्छित्तं, एस सुत्तत्थो । एयं पुण सुत्तं अववातियं ।

इदाणिं णिज्जुत्तिवित्थरो । गाहा—

पाउंछणगं दुविधं, उस्सग्गियमाववातियं चेव ।
एक्केक्कं पि य दुविधं, णिव्वाघातं च वाघातं ॥ ४ ॥

पाउंछणं—रओहरणं, तं दुविधं—उस्सग्गियं, आववातियं च । उस्सग्गियं द्विविधं—णिव्वाघातियं, वाघातियं च । आववातियं च दुविधं—णिव्वाघातितं, वाघातितं च ।

एतेसिं वक्खाणमियाणिं भण्णति । गाहा—

जं तं णिव्वाघातं, तं एगं उण्णियं तु णायव्वं ।
वाघातउट्टियं पुण, सण पप्पय मुंजविप्पं च ॥ ५ ॥

जं उस्सग्गियं णिव्वाघातितं तं एगं ति उण्णियं भवति । इयाणिं उस्सग्गो—वाघातियं भण्णति, जं तस्सेव अणेगाओ उण्णिदसाओ । असति तस्सेव उट्टदसाओ, असति तस्सेव उ सणदसाओ, असति तस्सेव उ वच्चपिच्चदसाओ । वच्चओ–तणविसेसो दर्भाकृतिर्भवति । असति तस्सेव मुंजपिच्चदसाओ मुंजो विच्चउ त्ति वा विणिउ त्ति वा कुट्टितो त्ति वा एगट्ठं । असति उण्णियपट्टयस्स उट्टितपट्टगो एगंगदसो,एगंगासति उण्णियउट्टसणादिपट्टगेसु वि उण्णिदसाओ कारेयव्वा । सणादिपट्टगेसु वि उण्णिदसादओ कारेयव्वा । एते उस्सग्गितवाघातप्रकारा अभिहिता इत्यर्थः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदाणीमववातिकं द्विविधं भएणति-गाहा—

अहवा तं तधहेवा, तण उवरिं दारुदंडगं होति।
वाघाते अतिरेगो, इमो विसेसो तहिं होति ॥ ६ ॥

जहा उस्सग्गितं णिव्वाघातं ओणिएयं, सवाघातितं च उ-ट्टादिदसं भणियं अववातिकं तथा वक्तव्यमित्यर्थः। रओहरण-पट्टयं दुणिसेजवज्जियं दारुदंडयमेव तं भवति। उस्सग्गिय-अववातितवाघाते अइरेगो इमो, अएणो वि दसाविसेसो भवति।

गाहा—

उवरिंतं मुंजयसा, कोसेज्ज य पट्टपोत्त पिच्छे य।
संवद्धे वि य तत्तो, एस विसेसो तु वाघाते ॥ ७ ॥

रओहरणपट्टे दारुदंडे वा मुंजदसा भवति, मुंजदसाऽसति कोसेज्जदसा, कोसेज्जो-वडओ भएणति। तस्सासति दुगुल्ल-पट्टदसा, तस्सासति पोत्तदसा, पोत्तदसासति मोरंगपिच्छ-दसा 'संवद्धे वि य तत्तो' त्ति ततः कोसेतगादिविगप्पेसु वि सं-बंधासंबंधविकप्पेण रओहरणविकप्पा कार्य्याः। आद्यभेदा-नामभावादित्यर्थः।

चतुर्भङ्गार्थनिरूपणार्थं गाथाद्वयमाह—

जं जं णिव्वाघातं, एगं तं उण्णियं तु घेत्तव्वं।
उस्सग्गियवाघातं, उट्टिय-सण-पप्प-मुंजं च ॥ ८ ॥

पूर्वार्द्धेन प्रथमभाङ्गार्थः, पश्चार्द्धेन द्वितीयभङ्गार्थः।

गाहा—

णिव्वाघातऽववादी, दारुगदंड उण्णियाहि दसियाहि।
अववातियवाघातं, उट्टिय-सण-पप्प-मुंजदसं ॥ ९ ॥

पूर्वार्द्धेन तृतीयभङ्गार्थः, पश्चार्द्धेन चतुर्थभङ्गार्थः। एवमेते चउरो भङ्गा विशेषार्थदर्शनार्थमर्थेनाभिधानप्रकारेण प्रद-र्श्यन्ते।

गाहा—

अहवा उसग्गुसग्गिय, चउस्सग्गओ य अववातं।
अहवा उस्सग्गं वा, अववाओवाइयं चेव ॥ १० ॥

उस्सग्गियणिव्वाघातादि चउरो जे भेया त एव चतुरः उत्सर्गोत्सर्गादि द्रष्टव्याः। प्रथमद्वितीयभङ्गप्रदर्शनार्थं तृती-यचतुर्थभङ्गप्रतिषेधार्थं च इदमाह-

गाहा—

एगंगि उण्णियं खलु, असती तस्स दसिया उ ता चेव।
तत्तो एगंगोट्टी, ओण्णियउट्टियदसा तस्स ॥ ११ ॥

संबद्धदसागं जं तं उस्सग्गितं, इदाणीं उस्सग्गाववा-तितं भएणति। असति संबद्धदसागस्स उणिएणए पट्टए उ-णिएणयदसा लातिज्जंति, तस्सासति एगंगियं उट्टियं, तस्सा-सति उट्टियपट्टए उणिएणयदसा, तस्सासति उट्टियपट्टए उट्टियदसा, तस्सासति उणिएणयपट्टए सणादिदसा, सव्वा णेया जओ भएणति।

गाहा—

एवं सण पप्प मुंज, विप्पिते कोसपट्टदुगल्ले य।
पोत्तो पच्छा य तहा, दारगदंडे तहा दोसा ॥ १२ ॥

असति उणिएणयपट्टयस्स उट्टियपट्टए सणादिदसा सव्वा णेया। उट्टियपट्टासति सणयं एगंगियं, तस्सासति सण-पट्टए उण्णियादिदसा णेया। वच्चगे वि एगंगियं उणिएणया-दिदसा सव्वा कारेयव्वा, एवं मुंजादिसु वि। णवरं पे-च्छे पट्टयं ए भवति। चोदक आह—एणु सणवच्चगादि-पट्टगेसु कोसेज्जपट्टगादिदसा अणाइएणा? आयरियाऽऽह ता एव वरं ण दारुदंडयं पादपुंछणं। कहं? जतो दारुदंडे य ब-हू दोसा।

के य ते दोसा?—इमे—

इहरह वि ताव गरुयं, किं पुण भत्तोग्गहे अहव पाए।
भारे हत्थुवघातो, पडमाणे संजमा ताए ॥ १३ ॥

इहरहे त्ति विणा भत्तपाणेण स्वभावेन गुरुरित्यर्थः, कि-मित्यतिशये, पुण-विशेषणे। जदा पडिग्गहे भत्तं वा पाणं वा गहितं तदा पुव्वगुरु ततो गुरुतरं भवतीत्यर्थः। गुरुत्वात् हस्तोपघातः। पडमाणं गुरुत्वात् जीवोपघातं क-रोति। पादोवरि आतोऽवघातं वा। चसद्दा-आणादओ दो-सा, तम्हा-दारुदंडगं पायपुंछणं न गेण्हियव्वं। कारण-ओ गेण्हेज्ज।

इमे य ते कारणा—

संजमखेत्तयथोवा, अद्धाणादिसु हिते विणट्ठे वा।
पुव्वुत्तस्स उ गहणं, उण्णिदसा जाव पिच्छं तु ॥ १४ ॥

जत्थ आहारोवहिसेज्जा काले वा सति ततो अविरुद्धो यत्थ उवही लब्भति तं संजमखेत्तं। तओ असिवादिकारणेहिं वु-त्ता। सेसं कंठं।

तस्स इमो दंडो—

वेणुमओ वित्तमओ, दारुमओ वा वि दंडगो तस्स।
रयणीपमाणमेत्तो, तस्स दसा होति भइयव्वा ॥ १५ ॥

दसा तस्स भेज्जा, कथं-यद्यसौ त्रयोविंशाङ्गुलस्तदा णवा-ङ्गुला दसा। अथासौ चतुर्विंशाङ्गुलस्तदा अष्टाङ्गुला दसा। यद्यसौ पञ्चविंशाङ्गुलस्तदा सप्ताङ्गुला दसा, दंडदसाभ्याम् अहो कतमे द्वितीयभजनीयमित्यर्थः।

गाहा—

तं दारुदंडयं पाद-पुंछणं जो य कारए भिक्खू।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ १६ ॥

कंठा।

गाहा—

णट्ठेहि तवस्सरिते, भामियछूढे तहेव परिजुण्णे।
असती दुल्लभपडिस्स, ततो य जतणा इमा तत्थ ॥ १७ ॥
उस्सग्गियस्स पुव्वं, णिव्वाघाते गवेसणं कुज्जा।
तस्सासति वाघातिम, तस्सासति दारुदंडगए ॥ १८ ॥
तम्मि वि णिव्वाघाते, पुव्वकतो चेव होति वाघाते।
असती पुव्वकयस्स तु, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥ १९ ॥

तम्मि वि आववातिते णिव्वाघातिते पुव्वकए गहणं। जे भि-क्खू धरेति गहियं अपरिभोगेन धारयति।

दारुदण्डकं रजोहरणं वितरति परिभाजयति धरति च। सूत्राणि—

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणयं वियरइ वियरंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जे भिक्खू अरणमरणस्स वियरइ-अन्योन्यस्स साधोर्ग्रहणं प्रतिपुंड्रं वियरति। ग्रहणानुज्ञां ददातीत्यर्थः। सूत्रम्—

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणयं परिभाएइ परिभावेयंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू परिभापति त्ति नयनं दानमित्यर्थः।

सूत्रम्—

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणयं परिभुंजइ परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू परिभुंजति, परिभोगो तेन कार्यकरणमित्यर्थः।

गाहा—

एसेव गमो णियमा, गहणे धरणे तहेव य वियारे।
परिभायणपरिभोए, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥२०॥

कंठा।

गाहा—

काउं सयं व कप्पति, मुचाकितुं पि हु ण कप्पती घेत्तुं।
धरणं तु अपरिभोगो, वितरणपुट्ठे पराणुण्णा ॥२१॥
परिभायणं तु दाणं, सयं तु परिभुंजणं तदुपभोगो।
गहणं पुव्वकतम्मि उ,सयं तु परकते य धरणादी ॥ २२ ॥

गहणं णियमा पुव्वकयस्स, धरणादिपदा पुण चउरो य सयंकते परकते वा भवंति।

सूत्रम्—

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणयं परं दिवड्ढाउ मासाउ धरेइ धरंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं परं दिवड्ढं मासातो धरेति धरंतं वा साइज्जति तस्स आणादिआ य दोसा, संजमविराहणा य। मासलहुयं पच्छित्तं।

गाहा—

उस्सग्गियवाघातं, अहवा तं खलु तहेव दुविधं तु।
जो भिक्खू परियट्टति, परं दिवड्ढा उ मासातो ॥२३॥

उस्सग्गियवाघातादि तिण्णि वि, परं दिवड्ढातो मासाउ परिकड्ढंतस्स दोसा इमे।

गाहा—

सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तहा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, अण्णं पाउंछणं मग्गे ॥२४॥

'अण्णं' ति उस्सग्गियणिव्वाघातं।

गाहा—

इतरह वि ताव गरुयं, किं पुण भत्तोग्गहे अहव पाए।
भारे हत्थुवघातो, जति पडणं संजमा ताए ॥ २५ ॥

पूर्ववत्। तेण गुरुणा दण्डपादपुंछणेण हत्थोवघाएहिं घेप्पति, पडंतं वा पायं विराहेज्जा। तत्थ आणा गाढातिविराहणा वा छक्कायविराहणा वा करेज्जा, तम्हा परं दिवड्ढातो मासा। तेण वोढव्वं (इ) अण्णं मग्गियव्वं। इमाए जयणाए

गाहा—

उस्सग्गियवाघाते, सुत्तत्थं करेइ मग्गणा होति।
वितियम्मि सुत्तवज्जं,ततियम्मि तु दो वि वज्जेज्जा ॥२६॥

वितियं अववाउस्सग्गियं, ततियं अववातावघातितं।

गाहा—

चत्तारि अधाकडए, दो मासा होंति अप्पपरिकम्मे।
तेण पर वि मग्गेज्जा, दिज्जयमासं सपरिकम्मं ॥ २७॥
एवं वि मग्गमाणे, जदि अण्णं पादपुंछणं न लभे।
तं चेव णु कड्ढेज्जा, जावऽण्णं ण लब्भती ताव ॥ २८॥

पूर्ववत्।

गाहा—

एसेव कमो णियमा, समणीणं पादपुंछणे दुविधो।
णवरं पुण णाणत्तं, कुज्जति चप्पदंडओ तासिं ॥ २९॥

दुविहं उस्सग्गियं अववातितं च। तासिं डंडए च विसेसो—हत्थकम्मादिपरिहरणत्थं चप्पडंडो कज्जति न वृत्ताकृतिरित्यर्थः।

सूत्रम्—

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणयं विसूयावइ विसूयावंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

गाहा—

विसुआवणसुकवणं, तं कप्पय मुंजपिचसंबद्धे।
तं कड्ढिएण दोसा, कारण कप्पती सुक्कवेतुं जे ॥ ३० ॥

तं विसुआवणं पडिसिज्झंति पच्चयं मुंजयपिच्चिएसु तद्सिएसु वा ते य सुक्खा अतिकठिणा भवंति। मज्जणादिसु य चोदकाह—तद्दोसपरिहारत्थिणा सव्वहा ण कायव्वमेव आचार्याह-नेत्युच्यते 'एट्ठे'-गाहा-" एवमादिकारणेहिं, कायव्वं इमाए जयणाए" 'उस्सग्गियस्स' गाहा कंठा। मा जीवविराहणा भविस्सति अतो ण उल्लेति ण वा सुक्केति, कारणओ उल्लेज्जा वि।

गाहा—

वितियपदे वासासुं, उदुबद्धे वा सिय त्ति ते मेज्जा।
विसुयावणछायाए, अद्धातवमानवेमलणा ॥ ३१ ॥

वासाकाले वग्घारियवुट्ठिकायम्मि सग्गामे परग्गामे भिक्खा दिगतस्स उल्लेज्जा, उदुबद्धे वा सिय त्ति स्यात्—कदाचित्। कथम्? उच्यते—

गाहा—

उत्तरमाणस्स नदिं, सोधेंतस्स व दवं तु उल्लेज्जा।
पडिणीयजलक्खेवे, धुवणे फिडिते व्व सिणहाए ॥३२॥

पडिणीएण वा जले खित्तो सव्वोवहिकप्पे घा तं धोतं पंथातो वा पडियस्स उप्पहे उत्तिसेसु उंरणए उल्लेज्ज, असुक्खवेंतस्स इमे दोसा।

गाहा—

कुच्छण दोसा उल्ले—ण दावितं कज्जपूरणं कुणति।
डंडा य पमज्जंते,मलो य आउं ततो विसुवे ॥ ३३ ॥

उल्ले असुक्खवेंतस्स कुहए पमज्जणकज्जं च ण करेति, अह उल्लेण पमज्जति तो दसंतेसु गोलया पडिवज्झन्ति,मलिणे य

१-इमा गाथाष्टकाकारेण व्याख्येपदर्शनार्थं सारिताः। २–उसाए इति पुस्तके।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वासासुं आउवधो भवति । एवं दोसगहणं णाउं वि सुक्खावेंति छायाए वि जति ण सुक्खेज्ज तो अट्ठाए वेदेति तह वि अ सुक्खंते आयवे सुक्खवेति । अंतरंतरे मलेउं पुणो आयवे ठवेति । एवं जाव सुक्खं मृदुकारणत्वात् । नि० चू० २ उ० ।

अतिरिक्तप्रमाणं रजोहरणं धरति—

जे भिक्खू अतिरेगप्पमाणं रयहरणं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ ॥ ७० ॥

रओ-दव्वे भावे य, तं दुविहं पि रयं हरतीति रयोहरणं । अतिरेगं धरेंतस्स मासलहुं ।

गाहा—

गणणाएँ पमाणेण य,हीणऽतिरित्तं च अवचितोवचितो ।
झुसिरं खरपम्हं वा, अणेगखंडं व जो धारे ॥ २६६ ॥

गणणाए उडुबद्धे एगं, वासासु दो । पमाणेण वत्तीसंगुलदीहं जदि हीणं पत्तो पमाणाओ करेति, तो ओणमंतस्स कडिवियडणा,अपमज्जंतस्स पाणिविराहणा,अतिरित्ते अधिकरणं। भारो य संचयदोसो य । अह वासारत्ते एगं धरेति तं हिंडंतस्स उल्लं;जति तेण उल्लेण पमज्जति तो डंडया भवंति तारिसेण पमज्जंतस्स असंजमो, अपज्जंतो असंजतो,भारिये आयविराहणा । पोरप्पमाणाओ जं ऊणं अविचियं तंमि ताए विराहणा जं पोरप्पमाणातो अतिरित्तं उवचियं तम्मि भारो भवपरितावणाऽपि अतिरित्ते अधिकरणं च । संचयदोसो झुसिरं कोयवगपावारगणवयगेसु अतिरोमधूयलं वा झुसिरं,एतेसु संजमविराहणा पडिलेहणा य ण सुज्झति, खरा—णिसट्ठा दसाओ जस्स तं खरपम्हं । एत्थ पमज्जणे कुंथुमातिविराहणा अणेगसिव्वणीहिं अणेगखंडझुसिरं भवति । एत्थ वि संजमविराहणा । सिव्वंतस्स य सुत्तत्थपलिमंथो । जो परिसं धरेति । " सो आणा० । " गाहा—

गाहा—

हीणे कज्जविवत्ती, अतिरेगसंवत्तो अवधिकरणं ।
झुसिरादि उवरिमेसुं,विराहणा संजमा होति ॥२६७॥

वत्तीसंगुलातो हीणतरं । शेषं गतार्थम् ।

गाहा—

हीणाधिए य पोरा, भाणविवत्ती य होंति भारो य ।
कडिवीयणा य अदीहे, ऊणम उड्डाहमादी य ॥ २६८॥

अंगुट्ठपोराओ हीणं-अवचियं, अहियं-उवचियं, हीणे भायणे विवत्ती, अधिभारो वत्तीसंगुलातो हीणं अदीहं भवति । तंमि ओणमंतस्स कडिवियडणा अतिऊणेते य जलहरपलंवणे उड्डाहो ।

उडुवसासु धरणे इमं पमाणं ।

एवं उडुबद्धम्मि वि, वासावासासु होइ दो चेव ।
दंडो दसा य तस्स तु, पमाणतो दोण्ह बी भइए।२६६।

जति दंडो हत्थपमाणो तो दसा अट्ठंगुला, इह दंडग्गहणातो गब्भगंडिया रयोहरणपट्टगो वा, अह डंडो वीसंगुलो तो दसा वारसंगुला । अह दंडगो छव्वीसंगुलो तो दसा छ अंगुला । एवमाति भयणा । इमेरिसं धरेयव्वं ।

गाहा—

पडिपुण्णहत्थपूरिम, जुत्तपमाणं तु होति णायव्वं ।
अप्पोल्लंमेउ पोम्हं, एगखंडं च गुणातं ॥ २७० ॥

बत्तीसंगुलपडिपुण्णं बाहिरणिसेज्जाए ससहत्थपूरिमं परिसं जुत्तमाणं रओहरणं, पोल्लडयं पोल्लं ण पोल्लं अपोल्लं अज्झुसिरमित्यर्थः । मेओ अ दसम्मि उ पोम्हं एगखंडं च परिसं अणुण्णातं भवे, कारणं जेण सव्वाण वि धरेज्जा ।

गाहा—

वितियपदमणप्पज्झे, असइ पुव्वकयदुल्लभे चेव ।
सण्हे वुत्ते य खरे, एगस्सऽसती य दुगतिमादी॥२७१॥

अणप्पज्झो सव्वाणि करेति-धरेति वा, अप्पज्झो वि असति जहा ऽभिहियस्स हीणातिरित्तातिए करेज्ज धरेज्ज वा । पुव्वकतं वा हीणातिरित्तादियं दुल्लभं वा जुत्तपमाणं जाव लभति ताव हीणातिरित्ताए वि धरेति , असती ते सण्हं वा धरेति । खरदसं वा धरेति एगखंडस्स वा असति दुगादिखंडं धरेति ।

गाहा—

सण्हे करेंति थुल्लं, उगब्भयं परिहरेंति तं थुल्ले ।
झुसिरे ऽवणेति लोमे, खरं तु उल्लं पुणो मलए ।२७२।

सण्हे रयहरणपट्टते थूलं गब्भं करेति,अह थूले रयहरणे पट्टतो ताहे रयहरणगब्भयं परिट्ठवेंति, गब्भए वा थूले तं पट्टयं परिट्ठवेंति रोमज्झुसिरतो रोमे अवणेति , अथ खरदसं ताहे उल्लेउं पुणो मलिज्जति ।

रजोहरणस्य सूक्ष्मा दशा न कुर्यात् । सूत्रम्-

जे भिक्खू सुहुमाइं रयहरणसीसाइं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ७१ ॥

सुहुमा सण्हा रयहरणसीसगा दसाओ ।

गाहा—

जे भिक्खू सुहुमाइं, करेज्ज रयहरणसीसगाइं तु ।
सो आणाअणवत्थं, मिछत्तविराहणं पावे ॥ ७२ ॥

इमे दोसा ।

गाहा—

मूढेसुं संमद्दा, झुसिरमणाइण्णदुप्पला चेव ।
सुहुमेसु होंति दोसा, वितियं कासी य पुव्वकते।२७३॥

मूढेसु सम्मद्ददोसो झुसिरदोसो साधूहिं अणाइण्णो दुव्वलाइ भवंति, ' वितियपदमणप्पज्झो 'ऽऽदि पुव्वकते वा ।

कण्डूसकं बन्धने बध्नाति । सूत्रम्—

जे भिक्खू रयहरणं कंडूसगबंधणं बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ ॥ ७३ ॥

कंडूसगबंधो णाम-जाहे रयहरणं तिभागपएसो खोमिएण उण्णिएण वा चीरेण वा वेढियं भवति, ताहे उन्निदोरेण तिपासियं करेति तं चीरं कंडूसगपट्टओ भण्णति ।

१-अत्रैव ४७१ पृष्ठे उक्ता टीकाकृता स्मारिता' चतुर्विंशतितमा गाथा ।

१-सखहत्थ । २-इयं (२७१) टीकाकृता स्मारिता । (३-(२७४)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा—

कंडूसगबंधणं, जइवा इतरेण जो उ रयहरणं।

बंधति कंडूसो पुण, पट्टओ आणादिणो दोसा।२७५।

आणाइणो दोसा मासलहुं च। इमे दोसा—

गाहा—

अतिरेगउवधिअधिकरण-मेव सज्झायज्झाणपलिमंथो।

कंडूसगबंधम्मि य, दोसो लोभे पसज्जणता॥ २७६॥

अतिरेगोवधी निरुवओगताए य, अधिकरणं तस्स सिव्वणधोवणबंधणमुयणेहिं सुत्तत्थपलिमंथो, लोभे य पसंगो, एहिं य विस्सरिएहिं य अधितो भवति।

गाहा—

बितियपदमणप्पज्झे, असतीए दुब्बले अपडिपुण्णे।

एतेहिँ कारणेहिं, संबद्ध कप्पती काउं॥ २७७॥

एगम्मि पएसे दुब्बलं ताहे पडिसवडिं करेति अपडिपुन्नं वा तेण वेढेत्ता हत्थपूरिमं करेति, एतेहिं कारणेहिं तथेवथिग्गलकरेण संबद्धं करेइ जेण पुण पडिलेहणा भवति।

अविधिवन्धने निषेधसूत्रम्—

जे भिक्खू रयहरणं अविहीए बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ।७२।

अवस्सगादि अववादियव्वो।

सूत्रम्-

जे भिक्खू रयहरणस्स एक्कबंधं देयइ देयंतं वा साइज्जइ।७३।

एगबंधो एगपासियं।

सूत्रम्-

जे भिक्खू रयहरणस्स परितिण्हि बंधणे देएइ देयंतं वा साइज्जइ॥ ७४॥

तिपासितातो परं चउपासियादि, आणादिणो य दोसा बहुबंधणे सज्झायज्झाणे य पलिमंथो य भवति। एतेसिं तिण्ह वि सुत्ताण इमो अत्थो त्ति।

गाहा—

तिण्हुवरिं पव्वाणं, दंडतिभागस्स हेट्ठतो उवरिं।

दोरेण असरिसेणं, संतरणं बंधणाणादी॥ २७८॥

दंडतिभागस्स जति हेट्ठो बंधति उवरिं वा असरिसेण वा दोरेण अतिव्वो दूएण बंधे तीएण वा संतरं दारं करेति, तो आणदिणो दोसा। सव्वेसु मासलहुं। जम्हा एते दोसा;

गाहा—

तम्हा तिपासिए खलु, दंडतिभागे उ सरिसदोरेण।

रयहरणं बंधेज्जा, पदाहिण-णिरंतरं भिक्खू॥२७६॥

बितियपदमणप्पज्झे, संघे अविकोविते व अप्पज्झे।

जाणंते वावि पुणो, असती सरिसस्स दोरस्स॥२८०॥

अण्णासति तज्जातीयस्स।

अनिसृष्टधारणे दोषः। सूत्रम्—

जे भिक्खू रयहरणं अणिसिट्ठं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ।७५।

अणिसिट्ठं णाम-तित्थकरेहिं अदिण्णं तस्स मासलहुं, आणादिणो य दोसा।

णिज्जुत्तीए इमा गाहा—

दव्वे खित्ते काले, भावेऽपि य वच्चमुंज अणिसिट्ठं।

बितिओऽवि य आएसो,जं विदिण्णं गुरुजणेणं॥२८१॥

पंचतिरित्तवचेसु, अचित्तं दुल्लभं व दोसुं च।

भावम्मि वण्णमोल्ला, अणणुण्णातं च जं गुरुणा॥२८२॥

दव्वतो पंचण्हं अइरित्तं उण्णियं उट्टियं सणयं वच्चयं मुंजपिच्चं वा, एतेसिं पंचण्हं परतो णाणुन्नातं। दोसु खेत्तकालेसु जं अचित्तं दुल्लभं वा तं णाणुण्णातं,भावतो जं वण्णुकिट्ठं महग्घमोल्लं वा तं णो तित्थकरेहिं णिसिट्ठं ण दत्तमित्यर्थः। अहवा-बितिओ आएसो जं गुरुजणेण नो अणुन्नायं तं अणिसिट्ठं।

गाहा—

एतेसा-मण्णतरं, रयहरणं जो हरिज्ज अणिसिट्ठं।

आणा य विराहणया, संजमुमुच्छा य तेणादी॥२८३॥

महग्घाण वण्णुक्किट्ठे वा मुच्छा भवति। रागो रागेण संजमविराहणा तेणादिएहिं वा हरिज्जति।

गाहा-

बितियपदमणप्पज्झे, धरेज्ज अवि कोवि नेव अप्पज्झे।

जाणंते वावि पुणो, धरेज्ज असिवादिएगागी॥२८४॥

असिवेण एगागी जातो, तन कस्स णिवेए गुरू णऽत्थि, एवं अणिसिट्ठं पि धरेज्ज।

रजोहरणं व्युत्सृष्टं धरतीति। सूत्रम्—

जे भिक्खू रयहरणं वोसट्ठं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ॥७६॥

गाहा—

आउग्गहखेत्ताओ, परेण जं तं तु होति वोसट्ठं।

ओरेणमवोसट्ठं, वोसट्ठधरंत आणादी॥ २८५॥

वोसट्ठं णाम जं आउग्गहाओ परेण,जं पुण अनुग्रहे वट्टति तं अवोसट्ठं आयपमाणं खेत्तं आउग्गहो इह पुण रजोहरणं पडुच्च समंततो हत्थो हत्थाओ परं ण पावति त्ति वोसट्ठं भवति।

वोसट्ठधरणे इमे दोसा—

गाहा—

मूइंगमादिखइते, अपमज्जंते तु ता विराधेति।

सप्पे व विच्छुगे वा,गेण्हति खइए य आताए॥२८६॥

मूइंगा-पिपीलिका एताहिं खइतो, आदिसद्दातो मक्कोडगादिणा जइ अपमज्जिउं रयोहरणेण कंडूयति तो तं विराहेति, रयहरणं अप्पहेंतो वा सहसा कंडूयति तो विराहेति, अथ सप्पो विच्छुगो वा आगतो जाव रयहरणं गेण्हति ताव खइतो मतो आयविराहणा।

गाहा—

बितियपदमणप्पज्झे, वा तुच्छगिलाणसंभमेगतरे।

असिवादी परलिंगे, वोसट्ठं जा धरेज्जाहि॥ २८७॥

अणप्पज्झो धरेति, धाउं वा जाव ओदव्वादि नेइ संतरणे वा उज्जं गिलाणो गिलाणपडियरगो वा उव्वत्तणाइ कारणेहिं वोसिट्ठं पि धरेज्जा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा--

मुहपुत्ती सेज्जाए, एसेव गमो उ होइ णायव्वो।

वोसट्ठमवोसट्ठे, सुत्ते अवरम्मि य पदम्मि ॥ २८८ ॥

मुहपोत्तीए णिसेज्जा एसेव गमो। वोसट्ठेसु पुव्वावरएसु।

सूत्रम्-

जे भिक्खू रयहरणं अहिट्ठेइ अहिट्ठेंतं वा साइज्जइ ।७८।

अहिट्ठाणं णाम सणिसेज्जवेढिए चेव उववेसणं एवं अहिट्ठाणं मासलहुं, आणादिया य दोसा।

गाहा--

तिण्हं तु विकप्पाणं, अणंतराएण जो अधिट्ठेज्जा।

पाउंछणगं भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥२८९॥

दोहि वि णिसिज्जसोहिं, एक्केण व वितियततियपादेहिं।

अधवा मग्गतो एक्को, दोहि वि पासेहि दोण्णि भवे॥२९०॥

इमे तिण्णि विकप्पा दोहि वि उववसिति एक्को विकप्पो, एगेण वा वितिओ विकप्पो, दोसु विकप्पेसु परिहयासु- अवक्कमति ततिओ विकप्पो। अहवा--मग्गतो त्ति पिट्ठतो अक्कमति एगो विगप्पो, दोसु पासेसु पुतोरूएसु अक्कमति। एते दो विगप्पा, एते वा तिन्नि।

गाहा—

बितियपदमणप्पज्झे, अधिठेज्जा कुट्टिते व अप्पज्झे।

जाणंते वा ऽवि पुणो, मूसगतेणादिमादीसुं ॥२९१॥

मूसगेण वा कुट्टिज्जाति, तेणगेण वा हरिज्जाति, आदिग्गहणातो चतुरूवाणि वा हरेज्जा पडिणीओ वा तेण अधिट्ठेज्जा।

सूत्रम्-

जे भिक्खू रयहरणं उसीसमूले ठवइ ठवंतं वा साइज्जइ।७९।

सीसस्स समीवं-उवसीसं वकारलोपात्, स्थानवाची मूलशब्दः। सीसस्स वा उक्खंभणं उसीसट्ठवणं णिक्खेवो सुत्तपडिसेधितं सेवमाणे, अजेति पावति; मासियं, परिहरणं परिहारो चिट्ठति जम्मि तं ठाणं लहुगमिति उग्घातियं।

सूत्रम्-

जे भिक्खू रयहरणं तुयट्टेइ तुयट्टंतं वा साइज्जइ ॥८०॥

गाहा—

जे भिक्खू तुयट्टंते, रयहरणं सीसए ठवेज्जाहि।

पुरतो व मग्गतो वा, गमगपासे णिसण्णो वा ॥२९२॥

त्वग्वर्त्तनं वट्टणं शयनमित्यर्थः, वामपासे दाहिणपासे वा उवरि हत्थदसं पादमूले वा ठवेति, ण केवलं णिवण्णो णिसण्णो वा पुरओ मग्गओ वा वामपासे ठवेति।

गाहा—

सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तहा दुविहं।

पावति जम्हा तेणं, दोहि ण पासम्मि तं कुज्जा ॥२९३॥

तम्हा ताणि णिवण्णो णिसण्णो वा दाहिणपासे अधोदसं करेज्ज।

गाहा—

बितियपदमणप्पज्झे, करेज्ज अवि को वि नेव अप्पज्झे।

ओवास असति मूसग, तेणगमादीसु, जाणमवि ।२९४।

नि० चू० ५ उ०। पं० व०।

रजोहरण-प्रयोजनमाह—

आयाणे निक्खेवे, ठाणनिसीअणतुअट्टसंकोए।

पुव्विं पमज्जणट्ठा, लिंगट्ठा चेव रयहरणं॥ ८१५ ॥

आदाने—ग्रहणे कस्यचित् निक्षेपे मोक्षे स्थाननिषीदनत्वग्वर्त्तनसङ्कोचनेषु पूर्वम्—आदौ प्रमार्जनार्थं भूम्यादेर्लिङ्गार्थं चैव साधो रजोहरणं भवति इति गाथार्थः। पं० व० ३ द्वार।

अविहीए नियंसणुत्तरी परं पहरणदंडगं वा परिभुंजे चउत्थं सहसा रयहरणं खंधे निक्खवइ उवट्ठावणं, अंगं वा उवंगं वा संवाहविज्जा खवणं रयहरणं ! वाउसंगे धरेइ चउत्थं। महा० १ चू०।

ऋतुबद्धे रजोहरणं आद्यं वर्षासु पादलेखनिका। पं० भा० १ कल्प।

रंक-रङ्क-पुं०। कृपणे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

रंकय-रङ्क(क)-पुं०। वलभीपुरवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, यो रत्नजटितकङ्कतलुब्धेन वलभीपुरराजेन शिलादित्येन पराभूतः गजनीपतिं म्लेच्छराजमानीय तद्राजविनाशाय निमित्तमभूत्। ती० १६ कल्प।

रंखोलिर-दोलक-त्रि०। उत्क्षेपके " रंखोलिरं पट्टोलिरं " पाइ० ना० १८६ गाथा।

रंग-रङ्ग-न०। नाट्यस्थाने, व्य० ८ उ०। ' रायाए रंगोवजीवियाए' आ० म० १ अ०। मल्लयुद्धमण्डपे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण। रङ्गमण्डपे, " रंगो पिच्छाभूमी " पाइ० ना० २७२ गाथा। रङ्गावयवकल्पविविधचित्ररूपे, दश०२ अ०। स्था०। चू०। अपुष्ण, दे० ना० ७ वर्ग १ गाथा।

रंगण-रङ्गण-पुं०। रङ्गणं रागस्तद्योगाद्रङ्गणः। जीवे, भ० २० श० २ उ०।

रंज-रञ्ज-धा०। रागे, । रञ्जे रावः॥ ८। ४। ४९ ॥ इत्यनेन रञ्जेरयन्तस्य रावादेशो वा। रावेइ। रञ्जइ। प्रा० ४ पाद।

रंजण-रञ्जन-न०। रागे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। घटे, दे० ना० ७ वर्ग २ गाथा। कुण्डमिति केचित्। दे० ना० ७ वर्ग ३ गाथा। पाइ० ना० २२२ गाथा।

रंडक-राण्डक्य-पुं०। रण्डकस्यापत्ये, राण्डक्यो नाम भोजः कामात् ब्राह्मणकन्यामभिगम्यमानः विनष्टः। ध० १ अधि०।

रंडा-रण्डा-स्त्री०। मूषिकपर्ण्याम्, वाच०। विधवायाम्, महा० २ चू०।

रंडिया-रण्डिका-स्त्री०। व्यभिचारिण्यां स्त्रियाम्, तं०।

रंदुअं-देशी-रज्जौ, दे० ना ७ वर्ग ३ गाथा।

रंतिदेव-रन्तिदेव-पुं०। चन्द्रवंशे स्वनामख्याते नृपे, " व्योमचुम्बिशिखरं मनोहरं, रन्तिदेवतटिनीतटस्थितम्। अत्र चैत्यमवलोक्य यात्रिकाः, शैत्यमाशु ददति स्वचक्षुषोः ॥१॥" ती० ४३ कल्प।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रंदूण-रन्त्वा-अव्य० । क्रीडित्वेत्यर्थे , क्त्व इयदूणौ ॥ ८ । ४ । २७१ ॥ इति दूणेत्यादेशः । पक्षे-रन्त्वा । प्रा० ४ पाद ।

रंध-रन्ध्र-न० छिद्रे, दूषणे च । व्य० ७ उ० । ज्ञा० । "विवरं कुहरं रंधं, कुच्छिल्लं अंतरं कुडिल्लं च" पाइ० ना० ६३ गाथा ।

रंधण-रन्धन-न० । अन्नादीनां पाचने, प्रव० ३८ द्वार । ज्ञा० । रन्धनविषयकविशेषपरिज्ञानरूपे ४१ स्त्रीकलाभेदे , कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

रं(म्भ)भ-गम्-धा० । गतौ, गमेः रई-अइच्छाणुवज्जावज्ज-सोकुसाकुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिम्मह-णि-णीण-णीलुक्क-पदश्र-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसे-हावहराः ॥८। ४। १६२॥ इति गमधातोरम्भादेशे वा । रम्भइ । गच्छति, प्रा० ४ पाद । अन्दोलनफलके, दे० ना० ७ वर्ग १ गाथा ।

रंभा-रम्भा-स्त्री० । वैरोचनेन्द्रस्य बलेरग्रमहिष्याम् , ज्ञा० २ श्रु० ३ वर्ग १ अ० । भ० । कदल्याम् , " रंभा कयली " पाइ० ना० २५४ गाथा ।

रक्क-रक्क-न० । वृषभादिशब्दकरणे, अनु० ।

रक्ख-रक्षस्-पुं० । राक्षसे, " रयणियरजाउहाणा, कव्वाया कोणवा रक्खा " पाइ० ना० ३० गाथा ।

रक्खंत-रक्षत्-त्रि० । अन्यायात् रक्षां कुर्वति, औ० । भ० ।

रक्खण-रक्षण-न० । आहारादिना उपजीव्ये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । तं० । सम्यक्त्वव्रतानामनुपालनोपाये, ध० २ अधि० ।

रक्खस-राक्षस-पुं० । मांसास्वादनपरे, उत्त० १६ अ० । व्यन्तरविशेषे, उत्त० पाई० १६ अ० । औ० । प्रश्न० । स्था० । सूत्र० । प्रव० । औ० । स० । व्यन्तरमात्रे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । प्रज्ञा० ।

रक्खा समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । प्रज्ञा० १ पद ।

राक्षसाः सप्तविधा प्रज्ञप्ताः , तद्यथा-भीमा १ महाभीमा २ विघ्ना३ विनायका४ जलराक्षसा५ राक्षसराक्षसा६ ब्रह्मराक्षसाः७ । प्रज्ञा० १ पद । अहोरात्रस्य त्रिंशे मुहूर्त्ते च । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । चं० प्र० । ज्यो० । जं० । स० ।

रक्खिय-रक्षित-त्रि० । गुप्ते, स्था० ६ ठा० ३ उ० । उत्त० । दुर्गतिपतनात् निवारिते, उत्त० १५ अ० । प्रश्न० । अनुयोगचातुर्विध्यकारके सोमदेवेन ब्राह्मणेन रुद्रसोमायां भार्यायां जाते आर्यवज्रशिष्ये पूर्वधरे सूरौ । आ० म० १ अ० । आ० चू० । (तत्कथा ' अज्जरक्खिय' शब्दे प्रथमभागे २१२ पृष्ठे प्रत्यपादि) "वन्दामि अज्जरक्खिय-खमणे रक्खियचरित्तसव्वस्सो । रयणकरंडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं ॥१॥" । नं० । आर्यसुहस्तिनो द्वादशशिष्याणां सप्तमे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

रक्खिया-रक्षिता-स्त्री० । धनेन सार्थवाहेन भद्रायां भार्यायां जनितस्य धनगोपाख्यपुत्रस्य भार्यायाम् , ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । अष्टादशतीर्थकरस्य स्वनामख्यातायां प्रवर्त्तिन्याम् , ति० ।

रक्खी-रक्षी-स्त्री० । अष्टादशजिनस्य स्वनामख्यातायां प्रवर्त्तिन्याम् , प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

रग्ग-रक्त-त्रि० । रक्ते, "गो वा" ॥८।२।१०॥ रक्तशब्दे संयुक्तस्य गो वा भवति । इति क्तस्य गः । प्रा० । अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम् ॥ ८ । २ । ८९ ॥ इति गस्य द्वित्वम् । रग्गो । नील्यादिभी रञ्जिते, प्रा० २ पाद ।

रग्गय-देशी-कौसुम्भरक्तवस्त्रे, दे० ना० ७ वर्ग ३ गाथा । " रग्गयं च नवरंगं " पाइ० ना० २६१ गाथा ।

रङ्खोल-दोलि-धा० । उत्क्षेपणे, दुल-स्वार्थे णिच् । दुले रङ्खोलः ॥ ८ । ४ । ४८ ॥ दुलेः स्वार्थे एयन्तस्य रङ्खोल-इत्यादेशो वा भवति । रङ्खोलइ । दोलइ । दोलयति । प्रा० ।

रचिय-रचित-त्रि० । निहिते, स० । रचनाविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

रच्छामअ-देशी-शुनि, दे० ना० ७ वर्ग ४ गाथा ।

रज्ज-राज्य-न० । यावत्सु देशेषु एकभूपतेराज्ञा तावद्देशप्रमाणे राष्ट्रे , बृ० ४ उ० । जीत० । उत्त० । ज्ञा० । राजादिपदार्थसमुदाये, "स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च, कोशो दुर्गं बलं सुहृत् । सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं , बुद्धिसत्त्वसमाश्रयम् ॥ १ ॥ " । भ० १५ श० । रा० । ग० । कल्प० । नृपत्वे, तं० । प्रभुतायाम् , स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

ऋषभः स्वपुत्रादिभ्यो राज्यं दत्तवानत्र दोषविचारः ।

एवं जगद्गुरुविषयां महादानविप्रतिपत्तिनिरतस्यैव राज्यदानविषयां तां निरस्यन् परमतं तावदाह-

अन्यस्त्वाहाऽस्य राज्यादि-प्रदाने दोष एव तु ।
महाधिकरणत्वेन, तत्त्वमार्गे विचक्षणः ॥ १ ॥

अन्यस्तु-जगद्गुरुमहादानपूर्वपक्षवाद्यपेक्षया, अपरः पुनर्वादी आह-ब्रूते अस्य-जगद्गुरोः राज्यादिप्रदाने-स्वपुत्रादिभ्यो नरनायकत्वकलत्रकलाकर्मशिल्पप्रभृतीनां वितरणे दोष एव-अशुभकर्मबन्धलक्षणं दूषणमेव । तुशब्दः-पूरणे. केन हेतुनेत्याह-महच्च-तद्गुरुकमधिकरणं च-दुर्गतिहेत्वनुष्ठानं महाधिकरणं तद्भावस्तत्त्वं तेन, राज्यादिप्रदानं हि महाधिकरणं महारम्भमहापरिग्रहकुणिमाहारपञ्चेन्द्रियवधादिहेतुत्वात्तस्य अग्निशस्त्रादिदानमिवेति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः । क एवमाहेत्याह-तत्त्वमार्गे-वस्तुपरमार्थाध्वनि परिच्छेत्तव्ये, अविचक्षणः-अपण्डितः । अविचक्षणत्वं चास्य वक्ष्यमाणराज्यदानादिहेतोरपरिज्ञानादिति । अथवा-विचक्षण इत्युपहासवचनमिति ॥ १ ॥

उत्तरमाह-

अप्रदाने हि राज्यस्य, नायकाभावतो जनाः ।
मिथो वै कालदोषेण, मर्यादाभेदकारिणः ॥ २ ॥
विनश्यन्त्यधिकं यस्मा-दिहलोके परत्र च ।
शक्तौ सत्यामुपेक्षा च, युज्यते न महात्मनः ॥ ३ ॥
तस्मात्तदुपकाराय, तत्प्रदानं गुणावहम् ।
परार्थदीक्षितस्यास्य, विशेषेण जगद्गुरोः ॥ ४ ॥

अप्रदाने-पुत्रादिभ्योऽवितरणे सति, हिशब्दः-पूर्वपक्षपरिहारभावनार्थः, राज्यस्य-भूपतित्वस्य नायकाभावतः-स्वामिकाभावात् जनाः-लोकाः मिथः-परस्परेण विनश्यन्तीति योगः । वैशब्दः-वाक्यालङ्कारे । कालदोषेण-अवसर्पि

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णलक्षणस्य हीनहीनतरादिस्वभावस्य समयस्यापराधेन हेतुना मर्यादाभेदकारिणः—स्वपरधनदारादिव्यवस्थालोपः कारकाः सन्तः विनश्यन्ति-क्षयमुपगच्छन्ति। नायकसद्भावे ऽपि केचिद्विनश्यन्तो दृश्यन्ते इत्यत्राऽऽह-अधिकम्-अत्यर्थं यस्मात् कारणात्—क नश्यन्तीत्याह-इहलोके—इहैव मनुष्यजन्मनि प्राणादिक्षयात्, परत्र च-परलोके च हिंसानृतधनदारापहारादेः, तथा-शक्तौ-सामर्थ्ये सत्याम्-विद्यमानायाम् उपेक्षा अवधीरणा चशब्दो-हेत्वन्तरसमुच्चये, युज्यत-घटते, न—नैव महात्मनो—जगद्गुरोर्युगादिदेवादेर्यस्मादेवं तस्मात्कारणात्तेषां परस्परेण विनश्यतामुपकारोऽनर्थत्राणम् तदुपकारस्तस्मै तदुपकाराय तत्प्रदानम्—राज्यदानम् गुणावहम्, राज्यहातुरुपकारकमेव न पुनर्दोषावहम्। परस्मै इदं परार्थम् परोपकारार्थमित्यर्थः, दीक्षितस्य कृतनिश्चयस्य परार्थोद्यतस्येत्यर्थः, अस्य—जगद्गुरोः विशेषेण—सुतरां सामान्यराज्यदायकापेक्षया जगद्गुरोर्भुवनभर्त्तुः जिनस्येति, अनेन च राज्यप्रदानस्य महाधिकरणस्वभावत्वं व्युदस्तम्। तद्दानस्यैव महाधिकरणत्वेन प्रसाधनतः परोक्तो महाधिकरणत्वलक्षणो हेतुरसिद्ध इत्युक्तम्, तदसिद्धेश्च राज्यादिदाने दोष एवेत्यपहसितमिति ॥ ४ ॥

राज्यादिदानेषु दोष एवेत्यत्रादिशब्देन विवाहा—दिव्यवहारदर्शनं भगवतः सदोषमित्यासक्षितम्। तत्र परिहारातिदेशमाह—

एवं विवाहधर्मादौ, तथा शिल्पनिरूपणे।
न दोषे ह्युत्तमं पुण्य—मित्थमेव विपच्यते ॥ ५ ॥

यथा राज्यादिदाने न दोषो महाधिकरणत्वाभावात् गुणावहत्वाच्च, एवम्-अनेनैव प्रकारेण विवाहः-परिणयनं तद्रूपो-धर्मः—समाचारो व्रतबन्धो वा विवाहधर्मः, तदादौ—तत्प्रभृतिके आदिशब्दाद्राजकुलग्रामधर्म्मादिपरिग्रहः, तथा—शब्दः समुच्चये शिल्पनिरूपणे—घटलोहचित्रवस्त्रनापितव्यापारोपदर्शने, किमित्याह—न दोषः, नैवाशुभकर्मबन्धलक्षणं दूषणमस्ति भगवतः। इह प्रतिज्ञायां हेतुमाह—हि-शब्दो—यस्मादर्थः, ततश्च यस्मादुत्तमम्-प्रकृष्टं तीर्थकरनामकर्मलक्षणं पुण्यम्—शुभकर्म इत्थमेव—अनेनैव विवाहशिल्पादिनिरूपणप्रकारेण विपच्यते विपाकं याति स्वफलं ददातीत्यर्थः ॥ ५ ॥

इहाभ्युपचयमाह—

किं चेहाधिकदोषेभ्यः, सत्त्वानां रक्षणं तु यत्।
उपकारस्तदेवैषां, प्रवृत्त्यङ्गं तथाऽस्य च ॥ ६ ॥
नागादे रक्षणं यद्व—द्गर्त्ताद्याकर्षणेन तु।
कुर्वन्नदोषवांस्तद्व—दन्यथाऽसम्भवादयम् ॥ ७ ॥

नागादेः—सर्पगोनसादेः सकाशाद्रक्षणम्-इष्टपुत्रादित्राणम् यद्वत्-यथा गर्तादेः-श्वभ्रादेः सकाशाद् आदिशब्दात्सोपानपङ्क्त्यादिपरिग्रहः,आकर्षणमाक्षेपणं गर्त्ताद्याकर्षणं तेनाधिकरणभूतेन हनुजानुप्रभृत्यङ्गघर्षणलक्षणानर्थकरणेनान्यथारक्षणस्यासम्भवादिति भावः। तुशब्दोऽपिशब्दार्थः,कुर्वन् विदधद्रक्षणमिति योगः, (न)-नैव दोषवान्-दूषणवान् मात्रादिरिति दृष्टान्तः। अथ दार्ष्टान्तिकमाह-तद्वत्-तथा राज्यादि यच्छन् घर्षणतुल्यानर्थसम्भवेऽपि नागादिरक्षणकल्पमहानर्थनिवारणलक्षणसम्पादनेन न दोषवान् अयमिति योगः। अथ किमल्पस्यापि दोषस्याभावेन महानर्थरक्षां न करोतीत्याह—अन्यथा-अन्येन प्रकारेणाऽल्पस्याप्यनर्थस्यानाश्रयणलक्षणेनासम्भवात्—महानर्थरक्षणस्याघटनात्, अयमिति जगद्गुरुरिति। उक्तञ्च—

" तत्थ पहाणो आसो, बहुदोसनिवारणाउ जगगुरुणो।
नागाइरक्खणे जह, कड्ढणदोसे वि सुहलोगो ॥ १ ॥
गत्तातडम्मि विसमे, इट्ठसुयं पिच्छिऊण कीलंतं।
तप्पच्चवायभीया, तयाणणट्ठा गया जणणी ॥ २ ॥
दिट्ठो य तीएँ नागो, तं पइ इंतो दुओ य खड्डाए।
तो कड्ढिओ तओ तह, पीडाएँ विसुद्धभावाए ॥ ३ ॥ "

अधिकदोषनिवारणार्था प्रवृत्तिरस्य किञ्चिद्दोषवत्यपि न दुष्टेत्येतस्य पक्षस्याभ्युपगमे बाधामाह—

इत्थं चैतदिहैष्टव्य-मन्यथा देशनाऽप्यलम्।
कुधर्मादिनिमित्तत्वा-द्दोषायैव प्रसज्यते ॥ ८ ॥

इत्थं चैतदिहैव अनन्तरोक्तेन गुरुतरानर्थनिवारकत्वलक्षणेन चशब्दोऽवधारणे एतदनन्तरोदितं राज्यप्रदानादिकं वस्तु इह-प्रक्रमे एष्टव्यम्-अभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा-एतस्यानभ्युपगमे देशनाऽपि-तत्त्वप्ररूपणाऽप्यास्ताम् राज्यादिदानं दोषायैवेति योगः, अलम्-अत्यर्थम्। कुतः इत्याह-कुधर्माः-शाक्यादिप्रवचनानि आदिर्येषां—श्रुतचारित्रप्रत्यनीकत्वादिभावानां ते तथा तेषां निमित्तं हेतुस्तद्भावस्तत्त्वं तस्माज्जिनदेशना हि नयशतसमाकुला, नयाश्च-कुलप्रवचनालम्बनभूता-दोषायैव अनर्थायैव न पुनर्गुणाय प्रसज्यते-प्राप्नोति। न च-भगवद्देशनाया अनर्थनिबन्धनत्वमभ्युपगन्तव्यम् अनन्योपायत्वेनार्थप्राप्तेरभावप्रसङ्गादिति ॥ ८ ॥ हा० २८ अष्ट०।

रज्जचिंध-राज्यचिह्न-न०। मुकुटचामरादिषु,प्रव० १ द्वार।

रज्जज्जिया—राज्यार्या—स्त्री०। स्वनामख्यातायामार्यिकायाम्, महा०।

सारासारमयाणित्ता, अगीयत्थत्तदोसओ।
वयमेत्तेण विरज्जाए, पावगं जं समज्जियं।
तेणं तीए अहं ताए, जा जा होइ नियंतणा।
नारय-तिरिय-माणुस्से, तं सोच्चा को धिइं लभे।

कथानकम्—

से भयवं! का उण सा रज्जज्जिया किंचियाया। तीए अगीयत्थत्तदोसेणं वयमेत्तेणं पि, पावं कम्मं समज्जियं। जस्स णं विवागयं सोऊणं को धिइं लभेज्जा। गोयमा! णं इहेव भारहे वासे भद्दो नाम आयरियो अहेसि, तस्स य पंचसए साहूणं महाणुभागाणं दुवालससए निग्गन्थीणं। तत्थ य गच्छे चउत्थरसियं ओसावणं तिदंडोऽचित्तं च काढओदगं विष्पमोत्तूणं चउत्थं न परिभुंजइ, अन्नया-रज्जा नामाए अज्जियाए पुव्वकायअसुहपावकम्मोदएण सरीरगं कुट्ठवाहीए परिसडिऊण किमिएहिं समुद्दिसिउमारद्धं। अह अन्नया परिगलंतपूइरुहिरतणुं तां रज्जज्जियां पासिया ताओ य संजईओ भणंति: जहा-हालाहल-दुक्करकारगे किमेयं ति, ताहे गोयमा! पडिभणियं तीए महापावकम्माए भग्गलक्खणसंजमाए रज्जज्जियाए। जहा-एएणं फासुगपाणएणं सेविज्जमाणेणं विणट्ठं मे सरी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रगं ति। जाव इयं पलवे ताव एं संखुहियहियं गोयमा! सव्वसंजइसमूहं जहा एं विवज्जामो, फासुगपाणगं ति। तओ एगाए तत्थ चिंतियं संजईए, जहा-एं जइ संपयं चेव मम एयं सरीरगं एगनिमिसब्भंतरेणेव पडिसडिऊणं खंडखंडेहिं परिसडेज्जा तहावि अफासुगोदगं इत्थ जंमे ए परिभुंजामि, फासुगोदगं ए परिहरामि, अन्नं च किं सव्वमेयं फासुगोदगएं इमीए सरीरगं विणट्ठं सव्वहा ए सव्वमेयं, जं उए पुव्वकयअसुहपावकम्मोदएणं सव्वमेयंविहं हवइ त्ति सुदुट्ठुयरं चिंतिउं पयत्ता; जहा एं जहा भो पेच्छइ अत्ताणदोसोवहयाए दढमूढहिययाए विगयलज्जाए इमीए महापावकम्माए संसारघोरदुक्खदायगं केरिसं दुट्ठुवयणं गिराइयं, जं मम कन्नविवरेसुं पि ए पविसज्जति। जओ भवंतरकएणं असुहपावकम्मोदएणं जं किंचि दारिद्दुक्खदोहग्गअयसऽब्भक्खाणकुट्ठाइवाहिकिलेससन्निवायं देहंमि संभवइ, न अन्नहात्ति। जेण तु परिसमागमे पढिजइ। तं जहा—"को देइ कस्स देजइ, विहियं को हरइ हारए कस्स। सयमप्पणो विढत्तं, अल्लियइ दुहं पि सुक्खं पि॥१॥" चिंतमाणीए चेव उप्पन्नं केवलनाएं। कया य देवेहिं केवलिमहिमा। केवलिणा वि एरसुरासुराएं पणासियं संसयतमपडलं अज्जियाएं च। तओ भत्तिभरनिब्भराए पणामपुव्वं पुट्ठो केवली रज्जाए, जहा-भयवं! किमट्ठमहं पयाएं महंताएं महावाहिवेयणाएं भायणं संवुत्ता। ताहे गोयमा! सजलजलहरसुरदुंदुहिनिग्घोसमणोहारिगंभीरसरेणं भणियं केवलिणा, जहा-सुएसु दुक्करकारिए! जं तुज्झ सरीरविहडएकारएं ति। तए रत्तापित्तदूसिए अब्भंतरओ सरीरगे सिणिद्धाहारमाकंठाए कोलियमीसं परिभुत्तं। अन्नं च एत्थ गच्छे एतीए साहुसाहुणीए, तहाऽवि जावइयं अच्छीणि पक्खालिज्जंति तावइयं पि बाहिरपाएगं सागारियट्ठापनिमित्तेण वि ए कयाइ परिभुंजइ। तए पुण गोमुत्तपडिग्गहणगयाए तस्स मच्छियाहिं भिणिभिणितसिंघाणगलालालोलियवयणस्स संसट्ठगमुवगयस्स बाहिरपाएगं संघट्टिऊणं मुहं पक्खालियं। तेण य बाहिरपाणयसंघट्टएविराहणेणं ससुरासुरजगवंदाणं पि अलंघणिज्जा गच्छमेरा अइक्कमिया। तं च एं खमियं तुज्झ पवयणदेवयाए, जहा-साहुणाएं च पाणावरमे विणिच्छिप्पे हत्थेणावि, जं कुवतलायपुक्खरिणीसरियाइमतिगयं उदगं ति, केवलं तु जमेव विराहियं अववगयसयलदोसं फासुगं तस्स परिभोगं पन्नत्तं वीयरागेहिं, ता सिक्खावेमि एसा दुरायारा जेणऽन्नो वि को वि ए एरिसं समायारं पवत्तेइ त्ति चिंतिऊणं अमुगं २ चुन्नजोगं समुद्दिसमाणाए पक्खित्तं असणमज्झम्मि तं देवयाए। तं च तेणोवलक्खियं ति देवयाए। एएण कारणेणं ते सरीरं विहडियं ति, ए उए फासुगपडिभोगेणं ति। ताहे गोयमा! रज्जाए विभावियं, जहा-एवमेयं ए अन्नह त्ति; चिंतिऊण विन्नविओ केवली। जहा-भयवं! जइ अहं जहुत्तं पायच्छित्तं चरामि, ता किं पन्नप्पइ मज्झ एव तणुं। तओ केवलिणा भणियं। जहा-जइ कोइ पायच्छित्तं पयच्छइ ता पन्नप्पइ। रज्जाए भणियं। जहा-भयवं! जइ तुमं चिय पायच्छित्तं पयच्छसि, अन्नो को एरिसो महप्पा। तओ केवलिना भणियं, जहा दुक्करकारि पयच्छामि अहं तहा पच्छित्तमेव नऽत्थि, जेणं ते सुद्धी भवेज्जा। रज्जाए भणियं-भयवं! किं कारणं ति। केवलिणा भणियं, जहा-जं ते संजइवंदपुरओ गिराइयं। जहा-मम फासुयपाणपरिभोगेण सरीरगं विहडियं ति। एयं च दुट्ठपावं सहासमुदाए कहियं पडिवयणं सोच्चा संखुद्धाओ सव्वाओ चेव इमाओ संजइओ। चिंतियं च एयाहिं, जहा निच्छयओ विमुच्चामो फासुओदगं, भयऽज्झवसायाए आलोइयं निंदियं गरहियं चेयाहिं, दिन्नं च मए एयाणं पायच्छित्तं। तत्थं च एए तव्वयणदोसेणं जं ते समज्जियं अच्चंतकडुविरसं दारुणबद्धपुट्ठनिकाइयं तुंगं जं च पावरासिं, तं च कुट्ठभगंदरजलोदरवायुगुम्मसासनिरोहहरिसागंडमालाहिं अणेगवाहिवेयणापडिगयसरीराए दारिद्दुक्खदोहग्गअयसऽब्भक्खाणसंतावुव्वेगसंदीवियपज्जालियाए अणंतेहिं भवगहणेहिं सुदीहकालेणं तु अहन्निसाणुभवेयव्वं। एएणं कारणेणं ए समा गोयमा! सा रज्जज्जिआ जा अगीयत्थत्तदोसेणं वायामेत्तेणेव एमहंतं दुक्खदायगं पावकम्मं समज्जियं ति। महा० ६ अ०।

रज्जधम्म-राज्यधर्म-न०। प्रतिराज्यं भिन्ने करादिके, दश०१अ०।

रज्जपालिया-राज्यपालिका-स्त्री०। कामर्द्धिकस्थविरान्निर्गतस्य वेसपाटिकगणस्य द्वितीयशाखायाम्, कल्प०।

रज्जमाण-राज्यमान-त्रि०। रागवति, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

रज्जवइ-राज्यपति-पुं०। स्वतन्त्रे राजनि, ज्ञा० १श्रु० १ अ०।

रज्जवद्धण-राज्यवर्द्धन-पुं०। अवन्तिराजपालकपुत्रे अवन्तिवर्द्धनलघुभ्रातरि, आ० चू० ४ अ०।

रज्जहीण-राज्यहीन-पुं०। राज्यच्युते, सूत्र०१ श्रु०३अ०१उ०।

रज्जाहिवइ-राज्याधिपति-पुं०। महामन्त्रिणि, राजनि च। बृ० ४ उ०।

रज्जु-रज्जु (ज्जू)-स्त्री०। रज्ज्वा यत्संस्थानं तद् रज्जुरभिधीयते। क्षेत्रगणिते, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सम्प्रति रज्जूस्वरूपमाह—

सयंभुपरिमंताओ, अवरंतो जाव रज्जुमाईओ।
एएण रज्जुमाणेण, लोगो चउद्दसरज्जुओ॥ ३१॥

केवलद्वीपपयोधिपर्यन्तवर्तिनः स्वयंभूरमणाभिधानजलनिधेः परतटवर्तिपूर्ववेदिकान्तादारभ्य यावत्तस्यैव तोयधेरपरवेदिकान्तः, एतावत्प्रमाणा रज्जुरवगन्तव्या। अनेन च रज्जूमानेनोच्छ्रयतो लोकश्चतुर्दशरज्जूप्रमाणो भवतीति। प्रव०१४३ द्वार।

रज्जवः कस्मिन् स्थाने कति सन्तीति—

माघवईएँ तलाओ, ईसिप्पब्भार उवरिमतलं जा।
चउदसरज्जू लोगो, तस्साऽहो वित्थरं सत्त॥ ९०९॥
उवरिं पएसहाणी, ता नेया जाव भूतले एगा।
तयणुप्पएसवुड्ढी, पंचमकप्पम्मि जा पंच॥ ९१०॥
पुणरवि पएसहाणी, जा सिलाएँ एकगा रज्जू।
घम्माएँ लोगमज्झे, जोयणयअसंखकोडीहिं॥ ९११॥

माघवत्याः-तमस्तमःप्रभापराभिधानायाः सप्तमनरकपृथिव्यास्तलादलोकपृथिव्याः संस्पर्शिनः सर्वाधस्तनभागादारभ्य ईषत्प्राग्भारायाः सिद्धशिलायास्सर्वोपरितनतलं लोका-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्तलक्षणं यावदूर्ध्वाधोभागेन चतुर्दशरज्जूप्रमाणो लोको भवति,तस्य च लोकस्याधस्तात्सप्तमपृथिव्या अधोभागे विस्तरतो देशोनाः सप्त रज्जवः। सूत्रकारेण त्वल्पत्वाद्देशोनत्वं न विवक्षितम्। ततोऽधोलोकान्तादुपरिप्रदेशहानिस्तिर्यगङ्गुलासंख्येयभागहानिस्तावद् ज्ञातव्या यावद् भूतले तिर्यग्लोकमध्यवर्तिनि समभूमिभागे विस्तरत एका रज्जुः, तदनु समभूमिभागादुपरिमुखं प्रदेशवृद्धिस्तिर्यगङ्गुलासंख्येयभागवृद्धिस्तावद् द्रष्टव्या यावदूर्ध्वलोकमध्ये पञ्चमे ब्रह्मलोकाभिधे कल्पे विस्तरतः पञ्च रज्जवः, ततः पुनरप्यूर्ध्वं प्रदेशहानिस्तावदवसेया यावत्सिद्धशिलाया उपरिष्टाल्लोकान्ते विस्तरत एकैकरज्जुः। घर्मायां च रत्नप्रभापराभिधानायां प्रथमपृथिव्यां योजनानामसंख्याताभिः कोटिभिर्बहुसमभूमिभागादतिक्रान्ताभिर्लोकमध्यम्। इयमत्र भावना-इह सामस्त्येन चतुर्दशरज्ज्वात्मको लोकः, स च त्रिधा भिद्यते, तद्यथा—ऊर्ध्वलोकस्तिर्यग्लोकोऽधोलोकश्च। तत्र तिर्यग्लोकस्य ऊर्ध्वाधोऽपेक्षया अष्टादशयोजनशतप्रमाणस्य मध्यभागे जम्बूद्वीपरत्नप्रभाया बहुसमे भूमिभागे मेरुबहुमध्येऽष्टप्रादेशिको रुचकः, तत्र गोस्तनाकाराश्चत्वार उपरितनाः प्रदेशाश्चत्वारश्चाधस्तनाः। एष एव रुचकः सर्वासां दिशां विदिशां च प्रवर्त्तकः। एतस्माच्च रुचकादूर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकविभागाः, तथाहि—रुचकस्याधस्तादुपरिष्टाच्च नव नव योजनशतानि तिर्यग्लोकस्याधस्तादधोलोक उपरिष्टादूर्ध्वलोकः। देशोनसप्तरज्जूप्रमाण ऊर्ध्वलोकः, समधिकसप्तरज्जूप्रमाणोऽधोलोकः, मध्येऽष्टादशयोजनशतोच्छ्रयस्तिर्यग्लोकः, ततो रुचकसमभूतलभागादधोमुखमसंख्याता योजनकोटीर्गत्वा रत्नप्रभायां चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य मध्यमभागः परिपूर्णसप्तरज्जूप्रमाणो भवतीति।

संप्रति लोकस्य संस्थानमाह—

हेट्ठाहोमुहमल्लग-तुल्लो उवरिं तु संपुडठियाणं।
अणुसरइ मल्लगाणं, लोगो पंचत्थिकायमओ ॥६१२॥

अधस्तादधोभागोऽधोमुखमल्लकतुल्योऽधोमुखीकृतशरावसदृक्षाकारः उपरि पुनः संपुटस्थितयोर्मल्लकयोः शरावयोराकारमनुसरति लोकः। अयमर्थः प्रथमं तावदेकं शरावमधोमुखमवस्थाप्यते,ततस्तस्योपरि द्वितीयमुपरिमुखं,तस्याप्युपरि तृतीयमधोमुखमित्येवं व्यवस्थितशरावत्रयसदृशाकारः सकलोऽपि लोको भवतीति, स च पञ्चास्तिकायमयो धर्माधर्माकाशजीवपुद्गललक्षणैः पञ्चभिरस्तिकायैर्व्याप्तः।

अथ चतुर्दशरज्ज्वात्मकमपि लोकमसत्कल्पनया खण्डकप्रविभागेन दिदर्शयिषुः खण्डकनिष्पादनाय तावदाह—

तिरियं सत्तावन्ना, उड्ढं पंचेव हुंति रेहाओ।
पाएसु चउसु रज्जू, चउदस रज्जू य तसनाडी॥६१३॥

तिर्यक्—तिरश्चीनाः सप्तपञ्चाशत्संख्या रेखाः पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते, ऊर्ध्वमुपर्यधोभावेन पुनः पञ्चैव रेखाः स्थाप्या भवन्ति। तथा—'पाएसु चउसु' त्ति सप्तम्यास्तृतीयार्थत्वाच्चतुर्भिः पादैः खण्डकैरेका रज्जुर्भवति। इह चतुर्भिः खण्डकैरेका रज्जुः परिकल्पिता, ततो रज्जुचतुर्थभागत्वात् खण्डकं पाद इत्यभिहितम्। चतुर्दशरज्जुश्च ऊर्ध्वाधोभावेन चतुर्दशरज्जूप्रमाणा त्रसनाडी। इयमत्र भावना—तिर्यग्व्यवस्थापितसप्तपञ्चाशद्रेखाभिरूर्ध्वाधोभावेन षट्पञ्चाशत्खण्डकानि जायन्ते। चतुर्भिश्च खण्डकैरेका रज्जुरिति षट्पञ्चाशतश्चतुर्भिर्भागहारे ऊर्ध्वाधश्चतुर्दश रज्जवो लभ्यन्ते इति,तिर्यक्त्रसनाडीमध्ये सर्वा एकैव रज्जूरुपर्यधोभावविनिवेशितरेखापञ्चकेन खण्डचतुष्कस्यैव निष्पन्नत्वात्। एवं तावत् त्रसनाडीमध्ये ऊर्ध्वाधोभावेन खण्डकान्युक्तानि।

अथ सकलस्यापि लोकस्य तिर्यग्वर्तीनि खण्डकान्यभिधातुकामः प्रथमं तावदूर्ध्वलोके रुचकादारभ्य लोकान्तं यावत्तिर्यक्खण्डान्याह—

तिरियं चउरो दोसुं, छ दोसुं अट्ठ दस य इक्किक्के।
वारस दोसुं सोलस, दोसुं वीसा य चउसुं वि॥६१४॥

रुचकसमाद् भूभागादूर्ध्वं द्वयोः पङ्क्त्योरेकोनत्रिंशत्तमरेखापरिवर्तिन्योस्तिर्यक्तिरश्चीनानि चत्वारि चत्वारि खण्डकानि त्रसनाडीमध्यगतान्येव भवन्ति, त्रसनाड्या बहिस्तत्र खण्डकानामभावात्। तत उपरितन्योर्द्वयोः पङ्क्त्योः षट् खण्डकानि। तत्र चत्वारि त्रसनाडीमध्यवर्तीन्येव एकैकं तु त्रसनाड्या बहिः प्रत्येकमुभयपार्श्वयोरिति। तत एकैकस्यां पङ्क्तौ मध्ये क्रमेणाऽष्टौ दश च खण्डकानि, तथाहि-एकस्यां पङ्क्तौ नाडीमध्ये चत्वारि,बहिश्चैकपार्श्वे द्वयम्, द्वितीयपार्श्वेऽपि द्वयमित्यष्टौ,परस्यां च पङ्क्तौ चत्वारि, मध्ये बहिश्च उभयतः प्रत्येकं त्रितयं त्रितयमिति दश। ततोऽपि द्वयोः पङ्क्त्योः प्रत्येकं द्वादश खण्डकानि। चत्वारि मध्ये, बहिश्चत्वारि चत्वारीति। तदनन्तरं द्वयोः पङ्क्त्योः प्रत्येकं षोडश षोडश खण्डानि। चत्वारि मध्ये पार्श्वयोश्च षट् षडिति। तत उपरितनीषु चतसृषु पङ्क्तिषु प्रत्येकं विंशतिखण्डकानि, चत्वारि मध्ये, बहिश्चैकपार्श्वेऽष्टावपरपार्श्वेऽप्यष्टाविति। तदेवमूर्ध्वलोके चतुर्दशसु पङ्क्तिषु यथासंभवं खण्डकानां वृद्धिरुक्ता।

अथ चतुर्दशस्वपि पङ्क्तिषु हानिमाह—

पुनरवि सोलस दोसुं, वारस दोसुं पि हुंति नायव्वा।
तिसु दस तिसु अट्ठ, छ दोसु दोसुं पि चत्तारि॥६१५॥

पुनरप्युपरितनपङ्क्तिद्वये षोडश खण्डकानि, भावना च सर्वत्र प्राग्वदवसेया। तत ऊर्ध्वं द्वयोः पङ्क्त्योर्द्वादश द्वादश खण्डकानि। ततोऽपि तिसृषु पङ्क्तिषु दश दश खण्डकानि, तिसृषु पङ्क्तिषु अष्टावष्टौ खण्डकानि। तदनु द्वयोः पङ्क्त्योः षट् षट् खण्डकानि। ततोऽपि सर्वोपरिवर्तिन्योर्द्वयोः पङ्क्त्योर्नाडीमध्यगतान्येव चत्वारि खण्डकानि भवन्तीति। इत्थं तावज्जिनगुरुप्रदर्शितस्थापनानुसारतो रुचकादारभ्य लोकान्तं यावत् 'तिरियं चउरो दोसुं' इत्यादि गाथाद्वयं व्याख्यातम्। अपरे तु वैपरीत्येन पट्टेषु स्थापनां पश्यन्तः एतद्गाथाद्वयं लोकान्तादारभ्य लोकमध्यं यावद्व्याख्यानयन्तीति।

अथाधोलोके सप्तस्वपि पृथिवीषु ऊर्ध्वाधोभावेन खण्डकान्याह—

उवरिय य लोयमज्झा, चउरो चउरो य सव्वहिं नेया।
तिग तिग दुग दुग एक्कि-क्कगो य जा सत्तमी पुढवी॥६१६॥

अवतीर्य लोकान्ताल्लोकमध्यं समागत्य ततो लोकमध्याद् रुचकलक्षणादारभ्य सर्वत्र सर्वासु पृथिवीषु त्रसनाडीमध्ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Nâria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऊर्ध्वाधोभावेन चत्वारि चत्वारि खण्डकानि ज्ञातव्यानि त्रसनाड्याश्च वहिः खण्डकानामभाव एव, ततः शर्कराप्रभाया उपरितनतलादारभ्य दक्षिणवामभागयोः प्रतिपङ्क्ति तिरश्चीनानि त्रीणि त्रीणि खण्डकानि, तावदूर्ध्वाधोभावेन ज्ञेयानि यावत्सप्तमपृथिव्या अधस्तनो भागः । ततो वालुकाप्रभाया उपरितलादारभ्य उपरि पार्श्वयोः खण्डकत्रयात्पुरतः पुनरपि त्रीणि त्रीणि खण्डकानि तावदवसेयानि यावत्सप्तमी पृथिवी । ततः पङ्कप्रभाया उपरि तलादारभ्य द्वयोः पार्श्वयोः पूर्वोक्तखण्डकेभ्य परतो द्वे द्वे खण्डके तावदवगन्तव्ये यावत्सप्तमी पृथिवी । ततः पुनरपि धूमप्रभाया आरभ्य पार्श्वद्वयेऽपि द्वे द्वे खण्डके तावद्भवन्ति यावत्सप्तमी पृथिवी ततो भूयोऽपि तमःप्रभाया आरभ्य पार्श्वद्वयोस्तावदेकैकं खण्डकं स्थापनीयं यावत् सप्तमी पृथिवी । ततः सप्तम्यामपि पृथिव्यां पूर्वोक्तखण्डकेभ्यः परत उभयपार्श्वयोरेकैकं खण्डकं प्रतिपङ्क्ति तावद्भवति यावत्सर्वाधस्तनी पङ्क्तिरिति तदेवमधोलोके ऊर्ध्वाधोभावेन खण्डकान्युक्तानि ।

अथ तमस्तमःप्रभाया आरभ्य रत्नप्रभा यावत्पृथिवीतिर्यक्खण्डकप्रमाणमाह—

अडवीसा छव्वीसा, चउवीसा वीस सोल(स) दस चउरो ।
सत्तासु वि पुढवीसुं, तिरियं खड्डयगपरिमाणं ॥ ६१७ ॥

सप्तम्यां तमस्तमःप्रभायां नरकपृथिव्यामष्टाविंशतिः खण्डकानि तिर्यग्भवन्ति । तत्र त्रसनाड्या वहिरेकपार्श्वे द्वादश द्वितीयपार्श्वेऽपि द्वादश, त्रसनाडीमध्ये च चत्वारीति । तमःप्रभायां षड्विंशतिः खण्डकानि, चत्वारि मध्ये, वहिर्भागयोश्चैकादशेति । धूमप्रभायां चतुर्विंशतिः चत्वारि मध्ये, उभयपार्श्वयोश्च दश दशेति । पङ्कप्रभायां विंशतिः, मध्ये चत्वारि वहिर्भागयोश्चाष्टाष्टाविति । वालुकाप्रभायां षोडश, मध्ये चत्वारि, उभयपार्श्वयोः षट् षडिति । शर्कराप्रभायां तिर्यग् दश खण्डकानि, चत्वारि मध्ये, दक्षिणवामभागयोश्च त्रीणि त्रीणीति । रत्नप्रभायां च त्रसनाडीमध्यगतान्येव चत्वारि तिर्यक्खण्डकानीत्येवं सप्तस्वपि तमस्तमःप्रभाद्यासु पृथिवीषु तिर्यक्तिरश्चीनखण्डकानां कल्पितचतुरस्राकारनभोभागरूपाणां परिमाणं सख्यानां समवसेयमिति ।

अथ सकलस्यापि लोकस्य खण्डकसर्वसंख्यामाह—

पंचसयवारसुत्तर, हेट्ठा तिसयाउ चउर अब्भहिया ।
अह उड्ढं अट्ठ सया, सोलहिया खण्डया सव्वे ॥ ६१८ ॥

पञ्च शतानि द्वादशोत्तराणि द्वादशाधिकानि खण्डकानाम् 'हेट्ठ त्ति' अधोलोके भवन्ति । तथाहि—'अडवीसा' इत्यादिगाथोक्तान् अष्टाविंशत्याद्यङ्कान् मीलयित्वा प्रतिपृथिवीम् अष्टाविंशतिषड्विंशत्यादिखण्डकसंख्योपेतपङ्क्तिचतुष्टयसद्भावाच्चतुर्भिर्गुणयेत् । ततो जायन्ते पञ्च शतानि द्वादशोत्तराणीति । 'अह उड्ढं ति' अथाधोलोकादनन्तरमूर्ध्वलोके त्रीणि शतानि चतुर्भिरभ्यधिकानि खण्डकानां भवन्ति । 'तिरियं चउरो दोसुं' इत्यादि गाथाद्वितयोदितखण्डकमीलने यथोक्तसंख्यासद्भावात्, सर्वाणि चाधोलोकोर्ध्वसम्बन्धीनि खण्डकानि मिलितानि अष्टौ शतानि षोडशाधिकानि (८१६) भवन्तीति ।

अथ सर्वस्मिन्नपि लोके यावन्त्यो यावन्त्यो रज्जवो भवन्ति तावतीर्दर्शयितुमाह—

वत्तीसं रज्जूओ, हेट्ठा रुयगस्स हुंति नायव्वा ।
एगोणवीसमुवरिं, ऍगवन्ना सव्वपिंडेणं ॥ ६१९ ॥

रुचकस्य पूर्वोक्तस्वरूपस्याधस्ताद्—अधोलोके इत्यर्थः, द्वात्रिंशद् रज्जवो भवन्ति-ज्ञातव्याः । इह किल त्रिधा रज्जूः-सूचीरज्जूः, प्रतररज्जूः, घनरज्जूश्च । तत्रायामतः खण्डकचतुष्टयप्रमाणा वाहल्यतः पुनरेकखण्डप्रमिता खण्डकश्रेणिसूच्याकारव्यवस्थापितखण्डकचतुष्टयनिष्पन्नत्वात्—सूचीरज्जूः । तथा एषैव प्राक् प्रदर्शिता खण्डकचतुष्कात्मिका सूचिस्तथैव गुण्यते, अतः प्रत्येकं खण्डकचतुष्टयनिष्पन्नसूचीचतुष्टयात्मिका उपरितनाऽधस्तनखण्डकरहिता षोडशखण्डकसंख्या प्रतररज्जूः संपद्यते । तथा प्रतर एव सूच्या गुणितो दैर्घ्येण विष्कम्भतः पिण्डतश्च समसंख्यखण्डकोपेता सर्वतश्चतुरस्रा घनरज्जूः । दैर्घ्यादिषु त्रिष्वपि स्थानेषु समतालक्षणस्यैव घनस्येह रूढत्वात् । प्रतररज्जूश्च दीर्घविष्कम्भाभ्यामेव समानपिण्डस्तस्यैकखण्डकमात्रत्वादिति भावः । एषा च घनरज्जूश्चतुःषष्टिखण्डकात्मिका, पूर्वोक्तसूच्याऽनन्तरोदितषोडशखण्डकप्रमिते प्रतरे गुणिते एतावतामेव खण्डकानां भावात्, स्थापना च प्रागुक्तषोडशखण्डकात्मकप्रतरस्योपरि त्रीन् वारान् षोडश षोडश खण्डकानि दत्वा भावनीया । तथा च दैर्घ्यविष्कम्भपिण्डैस्तुल्योऽयमापद्यत इति । उक्तं च-"सूईरज्जू चउहि उ खण्ड-गेहिं सोलसेहिँ पयररज्जू य । चउसट्ठिखंडगेहिं, घणरज्जू होइ विन्नेया ॥ १ ॥" ततो द्वादशोत्तरपञ्चशतरूपस्याधोलोकखण्डराशेः प्रतररज्ज्वानयनाय षोडशभिर्भागे हृते द्वात्रिंशत्प्रतररज्जवो भवन्ति । तथा उपरि ऊर्ध्वलोके एकोनविंशतिः प्रतररज्जवः । चतुरुत्तरशतत्रयस्य षोडशभिर्भागाहारे एकोनविंशतेरत्र लभ्यमानत्वात्; तथा सर्वपिण्डेनाधोलोकोर्ध्वलोकसम्बन्धिसर्वरज्जूमीलनेन एकपञ्चाशत्प्रतररज्जवो भवन्तीति ।

साम्प्रतं घनरज्जूसंख्यां प्रतिपादयिषुः प्रथमं तावल्लोकघनीकरणमाह—

दाहिणओ उ दुखण्डा, वामे संधिज्ज विहियविवरीयं ।
नाडीजुयातिरज्जू, उड्ढाऽहो सत्तत्तो जाया ॥ ६२० ॥
हेट्ठाओँ वामखंडं, दाहिणपासम्मि ठवसु विवरीयं ।
उवरिमतिरज्जुखंडं, वामे ठाणम्मि संधिज्जा ॥ ६२१ ॥

ऊर्ध्वलोके त्रसनाड्या दक्षिणपार्श्ववर्तिनी ये द्वे खण्डे ब्रह्मलोकमध्यादधस्तनमुपरितनं च खण्डं परिगृह्य—विपरीते च विधाय, अधस्तनभागमुपरितनं चाधःकृत्वेत्यर्थः वामपार्श्वे संदध्यात्-संयोजयेत् । ततस्ते द्वे खण्डे रज्जूविस्तृततया नाड्या युते सर्वत्र विस्तरतस्तिस्रो रज्जवो जाताः, ऊर्ध्वाधोऽधश्चोच्छ्रयेण सप्त रज्जवः इत्यूर्ध्वलोकसम्बन्धिनं, 'हेट्ठाउ त्ति' अधस्तादधोलोके पुनस्त्रसनाडीतो वामभागवर्तिखण्डं बुद्ध्या गृहीत्वा दक्षिणपार्श्वे विपरीतं कृत्वा स्थापयेत् । तत उपरितनसंवर्तितोर्ध्वलोकरूपं खण्डं त्रिरज्जुविस्तीर्णं संवर्तिताधोलोकखण्डस्य वामे स्थाने वामपार्श्वे सङ्घातयेत् । इयमत्र भावना—इह

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूपतस्तावल्लोकश्चतुर्दशरज्जूप्रमाणः, अधस्तादिस्तरतो देशोनसप्तरज्जूप्रमाणः तिर्यग्लोकमध्यभागे एकरज्जूः, ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जूः, उपरि च लोकान्ते एकरज्जूः, शेषस्थानेषु पुनरनियतविस्तरः। एवं प्रमाणस्य लोकस्य वैशाखस्थानस्थकटिस्थकरयुग्मपुरुषाकारस्य घनीकरणाय प्रथममुपरितनलोकार्धं संवर्त्यते। तथाहि—सर्वत्रैकरज्जूविस्तीर्णायास्त्रसनाड्या दक्षिणभागवर्तिनि ब्रह्मलोकमध्याद्धस्तनमुपरितनं च ये द्वे खण्डे कूर्पराकारसंस्थिते ब्रह्मलोकमध्ये प्रत्येकं द्विरज्जूविस्तीर्णे देशोनार्धचतुष्टयरज्जूच्छ्रये, ते बुद्धिकल्पनया समादाय त्रसनाड्या एवमुत्तरपार्श्वे वैपरीत्येन संघात्येते। एवं चोपरितनं लोकार्धं त्रिरज्जूविस्तारं देशोनसप्तरज्जूच्छ्रयम्, बाहल्यतस्तु ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जूप्रमाणमन्यत्र त्वनियतबाहल्यं जायते। ततोऽधोलोके त्रसनाड्या दक्षिणभागवर्त्यधोलोकखण्डमधोभागे देशोनत्रिरज्जूविस्तारं क्रमेण हीयमानविस्तरं तावद्यावदुपरिष्टाद्रज्जूसंख्येयभागविष्कम्भं समधिकसप्तरज्जूच्छ्रयं बुद्ध्या परिगृह्य त्रसनाड्या एवोत्तरपार्श्वे ऊर्ध्वाधोभागविपर्यासेन संयोजयेत्। एवं च कृतेऽधस्तनं लोकार्धं देशोनचतूरज्जूविस्तारं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयम्, बाहल्यतोऽप्यधः क्वचित्किंचिदूनसप्तरज्जूमानम्, अन्यत्र त्वनियतबाहल्यं जायते। तत उपरितनमर्धं बुद्ध्या गृहीत्वाऽधस्तनस्यार्धस्योत्तरपार्श्वे संघात्यते। तथा च सति क्वचित्सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयः, क्वचिच्च देशोनसप्तरज्जूच्छ्रयः, विस्तरतस्तु देशोनसप्तरज्जूप्रमाणो घनो जातः, ततः सप्तरज्जूनामुपरि यदधिकं तत्परिगृह्य उत्तरपार्श्वे ऊर्ध्वाध आयतं संघात्यते ततो विस्तरतोऽपि परिपूर्णाः सप्त रज्जवो भवन्ति। तथा संघातितोपरिखण्डस्य बाहल्यं कचित्पञ्च रज्जवः। अधस्तनखण्डस्य तु बाहल्यं अधस्ताद्यथासंभवं देशोनाः सप्त रज्जवः। ततः उपरितनखण्डबाहल्याद्देशोनरज्जूद्वयमत्रातिरिच्यते, इत्यस्मादतिरिच्यमानबाहल्यादर्धं गृहीत्वा उपरितनखण्डबाहल्ये संयोज्यते एवं च कृते बाहल्यतस्तावत् कियत्यपि प्रदेशे किंचिदूनाः षट् रज्जवो भवन्ति। व्यवहारतस्तु सर्वमप्येतच्चतुरस्रीकृतनभःखण्डसप्तरज्जूप्रमाणमुच्यते। व्यवहारनयो हि किंचिन्न्यूनसप्तहस्तादिप्रमाणमपि पटादिवस्तु परिपूर्णसप्तहस्तादिमानं व्यपदिशति, देशतोऽपि च दृष्टं बाहल्यादिधर्मे परिपूर्णेऽपि वस्तुनि व्यवस्यति स्थूलदृष्टित्वादिति भावः। अत एव तन्मतेनैवात्र सप्तमरज्जूबाहल्यता सर्वगताऽवगन्तव्या। आयामविष्कम्भाभ्यामपि यत्र देशोनसप्तरज्जूप्रमाणमिदं व्यवहारतस्तत्रापि प्रत्येकं सप्तरज्जूप्रमाणता दृश्या। तदेवं व्यवहारनयमतेनायामविष्कम्भबाहल्यैः प्रत्येकं सप्तरज्जूप्रमाणो घनो जायते। एतच्च पट्टिकादौ लिखित्वा भावनीयमिति। [प्रव०] (घनीकृतस्य लोकस्य रज्जूसंख्यां 'घणरज्जु' शब्दे तृतीयभागे १०४ पृष्ठे गता)

अथोर्ध्वलोके यावत्सु खण्डकेषु यावन्तो देवलोका भवन्तीत्येतदाह—

छसु खंडगेसु य दुर्ग, चउसु दुगं दससु हुंति चत्तारि।
चउसु चउक्कं गेवे-ज्जणुत्तराइं चउक्कम्मि ॥ ३० ॥

रुचकस्माद् भूभागादुपरिमुखेषु षट्सु खण्डकेषु सार्धरज्जूप्रमाणे क्षेत्रे इत्यर्थः, द्विकं सौधर्मेशानलक्षणं देवलोकद्वयं भवति। ततोऽप्युपरितनेषु चतुर्षु खण्डकेषु रज्जूमाने क्षेत्रे सनत्कुमारमाहेन्द्ररूपं देवलोकद्विकं भवति। ततोऽप्युपरि दशसु खण्डकेषु अर्धतृतीयरज्जूप्रमिते क्षेत्रे भवन्ति ब्रह्मलोकलान्तकशुक्रसहस्रारस्वरूपाश्चत्वारो देवलोकाः। तदनु चतुर्षु खण्डकेषु रज्जूपरिच्छिन्ने क्षेत्रे आनतप्राणतारणाच्युतनामकानां देवलोकानां चतुष्कं भवति। ततः सर्वोपरिवर्तिनि खण्डकचतुष्टयेऽन्तिमरज्जौ नवग्रैवेयकविजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धाख्यानि पञ्चानुत्तरविमानानि सिद्धक्षेत्रं च भवन्तीति। प्रव० १४३ द्वार। सूत्र०। स्था०। सनादिमये दवरिके, भ० ८ श० ९ उ०। बृ०। "रज्जू वरत्ता य" पाइ० ना० २१० गाथा।

रज्जुग—रज्जुक—पुं०। लेखके, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

रज्जुगसभा—रज्जुकसभा—स्त्री०। रज्जुका लेखकाः। 'कारकून' शालायाम्, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

रज्जुग्घाय—रजउद्घात—पुं०। विश्रसः परिणामतः समन्ताद्रेणुपतने, स्था० १० ठा० ३ उ०।

रज्जुचिलिमिलिया—रज्जुचिलिमिलिका—स्त्री०। और्णिकदवरके, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

रज्जुपिणद्ध—रज्जुपिनद्ध—त्रि०। रश्मिनियन्त्रे, प्रश्न० ४ संव० द्वार।

रज्जुमग्ग—रज्जुमार्ग—पुं०। यत्र रज्ज्वा किञ्चिदतिदुर्गमतिलङ्घ्यते तादृशे मार्गे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

रज्झिय—रहित—त्रि०। अनिरन्तरे, "न तत्थ सायं लहती ऽभिदुग्गे, अरहि (ज्झ) याभितावा तहवी तर्विति" ॥ १७॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

रट्ठ—राष्ट्र—न०। जनपदे, देशे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०। रा०। जनपदैकदेशे, भ० १५ श०। ऋषभदेवस्य स्वनामख्याते चतुस्त्रिंशे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

रट्ठउड—राष्ट्रकूट—पुं०। राष्ट्रमहत्तरे, बृ० ३ उ०। मण्डलोपजीविनि राजनियोगिके, विपा० १ श्रु० १ अ०।

रट्ठकूट—राष्ट्रकूट—पुं०। वेभेलसंनिवेसे स्वमातुलसुतायाः सोमानाम्न्याः पत्यौ, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ०।

रट्ठधम्म—राष्ट्रधर्म—पुं०। देशाचारे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

रट्ठवद्धण—राष्ट्रवर्द्धन—पुं०। अवन्तिराजस्य पालकस्य पुत्रे प्रद्योतस्य पौत्रे, आव० ४ अ०। आ० चू०।

रट्ठवाल—राष्ट्रपाल—न०। भरतचक्रवर्तिनः चरितप्रकाशके आषाढभूतिना कृते नाटके, यद्धि सिंहरथस्य राज्ञः सभायाम् प्रतिनर्तितं सत् पञ्चशतानां राजपुत्राणां नाट्यपात्रीभूतानां प्रव्रज्याकारणमभूदिति। पिं०।(अग्नौ प्रवेशितमिति नेदानीमुपलभ्यते) 'आसाढभूइ' शब्दे द्वितीयभागे ४७७ पृष्ठे उदाहृतम्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रट्ठिय-राष्ट्रिक-न०। राष्ट्रमहत्तरे, नि० चू० २ उ०।

रडिय-रुदित-न०। अश्रुविमोचने, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

रटित-न०। कलहायिते, "कलहाइअं रडिअं" पाइ० ना० २३२ गाथा।

रण-रण-पुं०। कातरजनक्षोभके संग्रामे, स० १४१ सूत्र। ध०। सूत्र०। प्रव०। कलहे, "संगामो संजुअं आहवं रणं संगरं समरं" पाइ० ना० ३३ गाथा। शब्दे, "रणो सद्दो" पाइ० ना० २६६ गाथा।

रणरणअ-रणरणक-पुं०। पीडायाम्, "अदिही अरई य रणरणओ" पाइ० ना० १६४ गाथा।

रणसीस-रणशीर्ष-न०। संग्रामशिरसि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। प्रश्न०। रणशब्दस्यापभ्रंशे सप्तम्यां रणि। (१) प्रङ्गणि चिट्ठदि नाहुं, धुं त्रं रणि करदि न भ्रन्ति" प्रा० ४ पाद।

रण्ण-अरण्य-न०। वने, "वाऽलाब्वरण्ये लुक्" ॥ ८। १। ६६॥ इत्यनेन आद्याकारस्य लुग् वा। प्रा० १ पाद।

रतणुच्चय-रत्नोच्चय-पुं०। रत्नानां नानाविधानामुत्प्राबल्येन चयः—उपचयो यत्र स रत्नोच्चयः। मेरुपर्वते, सू० प्र० ५ पाहु०। (अस्मादेव दिशां विभागः स च 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे दर्शितः) (अस्य षोडश नामानि 'गिरिराय' शब्दे तृतीयभागे ८७६ पृष्ठे गतानि) (अस्य उच्चत्वादिकम् 'मंदर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७ पृष्ठे गतम्)

रत्त-रक्त-त्रि०। रञ्जिते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। उत्त०। अरुणे, "अरुणं सोणं रत्तं पाडलमायंबिरं तंबं" पाइ० ना० ६३ गाथा। अत्यन्तसम्यक्त्ववासितान्तश्चेतसि, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। प्रद्वत्तरागे, बृ० २ उ०। धातुप्रभृतिभिर्द्रव्यैः रक्तीकृते, बृ०१ उ० २ प्रक०। कुसुम्भरागे, बृ०१ उ० ३ प्रक०। लोहिते, रक्तवर्णे, भ० १ श०१उ०। प्रश्न०। "रत्तासोगपगासकिंसुअसुअमुहगुञ्जद्धरागसरिसे" रक्ताशोकप्रकाशस्य किंशुकस्य—पुष्पितपलाशस्य शुकमुखस्य गुञ्जार्द्धस्य च रागेण सदृशो यः सः तथा तस्मिन्। आरक्तेत्यर्थे, अनु०। रुधिरे, न०। तं०। स्था०। रागयुक्ते, तद्भावितमूर्तौ च। त्रि०। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। आव०। गेयरागानुरक्तेन यद् गीयते तद् रक्तम्। द्वितीयगेयगुणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। अनु०। जं०। रा०। मनोहरे, औ०। गृद्धे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। अत्यन्तोत्कटरागतया प्रधानमपि वस्तु विरूपतयाऽध्यवस्यति इति आरक्तः श्रावकगुणः। दर्श० २ तत्त्व।

रत्तंसुय-रक्तांशुक-न०। मशकगृहाभिधे, चं० प्र० २० पाहु०।

रत्तंसुयसंवुड-रक्तांशुकसंवृत-त्रि०। रक्तांशुकेनातिरमणीयेन मशकगृहाभिधानेन वस्त्रेण संवृते आच्छादिते, कल्प० १ अधि० २ क्षण। जी०। रा०। भ०।

रत्तकंबलसिला-रक्तकम्बलशिला-स्त्री०। मेरौ, पण्डकवनमध्ये चूलिकायाः पश्चिमदिशि चतुर्योजनोच्छ्रितसर्वकाञ्चनमयचन्द्रार्द्धसंस्थानसंस्थितायां चतुर्थ्यां शिलायाम्, स्था०। 'दो रत्तकंबलसिलाओ' स्था० २ ठा० ३ उ०।

कहि णं भन्ते! पंडगवणे रत्तकंबलसिला णामं सिला पएणत्ता?, गोयमा! मंदरचूलिआए उत्तरेणं पंडगवणउत्तरचरिमंते एत्थ णं पंडगवणे रत्तकंबलसिला णामं सिला पएणत्ता, पाईणपडीणायया उदीणदाहिणविच्छिएणा सव्वतवणिज्जमई अच्छा ०जाव मज्झदेसभाए सीहासणं, तत्थ णं बहूहिं भवणवइ ०जाव देवेहिं देवीहि अ एरावयगा तित्थयरा अहिसिच्चंति। (सू० १०७)

सम्प्रति चतुर्थी शिला—'कहि ण' मित्यादि, प्रश्नः प्राग्वत्, उत्तरसूत्रे सर्वं द्वितीयशिलानुसारेण वाच्यम्, वर्णतश्च सर्वतपनीयमयी, श्रीपूज्यैस्तु सर्वा अर्जुनस्वर्णवर्णा उक्ता इति, 'ऐरावतका' इति ऐरावतक्षेत्रभवाः, सिंहासनस्यैकत्वं भरतक्षेत्रोक्तयुक्त्या वाच्यम्। जं० ४ वक्ष०। स्था०।

रत्तकूड-रक्तकूट-न०। शिखरधरपर्वते षष्ठे कूटे, जं० ४ वक्ष०।

रत्तक्ख-रक्ताक्ष-त्रि०। अरुणदिवाकरनयने, आव० ४ अ०।

रत्तक्खर-देशी-सीधुनि, दे० ना० ७ वर्ग० ४ गाथा।

रत्तचंदण-रक्तचन्दन-न०। लोहितवर्णे चन्दनविशेषे, स०। रा०। प्रज्ञा०। औ०।

रत्तच्छ-रक्ताक्ष-त्रि०। लोहितलोचने, उपा० २ अ०।

रत्तडी-रात्रि-स्त्री०। "रजन्याम्, ढोल्ला मइ तुहुँ वारिआ, मा कुरु दीहा माणु। निद्दए गमिही रत्तडी, दडवड होइ विहाणु"। प्रा० ४ पाद।

रत्ततल-रक्ततल-न०। लोहिताधोभागे, औ०। तं०।

रत्तधाउ-रक्तधातु-पुं०। कुण्डलवरद्वीपमध्यगतस्य कुण्डलशैलस्य दक्षिणश्रेण्यां चतुर्णां कूटानां मध्ये द्वितीयकूटे, द्वी०।

रत्तपड-रक्तपट-पुं०। सौगते, परिव्राजके च। बृ० १ उ० २ प्रक०। ज्ञा०।

रत्तपालजक्ख-रक्तपालयक्ष-पुं०। महापुरं नाम नगरं रक्ताशोकं नाम उद्यानम्; तस्मिन् पूज्यमाने यक्षे, विपा० २ श्रु० ७ अ०।

रत्तप्पभ-रक्तप्रभ-पुं०। कुण्डलवरद्वीपमध्यगतस्य कुण्डलशैलस्य दक्षिणश्रेण्यां चतुर्णां कूटानां मध्ये प्रथमे कूटे, द्वी०।

रक्तप्रभकूटस्योच्चत्वादि—

एएसिं कूडाणं, उस्सेहो पंच जोयणसयाइं।
पंचेव जोयणसए, मूलम्मि उ वित्थडा कूडा ॥ ७७ ॥
तिन्नेव जोयणसए, पणत्तरि जोयणसयाइँ मज्झम्मि।
अड्ढाइज्जे य सए, सिहरितले वित्थडा कूडा ॥ ७८ ॥
तिन्नेव जोयणसए, पंचेव सयाइँ एक्कवीसाइं।
मूलम्मि उ कूडाणं, सविसेसो परिरओ होइ ॥ ७९ ॥
एगं चेव सहस्सं, चूलसियं चेव होइ सममेगं।
मज्झम्मि उ कूडाणं, विसेसहीणो परिक्खेवो ॥ ८० ॥

(१) प्राङ्गणे तिष्ठति नाथो यः स रणे करोति न भ्रान्तिः।

१—नायक! मया त्वं वारितः, मा कुरु दीर्घं मानम्। निद्रया गमिष्यति रात्रिः, शीघ्रं भवति प्रभातम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्तेव जोयणसए, एकाणउयं च जोयणा होंति।
सिहरितले कूडाणं, सविसेसो परिरओ होइ ॥ ८१ ॥
पलिओवमट्ठिईआ, नागकुमारा हवंति एएसुं। द्वी०।

रत्तप्पवायदह- रक्तप्रपातह्रद–पुं०। जम्बूद्वीपे ऐरवतवर्षे, दीर्घवैताढ्यपर्वते पूर्वोदधिगामिन्याः रक्तवत्याः महानद्याः उद्गमस्थाने गङ्गाप्रपातह्रदसदृशे, स्था०।

जंबूमंदरउत्तरेणं एरवए वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता, तं जहा–बहुसमतुल्ला० जाव रत्तप्पवायद्दहे चेव, रत्तावइप्पवायद्दहे चेव। (सू० ८८) स्था० २ ठा० ३ उ०।

रत्तफुड–रक्तस्फुट–पुं०। बदरीवननिवासिनि स्वनामख्याते, नागे, "येन रक्तस्फुटो नागो निवसन् बदरीवने। पातितः क्षतिशस्त्रेण, क्षत्रियः सैष वै भवान् ॥ १ ॥" प्रव० २ द्वार।

रत्तय–देशी–बन्धके, दे० ना० ७ वर्ग ३ गाथा।

रत्तरयण–रक्तरत्न–न०। पद्मरागादिके, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। भ०। ज्ञा०।

रत्तवई–रक्तवती–स्त्री०। जम्बूद्वीपे ऐरवतवर्षे शिखरिवर्षधरपर्वतात् निर्गत्य पश्चिमसमुद्रसङ्गतायां महानद्याम्, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

एवं जह चेव गंगासिंधूओ तह चेव रत्ता-–रत्तवईओ णेयव्वाओ। पुरच्छिमेणं रत्ता, पच्चत्थिमेणं रत्तवई अवसिट्ठं तं चेव। (सू० ११)

यथैव गङ्गासिन्धू तथैव रक्तारक्तवत्यौ नेतव्ये, तत्रापि दिग्व्यक्तिमाह–पूर्वस्याम्–रक्ता, पश्चिमायाम्—रक्तावती। जं०४ वक्ष०। (जम्बूद्वीपे द्वीपे महानदीनां मध्ये गता एषा चतुर्दशनदीसहस्रैः सह पश्चिमसमुद्रं गच्छतीत्यादिवक्तव्यता 'जंबूदीव' शब्दे चतुर्थभागे १३७८ पृष्ठे उक्ता)

रत्तारत्तवतीओ णं महाणदीओ पवाहे सातिरेगे चउव्वीसं कोसे वित्थारेणं पन्नत्ता। (सू० २४)

'पवह' इति–'यतः स्थानान्नदी प्रवहति—वोढुं प्रवर्त्तते, स च पद्मह्रदात्तोरणेन निर्गम इह संभाव्यते, न पुनर्यो-ऽन्यत्र प्रवहशब्देन मकरमुखप्रणालनिर्गमः प्रपातकुण्डनिर्गमो वा विवक्षितः, तत्र हि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यामिह च पञ्चविंशतिकोशप्रमाणा गङ्गाऽऽदिनद्यां विस्तारतोऽभिहिताः ॥ २४ ॥ स० २४ सम०।

जंबूमंदरउत्तरेणं रत्तावइं महाणदिं पञ्च महाणईओ समप्पेंति। इंदा इंदसेणा सुसेणा वारिसेणा महाभागा। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

जंबू! मन्दरउत्तरेणं रत्तारत्तवईओ महाणईओ दस महाणईओ समप्पेंति। तं जहा–किण्हा महाकिण्हा नीला महानीला तारा महातारा इंदा ० जाव महाभागा। (सू० ४७०) स्था० १० ठा० ३ उ०।

१–आदिशब्दात्–रक्तावती।

चम्पाराजदत्तस्य भार्यायां महाचन्द्रकुमारमातरि, विपा० २ श्रु० ६ अ०।

रत्तवइप्पवायदह–रक्तवतीप्रपातह्रद–पुं०। जम्बूद्वीपे ऐरवतवर्षे दीर्घवैताढ्यपर्वते पश्चिमोदधिगामिन्याः रक्तवत्याः नद्याः उद्गमस्थाने सिन्धुप्रपातसदृशे प्रपातह्रदे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

दो रत्तवइप्पवायदहा। स्था० २ ठा ३ उ०।

रत्तसिला–रक्तशिला–स्त्री०। मेरौ पण्डकवने तृतीयशिलायाम्, जं०।

अथ तृतीयशिला—

कहि णं भंते! पंडगवणे रत्तसिला णामं सिला पण्णत्ता?, गोयमा! मन्दरचूलिआए पच्चत्थिमेणं पंडगवणपच्चत्थिमपेरंते, एत्थ णं पंडगवणे रत्तसिला णामं सिला पण्णत्ता। उत्तरदाहिणायया पाईणपडीणविच्छिण्णा ०जाव तं चेव पमाणं सव्वतवणिज्जमई अच्छा उत्तरदाहिणेणं एत्थ णं दुवे सीहासणा पण्णत्ता, तत्थ णं जे से दाहिणिल्ले सीहासणे तत्थ णं बहूहिं भवणवइपम्हाइआ तित्थयरा अहिसिचंति, तत्थं णं जे से उत्तरिल्ले सीहासणे तत्थ णं बहूहिं भवण ० जाव वप्पाइआ तित्थयरा अहिसिच्चंति (न्ति)। (सू० १०७)

'कहि ण' मित्यादि, इदं च सूत्रं पूर्वशिलागमेन बोध्यम्, केवलं वर्णतः सर्वात्मना तपनीयमयी रक्तवर्णत्वात्, सिंहासनद्विकभावना त्वेवम्–एषा पश्चिमाभिमुखा तद्दिगभिमुखं च क्षेत्रं पश्चिममहाविदेहाख्यं शीतोदादक्षिणोत्तररूपभागद्वयात्मकम्, तत्र च प्रतिविभागमेकैकजिनजन्मसम्भवाद्युगपज्जिनद्वयमुत्पद्यत, तत्र दाक्षिणात्ये सिंहासने दक्षिणभागगतपद्मादिविजयाष्टकजाता जिनाः स्नाप्यन्ते, औत्तराहे च उत्तरभागगतवप्रादिविजयाष्टकजाता इति। जं० ४ वक्ष०।

रत्ता–रक्ता–स्त्री०। जम्बूद्वीपे ऐरवतवर्षे शिखरिवर्षधरपर्वतान्निर्गत्य पूर्वलवणसमुद्रसङ्गतायां महानद्याम्, (तद्वक्तव्यता गङ्गावक्तव्यतावज्ज्ञेया) स्था० ३ ठा० ४ उ०।

रत्ताकुंड–रक्ताकुण्ड–न०। रक्ताख्यमहानद्युद्गमस्थानीभूते कुण्डे, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

रत्ताभ–रक्ताभ–पुं०। रक्तवर्णे, जी० ४ प्रति०।

रत्तावईकुंड–रक्तावतीकुण्ड–न०। रक्ताख्यमहानद्युद्गमस्थानीभूते कुण्डे, स्था० ८ ठा० ३ उ।

रत्तावंग—रक्तापाङ्ग—त्रि०। लोहितनयनोपान्ते, जं० १ वक्ष०। जी०।

रत्तासोग–रक्ताशोक–पुं०। अशोकवृक्षविशेषे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। औ०।

रत्तासोगप्पगास–रक्ताशोकप्रकाश–पुं०। रक्तस्याशोकस्य प्रभासमूहे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। दशा०।

रत्ति–रात्रि–स्त्री०। रजन्याम्, सर्वत्र ल–व–रामचन्द्रे ॥८।२। ७०॥ इति रेफस्य लोपो भवति। रात्रिः। रत्ती।। प्रा०।

रत्तितिहि–रात्रितिथि–स्त्री०। तिथेः पश्चार्द्धभागे, चं० प्र० १ पाहु०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्तिय-रात्रिक-त्रि० । रात्रौ भवं रात्रिकम् । रात्रियाते, उत्त० २६ अ० । रात्रेरन्ते भवे, प्रव० ३ द्वार ।

रत्तियर-रात्रिचर-त्रि० । चौरादिके, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

रत्तिविणासञ-रात्रिविनाशक-पुं० रात्रिविनाशकारणे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

रत्ती-देशी-आज्ञायाम्, दे० ना० ७ वर्ग १ गाथा ।

रत्तीअ-रक्तिक-पुं० । नापिते, " वच्छीउत्तं जाणह य, चंडिलं एहाविअं च रत्तीअं " पाइ० ना० ६१ गाथा । दे० ना० ।

रत्तुक्कडा-रक्तोत्कटा-स्त्री० । मासान्ते त्रीणि दिनानि यावत्स्त्रीणां यन्निरन्तरमसृक् स्रवति तदत्र रक्तमुच्यते तेन रक्तेन रुधिरेण उत्कटा या सा । रजस्वलायाम्, तं० । आव० ।

रत्तुप्पल-रक्तोत्पल-न० । रक्तपद्मपत्रे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । रा० । लोहितकमले, औ० । भ० । कल्प० । " रत्तुप्पलपत्तसुकुमालकोमलतला " रक्तं-लोहितम् उत्पलपत्रवत् । जी० ३ प्रति० २ उ० । "रत्तुप्पलपउमकरचरणकोमलङ्गुलितला" रक्तोत्पलवत् करचरणानां कोमला अङ्गुल्यो येषाम् । तं० । "रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालतालुजिब्भालियग्गजीहं" रक्तोत्पलं रक्तकमलम् । कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

रत्तोयाकूड-रक्तोदाकूट-न० । शिखरधरपर्वते अष्टमे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

रत्थंतर-रथ्यान्तर-न० । मार्गमध्ये, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । औ० ।

रत्था-रथ्या-स्त्री० । सेरिकायाम्, उत्त० ३० उ० ।

रत्थामुह-रथ्यामुख-न० । मार्गप्रवेशे, आ० म० १ अ० । रथ्यायाः पार्श्वे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

रथकार-रथकार-पुं० । काष्ठकलाभिज्ञे कारुके, "पुरं सोपारकं तत्र, रथकारोऽभवत्सुधीः । तद्दास्याश्च द्विजाज्जातः, कोकसो नाम दारकः ॥१॥ " । आ० क० १ अ० ।

रद्ध-राद्ध-न० । पाचिते, पक्के च । आव० ४ अ० । नि० चू० । जी० ।

रद्धी-देशी-प्रधाने, दे० ना० ७ वर्ग २ गाथा ।

रन्न-अरण्य-न० । वने, " कंतारं काणणं रन्नं " पाइ० ना० १३५ गाथा ।

रप्पुय-रप्पुक-पुं० । वल्मीकरोगे, पञ्चा० १६ विव० । आव० ।

रप्फ-देशी-वल्मीके, दे० ना० ७ वर्ग १ गाथा ।

रप्फडिआ-गोधायाम्, दे० ना० ७ वर्ग ४ गाथा ।

रप्फा-स्त्री० । देशी-वल्मीके, " रप्फा वम्मीअ-वामलूरा य " पाइ० ना० १७१ गाथा ।

रफस-रभस-पुं० । वेगे, " चूलिका-पैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ " ॥८।४। ३२५ ॥ इति भस्य फः । रभस । रफस । प्रा० ४ पाद ।

रम-रम-धा० । क्रीडायाम्, प्रा० ४ पाद । रमते-हर्षितो भवति । उत्त० पाई० ४ अ० । अभिरतिमान् भवति । उत्त० पाई० १ अ० । रतिं कुरुते, । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । " रमेः संखुड्ड-खेड्डोब्भाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-मोट्टाय-णीसर-वेल्लाः" ॥८।४।१६८॥ रमतेरेतेऽष्टादेशा वा भवन्ति । संखुड्डइ । खेड्डइ । उब्भवइ । किलिकिञ्चइ । कोट्टुमइ । मोट्टायइ । णीसरइ । वेल्लइ । रमइ । प्रा० । "हसंताणि वा, रमंताणि वा, मोहंताणि वा । " आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० ।

रमंत-रममाण-त्रि० । अक्षादिना रतिं कुर्वति । भ० १३ श० ६ उ० ।

रमण-रमण-न० । नितम्बे, "रमणं तियं नियंबो" पाइ० ना० ११५ गाथा । पत्यौ, "रमणो कंतो पणइ, पाणसमो पियथमो दइओ " पाइ० ना० ६१ गाथा ।

रमणिज्ज-रमणीय-पुं० । जम्बूमन्दरस्य पूर्वे सीतायाः महानद्याः दक्षिणे सुभाख्यराजधानीविभूषिते विजयक्षेत्रे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । रमणीये, मनोहरे, स्था० ६ ठा० । ज्ञा० । कल्प० । औ० । महाविदेहान्तर्गतायां स्वनामख्यातायां नगर्याम्, स्था० ।

दो रमणिज्जाओ । स्था० २ ठा० ।

रतिजनके, त्रि० । रमणीया मनोहरा रूपं शोभा यस्य । कल्प० १ अधि० ३ क्षण । सुन्दरे, " मणोरमं चारु रमणिज्जं " । पाइ० ना० १४ गाथा ।

रमणी-रमणी-स्त्री० । प्रियायाम्, " रामा रमणी सीमंतिणी बहू वामलोअणा विलया " पाइ० ना० १२ गाथा ।

रमिअ-रन्त्वा(मित्वा)-अव्य० । क्रीडित्वेत्यर्थे, " क्त्व इअदूणौ" ॥ ८ । ४ । २७१ ॥ इति क्त्वास्थाने इअ आदेशः । प्रा० ।

रमिय-रमित-न० । मैथुनसेवायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

रम्प-तक्ष-धा० । तनूकरणे, "तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः" ॥८।४।१९४॥ इति तक्षेः रम्परम्फावादेशौ वा । तक्षति । प्रा० ।

रम्फा-रम्भा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां स्वर्वेश्यायाम्, "चूलिका-पैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ" ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति भस्य फः । रम्भा । रम्फा । प्रा० ४ पाद ।

रम्म-रम्य-न० । रमयति मनांसि द्रष्टॄणामिति रम्यम् । रमणीये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । जं० । पञ्चा० । उत्त० । जम्बूमन्दरस्य पूर्वे सीताया महानद्याः दक्षिणे अङ्कवत्याख्यराजधानीभूषितविजयक्षेत्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । रम्यो विजयः अङ्कावती राजधानी अञ्जनो वक्षस्कारः । जं० ४ वक्ष० ।

दो रम्मा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुन्दरे, " रुइरं राहं रम्मं, अहिरामं बंधुरं मणुज्जं च । लट्ठं कंतं सुहयं, मणोरमं चारु रमणिज्जं " पाइ० ना० १४ गाथा ।

रम्मग-रम्यक-पुं० । पद्मावतीराजधानीभूषिते विजयक्षेत्रे, स्था० ।

दो रम्मगा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जम्बूद्वीपे वर्षविशेषे, स० ७ सम० । प्रव० । "रम्मए विजए पम्हावई रायहाणी " जं० ।

कहि णं भंते ! जम्बुद्दीवे दीवे रम्मए णामं वासे पण्णत्ते ? , गोयमा ! णीलवन्तस्स उत्तरेणं रुप्पिस्स द-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्खिणेणं पुरत्थि(च्छि)मलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं पच्चत्थिमलवणसमुद्दस्स पुरत्थिमेणं एवं जह चेव हरिवासं तह चेव रम्मयं वासं भाणिअव्वं, णवरं दक्खिणेणं जीवा उत्तरेणं धणुं अवसेसं तं चेव।

प्रश्नः प्रतीतः, उत्तरसूत्रे नीलवत उत्तरस्यां रुक्मिणो—वक्ष्यमाणस्य पञ्चमवर्षधराद्रेर्दक्षिणस्याम् एवं यथैव हरिवर्षं तथैव रम्यकं वर्षं यश्च विशेषः स नवरमित्यादिना सूत्रेण साक्षादाह-' दक्खिणेणं जीवे ' त्यादि व्यक्तम्, अथ यदुक्तं नारीकान्ता नदी रम्यकवर्षं गच्छन्ती गन्धापातिनं वृत्तवैताढ्यं योजनेनासम्प्राप्ते, तदेष गन्धापाती क्वास्तीति पृच्छति—

कहि णं भन्ते ! रम्मए वासे गन्धावई णामं वट्टवेअड्ढपव्वए पण्णत्ते ?, गोअमा ! णरकंताए पच्चत्थिमेणं णारीकंताए पुरत्थिमेणं रम्मगवासस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं गन्धावईणामं वट्टवेअड्ढे पव्वए पण्णत्ते, जं चेव विअडावइस्स तं चेव गंधावइस्स वि वत्तव्वं, अट्ठो बहवे उप्पलाइं ० जाव गं(न्धा)धावइवण्णाइं गंधावइप्पभाइं पउमे अ इत्थ देवे महिद्धीए ०जाव पलिओवमट्ठिइए परिवसइ, रायहाणी उत्तरेणं ति। से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ रम्मए वासे वासे २ ?, गोयमा ! रम्मगवासे णं रम्मे रम्मए रमणिज्जे रम्मए अ इत्थ देवे ०जाव परिवसइ, से तेणऽट्ठेणं। (सू० १११)

' कहि णं ' इत्यादि, क भदन्त ! रम्यके वर्षे गन्धापातीनाम वृत्तवैताढ्यपर्वतः प्रज्ञप्तः ?, गौतम ! नरकान्ताया महानद्याः पश्चिमायां नारीकान्तायाः पूर्वस्यां रम्यकवर्षस्य-बहुमध्यदेशभागे। अत्रान्तरे गन्धापाती नाम वृत्तवैताढ्यः प्रज्ञप्तः, यदेव विकटापातिनो हरिवर्षक्षेत्रस्थितवृत्तवैताढ्यस्योच्चत्वादिकं तदेव गन्धापातिनोऽपि वक्तव्यम्, यच्च सविस्तरं निरूपितस्य शब्दापातिनोऽतिदेशं विहाय विकटापातिनोऽतिदेशः कृतस्तत्र तुल्यक्षेत्रस्थितिकत्वं हेतुः, अत्र यो विशेषस्तमाह—अर्थस्त्वयम्—वक्ष्यमाणो बहून्युत्पलानि यावद् गन्धापातिवर्णानि-तृतीयवृत्तवैताढ्यवर्णानि गन्धापातिवर्णसदृशानीत्यर्थः रक्तवर्णत्वात्, गन्धापातिप्रभाणि—गन्धापातिवृत्तवैताढ्याकाराणि सर्वत्र समत्वात् तेन तद्वर्णत्वात् तदाकारत्वाच्च गन्धापातीनीत्युच्यन्ते। पद्मश्चात्र देवो महर्द्धिकः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, तेन तद्योगात्तत्स्वामिकत्वाच्च गन्धापातीति, यथा च विसदृशनामकस्वामिकत्वेन नामान्वर्थोपपत्तिस्तथा प्रागभिहितम्। अस्याधिपस्य राजधान्युत्तरस्याम्। अथ रम्यकक्षेत्रनामनिबन्धनमाह-' से केणट्ठेणं' इत्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—रम्यकं वर्षं २ ?, गौतम ! रम्यकं वर्षं; रम्यते—क्रीडयते नानाकल्पद्रुमैः स्वर्णमणिखचितैश्च तैस्तैः प्रदेशैरतिरमणीयतया रतिविषयतां नीयते इति रम्यं रम्यमेव रम्यकं रमणीयं च त्रीण्येकार्थिकानि रम्यतातिशयप्रतिपादकानि, रम्यकश्चात्र देवो यावत् परिवसति तेन तद् रम्यकमिति व्यवह्रियते। जं० ४ वक्ष० । स्था० । रम्यके वर्षे सुखमसुखमाकालः । स्था० २ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । जं० । स० । अनु० । रुक्मिवर्षधरपर्वते तृतीयकूटे, जं० ४ वक्ष० । स्था० ।

रम्मगकूड-रम्यककूट-न० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरे नीलवतो वर्षधरपर्वतस्याष्टमे कूटे, स्था० ६ ठा० ।

रम्मगवंस, ग-रम्यकवर्षक-पुं० । रम्यकवर्षजाते मनुष्ये, स्था० ७ ठा० ।

रय-रज-पुं० । सूक्ष्मधूलीरूपे, दशा० ७ अ० । वातोत्खाते आकाशवर्तिनि (स० ३४ सम०) श्लक्ष्णतरे रेणुपुद्गले, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । तं० । औ० । पृथ्वीकाये, नि० चू० १६ उ० । मले, औ० । आ० चू० । जीवस्वरूपोपरञ्जनाद्रज इव रजः। कर्माणि, स्था० ५ ठा० २ उ० । ध० । अष्ट० । आ० म० । विशे० । सूत्र० । बध्यमाने कर्मणि , आव० ३ अ० । बध्यमानकं कर्म्म रजो भण्यते । नं० ।

रत-त्रि० सक्ते, आ० चू० १ अ० । विशे० । औ० । स्था० । मैथुनक्रीडिते, स० ६ सम० । व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । स्त्रीभिः सह निधुवने, ध० ३ अधि० । स्था० । "रमियमोहरयाइं " इति नाममालावचनात् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

रय-पुं० । वेगे, औ० । आव० ।

रयअ-रजक-पुं० । (धोवी) इतिख्याते वस्त्रमलहारके मनुष्यजातिविशेषे, " सोज्झओ रयओ " पाइ० ना० २३७ गाथा।

रयउज्जोय-रजउद्योत-पुं० । रजस्वलादिके, अनु० ।

रयंत-रदत्-त्रि० । रद विलेखने, शतृ० । उत्पाटने, तं० ।

रयंधकार-रजोऽन्धकार-पुं० । रेणोः यो रयो वेगः तेनान्धकारः रेणुवेगेनान्धकारे , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

रयग-रजक-पुं० । स्त्री० । वस्त्रप्रक्षालके, व्य० ३ उ० ।

रयण-रत्न-न० । कर्केतनादौ रत्नविशेषे, रा० । आ० म० । स० । ज्ञा० । प्रश्न० । दर्श० । सू० प्र० । संथा० । जी० । कल्प० । भ० । ज्ञा० । औ० । चं० प्र० । रत्नानि द्विविधानि-द्रव्यरत्नानि, भावरत्नानि च । तत्र मरकतवज्रेन्द्रनीलवैडूर्यादीनि द्रव्यरत्नानि , सुखमधिकृत्य तेषामनैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च भावरत्नानि । आ० म० १ अ० । स्था० । (' भरह ' शब्दे पञ्चमभागे १४६३ पृष्ठे विस्तरः)

अधुना रत्नविभागमाह-

रयणाणि चउव्वीसं, सुवण्णतउतंबरययलोहाइं ।
सीसगहिरण्णपासाण-वइरमणिमोत्तिअपवालं॥ २५४ ॥
संखो तिणिसाऽगुरुचं-दणाणि वत्थामिलाणि कट्ठाणि ।
तह चम्मदंतवाला, गंधा दव्वोसहाइं च ॥ २५५ ॥

रत्नानि चतुर्विंशतिः , सुवर्णत्रपुताम्ररजतलोहानि सीसकहिरण्यपाषाणवज्रमणिमौक्तिकप्रवालानि। सङ्खतिनिशागरुचन्दनानि वस्त्रामिलानि काष्ठानि तथा चर्मदन्तवाला गन्धा द्रव्यौषधानि च । एतान्यपि प्रायो लौकिकसिद्धान्ये-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व नवरं रजतं—रूप्यम्, हिरण्यं-रूपकादि पाषाणा-विजातीयरत्नानि मणयो—जात्यानि तिनिशो—वृक्षविशेषः अमिलानि-ऊर्णावस्त्राणि काष्ठानि श्रीपर्ण्यादिफलकादीनि चर्माणि सिंहादीनां, दन्ता गजादीनां, वालाः चमर्यादीनां, द्रव्यौषधानि-पिप्पल्यादीनि इति गाथाद्वयार्थः । दश०६अ०३ उ० । (मानुषत्वदौर्लभ्ये रत्नदृष्टान्तः 'माणुसत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४७ पृष्ठे गतः) (चक्रिणः चतुर्दश रत्नानि 'चक्कवट्टि' शब्दे तृतीयभागे ११०२ पृष्ठे द्रष्टव्यानि) स्वजातीयमध्ये समुत्कर्षवति वस्तुनि, स० १४ सम० । स्था० । रुचकपर्वतस्याग्निकोणीयकूटे; द्वी० । सुवप्रविजये राजधान्याम्, स्त्री० । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

रदन—न० । दन्ते, " दसणा रयणा दंता " पाइ० ना० ११० गाथा ।

रयणकंड—रत्नकाण्ड—न० । रत्नप्रभायाः पृथिव्याः षोडशविधरत्नमये प्रथमकाण्डे, स० ८ सम० ।

रयणकरंडग—रत्नकरण्डक—पुं० । रत्नानां रक्षणपुटके, रा० ।

तद्वक्तव्यतामाह—

तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो चित्ता रयणकरंडगा पण्णत्ता । से जहाणामए रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स चित्ते रयणकरंडए वेरुलियमणी फालिहं पडलपच्चोयडे साएप्पभाए पएसे सव्वओ समंतातो भासति, उज्जोइतवतिप्पभासति एवमेव ते विचित्ता रयणकरंडगा सातिप्पभाए ते पएसे सव्वओ समंता भासंति, उज्जोवंति तवंति पगासंति। रा० । जी० । उत्त० ।

रयणकूड—रत्नकूट—न० । जम्बूमन्दरस्य उत्तरे रुचकरपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । मानसोत्तरपर्वतस्य गरुडस्य वेणुदेवस्य निवासभूते कूटे; स्था० ४ ठा० २ उ० ।

रयणणिकररासि—रत्ननिकरराशि—पुं० । रत्ननिकराणामुच्छ्रितसमूहे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

रयणणिहाण—रत्ननिधान—पुं० । खरतरगच्छीयजिनचन्द्रसूरिशिष्ये, पं० व० ५ द्वार ।

रयणत्तय- रत्नत्रय—स्त्री० । ज्ञानदर्शनचारित्रत्रये, अष्ट० ८ अष्ट० ।

रयणत्थाल—रत्नस्थाल—न० । रत्नभृतस्थाले, व्य० ६ उ० ।

रयणत्थि—रत्नार्थिन्—त्रि० । रत्नानि वैडूर्यादीनि तान्यर्थयन्तीत्येवंशीला ते रत्नार्थिनः । यद्वा—अर्थः-प्रयोजनं विद्यते येषां ते तथा रत्नार्थिनः । रत्नकामेषु, दर्श० २ तत्त्व ।

रयणदीव—रत्नद्वीप—पुं० । लवणसमुद्रमध्यगे स्वनामख्याते द्वीपे, यत्र माकन्दीपुत्रौ तदधिष्ठात्र्या देवतया छलितौ, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । महा० । ज्ञाताधर्मकथाङ्गनवमाध्ययने रत्नद्वीपदेवी मौलशरीरेण समुद्रशोधनार्थं गतेत्युक्तमस्ति परं मौलशरीरेणान्यत्र गमनं कथं सङ्गच्छते इति ? अत्र ज्ञातामध्ये रत्नद्वीपमध्ये देवी मौलशरीरेण समुद्रशोधनार्थं गताऽस्ति परं तस्याः मौलशरीरेण गमनप्रतिषेधो ज्ञातो नास्तीति । ५ । ह्री० ३ प्रका० ।

रयणदीवदेवया—रत्नद्वीपदेवता—स्त्री० । रत्नद्वीपस्वामिन्यां देवतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

रयणदोससिरिपुरणयर—रत्नदो (पश्री) ससिरिपुरनगर—न० । भरतक्षेत्रे जम्बूद्वीपे सिंहलद्वीपे रत्नदो(पश्री)ससिरिपुरनगरे, यत्र चन्द्रगुप्तो राजा तस्य चन्द्रलेखा भार्या । ती० १ कल्प ।

रयणपुर—रत्नपुर—पुं० । मालवदेशप्रसिद्धे नगरे,अणु०।(तद्वृत्तम् 'पेढालपुत्त' शब्दे पञ्चमभागे १०८० पृष्ठे विस्तरतो गतम्)

रयणप्पभसूरि—रत्नप्रभसूरि—पुं० । वडगच्छीयदिगम्बरजेतृदेवसूरिशिष्यभद्रेश्वरसूरिशिष्ये, स च विक्रमसंवत् १२३८ वर्षे आसीत्, तेन च उपदेशमालाटीका, रत्नाकरावतारिका ग्रन्थश्च व्यरचिषाताम् । जै० इ० ।

रयणप्पभा—रत्नप्रभा—स्त्री० । रत्नानि वज्रवैडूर्यादीनि प्रभा स्वरूपं यस्यां सा । रत्नबहुलायां रत्नमय्यां गोत्रेण घर्म्मानाम्न्यां नरकप्रथमपृथिव्याम्, प्रज्ञा० १ पद । जी० । औ० । स० । विपा० । सू० प्र० । प्रव० । अनु० । स्था० ।

इमीसे णं रयणप्पभाते पुढवीए रयणे कंडे दस जोअणसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए वइ (तं) रे कंडे दस जोयणसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते । एवं वेरुलिए लोहितक्खे मसारगल्ले हंसगब्भे पुलए सोगंधिते जोतिरसे अंजणे अंजणपुलते रयए जायरूवे अंके फलिहे रुट्ठे जहा रयणे तहा सोलसविधा भाणियव्वा । (सू०७७८)

'इमीसे ण' मित्यादि, येयं रज्जुरायामविष्कम्भाभ्यामशीतिसहस्राधिकं योजनलक्षं बाहल्यतः उपरि मध्येऽधस्ताच्च यस्याः खरकाण्डपङ्कबहुलकाण्डजलबहुलकाण्डाभिधानाः क्रमेण षोडशचतुरशीत्यशीतियोजनसहस्रबाहल्या विभागास्सन्ति,'इमीसे त्ति एतस्याः प्रत्यक्षासन्नायाः रत्नानां प्रभा यस्यां रत्नैर्वा प्रभाति—शोभते या सा रत्नप्रभा तस्याः पृथिव्याः भूमेर्यत्तत् खरकाण्डं तत्षोडशविधरत्नात्मकत्वात् षोडशविधम्, तत्र यः प्रथमो भागो रत्नकाण्डं नाम तद्दश योजनशतानि बाहल्येन, सहस्रमेकं स्थूलतयेत्यर्थः । एवमन्यानि पञ्चदशापि सूत्राणि वाच्यानि, नवरं प्रथमं सामान्यरत्नात्मकं, शेषाणि तद्विशेषमयानि, चतुर्दशानामतिदेशमाह— 'एवमित्यादि, ' 'पूर्वं' मिति पूर्वाभिलापेन सर्वाणि वाच्यानि, 'वेरुलिय ' त्ति वैडूर्यकाण्डम्, एवं लोहिताक्षकाण्डं मसारगल्लकाण्डं हंसगर्भकाण्डमेवं सर्वाणि, नवरं रजतं रूप्यं जातरूपं सुवर्णमेते अपि रत्ने एवेति । स्था० १० ठा० ३ उ० । भीमस्य राक्षसेन्द्रस्य अग्रमहिष्याम्, स्था०४ ठा०१ उ० । भ० । (अस्याः सर्वा वक्तव्यता 'णरय' शब्दे चतुर्थभागे १९०६ पृष्ठे उक्ता)

रयणभूय—रत्नभूत—त्रि० । चिन्तारत्नादिसदृशे, भ० ९ श० ३३ उ० ।

रयणमणिभेय—रत्नमणिभेद—पुं० । रत्नमणिभेदपरिज्ञानाऽऽत्मके सप्तचत्वारिंशत्तमे ४७ स्त्रीकलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

रयणमाला—रत्नमाला—स्त्री० । रत्नशेखरराजपालिते नगरे, " श्रीरत्नमालनगरे, राजाभूद्रत्नशेखरः । सोऽनपत्यतया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूनः, प्रैषीच्छाकुनिकान्वहिः ॥ १ ॥" ती० ७ कल्प । सूत्र० ।

रयणवई-रत्नवती-स्त्री० । पद्महरिलकन्यायां ब्रह्मदत्तचक्रिभार्यायाम्, उत्त० पाई० १३ अ० ।

रयणवडंसय-रत्नावतंसक-न० । ईशानकल्पे रत्नमयेऽवतंसके, प्रज्ञा० २ पद ।

रयणवास-रत्नवास-पुं० रत्नवर्षरूपे वर्षे, भ० १५ श०।स्था०।

रयणवाह-रत्नवाह-न० । अयोध्यासमीपे नागमहिते श्रीधर्म्मनाथावासरूपे पुरभेदे, ती० ४३ कल्प ।

एतत्कथा यथा—

श्रीधर्म्मनाथमानम्य, रत्नवाहपुरे स्थितम् ।
तस्यैव पुररत्नस्य, कल्पं किञ्चिद् ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥

अस्तीहैव जम्बूद्वीपे भारते वर्षे कौशलेषु जनपदेषु नानाजातीयोच्चैस्तरशाखिशाखावहलदलकुसुमफलाच्छन्नताच्छादिग्धर्मघृणिकरगहनवनमण्डितं शीतलविमलबहुलजलनिर्झरघर्घरनदबन्धुरं रत्नवाहं नाम पुरम्, तत्र चेक्ष्वाकुकुलप्रदीपः कनककान्तकायकान्तिः कुलिशलाञ्छितपादः पञ्चचत्वारिंशद्धापोच्छ्रायकायः पञ्चदशतीर्थपतिविजयविमानदेवतीर्थे श्रीभानुनरेन्द्रवेश्मनि सुव्रतादेवीकुक्षौ तनयतयाऽवततार, क्रमेण गुरुचितीर्णधर्म्मनामधेयो जननिष्क्रमणकेवलज्ञानानि तत्रैव समाससाद, निर्वृतश्च सम्मेतशिखरिशिखरे । तस्मिन्नेव च पुरे जननयनजनितशैत्यं श्रीधर्म्मनाथचैत्यं नागकुमारदेवाधिष्ठितं कालेन निर्वृत्तं,तत्र च नगरे कुम्भकार एकः स्वशिल्पच्छेक आसीत्,तस्य तनयस्तरुणिमानमधिगत्य क्रीडादुर्ललिततया नवरामणीयकशालिनि चैत्ये गृहादागत्याऽऽगत्य स्वैरं द्यूतादि तत्तत्क्रोडाविधाभिश्चिक्रीड, तत्रैको नागकुमारः कलिप्रियतया कृतमानुषतनुस्तेन कुम्भकारदारकेण सार्द्धं प्रत्यहं प्रववृते क्रीडितुम् । तत्पित्रा च स पुत्रः कुलक्रमागतकुलालकर्म्मण्यनिर्मिमाणः प्रतिदिनं दुर्वाग्भिरुपालेभे, न च तद्वचनमसौ प्रत्यपादि । ततः पित्रा गाढं प्रत्यहं बलादपि स्वकर्म्माणि मृत्खननायनादीनि कारयितुमुपक्रान्तः । अन्तरमवलोक्य पुनस्तच्चैत्ये गत्वा अन्तराऽन्तरा तथैव तेन नागकुमारेण साकं खेलितुं लग्नः, पृष्टश्च नागकुमारेण, किं कारणं पूर्ववन्निरन्तरं न क्रीडितुमायासि ? तेनोक्तम्-जनकः कुप्यति मह्यं, स्वकर्मनिर्माणमन्तरेण कथमिव जठरपिठरविवरणमुपपद्यत इति । तदाकर्ण्य दर्कर्णकुमारो वाचमुवाच । यद्येवं तर्हि क्रीडान्ते भूपीठे विलुप्तो भविष्याम्यहमहिर्मत् पुच्छं चतुरङ्गुलमात्रं लोहेन मृत्खननोपकरणेन छित्त्वा त्वया ग्राह्यं, तच्च चारुचामीकरमयं भविष्यति, तेन हेम्ना तव कुटुम्बस्य वृत्तिनिर्वाहो भविष्यतीति, सौहार्देनाभिहिते स तथैव प्रतिदिवसं कर्त्तुं प्रवृत्तः, पितुश्च तत्कनकमर्पयतिस्म,न च रहस्यमभिन्दत् । अन्यदाऽतिनिर्बन्धं विधाय पृच्छति सति पितरि भयाद्यथाऽवस्थितमचकथत् । ततः सस्मितेन विस्मितेन जगदे जनकेन, रे मूर्ख ! चतुरङ्गुलमात्रमेव किमिति छिनत्सि, बहुतरं हि छिन्ने भूरितरं भवति । तेन भणितम्,तात! नातः समतिरिक्तमहं छेत्तुमुत्सहे परमसुहृद्देवतावचनातिक्रमप्रसङ्गात्, ततस्तज्जनकेन लोभसंक्षोभाकुलितमनसा तस्मिंस्तनये क्रीडार्थं चैत्यमुपेयुषि प्रच्छन्नमनुवव्रजे, यावत् प्रक्रीड्य धरणिपीठे विलुप्य स पन्नगतामापन्नस्तावत् कुम्भकारेण विले प्रविशतस्तस्य वपुरर्द्धं कुद्दालिकया विच्छिदे । ततः कोपाटोपात्तेन नागकुमारेण रे पापिष्ठ ! रहस्यभेदं करिष्यतीति गाढं निर्भर्त्स्य स दारको दंष्ट्रासम्पुटेन दष्ट्वा व्यापादितः,पिता च । रोषप्रकर्षात्सकलान्यपि कुलालकुलानि कालकवलितानि कृतानि । ततः प्रभृति च न कश्चन चक्रजीवनजातीयस्तत्र रत्नवाहपुरेऽद्यापि निवसतीति कौलालभाण्डानि स्थानान्तरादेवानयति जनता, तत्र च तथैव नागमूर्तिपरिवारिता श्रीधर्म्मनाथप्रतिमाऽद्यापि सम्यग्दृष्टियात्रिकजनैरनेकविधिप्रभावप्रभावनापुरस्सरं पूज्यते । अद्यापि च परसमयिनो धर्मराज इति व्यपदिश्य कदाचिदवर्षति वर्षासु, जलधरक्षीरघटसहस्रैर्भगवन्तं स्नपयन्ति; सम्पद्यते च तत्क्षणाद्विशिष्टा मेघवृष्टिः । कन्दर्पा शासनदेवी, किन्नरश्च शासनयक्षः श्रीधर्म्मनाथापादपद्मसेवाहेवाकचञ्चरीकाणामनर्थप्रतिघातमर्थप्राप्तिं चात्र सूत्रयतीति ।

इतिश्रीरत्नवाहस्य, श्रीजिनप्रभसूरिभिः ।
कल्पः कृतो रत्नपुरा-ख्यपुरस्य यथाश्रुतम्॥१॥ती०१६कल्प।

रयणविचित्त-रत्नविचित्र-त्रि० । रत्नखचिते, आ० म०२अ० ।

रयणसंकडुक्कड-रत्नसङ्कटोत्कट-न० । रत्नसङ्कटे उत्कृष्टवस्तुनि, भ० ६ श० ३३ उ० ।

रयणसंचय-रत्नसञ्चय-पुं० । रत्नपुरवास्तव्ये रत्नगुणसागरपितरि सुमङ्गलापतौ, ध० र० २ अधि० ।

रयणसंचया-रत्नसंचया-स्त्री० । उत्तरपश्चिमे रतिकरपर्व्वते उत्तरस्यां दिशि ईशानेन्द्रस्य देवस्य वसुन्धरानामिकाया अग्रमहिष्यां राजधान्याम्, जी० ३ प्रति०४ अधि० । द्वी० । ती० । स्था० । जं० । सुवप्रविजयराजधान्याम्, स्त्री० । स्था० ।

दो रयणसंचयाओ । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

रयणसंचयाकूड-रत्नसञ्चयाकूट-पुं० । न० । जम्बूद्वीपे मेरोरुत्तरे रुचकपर्वते चतुर्थे कूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

रयणसार-रत्नसार-पुं० । सिंहपुरराजे मदनरेखापतौ स्वनामख्याते राजनि, सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता० । स्था० ।

रयणसिरि-रत्नश्री-स्त्री० । आमलकल्पायां नगर्यां रत्निनो गृहपतेर्भार्यायां रत्नायाः अग्रमहिष्याः पूर्वभवमातरि,ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग ४ अ० ।

रयणसीहसूरि-रत्नसिंहसूरि-पुं० । तपागच्छीये सैद्धान्तिकमुनिचन्द्रसूरिशिष्ये, पुद्गलपद्त्रिंशिका-निगोदषद्त्रिंशिकादिग्रन्थानां कर्त्ता स आचार्यः विक्रमसंवत् १२०० वर्षे विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

रयणसेहरसूरि-रत्नशेखरसूरि-पुं० । तपागच्छीयमुनिसुन्दरसूरिशिष्ये, तस्य जन्मविक्रमसंवत् १४५७, दीक्षाप्राप्तिसंवत् १४६३, पण्डितपदप्राप्तिसंवत् १४८३, वाचकपदप्राप्तिसंवत् १४६३, सूरिपदसंवत् १५०२ स्वर्गतिसंवत् १५१७ । श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्तिः,श्राद्धविधिवृत्तिः, आचारप्रदीपः, लघुक्षेत्रसमासश्चेति ग्रन्थाः अनेन रचिताः । द्वितीयश्च रत्नशेखरसूरिः नागपुरीयतपागच्छीयहेमतिलकसूरिशिष्यः विक्रमसंवत्सरे१४२०विद्यमान आसीत्, श्रीपालचरित्रगुणस्थानक्रमारोहणाद्यनेकग्रन्थानामयं कर्त्ता । फीरोजशाहतुवलक नाम्नो दिल्लीपतेरयं मानपात्रश्चासीत् । जै० इ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रयणा–रत्ना– स्त्री० । उत्तरकुरुपश्चिमे रतिकरपर्व्वते पूर्वस्यां दिशि ईशानेन्द्रस्य देवस्य रत्नवसुनामिकाया अग्रमहिष्याः राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्था० । ती० ।

रयणाइच्च–रत्नादित्य– पुं० । अणहिलपट्टनराजे चौलुक्यवंशीये नृपभेदे, ती० २५ कल्प ।

रयणागर–रत्नाकर– पुं० । माणिक्योत्पादनस्थाने, समुद्रे च । पञ्चा० १२ विव० । बृ० । ज्ञा० । उत्त० । प्रश्न० । गवेषणायामुदाहृतस्य शुद्धगवेषकक्षपकस्य गुरौ एकदा पोतनपुरसमवसृते सूरौ, पिं० ।

रयणागरसूरि–रत्नाकरसूरि– पुं० । देवप्रभसूरिशिष्ये, येन विक्रमसंवत् १३०८ रत्नाकरपञ्चत्रिंशिका नाम आत्मनिन्दाप्रतिपादको ग्रन्थो लिखितः । जै० इ० ।

रयणायर–रत्नाकर– पुं० । समुद्रे, "मयरहरो सिंधुवई सिंधू रयणायरो सलिलरासी ।" पाइ० ना० ८ गाथा ।

रयणावतारिया–रत्नावतारिका– स्त्री० । स्याद्वादरत्नाकरटीकायाम्, रत्ना० ।

" सिद्धये वर्धमानः स्तात्, ताम्रा यन्नखमण्डली ।
प्रत्यूहशलभप्लोषे, दीप्रदीपाङ्कुरायते ॥ १ ॥
यैरत्र स्वप्रभया, दिगम्बरस्यार्पिता पराभूतिः ।
प्रत्यक्षं विबुधानां, जयन्तु ते देवसूरयो नव्याः ॥ २ ॥
स्याद्वादमुद्रामपनिद्रभक्त्या,
क्षमाभृतां स्तौमि जिनेश्वराणाम् ।
सन्न्यायमार्गानुगतस्य यस्यां,
सा श्रीस्तदन्यस्य पुनः स दण्डः ॥ ३ ॥"

इह हि लक्ष्यमाणाऽक्षोदीयोऽर्थाक्षूणाक्षरक्षीरनिरन्तरे, तत इतो दृश्यमानस्याद्वादमहामुद्रामुदितानिद्रप्रमेयसहस्रोत्तुङ्गतङ्गत्तरङ्गभङ्गिसङ्गसौभाग्यभाजने, अतुलफलभरभ्राजिष्णुभूयिष्ठागमाऽभिरामातुच्छपरिच्छेदसन्दोहशाद्वलासन्नकानन - निकुञ्जे, निरुपमसनीषामहापानपात्रव्यापारपरायणपूरुषप्राप्यमाणाप्राप्तपूर्वरत्नविशेषे, क्वचन वचनरचनानवद्यगद्यपरम्पराप्रवालजालजटिले, क्वचन सुकुमारकान्तालोकनीयास्तोकश्लोकमौक्तिकप्रकरकरम्बिते, क्वचिदनेकान्तवादोपक्षिपतानल्पविकल्पकल्लोलोल्लासितोद्दामदूषणाद्रिविद्राव्यमाणानेकतीर्थिकनक्रचक्रचक्रवाले, क्वचिदपगताशेषदोषानुमानाभिधानोद्धर्तमानासमानपाठीनपुच्छच्छटाऽच्छोटनोच्छलदतुच्छशीकरश्लेष संजायमानमार्तण्डमण्डलप्रचण्डच्छमत्कारे, क्वापि तीर्थिकग्रन्थग्रन्थिसार्थसमर्थकदर्थनोपस्थापितार्थानवस्थितप्रदीपायमानप्लवमानज्वलन्मणिफणीन्द्रभीषणे, सहृदयसैद्धान्तिकतार्किकवैयाकरणकविचक्रचक्रवर्तिसुविहितसुगृहीतनामधेयास्मद्गुरुश्रीदेवसूरिभिर्विरचिते स्याद्वादरत्नाकरे न खलु कतिपयतर्कभाषातीर्थमजानन्तोऽपाठीना अधीवराश्च प्रवेष्टुं प्रभविष्णवः; इत्यतस्तेषामवतारदर्शनं कर्तुमनुरूपम् । तच्च संक्षेपतः शास्त्रशरीरपरामर्शमन्तरेण नोपपद्यते । सोऽपि समासतः सूत्राभिधेयावधारणं विना न; इति प्रमाणनयतत्त्वालोकाख्य—तत्सूत्रार्थमात्रप्रकाशनपरा रत्नाकरावतारिका नाम्नी लघीयसी टीका प्रकटीक्रियते । रत्ना० १ परि० ।

रयणावलि(ली)–रत्नावली– स्त्री० । रत्नमयमणिकात्मिके आभरणविशेषे, रा० । विशे० । रा० । तपोविशेषे, च । प्रव० ।

रत्नावलीतपः स्वरूपमाह—

इग दु ति काहलियासुं, दाडिमपुप्फेसु हुंति अट्ठतिगा ।
एगाइसोलसंता, सरियाजुयलम्मि उववासो ॥१५३९॥
अंतम्मि तस्स पयगं, तत्थं कट्ठाणमेकमह पंच ।
सत्तय सत्तय पण पण,तिन्निकं तेसु तिगरयणा ।१५४०।
पारणदिणअट्ठासी, पडिचउक्कमे वरिसपणगं ।
नव मासा अट्ठारस,दिणाणि रयणावलितवम्मि ।१५४१।

रत्नावली–आभरणविशेषः, रत्नावलीव रत्नावली, यथा हि रत्नावली उभयत आदिसूक्ष्मस्थूलस्थूलतरविभागकाहलिकाख्यसौवर्णावयवद्वययुक्ता, तदनु दाडिमपुष्पोभयोपशोभिता, ततोऽपि सरलसरिकायुगलशालिनी, पुनर्मध्यदेशे सुश्लिष्टपदकसमलंकृता च भवति, एवं यत्तपः पट्टादावुपदर्शमानमिममाकारं धारयति,तद्रत्नावलीत्युच्यते। तत्रैककद्विकात्रिका उत्तराधंक्रमेण काहलिकयोः स्थाप्या भवन्ति। तदनु द्वयोरपि दाडिमपुष्पयोः प्रत्येकमष्टौ त्रिकाः, ते चोभयतो रेखाचतुष्टयेन नवकोष्ठकान् विधाय, मध्ये च शून्यं कृत्वा पङ्क्तयः स्थाप्यन्ते । ततश्चाधोऽधः सरिकायुगले एकादयः षोडशान्ताः स्थाप्याः, तस्य च सरिकायुगलस्यान्ते पर्यन्ते पदकं पङ्क्तिषट्केन चतुस्त्रिंशदङ्कस्थानानि कोष्ठका इत्यर्थः । तत्र प्रथमायां पङ्क्तावेकमङ्कस्थानं, द्वितीयस्यां पञ्च, तृतीयस्यां सप्त, चतुर्थ्यामपि सप्त, पञ्चम्यां पञ्च, षष्ठ्यामपि च पञ्च, सप्तम्यां त्रीणि, अष्टम्यां त्वेकमेवाङ्कस्थानम् । तेषु चतुस्त्रिंशत्यपि कोष्ठकेषु त्रिकरचना त्रिकाः स्थाप्यन्ते इति भावः । इदमत्र तात्पर्यं—रत्नावलीतपसि प्रथममेकमुपवासं करोति, ततो द्वौ, ततस्त्रीन्, इत्येका काहलिका । अन्तरा च सर्वत्र पारणकं वाच्यम्,ततोऽष्टावष्टमान्युपवासत्रिकत्रिकात्मकानि करोति । एतैः किल काहलिकाया अधस्ताद्दाडिमपुष्पं निष्पद्यते । ततश्चैकमुपवासं करोति, ततोऽपि द्वौ, ततस्त्रीन्, ततोऽपि चतुरः, इत्येवं पञ्च षट् सप्ताष्टौ नव दशैकादश द्वादश त्रयोदश चतुर्दश पञ्चदश षोडशोपवासान् करोति । एषा हि दाडिमपुष्पाधस्तादेका सरिका । ततश्चतुस्त्रिंशदष्टमानि करोति । एतैः किल पदकं सम्पद्यते । ततः षोडशोपवासान् करोति, ततः पञ्चदश, ततश्चतुर्दश, इत्येवमेकैकहान्या तावन्नेयं यावदेक उपवासः । एषा द्वितीया सरिका भवति । ततश्चाष्टावष्टमानि करोति । एतैरपि द्वितीयं दाडिमपुष्पं निष्पद्यते । ततस्त्रीनुपवासान् करोति, ततो द्वौ, ततः एकमुपवासं करोति । एतैर्द्वितीया काहलिका निष्पद्यते । एवं सति परिपूर्णा रत्नावली सिद्धा भवति । अस्मिन् रत्नावलीतपसि काहलिकायास्तपोदिनानि १२, दाडिमपुष्पयोः षोडशभिरष्टमैर्दिनानि ४८ । सरिकायुगले द्वाभ्यां षोडशसङ्कलनाभ्यां दिनानि २७२ । पदके चतुस्त्रिंशताष्टमैर्दिनानि १०२ । सर्वैकत्वे चत्वारि शतानि चतुस्त्रिंशदुत्तराणि, अष्टाशीतिश्च पारणकदिनानि, उभयमीलने पञ्च शतानि द्वाविंशत्युत्तराणि । पिण्डितास्तु वर्षमेकं, मासाः पञ्च, दिनानि च द्वादश । इदमपि च तपः पूर्ववच्चतसृभिः परिपाटिभिः समर्थ्यते । ततश्चतुर्भिर्गुणने वर्षाणि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

पञ्च, मासा नव, अष्टादश च दिनानीति। प्रव० २७१ द्वार।

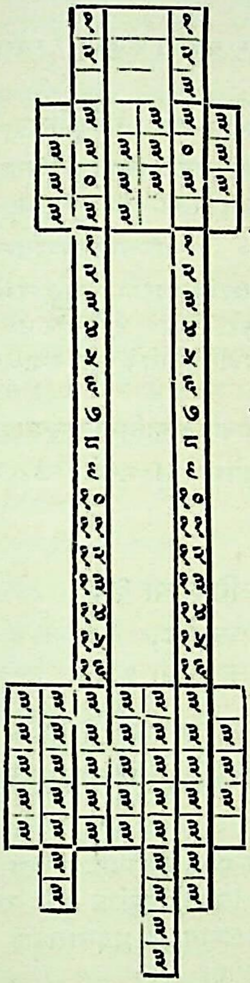

तथा च सूत्रम्—

चउत्थं करेति चउत्थं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता, अट्ठमं करेति अट्ठमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठ छट्ठाइं करेति, अट्ठ छट्ठाइं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता, चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठमं करेति, अट्ठमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता दसमं करेति, दसमं करेत्ता, सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता दुवालसमं करेति, दुवालसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोद्दसमं करेति, चोद्दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता सोलसमं करेति,सोलसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठारसमं करेति, अट्ठारसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता वीसइमं करेति, वीसइमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता बावीसइमं करेति, बावीसइमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउवीसइमं करेति, चउवीसइमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता छव्वीसइमं करेति, छव्वीसइमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठावीसइमं करेति,अट्ठावीसइमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता तीसइमं करेति, तीसइमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता बत्तीसइमं करेति। बत्तीसइमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोत्तीसइमं करेति, चोत्तीसइमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोत्तीसं छट्ठाइं करेति, चोत्तीसं छट्ठाइं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोत्तीसं करेति, चोत्तीसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता बत्तीसं करेति, बत्तीसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता तीसं करेति, तीसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठावीसं करेति, अट्ठावीसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता छव्वीसं करेति, छव्वीसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउवीसं करेति, चउवीसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता बावीसं करेति, बावीसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता वीसं करेति, वीसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठारसं करेति, अट्ठारसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता सोलसमं करेति, सोलसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता चोद्दसमं करेति, चोद्दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता बारसमं करेति, बारसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता दसमं करेति, दसमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठमं करेति, अट्ठमं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठ छट्ठाइं करेति, अट्ठ छट्ठाइं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्व कामगुणियं पारेत्ता अट्ठमं करेति, अमट्ठं करेत्ता सव्वकाम गुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता अट्ठावीसं करेति, अट्ठावीसं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। सव्वकामगुणियं पारेत्ता चउत्थं करेति, चउत्थं करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेति। एवं खलु एसा रयणावलीए तवोकम्मस्स पढमा परिवाडी। एगेणं संवच्छरेणं तिहिं मासेहिं बावीसाए य अहोरत्तेहिं अहासुत्ता ०जाव आराहिया भवति। तदाणंतर च णं दोच्चाए परिवाडीए चउत्थं करेति, विगतिवज्जं पारेति। विगतिवज्जं पारेत्ता छट्ठं करेति छट्ठं करेत्ता विगतिवज्जं पारेति। एवं जहा पढमाए वि नवरं सव्वपारणते विगतिवज्जं पारेति

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

•जात्र आराहिया भवति। तयाऽणंतरं च णं तचाए परिवाडीए चउत्थं करेति चउत्थं करेत्ता अलेवाडं पारेति। सेसं तहेव, एवं चउत्था परिवाडी नवरं सव्वपारणते आयंबिलं पारेति। सेसं तं चेव "पढमम्मि सव्वकामं, पारणयं बितियते विगतिवज्जं। ततियम्मि अलेवाडं, आयंबिलमो चउत्थम्मि॥ १ ॥" अन्त० ८ वर्ग १ अ०।

रयणावलिमहावर-रत्नावलिमहावर-पुं०। रत्नावलिवरसमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

रयणावलिवर-रत्नावलिवर-पुं०। स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च। तत्र द्वीपे रत्नावलिवरभद्र-रत्नावलिवरमहाभद्रौ समुद्रौ, रत्नावलिवर-रत्नावलिमहावरौ देवौ। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

रयणावलिवरभद्द-रत्नावलिवरभद्र-पुं०। स्वनामख्याते रत्नावलिवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

रयणावलिवरमहाभद्द-रत्नावलिवरमहाभद्र-पुं०। रत्नावलिवरमहाभद्रद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

रयणावलिवरोभास-रत्नावलिवरावभास-पुं०। स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च। तत्र द्वीपे रत्नावलिवरावभासरत्नावलिवरावभासमहाभद्रौ देवौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

रयणावलिवरोभासवर-रत्नावलिवरावभासवर-पुं०। रत्नावलिवरावभाससमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

रयणावहसत्थवाह-रत्नावहसार्थवाह-पुं०। रत्नवतीभर्त्तरि स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, दर्श० १ तत्त्व।

रयणाहिय-रत्नाधिक-पुं०। पर्यायज्येष्ठे, आव० ३ अ०।

रयणि-रजनि-स्त्री०। रात्रौ, आ० म० १ अ०। ह्री०। उत्त०। रत्नि-पुं०। स्त्री०। हस्तपरिमाणे, जी०१ प्रति०। नि० चू०। भ०। "चउव्वीसअंगुलाइं रयणी"। भ० ६ श० ७ उ०।

रयणिअ(ग)र-रजनिकर-पुं०। निशाकरे, आ० चू० १ अ०। सू०प्र०। औ०। नि०। रा०। आ० म०। ज्ञा०। "स्वरस्योद्वृत्ते" ॥ ८। १। ८॥ इति सन्धिर्न। रयणिअरो। प्रा०।

रयणिणाह-रजनिनाथ-पुं०। चन्द्रमसि, "इंदू निसायरो सस-हरो विहू गहवइ रयणिणाहो।" पाइ० ना० ५ गाथा।

रयणिद्धय-देशी-कुमुदे, दे० ना० ७ वर्ग ४ गाथा।

रयणिविराम-रजनिविराम-पुं०। प्रातःकाले, "गोसो रयणिविरामो, गोसग्गो दिणमुहं च पच्चूसो"। पाइ० ना० ४६ गाथा।

रयणी-रजनी-स्त्री०। ईशानेन्द्रलोकपालसोमराजस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०। चरमासुरेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ५ ठा० १ उ०। (अस्याः पूर्वोत्तरभवकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६७ पृष्ठे उक्ता) षड्जग्रामस्य चतुर्थमूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ३ उ०। निशायाम्, "रयणी विहावरी सव्वरी निसा जामिणी राई" पाइ० ना० ४७ गाथा।

रत्नि-पुं०। स्त्री०। हस्ते, जं० २ वक्ष०। अनु०। "रयणी हत्थो" पाइ० ना० २६० गाथा।

रयणीपच्चक्खाण-रजनीप्रत्याख्यान-न०। रात्रिभोजनविरमणे, "रयणीपच्चक्खाणस्स, तीरणरूवा सिहा समुद्दिट्ठा। नवकारेण समेया, नवकारणवच्चचूला वा" ॥२५॥ ल० प्र०।

रयणुच्चयकूड-रत्नोच्चयकूट-पुं०। मानसोत्तरपर्वतस्य दक्षिणस्य गरुडस्य वेलम्बसुखदमित्यपरनामकवेलम्बस्य वायुकुमारेन्द्रस्य निवासभूते कूटे, स्था० ४ ठा० २ उ०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरे रुचकरपर्वते द्वितीये कूटे, स्था० ८ ठा०।

रयणोच्चय-रत्नोच्चय-पुं०। रत्नानां नानाविधानामुत्प्राबल्येन चयः उपचयो यत्र स रत्नोच्चयः। मन्दरे, जं० ४ वक्ष०। स०।

मन्दर १ मेरु २ मणोरम ३,
सुदंसण ४ सयंपभे अ ५ गिरिराया ६।
रयणो (णु) च्चय ७ सिलोच्चय ८,
मज्झे लोगस्स ९ णाभी य १० ॥ १ ॥
अच्छे अ ११ सूरिआवत्ते १२, सूरिआवरणे १३ त्ति अ।
उत्तमे १४ अ दिसादी अ १५, वडेंसेति १६ अ सोलसे॥२॥
जं० ४ वक्ष०।

('गिरिराय' शब्दे तृतीयभागे ८७६ पृष्ठे व्याख्या गता) रत्नोच्चयस्योच्चत्वादि 'मन्दर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६ पृष्ठे गतम्) (अत्र भद्रसालवनवक्तव्यता 'भद्दसालवण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७३ पृष्ठे गता)

रयणोच्चया-रत्नोच्चया-स्त्री०। उत्तरपाश्चात्यरतिकरपर्वतस्य दक्षिणस्यां वसुगुप्तायाः ईशानाग्रमहिष्याः राजधान्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०। ती०।

रयणोरुजालय-रत्नोरुजालक-न०। रत्नसम्बन्धि ऊर्वोर्बृहज्जङ्घयोर्जालकम्। उरःप्रदेशे लम्बमाने रत्नमये जालके, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

रय(ता)त्ताण-रजस्त्राण-न०। पात्रावेष्टनके, बृ० ३ उ०। ज्ञा०। प्रव०।

इदानीं रजस्त्राणमाह—

माणं तु रयत्ताणे, भायणपमाणेण होइ निप्फन्नं।
पायाहिणं करंतं, मज्झे चउरंगुलं कमई ॥ ५११ ॥

मानं तु-प्रमाणं रजस्त्राणे-रजस्त्राणविषयं भाजनप्रमाणेन भवति निष्पन्नं, तच्चैवं वेदितव्यमित्याह-प्रादक्षिण्यं कुर्वन् पात्रस्य मध्ये चतुरङ्गुलमिति चत्वार्यङ्गुलानि यावत्कामत्यधिकं तिष्ठति। एतदुक्तं भवति-पात्रकानुरूपं रजस्त्राणं कर्त्तव्यम्। किं बहुना ? तिर्यक्प्रदक्षिणाक्रमेण भाजने वेष्ट्यमाने भाजनस्य मध्यभागो यथा चतुर्भिरङ्गुलै रजस्त्राणैर्नातिक्रम्यते, तथा रजस्त्राणं विधेयं कार्यं वा। प्रयोजनं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चास्य मूषकभक्षणरेणूत्करवर्षोदकावश्यायसचित्तपृथिवीकायाऽऽदिसंरक्षणम् । उक्तं च—" मूसगरयओकेरे, वासासिणहारयपयरक्खट्ठा । होति गुणा रयताणे, एवं भणियं जिणिंदेहिं ॥ १ ॥ " प्रव० ६१ द्वार।

रयतामयकूल–रजतमयकूल–न०। रूप्यमये कूले, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

रयमल–रजोमल–पुं०। रज इव रजः। मल इव मलः। संक्रमणोद्वर्त्तनापवर्त्तनादियोग्ये निधत्तनिकाचितावस्थे कर्मणि, व्य० ३ उ०। दश०।

रयय–रजत–न०। जातरूपे रौप्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। अनु०। ज्ञा०। स्था०। दश०। औ०। रा०। प्रश्न०। ध०। " कलहोअं रुप्पयं रययं " पाइ० ना० ११६ गाथा।

रययकलस–रजतकलश–पुं०।रूप्यघटे,कल्प०१अधि०३ क्षण।

रययकूड–रजतकूट–पुं०।न०। मेघमालिन्यावासभूते (स्था० ६ ठा० ३ उ०।) जम्बूद्वीपस्य पूर्वे रुचकपर्वते चतुर्थकूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

रययमय–रजतमय–त्रि०। रूप्यविकारे, उपा० ७ अ०। रा०।

रययमयकूल–रजतमयकूल–त्रि०। रूप्यमये कूले,जं० १ वक्ष०।

रययमहासेल–रजतमहाशैल–पुं०। रजतस्य–रूप्यस्य महाशैलो–पर्व्वतः। वैताढ्ये, कल्प० १ अधि० २ क्षण। भ०।

रययहार–रजतहार–पुं०। रजतमये आभरणविशेषे, रजतं जातीयरूप्यं हारो मुक्ताहारः ताभ्यां सदृशः। उत्त० ३४ अ०।

रययागर–रजताकर–पुं०। रूप्यखनौ, ओघ०।

रयरेणुविणासण–रजोरेणुविनाशन–न०। श्लक्ष्णतरा रेणुपुद्गला रजः, त एव स्थूला रेणवः रजांसि रेणवश्च रजोरेणवस्तेषां विनाशनं रजोरेणुविनाशनम्। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। वातोत्पाटितस्य व्योमवर्त्तिनो रजसः भूमिवर्त्तिपांशूनां रेणूनां चोपशमके, भ० १५ श०।

रयवुट्ठि–रजोवृष्टि–स्त्री०। पांशुवृष्टौ, " आसारो रयवुट्ठी " पाइ० ना० २४३ गाथा।

रयसंसट्ठहडा–रजःसंसृष्टहृता–स्त्री०। पृथिवीरजःसम्बद्धानीतायां भिक्षायाम्, आव० ४ अ०।

रयहरण–रजोहरण–न०। बाह्याभ्यन्तरमलापहारके, नि० चू० (वक्तव्यता रओहरण शब्दे) नवरम्—श्राद्धानां चरवलकग्रहणं ' बदप्पिअकरणे ' त्ति विना व्यक्तरीत्या क्वचिच्चूर्ण्यादावभिहितं स्यात् तदा तान्यक्षराणि प्रसाद्यानीति प्रश्ने, उत्तरम्—' साहूणं सगासाओ रयहरणं निसिज्जं वा मग्गंति, अह घरे तो से उवग्गहिअरयहरणं अत्थि ' इत्यादिकान्यावश्यकचूर्ण्यादौ रजोहरणाक्षराणि सन्ति, श्राद्धानां च रजोहरणं चरवलक एवेति ॥ ३३३ ॥ सेन० ३ उल्ला०।

रयावंत–रञ्जयत्–त्रि०। रञ्जनं कारयति, नि० चू० १७ उ०।

रयावेइयत्ता–रचयित्वा–अव्य०। रचनां कृत्वेत्यर्थे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

रल्लग–रल्लग–पुं०। द्रुमविशेषे, जं० २ वक्ष०।

रल्ला–देशी–प्रियङ्गवे, दे० ना० ७ वर्ग १ गाथा।

१–प्राकृते रयताणय इति दीर्घ एव।

रव–रव–पुं०। नादितरूपे शब्दे, औ०। स्था०। विपा०।

रव–रु–धा०। शब्दे "रुते रुञ्ज–रुण्टौ" ॥ ८।४।५७ ॥ इति रुते, रुञ्जरुण्टादेशाभावे। प्रा०। " उवर्णस्यावः" ॥ ८।४।२३३ ॥ इति उवर्णस्यावादेशः। रवइ। रौति। प्रा०। " रवं अलसं कलमंजुलं " पाइ० ना० २०४ गाथा।

रवअ–देशी–मन्थाने, दे० ना० ७ वर्ग ३ गाथा।

रवण–रुवत–त्रि०। रवं कुर्वति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

रवण्ण–रम्य–त्रि०। "शीघ्रादीनां बहिल्लादयः" ॥ ८।४।४२२॥ इति सूत्रेण सूत्रान्तरपठितस्य रम्यस्य स्थाने रवण्णादेशः। " सरिहिं न सरेहिं न सरवरेहिं, नवि उज्जाण वणेहिं। देसरवण्णा होंति वढ, निवसंतेहिँ सुवरोहिं " प्रा० ४ पाद।

रवि–रवि–पुं०। सूर्ये, अर्कवृक्षे च। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। औ०। " रविकिरणतरुणबोहियसहस्सपत्तसुरभितरपिंजरजलं " प्राकृतत्वाद्विशेषणस्य परनिपातात् तरुणो नूतनो यो रविस्तस्य ये किरणास्तैः"बोहिय" त्ति–बोधितानि यानि सहस्रपत्राणि महापद्मानि तैरत्यन्तं सुगन्धि पीतरक्तं च जलं यस्य तत्तथा। कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

रविगय–रविगत–न०। यत्र रविस्तिष्ठति तादृशे नक्षत्रे, आ० म० १ अ०। विशे०। नि० चू०। द० प०। जीत०।

रविप्पहा–रविप्रभा–स्त्री०। तरणिकान्तौ, प्रति०।

रविभत्ता–रविभक्ता–स्त्री०। औषधभेदे, ती० ६ कल्प।

रविय–रुत–न०। शब्दायिते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

रवेहिइ–देशी–क्रियावाची। आर्द्रतां नेष्यतीत्यर्थके। " होही से उगदबिन्दू, जे णं तं मज्झगं रवेहिइ। " नं०।

रस–रस–पुं०। रसनेन्द्रियविषये, स्था०।

एगे रसे। (सू० ४७)

रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। स्था० १ ठा०।

दुविहा रसा पण्णत्ता, तं जहा–अत्ता चेव, अणत्ता चेव। ०जाव मणामा। (सू० ८३) स्था० २ ठा० ३ उ०। पंच रसा पण्णत्ता, तं जहा—तित्ता०जाव महुरा। (सू० ३६०) स्था०५ ठा०१ उ०। रसः पञ्चधा–तत्र श्लेष्मनाशकृत्तिक्तः १वैशद्यच्छेदनकृत्कटुकः २ अन्नरुचिस्तम्भनकृत्कषायः, ३ आश्रवणक्लेदनकृदम्लः,४ ह्लादनबृंहणकृन्मधुरः५। स्था०५ ठा०१ उ०। रस्यते आस्वाद्यत इति रसः (अनु०) स च तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात् पञ्चविधः। तत्र श्लेष्मादिदोषहन्ता निम्बाद्याश्रितस्तिक्तो रसः, तथा च भिषक्शास्त्रम्—"श्लेष्माणमरुचिं पित्तं, तृषं कुष्ठं विषं ज्वरम्। हन्यात् तिक्तो रसो बुद्धेः, कर्ता मात्रोपसेवितः ॥ १ ॥ " गलामयादिप्रशमनो मरिचनागराद्याश्रितः कटुः। उक्तं च–" कटुर्गलामयं शोफं, हन्ति युक्त्योपसेवितः। दीपनः पाचको रुच्यो; बृंहणोऽतिकफापहः ॥ २ ॥ " रक्तदोषाद्यपहर्ता बिभीतकामलककपित्थाद्याश्रितः कषायः, आह च—" रक्तदोषं कफं पित्तं कषायो हन्ति सेवितः। रूक्षः शीतो गुणग्राही, रोचकश्च स्वरूपतः ॥ ३ ॥ " अग्निदीपनादिकृदम्लीकाद्याश्रितोऽम्लः। पठ्यते च–"अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धः, शोफपित्तकफापहः। क्लेदनः पाचनो रुच्यो, मूढवातानुलोमकः ॥ ४ ॥"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पित्तादिप्रशमनः खण्डशर्कराद्याश्रितो मधुरः, तथा चोक्तम्- " पित्तं वातं विषं हन्ति, धातुवृद्धिकरो गुरुः । जीवनः क्लेशकृद्बाल-वृद्धक्षीणौजसां हितः ॥ ५ ॥" इत्यादि, स्थानान्तरे-स्तम्भिताहारबन्धविध्वंसादिकर्ता सिन्धुलवणाद्याश्रितो लवणोऽपि रसः पठ्यते, स चेह नोदाहृतो, मधुरादिसंसर्गजत्वात्, तद्भेदेन विवक्षणात्, सम्भाव्यते च तत्र माधुर्यादिसंसर्गः, सर्वरसानां लवणप्रक्षेप एव स्वादुत्वप्रतिपत्तेरित्यलं विस्तरेण । अनु० । अनुरागे, " नेहो पिम्मं रसो य अणुराओ " पाइ० ना० १२० गाथा । विशे० । भ० । प्रज्ञा० । प्रव० । पो० । कर्म्म० । पं० सं । आचा० । आ० म० । भोजनस्वादे, ग० २ अधि० । रस्यत इति रसः । मकरन्दे, दश० १ अ० । " जेण धातुपाणिएण तंबगादि आसन्नं सुवण्णादि भवति सो रसो भण्णति " । नि० चू० १३ उ० । स्नेहे, क० प्र० १ प्रक० । रसाः क्षीरादयः । स्था० ६ ठा० ३ उ० । मद्यादिके, अनु० । (देशघातिरसस्वरूपम् 'देसघाइ' शब्दे चतुर्थभागे २६२६ पृष्ठे गतम्) । तीमनकक्षिकादौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० । रस्यन्ते अन्तरात्मनाऽनुभूयन्ते इति रसाः। तत्सहकारिकारणसन्निधानेषु चेतोविकारविशेषेषु, रसाः शृङ्गारादयः। उत्त०३२ अ० । (ते च'कव्वरस' शब्दे तृतीयभागे ३६३ पृष्ठे दर्शिताः) (लेश्याद्रव्याणां रसः 'लेस्सा'शब्दे वक्ष्यते) (कर्म्मपुद्गलानां रसो 'बंधण' शब्दे पञ्चमभागे १२२० पृष्ठे दर्शितः)

रसंत-रसत्-त्रि० । भृशं शब्दं कुर्वति, तं० । प्रक्षिपति, सूत्र०१ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रलपति, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आरटति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

रसकारणओ-रसकारणतस्-अव्य० । सर्वघात्यादिरसरूपं करणमधिकृत्येत्यर्थे, पं० सं० ५ द्वार ।

रसग-रसग-त्रि० । रसमनुगच्छन्तीति रसगाः । कटुतिक्तकषायादिरसास्वादिनि, आचा० १ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

रसगारव-रसगौरव-पुं० । रसेन तत्प्राप्त्यभिमानम् । तदप्राप्तिप्रार्थनद्वारेणाऽऽत्मनोऽशुभभावगौरवे, स० ३ सम० ।

रसगिद्ध-रसगृद्ध-पुं० । मधुराहारलम्पटे, बृ० ४ उ० । (अत्र विषये प्रश्नव्याकरणमूलम् 'जिब्भिंदियसंवर' शब्दे चतुर्थभागे १५१० पृष्ठे गतम्) (तद्व्याख्या 'परिग्गहवेरमण' शब्दे पञ्चमभागे ५६५ पृष्ठे गता)

रसगेही-रसगृद्धि-स्त्री० । मधुरादिरसेष्वभिकाङ्क्षायाम्, उत्त० पाई० ७ अ० ।

रसघाय-रसघात-पुं० । कर्मपुद्गलानां रसस्य प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्त्तनाकरणेन खण्डने अल्पीकरणे, कर्म्म० २ कर्म० । क० प्र० । पं० सं० ।

रसच्चाय-रसत्याग-पुं० । दुग्धदध्यादीनां त्यागे, पञ्चा० १६ विव० । ध० । रसत्यागोऽनेकधा—यथौपपातिके—" णिव्वितिए पणीयरसपरिच्चाई । आयंबिले य आयामसित्थंभोई अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे " इत्यादि । ग० १ अधि० । बाह्यतपोभेदे, नं० ।

रसच्चायतव-रसत्यागतपस्-नं० । रसत्यागतपसि, उत्त० ३० अ० ।

अथ रसत्यागाख्यं तप आह—

खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं ।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥ २६ ॥

एतद्रसविवर्ज्जनं रसत्यागाख्यं तपस्तीर्थङ्करैर्भणितं रसानां परिवर्ज्जनं रसपरिवर्ज्जनं, क्षीरं-दुग्धं दधि तथा सर्पिर्घृतं क्षीरं च दधि सर्पिश्च क्षीरदधिसर्पींषि । एतानि आदिर्यस्य स तत् क्षीरदधिसर्पिरादि । प्रणीतं-पुष्टिकारकं पानं-पानयोग्याहारं भोजनं-भक्तं यस्मिन् पीते भुक्ते सति बहुकामोद्दीपनं स्यात्, तस्य परिवर्ज्जनं रसत्यागाख्यं तप उच्यते । प्राकृतत्वात् षष्ठीस्थाने द्वितीया, 'पाणीयं पाणभोयणं' 'परिवज्जणं' इत्यत्र ज्ञेयम् ॥ २६ ॥ उत्त० ३० अ० ।

रसणा-रसना-स्त्री० । गुणे रज्जौ, जिह्वायाम्, आचा० २ श्रु०१चू०२अ०१ उ० । "रसणा जीहा" पाइ०ना० २५१गाथा । आचा० । मेखलायाम्, " कच्छा कंची य मेहला रसणा " पाइ० ना० ११५ गाथा ।

रसणाम-रसनामन्-न० । रस्यते—आस्वाद्यते इति रसस्तिक्तादिस्तन्निबन्धनं रसनाम । जन्तुशरीरे तिक्तादिरसहेतुके कर्म्मणि, कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० । रसाभिधायके नामनि, अनु० ।

से किं तं रसनामे ? रसनामे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा-तित्तरसणामे कडुअरसणामे कसायरसणामे अंबिलरसणामे महुररसणामे अ, सेत्तं रसणामे ।

अनु० । (व्याख्या 'रस' शब्दे गता)

रसणिज्जूढ-रसनिर्यूढ-पुं० । सर्वगुणोपेते, दश० ८ अ० ।

रसद्द-देशी—चुल्लीमूले, दे० ना० ७ वर्ग २ गाथा ।

रसपरिच्चाय-रसपरित्याग-पुं । क्षीरादीनां परित्यागे,व्य०४ उ० । पा० । दश० । स्था० । बाह्यतपोभेदे, स० ६ सम० । विकृतीनां परित्यागे, उत्त० ३० अ० ।

से किं तं रसपरिच्चाए ? रसपरिच्चाए अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-णिव्विगितिए पणीयरसविवज्जाए जहा उववाइए० जाव लूहाहारे, सेत्तं रसपरिच्चाए । भ० २५ श० ७ उ० ।

रसपरिणाम-रसपरिणाम-पुं०। रसरूपतया पुद्गलानां परिणामे, स्था० १० ठा० ३ उ ।

रसपुलाग-रसपुलाग-न० । अतीसारकर्तरि द्राक्षादिके,बृ० ५ उ० । (व्याख्या 'पुलागभत्त' शब्दे पञ्चमभागे १०६० पृष्ठे (३६७) गाथाव्याख्याने गता)

रसफड्डय-रसस्पर्धक-न० । कर्म्मपुद्गलानां परस्परं संश्लेषनिबन्धने, स्नेहप्रत्ययस्पर्धके, कर्म० ।

रसबंध-रसबन्ध-पुं० । कर्म्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा यो रसः सोऽनुभागबन्धो रसबन्धः । कर्म्मपुद्गलानां शुभाऽशुभ घात्यघातिनि वा रसे, कर्म० ५ कर्म० ।

रसमाण-रसत्-न० । शब्दायमाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रयमाणप्पमाण–रसमानप्रमाण–न० । मद्यादिविषयकमानेन प्रमाणे, अनु० । (रसमानप्रमाणम् ' माण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

रसमेह–रसमेघ–पुं० । रसजनको मेघः रसमेघः । दुष्षम–दुष्षमाभाविनि रसजनकवारिवर्षणकारके मेघे, ति० । जं० ।

रसय–रसज–पुं० । रसाज्जाता रसजाः । तक्रारनालदधितीमनादिषु कृम्याकृतितयाऽतिसूक्ष्मेषूपपन्नेषु जीवेषु,आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । प्रश्न० । सूत्र० । स्था० । दश० । दधिसोवीरकादिषु रूपपद्मसन्निभेषु जीवेषु, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

रसरूव–रसरूप–पुं० । रसप्रधाने, तं० ।

रसवई–रसवती–स्त्री० । बहुरसायाम् , आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० । सूपकारशालायाम् , ओघ० । ज्ञा० । आ० म० ।

रसवंत–रसवत्–न० । देवानामाहारभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

रसवाणिज्ज–रसवाणिज्य–न० । मधुमद्यमांसभक्षणवसामज्जादुग्धदधिघृततैलादिविक्रये, ध० २ अधि० । आव० । उत्त० । भ० । ध० । प्रव० । पञ्चा० । आ० चू० ।

रसविवागा–रसविपाका–स्त्री० । अहेतुमधिकृत्य विपाकशालिनीषु कर्म्मप्रकृतिषु । पं० सं० ३ द्वार । (ताश्च 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २७२ पृष्ठे दर्शिताः)

रसवेजयंत–रसवैजयन्त–पुं० । स्वगुणैरपरपताकेवोपरि व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

रससेस–रसशेष–न० । रसशेषेऽजीर्णे, " आमं विदग्धं विष्टब्धं, रसशेषं तथाऽपरम् । आमे तु बद्धगन्धित्वं, विदग्धे धूमगन्धिता ॥ १ ॥ विष्टब्धे गात्रभङ्गोऽत्र, रसशेषे तु जाड्यता " । ध० १ अधि० ।

रसहरणी–रसहरणी–स्त्री० । रसो ह्रियते आदीयते यया सा रसहरणी । नाभिनाले, तं० ।

रसाअल–रसातल–न० । ' क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ' ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति तस्य लुकि सति। 'अवर्णो यश्रुतिः' ॥८।१।१८०॥ इति यकाराभावे । भूमेरधोभागे, प्रा० १ पाद ।

रसाउ–रसायुस–पुं० । भ्रमरे, " फुल्लंधुआ रसाऊ " पाइ० ना० ११ गाथा । भ्रमरे, दे० ना० ७ वर्ग २ गाथा ।

रसाणु–रसाणु–पुं० । रस्यते विपाकानुभवनेनास्वाद्यत इति रसोऽनुभागस्तस्याणवोंऽशा रसाणवः । कर्म्मणामनुभागस्यांशे, कर्म० ५ कर्म० ।

रसायण–रसायन–न० । रसः—अमृतरसस्तस्यायनं प्राप्ती रसायनम् । वयःस्थापने आयुर्मेधाकरणे रोगापहरणसमर्थे च क्रियाभेदे,स्था० ८ ठा० ३ उ० । पञ्चा० । विपा० । आचा० । पुरुषकलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

रसायल–रसातल–न० । पाताले, " पायालं च रसायलं " पाइ० ना० १७१ गाथा ।

रसाला–रसाला–स्त्री० । सुगन्धिवस्तुमिश्रितदुग्धे, " मज्जिआ रसाला उ " पाइ० ना० २३७ गाथा । मार्जितायाम् । दे० ना० ७ वर्ग २ गाथा ।

रसालु–रसाल–पुं० । आल्विल्लोल-वन्त—मन्तेत्तेर-मणा मतोः ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति मतोः स्थाने आलु इत्यादेशः । रसालो । प्रा० । दाडिमाम्रादिषु, आव० ४ अ० ।

रसालु–पुं० । मज्जिकायाम् , तल्लक्षणम्—" दो घय—पला महुपलं, दहियस्सऽद्धाढयं मिरियवीसा । दस खंडगुलपलाइं, एस रसालू निवइजोग्गो ॥१॥" भ० ७ श० १० उ० । चं० प्र० । भोजनभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । सू० प्र० ।

रसावण–रसापण–पुं० । मद्यहट्टे, बृ० २ उ० । दर्श० । नि० चू० ।

रसिणी–रसिनी–स्त्री० । सौवीरिण्याम् मदिरायाम् , बृ० १ उ० २ प्रक० ।

रसिय–रसिक–न० । माधुर्याऽऽद्युपेते, स्था० ६ ठा० । रसितदाडिमाम्रादिरसाले, आव० ४ अ० । गर्जिते, रा० । अनु० । आचा० । शूकरादिशब्दमिव शब्दकरणे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । क्षपिते, आ० चू० ४ अ० ।

रसेसि (ण्)–रसैषिन्–पुं० । रस्यत आस्वाद्यत इति रसस्तमेष्टुं शीलमेषां ते रसैषिणः । रसान्वेषणे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । पानार्थिनि , आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

रस्सि–पुं०स्त्री०–रश्मि–पुं० । किरणे,जं० ३ वक्ष० । आ० म० । रज्जौ,दश०७ अ० । "अधो मनयाम्" ॥८।२।७८॥ इति संयुक्तस्याधो वर्त्तमानस्य मस्य लुक् । रस्सी । प्रा० । "वेमाऽञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् " ॥८ । १ । ३५॥ इत्यञ्जल्यादित्वात् स्त्रीत्वं वा । प्रा० । " अंसू रस्सी " पाइ० ना० ४७ गाथा ।

रह–रथ–पुं० । स्यन्दने, भ० ८ श० ६ उ० । " संदणो रहो " पाइ० ना० २२३ गाथा । रथा द्विधा—यानरथाः, संग्रामरथाश्च । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अनु० । रहसि, एकान्ते , विजने , आव० ६ अ० । स्था० । सूत्र० । ज्ञा० । प्रच्छन्ने , स्था० ३ ठा० ४ उ० । रहस्ये, स्था० ५ ठा० ३ उ० । स्थविरस्य आर्यवज्रस्य त्रयाणां शिष्याणामन्यतमे शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

रहंग–रथाङ्ग–न० । चक्रे, ज्यो० १० पाहु० । चातके, " चक्काय्ओ रहंगो " पाइ० ना० १३२ गाथा । " चक्काइँ रहंगाइं " पाइ० ना० १२२ गाथा ।

रहकार–रथकार–पुं० । रथनिर्माणकर्त्तरि,सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

रहघणघणाइय–रथघनघनायित–न० । रथानां यत् घनघनायितम् । घनघनेत्येवं रूपे शब्दे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आ० म० । औ० ।

रहचक्कवालसंठाण–रथचक्रवालसंस्थान–न० । रथाङ्गस्य चक्रवालमण्डलं तस्येव संस्थानम् । अथवा—चक्रवाले मण्डलं मण्डलत्वधर्म्मयोगाच्च रथचक्रमपि रथचक्रवालम् । वलयघृत्ताकारे, जं० १ वक्ष० । औ० ।

रहजत्ता–रथयात्रा–स्त्री० । शृङ्गारितप्रवररथे जिनप्रतिमां संस्थाप्य समहं स्नानपूजादिपुरःसरं समस्तनगरे पूजाप्रवर्त्तनादिरूपे यात्राभेदे, (तद्विधिः ' अणुजाण ' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे विस्तरतो दर्शितः)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सा च-हैमपरिशिष्टपर्व्वणि—

सुहस्त्याचार्यपादाना-मवन्त्यामेव तस्थुषाम् ।
चैत्ययात्रोत्सवश्चक्रे, सङ्घेनान्यत्र वत्सरे ॥ १ ॥
मण्डपं चैत्ययात्रायां, सुहस्ती भगवानपि ।
एत्य नित्यमलञ्चक्रे, श्रीसङ्घेन समन्वितः ॥ २ ॥
सुहस्तिस्वामिनः शिष्यः, परमाणुरिवाग्रतः ।
कृताञ्जलिस्तत्र नित्यं, निषसाद च सम्प्रतिः ॥ ३ ॥
यात्रोत्सवान्ते सङ्घेन, रथयात्रा प्रचक्रमे ।
यात्रोत्सवो हि भवति, सम्पूर्णो रथयात्रया ॥ ४ ॥
रथोऽथ रथशालाया, दिवाकररथोपमः ।
निर्ययौ स्वर्णमाणिक्य-द्युतिद्योतितदिङ्मुखः ॥ ५ ॥
श्रीमदर्हत्प्रतिमाया, रथस्थाया महर्द्धिभिः ।
विधिज्ञैः स्नात्रपूजादि, श्रावकैरुपचक्रमे ॥ ६ ॥
क्रियमाणेऽर्हतः स्नात्रे, स्नात्रा-म्भो न्यपतद्रथात् ।
जन्मकल्याणके पूर्वे, सुमेरुशिखरादिव ॥ ७ ॥
श्राद्धैः सुगन्धिभिर्द्रव्यैः, प्रतिमाया विलेपनम् ।
स्वामिविश्लिष्टभिरिवा-कारि वक्त्राहितांशुकैः ॥ ८ ॥
मालतीशतपत्रादि-दामभिः प्रतिमाऽर्हतः ।
पूजिताऽभात्कलेवेन्दो-र्वृत्ता शारदवारिदैः ॥ ९ ॥
दह्यमानागरूत्थाभि-र्धूमलेखाभिरावृता ।
अराजत्प्रतिमा नील-वासोभिरिव पूजिता ॥ १० ॥
आरात्रिकं जिनार्चायाः, कृतं श्राद्धैर्ज्वलच्छिखम् ।
दीप्यमानौषधीचक्र-शैलशृङ्गविडम्बकम् ॥ ११ ॥
वन्दित्वा श्रीमदर्हन्त-मथ तैः परमार्हतैः ।
रथ्यैरिवाग्रतो भूयः, स्वयमाचकृषे रथः ॥ १२ ॥
नागरीभिरुपक्रान्त-हल्लीसकरासकः ।
चतुर्विधाऽऽतोद्यवाद्य-सुन्दरप्रेक्षणीयकः ॥ १३ ॥
परितः श्राविकालोक-गीयमानोरुमङ्गलः ।
प्रतीच्छन् विविधां पूजां, प्रत्यहं प्रतिमन्दिरम् ॥ १४ ॥
बहुलैः कुङ्कुमाम्भोभि-रभिषिक्ताग्रभूतलः ।
सम्प्रतेः सदनद्वार-मासासाद शनै रथः ॥ १५ ॥

त्रिभिर्विशेषकम्—

राजाऽपि संप्रतिरथ, रथपूजार्थमुद्यतः ।
आगात् पनसफलव-त्सर्वाङ्गोद्भिन्नकण्टकः ॥ १६ ॥
रथाधिरूढां प्रतिमां, पूजयाऽष्टप्रकारया ।
अपूजयन्नवानन्द-सरोहंसोऽवनीपतिः ॥ १७ ॥ " इति ।

महापद्मचक्रिणाऽपि मातुर्मनोरथपूर्त्तये रथयात्राऽत्याड-म्बरैश्चक्रे ।

कुमारपालरथयात्रा त्वेवमुक्ता—

" चित्तस्स अट्ठमिदिणे, चउत्थपहरे महाविभूईए ।
सहरिस-मिलंतनायर-जणकयमंगलजयसद्दो ॥ १ ॥
सोवण्णजिणवररहो, नीहरइ चलंतसुरगिरिस्समाणो ।
कणगोरुदंडधयछत्त-चामरराईहिं दिप्पंतो ॥ २ ॥
रहचिअ विलित्तं कुसुमेहिँ, पूइअं तत्थ पासजिणपडिमं ।
कुमरविहारदुवारे, महायणो ठवइ रिद्धीए ॥ ३ ॥
तूररवभरिअभुवणो, सरभसणच्चंतचारुतरुणिगणो ।
सामंतमंतिसहिओ, वच्चइ निवमंदिरम्मि रहो ॥ ४ ॥
राया रहत्थपडिमं, पट्टंसुअकणयभूसणाईहिं ।
सयमेव अच्चिउं का-रवेइ विविहाइ नट्टाइ ॥ ५ ॥
तत्थ गमिऊण रयणिं, नीहरिओ सीहवारवाहम्मि ।
वाएण चलिअधयतं-डवम्मि पडमंडवम्मि रहो ॥ ६ ॥
तत्थ पभाए राया, रहजिणपडिमाइ विरइउं पूअं ।
चउविहसंघसमक्खं, सयमेवारत्तिअं कुणइ ॥ ७ ॥
तत्तो नयरम्मि रहो, परिसक्कइ कुंजरेहिँ जुत्तेहिं ।
ठाणे ठाणे पडमं-डवेसु विउलेसु चिट्ठंतो ॥ ८ ॥ " इत्यादि ।
ध० २ अधि० । वृ० ।

रहजोही–रथजोधी–पुं० । रथेन युध्यते इति रथयोधी । रथक रणकयुद्धकर्त्तरि, औ० । ज्ञा० ।

रहणेमि–रथनेमि–पुं० । अरिष्टनेमिजिनभ्रातरि, तत्कथा रा-जीमत्या सह तत्सम्वादश्च । उत्त० ।

चरणसहितेन धृतिमता चरण एव शक्यते कर्त्तुमतो रथ-नेमिवच्चरणम् । तत्र च कथञ्चिदुत्पन्नविश्रोतसिकेनाऽपि धृ-तिश्चाधेयेत्यनेनोच्यत इत्यमुना सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्याऽपि चतुरनुयोगद्वारचर्चा प्राग्वद्विधाय नामनिष्पन्ननि-क्षेप एवाऽभिधेय इति चेतसि व्यवस्थाप्याऽऽह निर्युक्तिकृत्-

रहनेमीनिक्खेवो, चउक्कओ दुविह होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो,नोआगमतो य सो तिविहो ।४३७।
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एगभविअ वद्धाऊ, अभिमुहओ नामगोए य ॥४३८॥
रहनेमिनामगोअं, वेअंतो भावओ अ रहनेमी ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, रहनेमिज्जं ति अज्झयणं ॥४३९॥

प्राग्वद् व्याख्येयम् , नवरं रथनेमिशब्दोच्चारणमिह विशेष इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः । सम्प्रति सूत्राऽऽलापक-निष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सति भवत्यतः सूत्राऽनु-गमे, सूत्रमुच्चारणीयम् , तच्चेदम्—

सोरियपुरम्मि नयरे, आसि राया महड्डिए ।
वसुदेव त्ति नामेणं, रायलक्खणसंजुए ॥ १ ॥
तस्स भज्जा दुवे आसि, रोहिणी देवई तहा ।
तासिं दुण्हं पि दो पुत्ता, इट्ठा (जे) रामकेसवा ॥२॥
सोरियपुरम्मि नयरे, आसि राया महड्डिए ।
समुद्दविजये नामं, रायलक्खणसंजुए ॥ ३ ॥
तस्स भज्जा सिवा नाम, तीसे पुत्तो महायसो ।
भयवंऽरिट्ठनेमि त्ति, लोगनाहे दमीसरे ॥ ४ ॥
सोऽरिट्ठनेमिनामो अ, लक्खणस्सरसंजुओ ।
(अट्ठ)सहस्सलक्खणधरो, गोयमो कालगच्छवि ॥५॥
वज्जरिसहसंघयणो, समचउरंसो झसोदरो ।
तस्स राईमई कन्नं, भज्जं जायइ केसवो ॥ ६ ॥
अह सा रायवरकन्ना, सुसीला चारुपेहिणी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सव्वलक्खणसंपन्ना, विज्जुसोआमणिप्पभा ॥ ७ ॥
अहाऽऽह जणओ तीसे, वासुदेवं महाड्डियं ।
इहागच्छउ कुमरो, जा से कन्नं ददामहं ॥ ८ ॥
सव्वोसहीहिं एहविओ, कयकोउयमंगलो ।
दिव्वज्जुयलपरिहिओ, आभरणेहिं विभूसिओ ॥ ६ ॥
मत्तं च गंधहत्थिं च, वासुदेवस्स जिट्ठयं ।
आरूढो सोहई अहियं, सिरे चूडामणी जहा ॥१० ॥
अह ऊसिएण छत्तेणं, चामराहि य सोहिओ ।
दसारचक्केण तओ, सव्वओ परिवारिओ ॥ ११ ॥
चउरंगिणीए सेणाए, रइयाए जहक्कमं ।
तुडियाणं सन्निनाएणं, दिव्वेणं गगणं फुसे ॥ १२ ॥
एयारिसीए इड्ढीए, जुईए उत्तसाइ य ।
नियगाओ भवणाओ, निज्ञाओ वण्हिपुंगवो ॥ १३ ॥
अह सो तत्थ निज्ञातो, दिस्सपाणे भयदुए ।
वाडेहिं पंजरेहिं च, संनिरुद्धे सुदुक्खिए ॥ १४ ॥
जीवियंतं तु संपत्ते, मंसट्ठा भक्खियव्वए ।
पासित्ता से महापण्णे, सारहिं इणमब्बवी ॥ १५ ॥
कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो ।
वाडेहिं पंजरेहिं च, संनिरुद्धा य अच्छहिं ? ॥ १६ ॥

सूत्रषोडशकं प्रायः प्रकटार्थमेव, नवरं राजव राजा तस्य
लक्षणानि—चक्रस्वतिकाऽङ्कुशादीनि त्यागसत्यशौर्यादीनि
वा तैः संयुतो—युक्तो राजलक्षणसंयुतोऽत एव राजेत्युक्तं,
'भज्ञा दुवे आसि त्ति' भार्ये द्वे अभूताम्, 'तासिं ति' तयो
रोहिणीदेवक्योर्द्वौ पुत्रौ इष्टौ-वल्लभौ 'रामकेशवौ' बलभ-
द्रवासुदेवावभूतामितीहाऽपि योज्यते, तत्र रोहिण्या रामो
देवक्याश्च केशवः। इह च रथनेमिवक्तव्यतायां कस्यायं तीर्थ
इति प्रसङ्गेन भगवच्चरितेऽभिधित्सितेऽपि तद्विवाहादिषू-
पयोगिनः केशवस्य पूर्वोत्पन्नत्वेन प्रथममभिधानम्, तत्स-
हचरितत्वाच्च रामस्येति-भावनीयम्। पुनः सौर्यपुराभिधानं
च समुद्रविजयवसुदेवयोरेकत्रावस्थितिदर्शनार्थम् । इह च
राजलक्षणसंयुत इत्यत्र राजलक्षणानि—छत्रचामरसिंहास-
नादीन्यपि गृह्यन्ते । दमिनः—उपशमिनस्तेषामीश्वरः-अत्य
न्तोपशमवत्तया नायको दमीश्वरः। कौमार एव क्षतमारवी-
र्यत्वात्तस्य। 'लक्खणसरसंजुतो त्ति' प्राकृतत्वात्स्वरस्य
यानि लक्षणानि—सौन्दर्यगाम्भीर्यादीनि तैः संयुतः स्वरल-
क्षणसंयुतः, लक्षणोपलक्षितं वा स्वरो लक्षणस्वरः प्राग्व-
न्मध्यपदलोपी समासः तेन संयुतो लक्षणस्वरसंयुतः। पठ-
न्ति च—'वंजणस्सरसंजुओ त्ति' व्यञ्जनानि—प्रशस्तति-
लकादीनि स्वरो—गाम्भीर्यादिगुणोपेतस्तत्संयुतः, अष्ट-
सहस्रलक्षणधरः-अष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्यशुभसूचककरादिरेखा-
द्यात्मकचक्रादिलक्षणधारकः, गौतमः—गौतमसगोत्रः
'कालकच्छविः' कृष्णत्वक्। 'झसोदरो त्ति' झषो—मत्स्य-
स्तदुदरमिव तदाकारतयोदरं यस्यासौ झषोदरो, मध्यपद-
लोपी समासः। इतश्च गतेषु द्वारकापुरीं यदुषु, निहते जरा-
सिन्धनृपतावधिगतभरतार्द्धराज्यः केशवो यौवनस्थेऽरिष्टने-
मिनि समुद्रविजयादेशतो यद्चेष्टत तदाह,—तस्य—अरि-
ष्टनेमिनो राजीमतीं भार्यां गन्तुमिति शेषः, याचते केशव-
स्तज्जनकमिति प्रक्रमः। सा च कीदृशीत्याह—'अथ'-इत्यु-
पन्यासे, राजवर इहोग्रसेनस्तस्य कन्या राज्ञो वा—तस्यैव
वरकन्या राजवरकन्या सुष्ठु शीलं—स्वभावो यस्याः सा सु-
शीला, चारु प्रेक्षितुम्—अवलोकितुं शीलमस्याः चारुप्रेक्षि-
णी, नाधोदृष्टितादिदोषदुष्टा, 'विज्जुसोयामणिप्पह त्ति' वि-
शेषेण द्योतते दीप्यत इति विद्युत्; सा चासौ सौदामनी च
विद्युत्सौदामनी, अथवा-विद्युदग्निः सौदामनी च तडित्,
अन्ये तु सौदामनी प्रधानमणिरित्याहुः। 'अथ' इति या-
श्चानन्तरमाह-जनकस्तस्याः राजीमत्या उग्रसेन इत्युक्तवान्,
'जासे त्ति' सुब्व्यत्ययात् येन तस्मै 'ददामि' विवाहवि-
धिनोपढौकयाम्यहम्।एवं च प्रतिपन्नायामुग्रसेनेन राजीमत्या-
मासन्ने च क्रौष्टिक्यादिष्टे विवाहलग्ने यदभूत्तदाह-सर्वाश्च ता
औषधयश्च-जयाविजयर्द्धिवृद्ध्यादयः सर्वौषधयस्ताभिः स्नापि-
तः-अभिषिक्तः, कृतकौतुकमङ्गल इत्यत्र कौतुकानि-ललाटस्य
मुशलस्पर्शनादीनि मङ्गलानि च—दध्यक्षतदूर्वाचन्दनादीनि
'दिव्वजुयलरहिय त्ति' प्राग्वत्परिहितं दिव्ययुगलमिति
प्रस्तावाद् दूष्ययुगलं येन स तथा, वासुदेवस्य सम्बन्धिनमि-
ति गम्यते, ज्येष्ठमेव ज्येष्ठकम्—अतिशयप्रशस्यमतिवृद्धं
वा गुणैः, पट्टहस्तिनमित्यर्थः, शोभत इति वर्त्तमाननिर्देशः
प्राग्वत्, चूडामणिः-शिरोऽलङ्काररत्नम्। अथ—अनन्तरम्
उच्छ्रितेन-उपरि घृतेन पाठान्तरतश्च श्वेतोच्छ्रितेन 'चा-
मराहि य त्ति' चामराभ्यां च शोभितः 'दसारचक्केणं ति'
दशार्हचक्रेण-यदुसमूहेन चतुरङ्गिण्या—हस्त्यश्वरथपदा-
तिरूपाङ्गचतुष्टयान्वितया रचितया—न्यस्तया यथाक्रमं—
यथापरिपाटि तूर्याणां—मृदङ्गपटहादीनां सन्निनादेनेति-
संनह्यत इत्यादिषु समो भृशार्थस्यापि दर्शनादतिगाढध्व-
निना 'दिव्येन' इति प्रधानेन देवागमनस्याऽपि तदा स-
म्भवाद्देवलोकोद्भवेन वा 'गयणं फुसे त्ति' आर्षत्वाद् ग-
गनस्पृशा—अतिप्रबलतया नभोऽङ्गणव्यापिना, सर्वत्र च
लक्षणे तृतीया, एतादृश्या-अनन्तराभिहितरूपया ऋद्ध्या-
विभूत्या द्युत्या—दीप्त्या उत्तरत्र चशब्दोऽभिन्नक्रमतो द्यु-
त्या चोत्तमयोपलक्षितः सन्निजकाद्भवनात् निर्यातः—नि-
ष्क्रान्तः वृष्णिपुङ्गवः—यादवप्रधानो भगवानरिष्टनेमिरि-
ति यावत्। ततश्चाऽसौ क्रमेण गच्छन् प्राप्तो विवाहम-
ण्डपासन्नदेशम्। अथ—अनन्तरं स तत्र निर्यन् अधिकं
गच्छन् 'दिस्स त्ति' दृष्ट्वा अवलोक्य प्राणान् स—प्राणिनः
मृगलावकादीन् भयद्रुतान्-भयत्रस्तान् वाटैरिति-वाटकैः-
वृत्तिवरण्डकादिपरिक्षिप्तप्रदेशरूपैः पञ्जरैश्च—बन्धनविशेषैः
सन्निरुद्धान्-गाढनियन्त्रितान्, पाठान्तरतस्तु-बद्धरुद्धान्,
अत एव सुदुःखितान्, तथा जीवितस्यान्तो-जीविता-
न्तो, मरणमित्यर्थस्तं संप्राप्तानिव सम्प्राप्तान्, अतिप्रत्या-
सन्नत्वात्तस्य। यद्वा-जीवितस्यान्तः-पर्यन्तवर्त्ती भागस्तमुक्त-
हेतोः सम्प्राप्तान् मांसार्थं-मांसनिमित्तं च भक्षयितव्यान्
मांसस्यैवातिगृद्धिहेतुत्वेन तद्भक्षणनिमित्तत्वादेवमुक्तम्। य-
दि वा-'मांसेनैव मांसमुपचीयते' इति प्रवादतो मांसमुपचितं
स्यादिति मांसार्थं भक्षयितव्यानविवेकिभिरिति शेषः। 'पासि-
त्त त्ति' दृष्ट्वा, कोऽर्थः ?- उक्तविशेषणविशिष्टान् हृदि नि-
धाय 'सः' इति भगवानरिष्टनेमिर्महती प्रज्ञा-प्रक्रमान्मति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रुतावधिज्ञानत्रयात्मिका यस्याऽसौ महाप्रज्ञः, सारथिं-प्रवर्त्तयितारं प्रक्रमाद्गन्धहस्तिनो हस्तिपकमिति यावत्, यद्वाऽत एव तदा रथारोहणमनुमीयत इति रथप्रवर्त्तयितारम्। 'कस्स त्ति' कस्य 'अर्थात्' निमित्तादिमे प्राणाः, एते सर्वे 'इमे' इत्यनेनैव च गते 'एते' इति पुनरभिधानमतिसार्द्रहृदयतया पुनः पुनस्त एव भगवतो हृदि विपरिवर्त्तन्त इति ख्यापनार्थम्। यदि वा-इमे-प्रत्यक्षाः एते-समीपतरवर्त्तिनः, उक्तं हि-"इदमः प्रत्यक्षगतं, समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम्," पठ्यते च-'बहुपाणे' त्ति प्रतीतं, सुखैषिणः-सातामिलाषिणः 'संनिरुद्धे य त्ति' सन्निरुद्धाः चः पूरणे 'अच्छिहिं त्ति' आसत इति षोडशसूत्रार्थः॥

एवं च भगवतोक्ते—

अह सारही (तओ) भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाहकज्जम्मि, भोआवेउं बहुं जणं॥ १७॥

सुगममेव, नवरम् 'अथ' इति-भगवद्वचनानन्तरं 'भद्दा उ त्ति' भद्रा एव-कल्याणा एव न तु श्वशृगालादय एव कुत्सिताः, अनपराधतया वा भद्रा इत्युक्तं भवति, तव विवाहकार्ये-परिणयनरूपप्रयोजने 'भोयावेउं ति' भोजयितुम्, अनेन यदुक्तं 'कस्यार्थादिति' तत्प्रत्युत्तरमुक्तमिति सूत्रार्थः॥

इत्थं सारथिनोक्ते यद्भगवान् विहितवांस्तदाह—

सोऊण तस्स वयणं, बहुपाणिविणासणं।
चिंतेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिएहि उ॥ १८॥
जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुबहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेयं, परलोगे भविस्सई॥ १९॥
सो कुंडलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामई॥२०॥
मणपरिणामो अ कओ, देवा य जहोइयं समोइन्ना।
सव्विड्ढीइ सपरिसा, निक्खमणं तस्स काउं जे॥२१॥
देवमणुस्सपरिवुडो, सिविया रयणं तओ समारूढो।
निक्खमिय बारगाओ, रेवययम्मि ट्ठिओ भयवं॥२२॥
उज्जाणं संपत्तो, ओइन्नो उत्तमाउ सीयाओ।
साहस्सी य परिवुडो, अह निक्खमई उ चित्ताहिं॥२३॥
अह सो सुगंधगंधिय-तुरियं मउअकुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे, पंचमुट्ठीसमाहिओ॥ २४॥

सुगममेव नवरं तस्य-इति सारथेः बहूनां-प्रभूतानां प्राणानां-प्राणिनां विनाशनं-हननमर्थादभिधेयं यस्मिंस्तद्बहुप्राणविनाशनं स-भगवान् सानुक्रोशः-सकरुणः केषु?-'जिएहिउ त्ति' जीवेषु तुः-पूरणे मम कारणादिति-हेतोर्मद्विवाहप्रयोजने भोजनार्थत्वादमीषामित्यभिप्रायः, 'हम्मंति त्ति' हन्यन्ते वर्त्तमानसामीप्ये लट्,ततो हनिष्यन्त इत्यर्थः, पाठान्तरतः 'हम्मिहंति त्ति' स्पष्टम्, सुबहवः-अतिप्रभूताः 'जिय त्ति' जीवाः, एतदिति-जीवहननं 'तुः' एवकारार्थो नेत्यनेन योज्यते, ततः न तु-नैव 'निस्सेयं ति' 'निःश्रेयसं' कल्याणं परलोके भविष्यति,पापहेतुत्वादस्येति भावः। भवान्तरेषु परलोकभीरुत्वस्यात्यन्तमभ्यस्ततयैवमभिधानमन्यथा चरमशरीरत्वादतिशयज्ञानित्वाच्च भगवतः कुत एवंविधचिन्तावसरः?, एवं च विदितभगवदाकूतेन सारथिना मोचितेषु सत्त्वेषु परितोषितोऽसौ यत्कृतवांस्तदाह—'सो' इत्यादि 'सुत्तकं चेति' कटीसूत्रम्, अर्पयतीति योगः, किमेतदेवेत्याह-आभरणानि च सर्वाणि शेषाणीति गम्यते। ततश्च मनःपरिणामश्च-अभिप्रायः कृतो निष्क्रमणं प्रतीति गम्यते, 'देवाः' चतुर्निकाया एव यथोचितम्-औचित्यानतिक्रमेण समवतीर्णाः, पाठान्तरतः समवपतिताः। चकाराभ्यां चेह समुच्चयार्थाभ्यामपि तुल्यकालताया ध्वन्यमानत्वात्तदैवेति गम्यते, सर्वर्द्ध्या-समस्तविभूत्या सपरिषदः बाह्यमध्याभ्यन्तरपर्षत्त्रयोपेताः 'निष्क्रमणम्' इति प्रक्रमान्निष्क्रमणमहिमानं 'तस्य' इति भगवतोऽरिष्टनेमिनः कर्तुं 'जे' इति निपातः पूरणे। शिविकारत्नं देवनिर्मितमुत्तरकुरुनामकमिति गम्यते, ततः-तदनन्तरं समारूढः-अध्यासीनः निष्क्रम्य-निर्गत्य द्वारकातः-द्वारकापुर्याः रैवतके उज्जयन्ते स्थितः-गमनान्निवृत्तः। तत्राऽपि कतरं प्रदेशं प्राप्तः स्थित इत्याह-उद्यानं सहस्राम्रवणनामकं सम्प्राप्तः, तत्र चावतीर्णः 'सीयातो त्ति' शिविकातः 'साहस्सी य त्ति' सहस्रेण प्रधानपुरुषाणामिति शेषः, परिवृतः-परिवेष्टितः अथेत्यानन्तर्ये निष्कामति-श्रामण्यं प्रतिपद्यते। 'तुः' पूरणे 'चित्ताहिं ति' चित्रासु-चित्रानाम्नि नक्षत्रे। कथमित्याह-सुगन्धिगन्धिकान्-स्वभावत एव सुरभिगन्धीन् त्वरितम्-शीघ्रं मृदुकत्वकुञ्चितान्-कोमलकुटिलान् स्वयमेव-आत्मनैव लुञ्चति-अपनयति केशान् 'पञ्चाढ्याभिः'-पञ्चमुष्टिभिः समाहितः-समाधिमान्, सर्वं सावद्यं ममाकर्त्तव्यमिति प्रतिज्ञारोहणोपलक्षणमेतत्। इह तु वन्दिकाचार्यैः सत्त्वमोचनसमये सारस्वतादिप्रबोधनभवनगमनमहादानानन्तरं निष्क्रमणाय पुरीनिर्गममुपवर्णयांबभूवेति सूत्रसप्तकार्थः॥

एवं च प्रतिपन्नप्रव्रज्ये भगवति—

वासुदेवो अ णं भणई, लुत्तकेसं जिइंदियं।
इच्छियमणोरहे तुरियं, पावसु तं दमीसरा!॥ २५॥
नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य।
खंतीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य॥२६॥
एवं ते रामकेसवा, दसारा य बहू जणा।
अरिट्ठनेमिं वंदित्ता, अइगया बारगाउरिं॥२७॥

सूत्रत्रयं स्पष्टम्, नवरं वासुदेवश्चेति चशब्दाद्बलभद्रसमुद्रविजयादयश्च 'लुप्तकेशम्' अपनीतशिरोरुहम् ईप्सितः-अभिलषितः स चाऽसौ मनोरथश्च भगवन्मनोरथविषयत्वान्मुक्तिरूपोऽर्थः ईप्सितमनोरथस्तं 'तुरियं' ति त्वरितं 'पावसु त्ति' प्राप्नुहि, आशीर्वचनत्वादस्य। "आशिषि लिङ्लोटौ" ॥ ३। ३। १७३॥ इत्याशिषि लोट्। 'तम्' इति-त्वं 'वर्द्धमानः' इति-वृद्धिभाक् 'भवाहि य त्ति' भव, चशब्द आशीर्वादान्तरसमुच्चये। एवम्-उक्तप्रकारेण वन्दित्वा-स्तुत्वेति योगः, इह चैवंविधाशीर्वचनानामपि गुणोत्कर्षसूचकत्वेन स्तवनरूपत्वमविरुद्धमिति भावनीयम्,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'दसारा य त्ति' दशार्हाः, चशब्दो भिन्नक्रमस्ततः 'बहु त्ति' बहवो जनाश्च अतिगताः—प्रविष्टा इति सूत्रत्रयार्थः।

तदा च कीदृशी सती राजीमती किमचेष्टतेत्याह–

सोऊण रायकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
णीहासा उ निराणंदा, सोगेण उ समुच्छिया ॥२८॥
राईमई विचिंतेइ, धिरत्थु मम जीवियं।
जाऽहं तेणं परिच्चत्ता, सेयं पव्वइउं मम ॥२९॥
अह सा भमरसन्निभे, कुच्चफणगप्पसाहिए।
सयमेव लुंचई केसे, धिइमंती ववस्सिया ॥ ३० ॥

सूत्रत्रयं स्पष्टं, नवरं निष्क्रान्ता हासान्निर्हासा, चशब्दो भिन्नक्रमस्ततो निरानन्दा च। समवसृता—अवष्टब्धा। धिगस्तु मम जीवितमिति स्वजीवितनिन्दोद्भावकं खेदवचो, याऽहं तेन परित्यक्तेति खेदहेतूपदर्शनम्, ततश्च श्रेयः—अतिशयप्रशस्यं प्रव्रजितुं—प्रव्रज्यां प्रतिपत्तुं मम, येनान्यजन्मन्यपि नैवं दुःखभागिनी भवेयमिति भावः। इत्थं चाऽसौ तावदवस्थिता यावदन्यत्र प्रविहृत्य तत्रैव भगवानाजगाम, तत उत्पन्नकेवलस्य भगवतो निशम्य देशनां विशेषत उत्पन्नवैराग्या किं कृतवतीत्याह–'अहे' त्यादि, अथ–अनन्तरं सा—राजीमती भ्रमरसन्निभान्—कृष्णतया आकुञ्चिततया च, कूर्चो—गूढकेशोन्मोचको वंशमयः फणकः–कङ्कतकस्ताभ्यां प्रसाधिताः—संस्कृता ये तान्, स्वयम्—आत्मनैव, लुञ्चति—अपनयति, भगवदनुज्ञयेति गम्यते। केशान्—कचान् 'धिइमंति त्ति' धृतिमति व्यवसितेति–अध्यवसिता सती, धर्मं विधातुमिति शेष इति सूत्रत्रयार्थः।

तत्प्रव्रज्याप्रतिपत्तौ च–

वासुदेवो अ णं भणइ, लुत्तकेसिं जिइंदियं।
संसारसागरं घोरं, तर कन्ने! लहुं लहुं ॥ ३१ ॥

स्पष्टमेव, नवरं तर–इत्युल्लङ्घय, आशीर्वचनत्वादयमप्याशिषि लोट्, लघु लघु–त्वरितं, २ संभ्रमे द्विर्वचनमिति सूत्रार्थः।

तदुत्तरवक्तव्यतामाह—

सा पव्वईया संती, पव्वावेसी तहिं बहुं।
सयणं परियणं चेव, सीलवंता बहुस्सुत्र्या ॥ ३२ ॥
गिरिं रेवययं जंती, वासेणोल्लाउ अंतरा।
वासंते अंधयारम्मि, अंतो लयणस्स सा ठिया ॥३३॥
चीवराणि विसारंती, जहा जाय त्ति पासिया।
रहनेमी भग्गचित्तो, पच्छा दिट्ठो अ तीइ वि ॥३४॥
भीया य सा तहिं दट्ठुं, एगंते संजयं तयं।
बाहाहिं काउँ संगुप्फं, वेवमाणी निसीयई ॥३५॥

सूत्रचतुष्टयं स्पष्टमेव, नवरं सा इति—राजीमती 'पव्वावेसि' त्ति प्राविव्रजत्—प्रव्राजितवती 'तहिं ति' तस्यां द्वारकापुरि, रैवतकम्—उज्जयन्तं यान्ती—गच्छन्ती, भगवद्वन्दनार्थमिति गम्यते, वर्षेण वृष्ट्या 'उल्ल' त्ति—आर्द्रा स्तिमितसकलचीवरेति यावत्, अन्तरे—अन्तराले अर्द्धपथ इत्यर्थः, 'वासंति' त्ति-वर्षति नीरद इति गम्यते। अन्धकारे—अपगतप्रकाशे, कस्मिन्?—अन्तः—मध्ये, उक्तं हि, अन्तःशब्दोऽधिकरणप्रधानम्, मध्यमाह—लयनमिह गुहा तस्यां सा—राजीमती स्थिता इत्यासिता, असंयमभीरुतयेति गम्यते, तत्र च चीवराणि–सङ्घाट्यादिवस्त्राणि विसारयन्ती–विस्तारयन्ती; अत एव यथा जाता—अनाच्छादितशरीरतया जन्मावस्थोपमा 'इती' त्येवं रूपा 'पासिय' त्ति दृष्टा। तद्दर्शनाच्च रथनेमिः—रथनेमिनामा मुनिः भग्नचित्तः—भग्नपरिणामः सन् प्रक्रमात्संयमं प्रति, स हि तामुदाररूपामवलोक्य समुत्पन्नतदभिलाषातिरेकः परवशमनाः समजनि। पश्चाद् दृष्टश्च तया—राजीमत्या अपिः पुनरर्थे, प्रथमप्रविष्टैर्हि नान्धकारप्रदेशे किञ्चिदवलोक्यते, अन्यथा हि वर्षणसम्भ्रमादन्यान्याश्रयगतासु शेषसाध्वीष्वेकाकिनी प्रविशेदपि न तत्रेयमिति भावः, भीता च मा कदाचिदसौ मम शीलभङ्गं विधास्यतीति, तस्मिन् इति लयने दृष्ट्वा एकान्ते–विविक्ते तकम् इति–रथनेमिं, किं कृतवत्यसावित्याह—'बाहाहिं ति' बाहुभ्यां कृत्वा संगोपं-परस्परबाहुगुम्फनं स्तनोपरि—र्कटबन्धमिति यावत्, वेपमाना शीलभङ्गभयात्कम्पमाना निषीदति–उपविशति, तदाश्लेषादिपरिहारार्थमिति भाव इति सूत्रचतुष्टयार्थः॥

अत्रान्तरे—

अह सोऽवि रायपुत्तो, समुद्दविजयंगओ।
भीयं पवेवियं दट्ठुं, इमं वक्कमुदाहरे ॥ ३६ ॥
रहनेमी अहं भद्दे, सुरूवे! चारुभासिणी!
ममं भयाहि सुअणु!, न ते पीला भविस्सई ॥ ३७ ॥
एहि ता भुंजिमो भोगे, माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुत्तभोगा पुणो पच्छा, जिणमग्गं चरिस्सिमो ॥३८॥

अथ च सोऽपीति-स पुनः राजपुत्रः-रथनेमिः भीतां प्रवेपितां च प्रक्रमाद्राजामतीम् 'उदाहरे त्ति' उदाहरत्–उक्तवान्, किं तदित्याह—'रथनेमिरहमिति' अनेनात्मनि रूपवस्याद्यभिमानतः स्वप्रकाशनं तस्या अभिलाषोत्पादनार्थं विश्वासविशसनहेत्वन्यशङ्कानिरासार्थं वा स्वनामख्यापनं, 'ममं ति' मां भजस्व—सेवस्व सुतनु! न ते तव पीडा—बाधा भविष्यति, सुखहेतुत्वाद्विषयसेवनस्येति भावः। यद्वा-तां ससम्भ्रमां दृष्ट्वैवमाह-" म म भयाहि त्ति' मा मा भैषीः सुतनु! यतो न ते—तव पीडा भविष्यति, कस्यचिदिह पीडाहेतोरभावात्, पीडया शङ्कया च भयं स्यादित्येवमुक्तम्, एहि–आगच्छ–' ता' इति-तस्मात्तावद्वा मानुष्यं 'खु' इति-निश्चितं सुदुर्लभम्, तदेतदवाप्तविदमपि तावद्भोगलक्षणमस्य फलमुपभुञ्ज्महे इत्याशयः। भुक्तभोगाः पुनः-पश्चाद् इति वार्द्धक्ये जिनमार्गं–जिनोक्तमुक्तिपथं 'चरिस्सामो त्ति' चरिष्यामः, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः॥

ततो राजीमती किमचेष्टतेत्याह--

दट्ठूण रहनेमिं तं, भग्गुज्जोयपराइयं।
राईमई असंभंता, अप्पाणं संवरे तहिं ॥ ३९ ॥
अह सा रायवरकन्ना, सुट्ठिया नियमव्वए।
जाई कुलं च सीलं च, रक्खमाणी तयं वदे ॥ ४० ॥
जइऽसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तहावि ते न इच्छामि, जइऽसि सक्खं पुरंदरो ॥४१॥
धिरत्थु तेजसो कामी, जो तं जीवियकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥ ४२ ॥
अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥ ४३ ॥
जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारीओ ।
वायाविद्धु व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥४४॥
गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वऽणिस्सरो ।
एवं अणीसरो तं पि, सामन्नस्स भविस्ससि ॥ ४५ ॥

सूत्रसप्तकं पाठसिद्धं, नवरं 'भग्गुज्जोयपराइयं ति' भग्नोद्योगः-अपगतोत्साहः प्रस्तावात्-संयमे। स चासौ पराजितश्च—अभिभूतः स्त्रीपरीषहेण भग्नोद्योगपराजितस्तम् असम्भ्रान्ता—नायं बलादकार्ये प्रवर्त्तयितेत्यभिप्रायेणात्रस्ता आत्मानं—स्वं 'संवरे त्ति' समवारीत् आच्छादितवती चीवरैरिति गम्यते, तस्मिन् इति लयनमध्ये पीडया शङ्कया च भयं स्यादित्येवमुक्तम् । सुस्थिता—निश्चला 'नियमव्रते' इतीन्द्रियनोइन्द्रियनियमने—प्रव्रज्यायां च जातिं कुलं शीलं च 'रक्खमाणि त्ति' रक्षन्ती, शीलध्वंशे हि कदाचिदस्या एवंविधैव जातिः कुलं चेति सम्भावनातस्ते अपि विनाशिते स्यातामित्येवमुक्तम्, यद्यपि असि—भवसि रूपेण—आकारसौन्दर्येण वैश्रमणः—धनदः ललितेन—सविलासचेष्टितेन नलकूबरः—देवविशेषः 'ते' इति त्वां साक्षात्—समक्षः पुरन्दरः—इन्द्रो रूपाद्यनेकगुणाश्रयो य इति भावः, रूपाद्यभिमानी चायमित्येवमुक्तः । अपरं च—धिगस्तु ते—तव पौरुषमिति गम्यते, अयशः कामिन्निव अयशः कामिन् !—अकीर्त्यभिलाषिन् !, दुराचारवाञ्छितया, यद्वा ते—तव यशो—महाकुलसम्भवोद्भूतं धिगस्त्विति सम्बन्धः, कामिन् !—भोगाभिलाषिन् ! जीवितकारणात् जीवितनिमित्तमाश्रित्य, तदनासेवने हि तथाविधदशावाप्तौ मरणमपि स्यादित्येवमभिधानम्, वान्तम्-उद्गीर्णं यत् शृगालैरपि परिहृतं तदिच्छस्यापातुम्, यथाहि-कश्चिद्वान्तमापातुमिच्छत्येवं भवानपि प्रव्रज्याग्रहणतस्त्यक्तान् भोगान् पुनरापातुमिवापातुम्—उपभोक्तुमिच्छति अतः श्रेयः—कल्याणं ते—तव मरणं भवेत्, न तु वान्तापानं, ततो मरणस्यैवाल्पदोषत्वात् । अनूदितं चैतद्-
"विज्ञाय वस्तु निन्द्यं, त्यक्त्वा गृह्णन्ति किं क्वचित्पुरुषाः ?।
वान्तं पुनरपि भुङ्क्ते, न च सर्वः सारमेयोऽपि ॥ १ ॥"
'अह' मित्यात्मनिर्देशे चः—पूरणे 'भोजराजस्य—उग्रसेनस्य त्वं च असि—भवसि अन्धकवृष्णेः कुले जातः इत्युभयत्र शेषः, अतश्च मा इति निषेधे कुले—अन्वये 'गंधणे त्ति' गन्धनानां—सर्पविशेषाणां 'होमो त्ति' भूव, तच्चेष्टितानुकारितयेति भावः ते हि वान्तमपि विषं ज्वलद्वह्निपातभीरुतया पुनरपि पिबन्ति, तथा च वृद्धाः—"सप्पाणं किल दो जाइओ-गंधणा य, अगंधणा य । तत्थ गंधणाणाम जे डसिए मंतेहिं आकड्डिया तं विसं वणमुहातो आवियंति, अगंध ग उण अवि मरणमज्झवसंति ण य वंतमावियंति ।" किं तर्हि कृत्यमित्याह—संयमं निभृतः-स्थिरः चरआसेवस्व, यदि त्वं भावं-प्रक्रमाद्भोगाभिलाषरूपं या याः 'दिच्छसि त्ति' द्रक्ष्यसि तासु तास्विति गम्यते, ततः किमित्याह-वातेनाविद्धः-समन्तात्ताडितो वाताविद्धो भ्रमित इति यावत् । हठो-वनस्पतिविशेषः स इवास्थितात्मा-चञ्चलचित्ततयाऽस्थिरस्वभावः । गोपालः—यो गाः पालयति, भाण्डपालो वा-यः परकीयानि भाण्डानि भाटकादिना पालयति, पठ्यते च—'दण्डपालो वा नगररक्षको वा' यथा-तद्द्रव्यस्य गवादेः सततरक्षणीयस्य अनीश्वरः-अप्रभुः, विशिष्टतत्फलोपभोगाभावात्, एवमनीश्वरस्त्वमपि श्रामण्यस्य भविष्यसि, भोगाभिलाषतस्तत्फलस्याऽपि विशिष्टस्याभावादिति भाव इति सूत्रसप्तकार्थः।

एवं तयोक्तो रथनेमिः किं कृतवानित्याह ?—

तीसे सो वयणं सुच्चा, संजईए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥ ४६ ॥
मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ ।
सामन्नं निच्चलं फासे, जावज्जीवं दढव्वओ ॥ ४७ ॥

सूत्रद्वयम्, तस्याः-राजीमत्याः सः-रथनेमिः वचनम्-अनन्तरोक्तानुशिष्टिरूपं श्रुत्वा-आकर्ण्य संयतायाः-प्रव्रजितायाः सुष्ठु-संवेगजनकत्वेन भाषितम्—उक्तं सुभाषितम्, अङ्कुशेन-प्रतीतेन, यथा-नागः-हस्ती पथि इति शेषः, एवं धर्मे-चारित्रधर्मे 'संपडिवाइओ त्ति' 'सम्प्रतिपादितः' संस्थितः, तद्वचसैवेति गम्यते । अत्र च वृद्धसम्प्रदायः—"णेउरपंडियाक्खाणयं भणिऊण ० जाव ततो रुट्ठेण राइणा देवी मेंठो हत्थी य तिन्नि वि छिन्नकडगे चडावियाणि, भणिओ य मेंठो—एत्थं वाहेहि हत्थिं, दीहि य पासेहिं वेणुग्गहा ठविया,० जाव एगो पाओ आगासे ठविओ । जणो भणइ-किं एस तिरियो जाणइ ?, एयाणि मारेयव्वाणि, तहावि राया रोसं न मुञ्चति, ततो अ तिन्नि पाया आयासे कया, एगेण ठितो, लोगेण अक्कंदो कतो—किमेयं हत्थिरयणं वावाइज्जति ?, रण्णा मिंठो भणिओ—तरसि णियत्तेउं ?, भणइ—जइ दुयग्गाणवि अभयं देसि, दिण्णं, ततो तेण अंकुसेण नियत्तिओ हत्थि त्ति ।" इह चायमभिप्रायः-यथा-अयमीदृगवस्थो द्विपोऽङ्कुशवशतः पथि संस्थित एवमयमप्युत्पन्नविश्रोतसिकस्तद्वचेनन अहितप्रवृत्तिनिवर्त्तकतयाऽङ्कुशप्रायेण धर्म इति, ततश्च श्रामण्यं निश्चलं-स्थिरं 'फासे त्ति' अस्प्राक्षीद्—आसेवितवान्, शेषं स्पष्टमिति सूत्रद्वयार्थः ।

उभयोरप्युत्तरवक्तव्यतामाह-

उग्गं तवं चरित्ताणं, जाया दुन्नि वि केवली ।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥ ४८ ॥

उग्रं कर्म रिपुदारणतया तपः-अनशनादि 'चरित्ताणं ति' चरित्वा जातौ-भूतौ द्वावपीति-रथनेमिराजीमत्यौ, 'केवली ति' केवलिनौ सर्वं निरवशेषं-कर्म-भवोपग्राहि 'खवित्ताणं ति' क्षपयित्वा सिद्धिं प्राप्तावनुत्तरामिति सूत्रार्थः ।

सम्प्रति निर्युक्तिरनुश्रियते—

सोरियपुरम्मि नयरे, आसी राया समुद्दविजओ त्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्सासि अग्गमहिसी, सिव त्ति देवी अणुज्जंगी॥४४३।
तेसिं पुत्ता चउरो, अरिट्ठनेमी तहेव रहनेमि ।
तइओ अ सच्चनेमी, चउत्थओ होइ दढनेमी ॥ ४४४॥
जो सो अरिट्ठनेमी, बावीसइ मो अहेसि सो अरिहा ।
रहनेमिसच्चनेमी, एए पत्तेयबुद्धा उ ॥ ४४५ ॥
रहनेमिस्स भगवओ, गिहत्थए चउर हुंति वाससया ।
संवच्छरछउमत्थो, पंचसए केवली हुंति ॥ ४४६ ॥
नववाससए वासा-हिए उ सव्वाउगस्स नायव्वं ।
एसो उ चेव कालो, राव(य)मईए उ नायव्वो ॥ ४४७॥

अत्र च प्रथमगाथया रथनेमेरन्वय उक्तः । 'तेसिं ति तयोः-समुद्रविजयशिवादेव्योः , प्रसङ्गतश्चेह शेषपुत्राभिधानम् ' अहेसि त्ति ' अभूत् , इह च यदरिष्टनेमेरर्हत्त्वं रथनेमेश्च प्रत्येकबुद्धत्वमुक्तं तदर्हद्भ्रातृत्वेन स्वगुणप्रकर्षेण च रथनेमेर्माहात्म्यख्यापनार्थम् । चतुर्थगाथया पर्यायपरिमाणाभिधानम् , तत्र चत्वारि वर्षशतानि गृहस्थपर्यायः, वर्षं छद्मस्थपर्यायः, वर्षशतकपञ्चकं केवलिपर्याय इतिः मिलितानि नव वर्षशतानि वर्षाधिकानि सर्वाऽऽयुरभिहितम् , एष चैव त्विति' च-तु-शब्दौ पूरणे , तत एष एव च वर्षाधिकवर्षशतनवकलक्षणः, शेषं स्पष्टमिति गाथापञ्चकार्थः।

सम्प्रति प्रतिभग्नपरिणामतया मा भूद्रथनेमौ कस्यचिदवज्ञेति सूत्रकृदाह—

एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विनियट्टंति भोगेसुं, जहा सो पुरिसोत्तमो॥४९॥त्ति बेमि।

एवम्-इति वक्ष्यमाणं कुर्वन्ति-विदधति संबुद्धाः बोधिलाभतः,पण्डिताः बुद्धिमत्त्वेन, प्रविचक्षणाः प्रकर्षेण शास्त्रज्ञतया न त्वनीदृशाः, किमित्याह—विशेषेण कथञ्चिद्विश्रोतसिकोत्पत्तावपि तन्निरोधलक्षणेन निवर्त्तन्ते, 'भोगेसुं ति' भोगेभ्यो यथा सः-पुरुषोत्तमो रथनेमिः,अनीदृशा ह्येकदा भग्नपरिणामा न पुनः संयमे प्रवर्त्तितुं क्षमाः , ततो भोगविनिवर्त्तनात् सम्बुद्धादिविशेषणान्वितत्वेन कथमयमवज्ञास्पदं भवेदिति भावः। उपदेशपरतया वा प्राग्वद्व्याख्येयमिति सूत्रार्थः॥ ' इति ' परिसमाप्तौ , ब्रवीमीति पूर्ववत् , उत्त० २२ अ० । दश० । कल्प० ।

रहणेमिज्ज-रथनेमीय-न० । रथनेमिवक्तव्यताप्रतिपादके द्वाविंशे उत्तराध्ययने , उत्त० २२ अ० । स० ।

रहपह-रथपथ-पुं० । शकटचक्रद्वयप्रमिते मार्गे , भ० ७ श० ६ उ० ।

रहपहगर-रथपथकर-पुं० । रथनिकरे, औ० ।

रहमद्दण-रथमर्दन-न० । धातकीखण्डे अवरकङ्कायां नगर्यां स्वनामख्याते कोष्ठे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

रहमुसल-रथमुशल-पुं० । यत्र रथो मुशलेन युक्तः परिधावन् महाजनक्षयं कृतवान् असौ रथमुशलः । स्वनामख्याते कोणिकपुत्राणां चेटकेन राज्ञा सार्द्धं संग्रामे, भ० ७ श० ९ उ० । नि० । (रथमुशलाख्यसंग्रामस्योत्पत्तौ किं निबन्धनमिति ' काल ' शब्दे तृतीयभागे ४८१ पृष्ठे गतम्)

णायमेयं अरहया सुयमेयं अरहया विन्नायमेयं अरहया रहमुसले संगामे, रहमुसले णं भंते ! संगामे वट्टमाणे-के जइत्था के पराजइत्था ? गोयमा ! वज्जी विदेहपुत्ते चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया जइत्था, नव मल्लई नव लेच्छई पराजइत्था । तए णं से कूणिए राया रहमुसलं संगामं उवट्ठियं सेसं जहा महासिलाकंटए, नवरं भूयाणंदे हत्थिराया ०जाव रहमुसलसंगामं ओयाए, पुरओ य से सक्के देविंदे देवराया, एवं तहेव० जाव चिट्ठंति, मग्गओ य से चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया एगं महं आयासं किढिणपडिरूवगं विउव्वित्ता णं चिट्ठइ, एवं खलु तओ इंदा संगामं संगामेंति, तं जहा-देविंदे य मणुइंदे य असुरिंदे य । एगहत्थिणा वि णं पभू कूणिए राया जइत्तए तहेव ०जाव दिसो दिसिं पडिसेहित्था । से केणऽट्ठेणं भंते ! रहमुसले संगामे ?, रहमुसले संगामे , गोयमा ! रहमुसले णं संगामे वट्टमाणे एगे रहे अणासए असारहिए अणारोहए समुसले महया जणक्खयं जणवहं जणप्पमद्दं जणसंवट्टकप्पं रुहिरकद्दमं करेमाणे सव्वओ समंता परिधावित्था, से तेणऽट्ठेणं० जाव रहमुसले संगामे । रहमुसले णं भंते ! संगामे वट्टमाणे कति जणसयसाहस्सीओ वहियाओ ?, गोयमा ! छन्नउतिं जणसयसाहस्सीओ वहियाओ । ते णं भंते ! मणुया निस्सीला ०जाव उववन्ना ?, गोयमा ! तत्थ णं दस साहस्सीओ एगाए मच्छीए कुच्छिंसि उववन्नाओ, एगे देवलोगेसु उववन्ने, एगे सुकुले पच्चायाए, अवसेसा ओसन्नं नरगतिरिक्खजोणिएसु उववन्ना । (सू०-३०१) कम्हा णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया कूणियस्स रन्नो साहेज्जं दलइत्था ?, गोयमा ! सक्के देविंदे देवराया पुव्वसंगतिए चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया परियायसंगतिए, एवं खलु गोयमा ! सक्के देविंदे देवराया चमरे य असुरिंदे असुरकुमारराया कूणियस्स रन्नो साहिज्जं दलइत्था । (सू० ३०२) बहुजणे णं भंते ! अन्नमन्नस्स एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति एवं खलु बहवे मणुस्सा अन्नयरेसु उच्चावएसु संगामेसु अभिमुहा चेव पहया समाणा कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, से कहमेयं भंते ! एवं ?, गोयमा ! जण्णं से बहुजणो अन्नमन्नस्स एवं आइक्खति ०जाव उववत्तारो भवन्ति , जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ०जाव

(१-'महासिलाकंटय' शब्दे अस्मिन्नेवभागे गतम्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परूवेमि–एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं वेसाली नामं नगरी होत्था, वण्णश्रो, तत्थ णं वेसालीए णगरीए वरुणे नामं णागनत्तुए परिवसइ श्रड्ढे ०जाव अपरिभूए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे ०जाव पडिलाभेमाणे छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरति, तए णं से वरुणे णागनत्तुए अन्नया कयाइ रायाभिश्रोगेणं गणाभिश्रोगेणं बलाभिश्रोगेणं रहमुसले संगामे आणत्ते समाणे छट्ठभत्तिए अट्ठमभत्तं अणुवट्टेति अट्ठमभत्तं अणुवट्टेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वदासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठावेह हयगयरहपवर ०जाव सन्नाहेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं से कोडुंबियपुरिसा ०जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सच्छत्तं सज्झयं ०जाव उवट्ठावेंति हयगयरह ०जाव सन्नाहेंति सन्नाहेंतित्ता जेणेव वरुणे नागनत्तुए ०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से वरुणे णागनत्तुए जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छति जहा कूणिश्रो ०जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए सन्नद्धबद्धे सकोरेंटमल्लदामेणं ०जाव धरिज्जमाणेणं अणेगगणणायग०जाव दूयसंधिपालसद्धिं संपरिवुडे मज्जणघराश्रो पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ दुरूहइत्ता हयगयरह ०जाव संपरिवुडे महया भडचडगर० जाव परिक्खित्ते जेणेव रहमुसले संगामे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता रहमुसलं संगामं श्रोयाश्रो। तए णं से वरुणे णागणत्तुए रहमुसलं संगामं श्रोयाए समाणे अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिएहइ–कप्पति मे रहमुसलं संगामं संगामेमाणस्स जे पुव्विं पहणइ से पडिहणित्तए अवसेसे नो कप्पतीति, अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगेएहइ अभिगेएहइत्ता रहमुसलं संगामं संगामेति। तए णं तस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स रहमुसलं संगामं संगामेमाणस्स एगे पुरिसे सरिसए सरिसत्तए सरिसव्वए सरिसभंडमत्तोवगरणे रहेणं पडिरहं हव्वमागए, तए णं से पुरिसे वरुणं णागणत्तुयं एवं वयासी–पहण वरुणा! णागणत्तुया! प० २, तए णं से वरुणे णागणत्तुए तं पुरिसं एवं वदासी–नो खलु मे कप्पइ देवाणुप्पिया! पुव्विं अहयस्स पहणित्तए, तुमं चेव णं पुव्वं पहणाहि। तए णं से पुरिसे वरुणे णागणत्तुएणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते०जाव मिसिमिसेमाणे धणुं परामुसइ परामुसइत्ता उसुं परामुसइ उसुं परामुसित्ता ठाणं ठाति ठाणं ठिच्चा आययकन्नाययं उसुं करेइ आययकन्नाययं उसुं करेत्ता वरुणं णाग णत्तुयं गाढप्पहारी करेइ। तए णं से वरुणे णागनत्तुए तेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीकए समाणे आसुरुत्ते ० जाव मिसिमिसेमाणे धणुं परामुसइ धणुं मरामुसित्ता उसुं परामुसइ उसुं परामुसित्ता आययकन्नाययं उसुं करेइ आययकन्नाययं उसुं करेत्ता तं पुरिसं एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाश्रो ववरोवइ। तए णं से वरुणे णागणत्तुए तेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीकए समाणे अत्थामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्जमितिकट्टु तुरए निगिएहइ तुरए निगिरिहत्ता रहं परावत्तेइ रहं परावत्तित्ता रहमुसलाश्रो संगामाश्रो पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता एगंतमंतं अवक्कमइ एगंतमंतं अवक्कमित्ता तुरए निगिरहइ निगिरिहत्ता रहं ठवेइ ठवेइत्ता रहाश्रो पच्चोरुहइ रहाश्रो पच्चोरुहइत्ता रहाश्रो तुरए मोएइ तुरए मोएत्ता तुरए विसज्जेइ विसज्जित्ता, दब्भसंथारगं संथरइ दब्भसंथारगं संथरइत्ता (पुरच्छाभिमुहे दुरूहइ दब्भसंथारगं संथरइ संथरइत्ता) पुरच्छाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयल ०जाव कट्टु एवं वयासी–नमोऽत्थु णं अरिहंताणं ०जाव संपत्ताणं नमोऽत्थुणं समणस्स भगवश्रो महावीरस्स आइगरस्स ०जाव संपाविउकामस्स मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स वंदामि णं भगवन्तं तत्थगयं इहगए पासउ मे से भगवं तत्थगए ०जाव वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—पुव्विं पि मए समणस्स भगवश्रो महावीरस्स अंतिए थूलए पाणातिवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए एवं ०जाव थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणिं पि णं अरिहंतस्स भगवश्रो महावीरस्स अंतियं सव्वं पाणातिवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए एवं जहा खंदश्रो ०जाव एयं पि णं चरमेहिं ऊसासनीसासेहिं वोसिरिस्सामि त्ति कट्टु सन्नाहपट्टं मुयइ सन्नाहपट्टं मुइत्तासल्लुद्धरणं करेति सल्लुद्धरणं करेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगए। तए णं तस्स वरुणस्स णागनत्तुयस्स एगे पियबालवयंसए रहमुसलं संगामं संगामेमाणे एगे णं पुरिसे णं गाढप्पहारीकए समाणे अत्थामे अबले ० जाव अधारणिज्जमिति कट्टु वरुणं णागनत्तुयं रहमुसलाश्रो संगामाश्रो पडिनिक्खममाणं पासइ पासइत्ता तुरए निगेएहइ तुरए निगेरिहत्ता जहा वरुणे०जाव तुरए विसज्जेति पडिसंथारगं दुरूहइ पडिसंथाइगं दुरूहित्ता पुरत्थाभिमुहे ०जाव अंजलिं कट्टु एवं वयासी–जइ णं भंते! मम पियबालवयस्सस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स सीलाइं वयाइं गुणाइं वेरमणाइं पच्चक्खाणपोसहो–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ववासाइं ताइ णं ममं पि भवंतु त्ति कट्टु सन्नाह-पट्टं मुयइ मुयइत्ता सल्लुद्धरणं करेति सल्लुद्धरणं करेत्ता आणुपुव्वीए कालगए । तए णं तं वरुणं णागणत्तुयं कालगयं जाणित्ता अहासन्निहिएहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं दिव्वे सुरभिगंधोदगवासे वुट्ठे,दसद्धवन्ने कुसुमे निवाडिए, दिव्वे य गीयगंधव्वनिनादे कए याऽवि होत्था । तए णं तस्स वरुणस्स णागनत्तुयस्स तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवज्जुतिं दिव्वं देवाणुभागं सुणित्ता य पासित्ता य बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ०जाव परूवेति—एवं खलु देवाणुप्पिया ! बहवे मणुस्सा ०जाव उववत्तारो भवंति । (सू० ३०३) । वरुणे णं भंते ! नागनत्तुए कालमासे कालं किच्चा कहिं गए कहिं उववन्ने ?, गोयमा ! सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने, तत्थ णं अत्थेगतियाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाणि ठिती पण्णत्ता, तत्थ णं वरुणस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता । से णं भंते ! वरुणे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं ०जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०जाव अंतं करेहिति । वरुणस्स णं भंते ! णागणत्तुयस्स पियवालवयंसए कालमासे कालं किच्चा कहिं गए ? कहिं उववन्ने ?, गोयमा ! सुकुले पच्चायाते । से णं भंते ! तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति ?, गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति ० जाव अंतं करेति । सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति । (सू० ३०४)

' सारुट्ठ त्ति ' संरुष्टः मनसा ' परिकुविय त्ति ' शरीरे समन्ताद्दर्शितकोपविकाराः ' समरवहिय त्ति ' संग्रामे हताः ' रहमुसले त्ति ' यत्र रथो मुशलेन युक्तः—परिधावन् महाजनक्षयं कृतवान् असौ रथमुशलः, 'मग्गओ त्ति' पृष्ठतः ' आयसंति ' लोहमयम् ' किढिणपडिरूवगं ति ' कठिनं-वंशमयस्तापससम्बन्धी भाजनविशेषस्तत्प्रतिरूपकम्—तदाकारं वस्तु ' अणासए त्ति ' अश्वरहितः ' असारहिए त्ति ' असारथिकः ' अणारोहए त्ति ' ' अनारोहकः—योधवर्जितः ' महता जणक्खयं ति ' महाजनविनाशं ' जणवहं ति ' जनवधं जनव्यथां वा ' जणपमद्दं ति ' लोकचूर्णनं ' जणसंवट्टकप्पं ति ' जनसंवर्त्त इव-लोकसंहार इव जनसंवर्त्तकल्पोऽतस्तम् । ' एगे देवलोगेसु उववन्ने एगे सुकुलपच्चायाए त्ति ' एतत्स्वभावत एव वक्ष्यति । ' पुव्वसंगइए त्ति ' कार्त्तिकश्रेष्ठ्यवस्थायां शक्रस्य कूणिकजीवो मित्रमभवत्, 'परियायसंगइए त्ति' पूरणतापसावस्थायां चमरस्याऽसौ तापसपर्यायवर्त्ती मित्रमासीदिति । ' जन्नं से बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ' इत्यत्रैकवचनप्रक्रमे ' जे ते एवमाहंसु ' इत्यत्र यो बहुवचननिर्देशः स व्यक्त्यपेक्षोऽवसेयः 'अहिगयजीवाजीवे' इत्यत्र यावत्करणात् ' उवलद्धपुन्नपावा ' इत्यादि दृश्यम् ' पडिलाभेमाणे त्ति ' इदं च ' समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलरओहरणेणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे विहरइ' इत्येवं दृश्यम्, 'चाउग्घंटं ति' घण्टाचतुष्टयोपेतम् ' आसरहं ति ' अश्ववहनीयं रथं ' जुत्तामेव त्ति ' युक्तमेव रथसामग्र्येति गम्यम्, 'सज्झयं' इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्-'सघंटं सपडागं सतोरणवरं सणंदिघोसं सकिंकिणीहेमजालपेरंतपरिक्खित्तं ' सकिङ्किणीकेन क्षुद्रघण्टिकायुक्तेन हेमजालेन पर्यन्तेषु परिक्षिप्तो यः स तथा तं हेमवयचित्ततेणिसकणगनिउत्तदारुयागं' हैमवतानि—हिमवद्गिरिजातानि चित्राणि-विचित्राणि तैनिशानि—तिनिशाभिधानवृक्षसम्बन्धीनि सहिमवतीति तद्ग्रहणं कनकनियुक्तानि-नियुक्तकनकानि दारूणि यत्र स तथा तम्, 'सुसंविद्धचक्कमंडलधुरागं ' सुष्ठु संविद्धे चक्रे यत्र मण्डला च-वृत्ता धूर्यत्र स तथा तम्, ' कालायससुकयनेमिजंतकम्मं ' कालायसेन-लोहविशेषेण सुष्ठु कृतं नेमेः—चक्रमण्डलमालाया यन्त्रकर्म—बन्धनक्रिया यत्र स तथा तम्, ' आइन्नवरतुरयसुसंपउत्तं ' जात्यप्रधानाश्वैः सुष्ठु संप्रयुक्तमित्यर्थः, ' कुसलनरच्छेयसारहिसुसंपग्गहियं' कुशलनररूपो यश्छेकसारथिः-दक्षप्राजिता तेन सुष्ठु सम्प्रगृहीतो यः स तथा तम्, 'सरसयबत्तीसयतोणपरिमंडियं ' शराणां शतं प्रत्येकं येषु ते शरशतास्तैर्द्वात्रिंशता तोणैः—शरधिभिः परिमण्डितो यः स तथा तम्, 'सकंकडवडेंसगं' सह कङ्कटैः—कवचैरवतंसैश्च-शेखरकैः शिरस्त्राणभूतैर्यः स तथा तम्, ' सचावसरपहरणावरणभरियजोहजुद्धसज्जं' सह चापशरैर्यानि प्रहरणानि खड्गादीनि आवरणानि च—स्फुरकादीनि तेषां भृतोऽत एव योधानां युद्धसज्जश्च—युद्धप्रगुणो यः स तथा तम्,' चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव ' त्ति, वाचनान्तरे तु साक्षादेवेदं दृश्यत इति, 'अयमेयारूवं ति' प्राकृतत्वादिदम्, एतद्रूपम्-वक्ष्यमाणरूपं ' सरिसए त्ति ' सदृशकः—समानः ' सरित्तए ' त्ति सदृशत्वक् ' सरिसव्वए त्ति ' सदृग्वयाः ' सरिसभंडमत्तोवगरणे ' त्ति सदृशी भाण्डमात्रा—प्रहरणकोशादिरूपा उपकरणं च—कङ्कटादिकं यस्य स तथा, ' पडिरहंति ' रथं प्रति 'आसुरुत्ति' आशु-शीघ्रं रुतः-कोपोदयाद्विमूढः 'रुप-लुप-विमोहने' इति वचनात्, स्फुरितकोपलिङ्गो वा, यावत्करणादिदं दृश्यम्-' रुट्ठे कुविए चंडिक्किए त्ति-तत्र ' रुष्टः ' उदितक्रोधः ' कुपितः ' प्रवृद्धकोपोदयः चाण्डिकितः' सञ्जातचाण्डिक्यः प्रकटितरौद्ररूप इत्यर्थः, 'मिसिमिसेमाणे ' त्ति क्रोधाग्निना दीप्यमान इव, एकार्थिका वैते शब्दाः कोपप्रकर्षप्रतिपादनार्थमुक्ताः, ' ठाणं ति ' पादन्यासविशेषलक्षणं ' ठाति त्ति ' करोति ' आययकण्णाययं ति ' आयतः—आकृष्टः सामान्येन स एव कर्णायतः—आकर्णमाकृष्टः आयतकर्णायतस्तम् ' एगाहच्चं ति ' एका हत्या—हननं प्रहारो यत्र जीवितव्यपरोपणे तदेकाहत्यं तद्यथा-भवति, ' कूडाहच्चं ति ' कूटे इव तथाविधपाषाणसम्पुटादौ कालविलम्बाभावसाधर्म्यादाहत्या—आहननं यत्र तत् कूटाहत्यम् ' अत्थामे त्ति ' ' अस्थामा ' सामान्यतः शक्तिविकलः ' अबले त्ति ' शरीरशक्तिवर्जितः ' अवीरिए त्ति ' मानसशक्तिवर्जितः ' अपुरिसक्कारपरक्कमे त्ति ' व्यक्तं नवरं पुरुषक्रिया पुरुषकारः—पुरुषाभिमानः स एव निष्पा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दितस्वप्रयोजनः पराक्रमः ' अधारणिज्जं ति ' आत्मनो धरणं कर्तुमशक्यम् ' इति कट्टु त्ति ' कृत्वा इति हेतोरित्यर्थः ' तुरए णिगिएहइ त्ति ' अश्वान् गच्छतो निरुणद्धीत्यर्थः ' एगंतमंतं ति ' एकान्तम्-विजनम् अन्तम्-भूमिभागं ' सीलाइं ति ' फलानपेक्षाः प्रवृत्तयः ताश्च प्रक्रमाच्छुभाः ' वयाइं ति ' अहिंसादीनि ' गुणाइं ति ' गुणव्रतानि 'वेरमणाइं ति ' सामान्येन रागादिविरतयः ' पच्चक्खाणपोसहोववासाइं ति ' प्रत्याख्यानं-पौरुषादिविषयं पौषधोपवासः-पर्वदिनोपवासः ' गीयगंधव्वनिनाए त्ति ' गीतं—गानमात्रं गन्धर्वं-तदेव मुरजादिध्वनिसनाथं तल्लक्षणो निदानः—शब्दो गीतगन्धर्वनिनादः । ' कालमासे त्ति ' मरणमासे मासस्योपलक्षणत्वात् कालदिवसे इत्याद्यपि द्रष्टव्यं ' कहिं गए कहिं उववन्ने त्ति ' प्रश्नद्वये ' सोहम्मे ' त्याद्येकमेवोत्तरं गमनपूर्वकत्वादुत्पादस्योत्पादाभिधानेन गमनं सामर्थ्यादवगतमेवेत्यभिप्रायादिति । ' आउक्खएणं ' आयुःकर्मदलिकनिर्जरणेन ' भवक्खएणं ति ' देवभवनिबन्धनदेवगत्यादिकर्मनिर्जरणेन ' ठिइक्खएणं ति ' आयुष्कादिकर्मणां स्थितिनिर्जरणेनेति । भ० ७ श० ६ उ० ।

रहयार-रथकार-पुं० । वर्द्धकिनि, " रहयारा वड्ढइणो" पाइ० ना० १०३ गाथा ।

रहरेणु-रथरेणु-पुं० । रथेन गच्छता उत्खातो रेणुः रथरेणुः वा, रथे गच्छति तदुत्खातो य ऊर्ध्वातिर्यक्रेणुः रथरेणुः, अष्टत्रसरेणुपरिमिते परिमाणे, ज्यो० २ पाहु० । अनु० । स्था० । जं० । प्रव० । भ० ।

रहवर-रथवर-पुं० । ऋषभदेवस्य चतुर्दशे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

रहवीरउर-रथवीरपुर-न० । अष्टमनिह्नवानां बोटिकानाम् उत्पत्तिस्थाने, आ० म० १ अ० । विशे० । आ० क० । आ० चू० । उत्त० । कल्प० ।

रहसंगेल्ल-रथसंगेल्ल-पुं० । रथसमुदाये, औ० । ज्ञा० । दशा० ।

रहसिय (ग)-राहसिक-न० । विजने, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

रहस्स-रहस्य-न० । रह एकान्तस्तत्र भवं रहस्यम् । विविक्तोपाश्रयादौ, प्रच्छन्ने, गुह्ये, गुप्ते, प्रव० ६ द्वार । " गुज्झं रहस्सं " पाइ० ना० २७१ गाथा । आव० । उत्त० । सूत्र० । श्रुं० । भ० । स्था० । प्रश्न० । नि० चू० । ज्ञा० । ऐदम्पर्ये, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

ह्रस्व-न० । अपवादपदे, इहापवादपदानि रहस्यमुच्यते । बृ० ६ उ० । अदीर्घे, " एगे रहस्से । " स्था० १ ठा० ।

रहस्सकड-रहःकृत-पुं० । प्रच्छन्नकृते, भ० २ श० १ उ० ।

रहस्सगय-रहस्यगत-न० । कलाभेदे, स० ७२ सम० ।

रहस्सगारवपरिणाम-ह्रस्वगौरवपरिणाम-पुं० । परिणामभेदे, यस्माद्ध्रस्वं गमनं स ह्रस्वगौरवपरिणामः । स्था० ६ ठा० ।

रहस्सट्ठाण-रहस्यस्थान-न० । गुह्यापवरकमन्त्रगृहादौ, दश० ५ अ० २ उ० ।

रहस्सदूसण-रहस्यदूषण-न० । मृषावादस्य द्वितीयातिचारे, प्रव० । रह एकान्तस्तत्र भवं रहस्यम् । राजादिकार्यसम्बद्धं यदन्यस्मै न कथ्यते , तस्य दूषणम् , अनधिकृतेन वाऽऽकारेङ्गितादिभिर्ज्ञात्वा अन्यस्मै प्रकाशनं रहस्यदूषणम् , यथा—रहसि मन्त्रयमाणान् कांश्चिदवलोक्य गृहीतमृषावतः कश्चिद्वदति-एते हि राजापकारादिकारकमिदमिदं च मन्त्रयन्ते , यद्वा-रहस्यदूषणं पैशून्यम् , यद्वा—द्वयोः प्रीतौ सत्यामेकस्यैकस्याकारणादिनोपलभ्याभिप्रायमितरस्य तथा कथयति यथा प्रीतिः प्रणश्यति , इति द्वितीयोऽतिचारः । प्रव० ६ द्वार ।

रहस्सब्भक्खाण-रहस्याभ्याख्यान-न० । रह एकान्तस्तत्र भवं रहस्यं रहस्येनाभ्याख्यानमभिशंसनमदसदध्यारोपणं रहस्याभ्याख्यानम् । स्थूलमृषावादविरते द्वितीयातिचारे, ध० २ अधि० । पञ्चा० । ध० । रह एकान्तस्तत्र भवं रहस्यं तेन तस्मिन्वा अभ्याख्यानं रहस्याभ्याख्यानम् , एतदुक्तं भवति एकान्ते मन्त्रयमाणान्वक्ति—एते हीदं चेदं च राजापकारित्वादि मन्त्रयन्ति । आव० ६ अ० । ध० र० । उपा० । श्रा० ।

रहस्सयंत-ह्रस्वयन्त-पुं० । वामनकुब्जादिषु , सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

रहस्सिय-रह(स्यि)सिक-न० । अकार्यसम्बद्धमन्त्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० । रहसिके जने, विपा० १ श्रु० १ अ० । एकान्तयोगिनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । गुप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

रहावत्तगिरि-रथावर्त्तगिरि-पुं० । वज्रस्वामिनोऽनशनेन शरीरत्यागस्थाने , कल्प० २ अधि० ८ क्षण । प्रति० । आचा० । आ० म० । " तत्थ य देवा पडिणीया, ते साहुणो साविया रूवेण भत्तपाणेण निमंतेइ,-अज्ज भे पारणयं करेह, ताहे आयरिएहिं णायं जहा अवियत्तोग्गहो त्ति, तत्थ य अब्भासे अन्नो गिरी, तं गया, तत्थ य देवयाए काउस्सग्गो कतो, सा आगंतूण भणइ—अहो मह अणुग्गहो अच्छइ, तत्थ समाहीए कालगया, ततो इंदेण रहेण वंदिया, पयाहिणीकरेंतेण तरुवरादीणि दासिल्लाणि; कयाणि; तेण तस्स रहावत्तो नामं जायं ॥ ७४४ (गा०) आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

रहिय-रहित-पुं० । परित्यक्ते , वियुक्ते च । आव० ४ अ० । विशे० ।

रहुवंस-रघुवंश-पुं० । रघुकुले , " तहा नवमस्स सिरिवीरगणहरस्स अयलभाउणा जन्मभूमी रहुवंसभवाणं " ती० १२ कल्प ।

रहोकम्म-रहःकर्म-न० । विजनव्यापारे , स्था० ६ ठा० ।

राअ—राज—धा० । दीप्तौ , राजेरग्घ-छज्ज-सह-रीर-रेहाः ॥ ८ । ४ । १०० ॥ इति आदेशाभावे । राअइ । राजति । प्रा० ।

राअघर—राजगृह—न० । गृहस्य घरोऽपतौ ॥ ८ । २ । १४४ ॥ इति गृहेः घरादेशः । मगधदेशप्रधाननगरे, प्रा० ।

राअला—देशी—प्रियङ्गवे , दे० ना० ७ वर्ग १ गाथा ।

राइ-राजि-स्त्री० । अवल्याम् , पङ्क्तौ, तं० । " ओली मालाराई रिंछोली आवली पंती " पाइ० ना० ६२ गाथा । औ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकानेकजातीयवृक्षाणां पङ्क्तिषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रेखायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

रात्रि-स्त्री० । रज्यते इति रात्रिः । रजन्याम्, सा च सूर्यकिरणास्पष्टव्योमखण्डरूपाश्चतुर्यामात्मिका । पा० । विशे० । सूत्र० ।

पक्षस्य पञ्चदश रात्रयः—

ता कहं ते रातीओ आहिताति वदेज्जा ?, ता एगमेगस्स णं पक्खस्स पण्णरस राईओ पण्णत्ताओ, तं जहा-पडिवाराई बिदियाराई ०जाव पण्णरसा राई, ता एतासि णं पण्णरसण्हं राईणं पण्णरस नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा-

उत्तमा य १ सुणक्खत्ता २ एलावच्चा ३ जसोधरा ४ ।
सोमणसा ५ चेव तधा, सिरिसंभूता ६ य बोद्धव्वा ॥१॥
विजया य ७ वेजयंता, ८
जयंति ९ अपराजिया य १० गच्छा य ११ ॥
समाहारा १२ चेव तधा,
तेया १३ य तहा य अतितेया १४ ॥ २ ॥
देवाणंदा १५ निरती रयणीणं णामधेज्जाइं ।(सूत्र४८)।

'ता' कहमित्यादि, ता इति—पूर्ववत्, कथम्-केन प्रकारेण, केन क्रमेणेत्यर्थः, रात्रय आख्याता इति वदेत्?, भगवानाह—'ता एगमेगस्स णं' मित्यादि, ता इति प्राग्वत्, एकैकस्य पक्षस्य पञ्चदश २ रात्रयः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-प्रतिपत्-प्रतिपत्सम्बन्धिनी प्रथमा रात्रिः, द्वितीयदिवससम्बन्धिनी द्वितीया रात्रिः,एवं पञ्चदशदिवससम्बन्धिनीपञ्चदशी रात्रिः, एतच्च कर्म्ममासापेक्षया द्रष्टव्यम्, तत्रैव पक्षे पक्षे परिपूर्णानां पञ्चदशानामहोरात्राणां सम्भवात्, 'ता एएसि णं' मित्यादि, तत्र एतासां पञ्चदशानां रात्रीणां यथाक्रममभूनि पञ्चदश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-प्रथमा प्रतिपत्सम्बन्धिनी रात्रिरुत्तमा—उत्तमनामा, द्वितीया-सुनक्षत्रा, तृतीया—एलापत्या, चतुर्थी-यशोधरा, पञ्चमी-सौमनसी, षष्ठी श्रीसम्भूता, सप्तमी-विजया, अष्टमी-वैजन्ती, नवमी-जयन्ती, दशमी-अपराजिता, एकादशी इच्छा, द्वादशी-समाहारा, त्रयोदशी-तेजा,चतुर्दशी-अतितेजा, पञ्चदशी देवानन्दा, अमूनि क्रमेण रात्रीणां नामधेयानि भवन्ति । सू० प्र० १० पाहु० । ज्यो० । जं० । चं० प्र० । कल्प० ।

जइ खलु तस्सेव आदिच्चस्स संवच्छरस्स सयं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, सइं अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति, सइं दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति, सइं दुवालसमुहुत्ता राती भवती, पढमे छम्मासे अत्थि अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति, दोच्चे छम्मासे अत्थि अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे, णत्थि अट्ठारसमुहुत्ता राती, अत्थि दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति पढमे छम्मासे, दोच्चे छम्मासे णत्थि पण्णरसमुहुत्ते दिवसे भवति णत्थि पण्णरसमुहुत्ता राती भवति, तत्थ णं कं हेतुं वदेज्जा ?, ता अयएणं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए ०जाव विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते, ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राती भवति, से निक्खममाणे सूरिए नवं संवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंति अब्भिंतरं मण्डलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए अभिंतराणंतरं मण्डलं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे, दुवालसमुहुत्ता राती भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अधिया, से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भन्तरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति,ता जया णं सूरिए अब्भिंतरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राती भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया, एवं खलु एएणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिए एगमेगे मंडले दिवसे खेत्तस्स णिवुड्ढेमाणे २ रतणिक्खेत्तस्स अभिवुड्ढेमाणे २ सव्ववाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरातो मण्डलाओ सव्ववाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं सव्वब्भंतरमंडलं पणिधाय एगेणं तेसीतेणं राइंदियसतेणं तिण्णि छावट्ठ एगट्ठिभागमुहुत्ते सते दिवसे खेत्तस्स णिवुड्ढित्ता रतणिक्खेत्तस्स अभिवुड्ढित्ता चारं चरति, तदा णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति, जहण्णए वारसमुहुत्ते दिवसे भवति, एस णं पढमे छम्मासे एस णं पढमं छम्मासस्स पज्जवसाणे । से पविसमाणे सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे (आयमाणे) पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमेत्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति, दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए, से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरं तच्चं मण्डलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए बाहिरं तच्चं मण्डलं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा, दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए । एवं खलु एतेणुवाएणं पविसमाणे सूरिए तयाणंतरातो तयाणंतरं मंडलातो मंडलं संकममाणे दो दो एगट्ठिभागमुहुत्ते एगमेगे मंडले रतणिखेत्तस्स णिवुड्ढेमाणे २ दिवसखेत्तस्स अभिवड्ढेमाणे२ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए सव्ववाहिराओ मं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डलाओ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं सव्वबाहिरं मंडलं पणिधाय एगेणं तेसीएणं राइंदियसतेणं तिन्नि छावट्ठे एगट्ठिभागमुहुत्तसते रयणिखेत्तस्स निवुड्ढित्ता दिवसखेत्तस्स अभिवड्ढित्ता चारं चरति तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राती भवति, एस णं दोच्चे छम्मासे एस णं दुच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे, एस णं आदिच्चे संवच्छरे एस णं आदिच्चस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे, इति खलु तस्सेवं आदिच्चस्स संवच्छरस्स सइं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, सइं अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति, सइं दुवालसमुहुत्ता राती भवति , पढमे छम्मासे अत्थि अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे अत्थि दुवालसमुहुत्ते दिवसे नत्थि दुवालसमुहुत्ता राई अत्थि दुवालसमुहुत्ता राई नत्थि दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति, पढमे वा छम्मासे णत्थि पण्णरसमुहुत्ते दिवसे भवति, णत्थि पण्णरसमुहुत्ता राई भवति णत्थि रातिंदियाणं वड्ढोवड्ढीए मुहुत्ताण वा चयोवचएणं, णण्णत्थ वा अणुवायगईए, गाधाओ भाणितव्वाओ। (सूत्र-११)

'जइ खलु' इत्यादि, यदि खलु षट्षष्ट्यधिकरात्रिन्दिवशतत्रयपरिमाणायामद्धायां द्व्यशीतं मण्डलशतं द्विष्कृत्वश्चरति द्वे च मण्डले एकैकं वारमिति तत एवं सति यदेतद्भगवद्भिः प्ररूप्यते, तस्य षट्षष्ट्यधिकरात्रिन्दिवशतत्रयपरिमाणस्य सूर्यसंवत्सरस्य मध्ये सकृद् एकवारमष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति, सकृच्चाष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिः, तथा सकृद्-एकवारं द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सकृच्च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, तत्रापि षण्मासे प्रथमेऽस्ति अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्नत्वष्टादशमुहूर्त्तो दिवसः, तथा अस्ति तस्मिन्नेव प्रथमे षण्मासे द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो न तु द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, द्वितीये षण्मासेऽस्त्यष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो नत्वष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिः, तथा अस्ति तस्मिन्नेव द्वितीय षण्मासे द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिर्नतु द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः, तथा प्रथमे षण्मासे द्वितीये वा षण्मासे नास्त्येतत् यदुत-पञ्चदशमुहूर्त्तोऽपि दिवसो भवति नाप्यस्त्येतत् , यदुत पञ्चदशमुहूर्त्ता रात्रिरिति, तत्र एवंविधे वस्तुतत्त्वावगमे को हेतुः ?-किं कारणं कया युक्त्या एतत्प्रतिपत्तव्यमिति भावार्थः , 'इति वदे' दिति, अत्रार्थे भगवान् प्रसादं कृत्वा वदेत् । अत्र प्रतिवचनमाह-' ता अयण्णं ' मित्यादि, ' अयं ' प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो णमिति वाक्यालङ्कारे ' जम्बूद्दीपो ' जम्बूद्वीपनामा द्वीपः, स च सर्वेषां द्वीपसमुद्राणां सर्वाभ्यन्तरः—सर्वमध्यवर्त्ती सर्वेषामपि शेषद्वीपसमुद्राणामित आरभ्य यथागमोक्तक्रमद्विगुणविष्कम्भतया भवनात् ' जाव परिक्खेवेणं पन्नत्ते' इति, अत्र यावच्छब्दोपादानादिदमन्यद् ग्रन्थान्तरे प्रसिद्धं सूत्रमवगन्तव्यम्। ' सव्वखुड्डागे वट्टे तेल्लापूयसंठाणसंठिए वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकन्नियासंठाणसंठिए वट्टे पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिए जोयणसयसहस्समायामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं दोन्नि य सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अङ्गुलाइं अद्धङ्गुलं च किञ्चिविसेसाहिए परिक्खेवेणं पन्नत्ते ' इति, अत्र ' सव्वखुड्डाग ' त्ति सर्वेभ्योऽप्यन्येभ्यो द्वीपसमुद्रेभ्यः क्षुल्लको लघुरायामविष्कम्भाभ्यां योजनलक्षप्रमाणत्वात् , शेषं प्रायः सुगमं, परिधिपरिमाणं गणितं च क्षेत्रसमासटीकातः परिभावनीयम् , ' ता ' इति ततो यदा णमिति पूर्ववत् , सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा णमिति प्राग्वत् ,उत्तमकाष्ठाप्राप्तः,अत्र काष्ठाशब्दः प्रकर्षवाची परमप्रकर्षप्राप्तो यतः परमन्योऽधिको न भवति स इत्यर्थः, ' उक्कोस ' त्ति, उत्कर्षतीत्युत्कर्षः उत्कर्ष एवोत्कर्षकः उत्कृष्ट इत्यर्थः,अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति,तस्मिन्नेव च सर्वाभ्यन्तरे मण्डले सूर्ये चारं चरति जघन्या-सर्वलघ्वी द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, एषोऽहोरात्रः पाश्चात्यस्य सूर्यसंवत्सरस्य पर्यवसानं, ततः स सूर्यस्तस्मात्सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रामन् नवं सूर्यसंवत्सरमाददानः-प्रवर्तमानः प्रथमे अहोरात्रे ' अब्भितरानंतरं ' ति सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलादनन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति ततो यदा सूर्योऽभ्यन्तरानन्तरं-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलादनन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो द्वाभ्यां मुहुर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूनो भवति, द्वाभ्यां च मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, कथमेतदवसीयते इति चेत् ?, उच्यते, इहैकं मण्डलमेकेनाहोरात्रेण द्वाभ्यां सूर्याभ्यां परिसमाप्यते, एकैकश्च सूर्यः प्रत्यहोरात्रं मण्डलस्य त्रिंशदधिकोऽष्टादशशतसंख्यान् भागान् परिकल्प्य एकैकं भागं दिवसक्षेत्रस्य रात्रिक्षेत्रस्य वा यथायोग्यं हापयिता वर्द्धयिता वा भवति, स चैको मण्डलगतस्त्रिंशदधिकाष्टादशशततमो भागो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यां गम्यते, तथाहि—तानि मण्डलगतानि त्रिंशदधिकान्यष्टादशशतानि भागानां द्वाभ्यां सूर्याभ्यामेकेनाहोरात्रेण गम्यते,अहोरात्रश्च त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणः,ततः सूर्यद्वयापेक्षया षष्टिर्मुहूर्त्ता लभ्यन्ते ततस्त्रैराशिककर्मावकाशः, यदि षष्ट्या मुहूर्त्तैरष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि मण्डलस्य भागानां गम्यन्ते तत एकेन मुहूर्त्तेन किं गम्यते?, राशित्रयस्थापना—। ६० । १८३० । १ अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यस्य राशेर्गुणनाज्जातानि तान्येवाष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि तेषामाद्येन राशिना षष्टिलक्षणेन भागो ह्रियते लब्धाः सार्द्धास्त्रिंशद्भागाः, एतावन्मुहूर्त्तेन गम्यते, मुहूर्त्तश्चैकषष्टिभागीक्रियते तत आगतमेको भागो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यां गम्यते, यदि वा-यदि त्र्यशीत्यधिकेनाहोरात्रशतेन षट्मुहुर्त्ता हानौ वृद्धौ वा प्राप्यन्ते तत एकेनाहोरात्रेण किं प्राप्यते ?, राशित्रयस्थापना-।१८३। ६ । १ अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते, जातास्त एव षट् , तेषां त्र्यशीत्यधिकेन शतेन भागहरणम् , अत्रोपरितनराशेः स्तोकत्वाद्भागो न लभ्यते ततश्छेद्यच्छेदकराश्योस्त्रिकेनापवर्त्तना, जात उपरितनो राशिद्विकरूपोऽधस्तन एकषष्टिरूपः, आगतं द्वावेकषष्टिभागौ मुहूर्त्तस्य एकस्मिन्नहोरात्रे वृद्धौ हानौ वा प्राप्येते इति, तथा 'ता' इति तस्माद् द्वितीयान्मण्डलान्निष्क्रामन् सूर्यो द्वितीये अहोरात्रे सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमपेक्ष्य तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रं चरति, 'ता जया ण' मित्यादि, तत्र यदा तस्मिन्सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमपेक्ष्य तृतीये मण्डले उपसङ्क्रम्य चारं चरति तदा चतुर्भिर्मुहूर्त्तस्यैकषष्टिभागैर्हीनोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति, चतुर्भिर्मुहूर्त्तस्यैकषष्टिभागैरधिका द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिः, एवमुक्तनीत्या 'खलु' निश्चितमेतेनानन्तरोदितेनोपायेन प्रतिमण्डलं दिवसरात्रिविषयमुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयहानिवृद्धिरूपेण निष्क्रामन् मण्डलपरिभ्रमणगत्या शनैः शनैर्दक्षिणाभिमुखं गच्छन् सूर्यः, 'तयाणंतरा' इति तस्माद्विवक्षितादनन्तरान्मण्डलात् 'तयाणंतर' मिति—तद्विवक्षितमनन्तरं मण्डलं संक्रामन् संक्रामन् एकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तस्य द्वौ द्वावेकषष्टिभागौ दिवसक्षेत्रस्य निर्वेष्टयन् निर्वेष्टयन् हापयन् हापयन् रजनिक्षेत्रस्य प्रतिमण्डलं द्वौ द्वौ मुहूर्त्तस्यैकषष्टिभागौ अभिवर्द्धयन् अभिवर्द्धयन् त्र्यशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे प्रथमषण्मासपर्यवसानभूते सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति ' ता ' इति-ततो यदा तस्मिन् काले अहोरात्ररूपे णमिति प्रागिव सूर्यः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्मण्डलपरिभ्रमणगत्या शनैः शनैः निष्क्रम्य सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलं 'प्रणिधाय' मर्यादीकृत्य द्वितीयान्मण्डलादारभ्येत्यर्थः, एकेन त्र्यशीत्यधिकेन रात्रिन्दिवशतेन त्रीणि षट्षष्टीनि षट्षष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तैकषष्टिभागशतानि दिवसक्षेत्रस्य 'निर्वेष्ट्य' हापयित्वा रजनिक्षेत्रस्य तान्येव त्रीणि मुहूर्त्तैकषष्टिभागशतानि षट्षष्ट्यधिकानि अभिवर्द्ध्य चारं चरति, तदा णमिति पूर्ववत्, उत्तमकाष्ठाप्राप्ता-परमप्रकर्षप्राप्ता उत्कर्षिका-उत्कृष्टा अष्टादशमुहूर्त्ता अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिर्भवति, जघन्यश्च द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसः, एषा प्रथमा षण्मासी, यदिवा—एतत् प्रथमं षण्मासं, सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात्, एष त्र्यशीत्यधिकशततमोऽहोरात्रः प्रथमस्य षण्मासस्य पर्यवसानम्। ' से पविसमाणे ' इत्यादि, सः—सूर्यः सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीयं षण्मासमाददानः-प्रतिपद्यमानो द्वितीयस्य षण्मासस्य प्रथमे अहोरात्रे सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वागनन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति ' ता ' इति-तत्र यदा सूर्यो बाह्यात्—सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूना अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति, द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिको द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसः, ततस्ततोऽपि द्वितीयान्मण्डलादभ्यन्तरं स सूर्यः प्रविशन् द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीये अहोरात्रे ' बाहिरं तच्चं ' ति सर्वबाह्यान् मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति 'ता जया ण' मित्यादि, ततो यदा णमिति पूर्ववत्, सूर्यः सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनं, तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिश्चतुर्भिः ' एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ' ति प्राकृतत्वाद् व्यत्यासेन पदोपन्यासः, एवं तु यथास्थितपदनिर्देशो द्रष्टव्यो—मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरूना भवति, चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरधिको द्वादशमुहुर्त्तो दिवसः। ' एवं खलु एएण ' मित्यादि, एवं—उक्तनीत्या खल्वेतेनानन्तरोदितेनोपायेन प्रतिमण्डलं रात्रिदिवसविषयमुहुर्त्तैकषष्टिभागद्वयहानिवृद्धिरूपेण प्रविशन् मण्डलपरिभ्रमणगत्या शनैः शनैरुत्तराभिमुखं गच्छन् ' तयाणंतराउ ' त्ति तस्माद्विवक्षितान्मण्डलात् ' तयाणंतर ' मिति तद्विवक्षितमनन्तरं मण्डलं संक्रामन् संक्रामन् एकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तस्य द्वौ द्वावेकषष्टिभागौ रजनिक्षेत्रस्य निर्वेष्टयन् दिवसक्षेत्रस्य प्रतिमण्डलं द्वौ द्वौ मूहूर्त्तस्यैकषष्टिभागौ अभिवर्द्धयन् अभिवर्द्धयन् त्र्यशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे द्वितीयषण्मासपर्यवसानभूते ' सव्वब्भंतरं ' ति सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, ' ता ' इति—ततो यदा—यस्मिन् काले णमिति पूर्ववत्, सूर्यः सर्वबाह्यान्मण्डलान्मण्डलपरिभ्रमणगत्या शनैः शनैरभ्यन्तरं प्रविश्य सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा सर्वबाह्यमण्डलं ' प्रणिधाय ' मर्यादीकृत्य तदर्वाक्तनाद् द्वितीयान्मण्डलादारभ्येत्यर्थः, एकेन त्र्यशीत्यधिकेन रात्रिदिवशतेन त्रीणि षट्षष्टीनि—षट्षष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तस्यैकषष्टिभागशतानि रजनिक्षेत्रस्य निर्वेष्ट्य हापयित्वा दिवसक्षेत्रस्य च तान्येव त्रीणि षट्षष्टीनि मुहूर्त्तैकषष्टिभागशतानि अभिवर्द्ध्य चारं चरति, तदा णमिति वाक्यलंकारे, उत्तमकाष्ठाप्राप्तः—परमप्रकर्षप्राप्त उत्कर्षकः उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, जघन्या च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, एतद् द्वितीयं षण्मासं, यदि वा—एषा द्वितीया षण्मासी, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् एष षट्षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽहोरात्रो द्वितीयस्य षण्मासस्य पर्यवसानभूतः, ' एष ' एवंप्रमाण आदित्यसंवत्सरः, एष षट्षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽहोरात्रः ' आदित्यस्य ' आदित्यसम्बन्धिनः संवत्सरस्य पर्यवसानम्। सम्प्रत्युपसंहारमाह—' इह खलु तस्सेव ' मित्यादि, यस्मादेवम् ' इति ' तस्मात्कारणात्तस्यादित्यस्य—आदित्यसंवत्सरस्य मध्ये ' एवम् ' उक्तेन प्रकारेण ' सकृद् ' एकवारमष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सकृच्चाष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिः, तथा सकृद् द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सकृच्च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, तत्र प्रथमे षण्मासे अस्त्यष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिः, सा च प्रथमषण्मासपर्यवसानभूतेऽहोरात्रे, नत्वष्टादशमुहूर्त्तो दिवसः, तथा अस्ति तस्मिन्नेव प्रथमे षण्मासे द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः, सोऽपि प्रथमषण्मासपर्यवसानेऽहोरात्रे, नतु द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, द्वितीये षण्मासेऽस्त्येतद् यदुत अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, स च द्वितीयषण्मासपर्यवसानभूतेऽहोरात्रे नत्वष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिः, तथा अस्त्येतत् यदुत तस्मिन्नेव द्वितीयषण्मासे अस्ति द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, साऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयषण्मासपर्यवसानभूतेऽहोरात्रे, न पुनरस्त्येतत् यदुत द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो भवतीति, तथा प्रथमे वा षण्मासे नास्त्येतत् यदुत पञ्चदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, नाप्यस्त्येतत् यदुत पञ्चदशमुहूर्त्ता रात्रिः, किं सर्वथा नेत्याह—नान्यत्र-रात्रिन्दिवानां वृद्ध्यपवृद्धेरन्यत्र न भवति, रात्रिन्दिवानां तु वृद्ध्यपवृद्धौ च भवत्येव पञ्चदशमुहूर्त्ता रात्रिः पञ्चदशमुहूर्त्तो दिवसः, ते च वृद्ध्यपवृद्धी रात्रिन्दिवानां कथं भवत इत्याह—' मुहुत्ताणं चयोवचएण ' मुहूर्त्तानां पञ्चदशसङ्ख्यानां चयोपचयेन चयेन-अधिकत्वेन वृद्धिः, अपचयेन—हीनत्वेनापवृद्धिः। इयमत्र भावना-परिपूर्णपञ्चदशमुहुर्त्तप्रमाणे दिवसरात्री न भवतो, हीनाधिकपञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाणे तु दिवसरात्री भवतः, एवम् ' अन्नत्थ वा अणुवायगईए ' इति, वाशब्दः प्रकारान्तर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूचने अन्यत्रानुपातगतेः—अनुसारगतेः पञ्चदशमुहूर्त्तो दिवसः पञ्चदशमुहूर्त्ता वा रात्रिर्न भवति, अनुसारगत्या तु भवत्येव। सा चानुसारगतिरेवम्—यदि त्र्यशीत्यधिकशततमे मण्डले पञ्चमुहूर्त्ता वृद्धौ हानौ वा प्राप्यन्ते ततोऽर्वाक् तदर्द्धगतौ त्रयो मुहूर्त्ताः प्राप्यन्ते, त्र्यशीत्यधिकशतस्य वाऽर्द्धं सार्द्धा एकनवतिः, तत आगतम्—एकनवतिसंख्येषु मण्डलेषु गतेषु द्विनवतितमस्य च मण्डलस्यार्द्धे गते पञ्चदश मुहूर्त्ताः प्राप्यन्ते, ततस्तत ऊर्ध्वं रात्रिकल्पनायां पञ्चदशमुहूर्त्तो दिवसः, पञ्चदशमुहूर्त्ता च रात्रिर्लभ्यते नान्यथेति, 'गाहाओ भणितव्वाओ' त्ति अत्र अनन्तरोक्तार्थसङ्ग्राहिका अस्या एव सूर्यप्रज्ञप्तेर्भद्रबाहुस्वामिना या निर्युक्तिः कृता तत्प्रतिबद्धा अन्या वा काश्चन ग्रन्थान्तरसुप्रसिद्धा गाथा वर्त्तन्ते ता भणितव्याः—पठनीयाः, ताश्च सम्प्रति क्वापि पुस्तकेषु न दृश्यन्त इति व्यवच्छिन्नाः सम्भाव्यन्ते ततो न कथयितुं व्याख्यातुं वा शक्यन्ते, यो वा यथा सम्प्रदायादवगच्छति तेन तथा शिष्येभ्यः कथनीया व्याख्यानीयाश्चेति। सू० प्र० १ पाहु०।

सम्प्रति द्वितीयमर्द्धमण्डलसंस्थितिप्रतिपादकं विवक्षुरिदं प्रश्नसूत्रमाह—

ता कहं ते अद्धमंडलसंठिती आहिताति वदेज्जा ?, तत्थ खलु इमे दुवे अद्धमंडलसंठिती पण्णत्ता, तंजहा–दाहिणा चेव अद्धमंडलसंठिती, उत्तरा चेव अद्धमंडलसंठिती। ता कहं ते दाहिणा अद्धमंडलसंठिती आहिताति वदेज्जा ?, ता अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं ०जाव परिक्खेवेणं ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं दाहिणं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राती भवति, से णिक्खममाणे सूरिए णवं संवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि दाहिणाए अंतराए भागाते तस्सादिपदेसाते अब्भिंतराणंतरं उत्तरं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति, जता णं सूरिए अब्भिंतराणंतरं उत्तरं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं अट्ठारसमुहुत्ते(हिं) दिवसे भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राती दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अधिया से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि उत्तराए अंतराए भागाते तस्सादिपदेसाए अब्भिंतरं तच्चं दाहिणं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति। ता जया णं सूरिए अब्भिंतरं तच्चं दाहिणं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति, तदा णं अट्ठारसमुहुत्ते (हिं) दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अधिया। एवं खलु एएणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिए तदणंतरातोऽणंतरंसि तंसि तंसि देसम्मि तं तं अद्धमंडलसंठितिं संकममाणो संकममाणो दाहिणाए दाहिणाए अंतराए भागाते तस्सादिपदेसाते, सव्वबाहिरं उत्तरं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति। ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं उत्तरं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति। एस णं पढमे छम्मासे, एस णं पढमछम्मासस्स पज्जवसाणे, से पविसमाणे सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि उत्तराते अंतरभागाते तस्सादिपदेसाते बाहिराणंतरं दाहिणं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए बाहिराणंतरं दाहिणं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा, दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए, से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि दाहिणाते अंतराए भागाते तस्सादिपदेसाए बाहिरंतरं तच्चं उत्तरं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए बाहिरं तच्चं उत्तरं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अधिया एवं खलु एतेणं उवाएणं पविसमाणे सूरिए तदाणंतराउ तदाणंतरं तंसि तंसि देसंसि (म्मि) तं तं अद्धमंडलसंठितिं संकममाणे संकममाणे उत्तराए अंतराभागाते तस्सादिपदेसाए सव्वब्भंतरं दाहिणं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं दाहिणं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, एस णं दोच्चे छम्मासे, एस णं दोच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे, एस णं आदिच्चे संवच्छरे, एस णं आदिच्चसंवच्छरस्स पज्जवसाणे। (सूत्र–१२) ता कहं ते उत्तरा अद्धमंडलसंठिती आहिताति वदेज्जा ?, ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीव ०जाव परिक्खेवेणं, ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरे उत्तरं अद्धमंडलसंठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, जहा दाहिणा तहा चेव णवरं उत्तरट्ठिओ अब्भिंतराणंतरं दाहिणं उवसंकमइ, दाहिणातो अब्भिंतरं तच्चं उत्तरं उवसंकमति। एवं खलु एएणं उवाएणं ० जाव सव्वबाहिरं दाहिणं उवसंकमंति, सव्वबाहिरं दाहिणं उवसंकमित्ता दाहिणाओ बाहिराणंतरं उत्तरं उवसंकमति, उत्तरातो बाहिरं तच्चं दाहिणं तच्चातो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दाहिणातो संकममाणे २ ० जाव सव्वब्भंतरं उवसंकमति, तहेव एस णं दोचे छम्मासे एस णं दोचस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे, एस णं आदिचे संवच्छरे, एस णं आदिचस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे गाहाओ।(सूत्र-१३)

'ता कहं ते' इत्यादि, 'ता' इति प्रक्रमार्थः, पूर्ववद् भावनीयः, कथं-केन प्रकारेण भगवन् ! ते—तव मते अर्द्धमण्डलसंस्थितिः अर्द्धमण्डलव्यवस्था आख्यातेति वदेत् पृच्छतश्चायमभिप्रायः—इह एकैकः सूर्य एकैकेनाहोरात्रेणैकैकस्य मण्डलस्यार्द्धमेव भ्रमणेन पूरयति, ततः संशयः—कथमेकैकस्य सूर्यस्य प्रत्यहोरात्रमेकैकार्द्धमण्डलपरिभ्रमणव्यवस्थेति, अत्र भगवान् प्रत्युत्तरमाह-'ता खलु' इत्यादि, 'ता' इति तत्रार्द्धमण्डलव्यवस्थाविचारे खलु—निश्चितमिमे द्वे अर्द्धमण्डलसंस्थिती मया प्रज्ञप्ते, तद्यथा—एका दक्षिणा चैव-दक्षिणदिग्भाविसूर्यविषया अर्द्धमण्डलसंस्थितिः-अर्द्धमण्डलव्यवस्था, द्वितीया उत्तरा चैव-उत्तरदिग्भाविसूर्यविषया अर्द्धमण्डलसंस्थितिः, एवमुक्तेऽपि भूयः पृच्छति-'ता कहं ते' इत्यादि, इह द्वे अपि अर्द्धमण्डलसंस्थिती ज्ञातव्ये तत्रेदं तावत्पृच्छामि—कथं त्वया भगवन् ! 'दक्षिणा' दक्षिणदिग्भाविसूर्यविषया अर्द्धमण्डलसंस्थितिराख्याता इति वदेत् ?, भगवानाह-'ता अयण्ण' मित्यादि, इदं जम्बूद्वीपवाक्यं प्रागिव स्वयं परिपूर्णं परिभावनीयम्, 'ता जया ण' मित्यादि, तत्र यदा, णमिति वाक्यालङ्कारे, सूर्यः सर्वाभ्यन्तरां सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतां दक्षिणामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा णमिति पूर्ववत्, उत्तमकाष्ठाप्राप्तः परमप्रकर्षप्राप्तः, उत्कर्षक-उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, जघन्या च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः। इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले प्रविष्टः सन् प्रथमक्षणादूर्ध्वं शनैः शनैः सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलाभिमुखं तथा कथञ्चनाऽपि मण्डलगत्या परिभ्रमति येनाहोरात्रपर्यन्ते सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतान् अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागानपरे च द्वे योजने अतिक्रम्य सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयोत्तरार्द्धमण्डलसीमायां वर्त्तते, तथा चाह—'से निक्खममाणे' इत्यादि स सूर्यः सर्वाभ्यन्तरगतात् प्रथमक्षणादूर्ध्वं शनैः शनैर्निष्कामन् अहोरात्रेऽतिक्रान्ते सति नवम्-अभिनवं संवत्सरमाददानो नवस्य प्रथमेऽहोरात्रे दक्षिणस्माद्-दक्षिणदिग्भाविनोऽनन्तरात्—सर्वाभ्यन्तरमण्डलगताष्टाचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाभ्यधिकयोजनद्वयप्रमाणापान्तरालरूपाद्विनिर्गत्य 'तस्सादिपएसाए' इति तस्य सर्वाभ्यन्तरानन्तरस्योत्तरार्द्धमण्डलस्यादिप्रदेशमाश्रित्याभ्यन्तरानन्तरां-सर्वाभ्यन्तरमण्डलानन्तरामुत्तरामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति, स चादिप्रदेशादूर्ध्वं शनैः शनैरपरमण्डलाभिमुखमत्रापि तथा कथञ्चनापि चरति येन तस्याहोरात्रस्य पर्यन्ते तदपि मण्डलमन्ये च द्वे योजने परित्यज्य दक्षिणदिग्भाविनस्तृतीयस्य मण्डलस्य सीमायां भवति, 'ता जया ण' मित्यादि ततो यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरानन्तरां द्वितीयामुत्तरामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा दिवसोऽष्टादशमुहूर्त्तो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूनो भवति, जघन्या च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामभ्यधिका, ततस्तस्या अपि द्वितीयस्या उत्तरार्द्धमण्डलसंस्थितेरुक्तप्रकारेण स सूर्यो निष्कामन् अभिनवस्य सूर्यसंवत्सरस्य द्वितीयेऽहोरात्रे उत्तरस्मादुत्तरदिग्भाविनोऽन्तराद् द्वितीयोत्तरार्द्धमण्डलगताष्टाचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाभ्यधिकयोजनद्वयप्रमाणापान्तरालरूपाद् विनिःसृत्य 'तस्सादपएसाए' इति तस्य-दक्षिणदिग्भाविनस्तृतीयस्यार्द्धमण्डलस्यादिप्रदेशमाश्रित्य 'अब्भितरं तच्चं' ति सर्वाभ्यन्तरमण्डलमपेक्ष्य तृतीयां दक्षिणामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति, अत्रापि तथा चारं चरति आदिप्रदेशादूर्ध्वं शनैः शनैरपर मण्डलाभिमुखं येन तस्याहोरात्रस्य पर्यन्ते तन्मण्डलगतानष्टाचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागानपरे च द्वे योजने अपहाय चतुर्थस्योत्तरार्द्धमण्डलस्य सीमायामवतिष्ठते, 'ता जया ण' मित्यादि, ततो यदा णमिति पूर्ववत् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीयां दक्षिणामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरूनः, द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरभ्यधिका, 'एवं खलु' इत्यादि, एवम्—उक्तनीत्या खलु—निश्चितमेतेनोपायेन प्रत्यहोरात्रमष्टाचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाभ्यधिकयोजनद्वयविकम्पनरूपेण निष्कामन् सूर्यस्तदनन्तरादर्द्धमण्डलात्तदनन्तरं-तस्मिन् २ देशे-दक्षिणपूर्वभागे उत्तरपश्चिमभागे वा तां ताम्-अर्द्धमण्डसंस्थितिं संक्रामन् २ द्व्यशीत्यधिकशततमाहोरात्रपर्यन्ते गते दक्षिणस्मात्-दक्षिणदिग्भाविनोऽन्तरात् द्व्यशीत्यधिकशततममण्डलगताष्टाचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाभ्यधिकतदनन्तरयोजनद्वयप्रमाणादपान्तरालरूपाद्भागात् 'तस्साइपएसाए' इति तस्य-सर्वबाह्यमण्डलगतस्योत्तरस्यार्द्धमण्डलादिप्रदेशमाश्रित्य सर्वबाह्यामुत्तरार्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति, स चादिप्रदेशादूर्ध्वं शनैः २ सर्वबाह्यानन्तराभ्यन्तरदक्षिणार्द्धमण्डलाभिमुखं तथा कथञ्चनापि चरति येन तस्याहोरात्रस्य पर्यन्ते सर्वबाह्यानन्तराभ्यन्तरदक्षिणार्द्धमण्डलसीमायां भवति, ततो यदा णमिति पूर्ववत् सूर्यः सर्वबाह्यामुत्तरार्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति, तत्र उत्तमकाष्ठां प्राप्ता (परमप्रकर्षं गता) उत्कर्षिका-उत्कृष्टा अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति, जघन्यश्च द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः, 'एस ण' मित्यादि, निगमनवाक्यं प्राग्वत्, 'स पविसमाणे' इत्यादि, सूर्यः सर्वबाह्योत्तरार्द्धमण्डलादिप्रदेशादूर्ध्वं शनैः शनैः सर्वबाह्यानन्तरद्वितीयदक्षिणार्द्धमण्डलाभिमुखं संक्रामन् तस्मिन्नेवाहोरात्रेऽतिक्रान्ते सति अभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीयं षण्मासमाददानो द्वितीयस्य षण्मासस्य प्रथमेऽहोरात्रे उत्तरस्मादुत्तरदिग्भाविसर्वबाह्यमण्डलगतादन्तरात् सर्वबाह्यान्तरार्द्धमण्डलगताष्टाचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाभ्यधिकतदनन्तरार्वाग्भावियोजनद्वयप्रमाणादपान्तरालरूपाद् भागात् 'तस्साइपएसाए' इति तस्य-दक्षिणदिग्भाविनः सर्वबाह्यानन्तरस्य दक्षिणस्यार्द्धमण्डलस्यादिप्रदेशमाश्रित्य 'बाहिराणंतरं' ति सर्वबाह्यस्य मण्डलस्यानन्तरामभ्यन्तरां दक्षिणामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति, अत्रापि चार आदिप्रदेशादूर्ध्वं तथा कथञ्चनाप्यभ्यन्तराभिमुखं वर्त्तते येनाहोरात्रपर्यन्ते सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरस्य तृतीयार्द्धमण्डलस्य सीमायां भवति, 'ता जया ण' मित्यादि,ततो यदा सूर्यो बाह्यानन्तरां-सर्वबाह्यादनन्तरां दक्षिणमर्द्धमण्डलसंस्थितिमुप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संक्रम्य चारं चरति तदा अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्द्वाभ्यां मु-
हूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूना भवति, द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिव-
सो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिकः 'से पविसमाणे'
इत्यादि, ततस्तस्मिन्नहोरात्रेऽतिक्रान्ते सति सूर्योऽभ्यन्तरं
प्रविशन् द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीयेऽहोरात्रे दक्षिण—
स्माद्भागाद्दक्षिणदिग्भाविनोऽन्तराद्दक्षिणदिग्भाविसर्वबाह्या-
नन्तरद्वितीयमण्डलगताष्टाचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाभ्य—
धिकतदनन्तरार्वाग्भावियोजनद्वयप्रमाणादपान्तरालरूपा —
द्भागाद्विनिःसृत्य ' तस्साइपएसाए ' इति तस्य—
सर्वबाह्यादभ्यन्तरस्य तृतीयस्योत्तरार्द्धमण्डलस्यादिप्रदेशा-
त्—आदिप्रदेशमाश्रित्य बाह्यतृतीयां सर्वबाह्याया अर्द्ध-
मण्डलसंस्थितेस्तृतीयामुत्तरामर्द्धमण्डलसंस्थतिमुपसंक —
म्य चारं चरति, अत्रापि चार आदिप्रदेशादारभ्य
शनैः शनैरपरार्द्धमण्डलाभिमुखं तथा कथंचनापि प्रवर्त्त-
मानो द्रष्टव्यो येन तदहोरात्रपर्यन्ते सर्वबाह्यादर्द्धमण्डलात्तृ-
तीयामर्वाक्तनीमर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति
तदा अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिश्चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरूना भव-
ति, द्वादशमुहूर्त्तश्च दिवसश्चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरभ्यधि-
कः, 'एव' मित्यादि, एवम्—उक्तप्रकारेण खलु-निश्चितमे-
तेनोपायेन-प्रत्यहोरात्रमभ्यन्तरमष्टाचत्वारिंशद्योजनैकषष्टि-
भागयोजनद्वयविकम्पनरूपेण शनैः शनैरभ्यन्तरं प्रवि-
शन् सूर्यस्तदनन्तराद् अर्द्धमण्डलात् तदनन्तरां तस्मिन् २
प्रदेशे दक्षिणपूर्वभागे उत्तरापरभागे वा तां तामर्द्धमण्डल-
संस्थितिं संक्रामन् द्वितीयस्य षण्मासस्य द्व्यशीत्यधिकशत-
तमाहोरात्रपर्यन्ते गते उत्तरस्मादुत्तरदिग्भाविनोऽन्तरात्स-
र्वबाह्यमण्डलमपेक्ष्य यद् द्व्यशीत्यधिकशततमं मण्डलं तद्-
गताष्टाचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाभ्यधिकतदनन्तराभ्यन्त-
रयोजनद्वयप्रमाणादपान्तरालरूपाद्भागात् 'तस्साइपएसाए'
इति तस्य—सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतस्य दक्षिणस्यार्द्धमण्डल-
स्यादिप्रदेशमाश्रित्य सर्वाभ्यन्तरां दक्षिणामर्द्धमण्डलसंस्थि-
तिमुपसंक्रम्य चारं चरति, स चादिप्रदेशादूर्ध्वं शनैः शनैः
सर्वाभ्यन्तरानन्तरबाह्योत्तरार्द्धमण्डलाभिमुखं तथा कथञ्च-
नापि चारं प्रतिपद्यते येन तस्याहोरात्रस्य पर्यन्ते सर्वाभ्यन्त-
रानन्तरस्योत्तरस्यार्द्धमण्डलस्य सीमायां भवति, 'ता जया
ण' मित्यादि,तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरां दक्षिणामर्द्धमण्ड-
लसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्त
उत्कर्षकः-उत्कृष्टः अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति, स-
र्वजघन्या च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः 'एस ण' मित्यादि, नि-
गमनवाक्यं प्राग्वत्, तदेवमुक्ता दक्षिणा अर्द्धमण्डलसंस्थि-
तिः । साम्प्रतमुत्तरामर्द्धमण्डलसंस्थितिं जिज्ञासुः प्रश्नयति-
'ता कहं ते' इत्यादि, एतत्प्राग्वद् व्याख्येयम्, 'ता जया
ण, मित्यादि, ततो यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरामुत्तरामर्द्धमण्ड-
लसंस्थितिमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्त
उत्कर्षकोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, जघन्या च द्वादश-
मुहूर्त्ता रात्रिः, 'जहा दाहिणा तह चेव' त्ति यथा दक्षिणा
अर्द्धमण्डलव्यवस्थितिः प्रागभिहिता तथा चैव—तेनैव
प्रकारेणैषाऽप्युत्तरार्द्धमण्डलव्यवस्थितिराख्येया, नवरम् 'उ-
त्तरं ठिओ अब्भितराणंतरं दाहिणं उवसंकमइ, दाहिणाओ
अब्भितरं तस्स उत्तरं उवसंकमइ,एएणं उवाएणं ०जाव सव्व-
बाहिरं दाहिणं उवसंकमइ, सव्वबाहिराओ बाहिराणंतरं
उत्तरं उवसंकमइ, उत्तराओ बाहिरं तच्चं दाहिणं तच्चाओ
दाहिणाओ संकममाणे २ ०जाव सव्वब्भंतरमुत्तरं उवसं-
कमइ' इति, नवरमयं दक्षिणार्द्धमण्डलव्यवस्थितेरस्यामु-
त्तरार्द्धमण्डलव्यवस्थायां विशेषो—यदुत सर्वाभ्यन्तरे उत्तर-
स्मिन्नर्द्धमण्डले स्थितः सन् तस्मिन्नहोरात्रेऽतिक्रान्ते नवं
संवत्सरमाददानः प्रथमस्य षण्मासस्य प्रथमेऽहोरात्रे
अभ्यन्तरानन्तरां सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्यानन्तरां दक्षिणा-
मर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रामति, तस्मिन्नहोरात्रेऽतिक्रान्ते
प्रथमस्य षण्मासस्य द्वितीयेऽहोरात्रेऽभ्यन्तरतृतीयां सर्वा-
भ्यन्तरस्य मण्डलस्य तृतीयामुत्तरामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुप-
संक्रामति,एवं खल्वनेनोपायेन प्रागिव तावद् वक्तव्यं यावत्प्रथ-
मस्य षण्मासस्य त्र्यशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे पर्यवसान-
भूते सर्वबाह्यां दक्षिणामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रामति,
एतत्प्रथमस्य षण्मासस्य पर्यवसानं, ततो द्वितीयस्य षण्मा-
सस्य प्रथमेऽहोरात्रबाह्यानन्तरां सर्वबाह्यस्य मण्डलस्या-
र्वाक्तनीमुत्तरामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रामति ततस्तस्मि-
न्नहोरात्रेऽतिक्रान्ते द्वितीयस्य षण्मासस्याऽहोरात्रे उत्तरस्या
अर्द्धमण्डलसंस्थितेर्विनिःसृत्य बाह्यतृतीयां सर्वबाह्यस्य
मण्डलस्यार्वाक्तनीं तृतीयां दक्षिणामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुप-
संक्रामति, तस्याश्च तृतीयस्या दक्षिणस्या अर्द्धमण्डलसंस्थि
तेरेकैकेनाहोरात्रेणैकामर्द्धमण्डलसंस्थितिं संक्रामन् २ ताव-
दवसेयो यावद् द्वितीयषण्मासपर्यवसानभूतेऽहोरात्रे सर्वा-
भ्यन्तरामुत्तरामर्द्धमण्डलसंस्थितिमुपसंक्रामति, तदेवं दक्षि-
णस्या अर्द्धमण्लसंस्थितेः उत्तरस्यामर्द्धमण्डलसंस्थितौ
नानात्वमुपदर्शितम्, एतदनुसारेण च स्वयमेव सूत्रालापको
यथावस्थितः परिभावनीयः, स चैवम् "से निक्खममाणे
सूरिए नवं संवच्छरमयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि २
उत्तराए अंतराए भागाए तस्साइपएसाए अब्भितराणंतरं
दाहिणं अद्धमंडलं संठितिं उवसंकमित्ता चारं चरति, जया
णं सूरिए अब्भितराणंतरं दाहिणं अद्धमंडलसंठितिं उव-
संकमित्ता चारं चरति तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे
भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता
राई भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया, से नि-
क्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि दाहिणाए अंतराए
भागाए तस्सादिपदेसाए अब्भितरं तच्चं उत्तरं अद्धमंडल-
संठिइं उवसंकमित्ता चारं चरति, तया णं अट्ठारसमुहुत्ते
दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे, दुवालसमु-
हुत्ता राई भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया, एवं
खलु एएणं उवाएणं निक्खममाणे सूरिए तयाणंतराओ
तयाणंतरं तंसि तंसि देसंसि तं तं अद्धमंडलसंठिइं संकम-
माणे उत्तराए भागाए तस्साइपएसाए सव्वबाहिरं दाहिण-
मद्धमंडलसंठिइं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरि
ए सव्वबाहिरं दाहिणं अद्धमंडलसंठिइमुवसंकमित्ता चारं
चरति तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता
राई भवति, जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ, एस णं
पढमे छम्मासे एस णं पढमस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे. से
पविसमाणे सूरिए दोच्चं छम्मासमयमाणे पढमंसि अहोर-
त्तंसि दाहिणाए अंतराए भागाए तस्साइपएसाए बाहिरा-
णंतरं उत्तरं अद्धमंडलसंठिइमुवसंकमित्ता चारं चरति, ता
जया णं सूरिए बाहिराणंतरं उत्तरं अद्धमंडलसंठिइमुवसंकमि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्ता चारं चरति तया णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ दोहि य एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ चउ-(दो) हिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए, एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे सूरिए तयाणंतराओ तयाणंतरं तंसि तंसि देसंसि तं तं अद्धमंडलसंठिइं संकममाणे दाहिणाए अंतराए भागाए तस्सादिपएसाए सव्वब्भंतरं उत्तरं अद्धमंडलसंठिइ-मुवसंकमित्ता चारं चरइ ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं उत्तरं अद्धमंडलसंठिइं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसिए अट्ठारस मुहुत्ते दिवसे भवति, जहन्निया दुवालसमुत्ता राई भवति त्ति, एस णं दुच्चे छम्मासे, इत्यादि प्राग्वत् । सू० प्र० १ पाहु० । तत्र रात्रिशब्दे आदेशद्वयं केचिदाचार्या ब्रुवते, स सन्ध्यायतो राजते शोभते तेन निरुक्तिवशात्—रात्रिरुच्यते, यस्तु सं-ध्याया अपगमः स हि कालः, अन्ये तु ब्रुवते—यतः स-न्ध्याया अपगमे चौरपारदारिकादयो रमन्ते ततोऽसौ रा-त्रिरिति परिभाष्यते । बृ० १ उ० । विपा० । स्था० । रात्रौ सकलान्नपानमध्ये सूक्ष्माः तद्रूपा जीवा उत्पद्यन्ते प्रभाते विलयं यान्ति तत्सत्यमसत्यं वा इति प्रश्नः ?, अत्रो-त्तरम्—रात्रौ समस्तान्नपानमध्ये तद्रूपाः सूक्ष्मा जीवा उत्पद्यन्ते प्रभाते च विलयं यान्तीत्येतत् शास्त्रमध्ये क्वापि ज्ञातं नास्तीति ॥ १५० ॥ सेन० ४ उल्ला० । चमरलोकपाल-सोममहाराजस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ५ ठा० १ उ० । भ० ।

राइअं-रात्रिकं-त्रि० । रजनिनिर्वृत्ते, आव० ४ अ० ।

राइंदिय-रात्रिंदिव-न० । अहोरात्रे, स० ।

अथ सूर्ये त्रिनवतिस्थानके गते किमपि वितन्यते—

तेणउईमंडलगते णं सूरिए अतिवट्टमाणे निवट्टमाणे वा समं अहोरत्तं विसमं करेइ ॥ ६३ ॥

'तेणउईमण्डलेत्यादि,' तत्र अतिवर्त्तमानो वा—सर्वबा-ह्यात् सर्वाभ्यन्तरं प्रतिगच्छन् निवर्तमानो वा—सर्वाभ्यन्त-रात् सर्वबाह्यं प्रति गच्छन् व्यत्ययो वा व्याख्येयः, समम-होरात्रं विषमं करोतीत्यर्थः । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रं त-योः समता तदा भवति यदा पञ्चदश पञ्चदश मुहूर्त्ता उभ-योरपि भवन्ति, तत्र सर्वाभ्यन्तरमण्डले अष्टादशमुहूर्त्तम-हर्भवति रात्रिश्च द्वादशमुहूर्त्ता, सर्वबाह्ये तु व्यत्ययः, त-था त्र्यशीत्यधिकमण्डलशते द्वौ द्वावेकषष्टिभौ वर्द्धेते ही-येते च, यदा च दिनवृद्धिस्तदा रात्रिहानिः रात्रिवृद्धौ च दिनहानिरिति । तत्र द्विनवतितमे मण्डले प्रतिमण्डलं मुहू-र्त्तैकषष्टिभागद्वयवृद्ध्या त्रयो मुहूर्त्ता एकैनैकषष्टिभागेना-धिकाः वर्द्धन्ते वा हीयन्ते वा, तेषु च द्वादशमुहूर्त्तेषु मध्ये क्षिप्तेषु अष्टादशभ्योऽपसारितेषु वा पञ्चदशमुहूर्त्ता उभयत्रै-कैनैकषष्टिभागेनाधिका हीना वा भवन्तो द्विनवतितममण्डल-स्यार्द्धे समाऽहोरात्रता तस्यैव चान्ते विषमाऽहोरात्रता भव-ति, द्विनवतितमं मण्डलं चादित आरभ्य त्रिनवतितमं तत्र च मण्डले यथोक्तः सूत्रार्थ इति ॥ स० ६३ सम० । ज्यो० । स्था० । सूत्र० । ज्ञा० । चं० प्र० । (असंख्येयलोके अनन्तानि रात्रिन्दिवानि, इति 'लोग' शब्दे वक्ष्यते)

राइक्क-राजकीय-त्रि० । दत्-राजभ्यां क्क-डिक्कौ च ॥ ८ । २ । १४८ ॥ इति इयप्रत्ययस्थाने डिक्कादेशः । राजकीयम् । राइक्कं । राअक्केरं । राजसम्बन्धिकार्यादौ, प्रा० २ पाद ।

राइड्ढि-राजर्द्धि-स्त्री० । त्रिधा २ प्रकाराभ्यां षड्धा राजर्द्धिः । राजसंपत्तौ, स्था० ३ ठा० ४ उ० । (व्याख्या 'इड्ढि' शब्दे द्वितीयभागे ५८२ पृष्ठे गता)

राइणिय-रात्निक-पुं० । रत्नैर्ज्ञानादिभिर्व्यवहरतीति रात्नि-कः । बृहत्पर्याये, स्था० ५ ठा० १ उ० । स० । पञ्चा० । आचा० । बृ० । (अन्यगच्छसत्का रत्नाधिकतरा आचार्य-स्याऽपि रत्नाधिका भवन्ति इति 'किइकम्म' शब्दे तृतीय-भागे ५१० पृष्ठे दर्शितम्)

राइण्ण-राजन्य-पुं० । भगवद्वयस्यवंशजे क्षत्रियजातिविशेषे, ये हि श्रीऋषभदेवेन मित्रस्थाने स्थापिताः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । भ० ।

राइपच्चक्खाण-रात्रिप्रत्याख्यान-न० । रात्रिभोजनप्रत्याख्याने, ल० प्र० ।

राइभत्त-रात्रिभक्त-न० । रजनिभोजने, प्रव० २३७ द्वार । द-श० । सूत्र० ।

राइभोयण-रात्रिभोजन-न० । रात्रौ-भक्तं भोजनं-भुक्तिः रा-त्रिभोजन्—(तच्च रात्रिभोजनं चतुर्विधमिति 'पडिक्कमण' शब्दे पञ्चमभागे २६४ पृष्ठे गतम्) निशि भोजने, तत्त्याज्यं बहुदोषसम्भवात् (ध०) बहुविधजीवसम्पातसम्भवेनैहिक-पारलौकिकानेकदोषदुष्टत्वात्, यदभिहितम्—" मेहं पिवी-लिआओ, हणंति वमणं च मच्छिआ कुणइ । जूआ जलो-दरत्तं, कोलिअओ कुट्ठरोगं च ॥ १ ॥ वालो सरस्स भंगं, कंटो लग्गइ गलम्मि दारुं च । तालुम्मि विंधइ अली, वंज-णमज्झम्मि भुंजंतो ॥ २ ॥ " व्यञ्जनमिह वार्त्ताकशाकरूप-मभिप्रेतम्, तद्वृन्तं च वृश्चिकाकारमेव स्यादिति वृश्चिक-स्यासूक्ष्मस्याऽपि तन्मध्यपतितस्यालक्ष्यत्वाद्भोज्यता सम्भ-वतीति विशेषः । निशीथचूर्णावपि—" गिहकोइलअवयव-सम्मिस्सेण भुत्तेण पोट्टे किल गिहकोइला सम्मुच्छइ त्ति " एवं सर्पादिलालामलमूत्रादिपातादापिः तथा—" मालिंति य महीअलं, जामिणिसु रयणिअरा य (भ) मंतेणं । तो वि छलंति हु फुडं, रयणीए भुंजमाणं तु ॥ १ ॥ " अपि च—निशाभोजने क्रियमाणे अवश्यं पाकः स-म्भवी, तत्र षड्जीवनिकायवधोऽवश्यम्भावी, भा-जनधावनादौ च जलगतजन्तुनाशः, जलोज्झनेन भूमिगत-कुन्थुपिपीलिकादिजन्तुघातश्च भवति, तत्प्राणिरक्षणकाङ्क्षयाऽपि निशाभोजनं न कर्त्तव्यम्, यदाहुः—" जीवाण कुंथुमा-ईण, घायणं भाणधोअणाईसुं । एमाइ रयणिभोयण-दोसे को साहिउं तरइ ? ॥१॥ " यद्यपि च सिद्धमोदकादिखर्जूरद्रा-क्षादिभक्षणे नास्त्यन्नपाको, न च भाजनधावनादिसम्भवः, तथाऽपि कुन्थुपनकादिघातसम्भवात्तस्याऽपि त्याग एव युक्तो, यदुक्तं निशीथभाष्ये—

" जइ वि हु फासुगदव्वं, कुंथू पणगा तहाऽवि दुप्पस्सा ।
पच्चक्ख-णाणिणोऽवि हु, राईभत्तं परिहरंति ॥ १ ॥
जइ वि हु पिवीलिगाई, दीसंति पईवमाइउज्जोए ।
तह वि खलु अणाइन्नं, मूलवयविराहणाजणणं ॥ २ ॥ "

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतत्फलं च—
उलूककाकमार्जार—गृध्रशम्बरशूकराः।
अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥ १ ॥
परेऽपि पठन्ति—
मृते स्वजनमात्रेऽपि, सूतकं जायते किल।
अस्तंगते दिवानाथे, भोजनं क्रियते कथम्? ॥ १ ॥
रक्तीभवन्ति तोयानि, अन्नानि पिशितानि च।
रात्रौ भोजनसक्तस्य, ग्रासे तन्मांसभक्षणम् ॥ २ ॥
स्कन्दपुराणे रुद्रप्रणीतकपालमोचनस्तोत्रे सूर्यस्तुतिरूपेऽपि-
एकभक्ताशनान्नित्य—मग्निहोत्रफलं लभेत्।
अनस्तभोजनो नित्यं, तीर्थयात्राफलं लभेत् ॥ १ ॥
तथा—
नैवाहुतिर्नच स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥ २ ॥
आयुर्वेदेऽपि—
हृन्नाभिपद्मसङ्कोच-श्चण्डरोचिरपायतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥ ३ ॥
तस्माद्विवेकिना रात्रौ चतुर्विधोऽप्याहारः परिहार्यः, तदशक्तौ त्वशनं खादिमं च त्याज्यमेव, स्वादिमं पूगीफलाद्यपि दिवा सम्यक् शोधनादियतनयैव गृह्णात्यन्यथा त्रसहिंसादयोऽपि दोषाः; मुख्यवृत्त्या च प्रातः सायं च रात्रिप्रत्यासन्नत्वाद् द्वे द्वे घटिके भोजनं त्यजेद्, यतो योगशास्त्रे-"अह्नो मुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन्। निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम्" अत एवागमे सर्वजघन्यं प्रत्याख्यानं मुहूर्तप्रमाणं नमस्कारसहितमुच्यते, जातु तत्तत्कार्यव्यग्रत्वादिना तथा न शक्नोति, तदाऽपि सूर्योदयास्तनिर्णयमपेक्षत एवाऽऽतपदर्शनादिना, अन्यथा रात्रिभोजनदोषः, अन्धकारमयत्वेऽपि व्रीडया प्रदीपाकरणादिना त्रसादिहिंसा-नियमभङ्ग-मायामृषावादादयोऽधिकदोषा अपि। ध० २ अधि०।

अधुना षष्ठमधिकृत्याऽऽह—
अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्वबुद्धेहिं वरिणअं।
जाव लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोअणं ॥ २२ ॥
'अहोत्ति' सूत्रम्, अहो नित्यं तपःकर्मेति—अहो-विस्मये, नित्यं नामापायाभावेन तदन्यगुणवृद्धिसम्भवादप्रतिपात्येव तपःकर्म-तपोऽनुष्ठानम्, सर्वबुद्धैः सर्वतीर्थकरैः वर्णितम्-देशितम्, किं विशिष्टमित्याह-'यावल्लज्जासमावृत्तिः'-लज्जा-संयमस्तेन समा—सदृशी तुल्या संयमाविरोधिनीत्यर्थः, वर्तनं वृत्तिः—देहपालना, 'एकभक्तं च भोजनम्'—एकं भक्तं द्रव्यतो भावतश्च यस्मिन् भोजने तत्तथा। द्रव्यत एकम्—एकसंख्यानुगतम्, भावत एकम्-कर्मबन्धाभावादद्वितीयम्, तद्दिवस एव रागादिरहितस्य अन्यथा भावत एकत्वाभावादिति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥
रात्रिभोजने प्राणातिपातसम्भवेन कर्मबन्धसद्वितीयतां दर्शयति—
संतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणिअं चरे? ॥ २३ ॥
'संतिमे त्ति' सूत्रम्, सन्त्येते—प्रत्यक्षोपलभ्यमानस्वरूपाः सूक्ष्माः प्राणिनो—जीवाः, त्रसा—द्वीन्द्रियादयः, अथवा-स्थावराः-पृथिव्यादयः यान् प्राणिनो रात्रावपश्यन् चक्षुषा कथम् एषणीयं-सत्त्वानुपरोधेन चरिष्यति भोक्ष्यते च?. असम्भव एव रात्रावेषणीयचरणस्येति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥
एवं रात्रौ भोजने दोषमभिधायाधुना ग्रहणगतमाह-
उदउल्लं बीअसंसत्तं, पाणा निवडिया महिं।
दिआ ताइं विवज्जिज्जा, राओ तत्थ कहं चरे? ॥ २४ ॥
'उदउल्लं ति' सूत्रम्, उदकार्द्रं पूर्ववदेकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्सस्निग्धादिपरिग्रहः, तथा 'बीजसंसक्तम्' बीजैः संसक्तं मिश्रम्, ओदनादीति गम्यते। अथवा—बीजानि पृथग्भूतान्येव, संसक्तं चारनालाद्यपरेणेति, तथा—प्राणिनः-सम्पातिमप्रभृतयो, निपतिता मह्याम्—पृथिव्यां सम्भवन्ति, ननु दिवाऽप्येतत् संभवत्येवं?, सत्यम्, किंतु-परलोकभीरुश्चक्षुषा पश्यन् दिवा तान्युदकार्द्रादीनि विवर्जयेत्, रात्रौ तु तत्र कथं चरेत् संयमानुपरोधेन?, असम्भव एव शुद्धचरणस्येति सूत्राऽर्थः ॥ २४ ॥
उपसंहरन्नाह—
एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासिअं।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोअणं ॥ २५ ॥
'एअं च त्ति' सूत्रम्—एतं च—अनन्तरोदितं प्राणिहिंसारूपमन्यं चात्मविराधनादिलक्षणं दोषं दृष्ट्वा मतिचक्षुषा ज्ञातपुत्रेण-भगवता भाषितम्-उक्तम् सर्वाहारम्-चतुर्विधमप्यशनादिलक्षणमाश्रित्य न भुञ्जते, 'निर्ग्रन्थाः—साधवो रात्रिभोजनमिति सूत्रार्थः ॥२५॥ दश० ६ अ० २ उ०।
किंच-
अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था अ अणुग्गए।
आहारमइयं सव्वं, मणसाऽवि ण पत्थए ॥ २८ ॥
'अत्थं ति' 'सूत्रम्, 'अस्तं गत आदित्ये' अस्तपर्वतं प्राप्ते अदर्शनीभूते वा 'पुरस्ताच्चानुद्गते' प्रत्यूषस्यनुदित इत्यर्थः, आहारात्मकं सर्वम्-निरवशेषम्; आहारजातं मनसाऽपि न प्रार्थयेत्, किमङ्ग! पुनर्वाचा कर्मणा चेति ॥२८॥ दश०८ अ० २उ०।
दिवसस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते च भास्करे।
तं नक्तं च विजानीया-न्न नक्तं निशि भोजनम् ॥ १ ॥
नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं च विशेषतः ॥ २ ॥
पतङ्गकीटमण्डूक-सत्त्वसङ्घातघातकृत्।
अतोऽतिनिन्दितं ताव-द्धर्मार्थं निशि भोजनम् ॥ ३ ॥
पशूनां मानवानां च, शीलसंयमनं विना।
रात्रौ दिवाऽदतां तात!, को विशेष इहोच्यताम् ॥ ४ ॥
दर्श० २ तत्त्व।
अथ रात्रिभोजनमाह—
रातो य भोयणम्मि, चउरो मासा हवंतिऽणुग्घाया।
आणादिणो य दोसा, आवज्जण संकणा जाव ॥८५॥
रात्रौ भोजने क्रियमाणे चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरवो भवन्ति, आज्ञादयश्च दोषाः। ये च प्राणातिपातादिविषया आपत्तिशङ्कादोषाः परिग्रहस्यापत्तिं शङ्कां च यावत्प्रथमोद्देशके "नो कप्पइ राओ वा वियाले वा असणं वा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाणं वा खाइमं वा साइमं वा" इत्यादौ रात्रिभक्तसूत्रे इहैवाभिहितास्ते सर्वेऽपि द्रष्टव्याः ।

अथ द्वितीयपदमाह-

णिउवद्दवं व खेमं, होहिति रण्णो य कीरए संती ।
अद्धाणनिग्गतादी, देवीपूया य अज्झियमं ॥ ८६ ॥

उपद्रवो नाम-अशिवं गलरोगादिकं वा तस्याभावो निरुपद्रवम्, क्षेमं-परचक्राद्युपद्रवाभावः, क्षेमं च मदीयदेशे भविष्यतीति परिभाव्य राजा शान्तिकर्तुकामस्तपस्विनो रात्रौ भोजयेत्, यद्वा-राजपुत्रो वा नागरा वा राज्ञः शान्तिं क्रियतामिति कृत्वा, ये रात्रौ न भुञ्जते सुतपस्विनश्च ते रात्रौ भोजनीयाः, एष तस्या विद्याया उपचार इति भावयन्ति । ते च साधवोऽध्वनिर्गतादयस्तत्र सम्प्राप्तास्ततो वक्ष्यमाणो विधिर्विधातव्यः । यद्वा-राज्ञः कस्याऽपि देवी वाणमन्तरपूजां कृत्वा तपस्विनां रात्रिभोजनलक्षणम् 'अज्झियकम्' उपयाचितं मन्यते ।

कुत इति चेदुच्यते-

अवधीरिया व पतिणा, सपत्तिणीए व पुत्तमाताए ।
गेलण्णेण व पुट्ठा, वुग्गहउप्पायसमणट्ठा ॥८७॥

पत्या-भर्त्रा अवधीरिता—अपमानिता सा देवी, यद्वा या तस्याः सपत्नी सा पुत्रमाता तया न सुष्ठु बहु मान्यते ग्लानत्वेन वा सा गाढतरं स्पृष्टा विग्रहो वा तस्याः केनापि सार्द्धमुत्पन्नस्ततो विग्रहोत्पादस्य शमनार्थं वाणमन्तरपूजा कर्त्तव्या, स च वाणमन्तरो रात्रौ साधुषु भोजितेषु परितोषमुद्वहति ॥

ततः—

एक्केक्कं जतिणेतुं, निमंतणा भोयणेण विउलेणं ।
भोत्तुं अणिच्छमाणे, मरणं च तहिं ववसितस्स ॥८८॥

एकैकं साधुं बलाभियोगेन राजभवनेऽद्य अतिनीय प्रविश्य रात्रौ विपुलेन भोजनेन निमन्त्रणा कृता, अभिहिताश्च साधवः, यदि-सम्प्रति न वा भोक्ष्यध्वे ततो वयं व्यपरोपयिष्यामः, एवमुक्ते तेषामेकस्य साधोः तदानीं भोक्तुमनिच्छतो मरणं च तत्र व्यवसितस्य शिरश्छिन्नं, द्वितीयो हर्षादुल्लसितस्तृतीयो भीत इत्यादि; यथा मैथुने तथा मन्तव्यम् ॥

अथ प्रायश्चित्तमाह—

सुहुल्लसिते भीए, पच्चक्खाणे पडिच्छगच्छा व ।
ठविए मूलं छेदो, छमासचउरो य गुरुलहुओ ॥८९॥

गातार्थः ॥

अत्र यतनामाह—

तत्थेव य भोक्खामो, अणि(भि) भुंजामो ऽन्धकारम्मि ।
कोणादीपक्खेवो, पोट्टलभावेण जति णीता ॥ ६० ॥

रात्रौ भोज्यमानैः साधुभिरभिधातव्यं भाजनेषु गृहीत्वा ततस्तत्रैव स्वप्रतिश्रये भोक्ष्यामहे, न वर्त्तते गृहस्थानां पुरतो भोक्तुम्, एवमुक्त्वा ततोऽल्पसागारिकं नीत्वा परिष्ठापयन्ति । अथाऽन्यत्र नेतुं न प्रयच्छन्ति भणन्ति च-अस्माकं पुरतो भोक्तव्यम्, ततः प्रदीपमपनयत अन्धकारे भोजनं कुर्मः, ततस्तेषामपश्यतां कोणेषु आदिशब्दाद्-अपरत्र चैकान्ते कवलान् प्रक्षिपन्ति । अथवा-वस्त्रेण पोट्टलकं बध्वा तत्र प्रक्षिपन्ति । भाजनेषु वा प्रक्षिपन्ति, यदि निजकानि अलाबूनि भवन्ति ।

अथ प्रदीपं नापनयन्ति तत इदं वक्तव्यम्—

गेलण्णेण व पुट्ठा, वाहाडरुची व अंगुली वावि ।
भुंजंता विउ असढा, सालंवा ऽमुच्छिता सुद्धा ॥ ६५ ॥

यदि ते दुर्बलास्ततो भणन्ति ग्लानत्वेन स्पृष्टा वयम् एतच्चास्माकमपथ्यम्, यदि समुद्दिशामस्ततो क्रियामाह—तस्मान् न अपिहत्यां कुरुत । अथवा-भणितव्यम्-अस्माभिर्गलकं यावद् भुक्तं वाहडं च प्रभूतं भुञ्जानां कुतो रुचिरुपजायते, यद्येवं न प्रत्ययन्ति ततो मातृस्थानेनाङ्गुली वदने प्रक्षिप्य वमनमुत्पादयन्ति, यदि तथाऽपि न प्रत्ययन्ति ततः स्तोकं तन्मध्यात् स्वादयन्ति, अथ तथाऽपि न विसर्जयन्ति तत एवं सालम्बा—अशठा रागद्वेषरहिता अमूर्च्छिताः स्तोकं भुञ्जाना अपि शुद्धाः ॥

उपसंहरन्नाह—

एत्थं पुण अधिकारो, अणुधाता जेसु जेसु ठाणेसु ।
उच्चारियसरिसाइं, सीसाण विकोवणट्ठाए ॥ ६२ ॥

अत्र पुनः प्रस्तुतसूत्रे हस्तकर्ममैथुनरात्रिभक्तविषयैः स्थानैरधिकारः प्रयोजनम्, कैरित्याह-येषु येषु स्थानेषु अनुद्धातानि गुरुकाणि प्रायश्चित्तानि भणितानि तैरेवाधिकारः । शेषाणि पुनरुच्चारितार्थसदृशानि शिष्याणां विकोपनार्थमुक्तानि ॥ वृ० ४ उ० । (रात्रौ भिक्षा न ग्रहीतव्या अत्र सूत्रम् "नोकप्पइ०" (४२) इत्यादि तच्च 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६७८ पृष्ठे गतम्)

नोदकः प्रेरयति । किमिति-रात्रिभोजनं परिह्रियते ?, उच्यते-बहुदोषदर्शनात्, पुनरपि परः प्राह-युष्माकं द्वाचत्वारिंशद्दोषेषु रात्रिभोजनं न काऽपि प्रतिषिद्धम्, अप्रतिषिद्धत्वाच्चावश्यमेव निर्दोषमिति मे मतिः, अस्य नोदकवचनस्य प्रतिघातम्-प्रतिषेधम् आचार्यः करोति, नोदक ! भवत एवं ब्रुवाणस्याज्ञाभङ्गादयो दोषाः, तथाहि-यच्च त्वयोदितम्—रात्रिभोजनप्रतिषेधः काऽपि अस्माभिर्न दृष्ट इत्यादि, तदेतदज्ञानप्रलपितमिव लक्ष्यते । यतः—

जइ वि य न प्पडिसिद्धं, वायालीसा य राइभत्तं तु ।
छट्ठे महव्वयम्मि, पडिसेहो तस्स णणु वुत्तो ॥७००॥

यद्यपि द्वाचत्वारिंशतिदोषेषु रात्रिभक्तं न प्रतिषिद्धं तथापि षष्ठे महाव्रते षड्जीवनिकाया तु तस्य निषेध उक्त एव, तथा सूत्रम्-" अहावरे छट्ठे भंते ! महव्वए राईभोयणाओ वेरमणं " इत्यादि । (तच्च सूत्रम् 'पडिकमण' शब्दे पञ्चमभागे २६४ पृष्ठे गतम्) ।

अपि च—

जइ ता दिया न कप्पइ, तमं ति काऊण कोट्ठगादीसुं ।
किं पुण तमस्सिनीए, कप्पिस्सइ सव्वरीए उ ॥७०१॥

यदि तावत्तमः—अन्धकारमिति कृत्वा तमः कोष्ठकादिषु दिवाऽपि भक्तं पानं ग्रहीतुं न कल्पते, " नीयदुवारं तमसं कोट्टगं परिवज्जए " इति वचनात् ततः किं पुनस्तमस्विन्यां बहलतमः पटलकलितायां शर्वर्यां रात्रौ कल्पिष्यते नैवेति भावः । यच्चोक्तं रात्रिभक्ते दोषा न सन्तीति तदप्यपरिभावितभाषितम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यतः-साक्षादेवाऽमी दोषास्तत्रोपलभ्यन्ते-

मिच्छत्तम्मिय भिक्खू, विराहणा होइ संजमायाए।
पक्खलण खाणुकंटग-विसमदरी बालसाणे य ॥७०२॥

भगवता प्रतिषिद्धं रात्रिभोजनं कुर्वता आज्ञाभङ्गः कृतो भवति, तं दृष्ट्वा अन्येऽपि रात्रिभक्ते प्रवर्त्तन्ते, इत्यनवस्थाऽपि स्यात्, मिथ्यात्वे भिक्षुदृष्टान्तो वक्तव्यः-"जहा कालोदाई नाम भिक्खुगो रयणीए एगस्स माहणस्स गिहं भिक्खट्ठाए पविट्ठो,तओ माहणी तस्स भिक्खानिमित्तं जाव मज्झे पविसइ ताव अंधयारबहलयाए अग्गओ खीलओ न दिट्ठो, तत्थ वडियाए तीसे खीलएण कुच्छी फोडिआ, सा य गुव्विणी आसि, गब्भो फुरफुरंतो पडिओ, मओ य। सा वि मया, तं दट्ठुं लोगेण भणियं अदिट्ठधम्माणो एए त्ति।" एवं साधुरपि रात्रौ भिक्षामटन् भगवत्यसर्वज्ञत्वशङ्कामुत्पादयति विराधना द्विविधा-संयमे आत्मनि च, तत्र आत्मविराधना भाव्यते-रात्रौ मार्गमपश्यतः स्खलनं भवति, स्थाणुकण्टकाभ्यां वा पादयोः परितप्यते'विसमन्ति'- उन्नतं दरी-गर्तः तयोः प्रपतेत्, व्यालः-सर्पस्तेन वा दश्येत श्वानो वा रात्रावुपद्रवं कुर्युः।

गोणे य तेणमादी, उब्भामग एवमाइ आयाए।
संजमविराहणाए, छक्काया पाणवहमादी ॥ ७०३ ॥

गौः-बलीवर्दस्तेन हन्येत, स्तेना आदिशब्दादारक्षिकादयो वा तमःकाले पर्यटन्तं गृह्णीयुः,यद्वा-स एव साधुरकाले पर्यटेत्, स्तेन आदिशब्दाच्चारिको वा अभिमरो वा उद्भ्रामको वा आरक्षिकपुरुषैः शङ्क्येत, ततश्च प्रतापनादयो दोषाः, एवमादयो दोषा आत्मविराधनाविषया भवन्ति।

तानेव भावयति—

पाणवह पाणगहणे, कप्पट्ठोद्दाणए अ संकाउ।
भणिओ भवाइ साणे,मोसमिति संकणा ठाणे ॥७०४॥

दिवा जीवसंसक्तोदकादीनि सुप्रत्युपेक्षतया सुखेनैव साधुः परिहर्तुमीष्टे, रात्रौ तु दुष्प्रत्युपेक्षतया तेषां परिहारः कर्तुं न शक्यते, अतः प्राणिग्रहणे प्राणवधो भवति कल्पस्थके वापद्राणेऽगारिणो वक्ष्यमाणनीत्याऽऽशङ्का भवेत् अहमेतेनापद्रावित इति, तथा कोऽपि साधुरगारिणा भणितो-रात्रौ मा मदीयं गृहमायासीरिति, ततः श्वानस्ते गृहमायास्यन्तीति प्रतिज्ञां कृत्वा गतः, परमसौ स्थाने स्ववचने न तिष्ठति, ततश्च मृषावादमसौ ब्रूते इति शङ्का गृहस्थस्य स्यात्, एतदुत्तरत्र भावयिष्यति।

अथ कल्पस्थके अपद्रावणे यथा शङ्का भवति-
तदेतदुपदर्शयति—

हंतुं सवत्तिणिसुयं, पडियरई काउ मग्गदारम्मि।
समणेण णोल्लियम्मिय, देवणं जणस्स आसंका ॥७०५॥

काचिदविरतिका रजन्यां सपत्नीसुतं हत्वा ततस्तमग्रद्वारे कृत्वा कपाटस्य पृष्ठतस्तमवष्टभ्य प्रतिचरति प्रतिजाग्रती तिष्ठति, श्रमणश्च तदानीं भिक्षार्थमायातः, तेन कपाटं प्रेरितं स च दारकः सहसैव भूमौ पतितः। ततस्तया च देवनं कृतं पूत्कृतमित्यर्थः। यथा-आः कष्टं संयतेन दारको व्यापादित इति, ततश्च जनस्याऽऽशङ्का भवति, किं मन्ये सत्यमेवेदमिति, तत्र ग्रहणाकर्षणाऽऽदयो दोषाः।

अथ मृषावादे विराधनामाशङ्कां चाह—

मा निसि मेक्कं एज्जसु, भणाइ एहिंति ते गिहं सुणगा।
पुणरेंतं सिड्डिपई,भणाइ सुणओ सि किं जातो? ॥७०६॥
एवं चिय मे रत्तिं, कुसुणं दिज्जाहि तं च सुणएण।
खइयं ति य भणमाणे, भणाइ जाणामि ते सुणए ॥७०७॥

काचिदविरतिका कस्याऽपि साधोरुपशान्ता, सा तस्य रात्रावप्यागतस्य भक्तपानं प्रयच्छति,तद् दृष्ट्वा तदीयेन भर्त्रा स साधुरभिहितो मा निशि-रात्रौ मदीयमेको गृहमायासीः ततः साधुर्भणति-एष्यन्ति त्वदीयं गृहं शुनका इति, ततः स साधुर्जिह्वादण्डदोषेणाकृष्यमाणः पुनश्च तदीयं गृहमागतवान्,पुनरायातं स श्राविकापतिर्भणति-किमेवं त्वं श्वानो जातः, एवं मृषावाददोषमापद्यते। अथ एवं केनचिदगारिणा साधुर्निशि समागच्छन् प्रतिषिद्धः श्वानस्ते गृहमागमिष्यन्तीति प्रतिज्ञां कृतवान्, अन्यदा च तेनाविरतकेन दिवा भुञ्जानेन महेला भणिता मन्निमित्तमद्य कुसणं स्थापयेः,पश्चाच्च मम रात्रौ भुञ्जानस्य दृष्ट्वा परिवेषयेमः,ततस्तया स्थापितं तच्च शुनकेन भक्षितम्, रात्रौ च सा भणिता परिवेषय तत्कुसणम्। तया भणितं शुनकेन भक्षितम्। स प्राह—जानाम्यहं त्वदीयान् शुनकान्,एवं मृषावादविषयाऽऽशङ्का भवेत्।

अथ तृतीयचतुर्थव्रतयोर्विराधनामाशङ्कां—
च प्रतिपादयति—

सयमेव कोइ लुद्धो, अवहरती तं पडुच्च कम्मकरी।
वाणिणिगिणी मेहुन्नं, बहुसो य चिरं च संका य ॥७०८॥

चिरं च कश्चिल्लुब्धो भिक्षार्थं प्रविष्टो रजन्यामाकीर्णमिव कीर्णं वस्त्रहिरण्यादि दृष्ट्वा स्वयमेवापहरेत्, अथवा-तं संयतं प्रतीत्य कर्मकरीकाचिदपहरेत्,संयतेन हृतं भविष्यतीति गृहपतिप्रभृतयश्चिन्तयन्तीति बुद्ध्याऽस्य सुवर्णादिकं चोरयेदिति भावः। तथा-काचिद्वाणिजिका प्रोषितभर्तृका मैथुनमवभाषेत तद्वचनाभ्युपगमे चतुर्थव्रतविराधना। तथा—आहारनिमित्तं बहुशः प्रवेशनिर्गमौ कुर्वाणश्चिरं चालापसंलापादिभिस्तिष्ठन् मैथुनप्रतिषिद्धायां जनैः शङ्क्येत ॥

अथ पञ्चमव्रतविषये विराधनाशङ्कां दर्शयति—

अणाभोगेण भएण व, पडिणाउं मीस भत्तपाणं तु।
दिज्जा हिरण्णमादी, आवज्जण संकणादिट्ठे ॥ ७०९ ॥

कश्चिदनाभोगेन भक्तपानोन्मिश्रितं हिरण्यादि दद्यात्, भयेन वा यथा कयाचिद्भक्तारिकया हिरण्यादिकमपहृतं सा च तं न शक्नोति सङ्गोपयितुं वा ततः संयतस्य भक्ष्येण समं दद्यात्, प्रत्यनीकतया वा कष्टे श्रेष्ठिनः, साधोर्वेर्ज्यानामिकया प्राभृतमर्थयति, एवं हिरण्यादिके गृहीते सति कश्चित्तत्रैव मूर्च्छया चैकान्ते सङ्गोप्य धारयेत् ततः परिग्रहदोषस्यापत्तिर्भवति। तथा तत्सुवर्णादिकं भक्तपानसंमिश्रं दीयमानं दत्तं वा प्रतिग्रहे जाज्वल्यमानं कश्चित्पश्येत्, दृष्टे च तस्य शङ्का जायेत, किं मन्ये अयं जानानो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लुब्धतया गृह्णाति उताऽजानानः प्रमादादित्यादि । यत एते दोषा अतो रात्रौ न पर्यटितव्यम् ॥

अथ रात्रिभक्तमेव भेदतः प्ररूपयन्नाह—

तं पि य चउव्विहं रा–इभोयणं चोलपट्टमइरेगे ।
परियावन्न विगिंचण, दरगुलिया रुक्खसुसघरे ॥७१०॥

तदपि रात्रिभोजनं चतुर्विधम् । तद्यथा–दिवा गृहीतं दिवा भुक्तम् , दिवा गृहीतं रात्रौ भुक्तम् , रात्रौ गृहीतं दिवा भुक्तम् , रात्रौ गृहीतं रात्रौ भुक्तं चेति । एतेषु चतुर्ष्वपि भङ्गेषु यथाक्रमं तपःकाललघुकालगुरुतपोगुरुकोभयगुरुकरूपाश्चत्वारो गुरवः; तत्र प्रथमभङ्गो भाव्यते–' चोलपट्ट त्ति ' कस्याऽपि संयतस्य संज्ञातकानां सङ्खडिरुपस्थिता, स च तस्मिन् दिवसे प्राप्ते वा भक्तार्थं प्रत्याख्यातवान् , ततो मामेते अभक्तार्थिनं न ज्ञास्यन्तीति कृत्वा पात्रकैरनुद्ग्राहितैश्चोलपट्टकसहितो गतः संज्ञातकगृहम् , पृष्टश्च किं भवद्भिर्भाजनानि नानीतानि ? ततस्तेनान्येन वा भणितम् । अद्याभक्तार्थिक इति ततस्ते संज्ञातकाः कल्ये वयं दास्याम इति कृत्वा यत्तदर्थं स्थापयन्ति ततः प्रथमभङ्गो भवति ' अइरेग त्ति ' सङ्खडिगतमन्यत्र वा क्वचिदतिरिक्तमवगाहिमादि लब्धं तच्च पर्यापन्नं परिष्ठापनायोग्यतां प्राप्तं ततस्तस्य विगिञ्चनं च—परिष्ठापनं तदर्थं निर्गतः तच्चोत्कृष्टमविनाशि द्रव्यं मत्वा द्वितीये दिने समुद्देशनार्थं दरगुलिकायां वृक्षशून्यगृहे स्थापयति । दरो विलङ्गुलिका नाम पिकं बुसपुञ्जो वा, वृक्षशब्देन वृक्षकोटरमुच्यते । यद्वा गुलिकया 'रुक्ख त्ति' गुलिकाः पण्डकाः तान् कृत्वा वृक्षकोटरे स्थापयेत् । शून्यगृहं प्रतीतम्, एतेष्वपि स्थापयित्वा द्वितीयदिवसे भुञ्जानस्य प्रथमभङ्गो भवतीति गाथार्थः ॥

अथ भाष्यकार एवैनां व्याख्यानयति—

खमणं मोह तिगिच्छा,पच्छित्तमजीरमाण खमओ वा ।
गच्छइ स चोलपट्टो, पुच्छ ट्ठवणं पढमभंगो ॥ ७११ ॥

एकेन साधुना क्षपणं कृतम् , उपवास इत्यर्थः , तच्च मोहचिकित्सार्थं वा प्रायश्चित्तविशुद्धिहेतोर्वा अजीर्यमाणभक्तपरिणतिनिमित्तं वा क्षपको वा एकान्तरितादिक्षपणकर्ताऽसौ तद्दिने च तस्य संज्ञातकानां संखडिरुपस्थिता, तैश्च साधवो भिक्षाग्रहणार्थमामन्त्रिताः क्षपकसाधुश्चानुद्ग्राहितयाचकः स चोलपट्टः द्वितीये समये अत्र स्थितमभक्तार्थिनं न ज्ञास्यन्ति अज्ञाताश्च न तदर्थं संविभागं स्थापयिष्यन्तीति बुद्ध्या प्रस्थितः, आचार्यान् प्रति ब्रवीति च, ते स्वभावत एवातिप्रान्ता मां विना न पर्याप्तं प्रदास्यन्ति, न वा अवगाहिमादीन् उत्कृष्टद्रव्याणि ढौकयिष्यन्ति, ततोऽहं गच्छामीति। स च तत्र गतः सन्ननुद्ग्राहितपात्रको दृष्टः, तैः पृष्टः किमद्योपवासी ज्येष्ठार्य इति। स प्राह–आमन्त्रितस्तदर्थमवगाहिमादिसंविभागमभणिता अपि ते स्थापयन्ति, कल्ये पारणकदिवसे दास्याम इति कृत्वा । यद्यपि ते न स्थापयन्ति, तथाऽपि क्षपकस्य चत्वारो गुरुकाः, भावतस्तेन सन्निधौ स्थापनायाः कारितत्वात् । द्वितीयदिवसे च तदुद्गृहीतं भुञ्जानस्य प्रथमभङ्गो भवति ।

अथातिरिक्तादिपदानि व्याचष्टे—

कारणगहि उव्वरियं,आवलिय विहिए पुच्छिऊण गओ ।
भोक्खंसु य दाराइसु, ठवेइ साभिग्गहऽन्नो वा ॥ ७१२ ॥

इह साधूनां भिक्षामटतां क्वचिदतर्कितः प्रभूतभक्तस्य लाभो भवेत् , संखड्यां वा प्रचुरमवगाहिमादि लब्धम् अनुचितक्षेत्रे वा गुरुग्लानादीनां वा योग्यग्रहणार्थमर्थैरपि सङ्घाटकैर्मात्रकाणि व्यापादितानि एवमादिभिः कारणैः प्रायोग्यद्रव्यमतिरिक्तं ग्रहीतव्यम् , तच्चोद्धरितम् , तत आवलिकाम्—अचोक्षिकाभक्तार्थिकादिपरिपाटीरूपां विधिना प्रत्याख्याननिर्युक्त्यादिशास्त्रप्रसिद्धेन प्रकारेण पृष्ट्वा निमन्त्र्य तथाऽप्यतिरिक्तपरिष्ठापनाय गत एकान्तमनापातं बहुप्राशुकं स्थण्डिलं तत्र च प्राप्तः । उत्कृष्टविनाशिद्रव्यलोभेन च कल्यं भोक्ष्येऽहमिति चिन्तयित्वा दरे आदिशब्दाद्–गुलिकावृक्षशून्यकोटरगृहेषु स्थापयति, स च साभिग्रहो वा स्यादन्यो वा। अनभिग्रहो नाम–यत्किञ्चिदाहारोपकरणादिकं परिष्ठापनायोग्यं भवति तत्सर्वं मया परिष्ठापयितव्यमित्येवं प्रतिपन्नाभिग्रहः,तद्विपरीतोऽनभिग्रह इति ।

अथैतेषु स्थापयतः प्रायश्चित्तमाह—

विलेॅ मूलं गुरुगा वा, अणंत गुरु लहुग सेस जं चन्नं ।
थेरी य उ निक्खित्ते, पाहुणसाणाइ खइए वा ॥७१३॥
आरोवणा उ तस्स उ, बंधस्स परूवणा य कायव्वा ।
कुल–नाम–ट्ठिगमाउं, मंसो जिन्नं ण जा उद्दो ॥ ७१४ ॥

विले स्थापयतो मूलं,गुरुका वा। यदि वसिमे विले स्थापयति तदा मूलम् , उद्वासे चत्वारो गुरुवः,अनन्तवनस्पतिकोटरे स्थापयतः चतुर्गुरवः, शेषेषु प्रत्येकवनस्पतिकोटरगुलिकाशून्यगृहेषु चतुर्लघवः। यच्चान्यदात्मसंयमविराधनादिकमापद्यते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथ स्थविरगृहे स्थापयति ततस्तत्र निक्षिप्ते चत्वारो लघवः, अथ यदि प्राघूर्णकाय दत्तं, स्वयमेव वा प्राघूर्णकेन भुक्तं, श्वगवादिभिर्वा भक्षितं तदा तस्य स्थापकस्याऽऽरोपणा कर्त्तव्या, चतुर्लघुकादिकं यथायोगं प्रायश्चित्तं दातव्यमिति भावः। तत्र च प्राघूर्णकादिना भुक्ते कियन्तं कालं यावत्कर्मबन्धो भवतीत्याशङ्कायां बन्धस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या, सा चेयम्–'कुल' इत्यादि केचिदाचार्यदेशीया ब्रुवते–यावत्तस्य प्राघूर्णकस्य सप्तमं कुलं वंशः तावदनुसमयं तस्य स्थापकस्य साधोः कर्मबन्धो मन्तव्यः, अपरे प्राहुः—यावत् तस्य नाम गोत्रं नाद्यापि प्रक्षीणं, अन्ये भणन्ति यावत्तस्यास्थीनि ध्रियन्ते, इतरे ब्रुवते—यावदसावायुर्धारयति, तदपरे कथयन्ति–यावत्तस्य तत्प्रायो मासोपचयो ध्रियते, अन्ये प्रतिपादयन्ति–यावत्तस्य तद्भक्तपानमद्याऽपि न जीर्णम् , आचार्यः प्राह–एते सर्वेऽप्युपदेश्याः,सिद्धान्तसद्भावः पुनरयम्–यावदसौ स्थापकसाधुरद्यापि तस्मात् स्थानान्निवृत्तो नालोचनप्रदानादिना प्रतिक्रान्तः तावत्तस्य कर्मबन्धो न व्यवच्छिद्यते । गतः प्रथमो भङ्गः ।

अथ शेषभङ्गत्रयीं भावयति—

संखडिगमणे बीओ, बीयारगयस्स तइयओ होइ ।
सन्नायगमणेॅ चरिमो, तस्स इमे वन्निया भेदा ॥७१५॥

अपराह्ने या संखडी तस्यां गमने—दिवा गृहीतं रात्रौ भुक्तमिति द्वितीयभङ्गो भवति । अनुद्गते सूर्ये बहिर्विचारभूमिमागतस्य बलिना निमन्त्रितस्य–रात्रौ गृहीतं दिवा भुक्तमिति तृतीयो भङ्गः, संज्ञातकुलगमने संज्ञातकानामेव च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेनात्मीयलोचनतया रात्रौ गृहीत्वा रात्रावेव भुञ्जानस्य चरमः-चतुर्थो भङ्गः, तस्य-चतुर्थभङ्गस्य इमे-वक्ष्यमाणाः प्रायश्चित्तभेदाः वर्णिताः, इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथैनामेव गाथां व्याख्यानयति-

गिरिजन्न तमाईसु व, संखडि उक्कोस लंभे विइओ उ।
अग्गिट्ठिमंगलट्ठी, पंथिगवइगाइसुं तइओ ॥ ७१६ ॥

गिरियज्ञो नाम-कोङ्कणदेशेषु सायाह्नकालभावी प्रकरणविशेषः, आह चूर्णिकृत्-गिरियज्ञः कोङ्कणादिषु भवति उस्सूरे त्ति। विशेष चूर्णिकारः पुनराह-"गिरिजन्नो मत्तवालसंखडी भन्नइ, सा डाल(लाट)विसए वरिसारत्ते भवइ त्ति" तदादिषु सङ्खडीषु सूर्ये ध्रियमाणे उत्कृष्टमवगाहिमं यदि द्रव्यं लब्ध्वा यावत्प्रतिश्रयमागच्छति तावदस्तमुपगतो रविः, ततो रात्रौ भुङ्क्ते इति द्वितीयो भङ्गः,तथा दक्षिणापथे कुडवाऽऽमात्रया महाप्रमाणो मण्डकः क्रियते, स हेमन्तकाले अरुणोदयवेलायाम् अग्नीष्टिकायां पक्त्वा धूलीजङ्घाय दीयते,तं गृहीत्वा भुञ्जानस्य तृतीयो भङ्गः, श्राद्धो वा प्रातर्गन्तुकामः साधुं विचारभूमौ गच्छन्तं दृष्ट्वा मङ्गलार्थी अनुद्गते सूर्ये निमन्त्रयेत्, पथिकायां पन्थानं प्रति व्रजन्तो निमन्त्रयेयुः, व्रजिकायां वा अनुद्गते सूर्ये उच्चलितुकामाः साधुं प्रतिलाभयेयुः, एवमादिषु गृहीत्वा भुञ्जानस्य तृतीयो भङ्गो भवति।

अथ चतुर्थभङ्गं व्याख्यानयति-

छंदियसयंगयाए व, सन्नायगसंखडीइ वीसरणं।
दिवसे गते संभरणं, खामण कल्लं न हणिह त्ति ॥७१७॥

केषाञ्चिद् साधूनां संज्ञातकगृहे सङ्खडिरुपस्थिता, तत्र ते छन्दिता-निमन्त्रिताः,स्वयं वा अनिमन्त्रिता गताः,ततः संज्ञातकैस्ते संयता अभिहिताः-अद्य यूयं भिक्षार्थं पर्यटत, वयमेव पर्याप्तं प्रदास्याम इति। ते च संयता गताः, भोजनकाले परिवेषणादिकृत्यव्यग्राणां तेषां विस्मरणमुपागताः, ततो यदा लोकस्य यद्दातव्यं तद्दत्तं यच्च कर्त्तव्यं तत्कृतम्। ततः क्षणिकीभूतैस्तैर्दिवसैर्दिवसे गते व्यतीते सति संयतानां संस्मरणं कृतम्, ततस्ते रात्रौ प्राञ्जलिपुटाः पादयोः पतित्वा क्षामणं कुर्वन्ति, परिवेषणव्यग्रैरस्माभिर्यूयं न संस्मृताः क्षमध्वमस्मदपराधं गृह्णीध्वमस्मदनुग्रहाय भक्तपानमिति। संयता ब्रुवते, कल्ये ग्रहीष्यामो नेदानीं रात्राविति।

गृहस्थाः प्रश्नयन्ति किं कारणं? संयताः प्रतिब्रुवते-

संसत्ताइ न सुज्झइ,तणुजोण्हा अवि य दो वि उ सियाइं।
काले अब्भरए वा, मणिदीवुद्दित्तए वेंति ॥ ७१८ ॥

रात्रौ भक्तपानं कीटकादिभिः संसक्तमसंसक्तं वेति न शुद्ध्यति,आदिशब्दाद्-यूयमस्मदर्थं भिक्षामानयन्तो मार्गे कीटकादिजन्तूनामाक्रमणं कुरुध्वम्। तच्च यूयं वयं च न पश्यामः,तदा तनुचन्द्रज्योत्स्ना वर्त्तते। अथ कालः कृष्णोऽसौ पक्षो वर्त्तते, शुक्लपक्षो वा अभ्रच्छन्नो रजश्छन्नो वा चन्द्रो भवेत्, ततस्ते गृहस्थाः 'बिंति' त्ति ब्रुवते अस्माकं मणिः रत्नमस्ति तेन दिवसो विशिष्यते प्रदीप्त्या वा उद्दीप्तं वा ज्योतिः पूर्वं कृतं विद्यते, तेन परिस्फुटः प्रकाशो भवति। एवमुक्ते यदि गृह्णन्ति भुञ्जन्ते वा तदा इदं तत्संस्थितं प्रायश्चित्तम्-

जोण्हामणीपदीवे, उद्दित्त जहन्नगाइँ ठाणाइं।
चउगुरुगा छग्गुरुगा, छेओ मूलं जहन्नम्मि ॥ ७१९ ॥

ज्योत्स्नाया उद्योते भुञ्जानस्य चत्वारो गुरवः, मण्युद्योते षड् गुरवः, प्रदीपप्रकाशे छेदः, उद्दीप्तोद्योते मूलम्। अमूनि प्रायश्चित्तानि ज्योत्स्नादिप्रदीपोपलक्षितानि यथाक्रममधोऽवस्थापनीयानि, एतानि जघन्यानि स्थानानि। किमुक्तं भवति-प्रसङ्गमन्तरेण जघन्यतोऽपि तानि द्रष्टव्यानि।

अथ प्रसङ्गतो यत्प्रायश्चित्तं भवति तद्विभणिषुराह-

भोत्तूण य आयमणं, गुरूहिँ वसभेहिँ कुलगणे संघे।
आरोवण कायव्वा, विइया य अभिक्खगहणेणं ॥७२०॥

रात्रौ ज्योत्स्नाप्रकाशादिषु भुक्त्वा गुरूणां समीपे तेषामागमनम्,आगतैश्चालोचनापरिणतैरन्यथा वा गुरूणां कथितम्,ततो गुरुभिरुक्तं दुष्टं कृतं भवद्भिर्यन्निशाभक्तमासेवितम्, इत्युक्ते यदि सम्यगावृत्ता मिथ्यादुष्कृतं न भूयः करिष्याम इति ततश्चतुर्गुरवः। अथ नावृत्ताः, किं तु-गुरुवचनातिक्रमं कुर्वन्ति, को नाम दोषो यदि ज्योत्स्नाप्रकाशे दिवससङ्काशे भुक्तमिति ततः षड्गुरुकाः। वृषभैरभिहिताः-आर्याः! किमेवं गुरूणां वचनमतिक्रामन्ति, यदि वृषभवचने सम्यगावृत्तास्ततः षड्गुरुका एव, अथ वृषभवचनातिक्रमं कुर्वन्ति ततः छेदः, एवं कुलेन कुलस्थविरैर्वा प्रतिनोदितानां सम्यगावृत्तानां छेद एव, अनावृत्तानां मूलम्। गणेन गणस्थविरैर्वा नोदिता यद्यावृत्तास्ततो मूलमेव, अथ नावृत्तास्ततोऽनवस्थाप्यम्। सङ्घस्थविरैर्वा नोदिताः किमिति गणं गणस्थविरान् वा अतिक्रामथ इत्युक्ते यद्यावर्त्तन्ते ततोऽनवस्थाप्यमेव, अनावर्त्तमानानां पाराञ्चिकम्। एषा चारोपणा प्रायश्चित्तवृद्धिर्गुरुवृषभादिवचनातिक्रमनिष्पन्ना प्रागुक्तजघन्यप्रायश्चित्तस्थानेभ्यो दक्षिणतः कर्त्तव्या। द्वितीया तु रात्रिभक्तस्यैव यदभीक्ष्णग्रहणं पुनरासेवा तन्निष्पन्ना वामपार्श्वतः कर्त्तव्या। तद्यथा-एकं वारं ज्योत्स्नाप्रकाशे भुञ्जतो चत्वारो गुरवः, द्वितीयं वारं षड्गुरवः, तृतीयं वारं छेदः, चतुर्थं वारं मूलं पञ्चमं वारमनवस्थाप्यम्,षष्ठं वारं भुञ्जानस्य पाराञ्चिकम्।एषा ज्योत्स्नाप्रकाशे प्रायश्चित्तवृद्धिरुक्ता। एवं मणिप्रकाशे, नवरं गुरुभिः प्रतिनोदिता यद्यावृत्तास्ततः षड्गुरुकम्,अथ गुरुवचनमतिक्रामन्ति ततः छेदः, एवं वृषभवचनातिक्रमे मूलं, कुलस्थविरातिक्रमे पाराञ्चिकम्। अभीक्ष्णसेवायां तु पञ्चभिर्वारैः पाराञ्चिकम्। एवं प्रदीपेऽपि दक्षिणतो वामतश्चारोपणाः नवरमाचार्यातिक्रमे मूलम्, वृषभातिक्रमे अनवस्थाप्यं, कुलगणसङ्घस्थविरातिक्रमे पाराञ्चिकम्। अभीक्ष्णसेवायां तु चतुर्भिर्वारैः पाराञ्चिकम्। एवमुद्दीप्तप्रकाशेऽपि;नवरमाचार्यातिक्रमे अनवस्थाप्यम्, वृषभकुलगणसङ्घस्थविराणां चतुर्णामप्यतिक्रमे पाराञ्चिकम्। अभीक्ष्णसेवायां तु त्रिभिर्वारैः पाराञ्चिकम्। एषा प्रथमा नौरवसातव्या। द्वितीयादयोऽपि वक्ष्यमाणा एवमेव स्थाप्याः। शिष्यः प्राह-कुलगणसंघस्थविरवचनमतिक्रामतां यद् गुरुतरं प्रायश्चित्तमुक्तं तदत्र किं कारणम्?, अत्रोच्यते-एते त्रयोऽपि स्थविरा आचार्यादपि गरीयांसो मन्तव्याः प्रमाणपुरुषतया स्थापितत्वात्।

कथं पुनरेते प्रमाणपुरुषा उच्यन्ते-

तिहि थेरेहिँ कयं जं, सट्ठाणे तं तिगं न बोलेति।
हेट्ठिल्ला वि उवरिमे,उवरिमथेरा उ भइयव्वा ॥७२१॥

त्रिभिः कुलगणसङ्घस्थविरैर्यद्-व्यवहारादिविषयं कार्यं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृतं तत्कार्यं स्वस्थाने त्रिकं कुलगणसंघलक्षणं न चोलयति; न व्यतिक्रामतीत्यर्थः। किमुक्तं भवति—कुलस्थविरेण कृतं कुलं नातिक्रामति, गणस्थविरेण कृतं गणो नातिक्रामति, संघस्थविरेण कृतं संघो नातिक्रामति । 'हेट्ठिल्ला वि उवरिमे त्ति ' अधस्तनाः कुलस्थविरास्तेऽप्युपरितनैर्गणस्थविरैश्च कृतं नातिक्रामन्ति, तथा गणस्थविरेभ्योऽधस्तना ये संयतस्थविरास्तैः कृतं तद्गणस्थविरा नातिक्रामन्ति । उपरितनास्तु स्थविरा भक्तव्या-विकल्पयितव्याः, कथमिति चेद् ? उच्यते—कुलस्थविरैररक्तद्विष्टैर्यत्कृतं तद्गणस्थविरा नान्यथा कुर्वन्ति, अथागमोक्तविधिमन्तरेण रक्तद्विष्टैः कृतं ततस्तन्न प्रमाणयन्ति । एवं गणस्थविरैरपि यदरक्तद्विष्टैः कृतं तत्संघस्थविरा नातिक्रामन्ति । अथ रक्तद्विष्टैः कृतं ततो न प्रमाणयन्ति । एवमेतेषु गुरुतरं प्रायश्चित्तम् ।

अथद्वितीयतृतीयचतुर्थनौदर्शनार्थमाह—

चंदुज्जोए को दोसो, अप्पप्पाणे य फासुये दव्वे ।
भिक्खूवसभायरिए, गच्छम्मि य अट्ठ संघाडा ॥७२२॥

ज्योत्स्नाप्रकाशे भुक्त्वा समागत्य गुरूणामालोचयन्ति ततो भिक्षुभिः प्रतिनोदिता यदि सम्यगावर्त्तन्ते ततश्चतुर्गुरुकमेव,अथ ब्रुवते—चन्द्रे द्योते को नाम दोषः ? को वा स्वल्पप्राणेऽवगाहिमादौ प्राशुके द्रव्ये ?, एवं भणतां षड्लघवः,ततो वृषभैरभिधीयन्ते, आर्या ! मा भिक्षूणामतिक्रमं कुरुत,यद्यावर्त्तन्ते ततः षड्लघुका एव, अथ वृषभानतिक्रमन्ति ततः षड्गुरुकाः,तत आचार्यैरभिहिताः यद्यावृत्तास्ततः षड्गुरुका एव, अनावृत्तानां छेदः, 'गच्छम्मि य त्ति' कुलगणसंघा इह गच्छशब्देनोच्यन्ते । ततः कुलेन भणिता यदि समुपरतास्ततः छेद एव, अथ नोपरमन्ते ततो मूलम् । गणेनाऽप्यभिहिता यद्यावृत्तास्ततो मूलम्, अथ नावृत्तास्ततोऽनवस्थाप्यम् । ततः संघेनाऽभिहिता यद्युपरमन्ते ततोऽनवस्थाप्यम्, अथ नोपरमन्ते ततः पाराञ्चिकम् । एषा प्रायश्चित्तवृद्धिर्दक्षिणतः कर्त्तव्या । अभीक्ष्णसेवायां द्वितीयं वारं ज्योत्स्नाप्रकाशे भुञ्जानस्य षड्लघुकम्, तृतीयं वारं षड्गुरुकम्, चतुर्थं छेदः, पञ्चमं मूलम्, षष्ठमनवस्थाप्यम्, सप्तमं पाराञ्चिकम्, एषा वामतः स्थापयितव्या । एवमपि प्रदीपोद्दीप्तप्रकाशेष्वपि भिक्षुवृषभव्यतिक्रमनिष्पन्ना दक्षिणतोऽभीक्ष्णसेवानिष्पन्ना तु वामतो यथाक्रमं प्रायश्चित्तवृद्धिः स्थापनीया । एषा द्वितीया नौरेवमेव तृतीया कर्त्तव्या; नवरं तत्र ज्योत्स्नादिप्रकाशेषु भुक्त्वा न कस्याप्याचार्यादेः कथयन्ति, किं तु-भिक्षुप्रभृतयः तेषां परस्परं संलापं श्रुत्वा अन्यस्माद्वा श्रावकादिमुखादाकर्ण्य तान् प्रति नोदयन्ति,शेषं सर्वमपि द्वितीयतो द्रष्टव्यम् । चतुर्थी पुनरियम्-भिक्षूणामतिक्रमे चतुर्गुरु, वृषभाणामतिक्रमे षड्लघु, आचार्याणामतिक्रमे षड्गुरु गच्छस्य साधुसमूहरूपस्यातिक्रमे छेदः, कुलस्यातिक्रमे मूलम्, गणस्याऽतिक्रमे अनवस्थाप्यम्, संघस्याऽतिक्रमे पाराञ्चिकम्, एषा दक्षिणतः प्रायश्चित्तवृद्धिः, द्वितीया चाभीक्ष्णसेवा निष्पन्ना चतुर्गुरुकादारभ्य 'सप्तभिर्वारैः पाराञ्चिकं यावत् वामतः स्थापनीया । मणिप्रदीपोद्दीप्तेष्वपि यथाक्रमं एवं ज्योत्स्नायामुक्तम् । षड्लघु षड्गुरुकच्छेदनादौ कृत्वा पाराञ्चिकान्तां दक्षिणतो वामतश्चैवमेव प्रायश्चित्तवृद्धिर्द्रष्टव्या । एषा चतुर्थी नौरुच्यते । एकैकस्यां च नावि द्वे द्वे प्रायश्चित्ते भवतः, तद्यथा—दक्षिणपार्श्ववर्त्तिनी वामपार्श्ववर्तिनी, च । तश्चतसृषु नौषु सर्वसंख्ययाऽष्टौ लता लभ्यन्ते, तथा चाऽष्टौ सङ्घाटका मन्तव्याः, यत आह चूर्णिकृत्—" अट्ठसंघाड त्ति जोएहामणिपदीवुद्दित्तेसु मूलपरिच्छिन्ना चत्तारो तस्स इतो वि चत्तारि पच्छित्तलया उ त्ति सव्वे ते अट्ठ संघाडगा । संघाड त्ति वा लय त्ति वा पगारो त्ति वा एगट्ठं ति " ।

अथ ज्योत्स्नादिविरहितं सामान्यतः प्रायश्चित्तमाह—

सन्नातगआगमणे, संखडि राओ य भोयणे मूलं ।
वितिए अणवट्ठप्पो, ततियम्मि य होइ पारंची ॥७२३॥

संज्ञातककुले आगमनं कृत्वा संखड्यां वा गत्वा रात्रौ यदि भुङ्क्ते तदा मूलव्रतविराधनानिष्पन्नं मूलं नाम प्रायश्चित्तम् । द्वितीयं वारं रात्रौ भुञ्जानस्य अनवस्थाप्यं, तृतीयं वारं पाराञ्चिकम् । अथवा-भिक्षोः रात्रौ भुञ्जानस्य मूलम्, द्वितीय उपाध्यायस्तस्यानवस्थाप्यम्, तृतीय आचार्यस्तस्य रात्रौ भुञ्जानस्य पाराञ्चिकम् ।

अथ यदुक्तमल्पप्राणे प्राशुकद्रव्ये को दोष एष इति तदेतत्परिहरन्नाह—

जइ वि य फासुगदव्वं, कुंथूपणगाइ तह वि दुप्पस्सा ।
पच्चक्खनाणिनो वि हु, राईभत्तं परिहरंति ॥ ७२४ ॥

यद्यपि तत्प्राशुकद्रव्यमवगाहिमादि तथापि कुन्थुपनकादयः आगन्तुकाः, तदुद्भवाश्च जन्तवो रात्रौ दुर्दर्शा भवन्ति । किञ्च-येऽपि तावत्प्रत्यक्षज्ञानिनः केवलिप्रभृतयस्ते यद्यपि ज्ञानालोकेन तद्भवागन्तुकसत्त्वविरहितं भक्तपानं पश्यन्ति तथाऽपि रात्रिभक्तं परिहरन्ति मूलगुणविराधना मा भूदिति कृत्वा ।

अथ यदुक्तं चन्द्रप्रदीपादिप्रकाशे को दोष इति, तत्र परिहारमाह—

जइ वि य पिपीलियाई, दीसंति पईवजोइउज्जोए ।
तह वि खलु अणाइन्नं, मूलवयविराहणा जेणं ॥७२५॥

यद्यपि प्रदीपज्योतिषो रुपलक्षणत्वाच्चन्द्रस्योद्योते पिपीलिकादयो जन्तवो दृश्यन्ते, तथाऽपि खलु—निश्चये अनाचीर्णमिदं रात्रिभक्तम् । कुत इत्याह—मूलव्रतानां प्राणातिपातव्रतानाम्—प्राणातिपातविरमणादीनां प्रागुक्तनीत्या विराधना येन रात्रिभक्तेन भवति ; अतो रात्रौ न भोक्तव्यम् ।

अथ 'गच्छम्मि य त्ति' पदं व्याचष्टे—

गच्छगहणेण गच्छो, भणइ अहवा कुलाइओ गच्छो ।
गच्छग्गहणे व कए, गहणं पुण गच्छवासीणं ॥७२६॥

गच्छग्रहणेन गच्छः—साधुसमूहरूपस्त्रिरात्रिभक्तप्रतिसेवकान् भणति नोदयतीति मन्तव्यम् । यथा-चतुर्थ्यां नावि चतुर्थे पदे, अथवा-गच्छग्रहणेन कुलादिकं—कुलगणसङ्घरूपो गच्छो नोदयतीति मन्तव्यम्, यथा-सर्वास्वपि नौषु, यद्वा-गच्छग्रहणे कृते गच्छवासिनां ग्रहणं विज्ञेयं, तेषामेवेदं प्रायश्चित्तनिकुरम्बं न जिनकल्पिकादीनाम् । इह पूर्वं भाष्यकारेण प्रथमा नौः परिस्पष्टमुपदर्शिता न द्वितीयादयः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतो यथाक्रमं तासां व्याख्यानमाह-

बिइयादेसे भिक्खू, भणंति दुट्ठं मे कयं ति वोलिंति ।

छल्लहु वसभे छग्गुरु, छेदो मूलाइ जा चरिमं ॥ ७२७॥

द्वितीयादेशो नाम द्वितीयो नौसंस्थितः प्रायश्चित्तप्रकारस्तत्र तथैव भुक्त्वा गुरूणां निवेदिते भिक्षवो भणन्ति दुष्टमेव भवद्भिः कृतमिति, तच्च वचनं यदि ते वोलयन्ति न प्रतिपद्यन्ते तदा षड्लघुकं, वृषभवचनातिक्रमे षड्गुरुकम्, आचार्याणामतिक्रमे छेदः, कुलस्थविरस्याप्रमाणीकरणे मूलम्, गणस्थविरस्याप्रमाणने अनवस्थाप्यम्, सङ्घस्थविरस्यातिक्रमे पाराञ्चिकम्, एवं मणिप्रकाशादिष्वपि मन्तव्यम्, नवरं मणिप्रकाशे षड्गुरुकाद्, प्रदीपप्रकाशे छेदात्, उद्दीप्ते मूलादारब्धम्, अभीक्ष्णसेवायां तु सप्तभिर्वारैः पाराञ्चिकम्। भावना प्रागेव कृता ।

तृतीया भाव्यते-

ततियादेसे भोत्तूण, आगया नेव कस्सइ कहिंति ।

तेसं ततो व सोच्चा, खिंसंतह भिक्खुणो ते उ ॥७२८॥

तृतीयादेशे तृतीयायां नावि तथैव भुक्त्वा समागताः सन्तो नैव कस्याऽपि कथयन्ति, नवरं भिक्षवस्तेषां परस्परं संलापं श्रुत्वा तैर्वा अन्यस्य कस्याऽपि श्रावकादेः कथितं ततो वा श्रुत्वा भिक्षवस्तान् कथयन्ति। अथ श्रवणानन्तरं खिंसन्ति खरण्टयन्तीत्यर्थः।

खरण्टिताश्च यदतिक्रामन्ति तत इयं प्रायश्चित्तवृद्धिः-

भिक्खुणो अतिकमंते, छल्लहुगा वसभे होंति छग्गुरुगा।

गुरुकुलगणसंघाइ-क्कमेइ छेदाइ जा चरिमं ॥ ७२९ ॥

भिक्षूनतिक्रामन्ति षड्लघुकाः गुरूणामतिक्रमे छेदः, कुलस्यातिक्रमे मूलम्, गणस्याऽतिक्रमे अनवस्थाप्यम्, सङ्घस्याऽतिक्रमे पाराञ्चिकम्।

अथ चतुर्थी नावमुपदर्शयति—

भिक्खू वसभायरिए, वयणं गच्छस्स कुलगणे संघे ।

गुरुगादतिक्कमंते, जा सपदं चउत्थ आदेसे ॥ ७३० ॥

ज्योत्स्नाप्रकाशादिषु भुक्त्वा गुरूणामालोचिता भिक्षुभिर्नोदिता यद्यावृत्तास्ततश्चतुर्गुरुकाः, अथ भिक्षूणां वचनमतिक्रामन्ति ततोऽपि चतुर्गुरु, वृषभाणां वचनमतिक्रामतः षड्लघुकाः आचार्यानतिक्रामतः षड्गुरुकाः, गच्छममन्यमानस्य छेदः, कुलमप्रमाणीकुर्वतो मूलम्, गणमप्रमाणतोऽनवस्थाप्यम्, सङ्घं व्यतिक्रामतः स्वपदं पाराञ्चिकम्। अभीक्ष्णसेवायामपि प्रथमे द्वितीये च वारे चतुर्गुरुकं तृतीयादिष्वष्टमान्तेषु वारेषु षड्लघुकादि पाराञ्चिकान्तम्, एष चतुर्थ आदेशः—चतुर्थी नौः।

अथ पूर्वोक्तानेव प्रायश्चित्तवृद्धिहेतून् संदर्शयति—

पेच्छध उ अणायारं, रत्तिं भुत्तं न कस्सइ कहिंति ।

एवं एक्केकनिवे-दणेण वुड्ढी उ पच्छित्ते ॥ ७३१ ॥

पश्यतामममीषामनाचारं यदयं रात्रौ भुक्त्वा न कस्याऽपि कथयन्ति, एवं भिक्षुभिः खरण्टिता यदि नावर्त्तन्ते ततो भिक्षवो वृषभाणां कथयन्ति। वृषभा गुरूणां, गुरवोऽपि कस्येत्यादि,एवमेकैकस्य वृषभादिनिवेदितेन प्रायश्चित्तस्य वृद्धिर्भवति।

को दोसो को दोसो-त्ति भणंते लग्गई वितियठाणं ।

अहवा अभिक्खगहणे, अहवा वत्थुस्स अइयारो ॥७३२॥

अग्निचन्द्रोद्योतादिषु को दोष इत्युत्तरोत्तरप्रदानेन द्वितीयं प्रायश्चित्तस्थानं लगति—प्राप्नोति, अथवा—अभीक्ष्णग्रहणे पुनः पुनरासेवायाम्, अथवा—वस्तुन आचार्योपाध्यायादिरूपस्य योऽतिचारो रात्रिभक्तलक्षणं तस्मात् प्रायश्चित्तवृद्धिर्भवति, यत एवं प्रायश्चित्तजालम् अतो न कल्पते चतुर्विधमपि रात्रिभक्तम् । कारणसद्भावात् पुनः कल्पते।

तान्येव कारणानि दर्शयति—

बिइयपयं गेलन्ने, पढमे बिइए य अणहियासम्मि ।

फिट्टइ चंदगवेज्झं, समाहिमरणं च अद्धाणे ॥ ७३३ ॥

द्वितीयपदं नाम—यद्दिवा गृहीतं दिवा भुक्तमित्यादि चतुर्भङ्गी प्रतिसेवनात्मकं तदागाढे ग्लानत्वे आसेवितव्यम्। प्रथमद्वितीयपरीषहातुरतायां वा ' अणहियासम्मि त्ति ' असहिष्णुतायां वा, चन्द्रकवेधं नाम अनशनं तदसमाधिमुपगतस्य स्फिटति न निर्वहतीति भावः। अप्राप्तस्य यथा समाधिमरणं भवति तथा चतुर्भङ्ग्याऽपि यतितव्यम्, अध्वनि चतुर्ष्वपि भङ्गेषु ग्रहणं कर्त्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुर्ग्लानत्वद्वारं व्याख्यानयति—

पइदिणमलब्भमाणे, विसोहिसमइच्छिउं पढमभंगो ।

दुल्लभदिवसंते वा, अहिखुलरुयाइसुं बिइओ ॥ ७३४ ॥

एमेव तइयभंगो, आइतमो अंतए पगासो उ ।

दुहओ वि अप्पगासो, एमेव य अंतिमो भंगो ॥७३५॥

यदा ग्लानस्य प्रतिदिनं विशुद्धं भक्तपानं न लभ्यते, तदा पञ्चकपरिहाण्या विशोधिकादयो दोषास्तेषु प्रतिदिवसं ग्रहीतव्यं यावच्चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्तम्, यदा तदपि समतिक्रान्तस्तदा प्रथमो भङ्गो भवति, रात्रौ परिवारस्य दिवा दातव्यमित्यर्थः। तथा-दुर्लभं-ग्लानप्रायोग्यमशनादि द्रव्यम्, तच्च गृहीत्वा यावत्प्रतिश्रयमागच्छति तावदस्तमुपगतः सविता अतो दिवा गृहीत्वा रात्रौ ग्लानस्य दातव्यम्,अथवा-कश्चिद्दिवसान्तेष्वहिना सर्पेण खाद्येत,शूलरुग्वा कस्याऽपि तदानीमुद्भवेत् आदिग्रहणाद्-विषविसूचिकादिकादिष्वागाढेषु समुत्पन्नेषु सर्पडङ्काद्युपशमनलब्धप्रत्ययमगदाद्योषधमानीय यावद्दीयते तावदस्तं गतो रविः, अतो रात्रावपि दातव्यम्। एष द्वितीयो भङ्गः। एवमेव तृतीयो भङ्गो वक्तव्यः । यानि प्रथमद्वितीयभङ्गयोः कारणानि तानि तृतीयभङ्गेऽपि भवन्तीति भावः। अत्र च भङ्गे आदौ तमोऽन्धकारं रात्रिपदमित्यर्थः। अन्ते च प्रकाशादि वा पदम्। अन्तिमश्चतुर्थो भङ्गः। सोऽप्येवमेव अहिदष्टादावागाढकारणे प्रतिसेवितव्यः, नवरमसौ द्विधाऽप्ययं प्रकाशो मन्तव्य इति । गतं ग्लानद्वारम्।

अथ प्रथमद्वितीयासहिष्णुपदानि व्याचष्टे—

पढमबितियाउरस्स, असहस्स हवेज्ज अहव जुगलस्स ।

कालम्मि दुरहियासे, भंगचउक्केण गहणं तु ॥ ७३६ ॥

प्रथमः क्षुधापरीषहो, द्वितीयः पिपासापरीषहस्ताभ्यामातुरस्य असहिष्णोर्वा स्थूलभद्रस्वामिलघुभ्रातृश्रीयककल्पस्य युगलं बालवृद्धरूपं तस्य वा असहिष्णोः काले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा तुरधिसहे अवसौन्दर्यलक्षणे भङ्गचतुष्केनाऽपि ग्रहणं कर्त्तव्यम्।

एमेव उत्तिमट्ठे, चंदगवेज्झ सरिसे भवे भंगा।
उभयपगासे पढमो, आदीयंते असच्चतमो ॥ ७३६ ॥

चन्द्रको नाम—चक्राष्टकोपरिवर्त्तिन्याः पुत्तलिकाया वामाक्षिगोलकः तस्य वेधः-ताडनं तत्सदृशे तद्विराधे उत्तमार्थे अनशने प्रतिपन्ने सति यदि कदाचिदसमाधिरुत्पद्यते तदा स नमस्कारं नाराधयिष्यति असमाधिमृत्युना वा मा म्रियतामिति कृत्वा चत्वारोऽपि भङ्गाः प्रयोक्तव्याः। तत्र च प्रथमो भङ्ग उभयप्रकाशो, द्वितीयो भङ्गः आदौ प्रकाशवान् अन्ते तमस्वान्, तृतीयोऽन्ते प्रकाशवान्, चतुर्थो भङ्गः सर्वत उभयथाऽपि मतो युक्तो रात्रौ गृहीत्वा रात्रौ चैव भोगभावादिति ॥

अथाध्वद्वारं सविस्तरं व्याचिख्यासुराह—

अद्धाणम्मि व होज्जा, भंगा चउरो उ तं न कप्पई उ।
दुविहा उ होंति उ दरा, पोट्टे तह धन्नभाणा य ॥७३७॥

अध्वनि वा वर्त्तमानानां चत्वारोऽपि भङ्गाः भवेयुः। परं तमध्वानं गन्तुमूर्ध्वदरे न कल्पते ते च दरा द्विविधाः, तद्यथा-पोट्टदरा, धान्यभाजनदराश्च। पोट्टं सुन्दरं तद्रूवा दरा पोट्टदराः, धान्यभाजनानि कटपल्यादयः तान्येव दरा धान्यभाजनदराः। ऊर्ध्वं यत्र पूर्यन्ते तत्तूर्ध्वदरमुच्यते।

उद्धदरे य सुभिक्खे, अद्धाण-पवज्जणं तु दप्पेणं।
लहुगा पुण सुद्धपए, जं वा आवज्जई जत्थ ॥ ७३८ ॥

ऊर्ध्वदरमनन्तरोक्तं सुभिक्षम्—सुलभभैक्षम्, अथ चत्वारो भङ्गाः-ऊर्ध्वदरमपि सुभिक्षमपि१, ऊर्द्धदरमसुभिक्षम्२, सुभिक्षं नोर्ध्वदरम्३। नोर्ध्वदरं न सुभिक्षम्४, अत्र द्वितीयचतुर्थभङ्गयोरध्वगमनं कर्त्तव्यम्, अथ प्रथमतृतीयभङ्गयोरध्वप्रतिपत्तिं दर्पतः करोति तदा ऊर्ध्वपदेऽपि चत्वारो लघुकाः, यद्वा-यत्र संयमविराधनादिकमापद्यते तत्र तन्निष्पन्नं न प्रायश्चित्तम्। प्रथमतृतीयभङ्गयोरप्येतैः कारणैर्न गन्तुं कल्पत इति दर्शयति—

नाणट्ठ दंसणट्ठा, चारित्तट्ठेवमाइ गंतव्वं।
उवगरणपुव्वपडिले-हिएण सत्थेण गंतव्वं ॥ ७३९ ॥

ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थम्, एवमादिभिः कारणैर्गन्तव्यम्, गच्छद्भिश्च तलिकादिकमुपकरणं ग्रहीतव्यम्, पूर्वप्रत्युपेक्षितेन च सार्थेन सह गन्तव्यमिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथैनामेव व्याख्यानयति—

सुगुरुकुलसदेसे वा, नाणे गहिए सति य सामत्थे।
वच्चइ उ अन्नदेसे, दंसणजुत्ताइ अत्थो वा ॥ ७४० ॥

ज्ञानम् आचारादिश्रुतं तद्यावत् गुरूणां समीपे सूत्रतोऽर्थतश्च विद्यते तावति सम्पूर्णे गृहीते ततः स्वदेशे यदात्मीयं कुलं तत्र तदभावे परकुले वा गत्वा शेषश्रुतग्रहणं कर्त्तव्यम्। अथ नास्ति स्वदेशे तथाविधः कोऽपि बहुश्रुत आचार्यस्ततोऽन्यं देशं गच्छति, तत्राऽपि ये आसन्ने एकवाचनाचार्यास्तेषां समीपे अवशिष्यमाणश्रुतं गृह्णाति, यदा च परिपूर्णमपि विवक्षितयुगसम्भवि श्रुतं गृहीतं तदा यद्यात्मनः प्रतिभादिसामर्थ्यमास्ति ततो 'दंसणजुत्ताइ अत्थो व त्ति' दर्शनविशुद्धिः कारणीया, गोविन्दनिर्युक्त्यादिशब्दात्-भङ्गादितत्त्वार्थे प्रवृत्तिं गच्छेत् शास्त्राणि तदर्थस्तत्प्रयोजनं तेन प्रमाणशास्त्रकुशलानामाचार्याणां समीपे गच्छेत् ॥

अथ चारित्रार्थमिति द्वारमाह-

पडिकुट्ठदेसकारण, गया उ तदुवरम्मि निति य चरणट्ठा।
असिवाई व भविस्सइ, भूते व वयंति परदेसं ॥ ७४१ ॥

सिन्धुदेशप्रभृतिको योऽसंयमविषयः स भगवता प्रतिकुष्टो न तत्र विहर्त्तव्यम्, परं तं प्रतिषिद्धदेशमशिवादिभिः कारणैर्गताः, ततो यदा तेषां कारणानामुपरमः परिसमाप्तिर्भवति तदा चारित्रार्थं ततोऽसंयमविषयान्निर्गच्छति निर्गत्य च संयमविषयं गच्छन्ति। यद्वा—तत्र क्षेत्रे वसतां निमित्तबलेन ज्ञातं यथा अशिवादिकमत्र भविष्यति। अथवा—भूतमापन्नमत्राशिवादि अतः परदेशं व्रजन्ति, एवमादिभिः कारणैरध्वा-गन्तव्यतया निश्चित्य गच्छोपग्रहकरमिदमुपकरणं गृह्णन्ति।

चम्माइलोहगहणे, नंदीभाणे य धम्मकर (णे य) यस्स।
परउत्थियउवगरणे, गुलियाओ खोलमाईणि ॥ ७४२ ॥
एक्केक्कम्मि य ठाणे, चउरो मासा हवंतिऽणुग्घाया।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमाई य ॥ ७४३ ॥

चर्मशब्देन चर्ममयं तलिकाद्युपकरणं गृह्यते आदिशब्दात् सिक्थकादिपरिग्रहः। लोहग्रहणेन पिप्पलकादिलोहमयोपकरणेन ग्रहणमध्वनि गच्छता कर्त्तव्यम्। नन्दीभाजनं धर्मकारकस्य, तथा परतीर्थिकोपकरणं वक्ष्यमाणरूपं, तथा गुलिका नाम—तुंबरवृक्षचूर्णगुटिका, खोला गोरसभाविता नियमत एवमादीन्युपकरणानि ग्रहीतव्यानीति गाथाद्वयसमासार्थः ॥

अथाऽस्या एवाद्यपदं व्याचिख्यासुः प्रतिद्वारगाथामाह—

तलिय पुडगा व खेल्लय, कोसग कत्ती य सिक्कए काए।
पिप्पलगसूइआरिय, नक्खच्चणि सत्थकोसे य ॥७४४॥

तलिका-उपानहः, पुटकानि-खल्लकानि च, प्रतीताः कोशको-नखभङ्गरक्षार्थं यत्राङ्गुल्यः प्रक्षिप्यन्ते, कृत्तिः-चर्म सिक्थकं प्रतीतं कायो नाम-कायोतिका, पिप्पलकः सूची आरिका च प्रतीता, नखार्चनी-नखहरणिका, शस्त्रकोशः-शरवेधादि-शस्त्रसमुदायः इति प्रतिद्वारगाथासंक्षेपार्थः। बृ० १ उ० ३ प्रक०। (तलिय० " ७४५ इत्यादि गाथा 'तलिया' शब्दे चतुर्थभागे २१९९ पृष्ठे गता)

कोसग नहरक्खऽट्ठा, हिमाहिकंटाइपच्चखपुसादी।
कत्ती वि विकरणट्ठा, विवित्त पुढवाइरक्खट्ठा ॥७४६॥

अङ्गुलीकोशो नखभङ्गरक्षार्थं गृह्यते, स च पादयोरङ्गुल्यो रङ्गुष्ठके च प्रक्षिप्यते, तथा हिमं-शीतम्, अहिकण्टकौ प्रतीतौ, तदादिप्रत्ययाय रक्षणार्थम् खपुसा आदिशब्दादर्द्धजङ्घिकादयश्च गृह्यन्ते। कृत्तिः—चर्म तत्प्रलम्बादि विकरणार्थं मा धूल्या लोलीभावमनुभूय मलिनानि भवन्त्विति कृत्वा 'विवित्तं ति' ते साधवः कदापि स्तेनैर्विविक्ता मुषिता भवेयुः ततो वस्त्राऽभावे कृत्तिं प्रावृण्वन्ति, यत्र वा पृथिवीकायो भवति तत्र कृत्तिं प्रस्तीर्य समुपविशन्ति, एवं पृथिवीकायरक्षा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदिशब्दात्—प्रतिलोमे वनदवे तृणरहितप्रदेशाभावे कृत्तिप्रस्तीर्य तिष्ठन्तीति कृत्वा तेजःकायरक्षाऽपि कृता स्यात्। गतं चर्मद्वारम्।

अथाऽऽदिग्रहणलब्धे सिक्ककापोतिके—
व्याख्यानयति—

तहिँ सिक्कएहिँ हिंडति,जत्थ विवित्ता व पल्लिगमणं वा।
परलिंगग्गहणम्मि वि,निक्खिवणट्ठा व अन्नत्थ ॥७४७॥

यत्र विविक्ता मुषितास्तत्र वन्धाभावे चौरपल्यां वा भिक्षार्थं गमनं विदधाना अलावुकानि सिक्ककेषु कृत्वा हिण्डन्ते, चक्रचरादिलिङ्गेन वा भक्तपानग्रहणे प्राप्ते सिक्ककेन पर्यटितव्यम् , अथ कल्पादेर्वा सिक्कके निक्षेपणं कार्यं प्रलम्बादिकं वा सिक्ककेष्वानीयान्यत्र स्थविरगृहादौ निक्षिप्यते।

जे चेव कारणा सि–क्कगस्स ते चेव होंति काये वि ।
कप्पुवधी वालादी, व वहिति तेहिं पलंवे वा ॥ ७४८ ॥

यान्येव कारणानि सिक्ककस्योक्तानि तान्येव कायेऽपि कापोतिकायामपि भवन्ति, यद्वा सिक्ककापोतिकयोरपि उपयोगः, कल्पम्—अध्वकल्पम् उपधिमाचार्यासहिष्णुप्रभृतीनां वालादीन् वा प्रलम्वानि वा उपलक्षणत्वादाकस्मिकमूलविद्धं वा ताभ्यां सिक्ककापोतिकाभ्यां वहति।

अथ लोहग्रहणद्वारं भावयति–

पिप्पलओ विकरणट्ठा, विवित्तजुन्ने व संधणं सूई।
आरतलिसंधणट्ठा, नखच्चण नक्खकंटाई ॥ ७४६ ॥

पिप्पलकः प्रलम्बं विकरणार्थं गृह्यते। यद्वा विविक्तानां यदवशिष्यमाणं वस्त्रं यथा स्वभावजीर्णं तस्य सन्धानार्थं वा सूची ग्रहीतव्या, त्रुटिततलिकानां सारा गृह्यते, नखार्चनं नखहरणिका सा नखच्छेदनार्थं कण्टकादिशल्योद्धरणार्थं वा गृह्यते, शस्त्रको वा पुनरयं शिरावेधशस्त्रकं पच्छणशस्त्रकं भेदकण्टिका संदंशिका।

एवमादिकस्य शस्त्रकोशस्योपयोगं दर्शयति–

कोसाहि सल्लकंटग, अगदोसधमाइयं तु वग्गहणा ।
अहवा खेत्ते काले, गच्छे पुरिसे य जं जोग्गं ॥७५०॥

शस्त्रकोशेनेदं प्रयोजनम्,अहिः–सर्पस्तेन यावन्मात्रमङ्गभवष्टम्भो वा छिद्यते, शल्यं वा कण्टको व नखहारणिकया हर्तुमशक्यस्तेन उद्ध्रियते। इह प्रतिद्वारगाथायां 'सत्थकोसे य त्ति' यश्चशब्दस्तद्ग्रहणादगदौषधादिकं गृहीतस्य यदनेकद्रव्ये निष्पन्नं तदगदः यत्पुनरेकाङ्गिकं तत्सर्वमप्यौषधम्, 'अथवा' शब्दोपादानात् दक्षिणापथादौ यद्यत्र दुर्लभं काले—ग्रीष्मादौ यत्तु शक्तुप्रभृतिकं शीतलद्रव्यमुपयोगि महति गच्छे वा शक्तुरेव इत्यादिकं साधारणं पुरुषस्य वा आचार्यदेर्यस्य यद्योग्यं तद्यथायोगं गृहीतव्यम्। वृ० १ उ०३ प्रक०। (नन्दीभाजनचर्मकरकयोरुपयोगप्रतिपादिका " एकं भरंमि " (७५१) इत्यादि गाथा । ' णंदिभाण ' शब्दे चतुर्थभागे १७५७ पृष्ठ उक्ता)

परतीर्थिकोपकरणमाह—

परतित्थियउवगरणं, खेत्ते काले य जं तु अविरुद्धं ।
तं रयणितलं पुट्ठा, पडिणीएँ दिया वा कोट्टादी ॥७५२॥

परतीर्थिका बद्धाम्रिकादयस्तेषां सम्बन्धि उपकरणं यत्र क्षेत्रे काले वा अविरुद्धमर्चितं च तत् रजन्यां भक्तपानग्रहणार्थं प्रलम्वानयनार्थं वा कर्त्तव्यम् , यत्र वा प्रत्यनीका भवन्ति तत्र परतीर्थिकवेषच्छन्ना गच्छन्ति,भक्तपानं वा उत्पादयन्ति। म्लेच्छकोट्टं वा गताः परतीर्थिकवेषेण दिवा पुद्गलाऽऽदिकं गृह्णन्ति आदिशब्दात्—प्रत्यन्तकोट्टादिपरिग्रहः ॥

अथ गुलिका–खोले द्वारे व्याख्यानयति—

गोरसभावियपोत्ते, पुव्वकयदव्वस्स संभवे वोधे ।
असई य तु गुलियम्मि य, सुन्ने नवरंग दइयादी॥७५३॥

गोरसभावितानि वस्त्राणि खोलानि भण्यन्ते; तेषु पूर्वकृतेषु अध्वानं प्रविष्टानां यदा प्राशुकद्रव्यस्यासम्भवस्तदानीं पोतानि भावयेयुः प्रक्षालयेयुः, अगीतार्थप्रत्ययोत्पादनार्थं वाऽऽलोच्यते गोकुलादिदं संप्रष्टपानकमानीतम्। अथ न सन्ति खोलानि ततो गुलिकाः तुवरवृक्षचूर्णगुलिकाः तद्भावितपानकं प्राशुकीकृत्य मृगा अगीतार्थाः तेषां चित्तरक्षणार्थं शून्ये ग्रामे प्रतिसार्थिकादीनां नवरं गच्छतिकादेरिदं गृहीतमित्यालोचयन्ति। विशेषचूर्णौ तु गुलिकाखोलपदे इत्थं व्याख्याते—" जत्थ य पव्वयकोट्टासु पंडुरंगादी पुज्जंति संजयाण भे पडिणीया होज्जा तत्थ गुलिय त्ति वक्कलाणि घेप्पंति। खोल त्ति सीसखोलाती परिसं वेढियव्वं । जहा न भज्जइ लोयहयं सीसं ससरक्खणट्ठाए वा।

अथैषामुपकरणानां ग्रहणं करोति ततः—

एक्केक्कम्मि य ठाणे, चउरो मासा हवंति ऽणुग्घाता।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमायाए ॥ ७५४ ॥

एकैकस्मिन् स्थाने एकैकस्योपकरणस्य ग्रहणे इत्यर्थः, चत्वारो मासा अनुद्धाता–गुरवो भवन्ति, आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना संयमात्मविषया।

अमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह—

एमाइअणागयदो–स रक्खणट्ठा अगेण्हणे गुरुगा।
अणुकूले निग्गमओ, पच्छा सत्तस्स सउणेणं ॥७५५॥

एवमादीनामुपकरणानामनागतमेव संयमात्मविराधनादिरक्षणार्थं ग्रहणं कर्तव्यम्। अथ न गृह्णाति ततः प्रत्येकं चत्वारो गुरवः। गतमुपकरणद्वारम्। अथ पूर्वप्रत्युपेक्षितेन सार्थेन गन्तव्यमिति व्याख्याति। ' अणुकूले ' इत्यादि, अनुकूलं चन्द्रवलं तारावलं वा यदा सूरीणां भवति तदा निर्गमकः प्रस्थानं क्रियते, निर्गताश्चोपाश्रयाद्यावत् सर्व्वे न प्राप्नुवन्ति तावच्चात्मनैव कुशलं गृह्णन्ति सार्थं प्राप्तास्तु–सार्थं ' सउनेन ' शकुनेन गच्छन्ति।

इदमेव सविशेषमाह––

अप्पत्ताण निमित्तं, पत्ता सत्थम्मि तिन्नि परिसा उ ।
सुद्धेत्ति पत्तआणं, अद्धाणे भिक्खपडिसेहो ॥ ७५६ ॥

सार्थे अप्राप्तानां निमित्तं शकुनग्रहणं भवति, प्राप्तानां तु यः सार्थस्य , यथा कुलसंयतानामपि भवति । सार्थे च प्राप्ताः सन्तस्तिस्रः परिषदः कुर्वन्ति । तद्यथा–सिंहपरिषदम्, मृगपरिषदम् , वृषभपरिषदम्। तथा सर्वशुद्धो निर्दोष इति कृत्वा स्थिताः, परं यदा अध्वनि अटवीं प्राप्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवन्ति तदा कोऽपि प्रत्यनीको भिक्षायाः प्रतिषेधं कुर्यादिति। बृ० १ उ० ३ प्रक०। (अथ सिंहादीनां पर्षदा व्याख्या 'परिसा' शब्दे पञ्चमभागे ६४८ पृष्ठे गता) 'अट्ठसुद्धि' त्ति 'अपत्तयाणं ति' पदं व्याख्यायते-साधुभिः प्रथमत एव सार्थाधिपतिरभिधातव्यः,वयं युष्माभिः समं व्रजामो यद्यस्माकमुदन्तशुद्धहत,एवमुक्ते यद्यर्थमसावभ्युपगच्छति ततः शुद्धसार्थ इति मत्वा प्रस्थिताः परमटव्यां प्राप्तानां कोऽप्येवं कुर्यात्—

सिद्धत्थगपुप्फे वा, एवं वुत्तुं पि निच्छुभइ पंतो ।

भत्तं वा पडिसेहइ, तिण्हणुसट्ठाइ तत्थ इमा ॥७५८॥

सिद्धार्थाः सर्षपाश्चम्पकपुष्पाणि वा शिरसि स्थापितानि काश्चिदपि पीडां न कुर्वन्ति एवं यूयमपि मम कमपि भारं न कुरुध्वम्, एवमुक्त्वाऽपि कश्चित्प्रान्तो भिक्षपासकादिरटवीमध्ये सार्थान्निष्काशयति न ह्ययस्माभिः सार्धमागच्छति,भक्तपानं वा प्रतिषेधयति, मा अमीषां कोऽपि किञ्चिदपि दद्यात्। ततस्त्रयाणां सार्थवाहायात्रिकाणामनुशिष्यादिका इयं यतना कर्त्तव्या—

अणुसिट्ठी धम्मकहा, विज्जनिमित्ते पउस्सकरणं वा ।

परउत्थिया य वसभा,सयं च थेरी य चउभंगो॥७५९॥

यदि लोकापायप्रदर्शनं क्रियते सा अनुशिष्टिरुच्यते, यत्पुनरिह परत्र च स्वयं च कर्मविपाकोपदर्शनं सा धर्मकथा, तया अनुशिष्ट्या धर्मकथया वा सार्थवाह आपन्निका वा उपसमयितव्याः। विद्यया मन्त्रेण वा वशीकर्त्तव्याः,निमित्तेन वा आवर्त्तनीयाः। यो वा प्रभुः सहस्रयोधी बलात् स सार्थवाहं बध्वा स्वयमेव सार्थमधिष्ठाय प्रभुत्वं करोति। एषा निष्काशने यतना। भिक्षाप्रतिषेधे पुनरियम्-सर्वथा भिक्षाया अलाभे वृषभाः परयूथिकाः भूत्वा भक्तपानमुत्पादयन्ति, सार्थवाहं वा प्रज्ञापयन्ति यदि च-सार्थेऽपि गीतार्थस्ततः स्वयं स्वलिङ्गेनैव रात्रिभक्तविषयया चतुर्भङ्ग्या यतन्ते, अथ गीतार्था मिश्रास्ततः स्थविराया गृहे निक्षिपन्ति।

अमुमेवान्त्यपदं व्याख्यानयति—

पडिसेह अलंभे वा, गीयत्थेसु सयमेव चउभंगो ।

थेरिसगासं तु गिए, पेसे तत्तो व आणीयं ॥ ७६० ॥

सार्थाधिपतिना भक्तपानस्य प्रतिषेधः कृतो, यद्वा-न प्रतिषेधः परं स्तेनैः सार्थः सर्वोऽपि लुण्ठितः अतो भक्तपानं न लभ्यते, ततः सर्वेऽपि गीतार्थास्तदा स्वयमेव परलिङ्गमन्तरेण रात्रिभक्तचतुर्भङ्गी यतनया प्रतिसेवितव्या । गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्। अगीतार्थमिश्रास्ततो यदि तत्र सार्थे भद्रिका स्थविरा विद्यते तदा तस्याः समीपे निक्षिपन्ति, ततः स्थविरायाः सकाशं मृगान् प्रेष्य तेषां पार्श्वादानाययेत्। ततो वा स्थविरासमीपादायान्तमिति भणति।

अथवा—

कुत एयं पल्लीउ, सड्ढा थेरीपडिसत्थिगओ वा ।

नायम्मि य पन्नवणा, न हु असरीरो भवइ धम्मो ।७६१।

वृषभैः स्थविरासमीपादानीते सति यदि ते मृगाः प्रश्नयेयुः कुत एतदानीतं ततो वक्तव्यम्, पल्ल्याः सकाशादिदमानीतम्, दम्मादिश्राद्धैर्वा दत्तं, स्थविरया वा वितीर्णं, प्रतिसार्थिकाद्वा लब्धम्, एवमपि यदि तैर्मृगैर्ज्ञातं भवति ततस्तेषां प्रज्ञापना कर्त्तव्या। भो भद्रा! नास्त्यशरीरविरहितो धर्मः, अत इदं शरीरं सर्वप्रयत्नेन रक्षणीयं, पश्चादिदं चान्यत्र प्रायश्चित्तेन विशोधयिष्याम इति।

अथ पूर्वोक्तानां तिसृणामपि पर्षदां गमनविधिमाह—

पुरतो वच्चंति मिगा, मज्झे वसभा उ मग्गओ सीहा ।

पिट्ठउ वसभाऽन्नेसिं,पडिया स हु रक्खगा दोण्हं॥७६२॥

पुरतो मृगा अगीतार्था मध्ये वृषभाः मार्गत सिंहा गीतार्था व्रजन्ति, अन्येषामाचार्याणां मतेन पृष्ठतो वृषभा व्रजन्ति। किं कारणमित्यत आह ?-द्वयानां मृगसिंहानां बालवृद्धानां वा ये पतिताः परिश्रान्ता ये चासहिष्णवः क्षुधापिपासापरीषहाभ्यां पीडितास्तेषां वृषभाः पृष्ठतः स्थिता व्रजन्ति।

अथवा—

पुरतो अ पासतो पि-ट्ठतो य वसभा हवंति अद्धाणे ।

गणवइपासे वसभा, मगमज्झे नियम वसभेगो॥७६३॥

अध्वनि व्रजतां वृषभाः पुरतः पार्श्वतः पृष्ठतश्च भवन्ति गणपतिराचार्यस्तस्य पार्श्वे नियमादेव वृषभा भवन्ति, मृगाणां च मध्ये नियमादेको वृषभो भवति।

ते च वृषभाः किं कुर्वन्तीत्याह-

वसभा सीहेसु मिए-सुमेव थामावहारिविजढा उ ।

जो जत्थ होइ असहू, तस्स तह उवग्गहं कुणति ॥७६४॥

वृषभाः स्थामापहारविमुक्ता अनिगूहीतबलवीर्याः सन्तो मृगेषु सिंहेषु वा यो यत्र तेषां मध्ये असहिष्णुर्भवति, तस्य तथा उपग्रहं कुर्वन्ति।

कथमित्याह—

भत्ते पाणे विस्सा-मणे य उवगरण देहवहणे य ।

थामावहारविजढा, तिण्णि वि उवगिण्हए वसभा॥७६५॥

मृगाणां सिंहानां वृषभाणां च मध्ये यः क्षुधार्त्तो भवति; तस्य भक्तं प्रयच्छन्ति, पिपासितस्य पानकं ददति, परिश्रान्तस्य विश्रामणां कुर्वन्ति । य उपकरणं देहं वा वोढुं न शक्नोति, तस्य तयोर्वहनं कुर्वन्ति । एवं स्थानापहारविमुक्ता वृषभास्त्रीनपि—मृगसिंहवृषभानुपगृह्णन्ति।

जो सो उवगरणगणो, पविसंताणं अणागयं भणिओ ।

सट्ठाणासट्ठाणे, तस्सुवओगो इदं कमसो ॥ ७६६ ॥

अध्वनि प्रविशतां योऽसौ तलिकादिरुपकरणगणः अनागतं भणितः, तस्येह स्वस्थानास्वस्थाने अचक्षुर्विषयगमनादावुपस्थिते क्रमशः-क्रमेण उपयोगः कर्त्तव्यः । येन यदा प्रयोक्तव्यमिति भावः।

असई य गम्ममाणे, पडिसत्थे तेणसुन्नगामे वा ।

रुक्खाईण पलोयण, असई नंदी दुविहदव्वे ।७६७॥

तत्राध्वनि गम्यमाने भक्तपानस्य प्रतिसार्थे वा स्तेनपल्ल्यां वा शून्यग्रामे वा भक्तपानादिनिमित्तं प्रलोकनं कर्त्तव्यम्। सर्वथा संस्तरणासन्नं द्विविधं परीतानन्तादिभेदाद् द्विप्रकारं यद् द्रव्यं तेन यथा नन्दिः—तपःसंयमयोगानां स्फूर्तिर्भवति तथा विधेयमिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथैनामेव विवरीषुराह—

भत्तेण व पाणेण व, निमंतए णुग्गए व अत्थमिए।
आइच्चो उदिय त्ति व, गहणं गीयत्थसंविग्गे ॥७६८॥

अध्वानं गच्छतां यदि कोऽपि प्रतिसार्थो मिलितः। तत्र केचिद् श्राद्धा भक्तेन वा पानेन वा रात्रावनुद्गते वा अस्तमिते वा सूर्ये निमन्त्रयेयुः यदि सर्वेऽपि गीतार्थाः ततो गृह्णन्ति। अथ गीतार्थमिश्रास्ततो गीतार्था ब्रुवते-गच्छत यूयं, वयमुदित आदित्ये भक्तं पानं गृहीत्वा पश्चादागमिष्याम इति, ततः प्रस्थितेषु मृगेषु गीतार्थास्तत्क्षणमेव गृहीत्वा सार्थमनुगच्छन्ति। स्थिते सार्थे मृगाणां शृण्वतामालोचयन्ति। आदित्य उदित इति मत्वा वयं ग्रहणं कृत्वा समागताः, एवंविधां यतनां गीतार्थः संविग्नः करोति।

किमर्थं गीतार्थसंविग्नग्रहणमित्याह—

गीयत्थग्गहणेणं, सामाए गिण्हते भवे गीत्रो।
संविग्गग्गहणेणं, तं गेण्हंतो वि संविग्गो ॥ ७६९ ॥

गीतार्थग्रहणेन इदमावेदितं, यो गीतार्थो भवति स एवं श्यामायां—रात्रौ गृह्णाति, नागीतार्थः। संविग्नग्रहणेन तु तद्रात्रिभक्तं गृह्णन्नपि असौ संविग्न एवेत्युक्तं भवति। गतं प्रतिसार्थद्वारम्।

अथ स्तेनपल्लीद्वारं तस्यां च पिशितं
सम्भवति, तत्राऽयं विधिः-

बेइंदियमाईणं, संथरणे चउलहुं व सविसेसा।
ते चेव असंथरणे, विवरीयसभावसाहारे ॥ ७७० ॥

यदि संस्तरणे द्वीन्द्रियादीनां पुद्गलं गृह्णन्ति, तदा चतुर्लघवः। सविशेषास्तपःकालविशेषिताः। तद्यथा—द्वीन्द्रियपुद्गलं गृह्णति सति चत्वारो लघवः, तपसा कालेन चतुर्लघुकाः। त्रीन्द्रियपुद्गलेन त एव कालेन गुरुकास्तपसा लघुकाः। चतुरिन्द्रियपुद्गलेन तपोगुरुकाः। अथापवादव्याप्यापवाद उच्यते द्वीन्द्रियादीनां पुद्गलमधिकतरेन्द्रियपुद्गलादधिकतरबलम्, ततो यत् स्वभावेनैव साधारणं तदुपगृह्णन्ति—

जत्थ विसेसं जाणं-ति तत्थ लिंगेण चउलहू पिसिए।
अन्नाए ण उ गहणं, सत्थम्मि वि होइ एमेव ॥७७१॥

यत्र ग्रामे विशेषं जानन्ति यथा-साधवः पिशितं न भुञ्जते, तत्र यदि स्वलिङ्गेन पिशितं गृह्णन्ति तदा चतुर्लघवः, अतोऽज्ञातेनैव ग्रहणं कार्यं परलिङ्गेनेत्यर्थः। तेन पल्ल्यादीनामभावे सार्थेऽपि पुद्गलग्रहणे एष च क्रमो विज्ञेयः।

अथ शून्यग्रामद्वारमाह-

अद्धाणे संथरणे, सुन्ने दव्वम्मि कप्पई गहणं।
लहुत्रो लहुया गुरुगा, जहन्नए मज्झिमुक्कोसे ॥७७२॥

अध्वप्रतिपन्नानामसंस्तरणे जाते शून्यग्रामे तं सार्थमायान्तं दृष्ट्वा चौरसेना समागच्छतीति शङ्कयोद्वसिते ग्रामे जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नस्य द्रव्यस्य आहारादिग्रहणं कर्तुं कल्पते, अथ संस्तरे गृह्णाति तत इदमायातं प्रायश्चित्तं-जघन्ये मासलघु, मध्यमे चत्वारो लघवः उत्कृष्टे चत्वारो गुरवः।

आह-जघन्यमध्यमोत्कृष्टान्येव वयं न जानीमः। अतो
निरूप्यतामेतत्स्वरूपम्। उच्यते-

उक्कोसं विगईओ, मज्झिमगं होइ कूरमाईणि।
दोसऽन्नाइ जहन्नं, गिण्हंते आयरियमादी ॥ ७७३ ॥

उत्कृष्टं द्रव्यं विकृतयो—दधिदुग्धघृतादयः, मध्यमं द्रव्यं-कूरकुसणादीनि, जघन्यं द्रव्यम्-दोषान्नादि। एतानि गृह्णतामाचार्यादीनामाज्ञादयो दोषाः।

अथ पुरुषविभागेन प्रायश्चित्तमाह—

अद्धाणे संथरणे, सुन्ने गामम्मि जो उ गिण्हेज्जा।
छेदादी आरोवण, नेयव्वं जाव मासलहू ॥ ७७४ ॥

अध्वनि संस्तारणे शून्यग्रामे विकृत्यादि द्रव्यं यो गृह्णीयात्तस्य छेदमादौ कृत्वा मासघुकं यावदारोपणा ज्ञातव्या।

इदमेव स्पष्टतरमाह-

छेदो छग्गुरु छल्लहु, चउगुरु चउलहु य गुरुलहू मासो।
आयरियवसभभिक्खू, उक्कोसे मज्झिमजहन्ने ॥७७५॥

आचार्यस्य विकृत्यादिकमुत्कृष्टद्रव्यं शून्यग्रामे अन्तद्रव्यं गृह्णतः छेदः, अदृष्टं गृह्णतः षड्गुरुकाः, बहिर्दृष्टे षड्लघुकाः, अदृष्टे चतुर्गुरवः, जघन्यं दोषान्नादिकमन्तर्दृष्टं गृह्णतः षड्लघुकाः चतुर्गुरवः, बहिर्दृष्टे चतुर्गुरवः, अदृष्टे चतुर्लघुकाः, एवमाचार्यस्योक्तम्। वृषभस्यानयैव चारणिकया षड्गुरुकादारब्धं मासगुरुके, भिक्षोस्तु षड्लघुकादारब्धं मासलघुके तिष्ठति। यत एवमतः संस्तरेण ग्रहीतव्यम्। असंस्तरेण न ग्रहीतव्यम्।

असंस्तरेण गृह्णतां यतनामाह—

विलओलए व जायइ, अहवा कडवालए अणुन्नवए।
इयरेण व सत्थभया, अन्नभया वुट्ठिते कोट्टे ॥७७६॥

'विलओलग त्ति' देशीपदत्वात् लुण्ठाका यैः स ग्रामो मुषित इत्यर्थः। तत्र शून्यग्रामे विकृत्यादि द्रव्यं याचेत। अथवा-कटपालका ये तत्र वृद्धादय', अजङ्गमाः गृहपालकाः स्थिताः नष्टास्तान् तज्ज्ञापयेत् 'इयरेण व त्ति' स्वलिङ्गेन अलभ्यमाने इतरेण-परेण परलिङ्गेनाऽपि गृह्णन्ति। तथा कोट्टं नाम यद् द्रव्यं चतुर्वर्णजनपदमिश्रं भिन्नदुर्गं वसतिः तस्मिन्नपि सार्थभयाद्वा अन्यभयाद्वा-परचक्रगमादिलक्षणादुत्थिते उद्वसीभूते सति जघन्यादिरूपद्रव्यस्य ग्रहणं कल्पते।

तत्रेयं यतना—

उद्दूढसेसवाहूहिँ, अंतो वी पंत गिण्हतं दिट्ठं।
बहिअंततओ दिट्ठं, एवं मज्झे तदुक्कोसे ॥ ७७७ ॥

'उद्दूढं ति' देशीवचनत्वान्मुषितस्य यच्छेषं लुण्ठकैर्भुक्त्वा ग्रामादेर्बहिः परित्यक्तं तज्जघन्यमदृष्टं गृह्णन्ति, तस्यासति ग्रामादेरन्तःप्रान्तं दृष्ट्वा ततो ग्रामादेरन्तरेऽपि प्रान्तं दृष्ट्वा गृह्णन्ति। तथा लाभे मध्यमेऽप्येवमेवोच्चारणीयम्, तदप्राप्तावनुत्कृष्टमप्यनयैव चारणिकया ग्रहीतव्यम्। अथवा-किमनेन जघन्यादिविकल्पदर्शनेन।

तुल्लम्मि अदत्तम्मि, तं गिण्हसु जेण आवइं तरसि।
तुल्लो तत्थ अवाओ, तुल्लबलं वज्जए तेणं ॥ ७७८ ॥

जघन्यमध्यमोत्कृष्टे तुल्ये-समाने अदत्तदोषे सति तद्विकृत्यादिकं द्रव्यं गृहाण येन आपदमसंस्तरणलक्षणं तरसि-पारं प्राप्यसि, यतस्तुल्य एव तत्र संयमात्मविराधनारूपोऽपायः, तेन हेतुना स्वबलं दोषान्नादिद्रव्यं वर्जयेः। गतं शून्यग्रामद्वारम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ 'रुक्खाईण पलोयण' त्ति पदं व्याख्यानयति-

फासुग जोणिपरित्ते, एगट्ठिय बद्धभिन्नभिन्ने य ।
ब(द्ध)ट्ठियें वि एवं, एमेव य होइ बहुबीए ॥ ७७६ ॥

प्राशुकम्—अचित्तीभूतं, परीत्ता योनिरस्येति परीत्तयोनिका,गाथायां प्राकृतत्वाद् व्यत्यासेन पूर्वापरनिपातः।एकास्थिकम्-एकबीजम्,अथवा-एकास्थिकं नाम अद्याप्यबद्धबीजम्, अनिष्पन्नमित्यर्थः। भिन्नम्-विदारितम् एतेन प्रथमो भङ्गः। 'अभिन्ने य त्ति' अभिन्नम्-अविदारितम् अनेन द्वितीयो भङ्ग उपात्तः। उच्चारणविधिः पुनरेवम्—प्राशुकं परीत्तयोनिकम् एकास्थिकम् अबद्धास्थिकं, परीत्तयोनिकम् एकास्थिकम् अभिन्नम्। एवं बद्धास्थिकेऽपि द्वौ भङ्गौ वक्तव्यौ। एते एकास्थिके चत्वारो भङ्गा लब्धाः। बहुबीजेऽप्येवमेव चत्वारो लभ्यन्ते। जाता अष्टौ भङ्गाः। एते परीत्तयोनिपदममुञ्चाना लब्धाः। एवमेवानन्तयोनिपदेनाप्यष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते, जाताः षोडश भङ्गाः। एते प्राशुकपदेन लब्धाः। एवमेवाप्राशुकपदेनाऽपि षोडशावाप्यन्ते,सर्वसङ्ख्यया जाता द्वात्रिंशद्भङ्गाः। एते च वृक्षस्याधस्तात्पतितं प्रलम्बमधिकृत्य मन्तव्याः।

एमेव होइ उवरिं, एगट्ठिय तह य होइ बहुबीए ।
साहारणस्स भावा, आदीए बहुगुणं जं च ॥ ७८० ॥

एवमेव वृक्षस्योपर्यपि एकास्थिकपदे, तथैव बहुबीजपदे, उपलक्षणत्वात्प्राशुकादिशेषपदेषु च द्वात्रिंशद्भङ्गाः कर्त्तव्याः। अथ यो यः पूर्वो भङ्गकः स प्रथममासेवितव्यः, सर्वथा वाऽधस्तात्पतितानां प्रलम्बानामप्राप्तौ वृक्षोपरिवर्त्तिप्रलम्बविषया अपि द्वात्रिंशद्भङ्गकाः यथाक्रममेवमेवावसितव्याः। अथापवादस्य अपवाद उच्यते-स्वभावात्-प्रकृत्यैव साधारणं शरीरोपष्टम्भकहरीतकद्रव्यमेकास्थिकमनेकास्थिकं वा, बद्धास्थिकं परीत्तमनन्तं वा, तदुत्क्रमेणाप्यादत्ते-गृह्णाति यद्यस्मात्तस्यामवस्थायां तदेव बहुगुणं संयमादीनां बहूपकारकम्। बृ० १ उ० ३ प्रक०। (अथ द्वारगाथान्तर्गतं नन्दिपदम् 'णंदि' शब्दे चतुर्थभागे १७५३ पृष्ठे व्याख्यातम्)

नन्दिद्रव्यं द्विविधम्, तद्यथा—

परिनिट्ठिय जीवजढं, जलयं थलयं अचित्तमियरं च ।
परित्ते तरं च दुविहं, पाणगजयणं अतो वोच्छं ॥७८२॥

द्विधा द्रव्यं-परिनिष्ठितम्,जीवविप्रमुक्तं च। परिनिष्ठितं नाम यत्परार्थमचित्तीकृतम्, जीवविप्रमुक्तं तु साध्वर्थमचित्तीकृतम्,आधाकर्मेति हृदयम्। आह च चूर्णिकृत्-"परिनिट्ठियं ति जं परकडमचित्तं,जीवजढं ति आहाकम्मं।" यद्वा-द्विविधं द्रव्यम्-जलजं,स्थलजं चेति। अथवा-अचित्तेतरभेदाद् द्विधा,तत्राऽचित्तं नाम-यन्न परार्थमचित्तीकृतं,नापि संयमार्थं,केवलमायुःक्षपणादचित्तीभूतम्। यत्पुनरायुर्धारयति तत्सचित्तम्। अथवा-परीत्तं-प्रत्येकम् इतरदनन्तमिति वा द्विविधं तदेव। मुक्ता तावदाहारयतना। अथ पानकयतनामत ऊर्ध्वं वक्ष्ये।

यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

तुवरे फले अ पत्ते, रुक्खसिलातुप्पमद्दणाईसुं ।
पासंदणे पवाए, आयवतत्ते वहे अवहे ॥ ७८३ ॥

अध्वनि वर्त्तमानैः काञ्जिकादिप्राशुकपानकाप्राप्तावीदृशानि ग्रहीतव्यानि, तद्यथा—तुम्बरफलानि हरीतकीप्रभृतीनि तुवररसपत्रादीनि तैः परिणामितम्,तथा 'रुक्खे त्ति' वृक्षकोटरे कटुकफलपत्रादिपरिणामितम्, एवंविधस्याभावे 'सिल त्ति' सिलाजतुभावितम्, तदभावे 'तुप्प त्ति' मृतककलेवरवशाघृतादिभिः परिणामितम्, तदप्राप्तौ 'मद्दणाईसु त्ति' हस्त्यादिमर्दनेनाक्रान्तम्, आदिशब्दो हस्त्यादीनामेवानेकभेदसूचकः। तदभावे प्रस्यन्दनं-निर्झरणं तत्पानकं प्रपातो नाम यत्र पर्वतात्पानीयं निपतति यथा—उज्जयन्तादिगिरिः, तदभावे आतपेन यत्तप्तं तत्प्रथममवहमानकं पश्चात्तदेव वहमानकं ग्राह्यमिति।

अथ 'मद्दणाईसु त्ति' पदं व्याचष्टे—

जड्डे खग्गे महिसे, गोणे गवए य सूयर मिगे य ।
उप्परिवाडीगहणे, चाउम्मासा भवे लहुगा ॥ ७८४ ॥

'जड्डो' हस्ती, खड्गो नाम-एकशृङ्गः आटव्यतिर्यग्विशेषः, गोमहिषौ प्रसिद्धौ, गवयो-गवाकृतिराटव्यजीवविशेषः, शूकरमृगौ प्रसिद्धौ, एतैर्जड्डादिभिर्मर्दनेन परिणामितं पानकं यथाक्रमं ग्रहीतव्यम्। अथोत्परिपाट्या यथोक्तक्रममुल्लङ्घ्य ग्रहणं करोति ततश्चत्वारो लघुका भवेयुः।

सूत्रम्—

नन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिएणं सेज्जासंथारएणं ॥४४॥

'न कल्पते रात्रौ वा विकाले वेति' योऽयं प्रतिषेधः स एकस्मात्पूर्वप्रत्युपेक्षितात् शय्यासंस्तारकादन्यत्र। इहान्यत्रशब्दः परिवर्जनायाम्,यथा-'अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां, सर्वे योधाः पराङ्मुखाः'। द्रोणभीष्मौ वर्जयित्वेत्यर्थः। ततश्चैकं शय्यासंस्तारकं विहायापरं किमपि रात्रौ ग्रहीतुं न कल्पते इति सूत्रसंक्षेपार्थः।

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

सिज्जासंथारगहणे, चउरो मासा हवंति उग्घाये ।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमायाए ॥ ७८५ ॥

शेरतेऽस्यामिति शय्या—वसतिः। सैव शय्या संस्तारकः, यद्वा-शय्या वसतिरेव संस्तारको द्विधा-(वृ०)(इति 'संथार' शब्दे वक्ष्यते) शय्योपलक्षितः संस्तारकः शय्यासंस्तारकः। यद्यपि सूत्रे रात्रौ ग्रहणमनुज्ञातं तथाऽप्युत्सर्गतो न कल्पते। यदि गृह्णाति ततश्चत्वारो मासा, उद्घाताः—प्रायश्चित्तम्, आज्ञादयश्च दोषाः। विराधना च संयमात्मविषया।

तामेव भावयति—

छक्कायाण विराहण, पासवणुच्चारमेव संथारे ।
पक्खलणखाणुकंटग-विसम दरी-वाल गोणे य॥७८६॥

रात्रावप्रत्युपेक्षितायां भूमौ उच्चारं प्रश्रवणं वा व्युत्सृजतः षट्कायानां पृथिव्यादीनां विराधना। अथैतद्दोषभयान्न व्युत्सृजति तत आत्मविराधना, यत्र वा व्युत्सृजति तत्र बिलान्निर्गत्य दीर्घजातीयेन भक्ष्येत एवमप्यात्मविराधना। 'संथारे त्ति' अप्रत्युपेक्षितायां भूमौ संस्तारकं प्रक्षिपन्नेवं षट्कायविराधना, बिलाद् आत्मविराधनाऽपि। तथा स्थाणुकण्टके तत्र प्रस्खलनं भवेत् कण्टकैर्वा विध्येत, विषमे—निम्नोन्नते दरीषु वा बिलेषु प्रस्खलेत्-प्रपतेद्वा, व्यालाः-सर्पास्तैर्दश्येत, गोबलीवर्दस्तेनाभिघातो भवेत्।

किञ्च-

एरंडइय सेणा, गोम्मि य आरक्खि तेणगा दुविहा ।
एए हवंति दोसा, वेसित्थिणपुंसएसुं वा ॥ ७८७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'एरंडईय साणे त्ति' हडक्कयितः श्वा तेन खादेत, गौल्मिकैर्वाद्रस्थानकैः रक्षपालैः-आरक्षिकैर्वा चौरग्राहं गृह्यते । स्तेनका द्विविधाः शरीरस्तेनाः उपधिस्तेनाश्च, तैरपह्रियेत साधवो वा ह्रियेरन् । एते दोषा रात्रौ शय्यासंस्तारकग्रहणे भवन्ति । वेश्यास्त्रीनपुंसकेषु वा वेश्यापाटके नपुंसकपाटके वा स्थितानां रात्रौ परिवर्त्तयतां स्वाध्यायशब्दं श्रुत्वा लोकः प्रवचनावर्णवादं कुर्यात् । अहो साधवस्तपोवनमासेवन्ते । यत एते दोषा अतो न रात्रौ शय्यासंस्तारको ग्रहीतव्य इति ।

आह यद्येवं ततः—

सुत्तं निरत्थगं का-रणिकमिणमो ऽद्धाण निग्गया साहू ।
मरुगाण कोट्ठगम्मी, पुव्वदिट्ठम्मि संझाए ॥ ७८८ ॥

सूत्रं निरर्थकं प्राप्नोति, सूरिराह—न भवति सूत्रं निरर्थकम्, किं तु कारणिकम् । किं पुनः कारणमित्याह—इदमनन्तरमेवोच्यमानम् । अध्वनिर्गताः केचन साधवोऽस्तमनवेलायां ग्रामं प्राप्ताः, तत्र तैर्मरुकाणां कोष्ठकोऽध्ययनोपरतो दृष्टः परं तदीयस्वामी तत्र सन्निहितो न विद्यते, ततस्ते साधवस्तं मरुककोष्ठकम् उच्चारप्रस्रवणकालभूमिकाश्च प्रत्युपेक्ष्य स्वामिनमध्यापकं समागतं याचन्ते, याचित्वा च तत्र कोष्ठके पूर्वदृष्टे सन्ध्यायां गृह्यमाणे सूत्रनिपातो द्रष्टव्यः । एवं सन्ध्यालक्षणं रात्रिमङ्गीकृत्योक्तम् । न केवलं सन्ध्यायां; किं तु विकालेऽपि शय्यासंस्तारकस्वामीभिः कारणैर्ग्रहणं कल्पते ।

दूरे व अन्नगामो, उग्घाया तेण सावय नई वा ।
दुल्लभवसहिग्गामे, रुक्खाइठियाण समुदाणं ॥ ७८९ ॥

यतो ग्रामात् प्रस्थिता ततो यत्र गन्तुमीप्सितं सोऽन्यग्रामाद् दूरे, अथवा-उद्घाताः-परिश्रान्तास्ततो विश्राम्यम् । ततः समायाताः स्तेनाः स्वापदभयाद्वा सार्थमन्तरेण गन्तुं न शक्यते स च सार्थश्चिरेण लब्धः, नदी वा प्रत्यूढा । एतैः कारणैर्यस्मिन् ग्रामे प्रस्थितास्तमसम्प्राप्ता अपान्तरालग्रामे भिक्षावेलायां प्राप्तास्तत्र च वसतिर्दुर्लभा, ततो मार्गयद्भिरपि ततः क्षणमलब्ध्वा, ततो वृक्षादिमूले बहिःस्थिताः सर्वेऽपि समुदानम्-भैक्षं हिण्डितवन्तः, तैश्च हिण्डमानैरमूषां वसतीनाम् एकतरा दृष्टा भवति ॥

कम्मारणंतदारग, कलाय समभुञ्जमाणिये दिट्ठा ।
तेसु गएसु वि संते, जहि दिट्ठा उभयभोमाई ॥ ७९० ॥

कर्मकरा लोहकारास्तेषां शाला कर्मारशाला नन्तकानि वस्त्राणि तानि उद्व्यूयन्ते यत्र सा नन्तकशाला, दारका बालकास्ते यत्र निवसन्तः पठन्ति सा दारकशाला लेखशालेत्यर्थः । कलादाः सुवर्णकारास्तेषां शाला कलादशाला, सभा बहुजनोपवेशनस्थानम् यद्वा-सभाशब्दः शालापर्यायः, अतः प्रत्येकमभिसम्बध्यते कम्मारसभा नन्तकसभा इत्यादि एतेषामेकतराऽपि वा भुज्यमाना दृष्टाः । ततो व्यतीतायां सन्ध्यायां तेषु लोहकारादिषु गतेषु तत्र कर्मकरशालादौ प्रविशन्ति । तत्राऽपि यदि वसतः एतद् उभयभूमिके उच्चारप्रस्रवणभूमिकालक्षणे आदिशब्दात्-कालभूमिश्च यत्र दृष्टा तत्र रजन्यामपि गन्तुं कल्पते । तत्र च सूत्रतो निपात एवमादिके सूत्रे भूयोऽप्यर्थतो द्वितीयपदमुच्यते । पूर्वमप्रत्युपेक्षितेऽपि संस्तारकोच्चारप्रस्रवणभूमिषु तिष्ठन्ति ।

कथमित्याह—

मज्झे य देउलाई, बाहिं ठवियाण होइ अइगमणं ।
सावय मक्कोडग ते-ण वाल मसयऽयगरे साणे ॥७९१॥

मध्ये च ग्रामादेर्मध्यभागे यद्देवकुलम् आदिग्रहणात्-कोष्ठकशाला वा तत्र दिवसतो विधिना स्थिताः । अथवा-ग्रामादेर्बहिर्देवकुलादौ सकलमपि दिवसं स्थिताः, ततो लोकस्तत्र स्थितान् दृष्ट्वा ब्रूयात् 'सावय' इत्यादि अत्र देवकुलादौ रात्रौ स्वापदः सिंहव्याघ्रादिस्तद्भयं भवति, अतो नात्र भवतां वस्तुं युज्यते । तथा मर्कोटका अत्र रात्रावुत्तिष्ठन्ति, स्तेना वा द्विविधा अत्र रजन्यामभिपतन्ति, व्यालो वा सर्पः स खादति, मशका वा निशायामत्राभिद्रवन्ति, अजगरो वाऽत्र रात्रौ गिलति, श्वा वा समागत्य दशति । एतैर्व्याघातकारणै रात्रावन्यस्यां वसतावतिगमनं प्रवेशो भवति ।

इदमेव स्फुटतरमाह—

दिवसट्ठिया वि रत्तिं, दोसे मक्कोडगाइए नाउं ।
अंतो वयंति अन्नं, वसहिं बहिया व अंतो उ ॥ ७९२ ॥

देवकुलादौ दिवसतः स्थिता अपि रात्रौ मर्कोटकादीन् दोषान् ज्ञात्वा यदि अन्तः-ग्रामाभ्यन्तरे स्थितास्ततो ग्रामान्तर्वर्तिनीमेवान्यां वसतिं व्रजन्ति, तदप्राप्तौ बाहिरिकायां गच्छन्ति । दिवसतो बहिर्देवकुलादिषु स्थिताः ततस्तत्राऽपि रात्रौ पूर्वोक्तान् दोषान् मत्वा बहिर्बाहिरिकाया वा अन्तः समागच्छन्ति ।

अथोक्तमेवार्थमन्याचार्यपरिपाट्या प्रतिपादयति—

पुव्वट्ठिए व रत्तिं, दट्ठूण जणो भणाइ मा एत्थं ।
निवसह इत्थं सावय-तक्कर माई उ अहिलिंति ॥ ७९३ ॥

देवकुलादौ पूर्वस्थितान् साधून् रात्रौ जनो भणति-यथा माऽत्र निवसत, यतोऽत्र रात्रौ स्वापदतस्करादयोऽभिलीयन्ते समागच्छन्ति ।

इत्थी नपुंसओ वा, खंधारो आगतो त्ति अइगमणं ।
गामाणुगामिएहिं, होज्ज विगालो इमेहिं तु ॥ ७९४ ॥

लोको ब्रूयात्-अत्र देवकुलादौ रात्रौ स्त्री वा नपुंसको वा समागत्योपसर्गं करोति, स्कन्धावारो वा आगतः, एवमादिभिः कारणैर्बाहिरिकायाः सकाशादन्तरतिगमनं-प्रवेशं कुर्युः-ग्रामाभ्यन्तराद्वा बहिर्गच्छेयुः । एवं तावदध्वनिर्गतानां यतनोक्ता । अथ विहरतां प्रतिपाद्यते-(गामाणुगामि इत्यादि) मासकल्पविधिना ग्रामानुग्रामं विहरन्ति तेषामप्येभिर्वक्ष्यमाणकारणैर्विकालो भवेत् ।

तान्येवाऽऽह—

नितिगिट्ठि तेण सावय,-फिडिय गिलाणेव दुब्बल नई वा ।
पडिणीय सेह सत्थं, ण तु पत्ता पढमबितियाई ॥ ७९५ ॥

यत्र क्षेत्रे मासकल्पः कृतस्तस्माद्यमन्यं ग्रामं प्रस्थिताः स व्यतिकृष्टो दूरदेशवर्त्ती, स्तेना वा द्विविधाः-उपधिस्तेना श्वापदा वा पथि वर्त्तन्ते तद्भयाच्चिरलब्धसार्थेन सहागताः स्फिटिता वा सार्थात्परिभ्रष्टास्ततो यावदनुमार्गमवतीर्णास्तावद् दूरतरं समजनि । यद्वा-साधुः कोऽपि स्फिटितः स यावदन्वेषि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्तावद्बहिरीभूतं, ग्लानो वा साधुरध्वनोत्थितः शनैः शनैः समागच्छति, दुर्बलो वा स्वभावेनैव कश्चित् सोऽपि न शीघ्रं गन्तुं शक्नोति, नदी वा पूर्णा यावदपरिच्यते तावत्प्रतीक्ष्यमाणाः स्थिता यदा नदी यावत्परिच्छियते तावद्विलम्बो लग्नः, प्रत्यनीकैर्वा पन्थाः समंततो रुद्धः ततो यावदपरेण मार्गेणाऽऽगम्यते तावद् दूरतरं जातं, शैक्षो वा कश्चिदुत्पन्नः स पथि प्रतीक्षितः, अथवा-तस्य दिवा व्रजतः सागारिकः सार्थो वा शनैः शनैरागच्छति, यद्वा-तं सार्थं प्रतीक्षमाणानां विकालः सञ्जातः। एतैः कारणैः प्रथमद्वितीयपौरुष्योः आदिग्रहणात्तृतीयचतुर्थ्योरपि पौरुष्योर्नतु-नैव प्राप्ताः भवेयुः । अर्थादापन्नं विकालं रात्रौ प्राप्ताः। ततश्च तदानीं प्राप्तैस्तैर्विधिना प्रवेष्टव्यं नाऽविधिना ।

यत आह—

अइगमणे अविहीए, चउगुरुगा पुव्ववन्निया दोसा ।
आणाइणो विराहण, नायव्वा संजमायाए ॥ ७९६ ॥

यद्यविधिना अतिगमनं प्रवेशं कुर्वन्ति ततः चत्वारो गुरुकाः पूर्ववर्णिताश्च षट्कायविराधनादयो दोषा अत्रावसातव्याः, आज्ञादयश्च दोषा, विराधना च संयमात्मविषया ज्ञातव्या । यत एवमतो विधिना प्रवेष्टव्यम् ।

कः पुनर्विधिरित्यत आह—

सव्वे वा गीयत्था, मीसा वा अजयणाएँ चउगुरुगा ।
आणाइणो विराहण, पुव्वं पविसंति गीयत्था॥७९७॥

ते साधवो यदि सर्वेऽपि गीतार्थास्ततः सर्व एव प्रविशन्ति, तदा चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयो दोषाः, विराधना च संयमात्मविषया । का पुनर्यतना ? इत्यत आह-पूर्वं प्रथमं तावद् गीतार्थाः प्रविशन्ति, पश्चादगीतार्था इति संग्रहगाथासंक्षेपार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

जइ सव्वे गीयत्था, सव्वे पविसंति ते वसहिमेव ।
विहि-अविहिए पवेसो,मीसं अविही य गुरुगा उ॥७९८॥

यदि ते साधवः सर्वे गीतार्थास्ततः सर्वेऽपि ते समकमेव प्रविशन्ति, अथागीतार्थमिश्रास्ते ततो द्विधा प्रवेशो विधिना अविधिना च । यद्यविधिना प्रविशन्ति ततश्चतुर्गुरुकाः अविधिर्नाम—यदगीतार्थमिश्राः सर्वेऽपि प्रविशन्ति ।

कः पुनस्तत्र दोषो भवतीत्युच्यते—

विप्परिणामो अप्प-च्चओ य दुक्खं व चोदणा होइ ।
पुरतो जयणा करणं,अकरणे सव्वे वि खलु चत्ता ॥७९९॥

यदि मृगाणां पुरतो ज्योतिरानयनादिकं वक्ष्यमाणां यतनां कुर्वन्ति ततस्तेषां विपरिणामो भवेत् , न वर्त्तते अग्निकायसमारम्भं कर्तुमित्युपदिश्य सम्प्रति तमेव स्वयं समारभते । अप्रत्ययोऽपि तेषामुपजायते; यथैतदलीकं तथा सर्वमप्यमीषामेवंविधमिति, ततश्च प्रतिगमनादयो दोषाः । तथा तेषां मृगाणां पश्चादग्निकायसङ्घट्टादि कुर्वतामपरां वा सामाचारीं वितथामाचरतां दुःखनोदना भवति । तदा स्वयमेव अग्निकायसमारम्भं कृत्वा सम्प्रत्यस्मान् वारयत इत्यादिसम्मुखवल्गनतः सम्यक् शिक्षां न प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । अथैतद्दोषभयादेनां ज्योतिर्यतनां न कुर्वन्ति,ततः सर्वेऽप्याचार्यादयः परित्यक्ता भवन्ति, सर्पश्वापदादिभिरात्मविराधनासद्भवात्; तस्माद्विधिना प्रवेष्टव्यम् ।

तमेव विधिमाह—

बाहिं काऊण मिए, गीया पविसंति पुंछणे घेत्तुं ।
देउलसभपरिभुत्ते, मग्गंति सजोइए चेव ॥ ८०० ॥

मृगान् बहिः कृत्वा—स्थापयित्वा प्रोञ्छनादि दारुदण्डकानि गृहीत्वा गीतार्थाः प्रविशन्ति, प्रविश्य च देवकुलसभादीनि परिभुज्यमानानि सयोगेनैव ज्योतिःसहितानि मार्गयन्ति । अथ पूर्वं कृतं ज्योतिस्तत्र न प्राप्यते ततस्तदानयन्ति आनाययन्ति वा समुच्चारादिभूमिकाः प्रत्युपेक्ष्य मृगानानयन्ति ।

परिभुज्जमाण असई, सुन्नागारे वसंति सारविए ।
अहणुव्वासिय सकवा-ड निव्विले निचले चेव॥८०१॥

परिभुज्यमाना वसतिर्न लभ्यते तदा शून्यागारम्-शून्यगृहं गवेषयन्ति, तच्चाधुनोद्वासितं साम्प्रतमेवोद्वसीभूतं सकपाटं कपाटयुक्तं निर्विलम्-सर्पादिविलरहितं निश्चलं-दृढं नयन्ति प्रकामम् । अत्र चतुर्भिः पदैः षोडश भङ्गा भवन्ति । एषां च मध्ये यः प्रथमो भङ्गः तदुपेते शून्यगृहे सारविते-प्रमार्जिते वसन्ति ।

अत्र सर्वेषु गीतार्थेषु विधिमाह—

जइ नाऽऽणयंति जोइं,गिहिणो तो गंतु अप्पणा आणे।
कालोभयसंथारग, भूमीओ पेहए तेणं ॥ ८०२ ॥

यदि गृहिणः प्रेरिता अपि ज्योतिर्नानयन्ति तत आत्मनाऽपि गत्वा आनयन्ति, ततस्तेन ज्योतिषा कालोभयसंस्ताराणां भूमिं प्रत्युपेक्षेत, कालभूमिं संस्तारकभूमिं चेत्यर्थः ।

असई य पईवस्स, गोवालाकंबुदारदंडेणं ।
विलपुंछणेण ढकण, मंतेण व जा पमायं तु ॥ ८०३ ॥
एमेव य भूमितिए, हरितादी खाणुकंटविलमादी ।
दोसदुगवज्जणट्ठा, पेहिय इतरे पवेसंति ॥ ८०४ ॥

अथ प्रदीपो न प्राप्यते यथा सर्वेषां गीतार्थानां विधिरुक्तस्तथा गीतार्थमिश्राणामप्येवमेव ज्ञातव्यः, नवरं तानगीतार्थान् बहिः—स्थापयित्वा गीतार्थाः प्रविश्य भूमित्रिके संज्ञायककालभूमिलक्षणे रहितबीजादीन् जन्तून् स्थाणुकण्टकविलादींश्च प्रत्यपायान् दोषद्वयवर्जनार्थम्—संयमात्मविराधनालक्षणदोषद्वयपरिहारार्थं प्रत्युपेक्ष्य इतरान् मृगान् वसतिं प्रवेशयन्ति ।

ठाणासती य बाहिं-तेणग दोच्चा व सव्वे पविसंति ।
गुरुगा उ अजयणाए, विप्परिणामाइ ते चेव ॥ ८०५॥

यदि बहु स्थानं नास्ति, यत्र मृगाः स्थाप्यन्ते 'तेणग दोच्चा व त्ति' स्तेनकभयं वा बहिर्वर्त्तते ततः सर्वे एव प्रविशन्ति, प्रविष्टाश्च यदि यतनां न कुर्वन्ति ततश्चतुर्गुरुकाः त एव विपरिणामाः—प्रत्यपायादयो दोषाः ।

अथ यतनामेव च वयं न जानीम इति प्रश्नावकाशमाशङ्क्य तत्स्वरूपमाह—

अवगीयत्थविमिस्साणं,जयणे इमा तत्थ अंधकारम्मि ।
आणणणे भेगेणं, अणागयं कोइ वारेइ ॥ ८०६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अगीतार्थमिश्राणां तत्र वसतावन्धकारे इयं यतना-'आणणोभोगेणं ति ' तथा ते मृगा नाभोगयन्ति तथा दीपस्य अन्यव्यपदेशेनानयनं विधेयम् । अथ गृहस्थोऽन्यव्यपदेशेनोक्तोऽपि दीपं गृहीत्वा नागच्छति ततस्तमनागतं गृहमपि गत्वा प्रज्ञापयन्ति,यथा-दीपमानय । यदि कश्चिद्वारयति ततस्तस्य शिक्षा प्रदातव्या । विशेषचूर्णौ तु—'अणणाणे कोइ वारे त्ति' पाठः। अन्येन गृहस्थेनाग्नेरानयने यदि कोऽपि अगीतार्थो वारयति ततस्तस्य नोदना कर्त्तव्या ।

इदमेव भावयति—

अम्हेहि अभणिओ अ-प्पणाणु आओ णु अम्ह अट्ठाए ।
आणेइ इहं जोइं, अयगोलं मा णिवारेह ॥ ८०७ ॥

यदा गृही दक्षतया स्वयमेव ज्योतिरानयति , तं च कोप्यगीतार्थो वारयति,तदा स वक्तव्यः, अस्माभिरभणितः स्वयोगेन यद्येष गृहस्थ आत्मनोऽर्थं नुरिति संशये, 'उताहो' अस्मदर्थं ज्योतिरानयति, ततः किमस्माकम् एतदीयया चिन्तया, अत एव तमयोगोलकल्पं मा वारयत ।

गिहिणं भणंति पुरओ, अइतमसमिणं न पस्सिमो किंचि ।
आणिंति जइ अवुत्ता, तहेव जयणा निवारेंते ॥८०८॥

अथ ते गृहस्थाः स्वयं नानयन्ति , ततो गीतार्था अन्यव्यपदेशेन तेषां गृहिणां पुरतो भणन्ति—अतितम-अतीवान्धकारमिति न पश्यामो वयं किञ्चिदपीति । यद्येवमनुक्ताः साक्षादभणिताः सन्तो ज्योतिरानयन्ति ; ततः सुन्दरमेव । यश्च तत्र निवारयति; तस्य यतनया तथैव नोदना कार्या ।

अथ ते गृहस्था अन्यव्यपदेशेनोक्तं नावबुध्यन्ते
ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

गंतूण य पन्नवणा, आणण तह चेव पुव्वभणियं तु ।
भणण ऑदायणा असई, पच्छायणामल्लगाईसुं ।८०९।

गीतार्थैर्गत्वा चशब्दाद् अगत्वाऽपि तत्र स्थितैर्गृहिणां प्रज्ञापना विधेया,यथा-न पश्यामो वयमत्र बिलादिकं स्थाणुं कण्टकादिकं वा,अत उद्योतो यथा भवति,तथा कुरुत। एवं परिस्फुटमभिहिताः सन्तः ते प्रदीपस्यानयनं कुर्वन्ति, यद्यगीतार्थो निवारयति तस्य तथैव नोदनायामयोगोलं मा निवारय इत्यादिकं पूर्वभणितमेव द्रष्टव्यम् , 'भणण त्ति' गृहिषु प्रदीपमानयेति प्रज्ञाप्यमानेषु यो ब्रवीति, किमेवं सावद्यप्रवृत्तिं कारयसीति, तस्याग्रे मिथ्यादुष्कृतभणनं कर्त्तव्यम् 'असइ त्ति' अथ गृहस्थः प्रदीपमानेतुं नेच्छति , ततः 'आदायणपच्छायणमल्लगाईसु त्ति' मृगाणामदर्शने मल्लगादिभिः पृच्छा , अद्य प्रदीपः स्वयमेवानेतव्यः ।

अथेदमुत्तरार्द्धं विवरीषुराह—

गिहिजोतिं मग्गंतो, मिगपुरओ भणइ चोइओ इणमो ।
आभोगेण मउत्तं-मिच्छाकारं भणामि अहं ॥ ८१० ॥

गृहिणां समीपे ज्योतिः-प्रदीपं मृगपुरतो मृगाणां शृण्वतामग्रे यदि केनचिन्नोदितः किमेवं सावद्यं कारयसीति ? ततोऽसौ गीतार्थः 'इत्थं भणति '-अनाभोगेन मयेदमुक्तं ततोऽहं मिथ्याकारं भणति , मिथ्यादुष्कृतं प्रयच्छामीत्यर्थः ।

एमेव जइ परोक्खं,जाणंति मिगा जहेमिणा भणिओ ।
तत्थ वि चोइज्जंतो, सहसा णाभोगओ भणइ ॥८११॥

एवमेव यदि मृगाणां परोक्षं गृहे गत्वा गृहस्थो भणित—स्तथापि यदि ते मृगाः कथमपि जानन्ति यथा एतेन साधुना गृहस्थो भणितः प्रदीपानयनाय प्रेरितः, तत्राऽप्यपरेण नोद्यमानः स तु भणति-सहसाकारेण अनाभोगतो वा मयेदमुक्तं मिथ्यादुष्कृतमिति ।

गिहिगम्मि अनिच्छंते, सयमेवाणेइ आवरित्ताणं ।
जत्थ दुगाई दीवा, ततो मा पच्छकम्मं तु ॥ ८१२ ॥

अथ गृही प्रदीपमानेतुं नेच्छति, ततः स्वयमेव मल्लकसम्पुटेन वा कर्परेण वा कल्पे वा प्रदीपो भवति, तत्राऽपि यत्र-गृहे द्विकादयो द्वित्रप्रभृतयो दीपाः , ततो गृहादानयति , कुत इत्याह-' मा पच्छकम्मं तु त्ति' यत्रैक एव दीपो भवति, तत्राऽपरप्रतापकरणलक्षणं पश्चात्कर्म्म मा स्यादिति कृत्वा ततः प्रदीपो नानेतव्यः ।

ततश्च—

उज्जोविएँ आयरिओ, किमिदं अहगम्मि जीवियट्ठी उ ।
आयरिए पन्नवणा, नट्ठो य मयो य पव्वइतो ॥८१३॥

ज्योतिः प्रतिश्रये सति आचार्यो भणति,हन्त किमिदं भवता कृतम् , स प्राह-क्षमाश्रमणा ! अहमद्यापि जीवितार्थी, अतो बिलादिपरिज्ञानार्थं मयेत्थं कृतम् , तत आचार्यो मातृस्थानेन तस्य प्रज्ञापनां करोति, हन्त मृत एव त्वं,कुतो भवतो जीवितं,यत एवं कुर्वन् प्रव्रजितो नष्टश्च-सन्मार्गपरिभ्रष्टः, मृतश्च संयमजीवितविरहितो भवति।

तस्सेव य मग्गेणं, वारणलक्खेण निंति वसभा उ ।
भूमितियम्मि उ दिट्ठे,पच्चप्पिय मो इमा मेरा ॥८१४॥

तस्यैव ज्योतिरानेतुः साधोर्मार्गेण पृष्ठतो वारणलक्ष्येण निवारणव्याजेन वृषभा गच्छन्ति , ततो भूमित्रिके उच्चारप्रश्रवणकालभूमिलक्षणे दृष्टे सति प्रदीपं समर्पयत, 'मो' इति निपातः पादपूरणे इयं मर्यादा सामाचारी ।

खरंटण वणिटयभायण-गहिय निक्खिवण बाहिपडिलेहा
वसएहि गहियचित्ता, इयरे पसादेंति कल्लाणं ॥८१५॥

येन प्रदीपानयनाय अविरतकः प्रेरितो, येन वा प्रदीप आनीतः, तस्य खरण्टना कर्त्तव्या , ततोऽसौ वेण्टिकां भाजनानि च गृहीत्वा 'निक्खिवण त्ति' बहिः स्थाप्यते, निर्गच्छास्माकं गच्छात् न त्वया कार्यम्। ततोऽसौ कैतवनिष्काशितो बहिःस्थितः प्रतिलेखयति,प्रतिक्रमणं च विदधाति। ततो वृषभैर्गृहीतचित्ता इतरे मृगा गुरुं प्रसादयन्ति। ततो गुरुवस्तं भूयोऽप्यन्योऽपि पञ्चकल्याणकं प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति।

अथ कथं वृषभा मृगाणां चित्तग्रहणं कुर्वन्तीत्याह—

तुम्हय अम्हय अट्ठा, एवमकासी न केवलं सभया ।
खामेसु गुरुं पविसउ, बहुसुंदरकारओ अम्हं ॥८१६॥

आर्याः ! युष्माकमस्माकं च सर्पादिप्रत्यपायरक्षणार्थमेष एवमकार्षीत् , न केवलं स्वभयादेव । अत आगच्छत , येन सर्वेऽपि गुरुं क्षमाश्रमणं क्षमयामः,प्रविशतु बहुसुन्दरकारकप्रत्यपायरक्षकतया बहुकल्याणकरोऽस्माकं भूयः प्रतिश्रयम् । एवमुक्ता मृगा वृषभैः सह समागत्य गुरुं प्रसादयन्ति । ततो गुरवः वक्ष्यमाणं ब्रुवते-आर्याः!यूयमपि निर्धर्माणः सञ्जाताः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यतः—

अन्ने वि विद्देहि य, अलमज्जो अहव तुब्भ मरिसेमि ।
तेसिं पि होइ बलियं, अकज्जमेयं न य तुदंति ॥ ८१७॥

एष एवं कुर्वन्नन्यानपि साधून् विद्रावयिष्यति-विनाशयिष्यति। अत आर्याः!अलं-पर्याप्तमस्माकमेतेन। साधवो ब्रुवते-क्षमाश्रमणाः!न भूय एवं करिष्यति। एकवारमपराधं क्षमयन्तु भगवन्तः। गुरवो भणन्ति-यद्येवं ततोऽहं युष्माकं न मर्षयामि, परमेतस्य पञ्चकल्याणकं प्रायश्चित्तं दीयते । एवमुक्ते तेषामप्यगीतार्थानां बलिकमत्यर्थं हृदये भवति । यथा-नूनमकार्यमेतदिति, न च पश्चाज्ज्योतिःस्पर्शनादौ नोद्यमानास्तुदन्ति, प्रतिनोदनया अन्यथा—उत्पादन्तीत्यर्थः ।

एसो विहीउ अंतो, बाहिं रुद्धे इमो विही होइ ।
सावय तेणय पडिणी-य देवयाए विही ठाणं ॥८१८॥

एष विधिरन्तस्तिष्ठतामभ्यन्तरे प्रविष्टानामुक्तः। अथ बहिस्तिष्ठतां विधिरुच्यते । निरुद्धे-स्थगिते द्वारे ग्रामादौ विकाले वा तत्रापूर्वः प्रवेशे न लभते इत्यादिकारणसम्भवे बहिःस्थितानां यदि श्वापदभयं स्तेनकभयं वा भवति, तदा वक्ष्यमाणा यतना कर्त्तव्या । यावद्देवताया आकम्पनार्थं विधिना स्थानं कायोत्सर्गलक्षणं क्षपणकेण कर्त्तव्यमिति ।

यतनामेवाऽऽह—

भूमिघरदेउले वा, सहिया वरणे व रहिय आवरणे ।
रहिए विज्जा अचित-मीसं सचित्त गुरुआणा ॥८१६॥

बहिस्तिष्ठतां यदि श्वापदादिभयं, तथा भूमिगृहे देवकुले वा आवरणं-कपाटं तेन सहिते तिष्ठन्ति। गाथायां प्राकृतत्वात् व्यत्यासेन पूर्वापरनिपातः। अथ सकपाटं न प्राप्यते, तत आवरणरहितेऽपि तिष्ठन्ति,दिशां वा विद्याप्रयोगेण बन्धं विदधति,यतः श्वापदादयो न प्रविशन्ति,विद्याया अभावेऽचित्तकण्टिकाभिस्तदप्राप्तौ मिश्रकण्टिकाभिस्तदलाभे सचित्तकण्टिकाभिरपि स्थगयन्ति। तदभावे 'गुरुआण' त्ति गुरवो भागवतीमाज्ञां प्ररूपयन्ति। यथा-आचार्यादीनां मारणान्तिक उपसर्गे उपस्थिते यः समर्थो भवति, तेन यथासामर्थ्यं तन्निवारणे पराक्रमणीयमिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुराह—

सकवाडम्मि उ पुव्विं, तस्सासइ आणइंति उ कवाडं ।
विज्जाएँ कंटियाहि व,अचित्तचित्ताहि ठगयंति ॥८२०॥

पूर्वं सकपाटे भूमिगृहे देवकुले वा स्थातव्यम्, तस्याऽसति अकपाटे तिष्ठन्तः कपाटमन्यत आनयन्ति । अथ नास्ति कपाटं, ततो विद्यया द्वारं स्थगयन्ति, तदभावे कण्टिकाभिः प्रथममचित्ताभिस्ततो मिश्राभिस्ततः सचित्ताभिरपि स्थगयन्ति ।

एएसिं असईए, पागारवई व रुक्खनीसाए ।
परिखेव विज्ज अचित्त-मीससचित्तगुरुआणा ॥ ८२१ ॥

एतेषां भूमिगृहादीनामसति प्राकारं वाऽऽवृत्तिं वा वृक्षं वा निश्रये निश्रां कृत्वा तिष्ठन्ति । तत्राऽपि विद्यया परिक्षेपं कुर्वन्ति। तदभावे कण्टिकाभिर्यथाक्रममचित्तमिश्रसचित्ताभिः परिक्षिपन्ति, गुरवश्चाज्ञाप्ररूपणां कुर्वन्ति ।

गिरिनइतलागमाई, एमेवागम ठयंति विज्जाई ।
एगइगे तिदिसिं वा, ठयंति असई असव्वत्तो ॥८२२॥

गिरिं वा नदीं वा तडागं वा आदिग्रहणाद्गर्त्तादिकं च निश्रां कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां च यत्रैक एव प्रवेशस्तत्र प्रथमतस्तिष्ठन्ति, तदभावे यत्र द्वयोर्दिशोः प्रवेशस्तत्र तदप्राप्तौ यत्र त्रिषु दिक्षु प्रवेशस्तत्राऽपि तिष्ठन्ति । तेषां चागमं प्रवेशमुखे च विद्यादिभिः स्थगयन्ति 'असई असव्वत्तो त्ति' प्राकारादिनिश्राया एकप्रदेशादीनां वा अप्राप्तावाकाशे वसन्तः सर्वतो विद्याप्रयोगेण स्थगयन्ति-दिशाबन्धं कुर्वन्ति । विद्याया अभावे कण्टिकाभिः सर्वतो कुर्वन्ति , तदभावे गुरवः आज्ञाप्ररूपणं कुर्वन्ति ।

केन विधिनेति चेदुच्यते—

नाउमगीयत्थ बलि-यँ ताव तेसिं च बलसारं ।
घोरे भयम्मि थेरा-भणंति अविगीयथेअत्थं ॥ ८२३ ॥

ज्ञात्वा कमप्यगीतार्थं बलिनम्-समर्थम् , यद्वा-अविजानन्तस्तेषां स्वसाधूनां पराक्रममाहात्म्यं कस्य कीदृशः पराक्रमो विद्यते इत्येवमजानन्त इत्यर्थः । घोरे रौद्रे श्वापदादिभये स्थविरा आचार्या अविगीतस्थैर्ये स्थिरीकरणार्थं भणन्ति ॥

कथमित्याह ?—

आयरिए गच्छम्मि य, कुलगणसंघे य चेइयविणासे ।
आलोइयपडिकंतो, सुद्धो जं निज्जरा विउला ॥ ८२४ ॥

षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रति अभेदः । आचार्यस्य वा गच्छस्य वा कुलस्य वा गणस्य वा चैत्यस्य वा विनाशे उपस्थिते सति सहस्रयोधिप्रभृतिना स्ववीर्यमहापयता तथापराक्रमणीयं यथा, तेषामाचार्यादीनां विनाशो नोपजायेत । स च तथा पराक्रममाणो यद्यपराधमापन्नस्तथाऽप्यालोचितप्रतिक्रान्तः शुद्धः , गुरुसमक्षमालोच्य मिथ्यादुष्कृतप्रदानमात्रेणैवाऽसौ शुद्ध इति भावः । कुत इत्याह-यद्यस्मात् कारणात् विपुला महती निर्जरा कर्मक्षयलक्षणा तस्य भवति, पुष्टालम्बनमवलम्ब्य भगवदाज्ञया प्रवर्त्तमानत्वादिति ॥

सोऊण य पन्नवणं, कयकरणस्सा गयाइणो गहणं ।
सीहाई चेव तिगं, तवबलिपदे ववट्ठाणं ॥ ८२५ ॥

एवंविधां प्रज्ञापनां श्रुत्वा यः कृतकरणसहस्रयोधिप्रभृतिकस्तस्य गदाया आदिशब्दाल्लगुडस्य वा ग्रहणं भवति, गृहीत्वा गदादिकमसौ गुरून् ब्रवीति; भगवन् ! शेरत विश्वस्ताः सर्वेऽपि साधवः, अहं सिंहाऽऽदीनां निवारणं करिष्यामि । ततः सुप्ता साधवः, स पुनरेकाकी गदाहस्तः प्रतिजाग्रदवतिष्ठते । तस्य च प्रतिजाग्रतः सिंहत्रिकं समागच्छत् आदिशब्दाद्व्याघ्रादिपरिग्रहः । (बृ०) (अस्मिन् विषये 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याघ्रदृष्टान्तो गतः) ईदृशस्य कृतकरणस्याभावे यस्तपोबलिको विकृष्टतपसा बलीयान् क्षपकः स देवताया आकम्पननिमित्तं स्थानं कायोत्सर्गं करोति एतदग्रतो भावयिष्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ तेन कृतकरणेन साधुना प्राभातिकप्रतिक्रमणवेलायां यथा गुरुसमक्षमालोचितं तथा प्रतिपादयति—

हिंडिम्मि पुरा सीहं, खुडयाइ इयाणिँ मंदथामो मि ।
तिम्नावाए सीहो, रत्तिं पहओ मया न मओ ॥ ८२६ ॥

क्षमाश्रमण ! पुरा–पूर्वमहं प्रबलशरीरतया खुडकामात्रेणैव सिंहं हन्ताऽस्मि, इदानीं मन्दस्थामाऽस्मि । ततः 'तिन्नावाए' त्ति विभक्तिव्यत्ययात्त्रिप्वापातेषु गदाघातेन सिंहो रात्रौ मया प्रहतः परं न मृतोऽपद्राणः, एवमालोच्य मिथ्या दुष्कृतं दत्तवान् । एतावतैव चासौ शुद्धोऽदुष्टपरिणामत्वात् ।

निंतेहिँ तिन्नि सीहा, आसन्ने नाइदूर दूरे य ।
निग्गयजीवा दिट्ठा, स चावि पुट्ठो इमं भणई ॥८२७॥

प्रभाते निर्गतैः—पन्थानं गच्छद्भिस्त्रयः सिंहा निर्गतजीवा दृष्टाः । तत्रैक आसन्ने, द्वितीयो नातिदूरे, तृतीयो दूरे । स चाऽऽचार्यैः पृष्टः। आर्य ! किमेवं सिंहत्रयं विपन्नमवलोक्यते।

ततः इदं भणति—

मा मरिहिति तो गाढं, न आहओ तेण पढमओ दूरे ।
गाढतरं बितितईओ, न य मे नायं जहऽन्नो मो॥८२८॥

भगवन् ! यदा प्रथमः सिंह आयातस्तदा मा मरिष्यतीति कृत्वा गाढं नाहतः तेनासौ दूरे गत्वा विपन्नः, द्वितीयस्तु स एवायं भूयोऽप्यायात इति बुद्ध्या गाढतरमाहतः तेनासौ नासन्ने नातिदूरे, तृतीयस्तु द्वितीयादपि गाढतरमाहतस्तेनाऽसौ, इत्यासन्न एव भूभागे गत्वा मृतः । न च मया ज्ञातं यथाऽयमन्यान्यसिंहः समागतो न स एवेति ।

ईदृशस्य कृतकरणस्य भावे देवतायाः कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः । स च केन कियद्वा कालं यावदित्यत्रोच्यते—

खमओ व देवयाए, उस्सग्गं करेइ जाव आउट्टा ।
रक्खामि जा पभातं, सुवंतु जइणो सुवीसत्था ॥८२९॥

क्षपको वा देवताया आकम्पननिमित्तं कायोत्सर्गं करोति, यावदसावावृत्ता आराधिता सती ब्रूते—भगवन् ! पारय कायोत्सर्गं; यावत् प्रभातं तावदहं श्वापदाद्युपसर्गं रक्षामि । स्वपन्तु यतयः सुविश्वस्ता इति । बृ० १ उ० ३ प्रक० । (रात्रौ वस्त्रादिधारणनिषेधः 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०७२ पृष्ठे गतः) (विहारविषयः 'विहार' शब्दे वक्ष्यते)

यादृश आहारो रात्रौ रक्षितुं शक्यते-तद् भैक्ष्यद्वारेऽभिहितम्, नवरं केवलमिह कल्पे अध्वकल्पविषयं तदेवाऽऽह—

अग्गहणे कप्पस्स उ,गुरुगा दुविधा विराधना णियमा ।
पुरिसद्धाणं सत्थं,णाउं ता वी ण गिण्हिज्जा ॥ ६४६ ॥

छिन्ने च पथि यद्यध्वकल्पं न गृह्णन्ति तदा चतुर्गुरवः, द्विविधा चात्मसंयमे विराधना । भक्तालाभे क्षुधार्त्तस्य परितापनादिना आत्मविराधना, संयमविराधना तु क्षुधार्त्तः सन्नध्वकल्पं विना कन्दादिग्रहणं कुर्यात्; अतो ग्रहीतव्योऽध्वकल्पः । एभिः कारणैर्न गृह्णीयादपि,यदि पुरुषाः सर्वेऽपि संहननधृतिबलवन्तः, अध्वाऽप्येकदैवसिको वा,सार्थेऽपि प्रभूतभैक्षमवाप्यते, तदपि ध्रुवलाभम्, सार्थश्च भद्रकः कालभोजी कालस्थायी च । एवमादीनि कारणानि ज्ञात्वा छिन्नपथे न गृह्णीयात् ।

स पुनरध्वकल्पः कीदृशो ग्रहीतव्यः ? इत्युच्यते-

सक्करघत-गुलमीसा, अगंथिमा खज्जुरा व तम्मासा ।
सत्तू पिण्णागो वा, घतगुलमिस्सं खरेणं वा ॥ ६४७ ॥

शर्करया घृतेन च मिश्राणि अग्रन्थिमानि कदलीफलानि खण्डाखण्डीकृतानि गृह्यन्ते । अथ शर्करया न प्राप्यन्ते ततो गुडेन घृतेन च मिश्रितानि, एषामभावे खर्जूराणि घृतगुडमिश्राणि, तदप्राप्तौ सक्तुकान् घृतगुडमिश्रान्, तदलाभे पिण्याकोऽपि । घृतं न प्राप्यते ततः खरसंज्ञकेन तैलेन मिश्रितः पिण्याकः ।

एतेषां ग्रहणे गुणमुपदर्शयति—

थोवा वि हणंति खुहं, न य तण्ह करेंति एते खज्जंता ।
सुक्खोदण व लंभे, समितिम-दंतिकचुण्णं वा ॥ ६४८॥

एतानि अग्रन्थिमादीनि खाद्यमानानि स्तोकान्यपि क्षुधं घ्नन्ति. न चैतानि भुक्तानि सन्ति तृष्णां कुर्वन्ति,अत ईदृशोऽध्वकल्पो गृह्यते । ईदृशस्यालाभे शुष्कौदनः-शुष्ककूरः, तदलाभे समितिमाः-शुष्कमण्डकाः, तदप्राप्तौ दन्तिकचूर्णम्-तन्दुललोट्टः । यद्वा—दन्तिकम्-तन्दुलचूर्णः, चूर्णम् तु-मोदकादिखाद्यकचूरिः । एतत्सर्वमपि घृतगुडेन मिश्रयित्वा स्थापनीयम् । यदि शुद्धं भक्तं लभन्ते ततो नाध्वकल्पं भुञ्जते । यावन्मात्रेण वा न्यूनं शुद्धं लभन्ते तावन्मात्रमध्वकल्पात्परिभुञ्जते । अनुपस्थापितेभ्यो वा प्रयच्छन्ति ।

तिविहाऽऽमयभेसज्जा, वणभेसज्जा य सप्पि महु पट्टे ।
सुद्धासतितिपरिरए, जा कम्मं णाउमद्धाणं ॥६४९॥

त्रिविधाः-त्रिप्रकारा वातजपित्तजश्लेष्मजभेदाद् ये आमया रोगास्तेषां यानि भेषजानि भैषज्यानि, यानि च व्रणस्य भैषज्यानि सर्पिर्मधुमिश्राणि वा व्रणेषु दत्त्वा पट्टैर्बध्यन्ते तानि गृह्णन्ति, सर्वमप्येतदध्वकल्पादिकं प्रथमतः शुद्धं, तदभावे अशुद्धमपि त्रिपरिरयं यतनया पञ्चकपरिहाण्या ग्रहीतव्यम्, यावदाधाकर्मेति । प्रमाणतः पुनरध्वानं स्तोकं वा बहुं वा ज्ञात्वा तदनुसारेणाध्वकल्पोऽपि ग्रहीतव्यः ।

एवं यदा सर्वमप्युत्पादितं भवति तदा किं विधेयमित्याह—

अद्धाण पविसमाणो, जाणगनीसाएँ गाहए गच्छं ।
अह तत्थ न गाहिज्जा, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥६५०॥

अध्वानं प्रविशन् सूरिः प्रथमत एव यस्य गीतार्थस्य निश्रयान्तं पुरस्कृत्य गच्छमध्वकल्पं ग्राहयति,. अथ तत्राध्वप्रवेशे गच्छं न ग्राहयति ततश्चतुर्मासा गुरुका भवेयुः । अतो गीतार्थं पुरस्कृत्य गीतार्थप्रत्ययनिमित्तमन्तराऽन्तरा कानिचिदर्थपदानि परित्यजन् सूरिर्गच्छमध्वकल्पं ग्राहयेत् । एवंविधेन विधिना निर्गतानामयं विधिः ।

सभए सरभेदादी, लिंगविओगं च काउ गीयत्था ।
खरकम्मिया व होउं,करेंति गुत्तिं उभयवग्गे ॥६५१॥

यत्र सभयं तत्र वृषभाः स्वरभेदवर्णभेदकारिणीभिर्गुलिकाभिस्तादृशं स्वरं वर्णं च कृत्वा गच्छन्ति, अथवा–यथैते संयता इति न ज्ञायन्ते तथा लिङ्गवियोगं कृत्वा गीतार्था गच्छन्ति । खरकर्मिका वा सन्नद्धपरिकरा यथा सभये गृहीतायुधा भूत्वा उभयवर्गे साधुसाध्वीरक्षणे गुप्ति–रक्षां कुर्वन्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किञ्च-

जे पुव्वं उवकरणा, गहिया अद्धाणे पविसमाणेहिं ।

जं जं जोग्गं जत्थ तु, अद्धाणे तस्स परिभोगो॥६५२॥

यानि पूर्वं धर्मकरणादीन्युपकरणानि अध्वानं प्रविशद्भिर्गृहीतानि तेषां मध्ये यद्यस्मिन् काले योग्यं तस्य तदाऽध्वनि परिभोगः कर्त्तव्यः ।

सुक्खोदणो समितिवा, भुंजसुणोदेहि उण्हविय भुंजे ।

मूलुत्तरे विभासा, जतिऊणं णिग्गतें विवेगो॥६५३॥

इह लाटदेशे अवश्रावणं काञ्जिकं भण्यन्ते, यदाह चूर्णिकृत्—" अवसावणं लाडाणं कंजिअं भण्णइ त्ति, " ततो ऽवश्रावणेनोष्णोदकेन वा शुष्कौदनं शुष्कं समितिमांश्चोष्णयित्वा मुहुः भोजनार्थमुष्णीकृतं भुञ्जीत ' जइऊणं निग्गए-विवेगो त्ति ' एवमादिकया यतनया यतित्वा यदा अध्वनो निर्गतास्तदा तमध्वकल्पमभुक्तं भुक्तोद्धरितं वा विविचन्ति परिष्ठापयन्तीत्यर्थः।'मूलुत्तरे विभास त्ति'मूलोत्तरगुणविषया विभाषा कर्त्तव्या । तद्यथा—शिष्यः पृच्छति, यः अध्वकल्प आधाकर्मिकः परिवासितश्च स तावदाधाकर्मिकत्वेनोत्तरगुणोपघाती,परिवासितत्वे तु मूलगुणोपघाती,ततः किमेष भुज्यताम्? उत प्रतिदिवसं लभ्यमानामाधाकर्म?,अत्रोच्यते-अकल्प्यो भुज्यतां नाऽऽधाकर्म ।

ननु दोषद्वयदुष्टोऽसौ ? सूरिराह—

कामं कम्मो तु सो कप्पो, णिसिं च परिवासितो ।

तहा वि खलु से सेओ, ण य कम्मं दिणे दिणे ॥६५४॥

कामम्—अनुमतं यदसावध्वकल्पकं तावदाधाकर्म, अपरं च निशि रात्रौ परिवासितः तथापि खलु निश्चितं स एवाध्वकल्पः श्रेयान्, न त्वाधाकर्म दिने दिने लभ्यमानं वरम् ।

कुत इति चेदुच्यते—

आधाकम्मा सतिं घातो, सइं पुव्व हते त्ति य ।

ये उ ते कम्म मिच्छंति,णिग्घिणा ते ण मे मता ॥६५५॥

यदाधाकर्म दिने दिने लभ्यते तत्र असकृदनेकवारं जीवोपघातः, अध्वकल्पे तु यदाधाकर्म तत्र सकृदेकमेव वारं जीवोपघातः। पूर्वहताश्च ते जीवाः न दिने दिने हन्यन्ते। ततोऽध्वकल्प एव वरं नाऽऽधाकर्म। ये पुनः अविदितप्रवचनरहस्या अध्वकल्पं मूलोत्तरगुणोपघातिनं मत्वा न भुञ्जते; आधाकर्म तु केवलोत्तरगुणोपघातकमिति मत्वा दिने दिने भोक्तुमिच्छन्ति,ते अत्यन्तनिर्घृणाः सत्त्वेषु। अत एव न ते मम संमता इति ।

भैक्षद्वारे एव विशेषं दर्शयति—

कालुट्ठाईमादिसु, भंगेसु जतंति वियभंगादी ।

लिंगविवेगो काउं, चुडलीए मग्गतो भसए ॥ ६५६ ॥

कालोत्थायिप्रभृतिषु भङ्गेषु संभवति तत्र द्वितीयभङ्गमादौ कृत्वा यतन्ते, तथाहि-कालोत्थायी कालनिवेशी स्थानस्थायी कालभोजी इत्यत्र प्रथमभङ्गे नास्ति यतना सर्वथाऽपि शुद्धत्वात् । द्वितीयादिषु संभवति तत्र-द्वितीयभङ्गे अकालभोजीति कृत्वा-स्वलिङ्गविवेकं विधाय रात्रौ परलिङ्गेन गृह्णन्ति। तृतीयचतुर्थभङ्गयोरस्थानस्थायीति कृत्वा यद् गवादिभिराक्रान्तं स्थानं तत्र तिष्ठन्ति। पञ्चमादिषु चतुर्षु भङ्गेषु अकालनिवेशीति कृत्वा कालिकाय. तिष्ठन्तश्चुडलिकया संस्तारिकभूम्यादिषु बिलादिकं गवेषयन्ति, नवमादिषु षोडशान्तेष्वष्टसु भङ्गेषु अकालोत्थायीति कृत्वा रात्रौ गन्तव्ये उपस्थिते मार्गतः पृष्ठतः स्थिता गच्छन्ति । क्व सतीत्याह—अभये यदि पृष्ठतो गच्छतां स्तेनादिभयं न भवेत, भक्तार्थं न तु । यः सार्थोऽकालस्थायी तत्र निर्भये पुरतो गत्वा तथा समुद्दिशन्ति यथा समुद्दिष्टे सार्थस्तत्र प्राप्नोति, वसतिं च मध्ये गृह्णाति ।

सावय अप्पट्ठकडे, अट्ठा सुक्खे सय जोइजयणाए ।

तेण वयणवडगरं, तत्तो व अवाउडा होंति ॥ ६५७

श्वापदभयेऽन्यैः सार्थिकैरात्मार्थं यो वृत्तिपरिक्षेपः कृतस्तत्र तिष्ठन्ति, तदभावे ' अट्ठ ' त्ति साधूनामर्थाय कृते वृत्तिपरिक्षेपे तिष्ठन्ति, तदभावे ' सुक्के सय ' त्ति शुष्ककण्टकादिभिः स्वयमेव वृत्तिपरिक्षेपं कुर्वन्ति ' जोइजयणाए ' त्ति यदि श्वापदभये ज्योतिषा अग्निना कार्यं ततः परकृतमग्निं सेवन्ते । अथ चैते सेवितुं न प्रयच्छन्ति ततः परकृतमेवाग्निं गृहीत्वा प्राशुकदारुभिः प्रज्वलयन्ति, यत्र तु स्तेनभयं तत्र तथा वचनवटकरं वागाडम्बरं कुर्वन्ति यथा ते स्तेना भयादेव शीघ्रं नश्यन्ति । अथ यदि ते स्तेनाः समागच्छन्ति तदा तदभिमुखीभूय प्रवृत्ता भवन्ति। एवंविधं विधिं कुर्वाणा अध्वानो निस्तरन्ति । अथायं व्याघातो भवेत्।

सावयतेणपरद्धे, सत्थे फिडिया न उ जति हवेज्जा ।

अंतिमवइगा विंटिय,णियट्ट ण य गोउलं कहणा ॥६५८॥

महाटव्यां सिंहादिभिः श्वापदैः स्तेनैर्वा सार्थः प्रारब्धः सन् दिशो दिशि प्रनष्टः, साधवोऽप्येकां दिशं गृहीत्वा विप्रनष्टाः, ते च सार्था न स्फेटिता यदि भवेयुः,ततो दिग्भागमजानन्तो वनदेवतायाः कायोत्सर्गं कुर्वन्ति । सा च व्रजिकां विकुर्वती अन्तिमायां च प्रजिकायामुपकरणं वण्टिकां विस्मारयति तस्या ग्रहणार्थं साधवो निवर्त्य यावत् तत्रागताः तावद्गोकुलं न पश्यन्ति, ततो गुरूणां समीपे कथनं यथा नास्ति सा व्रजिकेति ।

इदमेव स्पष्टयति—

अद्धाणम्मि महंते, वट्टंतो अंतरा तु अडवीए ।

सत्थे तेण परद्धे, जो जत्तो सो ततो नट्ठो ॥ ६५९ ॥

संजयजणो य सव्वो, हंचि सत्थिल्लयं अलभमाणो ।

पंथं अजाणमाणो, पविसेज्ज महाडविं भीमं ॥ ६६० ॥

अध्वनि महति वर्तमानः सार्थः सर्वोऽप्यन्तरा महाटव्यां स्तेनैः प्रारब्धः, ततश्च यो यत्र वर्त्तते स च तत एव नष्टः-पलायितः संयतजनश्च सर्वः कथंचिदपि सार्थिकमलभमानः पन्थानं वा अजानन् भीमां महाटवीं प्रविशेत् ।

ततः किं कर्तव्यमित्याह—

सव्वत्थामेण ततो, वि सव्वकज्जुज्जुया पुरिससीहा ।

वसभा गणीपुरोगा, गच्छं धारिंति जतणाए ॥६६१॥

ततः सर्वस्थाम्ना-सर्वादरेण वृषभाः-सर्वकार्योद्यताः सकलगच्छकार्यैकबद्धकक्षाः पुरुषसिंहाः सातिशयपराक्रमतया पुरुषाणां मध्ये सिंहकल्पाः गणिपुरोगाः आचार्यपुरस्सरा ईदृश्यां विषमदशायां प्रपतन्तं गच्छं यतनया धारयन्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तामेवाह—

जइ तत्थ दिसामूढो, हवेज्ज गच्छो सबालवुड्ढो उ।
वणदेवयाए ताहे, णियमपगंपं तह करेंति ॥ ९६२ ॥

यदि तत्राटव्यां सबालवृद्धोऽपि गच्छो दिग्मूढो भवेत् ततो नियमेन-निश्चयेन प्रकम्पो-देवताया आकम्पो यस्मादिति नियमप्रकम्पः-कायोत्सर्गस्तं वनदेवताया आकम्पनार्थं तथा कुर्वन्ति यथा सा आकम्पिता सती दिग्भागं पन्थानं वा कथयति।

यतः—

सम्मद्दिट्ठी देवा, वेयावच्चं करेंति साहूणं।
गोकुलविउव्वणाए, आसासपरंपरा सुद्धा ॥ ९६३ ॥

ये सम्यग्दृष्टयो देवास्ते साधूनां वैयावृत्यं भक्तपानोपदानादिना विव्यापदाद्युद्धरणात्मकं कुर्वन्तीति स्थितिः। ततः सम्यग्दृष्टिदेवता काचिद् गोकुलं विकुर्वती साधूनां तद्दर्शनेनाश्वासः, ततस्तया देवतया साधवो गोकुलपरंपरया तावन्नीता यावज्जनपदं प्राप्ताः। तया एवं नीता अपि शुद्धा निर्दोषाः।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह—

सावयतेणपरद्धे, सत्थे फिडिया न उ जइ हवेज्जा।
अंतिमवइगा विंटिय, णियट्ट ण य गोउलं कहणा॥९६४॥

श्वापदैः स्तनैश्च प्रारब्धा इतस्ततो गतास्ते च सार्था न स्फिटिता यदि भवेयुः ततः कायोत्सर्गेण देवतामाकम्पयेत्, आकम्पिता च काचित्पन्थानं कथयेत् व्रजिकाः परंपरया विकुर्व्य जनपदं प्रापयेत्, अन्तिमायां च व्रजिकायाम् उपकरणविण्टिकाम् उपधिं विस्मारयेत्, तदर्थं साधवो निवर्त्य यावत्तत्रागतास्तावद्गोकुलं न पश्यन्ति। ततो गुरूणां समीपे कथनं, यथा नास्ति सा व्रजिकेति। गुरुभिश्च ज्ञातं तथैव सर्वं देवताकृतमिति।

भंडी वहिलगभरवा-हिगेसु एसा तु वण्णिया जतणा।
ओदरिय विवित्तेसु य, जयण इमा तत्थ णायव्वा॥९६५॥

भण्डीवहिलकभारवाहिकेषु-सार्थेष्वेषा अनन्तरोक्ता यतना वर्णिता। अवमौदरिकेषु विविक्तेषु च कार्प्पटिकेषु इयं यतना ज्ञातव्या।

तामेवाऽऽह—

ओदरियपच्छणासइ, पच्छयणं तेसि कंदमूलफला।
अग्गहणम्मि य रज्जुं, वलेंति गहणं च जयणाए॥९६६॥

आगाढे राजद्विष्टादिकार्ये औदरिकादिभिरपि सह गम्यमाने पथ्योदनस्य शम्बलस्याभावे यदि तेषामौदारिकादीनां कन्दमूलफलाद्याहारो भवेत्, ततः साधूनामपि तमेवाऽऽहारं स्वयं प्रयच्छन्ति, ये च तत्रापरिणतास्ते कन्दादि न गृह्णन्ति। अग्रहणे च ते सार्थिका अपरिणतानां भीषणार्थं रज्जु वलयन्ति। ततो यतनया ग्रहणं कुर्वन्ति।

इदमेव स्पष्टयति—

कंदाइ अभुंजंते, अपरिणए सत्थिगाण कहयंति।
पुच्छा वेहासे पुण, दुक्खिहरा खाइउं पुरतो ॥ ९६७ ॥

अपरिणतं कन्दादिकमभुञ्जाने वृषभाः सार्थिकानां कथयन्ति एतान् तथा भावयत यथा खादन्ति ततस्ते सार्थिका रज्जुवलनं कुर्वन्ति, ततो गीतार्थाः कृतसङ्केताः पृच्छन्ति। कथयत किमेताभी रज्जुभिः प्रयोजनम्? सार्थिका भणन्ति—वयमेकनावारूढा अतो योऽस्माकं कन्दादीनि न भक्षयति तं वयमेताभिर्विहायसि लम्बयामः, इतरथा तस्य बुभुक्षार्त्तस्य पुरतः खादितुं दुष्करं न वयं भक्षयितुं शक्नुम इति भावः।

इहरा वि मरति एसो, अम्हे खायामो सो वि उ भणए।
कंदादि कज्जगहणे, इमा तु जतणा तहिं होति ॥९६८॥

कन्दादीन्यभक्षयन्नितरथाऽप्यस्यामटव्यामवश्यमेव म्रियते अतो विहायसि लम्बनेन तं मारयित्वा सुखेनैव वयं भक्षयामः, इत्युक्तो सोऽप्यपरिणतो भयेन कन्दादिभक्षणं करोति। एवमादिषु कार्येषु कन्दादिग्रहणे प्राप्ता इयं यतना भवति।

तामेवाऽऽह—

फासुगजोणिपरित्ते, एगट्ठियबद्धभिन्नभिण्णे अ।
बद्धट्ठिए वि एवं, एमेव य होइ बहुबीए ॥ ९६९ ॥
एमेव होइ उवरिं, एगट्ठिय तह य होइ बहुबीए।
साहारणस्स भावा, आईए बहुगुणं जं च ॥ ९७० ॥

द्वे अपि व्याख्यातार्थे।

पानकयतनामाह—

तुवरे फले य पत्ते, रुक्खसिला तुप्पमद्दणादीसुं।
पासंदणे पवाते, आतवतत्ते वहे अवहे ॥ ९७१ ॥

एषाऽपि गतार्था। गता अशिवविषया यतना।

अथावमौदर्यविषयां यतनामाह—

ओमे एसणसोहिं, पजहति परितावितो दुंगुछाए।
अलभंते वि य मरणं, असमाही तित्थवोच्छेदो ॥९७२॥

अवमौदारिकं विज्ञाय अनागतमेव द्वादशभिर्वर्षैर्निर्गच्छन्ति ततश्च गुर्वाज्ञादयो दोषाः। तत्र च तिष्ठन् जुगुप्सया क्षुधा परितापितः सन्नेषणाशुद्धिं प्रजहाति। अथवा—भक्तपानमलभमानो मरणं प्राप्नोति, एवं चान्यान्यसाधुषु म्रियमाणेषु तीर्थस्य व्यवच्छेदो भवति।

यत एवमतः—

ओमोदरियागमणे, मग्गे असती य पंथजयणाए।
परिपुच्छिऊण गमणं, चउव्विहं रायदुट्ठं च ॥ ९७३ ॥

अवमौदरिकायां गमने प्राप्ते पूर्वं मार्गेण गन्तव्यम्, मार्गस्याभावे पथाऽपि किं छिन्नः अच्छिन्नो वाऽयं पन्था इति परिपृच्छय यतनया अशिवद्वारोक्तया गमनं विधेयम्। अथ राजद्विष्टद्वारं तच्च निर्विषयादिभिर्वक्ष्यमाणभेदैश्चतुर्विधम्। तत्र स राजा कथं प्रद्वेषमापन्न इत्याशङ्कावकाशमवलोक्येदमाह—

ओरोहधरिसणाए, अब्भरहितसेहदिक्खणाए वा।
अहिमरअणिट्ठदरिसण, वुग्गाहणया अणायारे ॥९७४॥

अवरोधः अन्तःपुरं तस्य लिङ्गस्थेन केनाप्याधर्षणा कृता, राज्ञो वा अभ्यर्हितो गौरविको राजामात्यादिपुत्रः शैक्षो दीक्षितो भवेत्, साधुवेषेण वा केचिदभिमरा प्रविष्टा, अनिष्टं वा साधुदर्शनं स्वयमेव पुरोहितप्रभृतिभिर्वा व्युद्ग्राहितो मन्यते, सं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यतो वा कयाचिद्दविरतिकया सममनाचारं प्रतिसेवमानो दृष्टः । एवमादिभिः कारणैः प्रद्विष्ट इत्थं चतुर्विधं दण्डं प्रयुञ्जीत ।

निव्विसउ त्ति य पढमो, बितिओ मा देह भत्तपाणं से ।
ततितो उवकरणहरो, जीयचरित्तस्स वा भेदो ॥६७५॥

प्रथमो राजदण्डो निर्विषयाज्ञापनलक्षणः, द्वितीयो मा भक्तपानममीषां प्रयच्छतेत्येवं लक्षणः, तृतीयः पुनरुपकरणहरः, चतुर्थो जीवितस्य चारित्रस्य वा भेदः कर्त्तव्यः । एवंविधे राजद्विष्टे आज्ञातिक्रमं कुर्वाणानां प्रायश्चित्तमाह-

गुरुगा आणालोवे, बलियतरं कुप्पे पढमए दोसा ।
गिण्हंत देंत दोसा, बितिततिचरिमे दुविहभेयो ॥६७६॥

येन राज्ञो निर्विषयाज्ञातिक्रमे राजा बलिकतरम्—गाढतरं कुप्यति; एष प्रथमभेददोषोऽभिहितः । द्वितीयतृतीयभेदयोः-यत्र राज्ञा ग्रामनगरादिषु भक्तपानमुपकरणं वा वारितं तत्र ये साधवो गृह्णन्ति, ये च गृहस्थाः तेषां प्रयच्छन्ति, तेषामुभयेषामपि दोषा-ग्रहणाकर्षणादयो भवन्ति । चरमश्चतुर्थो भेदो भवति जीवितभेदः, चारित्रभेदश्चेत्यर्थः ।

अथ निर्विषयाज्ञप्तानां गमनविधिमाह-

सच्छंदेण य गमणं, भिक्खे भत्तट्ठणे य वसहीए ।
दारे ठियो निरुम्भति, एगट्ठठितो व आणाए ॥६७७॥

यत्र राज्ञा भणिताः स्वच्छन्दं गच्छन्तु भवन्तो नाहं गच्छतां किमपि निरोधं कुर्वे, तत्र भैक्षे भिक्षार्थेन वसतिविषयां च सामाचारीं न परिहारयन्ति । अथ द्वारे-ग्रामादिप्रवेशमुखे स्थितो राजपुरुषवर्गः साधून् भिक्षागतान्निरुणद्धि, एकत्र वा सभादेवकुलादौ स्थितः साधून् भुक्तानात्मसमीपे आनाययति; ततो वक्ष्यमाणां यतनां कुर्वन्तीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमिदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह—

सच्छंदेण उ गमणं, सयं व सत्थेण वाऽवि पुव्वुत्तं ।
तत्थुग्गमादिसुद्धं, असंथरे वा पणगहाणी ॥ ६७८ ॥

यत्र राज्ञा स्वच्छन्देन गमनमनुज्ञातं तत्र स्वयं वा सार्थेन वा सहिता गच्छन्ति, पूर्वोक्तमिहैवाऽशिवद्वारे ओघनिर्युक्तौ वा भणितं भैक्षं षट्काययतनादिकं कर्त्तव्यं, नवरं तत्र स्वच्छन्दगमने उद्गमादिशुद्धं भक्तपानं ग्राह्यम् , असंस्तरणे पञ्चकपरिहाण्या गृह्णन्ति । अथ राजा मा अत्रैव जनपदे कचित्प्रदेशे निलीय स्थास्यतीति बुद्ध्या पुरुषान् सहायान् प्रयच्छन्ति, यूयं ग्रामं प्रविशत तत्र भिक्षामटित्वा भुक्त्वा च प्रत्यागच्छत , वयमिहैव ग्रामद्वारे स्थिताः प्रतीक्षामहे । ततस्ते तत्र स्थिताः यो यथा साधुः समागच्छति तं तथा निरुम्भन्ते यावता सर्वे मिलिताः । अथवा-ते राजपुरुषाः सभायां देवकुले वा स्थिता ब्रुवते, यूयं भिक्षामटित्वा गृहीत्वा चेह समागच्छत, अस्माकं समीपे समुपदिशतेति ।

ततश्च—

तिण्हेगयरे गमणे, एसणमादीसु होंति जतियव्वं ।
भत्तट्ठण थंडिल्ले, असती वसहीएँ जं जत्थ ॥ ६७९ ॥

त्रयाणां प्रकाराणामेकतरस्मिन् गमने एषणायाम् आदिशब्दादुद्गमोत्पादनयोश्च यतितव्यम् । भक्तार्थन्तु द्वयो राद्यगमनयोर्मण्डल्यादिविधिनैव कुर्वन्ति । तृतीये तु गमने राजपुरुषसमीपे भुञ्जानानां न मण्डल्यादिनियमः । स्थण्डिलसामाचारी तु त्रिष्वपि न हापयन्ति, राजपुरुषसमीपे स्थिता वा कुरुकुचां कुर्वन्ति । यदि ते ब्रुवीरन् अस्मत्समीपे वस्तव्यं ततो वसतावसत्यां यत्राल्पदोषतरं तत्र निवसनं कर्त्तव्यम् ।

अथ प्रकारत्रयमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह—

सच्छंदओ य एक्कं, बितियं अण्णत्थ भोतिहं एह ।
ततिए भिक्खं घेत्तुं, इह भुंजह तीसु वी जतणा ॥६८०॥

एकं स्वच्छन्दतो गमनम् , द्वितीयं पुनरन्यत्र भुक्त्वा इह समागच्छत, तृतीयम् इह समागत्य भोजनं कुरुत । एषु त्रिष्वपि भैक्षादियतना कर्त्तव्या ।

बितिइज्जए व मुंचति, आणावे तं च तुल्लपदे ।
अम्हुग्गमाइसुद्धं, अणुसिट्ठि अणुच्छ जं अन्नं ॥६८१॥

वाशब्दः प्रकारान्तरोपन्यासे । कश्चिदतिप्रान्तः स द्वितीयान् साधून् मुञ्चति । किमुक्तं भवति । साधूनां भिक्षामटतां राजपुरुषान् दृष्ट्वा पृष्ठतः स्थिता स्थातुर्हिण्डापयति ते च यद्युत्सुकायमाना अनेषणीयं ग्राहयन्ति । यदि वा-स राजपुरुष एकत्र स्थाने साधून्निरुध्य चोल्लकभोजनमानाय्य ददाति, यथा सर्वेऽप्येतदाहारयत ततोऽसौ वक्तव्यः । अस्माकमुद्गमादिशुद्धं ग्रहीतुं कल्पते । एवमुक्तो यद्युत्संकलयति ततो भिक्षां हिण्डन्ते, अथ नोत्संकलयति ततो अनुशिष्टिः कर्त्तव्या । तथापि मोक्तुमनिच्छति यच्चोल्लकम् अन्नं पिण्याकदोषान्नादि तद् गृह्णन्ति ।

पुव्वं च उवक्खडियं, खीरादी वा अणिच्छे जं दिंति ।
कमढगभुत्ते सण्णा, कुरुकुय दुविहेण वि दवेणं ॥६८२॥

अथवा—चोल्लके आनीते तन्मध्याद् यत्पूर्वमात्मार्थं तैरुपस्कृतं राद्धं क्षीरदध्यादि वा तद्भुञ्जते, यदि पूर्वराद्धं नेच्छति प्रदातुं ब्रवीति च, यदहं भोजयामि भणामि वा तत् समुद्दिशत, ततः शुद्धमशुद्धं वा यत्ते प्रयच्छन्ति तद्भुञ्जते । तत्र चेयं यतना-कमठकेषु परस्परं सान्तरमुपविष्टाः सन्तो भुञ्जते भुक्तोत्तरकालं संज्ञाविसर्जनानन्तरं च प्रायः प्राशुकमृत्तिकया द्रावणं च द्विविधेनाऽपि सचित्ताचित्तभेदभिन्नेन कुरुकुचां कुर्वन्ति । पूर्वमपि तेन पश्चात् सचित्तेनापि पूर्वं मिश्रेण पश्चाद् व्यवहारसचित्तेनेति गमनं निर्विषयज्ञापनद्वारम्।

अथ भक्तपाननिवारणद्वारं व्याचष्टे-

बिइए वि होइ जयणा, भत्ते पाणे अलब्भमाणम्मि ।
दोसीणं तक्कपिंडी, एसणमादीसु जतितव्वं ॥ ६८३ ॥

द्वितीयेऽपि राजद्विष्टे भक्तपाने अलभमाने इयं यतना भवति- यावदद्यापि जनो न संचरति तावत्प्रत्यूषवेलायां दोषान्नं तक्रं च गृह्णन्ति, पिण्याकपिण्डिकां वायसपिण्डिकां वा गृह्णन्ति । तत एषणादिषु यतितव्यम् ।

केषु पुनस्तद्गृह्णीत इत्याह—

पुराणादिपण्णवेतुं, णिस्सियं गीतत्थ होंति गहणं तु ।
अगीते दिव्वग्गहणं, सुण्णघरे वा इमेहिं च ॥ ६८४ ॥

पुराणं श्रावकं वा साधुसमाचारिकुशलं प्रज्ञाप्य सर्वेऽपि गीतार्था मिश्रेषु तु पुराणादिप्रज्ञापितः शून्यगृहे वाशब्दाद्देवकुलादौ बलिनिवेदनलक्ष्येण पौद्गलिकं स्थापयन्ति , तस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिवा ग्रहणं कर्त्तव्यम्, एतेषु वा स्थानेषु स्थापितं गृह्णन्ति।

तान्येवाऽऽह—

उंबरकोडिंबेसु व, देवउले वा णिवेदयाऽरण्णे।

कतकरणे करणं वा, असती नंदी दुविहदव्वे ॥९८५॥

देवकुलादिषु ये उदुम्बरास्तेष्वर्चनिकालक्ष्येणोपढौकितं कूरादिकं गृह्णन्ति, कोट्टिंबा नाम यत्र गोभक्तं दीयते, तत्र गोभक्तलक्ष्येण स्थापितम्, अरण्ये वा यद्देवकुलं तत्र बलिनिवेदनं गृह्णन्ति, यदि राजा बहुभिरप्युपायैरुपशम्यमानो नोपशाम्यति ततो यः संयतः कृतकरणः इषुशास्त्रे कृताभ्यासः सहस्रयोधि स करणं करोति, तं राजानं बध्वा शास्तीत्यर्थः। विद्याबलेन वा वैक्रियलब्धिसंपन्नो वा विष्णुकुमारादेरिव तस्य शिक्षां करोति। 'असइ त्ति' यदा कृतकरणादयो न प्राप्यन्ते तदा अध्वानं गच्छद्भिः नन्दिः-प्रमोदो येन द्रव्येण गृहीतेन स्यात्तद् द्विविधमपि ग्रहीतव्यम्। तद्यथा—प्राशुकमप्राशुकं वा, परीत्तमनन्तं वा, परिवासितमपरिवासितं वा, एषणीयमनेषणीयं वा। गतं भक्तपानप्रतिषिद्धद्वारम्।

अथोपकरणहरद्वारं व्याख्यानयति—

तइए वि होति जतणा, वत्थे पत्ते अलब्भमाणम्मि।

उच्छुद्धविप्पइण्णे, एसणमादीसु जतितव्वं ॥ ९८६ ॥

तृतीयं राजद्विष्टं नाम,यत्र राज्ञा प्रतिषिद्धं मा अमीषां वस्त्रं पात्रं वा कोऽपि दद्यात्, अपहर्त्तव्यं वा। तत्र वस्त्रे वा पात्रे वा अलभ्यमाने यतना कर्त्तव्या। कथमित्याह—देवकुलादिषु कार्पटिकैर्यद्वस्त्रादिकमुच्छूढं परित्यक्तं यच्च विप्रकीर्णमुरुकुटिकादिस्थापितं तद् गृह्णन्ति। एषणादिदोषेषु वा यतितव्यम्।

हियसेसगाण असती,तण अगणी सिक्कगा व गिण्हंति।

पेहुणचम्मग्गहणं, भुत्तं तु पलासपाणिसु वा ॥९८७॥

राज्ञा साधूनामुपकरणानि हृतानि ततस्तेषां शेषाणां तदुद्धरितानामभावः संवृत्तः, किंचिदवशिष्यमाणं नास्तीति भावः। ततः शीताभिभूताः सन्तस्तृणानि गृह्णन्ति, अग्निं वा सेवन्ते, पात्रकबन्धाभावे तृणादिसिक्ककानि गृह्णन्ति। 'पेहुणं' ति मयूराङ्गमयी पिच्छिका रजोहरणस्थाने कर्त्तव्या। चर्म्मणो वा प्रस्तरणप्रावरणार्थं ग्रहणं कार्यम्, भुक्तं तु पलाशपत्रादिषु तेषामभावे पाणिष्वपि गृहीयाद्वा भुञ्जीत वा।

असई य लिंगकरणं, पण्णवणऽट्ठा सयं व गहणऽट्ठा।

आगाढे कारणम्मि, जहेव हंसादियं गहणं ॥९८८॥

यदि राजा स्वलिङ्गेनोपशाम्यमानो नोपशाम्यति, स्वलिङ्गेन मृग्यमाणं न लभते ततः परलिङ्गं कुर्वन्ति। किमर्थमित्याह—प्रज्ञापनार्थं स्वयं वा ग्रहणार्थम्। किमुक्तं भवति-यौक्तादिना राजानुगतेन परलिङ्गेन स्थिताः स्वसमयपरसमयवेदिनो वृषभा युक्तियुक्तैर्वचोभिस्तं राजानं प्रज्ञापयन्ति, तेन वा परलिङ्गेन स्थिता उपकरणं स्वयमेवोत्पादयन्ति। ईदृशे आगाढे कारणे यथैव हंसतैलादीनां ग्रहणं तथा वस्त्रपात्रादेरप्युत्थापनतालोद्घाटनाप्रयोगैः कर्त्तव्यमिति। गतमुपकरणहरद्वारम्।

अथ जीवितचारित्रभेदद्वारं भावयति—

दुविहम्मि भेरवम्मि, विज्जणिमित्ते य चुन्न-देवी य।

सेट्ठिम्मि अमच्चम्मि य, एसणमादीसु जतितव्वं ॥९८९॥

द्विविधे जीवितचारित्रव्यपरोपणात्मके भैरवे समुत्पन्ने तं राजानं विद्यया निमित्तेन वा चूर्णैर्वा वशी कुर्यात्। या च देवी तस्य राज्ञ इष्टा सा विद्याभिरावर्त्यते। एवमप्यनुपशान्तौ श्रेष्ठिनममात्यं वा उपलक्षणत्वात् पाषण्डिगणं वा प्रज्ञापयन्ति। ततस्तद्द्वारेणोपशमयन्ति, अथवा-यावन्नृपतिमुपशमयन्ति तावत् श्रेष्ठिनोऽमात्यस्य वा अवग्रहे तिष्ठन्ति। एषणादिषु प्राग्वदेव यतितव्यम्।

आगाढे अन्नलिंग, कालक्खेवो य होति गमणं वा।

कयकरणे करणं वा, पच्छादण थावरादीसुं ॥ ९९० ॥

आगाढे—राजद्विष्टे अन्यलिङ्गं विधायाऽज्ञायमानैस्तत्रैव कालक्षेपः कर्त्तव्यः, विषयान्तरगमनं वा कर्त्तव्यम्। यो वा कृतकरणः स नृपतेः शिक्षां करोति। अथ तदपि नास्ति,ततः स्थावरा-वृक्षाः तेषां गहनेषु तडागसरःप्रभृतिषु वा आत्मानं प्रच्छाद्य दिवा निलीना आसते, रात्रौ च व्रजन्ति। गतं राजद्विष्टद्वारम्।

अथ भयादिद्वाराणि युगपदाह—

बोहियमिच्छादिभए, एमेव य गम्ममाणजतणाए।

दोग्गहट्ठा व गिलाणे, णाणट्ठं दाव गम्मंते ॥ ९९१ ॥

बोधिका-मालवस्तेनाः म्लेच्छाः—पारशीकादयः तदादीनां भये समुपस्थिते गन्तव्यम्, तत्र च गम्यमाने एवमेवाशिवादिद्वारवद् रक्षादिकं यतनया कर्तव्यम्। आगाढं तु किंचिदौत्पत्तिकं कार्यम्, यथा संज्ञातकैः संदिष्टम्—इदं कुलं प्रव्रज्यामभ्युपगच्छतु यदि यूयं नागमिष्यथ, ततो विपरिणमिष्यति, अन्यस्मिन् वा शासने प्रव्रजिष्यति, ईदृशे अगीतार्थसमीपं गच्छेत् ज्ञानदर्शनचारित्रार्थं वा गन्तव्यम्। एतैः कारणैर्गम्यमाने पूर्वं मार्गेण पश्चादच्छिन्नेन पथा गन्तव्यम्।

अत्र यतनामाह—

एगावण्णं च सता, वीसं च हुवाणि णिग्गमा णेया।

एत्तो एक्केक्कम्मि य,सतग्गसो होंति जयणाओ॥९९२॥

सार्द्धपञ्चकेन कालोत्थायिप्रभृतिभिश्चतुर्भिः पदैः सप्रतिपक्षैरेकपञ्चाशत् शतानि विंशत्यधिकानि अध्वनि गमाः प्रकारा भवन्ति। एते च प्राक् सप्रपञ्चं भाविताः। एतेषु भङ्गकेषु एकैकस्मिन् अशिवादिकारणे च तादृशः प्रागुक्तनीत्या यतना भवन्ति। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

रात्रिभोजनं प्रशंसति, दिवा प्रतिग्रहणात् रात्रौ वा भुङ्क्ते-

जे भिक्खू दियाभोयणस्स अवण्णं वदइ अवण्णं वदंतं वा साइज्जइ ॥ १७८ ॥ जे भिक्खू राइभोयणस्स वण्णं वदइ

वण्णं वदंतं वा साइज्जइ ॥ १७९ ॥

दियाभोयणस्स अवण्णं—दोसं भासति, रातीभोयणस्स वण्णं-गुणं भासति॥

गाहा—

दियभत्तस्स अवण्णं, जे तु वदे रातिभोयणे वण्णं।

चउगुरु आणादीया, कहति अवण्णं च वण्णं वा।११०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आणादिया य दोसा चउगुरुगं च से पच्छित्तं ।

कहं पुण दियाभोयणस्स अवण्णं भासति—

वायायवेहि सुसति, ओयो हीरति य दिट्ठिदिट्ठस्स ।
मच्छियमाति णिपातो, वलहाणी चेव चंकमणे ॥१११॥

दियाभोयणं वातेण आतवेण य सुसियं अवलकरं भवति । ओयो-तेयो भन्नति, दिट्ठिणा दिट्ठं दिट्ठिदिट्ठं, परजनदृष्टः स्यात्तस्य ओजोपहारो भवतीत्यर्थः दिवसतो मच्छियमादी णिवतंति, उट्टेव गुलियादि दोसा, दिवसयो य भुंजित्ता कम्मचेट्ठासु अवस्सं चंकमियव्वं, तत्थ पस्सेदो भवति । आयासोस्सासो बहुं च दगमादीयति । एवं तं अवलकरं भवति ।

इमं रातीभोयणस्स वन्नं वदति—

आउं वंभं च वड्ढति, पाणेति य इंदियाइँ णिसि भत्तं ।
णेव जिज्जइ य देहो, गुण दोसविवज्जओ चेव ॥ ११२ ॥

रातो भुत्ते अकम्मस्स सत्थेंदियस्स चिट्ठतो सुभपोग्गलोवचयो भवति, सुभपोग्गलोवचयातो आयुवलइंदयाण वुड्ढी भवति । रसायने पयोगवत् सुभपोग्गलोवचयातो शीघ्रं देहो न जीर्यते । एते गुणा रातीभोयणे । एयस्स विवज्जओ दिवसे । तो तम्मि एते चेव गुणा, विवरीया दोसा भवंति । इमम्मि कारणजाते वएज्जा ।

गाहा—

वितियपदमणप्पज्झे,वएज्ज अवि कोविए व अप्पज्झे ।
जाणंते वावि पुणो, कारणजाते वएज्जा उ ॥ ११३ ॥

अणप्पज्झो—अणप्पवसो खित्तादितो सो दियातो वएणस्स अवन्नं वदेज्जा, राईभोयणस्स वा वन्नं वएज्ज । अवि कोविसो वा अगीयत्थो अप्पज्झोऽवि वएज्ज । वहुसु या असिवोमगिलाणरायदुट्ठादिकारणेसु गुणवुड्ढिहेउं गीयत्थो वि य वन्नं वा वएज्जा ।

सूत्रम्—

जे भिक्खू दिया असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता दिया भुंजइ,दिया भुंजंतं वा साइज्जइ ॥१८०॥ जे भिक्खू दिया असणं वा० ४ पडिग्गाहित्ता रत्तिं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १८१ ॥ जे भिक्खू रत्तिं असणं वा०४पडिग्गाहित्ता दिया भुंजइ,भुंजंतं वा साइज्जइ ॥१८२॥ जे भिक्खू रत्तिं असणं वा० ४ पडिग्गाहेत्ता रत्तिं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १८३ ॥

चउसु वि भंगेसु आणादिया य दोसा चउगुरुं पच्छित्तं, एवं कालविसेसियं दिज्जति । नि० चू० ११ उ० ।

रात्रिभक्तं गृहीतं स्यात्, अज्ञानात् रात्रिभक्तं गृह्णीयात् ।

सूत्रम्—

भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए निव्वितिगिच्छे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा—अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहियं तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे नाइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा अणुप्पदेमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥६॥ भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए वितिगिच्छासमावन्ने असणं वा० ४ पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा, अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे विसोहेमाणे नाइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा अणुप्पदेमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ७ ॥ भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए निव्विइगिच्छे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा—अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे विसोहेमाणे नाइक्कमइ; तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा अणुप्पदेमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥८॥ भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए विइगिच्छासमावन्ने असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा -अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे विसोहेमाणे नाइक्कमइ,तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा अणुप्पदेमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ९ ॥

अस्य सूत्रचतुष्टयस्य सम्बन्धमाह—

अण्णगणं वच्चंतो, परिणिव्वविओ व तं गणं पत्तो ।
विहसंथरेतरे वा, गेण्हेह(ज्ज) सामाएँ जोगो य ॥ १०३ ॥

अधिकरणं कृत्वा अनुपशान्तोऽन्यगणं व्रजन् परिनिर्वापितो वा भूयस्तमेव गणमागच्छन् , ' विहे '-अध्वनि संस्तरणे इतरस्मिन् वा असंस्तरणे श्यामायाम्—रजन्याम् आहारं गृह्णीयात् , एष योगः सम्बन्धः । अनेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रचतुष्टयस्य व्याख्या—भिक्षुः—पूर्ववर्णितः, चशब्दाद् आचार्य उपाध्यायश्च परिगृह्यते, उद्गते आदित्ये वृत्तिः जीवनोपायो यस्य स उद्गतवृत्तिकः । पाठान्तरं वा—'उग्गयमुत्तीए त्ति ' मूर्त्तिः—शरीरम् उद्गते रवौ प्रतिश्रयावग्रहाद् बहिः प्रचारवती मूर्त्तिरस्येत्युद्गतमूर्त्तिको मध्यमपदलोपी समासः, अनस्तमिते सूर्ये सङ्कल्पो भोजनाभिलाषो यस्यासौ अनस्तमितसङ्कल्पः । संस्तृतो नाम-समर्थस्तद्दिवसं पर्याप्तभोजी वा ' निव्वितिगिच्छ त्ति ' विचिकित्सा—चित्तविप्लुतिः सन्देह इत्येकोऽर्थः । सा निर्गता यस्मात् स निर्विचिकित्सः, उदितोऽनस्तमितो वा रविरित्येवं निश्चयवानित्यर्थः, एवंविधविशेषणयुक्तोऽशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्रतिगृह्याऽऽहारमाहरन् , भुञ्जानः । अथ पश्चादेव जानीयात् अनुद्गतः सूर्यः अस्तमितो वा । एवं वि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णाय (से) तस्य यच्च मखप्रक्षिप्तं, यच्च पाणौरुत्पाटितं, यच्च प्रतिगृहे स्थितं, तद्विविचन् वा परिष्ठापयन् वा विशोधयन् वा निरवयवं कुर्वन् , (न) नैव भगवतामाज्ञामतिक्रामति। तद शनादिकम् आत्मना भुञ्जानः, अन्येषां वा ददानो रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्त आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्धातिकम्। एवमपरमपि सूत्रत्रयं मन्तव्यम्, नवरं द्वितीयसूत्रे संस्तृते विचिकित्सासमापन्नश्च यो भुङ्क्ते विचिकित्सासमापन्नो नाम-किमुदितो वा रविः,अथवा-अस्तमितो वेति सन्देहदोलायमानमानसः एवं भुञ्जानस्य अन्येषां वा ददानस्य चतुर्गुरुकम् , तृतीयसूत्रे 'असंथडिय' त्ति-असंस्तृतः अध्वप्रतिपन्नः क्षपको ग्लानो वा भण्यते स नैव विचिकित्स्यो नियमादनुद्गतः अस्तमितो वा रविरित्येवं निःसन्देहं जानानो यदि भुङ्क्ते तदाऽपि चतुर्गुरुकम् । शेषं प्रथमसूत्रवज्ज्ञेयम् । चतुर्थसूत्रे संस्तृतो विचिकित्सासमापन्नश्च यो भुङ्क्ते स आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्धातिकम् , एष सूत्र चतुष्टयार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

संखडमसंखडे वा, निव्वितिगिच्छे तहेव वितिगिच्छे ।
काले दव्वे भावे, पच्छित्ते मग्गणा होइ ॥ १०४ ॥

प्रथमसूत्रं संस्तृते निर्विचिकित्से, द्वितीयं संस्तृते विचिकित्सासमापन्ने, तृतीयमसंस्तृते निर्विचिकित्से, चतुर्थमसंस्तृते विचिकित्सासमापन्ने मन्तव्यम् । तत्र प्रथमसूत्रे तावत्त्रिविधा प्रायश्चित्तमार्गणा भवति-कालतो द्रव्यतो भावतश्च ।

तत्र कालतस्तावदाह—

अणुगयमणसंकप्पे, गवेसणे गहणभुंजणे गुरुगा ।
अह संकियम्मि भुंजति,दोहि वि लहु उग्गते सुद्धो।१०५।

अनुद्गतो नाऽद्याप्युद्गतो रविरित्येवं निःशङ्कितेन मनःसङ्कल्पेन यो भक्तपानस्य गवेषणं ग्रहणं भोजनं च करोति तस्य चतुर्गुरवो द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां गुरुकाः । अथ शङ्कितेन मनःसंकल्पेन भुङ्क्ते। ततस्त एव चतुर्गुरुका द्वाभ्यामपि लघवः। उद्गतः सूर्य इति निस्सन्दिग्धे मनःसङ्कल्पे भुञ्जानः शुद्धः ।

अत्थंगयसंकप्पो, गवेसणे गहणे भुञ्जने गुरुगा ।
अह संकियम्मि भुंजइ,दोहि वि लहुऽणत्थमिएँ सुद्धो।१०६।

अस्तंगतो रविरित्येवंविधेन सङ्कल्पेन गवेषणे ग्रहणे भोजने च चतुर्गुरुकास्तपसा कालेन च गुरवः । अथास्तंगतोऽनस्तंगतो वा इति शङ्कितं भुङ्क्ते,ततश्चतुर्गुरुकाः,द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघवः । यः पुनरनस्तमितो रविरित्येवं निःसंदिग्धेन चेतसा भङ्क्ते स शुद्धः ।

अथ ' उग्गयवित्ती ' इत्यादिपदव्याख्यानमाह—

उग्गयवित्ती सुद्धो, मणसंकप्पे य होंति आएसा ।
एमेव अणत्थमिए, धाए पुण संखडीपुरतो ॥ १०७ ॥

उद्गते रवौ वृत्तिर्वर्त्तनं यस्य स उद्गतवृत्तिः , पाठान्तरेण उद्गतमूर्त्तिरिति वा, उद्गते सूर्ये मूर्त्तिः—शरीरं वृत्तिनिमित्तं बहिः सञ्चारं यस्य स उद्गतमूर्त्तिः, मनःसङ्कल्पेनोदितं मन्यते स भुञ्जानोऽपि न दोषभाक् भवति । यः पुनरुदितेऽपि रवौ नाऽद्याप्युदित इति चेतसा मन्यमानो भुङ्क्ते स सदोषः, एवमेवास्तमितेऽपि मन्तव्यम् । किमुक्तं भवति—अस्वमितेऽपि रवौ नाऽद्याप्यस्तङ्गत इति बुद्ध्या भुञ्जानोऽपि न प्रायश्चित्ती,अस्तमितेऽपि वाऽस्तङ्गत इत्यभिप्रायेण भुञ्जानः सदोषः । अथवा-' मणसंकप्पे य होंति आदेसे '-अनुदितमनःसङ्कल्पास्तमितमनःसङ्कल्पयोः कतरो गुरुतरो लघुतरो वेति चिन्तायां द्वावादेशौ भवतः । तौ चोत्तरत्र अभिधास्येते । अनुदिते अस्तमिते वा कथं ग्रहणं सम्भवतीत्याह—' धाए पुण संखडी पुरतो त्ति '-ध्यातं सुभिक्षमिति चैकार्थः । तत्र संखडी सम्भवति, सा च द्विधा । पुरःसंखडी, पश्चात्संखडी वा । तत्र पूर्वाह्ने या क्रियते सा पुरःसंखडी । अपराह्णे तु क्रियमाणा पश्चात्संखडी। इह पुनरनुदिते रवौ पुरःसंखडी। पुनःशब्दग्रहणादस्तमिते पश्चात्संखडीति ।

सूरे अणुग्गतम्मि, अणुदित उदिओ य होति संकप्पो ।
एवं अत्थमियम्मि वि, एकतरं होति णिस्संको ॥१०८॥

सूर्ये अनुद्गते अनुदितसंकल्पः, उदितसङ्कल्पो वा भवेत् । उपलक्षणं चैतत्—उदितोऽप्यनुदितः, उदितो वा सङ्कल्पो भवेत् । एवमेवास्तमितेऽप्येकतरः अस्तमितः अनस्तमितो वा निशङ्को मनःसङ्कल्पो भवति, उपलक्षणत्वादनस्तमितेऽप्यस्तमितसंकल्पः, अनस्तमितसंकल्पो भवेत् । इहानुदितोदितविषया अनस्तमितास्तमितविषया च प्रत्येकं षोडशभङ्गी भवति । तद्यथा—अनुदितमनःसंकल्पः अनुदितगवेषी अनुदितग्राही अनुदितभोजी, एवं चतुर्भिः पदैः सप्रतिपक्षैः भङ्गरचनालक्षणा षोडशभङ्गी रचयितव्या । रचितेषु भङ्गेषु यत्र द्वयोर्मध्यपदयोः परस्परं विरोधो दृश्यते, मध्यपदेषु वा द्वयोरेकस्मिन् उदितो दृष्टोऽन्यपदेषु पुनरनुदितस्ते भङ्गा विरुद्धत्वेन वर्जनीयाः,शेषा ग्राह्याः। तथा अनस्तमितसंकल्पोऽनस्तमितगवेषी अनस्तमितग्राही अनस्तमितभोजी, एवमपि षोडश भङ्गाः कर्त्तव्याः । अत्राऽपि यत्र मध्यपदेषु परस्परं विरोधो दृश्यते, यत्र मध्यपदेषु द्वयोरेकस्मिन् वा अस्तमितो दृष्टः, अन्यपदे वा अनस्तमितस्ते भङ्गाः अविद्यमानकत्वेन वर्जनीयाः, शेषाः ग्राह्याः ।

अनुदितोदितास्तमितानस्तमितेषु चतुर्ष्वपि स्थानेषु यावन्तो भङ्गा घटमानकास्तत्प्रदर्शनार्थमाह—

अणुदियमणसंकप्पे, गहणगवेसी य भुंजणे चेव ।
उग्गयणत्थमिए वा, अत्थंपत्ते वि चत्तारि ॥ १०९ ॥

अनुदितमनःसंकल्पे गवेषणग्रहणभोजनाख्यैस्त्रिभिः पदैर्यै अष्टौ भङ्गास्तेषु चत्वारः प्रथमद्वितीयचतुर्थाष्टमा भङ्गाः घटन्ते, शेषाश्चत्वारोऽघटमानकाः । उद्गतमनःसंकल्पेऽप्येत एव चत्वारो घटन्ते न शेषाः । अनस्तमितसङ्कल्पे अस्तंप्राप्तसङ्कल्पेऽपि चैत एव चत्वारो ग्राह्याः, शेषास्तु तृतीयपञ्चमषष्ठसप्तमा असम्भावित्वाद्वर्जनीयाः ॥

अथैतेषामेव घटमानकभङ्गानां विभागतः—

प्ररूपणामाह—

अणुदितमणसंकप्पे, गवेसगहभोयणम्मि पढमलता ।
वितियाएँ तिसु असुद्धो, उग्गयभोई तु अंतिमओ॥११०॥

अनुदितमनःसङ्कल्पोऽनुदितगवेषी अनुदितग्राही अनुदितभोजी एषा प्रथमा लता; प्रथमो भङ्ग इत्यर्थः । द्वितीयस्यां तु लतायां त्रिषु पदेषु अविशुद्धः , तद्यथा—अनुदित-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सङ्कल्पोऽनुदितगवेषी अनुदितग्राही उद्गतभोजी, इयं द्वि-लता सङ्कल्पगवेषणग्रहणपदैस्त्रिभिरशुद्धा। उद्गतभोजित्व-रूपेणान्त्यपदेन तु शुद्धा।

तइयाएँ दो असुद्धा, गहणे भोति य दोषि उ विसुद्धा।
संकप्पम्मि असुद्धा, तिसु सुद्धा अन्तिमलया उ॥१११॥

तृतीयस्यां लतायां द्वे सङ्कल्पगवेषणपदे अशुद्धे, ग्रहणभो-जनपदे तु द्वे विशुद्धे। तद्यथा-अनुदितसङ्कल्पोऽनुदितगवेषी उदितग्राही उदितभोजी चेति, अन्त्यलतानामनुदितसङ्कल्प-स्य चरमा लता चतुर्थीत्यर्थः। सा सङ्कल्पपदे आवशुद्धा शेषैस्त्रिभिः पदैः शुद्धा। तद्यथा-अनुदितसङ्कल्प उदितगवेषी उदितग्राही उदितभोजी। एवमनुदितमनःसङ्कल्पस्य च-तस्रो लता उक्ताः।

अथोदितमनःसङ्कल्पस्य चतस्रो लता आह—

उग्गयमणसंकप्पे, अणुदितगवेसी य गहणभोई य।
एमेव वितियलता, सुद्धा आदिम्मि अंते य॥ ११२॥
ततियलताएँ गवेसी, होइ असुद्धो उ सेसगा सुद्धा।
सव्वविसुद्धासु भवे, चउत्थलतिया उदियचित्ते॥११३॥

आदित्य उद्गतोऽनुद्गतो वा भवतु स नियमात् उद्गतं मन्यते इत्युद्गतमनःसंकल्प उच्यते, यस्य प्रथमलता उद्गतमनःस-कल्पोऽनुदितगवेषी अनुदितग्राही अनुदितभोजी। एवमेव द्वितीयलताऽपि द्रष्टव्या, नवरमादिपदे अन्त्यपदे च, सा शुद्धा मध्यमे पदद्वये अशुद्धा, तृतीयलतायामेकं गवेषणापद-मशुद्धं, शेषाणि संकल्पग्रहणभोजनपदानि त्रीण्यपि शुद्धानि। चतुर्थी तु लता सर्वेषु पदेषु शुद्धा ४ एताश्चतस्रोऽप्युदितचि-त्तविषया लता भावस्य विशुद्धतया शुद्धाः प्रतिपत्तव्याः। एवमस्तमितानस्तमितसंकल्पयोरप्यष्टौ लता भवन्ति।

तासामेव विभागमुपदर्शयति—

अत्थंगयसंकप्पे, पढम धरेंतेसि गहणभोजी य।
दो संतेसु असुद्धा, वितिया मज्झे भवति सुद्धा॥११४॥
ततिया गवेसणाए, होति विसुद्धा उ तीसु अविसुद्धा।
चत्तारि वि होंति पदा, चउत्थलतियाएँ अत्थमिते॥११५॥

इहास्तमितमनस्तमितं वा रविं यो नियमादस्तमितं मन्य-ते सोऽस्तङ्गतसंकल्पः, तस्य प्रथमा लता—अस्तमि-तसंकल्पः अनस्तमितगवेषी अनस्तमितग्राही अनस्तमित-भोजी १, अत एवाऽऽह—प्रथमायां लतायां 'धरेंतेसि त्ति' ध्रियमाणे सूर्ये भक्तपानस्यैषणं ग्रहणं भोजनं चाऽ-स्तंगतो रविरिति बुद्ध्या करोति, द्वितीया तु लता द्वयो-राद्यन्तपदयोरशुद्धा मध्ये गवेषणाग्रहणपदयोः शुद्धा २, तृतीया गवेषणायां विशुद्धा, त्रिषु शेषेषु संकल्पादिष्वविशु-द्धा, चतुर्थलतायां चाऽस्तमितविषयत्वात्। चत्वार्यपि पदा-न्यविशुद्धानि अस्तमितमनःसंकल्प इति कृत्वा चतस्रोऽप्ये-ता अशुद्धाः।

अथ विशुद्धलता आह—

अणत्थगयसंकप्पे, पढमा एसी य गहण भोजी य।
मणएसिगहण सुद्धा, वितिया अंतम्मि अविसुद्धा॥११६॥
मणएसणाए सुद्धा, ततिया गहभोयणेसु अविसुद्धा।
संकप्पेण विसुद्धा, तिसु वि असुद्धा उ अंतिमिया॥११७॥

अस्तमितमनस्तमितं वा सूर्यं यो नियमादनस्तमितं म-न्यते, तस्य प्रथमा लता—अनस्तमितसंकल्पः अनस्तमितगवे-षी अनस्तमितग्राही अनस्तमितभोजी। अत एवाऽऽह— 'पढमा एसी य गहणभोजी य त्ति' प्रथमायामनस्तमितैषी अनस्तमितग्रहणभोजी चेति, द्वितीया तु लता-मनःसङ्क-ल्पैषणग्रहणपदेषु त्रिषु विशुद्धा, अन्त्यपदे अविशुद्धा २, तृ-तीया लता-मनःसङ्कल्पैषणीया शुद्धा, ग्रहणे भोजन चाऽविशु-द्धा। अन्त्या नाम-चतुर्थी लता सा नवरं संकल्पपदे विशुद्धा-शेषेषु त्रिषु गवेषणग्रहणभोजनपदेषु अशुद्धा।

अथैतास्वविशुद्धलतासु प्रायश्चित्तमाह—

पढमाए वितियाए, ततिय चउत्थीएँ नवमदसभाए।
एक्कारस बारसीएँ, लताएँ चउरो अणुग्घाता॥ ११८॥

प्रथमायां द्वितीयस्यां तृतीयस्यां चतुर्थ्यां नवम्यां दशम्या-मेकादश्यां द्वादश्यां चेत्यष्टासु लतासु भावस्याविशुद्धतया चत्वारोऽनुद्घाता मासाः।

पंचमिछस्सत्तमिया, अट्ठमिया तेर(स)चोद्दसमिया य।
पणरस सोलसा वि य, लताउ एया विसुद्धा उ॥११९॥

पञ्चमी षष्ठी सप्तमी अष्टमी त्रयोदशी चतुर्दशी पञ्चदशी षोडशी चेत्यष्टौ लता विशुद्धाः प्रतिपत्तव्याः, सर्वत्राऽपि भावस्य विशुद्धत्वात्।

अत्र शिष्यः पृच्छति—

दोण्हं वि कतरो गुरुओ, अणुग्गतत्थम्मि भुंजमाणाणं।
आदेस दोण्णि काउं, अणुग्गए लहु गुरू इयरो॥१२०॥

अनुद्गतास्तमितभुञ्जानयोर्द्वयोर्मध्ये कतरो गुरुतरो—महा-दोषः। सूरिराह—आदेशद्वयं कर्त्तव्यम्, एके आचार्या ब्रुवते-अनुद्गतभोजिनः अस्तमितभोजी गुरुतरः। कुत इति चेदु-च्यते-सः संक्लिष्टपरिणामो दिवसतो भुक्त्वा भूयो रजन्याः प्रमुख एव भुङ्क्ते, तदानीं चाविशुद्ध्यमानः कालः, अनुदि-तभोजी पुनः सकलां रजनीमधिसह्य नक्तान्ते भुङ्क्ते विशुद्ध्यमानश्च तदानीं कालः अतोऽसौ लघुतरः। अपरे भणन्ति-अस्तमितभोजिनः अनुदितभोजी गुरुतरः, यस्मा-दसौ सर्वां रात्रिमधिसह्य स्तोकं कालं न प्रतीक्षते, ततः संक्लिष्टपरिणामः। इतरस्तु चिन्तयति भूयान् मया कालः सोढव्यः, अतो भुङ्क्ते एवमसौ लघुतरः। एवमादेशद्वयं कृ-त्वा स्थितपक्ष उच्यते, अनुद्गतसूर्ये प्रतिसमयं विशुद्ध्य-मानकालो भवतीति कृत्वा अनुदितभोजी लघुतरः, इतरः पुनरस्तमितभोजी स तदानीं प्रतिसमयविशुद्ध्यमानः का-लो भवतीति कृत्वा गुरुतरः। उक्तं कालनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

अथ द्रव्यभावनिष्पन्नमभिधित्सुराह—

गेण्हणगहिए आलो-यण नमुक्कारे भुंजणे य संलेहे।
सुद्धो विगिंचणे अवि-गिंचणा सो वि दव्व भावे य१२१

अनुदितोऽस्तमितो वा रविरेतेषु स्थानेषु ज्ञातो भवेत्। 'गेण्हण त्ति' कृते उपयोगे पदभेदे कृते ज्ञातं यथा नाद्या-प्युद्गतोऽस्तमितो वा तदा तत एव निवर्त्तमानः शुद्धः। अथ ग्रहणं गवेषणां कुर्वता ज्ञातं तदाऽपि निवर्त्तमानः शुद्धः। अथ गृहीते ज्ञातं, ततो यद् गृहीतं तत्परिष्ठापयन् शुद्धः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथालोचयता ज्ञातं, तदाऽपि विविञ्चयन् शुद्धः । अथ भोक्तुकामेन नमस्कारं भणता ज्ञातं,ततोऽपि विविञ्चयन् शुद्धः, भुञ्जानेन ज्ञातं शेषं परित्यजन् शुद्धः । अथ सर्वस्मिन् भुक्ते संलेखनाकल्पं कुर्वति ज्ञातं तथाऽपि विविञ्चयन् शुद्धो न प्रायश्चित्ती । अथ न विविनक्ति ततो द्रव्यतो भावतश्चाशोधिः प्रायश्चित्तं भवति ।

तत्र द्रव्यनिष्पन्नं तावदाह—

संलेहण य तिभागेऽद्धे, दो ँ भाए ५ पंच मोत्तु भिक्खुस्स।
मासो चउ छल्लहु गुरु, अभिक्खगहणे तिसू मूलं ।१२२।

संलेखः कवलत्रयप्रमाणस्तमेवाशेषमनुद्गते अस्तमिते वा ज्ञातेऽपि भुङ्क्ते मासलघु, पञ्चकवलानविशिष्यमाणान् भुङ्क्ते मासगुरु,त्रिभागा दशकवलास्तान् अशेषान् भुङ्क्ते चतुर्लघु, अपरार्द्धं पञ्चदश कवलास्तान् अशेषान् भुञ्जानस्य चतुर्गुरु ' दो भाग त्ति ' द्वौ त्रिभागौ विंशतिः कवलास्तान् भुञ्जानस्य षड्लघु ' पंच मोत्तुं ति ' त्रिंशतो मध्यात् पञ्च मुक्त्वा ये शेषाः पञ्चविंशतिः कवलास्तान् यदि भुङ्क्ते तदा षड्गुरु, एवं यथा यथा द्रव्यवृद्धिः तथा तथा प्रायश्चित्तमपि वर्द्धते,अभीक्ष्णग्रहणं पुनः ताः सर्वाः प्रतीत्य द्वितीयवारमेव भुञ्जानस्य मासगुरुकादारब्धं छेदे तिष्ठति, तृतीयं वारं चतुर्लघुकादारभ्य मूलं यावन्नेतव्यम् । एवं त्रिषु वारेषु मूलं यावत्प्रायश्चित्तं भिक्षोरुक्तम् ।

एमेव गणायरिए, अणवठ्ठप्पो य होइ पारंची ।
तम्मि वि सो चेव गमो,भावे पडिलोम वोच्छामि ।१२३।

एवमेव गणिन उपाध्यायस्य आचार्यस्य च वारणिकागमः स एव कर्त्तव्यः, नवरमुपाध्यायस्य प्रथमवारं मासगुरुकादारब्धं छेदे, द्वितीयवारं चतुर्लघुकादारब्धं मूले, तृतीयवारं चतुर्लघुकादारब्धमनवस्थाप्ये तिष्ठति । एवमाचार्यस्याऽपि प्रथमवारं चतुर्लघुकादारब्धं मूले, द्वितीयवारं चतुर्लघुकादारब्धमनवस्थाप्ये , तृतीयवारं षड्लघुकादारब्धं पाराञ्चिके पर्यवस्यति । गतं द्रव्यनिष्पन्नम् । अथ भावप्रतिलोमप्रायश्चित्तं वक्ष्यामि । पूर्वं द्रव्यवृद्धौ प्रायश्चित्तवृद्धिरुक्ता ।

सम्प्रति यथा यथा द्रव्यपरिहाणिस्तथा तथा परिमाणसंक्लेशौ वृद्धिमङ्गीकृत्य प्रायश्चित्तवृद्धिमभिधास्ये । तामेवाऽऽह-

पणऊण तिभागद्धे, तिभागसेसे य पंच मोत्तु संलेहं ।
तम्मि वि सो चेव गमो,णायं पुण पंचहिँ गतेहिं॥१२४।

तत्राऽपि भावप्रायश्चित्ते यो द्रव्यनिष्पन्ने वारणे गत उक्तः, स एव द्रष्टव्यो नवरं 'पणऊण त्ति' पञ्चभिः कवलैरूना या त्रिंशतिशेषाः पञ्चविंशतिः कवला भवन्ति, ततः पञ्चसु कवलेषु गतेषु यदि ज्ञातमनुदितोऽस्तमितो वा रविः एवं ज्ञात्वा शेषान् पञ्चविंशतिकवलान् भुञ्जानस्य मासलघु ' तिभाग त्ति ' त्रिंशद्भागेन हीना विंशतिः कवलास्तान् भुञ्जानस्य मासगुरु । 'अद्ध त्ति' अर्द्धं पञ्चदश कवलास्तान् भुञ्जानस्य चतुर्लघु,त्रिभागो दश कवलास्तान् भुञ्जानस्य चतुर्गुरु, त्रिंशतः पञ्चकवलान् मुक्त्वा शेषाः पञ्चविंशतिरज्ञाते भुक्त्वा ज्ञाते तु पञ्च शेषान् भुञ्जानस्य षड्लघुकाः । संलेखनाशेषं भुञ्जानस्य षड्गुरवः । इह प्रभूततरतमकवलेषु अधिकाधिकतरायामपि तृप्तौ संजातायां शेषस्तोकं स्तोकतरमपि च ज्ञाते सति भुङ्क्ते तत्र परिणामः संक्लिष्टः—संक्लिष्टतर इति कृत्वा बहु बहुतरं प्रायश्चित्तम् ।

एमेवऽभिक्खगहणे, भावे ततियम्मि भिक्खुणो मूलं ।
एमेव गणायरिए, सपदा सपया पदं हसति ॥ १२५ ॥

एवमेव अभीक्ष्णग्रहणेऽपि भावनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं भिक्षोर्द्रष्टव्यम् , नवरं द्वितीयं वारं मासगुरुकादारब्धं छेदे तिष्ठति, तृतीयं वारं चतुर्लघुकादारब्धं मूलं यावन्नयम् । एवमेव गणिन आचार्यस्य द्रष्टव्यम् । नवरं स्वपदात् स्वपदमेकं तु तयोरपि ह्रसति, तत्रोपाध्यायस्य प्रथमवारं मासगुरुकादारब्धं तृतीयवारायामनवस्थाप्ये , आचार्यस्य प्रथमवारं चतुर्लघुकादारब्धं तृतीयवारायां पाराञ्चिके तिष्ठति । इह पूर्वमुद्गतवृत्तिपदमनस्तमितसङ्कल्पपदं च व्याख्यातं न शेषाणि संस्तृतादीनि ।

अतस्तानि व्याचष्टे—

संथडिओ संथरंतो, संतयभोजी व होइ नायव्वो ।
पज्जत्तं अलभंतो, असंखडी छिन्नभत्तो य ॥ १२६ ॥

संस्तृतो नाम पर्याप्तं भक्तपानं लभमानः संस्तरति, अथवा-यः संततभोजी-दिने दिने पर्याप्तमपर्याप्तं वा भुङ्क्ते स संस्तृतो ज्ञातव्यः । यस्तु पर्याप्तं भक्तपानं न लभते चतुर्थादिना नित्यभक्तो वासोऽसंस्तृतः ॥

निर्विचिकित्सपदं व्याख्याति—

निस्संकमणुदितो ति-त्थितो व सूरो त्ति गेण्हती जो तु ।
उदितधरेतें वि हु सो, लग्गति अविसुद्धपरिणामो ।१२७।

निर्विचिकित्सो नाम—निश्शङ्कमनुदितोऽतिक्रान्तो वा सूर्य इति मन्यते एव, यो निःशङ्कितेन मनसा गृह्णाति स उदिते ध्रियमाणे वा-अनस्तमिते रवौ गृह्णाति तथाऽप्यविशुद्धपरिणामेन स प्रायश्चित्तं लभते ।

एमेव य उदिओ त्ति व, धरति त्ति व सोढमुवगतं जस्स ।
स विवज्जए विसुद्धो, विसुद्धपरिणामसंजुत्तो ॥ १२८ ॥

एवमेव यस्य सोढुं निस्सन्दिग्धं चित्ते उपगतं यदुताऽऽदित्य उदितो ध्रियते वा नाद्याऽप्यस्तमेति, स यद्यपि विपर्यये विपर्यासज्ञाने वर्त्तते; तथाऽपि विशुद्धपरिणाम इति कृत्वा विशुद्धो , न प्रायश्चित्ती ।

अथ यदुक्तं सूत्रे ' अह पुण जाणेज्जा अणुग्गए अत्थमिए व त्ति ' तत्रोद्गतमनस्तमितं वा रविं चेतसि कृत्वा गृहीतं पश्चात्पुनर्ज्ञातं यथा अनुद्गतोऽस्तमितो वा, कथं पुनस्तज्ज्ञातमित्याह—

समिचिंचिणिगादीणं, पत्ता पुप्फा य णलिणिमादीणं ।
उदयत्थमणं रविणो, कहिंति विगसंत मउलेत्ता ॥१२९॥

शमीचिञ्चिणिकादीनां तरूणां पत्राणि नलिनीप्रभृतीनां च पुष्पाणि विकसन्ति रवेरुदयं कथयन्ति । एतान्येव मुकुलयन्ति सन्ति रवेरस्तमनं कथयन्ति ।

कथं पुनरादित्य उदितोऽस्तमितो वा न दृश्यते इत्याह—

अब्भहिमवासमहिया, महागिरीराहुरेणुरयछन्नो ।
मूढदिसस्स व बुद्धी, वंदे गेहे मते मिरिए ॥ १३० ॥

अभ्रसंस्तृते गगने, हिमनिकरे वा पतति, वर्षणे वा, महिकया वा पतन्त्याऽऽच्छादिते, महागिरिणा वा अन्तरिते, रा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुणा वा सर्वग्रहणेनोदयास्तमनयोरगृहीते रवौ , रेणुः-कटकगमनाद्युत्थितो धूलिः रज इत्यादिकं , ताभ्यां वा छन्न उदितो वा रविर्न ज्ञायते, दिङ्मूढो वा कश्चिदपरां दिशं पूर्वां मन्यते स नीचमादित्यं विलोक्योद्गतमात्र आदित्य इति बुद्ध्या भक्तपानं गृहीत्वा वसतिं प्रविष्टो यावद्भुङ्क्ते-स्तावदन्धकारं जातम् , ततो जानाति अस्तमिते अहं भुङ्क्ते इति। अथवा-गेहे-गृहाभ्यन्तरे कारणजाते दिवा सुप्तः प्रदोषे चन्द्रे उदिते विबुद्धो विवरेण ज्योत्स्नां प्रतिष्ठां दृष्ट्वा चिन्तयति, एषः आदित्यातपः प्रविष्टः। स च तैमिरिको मन्दं मन्दं पश्यति। ततो गृहिणा निमन्त्रितो भुङ्क्ते। एवमादिभिः कारणैरनुदितमुदितं मन्येत उदितं वा अनुदितम् , अस्तमितमनस्तमितम्।

ततः—

सुत्तं पडुच्च गहिते, णाउं इहरा उ सो ण गेण्हंतो।
जो पुण गेण्हति णाउं, तस्सेगट्ठाणगं वड्ढे ॥ १३१ ॥

यद्युद्गतः अस्तमितो वेति बुद्ध्या सूत्रं प्रतीत्य 'उग्गयवित्ति अत्थत्थमियसंकप्पे' इति सूत्रप्रमाण्येन गृहीतं पश्चाच्च ज्ञातमनुद्गतः अस्तमितो वा रविः, ततो यन्मुखे यच्च पाणौ यच्च प्रतिग्रहे तत्सर्वमपि व्युत्सृजेत् , इतरद् वा यद्यसौ पूर्वमेवानुदिनमस्तमितं वा अज्ञास्यत् ततो नागृहीष्यत्। यः पुनरनुद्गतमस्तमितं वा ज्ञात्वा गृह्णाति गृहीत्वा वा भुङ्क्ते, अन्येषां वा ददाति, तस्यैकं स्थानकं वर्द्धयेत्। तं प्रतीत्य 'तं भुञ्जमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं' इत्युत्तरं सूत्रखण्डं वर्द्धयेदिति भावः।

अथ विवेचनविशोधनपदे व्याचष्टे—

सव्वस्स छड्डण विगिं-चणाउ मुहहत्थपादछूढस्स।
फुसणधुवणा विसोहण,स किं च बहुसो व णाणत्तं॥१३२॥

अनुदितमस्तमितं वा ज्ञात्वा यन्मुखे प्रक्षिप्तं तस्य ज्ञाते सति खेलमल्लकचत्प्रक्षेपणम् , यच्च हस्ते-पाणौ वाऽस्य प्रतिग्रहे यत्पात्रप्रतिग्रहे तस्य स्थण्डिले , एवं सर्वस्याऽपि यत्परिष्ठापनं सा विवेचना , यत्तु स्पर्शनं हस्तेनामर्षणं धावनं कल्पकरणं सा विशोधना , अथवा—सकृदेकशः परिष्ठापनस्पर्शनधावनानां करणं विवेचना , एतेषामेव बहुशः करणं विशोधनम् , एतद्धि विवेचनविशोधनयोर्नानात्वमुक्तम्,

अथ ' नो अइक्कमइ ' त्ति पदं व्याख्याति—

नातिक्कमती आणं, धम्मं मेरं व रातिभत्तं वा।
अत्तट्ठेगागी वा, सयभुंजे सो स देज्जाऽपि ॥ १३३ ॥

एवं विविञ्चन् विशोधयन् वा तीर्थकृतामाज्ञां नातिक्रामति। अथवा-श्रुतधर्मं चारित्रमर्यादां रात्रिभक्तव्रतं वा नातिक्रामति " भुञ्जमाणो अन्नेसिं वा दलमाणो " त्ति पदद्वयं व्याख्यायते- (अत्तट्ठ इत्यादि) आत्मार्थिक आत्मलीनो निग्रहकरणे वा य एकाकी स स्वयं भुङ्क्ते, नान्येषां ददाति इति। शेषः पुनरनात्मलीनः अनेकाकी वा अन्येषामपि दद्यात् , स्वयमपि भुञ्जीत। गतं प्रथमं संस्तृतनिर्विचिकित्ससूत्रम्।

अथ द्वितीयं संस्तृतविचिकित्ससूत्रं व्याख्याति—

एवं वितिगिच्छो वा, दोहि लहू णवरि ते तु तवकाले।
तस्स पुण हवंति लता, अट्ठ सुद्धा ण इतरा उ॥१३४॥

विचिकित्सते-किमुदितो रविः नवेति उदितानुदित इत्यादि संशयं करोतीति विचिकित्सः, सोऽप्येवमेव वक्तव्यो नवरं यानि तस्य तपोहानिप्रायश्चित्तानि तपसा कालेन च लघुकानि तस्य च विचिकित्सस्य पुनरशुद्धा एव केवला अष्टौ लता भवन्ति , नेतरा सङ्कल्पस्य शङ्कितत्वेन प्रतिपत्ताऽभावात्।

कथं पुनरसौ ? शङ्कां करोतीत्याह—

अणुदिय उदिओ किं ण हु, संकप्पो उभयहा अदिहे उ।
धरति ण वत्ति व सूरो,सो पुण नियमा चउण्हेक्को॥१३५॥

उभयथा-उदयकाले अस्तमनकाले वा अभ्रहिमादिभिः कारणैरदृष्टे आदित्ये सङ्कल्पो भवति, किमनुदित उदितो वा रविः, अस्तमनकालेऽपि भूयो ध्रियते न वेति शङ्का भवति,स पुनः सूर्यो नियमादनुदित उदितः अनस्तमितः अस्तमितो वेति चतुर्णां विकल्पानामेकतरस्मिन् वर्त्तते। भङ्गाः पुनरत्र स्वयमुच्चारणीयाः। उदयं प्रतीत्य विचिकित्से मनःसङ्कल्पे सति विचिकित्सितगवेषी विचिकित्सितग्राही विचिकित्सितभोजी एवमष्टौ भङ्गाः. अस्तमनमपि प्रतीत्यैवमेवाष्टौ भङ्गाः, द्वयोरप्यष्टभङ्ग्योः प्रथमद्वितीयचतुर्थाष्टमा भङ्गा घटमानकत्वाद् ग्राह्याः , शेषाश्चत्वारोऽग्राह्याः। गतं संस्तृतविचिकित्ससूत्रम्।

अथ तृतीयमसंस्तृतविचिकित्ससूत्रं व्याचिख्यासुराह—

तवगेलण्णट्ठाणे, तिविहो तु असंथडो तिहि तिविहो।
मवसंथडमीसस्सा, मासादारोवणा इणमो ॥ १३६ ॥

(अस्याः गाथाया अक्षरार्थः—' असंथड ' शब्दे प्रथमभागे ८२४ पृष्ठ गतः। इह ततो विशेष उच्यते)

इहाऽपि पूर्वक्रमेण षोडश लताः कर्त्तव्याः कालनिष्पन्नं च प्राग्वत्। द्रव्यभावप्रायश्चित्तयोस्त्वयं विशेषः, तपोऽसंस्तृतो विकृष्टतपःक्लान्तः पारणके अनुद्गते अस्तमिते वा उदितानस्तमितबुद्ध्या भक्तपानीये भुञ्जानो यदा उद्गतमस्तमितं वा जानाति, ततः परं भुञ्जानस्येदं प्रायश्चित्तम्—

एक्क दुग तिण्णि मासा, चउमासा पंचमास छम्मासा।
सव्वे वि होंति लहुगा, एगुत्तरवड्ढिया जेणं ॥ १३७ ॥

संलेखनार्थं यदि ज्ञातो भुङ्क्ते, ततः एकमासिकं, पञ्च कवलान् समुद्दिशति द्वैमासिकं , दश कवलान् समुद्दिशति त्रैमासिकं , पञ्चदश कवलान् भुञ्जानस्य चतुर्मासिकं , विंशतिं भुञ्जानस्य पञ्चमासिकम्। अथ पञ्च कवला विशुद्धभावेन समुद्दिष्टाः शेषान् पञ्चविंशतिं कवलान् ज्ञाते भुङ्क्ते ततः षाण्मासिकम् , एतानि सर्वाण्यपि लघुकानि प्रायश्चित्तानि भवन्ति। कुत इत्याह-येन कारणेनैकोत्तरवृद्ध्या द्व्यादिरूपया अमूनि वर्द्धितानि।

इदमेव विविनक्ति—

दुविहा य होइ वुड्ढी, सट्ठाणे चेव होइ परठाणे।
सट्ठाणम्मि उ गुरुगा,परठाणे लहुग गुरुगा वा॥१३८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्विविधा च भवति वृद्धिस्तद्यथा—लघुका गुरुका भवति। तत्र लघुकस्थानादारब्धा लघुका, गुरुकस्थानादारब्धा गुरुका भवति। अत्र च मासलघुकादारब्धा अतः सर्वाण्यपि लघूनि द्रष्टव्यानि—

भिक्खुस्स ततियगहणे, सट्ठाणे होइ दव्वनिप्फन्नं।
भावम्मि उ पडिलोमं, गणिआयरिए वि एमेव ॥१३६॥

भिक्षोर्द्वितीयवारं द्वैमासिकादारब्धं छेदे तिष्ठति, तृतीयवारग्रहणे त्रैमासिकादारब्धं स्वस्थानं मूलं यावन्नयम्। एवं द्रव्यनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमुक्तम्। भावनिष्पन्नं पुनरेतदेव प्रतिलोमं मन्तव्यम्। गणिन आचार्यस्यापि द्रव्यभावयोरुभयोरप्ययमेव प्रायश्चित्तं,नवरमुपाध्यायस्य द्वैमासिकादारब्धं त्रिभिर्वारैरनवस्थाप्ये, आचार्यस्य त्रैमासिकादारब्धं त्रिभिर्वारैः पाराञ्चिके पर्यवस्यति। गतस्तयोरसंस्तृतः॥

अथ ग्लानासंस्तृतमाह—

एमेव य गेलण्णे, पट्ठवणा तत्थ णवर भिण्णेणं।
चउहि गहणेहि सपदं, काम अगीतत्थ सुत्तं तु ।१४०।

ग्लानासंस्तृतस्याऽप्येवमेव प्रायश्चित्तम्, नवरं तत्र तत्र 'भिण्णेणं' ति भिन्नमासात्प्रस्थापना कर्त्तव्या। प्रथमं वारं पञ्चमासलघुके, द्वितीयं षण्मासलघुके, तृतीयं छेदे, चतुर्थवारं मूले तिष्ठति। अत एवाऽऽह—चतुर्भिर्ग्रहणैरभीक्ष्णं सेवारूपैः स्वपदं मूलं भिक्षुः प्राप्नोति। उपाध्यायस्य लघुमासादारब्धं चतुर्भिर्वारैरनवस्थाप्ये, आचार्यस्य द्विमासलघुकादारब्धं चतुर्भिर्वारैः पाराञ्चिके पर्यवस्यति। शिष्यः पृच्छति—कस्यैतत्प्रायश्चित्तम्? सूरिराह—यदुक्तं यच्च वक्ष्यमाणमेतत् सर्वमगीतार्थस्य सूत्रं भवति, प्रस्तुतसूत्रोक्तं प्रायश्चित्तमित्यर्थः। स हि कार्यं वा यतनामयतनां वा न जानीते अतस्तस्य प्रायश्चित्तम्। गतो ग्लानासंस्तृतः।

अथाध्वासंस्तृतमाह—

अद्धाणा संथडिए, पवेस-मज्झे तहेव उत्तिण्णे।
मज्झम्मि दसगवुड्ढी, पवेस-उत्तिण्णपणएणं ॥ १४१ ॥

अध्वनि-मार्गे यः असंस्तृतः स त्रिविधः। तद्यथा—अध्वनः प्रवेशे मध्ये उत्तरे च। तत्र प्रथमं मध्ये भाव्यते—भिक्षोः संलेखनादिषु षट्सु स्थानेषु दशरात्रिन्दिवमादौ कृत्वा प्रायश्चित्तवृद्धिः कर्त्तव्या। उपाध्यायस्य पञ्चदश रात्रिन्दिवादिकमाचार्यस्य विंशतिरात्रिन्दिवादिकं प्रायश्चित्तं भवेत्। एतदेव प्रतिलोमं वक्तव्यम्। अथ प्रवेशे उत्तरणे च भण्यते—'पवेस उत्तिण्णपणएणं' ति प्रवेशे तथा उत्तरणमुत्तीर्णे तत्र च पञ्चकेन स्थापना क्रियते। संलेखनादिषु षट्सु पदेषु पञ्चरात्रिन्दिवान्यादौ कृत्वा मासलघुकं यावन्नेतव्यमिति। तथा उभयोरपि अष्टाभिर्वारैर्मूलं प्राप्नोति, उपाध्यायस्य दशरात्रिन्दिवादिकं दशमवारायामनवस्थाप्यम्। आचार्यस्य पञ्चदशरात्रिन्दिवादिकं पाराञ्चिकान्तं भवेत्। एतदेव प्रतिलोमं प्रायश्चित्तम्। शिष्यः पृच्छति—अध्वासंस्तृतो मध्ये क्षिप्रमेव स्वपदं प्रापितः, प्रवेशे उत्तरणे च चिरेण न तावदेव कथम्? अत्रोच्यते—अध्वनः प्रवेशे भयमुत्पद्यते,वयमध्वानं निस्तरिष्यामः। उत्तरणेऽपि बुभुक्षातृषादिभिरत्यन्तं क्लान्तः, अत एतौ चिरेण स्वपदं प्रापितौ। अध्वमध्ये पुनर्जितभयो नातिक्लान्तश्च,अतः शीघ्रं सपदं प्रापितः। अत्रैकैकस्मिन् पदे आज्ञादयो रात्रिभोजनदोषाश्च। अगीतार्थस्य चैतन्मन्तव्यं, न गीतार्थस्य।

कुत इति चेदुच्यते—

उग्गतमणुग्गते वा, गीतत्थो कारणेणऽतिक्कमति।
दूता हिंडविहारी, ते वि य होंती सपडिवक्खा ॥१४२॥

गीतार्थः अध्वप्रवेशादौ कारणे उत्पन्ने उद्गते अनुद्गते वा सूर्ये यतनया अरक्तोऽद्विष्टो भुञ्जानो भगवतामाज्ञां धर्मं वा नातिक्रामति, ते चाध्वप्रतिपन्नास्त्रिविधा—द्रवन्तः, आहिण्डकाः, विहारिणश्च। तत्र द्रवन्तः—ग्रामानुग्रामं गच्छन्तः, आहिण्डकाः—सततपरिभ्रमणशीलाः, विहारिणः—मासं मासेन विहरन्तः। तेऽपि प्रत्येकं सप्रतिपक्षाः।

तद्यथा—

दूइज्जंता दुविहा, णिक्कारणिगा तहेव कारणिगा।
असिवादी कारणिया, चक्के मूलाइया इतरे ॥ १४३ ॥
उवदेस अणुवदेसा, दुविहा आहिंडगा मुणेयव्वा।
विहरंता वि य दुविहा,गच्छगता निग्गता चेव ॥१४४॥

द्रवन्तो द्विविधा—निष्कारणिकाः, कारणिकाश्च। तत्राशिवावमौदर्यराजद्विष्टादिभिः, कारणैरुपधेर्लेपस्य वा निमित्तं गच्छस्य वा बहुगुणभरमिति कृत्वा आचार्यादीनां वा आगाढे कारणे द्रवन्ति ते कारणिकाः, ये पुनरुत्तरापथे धर्मचक्रं, मथुरायां देवनिर्मितः स्तम्भः, आदिशब्दात्—कोशलायां जीवस्वामिप्रतिमा तीर्थकृतां वा जन्मादिभूमय एवमादिदर्शनार्थं द्रवन्तो निष्कारणिकाः। आहिण्डका अपि द्विधा उपदेशाऽऽहिण्डका, अनुपदेशाऽऽहिण्डकाश्च। तत्र ये सूत्रार्थौ गृहीत्वा भविष्यदाचार्यगुरूणामुपदेशेन विषयाचारभाषोपलम्भनिमित्तमाहिण्डन्ते ते उपदेशाऽऽहिण्डकाः। ये तु कौतुकेन देशदर्शनं कुर्वन्ति ते अनुपदेशाऽऽहिण्डकाः। विहरन्तोऽपि द्विविधा—गच्छगता गच्छनिर्गताश्च। गच्छवासिनः ऋतुबद्धे मासं मासेन विहरन्ति, गन्तुकेन देशदर्शनं कुर्वन्ति ते गच्छगताः। गच्छनिर्गता द्विधा—विधिनिर्गताः, अविधिनिर्गताश्च। विधिनिर्गताश्चतुर्द्धा जिनकल्पिकाः, प्रतिमाप्रतिपन्नाः, यथालन्दिकाः (शुद्धाः) पारिहारिकाश्चेति। अविधिनिर्गताः साधारणादिभिः त्याजिता एकाकीकृताः।

एतेषां भेदानामितरयोः प्रायश्चित्तं लगति—

निक्कारणिगाऽणुवदे-सिगा य लग्गंतणुदिय अत्थमिते।
गच्छा विणिग्गता वि हु, लग्गेज्जति ते करेज्जेवं ॥१४५॥

निष्कारणिका द्रवन्तः, अनुपदेशाऽऽहिण्डकाः,अविधिनिर्गताश्च अनुदिते अस्तमिते वा यदि गृह्णन्ति भुञ्जते वा ततः पूर्वोक्तप्रायश्चित्तं लगति। ये तु कारणिका उपदेशाऽऽहिण्डका गच्छगताश्च ते कारणे यतनया गृह्णन्तः भुञ्जानाश्च शुद्धाः। ये तु गच्छनिर्गता जिनकल्पिकादयस्तेऽपि यद्येवमनुदिते वा ग्रहणं कुर्युस्ततो लगति, नियमात्तदानीं न गृह्णन्ति त्रिकालविषयज्ञानसम्पन्नत्वात्।

अथवा तेसिं ततियं, अप्पत्तो अणुदितो भवे सूरो।
पत्तो उ पच्छिमं पो-रिसिं च अत्थंगतो होति ॥१४६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवाशब्दः प्रकारान्तरे वा। तेषां जिनकल्पिकादीनां तृतीयां पौरुषीमप्राप्तः सूर्योऽनुदितो भण्यते । पश्चिमां च पौरुषीं प्राप्तोऽस्तंगत उच्यते। अत एव भक्तं पन्थाश्च तेषां तृतीयपौरुष्यामेव भवति, नान्यथा। गतं संस्तृतनिर्विचिकित्ससूत्रम्।

अथासंस्तृतविचिकित्ससूत्रं व्याचष्टे—

वितिगिच्छ अब्भसंथड, सत्थो उ पहावितो भत्ते तुरियं।
अणुकंपदाएँ कोई, भत्तेण निमंतणं कुज्जा ॥ १४७ ॥

अथ तंस्तृते—हिमानीसंछादिताभिरदृश्यमाने सूर्ये विचिकित्सो भवति, ते च साधवः सार्थेनाध्वानं प्रतिपन्नाः अन्तरा वाऽभिमुखे वा अपरः सार्थ आगतः। द्वावप्येकस्थाने आवसितौ। अभिमुखागन्तुकसार्थिकोऽप्यनुकम्पया साधूनां भक्तेन निमन्त्रणं कुर्यात्, यस्मिंश्च सार्थे साधवः सञ्चलिताः अतः सूर्योदयवेलायामुदितोऽनुदित इति शङ्कया गृह्णीयुः, इहाऽपि त्रिविधे असंस्तृते तथैवाऽष्टौ लता नवरं संस्तृते निर्विचिकित्से तपः प्रायश्चित्तान्युभयगुरुकाणि असंस्तृते विचिकित्से पुनरुभयलघूनि। शेषं सर्वमपि प्राग्वत्। बृ० ५ उ०। अत्र प्रायश्चित्तं विवेकार्हम्। जीत०। रात्रिभोजनं प्रतिगृहीतं सत्परिष्ठापयेत्।

सूत्रम्—

इह खलु निग्गंथस्स वा निग्गंथीए वा रातो वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा, नो अतिक्कमइ, तं उग्गिलित्ता पच्चोगिलमाणे राईभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ, चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ १० ॥

अस्य सम्बन्धमाह—

निसिभोयणं तु पगतं, असंथरंतो बहू व भोत्तूणं।
उग्गालमुग्गिलिज्जा, कालपमाणं च दव्वं तु ॥ १४८ ॥

निशि भोजनं पूर्वसूत्रे प्रकृतम्, इहाऽपि तदेवाभिधीयते, यद्वा—असंस्तरन् बहु—प्रभूतं भुक्त्वा रजन्यामुद्गारमुद्गिरेत् तन्निषेधार्थमिदं सूत्रम्। अथवा—कालप्रमाणमनन्तरसूत्रे उक्तम्, इह तु कालप्रमाणादनन्तरं द्रव्यप्रमाणमुच्यते अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य (सूत्रस्य-१०) व्याख्या—इहाऽस्मिन् मौनीन्द्रे प्रवचने ग्रामादौ वा वर्तमानस्य खलुर्वाक्यालङ्कारे निर्ग्रन्थस्य वा निर्ग्रन्थ्या वा रात्रौ वा विकाले वा सह पानेन सपानः सह भोजनेन सभोजनः, उद्गार आगच्छेत्। किमुक्तं भवति—सिक्थविरहितमनं पानीयमुद्गारेण सहागच्छति, कूरसिक्थं वा केवलमागच्छति, कदाचिदुभयं वा। तमुद्गारं विचिन्तयन् सकृत् परित्यजन्, विशोधयन् वा बहुशः परित्यजन् नो आज्ञामतिक्रामति, तमुद्गीर्य प्रत्यवगिलन् भूयोऽप्यास्वादयन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकमेवेति सूत्रार्थः।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः—

उड्डरे वमित्ता, आदिअणो पणगवुड्ढिजाती सा।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं च भिक्खुस्स ॥ १४९ ॥

ऊर्ध्वद्वारमानितेपपर्याप्तमशनादिकं भुक्त्वा वमित्वा च यो विशिष्टमनुकूलोऽनेन भूयः प्रत्यापिबति ततो यदि दिवसस्तत एकलम्बनमादौ कृत्वा यावत्पञ्चलम्बनास्तावदापिबति ततश्चत्वारो लघवः। ततः पञ्चकृत्वस्त्रिंशतं यावत् कत्तव्याः। तद्यथा—षट्प्रभृति यावद्दशलम्बना एतेषु चतुर्गुरवः। एकादशादिषु पञ्चदशान्तेषु षड्लघवः, षोडशादिषु विंशत्यन्तेषु षड्गुरवः, एकविंशत्यादिषु पञ्चविंशत्यन्तेषु छेदः, षड्विंशत्यादिषु त्रिंशदन्तेषु लम्बनेषु प्रत्यवगिल्यमानेषु मूलम्। एवं भिक्षोरुक्तम्।

गणि आयरिए सपदं, एगग्गहणे वि गुरुग आणादी।
भिच्छत्तमच व दुए, विराहणा तस्स वग्गस्स ॥ १५० ॥

गणी उपाध्यायस्तस्य चतुर्गुरुकादारब्धं स्वपदमनवस्थाप्यं यावन्नेयम्, आचार्यस्य षड्लघुकादारब्धं स्वपदपाराञ्चिकं यावद् द्रष्टव्यम्, एवं दिवसत उक्तम्। रात्रौ तु यद्येकमपि सिक्थं गृह्णाति प्रत्यादत्ते ततश्चतुर्गुरु आज्ञादयश्च दोषाः। मिथ्यात्वं चासौ अन्येषां जनयति—यथा वादिनस्तथा कारिणो न भवन्त्यमी इति राजा वा तं ज्ञात्वा भिक्षादीनां प्रतिषेधं कुर्यात्, मा वा कोऽप्यमीषां मध्ये प्राव्राजिदिति वारयेत्, असारं च प्रवचनं मन्येत। अस्थिसरजस्का अप्यमीभिर्वान्तमापिबद्भिर्जिता इति तस्य वा वान्ताशिनः अन्यस्य वान्तं पश्यतो विराधना भवति। अत्राऽमात्यदृष्टान्तः "एको रंकवट्टुगो संखडीए मज्जिया कूरं अइप्पमाणं जिमितो,निग्गयस्स रायमग्गमागाढस्स हियमुच्छत्तं अतिपिपासियस्स हिट्ठा वमिउमारद्धो । अमच्चेण य पयोयणट्ठिएण दिवसे य वमित्ता तमहारमविणट्ठं पासित्ता लोभेण भुंजिउमारद्धो। तं दट्ठूण अमच्चस्संगाणि उद्धसिसियाणि उड्ढं च जातं। अमच्चो दिणे दिणे जेमणवेलाए समुद्दिसंतो संभरेत्ता उड्ढं करेइ। एवं तस्स वग्गुली वाही जातो। तओ मओ। सो वि भिज्जाईओ एवमेव विणट्ठो। जम्हा एते दोसा तम्हा पमाणपत्तं भोत्तव्वं"।

एवं भाव दिवसतो, रातो सित्थे वि चउगुरू होंति।
उड्डरगहणा पुण, अववातं कप्पओ एवं ॥ १५१ ॥

एवम् तावत् कवलपञ्चकमादौ कृत्वा पञ्चकवृद्ध्या चतुर्लघुकादिकं प्रायश्चित्तं दिवसत उक्तम्, रात्रावेकसिक्थस्याऽपि ग्रहणे चतुर्गुरुको भवति। यच्च निर्युक्तिगाथायामूर्द्धदरग्रहणं कृतं तदेव ज्ञापयति-अपवादपदे अधस्तने प्रत्यकुस्तनमपि कल्पते।

अत्र शिष्यः प्राह—

रातो व दिवसतो वा, उग्गाले कत्थ संभवो होज्जा।
गिरिजण्णसंखडीए, अट्ठाहियतोसलीए वा ॥ १५२ ॥

रात्रौ दिवसतो वा कुत्रोद्गारस्य सम्भवो भवेत्। सूरिराह-गिरियज्ञादिषु संखडीषु तोसलिविषये वा अष्टाहिकादिमहिमासु प्रमाणातिरिक्तं भुञ्जानानामुद्गारः सम्भवति।

तत्र प्रायश्चित्तमभिधित्सुः प्रस्तावनार्थं तावदिदमाह—

अद्धाणे वत्थव्वा, पत्तमपत्ता य जोयणदुगे य।
पत्ता य संखडिं जे, जतणमजतणाएँ ते दुविहा ॥१५३॥

ते संखडीभोजिनः साधवो द्विधा—अध्वप्रतिपन्नाः, वास्तव्याश्च। तत्र ये वास्तव्यास्ते द्विधा-संखड्याः प्रेक्षिणः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्राप्ताश्च । अध्वप्रतिपन्ना अपि द्विधा-तत्र च गन्तुकामाः अन्यत्र वा गन्तुकामाः । येऽन्यत्र गन्तुकामास्ते द्विधा-प्राप्तभूमिकाः,अप्राप्तभूमिकाश्च । प्राप्तभूमिका नाम-ये संखडिग्रामपार्श्वतो गन्तुकामाः , संखडीमाभधार्यार्द्धयोजनादागच्छन्ति । अप्राप्तभूमिका ये योजनात् योजनाधिकादुपलक्षणत्वाद्यावत् द्वादशयोजनेभ्यः संखडीनिमित्तमागताः । ये तत्रैव गन्तुकामाः, संखडीग्रामे प्राप्तास्ते द्विविधा-द्विप्रकारा-यतनाप्राप्ता, अयतनाप्राप्ताश्च । ये पदभेदमकुर्वन्तः सूत्रार्थपौरुष्यौ विदधाना आगतास्ते यतनाप्राप्ताः, ये तु संखडीं कृत्वा सूत्राऽर्थौ हापयन्त उत्सुकीभूता आगताः ते अयतनाप्राप्ताः ।

वत्थव्व जयणपत्ता, एगगमा दो वि होंति णेतव्वा ।
अजयणवत्थव्वा वि य, संखडिपेही उ एक्कगमा ॥१५४॥

भिन्ना ये वास्तव्याः संखडीलोकिनो ये च तत्रैव गन्तुकामाः यतनाप्राप्ता,एते द्वावपि प्रायश्चित्तवा(चा)रणिकायामेकगमा भवन्ति-ज्ञातव्याः, ये तु तत्रैव गन्तुकामा अयतनाप्राप्ता ये च वास्तव्याः संखडीप्रलोकिनः, एते द्वयेऽपि वा(चा) रणिकायामेकगमा भवन्ति ।

" पत्ता य संखडिं जे " इति पदं व्याख्याति-

तत्थेव गन्तुकामा, वोलेउमणा व तं उवरिएणं ।
पदभेदे अजयणाए, पडिच्छ उव्वत्त सुतभंगे ॥१५५॥

यत्र ग्रामे संखडिस्तत्रैव आगन्तुकामा ये वा तस्य ग्रामस्य परिवोलयितुमनसस्ते यदि स्वभावगतेः पदभेदं कुर्वन्ति एकद्व्यादीनि वा दिनानि प्रतीक्षन्ते अवेलायामुद्वर्त्तन्ते वा सूत्रार्थपौरुषीभङ्गेन वा प्राप्ता भवन्ति, तदा अयतनाप्राप्ताः । इतरथा यतनाप्राप्ताः ।

प्राप्तभूमिकानप्राप्तभूमिकाँश्च व्याख्याति—

संखडिमभिधारेंता, दुगाउया पत्तभूमिगा होंति ।
जोयणमाइअपत्ते, भूमीया वारस उ जाव ॥ १५६ ॥

संखडिग्रामपार्श्वतो ये गन्तुकामास्ते यदि संखडीमभिधार्य गव्यूतिद्वित्रान्तरं गच्छन्ति ; तदा प्राप्तभूमिका भवन्ति । ये पुनर्योजनादायोजनद्वयात्-द्वादशयोजनेभ्यः आगच्छन्ति ते सर्वे अप्राप्तभूमिकाः ।

खेत्तंतो खेत्तवहिं, अप्पत्ता वाहि जोयणदुगे य ।
चत्तारि अट्ठ वारस,जग्ग सुव विगिंचणाऽऽपियणा।१५७।

संखडिं कृत्वा क्षेत्रान्तः क्षेत्रवहिर्वा आगच्छेयुः । ये क्षेत्रान्तः सार्द्धक्रोशद्वयादागच्छन्ति ते प्राप्तभूमिकाः , ये पुनः क्षेत्रबहिर्योजनात् योजनद्वयाच्चतुर्योजनादष्टयोजनाद्यावत् द्वादशयोजनादागच्छन्ति ते अप्राप्तभूमिकाः । एते सर्वेऽपि संखड्यामतिमात्रं भुक्त्वा प्रदोषे न जाग्रति नैरात्रिककालवेलायामपि स्वपन्ति नोत्तिष्ठन्ते ' विगिंचण त्ति ' उद्गारमुद्गीर्य परित्यजन्ति 'आपियण'त्ति तमेव आपिवन्ति प्रत्यवगिलन्ति।

एतेषु चतुर्षु पदेषु द्वयमारोपणा—

वत्थव्व जयणपत्ता, सुद्धा पणगं च भिन्नमासो अ ।
तवकाले हि विसुद्धा,अजयणमादीवि तु विसुद्धा॥१५८॥

संखड्यप्रलोकिनो वास्तव्या यतनया प्राप्ताश्चागन्तुकाः संखड्यां यावद् वतं भुक्त्वा प्रादोषिकीं पौरुषीं न कुर्वन्ति मा न जरिष्यन्तीति कृत्वा, तत आचार्यानापृच्छ्य स्वपन्तः शुद्धाः त एव यदि नैरात्रिकं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति; तदा पञ्चरात्रिंदिवानि तपोगुरूणि, कालगुरूणि । अथोद्गार आगतस्तं च यदि विचिन्वन्ति, ततो भिन्नमासस्तपोगुरु काललघु । अथ तमुद्गारमापिवन्ति, ततो मासलघु, तपसा कालेन च गुरुकम् । ये अयतनाप्राप्ताः ये च वास्तव्याः संखडीप्रलोकिनः, एते द्वयेऽपि संखड्यां भुक्त्वा प्रादोषिकं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति तदा मासलघु, द्वाभ्यामपि लघुकम् । नैरात्रिकं न कुर्वन्ति, मासलघु कालगुरुकम् । उद्गारमागतं परित्यजन्ति मासलघु तपसा कालेन च गुरुकम् ।

अत एवाह—

तिसु लहुगगुरुग एगे, तीसु य गुरुओ उ चउलहू अंते ।
तिसु चउलहुगा चउगुरु,ति चउगुरु छल्लहू अंते॥ १५९ ॥

त्रिषु स्थानेषु प्रादोषिकस्वाध्यायनैरात्रिकाकरणोद्गारविवेचनरूपेषु लघुको मासः । एकस्मिन् चतुर्थे प्रत्यवगिलनाख्ये स्थाने मासगुरु । ये अन्यत्र गन्तुकामाः प्राप्तभूमिकाः संखडिहेतोः अर्द्धयोजनादागताः तेषां प्रादोषिकस्वाध्यायाकरणादिषु त्रिषु स्थानेषु मासगुरु, अन्त्यस्थाने चतुर्लघु । ये अप्राप्तभूमिकाः संखडिनिमित्तं योजनादागतास्तेषां प्रादोषिकादिषु त्रिषु पदेषु चतुर्लघु, अन्यपदेषु चतुर्गुरु । ये तु योजनद्वयादायातास्तेषामादिपदेषु त्रिषु चतुर्गुरु, अन्त्यपदे षड्लघु ।

तिसु छल्लहुगा छग्गुरु, तिसु छग्गुरुगा य अंतिमे छेदो ।
छेदादी पारंची, वारसगादीसु य चउक्कं ॥ १६० ॥

ये योजनचतुष्टयादागतास्तेषां त्रिष्वाद्यपदेषु षड्लघु, अन्त्यपदे षड्गुरु । ये योजनाष्टकादागतास्तेषां त्रिषु षड्गुरु, अन्त्यपदे छेदः । ये द्वादशयोजनादागताः ते प्रादोषिकं स्वाध्यायं न कुर्वन्तीति छेदः । आदिशब्दाद्—नैरात्रिकमकुर्वतां मूलम् । उद्गारविविञ्चतामनवस्थाप्यम् , प्रत्यापिवतां पाराञ्चिकम् । ' वारसगादीसु य चउक्कं ' ति प्रतीपक्रमेण यानि द्वादशयोजनप्रभृतीनि स्थानानि तेषु सर्वेष्वपि प्रत्येकं प्रत्येकं प्रादोषिकादिचतुष्कं मन्तव्यम् । चतुर्ष्वपि पदेषु तपोऽर्हाणि प्रायश्चित्तानि प्राग्वत् तपःकालविशेषितानि कर्त्तव्यानि ।

अस्यैवार्थस्य सुखाववोधनार्थमिमां प्रस्तावनामाह—

खेत्तंतो खेत्तवहिया, अप्पत्ता वाहि जोयणदुगे य ।
चत्तारि अट्ठ वारस,जग्ग सुव विगिंचणाऽऽपियणा।१६१।

इहोर्ध्वाधः क्रमेणाष्टौ गृहाणि स्थापनीयानि, तिर्यक् पुनश्चत्वारि, एवं द्वात्रिंशद् गृहकाणि कर्त्तव्यानि । प्रथमगृहाष्टकपङ्क्त्यामधोऽध एते अष्टौ पुरुषविभागा लेखितव्याः, ये तत्रैव गन्तुकामा यतनाप्राप्ता ये च वास्तव्या यतनाकारिण एष एकः पुरुषविभागः, ये तु तत्रैव गन्तुकामा एवायतनया प्राप्ता वास्तव्याश्च यतनाकारिणः, एष द्वितीयः । ये तु अन्यत्र गन्तुकामास्ते क्षेत्रान्तः क्षेत्रबहिर्वा आगता भवेयुः, ये क्षेत्रान्तस्ते प्राप्तभूमिका उच्यन्ते, एष तृतीयः । ये तु क्षेत्रबहिस्ते अप्राप्तभूमिका उच्यन्ते, ते च योजनादागताः स एष चतुर्थः पुरुषविभागः । योजनद्वयादागताः पञ्चमः । चतुर्योजनादागताः षष्ठः, अष्टयोजनादायाताः सप्तमः, द्वादशयोजनादागताः अष्टमः । उपरितनतिर्यगायतचतुष्कपङ्क्त्या उपरिक्रमेणामी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चत्वारो विभागा लेखितव्याः। प्रदोषे अजागरणं त्रैरात्रिकस्वाध्यायवेलायां खपनम्, उद्गारविवेचनं प्रत्यवगिलनम् आदिमः। चतुष्कपङ्क्त्या द्वितीयगृहादमूनि प्रायश्चित्तानि क्रमेण स्थापयितव्यानि—

पणगं च भिण्णमासो, मासो लहुओ य पढमतो सुद्धो।
मासो तवकालगुरू,दोहि वि लहुओ य गुरुओ य॥१६२॥

द्वितीयगृहे पञ्चकं, तृतीयगृहे भिन्नमासः, चतुर्थे मासलघु। प्रथमगृहे शुद्धः, चतुर्थे तु पदे मासस्तपसा कालेन च गुरुकः। यत्र चादिपदेऽपि प्रायश्चित्तं भवति; तत्र द्वाभ्यामपि लघुकं, मध्यपदयोरपि यथासंख्यं कालेन तपसा च गुरुकम्।

द्वितीयादिचतुर्षु गृहेषु पङ्क्तयः सर्वा अमुना प्रायश्चित्तेन पूरयितव्याः—

लहुओ गुरुओ मासो, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।
छम्मासा लहुगुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च॥१६३॥

द्वितीयस्यां पङ्क्तौ त्रिषु गृहेषु लघुमासश्चतुर्थे गुरुमासः। तृतीयस्यां त्रिषु गुरुमासः,चतुर्थे चतुर्लघु। चतुर्थ्यां त्रिषु चतुर्लघु,चतुर्थे चतुर्गुरु। पञ्चम्यां त्रिषु चतुर्गुरु,चतुर्थे षड्लघु।षष्ठ्यां त्रिषु षड्लघु,चतुर्थे षड्गुरु।सप्तम्यां त्रिषु षड्गुरु,चतुर्थे छेदः। अष्टम्यां पङ्क्तौ चतुर्षु गृहेषु छेदमूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकानि।

तथा चाऽऽह—

जह भणियचउत्थस्स, तह इयरस्स य पढमे मुणेयव्वं।
पत्ताण होइ भयणा, जे जतणा गंतु वत्तव्वो॥१६४॥

यस्यां पूर्वस्यां पङ्क्तौ चतुर्थे स्थाने भणितम्। गाथायां सप्तम्यर्थे षष्ठी, तथेतरस्या अग्रेतन्याः पङ्क्तेः प्रथमेषु त्रिषु स्थानेषु प्रायश्चित्तं ज्ञातव्यम्। अन्त्यपदेषु पुनस्तत एव यतना, यथा यतनाप्राप्ता येऽध्वप्रपन्ना ये च वास्तव्या यतनाकारिणस्तेषां चतुर्थे स्थाने मासलघुरूपं यत्पुनः प्रायश्चित्तमुक्तं तदेव तेषामेवायतनावतामाद्येषु त्रिषु स्थानेषु भवति। अन्यपदे तु मासगुरुकमित्येवं प्राप्तभूमिकादिष्वपि भजना-प्रायश्चित्तरचना विज्ञेया, नवरमन्त्यपङ्क्त्यां छेदमूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकानि भवन्ति।

एतेण सुत्तनुगतं, सुत्तणिवाते इमे तु आदेसा।
लोही य अउमपुणा, केइ पमाणं इमं बेंति॥१६५॥
तत्तत्थमिते गंधे, गलगपडिगते तहा अणाभोगे।
एते ण होंति दोसि वि,मुहणिग्गतणा तु योगिलणा॥१६६

एतत्सर्वमपि प्रसङ्गतो विनेयानुग्रहार्थमुक्तम्, नैतेन सूत्रं गतार्थं तत्र सूत्रस्य निपातो भवति। तत्रामी आदेशा भवन्ति-'लोही य अउमपुण त्ति' गुरुर्भणति-गुणकारित्वाद्वमं भोक्तव्यं,यथोद्गारमागच्छति। तथा चात्र लोही-कव (ल्ली) ली तत्र दृष्टान्तः—यथा कवल्यां यद्वमं प्रमाणादूनमागृह्यते ततोऽन्तरन्तरुद्वर्त्तते, उपरि मुखं न निर्गच्छति। अथ पूर्णा आकण्ठं भृता तत उद्वर्तिता सर्वमपि परित्यजति, अग्निमपि विध्मापयति; एवमेव यद्वमममाह्रियते। ततो वातः शरीरान्तः सुखेनैव प्रतिचरति, तस्मिन्नुद्गारो नाऽऽयाति। अथातिमात्रं समुदिश्यते ततोऽन्तर्वायुपूरप्रेरित उद्गार आगच्छन्ति, तस्माद्वममेव भोक्तव्यम्। केचित्पुनराचार्यदेश्या इदं वक्ष्यमाणं प्रमाणं ब्रुवते।

तत्रानन्तरोक्तं कवली (ल्ली) दृष्टान्तं भावयति—

अतिभुत्ते उग्गालो, तेणो संभुंज जुण उत्तिग्गसि।
छड्डिज्जति अतिपुण्णा, तत्ता लोही ण पुण ओमा॥१६७॥

गतार्था।

नैगमपक्षाश्रिताः पुनराचार्यदेशीया इत्थं वदन्ति—

तत्तऽत्थमिते गन्धे, गलगपडिगते तहा अणाभोए।
एतेण होंति दोषि वि,मुहणिग्गतणाउमोगिलणा॥१६८॥

एको नैगमपक्षाश्रितो भणति-' भत्ते कवल्लिते बिंदुपतितो' यथा तत्क्षणादेव नश्यति तथा यद्भक्तमात्रं जीर्यति ईदृशमवममाहरणीयम्, एवमपरोऽस्तमिते रवौ यज्जीर्यते, तृतीयो गन्धेन रहितः सहितो वा यथोद्गार एति, चतुर्थो गलकं यावदुद्गार आगम्यते भोगेनाजानान एव प्रतिगच्छति भूयः प्रविशति। ईदृशं समुद्दिशतां गुरुराह—एते द्वयेऽपि प्रकारा न भवन्ति। द्वये नाम-यत्प्रथमद्वितीयादिष्वप्युद्गारं प्रतिषेधयन्ति, ये च तृतीयचतुर्थरात्रावुद्गारमनुमन्यन्ते, एते द्वयेऽपि न घटन्ते, किं येनावश्यकयोगानां न हानिस्तावदाहारयितव्यम्। मुखनिर्गतं चोद्गारं ज्ञात्वा यः प्रत्यवगिलति तत्र निपातः।

एतां संग्रहगाथां विवरीषुराह—

भणति जति ऊणमेत्रं, तत्तकवल्ले व बिंदुणासणया।
वितिओ न संथरे वं, तं भुंजसु सूरे जं जिज्जे॥१६९॥

एको नैगमनयाश्रितो भणति—यद्भुनं भोक्तव्यम् ततस्तप्ते कवल्ले प्रक्षिप्तस्योदकबिन्दोः तत्कालमेव यथा नशनं भवति, तथा यद्भक्तमात्रमेव जीर्यते ईदृशं भोक्तव्यम्, द्वितीयः प्राह—एवमीदृशे भुक्ते न संस्तरति, तस्मात्तदीदृशं भुङ्क्ष्व यत् सूर्ये अस्तमयति जीर्यते।

निग्गंधे उग्गालो, वितिए गंधो य एति ण उ सित्थं।
अविजाणंत चउत्थे, पविसति गलगं तु जो पप्प॥१७०॥

गन्धे द्वावादेशौ। एको भणति—सूर्यास्तमिते जीर्णे आहारे रात्रावसंस्तरं भवति, तस्मादीदृशं भुङ्क्तां येनास्तमितेऽपि निर्गन्धोऽन्नगन्धरहित उद्गार एति। द्वितीयः प्राह--यदि गन्ध उद्गारस्य एति--आगच्छति तत आगच्छतु यथा सिक्थं नागच्छति तथा भुङ्क्ताम्। एतौ द्वावप्येक एव, ' ततिया वी उग्गालो णत्थि किं पुण विसाती य' आदेशः। चतुर्थो भणति--ससिक्थ उद्गारो गलकं प्राप्तोऽविजानत एव यावद् भूयः प्रविशति तावद्भुङ्क्ताम्। एते चत्वारोऽप्यनादेशाः।

तथा चाह--

पढमे वितिए दिया वी, उग्गालो णत्थि किं पुण णिसाए।
गंधे य पडिगते पुण, एए दो वी अणाएसा॥१७१॥

प्रथमद्वितीययोरादेशयोर्दिवाऽप्युद्गारो नास्ति किं पुनर्निशायामित्यतस्तावदनादेशौ, यस्तृतीयो गन्धादेशो, यश्चतुर्थ उद्गारस्य गलके प्रतिगमनादेश, एतौ द्वावपि सूत्रार्थाभिप्रायबहिर्भूतत्वादनादेशौ।

कः पुनरादेश इत्याह—

पडुपन्नऽणागते वा, संजमजोगाण जेण परिहाणी।
णऽवि जायति तं जाणसु, साहुस्स पमाणमाहारं।१७२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्युत्पन्ने वर्त्तमाने अनागतः कालो येन यावता भुक्तेन संयमयोगानां प्रत्युपेक्षणादीनां परिहाणिर्न जायते तदाहारस्य प्रमाणं साधोजानीहि ।

एवं पमाणजुत्तं, अतिरेगं वाऽवि भुञ्जमाणस्स ।
वायादीखोभेण व, पञ्जाहि कहं वि उग्गालो ॥१७३॥

एवंविधं प्रमाणयुक्तं कारणे वा अतिरिक्तमपि आहारं भुञ्जानस्य वातादिक्षोभेण वा कथंचिदुद्गार आगच्छेत् ।

ततः किमित्याह—

जो पुण सभोयणं वा, सित्थं णाऊण णिग्गतं गिलति ।
तहियं सुत्तनिवाओ, तत्थाऽऽएसा इमे होंति ॥ १७४ ॥

पुनःशब्दो विशेषणे, स चैतद्विशिनष्टि–यस्तमुद्गारमागतं परित्यजति तस्य न प्रायश्चित्तम् ,यस्तु तमुद्गारं सभोजनं सिक्थं वा एवमागतं ज्ञात्वा मुखान्निर्गतं भूयो गिलति, तत्र सूत्रनिपातः—प्रस्तुतसूत्रनिपातः प्रस्तुतसूत्रस्यावतारः । तत्र चेमे आदेशा भवन्ति—

अच्छे ससित्थ वच्चिय, मुहणिग्गतकवलभरिय हत्थे य ।
अंजलिपडिते दिट्ठे, मासादारोवणा चरिमं ॥ १७५ ॥

अच्छं द्रवमागतं यदि परेणादृष्टमापिवति ततो मासलघु, अथ दृष्टं ततो मासगुरु । ससिक्थमागतं परेणादृष्टमाददानस्य मासगुरु,दृष्टे चतुर्लघु । अथ तं ससिक्थमदृष्टं चर्वयति, ततश्चतुर्लघु, दृष्टे चतुर्गुरु । मुखान्निर्गतं कवलमेकहस्तेनादृष्टमापिवति चतुर्गुरु । दृष्टे षड्लघु । अथैकहस्तपुटभरितमदृष्टमापिवति ततः षड्लघु, दृष्टे षड्गुरु । अथाञ्जलिभरितमदृष्टमापिवति षड्गुरु, दृष्टे छेदः । अञ्जलिं भृत्वा यदन्यद्भूमौ पतितं तदप्यदृष्टमापिवति छेदः, दृष्टे मूलम् । एवं भिक्षोरुक्तम् । उपाध्यायस्य मासगुरुकादारब्धम् अनवस्थाप्ये तिष्ठति । आचार्यस्य चतुर्लघुकादारब्धं चरमे तिष्ठति । एवं मासादिका चरमं यावदारोपणा मन्तव्या ।

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमाह—

दिय रातो लहु गुरुगा, बितिए रतणसहितेण दिट्ठंतो ।
अद्धाणसीसए वा, सत्थो व पहावितो तुरियं ॥ १७६ ॥

अथवा ससिक्थमसिक्थं वा दृष्टमदृष्टं वा दिवा प्रत्यवगिलतश्चतुर्लघु, रात्रौ चतुर्गुरु । द्वितीयपदमत्र भवति । कारणे वान्तमप्यापिबेत् न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात्, तत्र च रत्नसहितवणिजो दृष्टान्तः कर्त्तव्यः । पुनरिदं सम्भवतीत्याह—अध्वशीर्षके मनोज्ञं भक्तं, भुक्तं, तच्च वान्तमन्यच्च न लभ्यते, सार्थो वा त्वरितं प्रधावतस्ततस्तदेव सुगन्धिद्रव्येण वासयित्वा भुङ्क्ते ।

अथ रत्नसहितवणिग्दृष्टान्तमाह—

जलथलपहेसु रयणा-ऽणुवज्जणं तेण अडवि पच्चंते ।
निक्खणण फुट्टपत्थर–मा मे रयणे हर पलावे ॥१७७॥
घेत्तूण निसि पलायण, अडवीमडदेहभावितं तिसितो ।
पिविउं रयणाण भोगी, जातो सयणं समागम्म ॥१७८॥

जहा एगो वणिओ कहिं वि जलपहेण महता किलेसेण सतसहस्सं मोल्लाइं पंच रयणाइं उवज्जिणित्ता परदेसे, पच्छा सदेसं पत्थितो । तत्थ य अंतरा पच्चंतविसए एगा अडवी सवरपुलिंदचोराकिन्ना । सो चिंतेति–कहं अविग्घेण णित्थरिज्जामि, त्ति । ते रयणे एकम्मि विजणे पदेसे णिक्खणति, अन्न फुट्टपत्थरे घेत्तुं उम्मत्तगवेसं करेति । चोराकुलं च अडविं पवज्जइ । तक्करे इज्जमाणे पासित्ता भणति–अहं सागरदत्तो नाम रयणवाणिओ मा मे डक्कह, मा मे रयणे हरीहह । सो पलवंतो चोरेहिं गहितो, पुच्छितो । कतरे ते रयणा । फुडपत्थरे दंसेति । चोरेहिं णातं , केणऽवि एयस्स रयणा हरिता । तेण उम्मत्तगो जातो,मुक्को य । एवं तेण तणपुप्फफलकंदमूलाहारेण सो अडवीपंथो य आगमगमं करेंतेण जाहे भाविता ताहे ते रयणे णिसाए घेत्तुं अडविं पवन्नो । जाहे अडवीए बहुमज्झदेसभागगतो ताहे तण्हा पराज्जमाणो एगम्मि सिलातलकुंडे गवयादिमडदेहभावितं विवन्नगंधरसं उदगं पातुं चिंतेति, जति एवं न पिवामि तो मे रयणोवज्जणं सव्वं निरत्थयं । कामभोगाययणो अणाभोगी भवामि । ताहे तं पवित्ता अडविं नित्थिण्णो सयण– जणकामभोगेण य सव्वेसिं आगतो जाओ । अन्तरगमनिकाकस्याऽपि जलस्थलपथयो रत्नानामुपार्जनं कृत्वा प्रत्यन्तविषये अटव्यां बहवः स्तेनाः सन्तीति कृत्वा रत्नानां क्वचित्प्रदेशे निखननस्फुटितप्रस्तराणां च ग्रहणे मा मदीयानि रत्नानि हरंतेति प्रलापेन भावयित्वा निशि–रात्रौ रत्नानि गृहीत्वा पलायनम् । अटव्यां तृषितो मृतदेहभावितं जलं पीत्वा स्वजनवर्गं समागम्य रत्नानामाभोगी जातः । एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः—

वणियत्थाणी साहू, रतणत्थाणी वता तु पंचेव ।
भितुदयसरिसं वंतं, तमापियं रक्खए ताणि ॥१७९॥

वणिक्स्थानीयाः साधवः, रत्नस्थानीयानि पञ्च महाव्रतानि, तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् , तस्करस्थानीया द्रव्यापदादय इति द्रष्टव्यम् । मृतोदकसदृशं वान्तम् , तत्कारणे आपिबन् तानि महाव्रतान्यात्मानं च रक्षेत् ।

कथं पुनरापिबेदित्याह—

दियरातो अण्ण गिण्हति,असति तु रंते उ सत्थे तं चेव ।
णिसिलिंगेणण्णं वा, तं चेव सुगंधदव्वं व ॥ १८० ॥

अध्वशीर्षके मनोज्ञं भुक्तं परं वान्तम् , ततो दिवा रात्रौ वा अन्यद् गृह्णाति अलभ्यमाने वा निशि–रात्रावन्यलिङ्गेनान्यद् गृह्णाति । तस्याप्यभावे सार्थे वा त्वरमाणे तदेव वान्तं गृहीत्वा चतुर्जातकादिना सुगन्धद्रव्येण वासयित्वा भुङ्क्ते न कश्चिद्दोषः । बृ० ५ उ० ।

रात्रिभोजने प्रायश्चित्तानि—

लेवाडय परिवासे, अभत्तट्ठो सुक्कसन्निहीए य ।
इयराए छट्ठभत्तं, अट्ठमगं सेसनिसिभत्ते ॥ ३४ ॥

लेपकृद्द्रव्योपालिप्तस्य पातके पात्रावद्धे तुम्बकादेः पर्युषितत्वे शुष्कसन्निधौ च शुण्ठीहरीतकीविभीतिकादिकायामभक्तार्थः , इतरस्यामार्द्रायां गुडकक्कघृततैलादिकायाम् उत्तरत्र, शेषग्रहणादिह दिवा गृहीतं रात्रिं परिवास्य दिवैव भुक्तमिति प्रथमभङ्गके षष्ठाभक्तम्, षष्ठमभक्तार्थद्वयप्रायश्चित्तमित्यर्थः । शेषनिशाभक्ते प्रथमभङ्गके विमुच्य शेषैस्त्रिभिर्दिवा गृहीतं रजन्यां भुक्तं, रजन्यां गृहीतं दिवा भुक्तं, रजन्यां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गृहीतं रजन्यामेव भुक्तमिति द्वित्रिचतुर्थभङ्गकैर्निशाभक्ते रात्रिभोजने जातं सत्यप्रममिति । उक्तं रात्रिभोजनप्रायश्चित्तम् । जीत० । कल्प० । (रात्रौ कल्पनीयाः ओषधयः 'आहारपच्चक्खाण' शब्दे द्वितीयभागे ५२६ पृष्ठ उक्ताः) स्थानाङ्गसूत्रपञ्चमाध्ययनद्वितीयोद्देशके ' राइभोअणं-भुंजमाणे ' इत्यस्य वृत्तौ दिवा गृहीतं दिवा भुक्तमिति भङ्गकस्य कथं रात्रिभोजनता ?, पर्युषितरक्षणादन्यथा वेति ? प्रश्नः.अत्रोत्तरम्—रात्रिभोजनचतुर्भङ्ग्यां दिवा गृहीतं दिवा भुक्तमिति भङ्गकस्य पर्युषितरक्षितभक्षणेन रात्रिभोजनता ज्ञेया. हारिभद्र्यां दशवैकालिकवृत्तौ पाक्षिकसूत्रवृत्तौ च सन्निधिपरिभोगाधिकारे तथैव प्रतिपादनादिति ॥३६॥ सेन० १ उल्ला० । रात्रिभोजनप्रत्याख्यानवताऽन्नादिविषये रात्रिसिद्धदिवा भुक्तादि चतुर्भङ्ग्यां त्रिभङ्गी वर्ज्या, तथा पक्वान्नेऽपि सा वर्ज्यैव न वा ?, आद्येऽन्नादिष्विव न तथा, तत्र तद्व्यवहारोऽद्य यावत् तत्र किं निदानमिति ?, द्वितीये आरम्भसाम्येऽप्यन्नादिष्विव तद्वर्ज्यता न पक्वान्नेष्विति किम्?, अथ जलश्लेषाभाव एव तत्र तद्दोषपरिहारनिदानम् , अत एव तस्य मासाद्यवधिकल्प्यता कालमानाद्यपीति चेत्तदा रात्र्युषितकल्प्यस्य करम्भादेरपि रात्रिसिद्धस्य किमकल्प्यताव्यवहारः ?, तेनारम्भादिदूषणसाम्येऽप्यन्नपक्वान्नयो रात्रिसिद्धवर्ज्जनीयतायां पङ्क्तिभेदश्चेतःसंशयाकुलमातनोतीति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-रात्रिसिद्धा दिवा भुक्तादिका सा शास्त्रे क्वापि दृष्टा नास्तीति, तेन रात्रिभोजनप्रत्याख्यानवतां तामाश्रित्य वर्ज्यता का ?, कश्च पक्वान्नदृष्टान्तोऽपि ?, स्वयमेव सम्यक्तया पर्यालोच्यम्, परं रात्रिरन्धने महानारम्भो भवतीति श्राद्धैस्तद्वारणार्थं स्वशक्त्या रात्रिरन्धनं वर्ज्जनीयम् .न तु रात्रिभोजनप्रत्याख्यानभङ्गभयेन, ततो न कोऽपि पङ्क्तिभेदः । साधुमाश्रित्य तु दिवा गृहीतरात्रिभुक्तादिका चतुर्भङ्गी शास्त्रे प्रोक्ताऽस्ति, न तु श्राद्धानाश्रित्येति ध्येयम् ॥ ८६ ॥ सेन० १ उल्ला० । अन्धकारे आहारकरणे रात्रिभोजनदोषो लगति न वा ?इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-"जे चेव रयणिभोयण-दोसा ते चेव संकडमुहम्मि । जे चेव संकडमुहे, ते दोसा अंधयारम्मि ॥ १ ॥ " इत्योघनिर्युक्तिवचनात् रात्रिभोजनदोषो लगतीति ज्ञायते ॥ ७१ ॥ सेन० ३ उ० । ये केचन रात्रिभोजनप्रत्याख्यानिनो घटिद्वयशेषे दिवसे भोजनं कुर्वन्ति तेषां रात्रिभोजनप्रत्याख्यानभङ्गो भवति न वा ? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—घटीद्वयशेषे दिवसे भोजनं कुर्वतां रात्रिभोजनस्यातीचारो लगति , न तु तद्भङ्ग इति ॥ १८ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

राइभोयणवेरमण-रात्रिभोजनविरमण-न० । निशि भोजनवर्जने, पा० । सूत्र० ।

षष्ठव्रतम्—

चतुर्विधस्याऽऽहारस्य, सर्वथा परिवर्जनम् ।
षष्ठं व्रतमिहैतानि, जिनैर्मूलगुणाः स्मृताः ॥ ४६ ॥

चतुर्विधस्य अशनपानखादिमस्वादिमभेदभिन्नस्य आहारस्य-अभ्यवहारस्य सर्वथा—त्रिविधत्रिविधेन परिवर्जनम् विरमणं तत्षष्ठ व्रतं भवतीति क्रियान्वयः । ध० २ अधि० । पं० व० । रात्रिभोजनविरमणस्य मूलगुणत्वमाह ।

अत्रार्थापत्त्याऽऽक्षिप्तमनवगच्छन्नाह परः—

निसिभत्तविरमणं पि हु,नणु मूलगुणो कहं न गहियं तं ।
वयधारिणो च्चिय तयं,मूलगुणो सेसयस्सियरो ।१२४०।
आहारविरमणाओ, तवो व तव एव वा जओऽणसणं ।
अहव महव्वयसंर- क्खत्तणओ समिइउ व्व ॥१२४१॥

ननु रात्रिभोजनविरमणमपि मूलगुणः , तदिह किमिति मूलगुणत्वेन नोपात्तम् ? । अत्रोत्तरमाह—व्रतधारिणः संयतस्यैव तद् रात्रीभोजनविरमणं मूलगुणः , शेषस्य तु गृहिणो देशविरतस्योत्तरगुण इत्यर्थः । कुतः ?, आहारविरमणरूपत्वात्. तपोवत् । अथवा—तप एव वा तद् निशिभोजनविरमणमिति प्रतिज्ञा, यतोऽनशनम्—अशनत्यागरूपत्वादिति हेतुः, चतुर्थादिवत् , इत्यनुक्तोऽपि दृष्टान्तः स्वयं दृश्यः, तपश्चोत्तरगुण एवेति भावः । इतश्चेदमुत्तरगुणः । कुतः ?, महाव्रतसंरक्षणात्मकत्वात् , समित्यादिवदिति ॥ १२४० ॥ १२४१ ॥

अत्राह—यद्येवम् , उक्तयुक्तेर्व्रतधारिणोऽपि तद्मूलगुणो न प्राप्नोति, इत्याह—

तहऽवि तयं मूलगुणो, भण्णइ मूलगुणपालयं जम्हा ।
मूलगुणग्गहणम्मि य, तं गहियं उत्तरगुण व्व ।१२४२।

तथाऽपि व्रतिनस्तन्मूलगुणो भण्यते. समस्तव्रतानुपालनात् , समस्तव्रतसंरक्षणेनाऽत्यन्तोपकारित्वात् , प्राणातिपातविरमणवत् , मूलगुणग्रहणाच्च साक्षादनुपात्तमपि तद् गृहीतमेव द्रष्टव्यम् , उत्तरगुणवदिति ॥ १२४२ ॥

कस्माद् मूलग्रहणे तद् गृह्यते ?, इत्याह—

जम्हा मूलगुण च्चिय, न होंति तव्विरहियस्स पडिपुन्ना ।
तो मूलगुणग्गहणे, तग्गहणमिहत्थओ नेयं ॥ १२४३ ॥

यस्मात् तद्विरहितस्य-रात्रिभोजनविरमणविरहितस्य महाव्रतादयो मूलगुणा एव परिपूर्णा न भवन्ति, अतो मूलगुणग्रहणे तद्ग्रहणमिहार्थतो विज्ञेयम् । तथाहि—रात्रौ भोजने विधेये रात्रौ भिक्षार्थमचक्षुर्विषये पर्यटनाद् वह्निप्रदीपनादिभिः स्पर्शनात् , पुरःकर्म पश्चात्कर्माद्येनषणादोषदुष्टाहारग्रहणादेश्च प्राणातिपातव्रतविघातः । अन्धकारवशेन च पतितहिरण्यादिद्रविणग्रहणादेः, योषित्परिभोगसम्भवाच्च शेषव्रतविलोपः । इत्येवं रात्रिभोजनविरमणमन्तरेण न सम्भवन्त्येव प्राणातिपातविरत्यादिमूलगुणाः । अत एव तद्ग्रहणेऽत्यन्तोपकारित्वाद् गृहीतमेवार्थतस्तदिति ॥ १२४३ ॥

अत्र प्रेरकः प्राह—

जइ मूलगुणो मूल-व्वय उवगारि त्ति तं तवाईया ।
तो सव्वे मूलगुणा, जइ व न तो तं पि मा होज्जा ॥१२४४॥

यदि तद् निशि भोजनविरमणं मूलगुणोपकारित्वाद् मूलगुण इष्यते, ततस्तर्हि तपःप्रभृतयः सर्वेऽपि मूलगुणाः प्राप्नुवन्ति, तेषामपि तदुपकारित्वात् , अतो विशीर्णोत्तरगुणकथा । यदि पुनस्ते तपःप्रभृतयो मूलगुणा न भवन्ति, तर्हि तदपि रात्रिभोजनविरमणं मूलगुणो मा भूत् , उपकारित्वाविशेषात् । पूर्वापरविरोधश्चैवमनभ्युपगच्छतो भवतः । तथाहि-भवतैवानन्तरमुक्तं यथा ' महाव्रतसंरक्षणादुत्तरगु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ण इदम्, समितिवत्' इति; इदानीं त्वभिधत्से-'महाव्रतसंरक्षणाद् मूलगुण एतदिति'। अत्रोच्यते-किमिह विरुद्धम्?, उभयधर्मकं हि रात्रिभोजनविरमणम्, यतो गृहस्थस्य तदुत्तरगुणः, तस्याऽऽरम्भजप्राणातिपातादनिवृत्तत्वात्, निशि भोजनेऽपि मूलगुणानामखण्डनात्, अत्यन्तोपकाराभावादिति यतिनस्तु तदेव मूलगुणः, तस्याऽऽरम्भजादपि प्राणातिपातान्निवृत्तत्वात्, रजनिभोजने च तत्सम्भवात्, अतस्तद्विधाने मूलगुणानां खण्डनात्। तद्विरमणे तु तेषां संरक्षणेनात्यन्तोपकारात् तत् तस्य मूलगुणः। तपःप्रभृतीनां चैवमत्यन्तोपकारित्वाभावादुत्तरगुणत्वमिति ॥ १२४४ ॥

आह च—

सव्वव्वओवगारिं, जह तं न तहा तवादओ वीसुं।
जं ते तेणुत्तरिया, होंति गुणा तं च मूलगुणो॥१२४५॥

'जं ति' यस्मात् कारणाद् यथा तद् रात्रिभोजनविरमणं सर्वव्रतोपकारकम्, न तथा तपःसमित्यादयो विष्वक्-पृथक्, तेन कारणेन ते उत्तरिका-उत्तरगुणा भवन्ति। तत् रात्रिभोजनव्रतं मूलगुणानामत्यन्तोपकारित्वाद् मूलगुणः। यथा हि-प्राणातिपातादिव्रतानां पञ्चानामेकस्याऽप्यभावे शेषाणामभावाद् मूलगुणत्वम्, एवं रात्रिभोजनव्रतस्याऽप्यभावे सर्वव्रताभावादत्यन्तोपकारित्वाद् मूलगुणत्वमिति भावः ॥ १२४५ ॥ विशे०। दश०। ध०। मनुष्यलोकाद्बहिः क्वचिद्रात्रिरेव क्वचिद्दिवैव, तत्र कालप्रत्याख्यानं रात्रिभोजनप्रत्याख्यानं च घटते न वा? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-मनुष्यलोकाद्बहिः कालप्रत्याख्यानं रात्रिभोजनप्रत्याख्यानं चेहत्यापेक्षया सम्यक्कालस्वरूपपरिज्ञाने भवत्यन्यथा तु सङ्केतप्रत्याख्यानमिति ॥ १२४ ॥ सेन० १ उल्ला०। (रात्रिभोजनविरमणसूत्रम् 'पडिक्कमण' शब्दे पञ्चमभागे २८४ पृष्ठेऽस्ति)

राइय-रात्रिक-त्रि०। रात्रौ भवः रात्रिकः। रात्रियाते, आतु०। आव०।

राइयपोसह-रात्रिकपौषध-पुं०। पौषधभेदे, सेन०। 'मज्झण्हाओ परओ जाव दिवसस्स अंतोमुहुत्तो ताव घिप्पइ' इति सामाचारीमध्ये विद्यते, तेन तृतीययामादर्वाक् मध्याह्नात्परतः रात्रिपौषधः कर्त्तुं कल्पते न वा? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-मध्याह्नात्परतः पौषधग्रहणं शुद्ध्यति, परं साम्प्रतीनप्रवृत्त्या प्रतिलेखनात् अर्वाग् न कार्यते, किन्तु परत इति ॥ ३०२ ॥ सेन० ३ उल्ला०। खाद्याः कथयन्त्यस्माकं पौषधिकाः रात्रेस्तुर्ययामे समुत्थाय पौषधमध्ये सामायिकं कुर्वन्ति, तदक्षराणि च प्रतिक्रमणसूत्रचूर्णौ सन्ति, तेन श्रीमतां श्रीपूज्याः सामायिकं कथं न कारयन्ति? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-रात्रिपौषधमध्ये पाश्चात्यरात्रौ सामायिककरणमाश्रित्य यानि चूर्ण्यक्षराणि सन्ति तानि सामाचारीविशेषेण समर्थनीयानि न तु दूषणीयानि, तस्याः शिष्टकृतत्वात्। न चात्मनां तदक्षरदर्शनेन तत्कर्त्तव्यतापत्तिः, सर्व्वेऽपि सामाचारीविशेषाः सर्व्वैरपि अवश्यंभावेन विधेया एवेति, शास्त्राक्षरानुपलम्भादिति। किञ्च- खरतरपक्षीयाणां चूर्णिगतैकवचनं युक्तिमत्प्रतिभाति. तद्वत्सकलसामाचार्यास्तैरकरणात्, यदि च-तेषां चूर्णेः प्रामाण्यमेव तदा तद्वता सकलाऽपि सामाचारी तैः कथं न विधीयत इति बहुवक्तव्यमस्तीति ॥ ३१६ ॥ सेन० ३ उल्ला०। प्रातरुपवस्त्रं कृत्वा सायं रात्रिपौषधं करोति, तथाऽऽचाम्लं कृत्वाऽहोरात्रिकं करोति, स उपधानाऽऽलोचनामध्ये समेति किं वा न? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-उपवस्त्रं कृत्वा यः प्रातरहोरात्रिकपौषधः कृतो भवति स उपधानाऽऽलोचनामध्ये समेति नान्य इति ॥१२५॥ सेन० ४ उल्ला०।

राइया-रात्रिका-स्त्री०। अतिलघुसर्षपे, सूत्र०१श्रु०४अ०१उ०।

राइयाखाड-राजिकाखाट-न०। करमथितलवणकणयुते दध्नि, ध० २ अधि०।

राइसिरी-राजश्री-स्त्री०। चमरेन्द्रस्याऽग्रमहिष्या मातरि, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग २ अ०।

राई-रात्री-स्त्री०। निशायाम्, "रयणी विहावरी स—व्वरी नसा जामिणी राई।" पाइ० ना० ४७ गाथा।

राईमई-राजीमती-स्त्री०। उग्रसेनपुत्र्यामरिष्टनेमिभार्यायाम्, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। (अस्या व्याख्या 'रहणेमि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४६४ पृष्ठे उक्ता) ऐरवते राजीमतीप्रतिमा। ती० २ कल्प।

राईमईगुहा-राजीमतीगुहा-स्त्री०। यत्र राजीमत्या रथनेमिः प्रतिबोधितस्तादृशायां गुहायाम्, ती० ३ कल्प। (व्याख्या 'उज्जयन्त' शब्दे द्वितीयभागे ७३६ पृष्ठे गता)

राईव-राजीव-न०। कमले, 'राईवं' पाइ० ना० १० गाथा।

राउग्गह-राजावग्रह-पुं०। राजा—चक्रवर्त्ती तस्याऽवग्रहः—षट्खण्डभरतादिक्षेत्रं राजावग्रहः। अवग्रहभेदे, भ० १३ श० २ उ०। प्रति०। आचा०।

राउल-राजकुल-न०। 'लुग्भाजन-दनुज-राजकुले जः सस्वरस्य न वा" ॥८।१।२६७॥ इति सस्वरस्य जकारस्य लुग्वा। राउलं। रायउलं। प्रा०। नृपकुले,पंचू०३ कल्प।

रक्खसदीव-राक्षसद्वीप-पुं०। स्वनामख्याते द्वीपे, सेन०। राक्षसद्वीपो जम्बूद्वीपेऽस्ति लवणसमुद्रे वा? स च प्रमाणाङ्गुलेनोत्सेधाङ्गुलेन वा? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—

लवणोदे पयोराशौ, दुर्ज्ञेयो घुसदामपि।
योजनानां सप्तशतीं, दिक्षु सर्व्वासु विस्तृतः ॥ ३१ ॥
राक्षसद्वीप इत्यस्ति, सर्वद्वीपशिरोमणिः।
तदन्तरं त्रिकूटाद्रि-र्भूमिनाभौ सुमेरुवत् ॥ ३२ ॥
महर्द्धिर्वलयाकारो, योजनानि नवोन्नतः।
पञ्चाशतं योजनानि, विस्तीर्णोऽस्त्यतिदुर्मदः ॥ ३३ ॥
तस्योपरिष्टात्सौवर्ण-प्राकारगृहतोरणा।
मया लङ्केति नाम्ना पू-रघुनैवास्ति कारिता ॥ ३४ ॥
षड्योजनानि भूस्तस्या-मतिक्रम्य चिरंतनी।
शुद्धस्फटिकवप्राङ्का, नानारत्नमयालया ॥ ३५ ॥
सपादयोजनशत-प्रमाणा प्रवरा पुरी।
मम पाताललङ्केति, विद्यते चातिदुर्गमा ॥ ३६ ॥
पुरीद्वयमिदं वत्सा-ऽऽदत्स्व तन्नृपतिर्भव।
भवत्वद्यैव ते तीर्थ-नाथदर्शनजं फलम् ॥ ३७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्युक्त्वा राक्षसपति-र्माणिक्यैर्नवभिः कृतम्।
ददौ तस्मै महाहारं, सद्यो विद्यां च राक्षसीम् ॥ ३८ ॥
भगवन्तं नमस्कृत्य, तदैव घनवाहनः।
आगत्य राक्षसद्वीपं, राजाऽभूल्लङ्कयोस्तयोः ॥ ३९ ॥
राक्षसद्वीपराज्येन, राक्षस्या विद्ययाऽपि च।
तदादि तस्य वंशोऽपि, ययौ राक्षसवंशताम् ॥ ४० ॥
इति श्रीअजितनाथचरित्रानुसारेण राक्षसद्वीपो लवणसमुद्रेऽस्ति प्रमाणाङ्कुलैश्चेति ध्येयम् ॥ १६० ॥ सेन० ४ उल्ला०।

राग–राग–पुं०। रञ्जनं रागः। कुसुम्भादिना वर्णान्तरापादने, उत्त०पाई० १ अ०। रज्यतेऽनेनेति रागः। सौवीरादिके अञ्जने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। औ०। स०। रञ्जनं रज्यते वा अनेन जीव इति रागः। आ० चू० ४ अ०। रागवेदनीयकर्मापादितेऽभिष्वङ्गपरिणामरूपे भावे, पं० सू० १ सूत्र। औ०। आव०। अनभिव्यक्तमायालोभलक्षणभेदस्वभावेऽभिष्वङ्गमात्रे, पा०। आ० म०। सूत्र०। आतु०। आव०। ध०। नं०। अष्ट०। ग०। प्रव०। नि० चू०।

रागे उदाहरणम्—

क्षितिप्रतिष्ठितं नाम, पुरं द्वौ तत्र सोदरौ।
अर्हन्नतोऽर्हन्मित्रश्च, ज्येष्ठभार्या लघौ रता ॥ १ ॥
लघुर्नैच्छति तां चाऽऽह, भ्रातरं मे न पश्यसि ?।
पतिं व्यापाद्य सा भूय-स्तमूचे नाऽन्वमंस्त सः ॥ २ ॥
निर्वेदेनाऽथ तेनैव, स लघुर्व्रतमाददे।
तद्भक्ता साऽपि मृत्वा भू-द्ग्रामे कार्त्तार्तिता शुनी ॥ ३ ॥
साधवोऽपि ययुस्तत्र, शुन्याऽदर्शि मुनिः स च।
तदैवाऽऽगत्य साश्लेषं, मुहुर्भर्तुरिवाकरोत् ॥ ४ ॥
नष्टः साधुर्मृता सा च, ततोऽटव्यां च मर्कटी।
तस्या एव च मध्येना-ऽट्व्यायातं कथंचन ॥ ५ ॥
अन्तर्मुनीनां तं वीक्ष्य, प्रेम्णा शिश्लेष मर्कटी।
तां विमोच्याथ कष्टेन, स कथंचित्पलायितः ॥ ६ ॥
मृत्वा तत्राऽपि सा जज्ञे, यक्षी तं प्रेक्ष्य सावधेः।
नैच्छन्मामेष तच्छिद्रा-ण्यीक्षते न त्ववैक्षत ॥ ७ ॥
समानवयसोऽवोचन्, हसन्तस्तं च साधवः।
त्वमर्हन्मित्र ! धन्योऽसि, यच्छुनीमर्कटीप्रियः ॥ ८ ॥
अन्यदा क्रमलङ्घय स, जलवाहं विलङ्घितुम्।
प्रमादाद्वृतिभेदेन, पदं प्रासारयन्मुनिः ॥ ९ ॥
तस्य तच्छिद्रमासाद्य, सा चिच्छेदाङ्घ्रिमूरुतः।
स मिथ्यादुष्कृतं जल्प-न्नपत्तच्च जलाद्बहिः ॥ १० ॥
सम्यग्दृष्टिः सुरी तां च निर्भर्त्स्य तं मुनेः क्रमम्।
तदैवाऽलगयद्रूढो, देवतातिशयेन सः ॥ ११ ॥

आ० क० १ अ०। आ० म०। अत्र भणंति–सो भिक्खसस्गाओ अइगामे, तत्थ ताए वाणमंतरीए तस्स रूवं छाएत्ता तस्स रूवेणं पंथे तलाए एहाइ, अन्नेहिं दिट्ठो सिट्ठं गुरूणं, आवस्सए आलोएइ, गुरूहिं भणियं–सव्वं आलोएहि. अज्जो ! सो उवउत्तो मुहणंतगमाइ भणइ–न संभरामि खमासमणा ! तेहिं पडिभणिओ भणइ–नत्थि त्ति, आयरिया अणुवट्ठियस्स न देंति पायच्छित्तं, सो चिंतेइ–किं कह व त्ति ? सा उवसंता साहइ-एयं मए कयं, सा साविगा जाया, सव्वं परिकहेइ। एस तिविहो अप्पसत्थो, तस्स अप्पसत्थस्स इमा णिरुत्तगाहा–"रज्जंति असुभकलिमल–कुणिमाणिट्ठेसु पाणिणो जेणं। रागो त्ति तेण भण्णइ, जं रज्जइ तत्थ रागत्थो ॥१॥" एषोऽप्रशस्तः (आव० १ अ०) दीर्घसंसारहेतुकत्वादध्यवसायात्मकत्वात्। (आ० म० १ अ०) प्रशस्तस्तु रागोऽर्हदादिविषयः।

उक्तं च—

अरहंतेसु य रागो, रागो साहूसु बंभयारीसु।
एस पसत्थो रागो, अज्ज सरागाण साहूणं ॥ १ ॥

एवंविधं रागं नामयन्तः–अपनयन्तः, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदादपनीत एव गृह्यते। आह–प्रशस्तनामनमयुक्तं न, तस्याऽपि बन्धात्मकत्वात्, यद्येवम् ततः "एस पसत्थो रागो" इत्यादि विरुद्धम्, नैष दोषः। सरागसंयतानां कूपखननोदाहरणतस्तस्य रागस्य प्राशस्त्यादित्यलं प्रसङ्गेन। आव० १ अ०। "रागं च दोसं च तहेव मोहं, उद्धत्तुकामेण समूलजालं। जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा, ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥" उत्त० ३२ अ०। "रागदोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे। जे भिक्खू रुंभई निच्चं, से न अच्छइ मण्डले," उत्त०३१ अ०। "रागतृष्णासुखोपायं"–सुखोपाये–सुखसाधने। तृष्णासुखज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वो लोभपरिणामो रागः। द्वा० २५ द्वा०। विशे०।

विस्तरार्थमभिधित्सुस्तावद्रागस्वरूपं विवृणोति–

रज्जंति तेण तम्मि व, रंजणमहवा निरूविओ राओ।
नामाइ चउब्भेओ, दव्वे कम्मेयरविभिणो ॥ २९६१ ॥

रज्यन्ते तेन, तस्मिन् वा सति क्लिष्टसत्त्वाः–प्राणिनः स्त्र्यादिष्विति रागः। अथवा–रञ्जनं रागः। स च नामादिचतुर्भेदः स्थानान्तरे निरूपितो रागः। तत्र नाम स्थापनाज्ञशरीरभव्यशरीरद्रव्यरागावचारः सुज्ञेय एव। ज्ञ-भव्यशरीरव्यतिरिक्ते तु द्रव्ये विचार्ये को रागः ?, इत्याह–'कम्मेयरविभिन्नो त्ति' कर्मद्रव्यरागः, नो कर्मद्रव्यरागश्चेत्यर्थः ॥ २९६१ ॥

तत्र 'कर्मद्रव्यरागं' व्याचिख्यासुराह–

जुग्गा बद्धा वज्झं-तया य पत्ता उईरणावलियं।
अह कम्मदव्वराओ, चउव्विहा पोग्गला हुंति ॥२९६२॥

'अह त्ति' अथैतद्व्याख्यानमुच्यते–तत्र कर्मद्रव्यरागः-चतुर्विधाः पुद्गला भवन्ति; तद्यथा–योग्या-बन्धपरिणामाभिमुखाः, वध्यमानाः-प्रारब्धबन्धक्रियाः बद्धा-उपरतबन्धक्रियाः। गाथाबन्धानुलोम्याच्च व्यत्ययेनोपन्यासः। तथा उदीरणाकरणेनाऽऽकृष्याऽऽदीरणावलिकां प्राप्ता यावदद्याप्युदयं न गच्छन्ति, उदयेन वेद्यमानानां भावरागत्वेन वक्ष्यमाणत्वादिति ॥ २९६२ ॥

नोकर्मद्रव्यरागमाह–

नोकम्मदव्वराओ, पओगओ सो कुसुंभरागाई।
वीसाओ य वीससाए, नेओ संझब्भरागाई ॥ २९६३ ॥

नोकर्मद्रव्यरागस्तु द्विविधः–प्रयोगतः, विस्रसातश्च। तत्र प्रयोगतः कुसुम्भरागादिः, विस्रसातस्तु सन्ध्याभ्ररागादिरिति ॥ २९६३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावरागमाह—

जं रायवेयणिज्जं, समुइण्णं भावओ तओ राओ।
सो दिट्ठि-विसय-नेहा,-णुरायरूवो अभिस्संगो॥२९६४॥
कुप्पवयणेसु पढमो, बिइओ सद्दाइएसु विसएसु।
विसयादनिमित्तो वि हु,सिणेहराओ सुयाईसु ॥२९६५॥

यद् रागेण वेद्यत इति रागवेदनीयं माया-लोभलक्षणं कर्म समुदीर्णमुदयप्राप्तं विपाकेन वेद्यते, तज्जनितश्च जीवपरिणामरूपोऽभिष्वङ्गस्तकोऽसौ भावतो रागो भावरागः। स च त्रिविधोऽभिष्वङ्गरूपः, तद्यथा-दृष्ट्यनुरागः, विषयानुरागः, स्नेहानुरागश्चेति। तत्र प्रथमः कुप्रवचनेषु दृष्ट्यः,द्वितीयस्तु शब्दादिविषयेषु, स्नेहरागस्तु विषयाद्यनिमित्तोऽविनीतेष्वपि सुतबान्धवादिष्विति ॥ २९६४ ॥ २९६५ ॥ विशे०। (यादृशं वस्तु तादृगेव रागो भवतीति वक्ष्यते ' वलहि ' शब्दे)

रागे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-माया य, लोभे य।

प्रश्न० ३ पद। आ० म०। स०। आ० चू० आ० आव०। पुत्रादिषु स्नेहे, प्रश्न० ४ संव० द्वार।

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे,
इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं॥ ४॥

तस्यैवं त्यागिनः समया—आत्मपरतुल्यया प्रेक्ष्यतेऽनयेति प्रेक्षा—दृष्टिस्तया प्रेक्षया-दृष्ट्या परि-समन्ताद् व्रजतो-गच्छतः परिव्रजतः, गुरूपदेशादिना संयमयोगेषु वर्तमानस्येत्यर्थः, स्यात्—कदाचिदचिन्त्यत्वात् कर्मगतेः, मनो निःसरति बहिर्धा—बहिः भुक्तभोगिनः पूर्वक्रीडितानुस्मरणादिना, अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलादिना मनः-अन्तःकरणं निःसरति-निर्गच्छति बहिर्धा-संयमगेहाद्बहिरित्यर्थः। एत्थ उदाहरणम्-" जहा एगो रायपुत्तो बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए अभिरमंतो अच्छइ। दासी य तेण अंतेण जलभरियघडेण वोलेइ। तओ तेण तीए दासीए सो घडो गोलियाए भिन्नो, तं च अधिइं करिंति दट्ठूण पुणरावत्ती जाया, चिंतियं च-" जे चेव रक्खगा ते, चेव लोलगा कत्थ कुचिउँ सक्का?। उदगाउ समुज्जलिआ,अग्गी किह विज्झवेयव्वो?॥१॥" पुणो चिक्खलगोलएण तक्खणा एव लहुहत्थयाए तं घडछिड्डं ढक्कियं। एवं जइ संजयस्स संजमं करेंतस्स बहिया मणो णिग्गच्छइ तत्थ पसत्थेण परिणामेण तं असुहसंकप्पछिड्डं चरित्तजलरक्खणट्ठाए ढक्केयव्वं। केनालम्बनेनेति?, यस्यां राग उत्पन्नस्तां प्रति चिन्तनीयम्—न सा मम नाऽप्यहं तस्याः, पृथक्कर्मफलभुजो हि प्राणिन इति। एवं ततस्तस्याः सकाशाद्व्यपनयेत रागम्, तत्त्वदर्शिनो हि सन्निवर्त्तन्त एव। अतत्त्वदर्शननिमित्तत्वात्तस्येति। तत्थ ' न सा महं णोऽवि अहं वि तीसे ' त्ति, एत्थ उदाहरणं-एगो वाणियदारओ, सो जायं उज्झित्ता पव्वइओ। सो य ओहावणुप्पेही भूओ, इमं च घोसेइ-" न सा महं णो वि अहं पि तीसे " सो चिंतेइ—सा वि ममं अहं पि तीसे, सा ममाणुरत्ता कहमहं तं छड्डहामि त्ति काउं गहियायारभंडगणेवत्थो चेव संपट्ठिओ। गओ अ तं गामं जत्थ सा। सो य णिवाणतडं संपत्तो। तत्थ य सा पुव्वजाया पाणियस्स आगया। सा य साविया जाया पव्वइउकामा य। ताए सो णाओ, इयरो तं न याणइ। तेण सा पुच्छिया-अमुगस्स धूया किं मया, जीवइ वा?, सो चिंतेइ-जइ साऽसहरा तो उप्पव्वयामि, इयरहा ण ताए णायं—जहा एस पव्वज्जं पयहिउकामो, तो दो वि संसारे भमिस्सामो। त्ति, भणियं च अणाएसा अण्णस्स दिण्णा; तओ सो चिंतिउमारद्धो-सच्चं भगवंतेहिं साहूहिं अहं पाढिओ-जहा ' ण सा महं णो वि अहं पि तीसे ', परमसंवेगमावण्णो। भणियं च अणेण-पडिणियत्तामि। तीए वेरग्गपडिओ त्ति णाऊण अणुसासिओ ' अणिच्चं जीवियं कामभोगा इत्तरिया ' एवं तस्स केवलिपन्नत्तं धम्मं पडिकहेइ। अणुसिट्ठो जाणाविओ य पडिगओ आयरियसगासं पवज्जाए थिरीभूओ। एवं अप्पा साहारेतव्वो जहा तेणं ति सूत्रार्थः॥ ४॥ दश० २ अ०। रागद्वेषौ विनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ?। अथ नो निर्जितावेतौ, किमरण्ये करिष्यसि "?। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। रागादनुदानस्यापि निषेधः—" सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा। रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि "॥ १॥ एतद्गाथाव्याख्यानं प्रसाद्यम्? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-साधुष्विति विशेष्यमनुक्तमपि संविभागव्रतप्रस्तावादध्याहार्य्यम्, ततः साधुषु कीदृशेषु?-सुष्ठु हितं—ज्ञानादित्रयं येषां ते सुहितास्तेषु, पुनः कथम्भूतेषु?-दुःखितेषु-रोगेण तपसा वा ग्लानीभूतेषु उपधिरहितेषु वा, पुनः कीदृक्षु?—न स्वयं—स्वच्छन्देन यताउद्यता अस्वयतास्तेषु गुर्वाज्ञयैव विहरत्सु इत्यर्थः, या मया कृताऽनुकम्पा-कृपाऽन्नपानवस्त्रादिदानरूपा भक्तिः, अनुकम्पाशब्देनात्र भक्तिः सूचिता। यथोक्तम्—" आयरिअणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो। गच्छाणुकंपणाए, अव्वुच्छित्ती कया तित्थे॥ १॥ " रागेण-स्वजनमित्रादिप्रेम्णा न तु गुणवत्त्वबुद्ध्या, तथा द्वेषेण-इह द्वेषः साधुनिन्दाख्यो, यथा धनधान्यादिरहिता ज्ञातिजनपरित्यक्ताः क्षुधार्त्ताः सर्वथा निर्गतिका अमी उपष्टम्भार्हाः इत्येवं निन्दापूर्वं या अनुकम्पा साऽपि निन्द्यैव, अशुभदीर्घायुष्कहेतुत्वाद्, यदागमः-'तहारूवं समणं वा माहणं वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मं हीलित्ता निंदित्ता खिंसित्ता गरिहित्ता अवमन्नित्ता अमणुन्नेणं अपीइकारगेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता असुहदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेइ त्ति'। यद्वा-सुखितेषु दुःखितेषु वा असंयतेषु-पार्श्वस्थादिषु, शेषं तथैव परं द्वेषेण ' दगपाणं पुप्फफलं, अणेसणिज्ज ' मित्यादि तद्वतदोषदर्शनान्मत्सरेण, अथवा—असंयतेषु—षड्विधजीववधकेषु कुलिङ्गिषु, रागेण—एकदेशग्रामगोत्रोत्पत्त्यादिप्रीत्या द्वेषेण—जिनप्रवचनप्रत्यनीकतादिदर्शनोत्थेन। ननु प्रवचनप्रत्यनीकादेर्दानमेव कुतः? उच्यते-तद्भक्तभूपत्यादिभयात्, तदेवंविधं दानं निन्दामि गर्हे च। यत्पुनरौचित्येन दीनादीनां तदप्यनुकम्पादानम्, यतः-" कृपणेऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते। यद्दीयते कृपार्थम्—नुकम्पा तद्भवेद्दानम्॥ १॥ " समर्थदेहस्यापि प्रार्थनाकारिणो दरिद्रप्रायत्वादनुकम्पादानम्, तच्च न निन्दार्हं, जिनेन्द्रैरपि वार्षिकदानावसरे तस्य दर्शितत्वात्, उक्तं च—" इयं मोक्षफले दाने, पात्रापात्रविचारणा। दया-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दानं तु सर्वज्ञैः , कुत्रापि न निषिध्यते ॥ १ ॥" तथा-"दानं यत्प्रथमोपकारिणि न तत्प्रायः स एवार्प्यते, दीने याचनमूल्यमेव दयिते तत्किं न रागाश्रयात् । पात्रे यत्फलविस्तरप्रियतया तद्वार्द्धुषीकं न किं, तद्दानं यदुपेत्य निःस्पृहतया क्षीणे जने दीयते ॥ १ ॥" इति गाथार्थो ज्ञेयः ॥ १७० ॥ सेन० ४ उल्ला० । मन्मथपारवश्ये, तं० ।

रागकिरिया-रागक्रिया-स्त्री० । येन परस्य राग उत्पद्यते तादृशे क्रियाभेदे, आ० चू० ४ अ० ।

रागज्झवसाण-रागाध्यवसान-न० । रागहेतुकेऽध्यवसानभेदे, आ० चू० १ अ० । (अस्य कथा 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे ११ पृष्ठे गता)

रागज्झाण-रागध्यान-न० । रागविषयकदुर्ध्याने, आतु० । "रागज्झाणे" रागोऽभिष्वङ्गमात्रम्, स च कामरागस्नेहरागदृष्टिरागभेदात्त्रिधा । तत्र कामरागो विष्णुश्रियां विक्रमयशोराजस्येव । स्नेहरागो दामन्नकस्य सुरश्रेष्ठिन इव स्वपुत्रमरणश्रवणतो हृदयस्फाटात्, दृष्टिरागो ब्रह्मलोकादागत्य स्वदर्शनानुरागतः स्वशिष्यं प्रति-आसुरे! रमसे इत्यादिभणतः कपिलस्येव तस्य ध्यानम् । तस्मिन्, आतु० ।

रागदोसविजेता-रागद्वेषविजेतृ-पुं० । जिने, रत्ना० ।

रागद्वेषविजेतारं, ज्ञातारं विश्ववस्तुनः ।
शक्रपूज्यं गिरामीशं, तीर्थेशं स्मृतिमानये ॥ १ ॥

तीर्थस्य चतुर्वर्णस्य श्रीश्रमणसङ्घस्य , ईशम्-स्वामिनम् , आसन्नोपकारित्वेनात्र श्रीमहावीरम्; अहमिह प्रक्रमे स्मृतिमानये, इति सण्टङ्कः । रागद्वेषयोः प्रतीतयोः, विशेषेण अपुनर्जेयतारूपेण जयनशीलमिति ताच्छीलिकस्तृन्; ततः "न कर्तृतृजकाभ्याम्" इति तृचा षष्ठीसमासप्रतिषेधात् कथमत्रायम् ?; इति नाऽऽरेकणीयम् । तथा विश्ववस्तुनः कालत्रयवर्तिसामान्यविशेषात्मकपदार्थस्य, ज्ञातारम्, अमलकेवलालोकेन । शक्राणाम्-इन्द्राणाम् पूज्यम्-अर्चनीयम्, जन्मस्नात्राद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिसम्पादनेन । गिराम्-वाचाम् ईशम्-ईशितारम्, अवितथवस्तुव्रातविषयत्वेन तासां प्रयोक्तृत्वात् । अनेन च विशेषणचतुष्टयेनाऽमी यथाक्रमं भगवतो मूलातिशयाश्चत्वारः प्ररूपिताः । तद्यथा-अपायापगमातिशयः, ज्ञानातिशयः , पूजातिशयः, वागतिशयश्चेति । एतेनैव च समस्तेन गणधरादेः स्वगुरुपर्यन्तस्य स्मृतिः कृतैव द्रष्टव्या ; तस्याप्येकदेशेन तीर्थेशत्वात् , निगदितातिशयचतुष्टयाधारत्वाच्च । इति परापरप्रकारेण द्विविधस्याप्युपकारिणः सूत्रकाराः सस्मरुः । अपकारिणस्तु तथाभूतस्येत्थमनेनैव श्लोकेन स्मृतिमकुर्वन् तीर्थस्य-प्रागुक्तस्य , तदाधेयस्याऽऽगमस्य वा; ईम्-लक्ष्मीं, महिमानं वा; श्यति तत्तदसद्भूतदूषणोद्घोषणैः स्वाभिप्रायेण तनूकरोति यः स तीर्थेशः, तीर्थान्तरीयो बहिरङ्गापकारी, तम् । किं रूपम् ? , शक्रपूज्यो यागादौ हविर्दानादिना यस्य स तथा, तम् ; एतावता वेदानुसारिणो भट्टप्रभाकरकणभक्षाक्षपादकपिलाः सूचयाञ्चक्रिरे । पुनः किं भूतं तीर्थेशम् ? ,-गिरामीशं-वाचस्पतिम्; इति नास्तिकमतप्रवर्तयितुर्बृहस्पतेः सूचा । तथा गिराम्-वाचाम् ईम्-लक्ष्मीं शोभां, श्यति यः, तम् ; परमार्थतः पदार्थप्रतिपादनं हि वाचां शोभा, तां च तासामपोहमात्रगोचरतामाचक्षाणस्तथागतस्तनूकरोत्येव; इति विशेषणावृत्त्या सुगतोपक्षेपः । पुनः कीदृशं तम् ?, ज्ञातारम्-विश्ववस्तुनः-नोऽस्माकं श्वेतभिक्षूणां सम्बन्धि , विश्ववस्तु समस्तजीवादितत्त्वं कर्मताऽऽपन्नम् , समानतन्त्रत्वाज्ज्ञातारम्; इति दिगम्बरावमर्शः । ज्ञातारमिति च तृजन्तम्, इति "तृन्नुदन्त०"-इत्यादिना कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधः । नन्वेकस्मिन्नेव वक्तरि स्वात्मानं निर्दिशति कथम् 'आनये' इत्येकवचनम्, 'नः' इति बहुवचनं च समगंसाताम् ?, इति चेत् । नैतद् वचनीयम्, 'नः' इत्यतापि वक्त्रा स्वस्यैकत्वेनैव निर्देशात्; बहुवचनं त्वेकशेषवशात् । तथाहि-ते चान्ये सर्वे श्वेतवाससः, अहं च प्रचिकीर्षितशास्त्रसूत्रधारः , वयम् ; तेषां नः, "त्यदादिः" इत्यनेनाऽस्मच्छब्दोऽवशिष्यते, बहुवचनं च भवति । ततोऽस्माकं श्वेतवासोदर्शनाश्रितानां सर्वेषां तत्त्वं यो जानाति, तं च स्मरामीत्युक्तं भवति । इत्थं चैकशेषशालिविशेषणं कुर्वाणैस्तच्छब्दोपदिष्टमार्गस्थाशेषश्वेताम्बरपारतन्त्र्यं स्वस्याऽऽचिख्ये । पुनः कीदृक्षं तम् ?, रागद्वेषविजेताऽरम्-इतम्-प्राप्तसम्बन्धम् , आरम्-सांसारिकानेकक्लेशस्वरूपशत्रुसमूहो यस्मिंस्तीर्थेशे स तथा, तं च ; कथमेतादृशं तम् ?, इत्याह-रागद्वेषविजा-रागद्वेषाभ्यां कृत्वा याऽसौ विक् श्रीमदर्हत्प्रतिपादितत्वात् पृथग्भावः , तया । भगवदर्हत्प्रतिपादितं तत्त्वमनुभवन्तोऽपि हि रागद्वेषकालुष्यकलङ्काक्रान्तस्वान्ततया परेऽपरथैव प्रलपन्तः संसारिकक्लेशशात्रवगोचरतां गच्छन्त्येव । अनेन चाशेषाणां शेषाणामपि सम्भवैतिह्यप्रमाणवादिचरकप्रमुखाणामाविष्करणम् । न खलु मोहमहाशैलूषस्यैको नर्तनप्रकारो यदशेषतीर्थिकानां प्रत्येकं स्मृतिः कर्तुं शक्येत । नन्वेवमेतान् प्रतिक्षेपार्थमुपक्षिपतोऽस्य रागद्वेषकालुष्यवृद्धिः स्यात्, इति श्रेयोविशेषार्थमुपस्थितस्याऽश्रेयसि प्रवृत्तिरापन्ना; इति शङ्कां निरसितुं 'रागद्वेष-' इति विशेषणं श्लिष्टमजीघटन्-अरम्-अत्यर्थम्, रागद्वेषयोर्विजयनशीलः ; तेषां स्मृतिमस्मि करोमि, न त्वन्यथा, इति तत्र भवदभिप्रायः ; प्रमाणनयतत्त्वं खल्वत्र शुचिविचारचातुरीपूर्वमालोकनीयम् । न च रागद्वेषकषायितान्तःकरणैर्विरच्यमानो विचारश्चारुतामञ्चति । इत्यन्तरङ्गापकारिस्मरणम् । ननु तथाऽपि कथमेतैर्दिव्यदृग्भिरर्वाग्दृशोऽस्य तत्त्वविचारः साधीयान् ?, इत्यारेकामपाकर्तुं श्लेषेणैव व्यशीशिपन्-ज्ञाताऽरं विश्ववस्तुनः । विमलकेवलालोकाऽऽलोकितलोकालोकश्रीमदर्हत्प्रतिपादितागमवशात् खल्वहमपि कामं विश्ववस्तूनां ज्ञातैवेति । वृहद्वृत्तौ तु स्वकर्तृकत्वाद् नामीयामपकारिणां निराचिकीर्षितत्वेन स्मरणं व्याख्यायि, न खलु महतामीदृशमर्थमित्थं प्रकटयतामौचिती नातिवर्त्तते ; फलानुमेयप्रारम्भत्वात् तेषाम् । सूचामात्रं तु सूत्रे कतिपयात्यन्तसहृदयहृदयसंवेद्यमविरुद्धमिति । रत्ना० १ परि० ।

रागदोसाभिभूय रागद्वेषाभिभूत-न० । रागश्च-प्रीतिलक्षणो द्वेषश्च तद्विपरीतलक्षणस्ताभ्यामभिभूत आत्मा येषाम् । रागद्वेषाभिभूतस्वरूपे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रागदोसविसपरममंत-रागद्वेषविषपरममन्त्र-पुं० । रागद्वेषौ विषमिवेति रागद्वेषविषं तस्य परममन्त्रः तद्घातित्वादिति। रागद्वेषविनाशने, पं० सू० १ सूत्र।

रागदोसाणुगया-रागद्वेषानुगता-स्त्री० । प्रीतिलक्षणो रागः, अप्रीतिलक्षणो द्वेषः, ताभ्यामनुगता सहिता। निष्कारणद्वेषरागद्वेषानुगतायां दर्पिकाप्रतिषेवणायाम्, नि० चू० १ उ०।

रागबंधण-रागबन्धन-न० । रञ्जनं रज्यते वाऽनेन जीव इति रागः। राग एव बन्धनं रागबन्धनम्। बन्धनभेदे, आ० चू० ४ अ०।

दुविहे बंधणे पण्णत्ते, तं जहा--रागबंधणे, दोसबंधणे चेव। स० २ सम०।

रागमंडल-रागमण्डल-न०।वसन्तादिरागसमूहे,ग०३अधि०।

रागरत्त-रागरक्त-न० । अभिष्वङ्गलक्षणो रागः तेन रक्तः। तद्भावितमूर्त्तौ, आव० ४ अ०। विषयासक्ते, तं०।

रागविहि-रागविधि-पुं० । रञ्जनं रागः कुसुम्भादिना वर्णान्तरापादनं तद्विधयः। स्निग्धत्वादिषु रूक्षत्वादिषु च क्रियाभेदेषु, उत्त० १ अ०।

रागाइकिलेसवासिय-रागादिक्लेशवासित-न० । रागादिक्लेशैः सर्वथा चित्ताद्व्यतिरिक्तैः संस्कृते, ध० १ अधि०।

रागाइरहिय-रागादिरहित-पुं० । वीतरागे, पं० व० १ द्वार।

रागाइविणासण-रागादिविनाशन-न० । रागद्वेषमोहापोहके, पञ्चा० १८ विव०।

रागाइविधुरया-रागादिविधुरता-स्त्री० । अविषमत्वे, नि० चू० १६ उ०।

राच-राजन्-पुं० । "चूलिका—पैशाचिके तृतीय—तुर्ययोराद्य—द्वितीयौ" ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति जकारस्थाने चकारादेशः। राजा-राचा। नृपतौ, प्रा० ४ पाद।

राजपध-राजपथ-पुं० । "थो धः" ॥ ८ । ४ । २६७ ॥ इति थस्य धः शौरसेन्याम्। राजमार्गे, प्रा० ४ पाद।

राडी-राटी-स्त्री० । कलहे, स्था० १ ठा०। संग्रामे, दे० ना० ७ वर्ग ४ गाथा।

राम-राम-पुं० । बलदेवे, आव० १ अ०। पाइ०ना०। स०। ('दसारमंडल' शब्दे ४ भागे बलदेवा वासुदेवाश्च दर्शिताः) "अयले विजये भद्दे, सप्पभे अ सुदंसणे। आणंदे णंदने पउमे, रामे आऽवि अपच्छिमे ॥ १ ॥" आव० १ अ०। प्रव०।

रामे णं बलदेवे दुवालसवाससयाइं सव्वाउयं पालित्ता देवत्तं गओ। स० १२ सम०।

आ० म०। आ० चू०। नवमे बलदेवे, स० १० सम०। रेणुकायां याते जमदग्नेः पुत्रे, आ० क० १ अ०। दर्श०। (यो हि कार्तवीर्यं प्रति क्रुद्धः त्रिःसप्तकृत्वा निःक्षत्रियां पृथिवीमकरोत्—तद्वृत्तं 'जमदग्गि' शब्दे चतुर्थभागे १४०० पृष्ठ उदाहृतम्) स्वनामख्याते राजपुत्रे, ग०। लिख्यते तत्र रामकथा—"यथा ब्रह्मस्थलपुरे भुवनचन्द्रो राजा, रामः सुतः द्वासप्ततिकलाकुशलः, अन्यदा राज्ञा मन्त्री पृष्टः, रामाय यौवराज्यपदं ददामीति। मन्त्र्याह-नायं योग्यः। को दोष? इति राज्ञोक्ते मन्त्र्याह-देव! अयमवशश्रोत्रेन्द्रियः, प्रत्यहं गीतप्रियः। राजा हसित्वाऽऽह-मन्त्रिन्! राज्ञां गीतप्रियत्वं गुणः,अहो तव चतुरता। मन्त्र्याह-देव!अत्यासक्तत्वं दोषः। "जह अग्गीह लवो वि हु,पसरंतो दहइ गामनगराइं। इकिक्कमिंदियं पि हु, तह पसरंतं समग्गगुणे" ॥ १ ॥ ततः एतस्य लघुभ्रातुः सम्प्रति जातस्य राजलक्षणलक्षितस्य यौवराज्यं दीयतामिति, मन्त्रिणि कथयत्यपि राज्ञा रामस्यैव दत्तम्। क्रमेण राजनि मृते,स एव राजा जातः।कनीयान् भ्राता युवराजः। रामोऽहर्निशं गीतानि शृणोति, स्वयमपि गायति, करोत्यभिनवानि गीतानि, शिक्षयति डुम्बादींन्नित्यं गीतासक्त एवास्ते, न राज्यचिन्तां करोति। अन्यदा तरुणीडुम्बीभिर्गीतप्रसक्तस्तद्रूपमोहितोऽवगणय्य निजकुलादिमर्यादां तास्सेवते,अनाचारी सततं तदासक्त एवास्ते। ततो मन्त्रिप्रभृतिभिर्विचार्य तस्य लघुभ्राता महाबलो राज्ये स्थापितः रामो निर्घाटितो देशात्। विदेशे भ्रान्त्वा मृत्वा हरिणो जातः। गीतश्रवणासक्तो व्याधेन हतो। जातो महाबलपुरोहितस्य पुत्रोऽपि गीतप्रियः अवशश्रवणेन्द्रियः। अन्यदा महाबलनृपेण रात्रौ डुम्बकुटुम्बे गायति पार्श्वस्थितपुरोहितपुत्रो भणितः-यन्मम निद्रासमये एते गायनतः स्थाप्याः। तेन सरसगीतासक्तेन न वारिताः। पश्चाद्रात्रौ राजा प्रबुद्धो रुष्टः, तैलं पक्त्वा तस्य कर्णयोः क्षिपति, स मृतः। राज्ञः पश्चात्तापो जातः, यत्स्वल्पेऽप्यपराधे मया गुरुर्दण्डः कृतः। इतश्च तत्रायातः केवली, राजा तं वन्दित्वा तस्य कथां पृच्छति। रामभवादारभ्य यथास्थितमाख्यात। अग्रस्तस्य भूयान् संसार इति श्रुत्वा श्रवणेन्द्रियविपाकं दारुणं दृष्ट्वा महाबलः प्रव्रजितः, शिवमाप, इति श्रवणेन्द्रियविषयविपाके रामकथा ॥ ग० २ अधि०। क्षत्रियपरिव्राजकभेदे, औ०। स्वनामख्याते दशरथात्मजे, स० १० सम०।

तत्कथा चैवम्—

सीता जनकाभिधानस्य मिथिलानगरीराजस्य दुहिता वैदेहीनाम्न्यास्तद्भार्यायाः देहजा भामण्डलस्य सहजातस्य भगिनी विद्याधरोपनीतं देवताधिष्ठितं धनुः स्वयंवरमण्डपे नानाखेचरनाकिनिकरसमक्षमयोध्याभिधाननगरीनिवासिनो दशरथाभिधानस्य नरनायकस्य सुतेन रामदेवेन पद्मापरनाम्ना बलदेवेन लक्ष्मणाभिधानवासुदेवज्येष्ठभ्रात्रा स्वप्रभावेणोपशान्ताधिष्ठातृदेवतमारोपितगुणं विधाय प्राप्तसाधुवादेन महाबलेन परिणीता, ततो दशरथराजे प्रविव्रजिषौ रामदेवाय राज्यदानार्थमभ्युत्थिते भरताभिधाने च रामदेवस्य मात्रन्तरसम्बन्धिनि भ्रातरि प्रव्रजितुकामे भरतमात्रा पूर्वप्रतिपन्नवरयाचनोपायेन राज्ये भरताय दापिते बन्धुस्नेहाच्चाप्रतिपद्यमाने राज्यं भरते पितृवचनसत्यतार्थं भरतस्य राज्यप्राप्त्यर्थं वनवासमुपाश्रितेन सलक्ष्मणेन रामेण सह वनवासमधिष्ठिता, ततश्च लक्ष्मणेन कौतुकेन तत्र दण्डकारण्ये सञ्चरता आकाशस्थं खड्गरत्नमादाय कौतुकेनैव वंशजालिच्छेदे कृते छिन्ने च तन्मध्यवर्त्तिनि विद्यासाधनपरायणे रावणभागिनेये खरदूषणचन्द्रनखासुते संबुकाभिधाने विद्याधरकुमारे दृष्ट्वा च तं पश्चात्तापमुपगतेन लक्ष्मणेनागत्य भ्रातुर्निवेदितेऽस्मिन् व्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिकरे एतद्व्यतिकरदर्शनकुपितायां चन्द्रनखायां पुना रामलक्ष्मणयोर्दर्शनात् सञ्जातकामायां कृतकन्यारूपायां तत्प्रार्थनापरायां ताभ्यामनिष्टायां च पुत्रमारणादिव्यतिकरे च तया शोकरोषाभ्यां खरदूषणस्य निवेदिते तेन च वैरनिर्यातनोद्यतेन सह लक्ष्मणेन योद्धुमारब्धे ज्ञातभागिनेयमरणादिव्यतिकरेण लङ्कानगरीत आकाशेन गच्छता रावणेन दृष्टा, दृष्ट्वा च तां तेन कुसुमशायकशरप्रसरविधुरितान्तःकरणेन अगणितकुलमालिन्येन अपहसितविवेकरत्नेन विमुक्तधर्मसंज्ञेन अनाकलितानर्थपरम्परेण विमुक्तपरलोकचिन्तनेन जातसीतापहारबुद्धिना विद्यानुभावोपलब्धरामलक्ष्मणस्वरूपेण विज्ञाततत्सत्कसिंहनादसङ्केतकरणेन लक्ष्मणसंग्रामस्थाने गत्वा मुक्ते सिंहनादे चलिते तदभिमुखे रामे एकाकिनी सती अपहृता, झिगिति नीता च लङ्कायां विमुक्ता गृहोद्याने प्रार्थिता च दशकन्धरेणानुकूलप्रतिकूलवाग्भिर्बहुशो न च तमिष्टवती। रामेण च सुग्रीवभामण्डलहनुमदादिविद्याधरवृन्दसहायेन महारणविमर्दं विधाय नानाविधाद्भरेश्वरान्निहत्य दशवदनं च विनिपात्य नीता स्वगृहमिति। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

रामकण्ह-रामकृष्णा-पुं०। कूणिकमहाराजभार्यायाः रामकृष्णायाः अपत्ये, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। (तद्वक्तव्यता कालकुमारवक्तव्यतावद् भावनीया इति निरयावलिकाया अष्टमेऽध्ययने सूचितम्)

रामगुत्त-रामगुप्त-पुं०। साकेतनगरस्थिते भद्रपुत्रे, अणु०। स्था०। (स च द्वात्रिंशत् कन्याः परिणीय वीरान्तिके प्रव्रज्य संलेखनया मृत्वा सर्वार्थसिद्धे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकस्य तृतीये वर्गे पञ्चमाध्ययने सूचितम्।) स्वनामख्याते लौकिकराजर्षौ, रामगुप्तश्च राजर्षिराहारादिकं भुक्त्वैव भुञ्जान एव सिद्धिं प्राप्तः। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। द्विगृद्धिदशानां दशमाध्ययनोक्ते स्वनामख्याते पुरुषे, स्था० १० ठा०।

रामचंदसूरि-रामचन्द्रसूरि-पुं०। कुमारपालप्रतिबोधकश्रीहेमाचार्यशिष्ये, अनेन निर्भयभीमव्यायोग-रघुविलासनाटक-विहारशतक-द्रव्यालङ्कार-राघवाभ्युदयमहाकाव्य-यादवाभ्युदयमहाकाव्य-नलविलासमहाकाव्यादिग्रन्थशतं निर्मेम इति प्रबन्धशतककर्तृनामविरुदेन प्रसिद्धः। जै० इ०।

रामण-रामण-न०। मञ्चाक्रीडने, ग० ३ अधि०।

रामदेव-रामदेव-पुं०। कोकापार्श्वनाथप्रतिमोद्धारके सौवर्णिकनायकवंशोत्पन्ने विक्रमसंवत्सराणां १२६२ समये गुर्जरदेशीये स्वनामख्याते पुरुषे, ती० ४६ कल्प।

रामय-रामक-पुं०। म्लेच्छदेशभेदे, तद्वास्तव्ये जने च। प्रव० २७४ द्वार।

रामरक्खिया-रामरक्षिता-स्त्री०। ईशानेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। ती०। (अस्याः पूर्वोत्तरभवकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्ता)

रामविजय-रामविजय-पुं०। कथासूत्रस्य कल्पसुबोधिकानामवृत्तेः कारकस्य विनयविजयस्य वृत्तिकरणाभ्यर्थके-श्रीविजयगुरौ, "श्रीरामविजयपण्डित-शिष्यश्रीविजयविबुधमुख्यानाम्। अभ्यर्थनाऽपि हेतु-र्विज्ञेयोऽस्याः कृतौ विवृत्तेः।" कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

रामसयण-रामशयन-पुं०। स्वनामख्याते तीर्थे, श्रीरामशयने प्रद्योतकारी श्रीवर्द्धमानः। ती० ४३ कल्प।

रामा-रामा-स्त्री०। श्रीअरिष्टनेमिना सह रमते गोविन्दनितम्बिनीवत् क्रीडयतीति। तं०। ईशानेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, ज्ञा० २ श्रु० ८ वर्ग १ अ०। भ०। सुग्रीवराजभार्यायाम्, पुष्पदन्तनवमतीर्थकरमातरि, स्था० ५ ठा० १ उ०। ति०। आव०। प्रव०। स०। स्त्रियाम्, "रामा" पाइ० ना० १२ गाथा।

रामायण-रामायण-न०। वाल्मीकिकृते दाशरथिरामचरितप्रतिबद्धे स्वनामख्याते महाकाव्ये, अनु०। सम्म०।

राय-राजन्-पुं०। राजते इति राजा। नरपतौ, स्था० ५ ठा० ३ उ०। दश०। ज्ञा०। जं०। प्रश्न०। औ०। चक्रवर्त्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। राजा-चक्रवर्त्ती बलदेवो वासुदेवो महामाण्डलिको वा। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। राजा द्विविधो भवति आत्माभिषिक्तः, अपराभिषिक्तश्च। आत्मनैव-निजबलेन राज्येऽभिषिक्तः आत्माऽभिषिक्तः, परेणाभिषिक्तः पराभिषिक्तः। तत्राऽऽत्माभिषिक्तो भरतश्चक्रवर्त्ती तस्य पुत्र आदित्ययशाः पराभिषिक्तः। व्य० ५ उ०।

राजलक्षणमाह—

उभतो जोणिविसुद्धो, राया दसभागमेत्तसंतुट्ठो।
लोए वेदे समए, कयाऽऽगमो धम्मितो राया ॥३०८॥

यो राजा उभययोर्विशुद्धः—मातृपितृपक्षपरिशुद्धः, तथा प्रजाभ्यो दशभागमात्रग्रहणसन्तुष्टः, तथा लोके-लोकाचारे वेदे-समस्तदर्शनिनां सिद्धान्ते समये—नीतिशास्त्रे कृतागमः-कृतपरिज्ञानो धार्मिको-धर्मश्रद्धावान् स राजा, शेषस्तु राजाऽऽभासः।

तथा—

पंचविहे कामगुणे, साहीणे भुंजए निरुव्वसग्गे।
वावारविप्पमुक्को, राया एयारिसो होइ ॥ ३०९ ॥

पञ्चविधान्—पञ्चप्रकारान् रूपरसगन्धस्पर्शशब्दलक्षणान् कामगुणान्स्वाधीनान्—स्वभुजोपार्जितान् निरुद्विग्नः-प्रत्यन्तराजकृतमनोदुःखासिकाया अभावात्, व्यापारविप्रमुक्तो-देशपरिपन्थ्यादिव्यापारविप्रमुक्तो युवराजादीनां तद्व्यापाराध्यारोपणात् यः स एतादृशो राजा भवति। व्य० १ उ०। राजवर्णको लिख्यते—' महयाहिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे ' महाहिमवानिव महान् शेषराजपर्वतापेक्षया, तथा मलयः—पर्वतविशेषो मन्दरो-मेरुः महेन्द्रः-पर्वतविशेषः शक्रो वा, तद्वत्सारः—प्रधानो यः स तथा। ' अच्चन्तविसुद्धदीहरायकुलवंससुप्पसूए ' अत्यन्तविशुद्धो-निर्दोषो दीर्घः—चिरकालीनो यो राज्ञां कुलरूपो वंशस्तत्र सुष्ठु प्रसूतो य स तथा। ' णिरंतरं रायलक्खणविराइयंगमंगे ' राजलक्षणैः—स्वस्तिकादिभिः विराजितमङ्गमङ्गं—गात्रं यस्य स तथा, मकारस्तु प्राकृतशैलीप्रभवः। ' मुइए ' त्ति मुदितः—प्रमोदवान्, अथवा—निर्दोषमातृको,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदाह—' मुइओ जो होइ जोणिसुद्धो ' त्ति । ' मुद्धाहिसित्ते ' त्ति पितृपितामहादिभिः राजभिर्वा यो राज्येऽभिषिक्तः । ' माउपिउसुजाए ' त्ति पित्रोर्विनीततया सत्पुत्रः । 'दयपत्ते ' त्ति प्राप्तकरुणागुणः । ' सीमंकरे ' त्ति सीमाकारी, मर्यादाकारीत्यर्थः । ' सीमंधरे ' त्ति कृतमर्यादापालकः । एवं ' खेमंकरे खेमंधरे ' त्ति क्षेमं पुनरनुपद्रवता । ' मणुस्सिंदे ' त्ति मनुजेषु परमेश्वरत्वात् । ' जणवयपिय ' त्ति जनपदानां पितेव हितत्वात् । ' जणवयपाले ' त्ति तद्रक्षकत्वात् । ' जणवयपुरोहिए ' त्ति जनपदस्य शान्तिकरत्वात् । 'सेउकरे ' त्ति मार्गदर्शक इत्यर्थः । ' केउकरे ' त्ति अद्भुतकार्यकारित्वेन चिह्नकारी । ' णरपवरे ' त्ति नराः प्रवरा अस्येति कृत्वा ' पुरिसवरे ' त्ति पुरुषाणां मध्ये प्रधानत्वात् । ' पुरिससीहे ' त्ति क्रूरत्वात् । ' पुरिसवग्घे ' त्ति रोषे सति रौद्ररूपत्वात् । ' पुरिसासीविसे ' त्ति पुरुषश्चासावाशीविषश्च पुरुषाशीविषः, आशीविषश्च सर्पः, कोपसाफल्यकरणसामर्थ्यात् । ' पुरिसपुंडरीए ' त्ति सुखार्थिनां सेव्यत्वात्, पुण्डरीकं च सितपद्मम् । ' पुरिसवरगंधहत्थी ' ति प्रतिराजगजभञ्जकत्वात् । ' अड्ढे ' त्ति समृद्धः 'दित्ते ' त्ति दृप्तो दर्पवान् ' वित्ते ' त्ति प्रसिद्धः । ' विच्छिएणविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइएणे ' त्ति विस्तीर्णानि-विस्तारवन्ति विपुलानि-प्रभूतानि भवनशयनासनानि प्रतीतानि यस्य स तथा, यानवाहनानि—रथाश्वादीनि आकीर्णानि-गुणाकीर्णानि यस्य स तथा, ततः कर्मधारयः, अथवा-विस्तीर्णविपुलभवनानि शयनासनयानवाहनाकीर्णानि यस्य स तथा । ' बहुधणबहुजायरूवरयते ' बहु—प्रभूतं धनं-गणिमादिकं बहुनी च जातरूपरजते—सुवर्णरौप्ये यस्य स तथा । 'आओगपओगसंपउत्ते' त्ति आयोगस्य-अर्थलाभस्य प्रयोगाः—उपायाः सम्प्रयुक्ताः—व्यापारिता येन; तेषु वा सम्प्रयुक्तो—व्यापृतो यः स तथा ' विच्छड्डियपउरभत्तपाणे ' त्ति विच्छर्दिते-त्यक्ते बहुजनभोजनदानेनावशिष्टोच्छिष्टसम्भवात् सञ्जातविच्छर्दैर्वा नानाविधे प्रचुरे भक्तपाने भोजनपानीये यस्य स तथा । ' बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए' त्ति बहवो दासीदासा गोमहिषगवेलकाश्च प्रभूता यस्य स तथा, गवेलका—उरभ्राः ' पडिपुएणजंतकोसकोट्ठागाराऽऽउधागारे ' प्रतिपूर्णानि यन्त्राणि च-पाषाणक्षेपयन्त्रादीनि कोशो—भाण्डागारः कोष्ठागारश्च—धान्यगृहम् आयुधागारश्च—प्रहरणशाला यस्य स तथा । ' बलवं ' ति प्रभूतसैन्यः 'दुब्बलपच्चमित्ते' त्ति दुर्बलाः प्रत्यमित्राः-प्रातिवेश्मिकनृपा यस्य स तथा ' ओहयकंटयं ' ति उपहताविनाशिताः कण्टकाः—प्रतिस्पर्द्धिगोत्रजा यत्र राज्ये तत्था, क्रियाया वा विशेषणमेतत्, एवमन्यान्यपि, नवरं निहताः—कृतसमृद्ध्यपहाराः, मलिताः—कृतमानभङ्गाः, उद्धृता—देशान्निर्वासिताः, अत एवाविद्यमाना इति । तथा शत्रवः—अगोत्रजा निर्जिताः—स्वसौन्दर्यातिशयेन परिभूताः, पराजितास्तु तद्विधराज्योपार्जने कृतसम्भावनाभङ्गाः, ' ववगयदुब्भिक्खमारिभयविप्पमुक्क ' मिति । व्यक्तम् ' पसंतडिंबडमरं ' ति डिम्बाः—विघ्नाः डमराणि—राजकुमारादिकृतवैराज्यादीनि, ' पसंताहियडमरं ' ति क्वचित्पाठः, तत्राहितडमरं—शत्रुकृतडमरोऽधिकडमरो वा । ' रज्जं पसासेमाणे ' त्ति प्रशासयन्—पालयन् ' पसाहेमाणे ' त्ति क्वचित्पाठः, तत्राऽप्ययमेवार्थः, विहरति-वर्तते । अथ राज्ञीवर्णकं लिख्यते—' अहीणपडिपुएणपंचिंदियसरीरा ' क्वचित्तु-' अहीणपुन्नपंचिंदियसरीरा ' अहीनानि—अन्यूनानि लक्षणतः, पूर्णानि—स्वरूपतः, पुण्यानि वा—पवित्राणि पञ्चापीन्द्रियाणि यत्र तत्तथाविधं शरीरं यस्याः सा तथा ' लक्खणवंजणगुणोववेया ' लक्षणानि—स्वस्तिकचक्रादीनि व्यञ्जनानि-मषीतिलकादीनि तेषां यो गुणः-प्रशस्तत्वं तेनोपपेता-युक्ता या सा तथा । ' माणुम्माणप्पमाणपडिपुएणसुजायसव्वंगसुंदरंगी' तत्र मानम्-जलद्रोणप्रमाणता, कथम् ?-जलस्यातिभृते कुण्डे प्रमातव्यमानुषे निवेशिते यज्जलं निस्सरति तद्यदि द्रोणमानं स्यात्तदा तन्मानुषं मानप्राप्तमुच्यते तथा उन्मानम्—अर्द्धभारप्रमाणता, कथम् ?, तुलारोपितं मानुषं यद्यर्द्धभारं तुलति तदा तदुन्मानप्राप्तमित्युच्यते, प्रमाणं तु—स्वाङ्गुलेनाष्टोत्तरशतोच्छ्रयता, ततश्च मानोन्मानप्रमाणैः प्रतिपूर्णानि-अन्यूनानि सुजातानि-सुनिष्पन्नानि सर्वाण्यङ्गानि-शिरःप्रभृतीनि यत्र तत्तथाविधं सुन्दरमङ्गं-शरीरं यस्याः सा तथा । ' ससिसोमाकारकंतपियदंसणा ' शशिवत्सौम्याकारं-कान्तं च-कमनीयमत एव च प्रियं—वल्लभं द्रष्टॄणां दर्शनं—रूपं यस्याः सा तथा । अत एव ' सुरूव ' त्ति शोभनरूपा । ' करयलपरिमिअपसत्थतिवलियवलियमज्झा ' करतलपरिमितो-मुष्टिग्राह्यः प्रशस्तः-शुभस्त्रिवलिको-वलित्रययुक्तो वलितः-सञ्जातवलिर्मध्यो—मध्यभागो यस्याः सा तथा, । ' कुंडलुल्लिहियगंडलेहा' कुण्डलाभ्यामुल्लिखिता गण्डलेखाः—कपोलपत्रवल्ल्यो यस्याः सा तथा, ' कुण्डलोल्लिखितपीनगण्डलेखेति ' पाठान्तरं, व्यक्तं च । ' कोमुईरयणियरविमलपडिपुएणसोमवयणा ' कौमुदी—चन्द्रिका कार्तिकी वा-तत्प्रधानस्तस्यां वा यो रजनीकरः-चन्द्रस्तद्वद्विमलं प्रतिपूर्णं सौम्यं च वदनं यस्याः सा तथा । ' सिंगारागारचारुवेसा' शृङ्गारस्य-रसविशेषस्यागारमिव-स्थानमिव चारुः-शोभनो वेषो-नेपथ्यं यस्याः सा तथा । अथवा-शृङ्गारो-मण्डनभूषणाटोपस्तत्प्रधानः आकारः-संस्थानं चारुश्च वेषो यस्याः सा तथा । ' संगयगयहसियभणियविहियविलाससललियसंलावणिउणजुत्तोवयारकुसला ' सङ्गता—उचिता गतहसितभणितविहितविलासा यस्याः सा तथा, तत्र विहितं-चेष्टितं विलासो-नेत्रचेष्टा, तथा सह ललितेन-प्रसन्नतया ये संलापाः-परस्परभाषणलक्षणास्तेषु निपुणा या सा तथा । तथा युक्ताः-सङ्गता ये उपचारा-लोकव्यवहारास्तेषु कुशला या सा तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः । क्वचिदिदमन्यथा दृश्यते—' सुंदरथणजघणवयणकरचरणनयणलावएणविलासकलिया' व्यक्तमेव, नवरं जघनं—पूर्वकटीभागः लावण्यम्-आकारस्य स्पृहणीयता विलासः-स्त्रीणां चेष्टाविशेषः, आह च-"स्थानासनगमनानां, हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैव । उत्पद्यते विशेषो, यः श्लिष्टः स विलासः स्यात् ॥ १ ॥" इति । तथा-(औ० ।) ' अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे पंचविहए माणुस्सए कामभोए पच्चणुब्भवमाणी विहरति ' व्यक्तमेव, नवरम्, अनुरक्ता-अविरक्ता अनुरज्य न विप्रियेऽपि विरक्ततां गतेत्यर्थः । ७ । औ० । (राजादेरात्मीकरणम् अर्चीकरणं च स्वस्वस्थाने व्याख्याते) माण्डलिके, भ० ६ श० ३३ उ० । कल्प० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेघदृष्टान्तेन राजवर्णनं भावयति—

चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा-देसवासी णाममेगे णो सव्ववासी ४, १३, एवामेव चत्तारि रायाणो पण्णत्ता, तं जहा-देसाधिवती णाममेगे णो सव्वाधिवती ४, १४॥ (सू० ३४६)

विवक्षितभरतादिक्षेत्रस्य प्रावृडादिकालस्य वा देशे आत्मनो वा देशेन वर्षतीति देशवर्षी १, यस्तु तयोः सर्वयोः सर्वात्मना वा वर्षति स सर्ववर्षी, अन्यस्तु क्षेत्रतो देशं कालतः सर्वत्रात्मनो वा सर्वतः २, अथवा—कालतो देशे क्षेत्रतः सर्वत्र ३, आत्मनो वा सर्वतः ४, अथवा आत्मनो देशेन क्षेत्रतः ५, कालतो वा सर्वत्र ६, अथवा क्षेत्रकालतो देशेन आत्मनः सर्वतः ७, अथवा-क्षेत्रतो देशे, आत्मनो देशेन कालतः सर्वत्र ६, अथवा—कालतो देशे आत्मनो देशेन क्षेत्रतो न सर्वत्र ८, इत्येवं नवभिर्विकल्पैर्वर्षति स देशवर्षी सर्ववर्षी चेति, चतुर्थः सुज्ञात इति १३, राजा तु यो विवक्षितक्षेत्रस्य मेघवद्देश एव योगक्षेमकारितया प्रभवति स देशाधिपतिर्न सर्वाधिपतिः स च पल्लीपत्यादिः, यस्तु न पल्ल्यादौ देशेऽन्यत्र तु सर्वत्र प्रभवति स सर्वाधिपतिर्न देशाधिपतिः। यस्तूभयत्र स उभयाधिपतिः, अथवा—देशाधिपतिर्भूत्वा सर्वाधिपतिर्यो भवति वासुदेवादिवत् स देशाधिपतिश्च सर्वाधिपतिश्चेति, चतुर्थो राज्यभ्रष्ट इति १४,॥ स्था० ४ ठा० ४ उ०। लक्ष्म्या देदीप्यमाने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। पञ्चाशीतितमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु०। चं० प्र०। कल्प०।

रायंछुय-देशी-न०। वेतसीतरौ, "रायंछुयं च वेडिसं" पाइ० ना० २५८ गाथा।

रायंत-राजमान-पुं०। देदीप्यमाने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

रायंतेउर-राजान्तःपुर-न०। राजमहिषीगृहे, स्था० ५ ठा० २ उ०। रा०।

रायंबू-देशी-वेतसद्रुमे; शरभे च। दे० ना० ७ वर्ग १४ गाथा।

रायंस-राजां(श)स-पुं०। राजयक्ष्मणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

रायंसि-राजां(शि)सिन्-त्रि०। राजांसः-राजयक्ष्मा सोऽस्यास्तीति राजांसी। क्षयिणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

रायककुह-राजककुद-पुं०। न०। राजचिह्ने, प्रव० १ द्वार। दशा०। औ०। दर्श०। स्था०।

अधुना खड्गादिरूपं राज्ञां तदेवाऽऽह—

पंच रायककुहा पण्णत्ता। तं जहा—खग्गं छत्तं उप्फेसं उपाणहाओ वालवीअणी। (सू० ४०८)

'पंच रायककुदा' इत्यादि व्यक्तम्, नवरं राज्ञां-नृपतीनां ककुदानि-चिह्नानि राजककुदानि, 'उप्फेसि' त्ति शिरोवेष्टनं शेखरक इत्यर्थः, 'उपाहणाउ' त्ति उपानहौ, वालव्यजनी चामरमित्यर्थः, श्रूयते च—" अवणेइ पंच ककुहाणि, जाणि रायाण चिंधभूयाणि। खग्गं छत्तोवाहण, मउडं तह चामराओ य॥ १॥" इति। (खड्गं छत्रम् उपानहौ, मुकुटं तथा चामराणि। पञ्चापनयति यानि, राज्ञश्चिह्नभूतानि॥ १॥) स्था० ५ ठा० १ उ०।

रायकहा-राजकथा-स्त्री०। राजसम्बन्धिन्यां विकथायाम्, स्था०।

रायकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—रन्नो अतिताणकहा रन्नो निज्जाणकहा रण्णो बलवाहणकहा रन्नो कोसकोट्ठागारकहा। (सू० २८२)

तथा अतियानं—नागरादौ प्रवेशस्तत्कथा अतियानकथा, यथा—" सियसिंधुरखंधगओ, सियचमरो सेयछत्तछन्नणहो। जणणयणकिरणसेओ,एसो पविसइ पुरे राया।१।" इति, एवं सर्वत्र, नवरं निर्याणं—निर्गमः, तत्कथा यथा—" वज्जंतउज्जममं-दयंदिसइं मिलंतसामंतं। संखुद्दसेन्नमुज्झय-चिंधं नयरा निवो नियइ॥ १॥" बलं-हस्त्यादि वाहनं—वेगसरादि, तत्कथा, यथा—" हेसंतहयं गज्जंतमयगलं घणघणंतरहलक्खं। कस्सऽन्नस्स वि सेन्नं, णिन्नासियसत्तुसिन्नं भो!॥ १॥" कोशो—भाण्डागारं कोष्ठागारं-धान्यागारमिति, तत्कथा, यथा—" पुरिसपरंपरपत्तेण, भरियविरस्संभरेण कोसेणं। णिज्जियवेसमणेणं, तेण समो को निवो अन्नो?॥ १॥" इति। इह चैते दोषाः—" चारिय चोरा १ भिमरे, हिय १ मारिय २ संककाउकामा वा। भुत्ताभुत्तोहाणं, करेज्ज वा आससपओगं॥ १॥" स्था० ४ ठा० २ उ०। "राजाऽयं रिपुवारदारणसहः क्षेमंकरश्चौरहा, युद्धं भीममभूत्तयोः प्रतिकृतं साध्वस्य तेनाधुना। दुष्टोऽयं म्रियतां करोतु सुचिरं राज्यं ममाप्यायुषा, भूयो बन्धनिबन्धनं बुधजनै राज्ञां कथा हीयताम्।३६।" ध० र० १ अधि० १३ गुण। आव०। नि० चू०।

रान्नो कहा राजकहा सा चउव्विहा—

अइयाणं णिज्जाणं, बलवाहणकोसमेव सट्ठाणं।
एता कहा कहंते, चउ जमला कालगा चउरो॥२२८॥

बलवाहणं ततिओ भेओ कोसमेव कोट्ठागारं चउत्थो भेओ केवि एयं एवं पढंति कोसमेव सट्ठाणं, तत्थ बलवाहणकोसमेव सव्वं एकं संठाणमिति चउत्थं, सेसं गाहाए कंठं।

पुरिमद्धवक्खाणं इमं—

अज्ज अतियाति णिंती, पंतो वा सोभए एवं।
बल कोसे य पमाणं, संठाणं वण्णवत्थं॥ १२६॥

अज्ज इति अज्ज दिणं अतिजाति पविसति णीति-णिग्गच्छति जातस्स रण्णो णिन्तारिणतस्स विभूती तं दट्ठणं अन्नेसिं पुरतो सिलाघयति। अहवा—सो राया धवलतुरगादिरूढो कयसेहरो विलेवणोवलित्तगत्तो पुरओ पउंजमाणजयसद्दो अणेगगयतुरगरहकयपरिवारो णिंतो अयंतो वा एवं सोभति। बलं-सारीरं, सेवणालं वा। वाहणं एत्तियं तेसु एत्तियं पमाणं एयं कहं करेति, कोसो-जहिं रयणादियं दव्वं, कोट्ठागारो-जत्थ सालिमाइधण्णं, तम्मि वा एत्तियं पमाणं। ज पुण सट्ठाणं पढंति तस्सिमं वक्खाणं-सट्ठाणं वण्णेवत्थं सट्ठाणं रूवं वण्णो सुद्धसामादिणेवत्थं परिहरणं।

रायकहादोसदरिसणत्थं भण्णति—

चारितचोराऽहिमरा-हित-मारितसंककाउ कामा वा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भुत्ताभुत्तोहाणं, करिज्ज वा आससपओगं ॥ १३० ॥
साहू णिलयट्ठिता रायकहं कहेमाणा अत्थंति । ते य सुता रायपुरिसेहिं, ताण य रायपुरिसाण एवमुवट्ठियं चित्तस्स जइ परमत्थेणिमे साहू तो किं मे एएसिं रायकहाए, एवं एते चारिया-भोडया चोरा वा वेसपरिच्छन्ना अहिमराणाम दहरचोरा, अस्सरयणं वाहियं केणइ रयणं वा सयणं केणइ अदिट्ठेण आरणा मारितो एतेसु संकिज्जति । अहवा-चोरिया-चोरेसु संका अहिमरत्तं अस्सहरणं वा मारणं वा काउकामा,वा-विगप्पदरिसणे,अहवा-रायकहाए रायदिक्खियस्स अणुसरणं भुत्तभोगिणो सइकरणं इतरेसु कोउयं पुनस्सरणकोउएणं ओहावणं करेज्ज, कारिज्ज वा आससपओगं । आससपओगो नाम-निदानकरणं, रायकह त्ति दारं गयं । नि० चू० १ उ० । औ० । ग० । दर्श० । राजकथा यथा-शूरोऽसदीयो राजा सधनाश्चेमाः गजपतिर्गौडः अश्वपतिस्तुरुष्क इत्यादि । ध० २ अधि० । स० । आ० चू० ।

रायकुल-राजकुल-न० । 'राउला' इति ख्याते राजवंशे, अनु० । आ० म० ।

रायखुड्डय-राजक्षुल्लक-पुं० । राजबालके, बृ० ६ उ० । (एकस्य राजक्षुल्लकस्य क्षिप्तचित्तस्य कथा 'खित्तचित्त' शब्दे तृतीयभाग ७४१ पृष्ठे उक्ता)

रायगई-देशी-जलौकसि, दे० ना० ७ वर्ग ५ गाथा ।

रायगिह-राजगृह-न० । मगधेषु जनपदेषु वैभारगिर्युपत्यकायां प्रधाननगरे, प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । प्रव० । आव० । आ० म० । भ० । स्था० । अणु० । अन्त० । आ०चू० । राजगृहोत्पत्तिः 'सेणिय' शब्दे वक्ष्यते) (एतत्कल्पः 'वेभार' शब्दे वक्ष्यते)

इदं किलार्थजातं गौतमो राजगृहे प्रायः पृष्टवान्-
बहुशो भगवतस्तत्र विहारादिति राजगृहा-
दिस्वरूपनिर्णयपरसूत्रप्रपञ्चं नवमो-
द्देशकमाह—

तेणं कालेणं तेणं समएणं०जाव एवं वयासी-किमिदं भंते ! नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ ?, किं पुढवीनगरं रायगिहं ति पवुच्चइ ?, आउनगरं रायगिहं ति पवुच्चइ ?, ०जाव वणस्सइ ?, जहा एयणुद्देसए पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वया तहा भाणियव्वं० जाव सचित्ताचित्तमीसयाइं दव्वाइं नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ ?, गोयमा ! पुढवी वि नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ० जाव सचित्ताचित्तमीसियाइं दव्वाइं नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ । से केणऽट्ठेणं ?, गोयमा ! पुढवी जीवाति य अजीवाति य नगरं रायगिहंति पवुच्चई ०जाव सचित्ताचित्तमीसियाइं दव्वाइं जीवाति य अजीवाति य नगरं रायगिहं ति पवुच्चति । से तेणऽट्ठेणं तं चेव । (सू०२२३)

'तेणमि' त्यादि, 'जहा एयणुद्देसए' त्ति एजनोद्देशकोऽस्यैव पञ्चमशतस्य सप्तमः, तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वक्तव्यता 'टङ्का कूडा सेला सिहरी' त्यादिका या उक्ता सा इह भणितव्येति । अत्रोत्तरम्-'पुढवी वि नगरं' इत्यादि, पृथिव्यादिसमुदायो राजगृहं, न पृथिव्यादिसमुदायादृते राजगृहशब्दप्रवृत्तिः, 'पुढवी जीवाइ य अजीवाइ य नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ' त्ति जीवाजीवस्वभावं राजगृहमिति प्रतीतं, ततश्च विवक्षिता पृथिवी सचेतनाचेतनत्वेन जीवाश्चाजीवाश्चेति राजगृहमिति प्रोच्यत इति ॥ भ० ५ श० ६ उ० ।

रायग्गपय-राजाग्रपद-पुं० । स्वनामख्याते तीर्थविशेषे, प्रति० ।

रायग्गल-राजार्गल-पुं० । षष्ठाशीतितमे महाग्रहे, स्था० । "दो रायग्गला" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

रायजक्ख-राजयक्ष्मन्-पुं० । रोगविशेषे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

रायणिय-रात्निक-त्रि० । रत्नाधिके, व्य० २ उ० । स्था० । ज्ञानादिभावरत्नाभ्युच्छ्रिते, दश० ६ अ० ३ उ० । रत्नाधिकस्तु पर्यायज्येष्ठः । यद्वा-" रायणिओ नाम-जो नाणदंसणचरणसाहणेसु सुट्ठु पयओ " त्ति । ध० २ अधि० । कल्प० । आ० चू० । चिरदीक्षितादिषु, दश० ८ अ० ।

रायणियत्तवाद-रात्निकत्ववाद-पुं० । रत्नाधिकोऽयमिति प्रवादे, व्य० ४ उ० ।

रायणि(णी)यपरिहासी-राजनीतिपरिभाषिन्-पुं० । अचार्यादिषु परिभवकारिणि, स० २० सम० । " राइणियपरिभासी राइणिओ-आयरिओ अण्णो वा जो महल्लो जाइसुयपरियायादीहिं तस्स परिभासी परिभवकारी असुद्धचित्तत्तणओ अप्पाणं परे य असमाहीए जोजयति । " आव० ४ अ० । दश० ।

रायणीइ-राजनीति-स्त्री० । राज्ञां नीतिः । राजज्ञेये सामाद्युपाये, तत्प्रतिपादके शास्त्रे च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

रायदंसण-राजदर्शन-न० । राज्ञो नृपतेर्दर्शनम् । नृपतिमीलके, पञ्चा० ६ विव० ।

रायदुट्ठ-राजद्विष्ट-न० । द्वेषणं द्विष्टं राज्ञो द्विष्टं राजद्विष्टम् । राजद्वेषे, व्य० १ उ० । आव० । (कल्पिकायां प्रतिसेवनायां यान्यपवादपदानि अशिवादीनि तेष्वन्यतमं राजद्विष्टम् । तत्र किं कथं कल्पते तदुक्तं 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे पञ्चमभागे ३६७ पृष्ठे) (अनवस्थाप्यार्हेण राजप्रशमनार्थं यथा गन्तव्यं, तथा राजप्रशमद्विष्टे विहरतां यथा रात्रौ भोजनं कल्पते तथा 'राइभोयण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५२७ पृष्ठे उक्तम्)

रायधम्म-राजधर्म-पुं० । दुष्टनरनिग्रहपरिपालनादिरूपे लौकिकधर्मभेदे, दश० १ अ० । आखेटकेन विनोदक्रियायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

रायपध-राजपथ-पुं० । " थो धः शौरसेन्याम् " ॥ ८ । ४ । २६७ ॥ इति थस्य धः । राजपथो । राजपधो । प्रा० । राजगमनयोग्यमार्गे, स्था० ५ ठा० १ उ० । औ० ।

रायपसेणीय-राजप्रश्नीय-न० । राज्ञः—प्रदेशिनाम्नः प्रश्नानि राजप्रश्नानि । तत्प्रतिपादके सूत्रकृताङ्गस्योपाङ्गे, रा० ।

" प्रणमत वीरजिनेश्वर-चरणयुगं परमपाटलच्छायम् ।
अधरीकृतनतवासव-मुकुटस्थितरत्नरुचिचक्रम् ॥ १ ॥
राजप्रश्नीयमहं, विवृणोमि यथाक्रमं गुरुनियोगात् ।
तत्र च शक्तिमशक्तिं, गुरवो जानन्ति मे काश्चित् ॥२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ कस्मादिदमुपाङ्गं राजप्रश्नीयाभिधानमिति?, उच्यते–इह प्रदेशी नाम राजा भगवतः केशिकुमारश्रमणस्य समीपे यान् जीवविषयान् प्रश्नानकार्षीत्, यानि च तस्मै केशिकुमारश्रमणो गणभृत् व्याकरणानि व्याकृतवान्, यच्च व्याकरणसम्यक्परिणतिभावतो बोधिमासाद्य मरणान्तः—शुभानुशययोगतः प्रथमं सौधर्म्मिनाम नाकलोकविमानमाधिपत्येनाध्यतिष्ठत्। यथा च विमानाधिपत्यप्राप्त्यनन्तरं सम्यगवधिज्ञानाभोगतः श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिनं भगवन्तमालोक्य भक्त्यतिशयपरीतचेताः सर्वस्वसामग्रीसमेत इहावतीर्य्य भगवतः पुरतो द्वात्रिंशद्विधेन नाट्यमनरीनृत्यत् नर्त्तित्वाच्च यथायुक्तं दिवि सुखमनुभूय ततश्च्युत्वा यत्र समागत्य यथा मुक्तिपदमवाप्स्यति। तदेतत्सर्वमस्मिन्नुपाङ्गमभिधेयं परं सकालवक्तव्यतामूलम्। राजप्रश्न इति राजप्रश्नेषु भवं राजप्रश्नीयम्, अथ कस्याङ्गस्येदमुपाङ्गम्? उच्यते—सूत्रकृताङ्गस्य। कथं तदुपाङ्गतेति चेत्? सूत्रकृते ह्यङ्गम्, अशीत्यधिकं शतं क्रियावादिनां, चतुरसीतिरक्रियावादिनाम्, सप्तषष्टिरज्ञातकानां, द्वात्रिंशत् वैनयिकानां, सर्वसंख्यया त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि पाषण्डिकशतानि प्रतिक्षिप्य च समयं स्थाप्यते। उक्तं च—नन्द्यध्ययने " सूयगडेणं असीयसइं किरियावाईणं, चउरासी अकिरियावाइणं, सत्तसट्ठी अन्नाणियवाईणं वत्तीसा वेणइयवाईणं। तिण्हं तिसट्ठीणं पासंडियसयाणं वूहं किच्चा ससमये वाविज्जइ त्ति " प्रदेशी च राजा पूर्वमक्रियावादिमतभावितमना आसीत्, अक्रियावादिमतमेव चालम्ब्य जीवविषयान् प्रश्नानकरोत्, केशिकुमारश्रमणश्च गणधारी सूत्रकृताङ्गसूचितमक्रियावादिमतप्रतिक्षेपमुपजीव्य व्याकरणानि व्याकार्षीत्। ततो यान्येव सूत्रकृताङ्गसूचितानि केशिकुमारश्रमणेन व्याकरणानि व्याकृतानि तान्येवाऽत्र सविस्तरमुक्तानीति सूत्रकृताङ्गगतविशेषप्रकटनादिदमुपाङ्गं सूत्रकृताङ्गस्येति। एतद्वक्तव्यता च भगवता वर्द्धमानस्वामिना गौतमाय साक्षादभिहिता। रा०।

रायपिंड–राजपिंड–पुं०। राज्ञश्चक्रवर्त्तिवासुदेवादेः पिण्डो राजपिण्डः। नृपाहारे, स्था० ६ ठा०। दशा०। सेनापतिपुरोहितश्रेष्ठ्यमात्यसार्थवाहलक्षणैः पञ्चभिः सह राज्यं पालयन्मूर्द्धाभिषिक्तो यो राजा; तस्य अशनादिचतुष्कं–वस्त्रं, पात्रं, कम्बलं, रजोहरणं चेत्यष्टविधे पिण्डे, कल्प० १ अधि० १ क्षण। बृ०।

राजपिण्डद्वारमाह—

केरिसगो त्ति व राया, भेदा पिंडस्स के व से दोसा।
केरिसगम्मि व कज्जे, कप्पति काए व जयणाए ॥३०४॥

कीदृशोऽसौ राजा यस्य पिण्डः परिह्रियते इति। के वा तस्य राजपिण्डस्य भेदाः, के वा (से) तस्य ग्रहणे दोषाः। कीदृशे वा कार्ये राजपिण्डो गृहीतुं कल्पते, कया वा यतनया कल्पते। एतानि द्वाराणि चिन्तनीयानि।

तत्र प्रथमद्वारे निर्वचनं तावदाह—

मुइते मुद्धऽभिसित्ते, मुइतो जो होइ जोणिसुद्धो उ।
अभिसित्तो व परेहिं, सयं व भरहो जहा राया ॥३०५॥

राजा चतुर्धा–मुदितो मूर्द्धाभिषिक्तो १, न मुदितो मूर्धाभिषिक्तः २, न मूर्द्धाभिषिक्तो मुदितः ३, न मुदितो न मूर्धाभिषिक्तश्च ४, तत्र मुदितो नाम–योनिशुद्धः शुद्धोभयपक्षसम्भूतो यस्य मातापितरौ राजवंशीयाविति भावः, यः पुनः परेण मुकुटबन्धन राज्ञा प्रजया वा राज्येऽभिषिक्तः, यो वा स्वयमात्मनैवाभिषिक्तो यथा भरतो राजा, एष मूर्द्धाभिषिक्त उच्यते।

एषु विधिमाह—

पढमगभंगे वज्जो, होउ व मा वा वि जे तहिं दोसा।
सेसेसु होति पिंडो, जहि दोसा तहि विवज्जेंति ॥ ३०६ ॥

प्रथमे भङ्गे राजपिण्डो वर्ज्यः–परित्यक्तव्यो, ये तत्र राजपिण्डे गृह्यमाणे दोषास्ते भवन्तु वा मा वा तथाऽपि वर्जनीयः। शेषेषु त्रिषु भङ्गेषु पिण्डो राजपिण्डो न भवति, तथाऽपि येषु दोषा भवन्ति तान् द्वितीयादीनपि भङ्गान् वर्जयन्ति। इयमत्र भावना—यः सेनापतिमन्त्रिपुरोहितश्रेष्ठिसार्थवाहसहितो राज्यं भुङ्क्ते तस्य पिण्डो वर्जनीयः। अन्यत्र तु भजनेति, गतं कीदृशो राजेति द्वारम्।

अथ के तस्य भेदा?, इति द्वारं चिन्तयन्नाह—

असणाईया चउरो, वत्थे पादे य कंबले चेव।
पाउंछणए य तहा, अट्ठविधो रायपिंडो उ ॥ ३०७ ॥

अशनादयः अशन१पान२खादिम३स्वादिम४रूपा ये चत्वारो भेदाः यच्च वस्त्रं ५ पात्रं ६ कम्बलं ७ पादप्रोञ्छनकम् ८ एषोऽष्टविधो राजपिण्डः।

अथ के तस्य दोषाः? इति द्वारमाह—

अट्ठविहरायपिंडे, अन्नतरं यं तु जो पडिग्गाहो।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ३०८ ॥

अष्टविधे राजपिण्डे अन्यतरदशनादिकं यः प्रतिगृह्णाति स साधुराज्ञाभङ्गमनवस्थां मिथ्यात्वं विराधनां च प्राप्नुयात्। एते चापरे दोषाः।

ईसरतलवरमाडं–विएहि सिट्ठीहिँ सत्थवाहेहिं।
णिंतेहिँ अतिंतेहि य, वाघातो होति भिक्खुस्स ॥३०९

ईश्वरतलवरमाडम्बिकैः श्रेष्ठिसार्थवाहैश्च निर्गच्छद्भिः अतियद्भिः प्रविशद्भिर्भिक्षार्थं प्रविष्टस्य व्याघातो भवति।

एतदेव व्याचष्टे—

ईसर भोइयमाई–तलवरपट्टेण तलवरो होति।
वेट्ठणबद्धो सेट्ठी, पच्चंतऽहिवो उ माडंवी ॥ ३१० ॥

ईश्वरो–भोगिकादिग्रामस्वामिप्रभृतिक उच्यते, यस्तु परितुष्टनृपतिप्रदत्तेन सौवर्णेन तलवरपट्टेनाङ्कितशिराः स तलवरो भवति। श्रीदेवताध्यासितपट्टो वेष्टनकमुच्यते, तद्यस्य राजानुज्ञातं स वेष्टनकबद्धः श्रेष्ठी, यस्तु प्रत्यन्ताधिपच्छिन्नमडम्बनायकः स माडम्बिकः, सार्थवाहः प्रतीत इति कृत्वा न व्याख्यातः।

जा णिंति इंतिता अ–च्छओ य सुत्तादिभिक्खहाणी य।
इरिया अमंगलं ति य, पेल्लाहणणा इयरहा वा ॥ ३११ ॥

एते ईश्वरादयो यावन्निर्गच्छन्ति प्रविशन्ति च तावदसौ साधुः प्रतीक्षमाण आस्ते। तत एवमासीनस्य सूत्रार्थयोर्भिक्षस्य च परिहाणिर्भवति, अश्वहस्त्यादिसम्मर्देन चर्यां शोधयितुं न शक्नोति। अथ शोधयति ततस्तैरभिघातो भवति। कोऽपि निर्गच्छन् प्रविशन् वा तं साधुं विलोक्यामङ्गलमिति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्यमानस्तेनैवाश्वहस्त्यादिना प्रेरणं कशादिना वा आहननं कुर्यात् 'इतरहा व त्ति' यद्यपि कोऽप्यमङ्गलं न मन्यते तथाऽपि जनसंमर्दे प्रेरणामाहननं वा यथाभावेन भवेत्।

किंच—

लोभे एसणघाते, संका तेणे नपुंस-इत्थी वा।
इच्छंतमणिच्छंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥ ३१२ ॥

राजभवनप्रविष्टो लोभे उत्कृष्टद्रव्यलोभवशत एषणाघातं कुर्यात्, स्तेनोऽयमित्यादिका वा शङ्का राजपुरुषाणां भवेत्, नपुंसकाः स्त्रियो वा तत्र निरुद्धेन्द्रियाः साधुमुपसर्गयेयुस्तत्रेच्छतोऽनिच्छतश्च संयमविराधनादयो बहवो दोषाः। राजभवनं च प्रविशतः शुद्धः, शुद्धेनाऽपि चत्वारो मासा गुरुकाः प्रायश्चित्तम्।

एनामेव गाथां व्याख्यानयति—

अन्नत्थ एरिसं दु-ल्लभं ति गेण्हेज्जऽणेसणिज्जं पि।
अन्नेणावि अवहिते, संकिज्जति एस तेणो त्ति॥३१३॥

अन्तःपुरिकाभिरुत्कृष्टं द्रव्यं दीयमानं दृष्ट्वा नास्त्यन्यत्रेदृशं दुर्लभं चेति लोभवशतोऽनेषणीयमपि गृह्णीयात्। राज्ञश्च प्रकीर्णे सुवर्णादौ द्रव्ये अन्येनाऽप्यपहृते स एव साधुः शङ्क्यते एष स्तेन इति।

संका चारिग चोरे, मूलं निस्संकियम्मि अणवट्ठो।
परदारियऽभिमरे वा, णवमं णिस्संकिए दसमं॥३१४॥

चारिकोऽयं चौरो वा अयं भविष्यतीति शङ्कायां मूलम्; निःशङ्किते अनवस्थाप्यम्, पारदारिकशङ्कायामभिमरशङ्कायां च नवमम्-अनवस्थाप्यम्, निःशङ्किते दशमम्-पाराञ्चिकम्।

अलभंता परियारं, इत्थिनपुंसा बला वि गेण्हेज्जा।
आयरिय-कुलगणे वा, संघे व करेज्ज पत्थारं॥३१५॥

तत्र प्रविचारं बहिर्निर्गममलभमानाः स्त्रीनपुंसका बलादपि साधुं गृह्णीयुः, तान् यदि प्रतिसेवते तदा चारित्रविराधना, अथ न प्रविसेवते तदा ते उड्डाहं कुर्युः। ततः प्रतापनादयो दोषाः। अथवा-राजा रुष्ट आचार्यस्य कुलस्य गणस्य वा सङ्घस्य वा प्रस्तारम्-विनाशं कुर्यात्।

अन्ने वि होंति दोसा, आइन्ने गुम्मरतणमादीया।
तन्निस्साएँ पवेसो, तिरिक्खमणुया भवे दुट्ठा॥३१६॥

अन्येऽपि तत्र प्रविष्टस्य दोषा भवन्ति। तद्यथा—रत्नादिभिराकीर्णे 'गुम्म' त्ति गौल्मिकास्तत्स्थानपालास्ते अतिभूमिं प्रविष्ट इति कृत्वा तं साधुं गृह्णन्ति, प्रतापयन्ति वा, एवमादयो दोषाः। अथवा-तन्निश्रया तस्य साधोः यथा रत्नादिमोषणार्थं स्तेनकाः प्रवेशं कुर्युः, तिर्यञ्चो-वानरादयो मनुजाश्च-म्लेच्छादयो दुष्टास्तत्र राजभवने भवेयुस्ते साधोरुपद्रवं कुर्वीरन्।

एनामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्याति—

आइन्ने रयणादी, गेण्हेज्ज सयं परो व तन्नीसा।
गोम्मियगहणाहणणं, रन्नो य णिवेदयंते तो॥३१७॥

रत्नादिभिराकीर्णे स प्रविष्टः स्वयमेव तत्र रत्नादिकं गृह्णीयात्, परो वा तन्निश्रया गृह्णीयात्, गौल्मिकाश्च ग्रहणमाहननं वा कुर्युः, राज्ञो वा ते तं साधुं निवेदयन्त्युपढौकयन्ति, ततो निवेदिते सति तत्प्रतापनादिकमसौ करिष्यति।

तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमाह।

चारियचोराभिमरा, कामी पविसंति तत्थ तन्नीसा।
वाणरतरच्छुवग्घा, मेच्छादिणरा व घातेज्ज ॥ ३१८ ॥

चारिकाश्चौरा अभिमरा कामिनो वा तत्र तस्य साधोर्निश्रया प्रविशेयुः, तथा वानरतरक्षुव्याघ्रा म्लेच्छादयो वा-नराः तत्र साधुं घातयेयुः।

अथ कीदृशे कार्ये कल्पते कया वा यतनया इति द्वारद्वयमाह–

दुविहे गेलन्नम्मि, णिमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे।
ओमोयरियपदोसे, भए य गहणं अणुन्नायं ॥ ३१९ ॥
तिक्खुत्तो सक्खत्ते, चउद्दिसिं जो गणंसि कडजोगी।
दव्वस्स य दुल्लभया, जयणाए कप्पई ताहे ॥ ३२० ॥

गाथाद्वयं शय्यातरपिण्डं च द्रष्टव्यम्। नवरमागाढे ग्लानत्वे क्षिप्रमेव राजपिण्डं गृह्णाति, अनागाढे तु त्रिःकृत्वो मार्गयित्वा यदा न लभ्यते तदा पञ्चकपरिहाण्या चतुर्गुरुप्राप्तो गृह्णाति। निमन्त्रणे-राज्ञा निर्बन्धेन निमन्त्रितो भणति यदि भूयो भणसि ततो गृह्णीमो वयं नान्यथा, अवमे अशिवे वाऽन्यत्रालभ्यमाने राजकुलं वा नाशिवेन गृहीतं ततस्तत्र गृह्णाति। राजद्विष्टे तु अपरस्मिन् राज्ञि कुमारे वा प्रद्विष्टे बोधिकम्लेच्छभये वा राज्ञो गृहान्निर्गच्छन् गृह्णीयात्। वृ० ६ उ०। दश०।

राजान्तःपुरं प्रविश्य गृहाणेति परं वदति, तत्र सूत्रम्–

जे भिक्खू रायंतेपुरं वि वएज्जा आउसो रायंतपुरिए नो खलु अम्हं कप्पइ रायंतेपुरं णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, अम्हे तुम्हं पडिग्गहं गहाय रायंतेपुराउ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दलयामो जो तं ते एवं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

गाहा—

जे भिक्खू वएज्जाहि, अंतेउरियं ण कप्पते मज्झं।
अंतेउरमतिगंतुं, आहारपिंडं इहाऽऽणाहि ॥ २६ ॥

नीहारय-निष्काम्य गृहीत्वा वा आह स मम ददातीत्यर्थः, इहैव वाहिं ठियस्स मम आहारादि आनय।

इमे दोसा गाहा–

गमणादि अपडिलेहा, दंडिय कोवे हिरन्न संचिते।
अभियोग्गविसे हरणं, भिंदे विरोधे य लेवकडे ॥२७॥

गच्छांत आगच्छति य छक्कायं विराहेज्ज अपडिलेहिए य गमागमे भिक्खा ण कप्पति, अपडिलेहिए वा भायणे गेण्हेज्ज, दंडिओ वा दट्ठुं पदुसेज्ज वा संकेज्ज वा अणायारं हिरण्णादि वा किंचि तेणियं पच्छातीया तत्थ छुभेज्ज पलंबादि वा संचिते-छुभेज्ज, ओरालियसरीरस्स वा वसीकरणं देज्ज। अप्पणा पदुट्ठा अन्नेण वा पउत्ता विसं देज्ज। भायणं वा हरेज्ज अजाणंती वा भायणं भिंदेज्ज, खीरं विहवाविरोहिदव्वे एकतो गेण्हेज्ज, पोग्गलादि वा संजमविरुद्धं गेण्हेज्ज लेवाडेज्ज वा।

गाहा—

लोभे एसणघाते, संका तेणे चरित्तभेदे य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इच्छंतमणिच्छंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥ २८ ॥

उक्कोसलोभेण एसणघातं करेज्ज, णूणं स उज्झामगो, संकिते-ह्न, णिस्संकिते मूलं, तेणट्ठं वा संकेज्ज किंपि हरिउं एयस्स परिणामओ य आयपरोभयसमुत्थेहिं दोसेहिं चरित्तभेदो अगारीए य बलागहिए इच्छंते चरित्तभेदो, उड्डाहभया अणिच्छंते—ह्न ।

गाहा—

दुविधे गेलसम्मि, णिमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोयरियपदोसे, भए य सा कप्पते भणितुं ॥ २९ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० ९ उ० । पञ्चा० । पं० भा० । पं० चू० । राज्ञां पिण्डं कीदृशमपि कथमपि न गृह्णीयात् ।

साम्प्रतमजुगुप्सितेष्वपि केषुचिद्दोषदर्शनात्प्रवेशप्रतिषेधं दर्शयितुमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा । तं जहा-खत्तियाण वा राईण वा कुराईण वा रायपेसियाण वा रायवंसट्ठियाण वा अंतो वा बाहिं वा गच्छंताण वा संनिविट्ठाण वा निमंतेमाणाण वा अनिमंतेमाणाण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा लाभे संते नो पडिगाहिज्जा । (सू० २१)

स भिक्षुर्यानि पुनरेवम्भूतानि कुलानि जानीयात्, तद्यथा-क्षत्रियाः-चक्रवर्त्तिवासुदेवबलदेवप्रभृतयस्तेषां कुलानि, राजानः-क्षत्रियेभ्योऽन्ये, कुराजानः-प्रत्यन्तराजानः, राजप्रेष्याः-दण्डपाशिकप्रभृतयः, राजवंशे स्थिता-राज्ञो मातुलभागिनेयादयः, एतेषां कुलेषु संपातभयान्न प्रवेष्टव्यम्, तेषां च गृहान्तर्बहिर्वा स्थितानां गच्छतां-पथि वहतां सन्निविष्टानाम्—आवासितानां निमन्त्रयतामनिमन्त्रयतां वाऽशनादि सति लाभे न गृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० ।

अथ राजपिण्डं गृह्णाति तत्र सूत्रम्—

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं पिंडं मुत्तेहिंसु वा समवाए ०जाव सहेसु वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

खत्तिय इति-जातिग्गहणं, मुदितो-जातिग्गहणं, मुदितो जातिशुद्धो पिउमादिएण अभिसित्तो-मुद्धाभिसित्तो, समवायो—गणभत्तं पिंडणिगरो-दाइयभत्तं पितिपिंडपदाणं वा पिंडणिगरो, इंदमहो खंदकुमारो भागिणेयो रुद्रः मुकुंदो बलदेवो चेति । तं देवकुलं कहिं चि रुक्खस्स जत्ता कीरई, गिरिपव्वयजत्ता णागदरिगादिऽधो उच्चायविलं वा सेसा पसिद्धा । एतेसिं एगतरमहे जत्थ रण्णो अंसियापत्ते गंधारएण भत्ते जो गेण्हइ-ह्न ।

गाहा—

समवायादी तु पदा, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसिं असणादीणं, गेण्हंताणादिणो दोसा ॥ १३७ ॥
गणभत्तं समवाओ, तत्थ ण कप्पं जहिं णिवस्संसो ।
पितिकाले वि णिवेदण,वणीमगापिंडणिगरसामण्णे।१३८।

पितृपिण्डप्रदानकालो मघा, श्राद्धेषु भवति ।

गाहा-

इंदमहादीएसुव-हार णिवस्संसजणवतपुरे वा ।
तति मिस्सितो ण कप्पति, भद्दगपंतादिदोसेहिं॥१३९॥

इन्दादीण वा महेसु जे उवहारा णिज्जंति बलिमादिया जणेण पुरेण वा ते जइ णिवपिंडविमिस्सा तो ण संकप्पंति भद्दपंतादिया य दोसा ।

गाहा-

रण्णो पत्तो अत्थवि, होज्जा अहव विमिस्सिता ते उ ।
गहणाऽगहणेगस्स तु, दोसा उ इमे पसज्जंति॥ १४० ॥

अण्णस्स संतियं गेण्हंति, रण्णो संतियस्स अग्गहणं-अहरणं अण्णस्स व संतियस्स गहणे अग्गहणे वि दोसा । गहणे दुविधा भद्दपंतदोसा ।

गाहा-

भद्दंतो तणीसा, पंतो घेप्पंते दट्ठूण भणति ।
अंतोघरे ण इच्छध, इह गहणं दुट्ठधम्म त्ति ॥ १४१ ॥

भद्दंतो चिंतेति-एण्णं उचाएण गेण्हंति, ताहे अभिक्खणं समवायादिसंखडीं तो करेति, लोगेण वा समं पत्तेगं वा पत्ता तत्थ समवादियासु घेप्पंते दट्ठूण भणति-अंतो मम घरे ण इच्छह इह मम संतियं जणवयभत्तेण सह गेण्हह, अहो दुट्ठधम्मो । ततो सो रुट्ठो ।

गाहा-

भत्तोवधिवोच्छेदं, णिव्विसयचरित्तजीवभेदं वा ।
गमणेण पदोसे उ, कुज्जा पत्थारमादीणि ॥ १४२ ॥

तेसु भत्तादिवोच्छेदं करेज्ज, मा एतेसिं को वि उवगरणं देज्ज, णिव्विसए वा करेज्ज, चरित्ताओ वा भंसेज्ज, जीवियाओ वा ववरोवेज्ज, एगस्स वा पदुसेज्ज अणेगाण वा, कुलगणसंघे वा पत्थारं करेज्ज ।

इमे अगेण्हणे दोसा ।

गाहा-

तेसु अगिण्हंतेसुं, तीसे परिसाएँ एवमुप्पज्जे ।
को जाणति किं एते, साधू घेत्तुं ण इच्छंति ॥१५३॥

साधूहिं अगेण्हंतेहिं तीसे गाट्ठिपरिसाए एवं चित्तमुप्पज्जति, को पुण कारणं जाणेज्ज किमिति कस्माद्धेतोरित्यर्थः ।

गाहा-

इतरेसिं गहणम्मी, णिवचोल्लगवज्जणे हु जणसंका ।
जाती दोसंसे ते, जाणंताऽऽगंतुओ सो य ॥१४४॥

इयरे गोट्ठियजणा तेसिं चोल्लगस्स गहणे णिवचोल्लगस्स वज्जणे जणस्स आसंका भवति । एते साधूणिसेहिएण जाति त्ति जाणंति, दोसंसो य । तत्थ आगंतुको करकण्डुवत् जणेण धूसियं, रण्णा उवालद्धं, ताहे पदुट्ठो भत्तोवहिवोच्छेदादिए दोसा करेज्जा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा—

अम्हाण तत्थ गमणं, समवायादीसु जत्थ रण्णो तु ।
पत्तेगं वा भत्तं, अण्णेगे वा ण गिण्हेज्जा ॥ १४५ ॥
रण्णो दुवारमादी, भुत्ताऽभुत्ता उ जत्तिया सुत्ते ।
गहणागहणे तत्थ य, दोसा उ इमे पसज्जंति ॥ १४६ ॥
दोवारिय पुव्वुत्ता, पलंवगादीसु हयगयादी य ।
मे य घरे न य इच्छइ, इह गहणं दुट्ठधम्म त्ति ॥ १४७ ॥
भिन्नोवहिवोच्छेयं, णिव्विसयचरित्तजीवभेदं वा ।
गमणे एगपदोसे, कुज्जा पत्थारमादीणि ॥ १४८ ॥
तेसु अगिण्हंतेसुं, तीसे परिसाएँ एवमुप्पज्जे ।
को जाणति किं एते, साहू घेत्तुं ण इच्छंति ॥ १४९ ॥
आगाढे गेलण्णे, णिमंतणा दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोयरिएँ पदोसे, भए य गहणं अणुण्णायं ॥१५०॥
छद्दोसायतणे पुण, रण्णो अविजाणितूण जे भिक्खू ।
चउराय-पंचरायं, परेण पविसाणमादीणि ॥ १५१ ॥
कोट्ठागारा य तहा, भंडागारा य पाणगारा य ।
खीरघरगंजसाला, महाणसाणं व जा यतणा ॥ १५२ ॥
गहणाईया दोसा, आययणं संभवो त्ति वेगट्ठा ।
दिट्ठेतरे पुच्छिगवे-सणगंजसालाउ कुट्टणिया ॥१५३॥
पढमे बितिए ततिए, चउत्थमासादि चउगुरू अंतो ।
उग्घातो पढमदिणे, बितिया एगेसि ते चेव ॥ १५४ ॥
अहवा पढमे दिवसे, भिण्णमासादि पंचमे गुरुगा ।
वीसादि व एगेसिं, परेण पंचण्ह दिवसाणं ॥ १५५ ॥
भद्देसु रायपिंडं, आवज्जति गहणमादि पिंडेसु ।
असिवे ओमोयरिए, गेलण्णए य वितियपयं ॥१५६॥

गोट्ठियसमवायभत्तेसु वा पत्तेयं भद्दकुलजणसम्मिस्सं वा रण्णो णो गेण्हेज्जा "बितियपदगाहा" आगाढे गेलण्णे अण्णतो न लब्भति ताहे घेप्पति,अभिक्खणं णिमंतमाणस्स घेत्तुं पसंगं वारेति। जं वा से णत्थि तं मग्गंति दुल्लभं दव्वं तमण्णतो नत्थि, असिवगहिया अण्णे गिहिणो ओमे रण्णो गेहे लब्भंति,अण्णो अधिकतरो राया पदुट्ठो अण्णतो वोहिगादिभयं एवमादिएहिं कारणेहिं गहणं अणुण्णायं।

राजपिण्डम् उत्तरशालादिषु—

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुद्दि(दि)याणं मुद्धाभिसित्ताणं उत्तरसालंसि वा उत्तरगिहंसि वा रायाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

अत्थातिगादिमंडवो उत्तरसाला हयगयाण साला उत्तरसाला, मूलगिहमसंबद्धं उत्तरगिहं।

गाहा—

उत्तरसाला उत्तर-गिहा य रण्णो हवंति दुविधाओ ।
गहणाऽगहणे तत्थ उ, दोसा ते तं च वितियपदं ।१५७।

कंठा ।

गाहा—

सालत्ति णवरि णामं, उज्जाणपथे व सव्वहिं वज्जो ।
सालाणं पुण गहणं, हयादिहितणट्ठमासंका ॥१५८॥

णिवमेत्तं णाम उदाहरणमात्रं हयादिहिते णट्ठे वा संका भवति,कल्लं एत्थ संजया आगया, तेहिं हिंडंतेहिं हिंडेत्तु अण्णेसिं कहियं, तेहिं हडं, हरित्तुं वा अण्णेसिं कहियं, तेहिं हडं। उत्तरसालागिहाण इमं वक्खाणं।

गाहा—

मूलगिहमसंबद्धा, गिहा य साला य उत्तरा होंति ।
जत्थ व ण वसति राया,पच्छा कीरंति जावऽण्णे ।१५९।

जत्थ वा कीडापुव्वं गच्छंति, ण वसंति; ते उत्तरसाला गिहा वत्तव्वा। जे वा पच्छा कीरंति ते उत्तरसाला गिहा, एतेसु ठाणेसु मीसं अमीसं वा जो गेण्हति तस्स ते चेव दोसा, तं चेव पच्छित्तं, तं चेव वितियपदं।

सूत्रम्—

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं हयसालगयाणं वा गयसालगयाणं वा मंतसालगयाणं वा गुज्झसालगयाणं वा रहसालगयाणं वा मेहुणसालगयाणं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

हयगयसाला उ हयगयाण उ वा जत्थ पिंडमाणीय देंति तत्थ रायपिंडो अंतरा पदोसो य सेससालासु पट्ठा भत्ता, अहवा छुत्ताऽभिहियसालासु ठितादीण अणाहादियाण भत्तं पयच्छंति जो गेण्हति-ह्व।

गाहा—

हयमादी साला खलु, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
गहणाऽगहणे तत्थ उ,दोसा ते तं च वितियपदं ॥ १६० ॥

रण्णो रायपिंडो त्ति ण गेण्हति, अण्णेसिं गेण्हति। कहं पुण अण्णेसिं गेण्हति.जे ईसरादिया दंसणपिंडगे आणंति अण्णेसिं तस्स गहणसंभवो भवति।

सूत्रम्—

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं सण्णिहिसंचयाउ खीरं वा दहिं वा णवणीयं वा सप्पिं वा तेल्लं वा गुलं वा खंडं वा सक्करं वा मच्छंडियं वा अण्णयरं वा भोयणजायं पडिगाहेइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

जे भिक्खू०जाव सण्णिहिसंचयाउ सण्णिही नाम-दधिखीराऽऽदिआ जं विणासिदव्वं, जं पुण घयतेल्लवत्थपत्तगुलखंडसक्कराइअं अविणासिदव्वं विरमति, अच्छइ न विणस्सइ सो सरओ विडंकलवणं सामुद्दकादि उब्भिज्जं।

गाहा—

सण्णिधिऽसण्णिहिघातो, खीरादी वत्थपत्तमादी वा ।
गहणाऽगहणे तत्थ तु, दोसा ते तं च वितियपदं ।१६१।
ओदणगोरसमादी, विणासिदव्वा उ सण्णिधा होंति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सक्कुसितघतगुला, अविणासी संचइयदव्वा ॥ १६२ ॥
सक्कुलिः पर्पटिः।

सूत्रम्—

जे भिक्खू रएणो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं ओसट्ठपिंडं वा संसट्ठपिंडं वा अणाहपिंडं वा किविणपिंडं वा वणीमगपिंडं वा पडिगाहेइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

गाहा—

ओसट्ठे उज्झितध—म्मि ए उ संसत्ते सावसेसे उ।
वणिमग जातणपिंडे, अणाहपिंडे अबंधूणं ॥ १६३ ॥

ओसट्ठे-उज्झियधम्मिए, संसत्तपिंडो-भुत्तावसेसे वणीमगपिंडो णाम जो जायणवित्तिणो दाणादिफलं लवित्ता लंभंति, तेसिं जं कडं तं वणीमगपिंडो भरणति। अणाहा-अबंधवा, तेसिं जो कओ पिंडो। एतेसिं जो गेरहति-ह्न।

गाहा—

एतेसामण्णतरं, जे पिंडं रायसंतियं गिरहे।
ते चेव तत्थ दोसा, तं चेव य तत्थ वितियपदं ॥१६४॥

नि० चू० ८ उ०।

राजपिराडं गृह्णाति गृह्णन्तं वा स्वदते। तत्र सूत्रम्-

जे भिक्खू रायपिंडं गिरहइ गिरहंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥
जे भिक्खू रायपिंडं परिभुंजइ परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥२॥

इमो संबंधो।

गाहा—

पत्थिवपिंडऽधिकारे, अयमवि तस्सेव एस णवमस्स।
सो कतिविधो त्ति पिंडो, केरिसरणो विवज्जो उ ॥१॥

अट्ठमुद्देसगस्स अंतिमसुत्ते पत्थिवपिंडविचारो इहावि णवमस्स आदिसुत्ते सो चेवाधिकतो, एस संबंधो। सो कतिविहो पिंडो केरिसस्स वा रएणो वज्जेयव्वो ?।

गाहा—

जो मुद्धा अभिसित्तो, पंचहिं सहितो य भुंजए रज्जं।
तस्स य पिंडो वज्जो, तव्विवरीतम्मि भयणा तु ॥२॥

मुद्धं परं प्रधानम्—आद्यमित्यर्थः "तस्सादिराइणा अभिसित्तो मुद्धो मुद्धाभिसित्तो, सेणावइअमच्चपुरोहियसेट्ठिसत्थवाहसहिओ रज्जं भुंजति ; एयस्स पिंडो वज्जणिज्जो सा भयणा—जति अत्थि दोसो तो वज्जो, अह णत्थि दोसो तो ण वज्जो। नि० चू०।

यावत्प्राघूर्णकभक्तं गृह्णाति, तत्र सूत्रम्-

जे भिक्खू रएणो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं दुवारियभत्तं वा वसुभत्तं वा भयगभत्तं वा बलभत्तं वा कयगभत्तं वा गयभत्तं वा कंतारभत्तं वा दुभिक्खभत्तं वा दुमगभत्तं वा दमगभत्तं वा गिलाणभत्तं वा वदिलियाभत्तं वा पाहुणभत्तं वा पडिगाहेति पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

राज्ञः कोशागारादिषु प्रविशति—

जे भिक्खू रन्नो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं अहिसियाणं इमाइं छद्दोसाइं आयतणयं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय परं चउपंचरत्ताओ गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा निक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ, तं जहा-कोट्ठागारसालाणि वा १ भंडागारसालाणि वा २ पाणसालाणि वा ३ खीरसालाणि वा ४ गंजसालाणि वा ५ महाणससालाणि वा ६ ॥७॥

इमेति-प्रत्यक्षीभावे, षडिति संख्या दोसाणं, आययणं-ठाणं अजाणियं-अविज्ञाय भिक्षायाः प्रविशति, चतुरात्रात्परतः आदेशेन वा पञ्चरात्रात्परतः द्वादशपरिक्खेवातो अतो पविसति, अतो वा बाहिरियं णिग्गच्छति, धएणागारं—कोट्ठागारो भंडागारो-हिरएणसुवरणभायणं, जत्थ उदगादिपाणं सा पाणसाला भरणति, खीरघरं—खीरसाला, जत्थ धएणं उब्भिज्जति सा गंजसाला, उवक्खडणसाला—महाणसो, पुव्वदिट्ठे पुच्छा अपुव्वे गवेसणा अपुच्छंतस्स-ह्न (अत्र पूर्वोक्तबृहत्कल्पव्याख्यानुगतार्थत्वाच्चूर्णिर्न गृहीता) (चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया यत् कर्तव्यं तत् 'चक्खुदंसणपडिया' शब्दे तृतीयभागे ११०७ पृष्ठे गतम्)

सूत्रम्—

जे भिक्खू रएणो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं मंसखायाणं वा मच्छखायाणं वा छविखायाणं वा बहिया णिग्गयाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

मिगादिपारद्धिणिग्गता मंसखाया, दहणइसमुद्देसु मच्छखागा छवी कलमादि संगता खागा, तिणिण गया उज्जाणियाए वाणियकुयाणं।

गाहा—

मंसछविभुक्खणट्ठा, सव्वे उदु णिग्गमा समवखाया।
गहणाऽगहणे तत्थ उ,दोसा ते तं च वितियपदं ॥५६॥

तेसु छसु उउसु राओ पुण णिग्गताण तत्थेव असणपाणखाइमसातिमं उवकरेंति। तडियकप्पडियाण वा तत्थ भत्तपंतादयो दोसा, गहणे पूर्ववत्।

अरणेसिं गहणे रएणो अग्गहणे इमं वक्खाणं—

मंसक्खाया पार—द्धिणिग्गया मच्छणदिदहसमुद्दे।
छविकलमादी संगा,जे य फला जम्मि तु उडुम्मि ॥५७॥

तत्थगया पगते कारवेंति।

मांसाशिराजानां पिराडं गृह्णाति। तत्र सूत्रम्—

जे भिक्खू रन्नो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं अण्णयरं उववूहणियं समीहियं पेहाए ताए परिसाए अणुट्ठियाए अभिण्णाए अवोच्छिण्णाए जे तं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

क्षतात्त्रायन्तीति क्षत्रियाः, अरणतरग्रहणेन भेददर्शनं, शरीरम् उपबृंहयतीति उपबृंहणीया समीहिता समीपमाती तं पुण पाहुडं पेहा-प्रेक्ष्य उपबृंहणीयति।

अप्पपदस्य व्याख्या। गाहा—

मेहाधारणइंदिय, देहाऊ विवड्ढए जम्हा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तम्हा उववूहणिया,चउव्विहा सा उ असणादी ॥५८।

शीघ्रं ग्रन्थग्रहणं मेधा, गृहीतस्य अविस्मरणे निर्वृत्तिर्धारणा , सोतिंदियमादियाणं सविसए पावजणणं देहस्सोवचत्र्यो. आउसंवड्ढणं, जम्हा एते एव उववूहणियाए। सा य चउव्विहा असणादि ।

' ताए परिसाए अणुट्ठिताए ' अस्य व्याख्या। गाहा—

आसणमुक्का उट्ठिय, भिक्षा उ व णिग्गया ततो के वि ।
वोच्छिण्णा सव्वे णि–ग्गया तु पडिपक्खसुत्तं वा ॥५६॥

जेमंतस्स रण्णो उववूहणियापट्टओ त्ति वुत्तं भवति, तं जो ताए परिसाए अणुट्ठिताए गेण्हति तस्स–ड्ड । रायपिंडो चेव सो, असणाणि मोत्तुं उट्ठिया अच्छंति, ततो के वि णिग्गता भिण्णा अन्नसु णिग्गतेसु वोच्छिण्णा,परिसे ण रायपिंडो पडिपक्खे सुत्तं अणुट्ठिताए अभिण्णाए अवोच्छिण्णायेत्यर्थः ।

गाहा-

रण्णो उववूहणिया, समीहितोवक्खडा य दुविहाओ ।
गहणाऽगहणमछिन्ने, दोसा ते तं च वितियपदं ।६०।

उवक्खडा य—खीरदहिमादी , अणुवक्खडा—सव्वेसु उवविट्ठेसु छिण्णा परिस्समाणी अच्छिण्णा सा उवज्झहणिया तीसे परिण्णाए अणुवट्ठिताए दिण्णाए अवोछिन्नाए वा उववूहणियाए घेप्पमाणीए;ते चेव भद्दपंता दोसा,तं चेव वितियपदं। नि० चू० ६ उ०। (" जे भिक्खू अह० " (१२) इत्यादि-सूत्रम् ' वसहि ' शब्दे वक्ष्यते)

राज्ञां यात्रासंस्थितानामशनादि गृह्णाति। तत्र सूत्रम्—

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं बहिया जत्तासंठियाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं बहिया जत्तापडिणियत्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

जाहे परविजयट्ठाय गच्छति ताहे मंगलं संतिणिमित्तं दीणादीणं भोयणं काउं गच्छति , पडिणियत्ता वि विजए संखडिं करेति।

गाहा-

जत्तुग्गतरादीणं, अहवा जत्तातो॑ पडिणियत्ताणं ।
गहणाऽगहणे तत्थ उ, दोसा ते तं च वितियपदं॥६७॥

गहणाऽगहणे भद्दपंतदोसा रण्णो ण गेण्हंत अण्णेहिं वा अत्तट्ठियं गेण्हंति, ते चेव दोसा तं चेव वितियपदं।

गाहा—

मंगलममंगलत्था, नियत्तमणियत्तणे य अहिकरणं ।
जावंति गमादीया, एमेव य पडिणियत्ते वि ॥ ६८ ॥

जत्ताभिमुहस्स णिवस्स वा, मंगलबुद्धीए वा अमंगलबुद्धीए वा गच्छति पविसति वा, अमंगलबुद्धीए ण गच्छति ण वा गिहं पविसति दुहा अधिकरणं जावंति य गमादीए वा दोसेण दट्ठुं भत्तं गेण्हेज्जा।

सूत्रम्-

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं णदीजत्तासंपट्ठियाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं णदीजत्तापडिणियत्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा खाइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥१६॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं गिरिजत्तासंपट्ठियाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं गिरिजत्तापडिणियत्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

ततो पडिणियत्ताए वेत्यादि। गिरिजत्तापट्ठियाणं गहणागहणे तत्थ उ ते चेव दोसा तं च वितियपद ।

गाहा—

गिरिजत्तागयगहणे, तत्थ उ संपट्ठियानियत्ताणं ।
गहणाऽगहणे तत्थ उ, दोसा ते तं च वितियपदं ॥६६॥

नि० चू० ६ उ०।

सूत्रम्-

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ, तं जहा खत्तियाणं वा १, रायाणं वा २, कुराईणं वा ३, रायंसस्सियाणं वा ४, रायपेसियाणं वा ५, ॥ २१ ॥

क्षतात् त्रायन्तीति क्षत्रिया आरक्षकेत्यर्थः, अभिसित्तो–राया, कुच्छितो राया–कुराई,अहवा–पच्चंतणिवो कुरायी जे एतेसिं चेव प्रेष्येति पेसिता,एतेसिं णीयं णिसट्ठं दत्तमित्यर्थः।

गाहा—

खत्तियमादी ठाणा, जत्तियमेत्ता उ आहित्ता सुत्ते ।
तेसु य णीहडगहणे, दोसा ते तं च वितियपदं ॥ ६८ ॥

सूत्रम्—

जे भिक्खू रन्नो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स नीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ १। तं जहा–नडाण वा नट्टयाण वा २, कल्लयाण वा ३, जल्लाण वा ४, मल्लाण वा ५, मुट्ठियाण वा ६, वेलंबगाण वा ७, कहगाण वा ८, पवगाण वा ६, लासगाण वा १०, खेलाण वा ११, छत्ताण वा १२, ॥ २२ ॥

णाडगादि णाडयंता नडा णट्टा आकल्ला राज्ञः–स्तोत्रपाठकाः अगाहजलपविट्ठा जल्ला मल्लगणपविट्ठा मल्ला मुट्ठिया जुज्झणम्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञा वेलंवकारगा वेलं वा अइकातिगा, कहकारगा-कहगा, णदीसमुद्दादिसुं जे तरंति ते पवगा जयसद्दपयोत्तारो लासगा; भंडा इत्यर्थः।

गाहा-

णडमादी ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ आहिता सुत्ते।
तेसु य णीहडगहणे, दोसा ते तं च वितियपदं॥६६॥

सूत्रम्—

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुद्दियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स नीहडइ पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ, तं जहा-आसपोसयाण वा १, हत्थिपोसयाणं वा २, महिसपोसयाणं वा३, वसभपोसयाण वा ४, सीहपोसयाण वा ५, वग्घपोसयाण वा ६, मिंठगपोसयाण वा ७, सुणहपोसयाण वा ८, सूयरपोसयाण वा ६, मिगपोसयाण वा १०, कुक्कुडपोसयाण वा ११, तित्तरपोसयाण वा १२, वट्टयपोसयाण वा १३, लावगपोसयाण वा १४, चासगपोसयाण वा १५ हंसपोसयाण वा १६, मयूरपोसयाण वा १७, सुयपोसयाण वा १८, सग्गाणपोसयाण वा १६, ॥ २३॥

वृहत्तररक्तपादा वट्टा अल्पतरा लावगा।

गाहा-

अब्भंगाई ठाणा, जत्तियमेत्ता तु आहिया सुत्ते।
तेसुं णीहडगहणे, दोसा ते तं च वितियपदं॥१०१॥
पोसगमाई ठाणा, जत्तियमेत्ता तु आहिया सुत्ते।
तेसुं णीहडगहणे, दोसा ते तं च वितियपदं॥१०२॥

सूत्रम्—

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुद्दियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स नीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ, तं जहा-आसदमगाण वा १,हत्थिदमगाण वा२,आसमदाण वा ३, हत्थिमदाण वा ४॥ २४॥ जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुद्दियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स नीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ, तं जहा-आसमेंठाण वा हत्थिमेंठाण वा॥ २५॥ जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुद्दियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स नीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ, तं जहा-आसरोहाण वा हत्थिरोहाण वा॥ २६॥

गाहा-

दमगादीया ठाणा, जत्तियमेत्ता तु आहिया सुत्ते।
तेसुं नीहडगहणे, दोसा ते तं च वितियपदं॥१०३॥

इमं सुत्तवक्खाणं।

गाहा-

आसाण य हत्थीण य, दमगा जे पढमताए विणएंति।
परियट्ट मेएठ पच्छा, आरोहा जुद्धकालम्मि॥१०४॥

जे पढमं विणयं गाहेंति ते दमगा, जे जणजोगासणेहिं वावारं वा वाहेंति ते मेंठा, जुद्धकाले जे आरुहंति ते आरोहा।

सूत्रम्-

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुद्दियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स नीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ, तं जहा--सत्थवाहयाण वा १, संवाहावयाण वा २, अब्भिंगावयाण वा ३, उवट्टणावयाण वा ४, मज्जणावयाण वा ५, मंडावयाण वा ६, छत्तगाहीण वा ७, चामरगाहीण वा ८, हडप्फगाहीण वा ६, परियट्टयगाहीण वा १०, दीवियग्गाहीण वा ११, असिग्गाहीण वा १२, धणुग्गाहीण वा १३, सत्तिगाहीण वा १४, कुंतगाहीण वा १५, हत्थिपगाहीण वा १६,॥ २७॥

ईसत्थमादियाणि रायसत्थाणि आहयंति—कथयंति ते सत्थवाहा, पडिमद्दंति जे ते परिमद्दा सयनकाले परिपिट्टंति शतपाकादिना तैलेन अब्भंगेति पदेहिं उव्वटेंति, एहावेंति जे ते मज्जावका,मउडादिणा मंडति जे ते मंडावगा, वत्थपरावत्तं गृह्णंति जे ते परिवट्टगा। आभरणभंडयं हडप्पो वा धणुयाइं समग्गं।

गाहा—

संवाहगठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ अहित्ता सुत्ते।
तेसुं नीहडगहणे, दोसा ते तं च वितियपदं॥ १०३॥

सूत्रम्-

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुद्दियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, परस्स नीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ। तं जहा-वरिसद्धराण वा १, कंचुईण वा २, दोवारियाण वा ३, दंडरक्खियाण वा॥ २८॥

गतार्थो।

गाहा—

वरिसधरड्ढाणादी, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते।
तेसुं णीहडगहणे, दोसा ते तं च बितियपदं॥ १०४॥

सूत्रम्-

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुद्दियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, परस्स नीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ। तं जहा-खुज्जाण० जाव पारसीणं॥ २६॥

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥ २६॥

जे भिक्खू सरीरवक्का, खुज्जा कुट्ठी कंचुगाण णिग्गता वडभहा सेसा विसय।भिहाणेहिं वत्तव्वा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा–

खुज्जादीया ठाणा, जत्तियमित्ता उ आहिया सुत्ते।
तेसु य नीहडगहणे, दोसा ते तं च वितियपदं ॥१०५॥
अद्धाण–सद्दोसा, दुगुंछिता लोगसंक सतिकरणं।
आवपरसमुत्थेहिं, गेण्हणगहणाइया दोसा ॥ १०६ ॥

खुज्जादियासु गच्छंतस्स अद्धाणदोसा, गीयादिया य सद्दोसा, दुगुंछियातिया य तओ लोए अणायारसेवणे संकिज्जंति सुत्ताए सतिकरणादिया दोसा। इतराए कोउयं आयपरउभयसमुत्था य दोसा–पुरिसो वा इत्थी वा तं बला गेण्हेज्जा गेण्हण–कड्ढण–दोसा। नि० चू० ६ उ०।

रायपुर–राजपुर–पुं०। स्वनामख्याते नगरे, तत्र समरकेतुर्नाम राजा परिवसति, तस्य शृङ्गारमञ्जरी नाम भार्या। दश० १ अ०। आव०।

रायपुरी–राजपुरी–स्त्री०। अयोध्यायाम्, ती० १२ कल्प।

रायपेसिय–राजप्रेष्य–त्रि०। दण्डपाशप्रभृतिषु, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ ३ उ०।

रायभय–राजभय–न०। राज्ञो भयं राजभयम्। राजसम्बन्धिनि भये, औ०।

रायभाव–रागभाव–पुं०। रागोत्पादके, पं० व० ३ द्वार।

रायभोत्ति–राजभुक्ति–स्त्री०। राज्ये, नि० चू० १ उ०।

रायमत्तंड–राजमार्त्तण्ड–पुं०। अन्तर्बहिर्मुखव्यापारद्वयविरोधात्तन्निष्पाद्यफलद्वयस्यासंवेदनाच्च वहिर्मुखतयैवार्थनिष्ठत्वेन चित्तस्य संवेदनार्थनिष्ठमेव तत्फलं न स्वनिष्ठमिति राजमार्त्तण्डः। ग्रन्थविशेषे, द्वा० ११ द्वा०।

रायमाण–राजमान–त्रि०। शोभमाने, प्रव० २६६ द्वार।

रायमास–राजमाष–पुं०। चवलकाख्यधान्यविशेषे, ग० २ अधि०। ध०। दश०।

रायरक्खिय–राजरक्षिक–त्रि०। राजपालके, नि० चू० ४ उ०।

रायरिसी–राजर्षि–पुं०। राजा ऋषिरिव श्रेष्ठत्वात्, संयतत्वाच्च। राजश्रेष्ठे, उत्त० १८ अ०। आ० म०।

रायरुक्ख–राजवृक्ष–पुं०। वृक्षविशेषे, वाच०। वृक्षाणां राजा राजवृक्षः, वृक्षशब्दस्य परनिपातः। आरग्वधे, 'सोन्दाल' इति राजप्रियो वृक्षस्तत्फलबीजजातलड्डुकानां राजप्रियत्वात्। प्रियाले, रा०। औ०।

रायलक्खण–राजलक्षण–न०। राज्यसूचकचिह्ने, "रायलक्खणविराइयंगमंगा" रा०।

रायललित–राजललित–पुं०। नवमबलदेवस्य पूर्वभवजीवे, "महीयान् राजललितः" आ० क० १ अ०। आ० म०। स्था०। (तत्कथा सामायिकव्यसनेन सामायिकलाभे वक्ष्यते)

रायवंसतिलग–राजवंशतिलक–पुं०। राजवंशमण्डनभूते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

रायवट्टय–राजवर्त्तक–न०। "तैस्याऽधूर्तार्द्रौ" ॥ ८। २। ३० ॥ इति तस्य टः। रा (य) अवट्टयं। रत्नविशेषे, प्रा०।

रायवल्लभ–राजवल्लभ–पुं०। विक्रमसंवत् १५२४ वर्षे कृतस्य चित्रसेनपद्मावतीचरित्रनाम्नो ग्रन्थस्य कारके, स्वनामख्याते पाठके, जै० इ०।

रायवल्ली–राजवल्ली–स्त्री०। राजते इति राजा अच्। सा चासौ वल्ली राजवल्ली। क० प्र०। लताभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

रायवाडिया–राजवाटिका–स्त्री०। राज्ञां विहारार्थे लघूद्याने, ती० ४६ कल्प।

रायविजय–राजविजय–पुं०। तन्दुलवैचारिकग्रन्थसंशोधनकर्त्तरि, स्वनामख्याते सूरौ, तं०।

रायविरुद्ध–राजविरुद्ध–न०। राज्ञः सम्मतानामसम्माने, ध० २ अधि०।

रायवुग्गह–राजव्युद्ग्रह–पुं०। राज्ञां संग्रामे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

रायवेढि–राजवेष्टि–स्त्री०। भृतिशून्ये राजकार्ये, उत्त० २७ अ०।

रायसंमय–राजसम्मत–पुं०। राजगणाः सम्मताश्चेति राजसम्मताः। मन्त्र्यादिकेषु, दश० ३ अ। व्य०।

रायसद्दूल–राजशार्दूल–पुं०। शार्दूलशब्दः सिंहपर्यायः। राजा शार्दूल इव राजशार्दूलः। चक्रवर्त्तिनि, प्रव० २०८ द्वार। ति०।

रायसिरि–राजश्री–स्त्री०। राजशोभायाम्, राजैश्वर्ये च। आ० म० १ अ०। उत्त०।

रायसुया–राजसुता–स्त्री०। राज्ञः सुतायाम्, आ० क०।

अत्र राजसुताकथा–

एकेन भूभुजा पुत्री, दत्ताऽन्यस्य महीभृतः।
स मृतः स्वसुताऽऽनीय, भणिता जनकेन सा ॥ १ ॥
धर्मं कुरु सुते! दानं, दत्ते पापण्डिनां ततः।
अन्यदा कार्त्तिके धर्म–मास इत्यामिषस्य सा ॥ २ ॥
प्रत्याख्यानं विधत्ते स्म, पारणस्य दिने ततः।
राजाऽनेकानि मांसार्थं, हरिणादीन्युपानयत् ॥ ३ ॥
दत्ते स्म साऽन्नपानानि, मांसानि विविधानि च।
आसन्नाः साधवो यान्त–स्तयाऽऽनीता निमन्त्र्य ते ॥ ४ ॥
भक्तं जगृहिरे मांसं, नैषुस्ते साऽह किं न वः।
पूर्यते कार्त्तिकस्तेऽपि, प्राहुर्नः कार्त्तिकः सदा ॥ ५ ॥
सोचे कथमथोचुस्ते, तस्या धर्मकथां तदा।
भूयसो मांसदोषांश्च, प्रबुद्धा प्राव्रजत्ततः ॥ ६ ॥
प्रागासीद् द्रव्यतस्तस्याः, प्रत्याख्या भावतोऽन्वभूत्।

अदित्सा प्रत्याख्यानं, हे ब्राह्मण! श्रमण! यत्त्वं याचसे तद्विषया मेऽदित्सा। इह श्रावकधर्मस्य मूलं सम्यक्त्वं प्रस्तुतम् अतस्तद्विधिमाह–राजाभियोगादिना अन्यतीर्थिकपापण्ड्यादिषु दानादि कुर्वतोऽपि न सम्यक्त्वस्यातिचारः। अत्र कथा–पृथिवीभूषणं नाम नगरं गतदूषणम्। एवं गणाभियोगेन बलाभियोगेन देवताभियोगेन च।

अत्र देवताभियोगे कथा–

"एकोऽजनि गृही श्राद्धः, सोऽत्यजद्व्यन्तरादिकान्।
चिराराद्धानपि ततो, व्यन्तर्येका क्षुधातुरा ॥ १ ॥
गोरक्षकं सुतं तस्य, गोभिः सममपाहरत्।
तर्जयन्त्यवतीर्योचे, मामद्यापि किमुज्झसि? ॥ २ ॥
मा मे धर्मातिचारोऽभू–दिति तां श्रावकोऽवदत्।
भव त्वं जिनपादान्ते, स्यात्तवाऽपि यथाऽर्चना ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततस्तथैव तस्थौ सा, सुतो गोभिः समागतः" । आ० क० ६ अ० ।

रायसेहर-राजशेखर-पुं० । हर्षपुरीयगच्छोद्भवतिलकसूरिशिष्ये, तेन विक्रमसंवत् १४०५ वर्षे श्रीधररचितन्यायकन्दलीनाम्नः प्रशस्तपादभाष्यटीकायाः पञ्जिका नाम वृत्तिः प्रबन्धामृतं दीर्घिका नाम ऐतिहासिकग्रन्थश्च विरचितः । जै० इ० ।

रायहंस-राजहंस-पुं० । हंसानां राजा श्रेष्ठत्वात् । रक्तवर्णचञ्चुचरणयुक्ते श्वेतवर्णे हंसभेदे, कलहंसे च । राजा हंस इव सारग्रहणात् । नृपश्रेष्ठे, प्रव० २ द्वार । प्रज्ञा० । प्रश्न० ।

रायहंससरिस-राजहंससदृश-पुं० । राजहंसगतिसदृशे, भ० ११ श० ११ उ० ।

रायहाणी-राजधानी-स्त्री० । राजा धीयते विधीयतेऽभिषिच्यते यस्यां सा राजधानी । जनपदानां मध्ये प्रधाननगर्याम्, राजाधिष्ठाननगरे, यत्र राजा स्वयं वसति । स्था० १० ठा०३ उ० । जी० । भ० । दशा० । उत्त० । आचा० । प्रज्ञा० । नि० चू० । वृ० । राजकुलस्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

इन्द्राणां राजधान्यः—

रायहाणीसु वि चत्तारि उद्देसा भाणियव्वा ०जाव एवमहिड्ढिए ०जाव वरुणे महाराया । (सू० १७३) । चउत्थे सए पंचम-छट्ठ-सत्तम-ट्ठमा उद्देसा समत्ता । ४-८ ।

'रायहाणीसु चत्तारि उद्देसा भाणियव्वा' ते चैवम्-'कहिं णं भंते ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो सोमा नामं रायहाणी पण्णत्ता ?. गोयमा ! सुमणस्स महाविमाणस्स अहे अपक्खि' इत्यादि पूर्वोक्तानुसारेण जीवाभिगमोक्तविजयराजधानीवर्णकानुसारेण चैकैक उद्देशकोऽध्येतव्य इति, नन्वेता राजधान्यः किल सोमादीनां शक्रस्येशानस्य च सम्बन्धिनां लोकपालानां प्रत्येकं चतस्र एकादशे कुण्डलवराभिधाने द्वीपे द्वीपसागरप्रज्ञप्त्यां श्रूयन्ते, उक्तं हि तत्संग्रहिण्याम्—

"कुंडलनगस्स अब्भि-तरपासे होंति रायहाणीओ ।
सोलस उत्तरपासे, सोलस पुण दक्खिणे पासे ॥ ८५ ॥
जा उत्तरेण सोलस, ताओ ईसाणलोगपालाणं ।
सक्कस्स लोगपालाण, दक्खिणे सोलस हवंति ॥ ८६ ॥"

एताश्च सोमप्रभ-यमप्रभ-वैश्रमणप्रभ-वरुणप्रभाभिधानानां पर्वतानां प्रत्येकं चतसृषु दिक्षु भवन्ति,तत्र वैश्रमणनगरीरादौ कृत्वाऽभिहितम्—

"मज्झे होइ चउण्हं, वेसमणपभो नगुत्तमो सेलो ।
रइकरगपव्वयसमो, उव्वेहुच्चत्तविक्खंभे ॥ ८७ ॥
तस्स य नगुत्तमस्स उ, चउद्दिसिं होंति रायहाणीओ ।
जंबुद्दीवसमाओ, विक्खंभायामओ ताओ ॥ ८८ ॥
पुव्वेण अयलभद्दा, समक्कसा रायहाणिदाहिणओ ।
अवरेण ऊ कुवेरा, धणप्पभा उत्तरे पासे ॥ ८९ ॥
एएणेव कमेणं, वरुणस्स वि होंति अवरपासम्मि ।
वरुणप्पभसेलस्स वि, चउद्दिसिं रायहाणीओ ॥ ९० ॥
पुव्वेण होइ वरुणा, वरुणपभा दक्खिणे दिसीभाए ।
अवरेण होइ कुमुया, उत्तरओ पुंडरिगिणिया ॥ ९१ ॥
एएणेव कमेणं, सोमस्स वि होंति अवरपासम्मि ।
सोमप्पभसेलस्स वि, चउद्दिसिं रायहाणीओ ॥ ९२ ॥
पुव्वेण होइ सोमा, सोमप्पभंदक्खिणे दिसीभाए ।
सिवपागारा अवरे-ण होइ नालियाए उत्तरओ ॥ ९३ ॥
एएणेव कमेणं, अंतकरस्स वि य होंति अवरेणं ।
समवित्तिपभसेलस्स, चउद्दिसिं रायहाणीओ ॥ ९४ ॥
पुव्वेण ऊ विसाला, अतिविसाला उ दाहिणे पासे ।
सेज्जप्पभाऽवरेणं, अमुया पुण उत्तरे पासे ॥ ९५ ॥" इति ।

इह च ग्रन्थे सौधर्मावतंसकादीशानावतंसकाच्चासंख्येया योजनकोटीर्व्यतिक्रम्य प्रत्येकं पूर्वादिदिक्षु स्थितानि यानि सन्ध्याप्रभादीनि सुमनःप्रभृतीनि च विमानानि तेषामधोऽसंख्याता योजनकोटीरवगाह्य प्रत्येकमेकैका नगर्युक्ता, ततः कथं न विरोधः ?, इति अत्रोच्यते—अन्यास्ता नगर्यो याः कुण्डलेऽभिधीयन्ते एताश्चान्या इति, यथा शक्रेशानाग्रमहिषीणां नन्दीश्वरद्वीपे कुण्डलद्वीपे चेति । भ० ४ श० ८ उ० । स्था० ।

सक्कस्स देवरन्नो, जाओ य हवंति अग्गमहिसीओ ।
तासिं पि य पत्तेयं, अट्ठेव य रायहाणीओ ॥ ९६ ॥
जन्नामा देवीओ, तन्नामा होंति रायहाणीओ ।
सक्कस्स देवरन्नो, ताओ य हवंति दक्खिणओ ॥९७॥
इसाणदेवरन्नो, जाओ य होंति अग्गमहिसीओ ।
तासिं पि य पत्तेयं, अट्ठेव य रायहाणीओ ॥ ९८ ॥
जन्नामा देवीओ, तन्नामा होंति रायहाणीओ ।
ईसाणदेवरन्नो, तासिं तु हवंति उत्तरओ ॥ ९९ ॥
कुंडलवरस्स बाहिं, छसु चेव हवंति सयसहस्सेसु ।
तेत्तीसं रइकरगा, पव्वया सच्छरम्माओ ॥ १०० ॥
सक्कस्स देवरन्नो, तायत्तीसा हवंति जे देवा ।
उप्पायपव्वया खलु, पत्तेयं तेसि बोधव्वा ॥ १०१ ॥
एत्ते एक्केक्कस्स उ, चउद्दिसिं होंति रायहाणीओ ।
जंबुदीवसमाओ, विक्खंभायामओ ताओ ॥ १०२ ॥
पढमा उ सयसहस्सा, बिइया तिसु चेव सयसहस्सेसु ।
पुव्वाइयाणुपुव्वी, तासिं नामाइँ कित्तेमि ॥ १०३ ॥
विजया य वेजयंति, जयंति अपराजिया य बोधव्वा ।
तत्तो य नलियाॅनामा, नलिणगुम्मा य पउमा य ।१०४।
तत्तो य महापउमा, अट्ठेव य होंति रायहाणीओ ।
चक्कज्झया य सव्वा, सव्वा वइरज्झयाओ य ।१७५।
सक्कस्स देवरन्नो, तायत्तीसाण अग्गमहिसीणं ।
तासिं खलु पत्तेयं, अट्ठे व य रायहाणीओ ॥ १०६ ॥
जन्नामा देवीओ, तन्नामा तासि रायहाणीओ ।
ईसाणदेवरन्नो, तायत्तीसाण उत्तरओ ॥ १०७ ॥
बावन्नं बायाला, चुलसीदसजोयणसहस्सा ।
गोतित्थेण विरहियं, खित्तं खलु कुंडलसमुद्दे १०८(द्वी०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सक्कस्स देवरत्रो, सामाणिय खलु हवंति जे देवा ।
उववायपव्वया खलु, पत्तेयं तेसि बोधव्वा ॥ १४८ ॥
पत्ते एक्कक्कस्स उ, चउदिसिं होंति रायहाणीओ ।
जंबुदीवसमाओ, विक्खंभायामओ ताओ ॥ १४९ ॥
पढमा उ सयसहस्से, बिइया-चेव सयसहस्सेसु ।
पुव्वाइयाणुपुव्वी, तेसिं नामाणि कित्तेहि ॥ १५० ॥
पुव्वाइयाणुपुव्वी, तत्तो नंदाइ होइ नंदवई ।
अवरेण उत्तरा उ, उत्तरओ नंदिसेणा उ ॥ १५१ ॥
भद्दा उ सुभद्दा य, कुमुया पुण होइ पुंडरिगिणी उ ।
चक्कज्झया य सव्वा,सव्वा वइरज्झया चेव॥१५२॥द्वी० ।

जंबूदीवे दीवे भरहे वासे दस रायहाणीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–

"चंपा महुरा वाणा–रसी य सावत्थीं तह य साएयं ।
हत्थिणपुर कंपिल्लं, मिहिला कोसंबि रायगिहं ॥ १ ॥"

'रायहाणीओ' त्ति राजा धीयते—विधीयते अभिषिच्यते यासु ता राजधान्यः—जनपदानां मध्ये प्रधाननगर्यः, 'चंपा' गाहा-चम्पा नगरी अङ्गजनपदेषु, मथुरा शूरसेनदेशे, वाराणसी काश्याम्, श्रावस्ती कुणालायाम्, साकेतमयोध्येत्यर्थः, कोशलेषु जनपदेषु, 'हत्थिणपुरं' ति नागपुरं कुरुजनपदे, काम्पिल्यं पाञ्चालेषु, मिथिला विदेहे, कौशाम्बी वत्सेषु, राजगृहं मगधेष्विति । एतासु किल साधवः उत्सर्गतो न प्रविशन्ति तरुणरमणीयपण्यरमण्यादिदर्शनेन मनःक्षोभादिसम्भवात्, मासस्यान्तर्द्विस्त्रिर्वा प्रविशतां त्वाज्ञादयो दोषा इति, एताश्च दशस्थानकानुसारेणाभिहिता न तु दशैवैताः, अर्द्धपड्विंशतावार्यजनपदेषु पड्विंशतेर्नगरीणामुक्तत्वादिति । अयं च न्यायोऽन्यत्र ग्रन्थेषु तेषु प्रायश्चित्तादिविचारेषु प्रसिद्ध एवेति, व्याख्यातं च दशराजधानीग्रहणं शेषाणामपि ग्रहणं निशीथभाष्ये, यदाह—"दसरायहाणिगहणा, सेसाणं सूयणा कया होइ । मासस्संतो दुगतिग—ताओ अइंतम्मि आणाई ॥ १ ॥" स्था० १० ठा० ३ उ० ।

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं इमाओ दस अभिसेगरायहाणीओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा निक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ । तं जहा-चंपा १, महुरा २, वाणारसी ३, सावत्थी ४, साकेयं ५, कंपिल्लं ६, कोसंबी ७, मिहिला ८, हत्थिणापुरं ९, रायगिहं १०, ॥ २० ॥

इमा प्रत्यक्षीभावे दस इति संख्या "राईणठाणं रायधाणि त्ति उद्दिट्ठातो गणियाओ दस, वंजियाओ णामेहिं । अंतो मासस्स दुक्खुत्तो तिक्खुत्तो वा णिक्खमपवेसं करेंतस्स-ह्व ।

गाहा—

दसरायहाणिगहणा, सेसाणं सूयणा कया होति ।
मासस्संतो दुगतिग–ताओ अतितम्मि आणादी॥८९॥

अण्णाओ वि णयरीओ बहुजणसंपगाढाओ णो पविसियव्वं ।

इमा सुत्रव्याख्या । गाहा–

इम इति पच्चक्खम्मी, दस संखा जत्थ राइणो ठाणा ।
उद्दिट्ठरायहाणी, भणिता दस वंज चंपादी ॥ ९० ॥

णामेहिं वंजिताओ ।

गाहा—

चंपा महुरा वाणा–रसी य सावत्थिमेव साएतं ।
हत्थिणपुर कंपिल्लं, मिहिला कोसंवि रायगिहं ॥ ९१ ॥

बारस चक्कीणं पयाओ रायहाणीओ ।

गाहा—

संती कुंथू य अरो, तिण्णि वि जिणचक्किएक्कहिं जाया ।
तेण दस होंति जत्थ व, केसव जाया जणाइण्णा ॥ ९२ ॥

जासु वाणारसीणगरीसु केसवा, अण्णावि जा जणाइण्णा सा विवज्जणिज्जा, तत्थ को दोसो ? ।

गाहा—

तरुणी वेसित्थिविवा–ह रायमादीसु सतिकरणं ।
कोउयमादी आउज्ज, गीयसद्दे य सवियारे ॥ ९३ ॥

तरुणी ण्हायविलेवेत्थी गुम्मपरिखुडे दट्ठूण वेसित्थी उरउत्तरे वेउव्वियाउ वीवाहे रिद्धिसमिद्धे आहिंडमाणे रायाणे य विविहरिद्धिजुत्ते णिंताणिंते दट्ठुं भुत्तभोगीणं सतिकरणं अभुत्ताण कोतुयं पडिगमणादिदोसा, आदिसद्दातो—बहूण अणट्ठादि आउज्जाणि वा ततवितयादीणि गीतसद्दाणि वा ललियविलासहसियभणियाणि मंजुलाणि य सद्दाणि, सविगारग्गहणातो मोहोदीरणा ।

किञ्चान्यत्—

रूवं आभरणविही, वत्थालंकारभोयणे गंधे ।
मत्तुम्मत्तविउव्वण, वाहणजाणे सतीकरणं ॥ ९४ ॥

सिंगारागाररूवं, णिहार व्व हारादीया—आभरणविधी वत्था आदिणा सहिरण्णादिया समुद्दा समभिहिता, केसपुप्फादि—अलङ्कारा, विविधवंजणोववेयं भोयणजातियं भुंजमाणं पासित्ता मिगंडकपूरागरुकुंकुमचंदणतुरुक्खादिए गंधे तहा मत्ते—विलेवे, कपोलतलयाए उत्प्रावल्येन मत्तो उन्मत्तः, दरमत्तो वा उन्मत्तो, विविधवेसेहिं विउव्विया आसादिवाहणारूढा सिवियादिएहिं वा जाणेहिं गच्छमाणे पासित्ता सतिकारणादिएहिं दोसेहिं संजमाओ भंसेज्ज, अहवा—वेहाणगयट्ठं वा करेज्ज ।

इमे य विराहणादोसा । गाहा–

हयगयरहसंमद्दे, जणसम्मद्देण आयवावत्ती ।
भिक्खवियारविहारे, सज्झायज्झाणपलिमंथो ॥ ९५ ॥

हयगयरहजणसम्मद्देण आयविराहणा भवे,बहुजणसम्मद्देण रोहियरत्थासु दिक्खंतस्स भिक्खावियारे विहारेसु सज्झाएसु य पलिमंथो, जम्हा एते दोसा तम्हा तत्थ ण गंतव्वं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारणे गच्छेत्—

बितियपदे असिवादी, उवहिस्स व कारणे व लेवे वा।
बहुगुणतरं व गच्छे, आयरियादीण आगाढे ॥ ६६ ॥

अण्णओ असिवं तेण अतिगम्मति, उवही वा अण्णओ ण लब्भति तत्थ सुलभो, लेवो वा तत्थ सुलभो, गच्छवासीण वा तं बहुगुणखेत्तं, आयरियाण वा तत्थ जवणिज्जं पाउग्गं वा लब्भति। आदिसद्दाओ बालवुड्ढगिलाणाण वा अन्नतरे वा आगाढे पओयणे अहवा।

गाहा—

रायादिगाहणऽट्ठा, पदुट्ठउवसामणट्ठकज्जे वा।
सेहे व अनिच्छंता, गिलाणवेज्जोसहट्ठा वा ॥ ६७ ॥

रण्णो धम्मगाहणट्ठा; रण्णो अण्णस्स वा पदुट्ठस्स उवसमणट्ठा, सेहो वा तत्थ ठितो, संण्णायगाण य अगम्मो तं मज्झेण वा गच्छिउकामा गिलाणस्स वा वेज्जोसहणिमित्तं। नि० चू० ६ उ०। स्वयम्भूरमणसमुद्रस्योपरि ये ज्योतिष्कास्सन्ति तेषां राजधानी उत्पातस्थानं च क्वास्ति? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—स्वयम्भूरमणसमुद्रस्योपरिस्थज्योतिष्काणां राजधानी स्वयम्भूरमणसमुद्रमध्येऽस्तीति जीवाभिगमे उक्तमस्ति, तेषामुत्पातस्थानं स्वस्वविमानेऽस्ति, प्रज्ञापनोपाङ्गादिष्विति ॥ १३ ॥ सेन० ४ उल्ला०।

राया-राजन्-पुं०। राज्ञि, "नरनाहो पत्थिवो निव्वो राया" पाइ० ना० १०० गाथा।

रायादण-राजादन-पुं०। वृक्षविशेषे, "राजादनश्चैत्यशाखी, श्रीशम्पाद्भुतमान्यतः। दुग्धं वर्षति पीयूष—मिव चन्द्रकरोत्करः ॥ १ ॥" ती० १ कल्प।

रायाभियोग-राजाभियोग-पुं०। राज्ञो नृपादेरभियोगो राजाभियोगः। राजपरतन्त्रतायाम्, ध० २ अधि०। उपा०। प्रति०। गच्छान्तरीयसम्यक्त्वदेशविरत्युच्चारविधिपत्रेषु सम्यक्त्वोच्चारालापकप्रान्तवत् द्वादशव्रतोच्चारालापकप्रान्तेषु अपि 'रायाभियोगेणमि' त्यादिषडाकारोच्चारणमस्ति तद् यौक्तिकमन्यथा वा? इति प्रश्नः—अत्रोत्तरम्—आवश्यकनिर्युक्त्युपासकदशाङ्गादौ श्रावकाणां सम्यक्त्वोच्चार एव षडाकारा उक्ताः सन्ति, न तु द्वादशव्रतोच्चारे, तेन सम्यक्त्वोच्चार एव राजाभियोगादिषडाकारोच्चारणं युक्तिमत्प्रतिभातीति ॥ ३५४ ॥ सेन० ३ उल्ला०।

रायाभिसेय-राजाभिषेक-पुं०। राज्ञोऽभिषेकक्रियायाम्, नि०चू०। राजाभिषेकसमये निष्कामति। सूत्रम्—

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं महाभिसेयवट्टमाणंसि णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा णिक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे त्ति—णिद्देसे, भिक्खू पुव्ववण्णिओ, राज दीतौ ईसरतलवरमादियाणं अभिसेगाण महंततरो अभिसेओ महाभिसेओ, अवि रायत्तेण अभिसेओ तम्मि वट्टते जो तस्स समीवेण वा मज्झेण वा णिक्खमति पविसति वा तस्स आणादी दोसा—ह।

गाहा—

रण्णो महाभिसेगे, वट्टंतो जो उ णिक्खमे भिक्खू।
अहवा पविसेज्जाही, सो पावति आणामादीणि ॥ ७० ॥
मंगलममंगले वा, पवत्तणणिवत्तणे य थिरमथिरे।
विजए पराजए वा, वोच्छेए वा वि पडिसेहं ॥ ७१ ॥

मंगलबुद्धीए पवत्तणे अहिकरणं, अमंगलबुद्धीए णियत्तणे अहिकरणं दोसा वोच्छेदादिया य, जइ से थिररज्जं विजओ वा जातो पुणो पुणो मंगलिएसु अत्थेसु साहवो तत्थ ठविज्जंति अहिकरणं व अथिरे पराजये वा वोच्छेदं पडिसेहं वा णिव्विसयादि वा करेज्ज।

गाहा—

दट्ठूण व राइड्ढिं, परिसहपराजिओ य कोई तु।
आसंसं वा कुज्जा, पडिगमणाईणि व पयाणि ॥ ७२ ॥

पूर्ववत्।

गाहा—

बितियपदमणप्पज्झे, अभिचारकि कोविते व अप्पज्झे।
जाणंते वावि पुणो, अणुण्णवणादीणि कज्जेहिं ॥ ७३ ॥

कोविए विहिए अणुण्णवितव्वो किं पुव्विं पच्छा मज्झे अणुण्णवेयव्वो?

उच्यते-गाहा—

नाऊणमणुण्णवणा, पुव्विं पच्छा अमंगलावण्णा।
उवओगपुच्छिऊणं, नाए मज्झे अणुन्नवणा ॥ ७४ ॥
ओहावीयाभोगिणि, णिमित्तवसएण वाऽवि णाऊणं।
भद्दे पुव्वाणुण्णा, पंतमणाए य मज्झम्मि ॥ ७५ ॥

ओहिमादिणा णाणविसेसेण आभोगिणिज्जाए वा अविवहणिमित्तेण वा उवउज्जिऊण अप्पणो असति अण्णं वा पुच्छिऊणं थिरंति रज्जं णाऊणं अणुण्णवणा पुव्विं भवति, अथिरं वा रज्जं णाऊण पुव्विं अणुण्णविज्जंतो अमंगलबुद्धी वा से उप्पज्जति पच्छा अवण्णाबुद्धी उप्पज्जति। ओहिमादिणाणाभावे वा मज्झे अणुण्णा वेति।

गाहा—

अणणुण्णविते दोसा, पच्छा वा अप्पिओ अवण्णे वा।
पंते पुव्वममंगल, णिच्छुभणपओसपत्थारो ॥ ७६ ॥

मम रज्जाभिसेए अट्ठारस पगतीओ सव्वपासंडा य अग्गे वेत्तुमागया इमे य भिक्खुणो णागया, त एते अप्पहा-अलोकज्जा। अहवा—अहमेतेसिं अप्पिओ णिव्विसयादी करेज्जा। पत्थादि अवण्णा दोसा भवंति। पुव्वं अमंगलदोसा, तम्हा अणुण्णवेयव्वं।

गाहा—

आभोए जाणह किं, पुव्विं पच्छा णिमित्तविसएण।
राया किं देमि त्ति य, जं दिण्णं पुव्वरादीहिं ॥ ७७ ॥

धम्मलाभेत्ताणं ति अणुजाणह पाउग्गं, ताहे जइ जाणति पाउग्गं भद्दगो वा ताहे भणंति जं दिण्णं पुव्वरातीहिं, राजा भणति किं दिण्णं पुव्वरातीहिं, साहवो भणंति-इमं सुणसु-"आहार" गाहा-एवं भणियं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा—

भद्दो सव्वं वितरति, दिक्खावज्जमणुजाणते पंतो ।
अणुसट्ठाति अकाउं,र्णिते गुरुगा य आणादी ॥ ७८ ॥

भद्दो भणाति मा पव्वावेह सव्वं अणुणायं, जइ तुज्झे स-व्वं लोगं पव्वावेह किं करेमो एवं पडिसिद्धा अणुसट्ठादि काउं ततो रज्जातो र्णिति चउगुरुं आणादिणो इमे य दोसा ।

गाहा—

चेतियसावय पव्वति, कुमअतरंत बालवुड्ढी य ।
वत्ता अजंगमा वि य, अभत्तितित्थस्स हाणी य ॥ ७९ ॥

एते सव्वे परिच्चत्ता भवंति—चेतियतित्थकरेसु अ-भत्ती पवयणे हाणी कता । एत्थ पडिसिद्धं अण्णथावि पडिसिद्धं, एवं ण को वि पव्वयति । एवं हाणी ।

गाहा—

अच्छंताण वि गुरुगा,अभत्तितित्थे य हाणि जा वुत्ता ।
भणंति भणावेंति य, अच्छंति अणिच्छ गच्छंति ॥ ८० ॥

पडिसिद्धे वि अच्छंताण चउगुरुं, अण्णत्थ वि भविय-जीवा बोहियव्वा तेण वाहेंति, अओ तत्थ ता सयं भणं-ति अण्णेहि य भणावेंति, किंचिकालं पडिक्खंति सव्व-हा अणिच्छंते अण्णरज्जं गच्छंति ।

गाहा—

संदिसह य पाउग्गं, दंडिग णिक्खमण एत्थ वारेति ।
गुरुगा अणिग्गमम्मी, दोसु वि रज्जेसु अप्पबहू ॥ ८१ ॥

पुव्वभणियं तु जं भण्णति दारगाहा एत्थ पडिसेहे दोसा-णुण्णा इमो दोसु वि रज्जेसु अप्पबहु त्ति तम्हा दो रज्जे हवेज्जा ।

गाहा—

एकहि विदित्त रज्जे, एगत्थे होंति अविदिसं ।
एगत्थ इत्थियाओ, पूरिसजाता य एगत्थ ॥ ८२ ॥
तरुणा थेरा य तहा, दुग्गयगा अड्ढ कुलपुत्ता ।
जणवयगा णागरगा, अब्भंतरगा कुमारा य ॥ ८३ ॥

अहवा सो भणेज्ज-एगत्थ पव्वावेह; एगत्थ मा पव्वावेह । साहवो रज्जेसु अप्पबहुं जाणिऊण जत्थ बहुया पव्वयंति तत्थ गच्छंति, अहवा-एगत्थरज्जे इत्थियाओ अब्भणुण्णाया एगत्थ पुरिसा, दोसु वि रज्जेसु एगतरं वा । अहवा-भणेज्ज थेरे पव्वावेह मा तरुणे, अहवा-मा थेरे तरुणे, अहवा-दुग्गए पव्वावेह मा अड्ढे, अहवा-अड्ढे मा दुग्गए, अहवा-कुलपुत्ते कुलपुत्ता णाम—सुसीला, सुसीले पव्वावेह मा दुस्सीले, अहवा-दुस्सीले मा सुसीले । एवं जाणपदा णागरा णागर-ब्भंतरा बाहिरा कुमारा, कुमारा-अकतदारसंगहा ।

गाहा—

ओहीमाती णातुं, जे दिक्खमुवेंति तत्थ बहुगाओ ।
तं वेति समणुजाणसु,असती पुरिसे य जे य बहू ॥ ८४ ॥

असति त्ति ओहिमादीण पुरिसे पव्वावेंति जो वा वि पुरिआवियाण बहुतरो वग्गो तं पव्वावेति । नि० चू० ६ उ० ।

रायावकारि—राजापकारिन्-पुं० । गृहान्तःपुरनृपतिशरीर-तत्पुत्रादिद्रोहकारिणि, ग० १ अधि० । ध० । पं० भा० । पं० चू० । नि० चू० ।

राजापकारिस्वरूपमाह—

रण्णोऽन्तेउऽवरद्धो, संबंधे तहय दव्वजायम्मि ।
उब्भुट्ठितो विणासा—य होति रायावकारी तु ॥ ३७४ ॥

इमो रायावकारी रण्णा अंतेउरे अवरद्धो, सयणे वा । किंचि दव्वजातं वा अवहितं, रण्णो रयणदव्वस्स वा विणासाय अब्भुट्ठितो रायावगारी ।

गाहा—

सचित्ते अचित्ते, व मीसए कूडलेहवहकरणे ।
समणाण व समणीण व,ण कप्पती तारिसे दिक्खा ॥ ३७५ ॥

जे रण्णो सचित्तं दव्वं-पुत्तादि, अचित्तं-आहारादि, मीसं वा दूतत्तणेण वा विरोहो कतो कूडलेहेण वा रायविरुद्धं कयं दंडियविरोहो वा पुत्तादि से वाहितो,एरिसो ण कप्पति पव्वावेउं ।

गाहा—

आसा हत्थी खरिगा,ऽतिवाहिता कतक-तंव-कणकादी ।
दोच्च विरुद्धं च कयं, लीहावहि नो य से काइ ॥ ३७६ ॥
तं तु अणुट्ठियदंडं, जो पव्वावेति होति मूलं से ।
एगमणेगपदोसे, पत्थारपओसओ वाऽवि ॥ ३७७ ॥

कंठा, 'वधवंध' गाहा 'अयसो' गाहा, एवमादिदोसे जो पव्वावेति तस्स मूलं ।

कारणे वा पव्वावेज्जा । गाहा—

उक्को व मोइतो वा, अहवा वीसज्जितो नरिंदेणं ।
अद्धाण परविदेसे, दिक्खा से उत्तमट्ठे वा ॥ ३७८ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० ११ उ० ।

रायाहीण—राजाधीन-पुं० । राज्ञो दूरेऽपि वर्त्तमानाः । राज-वशवर्त्तिनि, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

रालग—रालक-पुं० । कङ्गुविशेषे , स्था० ७ ठा० । आव० । दश० । प्रज्ञा० । जं० । भ० । ग० ।

राला—देशी—प्रियङ्गवे, दे० ना० ७ वर्ग १ गाथा ।

राव—रंजि-धा० । रागे, " रञ्जेः रावः " ॥ ८ । ४ । ४९ ॥ इति रञ्जेर्ण्यन्तस्य रावाऽऽदेशो वा । रावेइ । रंजेइ । प्रा० । शब्दे, पुं० । " रोलो राओ " पाइ० ना० ३४ गाथा ।

रावण—रावण-पुं० । दशग्रीवे लङ्काराजे; स च अष्टापदगिरिं वालिऋषिसहितम् उत्पाटयन् महर्षिपादाङ्गुष्ठानमितगि-रिणा पीडितः आरावं मुञ्चन् रावणेति प्रसिद्धिं गतः । ती० ४७ कल्प । ति० । अष्टमस्य वासुदेवस्य लक्ष्मणस्य प्रति-वासुदेवे, प्रव० २११ द्वार ।

राविअ—देशी—आस्वादिते, दे० ना० ७ वर्ग ५ गाथा ।

रास—रास-पुं० । शब्दे, ध्वनौ, द्वयोर्द्वयोर्मध्यस्थित्या क्रीडा-भेदे, कोलाहले च । वाच० । " रासो हल्लीसओ " पाइ० ना० २७१ गाथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रासभ-रासभ-पुं०। गर्दभे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०४उ०। "रासहो गद्दहो य खरो" पाइ० ना० १५० गाथा।

रासभी-रासभी-स्त्री०। गर्दभस्त्रियाम्, प्रज्ञा० ११ पद।

रासि-राशि-पुं०। समूहे, औ०। ओघ०। अनु०। विशे०। पुञ्जे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। पूगीफलादिसमुदाये, पिं०। इह सजातीयवस्तुसमुदायो वर्गाणां समूहो वर्गो राशिरिति पर्यायाः। विशे०। शालिधान्यादिराशिवद्राशिः, विप्रकीर्णपुञ्जीकृतधान्यादिपुञ्जवत् पुञ्जः। अनु०। स०।

दुवे रासी पणत्ता। तं जहा-जीवरासी अजीवरासी य॥

सर्वं तदक्षरमध्येतव्यं, किमवसानमित्याह—'जाव से किं तं' इत्यादि, केवलमस्य प्रज्ञापनासूत्रस्य चायं विशेषः, इह 'दुवे रासी पएणत्ता' इत्यभिलापसूत्रम्। स० १४६ सम०। स्था०। गच्छे, व्य० १ उ०। धान्यादेरुत्करस्तद्विषयं संख्यानं राशिः; स च पाट्यां राशिव्यवहार इति प्रसिद्धः। स्था० १० ठा०। त्रैराशिकपञ्चराशिकादिषु, स्था० ४ ठा० ३ उ०। वर्गराश्यादिषु, विशे०। आ० म०। धान्यादीनां पुञ्जे, ज्योतिश्चक्रस्य द्वादशांशे मेषादौ, द० प०।

अथ राशीकृतादिपदानां व्याख्यानमाह—

पुंजो य होति वट्टो, सो चेव य ईसि आयतो रासी।
कुलिया कुड्डुल्लीणा, भित्ति कडा संसियाभित्ती।

वृत्तो वृत्ताकारो धान्योत्करः पुञ्ज इत्युच्यते, स एव ईषदायतो मनाक् दीर्घो राशिः। अपुञ्जः पुञ्जः कृतानीति व्युत्पत्त्या पुञ्जीकृतानि, एवं राशीकृतानीति। बृ० २ उ०। शनैश्चरादीनां राशिपरावर्त्तदिनमिदमिति ज्ञात्वा ये जिनपूजाऽऽचाम्लादिकं कुर्वते तेषां सम्यक्त्वं म्लानं भवति न वा? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-शनैश्चरराशिपरावर्त्तदिने विशेषतपःपूजादिकरणे सम्यक्त्वम्लानिर्ज्ञाता नास्तीति॥ ३०३॥ सेन० ३ उल्ला०।

राह-राध-त्रि०। सुन्दरे, "रुइरं राहं" पाइ० ना० १४ गाथा। दयिते, निरन्तरे, शोभिते, सनाथे, पलिते, दे० ना० ७ वर्ग १४ गाथा।

राहव-राघव-पुं०। मत्स्यविशेषे, "अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम, शतयोजनविस्तृतः। तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति, तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः॥ १॥" सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

राहस्सिय-राहसिक-पुं०। रहसि भवा राहसिकाः। पुरुषेण परिभुज्यमानायाः स्त्रियाः स्तनितादिषु शब्देषु, बृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०।

राहावेहग-राधावेधक-न०। राधायाः प्रसिद्धाया वेधो यत्र स्थाने तद्राधावेधकम्। चन्द्रकवेधे, पश्चा० १४ विव०।

राहु-राहु-पुं०। महाग्रहे, "दो राहू," स्था० २ ठा० ३ उ० "अब्भपिसाओ राहू" पाइ० ना० ३० गाथा। कल्प०। प्रज्ञा०। सू० प्र०। प्रश्न०। चं० प्र०। स्वनामख्याते ज्योतिष्कदेवे, औ०। स च द्विधा नित्यराहुः, पर्वराहुश्चेति। चं० प्र०। ज्यो०। स०। (कथं चन्द्रं सूर्यं वा राहुर्गृह्णातीति 'गहण' शब्दे तृतीयभागे ८६१ पृष्ठे उक्तम्) राहोः शिरोमात्रता पुनरेवम्-देवैः किलामृतस्य कुण्डानि भृतानि, विष्णुश्च तद्रक्षायां नियुक्तः। ततश्च कार्यान्तरव्याक्षिप्तस्य तद्राहुणा पातुमारब्धं, विष्णुना च तं तथा वीक्ष्य चक्रक्षेपेण तच्छिरश्छेदः कृतः, पीतामृतत्वाच्चच्छिरोऽजरामरं संवृत्तमिति पौराणिकाः। द्वा०१ अष्ट०। मएड०। राहुविमानेनातिनीचत्वात्सूर्यविमानं कथमाव्रियतेऽत्युच्चत्वाच्च तेन चन्द्रविमानम्? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-तत्त्वार्थभाष्यवृत्त्यनुसारेण चन्द्रविमानाद्राहुविमानमुपरिष्टाद्वर्त्तते, तच्चानियतचारत्वात्कदाचित्सूर्यविमानस्याधस्ताद्दशयोजनानि यावच्चाधश्चरतीति चन्द्रसूर्ययोरावरणे न काप्याशङ्केति॥ २०७॥ सेन० २ उल्ला०।

राहुकम्म-राहुकर्म्मन्-न०। राहुक्रियाख्यायाम्, सू० प्र० २० पाहु०। चं० प्र०।

राहुचरिय-राहुचरित-न०। ४१ कलाभेदे, स० ७२ सम०।

राहुहय-राहुहत-न०। रविशशिनोर्यत्र ग्रहणमभूत् तादृशे नक्षत्रे, नि० चू० २० उ०। आ० म०। विशे०। "राहुहयं तु जहिं गहणं, राहुहयम्मि य मरणं।" पं० व० १ द्वार। द० प०। राहुणा मुखेन पुच्छेन वा आक्रान्ते नक्षत्रे, जीत०।

रिअ-ऋत-न०। गमने, रङ्गभूमेर्निष्क्रामणे, जं० ५ वक्ष०। प्रवेशे, "प्रविशे रिअः" ॥८।४।१८३॥ इति प्रविशे रिअ इत्यादेशो वा। रिअइ। पविसइ। प्रा० ४ पाद।

रिउ-ऋतु-पुं०। अत्र केचित् ऋत्वादिषु 'द' इत्यारब्धवन्तः, स तु शौरसेनीमागधीविषय एव दृश्यते इति नोच्यते। प्राकृते तु ऋतुः। रिऊ। उऊ। प्रा०। पाइ० ना०। "ऋणर्ज्वृषभर्त्वृषौ वा"॥ ८। १। १४१॥ इति ऋतोः ऋकारस्य 'रिः' वा। रिऊ। मासद्वयात्मके काले, प्रा०। (अस्या वक्तव्यता 'उउ' शब्दे द्वितीयभागे ६७६ पृष्ठे गता)

रिपु-पुं०। "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां-प्रायो लुक्" ॥ ८। १। १७७॥ इति पस्य लुक्। रिऊ। द्विषि, प्रा०। प्रव०। शत्रौ, "सत्तू अरी अमित्तो रिऊ" पाइ० ना०। ३५ गाथा।

रिउकाल-ऋतुकाल-पुं०। मासान्ते यत् स्त्रीणामजस्रमसृक् दिनत्रयं स्रवति स ऋतुकालः। स्त्रीणां रजःप्रवृत्तिकाले, तं०।

रिउपडिसत्तु-रिपुप्रतिसंज्ञ-पुं०। अचलबलदेवस्य पितरि प्रजापतौ, स च पूर्वं रिपुसंज्ञनामाऽऽसीत्, ततः स्वपुत्रीं मृगावतीं परिणयन् अचलं नाम बलदेवं तत्रोत्पाद्य पुत्रीपतित्वेन प्रजापतिरिति प्रसिद्धो जातः। आ० म० १ अ०।

रिउमइ-ऋजुमति-स्त्री०। सामान्यग्राहिण्यां मतौ, पा०। (व्याख्या 'उज्जुमइ' शब्दे द्वितीयभागे ७३६ पृष्ठे)

रिउया-ऋजुता-स्त्री०। आर्जवे, विशे०।

रिउव्वेय-ऋग्वेद-पुं०। चतुर्णां वेदानां प्रथमे व्यवस्थितपादात्मकऋगात्मके वेदे, भ० २ श० १ उ०। औ०। ऋग्वेदाहितनिर्णीयव्यापारे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

रिंखा-रिङ्खा-स्त्री०। सर्पणक्रियायाम्, बृ० १ उ०।

रिंगंत-रिङ्गत्-धा०। रिगि-गतौ, प्रवेशेऽपि। रिंगइ। प्रविशति। गच्छति वा। प्रा० ४ पाद।

रिंगण-रिङ्गण-न०। किञ्चिच्चलने, प्रव० २ द्वार। आव०।

रिंगिअ-देशी-भ्रमणे, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रिंगिसिया-रिङ्गिसिका-स्त्री०। वाद्यभेदे, रा०।

रिंछोली-स्त्री०। श्रेणौ, "ओली माला राई रिंछोली" पाइ० ना० ६३ गाथा। दे० ना०।

रिंडी-देशी-कन्थाप्रायसि, दे० ना० ७ वर्ग ५ गाथा।

रिक्क-रिक्त-न०। त्यक्ते, नि० चू० १६ उ०। आचा०। स्तोके, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा। "रिक्कं रित्तं" पाइ० ना० २१८ गाथा।

रिक्किअ-देशी-शटिते, दे० ना० ७ वर्ग ७ गाथा।

रिक्ख-ऋक्ष-न०। "रिः केवलस्य" ॥ ८। १। १४० ॥ इति केवलस्य व्यञ्जनेनाऽसम्पृक्तस्य ऋतो 'रि' इत्यादेशः। रिच्छ। प्रा०। "ऋक्षे वा" ॥ ८। २। १६ ॥ इति ऋक्षशब्दस्थस्य क्षस्य छो वा। रिच्छं। रिक्खं। नक्षत्रे,प्रा०। चं०प्र०। "रिक्खं उडु नक्खत्तं" पाइ० ना० ६६ गाथा। आ० म०। वयःपरिणामे, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा। वृद्धे, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा। रिक्ख (च्छ)। क्षुद्रे, क्रूरे, जन्तुविशेषे,स्था० ६ ठा० ३ उ०।

रिक्खण-देशी-उपालम्भे, कथने च। दे० ना० ७ वर्ग १४ गाथा।

रिग-देशी-प्रवेशे, दे० ना० ७ वर्ग ५ गाथा।

रिच्छ-ऋक्ष-पुं०। नक्षत्रे, प्रा०। भल्लूके, "रिच्छो य अच्छभल्लो" पाइ० ना० १२८ गाथा। वृद्धे,दे०ना० ७ वर्ग ६ गाथा।

रिच्छज्झय-ऋक्षध्वज-पुं०। ऋक्षाङ्कितध्वजे, रा०।

रिच्छभल्ल-देशी-ऋक्षे, दे० ना० ७ वर्ग ७ गाथा।

रिजु-ऋजु-पुं०। "ऋणर्ज्वृषभर्त्वृषौ वा" ॥ ८। १। १४१ ॥ इति रिर्वा। रिजू। उजू। सरले, प्रा० १ पाद।

रिजुभाव-ऋजुभाव-पुं०। ऋजुरकुटिलो मोक्षं प्रति प्रगुणो यो भावः परिणामः स ऋजुभावः। मोक्षौपयिकपरिणामे,बृ० १ उ० २ प्रक०।

रिट्ठ-रिष्ट-पुं०। रत्नविशेषे, आ० म० १ अ०। ती०। औ०। ज्ञा०। जं०। रा०। प्रव०। जी०। काके, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा। वेलम्बस्य प्रभञ्जनेन्द्रस्य च तृतीये लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ०। महाकच्छविजयाख्यराजधान्याम्, स्था० २ ठा० ३ उ०। पक्षिविशेषे, फलविशेषे च। औ०। ज्ञा०। काके, "वलिउट्ठा रिट्ठा" पाइ० ना० ४४ गाथा। दे० ना०।

रिट्ठकंड-रिष्टकाण्ड-न०। रत्नप्रभायाः पृथिव्याश्चतुर्दशे काण्डे, स्था० १० ठा०।

रिट्ठकूड-रिष्टकूट-पुं०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वे रुचकरपर्वतस्य प्रथमे कूटे, स्था० ८ ठा०।

रिट्ठपुर-रिष्टपुर-पुं०। कच्छगावत्याख्यराजधान्याम्, "दो रिट्ठपुरे" स्था० २ ठा० ३ उ०।

रिट्ठमय-रिष्टमय-त्रि०। रिष्टरत्नमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। रा०।

रिट्ठा-रिष्टा-स्त्री०। मदिरायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। या शास्त्रान्तरे जम्बूकलकालिकेति प्रसिद्धा। जं० २ वक्ष०। पञ्चमनरकपृथिव्याम्, स्था० ७ ठा० ३ उ०। जी०। "दो रिट्ठाओ" स्था० २ ठा० २ उ०।

रिट्ठाभ-रिष्टाभ-न०। पञ्चमदेवलोकविमानभेदे,स० ८ सम०। कृष्णराजीमध्यमभागवर्तिनि रिष्टाख्यलोकान्तिकदेवाऽऽवासभूते विमाने, भ० ६ श० ५ उ०।

रिट्ठिसाल-रिष्टिशाल-न०। अष्टमदेवलोकविमानभेदे, स०१८ सम०।

रिण-ऋण-न०। "ऋणर्ज्वृषभर्त्वृषौ वा" ॥ ८॥ १। १४१ ॥ इति रितो रिर्वा। रिणं। अणं। अधमर्णेन उत्तमर्णात् पुनर्देयत्वेनाभ्युपगम्य गृहीते धने, प्रा० १ पाद।

रितंभरा-ऋतम्भरा-स्त्री०। अध्यात्मप्रसादानन्तर्भाविन्यां योगिप्रज्ञायाम्, द्वा०।

अध्यात्मं निर्विचारत्व-वैशारद्ये प्रसीदति।
ऋतम्भरा ततः प्रज्ञा, श्रुतानुमितितोऽधिका ॥ १२॥

द्वा० २० द्वा०। (व्याख्या 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६३० पृष्ठे गता)

रित्त-रिक्त-न०। तुच्छे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०। "रिक्कं रित्तं" पाइ० ना० २१८ गाथा।

रित्तग-रिक्तक-पुं०। शुद्धे, आ० चू० ४ अ०।

रित्तमुट्ठि-रिक्तमुष्टि-स्त्री०। पोल्लकमुष्टौ, तं०।

रित्तहत्थ-रिक्तहस्त-पुं०। फलादिशून्यकरे, "रिक्तहस्तो न वै पश्येत्, राजानं देवतां गुरुम्। निमित्तत्वं विशेषेण, फलेन फलमादिशेत् ॥ १ ॥" कल्प० १ अधि० ४ क्षण।

रित्तूडिअ-देशी-शातिते, दे० ना० ७ वर्ग ८ गाथा।

रित्थ-रिक्थ-न०। धने, "रित्थं दविणं" पाइ० ना० ५० गाथा।

रिद्ध-ऋद्ध-न०। संपत्तौ, धनधान्यभवनादिभिर्वृद्धिमुपगते, त्रि०। सू० प्र० १ पाहु०। विपा०। प्रश्न०। ज्ञा०। भ०। "रिद्धत्थिमियसमिद्धा"। ऋद्धा भवनैः पौरजनैश्चातीव वृद्धिमुपगता "ऋद्धवृद्धौ" इति वचनात्। रा०। औ०। भ०। चं० प्र०। आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भारते भविष्यति द्वादशे चक्रवर्तिनि। ति०। पक्के, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा।

रिद्धमेहवण-ऋद्धमेघवन-न०। भारते वर्षे रोहिडनगरस्य समीपोद्याने, नि०।

रिद्धि-ऋद्धि-स्त्री०। "रिः केवलस्य" ॥ ८। १। १४० ॥ इति व्यञ्जनेनासम्पृक्तस्य ऋतो रि इत्यादेशः। रिद्धी। प्रा०। "इत् कृपादौ" ॥ ८। १। १२८ ॥ इति ऋत इत्त्वम् "श्रद्धर्द्धिमूर्धार्धेऽन्ते वा" ॥ ८। २। ४१ ॥ एष्वन्ते वर्त्तमानस्य संयुक्तस्य ढो वा भवति। इड्ढी। रिद्धी। प्रा०। अनेककोटीसंख्यद्रव्यादिसम्पद्विशेषे, प्रा०। स०। समूहे, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा। "विच्छड्डो सामिद्धी रिद्धी" पाइ० ना० ६२ गाथा।

रिद्धिविद्धिजुत्त-ऋद्धिवृद्धियुक्त-त्रि०। ऋद्धिवृद्ध्यभिधानौपधिसनाथे, "मंगलपडिसरणाइचित्ताइं रिद्धिविद्धिजुत्ताइं" पञ्चा० ८ विव०।

रिप्प-देशी-पृष्ठे, दे० ना० ७ वर्ग ५ गाथा।

रिभिय-रिभित-न०। स्वरघोलनाप्रकारे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। त्रि०। स्वरघोलनाप्रकारोपेते, यत्र स्वरोऽक्षरेषु घोलनास्वरविशेषेषु च सञ्चरन् रिङ्गतीव प्रतिभाषते स

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदसञ्चारः रिभित उच्यते। ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। रा०। स्था०। न०। नाट्यभेदे, आ० म० १ अ०। स्था०।

रिंगिण--देशी-रोदनशीले, दे० ना० ७ वर्ग ७ गाथा।

रिय--ऋत--न०। सत्ये, भ० ८ श० ७ उ०।

रियारिय--रितारित--न०। गमनागमने, रा०। जी०। आ० म०।

रिरंसा--रिरंसा--स्त्री०। कदलीगृहादिक्रीडायाम्, आ०म०१अ०।

रिरिअ--देशी-लीने, दे० ना० ७ वर्ग ७ गाथा।

रिसजिह--रिश्यजिह्व--पुं०। महाकुष्ठभेदे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

रिसभ--ऋषभ--पुं०। "ऋणर्ज्वृषभर्त्वृषौ वा" ॥ ८॥ १। १४१॥ इति ऋतो रिर्वा। रिसहो। उसहो। वृषभे, प्रा० १ पाद। प्रथमतीर्थकरे, आ० म०। (व्याख्या 'उसभ' शब्दे ११३ पृष्ठे) ऋषभो-वृषभस्तद्वद्यो वर्त्तते स ऋषभ इति, आह च-"वायुः समुत्थितो नाभेः, कण्ठशीर्षसमाहतः। नर्दत्यृषभवद्यस्मात्, तस्माद्दषभ उच्यते॥ १ ॥" इत्युक्तलक्षणे स्वरभेदे, स्था० ७ ठा०। अनु०। अस्थिद्वयस्यावेष्टके पट्टे, तं०।

रिसभपुर--ऋषभपुर--न०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वतः शीतोदायाः महानद्याः दक्षिणस्थे राजधानीभेदे, ती० १० कल्प।

रिसि--ऋषि--पुं०। "ऋणर्ज्वृषभर्त्वृषौ वा" ॥८। १। १४१॥ इति ऋतो रिर्वा। रिसि। इसि। गच्छगतगच्छनिर्गतादिभेदेषु साधुषु, प्रा०। पा०। मुनौ, "जइणो तवस्सिगणो तावसा रिसी" पाइ० ना० ३२ गाथा।

रिसिघायण--ऋषिघातन--न०। ऋषिवधे, "विज्जं परिभवमाणो, आयरिआणं गुणे पणासिंतो। रिसिघायणाण लोअं, वच्चइ मिच्छत्तसंजुत्तो।" द० प०।

रिसिदास--ऋषिदास--पुं०। "साकेतनगरे याते सार्थवाहपुत्रे, अणु०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य बहुवर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य सर्वार्थसिद्धे उत्पद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकदशानां ३ वर्गे तृतीयाध्ययने सूचितम्)

रिसिभासिय--ऋषिभाषित--न०। उत्तराध्ययनादिश्रुते, विशे०। "देवलोगच्चुयाणं इसीणं चोयालीसं इसिभासिय अज्झयणा" स०। "पण्हवागरणदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा-उवमा-संखा-रि (इ) सिभासियाइं" स्था० १० ठा०।

रिसिवज्झा--ऋषिहत्या--स्त्री०। ऋषिव्यापादने, "रात्रं पित्रं वज्जणए रिसिवज्झा जह न सुंदरो होइ।" बृ०१ उ० ३ प्रक०।

रिसिवाइय--ऋषिवादिक--पुं०। गन्धर्वभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

रीइ--रीति--स्त्री०। स्वभावे, अनु०। भ०।

रीइया--रीतिका--स्त्री०। पित्तलाख्ये धातुविशेषे, औ०। आचा०।

रीड--मडि--धा०। इदित्। चुरा०। भूषायाम्, "मण्डेः चिश्च-चिञ्चिअ-चिञ्चिल्ल--रीड-टिविडिक्काः" ॥ ८। ४। ११५॥ इति मण्डेः रीडादेशः। रीडइ। मण्डयति। प्रा० ४ पाद।

रीढ--देशी--अवगणने, दे० ना० ७ वर्ग ८ गाथा।

रीढा--रीढा--स्त्री०। यदृच्छायाम्, घुणाक्षरन्याये, बहुधम्मचरणहसणं, रीढा जणपूयणिज्जाणं। बृ० १ उ० ३ प्रक०। जी०। अनादरे, "हेला य अनादरो रीढा" पाइ० ना० १६२ गाथा।

रीयमाण--रीयमाण--त्रि०। संयमानुष्ठाने, गच्छति, विहरति च। आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। उत्त०। भ०। बृ०।

रीर--राज--धा०। दीप्तौ, "राजेरग्घ छज्ज--सह-रीर--रेहाः" ॥ ८।४।१००॥ इति राजे रीर आदेशः। रीरइ। राजति। प्रा०।

रुअरुइआ--देशी--उत्कण्ठायाम्, दे० ना० ७ वर्ग ८ गाथा।

रुइ--रुचि--स्त्री०। परमश्रद्धायाम्, आत्मनः परिणामविशेषरूपे, बृ० १ उ० १ प्रक०। चेतोऽभिप्राये, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। ध०। विशे०। अभिलाषरूपे, स्था० १० ठा०। प्रीतौ, आव० ४ अ०। विशे०। नैर्मल्ये, उत्त० १ अ०।

तिविहा रुई पण्णत्ता। तं जहा--सम्मरुई मिच्छरुई सम्मामिच्छरुई। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

रुइर--रुचिर--न०। मनोज्ञे, उत्त० ३२ अ०। स्निग्धे, जं० १ वक्ष०। सुन्दरे, "रुइरं राहं रम्मं" पाइ० ना० १४ गाथा।

रुइल--रुचि(र)ल--त्रि०। रुचिर्दीप्तिस्तां लान्त्याददतीति रुचिलानि। सद्दीप्तिमत्सु. सूत्र० २ श्रु० १ अ०। मनोज्ञे, औ०। जं०। जी०। स०। ब्रह्मलोके स्वनामख्याते विमाने.न०। ब्रह्मलोके हि "रुइल्लं रुइल्लावत्तं रुइल्लप्पभं रुइल्ललेसं रुइल्लवण्णं" इत्यादि विमानानि सन्ति। स० ६ सम०।

रुंचणी--देशी--घरट्टयाम्, दे० ना० ७ वर्ग ८ गाथा।

रुंचिज्जमाण--रुंचीयमान--त्रि०। श्लक्ष्णखण्डीयमाने, जं० १ वक्ष०। आ० म०।

रुंज--रु--धा०। शब्दे, "रुते रुंज-रुण्टौ" ॥ ८।४।५७॥ इति रौतेः रुंजादेशः। रुंजइ। प्रा० ४ पाद।

रुं(रु)जग--रुचक--पुं०। द्रुमं,कस्मिंश्चिद्देशे द्रुमाः रुचका इत्याख्यायन्ते। दश० १ अ०।

रुंटिय--रुत--त्रि०। गुञ्जितध्वनौ, पाइ० ना० २६२ गाथा।

रुंढ--देशी--आक्षिके, कितव इत्यर्थः। दे० ना०७ वर्ग ८ गाथा।

रुंढिअ--देशी--सफले, दे० ना ७ वर्ग १८ गाथा।

रुंद--रुन्द--त्रि०। विस्तीर्णे, बृ० १ उ० ३ प्रक०। औ०। ध०। नि० चू०। नं०। प्रश्न०। शिखरितलकूटाधिपतिदेवे, द्वी०। स्थूले, पाइ० ना० ७३ गाथा। विपुले, मुखरे च। दे० ना० ७ वर्ग १४ गाथा।

रुंधंतिया--रुन्धन्तिका--स्त्री०। यन्त्रके व्रीहिकोद्रवादीनां निस्तुषत्वकारिकायां क्रियायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

रुंध--रुन्ध--धा०। आवरणे, "रुधेः रुत्थङ्घः" ॥ ८। ४। १३३॥ इति रुधेः रुत्थङ्घ इत्यादेशो वा। उत्थङ्घइ। रुंधइ। प्रा०। "व्यञ्जनाददन्ते" ॥ ८। ४। २३६॥ इति व्यञ्जनाद्धातोरन्ते अकारः। रुंधइ। रुणद्धि। प्रा०। "म्भो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चातः" ॥ ८। ४। २४५॥ इति द्विरुक्तः म्भो वा। रुम्भइ। रुंधिज्जइ। प्रा० ४ पाद।

रुंभण--रोधन--न०। आवरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। गुप्तप्रक्षेपणे, बृ० ३ उ०।

रुक्ख--पुं०न०वृक्ष--पुं०। "वृक्ष-क्षिप्तयोः रुक्ख-छूढौ" ॥ ८। २। १२७॥ इति वृक्षे रुक्खादेशो वा। रुक्खो। वच्छो। प्रा०। "गुणाद्याः क्लीबे वा" ॥ ८।१।३४॥ इति प्राकृते क्लीबत्वं वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च्यम्। रुक्खाइं। रुक्खा। वृश्च्यत इति वृक्षाः। चूताऽऽशोकादिकेषु तरुषु, कल्पादिद्रुमेषु च। प्रा०। उत्त०। (भेदाः 'एगट्ठिय' शब्दे तृतीयभागे १६ पृष्ठे गताः)

से किं तं रुक्खा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा रुक्खा पण्णत्ता। तं जहा-संखेज्जजीविया, असंखेज्जजीविया, अणंतजीविया ॥ (भ०) से किं तं अणंतजीविया ?, अणंतजीविया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-आलुए मूलए सिंगबेरे। भ० ८ श० ३ उ०।

बहुबीजकवृक्षप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं बहुबीयगा ?, बहुबीयगा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा—

अत्थिय तेंदु कविट्ठे, अंबाडग माउलिंग बिल्ले य।
आमलग फणिस दालिम, आसोठे उंबर वडे य ॥१५॥
णग्गोह णंदिरुक्खे, पिप्परी सयरी पिलुक्खरुक्खे य।
काउंबरि कुत्थुंभरि, बोद्धव्वा देवदाली य ॥ १६ ॥
तिलए लउए छत्तों ह-सिरीस सतवन्न दहिवन्ने।
लोद्धधवचंदणऽज्जुण-णीमे कुडए कयंबे य ॥ १७ ॥

जे यावन्ने तहप्पगारा, एतेसि णं मूला वि असंखेज्जजीविया कंदा वि खंदा वि साला वि, पत्ता पत्तेयजीविया, पुप्फा अणेगजीविया, फला बहुबीयगा। सेत्तं बहुबीयगा, सेत्तं रुक्खा।

अथ के ते बहुबीजकाः ?, सूरिराह—बहुबीजका अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—' अत्थिये ' त्यादि गाथात्रयम्, एते च अस्थिकतिन्दुककपित्थाम्बाडकमातुलिङ्गबिल्वाऽऽमलकपनसदाडिमाश्वत्थोदुम्बरवटन्यग्रोधनन्दिवृक्षपिप्पलीशतरीप्लक्षकादुम्बरिकुस्तुम्भरिदेवदालितिलकलवकच्छत्रोपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलोद्रधवचन्दनार्जुननीपकुटजकदम्बकानां मध्ये केचिद्‌तिप्रसिद्धाः केचिद्देशविशेषतो वेदितव्याः, नवरमिहामलकादयो न लोकप्रसिद्धाः प्रतिपत्तव्याः, तेषामेकास्थिकत्वात्, किन्तु-देशविशेषप्रसिद्धाः बहुबीजका एव केचन, ' जे यावन्ने तहप्पगार त्ति, ' येऽपि चान्ये तथाप्रकाराः—एवंप्रकारास्तेऽपि च बहुबीजका मन्तव्याः, एतेषामपि मूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रवालाः प्रत्येकमसंख्येयप्रत्येकशरीरजीवकाः, पत्राणि प्रत्येकजीवकानि, पुष्पाण्यनेकजीवकानि, फलानि बहुबीजकानि, उपसंहारमाह—सेत्तमित्यादि निगमनद्वयं सुगमम्। प्रज्ञा० १ पद। स्था०। जी०। आचा०। स०। सूत्र०। ज्ञा०। दश०। व्य०। (' संखेज्जजीविय ' शब्दे संख्यातजीविकान् वक्ष्यामि) (असंख्यातजीविकाः ' असंखेज्जजीविअ ' शब्दे प्रथमभागे ८२० पृष्ठे गताः)

अथ वृक्षनिक्षेपमाह—

वृक्षोद्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतः प्रधानो वृक्षः कल्पवृक्षः, यथा-तमारुह्य कश्चिद्गन्धादिगुणसमन्वितानां कुसुमानां सञ्चयं कृत्वा तदधोभागवर्त्तिनां पुरुषाणां तदारोहणासमर्थानामनुकम्पया कुसुमानि विसृजति, तेऽपि च भूपातरजोगुरुडनभयात् विमलविस्तीर्णपटैः प्रतीच्छन्ति, पुनर्यथोपयोगमुपभुञ्जानाः पुरेभ्यश्चोपकुर्वाणाः सुखमाप्नुवन्ति। एवं भाववृक्षेऽपि सर्वमिदमायोज्यम्। (८६ गा० टी०) आ० म० १ अ०। विशे०। (श्रमणार्थं निष्पादित आम्रवृक्षः साधूनां न कल्पते इति ' आधाकम्म ' शब्दे द्वितीयभागे २४२ पृष्ठे उक्तम्)

रूक्ख-पुं०। पुद्गलद्रव्याणां मिथोऽसंयुज्यमानानामबन्धनिबन्धने भस्माद्याधारे स्पर्शनभेदे, कर्म० १ कर्म०।

रुक्खकालिय-वृक्षकालिक-न०। अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमाने, आ० म० १ अ०।

रुक्खगिह-वृक्षगृह-न०। वृक्ष एव गृहाकारः वृक्षगृहं, वृक्षे वा गृहं वृक्षगृहम्। वृक्षप्रधाने, तदुपरि वा गृहे, नि० चू० १२ उ०। आचा०।

रुक्खगुंद-वृक्षगुन्द-न०। वृक्षनिर्यासे, ल० प्र०।

रुक्खगेहालय-वृक्षगेहालय-पुं०। वृक्षरूपाणि गेहानि आलया आश्रया येषाम्। वृक्षरूपगेहनिवासिषु, जं० २ वक्ष०।

रुक्खपइट्ठिय-वृक्षप्रतिष्ठित-न०। स्फुटितबीजप्रतिष्ठित आहारशयनादौ, दश० ४ अ०।

रुक्खफासणाम-रूक्षस्पर्शनामन्-न०। यदुदयाज्जन्तुशरीरं भूत्यादिवच्च रूक्षं भवति तद्रूक्षस्पर्शनाम। स्पर्शनामभेदे, कर्म० १ कर्म०।

रुक्खमूल-वृक्षमूल-न०। वृश्च्यत इति वृक्षः, तस्य मूलम्। सहकारादिवृक्षस्याधोभागे, उत्त० २ अ०। बृ०। औ०।

रुक्खमूलगिह-वृक्षमूलगृह-न०। वृश्च्यत इति वृक्षः तस्य मूले गृहम्। सहकारादिवृक्षस्याधोभागे गृहे, उत्त० २ अ०। बृ०। औ०। वृक्षस्य करीरादेर्निर्गलस्य मूलमधोभागस्तदेव गृहं वृक्षमूलगृहम्। वृक्षाधोगृहे, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

रुक्खमूलिअ-वृक्षमूलिक-पुं०। वृक्षमूल एव सदा वासिनि वानप्रस्थे, औ०। नि० चू०। वैताढ्यपर्वतवासिनि विद्याधरमनुष्ये, आ० चू० १ अ०।

रुक्खविगुव्वणा-वृक्षविकुर्वणा-स्त्री०। वृक्षविक्रियापादने, स्था०।

वृक्षविभूषामाह—

चउव्विहा रुक्खविगुव्वणा पण्णत्ता। तं जहा-पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए ॥ (सू० ३४४×)

' चउव्विहे ' त्यादि, अथवा-पूर्वमुञ्छजीविकासम्पन्नः साधुपुरुष उक्तः, तस्य च वैक्रियलब्धिमतस्तथाविधप्रयोजने वृक्षं विकुर्व्वतो यद्विधा तद्विक्रिया स्यात्तामाह-' चउव्विहा ' इत्यादि, पातनयैवोक्तार्थं, नवरं ' प्रवालतयेति ' नवाङ्कुरतयेत्यर्थः। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

रुक्खासण-वृक्षासन-न०। स्नेहरहितभोजने, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रुग्ग–रुग्न–त्रि० । जीर्णतां गते, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । रोगिणि, पाइ० ना० २४३ गाथा।

रुट्ठ–रुष्ट–त्रि० । क्रोधविमोहिते, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । विपा० । उदितक्रोधे, भ० ७ श० ६ उ० । ज्ञा० । प्रश्न० ।

रुट्ठवंदण–रुष्टवन्दन–न० । क्रोधाध्मातो वन्दते, क्रोधाध्मातं वा । वन्दनदोषविशेषे, आव० ३ अ० । "रोसेण धमधमंतो जं वंदइ रुट्ठमेअं तं" रोषेण केनाऽपि स्वविकल्पजनितेन 'धमधमंतो' त्ति जाज्वल्यमानो यद्वन्दते तत् रुष्टवन्दनकमिति । आव० ३ अ० । प्रव० । आ० चू० ।

रुण्ट–रु–धा० । शब्दे, "रुतेः रुञ्ज-रुण्टौ" ॥ ८ । ४ । ४७ ॥ इति रौतेरेतावादेशौ वा । रुञ्जइ । रुण्टइ । रौति । प्रा० ।

रुण्ण–रुदित–न० । "रुदिते दिना ण्णः" ॥ ८ । १ । २०६ ॥ इति रुदिते दिना सह तस्य द्विरुक्तो णो भवति । प्रा० । रुण्णं । अश्रुविमोचने, प्रश्न० ५ संव० द्वार । भगवत्यपवर्गे गते, भरतदुःखमसाधारणमवबुध्य तदपसरणाय शक्रेण कृतस्ततो लोकेऽपि ततः कालादारभ्य रुदितशब्दः प्रवृत्तः । तथा चाह–लोकोऽपि तथा भरतवद् शक्रवद् वा रुदितशब्दं प्राकृतः कर्तुमारब्धवान् । आ० म० १ अ० ।

रुत्तजोणि–रुदितयोनि–न० । रुदितं योनिर्जातिः समानरूपतया यस्य तत् रुदितयोनिकम् । रुदितसमाने गीते, "सत्त सरा णाभीओ, भवंति गीतं च रुत्तजोणी यं" स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

रुद्द–रुद्र–पुं० । "द्रे रो न वा" ॥ ८ । २ । ८० ॥ इति द्रशब्दे रेफस्य वा लुक् । रुद्दो । रुद्रो । हरे, प्रा० । अनु० । भ० । आव० । श्लेषानक्षत्रस्याऽधिपतौ , जं० ७ वक्ष० । (तन्नामनिरुक्तिः जैनशास्त्रप्रसिद्धा) नारकाणां दुःखोत्पादके असुरकुमारविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । स० । भ० । प्रव० । आव० ।

अपि च–

असिसत्तिकोंततोमर–सूलतिसूलेसु सूइवियगासु ।
पोयंति रुद्दकम्मा उ, णरगपाला तहिं रोद्दा ॥ ७४ ॥

तथा अन्वर्थाभिधाना रौद्राख्या नरकपाला रौद्रकर्माणो नानाविधेष्वसिशक्त्यादिषु प्रहरणेषु नारकानशुभकर्मोदयवर्तिनः प्रोतयन्तीति । सूत्र० १ श्र० १ उ० । तृतीयबलदेववासुदेवपितरि, आव० १ अ० । ति० । स्था० । पार्श्वनाथतीर्थाधिष्ठायके देवे, ती० ५ कल्प । अहोरात्रस्य प्रथमे मुहूर्त्ते, ज्यो० २ पाहु० । सू० प्र० । जं० । स० । कल्प० । आचा० । चं० प्र० । पर्युषणायां कलहक्षामणावसरे उदाहृते खटवास्तव्ये बलीवर्द्दमारके द्विजे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । रौद्रे, प्राणिनां भयोत्पादके, त्रि० । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । रोदयत्यपरानिति रुद्रः । प्राणिवधादिपरिणत आत्मैव तस्यैकं कर्म रौद्रम् । ध्यानविशेषे, न० । प्रव० ६ द्वार । चण्डे, तीव्रे च । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । महादेवे, तत्कथा चैवम्–" वेसालिजणो सव्वो महेसरेण नीलवंतमिम साहरिओ । को महेसरो त्ति ? , तस्सेव चेडगस्स धूया सुजेट्ठा वेरग्गा पव्वइया, सा उवस्सयस्संता आयावेइ, इओ य पेढालगो नाम परिव्वायओ विज्जासिद्धो विज्जाउ दाउकामो पुरिसं मग्गइ, जइ बंभचारिणीए पुत्तो होज्जा तो समत्थो होज्जा, तं आयावेंतीं दट्ठूणं धूमिगावामोहं काऊण विज्जाविवज्जासो तत्थ से रितुकाले जाए गब्भे अतिसयणाणीहिं कहियं–न एयाए कामविकारो जाओ,सड्ढयकुले वड्ढाविओ, समोसरणं गओ साहुणीहिं सह, तत्थ य कालसंदीवो वंदित्ता सामिं पुच्छइ–कओ मे भयं ?, सामिणा भणियं–एयाओ सच्चतीओ ताहे तस्स मूलं गओ, अवण्णाए भणइ–अरे तुमं ममं मारेहिसि त्ति पाएसु बला पाडिओ, संवड्ढिओ, परिव्वायगेण तेण संजतीणं हिओ, विज्जाओ सिक्खाविओ, महारोहिणिं च साहेइ, इमं समत्तं भवं, पंचसु मारिओ, छट्ठे छम्मासावसेसाउएण नेच्छिया, अह साहेतुमारद्धो अणाहमडए चितियं काऊण उज्जालेत्ता अल्लचम्मं वियडित्ता वामेण अंगुट्ठएण ताव चंकमइ जाव कट्ठाणि जलंति, एत्थंतरे कालसंदीवो आगओ कट्ठाणि छुब्भइ, सत्तरत्ते गए देवया सयं उवट्ठिया–मा विग्घं करेहि, अहं एयस्स सिज्झिउकामा, सिद्धा भणइ–एगं अंगं परिच्चय जेण पविसामि सरीरं, तेण निलाडेण पडिच्छिया, तेण अइयया, तत्थ विलं जायं, देवयाए से तुट्ठाए तइयं अच्छि कयं, तेण पेढालो मारिओ, कीस णेणं मम माया रायधूय त्ति विद्धंसिया, तेण से रुद्दो नामं जायं, पच्छा कालसंदीवं आभोएइ, दिट्ठो, पलाओ, मग्गओ लग्गइ, एवं हेट्ठा उवरिं च नासइ, कालसंदीवेण तिन्नि पुराणि विउव्विता, सामिपायमूले अच्छइ, ताणि देवयाणि पहओ, ताहे ताणि भणंति–अम्हे विज्जाओ, सो भट्टारगपायमूलं गओ त्ति तत्थ गओ, एक्कमेक्कं खामिओ । अण्णे भणंति–लवणे महापायाले मारिओ, पच्छा सो विज्जा चक्कवट्टी तिसंझं सव्वतित्थगरे वंदित्ता णट्टं च दाइत्ता पच्छा अभिरमइ,तेण इंदेण नामं कयं महेसरो त्ति, सो वि किर धिज्जाइयाण पओसमावण्णो धिज्जाइयकन्नगाण सयं २ विणासेइ, अन्नेसु अंतेउरेसु, अभिरमई तस्स य भणंति दो सीसा–नंदीसरो नंदी य, एवं पुप्फएण विमाणेण अभिरमइ, एवं कालो वच्चइ । अन्नया उज्जेणीए पज्जोयस्स अंतेउरं सिवं मोत्तूणं सेसाओ विद्धंसेइ, पज्जोओ चिंतेइ–को उवाओ होज्जा जेण एसो विणासेज्जा ?, तत्थेगा उमा नाम गणिया रूवस्सिणी,सा किर धूवग्गहणं गेण्हइ जाहे ते णंतेण एइ, एवं वच्चइ काले उइण्णो, ताए दोण्णि पुप्फाणि वियसियं मउलियं च,मउलियं पणामियं महेसरेण वियसियस्स हत्थो पसारिओ, सा मउलं पणामेइ एयस्स तुज्झे अरहसि त्ति, कहं ? , ताहे भणइ–परिसिओ कण्णाओ ममं ताव पेच्छह, तीए सह संवसइ हियहियओ कओ, एवं वच्चइ कालो । सा पुच्छइ–काए वेलाए देवयाओ ओसरंति ?, तेण सिट्ठं–जाहे मेहुणं सेवामि, तीए रण्णो सिट्ठं मा ममं मारेहि त्ति, पुरिसेहिं अंगस्स उवरिं जोगा दरिसिया, एवं रक्खामो, ते य पज्जोएण भणिया–सह एयाए मारेह मा य दुरारद्धं करेहिह, ताहे मणुस्सा पच्छण्णं गया, तेहिं संसट्ठो मारिओ सह तीए, ताहे नंदीसरो ताहिं विज्जाहिं अहिट्ठिओ आगासे सिलं विउव्वित्ता भणइ–हा दास ! मओऽसि त्ति, ताहे सनगरो राया उल्लपडसाडगो खमाहि एगावराहं ति, सो भणइ–एयस्स जइ एणमेतदवत्थं अच्चेह तो मुयामि, एयं च णयरे २ एवं अवाउडियं ठावेह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्ति तो मुयामि, तो पडिवराणो, ताहे आययणाणि कारावियाणि, एसा महेसरस्स उप्पत्ती।" आव० ४ अ०।

रु (रो) द्दज्झाण–रौद्रध्यान–न० रोदयत्यपरानिति रुद्रः। प्राण्युपघातादिपरिणत आत्मैव तस्येदं कर्म्म रौद्रम्। उत्त० पाई० ३० अ०। हिंसाद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रम्। स्था० ४ ठा० १ उ०। आव०। रौद्रभावं गतो रौद्रः। उक्तं च-हिंसानुरञ्जितं रौद्रम्। आ० चू० ४ अ०। तच्च ध्यानं चेति। हिंसानृतचौर्यधनसंरक्षणाभिधानलक्षणे ध्यानभेदे, स० ४ सम०। "संछेदनैर्दहनभञ्जनमारणैश्च, बन्धप्रहारदमनैर्विनिकृन्तनैश्च। यो याति रागमुपयाति च नानुकम्पा-ध्यानं तु रौद्रमिति तत् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥ १॥" दश० १ अ०। आव०। पा०।

रौद्रध्यानभेदानाह—

रोद्दे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-हिंसाणुबंधि १ मोसाणुबंधि २ तेणाणुबंधि ३ संरक्खणाणुबंधि॥ ४॥

हिंसा-सत्त्वानां वधवेधबन्धनादिभिः प्रकारैः पीडामनुबध्नाति-सततप्रवृत्तं करोतीत्येवं शीलं यत्प्रणिधानं, हिंसानुबन्धो वा यत्रास्ति तद्धिंसानुबन्धि रौद्रध्यानमिति प्रक्रम इति। स्था० ४ ठा०१ उ०। आव०। (रौद्रध्यानलक्षणानि'लक्खण'शब्दे वक्ष्यन्ते) साम्प्रतं रौद्रध्यानावसरः, तदपि चतुर्विधमेव, तद्यथा-हिंसानुबन्धि, मृषानुबन्धि, स्तेयानुबन्धि, विषयसंरक्षणानुबन्धि च। उक्तं चोमास्वातिवाचकेन-"हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्" इत्यादि, (तत्त्वार्थे, अ० ६ सू० ३६)

तत्राऽऽद्यभेदप्रतिपादनायाऽऽह—

सत्तवहवेहबंधण-डहणं कणमारणाइपणिहाणं।
अइकोहग्गहघत्थं, निग्घिणमणसोऽहमविवागं॥ १६॥

सत्त्वा-एकेन्द्रियादयः तेषां वधवेधबन्धनदहनाङ्कनमारणादिप्रणिधानम्, तत्र वधः-ताडनं करकशालतादिभिः, वेधस्तु नासिकादिवेधनं कीलकादिभिः, बन्धनम्-संयमनं रज्जुनिगडादिभिः, दहनम्-प्रतीतमुल्मुकादिभिः, अङ्कनम्—लाञ्छनं श्वशृगालचरणादिभिः, मारणम्-प्राणवियोजनमसिशक्तिकुन्तादिभिः, आदिशब्दाद्-आगाढपरितापनपाटनादिपरिग्रहः, एतेषु प्रणिधानम्—अकुर्वतोऽपि करणं प्रति दृढाध्यवसानमित्यर्थः,प्रकरणाद् रौद्रध्यानमिति गम्यते, किं विशिष्टं प्रणिधानम्?—अतिक्रोधग्रहग्रस्तम्—अतीवोत्कटो यः क्रोधः—रोषः स एवापायहेतुत्वाद्ग्रह इव ग्रहस्तेन ग्रस्तम्—अभिभूतम्, क्रोधग्रहणाच्च मानादयो गृह्यन्ते; किं विशिष्टस्य सत इदमित्यत आह-निर्घृणमनसः-निर्घृणम्-निर्गतदयं मनः-चित्तम्-अन्तःकरणं यस्य स निर्घृणमनास्तस्य। तदेव विशेष्यते-अधमविपाकम् इति-अधमः-जघन्यो नरकादिप्राप्तिलक्षणो विपाकः-परिणामो यस्य तत्तथाविधमिति गाथार्थः॥ १६॥ उक्तः प्रथमो भेदः।

साम्प्रतं द्वितीयमभिधित्सुराह-

पिसुणासब्भासब्भूय-भूयघायाइवयणपणिहाणं।
मायाविणोऽइसंधण-परस्स पच्छन्नपावस्स॥ २०॥

पिशुनासभ्यासद्भूतभूतघातादिवचनप्रणिधानम्-इत्यत्रानिष्टस्य सूचकं पिशुनं पिशुनमनिष्टसूचकम्। 'पिशुनं सूचकं विदुः' इति वचनात्, सभायां साधु सभ्यं, न सभ्यमसभ्यम्-जकारमकारादि, न सद्भूतमसद्भूतमनृतमित्यर्थः, तच्च व्यवहारनयदर्शनेनोपाधिभेदतस्त्रिधा, तद्यथा-अभूतोद्भावनम्, भूतनिह्नवो,ऽर्थान्तराभिधानं चेति, तत्राभूतोद्भावनं यथा—सर्वगतोऽयमात्मेत्यादि, भूतनिह्नवस्तु—नास्त्येवात्मेत्यादि, गामश्वमित्यादि ब्रुवतोऽर्थान्तराभिधानमिति, भूतानां—सत्त्वानामुपघातो यस्मिन् तद्भूतोपघातं, छिन्धि भिन्धि व्यापादय इत्यादि, आदिशब्दः प्रतिभेदं स्वगतानेकभेदप्रदर्शनार्थः, यथा—पिशुनमनेकधाऽनिष्टसूचकमित्यादि, तत्र पिशुनादिवचनेष्वप्रवर्त्तमानस्यापि प्रवृत्तिं प्रति प्रणिधानं—दृढाध्यवसानलक्षणं रौद्रध्यानमिति प्रकरणाद्गम्यते। किं विशिष्टस्य सत इत्यत आह—माया—निकृतिः साऽस्यास्तीति मायावी तस्य मायाविनो वणिजादेः, तथा अतिसन्धानपरस्य—परवञ्चनाप्रवृत्तस्य, अनेनाशेषेष्वपि प्रवृत्तिमस्याऽऽह, तथा—'प्रच्छन्नपापस्य' कूटप्रयोगकारिणस्तस्यैव, अथवा—धिग्जातिककुतीर्थिकादेरसद्भूतगुणं गुणवन्तमात्मानं ख्यापयतः, तथाहि-गुणरहितमप्यात्मानं यो गुणवन्तं ख्यापयति न तस्मादपरः प्रच्छन्नपापोऽस्तीति गाथाऽर्थः॥ २०॥ उक्तो द्वितीयो भेदः।

साम्प्रतं तृतीयमुपदर्शयति—

तह तिव्वकोहलोहा-उलस्स भूओवघायणमणज्जं।
परदव्वहरणचित्तं, परलोयावायनिरवेक्खं॥ २१॥

तथाशब्दो दृढाध्यवसायप्रकारसादृश्योपदर्शनार्थः, तीव्रौ-उत्कटौ तौ क्रोधलोभौ च ताभ्यामाकुलः—अभिभूतस्तस्य, जन्तोरिति गम्यते, किं?—भूतोपहननमनार्यम्—इति हन्यतेऽनेनेति हननम् उप—सामीप्येन हननम् उपहननं भूतानामुपहननं भूतोपहननम्, आराद्यातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यं न आर्यमनार्यं, किं तदेवंविधमित्यत आह-परद्रव्यहरणचित्तं, रौद्रध्यानमिति गम्यते, परेषां द्रव्यं परद्रव्यं सचित्तादि तद्विषयं हरणचित्तं परद्रव्यहरणचित्तम्, तदेव विशेष्यते—किम्भूतं तदित्यत आह—परलोकापायनिरपेक्षम्,-इति, तत्र परलोकापायाः-नरकगमनादयस्तन्निरपेक्षमिति गाथार्थः॥ २१॥ उक्तस्तृतीयो भेदः।

साम्प्रतं चतुर्थं भेदमुपदर्शयन्नाह—

सद्दाइविसयसाहण-धणसारक्खणपरायणमणिट्ठं।
सव्वाभिसंकणपरो-वघायकलुसाउलं चित्तं॥ २२॥

शब्दादयश्च ते विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषां साधनं-कारणं शब्दादिविषयसाधनम्। तच्च तद्धनं च शब्दादिविषयसाधनधनं तत्संरक्षणं-तत्परिपालने परायणम्—उद्युक्तमिति विग्रहः, तथा अनिष्टं-सतामनभिलषणीयमित्यर्थः, इदमेव विशेष्यते-सर्वेषामभिशङ्कनेनाऽऽकुलमिति सम्बध्यते,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न विद्मः कः किं करिष्यतीत्यादिलक्षणेन, तस्मात्सर्वेषां यथाशक्त्योपघात एव श्रेयानित्येवं परोपघातेन च, तथा कलुषयन्त्यात्मानमिति कलुषाः-कषायास्तैराकुलं व्याप्तं यत्तत्तथोच्यते, चित्तम्--अन्तःकरणं, प्रकरणाद्रौद्रध्यानमिति गम्यते, इह च शब्दादिविषयसाधनं धनविशेषणं किल श्रावकस्य चैत्यधनसंरक्षणेन रौद्रध्यानमिति ज्ञापनार्थमिति गाथाऽर्थः ॥ २२ ॥

साम्प्रतं विशेषणाभिधानगर्भमुपसंहरन्नाह—

इय करणकारणाणुम-इविसयमणुचिंतणं चउब्भेयं ।
अविरयदेसासंजय-जणमणसंसेवियमहम्मं ॥ २३ ॥

'इय' एवं करणं स्वयमेव कारणमन्यैः कृतानुमोदनमनुमतिः । करणं च कारणं चानुमतिश्च करणकारणानुमतयः । एता एव विषयः-गोचरो यस्य तत्करणकारणानुमतिविषयं, किमिदमित्यत आह--अनुचिन्तनं--पर्यालोचनमित्यर्थः, चतुर्भेदम्--इति हिंसानुबन्ध्यादिचतुष्प्रकारं, रौद्रध्यानमिति गम्यते, अधुनेदमेव स्वामिद्वारेण निरूपयति-अविरताः--सम्यग्दृष्टयः, इतरे च देशासंयताः--श्रावकाः, अनेन सर्वसंयतव्यवच्छेदमाह--अविरतदेशासंयता एव जनाः २ तेषां मनांसि--चित्तानि तैः संसेवितं, सश्चिन्तितमित्यर्थः,मनोग्रहणमित्यत्र ध्यानचिन्तायां प्रधानाङ्गख्यापनार्थम्,'अधन्यम्' इत्यश्रेयस्करं पापं निन्द्यमिति गाथाऽर्थः॥२३॥

अधुनेदं यथा भूतस्य भवति यद्वर्द्धनं चेदमिति तद्-
तदभिधातुकाम आह--

एयं चउव्विहं रा-गदोसमोहाउलस्स जीवस्स।
रोद्दज्झाणं संसा-रवद्धणं नरयगइमूलं ॥ २४ ॥

एतद्--अनन्तरोक्तं चतुर्विधम्--चतुष्प्रकारं रागद्वेषमोहाङ्कितस्य आकुलस्य वेति पाठान्तरं कस्य ?--जीवस्य-आत्मनः, किं ?-रौद्रध्यानमिति, इदमत्र चतुष्टयस्याऽपि क्रिया, किं विशिष्टमिदमित्यत आह--संसारवर्द्धनम्-ओघतः, नरकगतिमूलं विशेषत इति गाथाऽर्थः ॥ २४ ॥

साम्प्रतं रौद्रध्यायिनो लेश्याः प्रतिपाद्यन्ते-

कावोयनीलकाला, लेसाओ तिव्वसंकिलिट्ठाओ ।
रोद्दज्झाणोवगय-स्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥२५॥

पूर्ववद् व्याख्येया, एतावांस्तु विशेषः-तीव्रसंक्लिष्टा—अतिसंक्लिष्टा एता इति ।

आह—कथं पुनः रौद्रध्यायी ज्ञायत इति ? , उच्यते—लिङ्गेभ्यः, तान्येवोपदर्शयति—

लिंगाइँ तस्स उस्सण्ण-बहुलनाणाविहा मरणदोसा ।
तेसिं चिय हिंसाइसु, बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥ २६ ॥

लिङ्गानि—चिह्नानि तस्य—रौद्रध्यायिनः, ' उत्सन्नबहुलनानाविधा मरणदोषा ' इत्यत्र दोषशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, उत्सन्नदोषः बहुलदोषः नानाविधदोषः आमरणदोषश्चेति , तत्र हिंसानुबन्ध्यादीनामन्यतरस्मिन् प्रवर्त्तमान उत्सन्नम्—अनुपरतं बाहुल्येन प्रवर्तते इत्युत्सन्नदोषः, सर्वेष्वपि चैवमेव प्रवर्त्तत इति बहुलदोषः । नानाविधेषु त्वक्त्वक्षणनयनोत्खननादिषु हिंसाद्युपायेष्वसकृदप्येवं प्रवर्त्तत इति नानाविधदोषः, महदापद्गतोऽपि स्वतः महदापद्गतेऽपि च परे आमरणादसञ्जातानुतापः कालसौकरिकवद् , अपि त्वसमाप्तानुतापानुशयपर इत्यामरणदोष इति तेष्वेव हिंसादिषु , आदिशब्दान्मृषावादादिपरिग्रहः, ततश्च तेष्वेव हिंसानुबन्ध्यादिषु चतुर्भेदेषु. किं ?—बाह्यकरणोपयुक्तस्य सत उत्सन्नादिदोषलिङ्गानीति, बाह्यकरणशब्देनेह वाक्कायौ गृह्येते, ततश्च ताभ्यामपि तीव्रमुपयुक्तस्येति गाथाऽर्थः ॥ २६ ॥

किं च—

परवसणं अहिनंदइ, निरवेक्खो निद्दओ निरणुतावो ।
हरिसिज्जइ कयपावो, रोदज्झाणोवगयचित्तो ॥ २७ ॥

इहाऽऽत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परस्तस्य व्यसनम्—आपत् परव्यसनं तद् अभिनन्दति—अतिक्लिष्टचित्तत्वाद्बहु मन्यत इत्यर्थः, शोभनमिदं यदेतदित्थं संवृत्तमिति, तथा—निरपेक्ष—इहान्यभविकापायभयरहितः , तथा निर्गतदयो निर्दयः—परानुकम्पाशून्य इत्यर्थः, तथा निर्गतानुतापो निरनुतापः-पश्चात्तापरहित इति भावः, तथा किं च—हृष्यते—तुष्यति कृतपापः—निवर्तितपापः सिंहमारकवत् , क? इत्यत आह—रौद्रध्यानोपगतचित्त इति, अमूनि च लिङ्गानि वर्त्तन्त इति गाथाऽर्थः ॥ २७ ॥ आव० ४ अ० । रोदयति परानिति रुद्रः—दुःखहेतुः तेन कृतं तस्य वा कर्म-रौद्रम् । दुःखहेतौ, न० । ध० २ अधि० ।

रुद्देव–रुद्रदेव–पुं० । अङ्गारमर्दकाचार्येति प्रसिद्धे अभव्याचार्ये, पञ्चा० ६ विव० । काकन्दीग्रामवास्तव्ये स्वनामख्याते राजनि, ती० ४६ कल्प ।

रुद्दय–रुद्रक–पुं० । आजीवशब्दे उदाहृते ज्योतिर्यशसो मारके कौशिकार्यशिष्ये, आ० क० ४ अ० । आ० चू० ।

रुद्दसेण–रुद्रसेण–पुं०।धरणिनागकुमारेन्द्रस्य पदात्यनीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा० ।

रुद्दसोमा–रुद्रसोमा–स्त्री० । दशपुरनगरे शोमदेवनामब्राह्मणस्याग्रमहिष्याम् आर्यवज्रमातरि , विशे० । दर्श० । आ० क० । सङ्घा० । आ० चू० । आ० म० ।

रुद्दा–रुद्रा–स्त्री० । तुरमिण्यां नगर्यां दत्तस्य मातरि कालिकाचार्यसूरेर्भगिन्याम् , दर्श० ३ तत्त्व ।

रुद्ध–रुद्ध–न० । स्थगिते, बृ० ३ उ० ।

रुंध (म्भ) (ज्झ)–रुध्–धा० । आवरणे, "रुधो न्ध-म्भौ च" ॥ ८ । ४ । २१८ ॥ इति रुधोऽन्त्यस्य न्ध म्भ इत्येतौ आदेशौ, सूत्रे चकाराद् ज्झश्च । रुन्धइ । रुम्भइ । रुज्झइ । प्रा० ४ पाद ।

रुधिर–रुधिर–न० । रक्ते, स० ।

रुधिरपाल–रुधिरपाल–पुं० । उज्जयिन्यां तोसलिनगरवास्तव्ये वणिजि, बृ० ३ उ० ।

रुप्प–रूप्य–न० । रजते, ध० २ अधि० । आ० चू० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रुप्पकुंभ-रुप्यकुम्भ-पुं० । वासुपूज्यजिनशिष्ये, ती० ३४ कल्प ।

रुप्पकूड-रुप्यकूट-पुं० । जम्बूद्वीपे मेरोरुत्तरे रुक्मिनामवर्ष-धरपर्वते षष्ठे कूटे, स्था० ३ उ० । जं० । (स च 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२५ पृष्ठे वर्णितः)

रुप्पकूलप्पवायदह-रूप्यकूलप्रपातहृद-पुं० । रोहितप्रपातह-दसमानवक्तव्यताके रूप्यकूलोद्गमस्थाने, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

रुप्पकूला-रूप्यकूला-स्त्री० । जम्बूद्वीपे पूर्वावरेण लवणसमु-द्रगामिन्यां महानद्याम्, स० १४ सम० । सा च महापुण्डरी-कहृदस्योत्तरतोरणेन विनिर्गत्य ऐरण्यवद्वर्षं विभजन्ती रोहि-न्नदीतुल्यवक्तव्या अपरसमुद्रं गच्छतीति । स्था० २ ठा० ३ उ० । रा० ।

रुप्पच्छद-रूप्यच्छद-पुं० । रूप्याच्छादने छत्रे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

रुप्पनाम-रूप्यनामन्-पुं० । मङ्गलावतीविजये वज्रसेनसुत-स्य वज्रनाभनाम्नः ऋषभपूर्वभवजीवस्य कनिष्ठभ्रातरि, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

रुप्पपट्ट-रूप्यपट्ट-पुं० । रूप्यो रूप्यमयो पट्टो येषां ते रूप्यप-ट्टाः । रजतपट्टकेषु, रा० । जी० । आ० म० । ज्ञा० ।

रुप्पय-रूप्यक-न० । रूपाय आहन्यते स्वर्णादि यत् । अलङ्कारा-दिनिर्माणाय आहन्यमाने स्वर्णे, रजते च । स्वार्थे यत् । र-जतमात्रे, आव० ३ अ० । " रुप्पयं रययं " पाइ० ना० ११६ गाथा ।

रुप्पागर-रूप्याकर-पुं० । रजतखनौ, स्था० ८ ठा० । जी० ।

रुप्पाभास-रुप्याभास-पुं । अष्टाविंशतितमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० " दो रुप्पाभासा । " स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० ।

रुप्पि-रुक्मिन्-पुं० । " ड्म-क्मोः " ॥ ८ । २ । ५२ ॥ इति पो वा । कचित्-च्मोऽपि-रुच्मी । रुप्पो । प्रा० । " अनादौ शे-षादेशयोर्द्वित्वम् " ॥८।२।८६॥ इति द्वित्वम् । प्रा० । कृष्णाग्र-महिष्या रुक्मिण्या भ्रातरि भीष्मसुते कौण्डिल्यनगरराजे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । मल्लीनाथतीर्थकरेण सह प्रव्रजिते कु-णालराजे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्यो-त्तरे स्वनामख्याते वर्षधरपर्वते, जं० ।

कहि णं भंते ! जम्बुद्दीवे दीवे रुप्पी णामं वा-सहरपव्वए पण्णत्ते ?, गोयमा ! रम्मगवासस्स उत्तरेणं हेरण्णवयवासस्स दक्खिणेणं पुरत्थिमल-वणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं पच्चत्थिमलवणसमुद्दस्स पु-रत्थिमेणं एत्थ णं जम्बुद्दीवे दीवे रुप्पी णामं वा-सहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणवि-त्थिण्णे, एवं जा चेव महाहिमवंतवत्तव्वया सा चेव रुप्पि-स्स वि, णवरं दाहिणेणं जीवा उत्तरेणं धणु अवसेसं तं चेव । महापुंडरीए दहे णरकंता णदी दक्खिणेणं णेअ-व्वा जहा रोहिया पुरत्थिमेणं गच्छइ, रुप्पकूला उत्तरेणं णेअव्वा जहा हरिकंता पच्चत्थिमे णं गच्छइ, अवसेसं तं चेव त्ति । रुप्पिम्मि णं भंते ! वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ?, गोयमा ! अट्ठ कूडा पण्णत्ता ?, तं जहा— " सिद्धे १ रुप्पी २ रम्मग ३, णरकंता ४ बुद्धि ५ रुप्पकूला य ६ । हेरण्णवय ७ मणिकंचण ८ अट्ठ य रुप्पिम्मि कूडाइं ॥ १ ॥ " सव्वे वि एए पंचसइआ रायहाणीओ उत्तरेणं । से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ रुप्पी वासहरपव्वए ?, रुप्पी वासहरपव्वए गोअमा ! रुप्पी णाम वासहरपव्वए रुप्पी रुप्पपट्टे रुप्पोभासे सव्वरु-प्पामए रुप्पी अ इत्थ देवे पलिओवमट्ठिईए परिवसइ, से एएणऽट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ त्ति । (सू०-१११)

'कहि णं भंते ! ' क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे रुक्मी नाम वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः ?, गौतम ! रम्यकवर्षस्य उत्त-रस्यां वक्ष्यमाणहैरण्यवतक्षेत्रस्य दक्षिणस्यां पूर्वलवणसमु-द्रस्य पश्चिमायां पश्चिमलवणसमुद्रस्य पूर्वस्याम् अत्रान्तरे जम्बूद्वीपे द्वीपे रुक्मी नाम्ना पञ्चमो वर्षधरः प्रज्ञप्तः । प्राचीन-प्रतीचीनाऽऽयतः उत्तरदक्षिणयोर्विस्तीर्णः, एवमुक्तानुसारेण यैव महाहिमवद्वर्षधरवक्तव्यता सैव रुक्मिणोऽपि परं दक्षि-णतो जीवा उत्तरस्यां धनुःपृष्ठम् अवशेषं-व्यासादिकं तदे-व-द्वितीयवर्षधरप्रकरणोक्तमेव, द्वयोः परस्परं समानत्वात्, महापुण्डरीकोऽत्र(हृदो)द्रहो महापद्मद्रहतुल्यः, अस्माच्च नि-र्गता दक्षिणतोरणेन नरकान्ता महानदी नेतव्या, अत्र च का नदी निदर्शनीयेत्याह-' जहा रोहिय ' त्ति यथा रोहिता 'पुरत्थिमेणं गच्छइ' त्ति पूर्वेण गच्छति समुद्रमिति शेषः, यथा रोहिता महाहिमवतो महापद्मद्रहतो दक्षिणेन प्रव्यूढा सती पूर्वसमुद्रं गच्छति तथैषाऽपि प्रस्तुतवर्षधराद्दक्षिणेन निर्गता पूर्वेणाब्धिमुपसर्पतीति भावः, रूप्यकूला उत्तरेण-उत्तरतोरणेन निर्गता नेतव्या, यथा हरिकान्ता हरिवर्षक्षेत्र-वाहिनी महानदी ' पच्छत्थिमेणं गच्छइ ' त्ति पश्चिमाब्धिं गच्छति । अथ नरकान्तायाः समानक्षेत्रवर्त्तित्वेन हरिकान्ता-याः रूप्यकूलायास्तु रोहिताया अतिदेशो वक्तुमुचित इत्याह—अवशेषं—गिरिगन्तव्यमुखमूलव्याससरित्सम्पदा-दिकं वक्तव्यम्, तदेवेति-समानक्षेत्रवर्त्तिसरित्प्रकरणोक्तमेव, तच्च नरकान्ताया हरिकान्ताप्रकरणोक्तं, रूप्यकूलायास्तु रो-हिताप्रकरणोक्तम् । यत्तु नरकान्ताया अतुल्यक्षेत्रवर्त्तिन्या रो हितया सह रूप्यकूलायास्तु हरिकान्तया सहातिदेशकथनं तत्र समानदिग्निर्गतत्वं समानदिग्गामित्वं च हेतुः । अथा-त्र कूटवक्तव्यतामाह—'रुप्पिम्मि णं' इत्यादि रुक्मिणि पर्वते भगवन् ! कति कूटानि प्रज्ञप्तानि ?, गौतम ! अष्ट कूटानि प्रज्ञ-प्तानि, तद्यथा-प्रथमं समुद्रदिशि सिद्धायतनकूटं ततो रुक्मि-कूटं-पञ्चमवर्षधरपतिकूटं रम्यकूटं-रम्यकक्षेत्राधिपदेवकूटं नरकान्तानदीदेवीकूटं-बुद्धिकूटं महापुण्डरीकद्रहसुरीकूटं रूप्यकूलानदीसुरीकूटं हैरण्यवतकूटं-हैरण्यवतक्षेत्राधिपदे-वकूटमणिकाञ्चनकूटम्, एतानि प्राक्परायतश्रेण्या व्यव-स्थितानि पञ्चशतिकानि सर्वाण्यपि, राजधान्यः कूटाधिप-देवानामुत्तरस्याम् । सम्प्रत्यस्य नामनिदानं पर्यनुयुङ्क्ते—'से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केणट्ठेणं ' इत्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—रुक्मी वर्षधरपर्वतः २ इति ?, गौतम ! रुक्मी वर्षधरपर्वतो रुक्मं-रूप्यं शब्दानामनेकार्थत्वात्; तदस्यास्तीति रुक्मी, एष सर्वदा रूप्यमयः शाश्वतिक इति नित्ययोगे इन् प्रत्ययः, रूप्यावभासो—रूप्यमिव सर्वतोऽवभासः-प्रकाशो भास्वरत्वेन यस्याऽसौ तथा, एतदेव व्याचष्ट-सर्वात्मना रूप्यमय इति, रुक्मी चात्र देवस्ततस्तन्मयत्वात् तत्स्वामिकत्वाच्च रुक्मीति व्यपदिश्यते। जं० ४ वक्ष०। स्था०। स०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरे रुक्मिवर्षधरपर्वते द्वितीये कूटे, स्था० ८ ठा०। सप्तविंशतितमे महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ०। (धातकीखण्डद्वीपे द्वौ रुक्मिनामानौ पर्वतौ तौ च ' धायइसंडदीव ' शब्दे चतुर्थभागे २७४६ पृष्ठे उक्तौ)

रुप्पिणी-रुक्मिणी-स्त्री०। " ड्म-क्मोः " ॥ ८। २ ॥ ५२ ॥ इति पो वा। रुप्पिणी। रुक्मिणी। प्रा०। कृष्णवासुदेवस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ८ ठा०। रुक्मिणीपरिणयनम्। प्रश्न०। तथा रुक्मिण्याः कृते संग्रामोऽभूत्, तथाहि—कुण्डिन्यां नगर्यां भीष्मनरपतेः पुत्रस्य रुक्मिणो नृपस्य भगिनी रुक्मिणी कन्या बभूव, इतश्च द्वारिकायां कृष्णवासुदेवस्य भार्या सत्यभामा, तद्गेहे च नारदः कदाचिदवततार, तया तु व्यग्रतया न सम्यगुपचरितः, ततः कुपितोऽसौ तां प्रति सापत्न्यमस्याः करोमीति विभाव्य कुण्डिनीं नगरीमुपगतः, रुक्मिण्या च प्रणतः सन् कृष्णस्य महादेवी भवेत्याशिषमवादीत्, कृष्णगुणांश्च तत्पुरतो व्यावर्णयन् तं प्रति तां सानुरागामकरोत्, तद्रूपं च चित्रपटे विलिख्य कृष्णस्य तदुपदर्श्य तां प्रति तमपि साभिलाषमकार्षीत्, ततः कृष्णो रुक्मिणं तां याचितवान्, रुक्म्यपि न दत्तवान्, शिशुपालाभिधानं च महाबलं राजसूनुमानीय विवाहमारम्भितवान्, रुक्मिणीसत्कया पितृष्वस्रा च कृष्णस्य रुक्मिण्यपहरणार्थो लेखो दत्तः, ततश्च रामकेशवौ तां नगरीमागतौ, रुक्मिणी च पितृष्वस्रा सह चेटिकापरिवृता देवतार्चनव्याजेनोद्यानमागता, कृष्णेन रथमारोपिता-ततस्तौ द्वारिकाभिमुखौ तां गृहीत्वा प्रचलितौ, पूत्कृतं च चेटिकाभिः निर्गतौ सदर्पौ चतुरङ्गसैन्यसमग्रौ रुक्मिणीव्यावर्त्तनार्थं रुक्मिशिशुपालमहाराजौ, ततो विनिवृत्य हलिना हलमुशलाभ्यां दिव्यास्त्राभ्यां चूर्णितं तद्बलं विमुक्तौ कृच्छ्रजीवितौ शिशुपालरुक्मिणाविति। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। (सा च अरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रजिता विंशतिवर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य मासिक्या प्रतिलेखनया मृत्वा सिद्धा इत्यन्तकृद्दशानां चतुर्थवर्गस्य अष्टमेऽध्ययने सूचितम्।) (रुक्मिण्याः सर्वा वक्तव्यता पद्मावतीवक्तव्यतावत्, तद्वक्तव्यता च ' पउमावई ' शब्दे पञ्चमभागे १६ पृष्ठे गता)

रुय-रुत-न०। रवणं रुतम्। शब्दकरणे, दश० ४ अ०। ज्ञा०।

रुयग-रुचक-पुं०। वर्णे, औ०। कृष्णमणिविशेषे, आ० क० १ अ०। प्रज्ञा०। उत्त०। सूत्र०। औ०। जम्बूद्वीपापेक्षया स्वनामख्याते त्रयोदशे द्वीपे, द्वी०। कुण्डलवरावभाससमुद्रपरिक्षेपी रुचको द्वीपः (जी०) रुचकद्वीपपरिक्षेपी रुचकः समुद्रः। स्वनामख्याते समुद्रे, जी० ३ प्रति० २ उ०। प्रज्ञा०। अनु०। ज्ञा०। (' रुयगदीव ' शब्दे वक्तव्यतासूत्रं वक्ष्यामि) रुचकद्वीपवर्त्तिनि चक्रवालपर्वते, स्था० ६ ठा०। (रुचकवरपर्वते अष्टसु कूटेषु अष्ट दिक्कुमार्यः स्वस्वस्थाने दर्शिताः)

अथास्य द्वीपस्योच्चत्वादिकमाह—

दसकोडिसहस्साइं, चत्तारि सयाइ पंचसीयाइं।
बावत्तरिं च लक्खा, विक्खंभो रुयगदीवस्स ॥१०६॥
रुयगवरस्स उ मज्झे, नगुत्तमो होइ पव्वओ रुयगो।
पागारसरिसरूवो, रुयगं दीवम्मि भयमाणो ॥ ११० ॥
रुयगस्स उ उस्सेहो, चउरासिं भवे सहस्साइँ।
एगं चेव सहस्सं, धरणियलमहे समोगाढो ॥ १११ ॥
दस चेव सहस्सा खलु, बावीसं जोयणाइँ बोधव्वा।
मूलम्मि उ विक्खंभो, साहिओ रुयगसेलस्स ॥११२॥
सत्तेव सहस्सा खलु, तेवीसं जोयणाइँ बोधव्वा।
मज्झम्मि य विक्खंभो,रुयगस्स उ पव्वयस्स भवे।११३।
चत्तारि सहस्साइं, चउवीसं जोयणा य बोधव्वा।
सिहरितले विक्खंभो, रुयगस्स उ पव्वयस्स भवे।११४।
सिहरितलं रुयगस्स उ, होंति कूडा चउद्दिसिं तत्थ।
पुव्वाणुपुव्वीॅ तेसिं, इमाइँ नामाइँ कित्तीहिँ ॥११५॥
पुव्वेण अट्ठ कूडा, दक्खिणओ अट्ठ अट्ठ यऽवरेणं।
उत्तरओ अट्ठ भवे, चउद्दिसिं होंति रुयगस्स ॥११६॥
कणग१कंचणगेॅ २तवणे३,दिसासोवत्थिए४अरिट्ठे य५।
चंदण६ अंजणमूले७,वइरे८ पुण अट्ठमे भणिए ॥११७॥
नाणारयणविचित्ता, उज्जोवंता हुयासणसिहु व्व।
एए अट्ठ वि कूडा, हवंति पुव्वेण रुयगस्स ॥ ११८ ॥
फलिहे१रयणे२तवणे३,पढमे४नलिणे५ससी य६नायव्वे।
वेसमणे७वेरुलिए८,रुयगस्स हवंति दक्खिणओ॥११९॥
नाणारयणविचित्ता, अणोवमा वन्नरूवसंकासा।
एए अट्ठ वि कूडा, रुयगस्स हवंति दक्खिणओ।१२०।
अमोहे १ सुप्पवद्धे २ य, हिमवं ३ मंदिरे ४ तहा।
रुयगे ५ गुत्तरे ६ चंदे ७, अट्ठमे य सुदंसणे८ ॥१२१॥
नाणारयणविचित्ता, अणोवमा रूवसंकासा।
एए अट्ठ वि कूडा,रुयगस्स वि होंति पच्छिमओ॥१२२॥
विजये य वेजयंते, जयंत अवराइया अ बोधव्वा।
कुंडलरुयगारयणु-च्चरा य तह सव्वरयणे य ॥ १२३ ॥
नाणारयणविचित्ता, उज्जोयंता हुयासणसिहु व्व।
एए अट्ठ वि कूडा, रुयगस्स वि होंति उत्तरओ ॥१२४॥
पलिओवमट्ठिईया, एएसिं खलु हवंति कूडेसु।
पुव्वेण आणुपुव्वी, दिसाकुमारीण ते हुंति ॥ १२५ ॥
नंदुत्तरा य नंदा, आणंदा नंदिसेणा य।
विजया य वेजयंती, जयंति अवराइया चेव ॥ १२६ ॥
एया पुरिमच्छेणं, रुयगम्मि उ अट्ठ हुंति देवीओ।
पुव्वाइयाणुपुव्वी-दिसा कुमारीण ते हुंति ॥ १२७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लच्छिमई सेसमई, चित्तगुत्ता वसुंधरा। (चेव)
समाहारा सुप्पदिन्ना, सुप्पबुद्धा हु (ज) सोधरा ॥१२८॥
एया उ दक्खिणेणं, हवंति अट्ठ य दिसाकुमारीओ।
जे दक्खिणेण कूडा, अट्ठ वि रुयगे तहिं एया ॥१२६॥
इलॉदेवी सुरॉदेवी, पउमा पउमावई य विन्नेया।
एगनासा णवमिया, सीया भव्वा य अट्ठमिया ॥१३०॥
एया उ पच्छिमदिसा, समासिया अट्ठ दिसॉकुमारीओ।
अवरेण जे य कूडा, अट्ठ वि रुयगे तहिं एया ॥१३१॥
अलंबुसा मीसकेसी, पुंडरिगिणी वारुणी य तहा।
आसा सगपत्ता चेव, सिरिहिरी चेव उत्तरओ ॥१३२॥
एयां दिसाकुमारी, कहिया सव्वन्नुसव्वदरिसीहिं।
जे उत्तरेण कूडा, अट्ठ वि रुयगे तहिं एया ॥ १३३ ॥
जोयणसाहस्सीया, रुयगवरे पव्वयम्मि चत्तारि।
पुव्वाइयाणुपुव्वी, दीवाहिवईण आवासा ॥ १३४ ॥
पुव्वेण उ वेरुलियं, मणिकूडं पच्छिमे दिसाभाए।
रुयगं पुण दक्खिणओ, रुयगुत्तरमुत्तरे पासे ॥ १३५ ॥
जोयणसहस्सियाणं, एए कूडा हवंति चत्तारि।
पुव्वाइयाणुपुव्वी, ते होंति दिसाकुमारीणं ॥ १३६ ॥
पुव्वेण य वेरुलियं, मणिकूडं पच्छिमे दिसाभाए।
रुयगं पुण दक्खिणओ, रुयगुत्तरमुत्तरे पासे ॥१३७॥
रुप्पंसा य सुरूवा, रूववई रूवकंता य।
पुव्वाइयाणुपुव्वी, चउद्दिसिं तेसु कूडेसुं ॥ १३८ ॥
पलिओवमं दिवड्ढं, विइयाओ ऍयासि होइ सव्वासिं।
एकेकमपरियाइं, होइ य अट्ठण्ह कूडाणं ॥ १३६ ॥
पुव्वेण सोत्थिकूडा, अवरेण य नंदणं भवे कूडं।
दक्खिणओ लोगहियं, उत्तरओ सव्वभूयहियं ॥१४०॥
जोयणसाहस्सीया, एए कूडा हवंति चत्तारि।
पुव्वाइयाणुपुव्वी, दिसा गइंदाण ते होंति ॥ १४१ ॥
पद्मुत्तरनीलवंतं, सुहत्थी अंजणागिरी य।
एए दिसागइंदा, दिवड्ढपलिओवमट्ठितिया ॥ १४२ ॥
पुव्वेण होइ विमलं, सयंपभे दक्खिणे दिसाभाए।
अवरे पुण पच्छिमओ, तिव्वुज्जोयं च उत्तरओ ॥१४३॥
जोयणसाहस्सीया, एए कूडा हवंति चत्तारि।
पुव्वाइयाणुपुव्वी, विज्जुकुमारीण ते हुंति ॥१४४॥
चित्ता य चित्तकणगा, सतेरसा सोमणी य नायव्वा।
एया विज्जुकुमारी, साहियपलिओवमट्ठितिया ॥१४५॥
विज्जुकुमारीणं द-क्खिणकूडा दिसागइंदाणं।
तत्तामयहरियाणं, विज्जुकुमारीण इय हुंति ॥१४६॥
रुयगवरस्स उ बाहिं, ओगाहित्ताणु अट्ठ लक्खाइं।
चुलसीइसहस्साइं, रइकरगा पव्वया रम्मा ॥१४७॥द्वी०।

रुयगे णं मंडलियपव्वए पंचासीइं जोयणसहस्साइं सव्वग्गेणं पण्णत्ता। (सू० ८५)

रुचको—रुचकाभिधानस्त्रयोदशद्वीपान्तर्गतः प्राकाराकृती रुचकद्वीपविभागकारितया स्थितः, अत एव माण्डलिकपर्वतो, मण्डलेन व्यवस्थितत्वात्, स च सहस्रमवगाढश्चतुरशीतिरुच्छ्रित इति पञ्चाशीतिः सहस्राणि सर्वाग्रेणेति। स० ८५ सम०।

अस्य विष्कम्भमाह—

रुयगवरे णं पव्वए दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं उवरि दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। एवं कुंडलवरे वि। (सू० ७२६)

रुचको रुचकाभिधानस्त्रयोदशद्वीपवर्ती चक्रवालपर्वतः। कुण्डलः कुण्डलाभिधान एकादशद्वीपवर्त्ती चक्रवालपर्वतः एव, 'एवं कुण्डलवरेऽवि' इत्यनेनेह कुण्डलवर उद्वेधमूलविष्कम्भोपरि विष्कम्भैः रुचकवरपर्वतसमान उक्तो, द्वीपसागरप्रज्ञप्त्यां त्वेवमुक्तः-"दस चेव जोयणसए, बावीसे वित्थडो उ मूलम्मि। चत्तारि जोयणसए, चउवीसे वित्थडो सिहरे ॥ १ ॥" इति। रुचकस्याऽपि तत्राऽयं विशेष उक्तः-मूलविष्कम्भो दश सहस्राणि द्वाविंशत्यधिकानि,शिखरे तु चत्वारि सहस्राणि चतुर्विंशत्यधिकानीति। अनन्तरं गणितानुयोग उक्तः। स्था० १० ठा०। सूत्र०। नं०। सा (दिक्) च मेरुमध्य अष्टप्रदेशिकरुचकाद्भावनीया ; तथाहि-तिर्यग्लोकस्य मध्यभागे आयाम-विष्कम्भाभ्यां प्रत्येकं रज्जुप्रमाणौ सर्वप्रतराणां क्षुल्लकौ द्वौ नभः-प्रदेशप्रतरौ विद्येते। तयोश्च मेरुमध्यप्रदेशे मध्यं लभ्यते। तत्र च मध्य उपरितनप्रतरस्य ये चत्वारो नभःप्रदेशास्तथा—अधस्तनप्रतरस्य तु ये चत्वारो व्योमप्रदेशास्तेषामष्टानामपि प्रदेशानां समये रुचक इति परिभाषा। अयं चाष्टप्रदेशिको रुचकः समस्ततिर्यग्लोकमध्यवर्ती गोस्तनाकारः क्षेत्रतः षण्णामपि दिशां चतसृणामपि च विदिशां प्रभवः (उत्पत्तिस्थानम्) मन्तव्यः; उक्तं च-(आचाराङ्गनिर्युक्तौ) " अट्ठपएसो रुयगो, तिरियं लोयस्स मज्झयारम्मि। एस पभवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं ॥ ४२ ॥ " (अस्या गाथाया व्याख्या 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे गता) अस्माच्च रुचकाद् दिशो विदिशश्च यथा प्रभवन्ति तथोच्यते-यथोक्तरुचकाद् बहिश्चतसृष्वपि दिक्षु प्रत्येकमादौ द्वौ द्वौ नभःप्रदेशौ भवतः, तदग्रतश्चत्वारः, तत्पुरतः षट्, ततोऽप्यग्रतोऽष्टौ व्योमप्रदेशा इत्येवं द्व्यादिद्व्युत्तरश्रेण्या चतसृष्वपि दिक्षु पृथग् नेतव्यम्। तत एताः शकटोर्ध्वसंस्थानाः पूर्वादिका महादिशश्चतस्रो भवन्ति। एतासां च चतसृणामपि दिशां चतुर्ष्वन्तरालकोणेष्वेकैकनभःप्रदेशनिष्पन्ना अनुत्तरा यथोत्तरं वृद्धिरहिताश्छिन्नमुक्तावलीसंस्थिताश्चतस्र एव विदिशो भवन्ति। ऊर्ध्वं तु चतुरो नभःप्रदेशानादौ कृत्वा यथोत्तरं वृद्धिरहितत्वाच्चतुःप्रदेशिकैव रुचकनिभा च चतुरस्रदण्डाकारैकैव भवति, अधोऽप्येवंप्रकारा द्वितीयेति।

उक्तं च—

" दुपएसाइदुरुत्तर, एगपएसा अणुत्तरा चेव।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चउरो चउरो य दिसा, चउरो य अणुत्तरा दोसि ॥ १ ॥
सगडुद्धिसंठियाओ,महादिसाओ हवंति चत्तारि ।
मुत्तावली व चउरो, दो चेव य होंति रुयगनिभा ।२।' विशे०।
" जे मंदरस्स पुव्वे-ण मणुस्सा दक्खिणेण अवरेणं । जे आवि उत्तरेणं, सव्वेसिं उत्तरो मेरू " ॥ १ ॥ रुचकापेक्षं पूर्वादिदिक्त्वं वेदितव्यम् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (रुचकादेव पूर्वादिदिशां व्यवहार इति ' दिसा ' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे उक्तम्) ।

रुयगकुमारी--रुचककुमारी--स्त्री० । रुचकपर्वतवास्तव्यासु दिक्कुमारीषु, ति० । कल्प० । (ताश्च ' दिसाकुमारी ' शब्दे चतुर्थभागे २५३५ पृष्ठे दर्शिताः) चतुर्षु रुचकपर्वतेषु प्रत्येकमष्टसु कूटेषु दिक्कुमार्यः । स्था० ८ ठा० ।

रुयगकूड-रुचककूट--न० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे रुचकवरपर्व्वते पञ्चमे कूटे, रुचकश्चक्रवालपर्वतः तदधिष्ठातृदेवनिवासो रुचककूटमिति । निषधस्याष्टमे कूटे, स्था० ६ ठा० । जं० । सुवत्सादेव्यधिष्ठितस्थानके, स्था० ६ ठा० । (' धायइसंडदीव ' शब्दे चतुर्थभागे २७४६ पृष्ठे रुचकद्वयकूटवक्तव्यता उक्ता ।)

रुयगजसा-रुचकयशा--स्त्री० । रुचकपर्व्वतस्य मध्यदेशे दक्षिणदिक्कृवास्तव्यासु दिक्कुमारीषु, ति० ।

रुयगदीव-रुचकद्वीप-पुं०। कुण्डलवराबभासपरिक्षेपिणि द्वीपभेदे, जी० ।

कुंडलवरोभासं णं समुद्दं रुयगे णामं दीवे वट्टे वलया० जाव चिट्ठति, किं समचक्कवालसंठाणसंठिए विसमचक्कवालसंठाणसंठिए ?, गोयमा ! समचक्कवालसंठाणसंठिए, नो विसमचक्कवालसंठाणसंठिते, केवतियं चक्कवालसंठाणसंठिए पण्णत्ते?,सव्वट्ठ--मणोरमा एत्थ दो देवा सेसं तहेव ।

कुण्डलवरावभाससमुद्रपरिक्षेपी रुचको द्वीपो, रुचकद्वीपपरिक्षेपी रुचकः समुद्रः (जी०) रुचकद्वीपे सर्वार्थ-मनोरमौ देवौ । जी० ३ प्रति० २ उ० ।

रुयगवडिंसग-रुचकावतंसक--न० । रुचकायां राजधान्यां रुचकाया देव्या आवासभवने,ज्ञा०२श्रु०४ वर्ग १ उ० । द्वी० ।

रुयगवर-रुचकवर--पुं०। रुचकवरसमुद्रपरिक्षेपिणि द्वीपे,जी०।

रुयगवरं णं दीवे वट्टे रुयगवरभद्द-रुयगवरमहाभद्दा एत्थ दो देवा महिड्डिया ।

रुचकसमुद्रपरिक्षेपी रुचकवरो द्वीपः । तत्परिक्षेपी रुचकवरः समुद्रः । (जी०)रुचकवरसमुद्रे रुचकवरभद्र-रुचकवरमहाभद्रौ (देवौ महर्द्धिकौ परिवसतः) जी० ३ प्रति० २ उ० । स्वनामख्याते समुद्रे, प्रज्ञा० १५ पद १ उ० । सू० प्र० । स्था० । चं० प्र० । अनु० ।

रुयगवरदीवे रुयगवर--रुयगवरमहावरा एत्थ दो देवा महिड्डिया ।

तत्- रुचकवरसमुद्र-) परिक्षेपी रुचकवरावभासो द्वीपः । (जी०) रुचकवरे समुद्रे रुचकवर-रुचकवरमहावरौ (देवौ महर्द्धिकौ परिवसतः) जी० ३ प्रति० २ उ० । (' रुयग ' शब्दे बहु वक्तव्यमत्र गतम्)

१४४

रुयगवरभद्द--रुचकवरभद्र--पुं० । रुचकवरद्वीपाधिपे देवे, सू० प्र० १६ पाहु० ।

रुयगवरमहाभद्द--रुचकवरमहाभद्र--पुं० । रुचकवरद्वीपदेवे, सू० प्र० १६ पाहु० । जी० ।

रुयगवरमहावर--रुचकवरमहावर--पुं० । रुचकवरोदसमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० २ उ० ।

रुयगवरोद--रुचकवरोद--पुं० । रुचकवरद्वीपपरिक्षेपिसमुद्रे , चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० ।

रुयगवरोभास--रुचकवरावभास--पुं० । रुचकोदसमुद्रपरिक्षेपिणि द्वीपे, जी० ।

रुयगवरावभासे दीवे रुयगवरावभासभद्द-रुयगवरावभासमहाभद्दा एत्थ दो देवा महिड्डिया ।

(रुचकवरसमुद्रपरिक्षेपी) रुचकवरावभासो द्वीपः । तत्परिक्षेपी रुचकवरावभासः समुद्रः । (जी०) रुचकवरावभासे द्वीपे रुचकवरावभासभद्र--रुचकवरावभासमहाभद्रौ (देवौ महर्द्धिकौ परिवसतः) । जी० ३ प्रति० २ उ० । स्वनामख्याते समुद्रे च । जी० ।

रुयगवरावभासे समुद्दे रुयगवरावभासवर--रुयगवरावभासमहावरा एत्थ दो देवा महिड्डिया ।

रुचकवरावभासे समुद्रे रुचकवरावभासवर-रुचकवरावभासमहावरौ (देवौ महर्द्धिकौ परिवसतः) । जी० ३ प्रति० २ उ० ।

रुयगवरोभासभद्द--रुचकवरावभासभद्र--पुं० । रुचकवरावभासद्वीपदेवे, सू० प्र० १६ पाहु० । जी० ।

रुयगवरोभासमहाभद्द--रुचकवरावभासमहाभद्र--पुं० । रुचकवरावभासोदसमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० २ उ० ।

रुयगवरोभासवर--रुचकवरावभासवर--पुं० । रुचकवरावभाससमुद्रदेवे, सू० प्र० १६ पाहु० ।

रुयगवरोभासोद--रुचकवरावभासोद--पुं० । रुचकवरावभासद्वीपपरिक्षेपिणि समुद्रे, जी० ३ प्रति० २ उ० ।

रुयगसिरी--रुचकश्री--स्त्री० । चम्पायां नगर्यां रुचकगृहपतेर्भार्यायाम्, यत्सुता रुचका जन्मान्तरे भूतानन्दस्याग्रमहिषी जाता । ज्ञा० २ श्रु० ३ वर्ग १ अ० ।

रुयगा -रुचका--स्त्री० । रुचकपर्वतमध्यभागे पूर्वदिग्वास्तव्यायां दिक्कुमार्य्याम् , ति० ।

रुयगावई--रुचकावती--स्त्री० । रुचकपर्वतस्य मध्यभागे उत्तरदिग्वास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , आ० म० १ अ० । जं० । भूतानन्दस्याग्रमहिष्यां च । भ० १० श० ५ उ० ।

रुयगिंद--रुचकेन्द्र--पुं० । बलेः वैरोचनराजस्य उत्पातपर्वते, स्था० २ ठा० ३ उ० । (स च ' उप्पायपव्वय ' शब्दे द्वितीयभागे ८३७ पृष्ठे दर्शितः)

रुयगुत्तमकूड--रुचकोत्तमकूट--पुं० । जम्बूमन्दरस्य पश्चिमे रुचकपर्वते षष्ठे कूटे, स्था० ८ ठा० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रुयगुत्तरा-रुचकोत्तरा-स्त्री० । रुचकपर्वतस्य मध्यभागे दिक्कुमार्य्याम् , द्वी० ।

रुयगोद-रुचकोद-पुं० । रुचकद्वीपपरिक्षेपिणि समुद्रे, जी० । रुयगोदे नामं समुद्दे जहा खोदोदे समुद्दे संखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं संखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं परिक्खेवेणं । दारा,दारंतरं पि संखेज्जाइं, जोतिसं पि सव्वं संखेज्जं भाणियव्वं, अट्ठो वि जहेव खोदोदस्स नवरि सुमण-सोमणसा एत्थ दो देवा महिड्ढिया तहेव रुयगाओ आढत्तं असंखेज्जं विक्खंभपरिक्खेवो दारा दारंतरं च जोइसं च सव्वं असंखेज्जं भाणियव्वं । जी० ३ प्रति० २ उ० ।

रुयण-रुदन-न० । रुदितप्राये, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

रुयणिया-रुदनिका-स्त्री० । रुदितक्रियायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

रुरु-रुरु-पुं० । मृगविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । प्रज्ञा० । रा० । प्रश्न० । आचा० ।वनस्पतिकायभेदे, म्लेच्छजातिभेदे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

रुरुकण्ह-रुरुकृष्ण-पुं० । साधारणबादरवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

रुलंत-रुलत-पुं० । भूमौ लुठति , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

रुह-रुह-त्रि० । रुहः बीजजन्मनि, प्रादुर्भावे, रोहयतीति रुहः । पुनरुत्पत्तिशालिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

रुहिर-रुधिर-न० । शोणिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । "कीलालं सोणिअं रुहिरं" पाइ० ना० ११३ गाथा ।

रुहिरबिंदु-रुधिरबिन्दु-पुं० । शोणितबिन्दौ, जं० ७ वक्ष० ।

रूढ-रूढ-पु० । प्रादुर्भूते, दश० ७ अ० । शुष्के, विशे० । प्रगुणे, "रूढं पउणं" पाइ० ना० २६८ गाथा ।

रू(अ)य-रूत-न० । बीजरहिते लोठितकर्पासे, बृ० १ उ० ३ प्रक० । नि० चू० । तूले, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा । कार्पासपक्ष्मणि, सू० प्र० २० पाहु० । ज्ञा० । भ० ।

रूप-पुं० । द्वीपकुमारेन्द्रस्य लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० । स्था० । स्वभावे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

रूयंती-रूतवन्ती-स्त्री० । कर्पासलोठिन्या लोठयन्त्याम् , पिं० ।

रूयंस-रूपांश-पुं० । द्वीपकुमारेन्द्रस्य लोकपाले , भ० ३ श० ८ उ ।

रूयंसा-रूपांशा-स्त्री० । भूतानन्दस्याग्रमहिष्याम् , भ० ११ श० ५ उ० । दक्षिणदिक्कुमार्य्या मातरि, आ० म० १ अ० ।

रूयकंत-रूपकान्त-पुं० । विशिष्टेन्द्रस्य लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

रूयकंता-रूपकान्ता-स्त्री० । मध्यमरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था०६ ठा० । द्वी० । भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्याग्रमहिष्यां च । स्था० ६ ठा० । भ० ।

रूयगावई-रूपकावती-स्त्री० । रुचकपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमार्य्याम् , आ० क० १ अ० ।

रूयजुय-रूपयुत-त्रि० । रूपवति,लोकानां गुणविशिष्टो बहुमानभाग् जायते । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' इति प्रवादात् कुरूपस्य अनादेयादिप्रसङ्गाच्च इति रूपयुतत्वं सूरिगुणः । प्रव० ६५ द्वार ।

रूयणालिया-रूतनालिका-स्त्री० । रूतं कार्पासविकारस्तद्भृता नालिका शुषिरवंशादिरूपा । रूतभृन्नालिकायाम् , भ० २ श० ५ उ० ।

रूयप्पभा-रूपप्रभा-स्त्री० । भूतानन्दस्याग्रमहिष्याम् , भ० ६ श० ३३ उ० । दिक्कुमार्य्या महत्तरिकायाम् , स्था० ६ ठा० । भ० । मध्यमरुचकपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमार्य्याम् , द्वी० ।

रूयवग्ग-रूपवर्ग-पुं० । लोमपक्षिविशेषे, जी० १ प्रति० ।

रूयसीह-रूपसीह-पुं० । द्वीपकुमारेन्द्रस्य उत्तरदिग्लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० ।

रूया-रूपा-स्त्री० । रुचकपर्व्वतस्य पूर्वदिग्वास्तव्यायां दिक्कुमार्य्याम् , आ० क० १ अ० । जं० । पूर्वदिग्वास्तव्याया दिक्कुमार्य्याः महत्तरिकायाम् , आ० म० १ अ० । स्था० । भूतानन्दस्याग्रमहिष्याम् , ज्ञा० २ श्रु० ४ वर्ग १ अ० । शुक्तिकायाम् , षो० १४ विव० ।

रूयार-रूपकार-पुं० । चित्रकारे, विशे० ।

रूयासिया-रूपासिका-स्त्री० । मध्यमरुचकपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमार्य्याम् , आ० क० १ अ० । जं० ।

रूरुइअ-रोरुचित-न० । कामचिन्तायाम् , "मुरुमुरिअं रूरुइअं" पाइ० ना० १८२ गाथा ।

रूव-रूप-न० । रूपणं रूपः; रूप्यते अवलोक्यते इति रूपम् । आकारे चक्षुर्विषये, स्था० १ ठा० । अणु० । पं०चू० । स्था० । आ० म० । औ० । "करणी रूवं" पाइ० ना० २३६ गाथा । पृथिव्युदकज्वलनवृत्तिचाक्षुषगुणे, सम्म० ३ काण्ड ।

एगे रूवे । स्था० १ ठा० । आचा० ।

दुविहा रू(वा)या पण्णत्ता,तं जहा-अत्ता चेव,अणत्ता चेव० जाव मणामा,अमणामा चेव । (सू०८३)स्था०२ठा०३उ० ।

शरीरसौन्दर्य्ये, स्था० ४ ठा० २ उ० । स० । प्रश्न० । ज्ञा० । गौरादिवर्णलावण्ये, उत्त० ३२ अ० । आकृतौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । आ० म० । स्था० । नि० । रा० । नयनमनोहारिणि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । वर्णादिमत्त्वे, भ० १७ श० २ उ० । मूर्त्तौ, स्था० ५ ठा० ३ उ० । अन्यूनाङ्गतायाम् , उत्त० ३ अ० । सम्म० । नेपथ्यादौ, स्था० ३ ठा० १ उ० । स्वरूपे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । स्वभावे, स्था० ६ ठा० । ज्ञा० । लेप्यशिलासुवर्णमणिवस्त्रचित्रादिषु रूपनिर्माणरूपे कलाभेदे, जं० २ वक्ष० । नि० चू० (तच्च भगवता ऋषभेण भरतस्य प्रथममुपदिष्टम् इति 'उसभ' शब्दे द्वितीयभागे ११२६ पृष्ठे उक्तम्) अचेतने स्त्रीशरीरे, "अचेयणं इत्थीसरीरं रूवं भण्णति ।"

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नि० चू० १ उ० । भूषणविकले वा जीवत्स्त्रीशरीरे, दश० ४ अ० । स्वगतस्त्रीचित्रादिगते, प्रश्न० २३ पद । " अशक्यं रूपमद्रष्टुं, चक्षुर्गोचरमागतम् । रागद्वेषौ च यौ तत्र, तौ बुधः परिवर्जयेत् ॥ १ ॥ " ध० ३ अधि० ।

रूपनिक्षेपः—चक्षुरिन्द्रियमाश्रित्य रागद्वेषोत्पत्तिर्निषिध्यते, तत्र रूपस्य चतुर्धा निक्षेपः, नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यभावनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद् गाथाऽर्द्धमाह-

दव्वं संठाणाई, भावो वन्नकसिणं सभावो य ।

(दव्वं सद्दपरिणयं,भावो उ गुणा य कित्ती य)॥३२४॥

तत्र द्रव्यम् नोआगमतो व्यतिरिक्तं पञ्च संस्थानानि परिमण्डलादीनि , भावरूपं द्विधा-वर्णतः , स्वभावतश्च । तत्र वर्णतः—कृत्स्नाः-पञ्चापि वर्णाः, स्वभावरूपं त्वन्तर्गतक्रोधादिवशाद् भ्रूकुटिललाटनयनारोपणनिष्ठुरवागादिकम् , एतद्विपरीतं प्रसन्नस्येति, उक्तञ्च-" रुट्ठस्स खरा दिट्ठी, उप्पलधवला पसन्नचित्तस्स । दुहियस्स ओमिलायइ, गंतुमणस्सुस्सुआ होइ ॥ १ ॥ " सूत्रानुगमे सूत्रम् । आचा० २ श्रु० २ चू० ५ अ० । (तच्च सूत्रम् ' चक्खुदंसणवडिया ' शब्दे तृतीयभागे ११०६ पृष्ठे गतम्)

रूत-न० । कर्पासे, " पहली ववणं तूलो रूवो " पाइ० ना० २५५ गाथा ।

रूवंगी-रूपाङ्गी-स्त्री० । रूपेणातिशयिना युक्तमङ्गं शरीरं यस्याः सा रूपाङ्गी । सुरूपायाम् , व्य० ३ उ० ।

रूवंझाण-रूपध्यान-न० । रूपविषयके ध्याने, आतु० ।

रूवंधार-रूपंधार-पुं० । मुनिवेषधारिणि, उत्त० १७ अ० ।

रूवकहा-रूपकथा-स्त्री० । विकथाभेदे, स्था० ४ ठा० । (व्याख्या' इत्थीकहा ' शब्दे द्वितीयभागे ५८५ पृष्ठे गता)

रूवखंध-रूपस्कन्ध-पुं० । बौद्धपरिभाषिते अवयविद्रव्यविशेषे, स च पृथिवीधात्वादिरूपो रूपादिरूपश्च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

रूवग-रूपक-न० । रजतमुद्रायाम् , ग० । रूपकप्रमाणं चेदम्-द्वीपसत्करूपकद्विकेनोत्तरापथरूपक एकः पाटलिपुत्रीयो रूपकः । अथवा—दक्षिणापथरूपकद्वयेन काञ्चीपुरीयरूपक एकः स्यात्, तद्द्वयेन पाटलिपुत्रीय एकः,एवंविधो रूपकोऽत्रावगन्तव्यः । ग० १ अधि० । बृ० । नि० चू० । रा० । रूपकप्रतिरूपदर्शनीये, रा० । " तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो " रित्युक्तलक्षणे काव्यालङ्कारे , प्रति० । आ० म० ।

रूवगदोस-रूपकदोष-पुं० । स्वरूपभूतानामवयवानां व्यत्यये, अनु० । आ० म० । रूपकदोषो यथा—पर्वते रूपयितव्ये तत्स्वरूपभूतान् शिखरादीनवयवान्नरूपयति, अन्यत्र वा समुद्रादेः सम्बन्धिनस्तांस्तत्र रूपयतीत्यादि । विशे० ।

रूवजक्ख-रूपयक्ष-पुं० । रूपेण मूर्त्या यक्ष इव रूपयक्षः । धर्मैकविशिष्टे दंयकल्प आधिकरणिके, व्य० ।

अधुना रूपयक्षस्वरूपमाह—

भंभीएँ मासुरुक्खे, माढरकोडिन्नदंडनीतीसु ।

अल्लंव-पक्खगाही, एरिसया रूवजक्खा ते ॥३३२॥

भाम्भ्यामाशुवृत्ते माढरे—नीतिशास्त्रे कौण्डिन्यप्रणीतासु च दण्डनीतिषु ये कुशला इति गम्यते, तथा न कस्याऽपि लञ्चामुत्कोचं गृह्णन्ति । नाप्यात्मीयोऽयमिति कृत्वा पक्षं गृह्णन्ति ते एतादृशोऽलञ्चा अपक्षग्राहिणो रूपयक्षा रूपेण मूर्त्या यक्षा इव रूपयक्षाः, मूर्तिमन्तो धर्मैकनिष्ठा देवा इत्यर्थः । व्य० १ उ० । प्रति० । आ० म० ।

रूवजढ-रूपत्यक्त-त्रि० । रूपं त्यक्तं येन स रूपत्यक्तः । सुखादिदर्शनात् क्रान्तस्य परनिपातः । त्यक्तवेषे, व्य० १० उ० ।

रूवतेणय-रूपस्तेनक-पुं० । रूपवन्तम् उपलभ्य स त्वं यो मया विवक्षितो रूपवान् इत्यादि भावनया परसम्बन्धिरूपमात्मनि सम्पादयति, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

रूवदेस-रूपदेश-पुं० । आदित्यमण्डलादिसमाक्रान्तप्रदेशे, विशे० । ('इंदिय ' शब्दे द्वितीयभागे ५६१ पृष्ठे विस्तर उक्तः)

रूवधम्म-रूपधर्म-न० । रजोहरणादिके स्वलिङ्गे धर्मज्ञानादके ज्ञानादित्रिके, "धम्मे रूवं होति सलिङ्गं, धम्मो नाणव्वतियं होइ " ॥ व्य० १० उ० ।

रूवपरियारग-रूपपरिचारक-पुं० । रूपतः परिचारकः रूपपरिचारकः । रूपतो मैथुनासेवके, स्था० २ ठा० ४ उ० । (' कप्प ' शब्दे तृतीयभागे २३१ पृष्ठे एतद्विषयं सूत्रं गतम्)

रूवमय-रूपमद-पुं० । रूपेण मदो रूपमदः । मदभेदे, स० ८ सम० । स्था० ।

रूवमिणी-देशी—रूपवत्याम् , दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा ।

रूवलक्ख-रूपलक्ष्य-त्रि० । कथितानुसारप्रसरत्प्रज्ञानां चतुरचेतसां सुज्ञेये, विशे० ।

रूववं-रूपवान्-पुं० । शुभशरीरसंस्थाने, द्वा० १४ द्वा० । प्रशस्तरूपे, विशे० । प्रशस्तरूपे स्पष्टपञ्चेन्द्रिये, ध० १ अधि० । तयोगेन्द्रियपाटवोपेते विशिष्टसमस्तशरीरावयवे सुन्दराकारधारके, दर्श० २ तत्त्व । ध० र० । मतोः प्रशंसावाचित्वाद् , रूपमात्राभिधाने पुनरनेव, यथा—रूपिणः पुद्गलाः प्रोक्ता इति । ध० र० १ अधि० १ गुण । ग० ।

सम्प्रति रूपगुणमाह—

संपुन्नंऽगोवंगो, पंचिंदियसुंदरो सुसंघयणो ।

होइ पभावणहेऊ, खमो य तह रूववं धम्मे ॥ ६ ॥

सम्पूर्णान्यन्यूनान्यङ्गानि शिरउदरप्रभृतीनि उपाङ्गानि-चाङ्गुल्यादीनि यस्य स सपूर्णाङ्गोपाङ्गोऽव्यङ्गिताङ्ग इत्यर्थः । पञ्चेन्द्रियसुन्दरः-काणकंकरबधिरमूकत्वादिविकल इत्यभिप्रायः । ' सुसंघयणु ' त्ति शोभनं संहननं-शरीरसामर्थ्यं यस्य न पुनराद्यमेव, संहननान्तरेऽपि धर्मप्राप्तेः " सव्वेसु वि संठाणेसु, लहइ एमेव सव्वसंघयणे " इति वचनात् सुसंहननस्तपःसंयमाद्यनुष्ठानसामर्थ्योपेत इत्याकूतम् । एवंविधस्य धर्मप्रतिपत्तौ फलमाह—भवति—जायते प्रभावनाहेतुस्तीर्थोन्नतिकारणम्, तथा क्षमश्च-समर्थो रूपवान् धर्मे धर्मकरणविषये स्यात् , सुसंहननत्वात्तस्येति । सुजातवत् । न च नन्दिषेणहरिकेशबलादिभिर्व्यभिचार उद्भावनीयस्तेषामपि सम्पूर्णाङ्गोपाङ्गत्वादियुक्तत्वात् । प्रायिकं चैतत्-शेषगुणसद्भावे कुरूपस्य गुणान्तराभावस्य चाद्दुष्टत्वात् ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत एव वक्ष्यति, " पायद्धगुणविहूणा, पएसिं मज्झिमा-वरा नेया " इति । ध० र० १ अधि० २ गुण ।

रूववई-रूपवती-स्त्री० । भूतानन्दस्याऽग्रमहिष्याम् , भ० १० श० ५ उ० । स्था० । ज्ञा० । उत्तरदिग्वास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था० ६ ठा० ।

रूवसंपत्ति-रूपसम्पत्ति-स्त्री० । रूपणं रूपः रूप्यत इति रूपम् । तस्य संपत्तिः रूपसम्पत्तिः । निरुपहतेन्द्रियतायाम् , पं० चू० १ कल्प ।

रूवसच्च-रूपसत्य-न० । रूपापेक्षया सत्यं रूपसत्यम् । सत्यभेदे, यथा प्रपञ्चयति प्रव्रजितरूपं धारयन् प्रव्रजित उच्यते न चासत्यताऽस्येति । स्था० १० ठा० । रूपतः सत्या रूपसत्या । सत्यमृषाभाषाभेदे, स्त्री० । यथा-दम्भतो गृहीतप्रव्रजितरूपः प्रव्रजितोऽयमिति । प्रज्ञा० ११ पद । ध० ।

रूवसत्तिक्कय-रूपसप्तैकक-न० । रूपमभिक्षाप्रतिबद्धे, आचा०२ श्रु० २ चू० ५ अ० । आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य पञ्चमाध्ययने, स्था० ७ ठा० ।

रूवसहगय-रूपसहगत-पुं० । सजीवे स्त्रीशरीरे, भूषणसहितेवा स्त्रीशरीरे, दश० ४ अ० । नि० चू० ।

रूवसाली-रूपशालिन्-पुं० । किन्नरभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

रूवसिरी-रूपश्री-पुं० । वटगच्छापरपर्यायस्य । वृद्धगच्छस्य प्रवर्तकानां देवसूरीणां नृपतिप्रदत्तविरुदे , " रूपश्रीरिति नृपतिप्रदत्त विरुदोऽथ देवसूरिरभूत् " ग० ३ अधि० ।

रूवसोभग्गमयमत्ता-रूपसौभाग्यमदमत्ता-स्त्री० । चार्वाकृत्या स्वकीर्त्तिश्रवणादिरूपेण सौभाग्येन मन्मथजगर्वेण च मत्तायां स्त्रियाम् , तं० ।

रूवाणुवाय-रूपानुपात-पुं० । अभिगृहीतदेशाद्बहिःप्रयोजनसद्भावे शब्दमनुच्चारत एव परेषां स्वसमीपे नयनार्थं स्वशरीररूपानुदर्शनं रूपानुपातः । देशावकाशिकव्रतस्य चतुर्थेऽतिचारे, उत्त० १ अ० । आव० । ध० ।

रूवावई-रूपावती-स्त्री० । मध्यरुचकवास्तव्यासु अर्हतो जातमात्रस्य नालकर्तनादिकारिकासु , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

रूवि (न्)-रूपिन्-त्रि० । रूपं मूर्त्तिवर्णादिमत्त्वं तदस्ति येषां ते रूपिणः । स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रज्ञा० । मूर्त्तद्रव्येषु, स्था० ५ ठा० ३ उ० । भ० । अर्कद्रुमे, दे० ना० ७ वर्ग६गाथा । अतिशये मत्वर्थीयः । अतिशयरूपवति, सू० प्र० १३ पाहु० ।

रूविअ(य)जीव-रूप्यजीव-पुं० । स्कन्धादिषु मूर्त्तेषु द्रव्येषु, प्रज्ञा० १ पद ।

रूविअ(य)जीवाभिगम-रूप्यजीवाभिगम-पुं० । जीवाभिगमभेदे, जी० ३ प्रति० ।

रूविअ(य)मास-रूप्यमाष-पुं० । गुञ्जाद्यपरिमाणे कर्ममाषे, ज्यो० २ पाहु० ।

रूविजीव-रूपिजीव-पुं० । अनादिकर्मसन्तानपरिगते जीवभेदे आ० म० २ अ० । देवानां वैक्रियशरीरवतां दर्शनाद्रूप्येव जीव इत्येवमवष्टम्भसदृशे षष्ठे विभङ्गज्ञाने , स्था० ४ ठा० २ उ० ।

से किं तं रूविअजीवाभिगमे ?, रूविअजीवाभिगमे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-खंदा खंददेसा खंधप्पएसा परमाणुपोग्गला, ते समासतो पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-वण्णपरिणया गंधपरिणया रसपरिणया फासपरिणया संठाणपरिणया, एवं ते ५ जहा पण्णवणाए, सेत्तं रूविअजीवाभिगमे । (सू० ५)

' से किं तं रूविअजीवाभिगमे ?, रूविअजीवाभिगमे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-खंधा खंधदेसा खंधपएसा परमाणुपुग्गला ' इह स्कन्धा इत्यत्र बहुवचनं पुद्गलस्कन्धानामनन्तत्वख्यापनार्थम् , तथा चोक्तम्-" दव्वतो णं पुग्गलत्थिकाए णं अनन्ते " इत्यादि. ' स्कन्धदेशा ' स्कन्धानामेव स्कन्धत्वपरिणाममजहतां बुद्धिपरिकल्पिता द्व्यादिप्रदेशात्मका विभागाः, अत्रापि बहुवचनमनन्तप्रदेशिकेषु स्कन्धेषु स्कन्धदेशानन्तत्वसंभावनार्थम् , स्कन्धप्रदेशाः-स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणाममजहतां, प्रकृष्टा देशाः—निर्विभागाभागाः परमाणव इत्यर्थः , परमाणुपुद्गलाः—स्कन्धत्वपरिणामरहिताः केवलाः परमाणवः । अत ऊर्ध्वं सूत्रमिदम्-'ते समासतो पंचविधा पन्नत्ता, तं जहा-वण्णपरिणया गंधपरिणता रसपरिणता फासपरिणता संठाणपरिणता, तत्थ णं जे वण्णपरिणया ते पंचविहा पन्नत्ता,तं जहा-कालवण्णपरिणता नीलवण्णपरिणता' इत्यादि तावद् यावत् ' सेत्तं रूविअजीवाभिगमे । जी० १ प्रति० ।

रूविणी-रूपिणी-स्त्री० । समुद्रपालस्य मातरि पालकस्य भार्यायाम् , उत्त० २१ अ० । अतिशयेन रूपवत्याम् ,) व्य० २ उ० ।

रूवी-रूपी-स्त्री० । गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

रूस-रूष्-धा० । क्रोधे, " रुषादीनां दीर्घः " ॥ ८ । ४ । २३६॥ रूसइ । रुष्यति । प्रा० ४ पाद ।

रे-रे-अव्य० । सम्भाषणादौ, "रेअरे संभाषणरतिकलहे " ॥ ८ । २ । २०१ ॥ अनयोरर्थयोर्यथासंख्यमेतौ प्रयोक्तव्यौ । रे-संभाषणे, " रे हिअ यमडहसरिआ । अरे-रतिकलहे , " अरे मए समं मा करेसु उवहासं " प्रा० । जी० ।

रेअव-मुच-धा० । मोचने, " मुचेश्छड्डावहेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ धंसाडाः " ॥ ८ । ४ । ९१ ॥ इत्यनेन मुच धातो रेअव इत्यादेशः । रेअवइ । मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

रेअविअ-मुक्त-त्रि० । रिक्ते, " रेअविअं सुएणइअं " पाइ० ना० १६३ गाथा । क्षणीकृते, दे० ना० ७ वर्ग ११ गाथा ।

रेंकिअ-देशी-आक्षिप्त, लीने, व्रीडिते च । दे० ना० ७ वर्ग० १४ गाथा ।

रेका-रेका-पुं० । विरेचने, शङ्कायां च । 'अवाप्य सम्यक्त्वमपेतरेकम् ' । हा० ३२ अष्ट० ।

रेकार-रेकार-पुं० । तिरस्कारे, ध० २ अधि० ।

रेणा-रेणा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां स्थूलभद्रभगिन्याम् , आ० क० ४ अ० । ती० । आ० चू० । कल्प० ।

रेणी-देशी-पङ्के, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा ।

रेणु-रेणु-पुं० । भूवर्त्तिनि धूलीरूपे, स० ३४ सम० । प्रश्न० । नि० चू० । रेणुना-धूल्या कलुषा-मलिना रेणुकलुषास्तमः-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पटलेनान्धकारेण निरालोका-निरस्तप्रकाशा निरस्तदृष्टिप्रसरा वा तमःपटलनिरालोकास्ततः कर्मधारयः। भ० ७ श० ६ उ०। स्थूलतरे पृथ्वीपुद्गले, श्लक्ष्णतरा रेणुपुद्गला रजः, त एव स्थूला रेणवः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। पांशुषु, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। ज्ञा०। "रेणू पंसू रश्रो पराश्रो य" पाइ० ना० १३७ गाथा।

रेणुया-रेणुका-स्त्री०। परशुराममातरि यमदग्नेः भार्यायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। आ० क०। तं०। आ० म०। (एतत्कथा 'कोह' शब्दे तृतीयभागे १४०० पृष्ठे उक्ता) अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

रेभ-रेफ-पुं०। "फो भ-हौ" ॥ ८। १। २३६ ॥ इति फस्य भः। रेफः। रेभः। रकारात्मके वर्णे, प्रा० १ पाद।

रेय-रेत-पुं०। पुरुषसम्बन्धिनि शुक्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

रेयग-रेचक-पुं०। बहिर्वृत्तौ श्वासे, द्वा० २२ द्वा०।

रेयगावट्ट-रेचकावर्त्त-पुं०। अङ्गप्रावर्त्तने, यदङ्गपरावर्त्तनं तद्रेचकावर्त्त इत्यभिधीयते। प्रव० २ द्वार।

रेल्लि-रेल्लि स्त्री०। श्रोतसि, तं०।

रेवई-रेवती-स्त्री०। पूषादेवताके नक्षत्रभेदे, अनु०। स्था०। जं०। सू० प्र०।

रेवईणक्खत्ते बत्तीसइतारे पण्णत्ते। स० ३२ सम०।

कृष्णभ्रातुः बलदेवस्य भार्यायां, निषधकुमारस्य मातरि, नि०। राजगृहे महाशतकस्य गृहपतेः प्रधानभार्यायाम्, उपा० ८ अ०। (तत्कथा 'महासयय' शब्दे षष्ठे भागे २१४ पृष्ठे उक्ता) मेढिकग्रामवास्तव्यायां गृहपत्न्याम्,भ० १५ श०। तद्वक्तव्यता-रेवती भगवत औषधदात्री, कथम्-किलैकदा भगवतो मेढिकग्रामनगरे विहरतः पित्तज्वरो दाहबहुलो बभूव, लोहितवर्चश्च प्रावर्त्तत, चातुर्वर्ण्यं च व्याकरोति स्म, यदुत गोशालकस्य तपस्तेजसा दग्धशरीरोऽन्तः षण्मासस्य कालं करिष्यतीति, तत्र च सिंहनामा मुनिरातापनाऽवसान एवममन्यत-मम धर्माचार्यस्य भगवतो महावीरस्य ज्वररोगो रुजति, ततो हा वदिष्यन्त्यन्यतीर्थिकाः यथा छद्मस्थ एव महावीरो गोशालकतेजोऽपहतः कालगत इति;एवम्भूतभावनाजनितमानसमहादुःखेदितशरीरो मालुककच्छाभिधानं विजनं वनमनुप्रविश्य कुहुकुहेत्येवं महाध्वनिना प्रारोदीत्, भगवांश्च स्थविरैस्तमाकार्योक्तवान्-हे सिंह! यत्त्वया व्यकल्पि, न तद्भावि, यत इतोऽहं देशोनानि षोडश वर्षाणि केवलिपर्यायं पूरयिष्यामि, ततो गच्छ त्वं नगरमध्ये, तत्र रेवत्यभिधानया गृहपतिपत्न्या मदर्थं द्वे कूष्माण्डफलशरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनम्, तथाऽन्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कुटमांसकम् ,बीजपूरककटाहमित्यर्थः, तदाहर, तेन नः प्रयोजनमित्येवमुक्तोऽसौ तथैव कृतवान्, रेवती च सबहुमानं कृतार्थमात्मानं मन्यमाना यथा याचितं तत्पात्रे प्रक्षिप्तवती,तेनाप्यानीय तद्भगवतो हस्ते विसृष्टम् ,भगवताऽपि वीतरागतयैवोदरकोष्ठे निक्षिप्तम्, ततस्तत्क्षणमेव क्षीणो रोगो जातः, जातानन्दो यतिवर्गो मुदितो निखिलो देवादिलोक इति। स्था० ६ ठा०। स०। नी०। (यथा गोशालो प्रहत-वीरस्वामिवेदनोपशमनार्थं कपोतशरीरं मार्जारकृते कुक्कुटमांसं च उपस्कृतमिति 'गोसालग' शब्दे १०३० पृष्ठे)

रेवइय-देशी-मातृषु, दे० ना० ७ वर्ग १० गाथा।

रेवईनक्खत्त-रेवतीनक्षत्र-पुं०। आर्य्यनागहस्तिनां स्वनामख्याते शिष्ये, नं०।

जच्चंजणधाउसम-प्पहाण मुद्दियकुवलयनिहाणं।
वड्ढउ वायगवंसो, रेवइनक्खत्तनामाणं ॥ २१ ॥

'जच्चंजणेत्यादि' आर्यनागहस्तिनामपि शिष्याणां रेवतिनक्षत्रनाम्नां वाचकानां वाचकवंशो वर्द्धताम्,कथंभूतानामित्याह-जात्याञ्जनधातुसमप्रभाणाम्-जात्यश्चासावञ्जनधातुश्च तेन समा-सदृशी प्रभा-देहकान्तिर्येषां ते तथा तेषां, मा भूतदत्यन्तकालिम्नि सम्प्रत्यय इति विशेषणान्तरमाह-मुद्रिकाकुवलयनिभानां-परिपाकागतरसद्राक्षया नीलोत्पलेन च समप्रभाणाम्, अपरे पुनराहुः-कुवलयमिति मणिविशेषः। तत्राप्यविरोधः। नं०। स्था०।

रेवईमित्त-रेवतीमित्र-पुं०। दशपूर्विणि स्वनामख्याते युगप्रधानसूरौ, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

रेवज्झिय-देशी०। उपालब्धे, दे० ना० ७ वर्ग १० गाथा।

रेवय-रैवत-पुं०। गन्धर्वभेदे, प्रज्ञा० १ पद। द्वारवत्यामुत्तरपूर्वे स्वनामख्याते पर्वते, अन्त० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ०। नि०। आ० म०। आ० चू०। प्रव०।

रैवतगिरिकल्पः-

"सिरिनेमिजिणं सिरसा, नमिउं रेवयगिरीसकप्पम्मि।
सिरिवइरसीसभणियं, जहा य पालित्तएणं तु ॥ १ ॥"

छत्तसिलाइसमीवे सिलासणे दिक्खपडिवन्नो नेमी सहस्सतवणे केवलनाणं लक्खारामे देसणा अवजोहणं,उ(सि)हसिहरे निव्वाणं। रेवयमेहलाए कण्हो तत्थ कल्लाणतिगं काऊण सुवण्णरयणपाडमालंकिअं चेइअतिगं जीवंतसामिणो अंबादेविं च कारेइ। इंदो वि वज्जेण गिरिं कारेऊण सुवण्णबलाणयं रुप्पमयं चेइअं, रयणमया पडिमा पमाणवण्णोववेया सिहरे अवरंगमंडवे अवलोहणसिहरं बलाणयमंडवे संबो पयाइं कारेइ, सिद्धविणायगो पडिहारो तप्पडिरूवं 'श्रीनेमिमुखात् निर्वाणस्थानं ज्ञात्वा निर्वाणादनन्तरं' कण्हेण ठावियं, तहा सत्त जायवा दामोयरारुणुरुवा-कालमेह १, मेहनाद २ गिरिविदारण ३, कपाट ४, सिंहनाद ५. खोडिक ६, रेवया ७, तिव्वतवेणं कीडणेणं खित्तवाला उववन्ना। तत्थ य मेहनादो सम्मद्दिट्ठी नेमिपयभत्तिजुत्तो चिट्ठइ, गिरिविदारणेणं कंचणबलाणयम्मि पंच उदारा विउव्विआ, तत्थ णं अंबापुरओ उत्तरदिसाए सत्तहि अ सयकमेहि गुहा, तत्थ य उववासतिगेणं बलिविहाणेणं सिलं उप्पाडिऊण मज्झे गिरिविदारणपडिमा, तत्थ य कम्मपण्णासंगए बलदेवेणं कारिअं सासयजिणपडिमारूवं नमिऊण उत्तरदिसाए पण्णासतिगं वारितिगं, पढमाए वारिआए कमसयतिगं गंतूण गोदोहिआसणेणं पविसिऊण उपवासपंचगं भमररूवं दारुणं सत्तेणं पाडिऊण कमसताओ अहो सुहं पविसिऊण बलाणमंडवे इंदादेसेण धणयजक्खकारियं इंदादेविं पूइऊण सुवण्णजालीए ठायव्वं। तत्थ ठिएण सिरिमूलनाहो नमिजिणि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो वंदिअव्वो बीअवारीए एगं पायं पूयत्ता सयंवरं वावीए अहो कमवाली संगामित्ता, तत्थ एं मज्झवारीए कमसत्तसएहिं कूवो; तत्थ वरहंसविअत्तेण इहावि मूलनायगो वन्देयव्वो-तइअवारीए मूलदुवारपवेसो अंबाएसेण न अन्नहा। एवं कंचणबलाणयमग्गे। तत्थ य अंबापुरओ हत्थवीसाए विवरं. तत्थ य अंबाएसेण उववासतिगेण सिलुग्घाडणेण हत्थवीसाए संपुडसत्तगं समुग्गयपंचगं अहो रसकूविआ अमावासाए अमावासाए उग्घडइ।तत्थ य उववासतिगं काऊणं अंबाएसेण पूयणेण बलिविहाणेणं गहियव्वं। तहा य जुएणकूडे उववासतिगं काऊण सरलमग्गेण बलिपूअणेणं सिद्धविणायगो उवलब्भइ, तत्थ य चिंतिअ सिद्धिं दिएमेगं ठायव्वं, जइ तहा पच्चक्खो हवइ तहा राईमईगुहाए कमसएणं गोदोहिआए पविसियव्वं,रसकूविआए कसिणचित्ता कसिणचित्तवल्ली राईमईए पडिमा रयणमया अंबाए रुप्पमयाओ अणेगा ओसहिओ चिट्ठंति। तत्थ छत्तसिला घंटसिला कोडिसिला तिगं पत्तं, छत्तसिला मज्झे मज्झेण कणयवल्ली सहस्सं वणमज्झे रययसुवएणमयचउव्वीसं लक्खारामे छावत्तरी चउवीसजिणाण गुहा पएणत्ता। कालमेहस्स पुरओ सुवएणवालुआए नईए सट्ठिकमसयतिगेण उत्तरदिसाए गमित्ता गिरिगुहं पविसिऊण उदए एहवणं काऊण ठिए उववासपअोगेहिं दुवारमुग्घाडेइ। मज्झे पढमदुवारे सुवएणखाणी संघेहउं अंबाए विउव्विआ। तत्थ रयणचुएणभंडारो अएणो दामीदरसमीवे अंजणासलाए अहोभागे रययसुवएणधूली पुरिसवीसेहि पएणत्ता। तत्थ माणमंगलयदेवदालीयसंतुरसिद्धिसिरिवहरोवक्खायं संघसमुद्धरणकज्जम्मि तस्स कडाहं मज्झं गिरिहत्ता कोडिविंदुसंजोगो संघसिलावुएणयजोयणाओ अंजणसिद्धिविज्जा। पाहुडदेसाओ रेवयकप्पसंखेओ सम्मत्तो। ती० २ कल्प०। धैवतके स्वरे, स्था० ७ ठा०। अनु०। प्रणामे, दे०ना० ७ वर्ग ६ गाथा।

रेसणिया–रेषणिका–स्त्री०। करोटिकायाम्, "रेसणिया करोडया" पाइ० ना० २४४ गाथा।

रेवलिआ–देशी–वालुकावर्ते, दे० ना० ७ वर्ग० १० गाथा।

रेवा–रेवा–स्त्री०। नर्मदायाम्, "मेअलकन्ना य नम्मया रेवा" पाइ० ना० १३० गाथा।

रेसणी–देशी–अचिनिकोचे, करोटिकाख्यकांस्यभाजने च। दे० ना० ७ वर्ग १५ गाथा।

रेसि(सिं)–अव्य०। तादर्थ्ये,प्रा०।"तादर्थ्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणाः"॥ ८।४।४२५॥ अपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योत्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेण इत्येते पञ्च निपाताः प्रयोक्तव्याः। "ढोल्ला एह परिहासडी, अइ भन कवणहिं देसि। हउँ झिज्जउँ तउ केहिँ पिअ, तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि" ॥ १॥ प्रा० ४ पाद।

रेसिअ–देशी–छिन्ने, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा।

रेह–राज–धा०। दीप्तौ, "राजे रग्घ—छज्ज—सह—रीर—रेहाः" ॥ ८।४।१००॥ इति राजस्थाने रेहादेशः। रेहइ। राजति। प्रा० ४ पाद।

रेहंत–राजत्–त्रि०। शोभमाने, आ० १ श्रु० १ अ०।

रेहा–रेखा–स्त्री०। अल्पे, दले, आभोगे, विन्दुपुञ्जकृते दण्डाकारेण चिह्नभेदे, पङ्क्तौ च। कल्प० १ अधि० १ क्षण।

रेहिअ–देशी–छिन्नपुच्छे, दे० ना० ७ वर्ग १० गाथा।

रेहिज्जमाण–राराज्यमान–त्रि०। देदीप्यमाने, अतिशयेन राजमाने, भ० ७ श० ३ उ०।

रेहिर–रेखावत्–त्रि०। "आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्ते-त्तेर-मणा-मतोः"॥ ८।२।१५६॥ इति मतोः स्थाने इरादेशः। रेहिरो। रेखाविशिष्टे, प्रा० २ पाद।

रोअ–रोग–पुं०। व्याधौ, "आयंको आयल्लो वाही तइ आमयो रोओ" पाइ० ना० ५१ गाथा।

रोअणागिरि–रोचनागिरि–पुं०। मेरोः भद्रशालवने अष्टमे दिग्हस्तिकूटे, मन्दरस्योत्तरपूर्वे उत्तरायाः शीतायाः पूर्वे स्वनामख्याते देवे च। जं० ४ वक्ष०।

रोअणिआ–रोदनिका–स्त्री०। "रोअणिआ लामाओ" पाइ० ना० १०७ गाथा। दे० ना०।

रोइआवसाण–रोचितावसान–न०। रोचितम्-सम्यग्भावितम् अवसानं यस्य तद्रोचितावसानम्, शनैः शनैः प्रक्षेप्यमाणस्वरं यस्य गेयस्यावसानं तद्रोचितावसानम्। गेयभेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। रा०। आ० म०।

रोइंदग–रोचितान्तक–न०। रोचिताऽवसाने, आ०चू०१ अ०।

रोइज्जंत–रोच्यमान–न०। प्रशस्यमाने, आचा० २ श्रु०१ चू० ५ अ० १ उ०।

रोइय–रोचित–त्रि०। भाविते, चिकीर्षिते च। आ० म० १ अ०। स्था०।

रोएमाण–रोचयत्–त्रि०। रुचिविषयीकुर्वाणे, ध०३ अधि०। आचा०। आ० म०।

रोंकण–देशी–रङ्के, दे० ना० ७ वर्ग ११ गाथा।

रोक्कणिअ–देशी–भृङ्गयाम्, नृशंसे च। दे० ना० ७ वर्ग १६ गाथा।

रोग–रोग–पुं०। व्याधौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। प्रव०। तं०। ज्वरातिसारकासश्वासादिषु, आव० ४ अ०। आचा०। कालसहेषु व्याधिषु, औ०।भ०।ज्ञा०।स्था०। कुष्ठादिरूपे, उत्त०२ अ०। ज्ञा०। स्था०। सद्योघातिनि रोगे, पं० सू० ३ सूत्र। आव०। नि० चू०। प्रश्न०। आचा०। "खासे सासे जरे दाहे, जोणीसूले भगंदले। अरिसाऽजीरए दिट्ठी, मुद्धसूले अकारए॥ १॥" पं० भा० २ कल्प। "सासे १ कासे २ जरे ३ दाहे ४, कुच्छिसूले ५ भगंदरे ६। अरिसा ७ ऽजीरए ८ दिट्ठी, ६ मुद्धसूले १० अकारए ११। अच्छिवेयण १२ कन्नवेयणं १३ कंडे १४ उदरे १५ कोढे १६।" इति पाठान्तरम्। उपा० ४ अ०।

रोगतिगिच्छा–रोगचिकित्सा–स्त्री०। व्याधिप्रतिक्रियायाम्, पञ्चा० १८ विव०।

रोगपरीसह–रोगपरीषह–पुं०। रोगो-रुक् तत्परिषहणं च त-

१–अक रकः अरोचकः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्पीडासहनं चिकित्साववर्जनम् । भ० ८ श० ८ उ० । रोगो-कण्डुज्वरादिरूपः स एव परीषहः । प्रव० ८६ द्वार । रोगे सति चिकित्सायामप्रवर्त्तनेन सम्यक् सहने, आव० । रोगो ज्वरातिसारकासश्वासादिस्तस्य प्रादुर्भावे सत्यपि न गच्छनिर्गताश्चिकित्सायां प्रवर्त्तन्ते, गच्छवासिनस्त्वल्पबहुत्वालोचनया सम्यक् सहन्ते, प्रवचनोक्तविधिना प्रतिक्रियामाचरन्तीति, एवमनुतिष्ठता रोगपरीषहजयः कृतो भवति ॥१६॥ आव० ४ अ० । "नोद्विजेद्रोगसंप्राप्तौ, न चाभीप्सेच्चिकित्सितम् । विषहेत तथाऽदीनः, श्रामण्यमनुपालयेत् ॥१॥" आ० म० १ अ० । "उद्विजेत न रोगेभ्यो, न च काङ्क्षेच्चिकित्सितम् । अदीनस्तु सहेद्देहात्, जानानो भेदमात्मनः॥१॥" ध० ३ अधि० । उत्त० । (चिकित्सां न कुर्याद् भिक्षुरिति 'तिगिच्छा' शब्दे चतुर्थभागे २२३६ पृष्ठे गतम्) (अत्र कालाश्यवैशिककथा 'कालासवेसियपुत्त' शब्दे तृतीयभागे ४६७ पृष्ठे गता)

रोगपरीसहविजय-रोगपरीषहविजय-पुं० । रोगे सत्यल्पबहुत्वालोचनया प्रवचनोक्तविध्यनुसारतः प्रतिक्रियासमाचरणे, पं० सं० ४ द्वार ।

रोगविहि-रोगविधि-पुं० । चिकित्सायाम्, वैद्यशास्त्रपुस्तके च । स्त्री० । वृ० १ उ० २ प्रक० ।

रोगसम-रोगशम-पुं० । व्याधिशमनमात्रे, पञ्चा० ६ विव० ।

रोगायंक-रोगातङ्क-न० । रोगो दाहज्वरादिः आतङ्कः-शीघ्रघाती शूलादिः, रोगश्च आतङ्कश्च अनयोः समाहारो-रोगातङ्कम् । रोगातङ्कद्वये, उत्त० १६ अ० । भ० । रोगो-व्याधिः स चासावातङ्कश्च कृच्छ्रजीवितकारीति रोगातङ्कः । रोगरूपे आतङ्के, पुं० । भ० ६ श० ३३ उ० । तं० । प्रश्न० ।

रोगावत्था-रोगावस्था-स्त्री० । ज्वरादिरोगप्रकारे, वृ० २ उ० । नि० चू० ।

रोगासयसमण-रोगाशयशमन-न० । रोगनिदानचिकित्सायाम्, आव० ४ अ० ।

रोगिणिया-रोगिणिका-स्त्री० । रोग आलम्बनतया विद्यते यस्यां सा रोगिणी सैव रोगिणिका । सनत्कुमारस्येव प्रव्रज्याभेदे, स्था० १० ठा० ।

रोगिय-रोगित-त्रि० । सञ्जातचिरस्थायिज्वरादिदोषयुक्ते,विपा० १ श्रु० ७ अ० । ज्ञा० । आ० म० ।

रोगुप्पत्ति-रोगोत्पत्ति-स्त्री० । रोगोत्पादे, स्था० ।

णवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया, तं जहा—अच्चासणाते अहितासणाते अतिणिद्दाए अतिजागरितेण उच्चारनिरोहेणं पासवणनिरोहेणं अद्धाणगमणेणं भोयणपडिकूलताते इंदियत्थविकोवणयाते । (सू० ६६७)

'अच्चासणयाए त्ति' अत्यन्तं—सततमासनम्—उपवेशनं यस्य, सोऽत्यासनस्तद्भावस्तत्ता तया, अर्शोविकारादयो हि रोगा एतया उत्पद्यन्त इति, अथवा-अतिमात्रमशनमत्यशनं तदेवात्यशनता, दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् तया, सा चाजीर्णकारणत्वात् रोगोत्पत्तये इति, 'अहियासणयाए' त्ति अहितम्—अननुकूलं टोलपाषाणाद्यासनं यस्य स तथा, शेषं तथैव, तया, अहिताशनतया वा, अथवा 'साऽजीर्णे भुज्यते यत्तु, तदध्यशनमुच्यते।' इति वचनात्। तदध्यशनम्-अजीर्णे भोजनं तदेव तत्ता तयेति, भोजनप्रतिकूलता-प्रकृत्यनुचितभोजनता तया, इन्द्रियार्थानां-शब्दादिविषयाणां विकोपनं-विपाकः इन्द्रियार्थविकोपनं कामविकार इत्यर्थः, ततो हि स्त्र्यादिष्वभिलाषादुन्मादादिरोगोत्पत्तिः, यत उक्तम्-"आदावभिलाषः १ स्या-च्चिन्ता तदनन्तरं २ ततः स्मरणम् ३ । तदनु गुणानां कीर्त्तन ४-मुद्वेगश्च ५ प्रलापश्च६॥ उन्माद ७ स्तदनु ततो, व्याधि ८ र्जडता ६ ततस्ततो मरणम् १० ॥१॥" इति विषयाप्राप्तौ रोगोत्पत्तिः, अत्यासक्तावपि राजयक्ष्मादिरोगोत्पत्तिः स्यादिति । स्था० ६ ठा० ।

रोघ-देशी-रङ्के, दे० ना० ७ वर्ग ११ गाथा ।

रोञ्च-पिप्-धा० । पेषणे, "पिषेर्णिवह-णिरिणास-णिरिणज्ज-रोञ्च-चड्डाः" ॥ ८ । ४ । १८५ ॥ इति पिषधातोः रोञ्चादेशः । रोञ्चइ । चड्डइ । पक्षे-पिषइ । पिनष्टि । प्रा० ४ पाद ।

रोज्झ-रोज्झ-पुं० । द्विखुरपशुभेदे, प्रज्ञा० १ पद । विपा० । ऋश्ये, दे० ना० ७ वर्ग १२ गाथा । पुच्छार्थे रोज्झा हन्यन्ते । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । रोहिते, "रोहिओ रोज्झो" पाइ० ना० २२७ गाथा ।

रोट्ट-रोट्ट-पुं० । न० । लोट्टे, वृ० १ उ० १ प्रक० । तन्दुलपिष्टे, दे० ना० ७ वर्ग ११ गाथा ।

रोड-देशी-गृहप्रमाणे, दे० ना० ७ वर्ग ११ गाथा ।

रोडी-देशी-इच्छायाम्, वणिशिविकायां च । दे० ना० ७ वर्ग १५ गाथा ।

रोत्तव्व-रोदितव्य-न० । "रुद-भुज-मुचां तोऽन्त्यस्य" ॥ ८ । ४ । २१२ ॥ इति अन्त्यस्य तो भवति । रोदनीये, प्रा० ।

रोत्तुं-रुदितुम्-अव्य० । "रुद-भुज-मुचां तोऽन्त्यस्य" ॥ ८ । ४ । २१२ ॥ इति अन्त्यस्य तो भवति । रोदनं कर्तुमित्यर्थे, । प्रा० ४ पाद ।

रोत्तूण-रोदित्वा-अव्य० । "रुद-भुज-मुचां तोऽन्त्यस्य ॥ ८ । ४ । २१२ ॥ इति अन्त्यस्य तो भवति । रोदनं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ।

रोद्द-रौद्र-पुं० । रोदयत्यतिदारुणतया अश्रूणि मोचयतीति रौद्रः । रिपुजनमहादारुणान्धकारादिदर्शनाद्युद्भवो विकृताध्यवसायरूपो रसोऽपि रौद्रः । रसभेदे, अनु० ।

अथ रौद्रं हेतुतो, लक्षणतश्चाऽऽह—

भयजणणरूवसद्दं-धयारचिंताकहासमुप्पण्णो ।
संमोहसंभमविसाय-मरणलिंगो रसो रोद्दो ॥ ८ ॥

रोद्दो रसो जहा—

भिउडीविडंबियमुहो, संदट्ठोट्ठ इअ रुहिरमाकिण्णो !
हणसि पसुं असुरणिभो, भीमरसिअ ! ऽइरोद्द ! रोद्दोऽसि६

रूपं शत्रुपिशाचादीनां शब्दस्तेषामेव अन्धकारं-बहुलतमोनिकुरुम्बरूपम्, उपलक्षणत्वादरण्यादयश्च पदार्था इह गृह्यन्ते, तेषां भयजनकानां रूपादिपदार्थानां येयं चिन्ता-तत्स्वरूपपर्यालोचनरूपा, कथा—तत्स्वरूपभणनलक्षणा, तथोपलक्षणत्वाद् दर्शनादीनि च गृह्यन्ते, तेभ्यः समुत्पन्नो-जातो रौद्रो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रस इति योगः । किंलक्षण इत्याह—संमोहः—किंकर्त्तव्यत्वमूढता संभ्रमो—व्याकुलत्वं विषादः-किमहमत्र प्रदेशे समायात इत्यादि खेदस्वरूपः मरणं-भयोद्भ्रान्तगचशुकमालहन्तृसोमिलद्विजस्येव प्राणत्यागस्तानि लिङ्गं—लक्षणं यस्य स तथा । आह—ननु भयजनकरूपादिभ्यः समुत्पन्नः सम्मोहादिलिङ्गश्च भयानक एव भवति,कथमस्य रौद्रत्वम् ?, सत्यं, किन्तु-पिशाचादिरौद्रवस्तुभ्यो जातत्वाद् रौद्रत्वमस्य विवक्षितमित्यदोषः, तथा शत्रुजनादिदर्शने तच्छिरःकर्त्तनादिप्रवृत्तानां पशुशूकरकुरङ्गवधादिप्रवृत्तानां च यो रौद्राध्यवसायात्मको भृकुटीभङ्गादिलिङ्गो रौद्रो रसः सोऽप्युपलक्षणत्वादत्रैव द्रष्टव्यः, अन्यथा स निरास्पद एव स्याद् , अत एव रौद्रपरिणामवत्पुरुषचेष्टाप्रतिपादकमेवोदाहरणं दर्शयिष्यति। भीतचेष्टाप्रतिपादकं तु तत् स्वत एवाभ्यूह्यमित्यलं प्रसङ्गेन । उदाहरणमाह-'भिउडी, गाहा-त्रिवलीतरङ्गितललाटरूपया भृकुट्या विडम्बितं-विकृतीकृतं मुखं यस्य तत् सम्बोधनं हे भ्रुकुटीविडम्बितमुख ! सन्दष्टोष्ठः 'इत' इति इतश्च इतश्च 'रुहिरमाकिण्ण'त्ति विक्षिप्तरुधिर इत्यर्थः, हंसि—व्यापादयसि पशुम् , असुरो-दानवस्तन्निभः-तत्सदृशः भीमं रसितं-शब्दितं यस्य तत्सम्बोधनं हे भीमरसित ! अतिरौद्र !-अतिशयरौद्राकृते ! रौद्रोऽसि-रौद्रपरिणामयुक्तोऽसीति । अनु० । भीषणाकारे, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । आ० चू० । " रोद्दा काया णेरइयाणं " नैरयिकाणां रौद्रा दारुणा अत्यन्तमनिष्टत्वेन क्रोधोत्पादकत्वात् रौद्ररसो हि क्रोधरूपो, यत आह-रौद्रः क्रोधप्रकृतिरिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । दारुणे, पो० १६ विव० । आव० । रुद्रस्येदं कर्म्म रौद्रं वधवेधनबन्धदहनाङ्कनमारणादिकर्माणि । प्रव० ६ द्वार । ध० । हिंसाद्यतिक्रौर्यानुगते ध्यानभेदे, आव० ४ अ० । (विशेषः ' रुद्दज्झाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः)

रोद्दज्झाण-रौद्रध्यान–न० । रोदयत्यपरानिति रुद्रः, प्राणिवधादिपरिणत आत्मैव ; तस्येदं कर्म्म रौद्रं , तच्च ध्यानं च रौद्रध्यानम् । प्रव० । तदपि सत्त्वेषु वधवेधबन्धनदहनाङ्कनमारणादिप्रणिधानम् १, पैशुन्यासभ्यासद्भूतघातादिवचनचिन्तनम् २ , तीव्रकोपलोभाकुलं भूतोपघातपरायणं परलोकापायनिरपेक्षं परद्रव्यहरणप्रणिधानम् ३, सर्वाभिशङ्कनपरम्परोपघातपरायणशब्दादिविषयसाधकद्रव्यसंरक्षणप्रणिधानम् च उच्छन्नवधादिलिङ्गगम्यं नरकगतिगमनकारणमवसेयम् , प्रव० ६ द्वार । हिंसाद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रम् । ध्यानभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० । आव० । भ० । दश० । स्था० । दर्श० । (तच्च ' रुद्दज्झाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५६८ पृष्ठे व्याख्यातम् ।)

रोद्दपरिणाम-रौद्रपरिणाम–त्रि० । गिरिभेदसमानकषायरौद्रध्यानारूषितचेतोवृत्तौ, कर्म० १ कर्म० ।

रोद्ध-देशी-कूणिताक्षे, मले च । दे० ना० ७ वर्ग १५ गाथा ।

रोम-रोमन्–न० । तनूरुहे, तं० । औ० । "केशाः-शिरःकूर्चसम्भवाः, रोमाणि—शेषशरीरसम्भवानि " प्रव० ४० द्वार । स० । स्था० । " तणूरुहाइं रोमाइं " पाइ० ना० २२१ गाथा । तं० । " रोमरहियवट्टलट्ठसंठियअजहन्नपसत्थलक्खणजंघाजुयला " रोमरहितं वृत्तं—वर्त्तुलं लष्टसंस्थितं—मनोज्ञसंस्थानं क्रमेणोर्द्ध्वं स्थूरस्थूरतरमिति भावः , अजघन्यप्रशस्तलक्षणं—जघन्यपदरहितशेषप्रशस्तलक्षणाङ्कितं जङ्घायुगलं यासां ता रोमरहितवृत्तलष्टसंस्थिताजघन्यप्रशस्तलक्षणजङ्घायुगलाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० । (जङ्घादिरोमकल्पनम् ' परकिरिया ' शब्दे पञ्चमभागे ५१६ पृष्ठे दर्शितम् ।) लवणविशेषे , सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

रोमंच-रोमाञ्च–पुं० । रोम्णां हर्षे, नि० चू० ७ उ० ।

रोमंचिअ-रोमाञ्चित–त्रि० । पुलकिते , " रोमंचिअं आरेइअं, ऊसलिअं पुलइअं च कंटइअं " पाइ० ना० ७६ गाथा ।

रोमंथ-रोमन्थ–पुं० । भुक्तस्य घासादेः पशुभिरुद्गीर्य्य चर्वणे, व्य० १० उ० । " रोमंथो उग्गालो " पाइ० ना० १५१ गाथा ।

रोमकूव-रोमकूप–पुं० । रोम्णां तनूरुहाणां कूप इव कूपाः । रोमरन्ध्रेषु, तं० । ज्ञा० । उत्त० । आ० म० ।

रोमग-रोमक–पुं०-म्लेच्छदेशभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार रोमकदेशोद्भवे, जं० ३ वक्ष० । तत्र जाते अनार्यजातिभेदे , सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आ० चू० ।

रोमराइ-रोमराजि–स्त्री० । उदरमध्यस्थकेशावल्याम् , नि० चू० ३ उ० । जघने, दे० ना ७ वर्ग १२ गाथा ।

रोमलयासय-देशी-उदरे, दे० ना० ७ वर्ग १२ गाथा ।

रोमस-रोमश–न० । पक्ष्मले, " पम्हलयं लोमसं " पाइ० ना० २४६ गाथा ।

रोमसुहा-रोमसुखा–स्त्री० । रोमसुखकारिण्यां सम्बाधनायाम् , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

रोमूसल-देशी-जघने, दे० ना० ७ वर्ग १२ गाथा ।

रोयइत्ता-रोचयित्वा–अव्य० । विधिभावनाभ्यां प्रियं कृत्वेत्यर्थे, उत्त० २६ अ० । दश० ।

रोयत-रुदत्–त्रि० । सशब्दमश्रूणि विमुञ्चति, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । आ० म० । साश्रुपातं शब्दं विदधाने , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० ।

रोयग-रोचक–न० । रोचयति, सम्यगनुष्ठानप्रवृत्तिं न तु कारयतीति रोचकम् । अविरतसम्यग्दृशां कृष्णश्रेणिकादीनामिव (ध० २ अधि०) रुचिमात्रकरे सम्यक्त्वभेदे, दर्श० ५ तत्त्व । श्रा० । यत्र सदनुष्ठानं रोचयत्येव केवलं न पुनः कारयति । विशे० । आ० म० ।

रोयमाणी-रुदन्ती–स्त्री० । अश्रूणि विमुञ्चन्त्याम्, भ० ६ श० ३३ उ० । विपा० ।

रोर-रोर–पुं० । रङ्के , स्था० ६ ठा० । तं० । दे० ना० । " जत्थय अज्जाकप्पो, पाणच्चाए वि रोरदुब्भिक्खे। न य परिभुंजइ सहसा, गोअम ! गच्छं तयं भणियं ॥ १ ॥ " ग० २ अधि० । " रोरो अकिंचणो " पाइ० ना० ३५ गाथा ।

रोरव-रौरव–पुं० । सप्तमनरकपृथिव्यां नरकभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रोरुय–रोरुय–पुं०। जम्बूद्वीपे मेरोः दक्षिणे पङ्कप्रभायां पृथिव्यां नरकभेदे, स्था० ६ ठा०। स०। तमस्तमायां पृथिव्यां नरकभेदे, प्रज्ञा० २ पद। जी०।

रोल–रोल–पुं०। शब्दे, "रोलो रावो" पाइ० ना० ३४ गाथा। कलहे, रवे च। दे० ना० ७ वर्ग १५ गाथा।

रोलंब–देशी–भ्रमरे, दे० ना० ७ वर्ग २ गाथा।

रोव–रुद्–धा०। अश्रुविमोचने, "रुद-नमोर्वः" ॥ ८॥ ४॥ २२६॥ इति अन्त्यस्य वः। रुवइ। रोवइ। रुदति। प्रा०।

रोवग–रोहक–पुं०। "रुहः पः"॥ ४॥ २॥ १४॥ इति–हकारस्य वा पकारः। हैम०। "पो वः" ॥८॥१॥ २३१॥ इति पस्य वः। प्रा०। वृत्ते, दश० १ अ०।

रोवण–रोपण–न०। रोप्यते इति रोपणं, भावे अनट्। स्थापने, व्य० १ उ०। रोहणे, रुह-जन्मनि। रोहति कश्चित्; तमन्यः प्रयुङ्क्ते। प्रयोक्तृव्यापारे णिः। "रुहः पः" ॥४।२।१४॥ इति हकारस्य पकारः। हैम०। स्थापने, व्य० १ उ०।

रोवमाणी–रुदती–स्त्री०। अश्रुविमोचनं कुर्वत्याम्, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

रोविंदय–रोविन्दक–न०। गेयभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

रोविर–रोदिन्–त्रि०। शीलार्थे णिनिः। "शीलाद्यर्थस्येरः" ॥८।२।१४५॥ इति विहितस्य प्रत्ययस्य इरः। रोदनशीले, प्रा०।

रोस–रोष–पुं०। स्वविकल्पजनिते, प्रव० २ द्वार। क्रोधे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। "बलं जगद्ध्वंसनरक्षणक्षमं, कृपा च सा सङ्गमके कृतागसि। इतीव सञ्चिन्त्य विमुच्य मानसं, रुषेव रोषस्तव नाथ! निर्ययौ॥ १॥" कल्प० १ अधि० ६ क्षण। क्रोधरूपे गौणमोहिनीयकर्म्मणि, स० ५२ सम०। देशभेदे, तद्वासिनि जने च। प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

रोसा–रोषा–स्त्री०। रोषात् शिवभूतेरिव या सा रोषा। प्रव्रज्याभेदे, स्था० १० ठा०। पं० भा०।

................., अहुणा रोसा तु पव्वज्जा
सीसारक्खो रएहो, धम्मं सोऊण सावओ जातो।
मा मारेही किंची, उज्झित्तुं असिं करे दारं।
तप्पडिणि रायकहिए, पेच्छामि असि त्ति सावएऽणुसं।
सम्मद्दिट्ठी देवय, सा रक्खिज्जो त्ति तो कट्ठे।
दिव्वप्पभावमेयं, सभयं दट्ठूण कुद्धितो राया।
णिज्जाति पच्चणीए, सड्ढो तेसिं तु रक्खट्ठा।
जंपति णरिंदमह सो, मा एतेसिं तु रूसहा वुत्ते।
जं जंपियमेतेहिं, तं सव्वं णरवर! तहेव।
ताहे छोढूण पुणो, णिकुट्ट असी तु णवरि दारूओ।
पुट्ठो णरवसभेणं, विभेति ओपेति किं एयं।
जंपति सड्ढो ताहे, णरवर! देवप्पसाद इच्चेसो।
पावविवज्जी तु णरा, हवंति देवाण वी पुज्जा।
तो तुट्ठो भणति णिवो, सेवसु एमेव दारुअसि णाओ।
कडगादीहिं पूँजितो, पावितो सुमहंतमिस्सरियं।
कोलगयम्मि य सड्ढे, पुत्तो णामेण चंडकएहो त्ति।
पडिवन्नो तं भोगं, सामंतेणाऽऽनमंतम्मि।
पेसे त्ति चंडकएहे, गंतूणं घेत्तु सज्जमाणो त्ति।
तुट्ठो य भणति राया, किं देमि अहाह सो इणमो।
जं खज्जपेज्जभोज्जं, गेण्हिज्ज पुरम्मि तं तु सुग्गहियं।
इय होतु त्ति य भणिए, वारुणिपाणे पमादेणं।
रत्तिं चिरस्स सगिहं, आगच्छति भज्जमातरो तस्स।
दुहिया जग्गंतीओ, उन्निद्दा अन्नदार त्ति।
चिरकतदारं पिहए, अह लवती आगतो तु सो दारं।
उग्घाडउ तो जणणी, लविंसु जत्थेरिसे वेले।
उग्घाडियदाराइं, तहियं वच्च त्ति मातु रुसितो तु।
साहुग्घाडियदारं, ति गंतु साहूणुवल्लपितुं।
पव्वावेह लवेसुं, ते वि य मत्तो त्ति कातु वक्खेवं।
बंती गोसग्गम्मी, पभोतॆ पव्वावइस्सामो।
सयमेव कुणति लोयं, ताहे लिंगं दलंति जतिणो तु।
पव्वावेंति य विहिणा, एसा रोसा तु पव्वज्जा।
पं० भा० १ कल्प।

रोसाए–रन्नो सीसारक्खो सो साहुसगासे धम्मं सोऊण सावओ, सो तज्जीविओ सो तं असिं उज्झिऊण कट्ठमयं असिं धरेइ, तस्स मित्तो सो तं वारेइ। एवं जाव रन्नो सिट्ठं एस कट्ठमयं असिं धरेइ, रन्ना भणियं–पेच्छामो तेण सम्मद्दिट्ठी देवया आराहिया, नमंसिऊण कड्डिओ लोहमओ जाओ। पच्छा राया पलोएइ सो चुप्पओ विलक्खो जाओ। सावओ पाएसु पडिओ भणइ–सच्चमेयं एवं जाव तस्स पुत्तो चंडकएणो पव्वइओ। जेण चोडिया उप्पाइया। पं० चू० १ कल्प०।

रोसाण–मृज–धा०। शुद्धौ, 'मृजे रुग्घुस-लुञ्छ-पुञ्छ-पुंस-फुस-पुस-लुह-हुल-रोसाणाः' ॥ ८। ४। १०५॥ इति रोसाण इत्यादेशः। रोसाणइ। पक्षे–मज्जइ। मार्ष्टि। प्रा० ४ पाद।

रोसाणिअ–मृष्ट–धा०। आमर्षणे, 'रोसाणिअं मसिणिअं' पाइ० ना० २२४ गाथा।

रोह–रोह–पुं०। चतुर्थपरावर्त्तपरिहारे गोशालकजीवे, भ० १५ श०। अङ्कुरे, वाच०। भगवतो महावीरस्वामिनः स्वनामख्याते ऽनगारे, भ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी रोहे नामं अणगारे पगइभद्दए पगइमउए पगइविणीए पगइउवसंते पगइपयणुकोहमाणमायालोभे मिउमद्दवसंपन्ने अल्लीणे भद्दए विणीए समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढं जाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहइइ। तए णं से रोहे नामं अणगारे जायसड्ढे० जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी–पुव्विं भंते! लोए पच्छा अलोए पुव्विं अ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोए पच्छा लोए ?, रोहा ! लोए य अलोए य पुव्विं पेते पच्छा पेते दो वि एए सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! पुव्विं भंते ! जीवा पच्छा अजीवा पुव्विं अजीवा पच्छा जीवा ?, जहेव लोए य अलोए य तहेव जीवा य अजीवा य, एवं भवसिद्धिया य अभवसिद्धिया य सिद्धि असिद्धी सिद्धा असिद्धा, पुव्विं भंते ! अंडए पच्छा कुक्कुडी, पुव्विं कुक्कुडी पच्छा अंडए ?, रोहा से णं अंडए कओ ?, भयवं ! कुक्कुडीओ, सा णं कुक्कुडी कओ ?, भंते ! अंडयाओ, एवामेव रोहा ! से य अंडए सा य कुक्कुडी, पुव्विं पेते पच्छा पेते दुवे ते सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! । पुव्विं भंते ! लोयंते पच्छा अलोयंते, पुव्वं अलोयंते पच्छा लोयंते !, रोहा ! लोयंते य अलोयंते य० जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! । पुव्विं भंते ! लोयंते पच्छा सत्तमे उवासंतरे पुच्छा, रोहा ! लोयंते य सत्तमे उवासंतरे पुव्विं पि दो वि एते ०जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! । एवं लोयंते य सत्तमे य तणुवाए, एवं घणवाए घणोदहिसत्तमा पुढवी, एवं लोयंते एक्केकेणं संजोएयव्वे इमेहिं ठाणेहिं—तं जहा—" ओवासवायघणउदहि, पुढवी दीवा य सागरा वासा । नेरइयाई अत्थि य, समया कम्माई लेस्साओ ॥१॥ दिट्ठी दंसण णाणा, सन्नसरीरा य जोगउवओगे । दव्वपएसा पज्जव-अद्धा किं पुव्विं लोयंते ? ॥२॥" पुव्विं भंते ! लोयंते पच्छा सव्वऽद्धा ? । जहा लोयंतेणं संजोइया सव्वे ठाणा एते एवं अलोयंतेण वि संजोएयव्वा सव्वे पुव्विं भंते ! सत्तमे उवासंतरे पच्छा सत्तमे तणुवाए ?, एवं सत्तमं उवासंतरं सव्वेहिं समं संजोएयव्वं ०जाव सव्वद्धाए । पुव्विं भंते ! सत्तमे तणुवाए पच्छा सत्तमे घणवाए, एयं पि तहेव नेयव्वं ०जाव सव्वद्धा, एवं उवरिल्लं एक्केक्कं संजोयंतेणं जो जो हिट्ठिल्लो तं तं छड्डेंतेणं नेयव्वं ०जाव अतीयअणागयद्धा पच्छा सव्वद्धा ०जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति ! ०जाव विहरइ । (सू० ५३)

' पगइभद्दए ' त्ति स्वभावत एव परोपकारकरणशीलः ' पगइमउए ' त्ति स्वभावत एव भावमार्दविकः, अत एव ' पगइविणीए ' त्ति तथा ' पगइउवसंते ' त्ति क्रोधोदयाभावात् ' पगइपयणुकोहमाणमायालोभे ' सत्यपि कषायोदये तत्कार्याभावात् प्रतनुक्रोधादिभावः ' मिउमद्दवसंपन्ने ' त्ति मृदु यन्मार्दवम्-अत्यर्थमहंकृतिजयस्तत्संपन्नः—प्राप्तो गुरूपदेशाद् यः स तथा, ' आलीणे ' त्ति गुरुसमाश्रितः संलीनो वा, ' भद्दए ' त्ति अनुपतापको गुरुशिक्षागुणात्, ' विणीए ' त्ति गुरुसेवागुणात् ' भवसिद्धिया य ' त्ति भविष्यतीति भवा, भवा सिद्धिः—निर्वृतिर्येषां ते भवसिद्धिकाः, भव्या इत्यर्थः, ' सत्तमे उवासंतरे ' त्ति सप्तमपृथिव्या अधोवर्त्याकाशमिति । सूत्रसंग्रहगाथे के ?, तत्र ' ओवासे ' त्ति सप्तावकाशान्तराणि ' वाय ' त्ति तनुवाताः घनवाताः ' घणउदहि ' त्ति घनोदधयः सप्त ' पुढवि ' त्ति नरकपृथिव्यः सप्तैव ' दीवा य ' त्ति जम्बूद्वीपादयोऽसंख्याता असंख्येया एव ' सागराः ' लवणादयः 'वास' त्ति वर्षाणि भारतादीनि सप्तैव 'नेरइयाइ'त्ति चतुर्विंशतिदण्डकः ' अत्थि य ' त्ति अस्तिकायाः पञ्च ' समय' त्ति कालविभागाः कर्माण्यष्टौ, लेश्याः षट्, दृष्टयो-मिथ्यादृष्ट्यादयस्तिस्रः, दर्शनानि चत्वारि, ज्ञानानि पञ्च, संज्ञाश्चतस्रः, शरीराणि पञ्च, योगास्त्रयः, उपयोगौ द्वौ, द्रव्याणि षट्, प्रदेशा अनन्ताः, पर्यवा अनन्ता एव, ' अद्ध ' त्ति अतीताद्धा अनागताद्धा सर्वाद्धा चेति, ' किं पुव्विं लोयंते ' त्ति, अयं सूत्राभिलापनिर्देशः, तथैव पश्चिमसूत्राभिलापं दर्शयन्नाह-' पुव्विं भंते ! लोयंते पच्छा सव्वद्धे ' त्ति, एतानि च सूत्राणि शून्यज्ञानादिवादनिरासेन विचित्रबाह्याध्यात्मिकवस्तुसत्ताऽभिधानार्थानि ईश्वरादिकृतत्वनिरासेन चानादित्वाभिधानार्थानीति । भ०१श०६ उ०।

रोध–पुं० । प्रतिरोधे, दे० ना० ७ वर्ग १६ गाथा ।

रोहग–रोहक–पुं० । उज्जयिन्याः प्रत्यासन्ननटग्रामे भरतनटसुते, आ० क० १ अ० । आ०म० । न० । विशे० । (तत्कथा ' उप्पत्तिया ' शब्दे द्वितीयभागे ८२६ पृष्ठे दर्शिता ।)

रोहगुत्त–रोहगुप्त–पुं० । अन्तरञ्जिकायां नगर्यां श्रीगुप्ताऽऽचार्याणां शिष्यत्वं प्राप्ते त्रैराशिकनिह्नवमतप्रवर्तके तद्भागिनेये, आ० म० १ अ० । आ० चू० । विशे० । आव० । (एतद्वक्तव्यता ' तेरासिय ' शब्दे चतुर्थभागे २३६० पृष्ठे उक्ता) । आर्यसुहस्तिशिष्ये, कल्प० ८ अधि० ८ क्षण । षडुलूके, यो हि नामान्तरेण—रोहगुप्तः । स्था० ७ ठा० । उत्त० । कल्प० । चम्पायां नगर्यां सिंहसेनस्य महामन्त्रिणि, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

रोहण–रोधन–न० । रज्ज्वादिना आवरणे, स्था० ५ ठा० १ उ० । स्वनामख्याते दिवसमुहूर्ते, पुं० । द० प० । रुह्यतेऽसौ, रुहल्युट् । पर्वतभेदे, वाच० । काश्यपगोत्रे स्वनामख्याते आर्यसुहस्तिशिष्ये, कल्प० ८ अधि० ८ क्षण ।

रोहणगिरि–रोहणगिरि–पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरपर्वते भद्रशालवने, ईशान्यकोणे अष्टमे दिग्हस्तिकूटे, स्था० ८ ठा० ।

रोहा–रोहा–स्त्री० । कण्टकोद्धरणे उदाहृतायां स्वनामख्यातायां परिव्राजिकायाम् , ग० २ अधि० । बृ० ।

रोहिअ–देशी–अरण्ये, दे० ना० ७ वर्ग १२ गाथा । " रोहिओ रोज्झो " पाइ० ना० २२७ गाथा ।

रोहिअंसप्प(साप)वायदह–रोहितांशाप्रपातहृद–पुं० । रोहितांशोद्गमस्थाने, स्था० । 'रोहियंसप्पवायदहे चेव' त्ति हिमवद्वर्षधरपर्वतोपरिवर्त्तिपद्महृदोत्तरतोरणेन निर्गत्य रोहितांशा महानदी द्वे षट्सप्तत्युत्तरे योजनशते सातिरेकम् उत्तराभिमुखी पर्वतेन गत्वा योजनायामया अर्द्धत्रयोदशयोजनविष्कम्भया क्रोशबाहल्यया जिह्निकया विवृतमकरमुखप्रणालेन हाराकारेण च सातिरेकयोजनशतिकेन प्रपातेन यत्र प्रपतति यश्च रोहितप्रपातकुण्डसमानमानः तस्य मध्ये रोहितांशाद्वीपो रो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिद्द्वीपसमानमानः रोहितांशाभवनेन प्रागुक्तमानेनाऽलंकृतः, यतश्च रोहितांशा नदी रोहिन्नदीसमानमाना उत्तरतोरणेन निर्गत्य पश्चिमसमुद्रं प्रविशति स रोहितांशाप्रपातह्रद इति । स्था० २ ठा० ३ उ०।

रोहिअंसा–रोहितांशा–स्त्री० । जम्बूद्वीपे मेरोरुत्तरे शिखरिवर्षधरपर्वते, पुण्डरीकह्रदान्निर्गतायां स्वनामख्यातायां महानद्याम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । स० । स्वनामख्याते द्वीपे, पुं० । जं० ।

रोहितांशानामक–नदी–कुण्ड–द्वीपानां व्यक्तव्यतामाह–

तस्स णं पउमद्दहस्स उत्तरिल्लेणं तोरणेणं रोहिअंसा महाणई पवूढा समाणी दोण्णि छावत्तरे जोअणसए छच्च एगूणवीसइभाए जोअणस्स उत्तराभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवत्तिएणं मुत्तावलिहारसंठिएणं साइरेगजोअणसइएणं पवाएणं पवडइ, रोहिअंसा णामं महाणई जओ पवडइ एत्थ णं महं एगा जिब्भिआ पण्णत्ता, सा णं जिब्भिआ जोअणं आयामेणं अद्धतेरसजोअणाइं विक्खंभेणं कोसं बाहल्लेणं मगरमुहविविउट्ठसंठाणसंठिआ सव्ववइरामई अच्छा, रोहिअंसा महाणई जहिं पवडइ, एत्थ णं महं एगे रोहिअंसापवायकुंडे णाम कुंडे पण्णत्ते, सवीसं जोअणसयं आयामविक्खंभेणं तिण्णि असीए जोअणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं, दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छे कुंडवण्णओ० जाव तोरणा, तस्स णं रोहिअंसापवायकुंडस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे रोहिअंसा णामं दीवे पण्णत्ते, सोलस जोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पण्णासं जोयणाइं परिक्खेवेणं दो कोसे ऊसिए जलंताओ सव्वरयणामए अच्छे सण्हे सेसं तं चेव ०जाव भवणं अट्ठो अ भाणिअव्वो त्ति । तस्स णं रोहिअंसप्पवायकुंडस्स उत्तरिल्लेणं तोरणेणं रोहिअंसामहाणई पवूढा समाणी हेमवयं वासं एज्जेमाणी २ चउद्दसहिं सलिलासहस्सेहिं आपूरेमाणी २ सद्दावइवट्टवेअद्धपव्वयं अद्धजोअणेणं असंपत्ता समाणी पच्चत्थाभिमुही आवत्ता समाणी हेमवयं वासं दुहा विभयमाणी २ अट्ठावीसाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा अहे जगइं दालइत्ता पच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ, रोहिअंसा णं पवहे अद्धतेरसजोअणाइं विक्खंभेणं कोसं उव्वेहेणं तयणंतरं च णं मायाए २ परिवद्धमाणी २ मुहमूले पणवीसं जोअणसयं विक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं जोअणाइं उव्वेहेणं उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहि अ वणसंडेहिं संपरिक्खित्ता (सू० ७४)

'रोहिअं' इत्यादि, व्यक्तं, नवरम् आयामे योजनं विष्कम्भमानेऽर्द्धत्रयोदशानि योजनानि सार्द्धद्वादश योजनानि बाहल्ये क्रोशम्, गङ्गाजिह्विकाया अस्या द्विगुणत्वात् । अथ कुण्डस्वरूपमाह–'रोहिअंसा' इत्यादि, प्रायः प्रकटार्थं, परमायामविष्कम्भयोर्विंशत्यधिकं, गङ्गाप्रपातकुण्डादस्य द्विगुणत्वात्, अथात्र द्वीपमाह–' तस्स णं ' इत्यादि, प्रकटार्थम्, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ रोहिअंसादीवे २' इत्याद्यभिलापेन ज्ञेयः, सम्प्रत्यस्या येन तोरणेन निर्गमो यस्य च क्षेत्रस्य स्पर्शना यावांश्च नदीपरिवारो यत्र च संक्रमस्तथाऽऽह–' तस्स णं ' इत्यादि, तस्य–रोहितांशाप्रपातकुण्डस्य औत्तराहेण तोरणेन रोहितांशा महानदी प्रव्यूढा–निर्गता सती हैमवतं वर्षम् इयती २–गच्छन्ती२ चतुर्दशभिः सलिलासहस्रैः आपूर्यमाणा२ शब्दापातिनामानं वृत्तवैताढ्यपर्वतम् अर्द्धयोजनेनासम्प्राप्ता सती पश्चिमाभिमुखी आवृत्ता सती हैमवन्तं वर्षं द्विधा विभजन्ती २अष्टाविंशत्या सलिलासहस्रैः समग्रा–परिपूर्णा जगतीम् अधो दारयित्वा पश्चिमायां लवणसमुद्रं प्रविशति, अस्या एव मूलविस्ताराद्याह–' रोहिअंसा णं ' इत्यादि, रोहितांशा प्रवहे–मूलेऽर्द्धत्रयोदशानि योजनानि विष्कम्भेन, प्राच्यक्षेत्रनदीतो द्विगुणविस्तारकत्वात्, क्रोशमुद्वेधेन प्रवहव्यासपञ्चाशत्तमभागरूपत्वात्, तदनन्तरं मात्रया २–क्रमेण प्रतियोजनं समुदितयोरुभयोः पार्श्वयोर्धनुर्विंशत्या वृद्ध्या प्रतिपार्श्वं धनुर्दशकवृद्ध्येत्यर्थः परिवर्द्धमाना २ मुखमूले–समुद्रप्रवेशे पञ्चविंशतं योजनशतं विष्कम्भेन, प्रवहव्यासाद्दशगुणत्वात्, अर्द्धतृतीयानि योजनानि उद्वेधेन मुखव्यासपञ्चाशत्तमभागरूपत्वात्, शेषं प्राग्वत् । जं० ४ वक्ष० ।

रोहिअंसा(सप्प)पावयकुंड–रोहितांशाप्रपातकुण्ड–न० । स्वनामख्याते कुण्डे, जं० ४ वक्ष० । (अस्य विष्कम्भादि ' रोहिअंसा ' शब्देऽनुपदमेव गतम्)

रोहिणिज्ज–रोहिणीय–पुं० । अन्तःपुरमहल्लिकेषु, वर्धिके । यैः सह राजा मन्त्रयते । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

रोहिणिया–रोहिणिका–स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

रोहिणी–रोहिणी–स्त्री० । प्रजापतिदेवताके पञ्चतारे स्वनामख्याते नक्षत्रविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ० । अनु० । चं०प्र० ।

रोहिणीनक्खत्ते पंचतारे । स० ५ सम० ।

रोहिणीचन्द्रस्य वल्लभा । कल्प० १ अधि० ३ क्षण । शक्रादिलोकपालसोममहाराजाग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । ज्ञा० । भ० । ती० । गवि, " गिट्ठी गोला य रोहिणी सुरही" पाइ० ४५ गाथा । सुपुरुषस्य किंपुरुषेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था०४ ठा०१उ० । भ० । नवमबलदेवस्य मातरि, स० । आव० । प्रव० । जी० । ति० । प्रश्न० । रुधिरसुतायां वसुदेवपत्न्यां बलदेवमातरि, प्रश्न० । तत्कृते संग्रामोऽभूत्, तथाहि–अरिष्टपुरे नगरे रुधिरो नाम राजा मित्रा नाम देवी तत्पुत्रो हिरण्यनाभः दुहिता च रोहिणी, तस्या विवाहार्थं रुधिरेण स्वयंवरो घोषितः, मिलिताश्च जरासन्धप्रभृतयः समुद्रविजयादयो नराधिपतयः उपविष्टाश्च यथायथम्, रोहिणी च धात्र्या क्रमेणोपदर्शितेषु राजसु रागमकुर्वती तूर्यवादकानां मध्ये व्यवस्थितेन समुद्रविजयादीनामलुंजन देशान्तरसञ्चारिणा तत्राऽऽ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यातेन वसुदेवेन राजसूनुना पाणविकाकारं विभ्रता—"मुग्धमृगनयनयुगले !, शीघ्रामेहागच्छ मेव चिरयस्व। कुलविक्रमगुणशालिनि !, त्वदर्थमहमागतो यदिह ॥१॥" इत्यक्षरानुकारिध्वनौ प्रवादिते पणवे समुत्फुल्ललोचना सञ्जातानुरागा सरभसमुपश्रुत्य स्वहस्तेन वसुदेवस्य गले मालामवलम्बितवती। ततस्ते राजान ईर्ष्याशल्यवितुद्यमानमानसा वसुदेवेन सार्द्धं संग्रामायोपतस्थुः, तेन च रणाङ्गरसिकेन सर्वान् विनिर्जित्य रोहिणी परिणीता, जातश्च तस्या रामाभिधानो बलदेवः सुतुरिति। प्रश्न०४आश्र०द्वार। स्वनामख्यातायां महाविद्यायाम्, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। स्था०। आ० चू०। आव०। स०। चित्रकवल्ल्याम्, ल० प्र०। रोहितकपुरे स्वनामख्यातायां गणिकायाम्, आ०क० ५ अ०। आव०। आ० चू०। वासुपूज्यजिनपौत्र्याम्, ती० ३४ कल्प। (अस्या वृत्तम् 'चम्पा' शब्दे तृतीयभागे १०६८ पृष्ठे गतम्) कुण्डिनपुरे सुभद्रश्रेष्ठिपुत्र्याम्, ध० र०।

रोहिणीज्ञातमिदम्—

इह कुंडिणि त्ति पवरा, नयरी नयरीइराइया अत्थि।
तत्थ निवो जियसत्तू, जो सत्तू दुज्जणजणस्स ॥ १ ॥
पायं विगहविरत्तो, सकह गुणरयण-रोहणसमाणो।
सिट्ठी सुभद्दनामा, मनोरमा भारिया तस्स ॥ २ ॥
पुत्ती य बालविहवा, नामेणं रोहिणी अहीणगुणा।
जिनसमए लद्धट्ठा, गहियट्ठा पुच्छियट्ठा य ॥ ३ ॥
पूयइ जिणे तिसंझं, अयंभमज्झयणमाइ आयरइ।
आवस्सयाइ किच्चं, निच्चं निच्चिंतिया कुणइ ॥ ४ ॥
धम्मं संवइ न हु कं, पि वंचए अंचए गुरूण पए।
नियनामं व वियारइ, कम्मप्पयडीपमुहगंथे ॥ ५ ॥
दाणं देइ पहाणं, सुरसरिसलिलुज्जलं धरइ सीलं।
जहसत्ति तवइ तवं, भावइ सुहभावणा सुमणा ॥ ६ ॥
इय निम्मलगिहिधम्मा, अचलियसम्मा दढं वलियमोहा।
अवितहजिणमयपयडण—पंडिया सा गमइ दिवसे ॥ ७ ॥
अह चित्तवित्तिअडवीइ-भुवणअक्कमणअइसयपयंडो।
मोहो नाम नरिंदो, पालइ निक्कंटयं रज्जं ॥ ८ ॥
कइयावि नियमदोसु-ग्घट्टण पवणं तु रोहिणिं सुणिउं।
वरवयणाओ मोहो, विचिंतए धणियमुव्विग्गो ॥ ९ ॥
अइ सढ ! हियय ! सदागम-वासियचित्ताइ पिच्छह इमीए।
कित्तियमित्तं अम्हा-ण दोसगहणे रसप्पसरो ॥ १० ॥
जह कह वि इमा एमे-व चिट्ठिही कित्तियं धुवं कालं।
ता मे निस्सत्ताणं, कोवि न पिच्छिहिइ धूलिं पि ॥ ११ ॥
इय चिंततस्स इम-स्स आगओ रायकेसरी तणओ।
पणमंतो वि न नाओ, तो एसो भणइ अइदुहिओ ॥ १२ ॥
इत्तियमित्ता चिंता, किं कज्जइ ताय ! तायपायाणं।
जं तं जए वि न अन्नं, समं च विसमं व पिच्छामि ॥१३॥
तो से कहेइ मोहो, जहट्ठियं रोहिणीइ वुत्तंतं।
तं सोउ सिरे वज्जा—हउ व्व जाओ इमो विमणो ॥ १४ ॥
अह सयलं पि हु सिन्नं, सुविसन्नं मुक्ककुसुमतंबोलं।
जाय मत्थक्के थक्कवि-य नट्टगीयाइ-वावारं ॥ १५ ॥
इत्थंतरम्मि सिसुणा, एगेण इत्थियाएँ एक्काए।
अट्टट्टहाससद्दं, हसियं सुणियं च मोहेन ॥ १६ ॥
तत्तो चिंतइ गुरुम-न्नु, पसर परिमुक्कदीहनीसासो।
के मइ दुहिए एवं, अइसुहिया नणु पकीलंति ॥ १७ ॥
अह कुवियस्साऽऽकूयं, नाऊणं नियसामिसालस्स।
दुट्ठाभिसंधिमंती, गयभंती विन्नवइ एवं ॥ १८ ॥
देव ! निवजुवइजणवय—भत्तकहाकरणचउमुहा एसा।
भुवणजणमोहिणी जो-इणि व्व विग्गह त्ति मह भज्जा ॥१९॥
एस सिसू अइइट्ठो, पमायनामा ममेव वरपुत्तो।
जं पुण हसिय मयग्गे, तं पुच्छेमो इमे चेव ॥ २० ॥
तो हक्कारिय रन्ना, ते पुट्ठा भो तुमेहि किह हसियं।
वज्जरइ तत्थ इत्थी, पुज्जा सम्मं निसामंतु ॥ २१ ॥
सिसुमित्तसज्जकज्जे, किं ताओ इत्तिअं वहइ चिंतं।
इय विम्हयववसाए, मए सपुत्ताइ हसियं तु ॥ २२ ॥
जं ताए पसाया रो-हिणिं इमं धम्मओ खणद्धेण।
पाडेउ मइं पि खमा, अहवा कयं चराई मे ॥ २३ ॥
जे उवसंता मणना—णिणो य मे सुयजुयाइचरणाओ।
भंसियपुव्वा तंसि, संखं पि न कोऽवि जाणेइ ॥ २४ ॥
जे पुण मए चउद्दस, पुव्वधरा खडहडाविया धम्मा।
अज्ज वि धूलि व्व रुलं-ति तायपायाण पुरओ ते ॥ २५ ॥
तं सोउ चिंतइ निवो, धन्नो हं जस्स मज्झ सिन्नम्मि।
भुवणजणजणणमंसल, बलाउ अबलाउ वि इमाओ ॥ २६ ॥
इय सामत्थियरन्ना, सा तणुअंगी तणुरुहसमग्गा।
सयहत्थदिन्नवीडा, सहरिसिजिंघियसरोदेसा ॥ २७ ॥
तुह संतु सिवा मग्गा, पिट्ठीइ च्चिय बलं पि आगमिही।
इय लहु विसज्जिया रो-हिणीइ पासम्मि सा पत्ता ॥ २८ ॥
अह तीइ जोइणीए, अहिट्ठिया सा गया जिणहरेऽवि।
अन्नन्नसावियाहिं, समं कुणइ विविहविगहाओ ॥ २९ ॥
न य पूएइ जिणिंदे, देवे वि न वंदए पसन्नमणा।
बहुहासबोलबहुला, कुणइ विघायं परेसिं पि ॥ ३० ॥
न य कोऽवि किं पि पभणइ, महिड्ढिधूय त्ति तो अइपसंगा।
सज्झायझाणरहिया, भणिया एगेण सड्ढेणं ॥ ३१ ॥
किं भइणि अइपमत्ता, धम्मट्ठाणे वि कुणसि इय वत्ता।
जं भवियाण जिणेहिं, सया निसिद्धाउ विगहाओ ॥ ३२ ॥

तथा चोक्तम्–

सा तन्वी सुभगा मनोहररुचिः कान्तेक्षणा भोगिनी,
तस्या हारिनितम्बबिम्बमथवा विप्रेक्षितं सुभ्रुवः।
धिक्तामुष्ट्रगतिं मलीमसतनुं काकस्वरां दुर्भगा-
मित्थं स्त्रीजनवर्णनिन्दनकथा दूरेऽस्तु धर्मार्थिनाम् ॥ ३३ ॥
(अहो-)क्षीरस्यान्नं मधुरमधुगावाज्यखण्डान्वितं चेत्,
(रसः) श्रेष्ठं दध्नो मुखसुखकरं व्यञ्जनेभ्यः किमन्यत्।
अह्लादम्यद्रमयति मनः स्वादु ताम्बूलमेकं,
त्याज्या प्राज्ञैरशनविषया सर्वदैवेति वार्त्ता ॥ ३४ ॥
रम्यो मालवकः सुधान्यकनकः काञ्च्यास्तु किं वर्ण्यतां,
दुर्गा गुर्जरभूमिरुद्धटभटा लाटाः किराटोपमाः।
कश्मीरे वरमुष्यतां सुखनिधौ स्वर्गोपमाः कुन्तलाः,
वर्ज्या दुर्जनसङ्गवच्छुभधिया देशी कथैवंविधा ॥३५॥
राजाऽयं रिपुवारदारणसहः क्षेमङ्करश्चौरहा,
युद्धं भीममभूत्तयोः प्रतिकृतं साध्वस्यते नाधुना।
दुष्टोऽयं म्रियतां करोतु सुचिरं राज्यं ममाप्यायुषा,
भूयो बन्धनिबन्धनं बुधजनै राज्ञां कथा हीयताम् ॥ ३६ ॥
सिंगाररसु त्ति इया, मोहमई हासकेलिसंजणणा।
परदोसकहणपवणा, सा विकहा नेव कहियव्वा ॥ ३७ ॥
ता जिणगणहरमुणिमा-इसकहा असिलयाइ छिंदित्ता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विगहावर्ज्जि तं होसु,धम्मझाणम्मि लीणमणा ॥ ३८ ॥
सा भणइ तओ हे भाय !, जिणगिहं पिउगिहं व पाचित्ता ।
नियनियसुहदुहकहणे-ण हुंति सुहिया खणं महिला ॥३६॥
न य वत्ताण निमित्तं, को वि हु कस्स वि गिहं समल्लियइ ।
ता पसिय अम्ह तुमए, न किं पि इय जंपियव्वं ति ॥ ४० ॥
तो सव्वहा अजोग, त्ति चिंतिउं मोणसंठिओ उ सढो ।
इयरी चिराउ गेहे, समागया पभणिया पिउणा ॥ ४१ ॥
वच्छे ! विगहाविसए, सुम्मइ तुह उवरयो भिसंलोए ।
एसो सच्चो अलिओ, व हणइ पयडम्मि नणु महिमं ॥४२॥

उक्तं च—

विरुद्धस्तथ्यो वा भवतु वितथो वा यदि परं,
प्रसिद्धः सर्वस्मिन् हरति महिमानं जनरवः ।
तुलोत्तीर्णस्यापि प्रकटनिहताशेषतमसो,
रवेस्तादृक् तेजो न हि भवति कन्यां गत इति ॥ ४३ ॥
ता पुत्ति मुत्तिपडिकूल, वत्तिणि वत्तणिं च नरयस्स ।
मुंचसु परदोसकहं, सुहं जइच्छसि जओ भणियं ॥ ४४ ॥
यदीच्छसि वशीकर्तुं, जगदेकेन कर्मणा ।
परापवादसस्येभ्य-श्चरन्तीं गां निवारय ॥ ४५ ॥
यावत् परगुणपरदो-पकीर्त्तने व्यावृतं मनो भवती ।
तावद्वरं विशुद्धे, ध्याने व्यग्रं मनो ध्रियताम् ॥ ४६ ॥
तो रोहिणी पयंपइ, पढमं ता ताय ! आगमो वज्जो ।
जं परगुणदोसकहा, इमाउ सव्वा पयट्टंति ॥ ४७ ॥
न य कोऽवि इत्थ दीसइ, मोणधरो जं इमेऽवि महरिसिणो।
परचरियकहणनिरया, चिट्ठंति विसिट्ठचिट्ठा वि ॥ ४८ ॥
इच्चाइआलमालं, भणती अवहीरिया य पिउणाऽवि ।
गुरुमाईहि वि एसा, उवेहिया भमइ सच्छंदं ॥ ४६ ॥
अह रायअग्गमहिसीइ, सीलविसए विभासिरी कइया ।
दासीहि सुया देवीइ, साहिए सा कहइ रन्नो ॥ ५० ॥
कुविएण निवेण तओ, हक्कारिय से पिया उवालद्धो ।
तुह धूया अम्हं पि हु, विरुद्धमेवं समुल्लवइ ॥ ५१ ॥
देव ! न अम्हं भणियं, करेइ एस त्ति सिट्ठिणा वुत्ते ।
वहुयं विडंविउमिमा, निव्विसया कारिया रन्ना ॥ ५२ ॥
तत्तो निंदिज्जंती, पए पए पागएण वि जणेण ।
पिच्छिज्जंती सुयणेहि, नेहतरलाइदिट्ठीए ॥ ५३ ॥
कह दारुणो विवागो, विगहासत्ताण इत्थ जीवाणं ।
इय वट्टंती निव्वेय-रसभरं सक्कहजणाणं ॥ ५४ ॥
नूणं धम्मो वि इमाए, एरिसो जं इमं फलं पत्तं ।
इह वोहिवीयघायं, कुव्वंती ठाणठाणम्मि ॥ ५५ ॥
वहुविहसीयायवखु-प्पिवासवासाइदुक्खसंतत्ता ।
मरिऊण गया नरयं, तत्तो उव्वट्टिऊण पुणो ॥ ५६ ॥
तिरिएसुं वहुयभवं, अणंतकालं निगोयजीवेसु ।
भमिउं लहिय नरभवं, कमसो किर रोहिणी सिद्धा ॥५७॥
अह सो सुभद्दसिट्ठी, नियपुत्तिविडंवणं निएऊण ।
गुरुवेरग्गपरिगओ, जाओ समणो समियपावो ॥ ५८ ॥
तवचरणकरणसज्झा-यसक्कहासंगओ गयपमाओ ।
विगहाविरत्तचित्तो, कमेण सुहभायणं जाओ ॥ ५६ ॥
एवं ज्ञात्वा दुःकथाव्यापृतानां
दुःखानन्त्यं दुस्तरं देहभाजाम् ।
वैराग्याद्यैर्वन्धुरा वन्धुमुक्ता,
नित्यं वाच्या सत्कथा एव भव्यैः ॥ ६० ॥

इति रोहिणी ज्ञातम् । ध० र० १ अधि० १३ गुण । भविष्यति षोडशे तीर्थकरजीवे, प्रव० ४६ द्वार । ती० । राजगृहे नगरे, धनसार्थवाहपुत्रस्य धनरक्षकस्य भार्यायाम्, ज्ञा० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्—

जंबू ! तणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नाम नयरे होत्था, सुभूमिभागे उज्जाणे, तत्थ णं रायगिहे नगरे धणे नामं सत्थवाहे परिवसति, अड्ढे०, भद्दा भारिया अहीणपंचेंदिय ०जाव सुरूवा, तस्स णं धणस्स सत्थवाहस्स पुत्ता भद्दाए भारियाए अत्तया चत्तारि सत्थवाहदारया होत्था, तं जहा–धणपाले धणदेवे धणगोवे धणरक्खिए, तस्स णं धणस्स सत्थवाहस्स चउण्हं पुत्ताणं भारिआओ चत्तारि सुण्हाओ होत्था, तं जहा—उज्झिया, भोगवतिया, रक्खतिया, रोहिणिआ । तते णं तस्स धणस्स अन्नया कदाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु अहं रायगिहे वहूणं ईसर ०जाव पभिईणं सयस्स कुडुंवस्स वहुसु कज्जेसु य करणिज्जेसु कोडुंवेसु य मंतणेसु य गुज्झे रहस्से निच्छए ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे मेढीपमाणे आहारे आलंवणे चक्खुमेढीभूते कज्जवट्टावए, तं ण णज्जति जं मए गयंसि वा चुयंसि वा मयंसि वा भग्गंसि वा लुग्गंसि वा सडियंसि वा पडियंसि वा विदेसत्थंसि वा विप्पवसियंसि वा इमस्स कुडुंवस्स किं मन्ने आहारे वा आलंवे वा पडिवंधे वा भविस्सति ?, तं सेयं खलु मम कल्लं ०जाव जलंते विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता मित्तणातिणियगसयणवग्गं चउण्हं सुण्हाणं कुलघरवग्गं आमंतेत्ता तं मित्तणाइणियगसयणवग्गं य चउण्हं सुण्हाणं कुलघरवग्गं विपुलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फवत्थगंध ०जाव सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता तस्सेव मित्तणातिणियगसयणवग्गं० चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स पुरतो चउण्हं सुण्हाणं परिक्खणट्ठयाए पंच पंच सालिअक्खए दलइत्ता जानामि ताव का किहं वा सारक्खेइ वा संगोवेइ वा संवड्ढेति वा ?, एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता कल्लं० जाव मित्तणाति० चउण्हं सुण्हाणं कुलघरवग्गं आमंतेइ आमंतेत्ता विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ ततो पच्छा ण्हाए भोयणमंडवंसि सुहासणवरगए मित्तणातिणियगसयणवग्गेण चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गेणं सद्धिं तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं ० जाव सक्कारेति सक्कारेत्ता तस्सेव मित्तनातिणियगसयणवग्गस्स चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स य पुरतो पंच सालिअक्खए गेण्हति गेण्हित्ता जेट्ठा सुण्हा उज्झितिया, तं सद्दावेति सद्दावित्ता एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

वदासी–तुमं णं पुत्ता मम हत्थाओ इमे पंच सालिअक्खए गेण्हाहि गेण्हाहित्ता अणुपुव्वेणं सारक्खेमाणी संगोवेमाणी विहराहि, जया णं ऽहं पुत्ता ! तुमं इमे पंच सालिअक्खए जाएज्जा तया णं तुमं मम इमे पंच सालिअक्खए पडिदिज्जाएज्जासि त्ति कट्टु सुण्हाए हत्थे दलयति दलयित्ता पडिविसज्जेति, तते णं सा उज्झिया धण्णस्स तह त्ति एयमट्ठं पडिसुणेति पडिसुणित्ता धण्णस्स सत्थवाहस्स हत्थाओ ते पंच सालिअक्खए गेण्हति गेण्हित्ता एगंतमवक्कमति एगंतमवक्कमियाए इमेयारूवे अब्भत्थिए–०जाव समुप्पज्जित्था एवं खलु तायाणं कोट्ठागारंसि बहवे पल्ला सालीणं पडिपुण्णा चिट्ठंति, तं जया णं ममं ताओ इमे पंच सालिअक्खए जएस्सति तया णं अहं पल्लंतराओ अन्ने पंच सालिअक्खए गहाय दाहामि त्ति कट्टु एवं संपेहेइ संपेहित्ता तं पंच सालिअक्खए एगंते एडेति एडित्ता सकम्मसंजुत्ता जाया यावि होत्था । एवं भोगवतियाएऽवि, णवरं सा छोल्लेति छोल्लित्ता अणुगिलति अणुगिलित्ता सकम्मसंजुत्ता जाया । एवं रक्खियाऽवि, नवरं गेण्हति गेण्हित्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए–०जाव समुप्पज्जित्था एवं खलु ममं ताओ इमस्स मित्तनातिणियगसयणवग्गस्स चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स य पुरतो सद्दावेत्ता एवं वदासी–तुमण्णं पुत्ता मम हत्थाओ ०जाव पडिदिज्जाएज्जासि त्ति कट्टु मम हत्थंसि पंच सालिअक्खए दलयति तं भवियव्वमेत्थ कारणेणं ति कट्टु एवं संपेहेति संपेहित्ता ते पंच सालिअक्खए सुद्धे वत्थे बंधइ बंधित्ता रयणकरंडियाए पक्खिवेइ पक्खिवित्ता ऊसीसामुले ठावेइ ठावित्ता तिसंझं पडिजागरमाणी विहरइ । तए णं से धण्णे सत्थवाहे तस्सेव मित्त ०जाव चउत्थिं रोहिणियं सुण्हं सद्दावेति सद्दावित्ता ०जाव तं भवियव्वं एत्थ कारणेणं तं सेयं खलु मम एए पंच सालिअक्खए सारक्खेमाणीए संगोवेमाणीए संवड्ढेमाणीए त्ति कट्टु एवं संपेहेति संपेहित्ता कुलघरपुरिसे सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वदासी–तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! एते पंच सालिअक्खए गेण्हह गेण्हित्ता पढमपाउसंसि महावुट्ठिकायंसि निवइयंसि समाणंसि खुड्डागं केयारं सुपरिकम्मियं करेह करेहत्ता इमे पंच सालिअक्खए वावेह वावेहत्ता दोच्चं पि तच्चं पि उक्खयनिहए करेह करेहत्ता वाडिपक्खेवं करेह करेहत्ता सारक्खेमाणा संगोवेमाणा अणुपुव्वेणं संवड्ढेह, तते णं ते कोडुंबिया रोहिणीए एतमट्ठं पडिसुणेति ते पंच सालिअक्खए गेण्हंति गेण्हित्ता अणुपुव्वेणं सारक्खंति संगोवंति विहरंति, तए णं ते कोडुंबिया पढमपाउसंसि महावुट्ठिकायंसि णिवइयंसि समाणंसि खुड्डायं केदारं सुपरिकम्मियं करेंति करेंतित्ता ते पंच सालिअक्खए ववंति दुच्चं पि तच्चं पि उक्खयनिहए करेंति करेंतित्ता वाडिपरिक्खेवं करेंति करेंतित्ता अणुपुव्वेणं सारक्खेमाणा संगोवेमाणा संवड्ढेमाणा विहरंति, तते णं ते साली अणुपुव्वेणं सारक्खिज्जमाणा संगोविज्जमाणा संवड्ढिज्जमाणा साली जाया किण्हा किण्होभासा ०जाव निउरंबभूया पासादीया ४, तते णं साली पत्तिया वत्तिया गब्भिया पसूया आगयगंधा खीराइया बद्धफला पक्का परियागया सल्लइया पत्तइया हारियपव्वकंडा जाया यावि होत्था, तते णं ते कोडुंबिया ते सालीए पत्तिए ०जाव सल्लइए पत्तइए जाणित्ता तिक्खेहिं णवपज्जणएहिं असियएहिं लुणेंति लुणेंतित्ता करयलमलिते करेंति करेंतित्ता पुणंति, तत्थ णं चोक्खाणं सूयाणं अखंडाणं अफोडियाणं छडछडापूयाणं सालीणं मागहए पत्थए जाए, तते णं ते कोडुंबिया ते साली णवएसु घडएसु पक्खिवंति २त्ता उपलिंपंति उपलिंपंतित्ता लंछियमुद्दिते करेंति करेंतित्ता कोट्ठागारस्स एगदेसंसि ठावेंति ठावेंतित्ता सारक्खेमाणा संगोवेमाणा विहरंति । तते णं ते कोडुंबिया दोच्चंसि वासारत्तंसि पढमपाउसंसि महावुट्ठिकायंसि निवइयंसि खुड्डागं केयारं सुपरिकम्मियं करेंति ते साली ववंति दोच्चं पि तच्चं पि उवक्खयणिहए०जाव लुणेंति ०जाव चलणतलमलिए करेंति करेंतित्ता पुणंति, तत्थ णं सालीणं बहवे कुडवा (मुरला) ०जाव एगदेसंसि ठावेंति ठावेंतित्ता सारक्खेमाणा संगोवेमाणा विहरंति । तते णं ते कोडुंबिया तच्चंसि वासारत्तंसि महावुट्ठिकायंसि बहवे केदारे सुपरिकम्मियं ०जाव लुणेंति लुणेंतित्ता संवहंति संवहंतित्ता खलयं करेंति करेंतित्ता मलेंति ०जाव बहवे कुंभा जाया । तते णं ते कोडुंबिया साली कोट्ठागारंसि पक्खिवंति ०जाव विहरंति, चउत्थे वासारत्ते बहवे कुंभसया जाया । तते णं तस्स धण्णस्स पंचमयंसि संवच्छरंसि परिणममाणंसि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु मम इओ अतीते पंचमे संवच्छरे चउण्हाणं सुण्हाणं परिक्खणट्ठयाए ते पंच सालीअक्खया हत्थे दिन्ना तं सेयं खलु मम कल्लं ०जाव जलंते पंच सालिअक्खए परिजाइत्तए ०जाव जाणामि ताव काए किहं सारक्खिया वा संगोविया वा संवड्ढिया ०जाव त्ति कट्टु एवं संपेहेति संपेहेतित्ता कल्लं ०जाव जलंते विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं मित्तनाइणियगसयणवग्गस्स चउण्ह य सुण्हाणं कुलवर ०जाव सम्माणित्ता त–

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्सेव मित्तनाय० चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स य पुरतो जेट्ठं उज्झियं सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु अहं पुत्ता ! इतो अतीते पंचमंसि संवच्छरंसि इमस्स मित्त० चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स य पुरतो तव हत्थंसि पंच सालिअक्खए दलयामि जया णं अहं पुत्ता ! एए पंच सालिअक्खए जाएज्जा तया णं तुमं मम इमे पंच सालिअक्खए पडिदिज्जाएसि त्ति कट्टु तं हत्थंसि दलयामि, से नूणं पुत्ता ! अत्थे समट्ठे ?, हंता अत्थि, तण्णं पुत्ता ! मम ते सालिअक्खए पडिनिज्जाएहि, तते णं सा उज्झितिया एयमट्ठं धण्णस्स पडिसुणेति पडिसुणेतित्ता जेणेव कोट्ठागारं तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता पल्लातो पंच सालिअक्खए गेण्हति गेण्हित्ता जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी–एए णं ते पंच सालिअक्खए त्ति कट्टु धण्णस्स हत्थंसि ते पंच सालिअक्खए दलयति । तते णं धण्णे उज्झियं सवहसावियं करेति करेत्ता एवं वयासी–किण्णं पुत्ता ! एए चेव पंच सालिअक्खए उदाहु अन्ने ?, तते णं उज्झिया धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी–एवं खलु तुब्भे तातो ! इओऽतीए पंचमे संवच्छरे इमस्स मित्तनातिणियगसयणवग्गेणं चउण्ह य सुण्हाणं कुल ०जाव वियरामि, तते णंऽहं तुब्भं एतमट्ठं पडिसुणेमि परिसुणेमित्ता ते पंच सालिअक्खए गेण्हामि एगंतमवक्कमामि,तते णं मम इमेयारूवे अब्भत्थिए०जाव समुप्पज्जित्था एवं खलु तया णं कोट्ठागारंसि ०(जाव) सकम्मसंजुत्ता, तं णो खलु ताओ ! ते चेव पंच सालिअक्खए एए णं अन्ने । तते णं से धण्णे उज्झियाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते ०जाव मिसिमिसेमाणे उज्झितियं तस्स मित्तनातिणियगसयणवग्गस्स चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स य पुरओ तस्स कुलघरस्स छारुज्झियं च छाणुज्झियं च कयवरुज्झियं च समुच्छियं च सम्मज्जिअं च पाओवदाइं च ण्हाणोवदाइं च बाहिरपेसणकारिं ठवेति , एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा २ ० जाव पव्वतिते पंच य से महव्वयाति उज्झियाइं भवंति से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं ४–० जाव अणुपरियट्टइस्सइ जहा सा उज्झिया । एवं भोगवइया वि , नवरं तस्स कंडितियं वा कोट्टंतियं च पीसंतियं च एवं रुच्चंतियं रंधंतियं परिवेसंतियं च परिभायंतियं च अब्भंतरियं च पेसणकारिं महाणसिणिं ठवेंति, एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं समणो पंच य से महव्वयाइं फोडियाइं भवंति । से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं ४–०जाव हीलेइ ४ जहा व सा भोगवातिया । एवं रक्खितियावि,नवरं जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता मंजूसं विहाडेइ विहाडित्ता रयणकरंडगाओ ते पंच सालिअक्खए गेण्हति गेण्हित्ता जेणेव धण्णे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता पंच सालिअक्खए धण्णस्स हत्थे दलयति । तते णं से धण्णे रक्खितियं एवं वयासी–किण्णं पुत्ता ते चेव ते पंच सालिअक्खया उदाहु अन्ने त्ति ?, तते णं रक्खितिया धण्णं एवं वयासी–ते चेव ताया ! एए पंच सालिअक्खया णो अन्ने, कहन्नं पुत्ता !, एवं खलु ताओ ! तुब्भे इओ पंचमम्मि ०जाव भवियव्वं एत्थ कारणेणं ति कट्टु ते पंच सालिअक्खए सुद्धे वत्थे ०जाव तिसंझं पडिजागरमाणी य विहरामि । ततो एतेणं कारणेणं ताओ ! ते चेव ते पंच सालिअक्खए णो अन्ने, तते णं से धण्णे रक्खितियाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा हट्ठतुट्ठ०तस्स कुलघरस्स हिरन्नस्स य कंसदूसविपुलधण ०जाव सावतेज्जस्स य भंडागारिणिं ठवेति, एवामेव समणाउसो ! ०जाव पंच य से महव्वयाति रक्खियाति भवंति से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं–०४ अच्चणिज्जे जहा ०जाव सा रक्खिया । रोहिणिया वि एवं चेव, नवरं तुब्भे ताओ ! मम सुबहुयं सगडीसागडं दलाहि जेणं अहं तुब्भं ते पंच सालिअक्खए पडिणिज्जाएमि । तते णं से धण्णे रोहिणिं एवं वदासी–कहण्णं तुमं मम पुत्ता ! ते पंच सालिअक्खए सगडसागडेणं निज्जाइस्ससि ?, तते णं सा रोहिणी धण्णं एवं वदासी—एवं खलु तातो ! इओ तुब्भे पंचमे संवच्छरे इमस्स मित्त ०जाव बहवे कुंभसया जाया तेणेव कमेणं एवं खलु ताओ ! तुब्भे ते पंच सालिअक्खए सगडसागडेणं निज्जाएमि । तते णं से धण्णे सत्थवाहे रोहिणियाए सुबहुयं सगडसागडं दलयति, तते णं रोहिणी सुबहुं सगडसागडं गहाय जेणेव सए कुलघरे तेणेव उवागच्छइ कोट्ठागारे विहाडेति२त्ता पल्ले उब्भिदति उब्भिदित्ता सगडीसागडं भरेति भरेतित्ता रायगिहं नगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छति । तते णं रायगिहे नगरे सिंघाडग० जाव बहुजणो अन्नमन्नं एवमातिक्खति०–धन्ने णं देवा ! धण्णे सत्थवाहे जस्स णं रोहिणिया सुण्हा, जीए णं पंच सालिअक्खए सगडसागडिएणं निज्जाएति । तते णं से धण्णे सत्थवाहे ते पंच सालिअक्खए सगडसागडेणं निज्जाएतिं पासति पासित्ता हट्ठतुट्ठ ०जाव पडिच्छति पडिच्छित्ता तस्सेव मित्तनाति ०चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरपुरतो रोहिणियं सुण्हं तस्स कुलघरस्स बहुसु कज्जेसु य ०जाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहस्सेसु य आपुच्छणिज्जं ०जाव वट्टावितं पमाणभूयं ठावेति, एवामेव समणाउसो ! ०जाव पंच महव्वया संवड्ढिया भवंति से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं ०जाव वीतिवइस्सइ जहा व सा रोहिणिया । (सू०६३×)

इदमपि सुगमम्, नवरम् 'मए' त्ति मयि 'गयंसि' त्ति गते ग्रामादौ एवम्-च्युते—कुतोऽप्यनाचारात् स्वपदात् पतिते मृते—परासुतां गते भग्ने—वात्यादिना कुब्जखञ्जत्वकरणेनासमर्थीभूते 'लुग्गंसि व' त्ति रुग्णे—जीर्णतां गते शटिते—व्याधिविशेषाच्छीर्णतां गते पतिते—प्रासादादेर्मञ्चके वा ग्लानभावात् विदेशस्थे—विदेशं गत्वा तत्रैव स्थिते विप्रोषिते—स्वस्थानविनिर्गते देशान्तरगमनप्रवृत्ते आधारः-आश्रयो भूरिव आलम्बनं-वरत्रादिकमिव प्रतिबन्धः—प्रमार्जनिकाशलाकादीनां लतादवरक इव कुलगृहं—पितृगृहं तद्वर्गो मातापित्रादिः, संरक्षति अनशनतः, सङ्गोपयति संवरणतः, संवर्द्धयति बहुत्वकरणतः, 'छोल्लेइ' त्ति निस्तुषीकरोति 'अणुगिलइ' त्ति भक्षयति, कचित्-'फोल्लेइ' इत्येतदेव दृश्यते, तत्र च भक्षयतीत्यर्थः। 'पत्तिय' त्ति सञ्जातपत्राः 'वत्तिय' त्ति व्रीहीणां पत्राणि मध्यशलाकापरिवेष्टनेन नालरूपतया वृत्तानि भवन्ति तद्वृत्ततया जातवृत्तत्वाद्वर्त्तिताः शाखादीनां वा समतया वृत्तीभूताः सन्तो वर्त्तिता अभिधीयन्ते, पाठान्तरेण—'तइया व' त्ति सञ्जातत्वच इत्यर्थः, गर्भिता जातगर्भा डोडकिता इत्यर्थः, प्रसूताः—कणिशानां पत्रगर्भेभ्यो विनिर्गमात्, आगतगन्धा-जातसुरभिगन्धाः आयातगन्धा वा दूरयायिगन्धा इत्यर्थः, क्षीरकिताः—सञ्जातक्षीरकाः बद्धफलाः क्षीरस्य फलतया बन्धनात् जातफला इत्यर्थः, पक्वाः—काठिन्यमुपगताः, पर्यायागताः पर्यायगता वा सर्वनिष्पन्नतां गता इत्यर्थः, 'सल्लइपत्तय' त्ति सल्लकी वृक्षविशेषस्तस्या इव पत्रकाणि—दलानि कुतोऽपि साधर्म्यात् सञ्जातानि येषां ते तथेति, गमनिकैवेयं पाठान्तरेण—शल्यकिताः—शुष्कपत्रतया सञ्जातशलाकाः पत्रकिताः—सञ्जातकुत्सितकाल्पपत्राः, 'हरियपव्वकंड' त्ति हरितानि—हरितालवर्णानि नीलानि पर्वकाण्डानि नालानि—येषां ते तथा, जाताश्चाप्यभूवन्, 'नवपज्जणएहिं' ति नवं—प्रत्यग्रं पायनम्—लोहकारेणातापितं कुट्टितं तीक्ष्णधारीकृतं पुनस्तापितानां जले निबोलनं येषां तानि तथा तैः, 'असिएहिं' ति दात्रैः 'अखंडाणं' ति सकलानाम् अस्फुटितानाम्-असञ्जातराजीकानां छड छड इत्येवमनुकरणतः सूर्पादिना स्फुटाः-स्फुटीकृताः शोधिता इत्यर्थः, स्पृष्टा वा, पाठान्तरेण—पूता वा ये ते तथा तेषां 'मागहए पत्थए' त्ति "दो असईओ पसइ, दो पसईओ उ सेइआ होइ। चउसेइओ उ कुडओ, चउकुडओ पत्थओ नेओ ॥ १ ॥" इति। अनेन प्रमाणेन मगधदेशव्यवहृतः प्रस्थो मागधप्रस्थः, उपलिम्पन्ति—घटकमुखस्य तत्पिधानकस्य च गोमयादिना रन्ध्रे भञ्जन्ति 'लिंपेंति'—घटमुखं तत्स्थगितं च छगणादिना पुनर्मसृणीकुर्वन्ति, लाञ्छितं रेखादिना, मुद्रितं मृन्मयमुद्रादानेन तत्कुर्वन्ति, मुरलो—मानविशेषः, खलकं धान्यमलनस्थण्डिलं, चतुष्प्रस्थम् आढकः-आढकानां षष्ट्या जघन्यः कुम्भः अशीत्या मध्यमः शतेनो-

त्कृष्ट इति, क्षारोज्झिकाम्-भस्मपरिष्ठापिकाम् 'कचवरोज्झिकाम्-अवकरशोधिकाम् समुज्झिकाम्' प्रातर्गृहाङ्गणे जलच्छटकदायिकाम्, पाठान्तरेण—'संपुच्छिय' त्ति तत्र सम्प्रोञ्छिकाम्-पादादिलूषिकाम्-सम्मार्जिकाम्—गृहस्यान्तर्बहिश्च बहुकारिकावाहिकाम् पादोदकदायिकाम्—पादशौचदायिकाम् स्नानोदकदायिकाम्-प्रतीताम्, बाह्यानि प्रेषणानि कर्माणि करोति या सा 'बाहिरपेसणगारिय' त्ति भणिया, कण्डयन्तिकाम् इति—अनुकम्पिता कण्डयन्तीति—तन्दुलादीन् उदूखलादौ क्षोदयन्तीति कण्डयन्तिका ताम्, एवं कुट्टयन्तिकां—तिलादीनां-चूर्णनकारिकाम् पेषयन्तिकाम्-गोधूमादीनाम् घरट्टादिना पेषणकारिकाम् रुन्धयन्तिकाम्-यन्त्रके व्रीहिकोद्रवादीनाम् निस्तुषत्वकारिकाम् रन्धयन्तिकाम्-ओदनस्य पाचिकाम् परिवेषयन्तिकाम्-भोजनपरिवेषणकारिकाम् परिभाजयन्तिकाम्—पर्वदिने स्वजनगृहेषु खण्डखाद्याद्यैः परिभाजनकारिकां, महानसे नियुक्ता महानासिकी तां स्थापयति, 'सगडीसागडं' ति शकट्यश्च-गन्त्र्यः शकटानां समूहः शाकटं च शकटीशाकटं 'गड्डीओ गडिया य' त्ति उक्तं भवति, 'दलाह त्ति' दत्त—प्रयच्छतेत्यर्थः, 'जाणंति' येन 'णं' इत्यलङ्कारे, प्रतिनिर्यातयामि—समर्पयामीति। अस्य च ज्ञातस्यैवं विशेषोपनयनं निगदति। यथा—

"जह सेट्ठी तह गुरुणो, जह णाइजणो तहा समणसंघो।
जह बहुया तह भव्वा, जह सालिकणा तह वयाइं ॥ १ ॥
जह सा उज्झियनामा, उज्झियसाली जहत्थमभिहाणा।
पेसणगारित्तेणं, असंखदुक्खक्खणी जाया ॥ २ ॥
तह भव्वो जो कोइ, संघसमक्खं गुरुविदिन्नाइं।
पडिवज्जिउं समुज्झइ, महव्वयाइं महामोहा ॥ ३ ॥
सो इह चेव भवम्मी, जणाण धिक्कारभायणं होइ।
परलोए उ दुहत्तो, नाणाजोणीसु संचरइ ॥ ४ ॥"
उक्तं च—"धम्माओ भट्ठं" वुत्तं, "इहेवऽहम्मो" वुत्तं।
"जह वा सा भोगवती, जहत्थनामोवभुत्तसालिकणा।
पेसणविसेसकारि-त्तणेण पत्ता दुहं चेव ॥ ५ ॥
तह जो महव्वयाइं, उवभुंजइ जीविय त्ति पालिंतो।
आहाराइसु सत्तो, चत्तो सिवसाहणिच्छाए ॥ ६ ॥
सो एत्थ जहिच्छाए, पावइ आहारमाइ लिंगि त्ति।
विउसाण नाइपुज्जो, परलोयम्मी दुही चेव ॥ ७ ॥
जह वा रक्खियवहुया, रक्खियसालीकणा जहत्थक्खा।
परिजणमणा जाया, भोगसुहाइं च संपत्ता ॥ ८ ॥
तह जो जीवो सम्मं, पडिवज्जित्ता महव्वए पंच।
पालेइ निरइयारे, पमायलेसं पि वज्जेंतो ॥ ९ ॥
सो अप्पहिएक्करई, इह लोयम्मि वि विऊहिँ पणयपओ।
एगंतसुही जायइ, परम्मि मोक्खं पि पावेइ ॥ १० ॥
जह रोहिणी उ सुण्हा, रावयसाली जहत्थमभिहाणा।
वड्ढित्ता सालिकणे, पत्ता सव्वस्स सामित्तं ॥ ११ ॥
तह जो भव्वो पाविय, वयाइं पालेइ अप्पणा सम्मं।
अन्नेसि वि भव्वाणं, देइ अणेगेसिँ हियहेउं ॥ १२ ॥
सो इह संघपहाणो, जुगप्पहाणे त्ति लहइ संसद्दं।
अप्पपरेसिं कल्ला-णकारओ गोयमपहु व्व ॥ १३ ॥
तित्थस्स वुड्ढिकारी, अक्खेवणओ कुतित्थियाईणं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विउसनरसेवियकमो, कमेण सिद्धिं पि पावेइ ॥१४॥" त्ति । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । आ० चू० । आव० । प्रश्न० । स० ।

रोहिणीतव–रोहिणीतपस्–न० । सप्तमासादिकसप्तवर्षाणि यावत् रोहिणीनक्षत्रदिनोपवासे, तत्र च वासुपूज्यजिनप्रतिमा प्रतिष्ठा च विधेयेति । पञ्चा० १६ विव० । प्रव० ।

रोहिणिरिक्खदिणे रो–हिणीतवे सत्तमासवरिसाइं ।
सिरिवासुपुज्जपूया–पुव्वं कीरइ अभत्तट्ठो ॥ ५६ ॥

रोहिणी–देवताविशेषः, तदाराधनार्थं तपो रोहिणीतपः, तस्मिन् रोहिणीतपसि सप्तमासाधिकसप्तवर्षाणि यावद्रोहिणीनक्षत्रोपलक्षिते दिने उपवासः क्रियते । इह च वासुपूज्यजिनप्रतिमायाः प्रतिष्ठा पूजा च विधेया । प्रव० २७१द्वार ।

रोहिणीरमण–रोहिणीरमण–पुं० । चन्द्रे,"इंदू निसायरो सस–हरो विहू गहवई रयणिनाहो । मयलंछणो हिमयरो, रोहिणिरमणो ससी चंदो " पाइ०ना० ५ गाथा ।

रोहिणेयचोर–रौहिणेयचौर–पुं० । स्वनामख्याते राजगृहवास्तव्ये चौरे, व्य० २ उ० । ती० । प्रज्ञा० । (सूक्ष्मं परिनिर्वापणं लौकिकं रौहिणिकचौरस्याभयकुमारेण कृतं तच्च 'ओहावण ' शब्दे तृतीयभागे १३३ पृष्ठे दर्शितम्)

रोहितंसकूड–रोहितांशकूट–पुं । जम्बूद्वीपे हिमवद्वर्षधरपर्व्वते दशमे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

रोहियंसा–रोहितांशा–स्त्री० । नदीभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । (' रोहिअंसा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्तव्यता गता)

रोहिय–रोहित–न० । रुधिरे, रक्तवर्णे च । वाच० । मत्स्यभेदे, पुं० । उत्त० १४ अ० । जी० । प्रज्ञा० । चतुष्पदविशेषे, च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । स्था० ।

रोहियकूड–रोहितकूट–पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे महाहिमवति वर्षधरपर्व्वते स्वनामख्याते सप्तमे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० । जम्बूद्वीपे हैमवद्वर्षनायकदेवावासभूते स्वनामख्याते कूटे, स्था० ८ ठा० ।

रोहियदीव–रोहितद्वीप–पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, जं०४ वक्ष० । (अत्र सूत्रम् ' रोहिअंसा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

रोहियप्पवायदह–रोहितप्रपातह्रद–पुं० । स्वनामख्याते ह्रदे, स्था० । रोहिद्–उक्तरूपा यत्र प्रपतति यश्च सविंशतिकं योजनशतमायामविष्कम्भाभ्यां किञ्चिन्न्यूनाशीत्यधिकानि त्रीणि शतानि परिक्षेपेण यस्य च मध्यभागे रोहितद्वीपः षोडशयोजनायामविष्कम्भः सातिरेकपञ्चाशद्योजनपरिक्षेपो जलान्ताद् द्विक्रोशोच्छ्रितो यश्च रोहिद्देवताभवनेन गङ्गादेवताभवनसमानेन विभूषितोपरितनविभागः स रोहित्प्रपात ह्रद इति । स्था० २ ठा० ३ उ० । (अत्र सूत्रम् ' रोहिअंसा ' शब्देऽस्मिन्नेह भागेऽनुपदमेव गतम् ।)

रोहिया–रोहिता–स्त्री० । जम्बूद्वीपे पूर्वापरेण लवणसमुद्रं समुत्सर्पन्त्यां स्वनामख्यातायां महानद्याम् , स० १४ सम० । स्था० । रोहिन्नदी महापद्मह्रदाद्दक्षिणतोरणेन निर्गत्य षोडश पञ्चोत्तराणि योजनशतानि सातिरेकाणि दक्षिणतो गिरिणा गत्वा हाराकारधारिणा सातिरेकयोजनद्विशतिकेन प्रपातेन मकरमुखप्रणालेन महाहिमवतो रोहिदभिधानकुण्डे निपतति , मकरमुखजिह्वा योजन–मायामेन अर्द्धत्रयोदशयोजनानि–विष्कम्भेन क्रोशं बाहल्येन , रोहित्प्रपातकुण्डाच्च दक्षिणतोरणेन निर्गत्य हैमवतवर्षमध्यभागवर्त्तिनं शब्दापातिवृत्तवैताढ्यमर्द्धयोजनेनाप्राप्याष्टाविंशत्या नदीसहस्रैः संयुज्याऽधो जगतीं विदार्य पूर्वतो लवणसमुद्रमतिगच्छतीति , रोहिन्नदी हि प्रवाहेऽर्द्धत्रयोदशयोजनविष्कम्भा क्रोशोद्वेधा ततः क्रमेण वर्द्धमाना मुखे पञ्चविंशत्यधिकयोजनशतविष्कम्भा सार्द्धद्वियोजनोद्वेधा, उभयतो वेदिकाभ्यां वनखण्डाभ्यां च युक्ता, एवं सर्वा महानद्यः पर्वताः कूटानि च वेदिकादियुक्तानीति । स्था० २ ठा० ३ उ० । रा० । ('महाहिमवंतकूड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२७ पृष्ठे सूत्रतो दर्शितैषा ।)

रोहियाससेण–रोहिताश्वसेन–पुं० । इक्ष्वाकुवंशोत्पन्नस्य श्रीहरिश्चन्द्रमहानरेन्द्रस्य स्वनामख्याते पुत्रे, ती० ३७ कल्प ।

रोहीडग–रोहीडग–न० । भरतक्षेत्रे रोहिणीगणिकावासभूते स्वनामख्याते नगरे, नि० । आ० क० । विपा० । संथा० ।

रोहेउं–रोधयित्वा–अव्य० । रोधं कृत्वेत्यर्थे, बृ० ३ उ० ।

—○:०:○—

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीम-
द्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते ' अभिधानराजेन्द्रे '
रकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लकार

ल-ल-पुं० । अन्तस्थे मूर्द्धस्थानीयोऽयं वर्णः । ला-क । इन्द्रे, वाच० । लवने , अम्बरे , दानादाने , सुखे , वादे च । न० । आलये , आश्लेषे, पुं० । मृते, लूने च । त्रि० । एका० ।

लइअ-लगित-त्रि० । अवलम्बिते, स० ७० सम० । परिहिते, अङ्गे पिनद्धमित्यर्थे, इत्यन्ये । दे० ना० ७ वर्ग १८ गाथा ।

लइअल्ल-देशी-वृषभे, दे० ना० ७ वर्ग १६ गाथा ।

लइणी-देशी-लतायाम् , दे० ना० ७ वर्ग १८ गाथा ।

लउड-लकुट-पुं० । यष्टौ, औ० । " कोणो लउडो " पाइ० ना० २३० गाथा । ज्ञा० । स० । प्रश्न० । प्रहरणकरणे, स्था०३ठा० ४ उ० । ज्ञा० । जं० । प्रश्न० ।

लउडकट्ठ-लकुटकाष्ठ-न० । लकुटदण्डे, प्रश्न० ३ आश्र०द्वार ।

लउय-लकुच-पुं० । वृक्षविशेषे, औ० ।

लउसिका-लकुसिका-स्त्री० । लकुशदेशोत्पन्नायामनार्यस्त्रियाम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० ।

लंककालियावात-लङ्ककालिकावात-पुं०।चक्रवद् भ्रामके वायौ, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

लंका-लङ्का-स्त्री० । भरतवर्षस्याविदूरे दक्षिणे लवणसमुद्रे त्रिकूटगिर्युषिते पुरीभेदे, " लङ्कायां त्रिकूटगिरौ श्रीशान्तिनाथः " । ती० ४३ कल्प । आ० क० ।

लंकादाह-लङ्कादाह-पुं० । लङ्काया भस्मीकरणे, रामायणे वि सुणिज्जति-जह हणुअंतस्स पुच्छं महन्तमासी,तं च किल अणेगेहिं वत्थसहस्सेहिं वेढिऊण तेल्लघडसहस्सेहिं सिञ्चिऊण पलीवियन्तेण किल लङ्का पुरी दड्ढा । नि० चू० १ उ०।

लंख-लङ्ख-पुं० । महावंशाग्रखेलके, रा० । जं० । अनु० । ये वंशादेरुपरि वृत्तं दर्शयन्ति ते लङ्खाः। व्य० ३ उ० । जी०। कल्प० । ज्ञा० । नर्तकभेदे, पं० चू० १ कल्प ।

लंखपेहा-लङ्खप्रेक्षा-स्त्री० । ये महावंशाग्रमारुह्य नृत्यन्ति तेषां प्रेक्षायाम् , व्य० ३ उ० । जी० ।

लंखिया-लङ्खिका-स्त्री० । वंशोपरि नर्तक्याम् , ध० ३ अधि० । ज्ञा० ।

लंगल-लाङ्गल-न० । हले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

लंगूल-लाङ्गूल-न० । पुच्छे, स्था० ४ ठा० २ उ० । ज्ञा० । कल्प० । " लंगूलं वाहली छिप्पं " पाइ० ना० १२८ गाथा ।

लंगूलिय-लाङ्गूलिक-पुं० । अष्टाविंशत्यन्तर्द्वीपानां मध्ये तृतीयेऽन्तर्द्वीपे, उत्त० ३६ अ० । (' अन्तरदीव ' शब्दे प्रथम भागे तत्स्वरूपं दर्शितम्)

लंघण-लङ्घन-न० । गर्तादेरतिक्रमणे, औ० । रा० । नि० चू० । जी० । ज्ञा० । अतिदीर्घस्यात्युच्चस्यापि चातिक्रमणे, आ० म० १ अ० । उत्प्लुत्य गमने,उत्त० २ अ० । साधूपरि साध्व्याद्युपरि वा क्रोधादिना अन्नपानादिमोचने,ग० २ अधि०।

लंघियजिणाण-लङ्घितजिनाज्ञ-त्रि० । त्यक्तसर्वज्ञशासने , जी० १ प्रति० ।

लंघेयव्व-लङ्घयितव्य-त्रि० । लङ्घनीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

लंच-देशी-कुक्कुटे, दे० ना० ७ वर्ग १७ गाथा ।

लंचा-लञ्चा-स्त्री० । उत्कोचे, व्य० १ उ० ।

लंचिल्ल-लञ्चावत्-त्रि० । उत्कोचमुपजीव्य सापेक्षे व्यवहारिणि, व्य० १ उ० ।

लंछण-लाञ्छन-न० । मषतिलकादिके चिह्ने, अनु० । प्रव० । नं० । " लंछणं अंको चिंधं " पाइ० ना० ११४ गाथा । अङ्गावयवच्छेदे, प्रव० ६ द्वार । दश० । कर्णादिकल्पनाङ्कनादिभिर्लाञ्छने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । उल्मुकादिभिरङ्कने, आव० ४ अ० ।

लंछपोस-लञ्छपोष-पुं० । लञ्छाख्यचौरविशेषाणां पोषणे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

लंछिय-लाञ्छित-त्रि० । रेखादिभिः कृतलाञ्छने,वृ० २ उ०। स्था० । ज्ञा० । भ० । आ० म० । भस्मना पिहिते, बृ० २ उ० ।

लंजर-लञ्जर-न० । उदककुम्भे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

लंतग-लान्तक-पुं० । षष्ठे देवलोके, प्रव० १६४ द्वार । स० । स्था० । औ० । लान्तककल्पवासिदेवेषु, तदिन्द्रे च । विशे० । स्था० । लान्तकदेवानां स्थाने, प्रज्ञा० २ पद । (व्याख्या चतुर्थभागे ' ठाण ' शब्दे १७०६ पृष्ठे उक्ता)

लंद-लन्द-पुं० । काले, वृ० ३ उ० । प्रव० । (स च ' अहालंद ' शब्दे प्रथमभागे ८६७ पृष्ठे व्याख्यातः ।) यावता कालेनोदकार्द्रकरः शुष्यति तावान् कालो जघन्यतो लन्दः । कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

लंपट-लम्पट-त्रि० । लालसे, " लोला लालस-सोलुअ-उल्लेहड-लंपटा लुद्धा " पाइ० ना० ७५ गाथा ।

लंपिक्ख-देशी-चौरे, दे० ना० ७ वर्ग १६ गाथा ।

लंब-देशी-केशे, गोवाटे च । दे० ना० ७ वर्ग २६ गाथा ।

लंबंत-लम्बमान-त्रि० । दैर्घ्यं गच्छति, कल्प० १ अधि० २ क्षण । ज्ञा० ।

लंबण-लम्बन-पुं० । कवले, वृ० ४ उ० । व्य० । नक्षत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

लंबाली-देशी-पुष्पभेदे, दे० ना० ७ वर्ग १६ गाथा ।

लंबियय-लम्बितक-पुं० । तरुशाखायां वाहौ बद्धे अभिग्रहविशेषवति वानप्रस्थे, औ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लंबुत्तर–लम्बोत्तर–पुं० । कायोत्सर्गदोषविशेषे, कृत्वा चोलपट्टमविधिना नाभिमण्डलस्योपरि अधस्ताच्च जानुमात्रं तिष्ठति कायोत्सर्ग इति लम्बोत्तरदोषः । प्रव० ५ द्वार ।

लंबूसग–लम्बूसक–पुं० । गेन्दुके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । गोलाकृतिमण्डनविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । जी० । नं० । दाम्नामाग्रभागे मण्डनविशेषे, रा० । जं० । आभरणविशेषे, रा० ।

लंबेयव्व–लम्बयितव्य–त्रि० । अवलम्बनीये, रज्ज्वादिनिबद्धे, हस्तादिना धरणीये च । भ० ६ श० ३३ उ० ।

लंबोयर–लम्बोदर–पुं० । गणपतौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

लंभ–लाभ–पुं० । मूलधनादितोऽधिके लभ्यमाने धने, प्राप्तौ च । विशे० । सूत्र० । आ० म० ।

लंभणमच्छ–लम्भनमत्स्य–पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० प्रज्ञा० ।

लंभित्ता–लब्ध्वा–अव्य० । प्राप्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

लंभिय–लम्भित–त्रि० । प्रापिते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

लक्कुड–देशी–लकुटे, दे० ना० ७ वर्ग १६ गाथा ।

लक्ख–लक्ष–न० । शतेन गुणिते सहस्राणामेकशते, कर्म० ४ कर्म० । कल्प० । काये, दे० ना० ७ वर्ग १७ गाथा ।

लक्ष्य–त्रि० शरव्ये, "मुष्टिना छादयेल्लक्ष्यं, मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत् । हतं लक्ष्यं विजानीया–द्यदि मूर्धा न कम्पते" । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । "लक्खं विजायं" पाइ० ना० २४६ गाथा ।

लक्खण–लक्षण–न० । लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् । पदार्थानां स्वरूपे, विशे० । अनु० ।

अथ लक्षणद्वारमाह–

नामं ठवणा दविए, सरिसे सामन्नलक्खणाऽऽगारे ।
गइरागइ–नाणत्ती, निमित्त–उप्पाय–विगई य ॥२१४६॥
वीरियभावे य तहा, लक्खणमेयं समासओ भणियं ।
अहवा वि भावलक्खण, चउव्विहं सद्दहणमाई ।२१४७।
सद्दहणजाणणा खलु, विरई मीसं च लक्खणं कहए ।
ते वि निसामिंति तहा, चउलक्खणसंजुअं चेव ।२१४८।

लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं पदार्थानां स्वरूपम्, तच्च नामादिभेदाद् द्वादशधा ॥ २१४६ ॥ २१४७ ॥ २१४८ ॥

अत्र नामस्थापनालक्षणे व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः–

लक्खणमिह जं नामं, जस्स व लक्खिज्जए व जो जेणं ।
ठवणाऽऽगारविसेसो, विन्नासो लक्खणाणं वा ॥२१४९॥

इह 'लक्षण' मिति यल्लकारादिवर्णत्रयावलीमात्रं तन्नामैव लक्षणं नामलक्षणम् । अथवा–'जस्स व' त्ति यस्य वा कस्यचिज्जीवादे–'र्लक्षण' मिति नाम क्रियते तद् वस्तु नाम्ना हेतुभूतेन लक्षणं नामलक्षणम् । अथवा––नाम तद्वतोरभेदान्नाम च तल्लक्षणं च नामलक्षणम् । 'लक्खिज्जए व जो जेणं' ति यो वा स्तम्भकुम्भाऽम्भोरुहादिः पदार्थो निजेन स्तम्भकुम्भादिनाम्ना लक्ष्यते––ज्ञायते तन्नाम स्तम्भादि नामलक्षणमुच्यते, लक्ष्यतेऽनेनेति कृत्वा । 'ठवण' त्ति स्थापनालक्षणमुच्यते । किं तत्? इत्याह––लक्षणरूपस्य वर्णत्रयस्याकारविशेषः । अथवा––लक्षणानां स्वस्तिकशङ्खचक्रध्वजादीनां यो मङ्गलपट्टादावक्षतादिभिर्न्यासो–विरचना विधीयते तत्स्थापनालक्षणमिति ॥ २१४९ ॥

'दविए' त्ति द्रव्यलक्षणम् । तच्चागमनोआगमज्ञशरीरभव्यशरीररूपं सुगमम् । तद्व्यतिरिक्तं पुनराह–

लक्खिज्जइ जं जेणं, दव्वं तं तस्स लक्खणं तं च ।
गच्चुवगाराईयं, बहुहा धम्मत्थियाईणं ॥ २१५० ॥

यद् द्रव्यं धर्मास्तिकायादिकं लक्ष्यते येन तत्तस्य द्रव्यस्य लक्षणम् । तच्च गत्युपकारादिकं धर्मास्तिकायादीनां संबन्धिबहुभेदं विज्ञेयमिति ॥ २१५० ॥

अथान्येषां सादृश्यसामान्यादिलक्षणानां सामान्येन भावार्थमाह–

किंचिम्मित्तविसिट्ठं, एयं चिय सेसलक्खणविसेसा ।
जं दव्वलक्खणं चिय, भावो वि स दव्वधम्मो त्ति२१५१

इदमेव च द्रव्यलक्षणं किञ्चिन्मात्रविशिष्टं सच्छेषाः सादृश्यसामान्यादयो नव लक्षणभेदा भवन्ति । कुतः? इत्याह–यद्यस्मात् स वक्ष्यमाणो भावोऽपि भावलक्षणरूपं द्रव्यधर्मत्वाद् द्रव्यं लक्ष्यतेऽनेनेति कृत्वा द्रव्यलक्षणमेव, आसतां पुनः शेषाः सादृश्यसामान्यादयो लक्षणभेदा इति ॥ २१५१ ॥

तदेवं सामान्येन सादृश्यादिलक्षणभेदान् व्याख्याय विशेषतोऽपि 'सरिसे' त्ति सादृश्यलक्षणस्वरूपं विवृण्वन्नाह–

तुल्लागारदरिसणं, सरिसं दव्वस्स लक्खणं तं पि ।
जह घडतुल्लागारो, घडो त्ति तह सव्वमुत्तीसु ।२१५२॥

यद् द्रव्यादिवस्तूनां तुल्यस्याकारस्य दर्शनं तदिह 'सरिसं' ति सादृश्यमुच्यते, द्रव्यस्य तदपि लक्षणम्, तेनापि हि सदृशममुकस्येदम् इति व्यपदेशहेतुत्वाद् द्रव्यं लक्ष्यत इति, एतदपि सामान्यतो द्रव्यलक्षणमेव, विशेषतस्तु सादृश्यलक्षणमुच्यत इतीह भावार्थः । एवमुत्तरत्रापि सामान्यतो द्रव्यलक्षणता, विशेषतस्तु वक्ष्यमाणतत्तद्विशेषलक्षणता द्रष्टव्येति । उदाहरणमाह–यथैकेन दृश्यमानघटेन तुल्याऽऽकारोऽन्योऽपि सर्वो घट इति, एवमनेनैव प्रकारेण सर्वासु मूर्तिषु सर्वेष्वपि मूर्त्तवस्तुषु यस्य येन सादृश्यं घटते तत्सर्वं सादृश्यलक्षणमिति ॥ २१५२ ॥

अथ 'सामन्नलक्खण' त्ति सामान्यलक्षणव्याख्यानमाह–

सामण्णमप्पियमण–प्पियं च तत्थंतिमं जहा सिद्धो ।
सिद्धस्स होइ तुल्लो, सव्वो सामण्णधम्मेहिं ॥२१५३॥
एगसमयाइसिद्ध–त्तणेण पुणरप्पिओ स तस्सेव ॥
तुल्लो सेसाऽतुल्लो, सामण्ण विसेसधम्मो त्ति॥२१५४॥

इह सामान्यं द्विधा–अर्पितमनर्पितं च । तत्रार्पितं विशेषितमुच्यते, अनर्पितं त्वविशिष्टम् । तत्रान्तिममविशिष्टं सामान्यं यथा–सिद्धः सर्वोऽप्यन्यस्य सर्वस्यापि सिद्धस्य सत्त्व–द्रव्यत्व–प्रमेयत्वा मूर्तत्व–क्षीणकर्मत्वाऽनाबाधत्व–सिद्धत्वादिभिः सामान्यधर्मैस्तुल्यः–समानो भवति । एक–द्वि–त्र्यादिसमयसिद्धत्वेन पुनरर्पितो विशेषतः स सिद्धः 'तस्सेव तुल्ल' त्ति तस्यैवैकद्वित्र्यादिसामान्यसमयसिद्धस्यैव सिद्धस्य तुल्यः समानः, शेषस्य त्वसमानसमयसिद्धस्यातुल्योऽसमानः । ननु कथमेक एवायं सिद्धः सिद्धान्तरैस्तुल्योऽतुल्यश्च? इत्याह–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्यरूपा विशेषरूपाश्च धर्मा यस्य स सामान्यविशेषधर्मा इति हेतोः। न ह्यसौ यैरेव धर्मैस्तुल्यस्तैरेवातुल्यो येन विरोधः स्यात्,किन्तु-समानधर्मैस्तुल्यो विशेषधर्मैः पुनरतुल्य इति भावः। यच्चेह सिद्धस्य सिद्धेन सह समानत्वं तत्सामान्यलक्षणमिति ॥ २१५३ ॥ २१५४ ॥ विशे० । (आगारलक्षणम् ' आगारलक्खण ' शब्दे द्वितीयभागे ६४ पृष्ठे गतम् ।) (गत्यागतिलक्षणम्—' गइआगइलक्खण ' शब्दे तृतीयभागे ७७९ पृष्ठे उक्तम् ।) (नानात्वलक्षणम् ' णाणत्त ' शब्दे चतुर्थभागे १९९१ पृष्ठे गतम् ।) (निमित्तलक्षणम् ' णिमित्तलक्खण ' शब्दे चतुर्थभागे २०८३ पृष्ठे उक्तम् ।)

अथ ' उप्पाय—विगई य ' त्ति उत्पाद—

विगमलक्षणस्वरूपमाह—

नाणुप्पन्नं लक्खि-ज्जए जओ वत्थु लक्खणं तेणं ।
उप्पाओ संभवओ,तह चेव विगच्छओ विगमो ॥२१६४॥

यतो नानुत्पन्नं वस्तु लक्ष्यते तेनोत्पादोऽपि तल्लक्षणम् । कथंभूतस्य वस्तुन उत्पादो लक्षणम्?। संभवत उत्पद्यमानस्य । तथा, विगच्छतो-विनश्यतो वस्तुनो विगमो-विनाशो लक्षणमेवेति ॥ २१६४ ॥

ननु विगमो नाशः कथं वस्तुलक्षणम् ? इत्याह—

लक्खिज्जइ जं विगयं, विगमेण विणा व जं न संभूई ।
विगमो वि लक्खणमओ,विगच्छओ वत्थुणोऽणण्णो२१६५

यद्यस्मात् यथोत्पादेनोत्पन्नं लक्ष्यत एवं विगतमपि विगमेन लक्ष्यत एव, यथा चोत्पादमन्तरेण न वस्तुनः सम्भूतिः, एवं ' विगमेण ' इत्यस्यावृत्त्योत्तरत्रापि संबन्धाद् यस्माद् विगमेनापि विना न वस्तुनः संभूतिः—संभवः । न हि मृदः प्राक्तने रूपेऽविनष्टे घटस्य संभवोऽस्ति । अतः—अस्मात् कारणात् विगमोऽपि वस्तुनो लक्षणमेव, तत्संभवहेतुत्वात् , उत्पादवत् । कथंभूतो विगमः ? इत्याह-विगच्छतो वस्तुनोऽनन्योऽभिन्नः, यथोत्पन्नादभेदवानुत्पाद इति ॥ २१६५ ॥

एतदेव भावयति—

अङ्गुलिरिजुता नियय-प्पसूइ वक्कत्तणासओ समयं ।
लक्खिज्जइ नेयरहा, तह सव्वे दव्वपज्जाया ॥२१६६॥

अङ्गुल्या ऋजुता अङ्गुल्यृजुता सा समकं-युगपद् निजकप्रसूतिवक्रत्वनाशत एव लक्ष्यते, नेतरथा-नान्यथेत्यर्थः । तत्र निजकप्रसूतिरुत्पाद ऋजुतायाः,वक्रत्वस्य नाशो वक्रत्वनाशः, निजकप्रसूतिश्च वक्रत्वनाशश्च निजकप्रसूति-वक्रत्वनाशौ, ताभ्यां निजकप्रसूतिवक्रत्वनाशाभ्यामिति समासः । अस्माच्च पञ्चमीद्विवचनान्तात् " पञ्चम्यास्तसिल " (पाणि० ५।३।७) इति तसप्रत्ययः । इदमुक्तं भवति-अङ्गुलीद्रव्यस्य ऋजुतापर्यायो नियमत एव स्वस्योत्पादेन वक्रत्वस्य च नाशेन लक्ष्यते, नान्यथा, अनुत्पन्नस्य खरविषाणस्येव लक्षणायोगात् , विपक्षभूतपर्यायाविनाशे चोत्पादायोगात् । यथा चाङ्गुल्या ऋजुतापर्यायस्तथाऽन्येऽपि सर्वद्रव्यपर्यायाः स्वस्योत्पादे स्वविपक्षभूतपर्यायविनाश एव च सति लक्ष्यन्ते, नान्यथा । ततश्च यथोत्पादो वस्तुलक्षकत्वाल्लक्षणं तथा विनाशोऽपि , पूर्वपर्यायविनाशमन्तरेणाप्युत्तरपर्यायविशिष्टवस्तुनो लक्षणायोगादिति ॥ २१६६ ॥

अथ विनाशस्य ये सर्वथा वस्तुत्वं नेच्छन्ति
सौगताः, तन्मतानुसारी परः प्राऽऽह—

उप्पायस्स हि जुत्ता, लक्खणया नासओ विणासस्स ।
नासो व लक्खियं वा,वत्थु न भावो खपुप्फं व ॥२१६७॥

ननूत्पादस्य लक्षणता युक्ता, उत्पन्नवस्त्वनन्यत्वेन तस्य सत्त्वात् , विनाशस्य त्वसतोऽविद्यमानस्य नासौ युक्ता । नह्यसत् खरविषाणं कस्यापि लक्षणं भवितुमर्हति । अथ नाशोऽपि वस्तुनो लक्षणमिष्यते , तर्हि तस्याभावरूपत्वात् तल्लक्षितं वस्त्वप्यभाव एव स्यात् , आकाशकुसुमवदिति । एतदेवाह-'नासोवलक्खियं वेत्यादि ' ॥ २१६७ ॥

अत्रोत्तरमाह—

नासो भावो संभू-इहेउओ वत्थुणो धुवत्तं व ।
अहव समुप्पाओ इव, वत्थुप्पभवाइभावाओ ॥२१६८॥

'नाशो भाव' इति प्रतिज्ञा, पूर्वोक्तन्यायेन वस्तुनः संभूतिहेतुत्वात् , ध्रुवत्ववदिति । अथवा-हेतु-दृष्टान्तान्यत्वेनान्यथा प्रमाणम्-नाशो भाव इति सैव प्रतिज्ञा, वस्तुनः प्रकृष्टं भवनं प्रभवः, प्रौढतापर्यायस्तस्यादौ प्रथमं पूर्वं भावः सत्त्वं तस्माद् वस्तुप्रभवादिभावादिति हेतुः । समुत्पादवदिति दृष्टान्तः । इह यो यो वस्तुनः प्रकृष्टभवनस्यादौ भवति स स भावः, यथोत्पादः, भवति च वस्तुप्रभवस्यादौ पूर्वोक्तयुक्तितो नाशः, तस्माद् भाव इति ॥ २१६८ ॥

यदुक्तम्-' नासोवलक्खियं वेत्यादि ' तत्राऽऽह—

नासोवलक्खियं चिय, तदभावो चिय तदन्नहा भावो ॥
आह नणु पत्तमेवं, भावाभावोभयसभावं ॥ २१६९ ॥

एवं च सति ' नासोवलक्खियं चिय ' तदिति नाशोपलक्षितमेव तत्—निर्दिष्टयुक्तितो नाशेन लक्ष्यत एवैतदित्यर्थः तथा चैतावतांशेनाभाव एव तद् वस्तु, नात्र विवादः, कथञ्चिद् वस्तुनाम भावरूपतया जैनैरभ्युपगतत्वादिति । ' अन्नहा भावो ' त्ति अन्यथा पुनरन्येन रूपेण तद्वस्तु भावः-उत्पाद-ध्रौव्यरूपतया भाव एव तदित्यर्थः । अत्राह परः-नन्वेवं सति भावाभावोभयस्वभावं वस्तु प्राप्तम् , एतच्चायुक्तम् , भावाभावयोः परस्परपरिहारेणावस्थानाच्छायाऽऽतपवदेकत्रायोगादिति ॥ २१६९ ॥

अत्रोत्तरमाह—

एवं चिय तं वत्थुं, सव्वाभावे व तं खपुप्फं व ।
भावे व सव्वहा स-व्वसंकरे-गत्त-णिच्चाई ॥२१७०॥

नन्वेवमेव भावाभावोभयरूपतायामेव तद् वस्तु भवति, न पुनरेकान्तेन भावस्वरूपत्वेऽभावस्वरूपत्वे वा, एतदेवाह-सर्वाभावे वा सर्वथैवाभावरूपतायां वा इष्यमाणायां खपुष्पमिव तद् वस्तु स्यात् ,भावे वा सर्वथा भावरूपतायां वैकान्तेनेष्यमाणायां सर्वसङ्करैकत्व—नित्यत्वादयो दोषाः प्रसजन्ति ; तथाहि-' सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैर्घटस्य भावः ' इत्युक्ते यथा घटरूपतया तथा पट-स्तम्भ-भू-भूधरादित्रैलोक्यरूपतयाऽपि तस्य भावः प्राप्नोति, कथञ्चिदप्यभावरूपताऽनभ्युपगमात् । एवं स्तम्भ-भू-भूधरादीनामपि सर्वात्मना भावात् सर्वसंकरोऽन्योन्यानुप्रवेशलक्षणः स्यात् । एकस्मिन् वा कस्मिंश्चिद् घटादिवस्तुनि सर्वस्यापि त्रिभुवनस्यानुप्रवेशात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वैकत्वं भवेत् । ततश्चैकस्मिन्नपि व्योमादिवस्तुनि सर्वदैवाऽवतिष्ठमाने शेषस्यापि घटादिवस्तुजातस्य तदेकत्वापत्त्या सर्वदाऽवस्थानात् सर्वनित्यत्वप्रसङ्गः; आदिशब्दादेकस्मिन् घटादिवस्तुनि विनष्टे शेषस्यापि भू--भूधरादेस्तदेकत्वेन विनाशात् सर्वशून्यतापत्तिः, सर्वस्यापि च सर्वत्र विद्यमानत्वात् सर्वार्थेषु निराकाङ्क्षमेव विश्वं स्यादिति । तस्मात् केवले भावरूपत्वेऽभावरूपत्वे चेष्यमाणे दोषदर्शनाद् भावाभावोभयरूपं वस्तु । न चैवं विरोधः, भावाऽभावयोर्भिन्ननिमित्तत्वात् । यदि हि येनैव भावस्तेनैव चाभावः स्यात् तदा भवेद् विरोधः; नचैतदस्ति, स्वरूपेण घटादेर्भावात्, पररूपेण चाभावादिति ॥ २१७० ॥

ननु यद्येवम्, तद्युत्पन्नमप्यनुत्पन्नम्, तस्याभावरूपत्वात्; अनुत्पन्नमभावीभूतं चास्ति, अभावरूपतया सत्त्वात् तथा च सति ' उत्पन्नम् विनष्टं वेदम् ' इत्यादि लोकव्यवहारो न प्राप्नोति, इत्याशङ्क्याऽऽह--

उप्पन्नं विगयं वा-णप्पियमविसेसियं सधम्मेहिं ।
तं चिय पज्जायंतर-विसेसियमहप्पियं नाम ॥२१७१॥

इहोत्पन्नं विगतं वेति यल्लोके व्यपदिश्यते वस्तु, तत् सर्वमपि द्विविधम्--अर्पितम्, अनर्पितं च । तत्र स्वधर्मैर्विशेषवद्भिः, पर्यायैरविशेषितं सामान्यरूपं वस्त्वनर्पितमभिधीयते । तदेव च पर्यायान्तरैः--पर्यायविशेषैर्विशेषितमर्पितमुच्यत इति । एवं व्यवस्थिते यदा सामान्यरूपमनपेक्ष्योत्पादविगमादिपर्यायेण केनापि विशेषितं वस्तु वक्तुमिष्यते तदोत्पन्नं विगतं चेत्यादिव्यपदेशतः सर्वोऽपि लोकव्यवहारः प्रवर्तते । तथाचाह--" अर्पिताऽनर्पितसिद्धेः " (तत्त्वा० ५ ३१, १३३) इति तदेवमुक्तमुत्पाद--विगमलक्षणम् । ध्रौव्यलक्षणं तु द्रव्यलक्षणाभिधानद्वारेणैवाभिहितम्; ध्रुवत्वद्रव्यत्वयोरेकार्थत्वात् ॥ २१७१ ॥

अथ ' वीरिय ' त्ति वीर्यलक्षणमभिधित्सुराह--

वीरियँ ति बलं जीव-स्स लक्खणं जं व जस्स सामत्थं ।
दव्वस्स चित्त रूवं, जह वीरियमोसहाईणं ॥ २१७२ ॥

वीर्यं जीवस्य बलमुच्यते । तेन च ' बलवानयम् ' इत्यादि व्यपदेशाज्जीवो लक्ष्यत इति तत् तस्य लक्षणम् । अथवान जीवस्यैव बलं वीर्यमुच्यते, किन्तु यद् यस्य सचेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य चित्ररूपं सामर्थ्यं तदिह वीर्यमभिधीयते यथा लोकेऽपि प्रसिद्धं हरीतकीगुडूच्याद्यौषधीनां वीर्यम्, आदिशब्दाद्-मणिमन्त्रादिपरिग्रहः, उक्तं च-' अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः ' इति ॥ २१७२ ॥

अथ ' भावे य ' त्ति भावलक्षणमाह--

जमिहोदइयाईणं, भावाणं लक्खणं त एवऽहवा ।
तं भावलक्खणं खलु,तत्थुदओ पोग्गलविवागो ।२१७३।

यदिह भावानामौदयिकादीनां कर्मपुद्गलोदयादिरूपं लक्षणं तद् भावलक्षणम्, यथा कर्मपुद्गलानामुदयलक्षण औदयिकः, कर्मपुद्गलानामेवोपशमलक्षण औपशमिकः, तेषामेव सर्वथाऽभावलक्षणः क्षायिकः, क्षयोपशमरूपमिश्रतालक्षणः क्षायोपशमिकः, सामान्येन पुद्गलपरिणतिरूपः-पारिणामिकः । एषामेव भावानां द्व्यादिसंयोगलक्षणः सांनिपातिकः । ' त एव हव ' त्ति अथवा--त एवौदयिकादयो भावा लक्षणं भावलक्षणम् । जीवो हि नारकादिव्यपदेशहेतुत्वात् तैर्लक्ष्यत एवेति । ' तत्थुदओ पोग्गलविवागो ' त्ति तत्र प्रथमव्याख्यापक्ष औदयिकभावस्य कर्मपुद्गलविपाकलक्षण उदयो लक्षणम्, एवमन्येषामपि भावानां यथायोगं लक्षणं वाच्यम् । तच्च दर्शितमेवेति ॥ २१७३ ॥

भाष्यकारोऽपि ' तस्मिन्नुदये भव औदयिकः, तेन वा निर्वृत्तः, स एव वौदयिकः ' इत्यादिकां भावानां व्युत्पत्तिं, शेषाणामौपशमिकादिभावानामुदयसामाद्रिरूपं लक्षणं च दर्शयन्नाह--

उदए सइ जो तेण व, निव्वत्तो उदय एव ओदइओ ।
उदयविघाय उवसमो,उवसम एवोवसमिउ त्ति॥२१७४॥
खय इह कम्माभावो, तब्भावे खाइओ स एवऽहवा ।
उभयसहावो मीसो, खओवसमिओ तहेवाऽयं॥२१७५॥
सव्वत्तो किर नासो, परिणामोऽभिमुहया स एवेह ।
परिणामिउ चि सुद्धो, जो जीवाऽजीवपरिणामो।२१७६।

तिस्रोऽपि गतार्थाः, नवरम् ' उभयसहावो ' इत्यादि कर्मणो यावनन्तरोक्तौ क्षयोपशमौ तदुभयस्वभावत्वाद् मिश्रः क्षयोपशमिको भावः । कथं कया व्युत्पत्त्या ? इत्याह--तथैवेति, क्षयोपशमावेव क्षायोपशमिकः, तयोर्वा भवः, ताभ्यां वा निर्वृत्त इति पूर्वदर्शितव्युत्पत्त्येत्यर्थः । तदेवं नामादिभावावसानं द्वादशधा संक्षेपतो लक्षणमभिहितम् । एतदेवाह निर्युक्तिकारः--' लक्खणमेयं समासओ भणियं ' इति ॥ २१७४ ॥ २१७५ ॥ २१७६ ॥

इह च प्रकृते भावलक्षणेनाधिकार इत्येतदेव दर्शयन्नाह भाष्यकारः--

सम्मत्त-चरित्ताइं, मीसो-वसम-क्खय-स्सहावाइं ।
सुय-देसोवरईओ, खओवसमभावरूवाओ ॥ २१७७ ॥
सामाइएसु एवं, संभवओ सेसलक्खणाइं पि ।
जो एज्ज भावओ वा,वइसेसियलक्खणं चउहा॥२१७८॥

इह सामायिकं तावच्चतुर्विधम्--सम्यक्त्वसामायिकम्, श्रुतसामायिकम्, देशविरतिसामायिकम्, सर्वविरतिसामायिकं चेति । तत्र सम्यक्त्वसामायिकं चारित्रसामायिकं चेत्येते द्वे अपि सामायिके मिश्रोपशम-क्षयस्वभावे मन्तव्ये । मिश्रः क्षायोपशमिको भावः, उपशमस्त्वौपशमिको भावः, क्षयः--क्षायिको भावः, एतेषु त्रिष्वपि भावेषु यथोक्तं सामायिकद्वयं वर्तत इत्यर्थः । ' श्रुतमिति ' श्रुतसामायिकं, देशोपरतिर्देशविरतिसामायिकम्, एते द्वे अप्येकस्मिन्नेव क्षायोपशमिके भावे वर्तेते । अत एतानि चत्वार्यपि सामायिकानि यथोक्तभावरूपत्वात्, जीवस्य चैतैः सामायिकवत्त्वेन लक्षणाद् भावलक्षणरूपाणि भवन्ति । एवमेतेषु सामायिकेषु संभवतो यथासंभवं शेषाण्यपि नाम-स्थापना-द्रव्यसादृश्यरूपाणि लक्षणानि योजयेत्; तथाहि--जीवद्रव्यमेतैर्लक्ष्यते इति द्रव्यलक्षणमप्येतानि भवन्ति, एवमन्यलक्षणताऽप्यभ्यूह्य वाच्या ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदुक्तं निर्युक्तिकृता—' अहवा वि भावलक्खण ' मित्यादि, तद्व्याख्यानार्थमाह—' भावश्रो वेत्यादि'। 'वा' इति अथवा, भावतो-भावविपर्येऽन्यद् वैशेषिकं-विशेषरूपलक्षणं चतुर्विधं बोद्धव्यम् ॥ २१७७ ॥ २१७८ ॥

तच्च ' सद्दहण-जाणणा ' इत्यादिना निर्युक्तिकृता दर्शितं भाष्यकारो व्याख्यातुमाह—

सद्दहणाइसहावं, जह सामाइयं जिणो परिकहेइ ।
तल्लक्खणं चिय तयं, परिणमए गोयमाईणं ॥२१७९॥

पूर्वमौदयिकादिभावानामुदयोपशमादयो लक्षणमित्येतद् भावलक्षणमुक्तम् । अथवा—त एवौदयिकादयो भावा जीवाऽजीवलक्षकत्वेन भावलक्षणमुक्ताः । इदं च द्विविधमपि भावलक्षणं सामान्यम्, जीवाऽजीवलक्षणकत्वेन सर्वत्र भावात् । श्रद्धानादिकं तु विशेषलक्षणम् । सम्यक्त्वादिसामायिकेष्वेव भावात् ; तथाहि-जीवादिपदार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वसामायिकस्य लक्षणम् ; आदिशब्दात्-' जाणण ' त्ति ज्ञानज्ञा—जीवादिवस्तुपरिच्छित्तिरित्यर्थः । सा च श्रुतसामायिकस्य लक्षणम् । ' विरइ ' त्ति विरमणं—विरतिरशेषसावद्ययोगनिवृत्तिः । सा पुनश्चारित्रसामायिकस्य लक्षणम् । 'मीसं व' त्ति 'मीसा व'त्ति । पाठान्तरं च-तत्र मिश्रम्-विरताविरतम्, मिश्रा वा विरत्यविरतिर्देशविरतिसामायिकस्य लक्षणम्। ततश्चैतद् यथा श्रद्धानादिस्वभावं श्रद्धानादिचतुर्लक्षणसंयुक्तं सम्यक्त्वादिसामायिकं जिनः—श्रीमन्महावीरः परिकथयति, तल्लक्षणयुक्तमेव तद् गौतमादिश्रोतृणां परिणमतीति । तदेवमभिहितं लक्षणद्वारम् ॥ २१७९ ॥ विशे० । उत्त० । आ० चू० । आ० म० । स० । (लक्षणवता सूत्रेण भवितव्यमिति 'सुत्त' शब्दे वक्ष्यामि) लक्ष्यते तदन्यव्यपोहेनावधार्यते वस्त्वनेनेति लक्षणम् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । पं०। धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां गत्यादिके, आव० ४ अ० । अनु० । आचा० । दर्श० । प्रतिविशिष्टस्वरूपे, आ० चू० १ अ० । लक्ष्यते गम्यतेऽनेनेति लक्षणम् । लिङ्गे, विशे० । आचा० । (आर्तध्यानस्य लक्षणम् ' अट्टज्झाण ' शब्दे प्रथमभागे २३७ पृष्ठे उक्तम् ।) (रौद्रध्यानस्य लक्षणं ' रुद्दज्झाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् ।)

धर्मध्यानस्य सौत्रलक्षणम्—

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—आणारुई णिसग्गरुई सुत्तरुई ओगाढरुई । (सू० २४७) स्था० ४ ठा० १ उ० ।

(आज्ञारुचिव्याख्या 'आणारुइ' शब्दे द्वितीयभागे १२७ पृष्ठे गता ।) (निसर्गरुचिव्याख्या ' णिसग्गरुइ ' शब्दे चतुर्थभागे २१३५ पृष्ठे उक्ता ।) (सूत्ररुचिव्याख्याम् 'सुत्तरुइ' शब्दे वक्ष्यामि ।) (अवगाढरुचिविवरणम् ' ओगाढरुइ ' शब्दे तृतीयभागे ७६ पृष्ठे उक्तम् ।)

शुक्लध्यानस्य सौत्रलक्षणम्—

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—अव्वहे असम्मोहे विवेगे विउस्सग्गे । (सू० २४७) । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

(अव्यथार्थः ' अव्वह ' शब्दे प्रथमभागे ८१७ पृष्ठे गतः ।) (असम्मोहविवरणम् ' असम्मोह ' शब्दे प्रथमभागे ८२५ पृष्ठे उक्तम् ।) (विवेकव्याख्यां ' विवेग ' शब्दे वक्ष्यामि ।) (कतिविधो व्युत्सर्ग इति ' विउसग्ग ' शब्दे वक्ष्यामि ।)

संसारलक्षणम्—

" माता भूत्वा दुहिता, भगिनी भार्या च भवति संसारे ।
व्रजति च सुतः पितृत्वं, भ्रातृत्वं पुनः शत्रुतां चैव ॥ १ ॥ "

इत्येवं संसारस्य चतसृषु गतिषु सर्वावस्थासु संसरणलक्षणस्यानुप्रेक्षा । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

शुक्लध्यानस्य पुनः सौत्रलक्षणम्—

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे। (सू०८०३×) भ० २५ श०७उ० ।

चिह्ने, औ० । शुभकर्मचिह्ने, नि० चू० १३ उ० । छत्रचामरादिके, कल्प० १ अधि० १ क्षण । यवमत्स्यपद्मशंखचक्रस्वस्तिकश्रीवत्सादिके, सूत्र० २ श्रु०२ अ० । व्य० । विपा० । जं० । नं० । स० । नि० । अनु० । औ० । जी० । नि० चू० । सामुद्रिकोक्ते करचरणरेखादिके (कल्प० १ अधि० ३ क्षण) स्त्रीपुरुषादीनां शुभाशुभचिह्ने,यथा—"अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे, त्वचि भोगाःस्त्रियोऽक्षिषु । गतौ याने स्वरे चाज्ञा, सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥ " इत्यादि । स्था० ८ ठा० ३ उ० । उत्त० । " लंछणपमुहं तु लक्खणं भणिश्रं " लाञ्छनप्रमुखं तु लक्षणं भणितम्, यथा—"नाभ्यधस्ताद् भवेद् यस्या, लाञ्छनं मशकोऽपि वा। कुङ्कुमोदकसंकाशं, सा प्रशस्ता निगद्यते॥१॥" इत्यादि । निशीथग्रन्थे पुनरित्थमुक्तं—" माणाइगं लक्खणं, मसाइगं वंजणं,अहवा-जं सरीरेण सह समुप्पन्नं तं लक्खणं, पच्छा उप्पन्नं वंजणमिति"। प्रव०२५७द्वार । आव०। नि० चू०।

दुविहा य लक्खणा खलु, अब्भंतर-बाहिरा उ देहीणं ।
बहिया सुर-वण्णाइ, अंतो सब्भाव सत्ताई ॥ ३४ ॥

गाहा—

बत्तीसा अट्ठ सयं, अट्ठ सहस्सं व बहुतराई च ।
देहेसुं देहीणं, लक्खणाणि सुभकम्मजणिताणि ॥३५॥

पागयमणुयाणं बत्तीसं अट्ठ सयं, बलदेववासुदेवाणं अट्ठ सहस्सं, चक्कवट्टितित्थकराणं जं पुडा हत्थपादादिसु लक्खिज्जंति तेसिं पमाणं भणियं, जे पुण अन्तो स्वभावसत्तादि तेहिं सह बहुतरा भवंति; ते य अएणजम्मकयसुभणामसरीरअंगोवंगकम्मोदयाओ भवंति ।

लक्खण-वंजणाण इमो विसेसो—

माणुम्माणपमाणा-दि लक्खणं वंजणं तु मसगादी ।
सहजं तु लक्खणं वं-जणं तु पच्छा समुप्पण्णं ॥३६॥
जलदोण-अद्धभार-समुहाइं समुस्सितो व जो णव तु ।
माणुम्माणपमाणं, तिविहं खलु लक्खणं एयं ॥ ३७ ॥

माणादियं लक्खणं, मसादिकं वंजणं । अहवा—जं सरीरेण सह उप्पएणं तं लक्खणं, पच्छा समुप्पएणं वंजणं, माणुम्माणपमाणस्स य इमं वक्खाणं, जलस्स दोणं छड्डेंतो माणजुत्तो पुरिसो, तुलारोवितं अद्धभारं तुले माणो उम्माणजुत्तो पुरिसो भवति । पुंवारसंगुलपमाणाइं समूहाइं णवसमुस्सितो पमाणत्रं पुरिसो; एवमादितिविधलक्खणेण आदिस्सति तुमं रायादि भविस्ससि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदाणिं देवाणं भणति–

भवपच्चतिया लीणा, तु लक्खणा होंति देवदेहेसु ।
भवधारणीएसु भवे, विउव्विते मन्नुते वत्तो ॥ ३८ ॥

देवाणं भवधारणिज्जसरीरेसु लक्खणा लीणा-अनुपलक्खा, उत्तरवैक्रियसरीरे व्यक्ता लक्षणा ।

इदाणिं णारक-तिरियाणं भण्णति—

उस्सण्ण-मलक्खणसं-जुया उ बोंदी तु होंति नरएसुं ।
नामोदयसच्चतिया, तिरिएसु य होंति तिविहाओ॥३९॥

उस्सण्णमेकान्तेनैव अलक्षणयुक्ता बोन्दिः शरीरमित्यर्थः तिरिएसु लक्खणमिस्सा य तिविधा सरीरा भवंति, लक्खणमलक्खणं सव्वासव्वं णामकम्मुदयाओ । नि० चू० १३ उ०।

अधुना लक्षणमुच्यते, तथा चाऽऽह भाष्यकारः–

लक्खणमियाणि दारं, चिंधं हेऊ अ कारणं लिङ्गं ।
लक्खणमिइ जीवस्स उ, आयाणाई इमं तं च ॥११॥

लक्षणमिदानीं द्वारमवसरप्राप्तम् , अस्य च प्रतिपत्त्यङ्गतया प्रधानत्वात्सामान्यतस्तावत्तत्स्वरूपमेवाह—चिह्नं हेतुश्च, कारणं, लिङ्गं लक्षणमिति । तत्र चिह्नम्—उपलक्षणम् , यथा—पताका देवकुलस्य, हेतुः—निमित्तलक्षणम् , यथा—कुम्भकारनैपुण्यं घटसौन्दर्यस्य, कारणम्—उपादानलक्षणम् , यथा मृन्मसृणत्वं घटवलीयस्त्वस्य, लिङ्गं-कार्यलक्षणम् , यथा—धूमोऽग्नेः । पर्यायशब्दा वा एत इति । लक्षणमित्येतल्लक्षणम्-लक्ष्यतेऽनेन परोक्षं वस्त्विति कृत्वा, जीवस्य पुनरादानादि लक्षणमनेकप्रकारमिदम् , तच्च वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ।

दारं—

आयाणे परिभोगे, जोगुवओगे कसायलेसा य ।
आणापाणू इंदिय, बंधोदयनिज्जरा चेव ॥ २२३ ॥

चित्तं चेयण सन्ना, विन्नाणं धारणा य बुद्धी अ ।
ईहामईवियक्का, जीवस्स उ लक्खणा एए ॥२२४॥

एतत्प्रतिद्वारगाथाद्वयम् , अस्य व्याख्या—आदानं परिभोगस्तथा योगोपयोगौ कषायलेश्याश्च तथा—आनापानौ इन्द्रियाणि बन्धोदयनिर्जराश्चैव, तथा चित्तम् , चेतना, संज्ञा, विज्ञानं, धारणा च बुद्धिश्च , तथा ईहामतिवितर्का जीवस्य तु लक्षणान्येतानि । तुशब्दस्यावधारणार्थत्वाजीवस्यैव नाजीवस्य इति प्रतिद्वारगाथाद्वयसमासार्थः ।

व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः, तच्चेदं भाष्यम्—

लक्खिज्जइ त्ति नज्जइ, पच्चक्खियरो व जेण जो अत्थो ।
तं तस्स लक्खणं खलु, धूमुण्हाइ व्व अग्गिस्स॥१२॥

लक्ष्यत इति ज्ञायते, कोऽसावित्याह-प्रत्यक्षः-अक्षिगोचरापन्नः, इतरो वा—परोक्षः येन—उष्णत्वादिना योऽर्थः—अग्न्यादिस्तत्तस्य लक्षणम् । खल्विति,तदेव स्पष्टयति धूमौष्ण्यादिवदग्नेरिति, स हि औष्ण्येन प्रत्यक्षो लक्ष्यते, परोक्षो धूमेनेति गाथार्थः । दश० ४ अ० । अन्ययूथिकानां गृहस्थानां वा लक्षणं न कथनीयमिति 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७२ पृष्ठे उक्तम् ।)"लक्खणे"(२०३)लक्षणं पुरुषचिह्नादि । आव० १ अ० । (तच्च भगवता ऋषभेण बाहुबलिने उपदिष्टमिति लोकेऽपि शास्त्रत्वेन प्रसिद्धम् , तच्च ' लक्खणवंजणगुणोववेय ' शब्देऽनुपदमेव दर्शयिष्यते ।) लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् । दृष्टान्ते, लाक्षणिके, बृ० ३ उ० । (लक्षणयुक्तं वस्त्रं धारणीयमिति ' वत्थ ' शब्दे वक्ष्यते ।)

लक्खणंकिय-लक्षणाङ्कित-त्रि० । प्रशस्तलक्षणोपेते, जी० ३ प्रति० ।

लक्खणपंडग-लक्षणपण्डक-पुं० । लक्षणेन लक्षिते पण्डके , पं० भा० १ कल्प ।

लक्खणपसत्थ-प्रशस्तलक्षण-त्रि० । शुभलक्षणे, भ० ११ श० ११ उ० ।

लक्खणवंजणगुणोववेय-लक्षणव्यञ्जनगुणो(प) पेत-त्रि० । लक्षणम्—पुरुषलक्षणं शास्त्राभिहितम् " अस्थिष्वर्थाः, सुखं मांसे " इत्यादि, मानोन्मानादिकं वा, व्यञ्जनं-मषतिलकादि, गुणाः-सौभाग्यादयः । अथवा-लक्षणव्यञ्जनयोर्ये गुणास्तैरुपेतो लक्षणव्यञ्जनगुणो(प)पेतः । प्रशस्तलक्षणोपेते, स्था० ६ ठा० ।

तत्र लक्षणानि चक्रितीर्थकृताम् अष्टोत्तरसहस्रम् ,बलदेववासुदेवानाम् अष्टोत्तरशतम् , अन्येषां तु भाग्यवतां द्वात्रिंशत्तानि चेमानि-"छत्रं १ तामरसं २ धनू ३ रथवरो ४ दम्भोलि-५ कूर्मा-६-ऽङ्कुशा ७ , वापी-८ स्वस्तिक-९ तोरणानि १० च सरः ११ पञ्चाननः १२ पादपः १३ ॥ चक्रं १४ शङ्ख १५ गजौ १६ समुद्र १७ कलशौ १८प्रासाद १९ मत्स्यौ २० यवो२१, यूप-२२ स्तूप-२३ कमण्डलू २४ न्यवनिभृत् २५ सच्चामरो २६ दर्पणम् २७ ॥१॥"उक्षा२८ पताका २९ कमलाभिषेकः ३०, सुदाम ३१ केकी ३२ घनपुण्यभाजाम् ।

तथा—

"इह भवति सप्तरक्तः, षडुन्नतः पञ्चसूक्ष्मदीर्घश्च ।
त्रिविपुललघुगम्भीरो, द्वात्रिंशल्लक्षणः स पुमान् ॥ १ ॥ "

तत्र सप्त रक्तानि-"नख-१चरण-२ हस्त-३ जिह्वा ४, ओष्ठ५ तालु ६ नेत्रान्ताः ७ । षडुन्नतानि-कक्षा १ हृदयं २ ग्रीवा ३, नासा ४ नखा ५ मुखं च ६ । पञ्च सूक्ष्माणि—दन्ताः १ त्वक् २ केशा ३ अङ्गुलिपर्वाणि ४ नखाश्च ५ । तथा-पञ्च दीर्घाणि-नयने १ हृदयम् २ नासिका ३ भुजौ च ४-५ । त्रीणि विस्तीर्णानि-भालम् १ उरः २ वदनं च ३ । त्रीणि लघूनि—ग्रीवा १ जङ्घा २ मेहनं च ३ । त्रीणि गम्भीराणि-सत्त्वम् १ स्वरः २ नाभिश्च ३ ।

"मुखमर्धं शरीरस्य, सर्वं वा मुखमुच्यते ।
ततोऽपि नासिका श्रेष्ठा, नासिकायाश्च लोचने ॥ १ ॥
यथा नेत्रे तथा शीलं, यथा नासा तथार्जवम् ।
यथा रूपं तथा वित्तं, यथा शीलं तथा गुणाः ॥ २ ॥
अतिह्रस्वेऽतिदीर्घेऽति-स्थूले चातिकृशे तथा ।
अतिकृष्णेऽतिगौरे च,षट्सु सत्त्वं निगद्यते ॥ ३ ॥
सद्धर्मः सुभगो नीरुक्, सुस्वप्नः सुनयः कविः ।
सूचयत्यात्मनः श्रीमान् , नरः स्वर्गगमागमौ ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्दम्भः सदयो दानी, दान्तो दक्षः सदा ऋजुः।
मर्त्ययोनेः समुद्भूतो भविता च पुनस्तथा ॥ ५ ॥
मायालोभक्षुधाऽऽलस्य—बह्वाहारादिचेष्टितैः।
तिर्यग्योनेः समुत्पत्तिं, ख्यापयत्यात्मनः पुमान् ॥ ६ ॥
सरागः स्वजनद्वेषी, दुर्भगो मूर्खसङ्गकृत्।
शास्ति स्वस्य गतायातं, नरो नरकवर्त्मनि ॥ ७ ॥
आवर्त्तो दक्षिणे भागे, दक्षिणः शुभकृन्नृणाम्।
वामो वामेति निन्द्यः स्या-द्दिगन्यत्वे तु मध्यमः ॥ ८ ॥
अरेखं बहुरेखं वा, येषां पाणितलं नृणाम्।
ते स्युरल्पायुषो निःस्वा, दुःखिता नात्र संशयः ॥ ९ ॥
अनामिकान्त्यरेखायाः, कनिष्ठा स्याद्यदाऽधिका।
धनवृद्धिस्तदा पुंसां, मातृपक्षो बहुस्तथा ॥ १० ॥
(कल्प०) (जीवितरेखाया विचारः 'जीवियरेहा' शब्दे चतुर्थभागे १५६५ पृष्ठे गतः।)
यवैरङ्गुष्ठमध्यस्थै—र्विद्याख्यातिविभूतयः।
शुक्लपक्षे तथा जन्म, दक्षिणाङ्गुष्ठगैश्च तैः ॥ १४ ॥
न स्त्री त्यजति रक्ताक्षं, नार्थः कनकपिङ्गलम्।
दीर्घबाहुं न चैश्वर्यं, न मांसोपचितं सुखम् ॥ १५ ॥
चक्षुःस्नेहेन सौभाग्यं, दन्तस्नेहेन भोजनम्।
वपुःस्नेहेन सौख्यं स्यात्, पादस्नेहेन वाहनम् ॥ १६ ॥
उरोविशालो धनधान्यभोगी,
शिरोविशालो नृपपुङ्गवश्च।
कटीविशालो बहुपुत्रदारो,
विशालपादः सततं सुखी स्यात् ॥ १७ ॥"

इमानि लक्षणानि। व्यञ्जनानि च-मषतिलकादीनि तेषां ये गुणास्तैरु(प)पेतम्। कल्प० १ अधि० १ क्षण।

लक्खणसंवच्छर-लक्षणसंवत्सर-पुं०। प्रमाणसंवत्सर एव लक्षणानां वक्ष्यमाणस्वरूपाणां प्रधानतया लक्षणसंवत्सरः। स्था० ५ ठा० ३ उ०। प्रमाणसंवत्सरलक्षणेन यथावस्थितेनोपेते संवत्सरभेदे, चं० प्र० १० पाहु०।

लक्खणसंवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते,तं जहा-"समगं नक्खत्ताणि जोगं, जोयंति समगं उदू परिणमंति। णच्चुण्हं णातिसीतो, बहूदतो होति नक्खत्ते ॥ १ ॥ (स्था०)
आदिच्चतेयतविता, खणलवदिवसा उऊ परिणमंति।
पूरिंति रेणुथलताइँ, तमाहु अभिवड्ढितं जाण ॥ ५ ॥"
(सू० ४६० X)

तत्र 'नक्षत्र' इति नक्षत्रसंवत्सरः, स च उक्तलक्षणः, केवलं तत्र नक्षत्रमण्डलस्य चन्द्रभोगमात्रं विवक्षितमिह तु दिनदिनभागादिप्रमाणमिति। तथा चन्द्राभिवर्द्धितावप्युक्तलक्षणावेव; किन्तु-तत्र युगावयवतामात्रमिह तु प्रमाणमिति विशेषः, 'उऊ' इति ऋतुसंवत्सरः, त्रिंशदहोरात्रप्रमाणैर्द्वादशभिः ऋतुमासैः श्रावणमासकर्म्ममासपर्यायैर्निष्पन्नः, षष्ट्यधिकाहोरात्रशतत्रयमान इति (३६०) 'आइच्चे' त्ति आदित्यसंवत्सरः, स च त्रिंशद्दिनान्यर्द्धं चेति, एवंविधमासद्वादशकनिष्पन्नः षट्षष्ट्यधिकाहोरात्रशतत्रयमान इति। (३६६) अयमेवानन्तरोक्तो नक्षत्रादिसंवत्सरो लक्षणप्रधानतया लक्षणसंवत्सर इति। तत्र नक्षत्रमाह—'समगं' गाहा, समकं-समतया नक्षत्राणि—कृत्तिकादीनि, योगं—कार्त्तिकीपौर्णमास्यादितिथ्या सह सम्बन्धं योजयन्ति—कुर्वन्ति, इदमुक्तं भवति—यानि नक्षत्राणि—यासु तिथिषूत्सर्गतो भवन्ति, यथा कार्त्तिक्यां कृत्तिका, तानि तास्वेव यत्र भवन्ति यथोक्तम्-"जेट्ठो वच्चइ मूले-ण सावणो तह धणिट्ठाहिं। अद्दासु य मग्गसिरो, सेसा नक्खत्तनामिया मासा ॥ १ ॥" इति तथा यत्र समतयैव ऋतवः परिणमन्ति, न विषमतया, कार्त्तिक्या अनन्तरं हेमन्तर्त्तुः,पौष्या अनन्तरं शिशिरर्त्तुरित्येवमवतरन्तीति भावः, यश्च न-नैव, अतीव उष्णं—घर्मो यत्र सोऽत्युष्णः, न-नैवातिशीतः—अतिहिमः, बहूदकं यत्र स बहूदकः, स च भवति लक्षणतो नक्षत्र इति, नक्षत्रचारलक्षणलक्षितत्वान्नक्षत्रसंवत्सर इति, (स्था०) (नक्षत्रसंवत्सरव्याख्या 'णक्खत्तसंवच्छर' शब्दे चतुर्थभागे १७९२ पृष्ठे गता।) (चन्द्रसंवत्सरव्याख्या 'चंदसंवच्छर' शब्दे तृतीयभागे १०९५ पृष्ठे गता।) (ऋतुसंवत्सरव्याख्या 'उउसंवच्छर' शब्दे द्वितीयभागे ९८६ पृष्ठे गता।) (आदित्यसंवत्सरव्याख्या 'आइच्चसंवच्छर' शब्दे द्वितीयभागे ४ पृष्ठे प्रतिपादिता।) 'आइच्च' गाहा-आदित्यतेजसा तप्ताः पृथिव्यादितापेऽप्युपचारात् क्षणादयस्तप्ता इति मन्तव्यम्। तत्र क्षणो—मुहूर्तः लवः-एकोनपञ्चाशदुच्छ्वासप्रमाणो दिवसः—अहोरात्रः ऋतुः-मासद्वयप्रमाणः 'परिणमन्ति' अतिक्रामन्ति यत्रेति गम्यते, यश्च पूरयति वायूत्खातरेणुभिः स्थलानि—भूमिप्रदेशविशेषान् तमाहुराचार्या लक्षणतः संवत्सरमभिवर्द्धितम् 'जाण' त्ति त्वमपि शिष्य! तं तथैव जानीहीति। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

लक्खणा-लक्षणा-स्त्री०। चन्द्रप्रभस्वामिनो मातरि, प्रव० ११ द्वार। आव०। ति०। स०। द्वारवत्यां कृष्णस्य वासुदेवस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ८ ठा०। (सा चाऽरिष्टनेमिपार्श्वे दीक्षां गृहीत्वा सिद्धेत्यन्तकृद्दशानां पञ्चमवर्गे चतुर्थाध्ययने सूचितम्।) अन्त०। लक्षणाऽप्यवोचत्-"स्नानादिसर्वाङ्गपरिक्रियायां, विचक्षणः प्रीतिरसाभिरामः। विश्रामपात्रं विधुरे सहायः, कोऽन्यो भवेन्नूनमृते प्रियायाः ॥ १ ॥" कल्प० १ अधि० ५ क्षण। अस्याः अवसर्पिण्याः अतीतायां चतुरशीतितमायां चतुर्विंशतितीर्थकरकाले जम्बूदाडिमराजपुत्र्याम्,महा०६अ०।(एतद्वक्तव्यता महानिशीथस्य षष्ठेऽध्ययने प्रतिपादिता तत एवावसेया।) औषधविशेषे, ती० ६ कल्प।

लक्खणावती-लक्षणावती-स्त्री०। 'लखनऊ' इति ख्याते नगरविशेषे, यदधिपतिः हम्मीर-सुरत्राणसमदीनः विक्रमादित्यवर्षेषु षष्ट्यधिकत्रयोदशशतेष्वतिक्रान्तेषु चम्पायामेकां प्रतोलीं भञ्जितवान्। ती० ३४ कल्प।

लक्खणुण्णय-लक्षणोन्नत-त्रि०। महालक्षणे, प्रशस्तलक्षणे च। तं०। औ०।

लक्खपाग-लक्षपाक-पुं०। लक्षरूप्यकव्ययनिष्पन्ने तैलघृतादौ, स्था० ६ ठा०।

लक्ख(क्खा)वाणिज्ज-लाक्षावाणिज्य-न०।लाक्षा-जतुः, अत्रापि लाक्षाग्रहणमन्येषां सावद्यानां मनःशिलादीनामुपलक्षणम्, तदाश्रिता वाणिज्या लाक्षावाणिज्यम्। लाक्षा धातकीनीली-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनःशिलावज्रलेपतुवरिकापट्टवासटङ्कणसाबूत्रादिविक्रये , " लाक्षामनःशिलानीली—धातकी टङ्कणादिना । विक्रयः पापसदनं, लाक्षावाणिज्यमुच्यते, ॥ १ ॥" ध० २ अधि० । प्रव० । पञ्चा० । ध० र० । आव० । भ० । श्रा० । उपा० ।

लक्खा—लाक्षा—स्त्री० । जतौ, भ० ८ श० ६ उ० ।

लक्खारस—लाक्षारस—पुं० । यावके, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ० ।

लक्खारुणित—लाक्षारुणित—त्रि० । लाक्षारञ्जिते, " लक्खारुणिअ पल्लविअं " पाइ० ना० २६८ गाथा ।

लक्खी—लक्ष्मी—स्त्री० । हिमवतः उपरि पौण्डरीकहृदाधीश्वरभवनपतिनिकायाभ्यन्तरभूतायां स्वनामख्यातायां देव्याम् , स्था० २ ठा० ३ उ० । आ० क० ।

लगंड—लगण्ड—न० । वक्रकाष्ठे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

लगंडसाई—लगण्डशायिन्—पुं० । लगण्डं किल दुःसंस्थितं तद्वन्मस्तकपार्ष्णिकानां भुवि लगनेन पृष्ठस्य चालगनेनेत्यर्थः,यः शेते तथाऽभिग्रहात्स लगण्डशायी । लगण्डं वक्रकाष्ठं तद्वत् शेरते लगण्डशायिनः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मस्तकपार्ष्णिकाभिरेव पृष्ठप्रदेशेनैवास्पृष्टभूभागे अभिग्रहिके साधौ, ध० ३ अधि० । प्रव० । पञ्चा० । स्था० ।

लगंडसायिया—लगण्डशायिका—स्त्री० । लगण्डं किल दुःसंस्थितं काष्ठं तद्वत् कुब्जतया मस्तकपार्ष्णिकानां विलगनेन पृष्ठस्य चालगनेन या शेते सा लगण्डशायिका । भूम्यलग्नपृष्ठायां साध्व्याम् , बृ० ५ उ० ।

लगिय—लगित—त्रि० । संघटिते, आव० ४ अ० । नियोजिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

लग्ग—लग—धा० । सङ्गे, "शकादीनां द्वित्वम् " ॥ ८ । ४ । २३० ॥ इति अन्त्यगकारस्य द्वित्वम् । लग्गइ । लगति । प्राप्नोति । प्रा० । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

लग्न—न० । " अधो म—न—याम् , " ॥ ८ । २ । ७८ ॥ इति लग्नशब्दघटकनकारस्य लोपे । लग्गो । भावे क्तः प्रत्ययः । विलगने, प्रा० । मेषादिराशीनामुदये , पुं० । द० प० । सूत्र० । चिह्ने, दे० ना० ७ वर्ग १७ गाथा । सम्बद्धे, त्रि० । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । "घडिअं लग्गं संसत्तं" पाइ०ना०२०१ गाथा ।

लग्गणअ—लग्नक—पुं० । प्रतिभुवि, "लग्गणओ पडिहुओ " पाइ० ना० २१२ गाथा ।

लघिमा—लघिमन्—पुं० । तूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तौ , द्वा० २६ द्वा० । सूत्र० ।

लचय—देशी—गडुत्संज्ञे तृणे, दे० ना० ७ वर्ग १७ गाथा ।

लच्छिघर—लक्ष्मीगृह—न० । मिथिलायां नगर्यां स्वनामख्याते चैत्ये, स्था० ७ ठा० । उत्त० । आ० म० । आ० क० । आ० चू० ।

लच्छिमई—लक्ष्मीमति—स्त्री० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे षष्ठवासुदेवस्य पुरुषपुण्डरीकस्य मातरि, आव० १ अ०।ति०।स०। दक्षिणरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , आ० म० १ अ० । द्वी० । आ० क० । ति० । आ० चू० । जं० । स्था० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे वर्तमानावसर्पिण्यां महाशिवस्य भार्यायाम् , स० ।

लच्छी—लक्ष्मी—स्त्री० । " छोऽक्ष्यादौ " ॥ ८ । २ । १७ ॥ इति छकारादेशः । प्रा० । जम्बूमन्दरस्योत्तरे पौण्डरीकहृदे स्वनामख्यातायां भवनपतिनिकायाभ्यन्तरभूतायां देव्याम् , स्था० ३ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । हस्तिनापुरनगरे पद्मोत्तरस्य राज्ञो भार्यायां ज्वालायाः सपत्न्याम् , ती० २० कल्प । श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्रपुत्रमघवनृपतेर्भार्यायाम् , ती० ३४ कल्प । सौधर्मकल्पे लक्ष्मीविमानदेव्याम्, नि० १ श्रु०३वर्ग ४ अ० । (सा च पूर्वभवे पार्श्वान्तिके प्रव्रज्य सौधर्मे कल्पे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति निरयावलिकानां चतुर्थवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने सूचितम् ।) चतुर्थे स्वप्ने , कल्प० । श्रियाम् , " कमला सिरी य लच्छी " पाइ० ना० ६६ गाथा ।

लच्छीकूड—लक्ष्मीकूट—पुं० । शिखरिवर्षधरपर्वते षष्ठे कूटे, जं० ४ वक्ष० । स्था० ।

लच्छीपुर—लक्ष्मीपुर—पुं० । स्वनामख्याते भारतवर्षीयपुरे , " पुरे लक्ष्मीपुरे नाम्ना, दत्तस्य श्रेष्ठिनः प्रिया । आराधयद्भक्त्यर्थः, पुत्रार्थे नागदेवतम् ॥ १ ॥ " आ० क० ४ अ० ।

लच्छीविजय—लक्ष्मीविजय—पुं० । ढुण्ढकोत्पत्तिनामग्रन्थस्य कर्तरि स्वनामख्याते आचार्ये, जै० इ० ।

लज्जण—लज्जन—न० । लज्जायाम् , बृ० १ उ० १ प्रक० ।

लज्जणिज्ज—लज्जनीय—त्रि० । लज्जते यस्मादसौ लज्जनीयः । लज्जाहेतौ, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

लज्जमाण—लज्जमान—त्रि० । लज्जां कुर्वाणे , ' लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो' त्ति । लज्जमानाः स्वकीयं प्रव्रज्याभासं कुर्वाणाः, यदि वा—सावद्यानुष्ठानेन लज्जमानाः लज्जां कुर्वाणाः पृथग्विभक्ताः शाक्योलूककणभुक्कपिलादिशिष्याः । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

लज्जसंजम—लज्जासंयम—पुं० । लज्जा प्रतीता संयमः पञ्चाश्रवादिविरमणात्मक एताभ्यां समीभावमुपगताभ्यामन्य इति स एव लज्जासंयमः । संयते, उत्त० २ अ० ।

लज्जसंजय—लज्जासंयत—पुं० । लज्जायां सम्यक् यतते यत्नं कुरुते इति लज्जासंयतः।लज्जया सम्–सम्यग् यतते–कृत्यं प्रत्यादृतो भवतीति लज्जासंयतः, पचादिदर्शनादच् । लज्जावति साधौ, उत्त० २ अ० ।

लज्जा—लज्जा—स्त्री० । व्रीडायाम् , ग०१ अधि० । अनुचितानुष्ठानसंवरणात्मिकायां ह्रियाम् , उत्त० ५ अ० । स्था० । मनोवाक्कायसंयमे, रा० । लज्जा—संयमः । दश० ६ अ० २ उ० । अपवादभये, दश० ६ अ० १ उ० । लज्जा द्विविधा–लौकिकी; लोकोत्तरा च । तत्र लौकिकी—स्नुषायाः श्वशुरसंग्रामविषया । लोकोत्तरा—सप्तदशप्रकारः संयमः । तदुक्तम्–"लज्जा दया संजमो बंभचेरं " इत्यादि । लज्जमानाः–संयमानुष्ठानपराः । यदि वा–पृथिवीकायसमारम्भकपादसंयमानुष्ठानाल्लज्जमानाः पृथगिति प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनश्च अतस्तान् लज्जमानान् पश्येत्यनेन शिष्यस्य कुशलानुष्ठानप्रवृत्तिविषयः प्रदर्शितो भवतीति । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लज्जाणास-लज्जानाश-पुं०। गुर्वादिसमक्षमपि तद्गुणोत्कीर्तने, दश० ६ अ०। योषितो हि सङ्गे पुरुषस्य लज्जानाशो भवति गोविन्दद्विजपुत्रवत्। तं०।

लज्जातवस्सीजिइंदिय-लज्जातपस्विजितेन्द्रिय-पुं०। लज्जाप्रधानास्तपस्विनः शिष्या जितेन्द्रियाश्च ये ते लज्जातपस्विजितेन्द्रियाः। व्युत्पत्तिलब्धार्थकेषु साधुषु, औ०।

लज्जातपःश्रीजितेन्द्रिय-पुं०। लज्जया तपःश्रिया च जितानीन्द्रियाणि यैस्ते लज्जातपःश्रीजितेन्द्रियाः। व्युत्पत्तिलब्धार्थकेषु साधुषु, औ०।

लज्जादाण-लज्जादान-न०। लज्जया-ह्रिया दानं यत्तल्लज्जादानमुच्यते। "अभ्यर्थितः परेण तु, यद्दानं जनसमूहमध्यगतः। परचित्तरक्षणार्थं, लज्जायास्तद् भवेद्दानम्" ॥ १॥ इत्युक्तलक्षणे दानभेदे; स्था० १० ठा० ३ उ०।

लज्जालाघवसंपण्ण-लज्जालाघवसम्पन्न-त्रि०। तत्र लज्जा प्रसिद्धा संयमो वा लाघवं द्रव्यतोऽल्पोपधित्वं, भावतो गौरवत्यागस्ताभ्यां संपन्नः। लज्जालाघवयुते, भ० २ श० ५ उ०।

लज्जालु-लज्जालु-त्रि०। अकार्यप्रवर्त्तनं प्रति लज्जते सशङ्को भवतीति लज्जालुः। दर्श० २ तत्त्व। अकार्यवर्जके, ध० २ अधि०।

लज्जावत्-त्रि०। "आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः" ॥ ८। २। १५९॥ इति मतोः आलुरादेशः। लज्जालुः। व्रीडके, स खल्वाकुत्या सेवनवार्तया व्रीडति स्वयमङ्गीकृतमनुष्ठितं च परित्यक्तुं न शक्नोति इति आलोचकेन लज्जावता न भवितव्यम्। प्रव० २३६ द्वार।

लज्जालुइणी-लज्जावती-स्त्री०। "गोणादयः" ॥ ८। २। १७४॥ इति निपातः। लज्जावती। लज्जालुइणी। लज्जाविशिष्टायाम्, प्रा० २ पाद।

लज्जावण-लज्जापन-त्रि०। लज्जामापयन्ति प्रापयन्तीति। लज्जाजनकेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

लज्जाविय-लज्जापित-त्रि०। प्राप्तलज्जे,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

लज्जासंपण्ण-लज्जासम्पन्न-त्रि०। लज्जया अपवादभीरुतया संयमेन वा सम्पन्ने, औ०।

लज्जिय (अ) लज्जित-त्रि०। लज्जायुक्ते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। "हित्थं विलियं लज्जियं" पाइ० ना० १६७ गाथा।

लज्जिर-लज्जिन्-त्रि०। "शीलाद्यर्थस्येरः" ॥ ८। २। १४५॥ इति प्रत्ययस्य इरादेशः। लज्जिरो। लज्जाशीले, प्रा०।

लज्जु-रज्जु-स्त्री०। रश्मौ, रज्जुरिव रज्जुः। सरलत्वात्। प्रश्न० ५ संव० द्वार। अवक्रव्यवहारे, भ० २ श० १ उ०।

लट्ठ(ड)-लष्ट-त्रि०। मनोज्ञे,ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। शोभने,प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। मनोहरे, रा०। जं०। औ०। भ०। जी०। ज्ञा०। तं०। समीचीने, व्य० ३ उ०। सुन्दरे, पाइ० ना०। अन्यासक्ते, मनोहरे, प्रियंवदे च। दे० ना० ७ वर्ग २६ गाथा।

लट्ठ(ड)तर-लष्टतर-त्रि०। शोभनतरे, पं० व० ४ द्वार। अतिकल्याणे, तं०।

लट्ठ(ड)दन्त-लष्टदन्त-पुं०। मेघमुखस्यान्तर्द्वीपस्य नैर्ऋत्यकोणे नव योजनशतानि व्यतिक्रम्य लवणसमुद्रे अन्तर्द्वीपविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। स्था०। पं० व०। नं०। राजगृहे श्रेणिकस्य राज्ञो धारिण्यां जाते कुमारे, अणु०। "विजये दोण्णि" (विजये विमाने उपपद्येत्यादि सर्वम् 'महासीहसेण' शब्दे पञ्चमभागे २२२ पृष्ठे गतम्)

लट्ठबाहू-लष्टबाहु-पुं०। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे दशमतीर्थंकरपूर्वभवजीवे, स०।

लट्ठय-देशी-कुसुम्भे, दे० ना० ७ वर्ग १७ गाथा।

लट्ठसंठिय-लष्टसंस्थित-त्रि०। मनोज्ञसंस्थाने, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

लट्ठसाग-लष्टशाक-न०। कौसुम्भशालनके, बृ० १ उ० २ प्रक०।

लट्ठा-लष्टा स्त्री०। कुसुम्भे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

लट्ठि-यष्टि-स्त्री०। "यष्ट्यां लः" ॥ ८। १। २४७॥ इति यस्य लः। प्रा०। "ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे" ॥ ८। २। ३४॥ इति ष्टस्य ठः। काष्ठयष्टिकायाम्, औ०। सूत्र०।

यष्टिप्रमाणम्:—

दुट्ठपसुसाणसावय-विज्जलविसमेसु उदगमाईसु।
लट्ठी सरीररक्खा, तव संजमसाहिआ भणिआ ॥ १॥
मोक्खट्ठा नाणाई, तणू तयट्ठा तयट्ठिआ लट्ठी।
दिट्ठा जहोवयारे, कारणतक्कारणेसु तहा ॥ २॥"
ध० ३ अधि०।

गाहा—

मंडक-विडंडए य, लट्ठि-विलट्ठी य तिविधतिविधा तु।
वेणुमयवेत्तदारुग, बहू अप्प अहाकडा चेव ॥ २०२॥

एगेण तिविहसद्देण वेणुवयादी, बितियेण तिविहसद्देण बहुपरिकम्मादी।

गाहा—

तिष्णि तु हत्थे दंडो, दोण्णि उ हत्थे विदंडओ होति।
लट्ठी आतपमाणा, विलट्ठि चउरंगुलेणूणं ॥ २०३॥

कंठा॥

अद्धंगुलेण ऊणं, ण छिज्जंता होंति सपरिकम्माओ।
अद्धंगुलेण ऊणं, छिज्जंता अप्पपरिकम्मं ॥ २०४॥

पूर्ववत्।

गाहा—

जे पुव्ववट्टिता वा, जमिता संठविव तत्थिता वाऽवि।
होंति तु पमाणजुत्ता, ते णायव्वा अहाकडका॥२०५॥

पूर्ववत्।

गाहा—किं पुण लट्ठीए, पओयणं इमं—

दुपदचउप्पदणिवा-रणट्ठायरक्खणाहेउं।
अद्धाण-मरणभय-वु-ड्डस्स वऽवट्ठंभणा कप्पे ॥२०६॥

दुपया-मणुस्सादि, चउप्पदा-गाविमादि बहुप्पाता डंडग गिम्हिमादि अद्धाणे पलंबमादि वुज्झति, मतो वा वुज्झति, वोहिगादिभए वा पहरणं भवति। वुड्ढस्स वा अवट्ठंभणहेऊ लट्ठी कप्पति घेत्तुं। नि० चू० १ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लडण–लडन–न०। स्त्रीपुंसयोरन्योन्यं प्रेमकलहे, बृ० १ उ० ३ प्रक०। ध०। पं० भा०। नि० चू०। आचा०।

लडह–लडभ–त्रि०। सलावण्ये, औ०। जं०। मनोज्ञे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। ललिते, जं० २ वक्ष०। "लडह मडह जाणुए।" उपा० २ अ०। रम्ये, विदग्धे, इत्यन्ये। दे० ना० ७ वग १७ गाथा।

लडहक्खभिअ–देशी–विघटिते, दे० ना० ७ वर्ग २० गाथा।

लढ–स्मृ–धा०। आध्याने, "स्मरेर्झर–झूर–भर–भल–लढ–विम्हर–सुमर–पयर–पम्हुहाः" ॥ ८। ४। ७४॥ इति स्मरे र्लढादेशः। लढइ। स्मरति। प्रा० ४ पाद।

लढिय–स्मृत–त्रि०। चिन्तिते, "भरिअं लढिअं सुमरिअं" पाइ० ना० १६४ गाथा।

लण्ह–श्लक्ष्ण–त्रि०। "क–ग–ट–ड–त–द–प–श–ष–स–ᳲ–क–ᳲ पामूर्ध्वं लुक्" ॥ ८। २। ७७॥ इति श्लक्ष्णशब्दस्य शकारस्य लोपः। लण्हं। प्रा०। घुण्टितमठवत् मसृणे, रा०। जी०। प्रज्ञा०। आ० म०। औ०। भ०। स०। जं०।

लत्तिया–लत्तिका–स्त्री०। काशिकायाम्, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ०। पार्ष्णिप्रहारे, स्था० २ ठा० ३ उ०। आतोद्यभेदे, आ० चू० १ अ०।

लत्तियासद्द–लत्तिकाशब्द–पुं०। पार्ष्णिप्रहारशब्दे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

लद्ध–लब्ध–त्रि०। प्राप्ते, उत्त० २ अ०। आचा०। ज्ञा०। सूत्र०। दश०। द्रव्या०। संथा०। प्रश्न०। भवान्तरोपार्जिते, ज्ञा० २ श्रु० २ वर्ग १ अ०। स्था०। आतु०। विपा०। नि०। अवाप्ते, औ०।

लद्धट्ठ–लब्धार्थ–त्रि०। लब्धोऽर्थो गुर्वादिभिः सकाशादिति गम्यते येन स लब्धार्थः। दर्श० ३ तत्त्व। श्रवणतो गृहीतार्थे, उपा० ७ अ०। सूत्र०। अर्थश्रवणात् (भ० २ श० ५ उ०। रा०) स्वतः (भ०११श०११उ०) ज्ञाततत्त्वे,सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। "बहुपुक्खला लद्धट्ठा" लब्धः–प्राप्तः पुण्डरिकिणीशब्दान्वर्थतया अर्थो यया सा लब्धार्था। स्वबुद्ध्याऽवगतार्थायाम्, कल्प० १ अधि० ४ क्षण।

लब्धास्थ–त्रि०। आस्थानमास्था—प्रतिष्ठा सा लब्धा येन स लब्धार्थः। आस्थायुक्ते, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

लद्धाणुमाण–लब्धानुमान–त्रि०। लब्धमनुमानं–पराभिप्रायपरिज्ञानं येन स लब्धानुमानः। पराभिप्रायज्ञे,सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

लद्धावलद्धवित्ति–लब्धापलब्धवृत्ति–त्रि०। सन्मानादिना लब्धैः न्यक्कारपूर्वकतया चोपलब्धैः भक्तादिभिर्निर्वाहे, स्था० ६ ठा०।

लद्धि–लब्धि–स्त्री०। आत्मनो ज्ञानादिगुणानां तत्तत्कर्म्मक्षयादितो लाभे, भ० ८ श० २ उ०। गुणप्रत्यये सामर्थ्यविशेषे, आ० म० १ अ०। अष्टाविंशतिसिद्धिषु, प्रव० २७० द्वार। आत्मनः शुभभावावरणक्षयोपशमे, विशे०। केवलज्ञानादिलब्धिनिमित्तत्वाल्लब्धिः। अहिंसायाम्, प्रश्न० १ संव० द्वार। वस्त्वादीनां प्राप्तौ, प्रव० ४ द्वार। श्रोत्रेन्द्रियादिविषये, जी० १ प्रति०। लब्धिर्दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात् पञ्चधा। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। योग्यतायाम्, अनु०। पा०। ध० र०। "आहारे उवओगे, लद्धीए वा हविज्जऽवत्थाणं" (७१६) आधारोपयोगलब्धिविषयमवधेरवस्थानम्। अवधिज्ञानस्यावस्थाने, विशे०। (अभ्यन्तरलब्धिलक्षणम् 'ओहि' शब्दे ३ भागे १४५ पृष्ठे गतम्।) गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिरिति प्रसिद्धिः। आ० म० १ अ०।

अथ लब्धिऋद्धीर्वर्णयितुमाह—

आमोसहि[1] विप्पोसहि[2], खेलोसहि[3] जल्लओसही[4] चेव।
सव्वोसहि[5] संभिन्ने[6], ओहि[7] रिउ[8] विउलमइलद्धी[9]। ।१५०६।
चारण[10] आसीविस[11] के–वलिय[12] गणहारिणो[13] य पुव्वधरा[14]।
अरहंत[15] चक्कवट्टी[16], बलदेवा[17] वासुदेवा य[18]। ।१५०७।

लब्धिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् आमर्शौषधिलब्धिः, विप्रुडौषधिलब्धिः, खेलौषधिलब्धिः, जल्लौषधिलब्धिः, सर्वौषधिलब्धिः, संभिन्नेति—सूचकत्वात्सूत्रस्य संभिन्नश्रोतोलब्धिः, अवधिलब्धिः,ऋजुमतिलब्धिः,विपुलमतिलब्धिः, चारणलब्धिः, आशीविषलब्धिः, केवलिलब्धिः, गणधरलब्धिः, पूर्वधरलब्धिः, अर्हल्लब्धिः, चक्रवर्त्तिलब्धिः, बलदेवलब्धिः, वासुदेवलब्धिः।

(१)—आमर्शौषधिलब्धिव्याख्या 'आमोसहि' शब्दे द्वितीयभागे २६२ पृष्ठे गता।) (२)–(विप्रुडौषधिलब्धि 'विप्पोसहि' शब्दे व्याख्यास्यामि।) (३)–(खेलौषधिलब्धिः 'खेलोसहि' शब्दे तृतीयभागे ७७२ पृष्ठे विस्तरतो व्याख्याता।) (४)–(जल्लौषधिलब्धिः 'जल्लोसहि' शब्दे चतुर्थभागे १४२६ पृष्ठे प्रतिपादिता।) (५)–सर्वौषधिलब्धि 'सव्वोसहि' शब्दे व्याख्यास्यामि।) (६)–(संभिन्नश्रोतोलब्धि 'संभिन्नसोय' शब्दे व्याख्यास्यामि।)(७)–(अवधिलब्धिः 'ओहि' शब्दे तृतीयभागे१३७पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादिता।)(८)–(ऋजुमतिलब्धिः 'उज्जुमइ' शब्दे द्वितीयभागे ७३६ पृष्ठे गता।) (९)–(विपुलमतित्वलब्धि 'विउलमइ' शब्दे दर्शयिष्यामि।) (अत्र बहुविशेषः 'मणपज्जवणाण' शब्दे पञ्चमभागे ८७ पृष्ठे द्रष्टव्यः।) (१०)–(चारणलब्धयो बहुविधा इति 'चारण' शब्दे तृतीयभागे ११७३ पृष्ठे उक्तम्।) (११) (आसीविषलब्धिः 'आसीविस' शब्दे द्वितीयभागे ४८७ पृष्ठे विस्तरतो व्याख्याता।) (१२)–(केवलित्वलब्धिः प्रसिद्धा, सा च 'केवलणाण' शब्दे तृतीयभागे ६४२ पृष्ठे विस्तरतो दर्शिता।) (१३)–(गणधरत्वलब्धिः 'गणहर' शब्दे तृतीयभागे ८१५ पृष्ठे उक्ता।) (१४)–(पूर्वधरत्वलब्धिः 'पुव्वहर' शब्दे पञ्चमभागे १०६४पृष्ठे गता।) (१५)–(अर्हल्लब्धिः 'अरह' शब्दे 'अरहंत' शब्दे च प्रथमभागे ७५५ पृष्ठे उक्ता।) (१६) (चक्रवर्तिलब्धिलक्षणं 'बल' शब्दे पञ्चमभागे १२८७ पृष्ठे गतम्।) (१७)–(बलदेवत्वलब्धिः 'बलदेव' शब्दे पञ्चमभागे १२८८ पृष्ठे गता।) (१८)–(वासुदेवत्वलब्धिः 'बल' शब्दे पञ्चमभागे १२८७ पृष्ठे उक्ता।) अन्ये त्वाहु –विड्–उच्चारः प्रेति–प्रश्रवणम्। खेलः–श्लेष्मा, जल्लो मलः, औषधिशब्देन समासकरणादिकं तथैव, सुगन्धाश्चैते विडादयस्तल्लब्धिम–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तां द्रष्टव्याः। इह चात्मानं परं वा रोगापनयनबुद्ध्या विडादिभिः स्पृशतः साधोस्तद्रोगापगमो द्रष्टव्यः, प्रागुक्ताऽऽमर्षलब्धिरपि शरीरैकदेशे सर्वस्मिन् वा शरीरे समुत्पद्यते, तेन चात्मानं परं वा व्याध्यपगमबुद्ध्या परामृशतस्तदपगमो द्रष्टव्यः। विशे०। ग०। आ० म०। प्रव०। पा०। नं०। आ० चू०।

खीरमहुसप्पिआसव१९,कोट्ठयबुद्धी२०पयाणुसारी२१य।
तह बीयबुद्धि२२तेयग२३,आहारग२४सीयलेसा२५ य
॥ १५०८ ॥

वेउव्विदेहलद्धी२६,अक्खीणमहाणसी२७पुलाया य२८।
परिणामतववसेणं, एमाई हुंति लद्धीओ ॥ १५०९ ॥

क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धिः,कोष्ठकबुद्धिलब्धिः, पदानुसारिलब्धिः, तथा-बीजबुद्धिलब्धिः, तेजोलेश्यालब्धिः, आहारकलब्धिः, शीतलेश्यालब्धिः, वैकुर्विकदेहलब्धिः, अक्षीणमहानसीलब्धिः, पुलाकलब्धिः, एवमेता अष्टाविंशतिसंख्याः, आदिशब्दादन्याश्च—जीवानां शुभशुभतरशुभतमपरिणामवशादसाधारणतपःप्रभावाच्च नानाविधलब्धय ऋद्धिविशेषा भवन्ति। (प्रव० २७० द्वार) (१९/१)-(क्षीराश्रवलब्धिः 'खीरासवलद्धि' शब्दे तृतीयभागे ७४७ पृष्ठे गता।) (१९/२)-मध्वाश्रवलब्धिः 'महुआसवलद्धि' शब्दे पञ्चमभागे २२९ पृष्ठ द्रष्टव्या।)(१९/३)-सर्पिराश्रवलब्धिः 'सप्पिआसव' शब्दे वक्ष्यामि।) (२०)-(कोष्ठबुद्धिलब्धिः 'कोट्ठबुद्धि' शब्दे तृतीयभागे ६७५ पृष्ठे गता।) (२१)-(पदानुसारिलब्धिः 'पयाणुसारि' शब्दे पञ्चमभागे ५०६ पृष्ठ गता।) (२२)-(बीजबुद्धिलब्धिः 'बीजबुद्धि' शब्दे पञ्चमभागे १३२४ पृष्ठ उक्ता।) (२३)-तेजोलेश्यालब्धिः 'तेउलेस्सा' शब्दे चतुर्थभागे २३४९ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादिता।) (२४)-(आहारकलब्धिः 'आहारग' शब्दे द्वितीयभागे ५२५ पृष्ठे गता।)(२५) (शीतलेश्यालब्धिः 'सीयलेस्सा' शब्दे वक्ष्यामि।) (२६)-(वैक्रियलब्धिम् 'वेउव्वियलद्धि' शब्दे वक्ष्यामि।) (२७)-(अक्षीणमहानसिकलब्धिः 'अक्खीणमहाणसिय' शब्दे प्रथमभागे १४९ पृष्ठे उक्ता।) (२८)-(पुलाकलब्धिः 'पुलाग' शब्दे पञ्चमभागे १०६०पृष्ठे गता।) तथा 'एमाइ हुंति लद्धीओ' इत्यत्रादिशब्दादन्या अपि अणुत्वमहत्त्वलघुत्वगुरुत्वप्राप्तिप्राकाम्येशत्ववशित्वाप्रतिघातित्वान्तर्धानकामरूपित्वादिका लब्धयो बोद्धव्याः। तत्राणुत्वमणुशरीरविकुर्वणम्, यस्य वशाच्छिद्रमपि प्रविशति, तत्र च चक्रवर्तिभोगानपि भुङ्क्ते। महत्त्वम्-मेरोरपि महत्तरशरीरकरणसामर्थ्यम्, लघुत्वम्-वायोरपि लघुतरशरीरता, गुरुत्वम्-वज्रादपि गुरुतरशरीरतया इन्द्रादिभिरपि प्रकृष्टबलैर्दुःसहता,प्राप्तिः-भूमिस्थस्य अङ्गुल्यग्रेण मेरुपर्वताग्रप्रभाकरादेः स्पर्शसामर्थ्यम्, प्राकाम्यम्-अप्सु भूमाविव प्रविशतो गमनशक्तिः, तथा अप्स्विव भूमावुन्मज्जननिमज्जने, ईशत्वम्-त्रैलोकस्य प्रभुता, तीर्थकरत्रिदशेश्वरऋद्धिविकरणम्, वशित्वम्-सर्वजीववशीकरणलब्धिः, अप्रतिघातित्वम्-अद्रिमध्येऽपि निःसंगमनम्, अन्तर्धानम्-अदृश्यरूपता, कामरूपित्वम्—युगपदेव नानाकाररूपतया विकुर्वणशक्तिरिति।

अथ भव्यत्वाभव्यत्वविशिष्टानां पुरुषाणां च यावत्यो लब्धयो भवन्तीति तत् प्रतिपादयति—

भवसिद्धियपुरिसाणं, एयाओ हुंति भणियलद्धीओ।
भवसिद्धियमहिलाण वि, जत्ति य जायंति तं वोच्छं
॥ १५१९ ॥

अरहंतचक्किकेसव-बलसंभिन्ने य चारणे पुव्वा।
गणहरपुलायआहा-रगं च न हु भवियमहिलाणं।१५२०
अभवियपुरिसाणं पुण, दसपुव्विल्ला उ केवलित्तं च।
उज्जुमई विउलमई, तेरस एया उ न हु हुंति ॥१५२१॥
अभवियमहिलाणं पि हु, एयाओ हुंति भणियलद्धी य।
महुखीरासवलद्धी वि, नेय सेसा उ अविरुद्धा।१५२२।

भवभाविनी सिद्धिर्मुक्तिपदं येषां ते भवसिद्धिका भव्या इत्यर्थः, ते च ते पुरुषाश्च ते तथा तेषामेताः पूर्वोक्ताः सर्वा अपि लब्धयो भवन्ति। तथा भवसिद्धिकमहिलानामपि यावत्यो लब्धयो जायन्ते तद्वक्ष्ये, प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति— 'अर्हन्तेत्यादि' अर्हच्चक्रवर्तिवासुदेवबलदेवसंभिन्नश्रोतश्चारणपूर्वधरगणधरपुलाकाहारकलब्धिलक्षणा एता दश लब्धयो भव्यमहिलानां-भव्यस्त्रीणाम् न हु—नैव भवन्ति, शेषास्त्वष्टादश लब्धयो भव्यस्त्रीणां भवन्तीति सामर्थ्याद्गम्यते। यच्च मल्लिस्वामिनः स्त्रीत्वेऽपि तीर्थकरत्वमभूत्तदाश्चर्यभूतत्वान्न गण्यते। तथा अनन्तरमुक्तास्तावद्दश लब्धयः। केवलित्वं च-केवलिलब्धिः, अन्यच्च ऋजुमतिविपुलमतिलक्षणं लब्धिद्वयमित्येतास्त्रयोदश लब्धयः पुरुषाणामप्यभव्यानां नैव कदाचनापि भवन्ति, शेषाः पुनः पञ्चदश भवन्तीति भावः। अभव्यमहिलानामप्येताः पूर्वभणितास्त्रयोदश लब्धयो न भवन्ति, चतुर्दशी मधुक्षीराश्रवलब्धिरपि नैव तासां भवति. शेषास्त्वेतद्व्यतिरिक्ताश्चतुर्दश लब्धयोऽविरुद्धा भवन्तीत्यर्थः। प्रव० २७० द्वार।

लब्धिद्वारे लब्धिभेदान् दर्शयन्नाह—

कइविहा णं भंते लद्धी पण्णत्ता ! ?, गोयमा ! दसविधा लद्धी पण्णत्ता, तं जहा--नाणलद्धी १ दंसणलद्धी २ चरित्तलद्धी ३ चरित्ताचरित्तलद्धी ४ दाणलद्धी ५ लाभलद्धी ६ भोगलद्धी ७ उवभोगलद्धी ८ वीरियलद्धी ९ इंदियलद्धी १०। णाणलद्धी णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?, गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता,तं जहा--आभिणिबोहियणाणलद्धी०जाव केवलणाणलद्धी, अन्नाणलद्धी णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता?,गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, तं जहा--मइअन्नाणलद्धी ! सुयअन्नाणलद्धी विभंगऽन्नाणलद्धी ॥ दंसणलद्धी णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?, गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-- सम्मदंसणलद्धी, मिच्छादंसणलद्धी, सम्मामिच्छादंसणलद्धी। चरित्तलद्धी णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?, गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—सामाइयचरित्तलद्धी छेदोवट्ठावणियलद्धी परिहारविसुद्धलद्धी सुहुमसंपरागलद्धी अ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हक्खायचरित्तलद्धी । चरित्ताचरित्तलद्धी णं भंते ! कतिविहा पणत्ता ?, गोयमा ! एगागारा पणत्ता, एवं०जाव उवभोगलद्धी एगागारा पणत्ता । वीरियलद्धी णं भंते ! कतिविहा पणत्ता ?, गोयमा ! तिविहा पणत्ता, तं जहा–वालवीरियलद्धी पंडियवीरियलद्धी वालपंडियवीरियलद्धी । इंदियलद्धी णं भंते ! कतिविहा पणत्ता ?, गोयमा ! पंचविधा पणत्ता, तं जहा–सोइंदियलद्धी० जाव फासिंदियलद्धी । (सू० ३२०+)

'कतिविहा ए' मित्यादि, तत्र लब्धिः—आत्मनो ज्ञानादिगुणानां तत्तत्कर्मक्षयादितो लाभः, सा च दशविधा, तत्र ज्ञानस्य—विशेषबोधस्य पञ्चप्रकारस्य तथाविधज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमाभ्यां लब्धिर्ज्ञानलब्धिः , एवमन्यत्रापि, नवरं च दर्शनं-रुचिरूप आत्मनः परिणामः, चारित्रं चारित्रमोहनीयक्षयक्षयोपशमोपशमजो जीवपरिणामः, तथा चरित्रं च तदचरित्रं चेति चरित्राचरित्रं-संयमासंयमः, तच्चाऽप्रत्याख्यानकषायक्षयोपशमजो जीवपरिणामः, दानादिलब्धयस्तु पञ्चप्रकारान्तरायक्षयक्षयोपशमसंभवाः, इह च सकृद् भोजनमशनादीनां भोगः,पौनःपुन्येन चोपभोजनमुपभोगः, स च वस्त्रभवनादेः दानादीनि तु प्रसिद्धानीति, तथा इन्द्रियाणां—स्पर्शनादीनां मतिज्ञानावरणक्षयोपशमसम्भूतानामेकेन्द्रियादिजातिनामकर्मोदयनियमितक्रमाणां पर्याप्तकनामकर्मादिसामर्थ्यसिद्धानां द्रव्यभावरूपाणां लब्धिरात्मनीतीन्द्रियलब्धिः । अथ ज्ञानलब्धेर्विपर्ययभूताऽज्ञानलब्धिरित्यज्ञानलब्धिनिरूपणायाह—'अन्नाणलद्धी' त्यादि । 'सम्मदंसणे' त्यादि, इह सम्यग्दर्शनीयं मिथ्यात्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशम १ क्षय २ क्षयोपशम ३ समुत्थ आत्मपरिणामः, मिथ्यादर्शनमशुद्धमिथ्यात्वदलिकोदयसमुत्थो जीवपरिणामः,सम्यग्मिथ्यादर्शनं त्वर्द्धविशुद्धमिथ्यात्वदलिकोदयसमुत्थ आत्मपरिणाम एव 'सामाइयचरित्तलद्धि' त्ति सामायिकं—सावद्ययोगविरतिरूपम् तदेव चरित्रं-सामायिकचरित्रं तस्य लब्धिः सामायिकचरित्रलब्धिः. सामायिकचरित्रं च द्विधा—इत्वरम् यावत्कथिकं च , तत्राल्पकालमित्वरम् , तच्च भरतैरावतेषु प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थेष्वनारोपितव्रतस्य शिक्षकस्य भवति, यावत्कथिकं तु यावज्जीविकं, तच्च मध्यमवैदेहिकतीर्थङ्करतीर्थान्तरगतसाधूनामवसेयम् , तेषामुपस्थापनाया अभावात् , नन्वितरस्यापि यावज्जीवितया प्रतिज्ञानात् तस्यैव चोपस्थापनायां परित्यागात् कथं न प्रतिज्ञालोपः ?, अत्रोच्यते, अतिचाराभावात् , तस्यैव सामान्यतः सावद्ययोगनिवृत्तिरूपेणावस्थितस्य शुद्धयन्तरापादनेन सञ्ज्ञामात्रविशेषादिति । 'छेओवट्ठावणियचरित्तलद्धि' त्ति छेदे—प्राक्तनसंयमस्य व्यवच्छेदे सति यदुपस्थापनीयं—साधावारोपणीयं-तच्छेदोपस्थापनीयम् , पूर्वपर्यायच्छेदेन महाव्रतानामारोपणमित्यर्थः । तच्च सातिचारमनतिचारं च, तत्रानतिचारमित्वरसामायिकस्य शिक्षकस्यारोप्यते, तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा, यथा पार्श्वनाथतीर्थाद्वर्द्धमानस्वामितीर्थं संक्रामतः पञ्चयामधर्मप्राप्तौ, सातिचारं तु मूलगुणघातिनो यद् व्रतारोपणं, तत्रक्त तच्चरित्रं च छेदोपस्थापनीयचरित्रं, तस्य लब्धिश्छेदोपस्थापनीयचरित्रलब्धिः, 'परिहारविसुद्धियचरित्तलद्धि' त्ति परिहारः-तपोविशेषस्तेन विशुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिकं,शेषं तथैव,एतच्च द्विविधं-निर्विशमानकं.निर्विष्टकायिकं च । तत्र निर्विशमानकास्तदासेवकास्तदव्यतिरेकात्तदपि निर्विशमानकम्, आसेवितविवक्षितचारित्रकायास्तु निर्विष्टकायास्त एव निर्विष्टकायिकास्तदव्यतिरेकात्तदपि निर्विष्टकायिकमिति, इह च नवको गणो भवति,तत्र चत्वारः परिहारिका भवन्ति, अपरे तु-तद्वैयावृत्त्यकराश्चत्वार एवानुपरिहारिकाः, एकस्तु कल्पस्थितो वाचनाचार्यो गुरुभूत इत्यर्थः, एतेषां च निर्विशमानकानामयं परिहारः–

"परिहारियाण उ तवो, जहन्नमज्झो तहेव उक्कोसो ।
सीउण्हवासकाले, भणिओ धीरेहिँ पत्तेयं ॥ १ ॥
तत्थ जहन्नो गिम्हे. चउत्थ छट्ठं तु होइ मज्झिमओ ।
अट्ठममिह उक्कोसो, एत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥ २ ॥
सिसिरे उ जहन्नाई, छट्ठाई दसम-चरिमगा होंति ।
वासासु अट्ठमाई, वारसपज्जन्तओ णेइ ॥ ३ ॥
पारणगे आयामं. पंचसु गहदोसऽभिग्गहो भिक्खे ।
कप्पट्ठिया य पइदिण, करेंति एमेव आयामं ॥ ४ ॥"

इह सप्तस्वेषणासु मध्ये आद्ययोरग्रह एव, पञ्चसु पुनर्ग्रहः, तत्राप्येकतरया भक्तमेकतरया च पानकमित्येवं द्वयोरभिग्रहोऽवगन्तव्य इति ।

"एवं छम्मासतवं, चरिउं परिहारगा अणुचरंति ।
अनुचरगे परिहारिय-पयट्ठिए जाव छम्मासा ॥ ५ ॥
कप्पट्ठिओ वि एवं, छम्मासतवं करेइ सेसा उ ।
अणुपरिहारिगभावं, वयंति कप्पट्ठियत्तं च ॥ ६ ॥
एवेसो अट्ठारस-मासपमाणो उ वणिओ कप्पो ।
संखेवओ विसेसो, सुत्ता एयस्स णायव्वो ॥ ७ ॥
कप्पसमत्तीइ तयं, जिणकप्पं वा उवेंति गच्छं वा ।
पडिवज्जमाणगा पुण, जिणस्सगासे पवज्जंति ॥ ८ ॥
तित्थयरसमीवासे-वगस्स पासे व नो य अन्नस्स ।
एएसिं जं चरणं, परिहारविसुद्धियं तं तु ॥ ९ ॥"

अन्यैस्तु व्याख्यातं-परिहारतो मासिकं चतुर्लघ्वादि तपश्चरति यस्तस्य परिहारिकचरित्रलब्धिर्भवतीति,इदं च परिहारतपो यथा स्यात्तथोच्यते-(व्यवहारभाष्योक्ता गाथाः)-

"नवमस्स तइयवत्थुं, जहन्न उक्कोसऊणगा दस उ ।
सुत्तत्थऽभिग्गहा पुण, दव्वाइ तवो रयणमाती ॥ ६५४ ॥"

अयमर्थः—यस्य जघन्यतो नवमपूर्वे तृतीयं वस्तु यावद् भवति उत्कर्षतस्तु दश पूर्वाणि न्यूनानि सूत्रतोऽर्थतो भवन्ति-द्रव्याद्यश्चाभिग्रहा रत्नावल्यादिना च तपस्तस्य परिहारतपो दीयते, तद्दाने च निरुपसर्गार्थं कायोत्सर्गो विधीयते शुभे च नक्षत्रादौ तत्प्रतिपत्तिः, तथा गुरुस्तं ब्रूते-यथा अहं तव वाचनाचार्यः, अयं च गीतार्थः-साधुः सहायस्ते, शेषसाधवोऽपि वाच्याः, यथा-" एस तवं पडिवज्जइ, न किंचि आलवइ मा य आलवह । अत्तट्ठचिन्तगस्स उ, वाधाओ भे न कायव्वो ॥ ३६३ ॥ " तथा कथमहमालापादिरहितः संस्तपः करिष्यामीत्येवं बिभ्यतस्तस्य भयापहारः कार्यः, कल्पस्थितश्च तस्यैतत्करोति—" किइकम्मं च पडिच्छइ, पडिन्न पडिपुच्छयं पि से देइ । सो वि य गुरुमुवचिट्ठइ, उदंतमवि पुच्छिओ कहइ ॥ ३६७ ॥ " इह परिज्ञा-प्रत्याख्यानं प्रतिपू-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च्छा, त्वालापकः, ततोऽसौ यदा ग्लानीभूतः सन्नुत्थानादि स्वयं कर्तुं न शक्नोति तदा भणति-उत्थानादि कर्तुमिच्छामि, ततोऽनुपरिहारकस्तूष्णीक एव तदभिप्रेतं समस्तमपि करोति, आह च-' उट्ठेज्ज निसीएज्जा, भिक्खं हिंडेज्ज भंडगं पेहे। कुवियपियबंधवस्स व, करेइ इयरोऽपि तुसिणीओ ॥ ३६८ ॥ " तपश्च तस्य ग्रीष्मशिशिरवर्षासु जघन्यादिभेदेन चतुर्थादिद्वादशान्तम् । पूर्वोक्तमेवेति ' सुहुमसंपरायचरित्तलद्धि ' त्ति संपरैति-पर्यटति संसारमेभिरिति सम्परायाः-कषायाः सूक्ष्माः-लोभांशावशेषरूपाः सम्पराया यत्र तत् सूक्ष्मसंपरायम्, शेषं तथैव, एतदपि द्विधा—विशुद्ध्यमानकम्, संक्लिश्यमानकं च । तत्र विशुद्ध्यमानकं क्षपकोपशमकश्रेणिद्वयमारोहतो भवति १, संक्लिश्यमानकं तु उपशमश्रेणितः प्रच्यवमानस्येति २ । ' अहक्खायचरित्तलद्धी ' ति यथा-येन प्रकारेण आख्यातम्-अभिहितमकषायतयेत्यर्थः तथैव यत्तद्यथाख्यानम्, तदपि द्विविधम्-उपशमक-क्षपकश्रेणिभेदात्, शेषं तथैवेति । एवं " चरित्ताचरित्ते " त्यादौ, ' एगागार ' त्ति मूलगुणोत्तरगुणादीनां तद्भेदानामविवक्षणात्, द्वितीयकषायक्षयोपशमलभ्यपरिणाममात्रस्यैव च विवक्षणाच्चरित्राचरित्रे लब्धेरेकाकारत्वमवसेयम् । एवं दानलब्ध्यादीनामप्येकाकारत्वम्, भेदानामविवक्षणात्, ' बालवीरियलद्धी' त्यादि,बालस्य-असंयतस्स यद्वीर्यम्-असंयमयोगेषु प्रवृत्तिनिबन्धनभूतं तस्य या लब्धिश्चारित्रमोहोदयाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च सा तथा, एवमितरे अपि यथायोगं वाच्ये, नवरं पण्डितः—संयतो, बालपण्डितस्तु संयताऽसंयत इति । भ० ८ श० २ उ० ।

लद्धिअक्खर-लब्ध्यक्षर-न० । लब्धिरूपमक्षरं लब्ध्यक्षरम् । भावश्रुते, नं० । आ० चू० । वृ० । (तच्च ' अक्खर ' शब्दे प्रथमभागे १४० पृष्ठे दर्शितम् ।)

लद्धिअपज्जत्तग-लब्ध्यपर्याप्तक-पुं० । अपर्याप्तकभेदे, कर्म० १ कर्म० । ('अपज्जत्तग' शब्दे प्रथमभागे ५६३ पृष्ठे व्याख्यातः।)

लद्धिपुलाय-लब्धिपुलाक-पुं० । देवेन्द्रर्द्धिसमसमृद्धिकं लब्धिविशेषयुक्ते, । " संघाइयाण कज्जे, चुण्णेज्जा चक्कवट्टिमवि जीए । तीए लद्धीए जुओ, लद्धिपुलाओ मुणेयव्वो ॥ १ ॥ प्रव० ९३ द्वार ।

लद्धिवीरिय-लब्धिवीर्य-न० । वीर्यभेदे, " जो पुण संसारी जीवो अपज्जत्तगो ठाणातिसत्तिसंजुत्तो तस्स तं लद्धिवीरियं भवति " । नि० चू० १ उ० ।

लद्धिसंपण्ण-लब्धिसम्पन्न- त्रि० । आहारवस्त्राद्युत्पादनशक्तियुक्ते आमर्षौषध्यादिलब्धियुक्ते, ग० २ अधि० । " जहा घयवत्थम्भासपूसमित्ता गिलाणण त्ति यं सिग्घं करेति " । नि० चू० १० उ० ।

लद्धिसागरसूरि-लब्धिसागरसूरि-पुं० । तपागच्छीये उदयसागरसूरिशिष्ये, तेन विक्रमसंवत् १५५७ श्रीपालकथानामकः संस्कृतग्रन्थो निर्मितः । जै० इ० ।

लद्धुं-लब्ध्वा-अव्य० । अवाप्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । पञ्चा० । दश० ।

लद्धेल्लिय- लब्ध -त्रि० । प्राप्ते, आव० २ अ० ।

लप्पसिया-लपनश्री-स्त्री० । जलेन सिद्धा लप्पसिया, सुकुमारिकादौ पश्चादुद्धरितघृतेन खरण्टितायां तापिकायां जलेन सिद्धा लपनश्रीर्भवति । लहिगणुरिति प्रसिद्धे खादिमविशेषे, ध० २ अधि० । ल०प्र० ।

लब्भ-लभ्य-त्रि० । उचिते, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

लय-लय-पुं० । शृङ्गदार्वाद्यन्यतरमयेनाङ्गुलिकोशकेनाहतायाः तन्त्र्याः स्वरप्रकारे, स्था० ७ ठा०३ उ० । जी० । रा० । लयास्तन्त्रीस्वनविशेषाः, " तत्थ किल कोणएण तंती छिप्पति तओ नहेहिं अणुमज्जेज्ज त्ति , तत्थ अन्नारिसो सरो उट्ठेति सो लयो त्ति" दश०२ अ० । दुःखध्वंसे, द्वा० ११ द्वा० । आश्लिष्टे, मिलने च । कल्प० १ अधि० ३ क्षण । नवदम्पत्योः परस्परं नामग्रहणोत्सवे , दे० ना० ७ वर्ग १६ गाथा ।

लयंग-लताङ्ग-न० । पूर्वाणां चतुरशीतिलक्षगुणिते पूर्वशतसहस्रे, ज्यो० २ पाहु० ।

लयण-लयन-न० । गिरिवर्तिपाषाणगृहे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । उत्कीर्णपर्वतगृहे, अनु० । " छायं लउअं लयणं " पाइ० ना०८७ गाथा । तनुके, मृदुनि, वल्ल्यां च । " लइयं तणुमिउवल्लीसु " दे० ना० ७ वर्ग २७ गाथा ।

लयणी-लयनी-स्त्री० । लतायाम् , " कयणी लयणी " पाइ० ना० १३६ गाथा ।

लयसम-लयसम-न० । लयमनुसरतो गातुर्गेये, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

लया-लता-स्त्री० । पद्मनागाशोकचम्पकचूतवासन्त्यतिमुक्तककुन्दलताद्यादिके वनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । यस्य तिर्यक् तथाविधाः शाखाः प्रशाखा वा न प्रसृता सा लतेत्यभिधीयते । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

से किं तं लयाओ ?, लयाओ अणेगविहाओ, पण्णत्ताओ , तं जहा-" पउमलया नागलया , असोगचंपयलया य चूतलता । वणलयवासंतिलया, अइमुत्तयकुंदसामलया ॥ २५ ॥" जे यावण्णे तहप्पगारा । सेत्तं लयाओ, प्रज्ञा० १ पद । पाइ०ना० ।

ग्रन्थविशेषे , चार्वाकादिपक्षनिराशश्चातिभूयानिति लतादित एव तदवगमो विधेयः । नयो० ।

लयाघर-लतागृह-न० । अशोकादिलतागृहेषु, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

लयाजुद्ध-लतायुद्ध-न० । युद्धकलाभेदे , यथा लता वृक्षमारोहन्ती आमूलमाशिरस्तं वेवेष्टि, तथा यत्र योधः प्रतियोधशरीरं गाढं निपीड्य भूमौ पतति तल्लतायुद्धम् । जं० २ वक्ष० । स० । औ० । ज्ञा० ।

लयापुरिस-देशी-यत्र पद्मकरा वधूर्लिख्यते तस्मिन्नर्थे, " पउमकरा जत्थ बहू, लिहिज्जए सो लयापुरिसो " दे० ना० ७ वर्ग २० गाथा ।

लयामग्ग-लतामार्ग-पुं० । यत्र लतावलम्बेन गम्यते तादृशे मार्गे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

ललंत-ललत्-त्रि० । दोलायमाने, औ० । ईप्सितक्रियाविशे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यान् कुर्वन्ति, भ० १३ श० ६ उ०। क्रीडति, बृ० १ उ० ३ प्रक०। मनईप्सितं यथा भवति तथा वर्तमाने, रा०।

ललणा-ललना-स्त्री०। रमण्याम्, तं०।

नाणाविहेसु जुद्धभंडणसंगामाडवीसु मुहाऽणमगिण्हण-सीउण्हदुक्खकिलेसमाइएसु पुरिसे लालयंति त्ति ललणा ओ ॥ ७ ॥

नानाविधेषु युद्धभण्डनसंग्रामाटवीषु मुधाऽणमगृह्णन् शीतोष्णदुःखक्लेशादिषु पुरुषान् लालयन्ति विविधं कदर्थयन्तीति ललनाः, तत्र युद्धम्-मुष्ट्यादि परस्परताडनम्, भण्डनं-वाक्कलहः संग्रामो-महज्जनसमक्षकलहः। अटवी-अरण्यं तत्र भ्रामणादिकारापणेन, यद्वा—मुधा निष्फलम् 'अणमिति' शब्दकरणगाल्यादिप्रदानं तेन 'गिण्हण' त्ति कामातुरादिप्रकारेण पुरुषग्रहणं तेन शीतेन कोपाटोपात् माघमासादौ वस्त्रोद्दालनगृहबहिःकर्षणादिना उष्णेन स्वकार्यकारापणेन आतपादौ भ्रामयन्ति दुःखेन आपत्त्या आभरणादिपीडादर्शनेन क्लेशेन रामा द्वित्र्यादियोगे परस्परकलहोत्पादनेन आदिशब्दादन्यैरपि अनाचारसेवायनर्थोत्पादनैः पुरुषान् पीडयन्तीति ललनाः। तं०।

ललाडदेस-ललाटदेश-पुं०। भाग्यलक्षणे शरीरभागे, पञ्चा० ४ विव०। औ०।

ललिअ-ललित-न०। लीलायाम्, "हेला ललिअं लीला" पाइ० ना० ७० गाथा।

ललिय-ललित-न०। हस्तपादाङ्गविन्यासविशेषे, उक्तञ्च—"हस्तपादाङ्गविन्यासो, भ्रूनेत्रोष्ठप्रयोजितः। सुकुमारो विधानेन, ललितं तत्प्रकीर्तितम्" ॥१॥ बृ० १ उ० ३ प्रक०। प्रश्न०। सविलासे, उत्त० ६ अ०। ज्ञा०। विलासवद्वर्तौ, औ०। सम्पन्नतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। पासकादिक्रीडायाम्, प्रव० १७१ द्वार। माधुर्य्ये, औ०। मार्दवे, आव० ४ अ०। शोभावति, त्रि०। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उपा०। "ललियकयाभरण०" ललितानि शोभनानि कृतानि न्यस्तानि आभरणानि सारभूषणानि यस्य स तथा तम्। विलासवति, उत्त० २ अ०। मनोहरे, औ०। स०। अनु०। रा०। मनोज्ञलीलया सहिते, चं० प्र० १ पाहु०। ईप्सिते, क्रीडायुक्ते, स्थिते च। ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। लालित्योपेते, औ०। सुन्दरे, "ललियं वग्गुं मंजुं" पाइ० ना० ८८ गाथा। इष्टे, नि०। अस्यामवसर्प्पिण्यां जातस्य पञ्चमबलदेवस्य पूर्वभवे जीवे, पुं०। स०।

ललियंग-ललिताङ्ग-पुं०। ईशाने कल्पे उपपन्ने ऋषभदेवपूर्वभवजीवे, तं०। कल्प०। आ० क०। आचा०। (तद्वक्तव्यता श्रेयांसेन स्वपूर्वभवसम्बन्धकथनावसरे 'उसभ' शब्दे द्वितीयभागे११३४पृष्ठे प्रतिपादिता।) ललितशरीरे, 'ललियंगकयाभरणे'-ललिताङ्गके-ललितशरीरे कृतानि-विन्यस्तानि ललिताभरणानि येन स तथा। औ०। आ० म०।

ललियंत-लाल्यमान-त्रि०। विलास्यमाने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

ललियगुट्ठी-ललितगोष्ठी-स्त्री०। रोहितकपुरे स्वनामख्यातायां गोष्ठ्याम्, आव० ४ अ०।

ललियघडा-ललितघटा-स्त्री०। स्वनामख्यातायां स्वच्छन्दचारिगोष्ठ्याम्, संथा०।

कोसंबीनयरीए. ललियघडा नाम विस्सुता आसि।
पाओवगमनसुना, बत्तीसं ते य सुयनियसा ॥ ७६ ॥

कौशाम्ब्यां नगर्यां ललितघटा नाम स्वच्छन्दचारिगोष्ठी-पुरुषपद्धतिः द्वात्रिंशन्मित्रसमवायरूपा. विश्रुता-शालिभद्रादिवद् भोगिपुरुषतया विख्याता, कुतश्चिद्वैराग्यात्स्वयमेव गृहीतव्रता गुरुसमीपे चाधीतशेषातिशायिश्रुता गीतार्था नदीपुलिनपतितपृथुकाष्ठशय्यासु पादपोपगमनेन सुप्ता द्वात्रिंशदपि श्रुतनिकषा आकर्णितरहस्यश्रुता वा।७६। संथा०।

ललियमित्त-ललितमित्र-पुं०। सप्तमवासुदेवस्य पूर्वभवे जीवे, स०।

ललियवित्थरा-ललितविस्तरा-स्त्री०। हरिभद्रसूरिकृतायां स्वनामख्यातायां चैत्यवन्दनसूत्रवृत्तौ, ल०।

"प्रणम्य भुवनालोकं, महावीरं जिनोत्तमम्।
चैत्यवन्दनसूत्रस्य, व्याख्येयमभिधीयते ॥ १ ॥
अनन्तागमपर्यायं, सर्वमेव जिनागमे।
सूत्रं यतोऽस्य कार्त्स्न्येन, व्याख्यां कः कर्तुमीश्वरः ॥ २ ॥
यावत्तथापि विज्ञात—मर्थजातं मया गुरोः।
सकाशादल्पमतिना, तावदेव ब्रवीम्यहम् ॥ ३ ॥
ये सत्त्वाः कर्मवशतो, मत्तोऽपि जडबुद्धयः।
तेषां हिताय गदतः, सफलो मे परिश्रमः ॥ ४ ॥" ल०।
"आचार्यहरिभद्रेण, दृब्धा सन्न्यायसंगता।
चैत्यवन्दनसूत्रस्य, वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥ १ ॥
य एनां भावयत्युच्चै—र्मध्यस्थेनान्तरात्मना।
सद्वन्दनां सुबीजं वा, नियमादधिगच्छति ॥ २ ॥
पराभिप्रायमज्ञात्वा, तत्कृतस्य न वस्तुनः।
गुणदोषौ सता वाच्यौ, प्रश्न एव तु युज्यते ॥ ३ ॥
प्रष्टव्योऽन्यः परीक्षार्थ—मात्मनो वा परस्य च।
ज्ञानस्य वाऽभिवृद्ध्यर्थं, त्यागार्थं संशयस्य च ॥ ४ ॥
कृत्वा यदर्जितं पुण्यं, मयैनां शुभभावतः।
तेनास्तु सर्वसत्त्वानां, मात्सर्यविरहः परः ॥ ५ ॥"

इति ललितविस्तरानामचैत्यवन्दनवृत्तिः। कृतिर्धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोराचार्यहरिभद्रस्येति। ल०।

ललिया-ललिता-स्त्री०। जयपुरनगरे विक्रमसेनराजभार्यायाम्, दर्श० ३ तत्त्व।

ललियासण-ललिताशन-न०। मनोज्ञभोजने, "भोयणमासणमिह ललियपरिवेसिया दुगुणभागो" यस्य भोजनमासनं च इष्टं-मनोऽभिरुचितं क्रियते परिवेषिका च स्त्री तस्याभीष्टा क्रियते इष्टभोजनस्य द्विगुणो भागो दीयते। सलीलमशनमासनं वा अस्येति व्युत्पत्त्या ललिताशनको ललितासनको वा। बृ० २ उ०।

लल्ल-लल्ल-पुं०। अव्यक्तध्वनौ, "लल्लविफलवाया"। लल्ला-अव्यक्ता विफला-फलासाधनी वाग्येषाम्। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। अर्बुदगिरिस्थस्य तीर्थस्य, १२४३ शके उद्धारकर्तरि महणसिंह पुत्रे, ती० ८ कल्प। सस्पृहे, न्यूने च। त्रि०। दे० ना० ७ वग २६ गाथा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लल्लक–देशी। भीमे, दे० ना० ७ वर्ग २८ गाथा। "भइरव-लल्लक–भीसणया" पाइ० ना० ६५ गाथा।

लल्लिरी–लल्लिरी–स्त्री०। मत्स्यबन्धनविशेषे, विपा० १ श्रु० ८ अ०।

लव–लव–पुं०। सप्तकस्तोकरूपे कालविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। प्रव०। स्था०। अनु०। तं०। भ०। कर्म०। ज्यो०। "सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे। लवाणं सत्तहत्तरिए, स मुहुत्ते वियाहिए" त्ति। भ०१ श०१ उ०। काष्ठाद्वयपरिमिते काले, तं०। लेशे, "थेवं लेसो लवो कला मत्ता" पाइ० ना० १६४ गाथा। कर्मणि, न०। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

लवइय–लवकित–त्रि०। लव एव लवकः स्वार्थे कः। स सञ्जात आस्विति लवकिताः। सञ्जातनवदलके, जं० १ वक्ष०। रा०। अङ्कुरवति, भ० १ श० १ उ०।

लवंग–लवङ्ग–न०। स्वनामख्याते वृक्षे, तत्पुष्पे च। प्रज्ञा० १ पद। रा०। जं०। आचा०। फलविशेषे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

लवंगदल–लवङ्गदल–न०। लवङ्गपत्रे, आ० म० १ अ०। रा०।

लवंगविट्ठ–लवङ्गवेधित–त्रि०। दानं दत्त्वा आत्मना दानफलप्रशंसने, अन्यतीर्थिकैर्वा प्रशंसां कारयति च। नि० चू० २ उ०। ('दाण' शब्दे ४ भागे २४८६ पृष्ठे लक्षणमेतस्य।)

लवग–लवग–पुं०। लवपरिमिते काले, स० ७७ सम०।

लवण–लवण–न०। सामुद्रादौ क्षारविशेषे, जी० १ प्रति०। ल० प्र०। आतु०। पञ्चा०। दश०। सचित्तलवणगृहीते को विधिः। यदि केनाप्यनुपयोगादिना साधुना सचित्तं लवणं गृहीतं पश्चाद् ज्ञातम् तत्र को विधिरिति? अत्र साधुस्तल्लवणं धनिकस्य निवेदयति। आयुष्मन्! त्वया ज्ञात्वा अज्ञात्वा वा दत्तं तदनुजानता मयाऽऽदत्तं परमथ यूयं यथेच्छं भुङ्ग्ध्वम् इत्युक्ते तत्स्वयं भुङ्क्ते। साधर्मिकेभ्यो वा ददाति कारणे सति, करणाभावे तु परिष्ठापयतीत्युक्तमाचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धपिण्डैषणाध्ययनदशमोद्देशके। ही० २ प्रका०। स्तम्भिताहारविध्वंसादिकर्तरि सिन्धुलवणाद्याश्रिते रसे, पुं०। अनु०। लवणेन पूरितः समुद्रो लवणसमुद्रः। एकदेशेन गम्यमानत्वात् लवणसमुद्रे, अनु०।

लवणसमुद्द–लवणसमुद्र–पुं०। लवणरसास्वादनीरपूरितः समुद्रो लवणसमुद्रः। "लवणो य होइ दाहिणेणं तु" (५६ गाथा) आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। ते च असंख्येयाः। जी० ३ प्रति०। जम्बूद्वीपस्याभितः समुद्रे, अनु०।

(१) संप्रति लवणसमुद्रं विवक्षुरिदमाह–

जम्बूदीवं णामं दीवं लवणे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठति।

'जंबूदीवं दीव' मित्यादि जम्बूद्वीपं नाम द्वीपं लवणो नाम समुद्रो वृत्तो–वर्तुलः, स च चन्द्रमण्डलवन्मध्ये परिपूर्णोऽपि शङ्क्येत तत आह–वलयाकारसंस्थानसंस्थितः–वलयाकारम्–मध्यशुषिरम् यत् संस्थानं तेन संस्थितो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः–सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन परिक्षिप्य–वेष्टयित्वा तिष्ठति।

लवणे णं भंते! समुद्दे किं समचक्कवालसंठिते विसमचक्कवालसंठिते?, गोयमा! समचक्कवालसंठिते नो विसमचक्कवालसंठिए।

'लवणे णं भंते' इत्यादि–लवणो भदन्त! समुद्रः किं समचक्रवालसंस्थितः,यद्वा–विषमचक्रवालसंस्थितः?, चक्रवालसंस्थानस्योभयथाऽपि दर्शनात्, भगवानाह–गौतम! समचक्रवालसंस्थितः, सर्वत्र द्विलक्षयोजनप्रमाणतया चक्रवालस्य भावात्, नो विषमचक्रवालसंस्थितः।

(२) संप्रति चक्रवालविष्कम्भादिपरिमाणमेव पृच्छति–

लवणे णं भंते! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं?, केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे दो जोयणसतसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पन्नरसजोयणसयसहस्साइं एगासीइसहस्साइं सयमेगूणचत्तालीसे किंचिविसेसाहिए लवणोदधिणो चक्कवालपरिक्खेवेणं। से णं एक्काए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते चिट्ठइ दोण्ह वि वण्णओ। सा णं पउमवरवेइया अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयं विक्खंभेणं लवणसमुद्दसमियपरिक्खेवेणं, सेसं तहेव। से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं ० जाव विहरइ।

'लवणे णं भंते! समुद्दे' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह–गौतम! द्वे योजनशतसहस्रे चक्रवालविष्कम्भेन जम्बूद्वीपविष्कम्भादेः तद्विष्कम्भस्य द्विगुणत्वात्, पञ्चदशयोजनशतसहस्राणि एकाशीतिः सहस्राणि शतमेकोनचत्वारिंशं च किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण, परिक्षेपप्रमाणं चैतत् परिधिगणितभावनया स्वयं भावनीयम्, क्षेत्रसमासटीकातो वा परिभावनीयम्। 'से ण' मित्यादि, सः–लवणनामा समुद्र एकया पद्मवरवेदिकया, अष्टयोजनोच्छ्रितजगत्युपरिभाविन्येति गम्यते, एकेन वनखण्डेन सर्वतः–समन्तात् संपरिक्षिप्तः, सा च पद्मवरवेदिका अर्द्धयोजनमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन पञ्च धनुःशतानि विष्कम्भतः परिक्षेपतो लवणसमुद्रपरिक्षेपप्रमाणा, वनखण्डो देशोने द्वे योजने, अभ्यन्तरोऽपि पद्मवरवेदिकाया वनखण्ड एवंप्रमाण एव। जी० ३ प्रति० २ उ०। (पद्मवरवेदिकावर्णकस्वरूपम् 'पउमवरवेइया' शब्दे पञ्चमभागे १५ पृष्ठे गतम्।)

(३) वनखण्डवर्णक इत्थम्–

से णं वणसंडे किण्हे किण्होभासे नीले नीलोभासे हरिए हरिओभासे सीए सीओभासे णिद्धे णिद्धोभासे तिव्वे तिव्वोभासे किण्हे किण्हच्छाए नीले नीलच्छाए हरिए हरियच्छाए सीए सीयच्छाए णिद्धे णिद्धच्छाए तिव्वे तिव्वच्छाए घणकडिअकडिच्छाए रम्मे महामेहणिकुरंबभूए।

'किण्हे' त्ति कालवर्णः। 'किण्होभासे' त्ति कृष्णावभासः–कृष्णप्रभः कृष्ण एवावभासत इति कृष्णावभासः। एवम्–'नीले नीलोभासे' प्रदेशान्तरे–'हरिए हरिओभासे' प्रदेशान्तरे एव, तत्र नीलो–मयूरगलवत्, हरितस्तु–शुकपुच्छवत्, हरितालाभ इति वृद्धाः। 'सीए' त्ति शीतः स्पर्शापेक्षया,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वल्ल्याद्याक्रान्तत्वात् इति वृद्धाः । 'णिद्धे' त्ति स्निग्धो न तु रूक्षः । 'तिव्वे' त्ति तीव्रो वर्णादिगुणप्रकर्षवान् । 'किण्हे किण्हच्छाए' त्ति इह कृष्णशब्दः कृष्णच्छाय इत्यस्य विशेषणमिति न पुनरुक्तता, तथाहि--कृष्णः सन् कृष्णच्छायः, छाया चादित्यावरणजन्यो वस्तुविशेषः 'घणकडियकडिच्छाए' त्ति अन्योऽन्यं शाखानुप्रवेशाद् बहलनिरन्तरच्छाय इत्यर्थः । 'महामेहणिकुरंबभूए' त्ति महामेघवृन्दकल्पः ।

ते णं पायवा मूलमंतो कंदमंतो खंधमंतो तयामंतो सालमंतो पवालमंतो पत्तमंतो पुप्फमंतो फलमंतो वीयमंतो अणुपुव्वसुजायरुइलवट्टभावपरिणया एक्कखंधा अणेगसाला अणेगसाहप्पसाहविडिमा अणेगनरवामसुप्पसारिअअग्गेज्झघणविउलवद्धखंधा अच्छिद्दपत्ता अविरलपत्ता अवाईणपत्ता अणाईअपत्ता निद्धूयजरढपंडुपत्ता णवहरियभिसंतपत्तभारंधकारगंभीरदरिसणिज्जा उवणिग्गयणवतरुणपत्तपल्लवकोमलउज्जलचलंतकिसलयसुकुमालपवालसोहियवरंकुरग्गसिहरा णिच्चं कुसुमिया णिच्चंमाइया णिच्चं लवइया णिच्चं थवइया णिच्चं गुलइया णिच्चं गोच्छिया णिच्चं जमलिया णिच्चं जुवलिया णिच्चं विणमिया णिच्चं पणमिया णिच्चं कुसुमियमाइयलवइयथवइयगुलइयगोच्छियजमलियजुवलियविणमियपणमियसुविभत्तपिंडमंजरिवडिंसयधरा सुयवरहिणमयणसालकोइलकोहंगकभिंगारककोंडलकजीवंजीवकणंदीमुहकविलपिंगलक्खकारंडचक्कवायकलहंससारसअणेगसउणगणमिहुणविरइयसद्दुण्णइयमहुरसरणाइए सुरम्मे संपिंडियदरियभमरमहुकरिपहकरपरिलिंतमत्तछप्पयकुसुमासवलोलमहुरगुमगुमंतगुंजंतदेसभागे अब्भंतरपुप्फफले बाहिरपत्तोच्छण्णे पत्तेहि य पुप्फेहि य उच्छण्णपडिवलिच्छण्णे साउफले निरोयए अकंटए णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगरम्मसोहिए विचित्तसुहकेउभूए वावीपुक्खरिणीदीहियासु य सुनिवेसियरम्मजालहरए ।

'ते णं पायव' त्ति यत्संबन्धाद् वनखण्ड इति । 'मूलमंतो कन्दमन्तो' इत्यादीनि दश-पदानि, तत्र कन्दो-मूलानामुपरि वृक्षावयवविशेषो, मतुप्प्रत्ययश्चेह-भूम्नि प्रशंसायां वा स्कन्धः स्थुडम् 'तय' त्ति त्वक्-वल्कलम् शाला-शाखा प्रवालः पल्लवाङ्कुरः, शेषाणि प्रतीतानि । 'हरियमन्ते' त्ति क्वचिद् दृश्यते, तत्र हरितानि—नीलतरपत्राणि । 'अणुपुव्वसुजायरुइलवट्टभावपरिणय' त्ति आनुपूर्व्येण—मूलादिपरिपाट्या सुष्ठु जाता रुचिराः वृत्तभावैश्च परिणताः परिगता वा ये ते तथा । 'अणेगसाहप्पसाहविडिमा' अनेकशाखाप्रशाखो विटपः—तन्मध्यभागो वृक्षविस्तारो वा येषां ते तथा । 'अणेगनरवामसुप्पसारियअग्गेज्झघणविउलवट्ट (वद्ध) खंधे' त्ति अनेकाभिर्नरवामाभिः सुप्रसारिताभिरग्राह्यो घनोनिविडो विपुलो—विस्तीर्णो वद्धो—जातः स्कन्धो येषां ते तथा, वाचनान्तरेऽत्र स्थानेऽधिकपदान्येवं दृश्यन्ते—' पाईणपडीणायययसाला उदीणदाहिणविच्छिण्णा ओणयनयपणयविप्पहाइयओलंबपलंबलंबसाहप्पसाहविडिमा अवाईणपत्ता अणुइण्णपत्ता' इति । अयमर्थः—प्राचीनप्रतीचीनयोः पूर्वापरदिशोरायता-दीर्घाः शालाः—शाखा येषां ते तथा, उदीचीनदक्षिणयोरुत्तरयाम्ययोर्दिशोर्विस्तीर्णा विष्कम्भवन्तो येषां ते तथा । अवनता-अधोमुखा नता-आनम्राः प्रणताश्च-नन्तुं प्रवृत्ताः विप्रभाजिताश्च विशेषतो विभागवत्यः अवलम्बा—अधोमुखतया अवलम्बमानाः प्रलम्बाश्च—अतिदीर्घाः लम्बाः शाखाः प्रशाखाश्च—यस्मिन् स तथाविधो विटपो येषां ते तथा, अवाचीनपत्राः अधोमुखपर्णाः अनुद्दीर्णपत्राः वृत्ततया अवहिर्निर्गतपर्णाः । अथाधिकृतवाचनाऽनुस्त्रियते—' अच्छिद्दपत्ता' नीरन्ध्रपत्राः । 'अविरलपत्ता' निरन्तरदलाः । 'अवाईणपत्ता' अवाचीनपत्रा अधोमुखपलाशाः, अवातीनपत्रा वा—अवातोपहतवर्हाः । 'अणईयपत्ता' ईतिविरहितच्छदाः । 'निद्धूयजरढपंडुपत्ता' अपगतपुराणपाण्डुरपत्राः । 'णवहरियभिसंतपत्तभारंधकारगम्भीरदरिसणिज्जा' नवेन हरितेन 'भिसंत' त्ति दीप्यमानेन पत्रभारेण-दलचयेनान्धकारा अन्धकारवन्तोऽत एव गम्भीराश्च दृश्यन्ते ये ते तथा । 'उवणिग्गयणवतरुणपत्तपल्लवकोमलउज्जलचलंतकिसलयसुकुमालपवालसोहियवरंकुरग्गसिहरा' उपनिर्गतैर्नवतरुणपत्रपल्लवैरत्यभिनवपत्रगुच्छैः तथा कोमलोज्ज्वलैश्चलद्भिः किसलयैः—पत्रविशेषैः तथा सुकुमारप्रवालैः शोभितानि वराङ्कुराणि अग्रशिखराणि येषां ते तथा । इह च अङ्कुरप्रवालपल्लवकिसलयपत्राणामल्पबहुबहुतरादिकालकृतावस्थाविशेषाद्विशेषः सम्भाव्यत इति । 'णिच्चं कुसुमिया' इत्यादि व्यक्तम् , नवरं 'माइय' त्ति मयूरिताः 'लवइय' त्ति पल्लविताः 'थवइय' त्ति स्तवकवन्तः । 'गुलइया' गुल्मवन्तः 'गोच्छिया' जातगुच्छाः, यद्यपि च स्तवकगुच्छयोरविशेषो नामकोशेऽधीतस्तथापि इह पुष्पपत्रकृतो विशेषो भावनीयः, 'जमलिय' त्ति यमलतया-समश्रेणितया व्यवस्थिताः, 'जुवलिय' त्ति युगलतया स्थिताः, 'विणमिय' त्ति विशेषेण फलपुष्पभारेण नताः, 'पणमिय' त्ति तथैव नन्तुमारब्धाः, प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वात् । 'णिच्चंकुसुमियमाइयलवइयथवइयगुलइयगोच्छियजमलियजुवलियविणमियसुविभत्तपिंडिमंजरिवडिंसयधर' त्ति कचित् कुसुमिताद्येकैकगुणयुक्ताः अपरे तु—समस्तगुणयुक्तास्ततः कुसुमिताश्च ते इत्येवं कर्मधारयः, नवरं सुविभक्ताः-सुविविक्ताः सुनिष्पन्नतया पिण्ड्यो-लुम्ब्यो मञ्जर्यश्च प्रतीतास्ता एव अवतंसकाः-शेखरकास्ता धारयन्ति ये ते तथा । 'सुयवरहिणमयणसालकोइलकोहगकोहंगकभिंगारकोंडलकजीवंजीवकनंदीमुहकविलपिंगलक्खकारंडचक्कवायकलहंससारसअणेगसउणगणमिहुणविरइयसद्दुण्णइयमहुरसरणाइए' शुकादीनां सारसान्तानामनेकेषां शकुनगणानां मिथुनैर्विरचितं शब्दोन्नतिकं च उन्नतिशब्दकं मधुरस्वरञ्च नादितं लपितं यस्मिन् स तथा, वनखण्ड इति प्रकृतम् । 'सुरम्म' अतिशयरमणीयः । 'संपिंडियदरियभमरमहुकरिपहकरपरिलिंतमत्तछप्पयकुसुमासवलोलमहुरगुमगुमंतगुंजंतदेसभागे' संपिण्डिताः दृप्तानां भ्रमरमधुकरीणां वनसत्कानामेव 'पहकर' त्ति निकरा यत्र स तथा, परिलीयमाना—अन्यत आगत्य लयं यान्तो मत्तषट्पदाः कुसुमासवलोलाः किंजल्क-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लम्पटाः, मधुरं गुमगुमायमानाः गुञ्जन्तश्च—शब्दविशेषं विदधानाः देशभागेषु यस्य स तथा, ततः कर्मधारयः । 'अब्भन्तरपुप्फफले बाहिरपत्तोच्छरणे पत्तेहि य पुप्फेहि य उच्छरणपडिवलिच्छरणे' अत्यन्तमाच्छादित इत्यर्थः, एतानि श्रीरयंपि क्वचिद् वृक्षाणां विशेषणानि दृश्यन्ते–'साउफले' त्ति मिष्टफलः, 'निरोयए' त्ति रोगवर्जितः 'अकण्टक' इति । क्वचित्–'णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगरम्मसोहिए' त्ति तत्र गुच्छाः वृन्ताक्यादयो गुल्मा—नवमालिकादयो मण्डपका लतामण्डपादयः 'रम्मे त्ति' क्वचिन्न दृश्यते–'विचित्तसुहकेउभूए' विचित्रान् शुभान् केतून्–ध्वजान् भूतः–प्राप्तः । 'विचित्तसुहसेउकेउबहुले' त्ति पाठान्तरम्, तत्र विचित्राः शुभाः सेतवः—पालिबन्धा यत्र केतुबहुलश्च यः स तथा । 'वावीपुक्खरणीदीहियासु य सुनिवेसियरम्मजालहरए' वापीषु–चतुरस्रासु पुष्करिणीषु–वृत्तासु पुष्करवतीषु—वा दीर्घिकासु च ऋजुसारणीषु सुष्ठु निवेशितानि रम्याणि जालगृहकाणि यत्र स तथा ।

पिंडिमणीहारिमसुगंधिसुहसुरभिमणहरं च महया गंधद्धणिं मुयंता णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवकघरकसुहसेउकेउबहुला अणेगरहजाणजुग्गसिवियपविमोयणा सुरम्मा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । (सू० ३)

'पिंडिमणीहारिमसुगंधिसुहसुरभिमणहरं च महया गंधद्धणिं मुयंता' पिण्डिमनीहारिमाम्—पुद्गलसमूहरूपां दूरदेशगामिनीं च सुगन्धिं च—सद्गन्धिकां शुभसुरभिभ्यो गन्धान्तरेभ्यः सकाशान्मनोहरा या सा तथा तां च, महता मोचनप्रकारेण विभक्तिव्यत्ययान्महतीं वा गन्ध एव घ्राणिहेतुत्वात्तृप्तिकारित्वाद्गन्धघ्राणिस्तां मुञ्चन्त इति वृक्षविशेषणम् । एवमितोऽन्यान्यपि–'णाणाविहगुच्छगुम्ममण्डवकघरकसुहसेउकेउबहुला' नानाविधा गुच्छाः गुल्मानि मण्डपका गृहकाणि च येषां सन्ति ते तथा, तथा शुभाः सेतवो–मार्गा आलवालपाल्यो वा केतवो–ध्वजा बहुला बहवो येषां ते तथा, ततः कर्मधारयः । 'अणेगरहजाणजुग्गसिवियपविमोयणा' अनेकेषां रथादीनामधोऽतिविस्तीर्णत्वात् प्रविमोचनं येषु ते तथा । 'सुरम्मा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूव' त्ति एतान्येव वृक्षविशेषणानि वनखण्डविशेषणतया वाचनान्तरेऽधीतानि ॥३॥

तस्स णं वणसंडस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एक्के असोगवरपायवे पण्णत्ते, कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूले मूलमंते कंदमंते० जाव पविमोयणे सुरम्मे पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे ।

'तस्स णं वणसंडस्स' इत्यादौ अशोकपादपवर्णके क्वचिदिदमधिकमधीयते–'दूरोवगयकंदमूलवट्टलट्ठसंठियसिलिट्ठघणमसिणनिद्धसुजायनिरुवहउव्विद्धपवरखंधी' दूरोपगतानि—अत्यर्थं भूम्यामवगाढानि कन्दमूलानि प्रतीतानि यस्य स तथा, वृत्तो–वर्त्तुलो लष्टो–मनोज्ञः, संस्थितो विशिष्टसंस्थानः, श्लिष्टः–सङ्गतो, घनो–निविडो, मसृणः–अपरुषः स्निग्धः–अरूक्षः, सुजातः–सुजन्मा, निरुपहतो–विकारविरहित उद्विद्धः–अत्यर्थमुच्चः, प्रवरः–प्रधानः, स्कन्धः–स्थुडं यस्य स तथा, इन्प्रत्ययश्च समासान्तः । 'अणेगनरपवरभुयागेज्झो' अनेकनराणां प्रवरभुजैः—प्रलम्बबाहुभिर्वामाभिरित्यर्थः अग्राह्यः–अनाश्लेष्यो यः स तथा, 'कुसुमभरसमोनमंतपत्तलविसालसालो' कुसुमभरेण समवनमन्त्यः पत्रलाः–पत्रवत्यः विशालाः शाला यस्य स तथा । 'महुकरिभमरगणगुमगुमाइयनिलितउड्डितसस्सिरीए' मधुकरीभ्रमरगणेन–लोकरूढिगम्येन, 'गुमगुमाइंत' त्ति कृतगुमगुमेतिशब्देन, निलीयमानेन–निविशमानेन, उड्डीयमानेन च उत्पतता सश्रीकः–सशोभो यः स तथा । 'णाणासउणगणमिहुणसुमहुरकण्णसुहपलत्तसद्दमहुरे' त्ति नानाविधानां शकुनिगणानां यानि मिथुनानि तेषां सुमधुरः कर्णसुखश्च यः प्रलप्तशब्दस्तेन मधुर इव मधुरो मनोज्ञो य स तथा । अथाधिकृतवाचना—'कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूले' त्ति कुशा–दर्भाः विकुशा–वल्वजादयस्तैर्विशुद्धम्–विरहितं वृक्षानुरूपं–वृक्षविस्तरप्रमाणमित्यर्थो मूलम्–समीपं यस्य स तथा । 'मूलमंते' इत्यादि विशेषणानि पूर्ववद्वाच्यानि, यावत्पडिरूवेति ॥

से णं असोगवरपायवे अण्णेहिं बहूहिं तिलएहिं लउएहिं छत्तोवेहिं सिरीसेहिं सत्तवण्णेहिं दहिवण्णेहिं लोद्धेहिं धवेहिं चंदणेहिं अज्जुणेहिं णीवेहिं कुडएहिं सव्वेहिं फणसेहिं दाडिमेहिं सालेहिं तालेहिं तमालेहिं पियएहिं पियंगूहिं पुरोवगेहिं रायरुक्खेहिं णंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, ते णं तिलया लवइय० जाव णंदिरुक्खा कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला--मूलमंतो कंदमतो, एतेसिं वण्णओ भाणियव्वो०जाव सिवियपविमोयणा सुरम्मा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ते णं तिलया० जाव णंदिरुक्खा अण्णेहिं बहूहिं पउमलयाहिं णागलयाहिं असोअलयाहिं चंपगलयाहिं चूयलयाहिं वणलयाहिं वासंतियलयाहिं अइमुत्तयलयाहिं कुंदलयाहिं सामलयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, ताओ णं पउमलयाओ णिच्चं कुसुमियाओ० जाव वडिंसयधरीओ पासादियाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ । (सू० ४)

सोऽशोकवरपादपः अन्यैर्बहुभिस्तिलकैर्लकुचैश्छत्रोपैः शिरीषैः सप्तपर्णैः—अयुक्छदपर्यायैः अयुक्पत्रनामकैर्दधिपर्णैः लोध्रैः धवैः चन्दनैः–मलयजपर्यायैरर्जुनैः—ककुरापर्यायैः नीपैः—कदम्बैः कुटजैः–गिरिमल्लिकापर्यायैः सव्यैः पनसैर्दाडिमैः शालैः–सर्जपर्यायैस्तालैः–तृणराजपर्यायैः तमालैः प्रियकैः—असनपर्यायैः प्रियङ्गुभिः—श्यामपर्यायैः पुरोपगैः राजवृक्षैः नन्दिवृक्षैः–रूढिगम्यैः सर्वतः समन्तात्सम्परिक्षिप्त इत्यादि सुगमम्, आपद्मलताशब्दादिति । 'पउमलयाहिं' ति पद्मलताः–स्थलकमलिन्यः पद्मकाभिधानवृक्षलता वा, नागादयो वृक्षविशेषास्तेषां लतास्तनुकास्त एव, तत्राशोकः–कङ्केली चूतः–सहकारः वनः–पीलुकः, वासन्तीलता अतिमुक्तकलताश्च यद्यप्येकार्था नामकोशेऽधीतास्तथाऽपीह भेदो रूढितोऽवसेयः । श्यामा–प्रियङ्गुः, शेषलता रूढिगम्याः, इह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लतावर्णकानन्तरमशोकवर्णकं पुस्तकान्तरे इदमधिकमधीयते-' तस्स णं असोगवरपायवस्स उवरिं बहवे अट्ठ अट्ठ मंगलगा पएणत्ता ' अष्टावष्टाविति वीप्साकरणात्प्रत्येकं तेऽष्टाविति वृद्धाः, अन्ये त्वष्टाविति संख्या, अष्टमङ्गलकानीति च संज्ञा । ' तं जहा-सोवत्थिय १ सिरिवच्छ २ नंदियावत्त ३ वद्धमाणग ४ भद्दासण ५ कलस ६ मच्छ ७ दप्पणा ' ८, तत्र श्रीवत्सः-तीर्थङ्करहृदयावयवविशेषाकारो, नन्द्यावर्तः-प्रतिदिग्नवकोणः, स्वस्तिकविशेषो रूढिगम्यो, वर्द्धमानकं-शरावम् , पुरुषारूढः पुरुष इत्यन्ये, भद्रासनम्—सिंहासनम् , दर्पणः—आदर्शः, शेषाणि प्रतीतानि । ' सव्वरयणामया ' अच्छाः—स्वच्छाः, आकाशस्फटिकवत् , ' सएहा ' श्लक्ष्णाः—श्लक्ष्णपुद्गलनिर्वृत्तत्वात् , ' मएहा ' मसृणाः, 'घट्ठा' घृष्टा इव घृष्टाः खरशानया प्रतिमेव ' मट्ठा ' मृष्टाः-सुकुमारशानया प्रतिमेव प्रमार्जनिकयेव वा शोधिताः, अत एव ' निरया ' नीरजसः—रजोरहिताः ' निम्मिला: ' कठिनमलरहिताः ' निप्पंका ' आर्द्रमलरहिताः ' निक्कंकडच्छाया ' निरावरणदीप्तयः ' सप्पहा ' सप्रभाः ' समिरीइया ' सकिरणाः 'सउज्जोया' प्रत्यासन्नवस्तूद्योतकाः ' पासादीया ०४'। ' तस्स णं असोगवरपायवस्स उवरिं बहवे ' किण्हचामरज्झया ' कृष्णवर्णचामरयुक्तध्वजाः ' नीलचामरज्झया लोहियचामरज्झयासुक्किल्लचामरज्झयाहालिद्दचामरज्झया अच्छा सएहा ' ' रुप्पपट्टा ' रौप्यमयपताकापटाः ' वइरामयदंडा ' वज्रदण्डाः ' जलयामलगंधिया ' पद्मवत् निर्दोषगन्धाः ' सुरम्मा पासादीया ' ' तस्स णं असोगवरपायवस्स ' 'उवरिं' उपरिष्टात् ' बहवे ' ' छत्ताइच्छत्ता ' उपर्युपरिस्थिताऽऽतपत्राणि ' पडागाइपडाया ' पताकोपरिस्थितपताकाः ' घण्टाजुयला चामरजुयला ' ' उप्पलहत्थगा ' नीलोत्पलकलापाः ' पउमहत्थगा ' पद्मानि-रविबोध्यानि ' कुमुयहत्थगा ' कुमुदानि-चन्द्रबोध्यानीति , ' कुसुमहत्थय ' त्ति पाठान्तरं-' नलिणहत्थगा सुभगहत्था सोगंधियहत्थगा ' नलिनादयः पद्मविशेषा रूढिगम्याः, 'पुंडरीयहत्थया' पुण्डरीकाणि-सितपद्मानि 'महापुंडरीयहत्था' महापुण्डरीकाणि तान्येव महान्ति ' सयपत्तहत्था सहस्सपत्तहत्था सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा ४ ' ॥ ४ ॥

तस्स णं असोगवरपायवस्स हेट्ठा ईसिं खंधसमल्लीणे एत्थ णं महं एक्के पुढविसिलापट्टए पण्णत्ते, विक्खंभायामउस्सेहसुप्पमाणे किण्हे अंजणघणकिवाणकुवलयहलधरकोसेज्जागासकेसकज्जलंगीखंजणसिंगभेदरिट्ठयजंबूफलअसणक-सणबंधणणीलुप्पलपत्तनिकरअयसिकुसुमप्पगासे मरकतमसारकलित्तणयकीयरासिवण्णे णिद्धघणे अट्ठसिरे आयंसयतलोवमे सुरम्मे ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते आइणगरूयबूरणवणीततूलफरिसे सीहासणसंठिए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे । (सू० ५)

अथाधिकृतवाचना आश्रीयते—' ईसिं खंधसमल्लीणे ' मनाक् स्कन्धासन्न इत्यर्थः । ' एत्थ णं महं एक्के ' इत्यत्र ' एत्थ णं ' ति शब्दः अशोकवरपादपस्य यदधोऽत्रेत्येवं सम्बन्धनीयः । ' विक्खंभायामउस्सेहसुप्पमाणे ' विष्कम्भः—पृथुत्वम् , आयामो—दैर्घ्यम् , उत्सेध उच्चत्वमेषु सुप्रमाणः-उचितप्रमाणो यः स तथा । ' किण्हे ' त्ति कालः, अत एव 'अंजणघणकिवाणकुवलयहलधरकोसेज्जागासकेसकज्जलंगीखंजणसिंगभेदरिट्ठयजम्बूफलअसणकसणबंधणनीलुप्पलपत्तनिकरअयसिकुसुमप्पगासे ' नील इत्यर्थः, तत्र अञ्जनको वनस्पतिविशेषः ' हलधरकोसेज्जं ' बलदेववस्त्रं कज्जलाङ्गी-कज्जलगृहम् शृङ्गभेदः—महिषादिविषाणच्छेदः रिष्टकम्—रत्नम् असनको—बीयकाभिधानो वनस्पतिः सनबन्धनम्-सनपुष्पवृन्तम् । 'मरकयमसारकलित्तणयणकीयरासिवण्णे' मरकतम्—रत्नम् मसारो—मसृणीकारकः पाषाणविशेषः, स चात्र कषपट्टः सम्भाव्यते ' कलित्तं ' ति कलित्रं कृत्तिविशेषः नयनकीका—नेत्रमध्यतारा तद्राशिवर्णः काल इत्यर्थः । ' णिद्धघणे ' स्निग्धघनः ' अट्ठसिरे ' अष्टसिरा अष्टकोण इत्यर्थः । ' आयंसयतलोवमे सुरम्मे ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते' ईहामृगाः-वृकाः व्यालकाः-स्वापदभुजगाः । ' आइणगरूयबूरणवणीयतूलफरिसे ' आजिनकम् चर्ममयवस्त्रं रूतम् प्रतीतम् बूरो—वनस्पतिविशेषः, तूलम्-अर्कतूलम् ' सीहासणसंठिए ' सिंहासनाकारः, ' पासादीए० जाव पडिरूवे' त्ति वाचनान्तरे पुनः शिलापट्टकवर्णकः किञ्चिदन्यथा दृश्यते, स च संस्कृत्यैव लिख्यते—अञ्जनकघनकुवलयहलधरकौशेयकैः सदृशः, घनो—मेघ इत्यर्थः आकाशकेशकज्जलकर्केतनेन्द्रनीलातसीकुसुमप्रकाशः कर्केतनेन्द्रनीले—रत्नविशेषौ , भृङ्गाञ्जनशृङ्गभेदरिष्टकनीलगुलिकागवलातिरेकभ्रमरनिकुरम्बभूतः, भृङ्गः—कीटविशेषोऽङ्गारविशेषो वा अञ्जनम्-सौवीराञ्जनम्, शृङ्गभेदो-विषाणच्छेदो विषाणविशेषो वा, रिष्टः—काकः फलविशेषो वा, अथवा अरिष्टनीले रत्नविशेषौ गुलिका-वर्णद्रव्यविशेषो गवलम्-महिषशृङ्गम् , एतेभ्योऽतिरेको नीलतयाऽतिरेकवान् यः स तथा, स चासौ भ्रमरनिकुरम्बभूतश्चेति कर्मधारयः । निकुरम्बः—समूहः जम्बूफलासनकुसुमबन्धननीलोत्पलपत्रनिकरमरकताशासकनयनकीकाराशिवर्णः—आशासको-वृक्षविशेषः, स्निग्धो—घनोऽत एवाशुषिरः रूपकप्रतिरूपदर्शनीयः—रूपकैः प्रतिरूपो—रूपवान् अत एव दर्शनीयश्च—दर्शनयोग्यो यः स तथा मुक्ताजालखचितान्तकर्मा—मुक्ताजालकपरिगतप्रान्त इत्यर्थः ॥ ५ ॥ औ० ।

(४)-संप्रति लवणसमुद्रद्वारवक्तव्यतामभिधित्सुरिदमाह-

लवणस्स णं भंते समुद्दस्स कति दारा पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि दारा पएणत्ता, तं जहा-विजये वेजयंते जयंते अपराजिते ।

' लवणस्स णं भंते ' ! इत्यादि लवणस्य भदन्त ! समुद्रस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह-गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजय—वैजयन्त—जयन्ता—ऽपराजिताख्यानि ।

विजयद्वारप्रश्नः-

कहि णं भंते लवणसमुद्दस्स विजए णामं दारे पएणत्ते ?, गोयमा ! लवणसमुद्दस्स पुरत्थिमपेरंते धायइखं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस दीवस्स पुरत्थिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं सीओदाए महानदीए उप्पिं एत्थ णं लवणस्स समुद्दस्स (जी० ३ प्रति० २ उ० सू० १५४) विजए णामं दारे पण्णत्ते, अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं, तावतियं चेव पवेसेणं सेए वरकणगथूभियागे ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलतपउमलयभत्तिचित्ते खंभुग्गतवइरवेदियापरिगताभिरामे विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ते इव अच्चीसहस्समालिणीए रूवगसहस्सकलिते भिसिमाणे भिब्भिसमाणे चक्खुल्लोयणलेसे सुहफासे सस्सिरीयरूवे वण्णो दारस्स (तस्सिमो होइ) तं जहा-वइरामया णिम्मा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा जायरूवोवचियपवरपंचवण्णमणिरयणकोट्टिमतले हंसगब्भमए एलुए गोमेज्जमते इंदक्खीले लोहितक्खमईओ दारचिडाओ जोतिरसामते उत्तरंगे वेरुलियामया कवडा वइरामया संधी लोहितक्खमईओ सुइओ णाणामणिमया समुग्गगा वइरामई अग्गलाओ अग्गलपासाया वइरामई आवत्तणपेढिया अंकुत्तरपासते णिरंतरितघणकवाडे भित्तीसु चेव भित्तीगुलिया छप्पण्णा तिण्णि होंति, गोमाणसी तत्तिया णाणामणिरयणवालरूवगलीलट्ठियसालिभंजिया वइरामए कूडे रययामए उस्सेहे सव्वतवणिज्जमए उल्लोए णाणामणिरयणजालपंजरमणिवंसगलोहितक्खपडिवंसगरययभोम्मे अंकामया पक्खबाहाओ जोतिरसामया वंसा वंसकवेल्लुगा य रयतामयी पट्टिताओ जायरूवमती ओहाडणी वइरामयी उवरि पुञ्छणी सव्वसेतरययमए छायणे अंकमतकणगकूडतवणिज्जथूभियाए सेते संखतलविमलणिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासे तिलगरयणद्धचंदचित्ते णाणामणिमयदामालंकिए अंतो य बहिं च सण्हे तवणिज्जरुइलवालुयापत्थडे सुहप्फासे सस्सिरीयरूवे पासातीए ॥ ४ ॥

' कहि ण ' मित्यादि, क भदन्त ! लवणसमुद्रस्य विजयनाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ?, भगवानाह—गौतम ! लवणसमुद्रस्य पूर्वपर्यन्ते धातकीखण्डद्वीपपूर्वार्द्धस्य ' पच्चत्थिमेणं ' ति पश्चिमभागे शीतोदाया महानद्या उपर्यत्रान्तरे लवणसमुद्रस्य (जी० ३ प्रति० २ उ० सू० १५४) विजयनाम द्वारं प्रज्ञप्तम्, अष्टौ योजनानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन चत्वारि योजनानि विष्कम्भेन, ' तावइयं चेव पवेसेणं ' ति तावन्त्येव चत्वारीत्यर्थः योजनानि प्रवेशेन, कथम्भूतमित्यर्थः, ' सेए ' इत्यादि, ' श्वेतम्—श्वेतवर्णोपेतं बाहुल्येनाङ्करत्नमयत्वात् ' वरकणगथूभियाए ' इति वरकनकावरकनकमयी स्तूपिका—शिखरं यस्य तद् वरकनकस्तूपिकाकम् , ' ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते खंभुग्गयवरवेइयापरिगयाभिरामे विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्ते इव अच्चीसहस्समालणीए रूवगसहस्सकलिए भिसमाणे भिब्भिसमाणे चक्खुल्लोयणलेसे सुहफासे सस्सिरीयरूवे ' इति विशेषणजातं प्राग्वत् । ' वण्णो दारस्स तस्सिमो होइ ' इति ' वर्णः— ' वर्णकनिवेशो द्वारस्य तस्य—विजयाभिधानस्य अयम्—वक्ष्यमाणो भवति, तमेवाह—'तं जहे' त्यादि, तद्यथा—वज्रमया नेमाः भूमिभागादूर्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशाः रिष्टमयानि प्रतिष्ठानानि—मूलपादाः ' वेरुलियरुइलखंभे ' इति वैडूर्य—वैडूर्यरत्नमया रुचिराः स्तम्भा यस्य तद् वैडूर्यरुचिरस्तम्भं ' जायरूवोवचियपवरपंचवण्णमणिरयणकुट्टिमतले ' इति । जातरूपेण—सुवर्णेनोपचितैः—युक्तैः प्रवरैः—प्रधानैः पञ्चवर्णैर्मणिभिः चन्द्रकान्तादिभी रत्नैः—कर्केतनादिभिः कुट्टिमतलम्—बद्धभूमितलं यस्य तत्तथा 'हंसगब्भमए एलुगे' इति हंसगर्भो—रत्नविशेषस्तन्मय एलुको—देहली 'गोमेज्जमयइंदक्खीले' इति गोमेयकरत्नमय इन्द्रकीलो लोहिताक्षरत्नमय्यौ द्वारपिण्डौ (चेट्यौ) द्वारशाखे 'जोइरसामए उत्तरंगे ' इति ज्योतीरसमयमुत्तरङ्गम्—द्वारस्योपरि तिर्यग्व्यवस्थितं काष्ठं वैडूर्यमयौ कपाटौ लोहिताक्षमय्यो—लोहिताक्षरत्नात्मिकाः सूचयः—फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयाः 'वइरामया संधी ' वज्रमयाः—सन्धयः सन्धिमेला· फलकानाम् , किमुक्तं भवति ?—वज्ररत्नापूरिताः फलकानां सन्धयः, ' नानामणिमया समुग्गया' इति समुद्गका इव समुद्गकाः—सूतिकागृहाणि तानि नानामणिमयानि ' वइरामया अग्गला अग्गलपासाया ' अर्गलाः—प्रतीताः अर्गलाप्रासादाः यत्रार्गला नियम्यन्ते, आह च मूलटीकाकारः—" अर्गलाप्रासादा यत्रार्गला नियम्यन्ते " इति, एतौ द्वावपि वज्ररत्नमयौ, 'रययामयी आवत्तणपेढिया' इति आवर्त्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलिका, उक्तं च मूलटीकायाम् "आवर्त्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलको भवति" 'अंकुत्तरपासाए' इति अङ्का—अङ्करत्नमया उत्तरपार्श्वा यस्य तद् अङ्कोत्तरपार्श्वं 'निरंतरियघणकवाडे' इति, निर्गता अन्तरिका लघ्वन्तररूपा ययोस्तौ निरन्तरिकौ अत एव घनौ कपाटौ यस्य तन्निरन्तरघनकपाटम् 'भित्तिसु चेव भित्तिगुलिया छप्पण्णा तिण्णि होंति' इति, तस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्भित्तिषु भित्तिगता भित्तिगुलिकाः पीठकसंस्थानीयास्तिस्रः षट्पञ्चाशतः—षट्पञ्चाशत् त्रिकप्रमाणा भवन्ति,'गोमाणसिया तत्तिया'इति, गोमानस्यः—शय्याः'तत्तिया इति, तावन्मात्राः षट्पञ्चाशत्त्रिकसंख्याका इत्यर्थः, ' नानामणिरयणवालरूवगलीलट्ठियसालभंजियाए'इति,इदं द्वारविशेषणं, नानामणिरत्नानि—नानामणिरत्नमयानि व्यालरूपकाणि लीलास्थितशालभञ्जिकाश्च—लीलास्थितपुत्रिकाश्च यस्य तत्तथा 'वइरामए कूडे' वज्रमयो—वज्ररत्नमयः कूटो—माडभागः रजतमय उत्सेधः—शिखरम् , आह च मूलटीकाकारः—" कूटो—माडभाग उच्छ्रयः—शिखर" मिति , केवलं शिखरमत्र तस्यैव माडभागस्य सम्बन्धि द्रष्टव्यं न द्वारस्य, तस्य प्रागेवोक्तत्वात् , 'सव्वतवणिज्जमए उल्लोए' सर्वात्मना तपनीयमय उल्लोकः—उपरिभागः ' नानामणिरयणजालपंजरमणिवंसगलोहियक्खपडिवंसगरययभोमे 'इति, मणयो मणिमया वंशा येषां तानि मणिमयवंशकानि लोहिताक्षा लोहिताक्षमयाः प्रतिवंशा येषां तानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि रज-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ता-रजतमयी भूमिर्येषां तानि रजतभूमानि, प्राकृतत्वात्समासान्तो मकारस्य च द्वित्वम्, मणिवंशकानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि रजतभूमानि नानामणिरत्नानि-नानामणिरत्नमयानि जालपञ्जराणि—गवाक्षापरपर्यायाणि यस्मिन् द्वारे तत्तथा, पदानामन्यथोपनिपातः प्राकृतत्वात्, 'अंकमया पक्खा पक्खवाहाओ जोईरसामया वंसा वंसकवेल्लुगा य रययामईओ पट्टियाओ जायरूयमईओ ओहाडणीओ वइरामईओ उवरिपुंछणीओ सव्वसेयरययामए छा (य) णे' इति पद्मवरवेदिकावद्भावनीयम्, 'अंकमयकणगकूडतवणिज्जथूभियागे' इति अङ्कमयं—बाहुल्येनाङ्करत्नमयं पक्षबाह्वादीनामङ्करत्नात्मकत्वात् कनकं—कनकमयं कूटम्—शिखरं यस्य तत् कनककूटं तपनीया—तपनीयमयी स्तूपिका-लघुशिखररूपा यस्य तत्तपनीयस्तूपिकाकम्, ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः, एतेन यत् प्राक् सामान्यत उत्क्षिप्तं 'सेए वरकणगथूभियागे' इति तदेव प्रपञ्चतो भावितमिति। सम्प्रति तदेव श्वेतत्वमुपसंहारव्याजेन भूय उपदर्शयति—'सेए' श्वेतं, श्वेतत्वमेवोपमया द्रढयति—'संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासे' इति, विमलम्—विगतमलं यत् शङ्खतलं शङ्खस्योपरितनो भागो यश्च निर्मलो दधिघनो-घनीभूतं दधि गोक्षीरफेनो रजतनिकरश्च तद्वत्प्रकाशः-प्रतिमता यस्य तत्तथा, 'तिलगरयणद्धचंदचित्ते' इति तिलकरत्नानि—पुण्ड्रविशेषास्तैरर्द्धचन्द्रैश्च चित्राणि—नानारूपाणि तिलकार्द्धचन्द्रचित्राणि, क्वचित् 'संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनियरप्पगासद्धचंदचित्ता' इति पाठस्तत्र पूर्ववत् पृथक् पृथग् व्युत्पत्तिं कृत्वा पश्चात्पदद्वयस्य पदद्वयस्य कर्मधारयः, 'णाणमणिदामालंकिए' नानामणयो—नानामणिमयानि दामानि—मालास्तैरलंकृतं नानामणिदामालंकृतम् अन्तर्बहिश्च 'सराहे' श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापितम् 'तवणिज्जवालुयापत्थडे' इति तपनीयाः—तपनीयमय्यो या वालुकाः—सिकतास्तासां प्रस्तटः-प्रस्तारो यस्मिन् तत्तथा, 'सुहफासे सस्सिरीयरूवे पासाईए ०जाव पडिरूवे' इति प्राग्वत्।

(५) लवणसमुद्रविजयद्वारस्य नैषेधिक्यां चन्दनकलशान् प्रतिपादयति—

विजयस्स णं दारस्स उभयो पासिं दुहतो णिसीहियाते दो दो चंदणकलसपरिवाडीओ पण्णत्ताओ, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा सुरभिवरवारिपडिपुण्णा चंदणकयचच्चागा आवद्धकंठेगुणा पउमुप्पलपिहाणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा ०जाव पडिरूवा महता महता महिंदकुंभसमाणा पण्णत्ता, समणाउसो!।

'विजयस्स णं दारस्से' त्यादि, विजयस्य णमिति प्राग्वत् द्वारस्य उभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन 'दुहतो' इति द्विधातो द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां, नैषेधिकी—निषीदनस्थानम्, उक्तं च मूलटीकाकारेण—"नैषेधिकी निषीदनस्थान" मिति, प्रत्येकं द्वौ द्वौ चन्दनकलशौ प्रज्ञप्तौ, ते च चन्दनकलशाः 'वरकमलपइट्ठाणा' इति वरं—प्रधानं यत्कमलं तत्प्रतिष्ठानम्—आधारो येषां ते वरकमलप्रतिष्ठानाः, तथा सुरभिवरवारिप्रतिपूर्णाश्चन्दनकृतचर्चाकाः—चन्दनकृतोपरागाः 'आवद्धकंठेगुणा' इति आवद्धः—आरोपितः कण्ठे गुणो—रक्तसूत्ररूपो येषु ते आवद्धकण्ठेगुणाः, कण्ठकालवत्सप्तम्या अलुक्, 'पउमुप्पलपिहाणा' इति, पद्ममुत्पलं च यथायोगं पिधानं येषां ते पद्मोत्पलपिधानाः 'सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् 'महया महया' इति अतिशयेन महान्तो महेन्द्रकुम्भसमानाः, कुम्भानामिन्द्र इन्द्रकुम्भो, राजदन्तादिदर्शनादिन्द्रशब्दस्य पूर्वनिपातः, महांश्चासौ इन्द्रकुम्भश्च तस्य समानाः महेन्द्रकुम्भसमानाः—महाकलशप्रमाणाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण! हे आयुष्मन्!।

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहतो णिसीहिआए दो दो णागदंतपरिवाडीओ, ते णं णागदंतगा मुत्ताजालंतरूसितहेमजालगवक्खजालखिंखिणीघंटाजालपरिक्खित्ता अब्भुग्गता अभिणिसिट्ठा तिरियं सुसंपग्गहिता अहेपण्णगद्धरूवा पण्णगद्धसंठाणसंठिता सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा महया महया गयदंतसमाणा पण्णत्ता, समणाउसो!।

'विजयस्स ण' मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य उभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन द्विधातो नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ नागदन्तकौ-नर्कुटकौ अङ्कुटकावित्यर्थः प्रज्ञप्तौ, ते च नागदन्तकाः 'मुत्ताजालंतरूसियहेमजालगवक्खजालखिंखिणीजालपरिक्खित्ता' इति मुक्ताजालानामन्तरेषु यानि उत्सृतानि-लम्बमानानि हेमजालानि-हेममयदामसमूहाः यानि च गवाक्षजालानि-गवाक्षाकृतिरत्नविशेषदामसमूहाः यानि च किङ्किणी—क्षुद्रघण्टा किङ्किणीजालानि—क्षुद्रघण्टासङ्घातास्तैः परिक्षिप्ताः—सर्वतो व्याप्ताः 'अब्भुग्गया' इति अभिमुखमुद्गता अभ्युद्गता अग्रिमभागे मनाग् उन्नता इति भावः 'अभिनिसिट्ठा' इति अभिमुखं—बहिर्भागाभिमुखं निसृष्टाः अभिनिसृष्टाः 'तिरियं सुसंपग्गहिया' इति तिर्यग्—भित्तिप्रदेशे सुष्ठु अतिशयेन सम्यग्—मनागप्यचलनेन परिगृहीताः सुसंपरिगृहीताः 'अहेपन्नगद्धरूवा' इति अधः—अधस्तनं यत्पन्नगस्य-सर्पस्यार्द्धं तस्येव रूपम्—आकारो येषां ते तथा, अधः पन्नगार्द्धवदतिसरला दीर्घाश्चेति भावः, एतदेव व्याचष्टे—पन्नगार्द्धसंस्थानसंस्थिताः-अधः पन्नगार्द्धसंस्थानसंस्थिताः 'सव्ववइरामया' सर्वात्मना वज्रमयाः 'अच्छा सण्हा ० जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्, 'महया महया' इति अतिशयेन गजदन्तसमानाः—गजदन्ताकाराः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण! हे आयुष्मन्!।

तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तबद्धवग्घारितमल्लदामकलावा ० जाव सुक्किल्लसुत्तबद्धवग्घारियमल्लदामकलावा॥ ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपतरगमंडिता णाणामणिरयणविविधहारद्धहार (उवसोभितसमुदया) ० जाव सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति॥ तेसि णं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णागदंतकाणं उवरिं अण्णाओ दो दो णागदंतपरिवाडीओ पण्णत्ताओ, तेसि णं णागदंतगाणं मुत्ताजालंतरूसिया तहेव ०जाव समणाउसो ! तेसु णं णागदंतएसु बहवे रयतामया सिक्कया पण्णत्ता, तेसु णं रयतामएसु सिक्कएसु बहवे वेरुलियामतीओ धूवघडीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-ताओ णं धूवघडीओ कालागुरुपवरकुंदरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धयाभिरामाओ सुगंधवरगंधगंधियाओ गंधवट्टिभूयाओ ओरालेणं मणुण्णेणं घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं तप्पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणीओ आपूरेमाणीओ अतीव अतीव सिरीए ०जाव चिट्ठंति ॥

'तेसु णं नागदंतएसु' इत्यादि, तेषु च नागदन्तकेषु बहवः कृष्णसूत्रे बद्धाः 'वग्घारिया' इति अवलम्बिताः माल्यदामकलापाः—पुष्पमालासमूहा बहवो नीलसूत्रबद्धा माल्यदामकलापाः,एवं लोहितहारिद्रशुक्लसूत्रबद्धा अपि वाच्याः 'ते णं दामा' इत्यादि तानि दामानि 'तवनिज्जलंबूसगा' इति, तपनीयः—तपनीयमयो लम्बूसको—दाम्नामग्रिमभागे प्रान्तो लम्बमानो मण्डनविशेषो गोलकाकृतिर्येषां तानि तपनीयलम्बूसकानि 'सुवण्णपयरगमंडिया' इति पार्श्वतः सामस्त्येन सुवर्णप्रतरेण—सुवर्णपत्रकेण मण्डितानि सुवर्णप्रतरकमण्डितानि 'नानामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदया' इति नानारूपाणां मणीनां रत्नानां च ये विविधा—विचित्रवर्णा हारा—अष्टादशसरिका अर्द्धहारा—नवसरिकास्तैरुपशोभितः समुदयो येषां तानि, तथा-'जाव सिरीए अतीव उवसोभेमाणा चिट्ठंति' अत्र यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः-'ईसिमण्णमण्णमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं मंदायं मंदायमेइज्जमाणा पलंबमाणा पलंबमाणा पझंझ(झंझ)माणा पझंझ(झंझ)माणा ओरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमणनिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणा आपूरेमाणा सिरीए उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।' एतच्च प्रागेव पद्मवरवेदिकावर्णने व्याख्यातमिति भूयो न व्याख्यायते। 'तेसि णं नागदंताण' मित्यादि, तेषां नागदन्तानामुपरि अन्यौ द्वौ नागदन्तकौ प्रज्ञप्तौ, ते च नागदन्तकाः 'मुत्ताजालंतरूसियहेमजालगवक्खजाल' इत्यादि प्रागुक्तं सर्वं द्रष्टव्यं यावद् गजदन्तसमानाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! । 'तेसु णं णागदंतएसु' इत्यादि, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि रजतमयानि सिक्ककानि प्रज्ञप्तानि, तेषु च रजतमयेषु सिक्ककेषु बहवो वैडूर्यरत्नमय्यो—वैडूर्यरत्नात्मिकाः धूपघट्यो—धूपघटिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च धूपघटिकाः 'कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धयाभिरामा' कालागुरुः प्रसिद्धः प्रवरः—प्रधानः कुन्दुरुष्कः—चीडा तुरुष्कं—सिल्हकं कालागुरुश्च प्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्के च कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्काणि तेषां धूपस्य यो मघमघायमानो गन्ध उद्धृत इतस्ततो विप्रसृतस्तेनाभिरामाः कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपमघमघायमानगन्धोद्धूताभिरामाः, तथा शोभनो गन्धो येषां ते सुगन्धास्ते च त वरगन्धास्तेषां गन्धः स आस्वस्तीति सुगन्धवरगन्धकाः 'अतोऽनेकस्वरादि' तीकप्रत्ययः, अत एव गन्धवर्त्तिभूताः—सौरभ्यवर्त्तिभूताः सौरभ्यातिशयाद् गन्धद्रव्यगुटिकाकल्पाः उदारेण-स्फारेण मनोज्ञेन-मनोऽनुकूलेन, कथं मनोऽनुकूलत्वम् ? अत आह-घ्राणमनोनिर्वृतिकरेण,हेतौ तृतीया,यतो घ्राणमनोनिर्वृतिकरस्ततो मनोज्ञस्तेन गन्धेन तान् प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् आपूरयन्त्य आपूरयन्त्यः, अत एव श्रियाऽतीव शोभमानास्तिष्ठन्ति ।

(६) लवणसमुद्रस्य विजयद्वारे शालभञ्जिकाः प्रतिपादयति-

विजयस्स णं दारस्स उभयतो पासिं दुहतो णिसीधियाए दो दो सालिभंजियापरिवाडीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं सालभंजियाओ लीलट्ठिताओ सुपयट्ठियाओ सुअलंकिताओ णाणागारवसणाओ णाणामल्लपिणद्धि-(द्धि) ओ मुट्ठीगेज्झमज्झाओ आमेलगजमलजुयलवट्टिअअब्भुण्णयपीणरचियसंठियपओहराओ रत्तावंगाओ असियकेसीओ मिदुविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लितग्गसिरयाओ ईसिं असोगवरपादवसमुट्ठिताओ वामहत्थगहितग्गसालाओ ईसिं अद्धच्छिकडक्खचिट्ठिएहिं लूसेमाणीतो इव चक्खुल्लोयणलेसाहिं अण्णमण्णं खिज्जमाणीओ इव पुढविपरिणामाओ सासयभावमुवगताओ चंदाणणाओ चंदविलासिणीओ चंदद्धसमनिडालाओ चंदाहियसोमदंसणाओ उक्का इव उज्जोएमाणीओ विज्जुघणमरीचिसूरदिप्पंततेयअहियरसंनिकासाओ सिंगारागारचारुवेसाओ पासाइयाओ० ४ तेयसा अतीव अतीव सोभेमाणीओ सोभेमाणीओ चिट्ठंति ।

'विजयस्स णं दारस्से' त्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन द्विधातो—द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां द्वे द्वे शालभञ्जिके प्रज्ञप्ते , ताश्च शालभञ्जिका लीलया—ललिताङ्गनिवेशरूपया स्थिता लीलास्थिताः 'सुपइट्ठियाओ' इति सुष्ठु-मनोज्ञतया प्रतिष्ठिताः सुप्रतिष्ठिताः 'सुअलंकियाओ' इति सुष्ठु-अतिशयेन रमणीयतया अलंकृताः स्वलंकृताः 'नाणाविहरागवसणाओ' इति नानाविधो-नानाप्रकारो रागो येषां तानि नानाविधरागाणि तानि वसनानि-वस्त्राणि संवृततया यासां ता नानाविधरागवसनाः 'रत्तावंगाओ' इति, रक्तोऽपाङ्गो-नयनोपान्तं यासां ता रक्तापाङ्गाः 'असियकेसीओ' इति असिताः-कृष्णाः केशा यासां ता असितकेश्यः 'मिउविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लियग्गसिरयाओ' मृदवः-कोमला विशदा-निर्म्मलाः प्रशस्तानि-शोभनानि अस्फुटितत्वप्रभृतीनि लक्षणानि येषां ते प्रशस्तलक्षणाः संवेल्लितं-संवृतमग्रं येषां शेखरककरणात् ते संवेल्लिताग्राः शिरोजाः-केशा यासां ता मृदुविशदप्रशस्तलक्षणसंवेल्लिताग्रशिरोजाः, 'णाणामल्लपिणद्धाओ' इति नानारूपाणि माल्यानि-पुष्पाणि पिनद्धानि-आविद्धानि यासां ता नानामाल्यपिनद्धाः-निष्ठान्तस्य परनिपातो भार्यादिदर्शनात् , 'मुट्ठिगेज्झसुमज्झा' इति मुष्टिग्राह्यं सुष्ठु-शोभनं मध्यम्-मध्यभागो यासां ता मुष्टिग्राह्यसुमध्याः 'आमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुण्णयपीणरइयसंठियपओहराओ' पीनं-पीवरं रचितं संस्थितं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

संस्थानं यकाभ्यां तौ पीनरचितसंस्थितौ आमेलकः-आपीडशेखरक इत्यर्थः, तस्य यमलं-समश्रेणिकं युगलं तद्वत् वर्त्तितौ-बद्धस्वभावावुपचितकठिनभावाविति भावः अभ्युन्नतौ पीनरचितसंस्थितौ च पयोधरौ यासां तास्तथा, 'ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ' इति ईषत्-मनाक् अशोकवरपादपे समवस्थिता—आश्रिता ईषदशोकवरपादपसमवस्थिताः, तथा वामहस्तेन गृहीतमग्रं शालायाः—शाखाया अर्थादशोकपादपस्य यकाभिस्ता वामहस्तगृहीताग्रशालाः, 'ईसिं अद्धुऽच्छिकडक्खचिट्ठिएहिं लूसेमाणीओ इवे' ति ईषत्-मनाग् 'अद्धं' तिर्यग्वलितम् अक्षि येपु कटाक्षरूपेपु चेष्टितेपु तैर्मुष्णन्त्य इव सुरजनानां मनांसि 'चक्खुल्लोयणलेसेहि य अरणमरणं विज्झेमाणीओ इव' 'अरणमरणं' परस्परं चक्षुषां लोकनेन-अवलोकनेन लेशाः—संश्लेपास्तैर्विध्यमाना इव, किमुक्तं भवति ?-एवं नाम तास्तिर्यग्वलिताक्षिकटाक्षैः परस्परमवलोकमाना अवतिष्ठन्ते यथा नूनं परस्परसौभाग्यासहनतस्तिर्यग्वलिताक्षिकटाक्षैः परस्परं खिद्यन्त इवेति 'पुढविपरिणामाओ' इति पृथिवीपरिणामरूपाः शाश्वतभावमुपागता विजयद्वारवत् 'चंदाणणाओ' इति चन्द्रवद् आननं-मुखं यासां ताश्चन्द्राननाः 'चंदविलासिणीओ' इति चन्द्रवन्मनोहरं विलसन्तीत्येवंशीलाश्चन्द्रविलासिन्यः 'चंदद्धसमनिडालाओ' इति चन्द्रार्द्धेन-अष्टमीचन्द्रेण समं-समानं ललाटं यासां ताश्चन्द्रार्द्धसमललाटाः 'चंदाहियसोमदंसणाओ' इति चन्द्रादप्यधिकं सौम्यम्-सुभगं कान्तिमद्दर्शनम्-आकारो यासां तास्तथा, उल्का इव द्योतमानाः 'विज्जुघणमरीचिसूरदिप्पंततेयअहिययरसन्निकासाओ' इति विद्युतो ये घना—बहुलतरा मरीचयस्तेभ्यो; यच्च सूर्यस्य दीप्यमानमनावृतं तेजस्तस्मादप्यधिकतरः सन्निकाशः प्रकाशो यासां तास्तथा 'सिंगारागारचारुवेसाओ' इति शृङ्गारो-मण्डनभूषणाटोपस्तत्प्रधान आकार-आकृतिर्यासां ताः शृङ्गाराकाराः चारु वेषो-नेपथ्यं यासां ताश्चारुवेपास्ततः कर्मधारये शृङ्गाराकारचारुवेपाः 'पासाईयाओ' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् ।

विजयस्स णं दारस्स उभयतो पासिं दुहतो णिसीहियाए दो दो जालकडगा पण्णत्ता, ते णं जालकडगा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा ॥ विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीधियाए दो दो घंटापरिवाडीओ पण्णत्ताओ, तासि णं घंटाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा-जंबूणदमतीओ घंटाओ वइरामतीओ लालाओ णाणामणिमया घंटापासगा तवणिज्जमतीओ संकलाओ रययामतीओ रज्जुओ ॥ ताओ णं घंटाओ ओहस्सराओ मेहस्सराओ हंसस्सराओ कोंचस्सराओ णंदिस्सराओ णंदिघोसाओ सीहस्सराओ सीहघोसाओ मंजुस्सराओ मंजुघोसाओ सुस्सराओ सुस्सरणिग्घोसाओ ते पदेसे ओरालेणं मणुण्णेणं कण्णमणनिव्वुइकरेण सद्देण० जाव चिट्ठंति ।

'विजयस्स णं दारस्से' त्यादि, विजयस्य द्वारस्य उभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन 'द्विधातो' द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ जालकटकौ प्रज्ञप्तौ, 'ते णं जालकडगा' इत्यादि, ते च जालकटकाकीर्णा रम्यसंस्थानाः प्रदेशविशेषाः 'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा० जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'विजयस्से' त्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां द्वे द्वे घण्टे प्रज्ञप्ते, तासां च घण्टानामयमेतद्रूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—जाम्बूनदमय्यो घण्टाः वज्रमय्यो लालाः नानामणिमया घण्टापार्श्वाः तपनीयमय्यः शृङ्खला यासु ता अवलम्बितास्तिष्ठन्ति रजतमय्यो रज्जवः ॥ 'ताओ णं घंटाओ' इत्यादि, ताश्च घण्टाः, ओघस्वराः-ओघेन—प्रवाहेण स्वरो यासां ता ओघस्वराः, मेघस्येवातिदीर्घः स्वरो यासां ता मेघस्वराः, हंसस्येव मधुरः स्वरो यासां ता हंसस्वराः, एवं क्रौञ्चस्वराः, सिंहस्येव प्रभूतदेशव्यापी स्वरो यासां ताः सिंहस्वराः, एवं दुन्दुभिस्वरा नन्दिस्वराः, द्वादशतूर्यसङ्घातो नन्दिः, नन्दिवद् घोषो-निनादो यासां ता नन्दिघोषाः, मञ्जुः—प्रियः स्वरो यासां ता मञ्जुस्वराः, एवं मञ्जुघोषाः, किं बहुना ?, सुस्वराः सुस्वरघोषाः, 'ओरालेण' मित्यादि प्राग्वत् ।

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहतो णिसीधिताए दो दो वणमालापरिवाडीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं वणमालाओ णाणादुमलताकिसलयपल्लवसमाउलाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलसोभंतसस्सिरीयाओ पासाईयाओ ते पएसे ओरालेणं० जाव गंधेणं आपूरेमाणीओ० जाव चिट्ठंति ॥ (सू० १२६)

'विजयस्स ण' मित्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां द्वे द्वे वनमाले प्रज्ञप्ते, ताश्च वनमाला नानाद्रुमाणां नानालतानां च ये किशलयरूपा अतिकोमला इत्यर्थः पल्लवास्तैः समाकुलाः-सम्मिश्राः 'छप्पयपरिभुज्जमाणसोभंतसस्सिरीया' इति षट्पदैः परिभुज्यमाना सती शोभमाना षट्पदपरिभुज्यमानशोभमाना अत एव सश्रीका ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, 'पासाईया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ।

(७) लवणसमुद्रविजयद्वारस्य पीठादिवर्णयति—

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहतो णिसीहियाए दो दो पगंठगा पण्णत्ता, ते णं पगंठगा चत्तारि जोयणाइं आयामविक्खंभेणं दो जोयणाइं बाहल्लेणं सव्ववइरामता अच्छा० जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं पगंठगाणं उवरि पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसगा पण्णत्ता, ते णं पासायवडिंसगा चत्तारि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसितपहसिता विव विविहमणिरयणभत्तिचित्ता वाउद्धु(द्धू)यविजयवेजयंतीपडागच्छत्तातिछत्तकलिया तुंगा गगणतलम-भिलंघमाण (णुलिहंत) सिहरा जालंतररयणपंजरुम्मिलितव्व मणिकणगथूभियागा वियसियसयवत्तपोंडरीयतिलकरयण-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्धचंदचित्ता णाणामणिमयदामालंकिया अंतो य बाहिं च सण्हा तवणिज्जरुइलवालुयापत्थडगा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासातीया० ४ ॥

'विजयस्स णं' मित्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयो-र्द्विधातो नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ प्रकण्ठकौ प्रज्ञप्तौ, प्रकण्ठको नाम पीठविशेषः,आह च मूलटीकाकारः-"प्रकण्ठौ पीठविशेषौ," चूर्णिकारस्त्वेवमाह-" आदर्शवृत्तौ पर्यन्तावनतप्रदेशौ पीठौ प्रकण्ठाविति", ते च प्रकण्ठकाः प्रत्येकं चत्वारि योजनानि 'आयामविक्खम्भेन'-आयामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजने बाहल्येन 'सव्ववइरामया' इति सर्वात्मना ते प्रकण्ठका वज्रमयाः 'अच्छा सण्हा य' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं पकंठयाणं' मित्यादि, तेषां च प्रकण्ठकानामुपरि प्रत्येकं प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, प्रासादावतंसको नाम प्रासादविशेषः, उक्तं च मूलटीकायाम्-" प्रासादावतंसकः प्रासादविशेषः" इति, व्युत्पत्तिश्चैवम्-प्रासादानामवतंसक इव-शेखरक इव प्रासादावतंसकः, ते च प्रासादावतंसकाः प्रत्येकं चत्वारि योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्याम् , ' अब्भुग्गयमूसियपहसिया विवेति ' अभ्युद्गता-आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता-प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा तया सिता इव-बद्धा इव तिष्ठन्तीति गम्यते, अन्यथा कथमिव तेऽत्युच्चा निरालम्बास्तिष्ठन्तीति भावः, अथवा-प्रबलश्वेतप्रभापटलतया प्रहसिताविव-प्रकर्षेण हसिताविव, तथा-'विविहमणिरयणभत्तिचित्ता' विविधा-अनेकप्रकारा ये मणयः-चन्द्रकान्ताद्या यानि च रत्नानि-कर्केतनादीनि तेषां भक्तिभिः-विच्छित्तिभिश्चित्रा-नानारूपा आश्चर्यवन्तो वा नानाविधमणिरत्नभक्तिचित्राः ' वाउद्धयविजयवेजयंतीपडागछत्तातिछत्तकलिया' वातोद्धूता-वायुकम्पिताः विजयः-अभ्युदयस्तत्संसूचिका वैजयन्तीनामानो या पताकाः, अथवा-विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते तत्प्रधाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः पताकास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः, छत्रातिच्छत्राणि-उपर्युपरिस्थितान्यातपत्राणि तैः कलिताः,वातोद्धृतविजयवैजयन्तीपताकाछत्रातिच्छत्रकलिताः तुङ्गाः-उच्चा उच्चैस्त्वेन चतुर्योजनप्रमाणत्वात्., अत एव 'गगणतलमणुलिहन्तसिहरा' इति, गगनतलम्-अम्बरम् अनुलिखन्ति-अभिलङ्घयन्ति शिखराणि येषां ते गगनतलानुलिखच्छिखराः, तथा जालानि-जालकानि यानि भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि येषु ते जालान्तररत्नाः, सूत्रे चात्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् , तथा पञ्जराद् उन्मीलिता इव बहिष्कृता, यथा हि किल किमपि वस्तु वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायं भवति; एवं तेऽपि प्रासादावतंसका इति भावः, तथा मणिकनकानि-मणिकनकमय्यः स्तूपिकाः-शिखराणि येषां ते मणिकनकस्तूपिकाः, तथा विकसितानि यानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च द्वारादौ प्रतिकृतित्वेन स्थितानि तिलकरत्नानि भित्त्यादिषु पुण्ड्रविशेषा अर्द्धचन्द्राश्च द्वारादिषु तैश्चित्रा-नानारूपा आश्चर्यभूताः विकसितशतपत्रपुण्डरीकतिलकार्द्धचन्द्रचित्राः अन्तर्बहिश्च (नाना-अनेकप्रकारा ये चन्द्रकान्ताद्या मणयस्तन्मयानि-तत्प्रधानानि यानि दामानि-पुष्पमालास्तैरलङ्कृताः) श्लक्ष्णाः-मसृणाः, तथा तपनीयम्-सुवर्णविशेषस्तन्मय्याः वालुकायाः प्रस्तटम्-प्रस्तरो येषु ते तपनीयवालुकाप्रस्तटाः ' सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया ' इत्यादि प्राग्वत् ।

तेसि णं पासायवडेंसगाणं उल्लोया पउमलता ०जाव सामलया भत्तिचित्ता सव्वतवणिज्जमता अच्छा ०जाव पडिरूवा ॥ तेसिं णं पासायवडिंसगाणं पत्तेयं पत्तेयं अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहाणामए आलिंगपुक्खरेति वा०जाव मणीहिं उवसोभिए,मणीण गंधो वण्णो फासो य नेयव्वो ॥ तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वरयणामईओ ०जाव पडिरूवाओ, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं सीहासणे पण्णत्ते, तेसि णं सीहासणाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा-तवणिज्जमया चक्कवाला रयतामया सीहा, सोवण्णिया पादा, णाणामणिमयाइं पायवीढगाइं, जंबूणयमताइं गत्ताइं,वतिरामया संधी,नाणामणिमए वेच्चे। ते णं सीहासणा ईहामियउसभ ०जाव पउमलयभत्तिचित्ता ससारसारोवइयविविहमणिरयणपायपीढा अत्थरगमिउमसूरगनवत्तयकुसंतलिच्चसीहकसरपच्चुत्थताभिरामा उयचियखोमदुगुल्लयपडिच्छयणा सुविरचितरयत्ताणा रत्तंसुयसंवुया सुरम्मा आईणगरूयवूरणवनीततूलमउयफासा मउया पासाईया० ४ ॥

' तेसि णं' इत्यादि, तेषां च प्रासादावतंसकानाम् उल्लोकाः-उपरितनभागाः पद्मलताभक्तिचित्रा अशोकलताभक्तिचित्राश्चम्पकलताभक्तिचित्राश्चूतलताभक्तिचित्रा वनलताभक्तिचित्रा वासन्तिकलताभक्तिचित्राः सर्वात्मना तपनीयमयाः ' अच्छा सण्हा०जाव पडिरूवा' इति विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषां प्रासादावतंसकानामन्तर्बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, ' से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा ' इत्यादि समस्तं भूमिवर्णनं मणीनां वर्णपञ्चकसुरभिगन्धशुभस्पर्शवर्णनं प्राग्वत् ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषां प्रासादावतंसकानामन्तर्बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं (मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भेन अष्ट योजनानि बाहल्येन सर्वरत्नमय्यो यावत्प्रतिरूपाः तासां मणिपीठिकानामुपरि) सिंहासनं प्रज्ञप्तम् , तेषां च सिंहासनानामयमेतद्रूपो ' वण्णावासो ' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-रजतमयाः सिंहाः तैरुपशोभितानि सिंहासनानि सौवर्णिकाः-सुवर्णमयाः पादाः तपनीयमयानि चक्कवालानि-पादानामधः प्रदेशाः भवन्ति , मुक्तानानामणिमयानि पादानामधः प्रदे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शाः प्रयुक्ताः , नानामणिमयानि पादशीर्षकाणि-पादानामुपरितना अवयवविशेषा जाम्बूनदमयानि गात्राणि ईषदच्छाः ' वज्रमयाः '-वज्ररत्नापूरिता सन्धयः-गात्राणां सन्धिमेला नानामणिमयं ' वेच्चं ' व्यूतं वानमित्यर्थः, आह च चूर्णिकृत्-" वेच्चे वाणक्तेण " मित्यादि तानि च सिंहासनानि ईहामृगऋषभतुरगनरमकरव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मलताभक्तिचित्राणि ' ससारसारोवचियविविहमणिरयणपादपीढा ' इति सारसारैः—प्रधानप्रधानैर्विविधैर्मणिरत्नैरुपचितैः पादपीठैः सह यानि तानि तथा, प्राकृतत्वाच्च उपचितशब्दस्यान्तरुपन्यासः , 'अत्थरमउयमसूरगनवयत्तकुसन्तलित्तकेसरपच्चत्थुयाभिरामा' इति आस्तरकम्—आच्छादनं मृदु येषां मसूरकाणां तानि आस्तरकमृदूनि, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् , नवा त्वग् येषां ते नवत्वचः कुशान्ता—दर्भपर्यन्ताः, नवत्वचश्च ते कुशान्ताश्च नवत्वक्कुशान्ताः प्रत्यग्रत्वग्दर्भपर्यन्तरूपाणि त्वति कोमलानि लित्तानि-नमनशीलानि च केसराणि , क्वचित्-' सिंहकेसरे ' ति पाठस्तत्र सिंहकेसराणीव केसराणि मध्ये मसूरकाणां तानि नवत्वक्कुशान्तचिन्न (लित्त) केसराणि, ' सिंहकेसरेति ' पाठपक्षे-एकस्य केसरशब्दस्य-शाकपार्थिवादिदर्शनाल्लोपः, आस्तरकमृदुभिर्मसूरकैर्नवत्वक्कुशान्तलित्तकेसरैः प्रत्यवस्तृतानि-आच्छादितानि सन्ति यानि अभिरामाणि तानि तथा , विशेषणपूर्वापरनिपातो याद्दच्छिकः प्राकृतत्वात् , ' आईणगरु (रू) यबूरनवणीयतूलफासा ' इति आजिनकम्-चर्म्ममयं वस्त्रं तच्च स्वभावादतिकोमलं भवति, रूतम्-कर्पासपक्ष्म बूरो-वनस्पतिविशेषः नवनीतं-म्रक्षणं तूलम्—अर्कतूलं तेषामिव स्पर्शो येषां तानि तथा , तथा सुविरचितं रजस्त्राणं प्रत्येकमुपरि येषां तानि सुविरचितरजस्त्राणानि ' उवचिय खोम दुगुल्लपट्टपडिच्छायणे ' इति उपचितम्—परिकर्म्मितं यत्क्षौमं-दुकूलं कार्पासिकं-वस्त्रं तत्प्रतिच्छादनं—रजस्त्राणस्योपरि द्वितीयमाच्छादनं प्रत्येकं येषां तानि तथा, तत उपरि ' रत्तंसुयसंवुया ' इति रक्तांशुकेन—अतिरमणीयेन रक्तेन वस्त्रेण संवृतानि-आच्छादितानि रक्तांशुकसंवृतानि अत एव सुरम्याणि ' पासाइया ' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ।

तेसि णं सीहासणाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं विजयदूसं पण्णत्ते, ते णं विजयदूसा सेता संखकुंददगरयअमतमहियफेणपुंजसन्निकासा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं विजयदूसाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामया अंकुसा पण्णत्ता , तेसु णं वइरामएसु अंकुसेसु पत्तेयं पत्तेयं कुंभिका मुत्तादामा पण्णत्ता, ते णं कुंभिका मुत्तादामा अन्नेहिं चउहिं चउहिं तदद्धुच्चप्पमाणमेत्तेहिं अद्धकुंभिक्केहिं मुत्तादामेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ते णं दामा तवणिज्जलंबूसका सुवण्णपयरगमंडिता ०जाव चिट्ठंति, तेसि णं पासायवडिंसगाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठ मंगलगा पण्णत्ता सोत्थिय तधेव ०जाव छत्ता ॥ (सू० १३०)

' तेसि ण ' मित्यादि, तेषां च सिंहासनानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं विजयदूष्यं वस्त्रविशेषः प्रज्ञप्तः, आह च मूलटीकाकारः—" विजयदूष्यं वस्त्रविशेष " इति । ' ते ण ' मित्यादि, तानि च विजयदूष्याणि ' शङ्खकुन्ददकरजोऽमृतमथितफेनपुञ्जसन्निकाशानि '-शङ्खः-प्रतीतः कुन्देति-कुन्दकुसुमं दकरजः उदककणाः अमृतस्य—क्षीरोदधिजलस्य मथितस्य यः फेनपुञ्जो—डिण्डीरोत्करस्तत्सन्निकाशानि—तत्समप्रभाणि—पुनः कथम्भूतानि ? इत्यत आह—' सव्वरयणामया ' सर्वात्मना रत्नमयानि ' अच्छा सण्हा० जाव पडिरूवा ' इति विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ ' तेसि ण ' मित्यादि, तेषां—सिंहासनोपरिस्थितानां विजयदूष्याणां प्रत्येकं प्रत्येकं बहुमध्यदेशभागे वज्रमयाः-वज्ररत्नात्मकाः अङ्कुशाः-अङ्कुशाकारा मुक्तादामावलम्बनाश्रयभूताः प्रज्ञप्ताः, तेषु च वज्रमयेष्वङ्कुशेषु प्रत्येकं प्रत्येकं कुम्भाग्रम्—मगधदेशप्रसिद्धं कुम्भप्रमाणं मुक्तामयं मुक्तादाम प्रज्ञप्तम् , तानि च कुम्भाग्राणि मुक्तादामानि प्रत्येकं प्रत्येकमन्यैश्चतुर्भिः कुम्भाग्रमुक्तादामभिस्तदर्धोच्चप्रमाणमात्रैः सर्वतः-सर्वासु दिक्षु समन्ततः-सामस्त्येन संपरिक्षिप्तानि, " ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा णाणामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदाया ईसिमन्नमन्नमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं मंदायं मंदायं एइज्जमाणा एइज्जमाणा वेइज्जमाणा वेइज्जमाणा पकंपमाणा पकंपमाणा पझंझमाणा पझंझमाणा ओरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमणनिव्वुइकरेणं ते पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणा सिरीए उवसोभेमाणा चिट्ठंति " ॥

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो तोरणा पण्णत्ता, ते णं तोरणा णाणामणिमया तहेव० जाव अट्ठट्ठ मंगलका य छत्तातिछत्ता, तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सालभंजिताओ पण्णत्ताओ , जहेव णं हेट्ठा तहेव ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो णागदंतगा पण्णत्ता, ते णं णागदंतगा मुत्ताजालंतरूसिया तहेव, तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हे सुत्तवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा० जाव चिट्ठंति ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो हयसंघाडगा पण्णत्ता, सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा, एवं पंतीओ वीहीओ मिहुणगा, दो दो पउमलयाओ० जाव पडिरूवाओ, तेसि णं तोरणाणं पुरतो (अक्खाअसोवत्थिया सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा) तेसिं णं तोरणाणं पुरतो दो दो चंदणकलसा पण्णत्ता, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा तहेव सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो भिंगारगा पण्णत्ता वरकमलपइट्ठाणा ०जाव सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा महता महता मत्तगयमुहागितिसमणा पण्णत्ता समणाउसो ! ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'विजयस्स ण' मित्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां द्वे द्वे तोरणे प्रज्ञप्ते, तानि च तोरणानि नानामणिमयानीत्यादि तोरणवर्णनं निरवशेषं प्राग्वत् । 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे शालभञ्जिके प्रज्ञप्ते, शालभञ्जिकावर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां तोरणानां द्वौ द्वौ नागदन्तकौ प्रज्ञप्तौ, तेषां च नागदन्तकानां वर्णनं यथाऽधस्तादनन्तरमुक्तं तथा वक्तव्यम्, नवरमत्रोपरि नागदन्तका न वक्तव्या अभावात् ॥ 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ हयसंघाटकौ द्वौ द्वौ गजसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ नरसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ किन्नरसंघाटकौ द्वौ द्वौ किंपुरुषसंघाटकौ द्वौ द्वौ महोरगसंघाटकौ द्वौ द्वौ गन्धर्वसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ वृषभसङ्घाटकौ, एते च कथम्भूताः ? इत्याह—'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा' इत्यादि प्राग्वत्, एवम्—पङ्क्तिवीथीमिथुनकान्यपि प्रत्येकं वाच्यानि ॥ 'तेसिं तोरणाणं' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे पद्मलते यावत्करणाद् द्वे द्वे नागलते द्वे द्वे अशोकलते द्वे द्वे चम्पकलते द्वे द्वे चूतलते द्वे द्वे वासन्तीलते द्वे द्वे कुन्दलते द्वे द्वे अतिमुक्तकलते इति परिग्रहः द्वे द्वे श्यामलते, एताश्च कथम्भूताः ? इत्याह-'णिच्चं कुसुमियाओ' इत्यादि यावत्करणात् 'णिच्चं मउलियाओ णिच्चं लवइयाओ णिच्चं थवइयाओ णिच्चं गोच्छियाओ णिच्चं जमलियाओ णिच्चं विणमियाओ (णिच्चं पणमियाओ) णिच्चं सुविभत्तपडिमंजरिवडंसगधरीओ णिच्चं कुसुमियमउलियलवइयथवइयाओ णिच्चं गोच्छियविणमियपणमियसुविभत्तपडिमंजरिवडंसगधरीओ' इति परिगृह्यते, अस्य व्याख्यानं प्राग्वत् । पुनः कथम्भूताः ? इत्याह—'सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा' इति, अत्रापि यावत्करणात्—'अच्छा सण्हा' इत्यादिविशेषणकदम्बकपरिग्रहः, स च प्राग्वद्भावनीयः ॥ 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ चन्दनकलशौ प्रज्ञप्तौ, वर्णकश्च चन्दनकलशानां 'वरकमलपइट्ठाणा' इत्यादिरूपः सर्वः प्राक्तनो वक्तव्यः ॥ 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ भृङ्गारकौ प्रज्ञप्तौ, तेषामपि चन्दनकलशानामिव वर्णको वक्तव्यः, नवरं पर्यन्ते 'मत्तगयामहामुहागिइसमाणा पण्णत्ता समणाउसो !' इति वक्तव्यम् 'मत्तगयमहामुहागिइसमाणा' इति, मत्तो यो गजस्तस्य महद्—अतिविशालं यन्मुखं तस्याकृतिः—आकारस्तत्समानाः—तत्सदृशाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ।

तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो आतंसगा पण्णत्ता, तेसि णं आतंसगाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा-तवणिज्जमया पयंठगा, वेरुलियमया छरुहा, (थंभया) वइरामया वरंगा, णाणामणिमया वलक्खा, अंकमया मंडला, अणोघसियनिम्मला साए छायाए सव्वतो चेव समणुबद्धा चंदमंडलपडिणिकासा महता महता अद्धकायसमाणा पण्णत्ता समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो वइरणाभे थाले पण्णत्ते, ते णं थाला अच्छतिच्छडियसालितंदुलनहसंदट्ठबहुपडिपुण्णा चेव चिट्ठंति सव्वजंबूणदमया अच्छा० जाव पडिरूवा महता महता रहचक्कसमाणा समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो पातीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं पातीओ अच्छोदयपडिहत्थाओ णाणाविधपंचवण्णस्स फलहरितगस्स बहुपडिपुण्णाओ विव चिट्ठंति सव्वरयणामतीओ० जाव पडिरूवाओ महया महया गोकलिंजगचक्कसमाणाओ पण्णत्ताओ समणाउसो ! ॥

'तेसि ण' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वावादर्शकौ प्रज्ञप्तौ, तेषां चादर्शकानामयमेतद्रूपः वर्णावासः—वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-तपनीयमयाः प्रकण्ठकाः-पीठकविशेषाः 'वेरुलियमया थंभया' आदर्शकगण्डप्रतिबन्धप्रदेशाः, आदर्शकगण्डानां मुष्टिग्रहणयोग्याः प्रदेशा इति भावः, वज्ररत्नमया वराङ्गा गण्डा इत्यर्थः, नानामणिमया वलक्षाः वलक्षो नाम शृङ्खलादिरूपमवलम्बनम्, अङ्कमयानि-अङ्करत्नमयानि मण्डलानि यत्र प्रतिबिम्बसंभूतिः 'अणोहसियणिम्मलाए छायाए' इति अवघर्षणमवघर्षितम्, भावे क्तप्रत्ययः, भूत्यादीनां निमज्जनमित्यर्थः, अवघर्षितस्याभावोऽनवघर्षितं तेन निर्मला अनवघर्षितनिर्म्मला तया छायया समनुबद्धाः, 'चंदमंडलपडिनिकासा' इति चन्द्रमण्डलसदृशाः 'महया महया' अतिशयेन महान्तः अर्द्धकायसमानाः-द्रष्टुः शरीरार्द्धप्रमाणाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ॥ 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे वज्रनाभे स्थाले प्रज्ञप्ते, तानि च स्थालानि (तिष्ठन्ति) 'अच्छतिच्छडियसालितंदुलनहसंदट्ठपरिपुण्णा इव चिट्ठंति' अच्छा—निर्म्मलाः शुद्धस्फटिकवत्त्रिच्छटिता अत एव नखसंदष्टाः—नखा संदष्टा, मुसलादिभिश्चुम्बिता येषां ते तथा, भार्यादिदर्शनात्परनिपातो निष्ठान्तस्य, अच्छैस्त्रिच्छटितैः शालितन्दुलैर्नखसंदष्टैः परिपूर्णानीव अच्छत्रिच्छटितशालितन्दुलनखसंदष्टपरिपूर्णानीव पृथिवीपरिणामरूपाणि तानि तथा स्थितानि केवलमेवमाकाराणीत्युपमा, तथा चाह-'सव्वजंबूनदमया' सर्वात्मना जम्बूनदमयानि 'अच्छा सण्हा' इत्यादि प्राग्वत् 'महया महया' इति अतिशयेन महान्ति रथचक्रसमानानि प्रज्ञप्तानि हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! । 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे 'पाईओ' इति पात्र्यौ प्रज्ञप्ते, ताश्च पात्र्यः 'अच्छोदकपडिहत्थाओ' इति स्वच्छपानीयपरिपूर्णाः 'णाणाविहस्स फलहरियस्स बहुपडिपुण्णाओ विवे' त्ति अत्र षष्ठी तृतीयार्थे बहुवचने चैकवचनं प्राकृतत्वात्, नानाविधैः फलहरितैः-हरितफलैर्बहु-प्रभूतं प्रतिपूर्णा इव तिष्ठन्ति, न खलु तानि फलानि जलं वा किन्तु तथारूपाः शाश्वतभावमुपगताः पृथिवीपरिणामास्तत उपमानमिति, 'सव्वरयणामईओ' इत्यादि प्राग्वत्, 'महया महया' इति अतिशयेन महत्यो गोकलिञ्ज (र) चक्रसमानाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ॥

तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सुपतिट्ठगा पण्णत्ता, ते णं सुपतिट्ठगा णाणाविध (पंचवण्ण) पसाहणगभंडविरचिया सव्वोसधिपडिपुण्णा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो मणोगुलियाओ पण्णत्ताओ ॥ तासु णं मणोगुलियासु बहवे सु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वण्णरुप्पामया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवण्णरुप्पामएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंतगा मुत्ताजालंतरुसिता हेम० जाव गयंदगसमाणा पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कया पण्णत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वायकरगा पण्णत्ता ॥ ते णं वायकरगा किण्हसुत्तसिक्कगवत्थिया०जाव सुक्किल्लसुत्तसिक्कगवत्थिया सव्वे वेरुलियामया अच्छा० जाव पडिरूवा, तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चित्ता रयणकरंडगा पण्णत्ता, से जहाणामए-रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स चित्ते रयणकरंडे वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडे साए पभाए ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासइ उज्जोवेति तावेइ पभासेति, एवामेव ते चित्तरयणकरंडगा पण्णत्ता, वेरुलियपडलपच्चोयडा साए पभाए ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासेति ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो हयकंठगा० जाव दो दो उसभकंठगा पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा ॥ तेसु णं हयकंठएसु०जाव उसभकंठएसु दो दो पुप्फचंगेरीओ,एवं मल्लगंधचुण्णवत्थाभरणचंगेरीओ सिद्धत्थचंगेरीओ लोमहत्थचंगेरीओ सव्वरयणामतीओ अच्छाओ० जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो पुप्फपडलाइं०जाव लोमहत्थपडलाइं सव्वरयणामयाइं० जाव पडिरूवाइं ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सीहासणाइं पण्णत्ताइं,तेसि णं सीहासणाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तहेव० जाव पासातीया० ४ ॥

'तेसि णं' इत्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ सुप्रतिष्ठकौ-आधारविशेषौ प्रज्ञप्तौ, ते च सुप्रतिष्ठकाः सर्वौषधिप्रतिपूर्णा नानाविधैः पञ्चवर्णैः प्रसाधनभाण्डैश्च बहुपरिपूर्णा इव तिष्ठन्ति, अत्रापि तृतीयार्थे षष्ठी बहुवचने चैकवचनं प्राकृतत्वात्, उपमानभावना प्राग्वत्, 'सव्वरयणामया' इत्यादि तथैव ॥ 'तेसि णं' मित्यादि. तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे मनोगुलिके प्रज्ञप्ते, मनोगुलिका नाम पीठिका, उक्तं च मूलटीकायाम्—"मनोगुलिका पीठिके" ति, ताश्च मनोगुलिकाः सर्वात्मना 'वैडूर्यमय्यो' वैडूर्यरत्नात्मिकाः 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासु णं मणोगुलियासु बहवे' इत्यादि, तासु मनोगुलिकासु बहूनि सुवर्णमयानि रूप्यमयानि च फलकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु सुवर्णरूप्यमयेषु फलकेषु बहवो वज्रमयाः नागदन्तकाः—अङ्कुटकाः प्रज्ञप्ताः, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि 'रजतमयानि' रूप्यमयानि सिक्ककानि प्रज्ञप्तानि, तेषु च रजतमयेषु सिक्ककेषु बहवो 'वातकरकाः' जलशून्याः करका इत्यर्थः प्रज्ञप्ताः ॥ 'ते णं' मित्यादि ते वातकरकाः कृष्णसूत्रसिक्ककगवस्थिताः—इति आच्छादनं गवस्था: (ताः) संजाता एष्विति गवस्थिताः कृष्णसूत्रैः—कृष्णसूत्रमयैः गवस्थैरिति गम्यते, सिक्ककेषु गवस्थिताः कृष्णसूत्रसिक्ककगवस्थिताः; एवं नीलसूत्रसिक्ककगवस्थिता इत्याद्यपि भावनीयम्, ते च वातकरकाः सर्वात्मना वैडूर्यमया 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ चित्रौ—चित्रवर्णोपेतावाश्चर्यभूतौ वा रत्नकरण्डकौ प्रज्ञप्तौ, 'से जहानामए' इत्यादि, स यथानाम—राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिनः, चतुर्षु—पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपेषु पृथ्वीपर्यन्तेषु चक्रेण वर्तितुं शीलं यस्य तस्य, चित्रः—आश्चर्यभूतो नानामणिमयत्वेन नानावर्णो वा 'वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडे' इति बाहुल्येन वैडूर्यमणिमयः, तथा 'स्फाटिकपटलप्रत्यवतटः' स्फाटिकपटलमयाच्छादनः 'साए पभाए' इति स्वकीयया प्रभया तान्—प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् सर्वतः—सर्वासु दिक्षु समन्ततः—सामस्त्येनावभासयति, एतदेव पर्यायत्रयेण व्याचष्टे—उद्द्योतयति तापयति प्रभासति, 'एवमेवे' त्यादि सुगमम् । 'तेसि णं तोरणाणं' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ हयकण्ठौ—हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ, प्रज्ञप्तौ, एवं गजकिंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभकण्ठा अपि वाच्याः, उक्तं च मूलटीकायाम्—हयकण्ठौ-हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ, एवं सर्वेऽपि कण्ठा वाच्या इति, तथा चाह-'सव्वरयणामया' सर्वे रत्नमयाः—रत्नविशेषरूपा 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत्। 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे पुष्पचङ्गेर्यौ प्रज्ञप्ते, एवं माल्यचूर्णगन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थकलोमहस्तकचङ्गेर्योऽपि वक्तव्याः, एताश्च सर्वा अपि सर्वात्मना रत्नमय्यः, 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत्। एवं पुष्पादीनामष्टानां पटलकान्यपि द्विद्विसङ्ख्याकानि वाच्यानि। 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे सिंहासने प्रज्ञप्ते, तेषां च सिंहासनानां वर्णकः प्रागुक्तो निरवशेषो वक्तव्यो यावद्दामवर्णनम्।

तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो रुप्पच्छदा छत्ता पण्णत्ता । ते णं छत्ता वेरुलियभिसंतविमलदंडा जंबूणयकण्णिकावइरसंधी मुत्ताजालपरिगता अट्ठसहस्सवरकंचणसलागा ददरमलयसुगंधी सव्वोउअसुरभिसीयलच्छाया मंगलभत्तिचित्ता चंदागारोवमा वट्टा तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो चामराओ पण्णत्ताओ, ताओ णं चामराओ (चंदप्पभवइरवेरुलियनानामणिरयणखचियदंडा) णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लिआओ संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसण्णिकासाओ सुहुमरयतदीहवालाओ सव्वरयणामयाओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो तिल्लसमुग्गा कोट्ठसमुग्गा पत्तसमुग्गा चोयसमुग्गा तयरसमुग्गा एलासमुग्गा हरियालसमुग्गा हिंगुलयसमुग्गा मणोसिलासमुग्गा अंजणसमुग्गा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा ॥ (सू०-१३१)॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'तेसि णं' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे रूप्यच्छदे- रूप्याच्छादने छत्रे प्रज्ञप्ते, तानि च छत्राणि वैडूर्यरत्नमयविमलदण्डानि जाम्बूनदकर्णिकानि वज्रसन्धीनि—वज्ररत्नापूरितदण्डशलाकासन्धीनि मुक्ताजालपरिगतानि अष्टौ सहस्राणि-अष्टसहस्रसंख्याका वरकाञ्चनशलाका-वरकाञ्चनमय्यः शलाका येषु तानि अष्टसहस्रवरकाञ्चनशलाकानि 'दद्दरमलयसुगन्धिसव्वोउयसुरहिसीयलच्छाया' इति दर्दरः—चीवरावनद्धं कुण्डिकादिभाजनमुखं तेन गालितास्तत्र पक्वा वा ये मलय इति-मलयोद्भवं श्रीखण्डं तत्सत्वन्धिनः सुगन्धयो गन्धवासास्तद्वत्सर्वेषु ऋतुषु सुरभिः शीतला च छाया येषां तानि, तथा 'मंगलभत्तिचित्ता' तेषामष्टानां मङ्गलानां भक्त्या-विच्छित्त्या चित्रम्-आलेखो येषां तानि मङ्गलभक्तिचित्राणि, तथा 'चंदागारोवमा' इति चन्द्राकारः-चन्द्राकृतिः स उपमा येषां तानि तथा, चन्द्रमण्डलवद्वृत्तानीति भावः। 'तेसि णं' इत्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे चामरे प्रज्ञप्ते, तानि च चामराणि 'चंदप्पभवइरवेरुलियनाणामणिरयणखचियदंडा' इति चन्द्रप्रभः—चन्द्रकान्तो वज्रं वैडूर्यं च प्रतीतं चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु ते तथा, एवं रूपाश्चित्रा-नानाकारा दण्डा येषां चामराणां तानि तथा, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, तथा 'सुहुमरययदीहवालाओ' इति सूक्ष्मा रजतमया दीर्घा वाला येषां तानि तथा, 'संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसंनिकासाओ' इति शङ्खः-प्रतीतोऽङ्को रत्नविशेषः कुन्देति कुन्दपुष्पं दकरजः-उदककणाः अमृतमथितफेनपुञ्जः-क्षीरोदजलमथनसमुत्थफेनपुञ्जस्तेषामिव सन्निकाशः-प्रभा येषां तानि तथा, अच्छा इत्यादि प्राग्वत्। 'तेसि णं' इत्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ तैलसमुद्गकौ-सुगन्धितैलाधारविशेषौ, उक्तं च—जीवाभिगममूलटीकायाम्-"तैलसमुद्गकौ—सुगन्धितैलाधारौ" एवं कोष्ठादिसमुद्गका अपि वाच्याः, अत्र संग्रहणिगाथा-"तेल्ला कोट्ठसमुग्गा, पत्ते चोए य तगरएला य। हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणसमुग्गो॥१" 'सव्वरयणामया' इति एते सर्वेऽपि सर्वात्मना रत्नमयाः 'अच्छा सण्हा' इत्यादि प्राग्वत्॥

(८)अथ लवणविजयद्वारे चक्रध्वजादि प्रतिपादयन्नाह-

विजये णं दारे अट्ठसतचक्कज्झयाणं अट्ठसयं मिगज्झयाणं अट्ठसयं गरुडज्झयाणं अट्ठसयं विगज्झयाणं (अट्ठसयं रुरुयज्झयाणं) अट्ठसतं छत्तज्झयाणं अट्ठसयं-पिच्छज्झयाणं अट्ठसयं सउणिज्झयाणं अट्ठसयं सीहज्झयाणं अट्ठसतं उसभज्झयाणं अट्ठसतं सेयाणं चउविसाणाणं णागवरकेतूणं एवामेव सपुव्वावरेणं विजयदारे य आसीयं केउसहस्सं भवति त्ति मक्खायं॥ विजये णं दारे णव भोमा पण्णत्ता, तेसि णं भोमाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता, ०जाव मणीणं फासो, तेसि णं भोमाणं उप्पिं उल्लोया पउमलया ०जाव सामलता भत्तिचित्ता ० जाव सव्वतवणिज्जमता अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए जे से पंचमे भोम्मे तस्स णं भोमस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णतो विजयदूसे ०जाव अंकुसे ०जाव दामा चिट्ठंति, तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चउण्हं सामाणियसहस्साणं चत्तारि भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तस्स णं सीहासणस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चत्तारि भद्दासणा पण्णत्ता, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणपुरत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स अब्भितरियाए परिसाए अट्ठण्हं देवसाहस्सीणं अट्ठण्हं भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणेणं विजयस्स देवस्स मज्झिमियाए परिसाए दसण्हं देवसाहस्सीणं दस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणपच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स बाहिरियाए परिसाए बारसण्हं देवसाहस्सीणं बारस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ॥ तस्स णं सीहासणस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सत्तण्हं अणियाहिवतीणं सत्त भद्दासणा पण्णत्ता, तस्स णं सीहासणस्स पुरत्थिमेणं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तंजहा-पुरत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ, एवं चउसु वि ०जाव उत्तरेणं चत्तारि साहस्सीओ, अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं पत्तेयं भद्दासणा पण्णत्ता॥ (सू० १३२)

'विजये णं दारे' इत्यादि, तस्मिन् विजये द्वारे अष्टशतम्—अष्टाधिकं शतं चक्रध्वजानाम्—चक्रालेखरूपचिह्नोपेतानां ध्वजानाम्, एवं मृगगरुडरुरुकच्छत्रपिच्छशकुनिसिंहवृषभचतुर्दन्तहस्तिध्वजानामपि प्रत्येकमष्टशतमष्टशतं वक्तव्यम्, 'एवामेव सपुव्वावरेणं' एवमेव—अनेन प्रकारेण सपूर्वापरेण सह पूर्वैरपरैश्च वर्त्तत इति सपूर्वापरं संख्यानं तेन विजयद्वारे अशीतम्—अशीत्यधिकं केतुसहस्रं भवतीत्याख्यातं मयाऽन्यैश्च तीर्थकृद्भिः॥ 'विजयस्स ण' मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य पुरतो नव 'भौमानि' विशिष्टानि स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च भौमानां भूमिभागा उल्लोकाश्च पूर्ववद्वक्तव्याः, तेषां च भौमानां बहुमध्यदेशभागे यत्पञ्चमं भौमं तस्य बहुमध्यदेशभागे विजयद्वाराधिपतिविजयदेवयोग्यं सिंहासनं प्रज्ञप्तम्, तस्य च सिंहासनस्य वर्णनं विजयदूष्यं कुम्भाग्रमुक्तादामवर्णनं प्राग्वत्, तस्य च सिंहासनस्य अपरोत्तरस्याम्—वायव्यकोणे उत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां च विजयदेवस्य सम्बन्धिनां चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य पूर्वस्यामत्र विजयस्य देवस्य चतसृणामग्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महिषीणां चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य-सिंहासनस्य दक्षिणपूर्वस्यामाग्नेयकोण इत्यर्थः, अत्र विजयदेवस्य अभ्यन्तरपर्षदाम् अभ्यन्तरपर्षद्रूपाणामष्टानां देवसहस्राणां योग्यानि अष्टौ भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य दक्षिणस्यां दिशि अत्र विजयदेवस्य मध्यपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दश भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य दक्षिणापरस्यां दिशि नैर्ऋतकोण इत्यर्थः । अत्र विजयदेवस्य बाह्यपर्षदो द्वादशानां देवसहस्राणां योग्यानि द्वादश भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ॥ 'तस्स णं सीहासणस्से' त्यादि, तस्य सिंहासनस्य पश्चिमायां दिशि अत्र विजयस्य देवस्य सम्बन्धिनां सप्तानामनीकाधिपतीनां योग्यानि सप्त भद्रासनानि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य 'सर्वतः-सर्वासु दिक्षु समन्ततः-सामस्त्येन अत्र विजयस्य देवस्य सम्बन्धिनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां योग्यानि षोडश भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, अवशेषेपु प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनमपरिवारं सामानिकादिदेवयोग्यभद्रासनरूपपरिवाररहितं प्रज्ञप्तम् ॥

विजयस्स णं दारस्स उवरिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिता, तं जहा-रयणेहिं वयरेहिं वेरुलिएहिं० जाव रिट्ठेहिं ॥ विजयस्स णं दारस्स उप्पिं बहवे अट्ठट्ठ मंगलगा पण्णत्ता, तं जहा-सोत्थितसिरिवच्छ० जाव दप्पणा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा । विजयस्स णं दारस्स उप्पिं बहवे कण्हचामरज्झया० जाव सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा । विजयस्स णं दारस्स उप्पिं बहवे छत्तातिछत्ता तहेव ॥ (सू० १३३)

'विजयस्स ण' मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य उवरिमाकाराः—इति उपरितन आकारः—उत्तरङ्गादिरूपः षोडशविधैः रत्नैरुपशोभितः, तद्यथा—रत्नैः सामान्यतः कर्केतनादिभिः १ वज्रैः २ वैडूर्यैः ३ लोहिताक्षैः ४ मसारगल्लैः ५ हंसगर्भैः ६ पुलकैः ७ सौगन्धिकैः ८ ज्योतिरसैः ९ अङ्कैः १० अञ्जनैः ११ रजतैः १२ जातरूपैः १३ अञ्जनपुलकैः १४ स्फटिकैः १५ रिष्टैः १६ ॥ 'विजयस्स ण' मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य उपरि अष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि तद्यथेत्यादिना तान्येवोपदर्शयति—'सव्वरयणामया' इत्यादि प्राग्वत् ॥

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति ? विजए णं दारे २, गोयमा ! विजये णं दारे विजये णाम देवे महिड्डीए महज्जुतीए० जाव महाणुभावे पलिओवमट्ठितीए परिवसति, से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं, चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणीयाणं, सत्तण्हं अणीयाहिवईणं, सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, विजयस्स णं दारस्स विजयाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं विजयाए रायहाणीए वत्थव्वगाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं० जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति-विजये दारे विजये दारे, (अदुत्तरं च णं गोयमा ! विजयस्स णं दारस्स सासए णामधेज्जे पण्णत्ते, जण्ण कयाइ णासी, ण कयाइ णऽत्थि, ण कयाइ ण भविस्सति, ०जाव अवट्ठिए णिच्चे विजए दारे ॥) (सू० १३४)

'से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्, भगवानाह—'गोयमे' त्यादि, गौतम ! विजये द्वारे विजयो नाम, प्राकृतत्वात् अव्ययत्वाच्च नामशब्दात्परस्य टावचनस्य लोपस्ततोऽयमर्थः—प्रवाहतोऽनादिकालसन्ततिपतितेन विजय इति नाम्ना देवः 'महर्द्धिकः' महती ऋद्धिः-भवनपरिवारादिका यस्यासौ महर्द्धिकः 'महाद्युतिकः' महती द्युतिः-शरीरगता आभरणगता च यस्यासौ महाद्युतिकः, तथा महद् बलं—शारीरः प्राणो यस्य स महाबलः, तथा महद् यशः—ख्यातिर्यस्यासौ महायशाः, महेश इत्याख्या-प्रसिद्धिर्यस्य स महेशाख्यः, अथवा—ईशनमीशो भावे घञ्प्रत्ययः ऐश्वर्यमित्यर्थः 'ईश ऐश्वर्ये' इति वचनात्, तत ईशनमैश्वर्यम् आत्मनः ख्यातिः; अन्तर्भूतण्यर्थतया ख्यापयति—प्रथयति यः स ईशाख्यः, महांश्चासावीशाख्यश्च महेशाख्यः, क्वचित् 'महासोक्खे' इति पाठस्तत्र महत् सौख्यं प्रभूतसद्वेद्योदयवशाद् यस्य स महासौख्यः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च तत्र चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां प्रत्येकमेकैकसहस्रसंख्यपरिवारसहितानां तिसृणाम् अभ्यन्तरमध्यमबाह्यरूपाणां यथाक्रममष्टदशद्वादशदेवसहस्रसंख्याकानां पर्षदां सप्तानामनीकानां—हयानीकगजानीकरथानीकपदात्यनीकमहिषानीकगन्धर्वानीकनाट्यानीकरूपाणां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षसहस्राणां विजयस्य द्वारस्य विजयाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां विजयराजधानीवास्तव्यानां देवानां देवीनां च 'आहेवच्चं' ति आधिपत्यम्-अधिपतेः कर्म आधिपत्यं रक्षा इत्यर्थः, सा च रक्षा सामान्येनाप्यारक्षकेणैव क्रियते तत आह—पुरस्य पतिः पुरपतिस्तस्य कर्म पौरपत्यं सर्वेषामग्रेसरत्वमिति भावः । तच्चाग्रेसरत्वं नायकत्वमन्तरेणापि स्वनायकनियुक्ततथाविधगृहचिन्तकसामान्यपुरुषस्येव (स्यात्) ततो नायकत्वप्रतिपत्त्यर्थमाह-'स्वामित्वम्' स्वमस्यास्तीति स्वामी; तद्भावः स्वामित्वं नायकत्वमित्यर्थः, तदपि च नायकत्वं कदाचित्पोषकत्वमन्तरेणापि भवति, यथा-हरिणयूथाधिपतेर्हरिणस्य तत आह—भर्तृत्वं-पोषकत्वम्, "डुभृञ् धारणपोषणयोः" इति वचनात्, अत एव महत्तरकत्वम्, तदपि चेह महत्तरकत्वं कस्यचिदाज्ञाविकलस्यापि भवति, यथा-कस्यचिद्वणिजः स्वदासदासीवर्गं प्रति, तत आह-'आणाईसरसेणावच्चं' आज्ञया ईश्वर आज्ञेश्वरः, सेनायाः पतिः सेनापतिः, आज्ञेश्वरश्चासौ सेनापतिश्च आज्ञेश्वरसेनापतिस्तस्य कर्म आज्ञेश्वरसेनापत्यं स्वसैन्यं प्रत्यद्भुतमाज्ञाप्राधान्यमिति भावः, कारयन् अन्यैर्नियुक्तैः पुरुषैः पालयन् स्वयमेव, महता रवेणेति योगः 'अहय' त्ति आख्यानकप्रतिबद्धानि, यदि वा-अहतानि-अव्याहतानि नित्यानि-नित्यानुबन्धीनीति भावः, ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाट्यगीते नाट्यं-नृत्यं गीतं—गानं यानि च वादितानि तन्त्रीतलतालत्रुटितानि-तन्त्री—वीणा तलौ-हस्ततलौ त-लः-कंसिका त्रुटितानि-वादित्राणि, तथा यश्च घनमृदङ्गः पटुना पुरुषेण प्रवादितः, तत्र घनमृदङ्गो नाम-घनसमानध्वनिर्यो मृदङ्गस्तत एतेषां द्वन्द्वस्तेषां रवेण दिव्यान्-प्रधानान् भोगार्हा भोगाः—शब्दादयो भोगभोगास्तान् भुञ्जानः विहरति-आस्ते 'से एएणट्ठेणं' इत्यादि, तत एतेन अर्थेन-कारणेन गौतम ! एवमुच्यते, विजयद्वारं—विजयद्वारमिति, विजयाऽभिधानदेवस्वामिकत्वाद् विजयमिति भावः॥

कहि णं भंते ! विजयस्स देवस्स विजया णाम रायहाणी पण्णत्ता ?, गोयमा ! विजयस्स णं दारस्स पुरत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीतिवतित्ता अण्णम्मि (जी० सू० १३५+) लवणसमुद्दे (जी० सू० १५४+) वारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, एत्थ णं विजयस्स देवस्स विजया णाम रायहाणी पण्णत्ता, बारस-जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं सत्ततीसजोयणसहस्साइं नव य अडयाले जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते॥ सा णं एगे णं पागारेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता ॥ से णं पागारे सत्ततीसं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं मूले अद्धतेरस जोयणाइं विक्खंभेणं मज्झेत्थ सक्कोसाइं छ जोयणाइं वि-क्खंभेणं उप्पिं तिण्णि सद्धकोसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं मूले वित्थिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए बाहिं वट्टे अंतो चउरंसे गोपुच्छसंठाणसंठिते सव्वकणगामए अच्छे० जाव पडिरूवे ॥ से णं पागारे णाणाविहपंचवण्णेहिं कविसीसएहिं उवसोभिए, तं जहा-किण्हेहिं० जाव सुकिल्लेहिं ॥ ते णं कविसीसका अद्धकोसं आयामेणं पंच धणुसताइं वि-क्खंभेणं देसोणमद्धकोसं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वमणिमया अच्छा०जाव पडिरूवा ॥ विजयाए णं रायहाणीए एगमेगाए बाहाए पणुवीसं पणुवीसं दारसतं भवतीति मक्खायं ॥ ते णं दारा बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसे णं सेता वरकणगथूभियागा ईहामिय० तहेव जधा विजए दारे० जाव तवणिज्जवालुगपत्थडा सुहफासा सस्सि(म)रीए सरूवा पासातीया० ४ । तेसि णं दाराणं उभयपासिं दुहतो णिसीहियाए दो वंदणकलसपरिवाडीओ पण्णत्ताओ तहेव भाणियव्वं० जाव वणमालाओ ।

'कहि णं भंते !' इत्यादि, क्व भदन्त ! विजयस्स देवस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह-गौतम ! विजयस्य द्वारस्य पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे विजयस्य देवस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता। (जी०३प्रति०२उ०सू०१५४)मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः,सा च द्वादशयोजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेन आयामविष्कम्भाभ्यां सप्तत्रिंशद् योजनसहस्राणि नवशतानि अष्टचत्वारिंशानि—अष्टचत्वारिंशदधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण,इदं च परिक्षेपपरिमाणम् 'विक्खंभवग्गदहगुण-करणी वट्टस्स परिरओ होइ' इति करणवशात्स्वयमानेतव्यम् । 'सा ण' मित्यादि, सा--विजयाभिधाना राजधानी णमिति वाक्यालङ्कारे एकेन महता प्राकारेण सर्वतः-सर्वासु दिक्षु समन्ततः—सामस्त्येन परिक्षिप्ता ॥ 'से ण' मित्यादि, स प्राकारः सप्तत्रिंशतं योजनानामर्द्धयोजनमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन मूलेऽर्द्धत्रयोदश योजनानि विष्कम्भेन मध्ये षड् योजनानि सक्रोशानि-एकेन क्रोशेनाधिकानि विष्कम्भेन उपरि त्रीणि योजनानि सार्द्धक्रोशानि (योजनानि)सार्द्धानि द्वादश अर्द्धक्रोशाधिकानि (द्वादश) विष्कम्भेन, मूले विस्तीर्णो मध्ये संक्षिप्तो, मूलविष्कम्भतोऽर्द्धस्य त्रुटितत्वात्, उपरि तनुको, मध्यविष्कम्भादप्यर्द्धस्य त्रुटितत्वात्, बहिर्वृत्तोऽन्तश्चतुरस्रो गोपुच्छसंस्थानसंस्थितः-ऊर्ध्वीकृतगोपुच्छसंस्थानसंस्थितः 'सव्वकणगमए' सर्वात्मना कनकमयः 'अच्छे' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् ॥ 'से ण' मित्यादि, स प्राकारो नानाविधानि च तानि पञ्चवर्णानि च नानाविधपञ्चवर्णानि तैः, नानाविधत्वं च पञ्चवर्णापेक्षया कृष्णादिवर्णतारतम्यापेक्षया वा द्रष्टव्यम्, पञ्चवर्णत्वमेवोपदर्शयति—'किण्हेहिं' इत्यादि ॥ 'ते णं कविसीसगा' इत्यादि, तानि कपिशीर्षकाणि प्रत्येकमर्द्धक्रोशं—धनुःसहस्रप्रमाणमायामेन—दैर्घ्येण पञ्चधनुःशतानि विष्कम्भेन—विस्तारेण, देशोनमर्द्धक्रोशमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन 'सव्वमणिमया' इत्यादि सर्वात्मना मणिमया 'अच्छा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'विजयाए णं रायहाणीए' इत्यादि, विजयाया राजधान्या एकैकस्यां बाहायां पञ्चविंशं-पञ्चविंशत्यधिकं द्वारशतं२ प्रज्ञप्तम्, सर्वसंख्यया पञ्च द्वारशतानि ॥ 'ते णं दारा' इत्यादि, तानि द्वाराणि प्रत्येकं द्वाषष्टियोजनानि अर्द्धयोजनं चोर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं च विष्कम्भतः, 'तावइयं चेव पवेसेणं' एतावदेव--एकत्रिंशद् योजनानि क्रोशं चेत्यर्थः; प्रवेशेन, 'सेया थूवरकणगथूभियागा' इत्यादि द्वारवर्णनं निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावद्वनमालावर्णनम् ।

तेसि णं दाराणं उभओ पासिं दुहतो णिसीहियाए दो दो पगंठगा पण्णत्ता, ते णं पगंठगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं पन्नरस जोयणाइं अड्ढाइज्जे कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ता सव्ववइरामया अच्छा ०जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं पगंठगाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं पासायवडिंसगा पण्णत्ता ॥ ते णं पासायवडिंसगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नरस जोयणाइं अड्ढाइज्जे य कोसे आयामविक्खंभेणं सेसं तं चेव० जाव समुग्गया णवरं बहुवयणं भाणितव्वं । विजयाए णं रायहाणीए एगमेगे दारे अट्ठसयं चक्कज्झयाणं०जाव अट्ठसतं सेयाणं चउविसाणाणं णागवरकेऊणं, एवामेव सपुव्वावरेणं वि-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयाए रायहाणीए एगमेगे दारे असीतं असीतं केउ-सहस्सं भवतीति मक्खायं॥ विजयाए णं रायहाणीए एगमेगे दारे (तेसि णं दाराणं पुरओ) सत्तरस भोमा पण्णत्ता, तेसि णं भोमाणं (भूमिभोगा) उल्लोया (य) पउमलया० भत्तिचित्ता॥ तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए जे ते नवमनवमा भोमा तेसि णं भोमाणं बहु-मज्झदेसभाए पत्तेयं २ सीहासणा पण्णत्ता, सीहासणव-एणओ०जाव दामा जहा हेट्ठा, एत्थ णं अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं पत्तेयं भद्दासणा पण्णत्ता। तेसि णं दाराणं उत्तिमा (उवरिमा) गारा सोलसविधेहिं रयणेहिं उवसोभिया तं चेव०जाव छत्ताइछत्ता, एवामेव पुव्वावरेण विजयाए रायहाणीए पंच दारसता भवंतीति मक्खाया॥(सू० १३५)

'तेसि णं दाराण' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन-द्विधातो, द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ प्रकण्ठकौ—पीठविशेषौ प्रज्ञप्तौ, ते च प्रकण्ठकाः प्रत्येकमेकत्रिंशतं योजनानि क्रोशमेकं च आयाम-विष्कम्भाभ्याम्, पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् बाहल्येन 'सव्ववइरामया' इति सर्वात्मना ते प्रकण्ठका वज्ररत्नमयाः 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत्॥ 'तेसि पगंठगाण' मित्यादि, तेषां प्रकण्ठकानामुपरि प्रत्येकं २ प्रासादावतंसकः—प्रासादविशेषः प्रज्ञप्तः॥ 'ते णं पासायवडेंसगा' इत्यादि, ते प्रासादावतंसका एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं चैकमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् आयामविष्कम्भाभ्याम्, तेषां च प्रासादानाम् 'अब्भुग्गयमूसियपहसिया विव' इत्यादि सामान्यतः स्वरूपवर्णनम् उल्लोकवर्णनं मध्यभूमिभागवर्णनं सिंहासनवर्णनं विजयदूष्यवर्णनं मुक्तादामापवर्णनं च विजयद्वारवत्, शेषमपि तोरणादिकं विजयद्वारवदिमाभिर्वक्ष्यमाणाभिर्गाथाभिरनुगन्तव्यम्, ता एव गाथा आह-'तोरणे' त्यादि गाथात्रयम्, द्वारेषु प्रत्येकमेकैकस्यां नैषेधिक्यां द्वे द्वे तोरणे वक्तव्ये, तेषां च तोरणानामुपरि प्रत्येकमष्टावष्टौ मङ्गलकानि, तेषां तोरणानामुपरि कृष्णचामरध्वजादयो ध्वजाः, तदनन्तरं तोरणानां पुरतः शालभञ्जिकाः तदनन्तरं नागदन्तकास्तेषु च नागदन्तकेषु दामानि ततो हयसङ्घाटादयः सङ्घाटा वक्तव्याः, ततो हयपङ्क्त्यादयः पङ्क्तयस्तदनन्तरं हयवीथ्यादयो वीथयस्ततो हयमिथुनकादीनि मिथुनानि ततः पद्मलतादयो लताः ततः 'सोत्थिया' चतुर्दिक्सौवस्तिका वक्तव्यास्ततो वन्दनकलशास्तदनन्तरं भृङ्गारकास्तत आदर्शकास्ततः स्थालानि ततः पात्र्यस्तदनन्तरं सुप्रतिष्ठानि ततो मनोगुलिकास्तासु 'वातकरकाः' वातभृता करका वातकरका जलशून्या इत्यर्थः, तदनन्तरं चित्रा रत्नकरण्डकास्ततो हयकण्ठा गजकण्ठा नरकण्ठाः, उपलक्षणमेतत् किंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभकण्ठकाः क्रमेण वक्तव्याः, तदनन्तरं पुष्पादिचङ्गेर्यो वक्तव्यास्ततः पुष्पादिपटलकानि ततः सिंहासनानि तदनन्तरं छत्राणि ततश्चामराणि ततस्तैलादिसमुद्गका वक्तव्यास्ततो ध्वजाः, तेषां च ध्वजानामिदं चरमसूत्रम्—'एवामेव सपुव्वावरेणं विजयाए रायहाणीए एगमेगंसि दारंसि असीयं असीयं केउसहस्सं भवतीति मक्खायं' तदनन्तरं भौमानि वक्तव्यानि, तत्सूत्रं साक्षादुपदर्शयति—'तेसि णं दाराण' मित्यादि, तेषां द्वाराणां पुरतः सप्तदश सप्तदश भौमानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च भौमानां भूमिभागा उल्लोकाश्च प्राग्वद्वक्तव्याः॥ 'तेसि णं भौमाण' मित्यादि, तेषां च भौमानां बहुमध्यदेशभागे यानि नवमनवमानि भौमानि तेषां बहुमध्यदेशभागेषु प्रत्येकं विजयदेवयोग्यं (सिंहासनं यथा) विजयद्वारपञ्चमभौमे किन्तु सपरिवारं सिंहासनं वक्तव्यम्, अवशेषेषु च भौमेषु प्रत्येकं सपरिवारं सिंहासनं प्रज्ञप्तम्, 'तेसि णं दाराणं उवरिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया' इत्यादि प्राग्वत्।

(६) लवणसमुद्रस्य वनखण्डादि वर्णयति—

विजयाए णं रायहाणीए चउद्दिसिं पंचजोयणसताइं अबाहाए, एत्थ णं चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तं जहा—असोगवणे सत्तवएणवणे चंपगवणे चूतवणे, पुरत्थिमेणं असोगवणे दाहिणेणं सत्तवएणवणे पच्चत्थिमेणं चंपगवणे उत्तरेणं चूतवणे॥ ते णं वणसंडा साइरेगाइं दुवालसजोयणसहस्साइं आयामेणं पंच जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता पत्तेयं पत्तेयं पागारपरिक्खित्ता किण्हा किण्होभासा वणसंडवएणओ भाणियव्वो ०जाव बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीदंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीलंति मोहंति पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं कम्माणं कडाणं कल्लाणाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणा विहरंति। तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पासायवडिंसगा पण्णत्ता, ते णं पासायवडिंसगा बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गतमूसिया तहेव ०जाव अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता उल्लोया पउमभत्तिचित्ता भाणियव्वा, तेसि णं पासायवडेंसगाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं सीहासणा पण्णत्ता वएणावासो सपरिवारा, तेसि णं पासायवडिंसगाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता॥

'विजयाए णं रायहाणीए' इत्यादि, विजयाया राजधान्याः—'चउद्दिसि' मिति चतस्रो दिशः समाहृताश्चतुर्दिक् तस्मिन् चतुर्दिशि—चतसृषु दिक्षु पञ्च पञ्च योजनशतानि 'अबाहाए' इति बाधनं बाधा—आक्रमणं तस्यामबाधायां कृत्वेति गम्यते, अपान्तरालेषु मुक्त्वेति भावः, चत्वारो वनखण्डाः प्रज्ञप्ताः, 'तद्यथे' त्यादि, तानेव वनखण्डान् नामतो दिग्भेदतश्च दर्शयति, अशोकवृ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सप्रधानं वनमशोकवनम् , एवं सप्तपर्णवनं चम्पकवनं चूतवनमपि भावनीयम् , ' पुव्वेण असोगवण ' मित्यादिरूपा गाथा पाठसिद्धा (अत्र मूले न) ॥ ' ते णं वणसंडा ' इत्यादि, ते वनख(ष)ण्डाः, सातिरेकाणि द्वादश योजनसहस्राण्यायामेन पञ्च योजनशतानि विष्कम्भेन प्रत्येकं प्रत्येकं प्राकारपरिक्षिप्ताः प्रज्ञप्ताः, पुनः कथम्भूतास्ते वनखण्डाः ?, इत्यादि पद्मवरवदिकाबहिर्वनखण्डवत्तावदविशेषेण वक्तव्यं यावत् ' तत्थ णं ' बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति ० जाव विहरंति ॥ ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषां वनखण्डानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं २ प्रासादावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, ते च प्रासादावतंसका द्वाषष्टियोजनान्यर्द्धयोजनं चोर्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं च विष्कम्भेन ' अब्भुग्गयमूसियपहसिया विव ' इत्यादि प्रासादावतंसकानां वर्णनं निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावत्तत्र प्रत्येकं २ सिंहासनं सपरिवारम् ।

तत्थ णं चत्तारि देवा महड्डिया ०जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तं जहा-असोए सत्तवण्णे चंपए चूते ॥ तत्थ णं ते साणं साणं वणसंडाणं साणं साणं पासायवडेंसयाणं साणं साणं सामाणियाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं आयरक्खदेवाणं आहेवच्चं ०जाव विहरंति ॥ विजयाए णं रायहाणीए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ०जाव पंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिए तणसद्दविहूणे ०जाव देवा य देवीओ य आसयंति ०जाव विहरंति ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं ओवरियालेणे पण्णत्ते बारस जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसहस्साइं सत्त य पंचाणउते जोयणसते किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वजंबूणदमए णं अच्छे ०जाव पडिरूवे ॥

' तत्थ ण' मित्यादि, तेषु वनखण्डेषु प्रत्येकमेकैकदेवभावेन चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत् ' महज्जुइया महाबला महायसा महासोक्खा महाणुभावा' इति परिग्रहः, पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—' असोए ' इत्यादि, अशोकवनेऽशोकः, सप्तपर्णवने सप्तपर्णः, चम्पकवने चम्पकः, चूतवने चूतः ॥ ' तेसि णं ' मि (तत्थ णं ते इ) त्यादि, ते अशोकादयो देवास्तस्य वनखण्डस्य स्वस्य प्रासादावतंसकस्य, सूत्रे बहुवचनं प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि वचनव्यत्ययो भवतीति, स्वेषां स्वेषां सामानिकसहस्राणां स्वासां स्वासामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां स्वासां स्वासां पर्षदां स्वेषां स्वेषामनीकानाम् (अनीकाधिपतीनां) स्वेषां स्वेषामात्मरक्षकाणाम् ' आहेवच्चं पोरेवच्चं ' मित्यादि प्राग्वत् ॥ ' विजयाए णं ' मित्यादि, विजयाया राजधान्या अन्तर्बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः , तस्य ' से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा ' इत्यादि वर्णनं प्राग्वत् निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावन्मणीनां स्पर्शः, तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महद् एकमुपकारिकालयनं प्रज्ञप्तम् , राजधानीस्वामिसत्कप्रासादावतंसकादीन् उपकरोति-उपष्टम्भातीत्युपकारिका-राजधानी स्वामिसत्कप्रासादावतंसकादीनां पीठिका, अन्यत्र त्वियमुपकार्योपकारिकेति प्रसिद्धा, उक्तञ्च-" गृहस्थानं स्मृतं राज्ञा-मुपकार्योपकारिका " इति, उपकारिकालयनमिव उपकारिकालयनं तद् द्वादश योजनशतानि आयामविष्कम्भेन-आयामविष्कम्भाभ्याम् , त्रीणि योजनसहस्राणि सप्त योजनशतानि पञ्चनवतीनि-पञ्चनवत्यधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तानि, परिक्षेपपरिमाणं चेदं प्राग्युक्तकरणवशात्स्वयमानेतव्यम् । अर्द्धक्रोशम्-धनुःसहस्रपरिमाणं बाहल्येन ' सव्वजंबूणयामए ' इति सर्वात्मना जाम्बूनदमयम्, ' अच्छे ' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् ।

से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते पउमवरवेदियाए वण्णओ वणसंडवण्णओ ०जाव विहरंति, से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं ओवारियालयणसमपरिक्खेवेणं ॥ तस्स णं ओवारियालयणस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता , वण्णओ, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरतो पत्तेयं पत्तेयं तोरणा पण्णत्ता, छत्तातिछत्ता ॥ तस्स णं उवारियालयणस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ०जाव मणीहिं उवसोभिते मणिवण्णओ, गंधरसफासो, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं मूलपासायवडिंसए पण्णत्ते, से णं पासायवडिंसए बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एकतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिप्पहसिते तहेव तस्स णं पासायवडिंसगस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते० जाव मणिफासे उल्लोए ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता, सा च एगं जोयणमायामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा सण्हा० जाव पडिरूवा ।

' से णं ' मित्यादि, तद्-उपकारिकालयनम् एकया पद्मवरवेदिकया तत्पृष्ठभाविन्या एकेन च वनखण्डेन ' सर्वतः—सर्वासु दिक्षु समन्ततः—सामस्त्येन संपरिक्षिप्तम् , पद्मवरवेदिकावर्णको वनखण्डवर्णकः प्राग्वन्निरवशेषो वक्तव्यो यावत् 'तत्थ बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति सयंति०जाव विहरंति ' इति । 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य उपकारिकालयनस्य'चउद्दिसिं'ति'चतुर्दिशि-चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रतिविशिष्टरूपाणि त्रिसोपानानि प्रज्ञप्तानि,त्रिसोपानवर्णकः पूर्ववद्वक्तव्यः।तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं तोरणं प्रज्ञप्तम्, तेषां च तोरणानां वर्णनं प्राग्वद्वक्तव्यम् ॥ 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य-उपकारिका-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लयनस्य उपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, 'से जहानामए' इत्यादि भूमिभागवर्णनं प्राग्वत्तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शः, तस्य च-बहुसमरणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेको मूलप्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, स च द्वाषष्टिर्योजनानि अर्द्धं च योजनमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं चायामविष्कम्भाभ्याम्, 'अब्भुग्गयमूसियपहसिया विवे' त्यादि, तस्य वर्णनं मध्ये भूमिभागवर्णनं सिंहासनवर्णनं शेषाणि च भद्रासनानि तत्परिवारभूतानि विजयद्वारवहिःस्थितप्रासादवद्भावनीयानि ॥ 'तस्स णं' इत्यादि, तस्य मूलप्रासादावतंसकस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महती एका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा चैकं योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं वाहल्येन 'सव्वमणिमयी' इति सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा सरहा' इत्यादिविशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥

तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एगे महं सीहासणे पण्णत्ते एवं सीहासणवण्णओ सपरिवारो, तस्स णं पासायवडिंसगस्स उप्पिं बहवे अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ से णं पासायवडिंसए अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तपमाणमेत्तेहिं पासायवडिंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, ते णं पासायवडिंसगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसोलसजोयणाइं अद्धकोसं च आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गत० तहेव, तेसि णं पासायवडिंसयाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा उल्लोया ॥ तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं सीहासणं पण्णत्तं, वण्णओ, तेसिं परिवारभूता भद्दासणा पण्णत्ता, तेसि णं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ ते णं पासायवडिंसगा अण्णेहिं चउहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता ॥ ते णं पासायवडेंसगा अद्धसोलसजोयणाइं अद्धकोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गय० तहेव ॥ तेसि णं पासायवडेंसगाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा उल्लोया ॥ तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पउमासणा पण्णत्ता ॥ तेसि णं पासायाणं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ ते णं पासायवडेंसगा अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता ।

'तीसे णं' मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं सिंहासनं प्रज्ञप्तम्, तस्य च सिंहासनस्य परिवारभूतानि शेषाणि भद्रासनानि प्राग्वद्वक्तव्यानि ॥ 'से णं' मित्यादि, स च मूलप्रासादावतंसकोऽन्यैश्चतुर्भिर्मूलप्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः- मूलप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणैः सर्वतः-समन्तात्संपरिक्षिप्तः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं चैकमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् आयामविष्कम्भाभ्याम्, तेषामपि 'अब्भुग्गयमूसियपहसिया विवे' त्यादि स्वरूपवर्णनं मध्ये भूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं च प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां प्रासादावतंसकानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनं प्रज्ञप्तम्, तेषां च सिंहासनानां वर्णनं प्राग्वत्, नवरमत्र सिंहासनानां शेषाणि परिवारभूतानि न वक्तव्यानि ॥ 'ते णं पासायवडेंसया' इत्यादि, ते प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः-मूलप्रासादावतंसकपरिवारभूतप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैर्मूलप्रासादापेक्षया चतुर्भागमात्रप्रमाणैरित्यर्थः, सर्वतः—समन्तात्संपरिक्षिप्ताः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—'ते णं' मित्यादि, ते प्रासादावतंसकाः पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन देशोनानि अष्टौ योजनानि आयामविष्कम्भाभ्यां, सूत्रे च—'आयामविक्खंभेणं' ति एकवचनं समाहारविवक्षणात्, एवमन्यत्रापि भावनीयम्, एतेषामपि 'अब्भुग्गयमूसिये' त्यादि स्वरूपवर्णनं मध्ये भूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं सिंहासनवर्णनं च प्राग्वत् केवलमत्रापि सिंहासनमपरिवारं वक्तव्यम्। 'ते णं' मित्यादि, तेऽपि प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः-अनन्तरोक्तप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणैर्मूलप्रासादापेक्षयाऽष्टभागमात्रप्रमाणैरित्यर्थः, सर्वतः-समन्तात्सम्परिक्षिप्ताः, तदेव तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रमुपदर्शयति-'ते णं' मित्यादि, ते प्रासादावतंसका देशोनानि अष्टौ योजनानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन देशोनानि चत्वारि योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां तेषामपि 'अब्भुग्गयमूसियपहसिया विवे' त्यादि स्वरूपादिवर्णनमनन्तरप्रासादावतंसकवत्। (एतयोः सूत्रयोर्मूलपाठो न दृश्यते।) 'ते णं' मित्यादि, तेऽपि च प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः—अनन्तरोक्तप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैर्मूलप्रासादावतंसकापेक्षया षोडशभागप्रमाणमात्रैरित्यर्थः, सर्वतः-समन्ततः संपरिक्षिप्ताः।

तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—

ते णं पासायवडेंसगा देसूणाइं अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं चत्तारि जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गत० भूमिभागा उल्लोया भद्दासणाइं उवरिं मंगलगा झया छत्तातिछत्ता, ते णं पासायवडिंसगा अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडिंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता। ते णं पासायवडिंसगा देसूणाइं चत्तारि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसि० भूमिभागा उल्लोया पउमासणाइं उवरिं मंगलगा झया छत्ताइछत्ता। (सू० १३६)

'ते णं' मित्यादि, ते-प्रासादावतंसकाः देशोनानि चत्वारि योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन देशोने द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्याम्, तेषामपि स्वरूपवर्णनं मध्ये भूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं सिं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हासनवर्णनं च परिवारवर्जितं प्राग्वत्, तदेवं चतस्रः प्रासादावतंसकपरिपाट्यो भवन्ति, क्वचित्तिस्र एव दृश्यन्ते न चतुर्थी।

(१०) अथ लवणसमुद्रे विजयदेवस्य सभामाह—

तस्स णं मूलपासायवडेंसगस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सभा सुधम्मा पएणत्ता, अद्धतेरसजोयणाइं आयमेणं, छ सक्कोसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं, णव जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अणेगखंभसतसंनिविट्ठा अब्भुग्गयसुकयवइरवेदिया तोरणवररतियसालभंजिया सुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखंभा णाणामणिकणगरयणखइयउज्जलबहुसमसुविभत्तचित्त (णिचियं) रमणिज्जकुट्टिमतला ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिंणररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता थंभुग्गयवइरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ता विव अच्चिसहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणी भिब्भिसमाणी चक्खुलोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा कंचणमणिरयणथूभियागा णाणाविहपंचवण्णघंटापडागपडिमंडितग्गसिहरा धवला मिरीइकवचं विणिम्मुयंती लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिता कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघसंविकिन्ना दिव्वतुडियमधुरसद्दसंपणाइया सुरम्मा सव्वरयणामती अच्छा ०जाव पडिरूवा।

'तस्स णं' मित्यादि, तस्य मूलप्रासादावतंसकस्य उत्तरपूर्वस्याम्-ईशानकोण इत्यर्थः, अत्र-एतस्मिन् भागे विजयस्य देवस्य योग्या सभा सुधर्मा नाम विशिष्टच्छन्दकोपेता सार्द्धत्रयोदशयोजनान्यायामेन, षट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेन, नव योजनानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, 'अणेगे' त्यादि अनेकेषु स्तम्भशतेषु सन्निविष्टा अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टा 'अब्भुग्गयसुकयवरवेइया तोरणवररइयसालभंजिया सुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखंभा' अभ्युद्गता-अतिरमणीयतया द्रष्टॄणां प्रत्यभिमुखम्, उत्-प्राबल्येन स्थिता सुकृतेव सुकृता निपुणशिल्पिपरचितेवेति भावः, अभ्युद्गता चासौ सुकृता च अभ्युद्गतसुकृता वज्रवेदिका—द्वारमुण्डकोपरिवज्ररत्नमयी वेदिका तोरणं चाभ्युद्गतसुकृतं यत्र सा तथा, तथा वराभिः—प्रधानाभिः रचिताभिः-विरचिताभिः रतिदाभिर्वा सालभञ्जिकाभिः-सुश्लिष्टा-संबद्धा विशिष्टं-प्रधानं लष्टं—मनोज्ञं संस्थितम्-संस्थानं येषां ते विशिष्टलष्टसंस्थिताः प्रशस्ताः-प्रशंसास्पदीभूता वैडूर्यस्तम्भाः-वैडूर्यरत्नमयाः स्तम्भा यस्यां सा वररचितशालभञ्जिकासुश्लिष्टविशिष्टलष्टसंस्थितप्रशस्तवैडूर्यस्तम्भाः, ततः पूर्वपदेन कर्म्मधारयः, तथा नानामणिकनकरत्नानि खचितानि यत्र स नानामणिकनकरत्नखचितः, निष्ठान्तस्य परनिपातो भार्यादिदर्शनात्, नानामणिकनकरत्नखचितः उज्ज्वलो—निर्मलो बहुसमः—अत्यन्तसमः सुविभक्तो निचितो-निविडो रमणीयश्च भूमिभागो यस्यां सा नानामणिकनकरत्नखचितोज्ज्वलबहुसमसुविभक्त(निचितरमणीय) भूमिभागा'ईहामिगउसहतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवणलयपउमलय—भत्तिचित्ता' इति तथा स्तम्भोद्गतया—स्तम्भोपरिवर्त्तिन्या वज्रवेदिकया-वज्ररत्नमय्या वेदिकया परिगता सती याऽभिरामा स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामा 'विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्ता विव अच्चिसहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा' इति प्राग्वत् 'कंचणमणिरयणथूभियागा' इति काञ्चनमणिरत्नानां स्तूपिका शिखरं यस्याः सा काञ्चनमणिरत्नस्तूपिकाका 'णाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडियग्गसिहरा' नानाविधाभिः-नानाप्रकाराभिः पञ्चवर्णाभिर्घण्टाभिः पताकाभिश्च परि-सामस्त्येन मण्डितमग्रशिखरं यस्याः सा नानाविधपञ्चवर्णघण्टापताकापरिमण्डिताग्रशिखरा धवला—श्वेता मरीचिकवचम्-किरणजालपरिक्षेपं विनिर्मुञ्चन्ती 'लाउल्लोइयमहिया' इति लाइयं नामयद् भूमेर्गोमयादिना उपलेपनम्, 'उल्लोइयं'-कुड्यानां मालस्य च सेटिकादिभिः संमृष्टीकरणं'लाउल्लोइयं' ताभ्यामिव महिता-पूजिता लाउल्लोइयमहिता, तथा गोशीर्षेण गोशीर्षनामचन्दनेन सरसरक्तचन्दनेन दर्द्दरेण-बहलेन-चपेटाकारेण वा दत्ताः पञ्चाङ्गुलयस्तला-हस्तका यत्र सा गोशीर्षकसरसरक्तचन्दनदर्द्दरदत्तपञ्चाङ्गुलितला, तथा उपचिता-निवेशिता वन्दनकलशा-मङ्गलकलशा यस्यां सा उपचितवन्दनकलशा, 'चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा' इति चन्दनघटैः चन्दनकलशैस्सुकृतानि-सुष्ठु कृतानि शोभनानीति तात्पर्यार्थः, यानि तोरणानि तानि चन्दनघटसुकृतानि तोरणानि प्रतिद्वारदेशभागे यस्यां सा चन्दनघटसुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागा, तथा—'आसत्तोसत्तवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा' इति, आ—अवाङ् अधोभूमौ सक्त-आसक्तो भूमौ लग्न इत्यर्थः ऊर्ध्वं सक्त उत्सक्तः—उल्लोचतले उपरि संबद्ध इत्यर्थः, विपुलो—विस्तीर्णः वृत्तो वर्तुलः 'वग्घारिय' इति प्रलम्बितो माल्यदामकलापः—पुष्पमालासमूहो यस्यां सा आसक्तोत्सक्तविपुलवृत्तवग्घारितमाल्यदामकलापा, तथा पञ्चवर्णेन सरसेन-सच्छायेन सुरभिणा मुक्तेन-क्षिप्तेन पुष्पपुञ्जलक्षणेनोपचारेण पूजया कलिता पञ्चवर्णसरससुरभिमुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलिता 'कालागुरुपवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघेंतगंधुद्धयाभिरामा सुगंधवरगंधगंधिया गंधवट्टिभूया' इति प्राग्वत्, 'अच्छरगणसंघसंविकिएणा' इति अप्सरोगणानां सङ्घः-समुदायस्तेन सम्यग्—रमणीयतया-विकीर्णा-व्याप्ता 'दिव्वतुडियसद्दसंपणादिया' इति दिव्यानां त्रुटितानाम्—आतोद्यानां वेणुवीणामृदङ्गादीनां ये शब्दास्तैः सम्यक् श्रोत्रमनोहारितया प्रकर्षेण नादिता-शब्दवती दिव्यत्रुटितशब्दसंप्रणादिता 'अच्छा सण्हा०जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्॥

तीसे णं सोहम्माए सभाए तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तं णं दारा पत्तेयं पत्तेयं दो दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोयणं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभियागा ० जाव वणमालादारवन्नओ । तेसि णं दाराणं पुरओ मुहमंडवा पणत्ता, ते णं मुहमंडवा अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं छ जोयणाइं सकोसाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मुहमंडवा अणेगखंभसयसंनिविट्ठा० जाव उल्लोया भूमिभागवणणओ ॥ तेसि णं मुहमंडवाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं अट्ठट्ठ मंगला पणत्ता, सोत्थिय० जाव मच्छ० ॥ तेसि णं मुहमंडवाणं पुरओ पत्तेयं पत्तेयं पेच्छाघरमंडवा पणत्ता, ते णं पेच्छाघरमंडवा अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं०जाव दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं ० जाव मणिफासो ॥ तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामयअक्खाडगा पण्णत्ता, तेसि णं वइरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं मणिपीढिया पण्णत्ता, ताओ णं मणिपीढियाओ जोयणमेगं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ० जाव पडिरूवाओ ॥ तासि णं मणिपीढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं सीहासणा पण्णत्ता, सीहासणवण्णओ० जाव दामा परिवारो । तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं उप्पिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता (०जाव पडिरूवा)।

'तीसे णं सुहम्माए' इत्यादि, तस्याः सुधर्मायाः सभायाः त्रिदिशि—तिसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकद्वारभावेन त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एकं पूर्वस्यामेकं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्याम् । 'ते णं दारा' इत्यादि, तानि द्वाराणि प्रत्येकं प्रत्येकं द्वे द्वे योजने ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन योजनमेकं विष्कम्भेन 'तावइयं चेव' ति योजनमेकं प्रवेशेन 'सेयावरकणगथूभियागा' इत्यादि प्रागुक्तं द्वारवर्णनं तदेतावद्वक्तव्यं यावद्वनमाला इति ॥ 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां द्वाराणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मुखमण्डपः प्रज्ञप्तः, ते च मुखमण्डपा अर्द्धत्रयोदश योजनानि आयामेन, षड् योजनानि सक्रोशानि विष्कम्भेन, सातिरेके द्वे योजने ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एतेषामपि 'अणेगखंभसयसन्निविट्ठा' इत्यादि वर्णनं सुधर्म्मायाः सभाया इव निरवशेषं द्रष्टव्यं, तेषां मुखमण्डपानामुल्लोकवर्णनं बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनं च यावन्मणीनां स्पर्शः प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां मुखमण्डपानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि-स्वस्तिकादीनि प्रज्ञप्तानि, तान्येवाह—'तं जहा' त्यादि, एतच्च विशेषणं सुधर्मासभाया अपि द्रष्टव्यम् ॥ 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां मुखमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं २ प्रेक्षागृहमण्डपः प्रज्ञप्तः, तेऽपि च प्रेक्षागृहमण्डपा अर्द्धत्रयोदश योजनान्यायामेन, सक्रोशानि षड् योजनानि विष्कम्भेन, सातिरेके द्वे योजने ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, प्रेक्षागृहमण्डपानां च भूमिभागवर्णनं पूर्ववत्तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शः ॥ 'तेसि णं' मित्यादि,तेषां च बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं वज्रमयः अक्षपाटकः चतुरस्राकारः प्रज्ञप्तः, तेषां चाक्षपाटकानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन 'सव्वमणिमईओ' इति सर्वात्मना मणिमय्यः 'अच्छा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तासि णं' मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनं प्रज्ञप्तम्, तेषां च सिंहासनानां वर्णनं परिवारश्च प्राग्वद्वक्तव्यः, तेषां च प्रेक्षागृहमण्डपानामुपरि अष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि, कृष्णचामरध्वजादि च प्राग्वद्वक्तव्यम् ॥ 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिकाः प्रत्येकं द्वे द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः अच्छा इत्यादि प्राग्वत् । (चैत्यस्तूपवक्तव्यतासूत्रम् 'चेइयथूभ' शब्दे तृतीयभागे १२६९ पृष्ठे गतम्)

तद्व्याख्या च इहोपयुक्तत्वात्प्रदर्श्यते—

'तेसि णं' मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां प्रत्येकं प्रत्येकं 'चतुर्दिशि' चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकमणिपीठिकाभावेन चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः; ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धं योजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासि णं' मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि एकैकस्या मणिपीठिकाया उपरि एकैकप्रतिमाभावेन चतस्रो जिनप्रतिमाः,जिनोत्सेधः—उत्कर्षतः पञ्च धनुःशतानि,जघन्यतः सप्त हस्ताः, इह तु पञ्च धनुःशतानि संभाव्यन्ते, 'पलियंकनिसन्नाओ' इति पर्यङ्कासननिषण्णाः स्तूपाभिमुख्यस्तिष्ठन्ति, तद्यथा—ऋषभा वर्द्धमाना चन्द्रानना वारिषेणा । 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका द्वे द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः अच्छा इत्यादि प्राग्वत् (जी०) (चैत्यवृक्षाणां वर्णावासादिसूत्रं 'चेइयरुक्ख' शब्दे १२६५ पृष्ठे गतम्) (चैत्यवृक्षाणां वर्णावासादिसूत्रव्याख्या च तत्रैव 'चेइयरुक्ख' शब्दे तृतीयभागे १२६५ पृष्ठे गता ।)

(११)अथ मणिपीठिकानां माहेन्द्रध्वजाः प्रतिपादयति—

तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं माहिंदज्झया अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्टमट्ठसुपतिट्ठिता विसिट्ठा अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा छत्ताछित्तकलिया तुंगा गगणतलमभिलंघमाणसिहरा पासादीया ०जाव पडिरूवा ।

'तासि णं' मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं महेन्द्रध्वजः प्रज्ञप्तः, ते च महेन्द्रध्वजा अर्द्धाष्टमानि—सार्द्धानि सप्त योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धक्रोशम्–धनुःसहस्रप्रमाणमुद्वेधेन, अर्द्धक्रोशं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धनुःसहस्रप्रमाणं विष्कम्भेन—विस्तारेण, 'वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिया' इति वज्रमया—वज्ररत्नमयाः तथा वृत्तं-वर्तुलं लष्टं-मनोज्ञं संस्थितं-संस्थानं येषां ते वृत्तलष्टसंस्थिताः, तथा सुश्लिष्टा-यथा भवन्ति एवं परिघृष्टा इव खरशानया पाषाणप्रतिमेव सुश्लिष्टपरिघृष्टाः मृष्टाः सुकुमारशानया पाषाणप्रतिमेव सुप्रतिष्ठिता मनागप्यचलनात् 'अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामा' अनेकैर्वरैः—प्रधानैः पञ्चवर्णैः कुडभीसहस्रैः-लघुपताकासहस्रैः परिमण्डिताः सन्तोऽभिरामा अनेकवरपञ्चवर्णकुडभीसहस्रपरिमण्डिताभिरामाः 'वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइछत्तकलिया तुंगा गगणतलमणुलिहंतसिहरा पासाईया०जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्।

तेसि णं महिंदज्झयाणं उप्पिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं महिंदज्झयाणं पुरतो तिदिसिं तओ णंदाओ पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ ताओ णं पुक्खरिणीओ अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं सक्कोसाइं छ जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पुक्खरिणीवण्णओ पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ताओ पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ताओ वण्णओ ०जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं पुक्खरिणीणं पत्तेयं पत्तेयं तिदिसिं तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं वण्णओ, तोरणा भाणियव्वा, ०जाव छत्तातिछत्ता।

'तेसि ण' मित्यादि, तेषां महेन्द्रध्वजानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि पूर्ववत् सर्वं वक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रकहस्तका इति ॥ 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां महेन्द्रध्वजानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं नन्दा—नन्दाभिधाना पुष्करिणी प्रज्ञप्ता, अर्द्धत्रयोदश-सार्द्धानि द्वादश योजनानि आयामेन, षड् योजनानि सक्रोशानि विष्कम्भेन, दश योजनान्युद्वेधेन-उण्डत्वेन, 'अच्छाओ सण्हाओ रययमयकूडाओ' इत्यादिवर्णनं जगत्युपरिपुष्करिणीवन्निरवशेषं वक्तव्यं यावत् 'पासाईयाओ उदगरसेणं पन्नत्ताओ' ताश्च नन्दापुष्करिण्यः प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डेन च परिक्षिप्ताः, तासां च नन्दापुष्करिणीनां त्रिदिशि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि तेषां च वर्णनं तोरणवर्णनं च प्राग्वत्।

सभाए णं सुहम्माए छ मणोगुलियासाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-पुरत्थिमेणं दो साहस्सीओ पच्चत्थिमेणं दो साहस्सीओ दाहिणेणं एगा साहस्सी उत्तरेणं एगा साहस्सी, तासु णं मणोगुलियासु बहवे सुवण्णरुप्पामया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवण्णरुप्पामएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंतगा पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा ०जाव सुकिल्लवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा, ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा ०जाव चिट्ठंति ॥ सभाए णं सुहम्माए छ गोमाणसीसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-पुरत्थिमेणं दो साहस्सीओ, एवं पच्चत्थिमेणं वि, दाहिणेणं सहस्सं एवं उत्तरेण वि, तासु णं गोमाणसीसु बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता ०जाव तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे रयतामया सिकता पण्णत्ता, तेसु णं रयतामएसु सिकएसु बहवे वेरुलियामईओ धूवघडिताओ पण्णत्ताओ, ताओ णं धूवघडियाओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्क ०जाव घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं सव्वतो समंता आपूरेमाणीओ चिट्ठंति। सभाए णं सुधम्माए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ० जाव मणीणं फासो उल्लोया पउमलयभत्तिचित्ता ०जाव सव्वतवणिज्जमए अच्छे ०जाव पडिरूवे ॥ (सू० १३७)

'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि, सभायां सुधर्म्मायां षड् (मनो) गुलिकासहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-द्वे सहस्रे पूर्वस्यां दिशि द्वे पश्चिमायामेकं सहस्रं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्यामिति, एतासु च फलकनागदन्तकमाल्यदामवर्णनं प्राग्वत् ॥ 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि, सभायां सुधर्मायां षड् गोमानसिकाः-शय्यारूपाः स्थानविशेषास्तासां सहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-द्वे सहस्रे पूर्वस्यां दिशि द्वे पश्चिमायामेकं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्यामति, तास्वपि फलकवर्णनं नागदन्तवर्णनं धूपघटिकावर्णनं च विजयद्वारवत्। 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि उल्लोकवर्णनं 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि भूमिभागवर्णनं च प्राग्वत्।

(१२) अथ लवणसमुद्रविजयद्वारे मणिपीठिकामाह—

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपीढिया पण्णत्ता, सा णं मणिपीढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमता ॥ तीसे णं मणिपीढियाए उप्पिं एत्थ णं माणवए णाम चेइयखंभे पण्णत्ते अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं छ कोडीए छ लंसे छ विग्गहिते वइरामयवट्टलट्ठसंठिते, एवं जहा महिंदज्झयस्स वण्णओ० जाव पासातीए ॥ तस्स णं माणवकस्स चेतियखंभस्स उवरिं छक्कोसे ओगाहित्ता हेट्ठा वि छक्कोसे वज्जेत्ता मज्झे अद्धपंचमेसु जोयणेसु एत्थ णं बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवण्णरुप्पमएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे रययामता सिक्कगा पण्णत्ता।

'तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्से' त्यादि, तस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धनुःसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महती एका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यामेकं योजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत्। 'तीसे णं' मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि महानेको माणवकनामा चैत्यस्तम्भः प्रज्ञप्तः, अर्द्धाष्टमानि-सार्द्धानि सप्त योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धक्रोशम्-धनुःसहस्रमानमुद्वेधेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन षडस्रिकः—षट्कोटीकः षड्विग्रहिकः 'वइरामयवट्टलट्ठसंठिए'। इत्यादि महेन्द्रध्वजवद् वर्णनमशेषमस्यापि तावद्वक्तव्यं यावद् 'बहवे सहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा' इति। 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य माणवकस्य चैत्यस्तम्भस्योपरि षट् क्रोशान् अवगाह्य उपरितनभागात् षट् क्रोशान् वर्जयित्वेति भावः, अधस्तादपि षट् क्रोशान् वर्जयित्वा मध्येऽर्द्धपञ्चमेषु योजनेषु 'बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा' इत्यादि फलकवर्णनं नागदन्तवर्णनं सिक्कगवर्णनं च प्राग्वत्।

तेसु णं रययामयसिक्कएसु बहवे वइरामया गोलवट्टसमुग्गका पण्णत्ता तेसु णं वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहवे जिणसकहाओ संनिक्खित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं विजयस्स देवस्स अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासणिज्जाओ। माणवगस्स णं चेतियखंभस्स उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता। तस्स णं माणवगस्स चेतियखंभस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता, सा णं मणिपेढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई०जाव पडिरूवा। तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णओ। तस्स णं माणवगस्स चेतियखंभस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता, जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमती अच्छा॥ [देवशयनीयवक्तव्यतासूत्रम्-'देवसयणिज्ज' शब्दे चतुर्थभागे २६२५ पृष्ठे गतम्] तस्स णं देवसयणिज्जस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं महई एगा मणिपीढिया पण्णत्ता, जोयणमेगं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई० जाव अच्छा।

'तेसु णं' मित्यादि, तेषु रजतमयेषु सिक्ककेषु बहवो वज्रमया गोलवृत्ताः समुद्गकाः, तेषु च वज्रमयेषु समुद्गकेषु बहूनि जिनसक्थीनि संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, यानि विजयस्य देवस्यान्येषां च बहूनां वानमन्तराणां देवानां देवीनां चार्चनीयानि-चन्दनतः, वन्दनीयानि-स्तुत्यादिना, पूजनीयानि-पुष्पादिना, माननीयानि-बहुमानकरणतः, सत्कारणीयानि-वस्त्रादिना, कल्याणं-मङ्गलं दैवतं-चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपासनीयानि॥ 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य माणवकस्य चैत्यस्तम्भस्य पूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत्॥ 'तीसे णं' मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं तद्वर्णनं शेषाणि च भद्रासनानि तत्परिवारभूतानि प्राग्वत्॥ 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य माणवकनाम्नश्चैत्यस्तम्भस्य पश्चिमायां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, एकं योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन 'सव्वमणिमयी' इत्यादि प्राग्वत्॥ 'तीसे णं' मित्यादि तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं (देव) शयनीयं प्रज्ञप्तम्, तस्य च देवशयनीयस्यायमेतद्रूपः वर्णावासः—वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—नानामणिमयाः प्रतिपादाः—मूलपादानां प्रतिविशिष्टोपष्टम्भकरणाय पादाः प्रतिपादाः सौवर्णिकाः—सुवर्णमयाः पादाः—मूलपादाः, जाम्बूनदमयानि गात्राणि ईषादीनि वज्रमया वज्ररत्नपूरिताः सन्धयः, 'नानामणिमये चिच्चे' इति चिच्चं नाम च्युतं वानमित्यर्थः, नानामणिमयं च्युतम्—विशिष्टवानं रजतमयी तूली लोहिताक्षमयानि, 'बिब्बोयणा' इति उपधानकानि, आह च मूलटीकाकारः—"बिब्बोयणा उपधानकानि उच्यन्त" इति, तपनीयमय्यो गण्डोपधानकाः॥ 'से णं देवसयणिज्जे' इत्यादि, तद् देवशयनीयं सालिङ्गनवर्त्तिकम्—सह आलिङ्गनवर्त्या—शरीरप्रमाणेनोपधानेन यद् तत्तथा 'उभओ विब्बोयणे' इति उभयतः उभौ—शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य विब्बोयणे—उपधाने यत्र तद् उभयतो विब्बोयणम् 'दुहतो उन्नते'—इति उभयत उन्नतं 'मज्झे णयगंभीरे' इति, मध्ये च नतं निम्नत्वात् गम्भीरं च महत्त्वात् नतगम्भीरं गङ्गापुलिनवालुकाया अवदालो—विदलनं पादादिन्यासेऽधोगमनमिति भावः तेन 'सालिसए' इति सदृशकं गङ्गापुलिनवालुकावदालसदृशकम्, तथा 'ओयविय' इति विशिष्टं परिकर्मितं चौमं—कार्पासिकं दुकूलं—वस्त्रं तदेव पट्ट ओयवियचौमदुकूलपट्टः, स प्रतिच्छादनं—आच्छादनं यस्य तत्तथा, 'आईणगरूयबूरनवणीयतूलफासे' इति प्राग्वत्, 'रत्तंसुयसंवुए' इति रक्तांशुकेन संवृतं रक्तांशुकसंवृतम्, अत एव सुरम्यम् 'पासाइए' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत्॥ 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य देवशयनीयस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन 'सव्वमणिमयी अच्छा' इत्यादि प्राग्वत्॥

तीसे णं मणिपीढियाए उप्पिं एगं महं खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं वेरुलियामयवट्टलट्ठसंठिते तहेव ०जाव मंगला झया छत्तातिछत्ता॥ तस्स णं खुड्डमहिंदज्झयस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चुप्पालए नाम पहरणकोसे पण्णत्ते॥ तत्थ णं विजयस्स देवस्स फलिहरयणपामोक्खा बहवे पहरणरयणा संनिक्खित्ताओ चिट्ठंति, उज्जलसुणिसि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यसुतिक्खधारा पासाईया ॥ तीसे णं सभाए सुहम्माए उप्पिं बहवे अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता०जाव पडिरूवा ॥ (सू० १३८)

'तीसे ण' मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र क्षुल्लको महेन्द्रध्वजः प्रज्ञप्तः, तस्य प्रमाणं च वर्णकश्च महेन्द्रध्वजवद्वक्तव्यः । 'तस्स ण' मित्यादि. तस्य क्षुल्लकस्य महेन्द्रध्वजस्य पश्चिमायां दिशि अत्र विजयस्य देवस्य सम्बन्धी महान् एकश्चोप्पालो नाम प्रहरणकोशः—प्रहरणस्थानं प्रज्ञप्तम्. किंविशिष्टमित्याह—' सव्ववइरामए अच्छे० जाव पडिरूवे ' इति प्राग्वत् । 'तत्थ ण ' मित्यादि, तत्र चोप्पालकाभिधाने प्रहरणकोशे बहूनि परिघरत्नप्रमुखाणि प्रहरणरत्नानि संक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, कथम्भूतानीत्यत आह—उज्ज्वलानि--निर्मलानि सुनिशितानि—अतितेजितानि अत एव तीक्ष्णधाराणि प्रासादीयानीत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे णं सभाए ' इत्यादि, तस्याः सुधर्म्मायाः सभाया उपरि बहून्यष्टावष्टौ मङ्गलकानि, इत्यादि सर्वं प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः ।

(१३) सुधर्मसभायाः सिद्धायतनादीति प्रतिपादयति–

सभाए णं सुधम्माए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं सिद्धायतणे पएणत्ते अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं छ जोयणाइं सकोसाइं विक्खंभेणं नव जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं ०जाव गोमाणसिया वत्तव्वया, जा चेव सभाए सुहम्माए वत्तव्वया सा चेव निरवसेसा भाणियव्वा तहेव दारा मुहमंडवा पेच्छाघरमंडवा झया थूभा चेइयरुक्खा महिंदज्झया णंदाओ पुक्खरिणीओ, तओ य सुधम्माए जहा पमाणं मणगुलियाणं गोमाणसीया धूवयघडिओ तहेव भूमिभागे उल्लोए य० जाव मणिफासे ॥ तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पएणत्ता दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छा सएहा लएहा घट्ठा मट्ठा णीरया णिप्पकंपा पडिरूवा । (अतःपरं चैत्यवक्तव्यता 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२४२ पृष्ठे गता ।) तस्स णं सिद्धायतणस्स णं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता उत्तिमगारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया तं जहा रयणेहिं० जाव रिट्ठेहिं । (सू० १३९)

'सभाए ण ' मित्यादि, सभायाः सुधर्म्माया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तम् , अर्द्धत्रयोदश योजनान्यायामेन, षट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भतो, नव योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेनेत्यादि सर्वं सुधर्म्मावद्वक्तव्यं यावद् गोमानसीवक्तव्यता, तथा चाह–' जा चेव सभाए सुधम्माए वत्तव्वया सा चेव निरवसेसा भाणियव्वा० जाव गोमाणसियाओ ' इति, किमुक्तं भवति ? यथा सुधर्म्मायाः सभायाः पूर्वदक्षिणोत्तरवर्त्तीनि त्रीणि द्वाराणि, तेषां च द्वाराणां पुरतो मुखमण्डपाः, तेषां च मुखमण्डपानां पुरतः प्रेक्षागृहमण्डपाः, तेषां च प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतश्चैत्यस्तूपाः सप्रतिमाः, तेषां च चैत्यस्तूपानां पुरतश्चैत्यवृक्षाः, तेषां च चैत्यवृक्षाणां पुरतो महेन्द्रध्वजाः, तेषां च महेन्द्रध्वजानां पुरतो नन्दापुष्करिण्य उक्ताः,तदनन्तरं च सभायां सुधर्म्मायां षड् गुलिकासहस्राणि षड् गोमानसीसहस्राण्यप्युक्तानि तथाऽत्रापि सर्वमनेनैव क्रमेण निरवशेषं वक्तव्यम् , उल्लोकवर्णनं बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनमपि तथैव ॥ 'तस्स ण ' मित्यादि, तस्य (सिद्धायतनस्य) बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन सर्वमणिमयी अच्छा इत्यादि प्राग्वत् । तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महानेको देवच्छन्दकः प्रज्ञप्तः, सातिरेके द्वे योजने ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां सर्वात्मना रत्नमया अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ (' तत्र देवच्छन्दके अष्टशतम् ' जिनप्रतिमानां तिष्ठतीति ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२४२ पृष्ठे गतम्) ' तस्स ण ' मित्यादि, तस्य सिद्धायतनस्य उपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि, ध्वजच्छत्रातिछत्रादीनि तु प्राग्वत् ॥

(१४) अथ तत्रोपपातसभां प्रतिपादयन्नाह—

तस्स णं सिद्धाययणस्स णं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं उववायसभा पण्णत्ता जहा सुधम्मा तहेव० जाव गोमाणसीओ उववायसभाए वि दारा मुहमंडवा सव्वं भूमिभागे तहेव०जाव मणिफासो (सुहम्मासभावत्तव्वया भाणियव्वा०जाव भूमीए फासो) ।

' तस्स ण ' मित्यादि, तस्य सिद्धायतनस्य उत्तरपूर्वस्यामत्र महत्येका उपपातसभा प्रज्ञप्ता, तस्याश्च सुधर्म्मासभाया इव प्रमाणं त्रीणि द्वाराणि तेषां च द्वाराणां पुरतो मुखमण्डका इत्यादि सर्वं तावद्वक्तव्यं यावद् गोमानसीवर्णनम् , तदनन्तरमुल्लोकवर्णनं ततो भूमिभागवर्णनं तावद् यावन्मणीनां स्पर्शः, तथा चाह—' सुहम्मासभावत्तव्वया भाणियव्वा०जाव भूमीए फासो ' इति ।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमती अच्छा, तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पएणत्ते, तस्स णं देवसयणिज्जस्स वण्णओ, उववायसभाए णं उप्पिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता० जाव उत्तिमागारा, तीसे णं उववायसभाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं हरए पएणत्ते, से णं हरए अद्धतेरस जोयणाइं आयामेणं छ कोसातिं जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे सएहे वण्णओ जहेव णं दाराणं पुक्खरिणीणं०जाव तोरणवण्णओ ।

' तस्स ण ' मित्यादि, तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत्, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्तं, तस्य स्वरूपवर्णनं यथा सुधर्म्मायां सभायां देवशयनीयस्य तस्य तथा द्रष्टव्यम्, तस्या अपि उपपातसभाया उपरि अष्टाष्टौ मङ्गलकानीत्यादि प्राग्वत् ॥ ' तीसे ण ' मित्यादि, तस्या उपपातसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महानेको ह्रदः प्रज्ञप्तः, अर्द्धत्रयोदश योजनान्यायामेन, षड् योजनानि सक्रोशानि विष्कम्भेन, दश योजनान्युद्वेधेन ' अच्छे सण्हे रययाकूले ' इत्यादि नन्दापुष्करिणीवत्सर्वं निरवशेषं वाच्यम्, तथा चाह—' आयामुव्वेहेणं विक्खंभेणं वन्नओ जो चेव नंदापुक्खरिणीए ' मिति ॥ ' तीसे ण ' मित्यादि,स ह्रद एकया पद्मवरवेदिकया एकेन च वनखण्डेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः, पद्मवरवेदिकाया वर्णनं वनखण्डवर्णनं च तावद् यावत् ' तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति०जाव विहरंतीति ' तस्य ह्रदस्य त्रिदिशि-त्रिसृषु दिक्षु त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां तोरणानां च (वर्णनं पूर्ववत्।)

तस्स णं दह (हरत)स्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं अभिसेयसभा पण्णत्ता, जहा सभा सुधम्मा तं चेव निरवसेसं ०जाव गोमाणसीओ भूमिभाए उल्लोए तहेव । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता जोयणं आयामविक्खंभेणं, अद्धजोयणं बाहल्लेणं, सव्वमणिमया अच्छा । तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं महं एगे सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णओ अपरिवारो । तत्थ णं विजयस्स देवस्स सुबहु अभिसेके भंडे संणिक्खित्ते चिट्ठति,अभिसेयसभाए उप्पिं अट्ठट्ठ मंगलए०जाव उत्तिमागारा सोलसविधेहिं रयणेहिं, तीसे णं अभिसेयसभाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं अलंकारियसभावत्तव्वया भाणियव्वा ०जाव गोमाणसीओ मणिपेढियाओ जहा अभिसेयसभाए उप्पिं सीहासणं स (अ)-परिवारं । तत्थ णं विजयस्स देवस्स सुबहुअलंकारिए भंडे संनिक्खित्ते चिट्ठति, उत्तिमागारा अलंकारियसभावत्तव्वया भाणियव्वा० जाव गोमाणसीओ मणिपेढियाओ जहा अभिसेयसभाए उप्पिं मंगलगा झया ०जाव [छत्ताइछत्ता] । तीसे णं अलंकारियसहाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं ववसायसभा पण्णत्ता, अभिसेयसभावत्तव्वया ०जाव सीहासणं अपरिवारं ।

' तस्स ण ' मित्यादि, तस्य ह्रदस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येकाऽभिषेकसभा प्रज्ञप्ता, साऽपि प्रमाणस्वरूपद्वारमुखमण्डपप्रेक्षागृहमण्डपचैत्यस्तूपवर्णनादिप्रकारेण सुधर्मासभावत्तावद्वक्तव्या यावद् गोमानसीवक्तव्यता, तदनन्तरं तथैवोल्लोकवर्णनं भूमिभागवर्णनं च तावद् यावन्मणीनां स्पर्शः । ' तस्स ण ' मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी ' अच्छा सण्हा ' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत्। ' तीसे ण ' मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं सिंहासनं प्रज्ञप्तम्, सिंहासनवर्णकः-प्राग्वत्, नवरमत्र परिवारभूतानि भद्रासनानि न वक्तव्यानि। ' तत्थ ण ' मित्यादि, तस्मिन् सिंहासने विजयस्य देवस्य योग्यं सुबहु अभिषेकभाण्डम्-अभिषेकोपस्करः संनिक्षिप्तः तिष्ठति, तस्याश्चाभिषेकसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येकाऽलङ्कारसभा प्रज्ञप्ता, सा च प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपप्रेक्षागृहमण्डपादिवर्णनप्रकारेणाभिषेकसभावत्तावद्वक्तव्या यावदपरिवारं सिंहासनम् । ' तत्थ ण ' मित्यादि, तत्र—सिंहासने विजयदेवस्य योग्यं सुबहु आलङ्कारिकम्-अलङ्कारयोग्यं भाण्डं संनिक्षिप्तं तिष्ठति । ' तीसे ण ' मित्यादि, तस्या अलङ्कारसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका व्यवसायसभा प्रज्ञप्ता, सा चाभिषेकसभावत्प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपादिवर्णकप्रकारेण तावद्वक्तव्या यावदपरिवारं सिंहासनम् ।

ए (त) त्थ णं विजयस्स देवस्स एगे महं पोत्थयरयणे संनिक्खित्ते चिट्ठति, तत्थ णं पोत्थयरयणस्स अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा–रिट्ठामतीओ कंबियाओ (रयतामताति पत्तकाइं रिट्ठामयाति अक्खराइं) तवणिज्जमए दोरे णाणामणिमए गंठी (अंकमयाइं पत्ताइं) वेरुलियमए लिप्पासणे तवणिज्जमती संकला रिट्ठमए छादने रिट्ठामया मसी वइरामयी लेहणी रिट्ठामयाइं अक्खराइं धम्मिए सत्थे ववसायसभाए णं उप्पिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता उत्तिमागारेति ॥ तीसे णं ववसा (उववा) यसभाए उत्तरपुरत्थिमेणं एगे महं बलिपेढे पण्णत्ते दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वरयतामए अच्छे०जाव पडिरूवे ॥ एत्थ णं तस्स णं बलिपेढस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एगा महं णंदापुक्खरिणी पण्णत्ता जं चेव माणं हरयस्स तं चेव सव्वं ॥ (सू० १४०)

' एत्थ ण ' मित्यादि, ' अत्र सिंहासने महदेकं पुस्तकरत्नं संनिक्षिप्तं तिष्ठति, तस्य च पुस्तकरत्नस्यायमेतद्रूपः ' वर्णावासः ' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः—' रिष्ठमय्यौ ' रिष्ठरत्नात्मिके कम्बिके पुष्ठके इति भावः, रजतमयो (तपनीयमयो) दवरको यत्र पत्राणि प्रोतानि सन्ति, नानामणिमयो ग्रन्थिर्दवरकस्यादौ येन पत्राणि न निर्गच्छन्ति, 'अङ्कमयानि ' अङ्करत्नमयानि पत्राणि नानामणि (वैडूर्य) मयं लिप्यासनं-मषीभाजनमित्यर्थः, तपनीयमयी शृङ्खला मषीभाजनसत्का रिष्ठरत्नमयमुपरितनं तस्य छादनं ' रिष्ठमयी ' रिष्ठरत्नमयी मषी , वज्रमयी लेखनी रिष्ठमयान्यक्षराणि धार्म्मिकं लेख्यम्,तस्याश्च उपपातसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि महदेकं बलिपीठं प्रज्ञप्तम्, द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योजनमेकं बाहल्येन 'अच्छे सराहे' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत्॥ 'तस्स ण' मित्यादि, तस्य बलिपीठस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका नन्दापुष्करिणी प्रज्ञप्ता, सा च ह्रदप्रमाणा, ह्रदस्येव च तस्या अपि त्रिसोपानवर्णनं तोरणवर्णनं च प्राग्वत्॥ तदेवं यत्र यादृग्भूता च राजधानी विजयस्य देवस्य तदेतद् उपवर्णितम्।

(१५) सम्प्रति विजयो देवस्तत्रोपपन्नस्तदा यदकरोद् यथा च तस्याभिषेकोऽभवत्तदुपदर्शयति—

तेणं कालेणं तेणं समएणं विजए देवे विजयाए रायहाणीए उववातसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिते अंगुलस्स असंखेज्जतिभागमेत्तीए बोंदीए विजयदेवत्ताए उववन्ने॥ तए णं से विजये देवे अहुणोववरणमेत्तए चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छति, तं जहा-आहारपज्जत्तीए सरीरपज्जत्तीए इंदियपज्जत्तीए आणापाणुपज्जत्तीए भासामणपज्जत्तीए॥ तए णं तस्स विजयस्स देवस्स पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गयस्स इमे एयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिते मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-किं मे पुव्वं सेयं, किं मे पच्छा सेयं, किं मे पुव्विं करणिज्जं, किं मे पच्छा करणिज्जं, किं मे पुव्विं वा पच्छा वा हिताए सुहाए खेमाए णिस्सेसयाते अणुगामियत्ताए भविस्सतीति कट्टु एवं संपेहेति॥ तते णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववरणगा देवा विजयस्स देवस्स इमं एतारूवं अज्झत्थितं चिंतियं पत्थियं मणोगयं संकप्पं समुप्पएणं जाणित्ता जेणामेव से विजए देवे तेणामेव उवागच्छंति तेणामेव उवागच्छित्ता विजयं देवं करतलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं बद्धावेंति जएणं विजएणं वद्धावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पियाणं विजयाए रायहाणीए सिद्धायतणंसि अट्ठसतं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाणमेत्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठति, सभाए य सुधम्माए माणवए चेतियखंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गतेसु बहूओ जिणसकहाओ सन्निखित्ताओ चिट्ठंति, जओ णं देवाणुप्पियाणं अन्नेसिं च बहूणं विजयरायहाणिवत्थव्वाणं देवाणं देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासणिज्जाओ एतं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं पि सेयं, एतं णं देवाणुप्पियाणं पच्छा वि सेयं, एतं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं करणिज्जं पच्छा करणिज्जं, एतं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं वा पच्छा वा० जाव आणुगामियत्ताते भविस्सतीति कट्टु महता महता जय (जय) सद्दं पउंजंति।

तेणं कालेणं तेणं समएणं' इत्यादि, तस्मिन् काले तस्मिन् समये विजयो देव उपपातसभायां देवशयनीये देवदूष्यान्तरिते प्रथमतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रयाऽवगाहनया—समुत्पन्नः॥ 'तए णं' मित्यादि, सुगमम्, नवरमिह भाषामनःपर्याप्त्योः समाप्तिकालान्तरस्य प्रायः शेषपर्याप्तिकालान्तरापेक्षया स्तोकत्वादेकत्वेन विवक्षणमिति 'पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ' इत्युक्तम्॥ 'तए णं' मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पञ्चविधया पर्याप्त्या पर्याप्तिभावं गतस्य सतोऽयम्—एतद्रूपः संकल्पः समुदपद्यत, कथम्भूतः?, इत्याह—मनोगतः—मनसि गतो—व्यवस्थितो नाद्यापि वचसा प्रकाशितस्वरूप इति भावः, पुनः कथम्भूतः?, इत्याह—आध्यात्मिकः-आत्मन्यधि अध्यात्मं तत्र भव आध्यात्मिक आत्मविषय इति भावः, सङ्कल्पश्च द्विधा भवति—कश्चिदध्यात्मिकोऽपरश्च चिन्तात्मकः, तत्रायं चिन्तात्मक इति प्रतिपादनार्थमाह—चिन्तितः—चिन्ता संजाताऽस्मिन्निति चिन्तितश्चिन्तात्मक इति भावः, सोऽपि कश्चिदभिलाषात्मको भवति कश्चिदन्यथा तत्रायमभिलाषात्मकस्तथा चाह—प्रार्थनं प्रार्थो निजन्तादच् प्रार्थः संजातोऽस्मिन्निति प्रार्थितोऽभिलाषात्मक इति भावः, किं स्वरूपः?, इत्याह—'किं मे' इत्यादि, किं मे—मम पूर्वं करणीयं किं मे पश्चात् करणीयम्, तथा किं मे पूर्वं कर्त्तुं श्रेयः किं मे पश्चात्कर्त्तुं श्रेयः, तथा किं मे पूर्वमपि च पश्चादपि च हिताय भावप्रधानोऽयं निर्देशो हितत्वाय परिणामसुन्दरतायै सुखाय—शर्मणे क्षेमायेति, अयमपि भावप्रधानो निर्देशः संगतत्वाय, निःश्रेयसाय—निश्चितकल्याणाय आनुगामिकतायै परम्परया शुभानुबन्धसुखाय भविष्यतीति॥ 'तए णं' मित्यादि, 'ततः' एतच्चिन्तासमनन्तरमेव दिव्यानुभावतो विजयस्य देवस्य 'सामाणियपरिसोववन्नगा देवा' इति सामानिकाः पर्षदुपपन्नकाश्च—अभ्यन्तरादिपर्षदुपगताः इमम्—अनन्तरोक्तम् एतद्रूपम्—अनन्तरोदितस्वरूपमाध्यात्मिकं चिन्तितं प्रार्थितं मनोगतं सङ्कल्पं समभिज्ञाय 'जेणेवे' त्ति यत्रैव विजयो देवस्तत्रैवोपागच्छन्ति—उपागम्य च 'करयलपरिग्गहियं' मित्यादि द्वयोर्हस्तयोरन्योऽन्यान्तरिताङ्गुलिकयोः संपुटरूपतया यदेकत्र मीलनं सा अञ्जलिस्तां करतलाभ्यां परिगृहीता—निष्पादिता करतलपरिगृहीता ताम्, आवर्त्तनमावर्त्तः, शिरस्यावर्त्तो यस्याः सा शिरस्यावर्त्ता, कण्ठेकाल उरसिलोमेत्यादिवदलुक्समासः, तामत एव मस्तके कृत्वा जयेन विजयेन वर्द्धापयन्ति-जय त्वं देव! विजय त्वं देव! इत्येवं वर्द्धापयन्तीत्यर्थः, तत्र जयः—परैरनभिभूयमानता प्रतापवृद्धिश्च, विजयस्तु—परेषामसहमानानामभिभवोत्पादः, जयेन विजयेन च वर्द्धापयित्वा एवमवादिषुः—'एवं खलु देवाणुप्पियाण' मित्यादि पाठसिद्धम्॥

तए णं से विजए देवे तेसिं सामाणियपरिसोववरणगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोचा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियते देवसयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठेत्ता दिव्वं देवदूसजुयलं परिहेइ परिहेइत्ता देवसयणिज्जाओ पच्चोरु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इइ पच्चोरुहित्ता उववातसभाओ पुरत्थिमेणं दुवारेण णिग्गच्छइ णिग्गच्छइत्ता जेणेव हरते तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता हरयं अणुपदाहिणं करेमाणे करेमाणे पुरत्थिमेणं तोरणेणं अणुप्पविसति अणुप्पविसित्ता पुरत्थिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति पच्चोरुहतित्ता हरयं ओगाहति ओगाहित्ता जलावगाहणं करेति जलावगाहणं करेत्ता जलमज्जणं करेति जलमज्जणं करेत्ता जलकिड्डं करेति जलकिड्डं करेत्ता आयंते चोक्खे परमसुतिभूते हरतातो पच्चुत्तरति पच्चुत्तरेत्ता।

'तए णं' मित्यादि ततः—एतद्वचनानन्तरं विजयो देवस्तेषां सामानिकपर्षदुपपन्नकानां—सामानिकानां पर्षदुपपन्नकानां च देवानामन्तिके एनमर्थं श्रुत्वा—आकर्ण्य निशम्य हृदये परिणमय्य 'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए' इति हृष्टतुष्टोऽतीव तुष्ट इति भावः, अथवा-हृष्टो नाम विस्मयमापन्नो यथा-शोभनमहो! एतैरुपदिष्टमिति, तुष्टः-तोषं कृतवान् यथा-भव्यमभूद् यदेतैरित्थमुपदिष्टमिति, तोषवशादेव चित्तमानन्दितम्—स्फीतीभूतं "टुणदि समृद्धौ" इति वचनात्, यस्य स चित्तानन्दितः, भार्यादिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः, मकारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकस्ततः पदत्रयस्य पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः, 'पीइमणे' इति प्रीतिर्मनसि यस्यासौ प्रीतिमनाः जिनप्रतिमाऽर्चनविषयबहुमानपरायणमना इति भावः, ततः क्रमेण बहुमानोत्कर्षवशात् 'परमसोमणस्सिए' इति शोभनं मनो यस्यासौ सुमनास्तस्य भावः सौमनस्यं परमं च तत् सौमनस्यं च परमसौमनस्यं तत्संजातमस्मिन्निति परमसौमनस्यितः, एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह—'हरिसवसविसप्पमाणहियए' हर्षवशेन विसर्पद्—विस्तारयायि हृदयं यस्य स हर्षवशविसर्पद्धृदयः देवशयनीयादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय च देवदूष्यं परिधत्ते, परिधाय च उपपातसभातः पूर्वद्वारेण निर्गच्छति, निर्गत्य च यत्रैव प्रदेशे ह्रदस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य ह्रदमनुप्रदक्षिणीकृत्य पूर्वेण तोरणेन ह्रदमनुप्रविशति, प्रविश्य च ह्रदे प्रत्यवरोहति, मध्ये प्रविशतीति भावः, प्रत्यवरुह्य च ह्रदमवगाहते, अवगाह्य जलमज्जनं करोति, कृत्वा च क्षणमात्रं जलक्रीडां करोति, ततः 'आयंते' इति नवानामपि श्रोतसां शुद्धोदकप्रक्षालनेनाऽऽचान्तो गृहीता च मनश्चोक्षः—स्वल्पस्यापि शङ्कितमलस्यापनयनात्, अत एव परमशुचिभूतो ह्रदात् प्रत्युत्तरति। (जी०)

(अतः परम् 'अभिसेय' शब्दे प्रथमभागे ७२६ पृष्ठे अभिषेकवर्णको गतः)

तते णं तं विजयदेवं चत्तारि य सामाणियसाहस्सीओ चत्तारि अग्गमहिसीओ सपरिवाराओ तिण्णि परिसाओ सत्त अणिया सत्त अणियाहिवई सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अन्ने य बहवे विजयरायधाणिवत्थव्वगा वाणमंतरा देवा य देवीओ य तेहिं साभाविएहिं उत्तरवेउव्विएहि य वरकमलपतिट्ठाणेहिं सुरभिवरवारिपडिपुण्णेहिं चंदणकयचच्चातेहिं आविद्धकंठेगुणेहिं पउमुप्पलपिधाणेहिं करतलसुकुमालकोमलपरिग्गहिएहिं अट्ठसहस्साणं सोवण्णियाणं कलसाणं रूप्पमयाणं ताव अट्ठसहस्साणं भोमेयाणं कलसाणं सव्वोदएहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वतुवरेहिं सव्वपुप्फेहिं ०जाव सव्वोसहिसिद्धत्थएहिं सव्विड्ढीए सव्वजुत्तीए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वायरेणं सव्वविभूतिए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वरोहेणं सव्वणाडएहिं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसाए सव्वदिव्वतुडियणिणाएणं महया इड्ढीए महया जुत्तीए महया बलेणं महता समुदएणं महता तुरियजमगसमगपडुप्पवादितरवेणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिमुरवमुयंगदुंदुहिहुडुक्कणिग्घोससंनिनादितरवेणं महता महता इंदाभिसेगेणं अभिसिंचंति।

'तए णं' मित्यादि, ततो णमिति वाक्यालङ्कारे तं विजयं देवं चत्वारि देवसामानिकसहस्राणि चतस्रोऽग्रमहिष्यः सपरिवारास्तिस्रः पर्षदो यथाक्रममष्टदशद्वादशदेवसहस्रपरिमाणाः सप्तानीकानि सप्तानीकाधिपतयः षोडश आत्मरक्षदेवसहस्राणि, अन्ये च बहवो विजयराजधानीवास्तव्या वानमन्तरा देवा देव्यश्च तैः—तद्गतदेवजनप्रसिद्धैः स्वाभाविकैर्वैकुर्विकैश्च वरकमलप्रतिस्थानैः सुरभिवरवारिप्रतिपूर्णैश्चन्दनकृतचर्चाकैः, आविद्धकण्ठगुणैः—आरोपितकण्ठरक्तसूत्रतन्तुभिः पद्मोत्पलपिधानैः सुकुमारकरतलपरिगृहीतैरनेकसहस्रसंख्यैः कलशैरिति गम्यते, तानेव विभागतो दर्शयति—अष्टसहस्रेण सौवर्णिकानां कलशानाम्, अष्टसहस्रेण रूप्यमयानाम्, अष्टसहस्रेण मणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण सुवर्णरूप्यमयानाम्, अष्टसहस्रेण सुवर्णमणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण रूप्यमणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण सुवर्णरूप्यमणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण भौमेयानां, सर्वसंख्यया अष्टभिः सहस्रैश्चतुःषष्ट्यधिकैः, तथा 'सर्वोदकैः' सर्वतीर्थनद्याद्युदकैः सर्वतुवरैः सर्वपुष्पैः सर्वगन्धैः सर्वमाल्यैः सर्वौषधिसिद्धार्थकैश्च सर्वर्द्धा-परिवारादिकया सर्वद्युत्या-यथाशक्तिविस्फारितेन शरीरतेजसा सर्वबलेन सामस्त्येन स्वस्वहस्त्यादिसैन्येन सर्वसमुदयेन—स्वस्वाभियोग्यादिसमस्तपरिवारेण सर्वादरेण-समस्तयावच्छक्तितोलनेन सर्वविभूत्या स्वस्वाभ्यन्तरवैक्रियकरणादिबाह्यरत्नादिसम्पदा, तथा सर्वविभूषया—यावच्छक्तिस्फारोदारशृङ्गारकरणेन 'सव्वसंभमेणं' ति सर्वोत्कृष्टेन संभ्रमेण, सर्वोत्कृष्टसंभ्रमो नाम-इह स्वनायकविषयबहुमानख्यापनार्थपरा स्वनायककार्यसम्पादनाय यावच्छक्ति त्वरितत्वरिता प्रवृत्तिः, सर्वपुष्पवस्त्रगन्धमाल्यालङ्कारेण, अत्र गन्धा-वासा माल्यानि-पुष्पदामानः अलङ्कारा:-आभरणानि ततः समाहारो द्वन्द्वः, ततः सर्वदिव्यत्रुटितानि तेषां शब्दाः सर्वदिव्यत्रुटितशब्दास्तैः सह सर्वशब्देन विशेषणसमासः, 'सव्वदिव्वतुडियसद्दनिनाएणं' मिति सर्वाणि च तानि दिव्यत्रुटितानि च दिव्यतूर्याणि च, एषामेकत्र मीलनेन यः संगतो नितरां नादो-महान् घोषः सर्वदिव्यत्रुटितशब्दसंनिनादस्तेन, इह तुल्येप्यपि सर्वशब्दो दृष्टो यथाऽनेन सर्वं पीतं घृतमिति, तत आह—'महया इड्ढीए' इत्यादि, महत्या यावच्छक्तितुलितया 'ऋद्ध्या' परिवारादिकया 'महया जुईए' इत्याद्यपि भाव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीयम् , तथा महता स्फूर्त्तिमता वराणां—प्रधानानां त्रुटितानाम्—आतोद्यानां यमकसमकम्—एककालं पटुभिः पुरुषैः प्रवादितानां यो रवस्तेन , एतदेव विशेषेणाचष्टे ' संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरवमुइंगदुंदुहिनिग्घोससंनिनादितरवेणं' शंखः प्रतीतः पणवो—भाण्डानां, पटहः प्रतीतः भेरी—ढक्का झल्लरी—चर्मावनद्धा विस्तीर्णा वलयरूपा खरमुही—काहला हुडुक्का—महाप्रमाणो मर्दलो मुरजः—स एव लघुर्मृदङ्गो दुन्दुभिः—भेर्याकारा सङ्कटमुखी, तासां द्वन्द्वः, तासां निर्घोषो—महान् ध्वानो नादितं च घण्टायामिव वादनोत्तरकालभावी सततध्वानिस्तल्लक्षणो यो रवस्तेन महता महता इन्द्राभिषेकेणाभिषिञ्चन्ति ॥

तए णं तस्स विजयस्स देवस्स महता महता इंदाभिसेगंसि वट्टमाणंसि अप्पेगतिया देवा णच्चोदगं णातिमट्टियं पविरलफुसियं दिव्वं सुराभिं रयरेणुविणासणं गंधोदगवासं वासंति, अप्पेगतिया देवा णिहतरयं णट्ठरयं भट्ठरयं पसंतरयं उवसंतरयं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं सब्भिंतरबाहिरियं आसित्तसम्मज्जितोवलित्तं सित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहियं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं मंचातिमंचकलितं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायराणिं णाणाविहरागरंजियऊसियजयविजयवेजयन्तीपडागातिपडागमंडितं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं लाउल्लोइयमहियं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रा० गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरादिण्णपंचंगुलितलं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रा० उवचियचंदणकलसं चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं करेंति, कप्पेगतिया देवा विजयं रा० आसत्तोवसत्तविपुलवट्टवग्घारितमल्लदामकलावं करेंति, अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलितं करेंति, अप्पेगइया देवा विजयं रा० कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघेंतगंधुद्धूयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं करेंति, अप्पेगइया देवा हिरण्णवासं वासंति, अप्पेगइया देवा सुवण्णवासं वासंति, अप्पेगइया देवा एवं रयणवासं वइरवासं पुप्फवासं मल्लवासं गंधवासं चुण्णवासं वत्थवासं आहरणवासं, अप्पेगइया देवा हिरण्णविधिं भाइंति, एवं सुवण्णविधिं रयणविधिं वतिरविधिं पुप्फविधिं मल्लविधिं चुण्णविधिं गंधविधिं वत्थविधिं भाइंति आभरणविधिं ॥

' तए ण ' मित्यादि, ततो णमिति पूर्ववत् तस्य विजयस्य देवस्य ' महया ' इति अतिशयेन महति इन्द्राभिषेके वर्त्तमानेऽप्येकका देवा विजयां राजधानीं ; सप्तम्यर्थे द्वितीया प्राकृतत्वात् , ततोऽयमर्थः—विजयायां राजधान्यां नात्युदके प्रभूतजलसंग्रहभावतो वैरस्योपपत्तेः, नातिमृत्तिके अतिमृत्तिकाया अपि कर्दमरूपतायामुत्साहवृद्धिजनकत्वाभावात् ' पविरलफुसिय ' मिति प्रविरलानि घनभावे कर्दमसम्भवात् प्रकर्षेण यावता रेणवः स्थगिता भवन्ति तावन्मात्रेणोत्कर्षेण स्पृष्टानि—स्पर्शनानि यत्र वर्षे तत् प्रविरलस्पृष्टम् । ' रयरेणुविणासणं ' ति श्लक्ष्णतरा रेणुपुद्गला रजस्त एव स्थूला रेणवः, रजांसि च रेणवश्च रजोरेणवस्तेषां विनाशनं रजोरेणुविनाशनं दिव्यम्—प्रधानं सुरभिगन्धोदकवर्षं वर्षन्ति , अप्येकका विजयां राजधानीं समस्तामपि निहतरजसम्—निहतं रजो यस्यां सा निहतरजास्ताम् , तत्र निहतत्वं रजसः क्षणमात्रमुत्थानाभावेनापि संभवति तत आह—नष्टरजसम्—नष्टं सर्वथाऽदृश्यीभूतं रजो यत्र सा नष्टरजास्ताम् , तथा भ्रष्टम्—वातोद्धूततया राजधान्या दूरतः पलायितं रजो यस्याः सा भ्रष्टरजास्ताम् , एतदेवैकार्थिकद्वयेन प्रकटयति—प्रशान्तरजसम् उपशान्तरजसं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीम्—' आसियसंमज्जियोवलित्तं सित्तं सुइसम्मट्ठ (रय) रत्थंतरावणवीहियं करेंति ' इति आसिक्तमुदकच्छटेन, संमार्जितं कचवरशोधनेन, उपलिप्तमिव गोमयादिनोपलिप्तम् , तथा सिक्तानि जलेनात एव शुचीनि—पवित्राणि संमृष्टानि—कचवरापनयनेन रथ्यान्तराणि आपणवीथय इव—हट्टमार्गा इव आपणवीथयो रथ्याविशेषाश्च यस्यां सा तथा तां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा मञ्चातिमञ्चकलितां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा नानाविधा विशिष्टा रागा येषु ते नानाविरागा नानाविरागैरुच्छ्रितैः—ऊर्ध्वीकृतैर्ध्वजैः पताकातिपताकाभिश्च मण्डितां कुर्वन्ति , अप्येकका देवा ' लाउल्लोइयमहितां ' गोशीर्षसरसरक्तचन्दनदर्दरदत्तपञ्चाङ्गुलितलां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीमुपचितचन्दनकलशां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा चन्दनघटसुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागां कुर्वन्ति , अप्येकका देवा विजयां राजधानीमासिक्तोत्सिक्तविपुलवृत्तवग्घारितमाल्यदामकलापां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीं पञ्चवर्णसुरभिमुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलितां कुर्वन्ति , अप्येकका देवा विजयां राजधानीं कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपमघमघायमानां गन्धोद्धूताभिरामां सुगन्धवरगन्धगन्धिकां गन्धवर्त्तिभूतां कुर्वन्ति, एतेषां च पदानां व्याख्यानं पूर्ववत् , अप्येकका देवा हिरण्यवर्षं वर्षन्ति , अप्येककाः सुवर्णवर्षमप्येकका आभरणवर्षं (रत्नवर्षमप्येकका वज्रवर्षमप्येककाः) पुष्पवर्षमप्येकका माल्यवर्षमप्येककाश्चूर्णवर्षं वस्त्रवर्षम् (आभरणवर्षं) वर्षन्ति, अप्येकका देवा हिरण्यविधिं—हिरण्यरूपं मङ्गलप्रकारं भाजयन्ति—विश्राणयन्ति—शेषदेवेभ्यो ददतीति भावः, एवं सुवर्णरत्नाभरणपुष्पमाल्यगन्धचूर्णवस्त्रविधिभाजनमपि भावनीयम् । (इह द्वात्रिंशन्नाट्यविधयः,ते च येन क्रमेण भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः पुरतः सूर्याभदेवेन भाविता राजप्रश्नीयोपाङ्गे दर्शितास्तेन क्रमेण इहापि भावनीयम् , ते च ' णट्ट ' शब्दे चतुर्थभागे १८०३ पृष्ठे व्याख्याताः)

अप्पेगतिया देवा चउव्विधं वातियं वादेंति, तं जहा—ततं विततं घणं झुसिरं, अप्पेगतिया देवा चउव्विधं गेयं गायंति, तं जहा—उक्खित्तयं पवत्तयं मंदायं रोइदावसाणं, अप्पेगतिया देवा चउव्विहं अभिणयं अभिणयंति, तं ज-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हा-दिद्वंतियं पाडंतियं सामन्तोवणिवातियं लोगमज्झा-वसाणियं, अप्पेगतिया देवा पीणेंति, अप्पेगतिया देवा बुक्कारेंति, अप्पेगतिया देवा तंडवेंति, अप्पेगतिया देवा लासेंति, अप्पेगतिया देवा पीणेंति बुक्कारेंति तंडवेंति लासेंति, अप्पेगतिया देवा अप्फोडेंति अप्पेगतिया देवा वग्गंति, अप्पेगतिया देवा तिवंति अप्पेगतिया देवा छिंदंति, अप्पेगतिया देवा अप्फोडेंति वग्गंति तिवंति छिंदंति, अप्पेगतिया देवा हतहेसियं करेंति, अप्पेगतिया देवा हत्थिगुलगुलाइयं करेंति, अप्पेगतिया देवा रहघणघणातियं करेंति, अप्पे० हयहेसियं करेंति हत्थिगुलगुलाइयं करेंति रहघणघणाइयं करेंति, अप्पेगतिया देवा उच्छोलेंति, अप्पेगतिया देवा पच्छोलेंति, (अप्पेगतिया देवा उक्किट्ठिं करेंति) अप्पेगतिया देवा उक्किट्ठीओ करेंति, अप्पेगतिया देवा उच्छोलेंति पच्छोलेंति उक्किट्ठीओ करेंति, अप्पेगतिया देवा सीहणादं करेंति, अप्पेगतिया देवा पाददद्दरयं करेंति, अप्पेगतिया देवा भूमिचवेडं दलयंति, अप्पेगतिया देवा सीहनादं पाददद्दरयं भूमिचवेडं दलयंति, अप्पेगतिया देवा हक्कारेंति, अप्पेगतिया देवा बुक्कारेंति, अप्पेगतिया देवा थक्कारेंति, अप्पेगतिया देवा पुक्कारेंति, अप्पेगतिया देवा नामाइं सावेंति, अप्पेगतिया देवा हक्कारेंति बुक्कारेंति थक्कारेंति पुक्कारेंति णामाइं सावेंति, अप्पेगतिया देवा उप्पतंति, अप्पेगतिया देवा णिवयंति, अप्पेगतिया देवा परिवयंति, अप्पेगतिया देवा उप्पयंति णिवयंति परिवयंति, अप्पेगतिया देवा जलंति, अप्पेगतिया देवा तवंति, अप्पेगतिया देवा पतवंति, अप्पेगतिया देवा जलंति तवंति पतवंति, अप्पेगइया देवा गज्जंति, अप्पेगइया देवा विज्जुयायंति, अप्पेगइया देवा वासंति, अप्पेइगया देवा गज्जंति विज्जुयायति वासंति, अप्पेगतिया देवा देवसन्निवायं करेंति, अप्पेगतिया देवा देवुक्कलियं करेंति, अप्पेगइया देवा देवकहकहं करेंति अप्पेगइया देवा दुहदुहं करेंति, अप्पेगतिया देवा देवसन्निवायं देवुक्कलियं देवकहकहं देवदुहदुहं करेंति, अप्पेगतिया देवा देवुज्जोयं करेंति, अप्पेगतिया देवा विज्जुयारं करेंति, अप्पेगतिया देवा चेलुक्खेवं करेंति, अप्पेगतिया देवा देवुज्जोयं विज्जुतारं चेलुक्खेवं करेंति, अप्पेगतिया देवा उप्पलहत्थगता ० जाव सहस्सपत्ता ० घंटाहत्थगता कलसहत्थगता ० जाव धूवकडुच्छहत्थगता हट्ठतुट्ठा० जाव हरिसवसविसप्पमाणहियया विजयाए रायहाणीए सव्वतो समंता आधावेंति परिधावेंति।

अप्येककाश्चतुर्विधमभिनयमभिनयन्ति, तद्यथा—दार्ष्टान्तिक प्रतिश्रुतिकं सामान्यतो विनिपातिकं लोकमध्यावसानिकमिति, एतेऽभिनयविधयो नाट्यकुशलेभ्यो वेदितव्याः, अप्येकका देवाः पीनयन्ति—पीनमात्मानं कुर्वन्ति स्थूला भवन्तीति भावः, अप्येकका देवाः ताण्डवयन्ति—ताण्डवरूपं नृत्यं कुर्वन्ति, अप्येकका देवाः लास्ययन्ति—लास्यरूपं नृत्यं कुर्वन्ति, अप्येकका देवाः छुक्कारेंति—छूत्कारं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा एतानि पीनत्वादीनि चत्वार्यपि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा उच्छलन्ति, अप्येकका देवाः प्रोच्छलन्ति, अप्येकका देवास्त्रिपदिकां छिन्दन्ति, अप्येककाः ण्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा हयहेषितानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा हस्तिगडगडायितं कुर्वन्ति अप्येकका देवा रथघणघणायितं कुर्वन्ति अप्येकका देवास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा आस्फोटयन्ति, भूम्यादिकमिति गम्यते, अप्येकका देवा वल्गन्ति, अप्येकका देवाः सिंहनादं नदन्ति, अप्येकका देवाः पाददर्दरकं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा भूमिचपेटां ददति—भूमिं चपेटयाऽऽस्फालयन्तीति भावः, अप्येकका देवा महता महता शब्देन रवन्ते—शब्दं कुर्वन्ति, अप्येकका देवाश्चत्वार्यपि सिंहनादादीनि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा हक्कारेंति—हक्कारं कुर्वन्ति, अप्येकका देवाः बुक्कारेंति—मुखेन बुक्कारशब्दं कुर्वन्ति, अप्येकका देवाः थक्कारेंति—थक इत्येवं महता शब्देन कुर्वन्ति, अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा अवपतन्ति, अप्येकका देवा उत्पतन्ति, अप्येकका देवाः परिपतन्ति—तिर्यग्निपतन्तीत्यर्थः, अप्येकका देवास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येककाः ज्वलन्ति—ज्वालामालाकुला भवन्ति, अप्येकका देवाः तपन्ति—तप्ता भवन्ति, अप्येककाः प्रतपन्ति, अप्येकका देवास्त्रीण्यपि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा गर्जयन्ति अप्येककाः 'विज्जुयारं' ति—विद्युतं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा वर्षं वर्षन्ति, अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा देवोत्कलिकां कुर्वन्ति—देवानां वातस्येवोत्कलिका देवोत्कलिका तां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा देवकहकहं कुर्वन्ति—प्रभूतानां देवानां प्रमोदभरवशतः स्वेच्छावचनैर्बोलः कोलाहलो देवकहकहस्तं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा देवदुहदुहकं कुर्वन्ति—दुहदुहकमित्यनुकरणवचनमेतत्, अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवाश्चेलोत्क्षेपं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा वन्दनकलशहस्तगताः वन्दनकलशा हस्ते गता येषां ते वन्दनकलशहस्तगताः, अप्येकका देवाः भृङ्गारकलशहस्तगताः, एवमादर्शस्थालपात्रीसुप्रतिष्ठकवातकरकाचित्ररत्नकरण्डकपुष्पचङ्गेरीयावल्लोमहस्तचङ्गेरीपुष्पपटलकयावल्लोमहस्तपटलकसिंहासनचामरतैलसमुद्गकयावदञ्जनसमुद्गकधूपकडुच्छुकहस्तगताः प्रत्येकमभिलाप्याः, 'हट्ठतुट्ठ' त्यादि यावत्करणात् 'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीतिमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया' इति परिग्रहः, सर्वतः—समन्ताद् आधावन्ति प्रधावन्ति॥

तए णं तं विजयं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ चत्तारि अग्गमहिसीओ सपरिवाराओ० जाव सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अण्णे य बहवे विजयरायहाणीवत्थव्वा वाणमंतरा देवा य देवीओ य तेहिं वरकमलपतिट्ठाणेहिं ०जाव अट्ठसतेणं सोवण्णियाणं कलसाणं तं चेव० जाव अट्ठसएणं भोमेज्जाणं कलस णं सव्वोदगेहिं सव्वमट्टि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

याहिं सव्वतुवरेहिं सव्वपुप्फेहिं० जाव सव्वोसहिसि-द्धत्थएहिं सव्विड्ढीए ०जाव निग्घोसनाइयरवेणं महया महया इंदाभिसेएणं अभिसिंचंति अभिसिंचित्ता पत्तेयं पत्तेयं सिरसावत्तं अंजलिं कट्टु एवं वयासी-जय जय नंदा ! जय जय भद्दा ! जय जय नंद भद्दं ते अजियं जिणेहि जियं पालेहि, अजितं जिणेहि सत्तुपक्खं जितं पालेहि मित्तपक्खं, जियमज्झे वसाहि तं देव ! निरुवसग्गं इंदो इव देवाणं, चंदो इव ताराणं, चमरो इव असुराणं, धरणो इव नागाणं, भरहो इव मणुयाणं, बहूणि पलिओवमाइं बहूणि सागरोवमाणि, चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं०जाव आयरक्खदेवसाहस्सीणं विजयस्स देवस्स विजयाए रायहाणीए अन्नेसिं च बहूणं विजयरायहाणिवत्थव्वाणं वाणमंतराणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं० जाव आणाईसर-सेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे विहराहि त्ति कट्टु महता महता सद्देणं जय जय सद्दं पउंजंति । (सू० १४१)

' तए णं तं विजयं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ ' इत्याद्यभिषेकनिगमनसूत्रमाशीर्वादसूत्रं च पाठसिद्धम् ।

(१६) लवणसमुद्रस्थिताया विजयराजधान्या अधिपते-र्विजयदेवस्य निष्क्रमणादि प्रतिपादयन्नाह—

तए णं से विजये देवे महया महया इंदाभिसेएणं अभिसित्ते समाणे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ सीहासणाओ अब्भुट्ठेत्ता अभिसेयसभातो पुरत्थिमेणं दारेणं पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता जेणामेव आलंकारियसभा तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता आलंकारियसभं अणुप्पयाहिणी-करेमाणे अणुप्पयाहिणी करेमाणे पुरत्थिमेणं दारेणं अणुपविसति पुरत्थिमेणं दारेणं अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे, तए णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति सद्दावेंतित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! विजयस्स देवस्स आलंकारियं भंडं उवणेह, तेणेव ते आलंकारियं भंडं० जाव उवट्ठवेंति ।

'तए णं' मित्यादि, ततः स विजयो देवो वानमन्तरैः ' महया महया' इति अतिशयेन महता इन्द्राभिषेकेणाभिषिक्तः सन् सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थायाभिषेकसभातः पूर्व-द्वारेण विनिर्गत्य यत्रैवालङ्कारिकसभा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्यालङ्कारिकसभामनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वद्वारेणानुप्र-विशति, अनुप्रविश्य च यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव च सिं-हासनं तत्रोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वा-भिमुखः संनिषण्णः, ततस्तस्य विजयस्य देवस्याभियोग्या देवा सुबहु आलङ्कारिकम्-अलङ्कारयोग्यं भाण्डमुपनयन्ति ।

तए णं से विजए देवे तप्पढमयाए पम्हलसुमालाए दिव्वाए सुरभीए 'गंधकासाईए' गाताइं लूहेति गाताइं लूहेत्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाताइं अणुलिंपति सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाताइं अणुलिंपेत्ता ततोऽणंतरं च णं नासाणीसासवायवज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हतलालापेलवातिरेगं धवलं कणगखइयंतकम्मं आगासफलिहसरिसप्पभं अहतं दिव्वं देवदूसजुयलं णियंसेइ णियंसेत्ता हारं पिणिद्धेइ हारं पिणिद्धेत्ता एवं एकावलिं पिणिधति एकावलिं पिणिधेत्ता एवं एतेणं अभिलावेणं मुत्तावलिं कणगावलिं रयणावलिं कडगाइं तुडियाइं अंगयाइं केऊराइं दसमुद्दिताणंतकं कडिसुत्तकं तेअत्थिसुत्तगं मुरविं कंठमुरविं पालंबंसि कुंडलाइं चूडामणिं चित्तरयणुक्कडं मउडं पिणिधइ पिणिधेत्ता गंठिमवेढिमपूरिमसंघाइमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खयं पिव अप्पाणं अलंकियविभूसितं करेति, कप्परुक्खयं पिव अप्पाणं अलंकियविभूसियं करेत्ता दद्दरमलयसुगंधगंधितेहिं गंधेहिं गाताइं सुक्किडति सुक्किडइत्ता दिव्वं च सुमणदामं पिणिद्धति ॥ तए णं से विजए देवे केसालंकारेणं वत्थालंकारेणं मल्लालंकारेणं आभरणालंकारेणं चउव्विहेणं अलंकारेणं अलंकिते विभूसिए समाणे पडिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता आलंकारियसभाओ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं पडिनिक्खमति पडिनिक्खमइत्ता जेणेव ववसायसभा तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता ववसायसभं अणुप्पयाहिणं करेमाणे करेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे । तते णं तस्स विजयस्स देवस्स आहिओगिया देवा पोत्थयरयणं उवणेंति ।

' तए ण ' मित्यादि, ततः स विजयो देवस्तत्प्रथमतया तस्यामलङ्कारसभायां प्रथमतया पक्ष्मला च सा सुकुमारा च पक्ष्मलसुकुमारा तया सुरभिगन्धकाषायिक्या—सुरभिग-न्धकषायद्रव्यपरिकर्म्मितया लघुशाटिकयेति गम्यते गात्राणि रूक्षयति रूक्षयित्वा सरसेन गोशीर्षचन्दनेन गात्राण्य-नुलिम्पति अनुलिप्य देवदूष्ययुगलं निधत्त इति योगः, कथम्भूतः ? इत्याह—' नासानीसासवायवज्झं ' नासिका निःश्वासवातवाह्यम् , एतेन श्लक्ष्णतामाह , चक्षुर्हरम्-चक्षुर्हरति—आत्मवशं नयति विशिष्टरूपातिशयकलित-त्वाच्चक्षुर्हरं वर्णस्पर्शयुक्तम्—अतिशायिना वर्णेनातिशा-यिना स्पर्शेन युक्तम् ' हयलालापेलवाइरेग ' मिति हयलाला—अश्वलाला तस्या अपि पेलवमतिरेकेण हयलालापेलवातिरेकं " नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुल " मिति समासः, अतिविशिष्टमृदुत्वलघुत्वगुणोपेतमिति भावः, धवलं-श्वेतं कनकखचितानि-विच्छुरितानि अन्तकर्म्माणि-अञ्चलयोर्वानलक्षणानि यस्य तत् कनकखचितान्तकर्म्म आकाशस्फटिकं नाम—अतिस्वच्छस्फटिकविशेषस्तत्सम-प्रभं दिव्यं देवदूष्ययुगलं-देववस्त्रयुग्मं निवस्ते- परिधत्त,परि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धाय हारादीन्याभरणानि पिनह्यति,तत्र हारः–अष्टादशसरिकः अर्धहारो–नवसरिकः एकावली–विचित्रमणिका मुक्तावली–मुक्ताफलमयी कनकावली–कनकमणिमयी प्रालम्बः तपनीयमयो विचित्रमणिरत्नभक्तिचित्र आत्मनः प्रमाणेन स्वप्रमाण आभरणविशेषः कटकानि–कलाचिकाभरणानि त्रुटितानि–बाहुरक्षकाः अङ्गदानि–बाहाभरणविशेषाः दशमुद्रिकाऽनन्तकम्–हस्ताङ्गुलिसम्बधि मुद्रिकादशकम् कुण्डले–कर्णाभरणे चूडामणिमिति–चूडामणिर्नाम सकलपार्थिवरत्नसर्वसारो देवेन्द्रमनुष्येन्द्रमूर्धकृतनिवासो निःशेषापमङ्गलाशान्तिरोगप्रमुखदोषापहारकारी प्रवरलक्षणोपेतः परममङ्गलभूत आभरणविशेषः 'चित्तरयणसंकडं मउड'मिति चित्राणि–नानाप्रकाराणि यानि रत्नानि तैः सङ्कटः चित्ररत्नसङ्कटः प्रभूतरत्ननिचयोपेत इति भावः। 'तं दिव्वं सुमणदामं ति' दिव्याम्–प्रधानां पुष्पमालाम्, 'तए णं से विजए' इत्यादि, ग्रन्थिमं–ग्रन्थनं ग्रन्थस्तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमं 'भावादिमः प्रत्ययः' यत् सूत्रादिना ग्रथ्यते तद् ग्रन्थिममिति भावः, भरिमं–यद् ग्रन्थितं सद् वेष्ट्यते यथा पुष्पलम्बूसको गण्डूक इत्यर्थः, पूरिमं येन वंशशलाकादिमयमञ्जरी पूर्यते, सङ्घातिमं यत्परस्परतो नालसङ्घातेन संघात्यते, एवंविधेन चतुर्विधेन माल्येन कल्पवृक्षमिवात्मानमलङ्कृतविभूषितं करोति कृत्वा परिपूर्णालङ्कारः सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थायालङ्कारसभातः पूर्वेण द्वारेण निर्गत्य यत्रैव व्यवसायसभा तत्रैवोपागच्छति उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः संनिषण्णः। 'तए णं' मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्याभियोग्याः पुस्तकरत्नमुपनयन्ति॥

तए णं से विजए देवे पोत्थयरयणं गेण्हति गेण्हित्ता पोत्थयरयणं मुयति पोत्थयरयणं मुएत्ता पोत्थयरयणं विहाडेति पोत्थयरयणं विहाडेत्ता पोत्थयरयणं वाएति पोत्थयरयणं वाएत्ता धम्मियं ववसायं पगेण्हति धम्मियं ववसायं पगेण्हित्ता पोत्थयरयणं पडिणिक्खवेइ पडिणिक्खवेत्ता सीहासणाओ अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठेत्ता ववसायसभाओ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता णंदं पुक्खरिणिं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता पुरत्थिमिल्लेणं तिसोपाणपडिरूवगएणं पच्चोरुहति पच्चोरुहइत्ता हत्थं पादं पक्खालेति पक्खालेत्ता एगं महं सेतं रयतामयं विमलसलिलपुण्णं मत्तगयमहामुहाकितिसमाणं भिंगारं पगेण्हति पगेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं पउमाइं०जाव सतसहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हति गिण्हित्ता णंदातो पुक्खरिणीतो पच्चुत्तरेइ पच्चुत्तरेत्ता जेणेव सिद्धायतणे तेणेव पहारेत्थ गमणाए॥

'तए णं' मित्यादि, ततः स विजयो देवः पुस्तकरत्नं गृह्णाति गृहीत्वा पुस्तकरत्नमुत्सङ्गादाविति गम्यते मुञ्चति मुक्त्वा विघाटयति विघाट्यानुप्रवाचयति अनु–परिपाट्या प्रकर्षेण विशिष्टार्थावगमरूपेण वाचयति वाचयित्वा धार्मिकम्–धर्मानुगतं व्यवसायं व्यवस्यति–कर्त्तुमभिलषतीति भावः, व्यवसायसभायाः शुभाध्यवसायनिबन्धनत्वात्, तत्रादरपि कर्मक्षयोपशमादिहेतुत्वात्, उक्तञ्च–"उदयक्खयखओवसमो–वसमा जं च कम्मुणो भणिया। दव्वं खेत्तं कालं, भवं च भावं च संपप्प॥१॥" इति, धार्मिकं च व्यवसायं व्यवसायपुस्तकरत्नं प्रतिनिक्षिपति प्रतिनिक्षिप्य सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति,अभ्युत्थाय व्यवसायसभातः पूर्वद्वारेण विनिर्गच्छति विनिर्गत्य यत्रैव व्यवसायसभाया एव पूर्वा नन्दापुष्करिणी तत्रैवोपागच्छति उपागत्य नन्दां पुष्करिणीमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वतोरणेनानुप्रविशति प्रविश्य पूर्वेण त्रिसोपानप्रतिरूपकेण प्रत्यवरोहति, मध्ये प्रविशतीति भावः, प्रत्यवरुह्य हस्तपादौ प्रक्षालयति प्रक्षाल्यैकं महान्तं श्वेतं रजतमयं विमलसलिलपूर्णं मत्तकरिमहामुखाकृतिसमानं भृङ्गारं गृह्णाति गृहीत्वा यानि तत्रोत्पलानि–पद्मानि कुमुदानि–नालनानि यावत् शतसहस्रपत्राणि तानि गृह्णाति गृहीत्वा नन्दातः पुष्करिणीतः प्रत्युत्तरति प्रत्युत्तीर्य यत्रैव सिद्धायतनं तत्रैव प्रधावितवान् गमनाय॥

तए णं तस्स विजयस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ ० जाव अण्णे य बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य अप्पेगइया उप्पलहत्थगया० जाव हत्थगया विजयं देवं पिट्ठतो पिट्ठतो अणुगच्छंति॥ तए णं तस्स विजयस्स देवस्स बहवे आभिओगिया देवा य देवीओ य कलसहत्थगता० जाव धूवकडुच्छुयहत्थगता विजयं देवं पिट्ठतो पिट्ठतो अणुगच्छंति, तते णं से विजए देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं० जाव अण्णेहि य बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए सव्वजुत्तीए ० जाव णिग्घोसणाइयरवेणं जेणेव सिद्धायणे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सिद्धायतणं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छंदए तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता आलोए जिणपडिमाणं पणामं करेति पणामं करेत्ता लोमहत्थगं गेण्हति लोमहत्थगं गेण्हित्ता जिणपडिमाओ लोमहत्थएणं पमज्जति पमज्जित्ता सुरभिणा गंधोदएणं एहा(वे)णेति एहा[वे]णेत्ता दिव्वाए सुरभिगंधकासाइए गाताइं लूहेति लूहेत्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाताइं अणुलिंपइ अणुलिंपेत्ता जिणपडिमाणं अहयाइं सेताइं दिव्वाइं देवदूसजुयलाइं णियंसेइ णियंसेत्ता अग्गेहिं वरेहि य गंधेहि य मल्लेहि य अच्चेति अच्चेत्ता पुप्फारुहणं गंधारुहणं मल्लारुहणं वण्णारुहणं चुण्णारुहणं आभरणारुहणं करेति करेत्ता आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारितमल्लदाम० करेति करेत्ता अच्छेहिं सण्हेहिं (सेएहिं) र–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ययामएहिं अच्छरसातंदुलेहिं जिणपडिमाणं पुरतो अट्ठट्ठ मंगलए आलिहति सोत्थियसिरिवच्छ० जाव दप्पण- अट्ठट्ठ मंगलगे आलिहति आलिहित्ता ॥

'तए ण' मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य चत्वारि सामानिकदेवसहस्राणि, चतस्रः सपरिवारा अग्रमहिष्यः, तिस्रः पर्षदः, सप्तानीकानि, सप्तानीकाधिपतयः, षोडशात्मरक्षदेवसहस्राणि अन्ये च बहवो विजयराजधानीवास्तव्या वानमन्तरा देवाश्च देव्यश्च अप्येकका उत्पलहस्तगता, अप्येकका: पद्महस्तगता, अप्येकका: कुमुदहस्तगताः, एवं नलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रशतसहस्रपत्रहस्तगताः क्रमेण प्रत्येकं वाच्याः, विजयं देवं पृष्ठतः पृष्ठतः परिपाट्येति भावः अनुगच्छन्ति ॥ 'तए ण' मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य बहव आभियोग्या देवा देव्यश्च अप्येकका वन्दनकलशहस्तगताः, अप्येकका भृङ्गारहस्तगताः, अप्येकका आदर्शहस्तगताः, एवं स्थालपात्रीसुप्रतिष्ठवातकरकचित्ररत्नकरण्डकपुष्पचङ्गेरी — यावल्लोमहस्तचङ्गेरीपुष्पपटलकयावल्लोमहस्तपटलकसिं - हासनच्छत्रचामरतैलसमुद्गकयावदञ्जनसमुद्गकधूपकडुच्छुकहस्तगताः क्रमेण प्रत्येकमालाप्याः, विजयं देवं पृष्ठतः पृष्ठतोऽनुगच्छन्ति। ततः स विजयो देवश्चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिः सपरिवाराभिरग्रमहिषीभिस्तिसृभिः पर्षद्भिः, सप्तभिरनीकैः, सप्तभिरनीकाधिपतिभिः, षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिर्विजयराजधानीवास्तव्यैर्वानमन्तरैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः सर्वद्धर्या 'जाव निग्घोसनादितरवेण' मिति यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः— 'सव्वजुईए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वविभूईए सव्वसंभमेणं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेणं सव्वतुडियसद्दनिनाएणं महया इड्ढीए महया जुईए महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगसमगपडुप्पवाइयरवेणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कदुंदुभिनिग्घोसनादितरवेणं' अस्य व्याख्या प्राग्वत्। यत्रैव सिद्धायतनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिद्धायतनमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्यालोक्य जिनप्रतिमानां प्रणामं करोति, कृत्वा यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव देवच्छन्दको यत्रैव जिनप्रतिमास्तत्रोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति, परामृश्य च जिनप्रतिमाः प्रमार्जयति, प्रमार्ज्य दिव्ययोदकधारया स्नपयति, स्नपयित्वा सरसेनार्द्रेण गोशीर्षचन्द्रनेन गात्राण्यनुलिम्पति, अनुलिप्य अहतानि—अपरिमलितानि दिव्यानि देवदूष्ययुगलानि 'नियंसइ' त्ति परिधापयति परिधाप्य अग्रैः— अपरिभुक्तैः वरैः-प्रधानैर्गन्धैर्माल्यैश्चार्चयति। एतदेव सविस्तरमुपदर्शयति—पुष्पारोपणं माल्यारोपणं वर्णकारोपणं चूर्णारोपणं गन्धारोपणम् आभरणारोपणं (च) करोति, कृत्वा तासां जिनप्रतिमानां पुरतः अच्छैः—स्वच्छैः श्लक्ष्णैः—मसृणैः रजतमयैः, अच्छो रसो येषां तेऽच्छरसाः, प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूता इवातिनिर्मला इति भावः, ते च ते तन्दुलाश्चाच्छरसतन्दुलाः, पूर्वपदस्य दीर्घान्तता प्राकृतत्वात्, यथा-'वइरामया नेमा, इत्यादौ, तैरष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकान्यालिखति, आलिख्य कयग्गाहग्गहितकरतलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं दसद्धवन्नेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलितं करेति करेत्ता चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवगंधुत्तमाणुविद्धं धूमवट्टिं विणिम्मुयंतं वेरुलियामयं कडुच्छुयं पग्गहित्तु पयत्तेण धूवं दाऊण जिणवराणं अट्ठसयविसुद्धगंथजुत्तेहिं महावित्तेहिं अत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं संथुणइ संथुणइत्ता सत्तट्ठ पयाइं ओसरति सत्तट्ठ पयाइं ओसरित्ता वामं जाणुं अंचेइ अंचेइत्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिवाडेइ तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणियलंसि णमेइ नमित्ता ईसिं पच्चुण्णमति पच्चुण्णमतित्ता कडयतुडियथंभियाओ भुयाओ पडिसाहरति पडिसाहरतित्ता करयलपरिग्गाहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी–

'कयग्गाहगहिय' मित्यादि मैथुनप्रथमसंरम्भे मुखचुम्बनाद्यर्थं युवत्याः पञ्चाङ्गुलिभिः केशेषु ग्रहणं कचग्राहस्तेन कचग्राहेण गृहीतं करतलाद्विमुक्तं सत् प्रभ्रष्टं करतलप्रभ्रष्टविमुक्तम्, प्राकृतत्वादेवं पदव्यत्ययः, तेन दशार्द्धवर्णेन—पञ्चवर्णेन कुसुमेन—कुसुमसमूहेन पुष्पपुञ्जोपचारकलितम्-पुष्पपुञ्ज एवोपचारः—पूजा पुष्पपुञ्जोपचारस्तेन कलितं—युक्तं करोति, कृत्वा च 'चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं' चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्यमयो विमलो दण्डो यस्य स तथा तं, काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्रं कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपेन गन्धोत्तमेनानुविद्धा कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपगन्धोत्तमानुविद्धा, प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः, तां धूपवर्त्तिं विनिर्मुञ्चन्तं वैडूर्यमयं धूपकडुच्छुकं प्रगृह्य प्रयतो धूपं दत्त्वा जिनवरेभ्यः, सूत्रे षष्ठी प्राकृतत्वात्, सप्ताष्टौ पदानि पश्चादपसृत्य दशाङ्गुलिमञ्जलिं मस्तके कृत्वा प्रयतः 'अट्ठसयविसुद्धगंठजुत्तेहिं' इति विशुद्धो—निर्मलो लक्षणदोषरहित इति भावः, यो ग्रन्थः—शब्दसंदर्भस्तेन युक्तानि विशुद्धग्रन्थयुक्तानि अष्टशतं च तानि विशुद्धग्रन्थयुक्तानि च तैः अर्थयुक्तैः—अर्थसारैः अपुनरुक्तैः महावृत्तैः, तथाविधदेवलब्धेः प्रभाव एषः, संस्तौति संस्तुत्य वामं जानुम् अञ्चति-उत्पाटयति दक्षिणं जानुं धरणितले 'निवाडेइ', इति निपातयति लगयतीत्यर्थः, त्रिः कृत्वा-त्रीन् वारान् मूर्द्धानं धरणितले 'नमेइ' त्ति नमयति नमयित्वा चेषत्प्रत्युन्नमयति, ईषत्प्रत्युन्नम्य कटकत्रुटितस्तम्भितौ भुजौ संहरति-सङ्कोचयति, संहृत्य करतलपरिगृहीतं शिरस्यावर्त्तं, मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वैवमवादीत्—

णमोऽऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं० जाव सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपत्ताणं।

'नमोऽत्थुण' मित्यादि, नमोऽस्तु णमिति वाक्यालङ्कारे देवादिभ्योऽतिशयपूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तेभ्यः, सूत्रे षष्ठी "छट्ठिविभत्तीएँ भन्नइ चउत्थी" इति प्राकृतलक्षणात्, ते चार्हन्तो नामादिरूपा अपि सन्ति ततो भावार्हत्प्रतिपत्त्यर्थमाह-' भगवद्भ्यः—भगः—समग्रैश्वर्यादिलक्षणः स एषामस्तीति भ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गवन्तस्तेभ्यः, आदिः-धर्म्मस्य प्रथमा प्रवृत्तिस्तत्करणशीला आदिकरास्तेभ्यः, तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं तत्करणशीलास्तीर्थकरास्तेभ्यः, स्वयम्-अपरोपदेशेन सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा मिथ्यात्वनिद्रापगमसम्बोधेन स्वयं संबुद्धास्तेभ्यः, तथा पुरुषाणामुत्तमाः पुरुषोत्तमाः, भगवन्तो हि संसारमप्यावसन्तः सदा परार्थव्यसनिन उपसर्जनीकृतस्वार्था उचितक्रियावन्तोऽदीनभावाः कृतज्ञतापतयोऽनुपहतचित्ता देवगुरुबहुमानिन इति भवन्ति पुरुषोत्तमास्तेभ्यः, तथा पुरुषाः सिंहा इव कर्म्मगजान् प्रति पुरुषसिंहास्तेभ्यः, तथा पुरुषा वरपुण्डरीकाणीव संसारजलासङ्गादिना धर्म्मकलापेनेति पुरुषवरपुण्डरीकाणि तेभ्यः, तथा पुरुषा वरगन्धहस्तिन इव परचक्रदुर्भिक्षमारिप्रभृतिक्षुद्रगजनिराकरणेनेति पुरुषवरगन्धहस्तिनस्तेभ्यः, तथा लोको-भव्यसत्त्वलोकस्तस्य सकलकल्याणैकनिबन्धनतया भव्यत्वभावेनोत्तमा लोकोत्तमास्तेभ्यः, तथा लोकस्य—भव्यलोकस्य नाथा—योगक्षेमकृतो लोकनाथास्तेभ्यः, तत्र योगो-बीजाधानोद्भेदपोषणकरणं क्षेमं—तदुपद्रवाद्यभावापादनम्; तथा लोकस्य-प्राणिलोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकस्य वा हितोपदेशेन सम्यक् प्ररूपणया वा हिता लोकहितास्तेभ्यः, तथा लोकस्य देशनायोग्यस्य विशिष्टस्य प्रदीपा देशनांशुभिर्यथाऽवस्थितवस्तुप्रकाशका लोकप्रदीपास्तेभ्यः, तथा लोकस्य—उत्कृष्टमतेर्भव्यसत्त्वलोकस्य प्रद्योतनं प्रद्योतः प्रद्योतकत्वं-विशिष्टज्ञानशक्तिस्तत्करणशीला लोकप्रद्योतकराः, तथा च भवन्ति भगवत्प्रसादात् तत्क्षणमेव भगवन्तो गणभृतो विशिष्टज्ञानसम्पत्समन्विता यद्वशाद् द्वादशाङ्गमारचयन्तीति तेभ्यः, तथा अभयं--विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यं निःश्रेयसधर्म्मभूमिकानिबन्धनभूता परमा धृतिरिति भावः, तद् अभयं ददतीत्यभयदास्तेभ्यः, सूत्रे च कप्रत्ययः स्वार्थिकः प्राकृतलक्षणवशात्, एवमन्यत्रापि, तथा चक्षुरिव चक्षुः-विशिष्ट आत्मधर्मस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं श्रद्धास्वभावः श्रद्धाविहीनस्याचक्षुष्मत इव तत्त्वदर्शनायोगात्, तद्ददतीति चक्षुर्दास्तेभ्यः, तथा मार्गो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषस्तं ददतीति मार्गदास्तेभ्यः तथा शरणं—संसारकान्तारगतानामतिप्रबलरागादिपीडितानां समाश्वसनस्थानकल्पं तत्त्वचिन्तारूपमध्यवसानं तद्ददतीति शरणदास्तेभ्यः, तथा बोधिः—जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिस्तां तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनरूपां ददतीति बोधिदास्तेभ्यः,तथा धर्मं—चारित्ररूपं ददतीति धर्मदास्तेभ्यः, कथं धर्म्मदाः? इत्याह-धर्मं दिशन्तीति धर्म्मदेशकास्तेभ्यः,तथा धर्म्मस्य नायकाः—स्वामिनस्तद्वशीकरणात्तत्फलपरिभोगाच्च धर्मनायकास्तेभ्यः,धर्मस्य सारथय इव सम्यक्प्रवर्त्तनयोगेन धर्म्मसारथयस्तेभ्यः,तथा धर्ममेव वरं प्रधानं चतुरन्तहेतुत्वात् चतुरन्त,चतुरन्तं चक्रमिव चतुरन्तचक्रं तेन वर्त्तितुं शीलं येषां ते धर्म्मवरचतुरन्तचक्रवर्त्तिनस्तेभ्यः, तथा अप्रतिहते-अप्रतिस्खलिते क्षायिकत्वाद् वरे प्रधाने ज्ञानदर्शने धरन्तीति अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरास्तेभ्यः, तथा छादयति—आवरयतीति छद्म—घातिकर्म्मचतुष्टयं व्यावृत्तम्—अपगतं छद्म येभ्यस्ते व्यावृत्तछद्मानस्तेभ्यः,तथा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरिषहोपसर्गघातिकर्म्मशत्रून् जितवन्तो जिनाः अन्यान् जापयन्तीति जापकास्तेभ्यो जिनेभ्यो जापकेभ्यः, तथा भवार्णवं स्वयं तीर्णा अन्यांश्च तारयन्तीति तीर्णास्तारकास्तेभ्यः, तथा केवलवेदेन अवगततत्त्वा बुद्धा अन्यांश्च बोधयन्तीति बोधकास्तेभ्यः, मुक्ताः-कृतकृत्या निष्ठितार्था इति भावः,अन्यांश्च मोचयन्तीति मोचकास्तेभ्यः, सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः शिवं-सर्वोपद्रवरहितत्वात्,अचलम्-स्वाभाविकप्रायोगिकचलनक्रियाव्यपोहात्, अरुजम्-शरीरमनसोरभावेनाऽऽधिव्याध्यसम्भवात् अनन्तं—केवलात्मनाऽनन्तत्वात्, अक्षयम्-विनाशकारणाभावात्, अव्याबाधम्-केनापि विबाधयितुमशक्यत्वात्, न पुनरावृत्तिर्यस्मात्तदपुनरावृत्ति, सिध्यन्ति—निष्ठितार्था भवन्त्यस्यामिति सिद्धिः-लोकान्तक्षेत्रलक्षणा सैव गम्यमानत्वाद् गतिः सिद्धिगतिः। सिद्धिगतिरिति नामधेयं यस्य तत्सिद्धिगतिनामधेयम्, तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं-व्यवहारतः सिद्धक्षेत्रं निश्चयतो यथाऽवस्थितं स्वं स्वरूपं, स्थानस्थानिनोरभेदोपचारात्तु सिद्धिगतिनामधेयं तत्संप्राप्तेभ्यः।

ति कट्टु वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खति अब्भुक्खित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं मंडलं आलिहति आलिहित्ता वच्चए दलयति वच्चए दलयित्ता कयग्गाहग्गहियकरतलपब्भट्ठविमुक्केणं दसद्धवण्णेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेति करेत्ता धूवं दलयति दलयतित्ता जेणेव सिद्धायतणस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता लोमहत्थयं गेण्हइ गेण्हित्ता दारचेडीओ य सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जति पमज्जित्ता बहुमज्झदेसभाए सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं अणुलिंपति अणुलिंपित्ता चच्चए दलयति दलयित्ता पुप्फारुहणं० जाव आहरणारुहणं करेति करेत्ता आसत्तोसत्तविपुल० जाव मल्लदामकलावं करेति करेत्ता कयग्गाहग्गहित० जाव पुंजोवयारकलितं करेति करेत्ता धूवं दलयति दलयित्ता जेणेव मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता बहुमज्झदेसभाए लोमहत्थेणं पमज्जति पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेति अब्भुक्खित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं मंडलगं आलिहति आलिहित्ता चच्चए दलयति दलयित्ता कयग्गाह० जाव धूवं दलयति दलयित्ता जेणेव मुहमंडवगस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता लोमहत्थगं गेण्हति गेण्हित्ता दारचेडीओ य सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थगेण पमज्जति पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेति अब्भुक्खित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं० जाव चच्चए दलयति दलयित्ता आसत्तासत्त० कयग्गह० धूवं दलयति दलयित्ता जेणेव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुहमंडवस्स उत्तरिल्ला णं खंभपंती तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता लोमहत्थगं परा० सालभंजियाओ दिव्वाए उदगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं पुप्फारुहणं० जाव आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयति जेणेव मुहमंडवस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव दारस्स अच्चणिया, जेणेव दाहिणिल्ले दारे तं चेव जेणेव पेच्छाघरमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए जेणेव वइरामए अक्खाडए जेणेव मणिपेढिया जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता लोमहत्थगं गिएहति लोमहत्थगं गिरिहत्ता अक्खाडगं च सीहासणं च लोमहत्थगेण पमज्जति पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भु०पुप्फारुहणं०जाव धूवं दलयति जेणेव पेच्छाघरमंडवपच्चत्थिमिल्ले दारे दारच्चणिया उत्तरिल्ला खंभपंती तहेव पुरत्थिमिल्ले दारे तहेव जेणेव दाहिणिल्ले दारे तहेव जेणेव चेतियथूभे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता लोमहत्थगं गेएहति गेरिहत्ता चेतियथूभं लोमहत्थएणं पमज्जति पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए सरसेण० पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त० जाव धूवं दलयति दलयित्ता जेणेव पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जेणेव जिणपडिमा तेणेव उवागच्छति जिणपडिमाए आलोए पणामं करेइ करेत्ता लोमहत्थगं गेएहति गेरिहत्ता तं चेव सव्वं जं जिणपडिमाणं० जाव सिद्धिगइनामधेज्जं ठाणं संपत्ताणं वंदति णमंसति, एवं उत्तरिल्लाए वि, एवं पुरत्थिमिल्लाए वि, एवं दाहिणिल्लाए वि ।

एवं प्रणिपातदण्डकं पाठत्वा 'वंदइ नमंसइ' इति वन्दते ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति-पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेत्येके, अन्ये त्वभिदधति-विरतिमतामेव प्रसिद्धश्चैत्यवन्दनविधिरन्येषां तथाऽभ्युपगमे कायोत्सर्गासिद्धेरिति वन्दते सामान्येन, नमस्करोत्याशयवृद्धेरुत्थाननमस्कारेणेति, तत्त्वमत्र भगवन्तः परमर्षयः केवलिनो विदन्ति, ततो वन्दित्वा नमस्यित्वा यत्रैव सिद्धायतनस्य बहुमध्यदेशभागस्तत्रैवोपागच्छति उपागत्य बहुमध्यदेशभागं दिव्ययोदकधारया अभ्युक्षति—अभिमुखं सिञ्चति, अभ्युक्ष्य सरसेन गोशीर्षचन्दनेन पञ्चाङ्गुलितलं ददाति, दत्त्वा कचग्राहगृहीतेन करतलप्रभ्रष्टविमुक्तेन दशार्द्धवर्णेन कुसुमेन-कुसुमजातेन पुष्पपुञ्जोपचारकलितं करोति कृत्वा धूपं ददाति, दत्त्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यं द्वारं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं गृह्णाति, गृहीत्वा तेन द्वारशाखाशालभञ्जिकाव्यालरूपकाणि च प्रमार्जयति, प्रमृज्य दिव्ययोदकधारयाऽभ्युक्षणं गोशीर्षचन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं करोति, ततो दक्षिणद्वारेण निर्गत्य यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य बहुमध्यदेशभागस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति, परामृश्य च बहुमध्यदेशभागं लोमहस्तकेन प्रमार्जयति, प्रमृज्य दिव्ययोदकधारयाऽभ्युक्षणं सरसेन गोशीर्षचन्दनेन पञ्चाङ्गुलितलं मण्डलमालिखति, कचग्राहगृहीतेन करतलप्रभ्रष्टविमुक्तेन दशार्द्धवर्णेन कुसुमेन पुष्पपुञ्जोपचारकलितं करोति, कृत्वा धूपं ददाति, दत्त्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य पश्चिमं द्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तपरामर्शनं तेन च लोमहस्तकेन द्वारशाखाशालभञ्जिकाव्यालरूपकप्रमार्जनम्, उदकधारयाऽभ्युक्षणं गोशीर्षचन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं करोति, कृत्वा यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्योत्तरद्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववद् द्वारार्चनिकां करोति, कृत्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य पूर्वद्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववत्तत्राप्यर्चनिकां करोति, कृत्वा च दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य यत्रैव दाक्षिणात्यं द्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववत्तत्र पूजां विधाय तेन द्वारेण विनिर्गत्य यत्रैव दाक्षिणात्यः प्रेक्षागृहमण्डपो यत्रैव दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य बहुमध्यदेशभागो यत्रैव वज्रमयोऽक्षपाटको यत्रैव च मणिपीठिका यत्रैव च सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति, परामृश्याक्षपाटकं मणिपीठिकां सिंहासनं च प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनचर्चा पुष्पपूजां धूपदानं च करोति कृत्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्योत्तरद्वारं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववद् द्वारार्चनिकां करोति, कृत्वा यत्रैव दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य पूर्वद्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्वद्वारार्चनिकां करोति, कृत्वा यत्रैव तस्य दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य दाक्षिणात्यं द्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य तत्रार्चनिकां कृत्वा यत्रैव दाक्षिणात्यश्चैत्यस्तम्भस्तत्रोपागच्छति उपागत्य स्तूपं मणिपीठिकां च लोमहस्तकेन प्रमृज्य दिव्ययोदकधारयाऽभ्युक्षति सरसगोशीर्षचन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोहणधूपदानादि करोति, कृत्वा च यत्रैव पाश्चात्या मणिपीठिका यत्रैव च पाश्चात्या जिनप्रतिमा तत्रोपागच्छति, उपागत्य जिनप्रतिमाया आलोके प्रणामं करोतीत्यादि पूर्ववद् यावन्नमस्यित्वा यत्रैवोत्तरा जिनप्रतिमा तत्रोपागच्छति, उपागत्य तत्रापि यावन्नमस्यित्वा यत्रैव पूर्वा जिनप्रतिमा तत्रोपागच्छति उपागत्य पूर्ववद् यावन्नमस्यित्वा यत्रैव दाक्षिणात्या जिनप्रतिमा पूर्ववत् सर्वं तदेव यावन्नमस्यित्वा ।

जेणेव चेइयरुक्खा दारविही य मणिपेढिया जेणेव महिंदज्झए दारविही, जेणेव दाहिणिल्ला नंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता लोमहत्थगं गेएहति चेतियाओ य तिसोपाणपडिरूवए य तोरणे य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएण पमज्जति पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए सिंचति सरसेणं गोसीसचंदणेणं अणुलिंपति अणुलिंपित्ता पुप्फारुहणं ० जाव धूवं दलयति दलयित्ता सिद्धायतणं अणुप्पयाहिणं करेमाणे जेणेव उत्तरिल्ला णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता तहेव महिंदज्झया चेतियरुक्खो चेतियथूभे पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जिणपडिमा उत्तरिल्ला पुरत्थिमिल्ला दक्खिणिल्ला पेच्छा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घरमंडवस्स वि तहेव जहा दक्खिणिल्लस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे ०जाव दक्खिणिल्ला णं खंभपंती मुहमंडवस्स वि तिण्हं दाराणं अच्चणिया भणिऊण दक्खिणिल्ला णं खंभपंती उत्तरे दारे पुरत्थिमे दारे सेसं तेणेव कमेण ०जाव पुरत्थिमिल्ला णंदापुक्खरिणी जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव पहारेत्थगमणाए ॥ तते णं तस्स विजयस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ एयप्पभिति ०जाव सव्विड्ढीए ०जाव णाइयरवेणं जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता तं णं सभं सुधम्मं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता आलोए : जिणसकहाणं पणामं करेति पणामं करेत्ता जेणेव मणिपेढिया जेणेव माणवगचेतियक्खंभे जेणेव वइरामया गोलवट्टसमुग्गका तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता लोमहत्थयं गेण्हति गेण्हित्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए लोमहत्थएणं पमज्जति पमज्जित्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए विहाडेति विहाडित्ता जिणसकहाओ लोमहत्थएणं पमज्जति पमज्जित्ता सुरभिणा गंधोदएणं तिसत्तखुत्तो जिणसकहाओ पक्खालेति पक्खालेत्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं अणुलिंपइ अणुलिंपित्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं मल्लेहि य अच्चिणति अच्चिणइत्ता धूवं दलयति दलयित्ता वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु पडिणिक्खिवति पडिणिक्खिवित्ता माणवकं चेतियखंभं लोमहत्थएणं पमज्जति पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेइ अब्भुक्खेइत्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं चचए दलयति दलयित्ता पुप्फारुहणं ०जाव आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयति दलयित्ता जेणेव सभाए सुधम्माए बहुमज्झदेसभाए तं चेव जेणेव सीहासणे तेणेव जहा दारच्चणिता जेणेव देवसयणिज्जे तं चेव जेणेव खुड्डागे महिंदज्झए तं चेव जेणेव पहरणकोसे चोप्पाले तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता पत्तेयं पत्तेयं पहरणाइं लोमहत्थएणं पमज्जति पमज्जित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं तहेव सव्वं सेसं पि दक्खिणदारं आदि काउं तहेव णेयव्वं ०जाव पुरत्थिमिल्ला णंदापुक्खरिणी सव्वाणं सभाणं जहा सुधम्माए सभाए तहा अच्चणिया उववायसभाए णवरि देवसयणिज्जस्स अच्चणिया सेसासु सीहासणाण अच्चणिया हरयस्स जहा णंदाए पुक्खरिणीए अच्चणिया ववसायसभाए पोत्थयरयणं लोमहत्थएणं दिव्वाए उदगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं अणुलिंपति अग्गेहिं वरेहिं

१६०

गंधेहि य मल्लेहि य अच्चिणति अच्चिणित्ता (मल्लेहि) सीहासणे लोमहत्थएणं पमज्जति ०जाव धूवं दलयति सेसं तं चेव णंदाए जहा हरयस्स तहा जणेव बलिपीढं तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता आभिओगे देवे सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं वयासी—

यत्रैव दाक्षिणात्यश्चैत्यवृक्षस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा च यत्रैव महेन्द्रध्वजस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववदर्चनिकां विधाय यत्रैव दाक्षिणात्या नन्दापुष्करिणी तत्रैवोपागच्छति उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति परामृश्य तोरणानि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि शालभञ्जिकाव्यालरूपकाणि च प्रमार्जयति, प्रमार्ज्य दिव्ययोदकधारया सिञ्चति, सिक्त्वा सरसगोशीर्षचन्दनपञ्चाङ्गुलितलप्रदानपुष्पाद्यारोहणधूपदानादि करोति, कृत्वा च सिद्धायतनमनुप्रदक्षिणीकृत्य यत्रैवोत्तरा नन्दापुष्करिणी स तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववत् सर्वं करोति, कृत्वा चौत्तराहे माहेन्द्रध्वजे तदनन्तरमौत्तराहे चैत्यवृक्षे तत औत्तराहे चैत्यस्तूपे, ततः पश्चिमोत्तरपूर्वदक्षिणजिनप्रतिमासु पूर्ववत्सर्वा वक्तव्यता वक्तव्या,तदनन्तरमौत्तराहे प्रेक्षागृहमण्डपे समागच्छति, तत्र दाक्षिणात्ये प्रेक्षागृहमण्डपे पूर्ववत्सर्वं वक्तव्यम् , तत उत्तरद्वारेण विनिर्गत्यौत्तराहे मुखमण्डपे समागच्छति, तत्रापि दाक्षिणात्यमुखमण्डपवत्सर्वं कृत्वोत्तरद्वारेण विनिर्गत्य सिद्धायतनस्य पूर्वद्वारे समागच्छति, तत्रार्चनिकां पूर्ववत्कृत्वा पूर्वस्य मुखमण्डपस्य दक्षिणोत्तरपूर्वद्वारेषु क्रमेणोक्तरूपां पूजां विधाय पूर्वद्वारेण विनिर्गत्य पूर्वप्रेक्षामण्डपे समागत्य पूर्ववदर्चनिकां करोति, ततः पूर्वप्रकारेणैव क्रमेण चैत्यस्तूपजिनप्रतिमाचैत्यवृक्षमाहेन्द्रध्वजनन्दापुष्करिणीनां ततः सभायां सुधर्मायां पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य यत्रैव मणिपीठिका तत्रैवोपागच्छति, उपागत्यालोके जिनसक्थ्नां प्रणामं करोति, कृत्वा च यत्र माणवकश्चैत्यस्तम्भो यत्र वज्रमया गोलवृत्ताः समुद्गकास्तत्रागत्य समुद्गकान् गृह्णाति, गृहीत्वा च विघाटयति, विघाट्य लोमहस्तकेन प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्षति, अभ्युक्ष्य गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, ततः प्रधानैर्गन्धमाल्यैरर्चयति, अर्चयित्वा धूपं दहति, तदनन्तरं भूयोऽपि वज्रमयेषु गोलवृत्तसमुद्गकेषु प्रक्षिपति , प्रक्षिप्य तान् वज्रमयान् गोलवृत्तसमुद्गकान् स्वस्थाने प्रतिनिक्षिपति , प्रतिनिक्षिप्य तेषु पुष्पगन्धमाल्यवस्त्राभरणान्यारोपयति , ततो लोमहस्तकेन माणवकचैत्यस्तम्भं प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनचर्चां पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति, कृत्वा सिंहासनप्रदेशे समागत्य सिंहासनस्य लोमहस्तकेन प्रमार्जनादिरूपां पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा यत्र मणिपीठिका यत्र च देवशयनीयं तत्रोपागत्य मणिपीठिकाया देवशयनीयस्य च प्राग्वदर्चनिकां करोति, तत उक्तप्रकारेणैव क्षुल्लकेन्द्रध्वजपूजां करोति, कृत्वा च यत्र चोप्पालको नाम प्रहरणकोशस्तत्र समागत्य लोमहस्तेन परिघरत्नप्रमुखाणि प्रहरणरत्नानि प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्षणं चन्दनचर्चां पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं करोति, कृत्वा सभायाः सुधर्माया बहुमध्यदेशभागेऽर्चनिकां पूर्ववत्करोति,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृत्वा सभायाः सुधर्माया दक्षिणद्वारे, समागत्यार्चनिकां पूर्ववत्करोति, ततो दक्षिणद्वारे विनिर्गच्छति, इत ऊर्ध्वं यथैव सिद्धायतनान्निष्क्रामतो दक्षिणद्वारादिका दक्षिणनन्दापुष्करिणीपर्यवसाना पुनरपि प्रविशत उत्तरनन्दापुष्करिणीप्रभृतिका उत्तरान्ता, ततो द्वितीयं वारं निष्क्रामतः पूर्वद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानार्चनिका वक्तव्या, तथैव सुधर्मायाः सभाया अप्यन्यूनातिरिक्ता द्रष्टव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिण्या अर्चनिकां कृत्वोपपातसभां पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य च मणिपीठिकाया देवशयनीयस्य तदनन्तरं बहुमध्यदेशभागे प्राग्वदर्चनिकां विदधाति, ततो दक्षिणद्वारेण समागत्य तस्यार्चनिकां कुरुते, अत ऊर्ध्वमत्रापि सिद्धायतनवद्दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या। ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतोऽपक्रम्य ह्रदे समागत्य पूर्ववत्तोरणार्चनिकां करोति, कृत्वा पूर्वद्वारेणाभिषेकसभायां प्रविशति, प्रविश्य मणिपीठिकायाः सिंहासनस्याभिषेकभाण्डस्य बहुमध्यदेशभागस्य च पूर्ववदर्चनिकां क्रमेण करोति, तदनन्तरमत्रापि सिद्धायतनवद्दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतः पूर्वद्वारेण व्यवसायसभां प्रविशति प्रविश्य पुस्तकरत्नं लोमहस्तकेन प्रमृज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनेन चर्चयित्वा वरगन्धमाल्यैरर्चयित्वा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति, तदनन्तरं मणिपीठिकायाः सिंहासनस्य बहुमध्यदेशभागस्य च क्रमेणार्चनिकां करोति, तदनन्तरमत्रापि सिद्धायतनवद्दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतो बलिपीठे समागत्य तस्य बहुमध्यदेशभागे पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा चोत्तरपूर्वस्यां नन्दापुष्करिण्यां समागत्य तस्यास्तोरणेषु पूर्ववदर्चनिकां कृत्वाऽऽभियोगिकान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा एवमवादीत्—

खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! विजयाए रायहाणीए सिंघाडगेसु य तिएसु य चउक्केसु य चच्चरेसु य चतुम्मुहेसु य महापहपहेसु य पासाएसु य पागारेसु य अट्टालएसु य चरियासु य दारेसु य गोपुरेसु य तोरणेसु य वावीसु य पुक्खरिणीसु य ०जाव बिलपंतिगासु य आरामेसु य उज्जाणेसु य काणणेसु य वणेसु य वणसंडेसु य वणराईसु य अच्चणियं करेह करेत्ता ममेयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह। तए णं ते आभिओगिया देवा विजएणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा ०जाव हट्ठतुट्ठा विणएणं पडिसुणेंति पडिसुणेत्तिा विजयाए रायहाणीए सिंघाडगेसु य ०जाव अच्चणियं करेंति करेत्ता जेणेव विजए देवे तेणेव उवागच्छन्ति उवागच्छित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणंति। तए णं से विजए देवे तेसिं णं आभिओगिआणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोचा णिसम्म हट्ठतुट्ठ चित्तमाणंदिय०जाव हयहियए जेणेव णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता पुरत्थिमिल्लेणं तोरणेणं ०जाव हत्थपायं पक्खालेति पक्खालेत्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए णंदापुक्खरिणीओ पच्चुत्तरत्ति पच्चुत्तरित्ता जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव पहारेत्थगमणाए। तए णं से विजये देवे चउहिं सामाणियदेवसाहस्सीहिं० जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं सव्विड्ढीए०जाव निग्घोसनाइयरवेणं जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सभं सुधम्मं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव मणिपेढिया तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे। [सू० १४२]

'खिप्पामेवे' त्यादि सुगमं यावत् 'एयमाणत्तियं पच्चप्पिणंति' नवरं शृङ्गाटकं—त्रिकोणं स्थानं त्रिकम्—यत्र रथ्यात्रयं मिलति चतुष्कम्—चतुष्पथयुक्तं चत्वरम्—बहुरथ्यापातस्थानं चतुर्मुखम्—यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति महापथो—राजपथः शेषः सामान्यः पन्थाः प्राकारः—प्रतीतः अट्टालकाः—प्राकारस्योपरि भृत्याश्रयविशेषाः चरिका—अष्टहस्तप्रमाणो नगरप्राकारान्तरालमार्गः द्वाराणि—प्रासादादीनां गोपुराणि प्राकारद्वाराणि तोरणानि—द्वारादिसम्बन्धीनि, आगत्य रमन्तेऽत्र माधवीलतागृहादिषु दम्पत्य इति स आरामः, पुष्पादिसद्वृक्षसङ्कुलमुत्सवादौ बहुजनोपभोग्यमुद्यानं, सामान्यवृक्षवृन्दं नगरासन्नं काननं, नगरविप्रकृष्टं वनम्, एकानेकजातीयोत्तमवृक्षसमूहो वनषण्डः, एकजातीयोत्तमवृक्षसमूहो वनराजी। 'तए णं' मित्यादि, ततः स विजयो देवो बलिपीठे बलिविसर्जनं करोति, कृत्वा च यत्रैवोत्तरनन्दापुष्करिणी तत्रोपागच्छति, उपागत्योत्तरपूर्वां नन्दां पुष्करिणीं प्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वतोरणेनानुप्रविशति, अनुप्रविश्य पूर्वत्रिसोपानप्रतिरूपकेण प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुह्य हस्तपादौ प्रक्षालयति, प्रक्षाल्य नन्दापुष्करिणीतः प्रत्युत्तरति, प्रत्युत्तीर्य चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभिस्तिसृभिः पर्षद्भिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिर्विजयराजधानीवास्तव्यैर्वानमन्तरैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या यावद् दुन्दुभिनिर्घोषनादितरवेण विजयाया राजधान्या मध्यं मध्येन यत्रैव सभा सुधर्मा तत्रोपागच्छति, उपागत्य सभां सुधर्मां पूर्वद्वारेणानुप्रविशति, अनुप्रविश्य यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः सन्निषण्णः।

(१७) अथ विजयदेवस्य तन्महिषीणां च निषीदनादि प्रतिपादयन्नाह—

तए णं तस्स विजयस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरत्थिमेणं पत्तेयं पत्तेयं पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीयंति। तए णं तस्स विजयस्स देवस्स चत्तारि अग्गमहिसीओ पुरत्थिमेणं पत्तेयं पत्तेयं पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीयंति। तए णं तस्स विजयस्स देवस्स दाहिणपुरत्थिमेणं अब्भिंतरियाए परिसाए अट्ठदेवसाहस्सीओ पत्तेयं पत्तेयं० जाव णिसीयंति। एवं दक्खिणेणं मज्झिमियाए परिसाए दस देवसाह—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्सीओ० जाव णिसीदंति । दाहिणपचत्थिमेणं बाहिरियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीओ पत्तेयं पत्तेयं० जाव णिसीदंति । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स पचत्थिमेणं सत्त अणीयाहिवती पत्तेयं पत्तेयं० जाव णिसीयंति। तए णं तस्स विजयस्स देवस्स पुरत्थिमेणं दाहिणेणं पचत्थिमेणं उत्तरेणं सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ पत्तेयं पत्तेयं पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीदंति, तं जहा-पुरत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ ०जाव उत्तरेणं ४॥ ते णं आयरक्खा सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया पिणद्धगेवेज्जविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाइं तिसंधीणि वइरामया कोडीणि धणूइं अहिगिज्झपरियाइयकंडकलावा णीलपाणिणो पीयपाणिणो रत्तपाणिणो चावपाणिणो चारुपाणिणो चम्मपाणिणो खग्गपाणिणो दंडपाणिणो पासपाणिणो णीलपीयरत्तचावचारुचम्मखग्गदंडपासवरधरा आयरक्खा रक्खोवगा गुत्ता गुत्तपालिता जत्ता जुत्तपालिता पत्तेयं पत्तेयं समयतो विणयतो किंकरभूता विव चिट्ठंति ॥ विजयस्स णं भंते! देवस्स केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?, गोयमा! एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, विजयस्स णं भंते। देवस्स सामाणियाणं देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?, गोयमा! एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, एवं महिड्ढीए एवं महाज्जुतीए एवं महब्बले एवं महायसे एवं महासुक्खे एवं महाणुभागे विजए देवे विजए देवे। (सू० १४३)

ततस्तस्य विजयस्य देवस्यापरोत्तरेण-अपरोत्तरस्यां दिशि एवमुत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां दिशि च चत्वारि चत्वारि सामानिकदेवसहस्राणि चतुर्षु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पूर्वस्यां दिशि चतस्रोऽग्रमहिष्यश्चतुर्षु भद्रासनेषु निषीदन्ति, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरिकायाः पर्षदोऽष्टौ देवसहस्राणि अष्टासु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति। ततस्तस्य विजयस्य देवस्य दक्षिणस्यां दिशि मध्यमिकायाः पर्षदो दश देवसहस्राणि दशसु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति। ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पश्चिमायां दिशि बाह्यायाः पर्षदो द्वादश देवसहस्राणि द्वादशसु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति। ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पश्चिमायां दिशि सप्तानीकाधिपतयः सप्तसु भद्रासनेषु निषीदन्ति। ततस्तस्य विजयस्य देवस्य सर्वतः समन्तात् सर्वासु दिक्षु सामस्त्येन षोडश आत्मरक्षकदेवसहस्राणि षोडशसु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति, तद्यथा—चत्वारि सहस्राणि चतुर्षु भद्रासनसहस्रेषु पूर्वस्यां दिशि, एवं दक्षिणस्यां दिशि, एवं प्रत्येकं पश्चिमोत्तरयोरपि । ते चात्मरक्षाः सन्नद्धबद्धवर्मितकवचाः, कवचं—तनुत्राणं वर्म—लोहमयकुतूलिकादिरूपं संजातमस्मिन्निति वर्मितं सन्नद्धं शरीरे आरोपणात्, बद्धं गाढतरबन्धनेन बन्धनात्, वर्मितं कवचं यैस्ते सन्नद्धबद्धवर्मितकवचाः. 'उप्पीलियसरासणपट्टिया' इति उत्पीडिता गाढीकृता शरा अस्यन्ते क्षिप्यन्तेऽस्मिन्निति शरासनः-इषुधिः तस्य पट्टिका यैरुत्पीडितशरासनपट्टिकाः 'पिणद्धगेवेज्जविमलवरचिंधपट्टा' इति पिनद्धं ग्रैवेयं ग्रीवाभरणं विमलवरचिह्नपट्टश्च यैस्ते पिनद्धवरग्रैवेयविमलवरचिह्नपट्टाः 'गहियाउहपहरणा' इति आयुध्यतेऽनेनेत्यायुधम्-खेटकादि प्रहरणम्—असिकुन्तादि, गृहीतानि आयुधानि प्रहरणानि च यैस्ते गृहीतायुधप्रहरणाः, त्रिनतानि-आदिमध्यावसानेषु नमनभावात्, त्रिसन्धीनि—आदिमध्यावसानेषु सन्धिभावात्, वज्रमयकोटीनि धनूंषि अभिगृह्य 'परियाइयकंडकलावा' इति पर्यात्तकाण्डकलापा विचित्रकाण्डकलापयोगात्, केचित् 'नीलपाणय' इति नीलः काण्डकलाप इति गम्यते पाणौ येषां ते नीलपाणयः, एवं पीतपाणयः रक्तपाणयः, चापं पाणौ येषां ते चापपाणयः, चारुः-प्रहरणविशेषः पाणौ येषां ते चारुपाणयः, चर्म—अङ्गुष्ठाङ्गुल्योराच्छादनरूपं पाणौ येषां ते चर्मपाणयः, एवं दण्डपाणयः खड्गपाणयः पाशपाणयः, एतदेव व्याचष्टे—यथायोगं नीलपीतरक्तचापचारुचर्मदण्डपाशधरा आत्मरक्षाः, रक्षामुपगच्छन्ति—तदेकचित्ततया तत्परायणा वर्त्तन्त इति रक्षोपगाः गुप्ताः—न स्वामिभेदकारिणः, तथा गुप्ता—पराप्रवेश्या पालिः—सेतुर्येषां ते गुप्तपालिकाः, तथा युक्ताः—सेवकगुणोपेततयोचिताः, तथा युक्ता-परस्परं बद्धा न तु वृहदन्तराला पालिर्येषां ते युक्तपालिकाः, प्रत्येकं प्रत्येकं समयतः-आचारत आचारेणेत्यर्थः विनयतश्च किङ्करभूता इव तिष्ठन्ति, न खलु ते किङ्कराः किन्तु तेऽपि मान्याः तेषामपि पृथगासननिपातनात्, केवलं ते तदानीं निजाचारपरिपालनतो विनीतत्वेन च तथाभूता इव तिष्ठन्ति तदुक्तं किङ्करभूता इवेति ॥ 'तए णं से विजए' इत्यादि सुप्रतीतं यावद्विजयदेववक्तव्यतापरिसमाप्तिः ॥ तदेवमुक्ता विजयद्वारवक्तव्यता ॥ जी० ३ प्रति० २ उ०।

(१८)संप्रति लवणसमुद्रगतवैजयन्तद्वारप्रतिपादनार्थमाह-

कहि णं भंते! लवणसमुद्दे वेजयन्ते नामं दारे पण्णत्ते ?, गोयमा ! लवणसमुद्दे दाहिणपेरंते धातइसंडदीवस्स दाहिणद्धस्स उत्तरेणं सेसं तं चेव सव्वं । एवं जयंते वि णवरि सीयाए महाणदीए उप्पिं भाणियव्वे । एवं अपराजिते वि, णवरं दिसिभागो भाणियव्वो ।

'कहि णं भंते' इत्यादि, क भदन्त ! लवणस्य समुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्, भगवानाह गौतम ! लवणसमुद्रस्य दक्षिणपर्यन्ते धातकीखण्डद्वीपदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र लवणसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्। एतद्वक्तव्यता सर्वाऽपि विजयद्वारवदवसेया, नवरं राजधानी वैजयन्तद्वारस्य दक्षिणतो वेदितव्या । जयन्तद्वारप्रतिपादनार्थमाह—'कहि णं भंते' इत्यादि, क भदन्त ! लवणसमुद्रस्य जयन्तं द्वारम् प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम ! लवणसमुद्रस्य पश्चिमपर्यन्ते धातकीखण्डपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीताया महानद्या उपरि लवणस्य समुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्, तद्वक्तव्यताऽपि विजयद्वारवद् वक्तव्या, नवरं राजधानी जयन्तद्वारस्य पश्चिमभागे वक्तव्या । अपराजितद्वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रप्रतिपादनार्थमाह—' कहि णं भंते ' इत्यादि, क भदन्त ! लवणस्य समुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ?, भगवानाह—गौतम ! लवणसमुद्रस्योत्तरपर्यन्ते धातकीखण्डद्वीपोत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र लवणस्य समुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । एतद्वक्तव्यताऽपि विजयद्वारवन्निरवशेषा वक्तव्या नवरं राजधानी अपराजितद्वारस्योत्तरतोऽवसातव्या । (लवणसमुद्रविजयादिद्वाराणां परस्परमन्तरम् ' अंतर ' शब्दे प्रथमभागे ७४ पृष्ठ गतम् ।)

(१९) संप्रति लवणसमुद्रनामान्वर्थं पृच्छति—

लवणस्स णं भंते ! समुद्दस्स पएसा धायइसंडं दीवं पुट्ठा, तहेव जहा जंबूदीवे धायइसंडे वि सो चेव गमो । लवणे णं भंते ! समुद्दे जीवा उदाइत्ता सो चेव विही, एवं धायइसंडे वि ॥ से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ लवणसमुद्दे लवणसमुद्दे ?, गोयमा ! लवणे णं समुद्दे उदगे आविले रइले लोणे लिंदे खारए कडुए अपेज्जे बहूणं दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसिरीसवाणं णण्णत्थ, तज्जोणियाणं सत्ताणं सोत्थिए एत्थ लवणाहिवई देवे महिड्ढिए पलिओवमट्ठिईए, से णं तत्थ सामाणिय ० जाव लवणसमुद्दस्स सुत्थियाए रायहाणीए अण्णेसिं ०जाव विहरइ,से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ लवणे णं समुद्दे लवणे णं समुद्दे अदुत्तरं च णं गोयमा ! लवणसमुद्दे सासए ०जाव णिच्चे । (सू० १५४)

' लवणस्स णं भंते ! समुद्दस्स पएसा ' इत्यादि सूत्रचतुष्टयं प्राग्वद् भावनीयम् ॥ सम्प्रति लवणसमुद्रनामान्वर्थं पृच्छति—' से केणट्ठेण ' मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—लवणः समुद्रो लवणः समुद्रः ?, इति, भगवानाह—गौतम ! लवणस्य समुद्रस्य उदकः आविलम्—अविमलम् अस्वच्छं प्रकृत्या ' रइलं ' रजोवत् , जलवृद्धिहानिभ्यां पङ्कबहुलमिति भावः , लवणं सान्निपातिकरसोपेतत्वाल्लिन्द्रं गोवराख्यरसविशेषकलितत्वात् , क्षारम्-तीक्ष्णं लवणरसविशेषवत्त्वात् , कटुकम्-कटुकरसोपेतत्वात् , अत एवोपद्रववातादपेयम् , केषामपेयम् ? , चतुष्पदमृगपक्षिसरीसृपाणाम् , नान्यत्र तद्योनिकेभ्यः—लवणसमुद्रयोनिकेभ्यः सत्त्वेभ्यस्तेषां पेयमिति भावः , तद्योनिकतया तेषां तदाहारकत्वात् , तदेवं यस्मात्तस्योदकं लवणमतोऽसौ लवणः समुद्र इति, अन्यच्च ' सुट्ठिए लवणाहिवई ' इत्यादि सुगमं नवरमेष भावार्थः यस्मात् सुस्थितनामा तदधिपतिः-लवणाधिपतिरिति स्वकल्पपुस्तके प्रसिद्धम् , आधिपत्यं च तस्याधिकृतसमुद्रस्य विषये नान्यस्य ततोऽप्यसौ लवणसमुद्र इति, तथा चाह,—' से एएणट्ठेण ' मित्यादि ॥

(२०) सम्प्रति लवणसमुद्रगतचन्द्रादिसंख्यापरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—

लवणे णं भंते ! समुद्दे कति चंदा पभासिंसु वा पभासिंति वा पभासिस्संति वा ?, एवं पंचण्ह वि पुच्छा, गोयमा ! लवणसमुद्दे चत्तारि चंदा पभासिंसु वा पभासिंति वा पभासिस्संति वा,चत्तारि सूरिया तविंसु वा तविंति वा तविस्संति वा, बारसुत्तरं नक्खत्तसयं जोगं जोएंसु वा जोएंति वा जोएस्संति वा, तिण्णि बावण्णा महग्गहसया चारं चरिंसु चरंति वा चरिस्संति वा,दुण्णि सयसहस्सा सत्तट्ठिं च सहस्सा नव य सया तारागणकोडाकोडीणं सोभं सोभिंसु वा सोभिंति वा सोभिस्संति वा । (सू० १५५)

' लवणे णं भंते ! समुद्दे ' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् , भगवानाह—गौतम ! चत्वारश्चन्द्राः प्रभासितवन्तः प्रभासन्ते प्रभासिष्यन्ते , चत्वारः सूर्यास्तापितवन्तस्तापयन्ति तापयिष्यन्ति, ते च जम्बूद्वीपगतचन्द्रसूर्यैः सह समश्रेण्या प्रतिबद्धा वेदितव्याः, तद्यथा—द्वौ सूर्यौ एकस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य श्रेण्या प्रतिबद्धौ, द्वौ सूर्यौ द्वितीयस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य, तथा द्वौ चन्द्रमसावेकस्य जम्बूद्वीपगतस्य चन्द्रस्य समश्रेण्या प्रतिबद्धौ, द्वौ द्वितीयचन्द्रस्य, तौ चैवम्—यदा जम्बूद्वीपगत एकः सूर्यो मेरोर्दक्षिणतश्चारं चरति तदा लवणसमुद्रेऽपि तेन सह समश्रेण्या प्रतिबद्धः एकः शिखाया अभ्यन्तरं चारं चरति द्वितीयस्तेनैव सह श्रेण्या प्रतिबद्धः शिखायाः परतः, तदैव च यो जम्बूद्वीपे मेरोरुत्तरतश्चारं चरति तेन सह समश्रेण्या प्रतिबद्धो लवणसमुद्रे उत्तरत एकः शिखाया अभ्यन्तरं चारं चरति, द्वितीयस्तु तेनैव सह समश्रेण्या प्रतिबद्धः शिखायाः परतः, एवं चन्द्रमसोऽपि जम्बूद्वीपगतचन्द्राभ्यां सह समश्रेणिप्रतिबद्धा भावनीयाः, अत एव जम्बूद्वीप इव लवणसमुद्रेऽपि यदा मेरोर्दक्षिणतो दिवसः संभवति, तदा मेरोरुत्तरतोऽपि लवणसमुद्रे दिवसः, यदा च मेरोरुत्तरतो लवणसमुद्रे दिवसस्तदा दक्षिणतोऽपि दिवसस्तदा च पूर्वस्यां पश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रे रात्रिः, यदा च मेरोः पूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रे दिवसस्तदा पश्चिमायामपि दिवसः, यदा च पश्चिमायां दिवसस्तदा पूर्वदिश्यपि, तदा च मेरोर्दक्षिणत उत्तरतश्च नियमतो रात्रिः, एवं धातकीखण्डादिष्वपि भावनीयम् , तद्गतानामपि चन्द्रसूर्याणां जम्बूद्वीपगतचन्द्रसूर्यैः सह समश्रेण्या व्यवस्थितत्वात् , उक्तं च सूर्यप्रज्ञप्तौ—" जया णं लवणसमुद्दे दाहिणद्धे दिवसे भवइ, तया णं उत्तरद्धे वि दिवसे हवइ । जया णं उत्तरद्धे दिवसे हवइ, तया णं लवणसमुद्दे पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं राई भवइ । एवं जहा जंबुदीवे दीवे तहेव " तथा " जया णं धायइसंडे दीवे दाहिणद्धे दिवसे भवइ, तया णं उत्तरद्धे वि, जया णं उत्तरद्धे दिवसे हवइ, तया णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं राई हवइ । एवं जहा जम्बुद्दीवे दीवे तहेव, कालोए जहा लवणे तहेव " तथा—" जया णं अब्भितरपुक्खरद्धे दाहिणद्धे दिवसे भवइ, तया णं उत्तरद्धे वि दिवसे हवइ । जया णं उत्तरद्धे दिवसे हवइ तया णं अब्भितरद्धे मंदराणं पव्वयाणं पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं राई हवइ, सेसं जहा जंबुदीवे तहेव " आह—लवणसमुद्रे षोडशयोज-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नसहस्रप्रमाणा शिखा ततः कथं चन्द्रसूर्याणां तत्र तत्र देशे चारं चरतां न गतिव्याघातः ?, उच्यते-इह लवणसमुद्रवर्जेषु शेषेषु द्वीपसमुद्रेषु यानि ज्योतिष्कविमानानि तानि सर्वाण्यपि सामान्यरूपस्फटिकमयानि, यानि पुनर्लवणसमुद्रे ज्योतिष्कविमानानि तानि तथाजगत्स्वाभाव्यादुदकस्फाटनस्वभावस्फटिकमयानि, तथा चाक्तं सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्तौ-"जोइसियविमाणाइं, सव्वाइं हवंति फलिहमइयाइं। दगफालिया मया पुण, लवणे जे जोइसविमाणा ॥ १ ॥" ततो न तेषामुदकमध्ये चारं चरतामुदकेन व्याघातः, अन्यच्च शेषद्वीपसमुद्रेषु चन्द्रसूर्यविमानान्यधोलेश्याकानि यानि पुनर्लवणसमुद्रे तानि तथा जगत्स्वाभाव्यादूर्ध्वलेश्याकानि तेन शिखायामपि सर्वत्र लवणसमुद्रे प्रकाशो भवति, अयं चार्थः प्रायो बहूनामप्रतीत इति संवादार्थमेतदर्थप्रतिपादको जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणविरचितो विशेषणवतीग्रन्थ उपदर्श्यते-"सोलससाहस्सियाए सिहाए कहं जोइसियविघातो न भवति ?, तत्थ भन्नई-जेण सूरपन्नत्तीए भणियं-" जोइसियविमाणाइं, सव्वाइं हवंति फलिहमइयाइं। दगफालिया मया पुण, लवणे जे जोइसविमाणा ॥ १ ॥" जं सव्वदीवसमुद्देसु फलिहामयाइं लवणसमुद्दे चेव केवलं दगफलिहामयाइं तत्थ इदमेव कारणं मा उदगेण विघातो भवउ " इति, जंबूसूरपन्नत्तीए चेव भणियं-" लवणम्मि उ जोइसिया,उड्डं लेसा हवंति नायव्वा। तेण परं जोइसिया, अह लेसागा मुणेयव्वा ॥ १ ॥ " तं पि उदगमालावभासणत्थमेव लोगठिई एसा" इति। तथा द्वादशं नक्षत्रशतम्, एवं चत्वारो हि लवणसमुद्रे शशिनः एकैकस्य च शशिनः परिवारे अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि, ततोऽष्टाविंशतेश्चतुर्भिर्गुणने भवति द्वादशोत्तरं शतमिति। त्रीणि द्विपञ्चाशदधिकानि महाग्रहशतानि, एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाशीतिर्ग्रहाणां भावात्, द्वे शतसहस्रे सप्तषष्टिः सहस्राणि नव शतानि तारागणकोटीकोटीनाम् २६७९००००००००००००००,

उक्तञ्च-

" चत्तारि चेव चंदा, चत्तारि य सूरिया लवणतोए।
बारं नक्खत्तसयं, गहाण तिन्नेव बावन्ना ॥ १ ॥
दो चेव सयसहस्सा, सत्तट्ठी खलु भवे सहस्सा य।
नव य सया लवणजले, तारागणकोडिकोडीणं ॥ २ ॥ "

इह लवणसमुद्रे चतुर्दश्यादिषु तिथिषु नदीमुखानामापूरणतो जलमतिरेकेण प्रवर्द्धमानमुपलक्ष्यते तत्र कारणं पिपृच्छिषुरिदमाह-

कम्हा णं भंते ! लवणसमुद्दे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु अतिरेगं अतिरेगं वड्ढति वा हायति वा ?, गोयमा ! जंबुदीवस्स णं दीवस्स चउद्दिसिं बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ लवणसमुद्दं पंचाणउतिं पंचाणउतिं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि महालिंजरसंठाणसंठिआ महइमहालया महापायाला पण्णत्ता, तं जहा-वलयामुहे, केतूए, जूवे,ईसरे। ते णं महापाताला एगमेगं जोयणसतसहस्सं उव्वेहेणं मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं मज्झे एगपदेसियाए सेढीए एगमेगं जोयणसतसहस्सं विक्खंभेणं उवरिं मुहमूले दस जोयणसहस्साइं विक्खम्भेणं। तेसि णं महापायालाणं कुड्डा सव्वत्थ समा दसजोयणसतबाहल्ला पण्णत्ता अच्छा सव्ववइरामया०जाव पडिरूवा। तत्थ णं बहवे जीवा पोग्गला य अवक्कमंति विउक्कमंति चयंति उपचयंति सासया णं ते कुड्डा दव्वट्ठयाए वण्णपज्जवेहिं असासया। तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्डिया ०जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तं जहा-काले, महाकाले, वेलंबे, पभंजणे। तेसि णं महापायालाणं तओ तिभागा पण्णत्ता, तं जहा-हेट्ठिल्ले तिभागे मज्झिल्ले तिभागे उवरिमे तिभागे। ते णं तिभागा तेत्तीसं जोयणसहस्सा तिण्णि य तेत्तीसं जोयणसतं जोयणतिभागं च बाहल्लेणं। तत्थ णं जे से हेट्ठिल्ले तिभागे एत्थ णं वाउकाओ संचिट्ठति, तत्थ णं जे से मज्झिल्ले तिभागे एत्थ णं वाउकाए य आउकाए य संचिट्ठंति, तत्थ णं जे से उवरिल्ले तिभागे एत्थ णं आउकाए संचिट्ठति, अदुत्तरं च णं गोयमा ! लवणसमुद्दे तत्थ तत्थ देसे बहवे खुड्डागलिंजरसंठाणसंठिया खुड्डापायालकलसा पण्णत्ता,ते णं खुड्डा पाताला एगमेगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं मूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं मज्झे एगपदेसियाए सेढिए एगमेगं जोयणसहस्सं विक्खंभेणं उप्पि मुहमूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं। तेसि णं खुड्डागपायालाणं कुड्डा सव्वत्थ समा दस जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ता सव्ववइरामया अच्छा ०जाव पडिरूवा। तत्थ णं बहवे जीवा पोग्गला य ०जाव असासया वि,पत्तेयं२,अद्धपलिओवमट्ठिती ताहिं देवताहिं परिग्गहिया तेसि णं खुड्डागपातालाणं ततो तिभागा पण्णत्ता, तं जहा-हेट्ठिल्ले तिभागे मज्झिल्ले तिभागे उवरिल्ले तिभागे, ते णं तिभागे तिण्णि तेत्तीसे जोयणसते जोयणतिभागं च बाहल्लेणं पण्णत्ते। तत्थ णं जे से हेट्ठिल्ले तिभागे एत्थ णं वाउकाओ, मज्झिल्ले तिभागे वाउआए आउयाते च, उवरिल्ले आउकाए, एवामेव सपुव्वावरेणं लवणसमुद्दे सत्त पायालसहस्सा अट्ठ य चुलसीता पातालसता भवंतीति मक्खाया। तेसि णं महापायालाणं खुड्डागपायालाण य हेट्ठिममज्झिमिल्लेसु तिभागेसु बहवे ओराला वाया संसेयंति संमुच्छिमंति एयंति चलंति कंपंति खुब्भंति घट्टंति फंदंति तं तं भावं परिणमंति,तया णं से उदए उण्णामिज्जति, जया णं तेसिं महापायालाणं खुड्डागपायालाण य हेट्ठिल्लमज्झिमिल्लेसु तिभागेसु नो बहवे ओराला ०जाव तं तं भावं न परिणमन्ति, तया णं से उदए नो उन्नामिज्जइ अंतरा वि य णं ते वायं उदीरेंति अंतरा वि य णं से उदगे उण्णामिज्जइ अंतरा वि य ते वाया नो उदीरंति अंतरा वि य णं से उदगे णो उण्णामिज्जइ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं खलु गोयमा! लवणसमुद्दे चाउद्दस(स्स)ट्ठमु(म्मु)दिट्ठपुण्णमासिणीसु अइरेगं अइरेगं वड्ढति वा हायति वा। (सू० १५६)

'कम्हा णं भंते !', इत्यादि कस्माद्भदन्त ! लवणसमुद्रे चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपौर्णमासीषु तिथिषु, अत्रोद्दिष्टा अमावस्या, पौर्णमासी प्रतीता, पूर्णो मासो यस्यां सा पौर्णमासी, प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण् । अन्ये तु व्याचक्षते—पूर्णो माः—चन्द्रमा अस्यामिति पौर्णमासी, अण् तथैव, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे-'पुण्णमासिणी' ति पाठः । ' अइरेगं अइरेगं ' अतिशयेन अतिशयेन वर्द्धते हीयते वा ? , भगवानाह—गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे यो मन्दरपर्वतस्तस्य चतसृषु पूर्वादिषु दिक्षु लवणसमुद्रं पञ्चनवतिं २ योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे चत्वारः ' महइ महालया ' अतिशयेन महान्तो महालिञ्जरं-महापिडहं तत्संस्थानसंस्थिताः, क्वचित्-' महारंजरसंठाणसंठिया ' इति पाठः। तत्रारञ्जरः-अलिञ्जर इति, महापातालकलशाः प्रज्ञप्ताः। उक्तं च-" पणनउइसहस्साइं, ओगाहित्ता चउद्दिसिं लवणं। चउरोऽलिंजरसंठाणसंठिया होंति पायाला॥१॥"तानेव नामतः कथयति। तद्यथा-मेरोः पूर्वस्यां दिशि वडवामुखः, दक्षिणस्यां केयूपः, अपरस्यां यूपः, उत्तरस्यामीश्वरः ते चत्वारोऽपि महापातालकलशा एकैकं योजनशतसहस्रं लक्षम् उद्वेधेन मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेन तत ऊर्द्धम् एकप्रादेशिक्या श्रेण्या विष्कम्भतः प्रवर्द्धमाना प्रवर्द्धमाना मध्ये एकैकं योजनशतसहस्रं विष्कम्भेन तत ऊर्द्ध भूयोऽप्येकप्रादेशिक्या श्रेण्या विष्कम्भतो हीयमाना हीयमाना उपरि मुखमूले दश योजनसहस्राणि विष्कम्भतः, उक्तञ्च-" जोयणसहस्सदसगं, मूले उवरिं च होंति विच्छिण्णा । मज्झे य सयसहस्सं,तेत्तियमेत्तं च ओगाढा ॥ १ ॥ " 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां महापातालकलशानां कुड्याः सर्वत्र समा दशयोजनशतबाहल्या-योजनसहस्रबाहल्या इत्यर्थः,सर्वात्मना वज्रमयाः ' अच्छा ० जाव पडिरूवा ' इति प्राग्वत् ॥ ' तत्थ ण ' मित्यादि, तेषु वज्रमयेषु कुड्येषु बहवो जीवाः पृथिवीकायिकाः पुद्गलाश्च अपक्रामन्ति-गच्छन्ति व्युत्क्रामन्ति—उत्पद्यन्ते जीवा इति सामर्थ्याद् गम्यम्, जीवानामेवोत्पत्तिधर्मकतया प्रसिद्धत्वात् , चीयन्ते—चयमुपगच्छन्ति उपचीयन्ते-उपचयमायान्ति, एतच्च पदद्वयं पुद्गलापेक्षं, पुद्गलानामेव चयापचयधर्मकतया व्यवहारात्, तत एवं सकलकालं तदाकारस्य सदाऽवस्थानात् शाश्वतास्ते कुड्या द्रव्यार्थतया प्रज्ञप्ताः, वर्णपर्यायैः रसपर्यायैः गन्धपर्यायैः स्पर्शपर्यायैः पुनरशाश्वताः, वर्णादीनां प्रतिक्षणं कियत्कालादूर्द्ध वाऽन्यथाऽन्यथा भवनात् ॥ 'तत्थ ण' मित्यादि, तत्र तेषु चतुर्षु पातालकलशेषु चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत्करणान्महाद्युतिका इत्यादिपरिग्रहः, पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति,तद्यथा-'काले'इत्यादि, वडवामुखे-कालः, केयूपे-महाकालः,यूपे-वेलम्बः,ईश्वरे-प्रभञ्जनः। 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां महापातालकलशानां प्रत्येकं प्रत्येकं त्र्यस्त्रिभागाः प्रज्ञप्ताः,तद्यथा—अधस्तनस्त्रिभागो मध्यमस्त्रिभाग उपरितनस्त्रिभागः। ' ते ण ' मित्यादि, ते त्रयोऽपि त्रिभागास्त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशानि योजनत्रिभागं च बाहल्येन प्रज्ञप्ताः ॥ तत्र चतुर्ष्वपि पातालकलशेषु अधस्तनेषु त्रिभागेषु वातकायः संतिष्ठति, मध्यमेषु त्रिभागेषु वायुकायोऽप्कायश्च, उपरितनेषु त्रिभागेष्वप्काय एव। ' अदुत्तरं च ण ' मित्यादि, अथान्यद् , गौतम ! लवणसमुद्रे ' तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं ' इति तेषां पातालकलशानामन्तरेषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे क्षुल्लारञ्जरसंस्थानसंस्थिताः क्षुल्लाः-पातालकलशाः प्रज्ञप्ताः, ते क्षुल्लाः-पातालकलशा एकमेकं योजनसहस्रमुद्वेधेन मूले एकैकं योजनशतं विष्कम्भेन मध्ये एकैकं योजनसहस्रं विष्कम्भेन उपरि मुखमूले एकैकं योजनशतं विष्कम्भेण ' तेसि ण ' मित्यादि, तेषां-क्षुल्लकपातालकलशानां कुड्याः सर्वत्र समा दश दश योजनानि बाहल्यतः । उक्तञ्च— "जोयणसयविच्छिण्णा, मूले उवरिं दस सयाणि मज्झम्मि। ओगाढा य सहस्सं, दस जोयणिया य से कुड्डा ॥ १ ॥" ' सव्ववइरामया ' इत्यादि प्राग्वत् यावत् ' फासपज्जवेहिं असासया ' इति, प्रत्येकं प्रत्येकं तेऽर्द्धपल्योपमस्थितिकाभिर्देवताभिः परिगृहिताः ॥ ' तेसि ण मित्यादि, तेषां-क्षुल्लकपातालकलशानां प्रत्येकं प्रत्येकं त्रयस्त्रिभागाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—अधस्तनस्त्रिभागो मध्यमस्त्रिभाग उपरितनस्त्रिभागः। ' ते ण ' मित्यादि, ते त्रिभागाः प्रत्येकं त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागं च बाहल्येन प्रज्ञप्ताः, तत्र सर्वेषामपि क्षुल्लकपातालकलशानामधस्तनेषु त्रिभागेषु वायुकायः संतिष्ठति , मध्येषु त्रिभागेषु वायुकायोऽप्कायश्च , उपरितनेषु त्रिभागेष्वप्कायः संतिष्ठति , एवमेव ' सपुव्वावरेणं ' पूर्वापरसमुदायसंख्यया सप्त पातालकलशसहस्राणि-क्षुल्लकपातालकलशसहस्राणि, अष्टौ च पातालकलशशतानि-क्षुल्लकपातालकलशशतानि चतुरशीतानि—, चतुरशीत्यधिकानि भवन्तीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, उक्तञ्च—

" अन्नेऽवि य पायाला, खुड्डालञ्जरगसंठिया लवणे।
अट्ठ सया चुलसीया, सत्त सहस्सा य सव्वे वि ॥ १ ॥
पायालाण विभागा, सव्वाण वि तिन्नि तिन्नि विन्नेया।
हेट्ठिमभागे वाऊ, मज्झे वाऊ य उदगं च ॥ २ ॥
उवरिं उदगं भणियं, पढमगवीएसु वाउसंखुभिओ।
उड्ढं वामइउदगं, परिवड्ढइ जलनिही खुभिओ ॥ ३ ॥ "

' तेसि ण ' मित्यादि, तेषां क्षुल्लकपातालानां—क्षुल्लकपातालकलशानां महापातालानां चाधस्तनमध्येषु त्रिभागेषु तथा जगत्स्थितिस्वाभाव्यात् प्रतिदिवसं द्विकृत्वस्तत्रापि चतुर्दश्यादिषु तिथिष्वतिरेकेण बहवः अतिप्रभूता उदाराः-ऊर्द्धगमनस्वभावाः प्रबलशक्तयश्च, उत्—प्राबल्येन आरो येषां ते उदारा इति व्युत्पत्तेः, वाताः—वायवः संस्विद्यन्ते—उत्पत्त्यभिमुखीभवन्ति, ततः क्षणानन्तरं ' संमूर्च्छन्ति-संमूर्च्छजन्मना लब्धात्मलाभा भवन्ति, ततः चलन्ति-कम्पन्ते वातानां चलनस्वभावत्वात् , ततः घट्टन्ते—परस्परं सङ्घट्टमाप्नुवन्ति, तदनन्तरम् क्षुभ्यन्ते—जातमहाद्भुतशक्तिकाः सन्त ऊर्द्धमितस्ततो विप्रसरन्ति, ततः उदीरयन्ति—अन्यान् वातान् जलमपि चोत्—प्राबल्येन प्रेरयन्ति, तं तं देशकालोचितं मन्दं तीव्रं मध्यमं वा भावं-परिणामं परिणमन्ति—धातूनामनेकार्थत्वात् प्रपद्यन्ते। ' जया णं तेसिं खुड्डागपायालाणं ' मित्यादि सुगमं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावितत्वात् । 'तया ण' मित्यादि, तदा णमिति वाक्यालङ्कारे तद्—उदगम् 'उन्नामिज्जंते' उन्नाम्यते ऊर्द्धमुत्क्षिप्यत इति भावः । 'जया ण' मित्यादि, यदा पुनः 'ण' मिति पुनरर्थे निपातानामनेकार्थत्वात्, तेषां चुल्लकपातालानां महापातालानां चाधस्तनमध्यमेषु त्रिभागेषु नो बहव उदारा वाताः संस्विद्यन्ते इत्यादि प्राग्वत् 'तया ण' मित्यादि तदा तदुदकं 'नोन्नाम्यते' नोर्द्धमुत्क्षिप्यते उत्क्षेपकाभावात् एतदेव स्पष्टतरमाह—'अन्तराऽवि य ण' मित्यादि, अन्तरा—अहोरात्रमध्ये द्विकृत्वः प्रतिनियते कालविभागे पक्षमध्ये चतुर्दश्यादिषु तिथिष्वतिरेकेण ते वाताः तथाजगत्स्वाभाव्यादुदीर्यन्ते धातूनामनेकार्थत्वादुत्पद्यन्ते, ततोऽन्तरा—अहोरात्रमध्ये द्विकृत्वः प्रतिनियते कालविभागे पक्षमध्ये चतुर्दश्यादिषु तिथिषु अतिरेकेण तत उदकमुन्नाम्यते । 'अन्तराऽवि य ण' मित्यादि, अन्तरा—प्रतिनियतकालविभागादन्यत्र ते वाताः नोदीर्यन्ते—नोत्पद्यन्ते,' तदभावात् अन्तरा—प्रतिनियतकालविभागादन्यत्र कालविभागे उदकं नोन्नाम्यते उन्नामकाभावात्, तत एवं खलु गौतम! लवणसमुद्रे चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपूर्णमासीषु तिथिषु अतिरेकमतिरेकम्—अतिशयेनातिशयेन वर्द्धते हीयते चेति ॥

तदेवं चतुर्दश्यादिषु तिथिष्वतिरेकेण जलवृद्धौ कारणमुक्तमिदानीमहोरात्रमध्ये द्विकृत्वोऽतिरेकेण जलवृद्धौ कारणमभिधित्सुराह—

लवणे णं भंते ! समुद्दे तीसाए मुहुत्ताणं कतिखुत्तो अतिरेगं अतिरेगं वड्ढति वा हायति वा ? गोयमा ! लवणे णं समुद्दे तीसाए मुहुत्ताणं दुक्खुत्तो अतिरेगं अतिरेगं वड्ढति वा हायति वा ॥ से केणऽट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ-लवणे णं समुद्दे तीसाए मुहुत्ताणं दुक्खुत्तो अइरेगं अइरेगं वड्ढइ वा हायइ वा ?, गोयमा ! उड्ढमंतेसु पायालेसु वड्ढइ आपूरितेसु पायालेसु हायइ, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! लवणे णं समुद्दे तीसाए मुहुत्ताणं दुक्खुत्तो अइरेगं अइरेगं वड्ढइ वा हायइ वा ॥ (सू० १५७)

'लवणे णं भंते ! समुद्दे' इत्यादि, लवणो भदन्त ! समुद्रस्त्रिंशतो मुहूर्तानां मध्ये-अहोरात्रमध्ये इति भावः 'कतिकृत्वः' कति वारान् अतिरेकमतिरेकं वर्द्धते हीयते वा ? इति, तदेवं (प्रश्ने) भगवानाह-गौतम ! द्विकृत्वोऽतिरेकमतिरेकं वर्द्धते हीयते वा ॥ 'से केणऽट्ठेण' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्, भगवानाह-गौतम ! उद्धमत्सु अधस्तनमध्यमत्रिभागगतवातसंक्षोभवशाज्जलमूर्द्ध्वमुत्क्षिपत्सु पातालेषु-पातालकलशेषु महत्सु लघुषु च वर्द्धते आपूर्यमाणेषु—परिसंस्थिते पवने भूयो जलेन भ्रियमाणेषु पातालेषु—पातालकलशेषु महत्सु लघुषु च हीयते 'से एएणऽट्ठेण' मित्यादि उपसंहारवाक्यम् ॥

(२१) अधुना लवणशिखावक्तव्यतामाह—

लवणसिहा णं भंते! केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवतियं अइरेगं अइरेगं वड्ढति वा हायति वा?, गोयमा ! लवणसिहाए णं दस जोयणसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं देसूणं अद्धजोयणं अतिरेगं वड्ढति वा हायति वा ॥ लवणस्स णं भंते ! समुद्दस्स कति णागसाहस्सीओ अब्भिंतरियं वेलं धरंति ?, कइ नागसाहस्सीओ बाहिरियं वेलं धरंति ?, कइ नागसाहस्सीओ अग्गोदयं धरंति ?, गोयमा ! लवणसमुद्दस्स बायालीसं णागसाहस्सीओ अब्भिंतरियं वेलं धरंति, बावत्तरिं णागसाहस्सीओ बाहिरियं वेलं धरंति, सट्ठिं णागसाहस्सीओ अग्गोदयं धरंति, एवमेव सपुव्वावरेणं एगा णागसतसाहस्सी चोवत्तरिं च णागसहस्सा भवंतीति मक्खाया ॥ (सू० १५८)

'लवणसिहा णं भंते' इत्यादि, लवणशिखा भदन्त ! कियच्चक्रवालविष्कम्भेन ?, कियच्च अतिरेकमतिरेकम्—अतिशयेन अतिशयेन वर्द्धते हीयते वा ?, भगवानाह-गौतम ! लवणशिखा सर्वतश्चक्रवालविष्कम्भतया समा—समप्रमाणा दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेन चक्रवालरूपतया विस्तारेण देशोनमर्द्धयोजनम्—गव्यूतद्वयप्रमाणम् अतिरेकमतिरेकम्—अतिशयेनातिशयेन वर्द्धते हीयते वा, इयमत्र भावना—लवणसमुद्रे जम्बूद्वीपाद् धातकीखण्डद्वीपाच्च प्रत्येकं पञ्चनवति पञ्चनवतियोजनसहस्राणि गोतीर्थम्—गोतीर्थं नाम तडागादिष्विव प्रवेशमार्गरूपा नीचा नीचतरा भूप्रदेशा गोस्तीर्थमिव गोतीर्थमिति व्युत्पत्तेः, मध्यभागावगाहस्तु दशयोजनसहस्रप्रमाणविस्तारः, गोतीर्थे च जम्बूद्वीपवेदिकान्तसमीपे धातकीखण्डवेदिकान्तसमीपे चाङ्गुलासंख्येयभागः—ततः परं समतलाद् भूभागादारभ्य क्रमेण प्रदेशहान्या तावन्नीचत्वं नीचतरत्वं परिभावनीयम् यावत्पञ्चनवतियोजनसहस्राणि, पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्तेषु समतलं भूभागमपेक्ष्यैकं योजनसहस्रमेकम्, तथा जम्बूद्वीपवेदिकातो धातकीखण्डद्वीपवेदिकातश्च ? तत्र समतले भूभागे प्रथमतो जलवृद्धिरङ्गुलसंख्येयभागः, ततः समतलभूभागमवधिकृत्य प्रदेशवृद्ध्या जलवृद्धिः क्रमेण परिवर्द्धमाना तावत्परिभावनीया यावदुभयतोऽपि पञ्चनवतियोजनसहस्राणि, पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते चोभयतोऽपि समतलभूभागमपेक्ष्य जलवृद्धिः सप्त योजनशतानि, किमुक्तं भवति ?-तत्र प्रदेशे समतलभूभागमपेक्ष्यावगाहो योजनसहस्रम्, तदुपरि जलवृद्धिः सप्त योजनशतानीति, ततः परं मध्यभागे दशयोजनसहस्रविस्तारेऽवगाहो योजनसहस्रं जलवृद्धिः षोडश योजनसहस्राणि, पातालकलशगतवायुक्षोभे च तेषामुपर्यहोरात्रमध्ये द्वौ वारौ किञ्चिन्न्यूने द्वे गव्यूते उदकमतिरेकेण वर्द्धते पातालकलशगतवायूपशान्तौ च हीयते, उक्तञ्च—

"पंचाणउयसहस्से, गोतित्थं उभयतोऽवि लवणस्स ।
जोयणसयाणि सत्त उ, दगपरिवुड्ढीऽवि उभयोऽवि ॥ १ ॥
दस जोयणसाहस्सा, लवणसिहा चक्कवालतो रुंदा ।
सोलससहस्स उच्चा, सहस्समेगं च ओगाढा ॥ २ ॥
देसूणमद्धजोयण-लवणसिहोवरि दुगं दुवे कालो ।
अइरेगं अइरेगं, परिवड्ढइ हायए वाऽवि ॥ ३ ॥"

सम्प्रति वेलन्धरवक्तव्यतामाह--' लवणस्स णं भंते'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्यादि, लवणस्य भदन्त ! समुद्रस्य कियन्तो नागसहस्रा नागकुमाराणां भवनपतिनिकायान्तर्वर्त्तिनां सहस्रा आभ्यन्तरिकीं—जम्बूद्वीपाभिमुखां वेलां—शिखोपरिजलं शिखां च-अर्वाक् पतन्तीं धरन्ति-वारयन्ति ? कियन्तो नागसहस्रा बाह्यां—धातकीखण्डाभिमुखां वेलां धातकीखण्डद्वीपमध्ये प्रविशन्तीं धरन्ति वारयन्ति ?, कियन्तो वा नागसहस्रा अग्रोदकं देशोनयोजनार्द्धजलादुपरिवर्द्धमानं जलं धरन्ति-धारयन्ति ?, भगवानाह-गौतम ! द्विचत्वारिंशन्नागसहस्राण्याभ्यन्तरिकीं वेलां धरन्ति द्वासप्ततिर्नागसहस्राणि बाह्यां वेलां धरन्ति, षष्टिर्नागसहस्राण्यग्रोदकं धरन्ति । उक्तञ्च-“ अब्भिंतरियं वेलं, धरंति लवणोदहिस्स नागाणं । बायालीससहस्सा, दुसत्तरिसहस्सा बाहिरियं ॥ १ ॥ सट्ठि नागसहस्सा, धरंति अग्गोदयं समुद्दस्स” इति एवमेव ‘सपूर्वापरेण’ पूर्वापरसमुदायेन एकं नागशतसहस्रं चतुःसप्ततिश्च नागशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातानि मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः ।

(२२) वेलन्धरनागराजसंख्यादिकमाह—

कति णं भंते ! वेलंधरा णागराया पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि वेलंधरा णागराया पण्णत्ता, तं जहा-गोथूभे सिवए संखे मणोसिलए। एतेसि णं भंते ! चउण्हं वेलंधरणागरायाणं कति आवासपव्वता पएणत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि आवासपव्वता पण्णत्ता, तं जहा-गोथूभे उदगभासे संखे दगसीमाए । कहि णं भंते ! गोथूभस्स वेलंधरणागरायस्स गोथूभे णामं आवासपव्वते पएणत्ते ?, गोयमा ! जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पुरत्थिमेणं लवणं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं गोथूभस्स वेलंधरणागरायस्स गोथूभे णामं आवासपव्वते पएणत्ते सत्तरस एकवीसाइं जोयणसताइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि तीसे जोयणसते कोसं च उव्वेधेणं मूले दस बावीसे जोयणसते आयामविक्खंभेणं मज्झे सत्त तेवीसे जोयणसते उवरिं चत्तारि चउवीसे जोयणसए आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं मज्झे दो जोयणसहस्साइं दोण्णि य छलसीते जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं उवरिं एगं जोयणसहस्सं तिण्णि य ईयाले जोयणसते किंचिविसेसूणे परिक्खेवं मूले वित्थिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वकणगामए अच्छे ०जाव पडिरूवे । से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, दोण्ह वि वण्णओ गोथूभस्स णं आवासपव्वतस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ०जाव आसयंति । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं पासायवडेंसए बावट्ठं जोयणद्धं च उड्ढं उच्चत्तेणं तं चेव पमाणं अद्धं आयामविक्खंभेणं वण्णओ ०जाव सीहासणं सपरिवारं । से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ गोथूभे आवासपव्वए गोथूभे आवासपव्वए ? , गोयमा ! गोथूभे णं आवासपव्वते तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहुओ खुड्डाखुड्डियाओ० जाव गोथूभवण्णाइं बहूइं उप्पलाइं तहेव० जाव गोथूभे तत्थ देवे महिड्ढिए०जाव पलिओवमट्ठितीए परिवसति, से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं० जाव गोथूभ(य)स्स आवासपव्वतस्स गोथूभाए रायहाणीए ०जाव विहरति, से तेणट्ठेणं०जाव णिच्चे । रायहाणिपुच्छा , गोयमा ! गोथूभस्स आवासपव्वतस्स पुरत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीतिवइत्ता अण्णम्मि लवणसमुद्दे तं चेव पमाणं तहेव सव्वं ।

‘ कति णं भंते ’ इत्यादि, कति भदन्त ! वेलन्धरनागराजाः प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह-चत्वारो वेलन्धरनागराजाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-गोस्तूपः शिवकः शङ्खो मनःशिलाकः ॥ ‘एएसि णं’ मित्यादि, एतेषां भदन्त ! चतुर्णां वेलन्धरनागराजानां कति आवासपर्वताः प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह-गौतम ! एकैकस्य एकैकभावेन-चत्वार आवासपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-गोस्तूप उदकभासः शंखो दकसीमः ॥ ‘ कहि णं भंते ’ इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् , भगवानाह-गौतम ! अस्मिन् जम्बूद्वीपे यो मन्दरपर्वतस्तस्य पूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्यात्र गोस्तूपस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य गोस्तूपो नाम आवासपर्वतः प्रज्ञप्तः, सप्तदश योजनशतानि एकविंशान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, चत्वारि योजनशतानि त्रिंशदधिकानि क्रोशं चैकमुद्वेधेन, उच्छ्रयापेक्षयाऽवगाहस्य चतुर्भागभावात् , मूले दश योजनशतानि द्वाविंशत्युत्तराणि विष्कम्भतः , मध्ये सप्त योजनशतानि त्रयोविंशत्युत्तराणि, उपरि चत्वारि योजनशतानि चतुर्विंशत्युत्तराणि, मूले त्रीणि योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते द्वात्रिंशदुत्तरे किञ्चिद्विशेषोने परिक्षेपेण, मध्ये द्वे योजनसहस्रे द्वे च योजनशते चतुरशीते किञ्चिद्विशेषाधिके परिक्षेपेण, उपर्येकं योजनसहस्रं त्रीणि योजनशतानि एकचत्वारिंशानि किञ्चिद्विशेषोनानि परिक्षेपेण, ततो मूले विस्तीर्णो मध्ये सङ्क्षिप्त उपरि तनुकः, अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितो गोपुच्छस्याप्येवमाकारत्वात् , सर्वात्मना जाम्बूनदमयः, ‘ अच्छे० जाव पडिरूवे ’ इति प्राग्वत् ॥ ‘ से ण ’ मित्यादि सः-गोस्तूपनामा आवासपर्वत एकया पद्मवरवेदिकया एकेन च वनखण्डेन सर्वतःसर्वासु दिक्षु समन्ततः—सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः , द्वयोरपि चानयोर्वेदिकावनखण्डयोर्वर्णकः प्राग्वत् । ‘ गोथूभस्स णं ’ मित्यादि, गोस्तूपस्य णमिति पूर्ववद् आवासपर्वतस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, ‘ से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा ’ इत्यादि प्राग्वत् यावत्तत्र बहवो नागकुमारा देवा आसते शेरते यावद्विहरन्तीति ॥ ‘ तस्स णं ’ मित्यादि, तस्य-बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, स च विजयदेवस्य प्रासादावतंसकसदृशो वक्तव्यः, स चैवं—सार्द्धानि द्वाषष्टियोजनानि उच्चैस्त्वेन, सक्रोशान्येकत्रिंशद्योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां, प्रासादवर्णनसूत्रोल्लोकवर्णनं च प्राग्वत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्य च प्रासादावतंसकस्यान्तर्बहुमध्यदेशभागे महत्येका सर्वरत्नमयी मणिपीठिका, सा च योजनायामविष्कम्भप्रमाणा गव्यूतद्वयबाहल्या, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि महदेकं सिंहासनम्, तच्चेन्द्रसामानिकादिदेवयोग्यैर्भद्रासनैः परिवृतमिति ॥ 'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि,अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते गोस्तूप आवासपर्वतो गोस्तूप आवासपर्वतः? इति, भगवानाह-गौतम ! गोस्तूप आवासपर्वते क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीषु यावद्विलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि यावत् शतसहस्रपत्राणि गोस्तूपप्रभाणि गोस्तूपाकाराणि गोस्तूपवर्णानि गोस्तूपवर्णस्येवाभा-प्रतिभासो येषां तानि गोस्तूपवर्णाभानि, ततस्तानि तदाकारत्वात् तद्वर्णत्वात्तद्वर्णसादृश्याच्च गोस्तूपानीति प्रसिद्धानि, तद्योगादावासपर्वतोऽपि गोस्तूपः,अनादिकालप्रवृत्तोऽयं व्यवहार इति तेन नेतरेतराश्रयदोषः, एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् , तथा गोस्तूपश्चात्र भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको यावत्करणात्—महाद्युतिक इत्यादि परिग्रहः। स च चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षदेवसहस्राणाम् ,गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य गोस्तूपायाश्च राजधान्या अन्येषां च बहूनां गोस्तूपराजधानीवास्तव्यानां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरति, ततो गोस्तूपदेवस्वामिकत्वाच्च गोस्तूपः, 'से एएणट्ठेणं ' मित्याद्युपसंहारवाक्यं प्रतीतम् ॥ सम्प्रति गोस्तूपां राजधानीं पृच्छति—' कहि णं भंते !' इत्यादि क्व भदन्त ! गोस्तूपस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य गोस्तूपा नाम राजधानी प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह—गौतम ! गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य पूर्वया दिशा तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे गोस्तूपस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य गोस्तूपा नाम राजधानी प्रज्ञप्ता, सा च विजयराजधानीसदृशी वक्तव्या ॥ तदेवमुक्तो गोस्तूपः ।

(२३) अधुना दकाभासवक्तव्यतामाह—

कहि णं भंते ! सिवगस्स वेलंधरणागरायस्स दओभासणामे आवासपव्वते पएणत्ते ?, गोयमा ! जंबूद्दीवे णं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दक्खिणेणं लवणसमुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सिवगस्स वेलंधरणागरायस्स दओभासे णामं आवासपव्वते पएणत्ते, तं चेव पमाणं जं गोथूभस्स, णवरि सव्वअंकामए अच्छे ०जाव पडिरूवे ०जाव अट्ठो भाणियव्वो, गोयमा ! दओभासे णं आवासपव्वते लवणसमुद्दे अट्ठजोयणियखेत्ते दगं सव्वतो समंता ओभासेति उज्जोवेति तवति पभासेति सिवए इत्थ देवे महिड्ढिए ०जाव रायहाणी से दक्खिणेणं सिविगा दओभासस्स सेसं तं चेव ॥

'कहि णं भंते ! सिवगस्स' इत्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धम् , भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणतो लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे शिवकस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य दकाभासो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः, स च गोस्तूपवदविशेषेण वक्तव्यो यावत्सपरिवारं सिंहासनम् ॥ अधुना नामनिमित्तं पिपृच्छिषुराह—' से केणट्ठेणं ' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् , भगवानाह—गौतम ! दकाभास आवासपर्वतो लवणसमुद्रे सर्वासु दिक्षु स्वसीमातोऽष्टयोजनिके—अष्टयोजनप्रमाणे क्षेत्रे यदुदकं तत् समन्ततः—सामस्त्येनातिविशुद्धाङ्कनामरत्नमयत्वेन स्वप्रभयाऽवभासयति, एतदेव पर्यायत्रयेण व्याचष्टे—उद्द्योतयति चन्द्र इव, तापयति सूर्य इव,प्रभासयति ग्रहादिरिव. ततो दकं पानीयमाभासयति—समन्ततः-सर्वासु दिक्षु अवभासयतीति दकाभासः, अन्यच्च शिवको नामात्र पर्वतेषु भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । 'से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं' मित्यादि प्राग्वत् नवरमत्र शिवका राजधानी वक्तव्या, तस्मिंश्च परिवसति स आवासपर्वतो दकमध्येऽतीवाऽऽभासते—शोभते इति दकाभासः, ' से एएणट्ठेणं ' मित्याद्युपसंहारवाक्यं गतार्थम्, शिवका राजधानी दकाभासस्यावासपर्वतस्य दक्षिणतोऽन्यस्मिन् लवणसमुद्रे विजयराजधानीव भावनीया ॥

(२४) अधुना शंखनामकावासपर्वतवक्तव्यतामाह—

कहि णं भंते ! संखस्स वेलन्धरणागरायस्स संखे णामं आवासपव्वते पएणत्ते ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं बायालीसं जोयणसहस्साइं एत्थ णं संखस्स०वेलंधरणागरायस्स संखे णामं आवासपव्वते तं चेव पमाणं णवरं सव्वरयणाए अच्छे। से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेणं० जाव अट्ठो बहूओ खुड्डाखुड्डिआओ० जाव बहूइं उप्पलाइं संखाभाइं संखवएणाइं संखवएणाभाइं संखे एत्थ देवे महिड्ढिए० जाव रायहाणीए पच्चत्थिमे णं संखस्स आवासपव्वयस्स संखा नाम रायहाणी तं चेव पमाणं ।

'कहि णं भंते !'इत्यादि,क्व भदन्त! शंखस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य शंखो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः,भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे शंखस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य शंखो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः, स च गोस्तूपवदविशेषेण तावद्वक्तव्यो यावत्सपरिवारं सिंहासनम् ॥ इदानीं नामनिबन्धनमभिधित्सुराह—' से केणट्ठेणं ' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् , भगवानाह—शंखे आवासपर्वते क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीषु यावद्विलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि यावत् शतसहस्रपत्राणि शंखाभानि-शंखाकाराणि शंखवर्णानि-श्वेतानीति भावः, शंखवर्णाभानि-प्रायः शंखवर्णसदृशवर्णानि, शंखश्चात्र भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । ' से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं ' मित्यादि प्राग्वत् , नवरमत्र शंखा राजधानी वक्तव्या , तदेवं यतस्तद्गतान्युत्पलादीनि शंखाकाराणि शंखदेवस्वामिकश्चायमतः शंख इति, ' से एएणट्ठेणं ' मित्याद्युपसंहारवाक्यं गतार्थम् , शंखा राजधानी शंखस्यावासपर्वतस्य पश्चिमायां दिशि तिर्यगसंख्येयान्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यात्रास्मिन् लवणसमुद्रे विजयाराजधानी सदृशी वक्तव्या ॥

सम्प्रति दकसीमापर्वतवक्तव्यतामाह—

कहि णं भंते ! मणोसिलकस्स वेलंधरणागरायस्स उदगसीमाए णामं आवासपव्वते पण्णत्ते ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स उत्तरेणं लवणसमुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं मणोसिलगस्स वेलंधरणागरायस्स उदगसीमाए णामं आवासपव्वते पण्णत्ते, तं चेव पमाणं णवरि सव्वफलिहामए अच्छे०जाव अट्ठो, गोयमा ! दगसीमंते णं आवासपव्वते सीतासीतोदगाणं महाणदीणं तत्थ गतो सोए पडिहम्मति, से तेणऽट्ठेणं०जाव णिच्चे मणोसिलाए एत्थ देवे महिड्ढिए०जाव से णं तत्थ चउण्हं सामाणिय०जाव विहरति ॥ कहि णं भंते ! मणोसिलगस्स वेलंधरणागरायस्स मणोसिला णाम रायहाणी ?, गोयमा ! दगसीमस्स आवासपव्वयस्स उत्तरेणं तिरियमसंखेज्जाइं दीवसमुद्दाइं वीतिवइत्ता०अण्णम्मि लवणे एत्थ णं मणोसिलिया णाम रायहाणी पण्णत्ता, तं चेव पमाणं०जाव मणोसिलाए देवे–" कणगंकरययफालिया-मया य वेलंधराणमावासा । अणुवेलंधरराई-ण पव्वया होंति रयणमया " ॥ १ ॥ (सू० १५६)

'कहि णं भंते !,' इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्रतीतम्, भगवानाह–गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरतो लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्य अत्र—एतस्मिन्नवकाशे मनःशिलकस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य दकसीमो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः, सोऽपि गोस्तूपपर्वतवदविशेषेण तावद्वक्तव्यो यावत्सपरिवारं सिंहासनम् ॥ इदानीं नामनिमित्तं विभणिषुराह—' से केणट्ठेण ' मित्यादि प्रतीतम्, भगवानाह—गौतम ! दकसीमे आवासपर्वते शीताशीतोदयोर्महानद्योः श्रोतांसि–जलप्रवाहास्तत्र गतानि तस्माच्च तेन प्रतिहतानि प्रतिनिवर्त्तन्ते ततो दकसीमाकारित्वाद् दकसीमः, दकस्य सीमा—शीताशीतोदापानीयस्य सीमा—यत्रासौ दकसीम इति व्युत्पत्तेः, अन्यच्च मनःशिलको भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । ' से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसहस्सीण ' मित्यादि प्राग्वत्; नवरं मनःशिलाऽत्र राजधानी वक्तव्या, ततो मनःशिलस्य देवस्य दके—लवणजलमध्ये सीमा-आवासचिन्तायां मर्यादा, अत्रेति—दकसीमे, मनःशिला च राजधानी दकसीमस्यावासपर्वतस्योत्तरतस्तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे विजयाराजधानीव वक्तव्या । तदेवमुक्ताश्चत्वारोऽपि वेलन्धराणामावासपर्वताः, सर्वत्र च गोस्तूपेनातिदेशः कृतः, अत्र च मूलदले विशेषस्ततस्तमभिधित्सुराह—" कणगंकरययफालिय-मया य वेलंधराणमावासा । अणुवेलंधरराई-ण पव्वया होंति रयणमया ॥ १ " वेलन्धराणां—गोस्तूपादीनामावासा गोस्तूपादयश्चत्वारः पर्वता यथाक्रमं कनकाङ्करजतस्फटिकमयाः, गोस्तूपः कनकमयो, दकाभासोऽङ्करत्नमयः, शंखो रजतमयो, दकसीमः स्फटिकमय इति, तथा महतां वेलन्धराणामादेशप्रतीच्छकतयाऽनुयायिनो वेलन्धराश्चानुवेलन्धराः ते च ते राजानश्च अनुवेलन्धरराजास्तेषामावासपर्वता रत्नमया भवन्ति। जी०।(अनुवेलन्धरनागराजवक्तव्यता-सूत्रम्(१६०) 'अणुवेलंधर'शब्दे प्रथमभागे ३६१पृष्ठे गतम्)

(२५) लवणाधिपतेर्द्वीपं प्रतिपादयन्नाह–

कहि णं भंते ! सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स गोयमदीवे णामं दीवे पण्णत्ते ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स गोयमदीवे दीवे पण्णत्ते, बारसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं सत्ततीसं जोयणसहस्साइं नव य अडयाले जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं, जंबूदीवं तेणं अद्धेकोणणउते जोयणाइं चत्तालीसं पंचणउतिभागे जोयणस्स ऊसिए जलंताओ लवणसमुद्दं, तेणं दो कोसे ऊसिते जलंताओ ॥ से णं एगाए य पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता तहेव वण्णओ दोण्ह वि । गोयमदीवस्स णं दीवस्स अंतो ०जाव बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहानामए–आलिंग ०जाव आसयन्ति । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे, एत्थ णं सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स एगे महं अइक्कीलावासे नामं भोमेज्जविहारे पण्णत्ते बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं एकतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अणेगखंभसतसन्निविट्ठे भवणवण्णओ भाणियव्वो । अइक्कीलावासस्स णं भोमेज्जविहारस्स अंतो बहु समरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते०जाव मणीणं भासो । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ एगा मणिपेढिया पण्णत्ता । सा णं मणिपेढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणबाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छा ०जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उवरि एत्थ णं देवसयणिज्जे पण्णत्ते वण्णओ । से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति–गोयमदीवे णं दीवे ?, तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहूइं उप्पलाइं ०जाव गोयमप्पभाइं से एएणऽट्ठेणं गोयमा ! ०जाव णिच्चे। कहि णं भंते ! सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स सुट्ठिया णामं रायहाणी पण्णत्ता ?, गोयमदीवस्स पच्चत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे ०जाव अण्णम्मि लवणसमुद्दे बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, एवं तहेव सव्वं णेयव्वं०जाव सुत्थिए देवे । (सू०१६१)

'कहि णं भंते !' इत्यादि, क भदन्त ! सुस्थितस्य लवणाधिपस्य गौतमद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह–गौत-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

म ! जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे सुस्थितस्य लवणाधिपस्य गौतमद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, द्वादश योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भाभ्याम्, सप्तत्रिंशद्योजनसहस्राणि नव चाष्टाचत्वारिंशानि किञ्चिद्विशेषोनानि पारक्षेपेण, 'जंबूदीवं तेण' मिति जम्बूद्वीपदिशि 'अर्द्धैकोननवतीनि'—अर्द्धमेकोननवतेर्येषां तानि अर्द्धैकोननवतीनि सार्द्धाष्टाशीतिसंख्यानीति भावः, योजनानि चत्वारिंशतं च पञ्चनवतिभागान् योजनस्य जलान्तात्-जलपर्यन्तादूर्ध्वमुच्छ्रितः, एतावान् जलस्योपरि प्रकट इत्यर्थः, लवणसमुद्रान्ते-लवणसमुद्रदिशि द्वौ क्रोशौ जलान्तादुच्छ्रितौ, द्वावेव क्रोशौ जलस्योपरि प्रकट इत्यर्थः। 'से ण' मित्यादि, स एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनषण्डेन सर्वतः-समन्तात्संपरिक्षिप्तः,द्वयोरपि वर्णनं प्राग्वत्। तस्य च गौतमद्वीपस्योपरि बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनं प्राग्वद् यावत्तृणानां मणीनां च शब्दवर्णनं वाप्यादिवर्णनं यावद्बहवो वानमन्तरा देवा आसते शेरते यावद्विहरन्तीति। तस्य बहुसमरमणीयस्यं भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र सुस्थितस्य लवणाधिपस्य योग्यो महानेकः अतिक्रीडावासः—अत्यर्थं क्रीडावासो नाम भौमेयविहारः प्रज्ञप्तः, सार्द्धानि द्वाषष्टियोजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशतं च योजनानि क्रोशमेकं च विष्कम्भेन 'अणेगखंभसयसन्निविट्ठे' इत्यादि, भवनवर्णनमुल्लोचवर्णनं भूमिभागवर्णनं च प्राग्वत्। तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा यावत् प्रतिरूपा। 'तीसे ण' मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि देवशयनीयम्,तस्य वर्णक उपर्यष्टाष्टमङ्गलकादिकं च प्राग्वत्। नामनिमित्तं पिपृच्छिषुराह- 'से केणट्ठेण' मित्यादि, अथ केनार्थेन—केन कारणेन एवमुच्यते-गौतमद्वीपो नाम द्वीपः?, भगवानाह-गौतमद्वीपस्य शाश्वतमिदं नामधेयं न कदाचिन्नासीदित्यादि प्राग्वत्। पुस्तकान्तरेषु पुनरेवं पाठः—' गोयमदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहूइं उप्पलाइं ०जाव सहस्सपत्ताइं गोयमप्पभाइं गोयमवन्नाइं गोयमवण्णाभाइं' इति, एवं प्राग्वद् भावनीयः। सुस्थितश्चात्र (देवः) लवणाधिपो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च तत्र चतुर्णां सामानिकसहस्राणां यावत् षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां गौतमद्वीपस्य सुस्थितायाश्च राजधान्या अन्येषां च बहूनां वानमन्तराणां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरति, तत एवमेव शाश्वतनामत्वात्, पाठान्तरे—तद्गतानि उत्पलादीनि गौतमप्रभाणीति गौतमानीति प्रसिद्धानि ततस्तद्योगात्तथा, तदधिपतिर्गौतमाधिपतिरिति प्रसिद्धम् इति सामर्थ्यादेष गौतमद्वीप इति। उपसंहारमाह—' से तेणट्ठेण ' मित्यादि गतार्थम्। जी० । (लवणसमुद्रे कियदवगाह्य जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कादि तत्सूत्रं,लवणसमुद्रगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतासूत्रं, लवणसमुद्रमवगाह्य धातकीखण्डगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतासूत्रञ्च 'चंददीव' शब्दे तृतीयभागे १०७४ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

अत्थि णं भंते ! लवणसमुद्दे वेलंधरा ति वा णागराया अग्घा ति वा खन्ना ति वा सिंहा ति वा विजा ति वा हासवट्टी ति ?, हंता अत्थि। जहा णं भंते ! लवणसमुद्दे अत्थि वेलंधरा ति वा णागराया अग्घा सीहा विजा ति वा हासवट्टी ति वा तहा णं बाहिरतेसु वि समुद्देसु अत्थि वेलंधराइ वा णागराया ति वा अग्घा ति वा सीहा ति वा विजातीति वा हासवट्टी ति वा ? , णो इणट्ठे समट्ठे ॥ (सू० १६८) लवणे णं भंते ! समुद्दे किं ऊसितोदगे किं पत्थडोदगे किं खुभियजले किं अक्खुभियजले ? , गोयमा ! लवणे णं समुद्दे ऊसिओदगे नो पत्थडोदगे खुभियजले नो अक्खुभियजले, जहा णं भंते ! लवणे समुद्दे ओसितोदगे नो पत्थडोदगे खुभियजले नो अक्खुभियजले तहा णं बाहिरगा समुद्दा किं ऊसिओदगा पत्थडोदगा खुभियजला अक्खुभियजला ?, गोयमा ! बाहिरगा समुद्दा नो उस्सितोदगा पत्थडोदगा नो खुभियजला अक्खुभियजला पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठंति ॥ अत्थि णं भंते ! लवणसमुद्दे बहवो ओराला बलाहका संसेयंति संमुच्छंति वा वासं वासंति वा ?, हंता अत्थि। जहा णं भंते ! लवणसमुद्दे बहवे ओराला बलाहका संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति वा तहा णं बाहिरएसु वि समुद्देसु बहवे ओराला बलाहका संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति ?, णो तिणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति बाहिरगा णं समुद्दा पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडियाए चिट्ठंति? गोयमा ! बाहिरएसु णं समुद्देसु बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उवचयंति, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चति-बाहिरगा समुद्दा पुण्णा पुण्णप्पमाणा ०जाव समभरघडत्ताए चिट्ठंति ॥ (सू०१६९)

'अत्थि णं भंते !' इत्यादि, सन्ति भदन्त ! लवणसमुद्रे वेलन्धरा इति वा नागराजाः, अग्घा इति वा खन्ना इति वा सीहा इति वा विजाइ इति वा ?, अग्घादयो मत्स्यकच्छपविशेषाः, आह च चूर्णिकृत्-" अग्घा खन्ना सीहा विजाइं इति मच्छकच्छभा " इति, हस्ववृद्धी जलस्येति गम्यते इति, भगवानाह—गौतम ! सन्ति। 'जहा णं भंते ! लवणसमुद्दे वेलंधरा इति वा' इत्यादि पाठसिद्धम्'लवणे णं भंते'! इत्यादि, लवणो भदन्त ! समुद्रः किमुच्छ्रितोदकः प्रस्तटोदकः-प्रस्तटाकारतया स्थितमुदकं यस्य स तथा, सर्वतः समोदक इति भावः, क्षुभितं जलं यस्य स क्षुभितजलस्तत्प्रतिषेधादक्षुभितजलः ?, भगवानाह-गौतम ! उच्छ्रितोदको न प्रस्तटोदकः, क्षुभितजलो नाक्षुभितजलः॥ 'जहा णं भंते !' इत्यादि, यथा भदन्त ! लवणसमुद्र उच्छ्रितोदक इत्यादि तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्या अपि समुद्राः किमुच्छ्रितोदकाः प्रस्तटोदकाः क्षुभितजला अक्षुभितजलाः ?, भगवानाह-गौतम ! बाह्याः समुद्रा न उच्छ्रितोदकाः किन्तु प्रस्तटोदकाः सर्वत्र समोदकत्वात्, तथा न क्षुभितजलाः किंत्वक्षुभितजलाः क्षोभहेतुपातालकलशाद्यभावात्, किन्तु ते पूर्णाः, तत्र किञ्चिद्धीनमपि व्यवहारतः पूर्णं भवति तत आह—पूर्णप्रमाणाः स्वप्रमाणं यावज्जलेन पूर्णा इति भावः, 'वोसट्टमाणा' परिपूर्णभृततया उल्लुठन्त इवेति भावः, 'वोलट्टमाणा' इति विशेषेण उल्लुठन्त इवेत्यर्थः 'समभरघडत्ताए चिट्ठंति' इति समं—परिपूर्णो भरो—भरणं यस्य स समभरः परिपूर्णभृत इत्यर्थः, स चासौ घटश्च समभरघटस्तद्भावस्तत्ता तया सम—भृतघट इव तिष्ठन्तीति भावः ॥ 'अत्थि णं भंते !' इत्यादि, अस्त्येतद् भदन्त ! लवणसमुद्रे 'ओराला बलाहका' उदारा मेघाः संस्विद्यन्ते—संमूर्च्छनाभिमुखीभवन्ति, तदनन्तरं संमूर्च्छन्ति, ततो वर्षम्—पानीयं वर्षन्ति ?, भगवानाह—हन्त ! अस्ति ॥ 'जहा णं भंते ! लवणसमुद्दे' इत्यादि प्रतीतम् ॥ 'से केणट्ठेण' मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते बाह्याः समुद्राः पूर्णाः—पूर्णप्रमाणाः ? इत्यादि प्राग्वत्, भगवानाह—गौतम ! बाह्येषु समुद्रेषु बहव उदकयोनिका जीवाः पुद्गलाश्चोदकतया अपक्रामन्ति-गच्छन्ति व्युत्क्रामन्ति—उत्पद्यन्ते, एके गच्छन्त्यन्ये उत्पद्यन्त इति भावः, तथा 'चीयन्ते' चयमुपगच्छन्ति उपचीयन्ते—उपचयमायान्ति, एतच्च पुद्गलान् प्रति द्रष्टव्यम्, पुद्गलानामेव चयोपचयार्थप्रसिद्धेः, 'स एएणट्ठेण' मित्याद्युपसंहारवाक्यं प्रतीतम् ।

(२६) सम्प्रत्युद्वेधपरिवृद्धिं चिचिन्तयिषुरिदमाह—

लवणे णं भंते ! समुद्दे केवतियं उव्वेहपरिवुड्डीए पण्णत्ते ?, गोयमा ! लवणस्स णं समुद्दस्स उभओ पासिं पंचाणउतिं पंचाणउतिं पदेसे गंता पदेसं उव्वेहपरिवुड्डीए पण्णत्ते, पंचाणउतिं पंचाणउतिं वालग्गाइं गंता वालग्गं उव्वेहपरिवुड्डीए, पण्णत्ते, पंचाण ०लिक्खाओ गंता लिक्खा उव्वेहपरि० पंचाणउइं जवाओ जवमज्झे अंगुलविहत्थिरयणीकुच्छीधणु (उव्वेहपरिवुड्डीए) गाउयजोयणजोयणसतजोयणसहस्साइं गंता जोयणसहस्सं उव्वेहपरिवुड्डीए ॥ लवणे णं भंते ! समुद्दे केवतियं उस्सेहपरिवुड्डीए पण्णत्ते ?, गोयमा ! लवणस्स णं समुद्दस्स उभओ पासिं पंचाणउतिं पदेसे गंता सोलसपएसे उस्सेहपरिवुड्डीए पण्णत्ते, गोयमा ! लवणस्स णं समुद्दस्स एएणेव कमेणं ०जाव पंचाणउतिं पंचाणउतिं जोयणसहस्साइं गंता सोलस जोयणसहस्साइं उस्सेहपरिवुड्डीए पण्णत्ते । [सू० १७०]

'लवणे णं भंते ! समुद्दे' इत्यादि लवणो भदन्त ! समुद्रः 'कियत्' कियन्ति योजनानि यावद् उद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तः ?, किमुक्तं भवति ?—जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्योभयतोऽपि लवणसमुद्रस्य कियन्ति योजनानि यावत् मात्रया मात्रया उद्वेधपरिवृद्धिरिति, भगवानाह-गौतम ! लवणसमुद्रे उभयोः पार्श्वयोर्जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्येत्यर्थः पञ्चनवतिप्रदेशान् गत्वा प्रदेश उद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तः, इह प्रदेशस्त्रसरेण्वादिरूपो द्रष्टव्यः, पञ्चनवतिं वालाग्राणि गत्वैकं वालाग्रमुद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तम्, एवं लिक्षायवमध्याङ्गुलवितस्तिरत्निकुक्षिधनुर्गव्यूतयोजनयोजनशतसूत्राण्यपि भावनीयानि, पञ्चनवतिं योजनसहस्राणि गत्वा योजनसहस्रमुद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तम्, त्रैराशिकभावना चैवं योजनादिषु द्रष्टव्या, इहोभयतोऽपि पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते योजनसहस्रमवगाहेन दृष्टं ततस्त्रैराशिककर्मावतारः, यदि पञ्चनवतिसहस्रपर्यन्ते योजनसहस्रमवगाहस्ततः पञ्चनवतियोजनपर्यन्ते कोऽवगाहः ?, राशित्रयस्थापना—९५००० । १००० । ९५ । अत्रादिमध्ययो राश्योः शून्यत्रयस्यापवर्त्तना ९५ । १ । ९५ । ततो मध्यस्य राशेरेकरूपस्य अन्त्येन पञ्चनवतिलक्षणेन राशिना गुणनात् जाता पञ्चनवतिः, तत्राद्येन राशिना पञ्चनवतिलक्षणेन विभज्यते लब्धमेकं योजनम्, उक्तञ्च—

"पंचाणउइसहस्से, गंतूणं जोयणाणि उभओ वि ।
जोयणसहस्समेगं, लवणे ओगाहओ होइ ॥ १ ॥
पंचाणउईणवगे, (लवणे) गंतूणं जोयणाणि उभओ वि ।
जोयणमेगं लवणे, ओगाहेणं मुणेयव्वा ॥ २ ॥ "

पञ्चनवतियोजनपर्यन्ते च यद्येकं योजनमवगाहस्ततोऽर्थात्पञ्चनवतिगव्यूतपर्यन्ते एकं गव्यूतं पञ्चनवतिधनुःपर्यन्ते एकं धनुरित्यादि लब्धम् । सम्प्रत्युत्सेधमधिकृत्याह—'लवणे णं भंते ! समुद्दे' इत्यादि, लवणो भदन्त ! समुद्रः कियत् कियन्ति योजनानि उत्सेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तः ?, एतदुक्तं भवति—जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्योभयतोऽपि लवणसमुद्रस्य कियत्या कियत्या मात्रया कियन्ति योजनानि यावदुत्सेधपरिवृद्धिः ?, भगवानाह—गौतम ! 'लवणस्स णं समुद्दस्से' त्यादि, इह निश्चयतो लवणसमुद्रस्य जम्बूद्वीपवेदिकातो लवणसमुद्रवेदिकातश्च समतले भूभागे प्रथमतो जलवृद्धिरङ्गुलसंख्येयभागः, समतलमेव भूभागमधिकृत्य प्रदेशवृद्ध्या जलवृद्धिः क्रमेण परिवर्द्धमाना तावदवसेया यावदुभयतोऽपि पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते सप्तशतानि, ततः परं मध्यदेशभागे दशयोजनसहस्रविस्तारे षोडशयोजनसहस्राणि, इह तु षोडशयोजनसहस्रप्रमाणायाः शिखायाः शिरसि उभयोश्च वेदिकान्तयोर्मूले दवरिकायां दत्तायां यदपान्तराले किमपि जलरहितमाकाशं तदपि करणगत्या तदाभाव्यमिति स जलं विवक्षित्वाऽधिकृतमुच्यते—लवणस्य समुद्रस्योभयतो जम्बूद्वीपवेदिकान्तल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्च पञ्चनवतिं प्रदेशान् गत्वा षोडश प्रदेशा उत्सेधपरिवृद्धिः प्रज्ञप्ता, पञ्चनवतिं वालाग्राणि गत्वा षोडश वालाग्राणि, एवं यावत् पञ्चनवतिं योजनसहस्राणि गत्वा षोडश योजनसहस्राणि । अत्रेयं त्रैराशिकभावना-पञ्चनवतियोजनसहस्रातिक्रमे षोडशयोजनसहस्राणि जलोत्सेधस्ततः पञ्चनवतियोजनातिक्रमे क उत्सेधः ?, राशित्रयस्थापना—९५००० । १६००० । ९५ । अत्रादिमध्ययो राश्योः शून्यत्रिकस्यापवर्त्तना ९५ । १६ । ९५, ततो मध्यमराशेः षोडशलक्षणस्यान्त्येन पञ्चनवतिलक्षणेन गुणने जातानि पञ्चदश शतानि विंशत्यधिकानि १५२०,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एपामादिराशिना पञ्चनवतिलक्षणेन भागे हृते लब्धानि षोडश योजनानि, उक्तञ्च—

" पंचाणउइसहस्से, गंतूणं जोयणाणि उभओ वि।
उस्सेहेणं लवणो, सोलससाहस्सिओ भणिओ ॥ १ ॥
पंचाणउई लवणे, गंतूणं जोयणाणि उभओ वि।
उस्सेहेणं लवणो, सोलस किल जोयणे होइ ॥ २ ॥ "

तत्र यदि पञ्चनवतियोजनपर्यन्ते षोडशयोजनावगाहस्ततोऽर्थाल्लभ्यते पञ्चनवतिगव्यूतपर्यन्ते षोडश गव्यूतानि पञ्चनवतिधनुःपर्यन्ते षोडश धनूंषीत्यादि।

(२७) सम्प्रति गोतीर्थप्रतिपादनार्थमाह—

लवणस्स णं भंते ! समुद्दस्स के महालए गोतित्थे पण्णत्ते ?, गोयमा ! लवणस्स णं समुद्दस्स उभओ पासिं पंचाणउतिं पंचाणउतिं जोयणसहस्साइं गोतित्थं पण्णत्तं। लवणस्स णं भंते ! समुद्दस्स के महालए गोतित्थविरहिते खेत्ते पण्णत्ते ?, गोयमा ! लवणस्स णं समुद्दस्स दस जोयणसहस्साइं गोतित्थविरहिते खेत्ते पण्णत्ते । लवणस्स णं भंते ! समुद्दस्स के महालए उदगमाले पण्णत्ते ?, गोयमा ! दस जोयणसहस्साइं उदगमाले पण्णत्ते । (सू० १७१)

' लवणस्स णं भंते ! ' इत्यादि, लवणस्य भदन्त ! समुद्रस्य किं महत्—किं प्रमाणमहत्त्वं गोतीर्थं प्रज्ञप्तम् ?। गोतीर्थमिव गोतीर्थं—क्रमेण नीचो नीचतरः प्रवेशमार्गः, भगवानाह–गौतम ! लवणस्य समुद्रस्योभयोः पार्श्वयोर्जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्येत्यर्थः पञ्चनवतिं योजनसहस्राणि यावद् गोतीर्थं प्रज्ञप्तम् , उक्तञ्च–" पंचाणउइसहस्से गोतित्थं उभयतो वि लवणस्स " इति । ' लवणस्स णं भंते ! ' इत्यादि, लवणस्य भदन्त ! समुद्रस्य किं महत्—किं प्रमाणमहत्त्वं गोतीर्थविरहितं क्षेत्रं प्रज्ञप्तम् ?, भगवानाह—गौतम ! लवणस्य समुद्रस्य दश योजनसहस्राणि गोतीर्थविरहितं क्षेत्रं प्रज्ञप्तम्। ' लवणस्स णं भंते ! ' इत्यादि, लवणस्य भदन्त ! समुद्रस्य किं महती–विस्तरमधिकृत्य किं प्रमाणमहत्त्वा उदकमाला–समपानीयोपरिभूता षोडशयोजनसहस्रोच्छ्रया प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह—गौतम ! दश योजनसहस्राणि उदकमाला प्रज्ञप्ता।

(२८) लवणसमुद्रः किंसंस्थानसंस्थितः—

लवणे णं भंते ! समुद्दे किं संठिए पण्णत्ते ?, गोयमा ! गोतित्थसंठिते नावासंठाणसंठिते सिप्पिसंपुडसंठिए आसखंधसंठिते वलभिसंठिते वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते पण्णत्ते ! लवणे णं भंते ! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं ? केवतियं परिक्खेवेणं ? केवतियं उव्वेहेणं ? केवतियं उस्सेहेणं ? केवतियं सव्वग्गेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! लवणे णं समुद्दे दो जोयणसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पण्णरस जोयणसतसहस्साइं एकासीतिं च सहस्साइं सतं च इगुयालं किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं, एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं सोलस जोयणसहस्साइं उस्सेहेणं सत्तरस जोयणसहस्साइं सव्वग्गेणं पण्णत्तं। (सू० १७२)

' लवणे णं भंते ' इत्यादि, लवणो भदन्त ! समुद्रः किंसंस्थितः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! गोतीर्थसंस्थानसंस्थितः क्रमेण नीचैर्नीचैस्तरामुद्वेधस्य भावात् , नावासंस्थितः बुध्नादूर्द्धं नाव इव उभयोरपि पार्श्वयोः समतलं भूभागमपेक्ष्य क्रमेण जलवृद्धिसम्भवेन उन्नताकारत्वात् , ' सिप्पसंपुडसंठिते ' इति शुक्तिकासंपुटसंस्थानसंस्थितः, उद्वेधजलस्य जलवृद्धिजलस्य चैकत्र मीलनचिन्तायां शुक्तिकासंपुटाकारसादृश्यसम्भवात्, ' अश्वस्कन्धसंस्थितः ' उभयोरपि पार्श्वयोः पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्तेऽश्वस्कन्धस्येवोन्नततया षोडशयोजनसहस्रप्रमाणोच्चैस्त्वयोः शिखाया भावात् , वलभीसंस्थितः—वलभीगृहसंस्थानसंस्थितः दशयोजनसहस्रप्रमाणविस्तारायाः शिखाया वलभीगृहाकाररूपतया प्रतिभासनात् , तथा वृत्तो लवणसमुद्रो वलयाकारसंस्थितः, चक्रवालतया तस्यावस्थानात् ॥ सम्प्रति विष्कम्भादिपरिमाणमेककालं पिपृच्छिषुराह— ' लवणे णं भंते ! समुद्दे ' इत्यादि, लवणो भदन्त ! समुद्रः कियच्चक्रवालविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण कियदुद्वेधेन—उण्डत्वेन कियदुत्सेधेन कियत्सर्वाग्रेण—उत्सेधोद्वेधपरिमाणसामस्त्येन प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! लवणसमुद्रो द्वे योजनशतसहस्रे चक्रवालविष्कम्भेन प्रज्ञप्तः, पञ्चदश योजनशतसहस्राणि एकाशीतिः सहस्राणि शतं चैकोनचत्वारिंशं किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः, एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन, षोडश योजनसहस्राण्युत्सेधेन, सप्तदश योजनसहस्राणि सर्वाग्रेण उत्सेधोद्वेधमीलनचिन्तायाम् । इह लवणसमुद्रस्य पूर्वाचार्यैर्घनप्रतरगणितभावनाऽपि कृता सा विनेयजनानुग्रहाय दर्श्यते, तत्र प्रतरभावना क्रियते—प्रतरानयनार्थं चेदं करणम् , लवणसमुद्रसत्कविस्तारपरिमाणाद् द्विलक्षयोजनरूपाद् दश योजनसहस्राणि शोध्यन्ते, तेषु च शोधितेषु यच्छेषं तस्यार्द्धं क्रियते, जातानि पञ्चनवतिः सहस्राणि, यानि च प्राक् शोधितानि दश सहस्राणि तानि च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातं पञ्चोत्तरं लक्षम् १०५०००, एतच्च कोटीति व्यवह्रियते, अनया च कोट्या लवणसमुद्रस्य मध्यभागवर्त्ती परिरयो नव लक्षा अष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि षट् शतानि त्र्यशीत्यधिकानि ९४८६८३, इत्येवं परिमाणो गुण्यते, ततः प्रतरपरिमाणं भवति , तच्चेदं–नवनवतिः कोटिशतानि एकषष्टिः कोट्यः सप्तदश लक्षाः पञ्चदश सहस्राणि ९९६११७१५०००, उक्तञ्च–

" वित्थाराओ सोहिय, दस सहस्साइं सेसअद्धम्मि ।
तं चेव पक्खिवित्ता, लवणसमुद्दस्स सा कोडी ॥ १ ॥
लक्खं पंच सहस्सा, कोडीए तीए संगुणेऊणं।
लवणस्स मज्झपरिही, ताहे पयरं इमं होइ ॥ २ ॥
नवनउई कोडिसया, एगट्ठी कोडिलक्खसत्तरसा।
पन्नरस सहस्साणि य, पयरं लवणस्स निद्दिट्ठं ॥ ३ ॥ "

घनगणितभावना त्वेवम्—इह लवणसमुद्रस्य शिखा षोडश सहस्राणि योजनसहस्रमुद्वेधः सर्वसंख्यया सप्तदश सहस्राणि, तैः प्राक्तनं प्रतरपरिमाणं गुण्यते , ततो घनगुणितं भवति, तच्चेदम्—षोडश कोटीकोट्यष्टिनवतिः कोटिशतसहस्राणि एकोनचत्वारिंशत् कोटि–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहस्राणि नव कोटिशतानि पञ्चदशकोट्यधिकानि प-ञ्चाशल्लक्षाणि योजनानामिति १६६३३६६१५५००००००,

उक्तञ्च—

"जोयणसहस्ससोलस. लवणसिहाऽहोगया सहस्सेगं।
पयरं सत्तरसह-स्ससंगुणं लवणघणगणियं ॥ १ ॥
सोलसकोडाकोडी, तेणउई कोडिसयसहस्साओ।
उणयालीससहस्सा, नव कोडिसया य पन्नरसा ॥ २ ॥
पन्नास सयसहस्सा, जोयणयाणं भवे अणूणाई।
लवणसमुद्दस्सेयं, जोयणसंखाएँ घणगणियं ॥ ३ ॥"

आह—कथमेतावत्प्रमाणं लवणसमुद्रस्य घनगणितं भ-वति ?, न हि सर्वत्र तस्य सप्तदशयोजनसहस्रप्रमाण उ-च्छ्रयः, किन्तु मध्यभाग एव दशसहस्रप्रमाणविस्तारस्ततः कथं यथोक्तं घनगणितमुपपद्यते ? इति, सत्यमेतत्, केवलं लवणशिखायाः शिरसि उभयोऽश्च वेदिकान्तयोरुपरि दव-रिकायामेकान्तऋजुरूपायां दीयमानायां दीयमानायां यद-पान्तराले जलशून्यं क्षेत्रं तदपि करणगत्या तदा भाव्यमिति सजलं विवक्ष्यते, अत्रार्थे च दृष्टान्तो मन्दरपर्वतः, तथा-हि—मन्दरपर्वतस्य सर्वत्रैकादशभागपरिहाणिरुपवर्ण्यते, अथ च न सर्वत्रैकादशभागपरिहाणिः, किन्तु-क्वापि कि-यती, केवलं मूलादारभ्य शिखरं यावद्दवरिकायां दत्तायां यदपान्तराले क्वापि कियदाकाशं तत्सर्वं करणगत्या मेरो-राभाव्यमिति मेरुतया परिकल्प्य गणितज्ञाः सर्वत्रैकादश-परिभागहानिं परिवर्णयन्ति, तद्वदिदमपि यथोक्तं घनपरि-माणमिति, न चैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितम्, यत आह जि-नभद्रगणिक्षमाश्रमणो विशेषणवत्यामेतद्विचारप्रक्रमे—"एवं उभयवेइयंताओ सोलसहस्सुस्सेहस्स कन्नगईए जं लव-णसमुद्दाभव्वं जलसुन्नं पि खत्तं तस्स गणियं, जहा मंद-रपव्वयस्स एक्कारसभागपरिहाणी कन्नगईए आगासस्स वि तदा भव्वं ति काउं भणिया तहा लवणसमुद्दस्स वि।" इति।

जइ णं भंते! लवणसमुद्दे दो जोयणसतसहस्साइं चक्क-वालविक्खंभेणं पण्णरस जोयणसतसहस्साइं एकासीतिं च सहस्साइं सतं इगुयालं किंचि विसेसूणा परिक्खेवेणं एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं सोलस जोयणसहस्साइं उ-स्सेधेणं सत्तरस जोयणसहस्साइं सव्वग्गेणं पएणत्ते। क-म्हा णं भंते! लवणसमुद्दे जंबुद्दीवं दीवं णो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णं एक्कोदगं करेति ?, गोयमा! जंबूदीवे णं दीवे भरहेवएसु वासेसु अरहंतचक्कवट्टिबल-देवा वासुदेवा चारणा विज्जाधरा समणा समणीओ सावया सावियाओ मणुया एगधम्मा पगतिभद्दया प-गतिविणीया पगतिउवसंता पगतिपयणुकोहमाणमाया-लोभा मिउमद्दवसंपन्ना अल्लीणा भद्दगा विणिता, तेसि णं पणिहाते लवणे समुद्दे जंबुद्दीवं दीवं नो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णं एगोदगं करेति, गंगासिधुर-त्तारत्तवईसु सलिलासु देवया महिड्ढियाओ ०जाव प-लिओवमट्ठितिया परिवसंति, तेसि णं पणिहाए लवण-समुद्दे ०जाव णो चेव णं एगोदगं करेति, चुल्लहिमवंत-सिहरेसु वासहरपव्वतेसु देवा महिड्ढिया तेसि णं पणिहा-ए० हेमवतेरण्णवतेसु वासेसु मणुया पगतिभद्दगा०, रोहितंससुवण्णकूलरुप्पकूलासु सलिलासु देवयाओ म-हिड्ढियाओ तासिं पणि० सद्दावतिवियडावतिवट्टवेयड्ढ-पव्वतेसु देवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठितिया प-रिव० महाहिमवंतरुप्पिसु वासहरपव्वतेसु देवा महिड्ढि-या० जाव पलिओवमट्ठितिया हरिवासरम्मयवासेसु मणु-या पगतिभद्दगा गंधावतिमालवंतपरिताएसु वट्टवेयड्ढप-व्वतेसु देवा महिड्ढिया, णिसढनीलवंतेसु वासधरपव्व-तेसु देवा महिड्ढिया०, सव्वाओ दहदेवयाओ भाणियव्वा-ओ पउमद्दहतिगिच्छिकेसरिदहावसाणेसु देवा महिड्ढिया-ओ तासिं पणिहाए०, पुव्वविदेहावरविदेहेसु वासेसु अ-रहंतचक्कवट्टीबलदेवा वासुदेवा चारणा विज्जाहरा सम-णा समणीओ सावगा सावियाओ मणुया पगति० ते-सिं पणिहाए लवण०, सीयासीतोदगासु सलिलासु देव-ता महिड्ढिया०, देवकुरुउत्तरकुरुसु मणुया पगतिभद्दगा०, मंदरे पव्वते देवता महिड्ढिया०, जंबूए य सुदंसणाए जं-बूदीवाहिवती अणाढिए णामं देवे महिड्ढिए० जाव पलि-ओवमट्ठितीए परिवसति, तस्स पणिहाए लवणसमुद्दे नो उवीलेति णो उप्पीलेति नो चेव णं एक्कोदगं करेति, अ-दुत्तरं च णं गोयमा! लोगट्ठिती लोगाणुभावे जएणं लवणसमुद्दे जंबुद्दीवं दीवं नो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णमेगोदगं करेति ॥ (सू० १७३)

'जइ णं भंते!' इत्यादि, यदि भदन्त! लवणसमुद्रो द्वे योजनशतसहस्रे चक्रवालविष्कम्भेन पञ्चदश योजन-शतसहस्राणि एकाशीतिः सहस्राणि शतं चैकोनचत्वा-रिंशं किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः, एकं योजनसह-स्रमुद्वेधेन षोडश योजनसहस्राण्युत्सेधेन सप्तदश योजन-सहस्राणि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तः, तर्हि 'कम्हा णं भंते!' इत्यादि, कस्माद् भदन्त! लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं न अवपीडयति—जलेन प्लावयति, न उत्पीडयति—प्राबल्येन बाधते नापि णमिति वाक्यालंकृतौ एको-दकं—सर्वाग्मनोदकप्लावितं करोति ?, भगवानाह—गौत-म! जम्बूद्वीपे भरतैरावतयोः क्षेत्रयोरर्हन्तश्चक्रवर्त्तिनो ब-लदेवा वासुदेवाः चारणाः—जङ्घाचारणमुनयो विद्या-धराः श्रमणाः—साधवः श्रमण्यः—संयत्यः श्रावकाः श्राविकाः, एतत् सुषमदुष्षमादिकमारकत्रयमपेक्ष्योक्तं वे-दितव्यम्, तत्रैवार्हदादीनां यथायोगं सम्भवात्, सुषमसु-षमादिकमधिकृत्याह—मनुष्याः प्रकृतिभद्रकाः प्रकृतिप्र-तनुक्रोधमानमायालोभाः मृदुमार्दवसंपन्ना आलीना भद्र-का विनीताः, एतेषां व्याख्यानं प्राग्वत्, तेषां प्रणिध-या, प्रणिधानं—प्रणिधा, 'उपसर्गादात' इत्यङ् प्रत्ययः, तान्, प्रणिधाय अपेक्ष्य तेषां प्रभावत इत्यर्थः, ल-वणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं नावपीडयतीत्यादि, दुष्षम-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुष्पमादावपि नावपीडयति, भरतवैताढ्याद्यधिपतिदेवता-प्रभावात्, तथा क्षुल्लहिमवच्छिखरिणोर्वर्षधरपर्वतयोर्देवता महर्द्धिका यावत्करणान्महाद्युतिका इत्यादिपरिग्रहः परिवसन्ति तेषां प्रणिधया-प्रभावेन लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं नावपीडयतीत्यादि, तथा हैमवतहैरण्यवतोर्वर्षयोर्मनुजाः प्रकृतिभद्रका यावत् विनीतास्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत्, तथा तयोरेव वर्षयोर्यौ यथाक्रमं शब्दापातिविकटापातिनौ वृत्तवैताढ्यौ पर्वतौ तयोर्देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत्। तथा महाहिमवद्रुक्मिवर्षधरपर्वतयोर्देवता महर्द्धिका इत्यादि तथैव। तथा हरिवर्षरम्यकवर्षयोर्मनुजाः प्रकृतिभद्रका इत्यादि सर्वं हैमवतवत्, तथा तयोः क्षेत्रयोर्यथाक्रमं गन्धापातिमाल्यवत्पर्यायौ यौ वृत्तवैताढ्यपर्वतौ तयोर्देवौ महर्द्धिकावित्यादि पूर्ववत्। तथा पूर्वविदेहापरविदेहवर्षयोरर्हन्तश्चक्रवर्त्तिनो यावन्मनुजाः प्रकृतिभद्रका यावद् विनीतास्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत्। तथा देवकुरूत्तरकुरुषु मनुजाः प्रकृतिभद्रका यावद्विनीतास्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत्। तथा उत्तरकुरुषु कुरुषु जम्ब्वां सुदर्शनायामनादृतो नाम देवो जम्बूद्वीपाधिपतिः परिवसति तस्य प्रणिधया-प्रभावेनेत्यादि तथैव। अथान्यद् गौतम! कारणम्, तदेवाह-लोकस्थितिरेषा-लोकानुभाव एष यल्लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं जलेन नावपीडयतीत्यादि॥ तृतीयप्रतिपत्तावेष मन्दरोद्देशकः समाप्तः। (जी०) लवणसमुद्रा असंख्येयाः। जी० ३ प्रति० २ उ०। भरतक्षेत्रसम्बन्धिमागधादितीर्थानि जगत्या अर्वाक् सन्ति लवणसमुद्रे वेति प्रश्ने? अत्रोत्तरं-भरतक्षेत्रसम्बन्धिमागधादितीर्थानि जगत्याः परतो लवणसमुद्रेऽवसीयन्ते, यतो जम्बूद्वीपसमासे भरतक्षेत्रवर्णनाधिकारे मागधवरदामप्रभासतीर्थद्वारमित्याद्युक्तमस्तीति॥ २६॥ सेन० १ उल्ला०। लवणसमुद्रे वृद्धकलशानां लघुकलशानां च मुखानि सर्वथा पानीयस्याधो वर्त्तन्ते किं वा सहस्रयोजनानामुपरीति प्रश्ने?, अत्रोत्तरं कलशानां मुखानि पानीयस्याधो भूमिसम्बद्धानि वर्त्तन्त इति प्रवचनसारोद्धारसूत्रवृत्तिक्षेत्रसमासानुसारेण ज्ञायत इति॥ १४०॥ सेन० ३ उल्ला०।

विषयसूची—

(१) लवणसमुद्रवक्तव्यता।
(२) लवणसमुद्रचक्रवालविष्कम्भादिपरिमाणम्।
(३) लवणसमुद्रवनखण्डवर्णकः।
(४) लवणसमुद्रद्वारवक्तव्यता।
(५) लवणसमुद्रविजयद्वारनैषेधिक्यां चन्दनकलशवर्णनम्।
(६) लवणसमुद्रविजयद्वारशालभञ्जिकावर्णनम्।
(७) लवणसमुद्रविजयद्वारपीठादिवर्णनम्।
(८) लवणसमुद्रविजयद्वारचक्रध्वजादिप्रतिपादनम्।
(९) लवणसमुद्रगतविजयराजधानीवनखण्डवर्णनम्।
(१०) लवणसमुद्रे विजयदेवसभा।
(११) लवणसमुद्रविजयद्वारस्य चैत्यवृक्षमणिपीठिकानां महेन्द्रध्वजादीनां च प्रतिपादनम्।
(१२) लवणसमुद्रविजयद्वारमणिपीठिकावर्णनम्।
(१३) सुधर्मासभायाः सिद्धायतनादिप्रतिपादनम्।
(१४) तत्रोपपातसभाप्रतिपादनम्।
(१५) विजयदेवाभिषेकः।
(१६) लवणसमुद्रस्थिताया विजयराजधान्या अधिपतेर्विजयदेवस्य निष्क्रमणादिवर्णनम्।
(१७) विजयदेवस्य तन्महिषीणां च निषीदनादिप्रतिपादनम्।
(१८) लवणसमुद्रगतवैजयन्तद्वारप्रतिपादनम्।
(१९) लवणसमुद्रनित्यतादर्शनम्।
(२०) लवणसमुद्रगतचन्द्रादिसंख्याप्रतिपादनम्।
(२१) लवणसमुद्रशिखावक्तव्यता।
(२२) लवणसमुद्रवेलाधारकवेलन्धरादिनागराजानां संख्या तेषां वक्तव्यता च।
(२३) दकाभासवक्तव्यता।
(२४) संखवक्तव्यता।
(२५) लवणाधिपतेर्द्वीपप्रतिपादनम्।
(२६) उद्वेधपरिवृद्धिचिन्तनम्।
(२७) लवणसमुद्रगोतीर्थप्रतिपादनम्।
(२८) लवणसमुद्रः किंसंस्थानसंस्थित इत्यस्य वर्णनम्।

लवणिया-लवणिका-स्त्री०। दिगम्बरप्रसिद्धे साधूपकरणे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

लवणोद-लवणोद-पुं०। लवणमिवोदकं यत्र स लवणोदः। समुद्रे, स्था० २ ठा० १ उ०।

लवमेत्त-लवमात्र-न०। स्तोकमात्रपरिमितकाले, पो० ८ विव०।

लवली-लवली-स्त्री०। गन्धवद्वृक्षविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

लवसत्तम-लवसप्तम-पुं०। पञ्चानुत्तरविमानस्थदेवेषु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

सम्प्रति लवसत्तमदेवस्वरूपमाह—

सत्त लवा जइ आऊ, पहु प्पमाणं ततो उ सिज्झन्तो।
तत्तियमेत्तं न हु ततो, ते लवसत्तमा जाया॥ १३२॥

यदि सप्त लवाः-कालविशेषा आयुः प्रभवेत्-स्यात् सप्तलवप्रमाणं यद्यायुः प्राप्येतेत्यर्थः ततः सिध्येयुः; परं तत् आयुस्तावन्मात्रम्, (न हु-)नैव अभवत् ततस्ते लवसप्तमा देवा जाता लवे सप्तमे सिद्धिरभविष्यत्, यदि तावदायुरभवेदेषां ते लवसप्तमाः "नाम-नाम्नैकार्थे समासो बहुलम्" ॥ ३।१।१८॥ इति समासः।

के ते लवसप्तमा इत्याह—

सव्वट्ठसिद्धिनामे, उक्कोसठिई य विजयमादीसु।
एगावसेसगब्भा, भवंति लवसत्तमा देवा॥ १३३॥

ये देवाः सर्वार्थसिद्धिनामके महाविमाने ये च विजयादिषूत्कृष्टस्थितय एकोऽवशेषो गर्भो येषां ते एकावशेषगर्भास्ते भवन्ति लवसप्तमाः। व्य० ५ उ०।

अत्थि णं भंते! लवसत्तमा देवा लवस०?, हंता अत्थि से केणऽट्ठेणं भंते! एवं वुचइ लवसत्तमा देवा लवसत्तमा देवा?, गोयमा! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे० जाव णिउणसिप्पोवगए सालीण वा वीहीण वा गोधूमाण वा जवाण वा जवजवाण वा पक्काणं परियाताणं हरियाणं हरियकंडाणं तिक्खेणं णवपजणएणं असियएणं पडिसाहरिया पडिसाहरिया पडिसंखिविया पडिसंखिविया०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाव इणामेव इणामेवे त्ति कट्टु सत्तलवए लुएज्जा, जइ णं गोयमा! तेसिं देवाणं एवतियं कालं आउए बहुप्प तश्रो णं ते देवा तेणं चेव भवग्गहणेणं सिज्झन्ता० जाव अंतं करेंति। से तेणऽट्ठेणं० जाव लवसत्तमा देवा लवसत्तमा देवा। (सू० ५२५)

'अत्थि णं' मित्यादि, लवाः शाल्यादिकवलिका लवनक्रिया प्रमिताः कालविभागाः सप्त सप्तसंख्यामानं प्रमाणं यस्य कालस्यासौ लवसप्तमस्तं लवसप्तमं कालं यावदायुष्यप्रभवति सति ये शुभाध्यवसायप्रवृत्तयः सन्तः सिद्धिं न गता अपि तु देवेषूत्पन्नास्ते लवसप्तमास्ते च सर्वार्थसिद्धाभिधानानुत्तरसुरविमाननिवासिनः, 'से जहानामए त्ति' स कश्चिद्यथानामकोऽनिर्दिष्टनामा पुरुषः 'तरुणे' इत्यादेर्व्याख्यानं प्रागिव 'पक्काणं' ति पक्कानाम् 'परियायाणं' ति पर्यवगतानां लवनीयावस्थां प्राप्तानाम्, 'हरियाणं' ति पिङ्गीभूतानाम् ते च पत्रापेक्षयाऽपि भवन्तीत्याह-'हरियकंडाणं' ति पिङ्गीभूतजालानाम्। 'नवपज्जणएणं' ति, नवं-प्रत्यग्रं 'पज्जणयं' ति प्रतापितस्यायोघनकुट्टनेन तीक्ष्णीकृतस्य पायनं-जलनिवोलनं यस्य तन्नवपायनं तेन 'असियएणं' ति दात्रेण 'पडिसाहरिय' त्ति। प्रतिसंहृत्य विकीर्णनालान् बाहुना संगृह्य 'पडिसंखिविय' त्ति मुष्टिग्रहणेन संक्षिप्य 'जाव इणामेव' इत्यादि प्रज्ञापकस्य लवनक्रिया शीघ्रत्वोपदर्शनपरचप्पुटिकादिहस्तव्यापारसूचकं वचनम्। 'सत्तलव' इति लूयन्त इति लवाः शाल्यादिनालमुष्टयस्तान् लवान् 'लुएज्ज' त्ति लुनीयात्, तत्र च सप्तलवलवने यावान् कालो भवतीति वाक्यशेषो दृश्यः, ततः किमित्याह-'जइ णं' इत्यादि, 'तेसिं देवाणं' ति द्रव्यदेवत्वे साध्ववस्थायामित्यर्थः 'ते णं चेव' त्ति यस्य भवग्रहणस्य सम्बन्धि आयुर्न पूर्णं तेनैव, मनुष्यभवग्रहणेनेत्यर्थः। भ० १४ श० ७ उ०।

लवालव-लवालव-पुं०। कालानुपेक्षणेन सामाचार्यनुष्ठाने, स० ३२ सम०। प्रश्न०। आव०।

लवालवोदाहरणमाह—

"भरुअत्थम्मि अविज्जए, नगपिडए वास वासनागहरे।
ठवणा आयरिअस्स उ, सामायारीपउंजणया॥ १॥
आसीद् भृगुपुरे सूरि-रेकस्तेन निजा (नि) न्तिपत्।
विजयः प्रेषितोऽवन्ती-पुर्यां कार्येण केनचित्॥ २॥
स च ग्लानादिकार्येण, व्याक्षेपादन्तरे स्थितः।
रुद्धश्चाकालवर्षेण, भूरभूदण्डकाकुला॥ ३॥
वर्षावासं नटपिट-ग्रामे नापिगृहे स्थितः।
कर्त्तुं गुरुकुलावासं, न्यधत्त स्थापनागुरुम्॥ ४॥
कालं जग्राह कृत्वा वा-ऽऽवश्यकं विधिपूर्वकम्।
कालं प्रवेद्य पश्चाच्च, कृत्वा स्वाध्यायमुत्तमम्॥ ५॥
एवमावश्यकाद्यां स, सामाचारीं व्यधान्मुनिः।
न किञ्चन विसस्मार, सोपयोगः क्षणे क्षणे॥ ६॥

किं मे कडं किञ्चमकिञ्चसेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि।
किं मे परो पासइ किञ्च अप्पा,
किं वाह खलिअं च विवज्जयामि॥ ७॥

भाव्यं चिन्तापरेणैव, सर्वदैव हि साधुना॥" आ० क० ४ अ०।

लवावसंकि-लवावशङ्किन्-त्रि०। लवं कर्म्म तस्मादपशङ्कितुमपसर्त्तुं शीलं येषां ते लवापशङ्किनः। कायतिकेषु. शाक्यादिषु च। "लवावसंकी य अणागएहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियवादी।" सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

लवावसप्पि-लवावसर्पिन्-त्रि०। लवं कर्म्म तस्माद् 'अवसप्पिणो' त्ति अवसर्पिणः यदनुष्ठानं कर्म्मबन्धोपादानभूतं तत्परिहारिषु, 'सीओदगपडिदुगंछिणो अपडिण्णस्स लवावसप्पिणो'। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

लसइ-देशी-कामे, दे० ना० ७ वर्ग १८ गाथा।

लसक-देशी-तरुक्षीरे, दे० ना० ७ वर्ग १८ गाथा।

लसुअ-देशी-तैले, दे० ना० ७ वर्ग १८ गाथा।

लसुण-लशुन-न०। कन्दविशेषे, उत्त० ३६ अ०। ध०। (लशुनं सचित्तमचित्तं वेति 'सचित्त' शब्दे वक्ष्यते)

लहरी-लहरी-स्त्री०। उत्कलिकायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

लहु-लघु-न०। शीघ्रे, उत्त० १ अ०। पञ्चा०। प्रश्न०। प्रायस्तिर्यगूर्द्धाधो गमनहेतौ अर्कतूलादिनिःसृते स्पर्शभेदे, अनु०। 'एगे लहुए' स्था० १ ठा०। विशे०। कर्म०। लघुस्पर्शवद्द्रव्यं, यत्तु द्रव्यं निसर्गत एवोर्ध्वगतिस्वभावं तल्लघु यथा दीपफलकादि। आ० म० १ अ०। (अथ किं गुरु किं लघु किं वा अगुरुलघु इति 'अगरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे दर्शितम्) अणुके, स्था० ५ ठा० १ उ०। गुणगौरवरहिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। लघुपञ्चकादौ प्रायश्चित्ते, व्य० १ उ०।

लहुअकड-देशी-न्यग्रोधे, दे० ना० ७ वर्ग २० गाथा।

लहुइय त्रि०। (देशी) तुलिते, "लहुइअं ओहामिअं तुलिअं" पाइ० ना० १८७ गाथा।

लहुकरण-लघुकरण-न०। गमनादिकायां शीघ्रक्रियायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०। "लहुकरणजुत्तजोइयं" लघुकरणेन दक्षत्वेन ये युक्ता पुरुषास्तैर्योजितं यन्त्ररूपादिभिः सम्बद्धितं यत्तत्तथा। उपा० ७ अ०। लघुकरणं शीघ्रक्रियादक्षत्वं तेन युक्तौ योगिकौ च प्रशस्तयोगवन्तौ प्रशस्तसदृशरूपत्वाद् यौ तौ तथा। भ० ६ श० ३३ उ०।

लहुग-लघुक-पुं०। पञ्चभङ्गकरणतः पूरणीये त्रिंशद्दिवसपरिमाणे प्रायश्चित्तव्यवहारे, व्य० २ उ०। बृ०। गौरवत्रयत्यागात् लाघववति, प्रश्न० ५ संव० द्वार। एकः पार्श्वस्थादिर्मूलकर्म्मादिषु दुष्टकर्मकारी परं शुद्धप्ररूपकोऽपर उत्सूत्रप्ररूपकः परं तपःप्रभृति भूयः क्रियावान् एतयोर्मध्ये को गौरववान् कश्च लाघववानिति प्रश्ने?, अत्रोत्तरम्—एतयोर्मध्येऽयं गुरुरयं च लघुरिति निर्णयः कर्त्तुं न शक्यते, तथाविधसिद्धान्ताक्षरानुपलम्भाज्जीवपरिणामानां वैचित्र्याच्च, सर्वथा निर्णयस्तु सर्व्वविद्वेद्यो, व्यवहारवृत्त्या तूत्सूत्रप्ररूपको गौरववानिति सम्भाव्यते॥ १३॥ सेन० १ उल्ला०।

लहुत्तरग-लघूत्तरक-न०। अष्टाविंशतिदिनमानं प्रायश्चित्ते, व्य० २ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लहुत्थाण-लघूत्थान-न० । अल्पोत्थाने, " लघूत्थानान्यविघ्नानि, सम्भवत्साधनानि च । कथयन्ति पुरः सिद्धिं, कारणान्येव कर्म्मणाम् ॥ १ ॥ " संघा० १ अधि० २ प्रस्ता० ।

लहुदक्खोववेय-लघुदाक्ष्योपपेत-न० । लघु-शीघ्रं दाक्ष्यं चातुर्य्यं तेनोपपेतः । अविलम्बितचातुर्यतया कार्यकारिणि, उत्त० १ उ० ।

लहुदारु-लघुदारु-न० । लघुकाष्ठे, " लहुदारु किलिंचं " पाइ० ना० २२६ गाथा ।

लहुपरक्कम-लघुपराक्रम-पुं० । ईशानेन्द्रदेवस्य पदात्यनीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

लहुपवयणसार-लघुप्रवचनसार-पुं० । श्रीहेमचन्द्रसूरिशिष्यश्रीचन्द्रसूरिविरचिते साध्वाहारभेदज्ञानार्थे प्रकरणग्रन्थे, " रइयं पगरणमेगं, मुणीणमाहारभेयनीणट्ठं । सिरिसिरिचन्दमुणिंदे-ण हेमसूरीण सिस्सेण " ल० प्र० ।

लहुफासणाम-लघुस्पर्शनामन्-न० । स्पर्शनामभेदे, यदुदयात् जन्तुशरीरमर्कतूलादिवल्लघु भवति । कर्म्म० १ कर्म० ।

लहुबुद्धि-लघुबुद्धि-स्त्री० । शीघ्रक्रियाकरणाध्यवसाये, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

लहुभूय-लघुभूत-पुं० । लघुभूतो अनुपधित्वेन गौरवत्यागेन च लघुरूपसाधौ, स्था० ६ ठा० ३ उ० । मोक्षे, संयमे च । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

लहुभूयगा(का)मि(न्)-लघुभूतगामिन्-पुं० । लघुभूतो मोक्षो संयमो वा तं गन्तुं शीलमस्येति लघुभूतगामी । लघुभूतं वा कामयितुं वा शीलमस्येति लघुभूतकामी । मुमुक्षौ, संयते च । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

लहुभूयविहारि-लघुभूतविहारिन्-पुं० । लघुभूतो वायुः वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारोऽस्यास्तीति लघुभूतविहारी । क्वचिदप्यप्रतिबद्धविहारिणि, दश० ४ अ० ।

लहुमच्छ-लघुमत्स्य-पुं० । लघुमीने, " कड्डयाला कुंवरा य लहुमच्छा " पाइ० ना० १२८ गाथा ।

लहुय-लघुक-त्रि० । अल्पे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । " छुट्टं मडहं लहुयं " पाइ० ना० १७१ गाथा । ऊर्ध्वगमनस्वभावे धूमादौ, स्था० १० ठा० ३ उ० । सत्त्वसारवर्ज्जिते तुच्छे, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

लहुयत्त-लघुकत्व-न० । गौरवविपर्ययाते, भ० १ श० ६ उ० । लाघवे, पञ्चा० १७ विव० । (जीवा लघुकत्वं गुरुत्वं वा कथं गच्छन्तीति 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे ३३२ पृष्ठे गतम्) ('आउलीकरण' शब्दे द्वितीयभागे लघुकत्वं जीवाः कथं गच्छन्तीत्युक्तम्)

लहुया-लघुता-स्त्री० । लघोर्भावो लघुता । लघुत्वे, व्य० १ उ० । स्तोकतायाम्, आ० म० १ अ० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

लहुवित्तिपरिक्खेव-लघुवृत्तिपरिक्षेप-पुं० । लघुवृत्तिः परिक्षेपोऽस्येति लघुवृत्तिपरिक्षेपः । अल्पाहारे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

लहुवी-लघ्वी-स्त्री० । " नन्वीतुल्येषु " ॥ ८ । २ । ११३ । इति अन्त्यव्यञ्जनात् पूर्व उकारः । लाघववत्याम्, प्रा०२ पाद।

लहुस-लघुस्व-त्रि० । लघुः स्व आत्मा यस्य सः लघुस्वः । अल्पस्वरूपे, ज्ञा०१ श्रु०८अ० । ईषदल्पे, स्तोके, नि०चू० २ उ० ।

लहुसग-लघुस्वक-त्रि० । स्तोके, व्य०२ उ० । लघुस्वभावयुक्ते, भ० ६ श० ३३ उ० । लहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया । नि० चू० २ उ० ।

लहुसीहनिक्कीलिय-लघुसिंहनिष्क्रीडित-न० । स्वनामख्याते तपसि, प्रव० ।

लघुसिंहनिष्क्रीडितं तपः प्रतिपादयितुमाह—

इग दुग इग तिग चउ तिग, दुग पण चउ छक्क पंच सत्त छगं ।
अट्ठग सत्तग नवगं, अट्ठग नव सत्त अट्ठेव ॥१५२६॥
छग सत्तग पण छक्कं, चउ पण तिग चउर दुग तिगं एगं ।
दुग एक्कग उपवासा, लहुसीहनिकीलियतवम्मि ॥१५३०॥

अनन्तरवक्ष्यमाणमहासिंहनिष्क्रीडितापेक्षया लघु ह्रस्वं सिंहस्य निष्क्रीडितमिदमित्यर्थः, सिंहनिष्क्रीडितं तदिव यत्तपस्तत्सिंहनिष्क्रीडितमिति, सिंहो हि गच्छन् गत्वाऽतिक्रान्तं देशमवलोकयति; एवं यत्र तपस्यतिक्रान्ततपोविशेषं पुनरासेव्याग्रेतनं प्रकरोति तत् सिंहनिष्क्रीडितमिति, एतस्य चैवं रचना-एकादयो नवान्ताः क्रमेण स्थाप्यन्ते, पुनरपि प्रत्यागत्य नवादयः एकान्ताः, ततश्च द्व्यादीनां नवान्तानामग्रे प्रत्येकमेकादयोऽष्टान्ताः स्थाप्यन्ते, ततो नवाद्येकान्तप्रत्यागतपङ्क्तावष्टादीनां द्व्यन्तानामादौ सप्तादय एकान्ताः स्थाप्यन्ते इति । अयमर्थः-प्रथममेक उपवासकः, ततः-पारणकम् ,एवमन्तरा सर्वत्र पारणकं ज्ञेयम् , ततो—द्वौ, तत एकः, ततस्त्रय उपवासाः, ततो द्वौ, ततश्चत्वारः, ततस्त्रयः, ततः पञ्च, ततः—चत्वारः, ततः—षट् , ततः—पञ्च, ततः—सप्त, ततः—षट् , ततः—अष्टौ, ततः—सप्त, ततो—नव, ततः—अष्टौ, ततो—नव, ततः—सप्त, ततः—अष्टौ, ततः—षट् , ततः—सप्त, ततः—पञ्च, ततः—षट्, ततः—चत्वारः, ततः—पञ्च, ततः—त्रयः, ततः—चत्वारः, ततो—द्वौ, ततः—त्रयः, ततः—एक इति, एते लघुसिंहनिष्क्रीडिते तपस्युपवासाः ।

अथोपवासदिवसानां पारणकदिनानां च संख्यामाह—

चउपन्नखमणसयं, दिणाण तह पारणाणि तेत्तीसं ॥
इह परिवाडिचउक्के, वरिसदुगं दिवस अडवीसा ॥१५३१॥

लघुसिंहनिष्क्रीडिते तपसि क्षमणदिनानाम्-उपवासदिवसानां शतमेकं चतुःपञ्चाशदधिकं, तथाहि—द्वे नवसंकलने, ततः—एका ४५, पुनः ४५, अष्टसंकलना चैका ३६, सप्तसंकलनाऽप्येकैका २८, सर्वमीलने च यथोक्ता संख्या भवति १५४, तथा पारणकानि त्रयस्त्रिंशत् तदेवं सर्वदिनसंख्या १८७, तथा च—षण्मासाः सप्तदिनाधिका भवन्ति, तच्च तपःपरिपाटीचतुष्टयेन क्रियते, तत एतेषु चतुर्गुणितेषु द्वे वर्षे अष्टाविंशतिदिनाधिके भवतः ।

अथ परिपाटीचतुष्टयेऽपि प्रत्येकं पारणस्वरूपं निरूपयति—

विगईओ निव्विगइयं, तहा अलेवाडयं च आयामं ।
परिवाडिचउक्कम्मि, पारणएसुं वि हेयव्वं ॥ १५३२ ॥

प्रथमपरिपाट्यां पारणकेषु विकृतयो भवन्ति, सर्वरसोपे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तं पारणकमिति भावः, द्वितीयपरिपाट्यां निर्विकृतिर्विकृतिविरहः, तृतीयपरिपाट्यामलेपकारिवल्लचणकादिः, चतुर्थपरिपाट्यामाचाम्लं परिमितभैक्ष्यमिति, एवमस्य तपसः पारणकभेदेन चतस्रः परिपाट्यो विधेयाः। प्रव०२७१ द्वार।

लहुस्सग-लघुस्वक-पुं०। तुच्छात्मनि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

लहुस्सगदोस-लघुकस्वकदोष-पुं० । तुच्छत्वरूपस्वकदोषे, व्य० ५ उ०।

लहुहत्थ-लघुहस्त-पुं०। हस्तलाघवे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। क्रियासु दक्षे हस्ते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

लाअण्ण-लावण्य-न०। " क--ग--च--ज--त--द--प--य-वां प्रायो लुक्" ॥८।१।१७७॥ इति वस्य लुक्। लाअण्णं। लावण्णिमनि, प्रा० १ पाद।

लाआण-राजन्-पुं०। नृपे, "शेषं शौरसेनीवत्" ॥८।४।३०२॥ मागध्यां रस्य लः। ' अवञ्ञलोपसप्पणीया लायाणो ' प्रा०।

लाइअ-देशी-भूषायाम्, गृहीते, चर्मार्धे च। दे० ना० ७ वर्ग २७ गाथा।

लाइम-लाविम-त्रि०। लवनवति, लवनयोग्ये च। दश० ७ अ०। आचा०।

लाइय-लायित-न०। छगणादिना भूमिकायाः संमृष्टीकरणे, भ० १२ श० ८ उ०। ज्ञा०। जी०।

लाइल्ल-देशी-वृषभे, दे० ना० ७ वर्ग १८ गाथा।

लाउ-अलाबुक-न०। तुम्बके, "वाऽलाब्वरण्ये लुक्" ॥ ८।१।६६। इति आदेरस्य लुक्। लाउं। अलाउं। प्रा०। बृ०। नि० चू०। भ०। पात्रभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। विशे०। ज्ञा०।

निर्ग्रन्थीभिः सवृन्तकमलाबु न धर्त्तव्यम्।

नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटगं लाउयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४३ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटगं लाउयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४४ ॥

व्याख्या सुगमा। नवरं सवेण्टकम्—नालयुक्तम् अलाबुकं तन्निर्ग्रन्थीनां न कल्पते ॥ ४३ ॥ निर्ग्रन्थानां तु कल्पते ॥ ४४ ॥

अत्र भाष्यम्-

ते चेव सवेंटम्मि वि, दोसा पादम्मि जे तु सविसाणे।
अइरेग अपडिलेहा, विइयगिलाणा सदट्ठवणा ॥

त एव सवृन्तेऽपि-सनालेऽपि अलाबुमये पात्रे दोषा मन्तव्याः, ये सविषाणे आसने पादकर्म्मादय उक्ताः। द्वितीयपदे तु धारयेदपि, तत्राध्वनि घृतं वा तैलं वा सुखेनैवापरिगलदुह्यते, ग्लानाया वा योग्यं तत्रौषधं प्रक्षिप्तमानेतव्यं सवृन्तकं प्रवर्त्तिनी स्वयं सारयति। निर्ग्रन्थानामपि निष्कारणे न कल्पते, यदि धारयन्ति ततोऽतिरिक्तोपकरणदोषः सवृन्तके च प्रत्युपेक्षणेन शुद्ध्यति, द्वितीयपदे ग्लानस्य योग्यमौषधं तत्र स्थापयति इति कृत्वा ग्रहीतव्यम्। बृ० ५ उ०। (अलाबुप्रमाणमात्रा पादकेशरिका न धारयितव्येति ' पायकेसरिया ' शब्दे पञ्चमभागे ८५० पृष्ठे उक्तम्)

लाउडिय-लाकुटिक-पुं०। डङ्गरायाम्, बृ० ३ उ०।

लाउयनिल्लेवण-अलाबुकनिर्लेपन-न०। पात्रप्रक्षालने, बृ० १ उ० २ प्रक०।

लाउयपाय-अलाबुकपात्र-न०। तुम्बपात्रे,स्था०३ ठा०३ उ०। (अत्र भेदाः 'पत्त' शब्दे पञ्चमभागे ३६३ पृष्ठे गताः।)

लाउयफल-अलाबुकफल-न०। तुम्बिनः फले, अनु०।

लाउयवण्ण-अलाबुकवर्ण-त्रि०। आर्द्रतुम्बवर्णे, चं० प्र० २० पाहु०।

लाउयवण्णाभ-अलाबुकवर्णाभ-त्रि०। पक्वावस्थतुम्बकवर्णाभे, भ० १२ श० ६ उ०।

लाउल्लोइयमहिय-लापितोल्लोचितमहित-त्रि०। ' लाउल्लोइयं'छागणादिना भूमौ लेपनम्। 'उल्लोइयं'सेढि(टि)कादिना कुड्यादिषु धवलनं ताभ्यां महितमिव-पूजितमिव ते एव वा महितं पूजनतो यत्र। अन्ये तु व्याचक्षते-लिप्तम् उल्लोचितम् उल्लोचयुक्तं महितं चेति। भ० १२ श० ८ उ०।

लाघव-लाघव-न०। लघोर्भावो लाघवम्। आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। द्रव्यतोऽल्पोपधित्वे, भावतो गौरवत्रयत्यागे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। आचा०। स्था०। नि० चू०। औ०। स०। नि०। तद्रूपे श्रमणभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०। क्रियासुदक्षत्वे, भ० २ श० ५ उ०। रा०।

लाघविय-लाघविक-न०। कर्म्मणां लाघवापादनं कर्म्म गुरोर्वात्मनः कर्म्मापनयनतो लघ्ववस्थासंजनने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

से नूणं भंते ! लाघवियं अप्पिच्छा अमुच्छा अगेही अपडिबद्धया समणाणं णिग्गंथाणं पसत्थं ?, हंता गोयमा ! लाघवियं ०जाव पसत्थं। (सू० ७४×)

' लाघवियं ' ति लाघवमेव लाघविकम् अल्पोपधिकम्, ' अप्पिच्छे ' त्ति अल्पोऽभिलाष आहारादिषु ' अमुच्छ ' त्ति उपधावसंरक्षणानुबन्धः ' अगेहि ' त्ति भोजनादिषु परिभोगकालेऽनासक्तिः अप्रतिबद्धता स्वजनादिषु स्नेहाभाव इत्येतत्पञ्चकमिति गम्यम्, श्रमणानां—निर्ग्रन्थानाम्, प्रशस्तम्—सुन्दरम्, अथवा—लाघविकं प्रशस्तम्, कथम्भूतमित्याह-'अप्पिच्छा' अल्पेच्छारूपमित्यर्थः, एवमितराण्यपि पदानि। भ० १ श० ६ उ०।

लाड-लाट-पुं०। कोटीवर्षनगरप्रतिबद्धे आर्य्यदेशे, प्रज्ञा० १ पद। आचा०। सूत्र०। स्था०। आ० म०। आ० क०।

लाढ-पुं०। लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण साधुगुणैः आत्मानं यापयतीति लाढः, प्रशंसाभिधेयो वा, देशीपदमेतद् वा। (उत्त०) लाढयति यापयति आत्मानम् एषणीयाहारेण निर्वाहयतीति लाढः। एषणीयचारिणि साधौ, उत्त० २ अ०।

लाढायरिया-लाढाचार्य-पुं०। छेदग्रन्थव्याख्यातृविशेषकारके स्वनामख्याते आचार्ये, बृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०।

लाभ-लाभ-पुं०। अप्राप्तवस्तुप्राप्तौ, उत्त०१ अ०। लम्भनम्-लाभः। स्था० ३ ठा० ४ उ०। अभ्युदयप्राप्तिविशेषे, आ०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

म० १ अ० । पञ्चा० । सूत्र० । लभ्यत इति लाभः । उत्त० २८ अ० । अन्नादौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

लाभंतर-लाभान्तर-न० । लम्भनं लाभोऽपूर्वार्थप्राप्तिरन्तरं-विशेषः, लाभश्चासावन्तरञ्च । उत्त० ४ अ० । लाभविशेषे, व्य०१०उ० । एकस्माल्लाभादन्यो लाभो लाभान्तरम् । ज्ञानदर्शनचारित्रादीनां लाभविशेषे, उत्त० ४ अ० ।

लाभंतराय-लाभान्तराय-न० । अन्तरायकर्म्मभेदे, यदुदयवशाद्दानगुणेन प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानमपि देयमर्थजातं याञ्चाकुशलोऽपि गुणवानपि याचको न लभते तल्लाभान्तरायम् । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । स० ।

लाभकंखि-लाभाकाङ्क्षिन्-त्रि० । ज्ञानदर्शनचारित्ररूपपरमार्थलाभार्थिनि, व्य० १ उ० ।

लाभट्ठि-लाभार्थिन्-त्रि० । धनादिलाभार्थिनि, भ० ६ श० ३३ उ० । भोजनमात्रादिप्रार्थिनि, औ० ।

लाभट्ठिय-लाभार्थिक-पुं० । भावलाभेन निर्जरादिनाऽर्थोऽस्येति लाभार्थिकः । संयते, दश० ५ अ० १ उ० ।

लाभमय-लाभमद-पुं० । अहमेव लाभेनोत्तमतया पर्यन्तवर्त्तीति लाभजन्यमदभेदे , स्था० १० ठा० ३ उ० । स० । यो ह्यल्पान्तरायो लब्धिमानात्मकृते परस्मै चोपकरणादिकमुत्पादयितुमलं स लघुप्रकृतितया लाभमदावलिप्तो भवति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

लाभविजय-लाभविजय-पुं० । श्रीमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डिते, नं० । प्रति० । द्वा० । " चमत्कारं दत्ते त्रिभुवनजनानामपि हृदि, स्थितिर्हैमी यस्मिन्नधिकपदसिद्धिप्रणयिनी । सुशिष्यास्ते तेषां बभुरधिकविद्यार्जितयशः—प्रशस्तश्रीभाजः प्रवरविबुधा लाभविजयाः" ॥ १ ॥ द्वा० ३२ द्वा० ।

लाभासंसापओग-लाभाशंसाप्रयोग-पुं० । कीर्तिः श्रुतादिलाभो मे भूयादिति लाभाशंसाप्रयोगः । तद्व्यापारे, स्था० १० ठा० ३ उ० । ('आसंसापओग' शब्दे द्वितीयभागे ४६६ पृष्ठे अत्रत्या वक्तव्यता गता)

लाम-ललाम-त्रि० । रम्ये, "ललंतलामगललायवरभूसणाणं" ललन्ति—दोलायमानानि लामन्ति प्राकृतत्वाद् रम्याणि गललातानि—कण्ठेनाऽऽत्तानि वरभूषणानि येषां ते तथा । (प्राकृतत्वात्तथापदसिद्धिः ।) औ० ।

लामंजय-लामञ्जय-न० । कमलतन्तौ, " नलयं लामंजयं उसीरं च " पाइ० ना० १४६ गाथा ।

लामा-देशी-डाकिन्याम् , दे० ना० ७ वर्ग २१ गाथा । " रोअणिआ लामाओ " पाइ० ना० १०७ गाथा ।

लाय-लाज-पुं० । भृष्टव्रीहौ, आचा० २ श्रु०१ चू०४ अ०२उ० ।

लायन्न-लावन्न-न० । शरीरकान्तौ, " छाया कंती छवी य लायण्णं " पाइ० ना० ११३ गाथा ।

लायातरण-लाजातरण-न० । तीर्यते इवास्यामतिस्वच्छतया इत्यधिकरणे अनट् तरणम् , लाजा—भृष्टा व्रीहयस्तैर्निर्वृत्तं तरणं लाजातरणम् । पेयायाम् , जीत० ।

लालंपिअ-देशी-प्रवालखलीनाकन्दितेषु । दे० ना० ७ वर्ग २७ गाथा ।

लालप्पइत्ता-लालप्य-अव्य० । अत्यर्थं पुनः पुनर्वा लपित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

लालप्पणपत्थणा-लालपनप्रार्थना-स्त्री० । लालपनस्य गर्हितलापस्य प्रार्थनेव प्रार्थना लालपनप्रार्थना । चौर्यं हि कुर्वन् गर्हितलपनानि तदपलापरूपाणि, दीनवचनरूपाणि वा प्रार्थयत्येव, तत्र हि कृते तान्यवश्यं वक्तव्यानि भवन्तीति भावः । पञ्चविंशतितमे गौणचौर्ये , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

लालप्पणया-लालपनता-स्त्री० । भृशं लपनताप्रार्थने, भ० १२ श० ५ उ० ।

लालप्पमाण-लालप्यमान-त्रि० । भोगार्थमत्यर्थं लपति, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

लालस-देशी-मृदुनि,इच्छायां च । दे० ना० ७ वर्ग २१ गाथा । लम्पटे, " लोला-लालस लोलुअ " पाइ० ना० ७५ गाथा ।

लाला-लाला-स्त्री० । लालतीति लाला । अत्रुट्यन्मुखश्लेष्मसन्ततौ, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । औ० । जं० । नि० चू० । जी० । मुखश्रावे, प्रज्ञा० १ पद । उदाहरणम्—' लालापगलंतकन्ननासं ' ति लालाभिः क्लेदतन्तुभिः प्रगलन्तौ कर्णौ नासा च यस्य । विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

लालापच्चासि(न्)-लालाप्रत्याशिन्-त्रि० । ललतीति लाला अत्रुट्यन्मुखश्लेष्मसन्ततिस्तां प्रत्यशितुं शीलमस्येति लालाप्रत्याशी । वान्ताभिलाषिणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

लालाविस-लालाविष-पुं० । लाला—मुखश्रावः तत्र विषं यस्य । सर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

लावंज-देशी-उशीरे, दे० ना० ७ वर्ग २१ गाथा ।

लावग-लावक-पुं० । पक्षिविशेषे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । विपा० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।

लावगकरण-लावककरण-न० । यत्र लावकपक्षिणमुद्दिश्य किञ्चित् क्रियते । तादृशे स्थाने, स्था० ४ ठा० १ उ० । आचा० ।

लावगलक्खण-लावकलक्षण-न० । लावकपक्षिप्रतिपादके शास्त्रे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

लावन्न-लावण्य-न० । स्पृहणीयत्वे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । उत्त० । औ० । मनोज्ञत्वे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । शरीरकान्तौ, रा० । सौन्दर्ये , अणु० । लावण्यं छायाविशेषलक्षणम् , कुङ्कुमाद्यनुलेपनजमित्यपरे, प्रज्ञा० २३ पद । शरीराकृतिविशेषे, भ० १४ श० ५ उ० ।

लावन्नलतिया-लावण्यलतिका-स्त्री० ; वरधनुषो भार्यायाः श्रीकान्त्याः दास्याम् , उत्त० १६ अ० ।

लास-लास्य-न० । लासिकानां नृत्ये, " न दीर्घानुस्वारात् " ॥ ८ । २ । ९२ ॥ इति सकारस्य न द्वित्वम् । लास्यम् । लासं । प्रा० । " नट्टं लासं तंडवं " पाइ० ना० १६६ गाथा ।

लासग-लासक-पुं० । गायके, अनु० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रासक-पुं० । गायके, अनु० रा० । ये रासकान् गायन्ति, ज-यशब्दप्रयोक्तारो वा भाण्डाः । औ० । जी० । रा० । नि० चू० । जं० । प्रश्न० । ज्ञा० ।

लासयविहय-देशी-मयूरे, दे० ना० ७ वर्ग २१ गाथा ।

लासिय-लासिक-पुं० । भिल्लविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

लाह-लाभ-पुं० । " ख-घ-थ-ध-भाम्-" ॥ ८ । १ । १८७॥ इति भस्य हः । प्रा० । प्राप्तौ, अष्ट० ५ अष्ट० । आव० । अप्रतिष्ठितजिनविम्बमर्चयतः, पादादिनाऽऽशातयतो वा लाभालाभौ न वेति ?, लाभश्चेत्तर्हि प्रतिष्ठायाः किं प्रयोजनमिति प्रश्नः?, अत्रोत्तरम्-अप्रतिष्ठितप्रतिमानां वन्दने व्यवहारो नास्तीति कथं लाभः । आशातनाकारणे तु प्रत्यवायो भवत्येव, तासु तीर्थकराकारोपलम्भादिति॥१३३॥सेन०२उल्ला० । नमस्कारस्य श्रीशत्रुञ्जयनाम्नश्च गणने अधिकलाभः कुत्रास्तीति प्रश्नः?, अत्रोत्तरं-यस्य यद्गणने चित्तोल्लासोऽधिको भवति तस्य तद्गणनेऽधिकलाभोऽस्ति, परं द्वयोर्महिम्नः पारो नास्तीति ॥ ४६४ ॥ सेन० ३ उल्ला० । पुञ्जणिकया वायुकरणे लाभोऽलाभो वा इति प्रश्नः ?, अत्रोत्तरं-मुख्यवृत्त्या पुञ्जणिकया वायुकरणं ज्ञातं नास्ति, परं गुर्वादीनां मक्षिकोड्डापनार्थं वायुकरणे लाभोऽस्ति, न त्वलाभो,यतो मक्षिकोड्डापनं गुरुभक्तिरेवेति॥१४६॥सेन०४उल्ला०। वृद्धकल्पदिने पौषधकरणे लाभः पूजाकरणे वा इति प्रश्नः ?, अत्रोत्तरं-मुख्यवृत्त्या पौषधकरणं महान् लाभः, कारणविशेषे तु यथाप्रस्तावो भवति तथा करणे लाभ एवास्ति, यतो जिनशासने एकान्तवादो ज्ञातो नास्तीति ॥ १५१ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

लाहण-देशी-भोज्यभेदे, दे० ना० ७ वर्ग २१ गाथा ।

लाहविय-लाघविक-न० । लघोर्भावो लाघवं तद्विद्यते यस्यासौ लाघविकः । लघुभूते, आचा० १ श्रु० ८ अ० । गौरवत्यागे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । सेन० ।

लाहिसकंगीरयणा-लाहिसत्काङ्गीरचना-स्त्री० । जिनप्रतिमानां रचनाविशेषे, सेन० । जिनप्रतिमानां लाहिसत्काङ्गीरचना क्रियमाणा दृश्यते, सा युक्तिमती न वेति प्रश्नः ?, अत्रोत्तरं-यद्यपि लाहिसंस्कारे किञ्चिदपावित्र्यं श्रूयते तथापि नामग्राहं निषेधाक्षरानुपलम्भादिदानींतनकाले स्थाने स्थाने तथाप्रवृत्तिदर्शनाद्बहूनां पूजाकरणान्तरायप्रसङ्गाच्च सर्वथा निषेधः कर्तुं न शक्यत इति ॥ १५ ॥ सेन० २ उल्ला० ।

लाहुक्क-लाघुक्य-न० । लाघवे, बृ० ५ उ० ।

लिंक-देशी-बाले, दे० ना० ७ वर्ग २२ गाथा ।

लिंकिअ-देशी-आश्लिष्टे, लीने च । दे०ना०७ वर्ग २८ गाथा ।

लिंग-लिङ्ग-न० । लिङ्ग्यते गम्यतेऽतीन्द्रियार्थोऽनेनेति लिङ्गम् । अथवा--लीनं तिरोहितमर्थं गमयतीति लिङ्गम् । धूमकृतकत्वादिके, विशे० । दश० । परोक्षार्थज्ञापके, पञ्चा० १५ विव० । व्यञ्जके, ध० २ अधि० । दर्श० । प्रति० । लिङ्ग्यते विशेषेण ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गम् । चिह्ने, दर्श० ५ तत्त्व । पञ्चा० । आव० । प्रव० । विशे० । भ० । आकारविशेषे, षो० १ विव० । वेषे,षो० १ विव० । शिश्ने,सूत्र०१श्रु०४अ०१ उ० । ('अंगादाण' शब्दे प्रथमभागे ४० पृष्ठे तत्संचालनादिनिषेधः) रजोहरणादिबाह्यनेपथ्ये, दर्श० ५ तत्त्व । व्य० । ननु गृहिचरकादयो भवन्तु भवानुयायिनो भगवल्लिङ्गधारिणस्तु कथमित्यत्राह, " संसारसागरमिणं, परिब्भमंतेहिं सव्वजीवेहिं । गहियाणि य मुक्काणि य, अणंतसो दव्वलिंगाइं ॥ ८ ॥ " ननु त्रयः संसारपथास्त्रयश्च मोक्षपथा इति यदुक्तं तत् सुन्दरं परं यत्सुसाधुविहारेण बहुकालं विहृत्य पश्चात्कर्मपरतन्त्रतया शैथिल्यमवलम्ब्यते तत् कुत्र पक्षे निक्षिप्यतामित्यत आह-" सागेण वइय जे ग-च्छ निग्गया पविहरंति पासत्था । जिणवयणबाहिरा वि य, ते उ पमाणं न कायव्वा ॥ ६ ॥ " ग० १ अधि० । शब्दनिष्ठे अर्थगतसत्त्वाद्युपचयापचयनिमित्ते स्त्रीत्वपुंस्त्वादिके धर्म्मविशेषे, लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् । कर्म० ४ कर्म० । लिङ्गमतन्त्रम् । कर्म० ५ कर्म० । ऋजुसूत्रन्यायमते-'एकमपि त्रिलिङ्गम्' आ० म० १ अ० । वाक्ये लिङ्गव्यत्ययं न कुर्य्यात् । दश० ७ अ० २ उ० । (यदि लिङ्गव्यत्यये दोषः तदा कथं पृथ्व्यादीनां नपुंसकत्वेऽपि स्त्रीपुंस्त्वेन निर्देशः प्रवर्तते इति ' भासा ' शब्दे पञ्चमभागे १५४७ पृष्ठे उक्तम्) साध्व्यादिवेषे, जीवा० ।

वेसो वि अप्पमाणं, दव्वाइं वेसिऊण वारेति ।
सव्वं पि हु करणीयं, इह लिंगुवजीविणो वइणो ॥१॥

वेषोऽप्यप्रमाणमित्यादिदर्शयति ये वा आदिग्रहणाद्-"असंजमपएसु वट्टमाणस्स किं परियत्ति य वेसविसनं मारेइ खज्जत ' इति दृश्यं वारयन्ति सर्व्वमपि-समस्तमपि करणीयम्-कर्त्तव्यम् इह-समये लिङ्गोपजीविना-गुणशून्यस्य व्रतिनः-साधोरिति गाथार्थः ।

उत्तरमाह-

तत्थ वि बुज्झसु तं पइ, अप्पमाणमेव सो वेसो ।
जो निस्संकं वट्टइ, असुहट्ठाणेसु तेण जुओ ॥ २ ॥

तत्रापि-वेषनिराकरणे बुध्यस्व-जानीहि तं प्रति-तमाश्रित्य अप्रमाणमेव निष्फलः स वेषो रजोहरणादिर्यो निर्दिष्टनामा निःशङ्कं निरपेक्षं वर्त्तते अशुभस्थानेषु-साध्वयोग्येषु तेन-वेषेण युतः-सहित इति गाथार्थः ।

एतदेव भावयन्नाह-

दुग्गइगइए गच्छं-तयस्स न हु तस्स तेण साहारो ।
ववहारा अन्नेसिं, तस्स वि लिंगं पमाणं तु ॥ ३ ॥

दुर्गतिगत्यां-नरकादिकायां गच्छतो-व्रजतो न वा ह्रुरवधारणे तेन-वेषेण तस्य-लिङ्गोपजीविनः साधारः-परित्राणं व्यवहारात्-व्यवहारनयमतेन तस्यापि-लिङ्गोपजीविनोऽपि लिङ्गं-वेषः प्रमाणमेव तुरवधारणे इति गाथार्थः ।

व्यतिरेकमाह-

जइ न पमाणं तो कहं नु, कप्पगंथम्मि एरिसं वुत्तं ।
सुविहियजईण इयरं, पडुच्च एयाए गाहाए ॥ ४ ॥

यदि नेति निषेधे, प्रमाणं लिङ्गमिति शेषः , ततः कथं नु-इति वितर्के, कल्पग्रन्थे प्रतीते ईदृग्वक्ष्यमाणमुक्तम्-भणितम्-सुविहितयतीनाम्-प्रधानसाधूनाम् इतरम्-लिङ्गोपजीविनं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतीत्य—आश्रित्योपलक्षणत्वाद्विशिष्टं चेत्यपि द्रष्टव्यम् । एतद्गाथार्थ इत्यर्थः ।

तामेवाह—

लिंगत्थस्स उ वज्जो, तं परिहरओ व भुंजओ—वावि ।
जुत्तस्स अजुत्तस्स व, रसावणो एत्थ दिट्ठंतो ॥ ५ ॥

लिङ्गस्थस्य-रजोहरणादिवतः तुरवधारणे, स च व्यवहितो वर्ज्यः स चैवं वर्ज्य एव-परिहरणीय एव आधाकर्माद्याहारः शय्यातरस्याधाकर्म्मादिकं तस्य स्वयं परिहरतो-वर्ज्जयतो भुञ्जानस्य-आसेवतः चापीति समुच्चये, युक्तस्य वा अयुक्तस्य वा वक्ष्यमाणनीत्या वा-समुच्चये, रसापणः कल्पपालहट्टोऽत्र दृष्टान्तः। इहोदाहरणं यथाहि-कस्मिंश्चिद्देशेऽपि रजोहरणादिध्वजः परिध्वजः क्रियते, ततस्तं दृष्ट्वा सुखेनैव ब्राह्मणादयस्तं वर्जयन्त्येव तत्रापि रजोहरणादिध्वजतुल्यं योज्यमिति गाथार्थः ।

तामेव गाथां किञ्चिद् व्याख्यातुकाम आह—

वक्खाणं एयाए, तत्थ पुण जुत्तस्स संजमगुणेहिं ।
अजुयस्स उ तेहिं वि य,इय लिंगुवजीविणो भणियं ॥६॥

व्याख्यानम्-विवरणम् एतस्याः-पूर्वोक्तगाथायाः तत्र पुनः-कल्पग्रन्थे युक्तस्य-सहितस्य संयमगुणैः-क्षान्त्यादिभिः अयुक्तस्य-असहितस्य तुः पूरणे, तैरेवं क्षान्त्यादिभिरिति इत्थं लिङ्गोपजीविनः-साधुवेषधारकस्य भणितमुक्तमिति गाथार्थः।

व्यतिरेकमाह—

जइ लिंगमप्पमाणं, हविज्ज तो तस्स अविरयस्सेव ।
सिज्जायरम्मि चिन्ता, आहाकम्मेव का जइणो ॥७॥

यदि लिङ्गम्—वेषोऽप्रमाणम्—अकारणं भवेत्—जायेत, ततस्तस्य-लिङ्गजीविनोऽविरतस्येव-मिथ्यादृष्टेरिव शय्यातरे वसतिदातरि आधाकर्म्मणि वा प्रतीते, वा—समुच्चये, चिन्ता तद्वर्जनीयतारूपा का ?, न काचित् यतेः—साधोरिति गाथार्थः ।

इति स्थिते जीवोपदेशमाह—

तम्हा एवं देससु, रे जिय ! धम्मत्थ अप्पणो एवं ।
सव्वाणं सुत्ताणं, विसयविभागो दुहुन्नेओ ॥ ८ ॥

तस्मादेवम्-पूर्वोक्तक्रमेण आदिश-कथय रे जीव ! भो प्राणिन् ! धर्म्मार्थं-वृषनिमित्तमात्मनः स्वस्य एवम्-उक्तवत् सर्व्वेषां-समस्तानां सूत्राणां विषयविभागो-यथावस्थितरूपो दुःखोन्नेयः कृच्छ्रबोध्य इतिगाथार्थः। वेषोऽप्रमाणमिति कथनविचारस्त्रयस्त्रिंशोऽधिकारः। जीवा० ३३ अधि०।

लिंगकप्प-लिङ्गकल्प-पुं०। लिङ्गसामाचार्याम्, पं० भा० ।

......................एत्तो वोच्छामि लिंगकप्पं तु ।
तहि यं तु लिंगकप्पो, इणमो जिणकप्पे भवती तु ॥
रूढणहकक्खणिगिणो, मुंडो दुविहोवही जहण्णेसिं ।
एसो तु लिंगकप्पो, णिव्वाघातेण णेयव्वो ॥
रयहरणं मुहपोत्ती, संखेवेणं तु दुविह उवहीओ ।
वाघातो कितलिंगे, अरिसपमेहे य कडिपट्टो ॥
दुविहा अतिसेवा वि य, तेसिं इमे वण्णिता समासेणं ।
बाहिरअब्भिंतरगा, तेसिं विसेसं पवक्खामि ॥

बाहिरगो सरीरस्स, अतिसेसो तेसिमो उ बोधव्वो ।
अच्छिद्दपाणिपाता, वइरोसभसंघयणधारी ॥
अब्भिंतरमतिसेसो, इमो उ तेसिं समासओ भणिओ ।
उदही विव अक्खोभा, सूरो इव तेयसा जुत्ता ॥
अव्वावण्णसरीरा, वतिगंधो ण भवति सरीरस्स ।
खतमवि ण कुत्थ तेसिं, परिकम्मं ण वि य कुव्वंति ॥
पाणिपडिग्गहधारी, एरिसया णियमसो मुणेयव्वा ।
अतिसेसा वोच्छामि, अण्णे वि समासतो तेसिं ॥
दुविहोऽतिसेसो तेसिं, णाणातिसओ तहेव सारीरो ।
णाणातिसओ ओहि, मणपज्जव तदुभयं चेव ॥
आभिणिबोहियणाणं, सुयणाणं चेव णाणमतिसेसो ।
तिवली अभिण्ण वच्चा, एसो सारीरमतिसेसो ॥
रयहरणं मुहपोत्ती, जहण्णे वहि पाणिपत्तियस्सेसो ।
उक्कोस तिण्ह कप्पा, रयहरणमुहपोत्ति पणगं तु ॥
उवट्ठो पडिवग्गहीणं, जहन्नमुक्कोसो होति बारसहा ।
तेसिं वि इयाणि वि य, अतिरोगायातणिज्जोगो ॥
उवट्ठाण घंसणम-ज्जणायणहणयणदंतसोभाए ।
एते उवघाता खलु, भयंति जिणलिंगकप्पस्स ॥
उवट्टणादियाति, उवगरणं चेव थेरकप्पीणं ।
भइयव्वो लिंगकप्पो, गेलण्णादीहिं कज्जेहिं ॥
कज्जम्मि गिलाणादिसु, उवट्टमाइय अणुण्णाता ।
दुगुणो चउग्गुणो वा, कारणतो होति उवहीओ ॥
रूढणहकक्खणयणो, मुंडो दुविहोवही समासेणं ।
एसो तु लिंगकप्पो, कारणवच्चासि अण्णतरो ॥
लोए खुरकत्तरी य, मुंडं तिविहं तु होति थेराणं ।
असिवादिकारणेहिं, कज्जविवज्जो सलिंगस्स ॥
णिरुवहतलिंगभेदे, गुरुगा कप्पति य कारणे जाते ।
गेलण्णरोगलोए, सरीरवेज्जा वडियमादी ॥
वासत्ताणेण वि हु, भेदो लिंगस्स तं अणुण्णातं ।
चाउम्मासुक्कोसं, सत्तरिराइंदिय जहण्णं ॥
एयं तु दव्वलिंगं, भावे समणत्तणं तु णायव्वं ।
को उवणे दव्वलिंगे, भण्णति इणमो सुणसु वोच्छं ॥
सक्कारवंदणणमं--सणा य पूजा य लिंगकप्पम्मि ।
पत्तेयबुद्धमादी, लिंगे छउमत्थतो गहणं ॥
वत्थासणसक्कारो, वंदण अब्भुट्ठणं तु नायव्वं ।
पणिवाते तु नमंसण--संतगुणकित्तणं पूया ॥
दट्ठूण दव्वलिंगं, कुव्वंते ताणि इंदमादी वि ।
लिंगम्मि अविज्जंते, णणज्जती एस विरओ त्ति ॥
कहिंतो साहुलिंगेणं, धमंतो संजतो भवे ।
अलिंगं चेत्ति तं कीस, जाणंतो ण करे तुमं ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्तेय बुद्धो जाव, गिहिलिंगी अहव अन्नलिंगीसु ।
देवा वि ताण पूए, मा पूजं होहिति कुलिंगं ॥
णयणं पुच्छति कोती,केरिसओ होति तुज्झ धम्मो त्ति ।
ण य सल्लिंगविहूणं, छउमत्था जाण विरओ त्ति ।
एसो तु लिंगकप्पो । पं० भा० २ कल्प ।

इयाणीं लिंगकप्पो सो पढमं जिणाणं तत्थ गाहा—रूढनहरोमया अवट्ठियधुयलोयया निगिणो मुंडो जहन्नेण दुविहो उवही—रयहरणं, मुहपोत्तिया य । एस लिंगकप्पो । गाहा-'अच्छिद्दपाणि'जिणा अच्छिद्दपाया वइरोसभसंघयणधारी समुद्रवद्गम्भीरा सूर्यवत्तेजोराशियुक्ताः । गाहा-अव्वावन्नसरीरं नाम विगंधसरीरया न भवइ सयं पि न कुच्छइ बाह्यशरीरपरिकर्मरहिता धीरा- बुद्धिमन्त इत्यर्थः । ईदृशाः पाणिपात्रधराः जिनशासने- शास्त्रे विनिर्दिष्टाः । गाहा—दुविहो तेसिं अइसओ—नाणाइसओ, सरीराइसओ य । नाणाइसओ—ओहिमणपज्जवसुत्तत्थ तदुभयं च । ' तिवली अभिन्नवच्चा सरीरा हौति अइसेसा ' तेसिं जहन्नेण दुविहोवही—रयहरणं, मुहपोत्तिया य । उक्कोसयं पंचविहो-रयहरणं मुहपोत्ती कप्पा य तिण्णि एस पंचविहो । गाहा—उव्वट्टणाई सरीरस्स घंसणा धोवणाइ य पायाईणं नेहनयणदंतसोहाइ दंतकट्ठाइएसु उवकरणाइसु जिणकप्पियाणं उवघावो भवइ । पयाणि चेव थेरकप्पिया जाणि चोदसविहउवहि अइवेगाणि जाणि य उव्वट्टणाइ निक्कारणे पच्छित्तं, कारणेण जनाइसु भइयव्वं वा मत्तेण लिंगभेओ भवइ तं तु अणुण्णायं केवचिरं कालं उक्कोसेण चाउम्मासं, जहन्नेण—सत्त राइंदिया, ठिइकप्पे अट्ठियकप्पे वा असिवाइकारणेहिं विवच्चासियं नयरं। एतदुक्तं भवति। गाहा-'निरुवहयलिंगं' निक्कारणे गिहत्थलिंगं वा अन्नतित्थियलिंगं वा करेइ मूलं, निक्कारणे कडिपट्टयं बंधइ चउगुरु, गुरुलघु पक्खे एगओ दुहओ वा अद्धं सकडी चउगुरु, संजइयाउए चउलहु, गंधपुच्छे मासलहुं, विइयपए कारणजाए रायदुट्ठमाईहिं गिहिलिंगमन्नलिंगं वा करेंतो सुद्धो । कडिपट्टयं पि लोयं करेंतो वा भायणं उयारेंतो वा उलएंतो वा गिलाणं वहंतो सइ गिलाणो अतरंतो कडिपट्टयं काऊण चंकमेज्जा, पाहुणयं वा विस्सामित्तो कडिपट्टयं करेज्जा । गुरुलपक्खं अद्धं सकडं वा अणाभोएण सेहा वा करेज्जा संजयाउयं वासारत्ते करेज्जा वा केवलनाणे वि उप्पन्ने कइयंतस्स छउमत्थजणो न सद्दहइ तुमं कीसमप्पणा न करेसि जं पुण पुण पत्तेयबुद्धाणं गिहलिंगं वा अन्नलिंगं वा न पूएइ, कोइ न वा कोइ पुच्छइ केरिसओ तुब्भं धम्मो तं छउमत्थाणं गहणमेव णागच्छइ लिंगकप्पो सम्मत्तो । पं० चू० २ कल्प ।

लिङ्गकल्पद्वारमाह-

अहुणा तिलिंगकप्पं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ।
दारं ।
जो पुव्विं वक्खातो, जिणथेराणं तु दोण्ह वी कप्पो ।
रूढणहकक्खमादी, सो चेव इहं पि णायव्वो ।
इति एस लिंगकप्पो । पं० भा० ५ कल्प ।

इयाणिं लिंगकप्पो तत्थ गाहा-' रूढनह ' सो य रूढनहकक्खडा जा हेट्ठिल्ला दो लिंगकप्पा वन्निया तहा इहं पि । पं० चू० ५ कल्प ।

लिंगकरण-लिङ्गकरण-न० । रजोहरणसमर्पणे, व्य० १ उ० ।

लिंगतिय-लिङ्गत्रिक-न० । स्त्रीपुंनपुंसकरूपे लिङ्गत्रये,अनु०।

त्रिविधलिङ्गे उदाहरणम्—

तं पुण णामं तिविहं, इत्थी पुरिसं णपुंसगं चेव ।
एएसिं तिण्हं पि अ, अंतम्मि अ परूवणं वोच्छं ॥१॥

तत्पुनर्नाम द्रव्यादीनां सम्बन्धि सामान्येन सर्वमपि स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गेषु वर्तमानत्वात् त्रिविधं-त्रिप्रकारम्, तत्र स्त्रीलिङ्ग-नदी मही त्यादि, पुंल्लिङ्गे-घटः पट इत्यादि, नपुंसके- दधि मध्वित्यादि, एषां च स्त्रीलिङ्गवृत्त्यादीनां त्रयाणामपि नाम्नां प्राकृतशैल्या उच्चार्यमाणानामन्ते यान्याकारादीन्यक्षराणि भवन्ति तत्प्ररूपणाद्वारेण लक्षणं निर्दिदिक्षुरुत्तरा- र्द्धमाह—' एएसि ' मित्यादि, गतार्थमेवेति गाथार्थः ।

तत्थ पुरिसस्स अंता, आ ई ऊ ओ हवंति चत्तारि ।
ते चेव इत्थिआओ, हवंति ओकारपरिहीणा ॥ २ ॥

(अस्या गाथाया व्याख्या 'पुरिस' शब्दे पञ्चमभागे १०१४ पृष्ठे गता) अनु० ।

अंतिअ इंतिअ उंतिअ, अंताउ णपुंसगस्स बोद्धव्वा ।
एतेसिं तिण्हं पि अ, वोच्छामि निदंसणे एतो ॥ ३ ॥

नपुंसकवृत्तिनाम्नां त्वन्ते अकार इकार उकारश्चेत्येतान्येव त्रीण्यक्षराणि भवन्ति , नापरम् । एतेषां च त्रयाणामपि निदर्शनम्—उदाहरणं प्रत्येकं वक्ष्यामीति गाथार्थः ।

तदेवाह—

आगारंतो राया, ईगारंतो गिरी अ सिहरी अ ।
ऊगारंतो विण्हू, दुमो अ अंता उ पुरिसाणं ॥ ४ ॥
आगारंता माला, ईगारंता सिरी अ लच्छी अ ।
ऊगारंतं जंबू , वहू अ अंताउ इत्थीणं ॥ ५ ॥
अंकारंतं धन्नं, इंकारंतं नपुंसगं अत्थि ।
उंकारंतं पीलुं, महुं च अंता णपुंसाणं ॥ ६ ॥
से तं तिणामे (सू० १२४) ।

गाथात्रयं व्यक्तम् , नवरं संस्कृते यद्यपि विष्णुरित्युकारान्तमेव भवति तथापि प्राकृतलक्षणस्यैवेह वक्तुमिष्टत्वादूकारान्तता न विरुध्यते, एवमोकारान्तो द्रुम इत्यादिष्वपि वाच्यम् , जम्बूः—स्त्रीलिङ्गवृत्तिर्वनस्पतिविशेषः, ' पीलुं ' ति क्षीरम्, शेषं सुगमम् । 'से तं तिनाम' ति निगमनम् । अनु० ।

लिङ्गत्थ-लिङ्गस्थ-पुं० । द्रव्यव्रजिताङ्गारमर्द्दकादौ, दश० ३ अ० ।

लिंगधारि(ण्)-लिङ्गधारिन्-पुं० । वेषमात्रधारिणि , ग० १ अधि० ।

लिंगपुलाग-लिङ्गपुलाक-पुं० । संयतवेषधारिणि पुलाकल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ङ्घिसंपन्ने, प्रव० ६३ द्वार। (अस्य व्याख्या 'पुलाग' शब्दे पञ्चमभागे १०६० पृष्ठे गता)

लिंगपूरणपव्व–लिङ्गपूरणपर्व–न०। माघमासभाविनि शैवानामाराध्ये शिवलिङ्गघृतपूजातिथौ, ती० ६ कल्प।

लिंगभिएण–लिङ्गभिन्न–न०। सूत्रदोषभेदे, यत्र लिङ्गव्यत्ययो यथा–इयं स्त्रीति वक्तव्ये अयं स्त्रीति वक्ति। आ०म०१अ०।

लिंगमेत्त–लिङ्गमात्र–न०। बुद्धौ, द्वा० २० द्वा०।

लिङ्गविहार–लिङ्गविहार–पुं०। लिङ्गावस्थितस्य विहारः। स्वलिङ्गपरित्यजनेन विहारे, बृ० १ उ० १ प्रक०।

लिंगाजीव–लिङ्गाजीव–पुं०। लिङ्गम्—साधुलिङ्गं तेनाजीवति, ज्ञानादिशून्यस्तेन जीविकां कल्पयति। साधुवेषजीविनि, स्था० ५ ठा० १ उ०।

लिंगावसेसमेत्त–लिङ्गावशेषमात्र–न०। मात्रशब्दो लक्षणवाची; इति प्रव्रज्यालक्षणे द्रव्यलिङ्गमात्रे, नि० चू० १३ उ०।

लिंगि (ण्)–लिङ्गिन्–त्रि०। लिङ्गं–तिरोहितमर्थं गमयतीति लिङ्गं धूमकृतकत्वादिकं तदस्यास्तीति लिङ्गी। साध्येऽनुमेये, ध्वंशे०। लिङ्गं विद्यतेऽस्यासौ लिङ्गी। साधुवेषवति, ग० २ अधि०। नि० चू०। रजोहरणादिसाधुलिङ्गवति, प्रज्ञा० २० पद।

लिंछ–लिच्छ–न०। कुम्भकारस्यापाके भाण्डपचनस्थाने, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

लिंद–लिद्र–न०। सशैवलपुराणजलवत्स्वादरहिते, प्रश्न० ५ संव० द्वार। गोवराख्यरसविशेषकलिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

लिक्क–निली–धा०। निलयने, "निलीङेर्णिलीअ—णिलुक्क—णिरिग्घ—लुक्क—लिक्क—ल्हिक्काः" ॥ ८। ४। ५५॥ इति निपूर्वस्य लीधातोर्लिक्कादेशः। लिक्कइ। निलीयते। प्रा०।

लिक्खा–लिक्षा–स्त्री०। लघुयूके, जं० २ वक्ष०। वालाग्राष्टके प्रमाणे अवमानभेदे, नं०। जं०। "हरिवासरम्मगहेमवगेरन्नवयाणं पुव्वविदेहाणं मणूसाणं अट्ठवालग्गा सा एगा लिक्खा" भ० ६ श० ६ उ०। तनुस्रोतसि, दे० ना० ७ वर्ग २१ गाथा।

लिच–लिच–त्रि०। कोमले, आ० म० १ अ०। जी०।

लिच्छ–लिप्स–धा०। लाभेच्छायाम्, "ह्रस्वात् थ्य—श्च—त्स—प्सामनिश्चले" ॥ ८। २। २१॥ इति प्सस्य छः। लिच्छइ। लिप्सते। प्रा० २ पाद।

लिट्ठिअ–देशी–चाटुनि, दे० ना० ७ वर्ग २२ गाथा।

लित्त–लिप्त–त्रि०। संसृष्टे, स्था० ५ ठा० २ उ०। सर्वतः (स्था० ३ ठा० १ उ०) पिच्छिलीकृते, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। उपदिग्धे, प्रज्ञा० २ पद। छगणादिभिः (कल्प० ३ अधि० ६ क्षण) श्लेपिते, अष्ट० ११ अष्ट०। मृत्तिकया सर्वतः खरण्टिते, बृ० २ उ०। ग०। प्रचुरकर्मखरण्टिते, उत्त० ८ अ०। सूत्र०। प्रव०। वसादिना गर्हितद्रव्येण लिप्ते, पञ्चा०। एषणादोषविशेषे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। आचा०। लिप्तं यत्र दध्यादिद्रव्यलेपो लगति। पिं०। (तच्च न ग्राह्यमिति 'एसणा' शब्दे तृतीयभागे ६५ पृष्ठे गतम्)

लित्ती–देशी–खड्गादीनां दोषे, दे० ना० ७ वर्ग २२ गाथा।

लित्तसीहकेसर–लिप्तसिंहकेशर–पुं०। आस्तरणविशेष, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

लित्थारिय–देशी–खरण्टिते, पिं०।

लिप्पकम्म–लेप्यकर्मन्–न०। लेप्यरूपकर्मणि, अनु०।

लिप्पगहत्थि–लिप्यकहस्तिन्–पुं०। चित्रकहस्तिनि, आव० ५ अ०।

लिब्भ–लिह्–धा०। आस्वादे, "ब्भो दुह—लिह—वह—रुधामुच्चातः" ॥ ८। ४। २४५॥ इति द्विरुक्तो ब्भो वा क्यस्य च लुक्। लिब्भइ। लिहिज्जइ। लिह्यते। प्रा० ४ पाद।

लिम्प–लिप–धा०। उपदेहे, "लिपो लिम्पः" ॥ ८। ४। १४९॥ इति लिपेर्लिम्पादेशः। लिम्पइ। लिम्पति। प्रा०। "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥ ८। ४। ३२९॥ लिह। लेह। लीह। प्रा० ४ पाद।

लिम्ब–निम्ब–पुं०। पिचुमन्दके, "निम्बनापिते ल–एहं वा" ॥ ८। १। २३०॥ इति नस्य लः। लिम्बो। निम्बो। प्रा०। कोमले रा०।

लिवि–लिपि–स्त्री०। अक्षरलेखप्रक्रियायाम्, स० १८ समः। पुस्तकादावक्षरविन्यासे, भ० १ श० १ उ०। अष्टादश लिपयः शास्त्रेषु श्रूयन्ते। तद्यथा—"हंसलिवी १ भूयलिवी २, जक्खी ३ तह रक्खसी य ४ बोधव्वा। उड्डी ५ जवणि ६ तुरुक्की ७, कीरी ८ दविडी य ९ सिंधवीय १०। ॥ १॥ मालविणी ११ नडि १२ नागरि १३, लाडलिवी १४ पारसी य १५ बोधव्वा ॥ तह अनिमित्ती य लिवी १६, चाणक्की १७ मूलदेवी य १८॥ २॥" विशे०। प्रज्ञा०। लेप्यविधौ, स० ४५ सम०। (एता 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३३६ पृष्ठे व्याख्याताः)

लिविपरिच्छेय–लिपिपरिच्छेद–पुं०। लिपिभेदपरिज्ञाने कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

लिव्वासण–लिप्यासन–न०। मसीभाजने, रा०। जी०।

लिस–स्वप–धा०। शयने, "स्वपेः कमवस–लिस—लोट्टाः" ॥ ८। ४। १४६॥ इति स्वपेः स्थाने लिसादेशः। लिसइ। स्वपिति। प्रा० ४ पाद।

लिसय–देशी–तनूकृते, दे० ना० ७ वर्ग २२ गाथा।

लिहमाण–लिखत्–त्रि०। लेखन्या सृष्टं कुर्वाणे, अनु०।

लिहिअ–देशी–तनौ, सुप्ते च। देना० ७ वर्ग २८ गाथा।

लिहिय–लिखित–न०। अक्षरविन्यासीकृते, कर्म० ४ कर्म०। शिल्पविशेषे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

लीण–लीन–त्रि०। गुप्ते, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

लीलट्ठिय–लीलास्थित–त्रि०। ललिताङ्गनिवेशरूपया लीलया स्थिते, जं० १ वक्ष०। "लीलट्ठियसालिभंजिया०" जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लीला-लीला-स्त्री०। सकामगमनभाषितादिके, अनु०। विलासे, शृङ्गारचेष्टायाम्, क्रीडायां च। वाच०। "हेला ललिअं लीला" पाइ० ना० ७० गाथा। "लीलावायकयलक्खपएणं" लीलया-न तु प्रस्वेदापनोदाय, प्रस्वेदस्य दिव्यशरीरे अभावात्, ततो लीलया 'वाय' त्ति वातोदीरणार्थं 'कयपक्खपएणं' ति कृतः-अवधूतो यः पत्रकस्तालवृन्तं तेन (शोभिताम्)। कल्प० १ अधि० २ क्षण।

लीलाचंकम्ममाण-लीलाचङ्क्रम्यमाण-त्रि०। हेलया कुटिलगमनं कुर्वाणे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार।

लीलायंत-लीलायत्-त्रि०। सविलासगतौ, कल्प० १ अधि० २ क्षण। लीलां कुर्वति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

लीलालग्ग-लीलालग्न-न०। कल्पनाकल्पितक्रीडामुग्धे, अष्ट० १ अष्ट०।

लीलो-देशी-यष्टे, दे० ना० ७ वर्ग २३ गाथा।

लीव-देशी-बाले, दे० ना० ७ वर्ग २२ गाथा।

लीहोदर-लीहोदर-न०। रोगविशेषे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार।

लुअ-लून-त्रि०। "क्लेनाप्फुणादयः" ॥ ८। ४। २५८॥ निपातात्। लुअं। लूनं। छिन्ने, प्रा०। लूने, दे० ना०७वर्ग २३ गाथा।

लुंक-लुङ्क-पुं०। जिनप्रतिमापूजाविरोधिनि स्वनामख्याते गच्छे, "किञ्चिच्चिरीदयाप्यसमञ्जसं त-च्छास्त्रार्थशून्यैः प्रतिमोज्झितैश्च। लुङ्काधनादेयमतान्धकूपे-प्यन्धैरिवोच्चैः पतितं प्रभूतैः ॥४३॥" ग० ३ अधि०। सुप्ते, दे० ना०७ वर्ग०२३ गाथा।

लुंकणि-देशी-लयने, दे० ना० ७ वर्ग २४ गाथा।

लुंख-देशी-नियमे, दे० ना० ७ वर्ग २३ गाथा।

लुंखाअ-देशी-निर्णये, दे० ना० ७ वर्ग २३ गाथा।

लुंचन-लुञ्चन-न०। सामान्यतः केशोत्पाटने, पिं०। अपनयने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

लुंचित-लुञ्चित-त्रि०। उत्पाटितकेशे, आचा०१श्रु०६ अ०२उ०।

लुंछ-मृज-धा०। शुद्धौ, "मृजे रुग्घुस-लुञ्छ-पुञ्छ-पुंस-फुस-पुस-लुह-हुल-रोसाणाः" ॥८।४।१०५॥ लुञ्छइ। मार्ष्टि। प्रा०।

लुंपइत्ता-लुम्पयितृ-त्रि०। ग्रन्थिच्छेदनादिभिर्विलुम्पयितरि, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। अन्यतराङ्गावयवविकर्त्तने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। केशाकर्षणगुत्पीडने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

लुंपणा-लोपना-स्त्री०। प्राणानां छेदने, प्रश्न०१ आश्र०द्वार।

लुंपाग-लुम्पाक-पुं०। प्रतिमाविरोधिनि ढुण्ढके, 'उच्चनीयमज्झिमकुलाई अडइ' इति अत्र लुम्पाका नीचशब्देन सर्वाणि नीचकुलानि वदन्ति, तत्कथमिति प्रश्नः?, अत्रोत्तरम्-नीचकुलानि-दरिद्रकुलानि-उच्चकुलानि-ऋद्धिमत्कुलानीति श्रीदशवैकालिकवृत्त्यादिषु व्याख्यातमस्तीत्यतो नीचशब्देनाऽनृद्धिमत्कुलानि ज्ञेयानि न तु गर्हणीयकुलानि, तथा च दशवैकालिकेऽपि 'पडिकुट्ठकुलं न पविसे' इत्यादि सूत्रपाठमिति ॥ ११८ ॥ सेन० ३ उल्ला०।

लुंबी-लुम्बी-स्त्री०। आम्रादिमञ्जर्याम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। स्तबके, लतायां च। दे० ना० ७ वर्ग २८ गाथा।

लुक्क-तुड-धा०। त्रोटने, "तुडेस्तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुडोल्लुक्क-णिलुक्क-लुक्कोल्लूराः" ॥ ८। ४। ११६॥ इति तुडस्थाने लुक्कादेशः। लुक्कइ। तुडति। प्रा०। भेदे, वाच०।

निली-धा०। तिरोधाने, "निलीङेर्णिलीअ-णिलुक्क-णिरिग्घ-लुक्क-लिक्क-ल्हिक्काः" ॥ ८। ४। ५५॥ इति निपूर्वस्य लिङो लुक्कादेशः। लुक्कइ। निलीयते। प्रा०। "ओगोरीमुहनिज्झिअउ, वद्दलि लुक्कु (क्क) मिअंक।" प्रा० ४ पाद।

रुग्ण-त्रि०। रोगिणि, "शक्त-मुक्त-दष्ट-रुग्ण-मृदुत्वे को वा" ॥ ८। २। २॥ इति संयुक्तस्य को वा। लुक्को। लुग्गो। "हरिद्रादौ लः" ॥८।१।२५४॥ इति रस्य लः। रुग्णो। प्रा०।

लुञ्चित-उत्पाटितकेशे, 'लुक्कविलुक्को जह कवोडो' लुञ्चितविलुञ्चितो यथा कपोतः। पिं०।

लुक्कसिरय-लुञ्चितशिरष्क-त्रि०। कर्त्तरीकृत्तशिरष्के, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

लुक्ख-रूक्ष-पुं०। संयोगे सति संयोगिनामबन्धकारणे स्पर्शभेदे, "एगे लुक्खे" स्था० १ ठा०। निस्नेहे, त्रि०। प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। जीत०। बृ०। स्था०।

लुक्खदेसीय-रूक्षदेशीय-पुं०। रूक्षकल्पे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

लुक्खफासपरिणय-रूक्षस्पर्शपरिणत-पुं०। भस्मादिवत् रूक्षस्पर्शपरिणतेषु पुद्गलेषु, प्रज्ञा० १ पद।

लुक्खाणण-रूक्षानन-पुं०। अलाउद्दीनसुरत्राणस्य कनिष्ठभ्रातरि, "ताणस्स कनिट्ठो लुक्खाणननामधिज्जो दिल्लीपुरओ मंतिमाहवपेरिओ गुज्जरधरं पट्ठिओ" ती० १६ कल्प।

लुक्खमरसुण्हमनिकामभोइ-रूक्षाऽरसोष्णानिकामभोजिन्-पुं०। रूक्षम्-निस्नेहम् अरसोष्णमिति नञ् प्रत्येकमभिसंबध्यते, अरसं हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतमनुष्णं-शीतलमनिकामं परिमितं भक्तं भोक्तुं शीलमेषां ते रूक्षारसानुष्णानिकामभोजिनः। मकारावलाक्षणिकौ। तथाविधाऽभिग्रहविशेषचरके, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

लुग्ग-रुग्ण-त्रि०। जीर्णतां गते, "क्लेनाप्फुणादयः" ॥ ८। ४। २५८॥ इति रुग्णस्थाने लुग्गेति निपातः। लुग्गो। रुग्णो। प्रा०। भग्ने, दे० ना० ७ वर्ग २३ गाथा।

लुट्टन-लुट्टन-न०। अवधावने, व्य० १ उ०।

लुण-लू-धा०। छेदने, "चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धू-गां णो ह्रस्वश्च" ॥ ८। ४। २४१॥ इति अन्ते णकारागमः, दीर्घस्वरस्य ह्रस्वः। लुणइ। लुनाति। प्रा० ४ पाद।

लुत्त-लुप्त-त्रि०। अपगते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

लुत्तधम्म-लुप्तधर्मन्-त्रि०। विगतधर्मणि, प्रश्न०२आश्र०द्वार।

लुत्तपण्ण-लुप्तप्रज्ञ-त्रि०। अपगतावधिविवेके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

लुद्ध-लुब्ध-त्रि०। अन्नादिष्वभिकाङ्क्षावति, उत्त० ११ अ०। आहारोपधिपात्रादिषु लोलुपे, ग०२अधि०। पाइ०ना०। रागक्लेशार्ते, सूत्र०२ श्रु०१अ०। लोभनम्-लुब्धम्, नपुंसके क्तः। लोभे, न०। बृ० ३ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोध्र-पुं० । स्वनामख्याते गन्धद्रव्यविशेषे, दश० ६ अ० ।

लुद्धग-लुब्धक-पुं० । व्याधे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

लुद्धगदिटुंतभाविय-लुब्धकदृष्टान्तभावित-त्रि०।पार्श्वस्थादिभिर्भाविते,नि०चू०। पासत्थातीहिं जे भाविता ते लुद्धगदिटुंतभाविता। कहं? ते पासत्था एवं कहेंति-जहा लुद्धगो हरिणस्स पिट्ठतो धावति हरिणस्स पलायमाणस्स सेयं लुद्धगस्स विजएण तेण पगारेण तं हरिणं असेउं वावातेंतस्स सेयं एवं जहा हरिणो तहा साहू, जहा लुद्धगो तहा सावगा । नि० चू० ४ उ० ।

लुप्पमाण-लुप्यमान-त्रि०।कर्णनासिकादिच्छेदनेन छिद्यमाने, उपा० ७ अ० ।

लुरणी-देशी-वाद्यविशेषे, दे० ना० ७ वर्ग २४ गाथा ।

लुलिय-लुलित-त्रि० । अतिक्रान्तप्राये, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । मदवशेन घूर्णिते, चलत्पदे च । उत्त० ५ अ० । तीरभुवि लुठति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

लुव्वंत-लुप्यमान-त्रि० । " न वा कर्म्म-भावे व्वः क्यस्य च लुक् " ॥ ८ । ४ । २४२ ॥ लुव्वइ । लूयते । प्रा० । छिद्यमाने, प्रज्ञा० १ पद ।

लुहिल-रुधिर-न० । रक्ते, " ता कहिं नु गदे लुहिलप्पिए भविस्सदि " प्रा० ४ पाद ।

लूआ-देशी मृगतृष्णायाम्, दे० ना० ७ वर्ग २५ गाथा ।

लूडण-देशी-न० । अपहरणे, जी० १ प्रति० ।

लूडिय-लूटित-त्रि० । अपहृते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । आ० म० ।

लूण-लवण-पुं० । वनस्पतिविशेषे, येन दग्धेन सर्जिका निष्पद्यते । ध० २ अधि० । खारीक्षारके, ध० २ अधि० ।

लूणप्पसाय-लवणप्रसाद-पुं० । अलाउद्दीनाऽऽगमनसमकालिककर्णदेवपूर्वजसारङ्गदेवपूर्वजार्जुनदेवपूर्वजविशलदेवपूर्वजवीरधवलपूर्वजे गुर्जरदेशाधिपतौ वाघेलक्षत्रिये, ती० २५ कल्प ।

लूणरुक्खच्छल्ली-लवणवृक्षच्छवि-स्त्री० । लवणापरपर्यायस्य भ्रमरनाम्नो वृक्षस्य त्वचि, ध० २ अधि० ।

लूणिगवसति-लूणिकवसति-स्त्री० । अर्बुदपर्वते ग्रामविशेषे, लूणिगवसत्यां नव शतानि चतुरशीतिश्च पौषधशाला वस्तुपालतेजपालाभ्यां स्थापिताः । ती० ४२ कल्प ।

लूया-लूता-स्त्री० । वातिकरोगविशेषे, पञ्चा० १ विव० । कोलिकपुटके, कोलिकजालके च । वृ० १ उ० २ प्रक० ।

लूर-छिद्-धा० । द्वेधीकरणे, छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोड-णिव्वर-णिल्लूर-लूराः । " ॥ ८ । ४ । १२४ ॥ इति लूरादेशः । लूरइ । पक्षे-छिंदइ । प्रा० ४ पाद ।

लूसग-लूषक-त्रि० । मुष्णाति लूषयति वा इति लूषकः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । चौरे, व्य० ४ उ० । क्रूरे, भञ्जके च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । हिंसके,सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । व्यापादके, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । विराधके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । उपमर्दकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

साम्प्रतं लूषकमधिकृत्याह—

तउसगवंसगलूसग-हेउम्मि य मोदओ य पुणो ॥८८॥

त्रपुषव्यंसकप्रयोगे पुनर्लूषके हेतौ च मोदको निदर्शनमिति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—"जहा एगो मणुस्सो तउसाणं भरिएण सगडेन नयरं पविसइ, सो पविसंतो धुत्तेण भणइ-जो एयं तउसाण सगडं खाइज्जा तस्स तुमं किं देसि ?.ताहे सागडिएण सो धुत्तो भणिओ—तस्साहं तं मोयगं देमि, जो नगरद्दारेण ण णिप्फडइ. धुत्तेण भणित्ते-ताऽहं एयं तउससगडं खायामि.तुमं पुण तं मोयग देज्जासि जो नगरद्दारेण ण नीसरति, पच्छा सागडिएण अब्भुवगए धुत्तेण सक्खिणो कया. सगडं अहिट्ठित्ता तेसिं तउसाणं एक्केक्कयं खंडं अवणित्ता पच्छा तं सागडियं मोयगं मग्गति, ताहे सागडिओ भणति—इमे तउसा ण खाइया तुमे. धुत्तेण भणति-जइ न खाइया तउसा अग्घवेह तुमं. तओ अग्घविएसु कइया आगया. पासंति खंडिया तउसा. ताहे कइया भणंति-को एए खइए तउसे किणइ ?. तओ करणं ववहारो जाओ खइय त्ति. जिओ सागडिओ । एस वंसगो चेव लूसगनिमित्तमुवन्यस्थो, ताहे धुत्तेण मोदगं मग्गिज्जति, अच्चाइओ सागडिओ. जूतिकरा आलग्गया. ते तुट्ठा पुच्छंति, तेसिं जहावत्तं सव्वं कहेति, एवं कहिते ताहिं उत्तरं सिक्खाविओ-जहा तुमं खुड्डयं मोदगं णगरदारे ठवित्ता भण एस स मोदगो ण णीसरइ णगरदारेण, गिण्हाहि. जिओ धुत्तो । एस लोइओ, लोगुत्तरे वि चरणकरणाणुयोगे कुस्सुतिभावितस्स तहा लूसगो पउंजइ—जहा सम्मं पडिवज्जइ । दव्वाणुजोगे पुण पुज्जा भणंति—पुव्वं दरिसिओ चेव । अन्ने पुण भणंति पुव्वं सयमेव सव्वभिचारं हेउं उच्चारेऊण परविसंभणानिमित्तं सहसा वा भणितो होज्जा, पच्छा तमेव हेउं अण्णेणं निरुत्तवयणेणं ठावेइ । " दश० १ अ० ।

लूसण-लूषण-न० । कदर्थने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । दूषणे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । उपमर्दने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । अतिक्रमणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०२ उ० । विध्वंसने, आचा० १ श्रु० ६ अ०४ उ० । विराधने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । ह्रस्वकरणे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

लूसिय-लूषित-त्रि० । परितापने, आचा० २ श्रु० ४ चू० । हिंसके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । आचा० ।

लूसियपुव्व-लूषितपूर्व-न० । हिंसितपूर्वे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

लूह-रूक्ष-त्रि० । निःस्नेहे,स्था० ५ ठा० १ उ० । वृ० । आचा० । ज्ञा० । प्रति० । अप्रणीते, भ० ३ श० ४ उ० । स्नानस्निग्धभोजनादिपरिहारेण, (उत्त० २ अ०)तैलाभ्यङ्गादिरहिते,उत्त० २ अ० । स्वजनादिषु स्नेहविरहाद्रूक्षः । दश० १० अ० । रूक्षः शरीरे मनसि च । द्रव्यभावस्नेहवर्जितत्वेन परुषे, स्था० ४ ठा० १ उ० । रागद्वेषरहिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

लूष-पुं० । लूषयति वा कर्ममलमपनयतीति लूषः । स्था० ४ ठा० १ उ० । उत्त० । स्नेहपरित्यागे, दश० २ अ० । संयमे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

लूहचरय-रूक्षचरक-पुं० । रूक्षं—निःस्नेहं चरति अभिग्रहविशेषात् । रूक्षमात्रग्राहके भिक्षौ,स्था० ५ ठा० १ उ० । सूत्र० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लूहजीवि (ण्)-रूक्षजीविन्-पुं० । रूक्षेण-तैलादिवर्जितेन जीवितुं शीलमस्येति, निस्नेहभोजिनि आभिग्रहिके साधौ, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

लूहवित्ति-रूक्षवृत्ति-पुं० । वल्लचणकादिभिर्वर्तनशीले आभिग्रहिके साधौ, दश० ८ अ० ।

लूहाहार-रूक्षाहार-पुं० । रूक्षं तैलादिवर्जितम् आहारयति रूक्षो वा आहारो यस्य स तथाविधे आभिग्रहिके साधौ, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

लूहिय-रूक्षित-न० । विरूक्षिते, औ० । निर्जलीकृते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

ले-ला-धा० । आदाने, " स्वराणां स्वराः " ॥ ८ । ४ । २३८ ॥ इत्याकारस्थाने एकारः । लेइ । लाति । प्रा० ४ पाद ।

लेक्खविहाण-लेख्यविधान-न० । लेख्यविधौ, प्रज्ञा० १ पद ।

लेच्छइ-लेच्छकिन्-पुं० । क्षत्रियविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । लेच्छकि जातीयेषु कोशलदेशस्य राजसु, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । भ० । ज्ञा० । औ० ।

लेज्झ-लेह्य-त्रि० । मधुशिखरिणीप्रभृतिषु आस्वाद्यरसेषु, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

लेट्ठु-लेष्टु-पुं० । प्रस्तरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । पाषाणे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । (लेष्टुकदृष्टान्तः ' थीणद्धि ' शब्दे चतुर्थभागे २४१२ पृष्ठे गतः)

लेडुअ-देशी-लोष्टके, दे० ना० ७ वर्ग २४ गाथा । " लेडुओ लोट्ठे " पाइ० ना० १५३ गाथा ।

लेडुक-देशी-लम्पटे, लोष्टे च । दे० ना० ७ वर्ग २६ गाथा ।

लेढिअ-देशी-स्मरणे, दे० ना० ७ वर्ग २५ गाथा ।

लेड्डुक-लेष्टुक-पुं० । लोष्टके, दे० ना० ७ वर्ग २४ गाथा । " लेडुको लड्डुओ " पाइ० ना० ।

लेण-लयन-न० स्थाने, वसतिरूपे (दश० ८ अ०) शैलगृहे, प्रश्न० ६ संव० द्वार । शिलामयगृहे , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । पर्वतनिकुट्टितगृहे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । गृहे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । कल्प० । उत्कीर्णपर्वतगृहे, भ० ५ श० ७ उ० । आश्रये, स्था० ८ ठा० ३ उ० । गुहायाम् ,उत्त० २ अ० । सूत्र० ।

लेणजंभय-लयनजृम्भक-पुं० । जृम्भन्ते-विजृम्भन्ते स्वच्छन्दचारितया चेष्टन्ते ये ते जृम्भकाः-तिर्यग्लोकवासिनो व्यन्तरदेवाः (भ०) लयनम्-गृहम् , लयनाविभागेन जृम्भको देवः लयनजृम्भकः । जृम्भकदेवभेदे, भ० १४ श० ८ उ० ।

लेणभोग-लयनभोग-पुं० । चित्रशालाद्यावास-नवनवाभोगे, औ० ।

लेणसुहुम-लयनसूक्ष्म-न० । लयनम्-आश्रयः सत्त्वानाम् ,यत्र कीटिकाद्यनेकसूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति तल्लयनम् । सूक्ष्मविले, स्था० ।

से किं तं लेणसुहुमे ? लेणसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा-उत्तिंगलेणे १ भिंगुलेणे २ उज्जुए ३ तालमूलए ४ संबुक्कावट्टे नामं पंचमे ५ । जे छउमत्थेणं ०जाव पडिलेहियव्वे भवइ, से तं लेणसुहुमे ॥ ७ ॥

(से किं तं लेणसुहुमे) अथ कानि तत् , लयनम्-आश्रयः सत्त्वानां, यत्र कीटिकाद्यनेकसूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति तल्लयनं सूक्ष्मविलानि, गुरुराह-(लेणसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते) सूक्ष्मविलानि पञ्चविधानि प्रज्ञप्तानि (तं जहा-) तद्यथा (उत्तिंगलेणे १ भिंगुलेणे २ उज्जुए ३ तालमूलए ४ संबुक्कावट्टे नामं पंचमे) उत्तिङ्गा-गर्दभाकारा जीवास्तेषां विलं-भूमौ उत्कीर्णं गृहम् उत्तिङ्गलयनम् १, भृगुः-शुष्कभूरेखा जलशोषानन्तरं जलकेदारादिषु स्फुटना दालिरित्यर्थः २, सरलं विलम् ३, तालमूलाकारम्-अधः पृथु उपरि च सूक्ष्मं विलं तालमूलम् ४, शम्बुकावर्त्त-भ्रमरगृहं नाम पञ्चमम् ५, (जे छउमत्थेणं ०जाव पडिलेहियव्वे भवइ) यानि छद्मस्थेन यावत् प्रतिलेखितव्यानि भवन्ति (से तं लेणसुहुमे) तानि सूक्ष्मविलानि । कल्प० ३ अधि० ९ क्षण । कीटिकामगरादिके सूक्ष्मभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

लेच्छारिय-देशी, खरण्टित, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

लेप्पकम्म-लेप्यकर्मन्-न० । लेप्यपरिज्ञानात्मके कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

लेप्पकार-लेप्यकार-पुं० । लेप्यकरणशिल्पिनि, अनु० ।

लेप्पपुत्तलिया-लेप्यपुत्तलिका-स्त्री० । लेप्यकर्मनिर्मितायां पुत्तलिकायाम् , अनु० ।

लेलु-लेष्टु-पुं० । लोष्टे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कपाले, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । पृथिवीशकले, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० ।

लेव-लेप-पुं० । मृल्लेपनादिश्लेषे, दश० ५ अ० १ उ० । उपचये, उत्त० ८ अ० । बृ० ।

अधुना लेपद्वारमाह-

अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगया परिच्छणे य चउगुरुगा ।
दोहि वि गुरु तवगुरुगा, कालगुरू दोहि वी लहुगा ॥४७७॥

सूत्रं पात्रैषणालक्षणं अप्राप्ते यदि लेपस्यानयनाय प्रेषयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः,तद्यथा-तपोगुरुकाः-कालगुरुकाश्च । अथ प्राप्तेऽपि श्रुते तदर्थमकथयित्वा कथनेऽप्यधिगतस्तदर्थो न वेत्यपरिज्ञाय अधिगतमपि सम्यक् श्रद्दधाति न वेत्यपरीक्ष्य यदि प्रेषयति तदा प्रत्येकमकथनेऽनधिगमेऽपरीक्षणे च तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः , द्वाभ्यां लघवः । तद्यथा-तपोलघुकः, काललघुकश्च । यत एवं प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषास्तस्मात्सूत्रे प्राप्ते तत्रापि कथिते तत्राप्यधिगते स परीक्ष्य लेपस्यानयनाय प्रेषणीयः , एष लेपस्य कल्पिकः ।

अज्जकालियलेवं,वयंति अवियाणिऊण सब्भावं ।
ते वतव्वा लेवो, दिट्ठो तेलोकदंसीहिं ॥ ४७८ ॥

केचित्प्रवचनस्य सद्भावम्-रहस्यम् अविदित्वा-अविज्ञाय अद्यकालिकं लेपं पात्रस्य वदन्ति न एष पात्रस्य लेपः सर्वज्ञैरुक्तः किं त्वयकल्पे-अधुनातनसूरिभिः प्रवर्त्तितः, ते वक्तव्याः, दृष्टः खलु पात्रस्य लेपः त्रैलोक्यदर्शिभिः । एनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतः पूर्वार्द्धं व्याख्यानयन् लेपस्य जिनानुपदिष्टत्वं भावयति-

आया-पवयण-संयम-उवघाओ दीसई जओ तिविहो ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तम्हा वयंति केई, न लेवगहणं जिणा बिंति ॥ ४७६ ॥

यस्माल्लेपे गृह्यमाणे त्रिविध उपघातो दृश्यते, तद्यथा—आत्मनः, प्रवचनस्य, संयमस्य च। तस्मात्केचिद्वदन्ति—न लेपग्रहणं जिना ब्रुवते—न खलु भगवन्तः सावद्यं वचनमुच्चरन्ति।

कथं पुनरात्मप्रवचनसंयमोपघात इत्यत आह—

रहपडणउत्तमंगा-दिभंजणा घट्टणे य करघातो।
एसाऽऽय विराहणया, जक्खुल्लिहणे पवयणम्मि ॥४८०॥
गमणागमणे गहणे-तिट्ठाणे संजमे विराहणया।
महि-सरि-उम्मुग-हरिया, कुंथू वासं रश्रोवसिया ॥४८१॥

रथस्य शकटस्य पतने उत्तमाङ्गादेः शरीरावयवस्य भङ्गः, तथा—भाजनस्य लेपे दत्ते घट्टकेन दत्तलेपं पात्रं घट्टयतः करघातः करस्यापीडा, एषा आत्मविराधना। यक्षाः—श्वानस्तैः शकटस्याक्षोऽनेकधा जिह्वयोल्लिखितः साधुरपि च तत्र लेपं गृह्णाति, तमपि च भोजनयोग्यं पात्रे दास्यति,ततो यक्षोल्लिखने-यक्षोल्लिखितलेपग्रहणे प्रवचने-प्रवचनस्योपघातः तथा-त्रिस्थाने-त्रिषु स्थानेषु च संयमे संयमस्य विराधना, तद्यथा—लेपग्रहणाय गमने लेप गृहीत्वा पुनर्वसतावागमने-लेपग्रहणे च। तथाहि-गच्छतामागच्छतां तत्र वा मह्याः सचित्तपृथिवीकायस्य विराधना,सरिद्-नदी तत्र गमने आगमने चाऽप्कायविराधना, तथा-कदाचित्तैः शाकटिकैरग्निकाय उद्दीपितो भवेत्, तत्र कथमप्यनुपायागत उल्मुकचालने अग्निकायविराधना, यत्राग्निस्तत्र वायुरिति वायुविराधना, हरितकायक्रमणे वनस्पतिकायविराधना, तथा-लेपे कुन्थ्वादयः प्राणा लग्ना भवेयुः ततस्तद्ग्रहणे त्रसकायविराधना। तथा-गमने आगमने तत्र वा वर्षं पतेत् रजो वा सचित्त वातोद्धतमापतितं स्यात् ततस्तद्विराधनाऽपि तत्राऽवसेया। तदेवमायातम्-आत्मप्रवचनसंयमानामुपघातेन च यथा पिण्डैषणा, पात्रैषणा वा, जिनैर्भणिता, न तथा लेपैषणाऽपि, तस्मान्न जिनोपदिष्टः पात्रस्य लेपः। तदेतदसमीचीनम्, पात्रलेपस्य जिनैरर्थत उक्तत्वात्। पात्रैषणायां हि त्रिविधं पात्रमुक्तम्, तद्यथा—यथाकृतम् अल्पपरिकर्म, सपरिकर्म च। तत्राल्पपरिकर्मणः सपरिकर्मणश्चावश्यं लेपेन कार्यमिति सामर्थ्यादुक्तो जिनैः पात्रस्य लेपः। अन्यच्चौघनियुक्तौ (निर्युक्तिगाथया ३७१) प्रपञ्चेन लेपैषणाऽप्यभिहिता तस्मात् दृष्टस्त्रैलोक्यदर्शिभिः लेपः।

यच्च वदसि आत्मोपघातादयो दोषा इति, तत्र प्रत्युत्तरमाह-

दोसाणं परिहारो, चोयग जयणाएँ कीरए तेसिं।
पाते उ अलिप्पंते, ते दोसा होंतिऽणेगगुणा॥ ४८२ ॥

हे नोदक! ये दोषास्त्वया प्रागात्मोपघातादयः उक्तास्तेषां परिहारो यतनया क्रियते, यतनया गच्छतो लेपग्रहणे च कुर्वतो न कश्चिदात्मोपघातादिको दोष इति भावः। पात्रे तु अलिप्यमाने ते आत्मोपघातादयो दोषा अनेकगुणाः—अनेकप्रकारा भवन्ति।

कथमिति चेदत आह—

उड्डादीणि उ विरस-म्मि भुंजमाणस्स होंति आयाए।
दुग्गंधिभायणं ति य, गरहति लोगो पवयणम्मि ॥४८३॥

अलेपितं किल पात्रमतीव विरसं भवति, तस्मिन भुञ्जानस्य विरसगन्धघ्राणेन ऊर्ध्वादीनि भवन्ति, ऊर्ध्वं-वमनम् आदिशब्दादरुचिमान्द्यादिपरिग्रहः। एते आत्मनि दोषाः, तथा-लोको भिक्षां ददानो दुर्गन्धिभाजनं दृष्ट्वा गर्हयति-ईदृशा एवामी पापोपचिता इति। एष प्रवचने उपघातः। यदप्युक्तम्—'यक्षोल्लिखितलेपग्रहणे प्रवचनोपघात' तदेतत्तावदतिसूक्ष्मम्। अन्येऽपि खलु महान्तः प्रवचनोपघाता अवश्यकर्तव्यतया यतनया परिह्रियन्ते।

पुनर्नैष इति प्रतिपादयन्नाह-

पवयणघायाऽन्ने वि, अत्थि जयणाए कीरए तेसिं।
आयमणभोयणाई, लेवे तव मच्छरो को णु ? ॥४८४॥

अन्येऽपि खलु आचमनभोजनादयः-कायिकेनाचमनं कायिकया आचमनं वा पात्रे भोजनं मण्डल्यां भोजनमित्येवमादयः प्रवचनघाताः-प्रवचनोपघाताः सन्ति; परं तेऽप्यवश्यकर्त्तव्यतया यतनया सागारिकरक्षणादिरूपया क्रियन्ते एवमवश्यग्रहीतव्ये लेपे यतनया तत्कालदृष्टदोषपरिहारादिलक्षणया गृह्यमाणे कः नु तव मत्सरो, नैवासौ युक्त इति।

संप्रत्यन्यानपि पात्राऽलेपे दोषानाह—

खंडम्मि मग्गियम्मि य,लोणे दिन्नम्मि अवयवविणासो।
अणुकंपादी पाण-म्मि होति उदगस्स उ विणासो ॥४८५॥

अलेपिते पात्रे कस्मिंश्चित्प्रयोजने समापतिते खण्डं याचितम्। तथा चाविरत्या खण्डमिति भ्रान्त्या अनाभोगेन सैन्धवादि लवणं दत्तम्, तस्मिंश्चालेपिते भाजने केचिदवयवा अद्याप्यम्लाः सन्ति, ततस्तैरवयवैस्तस्य लवणस्य पृथिवीकायस्य विनाशः, तथा—पानके याचिते कयाचिदविरत्या एते उदकस्य स्वादं न जानन्तीत्यनुकम्पया आदिशब्दाद्—अनाभोगेन वा उदकं दीयते तत एवम् उदकस्याम्लावयवसंस्पर्शतो विनाशः।

पूपलियलग्गअगणी-पलीवणं गाममादिणं होज्जा।
रोट्टपणगा तरुम्मी, भिगुकुन्थादी य छट्टम्मि ॥४८६॥

कयाचिदविरत्या अनाभोगतः सागारा पूपलिका दत्ता भवेत्, तत्राम्लावयवसंस्पर्शतस्तस्य विध्वंसः। यद्वा-पूपलिकालग्नोऽग्निर्दहेत्, स च साधुर्न चेतयते, ततः प्रदीप्ते पात्रे परितापभयतः सहसा तत्पात्रं त्यजेत्, तच्च कण्टकभिरत्यादिमध्ये पतितमिति कृत्वा तद्दाहप्रसङ्गतो ग्रामादीनां ग्रामस्य नगरस्य पाटकस्य वा प्रदीपनं भवेत्। ततो महती अग्निकायस्य विराधना। यत्राग्निस्तत्र वायुरिति वायुविराधना। वनस्पतिविराधनामाह—'रुट्ट' त्यादि कयाचिदविरत्या रोट्टो-लोट्टो दत्तः सोऽम्लावयवसंस्पर्शतः प्राणविपत्तिमाप्नोति, तथा भृगुनाम—श्लक्ष्णराजिः तासु पनकः संमूर्च्छति सोऽन्नपानग्रहणतो विध्वंसमापद्यते, एषा तरौ वनस्पतिकाये विराधना। तथा—भृगुषु पनके संमूर्च्छिते कुन्थ्वादयोऽपि संमूर्च्छन्ति, तेऽवयवानामम्लभावेनान्नपानग्रहणतो वा विराध्यन्ते, एषा षष्ठ त्रसकाय विराधना। एवं षण्णामपि कायानां पात्रस्यालेपे विराधना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदप्युक्तं लेपैषणा भगवद्भिर्नोक्तेति तत्र प्रतिविधानमाह—

पायग्गहणम्मि उ दे–सियम्मि लेवेसणा वि खलु वुत्ता।
तम्हा उ आणणा लिं–पणा य लेवस्स जयणाए ।४८७।

पात्रग्रहणे देशिते खलु लेपैषणाऽप्युक्ता द्रष्टव्या। लेपमन्तरेणा-वश्यं षड्जीवनिकायविराधनात्, यथोक्तमनन्तरम्, तस्मात् जिनोपदिष्टत्वाल्लेपस्य यतनया आनयनं तेन च पात्रस्य लेपनं कर्त्तव्यम्। पर आह-यतनया लेपस्यानयनादि कर्त्त-व्यम्, तत एवं क्रियताम्।

हत्थोवघाय गंतू–ण लिंपणा-सोसणा य हत्थम्मि।
सागारिए पभू जिं–घणा य छक्कायजयणा य ॥ ४८८ ॥

यस्माल्लेपस्यानयने हस्तोपघातः; तस्मात्तत्र गत्वा पात्रस्य लेपनं कर्त्तव्यमिति नोदकवचनम्, इदमपि नोदकवचो लिप्त-स्य पात्रस्य हस्ते धारणतः शोषणा कर्त्तव्या। अत्रोभयत्रापि प्र-त्युत्तरमग्रे दास्यते। तथा-व्रजता प्रत्यासन्नं शय्यातरशकटम-वलोक्य सागारिकपिण्ड एष इति कृत्वा न वर्जनीयं किं तु तत्रैव लेपग्रहणं कार्यम्, तथा तस्य शकटस्य प्रभुः, प्रभुसंदि-ष्टो वा तमनुज्ञापयेत्, अनुज्ञाप्य च कटुगन्धपरिज्ञाना-य नासामसंस्पर्शयन् तं लेपं जिघ्रेत्तदनन्तरं लेपस्य ग्रहणं षट्काययतनया कर्त्तव्यमित्येष द्वारगाथासंक्षेपार्थः। साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः 'गंतूण लिंपणे' त्ति द्वारं व्याख्यानयति—

चोयगवयणं गंतू–ण लिंपणा आणणे बहू दोसा।
संपातिमादिघातो,अहि उस्सग्गो य गहियम्मि ॥४८९॥

नोदकवचनम्—तत्र शकटसमीपे गत्वा पात्रस्य लेपनं कर्त्तव्यम्, यतो लेपस्यानयने बहवो दोषाः, तथाहि-भारेण हस्तोपघातः पूर्ववत्, तथा-संपातिमानाम्, आदिशब्दाद्-असंपातिमानां च जीवानां तत्र पतितानामुपघातः, स च कदाचिदधिको लेपो गृहीतो भवेत्, ततस्तस्मिन्नधिके गृहीते उत्सर्गपरिष्ठापनिकादोषः संपद्यते। उक्तं च—" भारे हत्थु-वघाओ, तत्थ य संपादिणो पडंते य। पारिट्ठावणि दोसा, अहिगम्मि य होइ आणीए " ॥ १ ॥ एवमुक्ते आचार्य आह–नोदक ! तत्र पात्रे लिप्यमाने सविशेषतरा आत्मोपघातद-यो दोषाः।

तथा चाऽऽह—

एवं पि भाणभेदो, वियावडे अत्तणो उ उवघाओ।
निस्संकियं च पाय-गिण्हणे इयरहा संका ॥ ४९० ॥

एवमपि-तत्र गत्वा पात्रलेपनेऽपि ऊर्ध्वस्थितो लेपं गृहीत्वा भाजने प्रक्षिपति, तत्र व्यापृतस्य सतः कदाचित् हस्ता-द्भाजनं पतेत्, तत एवं व्यापृते भाजनभेदः, तद्यथा-कथमपि शकटस्य पतनत आत्मनश्चोपघातः। किञ्च—पात्रे लेपस्य ग्रहणे गृहीत्वा च तत्रैव पात्रस्य लेपने क्रियमाणे तेषां सा-क्षात्पश्यतामेवं निःशङ्कितं भवति। यथैतेनाशुचिना लेपेन भो जनपात्रममी लिम्पन्ति,ततो महान् प्रवचनोपघातः। इतरथा तत्र पात्राऽलेपने शरीराऽवयवलेपस्य ग्रहणे शङ्कोपजायते, किं पात्रस्य लेपनाय, उत—दुःक्षयतः पादस्य पिण्डीबन्धनाय लेपमाददते ततो न प्रवचनोपघातः।

यदप्युक्तम्-' भारेण हस्तोपघात ' इति। तत्रापि-प्रत्युत्तरमाह—

जइ वा हत्थुवघाओ, आणिज्जंतम्मि होइ लेवम्मि।
पडिलेहणादिचेट्ठा, तम्हा उ न काइ कायव्वा ॥४९१॥

यदि लेपे आनीयमाने भारेण हस्तोपघात इति नानयनं क्रियते; तर्हि न कदाचिदपि प्रतिलेखनादिक्रिया कर्तव्या। अत्रापि यथायोगं हस्तपादादेरुपघातसम्भवात्, तस्मात्-यथा प्रतिलेखनादिका क्रियाऽवश्यं क्रियते तत्करणे गुण-सम्भवादेवं लेपानयनमपि। तदेवम्—' हत्थोवघाय गंतूण लिंपणे त्ति ' व्याख्यातम्।

अधुना " सोसणा य हत्थम्मि " इति व्याख्यानयति—

जति नेवं तो पुणरवि, आणेउं लिंपिऊण हत्थम्मि।
अच्छति य धारमाणो,सहव निक्खेव परिहारी ॥४९२॥

यदि नाम तत्र गत्वा पात्रं लेपनीयमिति नैवमिष्यते अन-न्तरोदितानेकदोषप्रसङ्गात्ततः पुनरपि किञ्चिद्वक्तव्यम्-लेप-मानीय पात्रं लिप्त्वा स इव निक्षेपपरिहारी स इव निक्षे-पपरिहारमिच्छन् हस्ते पात्रं धारयन् तावत्तिष्ठति यावल्ले-पस्य शोषो भवति।

एवं क्रियतामत्राचार्यः प्राह—

एवं पि हु उवघातो, आयाए संजमे पवयणे अ।
मुच्छादी पवडंते, तम्हा उ न सोसए हत्थे ॥ ४९३ ॥

एवमपि हस्ते धृत्वा पात्रलेपस्य शोषणेऽपि हु—निश्चि-तम् उपघातः आत्मनः, संयमस्य, प्रवचनस्य च। तत्रात्मो-पघातो मूर्च्छाया आदिशब्दात्पात्रभारेण च प्रतिपतति वे-दितव्यः, संयमोपघातः षट्कायानामुपरिपतनात्, प्रवचनो-पघातः पतन्तं दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्-' दुष्टधर्माणोऽमी ' इति।

उक्तञ्च—

" कायाणमुवरिपडणे, आयाए संजमे पवयणे य।
उव्वेहेण व भारेण व, मुच्छा पवडंति आयाए ॥ १ ॥
कायोवरिपवडंते, अह होही संयमे विराहणया।
पवयणे अदिट्ठधम्मा, पडंत दट्ठुं वए लोगा ॥ २ ॥ "

यस्मादेते दोषास्तस्मान्न हस्ते पात्रं शोषयितव्यम्। अत्र सर्वत्र नोदकस्यैवं ब्रुवतो यथाच्छन्द इति कृत्वा चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम्।

एवमाचार्यो नोदकं प्रतिहत्य साम्प्रतमात्मना यतना—सामाचारीमाह—

दुविहा य होंति पाता, जुण्णा य नवा य जे उ लिंपंति।
जुण्णे दाएऊणं, लिंपति मुच्छा य इयरेसिं ॥ ४९४ ॥

यानि पात्राणि लिप्यन्ते तानि द्विविधानि भवन्ति। तद्यथा-जीर्णानि, नवानि च। तत्र यानि जीर्णानि तानि नियमत आचार्याणां दर्शनीयानि। यथा ईदृशो लेपः क्षमाश्रमणाः ! पात्राणामग्रतमो वर्त्तते, ततः सम्प्रति लिम्पामि न वा; त-त्रैवं दर्शयित्वा यद्यनुज्ञा ज्ञाता ततस्तानि जीर्णानि लिम्पति नेतरथा,अदर्शयित्वा लेपने प्रायश्चित्तं मासलघु। यानि पुनर्न-वानि तान्यवश्यं लेपनीयानीति कृत्वा आचार्यस्यापृच्छ्या-ऽपि तथामितरेषां—नवानां लेपनं कर्तव्यम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ जीर्णानामदर्शने को दोष इत्यत आह--

पाडिच्छगसेहाणं, नाऊणं कोऽपि आगमणमाई ।
दढलेवे वि उ पाये,लिंपति मा तेसि दिज्जिज्जा ॥ ४६५ ॥
अहवा वि विभूसाए, लिंपति जा सेसगाण परिहाणी ।
अपडिच्छणे य दोसा, सेहे काए अनेगाए ॥ ४६६ ॥

कश्चिन्मायी शिष्याणां प्रतीच्छकानां चागमनं ज्ञात्वा मा तेषां दद्यादिति कृत्वा दृढलेपान्यपि पात्राणि भूयोऽपि लिम्पति, अथवा--न शोभनः अग्रेतनो लेप इति विभूषानिमित्तमजीर्णलेपमपि पात्रं भूयः कोऽपि लिम्पति। एवं मायया विभूषानिमित्तं वा भाजनेषु तेषु लिप्तेषु या शेषकाणां साधूनां प्रतीच्छकानां शिष्याणां परिहाणिस्तां स मायी विभूषार्थी वा प्राप्नोति। तमेव दर्शयति-' अपडिच्छणे य ' इत्या-कश्चित्प्रतीच्छकाः समागतास्तद्योग्यानि च पात्राणि न सन्ति लिप्तानि तिष्ठन्तीति कृत्वा तत एवं पात्रैर्विना तेषां प्रतीच्छकानामप्रतीच्छने ज्ञानदर्शनचारित्रपरिहाणिः ' सेहे काए ' त्ति तथा शैक्षः कश्चिदुपस्थितोऽथ च भाजनं न विद्यते लिप्तमस्तीति कृत्वा ततो भाजनं विना कथं स प्रव्राज्यते इति सोऽप्रव्राजितः कायविराधनां कुर्यात्, सा च तन्निमित्तेति ज्ञानदर्शनचारित्रपरिहाणिप्रत्ययं कायविराधनाप्रत्ययं च प्रायश्चित्तं प्राप्नोति। यत एवमदर्शिते दोषास्तस्मात् जीर्णानि दर्शयेत्।

अथ केन विधिना लेपस्य ग्रहणादि कर्त्तव्यम् अत आह-

पुव्वण्हे गंतूणं, लेवग्गहणं सुसंवरं काउं ।
लेवस्स आणणा लिं-पणा य जयणाएँ कायव्वा ।४६७।

पूर्वाह्णे लेपनिमित्त गमनं कृत्वा तत्र यतनया लेपग्रहणं च कृत्वा ततः सुसंवरं भवत्येवं लेपस्य यतनया आनयनं कर्त्तव्यम् , आनीते च यतनया पात्रस्य लेपना।

एनामेव गाथां व्याचिख्यासुराह--

पुव्वण्हे लेवगहणं, काहंति चउत्थगं करिस्सामि ।
असहो वासियभत्तं, अकारलंभे व दिंतियरे ॥ ४६८ ॥

साधुना प्रतिक्रमणचरमकायोत्सर्गस्थितेन चिन्तनीयम्। किमद्य भाजनानि लेपनीयानि न वा, तत्र यदि लेपनीयानि ततः पूर्वाह्णे लेपग्रहणमहं करिष्यामीति विचिन्त्य चतुर्थकमभक्तकं कुर्याद्। अथ असहः--असमर्थः चतुर्थभक्तं कर्तुं तर्हि पर्युषितं गृह्णाति, भक्तमथ पर्युषितमपकारकमपथ्यम् , यदि वा-न लभ्यते ततः पौरुषीं न करोति, किं त्वितरे साधवो मध्याह्ने हिरिडत्वा तस्मै भक्तं ददति।

कयकिइकम्मोछंदे-ण छंदितो भणाति लेव घिच्छामि ।
तुज्झ वि याऽऽणे मढो,आमं तं कित्तियं किं वा ॥४६६॥
सेसे वि पुच्छिऊणं, कयउस्सग्गो गुरूण नमिऊण ।
मल्लगरूए गेण्हइ, जइ तेसिं कप्पितो होति ॥ ५०० ॥

कृतं कृतिकर्म-वन्दनं येन स कृतकृतिकर्मा, किमुक्तं भवति-स लेपानयनाय गन्ता प्रथममाचार्याणां वन्दनकं ददाति, दत्वा ब्रूते- ' इच्छाकारेण संदिशत ' एवमुक्ते सूरयोऽभिदधति 'छंदेन' छन्दसा विज्ञापयेति भावः। एवं छन्दसा छन्दितो निमन्त्रितः सन् भणति-गत्वा लेपं ग्रहीष्यामि एवमुक्त्वा आचार्यान् शेषसाधूंश्च वक्ति युष्माकमप्यस्ति लेपेन प्रयोजन-मानीयताम्। तत्र यो वक्ति आमम् ,तं प्रति ब्रूते कियन्तमानयामि, किं वा लेपं तत्र यद्गृणति तदिच्छामि इति प्रतिपद्य कृतोत्सर्ग उपयोगकायोत्सर्गं कृत्वा गुरून् नमस्कृत्याऽऽवश्यिकीं कृत्वा यदि तेषां पात्रवस्त्राणां कल्पिकस्ततो गृहेषु गत्वा मल्लकं रूतं च गृह्णाति।

अथाकल्पिकस्तत आह-

गीयत्थपरिग्गहिते, अयाणओ रूयमल्लए घेत्तुं ।
खारं च तत्थ वचति, गहिए तसपाणरक्खट्ठा ॥५०१॥

यो ज्ञायकोऽगीतार्थः स गीतार्थेन परिगृहीतानि रूतमल्लकानि गृहीत्वा गृहीते सति लेपे संपातिमत्रसप्राणरक्षणार्थम् तत्र मल्लकेषु क्षारं च गृहीत्वा व्रजति।

संप्रति यदधस्तादभणितम्। ' सागारिय ' त्ति तद्व्याख्यानार्थमाह-

वच्चंतेण य दिट्ठं, सागारिदुचक्कगं तु अब्भासे ।
तत्थेव होइ गहणं,न होति सागारिओ पिंडो ॥५०२॥

तेन गृहीतरूतमल्लकक्षारेण व्रजता यदि सागारिकस्य-शय्यातरस्य द्विचक्रकं तमभ्यासे निकटे प्रदेशे दृष्टं ततस्तत्रैव तस्य लेपग्रहणं भवति, यतः स न भवति सागारिकपिण्ड इति।

सम्प्रति प्रभुद्वारमाह-

गंतुं दुचक्कमूलं, अणुण्णविज्ञा पभुं तु साहीणं ।
एत्थ य पभु त्ति भणिए, कोई गच्छे निवसमीवं॥५०३॥
किं देमि त्ति नरवई, तुब्भं खरमक्खिया दुचक्कि त्ति ।
सो य पसत्थो लेवो, पंतयभद्देयरे दोसा ॥ ५०४ ॥

गत्वा द्विचक्रमूलं शकटस्य स्वाधीनं-प्रत्यासन्नं प्रभुमनुज्ञापयेत्। अननुज्ञापने प्रायश्चित्तं मासलघु, तस्मात्प्रायश्चित्तभीरुणा नियमतः प्रभोरनुज्ञापना कर्त्तव्या। अत्र प्रभुरित्युक्ते कश्चिच्चिन्तयति राजानं मुक्त्वा कोऽन्यः प्रभुरिति राजाऽनुज्ञापनीय उक्तः, एवं चिन्तयित्वा नृपसमीपं गच्छेत् , गत्वा च तं राजानं धर्मं लाभयेत्। तत्र स नरपतिर्ब्रूयात्-किं ददामि ?, साधुर्वदति--युष्माकं द्विचक्राणि-शकटानि खरेण-तैलेन म्रक्षितानि सन्ति, तत्र च यो लेपः प्रशस्त इति, तमनुजानीत। अत्र भद्रेतरदोषाः भद्रकदोषाः, प्रान्तदोषाश्च। तत्र भद्रके दोषा इमे, स राजाऽनुज्ञापितः सन् ब्रूयादहो निर्ममत्वा भगवन्त एतदप्ययाचितं न गृह्णन्ति, ततः स आज्ञापयेत् यानि कानिचित् मम विषये शकटानि तानि सर्वाण्यपि तैलेन म्रक्षणीयानि। प्रान्तः पुनरेवं चिन्तयेदहोऽमी अशुचयो यदेतत् मां याचन्ते नूनं सर्वमिदं नगरममीभिर्धर्षयितव्यमिति प्रद्वेषं यायात् , प्रद्विष्टश्च घोषापयेत, यथा मम राज्ये न कोऽपि शकटं तैलेन म्रक्षयेत्किं तु-घृतेनान्येन वा।

तम्हा दुचक्कपतिणा, तस्संदिट्ठेण वा अणुण्णाते ।
कडुगंधजाणणट्ठा, जिंघे नासं अघट्टंतो ॥ ५०५ ॥

यस्मादेवं भद्रकप्रान्तदोषास्तस्मात् राजा नानुज्ञापयितव्यः। कोऽनुपज्ञापयितव्य इति चेद् ? उच्यते--यस्तस्य द्विचक्रस्य--शकटस्य पतिः--स्वामी , यो वा तेन--शकटपतिना संदिष्टः, तेन द्विचक्रपतिना तत्संदि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐन वा अनुज्ञाते तैलस्य किल कटुको गन्ध इति कटुगन्धज्ञानाऽर्थे-कटुगन्धोऽस्ति न वेति परिज्ञानाऽर्थं नासामघट्टयन् असंस्पृशन् तं-लेपं दूरस्थो जिघ्रति, घ्राते च यदि कटुको गन्धः समायाति ततस्तैललेप इति कृत्वा तं समादत्ते ।

सम्प्रति 'छकायजयणाए' इति व्याख्यानयति-

हरिए बीए बले जुत्ते, वच्छे साणे जलट्ठिए ।
पुढवि संपातिमा सामा, महॉवाते महियामित्ते ।।५०६।।

हरिते बीजे वा साधोः शकटे वा प्रतिष्ठिते तथा बले—बलीवर्दाभ्यां युक्ते वा शकटे, तथा—शकटेन सह वद्धे वत्से, शकटस्याधः स्थिते शुनि वा, तथा जलस्योपरि स्थिते पृथिव्यां वा सचित्तपृथिवीकायस्योपरि प्रतिष्ठिते शकटे, तथा—संपातिमेषु त्रसगणेषु सत्सु, तथा—श्यामा—रात्रिः तस्यां, महावाते वा वाति, मक्षिकायां निपतन्त्यां लेपग्रहणं नानुज्ञातं, नाप्यमितस्य लेपस्य ग्रहणम् , एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । व्यासार्थस्तु प्रतिद्वारं वक्ष्यते । तत्र यद्यप्यनन्तरं प्रायश्चित्तगाथाद्वयं तथाऽपि नाऽव्याख्यातेषु द्वारेषु तद्याख्यातुं शक्यमिति प्रथमतो द्वाराणि व्याख्यायन्ते ।

तत्र हरितद्वारबीजद्वारं चाधिकृत्याह—

हरिय बिय पतिट्ठिते य, अनन्तर-परंपरे य बोधव्वे ।
परित्तऽणंते य तहा, चउभंगो होति नायव्वो ।। ५०७ ।।

हरिते बीजे च साधौ शकटे वा अनन्तरपरम्परं वा प्रतिष्ठिते प्रत्येकं चतुर्भङ्गी भवति—ज्ञातव्या । गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । तथा—हरिते बीजे च प्रत्येकं परीत्तेऽनन्ते च साधौ शकटे वाऽनन्तरपरम्परप्रतिष्ठिते प्रत्येकं चतुर्भङ्गी । इयमत्र भावना—हरितेषु साधुरनन्तरप्रतिष्ठितः नो परंपरप्रतिष्ठितः १, परंपरप्रतिष्ठितो नानन्तरप्रतिष्ठितः २, अनन्तरप्रतिष्ठितोऽपि परंपरप्रतिष्ठितोऽपि ३,नानन्तरप्रतिष्ठितो नापि परंपरप्रतिष्ठितः ४,एवं बीजेष्वपि साधुमधिकृत्य चतुर्भङ्गी, एवं गन्त्रीमप्यधिकृत्य हरितेषु बीजेषु च प्रत्येकं चतुर्भङ्गी द्रष्टव्या।हरितेष्वनन्तरं प्रतिष्ठिता गन्त्री नो परंपरप्रतिष्ठिता इत्यादि, एवं सर्वसङ्कलनया चतुर्भङ्गीचतुष्टयं जातम् । चतुर्भङ्गीद्विकं तु—साधुगन्त्रीसंयोगतो द्रष्टव्यम् , तथा—हरितेषु च साधुर्गन्त्री चानन्तरप्रतिष्ठिता इत्यादिभङ्गचतुष्टयं प्राग्वत् । एवं बीजेष्वपि सर्वसंख्यया षट् चतुर्भङ्ग्यः । एतच्च चतुर्भङ्गीषट्कं किल प्रत्येकेषु हरितबीजेषूक्तम् , एवमनन्तेष्वपि द्रष्टव्यमेवं मिश्रेष्वपि ।

साम्प्रतमत्रैव प्रायश्चित्तमुच्यते ।

चउरो लहुगा गुरुगा,मासो लहु गुरु य पणगलहुगुरुयं ।
छसु परितणंतमीसे, बीजे य अणंतरपरे य ।। ५०८ ।।

हरिते चशब्दसंसूचिते प्रत्येकके अनन्तरपरंपरभेदतस्त्रिष्वाद्येषु भङ्गेषु चत्वारो लघुका वक्तव्याः । इयमत्र भावना—प्रत्येकेषु हरितेषु साधावनन्तरप्रतिष्ठिते प्रथमभङ्गे प्रायश्चित्तं चतुर्लघु, द्वितीये परम्परप्रतिष्ठिते चतुर्लघु, तृतीये भङ्गे अनन्तरपरम्परप्रतिष्ठिते द्वे चतुर्लघुके,चरमे भङ्गे शुद्धः । तथा प्रत्येकहरितेषु साधौ गन्त्र्यां वाऽनन्तरप्रतिष्ठायां द्वे चतुर्लघुके, द्वितीयभङ्गेऽपि परम्परप्रतिष्ठितायां द्वे चतुर्लघुके, तृतीयभङ्गे उभयोः उभयत्र प्रतिष्ठितयोश्चत्वारि लघुकानि, चरमभङ्गे शुद्धः । तथा—हरितेष्वनन्तेषु साधावनन्तरप्रतिष्ठिते प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम् , द्वितीयेऽपि परम्परप्रतिष्ठिते चतुर्गुरु, तृतीयेऽनन्तरपरम्परप्रतिष्ठिते द्वे चतुर्गुरुके, चरमे शुद्धः, गन्त्र्यामप्यनन्तहरिते अनन्तरप्रतिष्ठितायां चतुर्गुरु परम्परप्रतिष्ठितायामपि चतुर्गुरु,उभयप्रतिष्ठितायां द्वे चतुर्गुरुके, चरमे शुद्धः । अनन्तरहितेषु साधौ गन्त्र्यां वाऽनन्तरप्रतिष्ठितायां द्वे चतुर्गुरुके, परम्परप्रतिष्ठितायामपि द्वे चतुर्गुरुके, उभयप्रतिष्ठितायां चत्वारि चतुर्गुरुकाणि, चरमे शुद्धः, तथा-मिश्रेषु प्रत्येकहरितेषु साधावनन्तरप्रतिष्ठिते मासलघु, परम्परप्रतिष्ठितेऽपि मासलघु, उभयप्रतिष्ठिते द्वे मासलघुके, चरमे भङ्गे शुद्धः । गन्त्र्यामप्यनन्तर-परंपरप्रतिष्ठितायामपि मासलघु, उभयप्रतिष्ठितायां द्वे मासलघुके, चरमे भङ्गे शुद्धः। साधौ गन्त्र्यां वाऽनन्तरप्रतिष्ठितायां द्वे मासलघुके, परंपरप्रतिष्ठितायामपि द्वे मासलघुके, उभयप्रतिष्ठितायां चत्वारि मासलघूनि, चरमे भङ्गे शुद्धः । तथा-मिश्रेष्वनन्तहरितेषु साधावनन्तरप्रतिष्ठिते मासगुरु, परंपरप्रतिष्ठितेऽपि मासगुरु, उभयप्रतिष्ठिते द्वे मासगुरुके, चतुर्थे शुद्धः । गन्त्र्यामपि तदनन्तरप्रतिष्ठितायां मासगुरु, परम्परप्रतिष्ठितायामपि मासगुरु, उभयप्रतिष्ठितायां द्वे मासगुरुके, चरमे शुद्धः । साधौ गन्त्र्यां वाऽनन्तरतिष्ठितायां द्वे मासगुरुके, परंपरप्रतिष्ठितायामपि द्वे मासगुरुके, उभयप्रतिष्ठितायां चत्वारि-मासगुरुकाणि, चरमभङ्गे शुद्धः । 'पणग लहुगुरुगमिति ' बीजेषु प्रत्येकेषु सचित्तेषु मिश्रेषु वा प्रत्येकं साधावनन्तरप्रतिष्ठिते लघुरात्रिंदिवपञ्चकम् , परंपरप्रतिष्ठितेऽपि लघुपञ्चकम् , उभयप्रतिष्ठिते द्वे लघुपञ्चके, चरमभङ्गे शुद्धः । तथा गन्त्र्यामनन्तरप्रतिष्ठितायां लघुपञ्चकम् , परंपरप्रतिष्ठितायामपि लघुपञ्चकम् , उभयप्रतिष्ठितायां द्वे लघुपञ्चके, चरमभङ्गे शुद्धः । साधौ गन्त्र्यां वाऽनन्तरप्रतिष्ठितायां द्वे लघुपञ्चके, परंपरप्रतिष्ठितायामपि द्वे लघुपञ्चके, उभयप्रतिष्ठितायां चत्वारि लघुपञ्चकानि. चरमभङ्गे शुद्धः । एवमनन्तेषु रात्रिन्दिवपञ्चकं गुरुकं द्रष्टव्यम् । एवं बीजे, चशब्दात् हरिते च प्रत्येके सचित्तेऽनन्ते सचित्ते मिश्रे वाऽनन्तरे पट्पदसु भङ्गेषु यथायोगं प्रायश्चित्तमवगन्तव्यम् ।

इदानीं चलादिद्वारप्रतिपादनार्थमाह-

दव्वे भावे य चलं, दव्वम्मी दुट्ठियं तु जं दुपयं ।
आयाएँ संजमम्मि य, दुविहा उ विराहणा तत्थ ।५०९।

चलं नाम द्विविधम् , तद्यथा-द्रव्यतः, भावतश्च । तत्र द्रव्यतश्चलं यत् द्विपदं शकटं दुःस्थितं तत्र लेपं गृह्णतश्चतुर्गुरुकम् , यतस्ततो द्विविधा विराधना-आत्मनि, संयमे च । तत्रात्मविराधना शकटेन पततोऽभिघातसम्भवात् , संयमविराधना-शकटे संचाल्यमाने प्राणिजात्युपमर्दनात् ।

भावचलँ गंतुकामं, गोणाई अन्तराइयं तत्थ ।
जुत्ते वि अंतराइं, वित्तस चलणे य आयाए ।। ५१० ।।

भावचलं नाम—गन्तुकामं योज्यमानमित्यर्थः, तत्र यावत् लेपो गृह्यते तावद् बलीवर्दानां चारिपानीयनिरोधनम्, आदिशब्दात्—मनुष्याणामप्यन्तरायम् , ततो भावचलेऽपि लेपं गृह्णतश्चत्वारो लघुकाः, । गतं चलद्वारम् । अधुना युक्तद्वारमाह—' जुत्ते वी 'त्यादि युक्तं योक्त्रितबलीवर्दम् । तत् स्थापयित्वा यदि लेपं गृह्णाति ततः प्राय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, यतस्तत्रापि स एवान्तरायदोषः। अन्यश्चायं दोषः,ते बलीवर्द्दा वित्रस्येयुः तत्र गन्त्र्या चलन्त्या चरणाक्रमणे—आत्मविराधना, संयमविराधना त्रसादिनिपातः।

सम्प्रति वत्सद्वारं श्वद्वारं चाह–

वच्छो भएण णासति, गंतिक्खोभे य आयवावत्ती।
आया पवयण साणे, काया य भएण नासंतो ।५११।

यत्र शकटे वत्सो बद्धः, श्वा वा यस्याधस्तात्तिष्ठति, बद्धो वा वर्त्तते, तत्र वत्से—लेपं गृह्णतश्चत्वारो लघुकाः; शुनि–चत्वारो गुरुकाः, यतो–वत्सो भयेन नश्यति, गन्त्र्या क्षोभे चलने आत्मव्यापत्तिः, तथा–श्वा समागच्छन्तमपूर्वं दृष्ट्वा दशति तत्र आत्मोपघातः, शुना लीढं लेपममी गृह्णन्तीति प्रवचनोपघातः, भयेन नश्यति शुनि कायाः–पृथिवीकायादयो विनाशमापद्यन्ते; ततः संयमोपघातश्च।

सम्प्रति जलस्थितद्वारं पृथिवीस्थितद्वारं चाह–

जो चेव य हरिएसुं, सो चेव गमो उदगपुढवीए।
संपाइमे तसगणा, सामाए होइ चउभङ्गो ॥५१२॥

य एव गमः प्राक् हरितेषूक्तः स एवोदके पृथिव्यां च वेदितव्यः, इयमत्र भावना—सचित्ते उदके साधुरनन्तरप्रतिष्ठितो, न परंपरप्रतिष्ठित, इत्यादि चतुर्भङ्गी। गन्त्र्यामप्येवं चतुर्भङ्गी। उभयोरपि चतुर्भङ्गी, तदेवं चतुर्भङ्गीत्रयम्, सचित्तेऽप्काये, अचित्तेऽप्काये, एवं मिश्राप्कायेऽपि चतुर्भङ्गीत्रयमवसातव्यम्, उभयमीलनेन चतुर्भङ्गीषट्कम्, एवं चतुर्भङ्गीषट्कं पृथिवीकायेऽपि भावनीयम्। तत्र सचित्तेऽप्काये साधावनन्तरप्रतिष्ठिते प्रायश्चित्तं चतुर्लघु, परंपरप्रतिष्ठितेऽपि चतुर्लघु, उभयप्रतिष्ठिते द्वे चतुर्लघुके, चरमे भङ्गे शुद्धः। गन्त्र्यामप्यनन्तरप्रतिष्ठितायां चतुर्लघु, परंपरप्रतिष्ठितायामपि चतुर्लघु, उभयप्रतिष्ठितायां द्वे लघुके, चरमे भङ्गे शुद्धः। चरमभङ्गेषु मिश्रेऽप्काये साधावनन्तरप्रतिष्ठिते मासलघु, परंपरप्रतिष्ठितेऽपि मासलघु, उभयप्रतिष्ठिते द्वे मासलघुके, चरमे शुद्धः। एवं गन्त्र्यामपि भङ्गचतुष्टयं वक्तव्यम्, साधुगन्त्र्योरनन्तरप्रतिष्ठितयोर्द्वे मासलघुके, परंपरप्रतिष्ठितयोरपि द्वे मासलघुके, उभयोरुभयत्र प्रतिष्ठितयोः चत्वारि मासलघुकानि, चरमभङ्गे शुद्धः। एवं पृथिवीकायेऽपि चतुर्भङ्गीषट्के प्रायश्चित्तमवगन्तव्यम्। सम्प्रति सम्पातिमद्वारं श्यामाद्वारं चाह— " संपातिमा " इत्यादि। अथ के नाम सम्पातिमाः—येषु पतत्सु लेपो न गृह्यते। किं त्रसाः स्थावरा वा ?। तत्राह—सम्पातिमाः त्रसप्राणा न स्थावरास्तेषु संपातिमेषु पतत्सु यदि लेपं गृह्णाति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। श्यामा—रात्रिः, तत्र—चतुर्भङ्गी, तद्यथा—रात्रौ लेपं गृह्णाति, रात्रावेव भाजनस्य लेपं ददाति। अत्र प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, एवं मध्यमभङ्गद्वयेऽपि तपोलघवः कालगुरुकाः। दिवसे गृहीत्वा दिवस एव ददाति शुद्धः।

महावातादिद्वारत्रयमाह—

वायम्मि वायमाणे, महियाए चेव पवडमाणीए।
नाणुण्णायं गहणं, अमियस्स य मा विगिंचणया ।५१३।

वाते–महावाते वाति, तथा–महिकायां प्रपतन्त्यां लेपस्य ग्रहणं नानुज्ञातं तीर्थकरगणधरैः, महावाते वाति तदुद्धूतानां त्रसस्थावराणां लेपसंपर्कतो विनाशसंभवात्। महिकायां निपतन्त्यामप्कायविराधनात् तथा अमितस्यापि लेपस्य ग्रहणं नानुज्ञातं मा भूद्विवेचनिकापरिष्ठापनिका इति कृत्वा तत्र महावाते वाति लेपं गृह्णतः प्रायश्चित्तं चतुर्लघु, महिकायामपि निपतन्त्यां चतुर्लघु, अमितग्रहणे मासलघु।

एतदेव प्रायश्चित्तं प्रतिपादयन्नाह—

बलजुत्तवच्छमहिया, तसेसु सामाएँ चेव चउलहुगा।
दव्वबलसाणगुरुगा, मासो लहुओ उ अमियम्मि ।५१४।

भावतश्चले बलीवर्द्दयुक्ते वत्से नियद्धे, तथा–महिकायां निपतन्त्यां त्रसेषु सम्पातिमेषु निपतत्सु श्यामायां च लेपं गृह्णतः प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। द्रव्यबले शुनि वा स्थिते चत्वारो गुरुकाः, अमिते गृहीते लघुको मासः। विशेषभावना तु प्रतिद्वारं प्रागेव कृता।

एतद्दोसविमुक्कं, घेत्तुं छारेण अक्कमित्ताणं।
चीरेण बंधिऊणं, गुरुमूलें पडिक्कमा लोए ॥५१५॥

ये एते हारतादयोऽनन्तरं दोषा उक्तास्तैर्मुक्तं लेपं गृहीत्वा मा सम्पातिमानां वधो भूयात् तं क्षारेण—भस्मना आक्रम्य चीवरेण बध्वा गुरुपादमूलमागच्छति। आगम्य ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्यालोचयति।

दंसिय छंदिय गुरु से–सए य ओमत्थियस्स भाणस्स।
काउं चीरं उवरिं, रूयं व छुभेज्ज तो लेवं ॥ ५१६ ॥

आलोच्य लेपं गुरोर्दर्शयति; दर्शयित्वा गुरुं लेपेन छन्दयति–निमन्त्रयति, निमन्त्रणानन्तरं शेषकानपि साधून् निमन्त्रयति, ततो यावता यस्यार्थस्तस्य तावन्तं दत्त्वा एकस्य भाजनस्यावमस्थितस्यावाङ्मुखीकृतस्योपरि चीवरं कृत्वा तत्र लेपं रूतं च प्रक्षिपेत्।

सम्प्रति लेपदानविधिमाह—

अंगुट्ठपएसिणिम–ज्झिमाहिं घेत्तुं घणं ततो चीरं।
आलिंपिऊण भाणं, एक्कं दो तिन्नि वा घट्टे ॥ ५१७॥

अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या मध्यमया चाङ्गुल्या लेपं गृहीत्वा घनं च चीवरमादाय तत्र लेपं प्रक्षिप्य निष्पीडयेत्। निष्पीड्य च एकैकभाजनमेकं द्वौ त्रीन् वा वारान् लेपयेत्, अधिकं तु लेपमट्टकनिमित्तं सरूतकं पेषयेत्। अथ न दातव्यः अट्टकः, यदि वा–तत्राशुद्धिरतः सरूतकं तं क्षारे परिष्ठापयेत्, अन्यच्चान्यच्च भाजनं लिप्त्वा अन्यदन्यद्वारं वारेण घट्टणपाषाणेन घट्टयति।

तथा चाह—

अण्णोण्णे अक्कम्मी, अण्णं घटेति वारवारेणं।
आणेइ तमेव दिणे, दवं च घेत्तुं अभत्तट्ठी ॥ ५१८ ॥

अन्यस्मिन् भाजने घट्टिते अन्यतरभाजनमङ्के स्थापयित्वा वारंवारेण घट्टयति, तत्र यदि उद्घानो लेपो यदि च तस्य द्रवेण कार्यं समुत्पन्नं स चाऽऽत्मनाऽभक्तार्थी ततः सोऽभक्तार्थी तस्मिन्नेव दिने पात्रं लेपनोपरज्य उद्घाने लेपं तेन द्रवं सपानीयमानयति। अथ नोद्घानस्ततोऽन्येषामभक्तार्थिनामाहिण्डमानानां वा तत्पात्रे समर्प्यान्येन पानीयमानयेत्।

भत्तट्ठीणं दाउं, अन्नेसिं वा अहिंडमाणाणं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंडेज्ज असंथरणे, असती घेत्तुं अरइयं तु ॥ ५१६ ॥

यदि स भक्तार्थी, न च पात्रस्य लेपोऽद्यापि शुष्कस्ततोऽसंस्तरणे भोजनमन्तरेण संस्तरीतुमशक्नुवभक्तार्थिनामन्येषां वा साधूनामहिण्डमानानां तत्पात्रं समर्प्य हिण्डेत, असति अन्येषामभक्तार्थिनामहिण्डमानानां वा अभावे तत् अरञ्जितमद्याप्यपरिणतलेपं गृहीत्वा हिण्डेत्।

न तरिज्ज जइ तिन्नि उ, हिंडावेउं ततो णु खारेण।
ओयत्तेउं हिंडइ, अन्ने व दवं से गिण्हंति ॥ ५२० ॥

यदि त्रीणि पात्राणि हिण्डापयितुं न शक्नोति ततो तु-निश्चितम्, तत् पात्रमुपाश्रयं क्षारेणावनम्य स्थगयित्वा हिण्डते। यदि वा-(से) तस्य योग्यं द्रवमन्ये गृह्णन्ति, ततोऽतिरिक्तपात्रवहने न कश्चिद्भार इत्यदोषः।

लित्थारियाणि जाणि उ, घट्टगमादीणि तत्थ लेवेणं।
संजमभूतिनिमित्तं, ताइं भूईए लिंपिज्जा ॥ ५२१ ॥

तत्र पात्रलेपने यानि लेपेन घट्टकादीनि लित्थारियाणि देशीपदमेतत् खरण्टितानि संयमभूतिनिमित्तम्—संयमविभूतिहेतोः विभूत्या क्षारेण तानि लिम्पेत्, येन तत्संस्पर्शतः त्रसानां स्थावराणां वा विनाशो न भवति।

एवं लेवग्गहणं, आणयणं लिंपणा य जयणा य।
भणियाणि अतो वोच्छं, परिकम्मविहिं तु लित्तस्स॥५२२॥

एवमुक्तेन प्रकारेण लेपस्य ग्रहणमानयनं पात्रस्य लेपनाय सर्वत्र यतना, एतानि भणितानि। अत ऊर्ध्वं पुनर्लिप्तस्य परिकर्मविधिं वक्ष्यामि।

तमेवाभिधातुकाम आह—

लित्ते छारियछारो, घणेण चीरेण बंधिउं उण्हे।
उव्वत्तण परियत्तण, अच्छिय धोए पुणो लेवो ॥५२३॥

पात्रे लिप्ते सति यः क्षाणितो-गलितः क्षारो-भस्म स तत्र प्रक्षिप्यते, ततो घनेन चीरेण बध्वा उष्णे ध्रियते, तत्र च पात्रस्योद्वर्तनं परिवर्तनं च तावत्कर्तव्यं यावत् लेपः शुष्को भवति। ततः पात्रमश्च्यते—आकृष्यते, आकृष्य पानीयेन प्रक्षाल्यते, ततः प्रक्षालिते सति पुनरपि स लेपो दीयते।

काउं सरयत्ताणं, पत्ताबंधं अबंधगं कुज्जा।
साणाइरक्खणट्ठा, पमज्जणाउण्हसंकमणा ॥ ५२४ ॥

पात्रे भूयो लिप्ते सति तस्योपरि सरजस्त्राणसहितं पात्रबन्धमबन्धकमग्रन्थिकं कुर्यात् कस्मादबन्धकं कुर्यादत आह-श्वादिरक्षणार्थम्, शुनः आदिशब्दात्—मर्कटमार्जारादिभ्योऽपि रक्षणार्थम्, अन्यथा हि ग्रन्थौ दत्ते सपात्रबन्धं पात्रं श्वादिभिर्नीयेत। तथा छायायामुष्णे च पात्रस्य संक्रमणे प्रमृज्यते तत्पात्रं स्थापयितव्यम्।

तद्दिवसं पडिलेहा, कुंभमुहादीण होइ कायव्वा।
छण्णे य निसिं कुज्जा, कयकज्जाणं विवेगो उ ॥ ५२५ ॥

यस्मिन् दिने पात्रलेपनं तस्मिन्नेव दिवसे कुम्भमुखादीनां घटकण्ठादीनाम् आदिशब्दात्—स्थालीकण्ठादिपरिग्रहः-प्रत्युपेक्षा भवति—कर्तव्या, कुटकण्ठादीनि तस्मिन् दिने आनेतव्यानीत्यर्थः। किमर्थमित्यत आह—निशि—रात्रौ तेषामुपरि छन्ने प्रदेशे लिप्तानि पात्राणि कुर्यादित्येवमर्थं तदनन्तरं तेषां घटमुखादीनां कृतकार्याणां विवेकः-परिष्ठापनिका।

अट्टगहेउं लेवा-ऽहिगं तु सेसं सरूतगं पीसे।
अहवा वि न दायव्वो, सरूयगं छारतो उण्हे ॥५२६॥

उष्णे शेषमधिकं लेपम् अट्टकहेतोः—अट्टकनिमित्तम् सरूतकम् पेषयेत्,। अथवाऽपि न दातव्योऽट्टकस्तत-स्तमधिकं सरूतकं लेपं क्षारे भस्मनि उष्णे तत्परिष्ठापयेत्, अयं चार्थो यत्र भणितस्तत्र प्रागेवोपदर्शितः।

सम्प्रति तु गाथाक्रमानुलोमत उक्तः—

पढम चरमा उ सिसिरे, गिम्हे अद्धं तु तासि वज्जित्ता।
पायं ठवेसि णेहा-दिरक्खणट्ठा पवेसे वा ॥ ५२७ ॥

शिशिरे—शीतकाले प्रथमचरमे पौरुष्यौ वर्जयित्वा ग्रीष्मे—उष्णकाले तयोः प्रथमचरमपौरुष्योरर्द्धमर्द्धं वर्जयित्वा पात्रमुष्णे स्थापयेत्, प्रथमचरमपौरुष्यादिकाले तु मध्ये प्रवेशयेत्। किमर्थमित्याह—स्नेहादिरक्षार्थं स्नेहोऽवश्मायः आदिशब्दात्—महिकाहिमवर्षादिपरिग्रहः तद्रक्षणार्थम्, इयमत्र भावना-शिशिरकाले प्रथमायां पौरुष्यामतिक्रान्तायामुष्णे ददाति, चरमायां तु पौरुष्यामनवगाढायां मध्ये प्रवेशयति, अन्यथा शिशिरकालस्य स्निग्धतया प्रथमायां च पौरुष्यामवश्यायादिपतनभावतो लेपविनाशप्रसङ्गात्, उष्णकाले तु प्रथमायाः पौरुष्या अर्धे अपक्रान्ते पात्रमुष्णे दद्यात्, चरमायास्तु पौरुष्याः पश्चिमेऽर्द्धेऽनवगाढे मध्ये प्रवेशयेत्, कालस्य रूक्षतया तत ऊर्द्ध्वं पश्चाच्चावश्यायादिसम्भवात्।

उवयोगं च अभिक्खं, करेति वासादिसाण रक्खट्ठा।
वावारेति च अन्ने, गिलाणमादीसु कज्जेसु ॥ ५२८ ॥

उष्णे च पात्रे दत्ते सति स वर्षादिभ्यो रक्षणार्थं वर्षम्-वृष्टिः आदिशब्दात्—हिमप्रपातादिपरिग्रहः श्वा—कुक्कुरः तद्रक्षणार्थमभीक्ष्णमनवरतमुपयोगं करोति। यदि वा-ग्लानादिप्रयोजनेषु समापतितेष्वन्यान् साधून् व्यापारयति, स तु तत्रैव रक्षयन् तिष्ठति।

अथ कियन्तः पात्रस्य लेपा दीयन्ते ?, इत्याह-

एक्को य जहन्नेणं, बिय तिय चत्तारि पंच उक्कोसा।
संजमहेउं लेवो, वज्जित्ता गारवविभूसं ॥ ५२९ ॥

पात्रस्य संयमहेतोर्जघन्येनैको लेपो दातव्यः। मध्यमतो द्वौ, त्रयो वा। उत्कर्षतः—चत्वारः, पञ्च वा वर्जयित्वा गौरवम्, विभूषां च। गौरवेणात्मनो महर्द्धिकत्वमनेन लक्षणेन विभूषया वा न लेपो दातव्यः; किन्तु संयमस्यातिनिमित्तमिति।

अणवट्ठं ते तह वि उ, सव्वं अवणेतु तो पुणो लिंपे।
तज्जाय सचोप्पडयं, घट्टरएउं ततो धोवे ॥ ५३० ॥

उत्कर्षतः पञ्चस्वपि लेपेषु यदि स लेपो नावतिष्ठेत—न पात्रेण सह लोलीभवति, ततः तस्मिन्ननवतिष्ठमाने सर्वं लेपमपनीय ततः पुनर्मूलतः पात्रं लिम्पयेत्, यथा स लेपोऽवतिष्ठते। 'तज्जाये' त्यादि इह यत् अलाब्वादिपात्रं तैलादिना सचोप्पडम्-सस्नेहं तत्र च धूलिः प्रभूता लग्ना, तं लेपं घट्टकपाषाणेन घट्टयित्वा तद्गतेनैव लेपेन भूयस्तत्पात्रं रञ्जित्वा ततः प्रक्षालयेत्, एष तद्यातो नाम लेपः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्प्रति लेपस्यैव भेदानाह—

तज्जाय-जुत्ति लेवो, दुचकलेवो य होइ नायव्वो ।
मुद्दियनावाबंधो, तेणगबंधो य पडिकुट्ठो ॥ ५३१ ॥

त्रिविधो लेपो भवति-ज्ञातव्यस्तद्यथा-तज्जातलेपः, युक्तिलेपः, द्विचक्रलेपश्च । द्विचक्रलेपो नाम—शकटलेपः, तत्र लिप्यमानं लिप्तं वा यदि पात्रं कथमपि भङ्गमाप्नुयात् ततोऽन्यस्याभावे मुद्रितनौबन्धेन बध्नीयात् न स्तेनकबन्धेन । यतो मुद्रितनौबन्ध एव तीर्थकरैरनुज्ञातः स्तेनकबन्धस्तु प्रतिकुष्टः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुस्तद्यातलेपस्य—प्रागुव्याख्यातत्वात् शेषपदव्याख्यानार्थमाह—

जत्ती उ पत्थरादी, पडिकुट्ठा सा तु सन्निही काउं ।
दयसुकुमालअसन्निहिं, दुचकलेवो अतो इट्ठो ॥५३२॥

युक्तिः पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् धूलिलेपः, प्रस्तरादिः—प्रस्तरादिकृतः आदिशब्दात्-शर्करालोहकिट्टकेदारमृत्तिकादिपरिग्रहः, सा च युक्तिः सन्निधिरिति कृत्वा तीर्थकरगणधरैः प्रतिकुष्टा-निराकृता । तद्यातलेपश्च कदाचिद्-वाप्यते, तत एतेषु मध्ये शकटलेपः सुन्दरः । यतः तस्मिन् सुकुमारतया पानजातयो जन्तवः स्पष्टाः दृश्यन्ते, दृश्यमानेषु च तेषु दया कर्तुं शक्यते न च सन्निधिदोषः । अतः सुन्दरत्वात् स एव द्विचक्रलेप इष्टः ।

संजमहेउं लेवो- न विभूसाए वयंति तित्थयरा ।
सतीऽसती दिट्ठंतो, विभूसॉए होंति चउगुरुगा ॥५३३॥

लेपः पात्रस्य दातव्यः संयमहेतोर्न विभूषया, उपलक्षणमेतत्, नापि गौरवेण, इति भगवन्तस्तीर्थकरा वदन्ति । संयमहेतोः पुनर्दीयमाने लेपे यदि विभूषा भवति तथापि सा संयमहेतोरेव । अत्र सत्यसत्योर्दृष्टान्तः । तथाहि—सती आत्मानं विभूषयति, असत्यपि । केवलं सती कुलाचारनिमित्तमात्मानं विभूषयतीति तुल्यमपि तद्विभूषणमदुष्टम् । इतरा जारतोषणनिमित्तमिति दोषवत् । एवं यथा सत्यसौ तथा साधुः, यथा विभूषणं तथा लेपः, यथा कुलाचारः तथा संयमः, यथा जारतोषणं तथा असंयमः । विभूषया लेपं ददतः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । उपलक्षणमेतत् गौरवेणापि ददत एतत् प्रायश्चित्तमवसातव्यम् । उक्तञ्च—"संयमहेऊ लेवो, न विभूसा, गारवेण वा देयो । चउगुरुगविभूसाए, लिंपिते गारवेणं वा ॥"

भिज्जिज्ज लिप्पमाणं, लित्तं वा असइए पुणो बंधे ।
मुद्दियनावाबंधे, न तेण बंधेण बंधिज्जा ॥ ५३४ ॥

तत्पात्रं लिप्यमानं लिप्तं वा कथमपि हस्तपतनादिनाऽभिद्यत न चान्यत्पात्रं तत्पात्रं भूयो मुद्रितनौबन्धेन बध्नीयात्, न स्तेनकबन्धेन । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

तत्र मुद्रिकाबन्धस्येयं स्थापना—

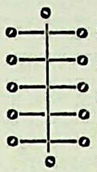

नौबन्धः पुनर्द्विविधो भवति तस्य स्थापना चेयं ६४
स्तेनकबन्धः पुनर्गुप्तो भवति मध्येनैव पात्र- २७
कष्ठस्य दवरको याति तावत् यावत् सा राजीः सीविता भवति तेन स्तेनकबन्धेन दुर्बलं पात्रकं भवति, अतोऽसौ वर्जनीयः । ओघ० ।

सम्प्रति लेपस्य जघन्यादिभेदानाह—

खर अयसि कुसंभ सरिसव, कमेण उक्कोसमज्झिम जहन्नो ।
नवणीए-सप्पि वसा, गुले अ लोणे अलेवो उ ॥५३५॥

खरसंज्ञिकेन तिलतैलेन यो लेपः स उत्कृष्टः । अतसीतैलेन कुसुम्भतैलेन च मध्यमः, सर्षपतैलेन जघन्यः । उक्तञ्च—"सो पुण लेवो खरस—एहएण उक्कोसओ मुणेयव्वो । अयसि कुसुंभिय मज्झो, सरिसवतिल्लेण य जहन्नो ॥ १ ॥" नवनीतेन म्रक्षणेन सर्पिषा घृतेन वसा च निर्वृत्तोऽलेपो ज्ञातव्यः । तस्य पात्रे सम्यग् लगनाभावात्, जुगुप्सितत्वाच्च । तथा-गुडभृतेषु वा शकटेषु तिलतैलम्रक्षितेष्वपि यो लेपः सोऽलेपः तस्यापि लवणाद्यवयवो गतः अप्रशस्तत्वात्, तदेवमुक्तो लेपस्य विधिः । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

अथ कल्पकरणद्वारमभिधित्सुराह—

भाणस्स कप्पकरणे, अलेवडे नत्थि किंचि कायव्वं ।
तम्हा लेवकडस्स उ, कायव्वा मग्गणा होइ ॥ ८६८ ॥

भाजनस्य कल्पकरणे चिन्त्यमाने यदलेपकृतं द्रव्यं तद्यत्र प्रक्षिप्तं तस्य भाजनस्य न किंचित्कर्तव्यम्-कल्पो न विधेय इत्यर्थः । लेपकृतभाजनस्य त्ववश्यं कल्पो दातव्यः, इत्यतो लेपकृतस्य मार्गणा कर्तव्या, कीदृशं लेपकृतम्, अलेपकृतं चेति चिन्तनीयमित्यर्थः । बृ० १ उ० २ प्रक० । (तत्रालेपकृतानि 'अलेवकड' शब्दे प्रथमभागे ७८५ पृष्ठे गतानि)

अथ लेपकृतानि निरूपयति—

विगई विगइ अवयवा, अविगई पिण्डरसएँहिँ जं मीसं ।
गुलरहितेल्लावयवे, विगडम्मि य सेसएसुं च ॥ ८७१ ॥

दधिदुग्धघृतादिका या विकृतयो ये च विकृतीनामवयवाः मधुप्रभृतयस्तैर्यन्मिश्रम्, यद्वा-विकृतिरूपैः पिण्डरसैः खर्जूरादिभिर्मिश्रम्, एतत्सर्वमपि लेपकृतमिति प्रक्रमः । अत्र च गुडदधितैलानां ये अवयवाः यश्च विकटे—मध्ये अवयवः शेषेषु च घृतादिषु येऽवयवास्ते केचिद् विकृतयः, किंचिच्चाविकृतयः प्रतिपत्तव्याः ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां विवृणोति-

दहि अवयवो उ मंथू, विगई तक्कं न होइ विगई उ ।
खीरं तु निरावयवं, नवणीओगाहिमा चेव ॥ ८७२ ॥
घयघट्टो पुण विगई, वीसंदणसोय केइ इच्छन्ति ।
तिल्लगुलाण अविगई, सुकुमालियखंडमाईणि ॥ ८७३ ॥
महुणो मयणमविगई, खोलो मज्जस्स पोग्गले पिउडं ।
रसओ पुण तदवयवो, सो पुण नियमा भवे विगई ॥ ८७४ ॥

दध्नः सम्बन्धी यो मधु इति नाम्ना प्रसिद्धोऽवयवः स विकृतिः, यत्तु तक्रं तद्दध्यवयवरूपमपि विकृतिर्न भवति । क्षीरं तु दुग्धं पुनर्निरवयवम्-अवयवरहितं नवनीतं-म्रक्षणम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवगाहिमं पक्वान्नम् एते अपि निरवयवे एतद्विषयाणामवयवानां पृथगव्यवह्रियमाणत्वादिति । घृतघट्टः—पुनर्घृतस्य सम्बधी यः किट्टो मह्यिादृकमित्यर्थः । स विकृतिर्व्यवह्रियते । विस्पन्दनं नाम—अर्धनिदग्धघृतमध्यक्षिप्ततन्दुलनिष्पन्नम् , उक्तञ्च पञ्चवस्तुकटीकायाम्—' वीसंदणं अद्धनिदड्ढघयमज्झछूढतंदुलनिप्फणं 'ति,सो इति पादपूरणे,चशब्दार्थः-अपिशब्दार्थे,विस्पन्दनमपि केचिद्विकृतिकमिच्छन्ति न पुनर्न चायं यदाह चूर्णिकृत्-" अम्हाणं पुण वीसंदणं अविगइ " त्ति । तैलगुलयोर्यथाक्रमं यानि सुकुमारिकाखण्डादीनि तानि अविकृतिः विकृतितेन भवतीत्यर्थः । सुकुमारिका—तैलविशेषः, खण्डः-प्रतीतः आदिशब्दात्-शर्करादिपरिग्रहः । मधुनो माक्षिकादिभेदभिन्नस्यावयवो यन्मदनं तद्-विकृतिः । मद्यस्य खोलम्- किट्टविशेषः, सोऽपि न विकृतिः पुद्गलस्य यत्पिकटमुज्झमस्थि वा तदप्यविकृतिरसकः, पुनर्यस्तस्य पुद्गलस्यावयवः स पुनर्नियमात् भवेद् विकृतिः ।

अथ पिण्डरसपदं व्याख्यानयति-

अंबंबाडकविट्ठे, मुद्दिया माउलुंगकयले य ।
खज्जूरनालिएरं, कोले चिंचा य बोधव्वा ॥८७५॥

आम्रम् आम्रातकम् , कपित्थम्-प्रसिद्धम् मुद्रिका-द्राक्षा मातुलिङ्गम्-बीजपूरम् , ' कयलं '—कन्दलीफलम् , खर्जूरम् नालिकेरमुभयमपि सुप्रसिद्धम् , कोलो-बदरचूर्णम् , चिञ्चा-अम्लिका, चशब्दाद्-अन्यान्यप्येवंविधानि पिण्डरसद्रव्याणि बोद्धव्यानि । एतानि च नव विकृतयो भवन्ति ।

यत आह-

खज्जूर-मुद्दिय-दाडि-माणं पीलत्थु-चिंचमाईणं ।
पिण्डरस न विगईओ, नियमा पुण होंति लेवाडा ।८७६।

खर्जूरमुद्रिकादाडिमानां पीलविक्षुचिञ्चादीनां च संबन्धिनौ यौ पिण्डरसौ तौ अविकृती-विकृती न भवतः । नियमात् पुनर्लेपकृतौ भवत इति । उक्तानि लेपकृतानि । लेपकृतिः संसृष्टस्य भाजनस्य कल्पकरणे यदि पुनस्तस्य भाजनस्य लेपः स्फुटितो भवति ततः कल्पत्रये कृतेऽपि लेपकृतमेव तन्मन्तव्यम्-अनन्तरतद्दोषपरिहारार्थमाह—

कुट्टिमतलसंकासो, भिसिणीपुक्खलपलाससरिसो वा ।
समासधुवणसुक्का, णायसुहुमेरिसो होइ ॥ ८८७ ॥

यथा कुट्टिमतलं निम्नोन्नतप्रदेशरहितं सर्वतः सममेव भवति, एवं पात्रकस्य लेपोऽपि कुट्टिमतलसंकाशः सर्वतः सम एव कर्तव्यः । तथा बिसिनी-पद्मिनी तस्य यत्पुष्कलं विस्तीर्णं पलाशपत्रं तत्र पतितं जलं यथा नावतिष्ठते, एवं यत्र सूक्ष्मसिक्थावयवा लग्ना अपि न स्थितिं कुर्वन्ति स बिसिनीपुष्कलपलाशसदृशः, ईदृशो लेपः पात्रकस्य समाधावनशोषणः सुखमेव कर्तुं शक्यन्ते, समिति—सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना, आङिति मर्यादया पात्रकलेपमवधीकृत्य यदसनं सिक्थाद्यवयवानामपनयनं स समासः स लेपेन कल्प इत्यर्थः, धावनं कल्पत्रयप्रदानम् , अपरश्चायं गुण ईदृशे पात्रे भवति " एगो साहू रुक्खमूले समुदिसइ, तेण साहुणा दिसालोगो कओ, न पुण उवरिमारूढो धिज्जाइओ दिट्ठो,तेण सो साहू दूरओ जिमिओ दिट्ठो,ताहे सो उवरिमारूढो गाममइगओ, तत्थऽणेण सिट्ठं गामिल्लयाणं,तेण पुण साहुणा सो ओअरंतो दिट्ठो, अह सो भगवं दवदव स आउत्तो समुद्दिसिउं तहा संलिहइ जहा नज्जइ धायं पिव पत्तं । पच्छा सो भगवं मुहपुत्तियाए मुहं पिहेऊण पढंतो अत्थइ, ते आगया पिच्छंति साहुं उवसंतं, कओ एह कतो भिक्खं गहियं, तओ भणइ न ताव हिंडामि, किं वेला जाया ते अन्नमन्नस्स मुहं पलोयंति । ताहे धिज्जाइओ भणइ-मए दिट्ठो, पलोएह से भायणं ति, पिच्छा मो भायणं, तेणं दरिसियं, ताहे ते दट्ठूण भणंति-तुमं पि पावो मरुगो " त्ति ।

अमुमेवार्थं भाष्यकृदाह—

आउत्तो सो भगवं, चोक्खं सुइयं च तं कयं पत्तं ।
निस्सीलनिज्जयाणं, पत्तस्स य दायणा भणिया॥८७८॥
ओभामिओ स मरुओ, पत्तो साहू जसं च कित्तिं च ।
पच्छाइआ य दोसा-वयणो य पभाविओ तहियं ८७९॥

स भगवान् तं धिग्जातियं वृक्षादवतरन्तं दृष्ट्वा आयुक्तः प्रवचनमालिन्यरक्षणाय प्रवचनपरोऽभवत् , ततस्तेन संलेखनाकल्पकरणेन 'चोक्खं' सुविकृतं तत्पात्रकम् , ततश्च निःशीलनिर्वृतानां च तेषां ग्रामेयकाणां पात्रकस्य दर्शना-निरीक्षध्वमिदं यदि भवतामेतद्दर्शने कौतुकमस्तीत्येवं लक्षणा—भणिता पात्रे च दर्शिते तैर्मरुको-धिग्जातीयः अपभ्राजितो, यथा-धिग् भवन्तमसद्दोषोद्घोषणकारकम् , गुणिषु मत्सरिणमिति । साधुश्च प्रायो यत्राप्यमिथ्यादृष्टिमानसद्दर्शनपराक्रमसमुत्थां कीर्तिं च शुचिसमाचाररूपं सुकृतं प्राप, प्रच्छादिताश्च दोषाः पानकेन विना तुम्बकेषु वा भोजनकरणसमुत्थाः, वर्णश्च प्रभावितः प्रवचनस्य , तत्रावसरे तेन भगवता एष गुणः शोभनलेपोपलिप्तस्य पात्रस्येति ।

अथ येषु द्रव्येषु कल्पकरणमवश्यं कर्तव्यं तानि दर्शयति-

लेवाडविगइ गोरस-कढिते पिंडरस जहन्नउब्भज्जी ।
एएसिं कायव्वं, अकरणे गुरुगा य आणाइ ॥८८०॥

एतानि द्रव्याणि लेपकृतानि, तद्यथा—विकृतयो—दधिदुग्धादिकाः,गोरसं-तक्रादि, क्वथितं-तीमनादि, पिण्डरसाः-खर्जूरादयो यावत् जघन्यतः ' उब्भजि ' त्ति कोद्रवजालकम् , एतेषां लेपकृतानां कल्पकरणं कर्त्तव्यम् । यदि न करोति तदा चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमादिविषया ।

तामेव भावयति—

संचयपसंगदोसा, निसिभत्तं लेवकुत्थणमगंधं ।
दव्वविणासुड्डादी, अवन्नसंसजणाहारे ॥ ८८१ ॥

लेपकृतपात्रकस्य कल्पे अक्रियमाणे यः संचयः-सूक्ष्मसिक्थाद्यवयवपरिवासनरूपस्तस्य प्रसङ्गेन दोषा एते भवेयुः, निशिभक्तं प्रतिसेवितं भवति । लेपस्य च कोथनं—प्रतिभवनं ततश्च अगन्धम्-नञः कुत्सार्थत्वादतीव दुर्गन्धि भाजनं भवति, तादृशे च भाजने गृहीतस्य द्रव्यस्यौदनादेर्विनाशो भवति । तस्मिन् भुञ्जानस्य च विरसगन्धाघ्राणत ऊर्ध्वादीनि भवन्ति । ऊर्ध्वम्—वमनम् , आदिशब्दाद्—अरोचकमान्द्यादिपरिग्रहः । अवर्णश्च प्रवचनस्योड्डाहो भवति । तथाहि—लोकः भिक्षां ददानो दुर्गन्धिभाजनं दृष्ट्वा गर्हिता ईदृशा एवैते अशुचयः पापा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहता इति 'संसंजणाहारे' त्ति । दुर्गन्धिनाऽऽहारेण पनककुन्थुप्रभृतयः प्राणिनः संसज्येयुः ।

यत एवमतः—

लेवकडे कायव्वं, परवयणे तिन्नि वार गंतव्वं ।
एवं अप्पा य परो, पवयणं होंति चत्ताइ ॥ ८८२ ॥

लेपकृते भाजने कर्त्तव्यं कल्पकरणम् । अत्र परः—प्रेरकस्तस्य वचने त्रीन् वारान् कल्पे प्रायोग्यपानकग्रहणार्थं गृहपतिगृहे गन्तव्यमिति । सूरिराह—एवं क्रियमाणे आत्मा अपरश्च प्रवचनं च भवन्ति परित्यक्तानीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः

अथैनामेव विवरीपुराह—

गाउलऽभिरूव संखडि-अलभे साधारणं च सव्वेसिं ।
गहियं संतीइ तहिं, तक्केच्छुरसादिलग्गट्ठा ॥ ८८३ ॥

गच्छे साधवः शुचयो भवेयुः तैश्च भिक्षां हिण्डमानैर्गोकुले दुग्धदध्यादीनि प्राचुर्येण लब्धानि, विरूपायां वा अनेकभक्ष्यभोज्यप्रकारायां संखड्यामुत्कृष्टमशनादिद्रव्यं लभ्यते । तैश्च साधुभिरलाभे अन्यत्र तथाविधस्य दुर्लभद्रव्यस्यासंप्राप्तौ सर्वेषां साधारणमुपष्टम्भकारकमिदमिति मत्वा सर्वाण्यपि भक्तभाजनानि भृत्वा पानकं प्रतिगृहीष्यति, गृहीतं ततः प्रतिश्रयमागताः, यावत्पानकेन विना न शक्यते समुद्देष्टुमाहारस्य गलके विलगनात्, ततः किं कर्त्तव्यमित्याह-सन्ति च तत्र तक्रेक्षुरसादीनि आदिशब्दात्-दुग्धादीनि च तान्यपान्तराले आपिबेत् । किमर्थमित्याह—' लग्गट्ठ ' त्ति लग्ने—भावे क्तप्रत्ययः, आहारस्य गलके विलगनम्, अनुत्तरणं वा तदर्थं तन्माभूदित्यर्थः ।

आह—यद्येवं तर्हि पानकाभावे समुद्देशनानन्तरं कथं तानि कल्पयितव्यानीत्युच्यते—

मंडलितक्काखमए, गुरुभाणेणं च आणयंति दवं ।
अपरीभोगतिरित्ते, लहुओ अणुजीविभाणे य ॥८८४॥

यः क्षपकः ' मंडलितक्का ' मण्डल्युपजीवकः तस्य भाजनेन गुरूणां भाजनेन वा द्रवं—पानकमानयन्ति । अथापरिभोग्येषु भाजनेषु अतिरिक्ते वा नन्दीभाजने मण्डल्यनुपजीविक्षपकभाजने वा द्रवमानयन्ति तदा लघुको मासः ।

अथ परवचने त्रीन् वारान् गन्तव्यमिति पदं व्याख्यानयति—

भणइ जइ एस दोसो, तो आइमकप्पमाणसंलिहिउं ।
अन्नेसि तगं दाउं, तो गच्छइ विइय-तइयाणं ॥८८५॥

भणति परः प्रेरयति-यद्येष दोषः प्रायश्चित्तापत्तिलक्षणस्ततोऽहं विधिं भणामि । प्रतिगृहं संलिख्यते एकाकी गृहपतिः गृहे प्रविश्यादिमकल्पमानं यावता सर्वसाधुभिरादिमः कल्पः क्रियते तावन्मात्रं द्रवं गृहीत्वा अन्येषां साधूनां तत्पानकं दत्त्वा ततः स्वयं प्रथमकल्पं करोतु, कृत्वा च ततो गच्छति द्वितीयतृतीयकल्पयोः । इदमुक्तं भवति-द्वितीयकल्पकरणार्थं द्वितीयं वारं तत्र गृहे प्रविश्य तावन्मात्रं द्रवं गृहीत्वा प्राग्वदन्यसाधूनां दत्त्वा द्वितीयकल्पं करोतु, ततस्तृतीयं वारं भूयः प्रविश्य तावन्मात्रं गृहीत्वा तथैव तृतीयं कल्पं कृत्वा यावन्मात्रेण शेषभाजनानि धाव्यन्ते, संज्ञाभूमिः पानकं च भवति, तावन्मात्रं गृहीत्वा समायायात् । आचार्यः प्राह-एवं कुर्वति आत्मा च परश्च प्रवचनं च परित्यक्तानि भवन्ति ।

तत्रात्मा कथं त्यक्ता भवतीत्युच्यते—

संदंसणेण बहुसो, संलावणरागकेलिआ उभया ।
दंती णु कंजियं णु, जइस्स दट्ठो त्ति य भणंति ॥८८६॥

तस्यैकाकिनो भूयो भूयः तद्गृहं प्रविशतो या काञ्जिकदात्री अविरतिका तस्याः संबन्धिना बहुशः संदर्शनेन संलापानुरागकेलिप्रभृतयः आत्मोभयसमुत्था दोषा भवेयुः,संलापः-संकथा अनुरागः-परस्परं सात्यन्तिकी प्रीतिः, केलिः-परिहासः । तथा-यद्येष प्रव्रजति कः पुनः पुनरेति याति च तत्किमस्य ददती पानकदायिका दृष्टा उत काञ्जिकमित्येवमगारिणस्तमुद्दिश्य भणन्ति । नुशब्दः उभयत्रापि वितर्के ।

प्रवचनं यथा परित्यक्तं भवति तथा दर्शयति—

आयपरोभयदोसा, चउत्थि तेणट्ठसंकणा णीए ।
दोच्चं णु चारिऊणं, करेति आयट्ठगहणाई ॥ ८८७ ॥

आत्मपरोभयदोषाः, आत्मानस्तस्मात्परस्याः काञ्जिदायिकायाः तदुभयस्माच्च एते दोषा भवेयुः, तद्यथा-चतुर्थी-चतुर्थाश्रवद्वारविषया स्तैन्यार्थविषया वा शङ्का तस्याः स्वकैः-निजकैः क्रियते, यथा-नुरिति वितर्के, किमेष प्रव्रजति कः कस्याप्युद्भ्रामकस्य मैथुनदोषं करोति, यावत् समायाति याति च । यद्वा—चारिको भूत्वा चौराणां तैरिक्तां कर्तुमित्थमायाति , यद्वा—आत्मार्थमेवायमित्थं करोति । स्वयमेव मैथुनार्थं नेतुकामो वेत्यर्थः । इत्थं शङ्कमानास्ते तस्य साधोर्ग्रहणाकर्षणादीनि कुर्युः, ततः प्रवचनं परित्यक्तं भवति ।

परः कथं परित्यक्तो भवति इति । उच्यते—

गिण्हंति सिज्झियाओ, छिद्दं जाउगसवित्तिणीओ य ।
सुत्तत्थे परिहाणी, निग्गमणे सोहि वुड्ढी य ॥८८८॥

गृह्णन्ति छिद्रम्—दूषणम् काञ्जिकदायिकायाः, का इत्याह-'सिज्झिकाः' सहवासिन्यः, प्रातिवेश्मिकाः स्त्रिय इत्यर्थः । ' जाउग ' त्ति यातरो ज्येष्ठदेवरजायाः, सपत्न्यः प्रतीताः, यथा-यदेष संयतो भूयो भूयः समायाति च नूनमस्या अयमुद्भ्रामक इति, ततो यदा तया सह संखडमुपजायते तदा तत् प्राग्विकल्पितं दूषणं साध्यनुत्पत्तेः पुरत उद्गिरन्ति । तथा-सूत्रार्थविषया परिहाणिः पुनःपुनर्गच्छतो भवति 'निग्गमणो साहिवुड्ढी य ' त्ति त्रीन् चतुरो वारान् निर्गमने शोधिर्वृद्धिश्च तथैव द्रष्टव्या यथा भिक्षाद्वारे प्रागुक्ता । यत एते दोषा अतो नैकाकिना भूयो भूयो गन्तव्यम् ।

कथं पुनस्तर्हि गन्तव्यमित्याह—

संघाडएण एगो, खमए विइए य वुड्ढमाइन्ने ।
पुव्वुद्धिएण करणं, तस्स च असई अ उस्सित्ते॥८८९॥

संघाटकेन भावितकुलेषु प्रविश्य पानकं ग्रहीतव्यम् , द्वितीयपदे एकोऽपि यः क्षपको वृद्धो वा अशङ्कनीयः स आकीर्णेषु भावितकुलेषु पानकं गृह्णाति, तच्च पानकं यत्पूर्वमेव सौवीरिणा उद्धृतं पृथग् स्थापितं तेन कल्पकरणं कर्त्तव्यम् । तस्य वा पूर्वोद्धृतस्य असत्यभावे उत्सेव तमुत्सिक्तं तदपि कारापणीयम् । एषा पुरातनगाथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथैनामेव भाष्यकृद्विवृणोति—

भावितकुलेसु पवेˇसितु, भायणे आणयंति सेसाणं।
तव्विहकुलाण असई, अपरिभोगादिसु जयंति ॥८६०॥

भावितकुलानि नाम-येषु पूर्वोक्ताः शङ्कादयो दोषा न स्युस्तेषु गत्वा गृहस्थभाजने मण्डल्युपजीविक्षपकभाजने गुरुभाजने वा द्रवं गृहीत्वा स्वकीयभाजनानि धौत्वा शेषाणां भाजनानां धावनार्थं संज्ञाभूमिं गतानामाचमनार्थं चापरमपि पानकमानयन्ति। तद्विधानां—भावितकुलानाम् असति-अभावे अपरिभोग्यादिषु यतन्ते। अपरिभोग्यानि नाम-अत्र वार्यमाणभाजनानि तेषु. आदिग्रहणात्—मण्डल्यनुपजीविक्षपकभाजनेषु नन्दीभाजने वा द्रवं गृहीत्वा संसृष्टभाजनानां कल्पं कुर्वन्ति,तच्च पानकं पूर्वोत्सिक्तमेव गृह्णन्ति। ननु यदि सौवीरिणीमुद्धृत्य दीयमानं गृह्णन्ति ततः को दोषः स्याद् ? उच्यते। यतः—

उव्वत्तंतम्मि वहो, पाणाणं तेण पुव्व उस्सित्तं।
असती वुस्सविणीए, जं पेक्खइ वा असंसत्तं ॥ ८६१ ॥

'उव्वत्तंतम्मि' त्ति प्राकृतत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः, सौवीरिण्यामुद्वर्त्तमानायां ये तत्र सौवीरगन्धेन कंसारिकादयः प्राणजातीया आयाताः सन्ति तेषां वा वाधा भवति,तेन कारणेन पूर्वोत्सिक्तं ग्रहीतव्यम्, अथ नास्ति पूर्वोत्सिक्तं ततस्तस्यासति उत्सिञ्चनिकया उत्सिच्य यतनया गृह्णन्ति, अथ नास्त्युत्सिञ्चनिका ततो यत्पार्श्वं प्राणिभिरसंसक्तं प्रेक्षन्ते तेनोद्धर्त्य गृहभाजनं प्रातिहारिकं याचित्वा तत्र द्रवं गृहीत्वा भाजनानि कल्ययन्ति।

आह च-

गिहिसंति भाणपेहिय, कयकप्पा सेसगं दवं घेत्तुं।
धोअणपियणुस्सट्ठा, अह थोवं गिण्हए अन्नं ॥ ८६२ ॥

गृहिसक्तं भाजनं प्रत्युपेक्ष्य यदि निर्जीवं भवति तदा तत्र द्रवं गृहीत्वा कृतकल्पाः स्वकीयभाजनानि कल्पयित्वा शेषं द्रवमन्येषां भाजनानां धावनार्थं भुक्तोत्तरकालं च पानार्थमुपलक्षणत्वात् संज्ञाभूमिगमनार्थं गृहीत्वा समायान्ति। अथ तत्र स्तोकमेव द्रवं लब्धं ततो यावता पर्याप्तं भवति तावदन्यदपरेषु गृहेषु गृह्णन्ति-

जा भुंजइ ता वेला, फिट्टइ तो खमगथेरओ आणे।
तरुणो व नायसीलो, नीयल्लगभावियादीसुं ॥ ८६३ ॥

'जा भुञ्जइ' त्ति प्राकृतत्वादेकवचनेन निर्देशः, यावद्वा साधवो भुञ्जते तावत्पानकस्य वेला फिट्टति—व्यतिक्रामति, ततः क्षपकः—उपवासिकः स्थविरो वा—वृद्धः अशङ्कनीय इति कल्पकरणार्थमेकाक्यपि ' आणि ' त्ति पानकमानयेत्। तरुणो वा यो ज्ञातशीलो दृढधर्मा निर्विकारश्च स एकाक्यपि निजकानां मातृपितृपक्षीयस्वजनानां कुलेषु भावितकुलेषु वा आदिशब्दाद्—अन्येष्वपि तथाविधकुलेषु प्रविश्य पानकं गृह्णीयात्।

अत्रैव कल्पकरणद्वारे विध्यन्तरं विभणिषुर्द्वारमाह-

विइयपद मोय गुरुग, ठाणनिसीयणतुयट्टधरणं वा।
गोवरपुंछणठवणा, धोवण छट्ठे य दव्वाइं ॥ ८६४ ॥

द्वितीयपदेऽपवादाख्ये साधवो व्रजिकां गता भवेयुः, तत्र च पानकं न लब्धमिति कृत्वा यदि मोकेन-प्रस्रवणेनाचमन्ति ततश्चत्वारो गुरवः, शिष्यः प्राह-यदि मोकेनाचमने दोषास्ततो रात्रौ स्थानं निषीदनं त्वग्वर्तनं चाकुर्वन् संसृष्टपात्रकस्य धारणं करोतु। सूरिराह-एवं कुर्वतः संयमात्मविराधना भवति। ततो गोवरेण-गोमयेन प्राक् तस्य प्रोञ्छनम्-घर्षणं कृत्वा स्थापनं कर्तव्यम्, ततो द्वितीयदिवसे यदि द्रवं ग्रहीतव्यं तदा धावनं कल्पत्रयप्रदानकं कर्तव्यम्। यदि न कल्पत्रयं दातव्यम्, ततः, 'छट्ठे अ दव्वाइं' ति शिष्यः प्राह-यद्यधौते पात्रे भक्तं गृह्यते ततो नु तत्र यान्यवयवद्रव्याणि पर्युषितानि सन्ति तैः षष्ठव्रतमतिचरितं स्यादिति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः।

विस्तरार्थं तु विभणिषुराह—

वइगा अद्धाणे वा, दवअसईए विलंबि सूरे वा।
जइ मोएणं धोवइ, सेहत्तह भिक्खगंधाई ॥ ८६५ ॥

व्रजिका-गोकुलं तस्यां कारणगतानामध्वनि वा वहमानानां द्रवस्य-पानकस्य असति-अप्राप्तौ विलम्बिनि वा अस्तंगतप्राये सूर्ये यदि पानकं नास्ति ततः कथं कल्पः करणीयः, अत्र नोदकः स्वच्छन्दमत्या प्रतिवचनमाह-मोकेन तदानीं पात्रमाचमनीयम्। आचार्य आह-एवं ते स्वच्छन्दं प्ररूपणां कुर्वाणो यथाछन्दत्वाच्चत्वारो गुरवः प्रायश्चित्तम्। मोकेन पात्रकमाचामति तस्यापि चतुर्गुरवः। कुतः ? इत्याह-यदि मोकेन धावति तदा शैक्षाणामन्यथाभावोऽपि विपरिणमनं भवेत्, विपरिणताश्च प्रतिगमनादीनि कुर्युः, द्वितीये च दिवसे भिक्षार्थं पात्रके प्रसारिते सति कायिक्याः कथितो गन्धः समायाति, ततो लोकः प्रवचनावर्णवादं कुर्याद्, अहो अमीभिरस्थिकापालिका अपि निर्जिता यदेवं पात्रकं प्रस्रवणेनाचामन्तीति। आदिग्रहणेन-श्रावकाणां विपरिणामो भवतीत्यादिपरिग्रहः।

अथ भूयः परः प्राह-

भणइ जइ एस दोसो,तोˇ ठिय निसीयण तुअट्ट धरणं वा।
भष्णइ तं तु न जुज्जइ, दु दोस पादे अ हाणी य ॥८६६॥

भणति परो यद्येष शैक्षः विपरिणामादिक उपजायते ततो मा मोकेनाचामतु परं ग्रहीतेनैव पात्रकेण सकलामपि रात्रिं ' ठाणि ' त्ति ऊर्ध्वस्थितः तिष्ठतु, तथा यदि न शक्नोति स्थातुं ततः ' निसीय ' त्ति निषण्णः पात्रकं धारयतु, तथापि यदि न शक्नोति ततस्त्वग्वर्तनं कुर्वाणस्तिर्यङ्निषण्णः सन् धारयतु। सूरिराह—भण्यते अत्रोत्तरम्—हे नोदक ! तत्तु न युज्यते यद्भवता प्रोक्तम्, कुतः ?, इत्याह—' दु दोसो ' त्ति द्वौ दोषावत्र भवतः, तद्यथा—आत्मविराधना, संयमविराधना च। तत्रोर्ध्वस्थितस्योपविष्टस्य वा निद्रया प्रेरितस्य भूमौ निपततः शिरोहस्तपादाद्युपघाते आत्मविराधना, परिणतः सन् षण्णां कायानामन्यत्र संविराधयेदिति संयमविराधना। 'पादे अ हाणि'त्ति तदा पात्रं पतितं सद्भज्येत ततो या पात्रकेण विना परिहाणिस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

यत एते दोषा अतोऽयं विधिः—

निद्धमनिद्धं णिद्धं, गोव्वरपुट्ठं ठविंति पेहित्ता।
जइ य दवं घेत्तव्वं, विइयदिणे धोइउं गिण्हे ॥ ८६७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेपकृतं स्निग्धं वा भवेत्, अस्निग्धं वा भवेत्। यदि स्निग्धं ततो गोवरेण—गोमयेन-'पुट्ठं' प्रोञ्छितं सुघृष्टं पात्रकं कृत्वा निरवयवीभूतं सत्प्रत्युपेक्ष्य रात्रौ स्थापयन्ति न धारयन्तीति भावः। अथास्निग्धं ततः संलेखनकल्पेन सुसंलीढं कृत्वा स्थाप्यते; न पुनः करीषेण मृष्यते, यद्दिवसे द्रवं ग्रहीतव्यं ततो धावित्वा त्रिः कल्पयितव्याः। अथ भक्तं ततोऽधौतेऽपि गृह्यते न कश्चिद्दोषः।

अत्र परः प्राह—

जइ ओदणो अधोए,घिप्पइ तो अवयवेहि निसिभत्तं।
तिन्नि य न होंति कप्पा, ता धोवसु जाव निग्गंधं ॥८९८॥
तम्हा गुव्वरपुट्ठं, संलीढं चेव धोविउं हिंडे।
इहरा मे निसिभत्तं, ओअविअं चेव गुरुमादी ॥८९९॥

यद्यधौते पात्रे द्वितीये अहनि ओदनो गृह्यते ततो नु तत्र सूक्ष्मा अवयवाः सन्ति येषां गन्धस्तृतीयेऽप्यहनि लक्ष्यते, तैश्चावयवैः तत्रास्थितैः सद्भिर्यदपरं भक्तं तत्र गृह्यते तद्भुञ्जानानां निशिभक्तं भवति, तच्च युष्माभिर्लेपकृतस्य त्रयः कल्पाः शुद्धिकरणतया निर्दिष्टास्तदप्यस्माकं मनसि न रुचिपथमियर्त्ति, कल्पत्रये दत्तेऽपि तदीयगन्धस्याघ्रायमाणत्वात्, ततोऽहमित्थं प्ररूपयामीति 'धोवसु जाव निग्गंधं' ति तावत् तत्प्रक्षालय यावन्निर्गन्धीभवति, न च बहुभिरपि कल्पैर्निर्गन्धी भवति तस्माद्यल्लेपं कृतं स्निग्धं तद् गोवरेण—छगणेन प्रोञ्छितं कृत्वा अस्निग्धं तु सुसंलीढं कृत्वा द्वितीये दिवसे धावित्वा—कल्पयित्वा भिक्षां हिण्डेत इतरथा-कल्पकरणमन्तरेण (मे) भवतां निशिभक्तमापद्यते, अकृतकल्पे च भाजने गृहीतमपरमपि भक्तम् 'उअविअं' उच्छिष्टं भवति। तच्च गुर्वादीनामाचार्योपाध्यायप्रभृतीनां दीयमानं महतीमाशातनामुपजनयति।

इत्थं परेणोक्ते सति सूरिराह—

भन्नइ न अन्नगंधा, हणंति छट्ठं जहेव उग्गारा।
तिन्नि य कप्पा नियमा, जइ वि य गंधो जहा लोए ॥९००॥

भण्यते अत्र प्रतिवचनम्-अमुष्य भक्तस्य गन्धाः षष्ठं-रात्रिविरमणव्रतं न घ्नन्ति, यथैवोद्गारा रात्रौ समागच्छन्तोऽपि न षष्ठव्रतमुपघ्नन्ति; तथा पात्रके यद्यपि गन्धः समागच्छति तथापि नियमात् त्रय एव कल्पा दातव्या नाधिका न वा हीनाः; तथा भगवद्भिरुक्तत्वात्, यथा—लोकेऽपि प्रतिनियता भाजनशोधनाय मृत्तिकालेपाः भवन्ति।

तथाहि—

वारिखलाणं बारस, मट्टीया छच्च वाणपत्थाणं।
मा एत्तिए भणाही,पडिमा भणिया पवयणम्मि ॥९०१॥

वारिखलाः-प्रव्राजकास्तेषां द्वादश मृत्तिकालेपा भाजनशोधका भवन्ति, षट् च मृत्तिकालेपा वानप्रस्थानां तापसानां शौचसाधकाः संजायन्ते, एवं लोकेऽपि स्वसमयप्रतिपादितानि प्रतिनियतान्येव शौचानि दृष्टानि। अतो हे नोदक! एतावतः कल्पान् मा भण—मा ब्रूहि, तावद् दातव्यं यावन्निर्गन्धीभवतीत्यप्रतिनियतानित्यर्थः। तथा-प्रतिमेति—मोकप्रतिमा साऽपि प्रवचने भणिता; तस्यां हि मोकमपि पीत्वा शुचिरेव भवति।

एतदेव भावयति—

पिह सोयाइं लोए, अम्हं पि अलेवगं अगंधं च।
मोएण वि आयमणं, दिट्ठं तह मोयपडिमाए ॥९०२॥

यथा लोके पृथक्—विभिन्नानि शौचानि दृष्टानि तथाऽस्माकमपि त्रिभिः कल्पैः प्रदत्तैरलेपकम् अगन्धं च पात्रकं भवतीत्येवं शोधविधिर्भगवद्भिर्दृष्ट इति। तथा मोकेनाप्याचमनं मोकप्रतिमायां दृष्टमेव।

परः प्राऽऽह।

जइ निल्लेवमगंधं, पडिकुट्ठं तं कहं नु जिणकप्पे।
तेसिं चेव अवयवा,रुक्खासि जिणा न कुव्वंति ॥९०३॥

यदि निर्लेपमगन्धं च शौचं दृष्टं ततः कथं नुरिति वितर्के, तन्निर्लेपनं जिनकल्पे प्रतिपन्ने सति प्रतिकुष्टम्—प्रतिषिद्धम्। 'तेसिं चेव अवयव' त्ति अनिर्लेपिते तेषां-जिनकल्पिकानां सन्त्येव सूक्ष्माः पुरीषादवयवाः यैरमीषां शुचित्वं न भवति। सूरिराह—रूक्षाशिनो जिनाः-जिनकल्पिका भगवन्तस्ततः अभिन्नवर्चस्कतया न सन्ति सूक्ष्माश्चावयवाः अमीषाम्, तदभावाच्च दूरापास्तप्रसरस्तेषां पुरीषगन्ध इति हेतोर्न लेपनम्॥ आह—यद्यभिन्नवर्चस्कतया जिनकल्पिकाः शौचं न कुर्वन्ति, तर्हि ये स्थविरकल्पिका-अप्यभिन्नोच्चारास्तेषामपि संज्ञामुत्सृज्य किं कारणमवश्यं शौचकरणमुक्तम्?, उच्यते—

थंडिल्लाण अनियमा, अभाविए इड्डिजुयलमुड्डयरे।
सज्झाए पडणीए, न ते जिणे जं अणुप्पेहे ॥९०४॥

स्थविरकल्पिका प्रथमस्थण्डिला भावेद्वितीयतृतीयचतुर्थान्यपि स्थण्डिलानि गच्छन्ति, तत्र च यदि न निर्लेपयन्ति तत आपाततः संलोकसमुत्था अवर्णवादादयो दोषा भवेयुः, इति स्थण्डिलानामनियमादवश्यतया शौचं कुर्वन्ति, अभावितो नाम—अपरिणतजिनवचनः, तस्य निर्लेपनाभावे मा भूद्विपरिणाम इति 'इड्डि' त्ति ऋद्धिमान् राजादीनामन्यतमः प्रव्रजितः, स प्रायेण शौचकरणभावित इति तदर्थम्, तथा—युगलं वालवृद्धद्वयं तत्प्रायेण भिन्नवर्चस्कं भवति, उड्डयरो नाम-यः समुद्दिशन् संज्ञां वा व्युत्सृजन् चपलतया हस्तादीन्यपि लेपयति, 'सज्झाए' त्ति अनिर्लेपिते स्थविरकल्पिकानां स्वाध्यायो न वर्त्तते वाचा कर्तुम् 'पडिणीए' त्ति प्रथमस्थण्डिलाभावे द्वितीयस्थण्डिलगतस्य शौचकरणमदृष्ट्वा प्रत्यनीकः उड्डाहं कुर्यात्, 'न ते जिण' त्ति जिनकल्पिके नैतेषां स्थण्डिलानियमादयो दोषा भवन्ति 'जं अणुप्पेहे' त्ति यच्चासावसौ स्वाध्यायं मनसैवानुप्रेक्षितेन वा परिवर्त्तयति ततो न निर्लेपयति, स्थविरकल्पिकानां तु मनसा स्वाध्यायकरणे प्रभूतेनापि कल्पेन न सूत्रार्थौ परिजितौ भवत इति।

एमेव अप्पलेवं, सामासेउं जिणा न धोवंति।
जइ वि न निरावयवं, अहाविईए उ सुज्झंति ॥९०५॥

एवमेवाल्पलेपमल्पशब्दस्य नञर्थवाचकत्वादलेपकृतं भाजनं यद्यपि न निरवयवं संजायते तथापि यथा स्वकल्पानुपालनादेव शुध्यति, स्थितिरियं तेषां यदेवमेव शुचयो भवन्ति इति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदप्युक्तं भवता प्राक् अकृतकल्पभाजने गृहीतं भक्तमुच्छिष्टं भवति, तदपि 'परिफालिग' त्ति दर्शयति-

मन्नंतो संसट्ठं, जं इच्छसि धोवणं दिणे बिइए।
इत्थ वि सुणसु अपंडिया!, जहा तयं निच्छए तुच्छं ॥६०६॥

संसृष्टं मन्यमानो यत् द्वितीये दिने धावनम्-कल्पकरणम् इच्छसि,अत्राप्यर्थे शृणु-निशमय हे अपण्डित ! यथा-तकत् त्वदीयं वचनं निश्चये परमार्थतः तुच्छम्-असारम्।

तदेवाह-

सव्वं पि य संसट्ठं, नऽत्थि य संसट्ठितेल्लयं किंचि।
सव्वं पि य लेवकडं, पाणगजाए कहं सोही ॥ ६०७ ॥

यदि गन्धमात्रेणैव त्वदुक्तया नीत्या भक्तमुच्छिष्टं भवति ततः सर्वमप्यन्नं जगति संसृष्टम्-उच्छिष्टमेव विद्यते, 'नत्थि' नास्ति किञ्चिदप्यसंसृष्टम्, एवं सर्वमपि भक्तं पानकं च लेपकृतम्-उच्छिष्टं भवति; अतः पानकजातेन कथं शुद्धिर्भविष्यति।

एतदेव भावयति-

खीरं वच्छुच्छिट्ठं, उदगं पि य मच्छकच्छमुच्छिट्ठं।
चंदो राहुच्छिट्ठो, पुप्फाणि य महुयरिगणेहिं।
रंधंतीओ वोट्टिं ति, वंजणे खलगुले य तक्कारी।
संसट्ठमुहा य दव्वं, पियंति जइणो कहं सुज्झे ॥६०८॥

क्षीरं वत्सोच्छिष्टं वत्सेन स्वमातुः स्तन्यमापिबता संसृष्टम्। तथा-उदकमपि मत्स्यकच्छपोच्छिष्टम्, चन्द्रो राहूच्छिष्टः, पुष्पाणि मधुकरगणैरुच्छिष्टानि, तथा-अविरतिका रन्धयन्त्यो व्यञ्जनानि-शालनकानि 'वोट्टयं' ति किं निष्पन्नानि न वेति परिज्ञानार्थम्, खलगुलावपि तच्छाककारिणः-तस्य खलादेः, कारिणश्चाक्रिकादयो 'वोट्टयन्ति' संसृष्टमुखाश्चोच्छिष्टेन मुखेन यतयो यद् द्रवमापिबन्ति तदपि संसृष्टं तेन संसृष्टेन यस्य भाजनस्य कल्पः क्रियते तत्कथं शुद्ध्यतीति। यत एवमतो न गन्धमात्रेणैव भक्तमुच्छिष्टं भवतीति स्थितम्।

अथ कल्पकरणे वितथसामाचारी-
निष्पन्नं प्रायश्चित्तमाह-

एक्किक्कम्मि उ ठाणे, वितह करिंतस्स मासियं लहुअं।
तिगमासिय तिगपणगा, य होंति कप्पं कुणइ जत्थ ॥६०९॥

एकस्मिन् स्थाने वितथां सामाचारीं कुर्वाणस्य मासिकं लघुकम्। तद्यथा-असंलीढे पात्रके प्रथमं कल्पं करोति, संलिख्य वा प्रथमं कल्पं कृत्वा तं नापिबतीति द्वितीयं कल्पं, पात्रके अप्रक्षिप्य बहिर्निर्गच्छति, एतेषु त्रिष्वपि स्थानेषु मासलघु। तथा-त्रीणि मासिकानि पञ्चकानि च भवन्ति यत्र कल्पं करोति, तद्यथा-न प्रत्युपेक्षिते न प्रमार्जयति १, नाप्रत्युपेक्षितं प्रमार्जयति २, प्रत्युपेक्षिते न प्रमार्जयति ३, एतेषु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं तपःकालविशेषितं मासलघु। चतुर्थभङ्गे प्रत्युपेक्षितं प्रमार्जयति च नवरं दुष्प्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितं करोति, १ दुष्प्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं करोति २ दुष्प्रमार्जितं सुप्रत्युपेक्षितं करोति ३ एतेषु त्रिषु तपःकालविशेषितानि पञ्चरात्रिन्दिवानि। सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितमिति चतुर्थो भङ्गः शुद्धः। इति गतं कल्पकरणद्वारम्। बृ० १ उ० २ प्रक०। ओघ०। ध०। प्रव०। नाभेरुपरिजले,कल्प०३ अधि०६ क्षण। नाभिरेव तावद् प्रविशति स लेपः। बृ० ४ उ०। नि०चू०। नालन्दावास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, 'तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेवे नामं गाहावई होत्था" तस्यां च लेपो नाम गृहपतिः-कुटुम्बिक आसीत्। (सूत्र०) "से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था" स लेपाख्यो गृहपतिः श्रमणान्-साधूनुपास्ते-प्रत्यहं सेवत इति श्रमणोपासकः। सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। ('पेढालपुत्त' शब्दे पञ्चमभागे १०८१ पृष्ठे वक्तव्यता गता) सर्वत्र प्रत्याख्याने 'अन्नत्थणाभोगेणं' इत्याद्याकारोच्चारणं प्रोक्तमस्ति, परं 'पाणस्स लेवेण वा' इत्यादिषु कथं तन्न ? इति प्रश्नः। अत्रोत्तरम्-'पाणस्स लेवेण वा' इत्यत्र 'अन्नत्थणाभोगेणं' इत्याद्याकाराद्युच्चारणे हेतुः शास्त्रे दृष्टो न स्मरति, षडावश्यकसूत्रमध्येऽपि तद्रहित एव पाठो दृश्यत-इति ॥५७॥ सेन० २ उल्ला०। विहृतपात्रकाणि पुनर्लेपितानि चतुर्मासके विहृतानि कल्पन्ते न वा ? इति प्रश्नः,अत्रोत्तरम्-पूर्वविहृतपात्रकाणि पुनर्लेपितानि चतुर्मासके विहृतानि कल्पन्त इति ॥७५॥ सेन० २ उल्ला०।

लेवकप्पिय-लेपकल्पिक-पुं०। लेपसामाचार्यभिज्ञे, बृ०।

साम्प्रतं लेपकल्पिकमाह-

पढियसुयगुणियमगुणिय-धारमधारउवउत्तो परिहरति।
आलोयायरियादी, आयरिओ विसोहिकरगो से ॥५३७॥

यस्माद्-ज्ञानतः प्रायश्चित्तं तस्मादेनौघनिर्युक्तिसूत्रमियं वा कल्पपीठिका पठिता स्यात्, श्रुता वा गुणिता-अत्यन्तस्वभ्यस्तीकृता स्याद्, अगुणिता वा स्याद्, धारिता वा स्याद् अधारिता वा; तथापि चेदुपयुक्तः सन् सूत्रोक्तप्रकारेण लेपं परिहरति-परिभोगयति; स लेपकल्पिकः, तेन च लेपसूत्रेण पठितेनापठितेन वा गुणितेनागुणितेन वा, धारितेनाधारितेन वा उपयुक्ते वा यां विराधनामापद्यते तामाचार्यादेः पुरतः आलोचयन् प्रथमत आचार्यस्य, तदभावे उपाध्यायादेरपि, आलोचिते च (से) तस्य प्रायश्चित्तप्रदानेन विशोधिकारक आचार्यः। उक्तो लेपकल्पिकः। बृ० १ उ० १ प्रक०।

लेवण-लेपन-न०। कुड्यानां कर्दमेन गोमयेन च लेपप्रदाने, बृ० १ उ० २ प्रक०। आचा०। नि० चू०। प्रलेपे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

लेवमेरा-लेपमर्यादा-स्त्री०। नियमितलेपविधाने, "लेव (मेरा) मायाए संजए" (१ गाथा) दश० ५ अ० २ उ०।

लेववं-लेपवत्-त्रि०। सलेपे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

लेवाड-लेपकृत-न०। स्निग्धावयवमिश्रे, पञ्चा० ५ विव०। ('लेव' शब्दे लेपकृतान्युक्तानि)

लेवालेव-लेपालेप-न०। भोजनभाजनस्य विकृत्या तीमनादिना वा आचाम्लप्रत्याख्यातुरकल्पनीयेन लिप्तता-याम्, ध० २ अधि०। "लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं" पञ्चा० ५ विव०।

लेवि-लातुम्-अव्य०। आदाने, "तुम एवमणाणहमणहिं च" ॥८।४।४४१॥ अनेन तुमः स्थाने वैकल्पिकः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'पविशु' इत्यादेशः। ग्रहीतुमित्यर्थे, "लेवि महव्वय सिवु लहहि" प्रा० ४ पाद।

लेविणु-लातुम्-अव्य०। आदाने, "लेविणुतवु पालेवि" प्रा० ४ पाद।

लेस-श्लेष्म-पुं०। श्लेष्मणि, विशे०।

लेश-पुं०।संक्षेपे,पञ्चा० १८ विव०। पं०व०।कलाद्वयकाले, तं०। स्तोके,"थेव लेसो लवो कला मत्ता"पाइ०ना०१६४गाथा। लिखिते आश्वस्ते, निद्रायाम्, निःशब्दे च। दे०ना०७वर्ग२८गाथा।

श्लेष-पुं०। संश्लेषे, रा०। आचा०। मात्रायाम्, पञ्चा० ७ विव०। त्रि०। श्लेषद्रव्ये, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

लेसणता-स्त्री०। श्लेष्मण-न०। ऊर्वादीनां जानुप्रभृतिभिः संबन्धे, प्रज्ञा० १६ पद।

लेसणा-श्लेषणा-स्त्री०। श्लेषद्रव्येण द्रव्ययोः सम्बन्धने, भ० ८ श० ६ उ०। सूत्र०।

लेशना-स्त्री०। अङ्गुल्याद्यवयवसंश्लेषरूपायाः स्तम्भने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

लेसणी-श्लेषणी-स्त्री०। शिलष्टताहेतौ विद्याभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

लेसमेत्त-लेश्यमात्र-त्रि०। अल्पमात्रे, द्रव्या० १ अध्या०।

लेसा (स्सा) लेश्या-स्त्री०। लिश्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या। यदाह-श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधाव्यः। स्था० १ ठा०। ज्ञा०। लिश्यते-शिलष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या। कर्म० ४ कर्म०। कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मनः परिणामविशेषे," कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्त्तते" ॥१॥ प्रज्ञा० १७ पद। स्था०। आ० म०। पा०। स० । अध्यवसाये, आचा०१श्रु०६अ०५उ०। अन्तःकरणवृत्तौ, आचा०१श्रु०८अ०५उ०। सूत्र०। अथ कानि कृष्णादीनि द्रव्याणि?, उच्यते-इह योगे सति लेश्या भवति, योगाभावे च न भवति ततो योगेन सहान्वयव्यतिरेकदर्शनात् योगनिमित्ता लेश्येति निश्चीयते, सर्वत्रापि तन्निमित्तत्वनिश्चयस्यान्वयव्यतिरेकदर्शनमूलत्वात्, योगनिमित्ततायामपि विकल्पद्वयमवतरति-किं योगान्तरगतद्रव्यरूपा योगनिमित्तकर्म्मद्रव्यरूपा वा, ?, तत्र न तावद्योगनिमित्तकर्म्मद्रव्यरूपा, विकल्पद्वयानतिक्रमात्, तथाहि-योगनिमित्तकर्म्मद्रव्यरूपा सती घातिकर्म्मद्रव्यरूपा अघातिकर्म्मद्रव्यरूपा वा?, न तावद् घातिकर्म्मद्रव्यरूपा, तेषामभावेऽपि सयोगिकेवलिनि लेश्यायाः सद्भावात्, नापि अघातिकर्म्मरूपा, तत्सद्भावेऽपि अयोगिकेवलिनि लेश्याया अभावात्, ततः पारिशेष्यात् योगान्तर्गतद्रव्यरूपा प्रत्येया। तानि च योगान्तर्गतानि द्रव्याणि यावत्कषायास्तावत्तेषामप्युदयोपबृंहकाणि भवन्ति, दृष्टं च योगान्तरगतानां द्रव्याणां कषायोदयोपबृंहणसामर्थ्यम्, यथा पित्तद्रव्यस्य। तथाहि-पित्तप्रकोपविशेषाद्उपलक्ष्यते महान् प्रवर्द्धमानः कोपः, अन्यच्च-बाह्यान्यपि द्रव्याणि कर्मणामुदयक्षयोपशमादिहेतव उपलभ्यन्ते, यथा—ब्राह्मयोषधिर्ज्ञानावरणक्षयोपसमस्य, सुरापानं ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा युक्तायुक्तविवेकविकलतोपजायते, दधिभोजनं निद्रारूपदर्शनावरणोदयस्य, तत्किं योगद्रव्याणि न भवन्ति?, तेन यः स्थितिपाकविशेषो लेश्यावशादुपगीयते शास्त्रान्तरे स सम्यगुपपन्नः, यतः स्थितिपाको नामानुभाग उच्यते, तस्य निमित्तं कषायोदयान्तर्गतकृष्णादिलेश्यापरिणामाः, ते च परमार्थतः कषायस्वरूपा एव, तदन्तर्गतत्वात्; केवलं योगान्तर्गतद्रव्यसहकारिकारणभेदवैचित्र्याभ्यां ते कृष्णादिभेदैर्भिन्नाः तारतम्यभेदेन विचित्राश्चोपजायन्ते, तेन यद् भगवता कर्मप्रकृतिकृता शिवशर्माचार्येण शतकाख्ये ग्रन्थेऽभिहितम्—" ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ " इति तदपि समीचीनमेव, कृष्णादिलेश्यापरिणामानामपि कषायोदयान्तर्गतानां कषायरूपत्वात्, तेन यदुच्यते कैश्चिद्—योगपरिणामत्वे लेश्यानाम् " जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ " इति वचनात् प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुत्वमेव स्यान्न कर्म्मस्थितिहेतुत्वमिति, तदपि न समीचीनम्, यथोक्तभावार्थापरिज्ञानात्। अपि च—न लेश्याः स्थितिहेतवः; किन्तु—कषायाः, लेश्यास्तु कषायोदयान्तर्गता अनुभागहेतवः, अत एव च—" स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण " इत्यत्रानुभागप्रतिपत्त्यर्थं पाकग्रहणम्। एतच्च सुनिश्चितं कर्म्मप्रकृतिटीकादिषु, ततः सिद्धान्तपरिज्ञानमपि न सम्यक् तेषामस्ति। यदप्युक्तम्—' कर्म्मनिष्यन्दो लेश्या, निष्यन्दरूपत्वे हि यावत् कषायोदयः तावन्निष्यन्दस्यापि सद्भावात्, कर्म्मस्थितिहेतुत्वमपि युज्यते एवेत्यादि, तदप्यश्लीलम्, लेश्यानामनुभागबन्धहेतुतया स्थितिबन्धहेतुत्वायोगात्। अन्यच्च—कर्म्मनिष्यन्दः किं कर्म्मकल्क, उत कर्म्मसारः?, न तावत्कर्म्मकल्कः तस्यासारतयोत्कृष्टानुभागबन्धहेतुत्वानुपपत्तिप्रसङ्गः, कल्को हि असारो भवति. असारश्च कथमुत्कृष्टानुभागबन्धहेतुः?, अथ चोत्कृष्टानुभागबन्धहेतवोऽपि लेश्या भवन्ति, अथ कर्म्मसार इति पक्षस्तर्हि कस्य कर्म्मणः सार इति वाच्यम्?, यथायोगमष्टानामपीति चेत् अष्टानामपि कर्म्मणां शास्त्रे विपाका वर्ण्यन्ते, न च कस्यापि कर्म्मणो लेश्यारूपो विपाक उपदर्शितः, ततः कथं कर्म्मसारपक्षमङ्गीकुर्म्महे?, तस्मात् पूर्वोक्त एव पक्षः श्रेयानित्यङ्गीकर्त्तव्यः। तस्य हरिभद्रसूरिप्रभृतिभिरपि तत्र तत्र प्रदेशे अङ्गीकृतत्वादिति। प्रज्ञा० १७ पद।

(१) अथ लेश्यानिक्षेपमाह–

आगम नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो।
लेसाणं निक्खेवो,चउक्कओ दुविह होइ नायव्वो॥५३४॥
जाणगभवियसरीरा, तव्वइरित्ता य सा पुणो दुविहा।
कम्मा नोकम्मे या,नोकम्मे हुंति दुविहा उ॥ ५३५॥
जीवाणमजीवाण य, दुविहा जीवाण होइ नायव्वा।
भवमभवसिद्धिआणं,दुविहाण वि होइ सत्तविहा॥५३६॥
अजीवकम्मनो दव्व-लेसा सा दसविहा उ नायव्वा।
चंदाण य सूराण य, गहगणनक्खत्ततारणं॥ ५३७॥
आभरणच्छायणा-दंसगाण मणिकागिणीण जा लेसा।
अजीवदव्वलेसा, नायव्वा दसविहा एसा॥ ५३८॥
जा दव्वकम्मलेसा, सा नियमा छव्विहा उ नायव्वा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्का य ॥ ५३९ ॥
दुविहा उ भावलेसा, विसुद्धलेसा तहेव अविसुद्धा ।
दुविहा विशुद्धलेसा, उवसमखइआ कसायाणं ॥५४०॥
अविसुद्धभावलेसा, सा दुविहा नियमसो उ नायव्वा ।
पिज्जम्मि अ दोसम्मि अ, अहिगारो कम्मलेसाए ।५४१।
नो कम्मदव्वलेसा, पओगसा वीससा उ नायव्वा ।
भावे उदओ भणिओ, छण्हं लेसाण जीवेसु ॥५४२॥
अज्झयणे निक्खेवो,चउक्कओ दुविह होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, नोआगमतो य यं तिविहं ।५६३।
जाणगभवियसरीरं, तव्वइरित्तं च पोत्थगाईसुं ।
णज्झप्पस्साणयणं, नायव्वं भावमज्झयणं ॥५४४॥

'लेसाण'मित्यादिगाथा एकादश, तत्र 'लेसाणं' ति सूत्रत्वाल्लेश्यायाम्,कोऽर्थः? लेश्याशब्दस्य निक्षेपश्चतुर्विधः-नामादि, 'दुविहो' इत्यादि प्राग्वत्, यावत् ' सा पुणो दुविह ' त्ति, सा-व्यतिरिक्तलेश्या पुनर्द्विविधा , द्वैविध्यमेवाह—कर्मणि नोकर्मणि च , तत्र कर्मण्यल्पवक्तव्यैवेति, तामुपेक्ष्य नोकर्मविषयामाह-' नोकर्मणि-कर्माभावरूपे भवति द्विविधा, तुः-अवधारणार्थ इति द्विधैव । कथमित्याह-जीवानाम्-उपयोगलक्षणानाम्, अजीवानां च—तद्विपरीतानाम्, उभयत्र लेश्येति प्रक्रमः, अत्र च नोकर्मत्वमुभयोरपि कर्माभावरूपत्वात् सम्बन्धिभेदाच्च द्विभेदत्वम् । तत्रापि द्विविधा जीवानां भवति-ज्ञातव्या । ' भवभवसिद्धियाणं ' ति मकारस्यालाक्षणिकत्वात्, सिद्धिशब्दस्य च प्रत्येकमभिसम्बन्धाद्, भविष्यतीति भवा-भाविनीत्यर्थः, तादृशी सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिका—भव्यास्तेषाम्, अभवसिद्धिकानां-तद्विपरीतानां द्विविधानामप्युक्तभेदेन प्रक्रमाज्जीवानां भवति सप्तविधा—सप्तप्रकारा इहापि लेश्येति प्रक्रमः । अत्र च जयसिंहसूरिः कृष्णादयः षट् सप्तमी संयोगजा,इयं च शरीरच्छायात्मिका परिगृह्यते, अन्ये त्वौदारिकौदारिकमिश्रमित्यादिभेदतः सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य तच्छायामेव कृष्णादिवर्णरूपां नो कर्मणि सप्तविधां जीवद्रव्यलेश्यां मन्यन्ते, तथा-' अजीवकम्मणो दव्वलेस ' त्ति अजीवानां ' कम्मणो ' त्ति आर्षत्वान्नोकर्मणि द्रव्यलेश्या अजीवनोकर्मद्रव्यलेश्या , तुशब्दस्येह सम्बन्धात्सा पुनर्दशविधा ज्ञातव्या । चन्द्राणां सूर्याणां च ग्रहामङ्गलादयस्तद्गणश्च नक्षत्राणि च-कृत्तिकादीनि ताराश्च-प्रकीर्णज्योतींषि ग्रहगणनक्षत्रतारास्तेषाम्, आभरणानि च-एकावलिप्रभृतीनि आच्छादनानि च-सुवर्णचरितादीनि आदर्श एवादर्शका दर्पणास्ते चाभरणाच्छादनादर्शकास्तेषाम् , तथा मणिश्च-मरकतादिः काकिणिः-चक्रवर्तिरत्नं मणिकाकिण्यौ तयोर्यो लेशयति-श्लेषयति वात्मनि जननयनानीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया अजीवद्रव्यलेश्या प्रक्रमान्नोकर्मणि ज्ञातव्या, दशविधैषा । अत्र च चन्द्रादिशब्दैस्तद्विमानानि " तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश " इति न्यायेनोच्यन्ते, तेषां च पृथ्वीकायरूपत्वेऽपि स्वकायपरकायशस्त्रोपनिपातसम्भवात् , तत्प्रदेशानां केषाञ्चिदचेतनत्वेनाजीवद्रव्यलेश्यात्वं द्रष्टव्यम् , उपलक्षणं चात्र दशविधत्वमेवंविधद्रव्याणां रजतरूप्यनाम्रादीनां बहुतरत्वेन तच्छायाया अपि बहुतरभेदसम्भवात् ! इत्थं नोकर्मद्रव्यलेश्यामभिधाय कर्मद्रव्यलेश्यामाह-या कर्मद्रव्यलेश्या अग्रेतनतुशब्दसम्बन्धात्सा पुनर्नियमात्-अवश्यम्भावात् षड्विधा ज्ञातव्या—अवबोद्धव्या, कथमित्याह—कृष्णा नीला ' काउ' त्ति कापोता 'तेउ'त्ति, तैजसी पद्मा च शुक्ला चेति,इह च कर्मद्रव्यलेश्येति सामान्याविधानेऽपि शरीरनामकर्मद्रव्याण्येव कर्मद्रव्यलेश्या , यदुक्तं प्रज्ञापनावृत्तिकृता-" योगपरिणामो लेश्या, कथं पुनर्योगपरिणामो लेश्या ?, यस्मात्सयोगिकेवली शुक्ललेश्यापरिणामेन विहृत्यान्तर्मुहूर्त्ते शेषे योगनिरोधं करोति, ततोऽयोगित्वमलेश्यत्वं च प्राप्नोति ; अतोऽवगम्यते-योगपरिणामो लेश्येति । स पुनर्योगः शरीरनामकर्मपरिणतिविशेषः, यस्मादुक्तम्-" कर्म हि कार्मणस्य कार्यमन्येषां च शरीराणा " मिति, तस्मादौदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो यः स वाग्योगः , तथैवौदारिकादिशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो यः स मनोयोग इति । ततो यथैव कायादिकरणयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिर्योग उच्यते, तथैव "लेश्याऽपि" इति । गुरवस्तु व्याचक्षते-कर्मनिस्यन्दो-लेश्या, यतः कर्मस्थितिहेतवो लेश्याः । यथोक्तम्-" ताः कृष्णनीलकापो-ततेजसीपद्मशुक्लनामानः । श्लेष इव वर्णबन्ध- स्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः ॥ १ ॥ " इति, योगपरिणामत्वे तु लेश्यानाम् , " जोगा पयडिपएसं , ठिइअणुभागं कसायओ कुणति " त्ति वचनात्प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुत्वमेव स्यात् न तु कर्मस्थितिहेतुत्वम् , कर्मनिस्यन्दरूपत्वे तु यावत्कषायोदयस्तावत्तन्निस्यन्दस्यापि सद्भावात्कर्मस्थितिहेतुत्वमपि युज्यत एव, अत एवोपशान्तक्षीणमोहयोः कर्मबन्धसद्भावेऽपि न स्थितिसम्भवः, यदुक्तम्-" तं पढमसमये बद्धं, बीयसमये वेइयं, ततियसमए निज्जिण्णं " ति, आह-यदि कर्मनिस्यन्दो लेश्या तदा समुच्छिन्नक्रियं शुक्लध्यानं ध्यायतः कर्मचतुष्टयसद्भावे तन्निस्यन्दसम्भवेन कथं न लेश्यासद्भावः ?, उच्यते, नायं नियमो यदुत निस्यन्दवता निस्यन्देन सदा भाव्यं, कदाचिन्निस्यन्दवत्स्वपि वस्तुषु तथाविधावस्थायां तदभावदर्शनात् । यच्चोक्तम्-' अयोगिनो योगपरिणामाभावे लेश्यापरिणामाभाव ' इति निश्चिनुमः-योगपरिणाम एव लेश्येति, तदप्यसाधकम्, यतो रश्म्यादयः सूर्याद्यभावे न भवन्ति, न च ते तद्रूपा एव, यत उक्तम्-"यच्च चन्द्रप्रभाद्यत्र, ज्ञातं तज्ज्ञातमात्रकम् । प्रभा पुद्गलरूपा यत्तद्धर्मो नोपद्यते ॥ १ ॥ " अन्ये त्वाहुः-कार्मणशरीरवत्पृथगेव कर्माष्टकात्कर्मवर्गणानिष्पन्नानि कर्मलेश्याद्रव्याणीति, तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति । इत्युक्ता द्रव्यलेश्या । भावलेश्यामाह-द्विविधा च भावलेश्या-विशुद्धलेश्या-अकलुषद्रव्य संपर्कजात्मपरिणामरूपा, तथैव—अविशुद्धा-इत्यविशुद्धलेश्या । तत्र द्विविधा विशुद्धलेश्या-' उवसमखइय ' त्ति सूत्रत्वादुपशमक्षयजा, केषां पुनरुपशमक्षयौ ? यतो जायत इयमित्याह-कषायाणाम्. अयमर्थः-कषायोपशमजा कषायक्षयजा च, एकान्तविशुद्धि चाऽऽश्रित्यैवमभिधानम्, अन्यथा हि क्षायोपशमिक्यपि शुक्ला तेजःपद्मे च विशुद्धलेश्ये सम्भवत एवेति । अविशुद्धभावलेश्या सेति या प्रागुपक्षिप्ता द्विविधा—द्विभेदा ' णियमसा उ ' त्ति , आर्षत्वात् नियमेन—अवश्यम्भावेन ज्ञातव्या, ' पेज्जम्मि य ' त्ति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'दोसम्मि य' त्ति प्रेमणि च—रागे द्वेषे च द्वये, किमुक्तं भवति ?—रागविषया, द्वेषविषया च। इयं चार्थात्कृष्णनीलकापोतरूपा, तदेवमस्या नामादिभेदतोऽनेकविधत्वम्, इह कयाऽधिकृतमित्याह-अधिकारः कर्मलेश्यया, कोऽर्थः ?-कर्मद्रव्यलेश्यया, प्रायस्तस्या एवात्र वर्णादिरूपेण विचारणात्। इत्थं नामादिभेदेन लेश्योक्ता, तत्र च वैचित्र्यात्सूत्रकृतेर्नोकर्मद्रव्यलेश्यायां भावलेश्यायां च यत्प्राग् नोक्तं सम्प्रति तदाह-नोकर्मद्रव्यलेश्या-शरीराभरणादिच्छाया 'पओगस्स' त्ति प्रयोगः—जीवव्यापारः स च शरीरादिषु तैलाभ्यञ्जनमनःशिलाघर्षणादिस्तेन 'वीससा य' त्ति विस्रसा-जीवव्यापारनिरपेक्षा अभ्रेन्द्रधनुरादीनां तथा वृत्तिस्तया च ज्ञातव्या। 'भाव' इति—भावलेश्या उदयः—विपाकः, इह तूपचारादुदयजनितपरिणामो भणितः षण्णां लेश्यानां जीवेषु। 'अज्झयणे' त्यादिगाथाद्वयम्-अध्ययननिक्षेपाभिधायिविनयश्रुत एव व्याख्यातप्रायमिति गाथैकादशकार्थः।

सम्प्रत्युपसंहारव्याजेनोपदेशमाह—

एयासिं लेसाणं, नाऊण सुहासुहं तु परिणामं।
चइऊण अप्पसत्थं, पसत्थलेसासु जइअव्वं ॥ ५४५ ॥

एतासाम्—अनन्तरमुक्तस्वरूपाणां लेश्यानां ज्ञात्वा-एतदध्ययनानुसारतोऽवबुध्य शुभाशुभम्, तुः—पुनरर्थे, ततः शुभाशुभं पुनः परिणामम्, किमित्याह-त्यक्त्वा—अपहाय 'अप्पसत्थं' ति अप्रशस्ता-अशुभपरिणामा कृष्णादिलेश्या इति योऽर्थः प्रशस्तलेश्यासु-शुभपरिणामरूपासु पीताद्यासु यतितव्यम्, यथा ता भवन्ति तथा यत्नो विधेय इति गाथार्थः॥ इत्यवसितो नाम निष्पन्नो निक्षेपः। उत्त० ३४ अ०।

अस्मिंश्च लेश्यापदे षड् उद्देशकाः, तत्रेयं प्रथमोद्देशकार्थसंग्रहगाथा—

आहारसमसरीरा, उस्सासे कम्मवन्नलेसासु।
समवेदणसमकिरिया, समाउया चेव बोधव्वा ॥ १ ॥

('सम' शब्दे इमं प्रथममुद्देशकं वक्ष्यामि) प्रज्ञा० १७ पद।

(२) अथ लेश्यासंख्यामाह-

कइ णं भंते! लेस्साओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! छल्लेस्साओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्हलेसा १, नीललेसा २, काउलेसा ३, तेउलेसा ४, पम्हलेसा ५, सुक्कलेसा ६। (सू० २१४)

'कइ णं भंते! लेसाओ' इत्यादि, कः पुनरस्य सूत्रस्य सम्बन्ध इति चेद् ?, उच्यते-उक्तं प्रथमोद्देशके 'स लेसाणं भंते! नेरइया' इत्यादि, इह तु ता एव लेश्याश्चिन्त्यन्ते। 'कइ लेसा' इति, तत्र लेश्याः, प्रागनिरूपितशब्दार्थाः 'क' त्ति, किंपरिमाणाः प्रज्ञप्ताः, भगवानाह-गौतम! षड्। ता एव नामतः कथयति—'कण्हलेसा' इत्यादि, कृष्णद्रव्यात्मिका कृष्णद्रव्यजनिता वा लेश्या कृष्णलेश्या, एवं नीललेश्येत्यादिपदेष्वपि भावनीयम्।

(३) नैरयिकादीनां लेश्यापृच्छा—

णेरइयाणं भंते! कइ लेसाओ पन्नत्ताओ?, गोयमा! तिन्नि, तं जहा-किण्हलेसा, नीललेसा, काउलेसा॥ तिरिक्खजोणियाणं भंते! कइ लेसाओ पन्नत्ताओ?, गोयमा! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्हलेसा० जाव सुक्कलेसा॥ एगिंदियाणं भंते! कइ लेसाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! चत्तारि लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्ह० जाव तेउलेसा॥ पुढविकाइयाणं भंते! कइ लेसाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! एवं चेव, आउवणस्सइकाइयाण वि एवं चेव, तेउवाउबेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं जहा नेरइयाणं। पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, गोयमा! छल्लेस्सा-कण्हलेस्सा० जाव सुक्कलेस्सा॥ संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, गोयमा! जहा नेरइयाणं, गब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, गोयमा! छल्लेसा कण्हलेस्सा० जाव सुक्कलेसा॥ तिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, गोयमा! छल्लेसा एयाओ चेव॥ मणूसाणं पुच्छा, गोयमा! छल्लेसा एयाओ चेव। संमुच्छिममणुस्साणं पुच्छा, गोयमा! जहा नेरइयाणं, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा, गोयमा! छल्लेसाओ, तं जहा—कण्हलेसा० जाव सुक्कलेसा। मणुस्सीणं पुच्छा, गोयमा! एवं चेव। देवाणं पुच्छा, गोयमा! छ एयाओ चेव, देवीणं पुच्छा, गोयमा! चत्तारि कण्हलेसा० जाव तेउलेस्सा। भवणवासीणं भंते! देवाणं पुच्छा, गोयमा! एवं चेव। एवं भवणवासिणीण वि। वाणमंतरदेवाणं पुच्छा, गोयमा! एवं चेव, वाणमंतरीण वि। जोइसियाणं पुच्छा, गोयमा! एगा तेउलेसा एवं जोइसिणीण वि, वेमाणियाणं पुच्छा, गोयमा! तिन्नि, तं जहा-तेउलेसा, पम्हलेसा सुक्कलेसा, वेमाणिणीणं पुच्छा, गोयमा! एगा तेउलेस्सा। (सू० २१५)

'नेरइयाणं भंते!' इत्यादि, सूत्रमल्पबहुत्वचक्तव्यतायाः प्राक् सकलमपि सुगमम्, नवरं वैमानिकसूत्रे यद्वैमानिकानामेका तेजोलेश्योक्ता तत्रेदं कारणं वैमानिक्यो हि देव्यः सौधर्मेशानयोरेव, तत्र च केवला तेजोलेश्येति।

सामान्यतः सङ्ग्रहणिगाथा अत्रेमाः—

"किण्हा नीला काऊ, तेऊ लेसा य भवणवंतरिया।
जोइससोहम्मीसा-ण तेउलेसा मुणेयव्वा ॥ १ ॥
कप्पे सणंकुमारे, माहिंदे चेव बंभलोए य।
एएसु पम्हलेसा, तेण परं सुक्कलेसा उ ॥ २ ॥
पुढवी आउ वणस्सइ, बायर-पत्तेय लेस चत्तारि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गब्भयतिरियनरेसुं, छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥ ३ ॥ "
प्रज्ञा०१७ पद २ उ०। (एतेषां जीवानामल्पबहुत्वम् 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५८ पृष्ठे गतम्)

सौधर्मैशानकल्पे देवाः तेजोलेश्याः—

दोसु कप्पेसु देवा तेउलेस्सा पएणत्ता, तं जहा—सोहम्मे चेव, ईसाणे चेव। स्था० २ ठा० ४ उ०। जी०।

(४) असुरकुमारादीनां देवानां कति लेश्या भवन्तीत्याह—

असुरकुमाराणं चत्तारि लेस्साओ पएणत्ता, तं जहा—कण्हलेसा णीललेसा काउलेस्सा तेउलेस्सा, एवं०जाव थणियकुमाराणं, एवं पुढवीकाइयाणं आउवणस्सइकाइयाणं वाणमंतराणं सव्वेसिं जहा असुरकुमाराणं। (सू० ३१६)

असुरादीनां चतस्रो लेश्या द्रव्यार्थेण, भावतस्तु षडपि सर्वदेवानां मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिरश्चां तु द्रव्यतो भावतश्च षडपीति, पृथिव्यब्वनस्पतीनां हि तेजोलेश्या भवति देवोत्पत्तेरिति तेषां चतस्र इति उक्तलेश्याविशेषेण च विचित्रपरिणामा मानवाः स्युरिति। स्था० ४ ठा० ३ उ०। (किंलेश्याको नैरयिकादिकः किंलेश्याकेषु नैरयिकादिकेषु उपपद्यते इति 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ६७५ पृष्ठे दर्शितम्।)

(५) अल्पर्द्धिकत्वमहर्द्धिकत्वे—

एएसि णं भंते! कण्हलेसाणं ०जाव सुक्कलेसाण य कयरे कयरे अप्पड्ढिया वा महड्ढिया वा?, गोयमा! कण्हलेसेहिंतो नीललेसा महड्ढिया, नीललेसेहिंतो काउलेसा महड्ढिया, एवं काउलेस्सेहिंतो तेउलेसा महड्ढिया, तेउलेसेहिंतो पम्हलेसा महड्ढिया, पम्हलेसेहिंतो सुक्कलेसा महड्ढिया, सव्वप्पड्ढिया जीवा कण्हलेसा सव्वमहड्ढिया सुक्कलेसा। एएसि णं भंते! नेरइयाणं कण्हलेसाणं नीललेसाणं काउलेसाण य कयरे कयरे अप्पड्ढिया वा महड्ढिया वा?, गोयमा! कण्हलेसेहिंतो नीललेसे महड्ढिया, नीललेसेहिंतो काउलेसा महड्ढिया, सव्वप्पड्ढिया नेरइया कण्हलेसा, सव्वमहड्ढिया नेरइया काउलेसा। एएसि णं भंते! तिरिक्खजोणियाणं कण्हलेसाणं ०जाव सुक्कलेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढिया वा महड्ढिया वा?, गोयमा! जहा जीवाणं। एएसि णं भंते! एगेंदियतिरिक्खजोणियाणं कण्हलेसाणं ०जाव तेउलेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढिया वा महड्ढिया वा?, गोयमा!, कण्हलेस्सेहिंतो एगेंदियतिरिक्खजोणियाणं नीललेसाणं महड्ढिया, नीललेसेहिंतो तिरिक्खजोणियाणं काउलेसा महड्ढिया, काउलेसेहिंतो तेउलेसा महड्ढिया, सव्वप्पड्ढिया एगेंदियतिरिक्खजोणिया कण्हलेसा, सव्वमहड्ढिया तेउलेसा। एवं पुढविकाइयाण वि, एवं एएणं अभिलावेणं जहेव लेस्साओ भावियाओ तहेव नेयव्वं ०जाव चउरिंदिया। पंचेदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीणं संमुच्छिमाणं गब्भवक्कंतियाण य सव्वेसिं भाणियव्वं ०जाव अप्पड्ढिया वेमाणिया देवा तेउलेस्साणं सव्वमहड्ढिया वेमाणिया सुक्कलेसा। केई भणंति—चउवीसं दंडएणं इड्ढी भाणियव्वा। (सू० २२१)।

'एएसि णं भंते! जीवाणं कण्हलेसाण' मित्यादि, सुगमम्, नवरं लेश्याक्रमेण यथोत्तरं महर्द्धिकत्वं यथाऽर्वाक् अल्पर्द्धिकत्वं भावनीयम्, एवं नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यवैमानिकविषयाण्यपि सूत्राणि येषां यावत्यो लेश्यास्तेषां तावतीः परिभाव्य भावनीयानि। प्रज्ञा० १७ पद ३ उ०। (किंलेश्यो जीवः किंलेश्येषूपपद्यते इति 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ६७६ पृष्ठे गतम्) कृष्णलेश्यादिनैरयिकः किंलेश्येषूपपद्यते इति तस्मिन्नेव भागे तस्मिन्नेव शब्दे ६७५ पृष्ठे उक्तम्। कृष्णलेश्यादिः नीललेश्यादिषूपपद्यते इत्यपि तस्मिन्नेव भागे तस्मिन्नेव शब्दे ६२० पृष्ठे गतम्।)

(६) कृष्णलेश्यः कृष्णलेश्यं प्रणिधाय अवधिना कियत्क्षेत्रं पश्यति। कृष्णलेश्यादिनैरयिकसत्कावधिज्ञानदर्शनविषयक्षेत्रपरिमाणतारतम्यञ्चाह—

कण्हलेसे णं भंते! नेरइए कण्हलेसं नेरइयं पणिहाए ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे केवतियं खेत्तं जाणइ केवइयं खेत्तं पासइ?, गोयमा! णो बहुयं खेत्तं जाणइ, णो बहुयं खेत्तं पासइ, णो दूरं खेत्तं जाणइ, णो दूरं खेत्तं पासइ, इत्तरियमेव खित्तं जाणइ, इत्तरियमेव खेत्तं पासइ। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ कण्हलेसे णं नेरइए तं चेव० जाव इत्तरियमेव खेत्तं पासइ?, गोयमा!, से जहानामए केइ पुरिसे बहुसमरमणिज्जंसि भूमिभागंसि ठिच्चा सव्वओ समंता समभिलोएज्जा, तए णं से पुरिसे धरणितलगयं पुरिसं पणिहाए सव्वओ समंता समभिलोएमाणे णो बहुयं खेत्तं ० जाव पासइ ० जाव इत्तरियमेव खेत्तं पासइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—कण्हलेसे णं नेरइए० जाव इत्तरियमेव खेत्तं पासइ। नीललेसे णं भंते! नेरइए कण्हलेसं नेरइयं पणिहाय ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे केवतियं खेत्तं जाणइ केवतियं खेत्तं पासइ?, गोयमा! बहुतरागं खेत्तं जाणइ बहुतरागं खेत्तं पासइ, दूरतरखेत्तं जाणइ दूरतरखेत्तं पासइ, वितिमिरतरागं खेत्तं जाणइ वितिमिरतरागं खेत्तं पासइ, विसुद्धतरागं खेत्तं जाणइ विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—नीललेसे णं नेरइए कण्हलेसं नेरइयं पणिहाय० जाव विसुद्धतरागं खेत्तं जाणइ, विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ? से जहानामए केइ पुरिसे बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ पव्वयं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुरूहित्ता सव्वश्रो समंता समभिलोएज्जा, तए णं से पुरिसे धरणितलगयं पुरिसं पणिहाय सव्वश्रो समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे बहुतरागं खेत्तं जाणइ, ०जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–नीललेस्से नेरइए कण्हलेसं ०जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ। काउलेस्से णं भंते ! नेरइए नीललेस्सं नेरइयं पणिहाय श्रोहिणा सव्वश्रो समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे केवतियं खेत्तं जाणइ पासइ ?, गोयमा ! बहुतरागं खेत्तं जाणइ पासइ० जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासति। से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ–काउलेस्से णं नेरइए० जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ ?, गोयमा ! से जहा नामए केइ पुरिसे बहुसमरमणिज्जाश्रो भूमिभागाश्रो पव्वयं दुरूहइ दुरूहित्ता दोऽवि पाए उच्चाविया (वइत्ता) सव्वश्रो समंता समभिलोएज्जा तए णं से पुरिसे पव्वयगयं धरणितलगयं च पुरिसं पणिहाय सव्वश्रो समंता समभिलोएमाणे बहुतरागं खेत्तं जाणइ बहुतरागं खेत्तं पासइ० जाव वितिमिरतरागं पासइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–काउलेस्से णं नेरइए नीललेस्सं नेरइयं पणिहाय तं चेव० जाव वितिमिरतरागं खेत्तं पासइ ॥ (सू० २२३)

'कण्हलेसे णं भंते !' इत्यादि, कृष्णलेश्यो भदन्त ! कश्चिन्नैरयिकोऽपरं कृष्णलेश्याकं प्रणिधाय—अपेक्ष्यावधिना—अवधिज्ञानेन सर्वतः—सर्वासु दिक्षु समन्ततः—सर्वासु विदिक्षु समभिलोकमानो—निरीक्षमाणः कियत्—किंपरिमाणं क्षेत्रं जानाति कियद्वा क्षेत्रमवधिदर्शनेन पश्यति ?, भगवानाह—गौतम ! न बहुक्षेत्रं जानाति नापि बहुक्षेत्रं पश्यति, किमुक्तं भवति ?—अपरं कृष्णलेश्याकं नैरयिकमपेक्ष्य न विवक्षितः कृष्णलेश्याको योग्यतानुसारेणातिविशुद्धोऽपि नैरयिकोऽतिप्रभूतं क्षेत्रमवधिना जानाति पश्यति। एतदेवाह—न दूरम्—अतिविप्रकृष्टं क्षेत्रं जानाति नाप्यतिविप्रकृष्टं क्षेत्रं पश्यति, किं तु-इत्वरमेव—स्वल्पमेवाधिकं क्षेत्रं जानाति इत्वरमेवाधिकं क्षेत्रं पश्यति, एतच्च सूत्रं समानपृथिवीककृष्णलेश्यनैरयिक—विषयमवसेयमन्यथा व्यभिचारसम्भवात्, तथाहि-सप्तमपृथिवीगतः कृष्णलेश्याको नैरयिको जघन्यतो गव्यूतार्द्धं जानाति, उत्कर्षतो गव्यूतम्, षष्ठपृथिवीगतः कृष्णलेश्याको जघन्यतो गव्यूतमुत्कर्षतः सार्द्धम्, पञ्चमपृथिवीगतः कृष्णलेश्याको जघन्यतः सार्द्धं गव्यूतमुत्कर्षतः किञ्चिदूने द्वे गव्यूते। ततो द्विगुणत्रिगुणाधिकक्षेत्रसम्भवाद् भवत्यधिकृतसूत्रस्य व्यभिचारः, यथा समानपृथिवीकमपरं कृष्णलेश्याकं नैरयिकमपेक्ष्यातिविशुद्धोऽपि कृष्णलेश्याको नैरयिको मनागधिकं पश्यति नातिप्रभूतं तथा दृष्टान्तेनोपपिपादयिषुराह—'से केणट्ठेणं भंते !' इत्यादि, इयमत्र भावना—यथा समभूभागव्यवस्थित एव कश्चित् विवक्षितः पुरुषः चक्षुर्नैर्मल्यवशात् मनागधिकं पश्यति न प्रभूततरं तथा विवक्षितोऽपि कश्चित् कृष्णलेश्याको नैरयिकः स्वभूमिकानुसारेणातिविशुद्धोऽपि समानपृथिवीकमपरं कृष्णलेश्याकं नैरयिकमपेक्ष्य यदि परमावधिना मनागधिकं पश्यति न तु प्रभूततरम्, अत्र समभूभागस्थानीया समाना पृथिवी, स्वभूमिकासमाना च कृष्णरूपा लेश्या, चक्षुःस्थानीयमवधिज्ञानम्। एतावता चैतदपि ध्वनितम्–यथा समभूभागव्यवस्थितः पुरुषः सर्वतः समन्तादभिलोकमानो गर्त्तागतं पुरुषमपेक्ष्यातिप्रभूततरं पश्यति तथा पञ्चमपृथिवीगतः स्वभूमिकानुसारेणातिविशुद्धः कृष्णलेश्याको विवक्षितोऽपि नैरयिकः सप्तमपृथिवीगतं कृष्णलेश्याकमतिमन्दानुभागावधिनैरयिकमपेक्ष्यातिप्रभूतं पश्यति, मनागधिकत्रिगुणक्षेत्रसम्भवात्॥ सम्प्रति नीललेश्याकविषयं सूत्रमाह—'नीललेसे णं भंते ! नेरइए कण्हलेसं नेरइयं पणिहाए' इत्यादि, अक्षरगमनिका सुगमा, नवरं 'वितिमिरतरागं खेत्तं जाणइ' इति विगतं तिमिरम्—तिमिरसम्पाद्यो भ्रमो यत्र तद्वितिमिरम्, इदं वितिमिरमिदम् वितिमिरमनयोरतिशयेन वितिमिरं वितिमिरतरम् 'द्वयोर्विभज्ये तरप्' इति तरप्प्रत्ययः। ततः प्राकृतलक्षणात् स्वार्थे कप्रत्ययः पूर्वस्य च दीर्घत्वम्, अत एव विशुद्धतरं—निर्मलतरम्, अतीव स्फुटप्रतिभासमिति-यावत्। भावना त्वियम्—यथा धरणितलगतं पुरुषमपेक्ष्य पर्वतारूढः पुरुषोऽतिदूरं क्षेत्रं पश्यति तदपि प्रायः स्फुटप्रतिभासं तथा विवक्षितोऽपि नीललेश्याको नैरयिको योग्यतानुसारेणातिविशुद्धावधिः कृष्णलेश्याकं नैरकमपेक्ष्यातिदूरं वितिमिरतरं स्फुटप्रतिभासं च क्षेत्रं जानातीति। अत्र पर्वतस्थानीया उपरितनी तृतीया पृथिवी अतिविशुद्धा च स्वभूमिकानुसारेण नीललेश्या, धरणितलस्थानीया अधस्तनी कृष्णलेश्या, चक्षुःस्थानीयमवधिज्ञानमिति ॥ सम्प्रति नीललेश्याकमपेक्ष्य कापोतलेश्याविषयं सूत्रमाह—'काउलेस्से णं भंते ! नेरइए नीललेस्सं नेरइयं पणिहाये' त्यादि, अक्षरगमनिका सुगमा, नवरम् 'दोवि पाए उच्चावइत्ता' इति, द्वावपि पादौ उच्चैः कृत्वा द्वावपि पार्ष्णी उत्पाट्येत्यर्थः, भावना त्वियम्—यथा पर्वतस्योपरि वृक्षमारूढः सर्वतः समन्तादवलोकमानो बहुतरं पश्यति स्पष्टतरं च तथा कापोतलेश्यो नैरयिकोऽपरं नीललेश्याकमपेक्ष्य प्रभूतं क्षेत्रमवधिना जानाति पश्यति च, तदपि च स्पष्टतरमिति। इह वृक्षस्थानीया कापोतलेश्या उपरितनी च पृथिवी पर्वतस्थानीया नीललेश्या तृतीया च पृथिवी, चक्षुःस्थानीयमवधिज्ञानमिति ॥

(७) सम्प्रति का लेश्या कतिषु ज्ञानेषु लभ्यन्त इति—
निरूपयितुकाम आह–

कण्हलेसे णं भंते ! जीवे कइसु नाणेसु होज्जा ?, गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा नाणेसु होज्जा, दोसु होमाणे आभिणिबोहियसुयनाणे होज्जा, तिसु होमाणे आभिणिबोहियसुयनाणश्रोहिनाणेसु होज्जा, अहवा तिसु होमाणे आभिणिबोहियसुयनाणमणपज्जवनाणेसु होज्जा, चउसु होमाणे आभिणिबोहियसुयश्रोहिमणपज्जवनाणेसु होज्जा, एवं ०जाव पम्हलेसे। सुक्कलेसे णं भंते ! जीवे कइसु नाणेसु होज्जा ?; गो–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा होज्जा, दोसु
होमाणे आभिणिबोहियनाणे एवं जहेव कएहलेसाणं-
तहेव भाणियव्वं ०जाव चउहिं, एगम्मि नाणे होज्जा,
एगम्मि केवलनाणे होज्जा । (सू० २२४)

'कएहलेसे णं भंते ! जीवे कइसु नाणेसु होज्जा ' इत्या-
दिप्रश्नसूत्रं सुगमम् , भगवानाह-गौतम ! द्वयोस्त्रिषु चतुर्षु
च ज्ञानेषु भवति । तत्र द्वयोराभिनिबोधिकश्रुतज्ञानयोः
त्रिषु आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानेषु,' यदिवा—आभिनि-
बोधिकश्रुतमनःपर्यायज्ञानेषु,इहावधिरहितस्यापि मनःपर्यव-
ज्ञानमुपजायते , सिद्धप्राभृतादावनेकशस्तथा प्रतिपादना-
त् , अन्यच्च विचित्रा प्रतिज्ञानं तदावरणक्षयोपशमसा-
मग्री , तत्र कस्यापि चारित्रिणोऽप्रमत्तस्यामर्षौषध्याद्य-
न्यतमकतिपयलब्धिसमन्वितस्य मनःपर्यायज्ञानावरणक्ष-
योपशमनिमित्ता सामग्री तथारूपाध्यवसायादिलक्षणा स-
म्पद्यते न त्ववधिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्ता ततस्तस्य
मनःपर्यवज्ञानमेव भवति । ननु मनःपर्यवज्ञानमतिविशुद्ध-
स्योपजायते कृष्णलेश्या च संक्लिष्टाध्यवसायरूपा ततः
कथं कृष्णलेश्याकस्य मनःपर्यायज्ञानसम्भवः ?, उच्यते-
इह लेश्यानां प्रत्येकासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्य-
वसायस्थानानि , तत्र कानिचित् मन्दानुभावान्यध्यवसा-
यस्थानानि प्रमत्तसंहतस्यापि लभ्यन्ते , अत एव कृ-
ष्णनीलकापोतलेश्या अन्यत्र प्रमत्तसंयतान्ता गीयन्ते ,
मनःपर्यवज्ञानं च प्रथमतोऽप्रमत्तसंयतस्योत्पद्यते, ततः प्र-
मत्तसंयतस्यापि लभ्यते इति सम्भवति कृष्णलेश्याक-
स्यापि मनःपर्यवज्ञानम् , चतुर्ष्वाभिनिबोधिकश्रुतावधिमनः-
पर्यवज्ञानेषु , ' एवं० जाव पम्हलेसे ' इति एवं-कृष्णले-
श्योक्तेन प्रकारेण तावद् वक्तव्यं यावद् पद्मलेश्या । कि-
मुक्तं भवति ?-नीललेश्यः कापोतलेश्यः तेजोलेश्यः प-
द्मलेश्यश्च उक्तप्रकारेण द्वयोस्त्रिषु चतुर्षु वा ज्ञानेषु भ-
णनीयः । स च एवम्—' नीललेस्से णं भंते ! जीवे कइसु
नाणेसु होज्जा?, गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा ना-
णेसु होज्जा ' इत्यादि , शुक्ललेश्येषु विशेष इति तं पृथक्
वक्ति-' सुक्कलेसे णं भंते ! ' इत्यादि. इह शुक्ललेश्यायामेव
केवलज्ञानं न लेश्यान्तरे ततः शेषलेश्याकेभ्योऽस्य शुक्ल-
लेश्यस्य विशेषः ।

प्रथमं परिणामाधिकारः १, द्वितीयो वर्णाधिकारः
२ , तृतीयो रसाधिकारः ३ , चतुर्थो गन्धाधिकारः
४ , पञ्चमः शुद्धाशुद्धाधिकारः ५ , षष्ठः प्रशस्ताप्रशस्ता-
धिकारः ६ , सप्तमः संक्लिष्टासंक्लिष्टाधिकारः ७ , अष्टम
उष्णशीताधिकारः ८ , नवमो गत्यधिकारः ६ , दशमः प-
रिणामाधिकारः १० , एकादशोऽप्रदेशप्रदेशप्ररूपणाधिका-
रः ११ , द्वादशोऽवगाहाधिकारः १२ , त्रयोदशो वर्गणा-
धिकारः १३ , चतुर्दशः स्थानप्ररूपणाधिकारः १४ , पञ्च,
दशोऽल्पबहुत्वाधिकारः १५ ।

(८) तत्र प्रथमं परिणामलक्षणमभिधित्सुर्यासां परिणामो
वक्तव्यः ता एव लेश्याः प्रतिपादयति—

परिणामवन्नरसगं-धसुद्धअपसत्थसंकिलिट्ठुएहा ।
गतिपरिणामपदेसो, गाढवग्गणठाणाणमप्पबहुं ॥ १ ॥

कइ णं भंते ! लेसाओ पन्नत्ताओ ?, गोयमा ! छल्ले-
साओ पन्नत्ताओ, तं जहा-कएहलेसा ० जाव सुक्कलेसा,
से नूणं भंते ! कएहलेसा नीललेसं पप्प तारूवत्ताए ताव-
ण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो
परिणमति, हंता गोयमा ! कएहलेस्सा नीललेस्सं पप्प ता-
रूवत्ताए ० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति, से केणट्ठेणं
भंते ! एवं वुच्चइ-कएहलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए
०जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?, गोयमा ! से जहानाम-
ए खीरे दूसिं पप्प सुद्धे वा वत्थे रागं पप्प तारूवत्ताए०
जाव ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, से तेणट्ठेणं
गोयमा ! एवं वुच्चइ-कएहलेसा नीललेसं पप्प तारूवत्ता-
ए० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवं एतेणं अभिलावेणं
नीललेसा काउलेसं पप्प काउलेसा तेउलेसं पप्प ते-
उलेसा पम्हलेसं पप्प पम्हलेसा सुक्कलेसं पप्प० जाव
भुज्जो भुज्जो परिणमइ ,से नूणं भंते ! कएहलेसा नील-
लेसं काउलेसं तेउलेसं पम्हलेसं सुक्कलेसं पप्प तारूवत्ताए
तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो
भुज्जो परिणमइ ?, हंता गोयमा ! कएहलेसा नीललेसं
पप्प ० जाव सुक्कलेसं पप्प तारूवत्ताए तागंधत्ताए तार-
सत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, से केणट्ठेणं
भंते ! एवं वुच्चइ-कएहलेसा नीललेसं० जाव सुक्कलेसं
पप्प तारूवत्ताए०जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ ?, गोयमा !
से जहा नामए वेरुलियमणी सिया कएहसुत्तए वा नी-
लसुत्तए वा लोहियामणी सिया हालिद्दमणी सिया सु-
क्किल्लमणी सिया आइए समाणे तारूवत्ताए०जाव भुज्जो
भुज्जो परिणमइ,से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ-कएहलेसा नीललेसं
०जाव सुक्कलेसं पप्प तारूवत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति। से
नूणं भंते! नीललेसा किएहलेसं०जाव सुक्कलेसं पप्प तारू-
वत्ताए०जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ,हंता गोयमा ! एवं चेव,
काउलेसा किएहलेसं, नीललेसा तेउलेसं, पम्हलेसा सुक्कले-
सं, एवं तेउलेसा किएहलेसं नीललेसं काउलेसं पम्हलेसं
सुक्कलेसं, एवं पम्हलेसा किएहलेसं, नीललेसा काउलेसं,
तेउलेसा सुक्कलेसं पप्प ० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ ?,
हन्ता गोयमा ! तं चेव, से नूणं भंते ! सुक्कलेसा किएह-
लेसं, नीललेसा काउलेसं, तेउलेसा पम्हलेसं पप्प० जाव
भुज्जो भुज्जो परिणमइ ?, हंता गोयमा ! तं चेव । (सू० २२५)

'कइ णं भंते ! लेसाओ पन्नत्ताओ' इत्यादि, इदं सूत्रं प्राग-
प्युक्तं परं परिणामाद्यर्थप्रतिपादनार्थं भूय उपन्यस्तम्—'से-
नूणं भंते ! ' इत्यादि, अथ भदन्त कृष्णलेश्या—कृष्णलेश्या-
योग्यानि द्रव्याणि नीललेश्यां—नीललेश्यायोग्यानि द्रव्या-
णि प्राप्य-अन्योऽन्यावयवसंस्पर्शमासाद्य तद्रूपतया-नील-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेश्यारूपतया, रूपशब्दोऽत्र स्वभाववाची, नीललेश्यास्वभावतयेत्यर्थः भूयो भूयः परिणमतीति योगः। तत्स्वभावश्च तद्वर्णा (तद्वर्णा) दिरूपतया भवति, तत आह—तद्वर्णतया तद्रसतया तद्गन्धतया तत्स्पर्शतया, सर्वत्रापि तच्छब्देन नीललेश्यायोग्यानि द्रव्याणि परामृशन्ति, भूयो भूयः—अनेकवारं तिर्यग्मनुष्याणां तत्तद्भवसंक्रान्तौ शेषकालं वा परिणमते, इदं हि तिर्यग्मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यम्, एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह—' हंता गोयमा ! ' इत्यादि, हन्तेत्यनुमतौ अनुमतमेतत् गौतम ! कृष्णलेश्या नीललेश्यां प्राप्येत्यादि, प्राग्वत्। इयमत्र भावना—यदा कृष्णलेश्यापरिणतो जन्तुस्तिर्यग्मनुष्यो वा भवान्तरसंक्रान्तिं चिकीर्षुर्नीललेश्यायोग्यानि द्रव्याणि गृह्णाति तदा नीललेश्यायोग्यद्रव्यसम्पर्कतस्तानि कृष्णलेश्यायोग्यानि द्रव्याणि तथारूपजीवपरिणामलक्षणं सहकारिकारणमासाद्य नीललेश्याद्रव्यरूपतया परिणमन्ते, पुद्गलानां तथा तथा परिणमनस्वभावत्वात्, ततः स केवलनीललेश्यायोग्यद्रव्यसाचिव्यान्नीललेश्यापरिणतः सन् कालं कृत्वा भवान्तरे समुत्पद्यते। उक्तं च—' जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसे उववज्जइ ' इति, तथा स एव तिर्यग्मनुष्यो वा तस्मिन्नेव भवे वर्तमानो यदा कृष्णलेश्यापरिणतो भूत्वा नीललेश्याभावेन परिणमते तदापि कृष्णलेश्यायोग्यानि द्रव्याणि तत्कालगृहीतनीललेश्यायोग्यद्रव्यसम्पर्कतो नीललेश्यायोग्यद्रव्यरूपतया परिणमन्ते, अमुमेवार्थं, दृष्टान्तेन विभावयिषुः प्रथमं प्रश्नसूत्रमाह-' से केणट्ठेणं भंते ! ' इत्यादि, सुगमम्। भगवानाह-गौतम ! ' से जहानामए खीरे ' इत्यादि, ततः लोकप्रसिद्धं यथानामकं गोक्षीरम् अजाक्षीरं महिषीक्षीरमित्यादिनामकं क्षीरम् 'दूसि' मिति देशीवचनाद् दूष्यमेतत्, मथितं तक्रं प्राप्यान्योऽन्यावयवसंस्पर्शेनाविभागं गत्वा यथा च शुद्धं-मलरहितं समले हि रागः सम्पद्यमानोऽपि न तथारूपो लगति तत उक्तम्-शुद्धं वस्त्रं-चेलम्, रज्यते अनेनेति रागः ' करणे घञ् ' तं मञ्जिष्ठादिकं प्राप्य तद्रूपतया-मञ्जिष्ठादिरागद्रव्यस्वभावतया, एतदेव व्याचष्टे-' तद्वर्णतये ' त्यादि, सुगमम्। तथा कृष्णलेश्यायोग्यानि द्रव्याणि नीललेश्यायोग्यानि द्रव्याणि प्राप्य तद्रूपतया परिणमन्ते। इयमत्र भावना-यथा क्षीरलक्षणकारणगता रूपादयस्तक्ररूपादिभावं प्रतिपद्यन्ते, यथा वा शुद्धवस्त्रकारणगता रूपादयो मञ्जिष्ठादिरागद्रव्यरूपादिभावं प्रतिपद्यन्ते तथा कृष्णलेश्यायोग्यद्रव्यरूपकारणगता रूपादयो नीललेश्यायोग्यद्रव्यरूपादिभावं प्रतिपद्यन्ते, ' से तेणट्ठेण ' मित्याद्युपसंहारवाक्यं सुगमम्, एवं नीललेश्या कापोतलेश्यां प्राप्येत्यादीन्यपि चत्वारि सूत्राणि भावनीयानि, तदेवं पूर्वस्याः पूर्वस्या लेश्याया उत्तरामुत्तरां लेश्यां प्रतीत्य तद्रूपतया परिणमनमुक्तम्। इदानीमेकैकस्याः लेश्याया यथायोगं क्रमेण शेषसमस्तलेश्यापरिणमनमाह—' से नूणं भंते ! कण्हलेसा नीललेस्सं काउलेस्स ' मित्यादि, वाशब्दोऽत्र सर्वत्राप्यनुक्तो द्रष्टव्यः, नीललेश्यां वा कापोतलेश्यां वा यावत् शुक्ललेश्यां वा, एकस्या लेश्यायाः परस्परविरुद्धतया युगपदनेकलेश्यापरिणामासम्भवात्। शेषाक्षरगमनिका प्राग्वत्। अत्रैवार्थे दृष्टान्तमभिधित्सुरिदमाह—'से केणट्ठेणं भंते ! ' इत्यादि सुगमम्, नवरं यथा वैडूर्यमणिरेक एव तत्तदुपाधिद्रव्यसम्पर्कतस्तद्रूपतया परिणमते तथैव तान्यपि कृष्णलेश्यायोग्यानि द्रव्याणि तत्तन्नीलादिलेश्यायोग्यद्रव्यसम्पर्कस्तत्तद्रूपतया परिणमन्ते इति, एतावतांशेन दृष्टान्तो न तु पुनर्यथा वैडूर्यमणिः स्वस्वरूपमजहानस्तत्तदुपाधिद्रव्यसम्बन्धतस्तत्तदाकारमात्रभाजितया तत्तद्रूपतया परिणमते तथैतान्यपि कृष्णलेश्यायोग्यानि स्वस्वरूपमजहानान्येव द्रव्याणि तत्तन्नीलादिलेश्यायोग्यद्रव्यसम्पर्कतस्तत्तदाकारमात्रधारितया तत्तद्रूपतया परिणमन्ते इत्यनेनांशेन, तिरश्चां मनुष्याणां च लेश्याद्रव्याणां सामस्त्येन तद्रूपतया परिणामाभ्युपगमात्, अन्यथा-नैरयिकदेवसत्कलेश्याद्रव्याणामिव तिर्यग्मनुष्याणामपि लेश्याद्रव्याणां सर्वथा स्वरूपापरित्यागेन चिरकालमवस्थानसम्भावात्, यत उत्कर्षतोऽप्येषामन्तर्मुहूर्त्तलक्षणं स्थितिपरिमाणमन्यत्रोक्तं तद्विरुध्येत, पल्योपमत्रयमपि यावत् उत्कर्षतः स्थितिसंभवात्, तदेवं तदन्यलेश्यापञ्चकपरिणाममधिकृत्य कृष्णलेश्याविषयं सूत्रमुक्तम्, एवं नीलादिलेश्याविषयाण्यपि प्रत्येकं तदन्यलेश्यापञ्चकपरिणाममधिकृत्य पञ्च सूत्राणि वक्तव्यानि, तदेवं तिर्यङ्मनुष्याणां भवसंक्रान्तौ शेषकालं च लेश्याद्रव्यपरिणाम उक्तः। देवनैरयिकसत्कानि तु लेश्याद्रव्याणि आभवक्षयमवस्थितानि यत्तदन्यलेश्याद्रव्यसम्पर्कत आकारमात्रं तदत्रैव वक्ष्यते। तत उक्तः परिणामलक्षणाधिकारः।

(६) अधुना वर्णाधिकारमाह—

जीमूतनिद्धसंकासा, गवलरिट्ठगसंनिभा।
खंजंजणनयणनिभा, किण्हलेसा उ वण्णओ ॥ ४ ॥
नीलाऽसोगसंकासा, चासपिच्छसमप्पभा।
वेरुलियनिद्धसंकासा, नीललेसा उ वण्णओ ॥ ५ ॥
अयसीपुप्फसंकासा, कोइलच्छदसंनिभा।
पारेवयगीवनिभा, काउलेसा उ वण्णओ ॥ ६ ॥
हिंगुलुयधाउसंकासा, तरुणाइच्चसंनिभा।
सुयतुंडपईवनिभा, तेउलेसा उ वण्णओ ॥ ७ ॥
हरियालभेयसंकासा, हलिद्दाभेदसंनिभा।
सणासणकुसुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥ ८ ॥
संखंककुंदसंकासा, खीरधारसमप्पभा।
रययहारसंकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥ ९ ॥

' जीमूयनिद्धसंकास ' त्ति प्राकृतत्वात् स्निग्धश्चासौ सजलत्वेन जीमूतश्च-मेघः स्निग्धजीमूतस्तद्वत्सम्यक् काशते वर्णतः प्रकाशत इति स्निग्धजीमूतसङ्काशा तत्सदृशीति यावत्, तथा गवलं—महिषशृङ्गं रिष्टो-द्रोणकाकः स एव रिष्ठकः, यद्वा-रिष्ठको नाम फलविशेषस्तत्संनिभा-तच्छाया, ' खंजण ' त्ति खञ्जनं-स्नेहाभ्यक्तशकटाक्षघर्षणोद्भूतम्, अञ्जनं च-कज्जलं नयनं-लोचनम्, इह चोपचारात्तदेकदेशस्तन्मध्यवर्त्ती कृष्णसारस्तन्निभा—तत्समा कृष्णलेश्या, तुः-विशेषणे स च शेषलेश्याभ्यो वर्णकृतं विशेषं द्योतयति। यद्वा—तुः—अवधारणे, भिन्नक्रमश्च, ततः वर्णत एव-वर्णमेवाश्रित्य न तु रसादीन्, एवमुत्तर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रापि । नीलश्चासावशोकश्च—वृक्षविशेषो नीलाशोकस्तत्सङ्काशा, रक्ताशोकव्यवच्छेदार्थं च नीलविशेषणम्, चासः—पक्षिविशेषस्तस्य पिच्छं-पतत्रं तत्समप्रभा-तत्तुल्यद्युतिः, स्निग्धो-दीप्तो वैडूर्यो-मणिविशेषस्तत्सङ्काशा तत्सदृशी पदविपर्ययः प्राग्वत्, नीललेश्या तु वर्णतो नीलेति तात्पर्यम्। अतसी-धान्यविशेषस्तत्पुष्पसङ्काशा, कोकिलच्छदः-तैलकण्टकः, तथा च वृद्धसम्प्रदायः-" वरणाहिगारे जो एत्थ कोइलच्छदो सो तेलकंटतो भएणइ " त्ति, क्वचित्तु पठ्यते च-' कोइलच्छवि ' त्ति, तत्र कोकिलः-अन्यपुष्टस्तस्य छविस्तत्संनिभा, पारावतः—पक्षिविशेषस्तस्य ग्रीवाकन्धरा तन्निभा कपोतलेश्या तु वर्णतः, किञ्चित्कृष्णा किञ्चिच्च लोहितेति भावः, तथा च प्रज्ञापना—" काउलेसा काललोहितेण वएणेणं साहिज्जइ " त्ति । हिङ्गुलकः-प्रतीतो धातुः-पाषाणधात्वादिस्तत्सङ्काशा, तरुण इहाभिनवोदितः आदित्यः-सूर्यस्तत्सन्निभा, शुकः—प्रसिद्धस्तस्य तुण्डं—मुखं शुकतुण्डं तच्च प्रदीपश्च तन्निभा वा, पठन्ति च—' सुयतुंडालत्तदीवाभा ' अन्ये तु ' सुयतुंडग्गसंकासा ' द्वयमपि स्पष्टम्, तेजोलेश्या तु वर्णतो रक्तेति भावार्थः। हरितालो-धातुविशेषस्तस्य भेदो द्विधाभावस्तत्सङ्काशा, भिन्नस्य हि वर्णप्रकर्षो भवतीति भेदग्रहणम्, हरिद्रेह पिण्डहरिद्रा तस्या भेदस्तत्संनिभा, सणो-धान्यविशेषः असनो-बीयकस्तयोः कुसुमं तन्निभा, पद्मलेश्या तु वर्णतः पीतेति गर्भार्थः। शङ्खः-प्रतीतः, अङ्को-मणिविशेषः कुन्दः-कुन्दकुसुमं-तत्सङ्काशा, क्षीरं-दुग्धं तूलकं-तूलं पाठान्तरतः पूरो वा-क्षीरप्रवाहः, अन्ये तु ' धारि ' त्ति पठन्ति तद्ग्रहणं तु भाजनस्थस्य हि तद्वशादन्यथात्वमपि संभवतीति तत्समप्रभा, रजतं- रूप्यं हारो-मुक्ताकलापस्तत्सङ्काशा शुक्ललेश्या तु वर्णतः शुक्लेति हृदयमिति सूत्रषट्कार्थः। उत्त० ३४ अ०।

(१०) विशेषतो वर्णाधिकारः—

कएहलेसा णं भंते ! वन्नेणं केरिसिया पन्नत्ता ?, गोयमा ! से जहानामए जीमूते इ वा अंजणे इ वा खंजणे इ वा कज्जले इ वा गवले इ वा गवलए इ वा जंबूफले इ वा अद्दारिट्ठपुप्फे इ वा परपुट्ठेइ वा भमरे इ वा भमरावली इ वा गयकलभे इ वा किएहकेसरे इ वा आगासथिग्गले इ वा किएहासोए इ वा कएहकणवीरए इ वा कएहबंधुजीवए इ वा, भवे एतारूवे ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, कएहलेस्सा णं इत्तो अणिट्ठयरिया चेव अकंतयरिया चेव अप्पियतरिया चेव अमणुन्नतरिया चेव अमणामतरिया चेव वन्नेणं पन्नत्ता । नीललेस्सा णं भंते ! केरिसिया वन्नेणं पन्नत्ता ?, गोयमा ! से जहानामए भिंगए इ वा भिंगपत्ते इ वा चासे इ वा चासपिच्छए इ वा सुए इ वा सुयपिच्छे इ वा सामा इ वा वणराइ इ वा उच्चंतए इ वा पारेवयगीवा इ वा मोरगीवा इ वा हलहरवसणे इ वा अयसिकुसुमे इ वा वणकुसुमे इ वा अंजणकेसियाकुसुमे इ वा नीलुप्पले इ वा नीलासोए इ वा नीलकणवीरए इ वा नीलबंधुजीवे इ वा, भवेयारूवे ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, एत्तो० जाव अमणामयरिया चेव वन्नेणं पन्नत्ता । काउलेस्सा णं भंते ! केरिसिया वन्नेणं पन्नत्ता ?, गोयमा ! से जहानामए खदिरसारए इ वा कइरसारए इ वा धमाससारए इ वा तंबे इ वा तंबकरोडे इ वा तंवच्छिवाडियाए इ वा वाइंगणिकुसुमे इ वा कोइलच्छदकुसुमे इ वा जवासाकुसुमे इ वा, भवेयारूवे ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, काउलेस्सा णं एत्तो अणिट्ठयरिया चेव ०जाव अमणामयरिया चेव । तेउलेस्सा णं भंते ! केरिसिया वन्नेणं पन्नत्ता ?, गोयमा ! से जहानामए ससरुहिरए इ वा उरब्भरुहिरे इ वा वराहरुहिरे इ वा संवररुहिरे इ वा मणुस्सरुहिरे इ वा इंदगोपेइ वा बालेंदगोपे इ वा बालदिवायरे इ वा संझारागे इ वा गुंजद्धरागे इ वा जातिहिंगुले इ वा पवालंकुरे इ वा लक्खारसे इ वा लोहितक्खमणी इ वा किमिरागकंबले इ वा गयतालुए इ वा चीणपिट्ठरासी इ वा परिजायकुसुमे इ वा जासुमणकुसुमे इ वा किंसुयपुप्फरासी इ वा रत्तुप्पले इ वा रत्तासोगे इ वा रत्तकणवीरए इ वा रत्तबंधुयजीविए इ वा, भवेयारूवे ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । तेउलेसा णं एत्तो इट्ठतरिया चेव ०जाव मणामतरिया चेव वन्नेणं पन्नत्ता । पम्हलेसा णं भंते ! केरिसिया वन्नेणं पन्नत्ता, ?, गोयमा ! से जहानामए चंपे इ वा चंपयछल्ली इ वा चंपयभेदे इ वा हालिद्दा इ वा हालिद्दगुलिया इ वा हालिद्दभेदे इ वा हरियाले इ वा हरियालगुलिया इ वा हरियालभेदे इ वा चिउरे इ वा चिउररागे इ वा सुवन्नसिप्पि इ वा वरकणगणिहसे इ वा वरपुरिसवसणे इ वा अल्लइकुसुमे इ वा चंपयकुसुमे इ वा कणियारकुसुमे इ वा कुहंडयकुसुमे इ वा सुवण्णजुहिया इ वा सुहिरन्नियाकुसुमे इ वा कोरिंटमल्लदामे इवा पीतासोगे इ वा पीतकणवीरे इ वा पीतबंधुजीवए इ वा, भवेयारूवे ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, पम्हलेस्सा णं एत्तो इट्ठतरिया० जाव मणामयरिया चेव वन्नेणं पन्नत्ता । सुकलेस्सा णं भंते ! केरिसिया वन्नेणं पन्नत्ता ?, गोयमा ! से जहानामए अंके इ वा संखे इ वा चंदे इ वा कुंदे इ वा दगे इ वा दगरए इ वा दधी इ वा दहिघणे इ वा खीरे इ वा खीरपूरए इ वा सुक्कच्छिवाडिया इ वा पेहुणमिंजिया इ वा धंतधोयरुप्पपट्टे इ वा सारदबलाहए इ वा कुमुददले इ वा पोंडरीयदले इ वा सालिपिट्ठरासीति वा कुडगपुप्फरासी ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा सिंदुवारमल्लदामे इ वा सेयाऽसोए इ वा सेयकणवीरे इ वा सेतबंधुजीवए इ वा , भवेयारूवे ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, सुक्कलेसा णं एत्तो इट्ठतरिया चेव मणुस्सयरिया चेव वन्नेणं पन्नत्ता । (सू० २२६×)

'कण्हलेस्सा णं भंते ! वण्णेणं केरिसिया पन्नत्ता ' इत्यादि, कृष्णद्रव्यात्मिका लेश्या कृष्णलेश्या,कृष्णलेश्यायोग्यानि द्रव्याणि इत्यर्थः, तेषामेव वर्णादिसम्भवात् न तु कृष्णद्रव्यजनिता भावरूपा कृष्णलेश्या, तस्या वर्णाद्ययोगात् , भदन्त ! कीदृशी वर्णेन प्रज्ञप्ता ?,भगवानाह-गौतम ! स लोकप्रसिद्धो यथानामको—जीमूत इति वा—जीमूतो—बलाहकः, स चेह प्रावृट्प्रारम्भसमयभावी जलभृतो वेदितव्यः, तस्यैव प्रायोऽतिकालिमसम्भवात् , इति शब्द उपमानभूतवस्तुनामपरिसमाप्तिद्योतकः, वाशब्द उपमानान्तरापेक्षया समुच्चये, एवं सर्वत्र इतिवाशब्दौ द्रष्टव्यौ, अञ्जनम्—सौवीराञ्जनम्-रत्नविशेषो वा खञ्जनम्-दीपमल्लिकामलः स्नेहाभ्यक्तशकटाक्षघर्षणोद्भवमित्यपरे कज्जलम्—प्रतीतम् गवलम्—माहिषं शृङ्गं तदपि च उपरितनत्वग्भागापसारणे द्रष्टव्यम् , तत्रैव विशिष्टस्य कालिम्नः सम्भवात् , जम्बूफलं प्रतीतम् , अरिष्टकं फलविशेषः परपुष्टः-कोकिलः भ्रमरः-चञ्चरिकः भ्रमरावलिः—भ्रमरपङ्क्तिः गजकलभः करिपोतः कृष्णकेशरः-कृष्णवकुलः आकाशथिग्गलं-शरदि मेघापान्तरालवर्त्याकाशखण्डम् , तदपि हि अतीव कृष्णं प्रतिभाति इत्युक्तम् , कृष्णाशोककृष्णकणवीरकृष्णबन्धुजीवाः—अशोककणवीर—बन्धुजीवाः वृक्षविशेषाः, अशोकादयो हि जातिभेदेन पञ्चवर्णा भवन्ति ततः शेषवर्णव्युदासार्थं कृष्णग्रहणम् , एतावत्युक्ते गौतम आह—' भवे एयारूवा ? ' भगवन् ! भवेत् कृष्णलेश्या वर्णेन एतद्रूपा ?, भगवानाह—गौतम ! नायमर्थः समर्थः-नायमर्थ उपपन्नः, एतद्रूपा कृष्णलेश्येति, किन्तु ?, सा कृष्णलेश्या इतो जीमूतादेः कृष्णेन वर्णेन अनिष्टतरिका चैव इयमनिष्टा २ इयमनयोर्मध्येऽतिशयेनानिष्टा अनिष्टतरा अनिष्टतरैवानिष्टतरिका अनीप्सिततरिका एवेति भावः । इह किञ्चिदनिष्टमपि स्वरूपतः कान्तं भवति ततः कान्तताव्युदासार्थमाह-अकान्ततरिकैव; किञ्चित्केषाञ्चिदनिष्टमपि स्वरूपतोऽकान्तमपि अपरेषां प्रियं भवति ततः सर्वथा प्रियताव्युदासार्थमाह-अप्रियतरिकैव, अत एवामनोज्ञतरिकैव, वस्तुतः सम्यक् परिज्ञाने सति मनागप्युपादेयतया तत्र मनसः प्रवृत्त्यसंभवात् , अमनोज्ञतरमपि किञ्चिन्मध्यमं भवति ततः प्रकृष्टतरप्रकर्षविशेषप्रतिपादनार्थमाह—अमनआपतरिकैव, मनांसि आप्नोति—आत्मवशतां नयतीति मनआपा न मनआपा अमनआपा, ततो द्वयोः प्रकर्षे तरप् एवंभूता वर्णेन प्रज्ञप्ता । ' नीललेसा णं भंते ! ' इत्यादि, अक्षरगमनिका प्राग्वत् , नवरं भृङ्गः पक्षिविशेषः पद्मलः भृङ्गपत्रं—तस्यैव पक्षिविशेषस्य पद्म, चासः—पक्षिविशेषः ' चासपिच्छं ' चासस्य पतत्रं शुकः—कीरः ' शुकपिच्छं ' शुकस्य पतत्रं श्यामा-प्रियङ्गुः वनराजी-प्रतीता उच्चन्तको दन्तरागः , आह च मूलटीकाकारः—' उच्चंतगो दन्तरागो भन्नइ ' पारावतग्रीवा मयूरग्रीवा च सुप्रतीता , हलधरो—बलदेवः तस्य वसनं—वस्त्रं हलधरवसनम् , तद्धि नीलं भवतीत्युपात्तम् . अतसीकुसुमं वणवृक्षकुसुमं च प्रतीतम् , अञ्जनकेसिका—वनस्पतिविशेषः तस्याः कुसुमम् अञ्जनकेसिकाकुसुमं नीलोत्पलम्—कुवलयं नीलाशोकनीलकणवीरनीलबन्धुजीवा—अशोकादिवृक्षविशेषाः 'काउलेस्सा णं भंते ! ' इत्यादि, अत्राप्यक्षरगमनिका प्राग्वत् , खदिरसारो धमासासारश्च लोकप्रतीतः ' तंबे इ वा ' तंबकरोडए इ वा तंबछेवाडिया इ वा ' इति सम्प्रदायादवसेयम् , वृन्ताकीकुसुमं प्रतीतं 'कोइलच्छदकुसुमए इ वा' इति—कोकिलच्छदः—तैलकण्टकः, तथा च मूलटीकाकृत्—'वन्नाहिगारे जो एत्थ कोइलच्छदो सो तिलकंटओ भन्नइ ' इति, तस्य कुसुमं प्रतीतम् ' तेउलेस्सा णं भंते ! ' इत्यादि , शशकोरभ्रवराहमनुष्यरुधिराणि शेषरुधिरेभ्यो लोहितवर्णोत्कटानि भवन्ति तत एतेषामुपादानम् , बालेन्द्रगोपकः—सद्यो जात इन्द्रगोपकः , स हि प्रवृद्धः सन् ईषत् पाण्डुरक्तो भवति ततो बालग्रहणम् , इन्द्रगोपकः प्रावृट्प्रथमसमयभावी कीटविशेषः, बालदिवाकरः—प्रथममुद्गच्छन् सूर्यः , गुञ्जा—लोकप्रतीता तस्या अर्धरागो गुञ्जार्धरागः , गुञ्जाया हि अर्धमतिरक्तं भवति अर्धं चातिकृष्णमिति अर्धग्रहणम् , जात्यः-प्रधानो हिङ्गुलको जात्यहिङ्गुलकः प्रवालः-शिलादलं तस्याङ्कुरः प्रवालाङ्कुरः , स हि प्रथममुद्गच्छन् अत्यन्तरक्तो भवति ततस्तदुपादानम् , लाक्षारसः-प्रतीतः , लोहिताक्षमणिः—लोहिताक्षनामा रत्नविशेषः कृमिरागेण रक्तः कम्बलः कृमिरागकम्बलः, शाकपार्थिवादिदर्शनान्मध्यमपदलोपी समासः, गजतालुचीनपिष्टराशिपारिजातकुसुमजपाकुसुमकिंशुकपुष्पराशिरक्तोत्पलरक्ताशोकरक्तकणवीररक्तबन्धुजीवा लोकप्रतीताः ' भवे एयारूवा ' इति पदयोजना प्राग्वत् , भगवानाह-गौतम ! 'णो इणट्ठे समट्ठे ' यतस्तेजोलेश्या इतः-शशकरुधिरादिभ्यो लोहितेन वर्णेनेष्टतरिकैव, तत्र किञ्चिदकान्तमपि केषांचिदिष्टतरं भवति ततः कान्ततरताप्रतिपादनार्थमाह-कान्ततरिकैव, केषाञ्चिदिष्टतरमपि स्वरूपतः कान्ततरमप्यपरेषामप्रियं भवति ततः प्रियतरताप्रतिपत्त्यर्थमाह-प्रियतरिकैव , अत एव मनोज्ञतरिका , मनोज्ञतरमपि किञ्चिन्मध्यमं संभवेदतः प्रकृष्टतरप्रकर्षविशेषप्रतिपादनार्थमाह-मनआपतरिकैव वर्णेन प्रज्ञप्ता । ' पम्हलेस्सा णं भंते ! ' इत्यादि, अक्षरगमनिका प्राग्वत् , नवरं चम्पकः-सामान्यतः सुवर्णचम्पको-वृक्षविशेषः ' चम्पकछल्ली इ वा ' इति सुवर्णचम्पकत्वक् ' चम्पकभेए इ वा ' इति सुवर्णचम्पकस्य भेदो द्विधाभावः , भिन्नस्य हि वर्णप्रकर्षो भवति ततो भेदग्रहणम् , हरिद्रा इह पिण्डहरिद्रा हरिद्रागुटिका-हरिद्रानिर्वर्त्तिता गुटिका हरिद्राभेदो-हरिद्राया द्वैधीभावः हरितालो-धातुविशेषः हरितालगुटिका-हरितालमयी गुटिका हरितालभेदो-हरितालच्छेदः चिकुरः-पीतद्रव्यविशेषः चिकुररागः-तन्निष्पादितो वस्त्रादौ रागः ' सुवन्नसिप्पी इ वा ' इति सुवर्णमयी शुक्तिका, वरम्-प्रधानं यत्कनकं तस्य निकषः-कषपट्टके रेखारूपः वरकनकनिकषः वरपुरुषः-वासुदेवस्तस्य वसनं-वस्त्रं वरपुरुषवसनं तद्धि पीतं भवतीत्युपात्तम् , अल्लकीकुसुमं लोकतोऽवसेयं चम्पककुसुमं-सुवर्णचम्पकवृक्षपुष्पम् ' कन्नियारकुसुमे इ वा ' इति काञ्चनार-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ककुसुमं कूष्माण्डिकाकुसुमं-पुष्पा (पुंस्फ) लिकापुष्पं सुवर्णयूथिकाकुसुमं प्रतीतं सुहिरण्यिका-वनस्पतिविशेषस्तस्याः कुसुमं कोरण्टकमाल्यदामपीताशोकपीतकणवीरपीतबन्धुजीवाः प्रतीताः। 'सुक्कलेसा णं भंते' इत्यादि, अत्राप्युत्तरगमनिका प्राग्वत्, नवरमङ्को-रत्नविशेषः शङ्खचन्द्रौ प्रतीतौ कुन्दं-कुसुमं दकम्-उदकं उदकरजः-उदककणाः, ते हि अतिशुभ्रा भवन्तीत्युपात्ताः, दधि-प्रतीतं दधिघनो दधिपिण्डः क्षीरं-प्रतीतं क्षीरपूरं-क्वथ्यमानम् अतितापादूर्ध्वं गच्छत् क्षीरम्, 'सुक्कच्छिवाडिया इ वा' इति छिवाडिः-वल्लादिफलिका सा च शुष्का सती किलातीव शुक्ला भवतीत्युपात्ता 'पेहुणमिंजिया इ वा' इति पेहुणं-मयूरपिच्छं तन्मध्यवर्तिनी मिञ्जा पिहुणमिञ्जा सा चातीव शुक्लेत्यभिहिता 'धंतधोयरुप्पपट्टे इ वा' इति ध्मातः अग्निसम्पर्कतो निर्मलीकृतः धौतो भूतिखरण्टितहस्तसम्मार्जनेनातिनिशितीकृतो यो रूप्यमयः पट्टः स ध्मातधौतरूप्यपट्टः, 'सारइयवलाहगे इ वा' इति शारदिकः-शरत्कालभावी बलाहकः पुण्डरीकम्-सिताम्बुजं तस्य दलं पत्रं पुण्डरीकदलं शालिपिष्टराशिकुटजपुष्पराशिसिन्दुवारमाल्यदामश्वेताशोकश्वेतकणवीरश्वेतबन्धुजीवाः प्रतीताः। प्रज्ञा० १७ पद।

(११) कृष्णादिलेश्याकनारकाणां स्थित्याऽल्पमहत्त्वम्—

सिय भंते! कण्हलेसे नेरइए अप्पकम्मतराए नीललेसे नेरइए महाकम्मतराए?, हंता सिया, से केणट्ठेणं एवं वुचइ-कण्हलेसे नेरइए अप्पकम्मतराए नीललेसे नेरइए महाकम्मतराए?, गोयमा! ठितिं पडुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा! ०जाव महाकम्मतराए। सिय भंते! नीललेसे नेरइए अप्पकम्मतराए काउलेसे नेरइए महाकम्मतराए?, हंता सिया, से केणट्ठेणं भंते! एवं वुचति-नीललेसे नेरइए अप्पकम्मतराए काउलेसे नेरइए महाकम्मतराए?, गोयमा! ठितिं पडुच्च। से तेणट्ठेणं गोयमा! ० जाव महाकम्मतराए। एवं असुरकुमारे वि, नवरं तेउलेसा अब्भहिया एवं ०जाव वेमाणिया, जस्स जत्तिया लेसाओ तस्स तत्तिया भाणियव्वाओ जोइसियस्स न भन्नइ, ०जाव सिय भंते! पम्हलेसे वेमाणिए अप्पकम्मतराए सुक्कलेसे वेमाणिए महाकम्मतराए?, हंता सिया से केणट्ठेणं० सेसं जहा नेरइयस्स ०जाव महाकम्मतराए। (सू० २७८)

'सिय भंते! कण्हलेसे नेरइए' इत्यादि, 'ठितिं पडुच्च' त्ति, अत्रेयं भावना-सप्तमपृथिवीनारकः कृष्णलेश्यस्तस्य च स्वस्थितौ बहुक्षपितायां तच्छेषे वर्तमाने पञ्चमपृथिव्यां सप्तदशसागरोपमस्थितिर्नारको नीललेश्यः समुत्पन्नः, तमपेक्ष्य स कृष्णलेश्योऽल्पकर्मा व्यपदिश्यते, एवमुत्तरसूत्राण्यपि भावनीयानि। 'जोइसियस्स न भन्नइ' त्ति एकस्या एव तेजोलेश्यायास्तस्य सद्भावात् संयोगो नास्तीति। भ० ७ श० ३ उ०।

(१२) इह वर्णाः पञ्च भवन्ति, तद्यथा—कृष्णो नीलो लोहितो हारिद्रः शुक्लश्च, लेश्याश्च षट्, तत उपमानतो वर्णनिर्देशे कृतेऽपि संशयः का लेश्या कस्मिन्वर्णे भवति?, ततः पृच्छति—

एयाओ णं भंते! छल्लेसाओ कइसु वन्नेसु साहिज्जंति?, गोयमा! पंचसु वन्नेसु साहिज्जंति, तं जहा-कण्हलेसा कालए णं वन्नेणं साहिज्जति, नीललेस्सा नीलवन्नेणं साहिज्जति, काउलेस्सा काललोहिएणं वन्नेणं साहिज्जति, तेउलेस्सा लोहिएणं वन्नेणं साहिज्जति, पम्हलेस्सा हालिद्दएणं वन्नेणं साहिज्जइ सुक्कलेस्सा सुक्किल्लएणं वन्नेणं साहिज्जति। (सू० २२६)।

'एयाओ णं भंते!' इत्यादि, एता अनन्तरोदिता भदन्त! षड् लेश्याः 'कइसु वन्नेसु' त्ति प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी यथा-'तिसु तेसु अलंकिया पुढवी' (त्रिभिस्तैरलंकृता पृथ्वी) इत्यत्र, ततोऽयमर्थः—कतिभिर्वर्णैः 'साहिज्जंति' कथ्यन्ते प्ररूप्यन्ते इति यावत्, भगवानाह-गौतम! 'पंचसु वन्नेसु' इति पञ्चभिर्वर्णैः शिष्यन्ते यथा शिष्यन्ते तथा तद्यथा इत्यादिना दर्शयति। उक्तो वर्णपरिणामः।

(१३) सम्प्रति रसपरिणाममभिधित्सुराह—

कण्हलेस्सा णं भंते! केरिसिया आसाएणं पन्नत्ता?, गोयमा! से जहानामए निंबे इ वा निंबसारे इ वा निंबछल्ली इ वा निंबफाणिए इ वा कुडए इ वा कुडगफलए इ वा कुडगछल्ली इ वा कुडगफाणिए इ वा कडुगतुंबी इ वा कडुगतुंबिफले इ वा खारतउसी इ वा खारतउसीफले इ वा देवदालीति वा देवदालीपुप्फे इ वा मिगवालुंकी इ वा मियवालुंकीफले इ वा घोसाडिए इ वा घोसाडिफले इ वा कण्हकंदए इ वा वज्जकंदए इ वा, भवेयारूवे?, गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे, कण्हलेसा णं एत्तो अणिट्ठतरिया चेव ०जाव अमणामयरिया चेव आसाएणं पन्नत्ता, नीललेसाए पुच्छा, गोयमा! से जहानामए भंगीति वा भंगीरए इ वा पाढा इ वा [चविया इ वा] चित्तामूलए इ वा पिप्पली इ वा पिप्पलीमूलए इ वा पिप्पलीचुन्ने इ वा मिरिए इ वा मिरियचुन्नए इ वा सिंगबेरे इ वा सिंगबेरचुन्ने इ वा, भवेयारूवे?, गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे, नीललेस्सा णं एत्तो ०जाव अमणामतरिया चेव आसाएणं पन्नत्ता, काउलेस्साए-पुच्छा, गोयमा! से जहानामए अंबाण वा अंबाडगाण वा माउलिंगाण वा बिल्लाण वा कविट्ठाण वा [भज्जाण वा] फणसाण वा दाडिमाण वा पारेवताण वा अक्खोडयाण वा बोराण वा तिंदुयाण वा अपक्काणं अपरिवागाणं वन्नेणं अणुववेयाणं गंधेणं अणुववेयाणं फासेणं अणुववेयाणं, भवेयारूवे?, गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे, ०जाव एत्तो अमणामयरिया चेव काउलेस्सा अस्साएणं पन्नत्ता। तेउलेस्सा णं पुच्छा, गोयमा! से जहानामए अंबाण वा पक्काणं परियावन्नेणं उववेयाणं पसत्थेणं ०जाव फासेणं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

०जाव एत्तो मणामयरिया चेव तेउलेस्सा आसाएणं पन्नत्ता। पम्हलेस्साए पुच्छा, गोयमा ! से जहानामए चंदप्पभा इ वा मणसिला इ वा वरसीधू इ वा वरवारुणी इ वा पत्तासवे इ वा पुप्फासवे इ वा फलासवे इ वा चोयासवे इ वा आसवे इ वा महू इ वा मेरए इ वा कविसाणए इ वा खज्जूरसारए इ वा मुद्दियासारए इ वा सुपक्कखोतरसे इ वा अट्ठपिट्ठणिट्ठिया इ वा जंबुफलकालिया इ वा वरप्पसन्ना इ वा [आसला] मंसला पेसला ईसिं ओट्ठवलंविणी ईसिं वोच्छेदकडुई ईसिं तंवच्छिकरणी उक्कोसमदपत्ता वन्नेणं उववेया० जाव फासेणं आसायणिज्जा वीसायणिज्जा पीणणिज्जा विंहणिज्जा दीवणिज्जा दप्पणिज्जा मदणिज्जा सव्वेंदियगायपल्हायणिज्जा, भवेयारूवा !, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे पम्हलेसा एत्तो इट्ठतरिया चेव ०जाव मणामयरिया चेव आसाएणं पन्नत्ता। सुक्कलेसा णं भंते ! केरिसिया आसाएणं पन्नत्ता ?, गोयमा ! से जहानामए गुले इ वा खंडे इ वा सक्करा इ वा मच्छंडिया इ वा पप्पडमोदए इ वा भिसकंदए इ वा पुप्फुत्तरा इ वा पउमुत्तरा इ वा आदंसिया इ वा सिद्धत्थिया इ वा आगासफालितोवमा इ वा उवमा इ वा अणोवमा इ वा, भवेतारूवे ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, सुक्कलेस्सा एत्तो इट्ठतरिया चेव पियतरिया चेव मणामयरिया चेव आसाएणं पन्नत्ता ।(सू०२२७)

'कण्हलेसा णं भंते !' इत्यादि, प्रश्नसूत्रं सुगमम् , भगवानाह—गौतम ! स लोकप्रतीतो यथानामको निम्बो-वृक्षविशेषः निम्बसारो—निम्बमध्यवर्त्यवयवविशेषः, निम्बछल्ली—निम्बत्वक् निम्बफाणितम्—निम्बक्काथः कुटजो—वृक्षविशेषः तस्यैव फलं कुटजफलं तस्यैव त्वक् कुटजछल्ली तस्यैव क्काथं—कुटजफाणितं कटुकतुम्बी प्रसिद्धा तस्या एव फलं कटुकतुम्बीफलम् , 'खारतउसी' ति खारशब्दः कटुकवाची तथाऽऽगमे अनेकधा प्रसिद्धेः, ततः कटुका त्रपुषी क्षारत्रपुषी तस्या एव फलं क्षारत्रपुषीफलं देवदाली—रोहिणी तस्या एव पुष्पं देवदालीपुष्पं मृगवालुङ्की—लोकतोऽवसेया तस्या एव फलं मृगवालुङ्कीफलं घोषातकी प्रसिद्धा तस्या एव फलं घोषातकीफलं कृष्णकन्दो—वज्रकन्दश्चानन्तकायवनस्पतिविशेषौ लोकतः प्रत्येतव्यौ, एतावति उक्ते गौतमः पृच्छति—भगवन् ! भवेत् रसतः कृष्णलेश्या एतद्रूपा-निम्बादिरूपा ?, भगवानाह—गौतम ! नायमर्थः समर्थः, यतः कृष्णलेश्या इतो—निम्बादिरसमधिकृत्यानिष्टतरिकैवेत्यादि प्राग्वत् । 'नीललेसाए' इत्यादि, भङ्गी—वनस्पतिविशेषः तस्या एव रजो भङ्गीरजः पाठा-चित्रमूलके लोकप्रतीते पिप्पलीपिप्पलीमूलपिप्पलीचूर्णमरिचमरिचचूर्णशृङ्गवेरशृङ्गवेरचूर्णान्यपि प्रसिद्धानि । 'काउलेस्साए' इत्यादि, आम्राणां फलानामेवं सर्वत्रापि भावनीयम् 'अंबाडयाण वा' इति आम्राटकाः-फलविशेषाः मातुलिङ्गविल्वकपित्थपनसदाडिमानि प्रतीतानि पारावताः—फलविशेषाः अक्षोडवृक्षफलानि अक्षोडानि वोरवृक्षफलानि वोराणि—बदराणि तिन्दुकानि च प्रतीतानि, एतेषां फलानामपक्कानाम् , तत्र सर्वथाऽपि अपक्कं फलमुच्यते तत आह—अपरिपाकानां न विद्यते परिपाकः—परिपूर्णः पाको येषां तान्यपरिपाकानि तेषामीषत्पक्कानामित्यर्थः, एतदेव वर्णादिभिः कथयति—वर्णेनातिविशिष्टेन गन्धेन घ्राणेन्द्रियनिर्वृतिकरेण स्पर्शेन विशिष्टपरिपाकाविनाभाविना अनुपपेतानाम्—असम्प्राप्तानां यादृशो रसः, अत्र गौतमः पृच्छति—एतद्रूपा-एवंरूपरसोपेता भवेत् कापोतलेश्या ?, भगवानाह-गौतम ! नायमर्थः समर्थः, किं तु इतः—अपरिपक्काम्रफलादेरनिष्टतरिकैवेत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तेउलेस्सा णं भंते !' इत्यादि, तेषामेव आम्रफलादीनां पक्कानां तत्रेपद्यत् किमपि पक्कं लोके पक्कं व्यवह्रियते तत आह-पर्यायापन्नानां-परिपूर्णपाकपर्यायप्राप्तानाम् , एतदेव वर्णादिभिर्निरूपयति—वर्णेन प्रशस्तेन--एकान्ततः प्रशस्येन तथा प्रशस्तेन गन्धेन प्रशस्तेन स्पर्शेनोपेतानां यादृग् रसः, एतावत्युक्ते गौतम आह—रसमधिकृत्य एतद्रूपा—पक्काम्रादिफलरूपा तेजोलेश्या भवेत् ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थः, किं तु—परिपक्काम्रफलादेरिष्टतरिकैवेत्यादि प्राग्वत् 'पम्हलेसाए पुच्छा' सूत्रपाठोऽक्षरगमनिका च प्राग्वत् , नवरं 'से जहानामए' इति सा लोकप्रसिद्धा यथा—येन प्रकारेण नाम यस्याः सा यथानामिका पुंस्त्वं सूत्रे प्राकृतलक्षणवशात् , प्राकृते हि लिङ्गमनियतं, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे—'लिङ्गं व्यभिचार्यपी' ति 'चन्द्रप्रभा इति वे' ति चन्द्रस्येव प्रभा—आकारो यस्याः सा चन्द्रप्रभा, मणिशिलाकेव मणिशिलाका वरं च तत् सीधु च वरसीधु वरा चासौ वारुणी च वरवारुणी पत्रैः—धातकीपत्रैर्निष्पाद्य आसवः पत्राऽऽसवः एवं पुष्पासवः, फलासवश्च परिभावनीयः, चोयो—गन्धद्रव्यं तन्निष्पाद्य आसवः चोयासवः, पत्रादिविशेषेण व्यतिरिक्त आसव आसव इति गीयते, मधुमेरककापिशायनानि मद्यविशेषाः, मूलदलखर्जूरसारनिष्पन्न आसवः खर्जूरसारः, मृद्वीका-द्राक्षा तत्सारनिष्पन्नो मृद्वीकासारः सुपक्वेक्षुरसमूलदलनिष्पन्नः—सुपक्वेक्षुरस अष्टभिः शास्त्रप्रसिद्धैः पिष्टैः निष्ठिता अष्टपिष्टनिष्ठिता जम्बूफलवत् कालेव कालिका जम्बूफलकालिका वरा चासौ प्रसन्ना च वरप्रसन्ना, एते सर्वेऽपि मद्यविशेषाः पूर्वकाले लोकप्रसिद्धा इदानीमपि शास्त्रान्तरतो लोकतो वा यथास्वरूपं वेदितव्याः; वरप्रसन्नाविशेषणान्याह-मांसला--उपचितरसा पेशला--मनोज्ञा मनोज्ञत्वादेव ईषत्—मनाक् ततः परम्परमास्वादतया झटित्यवाग्रतो गच्छति ओष्ठेऽवलम्बते--लगतीत्येवं शीला ईषदोष्ठावलम्बिनी तथा ईषत्--मनाक् पानव्यवच्छेदे सति तत ऊर्ध्वं कटुका एलादिद्रव्यसम्पर्कतः उपलक्ष्यमाणतिक्तवीर्येति यावत् तथा ईषत्--मनाक् ताम्रे अक्षिणी क्रियेते अनयेति ईषत्ताम्राक्षिकरणी मद्यस्य प्रायः सर्वस्यापि तथास्वभावत्वात् 'उक्कोसमयपत्ता' इति उत्कर्षतीति उत्कर्षः स चासौ मदश्च उत्कर्षमदः तं प्राप्ता उत्कर्षमदप्राप्ता, एतदेव वर्णादिभिः समर्थयते-वर्णेनोत्कृष्टमदाविनाभाविना प्रशस्येन गन्धेन घ्राणेन्द्रियनिर्वृतिकरेण रसेन परमसुखासिकाजनकेन स्पर्शेन मद-

१७२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिपाकाव्यभिचारिणा अत एवास्वादनीया विशेषतः स्वादनीया विस्वादनीया प्रीणयतीति प्रीणनीया " कृद् बहुल "मिति वचनात् कर्तर्यनीयप्रत्ययः, एवं दर्पय-तीति दर्पणीया मदयतीति मदनीया सर्वाणीन्द्रियाणि सर्वं च गात्रं प्रह्लादयति इति सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीया एतावत्युक्ते भगवान् गौतम आह-' भवेयारूवा ' भगवन् ! एतद्रूपा-एवंरूपस्लोपेता पद्मलेश्या भवेत् । भगवानाह— ' नो इणट्ठे समट्ठे ' इत्यादि प्राग्वत् ॥ ' सुक्कलेस्सा णं भंते ! ' इत्यादि , गुडखण्डे प्रसिद्धे शर्करा-काशादिप्रभवा मत्स्यण्डी-खण्डशर्करा पर्पटमोदकादयः सम्प्रदायादव-सेयाः , शेषं सुगमम् ॥ तदेवमुक्तो लेश्याद्रव्याणां रसः । प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० ।

सम्प्रति प्रकारान्तरेण रसमाह—

जह कडुय(य)तुंबरसो, निंबरसो कडुयराहिणिरसो वा ।
इत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ कण्हाइ नायव्वो ॥१०॥
जह तिकडुयस्स य रसो, तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा ।
इत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ नीलाइ नायव्वो ॥११॥
जह तरुणअंबयरसो, तुवरकवित्थस्स वावि जारिसओ ।
इत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ काऊइ णायव्वो ॥१३॥
जह परिणयंबगरसो, पक्ककवित्थस्स वावि जारिसओ ।
इत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ तेऊइ नायव्वो ॥ १३ ॥
वरवारुणीइ व रसो, विविहाणं व आसवाण जारिसओ ।
महुमेरगस्स व रसो, इत्तो पम्हाइ परएणं ॥ १४ ॥
खज्जूरमुद्दियरसो, खीररसो खंडसक्कररसो वा ।
इत्तो उ अणंतगुणो, रसो उ सुक्काइ नायव्वो ॥ १५ ॥

' यथे ' ति सादृश्ये ततश्च यादृक् कटुकतुम्बकस्य रसः-आस्वादः कटुकतुम्बकरसः निम्बरसः—प्रतीतः कटुका चासौ रोहिणी च त्वग्विशेषः कटुकरोहिणी कटुकत्वाव्य-भिचारित्वेऽपि तद्विशेषणमतिशयख्यापकं तद्रसो वा, ओ-षधीविशेषो वा कटुकेह गृह्यते, ' यथे ' ति सर्वत्रापेक्ष्यते, इतोऽपि कटुकतुम्बकरसादेरनन्तेन—अनन्तराशिना गुणनं गुणो यस्यासावनन्तगुणो रसस्तु—आस्वादः कृष्णायाः-कृष्णलेश्यायाः-ज्ञातव्यः-अवबोद्धव्यः, अतिकटुक इति ता-त्पर्यम् । यथा—यादृशः त्रिकटुकस्य-प्रसिद्धस्य रसस्ती-क्ष्णः-कटुर्यथा हस्तिपिप्पल्या वा-गजपिप्पल्या वा, अतोऽ-प्यनन्तगुणो रसस्तु नीलायाः ज्ञातव्योऽतिशयतीक्ष्ण इति हृ-दयम् । यथा तरुणम्-अपरिपकं तच्च तदाम्रकं च-आम्रफलं तद्रसः,तुवरम्-सकषायम् , पाठान्तरतः-आर्द्रत्वाद् , उभयत्र चार्थादपक्वं तच्च तत्कपित्थं च—कपित्थफलं तस्य, वा—विकल्पे, अपिः-पूरणे, यादृशको रस इति प्रक्रमः । अतो-ऽप्यनन्तगुणो रसस्तु ' काऊए ' त्ति कापोताया ज्ञातव्यः, अ-तिशयकषाया इत्याशयः । यथा परिणतं-परिपक्कं यदाम्रकं तद्रसः पक्वकपित्थस्य वाऽपि यादृशको रसोऽतोऽप्यनन्त गुणो रसस्तु ' तेऊए ' त्ति तेजोलेश्याया ज्ञातव्यः, आम्लः किञ्चिन्मधुरश्चेत्यैदम्पर्यम् । वरवारुणी-प्रधानसुरा तस्या वा रसो यादृशक इति योगः, विविधानां वा—नानाप्रकारा-णाम् आसवानाम्—पुष्पप्रसवमयानां वा यादृशको रस इति सम्बन्धः, ' महुमेरयस्स व रसो ' त्ति मधु—मद्यवि-शेषो मैरेयं-सरकस्तयोः समाहारे मधुमैरेयं तस्य वा रसो यादृशकोऽतो वरवारुण्यादिरसात्पद्मायाः प्रक्रमाद्रसः' पर-केणं ' ति अनन्तानन्तगुणत्वात्तदतिक्रमेण वर्त्तत इति ग-म्यते, अयं च किञ्चिदम्लकषायो माधुर्यवांश्चेति भावनी-यम् , पाठान्तरतोऽप्यनन्तगुणो रसस्तु पद्मायाः ज्ञातव्यः । खर्जूरं च—पिण्डखर्जूरादि मृद्वीका च—द्राक्षा एतद्रसः तथा क्षीररसः—प्रतीतः खण्डं च—इक्षुविकारः शर्करा च—काशादिप्रभवा तद्रसो वा यादृश इति शेषः, अतोऽप्य-नन्तगुणो रसस्तु शुक्लाया ज्ञातव्योऽत्यन्तमधुर इति गर्भ इति सूत्रपदकार्थः । उत्त० ३४ अ० ।

(१४) सम्प्रति लेश्यानां गन्धमाह—

कइ णं भंते ! लेस्साओ दुब्भिगंधाओ पन्नत्ताओ ?, गोयमा ! तओ लेस्साओ दुब्भिगंधाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा । कइ णं भंते ! लेस्साओ सुब्भिगंधाओ पन्नत्ताओ ?, गोयमा ! तओ लेस्साओ सुब्भिगंधाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-तेउलेस्सा पम्हलेस्सा सुक्कलेस्सा । (सू० २२८ +)

'कइ णं भंते!' इत्यादि,सुगमम् । नवरम्-कृष्णनीलकापोतले-श्या दुरभिगन्धाः मृतगवादिकलेवरेभ्योऽप्यनन्तगुणदुर-भिगन्धोपेतत्वात् , तेजःपद्मशुक्ललेश्याः सुरभिगन्धाः पि-ष्यमाणगन्धवाससुरभिकुसुमादिभ्योऽनन्तगुणपरमसुरभि—गन्धोपेतत्वात् । प्रज्ञा० १७ पद ।

कीदृग्गन्धः लेश्यानामत्र दृष्टान्तः—

जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स ।
इत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ १६ ॥
जह सुरहिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं ।
इत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥१७॥

यथा गवां मृतकं—मृतकशरीरं तस्य गन्धः श्वमृतकस्य वा तथा यथा अहिः—सर्पस्तन्मृतकस्य गन्ध इति सम्ब-न्धः, सूत्रत्वान्मृतकशब्दे कलोपः अतोऽपि-एतत्प्रकाराद-पि गन्धादनन्तगुणोऽतिदुर्गन्धतया लेश्यानाम् , अप्रशस्ता-नाम्-अशुभानाम् , कोऽर्थः ?-कृष्णनीलकापोतानाम् , गन्ध इति प्रक्रमः, इह च लेश्यानामप्रशस्तत्वं गन्धस्याशुभ-त्वे हेतुरिति तद्विशेषादनुक्तोऽप्यस्य विशेषोऽवगम्यत इ-ति नोक्तः । यथा सुरभिकुसुमानां-जातिकेतक्यादिसम्ब-न्धिनां सुगन्धपुष्पाणां गन्धः—परिमलः सुरभिकुसुमगन्धः, तथा गन्धाश्च—कोष्ठपुटपाकनिष्पन्ना वासाश्च—इतरे ग-न्धवासाः, इह चैतदङ्गान्येवोपचारादेवमुक्तानि, तेषाम् , पा-ठान्तरतश्च गन्धानां च पिष्यमाणानां—संचूर्ण्यमानानां य-था गन्ध इति प्रक्रमः, तथा चातिप्रबलतरोऽसौ प्रादु-र्भवतीत्येवमभिधानम् , अतोऽपि—एतत्प्रकारादपि गन्धा-द् अनन्तगुणः अतिशयसुगन्धितया प्रशस्तलेश्यानाम् ति-सृणामपि—तैजसीपद्मशुक्लानां गन्ध इति प्रक्रमः, इहापि प्रशस्तत्वविशेषाद्गन्धविशेषोऽनुमीयत इति नोक्त इति सूत्रद्वयार्थः ॥ उत्त० ३४ अ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१५) अधुना शुद्धाशुद्धत्वप्रतिपादनार्थमाह—

एवं तओ अविसुद्धाओ, तओ विसुद्धाओ, तओ अप्पसत्थाओ, तओ पसत्थाओ,तओ संकिलिट्ठाओ, तओ असंकिलिट्ठाओ।(सू० २२८ +)

'एवं तओ अविसुद्धाओ ततो विसुद्धाओ' इति, एवम्-उक्तेन प्रकारेण आद्यास्तिस्रो लेश्या अविशुद्धा वक्तव्याः, अप्रशस्तवर्णगन्धरसोपेतत्वात्, उत्तरास्तिस्रो लेश्या विशुद्धाः, प्रशस्तवर्णगन्धरसोपेतत्वात्, ततश्चैवं वक्तव्याः—"कइ णं भंते! लेस्साओ अविसुद्धाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! तओ लेस्साओ (अप्पसत्थाओ) अविसुद्धाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा॥ कइ णं भंते! लेस्साओ विसुद्धाओ पण्णत्ताओ? गोयमा! तओ लेस्साओ विसुद्धाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तेउलेस्सा पउमलेस्सा सुक्कलेस्सा" इति, उक्ते शुद्धत्वाशुद्धत्वे। सम्प्रति प्राशस्त्याप्राशस्त्ये प्रतिपादयति—'तओ अप्पसत्थाओ तओ पसत्थाओ' आद्यास्तिस्रो लेश्या अप्रशस्ता वक्तव्याः, अप्रशस्तद्रव्यत्वेनाप्रशस्ताध्यवसायहेतुत्वात्, उत्तरास्तिस्रो लेश्याः प्रशस्ताः, प्रशस्तद्रव्यतया प्रशस्ताध्यवसायकारणत्वात्, सूत्रपाठः प्राग्वदवसेयः, 'कइ णं भंते! लेस्साओ अप्पसत्थाओ पन्नत्ताओ' इत्यादि, उक्ते प्राशस्त्याप्राशस्त्ये। अधुना संक्लिष्टाऽसंक्लिष्टत्वे प्रतिपादयति—'तओ संकिलिट्ठाओ तओ असंकिलिट्ठाओ' इति आद्यास्तिस्रो लेश्याः संक्लिष्टाः, संक्लिष्टार्तरौद्रध्यानानुगताध्यवसायस्थानहेतुत्वात्; उत्तरास्तिस्रो लेश्या असंक्लिष्टाः, असंक्लिष्टधर्मशुक्लध्यानानुगताध्यवसायकारणत्वात्, अत्रापि पाठः प्राग्वत्'-कइ णं भंते! लेस्साओ संकिलिट्ठाओ पन्नत्ताओ' इत्यादि। प्रज्ञा० १७ पद ४ उ०। जम्बूदृष्टान्तं भावयति—प्रतिक्रमामि षड्भिर्लेश्याभिः करणभूताभिर्यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, तद्यथा—कृष्णलेश्ययेत्यादि—"कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते॥१॥" कृष्णादिद्रव्याणि न सकलप्रकृतिविष्यन्दभूतानि, आसां च स्वरूपं जम्बूखादकदृष्टान्तेन, ग्रामघातकदृष्टान्तेन च प्रतिपाद्यते—

"जह जंबुतरुवरेगो,सुपक्कफलभरियनमियसालग्गो।
दिट्ठो छहि पुरिसेहिं, ते बिंती जंबुभक्खेमो॥१॥
किह पुण? ते बेंतेक्को, आरुहमाणाण जीवसंदेहो।
तो छिंदिऊण मूले, पाडेमु ताहे भक्खेमो॥२॥
बितिआह एद्दहेणं,किं छिण्णेणं तरूण अम्हं ति?।
साहामहल्लछिंदह, तइओ बेंती पसाहाओ॥३॥
गोच्छे चउत्थओ उण, पंचमओ बेति गेण्हह फलाइं।
छट्ठो बेती पडिया, एए च्चिय खाह घेत्तुं जे॥४॥
दिट्ठंतस्सोवणओ,जो बेंति तरू वि छिन्नमूलाओ।
सो वट्टइ किण्हाए, सालमहल्ला उ नीलाए॥५॥
हवइ पसाहा काऊ, गोच्छा तेऊ फला य पम्हाए।
पडियाए सुक्कलेसा, अहवा अण्णं उदाहरणं॥६॥
चोरा गामवहत्थं, विणिग्गया एगो बेंति घाएह।
जं पेच्छह सव्वं वा,दुपयं च चउप्पयं वावि॥७॥
विइओ माणुसपुरिसे य, तइओ साउहे चउत्थे य।
पंचमओ जुज्झंते, छट्ठो पुण तत्थिमं भणइ॥८॥
एक्कं ता हरह धणं, बीयं मारेह मा कुणह एवं।
केवल हरह धणंती, उवसंहारो इमो तेसिं॥९॥
सव्वे मारेह त्ती, वट्टइ सो किण्हलेसपरिणामो।
एवं कमेण सेसा, जा चरमो सुक्कलेसाए॥१०॥
आदिल्ल तिण्णि एत्थं, अपसत्था उवरिमा पसत्था उ।
अपसत्थासुं वट्टिय, न वट्टियं जं पसत्थासुं॥११॥
एसऽइयारो एया—सु होइ तस्स य पडिक्कमामि त्ति।
पडिकूलं वट्टामी, जं भणियँ पुणो न सेवमि॥१२॥"

आव० ४ अ०।

(१६) अधुना शीतोष्णस्पर्शप्रतिपादनार्थमाह—

जह करगयस्स फासो, गोजिब्भाए व सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं॥१८॥
जह बूरस्स वि फासो, नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि॥१९॥

व्याख्या—यथा 'करगयस्स' त्ति क्रकचस्य—करपत्रस्य स्पर्शो गोजिह्वा गोजिह्वा तस्या वा, यथा वा शाको-वृक्षविशेषस्तत्पत्राणां स्पर्श इति प्रक्रमः, अतोऽपि—एतत्प्रकारादपि स्पर्शादनन्तगुणः अत्यतिशायितया यथाक्रमं लेश्यानामप्रशस्तानामाद्यानां तिसृणां प्रक्रमात्स्पर्शोऽतिकर्कश इति हृदयम्। यथा बूरस्य वा प्रतीतस्य स्पर्शः नवनीतस्य-म्रक्षणस्य यथा वा शिरीषो—वृक्षविशेषस्तत्कुसुमानामुभयत्र यथा स्पर्श इति प्रक्रमः, अतोऽपि-एतत्प्रकारादपि स्पर्शाद् अनन्तगुणः—अतिसुकुमारतया यथाक्रमं प्रशस्तलेश्यानां तिसृणामपि-उक्तरूपाणां स्पर्श इति प्रक्रमः, इह च यदनेकदृष्टान्तोपादानं तन्नानादेशजविनेयानुग्रहार्थम्, कश्चिद्धि किञ्चित्प्रतीतमिति, यद्वा-निगदितोदाहरणेषु वर्णादितारतम्यसम्भवाल्लेश्यानां स्वस्थानेऽपि वर्णादिवैचित्र्यज्ञापनार्थमिति सूत्रद्वयार्थः॥ उत्त० ३४ अ०।

तओ सीतलुक्खाओ, तओ निद्धुण्हाओ।(सू०२२८×)

'तओ सीयलुक्खाओ तओ निद्धुण्हाओ' इति, आद्यास्तिस्रो लेश्याः शीतरूक्षाः—शीतरूक्षस्पर्शोपेताः, उत्तरास्तिस्रो लेश्याः स्निग्धोष्णस्पर्शाः, इहान्येऽपि लेश्याद्रव्याणां कर्कशादयः स्पर्शाः सन्ति (प्रज्ञा०) तथापि शीतरूक्षौ स्पर्शौ आद्यानां तिसृणां लेश्यानां चित्तास्वस्थ्यजनने स्निग्धोष्णस्पर्शौ, उत्तरासां तिसृणां लेश्यानां परमसंतोषोत्पादने साधकतमाविति तावेव पृथक् पृथक् साक्षादुक्तावित्यदोषः, सूत्रपाठः प्राग्वत्, 'कइ णं भंते! लेस्साओ सीयलुक्खाओ पन्नत्ताओ' इत्यादि।

(१७) सम्प्रति गतिद्वारमभिधित्सुराह—

तओ दुग्गतिगामिणी (णि) ओ, तओ सुगतिगामिणीओ।(सू० २२८×)

'तओ दुग्गइगामिणीओ तओ सुगइगामिणीओ' इति, आद्यास्तिस्रो लेश्या दुर्गतिगामिन्यः—दुर्गतिं गमयन्तीत्येवंशीला दुर्गतिगामिन्यः, संक्लिष्टाध्यवसायहेतुत्वात्, उत्तरास्तिस्रो लेश्याः सुगतिं गमयन्तीत्येवंशीलाः सुगतिगामिन्यः, प्रशस्ताध्यवसायकारणत्वात्, उभयत्रापि गमेर्णयन्तादिन्प्रत्ययः, सूत्रपाठः प्राग्वत् 'कइ णं भंते! लेस्साओ दुग्गइगामिणीओ पन्नत्ताओ' इत्यादि। प्रज्ञा०१७ पद ४ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुनरपि ग्रन्थान्तरतो गतिद्वारमाह—

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि लेस्साउऽहम्मलेसाउ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई ॥ ५६ ॥
तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एया उ धम्मलेसाउ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई ॥५७॥

कृष्णानीलाकापोतास्तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः, पापोपादानहेतुत्वात्, पाठान्तरतोऽधर्मलेश्या वा, तिसृणामप्यविशुद्धत्वेनाप्रशस्तत्वात्, यद्येवं ततः किमित्याह–एताभिः–अनन्तरोक्ताभिः ' तिसृभिरपि—कृष्णादिलेश्याभिः जीवः—जन्तुः दुर्गतिम्—नरकतिर्यग्गतिरूपाम् उपपद्यते—प्राप्नोति, सुब्व्यत्ययाद्वा दुर्गतौ उपपद्यते–जायते, संक्लिष्टत्वेन तत्प्रायोग्यायुष एव तद्वतां बन्धसम्भवादिति भावः । तथा तैजसीपद्माशुक्लास्तिस्रोऽप्येताः धर्मलेश्याः–प्रधानलेश्याः, विशुद्धत्वेनासां धर्महेतुत्वात्, तथा चागमः—" तत्रो लेसाओ अविसुद्धाओ तओ विसुद्धाओ तओ पसत्थाओ तओ अपसत्थाओ तओ संकिलिट्ठाओ तओ असंकिलिट्ठाओ तओ दुग्गतिगामियाओ तओ सुगतिगामियाओ " । अत एव एताभिस्तिसृभिः—तैजस्यादिलेश्याभिर्जीवः ' सुगतिं ' ति सुगतिम्—देवमनुष्यगतिलक्षणां मुक्तिं वोपपद्यते, यद्वा–प्राग्वत्सुगतौ उत्पद्यते—जायते, तथाविधायुर्बन्धतः सकलकर्मापगमतश्चेति सूत्रद्वयभावार्थः । उत्त० ३४ अ० ।

(१८) अधुना परिणामद्वारमभिधित्सुराह—

कण्हलेस्सा णं भंते ! कतिविहं परिणामं परिणमति ?, गोयमा ! तिविहं वा नवविहं वा सत्तावीसविहं वा एक्कासीतिविहं वा वि तेयालदुसतविहं वा बहुयं वा बहुविहं वा परिणामं परिणमइ, एवं ०जाव सुक्कलेसा । (सू०२२६+)

' कण्हलेसा ण ' मित्यादि, अत्र ' कइविहं परिणामं ' इत्यत्र प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे द्वितीया द्रष्टव्या, यथा आचाराङ्गे—"अगणिं (च खलु) पुट्ठा " इत्यत्र, ततोऽयमर्थः–कृष्णलेश्या णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! कतिविधेन परिणामेन परिणमति ?, भगवानाह—' गोयमा ! तिविहं वा ' इत्यादि, इह त्रिविधो—जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन नवविधो यदैषामपि जघन्यादीनां स्वस्थानतारतम्यचिन्तायां प्रत्येकं जघन्यादित्रयेण गुणना, एवं पुनः पुनस्त्रिकगुणनया सप्तविंशतिविधत्वम् एकाशीतिविधत्वं त्रिचत्वारिंशदधिकशतद्वयविधत्वं बहुत्वं–बहुविधत्वं भावनीयम् , सर्वत्र च तृतीयार्थे द्वितीया , ततस्त्रिविधेन वा परिणामेन परिणमति नवविधेन वा इत्येवं पदानां योजना कर्त्तव्या । ' एवं ० जाव सुक्कलेसा ' इति एवं—कृष्णलेश्यागतेन प्रकारेण नीलादयोऽपि लेश्यास्तावद्वक्तव्याः यावत् शुक्ललेश्याः । सूत्रपाठस्तु सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयः । प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० ।

तिविहो व नवविहो वा, सत्तावीसइविहिक्कसीओ वा ।
दुसओ तेयालो वा, लेसाणं होइ परिणामो ॥ २० ॥

त्रिविधो नवविधो वा ' सत्तावीसइविहिक्कसीओ व ' त्ति विधशब्दो वाशब्दश्चोभयत्र संबध्यते, ततश्च सप्तविंशतिविध एकाशीतिविधो वा ' दुसओ तेयालो व ' त्ति अत्रापि विधशब्दस्य सम्बन्धात् त्रिचत्वारिंशद्द्विशतविधो वा लेश्यानां भवति, परिणामः—तत्तद्रूपगमनात्मकः, इह च ' त्रिविधः ' जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन नवविधः—यदैषामपि जघन्यादीनां स्वस्थानतारतम्यचिन्तायां प्रत्येकं जघन्यादित्रयेण गुणना एवं पुनस्त्रिकगुणनया सप्तविंशतिविधत्वमेकाशीतिविधत्वं त्रिचत्वारिंशद्द्विशतविधत्वं च भावनीयम् । आह—एवं तारतम्यचिन्तायां कः संख्यानियमः ?, उच्यते, एवमेतत्, उपलक्षणं चैतत्, तथा च प्रज्ञापनायाम्–" कण्हलेसा णं भंते ! कतिविधपरिणामं परिणमति ?, गोयमा ! तिविहं वा नवविहं वा सत्तावीसइविहं वा एक्कासीइविहं वा वि तेयालदुसयविहं वा बहुयं वा बहुविहं वा परिणामं परिणमति, एवं ०जाव सुक्कलेसा " इति सूत्रार्थः ॥ उक्तः परिणामः । उत्त० ३४ अ० ।

(१९) त्र्यादिपरिणतिश्च जीवानां लेश्यावशतो भवतीति तन्निबन्धनकर्मकारणत्वात् तासामिति नारकादिपदेषु लेश्यास्त्रिस्थानकावतारेण निरूपयन्नाह—

णेरइयाणं तओ लेस्साओ पण्णत्ताओ, तं जहा–कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेसा १, असुरकुमाराणं तओ लेस्साओ संकिलिंट्ठाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा २ एवं ०जाव थणियकुमाराणं ११, एवं पुढवीकाइयाणं १२, आउवणस्सइकाइयाण वि १३–१४, तेउकाइयाणं १५, वाउकाइयाणं १६, बेइंदियाणं १७,तेइंदियाणं १८, चउरिंदियाण वि १९, तओ लेस्सा जहा णेरइयाणं । पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं तओ लेस्साओ संकिलिट्ठाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–कण्हलेस्सा नीललेसा काउलेसा२० । पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं तओ लेसाओ असंकिलिट्ठाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–तेउलेस्सा पम्हलेस्सा सुक्कलेसा, २१, एवं मणुस्साण वि २२, वाणमंतराणं जहा–असुरकुमाराणं २३, वेमाणियाणं तओ लेस्साओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तेउलेस्सा पम्हलेस्सा सुक्कलेस्सा २४ । [सू० १३२]

'नेरइयाणं' इत्यादि, दण्डकसूत्रं कण्ठ्यम्, नवरम् । ' नेरइयाणं तओ लेस्साओ' त्ति एतासामेव तिसृणां सद्भावादविशेषणो निर्देशः, असुरकुमाराणान्तु चतसृणां सद्भावात् संक्लिष्टा इति विशेषितं चतुर्थी हि तेषां तेजोलेश्याऽस्ति, किन्तु–सा न संक्लिष्टेति पृथिव्यादिष्वसुरकुमारसूत्रार्थमतिदिशन्नाह— ' एवं पुढवी ' इत्यादि पृथिव्यब्वनस्पतिषु देवोत्पादसम्भवाच्चतुर्थी तेजोलेश्याऽस्तीति सविशेषणो लेश्यानिर्देशोऽतिदिष्टः; तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु तु देवानुत्पत्त्या तदभावान्निर्विशेषण इति, अत एवाह—' तओ ' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च षडपीति संक्लिष्टाऽसंक्लिष्टविशेषणतश्चतुःसूत्री नवरं मनुष्यसूत्रेऽतिदेशनोक्त इति व्यन्तरसूत्रे संक्लिष्टा वाच्या अत एवोक्तम् । ' वाणमंतरे ' त्यादि । वैमानिकसूत्रं निर्विशेषणमेव, असंक्लिष्टस्यैव त्रयस्य सद्भावात्, व्यवच्छेद्याभावेन विशेषणायोगादिति ज्योति–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ष्कसूत्रं नोक्तम्, तेषां तेजोलेश्याया एव भावेन त्रिस्थानकानवतारादिति। स्था० ३ ठा० १ उ०।

(२०) लक्षणद्वारम्—

पंचासवप्पमत्तो, तीहि अगुत्तो छस्सु अविरओ य।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो॥ २१॥
निद्धंधसपरिणामा, निस्संसो अजिइंदिओ।
एयजोगसमाउत्तो, कण्हलेसं तु परिणमे॥ २२॥
इस्साअमरिसअतवो, अविज्जमाया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे, रसलोलुए सायगवेसए य॥ २३॥
आरंभा अविरओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो, नीललेसं तु परिणमे॥ २४॥
बंके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचग ओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए॥ २५॥
उप्फालगदुट्ठवाई य, तेणे अविय मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो, काउलेसं तु परिणमे॥ २६॥
नीआवित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं॥ २७॥
पियधम्मे दढधम्मे, वज्जभीरूहिए सए।
एयजोगसमाउत्तो, तेउलेसं तु परिणमे॥ २८॥
पयणुक्कोहमाणो य, मायालोभे य पयणए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं॥ २९॥
तहा य पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे॥ ३०॥
अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि साहए।
पसंतचित्ते, दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु॥ ३१॥
सरागे वीयरागे वा, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे॥ ३२॥

पञ्चाश्रवाः-हिंसादयस्तैः प्रमत्तः—प्रमादवान् पञ्चाश्रवप्रमत्तः पाठान्तरतः पञ्चाश्रवप्रवृत्तो वा अर्तास्त्रभिः प्रस्तावान्मनोवाक्कायैः अगुप्तः—अनियन्त्रितो मनोगुप्त्यादिरहित इत्यर्थः, तथा-षट्सु—पृथ्वीकायादिषु अविरतः-अनिवृत्तस्तदुपमर्दकत्वादेरिति गम्यते, अयं चातीव्रारम्भोऽपि स्यादत आह-तीव्रा-उत्कटाः स्वरूपतोऽध्यवसायतो वा आरम्भाः—सावद्यव्यापारास्तत्परिणतः—तत्प्रवृत्त्या तदात्मतां गतः, तथा—क्षुद्रः—सर्वस्यैवाहितैषी कार्पण्ययुक्तो वा, सहसा—अपर्यालोच्य गुणदोषान् प्रवर्त्तत इति साहसिकः, चौर्यादिकृदिति योऽर्थः, नरः—पुरुषः उपलक्षणत्वात्स्त्र्यादिर्वा 'णिद्धंधस' त्ति अत्यन्तमैहिकामुष्मिकापायशङ्काविकलोऽत्यन्तं जन्तुबाधानपेक्षो वा परिणामोऽध्यवसायो वा यस्य स तथा 'णिस्संसो' त्ति नृशंसः-निस्तृंशो जीवान् विहिंसन् मनागपि न शङ्कते, निःशंशो वा-परप्रशंसारहितः। अजितेन्द्रियः-अनिगृहीतेन्द्रियः; अन्ये तु पूर्वसूत्रोत्तरार्द्धस्थान इदमधीयते तच्चेहेति, उपसंहारमाह-एते च ते अनन्तरोक्ता योगाश्च-मनोवाक्कायव्यापारा एतद्योगाः-पञ्चाश्रवप्रमत्तत्वादयस्तैः समिति-भृशमाङित्यभिव्याप्त्या युक्तः-अन्वितः एतद्योगसमायुक्तः, कृष्णलेश्यां तुः—अवधारणे कृष्णलेश्यामेव परिणमेत्-तद्द्रव्यसाचिव्येन तथाविधद्रव्यसम्पर्कात्स्फटिकवत्तदुपरञ्जनात्तद्रूपतां भजेत्, उक्तं हि-"कृष्णादिद्रव्यसाचिव्या-त्परिणामो यं आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते॥१॥" एतेन पञ्चाश्रवप्रमत्तत्वादीनां भावकृष्णलेश्यायाः सद्भावोपदर्शनादमीषां लक्षणत्वमुक्तम्, यो हि यत्सद्भाव एव भवति स तस्य लक्षणं यथौष्ण्यमग्नेः, एवमुत्तरत्रापि लक्षणत्वभावना कार्या। नीललेश्यालक्षणमाह-ईर्ष्या च परगुणासहनम्, अमर्षश्च-अत्यन्ताभिनिवेशः, अतपश्च-तपोविपर्ययः अमीषां समाहारनिर्देशः, 'अविज्ज' त्ति अविद्या-कुशास्त्ररूपा माया-वञ्चनात्मिका अह्रीकता च-असमाचारविषया निर्लज्जता गृद्धिः-अभिकाङ्क्षा विषयेष्विति गम्यते, प्रद्वेषश्च-प्रद्वेषः मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वा सर्वत्र तद्वान् जन्तुरुच्यते अत एव शठः अलीकभाषणात् प्रमत्तः प्रकर्षेण जात्यादिमदासेवनात् पाठान्तरतः शठश्च मत्तः, तथा रसेषु लोलुपो-लम्पटो रसलोलुपः, सातं- सुखं तद्गवेषकश्च-कथं मम सुखं स्यादिति बुद्धिमान्, आरम्भात्-प्राण्युपमर्दात् अविरतः-अनिवृत्तः क्षुद्रः—साहसिको नरः, एतद्योगसमायुक्तो नीललेश्यां परिणमेत्, तुः-प्राग्वत् पुनरर्थो वा ४ वक्रः—वचसा 'वक्रसमाचारः' क्रियया, निकृतिमान्-मनसा, अनृजुकः-कथंचिदृजूकर्त्तुमशक्यतया 'पलिउंचग' त्ति प्रतिकुञ्चकः-स्वदोषप्रच्छादकतया उपधिः-छद्म तेन चरत्यौपधिकः, सर्वत्र व्याजतः प्रवृत्तेः, एकार्थिकानि चैतानि नानादेशजविनेयानुग्रहार्थोपात्तानि, मिथ्यादृष्टिरनार्यश्च प्राग्वत्, 'उप्फालग' त्ति उत्प्रासकं यथा पर उत्प्रास्यते दुष्टं च रागादिदोषवद्यथा भवत्येवं वदनशील उत्प्रासकदुष्टवादी, चः—समुच्चये स्तेनः—चौरः चः—प्राग्वत् अपि च—इति पूरणे मत्सरः परसम्पदसहनं सति वा वित्ते त्यागाभावः, तथा चाहुः शाब्दिकाः—" परसम्पदामसहनं, वित्ताऽत्यागश्च मत्सरो ज्ञेयः" इति, तद्वान् मत्सरी, एतद्योगसमायुक्तः कापोतलेश्यां 'तुः' इति पुनः परिणमेत्॥ 'णीयावित्ति' त्ति नीचैर्वृत्तिः—कायमनोवाग्भिरनुत्सिक्तः अचपलः-चापलानुपेतः अमायी—शाठ्यानन्वितः अकुतूहलः—कुहकादिष्वकौतुकवानत एव विनीतविनयः—स्वभ्यस्तगुर्वाद्युचितप्रतिपत्तिः, तथा दान्तः इन्द्रियदमेन योगः—स्वाध्यायादिव्यापारस्तद्वान्, उपधानवान्—विहितशास्त्रोपचारः प्रियधर्मा अभिरुचितधर्मानुष्ठानः दृढधर्मा—अङ्गीकृतव्रतादिनिर्वाहकः, किमित्येवम्?, यतः 'वज्ज' त्ति वर्ज्यम् प्राकृतत्वादकारलोपे अवद्यं चोभयत्र पापं तद्भीरुः हितैषकः-मुक्तिगवेषकः, पाठान्तरतो—हिताशयो वा-परोपकारचेताः पठ्यते च—'अणासवे' त्ति तत्र च न विद्यन्ते आश्रवा—हिंसादयो यस्यासावनाश्रवः, एतद्योगसमायुक्तस्तेजोलेश्यां तु परिणमेत्। प्रतनू—अतीवाल्पौ क्रोधमानौ यस्य स तथा, चः—पूरणे, माया लोभश्च उक्तरूपः। प्रतनुको यस्येति शेषः, अत एव प्रशान्तं—प्रकर्षेणोपशमवच्चित्तमस्येति प्रशान्तचित्तः, दान्तः-अहितप्रवृत्तिनिवारणतो वशीकृत आत्मा येन स तथा, योगवानुपधानवानिति च प्राग्वत्, तथा प्रतनुवादी-स्वल्पभाषकश्चश-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्दो भिन्नक्रमो योद्यत , उपशान्तः अनुद्भटतयोपशान्ताकृतिः जितेन्द्रियश्च-वशीकृतात्तः एतद्योगसमायुक्तः पद्मलेश्यां तु परिणमेत् ॥ आर्त्तरौद्रे-उक्तरूपे ध्याने-वर्जयित्वा-परिहृत्य धर्मशुक्ले-प्रागुक्ते एव शुभध्याने साधयेत्-सतताभ्यासतो निष्पादयेत् , यः कीदृशः सन् ? इत्याह-प्रशान्तचित्तो दान्तात्मेति च प्राग्वत् , पाठान्तरतश्च ध्यायति यो विनीतविनयो दान्तः समितः-समितिमान् गुप्तश्च-निरुद्धसमस्तव्यापारः गुप्तिभिः-मनोगुप्त्यादिभिः, तृतीयार्थे सप्तमी, स च सरागः-अक्षीणानुपशान्तकषायतया वीतरागो वा ततोऽन्य उपशान्तः, पाठान्तरतः शुद्धयोगो वा-निर्दोषव्यापारो जितेन्द्रियः प्राग्वत् , स एतद्योगसमायुक्तः शुक्ललेश्यां तु परिणमति, इह च शुभलेश्यासु केषाञ्चिद्विशेषणानां पुनरुपादानेऽपि लेश्यान्तरविषयत्वादपौनरुक्त्यम् , पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरेषां विशुद्धितः प्रकृष्टत्वं च भावनीयम् , विशिष्टलेश्या वाऽपेक्ष्यैतं लक्षणाभिधानमिति न देवादिभिर्व्यभिचार आशङ्कनीय इति द्वादशसूत्रार्थः ॥ उत्त० ३४ अ० ।

(२०) सम्प्रति प्रदेशद्वाराभिधित्सया प्राह-

कण्हलेसा णं भंते ! कतिपदेसिया पन्नत्ता ?, गोयमा ! अणंतपदेसिया पन्नत्ता,एवं०जाव सुक्कलेस्सा।(सू०२२६+)

'कण्हलेसा णं भंते ! कइपएसिया' इत्यादि सुगमम्,नवरमनन्तप्रदेशिकेति-अनन्तानन्तसंख्येयपेताः प्रदेशाः-तद्योग्याः परमाणवो यस्याः कृष्णलेश्यायाः कृष्णलेश्याद्रव्यसंघातस्य सा अनन्तप्रदेशिका,अन्यथा-अनन्तप्रदेशव्यतिरेकेण स्कन्धस्य जीवग्रहणयोग्यताया एवाभावात् , एवं नीलादयोऽपि लेश्या वक्तव्याः, तथा चाह-' एवं० जाव सुक्कलेसा ' इति ॥ प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० ।

अवगाहनाद्वारमाह—

कण्हलेस्सा णं भंते ! कतिपएसोगाढा पएणत्ता ?, गोयमा ! असंखेज्जा पएसोगाढा पएणत्ता, एवं० जाव सुक्कलेसा । (सू० २२६ ×)

' कण्हलेस्सा णं भंते ! ' इत्यादि इह प्रदेशाः—क्षेत्रप्रदेशाः प्रतिपत्तव्यास्तेष्वेवावगाहप्रसिद्धेः,ते चानन्तानामपि वर्गणानामाधारभूता असंख्येया एव द्रष्टव्याः सकलस्यापि लोकस्य प्रदेशानामसंख्यातत्वात् ।

वर्गणाद्वारमाह—

कण्हलेस्साए णं भंते ! केवतियाओ वग्गणाओ पएणत्ताओ ?, गोयमा ! अणंताओ वग्गणाओ, एवं० जाव सुक्कलेसाए । (सू० २२६ ×)

' कण्हलेसा णं भंते ! केवइयाओ वग्गणाओ पएणत्ताओ ' इत्यादि इह वर्गणा औदारिकशरीरप्रायोग्यपरमाणुवर्गणावत् कृष्णलेश्यायोग्यद्रव्यपरमाणुवर्गणा गृह्यन्ते ताश्च वर्णादिभेदेन सामानजातीयानामेकसद्भावादनन्ताः प्रत्येतव्याः, एवं नीललेश्यादीनामपि वर्गणाः प्रत्येकं वक्तव्यास्तथा चाह-'एवं० जाव सुक्कलेस्साए ' इत्यादि । प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० ।

(२१) अधुना स्थानद्वारमभिधित्सुराह-

केवतिया णं भंते ! कएहलेस्साणं ठाणा पन्नत्ता ?, गोयमा ! असंखेज्जा कएहलेस्साणं ठाणा पन्नत्ता, एवं० जाव सुक्कलेस्सा ।

' केवइया णं भंते ! कण्हलेसाणं ठाणा पन्नत्ता ' कियन्ति भदन्त ! कृष्णलेश्यास्थानानि—प्रकर्षापकर्षकृताः स्वरूपभेदाः प्रज्ञप्तानि ?, सूत्रे च पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् , इह यदा भावरूपाः कृष्णादयो लेश्याश्चिन्त्यन्ते तदा एकैकस्या लेश्यायाः प्रकर्षापकर्षकृतस्वरूपभेदरूपाणि स्थानानि कालतोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयप्रमाणानि क्षेत्रतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, उक्तं च—" अस्संखेज्जाणुस्स-प्पिणीए अवसप्पिणीए जे समया । संखाईया लोगा, लेस्साणं हौंति ठाणाइं ॥ १ ॥ " नवरमशुभानां संक्लेशरूपाणि शुभानां च विशुद्धरूपाणि, एतेषां च भावलेश्यागतानां स्थानानां यानि कारणभूतानि कृष्णादिद्रव्यवृन्दानि तान्यपि स्थानान्युच्यन्ते तान्येव चेह ग्राह्याणि, कृष्णादिद्रव्याणामेवेहोद्देशके चिन्त्यमानत्वात् , तानि च प्रत्येकमसंख्येयानि, तथाविधैकपरिणामनिबन्धनानामनन्तानामपि द्रव्याणामेकाध्यवसायहेतुत्वेनैकत्वात् , तानि च प्रत्येकं द्विविधानि, तद्यथा—जघन्यान्युत्कृष्टानि च, जघन्यलेश्यास्थानपरिणामकारणानि जघन्यानि, उत्कृष्टलेश्यास्थानपरिणामकारणान्युत्कृष्टानि, यानि तु मध्यमानि तानि जघन्यप्रत्यासन्नानि जघन्येष्वन्तर्भूतानि,उत्कृष्टप्रत्यासन्नानि तूत्कृष्टेषु, एकैकानि च स्वस्थाने परिणामगुणभेदतोऽसंख्येयानि, अत्र दृष्टान्तो-यथा स्फटिकमणेरलक्तकवशेन रक्तता भवति, सा च जघन्यरक्ततागुणालक्तकवशेन जघन्यरक्तता, एकगुणा-(धिका) लक्तकवशेनैकगुणाधिकजघन्या, एवमेकैकगुणवृद्धया जघन्यायामेव रक्ततायामसंख्येयानि स्थानानि भवन्ति, तानि च व्यवहारतः स्तोकगुणत्वात् सर्वाण्यपि जघन्यान्येवोच्यन्ते, एवमात्मनोऽपि जघन्यैकगुणाधिकद्विगुणाधिकलेश्याद्रव्योपधानवशतो लेश्यापरिणामविशेषा असंख्येया भवन्ति, ते च सर्वेऽपि व्यवहारतोऽल्पगुणत्वात् जघन्यव्यपदेशं लभन्ते, तत्कारणभूतानि च द्रव्याणामपि स्थानानि जघन्यानि, एवमुत्कृष्टान्यपि स्थानान्यसंख्येयानि भावनीयानि । प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० ।

ग्रन्थान्तरतः पुनः स्थानद्वारमाह—

अस्संखिज्जाणोस-प्पिणीण उस्सप्पिणीण जे समया ।
संखाईया लोगा, लेसाण हवंति ठाणाइं ॥ ३३ ॥

असंख्येयानां—संख्यातीतानाम् अवसर्पन्ति—प्रतिसमयं कालप्रमाणं जन्तूनां वा शरीरायुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य ह्रासमनुभवन्त्यवश्यमित्यवसर्पिण्यो दशसागरोपमकोटीकोटिपरिमाणास्तासां तथा तत्परिमाणानामेव उत्सर्पन्ति-उक्तन्यायतो वृद्धिमनुभवन्ति अवश्यमित्युत्सर्पिण्यस्तासां ये समयाः परमनिरुद्धकाललक्षणाः कियन्त इत्याह—संख्यातीताः पाठान्तरतोऽसंख्येया वा लोका असंख्येयलोकप्रमितत्वेन यथा दशप्रस्थप्रमितत्वेन व्रीहयो दशप्रस्थाः, ततोऽयमर्थः—असंख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणानि लेश्यानां भवन्ति स्थानानि प्रकर्षापकर्षकृतानि, अशुभानां संक्लेशरूपाणि, शुभानां च विशुद्धिरूपाणि तत्परिमाणानीति शेषः, यद्वा—असंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीनां ये समया ग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ष्यमानत्वात्तावन्ति लेश्यानां भवन्ति स्थानानीति कालतोऽसंख्याता लोका इति च क्षेत्रतः स्थानमानमेवोक्तमिति सूत्रार्थः ॥ उक्तं स्थानम्।

(२२) इदानीं स्थितिमाह—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तित्तीसा सागरा मुहुत्तऽहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा किएहलेसाए ॥ ३४ ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दस उदहिपलियमसंखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा नीललेसाए ॥ ३५ ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तिएणुदही पलियमसंखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा काउलेसाए ॥ ३६ ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दोएहुदहीपलियमसंखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा तेउलेसाए ॥ ३७ ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दसउदही होइ मुहुत्तमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा पम्हलेसाए ॥ ३८ ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तित्तीसं सागरा मुहुत्तहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥ ३९ ॥

मुहूर्त्तस्यार्द्धो मुहूर्त्तार्द्धः, तत्कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया, इह च समप्रविभागस्याविवक्षितत्वादन्तर्मुहूर्त्तमित्युक्तं भवति, तुः—अवधारणे, ततो मुहूर्त्तार्द्धमेव जघन्या 'तेत्तीस' त्ति—त्रयस्त्रिंशत् 'सागराइं' ति पदैकदेशेऽपि पद प्रयोगदर्शनात्सागरोपमाणि 'मुहुत्तऽहिय' त्ति इहोत्तरत्र च मुहूर्त्तशब्देन मुहूर्त्तैकदेश एवोक्तः, समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते, यथा-ग्रामो दग्धः पटो दग्धः इति, ततश्चान्तर्मुहूर्त्ताधिकान्युत्कृष्टा भवति स्थितिर्ज्ञातव्या कृष्णलेश्यायाः। इह चान्तर्मुहूर्त्तस्यासंख्येयभेदत्वादन्तर्मुहूर्त्तशब्देन पूर्वोत्तरभवसम्बन्ध्यन्तर्मुहूर्त्तद्वयमुक्तं द्रष्टव्यमेवमुत्तरत्रापि। मुहूर्त्तार्द्धस्तु जघन्या 'दश' ति दशसंख्यानि उदधय इत्युक्तन्यायेनोदध्युपमानि, कोऽर्थः?—सागरोपमाणि 'पलिय' त्ति तथैव पल्योपमं तस्यासंख्यभागस्तेनाधिकानि पल्योपमासंख्येयभागाधिकान्युत्कृष्टा भवति स्थितिर्ज्ञातव्या नीललेश्यायाः नन्वस्या धूमप्रभोपरितनप्रस्तट एव सम्भवः तत्र च 'अंतो मुहुत्तम्मि गए' त्यादिवक्ष्यमाणन्यायतः पूर्वोत्तरभवान्तर्मुहूर्त्तद्वयपल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिकदशसागरोपमपरिमाणैवासौ किं नोक्ता?, उच्यते, उक्तैव, पल्योपमासंख्येयभाग एव तस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तद्वयस्यान्तर्भावात्, तदसंख्येयभागानां चासंख्येयभेदत्वादिहैतावत्परिमाणस्यैवास्य विवक्षितत्वान्न विरोधः, एवमुत्तरत्रापि भावनीयम्। अक्षरसंस्कारस्तूत्तरेषु कृत एव, नवरं त्रय उदधयः सागरोपमाणि द्वावुदधी-द्वे सागरोपमे, दशोदधयो—दशसागरोपमाणि, 'तेत्तीसं' ति, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, पठन्ति च सर्वत्र 'मुहुत्तद्धाउ' त्ति तत्र मुहूर्त्त (र्चाधे) शब्देन प्राग्वदन्तर्मुहूर्त्तस्योक्तत्वादन्तर्मुहूर्त्तकालमिति सूत्रपदार्थः॥

सम्प्रति प्रकृतमुपसंहरन्नुत्तरग्रन्थसम्बन्धमाह—

एसा खलु लेसाणं, ओहेण ठिई उ वरिणया होई।
चउसु वि गईसु इत्तो, लेसाण ठिई उ वुच्छामि ॥४०॥

स्पष्टमेव, नवरम् ओघेन इति—सामान्येन गतिभेदाविवक्षयेति यावत्, चतसृष्वपि गतिषु—नरकगत्यादिषु प्रत्येकमिति शेषः, 'अतः' इत्योघस्थितिवर्णनानन्तरमिति सूत्रार्थः॥

प्रतिज्ञातमेवाह—

दसवाससहस्साइं, काऊइ ठिई जहन्निया होइ।
तिन्नोदहि पलियमसं-खेज्जभागं च उक्कोसा ॥ ४१ ॥
तिएणुदहीपलिओवम-मसंखभागो जहन्ननीलठिई।
दसउदहीपलिओवम-मसंखभागं च उक्कोसा ॥ ४२ ॥
दसउदहीपलिओवम-मसंखभागं जहन्निया होइ।
तित्तीससागराइं, उक्कोसा होइ किएहाए ॥ ४३ ॥
एसा नेरइयाणं, लेसाणं ठिई उ वरिणया होइ।
तेण परं वुच्छामि, तिरियमणुस्साण देवाणं ॥ ४४ ॥
अंतोमुहुत्तमद्धं, लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ।
तिरियाणं नराणं वा, वज्जित्ता केवलं लेसं ॥ ४५ ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ।
नवहिँ वरिसेहिँ ऊणा, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥४६॥
एसा तिरियनराणं, लेसाण ठिई उ वरिणया होइ।
तेण परं वुच्छामि, लेसाण ठिई उ देवाणं ॥ ४७ ॥
दसवाससहस्साइं, किएहाए ठिई जहन्निया होइ।
पलियमसंखिज्जइमो, उक्कोसो होइ किएहाए ॥ ४८ ॥
जा किएहाइ ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणँ नीलाए, पलियमसंखं च उक्कोसा ॥ ४९ ॥
जा नीलाइठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणँ काऊए, पलियमसंखं च उक्कोसा ॥ ५० ॥
तेण परं वुच्छामि, तेऊलेसा जहा सुरगणाणं।
भवणवइवाणमंतर-जोइसवेमाणियाणं च ॥ ५१ ॥
पलिओवमं जहन्ना, उक्कोसा सागरा उ दुराहऽहिया।
पलियमसंखिज्जेणं, होई भागेण तेऊए ॥ ५२ ॥
दसवाससहस्साइं, तेऊए ठिई जहन्निया होइ।
दुन्नुदही पलिओवम-असंखभागं च उक्कोसा ॥ ५३ ॥
जा तेऊए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणँ पम्हाए, दसमुहुत्ताऽहियाइं उक्कोसा ॥ ५४ ॥
जा पम्हाइ ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणँ सुक्काए, तित्तीसमुहुत्तमब्भहिया ॥ ५५ ॥

दशवर्षसहस्राणि कापोतायाः स्थितिर्जघन्यका भवति. त्रय उदधयः 'पलियमसंखेज्जभागं च' त्ति सूत्रत्वात् पल्योपमासङ्ख्येयभागं चोत्कृष्टा, पठन्ति च—'उक्कोसा तिन्नुदही, पलियमसंखेज्जभागाऽहिय' त्ति स्पष्टम्, इयं च जघन्या रत्नप्रभायाम्, तस्यां हि जघन्यतोऽपि दशवर्षसहस्राएयायुरिति, उत्कृष्टा च वालुकाप्रभायाम्, तत्राप्युपरितनप्रस्तटनारकाणामेव, तेषामेतावत्स्थितिकानामसा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विति भावनीयम् । त्रय उदधयः पल्योपमासंख्येयभागश्च, मकारस्यालाक्षणिकत्वात् चस्य गम्यमानत्वाज्जघन्या नीलायाः स्थितिर्दशोदधयः पल्योपमासंख्येयभागश्चोत्कृष्टा, इहापि जघन्या वालुकाप्रभायामेतावत्स्थितिकानामेव, उत्कृष्टा च धूमप्रभायामुपरितनप्रस्तटनारकाणाम्, तत्रापि येषामेतावती स्थितिरिति मन्तव्या, इहोत्तरत्र च पाठान्तरं दृश्यते, तत्र च जघन्यस्थितिः समयाधिकत्वमुक्तं तच्च न बुध्यत इति, न तद्व्याख्या, दशोदधयः पल्योपमासंख्येयभागो जघन्यिका भवति प्रक्रमात्स्थितिः कृष्णाया इति सम्बन्धः, अस्याश्च धूमप्रभायामेतावत्स्थितिकेष्वेव नारकेषु सम्भवः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः स्थितिरितीहापि प्रक्रमः, इयं च महातमःप्रभायाम्, तत्रैवैतावत्प्रमाणस्यायुषः संभवात्, इह च नारकाणामुत्तरत्र च देवानां द्रव्यलेश्यास्थितिरेवैवं चिन्त्यते तद्भावलेश्यानां परिवर्त्तमानतया अन्यथाऽपि स्थितेः सम्भवात्, उक्तं हि—" देवाण नारयाण य, दव्वलेसा भवंति एयाओ । भावपरावत्तीए, सुरणेरइयाण छल्लेसा ॥ १ ॥ " पूर्वोक्तं निगमयन्नुत्तरं च ग्रन्थं प्रस्तावयन्निदमाह—एषा—अनन्तरोक्ता निरये भवा नैरयिकास्तेषां संबन्धिनीनां लेश्यानां स्थितिः—अवस्थितिः तुः—पूरणे, वर्णिता—आख्याता भवति ' तेण ' त्ति सूत्रत्वात् ततः परमिति—अग्रतो वक्ष्यामि प्रक्रमाल्लेश्यानां स्थितिम्, तिर्यग्मनुष्याणां तथा—देवानाम् ॥ यथाप्रतिज्ञातमेवाह-' अंतोमुहुत्तमद्धं ' ति अन्तर्मुहूर्त्ताद्धाम्—अन्तर्मुहूर्त्तकालं लेश्यानां स्थितिर्जघन्योत्कृष्टा चेति शेषः, कतराऽसौ ? इत्याह—यस्मिन् इति-पृथिवीकायादौ संमूर्च्छिममनुष्यादौ च याः कृष्णाद्याः तुः—पूरणे तिरश्चां मनुष्याणां मध्ये संभवन्ति तासाम्, एता हि क्वचित्काश्चित्संभवन्ति, यत आगमः—" पुढवीकाइया णं भंते ! कइ लेसाओ पन्नत्ताओ ?, गोयमा ! चत्तारि लेसाओ, तं जहा—कण्हलेसा॰ जाव तेउलेसा, आउवणप्फइकाइयाण वि एवं चेव, तेउवाउवेइंदियतेइंदियचउरिंदियाण जहा नेरइयाणं, पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, गोयमा ! छ लेसाओ कण्हा॰ जाव सुक्कलेसा । मणुस्साणं पुच्छा, गोयमा ! छ एयाओ चेव संमुच्छिममणुस्साणं पुच्छा, गोयमा ! जहा नेरइयाणं " ॥ नन्वेवं शुक्ललेश्याया अप्यन्तर्मुहूर्त्तमेव स्थितिः प्राप्तेत्याशङ्क्याह—वर्जयित्वा केवलां शुद्धां लेश्यां शुक्ललेश्यामिति यावत् अस्याश्च यावती स्थितिस्तामाह-' मुहुत्तऽद्धं तु ' त्ति प्राग्वदन्तर्मुहूर्त्तमेव जघन्या उत्कृष्टा भवति पूर्वकोटी तुः—विशेषणे, स च जघन्यस्थित्यपेक्षयाऽस्या उक्तमेव विशेषं द्योतयति, नवभिर्वर्षैर्न्यूना ज्ञातव्या शुक्ललेश्यायाः स्थितिरिति प्रक्रमः, इह च यद्यपि कश्चित्पूर्वकोट्यायुरष्टवार्षिक एव व्रतपरिणाममाप्नोति तथाऽपि नैतावद्वयःस्थस्य वर्षपर्यायादर्वाक् शुक्ललेश्यायाः सम्भव इति नवभिर्वर्षैर्न्यूना पूर्वकोटिरुच्यते । ' एसा ' सूत्रं स्पष्टमेव । प्रतिज्ञातानुरूपमाह-दशवर्षसहस्राणि कृष्णायाः स्थितिर्जघन्यका भवति, भवनपतिव्यन्तरेषु चास्याः सम्भवस्तेषामेव । जघन्यतोऽप्येतावत्स्थितिकत्वात्, उक्तं च-" दसभवणवणयराणं वाससहस्सा ठिई जहन्नेणं " ति, ' पलियमसंखेज्जइमो ' त्ति पल्योपमासंख्येयतमः प्रस्तावाद् भाग उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः स्थितिरिति प्रक्रमः, एवंविधविमध्यमायुषामेव भवनपतिव्यन्तराणामियं द्रष्टव्या । सम्प्रति नीलायाः स्थितिमाह—या कृष्णायाः स्थितिः ' खलुः—वाक्यालङ्कारे ' उत्कृष्टा—अनन्तरमुक्तरूपा ' सा उ ' त्ति सैव ' समयमब्भहिय ' त्ति समयाभ्यधिका जघन्येन नीलायाः, ' पलियमसंखिज्ज ' त्ति प्राग्वत्पल्योपमासंख्येयश्च भाग उत्कृष्टा स्थितिर्नवरमुक्तहेतोरेव बृहत्तरोऽयमसंख्येयभागो गृह्यते । या नीलायाः स्थितिः खलूत्कृष्टा ' सा उ ' त्ति सैव समयाभ्यधिका जघन्येन कापोतायाः पल्योपमासंख्येयश्च भाग उत्कृष्टा स्थितिः, एतावदायुषामेव भवनपतिव्यन्तराणामिमे मन्तव्ये, इहाप्युक्तहेतोरेव पूर्वस्माद् बृहत्तरोऽसंख्यातभागः परिगृह्यते । इत्थं निकायद्वयभाविनीमाद्यलेश्यात्रयस्थितिमुपदर्श्य समस्तनिकायभाविनीं तेजोलेश्यास्थितिमभिधातुं प्रतिज्ञासूत्रमाह—' तेण ' त्ति ततः परं प्रवक्ष्यामि तेजोलेश्याम्, ' यथे ' ति—येनावस्थानप्रकारेण सुरगणानां भवति तथेत्युपस्कारः, किमन्यतरनिकायानामेवामीषामुतान्यथेत्याह—भवनपतिवाणमन्तरज्योतिर्वैमानिकानां चतुर्निकायानामिति योऽर्थः, चः—पूरणे, प्रतिज्ञातमेवाह—पल्योपमं जघन्या उत्कृष्टा ' सागर ' त्ति सागरोपमे तुः—प्राग्वत् द्वे—द्विसंख्ये अधिके—अर्गले, कियतेत्याह—पल्योपमासंख्येयेनेति योगः, भवति तैजस्याः स्थितिरिति प्रक्रमः, इयं च सामान्योपक्रमेऽपि वैमानिकनिकायविषयतयैव नेया, तत्र च सौधर्मेशानदेवानां जघन्यत उत्कृष्टतश्चैतावदायुषः सम्भवात्, उपलक्षणं चैतच्छेषनिकायतेजोलेश्यास्थितेः, ततश्च भवनपतिव्यन्तराणां जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टतस्तु भवनपतीनां सागरोपममधिकं, व्यन्तराणां च पल्योपमं, ज्योतिष्काणां तु जघन्यतः पल्योपमाष्टभागः, उत्कृष्टतस्तु वर्षलक्षाधिकं पल्योपमम्, एतावन्मात्राया एवैषां जघन्यत उत्कृष्टतश्चायुःस्थितेः सम्भवात् । ' दसवाससहस्साइं, ' इत्यादि स्पष्टमेव, नवरमनेन निकायभेदमनङ्गीकृत्यैव लेश्यास्थितिरुक्ता । इह च दशवर्षसहस्राणि जघन्या तेजस्याः स्थितिरभिहिता, प्रक्रमानुरूप्येण तु योत्कृष्टा कापोतायाः स्थितिरसावेवास्याः समयाधिका प्राप्नोति, अधीयते च केचनानन्तरसूत्रत्रयस्थाने ' जा काऊइ ठिई खलु उक्कोसे ' त्यादि तदत्र तत्त्वं न विद्मः । पद्मायाः स्थितिमाह—या तेजस्याः स्थितिः खलूत्कृष्टा ' सा उ ' त्ति सैव समयाभ्यधिका जघन्येन पद्मायाः स्थितिरिति प्रक्रमः, ' दश तु ' इति दशैव प्रस्तावात्सागरोपमाणि मुहूर्त्ताधिकान्युत्कृष्टा, इयं च जघन्या सनत्कुमार उत्कृष्टा च ब्रह्मलोके, तयोरेवैतदायुष्कसंभवात्, आह—यदीहान्तर्मुहूर्तमधिकमुच्यते ततः पूर्वत्रापि किं न तदधिकमुच्यते ? देवभवलेश्याया एव तत्र विवक्षितत्वात्, प्रतिज्ञातं हि ' तेण परं वोच्छामि, लेसाण ठिई तु देवाणं ' ति, एवं सतीहान्तर्मुहूर्ताधिकत्वं विरुध्यते, न अभिप्रायापरिज्ञानात्, अत्र हि प्रागुत्तरभवलेश्याऽपि " अन्तोमुहुत्तम्मि गए " त्ति वचनाद्देवभवसम्बन्धिन्येवेति प्रदर्शनार्थमित्थमुक्तमिति न विरोध इति भावनीयम् । शुक्ललेश्यास्थितिमाह-या पद्मायाः स्थितिः खलूत्कृष्टा ' सा उ ' त्ति सैव समयाभ्यधिका जघन्येन शुक्लायाः स्थितिरिति प्रक्रमः, त्रयस्त्रिं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शत् 'मुहुत्तमब्भहिये' त्ति प्रागवन्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि सागरोपमाण्युत्कृष्टेति गम्यते अस्याश्च लान्तकाभिधानषष्ठदेवलोकात्प्रभृति यावत्सर्वार्थसिद्धस्तावत्संभवः, अत्रैवैतावदायुषः सद्भाव इति कृत्वेति पञ्चदशसूत्रार्थः। उत्त० ३४ अ०।

(२३) संप्रति अल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते! कण्हलेस्साठाणाणं ०जाव सुक्कलेसाठाणाण य जहन्नगाणं दव्वट्ठयाए, पएसट्ठयाए, दव्वट्ठपएसट्ठयाए, कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा जहन्नगा काउलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए जहन्नगा नीललेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नगा कण्हलेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नतेउलेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नगा पम्हलेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नगा सुक्कलेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा पएसट्ठयाए सव्वत्थोवा जहन्नगा काउलेसाठाणा पएसट्ठयाए असंखे ०जहन्नगा नीललेसाठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नगा कण्हलेसाठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नतेउलेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नगा पम्हलेसाठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नगा सुक्कलेसाठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा॥ दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवा जहन्नगा काउलेसाठाणा दव्वट्ठयाए जहन्नगा नीललेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा॥ एवं कण्हलेसाठाणा तेउलेसाठाणा पम्हलेसाठाणा जहन्नगा सुक्कलेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नएहिंतो सुक्कलेसाठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए जहन्नकाउलेसाठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नया नीललेसाठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा एवं ०जाव सुक्कलेस्साठाणा। एतेसि णं कण्हलेस्साठाणाणं ०जाव सुक्कलेस्साठाणाण य उक्कोसगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा उक्कोसगा काउलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए उक्कोसगा नीललेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं जहेव जहन्नगा तहेव उक्कोसगा वि नवरं उक्कोस त्ति अभिलावो। एतेसि णं भंते! कण्हलेस्साठाणाणं ०जाव सुक्कलेस्साठाणाण य जहन्नउक्कोसगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा जहन्नगा काउलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए जहन्नया नीललेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। एवं कण्हतेउपम्हलेसट्ठाणा जहन्नगा सुक्कलेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहन्नएहिंतो सुक्कलेसट्ठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए उक्कोसा काउलेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा उक्कोसा नीललेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा एवं कण्हतेउपम्ह ०उक्कोसा सुक्कलेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। पएसट्ठयाए सव्वत्थोवा जहन्नगा काउलेसट्ठाणा पएसट्ठयाए जहन्नगा नीललेसट्ठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा एवं जहेव दव्वट्ठयाए तहेव पएसट्ठयाए वि भाणियव्वं, नवरं पएसट्ठयाए त्ति अभिलावविसेसो, दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवा जहन्नगा काउलेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए जहन्नगा नीललेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा एवं कण्हतेउपम्ह ०जहन्नया सुक्कलेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नएहिंतो सुक्कलेसाठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए उक्कोसा काउलेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा उक्कोसा नीललेस्सट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा एवं कण्हतेउपम्ह ०उक्कोसगा सुक्कलेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा उक्कोसएहिंतो सुक्कलेसट्ठाणे ०दव्वट्ठयाए जहन्नगा काउलेसट्ठाणा पएसट्ठयाए अणंतगुणा, जहन्नगा नीललेसट्ठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा एवं कण्हतेउपम्ह ०जहन्नगा सुक्कलेसट्ठाणा असंखेज्जगुणा, जहन्नएहिंतो सुक्कलेसाठाणेहिंतो पएसट्ठयाए उक्कोसगा काउलेसाठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा उक्कोसया नीललेसाठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हतेउपम्ह ०उक्कोसया सुक्कलेसाठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा। (सू० २३०)

'एएसि णं भंते!' इत्यादि, इह त्रीणि अल्पबहुत्वानि, तद्यथा—जघन्यस्थानविषयम्, उत्कृष्टस्थानविषयम्, उभयस्थानविषयं च। एकैकमपि त्रिविधम्, तद्यथा-द्रव्यार्थतया प्रदेशार्थतया उभयार्थतया च। तत्र जघन्यस्थानविषये द्रव्यार्थतायां प्रदेशार्थतायां च प्रत्येकं कापोतनीलकृष्णतेजःपद्मशुक्ललेश्यास्थानानि क्रमेण यथोत्तरमसंख्येयगुणानि वक्तव्यानि, उभयार्थतायां प्रथमतो द्रव्यार्थतया कापोतनीलकृष्णतेजःपद्मशुक्ललेश्यास्थानानि क्रमेण यथोत्तरमसंख्येयगुणानि वक्तव्यानि, ततः शुक्ललेश्यास्थानानन्तरं प्रदेशार्थतया कापोतलेश्यास्थानानि अनन्तगुणानि वक्तव्यानि, तदनन्तरं नीलकृष्णतेजःपद्मशुक्ललेश्यास्थानानि क्रमेण प्रदेशार्थतया यथोत्तरमसंख्येयगुणानि, एवमुत्कृष्टान्यपि स्थानानि द्रव्यार्थतया प्रदेशार्थतया उभयार्थतया च चिन्तयितव्यानि, तथा चाऽऽह—'एवं जहेव जहन्नगा तहेव उक्कोसगा वि नवरमुक्कोस त्ति अभिलावो' इति। जघन्योत्कृष्टस्थानसमुदायविषये त्वल्पबहुत्वे प्रथमतो जघन्यानि द्रव्यार्थतया कापोतनीलकृष्णतेजःपद्मशुक्ललेश्यास्थानानि क्रमेण यथोत्तरमसंख्येयगुणानि वक्तव्यानि, तदनन्तरं जघन्यशुक्ललेश्यास्थानेभ्य उत्कृष्टानि कापोतनीलकृष्णतेजःपद्मशुक्ललेश्यास्थानानि क्रमेण द्रव्यार्थतयैव यथोत्तरमसंख्येयगुणानि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाच्यानि, एवं प्रदेशार्थतयाऽपि जघन्योत्कृष्टस्थानविषयमल्पबहुत्वं भावनीयम्, तथा चाह—' एवं जहेव दव्वट्ठयाए तहेव पएसट्ठयाए वि भाणियव्वं, नवरं ' पएसट्ठयाए ' त्ति ' अभिलावे विसेसो ' इति, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतायां प्रथमतो द्रव्यार्थतया जघन्यानि कापोतनीलकृष्णतेजःपद्मशुक्ललेश्यास्थानानि क्रमेण यथोत्तरमसंख्येयगुणानि वक्तव्यानि ततो जघन्येभ्यः शुक्ललेश्यास्थानेभ्यः उत्क्रमेणैव चोत्कृष्टानि स्थानानि द्रव्यार्थतया यथोत्तरमसंख्येयगुणानि वाच्यानि तत उत्कृष्टेभ्यः शुक्ललेश्यास्थानेभ्यो जघन्यानि कापोतलेश्यास्थानानि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि वक्तव्यानि ततः प्रदेशार्थतयैव जघन्यानि नीलकृष्णतेजःपद्मशुक्ललेश्यास्थानानि यथोत्तरमसंख्येयगुणानि एवमुत्कृष्टस्थानान्यपि उत्क्रमेणैव यथोत्तरमसंख्येयगुणानि वक्तव्यानीति । प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० ।

(२४) साम्प्रतमायुर्द्वारावसरः,तत्र च यस्या लेश्याया यदायुषो मानं तत्स्थितिद्वार एवार्थतोऽभिहितम्, इह त्विदमुच्यते अवश्यं हि जन्तुर्यल्लेश्येषूत्पद्यते तल्लेश्य एव म्रियते, यत आगमः—" जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसो उववज्जइ " त्ति, तथेहैव वक्ष्यति " अंतो मुहुत्तम्मि गए " इत्यादि तत्र जन्मान्तरभाविलेश्यायाः किं प्रथमसमये परभवायुष उदय आहोस्विच्चरमसमयेऽन्यथा वेति संशयापनोदनायाह—

लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥ ५८ ॥
लेसाहिं सव्वाहिं, चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥५९॥
अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहिँ परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥ ६० ॥

लेश्याभिः—उक्तरूपाभिः सर्वाभिः इति-षड्भिरपि प्रथमे समये तत्प्रतिपत्तिकालापेक्षया परिणताभिः—प्रस्तावादात्मरूपतामापन्नाभिः, लक्षणे तृतीया, तुः—पूरणे, न हु—नैव कस्यापि 'उववत्ति' त्ति उत्पत्तिः-उत्पादः, पठ्यते-'न वि कस्स वि उववाओ' त्ति सुगमम्,परे-अन्यस्मिन् भवे-जन्मनि भवति-विद्यते जीवस्य-जन्तोः, तथा लेश्याभिः सर्वाभिः चरमे समये इति—अन्तसमये परिणताभिस्तु न हु—नैव कस्याप्युत्पत्तिः परे भवे भवति जीवस्य । कदा तर्हि ? इत्याह-अन्तर्मुहूर्त्ते गत एव—अतिक्रान्त एव, तथाऽन्तर्मुहूर्त्ते शेषके चैव-अवतिष्ठमान एव लेश्याभिः परिणताभिरुपलक्षिता जीवा गच्छन्ति परलोकम्-भवान्तरम्, इत्थं चैतन्मृतिकाले भाविभवलेश्याया उत्पत्तिकाले वाऽतीतभवलेश्याया अन्तर्मुहूर्त्तमवश्यं भावात्, न त्विह विपरीतमवधार्यतेअन्तर्मुहूर्त्ते एव गत इत्यन्तर्मुहूर्त्ते एव शेषक इति च, देवनारकाणां स्वस्वलेश्यायाः प्रागुत्तरभवान्तर्मुहूर्त्तद्वयसहितनिजायुःकालं यावदवस्थितत्वात्, उक्तं हि प्रज्ञापनायाम्—" जल्लेसाइं दव्वाइं आयतित्ता कालं करेति तल्लेसेसु उववज्जइ" त्ति, तथा 'कण्हलेसे णेरतिए कण्हलेसेसु णेरइएसु उववज्जति कण्हलेसेसु उव्वट्टइ ' " जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उव्वट्टति" एवं नीललेसे वि, काउलेसे वि,एवं-असुरकुमारा० जाव वेमाणिय' त्ति, अनेनान्तर्मुहूर्त्तावशेष आयुषि परभवलेश्यापरिणाम इत्युक्तं भवतीति सूत्रत्रयार्थः ।

इत्थं लेश्यानां नामाद्यभिधाय साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुरुपदेशमाह—

तम्हा एयासि लेसाणं, अणुभावं वियाणिया ।
अप्पसत्था उ वज्जित्ता,पसत्थाओऽहिट्ठए मुणी ॥६१॥

' तम्ह ' त्ति यस्मादेता अप्रशस्ता दुर्गतिहेतवः प्रशस्ताश्च सुगतिहेतवस्तस्मात् एतासाम्—अनन्तरमुक्तानां लेश्यानाम् अनुभागम्-उक्तरूपं विज्ञाय-विशेषेणावबुध्य अप्रशस्ताः—कृष्णाद्यास्तिस्रो वर्जयित्वा प्रशस्ताः—तैजस्याद्यास्तिस्रः अधितिष्ठेत्—भावप्रतिपत्त्याऽऽश्रयेन्मुनिरिति शेष इति सूत्रार्थः । उत्त० ३४ अ० ।

(२५) कृष्णलेश्या नीललेश्यां प्राप्य न तद्रूपतया-परिणमतीत्याह—

कइ णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ ?, गोयमा ! छ लेस्साओ पन्नत्ताओ,तं जहा-कण्हलेसा०जाव सुक्केलेसा । से नूणं भंते ! कण्हलेसा नीललेसं पप्प तारूवत्ताए तावन्नत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति, इत्तो आढत्तं जहा चउत्थओ उद्देसओ तहा भाणियव्वं०जाव वेरुलियमणिदिट्ठंतो त्ति ॥ से नूणं भंते ! कण्हलेसा नीललेसं पप्प णो तारूवत्ताए०जाव णो ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ ?, हंता गोयमा ! कण्हलेसा नीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए णो तावन्नत्ताए णो तागंधत्ताए णो तारसत्ताए णो ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?, गोयमा ! आगारभावमायाए वा से सिया पलिभागभावमायाए वा से सिया कण्हलेस्सा णं सा णो खलु नीललेसा तत्थ गया ओसक्कइ उस्सक्कइ वा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ कण्हलेसा नीललेसं पप्प णो तारूवत्ताए० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति, से नूणं भंते ! नीललेसा काउलेसं पप्प णो तारूवत्ताए० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?, हंता गोयमा ! नीललेसा काउलेसं पप्प णो तारूवत्ताए० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-नीललेसा काउलेसं पप्प णो तारूवत्ताए० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?, गोयमा ! आगारभावमायाए वा सिया पलिभागभावमायाए वा सिया नीललेस्सा णं सा णो खलु सा काउलेसा तत्थ गया ओसक्कइ उस्सक्कति वा, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ नीललेसा काउलेसं पप्प णो तारूवत्ताए० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति, एवं काउलेसा तेउलेसं पप्प तेउलेसा पम्हलेसं पप्प पम्हलेसा सुक्केलेसं पप्प, से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नूणं भंते ! सुक्कलेसा पम्हलेसं पप्प णो तारूवत्ताए० जाव परिणमति ?, हंता गोयमा ! सुक्कलेसा तं चेव, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति-सुक्कलेसा ० जाव णो परिणमति ?, गोयमा ! आगारभावमायाए वा० जाव सुक्कलेसा णं सा णो खलु सा पम्हलेसा तत्थ गया ओसक्कइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव णो परिणमइ । (सू० २३१)

'कइ णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ' इत्यादि, चतुर्थोद्देशकवत् तावद्वक्तव्यं यावद्वैडूर्यमणिदृष्टान्तः, व्याख्या च प्राग्वदेव निरवशेषा कर्त्तव्या, प्रागुपन्यस्तस्याप्यस्य सूत्रस्य पुनरुपन्यासोऽग्रेतनसूत्रसम्बन्धार्थः, तदेव सूत्रमाह-' से नूणं भंते !' इत्यादि, इह तिर्यङ्मनुष्यविषयं सूत्रमनन्तरमुक्तम्, इदं तु देवनैरयिकविषयमवसेयम्, देवनैरयिका हि पूर्वभवगतचरमान्तर्मुहूर्त्तादारभ्य यावत् परभवगतमाद्यमन्तर्मुहूर्त्तं तावदवस्थितलेश्याकाः, ततोऽमीषां कृष्णादिलेश्याद्रव्याणां परस्परसम्पर्केऽपि न परिणम्यपरिणामकभावो घटते ततः सम्यगधिगमाय प्रश्नयति—'से नूणं भंते !' इत्यादि, सेशब्दोऽथशब्दार्थः, स च प्रश्ने, अथ नूनम्—निश्चितं भदन्त ! कृष्णलेश्याः कृष्णलेश्याद्रव्याणि नीललेश्या नीललेश्याद्रव्याणि प्राप्य, प्राप्तिरिह प्रत्यासन्नत्वमात्रं गृह्यते न तु परिणम्यपरिणामकभावेनान्योऽन्यसंश्लेषः, तद्रूपतया-तदेव-नीललेश्याद्रव्यगतं रूपम्-स्वभावो यस्य कृष्णलेश्यास्वरूपस्य तत्तद्रूपं तद्भावस्तद्रूपता तया, एतदेव व्याचष्टे-न तद्वर्णतया न तद् गन्धतया न तद्रसतया न तत्स्पर्शतया भूयो भूयः परिणमते, भगवानाह-हन्तेत्यादि, हन्त गौतम ! कृष्णलेश्येत्यादि, तदेव, ननु यदि न परिणमते तर्हि कथं सप्तमनरकपृथिव्यामपि सम्यक्त्वलाभः, स हि तेजोलेश्यादिपरिणामे भवति सप्तमनरकपृथिव्यां च कृष्णलेश्येति, कथं चैतद् वाक्यं घटते ? 'भावपरावत्तीए पुण सुरनेरइयाणं पि छल्लेसा' इति लेश्यान्तरद्रव्यसम्पर्कतस्तद्रूपतया परिणामाऽसम्भवेन भावपरावृत्तेरेवायोगात्, अत एव तद्विषये प्रश्ननिर्वचनसूत्रे आह—'से केणट्ठेणं भंते !' इत्यादि तत्र प्रश्नसूत्रं सुगमं निर्वचनसूत्रम्—आकारः—तच्छायामात्रमाकारस्य भावः-सत्ता आकारभावः स एव मात्रा आकारभावमात्रा तया आकारभावमात्रया, मात्राशब्द आकारभावातिरिक्तपरिणामान्तरप्रतिपत्तिव्युदासार्थः, 'से' इति—सा कृष्णलेश्या नीललेश्यारूपतया, स्यात्, यदि वा—प्रतिभागः-प्रतिबिम्बमादर्शादाविव विशिष्टः प्रतिबिम्ब्यवस्तुगत आकारः प्रतिभाग एव प्रतिभागमात्रा तया, अत्रापि मात्राशब्दः प्रतिबिम्बातिरिक्तपरिणामान्तरव्युदासार्थः स्यात्, कृष्णलेश्या नीललेश्यारूपतया, परमार्थतः पुनः कृष्णलेश्यैव नो खलु नीललेश्या सा, स्वस्वरूपापरित्यागात् न खल्वादर्शादयो जपाकुसुमादिसन्निधानतस्तत्प्रतिबिम्बमात्रामादधाना नादर्शादय इति परिभावनीयमेतत्, केवलं सा कृष्णलेश्या तत्र-स्वस्वरूपे गता-अवस्थिता सती उत्ष्वष्कते तदाकारभावमात्रधारणतस्तत्प्रतिबिम्बमात्रधारणतो वोत्सर्प्पतीत्यर्थः, कृष्णलेश्यातो हि नीललेश्या विशुद्धा ततस्तदाकारभावं तत्प्रतिबिम्बिमात्रं वा दधाना सती मनाक् विशुद्धा भवतीत्युत्सर्पतीति व्यपदिश्यते' उपसंहारवाक्यमाह—'से एएणट्ठेणं' मित्यादि, सुगमम् । एवं नीललेश्याया कापोतलेश्यामधिकृत्य कापोतलेश्यायास्तेजोलेश्यामधिकृत्य तेजोलेश्यायाः पद्मलेश्यामधिकृत्य पद्मलेश्यायाः शुक्लेश्यामधिकृत्य सूत्राणि भावनीयानि, सम्प्रति पद्मलेश्यामधिकृत्य शुक्लेश्याविषयं सूत्रमाह—'से नूणं भंते ! सुक्कलेसा पम्हलेसं पप्प' इत्यादि, एतच्च प्राग्वद् भावनीयम्, नवरं शुक्लेश्यापेक्षया पद्मलेश्या हीनपरिणामा ततः शुक्ललेश्या पद्मलेश्याया आकारभावं तत्प्रतिबिम्बमात्रं वा भजन्ती मनागविशुद्धा भवति, ततोऽवष्वष्कते इति व्यपदिश्यते, एवं तेजःकापोतनीलकृष्णलेश्याविषयाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि,ततः पद्मलेश्यामधिकृत्य तेजःकापोतनीलकृष्णलेश्याविषयाणि तेजोलेश्यामधिकृत्य कापोतनीलकृष्णविषयाणि कापोतलेश्यामधिकृत्य नीलकृष्णलेश्याविषये नीललेश्यामधिकृत्य कृष्णलेश्याविषयमिति, अमूनि च सूत्राणि साक्षात् पुस्तकेषु न दृश्यन्ते केवलमर्थतः प्रतिपत्तव्यानि, तथा मूलटीकाकारेण व्याख्यानात्, तदेवं यद्यपि देवनैरयिकाणामवस्थितानि लेश्याद्रव्याणि तथापि तत्तदुपादीयमानलेश्यान्तरद्रव्यसम्पर्कतः तान्यपि तदाकारभावमात्रां भजन्ते इति भावपरावृत्तियोगः षडपि लेश्या घटन्ते, ततः सप्तमनरकपृथिव्यामपि सम्यक्त्वलाभ इति न कश्चिद्दोषः । प्रज्ञा० १७ पद ५ उ० ।

(२६) मनुष्यादिगतलेश्यासंख्यामाह—

कति णं भंते ! लेसा पन्नत्ता ?, गोयमा ! छ लेसा पन्नत्ता, तं जहा-कण्हलेसा ०जाव सुक्कलेसा, मणुस्साणं भंते ! कइ लेसा पण्णत्ता ?, गोयमा ! छ लेस्साओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्हलेसा ०जाव सुक्कलेसा, मणुस्सीणं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्हा ० जाव सुक्का, कम्मभूमयमणुस्साणं भंते ! कइ लेसाओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा ! छ लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्हा ०जाव सुक्का, एवं कम्मभूमयमणुस्सीण वि । भरहेरवयमणुस्साणं भंते ! कति लेसाओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा ! छ लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्हा ०जाव सुक्का, एवं मणुस्सीण वि, अकम्मभूमयमणुस्साणं पुच्छा, गोयमा ! चत्तारि लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्हा ० जाव तेउलेसाओ एवं अकम्मभूमिगमणुस्सीण वि, एवं अंतरदीवमणुस्साणं, मणुस्सीण वि, एवं हेमवयएरन्नवयअकम्मभूमयमणुस्साणं, मणुस्सीण य कइ लेसाओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा ! चत्तारि, लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्हा ० जाव तेउलेसा, हरिवासरम्मयअकम्मभूमयमणुस्साणं मणुस्सीण य पुच्छा, गोयमा ! चत्तारि, तं जहा-कण्हा ० जाव तेउलेसा, देवकुरुउत्तर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुरुअकम्मभूमयमणुस्सा एवं चेव, एतेसिं चेव मणुस्सीणं एवं चेव, धायइसंडपुरिमऽद्धे वि एवं चेव, पच्छिमऽद्धे वि एवं पुक्खरदीवे वि भाणियव्वं। कण्हलेसे णं भंते! मणुस्से कण्हलेसं गब्भं जा (ज)णेज्जा?, हंता गोयमा! जाणेज्जा, कण्हलेसा मणुस्से नीललेसं गब्भं जाणेज्जा?, हंता गोयमा! जाणेज्जा, ०जाव सुक्कलेसं गब्भं जाणेज्जा, नीललेसा मणुस्से कण्हलेसं गब्भं जाणेज्जा? हंता गोयमा! जाणेज्जा, एवं नीललेसा मणुस्से ०जाव सुक्कलेसं गब्भं जाणेज्जा, एवं काउलेसेणं छप्पि आलावगा भाणियव्वा, तेउलेसाए वि, पम्हलेसाए वि, सुक्कलेसाए वि, एवं छत्तीसं आलावगा भाणियव्वा, कण्हलेसा इत्थिया कण्हलेसं गब्भं जाणेज्जा?, हंता गोयमा! जाणेज्जा, एवं एते वि छत्तीसं आलावगा भाणियव्वा कण्हलेसा णं भंते! मणुस्से कण्हलेसाए इत्थियातो कण्हलेसं गब्भं जाणेज्जा?, हंता गोयमा! जाणेज्जा, एवं एते छत्तीसं आलावगा, कम्मभूमगकण्हलेसे णं भंते! मणुस्से कण्हलेसाए इत्थियाए कण्हलेसं गब्भं जाणेज्जा?, हंता गोयमा! जाणेज्जा, एवं एते छत्तीसं आलावगा भाणियव्वा, अकम्मभूमयकण्हलेसा मणुस्सा अकम्मभूमयकण्हलेसाए इत्थियाए अकम्मभूमयकण्हलेसं गब्भं जाणेज्जा?, हंता गोयमा! जाणेज्जा, नवरं चउसु लेसासु सोलस आलावगा, एवं अंतरदीवगाए वि। (सू०२३२)

'कइ णं भंते! लेस्साओ पन्नत्ताओ' इत्यादि, सुगमम् उद्देशकपरिसमाप्ति यावत्, नवरमुत्पद्यमानो जीवो जन्मान्तरे लेश्याद्रव्याण्यादायोत्पद्यते तानि च कस्यचित्कानिचिदिति। कृष्णलेश्यापरिणतेऽपि जनके जन्यस्य विचित्रलेश्यासंभवः, एवं शेषलेश्यापरिणतेऽपि भावनीयम्॥ प्रज्ञा० १७ पद ६ उ०। (ध्यानितं लेश्याः 'रुद्दज्झाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५६८ पृष्ठे उक्ताः।) किरणे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। तेजसि, भ० १४ श० ६ उ०। देहवर्णसुन्दरतायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। 'अंतमुहुत्तठिईओ, तिरियनराणं हवंति लेसाओ' एवं युगलिनामपि तथैव लेश्यास्थितिकालोऽन्यथा वेति? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्युगलिनामप्यन्यतिर्यङ्मनुष्यवदान्तर्मौहूर्त्तिको लेश्यास्थितिकालो ज्ञेयः, प्रज्ञापनावृत्त्यादिष्वविशेषेण तथाऽभिधानादिति॥ ६०॥ सेन० २ उल्ला०।

विषयसूची—

(१) लेश्यानिक्षेपः।
(२) लेश्यासंख्या।
(३) नैरयिकादीनां लेश्याः।
(४) असुरकुमारादीनां, देवानां च लेश्याः।
(५) कृष्णादिलेश्यावन्तः केऽल्पर्द्धिकाः के महर्द्धिकाः।
(६) कृष्णलेश्यां प्रणिधाय अवधिना कियत्क्षेत्रं पश्यति।
(७) का लेश्या कतिषु स्थानेषु लभ्यते।
(८) का लेश्या केन परिणामेन परिणमति।
(९) लेश्यानां वर्णाधिकारः।
(१०) विशेषतो वर्णाधिकारः।
(११) कृष्णादिलेश्याकनारकाणां स्थित्याऽल्पमहत्त्वम्।
(१२) लेश्यानां वर्णस्थानम्।
(१३) लेश्यानां रसाधिकारः।
(१४) लेश्यानां गन्धाधिकारः।
(१५) लेश्यानां शुद्धाशुद्धत्वाधिकारः।
(१६) लेश्यानां शीतोष्णस्पर्शाधिकारः।
(१७) लेश्यानां गतिद्वारम्।
(१८) लेश्यानां परिणामसंख्यानिरूपणम्।
(१९) लेश्यानां त्रिस्थानकावतारः।
(२०) लेश्यानां प्रदेशाः।
(२१) लेश्यानां स्थानानि।
(२२) का लेश्या कियत्कालं तिष्ठति।
(२३) लेश्यास्थानानामल्पबहुत्वम्।
(२४) लेश्यानामायुर्द्वारम्।
(२५) लेश्यानां परस्परपरिणामनिरूपणम्।
(२६) मनुष्यादिगतलेश्यासंख्यानिरूपणम्।

लेस्सापरिणाम—लेश्यापरिणाम—पुं०। जीवानां लेश्यापरिणतौ, प्रज्ञा० १३ पद। स्था०।

लेस्साभिताव—लेश्याभिताप—पुं०। तेजसोऽभितापे, भ० ८ श० ८ उ०।

लेस्सि (ण्)—लेश्यिन्—त्रि०। लेश्या विद्यते येषां ते लेश्यिनः। शिखादेराकृतिगणत्वादिन्प्रत्ययः। लेश्यावति, सू० १ उ० १ प्रक०।

लेह—लेख पुं०। लेखनं लेखः। "ख-घ-थ-ध-भाम्" ॥८॥१।१८७॥ इति खस्य हः। प्रा०। अक्षरविन्यासे, स० ७२ सम०। आ० चू०। प्रव०। आ० म०। वृ०। ज्ञा०। लिपिपरिज्ञाने, नं०। तद्विषये कलाभेदे, जं० २ वक्ष०। लिख्यते इति लेखः। ग्रन्थे, आव० ६ अ०।

लेह(लिक्ख)ग—लेख्यक—न०। व्यवहारादिसम्बन्धनि पत्रचये,प्रव० ३८ द्वार।

लेहड—देशी—लम्पटे, दे० ना० ७ वर्ग २५ गाथा।

लेहण—लेखना—स्त्री०। सत्पुस्तकेषु अक्षरविन्यसने, "तथा सिद्धान्तमाश्रित्य, विधिना लेखनादि च।" द्वा० २१ द्वा०।

लेस्सागइ—लेश्यागति—स्त्री०। तिर्यङ्मनुष्याणां कृष्णादिलेश्याद्रव्याणि संप्राप्य तद्रूपादितया परिणमतीति लेश्यागतिः। गतिभेदे, प्रज्ञा० १६ पद।

लेस्साणुवायगइ—लेश्यानुपातगति—स्त्री०। लेश्याया अनुपातोऽनुसरणं तेन गतिर्लेश्यानुपातगतिः। गतिभेदे, प्रज्ञा०१६पद।

लेहना—स्त्री०। आस्वादने, कल्प० १ अधि० १ क्षण।

लेहणी—लेखनी—स्त्री०। लेखनसाधनं, (कलमे) रा०।

लेहसाला—लेखशाला—स्त्री०। अक्षरविन्यसनशिक्षणशालायाम्, आ० चू० १ अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीरस्य लेखशालाप्रवेशः-

" अथ तं मातापितरौ, विज्ञौ ज्ञात्वाऽष्टवर्षमतिमोहात्।
वरममितालङ्कारै-रुपनयतो लेखशालायाम् ॥ १ ॥
लग्नदिवसव्यवस्थिति-पुरस्सरं परमहर्षसम्पन्नौ।
प्रौढोत्सवान्महार्घान्, वितेनतुर्घनधनव्ययतः ॥ २ ॥

तथाहि—

गजतुरगसमूहैः स्फारकेयूरहारैः,
कनकघटितमुद्राकुण्डलैः कङ्कणाद्यैः।
रुचिरतरदुकूलैः पञ्चवर्णैस्तदानीं,
स्वजनमुखनरेन्द्राः सत्क्रियन्ते स्म भक्त्या ॥ ३ ॥

तथा—

पण्डितयोग्यं नाना, वस्त्रालङ्कारनालिकेरादि।
अथ लेखशालिकानां, दानार्थमनेकवस्तूनि ॥ ४ ॥

तथाहि-

पूगीफलशृङ्गाटक-खर्ज्जूरसितोपलास्तथा खण्डा।
चारुकुलीचारुबीजा-द्राक्षादिसुखाशिकावृन्दम् ॥ ५ ॥
सौवर्णरत्नराजत-मिश्राणि च पुस्तकोपकरणानि।
कमनीयमषीभाजन-लेखनिकापट्टिकादीनि ॥ ६ ॥
वाग्देवीप्रतिमार्चा-कृतये सौवर्णभूषणं भव्यम्।
नव्यबहुरत्नखचितं, छात्राणां विविधवस्त्राणि ॥ ७ ॥"

इत्यादि समग्रपठनसामग्रीसहितः, कुलवृद्धादिभिस्तीर्थोदकैः स्नपितः, परिहितप्रचुरालङ्कारभासुरः शिरोधृतमेघाडम्बरच्छत्रश्चतुरङ्गसैन्यपरिवृतो वाद्यमानाऽनेकवादित्रः पण्डितगेहमुपाजगाम। पण्डितोऽपि भूपालपुत्रपाठनोचितां पर्वपरिधेयक्षीरोदक-धौतिकहेमयज्ञोपवीतकेसरतिलकादिसामग्रीं यावत् करोति तावत् पिप्पलपर्णवत्, गजकर्णवत्, कपटिध्यानवत्, नृपतिमानवत् चलाचलसिंहासनः शक्रोऽवधिना ज्ञाततत्स्वरूपो देवान् इत्थमवादीत्—अहो! महच्चित्रम्, यद्भगवतोऽपि लेखशालायां मोचनम्।

यतः—

" साम्रे वन्दनमालिका स मधुरीकारः सुधायाः स च,
ब्राह्म्याः पाठविधिः स शुभ्रिमगुणारोपः सुधादीधितौ॥
कल्याणे कनकच्छटाप्रकटनं पावित्र्यसंपत्तये,
शास्त्राध्यापनमर्हतोऽपि यदिदं सल्लेखशालाकृते ॥ १ ॥
मातुः पुरो मातुलवर्णनं तत्, लङ्कानगर्यां लहरीयकं तत्।
तत्प्राभृतं लावणमम्बुराशेः,प्रभोः पुरो यद्वचसां विलासः॥२॥"

यतः—

" अनध्ययनविद्वांसो, निर्द्रव्यपरमेश्वराः॥
अनलङ्कारसुभगाः, पान्तु युष्मान् जिनेश्वराः ॥ १ ॥ "

इत्यादि वदन् कृतब्राह्मणरूपस्त्वरितं यत्र भगवांस्तिष्ठति तत्र पण्डितगेहे समाजगाम, आगत्य पण्डितयोग्ये आसने भगवन्तमुपवेश्य पण्डितमनोगतान् संदेहान् पप्रच्छ, श्रीवीरोऽपि बालोऽयं किं वक्ष्यतीत्युत्कर्णेषु सकललोकेषु सर्वाणि उत्तराणि ददौ, ततो जैनेन्द्रं व्याकरणं जज्ञे।

यतः—

" सक्को अ तस्समक्खं, भगवन्तं आसणे निवेसित्ता॥
सद्द(स्स) लक्खणं पुच्छे, वागरणं अवयवा इंदं ॥ १ ॥"

सर्वे जना विस्मयं प्रापुः. अहो बालेनापि वर्द्धमानकुमारेण एतावती विद्या कुत्राधीता, पण्डितोऽपि चिन्तयामास—

" आबालकालादपि मामकीनान्,
यान् संशयान् कोऽपि निरासयन्न।
बिभेद तांस्तानिखिलान् स एष,
बालोऽपि भोः पश्यत चित्रमेतत् ॥ १ ॥ "

किंच--अहो ईदृशस्य विद्याविशारदस्यापि ईदृशं गाम्भीर्यम्। अथवा-युक्तमेवेदम् ईदृशस्य महात्मनः।

यतः--

" गर्जति शरदि न वर्षति, वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः।
नीचो वदति न कुरुते, न वदति साधुः करोत्येव ॥ १ ॥

तथा-

असारस्य पदार्थस्य, प्रायेणाडम्बरो महान्।
न हि स्वर्णे ध्वनिस्तादृग्, यादृक् कांस्ये प्रजायते ॥ २ ॥

इत्यादि चिन्तयन्तं पण्डितं शक्रः प्रोवाच—

"मनुष्यमात्रं शिशुरेष विप्र!, न शङ्कनीयो भवता स्वचित्ते '
विश्वत्रयीनायक एष वीरो,जिनेश्वरो वाङ्मयपारदृश्वा॥१॥"

इत्यादि, श्रीवर्द्धमानस्तुतिं निर्माय शक्रः स्वस्थानं जगाम। भगवानपि सकलज्ञातक्षत्रियपरिकलितः स्वगृहमागात्, इति श्रीलेखशालाकरणम्। कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

लेहायरिय-लेखाचार्य-पुं०। उपाध्याये, आ० म० १ अ०।

लेहुड-देशी-लोष्ठवाचके, दे० ना० ७ वर्ग २४ गाथा।

लोअ-लोच-पुं०। " क--ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो-लुक्" ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति चकारस्य लुक्। प्रा०। केशानामुत्पाटने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

लोक-पुं०। जगति, " भुअणं जयं च लोओ " पाइ०ना० १०० गाथा।

लोअण-स्त्री०। न०। लोचन-न०। नेत्रे,"वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः" ॥ ८ । १ । ३३ ॥ इति प्राकृते स्त्रीत्वं वा। लोअणा। लोअणाइं। प्रा० १ पाद।

लोइय-लौकिक-पुं०। लोके भवा, लोके वा विदिता इति लौकिका अध्यात्मादित्वादिकण्। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। इतिहासादिकर्तृषु, दश० ४ अ०। लोकाचीर्णे,उत्त०। अनु०। सामान्यलोकाश्रये, स्था० ३ ठा० ३ उ०। सू० प्र०। नं०।

लोइयकहा-लौकिककथा-स्त्री०। असंविग्नलोकसम्बन्धिन्यां कथायाम्, प्रश्न० ४ संव० द्वार।

लोइयमग्ग--लौकिकमार्ग--पुं०। यथावस्थितशब्दार्थानभिज्ञमुग्धजनव्यवहारे, अने० १ अधि०।

लोउज्जोय-लोकोद्योत-पुं०। लोकप्रकाशे, स्था०।

चउहिं ठाणेहिं लोउज्जोते सिता, तं जहा-अरहंतेहिं जायमाणेहिं अरहंतेहिं पव्वतमाणेहिं अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु अरहंताणं परिनिव्वाणमहिमासु ४। (सू० ३२४)

' चउही ' त्यादि, सुगमश्चायं, नवरं लोकोद्योतश्चतुर्ष्वपि स्थानेषु देवागमात्, जन्मादित्रये तु स्वरूपेणापि। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोउत्तर-लोकोत्तर-न० । लोकस्योत्तरम्—प्रधानं लोकोत्तरम् । जिनशासने, अनु० । नि० चू० ।

लोउत्तरिय-लोकोत्तरिक-न० । लोकोत्तरे—जिनप्रवचने भवं लोकोत्तरिकम् । जिनप्रवचनभवे, लोकोत्तराणि यानि न लोके प्रसिद्धानि, किंतु-प्रवचन एव कृतानि तानि लोकोत्तराणि । शास्त्रमात्रप्रसिद्धे, सू०प्र० १० पाहु० । व्य० । नि०चू० ।

लोक-(ग)(य)-लोक-पुं० । लोक्यत इति लोकः । लोकृ दर्शन इत्यस्माद् धातोः । " अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् " इति घञ् । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । लोक्यते दृश्यते केवलज्ञानभास्वतति लोकः । आव० ५ अ० । चतुर्दशरज्ज्वात्मके (आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।) धर्माधर्मास्तिकायव्यवच्छिन्ने अशेषद्रव्याधारे वैशाखस्थानकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषोपलक्षिते आकाशखण्डे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । पञ्चास्तिकायात्मके, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । लोक्यते-प्रमाणेन दृश्यत इति भावः । आव० ६ अ० । आचा० । ल० । विशे० । आव० । सू० प्र० । आ० म० । " धर्म्मादीनां वृत्ति-र्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोक-स्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् " ॥ १ ॥ आव० ५ अ० । अनु० । विशे० । ल० ।

चतुर्दशरज्जुप्रमाणं चेत्थम्—

(१) तत्र कियत्प्रामाणो लोक इत्याह—

चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो (९७)

चतुर्दश रज्जवो यस्य स चतुर्दशरज्जुः, रज्जुप्रमाणं तु स्वयंभूरमणसमुद्रस्य पौरस्त्यपाश्चात्यवेदिकान्तं यावद्दक्षिणोत्तरवेदिकान्तं वा यावदवसेयम् , उच्छ्रयमानमिदमस्य-अधस्ताद्देशोनसप्तरज्जुविस्तरः, तिर्यग्लोकमध्ये एकरज्जुविस्तरः ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुविस्तीर्णः , उपरि तु लोकान्ते एकरज्जुविस्तृतः , शेषस्थानेषु पुनः कोऽपि कियानस्य विस्तर इति । तदेवंरूपो लोको बुद्धिकृतो—मतिपरिकल्पनया विहितो भवति—संपद्यते, किंरूपो भवतीत्याह—सप्त रज्जवः प्रमाणतया यस्य स सप्तरज्जुः स चासौ घनश्च समचतुरस्र आयामविष्कम्भबाहल्यैस्तुल्यत्वात् सप्तरज्जुघनः । स चेत्थं बुद्धया विधीयते—इह रज्जुविस्तीर्णायास्त्रसनाड्या दक्षिणदिग्वर्त्यधोलोकखण्डमधोदेशोनरज्जुत्रयविस्तृतम् , क्रमेण हीयमानविस्तारं तावद्यावदुपरिष्टाद्रज्जुसंख्येयभागविस्तारं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयं गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरदिग्भागे विपरीतं योज्यते, उपरितनभागमधःकृत्वाऽधस्तनं चोपरि विधाय संघात्यते इत्यर्थः । एवं च कृतेऽधस्तनं लोकस्यार्धं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रितं किंचिदूनरज्जुचतुष्टयविस्तीर्णं बाहल्यतोऽप्यधः क्वचिद्देशोनसप्तरज्जुमानमन्यत्र पुनरनियतबाहल्यं जायते । इदानीमुपरितनलोकार्धं संवर्त्यते-तत्रापि रज्जुविस्तरायास्त्रसनाडिकाया दक्षिणदिग्वर्तिनी ब्रह्मलोकमध्यादधस्तनमुपरितनं च द्वे अपि खण्डे ब्रह्मलोकमध्ये प्रत्येकं द्विरज्जुविस्तरे उपर्यलोकसमीपेऽधस्तु रत्नप्रभाक्षुल्लकप्रतरसमीपेऽङ्गुलसहस्रभागविस्तरवती देशोनसार्धत्रयरज्जूच्छ्रिते बुद्धया गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरपार्श्वे पूर्वोदितस्वरूपेणैव वैपरीत्येन संघात्येते; एवं च कृते उपरितनं लोकस्यार्धं द्वाभ्यामङ्गुलसहस्रभागाभ्यामधिकरज्जुत्रयविष्कम्भम् , इह चतुर्णां खण्डानां पर्यन्तेषु चत्वारोऽङ्गुलसहस्रभागा भवन्ति, केवलमेकस्यां दिशि योजिताभ्यां द्वाभ्यामप्येक एवाङ्गुलसहस्रभाग एकदिग्वर्तित्वादेवमपरमपि द्वाभ्यामित्थमेवेत्यतस्तद्द्वयाधिकत्वमुक्तं देशोनसप्तरज्जूच्छ्रितम् । बाहल्यतस्तु ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुबाहल्यमन्यत्र त्वनियतबाहल्यम् । इदं च सर्वं गृहीत्वा आधस्त्यसंवर्तितलोकार्धस्योत्तरपार्श्वे संघात्यते । एवं च योजिते आधस्त्यखण्डस्योच्छ्रये यदितरोच्छ्रयाधिकं तत् खण्डयित्वोपरितनसंघातितखण्डस्य बाहल्ये ऊर्ध्वायतं संयोज्यते, एवं च सातिरेकाः पञ्चरज्जवः क्वचिद्बाहल्यं सिध्यति । तथा—आधस्त्यखण्डमधस्ताद्यथासंभवं देशोनसप्तरज्जुबाहल्यं प्रागुक्तम्, अत उपरितनखण्डबाहल्याद्देशोनरज्जुद्वयमत्राधस्त्यखण्डेऽतिरिच्यते इत्यस्मादतिरिच्यमानबाहल्यार्धं देशोनरज्जुरूपं गृहीत्वोपरितनखण्डबाहल्ये संघात्यते, एवं च कृते बाहल्यतस्तावत् सर्वमप्येतच्चतुरस्रीकृतनभःखण्डं कियत्यपि प्रदेशे रज्ज्वसंख्येयभागाधिकाः षड् रज्जवो भवन्ति । व्यवहारतस्तु सर्वं सप्तरज्जुबाहल्यमिदमुच्यते । व्यवहारनयो हि किंचिदूनसप्तहस्तादिप्रमाणमपि पटादिवस्तुपरिपूर्णसप्तहस्तादिमानं व्यपदिशति, देशतोऽपि च दृष्टं बाहल्यादिधर्मं परिपूर्णेऽपि वस्तुन्यध्यवस्यति स्थूलदृष्टित्वादिति भावः । अत एव तन्मतेनैवात्र सप्तरज्जुबाहल्यता सर्वगता द्रष्टव्या । आयामविष्कम्भाभ्यां तु प्रत्येकं देशोनसप्तरज्जुप्रमाणमिदं जातम् । व्यवहारतस्तु तत्रापि सप्तरज्जुप्रमाणता द्रष्टव्या, तदेवं लोको व्यवहारनयमतेन । अत्रायामविष्कम्भबाहल्यैः प्रत्येकं सप्तरज्जुप्रमाणो घनो भवतीति समुदायार्थः । एतच्च वैशाखस्थानस्थितपुरुषाकारं सर्वत्र वृत्तस्वरूपं लोकं संस्थाप्य सर्वं भावनीयमिति ॥ कर्म० ५ कर्म० । दश० ।

(२) कोऽयं लोकः—

किमियं भंते ! लोए त्ति पवुच्चइ ?, गोयमा ! पंचत्थिकाया, एस णं पवत्तिए लोए त्ति पवुच्चइ, तं जहा–धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए ० जाव पोग्गलत्थिकाए (सू० ४८१) भ० १३ श० ४ उ० । (धर्मास्तिकायादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने ।)

(३) लोकस्यैकत्वं नामादितश्चाष्टविधत्वं निरूपयति—

एगे लोए । (सू० ५)

एको लोकः, त्रिविधोऽप्यसंख्येयप्रदेशोऽपि वा द्रव्यार्थतया । स० १ सम० । एकः अविवक्षितासंख्यप्रदेशाधस्तिर्यगादिदिग्भेदतया लोक्यते—दृश्यते केवलालोकेनेति लोकः—धर्मास्तिकायादिद्रव्याधारभूत आकाशविशेषः, तदुक्तम्–" धर्मादीनां वृत्ति—र्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोक—स्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् ॥ १ ॥ " इति, अथवा-लोको नामादिरष्टधा । स्था० १ ठा० ।

आह च-

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले भवे य भावे य ।
पज्जवलोए य तहा, अट्ठविहो लोयनिक्खेवो ॥१०५७॥

आव० २ अ० । नामस्थापने सुज्ञाने, द्रव्यलोको—जीवाजीवद्रव्यरूपः । क्षेत्रलोकः—आकाशमात्रमनन्तप्रदेशात्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कम् , काललोकः—समयावलिकादिः, भवलोकः—नारकादिः, स्वस्मिन् स्वस्मिन् भवे वर्तमाना यथा मनुष्यलोको देवलोक इति । भावलोकः-षडौदयिकादयो भावाः। पर्यवलोकस्तु—द्रव्याणां पर्यायमात्ररूप इति, एतेषां चैकत्वं केवलज्ञानालोकनीयत्वसामान्यादिति । (स्था० १ ठा० ।) नामलोकः १, स्थापनालोकः २, द्रव्यलोकः ३, क्षेत्रलोकः४, काललोकः ५, भवलोको ६, भावलोकः ७ , पर्यायलोकश्च ८, तथा, एवमष्टविधो लोकनिक्षेप इति गाथासमासार्थः ॥

व्यासार्थं तु भाष्यकार एव वक्ष्यति, तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यलोकमभिधित्सुराह—

जीवमजीवे रूवम-रूवी सपएसमप्पएसे अ ।
जाणाहि दव्वलोगं, णिच्चमणिच्चं च जं दव्वं ॥१६५॥

जीवाजीवावित्यत्रानुस्वारोऽलाक्षणिकः, तत्र सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणो जीवः, विपरीतस्त्वजीवः, एतौ च द्विभेदौ—रूप्यरूपिभेदाद्, आह च-' रूप्यरूपिणावि' ति तत्रानादिकर्मसन्तानपरिगता रूपिणः—संसारिणः, अरूपिणस्तु—कर्मरहिताः सिद्धा इति, अजीवास्त्वरूपिणो—धर्माधर्माकाशास्तिकायाः, रूपिणस्तु-परमाण्वादय इति , एतौ च जीवाजीवावोघतः सप्रदेशाप्रदेशाववगन्तव्यौ , तथा चाह-' सप्रदेशाप्रदेशावि ' ति, तत्र सामान्यविशेषरूपत्वात्परमाणुव्यतिरेकेण सप्रदेशाप्रदेशत्वं सकलास्तिकायानामेव भावनीयम् , परमाणवस्त्वप्रदेशा एव, अन्ये तु व्याचक्षते—जीवः किल कालादेशेन नियमात् सप्रदेशः, लब्ध्यादेशेन तु सप्रदेशो वाऽप्रदेशो चेति, एवं धर्मास्तिकायादिष्वपि त्रिष्वस्तिकायेषु परापरनिमित्तं पक्षद्वयं वाच्यम् , पुद्गलास्तिकायस्तु द्रव्याद्यपेक्षया चिन्त्यः, यथा-द्रव्यतः परमाणुरप्रदेशो, द्व्यणुकादयः सप्रदेशाः , क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढोऽप्रदेशो द्व्यादिप्रदेशावगाढाः सप्रदेशाः, एवं कालतोऽप्येकानेकसमयस्थितिभावतोऽप्येकानेकगुणकृष्णादिरिति कृतं विस्तरेण। प्रकृतमुच्यते-इदमेवम्भूतं जीवाजीववातं जानीहि द्रव्यलोकम् , द्रव्यमेव लोको द्रव्यलोक इति कृत्वा, अस्यैव शेषधर्मोपदर्शनायाऽऽह—नित्यानित्यं च यद् द्रव्यम् , चशब्दादभिलाप्यानभिलाप्यादिसमुच्चय इति गाथार्थः ॥ १६५ ॥

सांप्रतं जीवाजीवयोर्नित्यानित्यतामेवोपदर्शयन्नाह-भाष्यकारः—

गइ १ सिद्धा २ भविआ य ३,
अभविअ ४-१ पुग्गल १ अणागयद्धा य २ ।
तीअद्ध ३ तिन्नि काया ४-२,
जीवा १ जीव २ ठिई चउहा ॥ १६६ ॥

अस्याः सामायिकवद् व्याख्या कार्येति, भङ्गकास्तु सादिसपर्यवसानाः साद्यपर्यवसाना अनादिसपर्यवसाना अनाद्यपर्यवसानाः, एवमर्जावेषु जीवाजीवयोरष्टौ भङ्गाः।

द्वारम्-अधुना क्षेत्रलोकः प्रतिपाद्यते, तत्र भाष्यम्-

आगासस्स पएसा, उड्ढं च अहे अ तिरियलोए य ।
जाणाहि खित्तलोगं, अणंत जिणदेसिअं सम्मं ॥१६७॥

आकाशस्य प्रदेशाः-प्रकृष्टा देशाः प्रदेशास्तान् ऊर्ध्वं च इति-ऊर्ध्वलोके च अधश्च इति-अधोलोके च तिर्यग्लोके च, किं ?-जानीहि क्षेत्रलोकम्, क्षेत्रमेव लोकः क्षेत्रलोक इति कृत्वा, लोक्यत इति च लोक इति, ऊर्ध्वादिलोकविभागस्तु सुज्ञेयः, अनन्तमिति-अलोकाकाशप्रदेशापेक्षया चानन्तम् , अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, जिनदर्शितमिति-जिनकथितम् सम्यक्-शोभनेन विधिनेति गाथार्थः ॥ १६७ ॥

साम्प्रतं काललोकप्रतिपादनायाह भाष्यकारः—

समयावलिअमुत्ता, दिवसमहोरत्तपक्खमासा य ।
संवच्छरजुगपलिआ, सागरओसप्पिपरिअट्टा ॥१६८॥

इह परमनिकृष्टः कालः—समयोऽभिधीयते, असंख्येयसमयमाना त्वावलिका, द्विघटिको मुहूर्तः, षोडश मुहूर्ता दिवसः,द्वात्रिंशद् अहोरात्रम् ,पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः द्वौ पक्षौ मासः, द्वादश मासाः संवत्सरमिति, पञ्चसंवत्सरं युगम्, पल्योपममुद्धारादिभेदं यथा अनुयोगद्वारेषु तथावसेयम् . सागरोपमं तद्वदेव, दशसागरोपमकोटाकोटिपरिमाणोत्सर्पिणी , एवमवसर्पिण्यपि द्रष्टव्या , परावर्तः-पुद्गलपरावर्तः, स चानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणो द्रव्यादिभेदः, तेऽनन्ता अतीतकालः अनन्त एवैष्यन्निति गाथार्थः ॥ १६८ ॥ उक्तः काललोकः। लोकयोजना पूर्ववद्।

अधुना भवलोकमभिधित्सुराह भाष्यकारः—

णेरइअदेवमणुआ, तिरिक्खजोणीगया य जे सत्ता ।
तम्मि भवे वट्टंता, भवलोगं तं विआणाहि ॥ १६९ ॥

नारकदेवमनुष्यास्तथा तिर्यग्योनिगताश्च ये सत्त्वाः-प्राणिनः ' तम्मि ' त्ति तस्मिन् भवे वर्तमाना यदनुभावमनुभवन्ति भवलोकं तं विजानीहि , लोकयोजना पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ १६९ ॥

साम्प्रतं भावलोकमुपदर्शयति—

ओदइए १ ओवसमिए २,
खइए अ ३ तहा खओवसमिए अ ४ ।
परिणामि ५ सन्निवाए अ ६ ,
छव्विहो भावलोगो उ ॥ २०० ॥

उदयेन निर्वृत्त औदयिकः कर्मण इति गम्यते , तथोपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः, क्षयेण निर्वृत्तः क्षायिकः, एवं शेषेष्वपि वाच्यम् , ततश्च क्षायिकश्च तथा क्षायोपशमिकश्च पारिणामिकश्च सान्निपातिकश्च एवं षड्विधो भावलोकः, तत्र सान्निपातिक ओघतोऽनेकभेदोऽवसेयः , अविरुद्धस्तु पञ्चदशभेद इति, उक्तं च—

"ओदइअ-खओवसमे,परिणामेक्केको (क्क) गइ चउक्केऽवि ।
खयजोगेण वि चउरो , तदभावे उवसमेणं पि ॥ १ ॥
उवसमसेढी एक्को, केवलिणोऽवि य तहेव सिद्धस्स ।
अविरुद्धसन्निवाइय—भेया एमेव पण्णरस ॥ २२ ॥ " त्ति इति गाथार्थः ॥ २०० ॥

भाष्यम्—

तिव्वो रागो अ दोसो अ, उइन्ना जस्स जन्तुणो ।
जाणाहि भावलोअं, अणंतजिणदेसिअं सम्मं ॥२०१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीव्रः—उत्कटः रागश्च द्वेषश्च, तत्राभिष्वङ्गलक्षणो-रागः अप्रीतिलक्षणो-द्वेष इति, एतावुदीर्णौ यस्य जन्तोः-यस्य प्राणिन इत्यर्थः, तं-प्राणिनं तेन-भावेन लोक्यत्वाज्जानीहि भावलोकमनन्तजिनदेशितम्-एकवाक्यतया अनन्तजिनकथितम् ' सम्यग् ' इति क्रियाविशेषणमित्ययं गाथार्थः ॥ २०१ ॥

द्वारम्-साम्प्रतं पर्यायलोक उच्यते,तत्रौघतः पर्याया धर्मा उच्यन्ते,इह तु किल नैगमनयदर्शनं मूढनयदर्शनं वाऽधिकृत्य चतुर्विधं पर्यायलोकमाह भाष्यकारः—

दव्वगुण१खित्तपज्जव२-भवाणुभावे अ ३भावपरिणामे४।
जाण चउव्विहमेअं, पज्जवलोगं समासेणं ॥२०२॥

द्रव्यस्य गुणाः-रूपादयः, तथा क्षेत्रस्य पर्यायाः—अगुरुलघवः भरतादिभेदा एव चान्ये, भवस्य च नारकादेरनुभावः—तीव्रतमदुःखादिः, यथोक्तम्—

" अच्छिणिमिलीयमेत्तं, णत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबंधं ।
णरए णेरइआणं, अहोणिसिं पच्चमाणाणं ॥ १ ॥
असुभा उव्वियणिज्जा, सद्दरसा रूवगंधफासा य ।
णरए णेरइआणं, दुक्कयकम्मोवलित्ताणं ॥ २ ॥ "

इत्यादि' एवं शेषानुभावोऽपि वाच्यः' तथा भावस्य जीवाजीवसम्बन्धिनः परिणामस्तेन अज्ञानाद् ज्ञानं नीलाल्लोहितमित्यादिप्रकारेण भवनमित्यर्थः, जानीहि-अवबुध्यस्व चतुर्विधमेनमोघतः पर्यायलोकं समासेन-संक्षेपेणेति गाथार्थः ॥ २०२ ॥

तत्र यदुक्तं द्रव्यस्य गुणा इत्यादि तदुपदर्शनेन—
निगमयन्नाह भाष्यकारः—

वन्नरसगंधसंठा-णफासट्ठाणगइवन्नभेए अ ।
परिणामे अ बहुविहे, पज्जवलोगं विआणाहि ॥२०३॥

वर्णरसगन्धसंस्थानस्पर्शस्थानगतिवर्णभेदाश्च, चशब्दाद्—रसादिभेदपरिग्रहः, अयमत्र भावार्थः—वर्णादयः सभेदा गृह्यन्ते , तत्र वर्णः—कृष्णादिभेदात् पञ्चधा , रसोऽपि तिक्तादिभेदात्पञ्चधा . गन्धः—सुरभिरित्यादिभेदाद् द्विधा , संस्थानं—परिमण्डलादिभेदात्पञ्चधैव, स्पर्शः—कर्कशादिभेदादष्टधा , स्थानम्—अवगाहनालक्षणं तदाश्रयभेदादनेकधा , गतिः—स्पर्शवद्गतिरित्यादिभेदाद् द्विधा , चशब्द उक्तार्थ एव , अथवा—कृष्णादिवर्णादीनां स्वभेदापेक्षया एकगुणकृष्णाद्यनेकभेदोपसङ्ग्रहार्थ इति, अनेन किल द्रव्यगुणा इत्येतद्व्याख्यातम् । परिणामांश्च बहुविधानित्यनेन तु चरमद्वारम् , शेषं द्वारद्वयं स्वयमेव भावनीयम् , तच्च भावितमेवेत्यलमक्षरगमनिका । भावार्थस्त्वयम्—परिणामांश्च बहुविधान् जीवाजीवभावगोचरान् , किं ?-पर्यायलोकं विजानीहि इति गाथार्थः ॥२०३॥ अक्षरयोजना पूर्ववदिति द्वारम्।

साम्प्रतं लोकपर्यायशब्दान्निरूपयन्नाह निर्युक्तिकारः—

आलुक्कइ अ पलुक्कइ, लुक्कइ संलुक्कई अ एगट्ठा ।
लोगो अट्ठविहो खलु, तेणेसो वुच्चई लोगो ॥१०५८॥

आलोक्यत इत्यालोकः , प्रलोक्यत इति प्रलोकः , लोक्यत इति लोकः , संलोक्यत इति च संलोकः , एते एकार्थिकाः शब्दाः, लोकः अष्टविधः खल्वित्यत्र आलोक्यत इत्यादि योजनीयम् , अत एवाऽऽह तेनैष उच्यते लोको येनाऽऽलोक्यत इत्यादि, भावनीयमिति गाथार्थः ॥ १०५८ ॥ आव० २ अ० ।

(४) त्रिविधो लोकः—

तिविहे लोगे पण्णत्ते, तं जहा-णामलोगे, ठवणालोगे , दव्वलोगे । (सू० १५३×)

लोक्यतेऽवलोक्यते केवलावलोकेनेति लोकः, नामस्थापने इन्द्रसूत्रवद् , द्रव्यलोकोऽपि तथैव नवरं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यलोको धर्मास्तिकायादीनि-जीवाजीवरूपाणि रूप्यरूपीणि—सप्रदेशाप्रदेशानि द्रव्याण्येव , द्रव्याणि च तानि लोकश्चेति विग्रहः । उक्तञ्च-" जीवमजीवे रूवम-रूवी सपएस अप्पएसे य । जाणाहि दव्वलोयं, णिच्चमणिच्चं च जं दव्वं ॥ १ ॥

भावलोकं त्रिधाऽऽह—

तिविहे लोगे पन्नत्ते, तं जहा-णाणलोगे, दंसणलोगे, चरित्तलोगे । (सू० १५३×)

' तिविहे ' त्यादि , भावलोको द्विविधः-आगमतो नोआगमतश्च । तत्रागमतो लोकपर्यालोचनोपयोगस्तदुपयोगानन्यत्वाद् पुरुषो वा, नोआगमतस्तु-सूत्रोक्तो ज्ञानादिः, नो शब्दस्य मिश्रवचनत्वात् इदं हि त्रयं प्रत्येकमितरेतरसव्यपेक्षं नागम एव केवलो नाप्यनागम इति । तत्र ज्ञानं चासौ लोकश्चेति ज्ञानलोकः, भावलोकता चास्य क्षायिकक्षायोपशमिकभावरूपत्वात् क्षायिकादिभावानां च भावलोकत्वेनाभिहितत्वाद् , उक्तञ्च—"ओदइए उवसमिए , खइए य तहा खओवसमिए य । परिणामसन्निवाए य , छव्विहो भावलोओ उ ॥ १ ॥ " त्ति । एवं दर्शनचारित्रलोकावपीति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

(५) प्रकारान्तरेण चतुर्विधत्वं तद्भेदांश्चाह-

रायगिहे० जाव एवं वयासी-कतिविहे णं भंते ! लोए पन्नत्ते ?, गोयमा ! चउव्विहे लोए पन्नत्ते । तं जहा-दव्वलोए खेत्तलोए काललोए भावलोए।। खेत्तलोए णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?, गोयमा ! तिविहे पन्नत्ते , तं जहा-अहोलोयखेत्तलोए ?, तिरियलोयखेत्तलोए २, उड्ढलोयखेत्तलोए ३।। अहोलोयखेत्तलोए णं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते, गोयमा ! सत्तविहे पन्नत्ते, तं जहा-रयणप्पभापुढविअहोलोयखेत्तलोए० जाव अहेसत्तमा पुढवी अहोलोयखेत्तलोए ॥ तिरियलोयखेत्तलोए णं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ?, गोयमा ! असंखेज्जविहे पन्नत्ते, तं जहा-जंबुद्दीवे तिरियखेत्तलोए०जाव सयंभूरमणसमुद्दे तिरियलोयखेत्तलोए ॥ उड्ढलोगखेत्तलोए णं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ?, गोयमा ! पन्नरसविहे पन्नत्ते, तं जहा-सोहम्मकप्पउड्ढलोगखेत्तलोए० जाव अच्चुयउड्ढलोए गेवेज्जविमाणउड्ढलोए अणुत्तरविमाणउड्ढलोए ईसिंपब्भारपुढविउड्ढलोगखेत्तलोए । (सू० ४२० ×)

' रायगिहे ' इत्यादि ' दव्वलोए ' त्ति द्रव्यलोक आगमतो, नोआगमतश्च । तत्रागमतो द्रव्यलोको लोकशब्दार्थ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञस्तत्रानुपयुक्तः " अनुपयोगो द्रव्य " मिति वचनात्, आह च मङ्गलं प्रतीत्य द्रव्यलक्षणम्—" आगमश्रोऽणुवउत्तो, मंगलसद्दाणुवासिश्रो वत्ता । तन्नाणलद्धिजुत्तो, उ नोवउत्तो त्ति दव्वं ति ॥१॥" नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्त्रिविधः, तत्र लोकशब्दार्थज्ञस्य शरीरं मृतावस्थं ज्ञानापेक्षया भूतलोकपर्यायतया घृतकुम्भवल्लोकः, स च ज्ञशरीररूपो द्रव्यभूतो लोको ज्ञशरीरद्रव्यलोकः, नोशब्दश्चेह सर्वनिषेधे, तथा लोकशब्दार्थं ज्ञास्यति यस्तस्य शरीरं सचेतनं भाविलोकभावत्वेन मधुघटवद् भव्यशरीरद्रव्यलोकः, नोशब्द इहापि सर्वनिषेध एव, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तश्च द्रव्यलोको द्रव्याण्येव धर्मास्तिकायादीनि, आह च—" जीवमजीवे रूविम—रूवि सपएस अप्पएसे य । जाणाहि दव्वलोयं, निच्चमणिच्चं च जं दव्वं ॥ १ ॥ " इहापि नोशब्दः सर्वनिषेधे, आगमशब्दवाच्यस्य ज्ञानस्य सर्वथा निषेधात्, 'खेत्तलोए' त्ति क्षेत्ररूपो लोकः स क्षेत्रलोकः, आह च—"आगासस्स पएसा, उड्ढं च अहे य तिरियलोए य । जाणाहि खेत्तलोयं, अणंतजिणदेसियं सम्मं ॥ १ ॥ " 'काललोए' त्ति कालः—समयादिः तद्रूपो लोकः काललोकः; आह च—" समयावली मुहुत्ता, दिवसअहोरत्तपक्खमासा य । संवच्छरजुगपलिया, सागरउस्सप्पिपरियट्टा ॥ १ ॥ " 'भावलोए' त्ति भावलोको द्वेधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्रागमतो लोकशब्दार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, भावरूपो लोको भावलोक इति । नोआगमतस्तु भावा—औदयिकादयस्तद्रूपो लोको भावलोकः, आह च-" ओदइए उवसमिए , खइए य तहा खओवसमिए य । परिणामसन्निवाए य, छव्विहो भावलोगो उ ॥ १ ॥ " इति, इह नोशब्दः सर्वनिषेधे मिश्रवचनो वा, आगमस्य ज्ञानत्वात् क्षायिकक्षायोपशमिकज्ञानस्वरूपभावविशेषेण च मिश्रत्वादौदयिकादिभावलोकस्येति, 'अहेलोयखेत्तलोए' त्ति, अधोलोकरूपः क्षेत्रलोकोऽधोलोकक्षेत्रलोकः, इह किलाष्टप्रदेशो रुचकस्तस्य चाधस्तनप्रतरस्याधो नवयोजनशतानि यावत्तिर्यग्लोकस्ततः परेणाधःस्थितत्वादधोलोकः साधिकसप्तरज्जुप्रमाणः, 'तिरियलोयखेत्तलोए' त्ति रुचकापेक्षयाऽध उपरि च नव नव योजनशतमानस्तिर्यग्रूपत्वात्तिर्यग्लोकस्तद्रूपः क्षेत्रलोकस्तिर्यग्लोकक्षेत्रलोकः 'उड्ढलोयखेत्तलोए' त्ति तिर्यग्लोकस्योपरि देशोनसप्तरज्जुप्रमाण ऊर्ध्वभागवर्त्तित्वादूर्ध्वलोकस्तद्रूपः क्षेत्रलोकः ऊर्ध्वलोकक्षेत्रलोकः, अथवा-अधः-अशुभः परिणामो बाहुल्येन क्षेत्रानुभावाद् यत्र लोके द्रव्याणामसावधोलोकः, तथा—तिर्यङ्मध्यमानुभावं क्षेत्रं नातिशुभं नाप्यत्यशुभं तद्रूपो लोकस्तिर्यग्लोकः, तथा—ऊर्ध्वं—शुभः परिणामो बाहुल्येन द्रव्याणां यत्रासावूर्ध्वलोकः, आह च—
"अहव अहो परिणामो, खेत्तणुभावेण जेण ओसन्नं । असुहो अहो त्ति भणिश्रो, दव्वाणं तेणऽहोलोगे ॥ १ ॥"
इत्यादि । भ० ११ श० १० उ० ।

(६) ऊर्ध्वादितो लोकस्त्रिधा तद्यथा–

तिविहे लोगे पन्नत्ते, तं जहा-उड्ढलोगे, अहोलोगे, तिरियलोगे । (सू० १५३×)

'तिविहे' इत्यादि, इह च बहुसमभूमिभागे रत्नप्रभाभागे मेरुमध्ये अष्टप्रदेशो रुचको भवति, तस्योपरितनप्रतरस्योपरिष्टान्नवयोजनशतानि यावज्ज्योतिश्चक्रस्योपरितलस्तावत् तिर्यग्लोकस्ततः परत ऊर्ध्वभागस्थितत्वात् ऊर्ध्वलोको देशोनसप्तरज्जुप्रमाणो रुचकस्याधस्तनप्रतरस्याधो नवयोजनशतानि यावत्तावत्तिर्यग्लोकः, ततः परतोऽधोभागस्थितत्वादधोलोकः सातिरेकसप्तरज्जुप्रमाणः, अधोलोकोर्ध्वलोकयोर्मध्ये अष्टादशयोजनशतप्रमाणस्तिर्यग्भागस्थितत्वात् तिर्यग्लोक इति, प्रकारान्तरेण चायं गाथाभिर्व्याख्यायते—

" अहवा अह परिणामो, खेत्तणुभावेण जेण ओसन्नं ।
असुहो अहो त्ति भणिश्रो, दव्वाणं तेणऽहोलोगो ॥ १ ॥
उड्ढं उवरिं जं ठिय, सुहखेत्तं खेत्तश्रो य दव्वगुणा ।
उप्पज्जंति सुभावा, तेण तओ उड्ढलोगो त्ति ॥ २ ॥
मज्झणुभावं खेत्तं, जं तं तिरियं ति वयणपज्जवश्रो ।
भएणइ तिरियविसालं, अश्रो य तं तिरियलोगो त्ति ॥३॥ "

स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

(७) लोकमध्यद्वाराणि—

कहि णं भंते ! लोगस्स आयाममज्झे पएणत्ते ?, गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए उवा (ओगा) संतरस्स असंखेज्जतिभागं ओगाहेत्ता एत्थ णं लोगस्स आयाममज्झे पएणत्ते ॥ कहि णं भंते ! अहेलोगस्स आयाममज्झे पएणत्ते ?, गोयमा ! चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए उवासंतरस्स सातिरेगं अद्धं ओगाहित्ता एत्थ णं अहेलोगस्स आयाममज्झे पएणत्ते, ॥ कहि णं भंते ! उड्ढलोगस्स आयाममज्झे पण्णत्ते ?, गोयमा ! उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं हेट्ठिं बंभलोए कप्पे रिट्ठविमाणे पत्थडे एत्थ णं उड्ढलोगस्स आयाममज्झे पण्णत्ते ॥ कहि णं भंते ! तिरियलोगस्स आयाममज्झे पण्णत्ते ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स बहुमज्झदेसभाए, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्लेसु खुड्डागपयरेसु एत्थ णं तिरियलोगस्स मज्झे अट्ठपएसिए रुयए पण्णत्ते, जओ णं इमाओ दसदिसाओ पवहंति, तं जहा—पुरच्छिमा पुरच्छिमदाहिणा एवं जहा दसमसए नामधेज्जं ति । (सू० ४७६)

'चउत्थीए पंकप्पभाए' इत्यादि, रुचकस्याधो नवयोजनशतान्यतिक्रम्याधोलोको भवति लोकान्तं यावत्, स च सातिरेकाः सप्त रज्जवः, तन्मध्यभागः चतुर्थ्याः पञ्चम्याश्च पृथिव्या यदवकाशान्तरं तस्य सातिरेकमर्द्धमतिवाह्य भवतीति, तथा रुचकस्योपरि नवयोजनशतान्यतिक्रम्योर्द्धलोको व्यपदिश्यते लोकान्तमेव यावत्, स च सप्त रज्जवः किञ्चिन्न्यूनास्तस्य च मध्यभागप्रतिपादनायाह-' उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं ' मित्यादि । तथा-' उवरिमहिट्ठिल्लेसु खुड्डागपयरेसु ' त्ति लोकस्य वज्रमध्यत्वाद्रत्नप्रभाया रत्नकाण्डे सर्वक्षुल्लकं प्रतरद्वयमस्ति, तयोश्चोपरिमो यत आरभ्य लोकस्योपरिमुखा वृद्धिः 'हेट्ठिल्ले' त्ति अधस्तनो यत आरभ्य लोकस्याधोमुखा वृद्धिः तयोरुप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रिमाधस्तनयोः ' खुड्डागपयरेसु ' त्ति क्षुल्लकप्रतरयोः—सर्वलघुप्रदेशप्रतरयोः ' एत्थ णं ' ति प्रज्ञापकेनोपायतः प्रदर्श्यमाने तिर्यग्लोकमध्येऽष्टप्रदेशको रुचकः प्रज्ञप्तः , (रुचकपर्वतस्य विष्कम्भादिः ' रुयग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५७१ पृष्ठे उक्तः) यश्च तिर्यग्लोकमध्ये प्रज्ञप्तः स सामर्थ्यात्तिर्यग्लोकायाममध्यं भवत्यवेति, किम्भूतोऽसावष्टप्रदेशिको रुचकः ? इत्याह-'जओ णं इमाओ' इत्यादि ॥ भ० १३ श० ४ उ० ।

तस्य चेयं स्थापना—

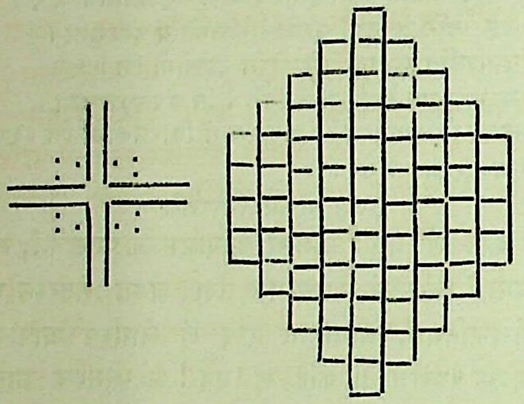

(८) लोकस्य महत्त्वम्—

तेणं कालेणं तेणं समएणं ० जाव एवं वयासी-के महालए णं भंते ! लोए पन्नत्ते ?, गोयमा ! महतिमहालए लोए पन्नत्ते, पुरच्छिमेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ, दाहिणेणं असंखिज्जाओ, एवं चेव, एवं पचच्छिमेण वि, एवं उत्तरेण वि, एवं उड्ढं पि अहे असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामभिक्खंभेणं । (सू० ४५७×)

भ० १२ श० ७ उ० । (नास्ति कोऽपि लोकस्य एतादृशः प्रदेशः यत्रायं जीवो न जातो न मृतो वा इति ' जीव ' शब्दे चतुर्थभागे १५४५ पृष्ठे गतम् ।)

(९) लोकस्य संस्थानम्—

किंसंठिए णं भंते ! लोए पन्नत्ते ?, गोयमा ! सुपइट्ठगसंठिए लोए पन्नत्ते, हेट्ठा विच्छिन्ने ० जाव उप्पिं उड्ढं मुइंगागारसंठिए , तेसिं च णं सासयंसि लोगंसि हेट्ठा वित्थिन्नंसि ०जाव उप्पिं उड्ढं मुइंगागारसंठियंसि उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली जीवे वि जाणइ पासइ अजीवे वि जाणइ पासइ तओ पच्छा सिज्झति ० जाव अंतं करेइ । (सू० २६१)

'सुपइट्ठगसंठिए' त्ति, सुप्रतिष्ठकम्—शरयन्त्रकं तच्चेह उपरिस्थापितकलशादिकं ग्राह्यम् , तथाविधेनैव लोकसादृश्योपपत्तेरिति । एतस्यैव भावनार्थमाह—' हेट्ठा वित्थिन्ने ' इत्यादि, यावत्करणात् ' मज्झे संखित्ते उप्पिं विसाले अहे पलियंकसंठाणसंठिए मज्झे वरवयरविग्गहिए' त्ति दृश्यम्, व्याख्या चास्य प्राग्वदिति । अनन्तरं लोकस्वरूपमुक्तम् , तत्र च यत्केवली करोति तद्दर्शयन्नाह—' तंसी ' त्यादि, ' अंतं करेइ ' त्ति अत्र क्रियोक्ता । भ० ७ श० ३ उ० । चन्द्रादीनामेतार्थानामाधारभूतस्य लोकस्य स्वरूपमभिधीयते । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

किंसंठिए णं भंते ! लोए पण्णत्ते ? , गोयमा ! सुपइट्ठियसंठिए लोए पण्णत्ते, हेट्ठा विच्छिन्ने मज्झे जहा सत्तमसये पढमुद्देसे ०जाव अंतं करेति । (सू० ४८७+)

भ० १३ श० ४ उ० ।

(१०)अधोलोकक्षेत्रादिसंस्थानम्--

अहोलोगखेत्तलोए णं भंते किंसंठिए पण्णत्ते ? , गोयमा ! तप्पागारसंठिए पण्णत्ते । तिरियलोयखेत्तलोए णं भंते ! किंसंठिए पन्नत्ते ?, गोयमा ! झल्लरिसंठिए पन्नत्ते उड्ढलोयखेत्तलोयपुच्छा उड्ढमुइंगागारसंठिए पन्नत्ते । लोए णं भंते ! किंसंठिए पन्नत्ते ?, गोयमा ! सुपइट्ठगसंठिए लोए पन्नत्ते, तं जहा–हेट्ठा विच्छिन्ने मज्झे संखित्ते जहा सत्तमसए पढमुद्देसए ०जाव अंतं करेति । अलोए णं भंते ! किंसंठिए पन्नत्ते ?, गोयमा ! झुसिरगोलसंठिए पन्नत्ते । [सू० ४२०)

' तप्पागारसंठिए ' त्ति तप्रः-उडुपकः, अधोलोकक्षेत्रलोकः अधोमुखशरावाकारसंस्थान इत्यर्थः,स्थापना चेयम्-

' झल्लरिसंठिए ' त्ति अल्पोच्छ्रायत्वान्महाविस्तारत्वाच्च तिर्यग्लोकक्षेत्रलोको झल्लरीसंस्थितः , स्थापना चात्र- 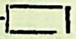

' उड्ढमुइंगागारसंठिए ' त्ति ऊर्ध्वः--ऊर्ध्वमुखो यो मृदङ्गस्तदाकारेण संस्थितो यः स तथा शरावसंपुटाकार इत्यर्थः, स्थापना चेयम्-- ' सुपइट्ठगसंठिए ' त्ति सुप्रतिष्ठकम्–स्थापनकं तच्चेहारोपितवारकादि ग्राह्यं, तथाविधेनैव लोकसादृश्योपपत्तेरिति, स्थापना चेयम्--

'जहा सत्तमसए' इत्यादौ यावत्करणादिदं दृश्यम् , 'उप्पिं विसाले अहे पलियंकसंठाणसंठिए मज्झे वरवइरविग्गहिए उप्पिं उड्ढमुइंगागारसंठिए तंसि च णं सासयंसि लोगंसि हेट्ठा वित्थिन्नंसि०जाव उप्पिं उड्ढमुइंगागारसंठियंसि उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली जीवे वि जाणइ अजीवे वि जाणइ तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ' इत्यादीति , ' झुसिरगोलसंठिए ' त्ति अन्तः शुषिरगोलकाकारो यतोऽलोकस्य लोकः शुषिरमिवाभाति, स्थापना चेयम्—

भ० ११ श० १० उ० ।

(११) मरणादिस्वरूपं भगवता लोके प्ररूपितमिति लोकस्वरूपप्ररूपणाय प्रश्नं कारयन्नाह—

के अयं लोगे ?, जीव च्चेव अजीव च्चेव, के अणंता लोए ? जीव च्चेव अजीव च्चेव, के सासया लोगे ?, जीव च्चेव अजीव च्चेव (सू० १०३)

'क' इति प्रश्नार्थः, ' अय ' मिति देशतः प्रत्यक्ष आसन्नश्च यत्र भगवता मरणादिप्रशस्तासमस्तवस्तुस्तोमतत्त्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मभ्यधायि. लोक्यत इति लोक इति प्रश्नः, अस्य निर्वचनम् जीवाश्चाजीवाश्चेति, पञ्चास्तिकायमयत्वाल्लोकस्य, तेषां च जीवाजीवरूपत्वादिति, उक्तञ्च—" पंचत्थिकायमइयं. लोगमणाइणिहणं जिणक्खायं " ति। लोकस्वरूपभूतानां च जीवाजीवानां स्वरूपं प्रश्नपूर्वकेण सूत्रद्वयेनाह—' के अणंते ' त्यादि के अनन्ताः लोके इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—जीवा अजीवाश्चेति, अत एव च शाश्वता द्रव्यार्थतयेति ॥ स्था० २ ठा० ४ उ० ।

(१२) अधोलोकादिक्षेत्रलोकः किं जीवोऽजीवो वा-

अहे(हो)लोयखेत्तलोए णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवपएसा ? एवं जहा इंदा दिसा तहेव निरवसेसं भाणियव्वं० जाव अद्धासमए ॥ तिरियलोयखेत्तलोए णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवपएसा ?, एवं चेव, एवं उड्ढलोयखेत्तलोए वि, नवरं अरूवि छव्विहा अद्धासमओ नत्थि ॥ लोए णं भंते ! किं जीवा जहा बितियसए अत्थि उद्देसए लोयागासे नवरं अरूवी सत्त वि० जाव अहम्मत्थिकायस्स पएसा नोआगासत्थिकाए आगासत्थिकायस्स देसे आगासत्थिकायपएसा अद्धासमए सेसं तं चेव । (सू० ४२० +)।

' अहेलोयखेत्तलोए णं भंते ! ' इत्यादि, ' एवं जहा इंदा दिसा तहेव निरवसेसं भाणियव्वं' ति दशमशते प्रथमोद्देशके यथा ऐन्द्री दिगुक्ता तथैव निरवशेषमधोलोकस्वरूपं भणितव्यम् , तच्चैवम्—" अहेलोयखेत्तलोए णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवपएसा अजीवा अजीवदेसा अजीवपएसा ?, गोयमा ! जीवा वि जीवदेसा वि जीवपएसा वि अजीवा वि अजीवदेसा वि अजीवपएसा वि" इत्यादि, नवगमित्यादि , अधोलोकतिर्यग्लोकयोररूपिणः सप्तविधाः प्रागुक्ताः धर्माधर्माकाशास्तिकायानां देशाः ३ प्रदेशाः ३ कालश्चेत्येवम् , ऊर्द्ध्वलोके तु रविप्रकाशाभिव्यङ्ग्यः कालो नास्ति, तिर्यगधोलोकयोरेव रविप्रकाशस्य भावाद् , अतः षडेव त इति ॥ ' लोए ण ' मित्यादि, ' जहा बीयसए अत्थिउद्देसए ' त्ति यथा द्वितीयशते दशमोद्देशक इत्यर्थः । ' लोयागासे ' त्ति लोकाकाशे विषयभूते जीवादय उक्ताः एवमिहापीत्यर्थः, ' नवर ' मिति केवलमयं विशेषः—तत्रारूपिणः पञ्चविधा उक्ताः, इह तु सप्तविधा वाच्याः, तत्र हि लोकाकाशमाधारतया विवक्षितमत आकाशभेदास्तत्र नोक्यन्ते, इह तु लोकोऽस्तिकायसमुदायरूप आधारतया विवक्षितोऽत आकाशभेदा अप्याधेया भवन्तीति सप्त, ते चैवम्-धर्मास्तिकायः, लोके परिपूर्णस्य तस्य विद्यमानत्वात् धर्म्मास्तिकायदेशस्तु न भवति, धर्म्मास्तिकायस्यैव तत्र भावात् । धर्म्मास्तिकायप्रदेशाश्च सन्ति ; तद्रूपत्वाद्धर्मास्तिकायस्येति द्वयम् ।२। एवमधर्मास्तिकायेऽपि द्वयम् ।४। तथा नो आकाशास्तिकायो , लोकस्य तस्यैतद्देशत्वात् , आकाशदेशस्तु भवति; तद्देशत्वात् लोकस्य, तत्प्रदेशाश्च सन्ति ६, कालश्चे ७ ति सप्त।

(१३) अलोकः किं जीवोऽजीवो वा ?—

अलोए णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवपएसा ? , एवं जहा अत्थिकायउद्देसए अलोयागासे तहेव निरवसेसं० जाव अणंतभागूणे ॥ अहेलोगखेत्तलोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे किं जीवा जीवदेसा जीवपएसा, अजीवा अजीवदेसा अजीवपएसा ? गोयमा ! नोजीवा जीवदेसा वि जीवपएसा वि अजीवा वि अजीवदेसा वि अजीवपएसा वि, जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा १, अहवा-एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स देसे २, अहवा-एगिंदियदेसा य बेइंदियाण य देसा ३, एवं मज्झिल्लविरहिओ० जाव अणिंदिएसु० जाव, अहवा-एगिंदियदेसा य अणिंदियदेसा य, जे जीवपएसा ते नियया एगिंदियपएसा १, अहवा-एगिंदियपएसा य बेइंदियस्स पएसा २, अहवा-एगिंदियपएसा य बेइंदियाण य पएसा ३, एवं आइल्लविरहिओ० जाव पंचिंदिएसु अणिंदिएसु तियभंगो । जे अजीवा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-रूवी अजीवा य, अरूवी अजीवा य, रूवी तहेव-जे अरूवी अजीवा ते पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा-नो धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे १ धम्मत्थिकायस्स पएसे२, एवं अहम्मत्थिकायस्स वि ३,-४, अद्धासमए ५। तिरियलोगखेत्तलोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे किं जीवा० ?, एवं जहा अहोलोगखेत्तलोगस्स तहेव, एवं उड्ढलोगखेत्तलोगस्स वि, नवरं अद्धासमओ नत्थि, अरूवी चउव्विहा, लोगस्स जहा अहेलोगखेत्तलोगस्स एगम्मि आगासपएसे ॥ अलोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे पुच्छा, गोयमा ! नोजीवा नोजीवदेसा तं चेव० जाव अणंतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासस्स अणंतभागूणे ॥ दव्वओ णं अहेलोगखेत्तलोए अणंताइं जीवदव्वाइं अणंताइं अजीवदव्वाइं अणंता जीवाजीवदव्वा एवं तिरियलोयखेत्तलोए वि, एवं उड्ढलोयखेत्तलोए वि,दव्वओ णं अलोए णेवत्थि जीवदव्वा नेवत्थि अजीवदव्वा नेवत्थि जीवाजीवदव्वा, एगे अजीवदव्वदेसे० जाव सव्वागासअणंतभागूणे । कालओ णं अहेलोयखेत्तलोए न कयाइ नासि० जाव निच्चे, एवं० जाव अहेलोगे । भावओ णं अहेलोगखेत्तलोए अणंता वन्नपज्जवा जहा खंदए० जाव अणंता अगुरुयलहुयपज्जवा एवं० जाव लोए, भावओ णं अलोए नेवत्थि वन्नपज्जवा० जाव नेवत्थि अगुरुयलहुयपज्जवा एगे अजीवदव्वदेसे० जाव अणंतभागूणे । (सू० ४२०+)।

' अलोए णं भंते ! ' इत्यादि , इदं च ' एवं जहे ' त्याद्यतिदेशादेवं दृश्यम्-'अलोए णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवपएसा, अजीवा अजीवदेसा अजीवपएसा ? , गोयमा ! नो जीवदेसा नो जीवपएसा, नो अजीवदेसा नो अजीवप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पसा, एगे अजीवदव्वदेसे अणंतेहिं अगुरुलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतभागूणे ' त्ति-तत्र सर्वाकाशमनन्तभागोनमित्यस्यायमर्थः-लोकलक्षणेन समस्ताकाशस्यानन्तभागेन न्यूनं सर्वाकाशमलोक इति ॥ ' अहोलोगखेत्तलोयस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे, ' इत्यादि, नो जीवा एकप्रदेशे तेषामनवगाहनात्, बहूनां पुनर्जीवानां देशस्य प्रदेशस्य चावगाहनात् उच्यते-' जीवदेसा वि जीवपएसा वि ' त्ति, यद्यपि धर्मास्तिकायाद्यजीवद्रव्यं नैकत्राकाशप्रदेशेऽवगाहते तथापि परमाणुकादिद्रव्याणां कालद्रव्यस्य चावगाहनादुच्यते-' अजीवा वि ' त्ति, द्व्यणुकादिस्कन्धदेशानां त्ववगाहनादुक्तम्-' अजीवदेसा वि ' त्ति, धर्माधर्मास्तिकायप्रदेशयोः पुद्गलद्रव्यप्रदेशानां चावगाहनादुच्यते-' अजीवपएसा वि' त्ति, एवं ' मज्झिल्लविरहिओ ' त्ति दशमशतप्रदर्शितत्रिकभङ्गे ' अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियदेसा य ' इत्येवंरूपो यो मध्यमभङ्गस्तद्विरहितोऽसौ त्रिकभङ्गः, ' एव ' मिति सूत्रप्रदर्शितभङ्गद्वयरूपोऽध्येतव्यो मध्यमभङ्गस्येहासम्भवात्, तथाहि-द्वीन्द्रियस्यैकस्यैकत्राकाशप्रदेशे बहवो देशा न सन्ति, देशस्यैव भावात्, 'एवं आइल्लविरहिओ' त्ति, 'अहवा एगिंदियस्स पएसा य बेंदियस्स पएसा य' इत्येवं रूपाद्यभङ्गकविरहितस्त्रिभङ्गः. ' एव ' मिति सूत्रप्रदर्शितभङ्गद्वयरूपोऽध्येतव्य आद्यभङ्गकस्येहासम्भवात् , तथाहि-नास्त्येवैकत्राकाशप्रदेशे केवलिसमुद्घातं विनैकस्य जीवस्यैकप्रदेशसम्भवोऽसंख्यातानामेव भावादिति, ' अणिंदिएसु तियभंगो ' त्ति अनिन्द्रियपूर्वभङ्गकत्रयमपि सम्भवतीति कृत्वा तेषु तद्वाच्यमिति । ' रूवी तहेव ' त्ति स्कन्धाः देशाः प्रदेशा अणवश्चेत्यर्थः, ' नो धम्मत्थिकाये ' त्ति नो धर्मास्तिकाय एकत्राकाशप्रदेशे संभवत्यसंख्यातप्रदेशावगाहित्वात्तस्येति, ' धम्मत्थिकायस्स देसे ' त्ति यद्यपि धर्मास्तिकायस्यैकत्राकाशप्रदेशे प्रदेश एवास्ति तथाऽपि देशोऽवयव इत्यनर्थान्तरत्वेनावयवमात्रस्यैव विवक्षितत्वात् निरंशतायाश्च तत्र सत्या अपि अविवक्षितत्वाद्धर्मास्तिकायस्य देश इत्युक्तम्, प्रदेशस्तु निरुपचरित एवास्तीत्यत उच्यते ' धम्मत्थिकायस्स पएसे ' त्ति ' एवमहम्मत्थिकायस्स वि ' त्ति ' नो अहम्मत्थिकाए अहम्मत्थिकायस्स देसे अहम्मत्थिकायस्स पएसे' इत्येवमधर्मास्तिकायसूत्रं वाच्यमित्यर्थः, 'अद्धासमओ नत्थि त्ति अरूवी चउव्विह' त्ति ऊर्ध्वलोकेऽद्धासमयो नास्तीति अरूपिणश्चतुर्विधाः-धर्मास्तिकायदेशादयः ऊर्ध्वलोक एकत्राकाशप्रदेशे सम्भवन्तीति । ' लोगस्स जहा अहोलोगखेत्तलोगस्स एगम्मि आगासपएसे ' त्ति अधोलोकक्षेत्रलोकस्यैकत्राकाशप्रदेशे यद्वक्तव्यमुक्तं तल्लोकस्याप्येकत्राकाशप्रदेशे वाच्यमित्यर्थः, तच्चेदम्-'लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे किं जीवा जीवदेसा जीवपएसा ? पुच्छा गोयमा ! नो जीवे ' त्यादि प्राग्वत् । ' अहेलोयखेत्तलोए अणंता वन्नपज्जव ' त्ति अधोलोकक्षेत्रलोके अनन्ता वर्णपर्यवाः, एकगुणकालकादीनामनन्तगुणकालाद्यवसानानां पुद्गलानां तत्र भावात् । अलोकसूत्रे ' नवत्थि अगुरुलहुयपज्जव ' त्ति अगुरुलघुपर्यवोपेतद्रव्याणां पुद्गलादीनां तत्राभावात् ।

(१४) लोकः कति महालयादिः—

लोए णं भंते ! के महालए पन्नत्ते ?, गोयमा ! अयन्नं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवा ०जाव परिक्खेवेणं, तेणं कालेणं तेणं समएणं छ देवा महिड्ढीया०जाव महेसक्खा, जंबुद्दीवे दीवे मंदरे पव्वए मंदरचूलियं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठेज्जा, अहे णं चत्तारि दिसाकुमारीओ महत्तरियाओ चत्तारि बलिपिंडे गहाय जंबुद्दीवस्स दीवस्स चउसु वि दिसासु बहियाभिमुहीओ ठिच्चा ते चत्तारि बलिपिंडे जमगसमगं बहियाभिमुहे पक्खिवेज्जा, पभू णं गोयमा ! ताओ एगमेगे देवे ते चत्तारि बलिपिंडे धरणितलमसंपत्ते खिप्पामेव पडिसाहरित्तए, ते णं गोयमा ! देवा ताए उक्किट्ठाए ०जाव देवगइए एगे देवे पुरच्छाभिमुहे पयाते एवं दाहिणाभिमुहे एवं पचत्थाभिमुहे एवं उत्तराभिमुहे एवं उड्ढाभिमुहे०एगे देवे अहोभिमुहे पयाए । तेणं कालेणं तेणं समएणं वाससहस्साउए दारए पयाए, तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पहीणा भवंति, णो चेव णं ते देवा लोगंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स आउए पहीणे भवति णो चेव णं०जाव संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स अट्ठिमिंजापहीणा भवंति णो चेव णं ते देवा लोगंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स आसत्तमे वि कुलवंसे पहीणे भवति णो चेव णं ते देवा लोगंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स नामगोए वि पहीणे भवति णो चेव णं ते देवा लोगंतं संपाउणंति, तेसि णं भंते देवाणं किं गए बहुए अगए बहुए ?, गोयमा ! गए बहुए नो अगए बहुए, गयाउ से अगए असंखेज्जइभागे अगयाउ से गए असंखेज्जगुणे लोए णं गोयमा ! एमहालए पन्नत्ते ।

(१५) अलोकः कतिमहालयः—

अलोए णं भंते ! के महालए पन्नत्ते ?, गोयमा ! अयन्नं समयखेत्ते पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं जहा खंदए ०जाव परिक्खेवेणं । तेणं कालेणं तेणं समएणं दस देवा महिड्ढिया तहेव ०जाव संपरिक्खित्ता णं संचिट्ठेज्जा, अहे णं अट्ठ दिसाकुमारीओ महत्तरियाओ अट्ठ बलिपिंडे गहाय माणुसुत्तरस्स पव्वयस्स चउसु वि दिसासु चउसु वि विदिसासु बहियाभिमुहीओ ठिच्चा अट्ठ बलिपिंडे गहाय माणुसुत्तरस्स पव्वयस्स जमगसमगं बहियाभिमुहीओ पक्खिवेज्जा, पभू णं गोयमा! तओ एगमेगे देवे ते अट्ठ बलिपिंडे धरणितलमसंपत्ते खिप्पामेव पडिसाहरित्तए, ते णं गोयमा ! देवा ताए उक्किट्ठाए ०जाव देवगईए लोगंसि ठिच्चा असब्भावपट्ठवणाए एगे देवे पुरच्छाभिमुहे पयाए, एगे देवे दाहिणपुरच्छाभिमुहे पयाए, एवं०जाव उत्तरपुच्छाभिमुहे एगे देवे उड्ढाभिमुहे एगे देवे अहोभिमुहे पयाए, तेणं कालेणं तेणं समएणं वाससयसहस्साउए दारए पयाए, तए णं तस्स दारगस्स अम्मा-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पियरो पहीणा भवंति नो चेव णं ते देवा अलोयंतं संपाउणंति, तं चेव०, तेसि णं देवाणं किं गए बहुए अगए बहुए ?, गोयमा ! नो गए बहुए अगए बहुए गयाउ से अगए अणंतगुणे, अगयाउ से गए अणंतभागे अलोए णं गोयमा ! एमहालए पन्नत्ते। (सू० ४२१)

'सव्वदीव' त्ति इह यावत्करणादिदं दृश्यम्—'समुद्दाणं अब्भंतरए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूयसंठाणसंठिए वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकन्नियासंठाणसंठिए वट्टे पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिए एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सोलस य सहस्साइं दोन्नि य सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं' ति 'ताए उक्किट्ठाए' त्ति इह यावत्करणादिदं दृश्यम्—'तुरियाए चवलाए चंडाए सिहाए उद्धुयाए जयणाए छेयाए दिव्वाए' त्ति तत्र त्वरितया—आकुलया चपलया-कायचापल्येन चण्डया—रौद्रया गत्युत्कर्षयोगात् सिंहया-दार्ढ्यस्थिरतया उद्धुतया—दर्पातिशयेन जयिन्या—विपक्षजेतृत्वेन छेकया—निपुणया दिव्यया—दिवि भवयेति, 'पुरच्छाभिमुहे' त्ति मर्वपक्षया, 'आसत्तमे कुलवंसे पहीणे' त्ति कुलरूपो वंशः प्रहीणो भवति आसप्तमादपि वंश्यात्, सप्तममपि वंश्यं यावदित्यर्थः, 'गयाउ से अगए असंखेज्जइभागे अगयाउ से गए असंखेज्जगुणे' त्ति, ननु पूर्वादिषु प्रत्येकमर्द्धरज्जुप्रमाणत्वाल्लोकस्योर्ध्वाधश्च किञ्चिन्न्यूनाधिकसप्तरज्जुप्रमाणत्वात्तुल्यया गत्या गच्छतां देवानां कथं षट्स्वपि दिक्षु गतादगतं क्षेत्रमसंख्यातभागमात्रम्, अगताच्च गतमसंख्यातगुणमिति ?, क्षेत्रवैषम्यादिति भावः, अत्रोच्यते—घनचतुरस्रीकृतस्य लोकस्यैव कल्पितत्वान्न दोषः, ननु यद्युक्तस्वरूपयाऽपि गत्या गच्छन्तो देवा लोकान्तं बहुनापि कालेन न लभन्ते तदा कथमच्युताज्जिनजन्मादिषु द्रागवतरन्ति ?, बहुत्वात्क्षेत्रस्याल्पत्वादवतरणकालस्येति, सत्यम्, किन्तु—मन्देयं गतिः, जिनजन्माद्यवतरणगतिस्तु शीघ्रतमेति। 'असब्भावपट्ठवणाए' ति असद्भूतार्थकल्पनयेत्यर्थः। पूर्वं लोकालोकवक्तव्यतोक्ता।

(१६) अथ लोकैकप्रदेशगतं वक्तव्यविशेषं दर्शयन्नाह—

लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे जे एगिंदियपएसा० जाव पंचिंदियपएसा अणिंदियपदेसा अन्नमन्नबद्धा, अन्नमन्नपुट्ठा०जाव अन्नमन्नसमभरघडत्ताए चिट्ठंति, अत्थि णं भंते ! अन्नमन्नस्स किञ्चि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पायंति छविच्छेदं वा करेंति ?, णो तिणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ लोगस्स णं एगम्मि आगासपएसे जे एगिंदियपएसा ० जाव चिट्ठंति णऽत्थि णं भंते ! अन्नमन्नस्स किंचि आबाहं वा०जाव करेंति ?. गोयमा ! से जहानामए नट्टिया सिया सिंगारागारचारुवेसा ० जाव कलिया रंगट्ठाणंसि जणसयाउलंसि जणसयसहस्साउलंसि बत्तीसइविहस्स नट्टस्स अन्नयरं नट्टविहिं उवदंसेज्जा, से नूणं गोयमा ! ते पेच्छगा तं नट्टियं अणिमिसाए दिट्ठीए सव्वओ समंता समभिलोएंति ?, हंता समभिलोएंति, ताओ णं गोयमा ! दिट्ठीओ तंसि नट्टियंसि सव्वओ समंता सन्निपडियाओ ?, हंता सन्निपडियाओ, अत्थि णं गोयमा ! ताओ दिट्ठीओ तीसे नट्टियाए किंचि वि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएंति छविच्छेदं वा करेंति ?, णो तिणट्ठे समट्ठे, अहवा—सा नट्टिया तासिं दिट्ठीणं किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएंति छविच्छेदं वा करेइ ?, णो तिणट्ठे समट्ठे,ताओ वा दिट्ठीओ अन्नमन्नाए दिट्ठीए किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएंति छविच्छेदं वा करेंति ?, णो तिणट्ठे समट्ठे, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ तं चेव० जाव छविच्छेदं वा करेंति॥ (सू० ४२२)

लोगस्स ण' मित्यादि, 'अत्थि णं भंते !' त्ति अस्त्ययं भदन्त ! पक्षः इह च त इति शेषो दृश्यः, 'जाव कलिय' त्ति इह यावत्करणादेवं दृश्यम्—'संगयगयहसियभणियचिट्ठियविलाससललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकलिय' त्ति, 'बत्तीसइविहस्स नट्टस्स' त्ति द्वात्रिंशद्विधा—भेदा यस्य तत्तथा तस्य नाट्यस्य, तत्र ईहामृगऋषभतुरगनरमकरविहगव्यालककिन्नरादिभक्तिचित्रो—नामैको नाट्यविधिः, एतच्चरिताभिनयनमिति संभाव्यते, एवमन्येऽप्येकत्रिंशद्विधयो राजप्रश्नकृतानुसारतो वाच्याः।

लोकैकप्रदेशाधिकारादेवेदमाह—

लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे जहन्नपए जीवपएसाणं उक्कोसपए जीवपएसाणं सव्वजीवाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा !, गोयमा ! सव्वत्थोवा लोगस्स एगम्मि आगासपएसे जहन्नपए जीवपएसा, सव्वजीवा असंखेज्जगुणा, उक्कोसपए जीवपएसा विसेसाहिया सेवं भंते ! भंते ! त्ति। (सू० ४२३)

'लोगस्स ण' मित्यादि, अस्य व्याख्या—यथा किलैतेषु त्रयोदशसु प्रदेशेषु त्रयोदश प्रदेशकानि दिग्दशकस्पर्शानि त्रयोदश द्रव्याणि स्थितानि तेषां च प्रत्याकाशप्रदेशं त्रयोदश त्रयोदश प्रदेशा भवन्ति, एवं लोकाकाशप्रदेशेऽनन्तजीवावगाहेनैकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽनन्ता जीवप्रदेशा भवन्ति लोके च सूक्ष्मा अनन्तजीवात्मका निगोदाः पृथिव्यादिसर्वजीवासंख्येयकतुल्याः सन्ति, तेषां चैकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे जीवप्रदेशा अनन्ता भवन्ति तेषां च जघन्यपदे एकत्राकाशप्रदेशे सर्वस्तोका जीवप्रदेशाः, तेभ्यश्च सर्वजीवा असंख्येयगुणाः, उत्कृष्टपदे पुनस्तेभ्यो विशेषाधिका जीवप्रदेशा इति ॥ अयं च सूत्रार्थोऽमूभिर्वृद्धोक्तगाथाभिर्भावनीयः—

" लोगस्सेगपएसे, जहन्नयपयम्मि जियपएसाणं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्कोसपए य तहा, सव्वजियाणं च के बहुया ? ॥ १ ॥ इति प्रश्नः,

उत्तरं पुनरत्र—

थोवा जहएणयपए, जियप्पएसा जिया असंखगुणा ।
उक्कोसपयपएसा, तश्रो विसेसाहिया भणिया ॥ २ ॥

अथ जघन्यपदमुत्कृष्टपदं चोच्यते—

तत्थ पुण जहन्नपयं, लोगंतो जत्थ फासणा तिदिसिं ।
छद्दिसिमुक्कोसपयं, समत्तगोलम्मि णएणत्थ ॥ ३ ॥

तत्र-तयोर्जघन्येतरपदयोर्जघन्यपदं लोकान्ते भवति 'जत्थ' त्ति यत्र गोलके स्पर्शना निगोददेशैस्तिसृष्वेव दिक्षु भवति शेषदिशामलोकेनावृतत्वात्, सा च खण्डगोल एव भवतीति भावः 'छद्दिसिं' ति यत्र पुनर्गोलके षट्स्वपि दिक्षु निगोददेशैः स्पर्शना भवति तत्रोत्कृष्टपदं भवति तच्च समस्तगोलेः परिपूर्णगोलके भवति, नान्यत्र, खण्डगोलके न भवतीत्यर्थः, सम्पूर्णगोलकश्च लोकमध्य एव स्यादिति ।

अथ परवचनमाशङ्कमान आह—

उक्कोसमसंखगुणं, जहन्नयाश्रो पयं हवइ किंतु ? ।
नणु तिदिसिं फुसणाश्रो, छद्दिसिं फुसणा भवे दुगुणा ॥४॥

उत्कर्षम्-उत्कृष्टपदमसंख्यातगुणं जीवप्रदेशापेक्षया जघन्यकात्पदादिति गम्यं भवति, किन्तु-कथं तु, न भवतीत्यर्थः, कस्मादेवम् ? इत्याह-ननु—निश्चितम्, अक्षमायां वा ननुशब्दः, त्रिदिक्स्पर्शनायाः सकाशात् षड्दिक्स्पर्शना भवेद् द्विगुणेति, इह च काकुपाठाद्धेतुत्वं प्रतीयत इति, अतो द्विगुणमेवोत्कृष्टं पदं स्यादसंख्यातगुणं च तदिष्यते, जघन्यपदाश्रितजीवप्रदेशापेक्षयाऽसंख्यातगुणसर्वजीवेभ्यो विशेषाधिकजीवप्रदेशोपेतत्वात्तस्येति । इहोत्तरम्—

थोवा जहन्नयपए, निगोयमित्तावगाहणाफुसणा ।
फुसणासंखगुणत्ता, उक्कोसपए असंखगुणा ॥ ५ ॥

स्तोका—जीवप्रदेशा जघन्यपदे कस्मात् ?, इत्याह—निगोदमात्रे क्षेत्रेऽवगाहना येषां ते तथा, एकावगाहना इत्यर्थः, तरेव यत्स्पर्शनम्—अवगाहनं जघन्यपदस्य तन्निगोदमात्रावगाहनस्पर्शनं तस्मात्, खण्डगोलकनिष्पादकनिगोदैस्तस्यासंस्पर्शनादित्यर्थः, भूम्यासन्नापवरककोणान्तिमप्रदेशसदृशो हि जघन्यपदाख्यः प्रदेशः, तं चालोकसम्बन्धादेकावगाहना एव निगोदाः स्पृशन्ति; न तु खण्डगोलनिष्पादकाः, तत्र किल जघन्यपदे कल्पनया जीवशतं स्पृशति, तस्य च प्रत्येकं कल्पनयैव प्रदेशलक्षं तत्रावगाढमित्येवं जघन्यपदे कोटी जीवप्रदेशानामवगाढेत्येवं स्तोकास्तत्र जीवप्रदेशा इति । अथोत्कृष्टपदजीवप्रदेशपरिमाणमुच्यते—'फुसणासंखगुणत्त' त्ति स्पर्शनायाः-उत्कृष्टपदस्य पूर्णगोलकनिष्पादकनिगोदैः संस्पर्शनाया यदसंख्यातगुणत्वं जघन्यपदापेक्षया तत्तथा तस्माद्धेतोरुत्कृष्टपदेऽसंख्यातगुणा जीवप्रदेशा जघन्यपदापेक्षया भवन्ति, उत्कृष्टपदं हि सम्पूर्णगोलकनिष्पादकनिगोदैरेकावगाहनैरसंख्येयैः तथोत्कृष्टपदाविमोचनेनैकैकप्रदेशपरिहानिभिः प्रत्येकमसंख्येयैरेव स्पृष्टम्, तच्च किल कल्पनया कोटीसहस्रेण जीवानां स्पृश्यते, तत्र च प्रत्येकं जीवप्रदेशलक्षस्यावगाहनाज्जीवप्रदेशानां दशकोटीकोट्योऽवगाढाः स्युरित्येवमुत्कृष्टपदे तेऽसंख्येयगुणा भावनीया इति ।

अथ गोलकप्ररूपणायाह—

उक्कोसपयममोत्तुं, निगोयश्रोगाहणाए सव्वत्तो ।
निप्फाइज्जइ गोलो, पएसपरिवुड्ढिहाणीहिं ॥ ६ ॥

उत्कृष्टपदं-विवक्षितप्रदेशम् अमुञ्चद्भिः निगोदावगाहनाया एकस्याः सर्वतः—सर्वासु दिक्षु निगोदान्तराणि स्थापयद्भिर्निष्पाद्यते गोलः, कथम् ?, प्रदेशपरिवृद्धिहानिभ्यां-कांश्चित् प्रदेशान् विवक्षितावगाहनाया आक्रामद्भिः कांश्चिद्विमुञ्चद्भिरित्यर्थः, एवमेकगोलकनिष्पत्तिः । स्थापना चेयम्-०

गोलकान्तरकल्पनायाह—

तत्तो च्चिय गोलाश्रो, उक्कोसपयं मुइत्तु जो अन्नो ।
होइ निगोश्रो तम्मि वि, अन्नो निप्फज्जती गोलो ॥ ७ ॥

तमेवोक्तलक्षणं गोलकमाश्रित्यान्यो गोलको निष्पद्यते, कथम् ?, उत्कृष्टपदं प्राक्तनगोलकसम्बन्धि विमुच्य योऽन्यो भवति निगोदस्तस्मिन्नुत्कृष्टपदकल्पनेनेति ।

तथा च यत्स्यात्तदाह—

एवं निगोयमेत्ते, खेत्ते गोलस्स होइ निप्फत्ती ।
एवं निप्फज्जंते, लोगे गोला असंखिज्जा ॥ ८ ॥

एवम्—उक्तक्रमेण निगोदमात्रे क्षेत्रे गोलकस्य भवति निष्पत्तिः, विवक्षितनिगोदावगाहातिरिक्तनिगोददेशानां गोलकान्तरानुप्रवेशात्, एवं च निष्पद्यन्ते लोके गोलका असंख्येयाः, असंख्येयत्वात् निगोदावगाहनानाम्, प्रतिनिगोदावगाहनं च गोलकनिष्पत्तेरिति ।

अथ किमिदमेव प्रतिगोलकं यदुक्तमुत्कृष्टपदं तदेवेह ग्राह्यमुतान्यत् ? इत्यस्यामाशङ्कायामाह—

ववहारनएण इमं, उक्कोसपया वि एत्तिया चेव ।
जं पुण उक्कोसपयं, नेच्छइ यं होइ तं वोच्छं ॥ ९ ॥

व्यवहारनयेन—सामान्येन इदम्—अनन्तरोक्तमुत्कृष्टपदमुक्तम्, काक्वा चेदमध्येयम्, तेन नेहेदं ग्राह्यमित्यर्थः स्यात्, अथ कस्मादेवम् ?, इत्याह—'उक्कोसपया वि एत्तिया चेव' त्ति न केवलं गोलका असंख्येयाः उत्कर्षपदान्यपि परिपूर्णगोलकप्ररूपितानि एतावन्त्येव—असंख्येयान्येव भवन्ति यस्मात्ततो न नियतमुत्कृष्टपदं किञ्चनस्यादिति भावः, यत्पुनरुत्कृष्टपदं नैश्चयिकं भवति सर्वोत्कर्षयोगाद् यदिह ग्राह्यमित्यर्थः तद्वक्ष्ये ।

तदेवाह—

बायरनिगोयविग्गह-गइयाई जत्थ समहिया अन्ने ।
गोला हुज्ज सुबहुला, नेच्छइ एयं तदुक्कोसं ॥ १० ॥

बादरनिगोदानां-कन्दादीनां विग्रहगतिकादयो बादरनिगोदविग्रहगतिकादयः, आदिशब्दश्चेहाविग्रहगतिकावरोधार्थः, यत्रोत्कृष्टपदे समधिका अन्ये—सूक्ष्मनिगोदगोलकेभ्योऽपरे गोलका भवेयुः सुबहवो नैश्चयिकपदं तदुत्कर्षम्, बादरनिगोदा हि पृथिव्यादिषु पृथिव्यादयश्च स्वस्थानेषु स्वरूपतो भवन्ति न सूक्ष्मनिगोदवत्सर्वत्रेत्यतो यत्र क्वचित्ते भवन्ति तदुत्कृष्टपदं तात्त्विकमिति भावः ।

एतदेव दर्शयन्नाह—

इहरा पडुच्च सुहुमा, बहुतुल्ला पायसो सगलगोला ।
तो बायराइगहणं, कीरइ उक्कोसयपयम्मि ॥ ११ ॥

'इहर' त्ति बादरनिगोदाश्रयणं विना सूक्ष्मनिगोदान् प्रतीत्य बहुतुल्याः-निगोदसंख्यया समानाः प्रायशः, प्रा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग्रहणमेकादिना न्यूनाधिकत्वे व्यभिचारपरिहारार्थम् , क एते ? इत्याह-सकलगोलाः , न तु खण्डगोलाः , अतो न नियतं किञ्चिदुत्कृष्टपदं लभ्यते , यत एवं ततो बादरनिगोदादिग्रहणं क्रियते उत्कृष्टपदे ।

अथ गोलकादीनां प्रमाणमाह—

गोला य असंखेज्जा, हौंति निगोया असंखया गोले ।
एक्केक्को उ निगोओ, अणंतजीवो मुणेयव्वो ॥ १२ ॥ (भ०)

(जीवप्रदेशपरिमाणप्ररूपणापूर्वकं निगोदादीनामवगाहनामानादिप्ररूपणा 'ओगाहणा' शब्दे तृतीयभागे ८३ पृष्ठे गता)

अथ सर्वजीवेभ्य उत्कृष्टपदजीवप्रदेशा विशेषाधिका इति विभणिषुस्तेषां सर्वजीवानां च तावत्समतामाह-

गोलो जीवो य समा, पएसओ जं च सव्वजीवा वि ।
हौंति समोगाहणया, मज्झिमओगाहणं पप्प ॥ २३ ॥

गोलको जीवश्च समौ प्रदेशतः—अवगाहनाप्रदेशानाश्रित्य, कल्पनया द्वयोरपि प्रदेशदशसहस्रस्यामवगाढत्वात् , 'जं च' त्ति यस्माच्च सर्वजीवा अपि सूक्ष्मा भवन्ति समावगाहनका मध्यमावगाहनामाश्रित्य, कल्पनया हि जघन्यावगाहना पञ्चप्रदेशसहस्राणि उत्कृष्टा तु पञ्चदशेति द्वयोश्च मीलनेनार्द्धीकरणेन च दश सहस्राणि मध्यमा भवतीति ।

तेण फुडं चिय सिद्धं, एगपएसम्मि जे जियपएसा ।
ते सव्वजीवतुल्ला, सुणसु पुणो जह विसेसहिया ॥ २४ ॥

इह किलासद्भावस्थापनया कोटीशतसंख्याप्रदेशस्य जीवस्याकाशप्रदेशदशसहस्यामवगाढस्य जीवस्य प्रतिप्रदेशं प्रदेशलक्षं भवति, तच्च पूर्वोक्तप्रकारतो निगोदवर्तिना जीवलक्षेण गुणितं कोटिसहस्रं भवति, पुनरपि च तदेकगोलवर्तिना निगोदलक्षेण गुणितं कोटीकोटीदशकप्रमाणं भवति, जीवप्रमाणमप्येतदेव । तथाहि—कोटीशतसंख्यप्रदेशे लोके दशसहस्रावगाहिनां गोलानां लक्षं भवति, प्रतिगोलकं च निगोदलक्षकल्पनात् निगोदानां कोटीसहस्रं भवति, प्रतिनिगोदं च जीवलक्षकल्पनात् सर्वजीवानां कोटीकोटीदशकं भवतीति ।

अथ सर्वजीवेभ्य उत्कृष्टपदगतजीवप्रदेशा विशेषाधिका इति दर्श्यते—

जं संति केइ खंडा, गोला लोगंतवत्तिणो अन्ने ।
बायरविग्गहिएहि य, उक्कोसपयं जमब्भहियं ॥ २५ ॥

यस्माद्विद्यन्ते केचित्खण्डा गोला लोकान्तवर्तिनः 'अन्ने' त्ति पूर्णगोलकेभ्योऽपरेऽतो जीवराशिः कल्पनया कोटीकोटीदशकरूप ऊनो भवति,पूर्णगोलकतायामेव तस्य-यथोक्तस्य भावात् , ततश्च येन जीवराशिना खण्डगोलका पूर्णीभूताः स सर्वजीवराशेरपनीयते असद्भूतत्वात्तस्य, स च किल कल्पनया कोटीमानः, तत्र चापनीते सर्वजीवराशिः स्तोकतरो भवति, उत्कृष्टपदं तु यथोक्तप्रमाणमेवेति तत्त्वतो विशेषाधिकं भवति, समता पुनः खण्डगोलानां पूर्णताविवक्षणादुक्तेति, तथा बादरविग्रहिकैश्च बादरनिगोदादिजीवप्रदेशैश्चोत्कृष्टपदं यद्-यस्मात्सर्वजीवराशेरभ्यधिकं ततः सर्वजीवेभ्य उत्कृष्टपदे जीवप्रदेशा विशेषाधिका भवन्तीति । इयमत्र भावना-बादरविग्रहगतिकादीनामनन्तानां जीवानां सूक्ष्मजीवासंख्येयभागवर्तिनां कल्पनया कोटीप्रायसंख्यानां पूर्वोक्तजीवराशिप्रमाणे प्रक्षेपणेन समतामाप्तावपि तस्य बादरादिजीवराशेः कोटीप्रायसंख्यस्य मध्यादुत्कर्षतोऽसंख्येयभागस्य कल्पनया शतसंख्यस्य विवक्षितसूक्ष्मगोलकावगाहनायामवगाहनात् एकैकस्मिंश्च प्रदेशे प्रत्येकं जीवप्रदेशलक्षस्यावगाढत्वात् लक्षस्य च शतगुणत्वेन कोटीप्रमाणत्वात् तस्याश्चोत्कृष्टपदे प्रक्षेपात्पूर्वोक्तमुत्कृष्टपदजीवप्रदेशमानं कोटयधिकं भवतीति ।

यस्मादेवम्—

तम्हा सव्वेहिंतो, जीवेहिंतो फुडं गहेयव्वं ।
उक्कोसपयपएसा, हौंति विसेसाहिया नियमा ॥ २६ ॥

इदमेव प्रकारान्तरेण भाव्यते—

अहवा जेण बहुसमा, सुहुमा लोएऽवगाहणाए य ।
तेणेक्केक्कं जीवं, बुद्धीए विरल्लए लोए ॥ २७ ॥

यतो बहुसमाः—प्रायेण समाना जीवसंख्यया कल्पनया एकैकावगाहनायां जीवकोटीसहस्रस्यावस्थानात् , खण्डगोलकैर्व्यभिचारपरिहारार्थं चेह बहुग्रहणं सूक्ष्माः—सूक्ष्मनिगोदगोलकाः कल्पनया लक्षकल्पाः लोके—चतुर्दशरज्ज्वात्मके, तथाऽवगाहनया च समाः, कल्पनया दशसु दशसु प्रदेशसहस्रेष्ववगाढत्वात् , तस्मादेकप्रदेशावगाढजीवप्रदेशानां सर्वजीवानां च समतापरिज्ञानार्थमेकैकं जीवं बुद्ध्या 'विरल्लए' त्ति केवलिसमुद्घातगत्या विस्तारयेल्लोके । अयमत्र भावार्थः—यावन्तो गोलकस्यैकत्र प्रदेशे जीवप्रदेशा भवन्ति, कल्पनया कोटीकोटीदशकप्रमाणास्तावन्त एव विस्तारितेषु जीवेषु लोकस्यैकत्र प्रदेशे ते भवन्ति, सर्वजीवा अप्येतत्समाना एवेति ।

अत एवाह—

एवं पि समा जीवा, एगपएसगयजियपएसेहिं ।
बायरबाहुल्ला पुण, हौंति पएसा विसेसहिया ॥ २८ ॥

एवमपि न केवलं 'गोलो जीवो य समा' इत्यादिना पूर्वोक्तन्यायेन समा जीवा एकप्रदेशगतैर्जीवप्रदेशैरिति, उत्तरार्द्धस्य तु भावना, प्राग्वदवसेयेति ।

अथ पूर्वोक्तराशीनां निदर्शनान्यभिधित्सुः प्रस्तावयन्नाह-

तेसिं पुण रासीणं, निदरिसणमिणं भणामि पच्चक्खं ।
सुहगहणगाहणत्थं, ठवणा रासिप्पमाणेहिं ॥ २९ ॥

गोलाण लक्खमेक्कं, गोले गोले निगोयलक्खं तु ।
एक्केक्के य निगोए, जीवाणं लक्खमेक्केक्कं ॥ ३० ॥

कोडिसयमेगजीव-प्पएसमाणं तमेव लोगस्स ।
गोल-निगोय-जियाणं, दस उ सहस्सा समोगाहो ॥ ३१ ॥

जीवस्सेक्केक्कस्स य, दससाहस्सावगाहिणो लोगे ।
एक्केक्कम्मि पएसे, पएसलक्खं समोगाढं ॥ ३२ ॥

जीवसयस्स जहन्ने, पयम्मि कोडी जियप्पएसाणं ।
ओगाढा उक्कोसे, पयम्मि बोच्छं पएसग्गं ॥ ३३ ॥

कोडिसहस्साजियाणं, कोडाकोडीदसप्पएसाणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्कोसे ओगाढा, सव्वजियाऽवेत्तिया चेव ॥ ३४ ॥
कोडी उक्कोसपय-म्मि वायरजियप्पएसपक्खेवो ।
सोहणयमेत्तियं चिय, कायव्वं खंडगोलाणं ॥ ३५ ॥

उत्कृष्टपदे सूक्ष्मजीवप्रदेशराशेरुपरि कोटीप्रमाणो बादरजीवप्रदेशानां प्रक्षेपः कार्यः, शतकल्पत्वाद्विवक्षितसूक्ष्मगोलकावगाढबादरजीवानाम्, तेषां च प्रत्येकं प्रदेशलक्षस्योत्कृष्टपदेऽवस्थितत्वात्, तन्मीलने च कोटीसद्भावादिति, तथा सर्वजीवराशेर्मध्याच्छोधनकम्—अपनयनम् ' एत्तियं चिय ' त्ति एतावतामेव—कोटीसंख्यानामेव कर्त्तव्यम्, खण्डगोलानाम् खण्डगोलकपूर्णताकरणे नियुक्तजीवानां तेषामसद्भाविकत्वादिति ।

एएसि जहासंभव-मत्थोवणयं करेज्ज रासीणं ।
सब्भावओ य जाणि-ज्ज ते अणंता असंखा वा ॥ ३६ ॥ "

इहार्थोपनयो यथास्थानं प्रायः प्राग् दर्शित एव ' अणंत ' त्ति निगोदे जीवा यद्यपि लक्षमाना उक्तास्तथाऽप्यनन्ताः, एवं सर्वजीवा अपि, तथा निगोदादयो ये लक्षमाना उक्तास्तेऽप्यसंख्यया अवसेया इति । भ० ११ श० ११ उ० ।

(१७) असंख्येयेषु लोकेषु अनन्तानि रात्रिन्दिवानीत्याह—

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जा (ते) थेरा भगवंतो जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वदासी–से नूणं भंते ! असंखेज्जे लोए अणंता राइंदिया उप्पज्जिंसु वा उप्पज्जंति वा उप्पजिस्संति वा विगच्छिंसु वा विगच्छंति वा विगाच्छिस्संति वा परीत्ता राइंदिया उप्पज्जिंसु घा उप्पज्जंतिसु वा उप्पज्जिस्संति वा विगच्छिसु वा विगच्छंति वा विगच्छिस्संति वा ?, हंता अज्जो ! असंखेज्जे लोए अणंता राइंदिया तं चेव, से केणट्ठेणं० जाव विगच्छिस्संति वा ?, भे नूणं भंते ! अज्जो ! पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं सासए लोए बुइए, अणादीए अणवदग्गे परित्ते परिवुडे हेट्ठा विच्छिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं विसाले अहे पलियंकसंठिए मज्झे वरवइरविग्गहिते उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठिए तेसिं च णं सासयंसि लोगंसि अणादियंसि अणवदग्गंसि परित्तंसि परिवुडंसि हेट्ठा विच्छिन्नंसि मज्झे संखित्तंसि उप्पिं विसालंसि अहे पलियंकसंठियंसि मज्झे वरवइरविग्गहियंसि उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठियंसि अणंता जीवघणा उप्पज्जित्ता उप्पज्जित्ता निलीयंति परित्ता जीवघणा उप्पज्जित्ता उप्पज्जित्ता निलीयंति । से नूणं भूए उत्पन्ने विगए परिणए अजीवेहिं लोक्कति पलोकइ, जे लोकइ से लोए ?, हंता भगवं [ते] !, से तेणट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चइ असंखेज्जे तं चेव । तप्पभितिं च णं ते पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणंति सव्वन्नू सव्वदरिसी, तए णं ते थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी–इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंच महव्वइयं सप्पडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह, तए णं ते पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो ०जाव चरिमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं सिद्धा ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणा अत्थेगतिया देवा देवलोएसु उववन्ना । (सू० २२६)

' तेणं कालेणं ' इत्यादि, तत्र ' असंखेज्जे लोए ' त्ति असंख्यातेऽसंख्यातप्रदेशात्मकत्वात् लोके—चतुर्दशरज्ज्वात्मके क्षेत्रलोके आधारभूते ' अणंता राइंदिय ' त्ति अनन्तपरिमाणानि रात्रिन्दिवानि–अहोरात्राणि ' उप्पज्जिंसु वा ' इत्यादि, उत्पन्नानि वा उत्पद्यन्ते वा उत्पत्स्यन्ते वा, पृच्छतामयमभिप्रायः–यदि नामासंख्यातो लोकस्तदा तत्रानन्तानि तानि कथं भवितुमर्हन्ति ? , अल्पत्वादाधारस्य महत्वाच्चाधेयस्येति, तथा ' परित्ता राइंदिय ' त्ति परीत्तानि–नियतपरिमाणानि नानन्तानि, इहायमभिप्रायः–यद्यनन्तानि तानि तदा कथं परीत्तानि ? इति विरोधः, अत्र हन्तेत्याद्युत्तरम्, अत्र चायमभिप्रायः–असंख्यातप्रदेशेऽपि लोकेऽनन्ता जीवा वर्त्तन्ते, तथाविधस्वरूपत्वाद्, एकत्राश्रये सहस्रादिसंख्यप्रदीपप्रभा इव, ते चैकत्रैव समयादिके कालेऽनन्ता उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च, स च समयादिकालस्तेषु साधारणशरीरावस्थायामनन्तेषु प्रत्येकशरीरावस्थायां च परीत्तेषु प्रत्येक वर्त्तते, तत्स्थितिलक्षणपर्यायरूपत्वात्तस्य, तथा च कालोऽनन्तः परीत्तश्च भवतीति, एवं चासंख्येयेऽपि लोके रात्रिन्दिवान्यनन्तानि परीत्तानि च कालत्रयेऽपि युज्यन्त इति । एतदेव प्रश्नपूर्वकं तत्संमतजिनमतेन दर्शयन्नाह–' से नूण ' मित्यादि, ' भे ' त्ति भवतां सम्बन्धिना ' अज्जो ' त्ति हे आर्याः ! ' पुरिसादाणीएणं ' ति पुरुषाणां मध्ये आदानीयः—आदेयः—पुरुषादानीयस्तेन ' सासए ' त्ति प्रतिक्षणस्थायि, स्थिर इत्यर्थः ' बुइए ' त्ति उक्तः, स्थिरश्चोत्पत्तिक्षणादारभ्य स्यादित्यत आह—' अणाइए ' त्ति अनादिकः, स च सान्तोऽपि स्याद्भव्यत्ववदित्याह—' अनवयग्गे ' त्ति अनवदग्रः—अनन्तः ' परित्ते ' त्ति परिमितः प्रदेशतः, अनेन लोकस्यासंख्येयत्वं पार्श्वजिनस्यापि संमतमिति दर्शितम् । तथा–' परिवुडे ' त्ति अलोकेन परिवृतः ' हेट्ठा वित्थिन्ने ' त्ति सप्तरज्जूविस्तृतत्वात् ' मज्झे संखित्ते ' त्ति एकरज्जुविस्तारत्वात् ' उप्पिं विसाले ' त्ति ब्रह्मलोकदेशस्य पञ्चरज्जुविस्तारत्वात्, एतदेवोपमानतः प्राह—' अहे पलियंकसंठिए ' त्ति उपरि सङ्कीर्णत्वाधोविस्तृतत्वाभ्यां ' मज्झे वरवइरविग्गहिए ' त्ति वरवज्रवद्विग्रहः–शरीरमाकारो मध्यक्षामत्वेन यस्य स तथा, स्वार्थिकश्चेह कप्रत्ययः, ' उप्पिं उद्धमुइंगागारसंठिए ' त्ति ऊर्ध्वो न तु तिरश्चीनो यो मृदङ्गस्तस्याकारेण संस्थितो यः स तथा, मल्लकसंपुटाकार इत्यर्थः, ' अणंता जीवघण ' त्ति अनन्ताः—परिमाणतः सूक्ष्मादिसाधारणशरीराणां विवक्षितत्वात्, सन्तत्यपेक्षया वाऽनन्ताः, जीवसन्ततीनामपर्यवसानत्वात्, जीवाश्च ते घनाश्चानन्तपर्यायसमूहरूपत्वादसंख्येयप्रदेशपिण्डरूपत्वाच्च जीवघनाः, किमित्याह—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

' उप्पज्जित्ते ' त्ति उत्पद्योत्पद्य विलीयन्ते-विनश्यन्ति, तथा परीत्ताः—प्रत्येकशरीरा अनपेक्षितातीतानागतसन्तानतया वा संक्षिप्ताः, जीवघना इत्यादि तथैव,अनेन च प्रश्ने यदुक्तम् ' अणंता राइंदिया ' इत्यादि तस्योत्तरं सूचितम्, यतोऽनन्तपरीत्तजीवसम्बन्धात्कालविशेषा अप्यनन्ताः परीत्ताश्च व्यपदिश्यन्तेऽतो विरोधः परिहृतो भवतीति । अथ लोकमेव स्वरूपत आह—' से । नूणं) भूए ' त्ति यत्र जीवघना उत्पद्य उत्पद्य विलीयन्ते स लोको भूतः—सद्भूतो भवनधर्मयोगात्, स चानुत्पत्तिकोऽपि स्याद् यथा नयमतेनाकाशमत आह—उत्पन्नः, एवंविधश्चानश्वरोऽपि स्यात् यथा विवक्षितघटाभाव इत्यत आह—विगतः, स चानन्वयोऽपि किल भवतीत्यत आह—परिणतः—पर्यायान्तराणि आपन्नो न तु निरन्वयनाशेन नष्टः । अथ कथमयमेवंविधो निश्चीयते ? इत्याह—' अजीवेहिं ' ति अजीवैः—पुद्गलादिभिः सत्तां विभ्रद्भिरुत्पद्यमानैर्विगच्छद्भिः परिणमद्भिश्च लोकानन्यभूतैः लोक्यते—निश्चीयते प्रलोक्यते—प्रकर्षेण निश्चीयते, भूतादिधर्मकोऽयमिति, अत एव यथार्थनामाऽसाविति दर्शयन्नाह—' जे लोकइ से लोए ' त्ति यो लोक्यते—विलोक्यते प्रमाणेन स लोकः—लोकशब्दवाच्यो भवतीति, एवं लोकस्वरूपाभिधायकपार्श्वजिनवचनसंस्मरणेन स्ववचनं भगवान् समर्थितवानिति । ' सपडिक्कमणं ' ति आदिमान्तिमजिनयोरवश्यंकरणीयः सप्रतिक्रमणो धर्मोऽन्येषां तु कदाचित्प्रतिक्रमणम्, आह च—" सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स । मज्झिमगाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं ॥ १ ॥ " ति ॥ अनन्तरं ' देवलोएसु उववन्ना ' इत्युक्तम् । भ० ५ श० ६ उ० । (स्वकीयैः स्वकीयैः पर्यायैः कृतोऽयं लोक इति ' कडवाइ ' शब्दे ३ भागे २०४ पृष्ठे गतम्) (लोकवादं ' लोगवाय ' शब्दे वक्ष्यामि)

(१८) लोकसम्मतो लोकः—

अस्ति लोकः स्थावरजङ्गमात्मकः, तत्र नवखण्डा पृथ्वी, सप्तद्वीपा वसुंधरेति वा । अपरेषां तु—ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्ती, अपरेषां तु—प्रभूतान्येवंभूतानि ब्रह्माण्डान्युदकमध्ये प्लवमानानि संतिष्ठन्ते । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० (पृथिव्याः चलाचलत्वविचारः। सर्वा अपि पृथ्व्यःअलोकं न स्पृशन्तीति च 'पुढवी' शब्दे पञ्चमभागे ६७२ पृष्ठे 'भूगोल' शब्दे १५६४पृष्ठे च दर्शितम्)अनेकेषामत्र मतम्-' लोकक्रियात्मतत्त्वे,विवदन्ते वादिनो विभिन्नार्थम् । अविदितपूर्वं येषां,स्याद्वादविनिश्चितं तत्त्वम् ॥ १ ॥ ' येषां तु पुनः स्याद्वादमतं निश्चितं तेषामस्तित्वनास्तित्वादेरर्थस्य नयाभिप्रायेण कथंचिद् वा श्रयणाद्विवादाभाव इत्यादि । (आचा०१श्रु०८ अ० १ उ०) 'भूगोल' शब्दे पञ्चमभागे१५६४पृष्ठे सर्वेषां मतं प्रतिपादितम्—अस्ति लोको नास्ति वेत्यादि,ध्रुवो लोकः अध्रुवो लोक इत्यादि च । (अस्ति लोकः इति ' अत्थिवाय ' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे उक्तम्) (नास्ति लोक इत्यस्य खण्डनम् ' भूगोल ' शब्दे पञ्चमभागे १५६४ पृष्ठे विस्तरतो दर्शितम् । ध्रुवो लोकः अस्य खण्डनम् 'पुढवी' शब्दे ६७२ पृष्ठे उक्तम् । अध्रुवो लोकः इति मरणनिरूपणे 'मरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे१०८पृष्ठे उक्तम् । सादिको लोक इति 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे२५३पृष्ठे दर्शितम्)।

(१६) कुत्र लोको बहुसमः—

कहि णं भंते ! लोए बहुसमे ? कहि णं भंते ! लोए सव्वविग्गहिए पण्णत्ते ?, गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्लेसु खुड्डागपयरेसु एत्थ लोए बहुसमे एत्थ णं लोए सव्वविग्गहिए पण्णत्ते । कहि णं भंते ! विग्गहविग्गहिए लोए पण्णत्ते ?, गोयमा ! विग्गहकंडए एत्थ णं विग्गहविग्गहिए लोए पण्णत्ते । (सू० ४८६)

' कहि ण ' मित्यादि, ' बहुसमे ' त्ति अत्यन्तं समः, लोको हि कचिद्वर्द्धमानः क्वचिद्धीयमानोऽतस्तन्निषेधाद्बहुसमो वृद्धिहानिवर्जित इत्यर्थः, ' सव्वविग्गहिए ' त्ति विग्रहो वक्रं लघुरित्यर्थः, तदस्यास्तीति विग्रहिकः सर्वथा विग्रहिकः सर्वविग्रहिकः-सर्वसंक्षिप्त इत्यर्थः, ' उवरिमहेट्ठिल्लेसु खुड्डागपयरेसु ' त्ति उपरिमो यमवधीकृत्योर्ध्वं प्रतरवृद्धिः प्रवृत्ता, अधस्तनश्च यमवधीकृत्याधः प्रतरप्रवृद्धिः प्रवृत्ता, ततस्तयोरुपरितनाधस्तनयोः क्षुल्लकप्रतरयोः शेषापेक्षया लघुतरयो रज्जुप्रमाणायामविष्कम्भकयोस्तिर्यग्लोकमध्यभागवर्त्तिनोः 'एत्थ णं' ति एतयोः-प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमानतया प्रत्यक्षयोः ' विग्गहविग्गहिए ' त्ति विग्रहो—वक्रं तद्युक्तो विग्रहः—शरीरं यस्यास्ति स विग्रहविग्रहिकः ' विग्गहकंडए' त्ति विग्रहो—वक्रं कण्डकम्—अवयवो विग्रहरूपं कण्डकं विग्रहकण्डकं तत्र ब्रह्मलोककूर्प्पर इत्यर्थः यत्र वा प्रदेशवृद्ध्या हान्या वा वक्रं भवति तद्विग्रहकण्डकम्, तच्च प्रायो लोकान्तेष्वस्तीति । भ० १३ श० ४ उ० । ' अनन्तो नित्यश्च लोक ' इति यदभिहितं, तत्रेदमभिधीयते—यदि स्वजात्यनुच्छेदेनास्य नित्यताऽभिधीयते ततः परिणामानित्यत्वमस्मदभीष्टमेवाभ्युपगतं न काचिन्नक्षतिः, अथाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वेन नित्यत्वमभ्युपगम्यते तन्न घटते, तस्याध्यक्षबाधितत्वात्, न हि क्षणभाविपर्यायानालिङ्गितं किञ्चिद्वस्तु प्रत्यक्षेणावसीयते, निष्पर्यायस्य च खपुष्पस्येवासद्रूपतैव स्यादिति । तथा शश्वद्भवनं कार्यद्रव्यस्याऽऽकाशात्मादेश्चाविनाशित्वम् यदुच्यते-द्रव्यविशेषापेक्षया तदप्यसदेव, यतः सर्वमेव वस्तूत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वेन निर्विभागमेव प्रवर्त्तते, अन्यथा वियदरविन्दस्येव वस्तुत्वमेव हीयेतेति । तथा यदुक्तम्—' अन्तवाँल्लोकः सप्तद्वीपावच्छिन्नत्वा ' दित्येतन्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, न प्रेक्षापूर्वकारिणः, तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति । तथा यदप्युक्तम्, ' अपुत्रस्य न सन्ति लोका ' इत्यादित्येतदपि बालभाषितम्, तथाहि-किं पुत्रसत्तामात्रेणैव विशिष्टलोकावाप्तिरुत तत्कृतविशिष्टानुष्ठानात् ?, तद्यदि सत्तामात्रेण तत इन्द्रमहकामुकगर्त्ताचराहादिभिर्व्याप्ता लोका भवेयुः, तेषां पुत्रबहुत्वसंभवात्, अथानुष्ठानमाश्रीयते तत्र पुत्रद्वय सत्येकेन शोभनमनुष्ठितम्, अपरेण अशोभनमिति तत्र का वार्ता ?, स्वकृतानुष्ठानं च निष्फलमापद्येतेत्येवं यत्किंचिदेतदिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

(२०) धर्मास्तिकायादिभिर्लोकः स्पृष्टः—

चउहिं अत्थिकाएहिं लोगे फुडे पण्णत्ते, तं जहा-धम्मत्थिकाएणं अधम्मत्थिकाएणं जीवत्थिकाएणं पुग्गलत्थिकाए-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णं चउहिं बादरकाएहिं उववज्जमाणेहिं लोगे फुडे पण्णत्ते, तं जहा-पुढविकाइएहिं आउकाइएहिं वाउकाइएहिं वण-स्सइकाइएहिं। (सू० ३३३)

'चउहिं' इत्यादि गतार्थम्, केवलम् 'फुडे' त्ति स्पृष्टः-प्रतिप्रदेशं व्याप्तः, सूक्ष्माणां पञ्चानामपि सर्वलोकात् सर्वलोके उत्पादात् बादरतैजसानां तु सर्वलोकादुद्धृत्य मनुष्यक्षेत्रे ऋजुगत्या वक्रगत्या चोत्पद्यमानानां द्वयोरूर्ध्वकपाटयोरेव बादरतेजस्त्वव्यपदेशस्यष्टत्वाच्च 'चउहिं बादरकाएहिं' इत्युक्तम्, बादरा हि पृथिव्यम्बुवायुवनस्पतयः सर्वतो लोकादुद्धृत्य पृथिव्यादिघनोदध्यादिघनवातवलयादि घनोदध्यादिषु यथास्वमुत्पादस्थानेष्वन्यतरगत्योत्पद्यमाना अपर्याप्तकावस्थायामतिबहुत्वात् सर्वलोकं प्रत्येकं स्पृशन्ति, पर्याप्तास्त्वेते बादरतैजस्कायिकास्त्रसाश्च लोकासंख्येयभागमेव स्पृशन्तीति, उक्तञ्च प्रज्ञापनायाम्-"एत्थ णं बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे" तथा-" बादरपुढविकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं सव्वलोए"एवमब्वायुवनस्पतीनाम्, तथा-" बादरतेउक्काइयाणं अपज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे" "बादरतेउक्काइयाणं अपज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता, लोयस्स दोसु उड्ढकवाडेसुं तिरियलोयतट्टे य" त्ति द्वयोरूर्ध्वकपाटयोरूर्ध्वकपाटस्थतिर्यग्लोके चेत्यर्थः, तिर्यग्लोकस्थालके चेत्यन्ये, तथा-" कहि णं भंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण य ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! सुहुमपुढविकाइया जे पज्जत्तगा जे य अपज्जत्तगा ते सव्वे एगविहा अविसेसमणाणत्ता सव्वलोगपरियावन्नगा पन्नत्ता समणाउसो !" त्ति, एवमन्येऽपि, "एवं बेइंदियाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागो" त्ति, एवं शेषाणामपीति । चतुर्भिर्लोकः स्पृष्ट इत्युक्तमिति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

(२१) लोकस्य चरमान्तो जीवोऽजीवो वेत्याह-

लोयस्स णं भंते ! पुरच्छिमिल्ले चरिमंते किं जीवा जीवदेसा जीवपएसा, अजीवा अजीवदेसा अजीवपएसा?, गोयमा! णो जीवा जीवदेसा वि जीवपएसा वि अजीवा वि अजीवदेसा वि अजीवपएसा वि॥ जे जीवदेसा ते णियमं एगिंदियदेसा य, अहवा-एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स य देसे एवं जहा दसमसए अग्गेयी दिसा तहेव णवरं देसेसु अणिंदियाणं आइल्लविरहिओ, जे अरूवी अजीवा ते छव्विहा अद्धा समयो णत्थि सेसं तं चेव णिरवसेसं॥ लोगस्स णं भंते! दाहिणिल्ले चरिमंते किं जीवा०एवं चेव॥एवं पच्चच्छिमिल्ले वि॥ एवं उत्तरिल्ले वि॥ लोगस्स णं भंते ! उवरिल्ले चरिमंते किं जीवा० पुच्छा, गोयमा ! णो जीवा जीवदेसा वि० जाव अजीवपएसा वि। जे जीवदेसा ते णियमं एगिंदियदेसा य अणिंदियदेसा य, अहवा-एगिंदियदेसा य अणिंदियदेसा य, बेइंदियस्स य देसे, अहवा-एगिंदियदेसा य अणिंदियदेसा य बेइंदियाण य देसा एवं मज्झिल्लविरहिओ० जाव पंचिंदियाणं। जे जीवप्पएसा ते णियमं एगिंदियपएसा य अणिंदियपदेसा य, अहवा-एगिंदियपदेसा य अणिंदियपदेसा य बेइंदियस्स पदेसा य, अहवा एगिंदियपदेसा य अणिंदियपदेसा य बेइंदियाण य पदेसा, एवं आदिल्लविरहिओ०जाव पंचिंदियाणं। अजीवा जहा दसमसए तमाए तहेव णिरवसेसं। लोगस्स णं भंते ! हेट्ठिल्ले चरिमंते किं जीवा०पुच्छा, गोयमा ! णो जीवा जीवदेसा वि० जाव अजीवपदेसा वि, जे जीवदेसा ते णियमं एगिंदियदेसा, अहवा-एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स देसे, अहवा एगिंदियदेसा बेइंदियाण य देसा, एवं मज्झिल्लविरहिओ० जाव अणिंदियाणं पदेसा आइल्लविरहिया सव्वेसिं जहा पुरच्छिमिल्ले चरिमंते तहेव अजीवा जहेव उवरिल्ले चरिमंते तहेव। (सू० ५८३ +)

'चरिमंते' त्ति चरमरूपोऽन्तश्चरमान्तः तत्र चासंख्यातप्रदेशावगाहित्वाज्जीवस्यासम्भव इत्यत आह-'नोजीवे' त्ति जीवदेशादीनां त्वेकप्रदेशेऽप्यवगाहः संभवतीत्यत उक्तम्-'जीवदेसा वी' त्यादि। 'अजीवा वि' त्ति पुद्गलस्कन्धाः 'अजीवदेसा वि' त्ति। धर्मास्तिकायादिदेशाः स्कन्धदेशाश्च तत्र सम्भवन्ति, एवमजीवप्रदेशा अपि। अथ जीवादिदेशादिषु विशेषमाह-'जे जीवे' त्यादि ये जीवदेशास्ते पृथिव्याद्येकेन्द्रियजीवानां देशास्तेषां लोकान्तेऽवश्यंभावादित्येको विकल्पः। 'अहव' त्ति। प्रकारान्तरदर्शनार्थः एकेन्द्रियाणां बहुत्वाद्बहवस्तत्र तद्देशा भवन्ति, द्वीन्द्रियस्य च कादाचित्कत्वात्कदाचिद्देशः स्यादित्येको द्विकयोगविकल्पः। यद्यपि हि लोकान्ते द्वीन्द्रियो नास्ति तथापि यो द्वीन्द्रिय एकेन्द्रियेषूत्पित्सुर्मारणान्तिकसमुद्घातं गतस्तमाश्रित्यायं विकल्प इति 'एवं जहे' त्यादि यथा दशमशते आग्नेयीं दिशमाश्रित्योक्तम्, तथेह पूर्वचरमान्तमाश्रित्य वाच्यम्, तच्चेदम्-"अहवा एगिंदियदेसा य बेंदियस्स य देसा, अहवा-एगिंदियदेसा य बेंदियाण देसा, अहवा-एगिंदियदेसा य तेइंदियस्स य देसे" इत्यादि, यः पुनरिह विशेषस्तद्दर्शनायाह-' नवरं अणिंदियाण' मित्यादि अनिन्द्रियसम्बन्धिनि देशविषये भङ्गकत्रये "अहवा एगिंदियदेसा य अणिंदियस्स य देसे' इत्येवंरूपः प्रथमभङ्गको दशमशते आग्नेयीप्रकरणेऽभिहितोऽपीह न वाच्यः, यतः-केवलिसमुद्घाते कपाटाद्यवस्थायां लोकस्य पूर्वचरमान्ते प्रदेशवृद्धिहानिकृतलोकदन्तकसद्भावेनानिन्द्रियस्य बहूनां देशानां सम्भवो नत्वेकस्येति, तथा आग्नेय्यां दशविधेष्वरूपिद्रव्येषु धर्माधर्माकाशास्तिकायद्रव्याणां तस्यामभावात्सप्तविधा अरूपिण उक्ता लोकस्य पूर्वचरमान्तेष्वद्धासमयस्याप्यभावात् षड्विधास्ते वाच्याः, अद्धासमयस्य तु तत्राभावः समयक्षेत्र एव तद्भावादत एवाह-" जे अरूवी अजीवा ते छव्विहा अद्धासमयो नऽत्थि " त्ति ॥ 'उवरिल्ले चरिमंते ' त्ति अनेन सिद्धोपलक्षितः उपरितनचरमान्तो विवक्षितः, तत्र च एकेन्द्रियदेशा अनिन्द्रियदेशाश्च सन्तीति कृत्वाऽऽह-'जे जीवे'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यादि, इहाथमेको द्विकसंयोगः त्रिकसंयोगेषु च द्वौ द्वौ कार्यौ तेषु हि मध्यमभङ्गः, 'अहवा एगिंदियदेसा य अणिंदियदेसा य वेंदियस्स य देसा ' इत्येवंरूपो नास्ति द्वीन्द्रियस्य च देशा इत्यस्याऽसम्भवाद्यतो द्वीन्द्रियस्योपरितनचरमान्ते मारणान्तिकसमुद्घातेन गतस्यापि देश एव तत्र सम्भवति; न पुनः प्रदेशवृद्धिहानिकृतलोकदन्तकवशादनेकप्रतरात्मकपूर्वचरमान्तवद्देशाः , उपरितनचरमान्तस्यैकप्रतररूपतया लोकदन्तकाभावेन देशानेकत्वाहेतुत्वादिति , अत एवाह—' एवं मज्झिल्लविरहिओ ' त्ति । त्रिकभङ्गक इति प्रक्रमः , उपरितनचरमान्तापेक्षया जीवप्रदेशप्ररूपणायामेवम् , ' आइल्लविरहिओ ' त्ति यदुक्तं तस्यायमर्थः-इह पूर्वोक्ते भङ्गकत्रये प्रदेशापेक्षया, " अहवा-एगिंदियपदेसा य अणिंदियपएसा य बेइंदियस्स पदेसे " इत्ययं प्रथमभङ्गको न वाच्यः , द्वीन्द्रियस्य च प्रदेश इत्यस्याऽसम्भवात्तदसम्भवश्च लोकव्यापकावस्थानिन्द्रियवर्ज्यजीवानां यत्रैकप्रदेशस्तत्रासंख्यातानामेव तेषां भावादिति , ' अजीवा जहा दसमसए तमाए ' त्ति अजीवानाश्रित्य यथा दशमशते, ' तमाए ' त्ति तमाभिधानां दिशमाश्रित्य सूत्रमधीतं तथेहोपरितनचरमान्तमाश्रित्य वाच्यम्, तच्चैवम्-' जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-रूवि अजीवा य, अरूवि अजीवा, य जे रूवि अजीवा ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-खंधा० ४ जे अरूवि अजीवा ते छव्विहा पन्नत्ता, तं जहा—नो धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायस्स पएसा ' एवमधर्माकाशास्तिकाययोरपीति । ' लोगस्स णं भंते ! हिट्ठिल्ले ' इत्यादि, इह पूर्वचरमान्तवद्भङ्गाः कार्याः,नवरं तदीयस्य भङ्गकत्रयस्य मध्यात् "अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स य देसा " इत्येवंरूपो मध्यमभङ्गकोऽत्र वर्जनीयः , उपरितनचरमान्तप्रकरणोक्तयुक्तेस्तस्याऽसम्भवादत एवाह-'एवं मज्झिल्लविरहिओ ' त्ति देशभङ्गका दर्शिताः । अथ प्रदेशभङ्गकदर्शनायाह-' पएसा आइल्लविरहिआ सव्वेसिं जहा पुरच्छिमिल्ले चरिमंते ' त्ति, प्रदेशचिन्तायामाद्यभङ्गकरहिताः प्रदेशा वाच्या इत्यर्थः, आद्यश्च भङ्गक एकवचनान्तप्रदेशशब्दोपेतः, स च प्रदेशानामधश्चरमान्तेऽपि बहुत्वान्न सम्भवति, सम्भवति च-' अहवा-एगिंदियपएसा य बेइंदियस्स पएसा, ' अहवा-एगिंदियपएसा य बेइंदियाण य पएसा' इत्येतद् द्वयम् । 'सव्वेसिं ' ति । द्वीन्द्रियादीनामनिन्द्रियान्तानाम् । ' अजीवे ' त्यादि व्यक्तमेव । भ० १६ श० ८ उ० ।

(२२) ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकानामल्पबहुत्वम्—

एयस्स णं भंते ! अहेलोअस्स तिरियलोअस्स उड्ढलोयस्स य कयरे कयरेहिंतो ०जाव विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवे तिरियलोए उड्ढलोए असंखेज्जगुणे, अहेलोए विसेसाहिए । (सू० ४८७ ×)

' सव्वत्थोवे तिरियलोए ' त्ति अष्टादशयोजनशतायामत्वात् , 'उड्ढलोए असंखेज्जगुणे ' त्ति किंचिन्न्यूनसप्तरज्जूच्छ्रितत्वात् । ' अहेलोए विसेसाहिए ' त्ति किंचित्समधिकसप्तरज्जूच्छ्रितत्वादिति । भ० १३ श० ४ उ० ।

(२३) त्रीणि लोके समानि—

ततो लोगे समा सपक्खिं सपडिदिसिं पण्णत्ता, तं जहा-अप्पइट्ठाणे णरए जंबुद्दीवे दीवे सव्वऽट्ठसिद्धे महाविमाणे तओ लोगे समा सपक्खिं सपडिदिसिं पण्णत्ते, तं जहा-सीमंतए णं णरए समयक्खेत्ते ईसीपब्भारा पुढवी ।(सू०१४८)

त्रीणि लोके समानि—तुल्यानि योजनलक्षप्रमाणत्वात् , न च प्रमाणत एवात्र समत्वमपि तु औत्तराधर्यव्यवस्थिततया समश्रेणितयाऽपीत्यत आह—' सपक्खि ' मित्यादि, पक्षाणां--दक्षिणवामादिपार्श्वानां सदृशता—समता सपक्षमित्यव्ययीभावस्तेन समपार्श्वतया समानीत्यर्थः, इकारस्तु प्राकृतत्वात् , तथा प्रतिदिशां-विदिशां सदृशता सप्रतिदिक् तेन समप्रतिदिक्कयेत्यर्थः, अप्रतिष्ठानः सप्तम्यां पञ्चानां नरकावासानां मध्यमः, तथा-जम्बूद्वीपः सकलद्वीपमध्यमः, सर्वार्थसिद्धं विमानं पञ्चानामनुत्तराणां मध्यममिति । सीमन्तकः प्रथमपृथिव्यां प्रथमप्रस्तटे नरकेन्द्रकः पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षाणि, समयः—कालः तत्सत्तोपलक्षितं क्षेत्रं समयक्षेत्रं मनुष्यलोक इत्यर्थः, ईषद् -अल्पो योजनाष्टकबाहल्यपञ्चचत्वारिंशल्लक्षविष्कम्भात् प्राग्भारः—पुद्गलनिचयो यस्याः-सेषत्प्राग्भारा-अष्टमपृथिवी, शेषपृथिव्यो हि रत्नप्रभाद्या महाप्राग्भाराः, अशीत्यादिसहस्राधिकयोजनलक्षबाहल्यत्वात् , तथाहि—" पढमाऽसीइसहस्सा, बत्तीसा अट्ठवीसवीसा य । अट्ठारस सोलस य, अट्ठसहस्सलक्खोवरिं कुज्जा ॥ १ ॥ " इति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

(२४) लोकानां निःशीलत्वादिकमाह—

तओ लोगे णिस्सीला णिव्वता णिग्गुणा निम्मेरा णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासा कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए अप्पतिट्ठाणे णरए णेरइयत्ताए उववज्जंति, तं जहा—रायाणो मंडलिया जे य महारंभा कोडुंबी। तओ लोए सुसीला सुव्वया सग्गुणा समेरा सपच्चक्खाणपोसहोववासा कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा-रायाणो परिचत्तकामभोगा सेणावत्ती पसत्थारो । (सू० १५०)

' तओ ' इत्यादि, निःशीला—निर्गतशुभस्वभावाः दुःशीला इत्यर्थः, एतदेव प्रपञ्च्यते--निर्व्रताः--अविरताः प्राणातिपातादिभ्यो निर्गुणा--उत्तरगुणाभावात् ' निम्मेर ' त्ति निर्मर्यादाः--प्रतिपन्नापरिपालनादिना, तथा प्रत्याख्यानं च--नमस्कारसहितादि पौषधः—पर्वदिनमष्टम्यादि तत्रोपवासः—अभक्तार्थकरणं स च तौ निर्गतौ येषां ते निष्प्रत्याख्यानपौषधोपवासाः कालमासे—मरणमासे कालम्—मरणमिति, ' णेरइयत्ताए ' त्ति पृथिव्यादिव्यवच्छेदार्थम् , तत्र ह्येकेन्द्रियतया तदन्येऽप्युत्पद्यन्त इति, तत्र राजानः—चक्रवर्त्तिवासुदेवाः , माण्डलिकाः--शेषा राजानः, ये च महारम्भाः—पञ्चेन्द्रियादिव्यपरोपणप्रधानकर्मकारिणः कुटुम्बिन इति, शेषं कण्ठ्यम् ॥ अप्रतिष्ठानस्य स्थित्यादिभिः समाने सर्वार्थे ये उत्पद्यन्ते तानाह-' तओ ' इत्यादि सुगम-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

म, केवलं राजानः—प्रतीताः परित्यक्तकामभोगाः-सर्व्वविरताः, एतच्चोत्तरपदयोरपि सम्बन्धनीयम् , सेनापतयः—सैन्यनायकाः प्रशास्तारो—लेखाचार्यादयः, धर्मशास्त्रपाठका इति कश्चित्। स्था० ३ ठा० १ उ०। लोक्यत इति लोकः। लोकालोकस्वरूपे समस्तवस्तुस्तोमे, भ० १ श० १ उ०। क्षेत्रे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। स्थाने, यथा—देवलोकः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। लोकयतीति लोकः । एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवराशौ, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। चतुर्दशभूतग्रामे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । तिर्यग्नरनारकिलक्षणजीवलोके, स० १ सम०। चतुर्गतिकसंसारे , भवाद् भवान्तरगतौ च। सूत्र० १ श्रु १ अ० १ उ०। प्रजायाम् , उत्त० ३ अ०। लोक्यते परिच्छिद्यते इति लोकः। रूपरसगन्धस्पर्शाद्यात्मके विषये, लोको बाह्योऽभ्यन्तरश्च, तत्र बाह्यो धनहिरण्यमातापित्रादिः, आन्तरस्तु रागद्वेषादिस्तत्कार्यं वा अष्टप्रकारं कर्मेति। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । दक्षजनसमूहे , अष्ट० ३२ अष्ट० । जन्मनि , स्था० ८ ठा० ३ उ०। पाखण्डिके , पौराणिके , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। लोकाचारे, बृ० ३ उ०। लोकशास्त्रे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। परदर्शने, जीवा० ७ अधि०। षष्ठदेवलोकविमानभेदे, तत्र हि—लोक-सुलोक—लोकावर्त्त—लोकप्रभ-लोकान्त—लोकवर्ण—लोकलेश्य—लोकरूपादीनि विमानानि सन्ति। स० १३ सम०। भुवने, सेन० । यथा-प्रस्थादिना कश्चित्सर्व्वधान्यानि मिनुयादेवमसद्भावप्रज्ञापनाङ्गीकरणाल्लोकं कुडवीकृत्याजघन्योत्कृष्टावगाहनान् पृथिवीकायिकान् जीवान् यदि मिनोति ततः पृथिवीकायिका असंख्येयान् लोकान् पूरयन्तीत्याचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धप्रथमाध्ययनद्वितीयोद्देशकवृत्तौ , स्थावरचतुर्णां तु अङ्गुलासंख्येयभागप्रमितिरवगाहनोक्ता,अत एते पृथिवीकायिकाः कथं पूरयन्तीति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—प्रस्थदृष्टान्ते सामान्योक्तावपि प्रत्याकाशमेकैकपृथिवीकायिकजीवकल्पनया लोकरूपपल्यभरणं सम्भाव्यते, अन्यथा प्रज्ञापनासूत्रवृत्त्यादिग्रन्थान्तरविरोध इति ॥८२॥ सेन० २ उल्ला०। जंन, सेन० । लोका जिनकल्पिनं नग्नं पश्यन्ति न वा ? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-लोकास्तं नग्नं पश्यन्ति, यतः शास्त्रे लज्जाजेता जिनकल्पमङ्गीकरोतीति ॥ ६० ॥ सेन० ३ उल्ला०।

विषयसूची-

(१) कियत्प्रमाणो लोक इति रज्जुप्रमाणेन दर्शयति।
(२) कोऽयं लोकः।
(३) लोकस्यैकत्वं नामादिभेदतश्चाष्टविधत्वं च।
(४) लोकस्त्रिविधः।
(५) लोकश्चतुर्विधः।
(६) ऊर्ध्वादिभेदात्त्रिविधो लोकः।
(७) लोकमध्यद्वाराणि।
(८) लोकस्य महत्त्वम्।
(९) लोकस्य संस्थानम्।
(१०) अधोलोकक्षेत्रादिसंस्थानम्।
(११) मरणादिस्वरूपं लोक एवातो लोकस्वरूपनिरूणम्।
(१२) अधोलोकादिक्षेत्रलोकः किं जीवोऽजीवो वा।
(१३) अयं लोकः किं जीवोऽजीवो वा।
(१४) लोकः कति महालयादिः।
(१५) अलोकः कतिमहालयः।
(१६) लोकैकप्रदेशगतं वक्तव्यविशेषनिरूपणम्।
(१७) असंख्येयेषु लोकेषु अनन्तानि रात्रिन्दिवानि।
(१८) लोकसम्मतो लोकः।
(१९) कुत्र लोको बहुसमः।
(२०) लोको धर्मास्तिकायादिभिः स्पृष्टः।
(२१) लोकस्य चरमान्तो जीवोऽजीवो वा।
(२२) ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकानामल्पबहुत्वम्।
(२३) त्रीणि लोके समानि।
(२४) लोकानां निःशीलत्वादिकम्।

लोगंत-लोकान्त-पुं०। लोकाग्रलक्षणे सिद्धस्थाने, स्था० ६ ठा० ३ उ०। लोको लोकशास्त्रं तत्कृतत्वात्तदध्येयत्वाच्चार्थशास्त्रादि तस्मादन्तो निर्णयस्तस्य वा परमरहस्यं पर्यन्तो वेति लोकान्तः। लौकिकसिद्धान्ते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ईषत्प्राग्भाराख्यायां पृथिव्याम् , आ० म० १ अ० ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा य पुग्गला य णो संचातेंति बहिया लोगंता गमणताते,तं जहा-गइअभावेणं १ णिरुवग्गहयाए २, लुक्खताए ३, लोगाणुभावेणं ४।(सु० ३३७)

'चउहीं' त्यादि, व्यक्तम्, परमन्येषां गतिरेव नास्तीति 'जीवा य पोग्गला य'इत्युक्तम्, 'नो संचाए' त्ति न शक्नुवन्ति नालम्'बहि य' त्ति बहिस्ताल्लोकान्तादलोके इत्यर्थः गमनतायै गमनाय गन्तुमित्यर्थः गत्यभावेन लोकान्तात्परतस्तेषां गतिलक्षणस्वभावाभावादधोदीपशिखावत्तथा निरुपग्रहतया धर्मास्तिकायाभावेन तज्जनितगत्युपष्टम्भाभावात् , गन्त्र्यादिरहितपङ्गुवत् , तथा रूक्षतया सिकतामुष्टिवल्लोकान्तेषु हि पुद्गला रूक्षतया तथा परिणमन्ति यथा परतो गमनाय नालं कर्म्म पुद्गलानां तथा भावे जीवा अपि सिद्धास्तु निरुपग्रहतयैवेति लोकानुभावेन-लोकमर्यादया विषयक्षेत्रादन्यत्र मार्त्तण्डमण्डलवदिति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

लोगंतिय-लोकान्तिक-पुं० । लोकान्तिकविमानवास्तव्येषु सारस्वतादिकेषु, स्था०।

तेहिं ठाणेहिं लोगंतिया देवा माणुसं लोगं हव्वमागच्छिज्जा, तं जहा-अरहंतेहिं जायमाणेहिं अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु। (सू० १३४)

'तेही' त्यादि कण्ठ्यम्, नवरं लोकस्य ब्रह्मलोकस्यान्तः—समीपं कृष्णराजीलक्षणं क्षेत्रं-निवासो येषां ते, लोकान्ते वा—औदयिकभावलोकावसाने भवा अनन्तरभवे मुक्तिगमनादिति लोकान्तिकाः, सारस्वतादयोऽष्टधा वक्ष्यमाणरूपा इति। स्था० ३ ठा० १ उ०। (ते च देवाः ' कण्हराइ ' शब्दे तृतीयभागे २१७ पृष्ठे दर्शिताः) (अष्टानामपि लोकान्तिकदेवानां स्थितिः ' ठिइ ' शब्दे चतुर्थभागे १७२६ पृष्ठे गता) लोकान्तिकदेवानां यथा-'पढमजुअलम्मि सत्तसयाणी' ति सर्व्वेषां लोकान्तिकानां पञ्चाङ्गोक्तः ' पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं ' इत्यादिपरिवारः ? किं वा विमानाधिपतेः ?, परं सामान्यतो लोकान्तिका देवा भगवन्तं विबोधयन्तीति दृश्यते न तु क्वापि तत्स्वामिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति, तथा तत्परिवारभूतानां तेषामिव भवस्थितिः किं वा विशेषो वा? इति प्रश्नः अत्रोत्तरम्—सप्ताधिकसप्तशतादीनां लोकान्तिकानां देवानां ज्ञाताधर्मकथाङ्गोक्तः, सामानिकादिकः परिवारः प्रत्येकं सम्भाव्यते नत्वेकस्य विमानाधिपतेः, तत्प्रतिपादकव्यक्तशास्त्राक्षरानुपलम्भादिति, तथा परिवारभूतानां देवानां भवस्थितिः पृथगुक्ता नास्तीति लोकान्तिकानामिव सम्भाव्यते, तत्त्वं तु सर्वविदो विदन्ति इति ॥ ५५ ॥ सेन० १ उल्ला० । लोकान्तिकाः किमेकावतारिण उत नेति? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—लोकान्तिका देवा एकावतारिण एवेत्येकान्तो ज्ञातो नास्तीति ॥ ५२ ॥ सेन० २ उल्ला० । संग्रहण्यन्तर्वाच्यादिषु लोकान्तिकदेवानां नव निकाया उत्तमचरित्रे दश निकायाः कथिताः, तत्र किं प्रमाणम्? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—बहुग्रन्थेषु तेषां नव निकाया उक्ताः, उत्तमचरित्रे यदि दश तदा मतान्तरमिति ज्ञेयम् ॥ १८८ ॥ सेन० २ उल्ला० ।

लोगंतियविमाण—लोकान्तिकविमान—पुं० । लोकस्य ब्रह्मलोकस्यान्ते—समीपे भवानि लोकान्तिकानि तानि च तानि विमानानि चेति समासः । लोकान्तिका वा देवास्तेषां विमानानीति समासः । सारस्वतादिलोकान्तिकदेवावासविमानेषु, भ० ७ श० ८ उ० ।

लोगंतिगविमाणा णं भंते! किं पतिट्ठिया पएणत्ता?, गोयमा! वाउपइट्ठिया तदुभयपतिट्ठिया पएणत्ता, एवं नेयव्वं, "विमाणाणं पतिट्ठाणं, बाहल्लुच्चत्तमेव संठाणं"। बंभलोयवत्तव्वया नेयव्वा । (जहा जीवाभिगमे देवुद्देसए) ० जाव हंता गोयमा! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो। नो चेव णं देवित्ताए । लोगंतियविमाणेसु णं भंते! केवतियं कालं ठिती पएणत्ता?,गोयमा! अट्ठ सागरोवमाई ठिती पएणत्ता । लोगंतियविमाणेहिंतो णं भंते! केवतियं अवाहाए लोगंते पएणत्ते?, गोयमा! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं अबाहाए लोगंते पएणत्ते । (सू०२४३+)

'एवं नेयव्वं' ति पूर्वोक्तप्रश्नोत्तराभिलापेन लोकान्तिकविमानवक्तव्यताजातं नेतव्यम्, तदेव पूर्वोक्तेन सह दर्शयति—'विमाणाण' मित्यादि गाथार्द्धम्, तत्र विमानप्रतिष्ठानं दर्शितमेव, बाहल्यं तु विमाननां पृथिवीबाहल्यं तच्च पञ्चविंशतियोजनशतानि, उच्चत्वं तु सप्त योजनशतानि, संस्थानं पुनरेषां नानाविधमनावलिकाप्रविष्टत्वात्, आवलिकाप्रविष्टानि हि वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रभेदात् त्रिसंस्थानान्येव भवन्तीति । 'बंभलोए' इत्यादि, ब्रह्मलोके या विमानानां देवानां च जीवाभिगमोक्ता वक्तव्यता सा तेषु नेतव्या—अनुसर्तव्या, कियद् दूरम्?, इत्यत आह—'जाव' त्यादि, सा चेयं लेशतः— 'लोयंतियविमाणा णं भंते! कति वएणा पएणत्ता?, गोयमा!, तिवएणा पएणत्ता लोहिया हालिद्दा सुक्किल्ला, एवं पभाए निच्चालोया गंधेणं इट्ठगंधा एवं इट्ठफासा एवं सव्वरयणमया तेसु देवा समचउरंसा अल्लमहुगवन्ना पम्हलेसा । लोयंतियविमाणेसु णं भंते! सव्वे पाणा० ४ पुढविकाइयत्ताए ५ देवत्ताए उववन्नपुव्वा?, 'हंते' त्यादि लिखितमेव, 'केवतियं' ति छान्दसत्वात् कियत्या 'अबाधया' अन्तरेण लोकान्तः प्रज्ञप्त इति । भ० ६ श० ५ उ० । (अष्टानां कृष्णराजीनामष्टस्ववकाशान्तरेषु राजीद्वयमध्यलक्षणेष्वष्टौ लोकान्तिकविमानानि तानि च 'कएहराइ' शब्दे तृतीयभागे २१७ पृष्ठे दर्शितानि ।) तत्स्थापना चेयम्—

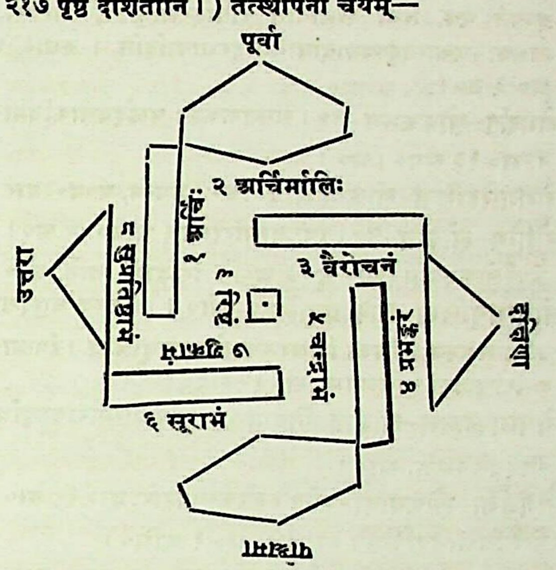

लोगंधयार—लोकान्धकार—पुं० । लोके अयमेवान्धकारो नान्योऽस्तीदृश इति लोकान्धकारः । तमस्काये, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

तिहिं ठाणेहिं लोगंधयारे सिया, तं जहा—अरिहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं अरिहंतपन्नत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे पुव्वगते वोच्छिज्जमाणे १ । (सू० १३४ ×)

कएठ्या चेयम्, नवरं लोके—क्षेत्रलोके अन्धकारम्—तमो लोकान्धकारं स्याद्—भवेत्, द्रव्यतो लोकानुभावाद्भावतो वा प्रकाशकस्वभावज्ञानाभावादिति, तद्यथा—अर्हन्ति: अशोकाद्यष्टप्रकारां परमभक्तिपरसुरासुरविसरविरचितां जन्मान्तरमहालवालविरूढानवद्यवासनाजलाभिषिक्तपुण्यमहातरुकल्याणफलकल्पां महाप्रातिहार्यरूपां पूजां निखिलप्रतिपन्थिप्रक्षयात् सिद्धिसौधशिखरारोहणं चेत्यर्हन्तः, उक्तं च—"अरिहंति वंदण-नमं-सणाणि अरिहंति पूयसक्कारं । सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ १ ॥" नि, तेषु व्यवच्छिद्यमानेषु निर्वाणं गच्छत्सु, तथाऽर्हत्प्रज्ञप्ते धर्मे व्यवच्छिद्यमाने तीर्थव्यवच्छेदकाले, तथा पूर्वाणि दृष्टिवादाङ्गभागभूतानि तेषु गतं— प्रविष्टं तदभ्यन्तरीभूतं तत्स्वरूपं यच्छ्रुतं तत्पूर्वगतं तत्र व्यवच्छिद्यमाने, इह च राजमरणदेशनगरभङ्गादावपि दृश्यते दिशामन्धकारमात्रं रजस्वलतयेति, यत्पुनर्भगवत्स्वर्हदादिषु निखिलभुवनजनानयनसमानेषु विगच्छत्सु लोकान्धकारं भवति तत्किमद्भुतमिति? । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

चउहिं ठाणेहिं लोगंधगारे सिया, तं जहा—अरहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं अरहंतपणत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे पु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्नगते वोच्छिज्जमाणे जायते ते वोच्छिज्जमाणे (सू०३२४×)

'चउही' त्यादि व्यक्तम्—किन्तु लोके अन्धकारम्—तमिस्रं द्रव्यतो भावतश्च, यत्र यत्स्यात्संभाव्यते तदिहेदा-दिव्यवच्छेदे द्रव्यतोऽन्धकारम्, उत्पातरूपत्वात् तस्य, छत्रभङ्गादौ रजउद्धातादिवदिति, वह्निव्यवच्छेदेऽन्धकारं द्रव्यत एव, तथा स्वभावात् दीपादेरभावाद्वा, भावतोऽपि वा एकान्तदुष्षमादावागमादेरभावादिति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

लोगकंत–लोककान्त–न०। लान्तककल्पे षष्ठदेवलोकविमाने, स० १३ सम०। भ०।

लोगगरिहणिज्ज–लोकगर्हणीय–त्रि०। जघन्ये, पं०व०३द्वार।

लोगग्ग–लोकाग्र–न०। ईषत्प्राग्भाराख्ये (आव० ५ अ०।) ऊर्ध्वलोकस्याग्रे (आ० चू० ५ अ०।) सिद्धानां स्थाने, औ०।

लोगग्गचूलिया–लोकाग्रचूलिका–स्त्री०। लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य चूलिका शिखररूपा लोकाग्रचूलिका। ईषत्प्राग्भाराख्यायां पृथिव्याम्, स० १२ सम०।

लोगग्गपइट्ठाण–लोकाग्रप्रतिष्ठान–पुं०। ईषत्प्राग्भाराख्यपृथिवीस्थिते सिद्धे, औ०।

लोगजत्ता–लोकयात्रा–स्त्री०। लोकव्यवहारे, द्वा० ११ द्वा०। लोकचित्तानुवृत्तिरूपे व्यवहारे, ध० १ अधि०।

लोगट्ठिइ–लोकस्थिति–स्त्री०। लोकव्यवस्थायाम्, स्था०।

लोकस्थितिनिरूपणायाह–

तिविहा लोगट्ठिई पणत्ता, तं जहा–आगासपइट्ठिए वाए, वातपतिट्ठिए उदही, उदहिपइट्ठिया पुढवी। (सू०१६३×)

'तिविहे' त्यादि कण्ठ्यम्, किन्तु लोकस्थितिः–लोकव्यवस्था आकाशं–व्योम तत्र प्रतिष्ठितो–व्यवस्थित आकाशप्रतिष्ठितः, वातो—घनवाततनुवातलक्षणः सर्वद्रव्याणामाकाशप्रतिष्ठितत्वात्, उदधिः–घनोदधिः पृथिवी–तमस्तमःप्रभादिकेति। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

स्वाध्यायप्रवृत्तस्य लोकस्थितिपरिज्ञानं भवतीति प्रतिपादयन्नाह–

चउव्विहा लोगट्ठिती पणत्ता, तं जहा–आगासपतिट्ठिए वाते, वातपतिट्ठिए उदधी, उदधिपतिट्ठिया पुढवी, पुढविपइट्ठिया तसा थावरा पाणा ४। (सू० २८६)

'चउव्विहे' त्यादि, लोकस्य—क्षेत्रलक्षणस्य स्थितिः–व्यवस्था लोकस्थितिः, आकाशप्रतिष्ठितो वातो–घनवाततनुवातलक्षणः,उदधिः–घनोदधिः, पृथिवी–रत्नप्रभादिका, त्रसाः–द्वीन्द्रियादयस्ते पुनर्य रत्नप्रभादिपृथिवीष्वप्रतिष्ठितास्तेऽपि विमानपर्वतादिपृथिवीप्रतिष्ठितत्वात् पृथिवीप्रतिष्ठिता एव, विमानपृथिवीनां चाकाशादिप्रतिष्ठितत्वं यथासम्भवमवसेयम्, अविवक्षा वेह विमानादिगतदेवादित्रसानामिति, स्थावरास्त्विह बादरवनस्पत्यादयो ग्राह्याः, सूक्ष्माणां सकललोकप्रतिष्ठितत्वात्, शेषं सुगममिति। स्था० ४ ठा० २ उ०।

छव्विहा लोगट्ठिई पणत्ता, तं जहा–आगासपइट्ठिए वाए, वायपइट्ठिए उदही, उदधिपइट्ठिया पुढवी, पुढविपइट्ठिया तसा थावरा पाणा, अजीवा जीवपइट्ठिया, जीवा कम्मपइट्ठिया। (सू० ४९८)

'छव्विहे' त्यादि इदं पूर्वमेव व्याख्यातम्, नवरमजीवा औदारिकादिपुद्गलास्ते जीवेषु प्रतिष्ठिता–आश्रिताः, इदं चानवधारणं बोद्धव्यम्, जीवविरहेणापि बहुतराणामजीवानामवस्थानात्, पृथिवीविरहितोऽपि त्रसस्थावरवदिति, तथा जीवाः कर्मसु ज्ञानवरणादिषु प्रतिष्ठिताः प्रायस्तद्विरहितानां तेषामभावादिति। स्था० ६ ठा० ३ उ०।

लोकान्तादिलोकपदार्थप्रस्तावाद् गौतममुखेन लोकस्थितिप्रज्ञापनायाह—

भगवं गोयमे समणं ०जाव एवं वयासी–कतिविहा णं भंते! लोयट्ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! अट्ठविहा लोयट्ठिती पण्णत्ता, तं जहा–आगासपइट्ठिए वाए १, वायपइट्ठिए उदही २, उदहिपइट्ठिया पुढवी ३, पुढविपइट्ठिया तसा थावरा पाणा ४, अजीवा जीवपइट्ठिया ५, जीवा कम्मपइट्ठिया ६, अजीवा जीवसंगहिया ७, जीवा कम्मसंगहिया ८। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ? अट्ठविहा०जाव जीवा कम्मसंगहिया?, गोयमा! से जहानामए–केइ पुरिसे वत्थिमाडोवेइ वत्थिमाडोवित्ता उप्पिं सितं बंधइ बंधइत्ता मज्झेणं गंठिं बंधइ बंधइत्ता उवरिल्लं गंठिं मुयइ मुयइत्ता उवरिल्लं देसं वामेइ उवरिल्लं देसं वामेत्ता उवरिल्लं देसं आउयायस्स पूरेइ पूरेइत्ता उप्पिं सितं बंधइ बंधइत्ता मज्झिल्लं गंठिं मुयइ। से नूणं गोयमा! से आउयाए तस्स वाउयायस्स उप्पिं उवरितले चिट्ठइ?, हंता चिट्ठइ–से तेणट्ठेणं ०जाव जीवा कम्मसंगहिया, से जहा वा केइ पुरिसे वत्थिमाडोवेइ वत्थिमाडोवेइत्ता कडीए बंधइ बंधइत्ता अत्थाहमतारमपोरसियंसि उदगंसि ओगाहेज्जा, से नूणं गोयमा! से पुरिसे तस्स आउयायस्स उवरिमतले चिट्ठइ?, हंता चिट्ठइ, एवं वा अट्ठविहा लोयट्ठिई पण्णत्ता० जाव जीवा कम्मसंगहिया। (सू० ५४)

अयं सूत्राभिलापः आकाशप्रतिष्ठितो वायुः—तनुवातघनवातरूपः, तस्यावकाशान्तरोपरिस्थितत्वात्, १। आकाशं तु स्वप्रतिष्ठितमेवेति न तत्प्रतिष्ठाचिन्ता कृतेति। तथा वातप्रतिष्ठित उदधिः—घनोदधिस्तनुवातघनवातोपरिस्थितत्वात्२। तथा उदधिप्रतिष्ठिता पृथिवी, घनोदधीनामुपरि स्थितत्वात्, रत्नप्रभादीनां बाहुल्यापेक्षया चेदमुक्तम्, अन्यथा—ईषत्प्राग्भारा पृथिवी आकाशप्रतिष्ठितैव ३। तथा पृथिवीप्रतिष्ठितास्त्रसा स्थावराः प्राणाः, इदमपि प्रायिकमेव, अन्यथा आकाशपर्वतविमानप्रतिष्ठिता अपि ते सन्तीति ४। तथा अजीवाः—शरीरादिपुद्गलरूपा जीवप्रतिष्ठिताः, जीवेषु तेषां स्थितत्वात् ५। तथा जीवाः कर्मप्रतिष्ठिताः कर्मसु अनुदयावस्थकर्मपुद्गलसमुदायरूपेषु संसारिजीवानामाश्रितत्वात्, अन्ये त्वाहुः—जीवाः कर्मभिः प्रतिष्ठिताः—नारकादिभावेनावस्थिताः ६। तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अजीवा जीवसंगृहीताः, मनोभाषादिपुद्गलानां जीवैः संगृहीतत्वात्, अथ अजीवा जीवप्रतिष्ठितास्तथा अजीवा जीवसंगृहीता इत्येतयोः को भेदः ?, उच्यते, पूर्वस्मिन् वाक्ये आधाराधेयभाव उक्तः, उत्तरे तु संग्राह्यसंग्राहकभाव इति भेदः, यच्च यस्य संग्राह्यं तत्तस्याधेयमप्यर्थापत्तितः स्याद्, यथा—अपूपस्य तैलमित्याधाराधेयभावोऽप्युत्तरवाक्ये दृश्य इति ७। तथा जीवाः—कर्मसंगृहीताः, संसारिजीवानामुदयप्राप्तकर्म्मवशवर्त्तित्वात् ये च यद्वशास्ते तत्र प्रतिष्ठिताः, यथा—घटे रूपादय इत्येवमिहाप्याधाराधेयता दृश्येति । 'से जहानामए केइ' त्ति, स यथानामकः—यत्प्रकारनामा, देवदत्तादिनामेत्यर्थः, अथवा—'से' इति स 'यथा' इति दृष्टान्तार्थः 'नाम' इति संभावनायाम् 'ए' इति वाक्यालङ्कारे, 'वत्थि' ति बस्तिम् दृतिम् 'आडोवेइ' त्ति, आटोपयेत्—वायुना पूरयेत्, 'उप्पिं सियं बंधइ' त्ति उपरि सितम्—'षिञ् बन्धने' इति वचनात् क्तप्रत्ययस्य च भावार्थत्वात् कर्मार्थत्वाद्वा बन्धम्—ग्रन्थिमित्यर्थः बध्नाति—करोतीत्यर्थः, अथवा—'उप्पिसि' त्ति उपरि 'त' मिति बस्तिम्—'से आउयाए' त्ति, सोऽप्कायस्तस्य—वायुकायस्य 'उप्पिं' ति उपरि, उपरिभावश्च व्यवहारतोऽपि स्यादित्यत आह—उपरितले सर्वोपरीत्यर्थः, यथा—वायुराधारो जलस्य दृष्ट एवमाधाराधेयभावो भवति आकाशघनवातादीनामिति भावः। आधाराधेयभावश्च प्रागेव सर्वपदेषु व्यञ्जित इति। 'अत्थाहमतारमपोरुसियंसि' त्ति, अस्ताघम्—अविद्यमानस्ताघम्—अगाधमित्यर्थः, अस्ताघो वा निरस्ताधस्तलमित्यर्थः अत एवातारम्—तरीतुमशक्यम्, पाठान्तरेणापारम्—पारवर्जितं पुरुषः प्रमाणमस्येति पौरुषेयं तत्प्रतिषेधादपौरुषेयम् ततः कर्मधारयोऽतस्तत्र, मकारश्चेहालाक्षणिकः, 'एवं वा' इत्यत्र वाशब्दो दृष्टान्तान्तरतासूचनार्थः। भ० १ श० ६ उ०। आव०। स्था०।

दसविधा लोगट्ठिती पण्णत्ता, तं जहा—जण्णं जीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायंति एवं एगा लोगट्ठिती पण्णत्ता १, जण्णं जीवाणं सता समियं पावे कम्मे कज्जति एवप्पेगा लोगट्ठिती पण्णत्ता २, जण्णं जीवा सया समितं मोहणिज्जे पावे कम्मे कज्जति एवप्पेगा लोगट्ठिती पण्णत्ता ३, ण एवंभूतं वा भव्वं वा भविस्सति वा जं जीवा अजीवा भविस्संति अजीवा वा जीवा भविस्संति एवप्पेगा लोगट्ठिती पण्णत्ता ४, ण एवं भूतं वा भव्वं वा भविस्सं वा जं तसा पाणा वोच्छिज्जिस्संति थावरा पाणा वोच्छिज्जिस्संति तसा पाणा भविस्संति वा एवप्पेगा लोगट्ठिती पण्णत्ता ५, ण एवं भूतं वा भव्वं वा भविस्सं वा जं लोगे अलोगे भविस्सति, अलोगे वा लोगे भविस्सति एवप्पेगा लोगट्ठित्ती पण्णत्ता ६, ण एवं भूतं वा भव्वं वा भविस्सं वा जं लोए अलोए पविस्सति अलोए वा लोए पविस्सति एवप्पेगा लोगट्ठिती ७, जाव ताव लोगे ताव ताव जीवा जाव ताव जीवा ताव ताव लोए एवप्पेगा लोगट्ठिती ८, जाव ताव जीवाण य पोग्गलाण य गतिपरिताते ताव ताव लोए जाव ताव लोगे ताव ताव जीवाण य पोग्गलाण य गतिपरिताते एवप्पेगा लोगट्ठिती ९, सव्वेसु वि णं लोगंतेसु अबद्धपासपुट्ठा पोग्गला लुक्खत्ताते कज्जति जेणं जीवा ता पोग्गला ता नो संचायंति बहिता लोगंता गमणयाते एवप्पेगा लोगट्ठिती पण्णत्ता १०। (सू० ७०४)

'दसविहा लोगे' त्यादि, अस्य च पूर्वसूत्रेण सहायमभिसम्बन्धः—पूर्वं नवगुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ता इत्युक्तं ते चासंख्येयप्रदेशे लोके समान्तीति लोकस्थितिरतः सैवेहोच्यते इत्येवं सम्बन्धस्यास्य व्याख्या, इहापि संहितादिचर्चः प्रथमाध्ययनवत् केवलं लोकस्य—पञ्चास्तिकायात्मकस्य स्थितिः—स्वभावः लोकस्थितिर्यदित्युद्देशे णमिति वाक्यालङ्कारे 'उद्दाइत्त' त्ति अपद्राय—मृत्वेत्यर्थः, 'तत्थेव' त्ति लोकदेशे गतौ—योनौ कुले वा सान्तरं निरन्तरं वीचित्येन भूयो भूयः—पुनः पुनः प्रत्याजायन्ते—प्रत्युत्पद्यन्त इत्येवमप्येका लोकस्थितिरिति, अपिशब्द उत्तरवाक्यापेक्षया। अपिः क्वचिन्न दृश्यते १। अथ द्वितीया—'जन्न' मित्यादि, सदा प्रवाहतोऽनाद्यपर्यवसितं कालं 'समियं' ति निरन्तरं पापं कर्म—ज्ञानावरणादिकं सर्व्वमपि मोक्षविबन्धकत्वेन सर्वस्यापि पापत्वादिति क्रियते—बध्यते इत्येवमप्येका अन्येत्यर्थः, सततं कर्म्मबन्धनमिति द्वितीया २, 'मोहणिज्जे' त्ति मोहनीयं प्रधानतया भेदेन निर्दिष्टमिति सततं मोहनीयबन्धनं तृतीया ३, जीवाजीवानामजीवजीवत्वाभावश्चतुर्थी ४, त्रसानां स्थावराणां चाव्यवच्छेदः पञ्चमी ५, लोकालोकयोरलोकलोकत्वेनाभवनं षष्ठी ६, तयोरेवान्योऽन्याप्रवेशः सप्तमी ७, 'जाव ताव लोए ताव ताव जीव' त्ति यावल्लोकस्तावज्जीवाः, यावति क्षेत्रे लोकव्यपदेशस्तावति जीवा इत्यर्थः. 'जाव ताव जीवा ताव ताव लोए' त्ति, इह यावज्जीवास्तावत्तावलोकः, यावति यावति क्षेत्रे जीवास्तावत्क्षेत्रं लोक इति भावार्थः, 'जाव तावे' त्यादि वाक्यरचना तु भाषामात्रमित्यष्टमी ८, यावज्जीवादीनां गतिपर्यायस्तावल्लोक इति नवमी ९, सर्वेषु लोकान्तेषु 'अबद्धपासपुट्ठ' त्ति बद्धा—गाढश्लेषाः पार्श्वस्पृष्टाः—छुप्तमात्रा ये न तथा तेऽबद्धपार्श्वस्पृष्टाः रूक्षद्रव्यान्तरेणेति गम्यते तत्सम्पर्कादजातरूक्षपरिणामाः सन्त इति भावः,लोकान्ते स्वभावात् पुद्गलाः रूक्षतया क्रियन्ते रूक्षतया परिणमन्ति,अथवा—लोकान्तरस्वभावाद् या रूक्षता भवति तया ते पुद्गला अबद्धपार्श्वस्पृष्टाः—परस्परमसम्बद्धाः क्रियन्ते,किं सर्वथा?,नैवम्, अपि तु—तेनेत्यस्य गम्यमानत्वात्तेन रूपेण क्रियन्ते येन जीवाः सकर्म्मपुद्गलाः, पुद्गलाश्च—परमाण्वादयः, 'नो संचायंति' त्ति न शक्नुवन्ति बहिस्ताल्लोकान्ताद् गमनतायै—गन्तुमिति, छान्दसत्वेन तुमर्थे युट्प्रत्ययविधानादिति, एवमप्यन्या लोकस्थितिर्दशमी १०, शेषं कण्ठ्यमिति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

अत्थि णं भंते ! सया समियं सुहुमे सिणेहकाये पव—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डइ ?, हंता अत्थि । से भंते ! किं उड्ढे पवडइ अहे पवडइ तिरिए पवडइ ?, गोयमा! उड्ढे वि पवडइ अहे वि पवडइ तिरिए वि पवडइ, जहा-से बादरे आउयाए अन्नमन्नसमाउत्ते चिरं पि दीहकालं चिट्ठइ तहा णं से वि ?, नो इणट्ठे समट्ठे, से णं खिप्पामेव विद्धंसमागच्छइ ॥ सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति । (सू० ५६)

सदा—सर्वदा 'समियं' ति सपरिमाणं न बादराप्कायवदपरिमितमपि, अथवा—'सदा' इति सर्व्वर्त्तुषु 'समित' मिति रात्रौ दिवसस्य च पूर्वापरयोः प्रहरयोः, तत्रापि कालस्य स्निग्धेतरभावमपेक्ष्य बहुत्वमल्पत्वं चावसेयमिति, यदाह—" पढमचरिमा उ सिसिरे, गिम्हे अद्धं तु तासि वज्जेत्ता । पायं ठवेसि णेहाइ, रक्खणट्ठा पवेसे वा ॥ १ ॥" लेपितपात्रं बहिर्न स्थापयेत् स्नेहादिरक्षणार्थायेति, 'सूक्ष्मः स्नेहकाय' इति अप्कायविशेष इत्यर्थः 'उड्ढे' त्ति ऊर्ध्वलोके वर्त्तुलवैताढ्यादिषु 'अहे' त्ति अधोलोकग्रामेषु 'तिरियं' ति तिर्यग्लोके 'दीहकालं चिट्ठइ' त्ति तडागादिपूरणात्, 'विद्धंसमागच्छइ' त्ति स्वल्पत्वात्तस्येति । भ० १ श० ६ उ० ।

लोगणाभि-लोकनाभि-पुं० । लोकस्य तिर्यग्लोकस्य स्थालप्रख्यस्य नाभिरिव स्थालमध्यगतसमुन्नतं वृत्तचन्द्रक इवेति लोकनाभिः । मेरुपर्व्वते, चं० प्र० ५ पाहु० । सू० प्र० ।

लोगणाह-लोकनाथ-पुं० । लोकस्य संज्ञिभव्यलोकस्य नाथः प्रभुर्लोकनाथः। स० १सम०।रा०।चतुर्दशरज्जुप्रमाणलोकप्रभौ, उत्त० २२ अ० । भव्यानां नाथे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । " लोकनाथेभ्य " इति । इह तु लोकशब्देन तथेतरभेदाद्विशिष्ट एव । तथा तथा रागाद्युपद्रवरक्षणीयतया बीजाधानादिसंविभक्तो भव्यलोकः परिगृह्यते अनीदृशि नाथत्वानुपपत्तेः योगक्षेमकृदयमिति विद्वत्प्रवादः न तदुभयत्यागादाश्रयणीयोऽपि परमार्थेन तल्लक्षणायोगात्, इत्थमपि तदभ्युपगमेति प्रसङ्गात्, महत्त्वमात्रस्येहाप्रयोजकत्वात् विशिष्टोपकारकृत एव तत्त्वतो नाथत्वात् । औपचारिकवाग्वृत्तेश्च पारमार्थिकस्तवत्वात् सिद्धिः, तदिह येषामेव बीजाधानोद्भेदपोषणैर्योगः क्षेमं च तत्तदुपद्रवाद्यभावेन त एवेह भव्याः परिगृह्यन्ते न चैते कस्यचित्सकलभव्यविषये ततस्तत्प्राप्त्या सर्वेषामेव मुक्तिप्रसङ्गात्, तुल्यगुणा ह्येते प्रायेण ततश्च चिरतरकालातीतादन्यतरस्माद्भगवतो बीजाधानादिसिद्धेरल्पेनैव कालेन सकलभव्यमुक्तिः स्यात् बीजाधानमपि ह्यपुनर्बन्धकस्य, न चास्यापि पुद्गलपरावर्त्तः संसार इति कृत्वा तदेवं लोकनाथाः ॥ ११ ॥ ल० । जी० । भ० । ध० । स० । स्था० ।

लोगणीइ-लोकनीति-स्त्री० । लौकिकन्याये, पञ्चा० ८ विव० ।

लोकतम-लोकतमस्-न० । लोके इदमेव तम इति लोकतमः । तमस्काये, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

लोगदव्व-लोकद्रव्य-न० । लोकस्यांशभूतं द्रव्यं लोकद्रव्यम् । पञ्चास्तिकायादौ, यत उक्तम्—" पंचत्थिकायमइयं, लोगमणाइनिहणं ति " । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

लोगदिट्ठि-लोकदृष्टि-स्त्री० । सामान्यजनदर्शने, द्वा० २६ अष्ट० ।

लोकपईव-लोकप्रदीप-पुं० । लोकस्य-विशिष्टतिर्यग्जन्मजरामरणरूपस्यान्तरतिमिरनिकरनिराकरणेन प्रकृष्टपदार्थप्रकाशकारित्वात्प्रदीप इव प्रदीपो लोकप्रदीपः । स० १ सम० । लोकस्य सम्यग् दर्शनादेर्योगकरणेन लब्धस्य परिपालनेनेति भ० १ श० १ उ० । मिथ्यात्वध्वान्तनाशकत्वात् । कल्प० १ अधि० १ क्षण । लोकस्य-देशनायोग्यस्य विशिष्टस्य प्रदीपदेशनांशुना यथावस्थितवस्तुप्रकाशको लोकप्रदीपः । जिने, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । " लोकप्रदीपेभ्यः " अत्र लोकशब्देन विशिष्ट एव तद्देशनाद्यंशुभिर्मिथ्यात्वतमोपनयनेन यथार्हं प्रकाशितज्ञेयभावः संज्ञिलोकः परिगृह्यते, यस्तु नैवंभूतस्तत्र तत्त्वतः प्रदीपत्वायोगाद्, अन्धप्रदीपदृष्टान्तेन, यथा—ह्यन्धस्य प्रदीपस्तत्त्वतोऽप्रदीप एव तं प्रति स्वकार्याकरणात्तत्कार्यकृत एव च प्रदीपत्वोपपत्तेः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अन्धकल्पश्च यथोदितलोकव्यतिरिक्तस्तदन्यलोकः, तद्देशनाद्यंशुभ्योऽपि तत्त्वोपलम्भाभावात्, समवसरणेऽपि सर्वेषां प्रबोधाश्रवणात्, इदानीमपि तद्वचनतः प्रबोधादर्शनात्, तदभ्युपगमवतामपि तथाविधलोकदृष्ट्यनुसारप्राधान्यादनपेक्षितगुरुलाघवं तत्त्वोपलम्भशून्यप्रवृत्तिसिद्धेरिति । तदेवंभूतं लोकं प्रति भगवन्तोऽपि अप्रदीपा एव तत्कार्याकरणादित्युक्तमेतत् । नचैवमपि भगवतां भगवत्त्वायोगः, वस्तुस्वभावविषयत्वादस्य, तदन्यथाकरणे तत्तत्त्वायोगात्, स्वो भावः स्वभावः—आत्मीया सत्ता, स चान्यथा चेति व्याहतमेतत्, किं च-एवमचेतनानामपि चेतनाकरणे समानमेतदित्येवमेव भगवत्त्वायोगः, इतरेतरकरणेऽपि स्वात्मन्यपि तदन्यविधानाद् यत्किंचिदेतदिति यथोदितलोकापेक्षयैव लोकप्रदीपाः । ल० । रत्ना० । ध० ।

लोगपएस- लोकप्रदेश-पुं० । चतुर्दशरज्ज्वात्मकक्षेत्रखण्डस्य निर्विभागभागेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

लोगपंति-लोकपङ्क्ति-स्त्री० । लोकसदृशभावे, । यो० विं० ।

लोकाराधनहेतोर्या, मलिनेनान्तरात्मना ।
क्रियते सत्क्रिया सा च, लोकपङ्क्तिरुदाहृता ॥ ६ ॥

द्वा० १० द्वा० (व्याख्या 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६१८ पृष्ठे गता ।)

लोगपगत-लोकप्रकृत-पुं० । बहुलोकसम्मते, बृ० ३ उ० ।

लोगपज्जोयगर-लोकप्रद्योतकर-पुं० । लोक्यते इति लोकः, इति व्युत्पत्त्या लोकालोकरूपस्य समस्तवस्तुस्तोमस्य भावस्याखण्डमार्त्तण्डमण्डलमिव निखिलभावस्वभावावभासनसमर्थः केवलालोकपूर्वप्रवचनप्रभापटलप्रवर्तनेन प्रद्योतं—प्रकाशं करोतीत्येवं शीलो लोकप्रद्योतकरः । स० १ सम० । लोकस्योत्कृष्टमतेर्भव्यसत्त्वलोकस्य प्रद्योतनं-प्रद्योतकत्वं विशिष्टा-ज्ञानशक्तिस्तत्करणशीलो लोकप्रद्योतकरः । रा० । जी० । सूर्यवत्सर्ववस्तुप्रकाशकत्वाद् जिने, कल्प० १ अधि० १ क्षण । " लोकप्रद्योतकरेभ्यः " । इह यद्यपि लोकशब्देन प्रक्रमाद्भव्यलोक उच्यते-" भव्यानामालोको, वचनांशुभ्योऽपि दर्शनं यस्मात् । एतेषां भवति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा, तदभावे व्यर्थ आलोकः ॥ १ ॥ इति वचनात्, तथाप्यत्र लोकध्वनिनोत्कृष्टमतिः भव्यसत्त्वलोक एव गृह्यते तत्रैव तत्त्वतः प्रद्योतकरणशीलत्वोपपत्तेः, अस्ति च चतुर्दशपूर्वविदामपि स्वस्थाने महान् दर्शनभेदः, तेषामपि परस्परं षट्स्थानपतितत्वश्रवणात् । न चायं सर्वथा प्रकाशाभेदे अभिन्नो ह्येकान्तेनैकस्वभावः तत्त्वास्य दर्शनभेदहेतुतेति, स हि येन स्वभावेनैकस्य सहकारी तत्तुल्यमेव दर्शनमकुर्वन् तेनैवापरस्य तत्तत्स्वविरोधादिति भावनीयम् , इतरेतरापेक्षो हि वस्तुस्वभावः , तदायत्ता च फलसिद्धिरिति उत्कृष्टचतुर्दशपूर्वविल्लोकमेवाधिकृत्य प्रद्योतकरा इति लोकप्रद्योतकराः ॥ १४ ॥ प्रद्योत्यं तु सप्तप्रकारं जीवादितत्त्वम् , सामर्थ्यगम्यमेतत् , तथा शाब्दन्यायात् , अन्यथा अचेतनेषु प्रद्योतनाऽयोगः, प्रद्योतनं प्रद्योत इति भावसाधनस्यासंभवात् , अतो ज्ञानयोग्यतैवेह । प्रद्योतनमन्यापेक्षयेति तदेवं स्तवेष्वपि एवमेव वाचकप्रवृत्तिरितिस्थितम् । एतेनस्तवे 'अपुष्कलशब्दः प्रत्यवायाय' इति प्रत्युक्तम् , तत्त्वेनेदृशस्याऽपुष्कलत्वायोगादिति । लोकप्रद्योतकराः ॥ १४ ॥ ल० ।

लोगपरिपूरणा–लोकपरिपूरणा–स्त्री० । ईषत्प्राग्भाराख्यायां पृथिव्याम् , स० १२ सम ।

लोगपाल–लोकपाल–पुं० । शक्रादीनां पूर्वादिदिक्पालेषु सोमादिषु, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

रायगिहे नगरे ०जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी–सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरन्नो कति लोगपाला पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, तं जहा–सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे । एएसि णं भंते ! चउण्हं लोगपालाणं कति विमाणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, तं जहा–संझप्पभे, वरसिट्ठे, सयंजले, वग्गू । कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारन्नो संझप्पभे णामं महाविमाणे पण्णत्ते ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे णं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणणक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणाइं ०जाव पंच वडिंसया पण्णत्ता, तं जहा–असोयवडेंसए सत्तवन्नवडिंसए चंपयवडिंसए चूयवडिंसए मज्झे सोहम्मवडिंसए, तस्स णं सोहम्मवडेंसयस्स महाविमाणस्स पुरच्छिमे णं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जोयणाइं वीतिवइत्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महरन्नो संझप्पभे नामं महाविमाणे पण्णत्ते, अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं उयालीसं जोयणसयसहस्साइं बावन्नं च सहस्साइं अट्ठ य अडयाले जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते, जा सूरियाभविमाणस्स वत्तव्वया सा अपरिसेसा भाणियव्वा ०जाव अभिसेयो नवरं सोमे देवे ॥ संझप्पस्स णं महाविमाणस्स अहे सपक्खिं सपडिदिसिं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो सोमा नामं रायहाणी पण्णत्ता,एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं जंबुद्दीवपमाणेणं वेमाणियाणं पमाणस्स अद्धं नेयव्वं ०जाव उवरियलेणं सोलस जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पन्नासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउए जोयणसते किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं पण्णत्ते, पासायाणं चत्तारि परिवाडीओ नेयव्वाओ, सेसा नत्थि । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो इमे देवा आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठंति–तं जहा–सोमकाइयाति वा सोमदेवकाइयाति वा विज्जुकुमारा विज्जुकुमारीओ अग्गिकुमारा अग्गिकुमारीओ वाउकुमारा वाउकुमारीओ चंदा सूरा गहा णक्खत्ता तारारूवा जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया तप्पक्खिया तब्भारिया सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठंति ॥ जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—गहदंडाति वा गहमुसलाति वा गहगज्जियाति वा , एवं गहयुद्धाति वा गहसिंघाडगाति वा गहावसव्वाइ वा अब्भाति वा अब्भरुक्खाति वा संज्झाइ वा गंधव्वनगराइ वा उक्कापायाति वा दिसीदाहाति वा गज्जियाति वा विज्जुयाति वा पंसुवुट्ठीति वा जूवे त्ति वा जक्खालित्त त्ति वा धूमयाइ वा महियाइ वा रयुग्घायाइ वा चंदोवरागाति वा सूरोवरागाति वा चंदपरिवेसाति वा सूरपरिवेसाति वा पडिचंदाइ वा पडिसूराति वा इंदधणूति वा उदगमच्छकपिहसियअमोहापाईणवायाति वा पडीणवाताति वा० जाव संवट्टयवाताति वा गामदाहाइ वा० जाव सन्निवेसदाहाति वा पाणक्खया जणक्खया धणक्खया कुलक्खया वसणब्भूया अणारिया जे यावन्ने तहप्पगारा ण ते सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो अण्णाया अदिट्ठा असुया अमुया अविण्णया तेसिं वा सोमकाइयाणं देवाणं, सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो इमे आहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं जहा–इंगालए वियालए लोहियक्खे सणिच्चरे चंदे सूरे सुक्के बुहे बहस्सती राहू ॥ सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो सत्तिभागं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अहावच्चाभिन्नायाणं देवाणं एगं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता, एवं महिड्ढीए० जाव महाणुभागे सोमे महाराया । (सू० १६५) ।

'रायगिहे' इत्यादि, 'बहूइं जोयणाइं' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्–'बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहूओ जोयणकोडीओ बहूओ जोयण-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोडाकोडीओ उड्ढं दूरं वीइवइत्ता एत्थ णं सोहम्मे णामं कप्पे पएणत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणवित्थिन्ने अद्धचंद-संठाणसंठिए अच्चिमालिभासरासिवण्णाहे असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं, एत्थ णं सोहम्माणं देवाणं बत्तीसं विमाणावाससयसहस्साइं भवन्तीति अक्खाया, ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा ० जाव पडिरूवा, तस्स णं सोहम्मकप्पस्स बहुमज्झदेसभाए इति, 'वीइवइत्त' त्ति व्यतिव्रज्य—व्यतिक्रम्य 'जा सूरियाभविमाणस्स' त्ति सूरिकाभविमानं राजप्रश्नीयोपाङ्गोक्तस्वरूपं तद्वक्तव्यतेह वाच्या, तत्समानलक्षणत्वादस्येति । कियती सा वाच्या ?, इत्याह—यावदभिषेकः—अभिनवोत्पन्नस्य सोमस्य राज्याभिषेकं यावदिति, सा चेहातिबहुत्वान्न लिखितेति ॥ 'अहे' इति तिर्यग्लोके 'वेमाणियाण पमाणस्स' त्ति वैमानिकानां सौधर्मविमानसत्कप्रासादप्राकारद्वारादीनां प्रमाणस्येह नगर्यामर्द्धं ज्ञातव्यम् 'सेसा नत्थि' त्ति सुधर्मादि (काः) सभा इह न सन्ति, उत्पत्तिस्थानेष्वेव तासां भावात्, 'सोमकाइय' त्ति सोमस्य कायो—निकायो येषामस्ति ते सोमकायिकाः—सोमपरिवारभूताः 'सोमदेवयकाइय' त्ति सोमदेवताः—तत्सामानिकादयस्तासां कायो येषामस्ति ते सोमदेवताकायिकाः—सोमसामानिकादिदेवपरिवारभूता इत्यर्थः, 'तारारूव' त्ति तारकारूपाः 'तब्भत्तिय' त्ति तत्र—सोमे भक्तिः—सेवा बहुमानो वा येषां ते तद्भक्तिकाः 'तप्पक्खिय' त्ति सोमपाक्षिकाः—सोमस्य प्रयोजनेषु सहायाः, 'तब्भारिय' त्ति तद्भार्याः—तस्य सोमस्य भार्या इव भार्या अत्यन्तं वश्यत्वात्पोषणीयत्वाच्चेति तद्भार्याः, तद्भारो वा येषां वोढव्यतयाऽस्ति ते तद्भारिकाः ॥ 'गहदंड' त्ति दण्डा इव दण्डाः—तिर्यगायताः श्रेणयः ग्रहाणां—मङ्गलादीनां त्रिचतुरादीनां दण्डा ग्रहदण्डाः, एवं ग्रहमुशलादीनि नवरमूर्ध्वायताः श्रेणयः, 'गहगज्जिय' त्ति ग्रहसञ्चालादौ गर्जितानि—स्तनितानि ग्रहगर्जितानि ग्रहयुद्धानि—ग्रहयोरेकत्र नक्षत्रे दक्षिणोत्तरेण समश्रेणितयाऽवस्थानानि, ग्रहसिङ्घाटकानि—ग्रहाणां सिङ्घाटकफलाकारेणावस्थानानि, ग्रहापसव्यानि—ग्रहाणामपसव्यगमनानि प्रतीपगमनानीत्यर्थः, अभ्रात्मका वृक्षा अभ्रवृक्षाः, गन्धर्वनगराणि—आकाशे व्यन्तरकृतानि नगराकारप्रतिबिम्बानि, उल्कापाताः—सरेखाः सोद्योता वा तारकस्येव पाताः दिग्दाहाः—अन्यतमस्यां दिशि अधोऽन्धकारा उपरि च प्रकाशात्मका दह्यमानमहानगरप्रकाशकल्पाः 'जूवय' त्ति शुक्लपक्षे प्रतिपदादिदिनत्रयं यावद्यैः सन्ध्याच्छेदा आव्रियन्ते ते यूपकाः 'जक्खालित्तय' त्ति 'यक्षोद्दीप्तानि आकाशे व्यन्तरकृतज्वलनानि, धूमिकामहिकयोर्वर्णकृतो विशेषः, तत्र धूमिका—धूम्रवर्णा धूसरा इत्यर्थः, महिका त्वापाण्डुरेति, 'रउग्घाय' त्ति दिशां रजस्वलत्वानि 'चंदोवरागा सूरोवरागा' चन्द्रसूर्यग्रहणानि 'पडिचंद' त्ति द्वितीयचन्द्राः 'उदगमच्छ' त्ति इन्द्रधनुःखण्डानि 'कविहसिय' त्ति अनभ्रे या विद्युत्सहसा तत् कपिहसितम्, अन्ये त्वाहुः—कपिहसितं नाम यदाकाशे वानरमुखसदृशस्य विकृतमुखस्य हसनम् 'अमोह' त्ति अमोघा—आदित्योदयास्तमययोरादित्यकिरणविकारजनिताः आताम्राः कृष्णाः श्यामा वा, शकटोर्ध्वसंस्थिता दण्डा इति, 'पाईणवाय' त्ति पूर्वदिग्वाताः 'पडीणवाय' त्ति प्रतीचीनवाताः, यावत्करणादिदं दृश्यम्—'दाहिणवायाइ वा उदीणवायाइ वा उड्ढवायाइ वा अहोवायाइ वा तिरियवायाइ वा विदिसीवायाइ वा वाउब्भामाइ वा वाउक्कलियाइ वा वायमंडलियाइ वा उक्कलियावायाइ वा मंडलियावायाइ वा गुंजावायाइ वा झंझावायाइ व' त्ति, इह वातोद्भ्रामाः—अनवस्थितवाताः वातोत्कलिकाः—समुद्रोत्कलिकावत् वातमण्डलिका-वातोल्यः उत्कलिकावाताः—उत्कलिकाभिर्ये वान्ति, मण्डलिकावाताः—मण्डलिकाभिर्ये वान्ति, गुञ्जवाताः—गुञ्जन्तः सशब्दं ये वान्ति, झञ्झावाताः—अशुभनिष्ठुराः संवर्त्तकवाताः—तृणादिसंवर्तनस्वभावा इति । अथानन्तरोक्तानां ग्रहदण्डादीनां प्रायिकफलानि दर्शयन्नाह—'पाणक्खय' त्ति बलक्षयाः 'जणक्खय' त्ति लोकमरणानि, निगमयन्नाह—'वसणब्भूया अणारिया जे यावन्ने तहप्पगार' त्ति इहैवमक्षरघटना—न केवलं प्राणक्षयादय एव, ये चान्ये एतद्व्यतिरिक्तास्तत्प्रकाराः—प्राणक्षयादितुल्याः व्यसनभूताः—आपद्रूपाः अनार्याः—पापात्मकाः न तेऽज्ञाता इति योगः 'अण्णाय' त्ति अनुमानतः 'अदिट्ठ' त्ति प्रत्यक्षापेक्षया 'असुय' त्ति परवचनद्वारेण 'असुय, त्ति अस्मृता मनोऽपेक्षया 'अविण्णाय' त्ति अवध्यपेक्षयेति । 'अहावच्च' त्ति यथा अपत्यानि तथा ये ते यथाऽपत्याः—देवाः पुत्रस्थानीया इत्यर्थः, 'अभिण्णाया' इति अभिमता अभिमतवस्तुकारित्वादिति 'होत्थ' त्ति अभवन्, उपलक्षणत्वाच्चास्य भवन्ति भविष्यन्तीति द्रष्टव्यम्, 'अहावच्चाभिन्नायाणं' ति यथाऽपत्यमेवमभिज्ञाता—अवगता यथाऽपत्याभिज्ञाताः, अथवा-यथाऽपत्याश्च तेऽभिज्ञाताश्चेति कर्मधारयः, ते चाङ्गारकादयः पूर्वोक्ताः, एतेषु च यद्यपि चन्द्रसूर्ययोर्वर्षलक्षाद्यधिकं पल्योपमं तथाऽप्याधिक्यस्याविवक्षितत्वादङ्गारकादीनां च ग्रहत्वेन पल्योपमस्यैव सद्भावात् पल्योपममित्युक्तमिति ।

कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारन्नो वरसिट्ठे णामं महाविमाणे पण्णत्ते ?, गोयमा ! सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स दाहिणेणं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं वीइवतित्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो जम्मस्स महारन्नो वरसिट्ठे णामं महाविमाणे पण्णत्ते, अद्धतेरसजोयणसयसहस्साइं जहा सोमस्स विमाणे तहा० जाव अभिसेओ रायहाणी तहेव० जाव पासायपंतीओ ॥ सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारन्नो इमे देवा आणाए० जाव चिट्ठंति, तं जहा-जमकाइयाति वा जमदेवकाइयाइ वा पेयकाइयाइ वा पेयदेवकाइयाति वा असुरकुमारा असुरकुमारीओ कंदप्पा निरयवाला आभिओगा जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिगा तप्पक्खि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या तब्भारिया, सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारन्नो आणाए ०जाव चिट्ठंति ॥ जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा- डिंबाति वा डमराति वा कलहाति वा बोलाति वा खाराति वा महायुद्धाति वा महासंगामाति वा महासत्थनिवडणाति वा एवं पुरिसनिवडणाति वा महारुधिरनिवडणाइ वा दुब्भूयाति वा कुलरोगाति वा गामरोगाति वा मंडलरोगाति वा नगररोगाति वा सीसवेयणाइ वा अच्छिवेयणाइ वा कन्नहदंतवेयणाइ वा इंदग्गहाइ वा खंदग्गहाइ वा कुमारग्गहाइ वा जक्खग्गहाइ वा भूयग्गहाइ वा एगाहियाति वा बेआहियाति वा तेआहियाति वा चाउत्थहियाति वा उव्वेगाति वा कासाति वा सासाति वा सोसेति वा जराइ वा दाहाति वा कच्छकोहाति वा अजीरया पंडुरगा हरिसाइ वा भगंदराइ वा हिययसूलाति वा मत्थयसूलाति वा जोणिसूलाति वा पाससूलाति वा कुच्छिसूलाति वा गाममारीति वा नगरमारीति वा खेडमारीति वा कब्बडमारीति वा दोणमुहमारीति- मडंबमुहमारीति वा पट्टणमुहमारीति वा आसमसंवाहमुहमारीति वा संनिवेसमारीति वा पाणक्खया धणक्खया जणक्खया कुलवसणब्भूयमणारिया जे यावन्ने तहप्पगारा न ते सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारन्नो अण्णाया० ५ तेसिं वा जमकाइयाणं देवाणं । सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारन्नो इमे देवा अहावच्चा अभिणाया होत्था, तं जहा-" अंबे १ अंबरिसे चेव २, सामे ३ सवले त्ति यावरे ४ । रुद्दो ५-वरुद्दे ६ काले य ७, महाकाले त्ति यावरे ८ ॥१॥ असिपत्ते ६धणू १०कुंभे ११, वालू १२वेयरणीति य १३ । खरस्सरे १४ महाघोसे १५, एए पन्नरसाहिया ॥ २ ॥" सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारन्नो सत्तिभागं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अहावच्चाभिण्णायाणं देवाणं एगं पलिओवमं ठिती पन्नत्ता, एवं महिड्डिए ०जाव जमे महाराया ॥ २ ॥ (सू० १६६)

'पेयकाइय' त्ति प्रेतकायिकाः व्यन्तरविशेषाः 'पेयदेवतकाइय' त्ति प्रेतसत्कदेवतानां सम्बन्धिनः 'कंदप्प' त्ति ये कन्दर्पभावनाभावितत्वेन कान्दर्पिकदेवेषूत्पन्नाः कन्दर्पशीलाश्च, कन्दर्पश्च-अतिकेलिः, 'आहियोग' त्ति येऽभियोगभावनाभावितत्वेनाभियोगिकदेवेषूत्पन्ना अभियोगवर्त्तिनश्च,अभियोगश्च-आदेश इति ॥ ' डिंबाइ व ' त्ति डिम्बा—विघ्नाः 'डमर ' त्ति एकराज्य एव राजकुमारादिकृतोपद्रवाः 'कलह ' त्ति वचनराटयः 'बोल ' त्ति अव्यक्ताक्षरध्वनिसमूहाः ' खार ' त्ति परस्परमत्सराः 'महायुद्ध ' त्ति महायुद्धानि-व्यवस्थाविहीनमहारणाः 'महासंगाम' त्ति सव्यवस्थचक्रादिव्यूहरचनोपेतमहारणाः महाशस्त्रनिपातनादयस्तु त्रयो महायुद्धादिकार्यभूताः, ' दुब्भूय ' त्ति दुष्टा—जनधान्यादीनामुपद्रवहेतुत्वाद् भूताः—सत्त्वाः यूका-मत्कुणोन्दुरतिड्डप्रभृतयो दुर्भूता-ईतय इत्यर्थः, इन्द्रग्रहादयः उन्मत्तताहेतवः, एकाहिकादयो- ज्वरविशेषाः, ' उव्वेयग ' त्ति उद्वेगका—इष्टवियोगादिजन्या उद्वेगाः उद्वेजका वा लोकोद्वेगकारिणश्चौरादयः ' कच्छकोह ' त्ति कच्छाणां—शरीरावयवविशेषाणां वनगहनानां वा कोथाः—कुथितत्वानि शटितानि वा कच्छाः कोथाः कच्छकोथा वा । 'अम्ब' इत्यादयः पञ्चदशासुरनिकायान्तर्वर्त्तिनः परमाधार्मिकनिकायाः, तत्र यो देवो नारकानम्बरतले नीत्वा विमुञ्चत्यसौ अम्ब इत्यभिधीयते १, यस्तु नारकान् कल्पनिकाभिः खण्डशः कृत्वा भ्राष्ट्रपाकयोग्यान् करोतीत्यसावम्बरीषस्य—भ्राष्ट्रस्य सम्बन्धादम्बरीष एवोच्यते २, यस्तु तेषां शातनादि करोति वर्णतस्तु श्यामः स श्याम इति ३, 'सवले त्ति यावरे' त्ति शबल इति चापरो देव इति प्रक्रमः, स च तेषामन्त्रहृदयादीन्युत्पाटयति वर्णतश्च शबलः—कर्बुर इत्यर्थः ४, यः शक्तिकुन्तादिषु नारकान् प्रोतयति स रौद्रत्वाद्रौद्र इति ५, यस्तु तेषामेवाङ्गोपाङ्गानि भनक्ति सोऽत्यन्तरौद्रत्वादुपरौद्र इति ६, यः पुनः कण्ड्वादिषु पचति वर्णतश्च कालः स काल इति ७; ' महाकाले त्ति यावरे ' त्ति महाकाल इति चापरो देव इति प्रक्रमः, तत्र यः श्लक्ष्णमांसानि खण्डयित्वा खादयति वर्णतश्च महाकालः स महाकाल इति ८, ' असी य ' त्ति यो देवोऽसिना तान् छिनत्ति सोऽसिरेव ६, ' असिपत्ते ' त्ति अस्याकारपत्रवद् वनविकुर्वणादसिपत्रः १०, ' कुंभे ' त्ति कुम्भादिषु तेषां पचनात्कुम्भः १, क्वचित्पठ्यते-' असिपत्ते धणुं कुंभे ' त्ति तत्रासिपत्रकुम्भौ पूर्ववत् , ' धणु ' त्ति यो धनुर्विमुक्तार्द्धचन्द्रादिभिर्बाणैः कर्णादीनां छेदनभेदनादि करोति स धनुरिति ११, 'वालु' त्ति कदम्बपुष्पाद्याकारवालुकासु यः पचति स वालुक इति १२, 'वेयरणीति य' वैतरणीति च देव इति प्रक्रमः, तत्र पूयरुधिरादिभृतवैतरण्यभिधाननदीविकुर्वणाद्वैतरणीति १३, ' खरस्सर ' त्ति यो वज्रकण्टकाकुलशाल्मलीवृक्षमारोप्य नारकं खरस्वरं कुर्वन्तं कुर्वन् वा कर्षत्यसौ खरस्वरः १४, ' महाघोसि ' त्ति, यस्तु भीतान् पलायमानान्नारकान् पशूनिव वाटकेषु महाघोषं कुर्वन्निरुणद्धि स महाघोष इति १५, 'एए पन्नरसाहिय ' त्ति ' एवम् ' उक्तन्यायेन-एते यमयथाऽपत्यदेवाः पञ्चदश आख्याता इति । भ०३ श०७उ० । (शतज्वलमहाविमानस्य वक्तव्यता । 'सयंजल' शब्दे वक्ष्यामि)

सक्कस्स णं वरुणस्स महारन्नो इमे देवा आणाए० जाव चिट्ठंति, तं जहा-वरुणकाइयाति वा वरुणदेवयकाइयाइ वा नागकुमारा नागकुमारीओ उदहिकुमारा उदहिकुमारीओ थणियकुमारा थणियकुमारीओ जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया ०जाव चिट्ठंति । जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा-अतिवासाति वा मंदवासाति वा सुवुट्ठीति वा दुव्वुट्ठीति वा उदब्भेयाति वा उप्पीलाइ वा उदवाहाति वा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पव्वाहाति वा गामवाहाति वा ०जाव सन्निवेसवाहाति वा पाणक्खया ०जाव तेसिं वा वरुणकाइयाणं देवाणं, सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो वरुणस्स महारन्नो ०जाव अहावच्चाभिन्नाया होत्था, तं जहा-कक्कोडए कद्दमए अंजणे संखवालए पुंडे पलासे मोएजए दहिमुहे अयंपुले कायरिए। सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो वरुणस्स महारन्नो देसूणाइं दो पलिओवमाइं ठिती पएणत्ता, अहावच्चाभिन्नायाणं देवाणं एगं पलिओवमं ठिती पएणत्ता, एवं महिड्डीए ०जाव वरुणे महाराया। ३। (सू० १६७)

'अतिवास' त्ति अतिशयवर्षा-वेगवद्वर्षणानीत्यर्थः, 'मन्दवास' त्ति शनैर्वर्षणानि 'सुवुट्ठि' त्ति धान्यादिनिष्पत्तिहेतुः 'दुव्वुट्ठि' त्ति धान्याद्यनिष्पत्तिहेतुः 'उदब्भेय' त्ति उदकोद्भेदाः गिरितटादिभ्यो जलोद्भवाः 'उदप्पील' त्ति उदकोत्पीलाः-तडागादिषु जलसमूहाः 'उदवाह' त्ति अपकृष्टान्यल्पान्युदकवहनानि, तान्येव प्रकर्षवन्ति प्रवाहाः, इह प्राणक्षयादयो जलकृता द्रष्टव्याः, 'कक्कोडए' त्ति ककोंटकाभिधानोऽनुवेलन्धरनागराजावासभूतः पर्वतो लवणसमुद्रे पेशान्यां दिश्यस्ति तन्निवासी नागराजः कर्कोटकः, 'कद्दमए' त्ति आग्नेय्यां तथैव विद्युत्प्रभपर्वतस्तत्र कर्दमको नाम नागराजः 'अंजणे' त्ति वेलम्बाभिधानवायुकुमारराजस्य लोकपालोऽञ्जनाभिधानः 'संखवालए' त्ति धरणाभिधाननागराजस्य लोकपालः शंखपालको नाम, शेषास्तु पुण्ड्रादयोऽप्रतीता इति।

कहि णं भंते! सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो वेसमणस्स महारन्नो वग्गू णामं महाविमाणे पएणत्ते?, गोयमा! तस्स णं सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरेणं जहा सोमस्स विमाणरायहाणिवत्तव्वया तहा नेयव्वा ०जाव पासायवडिंसया। सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो वेसमणस्स महारन्नो इमे देवा आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठंति, तं जहा-वेसमणकाइयाति वा वेसमणदेवकाइयाति वा सुवन्नकुमारा सुवन्नकुमारीओ दीवकुमारा दीवकुमारीओ दिसाकुमारा दिसाकुमारीओ वाणमंतरा वाणमंतरीओ जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया ०जाव चिट्ठंति। जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा-अयागराइ वा तउयागराइ वा तंबागराइ वा एवं सीसागराइ वा हिरन्नसुवन्नरयणवइरागराइ वा वसुहाराति वा हिरन्नवासाति वा सुवन्नवासाति वा रयण०-वइर०-आभरण०-पत्त०-पुप्फ०-फल०-बीय०-मल्ल०-वण्ण०-चुन्न०-गंध०-वत्थवासाइ वा, हिरन्नवुट्ठीति वा सुवण्ण०-रयण०-वइर०-आभरण०-पत्त०-पुप्फ०-फल०-बीय०-मल्ल०-वण्ण०-चुन्न-गंध०-वत्थवुट्ठीति वा भायणवुट्ठीति वा खीरवुट्ठीति वा सुयालाति वा दुकालाति वा अप्पग्घाति वा महग्घाति वा सुभिक्खाति वा दुब्भिक्खाति वा कयविक्कयाति वा सन्निहियाति वा संनिचयाति वा निहीति वा णिहाणाति वा चिरपोराणाइं पहीणसामियाति वा पहीणसेउयाति वा (पहीणमग्गाणि वा) पहीणगोत्तागाराइ वा उच्छिन्नसामियाति वा उच्छिन्नसेउयाति वा उच्छिन्नगोत्तागाराति वा सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु नगरनिद्धमणेसु वा सुसाणगिरिकंदरसंतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु संनिक्खित्ताइं चिट्ठंति, एताइं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो वेसमणस्स महारन्नो (ण) अण्णायाइं अदिट्ठाइं असुयाइं अविन्नायाइं तेसिं वा वेसमणकाइयाणं देवाणं, सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो वेसमणस्स महारन्नो इमे देवा अहावच्चाभिन्नाया होत्था, तं जहा-पुन्नभद्दे माणिभद्दे सालिभद्दे सुमणभद्दे चक्के रक्खे पुन्नरक्खे सव्वाणे (पव्वाणे) सव्वजसे सव्वकामे समिद्धे अमोहे असंगे, सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो वेसमणस्स महारन्नो दो पलिओवमाणि ठिती पएणत्ता, अहावच्चाभिण्णायाणं देवाणं एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, एवं महिड्डीए०जाव वेसमणे महाराया सेवं भंते!२त्ति। (सू०१६८)

'वसुहाराइ व' त्ति तीर्थकरजन्मादिष्वाऽऽकाशाद् द्रव्यवृष्टिः, 'हिरण्णवास' त्ति हिरण्यं रूप्यं घटितसुवर्णमित्यन्ये वर्षोऽल्पतरो वृष्टिस्तु महतीति वर्षवृष्ट्योर्भेदः, माल्यं तु ग्रथितपुष्पाणि वर्णः—चन्दनं चूर्णो—गन्धद्रव्यसम्बन्धी गन्धाः—कोष्ठपुटपाकाः 'सुभिक्खाइ व' त्ति सुकाले दुष्काले वा भिक्षुकाणां भिक्षासमृद्धयः दुर्भिक्षास्तूक्तविपरीताः 'संनिहियाइ' त्ति घृतगुडादिस्थापनानि 'संनिचयाइ' त्ति धान्यसञ्चयाः 'निहीइ व' त्ति लक्षादिप्रमाणद्रव्यस्थापनानि 'निहाणाइ व' त्ति भूमिगतसहस्रादिसंख्यद्रव्यस्य सञ्चयाः, किंविधानि ?, इत्याह—'चिरपोराणाइं' ति चिरप्रतिष्ठितत्वेन पुराणानि चिरपुराणानि अत एव 'पहीणसामियाइं' ति स्वल्पीभूतस्वामिकानि 'पहीणसेउयाइं' ति प्रहीणाः-अल्पीभूताः सेक्तारः—सेचकाः—धनप्रक्षेप्तारो येषां तानि तथा, प्रहीणमार्गाणि वा, 'पहीणगोत्तागाराइं' ति प्रहीणं—विरलीभूतमानुषं गोत्रागारं—तत्स्वामिगोत्रगृहं येषां तानि तथा, 'उच्छिन्नसामियाइं' ति निःसत्ताकीभूतप्रभूणि 'नगरनिद्धमणेसु' त्ति नगरनिर्द्धमनेषु—नगरजलनिर्गमनेषु 'सुसाणगिरिकन्दरसंतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु' त्ति गृहशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् श्मशानगृहम्—पितृवनगृहम्, गिरिगृहम्—पर्वतोपरिगृहम् कन्दरगृहम्—गुहा शान्तिगृहम्—शान्तिकर्मस्थानम् शैलगृहम्—पर्वतमुत्कीर्य यत्कृतम् उपस्थानगृहम्—आस्थानमण्डपो भवनगृहम्—कुटुम्बिवसनगृहमिति। भ० ३ श० ७ उ०।

रायगिहे नगरे०जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी—असुरकुमाराणं भंते! देवाणं कति देवा आहेवच्चं०जाव विहरंति?, गोयमा! दस देवा आहेवच्चं०जाव विहरंति, तं जहा—चमरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असुरिंदे असुरराया सोमे जमे वरुणे वेसमणे बली वइरोयणिंदे वइरोयणराया सोमे जमे वरुणे वेसमणे । नागकुमाराणं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! दस देवा आहेवच्चं०जाव विहरंति, तं जहा—धरणे नागकुमारिंदे नागकुमारराया कालवाले कोलवाले सेलवाले संखवाले भूयाणंदे नागकुमारिंदे णागकुमारराया कालवाले कोलवाले संखवाले सेलवाले, जहा नागकुमारिंदाणं एयाए वत्तव्वयाए णेयव्वं एवं इमाणं नेयव्वं, सुवन्नकुमाराणं वेणुदाली चित्ते विचित्ते चित्तपक्खे विचित्तपक्खे, विज्जुकुमाराणं हरिकंत हरिस्सह पभ १ सुप्पभ २ पभकंत ३ सुप्पभकंत ४, अग्गिकुमाराणं अग्गिसीहे अग्गिमाणवतेउ तेउसीहे तेउकंते तेउप्पभे, दीवकुमाराणं पुण्णविसिट्ठ रूयसुरूय-रूयकंत-रूयप्पभा,उदहिकुमाराणं जलकंते जलप्पभ जल-जलरूय-जलकंत-जलप्पभा, दिसाकुमाराणं अमियगति अमियवाहण तुरियगति खिप्पगति सीहगति सीहविक्कमगति,वाउकुमाराणं वेलंबपभंजण काल महाकाल अंजणरिट्ठा,थणियकुमाराणं घोस महाघोस आवत्त वियावत्त नंदियावत्त-महानंदियावत्ता, एवं भाणियव्वं जहा असुरकुमाराणं सो०१का०२चि०३प्प०४ते०५रु०६ज०७तु०८ का० ९ आ० १०, पिसायकुमाराणं पुच्छा, गोयमा ! दो देवा आहेवच्चं० जाव विहरंति, तं जहा–" काले य महाकाले, सुरूवपडिरूवपुन्नभद्दे य । अमरवइ माणिभद्दे, भीमे य तहा महाभीमे ॥ १ ॥ किंनर किंपुरिसे खलु, सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे । अतिकाय महाकाए, गीयरती चेव गीयजसे ॥ २ ॥" एते वाणमंतराणं देवाणं । जोतिसियाणं देवाणं दो देवा आहेवच्चं० जाव विहरंति,तं जहा–चंदे य सूरे य । सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु कइ देवा आहेवच्चं० जाव विहरंति ? गोयमा ! दस देवा० जाव विहरंति, तं जहा–सक्के देविंदे देवराया सोमे जमे वरुणे वेसमणे, ईसाणे देविंदे देवराया सोमे जमे वरुणे, वेसमणे एसा वत्तव्वया सव्वेसु वि कप्पेसु, एए चेव भाणियव्वा, जे य इंदा ते य भाणियव्वा सेवं भंते ! त्ति । (सू० १६९)

देववक्तव्यताप्रतिबद्ध एवाष्टमोद्देशकः, स च सुगम एव, नवरं 'सो १ का २ चि ३ प्प ४ ते ५ रु ६ ज ७ तु ८ का ९ आ १०' इत्यनेनाक्षरदशकेन दक्षिणभवनपतीन्द्राणां प्रथमलोकपालनामानि सूचितानि, वाचनान्तरे त्वेतान्येव गाथायाम् , सा चेयम्—" सोमे य १ महाकाले २, चित्त ३ प्पभ ४ तेउ ५ तह रुए चेव ६ । जल ७ तह तुरियगई य ८, काले ९ आउत्त १० पढमाउ ॥ १ ॥" एवं द्वितीयादयोऽप्यभ्यूह्याः, इह च पुस्तकान्तरेऽयमर्थो दृश्यते—दाक्षिणात्येषु लोकपालेषु प्रतिसूत्रं यौ तृतीयचतुर्थौ तावौदीच्येषु चतुर्थतृतीयाविति, ' एसा वत्तव्वया सव्वेसु वि कप्पेसु एए चेव भाणियव्व ' त्ति , एषा—सौधर्मेशानोक्ता वक्तव्यता सर्वेष्वपि कल्पेषु इन्द्रनिवासभूतेषु भणितव्या—सनत्कुमारादीन्द्रयुग्मेषु पूर्वेन्द्रापेक्षयोत्तरेन्द्रसम्बन्धिनां लोकपालानां तृतीयचतुर्थयोर्व्यत्ययो वाच्य इत्यर्थः , तथैत एव सोमादयः प्रतिदेवलोकं वाच्या न तु भवनपतीन्द्राणामिवापरापरे, 'जे य इंदा ते य भाणियव्वा ' शक्रादयो दशेन्द्रा वाच्याः, अन्तिमे देवलोकचतुष्टये इन्द्रद्वयभावादिति ॥ ॥ तृतीयशतेऽष्टमोद्देशकः ॥ ३–८ ॥

देवानां चावधिज्ञानसद्भावेऽपीन्द्रियोपयोगोऽप्यस्तीत्यत इन्द्रियविषयं निरूपयति—

रायगिहे० जाव एवं वयासी– कतिविहे णं भंते ! इंदियविसए पण्णत्ते ?, गोयमा ! पंचविहे इंदियविसए पण्णत्ते, तं जहा—सोतिंदियविसए जीवाभिगमे जोतिसिय उद्देसो नेयव्वो अपरिसेसो ॥ (सू० १७०)

' रायगिहे ' इत्यादि, ' जीवाभिगमे ' जोइसिय उद्देसओ णेयव्वो त्ति । भ० ३ श० ९ उ० ।

सोतिंदियविसए० जाव फासिंदियविसए । सोतिंदियविसए णं भंते ! पोग्गलपरिणामे कतिविहे पण्णत्ते ?, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते , तं जहा–सुब्भिसद्दपरिणामे य दुब्भिसद्दपरिणामे य, एवं चक्खिंदियविसयादिएहि वि सुरूवपरिणामे य दुरूवपरिणामे य । एवं सुरभिगंधपरिणामे य दुरभिगंधपरिणामे य, एवं सुरसपरिणामे य दुरसपरिणामे य, एवं सुफासपरिणामे य दुफासपरिणामे य ॥ से नूणं भंते ! उच्चावएसु सद्दपरिणामेसु उच्चावएसु रूवपरिणामेसु एवं गंधपरिणामेसु रसपरिणामेसु फासपरिणामेसु परिणममाणा पोग्गला परिणमंतीति वत्तव्वंसिया ?, हंता गोयमा ! उच्चावएसु सद्दपरिणामेसु परिणममाणा पोग्गला परिणमंति त्ति वत्तव्वं सिया , से नूणं भंते ! सुब्भिसद्दा पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति ?, हंता गोयमा ! सुब्भिसद्दा दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, से नूणं भंते ! सुरूवा पोग्गला दुरूवत्ताए परिणमंति, दुरूवा पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमंति ?, हंता गोयमा ! एवं सुब्भिगंधा पोग्गला दुब्भिगंधत्ताए परिणमंति दुब्भिगंधा पोग्गला सुब्भिगंधत्ताए परिणमंति ?, हंता गोयमा ! एवं सुफासा दुफासत्ताए परिणमंति ?, सुरसा दूरसत्ताए परिणमंति ?, हंता गोयमा ! ० । (सू० १८१)

' कइविहे णं भंते ! ' इत्यादि, कतिविधो भदन्त ! इन्द्रियविषयः पुद्गलपरिणामः प्रज्ञप्तः ? , भगवानाह—गौतम !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पञ्चविध इन्द्रियविषयः पुद्गलपरिणामः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियविषय इत्यादि सुगमम्, 'सुब्भिसद्दपरिणामे' इति शुभः शब्दपरिणामः 'दुब्भिसद्दपरिणामे' इति अशुभः शब्दपरिणामः ॥ 'से णूणं भंते'! इत्यादि, अथ 'नूनम्' निश्चितमेतद् भदन्त ! उच्चावचैः—उत्तमाधमैः शब्दपरिणामैर्यावत्स्पर्शपरिणामैः परिणमन्तः पुद्गलाः । परिणमन्तीति वक्तव्यं स्याद्?, परिणमन्तीति ते वक्तव्या भवेयुरित्यर्थः, भगवानाह-'हंता गोयमा' ! इत्यादि, हन्तेति प्रत्यवधारणे स्यादेव वक्तव्यमिति भावः, परिणामस्य यथावस्थितस्य भावात्, तथा तथा द्रव्यक्षेत्रादिसामग्रीवशतस्तद्रूपास्कन्दनं हि परिणामः, स च तत्रास्तीति न कश्चित्तथाऽभिधाने दोषः ॥ 'से नूणं भंते !' इत्यादि, अथ नूनम्—निश्चितमेतद् भदन्त ! शुभशब्दाः शुभशब्दरूपाः पुद्गला अशुभशब्दतया परिणमन्ति अशुभशब्दा वा पुद्गलाः शुभशब्दतया?, भगवानाह—हन्त गौतम ! इत्यादि सुप्रतीतम्। एतेन सान्वयं परिणाममाह, अन्यथा तद्योगादसतः सत्तानुपपत्तेरतिप्रसङ्गात् । एवं रूपरसगन्धस्पर्शेष्वप्यात्मीयात्मीयाभिलापेन द्वौ द्वावालापकौ वक्तव्यौ । जी० ३ प्रति० २ उ० ।

रायगिहे नगरे ०जाव एवं वयासी-ईसाणस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो कति लोगपाला पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, तं जहा-सोमे जमे वेसमणे वरुणे । एएसि णं भंते ! लोगपालाणं कति विमाणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, तं जहा-सुमणे सव्वओभद्दे वग्गू सुवग्गू । कहि णं भंते ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो सुमणे नामं महाविमाणे पण्णत्ते ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए ०जाव ईसाणे णामं कप्पे पण्णत्ते, तत्थ णं ०जाव पंचवडेंसया पण्णत्ता, तं जहा-अंकवडेंसए फलिहवडेंसए रयणवडेंसए जायरूववडेंसए, मज्झे य तत्थ ईसाणवडेंसए, तस्स णं ईसाणवडेंसयस्स महाविमाणस्स पुरच्छिमेणं तिरियमसंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं वीतिवतित्ता एत्थ णं ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सुमणे नामं महाविमाणे पण्णत्ते अद्धतेरसजोयणं जहा सक्कस्स वत्तव्वया ततियसए तहा ईसाणस्स वि ०जाव अच्चणिया समत्ता । चउण्ह वि लोगपालाणं विमाणे वितियउद्देसओ, चउसु विमाणेसु चत्तारि उद्देसा अपरिसेसा, नवरं ठितिए नाणत्तं—"आदिदुय तिभागूणा, पलिया धणयस्स होंति दो चेव । दो सतिभागा वरुणे, पलियमहावच्चदेवाणं ॥ १ ॥" (सू० १७२)

'चत्तारीत्यादि' व्यक्तार्थाः 'अच्चणिय' त्ति सिद्धायतने जिनप्रतिमाद्यर्चनमभिनवोत्पन्नस्य सोमाख्यलोकपालस्येति। भ० ४ श० ४ उ० । (राजधानीवक्तव्यता 'रायहाणी' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५५१ पृष्ठे गता ।) सूर्यवत्सर्ववस्तुप्रकाशकत्वात् । स्था० ४ ठा० १ उ० । पञ्चा० । प्रज्ञा० । भ० ।

लोगप्पिय-लोकप्रिय-पुं० । लोकस्य सर्वजनस्य इह परलोकविरुद्धविवर्जनेन दानशीलादिगुणैश्च प्रियो वल्लभो लोकप्रियः । प्रव० २३६ द्वार । सदाचारचारिणि, ध० र० १ अधि० १ गुण । अयमभिप्रायः—एतानि कर्माणि लोकवैमुख्यकारणानि परिहरन्नेव शिष्टजनप्रियो भवति-धर्मस्यापि स एवाधिकारीति । तथा दानम्—त्यागो विनयः—उचितप्रतिपत्तिः शीलम्—सदाचारपरता एभिराढ्यः—परिपूर्णो यः स लोकप्रियो भवति ।

उक्तं च—

दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति, दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दाना-त्तस्माद्धि दानं सततं प्रदेयम्॥१॥
विणएण नरो गंधे-ण चंदणं सोमयाइ रयणियरो ।
महुररसेणं अमयं, जणप्पियत्तं लहइ भुवणे ॥ २ ॥
सुविसुद्धसीलजुत्तो, पावइ कित्ति जसं च इह लोए ।
सव्वजणवल्लहो वि य, सुहगइभागी य परलोए ॥३॥" इति ।

एतस्य धर्मप्रतिपत्तौ फलमाह—एवंविधो लोकप्रियो जनानां सम्यग्दृशामपि जनयत्युत्पादयति धर्मे-यथावस्थितमुक्तिमार्गे बहुमानम्-आन्तरप्रीतिं धर्मप्रतिपत्तिहेतुं बोधिबीजं वा । विनयंधरवत्, तथा चोक्तम्—"युक्तं जनप्रियत्वं, शुद्धं सद्धर्मसिद्धिफलदमलम् । धर्मप्रशंसनादे—र्बीजाधानादिभावेन ॥१॥" इति । ध० र० १ अधि० ४ गुण । (लोकप्रियत्वे विनयन्धरकथा 'विणयंधर' शब्दे वक्ष्यते) सदा सदाचारत्वेन सम्मते, दर्श० २ तत्त्व ।

लोगप्पइअ-लोकप्राकृत-पुं०। त्रिजगता अर्चिते, उत्त० २३ अ० ।

लोगफुड-लोकस्पष्ट-पुं० । लोकेन-लोकाकाशेन सकलस्वप्रदेशैः स्पृष्टो लोकस्पृष्टः । तथा लोकमेव च सकलस्वप्रदेशैः स्पृष्ट्वा तिष्ठति । सकललोकपरिमिते आत्मनि, भ० २ श० १० उ० ।

लोगवाह-लोकवाध-पुं० । लोकः प्रामाणिकलोकः सामान्यलोकश्च तेन बाधो विरोधो लोकबाधस्तदप्रतीतव्यवहारसाधनात् बाधशब्दस्य । लोकविरोधे, स्या० ।

लोगबिन्दुसार-लोकबिन्दुसार-पुं० । अस्मिन् लोके श्रुतलोके बिन्दुरिवाक्षरस्य सर्वोत्तममिति, सर्वाक्षरसन्निपातप्रतिष्ठितत्वेन लोकबिन्दुसारम् । चतुर्दशे पूर्वे, तत्प्रमाणमर्द्धत्रयोदशपदकोट्य इति । स० । नं० ।

लोगबिन्दुसारस्स णं पुव्वस्स पणवीसं वत्थू पण्णत्ते । स० २६ सम० ।

लोगमज्झ-लोकमध्य-पुं० । लोकस्य तिर्यग्लोकस्य समस्तस्यापि मध्ये वर्त्तते इति लोकमध्यः । मेरुपर्वते, चं० प्र० ४ पाहु० । सू० प्र० । संपूर्णगोलकश्च लोकमध्य एव स्यादिति । भ० ११ श० ११ उ० । दर्श० । "जे मंदरस्स पुव्वे—ण मणुस्सा दाहिणेण अवरेणं । जे वावि उत्तरेणं, सव्वेसिं उत्तरो मेरू" ॥ ४६ ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (व्याख्याऽस्या गाथायाः 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे गता ।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगमज्झवासिय-लोकमध्यवासिक-न० । अभिनयभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

लोगमज्झावसाणिय-लोकमध्यावसानिक-न० । अभिनयभेदे, रा० । एतच्च नाट्यकुशलेभ्यो वेदितव्यम् । आ० म० १ अ० । एते नाट्यविधयोऽभिनयविधयश्च भरतादिसङ्गीतशास्त्रज्ञेभ्योऽवसेयाः । जं० ५ वक्ष० ।

लोगमत्थयत्थ-लोकमस्तकस्थ-पुं० । त्रैलोक्योपरिवर्त्तिनि सिद्धे, दश० ४ अ० ।

लोगरिसि-लोकर्षि-पुं० । तापसे, व्य० १० उ० ।

लोगरूढिनिराकय-लोकरूढिनिराकृत-पुं० । मिथ्याभेदे, यथा शुचि नरशिरःकपालमिति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

लोगववहारविरय-लोकव्यवहारविरत-पुं० । लोकयात्रानिवृत्ते, पञ्चा० १० विव० ।

लोगवाइ-लोकवादिन्-त्रि० । लोकयतीति लोकः प्राणिगणस्तं वदितुं शीलमस्येति । बह्वात्मवादिनि , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

लोगवाय-लोकवाद-पुं० । पाखण्डिनां पौराणिकानां वा वादे, सूत्र० ।

लोगवायं णिसामिज्जा, इहमेगेसि माहियं ।
विपरीयपन्नसंभूयं, अन्नउत्तं तयाणुयं ॥ ५ ॥

' लोगवायमि ' त्यादि, लोकानां पाखण्डिनां पौराणिकानां वा वादो लोकवादः । यथा-स्वाभिप्रायेणाऽन्यथा वाऽभ्युपगमस्तं निशामयेत्-शृणुयात् जानीयादित्यर्थः । तदेव दर्शयति-इह-अस्मिन्संसारे एकेषां केषांचिदिदमाख्यातम्-अभ्युपगमः । तदेव विशिनष्टि । विपरीता-परमार्थादन्यथाभूता या प्रज्ञा तया संभूतं-समुत्पन्नं तत्त्वविपर्यस्तद्बुद्धिग्रथितमिति यावत् , पुनरपि विशेषयति-अन्यैरविवेकिभिर्यदुक्तं तदनुगं यथावास्थतार्थविपरीतानुसारिभिर्यदुक्तं विपरीतार्थाभिधायितया तदनुगच्छतीत्यर्थः ।

तमेव विपर्यस्तबुद्धिरहितं लोकवादं दर्शयितुमाह-

अणंते निइए लोए, सासए ण विणस्सति ।
अंतवं णिइए लोए, इति धीरो ऽतिपासइ ॥ ६ ॥

' अणंते निइए लोए ' इत्यादि, नाऽस्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः । न निरन्वयनाशेन नश्यतीत्युक्तं भवतीति । तथाहि—यो यादृगिह भवे स तादृगेव परभवेऽप्युत्पद्यते पुरुषः-पुरुष एव, अङ्गना-अङ्गनैवेत्यादि । यदि वा-अनन्तः-अपरिमितो निरवधिक इति यावत् । तथा नित्य इति-अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो लोक इति । तथा-शश्वद्भवतीति शाश्वतो द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यापेक्षया शश्वद्भवन्नपि न कारणद्रव्यं परमाणुत्वं परित्यजतीति । तथा न विनश्यतीति दिगात्माकाशाद्यपेक्षया, तथा-अन्तोऽस्यास्तीत्यन्तवान् लोकः ' सप्तद्वीपा वसुंधरेति ' परिमाणोक्तेः; स च तादृक्परिमाणो नित्य इत्येवं धीरः कश्चित्साहसिकोऽन्यथाभूतार्थप्रतिपादनात् व्यासादिरिवातिपश्यतीत्यतिपश्यति । तदेवंभूतमनेकभेदभिन्नं लोकवादं निशामयेदिति प्रकृतेन संबन्धः । तथा—" अपुत्रस्य न सन्ति लोकाः, ब्राह्मणा देवाः, श्वानो यक्षाः, गोभिर्हतस्य गोध्नस्य वा न सन्ति लोका " इत्येवमादिकं निर्युक्तिकं लोकवादं निशामयेदिति ।

किञ्च—

अपरिमाणं वियाणाइ, इहमेगेसिमाहियं ।
सव्वत्थ सपरिमाणं, इति धीरोऽतिपासइ ॥७॥

अपरिमाणमिति-न विद्यते परिमाणमियत्ता क्षेत्रतः कालतो वा यस्य तदपरिमाणं तदेवंभूतं विजानाति कश्चित्तीर्थिकः-तीर्थकृत् , एतदुक्तं भवति—अपरिमितज्ञोऽसावतीन्द्रियद्रष्टा न पुनः सर्वज्ञ इति । यदि वा-अपरिमितज्ञ इत्यभिप्रेतार्थातीन्द्रियदर्शीति, तथा चोक्तम्-"सर्वं पश्यतु वा मा वा, इष्टमर्थं तु पश्यतु । कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ? ॥ १ ॥ " इति । इह अस्मिन् लोके एकेषां—सर्वज्ञाऽपह्नववादिनाम् , इदमाख्यातम्-अयमभ्युपगमः , तथा सर्वक्षेत्रमाश्रित्य कालं वा परिच्छेद्यं कर्मतापन्नमाश्रित्य सह परिमाणेन सपरिमाणम्-सपरिच्छेदं धीः-बुद्धिस्तया राजत इति धीर इत्येवमसौ अतीव पश्यतीत्यतिपश्यति । तथाहि-ते ब्रुवते-दिव्यं वर्षसहस्रमसौ ब्रह्मा स्वपिति, तस्यामवस्थायां न पश्यत्यसौ, तावन्मात्रं च कालं जागर्ति, तत्र च पश्यत्यसाविति तदेवम्भूतो बहुधा लोकवादः प्रवृत्तः ॥ ७ ॥

अस्य चोत्तरदानायाह—

जे केइ तसा पाणा, चिट्ठंति अदु थावरा ।
परियाए अत्थि से अंजु, जेण ते तसथावरा ॥ ८ ॥

(जे के इति) ये केचित्त्रसाः-प्राणिनस्तिष्ठन्ति अथवा-स्थावराः तेषां स्वकर्मपरिणत्याऽयं पर्यायोऽस्ति (अंजु इति) प्रगुणोऽव्यभिचारी तेन पर्यायेण ते त्रसाः स्थावराः स्युः । त्रसत्वमनुभूय कर्मपरिणत्या स्थावराः स्थावरत्वमनुभूय त्रसाश्च भवन्तीति । ततो यो यादृगिह भवे स परभवेऽपि तादृगिति नियमो न युक्तः ॥ ८ ॥ सूत्र० द्वी० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । ये केचन त्रस्यन्तीति त्रसा—द्वीन्द्रियादयः प्राणाः—प्राणिनः सत्त्वाः तिष्ठन्ति—त्रसत्वमनुभवन्ति, अथवा—स्थावराः-स्थावरनामकर्मोदयात् (याः) पृथिव्यादयस्ते, यद्ययं लोकवादः सत्यो भवेत् यथा-यो यादृगस्मिन् जन्मनि मनुष्यादिः सोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि तादृगेव भवतीति, ततः स्थावराणां त्रसानां च तादृशत्वे सति दानाध्ययनजपनियमतपोऽनुष्ठानादिकाः क्रियाः सर्वा अप्यनर्थिका आपद्येरन् । लोकेनापि चान्यथात्वमुक्तम् , तद्यथा—" स वै एष शृगालो जायते यः सपुरीषो दह्यते " तस्मात् स्थावरजङ्गमानां स्वकृतकर्मवशात् परस्परसंक्रमणाद्यनिवारितमिति । (सूत्र०) लोकव्यवस्था ' लोक ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव दर्शिता ।) तथा ' श्वानो यक्षा ' इत्यादि युक्तिविरोधित्वादनाकर्णनीयमिति । यदपि चोक्तम्—' अपरिमाणं विजानाती ' ति , तदपि न घटामियर्त्ति, यतःसत्यप्यपरिमितज्ञत्वे यद्यसौ सर्वज्ञो न भवेत् ततो हेयोपादेयोपदेशदानविकलत्वान्नैवासौ प्रेक्षापूर्वकारिभिराद्रियेत , तथाहि—तस्य कीटसंख्यापरिज्ञानमप्युपयोग्येव , यतो यथैतद्विषयेऽस्यापरिज्ञानमेवमन्यत्रापीत्याशङ्कया हेयोपादेये प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रवृत्तिर्न स्यात् , तस्मात्सर्वज्ञत्वमेष्टव्यम् । तथा यदुक्तम्—' स्वापप्रबोधविभागेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिमितं जानाती ' त्येतदपि सर्वजनसमानत्वे यत्किञ्चिदिति । यदपि च कैश्चिदुच्यते—यथा " ब्रह्मणः स्वप्नावबोधयोर्लोकस्य प्रलयोदयौ भवत " इति, तदप्ययुक्तिसंगतमेव, प्रतिपादितं चैतत् प्रागेवेति न प्रतन्यते । नचात्यन्तं सर्वजगत उत्पादविनाशौ विद्येते ' न कदाचिदनीदृशं जगदि ' ति वचनात् । तदेवमनन्तादिकं लोकवादं परिहृत्य यथावस्थितवस्तुस्वभावाविर्भावनं पश्चार्द्धेन दर्शयति—ये केचन त्रसाः स्थावरा वा तिष्ठन्त्यस्मिन् संसारे तेषां स्वकर्मपरिणत्याऽस्त्यसौ पर्यायः 'अञ्जु ' इति प्रगुणोऽव्यभिचारी तेन पर्यायेण स्वकर्मपरिणतिजनितेन ते त्रसाः सन्तः स्थावराः संपद्यन्ते, स्थावरा अपि च त्रसत्वमश्नुवते । तथा त्रसास्त्रसत्वमेव स्थावराः स्थावरत्वमेवाऽऽप्नुवन्ति, न पुनर्यो यादृगिह स तादृगेवामुत्रापि भवतीत्ययं नियम इति ॥

एवं मूलगुणानभिधायेदानीमुत्तरगुणानभिधातुकाम आह—

वुसिए य विगयगेही, आयाणं सम्म रक्खए ।
चरिआसणसेज्जासु, भत्तपाणे अ अंतसो ॥ ११ ॥

विविधम्-अनेकप्रकारमुषितः-स्थितो दशविधचक्रवालसमाचार्यां व्युषितः , तथा विगता-अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्यासौ विगतगृद्धिः साधुः एवंभूतश्चादीयते स्वीक्रियते प्राप्यते वा मोक्षो येन तदादानीयम् ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं तत्सम्यग् रक्षयेद्-अनुपालयेत् , यथा यथा तस्य वृद्धिर्भवति तथा तथा कुर्यादित्यर्थः । कथं पुनश्चारित्रादिपालितं भवतीति दर्शयति—चर्यासनशय्यासुचरणं चर्या—गमनं साधुना हि सति प्रयोजने युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यम्, तथा सुप्रत्युपेक्षिते सुप्रमार्जिते चासने उपवेष्टव्यम् , तथा शय्यायाम्-वसतौ संस्तारके वा सुप्रत्युपेक्षितप्रमार्जिते स्थानादि विधेयम् , तथा भक्ते पाने चान्ततः सम्यगुपयोगवता भाव्यम् , इदमुक्तं भवति-ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपप्रतिष्ठापनासमितिषूपयुक्तेनान्तशो भक्तपानं यावदुद्गमादिदोषरहितमन्वेषणीयमिति ॥ ११ ॥

पुनरपि चारित्रशुद्ध्यर्थं गुणानधिकृत्याह—

एतेहिं तिहि ठाणेहिं, संजए सततं मुणी ।
उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं च विगिंचए ॥ १२ ॥

एतानि-अनन्तरोक्तानि त्रीणि स्थानानि, तद्यथा-ईर्यासमितिरित्येकं स्थानम् , आसनं शय्येत्यनेनादानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितिरित्येतच्च द्वितीयं स्थानम् , भक्तपानमित्यनेनैषणासमितिरुपात्ता भक्तपानार्थं च प्रविष्टस्य भाषणसंभवाद्भाषासमितिराक्षिप्ता, सति चाहारे उच्चारप्रस्रवणादीनां संभवात्प्रतिष्ठापनासमितिरप्यायातेत्येतच्च तृतीयं स्थानमिति, अत एतेषु त्रिषु स्थानेषु सम्यग् यतः संयत आमोक्षाय परिव्रजेदित्युत्तरश्लोकान्ते क्रियेति । तथा-सततम्-अनवरतम् मुनिः-सम्यक् यथावस्थितजगत्त्रयवेत्ता उत्कृष्यते आत्मा दर्पाध्मातो विधीयतेऽनेनेत्युत्कर्षो-मानः,तथा-आत्मानं चारित्रं वा ज्वलयति-दहतीति ज्वलनः—क्रोधः, तथा णूममिति गहनं मायेत्यर्थः, तस्या अलब्धमध्यत्वादेवमभिधीयते , तथा आसंसारमसुमतां मध्ये—अन्तर्भवतीति मध्यस्थो—लोभः, चशब्दः समुच्चये, एतान् मानादींश्चतुरोऽपि कषायांस्तद्विपाकाभिज्ञो मुनिः सदा ' विगिंचए ' त्ति विवेचयेद्—आत्मनः पृथक्कुर्यादित्यर्थः । ननु चान्यत्रागमे क्रोध आदावुपन्यस्यते, तथा क्षपकश्रेण्यामारूढो भगवान् क्रोधादीनेव संज्वलनान् क्षपयति, तत् किमथ—मागमप्रसिद्धं क्रममुल्लङ्घ्यादौ मानस्योपन्यास इति ?, अत्रोच्यते—माने सत्यवश्यंभावी क्रोधः, क्रोधे तु मानः स्याद्वा न वेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायान्यथाक्रमकरणमिति ॥ १२ ॥

तदेवं मूलगुणानुत्तरगुणांश्चोपदर्श्याधुना सर्वोपसंहारार्थमाह—

समिए उ सया साहू, पंचसंवरसंवुडे ।
सिएहिँअसिएभिक्खू,आमोक्खायपरिव्वए ।१३।त्ति बेमि

तुरवधारणे , पञ्चभिः समितिभिः समित एव साधुः, तथा प्राणातिपातादिपञ्चमहाव्रतोपेतत्वात्पञ्चप्रकारसंवरसंवृतः, तथा मनोवाक्कायगुप्तिगुप्तः, तथा गृहपाशादिषु सिता—बद्धाः अवसक्ता गृहस्थास्तेष्वसितः—अनवबद्धस्तेषु मूर्च्छामकुर्वाणः पङ्काधारपङ्कजवत्तत्कर्मणाऽदिह्यमानो भिक्षुः—भिक्षणशीलो भावभिक्षुः आमोक्षाय अशेषकर्मापगमलक्षणमोक्षार्थं परि-समन्तात् व्रजेः-संयमानुष्ठानरतो भवेस्त्वमिति विनेयस्योपदेशः । इति अध्ययनसमाप्तौ ब्रवीमीति गणधर एवमाह , यथा तीर्थकृतोक्तं तथैवाहं ब्रवीमि, न स्वमनीषिकयेति गतोऽनुगमः । साम्प्रतं नयास्तेषामयमुपसंहारः " सव्वेसिं पि नयाणं , बहुविधवत्तव्वयं निसामित्ता । तं सव्वणयविसुद्धं , जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥१॥" ॥१३॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

लोगविजय-लोकविजय-पुं० । भावलोकस्य रागद्वेषलक्षणस्य विजयो निराकरणं यत्राभिधीयते स लोकविजयः । आचाराङ्गस्य द्वितीयाध्ययने, स्था० ६ ठा० ३ उ० । प्रश्न० ।

लोकविजयेऽधिकाराः।

तथाहि—अधिगतशस्त्रपरिज्ञासूत्रार्थस्य तत्प्रतिपादितैकेन्द्रियपृथिवीकायादिश्रद्धानस्य सम्यक् तद्रक्षापरिणामवतः सर्वोपाधिशुद्धस्य तद्योग्यतयाऽऽरोपितपञ्चमहाव्रतभारस्य साधोर्यथा रागादिकषायलोकस्य शब्दादिविषयलोकस्य वा विजयो भवति तथाऽनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते । तथा च निर्युक्तिकारेणाध्ययनार्थाधिकारः शस्त्रपरिज्ञायां प्राग् निरदेशि—" लोओ जह बज्झइ जह य तं विजहियव्वं " ति, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्याऽस्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति । तत्र सूत्रार्थकथनमनुयोगः, तस्य द्वाराणि उपाया व्याख्याङ्गानीत्यर्थः, तानि चोपक्रमादीनि , तत्रोपक्रमो द्वेधा—शास्त्रानुगतः शास्त्रीयः लोकानुगतो लौकिक इति , निक्षेपस्त्रिधा—ओघनामसूत्रालापकनिष्पन्नभेदात् , अनुगमो द्वेधा—सूत्रानुगमो निर्युक्त्यनुगमश्च, नया—नैगमादयः तत्र शास्त्रीयोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा—अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च , तत्राध्ययनार्थाधिकारोऽध्ययनसम्बन्धे शस्त्रपरिज्ञायां प्रागेव निरदेशि, उद्देशार्थाधिकारं तु स्वयमेव निर्युक्तिकारः प्राचिकटयिषुराह—

सयणे य अदढत्तं, बीयगम्मि माणो अ अत्थसारो अ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोगेसु लोगनिस्साई, लोगे अममिज्जिया चेव ॥१६३॥

तत्र प्रथमोद्देशकाधिकारः—स्वजने—मातापित्रादिके अभिष्वङ्गोऽधिगतसूत्रार्थेन न कार्य इत्यध्याहारः, तथा च सूत्रम्—' माया मे पिया मे ' इत्यादि, १, अदढत्तं बीयगम्मि ' त्ति । द्वितीय उद्देशके अदढत्वं संयमे न कार्यमिति शेषः, विषयकषायादौ चादढत्वं कार्यमिति, वक्ष्यति च—' अरइं आउट्टे मेहावी ' २, तृतीय उद्देशके ' माणो अ अत्थसारो अ ' त्ति जात्याद्युपेतेन साधुना कर्म्मवशाद्विचित्रतामवगम्य सर्वमदस्थानानां मानो न कार्यः, आह च—' के गोआवादी ? के माणावादी ' त्यादि, अर्थसारस्य च निस्सारता वर्ण्यते, तथा च–' तिविहेण जा अवि से तत्थ मत्ता अप्पा वा बहुगा वे ' त्यादि ३, चतुर्थे तु ' भोगेसु ' त्ति भोगेष्वभिष्वङ्गो न कार्य इति शेषः, यतो भोगिनामपायान् वक्ष्यति, सूत्रं च–' थीहिं लोए पव्वहिए ' ४, पञ्चमे तु ' लोगाणिस्साए ' त्ति त्यक्तस्वजनधनमानभोगेनापि साधुना संयमदेहप्रतिपालनाय स्वार्थारम्भप्रवृत्तलोकनिश्रया विहर्त्तव्यमिति शेषः, तथा च सूत्रम्—' समुट्ठिए अणगारे इत्यादि० जाव परिव्वए ' ५, पष्ठोद्देशके तु—' लोए अममिज्जया चेव ' लोकनिश्रयाऽपि विहरता साधुना तस्मिन् लोके पूर्वापरसंस्तुतेऽसंस्तुते च न ममत्वं कार्यम्, पङ्कजवत्तदाधारस्वभावानभिष्वङ्गिणा भाव्यमिति, तथा च सूत्रम्–" जे ममाईयमइं जहाति से जहाति ममातियं " इति गाथातात्पर्यार्थः ॥ आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

किम्भूतः सन् ? प्रमत्तः । प्रमादश्च रागद्वेषात्मको, द्वेषश्च प्रायो न रागमृते,रागोऽप्युत्पत्तेरारभ्यानादिभवाभ्यासान्मातापित्रादिविषयो भवतीति दर्शयति—

जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे, इति से गुणट्ठी महया परियावेणं पुणो पुणो रसे पमत्ते माया मे पिया मे भज्जा मे पुत्ता मे धूआ मे एहुसा मे सहिसयणसंगंथसंथुआ मे विवित्तुवगरणपरिवट्टणभोयणच्छायणं मे । इच्चत्थं गड्ढिए लोए अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते, एत्थ सत्थे पुणो पुणो । (सू० ६२ +)

(गुणव्याख्या ' गुण' शब्दे तृतीयभागे ६०८ पृष्ठे गता ।)

' माया मे ' इत्यादि, तत्र मातृविषयो रागः संसारस्वभावादुपकारकर्तृत्वाद्वोपजायते, रागे च सति मदीया माता क्षुत्पिपासादिकां वेदनां मा प्रापदित्यतः कृषिवाणिज्यसेवादिकां प्राण्युपघातरूपां क्रियामारभते, तदुपघातकारिणि वा तस्यां वा अकार्यप्रवृत्तायां द्वेष उपजायते, तद्यथा-अनन्तवीर्यप्रसक्तायां रेणुकायां रामस्येति, एवं पिता मे पितृनिमित्तं रागद्वेषौ भवतः, यथा—रामेण पितरि रागात्तदुपहन्तरि च द्वेषात् सप्तकृत्वः क्षत्रिया व्यापादिताः, सुभूमेनापि त्रिःसप्तकृत्वो ब्राह्मणा इति, भगिनीनिमित्तेन च क्लेशमनुभवति प्राणी, तथा भार्यानिमित्तं रागद्वेषोद्भवः, तद्यथा–चाणक्येन भगिनीभगिनीपत्याद्यवज्ञातया भार्यया चोदितेन नन्दान्तिकं द्रव्यार्थमुपगतेन कोपान्नन्दकुलं क्षयं

निन्ये, तथा-पुत्रा मे न जीवन्तीति आरम्भे प्रवर्तते, एवं दुहिता मे दुःखिनीति रागद्वेषोपहतचेताः परमार्थमजानानस्तत्तद्विधत्ते येन ऐहिकामुष्मिकान् अपायान् अवाप्नोति, तद्यथा-जरासन्धो जामातरि कंसे व्यापादिते स्वबलावलेपादपसृतवासुदेवपदानुसारी सबलवाहनः क्षयमगात् , स्नुषा मे न जीवन्तीत्यारम्भादौ प्रवर्त्तते, ' सखिस्वजनसंग्रन्थसंस्तुता मे ' सखा मित्रं स्वजनः पितृव्यादिः संग्रन्थः स्वजनस्यापि स्वजनः पितृव्यपुत्रश्यालादिः संस्तुतो-भूयो भूयो दर्शनेन परिचितः, अथवा-पूर्वसंस्तुतो मातापित्रादिरभिहितः पश्चात्संस्तुतः श्यालकादिः स इह ग्राह्यः, स च मे दुःखित इति परिप्यते, विविक्तं शोभनं प्रचुरं वा उपकरणं—हस्त्यश्वरथासनमञ्चकादिपरिवर्त्तनं द्विगुणत्रिगुणादिभेदभिन्नं तदेव, भोजनं-मोदकादि आच्छादनं-पट्टयुग्मादि तच्च मे भविष्यति नष्टं वा । ' इच्चत्थ ' मिति इत्येवमर्थं गृद्धो लोकः तेष्वेव मातापित्रादिरागादिनिमित्तस्थानेष्वामरणं प्रमत्तो ममेदमहमस्य स्वामी पोषको वेत्येवं मोहितमना वसेत्—तिष्ठेदिति, उक्तं च—' पुत्रा मे भ्राता मे, स्वजना मे गृहकलत्रवर्गो मे । इतिकृतमेमेशब्दं, पशुमिव मृत्युर्जनं हरति ॥१॥ पुत्रकलत्रपरिग्रह–ममत्वदोषैर्नरो व्रजति नाशम् । कृमिक इव कोशकारः,परिग्रहाद् दुःखमाप्नोति ॥२॥"

अमुमेवार्थं निर्युक्तिकारो गाथाद्वयेनाह—

संसारं छेत्तुमणो, कम्मं उम्मूलए तदट्ठाए ।
उम्मूलिज्ज कसाया, तम्हा उ चइज्ज सयणाई ॥१८५॥
माया मे त्ति पिया मे, भगिणी भाया य पुत्तदारा मे ।
अत्थम्मि चेव गिद्धा, जम्ममरणाणि पावंति ॥१८६॥

संसारम्—नारकतिर्यग्नरामरलक्षणं मातापितृभार्यादिस्नेहलक्षणं वा छेत्तुमना—उन्मुमूलयिपुरष्टप्रकारं कर्म्मोन्मूलयेत्, तदुन्मूलनार्थं च तत्कारणभूतान् काषायानुन्मूलयेत् , काषायापगमनाय च मातापित्रादिगतं स्नेहं जह्यात्, यस्मान्मातापित्रादिसंयोगाभिलापिणोऽर्थे-रत्नकुप्यादिके गृद्धाः-अध्युपपन्ना जन्मजरामरणादिकानि दुःखान्यसुभृतः प्राप्नुवन्तीति गाथाद्वयार्थः । तदेवं कपायेन्द्रियप्रमत्तो मातापित्राद्यर्थमर्थोपार्ज्जनरक्षणतत्परो दुःखमेव केवलमनुभवतीत्याह—' अहो ' इत्यादि, अहश्च सम्पूर्णं रात्रिं च, चशब्दात्पक्षं मासं च, निवृत्तशुभाध्यवसायः परि—समन्तात्तप्यमानः परितप्यमानः सन् तिष्ठति, तद्यथा—" कइया वच्चइ सत्थो, किं भण्डं कत्थ कित्तिया भूमी । को कयविक्कयकालो, निव्विसइ किं कहिं केण ? ॥१॥ " इत्यादि, स च परितप्यमानः किम्भूतो भवतीत्याह-'काले' त्यादि कालः—कर्त्तव्यावसरस्तद्विपरीतोऽकालः सम्यगुत्थातुम्—अभ्युद्यन्तुं शीलमस्येति समुत्थायीति पदार्थः । वाक्यार्थस्तु काले-कर्तव्यावसरं अकालेन-तद्विपर्यासेन समुत्तिष्ठते—अभ्युद्यतमनुष्ठानं करोति तच्छीलश्चेति, कर्त्तव्यावसरे न करोत्यन्यदा च विदधातीति, यथा वा काले करोत्येवमकालेऽपीति, यथा वा अनवसरे न करोत्येवमवसरेऽपीति, अन्यमनस्कत्वादपगतकालाकालविवेक इति । भावना—यथा प्रद्योतेन मृगापतिरपगतभर्तृका सती ग्रहणकालमतिवाह्य कृतप्राकारादिरक्षा जिघृक्षितेति, यस्तु पुनः सम्यक्कालोत्थायी भवति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स यथाकालं परस्परानाबाधया सर्वाः क्रियाः करोतीति, तदुक्तम्—" मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत् कर्त्तव्यं मनुष्येण, येनान्ते सुखमेधते ॥ १ ॥ " धर्मानुष्ठानस्य च न कश्चिदकालो मृत्योरिवेति । किमर्थं पुनः कालाकालसमुत्थायी भवतीत्याह—' संजोगट्ठी ' संयुज्यते संयोजनं वा संयोगोऽर्थः—प्रयोजनं संयोगार्थः सोऽस्यास्तीति संयोगार्थी, तत्र धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदराज्यभार्यादिः संयोगस्तेनार्थी—तत्प्रयोजनी, अथवा—शब्दादिविषयः—संयोगो मातापित्रादिभिर्वा तेनार्थी कालाकालसमुत्थायी भवतीति । किं च—' अट्ठालोभी ' अर्थो रत्नकुप्यादिस्तत्र आ—समन्ताल्लोभोऽर्थालोभः स विद्यते यस्येत्यसावपि कालाकालसमुत्थायी भवति, मम्मणवणिग्वत् , तथाहि—असावतिक्रान्तार्थोपार्जनसमर्थयौवनवया जलस्थलपथप्रेषितनानादेशभाण्डभृतबोहित्थगन्त्रीकोष्ठमण्डलिकासम्भृतसम्भारोऽपि प्रावृषि सप्तरात्रावच्छिन्नमुशलप्रमाणजलधारावर्षनिरुद्धसकलप्राणिगणसञ्चारमनोरथायां महानदीजलपूरानीतकाष्ठानि जिघृक्षुरुपभोगधर्मावसरे निवृत्तापराशेषशुभपरिणामः केवलमर्थोपार्जनप्रवृत्त इति, उक्तं च—" उक्खणइ खणइ निहणइ, रत्तिं ण सुअति दिया वि य ससंको । लिंपइ ठपइ सययं, लंछियपडिलंछियं कुणइ ॥ १ ॥ भुंजसु न ताव रिको, जेमेउं न वि य अज्ञमज्जीहं । नऽवि य वसीहामि घरे,कायव्वमियं बहुं अज्ञं ॥ २ ॥ " पुनरपि लोभिनोऽशुभव्यापारानाह—' आलुंपे ' आ—समन्ताल्लुम्पतीत्यालुम्पः, स हि लोभाभिभूतान्तःकरणोऽपगतसकलकर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकोऽर्थलोभैकदत्तदृष्टिरैहिकामुष्मिकविपाककारिणीर्निर्लाञ्छनगलकर्त्तनचौर्यादिकाः क्रियाः करोति , अन्यच्च—'सहसकारे ' करणं कारः, असमीक्षितपूर्वापरदोषं सहसा करणं सहसाकारः, स विद्यते यस्येति " अर्श आदिभ्यो ऽच् " (पा० ५-२-१२७) अथवा—छान्दसत्वात्कर्त्तर्येव घञ् , करोतीति कारः, तथाहि—लोभतिमिराच्छादितदृष्टिरेकमनाः शकुन्तवच्छराघातमनालोच्य पिशिताभिलाषितया सन्धिच्छेदनादितो विनश्यति , लोभाभिभूतो ह्यर्थैकदृष्टिस्तन्मनास्तदर्थोपयुक्तोऽर्थमेव पश्यति नापायान् , आह च—' विणिविट्ठचित्ते ' विविधम्—अनेकधा निविष्टंस्थितमवगाढमर्थोपार्जनोपाये मातापित्राद्यभिष्वङ्गे वा शब्दादिविषयोपभोगे वा चित्तम्—अन्तःकरणं यस्य स तथा, पाठान्तरं वा—' विणिविट्ठचिट्ठे ' त्ति विशेषेण निविष्टा कायवाग्मनसां परिस्पन्दात्मिकाऽर्थोपार्जनोपायादौ चेष्टा यस्य स विनिविष्टचेष्टः । तदेवं मातापित्रादिसंयोगार्थी अर्थालोभी आलुम्पः सहसाकारो विनिविष्टचित्तो विनिविष्टचेष्टो वा किम्भूतो भवतीत्याह—' इत्थ ' इत्यादि, अत्र—अस्मिन्मातापित्रादौ शब्दादिविषयसंयोगे वा विनिविष्टचित्तः सन् पृथिवीकायादिजन्तूनां यच्छस्त्रम्—उपघातकारि तत्र पुनः पुनः प्रवर्त्तते , एवं पौनःपुन्येन शस्त्रे प्रवृत्तो भवति , यदि—पृथिवीकायादिजन्तूनामुपघाते वर्त्तते, तथाहि—' शसु ' हिंसायाम् , इत्यस्माच्छस्यते—हिंस्यत इति करणे ष्ट्रन् विहितः , तच्च स्वकायपरकायादिभेदभिन्नमिति । पाठान्तरं वा ' एत्थ सत्ते पुणो पुणो ' अत्र—मातापितृशब्दादिसंयोगे लोभार्थी सन् सक्तो—गृद्धः अध्युपपन्नः पौनःपुन्येन विनिविष्टचेष्ट आलुम्पकः सहसाकारः कालाकालसमुत्थायी वा भवतीति । (आचा०) (एतच्च साम्प्रतेक्षिणामपि युज्येत यद्यजरामरत्वं दीर्घायुष्कं वा स्यात् । इत्यादि ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे ६ पृष्ठे गतम्) (येऽपि दीर्घायुष्कस्थितिकाः उपक्रमणकारणाभावे आयुःस्थितिमनुभवन्ति तेऽपि मरणादप्यधिकां जराऽभिभूतविग्रहां जघन्यतमामवस्थामनुभवन्तीति ' आतङ्क ' शब्दे द्वितीयभागे १५६ पृष्ठे दर्शितम् ।)

अत्र हि चारित्रमोहनीयक्षयोपशमादवाप्तचारित्रस्य पुनरपि तदुदयादवदिधाविषोरनेन सूत्रेणोपदेशो दीयते, तच्चावधावनं संयमाद् यैर्हेतुभिर्भवति तान्नियुक्तिकारो गाथयाऽऽचष्टे—

बिइउद्देसे अदढो, उ संजमे कोइ हुज्ज अरईए ।

अन्नाणकम्मलोभा—इएहिं अज्झत्थदोसेहिं ॥ १९७ ॥

इह हि प्रथमोद्देशके बद्धयो निर्युक्तिगाथाः अस्मिंस्त्वियमेवैकेत्यतो मन्दबुद्धेः स्यादारेका, यथा-इयमपि तत्रत्यैवेत्यतो विनेयसुखप्रतिपत्त्यर्थं द्वितीयोद्देशकग्रहणमिति । कश्चित्कण्डरीकदेशीयः संयमे—सप्तदशभेदभिन्ने अदृढः—शिथिलो मोहनीयोदयादरत्युद्भवाद्भवेत् , मोहनीयोदयोऽप्याध्यात्मिकैर्दोषैर्भवेत् , ते चाध्यात्मदोषा अज्ञानलोभादयः, आदिशब्दादिच्छामदनकामानां परिग्रहः, मोहस्याज्ञानलोभकामाद्यात्मकत्वात्तेषां चाध्यात्मिकत्वादिति गाथार्थः । ननु चारतिमतो मेधाविनोऽनेन सूत्रेणोपदेशो दीयते, यथा—संयमारतिमपवर्त्तेत, मेधावी चात्र विदितसंसारस्वभावो विवक्षितः, यश्चैवंभूतो नासावरतिमान् तद्वांश्चेन्न विदितवेद्य इत्यनयोः सहानवस्थानलक्षणेन विरोधेन विरोधाच्छायातपयोरिव नैकत्रावस्थानम् , उक्तं च—" तज्ज्ञानमेव न भवति , यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः । तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ? ॥ १ ॥ " इत्यादि, यो ह्यज्ञानी मोहोपहतचेताः स विषयाभिष्वङ्गात्संयमे सर्वद्वन्द्वप्रत्यनीके रत्यभावं विदध्याद् , आह च—" अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते, कामे सक्तिं दधति विभवाभोगतुङ्गार्जने वा । विद्वच्चित्तं भवति हि महन्मोक्षमार्गैकतानं, नाल्पस्कन्धे विटपिनि कषत्यंसभित्तिं गजेन्द्रः ॥ १ ॥ " नैतन्मृष्यामहे, यतो ह्यवाप्तचारित्रस्यायमुपदेशो दित्सितः, चारित्रावाप्तिश्च न ज्ञानमृते,तत्कार्यत्वाच्चारित्रस्य । न च ज्ञानारत्योर्विरोधः, अपि तु—रत्यरत्योः, ततश्च संयमगता रतिरेवारत्या बाध्यते न ज्ञानम् , अतो ज्ञानिनोऽपि चारित्रमोहनीयोदयात्संयमे स्यादेवारतिः, यतो ज्ञानमप्यज्ञानस्यैव बाधकम् , न संयमारतेः । तथा चोक्तम्—" ज्ञानं भूरियथार्थवस्तुविषयं स्वस्य द्विषो बाधकं , रागारातिशमाय हेतुमपरं युङ्क्ते न कर्त्तृस्वयम् । दीपो यत्तमसि व्यनक्ति किमु नो रूपं स एवेक्षतां , सर्वः स्वं विषयं प्रसाधयति हि प्रासङ्गिकोऽन्यो विधिः ॥ १ ॥ " तथेदमपि भवतो न कर्णविवरमगाद् यथा—' बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ' त्यतो यत्किञ्चिदेतत् , अथवा—नारत्यापन्न एवैवमुच्यते, अपि त्वयमुपदेशो मेधावी संयमविषये मा विधादरतिमिति । संयमारतिनिवृत्तश्च सन् कं गुणमवाप्नोतीत्याह—' खणंसि मुक्के ' परमनिरुद्धः कालः—क्षणः जरत्पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्तसमयप्रसाधितः; तत्र मुक्तो विमुक्ति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विपरिणामाद्वा क्षणेन-अष्टप्रकारेण कर्म्मणा संसारबन्धनैर्वा विषयाभिष्वङ्गस्नेहादिभिर्मुक्तो भरतवदिति ।

ये पुनरनुपदेशवर्त्तिनः कण्डरीकाद्यास्ते चतुर्गतिकसंसारान्तर्वर्त्तिनो दुःखसागरमधिवसन्तीत्याह—

अणाणाए पुट्ठा वि एगे नियट्टंति, मंदा मोहेण पाउडा, अपरिग्गहा भविस्सामो समुट्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति, इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना नो हव्वाए नो पाराए । (सू० ७३)

आज्ञाप्यत इत्याज्ञा——हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपतया सर्वज्ञोपदेशस्तद्विपर्ययोऽनाज्ञा तया अनाज्ञया सत्या स्पृष्टाः परीषहोपसर्गैः, अपिशब्दः सम्भावनायां स च भिन्नक्रमो निवर्त्तन्त इत्यस्मादनन्तरं द्रष्टव्यः, 'एके—' मोहनीयोदयात्कण्डरीकादयो न सर्वे संयमात्समस्तद्वन्द्वोपशमरूपात् निवर्त्तन्ते अपीति सम्भाव्यत एतन्मोहोदयस्येत्यपिशब्दार्थः । किंभूताः सन्तो निवर्त्तन्त इत्याह—मन्दा—जडा अपगतकर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकाः, कुत एवंभूताः ?,यतो 'मोहेन प्रावृताः' मोहः—अज्ञानं मिथ्यात्वमोहनीयं वा तेन प्रावृता—गुण्ठिताः, उक्तं च— "अज्ञानं खलु कष्टम्, क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनाऽऽवृतो लोकः ॥ १ ॥" इत्यादि, तदेवमवाप्तचारित्रोऽपि कर्म्मोदयात्परीषहोदयेऽङ्गीकृतलिङ्गः पश्चाद्भावतामालम्बत इत्युक्तम् । अपरे तु-स्वरुचिविरचितवृत्तयो नानाविधैरुपायैर्लोकादर्थं जिघृक्षवः किल वयं संसारोद्विग्ना मुमुक्षवस्तेषु तेषु आरम्भविषयाभिष्वङ्गेषु प्रवर्तन्त इति दर्शयति—'अपरिग्गहा' इत्यादि, परिः—समन्तात् मनोवाक्कायकर्म्मभिर्गृह्यत इति परिग्रहः स येषां नास्तीत्यपरिग्रहाः; एवंभूता वयं भविष्याम इति शाक्यादिमतानुसारिणः स्वयूथ्या वा 'समुत्थाय' चीवरादिग्रहणं प्रतिपद्य, ततो लब्धान् कामान् अभिगाहन्ते—सेवन्ते, तिङ्व्यत्ययेन चैकवचनमिति, अत्र चान्त्यव्रतोपादानात् शेषाण्यपि ग्राह्याणि । अहिंसका वयं भविष्याम एवममृषावादिन इत्याद्यप्यायोज्यम् । तदेवं शैलूषा इवान्यथावादिनोऽन्यथाकारिणः कामार्थमेव तांस्तान् प्रव्रज्याविशेषान्बिभ्रति, उक्तं च—"स्वेच्छाविरचितशास्त्रैः, प्रव्रज्यावेषधारिभिः क्षुद्रैः । नानाविधैरुपायै—रनाथवन्मुष्यते लोकः ॥१॥" इत्यादि । तदेवं प्रव्रज्यावेषधारिणो लब्धान्कामानवगाहन्ते तल्लाभार्थं च तदुपायेषु प्रवर्त्तन्ते इत्याह—'अणाणाए' इत्यादि, अनाज्ञया—स्वैरिण्या बुद्ध्या 'मुनय' इति—मुनिवेषविडम्बिनः कामोपायान् प्रत्युपेक्षन्ते—कामोपायारम्भेषु पौनःपुन्येन लगन्तीति, आह च— 'एत्थ' इत्यादि, अत्र—अस्मिन् विषयाभिष्वङ्गाज्ञानमये भावमोहे पौनःपुन्येन सन्नाः—विषण्णाः निमग्नाः पङ्कावमग्ना नागा इवात्मानमाक्रष्टुं नालमिति, आह च—'नो हव्वाए नो पाराए' यो हि मध्ये महानदीपूरे निमग्नो भवत्यसौ नारातीयतीराय नापि पारे महानदीपूरमिति, एवमत्रापि कुतश्चिन्निमित्तात्त्यक्तगृहगृहिणीपुत्रधनधान्यहिरण्यरत्नकुप्यदासीदासादिविभवः आकिञ्चन्यं प्रतिज्ञायारातीयतीरदेश्याद् गृहवाससौख्यान्निर्गतः सन् 'नो हव्वाए' त्ति भवति, पुनरपि वान्तभोगाभिलाषितया यथोक्तसंयमाभावेन तत्क्रियाया विफलत्वात् 'नो पाराए' त्ति भवति,उभयतो मुक्तबन्धनामुक्तप्रतोलीवोभयभ्रष्टो न गृहस्थो नापि प्रव्रजित इत्युक्तं भवति । उक्तं च—"इन्द्रियाणि न गुप्तानि, लालितानि न चेच्छया । मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य, न भुक्तं नापि शोषितम् ॥ १ ॥" इति ।

ये पुनरप्रशस्तरतिनिवृत्ताः प्रशस्तरतिमधिशयानास्ते-किंभूता भवन्तीत्याह—

विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे नाभिगाहइ । (सू० ७४)

विविधम्—अनेकप्रकारं द्रव्यतो—धनस्वजनानुषङ्गाद्भावतो—विषयकषायादिभ्योऽनुसमयं मुच्यमाना एव भाविनि भूतवदुपचारान्मुक्ता—विमुक्ताः ते जना ये जनाः सर्वस्वजनभूता निर्ममत्वाः पारगामिनो भवन्ति, पारो—मोक्षः संसारार्णवतटवृत्तित्वात्तत्कारणानि—ज्ञानदर्शनचारित्राण्यपि पार इति, भवति हि तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्, यथा—'तन्दुलान् वर्षति पर्जन्यः' अतस्तत्पारम्—ज्ञानदर्शनचारित्राख्यं गन्तुं शीलं येषां ते पारगामिनः, ते मुक्ता भवन्तीति पूर्वेण सम्बन्धः । कथं पुनः सम्पूर्णपारगामित्वं भवतीत्याह-'लोभं' इत्यादि, इह हि लोभः सर्वसङ्गानां दुस्त्यजो भवति, तथाहि—क्षपकश्रेण्यन्तर्गतस्यापगताशेषकषायस्यापि खण्डशः क्षिप्यमाणोऽप्यनुबध्यत इति, अतस्तं—लोभम्, तद्विपक्षेण अलोभेन जुगुप्समानो—निन्दन्परिहरन् किं करोतीत्याह-'लद्धे' इत्यादि, लब्धान्--प्राप्तानिच्छामदनरूपान् कामान् नाभिगाहते—न सेवते, यो हि शरीरादावपि निवृत्तलोभः स कामाभिष्वङ्गवान्न भवति, ब्रह्मदत्तामन्त्रितचित्रवदिति, प्रधानान्त्यलोभपरित्यागेन चोपसर्ज्जनाधस्तनपरित्यागो द्रष्टव्यः, तद्यथा--क्रोधं क्षान्त्या जुगुप्समानो, मानं मार्द्दवेन, मायामार्जवेनेत्याद्यप्यायोज्यम्, लोभोपादानं तु सर्वकषायप्राधान्यख्यापनार्थमुपाददे, तथाहि—तत्प्रवृत्तः साध्यासाध्यविवेकविकलः कार्याकार्यविचाररहितः सन्नर्थैकदत्तदृष्टिः पापोपादानमास्थाय सर्वाः क्रियाः अधितिष्ठतीति, तदुक्तम्—"धावेइ रोहणं तरइ सायरं, भमइ गिरिणिगुंजेसु । मारेइ बंधवं पि हु, पुरिसो जो होइ धणलुद्धो ॥ १ ॥ अडइ बहुं वहइ भरं, सहइ छुहं पावमायरइ धिट्ठो । कुलसीलजाइपच्चय-धिइं च लोभद्दुओ चयइ ॥ २ ॥" इत्यादि, तदेवं कुतश्चिन्निमित्तात्सद्यापि लोभादिना निष्क्रम्य, पुनर्लोभादिपरित्यागः कार्यः ।

अन्यस्तु लोभं विनापि प्रव्रज्यां प्रतिपद्यत इति दर्शयति-

विणा वि लोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ, पडिलेहाए नावकंखइ, एस अणगारि त्ति पवुच्चइ, अहो य राओ परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते इत्थ सत्थे पुणो पुणो से आयबले से नाइबले से मित्तबले से पिच्चबले से देवबले से रायबले से चोर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बले से अतिहिबले से किविणबले से समणवले इ-च्चेएहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खु त्ति मन्नमाणे, अदुवा आ-संसाए। (सू० ७५)

कश्चिद्भरतादिर्निःशेषतो लोभापगमाद्विनाऽपि लोभं 'निष्क्रम्य' प्रव्रज्यां प्रतिपद्य, पाठान्तरं वा 'विणइत्तु लोभं' संज्वलनसंज्ञकमपि लोभं विनीय-निर्मूलतोऽपनीय एष एवंभूतः सन् अकर्मा-अपगतघातिकर्म्मचतुष्टयाविर्भूतानावरणज्ञानो विशेषतो जानाति सामान्यतः पश्यति, एतदुक्तं भवति-एवंभूतो लोभो येन तत्क्षये—मोहनीयक्षयं चावश्यं घातिकर्म्मक्षयस्तस्मिंश्च निरावरणज्ञानसद्भावस्ततोऽपि भवोपग्राहिकर्म्मापगम इत्यतो लोभापगमे अकर्मेत्युक्तम्। यतश्चैवम्भूतो लोभो दुरन्तस्तत्त्यागौ चावश्यं कर्म्मक्षयस्ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—'पडिलेहाए' इत्यादि, प्रत्युपेक्षणया-गुणदोषपर्यालोचनयोपपन्नः सन् अथवा-लोभविपाकं प्रत्युपेक्ष्य-पर्यालोच्य तदभावे गुणं च लोभं नावकाङ्क्षति-नाभिलषतीति, यश्चाज्ञानोपहतान्तःकरणोऽप्रशस्तमूलगुणस्थानवर्ती विषयकषायाद्युपपन्नस्तस्य पूर्वोक्तं विपरीततया सर्वं संतिष्ठते। तथाहि—अलोभं लोभेन जुगुप्समानो लब्धान् कामानवगाहते, लोभमनपनीय निष्क्रम्य पुनरपि लोभैकमनाः सकर्म्मा न जानाति नापि पश्यति, अपश्यंश्चाप्रत्युपेक्षणयाऽभिकाङ्क्षति। यच्च प्रथमोद्देशकेऽप्रशस्तमूलगुणस्थानमवाचि तच्च वाच्यमिति, आह च—'अहो य राओ' इत्यादि, अहोरात्रं परितप्यमानः कालाकालसमुत्थायी संयोगार्थी अर्थालोभी आलुम्पः सहसाकारो विनिविष्टचित्तः अत्र शस्त्रे पृथिवीकायाद्युपघातकारिणि पौनःपुन्येन वर्त्तते। किं च—'से आयबले' आत्मनो बलं—शक्त्युपचय आत्मबलं तन्मे भावीति कृत्वा नानाविधैरुपायैरात्मपुष्ट्यै तास्ताः क्रियाः ऐहिकामुष्मिकोपघातकारिणीर्विधत्ते, तथाहि-'मांसेन पुष्यते मांस' मिति कृत्वा पञ्चेन्द्रियघातादावपि प्रवर्त्तते, अपराश्च लुम्पनादिकाः-सूत्रेणैवाभिहिताः, एवं च-ज्ञातिबलम् स्वजनबलं मे भावीति, तथा तन्मित्रबलं मे भविष्यति येनाहमापदं सुखेनैव निस्तरिष्यामि, तत्प्रेत्य बलं भविष्यतीति बस्तादिकमुपहन्ति, तद्वा-देवबलं भावीति पचनपाचनादिकाः क्रिया विधत्ते, राजबलं वा मे भविष्यतीति राजानमुपचरति, चौरग्रामे वा वसति चौरभागं वा प्राप्स्यामीति चौरानुपचरति, अतिथिबलं वा मे भविष्यतीत्यतिथीनुपचरति, अतिथिर्हि निःस्पृहोऽभिधीयते इति, (आचा०) (अतिथिलक्षणम् 'अइहि' शब्दे प्रथमभागे ३३ पृष्ठे गतम्।) एतदुक्तं भवति-तद्बलाथमपि प्राणिषु दण्डो न निक्षिप्तव्य इति, एवं कृपणश्रमणार्थमपि वाच्यमिति—एवं पूर्वोक्तैः विरूपरूपैः—नानाप्रकारैः पिण्डदानादिभिः कार्यैः 'दण्डसमादान' मिति दण्ड्यन्ते-व्यापाद्यन्ते प्राणिनो येन स दण्डस्तस्य सम्यगादानं-ग्रहणं समादानम्, तदात्मबलादिकं मम नाभविष्यत् यद्यहमेतन्नाकरिष्यमित्येवं संप्रेक्षया-पर्यालोचनया एवं संप्रेक्ष्य वा भयात् क्रियते, एवं तावदिह भयमाश्रित्य दण्डसमादानकारणमुपन्यस्तम्, आमुष्मिकार्थमपि परमार्थमजानानैर्दण्डसमादानं क्रियत इति दर्शयति-'पावमोक्खो' त्ति इत्यादि, पातयति पासयतीति वा पापं तस्मान्मोक्षः पापमोक्षः, इतिः—हेतौ, यस्मात्स मम भविष्यतीति मन्यमानः दण्डसमादानाय प्रवर्त्तत इति। तथाहि-हुतभुजि षड्जीवोपघातकारिणि शस्त्रे नानाविधोपायप्राण्युपघातात्तपापविध्वंसनाय पिप्पलशमीसमित्तिलाज्यादिकं शठव्युद्ग्राहितमतयो जुह्वति, तथा—पितृपिण्डदानादौ बस्तादिमांसोपस्कृतभोजनादिकं द्विजातिभ्य उपकल्पयन्ति, तद्भुक्तशेषानुज्ञातं स्वतोऽपि, भुञ्जते, तदेवं नानाविधैरुपायैरज्ञानोपहतबुद्धयः पापमोक्षार्थं दण्डोपादानेन तास्ताः क्रियाः प्राण्युपघातकारिणीः समारभमाणाः अनेकभवशतकोटीदुर्मोचमघमेवोपाददत इति। किञ्च—'अदुवा' इत्यादि, पापमोक्ष इति मन्यमानो दण्डमादत्त इत्युक्तम्, अथवा-आशंसनम् आशंसा-अप्राप्तप्रापणाभिलाषस्तदर्थं दण्डसमादानमादत्ते। तथाहि—ममैतत् परुत्परारि वा प्रेत्य वोपस्थास्यते इत्याशंसया क्रियासु प्रवर्त्तते, राजानं वाऽर्थाशाविमोहितमना अवलगति, उक्तं च—"आराध्य भूपतिमवाप्य ततो धनानि, भोक्ष्यामहे किल वयं सततं सुखानि। इत्याशया धनविमोहितमानसानां, कालः प्रयाति मरणावधिरेव पुंसाम् ॥ १ ॥ एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ, वद मौनं समाचार। इत्याद्याशाग्रहग्रस्तैः, क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ २ ॥" इत्यादि ॥

तदेवं ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यमित्याह—

तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभिज्जा, नेव अन्नं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतं पि अन्नं न समणुजाणिज्जा, एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि त्ति बेमि। (सू० ७६)

'तदि' ति सर्वनामप्रकान्तपरामर्शि, 'तत्' शस्त्रपरिज्ञोक्तं स्वकायपरकायादिभेदभिन्नं शस्त्रम्, इह वा यदुक्तम्—अप्रशस्तगुणमूलस्थानं-विषयकषायमातापित्रादिकम्, तथा—कालाकालसमुत्थानक्षणपरिज्ञानश्रोत्रादिविज्ञानप्रहाणादिकं तथाऽऽत्मबलाधानाद्यर्थं च दण्डसमादानं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् मेधावी-मर्यादावर्त्ती। ज्ञातहेयोपादेयः सन् किं कुर्यादित्याह-'नेव सयं' इत्यादि, नैव स्वयम्—आत्मना एतैः- आत्मबलाधानादिकैः कार्यैः—कर्त्तव्यैः समुपस्थितैः सद्भिः दण्डम्-सत्त्वोपघातं समारभेत्, नाप्यन्यमपरमेभिः कार्यैर्हिंसानृतादिकं दण्डं समारम्भयेत्, तथा-सामारभमाणमप्यपरं योगत्रिकेण न समनुज्ञापयेद्। एष चोपदेशस्तीर्थकृद्भिरभिहित इत्येतत् सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनमाहेति दर्शयति-'एस' इत्यादि, 'एष' इति ज्ञानादियुक्तो भावमार्गो योगत्रिककरणत्रिकेण दण्डसमादानपरिहारलक्षणो वा आर्यैः—आराधाताः सर्वहेयधर्म्मेभ्य इत्यार्याः—संसारार्णवतटवर्त्तिनः क्षीणघातिकर्म्मांशाः संसारोदरविवरवर्त्तिभावविदः-तीर्थकृतस्तैः प्रकर्षेण— सदेवमनुजायां पर्षदि सर्वस्वभाषानुगामिन्या वाचा योगपद्याशेषसंशी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिच्छेत्र्या प्रकर्षेण वेदितः- कथितः प्रतिपादित इति यावत्, एवम्भूतं च मार्गं ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यमित्याह-'जहेत्थ' इत्यादि, तेषु तेष्वात्मबलोपधानादिकेषु कार्येषु समुपस्थितेषु सत्सु दण्डसमुपादानादिकं परिहरन् 'कुशलो-निपुणः अवगततत्त्वो यथैतस्मिन् दण्डसमुपादाने स्वमात्मानं नोपलिम्पयेः-न तत्र संश्लेषं कुर्या इति, विभक्तिविपरिणामाद्वा एतेन दण्डसमुपादानजनितकर्म्मणा यथा नोपलिप्यसे तथा सर्वैः प्रकारैः कुर्यास्त्वम्। इतिशब्दः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्। उक्तो द्वितीयोद्देशकः। साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते। अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशके संयमे दृढत्वं कार्यमसंयमे चादृढत्वमुक्तम्, तच्चोभयमपि कषायव्युदासेन सम्पद्यते, तत्रापि मान उत्पत्तेरारभ्य उच्चैर्गोत्रात्थापितः स्यात् अतस्तद्व्युदासार्थमिदमभिधीयते। अस्य चानन्तरसूत्रेण सम्बन्धः-'जहेत्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि' कुशलो निपुणः सन्नस्मिन्नुच्चैर्गोत्राभिमाने यथाऽऽत्मानं नोपलिम्पयेस्तथा विदध्यास्त्वम्।

किं मत्वा?, इत्यतस्तदभिधीयते-

से असइं उच्चागोए असइं नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते, नो अपीहए, इय संखाय को गोयावाई? को माणावाई?, कंसि वा एगे गिज्झा, तम्हा नो हरिसे नो कुप्पे, भूएहिं जाण पडिलेह सायं। (सू० ७७)

'स' इति संसार्यसुमान् असकृद्—अनेकशः उच्चैर्गोत्रे मानसत्कारार्हे उत्पन्न इति शेषः, तथा-असकृन्नीचैर्गोत्रे सर्वलोकावगीते, पौनःपुन्येनोत्पन्न इति। तथाहि-नीचैर्गोत्रोदयादनन्तमपि कालं तिर्यक्ष्वास्ते, तत्र च पर्यटन् द्विनवतिनामोत्तरप्रकृतिसत्कर्म्मा सन् तथाविधाध्यवसायोपपन्नः आहारकशरीरतत्संघातबन्धनाङ्गोपाङ्गदेवगत्यानुपूर्वीद्वयनरकगत्यानुपूर्वीद्वयवैक्रियचतुष्टयरूपा एता द्वादश कर्मप्रकृतीर्निर्लेप्याशीतिसत्कर्म्मा तेजोवायुषूत्पन्नः सन् मनुजगत्यानुपूर्वीद्वयमपि निर्लेप्य तत उच्चैर्गोत्रमुद्वलयति पल्योपमासंख्येयभागेन, अतस्तेजोवायुष्वाद्य एव भङ्गकः, तद्यथा-नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उदयोऽपि तस्यैव सत्कर्म्मताऽपीति, ततोऽप्युद्वृत्तस्यापरैकेन्द्रियगतस्यायमेव भङ्गः, त्रसेष्वप्यपर्याप्तकावस्थायामयमेव, अनिर्लेपिते तूच्चैर्गोत्रे द्वितीयचतुर्थौ भङ्गौ, तद्यथा—नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उदयोऽपि तस्यैव सत्कर्म्मता तूभयरूपस्यैवेति द्वितीयः, तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचस्योदयः सत्कर्म्मता तूभयरूपस्येति चतुर्थः, शेषास्तु चत्वारो न सन्त्येव, तिर्यक्षूच्चैर्गोत्रस्योदयाभावादिति भावः। तदेवमुच्चैर्गोत्रोद्वलनेन कलंकलीभावमापन्नोऽनन्तं कालमेकेन्द्रियेष्वास्ते, अनुद्वलिते वा तिर्यक्ष्वास्तेऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिणीः, आवलिकाकालासंख्येयभागसमयसंख्यान् पुद्गलपरावर्त्तानिति। कीदृशः पुनः पुद्गलपरावर्त्त इति? उच्यते, यदौदारिकवैक्रियतैजसभाषानापानमनःकर्मसप्तकेन संसारोदरविवरवर्त्तिनः पुद्गलाः आत्मसात्परिणामिता भवन्ति तदा पुद्गलपरावर्त इत्येके, अन्ये तु—द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्द्धा वर्णयन्ति, प्रत्येकमसावपि बादरसूक्ष्मभेदात् द्वैविध्यमनुभवति, तत्र द्रव्यतो बादरो यदौदारिकवैक्रियतैजसकार्म्मणचतुष्टयेन सर्वपुद्गला गृहीत्वोज्झितास्तदा भवति, सूक्ष्मः पुनर्यदैकशरीरेण सर्वपुद्गलाः स्पर्शिता भवन्ति तदा द्रष्टव्यः १. क्षेत्रतो बादरो यदा क्रमोत्क्रमाभ्यां म्रियमाणेन सर्वे लोकाकाशप्रदेशाः स्पृष्टा भवन्ति तदा विज्ञेयः, सूक्ष्मस्तु तदा विज्ञेयो यदैकस्मिन् विवक्षिताकाशखण्डके मृतः पुनर्यदा तस्यानन्तरप्रदेशवृद्ध्या सर्वं लोकाकाशं व्याप्नोति तदा ग्राह्यः २, कालतो बादरो यदोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाः क्रमोत्क्रमाभ्यां म्रियमाणेनालिङ्गिता भवन्ति तदा विज्ञेयः, सूक्ष्मस्तूत्सर्पिणीप्रथमसमयादारभ्य क्रमेण सर्वसमया म्रियमाणेन यदा छुप्ता भवन्ति तदाऽवगन्तव्यः ३, भावतो बादरो यदाऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि क्रमोत्क्रमाभ्यां म्रियमाणेन व्याप्तानि भवन्ति तदाऽभिधीयते, अनुभागबन्धाध्यवसायप्रमाणं तु संयमस्थानावसरे प्रागेवाभ्यधायीति, सूक्ष्मस्तु जघन्यानुभागबन्धाध्यवसायस्थानादारभ्य यदा सर्वेष्वपि क्रमेण मृतो भवति तदाऽवसेय इति। तदेवं कलंकलीभावमापन्नोऽन्यो वा नीचैर्गोत्रोदयादनन्तमपि कालं तिर्यक्ष्वास्ते, मनुष्येष्वपि तदुदयादेव चावगीतेषु स्थानेषूत्पद्यते, तथा—कलंकलीसत्त्वोऽपि द्वीन्द्रियादिषूत्पन्नः सन् प्रथमसमये एव पर्याप्त्युत्तरकालं वोच्चैर्गोत्रं बध्वा मनुष्येष्वसकृदुच्चैर्गोत्रमास्कन्दति, तत्र कदाचित्तृतीयभङ्गकस्थः पञ्चमभङ्गोपपन्नो वा भवति, तांविमौ-नीचैर्गोत्रं बध्नात्युच्चैर्गोत्रस्योदयः सत्कर्म्मता तूभयस्येति, तृतीयः, पञ्चमस्तूच्चैर्गोत्रं बध्नाति तस्यैवोदयः सत्कर्म्मता तूभयस्य, षष्ठसप्तमभङ्गौ तूपरतबन्धस्य भवतः, अविषयत्वान्न ताभ्यामिहाधिकारः, तौ चेमौ बन्धोपरमे उच्चैर्गोत्रोदयः सत्कर्म्मता तूभयस्येति षष्ठः, सप्तमस्तु शैलेश्यवस्थायां द्विचरमसमये नीचैर्गोत्रे क्षपिते उच्चैर्गोत्रोदयस्तस्यैव सत्कर्म्मतेति। तदेवमुच्चावचेषु गोत्रेषु असकृदुत्पद्यमानेनासुमता पञ्चभङ्गकान्तर्वर्त्तिना न मानो विधेयो नापि दीनतेति। तयोश्चोच्चावचयोः गोत्रयोर्बन्धाध्यवसायस्थानकण्डकानि तुल्यानीत्याह-'णो हीणे णो अइरित्ते' यावन्त्युच्चैर्गोत्रेऽनुभावबन्धाध्यवसायस्थानकण्डकानि नीचैर्गोत्रेऽपि तावन्त्येव, तानि च-सर्वाण्यप्यसुमताऽनादिसंसारे भूयो भूयः स्पर्शितानि, तत उच्चैर्गोत्रकण्डकार्थतयाऽसुभृन्न हीनो नाप्यतिरिक्तः, एवं नीचैर्गोत्रकाण्डकार्थतयाऽपीति। नागार्ज्जुनीयास्तु पठन्ति—"एगमेगे खलु जीवे अईअद्धाए असइं उच्चागोए असइं नीआगोए, कंडगट्ठयाए नो हीणे नो अइरित्ते" एकैको जीवः खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे अतीते कालेऽसकृदुच्चावचेषु गोत्रेषूत्पन्नः, स चोच्चावचानुभागकण्डकापेक्षया न हीनो नाप्यतिरिक्त इति। तथाहि-उच्चैर्गोत्रकण्डकेभ्य एकभविकेभ्योऽनेकभविकेभ्यो वा नीचैर्गोत्रकण्डकानि न हीनानि नाप्यतिरिक्तानीत्यतोऽवगम्योत्कर्षापकर्षौ न विधेयौ, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् सर्वेष्वपि मदस्थानेष्वेतदायोज्यम्। यतश्चोच्चावचेषु स्थानेषु कर्म्मवशादुत्पद्यन्ते, बलरूपलाभादिमदस्थानानां चासमञ्जसतामवगम्य किं कर्त्तव्यमित्याह—'नोऽपीहए' अपिः सम्भावने स च भिन्नक्रमः, जात्यादीनां मदस्थानानामन्यतमदपि नो ईहेतापि-नाभिलषेदपि, अथवा—नो स्पृहयेत्—नावकाङ्क्षेदि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ति । तत्र यद्युच्चावचेषु स्थानेष्वसकृदुत्पन्नोऽसुमांस्ततः किमित्याह—' इय संखाय ' इत्यादि, इतिरुपप्रदर्शने, इति—एतत्पूर्वोक्तनीत्योच्चावचस्थानोत्पादादिकम् परिसंख्याय—ज्ञात्वा को गोत्रवादी भवेद् ? यथा—ममोच्चैर्गोत्रं सर्वलोकमाननीयं नापरस्येत्येवंवादी को बुद्धिमान् भवेत् ?, तथाहि—मयाऽन्यैश्च जन्तुभिः सर्वाण्यपि स्थानान्यनेकशः प्राप्तपूर्वाणीति, तथोच्चैर्गोत्रनिमित्तमानवादी वा को भवेत् ?, न कश्चित्संसारस्वरूपपरिच्छेदीत्यर्थः, किं च—' कंसि वा एगे गिज्झे ' अनेकशोऽनेकस्मिन् स्थानेऽनुभूते सति तन्मध्ये कस्मिन्वा एकस्मिन्नुच्चैर्गोत्रादिकेऽनवस्थितस्थानके रागादिविरहादेकः कथं गृध्येत् ?, तात्पर्यम्—आसेवां विदितकर्मपरिणामो विदध्यात् युज्येत गार्द्ध्यं यदि तत्स्थानं प्राप्तपूर्वं नाभविष्यत्, तच्चानेकशः प्राप्तपूर्वम्, अतस्तल्लाभालाभयोः नोत्कर्षापकर्षौ विधेयाविति, आह च—' तम्हा ' इत्यादि, (आचा०) (मदस्थानसंबन्धः ,' मयट्ठाण ' शब्दे पञ्चमभागे १०७ पृष्ठ गतः।) तदेवमुच्चनीचगोत्रनिर्विकल्पमनाः अन्यदपि अविकल्पेन किं कुर्यादित्याह—' भूएहिं ' इत्यादि, भवन्ति भविष्यन्त्यभूवन्निति च भूतानि—असुभृतस्तेषु प्रत्युपेक्ष्य—पर्यालोच्य विचार्य कुशाग्रीयया शेमुष्या जानीहि—अवगच्छ, किं जानीहि ?-सातम्-सुखं तद्विपरीतमसातमपि जानीहि, किं च कारणं साताऽसातयोः ? एतज्जानीहि, किं चाभिलषन्त्यविगानेन प्राणेन इति, अत्र जीवजन्तुप्राण्यादिशब्दानुपयोगलक्षणद्रव्यस्य मुख्यान् वाचकान्विहाय सत्तावाचिनो भूतशब्दस्योपादानेनेदमाविर्भावयति यथा-अयमुपयोगलक्षणपदार्थोऽवश्यं सत्तां बिभर्त्ति. साताभिलाष्यसातं च जुगुप्सते, साताभिलाषश्च शुभप्रकृतित्वाद् अतोऽपरासामपि शुभप्रकृतीनामुपलक्षणमेतद्वसेयम्, अतः शुभनामगोत्रायुराद्याः कर्म्मप्रकृतीरनुधावत्यशुभाश्च जुगुप्सते सर्वोऽपि प्राणी ।

एवं च व्यवस्थिते सति किं विधेयमित्याह–

समिए एयाणुपस्सी, तं जहा—अन्धत्तं बहिरत्तं मूयत्तं काणत्तं कुंटत्तं खुज्जत्तं वडभत्तं सामत्तं सबलत्तं सह पमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधायइ विरूवरूवे फासे परिसंवेयइ। (सू० ७८)

अथवा—भूतेषु शुभाशुभरूपं कर्म्म प्रत्युपेक्ष्य यत्तेषामप्रियं तन्न विदध्यात्, इत्ययमुपदेशः, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति– " पुरिसेणं खलु दुक्खुव्वेअसुहेसए " पुरुषा—जीवः णमिति—वाक्यालङ्कारे, खलुः—अवधारणे, दुःखात् उद्वेगो यस्य स दुःखोद्वेगः, सुखस्यैषकः सुखैषकः, याजकादित्वात्समासश्छान्दसत्वाद्वा, दुःखोद्वेगश्चासौ सुखैषकश्च दुःखोद्वेगसुखैषकः, सर्वोऽपि प्राणी दुःखोद्वेगसुखैषक एव भवत्यतो जीवप्ररूपणं कार्यम्, तच्चावनिवनपवनानलवनस्पतिसूक्ष्मबादरविकलपञ्चेन्द्रियसंज्ञीतरपर्याप्तकापर्याप्तकरूपं शस्त्रपरिज्ञायामकार्येव, तेषां च दुःखपरिजिहीर्षूणां सुखलिप्सूनामात्मौपम्यमाचरता तदुपमर्दकानि हिंसादिस्थानानि परिहरताऽऽत्मा पञ्चमहाव्रतेष्वास्थेयः, तत्परिपालनार्थं चोत्तरगुणा अप्यनुशीलनीयाः, तदर्थमुपदिश्यते—' समिए एयाणुपस्सी ' पञ्चभिः समितिभिः समितः सन् एतत्—शुभाऽशुभं कर्म्म वक्ष्यमाणं चाऽन्धत्वादिकं द्रष्टुं शीलं यस्येत्येतदनुदर्शी भूतेषु सातं जानीहीति सण्टङ्कः । तत्र ' समिति ' रिति ' इण् गतौ ' वित्यस्मात्सम्पूर्वात् क्तिन्नन्ताद्भवति, सा च पञ्चधा, तद्यथा—ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गरूपाः , तत्रेर्यासमितिः—प्राणव्यपरोपणव्रतपरिपालनाय , भाषासमितिरसदभिधाननियमसंसिद्धये, एषणासमितिरस्तेयव्रतपरिपालनाय , शेषद्वयं तु समस्तव्रतप्रकृष्टस्याहिंसाव्रतस्य संसिद्धये व्याप्रियते इति, तदेवं पञ्चमहाव्रतोपपेतस्तद्वृत्तिकल्पसमितिभिः समितः सन् भावत एतद्भूतसातादिकमनुपश्यति, अथवा-यदनुदर्श्यसौ भवति तद्यथेत्यादिना सूत्रेणैव दर्शयति- ' अन्धत्वमित्यादिना यावत् ' विरूपरूपे फासे परिसंवेएइ ' संसारोदरे पर्यटन् प्राणी अन्धत्वादिका अवस्था बहुशः परिसंवेदयते । (आचा०) (अन्धः कतिविध इति ' अन्ध ' शब्दे प्रथमभागे १०५ पृष्ठे गतम् ।) (' बहिर ' शब्दे पञ्चमभागे १२६७ पृष्ठे बधिरवक्तव्यता गता। मूकभेदाः ' जड्ड ' शब्दे चतुर्थभागे १३८७ पृष्ठे गताः ।) (काणत्वं महदुःखमिति ' काण ' शब्दे तृतीयभागे ४३० पृष्ठे गतम् ।) कुण्टत्वं—पाणिवक्रत्वादिकं कुब्जत्वं वामनलक्षणं वडभत्वं—विनिर्गतपृष्ठी वडभलक्षणं श्यामत्वं—कृष्णलक्षणं शबलत्वम्—श्वित्रलक्षणं सहजं पश्चाद्भावि वा कर्म्मवशगो भूरिशो दुःखराशिदेशीयं परिसंवेदयते । किं च—सह प्रमादेन—विषयक्रीडाभिष्वङ्गरूपेण श्रेयस्यनुद्यमात्मकेन अनेकरूपाः—सङ्कटविकटशीतोष्णादिभेदाभिन्ना योनीः संदधाति—संधत्ते चतुरशीतियोनिलक्षसम्बन्धाविच्छेदं विदधातीति भावः सम्यग् धावतीति वा , तासु तास्वायुष्कबन्धोत्तरकालं गच्छतीत्यर्थः, तासु च नानाप्रकारासु योनिषु विरूपरूपान् नानाप्रकारान् स्पर्शान्—दुःखानुभवान् परिसंवेदयते, अनुभवतीत्यर्थः ।

तदेवमुच्चैर्गोत्रोत्थापितमानोपहतचेता नीचैर्गोत्रविहितदीनभावो वाऽन्धबधिरभूयं वा गतः सन्नावबुध्यते, कर्त्तव्यं न जानाति—कर्म्मविपाकं नावगच्छति, संसारापसदतां नावधारयति, हिताहिते न गणयति , औचित्यमित्यनवगततत्त्वो मूढस्तत्रैवोच्चैर्गोत्रादिके विपर्यासमुपैति । आह च–

से अबुज्झमाणे हओवहए जाईमरणं अणुपरियट्टमाणे जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममायमाणाणं आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झति तत्थेव रत्ता न इत्थ तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सइ, संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ । सू० ७६)

' से ' इत्युच्चैर्गोत्राभिमानी अन्धबधिरादिभावसंवेदको वा कर्म्मविपाकमनवबुध्यमानो हतोपहतो भवति, नानाव्याधिसद्भावक्षतशरीरत्वाद्धतः, समस्तलोकपरिभूतत्वादुपहतः, अथवा-उच्चैर्गोत्रगर्वाध्मातत्यक्तोचितविधेयविद्वज्जनवदनसमुद्भूतशब्दापयशःपटहहतत्वाद्धतः, अभिमानोत्पादि–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तानेकभवकोटिनीचैर्गोत्रोदयादुपहतः, मूढो विपर्यासमुपैतीत्युत्तरेण सम्बन्धः, तथा जातिश्च मरणं च समाहारद्वन्द्वस्तद् अनुपरिवर्त्तमानः-पुनर्जन्म पुनर्मरणमित्येवमरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारोदरे विवर्त्तमानः, आवीचीमरणाद्वा प्रतिक्षणं जन्मविनाशावनुभवन् दुःखसागरावगाढो विशरारुण्यपि नित्यताकृतमतिः हितेऽप्यहिताध्यवसायो विपर्यासमुपैति (जीवितस्वरूपम् 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे ८ पृष्ठे गतम्)तथा-क्षेत्रम्-शालिक्षेत्रादि वास्तु-धवलगृहादि मम इदमित्येवमाचरतां सतां तत्क्षेत्रादिकं प्रेयो भवति, किं च-आरक्तम्-ईषद्रक्तं वस्त्रादि विरक्तम्-विगतरागं विविधरागं वा मणिः-इति रत्नवैडूर्येन्द्रनीलादि कुण्डलम्-कर्णाभरणं हिरण्येन सह स्त्रीः परिगृह्य तत्रैव-क्षेत्रवास्त्वारक्तविरक्तवस्त्रमणिकुण्डलस्त्र्यादौ रक्ता—गृद्धा अभ्युपपन्ना मूढा विपर्यासमुपयान्ति, वदन्ति च-नात्र तपो वा-अनशनादिलक्षणम् दमो वा-इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमलक्षणो नियमो वा—अहिंसाव्रतलक्षणः फलवान् दृश्यते, तथाहि-तपोनियमोपपेतस्यापि कायक्लेशभोगादिवञ्चनां विहाय नान्यत्फलमुपलभ्यते, जन्मान्तरे भविष्यतीतिचेद् व्युद्ग्राहितस्योल्लापः। किं च-दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च पापीयसीति, तदेवं साम्प्रतेक्षी भोगसङ्गविहितैकपुरुषार्थबुद्धिः संपूर्णं यथावसरसंपादितविषयोपभोगं वालः-अज्ञः जीवितुकामः-आयुष्कानुभवनमभिलपन् लालप्यमानः-भोगार्थमत्यर्थं लपन् वाग्दण्डं करोति, तद्यथा-अत्र तपो दमो नियमो वा फलवान् न दृश्यते इत्येवमर्थं ब्रुवन् मूढः अबुध्यमानो हनोपहतो जातिमरणमनुपरिवर्तमानो जीवितक्षेत्रस्त्र्यादिलोभपरिमोहितमनाः विपर्यासमुपैति-तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशम्, अतत्त्वे च तत्त्वाभिनिवेशं हितेऽहितबुद्धिमित्येवं सर्वत्र विपर्ययं विदधाति। उक्तं च—" दाराः परिभवकारा, बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः। कोऽयं जनस्य मोहो ?, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा॥१॥" इत्यादि।

ये पुनरुन्मज्जच्छुभकर्मापादिताध्यवसायपुरस्कृतमोक्षास्ते किंभूता भवन्तीत्याह—

"इणमेव नावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो। जाईमरणं परिन्नाय, चरे संकमणे दढे ॥१॥" नऽत्थि कालस्स णागमो, (आचा०) तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं संसिंचिया णं तिविहेण जाऽवि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ भोअणाए, तओ से एगया विविहं परिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ, तं पि से एगया दायाया वा विभयंति, अदत्तहारो वा से अवहरति, रायाणो वा से विलुंपंति, नस्सइ वा से विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ, इय से परस्सऽट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियासमुवेइ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, अणोहंतरा एए नो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए नो य तीरं गमित्तए, अपारंगमा एए नो य पारं गमित्तए, आयाणिज्जं च आयाय तम्मि ठाणे न चिट्ठइ, वितहं पप्पऽखेयन्ने तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ। (सू० ८०)

'इणमेव' इत्यादि, इदमेव पूर्वोक्तं सम्पूर्णजीवितं क्षेत्राङ्गनापरिभोगादिकं वा नावकाङ्क्षन्ति-नाभिलषन्ति, ये जना ध्रुवचारिणो ध्रुवो-मोक्षस्तत्कारणं च ज्ञानादि ध्रुवं तदाचरितुं शीलं येषां ते तथा, धुतचारिणो वा धुनातीति धुतं-चारित्रं तच्चारिण इति। किं च-' जाई ' इत्यादि, जातिश्च मरणं च समाहारद्वन्द्वः, तत् परिज्ञाय—परिच्छिद्य ज्ञात्वा चरेत्—उद्युक्तो भवेत्, क ?—संक्रमणे—संक्रम्यतेऽनेनेति संक्रमणं-चारित्रं तत्र दृढो-विस्रोतसिकारहितः परीषहोपसर्गैः निष्प्रकम्पो वा, यदि वा-अशङ्कमनाः सन् संयमं चर, न विद्यते शङ्का यस्य मनसस्तदशङ्कम्; अशङ्कं मनो यस्यासावशङ्कमनाः-तपोदमनियमनिष्फलत्वाशङ्कारहित आस्तिक्यमत्युपपेतस्तपोदमादौ प्रवर्त्तेत, यतस्तद्वान् राजराजादीनां पूजाप्रशंसार्हो भवति, न चौपशमिकसुखावाप्तफलस्य तपस्विनः समस्तद्वन्द्वदवीयसोऽसत्यपि परलोके किञ्चित् छूयते। उक्तं च-" संदिग्धेऽपि परे लोके, त्याज्यमेवाशुभं बुधैः। यदि नास्ति ततः किं स्या—दस्ति चेन्नास्तिको हतः॥१॥" इत्यादि। तस्मात् स्वायत्ते संयमसुखे दृढेन भाव्यम्, न चैतद्भावनीयम्, यथा-परुत्परारि वृद्धावस्थायां वा धर्मं करिष्यामीति, यतः-' नत्थि ' इत्यादि नास्ति—न विद्यते कालस्य—मृत्योरनागमः—अनागमनमनवसर इति यावत्, तथाहि-सोपक्रमायुषोऽसुमतो न काचित्साऽवस्था यस्यां कर्मपावकान्तर्वर्ती जन्तुर्जतुगोलक इव न विलीयेत इति। उक्तं च—" शिशुमशिशुं कठोरमकठोरमपण्डितमपि च पण्डितम्, धीरमधीरं मानिनममानिनमपगुणमपि च बहुगुणम्। यतिमयतिं प्रकाशमबलीनमचेतनमथ सचेतनं, निशि दिवसेऽपि सान्ध्यसमयेऽपि विनश्यति कोऽपि कथमपि॥१॥" तदेवं सर्वं कषत्वं मृत्योरवधार्याहिंसादिषु दत्तावधानेन भाव्यम्, (आचा०) (' सव्वे पाणा पियाउया ' इत्यादीनां व्याख्या'पियजीवि'शब्दे पञ्चमभागे ६३६ पृष्ठे। 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे ८ पृष्ठे च गता)'तं परिगिज्झ ' तद्-असंयमजीवितं परिगृह्य आश्रित्य किं कुर्वन्तीत्याह-' दुपयं' इत्यादि, द्विपदम्—दासीकर्म्मकरादि चतुष्पदम्—गवाश्वादि अभियुज्य-योजयित्वा अभियोगं ग्राहयित्वा व्यापारयित्वेत्युक्तं भवति, ततः किमित्यत आह-' संसिंचियाणं ' इत्यादि प्रियजीवितार्थमर्थाभिवृद्धये द्विपदचतुष्पदादिव्यापारेण संसिच्य—अर्थनिचयं संवर्द्ध्य त्रिविधेन—योगत्रिककरणत्रिकेण याऽपि काचिदल्पा परमार्थचिन्तायां बह्व्यपि फल्गुदेश्या (से) तस्यार्थारम्भिणः सा चार्थमात्रा। तत्र इति-द्विपदाद्यारम्भे मात्रा इतिसोपस्कारत्वात्सूत्राणाम्, अर्थमात्रा-अर्थोल्पता भवतिसत्तां बिभर्त्ति, किं भूता ? सा, सूत्रेणैव कथयति-अल्पा वा बह्वी वा, अल्पबहुत्वं चापेक्षिकमतः सर्वाऽप्यल्पा सर्वाऽपि बह्वी ' स ' इत्यर्थवान् तत्र-तस्मिन्नर्थे गृद्धः-अभ्युपपन्नस्तिष्ठति, नालोचयत्यर्थस्योपार्जनक्लेशम्, न गणयति रक्षणपरिश्रमम्, न विवेचयति तरलताम्, नावधारय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ति फल्गुताम्, उक्तं च-"कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं, निरुपमरसप्रीत्या खादन्नरास्थिनिरामिषम्। सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं सशङ्कितमीक्षते, न हि गणयति क्षुद्रो लोकः परिग्रहफल्गुताम् ॥ १ ॥" इत्यादि, स च किमर्थमर्थमर्थयत इत्यत आह—' भोयणाए ' भोजनम् उपभोगस्तस्मै अर्थमर्थयते, तदर्थी च क्रियासु प्रवर्त्तते, क्रियावतश्च किं भवतीत्याह-' तओ से ' इत्यादि, ततः (से) तस्यावलगनादिकाः क्रियाः कुर्वतः एकदा—लाभान्तरायकर्मक्षयोपशमे विविधम्-नानाप्रकारम् परिशिष्टम्-प्रभूतत्वाद्भुक्तोद्धरितम्, सम्भूतम्-सम्यक्परिपालनाय भूतं-संवृत्तं, किं तत्?, महच्च तत्परिभोगाङ्गत्वादुपकरणं च महोपकरणं-द्रव्यनिचय इत्यर्थः, स कदाचिल्लाभोदये भवति, असावप्यन्तरायोदयान्न तस्योपभोगायेत्याह—' तं पि से ' इत्यादि, तदपि समुद्रोत्तरणरोहणखननविलप्रवेशरसेन्द्रमर्दनराजावलगनकृषीवलादिकाभिः क्रियाभिः स्वपरोपतापकारिणीभिः स्वोपभोगायोपार्जितं सत् ' से ' तस्यार्थोपार्जनोपायक्लेशकारिणः एकदा-भाग्यक्षये दायादाः-पितृपिण्डोदकदानयोग्याः विभजन्ते-विलुम्पति, अदत्तहारो वा-दस्युर्वा अपहरति, राजानो वा विलुम्पन्ति—अवच्छिन्दन्ति नश्यति वा-स्वत एवाटवीतः, ' से ' तस्य विनश्यति वा जीर्णभावापत्तेः अगारदाहेन वा—गृहदाहेन-वा दह्यते, कियन्ति वा कारणान्यर्थनाशे वक्ष्यन्ते इत्युपसंहरति—इति—एवं बहुभिः प्रकारैरुपार्ज्जितोऽप्यर्थो नाशमुपैति,नैवोपार्ज्जयितुरुपतिष्ठत इत्युपदिश्यते। सः-अर्थस्योत्पादयिता परस्मै-अन्यस्मै अर्थाय—प्रयोजनाय अन्यप्रयोजनकृते क्रूराणि—गलकर्त्तनादीनि कर्म्माणि-अनुष्ठानानि बालः—अज्ञः प्रकुर्वाणः-विदधानः तेन-कर्म्मविपाकापादितेन दुःखेन-असातोदयेन संमूढः—अपगतविवेकः विपर्यासमुपैति-अपगतसदसद्विवेकत्वात्कार्यमकार्यं मन्यते व्यत्ययं चेति। उक्तं च-" रागद्वेषाभिभूतत्वा-त्कार्याकार्यपराङ्मुखः। एष मूढ इति ज्ञेयो, विपरीतविधायकः ॥ १ ॥" तदेवं मौढ्यान्धतमसाच्छादितालोकपथाः सुखार्थिनो दुःखमृच्छन्ति जन्तव इति ज्ञात्वा सर्वज्ञवचनप्रदीपमशेषपदार्थस्वरूपाविर्भावकमालम्बिरे मुनयः, अदश्च मया न स्वमनीषिकयोच्यते सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमाह, यदि स्वमनीषिकया नोच्यते कौतस्त्यं तर्हीदमित्यत आह-' मुणिणा ' इत्यादि, मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः-तीर्थकृत्तेन एतद्—असकृदुच्चैर्गोत्रभवनादिकं प्रकर्षेणादौ वा सर्वस्वभावानुगामिन्या वाचा वेदितं—कथितं वक्ष्यमाणं च प्रवेदितम्, किं तदित्याह-'अणोहं' इत्यादि, ओघो द्विधा, द्रव्यभावभेदात्, द्रव्यौघो नदीपूरादिको, भावौघोऽष्टप्रकारं कर्म्म संसारो वा, तेन हि प्राण्यनन्तमपि कालमुह्यते, तम्-ओघं ज्ञानदर्शनचारित्रवोहित्थस्थाः तरन्तीत्योघन्तरा न ओघन्तरा अनोघन्तराः, तरतेश्छान्दसत्वात् खश्, खित्वान्मुमागमः, एते कुतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा ज्ञानादियानविकलाः, यद्यपि तेऽप्योघतरणायोद्यतास्तथापि सम्यगुपायाभावात् न ओघतरणसमर्था भवन्तीति। आह च-' नो य ओहं तरित्तए ' न च-नैव ओघं-भावौघं तरितुं समर्थाः, संसारौघतरणप्रत्यला न भवन्तीत्यर्थः, (आचा०) (' अतीरंगमा ' इत्यादिकस्य व्याख्या ' अतीरंगम ' शब्दे प्रथमभागे ४१८ पृष्ठे। अपारंगम ' इत्यादिकस्य व्याख्या च ' अपारंगम ' शब्दे तस्मिन्नेव भागे ६०६ पृष्ठे गता।)

अथ तीरपारयोः को विशेष इति, उच्यते-तीरम् -मोहनीयक्षयः, पारं—शेषघातिक्षयः, अथवा-तीरं-घातिचतुष्टयापगमः, पारं भवोपग्राह्यभाव इत्यर्थः, स्यात्—कथमोघतारी कुतीर्थादिको न भवति तीरपारगामी चेत्याह-' आयाणिज्जं ' इत्यादि, आदीयन्ते-गृह्यन्ते सर्वभावा अनेनेत्यादानीयं-श्रुतं तदादाय तदुक्ते तस्मिन् संयमस्थाने न तिष्ठति, यदि वा-आदानीयम्-आदातव्यं भोगाङ्गं द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यादि तदादाय—गृहीत्वा, अथ वा-मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैरादानीयं-कर्म्मादाय, किंभूतो भवतीत्याह-तस्मिन्—ज्ञानादिमये मोक्षमार्गे सम्यगुपदेशे वा प्रशस्तगुणस्थाने न तिष्ठति—नात्मानं विधत्ते, न केवलं सर्वज्ञोपदेशस्थाने न तिष्ठति, विपर्ययानुष्ठायी च भवतीति दर्शयति—' वितहं ' इत्यादि, वितथम्-असद्भूतं दुर्गतिहेतुं तत्तथाभूतमुपदेशं प्राप्य अखेदज्ञः—अकुशलः खेदज्ञो वाऽसंयमस्थाने तस्मिंश्च साम्प्रतेक्ष्याचरित उपदिष्टे वा तिष्ठति, तत्रैवासंयमस्थानेऽभ्युपपन्नो भवतीति यावत्, अथवा—वितथमिति आदानीयभोगाङ्गव्यतिरिक्तं संयमस्थानं तत्प्राप्य खेदज्ञो निपुणस्तस्मिन्स्थाने आदानीयस्य हन्तृणि तिष्ठति, सर्वज्ञाज्ञायामात्मानं व्यवस्थापयतीत्यर्थः।

अयं चोपदेशोऽनवगततत्त्वस्य विनेयस्य यथोपदेशं प्रवर्त्तमानस्य दीयते, यस्त्ववगतहेयोपादेयविशेषः स यथाऽवसरं यथाविधेयं स्वत एव विधत्त इत्याह—

उद्देसोपासगस्स नऽत्थि, बाले पुण निहे कामसमणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ। त्ति बेमि। (सू० ८१)

उद्दिश्यते इत्युद्देशः-उपदेशः सदसत्कर्तव्यादेशः स पश्यतीति पश्यः स एव पश्यकस्तस्य न विद्यते, स्वत एव विदितवेद्यत्वात्तस्य, अथवा—पश्यतीति पश्यकः-सर्वज्ञस्तदुपदेशवर्त्ती वा तस्य, उद्दिश्यत इत्युद्देशो-नारकादिव्यपदेशः उच्चावचगोत्रादिव्यपदेशो वा स तस्य न विद्यते, तस्य द्रागेव मोक्षगमनादिति भावः। कः पुनर्यथोपदेशकारी न भवति, इत्याह—' बाले ' इत्यादि, बालो नाम रागादिमोहितः सः पुनः कषायैः कर्म्मभिः परीषहोपसर्गैर्वा, निहन्यत इति निहः निपूर्वाद्धन्तेः कर्म्मणि डः। अथवा-स्निह्यत इति स्निहः स्नेहवान् रागीत्यर्थः, अत एवाह-' कामसमणुण्णे ' कामाः-इच्छामदनरूपा सम्यग्मनोज्ञा यस्य स तथा, अथवा-सह मनोज्ञैर्वर्त्तत इति समनोज्ञो गमकत्वात्सापेक्षस्यापि समासः, कामैः सह मनोज्ञः कामसमनोज्ञः, यदि वा-कामान् सम्यगनु-पश्चात्स्नेहानुबन्धाज्जानाति सेवत इति कामसमनोज्ञः, एवंभूतश्च किंभूतो भवतीत्याह-' असमियदुक्खे ' अशमितम्-अनुपशमितं विषयाभिष्वङ्गकषायोत्थं दुःखं येन स तथा, यत एवाशमितदुःख अत एव दुःखी शारीरमानसाभ्यां दुःखाभ्याम्, तत्र शारीरं कण्टकशस्त्रगण्डलूतादिसमुत्थम् मानसं प्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्भाग्यदौर्मनस्यकृतं तद्द्विरूपमपि, दुःखं विद्यते यस्याऽसौ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःखी, एवंभूतश्च सन् किमवाप्नोतीत्याह-'दुक्खाणं' इत्यादि, दुःखानां शारीरमानसानामावर्त्ते पौनःपुन्यभवनमनुपरिवर्त्तते दुःखावर्त्तावमग्नो बंभ्रम्यत इत्यर्थः। इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। (भोगसुखवक्तव्यता 'भोगसुह' शब्दे पञ्चमभागे १६०६ पृष्ठे गता।) ("जमिणं" इत्यादीनि सूत्राणि 'आरंभ' शब्दे द्वितीयभागे ३६५ पृष्ठे गतानि।)

परिग्रहादात्मानमपसर्प्पयेदित्युक्तं, तच्च न निदानोच्छेदमन्तरेण, निदानं च शब्दादिपञ्चगुणानुगामिनः कामाः, तेषां चोच्छेदोऽसुकरः। यत आह-

कामा दुरतिक्कमा, जीवियं दुप्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे,से सोयइ जूरइ तिप्पइ परितप्पइ। (सू०९२)

कामा द्विविधाः-इच्छाकामा, मदनकामाश्च। तत्रेच्छाकामा मोहनीयभेदहास्यरत्युद्भवाः, मदनकामा अपि मोहनीयभेदवेदोदयात् प्रादुःष्यन्ति, ततश्च द्विरूपाणामपि कामानां मोहनीयं कारणम्, तत्सद्भावे च न कामोच्छेद इत्यतो दुःखेनातिक्रमः-अतिलङ्घनं विनाशो येषां ते तथा, ततश्चेदमुक्तं भवति-न तत्र प्रमादवता भाव्यम्। न केवलमत्र जीवितेऽपि न प्रमादवता भाव्यमिति, आह च-'जीवियं' इत्यादि, जीवितम्-आयुष्कं तत् क्षीणं सत् 'दुष्प्रतिबृंहणीयं' दुरभावार्थे, नैव वृद्धिं नीयते इति यावत्, अथवा-जीवितं-संयमजीवितं तद्दुष्प्रतिबृंहणीयम्, कामानुपक्तजनान्तर्वर्त्तिना दुःखेन वृद्धिं नीयते दुःखेन निष्प्रत्यूहः संयमः प्रतिपाल्यते इति, उक्तं च-"आगासे गंगसोउ व्व, पडिसोउ व्व दुत्तरो। बाहाहिं चेव गंभीरो,तरिअव्वो महोअही॥१॥ वालुगाकवलो चेव, निरासाए हु संजमो। जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं॥ २॥" इत्यादि, येन चाभिप्रायेण कामा दुरतिक्रमा इति प्रागभ्यधायि तमभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह-'कामकामी' इत्यादि कामान् कामयितुम्-अभिलषितुम् शीलमस्येति कामकामी 'खलुः' वाक्यालङ्कारे 'अयम्' इत्यध्यक्षः पुरुषः-जन्तुः, यस्त्वेवंविधोऽविरतचेताः कामकामी स नानाविधान् शारीरमानसान् दुःखविशेषाननुभवतीति दर्शयति-'से सोयई' त्यादि, स इति-कामकामी ईप्सितस्यार्थस्याप्राप्तौ तद्वियोगे च स्मृत्यनुषङ्गः शोकस्तमनुभवति, अथवा-शोचत इति काममहाज्वरगृहीतः सन् प्रलपतीति, उक्तं च-"गतं प्रेमाबन्धे प्रणयबहुमाने च गलिते, निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः। तमुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि! गतांस्तांश्च दिवसान्, न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम्?॥ १॥" इत्यादि शोचते, तथा 'जूरइ' त्ति हृदयेन खिद्यते, तद्यथा-"प्रथमतरमथेदं चिन्तनीयं तवासीद्बहुजनदयितेन प्रेम कृत्वा जनेन। हतहृदय! निराश! क्लीव! संतप्यसे किं?, न हि जडगततोये सेतुबन्धाः क्रियन्ते॥ १॥" इत्येवमादि, तथा 'तिप्पइ' त्ति तिपृ तेपृ प्रक्षरणार्थौ, तेपते-क्षरति सञ्चलति मर्यादातो भ्रश्यति निर्मर्यादो भवतीति यावत्, तथा शारीरमानसैर्दुःखैः पीड्यते-तथा परिः-समन्ताद्बहिरन्तश्च तप्यते-परितप्यते, पश्चात्तापं वा करोति, यथेष्टं पुत्रकलत्रादौ कोपात् कश्चिद्वते स मया नानुवर्त्तित इति परितप्यते, सर्वाणि चैतानि शोचनादीनि विषयविषावष्टब्धान्तःकरणानां दुःखावस्थासंसूचकानि, अथवा-शोचत इति यौवनधनमदमोहाभिभूतमानसो विरुद्धानि निषेव्य पुनर्वयःपरिणामेन मृत्युकालोपस्थानेन वा मोहापगमे सति किं मया मन्दभाग्येन पूर्वमशोभनशिष्टाचीर्णः सुगतिगमनैकहेतुर्दुर्गतिद्वारपरिघो धर्मो नाचीर्णः? इत्येवं शोचत इति। उक्तं च-"भवित्री भूतानां परिणतिमनालोच्य नियतां, पुरा यद्यत् किञ्चिद्विहितमशुभं यौवनमदात्। पुनः प्रत्यासन्ने महति परलोकैकगमने, तदेवैकं पुंसां व्यथयति जराजीर्णवपुषाम्॥ १॥" तथा जूरतीत्यादीन्यपि स्वबुद्ध्या योजनीयानि। उक्तं च-"सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यजातं, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन। अतिरभसकृतानां, कर्म्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥ १॥" इत्यादि।

कः पुनरेवं न शोचत इत्याह-

आययचक्खू लोगविपस्सी, लोगस्स अहो भागं जाणइ उड्ढं भागं जाणइ तिरियं भागं जाणइ, गड्ढिए लोए अणुपरियट्टमाणे संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए, जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो, अंतो अंतो पूइ देहंतराणि पासइ पुढो वि सवंताइं पंडिए पडिलेहाए। (सू० ९३)

आयतं-दीर्घमैहिकामुष्मिकापायदर्शि चक्षुः-ज्ञानं यस्य स आयतचक्षुः, कः पुनरित्येवंभूतो भवति? यः कामानेकान्तेनानर्थभूयिष्ठान् परित्यज्य शमसुखमनुभवति, किं च-'लोगविपस्सी' लोकं-विषयानुषङ्गविशेषात्तदुःखातिशयं तथा त्यक्तकामावाप्तप्रशमसुखं विविधं द्रष्टुं शीलमस्येति लोकविदर्शी, अथवा-लोकस्य ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भागगतिकारणायुष्कसुखदुःखविशेषान् पश्यतीति, एतद्दर्शयति-'लोगस्स' इत्यादि, लोकस्य-धर्माधर्मास्तिकायावच्छिन्नाकाशखण्डस्याधोभागं जानातीति, स्वरूपतोऽवगच्छति, इदमुक्तं भवति-येन कर्मणा तत्रोत्पद्यन्तेऽसुमन्तः यादृक् तत्र सुखदुःखविपाको भवति तं जानाति, एवमूर्द्ध्वतिर्यग्भागयोरपि वाच्यम्, यदि वा-लोकविदर्शीति-कामार्थमर्थोपार्जनप्रसक्तं गृद्धमभ्युपपन्नं लोकं पश्यतीति। एतदेव दर्शयितुमाह-'गड्ढिए' इत्यादि, अयं हि लोको गृद्धः-अध्युपपन्नः कामानुपक्तं तदुपायं वा तत्रैवानुपरिवर्त्तमानो भूयो भूयस्तदेवाचरंस्तज्जनितेन वा कर्म्मणा संसारचक्रेऽनुपरिवर्त्तमानः-पर्यटन्नायतचक्षुषो गोचरीभवन् कामाभिलापनिवर्त्तनाय न प्रभवति?, यदि वा-कामगृद्धान् संसारेऽनुपरिवर्त्तमानानमुमतः पश्यत्येवमुपदेशः, अपि च-'संधिम्' इत्यादि, इह मर्त्येषु-मनुजेषु यो ज्ञानादिको भावसन्धिः, स च मर्त्येष्वेव सम्पूर्णो भवतीति मर्त्यग्रहणम्; अतस्तं विदित्वा यो विषयकषायादीन् परित्यजति स एव वीर इति दर्शयति-'एस' इत्यादि, एषः-अनन्तरोक्तः आयतचक्षुर्यथावस्थितलोकविभागस्वभावदर्शी भावसन्धेर्वेत्ता परित्यक्तविषयतर्षो वीरः कर्म्मविदारणात् प्रशंसितः-स्तुतः विदिततत्त्वैरिति। स एवंभूतः किमपरं करोतीति चेदित्याह-'जे बद्धे' इत्यादि यो बद्धान् द्रव्यभावबन्धनेन स्वतो विमुक्तोऽपरानपि मोचयतीत्येतदेव द्रव्यभावबन्धनविमोक्षं बा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चोयुक्त्याऽऽचष्टे—' जहा अंतो तहा बाहिं ' इत्यादि, यथाऽन्तर्भावबन्धनमष्टप्रकारकर्मनिगडनं मोचयति एवं पुत्रकलत्रादि बाह्यमपि, यथा वा बाह्यं बन्धुबन्धनं मोचयति एवं मोक्षगमनविघ्नकारणमान्तरमपीति, यदि वा-कथमसौ मोचयतीति चेत्तत्त्वाविर्भावनेन, स्यादेतत्-तदेव किंभूतमित्याह—' जहा अंतो ' इत्यादि। यथा—स्वकायस्यान्तः—मध्ये अमेध्यकललपिशिताखुक्पूयादिपूर्णत्वेनासारत्वमित्येवं बहिरप्यसारता द्रष्टव्या, अमेध्यपूर्णघटवदिति। उक्तं च—" यदि नामास्य कायस्य, यदन्तस्तद्बहिर्भवेत्। दण्डमादाय लोकोऽयम्, शुनः काकांश्च वारयेत्॥ १॥" इति, यथा वा बहिरसारता तथाऽन्तरेऽपीति। किं च—' अंतो अंतो ' इत्यादि, देहस्य मध्ये मध्ये पूत्यन्तराणि—पूतिविशेषान् देहान्तराणि—देहस्यावस्थाविशेषान् इह मांसमिह रुधिरमिह मेदो मज्जा चेत्येवमादिपूतिदेहान्तराणि पश्यति-यथावस्थितानि परिच्छिनत्ति इत्युक्तं भवति। यदि वा-देहान्तराण्येवंभूतानि पश्यति-' पुढो ' इत्यादि, पृथगपि-प्रत्येकमपि अपिशब्दात्-कुष्ठाद्यवस्थायां यौगपद्येनापि स्रवन्ति नवभिः श्रोतोभिः-कर्णाक्षिमलश्लेष्मलालाप्रश्रवणोच्चारादीन् तथा-अपरव्याधिविशेषापादितव्रणमुखपूतिशोणितरसिकादीनि चेति। यद्येतानि ततः किम्?-' पंडिए पडिलेहाए ' एतान्येवंभूतानि गलच्छ्रोतोव्रणरोमकूपानि पण्डितः-अवगततत्त्वः प्रत्युपेक्षेत-यथावस्थितमस्य स्वरूपमवगच्छेदिति। उक्तं च-" मंसट्ठिरुहिरण्हारुव-णद्धकलमलयमेयमज्जासु। पुण्णम्मि चम्मकोसे, दुग्गंधे असुइबीभच्छे॥ १॥ संचारिमजंतगलंतवच्चमुत्तंतसेअपुण्णम्मि। देहे हुज्जा किं रा-गकारणं असुइहेउम्मि?॥ २॥" इत्यादि।

तदेवं पूतिदेहान्तराणि पश्यन् पृथगपि स्रवन्तीत्येवं प्रत्युपेक्ष्य किं कुर्यादित्याह—

से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी, मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावायए, कासं कासे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो। (सू० ८४)

स—पूर्वोक्तो यतिर्मतिमान्—श्रुतसंस्कृतबुद्धिर्यथावस्थितं देहस्वरूपं कामस्वरूपं च द्विविधयाऽपि परिज्ञया परिज्ञाय किं कुर्यादित्याह-' मा य हु ' इत्यादि, मा-प्रतिषेधे चः समुच्चये, हुर्वाक्यालङ्कारे, ललतीति लाला-अजस्रस्यन्मुखश्लेष्मसन्ततिः तां प्रत्यशितुं शीलमस्येति प्रत्याशी, वाक्यार्थस्तु यथा हि बालो निर्गतामपि लालां सदसद्विवेकाभावात् पुनरप्यश्नातीत्येवं त्वमपि लालावत्त्यक्त्वा मा भोगान् प्रत्यशान्, वान्तस्य पुनरप्यभिलाषं मा कुर्वित्यर्थः। किं च-' मा तेसु तिरिच्छं ' इत्यादि संसारश्रोतांसि अज्ञानाविरतिमिथ्यादर्शनादीनि प्रतिकूलेन वा तिरश्चीनेन वा अतिक्रमणीयानि, निर्वाणश्रोतांसि तु ज्ञानादीनि तत्रानुकूल्यं विधेयम्, मा तेष्वात्मानं तिरश्चीनमापादयेः, ज्ञानादि कार्ये प्रतिकूलतां मा विदध्याः, तत्राप्रमादवता भाव्यम्, प्रमादवांश्चैहैव शान्तिं न लभते, यत आह-' कासंकासे ' इत्यादि, यो हि ज्ञानादिश्रोतासि तिरश्चीनवर्त्ती भोगाभिलाषवान् स एवंभूतोऽयं पुरुषः सर्वदा किं कर्त्तव्यताकुल इदमहमकार्षमिदं च करिष्ये इत्येवं भोगाभिलाषक्रियाव्यापृतान्तःकरणो न स्वास्थ्यमनुभवति, खलुशब्दोऽवधारणे, वर्तमानकालस्यातिसूक्ष्मत्वादसंव्यवहारित्वमतीतानागतयोश्चेदमहमकार्षमिदं च करिष्य इत्येवमातुरस्य नास्त्येव स्वास्थ्यमिति। उक्तं च-" इदं तावत् करोम्यद्य, श्वः कर्त्ताऽस्मीति चापरम्। चिन्तयन्निह कार्याणि, प्रेत्यार्थं नावबुध्यते॥ १॥" अत्र दधिघटिकाद्रमकदृष्टान्तो वाच्यः, स चायम्-द्रमकः कश्चित् कचिन्महिषीरक्षणावाप्तदुग्धः तदर्धीकृत्य चिन्तयामास, ममातो घृतवेतनादि यावद्भार्या अपत्योत्पत्तिस्ततश्चिन्ता, कलहे पार्ष्णिप्रहारेणैव दधिघटिकाव्यापत्तिरित्येवं चिन्तामनोरथव्याकुलीकृतान्तःकरण इति, तद्ध्यानयेन शिरोविण्टलिकाचीवरं अदीयमानं इव शिरो विधूयास्फोटिता दधिर्घटिकेत्येवं यथा तेन न तद्दधि भक्षितं नापि कस्मैचित्पुण्याय दत्तम्, एवमन्योऽपि कासंकसः-किंकर्त्तव्यतामूढो निष्फलारम्भो भवतीति। अथवा-कस्यतेऽस्मिन्निति कासः-संसारस्तं कषतीति-तदभिमुखो यातीति कासंकषः, यो ज्ञानादिप्रमादवान्, वक्ष्यमाणो चेत्याह-' बहुमायी ' कासंकषो हि कषायैर्भवति, तन्मध्यभूताया मायाया ग्रहणे तेषामपि ग्रहणं द्रष्टव्यमिति, ततः क्रोधी मानी मायी लोभीति द्रष्टव्यमिति। अपि च-' कडेण मूढं ' करणं कृते तेन मूढः- किं कर्त्तव्यताकुलः सुखार्थी दुःखमश्नुते इति। उक्तं हि-" सोउं सोवणकाले, मज्जणकाले य मज्जिउं लोलो। जेमेउं च वराओ, जेमणकाले ण चाएइ॥ १॥" अत्र मम्मणवणिग्दृष्टान्तो वाच्यः, स चैवम्-कासंकषः बहुमायी कृतेन मूढस्तत्तत्करोति येनात्मनो वैरानुषङ्गो जायत इति। आह च-' पुणो तं करेइ ' इत्यादि, मायावी परवञ्चनबुद्ध्या पुनरपि तल्लोभानुष्ठानं तथा करोति येनात्मनो वैरं वर्द्धते। अथवा-तं लाभं करोतीति-अर्जयति येन जन्मशतेष्वपि वैरं वर्द्धत इति। उक्तं च-" दुःखार्त्तः सेवते कामान्, सेवितास्ते च दुःखदाः। यदि ते न प्रियं दुःखं, प्रसङ्गस्तेषु न क्षमः॥ १॥"

किं पुनः कारणमसुमाँस्तत्करोति येनात्मनो वैरं वर्द्धते?, इत्याह—

जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिवूहणयाए, अमराय महासड्ढी अट्टमेयं तु पेहाए अपरिणाए कंदइ। (सू० ८४ X)

' जमिणं ' मित्यादि, यदिति यस्मादस्यैव चिरशरीरकस्य परिबृंहणार्थं प्राणघातादिकाः क्रियाः करोतीति; ते च तेनोपहताः प्राणिनः पुनः शतशो घ्नन्ति, ततो मयेदं कथ्यते कासंकषः खल्वयं पुरुषो बहुमायी कृतेन मूढः पुनस्तत्करोति येनात्मनो वैरं वर्द्धयतीति, यदि वा-यदिदं मयोपदेशप्रायं पौनःपुन्येन कथ्यते तदस्यैव संयमस्य परिबृंहणार्थम्, इदं चापरं कथ्यते-' अमराय ' इत्यादि, अमरायते—अनमरः सन् द्रव्ययौवनप्रभुत्वरूपावसक्तोऽमर इवाचरति अमरायते, कोऽसौ?-महाश्रद्धी—महती चासौ श्रद्धा च महाश्रद्धा सा विद्यते भोगेषु तदुपायेषु वा यस्य स तथा अत्रोदाहरणम्। (मगधसेना गणिका तद्वृत्तम् ' मगहसेणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३७ पृष्ठे गतम्।) यश्चामरायमाणः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कामभोगाभिलाषुकः स किंभूतो भवतीत्याह- 'अट्ट' इत्यादि, आर्त्तिः-शारीरमानसीपीडा तत्र भव आर्त्तस्तमार्त्तममरायमाणं कामार्थं महाश्रद्धावन्तं प्रेक्ष्य—दृष्ट्वा पर्यालोच्य वा कामार्थयोर्न मनो विधेयमिति, पुनरमरायमाणभोगश्रद्धावतः स्वरूपमुच्यते-'अपरिन्नाए' इत्यादि, कामस्वरूपं तद्विपाकं वा अपरिज्ञाय तत्र दत्तावधानः कामस्वरूपापरिज्ञया वा क्रन्दते भोगेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकावनुभवतीति । उक्तं च-"चिन्तागते भवति साध्वसमन्तिकस्थे, मुक्ते तु तृप्तिरधिका रमितेऽप्यतृप्तिः । द्वेषोऽन्यभाजि वशवर्त्तिनि दग्धमानः, प्राप्तिः सुखस्य दयिते न कथंचिदस्ति ॥ १ ॥" इत्यादि ॥

तदेवमनेकधा कामविपाकमुपदर्श्य उपसंहरति-

से तं जाणह जमहं बेमि, तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुंपित्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाने, जस्स वि य णं करेइ अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारइ बाले, ण एवं अणगारस्स जायति त्ति बेमि। (सू० ९५)

'से' त्ति तदर्थे तदपि हेत्वर्थे, यस्मात्कामा दुःखैकहेतवः तस्मात्तज्जानीत यदहं ब्रवीमि, मदुपदेशं कामपरित्यागविषयं कर्णे कुरुतेति भावार्थः, । ननु च कामनिग्रहोऽत्र चिकीर्षितः स चान्योपदेशादपि सिद्ध्यत्येवैतदाशङ्क्याह—'तेइच्छं' इत्यादि, कामचिकित्सां पण्डितः पण्डिताभिमानी प्रवदन्नपरव्याधिचिकित्सामिवोपदिशन् अपरस्तीर्थिको जीवोपमर्द्दे वर्त्तेत इत्याह-'से हंता' इत्यादि, 'स' इत्यविदिततत्त्वः कामचिकित्सोपदेशकः प्राणिनां हन्ता दण्डादिभिश्छेत्ता कर्णादीनां, भेत्ता सूलादिभिर्लुम्पयिता ग्रन्थिच्छेदनादिना, विलुम्पयिता अवस्कन्दादिना, अपद्रावयिता प्राणव्यपरोपणादिना, नान्यथा कामचिकित्सा व्याधिचिकित्सा वा अपरमार्थदृशां संपद्यते । किं च-अकृतं यदपरेण न कृतं कामचिकित्सनं व्याधिचिकित्सनं वा तदहं करिष्य इत्येवं मन्यमानः हननादिकाः क्रियाः करोति, ताभिश्च कर्म्मबन्धः, अतो य एवंभूतमुपदिशति यस्याप्युपदिश्यते उभयोरप्येतयोरपथ्यत्वादकार्यमिति। आह च—'जस्स वि य णं' इत्यादि, यस्याप्यसावेवंभूतां चिकित्सां करोति न केवलं स्वस्येत्यपिशब्दार्थस्तयोर्द्वयोरपि कर्तुः कारयितुश्च हननादिकाः क्रियाः, अतोऽलम्—पर्याप्तं बालस्य—अज्ञस्य सङ्गेन कर्म्मबन्धहेतुना कर्तुरिति, योऽप्येतत्कारयति बालः-अज्ञस्तस्याप्यलमिति संटङ्कः। एतच्चैवंभूतमुपदेशदानं विधानं वा अवगततत्त्वस्य न भवतीत्याह—'ण एवं' इत्यादि, एवंभूतं प्राण्युपमर्द्देन चिकित्सोपदेशदानं करणं वा अनगारस्य-साधोः ज्ञातसंसारस्वभावस्य न जायते-न कल्पते, ये तु कामचिकित्सां व्याधिचिकित्सां वा जीवोपमर्द्देन प्रतिपादयन्ति ते बालाः-अविज्ञाततत्त्वाः तेषां वचनमवधीरणीयमेवेति भावार्थः। इतिः परिसमाप्त्यर्थे ब्रवीमि पूर्ववदिति । उक्तः पञ्चमोद्देशकः।

संयमदेहयात्रार्थं लोकमनुसरता साधुना लोके ममत्वं न कर्तव्यमित्युद्देशार्थाधिकारोऽभिहितः, सोऽधुना प्रतिपाद्यते, अस्य चानन्तरसूत्रसंबन्धो वाच्यो नैवमनगारस्य जायते इत्यभिहितम्, एतदेवात्रापि प्रतिपिपादयिषुराह-

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय तम्हा पावकम्मं नेव कुज्जा न कारवेज्जा। (सू० ९६)

यस्यानगारस्यैतत्पूर्वोक्तं न जायते सोऽनगारस्तत् प्राण्युपघातकारि चिकित्सोपदेशदानमनुष्ठानं वा संबुद्ध्यमानः-अवगच्छन् ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरन्नादातव्यम्-आदानीयम्; तच्च परमार्थतो भावादानीयं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं तद् 'उत्थाये' त्यनेकार्थत्वादादाय-गृहीत्वा, अथवा-सोऽनगार इत्येतदादानीयम्—ज्ञानाद्यपवर्गैककारणमित्येवं सम्यगवबुद्ध्यमानः सम्यक् संयमानुष्ठानेनोत्थाय सर्वं सावद्यं कर्म्म न मया कर्त्तव्यमित्येवं प्रतिज्ञामन्दिरमारुह्य, क्त्वाप्रत्ययस्य पूर्वकालाभिधायित्वात् किं कुर्यादित्याह-'तम्हा' इत्यादि यस्मात् संयमः—सर्वसावद्यारम्भनिवृत्तिरूपः तस्मात्तमादाय पापं पापहेतुत्वात्, कर्म्मक्रियां न कुर्यात् स्वतो मनसाऽपि न समनुजानीयादित्यवधारणफलम्, अपरेणाऽपि न कारयेदिति । आह च-'न कारवे' इत्यादि, अपरेणापि कर्मकरादिना पापसमारम्भं न कारयेदित्युक्तं भवति, प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहक्रोधमानमायालोभरागद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशून्यपरपरिवादारतिरतिमायामृषावादमिथ्यादर्शनशल्यरूपमष्टादशप्रकारं पापं कर्म्म स्वतो न कुर्यान्नाप्यपरेण कारयेद् एवकाराच्च अपरं कुर्वन्तं न समनुजानीयाद्योगत्रिकेणापीति भावार्थः ।

स्यादेतत्-किमेकं प्राणातिपातादिकं पापं कुर्वतोऽपरमपि ढौकते आहोस्विन्नेत्याह-

सिया तत्थ एगयरं विपरामुसइ छसु अन्नयरम्मि, कप्पइ सुहट्ठी लालप्पमाणे, सएण दुक्खेण मूढे विपरियासमुवेइ, सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ, जंसि मे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए नो तिकरणयाए, एस परिन्ना पवुच्चइ, कम्मोवसंति। (सू० ९७)

स्यात्तत्र—कदाचित्तत्र पापारम्भे एकतरं पृथिवीकायादिसमारम्भं विपरामृशति-पृथिवीकायादिसमारम्भं करोति, एकतरं वाऽऽश्रवद्वारं परामृशति—आरभते स षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्प्यते, यस्मिन्नेवालोच्यते तस्मिन्नेव प्रवृत्तो द्रष्टव्यः, इदमुक्तं भवति—पृथिवीकायादिषु षट्सु जीवनिकायेष्वाश्रवद्वारेषु वा मध्येऽन्यतरस्मिन्नपि प्रवर्त्तमानो यस्मिन्नेव पर्यालोच्यते तस्मिन्नेव कल्प्यते, सर्वस्मिन्नेव वर्त्तत इति भावार्थः । कथमन्यतरस्मिन् पृथिवीकायादिसमारम्भे वर्त्तमानोऽपरकायसमारम्भे सर्वपापसमारम्भे वा वर्त्तते इत्येवं मन्यते ?, कुम्भकारशालोदकप्लावनदृष्टान्तेनैककायसमारम्भकोऽपरकायसमारम्भको भवति । अथवा-प्राणातिपातास्रवद्वारविघटनादेकजीवातिपातादेककायातिपाताद्वा अपरजीवातिपाती द्रष्टव्यः, प्रतिज्ञालोपाच्चानृतः। न च तेन व्यापाद्यमानेनासुमताऽऽत्मा व्यापादकाय दत्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तीर्थकरेण चाननुज्ञातोऽतः प्राणिनः प्राणान् गृह्णन् दत्तग्राही, सावद्योपादानाच्च पारिग्राहिकः, परिग्रहाच्च मैथुनरात्रिभोजने अपि गृहीते, यतो नापरिगृहीतमुपभुज्यते परिभुज्यते चेत्यतोऽन्यतरारम्भे परेणामप्यारम्भः । अथवा--अनावृतचतुराश्रवद्वारस्य कथं चतुर्थषष्ठव्रतावस्थानं स्याद् ?, अतः षट्स्वन्यतरस्मिन् प्रवृत्तः सर्वेष्वपि प्रवृत्त इति, अथ वैकतरमपि पापसमारम्भं य आरभते स षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्पते-योग्यो भवति , अकर्तव्यप्रवृत्तत्वाद् , अथ वा-एकतरमपि यः पापारम्भं करोत्यसावष्टप्रकारं कर्मादय षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्पते--प्रभवति , पौनःपुन्येनोत्पद्यत इत्यर्थः , स्यात्--किमर्थमेवंविधं पापकं कर्म समारभते ? , तदुच्यते--' सुहट्ठी लालप्पमाणे ' सुखेनार्थः सुखार्थः स विद्यते यस्यासाविति मत्वर्थीयः , स एवम्भूतः सन्नत्यर्थं लपति पुनः पुनर्वा लपति लालप्यते वाचा कायेन धावनवल्गनादिकाः क्रियाः करोति मनसा च तत्साधनोपायांश्चिन्तयति । तथाहि--सुखार्थी सन् कृष्यादिकर्मभिः पृथिवीं समारभते, स्नानार्थमुदकं, वितापनार्थमग्निं,घर्मापनोदार्थं वायुम्,आहारार्थी वनस्पतिं, त्रसकायं वा इति असंयतः संयतो वा रससुखार्थी सचित्तं लवणवनस्पतिफलादि गृह्णात्येवमन्यदपि यथासंभवमायोज्यम् । स चैवं लालप्यमानः किंभूतो भवतीत्याह-' सएण ' इत्यादि, यत्तदुपात्तमन्यजन्मनि दुःखतरुकर्म्मबीजं तदात्मीयं दुःखतरुकार्यमाविर्भावयति , तच्च तेनैव कृतमित्यात्मीयमुच्यते, अतस्तेन स्वकीयेन दुःखेन--स्वकृतकर्म्मोदयजनितेन मूढः--परमार्थमजानानो विपर्यासमुपैति--सुखार्थी प्राण्युपघातकारणमारम्भमारभते, सुखस्य च विपर्यासो दुःखं तदुपैति । उक्तं च--" दुःखद्विद् सुखलिप्सु-र्मोहान्धत्वाददृष्टगुणदोषः । यां यां करोति चेष्टां , तया तया दुःखमादत्ते ॥ १ ॥ " यदि वा-- मूढो--हिताहितप्राप्तिपरिहाररहितो विपर्यासमुपैति-हितमप्यहितबुद्ध्याऽधितिष्ठत्यहितं च हितबुद्ध्येति , एवं कार्याकार्यपथ्यापथ्यवाच्यावाच्यादिष्वपि विपर्यासो योज्यः । इदमुक्तं भवति-मोहोऽज्ञानं मोहनीयभेदो वा, तेनोभयप्रकारेणापि मोहेन मूढोऽल्पसुखकृते तत्तदारभते येन शारीरमानसदुःखव्यसनोपनिपातानामनन्तमपि कालं पात्रतां व्रजतीति । पुनरपि मूढस्यानर्थपरम्परां दर्शयितुमाह--' सएण ' इत्यादि-स्वकीयेनात्मना कृतेन प्रमादेन मद्यादिना विविधमिति मद्यविषयकषायविकथानिद्राणां स्वभेदग्रहणम्,तेन पृथग्-विभिन्नं व्रतं करोति । यदि वा-पृथु विस्तीर्णम् ' वय ' मिति-वयन्ति-पर्यटन्ति प्राणिनः स्वकीयेन कर्म्मणा यस्मिन् स वयः-संसारस्तं प्रकरोति, एकैकस्मिन् काये दीर्घकालावस्थानाद् । यदि वा--कारणे कार्योपचारात् स्वकीयेन नानाविधप्रमादकृतेन कर्म्मणा वयः--अवस्थाविशेषस्तमेकेन्द्रियादिकललार्बुदादितद्दहर्जातबालादिव्याधिगृहीत--दारिद्र्यदौर्भाग्यव्यसनोपनिपातादिरूपं प्रकर्षेण करोति-विधत्त इति । तस्मिंश्च संसारेऽवस्थाविशेषे वा प्राणिनः पीड्यन्ते इति दर्शयितुमाह--' जंसि मे ' इत्यादि, यस्मिन् स्वकृतप्रमादापादितकर्म्मविपाकजनिते चतुर्गतिकसंसारे एकेन्द्रियाद्यवस्थाविशेषे वा इमे--प्रत्यक्षगोचरीभूताः ' प्राणा ' इत्यभेदोपचारात्प्राणिनः प्रव्यथिताः--नानाप्रकारैर्व्यसनोपनिपातैः पीडिताः, सुखार्थिभिरारम्भप्रवृत्तैर्मोहाद्विपर्यस्तैः प्रमादवद्भिश्च गृहस्थैः पापण्डिकैर्यत्याभासैश्चेति वा । यदि नाम अत्र प्रव्यथिताः प्राणिनस्ततः किमित्याह--' पडि ' इत्यादि एतत् संसारचक्रवाले स्वकृतकर्म्मफलेश्वराणामसुमतां गृहस्थादिभिः परस्परतो वा कर्म्मविपाकतो वा प्रव्यथनं प्रत्युपेक्ष्य विदितवेद्यः साधुर्निश्चयेन नितरां वा नियतं वा क्रियन्ते नानादुःखावस्था जन्तवो येन तन्निकरणं निकारः--शारीरमानसदुःखोत्पादनं तस्मै नो कर्म्म कुर्याद् , येन प्राणिनां पीडोत्पद्यते तमारम्भं न विदध्यादिति भावार्थः । एवं च सति किं भवतीत्याह--' एस ' इत्यादि, येयं सावद्ययोगनिवृत्तिरेषा परिज्ञा--एतत्तत्त्वतः परिज्ञानं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते, न पुनः शैलूषस्येव ज्ञानं निवृत्तिफलरहितमिति । एवं द्विविधयाऽपि ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्राणिनिकारपरिहारे सति किं भवतीत्याह--' कम्मोवसंति ' त्ति कर्म्मणाम्--अशेषद्वन्द्वव्रातात्मकसंसारतरुबीजभूतानामुपशान्तिः--उपशमः कर्मक्षयः प्राणिनिकारक्रियानिवृत्तेर्भवतीत्युक्तं भवति ।

अस्य च कर्म्मक्षयप्रत्यूहस्य प्राणिनिकरणस्य मूलमात्मात्मीयग्रहः, तदपनोदार्थमाह--

जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं, से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स नऽत्थि ममाइयं, तं परिन्नाय मेहावी वीइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मइमं परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि ॥ " नारइं सहई वीरे, वीरे न सहई रतिं । जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जइ ॥ १ ॥ " (सू० ६८)

ममायितं--मामकं तत्र मतिर्ममायितमतिस्तां यः परिग्रहविपाकज्ञो जहाति--परित्यजति स ममायितं--स्वीकृतं परिग्रहं जहाति--परित्यजति । इह द्विविधः परिग्रहो-द्रव्यतो,भावतश्च । तत्र परिग्रहमतिनिषेधादान्तरो भावपरिग्रहो निषिद्धः, परिग्रहबुद्धिविषयप्रतिषेधाच्च बाह्यो द्रव्यपरिग्रह इति । अथवा-काका नीयते,यो हि परिग्रहाध्यवसायकलुषितं ज्ञानं परित्यजति स एव परमार्थतः सबाह्याभ्यन्तरं परिग्रहं परित्यजति,ततश्चेदमुक्तं भवति-सत्यपि सम्बन्धमात्रे चित्तस्य परिग्रहकालुष्याभावान्नगरादिसम्बन्धः पृथ्वीसम्बन्धेऽपि जिनकल्पिकस्येव निष्परिग्रहतैव । यदि नामैवं ततः किमित्याह-' से हु ' इत्यादि, यो हि मोक्षैकचित्तहेतोः संसारभ्रमणकारणात् परिग्रहान्निवृत्ताध्यवसायः, हु-अवधारणे, स एव मुनिः; दृष्टो ज्ञानादिको मोक्षपथो येन स दृष्टपथः, यदिवा-दृष्टभयः--अवगतसप्तप्रकारभयः शरीरादेः परिग्रहात्साक्षात्पारम्पर्येण वा पर्यालोच्यमानं सप्तप्रकारमपि भयमापनीपद्यत इत्यतः परिग्रहपरित्यागे ज्ञातभयत्वमवसीयत इति । एतदेव पूर्वोक्तं स्पष्टयितुमाह--' जस्स ' इत्यादि यस्य ममायितं--स्वीकृतं परिग्रहो न विद्यते स दृष्टभयो मुनिरिति संबन्धः । किं च--' तं ' इत्यादि, तम्--पूर्वव्यावर्णितस्वरूपं परिग्रहं द्विविधयाऽपि परिज्ञया परिज्ञाय मेधावी--ज्ञातज्ञेयो विदित्वा लोकम्--परिग्रहाग्रहयोगविपाकिनमेकेन्द्रियादिप्राणिगणं वान्त्वा-उद्गीर्य लोकस्य--प्राणिग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एस्य संज्ञा दशप्रकारा अतस्ताम् ' स ' इति-मुनिः, किं-
भूतो ?, मतिमान्-सदसद्विवेकज्ञः ' पराक्रमेथाः-संयमानु-
ष्ठाने समुद्यच्छः , संयमानुष्ठानोद्योगं सम्यग्विदध्या इति
यावद्। अथवा-अष्टप्रकारं कर्म्मारिषड्वर्गं वा विषयकषायान्
वा पराक्रमस्वेति । इतिरधिकारसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।
स एवं सयमानुष्ठाने पराक्रममाणस्त्यक्तपरिग्रहाग्रहयोगो
मुनिः किंभूतो भवतीत्याह-तस्य हि त्यक्तगृहगृहिणीधन-
हिरण्यादिपरिगृहस्य निष्किञ्चनस्य संयमानुष्ठानं कुर्वतः
साधोः कदाचिन्मोहनीयोदयादरतिराविः स्यात् , तामुत्पन्नां
संयमविषयां न सहते-न क्षमते, कोऽसौ ? विशेषेणेरयति-
प्रेरयति अष्टप्रकारं कर्म्मारिषड्वर्गं वेति वीरः-शक्तिमान् , स
एव वीरोऽसंयमे विषयेषु परिग्रहे वा या रतिरुत्पद्यते ताम्
न सहते न मर्षति, या चारतिः संयमे, विषयेषु च रतिस्ता-
भ्यां विमनीभूतः शब्दादिषु न रज्यति, अतो रत्यरतिपरि-
त्यागाच्च विमनस्को भवति नापि रागमुपयातीति दर्शयति-
यस्मात्त्यक्तरत्यरतिरविमना वीरस्तस्मात् कारणाद्वीरो
न रज्यति-शब्दादिविषयग्रामे न गार्द्ध्यं विदधाति ।

यत एवं ततः किमित्याह-

सद्दे फासे अहियासमाणे, निव्विद नंदिं इह जीवियस्स ।
मुणी मोणं समायाय, धुणे कम्मसरीरगं ॥ २ ॥
पंतं लूहं सेवंति वीरा, संमत्तदंसिणो एस ।
ओहंतरे मुणी तिन्ने मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ॥
(सू० ९९)

यस्माद्वीरो रत्यरती निराकृत्य शब्दादिषु विषयेषु मनोज्ञेषु
न रागमुपयाति, नापि द्विष्टेषु द्वेषम् , तस्माच्छब्दान् स्पर्शांश्च
मनोज्ञेतरभेदभिन्नान् ' अहियासमाणे ' त्ति सम्यक् सहमानो
निर्विन्द नन्दीत्युत्तरसूत्रेण सम्बन्धः, एतदुक्तं भवति-मनो-
ज्ञान् शब्दान् श्रुत्वा न रागमुपयाति, नापीतरान् द्वेष्टि
आद्यन्तग्रहणाच्चेतरेषामप्युपादानं द्रष्टव्यम् , तत्रा-
प्यतिसहनं विधेयमिति । उक्तञ्च—" सद्देसु अ भद्द-
यपा-वएसु सोअविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व ,
समणेण सया न होअव्वं ॥ १ ॥ एवं रूवेसु अ भद्दयपा-व-
एसु० । तहा गंधेसु अ० ॥ " इत्यादि वाच्यम् , ततश्च श-
ब्दादीन्विषयानतिसहमानः किं कुर्यादित्याह-' निव्विद '
इत्यादि, इहोपदेशगोचरापन्नो विनेयोऽभिधीयते , सामा-
न्येन वा मुमुक्षोरयमुपदेशः, निर्विन्दस्व—जुगुप्सस्व ऐश्व-
र्यविभवात्मिका मनसस्तुष्टिर्नन्दिस्ताम् इह—मनुष्यलोके
यज्जीवितमसंयमजीवितं वा तस्य या नन्दिः—तुष्टिः प्र-
मोदो यथा ममैतत्समृद्ध्यादिकमभूद्भवति भविष्यति वे-
त्येवंविकल्पजनितां नन्दीं जुगुप्सस्व-यथा किमनया पापो-
पादानहेतुभूतयाऽस्थिरयेति ?, उक्तं च—"विभव इति किं
मदस्त ?, च्युतविभवः किं विषादमुपयासि ? । करनिहि-
तकन्दुकसमाः, पातोत्पाता मनुष्याणाम् ॥ १ ॥ " एवं रू-
पबलादिष्वपि वाच्यम् , सनत्कुमारदृष्टान्तेनेति, अथवा-
पञ्चानामप्यतीचाराणामतीतं निन्दति प्रत्युत्पन्नं संवृणो-
त्यनागतं प्रत्याचष्टे । स्यादेतत्—किमालम्ब्य करोतीत्याह-
' मुणी ' त्यादि , मुनिस्त्रिकालवेदी यतिरित्यर्थः, मुनेरयं
मौनः-संयमः , यदि वा-मुनेर्भावः मुनित्वं तदप्यसावेव,
मौनं वा वाचः संयमनम् , अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् का-
यमनसोरपि , अतः सर्वथा संयममादाय, किं कुर्यात् ?-
धुनीयात् कर्म्मशरीरकम् औदारिकादिशरीरं वा , अथ-
वा—' धुनीहि ' विवेचय पृथक्कुरु-तदुपरि ममत्वं मा वि-
धत्स्वेति भावार्थः । कथं तच्छरीरकं धूयते , ममत्वं वा
तदुपरि न कृतं भवतीत्याह-' प्रान्तं-स्वाभाविकरसरहितं
स्वल्पं वा रूक्षम्-आगन्तुकस्नेहादिरहितं द्रव्यतो भावतो-
ऽपि प्रान्तम्-द्वेषरहितं विगतधूमं रूक्षम्-रागरहितमप-
गताङ्गारं सेवन्ते-भुञ्जते, के ? वीराः-साधवः । किंभूताः ?
समत्वदर्शिनः रागद्वेषरहिताः सम्यक्त्वदर्शिनो वा-सम्यक्
तत्त्वं सम्यक्त्वं तद्दर्शिनः परमार्थदृशः , तथाहि-इदं श-
रीरकं कृतघ्नं निरुपकारि , एतत्कृते प्राणिनः ऐहिकामु-
ष्मिकक्लेशभाजो भवन्ति , अनेकादेशे चैकादेश इति कृ-
त्वा , प्रान्तरूक्षसेवी समत्वदर्शी च कं गुणमवाप्नोतीत्या-
ह-' एस ' इत्यादि , एष इति प्रान्तरूक्षाहारसेवनेन क-
र्म्मादिशरीरं धुनानो भावतो भवौघं तरतीति । कोऽसौ ?
मुनिः-यतिः , अथवा-क्रियमाणं कृतमिति कृत्वा तीर्ण
एव भवौघम् । कश्च भवौघं तरति ?—यो मुक्तः—स-
बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः, कश्च परिग्रहान्मुक्तो भव-
ति ?-यो भावतः शब्दाऽऽदिविषयाभिष्वङ्गाद्विरतः, ततश्च
यो मुक्तत्वेन विरतत्वेन वा विख्यातो मुनिः स एव भवौ-
घं तरति , तीर्ण एवेति वा स्थितम् । इतिः अधिका-
रपरिसमाप्तौ , ब्रवीमीति पूर्ववत् । यश्च मुक्तत्ववि-
रतत्वाभ्यां न विख्यातः स किंभूतो भवतीत्याह—
(" दुव्वसुमुणी " इत्यादि सूत्राणि ' धम्मकहा ' शब्दे
चतुर्थभागे २७१२ पृष्ठे प्रसङ्गाद् गतानि।) तद्व्याख्या-चेयम्-
वसु—द्रव्यमेतच्च भव्येऽर्थे व्युत्पादितं ' द्रव्यं च भव्य '
इत्यनेन, भव्यश्च-मुक्तिगमनयोग्यः ततश्च मुक्तिगमनयोग्यं यद्
द्रव्यम् तद् वसु, दुष्टं वसु दुर्वसु, दुर्वसु चासौ मुनिश्च दुर्व-
सुमुनिः—मोक्षगमनाऽयोग्यः । स च कुतो भवति ?—अना-
ज्ञया—तीर्थकरोपदेशशून्यः स्वैरीत्यर्थः, किमत्र तीर्थकरो-
पदेशे दुष्करं येन स्वैरित्वमभ्युपगम्यते ? , तदुच्यते—उद्दे-
शकादेरारभ्य सर्वं यथा सम्भवमायोज्यम् , तथाहि-मिथ्या-
त्वमोहिते लोके संबोद्धुं दुष्करं व्रतेष्वात्मानमध्यारोपयितुं
रत्यरती निगृहीतुं शब्दादिविषयेष्विष्टानिष्टेषु मध्यस्थतां
भावयितुं प्रान्तरूक्षाणि भोक्तुम् , एवं यथोद्दिष्टया मौनीन्द्रा-
ज्ञया असिधारकल्पया दुष्करं सञ्चरितुं तथाऽनुकूलप्रतिकू-
लांश्च नानाप्रकारानुपसर्गान् सोढुम्,असहने च कर्म्मोदयो-
ऽनाद्यतीतकालसुखभावना च कारणम् , जीवो हि स्वभा-
वतो दुःखभीरुरनिरोधसुखप्रियः, अतो निरोधकल्पाया-
माज्ञायां दुःखं वसति, अवसंश्च किंभूतो भवतीत्याह—' तु-
च्छ ' इत्यादि, तुच्छो-रिक्तः, स च द्रव्यतो निर्धनो घटा-
दिर्वा जलादिरहितो, भावतो ज्ञानादिरहितः, ज्ञानादिरहि-
तो हि क्वचित्संशीतिविषये केनचित्पृष्टोऽपरिज्ञानात् ग्ला-
यति वक्तुम्, ज्ञानसमन्वितो वा चारित्ररिक्तः पूजासत्कार-
भयात् शुद्धमार्गप्ररूपणावसरे ग्लायति यथावस्थितं प्रज्ञा-
पयितुम्,तथाहि-प्रवृत्तसन्निधिः सन्निधेर्निर्दोषतामाचष्टे,एव-
मन्यत्रापीति । यस्तु कषायमहाविषागदकल्पभगवदाज्ञोप-
जीवकः स सुवसुमुनिर्भवत्यरिक्तो न ग्लायति च वक्तुम् ,
यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानाद् अनुष्ठानाच्च । आह च—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'एस' इत्यादि, 'एष' इति सुवसुमुनिर्ज्ञानाद्यरिक्तो यथावस्थितमार्गप्ररूपको वीरः कर्म्मविदारणात् प्रशंसितः तद्विद्भिः श्लाघित इति । किञ्च—'अच्चेइ' त्यादि, स एवं भगवदाज्ञानुवर्त्तको वीरोऽत्येति—अतिक्रामति, कं लोकसंयोगम्—लोकनासंयतलोकेन संयोगः—सम्बन्धः ममत्वकृतस्तमत्येति, अथवा–लोको बाह्योऽभ्यन्तरश्च, तत्र बाह्यो–धनहिरण्यमातापित्रादिः, आन्तरस्तु–रागद्वेषादिस्तत्कार्यं वा अष्टप्रकारं कर्म्म तेन सार्द्धं संयोगमत्येति–आतलङ्घयतीत्युक्तं भवति । यदि नामैवं ततः किमित्याह–'एस' इत्यादि, योऽयं लोकसंयोगातिक्रमः एष न्यायः–एष सन्मार्गः मुमुक्षूणामयमाचारः प्रोच्यते–अभिधीयते, अथवा–परम्—आत्मानं च मोक्षं नयतीति छान्दसत्वात्कर्त्तरि घञ्–नायः ; यो हि त्यक्तलोकसंयोग एष एव परात्मनो मोक्षस्य नायः प्रोच्यते–मोक्षप्रापकोऽभिधीयते सदुपदेशात् । स्यादेतत् किंभूतोऽसावुपदेश इत्यत आह–यद्दुःखं दुःखकारणं वा कर्म्मलोकसंयोगात्मकं वा प्रवेदितम्–तीर्थकृद्भिरावेदितम् इह–अस्मिन् संसारे मानवानाम्–जन्तूनाम्, ततः किम् ?–तस्य दुःखस्य–असातलक्षणस्य कर्मणो वा कुशला–निपुणा धर्मकथालब्धिसम्पन्नाः स्वसमयपरसमयविद उद्युक्तविहारिणः यथावादिनस्तथाकारिणो जितनिद्रा जितेन्द्रिया देशकालादिक्रमज्ञास्ते एवंभूताः परिज्ञाम्– उपादानकारणपरिज्ञानं निरोधकारणपरिच्छेदं चोदाहरन्ति–ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरन्ति परिहारयन्ति च । किं च–'इतिकम्मं' इत्यादि, इतिः–पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शको यत्तद्दुःखंप्रवेदितं मनुजानाम्, यस्य च दुःखस्य परिज्ञां कुशला उदाहरन्ति तद्दुःखं कर्म्मकृतं तत्कर्म्माष्टप्रकारं परिज्ञाय तदा–श्रवद्वाराणि च । तद्यथा–ज्ञानप्रत्यनीकतया ज्ञानावरणीयमित्यादि, प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्याय तदाश्रवद्वारेषु सर्वशः–सर्वैः प्रकारैर्योगत्रिककरणत्रिकरूपैर्न वर्त्तेत, अथवा–सर्वशः परिज्ञाय कथयति, सर्वशः परिज्ञानं च केवलिनो गणधरस्य चतुर्द्दशपूर्वविदो, वा यदिवा–सर्वशः कथयति, आक्षेपण्याद्या चतुर्विधया धर्मकथयेति । सा च कीदृक्कथेत्याह–'जे' इत्यादि, अन्यद् द्रष्टुं शीलमस्येत्यन्यदर्शी यस्तथा नासावनन्यदर्शी–यथावस्थितपदार्थद्रष्टा, कश्चैवंभूतो ?–यः सम्यग्दृष्टिर्मौनीन्द्रप्रवचनाविर्भूततत्त्वार्थः, यश्चानन्यदृष्टिः सोऽनन्यारामो–मोक्षमार्गादन्यत्र न रमते । हेतुहेतुमद्भावेन सूत्रं लगयितुमाह–'जे' इत्यादि, यश्च भगवदुपदेशादन्यत्र न रमते सोऽनन्यदर्शी, यश्चैवम्भूतः सोऽन्यत्र न रमत इति । उक्तं च–"शिवमस्तु कुशास्त्राणां, वैशेषिकषष्टितन्त्रबौद्धानाम् । येषां दुर्विहितत्वा–द्भगवत्यनुरज्यते चेतः ॥ १ ॥" इत्यादि । तदेवं सम्यक्त्वस्वरूपमाख्यातम्, कथञ्चारक्तद्विष्टः कथयतीति दर्शयति–'जहा पुण्णस्स' इत्यादि, तीर्थकरगणधराचार्यादिना येन प्रकारेण पुण्यवतः–सुरेश्वरचक्रवर्त्तिमाण्डलिकादेः कथ्यते–उपदेशो दीयते तथा–तेनैव प्रकारेण तुच्छस्य–द्रमकस्य काष्ठहारकादेः कथ्यते, अथवा—पूर्णो—जातिकुलरूपाद्युपेतस्तद्विपरीतस्तुच्छः, विज्ञानवान् वा पूर्णस्ततोऽन्यस्तुच्छ इति, उक्तं च—"ज्ञानैश्वर्यधनोपेतो, जात्यन्वयबलान्वितः । तेजस्वी मतिमान् ख्यातः, पूर्णस्तुच्छो विपर्ययात् ॥ १ ॥" एतदुक्तं भवति, यथा—द्रमकादेस्तदनुग्रहबुद्धया प्रत्युपकारनिरपेक्षः कथयत्येवं चक्रवर्त्यादेरपि, यथा वा चक्रवर्त्यादेः कथयत्यादरेण संसारोत्तरणहेतुमेवमितरस्यापि । अत्र च निरीहता विवक्षिता । न पुनरयं नियमः—एकरूपतयैव कथनीयम्, तथाहि—यो यथा बुध्यते तस्य तथा कथ्यते, बुद्धिमतो निपुणं स्थूलबुद्धेस्त्वन्यथेति, राज्ञश्च कथयता तदभिप्रायमनुवर्त्तमानेन कथनीयम् ; किमसावभिगृहीतमिथ्यादृष्टिरनभिगृहीतो वा संशीत्यापन्नो वा ?, अभिगृहीतोऽपि कुतीर्थिकैर्व्युद्ग्राहितः स्वत एव वा ?, तस्य चैवम्भूतस्य यद्येवं कथयेद्यथा—"दशसूनासमश्चक्री, दशचक्रिसमो ध्वजः । दशध्वजसमा वेश्या, दशवेश्यासमो नृपः ॥ १ ॥" तद्भक्तिविषयरुद्रादिदेवताभवनचरितकथने च मोहोदयात्तथाविधकर्म्मोदये कदाचिदसौ प्रद्वेषमुपगच्छेद्, द्विष्टश्चैतद्विदध्यादित्याह च—अपिः सम्भावने, आस्तां तावद्वाचा तर्ज्जनम्, अनाद्रियमाणो हन्यादपि, चशब्दादन्यदप्येवं जातीयक्रोधाभिभूतो दण्डकशादिना ताडयेदिति । उक्तं च—"तत्थेव य निट्ठवणं, बंधणनिच्छुभणकडगमद्दो वा । निव्विसयं व नरिंदो, करेज्ज संघं पि सो कुद्धो ॥ १ ॥" तथा तच्चनिकोपासको नन्दबलात् बुद्धोत्पत्तिकथानकाद्भागवतो वा भल्लिगृहोपाख्यानाद्रौद्रो वा पेढालपुत्रसत्यक्युमाव्यतिकराकर्णनात् प्रद्वेषमुपगच्छेत्, द्रमककाणकुण्टादिर्वा कश्चित्तमेवोद्दिश्योद्दिश्य धर्म्मफलोपदर्शनेनेति । एवमविधिकथनेनेहैव तावद्बाधा, आमुष्मिकोऽपि न कश्चिद्गुणोऽस्तीत्याह च—'एत्थं पि' इत्यादि, मुमुक्षोः परहितार्थं धर्मकथां कथयतस्तावत्पुण्यमस्ति, परिषदं त्वविदित्वाऽनन्तरोपवर्णितस्वरूपकथने अत्रापि–धर्म्मकथायामपि श्रेयः—पुण्यमित्येतन्नास्तीत्येवं जानीहि, यदिवा असौ—राजादिरनाद्रियमाणस्तं—साधुं धर्म्मकथिकमपि हन्यात् । कथमित्याह—'एत्थं पी' त्यादि, यद्यदसौ पशुवधतर्प्पणादिकं धर्मकारणमुपन्यस्यति तत्तदसौ धर्म्मकथिकोऽत्रापि श्रेयो न विद्यते इत्येवं प्रतिहन्ति, यदिवा–यद्यदविधिकथनं तत्र तत्रेदमुपतिष्ठते–अत्रापि श्रेयो नास्तीति, तथाहि–अक्षरकोविदपारिषदि पक्षहेतुदृष्टान्ताननादृत्य प्राकृतभाषया कथनमविधिरितरस्यां चान्यथेति । एवं च प्रवचनस्य हीलनैव केवलं कर्म्मबन्धश्च, न पुनः श्रेयो, विधिमजानानस्य मौनमेव श्रेय इति । उक्तं च—"सावज्जणवज्जाणं, वयणाणं जो न याणइ विसेसं । वुत्तुं पि तस्स न खमं, किमंग ? पुण देसणं काउं ? ॥ १ ॥" स्यादेतत्—कथं तर्हि धर्म्मकथा कार्येत्युच्यते—कोऽयम्–इत्यादि, यो हि वश्येन्द्रियो विषयविषपराङ्मुखः संसारोद्विग्नमना वैराग्याकृष्यमाणहृदयो धर्म्मं पृच्छति, तेनाचार्यादिना धर्म्मकथिकेनासौ पर्यालोचनीयः—कोऽयं पुरुषः ?, मिथ्यादृष्टिरुत भद्रकः, केन वाऽऽशयेनाऽयं पृच्छति, कं च देवताविशेषं नतः, किमनेन दर्शनमाश्रितमित्येवमालोच्य यथायोगमुत्तरकालं कथनीयम्, एतदुक्तं भवति—धर्म्मकथाविधिज्ञो ह्यात्मना परिपूर्णः श्रोतारमालोचयति द्रव्यतः, क्षेत्रतः—किमिदं क्षेत्रं तच्चानेकभागवतर–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्यैर्वा तज्जातीयैः पार्श्वस्थादिभिर्वोत्सर्गरुचिभिर्वा भावितम्, कालतो–दुष्षमादिकं कालं दुर्लभद्रव्यकालं वा, भावतो–अरक्तद्विष्टमध्यस्थभावापन्नमेवं पर्यालोच्य यथा यथा असौ बुध्यते तथा तथा धर्म्मकथा कार्या, एवमसौ धर्म्मकथायोग्यः, अपरस्य त्वधिकार एव नास्तीति। उक्तं च— " जो हेउवायपक्ख-म्मि हेउओ आगमम्मि आगमिओ। सो ससमयपरणवओ, सिद्धंतविराहओ अरणो ॥ १ ॥ " य एवं धर्म्मकथाविधिज्ञः स एव प्रशस्त इत्याह च—' एस ' इत्यादि, यो हि पुरयापुरयवतो धर्म्मकथासमदृष्टिर्विधिज्ञः श्रोतृविवेचकः एषः—अनन्तरोक्तो वीरः—कर्म्मविदारकः प्रशंसितः—श्लाघितः। किंभूतश्च यो भवतीत्याह– ' जे वद्धे ' इत्यादि, यो ह्यष्टप्रकारेण कर्म्मणा स्नेहनिगडादिना वा बद्धानां जन्तूनां प्रतिमोचकः धर्म्मकथोपदेशदानादिना स च तीर्थकृद्गणधर आचार्यादिर्वा यथोक्तधर्म्मकथाविधिज्ञ इति। क पुनर्व्यवस्थितान् जन्तून् मोचयतीत्याह—' उड्ढं ' इत्यादि, ऊर्द्ध–ज्योतिष्कादीन् अधोभवनपत्यादीन् तिर्यक्षु—मनुष्यादीनिति। किं च—' से सव्वओ ' इत्यादि, ' स ' इति–वीरो बद्धप्रतिमोचकः सर्वतः—सर्वकालं सर्वपरिज्ञया द्विविधयाऽपि चरितुं शीलमस्येति सर्वपरिज्ञाचारी—विशिष्टज्ञानान्वितः सर्वसंवरचारित्रोपेतो वा, स एवंभूतः कं गुणमवाप्नोतीत्याह— ' न लिप्पई ' त्यादि, न लिप्यते—नावगुण्ठ्यते, केन ? क्षणपदेन—हिंसास्पदेन प्राण्युपमर्दजनितेन, ' क्षणु हिंसायामित्यस्यैतद्रूपम्। कोऽसौ ?, वीर इति। किमेतावदेव वीरलक्षणमुतान्यदप्यस्तीत्याह—' से मेहावी ' त्यादि, स मेधावी—बुद्धिमान् यः अणोद्घातनस्य खेदज्ञः—अणत्यनेन जन्तुगणश्चतुर्गतिकं संसारमित्यणं—कर्म्म तस्य उत्–प्राबल्येन घातनम्–अपनयनं तस्य तत्र वा खेदज्ञो–निपुणः, इह हि कर्म्मक्षपणोद्यतानां मुमुक्षूणां यः कर्म्मक्षपणविधिज्ञः स मेधावी कुशलो वीर इत्युक्तं भवति, किं चान्यत्–' जे य ' इत्यादि, यश्च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपस्य चतुर्विधस्यापि बन्धस्य यः प्रमोक्षः तदुपायो वा तमन्वेष्टुं–मृगयितुं शीलमस्येत्यन्वेषी, यश्चैवम्भूतः स वीरो मेधावी खेदज्ञ इति पूर्वेण सम्बन्धः, 'अणोद्घातनस्य खेदज्ञ' इत्यनेन मूलोत्तरप्रकृतिभेदाभिन्नस्य योगनिमित्तायातस्य कषायस्थितिकस्य कर्म्मणो बध्यमानावस्थां बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितरूपां तदपनयनोपायं च वेत्तीत्येतदभिहितम्, अनेन चापनयनानुष्ठानमिति न पुनरुक्तदोषानुषङ्गः प्रसजति। स्यादेतत्—योऽयमणोद्घातनस्य खेदज्ञो–बन्धमोक्षान्वेषको वाऽभिहितः स किं छद्मस्थ आहोस्वित् केवली ?, केवलिनो यथोक्तविशेषणासम्भवाच्छद्मस्थग्रहणम्, केवलिनस्तर्हि का वार्त्तेति ?, उच्यते—' कुसले ' इत्यादि। (आचा०) (आरम्भविषयः ' आरंभ " शब्दे २ भागे ३७२ पृष्ठ गतः।) यद्यद्भगवदनाचीर्णं—परिहार्यं तन्नामग्राहमाह—' छणं-छणं ' इत्यादि, क्षणु हिंसायाम्, क्षणनं क्षणो–हिंसनं कारणे कार्योपचारात्, येन येन प्रकारेण हिंसोत्पद्यते तत्तज्ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेद्, यदिवा— क्षणः— अवसरः कर्त्तव्यकालस्तं तं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा आसेवनापरिज्ञया च आचरेदिति। किं च—' लोयसन्नं ' इत्यादि, लोकस्य गृहस्थलोकस्य संज्ञानं संज्ञा– विषयाभिष्वङ्गजनितसुखेच्छा परिग्रहसंज्ञा वा, तां च ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरेत्, कथं ?–सर्वशः सर्वैः प्रकारैर्योगत्रिककरणत्रिकेणेत्यर्थः, तस्यैवंविधस्य यथोक्तगुणावस्थितस्य धर्म्मकथाविधिज्ञस्य बद्धप्रतिमोचकस्य कर्म्मोद्घातनखेदज्ञस्य बन्धमोक्षान्वेषिणः सत्पथव्यवस्थितस्य कुमार्गनिराचिकीर्षोर्हिंसाद्यष्टादशपापस्थानविरतस्यावगतलोकसंज्ञस्य यद्भवति तद्दर्शयति—उद्दिश्यते नारकादिव्यपदेशेनेत्युद्देशः, स पश्यकस्य— परमार्थदृशो न विद्यते इत्यादीनि च सूत्राण्युद्देशकपरिसमाप्तिं यावत्तृतीयोद्देशके व्याख्यातानि, तत एवार्थोऽवगन्तव्यः, आक्षेपपरिहारौ चेति। तानि चामूनि— बालः पुनर्निहः कामसमनुज्ञः अशमितदुःखः दुःखी— दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तते। इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्। उक्तः षष्ठोद्देशकः ॥ तत्परिसमाप्तौ चोक्तः सूत्रानुगमः सूत्रालापकनिष्पन्नः, निक्षेपश्च ससूत्रस्पर्शनिर्युक्तिकः। साम्प्रतं नैगमादयो नयाः, ते चान्यत्र न्यक्षेण प्रतिपादिता इति नेह प्रतन्यन्ते, संक्षेपतस्तु ज्ञानक्रियानयद्वयान्तर्गतत्वात्तेषां तावेव प्रतिपाद्येते, तयोरप्यात्मीयपक्षसावधारणतया मोक्षाङ्गत्वाभावात् प्रत्येकं मिथ्यादृष्टित्वम्; अतः पङ्ग्वन्धवत् परस्परसापेक्षतयेष्टकार्यावाप्तिरवगन्तव्येति उपगम्यते। आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०। लोककषायविजये, संथा०।

लोगवियस्सि (न्)–लोकविदर्शिन्–त्रि०। लोकं विषयानुषङ्गावाप्तदुःखातिशयं तथा त्यक्तकामावाप्तप्रशमसुखं विविधं द्रष्टुं शीलमस्येति लोकविदर्शी, अथवा—लोकस्योर्ध्वाधस्तिर्यग्भागगतिकारणायुष्कसुखदुःखविशेषान् पश्यतीति लोकविदर्शी। लोकस्य विशेषतो द्रष्टरि, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

लोगवित्त–लोकवृत्त–न०। आहारभयमैथुनपरिग्रहोत्कटसंज्ञात्मके लोकस्य वृत्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

लोगविरुद्ध–लोकविरुद्ध–न०। बहुजनविरोधहेतुभूतानुष्ठानविशेषे, पञ्चा० २ विव०। जननिन्द्ये, जीवा० १३ अधि०। लोकविरुद्धं लोकस्य निन्दाविशिष्टस्य च गुणसमृद्धस्येयम्, आत्मोत्कर्षश्च, यतः—" परपरिभवपरिवादा–दात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म। नीचैर्गोत्रं प्रतिभव–मनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥१॥" तथा–ऋजूनामुपहासः, गुणवत्सु मत्सरः, कृतघ्नत्वं च, बहुजनविरुद्धैः सह सङ्गतिः, जनमान्यानामवज्ञा, धर्मिणां स्वजनानां वा व्यसने तोषः, शक्तौ तदप्रतीकारः, देशाद्युचिताचारलङ्घनम्, वित्ताद्यननुसारेणात्युद्भटातिमलिनवेषादिकरणम्, एवमादिलोकविरुद्धमिहाप्यपकीर्त्यादिकृत्। यदाह वाचकमुख्यः-"लोकः खल्वाधारः, सर्वेषां धर्म्मचारिणां यस्मात्। तस्माल्लोकविरुद्धं, धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ॥१॥"तत्त्यागे च जनानुरागस्वधर्मनिर्वाहरूपो गुणः। आह च–"एआइँ परिहरंतो, सव्वस्स जणस्स वल्लहो होइ। जणवल्लहत्तणं पुण, नरस्स सम्मत्ततरुबीयं ॥ १ ॥ " ध० २ अधि०।

लोगविरुद्धच्चाय–लोकविरुद्धत्याग–पुं०। सर्वजननिन्दादिलोकविरुद्धानुष्ठानवर्जने, ध० २ अधि०। ल०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगसएणा—लोकसंज्ञा—स्त्री० । मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमनात् शब्दाद्यर्थगोचरायां सामान्यावबोधक्रियायाम्, प्रज्ञा० १० पद । लोकसंज्ञा—स्वच्छन्दघटितविकल्परूपा लौकिकाचरिता, यथा–न सन्त्यनपत्यस्य लोकाः, श्वानो–यक्षाः, विप्रा-देवाः, काकाः–पितामहाः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अथ निर्वेदी जीवः मोक्षसाधनोद्यमवर्ती लोकसंज्ञायां न मुह्यति, लोकसंज्ञा हि धर्मसाधनव्याघातकरा आप्तैस्त्याज्या इति, तदुपदेशरूपं लोकसंज्ञात्यागाष्टकं विस्तार्यते । लोकः, सप्तविधः—नामलोकः—शब्दालापरूपः, स्थापनालोकः—अक्षरः, लोकनालियन्त्रन्यासरूपः, रूप्यजीवाजीवात्मकः–द्रव्यलोकः, ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणः–क्षेत्रलोकः, समयावल्यादिकालपरिमाणलक्षणः–काललोकः, नरनारकादिचतुर्गतिरूपः–भवलोकः, औदयिकादिभावपरिणामः–भावलोकः द्रव्यगुणपर्यायपरिणमनरूपः–पर्यवलोकः । इदं च सर्वमपि आवश्यकनिर्युक्तितो ज्ञेयम् । अथवा–द्रव्यलोकः–संसाररूपः अप्रशस्तभावलोकः–परभावैकत्वजीवसमूहः, अत्र भवलोकाप्रशस्तभावलोकस्य संज्ञा त्याज्या, लोकसंज्ञा च नयसप्तकेन धर्मार्थिभिः परिहरणीया—

प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं, भवदुर्गाद्रिलङ्घनम् ॥
लोकसंज्ञारतो न स्यान्, मुनिर्लोकोत्तरस्थितिः ॥ १ ॥

प्राप्त इति—मुनिः—संयमी आस्रवविरतः षष्ठम्—सर्वविरतिलक्षणं प्रमत्ताख्यं प्राप्तः, लोकसंज्ञा–लोकैः कृतं तत्कर्त्तव्यम् गतानुगतिकतानीतिरित्यत्र रतः–रागी गृहीतग्रहः न स्यात्, लोकैः कृतं तदेव करणीयम् इति मतिं निवार्य आत्मसाधनोपायरतः स्यात् । किंभूतं षष्ठं गुणस्थानम् ?, भवः संसारः–स एव दुर्गाद्रिः–विषमपर्वतः तस्य लङ्घनम्, किं विशिष्टः मुनिः ? लोकोत्तरस्थितिः–लोकातीतमर्यादया स्थितः, लोको हि विषयाभिलाषी मुनिः–निष्कामः, लोकः पुद्गलसंपज्ज्येष्ठत्वमानी मुनिर्ज्ञानादिसंपदा श्रेष्ठः, अतः किल लोकसंज्ञया किं तेषाम् ? ॥ १ ॥

यथा चिन्तामणिं दत्ते, बठरो बदरीफलैः ।
हहा जहाति सद्धर्मं, तथैव जनरञ्जनैः ॥ २ ॥

यथा चिन्तमणिमिति—यथा येन प्रकारेण कश्चित् बठरः–मूर्खः बदरीफलैः चिन्तामणिं दत्ते; तथैव मूढः जनरञ्जनैः—लोकश्लाघाभिलाषैः सद्धर्मं द्रव्याचरणतत्त्वानुभवलक्षणं 'हहा' इति खेदे, जहाति–त्यजति, इत्यनेन जिनभक्तिश्रुत—श्रवणाहारत्यागादिकं यशःपूजादिना हारयति । उक्तं च—"त्वत्तः सुदुष्प्रापमिदं मयाप्तं, रत्नत्रयं भूरिभवभ्रमेण । प्रमादनिद्रावशतो गतं तत्, कस्याग्रतो नायक ! पूत्करोमि ॥ १ ॥ वैराग्यरङ्गः परवञ्चनाय, धर्मोपदेशो जनरञ्जनाय । वादाय विद्याध्ययनं च मेऽभू–त्कियद् ब्रुवे हास्यकरं स्वमीश ! ॥२॥

लोकसंज्ञामयानद्या–मनुस्रोतोऽनुगा न के ।
प्रतिस्रोतोऽनुगस्त्वेको, राजहंसो महामुनिः ॥ ३ ॥

लोकसंज्ञेति—लोकसंज्ञा—लोकरीतिरूपा महानदी, तस्याः अनुस्रोतः–प्रवाहः तस्य अनुगाः अनुयायिनः के न भवन्ति ? अनेके इत्यर्थः, तत्र प्रतिस्रोतोऽनुगः सन्मुखप्रवाहचारी तु एक एव महामुनिः शुद्धश्रमणः राजहंसनामा इति, तेन लोकरूढिरूढा बहवो जीवाः, निर्ग्रन्थः स्फुरद्रत्नत्रयसाधनोद्यतः स एव स्वरूपानुगामी । उक्तं च दशवैकालिके—" अणुसोयपिट्ठिए बहु—जणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं । पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेण ॥ १ ॥ अणुसोयसुहो लोगो, पडिसोओ आसमो सुविहियाणं । अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ २ ॥ " तेन मुनिर्लोकसंज्ञानुयायी न स्यात् ॥ ३ ॥

लोकमालम्ब्य कर्त्तव्यं, कृतं बहुभिरेव चेत् ।
तदा मिथ्यादृशां धर्मो, न त्याज्यः स्यात्कदाचन ॥४॥

लोकमिति—चेत्—यदि यद् बहुभिः कृतं तत् कर्त्तव्यं लोकमालम्ब्य एवं क्रियते तदा मिथ्यादृशां धर्मः कदाचन कदापि न त्याज्यः स्यात्, तच्च बहुभिः क्रियमाणत्वात्, स्वेच्छाचरणो लोको बहुतरः, यतः—अनार्येभ्यः आर्याः स्तोकाः, आर्येभ्यः जैनाचाराः स्तोकाः, जैनाचारवर्तिषु जैनपरिणतिपरिणताः स्तोकाः, अतः बहुलोकानुयायी न भवनीयमिति ॥ ४ ॥

श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो, लोके लोकोत्तरे न च ।
स्तोका हि रत्नवणिजः, स्तोकाश्च स्वात्मसाधकाः ॥५॥

श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांस इति—लोके—बाह्यप्रवाहे श्रेयोऽर्थिनः—धनस्वजनभुवनवनतनुकल्याणार्थिनः भूयांसः—प्रचुराः सन्ति, च—पुनः लोकोत्तरे–अमूर्त्तात्मस्वभावाविर्भावलक्षणे प्रवर्त्तमानाः न च—नैवेति हीतिनिश्चितम्, रत्नवणिजः स्तोकाः, तथा च—पुनः स्वात्मसाधकाः–स्व आत्मा तस्य साधकाः निरावरणत्वनिष्पादकाः स्तोका इति ॥ ५ ॥

लोकसंज्ञाहता हन्त !, नीचैर्गमनदर्शनैः ।
शंसयन्ति स्वसत्याग–मर्मघातमहाव्यथाम् ॥ ६ ॥

लोकसंज्ञेति–हंत–इति खेदे, लोकसंज्ञाहता—लोकसंज्ञाव्याकुलाः नीचैर्गमनदर्शनैः—वक्रीभूतशरीरभून्यस्तदृष्ट्या गमनस्य दर्शनैः, स्वसत्यागमर्मघातमहाव्यथां स्वीयो यः सत्यागः जैनवृत्तित्यागः स च लोकरञ्जनाध्यवसायबहुलेन मर्माणि घातं लभते, तस्य घातस्य महाव्यथाम्–महापीडां शंसयन्ति—ज्ञापयन्ति, ' वयं पीडितेन वक्रशरीरा भवामः ' इति शंसयन्ति—कथयन्ति वेति उत्प्रेक्षा, लोकोक्तिमिति त्यागवन्तो जीवा आत्मस्वरूपघातका इति ॥ ६ ॥

आत्मसाक्षिकसद्धर्म–सिद्धौ किं लोकयात्रया ? ।
तत्र प्रसन्नचन्द्रश्च, भरतश्च निदर्शनम् ॥ ७ ॥

आत्मेति—हे उत्तम ! आत्मसाक्षिकाः—आत्मा एव साक्षिकः आत्मसाक्षिकः, स चासौ सत्—शोभनः धर्मः, तस्य सिद्धौ—निष्पत्तौ लोकयात्रया किं ? न किमपि, लोकानां ज्ञापनेन किमित्यर्थः, तत्र प्रसन्नचन्द्रः च–पुनः भरत इति निदर्शनं दृष्टान्तः, सति द्रव्यलिङ्गे कायोत्सर्गे प्रसन्नचन्द्रस्य नरकगतिबन्धः, असति लिङ्गे मोहककेलिभूतवनिताव्यूहपरिवृतोऽपि भरतः संप्राप्तात्मसाक्षिकत्वैकत्वरूपधर्मपरिणतः केवलं प्राप, इति आत्मसाक्षिको धर्मः–धर्म इति दृष्टान्तः, अतः आत्मसाक्षिक एव धर्मः करणीय इति ॥ ७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोकसंज्ञोज्झितः साधुः, परब्रह्मसमाधिमान्।
सुखमास्ते गतद्रोह- ममतामत्सरज्वरः ॥ ८ ॥

लोकेति-साधुः-परमात्मसाधनोद्यतः, सुखम् आस्ते-तिष्ठति, कथंभूतः साधुः ? लोकसंज्ञोज्झितः-लोकसंज्ञारहितः, पुनःकिंभूतः ? परब्रह्मणः-शुद्धात्मस्वरूपस्य समाधिः-स्वास्थ्यं तद्वान्-तन्मयः, आत्मज्ञानानन्दमग्नः, पुनः कथंभूतः ? गतः-नष्टः द्रोहः-मोषणशीलो ममता परभावेषु ममकारता, मत्सरः-अहंकारः एव ज्वरः-तापो यस्य स, इत्यनेन कषायकालुष्यरहितः स्वात्मारामः स्वात्मज्ञानी तत्त्वानुभवयुक्तो मुनिः सुखं तिष्ठति । लोकसंज्ञात्यागेन स्वरूपयोगभोगसुखमग्ना निर्ग्रन्था औदयिकमिन्द्रियसुखं दह्यमानस्वगृहप्रकाशवद् मन्यन्ते न सुखमस्ति ॥ ८ ॥ इति व्याख्यातं लोकसंज्ञात्यागाष्टकम् ॥ अष्ट० २३ अष्ट० ॥ लोकस्य-गृहस्थलोकस्य, संज्ञानं—संज्ञा। विषयाभिष्वङ्गजनितसुखेच्छायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । विषयपिपासायाम्, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

लोगसण्णाहय-लोकसंज्ञाहत-पुं०। लोकसंज्ञाव्याकुले, अष्ट० २३ अष्ट०।

लोगसहावभावणा-लोकस्वभावभावना-स्त्री०। लोकस्वभावपरिचिन्तने, ध० ३ अधि०। प्रव०। (लोकस्वभावभावना 'भावणा' शब्दे पञ्चमभागे १५०६ पृष्ठे गता।)

लोगसार-लोकसार-पुं०। चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य परमार्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

अपरापसारप्रकर्षगतिरस्तीति दर्शयन्नुपक्षेपमाह—

लोगस्स उ को सारो, तस्स य सारस्स को हवइ सारो ?।
तस्स य सारो सारं, जइ जाणसि पुच्छिओ साह ॥२४४॥

लोगस्य-चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य कः सारः ?, तस्यापि सारस्य कोऽपरः सारः ?, तस्यापि सारसारस्य सारं यदि जानासि ततः पृष्टो मया कथयेति गाथार्थः।

प्रश्नप्रतिवचनार्थमाह—

लोगस्स सारधम्मो, धम्मं पि य नाणसारियं बिंति।
नाणं संजमसारं, संजमसारं च निव्वाणं ॥ २४५ ॥

समस्तस्याऽपि लोकस्य तावद्धर्मः सारः, धर्ममपि ज्ञानसारं ब्रुवते, ज्ञानमपि संयमसारं संयमस्यापि सारभूतं निर्वाणमिति गाथार्थः।

उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्—

आवंती केयावंती लोयंसि विपरामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए, एएसु चेव विपरामुसंति, गुरु से कामा, तओ से मारंते, जओ से मारंते तओ से दूरे, नेव से अंतो नेव दूरे। (सू०-१४१)

'आवन्ती' त्ति यावन्तो जीवा मनुष्या असंयता वा स्युः, 'के आवंति' त्ति केचन लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके गृहस्थान्यतीर्थिकलोके वा षड्जीवनिकायान् आरम्भप्रवृत्ता विविधम्—अनेकप्रकारम् विषयाभिलाषितया परामृशन्ति-उपतापयन्ति, दण्डकशाताडनादिभिर्घातयन्तीत्यर्थः, किमर्थं विपरामृशन्तीति दर्शयति—अर्थायअर्थार्थम् अर्थाद्वा अर्थः—प्रयोजनं धर्मार्थकामरूपम्, कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी, अर्थमुद्दिश्य—प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्य प्राणिनो घातयन्ति, तथाहि—धर्मनिमित्तं शौचार्थं पृथिवीकायं समारभन्ते, अर्थार्थं कृष्यादि कुर्वन्ति, कामार्थमाभरणादि, एवं शेषेष्वपि कायेषु यथायोगं वाच्यम्, अनर्थाद्वा—प्रयोजनमनुद्दिश्यैव तच्छीलतयैव मृगयाद्याः प्राण्युपघातकारिणीः क्रियाः कुर्वन्ति, तदेवमर्थादनर्थाद्वा प्राणिनो हत्वा एतेष्वेव षड्जीवनिकायस्थानेषु विविधम्—अनेकप्रकारं सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकादिभेदेन तानेकेन्द्रियादीन् प्राणिनस्तदुपघातकारिणः परामृशन्ति, तान् प्रपीड्य तेष्वेवानेकश उत्पद्यन्त इति यावत्, यदि वा-तत्षड्जीवनिकायबाधाऽवाप्तं कर्म तेष्वेव कायेषूत्पद्य ते तैस्तैः प्रकारैरुदीर्णं विपरामृशन्ति—अनुभवन्तीति। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"जावंति केइ लोए छक्कायवहं समारभंति अट्ठाए अणट्ठाए वा" इत्यादि गतार्थम्, स्याद्—असौ किमर्थमेवंविधानि कर्माणि कुरुते यान्यस्य कायगतस्य विपच्यन्ते ?, तदुच्यते 'गुरू से कामा' 'से' तस्य—अपरमार्थविदः काम्यन्त इति कामाः शब्दादयस्ते गुरवो दुस्त्यजत्वात्, कामा ह्यल्पसत्त्वैरनवाप्तपुण्योपचयैरुल्लङ्घयितुं दुष्करमित्यतस्तदर्थं कायेषु प्रवर्त्तते, तत्प्रवृत्तौ च पापोपचयस्तदुपचयाच्च यत्स्यात्तदाह—ततः—षड्जीवनिकायविपरामर्शात् परमकामगुरुत्वाच्चासौ मरणं मारः—आयुषः क्षयस्तस्यान्तर्वर्त्तते, मृतस्य च पुनर्जन्म जन्मनि चावश्यंभावी मृत्युरेवं जन्ममरणात् संसारोदन्वति मज्जनोन्मज्जनरूपान्न मुच्यते। ततः किमपरमित्याह—'जओ से' इत्यादि, यतोऽसौ मृत्योरन्तस्ततोऽसौ दूरे परमपदोपायात् ज्ञानादित्रयात् तत्कार्याद्वा मोक्षाद्, यदि वा—सुखार्थी कामांश्च परित्यजति, तदपरित्यागं च मारान्तवर्त्ती, यतश्च मारान्तवर्त्ती ततो जातिजरामरणरोगशोकाभिभूतत्वादसौ सुखाद् दूरे। यस्मादसौ कामगुरुस्तद्गुरुत्वान्मारान्तवर्त्ती तदन्तर्वर्त्तित्वात्किंभूतो भवतीत्यत आह—'नेव से' इत्यादि, नैवासौ विषयसुखस्यान्तर्वर्त्तते, तदभिलाषापरित्यागाच्च नैवासौ दूरे, यदि वा—यस्य गुरवः कामाः स किं कर्मणोऽन्तर्वर्त्ती बहिर्वेति प्रश्नावसरे सत्याह—'णेव से' त्यादि, नैवासौ कर्मणोऽन्तः-मध्ये भिन्नग्रन्थित्वात्संभावितावश्यंभाविकर्मक्षयोपपत्तेः, नाप्यसौ दूरे देशोनकोटीकोटिकर्मस्थितिकत्वात्, चारित्रावाप्तावपि नैवान्तर्नैव च दूरे इत्येतच्छक्यते वक्तुम्, पूर्वोक्तादेव कारणादिति। अथवा—येनेदं प्राणायि किमसावन्तर्भूतः संसारस्याहोस्विद्बहिर्वर्त्तते इत्याशङ्क्याह—'णेव से' इत्यादि, नैवासौ संसारान्तः घातिकर्मक्षयात्, नापि दूरे अद्यापि, भवोपग्राहिकर्मसद्भावादिति।

यो हि भिन्नग्रन्थिको दुरापावाप्तसम्यक्त्वः संसारारातीयतीरवर्त्ती स किमध्यवसायी स्यादित्याह—

से पासइ फुसियमिव कुसग्गे पणुन्नं निवइयं वाएरियं, एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अवियाणओ, कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विपरिआसमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ एइ, एत्थ मोहे पुणो पुणो। (सू०-१४२)

'स पासई' त्यादि, सः—अपगतमिथ्यात्वपटलः सम्यक्त्वप्रभावावगतसंसारासारः पश्यति- दृशिरुपलब्धिक्रिय इत्यत उपलभते—अवगच्छति . किं तत् ?—'फुसियमिव, त्ति—(इत्यादिपदानां व्याख्या 'जीविय' शब्दे चतुर्थभागे १५६४ पृष्ठे गता।) नाप्यसौ तदभिकाङ्क्षति अतो बालग्रहणम्, बालो—ह्यज्ञः, स चाज्ञानत्वादेव जीवितं बहु मन्यते यत एव बालोऽत एव मन्दः सदसद्विवेकापटुः, यत एव बुद्धिमन्दोऽत एव परमार्थं न जानाति, अतः परमार्थमविजानत एवम्भूतं जीवितमित्येवं पश्यति। परमार्थमजानंश्च यत्कुर्यात्तदाह—' कूराणि ' इत्यादि, कूराणि—निर्दयानि निरनुक्रोशानि कर्म्माणि—अनुष्ठानानि हिंसानृतस्तेयादीनि सकललोकचमत्कृतिकारीणि अष्टादश वा पापस्थानानि बालः-अज्ञः प्रकर्षेण कुर्वाणः, " कर्त्रभिप्राये क्रियाफले " आत्मनेपदविधानात्तस्यैव तत्क्रियाफलविपाकं दर्शयति—तेन-क्रूरकर्म्मविपाकापादितेन दुःखेन मूढः- किंकर्त्तव्यताऽऽकुलः केन कृतेन ममैतद्दुःखमुपशमं यायादिति मोहमोहितो विपर्यासमुपैति—यदेव प्राण्युपघातादि दुःखोत्पादने कारणं तदुपशमाय तदेव विदधातीति। किंच—' मोहेण ' (इत्यादि पदानां व्याख्या ' मोह ' शब्दे पञ्चमभागे ४५६ पृष्ठे गता।) ततश्च न यावद्विशिष्टज्ञानोत्पत्तिः संवृत्ता न तावत्कर्म्मशमनाय प्रवृत्तिः स्यात्, नैष दोषः, अर्थसंशयेनापि प्रवृत्तिदर्शनादिति।

आह च—

संसयं परिआणओ संसारे परिन्नाए भवइ, संसयं अपरियाणओ संसारे अपरिन्नाए भवइ। (सू०-१४३)

'संसय' मित्यादि, संशीतिः संशयः-उभयांशावलम्बा प्रतीतिः संशयः, स चार्थसंशयोऽनर्थसंशयश्च । इह चार्थो—मोक्षो मोक्षोपायश्च, तत्र मोक्षे न संशयोऽस्ति, परमपदमिति प्रतिपादनात्, तदुपाये तु संशयेऽपि प्रवृत्तिर्भवत्येव, अर्थसंशयस्य प्रवृत्त्यङ्गत्वात्। अनर्थस्तु संसारः संसारकारणं च, तत्सन्देहेऽपि निवृत्तिः स्यादेव, अनर्थसंशयस्य निवृत्त्यङ्गत्वात्; अतः संशयमर्थानर्थगतं परिजानतो हेयोपादेयप्रवृत्तिः स्यादित्येतदेव परमार्थतः संसारपरिज्ञानमिति दर्शयति—तेन संशयं परिजानता संसारश्चतुर्गतिकः तदुपादानं वा मिथ्यात्वाविरत्यादि अनर्थरूपतया परिज्ञातं भवति ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु परिहृतमिति। यस्तु पुनः संशयं न जानीते स संसारमपि न जानातीति दर्शयितुमाह—' संसयं ' इत्यादि, संशयं—सन्देहं द्विविधमप्यपरिजानतो हेयोपादेयप्रवृत्तिर्न स्यात्, तदप्रवृत्तौ च संसारोऽनित्याशुचिरूपो व्यसनोपनिपातबहुलो निःसारो न ज्ञातो भवति।

कुतः पुनरेतन्निश्चीयते ? यथा तेन संशयवेदिना संसारः-परिज्ञात इति ?. किमत्र निश्चेतव्यं ?, संसारपरिज्ञानकार्यविरत्युपलब्धेः, तत्र सर्वविरतिप्रष्ठां विरतिं निर्दिदिक्षुराह—

जे छेए से सागारियं न सेवइ, कट्टु एवमवियाणओ बिइया मंदस्स बालया, लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणय त्ति बेमि। (सू०-१४४)

'जे छेए ' इत्यादि यश्छेको—निपुण उपलब्धपुण्यपापः सः ' सागारियं ' ति मैथुनं न सेवते मनोवाक्कायकर्म्मभिः, स एव यथावस्थितसंसारवेदी, यस्तु पुनर्मोहनीयोदयात्पार्श्वस्थादिः तत्सेवते, सेवित्वा च सातगौरवभयात् किं कुर्यादित्याह-' कट्टु ' इत्यादि, रहसि मैथुनप्रसङ्गं कृत्वा पुनर्गुर्वादिना पृष्टः सन्नपलपति तस्य चैवमकार्यमपलपतोऽविज्ञापयतो वा किं स्यादित्याह—' विइया ' इत्यादि, मन्दस्य-अबुद्धिमत एकमकार्यासेवनमियं बालता-अज्ञानता, द्वितीया तदपह्नवनं मृषावादः तदकरणतया वा पुनरनुत्थानमिति, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—" जे खलु विसए सेवई सेवित्ता वा णालोएइ, परेण वा पुट्ठो निण्हवइ, अहवा-तं परं सएण वा दोसेण पविट्ठयरेण वा दोसेण उवलिंपिज्ज ' त्ति " सुगमम्। यद्येवं ततः किं कुर्यादित्याह-' लद्धा हु ' इत्यादि; लब्धानपि कामान् ' हुरत्थे ' त्ति बहिश्चित्रक्षुल्लकादिवत्तद्विपाकं प्रत्युपेक्ष्य चित्ताद्बहिः कुर्यात्; यदि वा--हुशब्दः—अपिशब्दार्थे, रेफागमः सुब्व्यत्ययेन द्वितीयार्थे प्रथमा, ततोऽयमर्थो—लब्धानप्यर्थ्यन्ते—अभिलषन्त इत्यर्थाः--शब्दादयस्तानुपनतानपि तद्विपाकद्वारेण प्रत्युपेक्ष्य--पर्यालोच्य ततः आगम्य ज्ञात्वा दुरन्तं शब्दादिविषयानुषङ्गम्, क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासव्यपेक्षत्वात्तां दर्शयति--तदनासेवनतया परानाज्ञापयेत्, स्वतोऽपि परिहरेदिति, एतदहं ब्रवीमि येन मया पूर्वार्थव्यावर्णनमकारि स एवाहमव्यवच्छिन्नसम्यग्ज्ञानप्रवाह. शब्दादिविषयस्वरूपोपलम्भात् समुपजनितजिनवचनसंमद इति। एतच्च वक्ष्यमाणं ब्रवीमीति।

तदाह-

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे,इत्थ फासे पुणो पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवि, एएसु चेव आरंभजीवी, इत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमई पावेहिं कम्मेहिं असरणे सरणं ति मन्नमाणे। (सू०-१४५ ×)

'पासह ' इत्यादि, हे जनाः! पश्यत यूयमेकान्तपृष्ठधर्म्मणो, बहुवचननिर्देशादाद्यर्थो गम्यते, रूपेषु—रूपादिष्विन्द्रियविषयेषु निःसारकटुकफलेषु गृद्धान्—अध्युपपन्नान् सतः इन्द्रियैर्विषयाभिमुखं संसाराभिमुखं वा नरकादियातनास्थानकेषु वा परिणीयमानान् प्राणिन इति। ते च विषयगृध्नव इन्द्रियवशगाः संसारार्णवं किमाप्नुयुरित्याह—' एत्थ फासे ' इत्यादि, अत्र-अस्मिन् संसारे हृषीकवशगः सन् कर्म्मपरिणतिरूपान् स्पर्शान् पौनःपुन्येन—आवृत्त्या तानेव तेषु तेष्वेव स्थानेषु प्राप्नुयादिति। पाठान्तरं वा-' एत्थ मोहे पुणो पुणो ' अत्र—अस्मिन् संसारे मोहें-अज्ञाने चारित्रमोहे वा पुनः पुनर्भवतीति। कोऽसावेवम्भूतः स्यादित्यत आह-' आवंती ' त्यादि, यावन्तः केचन लोके-गृहस्थलोके आरम्भजीविनः—सावद्यानुष्ठानस्थितिकाः, ते पौनःपुन्येन दुःखान्यनुभवेयुरिति। येऽपि गृहस्थाश्रिताः सारम्भास्तीर्थिकादयस्तेऽपि तद्दुःखभाजिन इति दर्शयति-' एएसु ' इत्यादि, एतेषु सावद्यारम्भप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु शरी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रयापनार्थं वर्त्तमानस्तीर्थिकः पार्श्वस्थादिर्वा आरम्भजीवी-सावद्यानुष्ठानवृत्तिः पूर्वोक्तदुःखभाग् भवति। आस्तां तावद् गृहस्थः तीर्थिको वा, योऽपि संसारार्णवतटदेशमवाप्य सम्यक्त्वरत्नं लब्ध्वाऽपि मोक्षैककारणं विरतिपरिणामं सफलतामनीत्वा कर्म्मोदयात् सोऽपि सावद्यानुष्ठायी स्यादित्याह—' एत्थ वि बाले ' इत्यादि अत्र-अस्मिन्नर्हत्प्रणीतसंयमाभ्युपगमे बालो-रागद्वेषाकुलितः परितप्यमानः परिपच्यमानो वा विषयपिपासया रमते कैः ?-पापैः कर्म्मभिः, विषयार्थं सावद्यानुष्ठाने धृतिं विधत्ते, किं कुर्वाण इत्याह—'असरणं' मित्यादि, कामाग्निना पापैर्वा कर्म्मभिः परिपच्यमानः सावद्यानुष्ठानमशरणमेव शरणमिति मन्यमानो भोगेच्छाऽज्ञानतमिस्राच्छादितदृष्टिविपर्ययः सन् भूयो भूयो नानारूपा वेदना अनुभवेदिति । आस्तां तावदन्ये प्रव्रज्यामप्यभ्युपेत्य केचिद्विषयपिपासार्त्तास्तांस्तान् कल्काचारानाचरन्तीति दर्शयितुमाह—' इहमेगेसिं ' मित्यादि, (आचा०) (सूत्रम् ' एगचरिया ' शब्दे तृतीयभागे ७ पृष्ठे गतम् ।) (अत्रस्था चारवक्तव्यतानिर्युक्तिः 'चार' शब्दे तृतीयभागे ११७२ पृष्ठे गता ।)

एकचर्याप्रतिपन्नोऽपि सावद्यानुष्ठानाद्विरतेरभावाच्च न मुनिरित्युक्तम् , इह तु तद्विपर्ययेण यथा मुनिभावः स्यात्तथोच्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्-

आवन्ती केयावन्ती लोए अणारंभजीविणो तेसु, एत्थोवरए तं झोसमाणे, अयं संधीति अदक्खु , जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणे त्ति अन्नेसी एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, उट्ठिए नो पमायए, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, पुढो छंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुट्ठो फासे विपणुन्नए । (सू० १४६)

यावन्तः—केचन लोके—मनुष्यलोके अनारम्भजीविनः-आरम्भः-सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा, उक्तं च-" आदाणे निक्खेवे,भासुस्सग्गे अठाणगमणाई । सव्वो पमत्तजोगो, समणस्स वि होइ आरम्भो ॥ १ ॥ " तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितुं शीलं येषामित्यनारम्भजीविनो-यतयः समस्तारम्भनिवृत्ताः तेष्वेव-गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीराद्यर्थमारम्भप्रवृत्तेष्वनारम्भजीविनो भवन्ति, एतदुक्तं भवति-सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु देहसाधनार्थमनवद्यारम्भजीविनः साधवः पङ्काधारपङ्कजवन्निर्लेपा एव भवन्ति । यद्येवं ततः किमित्याह-अत्र-अस्मिन् सावद्यारम्भे कर्त्तव्ये-उपरतः-सङ्कुचितगात्रो , वाऽऽर्हते धर्मे व्यवस्थितपापारम्भात् , किं कुर्यात् सः ?-तत्-सावद्यानुष्ठानायातं कर्म्म झोषयन्—क्षपयन् मुनिभावं भजत इति । किमभिसन्धायाऽोपरतः स्यादित्याह-' अयं संधी ' इत्यादि, अविवक्षितकर्म्मका अप्यकर्म्मका धातवः, यथा पश्य मृगो धावति, एवमत्राप्यद्राक्षीदित्येतत्क्रियायोगेऽप्ययं सन्धिरिति प्रथमा कृतेति, ' अय ' मिति प्रत्यक्षगोचरापन्न आर्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तीन्द्रियनिर्वृत्तिश्रद्धासंवेगलक्षणः सन्धिः-अवसरो मिथ्यात्वक्षयानुदयलक्षणो वा सम्यक्त्वावाप्तिहेतुभूतकर्म्मविवरलक्षणः सन्धिः, शुभाध्यवसायसन्धानभूतो वा सन्धि-रित्येवं स्वात्मनि व्यवस्थापितमद्राक्षीद्भवानित्यतः क्षणमप्येकं न प्रमादयेत् न विषयादिप्रमादवशगो भूयात् । कश्च न प्रमत्तः स्यादित्याह-' जे इमस्स ' इत्यादि, य—इति उपलब्धतत्त्वः अस्य—अध्यक्षस्य विशेषेण गृह्यते अनेनाष्टप्रकारं कर्म्म तद्वेतरशरीरविशिष्टं बाह्येन्द्रियेण गृह्यत इति विग्रहः-औदारिकं शरीरं तस्य अयम्-वार्त्तमानिकक्षणः एवम्भूतः सुखदुःखान्यतररूपश्च गतः एवम्भूतश्च भावीत्येवं यः क्षणान्वेषणशीलः सोऽन्वेषी सदाऽप्रमत्तः स्यादिति । स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह- ' एस मग्गे ' इत्यादि, एषः-अनन्तरोक्तो मार्गो-मोक्षपथः आर्यैः-सर्वहेयधर्म्माराद्यातीयतीरवर्त्तिभिस्तीर्थकरगणधरैः प्रकर्षेणादौ वा वेदितः—कथितः प्रवेदित इति । न केवलमनन्तरोक्तो वक्ष्यमाणश्च तीर्थकरैः प्रवेदित इति, तदाह-' उट्ठिए ' इत्यादि, सन्धिमधिगम्योत्थितो धर्मचरणाय क्षणमप्येकं न प्रमादयेत् किं चापरमधिगम्येत्याह-' जाणित्तु ' इत्यादि, ज्ञात्वा प्राणिनां प्रत्येकं दुःखं तदुपादानं वा कर्म्म तथा प्रत्येकं सातं च-मन आह्लादि ज्ञात्वा समुत्थितो न प्रमादयेत् न केवलं दुःखं कर्म्म वा प्रत्येकम् ,तदुपादानभूतोऽध्यवसायोऽपि प्राणिनां भिन्न एवेति दर्शयितुमाह-' पुढो ' इत्यादि , पृथग्—भिन्नः छन्दः—अभिप्रायो येषां ते पृथक्छन्दाः, नानाभूताध्यवसायस्थाना इत्यर्थः, ' इह ' ति संसारे संज्ञिलोके वा के ते ?—मानवाः—मनुष्याः , उपलक्षणार्थत्वादन्येऽपि संज्ञिनां पृथक्संकल्पत्वाच्च तत्कार्यमपि कर्म्म पृथगेव , तत्कारणमपि दुःखं नानारूपमिति । कारणभेदे कार्यभेदस्य अवश्यंभावित्वादिति;अतः पूर्वोक्तं स्मारयन्नाह—' पुढो इत्यादि,दुःखोपादानभेदाद् दुःखमपि प्राणिनां पृथक् प्रवादतम् , सर्वस्य स्वकृतकर्म्मफलेश्वरत्वात् नान्यकृतमन्य उपभुङ्क्ते इति, एतन्मत्वा किं कुर्यादित्याह-'से' इत्यादि, सः-अनारम्भजीवी प्रत्येकसुखदुःखाध्यवसायी प्राणिनो विविधैरुपायैरहिंसन् तथा-अनपवदन्-अन्यथैव व्यवस्थितं वस्त्वन्यथा वदन्नपवदन् नापवदन् अनपवदन् , मृषावादमब्रुवन्नित्यर्थः, पश्य च त्वं तस्यापि प्राकृतत्वादार्षत्वाद्वा लोपः, एवं परस्वमगृह्णन्नित्याद्यप्यायोज्यम् । एतद्विधायी च किमपरं कुर्यादित्याह-'पुट्ठो' इत्यादि, स पञ्चमहाव्रतव्यवस्थितः सन् यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वहणोद्यतः स्पृष्टः परीषहोपसर्गैस्तान्-तत्कृतान् शीतोष्णादिस्पर्शान् दुःखस्पर्शान् वा तत्सहिष्णुतया अनाकुलो विविधैरुपायैः-प्रकारैः संसारासारभावनादिभिः प्रेरयेत् , तत्प्रेरणं च सम्यक् सहनम् , न तत्कृतया दुःखासिकयाऽऽत्मानं भावयेदिति यावत् ।

यो हि सम्यक्करणतया परीषहान्सहेत स किंगुणः स्यादित्याह-

एस समिया परियाए वियाहिए, जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इति । (सू०-१४७+)

एषः—अनन्तरोक्तो यः परीषहाणां प्रणोदकः , समिया ' सम्यक् शमिता वा,शमोऽस्यास्तीति शमी तद्भावः शमिता, पर्यायः-प्रव्रज्या सम्यक् शमितया वा पर्यायः-प्रव्रज्याऽस्येति विगृह्य बहुव्रीहिः स सम्यक्पर्यायः शमितापर्यायो वा व्याख्यातो नापर इति । तदेवं परीषहोपसर्गोत्क्षोभ्यतां प्रतिपाद्य व्याधिसहिष्णुतां प्रतिपादयन्नाह-'जे असत्ता' इत्यादि, ये अपाकृतमदनतया समतृणमणिलेष्टुकाञ्चनाः समतापन्नाः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पापेषु कर्म्मस्वसक्ताः--पापापादानानुष्ठानारता 'उदाहु'-
कदाचित्तान् तथाभूतान् साधून् आतङ्का-आशुजीविताप-
हारिणः शूलादयो व्याधिविशेषाः स्पृशन्ति-अभिभवन्ति
पीडयन्ति । यदि नामैवं ततः किमित्याह-' इति उदाहु '
इत्यादि (मूलसूत्रम् ' तित्थयर ' शब्दे चतुर्थभागे २२६२
पृष्ठ गतम् ।) इति एतद्वक्ष्यमाणमुदाहृतवान् व्याकृतवान् ,
कोऽसौ ?-धीरो-धीः-बुद्धिः तथा राजते, स च तीर्थकृद्
गणधरो वा, किं तदुदाहृतवान् ?, तैरातङ्कैः स्पृष्टः सन् तान्
स्पर्शान्-दुःखानुभवान् व्याधिविशेषापादितानध्यासयेत्-
सहेत । किमाकलय्येत्याह-' से पुव्व ' मित्यादि, स स्पृष्टः
पीडितः आशुकारिभिरातङ्कैरेतद्भावयेत्, यथा-पूर्वमप्येतद्-
असातावेदनीयविपाकजनितं दुःखं मयैव सोढव्यम् , पश्चाद
प्येतन्मयैव सहनीयम् ; यतः-संसारोदरविवरवर्ती न विद्यते
एवासौ यस्यासातावेदनीयविपाकापादिता रोगातङ्का न
भवेयुः, तथाहि-केवलिनोऽपि मोहनीयादिघातिचतुष्टयक्ष-
यादुत्पन्नज्ञानस्य वेदनीयसद्भावेन तदुदयात्तत्सम्भव इति,य-
तश्च-तीर्थकरैरप्येतद्बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थायातं क-
र्म्मावश्यं वेद्यं नान्यथा तन्मोक्षः, अतोऽन्येनाप्यसातावेद-
नीयोदयं सनत्कुमारदृष्टान्तेन मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य
नोद्विजितव्यमिति । उक्तं च—" स्वकृतपरिणतानां दुर्नयानां
विपाकः, पुनरपि सहनीयोऽन्यत्र ते निर्गुणस्य । स्वयमनुभव-
तोऽसौ दुःखमोक्षाय सद्यो, भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छ-
तस्ते ॥ १ ॥ " अपि च-एतदौदारिकं शरीरं सुचिरमप्यौप-
धरसायनाद्युपबृंहितं मृन्मयाऽऽमघटादपि निःसारतरं सर्व-
था सदा विशरारुश्चेति दर्शयन्नाह—' भिदुरधम्म ' मित्या-
दि. यदि वा-पूर्वं पश्चादप्येतदौदारिकं शरीरं वक्ष्यमाणधर्म्म-
स्वभावमित्याह—' भिदुरधम्म ' मित्यादि.स्वयमेव भिद्यत-
इति भिदुरः स धर्म्मोऽस्य शरीरस्येति भिदुरधर्म्मम् , इद-
मौदारिकं शरीरं सुपोषितमपि-वेदनोदयाच्छिरोदरचक्षुरा-
प्रभृत्यवयवेषु स्वत एव भिद्यत इति भिदुरम्. तथा विध्वंस-
नधर्म्मं पाणिपादाद्यवयवविध्वंसनात् , तथा अवश्यंभावसं-
भावितं त्रियामान्ते सूर्योदयवत् ध्रुवं न तथा यत्तदध्रुवम् त-
था अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थनित्यत्वेन
व्यवस्थितं सन्नित्यम् ; नैवं यत्तदनित्यमिति , तथा तेन तेन
रूपेणोदकधारावच्छश्वद्भवतीति शाश्वतम्,ततोऽन्यदशाश्व-
तम् , तथेष्टाहारोपभोगतया धृत्युपष्टम्भादौदारिकशरीरवर्ग-
णापरमाणूपचयाच्चयः,तदभावेन तद्विघटनादपचयः,चयाऽ-
पचयौ विद्येते यस्य तच्चयापचयिकम्, अत एव विविधः परि-
णामः-अन्यथाभावात्मको धर्म्मः-स्वभावो यस्य तद्विपरिणा-
मधर्म्मम् । यतश्चैवम्भूतमिदं शरीरकमतोऽस्योपरि कोऽनुब-
न्धः का मूर्च्छा ?,नास्य कुशलानुष्ठानमृतेऽन्यथा साफल्यमि-
त्येतदेवाह—' पासह ' इत्यादि, पश्यतैनं—पूर्वोक्तं रूपसन्धि
भिदुरधर्म्माद्याघ्रातौदारिकं पञ्चेन्द्रियनिर्वृत्तिलाभावसरात्म-
कम् , दृष्ट्वा च विविधातङ्कजनितान् स्पर्शानध्यासयेदिति ॥
एतत्पश्यतश्च यत्स्यात्तदाह-सम्यगुत्प्रेक्षमाणस्य—पश्यतो-
ऽनित्यताघ्रातमिदं शरीरमित्येवमवधारयतो नास्ति मार्ग
इति सम्बन्धः , किं च—आङ् अभिविधौ समस्तपापार-
म्भेभ्य आत्मा आयत्यते-आनियम्यते यस्मिन् कुशलानु-
ष्ठाने वा यत्नवान् क्रियत इत्यायतनं-ज्ञानादित्रयम् एकम्
अद्वितीयमायतनमेकायतनं तत्र रतस्तस्य , किं च—इ-
ह-शरीरे जन्मनि वा विविधं परमार्थभावनया शरीरा-
नुबन्धात् प्रमुक्तो-विप्रमुक्तस्तस्य नास्ति—न विद्यते ,
कोऽसौ ?—मार्गो-नरकतिर्यङ्मनुष्यगमनपद्धतिः, वर्त्तमान-
सामीप्ये वर्त्तमानदर्शनान्न भविष्यतीति नास्तीत्युक्तम् ,
यदि वा—तस्मिन्नेव जन्मनि समस्तकर्म्मक्षयोपपत्तेर्नास्ति
नरकादिमार्गः , कस्येति दर्शयति—विरतस्य-हिंसाद्याश्र-
वद्वारेभ्यो निवृत्तस्य , इतिरधिकारपरिसमाप्तौ , ब्रवीमी-
ति पूर्ववत् , सुधर्म्मस्वाम्यात्मानमाह , यद्भगवता वीरव-
र्द्धमानस्वामिना दिव्यज्ञानेनार्थानुपलभ्य वाग्योगेनोक्तं तद-
हं भवतां ब्रवीमि , न स्वमतिविरचनेनेति । (आचा०)
(अविरतवादी परिग्रहवानिति ' परिग्गहावंत ' शब्दे
पञ्चमभागे ५६७ पृष्ठ गतम् ।)

आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेव
अपरिग्गहावंती, सोच्चावई मेहावी पंडियाण निसामि-
या समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए जहित्थ मए
संधी झोसिए एवमन्नत्थ संधी दुज्झोसए भवइ, त-
म्हा बेमि नो निहणिज्ज वीरियं । (सू०-१५१)

यावन्तः केचन लोकेऽपरिग्रहवन्तो विरता यतय इत्यर्थः,
ते सर्वे एतेष्वेव अल्पादिषु द्रव्येषु त्यक्तेषु सत्स्वपरिग्रहव-
न्तो भवन्ति, यदि वैतेष्वेव षट्सु जीवनिकायेषु ममत्वा-
भावादपरिग्रहा भवन्ति । स्यात् , कथमपरिग्रहभावः स्या-
दित्याह—' सोच्चा ' इत्यादि, ' वइ ' त्ति सुब्व्यत्ययेन द्वि-
तीयार्थे प्रथमा, अतो वाचं—तीर्थकराज्ञामागमरूपां श्रु-
त्वा—आकर्ण्य मेधावी—मर्यादाव्यवस्थितः सश्रुतिको
हेयोपादेयपरिहारप्रवृत्तिज्ञः , तथा पण्डितानां गणध-
राचार्यादीनां विधिनियमात्मकं वचनं निशम्य सचि-
त्ताचित्तपरिग्रहपरित्यागादपरिग्रहो भवति । स्यादेतत् '
कदा पुनरुत्पन्ननिरावरणज्ञानानां तीर्थकृतां वाग्योगो भ-
वति येनासावाकर्ण्यते ? , उच्यते-धर्म्मकथाऽवसरे, कि-
म्भूतस्तैः पुनर्धर्म्मः प्रवेदित इत्याशङ्कापनोदार्थमाह ' स-
मिय ' त्ति समता—समशत्रुमित्रता तयाऽऽर्यैर्धर्म्मः प्रवे-
दित इति । उक्तं च—" जो चंदणेण बाहुं, आलिंपइ
वा सिणावतच्छेत्ति । संथुणइ जो अ णिंदति, महेसि-
णो तत्थ समभावा ॥१॥ " यदिवा—आर्येषु—देशभाषाच-
रित्राऽऽर्येषु समतया भगवता धर्म्मः प्रवेदितः, तथा
चोक्तम्—" जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स क-
त्थइ " त्यादि. अथवा—शमिनो भावः शमिता तया स-
र्वहेयधर्म्मारातीयवर्त्तिभिः आर्यैः प्रकर्षेणादौ वा धर्म्मो
वेदितः—प्रवेदितः, इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमेन तीर्थकृद्भिर्धर्म्मः
प्रज्ञापित इति यावत् । स्याद्—अन्यैरपि स्वाभिप्रायेण
धर्म्माः प्रवेदिता एवेत्यतस्तद्व्युदासार्थं भगवानेवाह—
' जहेत्थं ' त्यादि, सदेवमनुजायां पर्षदि भगवानेवमाह-
यथाऽत्र मया ज्ञानादिको मोक्षसन्धिः ' झोसिओ ' त्ति से-
वित इति, यदिवा-अत्र-अस्मिन् ज्ञानदर्शनचारित्रात्म-
के मोक्षमार्गे समभावात्मके इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमरूपे
मया—मुमुक्षुणा स्वत एव सन्धानं सन्धिः कर्म्मसन्त-
तिः, सन्धीयत इति वा भवाद्भवान्तरमनेनेति सन्धिः-
अष्टप्रकारकर्म्मसन्ततिरूपः ; स झोषितः—क्षपितः अतो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

य एव तीर्थकृद्भिर्धर्मोऽभिहितः स एव मोक्षमार्गो नाऽपर इत्येतदेवाह—यथाऽत्र मया सन्धिर्झोषितः एवमन्यत्र अन्यतीर्थिकप्रणीते मोक्षमार्गे सन्धिः कर्मसन्ततिरूपः दुर्झोष्यो भवति-दुःक्षयो भवति, असमीचीनतया तदुपायाभावात्, यदि नाम भगवताऽत्र कर्मसन्धिर्झोषितस्ततः किमित्याह—यस्मादस्मिन्नेव मार्गे व्यवस्थितेन मयाऽपि विकृष्टतरेण तपसा कर्म क्षपितं ततोऽन्योऽपि मुमुक्षुः संयमानुष्ठाने तपसि च वीर्यं नो निहन्यात् नो निगूहयेद् अनिगूहितबलवीर्यो भूयाद् एतदहं ब्रवीमि परमकारुण्याकृष्टहृदयपरहितैकोपदेशदायीत्येतद्वीरवर्द्धमानस्वाम्याह; सुधर्मस्वामी स्वशिष्याणां कथयति स्म। (आचा०) (अग्रतनसूत्राणि 'धम्म' शब्दे चतुर्थ-भागे २६७३ पृष्ठे गतानि।)

सदाऽऽचार्यसेविना भवितव्यम्, आचार्येण च ह्रदोपमेन भाव्यम्, तदन्तेवासिना च तपःसमयगुप्तेन निःसङ्गेन च विहर्त्तव्यमिति, एतत्प्रतिपादनसम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

से बेमि, तं जहा—अविहरए पडिपुन्ने समंसि भोमे चिट्ठइ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठइ सोयमज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो जे य पन्नाणमंता पबुद्धा आरम्भोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्ति बेमि। (सू०-१६०)

'से' शब्दस्तच्छब्दार्थे, यद्गुण आचार्यो भवति तदहं तीर्थकरोपदेशानुसारेण ब्रवीमीति, तद्यथेति वाक्योपन्यासार्थे, अपिशब्दो भङ्गसमुच्चयार्थः, ते चामी भङ्गाः एको ह्रदो— जलाशयः परिगलत्स्रोताः पर्यागलत्स्रोताश्च, सीतासीतोदाप्रवाहह्रदवत्, अपरस्तु परिगलत्स्रोताः नो पर्यागलत्स्रोताः, पद्मह्रदवत्, तथा अपरो नो परिगलत्स्रोताः पर्यागलत्स्रोताश्च, लवणोदधिवत्, अपरस्तु नो परिगलत्स्रोता नो पर्यागलत्स्रोताश्च, मनुष्यलोकाद्बहिः समुद्रवत्। तत्राऽऽचार्यः श्रुतमङ्गीकृत्य प्रथमभङ्गपतितः, श्रुतस्य दानग्रहणसद्भावात्, साम्परायिककर्मापेक्षया तु द्वितीयभङ्गपतितः, कषायोदयाभावेन ग्रहणाभावात्तपःकायोत्सर्गादिना क्षपणोपपत्तेश्चेति, आलोचनामङ्गीकृत्य तृतीयभङ्गपतितः आलोचनाया अप्रतिश्राविन्वात्, कुमार्गं प्रति चतुर्थभङ्गपतितः, कुमार्गस्य हि प्रवेशनिर्गमाभावात्, यदिवा— धर्मिभेदेन भङ्गा योज्यन्ते—तत्र स्थविरकल्पिकाचार्याः प्रथमभङ्गपतिताः, द्वितीयभङ्गपतितस्तीर्थकृत्, तृतीयभङ्गस्थस्त्वहालन्दिकः, स च क्वचिदर्थापरिसमाप्तावाचार्यादेर्निर्णयसद्भावात्, प्रत्येकबुद्धास्तूभयाभावाच्चतुर्थभङ्गस्था इति, इह पुनः प्रथमभङ्गपतितेनोभयसद्भाविनाऽधिकारः, तथाभूतस्यैवायं ह्रदद्दृष्टान्तः, स च ह्रदो निर्मलजलस्य प्रतिपूर्णो जलजैः सर्वर्त्तुजैरुपशोभितः समे भूभागे विद्यमानोदकनिर्गमप्रवेशो नित्यमेव तिष्ठति, न कदाचिच्छोषमुपयाति, सुखोत्तारावतारसमन्वितः, उपशान्तम्-अपगतं रजः कालुष्यापादकं यस्य स तथा, नानाविधांश्च यादसां गणान् संरक्षन् सह वा यादोगणैरात्मानमारक्षन् प्रतिपालयन् सारक्षन् तिष्ठतीत्येषा क्रिया प्रकृतैव। यथा चासौ ह्रदस्तथाऽऽचार्योऽपीति दर्शयति—सः—आचार्यः प्रथमभङ्गपतितः पञ्चविधाचारसमन्वितोऽष्टविधाचार्यसम्पदुपेतः, तद्यथा—"आयार सुअ सरीरे, वयणे वायणमई पओगमई। एए सुसंपया खलु, अट्ठमिआ सङ्गहपरिन्ना ॥ १ ॥" षट्त्रिंशद्गुणगणाधारो ह्रदकल्पो निर्मलज्ञानप्रतिपूर्णः समे भूभाग इति संसक्तादिदोषरहिते सुखविहारे क्षेत्रे समो वा ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो मोक्षमार्गः उपशमवतां तत्र तिष्ठति-समध्यास्ते, किंभूतः, उपशान्तरजाः उपशान्तमोहनीय इति, किं कुर्वन्?, जीवनिकायान् रक्षन् स्वतः परतश्च सदुपदेशदानतो नरकादिपाताद्वेति, 'स्रोतोमध्यगत' इत्यनेन प्रथमभङ्गपतितं स्थविराचार्यमाह—तस्य हि श्रुतार्थदानग्रहणसद्भावात् स्रोतोमध्यगतत्वम्, स च किम्भूतः स्यादित्याह—सः—आचार्योऽक्षोभ्यह्रदकल्पः, सर्वतः-सर्वप्रकारतयेन्द्रियनोइन्द्रियरूपया गुप्त्या गुप्त इत्येतत्पश्य आचार्यव्यतिरेकेणान्येऽप्येवम्भूता बहवः साधवः सम्भवन्तीत्येतन्निर्दिदिक्षुराह-इह-मनुष्यलोके पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाः महर्षयो-महामुनयः सन्ति इत्येतत्पश्य, किंभूतास्ते महर्षय इत्यत आह—न केवलमाचार्या ह्रदकल्पा ये चान्ये साधवस्तेऽपि ह्रदकल्पाः, किम्भूताः?, प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञानम्—स्वपरावभासकत्वादागमस्तद्वन्तः—प्रज्ञानवन्तः आगमस्य वेत्तार इत्यर्थः, तज्ज्ञा अपि मोहोदयात् क्वचिद्धेतूदाहरणासम्भवे ज्ञेयगहनतया संशयानाः न सम्यक् श्रद्धानं विदध्युरित्यतो विशिनष्टि, प्रबुद्धाः—प्रकर्षेण यथैव तीर्थकृदाह तथैवावगततत्त्वाः प्रबुद्धाः, तथाभूता अपि कर्मगुरुत्वान्न सावद्यानुष्ठानविरतिं कुर्युरित्यतो विशेषयति-आरम्भोपरताः आरम्भः-सावद्यो योगस्तस्मादुपरता आरम्भोपरताः, एतच्च न मदुपरोधेन ग्राह्यम् अपि तु स्वत एव कुशाग्रीयया बुद्ध्या विचार्यमित्याह—एतद्यन्मया प्रोक्तं तत्सम्यग् मध्यस्था भूत्वा समर्थादं यूयमपि पश्यत। अपि चैतत्पश्यत—कालः—समाधिमरणकालस्तदभिकाङ्क्षया साधवो मोक्षाध्वनि-संयमे परिः-समन्ताद् व्रजन्ति परिव्रजन्ति-उपगच्छन्ति, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीत्येतत्प्रकरणोद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धाङ्गपरिसमाप्तौ प्रयुज्यते, तदिहाधिकारपरिसमाप्तौ द्रष्टव्यमिति।

आचार्याधिकारं परिसमाप्य विनेयवक्तव्यतामाह—

वितिगिच्छसमावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं, सिया वेगे अणुगच्छंति असिता वेगे अणुगच्छंति, अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणे कहं न निविज्जे ?। (सू०-१६१)

विचिकित्सा या चित्तविप्लुतिः यथा—इदमप्यस्तीत्येवमाकारा, युक्त्या समुपपन्नेऽप्यर्थे मतिविभ्रमो मोहोदयाद्भवति, तथाहि—अस्य महतस्तपःक्लेशस्य सिकताकणकवलनिःस्वादस्य स्यात् सफलता न वेति?, कृषीवलादिक्रियाया उभयथाऽप्युपलब्धेरिति, इयं च मतिर्मिथ्यात्वांशानुवेधाद्भवति ज्ञेयगहनत्वाच्च। तथाहि—अर्थस्त्रिविधः सुखाधिगमो, दुरधिगमो-ऽनधिगमश्च, श्रोतारं प्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ति भिद्यते, तत्र सुखाधिगमो यथा चक्षुष्मतश्चित्रकर्म्मनिपुणस्य रूपसिद्धिः, दुरधिगमस्त्वनिपुणस्य, अनधिगमस्त्वन्धस्य, तत्रानधिगमरूपोऽवस्त्वेव, सुखाधिगमस्तु विचिकित्साया विषय एव न भवति, देशकालस्वभावविप्रकृष्टस्तु विचिकित्सागोचरीभवति । तस्मिन् धर्म्माधर्म्माकाशादौ या विचिकित्सेति, यदि वा—' विद्दगिच्छ ' त्ति विद्वज्जुगुप्सा, विद्वांसः—साधवो विदितसंसारस्वभावाः परित्यक्तसमस्तसङ्गास्तेषां जुगुप्सा—निन्दा अस्नानात् प्रस्वेदजलक्लिन्नमलत्वाद्दुर्गन्धिवपुषस्तान्निन्दति—को दोषः स्याद्यदि प्रासुकेन वारिणाऽङ्गक्षालनं कुर्वीरन्नित्यादिजुगुप्सा तां विचिकित्सां विद्वज्जुगुप्सां वा सम्यगापन्नः—प्राप्तः आत्मा यस्य स तथा तेन विचिकित्सासमापन्नेनात्मना नोपलभते समाधिम्—चित्तस्वास्थ्यं ज्ञानदर्शनचारित्रात्मको वा समाधिस्तं न लभते, विचिकित्साकलुषितान्तःकरणो हि कथयतोऽप्याचार्यस्य सम्यक्त्वाख्यां बोधिं नावाप्नोति । यश्चावाप्नोति स गृहस्थो वा स्याद्यतिर्वेति दर्शयितुमाह— सिताः— पुत्रकलत्रादिभिरवबद्धाः, वाशब्द उत्तरापेक्षया पक्षान्तरमाह— एके लघुकर्म्माणः सम्यक्त्वं प्रतिपादयन्तमाचार्यमनुगच्छन्ति—आचार्योक्तं प्रतिपद्यन्ते, तथा असिता वा गृहवासविमुक्ता वा एके—विचिकित्सादिरहिता आचार्यमार्गमनुगच्छन्ति । तेषां च मध्ये यदि कश्चित् कङ्कटुकदेश्यः स्यात् स तान् प्रभूताननपाचीनमार्गप्रतिपन्नानवलोक्यासावपि कर्म्मविरतः प्रतिपद्येतापीति दर्शयितुमाह—आचार्योक्तं सम्यक्त्वमनुगच्छद्भिर्विरताविरतैः सह संवसंस्तैर्वा चोद्यमानोऽननुगच्छन्—अप्रतिपद्यमानः कथं न निर्वेदं गच्छेद् ? असदनुष्ठानस्य मिथ्यात्वादिरूपां विचिकित्सां परित्यज्याऽऽचार्योक्तं सम्यक्त्वमेव प्रतिपद्येनेत्यर्थः, यदि वा—सितासितैराचार्योक्तमनुगच्छद्भिरवगच्छद्भिर्वुध्यमानैः सद्भिः कश्चिदज्ञानोदयान्मतिजाड्यतया क्षपकादिश्चिरप्रव्रजितोऽप्यननुगच्छन्—अनवधारयन् कथं न निर्विद्येत ?, न निर्वेदं तपःसंयमयोगंच्छेत् ?, निर्विण्णश्चेदमपि भावयेत्, यथा—नाहं भव्यः स्यां न च मे संयतभावोऽप्यस्तीति, यतः—स्फुटविकटमपि कथितं नावगच्छामि, एवं च निर्विण्णस्याचार्याः समाधिमाहुः— यथा—भोः साधो ! मा विषादमवलम्बिष्ठाः, भव्यो भवान्, यतो भवता सम्यक्त्वमभ्युपगतम्, तच्च न ग्रन्थिभेदमृते, तद्भेदश्च न भव्यत्वमृते, अभव्यस्य हि भव्याभव्यशङ्काया अभावादिति भावः ।

किं चायं विरतिपरिणामो द्वादशकषायक्षयोपशमाद्यन्यतमसद्भावे सति भवति, स च भवताऽवाप्तः, तदेवं दर्शनचारित्रमोहनीये भवतः क्षयोपशमं समागते, दर्शनचारित्रान्यथानुपपत्तेः, यत्पुनः कथ्यमानेऽपि समस्तपदार्थावगतिर्न भवति तज्ज्ञानावरणीयविजृम्भितम्, तत्र च श्रद्धानरूपं सम्यक्त्वमात्मन्यनमित्याह—

तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं । (सू०-१६२)

यत्र क्वचित्स्वसमयपरसमयज्ञाऽऽचार्याभावात् सूक्ष्मव्यवहितातीन्द्रियपदार्थेषूभयसिद्धदृष्टान्तसम्यग्हेत्वभावाच्च — ज्ञानावरणीयोदयेन सम्यग्ज्ञानाभावेऽपि शङ्काविचिकित्सादिरहित इदं भावयेत्, यथा—तदेवैकं सत्यम्—अवितथम्, निःशङ्कमिति—अर्हद्भिरुक्तेष्वत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केवलागमग्राह्येष्वर्थेष्वेवं स्यात्, एवं वा इत्येवमाकारा संशीतिः—शङ्का निर्गता शङ्का यस्मिन् प्रवेदने तन्निःशङ्कम्, यत्किमपि धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलादिप्रवेदितम्, कैः ?—जिनैः—तीर्थकरै रागद्वेषजयनशीलैः, तत्तथ्यमेवेत्येवम्भूतं श्रद्धानं विधेयं सम्यक्पदार्थानवगमेऽपि, न पुनर्विचिकित्सा कार्येति। किं यतेरपि विचिकित्सा स्याद्येनेदमभिधीयते ?, संसारान्तर्वर्तिनो मोहोदयात्तत्किं ? यन्न स्यादिति, तथा चागमः—"अत्थि णं भंते ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति !, हंता अत्थि, कहन्नं समणा वि णिग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेयंति !, गोयमा ! तेसु तेसु नाणन्तरेसु चरित्तंतरेसु संकिया कंखिया विइगिच्छासमावन्ना भयसमावन्ना कलुससमावन्ना, एवं खलु गोयमा ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति, तत्थालंबणं 'तमेव सच्चं णीसकं जं जिणेहिं पवेइयं,' से णूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे आणाए आराहए भवति ?, हंता गोयमा! एवं मणं धारेमाणे आणाए आराहए भवति " किं चान्यत् ?—" वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते क्वचित् । यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां, तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ॥ १ ॥ " इत्यादि ।

सा पुनर्विचिकित्सा प्रविव्रजिषोर्भवत्यागमापरिकर्म्मितमतेः, तत्राप्येतत्पूर्वोक्तं भावयितव्यमित्याह—

सड्ढिस्स णं समणुन्नस्स संपव्वयमाणस्स समियं ति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ १, समियं ति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ २, (सू०-१६३+)

श्रद्धा—धर्मेच्छा सा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावांस्तस्य समनुज्ञस्य—संविग्नविहारिभिर्भावितस्य संविग्नादिभिर्वा गुणैः प्रव्रज्यार्हस्य संप्रव्रजतः—सम्यक्प्रव्रज्यामभ्युपगच्छतो विचिकित्सा—शङ्का भवेत्, तत्रैतस्य सम्यग्जीवादिपदार्थावधारणाशक्तस्येदमुपदेष्टव्यम्, यथा—तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमिति, तदेवं प्रव्रज्यावसरे तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येवं यथोपदेशं प्रवर्तमानस्य प्रवर्द्धमानकण्डकस्य सत उत्तरकालमपि तदाधिकता तत्समता तन्न्यूनता तदभावो वा स्यादित्येवंरूपां विचित्रपरिणामतां दर्शयितुमाह—तस्य श्रद्धावतः समनुज्ञस्य संप्रव्रजतस्तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येतत्सम्यगित्येव मन्यमानस्य एकदा—इति उत्तरकालमपि शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सादिरहिततया सम्यगेव भवति—न तीर्थकरभाषिते शङ्काद्युत्पद्यत इति १ । कस्यचित्तु प्रव्रज्यावसरे श्रद्धानुसारितया सम्यगिति मन्यमानस्य तदुत्तरकालमधीतान्वीक्षिकीकस्य दुर्गृहीतहेतुदृष्टान्तलेशस्य ज्ञयगहनताव्याकुलितमतेः 'एकदे' ति मिथ्यात्वांशोदयेऽसम्यगिति भवति, तथाहि—असौ सर्वनयसमूहाभिप्रायतया अनन्तधर्म्माध्यासितवस्तुप्रसाधने सति मोहादेकनयाभिप्रायेणैकांशसाधनाय प्रक्रमते, यदि नित्यं कथमनित्यमनित्यं चेत्कथं नित्यमिति, परस्परपरिहारलक्षणतयाऽनयोरवस्थानात्, तथाहि—अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं हि नित्यम् अतोऽन्यत्प्रतिक्षणविशरारुरूपमनित्यमित्येवमादिकमसम्यग्भावमुपयाति, न पुनर्विवेचयति,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथा--अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु सर्वनयसमूहात्मकं च
दर्शनमतिगहनं मन्दधियां श्रद्धागम्यमेव न हेतुगोभ्यमिति ।
उक्तं च-" सर्वैर्नयैर्नियतनैगमसंग्रहाद्यै-रेकैकशो विहिततीर्थिकशासनैर्यत् । निष्ठां गतं बहुविधर्गमपर्ययैस्तैः, अद्धेयमेव वचनं न तु हेतुगम्यम् ॥ १ ॥ " इत्यादि, यतो हेतुः प्रवर्तमानः एकनयाभिप्रायेण प्रवर्त्तते, एकं च धर्मं साधयेत्,
सर्वधर्मप्रसाधकस्य हेतोरसम्भवादिति २ । (' असमिय '
शब्दे प्रथमभागे ८४४ पृष्ठे सूत्रं गतम् ।) व्याख्या चेयम्-यदि
हि पौद्गलिकः शब्दो न स्यात् ततस्तत्कृतावनुग्रहोपघातौ श्रवणेन्द्रियस्य न स्याताम्, अमूर्त्तत्वादाकाशवदित्यादिकं
सम्यग् भवति ३ । कस्यचित्त्वागमापरिमलितमतेः कथमेकेनैव समयेन परमाणोर्लोकान्तगमनमित्यादिकमसम्यगिति मन्यमानस्यैकदेति--कुहेतुवितर्काविर्भावावसरे नितरामसम्यगेव भवति, तथाहि-चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्याद्यन्ताकाशप्रदेशयोः समयाभेदतया यौगपद्यसंस्पर्शात्
तावन्मात्रता परमाणोः स्यात्, प्रदेशयोर्लोकान्तद्वयगतयोवैक्यमित्यादिकमसम्यगिति भवति, न त्वसौ स्वाग्रहाविष्ट
एतद् भावयति, यथा—विस्रसा परिणामेन शीघ्रगतित्वात्
परमाणोरेकसमयेनासंख्येयप्रदेशातिक्रमणम्, यथाहि-अङ्गुलिद्रव्यमेकसमयेनासंख्येयानप्याकाशप्रदेशानतिलङ्घयति ,
एतदेव कुत इति चेत्, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम,न च सकलप्रमाणप्रत्यक्षसिद्धे अर्थेऽनुमानमन्वेष्टव्यम्, तथाहि-यद्यनेकप्रदेशातिक्रमणं सामयिकं न भवेत् ततोऽङ्गुलमात्रमपि
क्षेत्रमसंख्येयसमयातिक्रमणीयं स्यात्, तथा च सति दृष्टेष्टबाधाऽऽपद्येतेति, यत्किञ्चिदेतत् ४ ।

साम्प्रतं भङ्गकोपसंहारद्वारेण परमार्थमाविर्भावयन्नाह—

सभियं ति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा समिआ होइ उवेहाए ५, असमियं ति मन्नमाणस्स समिया
वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए ६, उवेहमाणो
अणुवेहमाणं बूया-उवेहाहि समियाए, इच्चेवं तत्थ संधी
झोसिओ भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइं समणुपासह,
इत्थ वि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा । (सू० १६३+)।

सम्यगित्येवं मन्यमानस्य शङ्काविचिकित्सादिरहितस्य सतस्तद्वस्तु यत्तेन तथारूपतयैव भावितं तत्सम्यग्वा स्यादसम्यग्वा, तथापि तस्य तत्र सम्यगुत्प्रेक्षया—पर्यालोचनया सम्यगेव भवति, ईर्यापथोपयुक्तस्य क्वचित्प्राण्युपमर्दवत् ५ । साम्प्रतमेतद्विपर्ययमाह—असम्यगिति किञ्चिद्वस्तु मन्यमानस्य शङ्का स्यादर्वाग्दर्शितया छद्मस्थस्य
सतस्तद्वस्तु सम्यग्वा स्यादसम्यग्वा, तस्य तदसम्यगेवोत्प्रेक्षया असम्यक्पर्यालोचनतयाऽशुद्धाध्यवसायतयेति—
यावत् ' यद्यथा शङ्क्यते तत्तथैव समापद्यते ' ति वचनादिति ६ ॥ यदि वा—" समियं ति मन्नमाणस्स " इत्याद्यन्यथा व्याख्यायते—शमिनो भावः शमिता इतिः—उपप्रदर्शने, तामेतां शमितां मन्यमानस्य शुभाध्यवसायिनः ' एकदे ' त्युत्तरकालमपि शमितैव भवति--उपशमवत्तैवोपजायते , अन्यस्य तु शमितामपि मन्यमानस्यकषायोदयादशमितोपजायत इति , अनया दिशोत्तरभङ्गेष्वपि सम्यगुपयुज्याऽऽयोज्यमिति । तदेवं सम्यगऽसम्यगित्येवं पर्यालोचयन्नपरस्याप्युपदेशदानायालमिति , आह च-
आगमपरिकर्मितमतित्वाद्यथावस्थितपदार्थस्वभावदर्शित—
या सम्यगसम्यगिति चोत्प्रेक्षमाणः--पर्यालोचयन्नपरमनुत्प्रेक्षमाणं गड्डरिकायूथप्रवाहप्रवृत्तं गतानुगतिकन्यायानुसारिणं शङ्कया वाऽपधावन्तं ब्रूयात्, यथा—उत्प्रेक्षस्व--पर्यालोचय सम्यग्भावेन माध्यस्थ्यमवलम्ब्य किमेतदर्हदुक्त
जीवादितत्त्वं घटामियर्त्याहोस्विन्नेत्यक्षिणी निमील्य चिन्तयेति भावः , यदिवा—उत्प्रेक्षमाणः संयमम् उत्—प्राबल्येनेक्षमाणः—संयमे उद्यच्छन्ननुत्प्रेक्षमाणं ब्रूयात्, यथा-
सम्यग्भावापन्नः सन् संयममुत्प्रेक्षस्व—संयमे उद्योगं कुरु । किमवलम्ब्येत्याह—इत्येवं—पूर्वोक्तेन प्रकारेण तत्र—
तस्मिन् संयमे सन्धिः-कर्मसन्ततिरूपो झोषितः-
क्षपितो भवति , यदि संयमे सम्यग्भावे वोत्प्रेक्षणं स्यात्, नान्यथेति । सम्यगुत्प्रेक्षमाणस्य च यत्स्यात्तदाह-
(से) तस्य-सम्यगुत्थानेनोत्थितस्य निःशङ्कस्य श्रद्धावतः
स्थितस्य गुरुकुले गुरोराज्ञायां वा या गतिर्भवति—यापदवी भवति तां सम्यगनुपश्यत यूयम् , तद्यथा—सकललोकश्लाघ्यता ज्ञानदर्शनस्थैर्यं चारित्रे निष्प्रकम्पता
श्रुतज्ञानाधारता च स्यादिति , यदिवा-स्वर्गापवर्गादिका
गतिः स्यात् , तां पश्यतेति सम्बन्धः, अथवा-उत्थितस्य-संयमोद्योगवतः तदभावेन च स्थितस्य पार्श्वस्थादेर्गतिम् सकलजनोपहास्यरूपामधमस्थानगतिं वा पश्यतेति । तदेवमुद्युक्तेतरयोर्गतिमुपलभ्य पञ्चविधाचारसारे प्रक्रमितव्यम्, यदि नामानुपस्थितस्य विरूपा गतिर्भवति
ततः किमित्याह—अत्रापि-असंयमे—बालभावरूपे इतरजनाचरिते आत्मानं सकलकल्याणास्पदं नोपदर्शयेत् ,
बालानुष्ठानविधायी मा भूदिति यावत् , तथाहि—बालाः शाक्यकापिलादयस्तद्भाविनो बालभावमाचरन्ति, वक्ति च—नित्यत्वादमूर्त्तत्वाच्चात्मनः प्राणातिपात एव
नास्त्याकाशस्येव , न हि वृक्षादिच्छेदे दाहे वाऽऽकाशस्य भिदा शोषो वा स्यात् एवमात्मनोऽपि शरीरविकारेऽविकारित्वम् । उक्तं च—" न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भवितेति ॥ " " नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि ,
नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो , न शोषयति मारुतः ॥ १ ॥ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय-मक्लेद्योऽशोष्य एव
च । नित्यः सर्वगतः स्थाणु-रचलोऽयं सनातनः ॥ २ ॥ "
इत्यादि ॥

अध्यवसायात्तद्धननादौ प्रवृत्तस्य तत्प्रतिषेधार्थमाह—

तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम
सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव
जं परियावेयव्वं ति मन्नसि, एवं जं परिघित्तव्वं ति मन्नसि, जं उद्दवेयं ति मन्नसि, अंजू चेयपडिबुद्धजीवी ,
(सू०-१६४×)

योऽयं हन्तव्यत्वेन भवताऽध्यवसितः स त्वमेव, नामशब्दः सम्भावनायाम् , यथा-भवान् शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोरूदरवान् एवमसावपि यं हन्तव्यमिति मन्यसे, यथा
च भवतो हननोद्यतं दृष्ट्वा दुःखमुत्पद्यते एवमन्यस्यापि,
तद्दुःखापादनाच्च किल्बिषानुषङ्गः । इदमुक्तं भवति—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नात्रान्तरात्मनः आकाशदेशस्य व्यापादनेन हिंसा, अपि तु शरीरात्मनः, तस्य हि यत्र कचित्स्वाधारं शरीरं नितरां दयितं तद्वियोजीकरणमेव हिंसेति । उक्तं च—
" पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥ " न च संसारस्थस्य सर्वथा अमूर्त्तत्वावाप्तिः, येनाकाशस्येव विकारो न स्यात्, सर्वत्रैव च प्राण्युपमर्दचिकीर्षितायामात्मतुल्यता भावयितव्येत्येतदुत्तरसूत्रेर्दर्शयितुमाह—त्वमपि नाम स एव यं प्रेषणादिना आज्ञापयितव्यमिति मन्यसे, तथा त्वमपि नाम स एव यं परितापयितव्यमिति मन्यसे, एवं यं परिग्रहीतव्यमिति मन्यसे, यमपद्रावयितव्यमिति मन्यसे, असौ त्वमेव, यथा भवतोऽनिष्टापादनेन दुःखमुत्पद्यते एवमस्यापीत्यर्थः, यद्विा-यं कायं हन्तव्यादितयाऽध्यवस्यसि तत्रानेकशो भवतोऽपि भावास्त्वमेवासौ, एवं मृषावादादावप्यायोज्यम् । यदि नाम हन्तव्यघातकयोरुक्तक्रमेणैक्यं ततः किमित्याह—' अञ्जु ' रिति ऋजुः-प्रगुणः साधुरिति यावत्, चशब्दोऽवधारणे, एतस्य-हन्तव्यघातकैकत्वस्य प्रतिबोधः प्रतिबुद्धमेनत्प्रतिबुद्धं तेन जीवितुं शीलमस्येत्येतत्प्रतिबुद्धजीवी साधुरेव तत्परिज्ञानेन जीवति नापर इत्युक्तं भवति । (आचा०) ('तम्हा' इत्यादिसूत्राणि, सव्याख्यानि 'आता' शब्दे द्वितीयभागे २०० पृष्ठे गतानि ।)

अवधार्य च किं कुर्यादित्याह—

निद्देसं नाइवट्टेजा मेहावी सुपडिलेहिया सव्वश्रो सव्वप्पणा सम्मं समभिन्नाय, इह आरामो परिव्वए णिट्ठियट्ठी वीरे आगमेण सया परक्कमे । (सू० १६८)

निर्दिश्यत इति निर्देशः तीर्थकराद्युपदशस्तं नातिवर्तेत मेधावी—मर्यादावानिति । किं कृत्वा निर्देशं नातिवर्तेतेत्यत आह—सुष्ठु प्रत्युपेक्ष्य हेयोपादेयतया तीर्थिकवादान् सर्वज्ञवादं च सर्वतः—सर्वैः प्रकारैर्द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपैः सर्वात्मना सामान्यविशेषात्मकतया पदार्थान् पर्यालोच्य सह सन्मत्यादित्रिकेण परिच्छिद्य सदाऽऽचार्यनिर्देशवर्ती तीर्थिकप्रवादनिराकरणं कुर्यात्, किं च-कृत्वेत्यत आह—सम्यगेव स्वपरतीर्थिकवादान् समभिज्ञाय—बुद्ध्वा ततो निराकरणं कुर्यात् । किं च—इह—अस्मिन् मनुष्यलोके आरमणमारामो रतिरित्यर्थः, स चारामः परमार्थचिन्तायामात्यन्तिकैकान्तिकरतिरूपः संयमः तमासेवनपरिज्ञया परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत्—संयमानुष्ठानं विहरेत्, किंभूत इत्याह—निष्ठितो-मोक्षस्तेनार्थी, यदि वा-निष्ठितः-परिसमाप्तः अर्थः-प्रयोजनं यस्य स निष्ठितार्थः वीरः—कर्मविदारणसहिष्णुः सन् आगमेन-सर्वज्ञप्रणीताचारादिना सदा-सर्वकालम् पराक्रमेथाः कर्मरिपून् प्रति मोक्षाध्वनि वा गच्छेः । इतिः-अधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

किमर्थं पुनः पौनःपुन्येनोपदेशदानमित्याह—

उड्ढं सोया श्रहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया ।
एए सोया वि अक्खाया, जेहिं संगंति पासह ॥ १ ॥

श्रोतांसि-कर्मास्रवद्वाराणि तानि च प्रतिभवाभ्यासाद्विषयानुबन्धादीनि गृह्यन्ते, तत ऊर्ध्वं श्रोतांसि—वैमानिकाङ्गनाऽभिलाषेच्छा वैमानिकसुखनिदानं वा, अधो-भवनपतिसुखाभिलाषिता, तिर्यग्—व्यन्तरमनुष्यतिर्यग्विषयेच्छा, यदि वा—प्रज्ञापकापेक्षयोर्ध्वं-गिरिशिखरप्राग्भारनितम्बप्रपातोदकादीनि अधोऽपि—श्वभ्रनदीकूलगुहालयनादीनि, तिर्यगप्यारामसभाऽऽवसथादीनि प्राणिनां विषयोपभोगस्थानानि विविधमाहितानि-प्रयोगविस्रसाभ्यां स्वकर्मपरिणत्या वा जनितानि व्याहितानि, एतानि च कर्मास्रवद्वाराणीति कृत्वा श्रोतांसीव श्रोतांसि, एभिश्च त्रिभिः प्रकारैरप्यन्यैश्च पापोपादानहेतुभूतैर्यैः सङ्गम्-प्राणिनामासङ्गि कर्मानुषङ्गं वा पश्यत, इतिः—हेतौ, तस्मात्कर्मानुषङ्गात् कारणादेतानि श्रोतांसीत्यतोऽपदिश्यते, आगमेन सदा पराक्रमेथा इति ।

आवट्टं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज वेयवी, विणइत्तु सोयं निक्खम्म एसमहं अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ इह आगइं गइं परिन्नाय । (सू० १६६)

रागद्वेषकषायविषयावर्त्तं कर्मबन्धावर्त्तं वा तुशब्दः पुनःशब्दार्थे, भावावर्त्तं पुनरुत्प्रेक्ष्य अत्र—अस्मिन् भावावर्ते विषयरूपे वेदविद्—आगमविद् विरमेद्—आस्रवद्वारनिरोधं विदध्यात्, पाठान्तरं वा " विवेगं किट्टइ वेदवी " आस्रवद्वारनिरोधेन तज्जनितकर्मविवेकम्—अभावं कीर्त्तयति—प्रतिपादयति वेदविदिति । आस्रवद्वारनिरोधेन च यत्स्यात्तदाह—स्रोतः—आस्रवद्वारं तद्विनेतुम्—अपनेतुं निष्क्रम्य—प्रव्रज्य एष इति—प्रत्यक्षः प्रस्तुतार्थस्य चावश्यंभावित्वादेष इति प्रत्यक्षवाचिना सर्वनाम्नोक्तो यः कश्चिदित्यर्थः महान्—महापुरुषः आतिशयिककर्मविधायी, एवम्भूतश्च किंविशिष्टः स्यादिति दर्शयति—अकर्मा—नास्य कर्म विद्यत इत्यकर्मा, कर्मशब्देन चात्र घातिकर्मविवक्षितम्, तदभावाच्च जानाति विशेषतः, पश्यति च सामान्यतः, सर्वाश्च लब्धयो विशेषोपयुक्तस्य भवन्तीत्यतः पूर्वं जानाति पश्चाच्च पश्यति । अनेन च क्रमोपयोग आविष्कृतः; स चोत्पन्नदिव्यज्ञानस्त्रैलोक्यललामचूडामणिः सुरासुरनरेन्द्रैकपूज्यः संसारार्णवपारवर्त्ती विदितवेद्यः सन् किं कुर्यादित्याह—स हि—ज्ञातज्ञेयः सुरासुरनरोपहितां पूजामुपलभ्य कृत्रिमामनित्यामसारां सोपाधिकां च प्रत्युपेक्ष्य—पर्यालोच्य हृषीकविजयजनितसुखनिःस्पृहतया तां नाकाङ्क्षति—नाभिलषतीति । किं च—इह—अस्मिन् मनुष्यलोके व्यवस्थितः सन् उत्पन्नज्ञानः प्राणिनामागतिं गतिं च संसारभ्रमणं तत्कारणं च ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया निराकरोति ।

तन्निराकरणे च यत्स्यात्तदाह-

अच्चइ जाईमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, श्रोए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुकिल्ले

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे न तित्ते न कडुए न कसाए न
अंबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरुए न ल-
हुए न उएहे न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रुहे न
संगे न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उव-
मा न विज्जए , अरूवी सत्ता , अपयस्स पयं नऽ-
त्थि। (सू०-१७०)

अत्येति—अतिक्रामति जातिश्च मरणं च जातिमरणं
तस्य 'वट्टमग्गं' ति पन्थानम्—मार्गम् उपादानं कर्म्मे-
ति यावत्, तदत्येति—अशेषकर्म्मक्षयं विधत्ते, तत्क्षया-
च्च किं गुणः स्यादित्याह—विविधम्-अनेकप्रकारं प्रधान-
पुरुषार्थतयाऽऽरब्धशास्त्रार्थतया तपःसंयमानुष्ठानार्थत्वेन
(व्याख्यातो) मोक्षः—अशेषकर्म्मक्षयलक्षणो विशिष्टाकाशप्र-
देशाख्यो वा तत्र रतो—व्याख्यातरतः, आत्यन्तिकैका-
न्तिकानाबाधसुखक्षायिकज्ञानदर्शनसंपदुपेतोऽनन्तमपि का-
लं संतिष्ठते। किम्भूत इति चेत्, न तत्र शब्दानां प्रवृ-
त्तिः, न च सा काचिदवस्थाऽस्ति या शब्दैरभिधीयेत इ-
त्येतत्प्रतिपादयितुमाह—सर्वे-निरवशेषाः स्वरा-ध्वनय-
स्तस्मान्निवर्त्तन्ते, तद्वाच्यवाचकसम्बन्धे न प्रवर्त्तन्ते, त-
थाहि—शब्दाः प्रवर्त्तमाना रूपरसगन्धस्पर्शानामन्यतमे
विशेषे सङ्केतकालगृहीते तत्तुल्ये वा प्रवर्त्तेरन्, न चैत-
त्तत्र शब्दादीनां प्रवृत्तिनिमित्तमस्ति, अतः शब्दानभिधे-
या मोक्षावस्थेति। न केवलं शब्दानभिधेया, उत्प्रेक्षणी-
याऽपि न सम्भवतीत्याह—सम्भवत्पदार्थविशेषास्तित्वाध्य-
वसायः, ऊहस्तर्कः--एवमेवं चैतत्स्यात्, स च यत्र न
विद्यते ततः शब्दानां कुतः प्रवृत्तिः स्यात्?। किमिति
तत्र तर्काभाव इति चेदाह—मननं मतिः--मनसो व्या-
पारः पदार्थचिन्ता सौत्पत्तिक्यादिका चतुर्विधाऽपि म-
तिस्तत्र न ग्राहिका, मोक्षावस्थायाः सकलविकल्पाती-
तत्वात्, तत्र च मोक्षे कर्म्मांशसमन्वितस्य गमनमाहो-
स्विन्निष्कर्म्मणः?, न तत्र कर्म्मसमन्वितस्य गमनमस्ती-
त्येतद्दर्शयितुमाह-ओजः-एकोऽशेषमलकलङ्काङ्करहितः, किं
च--न विद्यते प्रतिष्ठानमौदारिकशरीरादेः कर्म्मणो वा य-
त्र सोऽप्रतिष्ठानो-मोक्षस्तस्य खेदज्ञो-निपुणो, यदि वा-
अप्रतिष्ठानो नरकस्तत्र स्थित्यादिपरिज्ञानतया खेदज्ञः,
लोकनाडिपर्यन्तपरिज्ञानावेदनेन च समस्तलोकखेदज्ञता
आवेदिता भवति। सर्वस्वरनिवर्त्तनं च येनाभिप्रायेणो-
क्तवांस्तमभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह-सः-परमपदाध्यासी लोका-
न्तक्रोशषड्भागक्षेत्रावस्थानोऽनन्तज्ञानदर्शनोपयुक्तः संस्था-
नमाश्रित्य-न दीर्घो न ह्रस्वो न वृत्तो न त्र्यस्रो न चतु-
रस्रो न परिमण्डलो, वर्णमाश्रित्य-न कृष्णो न नीलो न
लोहितो न हारिद्रो न शुक्लो, गन्धमाश्रित्य--न सुरभि-
गन्धो न दुरभिगन्धो, रसमाश्रित्य-न तिक्तो न कटुको
न कषायो नाम्लो न मधुरः, स्पर्शमाश्रित्य—न कर्कशो न
मृदुर्न लघुर्न गुरुर्न शीतो नोष्णो न स्निग्धो न रूक्षो, 'न का-
ऊ' इत्यनेन लेश्या गृहीता, यदि वा—न कायवान् यथा वे-
दान्तवादिनाम्-'एक एव मुक्तात्मा तत्कायमपरे क्षीण-
क्लेशा अनुप्रविशन्ति आदित्यरश्मय इवांशुमन्तमिति,
तथा न रुहः 'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च' रोहतीति
रुहः, न रुहोऽरुहः, कर्म्मबीजाभावादपुनर्भावीत्यर्थः,
न पुनर्यथा शाक्यानां दर्शननिकारतो मुक्तात्मनोऽपि पु-
नर्भवोपादानमिति। उक्तं च—" दग्धेन्धनः पुनरुपैति भ-
वं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम्। मुक्तः स्व-
यंकृतभवश्च परार्थशूर-स्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्य-
म् ॥ १ ॥ " तथा च-न विद्यते सङ्गोऽमूर्त्तत्वाद्यस्य स त-
था, तथा न स्त्री न पुरुषो नान्यथेति-न नपुंसकः, के-
वलं सर्वैरात्मप्रदेशैः परिः—समन्ताद्विशेषतो जानातीति
परिज्ञः, तथा सामान्यातः सम्यग्जानाति-पश्यतीति संज्ञः,
ज्ञानदर्शनयुक्त इत्यर्थः, यदि नाम-स्वरूपतो न ज्ञायते
मुक्तात्मा तथाऽप्युपमाद्वारेणादित्यगतिरिव ज्ञायत एव इति
चेत्, तन्न, यत आह-उपमीयते सादृश्यात् परिच्छिद्यते यया
सोपमा-तुल्यता सा मुक्तात्मनस्तज्ज्ञानसुखयोर्वा न विद्यते,
लोकातिगत्वात्तेषाम्, कुत एतदिति चेदाह—तेषां मुक्तात्मनां
या सत्ता सा अरूपिणी, अरूपित्वं च दीर्घादिप्रतिषेधेन
प्रतिपादितमेव। किंच—न विद्यते पदम्-अवस्थाविशेषो
यस्य सोऽपदः, तस्य पद्यते—गम्यते येनार्थस्तत्पदम्-अभि-
धानं तच्च नास्ति-न विद्यते, वाच्यविशेषाभावात्।

तथाहि-योऽभिधीयते स शब्दरूपगन्धरसस्पर्शान्यतरविशे-
षेणाभिधीयते, तस्य च तदभाव इत्येतद्दर्शयितुमाह—यदि
वा-दीर्घ इत्यादिना रूपादिविशेषनिराकरणं कृतम्। इह तु
सत्सामान्यनिराकरणं कर्तुकाम आह—

से न सद्दे न रूवे न गंधे न रसे न फासे, इच्चेव त्ति
बेमि। (सू० १७१)

स-मुक्तात्मा न शब्दरूपः न रूपात्मा न गन्धः न रसः न स्पर्श
इत्येतावन्त एव वस्तुनो भेदाः स्युः, तत्प्रतिषेधाच्च नापरः
कश्चिद्विशेषः सम्भाव्यते येनासौ व्यपदिश्येतेति भावार्थः।
इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमिति पूर्ववत्। आचा० १ श्रु०
५ अ० ६ उ०।

लोगसारत्थ-लोकसारार्थ-पुं०। त्रैलोक्यप्रधानविजये, बृ० २
उ०।

लोगसिद्धिवासि-लोकसिद्धिवासिन्-पुं०। चतुर्दशरज्ज्वात्मके
लोकान्ते या सिद्धिः प्रशस्तक्षेत्ररूपा तद्वासिनः।ईषत्प्राग्भारा-
वासिषु सिद्धेषु, पं० सू० ५ सूत्र।

लोगसिरी-लोकश्री-स्त्री०। स्वनामख्याते ज्योतिष्कग्रन्थे,
स्था० ६ ठा० ३ उ०।

लोगहिय-लोकहित-पुं०। लोकस्यैकेन्द्रियादिप्राणिगणस्य
हित आत्यन्तिकतद्रक्षाप्रकर्षप्ररूपणेनानुकूलवृत्तिर्लोकहि-
तः। स० १ सम०। 'लोकहितेभ्यः' इह लोकशब्देन सकल
एव सांव्यवहारिकादिभेदभिन्नः प्राणिवर्गो गृह्यते तस्मै
सम्यग्दर्शनप्ररूपणरक्षणयोगेन हितो लोकहितः। ध० २
अधि०। रा०। लोकस्य प्राणिलोकस्य पञ्चास्तिकायात्मक-
स्य वा हितोपदेशेन सम्यक्प्ररूपणतया हितो लोकहितः।
जीवानां हितकारके दयाप्ररूपके, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।
कल्प०। लोकशब्देन सकलव्यवहारिकादिभेदभिन्नप्राणिलो-
को गृह्यते पञ्चास्तिकायात्मको वा। ल०। जिने, कल्प०
१ आध० १ क्षण। रुचकपर्वतस्य दक्षिणकूटे, द्वी०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगागमणीइ–लोकागमनीति–स्त्री०। लोकन्याये, पञ्चा०१७ विव०।

लोगाणुवित्ति–लोकानुवृत्ति–स्त्री०। लोकचित्ताराधनायाम्, द्वी०।

लोगायत–लोकायत–न०। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनां जडमात्र-पदार्थवादिनां बार्हस्पत्यानां शास्त्रे, तस्य लोके विस्तीर्णत्वा-ल्लोकायतं नाम। अनु०। सम्म०। दश०।

लोगायतिग–लौकायतिक–पुं०। चार्वाके बृहस्पतिशिष्ये, सूत्र० १ श्रु०१ अ०१ उ०। "पिब खाद च चारुलोचने!, यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते। न हि भीरु गतं निवर्त्तते, समुदयमात्र-मिदं कलेवरम्॥ १॥" आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। ('पुं-डरीय' शब्दे पञ्चमभागे ९४६ पृष्ठे एतन्मतं खण्डितम्)

लोगालोगप्पमाण–लोकालोकप्रमाण–न०। लोकालोकयो-स्तद्व्यक्त्योर्यत्प्रमाणमनन्ताः प्रदेशास्तदेव परिमाणमस्येति लोकालोकप्रमाणः। लोकालोकप्रदेशपरिमिते आत्मनि, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

लोगालोगपवंच–लोकालोकप्रपञ्च–पुं०। लोके चतुर्दशरज्ज्वा-त्मके आलोको लोकालोकस्तस्य प्रपञ्चः। पर्याप्तापर्याप्तकसु-भगादिद्वन्द्वविकल्पे, तद्यथा–नारको नारकत्वेनावलोक्यते एकेन्द्रियादिरेकेन्द्रियत्वेनैवं पर्याप्तापर्याप्तकाद्यपि वाच्यम्। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

लोगालोगावलोयणाभोग–लोकालोकावलोकनाभोग–त्रि०। लोकालोकयोः समयाप्रसिद्धयोरवलोकनम् आभोग उपयो-गोऽस्येति लोकालोकावलोकनाभोगः। लोकालोकज्ञातरि, षो० १५ विव०।

लोगावाई–लोकापातिन्–त्रि०। लोकश्चतुर्दशरज्ज्वात्मकः प्रा-णिगणो वा तत्रापतितुं शीलमस्येति। कोकाकाशमध्यवर्त्ति-नि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

लोगुज्जोय–लोकोद्योत–पुं०। लोकप्रकाशे, स्था०।

तिहिं ठाणेहिं लोगुज्जोए सिया, तं जहा–अरहंतेहिं जायमाणेहिं अरहंतेसु पव्वयमाणेसु अरहंताणं णाणुप्पाय-महिमासु।

लोकोद्योतो लोकानुभावात्, मनुष्यलोके देवागमाद्वा। 'णाणुप्पा०' इति। केवलज्ञानोत्पादे देवकृतमहोत्सवेषु। स्था० ३ ठा० १ उ०।

लोगुज्जोयगर–लोकोद्योतकर–पुं०। लोकप्रकाशकरे, पाक्षिक-दिने द्वादशानां चतुर्मासके विंशतेः सांवत्सरिकदिने चत्वा-रिंशतो लोकोद्योतकराणां कायोत्सर्गः क्रियते, तत्किमिति? अत्रोत्तरम्–पाक्षिकादिदिवसेषु यत्कायोत्सर्गः क्रियते तत्तु प्रतिक्रमणं कुर्वतां यदतीचारशुद्धिर्नाभूत्तदतीचारशुद्धिनि-मित्तम्, दिनप्रतिबद्धसंख्यानियमे त्वाज्ञाप्रमाणमिति॥१५३॥ सेन० ४ उल्ला०। सांवत्सरिकप्रतिक्रमणकायोत्सर्गे च-त्वारिंशल्लोकोद्योतकरान् कथयित्वा तत्प्रान्ते एको नम-स्कारो वक्तव्यः पश्चात् कायोत्सर्गः पारणीयः कश्चिदिति ब्रूते, कश्चिच्च–प्रान्ते नमस्कारं वक्तव्यं न ब्रूते, तेन किं प्रमाणमिति प्रश्नः?, अत्रोत्तरम्–सांवत्सरिकप्रतिक्रमणे सनमस्कारश्चत्वारिंशल्लोकोद्योतकरकायोत्सर्गः प्रतिक्र-मणहेतुगर्भादावुक्तोऽस्ति, पारम्पर्येणापि तथैव क्रियत इति॥ २८६॥ सेन० ३ उल्ला०।

लोगुत्तम–लोकोत्तम–पुं०। लोको-भव्यसत्त्वलोकस्तस्य स-कलकल्याणैकनिबन्धनतया भव्यसत्त्वभावेनोत्तमः लो-कोत्तमः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। लोकस्य सकल-कल्याणनिबन्धनतया भव्यत्वभावेनोत्तमः लोकोत्तमः। ध० २ अधि०। लोकस्योत्तमश्चतुस्त्रिंशद्बुद्धातिशयाद्यसाधा-रणगुणोपपेततया सकलसुरासुरखेचरनिकरनमस्यतया च प्रधानो लोकोत्तमः। स० १ सम०। लोकस्य भव्यसमूहस्य चतुस्त्रिंशदतिशययुक्तत्वाद्वा उत्तमो लोकोत्तमः, सकलसुरा-सुरादिवन्द्यमानेषु जिनादिषु, कल्प० १ अधि० १ क्षण। भ०। लोकश्रेष्ठे, आव० ४ अ०। आ० चू०।

चत्तारि लोगुत्तमा अरिहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

('पडिक्कमण' शब्दे पञ्चमभागे २७० पृष्ठे चैतद् व्याख्यात-म्।) तन्निक्षेपस्यापि तन्निबन्धनत्वान्निश्चयमतभेदाद्-तिसूक्ष्मबुद्धिगम्यमिति लोकोत्तमः। ल०।

लोगुत्तमदेव–लोकोत्तमदेव–पुं०। लोकस्य त्रिभुवनान्तर्वर्त्ति-जनस्योत्तमा लोकोत्तमाः साधवस्तेषां देव आराध्यः। अथ-वा-लोकानामुत्तमो लोकोत्तमः, स चासौ देवश्च लोकोत्तम-देवः। जिने, वीतरागे, दर्श० ५ तत्त्व।

लोगुत्तममइ–लोकोत्तममति–स्त्री०। सत्यजनप्रधानबुद्ध्याम्, जिनप्रवचनानुसारिधियाम्, पञ्चा० ३ विव०।

लोगुत्तरट्ठिइ–लोकोत्तरस्थिति–स्त्री०। लोकातीतमर्यादायाम्, अष्ट० २३ अष्ट०।

लोगुत्तरतत्तसंपत्ति–लोकोत्तरतत्त्वसम्प्राप्ति–स्त्री०। परमार्थस्य लाभे, षो०।

अधुना लोकोत्तरतत्त्वसंप्राप्तिमाह–

एवं सिद्धे धर्म्मे, सामान्येनेह लिङ्गसंयुक्ते।
नियमेन भवति पुंसां, लोकोत्तरतत्त्वसंप्राप्तिः॥१॥

एवं सिद्धे धर्म्मे-पूर्वोक्तनीत्या सामान्येन लोकलोकोत्तरा-प्रविभागेनेह प्रक्रमे लिङ्गसंयुक्ते-प्रतिपादितनीत्या नियमेन-नियोगेन भवति-जायते पुंसां-पुरुषाणां लोकोत्तरस्य-लो-कोत्तमस्य तत्त्वस्य-परमार्थस्य संप्राप्तिः-लाभ इति।

इयं च यद्रूपा यस्मिँश्च काले संभवति तदेतदभिधातुमाह–

आद्यं भावारोग्यं, बीजं चैषा परस्य तस्यैव।
अधिकारिणो नियोगा–चरम इयं पुद्गलावर्त्ते॥ २॥

आदौ भवमाद्यं भावारोग्यम्–भावरूपमारोग्यं तच्चेह सम्यक्त्वं तद्रूपत्वाल्लोकोत्तरतत्त्वसंप्राप्तेर्बीजं चैषा-लो-कोत्तरतत्त्वसंप्राप्तिः, परस्य-प्रधानस्य तस्यैव-भावारोग-स्य मोक्षलक्षणस्य रागद्वेषमोहानां तन्निमित्तानां च जा-तिजरामरणादीनां भावरोगरूपत्वात्तदभावरूपत्वाच्च निश्रे-यसस्य, अधिकारिणः-क्षीणप्रायसंसारस्य नियोगान्नियमेन चरमे पर्यन्तभववर्त्तिनि इयम्-प्रस्तुता पुद्गलावर्त्ते–पुद्गलप-रावर्त्ते समयप्रसिद्धे औदारिकवैक्रियतैजसकार्म्मणप्राणापा-नभाषामनोभिरेतत्परिणामपरिणतसर्व्वपुद्गलग्रहणरूपे॥ २॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुतः पुनर्हेतोश्चरमपुद्गलावर्त्तो भवतीत्याशङ्कायामिदमाह--

स भवति कालादेव, प्राधान्येन सुकृतादिभावेऽपि ।
ज्वरशमनौषधसमय-वदिति समयविदो विदुर्निपुणम् ।३।

सः--चरमपुद्गलावर्त्तो भवति स्वरूपतः कालादेव प्राधान्येन हेतुविवक्षायां कालप्राधान्यमाश्रित्य शेषकर्म्मादिहेत्वन्तरोपसर्ज्जनीभावप्रतिपादनेन सुकृतादिभावेऽपि-सुकृतदुष्कृतकर्म्मपुरुषकारनियत्यादिभावेऽपि । " कर्म्मादिभावेऽपी "ति पाठान्तरम्, नाश्रितं छन्दोभङ्गभयात् । निदर्शनमाह--ज्वरशमनौषधसमयवत्, ज्वरं शमयति इति ज्वरशमनं तच्च तदौषधं च तस्य समयः--प्रस्तावो देशकालस्तद्वद्भवति चरमः । ज्वरशमनीयमप्यौषधं प्रथमापाते दीयमानं न कञ्चनगुणं पुष्णाति प्रत्युत दोषानुदीरयति, तदेव चावसरे जीर्णज्वरादौ वितीर्यमाणं स्वकार्यं निर्वर्त्तयति । एवमयमप्यवसरकल्पो वर्त्तते चरम-इति भावः । इत्येवं समयविदः-सिद्धान्तज्ञाः विदुः-जानन्ति क्रियाविशेषणं निपुणमिति ॥ ३ ॥

कस्मात् पुनश्चरमपुद्गलावर्त्तः प्राधान्येन लोकोत्तरतत्त्वसंप्राप्तेर्हेतुराश्रीयत इत्याह-

नागमवचनं तदधः, सम्यक् परिणमति नियम एषोऽत्र ।
शमनीयमिवाभिनवे, ज्वरोदये काल इति कृत्वा ॥४॥

नेति--प्रतिषेधे, आगमवचनमार्षवचनं तदधस्तस्याधस्ताद् पुद्गलपरावर्त्तादभ्यधिकसंसारस्य सम्यग् विषयविभागेन परिणमति न परिणमत्येवेत्यर्थः । नियम एष प्रस्तुतोऽत्र प्रक्रमे शमनीयमिवौषधम्, अभिनवे ज्वरोदये प्रत्यग्रे-ज्वरप्रादुर्भावे किमित्यकाल इति कृत्वा अप्रस्ताव इति कृत्वा ॥ ४ ॥

नागमवचनं तस्याधस्तात् परिणमतीत्युक्तं तदेव दर्शयति-

आगमदीपेऽध्यारो-पमण्डलं तत्त्वतोऽसदेव तथा ।
पश्यन्त्यपवादात्मक-मविषय इह मन्दधीनयनाः ॥५॥

आगमप्रदीपे अध्यारोपमण्डलम्--भ्रान्तिमण्डलम् अध्यारोपो-भ्रान्तिस्तया मण्डलं मण्डलाकारं दीपे, अपरे तु-भ्रान्तिसमूहम्, तत्त्वतः-परमार्थेन, वस्तुवृत्त्या असदेवाविद्यमानमेव, तथा तेन रूपेण तैमिरिकं दृश्येन प्रदीपस्योपवर्तितया पश्यन्ति दृष्टिदोषात् अपवादात्मकम् अपवादस्वरूपम् अविषये योऽपवादस्य कथंचिन्न विषयस्तस्मिन्नविद्यमानमेव पश्यन्ति इह लोके मन्दधीनयनाः--मन्दबुद्धिचक्षुषः । यथोक्तम्-" मयूरचन्द्रकाकारं, नीललोहितभासुरम् । प्रपश्यन्ति प्रदीपादे--र्मण्डलं मन्दचक्षुषः ॥ १ ॥ " ॥ ५ ॥

यत एवागमदीपेऽध्यारोपमण्डलं तत्त्वतोऽसदेव पश्यन्ति--

तत एवाविधिसेवा, दानादौ तत्प्रसिद्धफल एव ।
तत्तत्त्वदृशामेषा, पापा कथमन्यथा भवति ॥ ६ ॥

तत एव--अध्यारोपादेव भ्रान्तेरेवेत्यर्थः । अध्यारोपमण्डलदर्शनादेव वा अविधिसेवा--अविधेर्विधिविपर्ययस्य सेवा--सेवनं दानादौ विषये । आदिशब्दाच्छीलतपोभावनापरिग्रहः । तत्प्रसिद्धफल एव-तस्मिन्नागमे प्रसिद्धं फलं यस्य दानादेस्तस्मिन् । तस्यागमस्य तत्त्वं-परमार्थस्तं पश्यन्तीति तत्तत्त्वदृशस्तेषामेषा अविधिसेवा पापा स्वरूपेण कथमन्यथा भवति, न भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

अविधिसेवागतमेवाह—

येषामेषा तेषा-मागमवचनं न परिणतं सम्यक् ।
अमृतरसास्वादज्ञः, को नाम विषे प्रवर्त्तेत ॥ ७ ॥

येषां—जीवानामेषा-अविधिसेवा तेषामागमवचनं-सर्वज्ञवचनं न परिणतं सम्यग्-ज्ञेयविषयविभागेन चेतसि न व्यवस्थितम् । आगमवचनापरिणतौ कारणमाह-अमृतरसास्वादज्ञः पुमान् को नाम-न कश्चिद्विषे-मारणात्मके प्रवर्त्तेत-भक्षयितुं प्रवृत्तिं विदधीत, विषप्रवृत्तिकल्पा अविधिसेवा ततो विज्ञायते नागमवचनं सम्यक्परिणतमिति ॥ ७ ॥

प्रतिषेधमुखेनोक्तमर्थं विधिमुखेन नानागमवचनपरिणामाश्रयमाह—

तस्माच्चरमे नियमा-दागमवचनमिह पुद्गलावर्त्ते ।
परिणमति तत्त्वतः खलु, स चाधिकारी भवत्यस्याः ॥८॥

तस्माच्चरमे-अवसानवृत्तौ नियमात्-नियमेनागमवचनं पूर्वोक्तमिह पुद्गलावर्त्ते प्रागुक्ते परिणमति-उत्तरोत्तरपरिणामविशेषमासादयति, स्वरूपेण परिस्फुरतीत्यर्थः । तत्त्वतः खलु तत्त्वत एव यस्यैतदागमवचनं परिणमति स चाधिकारी—अधिकारवान् भवत्यस्या—लोकोत्तरतत्त्वसंप्राप्तेः, शेषस्त्वनधिकारीति ॥८॥ (षो०) ('आगम०' (६) श्लोकः ' आगमवयणपरिणइ ' शब्दे द्वितीयभागे ८२ पृष्ठे गतः ।)

कथं पुनः सद्बोधादनुष्ठानं परिपूर्णं भवतीत्याह—

दशसंज्ञाविष्कम्भण-योगे सत्यविकलं ह्यदो भवति ।
परहितनिरतस्य सदा, गम्भीरोदारभावस्य ॥ १० ॥

दश च ताः संज्ञाश्च तासां विष्कम्भणं—यथाशक्तिनिरोधस्तद्योगे-तत्संबन्धे सति तन्निरोधोत्साहे वा, अविकलंह्यखण्डम्, अदः-एतत्सदनुष्ठानं भवति परहितनिरतस्य परोपकाराभिरतस्य,सदा-सर्व्वकालम्, गम्भीरोदारभावस्य गाम्भीर्यौदार्ययुक्तमनसः ॥ १० ॥ (षो०) । (" सर्वज्ञवचन० " (११) इत्यादिश्लोकः ' आगमवयण ' शब्दे द्वितीयभागे ८२ पृष्ठे गतः ।)

अध्यारोपादविधिसेवा दानादावित्युक्तं तद्विपर्ययेणाह-

विधिसेवादानादौ,सूत्रानुगता तु सा नियोगेन ।
गुरुपारतन्त्र्ययोगा-दौचित्याच्चैव सर्व्वत्र ॥ १२ ॥

विधिसेवा-आगमाभिमतन्यायसेवा, दानादौ विषये, ज्ञेया सूत्रानुगता तु आगमानुगता तु विधिसेवा, नियोगेन-नियमेन गुरुपारतन्त्र्ययोगाद्-गुरुपरतन्त्रसंबन्धात्, औचित्याच्चैव अनौचित्यपरिहारेण सर्व्वत्र-दीनादावविशेषेण ॥१२॥ (षो०) (" न्यायात्तं० (१३) " इत्यादिश्लोकः ' दाण ' शब्दे चतुर्थभागे २४६० पृष्ठे गतः ।)

एवं महादानं दानं चाभिधाय देवार्चनमाह—

देवगुणपरिज्ञाना-त्तद्भावानुगतमुत्तमं विधिना ।
स्यादादरादियुक्तं, यत्तद्देवार्चनं चेष्टम् ॥ १४ ॥

देवगुणपरिज्ञानात्-देवगुणानां वीतरागत्वादीनां परिज्ञान-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

म्—अवबोधस्तस्मात्, तद्भावानुगतमुत्तमं विधिना तेषु गुणेषु भावो बहुमानस्तेनानुगतं युक्तम्, उत्तमम्—प्रधानम्, विधिना-शास्त्रोक्तेन,स्यादादरादियुक्तं यत आदरकरणप्रीत्यादिसमन्वितं यत् स्यात् तद्देवार्चनं चेदं—तच्च देवार्चनमिष्टम् ॥ १४ ॥

प्रस्तुत एव संबन्धार्थमिदमाह-

एवं गुरुसेवादि च, काले सद्योगविघ्नवर्जनया ।
इत्यादिकृत्यकरणं, लोकोत्तरतत्त्वसंप्राप्तिः ॥ १५ ॥

एवं गुरुसेवादि च-एवं विधिनैव गुरूणां—धर्माचार्यप्रभृतीनाम्, सेवा आदिशब्दात्-पूजनादिग्रहः काले—अवसरे, सद्योगविघ्नवर्ज्जनया, सन्तश्च—ते योगाश्च सद्योगा-धर्मव्यापाराः स्वाध्यायध्यानादयस्तेषु विघ्नः-उपरोधो विघातस्तस्य वर्ज्जनया गुरुसेवादि विधेयम्, इत्यादिकृत्यकरणम्, एवमादीनां कृत्यानाम्-कार्याणामागमोक्तानां करणम्-विधानम्, लोकोत्तरतत्त्वसंप्राप्तिरुच्यत इति ॥ १५ ॥

इयं च कथं संपद्यत इत्याह-

इतरेतरसापेक्षा, त्वेषा पुनराप्तवचनपरिणत्या ।
भवति यथोदितनीत्या, पुंसां पुण्यानुभावेन ॥ १६ ॥

इतरेतरसापेक्षा तु-इतरेतरसापेक्षैव परस्पराविरोधिनी । एषा पुनराप्तवचनपरिणत्या-एषा—पुनर्लोकोत्तरतत्त्वसंप्राप्तिराप्तस्य यद्वचनं तत्परिणत्या—आगमपरिणत्या भवति-यथोदितनीत्या जायते यथोक्तन्यायेन पुंसां पुण्यानुभावेन-पुरुषाणां पुण्यविपाकेन ॥ १६ ॥ षो० ५ विव० ।

लोगेसणा-लोकैषणा-स्त्री० । प्राणिगणस्यैषणा-अन्वेषणा । इष्टेषु शब्दादिषु प्रवृत्तौ अनिष्टेषु च हेयबुद्धौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

लोगोवयारविणय-लोकोपचारविनय-पुं० । लोकानामुपचारो व्यवहारस्तेन स एव वा विनयो लोकोपचारविनयः । विनयभेदे, स च सप्तविधः । स्था० ७ ठा० ३ उ० । (स च 'विणय' शब्दे दर्शयिष्यते ।)

लोट्ट-स्वप्-धा० । शयने, " स्वपेः कमवस-लिस-लोट्टाः " ॥ ८ । ४ । १४६ ॥ इति स्वपेः लोट्टादेशः, । लोट्टइ, । स्वपिति, प्रा० । असत्योवहतो ग्रामे अचेयणं ,तंदुले लोट्टो भण्णति । अशस्त्रोपहते ग्रामे अचेतने तण्डुले, नि० चू० ४ उ० ।

लोट्टण-लोट्टन-न० । अवधावने, व्य० १ उ० ।

लोट्टय-लोट्टक-पुं० । कुमारावस्थे हस्तिनि, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

लोट्टयत्-त्रि० । सुप्ते, " लोट्टयं सुवंतं च " पाइ० ना० २२६ गाथा ।

लोट्टिअं-देशी-उपविष्टे, दे० ना० ७ वर्ग २५ गाथा ।

लोढ-लोष्ट-पुं० । शिलापुत्रके, दश० ५ अ० । स्मृते, शयिते च । दे० ना० ७ वर्ग २८ गाथा ।

लोढग-लोढक-पुं० । पद्मिनीकन्दे, ध० २ अधि० ।

लोढयंती-लोढयन्ती-स्त्री० । स्फुटितवर्नाफलात् कार्पासनिष्कासनं कुर्वत्याम् ध० ३ अधि० ।

लोण-लवन-न० । " न वा मयूख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थ-चतुर्दश-चतुर्वार-सुकुमार कुतूहलोदूखलोलूखले" ॥८॥ १। १७१ ॥ इत्यादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओद् भवति । प्रा० । सामुद्रादिके क्षारे, प्रज्ञा० १ पद । सैन्धवसौवर्चलादिकेषु, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । खनिविशेषोत्पन्ने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । लवणपञ्चकं चेदम्, तद्यथा-सैन्धवं सौवर्चलं विडं रोमं सामुद्रं चेति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । (सचित्तलवणग्रहणं 'मूलगुणपडिसेवना' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४६ पृष्ठे पृथिवीकायप्रतिसेवनायां प्रतिषिद्धम् ।)

लोणग-लवणक-पुं० । वनस्पतिविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।

लोणदेवी-लवणदेवी-स्त्री० । नन्दस्तूपानां चतुर्मुखं खनने सति शिलीमयगोरूपत्वेनोत्पन्नायां देव्याम्, " नामेण लोणदेवी रूवेणं नाम अहितुच्छा । धरणियलाउब्भूया, दीसि सिलामयी गावी । " ति० ।

लोणभाव-लवणभाव-पुं० । क्षारभावे, आव० ३ अ० ।

लोणासायण-लवणास्वादन-न० । लवणस्य प्रासने प्रक्षेपे, " एगा दत्ती लोणासायणमित्तमवि पडिगाहिया । " कल्प० ३ अधि० ८ क्षण ।

लोतुरली-लोतुरली-स्त्री० । वादनार्थे अपर्ववंशखण्डे, नालियत्ति अपव्वा भवति सा पुण लोतुरली भण्णति । नि०चू०१उ० ।

लोद्ध-लोध्र-पुं० । वृक्षविशेषे, जी० । स० । ज्ञा० । तद्वृक्षत्वग्रूपे हट्टद्रव्ये, न० । नि० चू० १ उ० ।

लोद्धय-लुब्धक-पुं० । व्याधे, "लोद्धयं वाहं" पाइ० ना० २४८ गाथा ।

लोभ-लोभ-पुं० । लोभनमभिकाङ्क्षणं लुभ्यते अनेनेति वा लोभः । कषायभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० । (अनन्तानुबन्धिप्रभृतयोऽप्यत्र भेदाः 'कषाय' शब्दे तृतीयभागे ३६६ पृष्ठे दर्शिताः ।)

लोभश्चतुर्विधः-कर्मद्रव्यलोभो योग्यादिभेदाः पुद्गला इति, नोकर्मद्रव्यलोभस्त्वाकरमुक्तिक्षिक्कणिकेत्यर्थः , भावलोभस्तु तत्कर्मविपाकः, तद्भेदाश्चैते-" लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरायसामाणो " सर्वेषां क्रोधादीनां यथायोगं स्थितिफलानि-"पक्खचउमासवच्छर-जावज्जीवाणुगामिणो कमसो । देवनरतिरियनारग-गइसाहणहेयवो नेया ॥ १ ॥ "

लोभे लुद्धनन्दोदाहरणम्-पाडलिपुत्ते लुद्धणंदो वाणियओ, जिणदत्तो सावओ, जियसत्तू राया, सो तलागं खणावेइ, फाला य दिट्ठा कम्मकरेहिं सुरा मोल्लंति दो गहाय वीहीए सावगस्स उवणीया, तेण ते णेच्छिया, णंदस्स उवणीया, गहिया, भणिया य—अण्णे वि आणेज्जह, अहं चेव गेण्हिस्सामि दिवसे दिवसे गिण्हइ फाले । अण्णया अब्भहिए सयणिज्जामंतणए बलामोडीए णीओ, पुत्ता भणिया-फाले गेण्हह, सो य गओ , ते य आगया , तेहिं फाला ण गहिया , अक्कुट्ठा य गया पुव्वियसालं, तेहिं ऊणगं मोल्लं ति एगं ते पडिया, किट्टं पडियं , रायपुरिसेहिं गहिया , जहा वत्तं रण्णो कहियं । सो नंदो आगओ भणइ गहिया ण व त्ति, तेहिं भण्णइ-किं अम्हे वि गहेण गहिया ?,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेण अइलोलयाए पत्तियस्स लाभस्स फिट्टोऽहंति पादाए दोसेए एक्काए कुसीए दो वि पाया भग्गा, सयणो विलवइ । तओ रायपुरिसेहिं सावओ एंदो य घेत्तूण राउलं नीया, पुच्छिया, सावओ भणइ-मज्झ इच्छापरिमाणातिरित्तं, अवि य कूडमाणं ति, तेण न गहिया, सावओ पूएऊण विसज्जिओ, नंदो सूलाए भिन्नो, सकुलो य उच्छाइओ, सावगो सिरिघरिओ ठवियओ । एरिसो दुरंतो लोभो ॥ एवंविधं लोभं नामयन्त इत्यादि पूर्ववत् । आव० १ अ० । (दण्डकः 'कसाय' शब्दे तृतीयभागे ३६७ पृष्ठे गतः ।) मूर्च्छास्वभावे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । विशे० (वस्त्रदृष्टान्तेन लोभचातुर्विध्यम् ' कसाय ' शब्दे तृतीयभागे ३६६ पृष्ठे दर्शितम् ।)

अतिलोभे उदाहरणम्—

" जो जहा वट्टए कालो " इत्यादि श्लोकः । अस्य चार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम्—कस्मिंश्चिदटवीप्रदेशे सरोवरमेकमासीत् । तच्च लौकिकेषु कामिकतीर्थमुच्यते । तस्य हि तीरे वञ्जुलनामा वृक्षोऽभूत्तच्छाखामारुह्य यदि तिर्यक् सरोवरजले निपतति तदा तीर्थमाहात्म्यात्किल मनुष्यो भवति । यस्तु मनुष्य एव संनिपतति असौ देवो जायते, । यस्तु लोभाधिक्याद् द्वितीयामपि वारां निपतति स यादृशः प्रागासीत्पुनरपि तादृश एव संपद्यते, एवं चान्यदा वानरमिथुनस्य पश्यतो नरमिथुनं वञ्जुलवृक्षशाखातो निपतितं तत्सरोवरजले । संजातं च भास्वरशरीरं देवमिथुनम् । ततो वानरमिथुनमपि तथैव तत्र पतितं जातं च प्रवररूपधरं नरमिथुनम् । ततो वानरेण प्रोक्तम्—पुनरपि तथैवेह निपतावः, येन देवरूपौ भवावः, ततोऽसौ निषिद्धो योषिता-" यद् न ज्ञायते, पुनरपीत्थं कृते किं संपद्यते ?, पर्याप्तं चाननैव प्रवरमानुषत्वेन, निषिद्धो ह्यतिलोभः सर्वशास्त्रेष्वपि " इति । इत्थं निवार्यमाणोऽपि तयाऽसौ पुरुषो द्वितीयामपि वारां तथैव तत्र निपपात, जातश्च पुनरपि वानरः । ततो गृहीता सा प्रवररूपा योषित्तत्रायातेन केनापि राज्ञा, संजाता च तस्य वल्लभा पत्नी । वानरस्तु गृहीतो मायेन्द्रजालिकैः, शिक्षितश्च नर्त्तयितुम् । नीतश्चासौ सकलत्रोपविष्टस्य राज्ञः पुरतः। प्रत्यभिज्ञाता च तेन सा राज्ञी, तयाऽप्युपलक्षितोऽसौ वानरो धावति च पुनर्निगृह्यमाणोऽपि राज्ञः सन्मुखग्रहणार्थम्, अतो राज्ञा पठितम्-

जो जहा वट्टए कालो, तं तहा सेव वानर ! ।
मा वंजुलपरिभट्ठो, वानरा ! पडणं सर ॥ ८६३ ॥

उत्तानार्थश्चायं श्लोकः । तदेवं यथा अधिको लोभाऽभिप्रायः कृतो वानरस्याऽनर्थाय जातस्तथा मात्राद्यधिकं सूत्रमपीति भावनीयमिति । विशे० । आ० म० ।

अथ लोभे उदाहरणम् ।

" नगरं पाटलीपुत्रं, जितशत्रुर्नराधिपः ।
श्रावको जिनदत्तोऽभू-द्वणिग्नन्दश्च लोभनः ॥ १ ॥
भूभुजा खन्यमानेन, तडागे स्थानके क्वचित् ।
दृष्टाः कर्म्मकरैः फालाः, मृल्लेपकलुषात्मकाः ॥ २ ॥
फालद्वयं गृहीत्वा ते-र्जिनदत्तस्य ढौकितम् ।
विलोक्य तेन मुक्तं त-द्वृत्तं नन्दस्य तैस्ततः ॥ ३ ॥
ज्ञाततत्त्वः स जग्राह, स्माह चाऽऽनयताऽपराम् ।
अयःकुशानां मूल्येन, तेनात्ता शतशोऽपि ते ॥ ४ ॥
नात्ताः फालाः सुतैस्तेऽथ, वलित्वाऽगुर्निजाश्रये ।
तान् घातेनाऽमुचन्भूमौ, लेपः स्तोकोऽपतत्ततः ॥ ५ ॥
राजपुंभिर्गृहीतास्ते, राज्ञः सर्वं निवेदितम् ।
इतश्चायातवान्नन्दः, पुत्रानाह स्म किं कृतम् ॥ ६ ॥
ऊचुस्ते ग्रहिलाः स्मो न, कार्यं किन्तु क्रयाणकैः ।
नन्दोऽथ कुपितः स्वाङ्घ्री, कुशामादाय भग्नवान् ॥ ७ ॥
इयल्लाभो ममायागा-देतयोरेव दोषतः ।
व्यलपन् स्वजनाश्चैवं, किमिदं नन्द ! निर्ममे ॥ ८ ॥
राजपुंभिस्ततो नन्द-जिनदत्तौ नृपान्तिके ।
धृत्वा नीतौ नृपोऽप्राक्षीत्, आद्धानात्ताः कथं कुशाः ॥९॥
सोऽवदन्नियमो मेऽहं, कुर्वे कूटक्रयं न तत् ।
सोऽथ संमान्य संभूष्य, मुक्तो राज्ञाऽगमद् गृहम् ॥ १० ॥
लोभनन्दः पुनः शूला-रोपदण्डेन दण्डितः ।
लोभो दुरन्त इत्येवं, नमोर्हाणामतो मतः ॥ ११ ॥"

आ० क० १ अ० । विशे० ।

अथ लोभद्वारमाह—

लब्भंतं पि न गिण्हइ, अन्नं अमुगं ति अज्ज घेच्छामि ।
भद्दरसं ति व काउं, गिण्हइ खद्धं सिणिद्धाई ॥४८१ ॥

अद्याहममुकं सिंहकेसरादिकं ग्रहीष्यामीति बुद्ध्याऽन्यद्वल्लचणकादिकं लभ्यमानमपि यन्न गृह्णाति, किं तु-तदेवेप्सितम् स लोभपिण्डः । अथवा-पूर्वं तथाविधबुद्ध्यभावेऽपि यथाभावं लभ्यमानम् खद्धं—प्रचुरम् । स्निग्धादि—लपनश्रीप्रभृतिकं भद्रकरसमिति कृत्वा यद् गृह्णाति स लोभपिण्डः ।

तत्र प्रथमभेदमाश्रित्योदाहरणं गाथाद्वयेनाह-

चंपा छणम्मि घिच्छामि, मोयए ते वि सीहकेसरए ।
पडिसेहधम्मलाभं, काऊणं सीहकेसरए ॥ ४८२ ॥
सड्ढड्ढरत्तकेसर-भायण भरणं च पुच्छ पुरिमड्ढे ।
उवओग संत चोयण, साहु त्ति विगिंचणे नाणं॥४८३॥

चम्पा नाम पुरी, तत्र सुव्रतो नाम साधुः । अन्यदा च तत्र मोदकोत्सवः समजनि, तस्मिंश्च दिने सुव्रतोऽचिन्तयत्-अद्य मया मोदका एव ग्रहीतव्याः तेऽपि सिंहकेसरकाः । तत इत्थं संप्रधार्य भिक्षां प्रविष्टो लोलुपतया अन्यत्प्रतिषेधन सिंहकेसरमोदकाँश्चालभमानस्तावत्परिभ्रमति स्म; यावत् सार्द्धं प्रहरद्वयम्, ततो न लब्धा मोदका इति प्रनष्टचित्तो बभूव, ततो, गृहद्वारे प्रविशन् वक्तव्यस्य धर्मलाभस्य स्थाने सिंहकेसरा इति वदति । एवं च सकलमपि दिनं भ्रान्त्वा रात्रौ तथैव परिभ्रमन् प्रहरद्वयसमये श्रावकस्य गृहे प्रविवेश । धर्मलाभभणनस्थाने सिंहकेसरा इत्युवाच, सोऽपि च श्रावकोऽतीव गीतार्थो दक्षश्च । ततस्तेन परिभावयामासे—नूनमेतेन क्वापि न लब्धाः सिंहकेसरा मोदका इति चित्तमस्य प्रनष्टम् । ततस्तस्य चित्तसंस्थापनाय सिंहकेसराणां भृतं भाजनमुपढौकितम्, भगवन् ! प्रतिगृहाण सर्वानप्येतान् सिंहकेसरमोदकानि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ति, सुव्रतेन च परिगृहीताः ततः स्वस्थीभूतं तस्य चित्तम्, श्रावकेण चोक्तम्—भगवन्! अद्य मया पूर्वार्द्धः प्रत्याख्यातः स किं पूर्णो न वा? इति, ततः सुव्रत उपयोगमूर्ध्वं दत्तवान्, पश्यति गगनमण्डलमनेकतारानिकरपरिकरितमर्द्धरात्रोपलक्षितम्, ततो ज्ञातवानात्मनो भ्रमम्, हा! मूढेन मया विरूपमाचरितम्, धिग् मे लोभाभिभूतस्य जीवितम्, भोः श्रावक! सम्यक् कृतं त्वया, यदहं सिंहकेसरप्रदानपूर्वं पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानपरिपूर्णताप्रश्नेन संसारे निमज्जन् रक्षितः, सती मे तव चोदना, तत आत्मानं निन्दन् विधिना च मोदकान् परिष्ठापयन् तथा कथमपि ध्यानानलं प्रज्वालयितुं प्रवृत्तः यथा क्षणमात्रेण सकलान्यपि घातिकर्माण्युयोप, ततः प्रादुर्भूतं तस्य केवलज्ञानम्। सूत्रं सुगमम्। उक्तं लोभद्वारम्। पिं०। कषायभेदे, स० ४ सम०। गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५१ सम०। भ०।

लोभज्झाण—लोभध्यान—न०। लोभशब्दोक्तसिंहकेसरमुग्धसुव्रतसाधोरिव दुर्ध्याने, आतु०।

लोभणिस्सिय—लोभनिश्रित—न०। वणिक्प्रभृतीनामन्यथाक्रीतमेवेत्थं क्रीतमित्यादिरूपे मिथ्यावचने, स्था० १० ठा० ३ उ०।

लोभदंड—लोभदण्ड—पुं०। लोभनिबन्धनप्राणिहिंसायाम्, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

लोभपडिसंलीण—लोभप्रतिसंलीन—पुं०। लोभं प्रति उभयनिरोधेनोदयप्राप्तविफलीकरणेन प्रतिसंलीनः लोभप्रतिसंलीनः। प्रतिसंलीनभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

लोभपिंड—लोभपिण्ड—न०। लोभेन पिण्डग्रहणे, पिं०। (अत्रोदाहरणं सुव्रतसाधोः 'लोभ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव गतम्।)

लोभभय—लोभभय—न०। लोभश्च भयं च समाहारद्वन्द्वः, लोभाद्वा भयम्। लोभभयद्वये, लोभरूपे भये च। "सन्तोषिणो लोभभयावतीताः" लोभभयादतीताः लोभश्च भयं च समाहारद्वन्द्वः, लोभाद्वा भयं तस्मादतीताः। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

लोभवत्तिय—लोभप्रत्ययिक—न०। लोभदण्डे लोभप्रत्ययिकाभिधाने द्वादशे क्रियास्थाने, सूत्र०।

इदं द्वादशं क्रियास्थानं पाखण्डिकानुद्दिश्याह—

अहावरे बारसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिज्जइ, जे इमे भवंति, तं जहा—आरंनिया आवसहिया गामंतिया कण्हुई रहस्सिया णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया सव्वपाणभूतजीवसत्तेहिं ते अप्पणो सच्चामोसाइं एवं निउंजंति, अहं ण हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, अहं ण अज्जावेयव्वो अन्ने अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो अन्ने परिघेतव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अन्ने परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा, (सूत्र०) एवं खलु तस्स तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिए। (सू० २८ +)

द्वादशं क्रियास्थानं लोभप्रत्ययिकमाख्यायते, तद्यथा-य इमे वक्ष्यमाणा अरण्ये वसन्तीत्यारण्यकाः, ते च कन्दमूलफलाहाराः सन्तः केचन वृक्षमूले वसन्ति, केचनावसथेषु-उटजाकारेषु गृहेषु। तथा अपरे—ग्रामादिकमुपजीवन्तो ग्रामस्यान्ते—समीपे वसन्तीति ग्रामान्तिकाः, तथा—कचित्-कार्ये मण्डलप्रवेशादिके रहस्यं येषां ते कचिद्राहसिकाः, ते च न बहुसंयता—न सर्वसावद्यानुष्ठानेभ्यो निवृत्ताः। एतदुक्तं भवति—न बाहुल्येन त्रसेषु दण्डसमारम्भं विदधति, एकेन्द्रियोपजीविनस्त्वविगानेन तापसादयो भवन्तीति, तथा न बहुविरता न सर्वेष्वपि प्राणातिपातविरमणादिषु व्रतेषु वर्तन्ते, किन्तु?—द्रव्यतः कतिपयव्रतवर्तिनो न भावतः, मनागपि तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनस्याभावादित्यभिप्रायः। इत्येतदाविर्भावयितुमाह—'सव्वपाणे' त्यादि, ते ह्यारण्यकादयः सर्वप्राणिभूतजीवसत्त्वेभ्य आत्मना—स्वतः अविरताः—तदुपमर्दकारम्भादविरता इत्यर्थः। तथा ते पाषण्डिका आत्मना-स्वतो बहूनि सत्यामृषाभूतानि वाक्यानि, एवम्—वक्ष्यमाणनीत्या विशेषेण युञ्जन्ति—प्रयुञ्जन्ति, ब्रुवत इत्यर्थः। यदि वा—सत्यान्यपि तानि प्राण्युपमर्दकत्वेन मृषाभूतानि सत्यामृषाणि, एवं ते प्रयुञ्जन्तीति दर्शयति—तद्यथा-अहं ब्राह्मणत्वाद्दण्डादिभिर्न हन्तव्योऽन्ये तु शूद्रत्वाद्धन्तव्याः, तथाहि बद्वाक्यम्—'शूद्रं व्यापाद्य प्राणायामं जपेत्, किंचिद्वा दद्यात्, तथा क्षुद्रसत्त्वानामनस्थिकानां शकटभरमपि व्यापाद्य ब्राह्मणं भोजये' दित्यादि, अपरं च अहं वर्णोत्तमत्वात् नाज्ञापयितव्योऽन्ये तु मत्तोऽधमाः समाज्ञापयितव्याः, तथा नाहं परितापयितव्योऽन्ये तु परितापयितव्याः, तथाऽहं वेतनादिना कर्मकरणाय न ग्राह्योऽन्ये तु शूद्रा ग्राह्या इति, किं बहुनोक्तेन?, नाहमुपद्रावयितव्यो—जीवितादपरोपयितव्योऽन्ये तु अपरोपयितव्या इति। तदेवं तेषां परपीडोपदेशनतोऽतिमूढतयाऽसंबद्धप्रलापिनामज्ञानावृतानामात्मम्भरीणां विषमदृष्टीनां न प्राणातिपातविरतिरूपं व्रतमस्ति, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् मृषावादादत्तादानविरमणाभावोऽप्यायोज्यः। अधुना त्वनादिभवाभ्यासाद्दुस्त्यजत्वेन प्राधान्यात् सूत्रेणैवाब्रह्माधिकृत्याह—'एवमेव' इत्यादि, एवमेव-पूर्वोक्तेनैव कारणेनातिमूढत्वादिना परमार्थमजानानास्ते, तीर्थिकाः स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः। (सूत्र०) (तेषां व्याख्या 'इत्थिकाम' शब्दे द्वितीयभागे ५८६ पृष्ठे गता।) तदेवंभूतं खलु तेषां तीर्थिकानां परमार्थतः सावद्यानुष्ठानादनिवृत्तानामाधाकर्मादिप्रवृत्तेस्तत्प्रायोग्यभोगभाजां—'तत्प्रत्ययिकं—लोभप्रत्ययिकं सावद्यं कर्माधीयते। तदेतल्लोभप्रत्ययिकं द्वादशं क्रियास्थानमाख्यातमिति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। स०। आ० चू०।

लोभवत्तियदंड—लोभप्रत्ययिकदण्ड—पुं०। लोभप्रत्ययिको दण्ड इति, लोभनिमित्ते द्वादशे क्रियास्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोभविजय-लोभविजय-पुं० । लोभोदयनिरोधे, उत्त० २६ अ०।

लोभविजयफलम्—

लोभविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?, लोहविजएणं संतोसिभावं जणयइ लोभवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च कम्मं निज्जरेइ ॥ ७० ॥

हे भगवन् ! लोभविजयेन जीवः किं जनयति ?, गुरुराह—हे शिष्य ! लोभविजयेन जीवः सन्तोषिभावं सन्तोषिणो भावः सन्तोषिभावस्तम् उत्पादयति लोभवेदनीयं कर्म्म न वध्नाति पूर्वनिबद्धं च कर्म्म निर्जरयति ॥ ७० ॥ उत्त० २६ अ०।

लोभसएणा-लोभसंज्ञा-स्त्री० । लोभोदयात्प्रधानभवकारणाभिष्वङ्गपूर्विकासचित्तेतरद्रव्योत्पादनक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति। भ० ७ श० ८ उ०। स्था०। लोभवेदनीयोदयतो लालसत्वेन लोभोदयाल्लोभसत्त्वान्विता सचित्तेतरद्रव्यप्रार्थनैव संज्ञायतेऽनयेति लोभसंज्ञा। स्था० १० ठा० ३ उ०। सचित्तेतरद्रव्यप्रार्थनायाम्, प्रज्ञा० ८ पद।

लोभा-लोभा-स्त्री० । लोभानुगतायां क्रियायाम्, आव० ३ अ०। वाराणस्यामुदितोदयराजभार्यायाम्, आ०चू०४अ०।

लोभाणु-लोभाणु-पुं० । लोभलक्षणकषायसूक्ष्मकिट्टिकायाम्, भ० ५ श० ७ उ०।

लोभि-लोभिन्-त्रि० । लुब्धे, अनु०।

लोम-लोम-न० । लुनाति, निलीयन्ते वा अस्मिन् यूका इति लोमम्। कक्षादिजाते केशाकारे रोमाख्ये द्रव्ये, प्रश्न० १ संव० द्वार।

लोमडिया-लोमडिका-स्त्री० । शिवायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

लोमपक्खि-लोमपक्षिन्-पुं० । सारसराजहंसकाकबकादिके पक्षिभेदे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। स्था०। प्रज्ञा०।

से किं तं लोमपक्खी ?, लोमपक्खी अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-ढंका कंका जे यावन्ने तहप्पगारा। से तं लोमपक्खी।

"से किं तं लोमपक्खी ? लोमपक्खी अणेगविहा पएणत्ता, तं जहा—ढंका कंका कुरला बायसा चक्कवागा हंसा कलहंसा पोयहंसा रायहंसा अडा सेडीबडा बेलागया कोंचा सारसा मेसरा मयूरा सेवयगा गहरा पोंडरिया कामा कामेयगा वंजुलागा तित्तिरा वट्टगा लावगा कपोया कपिंजला पारेवया चिडगा चीसा कुक्कुडा सुगा वरहिगा मयणसलागा कोकिला सएहावरएणगमादी। से तं लोमपक्खी।" जी० १ प्रति०।

लोमसिया-लोमसिका-स्त्री० । वल्लीभेदे, व्य० १ उ०।

लोमहत्थ-लोमहस्त-पुं० । लोममयप्रमार्जनके, औ०।

लोमहरिस-लोमहर्ष-पुं० । लुनाति निलीयन्ते वा तेषु यूका इति लोमानि तेषां हर्षो लोमहर्षः। रोमाञ्चे, उत्त० ५ अ०। ज्ञा०। रोमोद्गमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

लोमावहार-लोमावहार-पुं० । लोमान्यवहरन्ति ये ते लोमावहाराः। लोमकर्त्तकेषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

लोमाहार-लोमाहार-पुं० । शरीरपर्याप्त्युत्तरकालं बाह्यया त्वचा लोमभिराहारो लोमाहारः। आहारभेदे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। प्रव०।

लोय-लोच-पुं० । हस्तेन केशलुञ्चने,पञ्चा० १० विव०। आ० म० (लोचकर्म्ममुहूर्त्तः 'णक्खत्त' शब्दे चतुर्थभागे १७६२ पृष्ठे गतः।) (पर्युषणायां लोचकरणं 'पज्जुसवणाकप्प' शब्दे पञ्चमभागे २४७ पृष्ठे उक्तम्।)

लोयग-लोचक-न० । विगुणे अन्ने, यत्पुनरन्नादि स्वभावादेव लुप्तमाहारगुणैरनुपेतं तल्लोचकं नाम। वृ० २ उ०।

लोयग्ग-लोकाग्र-न० । मोक्षे, " लोयग्गं परमपयं मुत्ती सिद्धी सिवं च निव्वाणं " पाइ० ना० २० गाथा।

लोयण-लोचन-न० । अवलोकने, दर्शने,ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उत्त०। नेत्रे, " अच्छी नयनं च लोअणं नित्तं। " पाइ० ना० १११ गाथा।

लोयणविहाण-लोचनविधान-न०। लोचकरणे,पं० १ विव०।

लोयणा-लोचना-स्त्री० । उज्जयिन्यां देवलासुतराजभार्यायाम्, आ० चू० ४ अ०।

लोयवज्झ-लोकवाह्य-त्रि० । बहिर्भूते, जनवर्जिते च। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

लोयसार-लोकसार-न० । लोकप्रधाने,प्रश्न० ३ आश्र०द्वार।

लोयाणी-लोकानी-स्त्री० । वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

लोयायार-लोकाचार-पुं० । प्राण्युपमर्दादिकषायहेतुके कर्मोपादाने, येन पुनः पुनः संसारे जन्म भवति तथाभूतानुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

लोल-लोल-पुं० । चपले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। लोभे च। " लोला लालस-लोलुअ-उल्लेहड-लंपडा लुद्धा।" पाइ० ना० ७५ गाथा। लम्पटे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। रत्नप्रभायां पृथिव्यां मध्यनरकेन्द्रकात्सीमन्तकात्पूर्वावलिकायां नरकेन्द्रके, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

लोलंठिअ-देशी—चाटूनि, दे० ना० ७ वर्ग २२ गाथा।

लोलण-लोलन-न० । परतो लोलने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। भूमौ हस्ते वाऽवज्ञया लोलयति, ध० ३ अधि०।

लोलमज्झ-लोलमध्य-पुं० । रत्नप्रभायामुत्तरस्यामावलिकायां नरकेन्द्रके, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

लोलावट्ट-लोलावर्त्त-पुं० । रत्नप्रभायां पश्चिमायामावलिकायां नरकेन्द्रके, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

लोलावसिट्ठ-लोलावशिष्ट-पुं० । रत्नप्रभायाः पृथिव्याः दक्षिणायामावलिकायां नरकेन्द्रके, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

लोलिक्क-लौल्य-न० । चाञ्चल्ये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

लोलुअ-लोलुप-त्रि० । लोभे, लुब्धे च। " लोला लालस लोलुअ-उल्लेहड-लंपडा लुद्धा "। पाइ० ना० ७५ गाथा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोलुय-लोलुप-पुं०। लम्पटे, उत्त० २ अ०। पिशिते, उत्त० ७ अ०। गृद्धौ, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। रत्नप्रभायां पूर्वावलिकायां नरकेन्द्रके, स्था० ७ ठा० ३ उ०। आ० म०।

लोलुवाविअ-देशी-रचिततृष्णे, दे० ना० ७ वर्ग २५ गाथा।

लोव-लोप-पुं०। अदर्शने, अनु०।

लोह-लोभ-पुं०। द्रव्याद्यभिकाङ्क्षायाम्, उत्त० ६ अ०। अभिष्वङ्गे, पा०। "दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा। तण्हा हआ जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाऽवि ॥ १ ॥" उत्त० ३२ अ०। "जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ। दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥ १ ॥" उत्त० ७ अ०। गृद्धौ, प्रव० ४१ द्वार। असंतोषात्मके भावपरिणामे, प्रव० २१६ द्वार। "एगे लोभे" स्था० १ ठा०। मूर्च्छायाम्, ध०३अधि०। लोलतापरिणामे, अष्ट० ३ अष्ट०। लुब्धतायाम्, निग्रहशीलत्वे ममत्वबुद्धौ, दर्श० १ तत्त्व। (मायालोभौ 'कसाय' शब्दे तृतीयभागे ३९८ पृष्ठे व्याख्यातौ।) (अतिलोभतो यत्तत्वावाप्तिरार्य्यमङ्गोः सा च 'अज्जमंगु' शब्दे प्रथमभागे २११ पृष्ठे उक्ता। (अत्र कथा दृष्टान्ताश्च 'लोभ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गताः।)

लोह-न०। अयसि, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। "लोहागरधम्ममाणधमधमेंतिघोसं" लोहस्येवाकरे ध्मायमानस्याग्निना ताप्यमानस्य धमधमायमानो धमधमेति वर्णव्यक्तिमिवोत्पादयन् घोषः शब्दो यस्य सः। भ० १५ श०। "लोहं कालायसं" पाइ० ना० २३० गाथा।

लोहकडाह-लोहकटाह-न०। बृहत्कुण्डिके (अनु०) भाजनविशेषे भ० ८ श० ६ उ०।

लोहकडाही-लोहकटाही-स्त्री०। कवेल्याम्, भ०५ श०७ उ०।

लोहग्गल-लोहार्गल-न०। पुष्कलावतीविजये स्वनामख्याते नगरे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। वज्रजङ्घस्य राज्ञः स्वनामख्याते पुरे च। आ० क० १ अ०।

लोहजंघ-लोहजङ्घ-पुं०।उज्जयिनीनगरे चण्डप्रद्योतराजदूते, उत्त० ६ अ०। "लोहजङ्घो लेखहारी, अग्निभीरुस्तथा रथः। स्त्रीरत्नं च शिवा देवी, गजो नलगिरिस्तथा ॥ १ ॥" आ० क० ४ अ०। द्वितीयवासुदेवप्रतिशत्रौ, स०। ती०।

लोहजंघवण-लोहजङ्घवन-न०। मथुरायां स्वनामख्याते वने, ती० ८ कल्प।

लोहज्ज-लोहार्य्य-पुं०। उत्पन्नकेवलज्ञानवीरस्य भिक्षादायके साधौ, आ० म० १ अ०।

लोहविलीणतत्त-लोहविलीनतप्त-त्रि०। लोहमयस्तद्वत्तप्तम्-अतितापविलीनलोहसदृश, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

लोहागरिय-लोहाकरिक-पुं०। लोहाकरोऽस्यास्तीति लोहाकरिकः। लोहखनिस्वामिनि, औघ०।

लोहारंबरीस-लोहकाराम्बरीष-पुं०। लोहकारभ्राष्ट्रेषु, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

लोहिआअ-लोहिताय-नामधातुः। लोहितस्येवाचरणे, "क्यङोर्यलुक्" ॥ ८।३। १३८। इति यस्य लुक्। लोहिआइ। लोहिआअइ। लोहितायते, प्रा० ३ पाद।

लोहिच्च-लौहित्य-पुं०। लोहितर्ष्यपत्ये, जं० ७ वक्ष०। स्था०। भूतदत्ताचार्य्यशिष्ये, "सब्भावुब्भावणया तत्थं लोहिच्चणामाणं ॥ ४० ॥" नं०। शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १४ कल्प।

लोहिच्चायण-लौहित्यायन-न०। लोहितर्षिगोत्रापत्ये, सू० प्र० १० पाहु०।

लोहिणी-लोहिनी-स्त्री०। कन्दविशेषे, उत्त० ३६ अ०। भ०। बादरवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

लोहिय-लोहित-न०। रुधिरे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। 'लोहियपूयपाइणी' लोहितं—रुधिरम्, पूयम्—रुधिरमेव पक्कं ते द्वे अपि पक्तुं शीलं यस्यां सा लोहितपूयपाचिनी। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। सूत्र०। हिङ्गुलादिवत् लोहितवर्णपरिणते रक्ते, प्रज्ञा० १ पद। स्वनामख्याते महाग्रहे, "एगे लोहिए।" स्था० १ ठा०।

लोहियकुंथु-लोहितकुन्थु-पुं०। आरक्तस्वरूपे कुन्थौ, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

लोहियक्ख-लोहिताक्ष-पुं०। स्वनामख्याते महाग्रहे, कल्प०१ अधि० ६ क्षण। "दो लोहियक्खा।" स्था० २ ठा० ३ उ०। स्वनामख्याते रत्नविशेषे, रा०। जी०। जं०। प्रज्ञा०। ज्ञा०। सूत्र०। आ० म०। "लोहियक्खपइवंसग" लोहिताक्षमयाः प्रतिवंशा येषां तानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। चमरस्य असुरेन्द्रस्य महिषानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ०। शक्रस्य देवेन्द्रस्य अपत्यस्थानीये, भ० ३ श० ७ उ०। रत्नप्रभायाः पृथिव्याः स्वनामख्याते काण्डे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

लोहियक्खकूड-लोहिताक्षकूट—पुं०। जम्बूद्वीपे द्वीपे गन्धमादने वक्षस्कारपर्व्वते स्वनामख्याते षष्ठे कूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

लोहियक्खबिंबउट्ठ—लोहिताक्षबिम्बोष्ठ—त्रि०। लोहिताक्षरत्नवत् बिम्बवच्च-बिम्बाफलवत् ओष्ठौ येषां ते लोहिताक्षबिम्बोष्ठाः। आरक्तोष्ठेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

लोहियगंगा—लोहितगङ्गा—स्त्री०। गोशालकपरिभाषिते परिमाणभेदे, भ० १५ श०।

लोहियणाम-लोहितनामन्-न०। यदुदयाज्जन्तुशरीरं लोहितं रक्तं हिङ्गुलकादिवद्भवति तल्लोहितनाम। वर्णनामभेदे, कर्म्म० १ कर्म०।

लोहियपत्त—लोहितपत्र—पुं०। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

लोहियपाणि—लोहितपाणि—त्रि०। प्राणिवत्कर्त्तनेन लोहितौ रक्तारक्ततया पाणी हस्तौ यस्य। प्राणिहिंसया लोहितहस्ते, विपा० १ श्रु० २ अ०। ज्ञा०। सूत्र०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोहिल्ल—लोभवत्—त्रि०। मत्वर्थे इल्लप्रत्ययः। लोभिनि, वृ० १ उ०। लम्पटे, दे० ना० ७ वर्ग २५ गाथा।

लोही—लौही—स्त्री०। मण्डकादिपचनिकायाम्, भ० ५ श० ७ उ०। अनु०। आयसभाजनविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। कन्दविशेषे, जी० १ प्रति०। वनस्पतिविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

ल्हस—स्रंस—धा०। अधःपतने, "स्रंसेर्ल्हस-डिम्भौ" ॥ ८। ४। १९७॥ इति स्रंसधातोर्ल्हसादेशः। ल्हसइ। स्रंसति। प्रा०।

ल्हसुण—लशुन—न०। कन्दविशेषे, प्रव० ४ द्वार।

ल्हादि—ह्लादि—स्त्री०। ह्लादनं ह्लादिः, औणादिक इप्रत्ययः। प्रह्वत्तौ, व्य० १ उ०।

ल्हादिजणण—ह्लादिजनन—न०। ह्लादेर्जननमुत्पत्तिर्ह्लादिजननम्। प्रमोदोत्पादने, व्य० १ उ०। मनःप्रह्वत्तिजनके, व्य० ३ उ०।

ल्हिक्क—निली०—धा०। तिरोधाने, निलीङेर्णिलीअ-णिलुक्क—णिरिग्घ—लुक्क—लिक्क—ल्हिक्काः" ॥ ८। ४। ५५॥ इति निपूर्वस्य लीधातोर्ल्हिक्कादेशः। ल्हिक्कइ। निलीयते। प्रा० ४ पाद।

नष्ट—त्रि०। "क्तेनाप्फुण्णादयः" ॥ ८। ४। २५८॥ इति निपूर्वस्य लीधातोः ल्हिक्कादेशः। ल्हिक्को-नष्टः। निलीने, तिरोहिते, प्रा० ४ पाद।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे' लकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिधानराजेन्द्रः ।

वकार

व–व–पुं० । दन्त्यौष्ठ्योऽयमन्तस्थसञ्ज्ञको वर्णः । वाच० । वा-डः । सान्त्वने, वाते, वरुणे, संयमे, दरे, प्रबोधे, वन्दने, एका० । वायौ, राहौ, मन्त्रणे, कल्याणे, बलवति, वसतौ, समुद्रे, व्याघ्रे, वसने, शालूके । सादृश्ये, अव्य० । " मणौ वोष्ट्रस्य लम्बेते " वाच० । श्रावके, वपति गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपतीति वा इति व्युत्पत्तेः । " धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम् " इति श्रावक—शब्दघटक 'व' शब्दार्थनिर्वचनात् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । उः-शम्भुः अः-विष्णुश्चानयोः समाहारः । हरिहरद्वन्द्वे, गा० । एका० ।

व–इव–अव्य० । इवशब्दार्थे, आचा० । " मिव पिव विव व विअ इवाऽर्थे वा " ॥ ८ । २ । १८२ ॥ इति इवार्थे वशब्दप्रयोगः । " सेसस्स व निम्मोओ " प्रा० २ पाद ।

वअ–व्रज–पुं० । गोष्ठे, " गुट्ठे तह गोउलं वओ घासो " पाइ० ना० १४२ गाथा । गृद्धे, " गहरो वओ अ गिद्धो " पाइ० ना० १२६ गाथा । दे० ना० ।

वअण–पुं० न० । वचन–न० । "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति चलुक् । "नो णः" ॥ ८ । १ । २२८ ॥ इति नस्य णः । प्रा० । " वाद्यर्थवचनाद्याः " ॥ ८ । १ । ३३ ॥ इति वा पुस्त्वम् । उक्तौ, वअणा । वअणाइं । प्रा० १ पाद ।

वअस्स–वयस्य–पुं० । मित्रे, सवयस्के, " ही ही संपन्ना मे, मनोलधा पियवअस्सस्स " प्रा० ४ पाद ।

वइ–वाच्–स्त्री० । वच—परिभाषणे, वचनमुच्यत इति । वाच० । वचनं, श्रुतं, बृ० ।

अथ वाग्निक्षेपमाह—

दव्ववती दव्वाइं, जाइं गहियाइं मुंचइ न ताव ॥
आराहणि दव्वस्स वि, दोहि वि भावस्स पडिवक्खो ॥

यानि भाषायोग्यानि द्रव्याणि भाषात्वेन गृहीतानि न तावदद्यापि मुञ्चति सा नोआगमतो व्यतिरिक्ता द्रव्यवाक् । अथ द्रव्यस्याराधनी यथार्थरूपप्रतिपादिका सा द्रव्यवाग्, द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां भावस्य प्रतिपक्षो वक्तव्यः । किमुक्तं भवति—यानि भाषायोग्यानि द्रव्याणि भाषात्वेन परिणमय्य मुञ्चति सा नोआगमतो भाववाक् । अथवा—या जीवस्य भावं ज्ञानादिकमाराधयत्यजीवस्य घटादेर्वर्णादिकं सा नोआगमतो भाववाक् ; बृ० १ उ० । आ० म० । आचा० । आ० चू० । सूत्र० । " परिसा जावई एसा, अग्गवेयं व्व करिसिता " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

व्रतिन्–पुं० । व्रतं-नियमविशेषो विद्यते यस्य स व्रती । श्रावके, प्रव० २५५ द्वार । हिंसादिविरतत्वात्साधौ, दश० १० अ० । द्वा० ।

वइअ–देशी—पिहिते, " पच्छाइअ नूमिआइ वइआइं " पाइ० ना० १७६ गाथा । पीते, दे० ना०७ वर्ग ३४ गाथा

वइआयार–वागाचार–पुं० वाच्याचारो वागाचारः । वाग्गोचरे, वाग्व्यापारे, आचा०२ श्रु०१ चू० ४ अ० १ उ० । " वइ-आयाराइं सोच्चा णिसम्म । " आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

वइआलिय–वैतालिक–पुं० । " वैराऽऽदौ वा " ॥ ८।१।१५२ ॥ इति ऐकारस्य अइ आदेशः । वैतालोपासके, प्रा० १ पाद ।

वइस्स- वैश्य–पुं० । 'अइर्दैत्यादौ च' ॥८।१।१५१॥ इत्यैतः स्थाने अइ इत्यादेशः । वणिजि, प्रा० १ पाद ।

वइकलिअ–वैकल्य–न० । वैकल्ये, " चलिअं वइकलिअं " पाइ० ना० २३६ गाथा ।

वइकुंठ–वैकुण्ठ -पुं० । उपेन्द्रे, " सउरी दसारनाहो वइकुंठो महुमहो उविंदो य " पाइ० ना० २१ गाथा ।

वइकंत–व्यतिक्रान्त–त्रि० । गते, " बहुसुद्धेण मे दिवसो वइकंतो " आव० ३ अ० । कल्प० ।

वइक्कम–व्यतिक्रम–पुं० । विशेषेणापदभेदकरणतोऽतिक्रमणं व्यतिक्रमः । आतु० । प्रमादोद्भवे विपरीतकार्ये, आव०३ अ० । अवश्यं करणीयानां योगानां विराधने, आ० चू० ४ अ० । ध० । प्रव० । व्य० । प्रति० । आव० । (आधाकर्माश्रित्य व्यतिक्रमस्वरूपम् 'अइक्कम' शब्दे प्रथमभागे २ पृष्ठे गतम् ।) (ज्ञानादित्रिविधो व्यतिक्रमः 'संकिलेस' शब्दे वक्ष्यते ।)

वइक्खलिय–वाग्विस्खलित–न० । वाचि विविधमनेकैः प्रकारैर्लिङ्गभेदादिभिस्स्खलिते, दश० ८ अ० ।

वइगा–व्रजिका–स्त्री० । गोकुलिकायाम्, बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

वइगुण्ण–वैगुण्य–न० । विधर्मतायाम्, विपरीतभावे, आ० चू० ४ अ० ।

वइगुत्त–वागुप्त–त्रि० । वाचि वाचा वा गुप्तो वाग्गुप्तः । मौनव्रतिनि, सपर्यालोचितधर्मसम्बन्धभाषिणि, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आचा० ।

को भवति वाग्गुप्तः ।

वयणविभत्तीकुसलो, वओगयं बहुविहं विआणंतो ।
दिवसं पि भासमाणो, तहा वि वइगुत्तयं पत्तो ॥२६१॥

वचनविभक्तिकुशलो—वाच्येतरप्रकाराभिज्ञः वाग्गतं बहुविधमुत्सर्गादिभेदभिन्नं विजानन् दिवसमपि भाषमाणः सिद्धान्तविधिना तथापि वाग्गुप्ततां प्राप्तः, वाग्गुप्त एवासाविति गाथार्थः । दश० ७ अ० । सू० प्र० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वइगुत्तया -वाग्गुप्तता--स्त्री०। वचसोऽशुभपदार्थत्वात् गोपने, उत्त० २६ अ०। वाग्गुप्तिसत्तायाम्, उत्त०।

अथ वचोगुप्तिफलमाह—

वइगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ वइगुत्तयाए णं निव्विकारत्तं जणयइ निव्विकारेणं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते आऽवि भवइ ॥ ५४ ॥

हे भदन्त! वचोगुप्ततया जीवः किं फलं जनयति?, गुरुराह—हे शिष्य! वचोगुप्ततया निर्विकारित्वं—विरागभावम् उत्पादयति.निर्विकारो जीवः वाग्गुप्तः-गुप्तवचनश्च सर्वविकथात्यागात्, वाङ्निरोधे वाग्गुप्तिमान् सन् अध्यात्मयोगसाधनयुक्तश्चापि भवति। आत्मनि अधितिष्ठतीति अध्यात्मं मनस्तस्य योगाः-शुभव्यापारा धर्मध्यानादयः तेषां साधनम् एकाग्र्यम् अध्यात्मयोगसाधनं तेन युक्तः अध्यात्मयोगयुक्तरूपादृशश्चापि स्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥ उत्त० २६ अ०।

वइगुत्ति-वाग्गुप्ति--स्त्री०। गुप्तिभेदे, वाग्गुप्तिर्द्विधा—मुखनयनभ्रूविकाराङ्गुल्याच्छोटनलेष्टुक्षेपहुंकृतादिसंज्ञावर्जनेन मौनावलम्बनम्,संज्ञादिना हि प्रयोजनानि सूचयतो मौनं निष्फलमेवेत्येका १,वाचनप्रच्छनपरपृष्टव्याकरणादिषु लोकाऽऽगमाऽविरोधेन मुखवस्त्रिकाच्छादितमुखस्य भाषमाणस्यापि वाग्नियन्त्रणं द्वितीया २, तदुक्तम्—"संज्ञादिपरिहारेण, यन्मौनस्यावलम्बनम्। वाग्वृत्तेः संवृतिर्वा या, सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते ॥ १ ॥" आभ्यां भेदाभ्यां वाग्गुप्तेः सर्वथा वाग्निरोधः सम्यग्भाषणं च स्वरूपं प्रतिपादितं भवति, भाषासमितौ तु सम्यग् वाक्प्रवृत्तिरेवेति वाग्गुप्तिभाषासमित्योर्भेदः, यदाह—"समिओ नियमागुत्तो, गुत्तो समिअत्तणम्मि भयणिज्जो। कुसलवयमुईरंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि ॥ १ ॥" इति। ध० ३ अधि०।

उदाहरणं वाग्गुप्तौ—

"साधुः संज्ञातिकान् द्रष्टुं, गच्छन् पल्लीं मलिम्लुचैः।
गृहीतोऽमोचि चेत्युक्त्वा, मा ख्यः कस्यापि नोऽत्रगान् ॥१॥
तस्याग्रे मिलिता माता-पितृभ्रात्रादयोऽखिलाः।
आयान्तो जन्ययात्रायां, ववले सोऽपि तैः सह ॥ २ ॥
तस्करैर्मुषितः सार्थो, दृष्ट्वा ते मुनिमूचिरे।
साधुः सैष गृहीत्वेहा-स्माभिर्मुक्तोऽधुनैव यः ॥ ३ ॥
तच्छ्रुत्वाऽम्बाऽवदच्चौरान्, समर्प्यत मे क्षुरीम्।
स्तनौ छिनद्मि येनाऽसौ, किमित्यूचेऽथ चौरपः ॥ ४ ॥
दुष्पुत्रोऽपात् ययोः क्षीरं, नाख्यद्युष्मान् सतोऽपि यः।
चौरोऽवक् तं कथं नाऽख्यः, पित्रोराख्यादथो मुनिः ॥ ५ ॥
स्वधर्मं चौरपो बुद्धः, सर्वं तन्मुष्टमार्पयत् ॥"आ० क०४अ०।

वइच्छल-वाक्छल-न०। असाधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधे, स्या० ('छल' शब्दे तृतीयभाग १३५३ पृष्ठ वाक्छलं व्याख्यातम्।)

वइजोग-वाग्योग-पुं०। वाग्विषये योगो वाग्योगः। वाग्विसर्गविषये व्याप्रियमाणे योगे, विशे०। वाक्परिस्पन्दे, वाग्वीर्ये, विशे०। औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारे, स्था० १ ठा०। दश०। नं०। दश०। कर्म०। जीत०। 'वइ' त्ति। वाग्योगोऽपि चतुर्द्धा—द्रष्टव्यः। तथा हि-सत्यवाग्योगः १. असत्यवाग्योगः२, सत्यासत्यवाग्योगः३, असत्याऽमृषवाग्योगः४, तत्र सतां हिता सत्या, सत्या चासौ वाक् च सत्यवाक् तया सहकारिकारणभूतया योगो-सत्यवाग्योगः। अथवा-वचनगतं सत्यत्वं तत्कार्यत्वा—द्योगेऽप्युपचर्यते, ततश्च सत्यश्चासौ वाग्योगश्च सत्यवाग्योगः। भावार्थः सत्यमनोयोगवद्वाच्यः। असत्या-सत्याद्विपरीता सा चासौ वाक् च असत्यवाक्; तया योगोऽसत्यवाग्योगः। तथा-सत्या चासावसत्या चेत्यादि पूर्ववत्कर्मधारयो बहुव्रीहिर्वा, सा चासौ वाक् च सत्यासत्यवाक्, तत्प्रत्ययो योगः सत्यासत्यवाग्योगः। न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृषः, असत्यश्चासावमृषश्च असत्यामृषः, स चासौ वाग्योगश्च असत्याऽमृषवाग्योगः,शेषं मनोयोगवत्सर्वं वाच्यम्। अत्र तृतीयचतुर्थौ मनोयोगौ वाग्योगौ च-परिस्थूलव्यवहारनयमतेन द्रष्टव्यौ। निश्चयनयमतेन तु मनोज्ञानं वचनं वा सर्वमदुष्टविवक्षापूर्वकं सत्यम्, आज्ञानादिदूषिताशयपूर्वकं त्वसत्यम्, उभयानुभयरूपं तु नास्त्येव सत्यासत्यराशिद्वयेऽन्तर्भावादिति भावनीयम् ॥ कर्म० ४ कर्म०।

वइणभीरु-वृजिनभीरु-पुं०। वृजिनम्—पापं तस्माद् भीरुर्वृजिनभीरुः। पापभीरौ, यो निरनुबन्धदोषाच्छ्राद्धो नाभोगवान् वृजिनभीरुः। पो० १२ विव०।

वइणी—व्रतिनि—स्त्री०। साध्व्याम्, पं० व० ४ द्वार।

वक्तृ-त्रि०।कथयितरि,"मुलं वइता भवइ"स्था०३ ठा० १उ०।

वइतुलिय-वैतुलिक-पुं०। विगतास्तुल्यभावे वैतुलिकाः। नास्तित्वादिषु, नि० चू० ११ उ०।

वइतेण-वाक्स्तेन-पुं०। धर्मकथिकादितुल्यरूपे वाक्चौरे, दश० ५ अ०।

वइत्ता-उदित्वा-उक्त्वा-अव्य०। कथयित्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ०। भ०।

वइदंड-वाग्दण्ड-पुं०। सावद्यभाषायाम्, आ० चू०। तत्रोदाहरणम्—साधू सण्णाभूमिओ आगतो ॥ अविधीए आलोएति। जधा सूयरवंदं दिट्ठं ति, पुरिसेहिं सुतं, गंतुं मारितं। अहवा—कोट्टिओ सामिं दट्ठुं भणति। जदि दिवसो होंतो। सव्वे समणगा हलं वाहावेन्तो ॥ आ० चू० ४ अ०।

वइदब्भ-वैदर्भ-त्रि०। "अइर्दैत्यादौ च" ॥ ८। १। १५१ ॥ इति ऐतोऽइः। विदर्भदेशादिभवे, प्रा० १ पाद।

वइदिस-वैदिश-न०। विदिशाया अदूरभवे नगरे, "वइदिसगोच्चरगामे, खल्लाडगभुत्तकोलियो थेरो"। वैदिशनगरासन्नगोचरग्रामे धूर्तः कोलिकः। बृ० ६ उ०। आ० म०। ('खिंसियवयण' शब्दे तृतीयभागे ७४० पृष्ठे विस्तरतो व्याख्याता।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वइदुक्कडा–वाग्दुष्कृता–स्त्री० । असभ्यपरुषादिवचनानिमित्तायां भाषायाम् , ध० २ अधि० ।

वइदुप्पणिहाण–वाग्दुष्प्रणिधान–न० । वर्णसंस्काराभावे अर्थानवगमे, चापले च । ध० २ अधि० ।

वइदुहिया–वाग्दुःखिता–स्त्री० । वचसो वचसा वा दुःखकारित्वे, द्रोहकत्वे च । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

वइधम्म–वैधर्म्य–न० । विधर्मतायाम् , विपरीतभावे च । आ० चू० ४ अ० ।

वइपाडव–वाक्पाटव–न० । वाग्विषयकपटुतायाम् , कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

वइप्पओग–वाक्प्रयोग–पुं० । प्रयुज्यन्त इति प्रयोगाः व्यापारा धर्मकथाः प्रबन्धा वा । वाग्व्यापारेषु, सूत्र० १ श्रु०१३अ० ।

वइप्पओगपरिणय–वाक्प्रयोगपरिणत–त्रि० । भाषाद्रव्यं काययोगेन गृहीत्वा वाग्योगेन निसृज्यमाने, भ०८ श०१उ० ।

वइभड–वाग्भट–पुं० । आत्रेयादिसंहिताष्टकसंग्रहात्मकाऽष्टाङ्गायुर्वेदप्रभृतिग्रन्थकारके स्वनामख्याते विदुषि, स्वनामप्रसिद्धे मन्त्रिप्रवरे, गुर्जरदेशाधिपतिः तिस्रः—कोटीस्त्रिलक्षोना व्ययित्वा मन्त्रीश्वरो युगादीशप्रासादमुददीधरत् । ती० १ कल्प ।

वइमत्त–वाङ्मात्र–न० । वागेव वचनमेव वाङ्मात्रम् । वचनमात्रे, " वइमेत्तं णिव्विसयं दोसा य " पञ्चा० १२ विव० ।

वइमय–वाङ्मय–न० । व्यञ्जनाक्षरमये, "पश्यन्ति ब्रह्म निर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभवं विना । कथं लिपिमयी दृष्टि—र्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥ ६ ॥ " अष्ट० २६ अष्ट० । स्वरादिवागात्मके, " सहिज्ज कंटए वइमए कन्नसरे संपुज्जो " दश० ६ अ० ।

वइमादिय–वागादिक–पुं० । वचनकायविकारविशेषेषु, " वइमादिएहिं सम्मं गुरुणो आलोयणे य " पञ्चा० १५ विव० ।

वइयव्व–व्रजितव्य–न०, आगन्तव्ये, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

वइर–वज्र–न० । " शं-षं-तप्त—वज्रे वा " ॥ ८ । २ । १०५ ॥ शं—षयोस्तप्तवज्रयोः संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारो वा भवति । इति मध्य इकारः । वज्रं । वइरं । प्रा० । हीरके, अनु० । सूत्र० । स्था० । प्रज्ञा० । जी० । आ० म० । रा० । संथा० । सर्वेषां रुचकादीनां रत्नमयानि कूटानि रत्नानीत्युच्यन्ते । द्वी० । आर्यवज्रनाम्ना प्रसिद्धे दशपूर्विणि स्थविरेन्द्रे, " वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्तं च । तत्तो य अज्जवइरं, तवनियमगुणेहिं वइरसमं " ॥ १ ॥ नं० । (' अज्जवइर ' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे कथोक्ता ।) (श्रीवज्रस्वामिना पटविद्यया सङ्घः सुभिक्षदेशे नीत इति ' संघ ' शब्दे वक्ष्यते ।) शरीरावयवकीलिकायाम् , जी० १ प्रति० । स्था० । प्रव० ।

वैर–न० । " वैरादौ वा " ॥ ८ ॥ १ । १५२ ॥ इति वैरशब्दे ऐत इरादेशः । प्रा० । शत्रुतायाम् , " हत्थिसीसयं नगरं तत्थ दमदंतो नाम राया, इतो य पंचपंडवाणं परोप्परं वइरं " आ० म० १ अ० । महा० । अतीतायां त्रयोविंशतितमायां चतुर्विंशतिकायां जाते पञ्चशतगच्छाधिपतौ, महा० ४ अ० ।

वइरउसभनारायसंघयण–वज्रर्षभनाराचसंहनन–न० । वज्रं–कीलिका ऋषभः-परिवेष्टणपट्टः नाराचम्-उभयतो मर्कटबन्धः ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिकृच्छता तृतीयेनास्थापरिवेष्टितयोरुपरितदस्थित्रयभेदकीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रर्षभनाराचसंहननम् । प्रथमसंहनने, जी० १ प्रति० । कल्प० । पं० सं० । स्था० । कर्म० । तं० । वज्रर्षभनाराचसंहननं येषां ते वज्रर्षभनाराचसंहननिनः । प्रथमसंहननिनि, जी०३ प्रति०४ अधि० ।

वइरकंड–वज्रकाण्ड–न० । रत्नप्रभायाः पृथिव्याः वज्ररत्नमये काण्डे, स्था० १ ठा० ३ उ० ।

वइरकंत–वज्रकान्त–न० । षष्ठदेवलोकीये विमानभेदे, स० १३ सम० ।

वइरकंद–वज्रकन्द–पुं० । कन्दभेदे, दश० ३ अ० । जी० ।

वइरकूड–वैरकूट–न० । मन्दरपर्वतस्य नन्दनस्य वलाहकाया देव्या आवासभूते कूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

वइरजंघ–वज्रजङ्घ–पुं० । श्रीऋषभस्वामिनः पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये लोहार्गलनगरे जाते पूर्वभवजीवे, आ० म० १ अ० । कल्प० । आ० क० । (' उसभ ' शब्दे द्वितीयभागे १११६ पृष्ठे कथा ।)

" तेणं कालेणं तेणं समयेणं अवरविदेहे वासे धणो नाम सत्थवाहो होत्था (आव०) तेण साहूण घयं फासुयं विउलं दाणं दिएणं, सो य अहाउयं पालेत्ता कालमासे कालं किच्चा तेण दाणफलेण उत्तरकुराए मणूसो जाओ, तओ आउक्खएणं सोहम्मे कप्पे देवो उप्पएणो, ततो चइऊण इहेव जंबूद्दीवे अवरविदेहे गंधिलावतीविजये वेयड्ढपव्वए गंधारजणवए गंधसमिद्धे विज्जाहरणगरे (आव०) महाबलो नाम राया जाओ । (आव०) मरिऊण ईसाणकप्पे सिरिप्पभे विमाणे ललियंगओ नाम देवो जाओ, ततो चइऊण इहेव जंबुद्दीवे दीवे पुक्खलावइविजए लोहग्गलणगरसामी वइरजंघो नाम राजा जाओ । " आव० १ अ० ।

वइरणाभ–वज्रनाभ–त्रि० । वज्रमयी नाभिर्यस्य सः । मध्ये वज्ररत्नमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

वैरनाभ–पुं० । स्वनामख्याते राजनि,(१७०गाथा)आव०१अ० ।

श्रीऋषभस्वामिनः पूर्वभवीये जम्बूद्वीपस्य पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्यां नगर्यां वज्रसेनस्य केवलिनः पुत्रे चक्रवर्त्तितां प्राप्ते जीवे, आ० क० १ अ० । ति० । कल्प० । आ० म० । आ० चू० ।

" कुरुजणपदे गयपुरणगरे बाहुबलिपुत्तो सोमप्पभो, तस्स पुत्तो सेज्जंसो जुवराया, सो सुमिणे मंदरं पव्वयं सामवण्णं पासति, ततो तेण अमयकलसेण अभिसित्तो अब्भहिअं सोभितुमाढत्तो । नगरसेट्ठी सुबुद्धिनामा, सो सूरस्स रस्सीसहस्सं ठाणाओ चलियं पासति, नवरं सिज्जंसेण हेक्खुत्तं सो य अहिअयरं तेयसंपुण्णो जाओ । राइणा सुमिणे एक्को पुरिसो महप्पमाणो महया रिउबलेण सह जुज्झंतो दिट्ठो, सिज्जंसेण साहज्जं दिएणं, ततो णेण तं बलं भग्गं ति । ततो अत्थाणीए एगओ मिलिया , सुमिणे साहेंति , न पुण

१–अभिषिक्तम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाणंति-किं भविस्सइ त्ति, नवरं राया भणइ-कुमारस्स महंतो कोऽवि लाभो भविस्सइ त्ति भणिऊण उट्ठिओ अत्थाणीओ, सिज्जंसो वि गओ नियगभवणं, तत्थ य ओलोयणट्ठिओ पेच्छति सामिं पविसमाणं, सो चिंतइ—कहिं मया एरिसं नेवत्थं दिट्ठपुव्वं ? जारिसं पपितामहस्स त्ति, जातीसंभरिता-सो पुव्वभवे भगवओ सारही आसि, तत्थ तेण वइरसेणतित्थगरो तित्थयरलिंगेण दिट्ठो त्ति, वइरणाभे य पव्वयंते सो अवि अणुपव्वइओ, तेण तत्थ सुयं, जहा—एस वइरणाभो भरहे पढमतित्थयरो भविस्सइ" त्ति। आव०१अ०। "वइरजंघो नाम राजा (आव०] मरिऊण उत्तरकुराए सभारिओ मिहुणगो जाओ, तओ सोहम्मे कप्पे देवो जाओ, ततो चइऊण महाविदेहे वासे खिइपइट्ठिए णगरे वेज्जपुत्तो आयाओ (आव०) से इमे चत्तारि वयंसगा, तं जहा-रायपुत्ते, सेट्ठिपुत्ते, अमच्चपुत्ते, सत्थवाहपुत्ते त्ति, (आव०) ते पच्छा साहू जाता, अहाउयं पालइत्ता तम्मूलागं पंच वि जणा अच्चुए उववण्णा, ततो चइऊण इहेव जंबूदीवे पुव्वविदेहे पुक्खलावइविजए पुंडरीगिणीए नयरीए वेरसेणस्स रण्णो धारिणीए देवीए उयरे पढमो वइरणाभो णाम पुत्तो जाओ, जो से वेज्जपुत्तो चक्कवट्टी आगतो, अवसेसा कमेण बाहुसुबाहुपीढमहापीढ त्ति, वइरसेणो पव्वइओ, सो य तित्थंकरो जाओ।" आव० १ अ०।

वइरतुंड-वज्रतुण्ड-त्रि०। वज्रवत्तीक्ष्णतुण्डे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। ('वंभी' शब्दे पञ्चमभागे १२८४ पृष्ठे कथा।)

वइरदंड--वज्रदण्ड--पुं०। वज्ररत्नमये रूप्यपट्टमध्यवर्तिनि दण्डे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

वइरपडिरूव--वज्रप्रतिरूप--त्रि०। वज्रसदृशे, भ० ७ श० ६ उ०।

वइरपाणि--वज्रपाणि--पुं०। वज्रं पाणौ अस्य वज्रपाणिः। जी० ४ प्रति० २ उ०। करधृतवज्रे,कल्प० १ अधि० १ क्षण।

वइरभूइ--वज्रभूति--स्त्री०। भरुकच्छनगरे नरवाहननृपसमये एकदा समवसृते स्वनामख्याते आचार्ये, व्य० ३ उ०।

वइरभूमि-वज्रभूमि--स्त्री०। अङ्गदेशीये नगरीभेदे, यत्र श्रीवीरो नवमं वर्षारात्रं कृतवान्। कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

वइरमज्झचंदपडिमा-वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा-स्त्री०। वज्रेणोपमा चन्द्रेण च। वज्रस्येव मध्यं यस्याः सा वज्रमध्या। चन्द्राकारा प्रतिमा चन्द्रप्रतिमा। प्रतिमाभेदे, यस्या हि कृष्णप्रतिपदि पञ्चदश कवलान् भुक्त्वा ततः प्रतिदिनमेकहान्या अमावास्यायामेकं शुक्लप्रतिपदि अप्येकमेव ततः पुनरेकैकवृद्ध्या पौर्णमास्यां पञ्चदश भुङ्क्ते, सा तनुमध्यत्वाद् वज्रमध्या। स्था० २ ठा० २ उ०। (चन्द्रप्रतिमाप्राकृतमधिकृत्य वज्रशब्दस्य पर्यायेण व्याख्यानम् 'पडिमा' शब्दे पञ्चमभागे ३३४ पृष्ठे गतम्।) ("किण्हे" (२०) इत्यादि पञ्चाशकैकोनविंशतिविवरणगाथया वज्रमध्याप्रतिपादनम् 'चंदायण' शब्दे तृतीयभागे १०६६ पृष्ठे गतम्।)

वइरमुद्दा--वज्रमुद्रा--स्त्री०। मान्त्रिकप्रसिद्धे मुद्राविशेषे, सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

वइररयण--वज्ररत्न--न०। वज्राभिधानरत्ने,भ० १५ श०।

वइररिसि--वैरर्षि--पुं०। वैराभिधाने मुनिपतौ,पञ्चा०६ विव०।

वइरसामि--वैरस्वामिन्--पुं०। आर्यवज्रेति प्रसिद्धे, सिंहगिरिशिष्ये, स्था० ४ ठा० १ उ०। ('अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २५६६ पृष्ठे कथोक्ता।) आर्यसमितसूरिमातुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

वइरसार--वज्रसार--न०। कुण्डलद्वीपस्थकुण्डलाख्यपर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि स्वनामख्याते कूटे, द्वी०।

वइरसूरि--वज्रसूरि--पुं०। दशपूर्विणि स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

वइरसेण--वैरसेन--पुं०। ऋषभदेवपूर्वभवजीवे वज्रनाभपितरि, स च पूर्वविदेहे—पुण्डरीकिण्यां नगर्यां राजा भूत्वा प्रव्रजितस्तीर्थकरः सञ्जातः। पञ्चा० १६ विव०। आ० क०। आ० म०। आ० चू०। ('वंभी' शब्दे पञ्चमभागे १२८४ पृष्ठे किञ्चिद् वृत्तमस्य।) ('उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११६७ पृष्ठे वृत्तम्।) आर्यवज्रसूरिशिष्ये, ग०३ अधि०। (तद्वीचोक्ता 'अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे।) अयं पूर्वधर आचार्यः वैक्रमीय १६५ संवत्सरे विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

वइरसेणसूरि--वज्रसेनसूरि--पुं०। नागपुरीयतपागच्छोद्भवे हेमतिलकसूरिशिष्ये, सीहडमन्त्रिप्रशंसया अलाउद्दीननाम्ना दिल्लीपतिनाऽस्मै हारादिकं उपहारो दत्तः। जै० इ०।

वइरागर--वज्राकर--पुं०। वज्रानि रत्नानि तेषामाकरो वज्राकरः। वज्राख्यरत्नोत्पत्तिस्थाने, औ०। नि० चू०।

वइराड--वैराट--न०। मत्स्यदेशराजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद। सूत्र०। "वइराडमच्छा" वैराटो देशो मत्स्यराजधानी। अन्ये तु—मत्स्यदेशो वैराटपुरं नगरमित्याहुः। प्रव० २७५ द्वार।

वइरामय--वज्रमय--त्रि०। वज्रशब्दस्य दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्। वज्ररत्नमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। भ०। औ०। "वइरामया संधी" जं० १ वक्ष०। प्रश्न०। रा०। "वइरामया णेमा।" रा०।

वइरामयपासाण--वज्रमयपाषाण--स्त्री०। वज्रमयाः पाषाणाः यासान्ता वज्रमयपाषाणाः। वज्रमयपाषाणै रचिततटिकायां नद्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०।

वइरासण--वज्रासन--न०। प्रधानयोगिप्रतीते आसनविशेषे, वज्रासने प्रकर्षप्राप्ते सति नियमाद् दिव्यज्ञानं समुत्पद्यते। अने० ३ अधि०।

वइरित्त--व्यतिरिक्त--त्रि०। तदन्यस्मिन्, आ० म० १ अ०। "वइरित्तो णाम जहाभिहियकालाओ अण्णो अकालो भवति"। नि० चू० १ उ०।

वइरेय--व्यतिरेक--पुं०। अभावे, षो० ३ विव०। साध्याभावे साधनाभावरूपे, विशे०। उपमानादन्यस्मिन्, प्रति०। प्रक्रमविपर्यये, पञ्चा० १२ विव०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वइदुक्कडा-वाग्दुष्कृता-स्त्री० । असभ्यपरुषादिवचनानिमित्तायां भाषायाम् , ध० २ अधि० ।

वइदुप्पणिहाण-वाग्दुष्प्रणिधान-न० । वर्णसंस्कारामावे अर्थानवगमे, चापले च । ध० २ अधि० ।

वइदुहिया-वाग्दुःखिता-स्त्री० । वचसो वचसा वा दुःखकारित्वे, द्रोहकत्वे च । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

वइधम्म-वैधर्म्य-न० । विधर्मतायाम् , विपरीतभावे च । आ० चू० ४ अ० ।

वइपाडव-वाक्पाटव-न० । वाग्विषयकपटुतायाम् , कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

वइप्पओग-वाक्प्रयोग-पुं० । प्रयुज्यन्त इति प्रयोगाः व्यापारा धर्मकथाः प्रबन्धा वा । वाग्व्यापारेषु,सूत्र० १ श्रु०१३अ० ।

वइप्पओगपरिणय-वाक्प्रयोगपरिणत-त्रि० । भाषाद्रव्यं काययोगेन गृहीत्वा वाग्योगेन निसृज्यमाने, भ०८ श०१उ० ।

वइभड-वाग्भट-पुं० । आत्रेयादिसंहिताष्टकसंग्रहात्मकाऽष्टाङ्गायुर्वेदप्रभृतिग्रन्थकारके स्वनामख्याते विदुषि, स्वनामप्रसिद्धे मन्त्रिप्रवरे, गुर्जरदेशाधिपतेः तिस्रः-कोटीस्त्रिलक्षोना व्ययित्वा मन्त्रीश्वरो युगादीशप्रासादमुददीधरत् । ती० १ कल्प ।

वइमत्त-वाङ्मात्र-न० । वागेव वचनमेव वाङ्मात्रम् । वचनमात्रे, " वइमेत्तं णिव्विसयं दोसा य " पञ्चा० १२ विव० ।

वइमय-वाङ्मय-न० । व्यञ्जनाक्षरमये, "पश्यन्ति ब्रह्म निर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभवं विना । कथं लिपिमयी दृष्टि-र्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥ ६ ॥ " अष्ट० २६ अष्ट० । स्वरादिवागात्मके, " सहिज्ज कंटए वइमए कन्नसरे संपुज्जो " दश० ६ अ० ।

वइमादिय-वागादिक-पुं० । वचनकायविकारविशेषेषु, " वइमादिएहिं सम्मं गुरुणो आलोयणे य " पञ्चा० १५ विव० ।

वइयव्व-व्रजितव्य-न०, आगन्तव्ये, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

वइर-वज्र-न० । " श्र-र्य-तम-घज्रे वा " ॥ ८ । २ । १०५ ॥ श्र-र्ययोस्तप्तवज्रयोः संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारो वा भवति । इति मध्य इकारः । वज्जं । वइरं । प्रा० । हीरके, अनु० । सूत्र० । स्था० । प्रज्ञा० । जी० । आ० म० । रा० । संथा० । सर्वेषां रुचकादीनां रत्नमयानि कूटानि रत्नानीत्युच्यन्ते । द्वी० । आर्यवज्रनाम्ना प्रसिद्धे दशपूर्विणि स्थविरेन्द्रे, " वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्तं च । तत्तो य अज्जवइरं, तवनियमगुणेहिं वइरसमं " ॥ १ ॥ नं० । (' अज्जवइर ' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे कथोक्ता ।) (श्रीवज्रस्वामिना पटविद्यया सङ्घः सुभिक्षदेशे नीत इति ' संघ ' शब्दे वक्ष्यते ।) शरीरावयवकीलिकायाम् , जी० १ प्रति० । स्था० । प्रव० ।

वैर-न० । " वैरादौ वा " ॥ ८ ॥ १ । १५२ ॥ इति वैरशब्दे पेत इरादेशः । प्रा० । शत्रुतायाम् , " हत्थिसीसयं नगरं तत्थ दमदंतो नाम राया, इतो य पंचपंडवाणं परोप्परं वइरं " आ० म० १ अ० । महा० । अतीतायां त्रयोविंशतितमायां चतुर्विंशतिकायां जाते पञ्चशतगच्छाधिपतौ, महा० ४ अ० ।

वइरउसभनारायसंघयण-वज्रर्षभनाराचसंहनन-न० । वज्रं कीलिका ऋषभः-परिवेष्टनपट्टः नाराचम्-उभयतो मर्कटबन्धः ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिङ्गच्छता तृतीयेनास्थापरिवेष्टितयोरुपरितदस्थित्रयभेदकीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रर्षभनाराचसंहननम् । प्रथमसंहनने, जी० १ प्रति० । कल्प० । पं० सं० । स्था० । कर्म० । तं० । वज्रर्षभनाराचसंहननं येषां ते वज्रर्षभनाराचसंहनननिनः । प्रथमसंहनननिनि,जी०३ प्रति०४ अधि० ।

वइरकंड-वज्रकाण्ड-न० । रत्नप्रभायाः पृथिव्याः वज्ररत्नमये काण्डे, स्था० १ ठा० ३ उ० ।

वइरकंत-वज्रकान्त-न० । षष्ठदेवलोकीये विमानभेदे, स० १३ सम० ।

वइरकंद-वज्रकन्द-पुं० । कन्दभेदे, दश० ३ अ० । जी० ।

वइरकूड-वैरकूट-न० । मन्दरपर्वतस्य नन्दनस्य वलाहकाया देव्या आवासभूते कूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

वइरजंघ-वज्रजङ्घ-पुं० । श्रीऋषभस्वामिनः पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये लोहार्गलनगरे जाते पूर्वभवजीवे, आ० म० १ अ० । कल्प० । आ० क० । (' उसभ ' शब्दे द्वितीयभागे ११११६ पृष्ठे कथा ।)

" तेणं कालेणं तेणं समयेणं अवरविदेहे वासे धणो नाम सत्थवाहो होत्था (आव०) तेण साहूण घयं फासुयं विउलं दाणं दिण्णं, सो य अहाउयं पालेत्ता कालमासे कालं किच्चा तेण दाणफलेण उत्तरकुराए मणूसो जाओ, तओ आउक्खएणं सोहम्मे कप्पे देवो उप्पण्णो, ततो चइऊण इहेव जंबूद्दीवे अवरविदेहे गंधिलावतीविजये वेयड्ढपव्वए गंधारजणवए गंधसमिद्धे विज्जाहरणगरे (आव०) महावलो नाम राया जाओ । (आव०) मरिऊण ईसाणकप्पे सिरिप्पभे विमाणे ललियंगओ नाम देवो जाओ, ततो चइऊण इहेव जंबुद्दीवे दीवे पुक्खलावइविजए लोहग्गलणगरसामी वइरजंघो नाम राजा जाओ । " आव० १ अ० ।

वइरणाभ-वज्रनाभ-त्रि० । वज्रमयी नाभिर्यस्य सः । मध्ये वज्ररत्नमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

वैरनाभ-पुं० । स्वनामख्याते राजनि,(१७०गाथा)आव०१अ० । श्रीऋषभस्वामिनः पूर्वभवीये जम्बूद्वीपस्य पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्यां नगर्यां वज्रसेनस्य केवलिनः पुत्रे चक्रवर्त्तितां प्राप्ते जीवे, आ० क० १ अ० । ति० । कल्प० । आ० म० । आ० चू० ।

" कुरुजणपदे गयपुरणगरे बाहुबलिपुत्तो सोमप्पभो, तस्स पुत्तो सेज्जंसो जुवराया, सो सुमिणे मंदरं पव्वयं सामवण्णं पासति, ततो तेण अमयकलसेण अभिसित्तो अब्भहियं सोभितुमाढत्तो । नगरसेट्ठी सुबुद्धिनामा, सो सूरस्स रस्सीसहस्सं ठाणाओ चलियं पासति, नवरं सिज्जंसेण हेक्खुत्तं सो य अहिअयरं तेयसंपुण्णो जाओ । राइणा सुमिणे एक्को पुरिसो महप्पमाणो महया रिउबलेण सह जुज्झंतो दिट्ठो, सिज्जंसेण साहज्जं दिण्णं, ततो णेण तं बलं भग्गं ति । ततो अत्थाणीए एगओ मिलिया , सुमिणे साहंति , न पुण

१-अभिक्षिप्तम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाणंति-किं भविस्सइ त्ति, नवरं राया भणइ-कुमारस्स महंतो कोऽवि लाभो भविस्सइ त्ति भणिऊण उट्ठिओ अत्थाणीओ, सिज्जंसो वि गओ नियगभवणं; तत्थ य ओलोयणट्ठिओ पेच्छति सामिं पविसमाणं, सो चिंतइ—कहिं मया एरिसं नेवत्थं दिट्ठपुव्वं ? जारिसं पपितामहस्स त्ति, जातीसंभरिता-सो पुव्वभवे भगवओ सारही आसि, तत्थ तेण वइरसेणतित्थगरो तित्थयरलिंगेण दिट्ठो त्ति, वइरणाभे य पव्वयंते सो अवि अणुपव्वइओ, तेण तत्थ सुयं, जहा—एस वइरणाभो भरहे पढमतित्थयरो भविस्सइ" त्ति। आव०१अ०। "वइरजंघो नाम राजा (आव०] मरिऊण उत्तरकुराए सभारिओ मिहुणगो जाओ, तओ सोहम्मे कप्पे देवो जाओ, ततो चइऊण महाविदेहे वासे खिइपइट्ठिए णगरे वेज्जपुत्तो आयाओ (आव०) से इमे चत्तारि वयंसगा, तं जहा-रायपुत्ते, सेट्ठिपुत्ते, अमच्चपुत्ते, सत्थवाहपुत्ते त्ति, (आव०) ते पच्छा साहू जाता, अहाउयं पालइत्ता तम्मूलागं पंच वि जणा अच्चुए उववण्णा, ततो चइऊण इहेव जंबूदीवे पुव्वविदेहे पुक्खलावइविजए पुंडरीगिणीए नयरीए वेरसेणस्स रण्णो धारिणीए देवीए उयरे पढमो वइरणाभो णाम पुत्तो जाओ, जो से वेज्जपुत्तो चक्कवट्टी आगतो, अवसेसा कमेण बाहुसुबाहुपीढमहापीढ त्ति, वइरसेणो पव्वइओ, सो य तित्थंकरो जाओ।" आव० १ अ०।

वइरतुंड—वज्रतुण्ड—त्रि०। वज्रवत्तीक्ष्णतुण्डे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। ('बंभी' शब्दे पञ्चमभागे १२८४ पृष्ठे कथा।)

वइरदंड—वज्रदण्ड—पुं०। वज्ररत्नमये रूप्यपट्टमध्यवर्तिनि दण्डे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

वइरपडिरूव—वज्रप्रतिरूप—त्रि०। वज्रसदृशे, भ० ७ श० ६ उ०।

वइरपाणि—वज्रपाणि—पुं०। वज्रं पाणौ अस्य वज्रपाणिः। जी० ४ प्रति० २ उ०। करधृतवज्रे,कल्प० १ अधि० १ क्षण।

वइरभूइ—वज्रभूति—स्त्री०। भरुकच्छनगरे नरवाहननृपसमये एकदा समवसृते स्वनामख्याते आचार्ये, व्य० ३ उ०।

वइरभूमि—वज्रभूमि—स्त्री०। अङ्गदेशीये नगरीभेदे, यत्र श्रीवीरो नवमं वर्षारात्रं कृतवान्। कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

वइरमज्झचंदपडिमा-वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा-स्त्री०। वज्रेणोपमा चन्द्रेण च। वज्रस्येव मध्यं यस्याः सा वज्रमध्या। चन्द्राकारा प्रतिमा चन्द्रप्रतिमा। प्रतिमाभेदे, यस्या हि कृष्णप्रतिपदि पञ्चदश कवलान् भुक्त्वा ततः प्रतिदिनमेकहान्या अमावास्यायामेकं शुक्लप्रतिपदि अप्येकमेव ततः पुनरेकैकवृद्ध्या पौर्णमास्यां पञ्चदश भुङ्क्ते, सा तनुमध्यत्वाद् वज्रमध्या। स्था० २ ठा० २ उ०। (चन्द्रप्रतिमाप्राकृतमधिकृत्य वज्रशब्दस्य पर्यायेण व्याख्यानम् 'पडिमा' शब्दे पञ्चमभागे ३३४ पृष्ठे गतम्।) ("किएहे" (२०) इत्यादि पञ्चाशकैकोनविंशतिविवरणगाथया वज्रमध्याप्रतिपादनम् 'चंदायण' शब्दे तृतीयभागे १०६६ पृष्ठे गतम्।)

वइरमुद्दा—वज्रमुद्रा—स्त्री०। मान्त्रिकप्रसिद्धे मुद्राविशेषे, सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

१६१

वइररयण—वज्ररत्न—न०। वज्राभिधानरत्ने,भ० १५ श०।

वइररिसि—वैरर्षि—पुं०। वैराभिधाने मुनिपतौ,पञ्चा०६ विव०।

वइरसामि—वैरस्वामिन्—पुं०। आर्यवज्रेति प्रसिद्धे, सिंहगिरिशिष्ये, स्था० ४ ठा० १ उ०। ('अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २५६६ पृष्ठे कथोक्ता।) आर्यसमितसूरिमातुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

वइरसार—वज्रसार—न०। कुण्डलद्वीपस्थकुण्डलाख्यपर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि स्वनामख्याते कूटे, द्वी०।

वइरसूरि—वज्रसूरि—पुं०। दशपूर्विणि स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

वइरसेण—वैरसेन—पुं०। ऋषभदेवपूर्वभवजीवे वज्रनाभपितरि, स च पूर्वविदेहे—पुण्डरीकिण्यां नगर्यां राजा भूत्वा प्रव्रजितस्तीर्थकरः सञ्जातः। पञ्चा० १६ विव०। आ० क०। आ० म०। आ० चू०। ('बंभी' शब्दे पञ्चमभागे १२८४ पृष्ठे किञ्चिद् वृत्तमस्य।) ('उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११३७ पृष्ठे वृत्तम्।) आर्यवज्रसूरिशिष्ये, ग०३ अधि०। (तद्वीक्षा 'अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे।) अयं पूर्वधर आचार्यः वैक्रमीये १६५ संवत्सरे विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

वइरसेणसूरि—वज्रसेनसूरि—पुं०। नागपुरीयतपागच्छोद्भवे हेमतिलकसूरिशिष्ये, सीहडमन्त्रिप्रशंसया अलाउद्दीननाम्ना दिल्लीपतिनाऽस्मै हारादिक उपहारो दत्तः। जै० इ०।

वइरागर—वज्राकर—पुं०। वज्राणि रत्नानि तेषामाकरो वज्राकरः। वज्राख्यरत्नोत्पत्तिस्थाने, औ०। नि० चू०।

वइराड—वैराट—न०। मत्स्यदेशराजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद। सूत्र०। "वइराडमच्छा" वैराटो देशो मत्स्यराजधानी। अन्ये तु—मत्स्यदेशो वैराटपुरं नगरमित्याहुः। प्रव० २७५ द्वार।

वइरामय—वज्रमय—त्रि०। वज्रशब्दस्य दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्। वज्ररत्नमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। भ०। औ०। "वइरामया संधी" जं० १ वक्ष०। प्रश्न०। रा०। "वइरामया णेमा।" रा०।

वइरामयपासाण—वज्रमयपाषाण—स्त्री०। वज्रमयाः पाषाणाः यासान्ता वज्रमयपाषाणाः। वज्रमयपाषाणे रचिततटिकायां नद्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०।

वइरासण—वज्रासन—न०। प्रधानयोगिप्रतीते आसनविशेषे, वज्रासने प्रकर्षप्राप्ते सति नियमाद् दिव्यज्ञानं समुत्पद्यते। अने० ३ अधि०।

वइरित्त—व्यतिरिक्त—त्रि०। तदन्यस्मिन्, आ० म० १ अ०। "वइरित्तो णाम जहाभिहियकालाओ अण्णो अकालो भवति"। नि० चू० १ उ०।

वइरेय—व्यतिरेक—पुं०। अभावे, पो० ३ विव०। साध्याभावे साधनाभावरूपे, विशे०। उपमानादन्यस्मिन्, प्रति०। प्रक्रमविपर्यये, पञ्चा० १२ विव०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वइरोयण–वैरोचन–पुं० । विविधै रोचन्ते दीप्यन्ते इति विरोचनास्त एव वैरोचनाः । स्था० ४ ठा० १ उ० । दाक्षिणात्यासुरकुमारेभ्यः सकाशाद् विशिष्टं रोचनं दीपनं येषामस्ति ते वैरोचनाः । औदीच्यासुरकुमारेषु, भ० ३ श० १ उ० । प्रज्ञा० । अन्नौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । कृष्णराज्यवकाशान्तरगे वह्निनामकदेवावासभूते, स्था० ८ ठा० ३ उ० । भ० । वुक्के, दे० ना० ७ वर्ग ४१ गाथा ।

वइरोयणिंद–वैरोचनेन्द्र–पुं० । वैरोचना–औदीच्यासुरास्तेषु मध्ये इन्द्रः–परमेश्वरो वैरोचनेन्द्रः । बलौ, प्रा० । भ० । वैरोचनोऽग्निः स एव प्रज्वलितत्वात् इन्द्रः । विभावसौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

वइल्ल–बलीवर्द–पुं० । " गोणादयः " ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति निपातः । पुङ्गवे, प्रा० २ पाद । आ० म० ।

वइ(ई)वाय–व्यतीपात–पुं० । रविशशिगतिप्रयुक्तयोगभेदे, ज्यो० ।

सम्प्रति व्यतिपातं विवक्षुराह—

अयणाणं संबंधे, रविसोमाणं तु वेहि य जुगम्मि ।
जं हवइ भागलद्धं वइवाया तत्तिया होंति ॥ २६१ ॥
बावत्तरीपमाणो, फलरासी ....

इह सूर्याचन्द्रमसौ स्वकीयेऽयने वर्त्तमानौ यत्र परस्परं व्यतिपततः स कालो व्यतिपातः, तत्र ' रविसोमयोः ' सूर्याचन्द्रमसोः ' युगे ' युगमध्येऽयनानि तेषां परस्परं ' सम्बन्धे ' एकत्र मीलने कृते सति द्वाभ्यां भागो ह्रियते, हृते च भागे यद् भवति भागलब्धं ' तावन्तः ' तावत्प्रमाणा एकस्मिन् युगे व्यतिपाता भवन्ति, स च भागलब्धकराशिर्द्वासप्ततिप्रमाणः, तथाहि–सूर्यस्यायनानि दश चन्द्रस्यायनानां चतुस्त्रिंशदधिकं शतं, तयोरेकत्र मीलने जातं चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं १४४, तस्य द्वाभ्यां भागो ह्रियते, लब्धा द्वासप्ततिरेव, तावत्प्रमाणा युगमध्ये व्यतिपाताः ॥ २६१ ॥

साम्प्रतमीप्सितव्यतिपाताऽऽनयनाय करणमाह—

.... इच्छिते उ जुगभेए ।
इच्छियवइवायं पि य, इच्छं काऊण आणेहि ॥२६२॥
जं भवइ भागलद्धं, तं इच्छं निद्दिसाहि सव्वत्था ।
सेसेऽवि तस्स भेए फलरासिस्साणए सिग्घं ॥ २६३ ॥

' ईप्सिते ' विवक्षिते ' युगभेदे ' युगविशेषे इच्छाम्–ईप्सितव्यतिपातविषयां कृत्वा ईप्सितं व्यतिपातमप्यानय । कथमित्याह तत्र यद्, भवति भागेन–द्वासप्तत्यादिभागहारेण लब्धं तं–तत्संख्यम् 'इच्छं' ति ईप्सितं व्यतिपातं निर्दिशेत् । शेषानपि युगभेदान् मुहूर्त्तादिरूपान् ' फलरासिस्स ' त्ति तृतीयार्थे षष्ठी फलराशिना द्वासप्ततिलक्षणेन शीघ्रमानय । एष करणगाथाक्षरार्थः,

सम्प्रति भावना क्रियते—

यदि द्वासप्ततिसङ्ख्यैर्व्यतिपातैश्चतुर्विंशत्यधिकं पर्वशतं लभ्यते तत एकस्मिन् व्यतिपाते किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना–७२–१२४–१ अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यराशिश्चतुर्विंशत्यधिकशतप्रमाणो गुण्यते, जातं तदेव चतुर्विंशत्यधिकं शतं १२४, तस्य द्वासप्तत्या भागो ह्रियते, लब्धमेकं पर्व, पश्चादवतिष्ठते द्विपञ्चाशत्, सा पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि सप्त शतान्यशीत्यधिकानि, तेषां द्वासप्तत्या भागहारे लब्धा दश तिथयः, शेषा षष्टिः, सा मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यते, जातान्यष्टादश शतानि १८००, तेषां द्वासप्तत्या भागहरणे लब्धाः परिपूर्णाः पञ्चविंशतिर्मुहूर्त्ताः, पश्चान्न किमपि तिष्ठति, आगतमेकस्मिन् पर्वणि दशसु च तिथिषु गतास्वेकादश्यां पञ्चविंशतौ मुहूर्त्तेषु प्रथमो व्यतीपातः समाप्त इति, तथा यदि द्वासप्ततिसङ्ख्यैर्व्यतिपातैश्चतुर्विंशत्यधिकं पर्वशतं लभ्यते ततः पञ्चभिर्व्यतिपातैः किं लभ्यम् ? इति, राशित्रयस्थापना ७२-१२४-५, अत्रान्त्येन राशिना पञ्चकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातानि षट् शतानि विंशत्यधिकानि ६२०, तेषां द्वासप्तत्या भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टौ पर्वाणि ८, शेषास्तिष्ठन्ति चतुश्चत्वारिंशत् ४४, सा तिथ्यानयनाय पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि षट् शतानि षष्ट्यधिकानि–६६०, तेषां द्वासप्तत्या भागहारे लब्धा नव ९, शेषास्तिष्ठन्ति द्वादश१२, ते मुहूर्त्तानयनाय त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६०, तेषां द्वासप्तत्या भागे हृते लब्धाः परिपूर्णाः पञ्च मुहूर्त्ताः, पश्चान्न किमपि तिष्ठति, आगतमष्टसु पर्वसु गतेषु नवमस्य च पर्वणो नवसु तिथिषु गतासु दशम्यां तिथौ पञ्चसु मुहूर्त्तेषु पञ्चमो व्यतिपातः समाप्तः, एवं सर्वेऽपि व्यतीपाताः । (संप्रति चन्द्रनक्षत्रव्यतिपात) परिज्ञानार्थमुपक्रम्यन्ते- यदि द्वासप्ततिसङ्ख्यैर्व्यतीपातैः रूपसप्तषष्टिश्चन्द्रनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते तत एकस्मिन् व्यतिपाते किं लभेयमिति, राशित्रयस्थापना–७२–६७-१, अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यमराशेः सप्तषष्टिरूपस्य गुणनात् जातः सप्तषष्टिरेव, तस्या द्वासप्तत्या भागो ह्रियते, सा च स्तोकत्वाद्भागं न प्रयच्छति, ततो नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैर्गुणयिष्याम इत्यस्य गुणकारराशेश्छेदराशेश्च द्वासप्ततिरूपस्य षट्केनापवर्त्तना, तत्र जातो गुणकारराशिस्त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि ३०५, छेदराशिर्द्वादश, गुणकारराशिना च सप्तषष्टिर्गुण्यते, जातानि विंशतिसहस्राणि चत्वारि शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि २०४३५, छेदराशिरपि द्वादशलक्षणः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्यष्टौ शतानि चतुरुत्तराणि—८०४, ये चाभिजितः सप्तषष्टिभागा एकविंशतिस्तेऽपि द्वादशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके २५२, त उपरितनराशेः शोध्यन्ते, स्थितानि पश्चाद्विंशतिः सहस्राणि शतमेकं त्र्यशीत्यधिकं २०१८३, तेषामष्टाभिः शतैश्चतुरुत्तरैर्भागो ह्रियते, लब्धा पञ्चविंशतिः, शेषास्तिष्ठन्ति त्र्यशीतिः संप्रति मुहूर्त्ता आनेतव्याः, मुहूर्त्ताश्च अहोरात्रे त्रिंशत्, तस्याः षट्केनापवर्त्तनायां जाताः पञ्च, छेदराशिरपि षट्केनापवर्त्तितो जातश्चतुस्त्रिंशदधिकं शतं १३४, तत्र त्र्यशीतिः पञ्चभिर्गुणिता जातानि चत्वारि शतानि पञ्चदशोत्तराणि ४१५, तेषां चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन भागहरणं, लब्धास्त्रयो मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोदश, तत्र द्वाविंशत्या श्रवणादीनि विशाखापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयः, तैश्चानुराधाज्येष्ठामूलरूपाणि नक्षत्राणि शुद्धानि, परं ज्येष्ठानक्षत्रमर्द्धक्षेत्रमिति तत् पञ्चदशभिर्मुहूर्त्तैः शुद्ध्यति, शेषाः पञ्चदश ति–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ष्ठन्ति, ते मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, तत आगतं-पूर्वाषाढानक्षत्रस्याष्टादश मुहूर्त्तानेकस्य मुहूर्त्तस्य च त्रयोदश चतुस्त्रिंशदधिकशतभागानवगाह्य प्रथमो व्यतिपातो गत इति, तथा यदि द्वासप्ततिसंख्यैर्व्यतिपातैः सप्तषष्टिश्चन्द्रनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततः पञ्चभिर्व्यतिपातैः किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-७२-६७-५, अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं,जातानि त्रीणि शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि ३३५, तेषां द्वासप्तत्या भागे हृते लब्धाश्चत्वारः पर्यायाः, न तैः प्रयोजनं, शेषास्तिष्ठन्ति सप्तचत्वारिंशत्, सा नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैर्गुणयितव्येति गुणकारच्छेदराश्योः षट्केनापवर्त्तनाज्जातो गुणकारराशिस्त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि—३०५, छेदराशिर्द्वादश, तत्र गुणकारराशिना पञ्चोत्तरत्रिशतप्रमाणेन सप्तचत्वारिंशद् गुण्यते, जातानि चतुर्दश सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि १४३३५, छेदराशिना च द्वादशप्रमाणेन सप्तषष्टिर्गुण्यते, जातान्यष्टौ शतानि चतुरुत्तराणि, अभिजितोऽप्येकविंशतिः सप्तषष्टिभागा द्वादशभिर्गुणिता जाते द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके २५२, ते प्राक्तनराशेः शोध्यन्ते, स्थितानि पश्चाच्चतुर्दश सहस्राणि त्र्यशीत्यधिकानि १४०८३, तेषामष्टभिः शतैश्चतुरुत्तरैर्भागहरणं, लब्धाः सप्तदश १७, शेषं तिष्ठति चत्वारि शतानि पञ्चदशाधिकानि ४१५, एतानि च मुहूर्त्तानयनाय त्रिंशता गुणयितव्यानि, त्रिंशतश्च षट्केनापवर्त्तनायां जाताः पञ्च, छेदराशेरपि षट्केनापवर्त्तने जातं चतुस्त्रिंशदधिकं शतं, तत्र चतुर्णां शतानां पञ्चदशोत्तराणां पञ्चभिर्गुणने जातानि विंशतिशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि २०७५, तेषां चतुस्त्रिंशदधिकशतेन भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्ताः, शेषाः तिष्ठन्ति चतुस्त्रिंशदधिकशतभागाः पञ्चषष्टिः, तत्र ये पूर्वलब्धाः सप्तदश तेभ्यस्त्रयोदशभिः श्रवणादीनि पुनर्वसुपर्यन्तानि शुद्धानि, शेषास्तिष्ठन्ति चत्वारि, तैश्च पुष्यादीनि पूर्वफाल्गुनीपर्यन्तानि चत्वारि नक्षत्राणि शुद्धानि, परमश्लेषानक्षत्रमर्द्धक्षेत्रमिति तत् पञ्चदशभिर्मुहूर्त्तैः शुद्ध्यतीति शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चदश, ते मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातास्त्रिंशन्मुहूर्त्ताः, आगतमुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्य त्रिंशन्मुहूर्त्तान् एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चषष्टिं चतुस्त्रिंशदधिकशतभागानामवगाह्य पञ्चमो व्यतिपातोऽभूदिति, एवं सर्वेष्वपि व्यतिपातेषु भावनीयम् ॥ सम्प्रति सूर्यनक्षत्रानयनायोपक्रम्यते-यदि द्वासप्ततिसंख्यैर्व्यतिपातैः पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया भवन्ति तत एकस्मिन् व्यतिपाते किं भवति ?, राशित्रयस्थापना ७२-५-१, अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जाताः पञ्चैव, तेषामाद्येन राशिना द्वासप्ततिलक्षणेन भागो हार्यः, ते च स्तोकत्वाद्भागं न प्रयच्छन्ति, ततो नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयितव्या इति छेदराशिगुणराश्योः षट्केनापवर्त्तनाः, जातश्छेदराशिर्द्वादश, गुणकारराशिस्त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि ३०५, तथोपरितनो राशिः पञ्चकलक्षणो गुण्यते, जातानि पञ्चदश शतानि पञ्चविंशत्यधिकानि १५२५, छेदराशिना च द्वादशकलक्षणेन सप्तषष्टिर्गुण्यते, जातान्यष्टौ शतानि चतुरुत्तराणि ८०४, पुष्यस्य च सप्तषष्टिभागाश्चतुश्चत्वारिंशद् द्वादशभिर्गुण्यन्ते, जातानि पञ्च शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि ५२८, तानि पूर्वराशेः शोध्यन्ते, स्थितानि पश्चान्नव शतानि सप्तनवत्यधिकानि ६६७, तेषामष्टभिः शतैश्चतुरुत्तरैर्भागो ह्रियते, लब्धमेकं नक्षत्रमश्लेषारूपं, स्थितं पश्चात्त्रिनवत्यधिकं शतम्, एतच्च नक्षत्रभागं न प्रयच्छतीति सप्तषष्टिभागानयनाय छेदराशिर्मूल एव द्वादशलक्षणः परं पञ्चभिः सप्तषष्टिभागैरहोरात्रो लभ्यत इति स पञ्चभिर्गुण्यते, जाता षष्टिः, तया भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोऽहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोदश, ते मुहूर्त्तानयनाय त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि नवत्यधिकानि ३६०, तेषां षष्ट्या भागे हृते लब्धाः सार्द्धाः षड् मुहूर्त्ताः, अश्लेषानक्षत्रमिति तद्गता अहोरात्रा एकविंशतिश्च मुहूर्त्ता उद्धरन्ति, ते अत्र प्रक्षिप्यन्ते, आगतमश्लेषानक्षत्रमतिक्रम्य मघानक्षत्रस्य त्रिष्वहोरात्रेषु गतेषु चतुर्थस्य चाहोरात्रस्य सार्द्धेषु च सप्तविंशतिषु मुहूर्त्तेषु गतेषु प्रथमो व्यतिपातो गत इति, तथा यदि द्वासप्ततिसंख्यैर्व्यतिपातैः पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततः पञ्चभिर्व्यतिपातैः किं लभ्यम् ? इति राशित्रयस्थापना-७२-५-५, अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जाता पञ्चविंशतिः २५, तस्या आद्येन राशिना भागहरणं, सा च स्तोकत्वाद् भागं न प्रयच्छति ततो नक्षत्रानयनार्थमेनामष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति छेदराशि—गुणकारराश्योः षट्केनापवर्त्तना, जातो गुणकारराशिस्त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि—३०५, छेदराशिर्द्वा—दशप्रमाणः-१२, गुणकारराशिना च पञ्चविंशतेर्गुणने जातानि षट्सप्ततिः शतानि पंचविंशत्यधिकानि ७६२५, छेदराशिनाऽपि च द्वादशलक्षणेन सप्तषष्टिर्गुण्यते,जातान्यष्टौ शतानि चतुरुत्तराणि ८०४, पुष्यस्य च सप्तषष्टिभागाश्चतुश्चत्वारिंशत्, सा द्वादशभिर्गुण्यते,जातानि पञ्च शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि, तानि पूर्वराशेः शोध्यन्ते, स्थितानि पश्चात् सप्ततिशतानि सप्तनवत्यधिकानि ७०६७, तेषामष्टभिः शतैश्चतुरुत्तरैर्भागहरणं, लब्धान्यष्टौ नक्षत्राणि, शेषाणि तिष्ठन्ति षट् शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ६६५, एतानि नक्षत्रभागं न प्रयच्छन्ति ततः सप्तषष्टिभागानयनार्थं छेदराशिर्मूल एव द्वादशप्रमाणः परं पञ्चभिः सप्तषष्टिभागैरहोरात्रा लभ्यन्त इति पञ्चभिर्गुण्यते, जाता षष्टिस्तया भागो ह्रियते, लब्धा एकादशाहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्च, ते मुहूर्त्तानयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातं सार्द्धशतं, तस्य षष्ट्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सार्द्धौ मुहूर्त्तौ, यानि च पूर्वलब्धान्यष्टौ नक्षत्राणि तान्यश्लेषादीनि विशाखापर्यन्तानि द्रष्टव्यानि, तत आगतमनुराधानक्षत्रप्रविष्टस्य सूर्यस्य एकादशसु दिवसेषु गतेषु द्वादशस्य च दिवसस्य द्वयोः सार्द्धयोर्मुहूर्त्तयोर्गतयोः पञ्चमो व्यतिपातो गत इति, एवं सर्वेष्वपि व्यतिपातेषु सूर्यनक्षत्राणि परिभावनीयानि ॥ सम्प्रति लग्नपरिज्ञानार्थमुपक्रम्यते—यदि द्वासप्ततिसंख्यैर्व्यतिपातैरष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि लग्नपर्यायाणां लभ्यन्ते ततः प्रथमे व्यतिपाते किं लभ्यते ? राशित्रयस्थापना-७२-१८३५-१, अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, स च तावानेव भवति, तत आद्येन राशिना द्वासप्ततिलक्षणेन भागहरणं, लब्धाः पञ्चविंशतिः लग्नपर्यायाः शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चत्रिंशत्, एनां नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति छेदराशिगु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णकारराश्योः पद्केनापवर्त्तना, ततो जातश्छेदराशिर्द्वादशकरूपो गुणकारराशिस्त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि ३०५, तेन पञ्चत्रिंशद्गुण्यते, जातानि दश सहस्राणि षट् शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि १०६७५, छेदराशिर्द्वादशकलक्षणः सप्तपष्ट्या गुण्यते, जातान्यष्टौ शतानि चतुरुत्तराणि ८०४, अस्य राशेश्च प्राक्तनैः पञ्चभिः शतैरष्टाविंशत्यधिकैः पुष्यः शुद्धः, स्थितानि पश्चाद्दश सहस्राणि शतमेकं सप्तचत्वारिंशदधिकं १०१४७, तेषामष्टभिः शतैश्चतुरुत्तरैर्भागहरणं, लब्धा द्वादश १२, शेषाणि तिष्ठन्ति चत्वारि शतानि नवनवत्यधिकानि ४६६, द्वादशभिश्चाश्लेषादीनि पूर्वाषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, परं ज्येष्ठानक्षत्रमर्द्धक्षेत्रमिति तच्चतुर्भिः शतैर्द्व्युत्तरैः शुद्धयति, शेषाणि चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि तिष्ठन्ति, तान्युद्धरितराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि नव शतान्येकोत्तराणि ६०१, आगतमुत्तराषाढानक्षत्रस्य लग्नप्रवर्त्तकस्य चतुरुत्तराष्टशतभागानां नवसु शतेष्वेकोत्तरेषु गतेषु मकरलग्ने प्रथमो व्यतिपातोऽभवदिति । तथा यदि द्वासप्ततिसंख्यैर्व्यतिपातैरष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि लग्नपर्यायाणां भवन्ति ततः पञ्चभिर्व्यतिपातैः किं भवति ?, राशित्रयस्थापना-७२-१८३५-५ अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातान्येकनवतिशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि ६१७५, तेषामाद्येन राशिना द्वासप्ततिलक्षणेन भागो ह्रियते, लब्धं सप्तविंशत्यधिकं लग्नपर्यायाणां शतं, शेषास्तिष्ठन्त्येकत्रिंशत् तान् नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति गुणकारच्छेदराश्योः पट्केनापवर्त्तना, तत्र जातो गुणकारराशिस्त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि ३०५, छेदराशिर्द्वादश, गुणकारराशिना चैकत्रिंशद् गुण्यते, जातानि चतुर्नवतिशतानि पञ्चपञ्चाशदधिकानि ६४५५, एतेभ्यश्च पञ्चभिः शतैरष्टाविंशत्याधिकैः पुष्यः शुद्धः, स्थितानि पश्चान्नवाशीतिशतानि सप्तविंशत्यधिकानि ८६२७, छेदराशिना च द्वादशकलक्षणेन सप्तषष्टिर्गुण्यते, जातान्यष्टौ शतानि चतुरुत्तराणि, तैर्भागो ह्रियते. लब्धा एकादश, पश्चात्तिष्ठन्ति त्र्यशीतिः, एकादशभिश्चाश्लेषादिषु मूलपर्यन्तानि शुद्धानि, नवरं ज्येष्ठानक्षत्रमर्धक्षेत्रमिति चतुर्भिः शतैर्द्व्युत्तरैः शुद्धमिति चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि शेषाणि तिष्ठन्ति, तान्यंशराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि ४८५, तत आगतमश्लेषादिषु मूलपर्यन्तेष्वेकादशसु नक्षत्रेषु गतेषु पूर्वाषाढानक्षत्रस्य चतुरुत्तराष्टशतभागानां चतुर्षु शतेषु पञ्चाशीत्यधिकेषु गतेषु धनलग्ने पञ्चमो व्यतिपातो गत इति, एवं सर्वेष्वपि व्यतिपातेषु लग्नानि परिभावनीयानि ॥ २६२-३ ॥ ज्यो० १६ पाहु० ।

वइवीरिय-वाग्वीर्य-न० । 'वीरिय' शब्दे वक्ष्यमाणस्वरूपे वाग्विषयके प्रकर्षे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

वइवेभव-वाग्वैभव-न० । विभव एव वैभवम् , प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् विभोर्भावः कर्म वा वैभवम् । वाचा वैभवं वाग्वैभवम् । वचनसंपत्प्रकर्षे, वाचा विभोर्भावे च । स्या० ।

वइसंपायण-वैशम्पायन-पुं० । "वैरादौ वा" ॥ ८।१।१५२ ॥ वैरादित्वादैतोऽइत्यादेशः । व्यासशिष्ये विशम्पर्णपत्ये, प्रा० ।

वइसदेव-वैश्वदेव-पुं० । विश्वेभ्यो देवेभ्यो देयो बलिः अण् । वैश्वदेवोद्देशेन दीयमाने बलौ, । तं० ५५ कल्प ।

वइसमाहारणा-वचःसमाधारणा-स्त्री० । वचनस्य शुभकार्ये स्थापने, उत्त० ।

वचःसमाधारणया अपि फलमाह-

वइसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वइसमाहारणयाए णं वइसमाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ वइसमाहारणदंसणपज्जवे विसोहित्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ ॥ ५७ ॥

हे भगवन् ! सिद्धान्तोक्तमार्गे वचनसमाधारणया स्वाध्याये एव वाग्निवेसनेन जीवः किं फलं जनयति , तदा गुरुराह-हे शिष्य ! वचःसमाधारणया-वाक्साधारणया दर्शनपर्यवान् विशोधयति वाचः साधारणया-वाक्साधारणया वाचा कथयितुं योग्याः ये पर्यवाः-शब्दविशेषाः , तथा-दर्शनस्य-सम्यक्त्वस्य ये पर्यवा-भेदास्तान् विशोधयति—निर्मलीकरोति , यतो हि -वाक्समाधारणां कुर्वन् स्वाध्यायं करोति, स्वाध्यायं कुर्वन् द्रव्यानुयोगाद्यभ्यासं विदधत् अनेकयशो भूत्वा शङ्कादिदोषान् निवारयति ; अतः सम्यक्त्वं निर्मलं करोति यतो वाक्साधारणदर्शनपर्यवान् विशोध्य सुलभबोधित्वं निर्वर्त्तयति । सुलभा बोधिः परभवे जैनधर्मप्राप्तिर्यस्य स सुलभबोधिस्तस्य भावः सुलभबोधित्वं तत् उत्पादयति, दुर्लभबोधित्वं निर्जरयति । ॥ ५७ ॥ उत्त० २६ अ० ।

वइसवण-वैश्रवण-पुं० । "वैरादौ वा" ॥ ८।१।१५२ ॥ एतोऽइः । प्रा० १ पाद ।

वइसाह-वैशाख-पुं० । "वैरादौ वा" ॥ ८। १। १५२ ॥ इति अइः । विशाखानक्षत्रयुतपौर्णमासीपर्यन्ते मासभेदे, स० २६ सम० । योधस्थानभेदे , आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आ० म० ।

वइसाही-वैशाखी-स्त्री० । वैशाखमासभाविन्याममायाम् , पूर्णिमायां च । जं० ७ वक्ष० ।

वइसिय-वैशिक-पुं० । "अइर्दैत्यादौ च" ॥ ८। १। १५१ ॥ ऐतोऽइः । वेशोपजीविनि, प्रा० १ पाद ।

वइसुहया-वचःशुभता-स्त्री० । वचसः शुभभावे, तस्याः सातानुभावकारणत्वात् । सातानुभवभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

वइसेसिय-वैशेषिक-पुं० । विशेषाख्यातिरिक्तपदार्थाभ्युपगन्तरि कणादशिष्ये, वैशेषिकाणां शास्त्रं कणादमुनिना—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षट् पदार्था इति, षट्पदार्थानङ्गीकृत्य प्रपञ्चितम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अत्र पदार्थविभागव्यवस्थानुपपन्नेत्याह—नापि वैशेषिकोक्तं तत्त्वमिति, तथाहि—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावास्तत्त्वमिति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । द्रव्यादीनां विवरणं स्वस्थाने ।) (' इस्सर ' शब्दे द्वितीयभागे ६३६ पृष्ठे वैशेषिकाभ्युपगतेश्वरखण्डनमकारि ।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वइस्साणर--वैश्वानर--पुं० । " अईदैत्यादौ च " ॥ ८ । १ । १५१ ॥ एतोऽइः । अग्नौ , प्रा० १ पाद ।

वउ--वपुष्--न० । शरीरे , विशे० । अनु० ।

वउल--वकुल--पुं० । मुकुलश्रीनामके वनस्पतिभेदे , वि- शे० । स० । केसरे , प्रज्ञा० १ पद । कल्प० । धवलपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, (पञ्चा०) " चतुरधिकविंशतियुते, वर्षसहस्रे शते च सिद्धेयम् । धवलकपुरे वसत्यै, धनपत्योर्वकुलचन्दिकयोः ॥७॥ अणहिलपाटकनगरे, सङ्घवरैर्वर्त्तमानबुधमुख्यैः । श्रीद्रोणाचार्याद्यै-र्विद्वद्भिः शोधिता चेति । " पञ्चा० १९ विव० ।

वउस--वकुश--त्रि० । शवले, कर्बुरे, भ०२५ श०६ उ० । वकुशसंयमयोगाद् वकुशः । भ०२५ श०६ उ० । शरीरोपकरणविभूषादिना शवलचारित्रपटे, स्था० ३ ठा० २ उ० । निर्ग्रन्थभेदे, भ० ।

वउसे णं भंते ! कइविहे पन्नत्ते ?, गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा आभोगवउसे अणाभोगवउसे संवुडवउसे असंवुडवउसे अहासुहुमवउसे णामं पञ्चमे । (सू०-७५१×)

वकुशो द्विविधो भवति-उपकरणशरीरभेदात्, तत्र वस्त्रपात्राद्युपकरणविभूषानुवर्त्तनशील उपकरणवकुशः, करचरणनखमुखादिदेहावयवविभूषानुवर्त्ती शरीरवकुशः । स चायं द्विविधोऽपि पञ्चविधः, तथा चाह-' वउसे णं ' इत्यादि । ' आभोगवउसे ' त्ति आभोगः-साधूनामकृत्यमेतच्छरीरोपकरणविभूषणमित्येवं ज्ञानं तत्प्रधानो वकुश आभोगवकुशः, एवमन्येऽपि, इहाप्युक्तम्—" आभोगं जाणंतो, करेइ दोसं अजाणमणभोगे । मूलुत्तरेहि संवुड-विवरीओऽसंवुडो होइ ॥ १ ॥ अच्छिमुहमज्जमाणो , होइ अहासुहुमओ तहा वउसो । अहवा जाणिज्जंतो, असंवुडो संवुडो इयरो ॥ २ ॥ " भ० २५ श० ६ उ० । स्था० । ज्ञा० । ध० । वकुशः शवलः कर्बुर इति पर्यायाः, सातिचारत्वादेवंभूतः संयमोऽत्र वकुशस्तत्संयमयोगात्साधुरपि वकुशः , सातिचारत्वात् शुद्ध्यशुद्धिव्यतिकीर्णचरण इत्यर्थः , स च द्विविधः—उपकरणशरीरविषयभेदात् , तत्र—अकाल एव प्रक्षालितचोलपट्टकान्तरकल्पादिश्लक्ष्णवासः प्रियः पात्रदण्डकाद्यपि भूषार्थं तैलमात्रया उज्ज्वलीकृत्य धारयन्नुपकरणवकुशः, तथा—अनागुप्तव्यतिरेकेण हस्तपादधावनमलापनयनादि देहविभूषार्थमाचरन् शरीरवकुशः, अयं चद्विविधोऽपि आभोगाऽनाभोगसंवृताऽसंवृतसूक्ष्मवकुशभेदात्पञ्चविधः,यतः-' उवगरणशरीरेसुं, बहुसो दुविहो दुहा वि पञ्चविहो । आभोग अणाभोगे, संवुड असंवुडे सुहुमे ॥ १ ॥" इति, तत्राभोगः पूर्वोक्तद्विविधभूषणमकृत्यमित्येवंभूतं ज्ञानं तत्प्रधानो वकुश आभोगवकुशः १ , द्विविधविभूषणस्य च सहसा कारी अनाभोगवकुशः २, संवृतो लोकेऽविज्ञातदोषः संवृतवकुशः ३, प्रकटकारी त्वसंवृतवकुशः ४, मूलोत्तरगुणाश्रितं वा संवृताऽसंवृतत्वम् , नेत्रमलापनयनादि किञ्चित्प्रमादवान् सूक्ष्मवकुशः ५ । ध० ३ अधि० । प्रव० । पं०भा० । ('णिग्गंथ' शब्दे चतुर्थभागे २०३४पृष्ठे वक्ष्यतेऽस्य व्याख्या ।) म्लेच्छविशेषे, तद्देशे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० । तद्देशजाताः स्त्रियो वकुशिकाः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० ।

वउसत्तण--वकुशत्व--न० । शरीरोपकरणविभूषाकरणे, व्य० ३ उ० ।

वऊ--देशी--लावण्ये, दे० ना० ७ वर्ग ३० गाथा ।

वओगय--व.ग्गत--न० । वचनगते, " वयणविभत्तीकुसलो, वओगयं बहुविहं वियाणंतो " दश० ७ अ० ।

वंक--वक्र--त्रि० । " वक्रादावन्तः " ॥ ८ । १ । २६ ॥ इति प्रथमस्वरात्परोऽनुस्वारागमः । प्रा० । कुटिले, स्था० ४ ठा० १ उ० । अन्तर्मायिकत्वे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । महा० । औ० । रा० । स्था० । असंयमे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

वंकगइ--वक्रगति--स्त्री० । वक्रा चासौ गतिः । गतिभेदे, वंकवलीविगयभेसणमुहा—वक्रं पाठान्तरेण व्यङ्गयम् सलाञ्छनं वलिभिर्विकृतं बीभत्सं भेषणं—भयजनकं मुखं येषां ते तथा । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

अथ वक्रगतिभेदानाह—

से किं तं वंकगती ?, वंकगती चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—घट्टणता थंभणता लेसणता पवडणया । से तं वंकगती । (सू० २०५+)

वक्रा-वक्रा सा चासौ गतिश्च वक्रगतिः। सा चतुर्धा, तद्यथा-घट्टनता स्तम्भनता श्लेषणता(प्र)पतनता । तत्र घट्टनशब्दस्य भावः-प्रवृत्तिनिमित्तं घट्टनमेवेति । एवं शेषपदशब्दार्थोऽपि भावनीयः । तत्र घट्टनम्-खञ्जगतिः, स्तम्भनम्-ग्रीवायां धमन्यादीनां तिष्ठतो वा आत्मनोऽङ्गप्रदेशानाम् , श्लेषणम्-ऊर्वादीनां जानुप्रभृतिभिः सम्बन्धः, (प्र) पतनम्-तिष्ठत एव गच्छतो वा प्रस्खलनम् , एतानि च घट्टनादीनि जीवस्यानीप्सितत्वादप्रशस्यत्वाच्च वक्रगतिशब्दवाच्यानि । प्रज्ञा० २ पद ।

वंकचूल---वक्रचूड---पुं० । भारतवर्षे विमलयशसो भूपतेः सुमङ्गलादेव्याः पुष्पचूलापरनामके पुत्रे, ती०४२ कल्प । (वक्रचूडकथा ' टिंपुरी ' शब्दे चतुर्थभागे १९७९ पृष्ठे गता ।)

वंकजड--वक्रजड--पुं० । वक्रश्चासौ जडश्च वक्रजडः । कुटिलाप्राज्ञे, वीरतीर्थे हि साधवो वक्रजडाः । कल्प० । तथा-कश्चिद् व्यवहारिसुतः पित्रा बहुशः शिक्ष्यमाणो जनकादीनां सन्मुखं जल्पनं न कर्त्तव्यम्, इति पितृवचनं वक्रतया मनसि दधार । अथैकदा सर्वेषु स्वजनेषु बहिर्गतेषु पुनः पुनः शिक्षयन्तं पितरम्, अद्य शिक्षयामीति विचिन्त्य कपाटं दत्त्वा स्थितः, आगतेषु च पित्रादिषु द्वारोद्घाटनार्थं बहुशब्दरवेऽपि न वक्ति, न चोद्घाटयति । भित्त्युल्लङ्घनेन मध्ये प्रविष्टेन च पित्रा हसन् दृष्ट उपालब्धश्च कथयामास, भवद्भिरेवोक्तं वृद्धानामुत्तरं न देयम् । इति द्वितीयः । कल्प० १ अधि० १ क्षण । वृ० । नि० चू० ।

वंकणया--वक्रनता--स्त्री० । वक्रीकरणे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

वंकसमायार--वक्रसमाचार--त्रि० । वक्रः समाचारो यस्य स तथा । असंयमानुष्ठायिनि, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । मायाविनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

वंकाणिकेय--वक्रानिकेत--पुं० । असंयमाश्रये, "इच्छा पणीया वंकाणिकेया"(सू० १३१) । आचा० १ श्रु०४ अ०२ उ० (व्याख्या ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभागे २६६७-२६६८-पृष्ठे गता ।)

वंग--वङ्ग--पुं० । ऋषभदेवस्य त्रयोविंशे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । तन्निवासिते देशविशेषे, यत्र ताम्रलिप्ती राजधान्यासीत् । प्रज्ञा० १ पद । कल्प० । प्रव० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यङ्ग–त्रि०। विगताङ्गे, त्रुतिग्रस्ते, ध० २ अधि०। प्रश्न०।

वंगण–व्यङ्गन–न०। त्रुते, कल्प० १ अधि० ७ त्तण। व्य०।

वंगाल–देशी–बङ्गदेशे, कल्प० १ अधि० ७ त्तण।

वंगिय–व्यङ्गित–त्रि०। तुण्डिताङ्गे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

वंचइत्ता–वञ्चयित्वा–श्री०। प्रभूतं त्याजयित्वाऽल्पं ग्राहयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

वंचग–वञ्चक–त्रि०। प्रतारके, पं० १५ विव०। द्वा०।

वंचण–वञ्चन–न०। प्रतारणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। ज्ञा०। दशा०। अंशने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। रा०।

वंचणया–वञ्चनता–स्त्री०। प्रतारणतायाम्, औ०। प्रश्न०। स०। उपघाते, विशे०।

वंचिअ–वञ्चित–त्रि०। प्रतारिते, "पयारिअं वंचिअं च वेअ-लिअं" पाइ० ना० १८७ गाथा।

वंचिय–वञ्चित–त्रि०। व्यामोहं प्रापिते, प्रति०।

वंछा–वाञ्छा–स्त्री०। इच्छायाम्, "ईहा इच्छा वंछा स-द्धा कामो य आसंसा" पाइ० ना० ७० गाथा।

वंज–वन्द्य–त्रि०। वन्दनार्हे, ध० २ अधि०। आव०।

वंजग–व्यञ्जक–त्रि०। प्रकाशके, विशे०।

वंजण–व्यञ्जन–न०। व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेन घट इवेति व्यञ्जनम्। विशे०। ककाराद्यक्षरे, अनु०। प्रव०। नं०। व्यञ्जयति व्यनक्ति वा–अर्थमिति व्यञ्जनम्। सम्म० १ काण्ड। घटादौ वाचकशब्दे, विशे०। अनु०। आव०। आचा०। नि० चू०। प्रश्न०। कर्म०। आ० म०। पदे, तस्यार्थाभिधायकत्वात्। बृ० ४ उ०। आ० म०। सूत्रे, सुत्तं कम्हा वंजणं भण्णति?, उच्यते–वंजति त्ति–व्यक्तं करोति जहोदणरसो वंजणसंयोगाद् व्यक्तो भवति एवं सुत्ता अत्थो वत्तो भवति त्ति वंजणं सुत्तं। नि० चू० १ उ०। पुद्गले, तेषां श्रोत्राभिव्यञ्जकत्वात्। आ० म० १ अ०। उपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च परस्परं संपर्के, आ० म १ अ०। नं०। स्था०। वटिकाभर्जिकापत्रशाकतीमनतक्रसूपादिके शालनके, स्था० ३ ठा० १ उ०। रसाभिव्यञ्जकत्वात्तेषाम्। चं० प्र० २० पाहु०। भ०। पिं०। बृ०। मषतिलकादिके शारीरे शुभाशुभसूचके चिह्ने, अनु०। विशे०। स्था०। ज्ञा०। सहजे, जन्मना सहैव जाते शारीरे चिह्ने, भ० २ श० १ उ०। कल्प०। स०। नि०। वंजणमेयं–मषतिलगादी, सह जायं लक्खणं, पच्छा जायं–वंजणं। नि० चू० १७ उ०। भ०। आव०। रा०। विपा०। नि०। आ० चू०। इह 'वंजणं' मषादि। प्रव० २२४ द्वार। इहास्मिन् शास्त्रे व्यञ्जनम्–मषादि। प्रव० २५७ द्वार। मसाइगं वंजणं। अहवा जं शरीरेण सह समुप्पन्नं तं लक्खणं, पच्छा उप्पन्नं वंजणमिति। प्रव० २५७ द्वार। मषादिव्यञ्जनफलोपदेशके शास्त्रे, स० २६ सम०। प्रश्न०। दशा०। वस्तिकूर्चकक्षादिरोमणि, कल्प० ३ अधि० ६ त्तण। उपस्थरोमणि, व्य० १ उ०।

वंजणअत्थतदुभयभेद–व्यञ्जनार्थतदुभयभेद–पुं०। व्यञ्जनार्थतदुभयान्याश्रित्य भेदरूपे दर्शनातिचारे, दश०। व्यञ्जनार्थतदुभयान्याश्रित्य भेदो न कार्य इति वाक्यशेषः। एतदुक्तं भवति श्रुतप्रवृत्तेन तत्फलममीप्सता व्यञ्जनभेदोऽर्थभेदः उभयभेदश्च न कार्य इति, तत्र व्यञ्जनभेदो यथा–'धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं' इति वक्तव्ये 'पुण्णं कल्लाणमुक्कोसं' मित्यादि; अर्थभेदस्तु यथा–"आवंती केयावंती लोगंसि विप्परामुसंती" इत्याचारसूत्रे यावन्तः केचन लोके–अस्मिन्पाषण्डिलोके विपरामृशन्तीत्येवंविधार्थाभिधाने अवन्तिजनपदे केया–रज्जुर्वान्ता–पतिता लोकः परामृशति कूप इत्याह, उभयभेदस्तु द्वयोरपि याथात्म्योपमर्दनेन यथा–'धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टः अहिंसा पर्वतमस्तके' इत्यादि, दोषश्चात्र व्यञ्जनभेदे अर्थभेदस्तद्भेदे क्रियाया भेदस्तद्भेदे मोक्षाभावस्तदभावे च निरर्थिका दीक्षेति। उदाहरणं चात्राधीयतां कुमार इति सर्वत्र योजनीयम्। क्षुण्णत्वादनुयोगद्वारेषु चोक्तत्वान्नेह दर्शितमिति। दश० ३ अ०। व्य०। ग०। ध०।

इदाणिं तदुभए त्ति दारं–

दुमपुप्फि पढमसुत्तं, अहागडरीयंति रणो भत्तं व।
उभयण्णवकरणेणं, मीसगपच्छित्तुभयदोसा॥ २०॥

दोसुवमाओ दुमो पुप्फविकसणे–दुमस्स पुप्फं दुमपुप्फं, तेण दुमपुप्फेण जत्थ उवमा कीरइ तमज्झयणं दुमपुप्फिया आदाणपदेणं च से णामं, धम्मो मंगलं, तत्थ पढमसुत्तं पढमसिलोगो, तत्थ उभयभेदो दरिसिज्जति–"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं," एवं सिलोगो पढियव्वो; सो पुण एवं पढति–"धम्मो मंगलमुक्कट्ठो, अहिंसा डोंगरमत्थके। देवा वि तस्स नासंति जस्स धम्मे सया मती॥१॥" 'अहागडरीयंति' त्ति 'अहाकडेसु रीयंति' त्ति, एत्थ सिलोगो पढियव्वो अत्थ उभयभेदो दरिसिज्जति–"अहाकडेहिं रंधैति, कट्ठेहिं रहकारिया। लोहारसमाखुड्डा, जे भवंति अणीसरा॥१॥" रणो भत्तंति–एत्थ वि उभयभेदो दरिसिज्जति–"रायभत्ते–सिणाणे य" सिलोगो कण्ठो–"रणो भत्ते सिणाणे य, गद्दहो जत्थ खज्जति। सणभत्ती गिही जत्थ, राया पिंडं किमत्थती॥१॥" उभयं सुत्तत्थं तमण्णहा कुणति, सुत्तमण्णहा पढति, अत्थमण्णहा वक्खाणेति, एवमण्णहा सुत्ते अत्थे कप्पयंतस्स मीसगपच्छित्तं। मीसं णाम वंजणभेदे अत्थभेदे य जे पच्छित्ता भणिया ते दो वीह दट्ठव्वा, ह्व–ह्व। उभयदोसा य, व्यञ्जनभेदादर्थभेदः, अर्थभेदाच्च चरणभेदः, इह तु चरणभेद–एव द्रष्टव्यः। यतः–श्रुतार्थप्रधानं चरणं तम्हा उभयभेदो–चरणभेदो दट्ठव्वो॥ नि० चू० १ उ०।

वंजणक्खर–व्यञ्जनाक्षर–न०। शब्दरूपे अक्षरश्रुतविशेषे, विशे०।

अथ व्यञ्जनाक्षरमाह–

वंजिज्जइ जेणऽत्थो, घडो व्व दीवेण वंजणं तो तं।
भण्णइ भासिज्जं तं, सव्वमकाराइ तक्कालं॥ ४६५॥

व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति, अतस्तद् व्यञ्जनं भण्यते, व्यञ्जनं च तदक्षरं च व्यञ्जनाक्षरम्, तच्चेह सर्वमेव भाष्यमाणमकारादिहकारान्तम्, तस्याः भाषायाः कालो यत्र तत्तत्कालं वदितव्यम्, भाष्यमाणः शब्दो व्यञ्जनाक्षरमिति हृदयम्; अर्थाभिव्यञ्जकत्वाच्छब्दस्येति॥४६५॥ विशे०। बृ०। (तत्र सूत्रम् 'अक्खर' शब्दे प्रथमभागे १४० पृष्ठे उक्तम्।)

वंजणणियय–व्यञ्जननियत–त्रि०। शब्दनयनिबन्धने, "साऊण समासओ च्चिय, वंजणणियओ य अत्थणियओ य"। सम्म० १ काण्ड।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वंजण(पज्जव)परियाय–व्यञ्जनपर्याय–पुं० । कालान्तरस्थायिशब्दानां संकेतविपर्ययेषु, द्रव्या० ८ अध्या० ।

वंजणभेय–व्यञ्जनभेद–पुं०। व्यञ्जनमाश्रित्य भेदरूपे ज्ञानाचारे, ग० १ आधि० । दश० । व्य० । ध० । व्यञ्जयतीति व्यञ्जनं तं च अक्खरं अक्खरेहिं सुत्तं णिज्जुत्ति त्ति काउं सुत्तं वंजनं तमएणहा करेति । कहं ?,

सक्कयमत्ता बिंदू, अएणभिधाणेण वा वि तं अत्थं ।
वंजिज्जइ त्ति सुत्तं, वंजणमिति भएणते लहुगो ॥१७॥

पाइतं सुत्त सक्कयं करेति,जहा–'धर्म्मो मङ्गलमुत्कृष्टम्'अभूतं वा मत्तं देति फेडति वा.जहा–सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि एव वत्तव्वे:सव्वे सावज्जे जोगे पच्चक्खामि त्ति भणति । एवं विंदुभूतं वा फेडेति अभूतं वा देति,जहा–णमो अरहंताणं ति वत्तव्वे पंचविसाणुस्सराणगारा वत्तव्वा सो पुण–नमो अरहंताणं भणति अभिधीयते जेण तमभिहाणं, जहा-घडो पडो वा, अएणं अभिहाणं अएणभिहाणं ततो तेण अएणेण अभिहाणेण तम्मि तं चेव अत्थं अभिलवति, जहा–" पुष्फं फललाणमुक्कासं दयासंवरणिज्जरा "। अभिसद्दो विकप्पत्थे पयत्थसंभावणे वा, किं पुण पदत्थं संभावयति—अक्खरपएहिं वा हीणातिरित्तं करेति अएणहा वा सुत्तं करेति; एवं पयं पयत्थं संभावेति । सुत्तं कम्हा वंजणं भएणत्ति ? उच्यते-वंजति त्ति—व्यक्तं करोति जहोदणरसो वंजणसंजोगा व्यक्तो भवति एवं सुत्ता अत्थो वत्तो भवति जेणं ति तम्हा कारणा वंजति त्ति अत्थो, एवं वंजणसामत्थातो वंजणमिति वुच्चते सुत्तं । णिगमणवयणं, तं वंजणं सक्कयवयणादिभिः कप्पियं तस्स पच्छित्तं भवति—

तदेव प्रायश्चित्तमाह—

लहुगो वंजणभेदे, आणादी अत्थभेअचरणे य ।
चरणस्स य भेदेणं,अमोक्खदिक्खा य अफला तु ।१८।

सक्कयमत्ताबिन्दूअक्खरपयभेएसु वट्टमाणस्स मासलहु, अएणं सुत्तं करेति चउलहुं आणाअणवत्थं मिच्छत्तविराहणा य भवति । एवं सुत्तत्थभेओ, सुत्तत्थभेया अत्थभेओ, अत्थभेया चरणभेयो, चरणभेया अमोक्खो, मोक्खभावा दिक्खादयो किरिया भेदा अफला भवंति । तम्हा वंजणभेदो ण कायव्वो । नि० चू० १ उ० ।

वंजणाऽवग्गह–व्यञ्जनावग्रह–पुं० ।व्यज्यतेऽनेनार्थः । प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम् । तच्चोपकरणेन्द्रियस्य श्रोत्रादेः शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च परस्परं सम्बन्धः, सम्बन्धे हि सति सोऽर्थः शब्दादिरूपः श्रोत्रादीन्द्रियेण व्यञ्जयितुं शक्यते, नान्यथा । ततः सम्बन्धो व्यञ्जनं च । तथा चाह भाष्यकृत्—" वंजिज्जइ जेणत्थो, घडो व्व दीवेण वंजणं तं च । उवगरणिंदियसद्दा—इ परिणए दव्वसंबंधो ॥ १ ॥ " व्यञ्जनेन—संबन्धेनावग्रहणं सम्बध्यमानस्य शब्दादिरूपस्यार्थस्याव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः, अथवा—व्यज्यन्ते इति व्यञ्जनानि 'कृद्बहुल' मिति वचनात् कर्म्मरायनद्, व्यञ्जनानां–शब्दादिरूपतया परिणतानां द्रव्याणाम्–उपकरणेन्द्रियसंप्राप्तानामवग्रहः–अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः, अथवा—व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम्—उपकरणेन्द्रियं तेन स्वसम्बद्धस्यार्थस्य—शब्दादेरवग्रहणम्—अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः । नं० । ततश्च-व्यञ्जनेनोपकरणेनेन्द्रिये (आ० म० । ध०) प्रतिज्ञानरूपे अवग्रहविशेषे, भ० ८ श० २ उ० । नं० । उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धे प्रथमसमयादारभ्यार्थावग्रहात्प्राक् या सुप्तमत्तमूर्च्छितादि—पुरुषाणामिव शब्दादिद्रव्यसंबन्धमात्रविषया काचिद—व्यक्ता ज्ञानमात्रा सा व्यञ्जनावग्रहः, स चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः । अत्राह—ननु व्यञ्जनावग्रहवेलायां न किमपि संवेदनं संवेद्यते तत्कथमसौ ज्ञानरूपो गीयते ?, उच्यते-अव्यक्तत्वान्न संवेद्यते, ततो न कश्चिद्दोषः, तथाहि—यदि प्रथमसमयेऽपि शब्दादिपरिणतद्रव्यैरुपकरणेन्द्रियस्य संपृक्तौ काचिदपि न ज्ञानमात्रा भवेत् ततो द्वितीयेऽपि समये न भवेत्; विशेषाभावात्; एवं यावच्चरमसमयेऽपि, अथ चरमसमये ज्ञानमर्थावग्रहरूपं जायमानमुपलभ्यते ततः प्रागपि क्वापि कियती ज्ञानमात्रा द्रष्टव्या । अथ मन्येथाः मा भूत् प्रथमसमयादिषु शब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्धेऽपि काचिदपि ज्ञानमात्रा, शब्दादिपरिणतद्रव्याणां तेषु समयेषु स्तोकत्वाच्चरमसमये तु भविष्यति, शब्दादिरूपपरिणतद्रव्यसमूहस्य तदानीं भूयसो भावात्, तदयुक्तम्, यतो—यदि प्रथमसमयादिषु शब्दादिद्रव्याणां स्तोकत्वात्संपृक्ता वक्तव्याऽपि काचिदपि ज्ञानमात्रा न समुल्लसेत् तर्हि प्रभूतसमुदायसम्पर्केऽपि न भवेत्, न खलु सिकताकणेषु प्रत्येकमसति तैललेशे समुदायेऽपि तैलं समुद्भवदुपलभ्यते । अस्ति च चरमसमये प्रभूतशब्दादिद्रव्यसंपृक्तौ ज्ञानम्, ततः प्राक्तनेष्वपि समयेषु स्तोकस्तोकतरैरपि शब्दादिपरिणतद्रव्यैः सम्बन्धे काचिदव्यक्ता ज्ञानमात्राऽभ्युपगन्तव्या, अन्यथा चरमसमयेऽपि ज्ञानानुपपत्तेः । तथा चोक्तम्–" जं सव्वहा न वीसुं, सव्वेसु वि तं न रेणुतेल्लं व । पत्तयमणिच्छंतो, कहमिच्छसि समुदये नाणं ? ॥ ३ ॥ " ततः स्थितमेतत्–व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानरूपः, केवलं तेषु ज्ञानमव्यक्तमेव बोद्धव्यम् । चशब्दौ स्वगतानेकभेदसंसूचकौ,ते च स्वगतानेकभेदाः अग्रे स्वयमेव सूत्रकृता वर्णयिष्यन्ते । आह–प्रथमं व्यञ्जनावग्रहो भवति ततोऽर्थावग्रहः,ततः कस्मादिह प्रथममर्थावग्रह उपन्यस्तः?, उच्यते–स्पष्टतयोपलभ्यमानत्वात्, तथाहि–अर्थावग्रहः स्पष्टरूपतया सर्वैरपि जन्तुभिः संवेद्यते, शीघ्रतरगमनादौ सकृत्सत्वरमुपलम्भे मया किंचित् दृष्टं परं न परिभावितं सम्यगिति व्यवहारदर्शनात्, अपि च–अर्थावग्रहः सर्वेन्द्रियमनोभावी व्यञ्जनावग्रहस्तु नेति प्रथममर्थावग्रह उक्तः । संप्रति तु व्यञ्जनावग्रहादूर्द्ध्वमर्थावग्रह इति क्रममाश्रित्य प्रथमं व्यञ्जनावग्रहस्वरूपं प्रतिपिपादयिषुः शिष्यः प्रश्नं कारयति–" से किं तं वंजणुग्गहे " (सू०–२८) (इत्यादिसूत्रम् ' उग्गह ' शब्दे द्वितीयभागे ६६८ पृष्ठे गतम् ।) व्याख्या चेयम्–अथ कोऽयं व्यञ्जनावग्रहः ?, आचार्य आह-व्यञ्जनावग्रहः–चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–' श्रोत्रेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह ' इत्यादि, अत्राह–सत्सु पञ्चस्विन्द्रियेषु षष्ठे च मनसि कस्मादयं चतुर्विधो व्यावर्ण्यते ? उच्यते–इह व्यञ्जनमुपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिद्रव्याणां च परस्परं सम्बन्ध उच्यते. संबन्धश्चतुर्णामेव श्रोत्रेन्द्रियादीनाम्, न नयनमनसोः तयोरप्राप्यकारित्वात् । न० । व्यञ्जनावग्रहस्य मल्लकदृ–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रान्तेन प्ररूपणा 'आभिणिबोहियणाण' शब्दे द्वितीयभागे २७१ पृष्ठे द्रष्टव्या ।)

वंजिय-व्यञ्जित-त्रि० । व्यक्तीकृते, ग० ३ अधि० । " यथा- व्यञ्जिता-व्यक्तीकृता यथा गङ्गेत्यादि " ग० ३ अधि० ।

वंजुल-वञ्जुल-पुं० । वेतसे, दश० २ अ० । विशे० । स्था० । " वंजुलो वेडसो अ वाणीरो " पाइ० ना० १४४ गाथा । लोमपक्षिविशेषे, स्त्री० । जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

वंटग-वण्टक-पुं० । विभागे, नि० चू० १६ उ० ।

वंढ-देशी-वन्धे, दे० ना० ७ वर्ग २६ गाथा ।

वंत-वान्त-न० । नपुंसके भावे क्तः । वमने, ग्रा० १ श्रु० १ अ० । कर्मणि-क्तः परित्यक्ते, द्वा० २७ द्वा । दश० ।

वंता-वान्त्वा-अव्य० । उद्गीर्येत्यर्थे, " वंता लोपसणं से मइमं परिक्कमेज्जासि " आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । सूत्र० ।

वमितृ-त्रि० उद्गारके, "से वंता कोहं च माणं च"(सू०१२१+) वमिता,द्वमुद्गिरणे इत्यस्मात्ताच्छीलिकस्तृन्, तद्योगे च षष्ठयाः प्रतिषेधं क्रोधशब्दाद् द्वितीया, लुडन्तं चैतत्, यो हि यथोक्तसंयमानुष्ठायी सोऽचिरात्क्रोधं वमिष्यत्येवमुत्तरत्रापि। आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

वंतपडिआया(य)ण-वान्तप्रत्यादान-न०। भुक्त्वोज्झितपरिभोगे,दश०। "वंतस्स पडिआयाणं ६" दश० १ चू० । (इदं सूत्रम् 'अट्ठारसट्ठाण' शब्दे प्रथमभागे २४६ पृष्ठे व्याख्यातम् ।)

वंतासव-वान्ताश्रव-पुं० । वान्तं-वमनं तदाश्रवन्तीति, वान्ताश्रवाः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । वान्ताशिषु, अष्ट० १८ अष्ट०। (कारणे वान्ताशनमपि 'राइभोयण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५३६ पृष्ठे प्रतिपादितम् ।) (वान्ताशिवोन्मुखो रथनेमी राजीमत्या यथा प्रतिबोधितस्तथोक्तं ' रहणेमि ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४६८ पृष्ठे ।)

वंद-वन्द्य-त्रि० । वन्दनीये, स्तुत्ये, षो० १४ विव० । विशे० ।

वंदण-वन्दन-न० । वाचा स्तुतौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । आचा० । उत्त० । संथा० । ति० । विधिना कायवाङ्मनःप्रणिधाने, प्रव० १ द्वार । दश० । जी० । संथा० । प्रति० । सूत्र० । शिरसाऽभिवादने, ध० २ अधि० । आव० । आ० म० । आ० चू० । वदि अभिवादनस्तुत्योः इति । कायेनाभिवादने, वाचा स्तवने , आ० चू० १ अ० । द्वादशावर्त्तादिना (स्था० ४ ठा० १ उ० । ल०) प्रशस्तकायवाङ्मनःप्रवृत्तौ, आव० ५ अ० । "वंदणं जिणमुद्दाए" ल० । पं० चू० । वन्दनं निरूप्यते-वदि अभिवादनस्तुत्योः, इत्यस्य " करणाधिकरणयोश्च " (पा० । ३ । ३ । ११७ ।) इति ल्युट् " युवोरनाकौ "-(पा० । ७ । १ । १ ।) इति अनादेशः । " इदितो नुम्धातोः " (पा० । ७ । १ ।५८) इति नुमागमः । ततश्च वन्द्यते स्तूयतेऽनेन प्रशस्तमनोवाक्कायव्यापारजालेनेति वन्दनम् । आव० ३ अ० ।

कतिदोसविप्पमुक्कं,कितिकम्मं कीस कीरई वा वि।११०३।

अवनतिः-अवनतं कत्यवनतं तद्वन्दनं कर्त्तव्यम् , कति शिरः, कति शिरांसि तत्र भवन्तीत्यर्थः,कतिभिरावश्यकैरावर्त्तादिभिः परिशुद्धम् , कतिदोषविप्रमुक्तं टोलगत्यादयो दोषाः कृतिकर्म-वन्दनकर्म 'कीस कीरइ त्ति' किमिति वा क्रियत इति । आव० ३ अ० । प्रव० । ('किइकम्म' शब्दे तृतीयभागे ५०७ पृष्ठे व्याख्यातम् ।)

पर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्निदं गाथाशकलमाह-

निर्युक्तिकारः-

वंदणचिइ किइकम्मं, पूयाकम्मं च विणयकम्मं च ।

वन्दनकर्म द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतो-मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्तसम्यग्दृष्टेश्च, भावतः-सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य । आव० ३ अ० ।

तत्र कृतिकर्मणि शीतलकदृष्टान्तमाह-

"एगस्स रण्णो पुत्तो सीयलो णाम, सो य णिव्विण्णकामभोगो पव्वतिओ, तस्स य भगिणी अण्णस्स रण्णो दिण्णा, तीसे चत्तारि पुत्ता,सा तेसिं कहंतरेसु कहं कहेइ,जहा-तुज्झ मातुलओ पुव्वपव्वइओ, एवं कालो वच्चइ । ते वि अन्नया तहारूवाणं थेराणं अंतिए पव्वइया चत्तारि, बहुस्सुया जाया आयरियं पुच्छिउं माउलगं वंदगा जंति, एगम्मि णयरे सुओ,तत्थ गया वियालो जाउ त्ति काउं बाहिरियाए ठिया । सावगो य णयरं पवेसिउकामो सो भणिओ-सीयलायरियाणं कहेहि-जे तुज्झं भाइणिज्जा ते आगया वियालो त्ति न पविट्ठा, तेण कहियं, तुट्ठो, इमेसिं पि रत्तिं सुहेण अज्झवसाणेण चउण्ह वि केवलनाणं समुप्पन्नं । पभाए आयरिया दिसाउ पलोएति, एत्ताहे मुहुत्तेणं एहिंति, पोरिसिसुत्तं मग्गणं करेंति अच्छंति । उग्घाडाए अत्थपोरिसि त्ति, अतिचिराविए य ते देवकुलियं गया, ते वीयरागा ण आढायंति, दंडओ(?)णेण ठविओ, पडिक्कंतो आलोइए भणइ-कओ वंदामि ?, भणंति-जओ भे पडिहायइ । सो चिंतेइ-अहो दुट्ठसेहा निल्लज्ज त्ति, तह वि रोसेण वंदइ, चउसु वि वंदिएसु, केवली किर पुव्वपउत्तं उवयारं न भंजइ, जाव न पडिभिज्जइ, एस जीयकप्पो तेसु नऽत्थि पुव्वपवत्तो उवयारो त्ति, भणंति-दव्ववंदणएणं वंदिया, भाववंदणएणं वंदाहि । तं च किर वंदंतं कसायकंडएहिं छट्ठाणपडियं पेच्छंति, सो भणति-एयं पि नज्जति ?, भणंति-बाढं, किं अतिसओ अत्थि ? आमं। किं छाउमत्थिओ, केवलिओ ?। केवली भणति-केवलिओ । सो किर तहेव उद्धसियरोमकूवो अहो मए मंदभग्गेण केवली आसातिय त्ति, संवेगमागओ । ते हिं चेव कंडगठाणेहिं नियत्तो त्ति ०जाव अपुव्वकरणं अणुपविट्ठो,केवलनाणं समुप्पन्नं । चउत्थं वंदंतस्स सम त्ति । सा चेवं काइया चिट्ठा एगम्मि बंधाय एगम्मि मोक्खाय । पुव्वं दव्ववंदणं आसि, पच्छा भाववंदणं जायं । " आव० ३ अ० । आ० चू० । वन्दनं चैत्यवन्दनम् , गुरुवन्दनं च । तत्र गुरुवन्दने, (ध० ३ अधि० ।) वन्दनं कस्य केन केन कुत्र कतिकृत्वः ४ कृत्यवनतं ५ कति शिरः ६ कतिभिरावश्यकैश्च परिशुद्धं कर्त्तव्यमिति (' किइकम्म ' शब्दे तृतीयभागे ५०७ पृष्ठे व्याख्यातम् ।) (कृतिकर्म च द्विप्रकारं, वन्दनकम् अभ्युत्थानं चेति 'अब्भुट्ठाण' शब्दे प्रथमभागे ६६३ पृष्ठे उक्तम् ।)

अथ वन्दनकमभिधित्सुराह-

देसिय-राइय-पक्खिय, चाउम्मासा तहेव वरिसे य ।

लहुगुरु लहुगा गुरुगा, वंदणए जाणिय पदाणि ।७७८।

दैवसिके रात्रिके वा आवश्यके वन्दनकं न ददति मासलघु, पाक्षिके वन्दनकं न प्रयच्छन्ति मासगुरु । चातु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मासिके वन्दनकमददतां चतुर्लघु, सांवत्सरिके वन्दनकाऽदाने चतुर्गुरु। चशब्दाद्विपरीतं न्यूनाधिकं च कुर्वतां लघुमासः। याऽभिवन्दनके ह्यवनतः यथा जानादीनि पदानि तेषामप्यकरणे असमाचारीनिष्पन्नं मासलघु।

अथैतदेव प्रायश्चित्तं विशेषयन्नाह—

आयरियाइचउण्हं, तवकालविसेसियं भवे एयं।
अहवा पडिलोमे यं, तवकालविसेसिओ होइ ॥७७९॥

आचार्यादीनां चतुर्णामप्येतदनन्तरोक्तं प्रायश्चित्तं तपःकालविशेषितं भवति, तत्राचार्यस्य द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां गुरुकम्, वृषभस्य तपोगुरुकम्, भिक्षोः कालगुरुकम्, क्षुल्लकस्य तपसा कालेन चतुर्लघुकम्। अथवा-तपःकालविशेषत एतदेव प्रतिलोमं पश्चादनुपूर्व्या वक्तव्यम्। आचार्यस्य द्वाभ्यामपि लघुकम्, वृषभस्य कालगुरुकम्, भिक्षोस्तपोगुरुकम्, क्षुल्लकस्य द्वाभ्यामपि गुरुकम्।

अथ 'देसियराइय' त्ति पदद्वयं विशेषतो भावयति—

दुगसत्तगकिइकम्म-स्स अकरणे होइ मासियं लहुगं।
आवासगविवरीए, ऊणहिए चेव लहुओ उ ॥७८०॥

'दुगसत्तग' त्ति द्वे सप्तके चतुर्दश भवन्तीति कृत्वा पूर्वाह्णपराह्णयोश्चतुर्दश वन्दनकानि भवन्ति। कथमिति चेद्? उच्यते—इह रात्रिकप्रतिक्रमणे चत्वारि वन्दनकानि। तत्रैकमालोचनायाम्, द्वितीयं क्षामणके, तृतीयं पाण्मासिकम्-तपश्चिन्तनकायोत्सर्गार्थं च, चतुर्थं प्रत्याख्यानग्रहणार्थमिति। यथास्वाध्यायं त्रीणि वन्दनकानि, तत्र च वृद्धसंप्रदायः—"सज्झाए वंदित्ता पढवेइ एयं पढमं पावयं तस्स विइयं पच्छा उद्दिट्ठं, समुद्दिट्ठं पढइ उद्देससमुद्देसवंदणाणमिहेवं तम्मा वो। तओ जाहे चउभागावसेसा पोरिसी ताहे पाए पडिलेहेइ जइ न पडिलेहिउकामो तो वंदइ, अह पडिलेहिउकामो ताहे पडिलेहेइ, अवंदित्ता पाए पडिलेहेइ पाए पडिलेहित्ता तत्थ पढइ कालवेलाए व ठिओ पडिकमइ एयं तइयं"। एवं पूर्वाह्णे सप्त वन्दनानि, अपराह्णेऽप्येवमेव सप्त भवन्ति। तत्र-चत्वारि दैवसिकप्रतिक्रमणे, त्रीणि स्वाध्याये, अनुज्ञावन्दनानां स्वाध्यायवन्दनायामेवान्तर्भावादिति सर्वसंख्यया चतुर्दश वन्दनकानि भवन्ति। एतच्चाभक्तार्थिकमङ्गीकृत्योक्तम्। यस्तु भक्तार्थिकस्तस्य भोजनानन्तरभावप्रत्याख्यानवन्दनकसहितानि पञ्चदश भवन्ति, तेषां मध्यादेकतरस्यापि कृतकर्मणोऽकरणे मासिकं लघुकं प्रायश्चित्तं भवति, तथा आवश्यकं कुर्वन् विपरीतमालापकोच्चारणं करोति। तद्यथा-दैवसिके आवश्यके क्षमयामि क्षमाश्रमण! रात्रिकं व्यतिक्रममित्युच्चरति, रात्रिके वा दैवसिकमालापं करोति। एवं पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकेष्वपि प्रतिक्रमणेषु वक्तव्यम्, अत्र सर्वत्राप्यसमाचारीनिष्पन्नं मासलघु 'ऊणहिए चेव' त्ति ऊनानि वा एकद्व्यादिभिर्वन्दनकैर्हीनानि अधिकानि च यथोक्तप्रमाणादतिरिक्तानि दैवसिकादिप्रतिक्रमणेषु वन्दनकानि प्रयच्छतो मासलघु।

अथ 'वंदणए जाणि य पयाणि' त्ति पदेन यानि ह्यवनतादीनि पञ्चविंशतिवन्दनकस्यावश्यकपदानि सूचितानि तानि दर्शयति—

दुओणयं अहाजायं, किइकम्मं बारसावयं होइ।
चउसिरंति गुत्तं च, दुपवेसं एगणिक्खमणं ॥७८१॥

अवनौ अवगतम् उत्तमाङ्गप्रधानं प्रणमता-द्वे अवनते यस्मिन् तद् द्व्यवनतम्, एकम्-यदा प्रथममेव "इच्छामि खमासमणो वंदिउं० जाव णिज्जाए निसीहियाए" इत्यभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनायावनतमिति। द्वितीयं पुनरेवमेव द्वितीयप्रवेशे इति। यथाजातं नाम यथा प्रथमतो जननीजठरान्निर्गतो यथा च श्रमणो जातस्तथैव वन्दनकं दातव्यम्, तत्र रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टकमात्रया श्रवणः संजातो रचितकरसंपुटस्तु योन्या विनिर्गतः एवंभूत एव वन्दनकं दत्ते ३, कृतिकर्मवन्दनकं 'बारसावयं' ति द्वादशावर्त्तं भवति। इह प्रथमतः प्रविष्टस्य "अहो कायं कायं जुत्ता भे जवणिज्जं च भे" इति सूत्राभिधानगर्भा-गुरुचरणन्यस्तहस्तशिरःस्थापनरूपाः षडावर्त्ता भवन्ति। अवग्रहान्निर्गत्यापुनःप्रविष्टस्याप्येवमेव पडिति द्वादशावर्त्तवन्दनकमुच्यते १५, चत्वारि शिरांसि उपचाराच्छिरोनमनानि यस्मिन् तच्चतुःशिरः तत्र "संफासनमणेणं खामणा नमणे सीसस्स बीयं एवं बीए पवेसे वि दोन्नि" त्ति। १६। यथा त्रयो वा-मनोवाक्काययोगा गुप्ताः-सुप्रणिहिता यस्मिन् तत्त्रिगुप्तम्। इयमत्र भावना-मनसा सम्यक् प्रणिहितो, वाचा अस्खलितानि तत्र पदानि विकथादिनिरोधेनोच्चारयन्, कायेनावर्तान् सम्यक् प्रयुञ्जानो वन्दनकं ददाति २२, द्वौ प्रवेशौ गुरोरवग्रहेऽनुज्ञाप्य प्रविशतो यस्मिन् तद् द्विप्रवेशम् २३, एकं निष्क्रमणं गुरोरवग्रहादावश्यकान्निर्गच्छतो यत्र तत्रैकनिष्क्रमणम् २५, एतेषां पञ्चविंशतेरावश्यकानामकरणे प्रत्येकं मासलघु प्रायश्चित्तम्, अथवा-वन्दनके यानि पदानीत्यत्र नोद्भूतादीनि द्वात्रिंशत् संख्याकानि दोषपदानि मन्तव्यानि। बृ० ३ उ०।

तानि चामूनि—

अणाढियं च थद्धं च, पविद्धं परिपिंडियं।
टोलगइ अंकुसं चेव, तहा कच्छभरिंगियं ॥ १२०७ ॥

अनादृतम्—अनादरं सम्भ्रमरहितं वन्दते १, स्तब्धं-जात्यादिमदस्तब्धो वन्दते २, प्रविद्धं-वन्दनकं ददेव नश्यति ३, परिपिण्डितं-प्रभूतानेकवन्दनेन वन्दते आवर्तान् व्यञ्जनाभिलापान् वा व्यवच्छिन्नान् कुर्वन्४, 'टोलगति' त्ति तिड्डवदुत्प्लुत्योत्प्लुत्य विसंस्थुलं वन्दते ५, अङ्कुशं-रजोहरणमङ्कुशवत्करद्वयेन गृहीत्वा वन्दते ६, कच्छभरिंगियं-कच्छपवत् रिङ्गितं कच्छपवत् रिङ्गन् वन्दत इति गाथार्थः ॥१२०७॥

मच्छुव्वत्तं मणसा, पउट्ठं तह य वेइयाबद्धं।
भयसा चेव भयंतं, मित्ती गारवकारणा ॥ १२०८ ॥

मत्स्योद्वृत्तम्—एकं वन्दित्वा मत्स्यवद् द्रुतं द्वितीयं साधुं द्वितीयपार्श्वेन रेचकावर्त्तेन परावर्तते ८, मनसा प्रदुष्टम्, वन्द्यो हीनः केनचिद्गुणेन, तमेव च मनसि कृत्वा सासूयो वन्दते ९, तथा च वेदिकाबद्धं जानुनोरुपरि हस्तौ निवेश्याधो वा पार्श्वयोर्वा उत्सङ्गे वा एकं वा जानुं करद्वयान्तः कृत्वा वन्दते १०, 'भयसा चेव' त्ति भयेन वन्दते, मा भूद्गच्छादिभ्यो निर्द्धाटनमिति ११, 'भयंतं' ति भजमानं वन्दते 'भजत्ययं मामतो भक्तं भजस्वेति तदार्यवृत्तम्' इति १२, 'मेत्ति' त्ति मैत्रीनिमित्तं प्रीतिमिच्छन् वन्दते १३, 'गारव' त्ति गौरवनिमित्तं वन्दते, विदन्तु माम्, यथा-सामाचारीकुशलोऽयम् १४, 'कारण' त्ति ज्ञानादिव्यतिरिक्तं कारणमाश्रित्य वन्दते,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्त्रादि मे दास्यतीति १५, अयं गाथार्थः ॥ १२०८ ॥

तेणियं पडिणियं चेव, रुट्ठं तज्जियमेव य ।
सढं च हीलियं चेव, तहा विपलिउंचियं ॥ १२०६ ॥

स्तैन्यमिति-परेभ्यः खल्वात्मानं गूहयन् स्तेनक इव वन्दते, मा (ममैवं) लाघवं भविष्यति १६, प्रत्यनीकम्-आहारादिकाले वन्दते १७, रुष्टं-क्रोधाध्मातं वन्दते क्रोधाध्मातो वा १८, तर्जितं-न कुप्यसि नापि प्रसीदसि काष्ठशिव इवेत्यादि तर्जयन्—निर्भर्त्सयन् वन्दते , अङ्गुल्यादिभिर्वा तर्जयन् १६, शठं-शाठ्येन विश्रम्भार्थं वन्दते, ग्लानादिव्यपदेशं वा कृत्वा न सम्यग् वन्दते २०, हीलितं हे गणिन् ! वाचक ! किं भवतो वन्दितेनेत्यादि हीलयित्वा वन्दते २१, तथा विपरिकुञ्चितम्-अर्द्धवन्दित एव देशादिकथाः करोति २२, इति गाथार्थः ॥ १२०६ ॥

दिट्ठमदिट्ठं च तहा, सिंगं च करमोअणं ।
आलिद्धमणालिद्धं, ऊणं उत्तरचूलियं ॥ १२१० ॥

दृष्टाऽदृष्टं तमसि व्यवहितो वा न वन्दते २३, शृङ्गम्-उत्तमाङ्गैकदेशेन वन्दते २४, करमोचनं—करं मन्यमानो वन्दते न निर्जराम् , ' तहा मोयणं नाम न अन्नहा मुक्खो, एएण पुण दिन्नेण मुच्चेमि त्ति वंदणगं देइ २५—२६-' आश्लिष्टाऽनाश्लिष्ट ' मित्यत्र चतुर्भङ्गकम्—रजोहरणं कराभ्यामाश्लिष्यति शिरश्च१, रजोहरणं न शिरः२, शिरो न रजोहरणम् ३, न रजोहरणं नाऽपि शिरः ४, अत्र प्रथमभङ्गः-शोभनः, शेषेषु प्रकृतवन्दनावतारः २७, ऊनं-व्यञ्जनाभिलापावश्यकैरसम्पूर्णं वन्दते २८, उत्तरचूडं-वन्दनं कृत्वा पश्चान्महता शब्देन मस्तकेन वन्दे इति भणति २६, इति गाथार्थः ॥ १२१० ॥

मूयं च ढड्ढरं चेव, चुडुलिं च अपच्छिमं ।
बत्तीसदोसपरिसुद्धं, किइकम्मं पउंजई ॥ १२११ ॥

मूकम्—आलापकाननुच्चारयन् वन्दते ३०, ढड्ढरं—महता शब्देनोच्चारयन् वन्दते ३१, ' चुडली ' ति उल्कामिव पर्यन्ते गृहीत्वा रजोहरणं भ्रमयन् वन्दते ३२, अपश्चिमम्—इदं चरममित्यर्थः, एते द्वात्रिंशद्दोषाः, एभिः परिशुद्धं कृतिकर्म कार्यम् , तथा चाह—द्वात्रिंशद्दोषपरिशुद्धं कृतिकर्म—वन्दनं प्रयुञ्जीत-कुर्यादिति गाथार्थः ॥ १२११ ॥

यदि पुनरन्यतमदोषदुष्टमपि करोति ततो न तत्फलमासादयतीति, आह च—

किइकम्मं पि करिंतो, न होइ किइकम्मनिज्जराभागी ।
बत्तीसामन्नयरं, साहू ठाणं विराहिंतो ॥ १२१२ ॥

कृतिकर्मापि कुर्वन्न भवति कृतिकर्मनिर्जराभागी, द्वात्रिंशद्दोषाणामन्यतरत्साधुः स्थानं विराधयन्निति गाथार्थः॥१२१२॥

दोषविप्रमुक्तकृतिकर्मकरणे गुणमुपदर्शयन्नाह—

बत्तीसदोसपरिसुद्धं, किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं ।
सो पावइ निव्वाणं, अचिरेण विमाणवासं वा ॥१२१३॥

द्वात्रिंशद्दोषपरिशुद्धं कृतिकर्म यः प्रयुङ्क्ते-करोति गुरवे स प्राप्नोति निर्वाणम् अचिरेण विमानवासं वेति गाथार्थः॥१२१३॥

आह—दोषपरिशुद्धाद्वन्दनात्को गुणः ? येन तत एव निर्वाणप्राप्तिः प्रतिपाद्यत इति, उच्यते-

आवस्सएसु जह जह, कुणइ पयत्तं अहीणमइरित्तं ।
तिविहकरणोवउत्तो, तह तह से निज्जरा होइ ॥ १२१४॥

आवश्यकेषु-अवनतादिषु दोषत्यागलक्षणेषु च यथा यथा करोति प्रयत्नम् , अहीनातिरिक्तं-न हीनं नाप्यधिकम् , किम्भूतः सन् ?—त्रिविधकरणोपयुक्तः, मनोवाक्कायैरुपयुक्त इत्यर्थः, तथा तथा ' से ' तस्य-वन्दनकर्तुर्निर्जरा भवति-कर्मक्षयो भवति, तस्माच्च निर्वाणप्राप्तिरिति, अतो दोषपरिशुद्धादेव फलावाप्तिरिति गाथार्थः ॥ १२१४ ॥ आव० ३ अ० ।

साम्प्रतमेतेष्वेव प्रायश्चित्तमाह—

थद्धे गारवतेणिय, हीलियरुट्ठे लहुगा सढे गुरुगो ।
दुट्ठ पडिणीय तज्जित , गुरुगा सेसेसु लहुगो उ ॥

स्तब्धगौरवस्तेनितहीलितरुष्टेषु प्रत्येकं चतुर्लघवः । शठेमायादोषप्रत्यये मासगुरुकम् , दुष्टप्रत्यनीकतर्जितेषु चत्वारो गुरुकाः, शेषेषु अनादृतप्रविद्धपरिपिण्डितादिषु त्रयोविंशतौ दोषेषु प्रत्येकं सामाचारीनिष्पन्नं मासलघु । बृ०३ उ०। प्रव० ।

वन्दनफलम्—

वन्दणएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं निबन्धइ, सोहग्गं च अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ दाहिणभावं च णं जणयइ ॥१०॥

हे भदन्त ! पूज्य ! वन्दनकेन गुरूणां द्वादशावर्त्तविधिवन्दनेन जीवः किं जनयति, हे शिष्य ! श्रीगुरूणां वन्दनकेन नीचैर्गोत्रं कर्म क्षपयति गुरूणां चन्दनकारी नीचैर्गोत्रे न अवतरतीत्यर्थः , पूर्वबद्धं च क्षपयति उच्चैर्गोत्रकर्म बध्नाति उच्चैर्गोत्रे अवतरतीत्यर्थः । पुनरुच्चैर्गोत्रेऽवतीर्णः सन् सौभाग्यं सर्वलोकेषु वल्लभत्वं पुनरप्रतिहतं केनापि निवारयितुमशक्यम् आज्ञाफलम्—आज्ञासारं प्रभुत्वं निर्वर्तयति-उत्पादयति, च-पुनर्दाक्षिण्यभावं सर्वलोकानामनुकूलत्वं जनयति ॥१०॥ उत्त० २६ अ० । स्तुत्वाऽपि तीर्थकरान् गुरुवन्दनकपूर्विकैव तत्प्रतिपत्तिरिति , तदाह—चन्दनकेनाचार्याद्युचितप्रतिपत्तिरूपेण नीचैर्गोत्रम् अधमकुलोत्पत्तिनिबन्धनम् कर्म क्षपयति, उच्चैर्गोत्रं-तद्विपरीतरूपं निबध्नाति , सौभाग्यं च सर्वजनस्पृहणीयतारूपमप्रतिहतं स-र्वत्राप्रतिस्खलितमत एवाज्ञा-जनेन यथादितवचनप्रतिपत्तिरूपा फलम्—निर्वर्त्तयति—जनयति , तद्वतो हि प्राय आदेयकर्म्मणोऽभ्युदयसम्भवादादेयवाक्यताऽपि संभवतीति , दक्षिणभावं च अनुकूलभावं जनयति लोकस्येति गम्यते , तन्माहात्म्यतोऽपि सर्वैः सर्वावस्थास्वनुकूल एव भवति ॥ १० ॥ उत्त० पाई० २६ अ० । या च सुरासुराधिपतिचक्रवर्तिबलदेववासुदेवादिवन्दना तां न याचेत। सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (वन्दमानं न याचेत-इत्थियं पुरिसं वा " (२६) इत्यादि । दश० ५ अ० २ उ० । गाथा ' गोयरचरिया ' शब्दे तृतीयभागे ६६० पृष्ठे गता ।) (कारणे धिग्जातीयानामपि वन्दनं क्रियते, इति 'पडिसेवणा' शब्दे पञ्चमभागे ३६७ पृष्ठे उक्तम् ।) पार्श्वस्थादिविषयवन्दनादिषूत्सर्गापवादौ प्रदर्श्येते,तत्र पार्श्वस्थादीनां वन्दननिषेधः प्रागुरुवन्दनाधिकारे-" पासत्थाइवंदमाणस्स"इत्यादिना प्रदर्शित एव,एतेषामभ्युत्थानादौ च प्रायश्चित्तमभ्युक्तम्,तद्यथा-

" अहछंदब्भुट्ठाणं, अंजलिकरणं य हुंति चउगुरुआ ।
अरणेसुं चउलहुआ, एवं दाणाइसु वि णेयं ॥ १ ॥"

व्याख्या—एतेषामभ्युत्थानादौ प्रायश्चित्तमाह यथाच्छन्दस्याभ्युत्थानाञ्जलिकरणयोर्भवन्ति प्रत्येकं चत्वारो गु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रुकाः प्रायश्चित्तम् । तत्राभ्युत्थानं षोढा—अभिमुखोत्थानम् १ आसनोपढौकनम् २ , किं करोमीति भणनम् ३,धर्मच्युतस्य पुनर्धर्मस्थापनारूपमभ्यासकरणम् ४, अभेदरूपाऽविभक्तिरेतत्पञ्चपदरूपः संयोगः ५—६ चेति । तत्राभिमुखोत्थानादिपञ्चके कृते अभ्यासकरणे पुनः सामर्थ्ये सत्यकृते प्रायश्चित्तम् । अञ्जलिकरणमपि षोढा, पञ्चविंशत्यावश्यकयुक्तवन्दनम् १, शिरसा प्रणामकरणम् २, एकस्य द्वयोर्वा हस्तयोर्योजनम् ३, बहुमानरसभरेण सरभसम्-"नमो खमासमणाणं" इति भणनम् ४, निषद्याकरणम् ५, एतेषां पदानां योगश्च ६,एतेषु सर्वेष्वपि कृतेषु प्रायश्चित्तम्, अन्येषु पार्श्वस्थादिषु नवसु गृहस्थसहितेषु कृतिकर्माञ्जलिकरणयोः प्रत्येकं चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्तम् । ध० ३ अधि० ।

मुद्धजणहिययसंथिय, दंसणवररयणलूडणं सजढा ।
अन्नायसाहुसावय-जोगा अन्ने भणन्ते वं ॥ १ ॥

मुग्धः—स्वल्पमतिर्यो जनो—लोकस्तस्य हृदयम्-मानसं तत्र संस्थितमाश्रितं दर्शनं—सम्यक्त्वं तदेव वररत्नं प्रधानमाणिक्यं तस्य लूडणं देशीभाषया प्रहरणम्, तत्र सदृढा—बद्धाग्रहाः अज्ञातसाधुश्रावकयोगाः—अविहितश्राद्धव्यापारा भणन्ति-जल्पन्ति एवं-वक्ष्यमाणनीत्या अयमाशयः—वक्ष्यमाणकथने हि मुग्धश्रावकाणां दर्शनपक्षपाताभावेन सम्यक्त्वध्वंसो भवतीति गाथार्थः ।

तदेवाह—

पासत्थाई सावय-जणस्स नो होंति वंदणिज्जा उ ।
तं नो जम्हा कुत्थ इ, नो दीसइ भणियमेवेत्ति ॥ २ ॥

पार्श्वस्थादयस्समयप्रसिद्धाः श्रावकजनस्य--श्राद्धलोकस्य नो—नैव भवन्ति-जायन्ते वन्दनीया--नमस्कर्त्तव्याः, तुः-पूरणे । तद्वन्दनाकरणं, नो—नैव यस्मात् कुत्रापि कस्मिंश्चिदपि शास्त्रे नो दृश्यते,—नावलोक्यते भणितमुक्तमेवं पूर्वोक्तप्रकारेण इतिः—वाक्यसमाप्तौ इति गाथार्थः ।

यद्भणितं तत्पूर्वपक्षगाथाद्वयेनाह—

वद्दावद्दविभागो, संविग्गेयरजईण सव्वत्थ ।
जं पुण दंसणसत्तति-गे ण भणियं नमस्संति ॥ ३ ॥
अङ्गेसु अणंगेसु, छेयग्गंथेसु पयरणेसुं च ।
संवाओ ता कहं तं, भवे पमाणं पमाणीणं ॥ ४ ॥

वद्यावद्यविभागो—नमस्करणीयानमस्करणीयविशेषो भणितः संविग्नेतरयतीनां--सुविहितेतरसाधूनां सर्वत्र--सर्वस्मिन् सूत्रे इति शेषः, यत्पुनर्दर्शनसप्ततिकावचनम् एतन्नाम कारणगदितम्, "समणाण सावयाण य अवंदणिज्जा जिणमयम्मी" त्यादिलक्षणं न--नैव तस्य—सप्ततिकाभणितस्यास्ति-विद्यते अङ्गेषु-आचाराङ्गादिषु अनङ्गेषु-औपपातिकादिषु;छेदग्रन्थेषु निशीथशास्त्रादिषु प्रकरणेषु-उपदेशमालादिषु चः-समुच्चये; संघादस्तत्तादृशभणनं तस्मात्कथं केन प्रकारेण तत्सप्ततिकाभणनं भवेत्-जायेत प्रमाणं-व्यवस्थापकम्; प्रमाणिनां यथाऽवस्थितवस्तुवेदिनामिति गाथार्थः ।

किमित्यत आह—

पयरण जम्हा संविइ-यं खलु भवे पमाणमिह ।
सिद्धंतियवयणेहिं, नो इहरा अइपसङ्गाउ ॥ ५ ॥

प्रकरणवचनमर्वाचीनसाधुविरचितं शास्त्रं यस्मात्संविदितमेव अवितथम्; खलुः-अवधारणे; स च योजित एव भवेत्-जायेत प्रमाणं व्यवस्थापकमिह-मौनीन्द्रप्रवचने । अनुस्वारः पूर्ववत् । सिद्धान्तवचनैरागमभणितैर्नो—नैव, इतरथा स वंथाभाव कुतोऽतिप्रसङ्गात्, स्वाभिप्रायवशतोऽन्योऽन्यथा अन्यश्चान्यथाकरणतोऽनवस्थापात इति गाथार्थः ।

अथ यतिवत् श्रावकाणामपि दृश्यं तदित्याह—

जइ जइकिच्चं सव्वं, पि सावयाणं पि हुज्ज करणीयं ।
तो इक्को पि य धम्मो,हवेज्ज दुविहो विरुद्धेज्ज ॥ ६ ॥

यदीत्यभ्युपगमे यतिकृत्यं-साध्वनुष्ठानं सर्वमपि निःशेषं श्रावकाणामपि-श्राद्धानां न केवलं यतीनामित्यपिशब्दार्थः, भवेत्-जायेत करणीयं-कृत्यं तत एक एव धर्मो भवेत् द्विविधो-द्विप्रकारो विरुध्येत-विघटेतेति गाथार्थः ।

अत्रैवार्थे कारणान्तरमाह—

तह संपुसगुणे वि हु, न वंदिओ वज्जपाणिणा भरहो ।
तो नज्जइ सड्ढाणं, वेसो च्चिय होइ नमणीओ ॥ ७ ॥

तथा-अभ्युच्चयार्थः । सम्पूर्णगुणोऽपि-सुविशुद्धज्ञानादिरपि हुः-पूरणे, न वन्दितो- न नमस्कृतो वज्रपाणिना-इन्द्रेण भरतः-प्रथमचक्री,वेषरहित इति शेषः, तस्माज्ज्ञायते-बुध्यते श्रावकाणां वेष एव रजोहरणादिको भवति-जायते नमनीयो—वन्द्य इति गाथार्थः ।

सूत्रकृत् सम्बद्धगाथाद्वयमाह—

किं च जइ सावयाणं, नमणं नो सम्मयं भवे एयं ।
पासत्थाईणं तो, कह उवएसमालाए ॥ ८ ॥
सिरिधम्मदासगणिणा, न वारियं वारियं च अन्नेसिं ।
परतित्थियाण पणमण, इच्चाइवयणओ पयडं ॥ ९ ॥

किं च-अभ्युच्चये, यदि-विकल्पार्थः, श्रावकाणाम्-श्राद्धानां नमनं-नतिः नो—नैव सम्मतं भवेत्—जायेत, एतत्पूर्वोक्तं केषामित्याह—पार्श्वस्थादीनां-प्रतीतानां ततः कथं-केन प्रकारेणोपदेशमालायां श्रीधर्मदासगणिना एतन्नाम्ना तत्कर्त्रा न वारितं,वारितं पुनर्निषिद्धम् अन्येषां शाक्यादीनां परतीर्थिकानां प्रणमनमित्यादिवचनतः,प्रकटम्-प्रसिद्धम्-आदिग्रहणात्—"उब्भावणथुणणभत्तिरागं च सक्कारसम्माणं दाणंविणयं च वज्जेइ" इति दशावबोधं चेति गाथार्थः ।

पराभिप्रायमाशङ्क्याह-

आलावो संवासो, इच्चाईयं तु मुणिजणस्सेव ।
एवं नो जइ तो वं, पुव्वभणिया उ पासत्थो ॥१०॥

आलापः-स्तोकभणनं संवासस्तु-एकत्र निवसनमित्यादिकं पुनर्मुनिजनस्यैव साधुलोकस्यैव तेन हि तेषां निष्कारणं न कर्त्तव्यम्—वन्दनादिकम्, कारणे तु कर्तव्यमिति प्रागेव चर्चितम्, आदिग्रहणेन-"वीसंसोसंघवोपसङ्गो पहीणायारेहिं समं सव्वा जिणिंदेहिं पडिकुट्ठो" इति दृश्यम्, तथा च तत्रोक्तं बलाद्यतिर्व्याकुलीभवतीति,किं च-इतः श्रावकधर्म्मवक्ष्ये इति भणता वृत्तिकृता भिन्नाधिकारिता दर्शिता, स च—"वंदइ पडिपुच्छइ" इत्यादि गाथाभिरुक्तः सूत्रे एवमिच्छन्तो नैव यदि ततस्तेऽपि एवं प्रतिपादयन्ति पूर्वभणितान्—"सुत्तत्थं पोरिसिं नो करेइ ."

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्यादिकारे पार्श्वस्थाः शिथिला उपलक्षणत्वादवसन्नादयश्चेति गाथार्थः।

ततः किमित्याह—

तं वदंतु वराया, धम्मत्थी सावया तम्रो तुब्भे।
सयभमडिया हु मूढा, अन्ने वी मा भमाडेह॥ ११॥

तं-साधुं वन्दन्तु-नमस्कुर्वन्तु वराका-अनुकम्पनीया धर्मार्थिनो-वृषलम्पटाः, श्रावकाः-श्रद्धाः, तस्मात् 'तुब्भे' यूयमात्मना भ्रान्ता-नष्टसद्बोधाः मूढा-ज्ञानविकलाः अन्यान्-श्रावकादीन् मा-निषेधे, भ्रामयत-नष्टसद्बोधान् कुरुतेति गाथार्थः।

ननु यद्येवं ततः कोऽप्यवन्द्यो नास्तीत्याह-

संघेण पुणो बाही, जो विहिम्रो होज्ज सो उ नो वंदो।
पासत्थाइ सढाणं, सव्वहा एस परमत्थो॥ १२॥

संघेन—प्रतीतेन पुनर्बहिस्ताद्यो निर्दिष्टतया विहितः—कृतो भवेत्-जायेत स पुनर्नैव वन्द्यो नमस्करणीयः पार्श्वस्थादिः—प्रतीतः श्राद्धानां-श्रावकाणां सर्व्वथा-सर्वैः प्रकारैरेव-निर्दिष्टरूपः परमार्थतत्त्वमिति गाथार्थः।

सूत्रकृत्संबन्धगाथामाह-

किं च सिरिपंचकप्पे, दव्वलिंगस्स धारणे भणिम्रो।
एस गुणो सूरीहिं, इमाहिँ गाहाहि पयडत्थो॥ १३॥

किञ्चेत्यभ्युच्चये श्रीपञ्चकल्पे-छेदग्रन्थे द्रव्यलिङ्गस्य-रजोहरणादेः धारणे-स्वीकारे भणितः-उक्तः, एष-वक्ष्यमाणो गुणो-लष्टत्वं सूरिभिस्तत्कारकैरिमाभिर्वक्ष्यमाणाभिर्गाथाभिः-छन्दोविशेषरूपाभिः प्रकटार्थो-निश्चिताभिधेय इति गाथार्थः।

ता एवाऽऽह-

एयं तु दव्वलिङ्गं, भावे समणत्तणं तु नायव्वं।
को उ गुणो दव्वलिङ्गे, भन्नइ इणमो सुहं वोच्छं॥१४॥
सक्कारवन्दननमं-सणा, पूयणकहणा य लिङ्गकप्पम्मि।
पत्तेयबुद्धमाई, लिङ्गं छउमत्थम्रो गहणं॥ १५॥
दट्ठूण दव्वलिङ्गं, कुव्वंते पाणिइंदमाई वि।
लिंगम्मि अविज्जंते, न नज्जई एस विरम्रो त्ति॥१६॥
पत्तेयबुद्धो जाव उ, गिहिलिंगी अह व अन्नलिंगी वा।
देवा वि नाणोंपूए, मा पुज्जं होहिइ कुलिङ्गं॥ १७॥

लिङ्गकल्पः पञ्चकल्पभणितः प्रकटार्थश्च, विशेषावश्यकेऽपि लिङ्गस्य पूज्यता सपूर्वपक्षोत्तरा भणिता, अमूभिर्गाथाभिः, "नणु मुणिवेसवन्ने, निस्सीले वि मुणिच्चुपट्ठितो पावइ। मुणिदाणफलं तह, किन्न कुलिंगदाया वि॥ १॥ आयरियाऽऽइगाणं, मुणंते, तेण पडिम व्व। पुज्ज प्पाण मई य वि, न कुलिंगे सव्वहा सुत्तं॥२॥" परः प्राह-"नणु केवलकुलिंगे वि, हेउतं दव्वभावम्रो।" आचार्यः न वयम्—" मुणिलिङ्ग मग्गभावं, जाइ तम्रो तेण तं पुज्जं"॥ ३॥

एवं स्थिते जीवस्योपदेशमाह—

तित्थयरदंसणोवरि, जइ जीव! तुह त्थि निच्चला भत्ती।
मुद्धाण सावयाणं, ता मा लाएसु कुग्गाहं॥ १८॥

तीर्थकरदर्शनोपरि-सर्व्वज्ञप्रवचनोपरिष्टात् यदि जीव! तवास्ते निश्चला—दृढा भक्तिरास्तिक्यम् मुग्धानाम्—मुग्धमतीनां श्रावकाणां तस्मात् मा इति—निषेधे, 'लाएसु' विगलय-संवन्धय कुग्राहं कुत्सितबोधं श्रावकैः-पार्श्वस्थादयो न वन्द्याः एवरूप पूर्वं साधूपेक्षया मुख्यतो वन्दनं भणितम्—उक्तमत्र तु श्रावकापेक्षयेऽऽमिति न पौनरुक्त्यमिति गाथार्थः। जीवा० २५ अधि०।

जे भिक्खू पासत्थं वंदइ वन्दंतं वा साइज्जइ। नि० चू०।

मैथुनप्रतिसेवी अवन्द्यः—

से भयवं! जे णं केइ साहू वा साहुणी वा मेहुणमासेविज्जा से णं वंदेज्जा, गोयमा! जे णं साहू वा साहुणी वा मेहुणं सयमेव अप्पणा णं सेवेज्ज वा, परेहिं उवदिसेत्तुं सेव.विज्जा, सेविज्जमाणं समणुजाणिज्ज वा, दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा०जाव णं करकम्माइं सचित्ताचित्तवत्थुविसयं वा वि अज्झवसाएणं कारिमाकारिमोवगरणेणं मणसा वा वयसा वा काएणं से णं समणो वा समणी वा दुरंतपंतलक्खणे अ दट्ठव्वे अमग्गसमायारी महापावकम्मे णो णं वंदिज्जा, णो णं वंदावेज्जा, णो णं वंदिज्जमाणं वा समणुजाणेज्जा, तिविहं तिविहेणं०जाव णं विसोहिकालं ति, से भयवं! जे वंदेज्जा से किं लभेज्जा?, गोयमा! जे तं वंदेज्जा से अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्सधारीणं महाणुभावाणं महती वा आसायणं कुज्जेज्जा, जे णं तित्थयरादीण आसायणं कुज्जा से णं अज्झवसायं पडुच्च ०जाव णं अणंतसंसारियत्तणं लभेज्जा विपहिविस्थियं सम्मं सव्वहा मेहुणं पि य। महा० २ अ०।

(न वेषमात्रेण वन्द्यो भवतीति सर्वत्रानाश्वासवतामाव्यक्तिकनिह्नवानाम् इति 'अव्वत्तिय' शब्दे ८१४ पृष्ठे प्रतिक्षेप उक्तः।) (चैत्यवन्दनविधिः 'चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १३१२ पृष्ठे उक्तः।)

वन्दनप्रकीर्णोक्तश्चैत्यगुरुवन्दनविधिः—

तित्थयरे मुणिनाहे, मुक्खपहपएसए व सोंडीरे।
खायगभावे वंदे, कम्मरयरहिय-जिणवीरे॥ १॥
नमिऊण गणहराई, सुयनाणसमत्थपारगाईणं।
पूया विहि जह भणिया, तह वंदणविहिं भणिस्सामि॥२॥
दव्वाभावे सड्ढो, करेइ णिच्चं जिणिंदपडिमाणं।
पुरम्रो ठिम्रा भावा, पूआ साहु व्व संसुद्धा॥ ३॥
अट्ठविहं कम्मरयं, बहुएहिँ भवेहिँ संचियं जम्हा।
तवसंजमेण धोवइ, तम्हा भावं पहाणं वि॥ ४॥
आवस्सयँ काऊणं, गोसे सुहजोगझाणसंजुत्तो।
पेहंतो भूमागं, गच्छिज्जा जिणवरे गेहे॥ ५॥
कयआवस्सएँ साहू, जइ वि इयाणि अच्छती गोसे।
णियमा उ वंदिअव्वा, पच्छित्तं होइ अवंदिए॥ ६॥
पयाँहीण उ पणामा, तिदिसि निरिक्खण निवारइ अवत्था
आलंबण तिक्खुत्तो, तह किर मुद्दा य पणिहाणं॥ ७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एए अट्ठा तिविहा, सविरइ वि करेइ आवस्सं ।
पूआ निसीहि एगा, भणिआ किर साहुअहिगारे ॥८॥
अच्चा उ अचित्ताणं, मणुएगत्तं पुणो वि जिणदिट्ठे ।
अंजलिमत्थे तिन्नि, उ, साहुणो अहिगमा नेआ ॥९॥
पूयणनिमित्तँ वज्जं, सावज्जं सावओ वि जयणाए ।
उत्तरसंगं वीअं, तिन्नि य सेसाणि साहु व्व ॥ १० ॥
अकसिणपवत्तगाणं, दव्वत्थं सविहि पुव्वमक्खायं ।
तेणेह सचित्ताणं, अच्चाओ अत्थि लाहस्स ॥ ११ ॥
तंबोलभत्तपाण-सयणउवाणहजुयं च निट्ठिवणं ।
मेहुणमुत्तुच्चारं, वज्जइ जिणगेहसीमासु ॥ १२ ॥
काऊण पयाहीणं, भूमिँ पमज्जइ सुहेण जोएण ।
भणई इरियाविहिअं, उस्सग्गो जाव लोगस्स ॥ १३ ॥
दो जाणू दोन्नि करा, पंचमगं होइ उत्तमंगं तु ।
पणिवाओ पंचंगो, भणिओ सुत्तट्ठदिट्ठीहिं ॥ १४ ॥
पणामत्तियं किच्चा, भणई सुत्तत्थ संथवणं ।
दाहिणजाणुणि तओ, ठवेइ भूभागदेसम्मि ॥ १५ ॥
सजलनयणो य पडिमा, पिक्खइ इग(गा)दाहिणे पासे ।
भाव विसुद्धीइ भणइ, सक्कथयं जोगमुद्दासु ॥ १६ ॥
अन्नोन्नंतरि अंगुलि, कोसागारेहिँ दोहिं हत्थेहिं ।
पिट्ठोवरि कोप्पर सं-ठिएहिँ जह जोगमुद्द त्ति ॥१७॥
महुरक्खुणिमक्खलिअं, संपत्तं मुक्ख जाव जे अ जिणा ।
ठवणावंदणहेऊ, भावविसुद्धीसुइह(राओ)याओ ॥१८॥
काऊण उड्ढकायं, अरिहंतचेइअदंडयं पढई ।
वंदणयाइफलट्ठे, उस्सग्गो (पुण) होइ जिणमुद्दा ॥१९॥
चत्तारि अंगुलाइं, याउ पुरो हीणपच्छिमो जत्थ ।
वित्थारे जिणमुद्दा, उवओगट्ठं अणुट्ठाणं ॥ २० ॥
उगणीसदोसवज्जं, झाणट्टरुद्दविमुक्कसज्झाणं ।
विग्गोसग्गे ठिच्चा, अट्ठुस्सासा जहन्नेणं ॥ २१ ॥
पूरइ णमुयारेणं, एगो सुद्धक्खरेण संथुत्ति ।
एगसिलोगिय अहवा, वट्टंति य मूलणाहस्स ॥ २२ ॥
निउणोवमाइ कित्ति, सब्भूअगुणासु जे अलंयारा ।
ललियक्खरेण पएणं, सरेण वड्ढेण सा थुत्ति ॥ २३ ॥
अन्ने सुणंति सव्वे, एगग्गमणा उसग्गमज्झम्मि ।
झायंति धम्मसुक्कं, तस्सट्ठ धरंति वा एगे ॥ २४ ॥
नामत्थयं च पच्छा, कट्टइ समग्गसुवन्नअक्खलिओ ।
सव्वं लोए अरिहं-तचेइयाणं समग्गं वि ॥२५॥(वंद०)
मुत्तासुत्तियमुद्दा, धरेइ सुहजोगसंपन्ना ॥ २९ ॥
दो वि हत्था उ सुसमा, उन्नयसुत्तीव संठिया मज्झे ।
मुत्तासुत्तियमुद्दा , ललाडदेसेसु सा किच्चा ॥ ३० ॥

१-स्तुतिवक्तव्यता 'थुइ' शब्दे चतुर्थभागे २४१४ पृष्ठे गता ।

दो पणिहाणा थवणं , सुसरेण सुहोवमाइसंजुत्तं ।
जयवीयरायपाढो , मुद्दापुव्वं च सव्वं वि ॥ ३१ ॥
मुणिवसहा य निरीहा, इच्छा जेसिं वि नत्थि मुक्खस्स ।
कम्मा जायण तेसिं , पुणरुत्तदोसो कहं नत्थि ॥३२॥
नत्थि पुणरुत्तदोसो , भत्तियरागेण भासमाणस्स ।
जिणजायणविवहारो, करेइ तहा वि ण सो दुट्ठो ॥३३॥
उक्कोसा विहि एसा , नवयारेण च जहन्नसंकहिया ।
मज्झिमअणेगभेया, णेया सुत्ताणुसारेणं ॥ ३४ ॥
उभओ कालजिणहरे , उक्कोसा वंदणा य णायव्वा ।
जहन्नो कारणवसओ, पणवारं मज्झिमा दिवसे ॥३५॥
चेइयवंदणविहिणा, करंति जेसिं च णिज्जराविउला ।
अविहिकए पच्छित्तं, उवहाणविणा विनिद्दिट्ठं ॥ ३६ ॥
चेइयहरे न गच्छंति , पमायजोएण साहु सड्ढो वा ।
तस्सम्मत्तं मलिणं , उवएसो तित्थणाहस्स ॥ ३७ ॥
चेइयवंदणभणियं , अह गुरुवंदणँ समासओ वुच्छं ।
तिविहा फिट्टा थोभं, दुवालसावत्तओ णेयं ॥ ३८ ॥
सिरनमणाइसु पढमं , खमासमणदुन्नि दाणओ वीयं ।
वंदणदुगेण तइयं, पडिवत्ती गुणवओ एसा ॥ ३९ ॥
मूलं विणयँ धम्मस्स , पढमा सव्वेसु कारणे हवइ ।
तह वि ह विसिट्ठकज्जे, वीया रयणाधिके तइया ॥४०॥
पञ्चण्हं कायव्वा , पासत्थाणं च नत्थि पंचण्हं ।
वंदणववहारो वि य, णिज्जरहेऊ जिणो दिसति ॥४१॥
गुणनिहिगुरू अभावे, ठवणा ठावंति सुद्धअक्खाणं ।
सब्भावमसब्भावं, दुविहाऽऽवकहा य इत्तरिया ॥४२॥
रत्ते अक्खे नीला-रेहे सा णीलकंठणामाणं ।
बहु सुह विज्जा आउ , वट्टइ ठवणा न संदेहो ॥ ४३॥
मोहणयादिसु रत्ता, अद्धरत्ताद्धयी य सा ठवणा ।
कुट्ठं फेडइ अत्थि , दुहनासणी य अइरम्मा ॥ ४४ ॥
सुक्का य सव्ववाहि , सूलरोगहरा मुणेयव्वा ।
नीली हलिद्द तिलया,विसहरणी सुहा सुघयवन्नी ॥४५॥
इगदुतियण यावत्ता, गुआइरोगा विसं भयं हंति ।
चउआवत्ता णिट्ठा, संता वत्ता सुहा णेया ॥ ४६ ॥
मंतक्खरेण वासो, किच्चा ठवणा य याव कहिया वा ।
पुव्वुत्तरासु दिसासु, ठाइत्ता उग्गहो जाव ॥ ४७ ॥
आसायणपरिहारो, विणयविउत्तं सुहेण जोएण ।
इरियाविहियं पुव्वं, करेइ संविग्गचित्तेण ॥ ४८ ॥
पडिलेहइ मुहपोत्तिं, वंदण अणुजाणहाइ सव्वं पि ।
गोसे पच्चक्खाणं, वंदणचउ थोभसिज्झायं ॥४९॥
सेसे दिवसे वि पुणो, वंदित्ता चरिमवंदणा सव्वं ।
खमावइत्ता जीव-रासिं समभावनासहिओ ॥ ५० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अणया वंदणविहिणा, वंदंतो तस्स णिज्जराणंता ।
अविहिकए पच्छित्तं, अवंदिए तह विसेसेणं ॥ ५१ ॥
किइकम्म करंतो वि य,ण होइ तह वि ह सणिज्जराभागं ।
पणवीसा मन्नयरं, विराहइ द्वाण जो साहू ॥ ५२ ॥
अणाइ निहणे लोए, अविहिअणुट्ठाणवसेण जीवोवि ।
भमिओ अणंतकालं, तम्हा भासंति विहिमग्गं ॥ ५३ ॥
आलोइऊण एवं, सव्वं पुव्वावरेण किरिया वि ।
विहिणा उकिरमाणं, लहेइ मुक्खं न संदेहो ॥ ५४ ॥
वंदणपयरण एसो, समयाओ विहियवायपुव्वाओ ।
संखेवेणुद्धरिओ, रइओ मुणिभद्दबाहुणा एसो ॥ ५५ ॥
वंद० ।

वन्दनकावसरे गुरुपादचिन्तनं क विधेयम्—?, वन्दनकावसरे मुखवस्त्रिकायां रजोहरणे वा यत्र वन्दनकं ददाति, तत्र गुरुपादौ चिन्तयति ॥ ३ ॥ ही० २ प्रका० । वन्दनकावसरे मुखवस्त्रिका कुत्र मुच्यते—?, वन्दनकावसरे मुखवस्त्रिका साधुभिर्वामजानुनि मुच्यते, श्रावकैस्तु गुरुपादयोर्वन्दनावसरे जानुनि,अन्यथा तु भूमौ रजोहरणे वेति ॥४॥ ही० २ प्रका० । अष्टापदगिरौ स्वकलब्ध्या ये जिनप्रतिमा वन्दन्ते ते तद्भवसिद्धिगामिन इत्यक्षराणि सन्ति, तथा च सति ये विद्याधरयमिनस्तथा राक्षसवानरचारणभेदभिन्ना अनेके ये तपस्विनस्तत्र गन्तुं शक्तास्तेषां सर्वेषामपि तद्भवसिद्धिगामित्वमापद्यते, ततः सा का लब्धिर्यया तत्र गमने गौतमादिवत्तद्भवसिद्धिगामिनो भवन्तीति ।११। ही०१प्रका०। श्रावको वन्दनकानि ददत् मुखवस्त्रिकया गुरुपादं प्रमार्जयति तदाऽऽशातना लगति न वा? इति प्रश्नः,अत्रोत्तरम्—मुखवस्त्रिकया गुरुपादप्रमार्ज्जने आशातना ज्ञाता नास्ति, प्रत्युत तत्प्रमार्जनं युज्यते, यथा-शिष्या गुरुपादौ रजोहरणे न प्रमार्ज्जयन्ति तद्वदिदमपि ज्ञेयमिति ॥१०८॥ सेन०३ उल्ला०। श्राद्धाः प्रतिक्रमणं कुर्वाणा वन्दनकदानावसरे किं मुखवस्त्रिकां शुद्धभूमौ मुञ्चन्ति ? किमुत पादप्रोञ्छनोपरि मुखवस्त्रिकां मुक्त्वा वन्दनकानि ददति ? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—प्रतिक्रमणं कुर्वाणाः श्राद्धा वन्दनकदानावसरे मुखवस्त्रिकां शुद्धभूमौ रजोहरणोपरि वा मुञ्चन्ति नान्यत्रेति विधिरिति ॥ ६६ ॥ सेन० १ उल्ला० । साध्वीनां कालिकयोगक्रियायां श्रावकदत्तानि वन्दनकानि शुद्ध्यन्ति न वा ?, इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—साध्वीनां कालिकयोगक्रियायां श्राद्धदत्तानि वन्दनकानि शुद्ध्यन्तीति वृद्धाः ॥ ६१ ॥ सेन० ३ उल्ला० । कृष्णेनाऽष्टादशसहस्रसाधूनां वन्दनकानि दत्तानि तानि किं लब्ध्या, अन्यथा वा ?, यदि लब्ध्या तदा वीरासालविकस्यापि तथैवान्यथा वा?इति प्रश्नः,अत्रोत्तरम्—कृष्णेन सहस्रादिपरिवारसहितथावच्चापुत्रादीनामग्रेसराणां वन्दनकानि दत्तानि, तदनुयायिसमस्तपरिवारस्यापि तानि समागतान्येव, ततो मनसा त्वष्टादशसहस्रसाधूनां दत्तान्येव, यदीत्थं न कथ्यते तदा वेला न प्राप्नोति, यतो दिनमानं तदा महच्चाभूत्तथा कृष्णस्यापि वन्दनकदानलब्धिर्ज्ञाता नास्ति, तस्माद्वीरासालविकस्य वन्दनकदानं न काऽप्याशङ्केति ध्येयम् ॥ ११६ ॥ सेन० ३ उल्ला० । सामायिकादिषु उपवस्त्रमध्ये सन्ध्याप्रतिलेखनायां मुखवस्त्रिकां प्रतिलिख्य प्रत्याख्यानं क्रियते, एकाशनादिप्रत्याख्याने च वन्दनकानि दत्त्वा तत् क्रियते, तत्कथम् ? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—समाचारीप्रभृतिग्रन्थेषु भोजनदिवसे वन्दनकानि दत्त्वा प्रत्याख्यानं क्रियते इत्यक्षराणि सन्ति, उपवस्त्रदिवसे वन्दनकाधिकारो नास्ति, मुखवस्त्रिका तु प्रतिलिख्यते यतस्तां विना प्रत्याख्यानं न शुद्ध्यतीति सामाचार्यस्ति, तथोपधानमध्येऽपि तथैव प्रत्याख्यानं कार्यत इति ॥१३६॥ सेन० ४ उल्ला० । (देवान् वन्दित्वा क्षमाश्रमणानि संबद्धानि नवेत्यादि प्रश्नः , उत्तरञ्च-' खमासमण ' शब्दे तृतीयभागे ७१५ पृष्ठे गतम् ।) ' आयरियउवज्झाए ' इत्यादिगाथात्रयं केचन न पठन्ति, वदन्ति च योगशास्त्रवृत्तौ " काऊण वंदणं तो " इत्यत्र श्राद्धानामेव प्रोक्तमस्ति न यतीनामिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—योगशास्त्रवृत्तिजीर्णपुस्तकपट्कं विलोकितम् , तत्र सर्वत्रापि ' काऊण वंदणं तो ' इति गाथायाः पाठः ' सढो ' इति पदेनैव संयुक्तो दृश्यते, तत्र-अशठा इति व्याख्यानेन साधुश्राद्धयोः समानमेवावश्यककर्तव्यं दृश्यते तथापि भावदेवसूरिकृतसमाचार्या अवचूर्णावेतद्गाथात्रयं केषांचिन्मते साधवो न पठन्तीति प्रोक्तमस्ति तन्मतान्तरम् ॥ १४५ ॥ सेन० ३ उल्ला० । उद्घाटितमुखजल्पने ईर्यापथिकी समायाति वन्दनकदानावसरे तु कथं नायाति ? इति प्रश्नः , अत्रोत्तरम्—वन्दनकदानावसरे विधिसत्यापनार्थमुद्घाटितमुखस्याऽपि जल्पतः प्रमादाभावान्नैर्यापथिकी समायातीति ध्येयम् ॥ ४३० ॥ सेन० ३ उल्ला० । दिगम्बरादिप्रासादे आत्मीयाचार्यप्रतिष्ठितप्रतिमाऽस्ति सा वन्द्यते न वा ? इति प्रश्नः , अत्रोत्तरम्—सा एकान्ते वन्द्यते , परं तत्समुदायमध्ये वन्दनं कुर्वतस्तन्मतास्थिरीकरणं यथा न भवति तथा करोति द्रव्यक्षेत्रकालादिकं विचार्य इति ॥ ४३६ ॥ सेन० ३ उल्ला० । पूर्वनिष्पन्नं जिनगृहं कदाचित्किञ्चित्पतितं तावन्मात्रं द्रव्यलिङ्गिद्रव्येण कृतं तत्रस्थप्रतिमा वन्द्यते न वा ? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—तत्रस्थजिनप्रतिमा वन्द्यते इति ज्ञायते ॥ ६२ ॥ सेन० ४ उल्ला० । साध्वी केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं छद्मस्थसाधून् वन्दते न वा ? इति प्रश्नः , अत्रोत्तरम्—केवलज्ञानवति साध्वी छद्मस्थसाधून् न वन्दते , यतः केवली ज्ञातस्सन् छद्मस्थसाधून् वन्दते इत्येवं शास्त्रे न दृश्यते तथा केवलज्ञानवतीनां छद्मस्थसाधुर्वन्दते इत्यपि सम्भवन्नास्ति, यतः पुरुषः स्त्रियं वन्दते तदा लौकिकमार्गे अनुचितं दृश्यते , परमार्थतस्तु केवली सर्वेषां वन्दनीय एवेति ॥ ४० ॥ सेन० ४ उल्ला० । यत्सम्बन्धिप्रतिष्ठितं जिनबिम्बं वन्द्यं, तर्हि, ते कथं न वन्द्या ? इति प्रश्नः , अत्रोत्तरम्—" पासत्थो ओसण्णो , कुसीलसंसत्तओ अहाच्छंदो । दुग दुग ति दु णेगविहा , अवंदणिज्जा जिणमयम्मि ॥ १ ॥ " इत्यादिवचनात्तेषामवन्द्यत्वम् , प्रतिमानां त्वन्यतीर्थिकपरिगृहीतप्रतिमाव्यतिरेकेणान्यासां वन्द्यत्वमस्तीति ॥ १३० ॥ अभिनिवेशमिथ्यादृक्प्रतिष्ठितं जिनबिम्बं वन्द्यतां प्राप्तं तत्र किं बीजम् ? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—आत्मपूर्वसूरिभिस्तद्वन्दनादौ अनिवारणमेव बीजम् , किञ्च-शा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रेऽभिनिवेशमिथ्यादृष्टित्वं निह्नवानां प्रोक्तम्, साम्प्रतीनास्तु मतिनो दिगम्बरं विहाय निह्नवा इति न व्यवह्रियन्ते, तथैव गुर्वादीनामाज्ञासद्भावादिति ॥१३१॥ सेन० २ उल्ला०। पौषधदिने श्राद्धः प्रतिक्रमणं कृत्वा देवान् वन्दित्वा पश्चात् पौषधं करोति तथा कृतः पौषधः शुद्ध्यति न वा? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—पौषधं कालवेलायां कृत्वा प्रतिक्रमणं च कृत्वा देवान् वन्दत इति विधिः कालातिक्रमादिकारणवशात्तु पूर्वं देवान् वन्दित्वा पश्चात्पौषधं गृह्णातीति ॥ १२४ ॥ सेन० ३ उल्ला०। साधूनां सप्त चैत्यवन्दनानि प्रोक्तानि तेषां मध्ये प्रतिक्रमणयोर्द्वे चैत्यवन्दने कुत्र स्थाने क्रियेते? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-प्राभातिकप्रतिक्रमणे 'इच्छामो अणुसट्ठिं' इति कथनानन्तरं यद्देववन्दनं क्रियते तत्रैकं चैत्यवन्दनम्, सन्ध्याप्रतिक्रमणे तु दैवसिकप्रतिक्रमणस्थापनादर्वाग् यद्देववन्दनं क्रियते तच्चैत्यवन्दनं द्वितीयमित्यक्षराणि सङ्घाचारवृत्तौ सन्तीति ॥१२६॥ सेन० ३ उल्ला०। पौषधिकेन जिनालये गत्वा प्रहरे सार्द्धप्रहरे वा देवा वन्दितास्तस्य कालवेलायां पुनर्देववन्दनं युज्यते न वा? इति प्रश्नः,अत्रोत्तरम्-येनाऽकाले देवा वन्दितास्तस्य कालवेलायां पुनर्देववन्दनं युज्यते यतः कालवेलाकार्यं कालवेलायामेव कर्त्तव्यम्, परम्पराऽप्येवमेव दृश्यत इति ॥ १२० ॥ सेन० ३ उल्ला०।

वंदणकम्म-वन्दनकर्मन्-न०। 'वदि' अभिवादनस्तुत्योः, इत्यस्य वन्द्यते स्तूयतेऽनेन प्रशस्तमनोवाक्कायव्यापारनिकरेण गुरुरिति वन्दनं तदेव कर्म वन्दनकर्म। कृतिकर्मकरणे, प्रव० २ द्वार।

वंदणकलस-वन्दनकलश-पुं०। माङ्गल्यघटे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आ० म०।

वंदणग-वन्दनक-न०। वन्द्यन्ते पूज्या गुरवोऽनेनेति वन्दनं तदेव वन्दनकम्, स्वार्थे कन्। प्रव० १ द्वार। आचार्यादिप्रतिपत्तौ, वन्दनकमपि षण्णामावश्यकानामन्यतमं साधोरवश्यकार्यम् श्रावकस्यापि कर्त्तव्यम्। गुणवत्प्रतिपत्तिरूपत्वात्। तस्य गुणवत्प्रतिपत्तेश्च श्रावकस्याप्यविरुद्धत्वात्। ध० २ अधि०। आ० म०। गुणवत्प्रतिपत्तिप्रधाने अध्ययनविशेषे, पा०। ध०। आ० चू०। आव०।

वंदणघड-वन्दनघट-पुं०। वन्दनकलशे, आ० म० १ अ०।

वंदणपइण्णय-वन्दनप्रकीर्णक-न०। गुरुदेववन्दनवक्तव्यताके भद्रबाहुस्वामिकृते स्वनामख्याते प्रकीर्णकग्रन्थे, वन्द०।

वंदणवत्तिया-स्त्री०। वन्दनप्रत्यय-न०। वन्दनं प्रशस्तमनोवाक्कायप्रवृत्तिस्तत्प्रत्ययं-तन्निमित्तम्। वन्दनार्थे, "वन्दणवत्तियाए करेमि काउस्सग्गं" यादृक् वन्दनात् पुण्यं स्यात्तादृक्कायोत्सर्गः कार्यः। प्रति०। औ०। रा०। दश०।

वंदणविहि-वन्दनविधि-पुं०। चैत्यवन्दनाविधौ, सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

वंदणसुद्धि-वन्दनशुद्धि-स्त्री०। अस्खलितप्रणिपातादिदण्डकसमुच्चारणासम्भ्रान्तकायोत्सर्गादिकरणे, ध० २ अधि०।

वंदणिज्ज-वंदनीय-त्रि०। वन्द्यन्ते स्तूयन्तेऽभिवाद्यन्ते च भक्तिभरनिर्भरान्तःकरणैः सुरासुरनरनायकगणैर्ये ते वन्दनीयाः। सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०। स्तुत्येषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। औ०। उपा०। स्तोतव्ये, तं०। त्रिविधयोगेन सम्यक्स्तुते, ध० २ अधि०। कर्म०। ल०। कल्प०। आव०। ज्ञा०। भ०।

वंदणीओदय-वन्दनीयोदक-न०। आचमनोदकप्रवाहभूमौ, "णो गाहावतिस्स वंदणीओदयं पविट्ठेज्जा" आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०।

वंदारय-वृन्दारक-पुं०। देवे, "अमरा तियसा वंदा-रया य विबुहा सुरा देवा" पाइ० ना० २२ गाथा।

वंदि-वन्दिन्-त्रि०। स्तुतिपाठोपजीविनि, सूत्र० १ श्रु० १७ अ०।

वंदिऊण-वन्दित्वा-अव्य०। नमस्कृत्येत्यर्थे, चं० प्र० १ पाहु०।

वंदित्तए-वन्दितुम्-अव्य०। अभिवादनं कर्तुमित्यर्थे, प्रति०। उपा०। स्था०। रा०।

वंदित्तु-वन्दित्वा-अव्य०। 'वदि' अभिवादनस्तुत्योरित्यर्थद्वयाभिधायी धातुः। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। "क्त्वस्तुमत्तूण—तुआणाः" ॥८।२।१४६॥ इति क्त्वास्थाने तुम् आदेशः। वन्दित्तु इत्यनुस्वारलोपात्। प्रा०। अभिवाद्य स्तुत्वा चेत्यर्थे, ओघ०। ध०। "काऊण सामईयं, इरिअं पडिक्कमिय गमणमालोए। वंदित्तु सूरिमाई, सज्झायावस्सयं कुणई" ॥१॥ इति श्राद्धदिनकृत्य—१३१ गाथायाः कोऽर्थः? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—गाथाया अर्थो वृत्तौ सुप्रसिद्ध एव, यत्तु सूत्रपाठमात्रेण सामायिकानन्तरमैर्यापथिकीप्रतिक्रमणं प्रतिभाति तत्र सविस्तराण्यावश्यकचूर्ण्यक्षराण्यनुसरणीयानि येन संशयापनोदो भवति, सर्वेषामेवंविधपाठानां तन्मूलकत्वादिति ज्ञायते ॥ २२५ ॥ सेन० ३ उल्ला०।

वंदित्तुसुत्त-वन्दित्तुसूत्र[1]-न०। वन्दित्तुशब्दादिके श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रे, ही० १ प्रका०। प्रति०। (सद्दालपुत्रकुम्भकारकृतप्रतिक्रमणसूत्रमिति प्रघोषः। सत्यो नवा? कस्य कृतिर्वा सा? इति प्रश्नस्योत्तरम्, 'पडिक्कमण' शब्दे पञ्चमभागे ३१७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्।)

वंदित्तुवित्ति-वन्दित्तु[1]वृत्ति-स्त्री०। श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रवृत्तौ, सेन०। वन्दित्तुवृत्तौ 'संका कंखा' इति गाथावृत्तौ एकोनाशीतिमिथ्यात्वस्थानकेषु षट्षष्टितमस्थाने सर्वमासेषु वा तासूपवासादीनि सर्वास्वेकादशीषु उपवासकरणे कथं मिथ्यात्वम्? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—चतुर्दश्यष्टमीज्ञानपञ्चमीषु नियततपोदिनेषु उपवासमकृत्वा यदि सर्वास्वेकादशीषु उपवासं करोति तदा मिथ्यात्वस्थानं भवतीति ज्ञायते इति ॥ ३५३ ॥ सेन० ३ उल्ला०।

वंदिम-वन्द्य-त्रि०। वन्दनीये, "जया य वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो" यदा वन्द्यो भवति श्रमणपर्यायस्थो नरेन्द्रादीनाम्। दश० १ चू०।

वंदिय-वन्दित-त्रि०। गुणस्तुतिकरणेन नमनीये, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

वंफ—काङ्क्ष—धा०। गार्ध्ये, "काङ्क्षेराहाहिलङ्घाहिलङ्खवच्च—वंफ—मह—सिह—विलुंपाः" ॥ ८।४।१९२ ॥ इति काङ्क्षतेर्वम्फादेशः। प्रा०। "ण वंफेज्ज" नाभिलषेत्। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

---

[1] १-अनुकरणत्वेन 'वन्दित्तु' इत्यनुवादः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वंफिश्र–काङ्क्षित–त्रि०। कवलिते, " घत्थं कवलिश्रं श्र-सिश्रं विलुंपिश्रं वंफिश्रं खइश्रं " पाइ० ना० ७७ गाथा। भुक्ते, दे० ना० ७ वर्ग ३५ गाथा।

वंस–वंश–पुं०। परम्परयोत्पत्तिप्रवाहे, विशे०। श्रा० म०। प्रज्ञा०। क्रमभाविपूर्वपुरुषप्रवाहे, नं०। पुत्रपौत्रादिपरम्परायाम्, स्था० १० ठा० ३ उ०। अन्वये, संथा०। सन्ताने, स्था० ६ ठा० ३ उ०। हरिवंशादिके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। वेणौ, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। प्रश्न०। औ०। आचा०। छित्त्वराधारभूते, भ० ८ श० ६ उ०। महति पृष्ठवंशे, रा०। " जोई रसमया वंसकवेल्लुका य " जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। वाद्यभेदे, नं०। आचा०। प्रश्न०। " अट्ठसयं वंसाणं अट्ठसयं वंसवायगाणं" रा०। वेणौ, " वंसो वेणू वेलू य " पाइ० ना० १४४ गाथा।

जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगमेगाते श्रोसप्पिणी उस्सप्पिणीए तश्रो वंसाश्रो उप्पज्जिंसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा, तं जहा–अरिहंतवंसे, चक्कवट्टिवंसे, दसारवंसे २१, एवं० जाव पुक्खरवरदीवद्धपच्चत्थिमद्धे २५। (सू०–१४३×) स्था० ३ ठा० १ उ०।

वंसकरिल्लय–वंशकरीलक–न०। कोमलाभिनववंशावयवविशेषे, रा०।

वंसकवेल्लुय–वंशकवेल्लुक–न०। उभयतस्तिर्यक्स्थाप्यमाने वंशे, रा०। जी०।

वंसग–व्यंसक–पुं०। व्यंसयति परं व्यामोहयति शकटतित्तिरीग्राहकधूर्तवद् यः स व्यंसकः। दुर्हेतुभेदे, स्था०। तथाहि–कश्चिदन्तरालब्धमृततित्तिरीयुक्तेन शकटेन नगरं प्रविष्टः, उक्तो धूर्तेन, यथा–शकटतित्तिरी कथं लभ्यते?, स च किलायं शकटसत्कां तित्तिरीं याचत इत्यभिप्रायादवोचत् तर्पणालोडिकयेति, सक्त्वालोडनेन जलाद्यालोडितसक्तुभिरित्यर्थः, ततो धूर्त्तः साक्षिण आहूय सतित्तिरीकं शकटं जग्राह,उक्तवांश्च मदीयमेतद्, अनेनैव शकटतित्तिरीति दत्तत्वात्, मया तु शकटसहिता तित्तिरी शकटतित्तिरीति गृहीतत्वादिति, ततो विषण्णः शाकटिक इति,अत्रोक्तम्–" सा सगडतित्तिरी वंसगम्मि हेउम्मि होइ नायव्वा " इति, स चैवम्–अस्ति जीवोऽस्ति घट इत्यभ्युपगमे जीवघटयोरस्तित्वमविशेषेण वर्त्तत ततस्तयोरेकत्वं प्राप्तमभिन्नशब्दविषयत्वादिति व्यंसको हेतुः, घटशब्दविषयघटस्वरूपवत्, अथाऽस्तित्वं जीवादौ न वर्त्तते ततो जीवाद्यभावः स्यादस्तित्वाभावादिति व्यंसकः प्रतिवादिनो व्यामोहकत्वादिति। स्था० ४ ठा० ३ उ०। नि० चू०। दश०।

साम्प्रतं व्यंसकमाह–

सा सगडतित्तिरीवं–सगम्मि हेउम्मि होइ नायव्वा।

अस्य व्याख्या–सा शकटतित्तिरी व्यंसकहेतौ भवति, ज्ञातव्येत्यक्षरार्थः॥ भावार्थः कथानकाद्–वसेयः, तच्चेदम्–" जहा एगो गामिल्लगो सगडं कट्ठाण भरेऊण नगरं गच्छइ, तेण गच्छंतेण अंतरा एगा तित्तिरी मइया दिट्ठा, सो तं गिण्हेऊण सगडस्स उवरिं पक्खिविऊण नयरं पविट्ठो, सो एगेण नयरधुत्तेण पुच्छिश्रोकहं सगडतित्तिरी लब्भइ?, तेण गामिल्लएण भण्णइ तप्पणादुयालियाए लब्भति, तश्रो तेण सक्खिण उश्राहणित्ता सगडं तित्तिरीए सह गहियं, एत्तिलगो चेव किल एस वंसगु त्ति, गुरवो भणंति–ततो सो गामेल्लश्रो दीणमणसो अच्छइ, तत्थ य एगो मूलदेवसरिसो मणुस्सो आगच्छइ, तेण सो दिट्ठो, तेण पुच्छिश्रो किं झियायसि अरे देवाणुप्पिया!?, तेण भणियं–अहमेगेण गोहेण इमेण पगारेण छलिश्रो, तेण भणियं–मा बीहिह, तप्पणा दुयालियं तुमं सोवयारं मग्ग, माइट्ठाणं सिक्खाविश्रो, एवं भवउ त्ति भणिऊण तस्स सगासं गश्रो, भणियं चऽणेण–मम जइ सगडं हियं तो मे इयाणिं तप्पणा दुयालियं सोवयारं दवावेहि, एवं होउ त्ति, घरं णीश्रो महिला संदिट्ठा, अलंकितविभूसिया परमेण विणएण एश्रस्स तप्पणा दुयालियं देहि सा वयणसमं उवट्ठिया, तश्रो सो सागडिश्रो भणति–मम अंगुली छिन्ना इमा चीरेणावेढिया ण सक्केमि उद्धुयालेउं, तुमं अदुयालिउं देहि, अदुश्रालिया तेण हत्थेण गहिया गामं तेण संपट्ठिश्रो, लोयस्स य कहेति–जहा मए सतित्तिरिगेण सगडेण गहिया तप्पणादुयालिया, ताहे तेण धुत्तेण सगडं विसज्जियं, तं च पसाएऊण भज्जा णियत्तिया, एस पुण लूसश्रो चेव कहाणयवसेण भणिश्रो। एस लोइश्रो, लोगुत्तरे वि–चरणकरणाणुयोगे कुस्सुतिभावियस्स तस्स तहा वंसगो पउज्जति जहा सम्मं पडिवज्जति। दव्वाणुश्रोगे पुण कुप्पावयणिश्रो चोइज्जा, जधा–जति जिणपणीए मग्गे अत्थि जीवो अत्थि घडो, अत्थित्तं जीवे वि, घडे वि, दोसु वि अविसेसेण वट्टइ त्ति, तेण अत्थित्तसद्दतुल्लत्तणेण जीवघडाणं एगत्तं भवति। अह अत्थि भावाश्रो वतिरित्तो जीवो, तेण जीवस्स अभावो भवइ त्ति एस किल एद्दहमेत्तो चेव वंसगो, लूसगेण पुण एत्थ इमं उत्तरं भाणियव्वं–जदि जीवघडा अत्थित्ते वट्टंति तम्हा तेसिमेगत्तं संभावेहि, एवं ते सव्वभावाणं एगत्तं भवति, कहं?, अत्थि घडो अत्थि पडो अत्थि परमाणू, अत्थि दुपएसिए खंधे, एवं सव्वभावेसु अत्थि भावो वट्टइ त्ति काउं किं सव्वभावा एगी भवन्तु, एत्थ सीसो भणति–कहं पुण एतं जाणियव्वं?, सव्वभावेसु अत्थिभावो वट्टति, ण य ते एगीभवंति। आयरिश्रो आह–अणेगंताश्रो एतं सिज्झइ इत्थ दिट्ठंतो–खइरो वणस्सती,वणस्सई पुण खदिरो,पालासो वा, एवं जीवो वि णियमा अत्थि, अत्थिभावो पुण जीवो व होज्ज अन्नो वा धम्माधम्मागासादीणं"ति। उक्तो व्यंसकः। दश० १ अ०।

वंशक–पुं०। दण्डके, दण्डकाकुट्टणे, पं० व० ४ द्वार। जं०।

वंसप्फाल–देशी–प्रकटे ऋजौ,चुल्लीमूले,दे०ना०७वर्ग४८गाथा।

वंसा–वंशा–स्त्री०। शर्कराप्रभायां नरकपृथिव्याम्, तृतीयनरकपृथिवी हि गोत्रेण शर्करप्रभा नाम्ना वंशा। जी० ३ प्रति० १ अधि० १ उ०। स्था०।

वंसालय–वंशालय–पुं०। वैताढ्यनगे उत्तरश्रेण्यां स्वनामख्याते नगरे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। श्रा० चू०।

वंसिश्र–व्यंसित–त्रि०। छलिते, अनर्थप्राप्ते,ज्ञा०१ श्रु०१३अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वांशिक-पुं० " मांसादिष्वनुस्वारे " ॥ ८ । १ । ७० ॥ इति आतोऽत् । वंशवादनशीले, प्रा० १ पाद ।

वंसी-वंशी-स्त्री० । मुरलिकाख्ये वाद्यभेदे, बृ० २ उ० ।

वांशी-स्त्री० । वंशकरीलनिष्पन्ने सुराभेदे, बृ० २ उ० । आ० म० । औ० ।

वंसीकलंका-वंशीकलङ्का-स्त्री० । वंशजालमय्यां वृत्त्याम् , ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । नि० । आ० चू० ।

वंसीणहिया-वंशीनखिका-स्त्री० । कुहणाख्यवनस्पतिभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

वंसीपत्तिया-वंशीपत्रिका-स्त्री० । वंश्या वंशजात्याः पत्रकमिव या सा वंशीपत्रिका । योनिभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या ' जोणि ' शब्दे चतुर्थभागे १६५२ पृष्ठे दर्शिता ।)

वंशीपासाय-वंशीप्रासाद-पुं० । वंशगहनं तदुपलक्षितं प्रासादं वंशीप्रासादम् । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यतः प्रचलितस्य ब्रह्मदत्तचक्रिणः समकटकान्तरवर्तिन्यामटव्यां तृडतिशयः संजातः । उत्त० १३ अ० ।

वंशीमुहा-वंशीमुखा-स्त्री० । द्वीन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

वंसीमूल-वंशीमूल-न० । गृहाद् बहिः स्थिते अलन्दकादिके , बृ० २ उ० । स्था० । (अत्र व्याख्या 'वसहि' शब्दे अस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्या)

वकुल-वकुल-पुं० । केसरे, यः स्त्रीमुखसीधुसिक्तो विकसति० । जं० ३ वक्ष० ।

वकुस-वकुश-पुं० । शबलचारित्रे निर्ग्रन्थे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । उत्त० ।

वक्क-वाक्य-न० । वचने, दश० ।

वाक्यनिक्षेपाभिधानायाह—

निक्खेवो अ (उ) चउक्को, वक्के दव्वं तु भासदव्वाइं ।
भावे भासासद्दो, तस्स य एगट्ठिआ इणमो ॥२६९॥

निक्षेपस्तु चतुष्को नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणो वाक्ये-वाक्यविषयः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे , ' द्रव्यं ' तु—द्रव्यवाक्यं पुनर्ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं भाषाद्रव्याणि भाषकेण गृहीतान्यनुच्चार्यमाणानि, भाव इति भाववाक्यम् , भाषा-शब्दः—भाषाद्रव्याणि शब्दत्वेन परिणतान्युच्चार्यमाणानीत्यर्थः । तस्य तु वाक्यस्य एकार्थिकानि अमूनि वक्ष्यमाणलक्षणानीति गाथार्थः ॥ दश० ७ अ० २ उ० । (तानि एकार्थिकानि ' भासा ' शब्दे पञ्चमभागे १५२२ पृष्ठे गतानि ।)

वल्क-पुं० । त्वचि, स्था० १० ठा० ३ उ० । आचा० ।

वक्र-त्रि० । कुटिले, आ० क० १ अ० । पो० ।

वक्कंत-व्युत्क्रान्त-त्रि० । उत्पन्ने,कल्प० १ अधि०१ क्षण । ज्ञा०।

वक्कंति-व्युत्क्रान्ति-स्त्री० । उत्पत्तौ, स्थानात्प्राप्तस्योत्पादे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । निष्क्रमणे, प्रज्ञा० १ पद । स्था० । प्रज्ञापनायाः षष्ठे पदे,व्युत्क्रान्तिलक्षणाधिकारयुक्तत्वात्तस्य । प्रज्ञा० १ पद । स्था० । भ० ।

वक्ककर-वाक्यकर-पुं० । गुरुनिर्देशकरणशील, " वाइओ वायवं वक्ककरे सपुज्जो" दश० ६ अ० ३ उ० ।

वल्ककर-पुं० । चर्मकारे, आव० ४ अ० ।

वक्कगय-वाक्यगत-न० । वाक्ये वचनरचनात्मनि गतं वाक्यगतम् । उत्त० पाई० १ अ० । वाक्यविषये, उत्त० १ अ० ।

वक्कत्थमेत्तविसय-वाक्यार्थमात्रविषय-पुं० । सकलशास्त्रगतवचनाविरोधिनिर्णीतार्थे वचनं वाक्यं तस्यार्थमात्रं प्रमाणं नयाधिगमरहितं तद्विषयस्तद्गोचरो, वाक्यार्थमात्रविषयः । केवलवाक्यार्थगोचरे, षो० ११ विव० ।

वक्कबंध-वल्कबन्ध-पुं० । शणप्रभृतिकवल्कलबन्धने, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

वक्कभेय-वाक्यभेद-पुं० । मुख्यविशेषताद्वयप्रयोजके वाक्यस्य तन्त्रेणावृत्त्या वा कल्पिते खण्डद्वये, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

वक्कमाण- व्युत्क्रामत्-त्रि० । उत्पद्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० ।

वक्कय-वल्कज-न० । शणप्रभृतिके, वल्कजाते,आ० म०१ अ०।

वक्कल-वल्कल-न० । " सर्वत्र ल-व--रामचन्द्रे " ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति लकारस्य लुक् । प्रा० । तरुत्वचि, प्रति० । ऋषीणामुपकरणभेदे, भ० ११ श० ६ उ० । सूत्र० । " ताव सरूवं विउव्विता वक्कलं णियत्था" आ०म० १ अ० । वर्धे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

वक्कलचीरि-वल्कलचीरिन्-पुं०। वल्कले स्थापितत्वाद् वल्कलचीरीति । स्वनामख्याते तापसे, तं० । आ० म० । आ० चू० ।

तत्कथानकं चेदम्—

अणुभूते जहा वक्कलचीरिस्स । को य वक्कलचीरी—तेणं कालेणं तेणं समयेणं चंपाणयरीए सुहम्मो गणहरो समोसढो, कोणिओ राया वंदितुं निज्जाते कतप्पणामो य, जंबू (नाम) रूवदंसणविम्हितो गणहरं पुच्छति—भगवं ! इमीसे महईए परिसाए एस सव्वे अतसितो व्व विराइदित्तो मणोहरसरीरो य किं मणे एतेण सीलं सेवितं, तवो वा आचिण्णं दाणं वा दिण्णं , जतो एरिसी तयसंपत्ती । ततो भगवता भणियो-सुणाहि एयं जहा तव पितुणा सेणिएण रणा पुच्छितेण सामिणा कहितं—तेणं कालेणं तेणं समएणं गुणसिलए चेतिए सामी समोसरितो , सेणिओ राया तित्थगरदंसणसमुस्सुओ वंदउं णिज्जाइ, तस्स य अग्गाणीए दुवे पुरिसा कुटुंबसंबद्धं कहं करेमाणा पस्संति एगं साधुं एगचलणपरिट्ठितं समूसवियबाहुजुयलं आतावेंतं, तत्थेक्केण भणितं, अहो एस महप्पा रिसी सूराभिमुहो तप्पति; एतस्स सग्गो मोक्खो वा हत्थगतो त्ति । बितिएण पच्चभिण्णाओ । ततो भणति—किं ण याणसि एस राया पसण्णचंदो । कतो एयस्स धम्मो, पुत्तोऽणेण बालो रज्जे ठवितो सो य मंतीहिं रज्जाओ मोइज्जति । सोऽणेण वंसो विणासिओ । अंतेउरजणो त्रि ण णज्जति किं पाविहिति । तं च से वयणं झाणवाघातं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करेमाणं सुतिपहमुवगतं, ततो सो चिंतितुं पयत्तो अ-होरत्तं, अणजा ते अमच्चा मया संमाणिया निच्चं, पुत्तस्स मे वि पडिवएणा जदि हं होतो एवं च वट्टंतं तो ऐसु नासिते करेंतोमि । एवं च से संकप्पयंतस्स तस्स तं कारणं वट्टमाणमिव जातं । तेहि य समं जुद्धजोणि मणसा चेव काउमारुद्धो । पत्तो य सेणिश्रो राया तं पदेसं, वंदितोऽणेण विणपण पेच्छति । ए झाणनिच्चलत्तं अहो अच्छरीरं तं परिसं तवस्सिसामत्थं रायरिसिणो पसन्नचंदस्स त्ति चिन्तयंतो पत्तो तित्थगरसमीवं, वंदित्ता विणपण पुच्छति—भगवं ! पसएणचंदो अणगारो जम्मि समए ता वंदिश्रो जदि तम्मि समए कालं करेज्ज का से गती भवेज्जा ?, भगवता भणितं—सत्तमपुढविगमणजोग्गो । ततो चिंतेति, साधुणो कहं नरकगमणं ति । पुणो पुच्छति-भगवं ! पसन्नचंदो जइ इदाणिं कालं करेज्ज कं गतिं वच्चेज्जति ?, भगवता भणितं-सव्वट्ठसिद्धिगमणजोग्गो इदाणिं ति । ततो भणति—कहं इमं दुविहं वागरणं ति ? नरगाऽमरेसु तवस्सिणो त्ति । भगवता भणितं-झाणविसेसेण । तम्मि य इमम्मि समए परिसितस्स असातसातकम्मादाणता । सो भणति—कहं ? भगवता भणितं । तव अग्गाणीतपुरिसमुहनिग्गतं पुत्तपरिभववयणं सोतूण उज्झितपसत्थझाणो तुमे वंदिज्जमाणो मणसा जुज्झति तिव्वं पराणीपण समं । तश्रो सो तम्मि समए अहरगतिजोग्गो आसि, तुमम्मि य उवगतजतकरणसत्ति सीसावरणेण पहरामि परं तिलोइते सीसे हत्थं निक्खिवन्तो पडिवुद्धो , अहो अकज्जं कज्जं पयहितूण परत्थे जदि जणविरुद्धं मग्गमवतिएणो त्ति चिंतितूण निंदणगरहणं करेंतो ममं पणमितूण तत्थ गतो चेव आलोइयपडिक्कंतो पसत्थझाणी संपतंतं वऽऐण कम्मं खवितं असुभं, पुराणमज्जितं, तेण कालविभागेण दुविहगतिनिद्देसो । ततो कोणिश्रो पुच्छति—कहं वा भगवं ! बालं कुमारं ठवेत्तेण पसएणचन्दो राया पव्वइतो , सोतुमिच्छं । ततो भणति-पोतणपुरे एगरे सोमचन्दो राया; तस्स धारिणी देवी, सा कदाइ तस्स रएणो श्रोलोयणगतस्स केसे रपति पलितं दट्ठूणं भणति-सामि ! दूतो आगतो त्ति, रएणो दिट्ठी वितारिया ए य पस्सति अपुव्वजणं , ततो भणति—दिवि दिव्वं ते चक्खुती य पलियं दंसितं धम्मदूतो एसो त्ति , तं च दट्ठूण दुम्मणसितो राया । तं नाऊण देवी भणति-लज्जह बुड्ढभावेण निवारिज्जही जिणो, ततो भणति देवी—न एवं, कुमारो बालो असमत्थो पयालणे होज्जति , मे मणं जातं पुव्वपुरिसाणुचिएणेण मग्गेण गतोऽहं ति न निवारितु मं पसन्नचंदं सा रक्खमाणी अच्छसु त्ति । स णिच्छित्ता गमणे । ततो पुत्तस्स रज्जं दाऊण धातिदेविसहितो दिना पेक्खिय भावसत्ताए दिक्खितो, चिरसुएणे आसमपदे ठितो देवीए पुव्वाहूतो गब्भो परिवड्ढति । पसएणचंदस्स य चारपुरिसेहिं निवेदितो । पुएणसमए सूता कुमारं वक्कलेसु ठवितो त्ति वक्कलचीरि त्ति । देवी विसूइया रोगेण मता , वणमहिसीदुद्धेण य कुमारो वड्ढाविज्जति धाती वि थोवेण कालेण कालगता किढिणेण वहति रिसी वक्कलचीरिं प-रिवड्ढितो य लिहिऊणं दंसितो चित्तकारेहिं पसन्नचंदस्स । तेण सिणेहेण गणिका दारियाश्रो रूवस्सिणी खंडमयविविहफलेहिं ए लंभेहि त्ति । पच्छा वि ताश्रो एं फलेहिं मधुरेहिं य वयणेहि य सुकुमालपीणुएणतघणसंपीलसोहिहि य लोभेन्ति, सो कतमसमवाता गमणे जाव अतिगतो सभंडगं संठवेतुं ताव रुक्खारूढेहिं चारपुरिसेहिं तासिं सपा दिपा रिसी आगतो त्ति ताश्रो उत्तमवक्कताश्रो सो तासिं वोधिमग्गुसज्जमाणो ताश्रो अपस्समाणो अणतो गतो, सो अडवीए परिभमंतो रहगतं पुरिसं दट्ठूण तात ! अभिवादयामि त्ति भणंतो रहिणा पुच्छितो, कुमार ! कत्थ गंतव्वं ? सो भणति—पोतणं नाम आसमपदं तस्स य पुरिसस्स तत्थेव च गंतव्वं । तेण समयं वच्चमाणो रधिणा भणितं तात त्ति आलवति तीए भणितो को इमो उवयारो, रधिणा भणितं सुंदरि ! इत्थिविरहिते एएणं एस आसमपदे वड्ढितो ए याणति विसेसं,न से कुप्पतिव्वं, कुमारो य भणति-किं इमे मग्गं वाहिज्जंति ? ततो रथिणा भणितं,कुमार ! एते एतम्मिए चेव कज्जंति । तं एत्थ दोसो तेण वि से मोदगा दिपा । सो भणति—पोयणसमवासीहिं मे कुमारेहिं एतारिसा चेव फलाणि दत्तपुव्वाणि त्ति । वच्चंताण य से एक्कचोरेण सह जुद्धं जातं । रधिणा गाढप्पहारो कतो सिक्खागुणपरितोसिश्रो भणति—अत्थि विउलं धणं तं गेण्हसु सूर त्ति । तहि तीहिं वि जणेहिं रहो भरितो कमेण पत्ता पोतणं, मोल्लं गहाय विसज्जितो उदयं मग्गसु त्ति । सो भमंतो गणियाघरे गतो, अभिवादये देह इमेण मुल्लेण उदयं ति । गणियाए भणिश्रो—दिज्जति निविस त्ति,तीए कासवश्रो सद्दाविश्रो,ततो अणिच्छंतस्स कतं एहपरिकम्मं । अवणीयवक्कलो य वत्थाभरणविभूसितो गणिया दारिया य पाणिं गाहितो एहवितो य, मा मे रिसिवेसं अवणेहि त्ति जंपमाणो ताहिं भणतो—जे उदगत्थी इहमागच्छंति तेसिं एरिसो उवयारो कीर त्ति । ताश्रो उवगणियाश्रो उवगायमाणीश्रो वधूवरं चिट्ठति । जो य कुमारविलोभणनिमित्तं रिसिवेसो जणो पेसितो सो आगतो कहेति, रएणो कुमारो अडविं अतिगतो अम्हेहिं रिसिस्स भपण ततो णो सद्दाविश्रो, ततो राया विसणमानसो भणति-अहो अकयं न य पितुसमीवे जातो, न य इहं नाणज्जति, किं पत्तो होहिति त्ति चिंतापरो अच्छति सुणति य मुतिंगसएणो सद्दाविश्रो । ततो राया विसएणमानसो भणति—अहो अकयं दत्तं च संसुतिपवड्ढमाणं भणति-मते दुक्खिते को मएणे सुहितो गंधव्वेण रमति त्ति । गणियाए अहितेण जाणए कहितं । सा आगता पादपडिता रायं पसन्नचंदं विन्नवेति । देव ! नेमित्तसंदेसो दिज्जा ताव सरूवो तरुणो गिहमागच्छेज्जा । तस्स मे व दारियं देज्जासि सो—उत्तमपुरिसो । तं संसित्ता विउलसोक्खभागिणी होहित्ति त्ति । सो य जहा भणिश्रो णेमित्तिणा अज्ज ! मे गिहमागतो । तं च संदेसं पमाणं कारंती पदत्ता से मया दारिया, तन्निमित्तं उस्सवो नयाणं कुमारं पणट्ठं पच्छ मे अवराहं मरिसिहि त्ति, रएणा संदिट्ठा मणुस्सा । जेहिं आसमे दिट्ठपुव्वो कुमारो तेहिं परगतेहि पच्चभियाणिउं निवेदितं च पियं रएणो परमपीतिमुवगतेण य वधूसहितो समीवमुवणीश्रो । सरिसकुलरूवा जोव्वणगुणाए य रायकएणयाए य पाणिं गाहितो, कतरज्ज संविभागो य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जहासुहमभिग्गहरहिओ य चोरदत्तं दव्वं विक्किणंतो राय-पुरिसेहिं चोरो त्ति गहितो चारिणा मोइतो पसरणचंद-विदितं। सोमचंदो वि आसने कुमारं अपस्समाणो सोग-सागरविगाढो पसन्नचंदसंपेसितेहिं पुरिसेहिं नगरगतव-क्कलचीरिं निवेदितेहिं कहिं वि संठवितो पुत्तमणुसंभरंतो अंधो जातो, रिसीहिं साणुकम्पेहिं कतफलसंविभागो त-त्थेव आसमे निवसति। गतेसु य बारससु वासेसु कुमारो अद्धरत्ते पडिविबुद्धो पितरं चिंतितुमारद्धो, किह मरणे ना-तो मया खिग्धिणेण मताणि विरहितो अच्छति त्ति पितु-दंसणसमुस्सुगो पसन्नचंदसमीवं गंतूण विरणवेति। देव ! विसज्जेह मं उक्कठितो हं तातस्स। तेण भणितो समयं वच्चामो गता य आसमपदं निवेदितं च रिसिणो पसरण-चंदो पणमति त्ति चलणोवगतो य रोण पाणिणा परामुट्ठो पुत्त ! निरामयोऽसि त्ति वक्कलचीरी पुणो अवदासिओ चिरकालघरियं च सेवाहं तस्स उम्मिल्लाणि णयणाणि पस्स ते दो वि जणा परमतुट्ठो पुच्छति य सव्वगतं कालं। वक्कलचीरी वि कुमारो अतिगतो उदयं पस्सामि ताव तातस्स तावसभंडयं अणुवेक्खिउमाणं केरिसं जातं ति। तं च उत्तरियं तेण पडिलेहिउमारद्धे जति वि च पत्तं पायं केसपरियाए। कत्थ मन्ने मया परिसं करणं कतपुव्वं ति विधिमणुसरंतस्स तदावरणक्खएण पुव्वजातिस्सरणं जातं। सुमरती य देवमाणुसभवे य सामन्नं पुरा कतं संभरि-तूण वेरग्गमग्गं समुत्तिरणो धम्मझाणेण विसयातीतो वि वि-सुज्झमाणपरिणामो य वितियसुक्कज्झाणभूमिमतिक्कंतो नट्ठ-मोहावरणविग्घो केवली जातो य परिकहितो धम्मो जिण-प्पणीतो पितुणो पसन्नचंदस्स य रएणो, ते दो वि लद्धस-म्मत्ता पणता सिरेहिं केवलिणो सुद्धं भे दंसितो मग्गो त्ति वक्कलचीरी पत्तेयबुद्धो गतो, पितरं गेहतूण महावीरवद्ध-माणसामिणो पासं पसन्नचंदो नियकपुरं गतो,जिणो य भगवं समणो विहरमाणो पोतणपुरे मणोरमे उज्जाणे समोसरितो पसन्नचंदो वक्कलचीरिवयणजणितवेरग्गो परममणहरति-त्थगरभासितमतिवड्ढितुच्छाहो बालं पुत्तं रज्जे ठविऊ-ण पव्वइतो, अधिगतसुत्तत्थो तवसंजमभावितमती मगह-पुरमागतो। तत्थ य सेणिएण सादरं वंदितो आतावेंतो एवं तिक्खातो जाव भगवं नरगाऽमरगतीसु उक्कोसट्ठि-तिजोग्गं तं झाणक्खयं पसरणचंदस्स वएणेति। ताव य देवा तम्मि पदेसे उवट्ठिता, पुच्छितो य अरहा सेणि-एण रएणा। किंणिमित्तो एस देवसंपादो त्ति। सामिणा भणितं—पसरणचंदस्स अणगारस्स णाणुप्पत्ती हरिसिता देवा उवागत- त्ति। ततो पुच्छति। एयं महाणुभावं केवल-नाणं कत्थ मरणे वोच्छिज्जिहिति। तं समयं बंभिंदसमाणो विज्जुमाली देवा चउहिं देवेहिं सहितो वंदितुमुवगतो उज्जो वेंतो दस दिसाओ। सो दंसिओ भगवता। एवमादि जहा "वसुदेवहिंडीए" एत्थ पुण वक्कलचीरिणो अहिगारो। आ० चू० १ अ०। आ० क०। आ० म०।

वक्कलवास–वल्कलवासस्–पुं०। वल्कलवाससि वानप्रस्थे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ०। भ०।

वक्कस–वक्कस–न०। मुद्गमाषादिनखिकानिष्पन्ने अतिनि-ष्पीडितरसे तुषे, उत्त० ८ अ०।

वक्कसुद्धि–वाक्यशुद्धि–स्त्री०। संयमशुद्धिनिमित्ते वाक्योक्तौ, दश०।

जं वक्कं वयमाणस्स, संजमो सुज्झई न पुण हिंसा।
न य अत्तकलुसभावो, तेण इहं वक्कसुद्धि त्ति ॥२८८॥

यद्–यस्माद्वाक्यं शुद्धं वदतः सतः संयमः शुद्ध्यति, शुद्ध्य-तीति निर्मल उपजायते, न पुनर्हिंसा भवति कौशिकादेरिव न-चात्मनः कलुषभावः कालुष्यं दुष्टाभिसंधिरूपं संजायते, तेन कारणेन इह–प्रवचने वाक्यशुद्धिः भावशुद्धेर्निमित्तमित्यतोऽ-त्र प्रयतितव्यमिति गाथार्थः। दश० ७ अ० २ उ०।

वक्ख–व्याघ्र–पुं०। प्राकृते व्याघ्रशब्दस्य वग्घः। "चूलिका पैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८। ४। ३२५ ॥ इति घस्य खः। आटव्यजन्तुविशेषे, प्रा० ४ पाद।

वक्खंग–व्याख्याङ्ग–न०। गौणव्याख्यारूपे अध्याहारादौ-अध्याहारो विपरिणामो व्यवहितकल्पना गुणकल्पना लक्ष-णा वाक्यभेदश्चेति। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

वक्खा–व्याख्या–स्त्री०। व्याख्याने, उत्त० १ अ०। स्था०।

वक्खाण–व्याख्यान–न०वि–आङ्–ख्या–ल्युट्। यकारलोपः। "द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः" ॥ ८। २। ९० ॥ इति खकारोपरि ककारः। प्रा०। अनुयोगे, विधिप्रतिषेधाभ्यामर्थप्ररूपणे, विशे०। आ० चू०। (अस्य चित्तैकार्थनिरुक्तविधिप्रवृत्ति-प्रभृतिद्वारैः प्ररूपणा 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४१ पृष्ठे-ऽकारि)

गवाद्युदाहरणान्याश्रित्य व्याख्यानविधिमाह—

गोणी चंदण कंथा, चेडीओ सावए बहिरगोदोहे।
टंकणओ ववहारो, पडिवक्खे आयरिय-सीसे॥१४२४॥

आचार्यशिष्ययोर्योग्यायोग्यविचारे-गोणी-गौस्तदुदाहर-णं वक्तव्यम्। तथा,—चन्दनकन्थानिदर्शनम्। तथा—चेट्यौ—जीर्णाभिनवश्रेष्ठिपुत्रिके, तद्दृष्टान्तो वाच्यः। तथा—श्रावकोदाहरणम्। तथा—बधिरगोदोहनिदर्शनम्। तथा-टङ्कणकव्यवहारः षष्ठमुदाहरणम्। एतेषु पट्स्वप्युदाह-रणेषु-शिष्याचार्ययोः साक्षादयोग्यत्वमभिधाय ततः प्रतिपक्षे योग्यत्वं योजनीयम्। अथवा—एषां षराणामप्युदाहरणानां मध्ये योग्याऽयोग्ययोर्विकल्पेनैकमुदाहरणमाचार्यस्य, एकं तु शिष्यस्य, इत्येवं योजनीयम् ॥ इति निर्युक्ति-गाथासंक्षेपार्थः॥ १४३४ ॥ विशे०। " संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः। चालना प्रत्यवस्थानं, व्या-ख्याया लक्षणानि षट् ॥ १ ॥ " अनु०।

व्याख्यालक्षणमाह

संहिया य पयं चेव, पयत्थो पयविग्गहो।
चालणा य पसिद्धी य, छव्विहं विद्धि लक्खणं॥२०४॥

संहिता १, पदम् २, पदार्थः ३, पदविग्रहः ४, चा—लना ५, प्रसिद्धिश्च ६, एवं षड्विधम्—षट्प्रकारं व्याख्या-लक्षणं विद्धि-जानीहि।

तत्र संहितेति कोऽर्थ इत्याह—

सन्निकरिसो परो होइ, संहिया संहिया व जं अत्था।
लोगुत्तरं लोगम्मि य, हवइ जहा धूमकेउ त्ति ॥२०५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यो द्वयोर्बहूनां वा पदानां परः—अस्खलितादिगुणोपेतो विविक्ताक्षरो झटिति मेधाविनामर्थप्रदायी सन्निकर्षः-सम्पर्कः संहिता, एषा संहिता सा द्विधा—लौकिकी, लोकोत्तरा च । तत्र लौकिकी—यथा धूमकेतुरिति, यथा इति पदम्, धूम इति पदम्, केतुरिति पदम् ।

तिपयं जह ओवम्मे, धूमऽभिभवे ँ केउउस्सए अत्थो ।
कोऽसु त्ति अग्गि उत्ते,किंलक्खणो दहणपयणाई ।३०६।

यथा धूमकेतुरिति संहिता । तत्र त्रिपदम्, सम्प्रति पदार्थ उच्यते—यथेत्यौपम्ये, धूम इति अभिभवे 'धू' विधूनने इति वचनात्, केतुरित्युच्छ्रये एष पदार्थः । धूमः केतुरस्येति धूमकेतुरिति पदविग्रहः । कोऽसाविति चेत्-अग्निः, एवमुक्ते पुनराह-स किंलक्षणः ? सूरिराह—दहनपचनादिः—दाहनपाचनप्रकाशनसमर्थोऽर्चिष्मान् ।

अत्र चालनां प्रत्यवस्थानं चाऽऽह—

जइ एव सुत्तसोवी-रगाइ वी होंति अग्गिमक्खेवो ।
न वि ते अग्गि पइन्ना,कसिणग्गिगुणन्निओ हेऊ ।३०७।
दिट्ठंतो घडगारो, न वि जे उक्खेवणाइतक्कारी ।
जम्हा जहुत्तहेउ-समन्निओ निगमणं अग्गी ॥ ३०८ ॥

यदि नाम-दहनपचनादिस्तर्हि शुक्तिसौवीरकादयोऽपि दहन्ति, करीषादयोऽपि पचन्ति, खद्योतमणिप्रभृतयोऽपि प्रकाशयन्ति ततस्तेऽप्यग्निर्भवितुमर्हन्ति एष आक्षेपः-चालना । अत्र प्रत्यवस्थानमाह-नैव शुक्त्यादयोऽग्निर्भवन्तीति प्रतिज्ञा, कृत्स्नगुणसमन्वितत्वादिति हेतुः, दृष्टान्तो घटकारः । यथाहि—घटकर्ता मृत्पिण्डदण्डचक्रसूत्रादेकप्रयत्नहेतुकस्य घटस्य कार्त्स्न्येनाभिनिर्वर्त्तकाभिनिवृत्तस्य चोत्क्षेपणोद्वहनसमर्थो यथाऽन्ये पुरुषाः, न च ये घटस्योत्क्षेपणादयस्तत्कारी घटस्याभिनिर्वर्त्तक एवमत्राऽपि । यो दहति पचति प्रकाशयति च; यथा—स्वगतेन लक्षणेन साधारणः स एव यथोक्तहेतुसमन्वितः परिपूर्णोऽग्निर्न शुक्त्यादय इति निगमनम् ।

सम्प्रति लोकोत्तरे संहितादीनि दर्शयति—

उत्तरिएँ जह दुमाई, तहत्थ हेऊ अविग्गहो चेव ।
को पुण दुम त्ति वुत्तो, भणइ पत्ताइउववेओ ।।३०९ ।।

लोकोत्तरे- 'जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं'इति संहिता । अत्र पदानि--यथा इति, द्रुम इति, पुष्पेष्विति, भ्रमर इति, आपिबतीति,रसमिति । अधुना पदार्थ उच्यते-यथेति-औपम्ये, द्रु गतौ, द्रवति गच्छति अध उपरि चेति द्रुमः, औणादिको मक्प्रत्ययः, तस्य द्रुमस्य, पुष्प विकसने, पुष्पन्ति—विकसन्तीति पुष्पाणि अच्; तेषु, भ्रम अनवस्थाने भ्राम्यति निरन्तरमिति भ्रमरः औणादिकोऽरः प्रत्ययः, पा पाने आङ् मर्यादायामभिविधौ वा, तस्य तिपि आपिबतीति रूपम्, रस आस्वादने, रस्यते आस्वाद्यते इति रसः कर्मण्यौणादिकोऽकारप्रत्ययस्तम्, अत्र व्यस्तपदत्वाद्विग्रहाभावः । तथा चाह—' तदत्थहेऊ अविग्गहो चेव ' तेषां पदानामर्थस्य हेतुरविग्रह एव, न विग्रहद्वारेणात्र पदार्थ इत्यर्थः, अत्र चालना । नोदक आह—कः कीदृग्लक्षणो द्रुम उक्तः, सूरिराह भण्यते--पत्राद्युपेतः-पत्रपुष्पफलादिसमन्वितः । उक्तं च—" पत्रपुष्पफलोपेतो, मूलस्कन्धसमन्वितः । एष वृक्ष इति ज्ञेयो, विपरीतस्ततोऽन्यथा ॥ १ ॥ "

तदभावेन—

तदभावे न दुम त्ति य, तदभावे वि स दुम त्ति य पइन्ना ।
तग्गुणलद्धी हेऊ, दिट्ठंतो होइ रहकारो ॥ ३१० ॥

यदि पत्राद्युपेतो द्रुमस्तर्हि तदा परिशटितपाण्डुपत्रादिर्द्रुमो भवति, तदा तस्याऽद्रुमत्वं प्राप्नोति, एषा चालना । अत्र प्रत्यवस्थानम्—तदभावेऽपि स द्रुम इति प्रतिज्ञा, तद्गुणलब्धित्वादिति हेतुः, दृष्टान्तो रथकारः, यथाहि—रथकारस्य रथकरणे प्रयत्नमकुर्वाणस्यापि रथकर्तृत्वं तद्गुणलब्धित्वात्; एवं परिशटितपाण्डुपत्रस्यापि द्रुमस्य तद्गुणलब्धेरनिवृत्तत्वादव्याहतं द्रुमत्वमिति ।

सम्प्रति मतान्तरेणान्यथा व्याख्यालक्षणमाह—

सुत्तं पयं पयत्थो, पयनिक्खेवो य निन्नयपसिद्धी ।
पंच विगप्पा एए, दो सुत्ते तिन्नि अत्थम्मि ॥३११॥

प्रथमतोऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम्, ततः पदम्—पदच्छेदो विधेयः, तदनन्तरं पदार्थः कथनीयः, ततः पदनिक्षेपः—पदार्थनोदना, तदनन्तरं निर्णयप्रसिद्धिः—निर्णयविधानम्, पदनिग्रहः पदार्थेऽन्तर्भूतः । एवमेते पञ्च विकल्पाः व्याख्यायां भवन्ति । अत्र-सूत्रम् पदमिति द्वौ विकल्पौ सूत्रे प्रविष्टौ, त्रयः—पदार्थाः तदाक्षेपनिर्णयः प्रसिद्ध्यात्मकः अर्थ इति । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

अथ पदस्य किं परिमाणमत आह—

अत्थवसा हवइ पयं, अत्थो इच्छियवसेण विन्नेओ ।
इच्छा य पकरणवसा, पगरणओ निच्छओ ँ समत्थे ॥

यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदमतोऽर्थवशाद्भवति पदम्, अर्थस्य किं प्रमाणमत आह—अर्थ ईप्सितवशेन विज्ञेयः, इच्छायाः किं प्रमाणमत आह—इच्छा च प्रकरणवशात्-प्रकारणानुरोधत इच्छायाः प्रमाणम्, प्रकरणस्य च निश्चयः शास्त्रे-शास्त्रानुसारतः । गतं लक्षणद्वारम् । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

नामस्थापनाद्रव्यभावैरपि व्याख्या भवति । तथा चाह—

" संहितादिर्यतो व्याख्या-विधिः सर्वत्र दृश्यते ।
नामादिविधिनाऽऽरब्धुं, न व्याख्या युज्यते ततः ॥१॥
इत्याहुरपि भाव्यैव, स्याद्वादं वादिनोऽपरे ।
यत्तदत्र निराकार्य—माचक्षाणेन तद्विधिम् ॥ २ ॥
स्यादस्तीत्यादिको वादः, स्याद्वाद इति गीयते ।
नयौ न च विमुच्यायं, द्रव्यपर्यायवादिनौ ॥ ३ ॥
अतश्चैतद् द्वयोपेतं, स्वं मतं समुदाहृतम् ।
सञ्ज्ञाततत्त्वसंविद्भिः, स्याद्वादः परमेश्वरैः ॥ ४ ॥
ते हि तीर्थविधौ सर्व्वे, मातृकाख्यं पदत्रयम् ।
उत्पत्तिविगमध्रौव्य-व्यापकं संप्रचक्षते ॥ ५ ॥
उत्पत्तिविगमावत्र, मतं पर्यायवादिनः ।
द्रव्यार्थिकस्य तु ध्रौव्यं, मातृकाख्यपदत्रये ॥ ६ ॥
द्रव्यत्वमन्वयित्वेन, मृदो यद्वद्घटादिषु ।
तद्वद्देशान्वयित्वेन, नामस्थापनयोरपि ॥ ७ ॥
अन्वयित्वं तु सर्व्वत्र, सङ्केतान्नाम उच्यते ।
स्थापनायाश्च तद्रूप—क्रियातो बुद्धितोऽपि वा ॥ ८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तन्नामस्थापनाद्रव्य—निक्षेपैरनुवर्त्तितः।
द्रव्यार्थिकनयो भाव-निक्षेपादितरः पुनः ॥ ९ ॥
तथा च महामतिः—
तित्थयरवयणसंगह-विवेगपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिश्रो वि पज्जव-नश्रो य सेसा वियप्पासिं ॥ १० ॥
तथा—
नामं ठवणा दविय—त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।
भाव त्ति पज्जवट्ठिय—परूवणा एस परमत्थो ॥ ११ ॥
यद्वा किञ्चः किलैताभ्यां, किंत्वेष विधिराश्रितः।
यद्व्याख्या वस्तुतत्त्वस्य, बोधायैव विधीयते ॥ १२ ॥
तच्च नामादिरूपेण, चतूरूपं व्यवस्थितम्।
नामाद्येकान्तवादाना—मयुक्तत्वेन संस्थितेः ॥ १३ ॥ उत्त० पाइ० १ अ०। नयाः व्याख्यानाङ्गानि—" ऐन्दवीव विमला कलाऽनिशं, भव्यकैरवविकाशनोद्यता। तन्वती नयविवेक-भारतीं भारती जयति विश्ववेदिनः " ॥ १ ॥ नयो०। (अत्र विशेषः ' णय ' शब्दे चतुर्थभागे १८५३ पृष्ठे गतः।)
सूत्रे विगृहीतेऽर्थो व्याख्येयः—
संबंधो दरिसिज्जइ, उस्सुत्तो खलु न विज्जते अत्थो।
उच्चारितछिन्नपदे, विग्गहिए चेव अत्थो उ ॥ ६४ ॥
सूत्रे उच्चारिते सति सम्बन्धोऽनन्तरसूत्रादिभिः सह दर्श्यते, यतः—संबन्धोऽर्थतो भवति वर्णानां स्वतः संबन्धाभावात्। स चार्थः खलु उत्सूत्रः—सूत्ररहितो न विद्यते, संबन्धे चोपदर्शिते, उच्चारितसूत्रस्य छिन्नानि पदानि कर्त्तव्यानि, पदच्छेदो विधातव्य इत्यर्थः। ततो यानि पदानि विग्रहभाञ्जि तेषु विग्रह उपदर्शनीयः। विगृहीते च सूत्रतोऽर्थो व्याख्येयः। व्य० ५ उ०।
गुरुणा यथा व्याख्यातव्यं तदाह—
सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥५६६॥
सूत्रस्याऽर्थो यत्रासौ सूत्रार्थः। खलुरवधारणे। ततश्च सूत्रार्थ एव-सूत्रार्थमात्रप्रतिपादनपर एव प्रथमः—प्रथमवारायामनुयोगो गुरुणा कर्त्तव्यः, द्वितीयस्तु—द्वितीयवारायां सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिमिश्रक कर्त्तव्यतया भणितस्तीर्थकरगणधरैः। तृतीयस्तु—तृतीयवारायां प्रसक्तानुप्रसक्तमप्युच्यते यस्मिन् स एवंलक्षणो निरवशेषो भणितः। एष उक्तलक्षणो विधानं—विधिर्भवति। क? इत्याह, सूत्रस्य निजेनाभिधेयेन सार्द्धमनुकूलो योगोऽनुयोगः सूत्रस्यार्थान्व्याख्यानमित्यर्थः तस्मिन्ननुयोगे—अनुयोगविषये इति निर्युक्तिगाथार्थः। विशे०। उक्तलक्षणो विधिर्भवत्यनुयोगव्याख्यायाम्, आह परिनिष्ठा सप्तमे इत्युक्तम्, त्रयश्चानुयोगप्रकारास्तदेव कथम्? उच्यते-त्रयाणामनुयोगप्रकाराणामन्यतमेन केनचित् प्रकारेण भूयो भूयो भाव्यमानेन सप्तवारं श्रवणं कार्यते ततो न कश्चिद्दोषः, अथवा-कंचिन्मन्दमतिविनेयमधिकृत्य तदुक्तं द्रष्टव्यम्, न पुनरेष एव सर्वश्रवणविधिनियमः, उद्घटितज्ञविनेयानां सकृच्छ्रवणत एवाशेषग्रहणदर्शनादिति कृतं प्रसङ्गेन। आ० म० १ अ०।
यथा व्याख्यानयितव्यं तथाह—
अह वक्खाणेअव्वं, जहा जहा तस्स अवगमो होइ।
आगमिअमागमेणं, जुत्तीगम्मं तु जुत्तीए ॥ ६६१ ॥
अथ व्याख्यानयितव्यं किमपि श्रुतं कथमित्याह—यथा यथा श्रोतुरवगमो भवति परिच्छेत्यर्थः, तत्रापि स्थितिमाह-आगमिकं वस्त्वागमेन, यथा-स्वर्गेऽप्सरसः, उत्तराः कुरव इत्यादि, युक्तिगम्यं पुनर्युक्त्यैव, यथा-देहमात्रपरिणाम्यात्मेत्यादीति गाथार्थः।
किमित्येतदेवमित्याह—
जम्हा उ दोएह वि इहं, भणिअं पन्नवगकहणभावाणं।
लक्खणमणघमएहिं, पुव्वायरिएहिँ आगमतो॥६६२॥
यस्माद् द्वयोरप्यत्र—प्रवचने भणितं प्रज्ञापककथनभावयोः पदार्थयोरित्यर्थः, लक्षणं-स्वरूपम्, कैरित्याह-अनघमतैः-अवदातबुद्धिभिः पूर्वाचार्यैः, कुत इत्याह—आगमात्तु स्वमनीषिकयैवेति गाथार्थः।
किं भूतं तदित्याह—
जो हेउवाओ पक्ख-म्मि हेउओ आगमे अ आगमिओ।
सो समयपण्णवओ, सिद्धंत विराहओ अन्नो ॥ ६६३ ॥
यो हेतुवादः पक्षे युक्तिगम्ये वस्तुनि हेतुको—हेतुना चरति, आगमे चागमिको न तत्रापि मतिमोहनीं युक्तिमाह। ' स ' एवंभूतः स्वसमयप्रज्ञापका भगवदनुमतः, सिद्धान्तविरोधकोऽन्यः तन्नाघवापादनादिति गाथार्थः।
आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयव्वो।
दिट्ठंतिअदिट्ठंता, कहणविहिविराहणा इहरा ॥ ६६४ ॥
आज्ञाग्राह्योऽर्थः—आगमग्राह्यः आज्ञयैवासौ कथयितव्यः आगमेनैवेत्यर्थः। दार्ष्टान्तिको ' दृष्टान्तात् ' दृष्टान्तेन कथनविधिरेष सूत्रार्थे। विराधनेतरथा कथनेनास्येति गाथार्थः।
तो आगमहेउगयं, सुअम्मि तह गोरवं जणंतेणं।
उत्तमनिदंसणजुअं, विचित्तणयगब्भसारं च ॥ ६६५ ॥
तत्तस्मादागमहेतुगतं—यथाविषयमुभयोपयोगेन व्याख्यानं कर्त्तव्यमिति योगः श्रुते, तथा गौरवं जनयता—न यथा तथाभिधानं न हेयबुद्धिं कुर्वता, तथा उत्तमनिदर्शनयुतम् अहीनोदाहरणवत्, तथा विचित्रनयगर्भसारं च निश्चयाद्यनेकनयार्थप्रधानमिति गाथार्थः।
भगवंते सव्वण्णे, तप्पच्चय-कारिगंभीरसारभणिईहिं।
संवेगकरं निअमा, वक्खाणं होइ कायव्वं ॥ ६६६ ॥
भगवति—सर्वज्ञे तत्प्रत्ययकारिता—सर्वज्ञ एवमाहेत्येवगम्भीरसारभणितिभिः न तुच्छग्राम्योक्तिभिरिति संवेगकरं नियमाच्छ्रोतृणामैचित्येन व्याख्यानं भवति कर्त्तव्यं-नान्यथेति गाथार्थः।
एतदेवाह—
होंति उ विपयज्जम्मि, दोसा एत्थं विपज्जयादेव।
ता उवसंपन्नाणं, एवं चिअ बुद्धिमं कुज्जा ॥ ६६७ ॥
भवन्ति तु विपर्यये-अन्यथाकरणे दोषाः अत्र, कुत इत्याह—एतद्विपर्ययादेव कारणात् तत्तस्मादुपसंपन्नानां सतां शिष्याणामेव यथोक्तबुद्धिमान् कुर्याद्व्याख्यानमिति गाथार्थः।
कालादन्यथाकरणे अदोषाशङ्कां परिहरन्नाह—
कालो वि वितह करणे, गेगंतेणह होइ मरणं तु।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णहि एअम्मि वि काले,विसाइ सुहयं अमंतजुअं॥९९८॥

कालोऽपि वितथकरणे-विपरीतकरणे नैकान्तेन इह-प्रक्रमे भवति शरणमेव, कुत इत्याह—न ह्यनस्मिन्नपि काले दुःषमालक्षणे विषादि प्रकृतिदुष्टं तत्सुखदममन्त्रयुतं तु भवतीति गाथार्थः ।

एत्थं च वितहकरणं , नेअं आउट्टिआ उ सव्वं पि ।
पायं विसायतुल्लं, आणाजोगो अ मंतसमो ॥ ९९९ ॥

अत्र च प्रक्रमे वितथकरणं ज्ञेयमाकुट्टिकयोपेत्यकरणेन सर्व्वमपि पापं निघ्नं विषादितुल्यं विपाकदारुणत्वादाज्ञायोगश्च—सूत्रव्यापारश्च अत्र मन्त्रसमः तद्दोषापनयनादिति सूत्रार्थः ।

उपसंहरन्नाह-

ता एअम्मि वि काले, आणाकरणे अमूढलक्खेहिं ।
सत्तीए जइअव्वं, एत्थ विही हंदि एसो अ ॥१०००॥

यस्मादेवं तस्मादेतस्मिन्नपि काले-दुःषमारूपे आज्ञाकरणे सौत्रविधिसंपादने अमूढलक्षैः सद्भिः शक्त्या यतितव्यमुपसंपदादौ, अत्र विधिरेष व्याख्यानकरणे, हंदीत्युपप्रदर्शने एष च—वक्ष्यमाणलक्षण इति गाथार्थः ।

मज्जणनिसिज्जअक्खा, किइकम्मुस्सग्गवंदणं जिट्ठे ।
भासंतो होइ जिट्ठो, न उ परिआएण तो वंदे ॥१००१॥

मार्जनं व्याख्यास्थानस्य, निषद्या-गुर्वादेः, अक्षाः-वन्दनका उपनीयन्ते । कृतिकर्म-वन्दनमाचार्याय कायोत्सर्गोऽनुयोगार्थं वन्दनं-ज्येष्ठविषयमिह भाषमाणो भवति, ज्येष्ठः न तु पर्यायेण ततो वन्देत तमेवेति गाथार्थः ।

व्यासार्थं त्वाह—

ठाणं पमज्जिऊणं, दोन्नि निसिज्जाउ होंति कायव्वा ।
एक्का गुरुणो भणिआ, बीआ पुण होइ अक्खाणं।१००२।

स्थानं प्रमृज्य व्याख्यास्थानं द्वे निषद्ये भवतः कर्तव्ये सम्यगुचितकल्पैस्तत्रैका गुरोर्भणिता निषीदनार्थनिमित्तम्, द्वितीया पुनर्भवति मनागुच्चतरा अक्षाणां समवसरणोपलक्षणमेतादिति गाथार्थः ।

विधिशेषमाह—

दो चेव मत्तगाइं, खेले काइअसदोसगस्सुचिए ।
एवंविहो वि णिच्चं,वक्खाणिज्ज त्ति भावत्थो ॥१००३॥

द्वे एव मात्रके भवतः, श्लेष्ममात्रकं, कायिकमात्रकं च । सदोषकस्य गुरोर्न सर्वस्य, उचिते भूभागे भवतः । ऐदंपर्यमाह—एवंविधोऽपि सदोषः सन्नित्यं स व्याख्यानयेदिति प्रस्तुतभावार्थ इति गाथार्थः ।

भावावो उ सुणंती, सव्वे वि हु ते तओ अउवउत्ता ।
पडिलेहिऊण पोत्तिं, जुगवं वंदंति भावणया ॥१००४॥

भावतः श्रृण्वन्ति व्याख्यानं सर्वेऽपि साधवः सर्वेऽपि ते ततश्च तदनन्तरमुपयुक्ताः सन्तः प्रत्युपेक्ष्य पोत्तं तथा कायं च युगपद्वन्दन्ते गुरुं न विषमं भावनताः सन्त इति गाथार्थः ।

सव्वे वि उ उस्सग्गं, करिंति सव्वे पुणो वि वंदंति ।
नासन्ने नाइदूरे, गुरुवयणपडिच्छगा होंति ॥ १००५ ॥

सर्वेऽपि च भूयः कायोत्सर्गं कुर्वन्ति अनुयोगप्रारम्भार्थं तत्समाप्तौ च सर्वे पुनरपि वन्दन्ते गुरुमेव ज्येष्ठार्यमिति । अन्ये तदनु नासन्ने नातिदूरे गुर्ववग्रहं विहाय गुरुवचनप्रतीच्छका भवन्त्युपयुक्ता इति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार । (श्रवणविधिम् ' सवण ' शब्दे वक्ष्यामि)

वक्खाणसमत्तीए, जोगं काऊण काइआईणं ।
वंदंति तओ जिट्ठं, अन्ने पुव्वंचिअ भणंति ॥ १००६ ॥

व्याख्यानसमाप्तौ सत्यां किमित्याह—योगं कृत्वा कायिकादीनामादिशब्दाद्—गुरुविश्रमणादिपरिग्रहः, वन्दन्ते ततो ज्येष्ठं-प्रत्युच्चारकं श्रवणाय अन्ये पूर्वमेव भणन्ति; यदुतादावेव ज्येष्ठं वन्दन्त इति गाथार्थः ।

चोएइ जइ उ, जिट्ठो, कहिं, वि सुत्तत्थधारणाविकलो ।
वक्खाणलद्धिहीणो, निरत्थयं वंदणं तम्मि ॥ १०१० ॥

चोदयति कश्चिद्-यदि तु ज्येष्ठः पर्यायवृद्धः कथंचित्सूत्रार्थधारणाविकलो जडतया कर्मदोषात्ततश्च व्याख्यानलब्धिहीनोऽसौ वर्तते, एवं च निरर्थकं वन्दनं तस्मिन्निति गाथार्थः ।

अह वयपरिआएहिं, लहुगो वि हु भासगो इहं जिट्ठो ।
रायणियवंदणे पुण,तस्स वि आसायणा भंते! ॥१०११॥

अथ वयःपर्यायाभ्यां लघुः यदि कश्चिद्भाषक इह ज्येष्ठो गृह्यते, रत्नाधिकं वन्दते पुनस्तस्यापि लघोः आशातना भदन्त ! भवतीति गाथार्थः ।

अत्राह—

जइ वि वयमाइएहिं, लहुओ सुत्तत्थधारणापडुओ ।
वक्खाणलद्धिमं जो,सो चिअ इह घिप्पई जिट्ठो ।१०१२।

यद्यपि वयआदिभिः-वयसा पर्यायेण च लघुकः सन् सूत्रार्थ-धारणापटुर्दक्षः व्याख्यानलब्धिमान् यः कश्चित्स एवेह प्रक्रमे गृह्यते ज्येष्ठः, न तु वयसा पर्यायेण वेति गाथार्थः ।

आसायणाऽवि नेवं, पडुच्च जिणवयणभासगं जम्हा ।
वंदणगं रायणिओ,तेण गुणेणं पि सो चेव ॥ १०१३ ॥

आशातनाऽपि नैवं भवति प्रतीत्य जिनवचनभाषकं यस्माद्वन्दनकं तद्रत्नाधिकस्तेन गुणेनापि भाषणलक्षणेन स एवेति गाथार्थः ।

एतदेव भावयति-

ण वओ एत्थ पमाणं,ण य परिआओ उ निच्छयणएणं।
ववहारओ उ जुज्जइ, उभयणयमयं पुण पमाणं।१०१४।

न वयोऽत्र प्रक्रमे सामान्यगुणचिन्तायां वा प्रमाणम्, न च पर्यायोऽपि प्रव्रज्यालक्षणः निश्चयनयमतेन व्यवहारतस्तु युज्यते । वयः पर्यायश्च । उभयनयमतं पुनः प्रमाणं सर्वत्रेति गाथार्थः ।

यतः—

निच्छयओ दुन्नेअं, को भावे कम्मि वट्टई समणो ।
ववहारओ उ कीरइ,जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि॥१०१५॥

निश्चयतो दुर्विज्ञेयमेतत्को भावे कस्मिन् शुभाशुभतरादौ वर्तते श्रमणस्ततश्चाकर्त्तव्यमेवैतत्प्राप्नोति, व्यवहारतस्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रियत एवैतद्यः पूर्वमादौ स्थितश्चारित्रे आदौ प्रव्रजित इति गाथार्थः।

युक्तं चैतदित्याह—

ववहारो वि हु बलवं, जं छउमत्थं पि वंदई अरहा।
जा होई अणभिन्नो, जाणंतो धम्मयं एयं ॥ १०१६ ॥

व्यवहारोऽपि निश्चयेन बलवान् वर्त्तते यत् छद्मस्थमपि सन्तं चिरप्रव्रजितं वन्दते अर्हन् केवली, यावद्भवत्यनभिज्ञः स चिरप्रव्रजितः, जानानो धर्मतामेनाम् व्यवहारगोचरामिति गाथार्थः।

यद्येवं कः प्रकृतोपयोग इत्याह—

एत्थ उ जिणवयणाओ, सुत्तासायणबहुत्तदोसाओ।
भासंति जिट्ठगस्स उ, कायव्वं होइ किइकम्मं ॥१० ७॥

अत्र तु 'जिनवचनाद्' 'भासन्तो' 'होती' त्यादेः सूत्रात् सूत्राशातनायां दोषबहुलत्वात्कारणाद्भाषमाणज्येष्ठस्यैव कर्त्तव्यं भवति-'कृतिकर्म्म' वन्दनं नेतरस्येति गाथार्थः।

व्याख्येयमाह—

वक्खाणेअव्वं पुण, जिणवयणं णंदिमाइसुपसत्थं।
जं जम्मि जम्मि काले, जावइअं भावसंजुत्तं ॥ १०१८ ॥

व्याख्यानयितव्यं पुनस्तेन जिनवचनं, नान्यत्। नन्द्यादि, सुप्रशस्तं-संवेगकारि, यत् यस्मिन् यस्मिन् काले यावत्प्रचरति 'भावसंयुक्तं भावार्थसारमिति गाथार्थः।

सिस्से वा णाऊणं, जोग्गयरे केइ दिट्ठिवायाई।
तत्तो वा निज्जूढं, सेसं ते चेव विअरंति ॥ १०१६ ॥

शिष्यान् वा ज्ञात्वा योग्यतरान् कांश्चन दृष्टिवादादिव्याख्यानयितव्यम्, ततो वा दृष्टिवादादेः निर्यूढमाकृष्टं शेषं नन्द्यादि, त एव योग्याः वितरन्ति तदन्येभ्यो ददतीति गाथार्थः।

निर्यूढलक्षणमाह—

सम्मं धम्मविसेसो, जहि य कसच्छेअतावपरिसुद्धो।
वण्णिज्जइ निज्जूढं, एवंविहमुत्तमसुआइ ॥ १०२० ॥

सम्यग् धर्मविशेषः—पारमार्थिकः यत्र-ग्रन्थरूपे कषच्छेदतापपरिशुद्धः त्रिकोटीदोषवर्जितः वर्ण्यते-सम्यक् निर्यूढमेवंविधं भवति, ग्रन्थरूपं तच्चोत्तमश्रुतादि, उत्तमश्रुतं स्तवपरिज्ञा इत्येवमादीति गाथार्थः॥ पं० व० ४ द्वार। (श्रोतृणामभावेऽपि व्याख्यानं दातव्यमिति 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३५१ पृष्ठे गतम्।) व्याख्यानाङ्गं च व्याख्यानविधिः—अनुयोगेऽन्तर्भवति। विशे०।

वक्खाणविहि-व्याख्यानविधि-पुं०। व्याख्यानस्य विधिः व्याख्यानविधिः। शिष्याचार्यपरीक्षाभिधाने, आ० म० १ अ०।

वक्खाणेयव्व-व्याख्यानयितव्य-न०। कर्त्तव्ये व्याख्याने, पं० व० ४ द्वार।

वक्खायरय-व्याख्यातरत-पुं०। विविधम्—अनेकप्रकारं प्रधानपुरुषार्थतयाऽऽख्यातो व्याख्यातो मोक्षः अशेषकर्मक्षयलक्षणो विशिष्टाकाशप्रदेशाख्यो वा तत्र रतो व्याख्यातरतः। आ यन्तिकैकान्तिकानाबाधसुखलक्षायिकज्ञानदर्शनसंपदुपेते, "वट्टलग्गं वक्खायरते सव्वे सरा णियट्टंति तक्का जत्थ ण विज्जति" आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०।

वक्खार-वक्षार-पुं०। अपवरके, व्य० ६ उ०।

वक्खारपव्वय-व(क्षार)क्षस्कारपर्वत-पुं० वक्षसि मध्ये गोप्यं क्षेत्रं द्वौ संभूय कुर्वन्तीति वक्षस्काराः। तज्जातीयोऽयमिति वक्षस्कारपर्वतः। गजदन्तापरपर्याये पर्वते, जं० ४ वक्ष०। चं० प्र०।

मेरोर्दक्षिणे द्वौ वक्षस्कारौ—

जंबूमंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं देवकुराए पुव्वावरे पासे एत्थ णं आसक्खंधगसरिसा अद्धचंदसंठाणसंठिया दो वक्खारपव्वया पन्नत्ता, तं जहा—बहुसमा ० जाव सोमणसे चेव, विज्जुप्पभे चेव। जंबूमंदरस्स उत्तरेणं उत्तरकुराए पुव्वावरे पासे एत्थ णं आसक्खंधगसरिसा अद्धचंदसंठाणसंठिया दो वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला० जाव गंधमायणे चेव मालवंते चेव। (सू०-८७ ×)

'जंबू' इत्यादि 'पुव्वावरे पासे' त्ति पार्श्वशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् पूर्वपार्श्वे च, किंभूते ?—'एत्थ' त्ति प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमानेन क्रमेण सौमनसविद्युत्प्रभौ प्रज्ञप्तौ, किंभूतौ ?, अश्वस्कन्धसदृशावादौ निम्नौ पर्यवसाने उन्नतौ, यतो निषधसमीपे चतुःशतोच्छ्रितौ मेरुसमीपे तु पञ्चशतोच्छ्रिताविति। आह च—

वासहर गिरिं तेणं, रुंदा पञ्चेव जोयणसयाइं।
चत्तारि सउव्विद्धा, ओगाढा जोयणाण सयं ॥ १ ॥
पञ्चसए उव्विद्धा, ओगाढा पंच गाउयसयाइं।
अंगुलअसंखभागा, विच्छिन्ना मंदरंतेणं ॥ २ ॥
वक्खारपव्वयाणं, आयामो तीसजोयणसहस्सा।
दोन्नि सया य नवहिया, छच्च कलाओ चउराइं पि ॥ ३ ॥

इति, 'अवड्ढचंद' त्ति अपकृष्टमर्द्धं चन्द्रस्यापार्द्धचन्द्रस्तस्य यत्संस्थानम् आकारो गजदन्ताकृतिरित्यर्थः, तेन संस्थितावपार्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थितौ, अर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थिताविति कचित्पाठः, तत्रार्द्धशब्देन विभागमात्रं विवक्ष्यते, न तु समप्रविभागतेति, ताभ्यां चार्द्धचन्द्राकारा देवकुरवः कृताः, अत एव वक्षाराकारक्षेत्रकारिणौ पर्वतौ वक्षारपर्वताविति 'जम्बू' इत्यादि तथैव नवरमपरपार्श्वे गन्धमादनः पूर्वपार्श्वे माल्यवानिति। स्था० २ ठा० ३ उ०। (एकशैलवक्षस्कारकूटवक्तव्यता 'एगसेलकूड' शब्दे तृतीयभागे ३१ पृष्ठे गता।)

जम्बूद्वीपे सीताया उभयकूले—

जम्बुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं सीआए महाणईए उत्तरकूले चत्तारि वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चित्तकूडे पम्हकूडे णलिणकूडे एगसेले। जम्बूदीवे दीवे मंदरपुरत्थिमेणं सीआए महाणईए दाहिणकूले चत्तारि वक्खारपव्वया पण्णत्ता। तं जहा—तिकूडे वेसमणकूडे अंजणे मायंजणे। (सू० ३०२ ×)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सीतोदाया उभयकूले—

जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमे णं सीओआए महाणईए दाहिणकूले चत्तारि वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–अंकावई पम्हावई आसीविसे सुहावहे । जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पच्चत्थिमे णं सीओआए महाणईए उत्तरे कूले चत्तारि वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–चंदपव्वए सूरपव्वए देवपव्वए णागपव्वए । (सू०–३०२×)

मन्दरस्य चतुर्दिक्षु—

जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स चउसु वि दिसासु चत्तारि वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–सोमणसे विज्जुप्पभे गंधमायणे मालवंते । (सू०–३०२+) स्था० ४ ठा० २ उ०।

जम्बूद्वीपे सीताया महानद्याः—

जम्बूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं सीयाए महानदीए उत्तरे णं पञ्च वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–मालवए चित्तकूडे पम्हकूडे णलिणकूडे एगसेले (सू–४३४+)

सीताया दक्षिणे—

जंबूमन्दरस्स पुरओ सीयाए महाणदीए दाहिणे णं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–तिकूडे वेसमणकूडे अंजणे मायंजणे सोमणसे । (सू०–४३४ +)

सीतोदाया उभयकुले—

जंबूमंदरस्स पच्चत्थिमे णं सीओयाए महाणईए दाहिणे णं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–विज्जुप्पभे अंकावई पम्हावई आसीविसे सुहावए । जंबूमंदरस्स पच्चत्थिमे णं सीओयाए महाणईए उत्तरे णं पञ्च वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–चंदपव्वए सूरपव्वए णागपव्वए देवपव्वए गन्धमायणे । (सू० ४३४ +)

कण्ठ्यश्चायं नवरं मालवन्तो गजदन्तकात् प्रदक्षिणया सूत्रचतुष्टयोक्ता विंशतिर्वक्षस्कारगिरयोऽवगन्तव्या इति । स्था० ५ ठा० २ उ०।

जम्बूद्वीपे सीताया नद्या उभयतटे—

जम्बूमंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं सीयाए महानईए उभयतो कूले अट्ठ वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–चित्तकूडे पम्हकूडे नलिणकूडे एगसेले तिकूडे वेसमणकूडे अंजणे मायंजणे । (सू०–६२७ +)

सीतोदाया उभयकूले—

जंबूमंदरस्स पच्चत्थिमे णं सीओयाए महाणईए उभयतो कूले अट्ठ वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–अंकावई पम्हावई आसीविसे सुहावहे चंदपव्वए सूरपव्वए नागपव्वए देवपव्वए । (सू०–६३७ +) स्था० ४ ठा० ३ उ०।

सीताया महानद्या उत्तरे—

धायइखण्डे दीवे पुरच्छिमद्धे णं मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं सीयाए महाणदीए उत्तरे णं पञ्च वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–मालवंते एवं जहा जम्बुद्दीवे तहा०जाव पोक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमद्धे वक्खारा । (सू० ४३४ ×) स्था० ५ ठा० २ उ० ।

सीताया उभयकूले—

जम्बुद्दीवे दीवे० मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं सीयाए महानईए उभयओ कूले दस वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—मालवंते चित्तकूडे विचित्तकूडे बंभकूडे० जाव सोमणसे । जंबूमंदरस्स पच्चत्थिमे णं सीओयाए महानईए उभओ कूले दस वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–विज्जुप्पभे० जाव गंधमायणे । एवं धायइखंडपुरच्छिमद्धे वि वक्खारा भाणियव्वा०जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमद्धे । (सू०–७६८) स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सर्वेषां वक्षस्काराणामुच्चत्वादि—

सव्वे वि णं वक्खारपव्वया सीआसीआओ महानईओ मंदरपव्वयंते णं पंच पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच पंच गाउयसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता । (सू० १०८×)

'सव्वे वि णं वक्खारे' त्यादि शीतादिनदीप्रत्यासत्तौ मेरुप्रत्यासत्तौ च पञ्चशतोच्चा इति, तथा—(स०) तत्र वर्षधरकूटानि शतद्वयमशीत्यधिकम् कथम् ? "लहुहिमवँ हिमवँ निसढे, एक्कारस अट्ठ नव य कूडाइं । नीलाइसु तिसु नवगं, अट्ठेक्कारस जहासंखं ॥ १ ॥ " एतेषां च पञ्च गुणत्वात् वक्षस्कारकूटानि त्वशीत्यधिकचतुःशतीसंख्यानि । कथम् ? " विज्जुपहमालवंते, नव नव सेसेसु सत्त सत्तेव । सोलसवक्खारेसुं,चउरो चउरो य कूडाइं " ॥ १ ॥ चत्वारिएतेषां पञ्चगुणत्वात्, पञ्चगुणत्वं च जम्बूद्वीपादिमेरूपलक्षितक्षेत्राणां पञ्चत्वात्,सर्वाण्येतानि पञ्चशतोच्छ्रितानि। एवं मानुषोत्तरादिष्वपि, वैताढ्यकूटानि तु सक्रोशषड्योजनोच्छ्रयाणि,वर्षकूटानि तु ऋषभकूटादीन्यष्ट योजनोच्छ्रितानीति,हरिकूटहरिसहकूटवर्जनं त्विह तयोः सहस्रोच्छ्रायत्वाद् । आह च–"विज्जुप्पभहरिकूडो, हरिस्सहो मालवंतवक्खारे । नंदणवणबलकूडो, उव्विद्धा जोयणसहस्सं ॥ १ ॥ "

अथोच्चत्वादिकमाह—

सोमणसगंधमादणविज्जुप्पभमालवंताणं वक्खारपव्वयाणं मंदरपव्वयंतेणं पंच पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच पंच गाउयसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता, सव्वे वि णं वक्खारपव्वयकूडा हरिहरिसहकूडवज्जा पंच पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मूले पंच पंच जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं पण्णत्ता । (सू०–१०८) स० ५०० सम० ।

शीतासीतोदे प्रति वक्षस्कारमाह—

सव्वे वि णं वक्खारपव्वया सीयासीओयाओ महाणईओ मंदरं वा पव्वयंतेणं पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच गाउयसयाइं उव्वेहेणं । (सू०–४३४×)

'सव्वे वि णं ' इत्यादि, सर्वेऽपि जम्बूद्वीपादिसम्बन्धिनः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'तेणं ति' शीताशीतोदे महानद्यौ प्रतीते लक्षणीकृत्य नदीदिशीत्यर्थः, मन्दरं वा मेरुं वा पर्वतं प्रति तद्दिशीत्यर्थः, तत्र मालवत्सौमनसविद्युत्प्रभगन्धमादनाः गजदन्ताकारपर्वता मेरुं प्रति यथोक्तस्वरूपाः, शेषास्तु वक्षस्कारपर्वता महानद्यौ प्रतीतेति। स्था० ५ ठा० २ उ०।

वक्खित्त-व्याक्षिप्त-त्रि०। कर्मणि कर्त्तव्ये व्याकुले, व्य० ६ उ०। धर्मकथादिना (आव० ३ अ०।) प्रयोजनान्तरोपयुक्ते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। " वक्खित्तचित्तेण न सुठ्ठु नायं, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति " आचा०।

वक्खेव-व्याक्षेप-पुं०। चित्तैकतानताविच्छेदे, व्य०। (व्याक्षेपेण कार्यहानिप्रदर्शनं तत्र दृष्टान्ताश्च 'अइंसस' शब्दे, प्रथमभागे २८ पृष्ठे उक्ताः।)

वग-वक-पुं०। वकि-अच्। पृ० नलोपः। स्वनामख्याते विहगे, स्वनामख्याते पुष्पवृक्षे,कुबेरे, राक्षसभेदे, यो भीमेन हतः। औषधादिपाचनयन्त्रभेदे, श्रीकृष्णेन हते दैत्यभेदे, वाच०। अनन्तकायवनस्पतिभेदे,आचा० १ श्रु० १ अ०५उ०। वृग-पुं०। शृगालाकृतौ हिंस्रजन्तौ, आ० म० १ अ०।

वगडा-वगडा-स्त्री०। परिक्षेपे, व्य० ६ उ०।

अथ वगडाया निक्षेपः कर्त्तव्यः, तमेवातिदेशेनाह—

एमेव होइ वगडा, चउव्विहा सा उ वत्तिपरिखेवो।
दव्वम्मि तिप्पगारा, भावे समणेहि भुज्जंती ॥ ७ ॥

एवमेवोपाश्रयवद्वगडाऽपि नामादिभेदाच्चतुर्विधा भवति, तत्र द्रव्यवगडा गृहसंबन्धी वृत्तिपरिक्षेपो मन्तव्यः, सा च त्रिप्रकारा, तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता, मिश्रा च। इयं त्रिप्रकाराऽपि, यथा मासकल्पप्रकृते द्रव्यपरिक्षेप उक्तस्तथैव वक्तव्यः, भाव-भाववगडा श्रमणैः- साधुभिर्यो वृत्तिपरिक्षेपः परिभुज्यते सा मन्तव्या। बृ० २ उ०। (अत्रत्या 'तद्दोस' शब्दे गाथा गता, तद्व्याख्यां 'वसहि' शब्दे वक्ष्यामि।) ('परिक्खेव' शब्दे पञ्चमभागे ५५२ पृष्ठे तन्निक्षेप उक्तः।)

वगलग-अवलगक-पुं०। अलोपः। कुटुम्बिनि, रा०।

वगोड्डायक-वकोड्डायक-पुं०। स्त्र्यादेशप्रयुक्तस्वसंज्ञाप्रसिद्धे, पुरुषविशेषे, पिं०। (एष वकोड्डायकः 'माणपिंड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४१ पृष्ठे उक्तः।)

वग्ग-वर्ग-पुं०। वृजी वर्जने, वृज्यन्ते दूरतः परिह्रियन्ते रागादयो दोषा अनेनेति वर्गः। विशे०। " सर्वत्र लवराम-चन्द्रे " ॥ ८। २। २७६॥ इति रलोपः। प्रा०। आवश्यके समूहे, स०। नं०। समुदाये, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। अन्त०। स्था०। कर्म०। समानजातीयवृन्दे, औ०। स०। जातीयप्रकृतीनां समुदाये, कर्म० ५ कर्म०। राशौ, विशे०। आ० म०। अध्ययनानां समूहे, यथाऽन्तकृद्दशास्वष्टौ वर्गा इत्यादि। नं०। स्था०। गोवर्गवत् वर्गः। अनु०। तेनैव राशिना गुणने, आव० ४ अ०। ज्ञा०। अ-क-च-ट-त-प-य-श-वर्गा इति परिभाषितेषु स्वरादिषु हकारान्तेषु अक्षरसमूहेषु, नि० चू० १ उ०। पुरुषापेक्षया स्त्रीपक्षे, नि० चू० २० उ०।

वल्क-पुं०। वंशादिग्रन्थनभूतायां वटादित्वचि, भ० ८ श० ६ उ०। विशे०।

वग्गंत-वल्गत्-त्रि०। वल्गनं कुर्वाणे, " वग्गंततुरंगरहपहावियसमरभडा " वल्गत्तुरङ्गैः रथैश्च प्रधाविताः वेगेन प्रवृत्ता ये ते समरभटाश्चेति। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

वग्गचूलिया-वर्गचूलिका-स्त्री०। वर्गोऽध्ययनानां समूहो यथाऽन्तकृद्दशास्वष्टौ वर्गा इत्यादि,तेषां चूलिका। सांक्षेपिकदशानां प्रथमे अध्ययने उत्कालिकश्रुतविशेषे, स्था० १० ठा० ३ उ०। नं०। पा०।

वग्गण-वल्गन-न०। उत्कूर्दने, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। स्था०। आ० म०। औ०। उल्लङ्घने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। मल्लवद् (नि०चू० १ उ०) उल्ललने, भ० ११ श० ११ उ०। आ० म०।

वग्गणा-वर्गणा-स्त्री०। सजातीयवस्तुसमुदाये वर्गराशौ, विशे०। आ० म०। क० प्र०। कर्म०। अष्ट०। विशे०।

उदारवैक्रियादिवर्गणाः—

ओराल विउव्वा हा-र तेय-भासा णपाण-मण कम्मे।
अह दव्ववग्गणाणं, कमो विवज्जासओ खेत्ते ॥ ६३१ ॥

एतां निर्युक्तिगाथां भाष्यकारः 'कुचिकर्णगोप' इत्युदाहरणपूर्वकं विस्तरतः स्वयमेव व्याख्यास्यतीति।

तथा च भाष्यम्—

कुइयण्णगोविसेसो-वलक्खणो वम्मओ विणेयाणं।
दव्वाइवग्गणाहिं, पोग्गलकायं पयंसेंति ॥ ६३२ ॥

आह-किमर्थं पुनरेता वर्गणाः प्ररूप्यन्ते?, उच्यते-कुचिकर्णस्य गोमण्डलाधिपतेर्गावस्तासां परस्परं विशेषस्य यदुपलक्षणं परिज्ञानं तदौपम्यात्तद्दृष्टान्ताद्विनेयानामसंमोहार्थं द्रव्यादिवर्गणाभिः, आदिशब्दात्-क्षेत्रवर्गणाभिः, कालवर्गणाभिः, भाववर्गणाभिश्च समस्तमपि पुद्गलास्तिकायं विभज्य तीर्थकर-गणधराः प्रदर्शयन्तीति गाथाऽक्षरार्थः। अथ भावार्थ उच्यते-इह भरतक्षेत्रे मगधजनपदे प्रभूतगोमण्डलस्वामी कुचिकर्णो नाम गृहपतिरासीत्। स च तासां गवामतिबहुत्वात् सहस्रादिसंख्यापरिमितानां पृथक् पृथग् अनुपालनार्थं प्रभूतान् गोपालांश्चके। ते च तासु परस्परं मीलितासु गोष्वात्मीया आत्मीयाः सम्यगजानन्तः सन्तो नित्यं कलहमकार्षुः। तांश्च तथाऽन्योन्यं विवदमानानुपलभ्यासौ तेषामव्यामोहार्थं कलहव्यवच्छित्तये शुक्लकृष्णरक्तकर्बुरादिभेदभिन्नानां गवां प्रतिगोपालं सजातीयगोसमुदायरूपा भिन्ना वर्गणा व्यवस्थापितवानिति एष दृष्टान्तः। अथोपनय उच्यते-इह गोमण्डलप्रभुकल्पस्तीर्थकरो गोपतुल्येभ्यः स्वशिष्येभ्यो गोसमूहमाने पुद्गलास्तिकायं तदसंमोहार्थं परमाण्वादिवर्गणादिविभागेन निरूपितवानिति।

एता एव वर्गणाः " ओरालविउव्व " इत्यादिगाथां व्याचिख्यासुर्निरूपयितुमाह—

एगा परमाणूणं, एगुत्तरवड्डिया तओ कमसो।
संखेज्जपएसाणं, संखेज्जा वग्गणा होंति ॥ ६३३ ॥
तत्तो संखाईआ, संखाईयप्पएसमाणाणं।
तत्तो पुणो अणंता-णंतपएसाण गंतूणं ॥ ६३४ ॥
ओरालियस्स गहण-प्पाओग्गावग्गणा अणंताओ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अग्गहणप्पाओग्गा, तस्सेव तओ अणंताओ ॥६३५॥

इह सजातीयवस्तुसमुदायो-वर्गणा,समूहो,वर्गः,राशिः,इति पर्यायाः। ततश्च समस्तलोकाकाशप्रदेशवर्तिनामेकैकपरमाणूनां समुदाय एका वर्गणा, ततः समस्तलोकवर्तिनां द्विप्रदेशिकस्कन्धानां द्वितीया वर्गणा,ततः समस्तानामपि त्रिपदेशिकस्कन्धानां तृतीया.चतुष्प्रदेशिकस्कन्धानां चतुर्थी, पञ्चप्रदेशिकस्कन्धानां पञ्चमी,षट्प्रदेशिकस्कन्धानां षष्ठी,एवमेकैकोत्तरवृद्ध्या तावन्नेयं यावत्संख्यातप्रदेशिकस्कन्धानां सर्वा अपि संख्येया वर्गणा भवन्ति,इत ऊर्द्ध्वमसंख्यातप्रदेशस्कन्धानामेकोत्तरवृद्ध्या सर्वा अप्यसंख्येया वर्गणा भवन्ति, ततश्चानन्तप्रदेशिकस्कन्धानामप्येकोत्तरवृद्ध्यौदारिकशरीरग्रहणप्रायोग्या अनन्ता वर्गणा भवन्ति औदारिकशरीरनिर्वर्तनयोग्या इत्यर्थः, ततः प्रदेशवृद्ध्या वर्द्धमाना औदारिकस्यैवाग्रहणयोग्या अनन्ता वर्गणा भवन्ति । एताश्च प्रभूतद्रव्यनिष्पन्नत्वात्सूक्ष्मपरिणामोपेतत्वाच्च औदारिकस्याग्रहणयोग्या मन्तव्याः । इह च स्वल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वाद्बादरपरिमाणयुक्तत्याच्च वैक्रियस्याप्यग्रहणयोग्या एवैताः केवलमौदारिकवर्गणानामासन्नत्वेन तदाभासत्वात्तदग्रहणयोग्या उच्यन्त इति।

अथ कार्मणपर्यन्तानां शेषवर्गणानामतिदेशमाह–

एवमजोग्गाजोग्गा, पुणो अजोग्गा य वग्गणाऽणंता ।
वेउव्वियाइयाणं, नेयं तिविगप्पमिक्केक्कं ॥ ६३६ ॥

एवमुक्तानुसारेणाऽयोग्यास्ततो योग्याः, पुनरयोग्याः प्रत्येकमनन्ता वर्गणा इति। एवं वैक्रियाऽऽहारकतैजसभाषानापानमनःकर्मणामेकैकं त्रिविकल्पं-त्रिप्रभेदं ज्ञेयमिति गाथाक्षरार्थः ।

भावार्थस्तु उच्यते-पुनरौदारिकाग्रहणप्रायोग्यवर्गणानामुपर्येकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमानाः स्वल्पद्रव्यनिष्पन्नत्वाद्बादरपरिणामयुक्तत्वाच्च वैक्रियशरीरस्याग्रहणयोग्या अनन्ता वर्गणा भवन्ति । एताश्च प्रचुरद्रव्यनिर्वृत्तत्वात्सूक्ष्मपरिणामत्वाच्च औदारिकस्याप्यग्रहणप्रायोग्या एव, केवलं वैक्रियवर्गणाऽऽसन्नत्वेन तदाभासत्वात्तदग्रहणयोग्यवर्गणाः प्रोच्यन्त इति । एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र भावनीयम् । ततश्चैकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमानाः प्रचुरद्रव्यनिर्वृत्तत्वात्तथाविधसूक्ष्मपरिणामत्वाच्च वैक्रियशरीरस्य ग्रहणयोग्या अनन्ता वर्गणा भवन्ति । ततश्चैकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमानाः प्रचुरद्रव्यत्वात् सूक्ष्मतरपरिणामत्वाच्च वैक्रियस्याग्रहणयोग्या अनन्ता वर्गणा भवन्ति , ततो वैक्रियाग्रहणयोग्यवर्गणानामनन्तरमेकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमानाः स्वल्पद्रव्यनिष्पन्नत्वाद्बादरपरिणामत्वाच्च आहारकशरीरस्याग्रहणयोग्या अनन्ता वर्गणा भवन्ति । ततश्चैकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमानाः प्रचुरद्रव्यनिष्पन्नत्वात्तथाविधसूक्ष्मतरपरिणामत्वाच्चाहारकशरीरस्य ग्रहणयोग्या अनन्ता वर्गणा भवन्ति । ततोऽप्येकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमाना बहुतमद्रव्यनिर्वृत्तत्वादतिसूक्ष्मपरिणामत्वाच्चाहारकशरीरस्याग्रहणयोग्या अनन्ता वर्गणा भवन्ति । एवं तैजसस्य, भाषायाः, आनापानयोः , मनसः , कर्म्मणश्च यथोत्तरमेकोत्तरप्रदेशवृद्ध्युपेतानां प्रत्येकमनन्तानामयोग्यानां योग्यानां पुनरयोग्यानां वर्गणानां पृथक् पृथक् त्रयमायोजनीयमिति ।

आह कथं पुनरेकैकस्यौदारिकादेः पृथक् त्रयं त्रयमिदं लभ्यते ? इत्याह—

एक्किक्कस्साईए, पज्जंतम्मि य हवंति जोग्गाइं ।
उभया जोग्गाइँ जओ, तेया भासंतरे पढई ॥ ६३७ ॥

एकैकस्यौदारिकवैक्रियादेरादौ पर्यन्ते चायोग्यानि द्रव्याणि भवन्तीति लभ्यत एव । कुतः ? उच्यते-' तयाभासा दव्वाण अंतरा ' इत्यादिवचनाद् , यतस्तैजसभाषयोरन्तरं उभयायोग्यानि द्रव्याणि पठति । इदमुक्तं भवति—यतस्तैजसस्यान्तेऽयोग्यद्रव्याणि पठति, अतः सर्वस्याप्यौदारिकादेरन्ते तानि लभ्यन्ते, यतश्च भाषाया आदौ तदयोग्यान्यधीते, अतः सर्वस्याप्यौदारिकादेरादौ तानि गम्यन्ते; उभयान्तरालवर्तिनां च सर्वेषामुभयायोग्यत्वे तुल्येऽपि यथासन्नं तत्तदाभासत्वेन तत्तदयोग्यव्यपदेश इत्युक्तमेवेति गाथाषट्कार्थः ।

अथ कर्म्माग्रहणवर्गणानामुपर्यन्या वर्गणाः सन्ति, न वा ? इत्याह–

कम्मोवरिं धुवेयर, सुण्णेयरवग्गणा अणंताओ ।
चउधुवणंतरतणुव-ग्गणा य मीसो तहा चित्तो ॥६३८॥

इयं निर्युक्तिगाथा, एतां च भाष्यकारः स्वयमेव विस्तारतो व्याख्यास्यतीति ।

तथा च भाष्यम्--

निच्चं होंति धुवाओ, इयरा लोए न होंति वि कयाइ ।
एकोत्तरवुड्ढीए, कयाइ सुण्णंतराओ वि ॥६३९॥
जाओ हवंति ताओ, सुण्णंतरवग्गण त्ति भण्णन्ति ।
निययं निरन्तराओ, होंति असुण्णंतराउ त्ति ॥ ६४० ॥

कर्मणोऽग्रहणप्रायोग्यवर्गणानामुपर्यधिकैकपरमाणूपचितातिसूक्ष्मपरिणामानन्तस्कन्धात्मकाः प्रथमा ध्रुववर्गणा भवन्ति । ततश्चैकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमानैः प्रत्येकमनन्तैः स्कन्धैर्निष्पन्ना एता अपि ध्रुववर्गणा अनन्ता भवन्ति, ध्रुवा नित्या लोकव्यापितया सर्वकालावस्थायिन्य इति भावः। अन्तदीपकं चेदम् । ततश्चैतासां ध्रुवत्वभणनेन प्रागुक्ता अपि कर्मवर्गणान्ताः सर्वा एव वर्गणा ध्रुवा इत्यवगन्तव्यम् , तासामपि सर्वत्र लोके सदैवाव्यवच्छेदात् । अन्यच्च-एताश्च ध्रुववर्गणा वक्ष्यमाणाश्चाध्रुवाद्याः सर्वाः अप्यग्रहणवर्गणाः, अतिबहुद्रव्योपचितत्वेनातिसूक्ष्मपरिणामत्वेन च सर्वजीवैरौदारिकादिभावेन कदाचिदप्यग्रहणादिति । इतश्चोर्ध्वमित्थमेवैकोत्तरवृद्धिक्रमेण वर्द्धमाना ध्रुववर्गणाभ्य इतरा अध्रुववर्गणा अनन्ता भवन्ति । एताश्च तथाविधपुद्गलपरिणामवैचित्र्यात्कदाचिल्लोके न भवन्त्यपि । अत एवाध्रुवा एता उच्यन्ते । ततश्च शून्या इतराश्चाशून्या वर्गणा भवन्ति । इह च सूचकत्वात्सूत्रस्याह 'एकोत्तरे' त्यादि एकोत्तरवृद्ध्या कदाचिच्छून्यानि व्यवहितान्यन्तराणि यासां ताः शून्यान्तरा अपि भवन्ति यास्ताः शून्यान्तरवर्गणा भण्यन्ते । एता ह्येकोत्तरवृद्ध्या निरन्तरमनन्ताः सदैव प्राप्यन्ते, परं कदाचिदेकोत्तरवृद्धिरेतास्वन्तराऽन्तरा त्रुट्यति, न तु नैरन्तर्येण प्राप्यन्त इति भावः। एकोत्तरवृद्ध्या सर्वदैवाशून्यान्यव्यवहितान्यन्तराणि यासां ता· अशून्यान्तराः । एता ह्यशून्यान्तर–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्गणा एकोत्तरवृद्ध्या निरन्तरमेव लोके सदैव प्राप्यन्ते, न पुनरेकोत्तरवृद्धिरेतास्वन्तराले कदापि त्रुट्यतीति भावः।

"चउधुवणंतरे" इत्यादि व्याचिख्यासुराह—

धुवणंतराइ चत्ता-रि जं धुवाइं अणंतराइं च।
भेयपरिणामओ जा, सरीरजोग्गत्तणाभिमुहा ॥६४७॥
खंधदुगदेहजोग्ग-त्तणेण वा देहवग्गणाउ त्ति।
सुहुमोदरगयवायर-परिमाणो मीसयक्खंधो ॥६४२॥

ततोऽशून्यान्तरवर्गणानामुपरि ध्रुवानन्तराणि चत्वारि वर्गणाद्रव्याणि भवन्ति, यद्यस्मात्तानि ध्रुवाणि सर्वकालभावीनि, अनन्तराणि च निरन्तरैकोत्तरवृद्धिभाञ्जीति। इदमुक्तं भवति—आद्या ध्रुवानन्तरवर्गणा अनन्ता भवन्ति, एवमेतावत्यो द्वितीयाः, तृतीयाः, चतुर्थ्यश्च वाच्याः। ध्रुववर्गणाः प्रागप्युक्ताः, परं ताभ्य एता भिन्ना एव न पुनस्तास्वन्तर्भवन्ति, अतिसूक्ष्मपरिणामत्वाद्बहुद्रव्योपचितत्वाच्चेति पृथगुक्ताः। आह--ननु भवत्वेवम्, केवलं यद्येता निरन्तरमेकोत्तरवृद्धिभाजस्तर्हि चातुर्विध्ये किं कारणम् ?, सत्यम्, किंतु चतसृणामपि वर्गणानां मध्येष्वेव नैरन्तर्येणैकोत्तरवृद्धिः प्राप्यते, अन्तरालेषु पुनस्तस्यास्त्रुटिसंभवे सत्येव भिन्नवर्गणारम्भः, अन्यद्वा—किंचिद्वर्णादिपरिणामवैचित्र्यं तद्भेदारम्भे कारणम्, इति बहुश्रुता विदन्तीति। एवं वक्ष्यमाणतनुवर्गणास्वपि वाच्यमिति। एतासां चतसृणां ध्रुवानन्तरवर्गणानामुपरि प्रत्येकमेकोत्तरवृद्धियुक्तानन्तवर्गणात्मिकाश्चतस्र एव तनुवर्गणा भवन्ति, एताश्च तनूनामौदारिकादिशरीराणां भेदाऽभेदपरिणामाभ्यां योग्यत्वाभिमुखा इति तनुवर्गणा-देहवर्गणा उच्यन्ते। अथवा-वक्ष्यमाणमिश्रस्कन्धाचित्तस्कन्धद्वयस्य तनुर्देहः शरीरं मूर्तिरिति यावत् तद्योग्यत्वाभिमुखा वर्गणाः। अथ मिश्रस्कन्धस्वरूपं विवरीषुराह—'सुहुमो' इत्यादि। 'दरगय' त्ति दरगत ईषत्प्राप्तस्तद्योग्यत्वाभिमुख्येन बादरः परिणामो येनाऽसौ दरगतबादरपरिणामः,अनन्ताऽनन्तपरमाणुप्रचितः सूक्ष्मपरिणाम एवेषद्बादरपरिणामाभिमुखः स्कन्धो मिश्र इत्यर्थः। (विशे०।) ('खंध' शब्दे तृतीयभागे ६६६ पृष्ठे चित्तमहास्कन्धवक्तव्यता गता।)

अथ 'विवज्जासओ खेत्ते' एतद्व्याचिख्यासुः क्षेत्रादिवर्गणास्वरूपमाह—

एगपएसोगाढा-ण वग्गणेगा पएसवुड्ढीए।
संखेज्जोगाढाणं, संखेज्जा वग्गणा तत्तो ॥६४७॥
तत्तो संखाईया, ऽसंखाईयप्पएसमाणाणं।
गंतुमसंखेज्जाओ, जोग्गाओ कम्मुणो भणिया ॥६४८॥
तत्तो संखाईया, तस्सेव पुणो हवंति जोग्गाओ।
माणसदव्वाईण वि, एवं तिविगप्पमेक्केक्कं ॥६४६॥

विपर्यासतो-विपर्यासेन पश्चान्मुखः क्षेत्रविषयो वर्गणाक्रमो वेदितव्यः, न तु द्रव्यवर्गणावदिति भावः। इदमुक्तं भवति-परमाणूनां द्व्यणुकाद्यनन्ताणुकपर्यन्तस्कन्धानां चैकाकाशप्रदेशावगाहिनां सर्वेषामप्येका वर्गणा, द्व्यणुकाद्यनन्ताणुकपर्यन्तस्कन्धानामेव द्विप्रदेशावगाहिनां द्वितीया वर्गणा, त्र्यणुकाद्यनन्ताणुकपर्यन्तस्कन्धानामेव त्रिप्रदेशावगाहिनां तृतीया वर्गणा,एवमेकैकप्रदेशवृद्ध्या संख्येयप्रदेशावगाहिनां स्कन्धानां संख्येया वर्गणाः, ततोऽसंख्येयप्रदेशावगाहिनामपि स्कन्धानां प्रदेशवृद्ध्याऽसंख्या वर्गणा गत्वाऽतिलङ्घ्याऽसंख्यप्रदेशावगाहिस्कन्धानामेव एकैकाकाशप्रदेशवृद्ध्या वर्द्धमानाः कर्मणो ग्रहणयोग्या असंख्येया वर्गणास्तीर्थकरैर्भणिताः। ततोऽनन्तरमल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वाद्बादरपरिणामत्वेन बह्वाकाशप्रदेशावगाहित्वाच्च तस्यैव कर्म्मणोऽग्रहणयोग्या एकैकाकाशप्रदेशवृद्ध्या वर्द्धमाना असंख्येया वर्गणा भवन्ति। ततश्चैवमेकैकाकाशप्रदेशावगाहवृद्ध्या वर्द्धमाना मनसोऽप्यसंख्येया अग्रहणवर्गणाः पुनरेतावत्य एव तस्यैव ग्रहणवर्गणाः पुनरेतावत्प्रमाणा एव तस्यैवाग्रहणवर्गणा वाच्याः। एवमानापानयोः, भाषायाः, तैजसस्य, आहारकस्य, वैक्रियस्य, औदारिकस्य चायोग्ययोग्यायोग्यवर्गणानां क्षेत्रतोऽपि प्रतिलोमं त्रयं त्रयं प्रत्येकमायोजनीयमिति। ध्रुवादिवर्गणास्कन्धा अपि प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयभागप्रदेशावगाहिनोऽवगन्तव्याः, परं तच्चिन्तेह न कृता, जीवैः शरीरादौ क्वचिदप्यनुपयुज्यमानत्वेन ध्रुवादिवर्गणानामग्रहणाद्। अथवा—कर्मणोऽग्रहणवर्गणानां मध्ये तासामप्यन्तभावो द्रष्टव्यः। द्रव्यवर्गणाधिकारे तु पृथगेतत्स्वरूपमात्रज्ञापनार्थं विस्तरेण कृता तच्चिन्तेति मन्तव्यमिति। कालभाववर्गणास्तु समयासमयादिस्थितिमात्रं वर्णादिमात्रं चाङ्गीकृत्य सामान्येन वक्ष्यन्ते। अतस्ताभिः सर्वोऽपि पुद्गलास्तिकायः संगृह्यते इति भावनीयमिति। तदेवमभिहिताः क्षेत्रवर्गणाः।

अथ कालवर्गणाः प्राह—

एगा समयठिईणं, संखेज्जा संखसमयठिइयाणं।
होंति असंखेज्जाओ, तओ असंखेज्जसमयाणं ॥६५०॥

विवक्षितपरिणामेन य एकैकसमयमात्रस्थितयस्तेषां सर्वेषामप्येका वर्गणा, ते पुनरविशेषेण परमाणवः स्कन्धाश्च मन्तव्याः, एवमेकैकसमयवृद्ध्या संख्येयसमयस्थितीनां परमाण्वादीनां संख्येया वर्गणाः, असंख्येयसमयस्थितीनां त्वसंख्येया वर्गणा भवन्ति। एवमेताभिः सर्वोऽपि पुद्गलास्तिकायः संगृह्यते, एकसमयाद्यसंख्येयसमयान्तायाः स्थितेर्बहिः पुद्गलानां स्थितेरेवाभावादिति।

अथ भाववर्गणाः प्राह—

एगाएगगुणाणं, एगुत्तरवड्ढिया तओ कमसो।
संखेज्जगुणाण तओ, संखेज्जा वग्गणा होंति ॥६५१॥
संखाईयगुणाणं, संखाईया य वग्गणा तत्तो।
होंति अणंतगुणाणं, दव्वाणं वग्गणाऽणंता ॥६५२॥
वण्णरसगन्धफासा, ण होंति वीसं समासभेएणं।
गुरुलहुअगुरुलहूणं, बायरसुहुमाण दो वग्गा।

एकगुणानामेकगुणकृष्णानामित्यर्थः, परमाणूनां स्कन्धानां च सर्वेषामप्येका वर्गणा, कृष्णवर्णगुणद्वययुक्तानां तु परमाण्वादीनां द्वितीया वर्गणा; कृष्णवर्णगुणत्रययुक्तानां तु तेषां तृतीया वर्गणा। एवमेकैकगुणवृद्ध्या संख्येयकृष्णवर्णगुणानां संख्येया वर्गणाः, असंख्येयकृष्णवर्णगुणानामसंख्येया वर्गणाः, अनन्तकृष्णवर्णगुणानामनन्ता व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गणा भवन्ति। एवमेकगुणनीलानाम्, संख्येयगुणनीलानाम्, असंख्येयगुणनीलानाम्, अनन्तगुणनीलानामपि वाच्यम्। एवं कृष्ण-नील-लोहित-हारिद्र-शुक्लत्वणाः पञ्च वर्णाः, सुरभीतरौ द्वौ गन्धौ, तिक्त-कटु-कषाया-ऽम्ल-मधुराः पञ्च रसाः, कर्कश-मृदु-गुरु-लघु-शीतो-ष्ण-स्निग्ध-रूक्षास्त्वष्टौ स्पर्शाः, एवमेतेषु वर्णगन्धादिगत-विंशतिभेदेषु प्रत्येकं सर्वत्रैकगुणानामेका, संख्येयगुणानां संख्येयाः, असंख्येयगुणानामसंख्येयाः, अनन्तगुणानामनन्ता वर्गणा वाच्याः। नवरं यो यत्र वर्णगन्धादिभेदस्तत्र तदभिलापः कार्य इति। तथा गुरुलघुपर्यायाणां बादरपरिणामान्वितवस्तूनामेका वर्गणा, अगुरुलघु-पर्यायाणां तु सूक्ष्मपरिणामपरिणतवस्तूनामेका वर्गणा, एवमेतौ द्वावेव वर्गौ भवतः। तदेवमेताभिर्भाववर्गणाभिः सर्वोऽपि पुद्गलास्तिकायः संगृह्यते, यथोक्त-वर्णादिभावेभ्योऽन्यत्र पुद्गलानामभावादिति। विशे०।

सम्प्रति प्रदेशबन्धस्यावसरः, ते च प्रदेशाः कर्मवर्गणास्कन्धानां सम्बन्धिनो जीवेनात्मसात्क्रियन्ते अतः क्रमेवर्गणास्वरूपं वक्तव्यम्। तच्च प्राचीनवर्गणास्वरूपे निगदिते ज्ञातुं शक्यमतः प्रसङ्गतः शेषवर्गणास्वरूपमपि निगदनीयम्। शेषाः पुनरौदारिकाद्याः, ताश्च ग्रहणप्रायोग्याऽग्रहणप्रायोग्यभेदाद् द्विधा, अत एकाणुकद्व्यणुकादिस्कन्धनिष्पन्ना अग्रहणवर्गणाद्याः कर्मवर्गणावसाना वर्गणाः सजातीयद्रव्यसमुदायरूपा निरूपयन्नाह—

सेसम्मि दुहा इग दुग-णुगाइ जा अभवणंतगुणियाणु।
खंधाउरलो चिय व-ग्गणाउ तह अगहणंतरिया ॥७५॥

'सेसम्मि दुह' त्ति पदम् अनुबन्धबन्धाधिकारे बहुभिः प्रकारैर्व्याख्यातमित्यनुभागबन्धः समर्थितः। अणुकशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते। ततः केवलोऽणुरेवाणुकः—परमाणुरित्यर्थः। एकोऽणुको यत्र स एकाणुः, द्वौ अणुकौ यत्र स द्व्यणुकः, एकाणुकद्व्यणुकस्कन्धा आदिर्येषां त्र्यणुकादीनां ते एकाणुकद्व्यणुकादयः। "मयूरव्यंसकेत्यादयः" (३—१—११६) इति मध्यमपदलोपी समासः। विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्। किमवसाना इत्याह—"जा-अभवणंते" त्यादि। यावदित्यव्ययं पर्यवसानार्थे अभव्येभ्योऽनन्तगुणिताः, उपलक्षणत्वात् सिद्धानामनन्तभागेऽणवो येषां ते अभव्यानन्तगुणिताणवः। गमकत्वात्समासः। स्कन्धाः द्विपरमाण्वादिरूपाः। अयमर्थः—एकाणुकद्व्यणुकादयः स्कन्धाः एकैकपरमाणुवृद्ध्या तावन्नेया यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नास्ते स्कन्धा एवंभूताः। किमित्याह—औदारिकोचितवर्गणाः भवन्ति। तत्रोदाराः स्फारतामात्रसारा वैक्रियादिशरीरपुद्गलापेक्षया स्थूला इत्यर्थः, तैरित्थंभूतैः पुद्गलैर्निष्पन्नमौदारिकशरीरं तस्यौदारिकस्य निष्पत्तौ कर्त्तव्यायामुचिता-योग्या औदारिकोचिताः, ताश्च ता वर्गणाश्च समानजातीयपुद्गलसमूहात्मिका औदारिकोचितवर्गणा भवन्तीत्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्—इह समस्तलोकाकाशप्रदेशेषु ये केचन एकाकिनः परमाणवो विद्यन्ते तत्समुदायः सजातीयत्वादेका वर्गणा, एवं द्विप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्वात् द्वितीया वर्गणा, त्रिप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्वात् तृतीया वर्गणा, एवमेकैकपरमाणुवृद्ध्या संख्येयप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयसमुदायरूपाः संख्याता वर्गणाः, असंख्यातप्रदेशिकस्कन्धानामेकैकपरमाणुवृद्धानामसंख्येया वर्गणाः, अनन्तपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धानामनन्ता वर्गणाः, अनन्तानन्तप्रादेशिकानां स्कन्धानामनन्तानन्तवर्गणाः, सर्वा अप्येता अल्पपरमाणुमयत्वेन स्थूलपरिमाणतया च स्वभावाज्जीवानां ग्रहे न समागच्छन्तीत्यग्रहणवर्गणा एताः सर्वा अप्युच्यन्ते। एताश्च सर्वाः समतिक्रम्य अभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नैः स्कन्धैरारब्धा ग्रहणप्रायोग्या जघन्यौदारिकवर्गणा भवन्ति। तत आरभ्यैकैकपरमाणुवृद्धस्कन्धारब्धा औदारिकशरीरयोग्योत्कृष्टवर्गणां यावदेता अपि जघन्योत्कृष्टमध्यवर्तिन्योऽनन्ता वर्गणा भवन्ति। यतो जघन्यायाः सकाशादुत्कृष्टाया अनन्तभागाधिकत्वं वक्ष्यते, अनन्तभागश्चानन्तपरमाणुमयः; तत एकोत्तरप्रदेशोपचये सति मध्यवर्तिनीनामानन्त्यं न विरुध्यते। "तह अग्गहणंतरिय" त्ति तथा तेनैकपरमाणूपचयरूपेण प्रकारेणाग्रहणान्तरिता अग्रहणवर्गणान्तरिता वर्गणा भवन्ति। एतदुक्तं भवति—औदारिकशरीरोत्कृष्टवर्गणाभ्यः परत एकपरमाणुसमधिकस्कन्धरूपा वर्गणा औदारिकशरीरस्यैव जघन्याऽग्रहणप्रायोग्या, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया अग्रहणप्रायोग्या, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणास्तावद्वाच्या यावदुत्कृष्टा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवन्ति। जघन्यायाश्च वर्गणायाः सकाशादुत्कृष्टा वर्गणा अनन्तगुणा। गुणकारश्चाभव्यानन्तगुणसिद्धानन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः। एतासां चाग्रहणप्रायोग्यतौदारिकं प्रति प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामत्वाच्च वेदितव्येति।

एमेव विउव्वाहा-र-तेयभासाणुपाणमणकम्मे।
सुहुमा कम्मोवगाहो, ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥

एवमेव, वकारलोपः "यावत्तावज्जीवितवर्त्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः" ॥८।१।२७१॥ इति प्राकृतसूत्रेण, पूर्वौक्तौदारिकशरीरग्रहणप्रायोग्याग्रहणप्रायोग्यवर्गणान्यायेन वैक्रियाहारक-तैजस-भाषाऽऽना-पान-मनः-कर्मविषया वर्गणा भवन्ति। तत्र विधिना—नानाप्रकारा क्रिया विक्रिया, तथा च तद्धेतुभूतायाः क्रियायाः वैक्रियसमुद्घात-करणदण्डनिसर्गादिविविधत्वं प्रज्ञप्त्यादिषु निर्दिष्टमेव, औदारिकाद्यपेक्षया वा विशिष्टा-विलक्षणा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियं शरीरम्, तथा अपूर्वार्थग्रहणादिनिमित्तमुत्कृष्टो हस्तप्रमाणं चतुर्दशपूर्वविदाऽऽह्रियते-गृह्यते यत्तदाहारकम्, "कृदबहुलम्" (५।१।२) इति कर्मणि णकः यथा पादहारक इत्यादौ। यद्वा—आह्रियन्ते—गृह्यन्ते सूक्ष्मा जीवादयः पदार्था: केवलिसमीपेऽनेनेति निपातनादाहारकम्। तथा आहारपाककारणभूतास्तेजोनिसर्गहेतवश्चोष्णाः पुद्गलास्तेज इत्युच्यन्ते, तेजसा निर्वृत्तं तैजसं शरीरं सूत्रमादिलिङ्गगम्यम्, तथा—भाषणं भाषा। तथा आनापानौ-उच्छ्वासनिःश्वासः। तथा-मन्यते-चिन्त्यते वस्त्वनेनेति मनः। तथा-कार्मणा नाम कर्मोत्तरप्रकृत्या निर्वृत्तं कार्मणं ज्ञानावर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णीयाद्यष्टविधकर्मस्वप्रायोग्यपुद्गलानां गृहीतानां तत्तद्रूपेण परिणामजनकमित्यर्थः। ततो वैक्रियादिनिष्पत्तियोग्याः पुद्गलवर्गणा अपि वैक्रियादिशब्दैः प्रोच्यन्ते, यावज्ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मपरिणामहेतुकं दलिकमपि कार्मणवर्गणेति तता वैक्रियं चाहारकं च तैजसं च भाषा चाऽऽनापानश्च मनश्च कार्मणं चेति समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् वैक्रियाहारकतैजसभाषाऽऽनापानमनः कार्मणे। एता वैक्रियाद्या वर्गणा अग्रहणवर्गणान्तरिता भवन्ति इत्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्-तत्र या पूर्वमौदारिकं प्रति प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नत्वात्सूक्ष्मपरिणामत्वाच्चाग्रहणप्रायोग्या वर्गणा उक्तास्ता एव वैक्रियं प्रति स्वल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वात् स्थूलपरिणामत्वाच्चाग्रहणप्रायोग्या वर्गणा वदितव्याः। ततोऽग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया च एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा वैक्रियशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्वरूपा द्वितीया वैक्रियशरीरस्य ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वैक्रियशरीरप्रायोग्या वर्गणास्तावद्वाच्या यावदुत्कृष्टा ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्चोत्कृष्टा अनन्तगुणेति। एवं सर्वत्र वैक्रियशरीरोत्कृष्टवर्गणापेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा जघन्या अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा। ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया अग्रहणप्रायोग्या। एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा अग्रहणप्रायोग्यावर्गणास्तावद्वाच्या यावदुत्कृष्टा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणाः। एताश्च प्रभूतद्रव्यनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामोपेतत्वाच्च वैक्रियशरीरस्याग्रहणयोग्याः। आहारकस्याप्यल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वाद्बादरपरिणामोपेतत्वाच्चाग्रहणयोग्या, एवमुत्तरत्रापि भावना कार्या। अग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा आहारकशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, जघन्याद्या उत्कृष्टान्ताः। एता अपि यथोत्तरमेकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता भवन्ति, ततस्तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा आहारकतैजसयोरुक्तादेव हेतोरयोग्या जघन्या अग्रहणवर्गणा, जघन्याद्या उत्कृष्टान्ताः। एता अप्येकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता एव मन्तव्याः। तदुपरि च रूपाधिकस्कन्धारब्धा तैजसशरीरनिष्पादनहेतुर्जघन्या तैजसशरीरवर्गणा, जघन्याया उत्कृष्टं यावदेता अप्येकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता एव मन्तव्याः। तदुपरि चैकोत्तरपरमाण्वारब्धाः स्कन्धाः प्रागुक्तहेतोरेव तैजसभाषयोरयोग्यत्वादनन्ता अग्रहणवर्गणा वाच्याः। तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या भाषावर्गणा यां भाषार्थं जीवोऽवलम्बते, यां च गृहीत्वा चतुर्विधभाषात्वेन परिणमय्य विसृजतीति भावः। जघन्याया उत्कृष्टं यावदेता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता ज्ञेयास्तदुपरि च रूपाधिकस्कन्धैराब्धा जघन्या अग्रहणवर्गणा जघन्यामादौ कृत्वोत्कृष्टं यावदेता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता अवसेयाः। तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या आनापानवर्गणा भवति, यां गृहीत्वा आनापानभावं नयति, जघन्याया आरभ्योत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता मन्तव्याः। ततस्तदुपरि पुनरेकैकोत्तरस्कन्धारब्धा जघन्याद्या उत्कृष्टान्ता अनन्ता एवाग्रहणवर्गणा वाच्याः। तदुत्कृष्टा ग्रहणवर्गणोपरि रूपे प्रक्षिप्ते जघन्या मनोनिष्पत्तिहेतुर्मनोवर्गणा भवति, यां गृहीत्वा जीवः सत्यासत्यादिचतुर्विधमनोयोगभावेन परिणमय्य चिन्तयति, जघन्याद्या उत्कृष्टान्ताः, एता अप्येकैकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता अवसेयाः। ततस्तदुपरि एकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा जघन्याद्या उत्कृष्टवर्गणान्ता अनन्ता अग्रहणवर्गणाः। तत उत्कृष्टाग्रहणवर्गणोपरि रूपे प्रक्षिप्ते जघन्या ज्ञानावरणादिहेतुभूता कार्मणवर्गणा भवति जघन्याया उत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता मन्तव्याः। अत्रौदारिकादिवर्गणा आदौ कृत्वा जघन्यमध्यमोत्कृष्टा अग्रहणग्रहणप्रायोग्या वर्गणाः। औदारिकाग्रहणवर्गणाः १ औदारिकग्रहणवर्गणाः २ अग्रहणवर्गणाः ३ वैक्रियग्रहणवर्गणाः ४ अग्रहणवर्गणाः ५ आहारकवर्गणाः ६ अग्रहणवर्गणाः ७ तैजसग्रहणवर्गणाः ८ अग्रहणवर्गणाः ९ भाषावर्गणाः १० अग्रहणवर्गणाः ११ आनापानवर्गणाः १२ अग्रहणवर्गणाः १३ मनोग्रहणवर्गणाः १४ अग्रहणवर्गणाः १५ कार्मणग्रहणवर्गणाः १६ एवमेता औदारिकाद्याः कार्मणवर्गणावसाना वर्गणाः प्ररूपिताः। इत ऊर्द्धमन्यत्र कर्मप्रकृत्यादिष्वन्या अपि ध्रुवाचित्ताद्या वर्गणा निरूपिताः, ताश्चेहानुपयोगित्वेन नोक्तास्तत एवावसेयाः, संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्प्रस्तुतप्रारम्भस्येति। उक्ता वर्गणाः, एताश्च बहुतरपरमाणुनिचयरूपा अभिहिताः, अतः कियन्मात्रं क्षेत्रं ता व्याप्नुवन्तीत्याह-"सुहुमा-कम्मे" त्यादि एता औदारिकाद्या वर्गणाः क्रमात् क्रमेणोत्तरोत्तरपरिपाट्या सूक्ष्मा ज्ञातव्याः। अयमर्थः—प्रथममग्रहणवर्गणा औदारिकस्य सूक्ष्माः, ततस्तस्यैव ग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तस्यैव अग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। ततो वैक्रियस्य ग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। तत आहारकग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। ततस्तैजसस्य ग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। ततो भाषाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, । तत आनापानग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। तत आनापानग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततो मनोग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततः कार्मणग्रहणवर्गणाः सूक्ष्मा इति। "अवगाहो ऊणुणंगुलअसंखंसु" त्ति अवगाहन्ते अवस्थानं कुर्वन्ति वर्गणा यस्मिन्नसावघगाहोऽवस्थानक्षेत्रम्, स च कियन्मात्र इत्याह—ऊनोनाङ्गुलासंख्येयांशो न्यूनो न्यूनतरोऽङ्गुलस्यासंख्येयांशोऽङ्गुलासंख्येयभागो यत्र स तथा। एतदुक्तं भवति पुद्गलद्रव्याणां हि यथा यथा प्रभूतपरमाणुनिचयः संपद्यते तथा तथा सूक्ष्मसूक्ष्मतरः परिणामः संजायते, तत औदारिकवर्गणाः स्कन्धानामवगाहनाङ्गुलासंख्यभागः, स एव तदग्रहणवर्गणानां न्यूनः। स एव वैक्रियग्रहणवर्गणानां न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः। आहारकग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः तैजसग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः। भाषाग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः। आनापानग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः। मनोग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः। कार्मणग्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हणवर्गणानां स एवाङ्गुलासंख्येयभागो न्यूनतर इति । उक्तं वर्गणानां स्वरूपमवगाहक्षेत्रमानं च ।

अधुनैकादिवृद्ध्या वर्द्धमानानामग्रहणवर्गणानां परिमाणनिरूपणायाह—

इक्किकहिया सिद्धा-णंतं सा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया, नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥७७॥

एकैकपरमाणुः प्रतिस्कन्धमधिक उत्तरप्रवृद्धो यासु ता एकैकाधिका एकैकपरमाणुवृद्धा इत्यर्थः । अग्रहणवर्गणा भवन्तीति योगः । कियत्य इत्याह-सिद्धानन्तांशाः सिद्धानामनन्तोंऽशो भागो यासां ताः सिद्धानन्तांशाः सिद्धानन्तभागवर्तिन्यः । उपलक्षणत्वादभव्यानन्तगुणाः । आसामाधारनिरूपणायाह—अन्तरेषु—अन्तरालेष्वौदारिकवैक्रियादिवर्गणामध्येष्वित्यर्थः अग्रहणा-अग्रहणवर्गणाः । एतदुक्तं भवति-निजनिजजघन्याग्रहणवर्गणैकस्कन्धे ये परमाणवस्तेऽभव्यराशिप्रमाणेनानन्तकेन गुणिता यावन्तो भवन्ति तावत्योऽग्रहणवर्गणा एकैकपरमाणुवृद्ध अन्तरेषु मन्तव्याः । अधुना ग्रहणयोग्यवर्गणासु निजनिजजघन्यवर्गणायाः सकाशात् स्वस्वोत्कृष्टवर्गणायां यावन्मात्राधिकत्वं तदाह-'सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणंतसाहिया जिट्ठा' सर्वत्र-सर्वास्वप्यौदारिकवैक्रियाहारकतैजसभाषानापानमनः-कार्मणवर्गणासु, जघन्या चासावुचिता च योग्या च जघन्योचिता योग्यजघन्येत्यर्थः । तस्याः सकाशात्प्राकृतत्वात्पञ्चम्येकवचनस्य लुप् । निजेन स्वकीयेनानन्तांशेनानन्तभागेनाधिका समर्गला भवति । काऽसावित्याह-ज्येष्ठा उत्कृष्टा । किमुक्तं भवति-औदारिकजघन्यग्रहणवर्गणारम्भकस्कन्धस्यानन्तभागे यावन्तोऽणवस्तत्प्रमाणेन विशेषेणोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैकस्कन्धोऽधिको मन्तव्यः । अत एवानन्तभागलब्धपरमाणूनामनन्तत्वेनैकैकपरमाणुवृद्ध्या जायमाना जघन्योत्कृष्टान्तरालवर्तिन्य औदारिकवर्गणा अप्यनन्ताः सिद्धा भवन्ति, एवं वैक्रियाहारकतैजसभाषाऽऽनापानमनःकार्मणवर्गणास्वपि ग्रहणप्रायोग्यासु निजनिजजघन्यवर्गणारम्भकस्कन्धस्यानन्तभागे ये अनन्तपरमाणवस्तावन्मात्रेणानन्तभागेन स्वस्वोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैकः स्कन्धोऽधिको वाच्यः, तस्य चानन्तभागस्यानन्तपरमाणुमयत्वेनैकैकपरमाणुवृद्धाः सर्वग्रहणवर्गणा अप्यनन्ता अवसेयाः, केवलमुत्तरोत्तरवर्गणा स्कन्धानामनन्तगुणपरमाणूपचितत्वेनानन्तभागोऽप्युत्तरानुप्रवृद्धप्रवृद्धतरप्रवृद्धतमादिभेदेन नानाविधो दृश्य इति । कर्म० ५ कर्म० । क० प्र० । पं० सं० । आ० चू० । आचा० ।

दण्डकक्रमेण वर्गणा उच्यन्ते—

एगा णेरइयाणं वग्गणा, एगा असुरकुमाराणं वग्गणा, चउवीसं दंडओ० जाव एगा वेमाणियाणं वग्गणा, एगा भवसिद्धियाणं वग्गणा, एगा अभवसिद्धियाणं वग्गणा, एगा भवसिद्धियाणं णेरइयाणं वग्गणा-एगा अभवसिद्धियाणं णेरइयाणं वग्गणा, एवं ०जाव एगा भवसिद्धियाणं वेमाणियाणं वग्गणा, एगा अभवसिद्धियाणं वेमाणियाणं वग्गणा, एगा सम्मद्दिट्ठियाणं वग्गणा, एगा मिच्छद्दिट्ठियाणं वग्गणा, एगा सम्मामिच्छद्दिट्ठियाणं वग्गणा, एगा सम्मद्दिट्ठियाणं णेरइयाणं वग्गणा, एगा मिच्छद्दिट्ठियाणं णेरइयाणं वग्गणा, एगा सम्मामिच्छद्दिट्ठियाणं णेरइयाणं वग्गणा, एवं० जाव थणियकुमाराणं वग्गणा, एगा मिच्छद्दिट्ठियाणं पुढविकाइयाणं वग्गणा, एवं ०जाव वणस्सइकाइयाणं, एगा सम्मद्दिट्ठियाणं बेइंदियाणं वग्गणा, एगा मिच्छद्दिट्ठियाणं बेइंदियाणं वग्गणा, एवं तेइंदियाणं वि, चउरिंदियाणं वि, सेसा जहा नेरइया ०जाव एगा सम्मामिच्छद्दिट्ठियाणं वेमाणियाणं वग्गणा, । एगा कण्हपक्खियाणं वग्गणा, एगा सुक्कपक्खियाणं वग्गणा, एगा कण्हपक्खियाणं णेरइयाणं वग्गणा, एगा सुक्कपक्खियाणं णेरइयाणं वग्गणा, एवं चउवीसदंडओ भाणियव्वो । एगा कण्हलेस्साणं वग्गणा, एगा णीललेस्साणं वग्गणा, एवं ०जाव सुक्कलेस्साणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं नेरइयाणं वग्गणा ०जाव काउलेस्साणं नेरइयाणं वग्गणा, एवं जस्स जति लेस्साओ, भवणवइवाणमंतरपुढविआउवणस्सइकाइयाणं च चत्तारि लेस्साओ, तेउवाउबेइंदियतेंदियचउरिंदियाणं तिन्नि लेस्साओ, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं छल्लेस्साओ, जोइसियाणं एगा तेउलेस्सा वेमाणियाणं तिन्नि उवरिमलेस्साओ, एगा कण्हलेसाणं भवसिद्धियाणं वग्गणा, एवं छसु वि लेस्सासु दो दो पयाणि भाणियव्वाणि । एगा कण्हलेस्साणं भवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं अभवसिद्धियाणं णेरइयाणं वग्गणा, एवं जस्स जति लेस्साओ तस्स तति भाणियव्वाओ ०जाव वेमाणियाणं । एगा कण्हलेसाणं सम्मद्दिट्ठियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेस्साणं मिच्छद्दिट्ठियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेस्साणं सम्मामिच्छद्दिट्ठियाणं वग्गणा, एवं छसु वि लेसासु ०जाव वेमाणियाणं जेसिं जति दिट्ठीओ । एगा कण्हलेसाणं कण्हपक्खियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेस्साणं सुक्कपक्खियाणं वग्गणा ० जाव वेमाणियाणं, जस्स जति लेस्साओ एए अट्ठ चउवीसदंडया । (सू० ५१×)

तत्र 'नेरइयाणं' ति निर्गतम्—अविद्यमानमयम्—इष्टफलं कर्म्म येभ्यस्ते निरयास्तेषु भवा नैरयिकाः—क्लिष्टसत्त्वविशेषाः, ते च पृथ्वीप्रस्तटनरकावासस्थितिभव्यत्वादिभेदादनेकविधास्तेषां च सर्वेषां वर्गणा वर्गः—समुदायः, तस्याश्चैकत्वं सर्वत्र नारकत्वादिपर्यायसाम्यादिति । तथा असुराश्च ते नवयौवनतया कुमारा इव कुमाराश्चेत्यसुर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुमारास्तेषामेका वर्गणेति, ' चउवीसदंडउ ' त्ति चतुर्विंशतिपदप्रतिबद्धो दण्डको वाक्यपद्धतिश्चतुर्विं—शतिदण्डकः, स इह वाच्य इति शेषः, (स्था०) एतदनुसारेण सूत्राणि वाच्यानि, यावच्चतुर्विंशतितमम्। ' एगा वेमाणियाणं वग्गणा ' त्ति, एष सामान्यदण्डकः १; ननु नारकसत्त्वैव दुरुपपादा आस्तां तद्धर्म्मभूताया वर्गणाया एकत्वमनेकत्वं चेति, तथाहि-न सन्ति नारकाः तत्साधकप्रमाणाभावात्, व्योमकुसुमवत्। अत्रोच्यते—प्रमाणाभावादित्यसिद्धो हेतुः, तत्साधकानुमानसद्भावात्, तथाहि—विद्यमानभोक्तृकं प्रकृष्टपापकर्म्मफलम् कर्म्मफलत्वात्, पुण्यकर्म्मफलवत्। न च तिर्यङ्नरा एव प्रकृष्टपापफलभुजः, तस्यौदारिकशरीरवता वेदयितुमशक्यत्वात्, विशिष्टसुरजन्मनिबन्धनप्रकृष्टपुण्यफलवत्। आह च—" पावफलस्स पगिट्ठ—स्स भोइणो कम्मओऽवसेस व्व। संति धुवं तेऽभिमया, नेरइया अह मई होज्जा ॥ १ ॥ अच्चत्थदुक्खिया जे, तिरियनरा नारग त्ति तेऽभिमया। तं न जओ सुरसोक्ख-प्पगरिससरिसं न तं दुक्खं ॥ २ ॥ " इति। "अवसेसव्व" त्ति यथा नारकेभ्योऽन्ये तिर्यङ्नरा इत्यर्थः, अथ सुराणामपि विवादास्पदीभूतत्वात् विशिष्टसुरजन्मनिबन्धनप्रकृष्टपुण्यफलवत् इत्यसि—द्धो दृष्टान्तः। अत्रोच्यते-देव इति सार्थकं पदम्, व्युतव्युत्पत्तिमत्, शुद्धपदत्वात्, घटाभिधानवदिति। ततः सन्ति देवा इति प्रत्यनव्यम्। अथ मनुष्येण गुणर्द्धिसंपन्नेनार्थवद् भविष्यति देवपदमिति न विवक्षितदेवसिद्धिरिति। अत्रोच्यते—यदिदं नरविशेषे देवत्वं तदौपचारिकम्, उपचारश्च तथ्यार्थसिद्धौ सत्यां भवति। यथा-निरुपचरितसिंहसद्भावे माणवके सिंहोपचार इति, आह च—

" देव त्ति सत्थयमिदं, सुद्धत्तणओ घडाभिहाणं व।
अह व मती मणुओ च्चिय, देवो गुणरिद्धिसंपन्नो ॥ १ ॥
तं न जओ तच्चत्थे, सिद्धे उवयारओ मया सिद्धी।
तच्चत्थ सीहसिद्धे, माणवसीहोवयारो व्व ॥ २ ॥ " इति

अपि च—

" देवेसु न संदेहो, जुत्तो जं जोइसा सपच्चक्खं।
दीसंति तक्कया वि य, उपघायाणुग्गहा जगओ ॥ १ ॥
आलयमेत्तं च मई, पुरं च तव्वासिणो तह वि सिद्धा।
जे ते देव त्ति मया, न य निलया निच्चपडिसुण्णा ॥ २ ॥
को जाणइ व किमेयं, ति होज्ज णिस्संसयं विमाणाइं।
रयणमयनभोगमणा-दिह जह विज्जाहरादीणं ॥ ३ ॥ "

इति, तेषामसुरादिविशेषः पुनराप्तवचनादवसेय इति। अथ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकाः कथमिह जीवत्वेन प्रतिपत्तव्याः ?, उच्छ्वासादिप्राणिधर्म्माणां तेष्वप्रतीयमानत्वाद्। अत्रोच्यते—आप्तवचनादनुमानतश्च। तत्राप्तवचनमिदमेव। अनुमानं त्विदम्—वनस्पतयो विद्रुमलवणोपलादयः स्वस्वाश्रये वर्तमानाः सात्मकाः, समानजातीयाऽङ्कुरसद्भावाद्, अर्शोविकाराङ्कुरवत्। आह च—" मंसंकुरो व्व समाणं, जाईरूवंऽकुरोवलंभाओ। तरुगणविद्दुमलवणो—पलादयो सासयावत्था ॥ १ ॥ " इति, इह समानजातिग्रहणं शृङ्गाङ्कुरव्यवच्छेदार्थम्, स हि न समानजातीयो भवतीति। तथा—सात्मकमम्भो भौमं, भूमिखनने स्वाभाविकसम्भवाद्, दर्दुरवत्। अथवा—सात्मकमन्तरिक्षोदकम्, स्वभावतो व्योमसम्भूतस्य पातात्, मत्स्यवत्। आह च—" भूमिक्खयसाभाविय-संभवओ दद्दुरो व्व जलमुत्तं। " [सात्मकत्वेनेति] अहवा मच्छो व सहा-वत्तोमसंभूयपायाओ ॥ १ ॥ " इति तथा सात्मको वायुरपरप्रेरिततिर्यगनियतदिग्गतित्वाद् गोवत्। इह चापरप्रेरितग्रहणेन लेष्ट्वादिना व्यभिचारः परिहृतः, एवं तिर्यग्ग्रहणेनोर्ध्वगतिना धूमेनानियमितग्रहणेन च नियमितगतिना परमाणुनेति। तथा तेजः सात्मकमाहारोपादानात् तद्वृद्धिविशेषोपलब्धेस्तद्विकारदर्शनाच्च पुरुषवद्। आह च—" अपरप्पेरियतिरिया, नियमियदिग्गमणओऽनिलो गो व्व। अनलो आहाराओ, विद्धिविगारोवलंभाओ ॥ १ ॥ " इति, अथवा-पृथिव्यप्तेजोवायवो जीवशरीराणि, अभ्रादिविकारवर्जितमूर्तजातीयत्वात्, गवादिशरीरवदिति। अभ्रादिविकारा हि मूर्तजातीयत्वे सत्यपि न जीवतनवस्तेन तत्परिहारो हेतुविशेषणम्। आह च—" तणओऽणब्भाइविगा—रमुत्तजाइत्तओऽनिलंताइं। (भूतानि—ति प्रक्रमः) सत्थासत्थहयाओ, निज्जीवसजीवरूवाओ ॥ १ ॥ " इति।

वनस्पतीनां विशेषेण सचेतनत्वं भाष्यगाथाभिरभिधीयते-

" जम्मजराजीवणमर-णरोहणाहारदोहलामयओ।
रोगतिगिच्छाईहि य, णारि व्व सचेयणा तरवो ॥ १ ॥
छिक्कप्परोइयाछि -क्कमित्तसंकोयओ कुलिंगि व्व।
आसयसंचाराओ, वियत्त[1] ! वल्लीवियाणाहि ॥ २ ॥
सम्मादओ व साव-प्पवोहसंकोयणादिओऽभिमया।
यउलादयो य सद्दा-इ विसयकालोवलंभावो ॥ ३ ॥ " इति।

सम्मादओ ' त्ति शम्यादयः, ' विसयकालोवलंभाओ ' त्ति विषयाणां—गीतसुरागण्डूषकामिनीचरणताडनादीनां कालो वसन्तादिरिति, ' रागाभवसिद्धिये ' त्यादि, भविष्यतीति भवा—भाविनी सा सिद्धिः—निर्वृत्तिर्येषां ते भवसिद्धिका—भव्याः, तद्विपरीतास्त्वभवसिद्धिका अभव्या इत्यर्थः। ननु जीवत्वे समाने सति को भव्याभव्ययोर्विशेषः ?, उच्यते—स्वभावकृतो, द्रव्यत्वेन समानयोर्जीवनभसोरिव। आह च—" दव्वाइत्ते तुल्ले, जीवनभाणं सभावओ भेदो। जीवाजीवाइगओ, जह तह भव्वेयरविसेसो ॥ १ ॥ " इति, आभ्यां विशेषितोऽन्यो दण्डकः २। ' एगा सम्मद्दिट्ठियाण ' मित्यादि, सम्यग्—अविपरीता दृष्टिः—दर्शनं रुचिस्तत्त्वानि प्रति येषां ते सम्यग्दृष्टिकाः, ते च मिथ्यात्वमोहनीयक्षयक्षयोपशमेभ्यो भवन्ति, तथा मिथ्या—विपर्यासवती जिनाभिहितार्थसार्था श्रद्धानवती दृष्टिः—दर्शनं श्रद्धानं येषां ते मिथ्यादृष्टिकाः—मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदयादरुचितजिनवचना इति भावः,। उक्तं—च—' सूत्रोक्तस्यैकस्या—प्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः। मिथ्यादृष्टिः सूत्रं, हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥ ॥ १ ॥ " इति; तथा सम्यक् मिथ्या च दृष्टिर्येषां ते सम्यग्मिथ्यादृष्टिका—जिनोक्तभावान् प्रत्युदासीनाः। इह च गम्भीरभवोदधिमध्यविपरिवर्ती जन्तुरनाभोगनिर्वर्तितेन गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेन यथाप्रवृत्तिकरणेन सगा-

[1] १-' वियत्त ' त्ति गणधरामन्त्रणमिति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दितान्तःसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकस्य मिथ्यात्ववेदनीयस्य कर्मणः स्थितेरन्तर्मुहूर्त्तमुदयक्षणादुपर्यतिक्रम्यापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञिताभ्यां विशुद्धिविशेषाभ्यामन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणमन्तरकरणं करोति, तस्मिन् कृते तस्य कर्मणः स्थितिद्वयं भवति, अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमस्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमात्रा, तस्मादेवोपरितनी शेषा । तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिः, अन्तर्मुहूर्तेन तु तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एवौपशमिकसम्यक्त्वमाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाऽभावात् । यथा हि— दवानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्मापयति तथा मिथ्यात्ववेदनाग्निरन्तरकरणमवाप्य विध्मापयतीति तदेवं सम्यक्त्वमौषधविशेषकल्पमासाद्य मदनकोद्रवस्थानीयं दर्शनमोहनीयम्, अशुद्धं कर्म त्रिधा भवति-अशुद्धमर्द्धविशुद्धं विशुद्धं चेति । त्रयाणां तेषां पुञ्जानां मध्ये यदाऽर्द्धविशुद्धः पुञ्ज उदेति तदा तदुदयवशादर्द्धविशुद्धमर्हदृष्टतत्त्वश्रद्धानं भवति जीवस्य, तेन तदाऽसौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्भवति अन्तर्मुहूर्त्तं यावत् तत ऊर्ध्वं सम्यक्त्वपुञ्जं मिथ्यात्वपुञ्जं वा गच्छतीति सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिमिश्रविशेषितोऽन्यो दण्डकः, तत्र च नारकादिष्वेकादशसु पदेषु दर्शनत्रयमस्ति । अत उक्तम्— ' एवं जाव थणिए ' त्यादि पृथिव्यादीनां मिथ्यात्वमेव, तेन तेषां तेनैव व्यपदेशः । उक्तञ्च—' चोद्दस तस सेसया मिच्छ ' त्ति चतुर्दशगुणस्थानकवन्तस्त्रसाः, स्थावरास्तु मिथ्यादृष्टय एवेत्यर्थः । द्वीन्द्रियादीनां मिश्रं नास्ति, संज्ञिनामेव तद्भावात्, ततस्तेषु सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टितयैव व्यपदेशः । एवं ' तेइंदियाण वि चउरिंदियाण वि ' त्ति द्वीन्द्रियवद् व्यपदेशद्वयेन वर्गणैकत्वं वाच्यम्, पञ्चेन्द्रियतिर्यगादीनां दर्शनत्रयमप्यस्ति ततस्त्रिधाऽपि तद्व्यपदेशः । अत एवोक्तम्—' सेसा जहा नेरइय ' त्ति, तथा वाच्या इति शेषः । दण्डकपर्यन्तसूत्रं पुनरिदम्—" एगा सम्मद्दिट्ठियाणं वेमाणियाणं वग्गणा, एवं मिच्छद्दिट्ठियाणं एवं सम्मामिच्छादिट्ठियाणं " एतत्पर्यन्तमाह—" जाव एगा सम्मामिच्छे " त्यादि ३ । ' एगा कण्हपक्खियाणं ' इत्यादि कृष्णपक्षिकेतरयोर्लक्षणम्-" जेसिमवड्ढो पोग्गल—परियट्टो सेसओ उ संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण किएहपक्खीआ ॥ १ ॥ " इति, एतद्विशेषितोऽन्यो दण्डकः ॥ ४ ॥ " एगा कण्हलेसाए ' मित्यादि, लिश्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या, यदाह—" श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्म्मबन्धस्थितिविधात्र्यः " तथा—" कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥ १ ॥ " इति । इयं च शरीरनामकर्म्मपरिणतिरूपा योगपरिणतिरूपत्वात्, योगस्य च शरीरनामकर्म्मपरिणतिविशेषत्वात्, यत उक्तं प्रज्ञापनावृत्तिकृता—" योगपरिणामो लेश्या, कथं पुनर्योगपरिणामो लेश्या ?, यस्मात् सयोगिकेवली शुक्लेलेश्यापरिणामेन विहृत्यान्तर्मुहूर्ते शेषे योगनिरोधं करोति ततोऽयोगित्वमलेश्यत्वं च प्राप्नोति; अतोऽवगम्यते ' योगपरिणामो लेश्ये ' ति, स पुनर्योगः शरीरनामकर्म्मपरिणतिविशेषः, यस्मादुक्तम्—" कर्म्म हि कार्म्मणस्य कारणमन्येषां च शरीराणामि " ति, तस्मादौदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः १, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्यात् – जीवव्यापारो यः स वाग्योगः २, तथौदारिकादिशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्यात् जीवव्यापारो यः स मनोयोग इति ३, ततो यथैव कायादिकरणयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतियोगो उच्यते-तथैव लेश्यापीति । अन्ये तु व्याचक्षते-' कर्म्मनिस्यन्दो लेश्ये ' ति सा च द्रव्यभावभेदात् द्विधा, तत्र-द्रव्यलेश्या कृष्णादिद्रव्याण्येव, भावलेश्या तु तज्जन्यो जीवपरिणाम इति । इयं च षट्प्रकारा जम्बूफलखादकपुरुषषट्कदृष्टान्ताद् ग्रामघातकचौरपुरुषषट्कदृष्टान्ताद्वा आगमप्रसिद्धादवसेयेति । तत्सूत्राणि सुगमानि नवरं कृष्णवर्णद्रव्यसाचिव्यात्, जाताऽशुभपरिणामरूपा कृष्णा, सा लेश्या येषां ते तथा, एवं शेषाण्यपि पदानि, नवरं नीला ईषत्सुन्दररूपा, एवमिति-अनेनैव क्रमेण यावत्करणात्—' एगा काउलेसाए ' मित्यादि सूत्रत्रयं दृश्यम्, तत्र कपोतस्य—पक्षिविशेषस्य वर्णेन तुल्यानि यानि द्रव्याणि धूम्राणीत्यर्थः, तत्साहाय्याज्जाता कापोतलेश्या मनाक् शुभतरा, सा लेश्या येषां ते तथा, तेजः— अग्निज्वाला तद्वर्णानि यानि द्रव्याणि लोहितानीत्यर्थः, तत्साचिव्याज्जाता तेजोलेश्या शुभस्वभावा, पद्मगर्भवर्णानि यानि द्रव्याणि पीतानीत्यर्थः तत्साचिव्याज्जाता पद्मलेश्या शुभतरा, शुक्लवर्णद्रव्यजनिता शुक्ला, अत्यन्तशुभेति । एतासां च विशेषतः स्वरूपं लेश्याध्ययनादवसेयमिति । ' एवं जस्स जइ ' त्ति नारकाणामिव यस्यासुरादेर्या यावत्यो लेश्यास्तदुद्देशेन तद्वर्गणैकत्वं वाच्यम्, ' भवणे ' त्यादिना तल्लेश्यापरिमाणमाह । अत्र संग्रहणीगाथाः—

"काऊ नीला किएहा, लेसाओ तिन्नि होंति नरएसुं ।
तइयाए काउनीला, नीला किएहा य रिट्ठाए ॥ १ ॥
किएहा नीला काऊ, तेऊ लेसा य भवणवंतरिया ।
जोइससोहंमीसा-ण तेउलेसा मुणेयव्वा ॥ २ ॥
कप्पे सणंकुमारे, माहिंदे चेव बंभलोए य ।
एएसु पम्हलेसा, तेण परं सुक्कलेसा उ ॥ ३ ॥
पुढवी आउ वणस्सइ, बायर पत्तेय लेस चत्तारि ।
गब्भयतिरियनरेसुं, छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥ ४ ॥"

अयं सामान्यो लेश्यादण्डकः ५ । अयमेव भव्याभव्यविशेषणादन्यः, ' एगा कण्हलेसाणं भवसिद्धियाणं वग्गणे ' त्यादि, ' एवमिति कृष्णलेश्यायामिव ' छसु वि ' त्ति कृष्णया सह षट्सु, अन्यथा अन्या पञ्चैवातिदेश्या भवन्तीति, द्वे द्वे पदे प्रतिलेश्यं भव्याभव्यलक्षणे वाच्ये, यथा—' एगा नीललेसाणं भवसिद्धियाणं वग्गणे ' त्यादि ६, लेश्यादण्डक एव दर्शनत्रयविशेषितोऽन्यः, ' एगा कण्हलेसाणं सम्मद्दिट्ठियाण ' मित्यादि, ' जेसिं जइ दिट्ठिओ ' त्ति येषां नारकादीनां या यावत्यो दृष्टयः सम्यक्त्वाद्यास्तेषां ता वाच्या इति । तत्र एकेन्द्रियाणां मिथ्यात्वमेव, विकलेन्द्रियाणां सम्यक्त्वमिथ्यात्वे, शेषाणां तिस्रोऽपि दृष्टय इति ७, लेश्यादण्डक एव कृष्णशुक्लपक्षविशिष्टोऽन्यः, ' एगा कण्हलेसाणं कण्हपक्खियाण ' मित्यादि, एते ' अट्ठचउवीसदंडय ' त्ति, एते चैवम्— " ओहो १ भव्वाईहिं, विसेसिओ २ दंसणेहिं ३ पक्खे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

हिं ४। लेसाहिं ५ भव्व ६ दंसण ७, पक्खेहिं ८ विसिट्ठलेसाहिं ॥ १ ॥" इति ॥

इतः सिद्धवर्गणा अभिधीयते—तत्र सिद्धा द्विधा—अनन्तरसिद्ध-परम्परसिद्धभेदात्, तत्रानन्तरसिद्धाः पञ्चदशविधाः, तद्वर्गणैकत्वमाह—

एगा तित्थसिद्धाणं वग्गणा, एवं ०जाव एगा एक्कसिद्धाणं वग्गणा, एगा अणिक्कसिद्धाणं वग्गणा, एगा पढमसमयसिद्धाणं वग्गणा, एवं ०जाव अणंतसमयसिद्धाणं वग्गणा। एगा परमाणुपोग्गलाणं वग्गणा, एवं ०जाव एगा अणंतपएसियाणं खंधाणं वग्गणा। एगा एगपएसोगाढाणं पोग्गलाणं वग्गणा, ०जाव एगा असंखेज्जपएसोगाढाणं पोग्गलाणं वग्गणा। एगा एगसमयट्ठितियाणं पोग्गलाणं वग्गणा ०जाव असंखेज्जसमयट्ठितिआणं पोग्गलाणं वग्गणा, एगा एगगुणकालगाणं पोग्गलाणं वग्गणा ०जाव एगा असंखेज्ज ०एगा अणंतगुणकालयाणं पोग्गलाणं वग्गणा। एवं वण्णा गंधा रसा फासा भाणियव्वा ०जाव एगा अणंतगुणलुक्खाणं पोग्गलाणं वग्गणा। एगा जहन्नपएसियाणं खंधाणं वग्गणा, एगा उक्कस्सपएसियाणं खंधाणं वग्गणा, एगा अजहन्नुक्कस्सपएसियाणं खंधाणं वग्गणा, एवं जहन्नोगाहणयाणं उक्कोसोगाहणगाणं अजहन्नुक्कोसोगाहणगाणं जहन्नट्ठितियाणं उक्कस्सट्ठितियाणं अजहन्नुक्कोसट्ठितियाणं जहन्नगुणकालगाणं उक्कोसगुणकालयाणं अजहन्नुक्कोसगुणकालगाणं एवं वण्णगंधरसफासाणं वग्गणा भाणियव्वा, ०जाव एगा अदजन्नुक्कोसगुणलुक्खाणं पोग्गलाणं वग्गणा। (सू० ५१)

'एगा तित्थे' त्यादिना, तत्र तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम्, द्रव्यतो नद्यादीनां समोऽनपायश्च भूभागो भौतादि प्रवचनं वा, द्रव्यतीर्थता त्वस्याप्रधानत्वाद्, अप्रधानत्वं च भावतस्तरणीयस्य संसारसागरस्य तेन तरीतुमशक्यत्वात्, सावद्यत्वादस्येति, भावतीर्थं तु सङ्घः, यतो ज्ञानादिभावेन तद्विपक्षादज्ञानादितो भवाच्च भावभूतात् तारयतीति, आह च—" जं णाणदंसणचरि-त्तभावओ तव्विवक्खभावाओ। भवभावओ य तारे-इ तेण तं भावओ तित्थं ॥ १ ॥" इति, त्रिषु वा—क्रोधाग्निदाहोपशमलोभतृष्णानिरासकर्म्ममलापनयनलक्षणेषु ज्ञानादिलक्षणेषु वा अर्थेषु तिष्ठतीति त्रिस्थम्, प्राकृतत्वात् तित्थं, आह च—" दाहोवसमादिसु वा, जं तिसु थियमह व दंसणाईसुं। तो तित्थं सङ्घो च्चिय, उभयं च विसेसणविसेसं ॥ १ ॥" इति, 'विशेषणविशेष्य' मिति तीर्थं सङ्घ इति, सङ्घो वा तीर्थमिति। त्रयो वा क्रोधाग्निदाहोपशमादयोऽर्थाः—फलानि यस्य तत् त्र्यर्थम्, 'तित्थंति' पूर्ववत्, आह च—" कोहग्गिदाहसमणा-दओ व ते चेव तिन्नि जस्सऽत्था। होइ तियत्थं तित्थं, तमत्थसद्दो फलत्थोऽयं ॥ १ ॥" अथवा—त्रयो ज्ञानादयोऽर्थाः—वस्तूनि यस्य तत्त्र्यर्थम्, आह च-" अहवा सम्मद्दंसण-नाणचरित्ताइँ तिन्नि जस्सऽत्था। तं तित्थं पुव्वोदिय—मिहमत्थो वत्थुपज्जाओ ॥ १ ॥" त्ति ॥ तत्र तीर्थे सति सिद्धाः—निर्वृतास्तीर्थसिद्धाः, ऋषभसेनगणधरादिवत् तेषां वर्गणेति १, तथा अतीर्थे-तीर्थान्तरे साधुव्यवच्छेदे जातिस्मरणादिना प्राप्तापवर्गमार्गा मरुदेवीवत् सिद्धा अतीर्थसिद्धास्तेषाम् २, एवं करणात्—' एगा तित्थगरसिद्धाणं वग्गणे' त्यादि दृश्यम्, तीर्थमुक्तलक्षणं तत्कुर्वन्त्यानुलोम्येन हेतुत्वेन तच्छीलतया चेति तीर्थकराः, आह च—" अणुलोमहेउतस्सी-लया य जे भावतित्थमेयं तु। कुव्वंति पगासंति उ, ते तित्थगरा हियत्थकरा ॥ १ ॥" इति, तीर्थकराः सन्तो ये सिद्धास्ते तीर्थकरसिद्धा ऋषभादिवत्, तेषाम् ३, अतीर्थकरसिद्धाः सामान्यकेवलिनः सन्तो ये सिद्धा गौतमादिवत् तेषाम् ४, तथा स्वयम्-आत्मना बुद्धाः-तत्त्वं ज्ञातवन्तः स्वयंबुद्धास्ते सन्तो ये सिद्धास्ते तथा तेषाम् ५, तथा प्रतीत्यैकं किञ्चित् वृषभादिकम् अनित्यतादिभावनाकारणं वस्तु बुद्धाः—बुद्धवन्तः परमार्थमिति प्रत्येकबुद्धास्ते सन्तो ये सिद्धास्ते तथा तेषाम् ६, स्वयम्बुद्धप्रत्येकबुद्धानां च बोध्युपधिश्रुतलिङ्गकृतो विशेषः, तथाहि-स्वयम्बुद्धानां बाह्यनिमित्तमन्तरेणैव बोधिः प्रत्येकबुद्धानां तु तदपेक्षया, करकण्ड्वादीनामिवेति, उपधिः स्वयम्बुद्धानां पात्रादिर्द्वादशविधः; तद्यथा-" पत्तं १ पत्ताबंधो २, पायट्ठवणं ३, च पायकेसरिया ४। पडलाइ ५ रयत्ताणं, च ६ गोच्छओ ७ पायनिज्जोगो ॥ १ ॥ तिन्नेव य पच्छागा १०, रयहरणं ११ चेव होइ मुहपोत्ति ॥ १२ ॥" त्ति, प्रत्येकबुद्धानां तु नवविधः प्रावरणवर्ज्ज इति, स्वयम्बुद्धानां पूर्वाधीतं श्रुतं अनियमः, प्रत्येकबुद्धानां तु नियमतो भवत्येव, लिङ्गप्रतिपत्तिः स्वयम्बुद्धानामाचार्यसन्निधावपि भवति, प्रत्येकबुद्धानां तु देवता प्रयच्छतीति। बुद्धबोधिताः-आचार्यादिबोधिताः सन्तो ये सिद्धास्ते बुद्धबोधितसिद्धास्तेषाम् ७, एतेषामेव स्त्रीलिङ्गसिद्धानां ८ पुंलिङ्गसिद्धानां ९ नपुंसकलिङ्गसिद्धानां १० स्वलिङ्गसिद्धानां रजोहरणाद्यपेक्षया ११ अन्यलिङ्गसिद्धानां परिव्राजकादिलिङ्गसिद्धानां १२ गृहिलिङ्गसिद्धानां मरुदेवीप्रभृतीनाम् १३ एकसिद्धानामेकैकस्मिन् समये एकैकसिद्धानाम् १४ अनेकसिद्धानामेकसमये द्व्यादीनाम् अष्टशतान्तानां सिद्धानामेका वर्गणेति १५। तत्रानेकसमयसिद्धानां प्ररूपणागाथा-

" बत्तीसा अडयाला, सट्ठी बावत्तरी य बोधव्वा।
चुलसीई छन्नउई, दुरहियअट्ठोत्तरसयं च ॥ १ ॥"

एतद्विवरणम्—यदा एकसमयेन एकादय उत्कर्षेण द्वात्रिंशत् सिध्यन्ति तदा द्वितीयेऽपि समये द्वात्रिंशद्, एवं नैरन्तर्येण अष्टौ समयान् यावत् द्वात्रिंशत् सिध्यन्ति, तत ऊर्ध्वमवश्यमेवान्तरं भवतीति। यदा पुनस्त्रयस्त्रिंशत आरभ्य अष्टचत्वारिंशदन्ताः एकसमयेन सिध्यन्ति तदा निरन्तरं सप्त समयान् यावत् सिध्यन्ति, ततोऽवश्यमेवान्तरं भवतीति। एवं यदा एकोनपञ्चाशतमादिं कृत्वा यावत् षष्टिरेकसमयेन सिध्यन्ति तदा निरन्तरं षट् समयान् सिध्यन्ति, तदुपरि अन्तरं समयादिर्भवति, एवमन्यत्रापि योज्यम्। यावत् अष्टशतमेकसमयेन यदा सिध्यति तदाऽवश्यमेव समयाद्य-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्तरं भवतीति । अन्ये तु व्याचक्षते—अष्टौ समयान् यदा नैरन्तर्येण सिद्धिस्तदा प्रथमसमये जघन्येनैकः सिध्यत्युत्कृष्टतो द्वात्रिंशदिति, द्वितीयसमये जघन्येनैकः उत्कृष्टतोऽष्टचत्वारिंशत्, सर्वत्र जघन्येनैकः समयः, उत्कृष्टतः—"गाथार्थोऽयं भावनीयः" 'बत्तीसे' त्यादि । एवमनन्तरसिद्धानां तीर्थादिना भूतभावेन प्रत्यासत्तिव्यपदेश्यत्वेन पञ्चदशविधानां वर्गणैकत्वमुक्तम् , इदानीं परम्परसिद्धानामुच्यते, तत्र—'अपढमसमयसिद्धाण' मित्यादि, त्रयोदशसूत्री, न प्रथमसमयसिद्धाः अप्रथमसमयसिद्धाः सिद्धत्वद्वितीयसमयवर्त्तिनः तेषाम्, 'एवं जाव' त्ति करणाद् 'दुसमयसिद्धाणं तिचउपंचछसत्तट्ठनवदससंखेज्जासंखेज्जसमयसिद्धाण' मिति दृश्यम्, तत्र सिद्धत्वस्य तृतीयादिषु समयेषु द्विसमयसिद्धादयः प्रोच्यन्ते, यद्वा—सामान्येनाप्रथमसमयाभिधानं विशेषतो द्विसमयाद्यभिधानमिति, अतस्तेषां वर्गणा, क्वचित् 'पढमसमयसिद्धाणं' ति पाठः, तत्र अनन्तरपरम्परसमयसिद्धलक्षणं भेदमकृत्वा प्रथमसमयसिद्धा अनन्तरसिद्धा एव व्याख्यातव्याः, द्व्यादिसमयसिद्धास्तु यथा श्रुता एवेति । इतो द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य पुद्गलवर्गणैकत्वं चिन्त्यते—पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः, ते च स्कन्धा अपि स्युरिति विशेषयति—परमाणवो निष्प्रदेशास्ते च ते पुद्गलाश्चेति विग्रहस्तेषाम्, एवं करणात् 'दुपएसियाणं खंधाणं तिचउ-पंच-छ-सत्त-ट्ठ-नव-दस-संखेज्जपएसियाणं असंखेज्जपएसियाण' मिति दृश्यमिति । कृता द्रव्यतः पुद्गलचिन्ता । अतः क्षेत्रतः क्रियते—'एगा एगपएसे' त्यादि, एकस्मिन् प्रदेशे क्षेत्रस्यावगाढाः—अवस्थिता एकप्रदेशावगाढास्तेषाम्, ते च परमाण्वादयोऽनन्तप्रादेशिकस्कन्धान्ताः स्युः, अचिन्त्यत्वात् द्रव्यपरिणामस्य, यथा पारदस्यैकेन कर्षेण चारिताः सुवर्णस्य ते सप्ताप्येकीभवन्ति , पुनरौषमिताः प्रयोगतः सप्तैव त इति । 'जाव एगा असंखेज्जपएसोगाढा णं' ति अनन्तप्रदेशावगाहित्वं तु नास्ति पुद्गलानाम्, लोकलक्षणस्यावगाहक्षेत्रस्याप्यसंख्येयप्रदेशत्वादिति । कालत आह—'एगा एगसमए' त्यादि । एकं समयं यावत् स्थितिः—परमाणुत्वादिना एकप्रदेशावगाढत्वादित्वेन एकगुणकालादित्वेन वाऽवस्थानं येषां ते एकसमयस्थितिकास्तेषामिति । इह च अनन्तसमयस्थितेः पुद्गलानामभावाद्-असंखेज्जसमयट्ठितीयाण' मित्युक्तमिति । भावतः पुद्गलानाह—एकेन गुणो—गुणनं ताडनं यस्य स एकगुणः, एकगुणः कालो—वर्णो येषां ते एकगुणकालकाः, तारतम्येन कृष्णतरकृष्णतमादीनां येभ्यः आरभ्यप्रथममुत्कर्षप्रवृत्तिर्भवतीति भावस्तेषाम् । एवं सर्वाण्यपि भावसूत्राणि षष्ट्यधिकद्विशतप्रमाणानि (२६०) वाच्यानि विंशतेः कृष्णादिभावानां त्रयोदशभिर्गुणनादिति । साम्प्रतं भङ्गयन्तरेण द्रव्यादिविशेषितानां जघन्यादिभेदभिन्नानां स्कन्धानां वर्गणैकत्वमाह-'एगा जहन्नपएसियाणं' इत्यादि जघन्याः सर्वाल्पाः प्रदेशाः परमाणवस्ते सन्ति येषां ते जघन्यप्रदेशिकाः—द्व्यणुकादय इत्यर्थः, स्कन्धाः अणुसमुदयास्तेषाम् , उत्कर्षन्तीत्युत्कर्षाः—उत्कर्षवन्तः उत्कृष्टसंख्याः परमानन्ताः प्रदेशाःअणवस्ते सन्ति येषां ते उत्कर्षप्रदेशिकास्तेषाम् , जघन्याश्च उत्कर्षाश्च जघन्योत्कर्षाः, न तथा ये ते अजघन्योत्कर्षाः, मध्यमा इत्यर्थः , ते प्रदेशाः सन्ति येषां ते अजघन्योत्कर्षप्रदेशिकास्तेषाम् , एतेषां चानन्तवर्गणात्वेऽप्यजघन्योत्कर्षशब्दव्यपदेश्यत्वादेकवर्गणात्वमिति 'जहन्नोगाहणगाणं' ति अवगाहन्ते आसते यस्यां सा अवगाहना—क्षेत्रप्रदेशरूपा सा जघन्या येषां ते स्वार्थिककप्रत्ययाज्जघन्यावगाहनकास्तेषाम् 'एकप्रदेशावगाढानामित्यर्थः , उत्कर्षावगाहनकानामसंख्यातप्रदेशावगाढानामित्यर्थः , अजघन्योत्कर्षावगाहनकानां संख्येयासंख्येयप्रदेशावगाढानामित्यर्थः । जघन्या—जघन्यसंख्या समयापेक्षया स्थितिर्येषां ते जघन्यस्थितिकाः , एकसमयस्थितिका इत्यर्थः , तेषाम् , उत्कर्षा उत्कर्षवत्संख्या समयापेक्षया स्थितिर्येषां ते तथा तेषामसंख्यातसमयस्थितिकानामित्यर्थः । तृतीयं कण्ठ्यम् , जघन्येन जघन्यसंख्याविशेषेणैकेनेत्यर्थः गुणो—गुणनं ताडनं यस्य स तथा, तथाविधः कालोवर्णो येषां ते जघन्यगुणकालकास्तेषाम् , एवमुत्कर्षगुणकालकानामनन्तगुणकालकानामित्यर्थः, तृतीयं कण्ठ्यम् , एवं भावसूत्राणि षष्टिर्भावनीयानीति । स्था० १ ठा० । प्रज्ञा० ।

वग्गतव—वर्गतपस्—न० । यदा घनः चतुःषष्टिपदात्मको घनेनैव—चतुःषष्टिपदात्मकेनैव गुण्यते तदा वर्गो भवति, तदुपलक्षितं तपो वर्गतप उच्यते । तपोभेदे, उत्त० ३० अ० । तथा भवति वर्गश्चेतीहापि प्रक्रमाद्वर्ग इति वर्गतपः, तत्र च घन एव घनेन गुणितो वर्गो भवति, ततश्चतुःषष्टिश्चतुःषष्ट्यैव गुणिता जातानि पण्णवत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि एतदुपलक्षितं तपो वर्गतपः । उत्त० ३० अ० ।

वग्गय—देशी—वार्तायाम् , दे० ना० ७ वर्ग ३८ गाथा ।

वग्गवग्ग—वर्गवर्ग—पुं० । वर्गगुणितो वर्गो वर्गवर्गो भवति । वर्गगुणितवर्गे, उत्त० ३० अ० । पृथक्सजातीयसमूहे, बृ० १ उ० ३ प्रक० । स्था० । "अणंताहिं वग्गवग्गेहिं " अनन्ताभिरपि वर्गवर्गाभिः—वर्गवर्गैर्वर्गितमपि, तत्र तद्गुणो वर्गो यथा—द्वयोर्वर्गश्चत्वारः । तस्यापि वर्गो वर्गवर्गः, यथा—षोडश एवमनन्तशो वर्गितमपि । चूर्णिकारस्त्वाह—अनन्तैरपि वर्गवर्गैः—खण्डखण्डैः । औ० ।

वग्गवग्गतव—वर्गवर्गतपस्—न० । वर्गवर्गोपलक्षिते तपोभेदे, उत्त० । वर्गवर्गतपः, तुः समुच्चये पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणमत्र वर्ग एव यदा वर्गेण गुण्यते तदा वर्गवर्गो भवति, तथा च चत्वारि सहस्राणि षण्णवत्यधिकानि तावतैव गुणितानि जातैका कोटिः सप्तषष्टिलक्षाः सप्तसप्ततिसहस्राणि द्वे शते षोडशाधिके अङ्कतोऽपि १६७७७२१६, एतदुपलक्षितं तपो वर्गवर्गतप इत्युच्यते । उत्त० ३० अ० ।

वग्गसंखा—वर्गसंख्या—स्त्री० । वर्गः संख्यानं यथा द्वयोर्वर्गश्चत्वारः "सदृशद्विराशिघात " इति वचनात् । संख्याभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

वग्गसीह—वर्गसिंह—पुं० । सप्तदशस्य जिनस्य प्रथमभिक्षादायके, स० ।

वग्गु—वल्गु—त्रि० । शोभने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । आ० म० । शक्रदेवेन्द्रलोकपालवैश्रवणस्य स्वनामख्याते विमाने, नपुं० । भ० ३श० ७उ० । (वक्तव्यता 'लोगपाल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७१६ पृष्ठे गता ।) "दो वग्गू" । स्था० २ ठा० ३ उ० । चक्रपुराख्यपुरीविभूषितविजयक्षेत्रयुगले, स्था० २ ठा० ३ उ० । तच्च ज-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

म्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमायां शीतोदाया उत्तरेऽस्तीति। स्था० ८ ठा० ३ उ०। मधुरे, "ललियं वग्गुं मंजुं मंजुलयं पंजलं कलं महुरं" पाइ० ना० ८८ गाथा।

वाच्-स्त्री०। वचने, "वग्गु त्ति वा वय त्ति वा वयणं ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ०।

वग्गुफल-वल्गुफल-न०। शोभने, नारिकेरादिके फले, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

वाक्फल-न०। धर्मकथारूपाया व्याकरणादिव्याख्यानरूपाया वाचो वस्त्रादिलाभरूपे फले, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

वग्गुर-वागुर-पुं०। पुरिमताले नगरे जातिबन्ध्याया भद्रायाः पत्यौ श्रेष्ठिनि, आ० म० १ अ०।

वग्गुरा-वागुरा-स्त्री०। मृगबन्धने, विपा० १ श्रु० २ अ०। भ०। "पुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता" वागुरा मृगबन्धनम्। वागुरेव वागुरा समुदायः। ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। आ० चू०। ज्ञा०। औ०।

वग्गुरिय-वागुरिक-पुं०। पाशप्रयोगेण मृगघातके, बृ० १ उ०। नर्तकभेदे, पं० चू०। मृगजालजीविनि, व्य० ३ उ०।

वग्गुली-वल्गुली-स्त्री०। चर्मपक्षिविशेषे, भ० १३ श० ६ उ०। स०। प्रश्न०। जी०। चर्मजलूकायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

वग्गुलीकिच्चगय-वल्गुलीकृत्यगत-पुं०। वल्गुलीलक्षणं कृत्यं कार्यं गतं प्राप्तं येन स तथा। वल्गुलीरूपतां गते, भ० १३ श० ६ उ०।

वग्गुवाइ-वल्गुवादिन्-त्रि०। वल्गु-शोभनं-वदतीत्येवं शीलो वल्गुवादी। शोभनवादिनि, व्य० ८ उ०।

वग्गू-वाच्-स्त्री०। वाण्याम्, औ०। स्था०। विशे०। भ०।

वग्गेज्ज-देशी-प्रचुरे, दे० ना० ७ वर्ग ३८ गाथा।

वग्गोअ-देशी-नकुले, दे० ना० ७ वर्ग ४० गाथा।

वग्गोरसमय-देशी-रूक्षे, दे० ना० ७ वर्ग ५२ गाथा।

वग्गोल-रोमन्थ-नामधातुः। उद्गीर्य चर्वणे, "रोमन्थे रोग्गाल-वग्गोलौ" ॥ ८। ४। ४३॥ इति रोमन्थयतेर्वग्गोलादेशः। वग्गोलइ रोमंथइ। रोमन्थयते। प्रा० ४ पाद।

वग्घ-व्याघ्र-पुं०। "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥ ८। २। ७६॥ इति रलोपः।"द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः।"८।२।९०। इति घकारोपरि गकारः। प्रा०। शार्दूले, जी० १ प्रति०। जं०। प्रा०। प्रश्न०। प्रज्ञा०। नि० चू०। स्था०। आचा०। (बाघ) इति ख्याते सनखपदे जन्तौ, प्रज्ञा० १ पद। "इल्ली पुल्ली वग्घो सद्दूलो पुंडरीओ य" पाइ० ना० ४४ गाथा।

वग्घमुह-व्याघ्रमुख-पुं०। गोमुखद्वीपस्य परतोऽन्तरद्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ०। उत्त०। प्रश्न०। प्रज्ञा०। नं०। प्रव०। ('अन्तरदीव' शब्दे प्रथमभागे ९७ पृष्ठे व्याख्योक्ता।)

वग्घसीह-व्याघ्रसिंह-पुं०। सप्तदशतीर्थकरस्य कुन्थुनाथस्य प्रथमभिक्षादायके आ० म० १ अ०।

वग्घाअ-देशी-साहाय्ये, विकसिते च। दे० ना० ७ वर्ग ८६ गाथा।

वग्घाडिया-व्याघ्राटिका-स्त्री०। उपहासार्थरुतविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। उद्घट्टककारिण्याम्, बृ० ६ उ०।

वग्घारिय-देशी-प्रलम्बिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। औ०। प्रज्ञा०। जी०। "गलति सीओदगवग्घारियहत्थमेत्तेणं गलंतेण त्ति भणियं होइ" आव० ४ अ०। ज्ञा०।

वग्घारियपाणि-वग्घारियपाणि-त्रि०। प्रलम्बितभुजे, भ० ३ श० २ उ०। दशा०। ज्ञा०। अन्त०। पञ्चा०। ज्ञा०। प्रलम्बितभुजद्वये, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

वग्घारियमल्लदामकलाव-वग्घारियमाल्यदामकलाप-त्रि०। अवलम्बितपुष्पमालासमूहे, रा०।

वग्घारियवुट्ठिकाय-वग्घारियवृष्टिकाय-पुं०। अच्छिन्नधारावृष्टौ, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

वग्घावच्च-व्याघ्रापत्य-पुं०। स्वनामख्याते व्याघ्रर्षेरपत्ये, जं० ७ वक्ष०। यद्गोत्रे उत्तराषाढनक्षत्रम्। चं० प्र० १० पाहु०।

वग्घी-व्याघ्री-स्त्री०। स्त्रीत्वविशिष्टे व्याजघ्रातौ, आ० क० १ अ०। तं०। प्रज्ञा०। अनेकेषां व्याघ्राणां विकुर्वणालिकायाम् परिव्राजकविद्याविशेषपरिपन्थिन्यां जैनविद्यायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। विशे०। आ० म०। ल० प्र०।

व्याघ्रीकल्पमाह—

"यः स्यादाराधको जन्तुः, श्रेयस्तत्कीर्तनाद् ध्रुवम्।
इत्यालोच्य हृदा किंचिद्, व्याघ्रीकल्पं वदाम्यहम् ॥ १ ॥
श्रीशत्रुञ्जयनाभेय-चैत्रवप्रस्य कर्हिचित्।
प्रतोलीद्वारमावृत्य, काचिद् व्याघ्री समस्थिता ॥ २ ॥
निरीक्ष्य निश्चलाङ्गी ता-मातङ्कातुरमानसाः।
जैनाः श्राद्धा जिनं नन्तुं, बहिस्तो न ढुढौकिरे ॥ ३ ॥
राजन्यसाहसी कोऽपि, तस्याः पार्श्वमुपासृपत्।
सा तु तं प्रति नाकार्षीत्, हिंसाचेष्टां मनागपि ॥ ४ ॥
विश्वस्य बाहुजस्तस्य, कुतोऽप्यानीय तत्पुरः।
आमिषं मुमुचे सा च, दृशाऽपि न तदस्पृशत् ॥ ५ ॥
अथ श्राद्धजनोऽप्येत्य, त्यक्तभीस्तत्पुरः क्रमात्।
तरसा सरसं भक्ष्यं, पानीयं चोपनीतवान् ॥ ६ ॥
तदप्यनिच्छतीं दृष्ट्वा, तां दध्यौ जनता हृदि।
नूनं जातिस्मरैषाऽत्र, तीर्थेऽनशनमाददे ॥ ७ ॥
श्लाघ्यस्तिर्यग्भवोऽप्यस्या—श्चतुर्द्धाहारमुक्तितः।
एकाग्रचक्षुषा चैषा, देवमेव निरीक्षते ॥ ८ ॥
अभ्यर्च्य गन्धपुष्पाद्यैः, सार्धाः साधर्मिका धिया।
संभावयांबभूवुस्तां, स्फीतसङ्गतिकोत्सवैः ॥ ९ ॥
निराकारं प्रत्याख्यानं, तथा तस्या अचीकथन्।
मनसैव श्रद्दधाना, साध्वी चक्रे च तन्मुदा ॥ १० ॥
इत्थं सा तीर्थमाहात्म्या-त्समृद्धाच्छुद्धवासना।
दिनान्युपोष्य सप्ताप, नष्टपापा ययौ दिवम् ॥ ११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चन्दनागुरुभिस्तस्या, वपुः संस्कार्य संश्रितः ।
प्रत्याल्या दक्षिणे पक्षे, शैलीं मूर्तिं न्यवीविशत् ॥ १२ ॥
तीर्थचूडामणिर्जीयात् , सैष श्रीविमलाचलः ।
भवेयुर्यत्र तिर्यञ्चो-ऽप्येवमाराधकाग्रिमाः ॥ १३ ॥
व्याघ्रीकल्पमिमं कृत्वा, श्रीजिनप्रभसूरयः ।
पुण्यं यदार्जयंस्तेन, श्रीसंघोऽस्तु सुखास्पदम् ॥ १४ ॥"

ती० ४६ कल्प । "व्याघ्रा तन्नखाकारः कण्टकोऽस्त्यस्या अच् गौ० ङीष् । कण्टकारिकायाम् , जातौ ङीष् । व्याघ्रयोषिति, वाच० ।

वङ्क-वक्र-त्रि० । कुटिले, "कुडिलं वङ्कं भंगुरं ।" पाइ० ना० १७३ गाथा । कलङ्के, देशी-७ वर्ग ३० गाथा ।

वङ्कच्छा-देशी-प्रमथेषु, दे० ना० ७ वर्ग ३६ गाथा ।

वच्च-व्रज-धा० । गतौ, "व्रज-नृत-मदां च्चः" ॥ ८ । ४ । २२५ ॥ इत्यन्त्यस्य द्विरुक्तश्चः । वच्चइ । व्रजति । प्रा० ४ पाद ।

काङ्क्ष-धा० । गार्ध्ये, "काङ्क्षेराहाहिलङ्घाहिलङ्खे-वच्च-वंफ-मह-सिह-विलुम्पाः" ॥ ८ । ४ । १९२ ॥ इति काङ्क्षतेर्वच्चादेशः । वच्चइ । काङ्क्षते । प्रा० ४ पाद ।

वर्चस्-न० । तेजसि, प्रभावे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पुरीषे, ध० ३ अधि० । बृ० । उत्त० । सूत्र० । गूथे, तं० । आचा० । "वच्चं विट्ठा पुरीसं उच्चारो ।" पाइ० ना० ११४ गाथा । गृहस्य समन्ततः स्थाने, यत्र वा वर्चः करोति । गिहस्स समंततो वच्चं भण्णति । पुरोहडं वा वच्चं पच्छंतं ति वुत्तं भवति, जं वा करेति, तं वच्चसण्णाभूमिं भण्णति । नि० चू० ३ उ० । 'वच्चसमुच्छिअङ्गा' वर्चः-वर्चःप्रधानानि समुच्छ्रितान्यन्त्राण्यङ्गानि वा येषां ते तथा । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । वाच्य-त्रि० । अभिधेये, स्या० ।

वच्चंसि-वर्चस्विन्-त्रि० । शरीरकलोपेतत्वात् (स०) विशिष्टप्रभावोपेते, भ० २ श० ५ उ० । रूपवति, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । वर्चो-वचनं सौभाग्याद्युपेतं यस्यास्ति स वर्चस्वी । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विशिष्टवचनयुक्ते, भ० २ श० ५ उ० । रा० ।

वच्चकिमि-वर्चस्कृमि-पुं० । विष्ठालग्नकृमौ, उदरमध्यस्थविष्ठायामुत्पन्ने द्वीन्द्रियजन्तुविशेषे, तं० ।

वच्चकुंडी-वर्चस्कुण्डी-स्त्री० । विष्ठाकुण्ड्याम् , तं० ।

वच्चकूव-वर्चस्कूप-पुं० । विष्ठाभूतकूपे, तं० ।

वच्चग-वर्चक-न० । दर्भाकारे तृणविशेषे , बृ० २ उ० । आचा० । तृणरूपवाद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वच्चघर-वर्चोगृह-न० । पुरीषोत्सर्गस्थाने सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

वच्चसंघाय-वर्चःसंघात-पुं० । परमपवित्रविष्ठासमूहे , तं० ।

वच्चामेलिय-व्यत्याम्रेडित-न० । अस्थाननिबद्धपठने, स्वमतिचर्चितसूत्रं प्रक्षिप्य पठने च । अस्थानविरतिसहिते , आ० म० १ अ० । आव० । आ० चू० । एकस्मिन्नेव शास्त्रे यान्यस्थाननिबद्धान्येकार्थानि सूत्राण्येकत्र स्थाने समानीय पठतो व्यत्याम्रेडितम् , अथवा-आचारादिसूत्रमध्ये स्वमतिचर्चितानि तत्सदृशानि सूत्राणि कृत्वा प्रक्षिपतो व्यत्याम्रेडितम् । अस्थानविरतिकं वा व्यत्याम्रेडितम् । अनु० । विशे० ।

वच्चाविप्पय-वल्ककविप्पक-न० । वल्ककस्तृणविशेषस्तस्य विप्पकः कुट्टितत्वग्रूपस्तेन निष्पन्नं वल्ककविप्पकम् । तृणविशेषविप्पकजे, "पंचरयहरणाइं पण्णत्ताइं । तं जहा— उण्णियरे उट्टिए साणए वच्चाविप्पए मुंजविप्पए ।" बृ० २ उ० ।

वच्चीसग-वर्चीसक-पुं० । तन्त्रीवाद्यविशेषे, अणु० । आचा० ।

वच्छ-वक्षस्-न० । "छोऽक्ष्यादौ" ॥ ८ । २ । १७ ॥ इति संयुक्तस्य छः । प्रा० । उरसि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । उपा० । जं० । औ० । स० । "वच्छं उरं" । पाइ० ना० २५१ गाथा । गोपुत्रे, "तण्णओ वच्छो" । पाइ० ना० २३५ गाथा ।

वत्स-पुं० । पुत्रे, डिम्भे, स्था० १० ठा० ३ उ० । श्रीऋषभदेवस्य पुत्रशतकान्तर्गते सप्तदशे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । स्था० । तच्छासिते कौशाम्बीनाम नगरीप्रतिबद्धे जनपदे, ती० १० कल्प । प्रव० । प्रश्न० । सूत्र० ।

अथ पूर्वसूत्राल्लब्धेऽपि वत्सविजयदिङ्नियमे विचित्रत्वात् सूत्रप्रवृत्तेरित्यन्तरमाह—

वच्छस्स विजयस्स णिसहे दाहिणेणं सीआ उत्तरेणं दाहिणिल्लसीदामुहवणे पुरत्थिमेणं तिउडे पच्चत्थिमेणं सुसीमारायहाणीपमाणं तं चेवेति । (सू० ९६)

'वच्छस्स' इत्यादि, वत्सस्य विजयस्य निषधो दक्षिणेन तथा तस्यैव शीता उत्तरेणेत्यादि स्पष्टम् , न चैवं निषधादयो लक्ष्याः लक्षणं वत्सविजय इति वाच्यम् , लक्ष्यलक्षणभावस्य कामचारात् । प्रस्तुते च प्रकरणबलात् वत्स एव लक्ष्यत इति, सुसीमाराजधानीप्रमाणम् , तदेव-अयोध्यासम्बन्ध्येव, प्रमाणाभिधानाय राजधान्याः पुनरुपन्यासेन न पुनरुक्तिदोषः । जं० ४ वक्ष० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वे सीताया महानद्या दक्षिणे चक्रवर्तिविजये, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

दो वच्छा (सू०-९२ +) ।

मेरोर्द्वित्वात् वत्सानां द्वित्वम् । स्था० २ ठा० ३ उ० । स्वनामख्याते ऋषिविशेषे, यो हि प्रसिद्धगोत्रविशेषप्रवर्तको ऽभूत् । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । स्था० ।

जे वच्छा ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा-ते वच्छा ते अग्गिया ते मित्तिया ते सामलिणो ते सेलयया ते अट्ठिसेणा ते वीयकण्हा ।

वत्सस्यापत्यानि वत्साः-शय्यंभवादयः, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

वात्स्य-पुं० । वत्सस्यापत्यं वात्स्यः । गर्गादेर्यञिति यञ्प्रत्ययः । वत्सापत्ये वत्सगोत्रीये पुरुषे, "पभवं कच्चायणं वंदे वच्छं सिज्जंभवं तहा" । नं० ।

वृक्ष-पुं० । "वृक्षक्षिप्तयोः रुक्खछूढौ" ॥ ८ । २ । १२७ ॥ इति रुक्खादेशाभावे, वच्छः । चूतादौ, प्रा० । पार्श्वे , दे० ना० ७ वर्ग ३० गाथा । "साही विडवी वच्छो महीरुहो पायवो दुमो य तरू" । पाइ० ना० ५४ गाथा ।

वच्छग-वत्सक-पुं० । क्षुद्रवृक्षभेदे, "एलगदारगसाणं वच्छगं वावि कोट्ठए" दश० ५ अ० । आ० म० । आव० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वच्छगावई-वत्सकावती-स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वे सीताया महानद्या दक्षिणे स्वनामख्याते विजयक्षेत्रयुगले, जं० ४ वक्ष० । "वच्छावई विजए पभंकरा रायहाणी" जं०४ वक्ष० ।
दो वच्छगावई (सू०-९२×) ।
मेरोर्द्वित्वाद् वत्सावतीद्वित्वम् । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

वच्छणयरी-वत्सनगरी-स्त्री० । कौशाम्ब्याम् , आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

वच्छभूमि-वत्सभूमि-स्त्री० । कोशलायाः पूर्वविषये, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

वच्छवाली-वत्सपाली-स्त्री० । गोप्याम् , " तत्थेव वच्छवाली परमन्नं " आ० म० १ अ० । आव० ।

वच्छमित्ता-वत्समित्रा-स्त्री० । अधोलोकवासिदिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० । आ० क० । आ० म० । आव० । जम्बूद्वीपे मन्दरे पर्वते नन्दनस्य वनस्य रुचककूटदेव्याम् , स्था० ६ ठा० ३ उ० । आ०चू० । ऊर्ध्वलोकवासिन्यां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , जं० ५ वक्ष० ।

वच्छराय-वत्सराज-पुं० । वत्सदेशमहाराजे, आ० क० १ अ० । वसन्तपुरनगरे रुक्मिणीपतेर्जिनदासश्रावकस्य गोपाले, पिं० ।

वच्छल-वत्सल-त्रि० । रक्षके, आव० ४ अ० । वत्सलस्तु पुत्रादिस्नेहात्मा । रतिभेदे, हैम० ।

वच्छलया-वत्सलता-स्त्री० । वत्सलभावे , अनुरागे , प्रव० १० द्वार । वात्सल्ये, अनुरागयथावस्थितगुणोत्कीर्तनरूपाचारे , ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । प्रज्ञा० । आ० म० । हितकारितायाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

वच्छलिज्ज-वत्सलीय-न० । श्रीगुप्तान्निर्गतस्य चारणगणस्य प्रथमकुले , कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

वच्छल्ल-वात्सल्य-न० । आचार्यग्लानप्राघूर्णकासहबालवृद्धादीनामाहारोपध्यादिना समाधिसम्पादने, जी० १ प्रति० । व्य० । प्रव० । साधर्मिकाणां भक्तपानीयैर्भक्तिकरणे, उत्त० २८ अ० । दश० । ग० । ध० ।

इदाणिं वच्छल्ले त्ति दारं-

साधम्मियवच्छल्लं, आहाराऽऽतीहिँ होइ सव्वत्थ ।
आएसु गुरुगिलाणे, तवस्सिबालादिसेहे य ॥ २९ ॥

समाणधम्मो साहम्मिओ तुल्लधम्मो, सो य साहू साहुणी वा । चसद्दा-खेत्तकालमासज्ज सावगो वि घेप्पति, वच्छल्लभावो वच्छल्लं पुत्रादेरिवेत्यर्थः । कहं केण वा कस्स वा कायव्वं ? साहूणं साहुणा सव्वथामेण एयं कायव्वं आहारादिणा दव्वेण, आहारो आदी जेसिं ताणि इमाणि आहारादीणि । आदिसद्दातो वत्थ-पत्त-भेसज्जोसह-पादसोया-ब्भङ्गणविस्सामणादिसु य एवं ताव सव्वेसिं साहम्मियाणं वच्छल्लं कायव्वं, इमेसिं तु विसेसिओ आएसो-पाहुणओ गुरू सूरी गिलाणो जरादिगहितो विमुक्को वा तवस्सी-विकिट्ठतवकारी बालो, आदिसद्दातो बुड्ढो सेहो महोदरो य । सेहो-अभिणवपव्वइतो । महोदरो-जो बहु भुंजति । स विसेसंति एएसिं आएसादिआणं जहाऽभिहिताणं सह विसेसेण सविसेसं सादरं साहिगयरं सातिसयतरमिति । जो एयं वच्छल्लं पवयणे ण करेति तस्स पच्छित्तं भण्णति सामण्णेण साहम्मियवच्छल्लं ण करेति तो मासलहू ।

विसेसयं भण्णति-

आयरिए य गिलाणे, गुरुगा लहुगा य खमगपाहुणए ।
गुरुगो य बालवुड्ढे, सेहे य महोदले लहुओ ॥ ३० ॥

आयरियगिलाणाणं वच्छल्लं ण करेति चउगुरुगा पत्तेयं,खमगस्स पाहुणगस्स य वच्छल्लं ण करेति चउलहुगा पत्तेयं बालवुड्डाणं पत्तेयं मासगुरुगो , सेहमहोयराणं पत्तेयं मासलहुगो । वच्छल्ले त्ति दारं गतं । नि०चू०१ उ० । दृष्टान्तः । वच्छल्ले वइरो दिट्ठंतो-भगवं वइरो-वइरसामी उत्तरावहं गओ,तत्थ य दुब्भिक्खं जायं, पंथा वोच्छिण्णा । ताहे सङ्घो उवागओ 'णित्थारेहि' त्ति ताहे पडविज्जा आवाहिता संघो चडिओ उप्पतितो, सेज्जायरो य चारीए गतो पासति चिन्तेइ य कोइ विणासो भविस्सति जेण संघो जायति इलपए विहरिलिंछिदित्ता भण्णति भगवं साहम्मिओ त्ति। ताहे भगवया विलइतो इमं सुत्तं सरंतेण साहम्मियवच्छल्लम्मि उज्जुत्ता उव्वत्ता य सज्झाते चरणकरणम्मि य तहा तित्थस्स पभावणाए य जहा वइरेण कयं एवं साहम्मियवच्छल्लं कायव्वं । अहवा-णंदिसेणो वच्छल्ले उदाहरणं । नि० चू० १ उ० ।

अथाधिकारात्परवात्सल्यकारिणामतिस्तोकतामाह-

भूए अत्थि भविस्सं-ति केइ तेलुक्कनमिअक्कमजुअला ।
जेसिं परहियकरणि-क्कबद्धलक्खाण वोलिही कालो ॥ ३६ ॥

भूते-अतीतकाले ' अत्थि ' त्ति सन्ति-विद्यन्ते वर्तमानकाले भविष्यन्ति-भविष्यत्काले केचिदतिस्तोका एव ते पुरुषाः किंभूताः ? त्रैलोक्येन-स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणेन तन्निवासिप्राणिगणेनेत्यर्थः । नतं क्रमयुगलं येषां ते त्रैलोक्यनतक्रमयुगलाः । ते के ? येषां परहितकरणैकबद्धलक्षाणाम् , परेषाम्-अन्येषां हितं वात्सल्यं परहितं-परहितस्य करणं परहितकरणं तस्मिन् एकम्-द्वितीयं बद्धं लक्षं वेध्यं तस्य लयहेतुत्वेन कारणे कार्योपचाराल्लयो यैस्ते परहितकरणैकबद्धलक्षास्तेषां परहितकरणैकबद्धलक्षाणाम् एवंविधानां सताम् , ' वोलिहि ' त्ति प्राकृतत्वात् व्यतिचक्राम व्यतिक्रामति व्यतिक्रमिष्यति वा कालः समयादिलक्षण इति । गीतिच्छन्दः । ग० २ अधि० ।

वच्छवाल-वत्सपाल-पुं० । गोवत्सरक्षके , " स्वाम्यस्थात्कृपया तस्य , दृष्ट्वा प्रभुमुपागमत् । गोपालवत्सपालाद्या, वृक्षाद्यन्तरिताः स्थिताः ॥ १ ॥ " आ० क० १ अ० । " वच्छी वा वच्छवाला अ " पाइ० ना० १०३ गाथा ।

वच्छसुत्त-वक्षःसूत्र-न० । हृदयाभरणभूतसुवर्णसङ्कलके , भ० ६ श० ३३ उ० ।

वच्छण-उक्षन्-पुं० । वृषभे , " उक्खा वसहा य वच्छणा " पाइ० ना० १५१ गाथा ।

वच्छाणुबंधिया-वत्सानुबन्धिका-स्त्री० । वत्सः पुत्रस्तदनुबन्धो यस्यां सा वत्सानुबन्धिका । वैरस्वामिमातुः प्रव्रज्यायाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० । पं० भा० । पं० चू० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वच्छायण-वात्सायन-पुं० । वत्सगोत्रापत्ये साहित्यशास्त्राचार्ये, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

वच्छावई-वत्सावती-स्त्री० । प्रभङ्कराख्यराजधानीविभूषितविजयक्षेत्रयुगले, जं० ४ वक्ष० । स्था० ।

वच्छासुत्त-वक्षःसूत्र-न० । उत्तरासङ्गपरिधानीये, भ० ६ श० ३३ उ० ।

वच्छी-वार्ची-स्त्री० । चारुदत्तकन्यायां ब्रह्मदत्तचक्रिभार्यायाम्, उत्त० १३ अ० ।

वच्छीउत्त-वात्सीपुत्र-पुं० । वात्सीपुत्रे, "वच्छीउत्तं जाणह य चैंडिलं एहाविअं च रत्तीअं ।" पाइ० ना० ६१ गाथा ।

वच्छीवा-वत्साजीव-त्रि० । वत्सपालके, "वच्छीवा वच्छपाला य ।" पाइ० ना० १०३ गाथा ।

वज्ज-त्रस्-धा० । उद्वेगे, "त्रसेर्डर-बोज्ज-वज्जाः ।" ॥ ८ । ४ । १६८ ॥ इति त्रसेर्वज्जादेशः । प्रा० ४ पाद ।

वज्ज-न० । कुलिशे, "असणी वज्जं कुलिसं ।" पाइ० ना० ६६ गाथा ।

व्रज-धा० । गतौ, मागध्याम् । "व्रजेर्जः" ॥ ८ ।४।२६४ ॥ इति जकारः आदेशभूतत्वात् द्वित्वम् । वज्जइ । व्रजति । प्रा० ।

वज्र-न० । हीरके, जं० ३ वक्ष० । कुलिशे, पञ्चा० १७ विव० । कीलिकायाम्, स० । उत्त० । गुरुत्वादधः पातकत्वेन वा वज्रवद् वज्रम् । पापे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । आचा० । स्था० । षष्ठदेवलोकविमानभेदे, स० ।

वर्ज-त्रि० । वर्जनीयं वर्ज्यते इति वर्जम् । पापे, विशे० । आ० म० । अकृत्ये, आव० ४ अ० । तं० । वर्जं तत् द्विधा लौकिकं, लोकोत्तरिकं च (तच्च 'परिहार' शब्दे पञ्चमभागे ६६० पृष्ठे दर्शितम् ।)

वर्ज्य-त्रि० । वर्ज्यते विवेकिभिरिति वर्ज्यम् । व्य० १ उ०।कर्मणि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

वर्जनीयवस्तून्याह—

> पंचुम्बरि चउविगई ४,
> हिम १० विस ११ करगे य १२ सव्वमट्टी य १३ ॥
> रयणीभोयणगं चिय १४,
> बहुबीय १५ अणंतसंधाणं १६ ॥ ५० ॥

पञ्चानामुदुम्बराणां समाहारः पञ्चोदुम्बरी, वटपिप्पल्योदुम्बरप्लक्षकाकोदुम्बरीफलरूपा समयप्रसिद्धा, सा मशकाकारसूक्ष्मबहुजीवभृतत्वाद्वर्जनीया, तथा चतस्रो विकृतयो—मद्यमांसमधुनवनीतरूपा वर्ज्याः, सद्य एव तत्र तद्वर्णानेकजीवसंमूर्छनात्, तथा हिमं शुद्धासंख्याप्कायरूपत्वात्, तथा विषं मन्त्रोपहतवीर्यमपि उदरान्तर्वर्तिगण्डोलकादिजीवविघातहेतुत्वात् मरणसमये महामोहोत्पादकत्वाच्च, तथा करका अप्यसंख्याप्कायिकत्वात्, तथा सर्वापि मृत्तिका दर्दुरादिपञ्चेन्द्रियप्राण्युत्पत्तिनिमित्तत्वात्, सर्वग्रहणं खटिकादि तद्भेदपरिग्रहार्थं तल्लक्षणस्यापि आमाशयादिदोषजनकत्वात्, तथा रजनीभोजनं बहुविधजीवसंपातसंभवेन इहलौकिकपारलौकिकदोषदुष्टत्वात् तथा बहुबीजं पम्पोटकादि प्रतिबीजं जीवोपमर्दसंभवात्, अनन्तान्यनन्तकायिकानि, अनन्तजन्तुसन्तानविघातननिमित्तत्वात्, तथा संधानमस्त्यानकं बिल्वकादीनां जीवसंसक्तिहेतुत्वात्, तथा घोलवटकानि उपलक्षणत्वादामगोरससंपृक्तद्विदलानि च केवलिगम्यसूक्ष्मजीवसंसक्तिसंभवात्, तथा वृन्ताकानि निद्रावाहुल्यमदनोद्दीपनादिदोषदुष्टत्वात्, तथा स्वयं परेण वा येषां नाम न ज्ञायते तान्यज्ञातनामानि पुष्पाणि फलानि, अज्ञानतो निषिद्धफलप्रवृत्तौ व्रतभङ्गसंभवात्, विषफलेषु प्रवृत्तौ जीवितविनाशात्, तथा तुच्छमसारं फलं मधूकबिल्वादेः, उपलक्षणत्वाच्च पुष्पमरणिशिग्रुमधूकादेः, पत्रं प्रावृषि तण्डुलिकादेः, बहुजीवसंमिश्रत्वात्, यद्वा—तुच्छफलमर्धनिष्पन्नकोमलचवलकशिम्ब्यादिकम्, तद्भक्षणे हि तथाविधा तृप्तिरपि नोपजायते, दोषाश्च बहवः संभवन्ति, तथा चलितरसं कुथितान्नम्, उपलक्षणत्वात् पुष्पितौदनादि, दिनद्वयातीतं च दधि वर्जनीयम्, जीवसंसक्त्या प्राणातिपातादिलक्षणदोषसंभवात्, एतानि द्वाविंशतिसंख्यानि वर्जनीयानि वस्तूनि कृपापरीतचेतसः सन्तो हे भव्यजनाः ! वर्जयत परिहरतेति । प्रव० ४ द्वार ।

वर्य-त्रि० । "द्य-य्य-र्यां जः" ॥ ८ । २ । २४ ॥ इति र्यभागस्य जः । प्रा० । जं० । प्रधाने, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

वाद्य-न० । वादनकर्मीभूते ततादौ, स्था० ।

> चउव्विहे वज्जे पण्णत्ते । तं जहा-तते वितते घणे सुसिरे १, (सू० ३७४)

'वज्जे' त्ति वाद्यं तत्र—"ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकम् । घनं तु कांस्यतालादि, वंशादि शुषिरं मतम् ॥ १ ॥" इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ० म० । कल्प० । आ० चू० ।

अवद्य-न० । प्राकृतत्वात् अकारलोपः । संथा० । पापे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

वज्जकंद-वज्रकन्द-पुं० । कन्दविशेषे, प्रव० ४ द्वार । ध० । भ० ।

वज्जकर-अवद्यकर-त्रि० । अवद्यं पापं वज्रं वा गुरुत्वादधः पातकत्वेन पापमेव तत्करणशीलोऽवद्यको वज्रकरो वा । पापकृति, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

वज्जकिरिया-वर्जक्रिया-स्त्री० । आत्मार्थं गृहं निर्वर्त्य साधुभ्यो दत्वाऽन्यद् गृहं निर्वर्त्य तत्रोषित्वा निवसति । शय्यातरे तद्दत्तगृहवसतौ, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० । ('कालाइक्कंतकिरिया' शब्दे तृतीयभागे ४६५ पृष्ठे सूत्राणि ।)

वज्जकुमार-वज्रकुमार-पुं० । यादववंशस्यान्तिमपुरुषे, स च द्वैपायनेन दग्धायां द्वारवत्यामुच्छिन्नप्राये यदुवंशे स्वभार्यायां दृढप्रहारिणं नाम पुत्रमजीजनत् । ती० २७ कल्प ।

वज्जण-वर्जन-न० । त्यजने, आव० ५ अ० । विशे० । प्रव० ।

वज्जणअ-वदितृ-त्रि० । वद-कर्तरि तृन् । "भक्त्यादीनां वोल्लाऽऽदयः" ॥ इति वदस्थाने वज्जाऽऽदेशः । "तृनः अणअः" ॥ ८ । ४ । ४४३ ॥ इति तृनः स्थाने अ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णअ आदेशः । वञ्चरि , " पडइ वज्जणउ सुणउ भसणउ " प्रा० ४ पाद ।

वज्जणाभ-वज्रनाभ-पुं० । अभिनन्दनस्य चतुर्थकुलकरस्य प्रथमभिक्षादायके , स० । ति० ।

वज्जणिज्ज-वर्जनीय-त्रि० । वर्ज्यत इति वर्जनीयम् । परिहरणीये , प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । पापे, विशे० ।

वज्जतुंड-वज्रतुण्ड-त्रि० । वज्रवद्दृढमुखे, " कीलियाओ वज्जतुंडियाओ विउव्वइ " आ० म० २ अ० ।

वज्जधूली-वज्रधूली-स्त्री० । वज्रवत्तीक्ष्णकणकेरणौ, " सामिस्स उवरिं वज्जधूली वरिसं वरिसइ " आ० म० १ अ० ।

वज्जपरिवज्जि-वर्ज्यपरिवर्जिन्-त्रि० । वर्जनीयं वर्ज्यमकृत्यं परिगृह्यते तत्परिवर्जी । अप्रमत्ते, आव० ४ अ० ।

वज्जपाणि-वज्रपाणि-पुं० । वज्रं वज्राभिधानायुधं पाणावस्येति वज्रपाणिः । प्रज्ञा० २ पद । उत्त० । कुलिशकरे, उत्त० २ अ० । आ० म० ।

वज्जबंध-वज्रबन्ध-पुं० । वज्रवेष्टे, वज्रकीलके, आ० चू० १ अ० ।

वज्जबहुल-वज्रबहुल-त्रि० । वज्रवद्वज्रं गुरुत्वात्कर्म तद्बहुलस्तत्करणप्रचुरस्तथा । वध्यमानकर्मगुरौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

वज्जभीय-वज्रभीत-त्रि० । वज्रं-पापं कल्मषमित्यर्थः । तस्माद् भीतो वज्रभीतः । असंयमभीते, पं० चू० १ कल्प । आ० चू० । व्य० । आ० म० । प्रश्न० ।

वज्जभीरु-अवद्यभीरु-त्रि० । अकारलोपादवद्यं-पापं तद्भीरुः । पापभीते, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

वज्जभूमि-वज्रभूमि-स्त्री० । लाटदेशस्थे स्वनामख्याते गर्तकण्टकादिप्रधाने नगरे, आ० म० १ अ० । आचा० ।

वज्जमाण-वाद्यमान-त्रि० । वादनं कार्यमाणे, " छिप्पतरेण वज्जमाणेणं " द्रुततूर्येण वाद्यमाने, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

वज्जयंत-वर्ज्जयत्-त्रि० । परित्यजति, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । क्वचिद्यलोपः । " वज्जंतो बीयहरियाइं " वर्जयन्-परिहरन् । दश० ५ अ० ।

वज्जर-कथ-धा० । वाक्प्रबन्धे, "कथेर्वज्जर-पज्जरोपाल-पिसुण-संघ-बोल्ल-चव-जम्प-सीस-साहाः " ॥ ८ । ४ । २ ॥ इति कथेर्वज्जरादेशः । अयं चात्र देशीषु पठितोऽप्यस्माभिर्धात्वादेशीकृतो विविधेषु प्रत्ययेषु प्रतिष्ठित इति । तथा च-वज्जरिओ-कथितः, वज्जरिऊण-कथयित्वा, वज्जरणं-कथनम्, वज्जरंतो-कथयन् , वज्जरिअव्वं-कथयितव्यमिति रूपसहस्राणि सिध्यन्ति संस्कृतधातुवच्च प्रत्ययलोपागमादिविधिः । प्रा० ४ पाद ।

वज्जरिसभनारायसंघयण-वज्रर्षभनाराचसंहनन-न० । नाराचम्-उभयतो मर्कटबन्धः, ऋषभः-तदुपरिवेष्टनपट्टः, कीलिका अस्थि उभयस्यापि भेदकमस्थि एवं रूपं संहननं यस्य सः तथा । प्रथमसंहनिनि, सू० प्र० १ पाहु० । आ० चू० ।

वज्जलाढ-वज्रलाट-पुं० । लाटदेशवास्तव्येषु म्लेच्छविशेषेषु , आ० म० १ अ० ।

वज्जवित्ति-वर्यवृत्ति-स्त्री० । प्रधानजीविकायाम् , अनु० । स्था० ।

वज्जसामि(ण्)-वज्रस्वामिन्-पुं० । आर्यवज्रे, नि० चू० १उ० ।

वज्जवेढ-वज्रवेष्ट-पुं० । वज्रकीलिकायाम् , आ० चू० १ अ० ।

वज्जा-वज्रा-स्त्री० । ' परिणामिया ' शब्दे पञ्चमभागे ६१७ पृष्ठे उदाहृतस्य काष्ठश्रेष्ठिभार्यायाम् , आ० म० १ अ० । " अत्तट्ठकडं दाउं, जईण अणं करेइ वज्जाओ । जम्हा तं पुव्वकयं, वज्जं ति अओ भवे वज्जा ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे दोषयुगुपाश्रये, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० । ग० । पं० व० । दे० ना० । ('वसहि' शब्दे विशेषं वक्ष्यामि ।)

वज्जायरिय-वज्राचार्य-पुं० । आर्यवज्रस्वामिनि, प्रति० ।

वज्जि (ण्)-वज्रिन्-पुं० । शक्रेन्द्रे, भ० ७ श० ६ उ० ।

वज्जित्ता-वर्जयित्वा-अव्य० । अपहृत्येत्यर्थे, पं० व० ३ द्वार ।

वज्जिय-वर्जित-त्रि० । रहिते, परित्राणविकले, सूत्र० १ श्रु०१ अ० २ उ० । त्यक्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । उत्त० । आव० ।

वज्जियावग-पुं० । देशी० । इक्षौ, " वज्जियावगो नाम उच्छू " इति वचनात् । व्य० १ उ० ।

वज्जेत्ता-वर्जयितुम्-अव्य० । मोक्तुमित्यर्थे, नि० चू० २० उ० ।

वज्जेयव्व-वर्जयितव्य-त्रि० । त्याज्ये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । स्था० । परिहार्ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

वज्झ-वध्य-त्रि० । वध्ये, "वज्झो वद्धो ।"पाइ०ना०२३६गाथा ।

वञ्च-वञ्च-धा० । प्रलम्भने, " वञ्चेर्वेहव-वेलव-जूरवोमच्छाः ॥ ८ । ४ । ९३ ॥" इति वञ्चतेरेते चत्वार आदेशा भवन्ति । इति वञ्चतेरादेशत्रयादेशः । वेहवइ । वेलवइ । जूरवइ । उमच्छइ । वञ्चइ । वञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

वट्ट-वृत्त-त्रि० । " वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पतन-कदर्थिते टः" ॥ ८ । २ । २९ ॥ इति संयुक्तस्य टः । प्रा० । अयोगोलकवत् (अनु०) वर्तुले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । सूत्र० । विशे० । स्था० । आ० म० । प्रज्ञा० । भ० । अन्तःशुषिररहिते परिमण्डलरूपे, भ० १४ श० ७ उ० ।

एगे वट्टे । (सू०-४७)

वृत्तसंस्थानं मोदकवत् , तच्च घनप्रतरभेदाद् द्विधा । पुनः प्रत्येकं समविषमप्रदेशावगाढमिति चतुर्धा ; स्था० १ ठा० । जी० । औ० । रा० । जं० । ध० । आचा० । आ० म० ।

वट्टे-तेलापूयसंठाणसंठिए, वट्टे-रहचक्कवालसंठाणसंठिए, वट्टे-पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए, वट्टे-पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए ।

('जंबूदीव' शब्दे चतुर्थभागे १३७३ पृष्ठे इदं सूत्रं व्याख्यातम् ।) विधिप्रतिषेधरूपे वर्तने, पो० १ विव० । समाचारे , आ० म० १ अ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्त्मन्–न०। मार्गे, 'वट्टं गाहे' इति वर्त्म ग्राहयति यानानि मार्गे स्थापयतीत्यर्थः। औ०।

वट्टअ–वर्तक–पुं०। तित्तिरजातीये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। वृहत्तरे रक्तपादे (नि० चू० ६ उ०।) (वटेर) इति, ख्याते पक्षिणि, आ० म० १ अ०। प्रश्न०। उत्त०। नि० चू०। जत्वादिमयगोलके, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। सू० प्र०। बालरमणकविशेषे, अणु०।

वट्टंत–वर्तमान–त्रि०। विद्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

वर्तयत्–त्रि०। परिवेषयति, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

वट्टखुर–वृत्तखुर–पुं०। तुरङ्गमे, वृ० ३ उ०। अश्वप्रधाने, ओघ०। नि० चू०।

वट्टखेड्ड–वृत्तक्ष्वेड–पुं०। न०। कन्दुकक्रीडायाम्, स० ७२ सम०। औ०।

वट्टचणग–वृत्तचणक–पुं०। मसूरधान्ये, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

वट्टणा–वर्तना–स्त्री०। वर्ततेऽनवच्छिन्नत्वेन निरन्तरं भवतीति वर्तना। कालकार्ये, आत्मधारणे, "वट्टणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो" उत्त० २८ अ०।

वट्टभावपरिणय–वृत्तभावपरिणत–त्रि०। वर्तुलाकृतौ, जं० १ वक्ष०।

वट्टमाण–वर्त्तमान–त्रि०। व्यवस्थिते, स्था० ६ ठा० ३ उ०। व्याप्रियमाणे, पञ्चा० १६ विव०। पं० सू०। तपोऽर्हं प्रायश्चित्तं वहति, व्य० १ उ०।

वट्टमाणसुहेसि (ण्)–वर्त्तमानसुखैषिन्–त्रि०। वर्त्तमानसुखमेव सुखमिह लोकसुखमाधाकर्मिकाद्युपभोगजमेषितुं शीलं येषां ते वर्त्तमानसुखैषिणः। समुद्रवायसवत् तत्कालावाप्तसुखलवासक्तचेतस्सु, अनालोचिताधाकर्मोपभोगजनिताऽतिकटुकदुःखौघानुभवनेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

वट्टमाणी–वर्त्तमानी–स्त्री०। वार्तायाम्, वर्त्तन्यां च। "कुसलस्स वा वट्टमाणीति" आ० म० १ अ०।

वट्टलोह–वृत्तलोह–न०। त्रिकुटीत्यभिधाने गोलायसि, औ०।

वट्टवेयड्ढपव्वय–वृत्तवैताढ्यपर्वत–पुं०। वृत्तः पल्याकारत्वात् वैताढ्यो नामतो वृत्तवैताढ्यः। स च पर्वतश्चेति वृत्तवैताढ्यपर्वतः। स्वनामख्याते पर्वते, स्था०।

जंबूमंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं हेमवएरन्नवएसु वासेसु दो वट्टवेयड्ढपव्वया पन्नत्ता, तं जहा–बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता ०जाव सद्दावाई चेव, वियडावाई चेव। तत्थ णं दो देवा महड्ढिया ०जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति, तं जहा–साई चेव, पभासे चेव। जंबूमंदरस्स उत्तरदाहिणेणं हरिवासरम्मएसु वासेसु दो वट्टवेयड्ढपव्वया पन्नत्ता, तं जहा–बहुसमतुल्ला ०जाव गंधावाई चेव, मालवंतपरियाए चेव। तत्थ णं दो देवा महड्ढिया चेव पलिओवमट्ठिइया परिवसंति, तं जहा–अरुणे चेव, पउमे चेव। (सू० ८७+)

'जंबू' इत्यादि "दो वट्टवेयड्ढपव्वय" त्ति द्वौ वृत्तौ पल्याकारत्वात् वैताढ्यौ नामतः तौ च तौ पर्वतौ चेति विग्रहः, सर्वतः सहस्रपरिमाणौ रजतमयौ, तत्र हैमवते शब्दापाती उत्तरतस्तु ऐरण्यवते विकटापातीति। 'तत्थ' त्ति तयोर्वृत्तवैताढ्ययोः क्रमेण स्वातिप्रभासौ देवौ वसतः, तद्भवनभावादिति। एवं हरिवर्षे गन्धापाती रम्यकवर्षे माल्यवत्पर्यायो देवौ क्रमेणैवेति।

चतुर्थस्थाने चत्वारि—

सव्वे वि णं वट्टवेयड्ढपव्वया दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दस गाउयसयाइं उव्वेहेणं सव्वत्थ समा पल्लगसंठाणसंठिया दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। (सू०७२२)

सर्वेऽपि वृत्तवैताढ्यपर्वताः विंशतिः प्रत्येकं पञ्चसु हैमवतैरण्यवतहरिवर्षरम्यकेष्वेषां शब्दावती विकटावती गन्धावती माल्यवत्पर्यायाख्यानां भावादिति, वृत्तग्रहणं दीर्घवैताढ्यव्यवच्छेदार्थमिति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

वट्टावरय–वर्तावरक–पुं०। लोष्टकप्रधाने, भ० १६ श० ३ उ०।

वट्टि–वर्ति–स्त्री०। गुटिकायाम्, औ०।

वट्टिज्जमाणचरय–वर्त्यमानचरक–पुं०। परिवेष्यमाणचरके, औ०।

वट्टिम–देशी–अतिरिक्ते, दे० ना० ७ वर्ग ३४ गाथा।

वट्टिय–वर्तित–त्रि०। वृत्ते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। आचा०। औ०। ज्ञा०। बद्धस्वभावानुपचितकण्ठत्वभावे, रा०।

वट्टु–वट्टु–न०। अष्टकमये भाजने, बृ०१ उ०। कमठके, बृ०१उ०।

वट्टुकर–वट्टुकर–पुं०। यक्षभेदे, विद्यासिद्धिभेदे, स्त्री०। आ० क० १ अ०।

वट्टुल–वर्तुल–त्रि०। वर्तुले, "पेढालनिअकल वट्टुलाइं परिमंडलऽत्थम्मि"। पाइ० ना० ८४ गाथा।

वट्टेलिखेडग–वट्टेलि(ली)खेटक–पुं०। अर्बुदगिरिसविधे स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र वटगच्छः प्रथममजनि। व्य० २ उ०। "अथ युगनवनन्दमिते, वर्षे विक्रमनृपादतिक्रान्ते। पूर्वावनितो विहरन्, सोऽर्बुदसुगिरेः सविधमागात्॥१६॥ तत्र वट्टेलिखेटक–सीमावनिसंस्थवरवटाधः। सुमुहूर्ते स्वपदेऽष्टौ, सूरीन् संस्थापयामास॥ २०॥" ग० ३ अधि०।

वड–वट–पुं०। वृक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद। प्रा०। औ०। आ० म०। वण्टके, विभागे, आ० चू० ५ अ०। अनु०। मत्स्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद। वटवृक्षाधो दीक्षा भवति। बृ० १ उ० २ प्रक०।

वडग–वटक–न०। त्रिसरीमये निकृष्टकौशेयसूत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

वडगच्छ–वटगच्छ–पुं०। वट्टेलीखेटकसीमावनिसंस्थवरवटाधःसंस्थापिते वृद्धगच्छे, ग० ३ अधि०। ('वट्टेलीखेडग' शब्दो वीक्ष्यः।)

वडगर–वटकर–पुं०। मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

वडपायव–वटपादप–पुं०। वटनामके वृक्षविशेषे, उत्त० १३अ०।

वडप्पय–वडप्पक–पुं०। काष्ठयन्त्रविशेषे, प्रश्न०३ आश्र०द्वार।

वडभ–वडभ–त्रि०। मडहकोष्ठे, दशा० १० अ०। एकपार्श्वहीने, प्रव० ११० द्वार। नि० चू०। ओघ०। बृ०। वामने, विनिर्गतपृष्ठिपीवडभे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वडभिया-वटभिका-स्त्री० । वक्राधः कायायाम्, औ० । मडहकोष्ठाधिपत्यां दास्याम्, रा० ।

वडर-वटर-पुं० । मूर्खे, अष्ट० २३ अष्ट० ।

वडरुक्ख-वटवृक्ष-पुं० । वटवृक्षे, "नग्गोहं वडरुक्खं" पाइ० ना० २५७ गाथा ।

वडवड-विलप-धा० । विलपने, "विलपेर्झंख-वडवडौ" ॥ ८ । ४ । १४८ ॥ इति विपूर्वकस्य लपेर्वडवडादेशः । वडवडइ । विलपति । प्रा० ४ पाद ।

वडवा-वडवा-स्त्री० । घोटक्याम्, "तुरंगिआ वडवा" पाइ० ना० २२६ गाथा ।

वडवामुह-वडवामुख-न० । चतुर्षु महापातालेषु मध्ये प्रथमे महापाताले, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

वलया[य]मुख-पुं० । चतुर्षु महापातालेषु मध्ये प्रथमे महापाताले, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

वडह-देशी-पक्षिभेदे, दे० ना० ७ वर्ग ३३ गाथा ।

वडार-वटाचार-पुं० । वडो वएटगो वा एगट्ठं । आरितो आयरितो वडारो इति । विभागव्यवहारे,नि०चू०२उ० । आ०चू० ।

वडाली-देशी-पङ्क्तौ, दे० ना० ७ वर्ग ३६ गाथा ।

वडिंसय-अवतंसक-पुं० । शेखरके, कर्णपूरे च । अवतंसक इवावतंसकः । प्रधाने, स० २०० सम० । रा० । औ० । ज्ञा० । स्था० । श्रेष्ठे, जं० १ वक्ष० ।

वडिंसा-अवतंस[सि]का-स्त्री० । किन्नरनाम्नः किन्नरेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

वडिया-वटिका-स्त्री० । वटी इति ख्याते पदार्थे,प्रश्न० १ पद । प्रव० । वर्ध्रपट्टिकायाम्, औ० ।

वडिस-वडिश-न०।प्रान्तन्यस्तामिषे लोहकीलके,उत्त०३अ० ।

वडिसामिस-वडिशामिष-न० । मत्स्यगलमांसे,द्वा० २३ द्वा० ।

वडु-वटु-पुं० । ब्राह्मणे, ब्रह्मचारिणि, विशे० ।

वडुअ-वटुक-न० । कमठके, बृ० ३ उ० । स्वनामख्याते वाणारसीराजे, आ० म० १ अ० ।

वडुकर-वटुकर-पुं० । गुडाकरपुरजाते स्वनामख्याते वादपराजितपरिव्राजकजीवे, आ० क० १ अ० । आ० म० ।

वडेंसग-अवतंसक-पुं० । अवतंसक इवावतंसकाः । शिखरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

वड्ड-वृद्ध-त्रि० । "शीघ्रादीनां वहिल्लादयः" ॥ ८ । ४ । ४२२ ॥ इति वृद्धस्थाने वड्डादेशः । प्रा० । महति, आव० ४ अ० ।

वड्डअर-बृहत्तर-त्रि० । गोणादित्वाद्रूपसिद्धिः । अतिशयेन-महत्तरे, प्रा० । दे० ना० ।

वड्डकुमारी-वृद्धकुमारी-स्त्री० । विन (ण) यशब्दे उदाहरिष्यमाणे मालिने आत्मसमर्पयति स्त्रीभेदे, नि० चू० १ उ० । दश० । कौमार्यवस्थायामेव वार्द्धक्यमनुभवन्त्यां स्त्रियाम्, नि० चू० १ उ० ।

वड्ड-वृद्ध-पुं० । वृद्धौ, "क्थ वर्धां ढः" ॥ ८ । ४ । २२० ॥ इति धस्य ढः । घड्डइ । वर्धते । प्रा० ४ पाद ।

वड्ढइ-वर्धकि-पुं० । सूत्रधारे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । सूत्र० । रथादिनिर्मापयितरि, स० १४ सम० । नं० । "रहयारा वड्ढइणो" पाइ० ना० १०३ गाथा ।

वड्ढइरयण-वर्धकिरत्न-न० । अत्युत्कृष्टे सूत्रधारे, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

वड्ढंतय-वृद्ध्यन्तक-पुं० । क्रमशो वृद्धिं प्राप्ते विहारे, पं० चू० । "वड्ढंतउं ति जहा भट्टारओ एगागी पव्वज्जइओ पच्छा केवलनाणाइविभूइं पत्तो इंदभूइप्पमुहा चोद्दससमणसाहस्सीसंपरिवुडा" । पं० चू० २ कल्प ।

वड्ढणी-वार्धनी-स्त्री० । गलन्तिकायाम्, जं० २ वक्ष० ।

वड्ढप्पण-वृद्धत्व-न० । त्वस्थाने-प्पणादेशः । महत्त्वे, "त्वतलोः प्पणः" ॥ ८ । ४ । ४३७ ॥ अपभ्रंशे त्वतलोः प्रत्यययोः प्पण इत्यादेशो भवति । "वड्ढप्पणु परिपाविअइ" प्रायोऽधिकाराद्-"वड्डत्तणहो तणेण" प्रा० ४ पाद ।

वड्ढमाण-वर्धमान-पुं० । उत्पत्तेरारभ्य ज्ञानादिभिर्वर्धते इति वर्द्धमानः । ध० २ अधि० । कल्प० । "वड्ढइ नायकुलं ति य, तेण जिणो वद्धमाणो त्ति" । ध० २ अधि० । स्वकुलं समृद्धिहेतुतया पितृभ्यां कृतवर्धमानाभिधाने, पा० । वीरजिनेन्द्रे, अस्यामवसर्पिण्यां जाते चतुर्विंशे तीर्थकरे, स० । नं० । आ० चू० ('वीर' शब्दे सर्वा वक्तव्यतां वक्ष्यामि ।) स्वनामख्याते चान्द्रकुलीये, आचार्ये, "चान्द्रे कुले सद्वनकक्षकल्पे, महाद्रुमो धर्मफलप्रदानात् । छायान्विताशस्तविशालशाखः, श्रीवर्धमानो मुनिनायकोऽभूत् ॥ १ ॥" भ० ४१ श० । द्वाषष्टितमे महाग्रहे,स्था०२ ठा०३ उ० । चं०प्र० । कल्प० ।

वड्ढिअ-देशी-कृपतुलायाम्, दे० ना० ७ वर्ग ३६ गाथा ।

वड्ढिय-वर्धित-त्रि० । वृद्धिमुपनीते, भ० ६ श० ३३ उ० ।

वड्ढियग-वर्द्धितक-पुं० । कृत्रिमनपुंसके, यस्य हि आयत्यां-राजान्तःपुरमहल्लकपदप्राप्त्यादिनिमित्तं यस्य बालत्वेऽपि छेदं दत्त्वा वृषणौ गालितौ भवतः । ग० १ अधि० । ध० । पं० भा० । पं० चू० ।

वण-वन-न० । एकजातीयवृक्षसमुदाये, भ० १ श० ८ उ० । कल्प० । जी० । अनु० । ज्ञा० । स्था० । उद्याने, न० "खंडं वणं ।" पाइ० ना० २६६ गाथा । नगरविप्रकृष्टे गहने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । भ० । ज्ञा० । अटव्याम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । तरुविशेषे, जी० ३ प्रति ४ अधि० । वनस्पतौ, कर्म० ४ कर्म० । सलिले, न० "अंबु सलिलं वणं वारि नीरं उदयं दयं पयं तोयं" पाइ० ना० २८ गाथा ।

व्रण-पुं० । व्रणति गच्छतीति व्रणः । अनु० । विस्फोटकादिक्षते, जं० २ वक्ष० । दश० । (द्रव्यव्रणभावव्रणयोर्विस्तरः 'पच्छित्त' शब्दे पञ्चमभागे १२६ पृष्ठे गतः ।)('काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे व्रणचिकित्सायां व्याख्यातोऽयं व्रणः ।) (व्रणमालिम्पति अत्र सूत्राणि 'कायवण' शब्दे तृतीयभागे ४६३ पृष्ठे गतानि ।)लाञ्छने,अनु० । वण इत्यरक्षद्विष्टेन व्रणलेपादानवद् भोक्तव्यमित्यर्थः । सूत्रकृत्वाद् द्रुमपुष्पिकाध्ययने, दश० १ अ० १ उ० । प्रहारे, "घणं पहारो" पाइ० ना० २२४ गाथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वणंत–वनान्त–पुं०। वनविभागे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

वणकम्म–वनकर्मन्–न०। वनविषयं कर्म वनकर्म। वनच्छेदनविक्रयरूपे कर्मत उपभोगपरिभोगव्रतातिचारे, भ० ८ श० ५ उ०। यच्छिन्नानामच्छिन्नानां च तरुखण्डानां पत्राणां पुष्पाणां फलानां च विक्रयणं वृत्तिकृतेन। प्रव० ६ द्वार। यत्र वा समुदितं वनं क्रीत्वा ततश्छित्त्वा विक्रीय च तल्लाभेन जीवति, ध० २० २ अधि०। आव०। आचा०। छिन्नाछिन्नवनपत्रपुष्पफलकन्दमूलतृणकाष्ठकं वा वंशादिविक्रयः कणदलपेषणं वानकच्छादिकरणं च। तस्मिन्, ध० २ अधि०। आ० चू०। उपा०।

वणकम्मंत–वनकर्मान्त–न०। यत्र वनकर्म क्रियते तादृशे गृहे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ०।

वणकर–व्रणकर–पुं०। व्रणं देहे क्षतं स्वयं करोति रुधिरादिनिर्गलनार्थमिति व्रणकरः। व्रणजनके, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

वणखण्ड–वनखण्ड–पुं०। एकजातीयवृक्षसमूहे, भ० ५ श० ७ उ०। अनेकजातीयोत्तमवृक्षेषु, स्था० २ ठा० ४ उ०। जं०। (वनखण्डवर्णकः लवणसमुद्रवनखण्डवर्णनावसरेऽस्मिन्नेव भागे ६०४ पृष्ठे गतः।)

वणग्गि–वनाग्नि–पुं०। वनाग्नौ, "दावो दवो वणग्गी।" पाइ० ना० १४१ गाथा।

वणचर–वनचर–पुं०। पुलिन्द्रशबरादिके आरण्यके मनुष्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

वणचिंता–व्रणचिन्ता–स्त्री०। क्षतनिरूपणे, पञ्चा० १६ विव०।

वणण–वनन–न०। वत्सस्यान्यमातरि योजने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

वणतिगिच्छा–व्रणचिकित्सा–स्त्री०। व्रणति गच्छतीति व्रणः, व्रणस्य चिकित्सा। चारित्रपुरुषस्य योऽतिचाररूपो भावव्रणः। दशविधप्रायश्चित्तभेषजेन कायोत्सर्गाध्ययने प्रतिपादितेऽधिकारविशेषे, अनु०।

वणतेल्ल–व्रणतैल–न०। व्रणसंरोहके तैले, व्य० ५ उ०।

वणदव–वनदव–पुं०। वनाग्नौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आ०चू०।

वणपव्वय–वनपर्व्वत–पुं०। वनमध्यपर्वते, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ०।

वणपिसाय–वनपिशाच–पुं०। पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

वणप्फ(स्स)इ–वनस्पति–पुं०। "बृहस्पति-वनस्पत्योः सो वा" ॥८।२।६६॥ इति संयुक्तस्य सो वा। वणस्सई। वणप्फई। प्रा०। लतादिरूपे एकेन्द्रियजीवशरीरे, प्रज्ञा० १ पद।

अथ वनस्पतिकायप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं वणस्सइकाइया?, वणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-सुहुमवणस्सइकाइया य, बादरवणस्सइकाइया य। (सू०-१६) से किं तं सुहुमवणस्सइकाइया?, सुहुमवणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-पज्जत्तसुहुमवणस्सइकाइया य, अपज्जत्तसुहुमवणस्सइकाइया य। सेत्तं सुहुमवणस्सइ काइया। (सू० २०) से किं तं बादरवणस्सइकाइया? बादरवणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा– पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया य, साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया य। (सू०-२१) प्रज्ञा० १ पद।

वनस्पतिकायस्तु समस्तलोकप्रत्यक्षपरिस्फुटजीवलिङ्गकलापोपेतः, अतः स एव तावत्प्रतिपाद्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे वनस्पत्युद्देशकः, तत्र च वनस्पतेः स्वभेदकलापप्रतिपादनाय पूर्वप्रसिद्धार्थातिदेशद्वारेण निर्युक्तिकृदाह—

पुढवीए जे दारा, वणसइकाए वि हुंति ते चेव।
णाणत्ती उ विहाणे, परिमाणुवभोगसत्थे य ॥१२६॥

यानि पृथवीकायसमधिगतये द्वाराण्युक्तानि तान्येव वनस्पतौ द्रष्टव्यानि नानात्वं तु प्ररूपणापरिमाणोपभोगशस्त्रेषु चशब्दाल्लक्षणे च द्रष्टव्यमिति।

तत्रादौ प्ररूपणास्वरूपविज्ञापनायाह—

दुविह वणस्सइजीवा, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि।
सुहुमा य सव्वलोए, दो चेव य बायरविहाणा ॥१२७॥

वनस्पतयो द्विविधाः-सूक्ष्मा, बादराश्च। सूक्ष्माः सर्वलोकापन्नाश्चक्षुर्ग्राह्याश्च न भवन्त्येकाकारा एव, बादराणां पुनर्द्वे विधाने।

के पुनस्ते बादरविधाने इत्यत आह—

पत्तेया साहारण, बायरजीवा समासओ दुविहा।
बारसविहऽणेगविहा, समासओ छव्विहा हुंति ॥१२८॥

बादराः समासतः द्विविधाः-प्रत्येकाः, साधारणाश्च। तत्र पत्रपुष्पमूलफलस्कन्धादीन् प्रति प्रत्येको जीवो येषां ते प्रत्येकजीवाः, साधारणास्तु परस्परानुविद्धानन्तजीवसंघातरूपशरीरावस्थानाः, तत्र प्रत्येकशरीरा द्वादशविधानाः साधारणास्त्वनेकभेदाः, सर्वेऽप्येते समासतः पोढा प्रत्येतव्याः। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

प्रत्येकतरुद्वादशभेदप्रत्यायनायाह—

से किं तं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया?, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया दुवालसविहा पण्णत्ता, तं जहा– (सू० २२) प्रज्ञा० १ पद।

रुक्खा गुच्छा गुम्मा, लया य वल्ली य पव्वगा चेव।
तणवलयहरियओसहि-जलरुहकुहणा य बोधव्वा ॥१२६॥

वृश्च्यन्त इति वृक्षास्ते द्विविधाः-एकास्थिका, बहुबीजकाश्च। तत्रैकास्थिकाः-पिचुमन्दाम्रकोशम्बशालाङ्कोलपीलुशल्लक्यादयः, बहुबीजकास्तु उदुम्बरकपित्थास्तिकतिन्दुकबिल्वामलकपनसदाडिममातुलिङ्गादयः, गुच्छास्तु— वृन्ताकीकर्पासीजपाऽऽढकीतुलसीकुस्तुम्भरीपिप्पलीनील्यादयः, गुल्मानि तु—नवमालिकासेरियकको—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रिण्टकवन्धुजीवकवाणकरवीरसिन्दुवारविचकिलजाति- यूथिकादयः, लतास्तु—पद्मनागाऽशोकचम्पकचूतवास- न्त्यतिमुक्तककुन्दलताद्याः, वल्लयस्तु—कुष्माण्डीकालि- ङ्गीत्रपुषीतुम्बीवालुङ्कीवेलुकीपटोल्यादयः, पर्वगाः पुनः-इक्षुवीरणशुण्ठशरवेत्रशतपर्ववंशनलवेणुकादयः, तृणानि तु-श्वेतिकाकुशदर्भपर्वकार्ज्जुनसुरभिकुरुविन्दादीनि, वलयानि च—तालतमालतक्कलीशालसरलाकेतकीकदलीकन्दल्यादीनि, हरितानि-तन्दुलीयकाधूयारुहवस्तुलवदरकमार्जारपादिकाचिल्लीपालक्यादीनि, औषध्यस्तु-शालीव्रीहिगोधूमयवकलममसूरतिलमुद्गमाषनिष्पावककुलत्थाऽतसीकुसुम्भकोद्रवकङ्ग्वादयः, जलरुहा-उदकावकपनकशैवलकलम्बुकापावककशेरुकोत्पलपद्मकुमुदनलिनपुण्डरीकादयः, कुहुणास्तु-भूमिस्फोटकाभिधानाः आयकायकुहुणकुण्डुक्कोद्दहालिकाशलाकासर्पच्छत्रादयः, एषां हि प्रत्येकजीवानां वृक्षाणां मूलस्कन्धकन्दत्वक्शालप्रवालादिष्वसंख्येयाः प्रत्येकं जीवाः, पत्राणि पुष्पाणि चैकजीवानि मन्तव्यानि, साधारणास्त्वनेकविधाः, तद्यथा—लोहीनिहुस्तुभायिकाऽश्वकर्णीसिंहकर्णीशृङ्गवेरमालुकामूलककृष्णकन्दसूरणकन्दकाकोलीक्षीरकाकोलीप्रभृतयः। सर्वेऽप्येते संक्षेपात् षोढा भवन्तीत्युक्तम्।

के पुनस्ते भेदा इत्याह—

अग्गबिया मूलबिया, खंधबिया चेव पोरबीया य।
बीयरुहा संमुच्छिम-समासओ वणप्फई जीवा॥१३०॥

तत्र कोरिण्टकादयोऽग्रबीजाः, कदल्यादयो मूलबीजाः, निहुशल्लक्यरणिकादयः स्कन्धबीजाः, इक्षुवंशवेत्रादयः, पर्वबीजाः, बीजरुहाः शालिव्रीह्यादयः, सम्मूर्छनजाः पद्मिनीशृङ्गाटकपाठशैवालादयः, एवमेते समासात्तरुजीवाः षोढा कथिताः, नान्ये सन्तीति प्रतिपत्तव्यम्।

किंलक्षणः पुनः प्रत्येकतरवो भवन्तीत्यत आह-

जह सगलसरिसवाणं, सिलेसमिस्साणवत्तिया वट्टी।
पत्तेयसरीराणं, तह होंति सरीरसंघाया॥ १३१॥

यथेति-दृष्टान्तोपन्यासार्थः, यथा-सकलसर्षपाणां श्लेषयतीति श्लेषः— सर्जरसादिस्तेन मिश्रितानां वर्तितावलिता वर्तिः तस्याञ्च वर्तौ प्रत्येकप्रदेशाः क्रमेण सिद्धार्थका स्थिताः, नान्योन्यानुवेधेन, चूर्णितास्तु कदाचिदन्योऽन्यानुवेधभाजोऽपि स्युरित्यतः सकलग्रहणम्, यथाऽसौ वर्तिस्तथा प्रत्येकतरुशरीरसंघातः, यथा च सर्षपास्तथा तदधिष्ठायिनो जीवाः, यथा श्लेषविमिश्रितास्तथा रागद्वेषप्रचितकर्मपुद्गलोदयमिश्रिता जीवाः, पश्चिमार्द्धेन गाथाया उपन्यस्तदृष्टान्तेन सह साम्यं प्रतिपादितं तथेति शब्दोपादानादिति।

अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह-

जह वा तिलसक्कुलिया, बहुएहिँ तिलेहिँ मेलिया संती।
पत्तेयसरीराणं, तह हुंति सरीरसंघाया॥ १३२॥

यथा वा तिलशष्कुलिका-तिलप्रधाना पिष्टमयपोलिका बहुभिस्तिलैर्निष्पादिता सती भवति, तथा प्रत्येकशरीराणां तरूणां शरीरसंघाता भवन्तीति द्रष्टव्यमिति।

साम्प्रतं प्रत्येकशरीरजीवानामेकानेकाधिष्ठितत्वप्रतिपिपादयिषयाऽऽह—

नाणाविहसंठाणा, दीसंती एगजीविया पत्ता।
खंधा वि एगजीवा, तालसरलनालिएरीणं॥ १३३॥

नानाविधम्-भिन्नं संस्थानं येषां तानि नानाविधसंस्थानानि, पत्राणि यानि चैवंभूतानि दृश्यन्ते तान्येकजीवाधिष्ठितान्यवगन्तव्यानि, तथा स्कन्धा अप्येकजीवाधिष्ठितास्तालसरलनालिकेर्यादीनाम्, नात्रानेकजीवाधिष्ठितत्वं संभवतीति अवशिष्टानां त्वनेकजीवाधिष्ठितत्वं सामर्थ्यात्प्रतिपादितं भवति।

साम्प्रतं प्रत्येकतरुजीवराशिपरिमाणाभिधित्सयाऽऽह-

पत्तेयापज्जत्ता, सेढीएँ असंखभागमित्ता ते।
लोगासंखप्पज्ज-त्तगाण साहारणाऽणंता॥ १३४॥

प्रत्येकतरुजीवाः पर्याप्तकाः संवर्त्तितचतुरस्रीकृतलोकश्रेण्यसंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशितुल्यप्रमाणाः, एते च पुनर्बादरतेजस्कायपर्याप्तकराशेरसंख्येयगुणाः, ये पुनरपर्याप्तकाः प्रत्येकतरुजन्तवः ते ह्यसंख्येयानां लोकानां यावन्तः प्रदेशास्तावन्त इति, एतेऽप्यपर्याप्तका बादरतैजस्कायजीवराशेरसंख्येयगुणाः, सूक्ष्मास्तु वनस्पतयः प्रत्येकशरीरिणः पर्याप्तका अपर्याप्तका वा न सन्त्येव, साधारणास्त्वनन्ता इति विशेषानुपादानात् साधारणाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन चतुर्विधा अपि पृथक् पृथगनन्तानां लोकानां यावन्तः प्रदेशास्तावन्त इति, अयं तु विशेषः—साधारणबादरपर्याप्तकेभ्यो बादरा अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः बादरापर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माः,अपर्याप्तका असंख्येयगुणास्तेभ्योऽपि सूक्ष्माः पर्याप्तका असंख्येयगुणा इति।

सम्प्रत्येषां तरूणां यो जीवत्वं नेच्छति तं प्रति जीवत्वप्रतिपादनेच्छया निर्युक्तिकृदाह—

एएहिँ सरीरेहिं, पच्चक्खं ते परूविया जीवा।
सेसा आणागिज्झा,चक्खुणा जे न दीसंति॥ १३५॥

एतैः पूर्वप्रतिपादितैस्तरुशरीरैः प्रत्यक्षप्रमाणविषयैः प्रत्यक्षम्—साक्षात् ते वनस्पतिजीवाः, प्ररूपिताः—प्रसाधिताः, तथा हि—न ह्येतानि शरीराणि जीवव्यापारमन्तरेणैवंविधाकारभाञ्जि भवन्ति, तथा च प्रयोगः—जीवशरीराणि वृक्षाः, अक्षाद्युपलब्धिभावात्, पाण्यादिसंघातवत्, तथा कदाचित् सचित्ता अपि वृक्षाः, जीवशरीरत्वात् पाण्यादिसंघातवदेव, तथा मन्दविज्ञानसुखादिमन्तस्तरवः, अव्यक्तचेतनानुगतत्वात् सुप्तादिपुरुषवत्, तथा चोक्तम्—"वृक्षादयोऽक्षाद्युपलब्धिभावात्, पाण्यादिसंघातवदेव देहाः। तद्वत्सजीवा अपि देहतायाः, सुप्तादिवत् ज्ञानसुखादिमन्तः॥ १॥' शेषा इति—सूक्ष्मास्ते च चक्षुषा नोपलभ्यन्त इत्याज्ञया ग्राह्या इति, आज्ञा च भगवद्वचनमवितथमरक्तद्विष्टप्रणीतमिति श्रद्धातव्यमिति। आचा०१ श्रु० १ अ० ५ उ०। (साधारणवनस्पतिकायलक्षणम् 'साहारण' शब्दे वक्ष्यामि।)

अथ ये बीजात्प्ररोहन्ति वनस्पतयस्तेषां कथमाविर्भाव इत्यत आह—

जोणिब्भूए बीए, जीवो वक्कमइ सो य अण्णो वा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो वि य मूले जीवो, सो चिय पत्ते पढमयाए ॥१३८॥

अत्र भूतशब्दोऽवस्थावचनः, योन्यवस्थे बीजे योनपरिणाममजहतीत्यर्थः, बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था-योन्यवस्था अयोन्यवस्था च, यदा योन्यवस्थां न जहाति बीजमुज्झितं च जन्तुना तदा योनिभूतमुच्यते, योनिस्तु जन्तोरुत्पत्तिस्थानमविनष्टमिति, तस्मिन् बीजे योनिभूते जीवो व्युत्क्रामति-उत्पद्यते,स एव पूर्वको बीजजीवोऽन्यो वाऽऽगत्य तत्रोत्पद्यते। एतदुक्तं भवति—यदा जीवेनायुषः क्षयाद्बीजपरित्यागः कृतो भवति, तस्य च यदा बीजस्य क्षित्युदकादिसंयोगस्तदा कदाचित्स एव प्राक्तनो जीवस्तत्रागत्य परिणमते कदाचिदन्य इति। यश्च मूलतया जीवः परिणमते स एव प्रथमपत्रतयाऽपीति, एकजीवकर्तृके मूलपत्रे इति यावत्, प्रथमपत्रकं च। याऽसौ बीजस्य समुच्छूनावस्था भूजलकालापेक्षा सैवोच्यत इति नियमप्रदर्शनमेतत्, शेषं तु किशलयादि सकलं न मूलजीवपरिणामाविर्भावितमेवेत्यवगन्तव्यमिति। यत उक्तम्—" सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ। " इत्यादि। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। (अनन्तजीवलक्षणम्—' अणंतजीव ' शब्दे प्रथमभागे २६३ पृष्ठे उक्तम्।)

जे यावन्ने तहप्पगारा, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य, तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता, तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा तेसि णं वन्नादेसेणं गंधाएसेणं रसाएसेणं फासादेसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं, संखिज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं, पज्जत्तगणीसाए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा सिय अणंता, एएसि णं इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ। तं जहा-

" कंदा य कंदमूला य, रुक्खमुलाइयावरे।
गुच्छा य गुम्मवल्ली य, वेणुयाणि तणाणि य ॥१०३॥
पउमुप्पलसंघाडे, हढे य सेवालकिण्हए पणए।
अवए य कच्छभाणि, कंदुक्केगूणवीसइमे ॥ १०४ ॥
तयछल्लिपवालेसु य, पत्तपुप्फफलेसु य।
मूलग्गमज्झवीएसु, जोणी कस्स वि कित्तिया ॥१०५॥"
(सू० २६+)

' जे यावन्ने तहप्पगारा ' इति येऽपि चान्ये अनुक्तरूपास्तथाप्रकाराः-प्रत्येकतरुरूपाः साधारणरूपाश्च, तेऽपि वनस्पतिकायत्वेन प्रतिपत्तव्याः;'ते समासओ' इत्यादि प्राग्वत्। नवरं यत्रैको बादरपर्याप्तस्तत्र तन्निश्रया अपर्याप्ताः कदाचित्संख्येयाः कदाचिदसंख्येयाः कदाचिदनन्ताः, प्रत्येकतरवः संख्येया असंख्येया वा, साधारणास्तु नियमादनन्ता इति भावः। एतेषां साधारणप्रत्येकतरूरूपाणां वनस्पतिविशेषाणां वक्ष्यमाणा इमाः—विशेषप्रतिपादिका वक्ष्यमाणा गाथा अनुगन्तव्याः-प्रतिपत्तव्याः,ता एवाह 'तं जहा'-तद्यथा-'कंदाये' त्यादि गाथात्रयम्, कन्दाः—सूरणकन्दादयः, कन्दमूलानि वृत्तमूलानि च साधारणवनस्पतिविशेषाः, गुच्छा—गुल्माः वल्लयश्च प्रतीताः,वेणुका-वंशास्तृणानि-अर्जुनादीनि ॥१०३॥ पद्मोत्पलशृङ्गाटकानि—प्रतीतानि हढो—जलजवनस्पतिविशेषः, सेवालः—प्रसिद्धः कृष्णकपनकावककच्छभाणि कन्दुकाः—साधारणवनस्पतिविशेषाः ॥ १०४ ॥ एते—षामेकोनविंशतिसंख्यानां त्वगादिषु मध्ये कस्यापि काऽपि योनिः। किमुक्तम्भवति—कस्यापि त्वग्योनिः कस्यापि छल्ली यावत्कस्यापि मूलं कस्याप्यग्रं कस्यापि मध्यं कस्यापि-बीजमिति ॥ १०५ ॥

परिमाणमभिधीयते—तत्र प्रथमं सूक्ष्मानन्तजीवानां दर्शयितुमाह—

पत्थेण व कुडवेण व, जह कोइ मिणिज्ज सव्वधण्णाइं।
एवं मविज्जमाणा, हवन्ति लोया अणंताओ ॥ १४४ ॥

प्रस्थकुडवादिना यथा कश्चित्सर्वधान्यानि प्रमिणुया—न्मित्वा चान्यत्र प्रक्षिपेद् एवं यदि नाम कश्चित्साधारणजीवराशिं लोककुडवेन मित्वाऽन्यत्र प्रक्षिपेत् तत एवं मीयमाना अनन्ता लोका भवन्तीति।

इदानीं बादरनिगोदपरिमाणाभिधित्सयाऽऽह—

जे बायरपज्जत्ता, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते।
सेसा असंखलोया, तिण्णि वि साहारणाऽणंता ॥१४५॥

ये पर्याप्तकबादरनिगोदास्ते संवर्त्तितचतुरस्रीकृतसकललोकप्रतरासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिपरिमाणा भवन्ति, एते पुनः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिपर्याप्तकजीवेभ्योऽसंख्येयगुणाः, शेषास्त्रयोऽपि राशयः प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणाः। के पुनस्त्रय इति ?, उच्यते—अपर्याप्तकबादरनिगोदा अपर्याप्तकसूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तकसूक्ष्मनिगोदाः। एते च क्रमशो बहुतरका द्रष्टव्या इति। साधारणजीवास्तेभ्योऽनन्तगुणाः, एतच्च जीवपरिमाणम्, प्राक्तनं तु राशिचतुष्टयं निगोदपरिमाणमिति।

परिमाणद्वारानन्तरमुपभोगद्वारमभिधित्सुराह-

आहारे उवकरणे, सयणासणजाणजुग्गकरणे य।
आवरणपहरणेसु य, सत्थविहाणेसु य बहुसु ॥१४६॥

आहारफलपत्रकिशलयमूलकन्दत्वगादिनिर्वर्त्यः, उपकरणं व्यजनकटककवलकार्गलादि, शयनम्—खट्वाफलकादि आसनम्-आसन्दकादि,यानम्-शिविकादि,युग्यम्-गन्त्रिकादि,आवरणम्-फलकादि, प्रहरणम्-लकुटिमुशुण्ड्यादि,शस्त्रविधानानि च बहूनि तन्निर्वर्त्योनि, शरदात्रखड्गक्षुरिकादि, गण्डोपयोगित्वादिति।

तथा परोऽपि परिभोगविधिस्तद्दर्शनायाह—
वनस्पतिपरिभोगः-

आउज्जकट्ठकम्मे, गंधंगे वत्थमल्लजोए य।
झावण वियावणेसु य, तेलविहाणे य उज्जोए ॥१४७॥

आतोद्यानि-पटहभेरीवंशवीणाझल्लर्यादीनि, काष्ठकर्म्म-प्रतिमास्तम्भद्वारशाखादीनि, गन्धाङ्गानि-वालकप्रियङ्गुपत्रकदमनकत्वक्चन्दनोशीरदेवदार्वादीनि,वस्त्राणि-वल्कलकार्पासमयादीनि, माल्यायोगा-नवमालिकावकुलचम्पकपुन्नागाशोकमालतीविचकिलादयः, ध्मापनं-दाहो भस्मसात्करणमिन्धनैः, वितापनं-शीताभ्यर्दितस्य शीतापनयनाय काष्ठ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रज्वालनात्, तैलविधानं-तिलातसीसर्षपेङ्गुदीज्योतिष्मती-करञ्जादिभिः, उद्योतो--वर्त्तितृणचूडाकाष्ठादिभिरिति।

एवमेतान्युपभोगस्थानानि प्रतिपाद्य तदुपसंजिहीर्षुराह—

एएहिँ कारणेहिं, हिंसंति वणस्सई बहू जीवे।
सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरेंति॥ १४८॥

एतैर्गाथाद्वयोपात्तैः कारणैः-प्रयोजनैर्हिंसन्ति-व्यापादयन्ति प्रत्येकसाधारणवनस्पतिजीवान् बहून् वनस्पतिसमारम्भिणः पुरुषाः, किं भूतास्त इति दर्शयति-सातं-सुखं तदन्वेषिणः परस्य च वनस्पत्याद्येकेन्द्रियादेर्दुःखं बाधामुत्पादयन्ति।

साम्प्रतं शस्त्रमुच्यते-तच्च द्विधा द्रव्यभावभेदात्-द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधैव तत्र समासद्रव्यशस्त्राभिधित्सयाऽऽह—

कप्पणि-कुहाणि-यसियग-दत्ति-कुदालि-वासि फरसू य।
सत्थं वणस्सईए, हत्था पाया मुहं अग्गी॥ १४६॥

कल्प्यते-छिद्यते यया सा कल्पनी शस्त्रविशेषः, कुठारी प्रसिद्धैव, असियगं दात्रं, दात्रिका-प्रसिद्धा, कुद्दालकवासिपरशवश्च, एते वनस्पतेः शस्त्रम्। तथा हस्तपादमुखाग्नयश्च इत्येतत्सामान्यशस्त्रमिति।

विभागशस्त्राभिधित्सयाऽऽह—

किंची सकायसत्थं, किंची परकाय तदुभयं किंची।
एयं तु दव्वसत्थं, भावे य असंजमो सत्थं॥ १५०॥

किंचित् स्वकायशस्त्रं लकुटादि, किंचिच्च परकायशस्त्रं पाषाणाग्न्यादि, तथोभयशस्त्रं—दात्रदात्रिकाकुठारादि, एतद् द्रव्यशस्त्रम्, भावशस्त्रं पुनरसंयमः। दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायलक्षण इति।

सकलनिर्युक्त्यर्थपरिसमाप्तिं प्रविकटयिषयाऽऽह-

सेसाइं दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए।
एवं वणस्सईए, निज्जुत्ती कित्तिया एसा॥ १५१॥

उक्तव्यतिरिक्तशेषाणि तान्येव द्वाराणि यानि पृथिव्यामभिहितानि ततस्तद् द्वाराभिधानाद्वनस्पतौ निर्युक्तिः कीर्तिताव्यावर्णितेति। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। ('आहार' शब्दे द्वितीयभागे ४६२ पृष्ठे तदाहारप्रकारः।) सांप्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम्, तच्चेदम्—

तं णो करिस्सामि समुट्ठाए, मत्ता मइमं, अभयं विदित्ता, तं जे णो करए, एसोवरए, एत्थोवरए, एस अणगारे त्ति पवुच्चई। (सू० ३६)

अस्य चानन्तरपरम्परादिसूत्रैः सम्बन्धः प्राग्वद्वाच्यः, उक्तं प्राक् 'सातान्वेषिणो हि वनस्पतिजन्तूनां दुःखमुदीरयन्ति, ततश्च तन्मूलमेव दुःखगहने संसारसागरे भ्राम्यन्ति सत्वाः' इत्येवं विदितकटुकविपाकः समस्तवनस्पतिसत्त्वविषयविमर्दनिवृत्तिमात्यन्तिकीमात्मनि दर्शयन्नाह-तत्-वनस्पतीनां दुःखमहं दृष्टप्रत्यपायो न करिष्ये, यदिवा—तद्-दुःखोत्पत्तिनिमित्तभूतं वनस्पतावारम्भं छेदनभेदनादिरूपं नो करिष्ये मनोवाक्कायैः, तथाऽपरेर्न कारयिष्ये, तथा कु-

र्वतश्चान्यान्नानुमंस्ये, किं कृत्वेति दर्शयति—सर्वज्ञोपदिष्टमार्गानुसृत्या, सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थाय समुत्थाय,प्रव्रज्यां प्रतिपद्येत्यर्थः, तदेवं वर्जितसकलसावद्यारम्भकलापः संस्तद्वनस्पतिदुःखं तदारम्भं वा नो करिष्यामीति, अनेन च संयमक्रिया दर्शिता, न च क्रियात एव मोक्षावाप्तिः, किं तर्हि ?, ज्ञानक्रियाभ्याम्, तदुक्तम्—" नाणं किरियारहियं, किरियामेत्तं च दोऽवि एगन्ता। न समत्था दाउं जे, जम्ममरणदुक्खदाहाइं॥ १॥" यत एवमतो विशिष्टमोक्षकारणभूतज्ञानप्रतिपिपादयिषयाऽऽह—'मत्ता मइमं' मत्वा—ज्ञात्वा—अवबुध्य यथावत् जीवान्, मतिरस्यास्तीति मतिमान् मतिमानेवापदेशार्हो भवतीत्यतस्तद् द्वारेणैव शिष्यामन्त्रणम्, हे मतिमन्! प्रव्रज्यां प्रतिपद्य जीवादिपदार्थांश्च ज्ञात्वा मोक्षमवाप्नोतीति,सम्यग्ज्ञानपूर्विका हि क्रियाफलवतीति दर्शितं भवति। पुनरत्रैवाह-'अभयं विदित्ता' अविद्यमानं भयमस्मिन् सत्त्वानामित्यभयःसंयमः, स च सप्तदशविधानस्तं चाभयं सर्वभूतपरिपालनात्मकं संसारसागरान्निर्वाहकं विदित्वा वनस्पत्यारम्भान्निवृत्तिर्विधेयेति। एतदेव दर्शयितुमाह—'तं जे नो करए' इत्यादि, तं—वनस्पत्यारम्भं यो विदिततदारम्भकटुकविपाकः नो कुर्यात् तस्य प्रतिविशिष्टेष्टफलावाप्तिर्नान्यस्यान्धमूक्या प्रवर्तमानस्य, अभिलषितविप्रकृष्टस्थानप्राप्तिप्रवृत्तान्धक्रियाव्याघातवदिति मन्तव्यम्,ज्ञानमपि क्रियाहीनं न मोक्षाय, गृहान्तर्दह्यमानानिनङ्गुपङ्गुचक्षुर्ज्ञानवदिति,एवं ज्ञात्वा अभ्युपेत्य च तत्परिहारः कर्त्तव्य इति दर्शितं भवति। एवं यः सम्यग्ज्ञानपूर्विकां निवृत्तिं करोति स एव समस्तारम्भनिवृत्त इति दर्शयति-'एसोवरए' त्ति एष एव सर्वस्मादारम्भाद्वनस्पतिविषयादुपरतो यो यथावज्ज्ञात्वाऽऽरम्भं न करोतीति, स पुनरेवंविधनिवृत्तिभाक्कि शाक्यादिष्वपि संभवत्युतेहैव प्रवचन इति दर्शयति-'एत्थोवरए'त्ति एतस्मिन्नेव जैनेन्द्रे प्रवचने परमार्थत उपरतो नान्यत्र। यथाप्रतिज्ञातनिरवद्यानुष्ठायित्वादुपरतव्यपदेशभाग्भवति, न शेषाः शाक्यादयः, तद्विपरीतत्वाद्। एष एव च सम्पूर्णानगारव्यपदेशमश्नुते इति दर्शयति—'एस अणगारे त्ति पवुच्चइ' एषो-ऽतिक्रान्तसूत्रार्थव्यवस्थितः, अविद्यमानागारोऽनगारः प्रकर्षेण उच्यते प्रोच्यते इति, किं कृतः प्रकर्षः, अनगारव्यपदेशकारणभूतगुणकलापसंबन्धकृतः प्रकर्षः, इतिशब्दोऽनगारव्यपदेशकारणपरिसमाप्तिद्योती, एतावदनगारलक्षणं नान्यदिति। ये पुनः प्रोज्झितपारमार्थिकानगारगुणाः शब्दादीन्विषयानङ्गीकृत्य प्रवर्तन्ते ते तु नापेक्षन्ते वनस्पतीन् जीवान्, यतो भूयांसः शब्दादयो गुणाः वनस्पतिभ्य एव निष्पद्यन्ते, शब्दादिगुणेष्वेव वर्त्तमाना रागद्वेषविषमविषविघूर्णमानलोललोचना नरकादिचतुर्विधगत्यन्तःपातिनो बोद्धव्यास्तदन्तःपातिन एव च शब्दादिविषयाभिष्वङ्गिणो भवन्तीति। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

वणस्सइं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ॥ ४०॥
वणस्सइं विहिंसंतो, हिंसई अ तयस्सिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ४१ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।

वणस्सइसमारंभं, जाव जीवाइ वज्जए ॥ ४२ ॥

'वणस्सइ' इत्यादि सूत्रत्रयं वनस्पतेरभिलापेन ज्ञेयम् , ततश्चैकादशस्थानविधिरप्युक्त एव ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ दश० ६ अ० २ उ० । (अस्यार्थस्य प्रसिद्धयं गतप्रत्यागतलक्षणमितरेतरावधारणफलं सूत्रम्—तच्च सव्याख्यं 'गुण' शब्दे चतुर्थभागे ६०८ पृष्ठे गतम् ।) अत्र कश्चिच्चोदयचञ्चुराह-यो गुणेषु वर्तते स आवर्ते वर्तत इति साधु, यः पुनरावर्ते वर्तते नासौ नियमत एव गुणेषु वर्तते यस्मात्साधवो वर्त्तन्त आवर्ते न गुणेषु , तदेतत्कथमिति ?, अत्रोच्यते—सत्यम् आवर्ते यतयो वर्तन्ते न गुणेषु, किं तु-रागद्वेषपूर्वकं गुणेषु वर्तनमिहाधिक्रियते, तच्च साधूनां न संभवति तदभावात् , आवर्तोऽपि संसरणरूपो दुःखात्मको न संभवति, सामान्यतस्तु संसारान्तःपातित्वं सामान्यशब्दादिगुणोपलब्धिश्च संभवत्येवातो नोपलब्धिः प्रतिषिध्यते, रागपरिणामो द्वेषपरिणामो वा यस्तत्र स प्रतिषिध्यते, तथा चोक्तम्—" कन्नसोक्खेहिँ सद्देहिं, पेम्मं नाभिनिवेसए " इत्यादि तथा " न शक्यं रूपमद्रष्टुं, चक्षुर्गोचरमागतम् । रागद्वेषौ तु यौ तत्र, तौ बुधः परिवर्जयेत् ॥ १ ॥" कथं पुनर्गुणभूयस्त्वं वनस्पतिभ्य इति प्रदर्श्यते-वेणुवीणापटहमुकुन्दादीनामातोद्यविशेषाणां वनस्पतेरुत्पत्तिः, ततश्च मनोहराः शब्दा निष्पद्यन्ते, प्राधान्यमत्र वनस्पतेर्विवक्षितम् , अन्यथा तु तन्त्रीचर्मपाण्यादिसंयोगाच्छब्दनिष्पत्तिरिति, रूपं पुनः काष्ठकर्मस्त्रीप्रतिमादिषु गृहतोरणवेदिकास्तम्भादिषु च चक्षूरमणीयम् , गन्धा अपि हि कर्पूरपाटलालवलीलवङ्गकेतकीसरसचन्दनागुरुकक्कोलकेलाजातीफलपत्रिकाकेसरमांसीत्वक्पत्रादीनां सुरभयो गन्धेन्द्रियाह्लादकारिणः प्रादुर्भवन्ति, रसास्तु विसमृणालमूलकन्दपुष्पफलपत्रकरटकमञ्जरीत्वगङ्कुरकिसलयारविन्दकेसरादीनां जिह्वेन्द्रियप्रह्लादिनो निष्पद्यन्ते अतिबहव इति, तथा स्पर्शाः पद्मिनीपत्रकमलदलमृणालवल्कलदुकूलशाटकोपधानतूलिकप्रच्छादनपटादीनां स्पर्शनेन्द्रियसुखाः प्रादुःष्यन्ति, एवमेतेषु वनस्पतिनिष्पन्नेषु शब्दादिगुणेषु यो वर्तते स आवर्ते वर्तते, यश्च आवर्तवर्ती स रागद्वेषात्मकत्वात् गुणेषु वर्तत इति । स चावर्तो नामादिभेदाच्चतुर्द्धा । नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यावर्तः । (अत्रत्यपाठ 'आवट्ट' शब्दे द्वितीयभागे ४३६ पृष्ठे गतः ।) इह च भावावर्तेनाधिकारो न शेषैरिति । (अथ य एते गुणाः संसारावर्तकारणभूताः शब्दादयो वनस्पतेरभिनिर्वृत्तास्ते किं नियतदिग्देशभाजः उत सर्वदिक्षु इति, सूत्रम्-(४१) 'गुण' शब्दे चतुर्थभागे ६०८ पृष्ठे गतम् ।)

एवं विषयलोकमाख्याय विवक्षितमाह—

एस लोए वियाहिए एत्थ अगुत्ते अणाणाए ।(सू०४२)

' एष इति '—रूपरसगन्धस्पर्शशब्दविषयाख्यो लोको व्याख्यातः, लोक्यते—परिच्छिद्यते इति कृत्वा, एतस्मिंश्च प्रस्तुते शब्दादिगुणलोके गुप्तो यो मनोवाक्कायैर्मनसा द्वेष्टि रज्यते वा, वाचा प्रार्थनं शब्दादीनां करोति, कायेन शब्दादिविषयदेशमभिसर्पति , एवं यो ह्यगुप्तो भवति सोऽनाज्ञायां वर्तते , न भगवत्प्रणीतवचनानुसारीति यावदिति ।

एवंगुणश्च यत् कुर्यात्तदाह—

पुणो पुणो गुणासाए वंकसमायारे । (सू० ४३)

ततश्चासावसकृच्छब्दादिगुणलुब्धो न शक्नोत्यात्मानं शब्दादिगृद्धेर्निवर्तयितुम् , अनिवर्तमानस्य पुनः पुनर्गुणास्वादो भवति , क्रियासातत्येन शब्दादिगुणानास्वादयतीत्यर्थः , तथा च यादृशो भवति तद्दर्शयति—वक्रः—असंयमः कुटिलो नरकादिगत्याभिमुख्यप्रवणत्वात्समाचरणं-समाचारः अनुष्ठानम् ,वक्रः समाचारो यस्यासौ वक्रसमाचारः-असंयमानुष्ठायीत्यर्थः, अवश्यमेव शब्दादिविषयाभिलाषी भूतोपमर्दकारीत्यतो वक्रसमाचारः । प्राक् शब्दादिविषयलवसमास्वादनाद् गृद्धः पुनरात्मानमाचारयितुमसमर्थत्वादपथ्याम्रफलभोजिराजवद्विनाशमाशु संश्रयत इति ।

एवं चासौ नितरां जितः शब्दादिविषयसमास्वादनात्

' खंतपुत्तो व्व ' इदमाचरति—

पमत्ते अगारमावसे । (सू० ४४)

प्रमत्तो विषयविषमूर्छितः अगारं—गृहमावसति , योऽपि द्रव्यलिङ्गसमन्वितः शब्दादिविषप्रमादवान् असावपि विरतिरूपभावलिङ्गरहितत्वात् गृहस्थ एवेति ।

अन्यतीर्थिकाः पुनः सर्वदा सर्वथाऽन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह—

लज्जमाणा पुढो पास , अणगारामो त्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारम्भेणं वणस्सइसत्थं समारभमाणा अन्ने अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जातीमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं समारंभइ अन्नेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभावेइ अन्ने वा वणस्सइसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहिए से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति । एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अन्ने अणेगरूवे पाणे विहिंसंति । (सू० ४५)

प्राग्वत् ज्ञेयम् , नवरं वनस्पत्यालापो विधेय इति ।

साम्प्रतं वनस्पतिजीवास्तित्वे लिङ्गमाह—

से बेमि इमं पि जाइधम्मयं एयं पि जाइधम्मयं,इमं पि वुड्ढिधम्मयं एयं पि वुड्ढिधम्मयं, इमं पि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमंतयं, इमं पि छिन्नं मिलाइ एयं पि छिन्नं मिलाइ, इमं पि आहारगं एयं पि आहारगं, इमं पि अणिचयं एयं पि अणिचयं, इमं पि असासयं एयं पि असासयं, इमं पि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चत्रोवचइयं एयं पि चओवचइयं, इमं पि विपरिणामधम्मयं एयं पि विपरिणामधम्मयं । (सू० ४६)

'सेवेमी' त्यादि सोऽहम्-उपलब्धतत्त्वो ब्रवीमि, अथवा-वनस्पतिचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्यमानस्वरूपं यत्तद्हं ब्रवीमि, यथाप्रतिज्ञातमर्थं दर्शयति—'इमं पि जाइधम्मयं ति' इहोपदेशदानाय सूत्रारम्भस्तद्यो—ग्यश्च पुरुषो भवत्यतस्तस्य सामर्थ्येन संनिहितत्वात्तच्छरीरं प्रत्यक्षासन्नवाचिनेदमा परामृशति। इदमपि-मनुष्यशरीरं, जननं-जातिरुत्पत्तिस्तद्धर्मकम् । एतदपि वनस्पतिशरीरं तद्धर्मकं—तत्स्वभावमेव, इतिपूर्वकोऽपिशब्दः सर्वत्र यथाशब्दार्थे, द्वितीयस्तु समुच्चये व्याख्येयः, ततश्चायमर्थः-यथा मनुष्यशरीरं बालकुमारयुववृद्धतापरिणामविशेषवत् चेतनावत् सदाधिष्ठितं प्रस्पष्टचेतनाकमुपलभ्यते, तथेदमपि वनस्पतिशरीरम्, यतो जातः केतकतरुर्बालको युवा वृद्धश्च संवृत्त इति, अतस्तुल्यत्वादेतदपि जातिधर्मकम्, न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन सत्यपि जातिधर्मत्वे मनुष्यादिशरीरमेव सचेतनं न वनस्पतिशरीरमिति। ननु च जातिधर्मत्वं केशनखदन्तादिष्वप्यस्ति अव्यभिचारी च लक्षणं भवत्यस्ति च व्यभिचारः तस्मादयुक्तं कल्पयितुं जातिधर्मत्वं जीवलिङ्गमिति, उच्यते—सत्यमस्ति जननमात्रम्, किं तु-मनुष्यशरीरप्रसिद्ध-बालकुमाराद्यवस्थानामसंभवः केशादिष्वस्ति स्फुटः, तस्मादसमञ्जसमेतद्, अपि च—केशनखं चेतनावत्पदार्थाधिष्ठितशरीरस्थं जातमित्युच्यते, वर्द्धते इति वा, न पुनस्त्वयैवं तरवोऽपि चेतनावत्पदार्थाधारस्था इष्यन्ते, त्वन्मते भुवोऽचेतनत्वात्तस्मादयुक्तमिति। अथवा-जातिधर्मत्वादीनि समुदितानि सूत्रोक्तान्येक एव हेतुः, न पृथक् हेतुता, न च समुदायहेतुः केशादिष्वस्ति तस्माददोष इति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरकमनवरतं बालकुमाराद्यवस्थाविशेषैर्वर्द्धते, तथैतदपि वनस्पतिशरीरमङ्कुरकिशलयशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैर्वर्द्धत इति। तथा यथेदं मनुष्यशरीरं चित्तवदेवं वनस्पतिशरीरमपि चित्तवत्। कथम्?, चेतयति येन तच्चित्तम्-ज्ञानम्, ततश्च यथा मनुष्यशरीरं ज्ञानेनानुगतमेवं वनस्पतिशरीरमपि, यतो धात्रीपुन्नागादीनां स्वापविबोधसद्भावः, तथाऽधोनिखातद्रविणराशेः स्वप्ररोहणावेष्टनं प्रावृड्जलधरनिनादशिशिरवायुसंस्पर्शादङ्कुरोद्भवः तथा—मदमदनसङ्गमस्खलद्गतिविघूर्णमानलोललोचनविलासिनीसन्नूपुर—सुकुमारचरणताडनादशोकतरोः पल्लवकुसुमोद्गमः, तथा सुरभिसुरागण्डूषसेकाद्बकुलस्य स्पष्टप्ररोहिकादीनां च हस्तादिसंस्पर्शात्संकोचिकादिका परिस्फुटा क्रियोपलब्धिः । न चैतदभिहिततरुसंबन्धिक्रियाजालं ज्ञानमन्तरेण घटते, तस्मात्सिद्धं चित्तवत्त्वं वनस्पतेरिति । तथा—यथेदं छिन्नं म्लायति तथैतदपि छिन्नं म्लायति, मनुष्यशरीरं हि हस्तादिच्छिन्नं म्लायति—शुष्यति, तथा-तरुशरीरमपि पल्लवफलकुसुमादिच्छिन्नं शोषमुपगच्छत् दृष्टम्, न चाचेतनानामयं धर्म्म इति । तथा—यथेदं मनुष्यशरीरं स्तनक्षीरव्यञ्जनोदनाद्याहाराभ्यवहारादाहारकं तथैतदपि वनस्पतिशरीरं भूजलाद्याहाराभ्यवहारकम्, न चैतदाहारकत्वमचेतनानां दृष्टम्, अतस्तद्भावात्सचेतनत्वमिति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरमनित्यकं न सर्वदाऽवस्थायि तथैतदपि वनस्पतिशरीरमनित्यं नियतायुष्कत्वात्, तथा हि—अस्य दशवर्षसहस्राणि उत्कृष्टमायुः । तथा यथेदं मनुष्यशरीरमशाश्वतं—प्रतिक्षणमावीचीमरणेन मरणात्तथैतदपि वनस्पतिशरीरमिति । तथा यथेदमिष्टानिष्टाहारादिप्राप्त्या चयापचयिकं वृद्धिहान्यात्मकं तथैतदपि इति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरं विविधपरिणामः, तत्तद्रोगसंपर्कात् पाण्डुत्वोदरवृद्धिशोफकृशत्वाङ्गुलिनाशिकाप्रवेशादिरूपो बालादिरूपो वा, तथा—रसायनस्नेहाद्युपयोगाद्विशिष्टकान्तिबलोपचयादिरूपो विपरिणामः तद्धर्म्मकम्—तत्स्वभावकं तथैतदपि वनस्पतिशरीरं तथाविधरोगोद्भवात्पुष्पपत्रफलत्वगाद्यन्यथा भवनात्, तथाविशिष्टदौहृदप्रदानेन पुष्पफलाद्युपचयाद्विपरिणामधर्मकम् । एवमनन्तरोक्तधर्मकलापसद्भावादसंशयं गृहाणैतत्—सचेतनास्तरव इति ।

वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥

वनस्पतिश्चित्तवानाख्यातः, इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । विशेषस्त्वभिधीयते-सात्मकं जलम्, भूमिखातस्वाभाविकसंभवात् दर्दुरवत् । सात्मकोऽग्निः आहारेण वृद्धिदर्शनात्, बालकवत् । सात्मकः पवनः, अपरप्रेरिततिर्यगनियमितदिग्गमनाद्, गोवत् । चेतनास्तरवः सर्वत्वगपहरणे मरणाद् गर्दभवत् ।

वनस्पतिजीवविशेषप्रतिपादनायाह—

तं जहा-अग्गबीया १ मूलबीया २ पोरबीया ३ खंधबीया ४ बीयरुहा ५ सम्मुच्छिमा ६ तण-लया-वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ ६ ॥

'तं जहा-अग्गबीया' इत्यादि तद्यथेत्युपन्यासार्थः, अग्रबीजा इति-अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः कोरिण्टकादयः, एवं मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः उत्पलकन्दादयः, पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजाः इक्ष्वादयः, स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः सल्लक्यादयः, तथा बीजाद्रोहन्तीति बीजरुहाः शाल्यादयः, संमूर्च्छन्तीति संमूर्छिमाः प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवीवर्षादिसमुद्भवास्तथाविधास्तृणादयः । न चैते न संभवन्ति दग्धभूमावपि संभवात्, तथा तृणलतावनस्पतिकायिका इति, अत्र तृणलताग्रहणं स्वगतानेकभेदसंदर्शनार्थम्, वनस्पतिकायिकग्रहणं सूक्ष्मबादराद्यशेषवनस्पतिभेदसंग्रहार्थम्, एतेन पृथिव्यादीनामपि स्वगताः भेदाः पृथिवीशर्करादयस्तथाऽवस्था ये महिकादयः, तथा-अङ्गारज्वालादयः तथा-झञ्झामण्डलिकादयो भेदाः सूचिता इति । सबीजाश्चित्तवन्त आख्याता इति, एते ह्यनन्तरोदिता वनस्पतिविशेषाः सबीजाः—स्वस्वनिबन्धनाश्चित्तवन्तः-आत्मवन्त आख्याताः—कथिताः । एते च अनेकजीवा इत्यादि ध्रुवगण्डिका पूर्ववत् । सबीजाश्चित्तवन्त आख्याता इत्युक्तम् । अत्र च भवत्याशङ्का किं बीजजीव एव मूलादिर्जीवो भवत्युतान्यस्तस्मिन्नुत्क्रान्ते उत्पद्यत इति ?,

अस्य व्यपोहायाऽऽह—

बीए जोणिब्भूए, जीवो वुक्कमइ सो य अन्नो वा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो वि य मूले जीवो, सो वि य पत्ते पढमयाए ॥२३२॥

बीजे योनिभूते इति—बीजं हि द्विविधं भवति योनिभूतम्, अयोनिभूतं च। अविध्वस्तयोनि, विध्वस्तयोनि च। प्ररोहसमर्थं तदसमर्थं चेत्यर्थः। तत्र योनिभूतं सचेतनमचेतनं च, अयोनिभूतं तु नियमादचेतनमिति। तत्र बीजे योनिभूते इत्यनेनायोनिभूतस्य व्यवच्छेदमाह—तत्रोत्पत्त्यसंभवाद्, अबीजत्वादित्यर्थः। योनिभूते तु योन्यवस्थे बीजे, योनिपरिणाममत्यजतीत्युक्तं भवति। किमित्याह—जीवो व्युत्क्रामति उत्पद्यते स एव पूर्वको बीजजीवः बीजनाम गोत्रे कर्मणि वेदयित्वा मूलादिनामगोत्रे चोपनिबध्य, अन्यो वा पृथिवीकायिकादिजीव एवमेव, 'योऽपि च मूले जीव' इति य एव मूलतया परिणमते जीवः सोऽपि च पत्रे प्रथमतयेति-स एव प्रथमपत्रतयाऽपि परिणमत इत्येकजीवकर्तृके मूलप्रथमपत्रे इति। आह—यद्येवम्—" सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ" इत्यादि कथं न विरुध्यते? इति, उच्यते—इह बीजजीवोऽन्यो वा बीजमूलत्वेनोत्पद्य तदुच्छूनावस्थां करोति, ततस्तदनन्तरभाविनीं किशलयावस्थां नियमेनानन्ता जीवाः कुर्वन्ति, पुनश्च तेषु स्थितिक्षयात्परिणतेष्वसावेव मूलजीवोऽनन्तजीवतनुं परिणमय्य स्वशरीरतया तावद्वर्द्धते यावत् प्रथमपत्रमिति न विरोधः। अन्ये तु व्याचक्षते—प्रथमपत्रकमिह याऽसौ बीजस्य समुच्छूनावस्था, नियमप्रदर्शनमेतत्, शेषं किसलयादि सकलं नावश्यं मूलजीवपरिणामाविर्भावितमिति मन्तव्यम्। ततश्च—" सव्वो वि किसलयो खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ" इत्याद्यप्यविरुद्धं मूलपत्रनिर्वर्तनारम्भकाले किसलयत्वाभावादिति गाथार्थः।

एतदेवाह भाष्यकारः—

विद्धत्थाऽविद्धत्था, जोणी जीवाण होइ नायव्वा।
तत्थ अविद्धत्थाए, वुक्कमई सो य अन्नो वा ॥ ५८ ॥

विध्वस्ताऽविध्वस्ता-अप्ररोहप्ररोहसमर्था योनिर्जीवानां भवति ज्ञातव्या, तत्राविध्वस्तायां योनौ व्युत्क्रामति स चान्यो वा, जीव इति गम्यत इति गाथार्थः।

जो पुण मूले जीवो, सो निव्वत्तेइ जा पढमपत्तं।
कंदाइ जाव बीयं, सेसं अन्ने पकुव्वंति ॥ ५६ ॥

यः पुनर्मूले जीवो बीजगतोऽन्यो वा स निर्वर्त्तयति यावत् प्रथमपत्रं तावदेक एवेति, अत्रापि भावार्थः पूर्ववदेव। कन्दादि यावद्बीजं शेषमन्ये प्रकुर्वन्ति, वनस्पतिजीवा एव, व्याख्याद्वयपक्षेऽप्येतदविरोधि, एकतः समुच्छूनावस्थाया एव प्रथमपत्रतया विवक्षितत्वात्तदनु कन्दादिभावतः अन्यत्र कन्दादेर्वनस्पतिभेदत्वात्तस्य च प्रथमपत्रोत्तरकालमेव भावादिति गाथार्थः।

अतिदेशमाह—

सेसं सुत्तप्फासं, काए काए अहक्कमं बूया।
अज्झयणत्था पंच य, पगरणपयवंजणविसुद्धा ॥६०॥

शेषं सूत्रस्पर्शम् उक्तलक्षणं काये काये—पृथिव्यादौ यथाक्रमम्-यथापरिपाटि ब्रूयात् अनुयोगधर एव, न केवलं सूत्रस्पर्शमेव, किं तु-अध्ययनार्थान् पञ्च च प्रागुपन्यस्तान् जीवाजीवाभिगमादीन् प्रकरणपदव्यञ्जनविशुद्धान् ब्रूयात्, सूत्र एव जीवाभिगमः काये काये इत्यनेनैव लब्ध इति पञ्चग्रहणम्, अन्यथा षडिहार्थाधिकारा इति। प्रक्रियतेऽर्थोऽस्मिन्निति प्रकरणम्, अनेकार्थाधिकारवत्कायप्रकरणादि, पदम्—सुबन्तादि, कादीनि-व्यञ्जनानि, एभिर्विशुद्धान् ब्रूयादिति गाथार्थः। दश० ४ अ०। विशे०। स्था०। दर्श० आचा०। सूत्र०। व्य०। ध०।

एवं वनस्पतेश्चैतन्यं प्रदर्श्य तदारम्भे बन्धं तत्परिहाररूपविरत्या सेवनेन च मुनित्वं प्रतिपादयन्नुपसंजिहीर्षुराह—

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा णेवऽण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा णेवऽण्णे वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा जस्सेते वणस्सतिसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे त्ति बेमि। (सू० ४७)

'एत्थसत्थ' मित्यादि एतस्मिन् वनस्पतौ शस्त्रं द्रव्यभावाख्यमारभमाणस्येत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता अप्रत्याख्याता भवन्ति, एतस्मिंश्च वनस्पतौ शस्त्रमसमारभमाणस्येत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः प्रत्याख्याता भवन्तीति पूर्ववच्चर्चः यावत् स एव मुनिः परिज्ञातकर्मेति ब्रवीमि पूर्व्ववदिति। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। (वनस्पतिकायप्रतिसेवना ' मूलगुणपडिसेवणा ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३५८ पृष्ठे उक्ता।) (वनस्पतयः कं कालं सर्वाल्पाहारकाः इति 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे५१७पृष्ठे उक्तम्।)

उत्पलादिजीवानाम्—

उप्पल सालु पलासे, कुंभी नाली य पउमकण्णी य।
नलिण सिव लोग काला, लंभि य दस दो य एक्कारे ।५।

' उप्पले ' त्यादि, उत्पलार्थः प्रथम उद्देशकः १, ' सालु ' त्ति-सालूकम्-उत्पलकन्दस्तदर्थो द्वितीयः २, ' पलासे ' त्ति-पलाशः—किंशुकस्तदर्थस्तृतीयः ३ ' कुंभि ' त्ति-वनस्पतिविशेषस्तदर्थश्चतुर्थः ४ ' नाडी य ' त्ति नाडीवद्यस्य फलानि सनाडीका-वनस्पतिविशेष एव तदर्थः पञ्चमः ५ ' पउम ' त्ति पद्मार्थः षष्ठः ६, ' कण्णी य ' त्ति कर्णिकार्थः सप्तमः ७ 'नलिण' त्ति नलिनार्थोऽष्टमः, यद्यपि चोत्पलपद्मनलिनानां नाम कोशे एकार्थतयोच्यते तथाऽपीह रूढे विशेषोऽवसेयः, ' सिव ' त्ति शिवराजर्षिवक्तव्यतार्थो नवमः ९, ' लोग ' त्ति लोकार्थो दशमः १०, ' कालालाभए ' त्ति कालार्थ एकादशः ११ आलभिकायां नगर्यां यत्प्ररूपितं तत्प्रतिपादक उद्देशकोऽप्यालभिक इत्युच्यते, ततोऽसौ द्वादशः १२ ' दस दो य एक्कारि ' त्ति द्वादशोद्देशका एकादशे शते भवन्तीति। तत्र प्रथमोद्देशकद्वारसंग्रहगाथा वाचनान्तरे दृष्टास्ताश्चेमाः-

'उववाओ १ परिमाणं २,अवहारु ३ च्चत्त ४ बंध ५ वेदे य ।६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदये ७ उदीरणाए ८, लेसा ६ दिट्ठी य १० नाणी य ११॥१॥ जोगु १२ वओगे १३ वएण १४ र—समाइ १५ ऊसासगे य १६ आहारे १७। विरई १८ किरिया १६ बंधे २०, सन्न २१ कसायि २२ त्थि २३ बंधे य २४ ॥ २ ॥ सन्नि २५ दिय २६ अणुबंधे २७, संवेहा २८ हार २६ ठिइ ३० समुग्घाए ३१। चयणं ३२ मूलादीसु य, उववाओ सव्वजीवाणं ॥ ३ ॥"

एतासां चार्थ उद्देशकार्थाधिगमगम्य इति। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

उत्पलजीवानाम्—

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे० जाव एवं वयासी—उप्पलेणं भंते! एगपत्तए किं एगजीवे अणेगजीवे?, गोयमा! एगजीवे णो; अणेगजीवे, तेण परं जे अएणे जीवा उववज्जंति ते णं णो एगजीवा अणेगजीवा। तेणं भंते! जीवा कओहिंतो उववज्जंति, किं णेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरियमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति?, गोयमा! णो णेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति मणुस्सेहिंतो वि उववज्जंति देवेहिंतो वि उववज्जंति, एवं उववाओ भाणियव्वो जहा वक्कंतीए वणस्सइकाइयाणं ०जाव ईसाणेति १। तेणं भंते! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति?, गोयमा! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति २। तेणं भंते! जीवा समए समए अवहीरमाणा २ केवइकालेणं अवहीरंति?, गोयमा! तेणं असंखेज्जा समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति णो चेव णं अवहिया सिया ३।

'उप्पलेणं भंते एगपत्तए' इत्यादि, उत्पलं-नीलोत्पलादि एकं पत्रं यत्र तदेकपत्रकम्, अथ च एकं च तत्पत्रं चैकपत्रं तदेवैकपत्रकं, तत्र सति, एकपत्रकं चेह किसलयावस्थाया उपरि द्रष्टव्यम्, 'एगजीवे' त्ति। यदा ह्येकपत्रावस्थं तदेकजीवं तयदा तु द्वितीयादिपत्रं तेन समारब्धं भवति तदा नैकपत्रावस्था तस्येति बहवो जीवास्तत्रोत्पद्यन्त इति, एतदेवाह-'तेण परमि' त्यादि। 'तेण परं' ति ततः प्रथमपत्रात्परतः। 'जे अन्ने जीवा उववज्जंति' ति। येऽन्ये प्रथमपत्रव्यतिरिक्ता जीवा जीवाश्रयत्वात् पत्रादयोऽवयवाः उत्पद्यन्ते ते नैकजीवाः—नैकजीवाश्रयाः किं त्वनेकजीवाश्रया इति। अथवा—'तेण' त्यादि। तत एकपत्रात्परतः शेषपत्रादिष्वित्यर्थः, ये अन्ये जीवा उत्पद्यन्ते ते नैकजीवानैककाः किं त्वनेकजीवाः-अनेके इत्यर्थः।

अपहारबन्धद्वारे—

तेसि णं भंते! जीवा णं के महालया सरीरोगाहणा पण्णत्ता, गोयमा! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं साइरेगं जोअणसहस्सं ४। ते णं भंते! जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधगा अबंधगा?, गोयमा! णो अबंधगा बंधए वा बंधगा वा एवं ० जाव अंतराइयस्स णवरं आउयस्स पुच्छा, गोयमा! बंधए वा अबंधए वा बंधगा वा अबंधगा वा, अहवा—बंधए य अबंधए य, अहवा—बंधए य अबंधगा य, अहवा-बंधगा य अबंधगे य, अहवा-बंधगा य अबंधगा य ८, एए अट्ठ भंगा ५।

'ते णं भंते! जीव' त्ति ये उत्पले प्रथमपत्राद्यवस्थायामुत्पद्यन्ते 'जहा वक्कंतीए' त्ति प्रज्ञापनायाः षष्ठपदे स चैवमुपपातः—'जइ तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति' किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति०जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति?, गोयमा! एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति' इत्यादि एवं मनुष्यभेदाः वाच्याः—' जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासी' त्यादि प्रश्नो निर्वचनं च ईशानान्तदेवेभ्य उत्पद्यन्त इत्युपयुज्य वाच्यमिति, तदेतेनोपपात उक्तः। 'जहन्नेण एक्को वे' त्यादिना तु परिमाणम् २। 'ते णं असंखेज्जा समए' इत्यादिना त्वपहार उक्तः, एवं द्वारयोजना कार्या ३। उच्चत्वद्वारे 'साइरेगं जोयणसहस्सं' ति तथाविधसमुद्रगोतीर्थकादाविदमुच्चत्वमुत्पलस्यावसेयम् ४, बन्धद्वारे—' बन्धए बंधया व' त्ति। एकपत्रावस्थायां बन्धक एकत्वात्, द्व्यादिपत्रावस्थायाञ्च बन्धका बहुत्वादिति, एवं सर्वकर्मसु, आयुष्के तु तदबन्धावस्थाऽपि स्यात्, तदपेक्षया च अबन्धकोऽपि अबन्धका अपि च भवन्तीति। एतदेवाह—' नवरमि ' त्यादि इह बन्धकाबन्धकपदयोरेकत्वयोगे एकवचनेन द्वौ विकल्पौ, बहुवचनेन च द्वौ, द्विकयोगे तु यथायोगमेकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वार इत्येवमष्टौ विकल्पाः। स्थापना—

१ बन्धकः	१	५ बन्धकोऽबन्धकः	१
२ अबन्धकः	१	६ बन्धकोऽबन्धकाः	३
३ बन्धकाः	३	७ बन्धकाः अबन्धकः	१
४ अबन्धकाः	३	८ बन्धकाः अबन्धकाः	३
एकसंयोगिभङ्गाः	४	द्विकसंयोगिभङ्गाः	

वेदनद्वारे—

तेणं भंते! जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं वेदगा अवेदगा?, गोयमा! णो अवेदगा वेदए वा वेदगा वा एवं ०जाव अंतराइयस्स, ते णं भंते! जीवा किं सायावेदगा असायावेदगा?, गोयमा! सायावेदए वा असातावेदए वा अट्ठ भङ्गा ६॥

ते भदन्त! जीवा ज्ञानवरणीयस्य कर्मणः किं वेदका अवेदकाः?, अत्रापि एकपत्रतायामेकवचनान्तता अन्यत्र तु बहुवचनान्तता, एवं यावदन्तरायस्य, वेदनीये सातासाताभ्यां पूर्ववदष्टौ भङ्गाः, इह च सर्वत्र प्रथमपत्रापेक्षयैकवचनान्तता, ततः परन्तु बहुवचनान्तता, वेदनं चानुक्रमोदितस्योदीरणोदीरितस्य वा कर्म्मणोऽनुभवः। उदयश्चानुक्रमोदितस्यैवेति वेदकत्वप्ररूपणेऽपि भेदेनोदयित्वप्ररूपणमिति। स्थापना—

१ सातावेदकः	१	५ सातावेदकोऽसातावेदकः	१
२ असातावेदकः	१	६ सातावेदकोऽसातावेदकाः	३
३ सातावेदकाः	३	७ सातावेदका असातावेदकः	१
४ असातावेदकाः	३	८ सातावेदकाः असातावेदकाः	३
एकसंयोगिभङ्गाः	४	द्विकसंयोगिभङ्गाः	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेसि णं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं उदई अणुदई ?, गोयमा ! णो अणुदई, उदई वा उदइणो वा एवं ०जाव अंतराइयस्स ७। ते णं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं उदीरगा अणुदीरगा ?, गोयमा ! णो अणुदीरगा उदीरए वा उदीरगा वा एवं ०जाव अंतराइयस्स णवरं वेदणिज्जाउवएसु अट्ठ भङ्गा ८।

'नो अणुदीरग' त्ति तस्यामवस्थायां तेषामनुदीरकत्वस्यासम्भवात्, 'वेयणिज्जाउएसु अट्ठ भङ्ग' त्ति वेदनीये साताऽसातापेक्षयाऽऽयुषि पुनरुदीरकत्वानुदीरकत्वापेक्षयाऽष्टौ भङ्गाः, अनुदीरकत्वं चायुष उदीरणायाः कादाचित्कत्वादिति।

लेश्याद्वारे अशीतिर्भङ्गाः कथम्—

ते णं भंते जीवा किं कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा तेउलेस्सा ?, गोयमा ! कण्हलेसे वा ०जाव तेउलेसे वा कण्हलेस्सा वा नीललेस्सा वा काउलेस्सा वा तेउलेस्सा वा, अहवा—कण्हलेस्से य नीललेस्से य एवं एए दुयासंयोगतियासंजोगचउक्कसंजोगेणं असीतिभङ्गा भवन्ति। ९। ते णं भंते ! जीवा किं सम्मदिट्ठी मिच्छदिट्ठी सम्मामिच्छदिट्ठी ?, गोयमा !, णो सम्मदिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी मिच्छादिट्ठी वा मिच्छादिट्ठिणो वा १०, ते णं भंते ? जीवा किं नाणी अण्णाणी ?, गोयमा ! णो णाणी अण्णाणी वा अण्णाणिणो वा ११।

एककयोगे एकवचनेन चत्वारो बहुवचनेनापि चत्वार एव, द्विकयोगे तु यथायोगमेकवचनबहुवचनाभ्यां चतुर्भङ्गी, चतुर्णां च पदानां षड्द्विकयोगास्ते च चतुर्गुणाश्चतुर्विंशतिः, त्रिकयोगे तु त्रयाणां पदानामष्टौ भङ्गाः, चतुर्णां च पदानां चत्वारस्त्रिकसंयोगास्ते चाऽष्टाभिर्गुणिता द्वात्रिंशत्, चतुष्कसंयोगे तु षोडश भङ्गाः, सर्वमीलने चाशीतिरिति। अत एवोक्तम्—' गोयमा कण्हलेसे वे ' त्यादि। भ० ११ श०।

वर्णाऽऽदिद्वारे—

तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा कइवण्णा कइगंधा कइरसा कइफासा पण्णत्ता ?, गोयमा ! पञ्चवण्णा दुगंधा पञ्चरसा अट्ठफासा पण्णत्ता, ते पुण अप्पणा अवण्णा अगंधा अरसा अफासा पण्णत्ता १४१। १५॥

' ते पुण अप्पणा अवण्ण ' त्ति शरीराण्येव तेषां पञ्चवर्णादीनि ते पुनरुत्पलजीवाः ' अप्पण ' त्ति स्वरूपेण, अवर्णा-वर्णादिवर्जिता अमूर्त्तत्वात्तेषामिति।

उच्छ्वासाऽऽदिद्वारे—

ते णं भन्ते ! जीवा किं उस्सासा निस्सासा णो उस्सासणिस्सासा ?, गोयमा ! उस्सासए वा १, णिस्सासए वा २, णो उस्सासणिस्सासए वा ३, उस्सासगा वा ४, णिस्सासगा वा ५, णो उस्सासणिस्सासगा वा ६, अहवा—उस्सासए य णिस्सासए य, अहवा—उस्सासए य, णो उस्सासणिस्सासए य। अहवा—णिस्सासए य, णो उस्सासणिस्सासए य ४, अहवा-उस्सासए य, नीसासए य, णो उस्सासणिस्सासए य। अट्ठ भंगा एए छव्वीसं भंगा भवन्ति २६॥

' नो उस्सासनिस्सासए ' त्ति अपर्याप्तावस्थायाम् इह च षड्विंशतिर्भङ्गाः, कथम् ?, एककयोगे एकवचनान्तास्त्रयः, बहुवचनान्ता अपि त्रयः, द्विकयोगे तु यथायोगमेकत्वबहुत्वाभ्यां तिस्रश्चतुर्भङ्गिका इति द्वादश, त्रिकयोगे त्वष्टाविति। अत एवाह-" एते छव्वीसं भङ्गा भवन्तीति "।

आहारकद्वारे—

ते णं भंते ! जीवा किं अहारगा अणाहारगा ?, गोयमा ! णो अणाहारगा, आहारए वा अणाहारए वा, एवं अट्ठ भङ्गा १७। ते णं भंते ! जीवा किं विरया अविरया विरयाविरया ?, गोयमा ! णो विरया णो विरयाविरया अविरए वा अविरया वा १८। ते णं भंते ! जीवा किं सकिरिया अकिरिया ?, गोयमा! णो अकिरिया सकिरिए वा सकिरिया वा१९। तेणं भंते! जीवा किं सत्तविहबंधगा अट्ठविहबंधगा ? गोयमा! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा अट्ठ भंगा२०॥

'आहारए य अणाहारए व' त्ति विग्रहगतावनाहारकोऽन्यदात्वाहारकस्तत्र चाष्टौ भङ्गाः पूर्ववत्।

ते णं भंते ! जीवा किं आहारसन्नोवउत्ता भयसन्नोवउत्ता मेहुणसन्नोवउत्ता परिग्गहसन्नोवउत्ता ?, गोयमा ! आहारसन्नोवउत्ता वा असीती भंगा २१। ते णं भंते ! जीवा किं कोहकसाई माणकसाई मायाकसाई लोभकसाई ?, असीती भंगा २२। ते णं भंते ! जीवा किं इत्थीवेदगा पुरिसवेदगा नपुंसगवेदगा ?, गोयमा ! नो इत्थीवेदगा नो पुरिसवेदगा नपुंसगवेदए वा नपुंसगवेदगा वा २३। ते णं भंते ! जीवा किं इत्थीवेदबंधगा पुरिसवेदबंधगा नपुंसगवेदबंधगा ?, गोयमा ! इत्थीवेदबंधए वा पुरिसवेदबंधए वा नपुंसगवेयबंधए वा, छव्वीसं भंगा २६।

संज्ञाद्वारे—

ते णं भंते ! जीवा किं सण्णी असण्णी ?, गोयमा ! णो सण्णी असण्णी वा असण्णिणो वा २५। ते णं भंते ! जीवा कि सइंदिया अणिंदिया ?, गोयमा ! णो अणिंदिया सइंदिए वा सइंदिया वा ॥ २६ ॥ से णं भंते ! उप्पलजीवे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?, गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ॥ २७ ॥ से णं भंते ! उप्पलजीवे पुढवीजीवे पुणरवि उप्पलजीवे त्ति केवतियं कालं सेवेज्जा ?, केवइयं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कालं गतिरागतिं करेज्जा ?, गोयमा ! भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, एवतियं कालं सेवेज्जा एवतियं कालं गइरागतिं करेज्जा । (सू०—२८ ×)

'से णं भंते ! उप्पलजीवे' त्ति इत्यादिनोत्पलत्वस्थितिरनुबन्धपर्यायतयोक्ता ।

से णं भंते ! उप्पलजीवे आउजीवे एवं चेव एवं जहा पुढवीजीवे भणिते तहा ०जाव वाउजीवे भाणियव्वे । से णं भंते ! उप्पलजीवे से वणस्सइजीवे से पुणरवि उप्पलजीवे त्ति केवइयं कालं सेवेज्जा केवइयं कालं गइरागतिं क(ज्जइ)रेज्जा, गोयमा ! भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अणंताइं भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं अणंतं कालं तरुकालं एवतियं कालं सेवेज्जा, एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा. से णं भंते ! उप्पलजीवे बेइंदियजीवे पुणरवि उप्पलजीवे त्ति केवइयं कालं सेवेज्जा केवइयं कालं गइरागतिं कज्जइ ?, गोयमा ! भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं संखेज्जाइं भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं दो अन्तोमुहुत्ता उक्कोसेणं संखेज्जं कालं, एवइयं कालं सेवेज्जा एवइयं कालं गइरागतिं कज्जइ , एवं तेइंदियजीवे, एवं चउरिंदियजीवे वि, से णं भंते ! उप्पलजीवे पंचिंदियतिरिक्खजोणियजीवे पुणरवि उप्पलजीवे त्ति पुच्छा, गोयमा ! भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ताइं उक्कोसेणं पुव्वकोडिमुहुत्ताइं, एवइयं कालं सेवेज्जा एवइयं कालं गइरागतिं करेज्जा, एवं मणुस्सेण विसमं ० जाव एवइयं कालं गइरागतिं करेज्जा २८ । ते णं भंते ! जीवा किमाहारमाहारेंति ?, गोयमा ! दव्वओ अणंतपएसियाइं दव्वाइं, एवं जहा आहारुद्देसए वणस्सइकाइयाणं आहारो तहेव ० जाव सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति णवरं णियमा छद्दिसिं सेसं तं चेव २९ । तेसि णं भंते ! जीवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?, गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दसवाससहस्साइं ३० । तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ समुग्घाया पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा–वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए ३१ । (सू० ४०९+)

'से णं भंते, उप्पलजीवे पुढविजीवे' त्ति इत्यादिना तु संवेधस्थितिरुक्ता, तत्र च 'भवादेसेणं' ति भवप्रकारेण भवमाश्रित्येत्यर्थः, 'जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं' ति एकं पृथिवीकायिकत्वे ततो द्वितीयमुत्पलत्वे ततः परं मनुष्यादिगतिं गच्छेदिति 'कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्त' त्ति, पृथिवीत्वेनान्तर्मुहूर्त्तं पुनरुत्पलत्वेनान्तर्मुहूर्त्तमित्येवं कालादेशेन जघन्यतो द्वे अन्तर्मुहूर्त्ते इति । एवं द्वीन्द्रियादिषु नेयम् । 'उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं' ति चत्वारि पञ्चेन्द्रियतिरश्चश्चत्वारि चोत्पलस्येत्येवमष्टौ भवग्रहणान्युत्कर्षत इति । 'उक्कोसेणं पुव्वकोडीमुहुत्तं' ति चतुर्षु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भवग्रहणेषु चतस्रः पूर्वकोट्यः, उत्कृष्टकालस्य विवक्षितत्वेनोत्पलकायोद्वृत्तजीवयोग्योत्कृष्टपञ्चेन्द्रियतिर्यक्स्थितग्रहणात्, उत्पलजीवितं त्वितास्वधिकमित्येवमुत्कृष्टतः पूर्वकोटीपृथक्त्वं भवतीति । 'एवं जहा आहारुद्देसए वणस्सइकाइयाणं' इत्यादि अनेन च यदतिदिष्टं तदिदम्—'खेत्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं कालओ अन्नतरकालट्ठिइयाइं, भावओ वण्णमंताइं' इत्यादि. 'सव्वप्पणयाए' त्ति सर्वात्मना 'नवरं नियमा छद्दिसिं' ति पृथिवीकायिकादयः सूक्ष्मतया निष्कुटगतत्वेन स्यादिति स्यात् तिसृषु चतसृषु दिक्षु वेत्यादिनाऽपि प्रकारेणाहारमाहारयन्ति,उत्पलजीवास्तु बादरत्वेन तथाविधनिष्कुटप्वभावान्नियमात्षट्सु दिक्ष्वाहारयन्तीति ।

ते णं भंते ! जीवा मारणंतियसमुग्घाएणं किं समोहया मरंति असमोहया मरंति ?, गोयमा ! समोहया वि मरंति असमोहया वि मरंति ३२ । (सू०—४०८+)

ते णं भंते ! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छन्ति कहिं उववज्जंति, किं णेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति एवं जहा वक्कंतीए उव्वट्टणाए वणस्सइकाइयाणं तहा भाणियव्वं । अह भंते ! सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता उप्पलमूलत्ताए उप्पलकंदत्ताए उप्पलणालत्ताए उप्पलपत्तत्ताए उप्पलकेसरत्ताए उप्पलकण्णियत्ताए उप्पलथिभुगत्ताए उप्पलपुव्वा ? हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो सेवं भंते! भंते! त्ति ।(सू० ४०९)

'वक्कंतीए' त्ति प्रज्ञापनायाः षष्ठपदे 'उव्वट्टणाए' त्ति उद्वर्त्तनाधिकारे तत्र चेदमेवं सूत्रम्—"मणुएसु उववज्जंति देवेसु उववज्जंति ?, गोयमा ! नो नेरइएसु उववज्जंति तिरिएसु उववज्जंति मणुएसु उववज्जंति नो देवेसु उववज्जंति" 'उप्पलकेसरत्ताए' त्ति इह केसराणि कर्णिकायाः परितोऽवयवाः 'उप्पलकण्णियत्ताए' त्ति इह तु कर्णिका–बीजकोशः 'उप्पलथिभुगत्ताए' त्ति ॥ थिभुगा च यतः पत्राणि प्रभवन्ति । भ० ११ श० १ उ० ।

सालुए णं भंते ! एगपत्ताए किं एगजीवे अणेगजीवे ?, गोयमा ! एगजीवे एवं उप्पलुद्देसगवत्तव्वया अपरिसेसा भाणियव्वा० जाव अणंतखुत्तो, णवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुपुहुत्तं । सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (सू०४१०) (भ०११श०)

पलासेणं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे अणेगजीवे ? , एवं उप्पलुद्देसगवत्तव्वया अपरिसेसा भाणियव्वा, णवरं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सरीरोगाहणा जहरणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं गाउयपुहुत्तं, देवा एएसु चेव न उववज्जंति । लेसासु तेणं भंते ! जीवा किं कण्हलेसे वा नीललेसे काउलेसे?, गोयमा! कण्हलेस्से वा नीललेस्से काउलेस्से वा छव्वीसं भङ्गा सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति।(सू०-४११) (भ०११ श० ३ उ० ।) कुंभि य णं भंते ! जीवे एगपत्तए किं एगजीवे अणेगजीवे एवं जहा पलासुद्देसए तहा भाणियव्वे, णवरं ठिती जहरणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वासपुहुत्तं सेसं तं चेव । सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (सू०४१२)(भ० ११ श०४उ० ।) नालिए णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे अणेगजीवे ?, एवं कुंभिउद्देसगवत्तव्वया णिरवसेसं भाणियव्वा सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (सू०-४१३) (भ० ११ श० ५ उ० ।) पउमे णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे अणेगजीवे?, एवं उप्पलुद्देसगवत्तव्वया णिरवसेसा भाणियव्वा सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (सू०४१४)(भ० ११श०६उ०।) कण्णिए णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे, अणेगजीवे ?, एवं चेव णिरवसेसं भाणियव्वं । सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (सू० ४१५) (भ० ११ श० ७ उ० ।) नलिणे णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे अणेगजीवे ? , एवं चेव णिरवसेसं० जाव अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (सू० ४१६) भ० ११ श० ८ उ० ।

सालूकोद्देशकादयः सप्तोद्देशकाः प्राय उत्पलोद्देशकसमानगमाः, विशेषः पुनर्यो यत्र स तत्र सूत्रसिद्ध एवं, नवरं पलाशोद्देशके यदुक्तम्, 'देवेसु न उववज्जंति' त्ति तस्यायमर्थः-उत्पलोद्देशके हि देवेभ्य उद्वृत्ता उत्पले उत्पद्यन्त इत्युक्तम् ,इह तु पलाशेनोत्पद्यन्ते इति वाच्यम् ,अप्रशस्तत्वात्तस्य, यतस्ते प्रशस्तेष्वेवोत्पलादिवनस्पतिषूत्पद्यन्त इति । तथा 'लेसासु' त्ति लेश्याद्वारे इदमध्येयमिति वाक्यशेषः, तदेव दर्श्यते-'तेणमि' त्यादि । इयमत्र भावना-यदा किल तेजोलेश्यायुतो देवो देवभवादुद्वृत्य वनस्पतिषूत्पद्यते तदा तेषु तेजोलेश्या लभ्यते न च पलाशे देवत्वोद्वृत्त उत्पद्यते, पूर्वोक्तयुक्तेः, एवं चेह तेजोलेश्या न सम्भवति तदभावादाद्या एव तिस्रो लेश्या इह भवन्ति, एतासु च षड्विंशतिर्भङ्गकाः, त्रयाणां पदानामेतावतामेव भावादिति । एतेषु चोद्देशकेषु नानात्वसंग्रहार्थास्तिस्रो गाथाः—

'सालम्मि धणुपुहुत्तं, होइ पलासे य गाउयपुहुत्तं ।
जोअणसहस्समहियं, अवसेसाणं तु छण्हं पि ॥ १ ॥
कुम्भीए नालियाए, वासपुहुत्तं ठिई उ बोधव्वा ।
दसवाससहस्साइं, अवसेसाणं तु छण्हं पि ।
कुम्भीए नालियाए, होंति पलासे य तिरिण लेसाओ ।
चत्तारि उ लेसाओ, अवसेसाणं तु पञ्चण्हं ॥ ३ ॥

एकादशशते द्वितीयादयोऽष्टमान्ताः शाल्याद्युद्देशकाः । भ० ११ श० ८ उ० ।

सालि कल अयसि वंसे,इक्खू दब्भे य दब्भतुलसी य ।
अट्ठेते दस वग्गा, असीति पुण होंति उद्देसा ॥ १ ॥

'साली' त्यादि सूत्रम्, 'सालि' त्ति शाल्यादिधान्यविशेषविषयोद्देशकदशकात्मकः प्रथमो वर्गः शालिरेवोच्यते, एवमन्यत्रापीति । उद्देशकदशकं चैवम्—"मूले १ कंदे २ खंधे ३, तया य ४ साले ५ पवाल ६ पत्ते य ७ । पुप्फे ८ फल ९ बीए वि य १०, एक्को होइ उद्देसो" ॥ १ ॥ इति । 'कल' त्ति, कलायादिधान्यविषयो द्वितीयः २, 'अयसि' त्ति अतसीप्रभृतिधान्यविषयस्तृतीयः ३, 'वंसे' त्ति वंशादिपर्वगविशेषविषयश्चतुर्थः । 'इक्खु' त्ति इक्ष्वादिपर्वगविशेषविषयः पञ्चमः, 'दब्भे' त्ति दर्भशब्दस्योपलक्षणार्थत्वात्- 'सेडिय-भंडिय-कौंतियदब्भे' इत्यादितृणभेदविषयः षष्ठः ६, 'अब्भे' त्ति वृक्षे समुत्पन्नो विजातीयो वृक्षविशेषोऽध्यवरोहकस्तत्प्रभृतिशाकप्रायवनस्पतिविषयः सप्तमः, 'तुलसीअ' त्ति तुलसीप्रभृतिवनस्पतिविषयोऽष्टमो वर्गः ८। 'अट्ठेते दस वग्ग' त्ति अष्टावेते अनन्तरोक्ता दशानाम्—दशानामुद्देशकानां सम्बन्धिनो वर्गाः-समुदाया दशवर्गाः,अशीतिः पुनरुद्देशका भवन्ति, वर्गे वर्गे उद्देशकदशकभावादिति ।

रायगिहे ०जाव एवं वयासी-अह भंते ! साली वीहीगोधूमजवजवाणं एएसि णं भंते ! जीवा मूलत्ताए वक्कमंति, ते णं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति?, किं णेरइएहिंतो उववज्जंति ?, तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ?, मणुस्सेहितो उववज्जंति?, देवेहिंतो उववज्जंति?,जहा वक्कंतिए तहेव उववाओ णवरं देववज्जं, ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ?, गोयमा ! जहरणेणं एक्को वा दो वा तिरिण वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति, अवहारो जहा उप्पलुद्देसए । एएसि णं भंते ! जीवाणं के महालया सरीरोगाहणा पराणत्ता ?, गोयमा ! जहराणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुहपुहुत्तं । (सू०-६८८×)

'रायगिहे' त्यादि 'जहा वक्कंतिए त्ति' यथा प्रज्ञापनायाः षष्ठपदे तत्र चैवमुत्पादो नो नारकेभ्य उत्पद्यन्ते, किन्तु-तिर्यग्मनुष्येभ्यः तथा व्युत्क्रान्तिपदे देवानां वनस्पतिषूत्पत्तिरुक्ता इह तु सा न वाच्या मूले देवानामनुत्पत्तेः पुष्पादिष्वेव शुभेषु तेषामुत्पत्तेरत एवोक्तम्-' नवरं देववज्जं' ति 'एक्को वे' त्यादि यद्यपि सामान्येन वनस्पतिषु प्रतिसमयमनन्ता उत्पद्यन्त इत्युच्यते तथाऽपीह शाल्यादीनां प्रत्येकशरीरत्वादेकाद्युत्पत्तिर्न विरुद्धेति । 'अवहारो जहा उप्पलुद्देसए' त्ति उत्पलोद्देशकः एकादशशतस्य प्रथमस्तत्र चापहार एवम्-' ते णं भंते! जीवा समये समये अवहीरमाणा २ केवतिकालेणं अवहीरंति ?, गोयमा ! ते णं असंखेज्जा समए समए अवहीरमाणा २ असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीहिं अवसप्पिणीहिं अवहीरंति नो चेव णं अवहिया सिय' त्ति ।

बन्धकाः—

ते णं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधगा अबंधगा ?, जहा उप्पलुद्देसे, एवं वेदे वि उदए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि उदीरणाए वि । ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेस्सा-णीललेस्सा काउलेसा छव्वीसं भंगा दिट्ठी० जाव वेइंदि-या जहा उप्पलुद्देसए, ते णं भंते ! साली वीही गोधूमा ० जाव जवजवगमूलगजीवे कालओ केवचिरं होइ?, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । से णं भंते ! साली वीही गोधूमा०जाव जवजवगमूलगजीवे पुढवीजीवे पुणरवि साली वीही० जाव जवजवगमूलगजीवे केवइयं कालं सेवेज्जा ?, केवइयं कालं गतिरागतिं करे-ज्जा ?, एवं जहा उप्पलुद्देसए, एएणं अभिलावेणं ०जाव मणुस्सजीवे आहारो जहा उप्पलुद्देसे ठिती जहन्नेणं अं-तोमुहुत्तं उक्कोसेणं वासपुहुत्तं समुग्घाया समोहया य उव्व-ट्टणा य जहा उप्पलुद्देसे । अह भंते ! सव्वपाणा० जाव सव्वसत्ता साली वीही० जाव जवजवगमूलगजीवत्ताए उ-ववण्णपुव्वा हंता, गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (सू० ६८८)

'ते णं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधगा अबंधगा ?' इतः परं यदुक्तम्-'जहा उप्पलुद्देसए' त्ति अनेनेदं सूचितम्-'गोयमा! नो अबंधगा बंधए वा बंधगा वा'इत्यादि। एवं वेदोदयोदीरणा अपि वाच्याः। लेश्यासु तु तिसृषु षड्विं-शतिर्भङ्गाः, एकवचनान्तत्वे बहुवचनान्तत्वे तथा त्रयाणां पदानां त्रिषु द्विकसंयोगेषु प्रत्येकं चतुर्भङ्गिकाभावाद् द्वादश एकत्र च त्रिकसंयोगेऽष्टाविति षड्विंशतिरिति । दिट्ठी' त्यादि दृष्टिपदादारभ्य इन्द्रियपदं यावदुत्पलोद्देशकवन्नेयम्, तत्र दृष्टौ मिथ्यादृष्टयस्ते ज्ञाने अज्ञानिनः, योगे काययो-गिनः, उपयोगे द्विविधोपयोगाः, एवमन्यदपि । तत एवं वाच्यम्, 'से णं भंते !' इत्यादिना असंखेज्जं कालमित्येतदन्ते-नानुबन्ध उक्तः । अथ कायसंवेधमाह ' से णमि ' त्यादि 'एवं जहा उप्पलउद्देसए' त्ति, अनेन चेदं सूचितम्,'गोयमा! भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाई कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं असंखेज्जं कालमि' त्यादि 'आहारो जहा उप्पलुद्देए' इति एवं चासौ 'ते णं भंते ! जीवा किमाहारमाहरिंति गोयमा ! दव्वओ अणंतपएसियाइं' त्यादि 'समुग्घाये' त्यादि अनेन च यत्सूचितं तदर्थलेशोऽयम्-तेषां-जीवनामाद्यास्त्रयः समुद्घातास्तथा मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता म्रियन्ते असमवहता वा, तथोद्वृत्तास्ते तिर्यक्षु मनुष्येषु चोत्पद्यन्त इति । भ० २१ श० १ वर्ग १ उ० ।

अह भंते ! साली वीही० जाव जवजवाणं एएसि णं जे जीवा कंदत्ताए वक्कमंति ते णं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति एवं कंदाहिगारेण सो चेव मूलुद्देसो अपरिसे-सो भाणियव्वो० जाव असतिं अदुवा अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (भ० २१ श० १ वर्ग १ उ०) एवं खंधे वि उद्देसो णेतव्वो । (भ० २१ श० २ वर्ग ३ उ०) एवं तयाए वि उद्देसो णेयव्वो । (भ० २१ श० १ वर्ग ४ उ० ।) साले वि उद्देसो णेयव्वो । (भ० २१ श० १ वर्ग ५ उ० ।) पवाले वि उद्देसो भाणियव्वो । (भ० २१ श० १ वर्ग ६ उ० ।) पत्ते वि उद्देसो भाणियव्वो । (भ० २१ श० १ वर्ग ७ उ० ।) एए सत्त वि उद्देसगा अपरिसेसं जहा मूले तहा णेयव्वा एवं पुप्फे वि उद्देसओ णवरं देवा उववज्जंति, जहा उप्पलुद्देसे चत्तारि लेस्साओ असीतिभंगा ओगा-हणा जहण्णेणं अङ्गुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं अङ्गुलपुहुत्तं सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (भ० २१ श० १ वर्ग ८ उ० ।) जहा पुप्फे एवं फ-ले वि उद्देसओ अपरिसेसो भाणियव्वो । (भ० २१ श० १ वर्ग ९ उ० ।) एवं बीए उद्देसओ एए दस उद्देस-गा पढमो वग्गो समत्तो (सू०—६८९) (भ० २१ श० १ वर्ग १० उ०) अह भंते ! कलायमसूरतिलमुग्ग-माससनिप्फावकुलत्थआलिसंदगसडिणपलिपंथगाणं एए-सि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ते णं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति ? । एवं मूलादीयां दस उद्देसगा भाणियव्वा जहेव सालीणं णिरवसेसं तं चेव बितिओ वग्गो समत्तो । अह भंते ! अयसिकुसुंभकोद्दवकंगु-रालगतुवरिगकोदूसासणसरिसवमूलगबीयाणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति तेणं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति ? एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसा जहेव सालीणं णिरवसेसं तहेव भाणियव्वं । तइओ वग्गो समत्तो। अह भंते! वंसवेणुकणगकक्कावंसवारुवंसदंडाकुंडाविमानचं-डावेणुयाकल्लाणीणं एएसि णं जीवा मूलत्ताए वक्कमंति-एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा जहेव सालीणं णवरं दे-वो सव्वत्थ वि ण उववज्जइ, तिन्नि लेस्साओ सव्वत्थ वि छव्वीसं भङ्गा । सेसं तं चेव । चउत्थो वग्गो समत्तो । अह भंते ! उक्खुइक्खुवाडियावीरणाइक्कडभमाससुंठिसत्तवे त्ततिमिरसयपोरगनलाणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति एवं जहेव वंसवग्गो तहेव एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा णवरं खंधुद्देसे देवो उववज्जति चत्तारि लेस्साओ पण्णत्ताओ, सेसं तं चेवं । पंचमो वग्गो समत्तो । अह भंते ! सेमियभंडियदब्भकोतियदब्भकुसदब्भगयोइद (इत) लअज्जुणआसाढगरोहियंसमुअवक्खीरभूसएरंडकुरुभकुंद-करवरसुंठविभंगमुहवयणथुरगसिप्पियसुंकलितणाणं । ए-एसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति एवं एत्थ वि दस उद्देसगा णिरवसेसं जहेव वंसस्स । छट्ठो वग्गो समत्तो । अह भंते ! अब्भरुहवोयाणहरि—

१ मूलादिका इति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तगतंदुलेज्जगतगुत्तरतुलसीचोरगमज्जारयाइ चिल्लियालकदग-
पिप्पलियदव्विसोत्थिकसायमंडुक्किमूलगसरिसवअंबिलसा-
गजीवंतगाणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति, एवं
एत्थ वि दस उद्देसगा जहेव वंसस्स । सत्तमो वग्गो स-
मत्तो । अह भंते ! तुलसीकण्हदलफणेज्जा अज्जाचू-
यणाचोराजीरादमणामरुयाइंदीवरसयपुप्फाणं एएसि णं
जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति एत्थ वि दस उद्दे-
सगा णिरवसेसं जहा वंसाणं । एवं एएसु अट्ठसु वग्गेसु
असीति ८० उद्देसगा भवन्ति । (सू० ६६०)

एवं समस्तोऽपि वर्गः सूत्रसिद्ध एवमन्येऽपि,नवरमशीति-
र्भङ्गाः, एवं चतसृषु लेश्यास्वेकत्वे ४ बहुत्वे ४ तथा पदच-
तुष्टये षट्सु द्विकसंयोगेषु प्रत्येकं चतुर्भङ्गिकासद्भावात्
२४, तथा चतुर्षु त्रिकसंयोगेषु प्रत्येकमष्टानां सद्भावात् ३२,
चतुष्कसंयोगे च १६, एवमशीतिरिति । इह वर्गमवगाहना-
विशेषाभिधायिका वृद्धोक्ता गाथा—" मूले कंदे खंधे, तया
य साले पवाल-पत्ते य । सत्तसु वि धणुपुहुत्तं, अंगुलिमो
पुप्फफलबीए ॥ १ ॥ " इति । भ० २१ श० ८ वर्ग ।

तालादिकानाह—

" तालेगट्ठियबहुबी-यगा य गुच्छा य गुम्मवल्ली य ।
छद्दस वग्गा एए, सट्ठिं पुण होंति उद्देसा ॥ १ ॥ "

रायगिहे ०जाव एवं वयासी-अह भंते ! तालतमालतक्क-
लितेतलिसालिसरलासारगल्लाणं ०जाव केयतियकदलच-
म्हरुक्खगुंदरुक्खहिंगुरुक्खलवंगरुक्खपूयफलखज्जूरिना-
लिएरीणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ते णं भंते!
जीवा कओहिंतो उववज्जंति? एवं एत्थ वि मूलादीया दस
उद्देसगा कायव्वा जहेव सालीणं, णवरं इमं णाणत्तं मूले
कंदे खंदे तयाए साले य एएसु पञ्चसु उद्देसएसु देवो ण
उववज्जइ तिण्णि लेस्साओ ठिती जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं
उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं उवरिल्लेसु पञ्चसु उद्देसएसु
देवो उववज्जइ, चत्तारि लेस्साओ ठिई जहण्णेणं अंतो-
मुहुत्तं उक्कोसेणं वासपुहुत्तं ओगाहणा,मूले कंदे धणुहपु-
हुत्तं । खंधे तया य साले य गाउयपुहुत्तं, पवाले पत्ते
धणुपुहुत्तं, पुप्फे हत्थपुहुत्तं, फले बीए य अंगुलपुहुत्तं,
सव्वेसिं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं सेसं जहा
सालीणं । एवं एए दस उद्देसगा वावीसइमस्स पढमो
वग्गो। अह भंते ! णिम्बऽम्बजंबुकोसंवतालअङ्कोल्लपीलुसे-
लुसल्लइमोयइमालुयवउलपलासकरंजपुत्तं जीवगरिट्ठवहेड-
गहरियगभल्लायउंवरियभरियखीरणिधायइपियालपूइयणि-
वायगसेण्हयपासियसीसवअयसिपुण्णागणागरुक्खसीव -
ण्णअसोगाणं , एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमं-
ति एवं मूलाऽऽदीया दस उद्देसगा कायव्वा णिरवसेसं
जहा तालवग्गो । वितिओ वग्गो समत्तो । अह भंते ! अ-
त्थियातिंदुयवोरकविट्ठअंवाडगमाउलिङ्गविल्लआमलगफणस
सदालिमआसत्थउंवरवडणग्गोहणंदिरुक्खपिप्पलिसतर--
पिलक्खुरुक्खकाउंवरियकुच्छंभरियदेवदालितिलगलउय-
छत्तोहसिरीससत्तवण्णदधिवण्णलोद्धधवचंदणज्जुणणीव--
कुडुगकलंवाणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ते
णं भंते ! एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा ताल-
वग्गसरिसा णेयव्वा ०जाव बीयं, तइओ वग्गो समत्तो ।
अह भंते ! वातिंगणे अल्लइ पोडइ एवं जहा पण्णवणाए
गाहाणुसारेण णेयव्वं ०जाव गंजपाडला वासिअङ्कोल्ला-
णं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति एवं एत्थ वि
मूलादिया दस उद्देसगा तालवग्गसरिसा नेयव्वा जाव बीयं
ति णिरवसेसं जहा वंसवग्गो चउत्थो वग्गो समत्तो । अह
भंते ! सिरियकाणवनालियकोरंटगबंधुजीवगमणोज्जा जहा
पण्णवणाए पढमपदे गाहाणुसारेण ०जाव णलणीयकुं-
दमहाजातीणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति
एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा णिरवसेसं जहा
सालीणं । पञ्चमो वग्गो समत्तो । अह भंते ! पूसफली--
कालिंगीतुंबीतउसीएलावालुंकी एवं पदाणि छिंदि-
यव्वाणि पण्णवणागाहाणुसारेण जहा तालवग्गो ० जाव
दधिफोल्लईकाकलिसोक्कलिअक्कबोंदीणं, एएसि णं जे जीवा
मूलत्ताए वक्कमंति एवं मूलादीया दस उद्देसगा काय--
व्वा जहा तालवग्गो णवरं फलउद्देसे ओगाहणाए जह-
ण्णेणं अङ्गुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुहपुहुत्तं ठि-
ई सव्वत्थ जहण्णेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं वासपुहुत्तं सेसं
तं चेव । छट्ठो वग्गो समत्तो । एवं छसु वि वग्गेसु सट्ठि
उद्देसगा भवंति । (सू० ६६१)

'ताले' त्यादि तत्र 'ताले' त्ति तालतमालप्रभृतिवृक्षवि-
शेषविषयोद्देशकदशकात्मकः प्रथमो वर्गः, उद्देशकदशके च
मूलकन्दादिविषयभेदात्पूर्ववत् । 'एगट्ठिय' त्ति एकमस्थि-
कं फलमध्ये येषां ते तथा, ते च-निम्बाऽऽम्रजम्बूकौशाम्बा-
दयः, ते द्वितीये वाच्याः । 'बहुबीयगा य' त्ति बहूनि बी-
जानि फलेषु येषां ते तथा, ते च-अस्थिकतेन्दुकवदरकपि-
त्थादयो वृक्षविशेषास्ते तृतीये वाच्याः । 'गुच्छा य' त्ति
गुच्छा-वृन्ताकीप्रभृतयस्ते चतुर्थे वाच्याः । 'गुम्म' त्ति
गुल्माः-सिरियकनवमालिकाकोरण्टकादयस्ते पञ्चमे वा-
च्याः । 'वल्ली य' त्ति वल्ल्यः-पुष्पफलीकालिङ्गीतुम्बीप्रभृत-
यः, ताः षष्ठे वर्गे वाच्याः । इत्येवं षड्वर्गो वल्लीत्यभिधी-
यते 'छद्दसवग्गा एए' त्ति षट् दशोद्देशकप्रमाणा वर्गा एते
अनन्तरोक्ताः,अत एव प्रत्येकं दशोद्देशकप्रमाणत्वाद्वर्गाणामि-
ह षष्टिरुद्देशका भवन्तीति । इदं च शतमनन्तरशतवत्सर्वं व्या-
ख्येयम्, यस्तु विशेषः स सूत्रसिद्धः, एवम् इयं चेह वृद्धोक्ता
गाथा-" पत्तपवाले पुप्फे, फले य बीए य होइ उववाओ ।
रुक्खेसु सुरगणाणं,पसत्थरसवण्णगंधेसु॥१॥" त्ति। भ०२२श०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आलुकाऽऽदि—

"आलुयलोहीअवया, पाढी तह मासवण्णिवल्ली य।
पञ्चेते दस वग्गा, पन्नासा होंति उद्देसा॥१॥"

रायगिहे ०जाव एवं वयासी–अह भंते! आलुयमूलगसिंगबेरहालिद्दरुक्खकंडरियजारुच्छीरबिरालीकिट्ठिकुंदुकण्हकडडसुमधुपयलइमहुसिंगिणिरुहासप्पसुगंधाछिन्नरुहाबीयरुहाणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति एवं मूलादीया दस उद्देसगा कायव्वा वंसवग्गसरिसा णवरं परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति अवहारो, गोयमा! ते णं अणंता समए अवहीरमाणा २ अणंताहिं उस्सप्पिणीहिं ओसप्पिणीहिं एवतिकालेण अवहीरंति णो चेव णं अवहरिया सिया ठिई जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं, सेसं तं चेव पढमो वग्गो समत्तो॥ अह भंते! लोहिणीहूथीहूथिवगा अस्सकण्णीसीउंढीमुसंढीणं एएसि णं जीवा मूल ०एवं एत्थवि दस उद्देसगा जहेव आलुयवग्गे णवरं ओगाहणा तालवग्गसरिसा, सेसं तं चेव सेवं भंते! भंते! त्ति। वितिओ वग्गो समत्तो॥ अह भंते! आयकायकुहुणकुंदुरुक्कउव्वेहलियासफासज्जाछत्तावंसाणियकुमाराणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसया णिरवसेसं तं चेव सेवं भंते! भंते! त्ति। तइओ वग्गो समत्तो। अह भंते! पाढामियवालुंकिमहुररसारायवल्लिपउमामोंढरिदंतिचंडीणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति, एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा आलुयवग्गसरिसा णवरं ओगाहणा जहा वल्लीणं, सेसं तं चेव सेवं भंते! भंते! त्ति। चउत्थो वग्गो समत्तो। अह भंते मासपण्णीमुग्गपण्णीजीवगसरिसवकएणुयकाओलिखीरकाकोलिभंगिणोहिं किमिरासिभद्दमुच्छणंगलइपओयकिण्णापउलपाढेहरेणुयालोहीणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए व० एवं एत्थ वि दस उद्देसगा णिरवसेसं आलुयवग्गसरिसा। पञ्चमो वग्गो समत्तो॥ एएसु पञ्चसु वग्गेसु पन्नासं उद्देसगा भाणियव्वा सव्वत्थ देवा ण उववज्जंति त्ति तिण्णि लेस्साओ सेवं भंते! भंते! त्ति। (सू०–६९२)

'आलुये' त्यादि तत्र 'आलुय' त्ति आलुकमूलकादिसाधारणशरीरवनस्पतिभेदविषयोद्देशकदशकात्मकः प्रथमो वर्गः॥ 'लोही' ति॥ लोहीप्रभृत्यनन्तकायिकविषयो द्वितीयः। 'अवइ' त्ति अवककवकप्रभृत्यनन्तकायिकभेदविषयस्तृतीयः। 'पाढ' त्ति पाठा–मृगवालुङ्कीमधुररसादिवनस्पतिभेदविषयश्चतुर्थः। 'मासवण्णीमुग्गवण्णी य' त्ति माषपर्णीमुद्गपर्णीप्रभृतिवल्लीविशेषविषयः पञ्चमः तन्नामक एवेति पञ्चैते अनन्तरोक्ता दशोद्देशकप्रमाणा वर्गा दशवर्गाः यत एवमतः पञ्चाशदुद्देशका भवन्तीह शत इति। भ० २३ श०।

शालवृक्षवक्तव्यता—

एस णं भंते! सालरुक्खए उण्हाभिहते तण्हाभिहए दवग्गिजालाभिहते कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिइ?, गोयमा! इहेव रायगिहे णयरे सालरुक्खत्ताए पच्चायाहिति, से णं तत्थ अच्चियवंदियपूइयसक्कारियसंमाणिये दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सण्णिहियपाडिहेलाउल्लोइयमहिए याऽवि भविस्सइ। से णं भंते! तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गमिहिति कहिं उववज्जिहिति, गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ ०जाव अंतं काहिति, एस णं भंते! साललट्ठिया उण्हाभिहया तण्णाभिहया दवग्गिजालाभिहया कालमासे कालं किच्चा ०जाव कहिं उववज्जिहिति?, गोयमा! इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे विज्झगिरिपायमूले महेसरिए णयरीए सामलिरुक्खत्ताए पच्चायाहिति, सा णं तत्थ अच्चियवंदियपूइय ०जाव लाउल्लोइयमहिए याऽवि भविस्सइ, से णं भंते! ततोहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता सेसं जहा सालरुक्खस्स० जाव अंतं काहिति। एस णं भंते! उंबरलट्ठिया उण्हाभिहया तण्हाभिहया दव्वग्गिजालाभिहया कालमासे कालं किच्चा ०जाव कहिं उववज्जिहिति?, गोयमा! इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे पाडलिपुत्ते णामं णगरे पाडलिरुक्खत्ताए पच्चायाहिति से णं तत्थ अच्चियवंदिय ०जाव भविस्सइ। से णं भंते! अणंतरं उव्वट्टित्ता सेसं तं चेव० जाव अंतं काहिति। (सू०–५२८)

'एस णमि' त्यादि 'दिव्वे' त्ति प्रधानः 'सच्चोवाए' त्ति सत्यावपातः–सफलसेवः कस्मादेवमित्यत आह–'संनिहियपाडिहेरे' त्ति। सन्निहितम्–विहितं प्रातिहार्यम्—प्रतिहारकर्म सान्निध्यं देवेन यस्य स तथा, 'साललट्ठिय' त्ति। सालयष्टिका इह च यद्यपि शालवृक्षादावनेके जीवा भवन्ति तथापि प्रथमजीवापेक्षं सूत्रत्रयमभिनेतव्यम्, एवंविधप्रश्नाश्च वनस्पतीनां जीवत्वमश्रद्दधानं श्रोतारमपेक्ष्य भगवता गौतमेन कृता इत्यवसेयमिति। भ० १४ श० ८ उ०।

वणप्फ(स्स)इकाइय–वनस्पतिकायिक–पुं०। वनस्पतिर्लतादिरूपः स एव कायः शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः, त एव वनस्पतिकायिकाः। वनस्पतिशरीरकेषु एकेन्द्रियजीवभेदेषु, प्रज्ञा० १ पद। जी०। दश०। स्था०। ग०। स०।

वणप्फ(स्स)इकाल–वनस्पतिकाल–पुं०। अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणे कालभेदे, आ० म० १ अ०।

वणप्फ(स्स)इगण–वनस्पतिगण–पुं०। वनस्पतीनां समुदाये, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

वणमाला–वनमाला–स्त्री०। रत्नादिमये आपदीने आभरणविशेषे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। (वनमालावर्णकः 'लवणसमुद्द' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१८ पृष्ठे गतः।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वणमालापीडमउलकुंडलसच्छंदविउव्वियाभरणचारुभू-सणधरा।

वनमाला—वनमालामयानि आमेलमुकुटकुण्डलानि, आमेल इति-आपीडशब्दस्य प्राकृतलक्षणवशात् आपीडः-शेखरकः तथा स्वच्छन्दं विकुर्वितानि यानि आभरणानि तैर्यत् चारु भूषणं-मण्डनं तद्धरन्तीति वनमालापीडमुकुटकुण्डल-स्वच्छन्दविकुर्विताऽऽभरणचारुभूषणधराः। लिङ्गादित्वादच्। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। तं०। जं०। रा०। औ०। वनस्पतिस्रजि च। स०। औ०। द्वादशदेवलोकीयविमानभेदे, नपुं०। स०।

वणमुह-व्रणमुख-न०। व्रणाग्रे, "वणमुहकिमिउत्तयंतपगलंतपूयरुहिरं" व्रणमुखानि कृमिभिरुत्तुद्यमानानि ऊर्ध्वं व्यध्यमानानि प्रगलत्पूयरुधिराणि यस्य सः। विपा० १ श्रु० ७ अ०।

वणयरय-वनचरक-पुं०। शबरादौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

वणराइ-वनराजि-स्त्री०। एकजातीयानामितरेषां वा तरूणां पङ्क्तौ, अनु०। ज्ञा०। एकजातीयोत्तमवृक्षसमूहे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। प्रज्ञा०। भ०। रा०।

वणराय-वनराज-पुं०। वैक्रमसंवत्सराणि २०८ अणहिलपत्तनस्य निवेशके चोलुक्कवंशीये राजनि, ती० २५ कल्प।

वणलया-वनलता-स्त्री०। अशोकादिलतासु, प्रज्ञा० १ पद। जं०। रा०। जी०। भ०। कल्प०। ज्ञा०। एकशाखेषु तरुविशेषेषु, वणा-द्रुमविशेषाः द्रुमाणां च लतात्वमेकशाखाकानां द्रष्टव्यम्, ये हि द्रुमा ऊर्ध्वागतैकशाखा न तु दिग्विदिक्प्रवृत्तबहुशाखास्ते लता इति प्रसिद्धाः। रा०।

वणवास-वनवास-पुं०। अरण्यवासे, बृ०। लौकिका हि वानप्रस्थाश्रमे वर्तमाना वनवासमेव श्रेयसे मन्यन्ते। तत्रा-प्राशुकादिपरिभोगदोषः। बृ० १ उ० ३ प्रक०। (स च 'संखडि' शब्दे दर्शयिष्यते।)

वणवासी-वनवासी-स्त्री०। दक्षिणार्द्धभरतक्षेत्रीये नगरीभेदे, "इहेव अद्धभरहे वणवासीनगरीए वासुदेवस्स जेट्ठभाउ-जरकुमारपुत्तो जियसत्तू राया" ग० २ अधि०।

वणविदुग्ग-वनविदुर्ग-पुं०। नानाविधवृक्षसमूहे, भ० १ श० ८ उ०। व्य०। एकं वनं वनम्, नानारूपं वनम्, वनविदुर्गः। व्य० ६ उ०। सूत्र०।

वणविरोह-वनविरोध-पुं०। लोकोत्तररीत्या द्वादशे मासे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। जं०। ज्यो०। सू० प्र०। चं० प्र०।

वनसंड-वनषण्ड-पुं०। अनेकजातीयोत्तमवृक्षसमुदाये, कल्प० १ अधि० ४ क्षण। अनेकजातीयानामुत्तमानां महीरुहाणां समूहे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। जी०। अनु०। एकजातीयवृक्षसमूहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। ज्ञा०। स्था०।

वणसवाई-स्त्री०। कोकिलायाम्, "पियमाहवी परहुआ कलयंठी कोइला वणसवाई" पाइ० ना० ४२ गाथा।

वणहत्थि(ण्)-वनहस्तिन्-पुं०। आरण्यगजे, उत्त० १३ अ०।

वणाहार-वनाहार-पुं०। वन्यवस्तूपभोक्तरि यक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

वणाहिवइ-वनाधिपति-पुं०। यक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

वणि(ण्)-व्रणिन्-त्रि०। व्रणोऽस्यास्तीति व्रणी। रौद्रतरे शल्ये, आव० ४ अ०।

वणिया-वनिता-स्त्री०। स्त्रियाम्, उत्त०।

पुरिसे नाणाविहेहिं, भावेहिं वणंति त्ति वणियाओ।

'पुरिसे त्ति-पुरुषान् नानाविधैः भावैरभिप्रायविलासादिभिर्वर्णयन्ति—कामोद्दीपनगुणान् विस्तारयन्तीति वनिताः। तं०। तथा च हारिलः—" वातोद्धतो दहति हुतभुग् देहमेकं नराणां, मत्तो नागः कुपितभुजकश्चैकदेहं तथैव। ज्ञानं शीलं विनयविभवौदार्यविज्ञानदेहान्, सर्वानर्थान् दहति वनिताऽऽमुष्मिकानैहिकांश्च॥१॥" उत्त० ८ अ०।

वणी-वनी-स्त्री०। कर्पासनिष्पादके फलीभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। स्था०। दायकाभिमतजनप्रशंसोपायतो लब्धार्थे, पञ्चा० १३ विव०।

वणीमक-वनीपक-पुं०। परेषामात्मदुस्थत्वदर्शनेनानुकूलभाषणतो यल्लभ्यते द्रव्यं सा वनी—प्रतीता, तां पिबति-आस्वादयति पातीति वेति वनीपः। स एव वनीपकः। याचके, स्था० ५ ठा० ३ उ०। पञ्चा०। कृपणे, दश० ५ अ०। वनु याचने, वनुते प्रायो दायकाभिमतेषु श्रमणादिष्वात्मानं भक्तं दर्शयित्वा पिण्डं याचते। प्रव० ६७ द्वार। पिं०। अभीष्टजनप्रशंसने, ग० १ अधि०।

प्रथमतो वनीपकस्य भेदान्निरुक्तिं च शब्दस्याह—

समणे माहणि किवणे, अतिही साणे य होइ पंचमए।
वणिजायण त्ति वणिमओ, पायप्पाणं वणेउ त्ति॥४३॥

वनीपकः पञ्चधा, तद्यथा-श्रमणे-श्रमणविषयः ब्राह्मणे कृपणे अतिथौ शुनि च पञ्चमो भवति, तत्र वनीपक इति। वनिरित्ययं धातुर्याचने, वनु याचने इति वचनात्। ततो वनुते—प्रायो दायकसम्मते श्रमणादिष्वात्मानं भक्तं दर्शयित्वा पिण्डं याचते इति 'वणिउ' त्ति वनीपकः औणादिक ईपकप्रत्ययः।

संप्रति प्रकारान्तरेण वनीपकशब्दनिरुक्तिं प्रतिपादयति—

मयमाइ वच्छगं पि व, वणेइ आहारमाइलोभेणं।
समणेसु माहणेसु य, किविणातिहिसाणभत्तेसु॥४४॥

मृता—पञ्चत्वमुपगता माता यस्य वत्सकस्य—तर्णकस्य तमिव गोपालकोऽन्यस्यां गवि इति शेषः,आहारादिलोभेन-भक्तपात्रवस्तुलुब्धतया ब्राह्मणेषु श्रमणेषु कृपणातिथिश्व-वभक्तेषु वनति—भक्तमात्मानं दर्शयतीति वनीपकः। पूर्ववदौणादिक ईपकप्रत्ययः।

सम्प्रति यावन्तः श्रमणशब्दवाच्यास्तावतो दर्शयित्वा तेषु वनीपकत्वं यथा भवति तथा दर्शयति—

निग्गंथसक्कतावस-गेरुयआजीवपंचहा समणा।
तेसि परिवेसणाए, लोभेण वणिज्जको अप्पं॥४४५॥

निर्ग्रन्थाः—साधवः, शाक्या—मायासूनवीयाः—तापसाः वनवासिनः पाखण्डिनः, गेरुकाः—गेरुकरञ्जितवाससः परिव्राजकाः, आजीवकाः—गोशालकशिष्या इति पञ्चधा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पञ्चप्रकाराः श्रमणा भवन्ति, एतेषां च यथायोगं गृहिगृहेषु समागतानां परिवेषणे—भोजनप्रदाने क्रियमाणे सति कोऽप्याहारलम्पटः साधुर्लोभेनाहारादिलुब्धतया वनति-शाक्यादिभक्तमात्मानं दर्शयति तद्भक्तगृहिणः पुरत इति सामर्थ्यगम्यम् ।

इह प्रायः शाक्या गैरुका वा गृहिगृहेषु भुञ्जते ततस्तान् भुञ्जानानधिकृत्य यथा साधुर्वनीपकत्वं कुरुते तथा- दर्शयति—

भुंजंति चित्तकम्मं, ठिया व कारुणियदाणरुइणो वा ।
अभिकामगद्दहेसु वि, न नस्सई किं पुण जईसु ॥४४६॥

एवं नाम निश्चला भगवन्तोऽमी शाक्यादयो भुञ्जते यथा चित्रकर्मलिखिता इव भुञ्जाना लक्ष्यन्ते, तथा—परमकारुणिका एते दानरुचयश्च, तत एतेभ्योऽवश्यं भोजनं दातव्यम् । अपि च—कामगर्दभेष्वपि मैथुने गर्दभेष्विवातिप्रसक्तेषु ब्राह्मणेष्विति गम्यते । दत्तं न नश्यति किं पुनरमीषु शाक्यादिषु एतेभ्यो दत्तमतिशयेन बहुफलमिति भावः । तस्माद्दातव्यमेतेभ्यो विशेषतः ।

अत्र दोषान् दर्शयति—

मिच्छत्तथिरीकरणं, उग्गमदोसा य तेसु वा गच्छे ।
चडुकार दिन्नदाणा, पच्चत्थिग मा पुणो इंतु ॥४४७॥

एवं हि शाक्यादिप्रशंसने लोके मिथ्यात्वं स्थिरीकृतं भवति, तथाहि—साधवोऽप्यमून् प्रशंसन्ति तस्मादेतेषां धर्म्मः सत्य इति । तथा यदि भक्ता भद्रका भवेयुः तत इत्थं साधुप्रशंसामुपलभ्य तद्योग्यमाधाकर्मिकादिसमाचरेयुः । ततस्तल्लुब्धतया कदाचित् साधुवेषमपहाय तेषु-शाक्यादिषु गच्छेयुः । तथा लोके चाटुकरणयुते जन्मान्तरेऽप्यदत्तदाना आहाराद्यर्थं श्वान इवात्मानं दर्शयन्ति-इत्यवर्णवादः, यदि पुनः शाक्यादयः शाक्यादिभक्ता वा प्रत्यर्थिकाः—प्रत्यनीका भवेयुस्ततः प्रद्वेषतः प्रशंसावचनमवज्ञायेत्थं ब्रूयुः मा पुनरत्र भवन्त आयान्त्विति ।

ब्राह्मणभक्तानां पुरतो ब्राह्मणप्रशंसारूपं वनीपकत्वं यथा करोति तथा दर्शयति—

लोयाणुग्गहकारिसु, भूमीदेवेसु बहुफलं दाणं ।
अवि नाम बंभबंधुसु, किं पुण छक्कम्मनिरएसु ॥४४८॥

पिण्डप्रदानादिना लोकोपकारिषु भूमिदेवेषु ब्राह्मणेषु अपि नाम ब्रह्मबन्धुष्वपि जातिमात्रब्राह्मणेष्वपि दानं दीयमानं बहुफलं भवति, किं पुनर्यजनयाजनादिरूपषट्कर्मनिरतेषु तेषु विशेषतो बहुफलं भविष्यतीति भावः ।

संप्रति कृपणभक्तानां पुरतः कृपणप्रशंसारूपं वनीपकत्वं यथा समाचरति तथा प्रतिपादयति—

किविणेसु दुम्मणेसु य, अबंधवायंकजुंगियंगेसु ।
पूयाहिज्जे लोए, दाणपडागं हरइ देंतो ॥ ४४९ ॥

इह लोकः पूजाहार्यः—पूजया ह्रियते—आवर्ज्यते इति पूजाहार्यः, पूजितपूजको न कोऽपि कृपणादिभ्यो ददाति, ततः कृपणेषु तथा इष्टवियोगादिना दुर्म्मनस्सु तथा अबान्धवेषु तथा आतङ्को-ज्वरादिस्तद्योगादातङ्किनोऽप्याजङ्घास्तेषु, तथा जुङ्गिताङ्गेषु च कर्तितहस्तपादाद्यवयवेषु निराकाङ्क्षतया ददर्दस्मिन् लोके दानपताकां हरति-गृह्णाति ॥

साम्प्रतमतिथिभक्तानां पुरतोऽतिथिप्रशंसारूपं वनीपकत्वं यथा साधुर्विदधाति तथा दर्शयति—

पाएण देइ लोगो, उवगारिसु परिचिएसु झुसिए वा ।
जो पुण अद्धाखिन्नं, अतिहिं पूएइ तं दाणं ॥ ४५० ॥

इह प्रायेण लोक उपकारिषु, यद्वा—परिचितेषु यदि-वा अध्युषिते—आश्रिते ददाति भक्तादि, यः पुनरध्वखिन्नमतिथिं पूजयति तदेव दानं जगति प्रधानमिति शेषः ।

अधुना शुनां भक्तानां पुरतः शुनकप्रशंसारूपं वनीपकत्वं कुर्वन् यद्वक्ति तदुपदर्शयति—

अवि नाम होज्ज सुलभो, गोणाईणं तणाइ आहारो ।
छिच्छिक्कारहयाणं, ण हु सुलहो होइ सुणगाणं ॥४५१॥
केलासभवणा एए, आगया गुज्झगा महिं ।
चरंति जक्खरूवेण, पूयाऽपूया हियाऽहिया ॥ ४५२ ॥

अपि नाम गवादीनां तृणादिक आहारो भवेत् सुलभः, छिच्छिक्कारहतानां त्वमीषां शुनां न तु कदाचनाऽपि भवति सुलभः, तत एतेभ्यो यद्दीयते तदेव बहुफलमिति भावः, अपि च-नैते श्वानः श्वान एव, किं तु-गुह्यका देवविशेषाः कैलासभवनात्—कैलासपर्वतरूपादाश्रयादागत्यमहीं—पृथिवीं यक्षरूपेण श्वाकृत्या चरन्ति तत एतेषां पूजाऽपूजा च यथासंख्यं हिता अहिता चेति ।

संप्रति ब्राह्मणादिविषयवनीपकत्वे दोषानाह—

एएण मज्झभावो, दिट्ठो लोए पणामहेज्जम्मि ।
एक्केक्के पुव्वुत्ता, भद्दगपंताइणो दोसा ॥ ४५३ ॥

एतेन—अनेन साधुना ' मज्झ ' मदीयो भावो—भक्तत्वलक्षणो दृष्टोऽवगतो लोके—ब्राह्मणादौ. किं विशिष्टे ? इत्याह—प्रणामहार्ये प्रणामः—प्रणमनं तेन, उपलक्षणमेतत् दानादिना च हार्ये—आवर्जनीये, तत एकैकस्मिन् ब्राह्मणादिविषये वनीपकत्वे पूर्वोक्ता भद्रकप्रान्तादयो दोषा भावनीयाः । किमुक्तं भवति—यदि भद्रकस्तर्हि प्रशंसावचनतो वशीकृत आधाकर्मादि कृत्वा प्रयच्छति, अथ प्रान्तस्तर्हि गृहनिष्काशनादि करोति । इह प्राक् ' साणे पुण होइ पंचमए ' इत्युक्तम् , तत्र साणग्रहणं काकादीनामुपलक्षणम् , तेन काकादिष्वपि वनीपकत्वं द्रष्टव्यम् ।

तथा चाऽऽह—

एमेव कागमाई, साणग्गहणेण सूइया होंति ।
जो वा जम्मि पसत्तो, वणइ तहिं पुट्ठऽपुट्ठो वा ॥ ४५४ ॥

एवमेव वनीपकत्वप्ररूपणाविषयत्वेन श्वग्रहणेन काकादयोऽपि सूचिता भवन्ति, ततस्तत्रापि वनीपकत्वं भावनीयम् । एतदेव व्याप्तिपुरस्सरमाह—यो वा यत्र काकादौ पूजकत्वेन प्रसक्तस्तत्र काकादिस्वरूपं पृष्टोऽपृष्टो वा वनतिप्रशंसाद्वारेणात्मानं भक्तं दर्शयति ।

सम्प्रति वनीपकत्वं कुर्वतः साधोर्युक्त्या दोषगरीयस्त्वं प्रकटयति-

दाणं न होइ अफलं, पत्तमपत्तेसु सन्निजुज्जंतं ।
इय विभणिए वि दोसा, पसंसओ किं पुण अपत्ते ।४५५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इह पात्रेष्वपात्रेषु वा सन्नियुज्यमानं दानं न भवत्यफलमित्यपि भणिते दोषः। अपात्रदानस्य पात्रदानसमतया प्रशंसनेन सम्यक्त्वातीचारसंभवात्। किं पुनरपात्राण्येव साक्षात्प्रशंसतः?, तत्र सुतरां महान् दोषो मिथ्यात्वस्थिरीकरणादिदोषभावादिति। पिं०। व्य०। जीत०। आचा०। स्था०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा ०जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा बहवे समणा माहणा अतिहिकिवणवणीमए पगणिय पगणिय समुद्दिस्स पाणाइं वा० ४ समारब्भ ०जाव नो पडिग्गाहिज्जा ॥ (सू०-७)

स भावभिक्षुर्यावत् गृहपतिकुलं प्रविष्टस्तद्यत् पुनरेवंभूतमशनादि जानीयात्तद्यथा-बहून् श्रमणानुद्दिश्य, ते च पञ्चविधाः-निर्ग्रन्थ-शाक्य-तापस-गैरिका-ऽऽजीविका इति। ब्राह्मणान् भोजनकालोपस्थाय्यपूर्वो वाऽतिथिस्तानिति कृपणा दरिद्रास्तान् वणीमका-वन्दिप्रायास्तानपि श्रमणादीन् बहूनुद्दिश्य प्रगण्य्य प्रगण्य्योद्दिशति, तद्यथा-द्वित्राः श्रमणाः पञ्चषाः ब्राह्मणा इत्यादिना प्रकारेण श्रमणादीन्। परिसंख्यातानुद्दिश्य, तथा प्राण्यादीन् समारभ्य यदशनादि संस्कृतं तदासेवितमनासेवितं वाऽप्रासुकमनेषणीयमाधाकर्म, एवं मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति।

विशोधिकोटिमधिकृत्याऽऽह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा ०जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण जाणिज्जा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा बहवे समणा माहणा अतिथिकिवणवणीमए समुद्दिस्स ०जाव चएइ तं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अपुरिसंतरकडं वा अबहियाणीहडं अणत्तट्ठियं अपरिभुत्तं अणासेवितं अफासुयं अणेसणिज्जं ०जाव णो पडिगाहिज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडं बहियानीहडं अत्तट्ठियं परिभुत्तं आसेवियं फासु एसणिज्जं जाव० पडिगाहिज्जा। (सू०-८)

स भिक्षुर्यत्पुनरशनादि जानीयात्, किंभूतमिति दर्शयति-बहून् श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवणीमकान् समुद्दिश्य श्रमणाद्यर्थमिति यावत्, प्राणादींश्च समारभ्य यावदाहृत्य कश्चिद् गृहस्थो ददाति, तत्तथाप्रकारमशनाद्यपुरुषान्तरकृतमबहिर्निर्गतमनात्मीकृतमपरिभुक्तमनासेवितमप्रासुकमनेषणीयं मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्। इयं च-" जावंतिया भिक्खु " त्ति, एतद्व्यत्ययेन ग्राह्यमाह-अथशब्दः पूर्वापेक्षी, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, अथ स भिक्षुः पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा—पुरुषान्तरकृतम्-अन्यार्थं कृतं बहिर्निर्गतमात्मीकृतं परिभुक्तमासेवितं प्रासुकमेषणीयं च ज्ञात्वा लाभे सति प्रतिगृह्णीयात्, इदमुक्तं भवति—अविशोधिकोटिर्यथा तथा न कल्पते, विशोधिकोटिस्तु पुरुषान्तरकृतात्मीयकृतादिविशिष्टा कल्पत इति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा वणीमगपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६३।

जे भिक्खू वणियपिंडं, भुंजे अहवा वि जो तु सातिज्जा।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १५६ ॥

नि०चू०१३उ०। तर्कुके, प्रश्न०५ संव० द्वार। (वनीपकपिण्डग्रहणनिषेधः 'रायपिंड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५५३ पृष्ठे गतः।)

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं ॥५१॥

दश० ५ अ० १ उ०। (व्याख्यातैषा 'उद्देसिय' शब्दे द्वितीयभागे ८२० पृष्ठे।)

वणे-वणे-अव्य०। निश्चयादिषु.प्रा०।"वणे-निश्चयविकल्पानुकम्प्यसंभावनेषु" ॥८।२।२०६। वणे इति, निश्चयादौ संभावने च प्रयोक्तव्यम्। 'वणे देमि' निश्चयं ददामि। विकल्पे-होइ वणे न होइ। भवति वा न भवति। अनुकम्प्ये-दासो वणे न मुच्चइ। दासोऽनुकम्प्यो वने न त्यज्यते। संभावने-नऽत्थि वणे जं न देइ विहिपरिणामो। संभाव्यते एतदित्यर्थः। प्रा० २ पाद।

वण्ण-वर्ण-पुं०। वर्ण्यंत-प्रकाश्यतेऽर्थो अनेनेति वर्णः। अकारककारादौ. विशे०। आचा०।

वर्णस्वरूपं तत्र वर्णं वर्णयन्ति—

अकारादिः पौद्गलिको वर्ण इति ॥ ६ ॥

रत्ना०४ परि०। आ० म०। प्रश्न०। ('आगम' शब्दे द्वितीयभागे ७१ पृष्ठ व्याख्या गता।) निषादपञ्चमादिषु, दश० २ अ०। सङ्घा०। वर्ण्यंते अलंक्रियते वस्त्वनेनेति वर्णः। अनु०। श्यामादौ पुद्गलपरिणामे, उत्त० ३३ अ०। औ०। दशा०। प्रज्ञा०। स च पञ्चधा-श्वेतपीतरक्तनीलकालभेदात्। प्रव० २७९ द्वार। प्रज्ञा०। औ०।

पंच वण्णा पण्णत्ता, तं जहा-किण्हा नीला लोहिया हालिद्दा सुक्किला (सू० ३९०×) स्था० ५ ठा०।

एगे वण्णे (सूत्र)।

स्था० १ ठा०। उत्त०। भ०। आ० म०। स०। आचा०।

प्राणातिपातादिः कतिवर्णः कतिगन्ध इत्यादि—

रायगिहे ०जाव एवं वयासी-अह भंते ! पाणाइवाए मुसावाए अदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे एस णं कइवण्णे कइगंधे कइरसे कइफासे पण्णत्ते?, गोयमा ! पंचवण्णे पंचरसे दुगंधे चउफासे पण्णत्ते। अह भंते ! कोहे कोवे रोसे दोसे अक्खमे संजलणे कलहे चंडिक्के भंडणे विवादे १० एस णं कइवण्णे ०जाव कइफासे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचवण्णे पंचरसे दुगन्धे चउफासे पण्णत्ते। अह भंते ! माणे मदे दप्पे थंभे गव्वे अणुक्कोसे परपरिवाए उक्कासे अवक्कासे उन्नामे दुन्नामे १२ एस णं कइवण्णे० ४ पण्णत्ते ?, गोयमा ! पंचवण्णे जहा कोहे तहेव। अह भंते ! माया उवही नियडी वलए गहणे णूमे कक्के कुरुए जिम्हे किव्विसे १० आयरणया गूहणया वंचणया पलिउंचणया सातिजोगे य १५ एस णं कइवण्णे ० ४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पण्णत्ते ?, गोयमा ! पंचवन्ने जहेव कोहे । अह भंते ! लोभे इच्छा मुच्छा कंखा गेही तण्हा भिज्झा अभिज्झा आसासणया पत्थणया १०, लालप्पणया कामासा भोगासा जीवियासा मरणासा नंदीरागे १६, एस णं कइवन्ने ४ पन्नत्ते ?, गोयमा ! जहेव कोहे । अह भंते ! पेज्जे दोसे कलहे ०जाव मिच्छादंसणसल्ले एस णं कइवन्ने ! जहेव कोहे तहेव चउफासे । (सू०-४४६)

'रायगिहे' इत्यादि 'पाणाइवाए' त्ति प्राणातिपातजनितं तज्जनकं वा चारित्रमोहनीयं कर्मोपचारात् प्राणातिपात एव, एवमुत्तरत्रापि तस्य च पुद्गलरूपत्वाद्वर्णादयो भवन्तीत्यत उक्तम्-" पंचवण्णे " इत्यादि आह च-" पंचरसपंचवण्णेहि परिणयं दुविहगंधचउफासं । दवियमणंतपएसं, सिद्धेहि अणंतगुणहीणं ॥ १ ॥" इति 'चउफासे' त्ति स्निग्धरूक्षशीतोष्णाख्याश्चत्वारः स्पर्शाः सूक्ष्मपरिणामपरिणतपुद्गलानां भवन्ति, सूक्ष्मपरिणामं च कर्म्मेति । 'कोहे' त्ति क्रोधपरिणामजनकं कर्म, तत्र क्रोध इति सामान्यं नाम कोपादयस्तु तद्विशेषाः, तत्र कोपः क्रोधोदयात् स्वभावाच्चलनमात्रम्, रोषः क्रोधस्यैवानुबन्धो , दोषः आत्मनः परस्य वा दूषणमेतच्च क्रोधकार्यम्, द्वेषो वाऽप्रीतिमात्रम् , अक्षमा-परकृतापराधस्यासहनम्, संज्वलनो-मुहुर्मुहुः क्रोधाऽग्निना ज्वलनम्, कलहो-महता शब्देनान्योन्यमसमञ्जसभाषणम्, एतच्च क्रोधकार्यम्, चाण्डिक्यं-रौद्राकारकरणम् एतदपि क्रोधकार्यमेव, भण्डनं-दण्डादिभिर्युद्धम् एतदपि क्रोधकार्यमेव, विवादो-विप्रतिपत्तिसमुत्थवचनानि, इदमपि तत्कार्यमेवेति क्रोधैकार्थाश्चैते शब्दाः । 'माणेत्ति' मानपरिणामजनकं कर्म्म, तत्र मान इति सामान्यं नाम, मदादयस्तु तद्विशेषास्तत्र मदो-हर्षमात्रं, दर्पो-दृप्तता, स्तम्भो-ऽनम्रता, गर्वः-शौण्डीर्यम्-' अत्तुक्कोसे ' त्तिं आत्मनः परेभ्यः सकाशाद् गुणैरुत्कर्षणमुत्कृष्टताभिधानम्, परपरिवादः-परेषामपवदनं परिपातो वा गुणेभ्यः परिपातनमिति । 'उक्कासे' त्ति । उत्कर्षणमात्मनः परस्य वा मनाक् क्रिययोत्कृष्टताकरणम्, उत्कासनं वा प्रकाशनमभिमानात्स्वकीयसमृद्ध्यादेः 'अवक्कासे, त्ति अपकर्षणमवकर्षणं वा अभिमानादात्मनः परस्य वा क्रियारम्भात् कुतोऽपि व्यावर्त्तनमिति, अप्रकाशो वा अभिमानादेवेति । 'उन्नए' त्ति । उच्छिन्नं नतं पूर्वप्रवृत्तं नमनमभिमानादुन्नतम्, उच्छिन्नो वा नयो नीतिरभिमानादेवोन्नयो नयाभाव इत्यर्थः, 'उन्नामे' त्ति प्रणतस्य मदानुप्रवेशादुन्नमनमुन्नामः । 'दुन्नामे' त्ति मदाद्दुष्टं नमनं दुर्नाम इति । इह च स्तम्भादीनि मानकार्याणि मानवाचकाश्चैते ध्वनय इति, 'माय' त्ति सामान्यमुपध्यादयस्तद्भेदास्तत्र 'उवहि' त्ति उपधीयते येनासावुपधिः वञ्चनीयसमीपगमनहेतुरिति भावः 'नियडि' त्ति नितरां करणं निकृतिरादरकरणेन परवञ्चनं पूर्वकृतमायाप्रच्छादनार्थं वा मायान्तरकरणम् "वलय" त्ति येन भावेन वलयमिव वक्रं वचनं चेष्टा वा प्रवर्तते स भावो वलयम् 'गहणे' त्ति परव्यामोहनाय यद्वचनजालं तद्—गहनमिव गहनम् 'णूमे' त्ति परवञ्चनाय निम्नताया निम्नस्थानस्य वा आश्रयणं तन्नूमन्ति 'कक्क' त्ति कल्कं हिंसादिरूपं पापं तन्निमित्तो यो वञ्चनाभिप्रायः स कल्कमेवोच्यते 'कुरूए' त्ति ' कुत्सितं यथाभवत्येवं रूपयति—विमोहयति यत्तत्कुरूपं भाण्डादिकर्म मायाविशेष एव 'जिम्हे' त्ति येन परवञ्चनाभिप्रायेण जैह्मयं क्रियासु मान्द्यमालम्बते, स भावो जैह्मयमेवेति 'किब्बिसे' त्ति यतो मायाविशेषाज्जन्मान्तरे अत्रैव वा भवे किल्बिषः-किल्बिषिको भवति स किल्बिष एवेति । 'आयरणय' त्ति यतो मायाविशेषादादरणम्—अभ्युपगमं कस्यापि वस्तुनः करोति असावादरणम्, ताप्रत्ययस्य च स्वार्थिकत्वादायरणया आचरणं वा परप्रतारणाय विविधक्रियाणामाचरणम्, 'गूढनया' गूहनं-गोपायनं स्वरूपस्य 'वञ्चणया' वञ्चनं-परस्य प्रतारणम्। 'पलिउंचणया' प्रतिकुञ्चनं सरलतया प्रवृत्तस्य वचनस्य खण्डनम्, 'साइजोगे' त्ति अविश्रम्भसम्बन्धः सातिशयेन वा द्रव्येण निरतिशयस्य योगस्तत्प्रतिरूपकरणमित्यर्थः, मायैकार्था वैते ध्वनय इति 'लोभे' त्ति सामान्यम् इच्छादयस्तद्विशेषाः, तत्रेच्छा-अभिलाषमात्रम् 'मुच्छा कंखा गेहे' त्ति मूर्च्छा-संरक्षणानुबन्धः, काङ्क्षा—अप्राप्तार्थाशंसा 'गेहि' त्ति । गृद्धिः-प्राप्तार्थेष्वासक्तिः । 'तण्ह' त्ति तृष्णा-प्राप्तार्थानामव्ययेच्छा 'भिज्ज' त्ति अभिव्याप्त्या विषयाणां ध्यानम्, तदेकाग्रत्वमभिध्या पिधानादिवद्-अकारलोपाद्भिध्या 'अभिज्झ' त्ति न भिध्या अभिध्या, भिध्यासदृशं भावान्तरम्, तत्र दृढाभिनिवेशा भिध्याध्यानलक्षणत्वात्तस्याः, अदृढाभिनिवेशस्तु अभिध्याचित्तलक्षणत्वात् तस्याः, ध्यानचित्तयोस्त्वयं विशेषः—" जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं " ति ' आसासणय ' त्ति आशासनं मम पुत्रस्य शिष्यस्य वेदमिदं च भूयादित्यादिरूपा आशीः, 'पत्थणय' त्ति प्रार्थनं—परं प्रति इष्टार्थयाञ्चा 'लालप्पणय' त्ति प्रार्थनमेव भृशं लपनतः 'कामास' त्ति शब्दरूपप्राप्तिसंभावना, 'भोगास' त्ति गन्धादिप्राप्तिसम्भावना, 'जीवितास' त्ति जीवितव्यप्राप्तिसम्भावना, 'मरणास' त्ति कस्यांचिदवस्थायां मरणप्राप्तिसम्भावना, इदं च क्वचिन्न दृश्यते 'नन्दिरागे' त्ति समृद्धौ सत्यां रागो-हर्षो नन्दिरागः 'पेज्जे' त्ति प्रेम-पुत्रादिविषयः स्नेहः 'दोसे' त्ति अप्रीतिः, कलहः-इह प्रेमहासादिप्रभवं युद्धं यावत्करणात् 'अब्भक्खाणे पेसुन्ने अरइरईपरपरिवाए मायामोसे' त्ति दृश्यम् ।

अथोक्तानामेवाष्टादशानां प्राणातिपातादिकानां पाप—स्थानानां ये विपर्ययास्तेषां स्वरूपाभिधानायाह—

अह भंते ! पाणाइवायवेरमणे ०जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे०जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे एस णं कइवन्ने ०जाव कइफासे पन्नत्ते ?, गोयमा ! अवण्णे अगंध अरसे अफासे पण्णत्ते । अह भंते ! उप्पत्तिया वेणइया कम्मिया परिणामिया, एस णं कइवण्णा०४ पण्णत्ता, तं चेव०जाव अफासा पन्नत्ता । अह भंते ! उग्गहे ईहा अवाए धारणा एस णं कइवन्ना पन्नत्ता ? एवं चेव०जाव अफासा पन्नत्ता । अह भंते ! उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे एस णं कइवन्ने० ४ पन्नत्ते ?, तं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेव० जाव अफासे पण्णत्ते। सत्तमे णं भंते! उवासंतरे कइवन्ने ४ पण्णत्ते?, एवं चेव ०जाव अफासे पण्णत्ते। सत्तमे णं भंते! तणुवाए कइवन्ने? जहा पाणाइवाए, णवरं अट्ठफासे पण्णत्ते, एवं जहा सत्तमे तणुवाए तहा सत्तमे घणवाए घणोदही पुढवी छट्ठे उवासंतरे अवण्णे तणुवाए० जाव छट्ठी पुढवी एयाइं अट्ठफासाइं एवं जहा सत्तमाए पुढवीए वत्तव्वया भणिया तहा० जाव पढमाए पुढवीए भाणियव्वं। जंबुद्दीवे दीवे ० जाव सयंभुरमणे समुद्दे सोहम्मे कप्पे० जाव ईसिप्पभारा पुढवी णेरइयाऽऽवासा० जाव वेमाणियावासा, एयाणि सव्वाणि अट्ठफासाणि। णेरइया णं भंते! कइवण्णा० जाव कइफासा पण्णत्ता?, गोयमा! वेउव्वियतेयाइं पडुच्च पंचवण्णा दुगन्धा पंचरसा अट्ठफासा पण्णत्ता, कम्मगं पडुच्च पंचवण्णा दुगन्धा पंचरसा चउफासा पण्णत्ता। [सू०-४५० X]

'अहे' त्यादि 'अवण्णे त्ति वधादिविरमणानि जीवोपयोगस्वरूपाणि जीवोपयोगश्चामूर्तोऽमूर्तत्वाच्च तस्य वधादिविरमणानाममूर्तत्वं तस्माच्चावर्णादित्वमिति। जीवस्वरूपविशेषमेवाधिकृत्याह—" उप्पत्तिय " त्ति उत्पत्तिरेव प्रयोजनं यस्याः सा औत्पत्तिकी, ननु क्षयोपशमः प्रयोजनमस्याः? सत्यम्, स खल्वन्तरङ्गत्वात्सर्वबुद्धिसाधारण इति न विवक्ष्यते, न चान्यच्छास्त्रकर्माभ्यासादिकमपेक्षत इति, 'वेणइय' त्ति विनयो—गुरुशुश्रूषा स कारणमस्यास्तत्प्रधाना वा वैनयिकी. 'कम्मय' त्ति अनाचार्यकं कर्म्म,साचार्यकं शिल्पम्, कादाचित्कं वा कर्म्म, शिल्पं तु नित्यव्यापारः, ततश्च कर्म्मणो जाता कर्म्मजा, 'पारिणामिय' त्ति परि—समन्तान्नमनं परिणामः—सुदीर्घकालपूर्वापरार्थावलोकनादिजन्य आत्मधर्म्मः, सः कारणं यस्याः सा पारिणामिकी बुद्धिरिति वाक्यशेषः, इयमपि वर्णादिरहिता जीवधर्मत्वेनामूर्त्तत्वात्। जीवधर्माधिकारादवग्रहादिसूत्रं कर्मादिसूत्रं च, अमूर्त्ताधिकारादवकाशान्तरसूत्रम्, अमूर्त्तत्वविपर्ययात्तनुवातादिसूत्राणि चाह तत्र च 'सत्तमे णं भंते! उवासंतरे' त्ति प्रथमद्वितीयपृथिव्योर्यदन्तराले आकाशखण्डं तत्प्रथमं तदपेक्षया सप्तमं सप्तम्या अधस्तात्तस्योपरिष्टात्सप्तमस्तनुवातस्तस्योपरि सप्तमो घनवातस्तस्याप्युपरि सप्तमो घनोदधिस्तस्याप्युपरि सप्तमी पृथिवी. तनुवातादीनां च पञ्चवर्णादित्वं पौद्गलिकत्वेन मूर्त्तत्वाद्, अष्टस्पर्शत्वं च बादरपरिणामत्वाद्, अष्टौ च स्पर्शाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुकठिनलघुगुरुभेदादिति।

नैरयिकादयः कतिवर्णाः—

णेरइया णं भंते! कइवण्णा० जाव कइफासा पण्णत्ता?, गोयमा! वेउव्वियतेयाइं पडुच्च पंचवण्णा दुगंधा पंचरसा अट्ठफासा पण्णत्ता, कम्मगं पडुच्च पंचवण्णा पंचरसा दुगंधा चउफासा पण्णत्ता, जीवं पडुच्च अवन्ना० जाव अफासा पण्णत्ता, एवं ०जाव थणियकुमारा। पुढवीकाइयपुच्छा, गोयमा! ओरालियतेयगाइं पडुच्च पंचवण्णा ०जाव अट्ठफासा पण्णत्ता, कम्मगं पडुच्च जहा णेरइया णं जीवं पडुच्च तहेव एवं ०जाव चउरिंदिया, णवरं वाउक्काइया ओरालियवेउव्वियतेयगाइं पडुच्च पंचवण्णा ०जाव अट्ठफासा पण्णत्ता, सेसं जहा णेरइयाणं, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा वाउक्काइया। मणुस्साणं पुच्छा, ! ओरालियवेउव्वियआहारगतेयगाइं पडुच्च पंचवण्णा ०जाव अट्ठफासा पण्णत्ता, कम्मगं जीवं च पडुच्च जहा णेरइयाणं, वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया। धम्मत्थिकाए ०जाव पोग्गलत्थिकाए। एए सव्वे अवण्णा णवरं पोग्गलत्थिकाए पंचवण्णे पंचरसे दुगन्धे अट्ठफासे पण्णत्ते, णाणावरणिज्जे ०जाव अंतराइए एयाणि ० जाव चउफासाणि।

जम्बूद्वीपे इत्यत्र यावत्करणाल्लवणसमुद्रादीनि पदानि वाच्यानि 'जाव वेमाणियावासा' इह यावत्करणादसुरकुमारावासादिपरिग्रहः, ते च भवनानि नगराणि विमानानि तिर्यग्लोके तन्नगर्यश्चेति। 'वेउव्वियतेययाइं पडुच्च' त्ति वैक्रियतैजसशरीरे हि बादरपरिणामपुद्गलरूपे ततो बादरत्वात्तयोर्नारकाणामष्टस्पर्शत्वम्, 'कम्मगं पडुच्च' त्ति। कार्मणं हि सूक्ष्मपरिणामपुद्गलरूपमतश्चतुःस्पर्शम् ते च शीतोष्णस्निग्धरूक्षाः 'धम्मत्थिकाए' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्—'अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए आवलिया मुहुत्ते' इत्यादि।

वर्णलेश्यापृच्छा—

कण्हलेस्सा णं भंते! कइवण्णा? पुच्छा, गोयमा! दव्वलेस्सं पडुच्च पंचवण्णा ०जाव अट्ठफासा पण्णत्ता, भावलेस्सं पडुच्च अवण्णा ३ एवं ० जाव सुक्कलेस्सा, सम्मद्दिट्ठी ३ चक्खुदंसणे ४ आभिणिबोहियणाणे ० जाव विभंगणाणे, आहारसण्णा ० जाव परिग्गहसण्णा एयाणि अवण्णाणि ४, ओरालियसरीरे ० जाव तेयगसरीरे एयाणि अट्ठफासाणि, कम्मगसरीरे चउफासे, मणजोगे वयजोगे य चउफासे, कायजोगे अट्ठफासे सागारोवओगे य अणागारोवओगे य अवण्णा। सव्वदव्वा णं भंते! कतिवन्ना? पुच्छा, गोयमा! अत्थेगतिया सव्वदव्वा पंचवन्ना ० जाव अट्ठफासा पण्णत्ता, अत्थेगतिया सव्वदव्वा पंचवन्ना चउफासा पण्णत्ता, अत्थेगतिया सव्वदव्वा एगगंधा एगवण्णा एगरसा दुफासा पण्णत्ता, अत्थेगतिया सव्वदव्वा अवन्ना ० जाव अफासा पन्नत्ता, एवं सव्वपएसा वि सव्वपज्जवा वि, तीयद्धा अवन्ना ० जाव अफासा पण्णत्ता, एवं अणागयद्धा वि, एवं सव्वद्धा वि। (सू०-४५०)

'दव्वलेसं पडुच्च' त्ति। इह द्रव्यलेश्यावर्णः। 'भावलेसं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पडब'त्ति। भावलेश्या अनन्तरः परिणामः, इह च कृष्णलेश्यादीनि परिग्रहसंज्ञावसानानि अवर्णादीनि जीवपरिणामत्वात्, औदारिकादीनि चत्वारि शरीराणि पञ्चवर्णादिविशेषणानि अष्टस्पर्शानि च बादरपरिणामपुद्गलरूपत्वात्, सर्वत्र च चतुःस्पर्शत्वे सूक्ष्मपरिणामः कारणम्, अष्टस्पर्शत्वे च बादरपरिणामः कारणं वाच्यमिति। 'सव्वदव्वे' त्ति सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि 'अत्थेगइया सव्वदव्वा पंचवन्ने' त्यादि बादरपुद्गलद्रव्याणि प्रतीत्योक्तं सर्वद्रव्याणां मध्ये कानिचित्पञ्चवर्णादीनीति भावार्थः। 'चउफासा' इत्येतच्च पुद्गलद्रव्याण्येव सूक्ष्माणि प्रतीत्योक्तम् 'एगगंधे' त्यादि च परमाण्वादिद्रव्याणि प्रतीत्योक्तम्, यदाह परमाणुद्रव्यमाश्रित्य—कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥ इति, स्पर्शद्वयञ्च सूक्ष्मसम्बन्धिनां चतुर्णां स्पर्शानामन्यतरदविरुद्धं भवति, तथाहि—स्निग्धोष्णलक्षणं स्निग्धशीतलक्षणं वा रूक्षशीतलक्षणं रूक्षोष्णलक्षणं वेति, 'अवन्ने' त्यादि च धर्मास्तिकायादिद्रव्याण्याश्रित्योक्तम्, द्रव्याश्रितत्वात्प्रदेशपर्यवाणां द्रव्यसूत्रानन्तरं तत्सूत्रं तत्र च प्रदेशाः—द्रव्यस्य निर्विभागा अंशाः पर्यवास्तु धर्मास्ते चैवं कारणादेवं वाच्याः—'सव्वपएसा णं भंते! कइ वएणा पुच्छा, गोयमा! अत्थेगइया सव्वपएसा पंचवणा ०जाव अट्ठ फासा' इत्यादि एवं च पर्यवसूत्रमपि, इह च मूर्त्तद्रव्याणां प्रदेशाः पर्यवाश्च मूर्त्तद्रव्यवत्पञ्च वर्णादयः, अमूर्त्तद्रव्याणां चामूर्त्तद्रव्यवदवर्णादय इति। अतीताद्धादित्रयं चामूर्त्तत्वादवर्णादिकम्।

वर्णाद्यधिकारादेवेदमाह—

जीवे णं भंते! गब्भं वक्कममाणे कइवन्नं कइगंधं कइरसं कइफासं परिणामं परिणमइ?, गोयमा! पंचवन्नं दुगंधं पंचरसं अट्ठफासं परिणामं परिणमइ। (सू० ४५१)

'जीवे णमि' त्यादि 'परिणामं परिणमइ' त्ति इति स्वरूपं गच्छति कतिवर्णादिना रूपेण परिणामतीत्यर्थः। 'पंचवएण' त्ति गर्भव्युत्क्रमणकाले जीवशरीरस्य पञ्चवर्णादित्वात्—गर्भव्युत्क्रमणकाले जीवपरिणामस्य पञ्चवर्णादित्वमवसेयमिति। भ० १२ श० ५ उ०।

फाणियगुले णं भंते! कतिवन्ने कतिगंधे कतिरसे कतिफासे पएणत्ते?, गोयमा! एत्थ णं दो नया भवंति, तं जहा—निच्छइयनये य, वावहारियनए य, वावहारियनयस्स गोड्डे फाणियगुले, नेच्छइयनयस्स पंचवन्ने दुगंधे पंचरसे अट्ठफासे पएणत्ते। भमरे णं भंते! कतिवन्ने? पुच्छा, गोयमा! एत्थ णं दो नया भवंति, तं जहा—निच्छइयनए य, वावहारियनए य, वावहारियनयस्स कालए भमरे नेच्छइयनयस्स पंचवन्ने ०जाव अट्ठफासे पएणत्ते। सुयपिच्छे णं भंते! कतिवन्ने एवं चेव, नवरं वावहारियनयस्स नीलए सुयपिच्छे, नेच्छइयनयस्स पंचवन्ने। सेसं तं चेव, एवं एएणं अभिलावेणं लोहिया मंजिट्ठिया पीतिया हालिद्दा सुक्किल्लए संखे सुब्भिगंधे कोट्ठे दुब्भिगंधे मयगसरीरे तित्ते निंबे कडुया सुंठी कसाए कविट्ठे अंबा अंबिलिया महुरे खंडे कक्खडे वइरे मउए नवणीए गरुए अए लहुए उलुयपत्ते सीए हिमे उसिणे अगणिकाए णिद्धे तेल्ले, छारिया णं भंते! पुच्छा, गोयमा! एत्थ दो नया भवंति, तं जहा—निच्छइयनए य वावहारियनए य, ववहारियनयस्स लुक्खा छारिया नेच्छइयनयस्स पंच वन्ना०जाव अट्ठ फासा पन्नत्ता। (सूत्र०-६३०)

'फाणिए' त्यादि 'फाणियगुलेणं' ति द्रवगुडः 'गोड्डे' त्ति गौल्यं—गौल्यरसोपेतं मधुररसोपेतमिति यावत्, व्यवहारो हि लोकसंव्यवहारपरत्वात् तदेव तत्राभ्युपगच्छति शेषरसवर्णादींस्तु सतोऽप्युपेक्षत इति, 'निच्छइयनयस्स' त्ति नैश्चयिकनयस्य मतेन पञ्चवर्णादिपरमाणूनां तत्र विद्यमानत्वात् पञ्चवर्णादिरिति।

परमाणुपोग्गले णं भंते! कतिवन्ने ० जाव कतिफासे पन्नत्ते?, गोयमा! एगवन्ने एगगंधे एगरसे दुफासे पन्नत्ते। दुपएसिए णं भंते! खंधे कतिवन्ने पुच्छा, गोयमा! सिय एगवन्ने सिय दुवन्ने सिय एगगंधे सिय दुगंधे सिय एगरसे सिय दुरसे सिय दुफासे सिय तिफासे सिय-चउफासे पन्नत्ते, एवं तिपएसिए वि, नवरं सिय एगवन्ने सिय दुवन्ने सिय तिवन्ने, एवं रसेसु वि, सेसं जहा दुपएसियस्स, एवं चउपएसिए वि नवरं सिय एगवन्ने ०जाव सिय चउवन्ने, एवं रसेसु वि सेसं तं चेव, एवं पंचपएसिए वि, नवरं सिय एगवन्ने ०जाव सिय पंचवन्ने, एवं रसेसु वि गंधफासा तहेव, जहा पंचपएसिओ एवं ० जाव असंखेज्जपएसिओ। सुहुमपरिणए णं भंते! अणंतपएसिए खंधे कतिवन्ने जहा पंचपएसिए तहेव निरवसेसं। बादरपरिणए णं भंते! अणंतपएसिए खंधे कतिवन्ने पुच्छा, गोयमा! सिय एगवन्ने ०जाव सिय पंचवन्ने सिय एगगंधे सिय दुगंधे सिय एगरसे०जाव सिय पंचरसे सिय चउफासे० जाव सिय अट्ठफासे पएणत्ते। सेवं भंते! भंते! त्ति। [सू०-६३१]

'परमाणुपोग्गले णं' मित्यादि, इह च वर्णगन्धरसेषु पञ्च द्वौ पञ्च च विकल्पाः 'दुफासे' त्ति स्निग्धरूक्षशीतोष्णस्पर्शानामन्यतराविरुद्धस्पर्शद्वययुक्त इत्यर्थः, इह च चत्वारो विकल्पाः शीतस्निग्धयोः शीतरूक्षयोः उष्णस्निग्धयोः उष्णरूक्षयोश्च सम्बन्धादीति। 'दुपएसिए णं मि' त्यादि, 'सिय एगवन्ने' त्ति द्वयोरपि प्रदेशयोरेकवर्णत्वात्, इह च पञ्च विकल्पाः, 'सिय दुवन्ने' त्ति प्रतिप्रदेशं वर्णान्तरभावात्, इह च दश विकल्पाः, एवं गन्धादिष्वपि, 'सिय दुफासे' त्ति प्रदेशद्वयस्यापि शीतस्निग्धत्वादिभावात्, इहापि त एव चत्वारो विकल्पाः, 'सिय तिफासे' त्ति इह चत्वारो विकल्पास्तत्र प्रदेशद्वयस्यापि शीतभावात्, एकस्य च तत्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्निधभावात्, द्वितीयस्य च रूक्षभावादेकः, 'एवम्'-अनेनैव न्यायेन प्रदेशद्वयस्योष्णभावाद् द्वितीयः, तथा प्रदेशद्वयस्यापि स्निग्धभावात्, तत्र चैकस्य शीतभावादकस्य चोष्णभावात्तृतीयः, एवम्-अनेनैव न्यायेन प्रदेशद्वयस्य रूक्षभावाच्चतुर्थ इति, 'सिय चउफासे' त्ति इह 'देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे' त्ति वक्ष्यमाणवचनादेकः, एवं त्रिप्रदेशादिष्वपि स्वयमभ्यूह्यम्। 'सुहुमपरिणए ण मि-त्यादि अनन्तप्रदेशिको बादरपरिणामोऽपि स्कन्धो भवति द्व्यणुकादिस्तु सूक्ष्मपरिणाम एवेत्यनन्तप्रदेशिकस्कन्धः सूक्ष्मपरिणामत्वेन विशेषितस्तत्राद्याश्चत्वारः स्पर्शाः सूक्ष्मेषु बादरेषु चानन्तप्रदेशिकस्कन्धेषु भवन्ति, मृदुकठिनगुरुलघुस्पर्शास्तु बादरेष्वेवेति। भ० १८ श० ६ उ०। एभा-वणा वएणो भएणति तं करेति तित्थस्स, तित्थं चउवएणो समणसंघो दुवालसंगं वा गणिपिडगं। नि० चू० १ उ०। (वर्णोच्चारणे लघुत्वगुरुत्वादिविचारः तत्प्रतिपादिका प्रणिधाने त्रिकवर्णसंख्याख्यापनाय गीतिगाथा 'चइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १३२१ पृष्ठ गता।) तद्व्याख्या चेयम्-क्रमा-द्यथाक्रमम् एषु नमस्कार१ क्षमाश्रमणे२ र्यापथिकी३ शक्रस्तव ४ चैत्यस्तव ५ नामस्तव ६ श्रुतस्तव ७, सिद्धस्तव ८ प्रणिधानेषु ९ नवसु स्थानेषु गुरुवर्णा ज्ञातव्या इति शेषः। 'कियन्त' इत्याह-सप्त १ त्रयः २ चतुर्विंशतिः३ त्रयस्त्रिंशत्४ एकोनत्रिंशत्५ अष्टाविंशतिः ६ चतुस्त्रिंशत् ७ एकोनत्रिंशत् ८, द्वात्रिंशत् ९, गुरवो द्विगुणितरूपा न तु संयोगे पूर्वो गुरुरित्यादिलक्षणलक्षिता वर्णा-अक्षराणि। सङ्घा०१ अधि०३ प्रस्ता०।

परमाणुपुद्गलः कतिवर्णः—

परमाणुपोग्गले णं भंते! कतिवन्ने कतिगंधे कतिरसे कतिफासे पन्नत्ते?, गोयमा! एगवन्ने एगगंधे एगरसे दुफासे पन्नत्ते, तं जहा-जइ एगवन्ने सिय कालए सिय नीलए सिय लोहिए सिय हालिद्दे सिय सुक्किले, जइ एगगंधे सिय सुब्भिगंधे सिय दुब्भिगंधे, जइ एगरसे सिय तित्ते सिय कडुए सिय कसाए सिय अंबिले सिय महुरे, जइ दुफासे सिय सीए य निद्धे य १ सिय सीये य लुक्खे य२ सिय उसिणे य निद्धे य ३सिय उसिणे य लुक्खे य ४। दुपएसिए णं भंते! खंधे कतिवन्ने? एवं जहा अट्ठारसमसए छट्ठुद्देसए० जाव सिय चउफासे पन्नत्ते, जइ एगवन्ने सिय कालए० जाव सिय सुक्किल्लए जइ दुवन्ने सिय कालए नीलए य १ सिय कालए य लोहिए य २ सिय कालए य हालिद्दए य ३ सिय कालए य सुक्किल्लए य ४ सिय नीलए य लोहिए य ५ सिय नीलए य हालिद्दए य ६ सिय नीलए य सुक्किल्लए य ७ सिय लोहिए य हालिद्दए ८ सिय लोहिए य सुक्किल्लए य ९ सिय हालिद्दए य सुक्किल्लए य १० एवं एए दुयासंजोगे दस भंगा। जइ एगगंधे सिय सुब्भिगंधे सिय १दुब्भिगंधे य २जइ दुगंधे सुब्भिगंधे य दुब्भिगंधे य, रसेसु जहा वन्नेसु जइ दुफासे सिय सीए य निद्धे य एवं जहेव परमाणुपोग्गले ४, जइ तिफासे सव्वे सीए देसे निद्धे देसे लुक्खे १ सव्वे उसिणे देसे निद्धे लुक्खे २ सव्वे निद्धे देसे सीए देसे उसिणे ३ सव्वे लुक्खे देसे सीए देसे उसिणे ४ जइ चउफासे देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे १ एए नव भंगा फासेसु। तिपएसिए णं भंते! खंधे कतिवन्ने जहा अट्ठारसमसए छट्ठुद्देसे ०जाव चउफासे पन्नत्ते, जइ एगवन्ने सिय कालए० जाव सुक्किल्लए ५ जइ दुवन्ने सिय कालए य सिय नीलगे य १ सिय कालगे नीलगा य २ सिय कालगा य नीलए य ३ सिय कालए य लोहियए य १ सिय कालए य लोहियगा य २ सिय कालगा य लोहिए य ३ एवं हालिद्दएण वि समं भंगा ३ एवं सुक्किल्लएण वि समं ३ सिय नीलए य लोहियए य एत्थं पि भंगा ३ एवं हालिद्दएण वि समं भंगा ३ एवं सुक्किल्लेण वि समं भंगा ३ सिय लोहियए य हालिद्दए य भङ्गा ३ एवं सुक्किल्लेण वि समं ३ सिय हालिद्दए य सुक्किल्लए य भंगा ३ एवं सव्वे ते दस दुयासंजोगा भंगा तीसं भवंति, जइ तिवन्ने सिय कालए य नीलए य लोहियए य १ सिय कालए य नीलए य हालिद्दए य २ सिय कालए य नीलए य सुक्किल्लए य ३ सिय कालए य लोहियए य हालिद्दए य ४ सिय कालए य लोहियए य सुक्किल्लए य ५ सिय कालए य हालिद्दए य सुक्किल्लए य ६ सिय नीलए य लोहियए य हालिद्दए य ७ सिय नीलए य लोहिए य सुक्किल्लए य ८ सिय नीलए य हालिद्दए य सुक्किल्लए य ९ सिय लोहिए य हालिद्दए य सुक्किल्लए य १० एवं एए दस तियासंजोगा। जइ एगगंधे सिय सुब्भिगंधे १ सिय दुब्भिगंधे२ जइ दुगंधे सिय सुब्भिगंधे य दुब्भिगंधे य भंगा ३। रसा जहा वन्ना। जइ दुफासे सिय सीए य निद्धे य एवं जहेव दुपएसियस्स तहेव चत्तारि भंगा ४, जइ तिफासे सव्वे सीए देसे निद्धे देसे लुक्खे १ सव्वे सीए देसे निद्धे देसा लुक्खा २ सव्वे सीए देसा निद्धा देसे लुक्खे ३ सव्वे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे ३ एत्थ वि भंगा तिन्नि, सव्वे निद्धे देसे सीए देसे उसिणे भंगा तिन्नि ९. सव्वे लुक्खे देसे सीए देसे उसिणे भंगा तिन्नि एवं १२, जइ चउफासे देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे १ देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसा लुक्खा २ देसे सीए देसे उसिणे देसा निद्धा देसे लुक्खे ३ देसे सीए देसा उसिणा देसे निद्धे देसे लुक्खे ४ देसे सीए देसा उसिणा देसे निद्धे देसा लुक्खा ५ देसे सीए देसा उसिणा देसा निद्धा देसे लुक्खे ६ देसा सीया देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे ७ देसा सीया देसे उसिणे देसे निद्धे देसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लुक्खा ८ देसा सीया देसे उसिणे देसा निद्धा देसे लुक्खे ६ एवं एए तिपएसिए फासेसु पणवीसं भंगा । चउपएसिए णं भंते ! खंधे कतिवन्ने जहा अट्ठारसमसए० जाव सिय चउफासे पन्नत्ते, जइ एगवन्ने सिय कालए य० जाव सुक्किल्लए य ५ जइ दुवन्ने सिय कालए य नीलगे य १ सिय कालगे य नीलगा य २ सिय कालगा य नीलगे य ३सिय कालगा य नीलगा य ४ सिय कालए य लोहियए य एत्थ वि चत्तारि भंगा४ सिय कालए य हालिद्दए य ४ सिय कालए य सुक्किल्लए य४सिय नीलए य लोहियए य ४ सिय नीलए य हालिद्दए य ४ सिय नीलए य सुक्किल्लए य ४ सिय लोहियए य ४ हालिद्दए य ४ सिय लोहियए य सुक्किलए य ४ सिय लोहियए य हालिद्दए य ४ सिय लोहियए य सुक्किलए य ४ सिय हालिद्दए य सुक्किलए य ४ एवं एए दस दुयासंजोगा भंगा पुण चत्तालीसं ४०, जइ तिवन्ने सिय कालए य नीलए य लोहियए य १ सिय कालए नीलए लोहियगा य २ सिय कालगा य नीलगा य लोहियए य ३ सिय कालगा य नीलए य लोहियए य, एए भंगा ४ एवं कालनीलहालिद्दएहिं भंगा ४ कालनीलसुक्किल्ल४काललोहियहालिद्द ४ काललोहियसुक्किल्ल ४ कालहालिद्दसुक्किल्ल ४ नीललोहियहालिद्दगाणं भंगा ४ नीललोहियसुक्किल ४ नीलहालिद्दसुक्किल्ल४लोहियहालिद्दसुक्किल्लगाणं भंगा४ एवं एए दस तियासंजोगा एक्केक्के संजोए चत्तारि भंगा सव्वे ते चत्तालीसं भंगा ४०, जइ चउवन्ने सिय कालए नील० लोहियहालिद्दए य १ सिय काल० नील लोहि० सुक्किल्लए २ सिय का० नील० हालि० सुक्किल्ल ३ सिय का० लो० हा० सुक्कि० ४ सिय नी० लोहि० हा० सु० ५ एवमेते चउक्कगसंजोए पंच भंगा, एए सव्वे नउइभंगा । जइ एगगंधे सिय सुब्भिगंधे सिय दुब्भिगंधे य, जइ दुगंधे सिय सुब्भिगंधे य सिय दुब्भिगंधे य । रसा जहा वन्ना । जइ दुफासे जहेव परमाणुपोग्गले ४, जइ तिफासे सव्वे सीए देसे निद्धे देसे लुक्खे १ सव्वे सीए देसे निद्धे देसा लुक्खा २ सव्वे सीए देसा निद्धा देसे लुक्खे ३ सव्वे सीए देसा निद्धा देसा लुक्खा ४ सव्वे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे एवं भंगा ४ सव्वे निद्धे देसे सीए देसे उसिणे ४ सव्वे लुक्खे देसे सीए देसे उसिणे ४ एए तिफासे सोलस भंगा । जइ चउफासे देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे १ देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसा लुक्खा २ देसे सीए देसे उसिणे देसा निद्धा देसे लुक्खे ३ देसे सीए देसे उसिणे देसा निद्धा देसा लुक्खा ४ देसे सीए देसा उसिणा देसे निद्धे देसे लुक्खे ५ देसे सीए देसा उसिणा देसे निद्धे देसा लुक्खा ६ देसे सीए देसा उसिणा देसा निद्धा देसे लुक्खे ७ देसे सीए देसा उसिणा देसा निद्धा देसा लुक्खा ८ देसा सीया देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे ९ एवं एए चउफासे सोलस भंगा भाणियव्वा ०जाव देसा सीया देसा उसिणा देसा निद्धा देसा लुक्खा सव्वे एते फासेसु छत्तीसं भंगा ॥ पंचपएसिए णं भंते ! खंधे कतिवन्ने जहा अट्ठारसमसए० जाव सिय चउफासे पन्नत्ते, जइ एगवन्ने एगवन्नदुवन्ना जहेव चउप्पएसिए,जइ तिवन्ने सिय का ०नीलए लोहियए य १ सिय काल ०नीलए लोहिया य २ सिय काल ०नीलगा य ३ लोहिए य ३ सिय कालए नीलगा य लोहियगा य ४ सिय काल०नीलए य लोहियए य ५ सिय कालगा य नीलगे य लोहियगा य ६ सिय कालगा य नीलगा य लोहियए ७ सिय कालए नीलए हालिद्दए य एत्थ वि सत्त भंगा ७, एवं कालगनीलगसुक्किलएसु सत्त भंगा, कालगलोहियहालिद्देसु ७ कालगलोहियसुक्किल्लेसु ७ कालगहालिद्दसुक्किल्लेसु ७ नीलगलोहियहालिद्देसु ७ नीलगलोहियसुक्किल्लेसु सत्त भंगा ७ नीलगहालिद्दसुक्किलेसु ७ लोहियहालिद्दसुक्किल्लेसु वि सत्त भंगा ७ एवमेते तियासंजोए एए सत्तरि ७० भंगा, जइ चउवन्ने सिय कालए य नीलए लोहियए हालिद्दए य १ सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दगा य २ सिय कालए य नीलए य लोहियगा य हालिद्दगे य ३ सिय कालए य नीलगा य लोहियगे य हालिद्दगे य ४ सिय कालगा य नीलए य लोहियए य हालिद्दए य ५ एए पंच भंगा, सिय कालए य नीलए य लोहियए य सुक्किल्लए य एत्थ वि पंच भंगा, एवं कालगनीलगहालिद्दसुक्किल्लेसु वि पंच भंगा, कालगलोहियहालिद्दसुक्किल्लएसु वि पंच भंगा ५, नीलगलोहियहालिद्दसुक्किल्लेसु वि पंच भंगा, एवमेते चउक्कगसंजोएणं पणवीसं भंगा, जइ पंचवन्ने कालए य नीलए लोहियए हालिद्दए सुक्किल्लए सव्वमेते एक्कगदुयगतियगचउक्कपंचयसंजोएणं ईयालं भंगसयं भवति । गंधा जहा चउप्पएसियस्स । रसा जहा वन्ना । फासा जहा चउप्पएसियस्स ॥ छप्पएसिए णं भंते ! खंधे कतिवन्ने ? एवं जहा पंचपएसिए ०जाव सिय चउफासे पन्नत्ते, जइ एगवन्ने एगवन्नदुवन्ना जहा पंचपएसियस्स, जइ तिवन्ने सिय कालए य नीलए य लोहियए य एवं जहेव पंचपएसियस्स सत्त भंगा ०जाव सिय कालगा य नीलगा य लोहियए य ७ सिय कालगा य नीलगा य लोहियगा य ८ एए अट्ठभङ्गा एवमेते दस तियासंजोगा एक्केक्कए संजोगे अट्ठ भंगा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं सव्वे वि तियगसंजोगे असीति भंगा, जइ चउवन्ने सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दए य १ सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दया य २ सिय कालए य नीलए य लोहिया य हालिद्दए य ३ सिय कालगे य नीलगे य लोहियगा य हालिद्दए य ४ सिय कालगे य नीलगा य लोहियए य हालिद्दए य ५ सिय कालए य नीलगा य लोहियए य हालिद्दगा य ६ सिय कालगे य नीलगा य लोहियगा य हालिद्दए य ७ सिय कालगा य नीलए य लोहियए य हालिद्दए य ८ सिय कालगा य नीलए य लोहियए य हालिद्दगा य ९ सिय कालगा य नीलगे य लोहियगा य हालिद्दगे य १० सिय कालगा य नीलगा य लोहियए य हालिद्दए य ११ एए एक्कारस भंगा । एवमेते पंचचउक्का संजोगा कायव्वा । एक्केक्कसंजोए एक्कारस भंगा । सव्वे ते चउक्कगसंजोएणं पणपन्नं भंगा । जइ पंचवन्ने सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दए य सुक्किल्लए य १ सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दए य सुक्किल्लगा य २ सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दगा य सुक्किल्लए य ३ सिय कालए य नीलए य लोहियगा य हालिद्दए य सुक्किल्लए य ४ सिय कालए य नीलगा य लोहियए य हालिद्दए य सुक्किल्लए य ५ सिय कालगा य नीलगे य लोहियगे य हालिद्दए य सुक्किल्लए य ६ एवं एए छब्भंगा भाणियव्वा । एवमेते सव्वे वि एक्कगदुयगतियगचउक्कगपंचगसंजोगेसु छासीयं भंगसयं भवति । गंधा जहा पंचपएसियस्स । रसा जहा एयस्सेव वन्ना । फासा जहा चउप्पएसियस्स । सत्तपएसिए णं भंते ! खंधे कतिवन्ने० ?, जहा पंचपएसिए ०जाव सिय चउफासे प०, जइ एगवन्ने–एवं एगवन्नदुवन्नतिवन्ना जहा छप्पएसियस्स, जइ चउवन्ने सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दए य १ सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दगा य २ सिय कालए य नीलए य लोहियगा य हालिद्दए य ३ एवमेते चउक्कगसंजोगेणं पन्नरस भंगा भाणियव्वा ०जाव सिय कालगा य नीलगा य लोहियगा य हालिद्दए य १५ एवमेते पंचचउक्कसंजोगा नेयव्वा, एक्केक्के संजोए पन्नरस भंगा । सव्वमेते पंचसत्तरि भंगा भवन्ति । जइ पंचवन्ने-सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दए य सुक्किल्लए य १ सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दगे य सुक्किल्लगा य २ सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दगा य सुक्किल्लए य ३ सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दगा य सुक्किल्लगा य ४ सिय कालए य नीलए य लोहियगा य हालिद्दए य सुक्किल्लए य ५ सिय कालए य नीलए य लोहियगा य हालिद्दगे य सुक्किल्लए य ६ सिय कालए य नीलए य लोहियगा य हालिद्दगा य सुक्किल्लए य ७ सिय कालए य नीलगा य लोहियगे य हालिद्दए य सुक्किल्लए य ८ सिय कालगे य नीलगा य लोहियए य हालिद्दए य सुक्किल्लगा य ९ सिय कालगे य नीलगा य लोहियगे य हालिद्दगा य सुक्किल्लए य १० सिय कालए य नीलगा य लोहियगा य हालिद्दए य सुक्किल्लए य ११ सिय कालगा य नीलगे य लोहियए य हालिद्दए य सुक्किल्लए य १२ सिय कालगा य नीलगे य लोहियगे य हालिद्दए य सुक्किलगा य १३ सिय कालगा य नीलए य लोहियए य हालिद्दगा य सुक्किल्लए य १४ सिय कालगा य नीलगा य लोहियगा य हालिद्दए य सुक्किलए य १५ सिय कालगा य नीलगा य लोहियए य हालिद्दए य सुक्किल्लए य १६ एए सोलस भंगा । एवं सव्वमेते एक्कदुयगतियगचउक्कगपंचगसंजोगेणं दो सोलस भंगसया भवंति । गंधा जहा चउप्पएसियस्स, रसा जहा एयस्स चेव वन्ना, फासा जहा चउप्पएसियस्स ॥ अट्ठपएसियस्स णं भंते ! खंधे पुच्छा, गोयमा ! सिय एगवन्ने जहा सत्तपएसियस्स ०जाव सिय चउफासे पन्नत्ते, जइ एगवन्ने एवं एगवन्नदुवन्नतिवन्ना जहेव सत्तपएसिए, जइ चउवन्ने–सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दए य १ सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दगा य २ एवं जहेव सत्तपएसिए ०जाव सिय कालगा य नीलगा य लोहियगा य हालिद्दगे य १५ सिय कालगा य नीलगा य लोहियगा य हालिद्दगा य १६ एए सोलस भंगा, एवमेते पंचचउक्कसंजोगा, एवमेते असीति ८०, भंगा जइ पंचवन्ने–सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दए य सुक्किल्लए य १ सिय कालए य नीलगे य लोहियगे य हालिद्दगे य सुक्किल्लगा य २ एवं एएणं कमेणं भंगा उच्चारेयव्वा ०जाव सिय कालए य नीलगा य लोहियगा य हालिद्दगा य सुक्किल्लगे य १५ एसो पन्नरसमो भंगो सिय कालगा य नीलगे य लोहियगे य हालिद्दए य सुक्किल्लए य १६ सिय कालगा य नीलगे य लोहियगे य हालिद्दगे य सुक्किल्लगा य १७ सिय कालगा य नीलगे य लोहियगे य हालिद्दगा य सुक्किल्लए य १८ सिय कालगा य नीलगे य लोहियगे य हालिद्दगा य सुक्किल्लगा य १९ सिय कालगा य नीलगे य लोहियगा य हालिद्दए य सुक्किल्लए य २० सिय कालगा य नीलगे य लोहियगा य हालिद्दए य सुक्कि–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ल्लगा य २१ सिय कालगा य नीलगे य लोहियगा य हालिद्दगा य सुक्किल्लए य २२ सिय कालगा य नीलगा य लोहियगे य हालिद्दए य सुक्किल्लए य २३ सिय कालगा य नीलगा य लोहियगे य हालिद्दए य सुक्किल्लगा य २४ सिय कालगा य नीलगा य लोहियगे य हालिद्दगा य सुक्किल्लए य २५ सिय कालगा य नीलगा य लोहियगा य हालिद्दए य सुक्किल्लए य २६ एए पंचसंजोएणं छव्वीसं २६ भंगा भवंति, एवामेव सपुव्वावरेणं एक्कगदुयगतियगचउक्कगपंचगसंजोएहिं दो एक्कतीसं भंगसयं भवंति, गंधा जहा सत्तपएसियस्स, रसा जहा एयस्स चेव वन्ना, फासा जहा चउप्पएसियस्स । नवपएसियस्स पुच्छा, गोयमा ! सिय एगवन्ने जहा अट्ठपएसिए० जाव सिय चउफासा पन्नत्ता, जइ एगवन्ने-एगवन्नदुन्नतिवन्नचउवन्ना जहेव अट्ठपएसियस्स, जइ पंचवन्ने सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दए य सुक्किल्लए य १ सिय कालगे य नीलगे य लोहियए य हालिद्दए य सुक्किल्लगा य २ एवं परिवाडीए एक्कतीसं भंगा भाणियव्वा, एवं एक्कगदुयगतियगचउक्कगपंचगसंजोएहिं दो छत्तीसं भंगसया भवंति, गंधा जहा अट्ठपएसियस्स, रसा जहा एयस्स चेव वन्ना, फासा जहा चउपएसियस्स । दसपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा, गोयमा ! सिय एगवन्ने-जहा नवपएसिए ०जाव सिय चउफासे पन्नत्ते, जइ एगवन्ने एगवन्नदुवन्नतिवन्नचउवन्ना जहेव नवपएसियस्स, पंचवन्ने वि तहेव नवरं बत्तीसतिमो भंगो भन्नति, एवमेते एक्कगदुयगतियगचउक्कगपंचगसंजोगेसु दोन्नि सत्ततीसा भंगसया भवंति, गंधा जहा नवपएसियस्स, रसा जहा एयस्स चेव वन्ना, फासा ०जाव चउप्पएसियस्स । जहा दसपएसिओ एवं संखेज्जपएसिओ वि, एवं असंखेज्जपएसिओ सुहुमपरिणओ वि अणंतपएसिओ वि एवं चेव ॥ (सू०-६६८)

'परमाणु' इत्यादि, 'एगवन्ने' त्ति कालादिवर्णानामन्यतरयोगात्, एवं गन्धादिष्वपि वाच्यम्, 'दुफासे' त्ति शीतोष्णस्निग्धरूक्षाणामन्यतरस्याविरुद्धस्य द्वितयस्य योगाद् द्विस्पर्शः, तत्र च विकल्पाश्चत्वारः, शीतस्य स्निग्धेन रूक्षेण च क्रमेण योगाद् द्वौ, एवमुष्णस्यापि द्वाविति चत्वारः, शेषास्तु स्पर्शा बादराणामेव भवन्ति ॥ 'दुपएसिए णं' मित्यादि, द्विप्रदेशिकस्यैकवर्णता प्रदेशद्वयस्याप्येकवर्णपरिणामात्, तत्र च कालादिभेदेन पञ्च विकल्पाः, द्विवर्णता तु प्रतिप्रदेशं वर्णभेदात्, तत्र च द्विकसंयोगजाता दश विकल्पाः सूत्रसिद्धा एव, एवं गन्धरसेष्वपि, नवरं गन्धे एकत्वे द्वौ द्विकसंयोगे त्वेकः, रसेष्वेकत्वे पञ्च द्वित्वे तु दश, स्पर्शेषु द्विस्पर्शतायां चत्वारः प्रागुक्ताः, 'जइ तिफासे' इत्यादि 'सव्वेसीए' त्ति प्रदेशद्वयमपि शीतम् १, तस्यैव द्वयस्य देश एक इत्यर्थः स्निग्धः २ देशश्च रूक्षः ३ इत्येको भङ्गकः, एवमन्येऽपि त्रयः सूत्रसिद्धा एव, चतुःस्पर्शे त्वेक एव, एवं चैते स्पर्शभङ्गा सर्वेऽपि मीलिता नव ९ भवन्तीति ॥ 'तिपएसिए' इत्यादि, 'सिय कालए' त्ति त्रयाणामपि प्रदेशानां कालत्वादित्वनेकवर्णत्वे पञ्च विकल्पाः, द्विवर्णतायां चैकः प्रदेशः कालः, प्रदेशद्वयं तु तथाविधैकप्रदेशावगाहादिकारणमपेक्ष्यैकत्वेन विवक्षितमिति स्यान्नील इत्येको भङ्गः, अथवा-स्यात्कालस्तथैव प्रदेशद्वयं तु भिन्नप्रदेशावगाहादिना कारणेन भेदेन विवक्षितमतो नीलकाविति व्यपदिष्टमिति द्वितीयः, अथवा-द्वौ तथैव कालकाविन्युक्तौ एकस्तु नीलक इत्येवं तृतीयः, तदेवमेकत्र द्विकसंयोगे त्रयाणां भावाद्दशसु द्विकयोगेषु त्रिंशद्भङ्गा भवन्ति । एते च सूत्रसिद्धा एवेति, त्रिवर्णतायां त्वेकवचनस्यैव सम्भवाद्दश त्रिकसंयोगा भवन्तीति, गन्धे त्वेकगन्धत्वे द्वौ द्विगन्धतायां त्वेकत्वानेकत्वाभ्यां पूर्ववत्त्रयः, 'जइ दुफासे' इत्यादि समुदितस्य प्रदेशत्रयस्य द्विस्पर्शतायां द्विकप्रदेशिकवच्चत्वारः, त्रिस्पर्शतायां तु सर्वः शीतः प्रदेशत्रयस्यापि शीतत्वात् देशश्च स्निग्धः एकप्रदेशात्मको देशश्च रूक्षो द्विप्रदेशात्मको द्वयोरपि तयोरेकप्रदेशावगाहनादिना एकत्वेन विवक्षितत्वात् । एवं सर्वत्रेत्येको भङ्गः १, तृतीयपदस्यानेकवचनान्तत्वे द्वितीयपदस्यानेकवचनान्तत्वे तृतीयः, तदेवं सर्वशीतेन त्रयो भङ्गाः ३ एवं सर्वोष्णेनापि३एवं सर्वस्निग्धेनापि ३ एवं सर्वरूक्षेणापि३ तदेवमेते द्वादश१२, चतुःस्पर्शतायां तु'देसे सीए' इत्यादि, एकवचनान्तपदचतुष्टये आद्यः । स्थापना चेयम्- 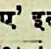 अन्त्यपदस्यानेकवचनान्तत्वे तु द्वितीयः, स चैवम्—द्वयरूपो देशः शीत एकरूपस्तूष्णः पुनः शीतयोरेकः स्निग्धः द्वितीयश्चोष्णः, एतौ रूक्षाविति रूक्षपदेऽनेकवचनम्, तृतीयस्त्वनेकवचनान्ततृतीयपदः, स चैवम्—एकरूपो देशः शीतो द्विरूपस्तूष्णः, तथा यः शीतो यश्चोष्णयोरेकस्तौ स्निग्धौ इत्येवं स्निग्धपदेऽनेकवचनं यश्चैक उष्णः स रूक्ष इति, चतुर्थस्त्वनेकवचनान्तद्वितीयपदः, स चैवम्-स्निग्धरूपस्य द्वयस्यैकः शीतो यश्च तस्यैव द्वितीयोऽन्यश्चैको रूक्षः एतावुष्णावित्युष्णपदेऽनेकवचनम्, स्निग्धे तु द्वयोरेकप्रदेशाश्रितत्वादेकवचनं रूक्षे त्वेकत्वादेवेति, पञ्चमस्तु द्वितीयचतुर्थपदयोरनेकवचनान्ततया, स चैवम्—एकः शीतः स्निग्धश्च अन्यौ च पृथग् व्यवस्थितावुष्णौ चेत्युष्णरूक्षयोरनेकवचनम्, षष्ठस्तु द्वितीयतृतीयपदयोरनेकवचनान्तत्वे, स चैवम्—एकः शीतो रूक्षश्च अन्यौ च पृथग्व्यवस्थितावुष्णौ स्निग्धौ चेत्युष्णस्निग्धयोरनेकवचनम्, सप्तमस्त्वनेकवचनान्ताद्यपदः, स चैवम्—स्निग्धरूपस्य द्वयस्यैकोऽन्यश्चैक एतौ द्वौ शीतावित्यनेकवचनान्तत्वमाद्यस्य, अष्टमः पुनरनेकवचनान्तादिमान्तिमपदः, स चैवम्-पृथक्स्थितयोः शीतत्वरूक्षत्वे चैकस्य चोष्णत्वे स्निग्धत्वे च, नवमस्त्वनेकवचनान्तत्वे आद्यतृतीययोः, स चैवं द्वयोर्भिन्नदेशस्थयोः शीतत्वे स्निग्धत्वे च एकस्य चोष्णरूक्षत्वे चेति, 'पणवीसं भंग' त्ति. द्वित्रिचतुःस्पर्शसम्बन्धिनां चतुर्द्वादशनवानां मीलनात् पञ्चविंशतिर्भङ्गा भवन्ति । 'चउपएसिए णं' मित्यादि' सिय कालए य नीलए य' त्ति द्वौ द्वावेकपरिणामपरिणताविति कृत्वा स्यात्कालको नीलकश्चेति प्रथमः, अन्त्ययोरनेकत्वपरिणामे सति द्वितीयः आद्यस्तृतीयः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उभयोश्चतुर्थः, स्थापना चेयम्-[illegible] एवं दशसु द्विकयोगेषु प्रत्येकं चतुर्भङ्गीभावाच्चत्वारिंशद्भङ्गाः । ' जइ तिवन्ने ' इत्यादि तत्र प्रथमः कालको द्वितीयो नीलकः अन्त्ययोश्चैकपरिणामत्वाल्लोहितकः १११ इत्येकः तृतीयस्यानेकपरिणामतयाऽनेकवचनान्तत्वे द्वितीयः ११२, एवं द्वितीयस्यानेकतायां तृतीयः १२१ आद्यस्यानेकत्वे चतुर्थः २११ एवमेते चत्वारः एकत्र त्रिकसंयोगे, दशसु चैतेषु चत्वारिंशदिति । 'जइ चउवन्ने' इत्यादि, इह पञ्चानां वर्णानां पञ्च चतुस्कसंयोगा भवन्ति, ते च सूत्रसिद्धा एव, ' सव्वे नउइं भंग ' त्ति एकद्वित्रिचतुर्वर्णेषु पञ्चचत्वारिंशत् २ पञ्चानां भङ्गकानां भावान्नवतिस्ते स्युरिति । ' जइ एगगंधे ' इत्यादि प्राग्वत् । ' जइ तिफासे ' इत्यादि, ' सव्वे सीए' त्ति चतुर्णामपि प्रदेशानां शीतपरिणामत्वात् १ ' देसे निद्धे ' त्ति चतुर्णां मध्ये द्वयोरेकपरिणामयोः स्निग्धत्वात् २ ' देसे लुक्खे ' त्ति तथैव द्वयो रूक्षत्वात् ३ इत्येकः द्वितीयस्तु तथैव नवरं भिन्नपरिणामतयाऽनेकवचनान्ततृतीयपदः तृतीयस्त्वनेकवचनान्तद्वितीयपदः, चतुर्थः पुनस्तथैवानेकवचनान्तद्वितीयतृतीयपद इत्येते सर्वशीतेन चत्वारः, एवं सर्वोष्णेन सर्वस्निग्धेन सर्वरूक्षेणेत्येवं षोडश । ' जइ चउफासे ' इत्यादि तत्र ' देसे सीए ' त्ति एकाकारप्रदेशद्वयलक्षणो देशः शीतः तथाभूत एवान्यो देश उष्णः, तथा य एव शीतः स एव स्निग्धः यश्चोष्णः स रूक्ष इत्येकः, चतुर्थपदस्य प्रागिवानेकवचनान्तत्वे द्वितीयः तृतीयस्य च तृतीयः, तृतीयचतुर्थयोरनेकवचनान्तत्वे चतुर्थः, एवमेते षोडश, आनयनोपायगाथा चेयमेषाम्—" अंतलहुयस्स हेट्ठा, गुरुयं ठावेह सेसमुवरिसमं । अंतं लहुएहि पुणो, पूरेज्जा भंगपत्थारे ॥ १ ॥ "

स्थापना चेयम्—

११	११	१२	११	२१	११	२२	११
११	१२	१२	१२	२१	१२	२२	१२
११	२१	१२	२१	२१	२१	२२	२१
११	२२	१२	२२	२१	२२	२२	२२

' छत्तीसं भंग ' त्ति द्वित्रिचतुःस्पर्शेषु चतुःषोडश षोडशानां भावादिति । इह वृद्धगाथे—

" वीसइमसउद्देसे, चउप्पएसाइए चउप्फासे ।
एगवहुवयणमीसा, बीयाईया कहं भंगा ? ॥ १ ॥ "

एकवचनबहुवचनमिश्रा द्वितीयतृतीयादयः कथं भङ्गका भवन्ति ?, यत्रैव पदे एकवचनं प्रागुक्तं तत्रैव बहुवचनं बहुवचने त्वेकवचनम् , एतच्च न भवतीति कृत्वा विरोध उद्भावितः । अत्रोत्तरम्—

" देसो देसा व मया, दव्वक्खेत्तवसओ विवक्खाए ।
संघायभेयतदुभय-भावाओ वा वयणकाले ॥ १ ॥ "

अयमर्थः—देशो देशा वेत्ययं निर्देशो न दुष्टः एकानेकवर्णादिधर्मयुक्तद्रव्यवशेनैकानेकावगाहक्षेत्रवशेन वादेशस्यैकत्वानेकत्वविवक्षणात् । अथवा-भणनप्रस्तावे सङ्घातविशेषभावेन भेदावंशेषभावेन वा तस्यैकत्वानेकत्वविवक्षणाद्देवेति ।

पञ्चप्रदेशिके—' जइ तिवन्ने ' त्यादि , त्रिषु पदेष्वष्टौ भङ्गाः केवलमिह सप्तैव ग्राह्याः , पञ्चप्रदेशिकेऽष्टमस्यासम्भवात् , एवं च दशसु त्रिकसंयोगेषु सप्ततिरिति । ' जइ चउवन्ने ' इत्यादि, चतुर्णां पदानां षोडश भङ्गास्तेषु चेह पञ्च सम्भविनस्ते च सूत्रसिद्धा एव, पञ्चसु वर्णेषु पञ्च चतुष्कसंयोगा भवन्ति, तेषु चैषां प्रत्येकं भावात्पञ्चविंशतिरिति, ' ईयालं भंगसयं ' ति पञ्चप्रदेशिके एकद्वित्रिचतुःपञ्चवर्णसंयोगजानां पञ्चचत्वारिंशत्सप्ततिपञ्चविंशत्येकसंख्यानां भङ्गानां मीलनादेकोत्तरचत्वारिंशदधिकं भङ्गकशतं भवतीति । ' छप्पएसिए णं ' मित्यादि, इह सर्वं पञ्चप्रदेशिकस्येव, नवरं वर्णत्रयेऽष्टौ भङ्गा वाच्याः, अष्टमस्याप्यत्र सम्भवात् , एवं च दशसु त्रिकसंयोगेष्वशीतिर्भङ्गका भवन्तीति, चतुर्वर्णे तु पूर्वोक्तानां षोडशानां भङ्गकानामष्टदशान्तिमत्रयवर्जितानां शेषा एकादश भवन्ति, तेषां च पञ्चसु चतुष्कसंयोगेषु प्रत्येकं भावात्पञ्चपञ्चाशदिति । ' जइ पंचवन्ने ' इत्यादौ षड् भङ्गाः, ' छासीयं भंगसयं ' ति एकादिसंयोगसम्भवानां पञ्चचत्वारिंशदशीतिपञ्चाधिकपञ्चाशत्षट्संख्याभङ्गकानां मीलनात् षडुत्तराशीत्यधिकं भङ्गकशतं भवति । ' सत्तपएसिए ' इत्यादि, इह चतुर्वर्णत्वे पूर्वोक्तानां षोडशानामन्तिमवर्जाः शेषाः पञ्चदश भवन्ति, एषां च पञ्चसु चतुष्कसंयोगेषु प्रत्येकं भावात्पञ्चसप्ततिरिति । ' जइ पंचवन्ने ' इत्यादि, इह पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद्भङ्गा भवन्ति, तेषु चेहाद्यानां षोडशानामष्टमद्वादशान्त्यत्रयवर्जिताः शेषा उत्तरेषां च षोडशानामाद्यास्त्रयः पञ्चमनवमौ चेत्येवं सर्वेऽपि षोडश संभवन्तीति , ' दो सोला भंगसयं ' ति एकद्वित्रिचतुःपञ्चकसंयोगजानां पञ्चचत्वारिंशदशीतिपञ्चाधिकसप्ततिषोडशसंख्यानां भङ्गकानां मीलनाद् द्वे शते षोडशोत्तरे स्यातामिति । ' अट्ठपएसिए ' इत्यादि, इह चतुर्वर्णत्वे पूर्वोक्ताः षोडशापि भङ्गा भवन्ति, तेषां च प्रत्येकं पञ्चसु चतुष्कसंयोगेषु भावादशीतिर्भङ्गका भवन्ति, पञ्चवर्णत्वे तु द्वात्रिंशतो भङ्गानां षोडशचतुर्विंशाष्टाविंशाष्टाविंशान्त्यत्रयवर्जाः शेषाः षड्विंशतिर्भङ्गका भवन्तीत्यर्थः, ' दो इक्कतीसाइं ' ति पूर्वोक्तानां पञ्चचत्वारिंशदशीत्यशीतिषडुत्तरविंशतिसंख्यानां भङ्गकानां मीलनाद् द्वे शते एकत्रिंशदुत्तरे भवत इति । 'नवपएसियस्से ' त्यादि, इह पञ्चवर्णत्वे द्वात्रिंशतो भङ्गकानामन्त्य एव न भवति, शेषं तु पूर्वोक्तानुसारेण भावनीयमिति ।

बायरपरिणए णं भंते ! अणंतपएसिए खंधे कतिवन्ने, एवं जहा अट्ठारसमसए० जाव सिय अट्ठफासे पन्नत्ते,वन्नगंधरसा जहा दसपएसियस्स, जइ चउफासे सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे सीए सव्वे निद्धे १ सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे सीए सव्वे लुक्खे २ सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे उसिणे सव्वे निद्धे ३ सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे सीए सव्वे लुक्खे ४ सव्वे कक्खडे सव्वे लहुए सव्वे सीए सव्वे लुक्खे ५ सव्वे कक्खडे सव्वे लहुए सव्वे सीए सव्वे लुक्खे ६ सव्वे कक्खडे सव्वे लहुए सव्वे उसिणे सव्वे निद्धे ७ सव्वे कक्खडे सव्वे लहुए सव्वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसिणे सव्वे लुक्खे ८ सव्वे मउए सव्वे गरुए सव्वे सीए सव्वे निद्धे९ सव्वे मउए सव्वे गरुए सव्वे सीए सव्वे लुक्खे १० सव्वे मउए सव्वे गरुए सव्वे उसिणे सव्वे निद्धे ११ सव्वे मउए सव्वे गरुए सव्वे उसिणे सव्वे लुक्खे १२ सव्वे मउए सव्वे लहुए सव्वे सीए सव्वे निद्धे १३ सव्वे मउए सव्वे लहुए सव्वे सीए सव्वे लुक्खे१४सव्वे मउए सव्वे लहुए सव्वे उसिणे सव्वे निद्धे १५ सव्वे मउए सव्वे लहुए सव्वे उसिणे सव्वे लुक्खे १६ एए सोलस भंगा ॥ जइ पंच-फासे सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे सीए देसे निद्धे देसे लुक्खे १ सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे सीए देसे निद्धे देसा लुक्खा २ सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे सीए देसा निद्धा देसे लुक्खे ३ सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे सीए देसा निद्धा देसा लुक्खा ४ सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे ४ सव्वे कक्खडे सव्वे लहुए सव्वे सीए देसे निद्धे देसे लुक्खे ४ सव्वे कक्खडे सव्वे लहुए सव्वे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे । ४ । एवं एए कक्खडेणं सोलस भंगा । सव्वे मउए सव्वे गरुए सव्वे सीए देसे निद्धे देसे लुक्खे ४ एवं मउएण वि सोलस भंगा, एवं बत्तीसं भंगा । सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे निद्धे देसे सीए देसे उसिणे ४ सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए सव्वे लुक्खे देसे सीए देसे उसिणे ४ एए बत्तीसं भंगा, सव्वे कक्खडे सव्वे सीए सव्वे निद्धे देसे गरुए देसे लहुए एत्थ वि वत्तीसं भंगा ४, सव्वे गरुए सव्वे सीए सव्वे निद्धे देसे कक्खडे देसे मउए एत्थऽवि बत्तीसं भंगा, एवं सव्वे ते पंचफासे अट्ठावीसं भंगसयं भवंति । जइ छ-फासे सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए देसे सीए देसे उ-सिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे १ सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसा लुक्खा २ एवं ०जाव सव्वे कक्खडे सव्वे गरुए देसा सीया देसा उसिणा देसा निद्धा देसा लुक्खा १६ एए सोलस भंगा । सव्वे कक्खडे सव्वे लहुए देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे एत्थऽवि सोलस भंगा, सव्वे मउए सव्वे लहुए देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे एत्थ वि सोलस भंगा, एए चउसट्ठिं भंगा, सव्वे कक्खडे सव्वे निद्धे देसे गरुए देसे लहुए देसे निद्धे देसे लुक्खे एत्थ वि चउसट्ठिं भंगा, सव्वे कक्खडे सव्वे निद्धे देसे गरुए देसे लहुए देसे सीए देसे उसिणे १, ०जाव सव्वे मउए सव्वे लुक्खे देसा गरुया देसा लहुया देसा सीया देसा उसिणा १६ एए चउसट्ठिं भंगा, सव्वे गरुए सव्वे सीए देसे कक्खडे देसे मउए देसे निद्धे देसे लुक्खे एवं

० जाव सव्वे लहुए सव्वे उसिणे देसा कक्खडा देसा नि-द्धा देसा मउया देसा लुक्खा एए चउसट्ठिं भंगा, सव्वे गरुए सव्वे निद्धे देसे कक्खडे देसे मउए देसे सीए देसे उसिणे ०जाव सव्वे लहुए सव्वे लुक्खे देसा कक्खडा देसा मउया देसा सीया देसा उसिणा एए चउसट्ठिं भं-गा, सव्वे सीए सव्वे निद्धे देसे कक्खडे देसे मउए देसे गरुए देसे लहुए ०जाव सव्वे उसिणे सव्वे लुक्खे देसा कक्खडा देसा मउया देसा गरुया देसा लहुया एए चउसट्ठिं भंगा, सव्वे ते छफासे तिन्नि चउरासीयं भंग-सया भवंति ३८४ । जइ सत्तफासे सव्वे कक्खडे देसे गरुए देसे लहुए देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे १ सव्वे कक्खडे देसे गरुए देसे लहुए देसे सीए देसे उसिणे देसा निद्धा देसा लुक्खा ४ सव्वे कक्खडे देसे गरुए देसे लहुए देसे सीए देसा उसिणा देसे निद्धे देसा लुक्खा ४ सव्वे कक्खडे देसे गरुए देसे लहुए देसा सीया देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे ४ सव्वे ते सोलस भंगा भाणियव्वा, सव्वे कक्खडे देसे गरुए देसा लहुया देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे एवं गरुएणं एगत्तेणं लहुएणं पुहुत्तेणं एते वि सो-लस भंगा, सव्वे कक्खडे देसा गरुया देसे लहुए देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे एए वि सोलस भंगा भाणियव्वा, सव्वे कक्खडे देसा गरुया देसा लहुया देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे एए वि सोलस भंगा भाणियव्वा, एवमेते चउसट्ठिं भंगा कक्खडेणं समं, सव्वे मउए देसे गरुए देसे लहुए देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे । एवं मउएण वि समं चउसट्ठिं भंगा भाणियव्वा, सव्वे गरुए देसे कक्ख-डे देसे मउए देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे एवं गरुएण वि समं चउसट्ठिं भंगा कायव्वा, सव्वे लहुए देसे कक्खडे देसे मउए देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे एवं लहुएण वि समं चउसट्ठिं भंगा कायव्वा, सव्वे सीए देसे कक्खडे देसे मउए देसे गरुए देसे लहुए देसे निद्धे देसे लुक्खे एवं सीतेण वि समं चउसट्ठिं भंगा कायव्वा, सव्वे उसिणे देसे कक्खडे देसे मउए देसे गरुए देसे लहुए देसे निद्धे देसे लुक्खे एवं उसिणेण वि समं चउसट्ठिं भंगा कायव्वा,सव्वे निद्धे देसे कक्खडे देसे मउए देसे गरुए देसे लहुए देसे सीए देसे उसिणे एवं निद्धेण वि चउसट्ठिं भंगा कायव्वा , सव्वे लुक्खे देसे कक्खडे देसे मउए देसे गरुए देसे ल-हुए देसे सीए देसे उसिणे एवं लुक्खेण वि समं चउस-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ट्ठिं भंगा कायव्वा ०जाव सव्वे लुक्खे देसा कक्खडा देसा मउया देसा गुरुया देसा लहुया देसा सीया देसा उसिणा, एवं सत्तफासे पंचबारसुत्तरा भंगसया भवंति। जइ अट्ठफासे देसे कक्खडे देसे मउए देसे गुरुए देसे लहुए देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे ४ देसे कक्खडे देसे मउए देसे गुरुए देसे लहुए देसे सीए देसा उसिणा देसे निद्धे देसे लुक्खे ४ देसे कक्खडे देसे मउए देसे गुरुए देसे लहुए देसा सीया देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे ४ देसे कक्खडे देसे मउए देसे गुरुए देसे लहुए देसा सीया देसा उसिणा देसे निद्धे देसे लुक्खे ४ एए चत्तारि चउक्का सोलस भंगा, देसे कक्खडे देसे मउए देसे गुरुए देसा लहुया देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे। एवं एते गुरुएणं एगत्तेणं (लहुएणं) पुहत्तएणं सोलस भंगा कायव्वा। देसे कक्खडे देसे मउए देसा गुरुया देसे लहुए देसे सीए देसे उसिणे देसे णिद्धे देसे लुक्खे ४ एए वि सोलस भंगा कायव्वा। देसे कक्खडे देसे मउए देसा गुरुया देसा लहुया देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे एते वि सोलस भंगा कायव्वा। सव्वेऽवि ते चउसट्ठिं भंगा कक्खडमउएहिं एगत्तएहिं, ताहे कक्खडेणं एगत्तएणं मउएणं पुहत्तेणं एते चेव चउसट्ठिं भंगा कायव्वा। ताहे कक्खडेणं पुहत्तएणं मउएणं एगत्तएणं चउसट्ठिं भंगा कायव्वा, ताहे एतेहिं चेव दोहिं वि पुहत्तेहिं चउसट्ठिं भंगा कायव्वा०जाव देसा कक्खडा देसा मउया देसा गुरुया देसा लहुया देसा सीया देसा उसिणा देसा निद्धा देसा लुक्खा एसो अपच्छिमो भंगो, सव्वेते अट्ठफासे दो छप्पन्ना भंगसया भवंति। एवं एते बादरपरिणए अणंतपएसिए खंधे सव्वेसु संजोएसु बारस छन्नउया भंगसया भवंति। (सू०-६६६)

'बायरपरिणए णं' मित्यादि, सर्व एव कर्कशो गुरुः शीतः स्निग्धश्च एकदैवाविरुद्धानां स्पर्शानां सम्भवादित्येको भङ्गः, चतुर्थपदव्यत्यये द्वितीयः, एवमेते एकादिपदव्यभिचारेण षोडश भङ्गाः। 'पंचफासे' इत्यादि, कर्कशगुरुशीतैः स्निग्धरूक्षयोरेकत्वानेकत्वकृता चतुर्भङ्गी लब्धा, एवैव च कर्कशगुरूष्णैर्लभ्यत इत्येवमष्टौ, एते चाष्टौ कर्कशगुरुभ्याम्, एवमन्ये च कर्कशलघुभ्याम्, एवमेते षोडश कर्कशपदेन लब्धा एतानेव च मृदुपदं लभत इत्येवं द्वात्रिंशत्, इयं च द्वात्रिंशत् स्निग्धरूक्षयोरेकत्वादिना लब्धा, अन्या च द्वात्रिंशत् शीतोष्णयोरन्या च गुरुलघ्वोरन्या तु कर्कशमृद्वोरित्येवं सर्वे एते मीलिता अष्टाविंशत्युत्तरं भङ्गकशतं भवतीति। 'छफासे' इत्यादि, तत्र सर्वकर्कशो १ गुरुश्च २ देशश्च शीत ३ उष्णः ४ स्निग्धो ५ रूक्षश्च ६ ति। इह च देशशीतादीनां चतुर्णां पदानामेकत्वादिना षोडश भङ्गाः, एते च सर्वकर्कशगुरुभ्यां लब्धाः, एत एव कर्कशलघुभ्यां लभ्यन्ते तदेवं द्वात्रिंशत्। इयं च सर्वकर्कशपदेन लब्धा इयमेव च सर्वमृदुना लभ्यत इति चतुःषष्टिर्भङ्गाः। इयं च चतुःषष्टिः सर्वकर्कशगुरुलक्षणेन द्विकसंयोगेन सविपर्ययेण लब्धा, तदेवमन्योऽप्येवंविधो द्विकसंयोगस्तां लभते, कर्कशगुरुशीतस्निग्धलक्षणानां च चतुर्णां पदानां षड् द्विकसंयोगास्तदेवं चतुःषष्टिः षड्भिर्द्विकसंयोगैर्गुणितास्त्रीणि शतानि चतुरशीत्यधिकानि भवन्तीति। अत एवोक्तम्-'सव्वे वेत छफासे' इत्यादि। 'जइ सत्तफासे' इत्यादि, इहाद्यं कर्कशाख्यं पदं स्कन्धव्यापकत्वाद्विपक्षरहितं शेषाणि तु गुर्वादीनि षट् स्कन्धदेशाश्रितत्वात् सविपक्षाणीत्येवं सप्त स्पर्शाः। एषां च गुर्वादीनां षण्णां पदानामेकत्वानेकत्वाभ्यां चतुःषष्टिभङ्गका भवन्ति, ते च सर्वशब्दविशेषितेनादिन्यस्तेन कर्कशपदेन लब्धाः। एवं मृदुपदेनापीत्येवमष्टाविंशत्यधिकं शतम्, एवं गुरुलघुभ्यां शेषैः षड्भिः सह १२८, शीतोष्णाभ्यामप्येवमेव १२८, एवं स्निग्धरूक्षाभ्यामपि १२८, तदेवमष्टाविंशत्युत्तरशतस्य चतुर्भिर्गुणने पञ्च शतानि द्वादशोत्तराणि भवन्तीति। अत एवाह-'एवं सत्तफासे पंच बारसुत्तरा भंगसया भवंती' ति। 'अट्ठफासे' इत्यादि, चतुर्णां कर्कशादिपदानां सविपर्ययाणामाश्रयणादष्टौ स्पर्शाः। एते च बादरस्कन्धस्य द्विधा विकल्पितस्यैकत्र देशे चत्वारो विरुद्धास्तु द्वितीये इति, एषु चैकत्वानेकत्वाभ्यां भङ्गका भवन्ति। तत्र च रूक्षपदेनैकवचनान्तेन बहुवचनान्तेन द्वौ, एतौ च स्निग्धैकवचनेन लब्धावेतावेव स्निग्धबहुवचनं लभेते, एते चत्वारः, एते च सूत्रपुस्तके चतुष्ककेन सूचिताः। तथैतेष्वेवाष्टासु पदेषूष्णपदेन बहुवचनान्तेनोक्तचतुर्भङ्गीयुक्तेनान्ये चत्वारः ४, एवं शीतपदेन बहुवचनान्तेनैव ४, तथा शीतोष्णपदाभ्यां बहुवचनान्ताभ्यामेत एव४एवं चैते१६,तथा लघुपदेन बहुवचनान्तेनैत एव ४, तथा लघुशीतपदाभ्यां बहुवचनान्ताभ्यामेत एव ४, एवं लघूष्णपदाभ्याम् ४, एवं लघुशीतोष्णपदैरिति ४, एवमेतेऽपि षोडश १६, एतदेव दर्शयति-'एवं गुरुएणं एगत्तएण' मित्यादि, तथा-कर्कशादिनैकवचनान्तेन गुरुपदेन च बहुवचनान्तेनैत एव, तथा गुरूष्णाभ्यां बहुवचनान्ताभ्यामेत एव ४, एवं गुरुशीताभ्याम् ४, एवं गुरुशीतोष्णैः ४, एवं चैते षोडश, तथा गुरुलघुभ्यां बहुवचनान्ताभ्यामेत एव ४, एवं गुरुलघूष्णैः ४,एवं गुरुलघुशीतैः ४, एवं गुरुलघुशीतोष्णैः ४, एतेऽपि षोडश, सर्वेऽप्यादित एते चतुःषष्टिः 'कक्खडमउएहिं एगत्तेहिं' ति कर्कशमृदुपदाभ्यामेकवचनवद्भ्यां चतुःषष्टिरेते भङ्गा लब्धा इत्यर्थः, 'ताहे' त्ति तदनन्तरम् 'कक्खडेणं एगत्तएणं' ति कर्कशपदेनैकत्वगेन एकवचनान्तेनेत्यर्थः 'मउएणं पुहत्तएणं' ति मृदुकपदेन पृथक्त्वगेनानेकवचनान्तेनेत्यर्थः 'एते चेव' त्ति एत एव पूर्वोक्तक्रमाच्चतुःषष्टिर्भङ्गकाः कर्त्तव्या इति, 'ताहे कक्खडेण' मित्यादि, 'ताहे' त्ति ततः कर्कशपदेन बहुवचनान्तेन मृदुपदेन चैकवचनान्तेन चतुःषष्टिर्भङ्गकाः पूर्वोक्तक्रमेणैव कर्त्तव्याः, ततश्चैतानेव कर्कशमृदुपदाभ्यां बहुवचनान्ताभ्यां पूर्ववच्चतुष्षष्टिर्भङ्गाः कर्त्तव्याः एताश्चादितश्चतस्रश्चतुःषष्ट्यो मीलिता द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके स्यातामिति, एतदेवाह-'सव्वे ते अट्ठफासे, दो छप्पन्ना भंगसया भवंति' त्ति।

१-परमाणुवर्णादिवक्तव्यता 'परमाणु' शब्दे पञ्चमभागे ५४१ पृष्ठे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतेषां च सुखतरप्रतिपत्तये यन्त्रकमिदम्—

देसे कक्खड	देसे म.	देसे ग.	देसे ल.	देसे सी	देसे उ.	देसे नि.	देसे रु.
१	१	१	१	१	१	१	१
३	३	३	३	३	३	३	३
२५६	१२८	६४	३२	१६	८	४	२

'वारसछन्नउया भंगसया भवंति' त्ति बादरस्कन्धे चतुरादिकाः स्पर्शा भवन्ति । तत्र च चतुः स्पर्शादिषु क्रमेण षोडशानामष्टाविंशत्युत्तरशतस्य चतुरशीत्यधिकशतत्रयस्य द्वादशोत्तरशतपञ्चकस्य षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयस्य च भाचाद्यथोक्तं मानं भवतीति । भ० २० श० ५ उ० । वर्ण्यते अलंक्रियते शरीरमनेनेति वर्णः । पं० सं० ३ द्वार । शरीरच्छवौ, जं० ३ वक्ष० । प्रज्ञा० । गौरत्वादौ, उत्त० २० अ० । वर्णनं वर्णः । श्लाघने, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार । प्रव० । अर्द्धदिग्व्यापिनि साधुवादे, । भ० १५ श० । यशसि, स्था० ३ ठा० ३ उ० । नि० चू० । सर्वदिग्व्यापिनि साधुवादे, स्था० १० ठा० ३ उ० । नि० चू० । शुक्लतालक्षणे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । ब्राह्मणत्वादौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । (ब्राह्मणत्वादिजातिप्रकाराः 'वंभ' शब्दे पञ्चमभागे १२५८ पृष्ठे उक्ताः ।) श्रमणादिषु, श्रमणः श्रमणी श्रावकः श्राविका चेति, वन्दने, ध० ३ अधि० । संयमे, मोक्षे च । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । ('विमाण' शब्दे विमानवर्णानि वक्ष्यन्ते ।)

वसग्र(ग)-वर्णक-न० । वर्णरूपे, बृ० १ उ० २ प्रक० । विलेपने, औ० । आ० म० । चन्दने वर्णनके, विपा० १ श्रु० १ अ० । ज्ञा० । कम्पिल्लकादौ, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । वस्रओ जो सुगंधो चंदणादि । नि० चू० १ उ० । हिङ्गुलकतैलादौ, वस्रो पुण हिंगुलादी तल्लमादी । नि० चू० १४ उ० ।

वसंतर-वर्णान्तर-न० । अपान्तरालेषु नवसु वर्णेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ('वंभ' शब्दे पञ्चमभागे १२५७ पृष्ठे दर्शितम् ।)

वसकर-वर्णकर-न० । एकदिग्व्यापिनि साधुवादकरे, तं० । वपुषि गौरत्वादिवर्णकरे, तं० ।

वसकरण-वर्णकरण-न० । विशिष्टेषु भोजनादिषु विशिष्टवर्णापादने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

वसकाल-वर्णकाल-पुं० । वर्णश्चासौ कालश्च वर्णकालः । कालभेदे, विशे० ।

अथ निर्युक्तिकृद् वर्णकालमाह—

पचएहं वस्राणं, जो खलु वन्नेण कालओ वस्रो ।
सो होइ वस्रकालो, वसिज्जइ जो व जं कालं॥२०७३॥

शुक्लादीनां पञ्चानां वर्णानां मध्ये यो वर्णेन—छायया कृष्ण एव वर्णः स भवति वर्णकालः । अथवा—यः कोऽपि जीवादिपदार्थो यत्कालं-यस्मिन् काले वर्ण्यते-प्ररूप्यते स वर्णनं-वर्णस्तत्प्रधानकालो वर्णकालः । यदिवा-शुक्लादिवर्ण एव वर्ण्यते यत्र काले स शुक्लादिवर्णप्ररूपणस्य कालो वर्णकाल इत्यादि स्वधियाऽभ्यूह्य वाच्यमिति ॥ २०७३ ॥

२०८

अथ भाष्यम्-

पज्जायकालभेओ, वरणो कालो त्ति वस्रकालोऽयं ।
णणु एस नामउ च्चिय, कालो नानियमतो तस्स।२०७४।

योऽयं कालः कृष्णो वर्णः स वर्णश्चासौ कालश्च वर्णकाल इति भण्यते । स च कथंभूतः ? । पर्यायकालभेदः । इदमुक्तं भवति-यथा द्रव्यस्य कलनं कालो द्रव्यकालः प्रागुक्तः, तथा पर्यायाणां कलनं कालः पर्यायकाल इत्यपि द्रष्टव्यम् । ततश्च कृष्णवर्णस्य द्रव्यपर्यायत्वादयं वर्णकालः पर्यायकालभेद एव मन्तव्यः । ननु यदि पर्यायकालोऽपि कश्चिदस्ति, तर्हि 'दव्वे अद्ध अहाउय' इत्यादौ किमयं नोपन्यस्तः ? । सत्यम्, किन्तु-द्रव्यात् पर्यायाणां कथञ्चिदभिन्नत्वाद् द्रव्यकालभणनद्वारेणैवोक्तत्वाद् न पृथगत्रायमुक्तः । अथवा-तद्भेदभूतस्याऽस्य वर्णकालस्याभिधानात् सोऽप्यभिहित एव द्रष्टव्यः । अत्राह—नन्वेष कृष्णो वर्णो नामत एव कालो भण्यते, ततश्च नामकाल एवायं किमितीहोपन्यस्तः ? इति भावः । अत्रोत्तरमाह—नानियमतस्तस्येति, तस्य कालनाम्नः संकेतवशाद् गौरेऽपि विधीयमानत्वादनियतत्वम्, अतोऽन्यस्माद् व्यवच्छिद्य वर्ण एव यः कालः स इह वर्णकालोऽभिधीयते, नान्यत्, इत्येतावता नामकालादस्य भेदः। विशे०।

वसगपेसिया-वर्णकपेषिका-स्त्री० । चन्दनपेषिकायाम्, भ० १९ श० ३ उ० ।

वसगुणप्पमाण-वर्णगुणप्रमाण-न० । स्वनामख्याते प्रमाणभेदे, अनु० । (अत्र सूत्रम्—'पमाण' शब्दे, पञ्चमभागे ४७२ पृष्ठे गतम् ।)

वसचउक्क-वर्णचतुष्क-न० । वर्णोपलक्षितं चतुष्कं वर्णचतुष्कम् । वर्णगन्धरसस्पर्शचतुष्टये, कर्म० ५ कर्म० ।

वसण-वर्णन-न० । सद्भूतगुणोत्कीर्त्तने, द्वा० २९ द्वा० ।

वसणा-वर्णना-स्त्री० । प्ररूपणायाम् . विशे० ।

वसणाम-वर्णनामन्-न० । वर्ण्यते अलंक्रियते शरीरमनेनेति वर्णः । स च पञ्चप्रकारः—श्वेतपीतरक्तनीलकृष्णभेदात् । तन्निबन्धनं नाम । नामकर्मभेदे, तच्च पञ्चधा-तत्र यदुदयवशाज्जन्तुशरीरे श्वेतवर्णप्रादुर्भावो यथा बलाकादीनाम् तत् श्वेतवर्णनाम, एवं शेषाण्यपि वर्णनामानि भावनीयानि। पं० सं० ३ द्वार । स० । कर्म० । आ० । वर्णरूपेऽर्थे, अनु० । (अत्र सूत्रम्-'गुणणाम' शब्दे तृतीयभागे ६२८ पृष्ठे गतम्।)

वसणिव्वत्ति-वर्णनिर्वृत्ति-स्त्री० । वर्णसंसिद्धौ, भ० १९ श० ८ उ० । (वर्णनिर्वृत्तिसूत्रम् 'णिव्वत्ति' शब्दे चतुर्थभागे २१२० पृष्ठे गतम् ।)

वसपज्जव-वर्णपर्यव-पुं० । तत्तदन्यसमुत्पद्यमानवर्णविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वसपणग-वर्णपञ्चक-न० । वर्णोपलक्षिते पञ्चावयवे समुदाये, क० प्र० ५ प्रक० ।

वसपरिणय-वर्णपरिणत-त्रि० । वर्णतः परिणतो वर्णपरिणतः । वर्णभाजि, प्रज्ञा० १ पद ।

वसपरिणाम-वर्णपरिणाम-पुं० । पञ्चानां श्वेतादीनां वर्णानां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणतिः । द्रव्यादिसंयोगपरिणतौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । स्था० ।

वण्णफरिसजुत्त–वर्णस्पर्शयुक्त–त्रि० । प्रधानवर्णस्पर्शे, भ० ६ श० ३३ उ०

वण्णमंत–वर्णवत्–त्रि० । प्रशंसायामतिशायने वा मतुप् । प्रशस्तवर्षे, अतिशयितवर्णे च । स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० । आचा० ।

वण्णय–देशी–श्रीखण्डे, दे० ना० ७ वर्ग ३७ गाथा ।

वण्णवाइ (ण्)–वर्णवादिन्–त्रि० । श्लाघावादिनि, व्य० १ उ० ।

वण्णवाय–वर्णवाद–पुं० । श्लाघायाम् , पञ्चा० ६ विव० । गुणग्रहणे, ध० ३ अधि० । प्रव० । (अधर्मस्य वर्णवादो न कर्त्तव्य इति ' अहम्म ' शब्दे प्रथमभागे ८६२ पृष्ठे उक्तम् ।)

पंचहिं ठाणेहिं जीवा सुलभबोधियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा–अरहंताणं वन्नं वदमाणे० जाव विवक्कतवबंभचेराणं देवाणं वन्नं वदमाणे । (सू०-४२६)

अर्हतां वर्णवादो यथा–" जियरागदोसमोहा, सव्वन्नू तियसनाहकयपूया । अच्चंतसच्चवयणा,सिवगइगमणा जयंति जिणा ॥ १ ॥ " इति अर्हत्प्रणीतधर्मवर्णो यथा–" वत्थुपयासणसूरो, अइसयरयणाण सायरो जयइ । सव्वजयजीवबंधुर–बंधू दुविहोऽवि जिणधम्मो ॥ १ ॥ " आचार्यवर्णवादो यथा–" तेसिं नमो तेसिं नमो, भावेण पुणो वि तेसिं चेव नमो । अणुवकयपरहियरया, जे नाणं देंति भव्वाणं ॥ १ ॥ " चतुर्वर्णश्रमणसंघवर्णो यथा–" एयम्मि पूइयम्मि य, नत्थि तयं जं न पूइयं होइ । भुवणे वि पूअणिज्जो , न गुणी संघाउ जं अन्नो ॥ १ ॥ " देववर्णवादो यथा–" देवाण अहो सीलं , विसयविसमोहिया वि जिणभवणे । अच्छरसाहिं पि समं, हासाई जेण न करिंति ॥ १ ॥ " स्था० ५ ठा० २ उ० ।

वण्णवीसइ–वर्णविंशति–स्त्री० । वर्णोपलक्षिता विंशतिरिति । वर्णाः ५ गन्धौ २ रसाः ५ स्पर्शाः ८ इत्येवं विंशतौ, कर्म० ५ कर्म० । (वर्णादीनां भेदाः स्वस्वस्थाने)

वण्णसंजलणा–वर्णसंज्वलना–स्त्री० । तीर्थकरादीनां सद्भूतगुणोत्कीर्तनायाम् , दश० ६ अ० १ उ० ।

साम्प्रतं वर्णसंज्वलनतां पिपृच्छिषुरिदमाह–

से किं तं वण्णसंजलणता?,वण्णसंजलणता चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा–आह-भव्वाणं वण्णवायी भवति, अवण्णवातिं पडिहणित्ता भवति, वण्णवातिं अणुवूहित्ता भवति, आयवुड्ढसेवी याऽवि भवति । सेत्तं वण्णसंजलणता ।

'से किं तं'मि त्यादि, प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् ,आचार्य आह-वर्णसंज्वलनता चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–यथा भव्यानां वर्णवादी भवति १ अवर्णवादिनं प्रतिहन्ता भवति २ वर्णवादिनम् अनुबृंहयिता भवति३आत्मवृद्धसेवी चापि भवति ४, तत्र यथा भव्यानामग्रे आचार्यस्य गुणजात्यादयस्तेषां वर्णवादी प्रशंसाकथको भवति १,अवर्णवादी आचार्यादीनामयशोवादी यो भवति तं प्रतिहन्ता भवति युक्त्यादिभिस्तं निषेधयिता इत्यर्थः२, वर्णवादिनं प्रति आचार्यादीनां गुणग्राहकं प्रति बृंहयिता प्रशंसाकर्तुर्हर्षवृद्धिकरो भवति यथा–"जो जाणइ जस्स गुणं, सो लोए तस्स आयरं कुणइ । " तथा–गुणिनि गुणज्ञो रमते, नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः । अतिरेति वनात् कमलं, न दर्दुरस्त्वेकवासेऽपि ॥ १ ॥ तथा–" गुणिनि गुणज्ञो रमते, इतरः······कस्तु वराकः । सरसिजपरिमलरसिको, मधुपयुवा नतु बकः काकः ॥१॥ " इत्यादिभिः, आत्मनः स्वयं वृद्धा आचार्यादयस्तेषां सेवी इङ्गिताकारैः तथाविधं ज्ञात्वा कारकः । 'सेत्तमि' त्यादि व्यक्तम् । दशा०४अ०।

वण्णादेसि(ण्)–वर्णादेशिन्–पुं० । वर्ण्यते प्रशस्यते येन स वर्णः । साधुकारादेशिनि वर्णाभिलाषिणि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

वण्णावास–वर्णावास–पुं० । वर्णः–श्लाघा यथावस्थितस्वरूपकीर्त्तनं तस्यावासो–निवासो ग्रन्थपद्धतिरूपो वर्णावासः। वर्णकनिवेशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० ॥ रा० । प्रति० । भ० ।

वर्णकव्यास–पुं० । वर्णकविस्तरे, भ० १४ श० ६ उ० ॥

वण्णिय–वर्णित–त्रि० । प्ररूपिते, उत्त० ५ अ० । उपदिष्टे, आव० १ अ० । कथिते, दश० १० अ० । व्याख्याते,विशे० । नि० चू० । सूत्र० । अनु० । स्था० । आचा० ।

वण्णेऊण–वर्णयित्वा–स्त्री० । व्याख्यायेत्यर्थे, व्य० ३ उ० ।

वण्णेतुं–वर्णयितुम्–अव्य० । प्रतिपादयितुमित्यर्थे, आ० म० १ अ० ।

वण्हि–वृष्णि–पुं० । " सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः " ॥ ८ । २ । ७५ ॥ इति संयुक्तस्य ष्णभागस्य णकाराक्रान्तो हकारः । प्रा० । अन्धकवृष्णिनराधिपे, पा० ।

वह्नि–पुं० । अभ्यन्तरदक्षिणायाः कृष्णराजेर्वैरोचनविमानवासिनि लोकान्तिकदेवे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । अग्नौ, ज्ञा० । आ० म० । प्रव० । " धूमद्धओ हुअवहो विहावसू पावओ सिही वण्ही " पाइ० ना० ६ गाथा ।

वण्हिदसा–वृष्णिदशा–स्त्री० । " नाम्न्युत्तरपदस्य वे " ति लक्षणवशादादिपदस्यान्धकशब्दरूपस्य लोपः । ततोऽयं परिपूर्णः शब्दः अन्धकवृष्णिदशा इति, अयं चान्वर्थः– अन्धकवृष्णिनराधिपकुले ये जातास्तेऽपि अन्धकवृष्णयः, तेषां दशाः अवस्थाश्चरितगतिसिद्धिगमनलक्षणा यासु ग्रन्थपद्धतिषु वर्ण्यन्ते ता अन्धकवृष्णिदशाः,अथवा-अन्धकवृष्णिवक्तव्यताप्रतिपादिका दशाः–अध्ययनानि अन्धकवृष्णिदशाः, आह च चूर्णिकृत्–" अंधकवण्हिणो जे कुले अन्धसद्दलोवाओ वण्हिणो भणिया, तेसिं चरियं गती सिज्झणा य जत्थ भणिया ता वण्हिदासाओ, दस त्ति अवत्था अज्झयणा वा ' इति । नं० । अन्धकवृष्णिनराधिपवक्तव्यताप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे, पा० । निरयावलिकाश्रुतस्कन्धान्तर्गते स्वनामख्याते पञ्चमवर्गे, नि० ।

वण्हिपुंगव–वृष्णिपुङ्गव–पुं० । यदुप्रधाने, ज्ञा० १ श्रु० १६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अ०। " भवणाओ णिग्गओ वरिहपुंगवो " वृष्णिपुंगवो नेमिकुमारः। उत्त० २२ अ०।

वतन-वदन-न०। " तदोस्तः " ॥ ८। ४। ३०७ ॥ इति पैशाच्यां दस्य तः। मुखे, प्रा० ४ पाद।

वति-वाच्-स्त्री०। द्रव्यश्रुते, भ० १६ श० ३ उ०।

वतिमिस्स-व्यतिमिश्र-त्रि०। सम्मिलिते , " वतिमिस्सं हु रत्था " आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०।

वतु-देशी-निवहे, दे० ना० ७ वर्ग ३२ गाथा।

वत्त-व्यक्त-त्रि०। प्रकटे, द्वा० ११ द्वा०। प्रति०। स्फुटे,विशे०। आ० म०। स्पष्टे, जी० १ प्रति०। सूत्र०। अभिव्यक्तार्थे, प्रतिपादितार्थे, पो० १ विव०। अक्षरस्वरस्फुटकरणत्वात्। (स्था० ७ ठा० ३ उ०।) स्फुटार्थे सूत्रादौ, अनु०। पञ्चमहाभूतं प्रति सन्दिहाने श्रीवीरजिनेन्द्रसमीपे प्रव्रजिते स्वनामख्याते चतुर्थे गणधरे, विशे०।

अथ चतुर्थस्य व्यक्तगणधरस्य वक्तव्यतामभिधित्सुराह–

ते पव्वइए सोउं, वियत्तु आगच्छई जिणसगासं।

वच्चामि ण वंदामि, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ १६८७ ॥

एवं विचिन्त्य व्यक्तनामा द्विजोपाध्यायः समागतो भगवतः समीपम् , ततो भगवता किं कृतम् ? इत्याह–

आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं।

नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं॥१६८८॥

व्याख्या पूर्ववदिति ॥ १६८८ ॥

अथ भाष्यम्–

भूएसु तुज्झ संका, सुविणय-मात्रोवमाइँ होज्ज त्ति।

न वियरिज्जंताइं, भयंति जं सव्वहा जुत्तिं ॥१६६०॥

भूयाइंसंसयाओ, जीवाइसु का कह त्ति ते बुद्धी।

तं सव्वसुण्णसंकी, मन्नसि मायोवमं लोयं ॥ १६६१ ॥

आयुष्मन् ! व्यक्त ! भूतेषु भवतः संदेहः, यतः स्वप्नोपमानि मायोपमानि चैतानि भवेयुरिति त्वं मन्यसे। यथा हि स्वप्ने किल कश्चिद् निः स्वोऽपि निजगृहाङ्गणे गजघटा—तुरगनिवह-मणिकनकराश्यादिकमभूतमपि पश्यति,मायायां चेन्द्रजालविलसितरूपायामविद्यमानमपि कनक-मणि-मौक्तिक-रजत-भाजनाऽऽराम-पुष्प-फलादिकं दृश्यते, तथैतान्यपि भूतान्येवं विधान्येवेति मन्यसे, यद्-यस्माद् विचार्यमाणान्येतानि सर्वथैव न काञ्चिद् युक्तिं भजन्ते—सहन्ते। भूतेषु च संशये जीव-पुण्य-पापादिषु किल का वार्ता, भूतविकाराधिष्ठानत्वात् तेषाम् ?, इति तव बुद्धिः। तस्मात् सर्वस्यापि भूत-जीवादिवस्तुनस्त्वदभिप्रायेणाभावात् सर्वशून्यताशङ्की त्वं निरवशेषमपि लोकं मायोपमं स्वप्नेन्द्रजालतुल्यं मन्यस इति ॥ १६६० ॥ १६६१ ॥ विशे०। (युक्तिश्चात्र व्यक्तवेतोगता ' भाव ' शब्दे पञ्चमभागे ४६१ पृष्ठे व्यक्तीकृता।)

तदेवं युक्तिभिः शून्यतामपाकृत्य भगवान् व्यक्तं शिक्षयन्नाह–

पच्चक्खेसु न जुत्तो, तुह भूमि-जला-ऽनलेसु संदेहो।

अनिलाऽऽगासेसु भवे,सोऽवि न जुत्तोऽणुमाणाओ॥१७४८॥

तस्माद् भूमि-जल-वह्निषु प्रत्यक्षेषु तव सौम्य ! संशयो न युक्तः, यथा स्वस्वरूपे। तथा, अनिलोऽपि प्रत्यक्ष एव, गुणप्रत्यक्षत्वात्, घटवत्, ततस्तत्रापि न संशयो युक्तः। भवतु वा, अनिला-ऽऽकाशयोरप्रत्यक्षत्वेन संशयः, तथाऽप्यसौ न युक्तः, अनुमानसिद्धत्वात्तयोरिति ॥ १७४८ ॥

तत्रानिलविषयं तावदनुमानमाह–

अत्थि अदिस्सापाइय, फरिसाईणं गुणी गुणत्तणओ।

रूवस्स घडो व्व गुणी, जो तेसिं सोऽनिलो नाम।१७४६।

य एतेऽदृश्येन केनाप्यापादिता-जनिताः स्पर्शादयस्ते विद्यमानगुणिनः, गुणत्वात्, आदिशब्दाच्छब्दस्वास्थ्य-कम्पा गृह्यन्ते, एतेऽपि हि वायुप्रभवाद् वायुगुणा एव। इह ये गुणास्ते विद्यमानगुणिनो दृष्टाः, यथा घटरूपादयः, यश्चैषां स्पर्शशब्दस्वास्थ्यकम्पानां गुणी स वायुः, तस्मादस्त्यसाविति ॥ १७४६ ॥

आकाशसाधकमनुमानमाह–

अत्थि वसुहाइभाणं, तोयस्स घडो व्व मुत्तिमत्ताओ।

जं भूयाणं माणं, तं वोमं वत्त ! सुव्वत्तं ॥ १७५० ॥

अस्ति वसुधा—जला—ऽनल-वायूनां भाजनमाधारः, मूर्तिमत्त्वात्, तोयस्य घटवत्, यच्च तेषां भाजनं तदायुष्मन्! व्यक्त ! सुव्यक्तं व्योमेति। यदि च-साध्यैकदेशतां दृष्टान्तस्य कश्चित् प्रेरयति, तदेत्थं प्रयोगः—विद्यमानभाजना पृथिवी-मूर्तत्वात्, तोयवत्। तथा—आपः, तेजोवत्। तेजश्च , वायुवत्, वायुश्च. पृथिवीवदिति ॥ १७५० ॥ विशे०।

वृत्त-त्रि०। अतिक्रान्ते, दश० १ अ०। प्रव०।

व्याप्त—त्रि०। पूर्णे, आ० म० १ अ०।

वत्तक्खा-व्यक्त्यख्या-स्त्री०। एकस्यार्हतः प्रतिष्ठायाम्, ध० २ अधि०।

वत्तण-वर्त्तन-न०। पालने,सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। अन्यत्र पातने, आचा० २ श्रु० ३ चू०।

वत्तणय-वर्त्तनक-न०। बालानामधीयानानां वार्त्ताकरणे, विशे०।

वत्तणा-वर्त्तना-स्त्री०। नवपुराणादिना रूपेणाभवने, विशे०। पं० चू०। प्राग्गृहीतस्यैव सूत्रादेरस्थिरस्य गुणने, आ० म०१ अ०। आ० चू०।

वत्तणी-वर्त्तनी-स्त्री०। मार्गे, विशे०।

वत्तणुवत्त-वृत्तानुवृत्त-न०। वृत्तिमतिक्रान्तमनुवर्त्तमानेन ज्ञायत इति वृत्तानुवृत्तम्। वर्त्तमानहेतुके भूतानुमाने, दश० १ अ०।

वत्तद्ध-देशी—सुन्दरे बहुशिक्षिते च, दे० ना० ७वर्ग ८५ गाथा

वत्तव्व-वक्तव्य-त्रि०। कथयितव्ये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। विशे०। प्रज्ञा०। प्रश्न०।

वत्तव्वया-वक्तव्यता-स्त्री०। अध्ययनादिषु प्रत्यवयवं यथा सम्भवं प्रतिनियतार्थकथने।

अनुवक्तव्यताद्वारं निरूपयितुमाह–

से किं तं वत्तव्वया ?, वत्तव्वया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ससमयवत्तव्वया, परसमयवत्तव्वया, ससमयपरसमयवत्तव्वया । से किं तं ससमयवत्तव्वया ?, २ जत्थ णं ससमए आघविज्जइ पण्णविज्जइ परूविज्जइ दंसिज्जइ निदंसिज्जइ उवदंसिज्जइ सेतं ससमयवत्तव्वया । से किं तं परसमयवत्तव्वया?, परसमयवत्तव्वया जत्थ णं परसमए आघविज्जइ ०जाव उवदंसिज्जइ, सेतं परसमयवत्तव्वया । से किं तं ससमयपरसमयवत्तव्वया ?, ससमयपरसमयवत्तव्वया जत्थ णं ससमए परसमए आघविज्जइ ०जाव उवदंसिज्जइ, सेतं ससमयपरसमयवत्तव्वया । (सू०-१५१ ×)

'से किं तं वत्तव्वया' इत्यादि, तत्राध्ययनादिषु प्रत्यवयवं यथासम्भवं प्रतिनियतार्थकथनं वक्तव्यता इयं च त्रिविधा-स्वसमयादिभेदात्, तत्र यस्यां णमिति वाक्यालङ्कारे स्वसमयः-स्वसिद्धान्तः आख्यायते यथा पञ्च अस्तिकायाः,तद्यथा—धर्मास्तिकाय इत्यादि, तथा प्रज्ञाप्यते यथा गतिलक्षणो धर्मास्तिकाय इत्यादि, तथा—प्ररूप्यते यथा स एवासंख्यातप्रदेशात्मकादिस्वरूपः, तथा दर्श्यते दृष्टान्तद्वारेण यथा मत्स्यानां गत्युपष्टम्भकं जलमित्यादि, तथा निर्दिश्यते उपनयद्वारेण यथा तथैवैषोऽपि जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भक इत्यादि, तदेवं दिग्मात्रप्रदर्शनेन व्याख्यातमिदम्, सूत्राविरोधतोऽन्यथाऽपि व्याख्येयमिति । सेयं स्वसमयवक्तव्यता । परसमयवक्तव्यता तु यस्यां परसमय आख्यायत इत्यादि, यथा सूत्रकृताङ्गप्रथमाध्ययने—

" सन्ति पञ्च महब्भूया, इहमेगेसि आहिया ।
पुढवी आऊ तेऊ (य), वाऊ आगासपञ्चमा ॥ १ ॥
एए पञ्च महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥२॥" इत्यादि,

अस्य च श्लोकद्वयस्य सूत्रकृद्वृत्तिकारलिखित एवायं भावार्थः।एकेषां-नास्तिकानां स्वकीयाप्तेन आहितान्याख्यातानि इह-लोके सन्ति-विद्यन्ते पञ्च समस्तलोके व्यापकत्वान्महाभूतानि तान्येवाह-पृथिवीत्यादि पञ्चभूतव्यतिरिक्तजीवनिषेधार्थमाह-'एए पंचे' त्यादि एतानि-अनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि यानि पञ्च महाभूतानि 'तेभ्य' इति तेभ्यः-कायाकारपरिणतेभ्यः एकः-कश्चित्किञ्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्तः आत्मा भवति, नतु भूतव्यतिरिक्तः परलोकयायीत्येवं ते 'आहिय' त्ति आख्यातवन्तः । अथ तेषां भूतानां विनाशेन देहिनो—जीवस्य विनाशा भवति तदव्यतिरिक्तत्वादेवेत्येवं लोकायतमतप्रतिपादनपरत्वात् परसमयवक्तव्यतेयमुच्यते—आख्यायते इत्यादि । पदानां तु विभागः पूर्वोक्तानुसारेण स्वबुद्धया कार्यः । सेयं परसमयवक्तव्यता । स्वसमयपरसमयवक्तव्यता पुनर्यत्र स्वसमयः परसमयश्च आख्यायते, यथा—

" आगारमावसन्ता वा, आरण्णा वावि पव्वया ।
इमं दरिसणमावन्ना, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥१॥ " इत्यादि,

व्याख्या—आगारं—गृहं तत्राऽऽवसन्ता गृहस्था इत्यर्थः, आरण्या वा-तापसादयः 'पव्वइय' त्ति प्रव्रजिताश्च-शाक्यादयः इदम्-अस्मदीयं मतमापन्ना-आश्रिताः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यन्त इत्येवं यदा सांख्यादयः प्रतिपादयन्ति तदेयं परसमयवक्तव्यता, यदा तु जैनास्तदा स्वसमयवक्तव्यता, ततश्चासौ स्वसमयपरसमयवक्तव्यतोच्यते ।

अथ वक्तव्यतामेव नयैर्विचारयन्नाह—

इयाणिं को णओ कं वत्तव्वयं इच्छइ ?, तत्थ णेगमसंगहववहारा तिविहं वत्तव्वयं इच्छंति, तं जहा-ससमयवत्तव्वयं परसमयवत्तव्वयं ससमयपरसमयवत्तव्वयं, उज्जूसुओ दुविहं वत्तव्वयं इच्छइ, तं जहा—ससमयवत्तव्वयं परसमयवत्तव्वयं, तत्थ णं जा सा ससमयवत्तव्वया सा ससमयं पविट्ठा, जा सा परसमयवत्तव्वया सा परसमयं पविट्ठा, तम्हा दुविहा वत्तव्वया, नत्थि तिविहा वत्तव्वया, तिण्णि सद्दणया एगं ससमयवत्तव्वयं इच्छंति,नत्थि परसमयवत्तव्वया,कम्हा ?, जम्हा परसमए अणट्ठे अहेऊ असब्भावे अकिरिए उम्मग्गे अणुवएसे मिच्छादंसणमिति कट्टु, तम्हा सव्वा ससमयवत्तव्वया, णत्थि परसमयवत्तव्वया णत्थि ससमयपरसमयवत्तव्वया । सेतं वत्तव्वया । (सू०-१५१)

'इयाणिं को नओ' इत्यादि, अत्र नैगमव्यवहारौ त्रिविधामपि वक्तव्यतामिच्छतः, नैगमस्यानेकगमत्वाद् व्यवहार(पर)स्य तु लोकव्यवहारपरत्वाल्लोके च सर्वप्रकाराणां रूढत्वादिति भावः । ऋजुसूत्रस्तु विशुद्धतरत्वादनाद्यामेव द्विविधां वक्तव्यतामिच्छति, स्वपरसमयवक्तव्यतानभ्युपगमे युक्तिमाह 'तत्थ णं जा सा' इत्यादि, तृतीयव्यक्तव्यताभेदे याऽसौ स्वसमयवक्तव्यता गीयते सा स्वसमयं प्रविष्टा, कोऽर्थः ?, प्रथमे वक्तव्यताभेदे अन्तर्भूता इत्यर्थः । या तु परसमयवक्तव्यता सा परसमयं प्रविष्टा । इदमत्र हृदयम्-द्वितीये वक्तव्यताभेदे अन्तर्भाविता इत्यर्थः, ततश्चोभयरूपवक्तव्यतायाः प्रस्तुतनयमतेऽसत्त्वात् द्विविधैव वक्तव्यता न त्रिविधेति भावः । संग्रहस्तु सामान्यवादिनैगमान्तर्गतत्वेन विवक्षितत्वात् सूत्रगतिवैचित्र्याद्वा न पृथगुक्त इति । त्रयः शब्दनयाः—शब्दसमभिरूढैवंभूताः शुद्धतमत्वादेकां स्वसमयवक्तव्यतामिच्छन्ति, नास्ति परसमयवक्तव्यता इति मन्यन्ते,कस्मादित्याह—यस्मात्परसमयोऽनर्थः, इत्यादि । इत्थं चेह योजना कार्या—नास्ति परसमयवक्तव्यता, परसमयस्यानर्थत्वादित्यादि, अनर्थत्वं परसमयस्य नास्त्येवात्मेत्यनर्थप्रतिपादकत्वाद्, आत्मनो नास्तित्वस्य चानर्थत्वमात्माभावे तत्प्रतिषेधानुपपत्तेः । उक्तं च-"जो चिंतेइ सरीरे, नत्थि अहं स एव होइ जीवो त्ति । न हु जीवम्मि असंते, संसयउप्पायओ अन्नो ॥ १ ॥" इत्याद्यन्यदप्यभ्यूह्यम् । अहेतुत्वं च परसमयस्य हेत्वाभासबलेन प्रवृत्तेः, यथा नास्त्येवात्मा अत्यन्तानुपलब्धेः । हेत्वाभासश्चायं ज्ञानादेस्तद्गुणस्योपलब्धेः, उक्तं च—" नाणाईण गुणाणं, अणुभवओ होइ जंतुणो सत्ता । जह रूवाइगुणाणं, उवलंभाओ घडाईणं ॥ १ ॥ " इत्यादि प्रागेवोक्तमिति । असद्भावत्वं चैकान्तक्षणभङ्गासद्भूतार्थाभिधायकत्वाद्, एकान्तक्षणभङ्गादेश्चासद्भूतत्वं युक्तिविरोधात्तथाहि—" धम्माधम्मुवएसो, कयाकयं परभवाइगमणं च । सव्वा वि हु लोयठिई, न घडइ एगंतखिणयम्मि ॥ १ ॥" इत्यादि, अक्रियात्वं चैकान्तशून्यताप्रतिपादनात्, सर्वशून्यतायां च क्रियावतोऽभावेन क्रियाया असंभवाद्, उक्तं च—" सव्वं सुन्नंति जयं, पडिवन्नं जेहि तेऽवि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वत्तव्वा । सुन्नाभिहाणकिरिया, कत्तुरभावेण कह घडई ॥१॥" इत्यादि, उन्मार्गत्वं परस्परविरोधस्थाएवाद्याकुलत्वात्, तथाहि—"न हिंस्यात्सर्वभूतानि, स्थावराणि चराणि च । आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्म्मिकः ॥ १ ॥" इत्याद्यभिधाय पुनरपि—"षट् सहस्राणि युज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचना—न्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥१॥" इत्यादि, प्रतिपादयन्तीति अनुपदेशित्वं चैकान्तक्षणभङ्गादिवादिनामहितेऽपि प्रवर्तकत्वात्तदुक्तम्—"सर्वं क्षणिकमित्येतद्, ज्ञात्वा को न प्रवर्तते । विषयादौ विपाको मे, न भावीति विनिश्चयाद ॥ १ ॥" इत्यादि, यतश्चैवं ततो मिथ्यादर्शनम्, इति ततश्च मिथ्यादर्शनमिति कृत्वा नास्ति परसमयवक्तव्यतेति वर्तते, एवं सांख्यादिसमयानामप्यनर्थत्वादियोजना स्वबुद्ध्या कार्येति । तस्मात्सर्वा स्वसमयवक्तव्यतैव, लोके प्रसिद्धानपि परसमयान् स्यात्पदलाञ्छननिरपेक्षतया दुर्नयत्वादसत्त्वेनैते नयाः प्रतिपद्यन्त इति भावः । स्यात्पदलाञ्छनसापेक्षतायां तु स्वसमयवक्तव्यतान्तर्भाव एव । प्रोक्तं च महामतिना—"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छिता इमे, रसोपदिग्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥ १ ॥" इत्यादि, सेयं वक्तव्यतेति निगमनम् । अनु० । व्य० । आ० म० । नि० चू० ।

वत्ता—वार्ता—स्त्री० । "तस्याऽधूर्त्तादौ" ॥ ८ । २ । ३० ॥ इति तस्य चो धूर्तादित्वात् पर्य्युदस्तः । प्रा० । न० । वृति—अण् । आरोग्ये, निरामये, वृत्तिशीले च । त्रि० । दुर्गायाम्, कृषिकर्मणि, वृत्तौ, जनश्रुतौ, कालकर्तृके, भूतनाशने च । स्त्री० । अस्मिन् महामोहमये कटाहे, सूर्य्याग्निना रात्रिदिनेन्धनेन । मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥ १ ॥" इति भारतम् । वाच० । दिव्यगन्धानुभवे वार्ता—गन्धसंवित्तिः वृत्तिशब्देन तान्त्रिकया परिभाषया घ्राणेन्द्रियमुच्यते, वर्त्तमाने गन्धविषये प्रवर्त्तत इति कृत्वा वृत्तौ—घ्राणेन्द्रिये भवा वार्ता यत्प्रकर्षाद्दिव्यो गन्धोऽनुभूयते । द्वा० २६ द्वा० । सूत्रवलनके, तं० । वृत्तान्ते, 'वुत्तंतो य उअंतो, वत्ता य पउत्ति नामाइं' । पाइ० ना० ६६ गाथा ।

वक्तृ—त्रि० । व्याख्यातरि, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

वत्तार—देशी—गर्विते, दे० ना० वर्ग ४१ गाथा ।

वत्ति—व्यक्ति—स्त्री० । भावे; विशे० । भेदे, भेदो—विशेष इत्यनर्थान्तरम् । स्था० १० ठा० ३ उ० । सामान्याश्रये वस्तुनि, आ० म० १ अ० । सम्म० ।

वृत्ति—स्त्री० । वर्त्तने, स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० ।

उक्ता—स्त्री० । अभिहितायाम्, "असमिक्खा वत्ती कता" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

वर्त्ति—स्त्री० । दशायाम्, भ० ८ श० ६ उ० ।

वत्तिअ—वर्तित—त्रि० । "त्तस्याधूर्त्तादौ" ॥ ८ । २ । ३० ॥ इति धूर्तादिपर्युदासात्र टः । प्रा० । पुञ्जीकृते, आव० ४ अ० । धूल्यास्थगित च । विशे० ।

वार्तिक—न० । वृत्तेः सूत्रविवरणस्य व्याख्यानं भाष्यम् वार्तिकम् । सूत्रविवरणे, विशे० ।

अथ वार्तिकस्वरूपमाह—

वित्तीए वक्खाणं, वत्तियमिह सव्वपज्जवेहिं वा ।
वित्तीओ वा जायं, जम्मि व जह वत्तए सुत्ते ॥१४२२॥

वृत्तेः सूत्रविवरणस्य व्याख्यानं भाष्यं वार्तिकमुच्यते । यथेदमेव विशेषावश्यकम् । अथवा—उत्कृष्टश्रुतवता गणधरादेर्भगवतः सर्वपर्यायैर्यद् व्याख्यानं तद्वार्तिकम् । वृत्तेर्वा सूत्रविवरणाद्यदायातं सूत्रार्थानुकथनरूपं तद्वार्तिकम्, यदि वा—यस्मिन्सूत्रे यथा वर्तते सूत्रस्यैवोपरि गुरुपारम्पर्येणायातं व्याख्यानं तद्वार्तिकमिति ।

एवं च सति यस्य संबन्धि व्याख्यानं वार्तिकमुच्यते, तदाह—

उक्कोसयसुयनाणी, निच्छयओ वत्तियं वियाणाइ ।
जो वा जुगप्पहाणो, तओ व जो गिण्हए सव्वं ॥१४२३॥

उत्कृष्टश्रुतज्ञान्येव निश्चयनयमतेन तावद्वार्तिकं कर्तुं विजानाति, नान्यः । यो वा यस्मिन् युगे प्रधानो भद्रबाहुस्वाम्यादिर्भवति, ततो वा युगप्रधानाद्यः स्थूलभद्रस्वाम्यादिः सर्वं श्रुतं गृह्णाति स वार्तिककृदिति । विशे० । आव० । आ० म० । आ० चू० । वृ० । तं० ।

संप्रति मङ्खदृष्टान्तोपेतं वार्तिकद्वारमाह—

सामाइयस्स अत्थं, पुव्वधर समत्तमो विभासेइ ।
चउरो खलु मंखसुया, वत्तीकरणम्मि आहरणे ॥२०२॥

यः सामायिकस्यार्थं पूर्वधरश्चतुर्दशपूर्वधारी सन् समस्तम इति पादपूरणे विभाषते यतः परं किमपि न वक्तव्यमस्ति स व्यक्तिकरो वार्त्तिककर इत्येकार्थः, तस्मिंश्च व्यक्तिकरणे चत्वारः खलु मङ्खपुत्रा आहरणानि ।

तान्येवाह—

फलभिक्खगे होंहिं, बिइओ तइओ य वाइयत्थेणं ।
तिन्नि वि अकुडुंबभरा, तिगजोगचउत्थ भरई य ॥२०३॥

चत्वारो मङ्खास्तत्रामेकः फलकं गृहीत्वा हिण्डते न गाथा उच्चरति नापि वाचकमप्यर्थं भाषते स न किंचिल्लभते, द्वितीयो न फलकं गृह्णाति केवलं गाथाः पठन् हिण्डते सोऽपि न किंचिल्लभते, तृतीयो न फलकं गृह्णाति न गाथा उच्चरति परं वाचकमप्यर्थं भाषते सोऽपि न किंचिल्लभते, चतुर्थस्तु फलकं गृहीत्वा गाथाः पठंश्च तासामर्थं च भाषमाणो हिण्डते स सर्वत्र लभते । आद्यास्त्रयः कुटुम्बाभराश्चतुर्थस्त्रिकयोगे त्रिकयोगसंप्रयुक्तः कुटुम्बभरः, एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः व्यक्तावपि चत्वारो भङ्गा एकस्य सूत्रमायाति नार्थः, द्वितीयस्यार्थो न सूत्रम्, तृतीयस्य सूत्रमप्यायाति अर्थोऽपि चतुर्थस्य न सूत्रं नाप्यर्थः । अत्र द्वावाद्यौ चतुर्थश्चाद्यत्रिमङ्खपुरुषवत् न मोक्षलक्षणस्वकार्यप्रसाधकाः, तृतीयस्तु चतुर्थमङ्खवत् आत्मनो मोक्षप्रसाधकः ।

आह संप्रति कीदृशो व्यक्तिकारक इत्यत आह—

जे जम्मि युगे पवरा, तेसिं सगासम्मि जेण उग्गहिअं ।
परिवाडीण पमाणं, बुच्छं वित्तीकरो स खलु ॥२०४॥

ये यस्मिन् युगे प्रवराः—प्रधानास्तेषां सकाशे—समीपे येन ग्रहणा—धारणासमर्थेनावगृहीतं कतिभिः परिपाटीभिरित्यत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आह परिपाटीनां परिमाणमग्रे वक्ष्ये स खलु तदा व्यक्तिकरः। बृ० १ उ० १ प्रक० ।

वत्तिअयर-वार्तिककर–पुं । प्रज्ञातिशयवत्तया व्याख्यानादधिकं भाषमाणे, विशे० ।

व्यत्तिकर–पुं० । निरवशेषैरपि व्याख्याप्रकारैर्व्याख्येयप्रतिपादनकृति. विशे० ।

वत्तिणी–वर्त्तिनी–स्त्री० । मार्गे, " मग्गो पंथो सरणी अद्धाणं वत्तिणी पहो पयवी " । पाइ० ना० ५२ गाथा ।

वत्तिपइट्ठा–व्यक्तिप्रतिष्ठा–स्त्री० । यस्तीर्थकृद्यदा किल तस्य तदाद्येति समयविद इत्युक्तलक्षणे वर्तमानतीर्थकरप्रतिष्ठापने, जी० १ प्रति० । षो० ।

वत्तिय–वर्तित–त्रि० । वृत्तीभूते, " तए णं साली पत्तिया वत्तिया गब्भिया पसूआ " ' वत्तिय ' त्ति व्रीहीणां पत्राणि मध्यशलाकापरिवेष्टनेन नालरूपतया वृत्तानि भवन्ति, तद्वृत्ततया जातवृत्तत्वाद् वर्तिताः, शाखादीनां वा समतया वृत्तीभूताः सन्तो वर्तिता अभिधीयन्ते । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

वत्तियामय–वार्तिकामृत–न० । स्वनामख्याते अध्यात्मग्रन्थे-वित्तात्पुत्रः प्रियःपुत्रा-त्पिण्डाः पिण्डात्तथेन्द्रियम्।इन्द्रियेभ्यः परः प्राणः,प्राणादात्मा परः स्मृतः,"इति तत्रत्यं वचनम्।ती०।

वत्ती–देशी—सीम्नि, दे० ना० ७ वर्ग ३१ गाथा ।

वत्तुल–वर्तुल–त्रि० । वृत्ते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

वत्तेंत–वर्तयत्–त्रि० । श्लक्ष्णतां नयति, भ० ८ श० ७ उ० ।

वत्थ–वक्षस्–न० । हृदये , । " हारविराइयरइयवत्था " हारेण विराजमानेन, रचितं-शोभितं वक्षो यस्य स हारविराजमानरचितवक्षाः । रा० ।

वत्थ–न० । वस्तेऽनेनेति वस्त्रम् । वाससि, स्था० ६ ठा३ उ०। साटकादौ, उत्त० २ अ० । चीनांशुकादौ . सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । आ० म० । अम्बरे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । " वत्थगन्धमलंकारो इत्थीओ सयणाणि य " अनु० । दश०।

(१) एषणासमितिर्वस्त्रगता प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽध्ययनार्थाधिकारो वस्त्रैषणाप्रतिपाद्येति, उद्देशार्थाधिकारदर्शनार्थं तु निर्युक्तिकार आह—

पढमे गहणं बीए, धरणं पगयं तु दव्ववत्थेणं ।
एमेव होइ पायं, भावे पायं तु गुणधारी ॥ ३१५ ॥

प्रथमे उद्देशके वस्त्रग्रहणविधिः प्रतिपादितः, द्वितीये तु धरणविधिरिति । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे वस्त्रैषणेति , तत्र वस्त्रस्य नामादिश्चतुर्विधो निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे । द्रव्यवस्त्रं त्रिधा, तद्यथा—एकेन्द्रियनिष्पन्नं कार्पासिकादि , विकलेन्द्रियनिष्पन्नं चीनांशुकादि , पञ्चेन्द्रियनिष्पन्नं कम्बलरत्नादि । भाववस्त्रं त्वष्टादशशीलाङ्गसहस्राणीति । इह तु द्रव्यवस्त्रेणाधिकारः , तदाह निर्युक्तिकारः—' पगयं तु दव्ववत्थेणं ' ति । वस्त्रस्येव पात्रस्यापि निक्षेप इति मन्यमानोऽत्रैव पात्रस्यापि निक्षेपातिनिर्देशं निर्युक्तिकारो गाथापश्चार्द्धेनाह—' एवमेव ' इति वस्त्रवत्पात्रस्यापि चतुर्विधो निक्षेपः, तत्र द्रव्यपात्रमेकेन्द्रियादिनिष्पन्नम् , भावपात्रं साधुरेव गुणधारीति । आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

अथ भूयोऽपि परः प्रेरयति—

किं लक्खणेण अम्हं, सव्वाणियत्ताण पावविरयाणं ।
लक्खणमिच्छंति गिही, धणधन्ने कोसपरिवुड्ढी ॥२७६॥

अस्माकं सर्वस्माद्धनधान्याद्यभावात्तत्परिग्रहान्निवृत्तानां पापात्प्राणातिपातादिनिवृत्तानां किं वस्त्रादिलक्षणेनान्वेषितेन किञ्चिदित्यर्थः, ये तु गृहिणः सारम्भाः सपरिग्रहास्ते न धनधान्याद्यभावान्न किमपि वृद्धिं प्रापणीयमश्नुवन्ति ।

परस्याभिप्रायं सूरिराह—

लक्खणहीणो उवही, उवहणती णाणदंसणचरित्ते ।
तम्हा लक्खणजुत्तो, गच्छे दमएण दिट्ठंतो ॥ २७७ ॥

लक्षणैः-प्रशस्तवर्णसंस्थानादिभिर्हीन उपधिः साधूनां ज्ञानदर्शनचारित्राण्युपहन्ति, तस्माल्लक्षणयुक्तोऽसौ धारयितव्यः, तेन हि धार्यमाणेन गच्छे महती ज्ञानादिस्फातिरुपजायते । तथा चात्र द्रमकेण दृष्टान्तः । बृ० ३ उ० । (पुंसां वस्त्रद्वयं स्त्रीणां च वस्त्रत्रयं विना देवपूजादि न कल्पते इति ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२७६ पृष्ठे गतम् ।)

(२) वस्त्राणि जङ्गिकादीनि—

कप्पति निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा तओ वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तते वा, तं जहा–जंगिते भंगिते खोमिते । (सू०- १७०×) स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पञ्च वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा–जंगिए भङ्गिए साणए पोत्तिए तिरीडपट्टए णामं पंचमए । (सू० ४४६) स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह—

उवगरणं वि य पगयं,तस्स विभागो उ वितियचरिमम्मि।
आहारो वा वुत्तो, इदाणि उवहिस्स अधिकारो ॥ ६१ ॥

पूर्वसूत्रे तावदुपकरणमेव कृतम् , अतस्तस्योपकरणस्य विभागो विशेषप्ररूपणं द्वितीयोद्देशकस्य चरमे—अन्तिमे सूत्रद्वये क्रियते । अथवा—पूर्वसूत्रेषु सप्रपञ्चमाहार—उक्ताः इदानीं त्वस्मिन् सूत्रे उपधेरधिकारो यादृश उपधिर्ग्रहीतुं कल्पते तादृक् प्रतिपाद्यते इति भावः, ।

ताइं विरूवरूवाइ, देति वत्थाणि ताणि वा घेत्तुं ।
सेसे जतीण देज्जा, तत्थ इमे पंच कप्पंति ॥ ६२ ॥

अथवा—तानि परिधानप्रावरणकम्बलादीनि—रूपाणि वस्त्राणि यदा सागारिकप्रातिहारिकतया ददाति तदा गृहीत्वा पूज्यकलाचार्यादिशेषाणि भक्तोद्धरितानि यतीनां दद्यात् , तत्र तेषु दीयमानेषु अमूनि पञ्च वस्त्राणि कल्पन्ते अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (सू० ४४६) व्याख्या कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमानि पञ्च वस्त्राणि धारयितुं वा परिग्रहे धर्तुं परिभोक्तुं तद्यथा—जङ्गमाः—त्रसास्तदवयवनिष्पन्नत्वाज्जाङ्गमिकम् ,सूत्रे प्राकृतत्वात् मकारलोपः । भङ्गा-अतसी तन्मयं भाङ्गिकम् ,सनकसूत्रमयं-सानकम् ; पोतकम्

१—अयमनुवादो ग्रन्थकारानुरोधात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कार्पासिकम्. तिरीडो-वृक्षविशेषस्तस्य यः पट्टो वल्कलक्षणं तन्निष्पन्नं तिरीडपट्टकं नाम पञ्चकम्। एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अथ विस्तरार्थं भाष्यकारो विभणिषुराह—

जंगमजायं जंगिय, तं पुण विगलिंदियं व पंचिंदी।
एकेकं पि य एत्तो, होंति विभागेण णेगविहं ॥ ६३॥

जङ्गमेभ्यो जातं जाङ्गिकम्, तत्पुनःविकलेन्द्रियनिष्पन्नं पञ्चेन्द्रियं वा अनयोर्मध्ये एकैकमपि विभागेन विद्यमानमनेकविधं भवति।

तद्यथा—

पट्टं सुवन्नमलए, अंसुगचीणंसुके य विगलिंदी।
उणोट्टियमियलोमे, कुतवे किट्टे अ पंचिंदी॥ ६४॥

'पट्टं' ति पट्टसूत्रजम् 'सुवन्न' त्ति सुवर्णवर्णं सूत्रं केषांचित् कृमीणां भवति, तन्निष्पन्नं सुवर्णसूत्रजम्, मलयो नाम देशस्तत्सम्भवं मलयजम्, अंशुकः-श्लक्ष्णपट्टः तन्निष्पन्नमंशुकम्, चीनांशुको नाम कोशिकरोमाणि तस्मायातं चीनांशुकम्, यद्वा—चीनो नाम जनपदस्तत्र श्लक्ष्णतरः पट्टस्तस्मायातं चीनांशुकम्। एतानि विकलेन्द्रियनिष्पन्नानि। तथा-और्णिकम्, औष्ट्रकम् उष्ट्ररोमजं चेति प्रतीतानि। कुतपोजिणं किट्टं तेषामेवार्णा रोमादीनामवयवास्तन्निष्पन्नं वस्त्रमपि किट्टम् एतानि पञ्चेन्द्रियनिष्पन्नानि द्रष्टव्यानि।

अथ भाङ्गिकादीनि चत्वार्यप्येकगाथया व्याचष्टे—

अतसीवंसीमादिउ, भङ्गियं साणकं तु सणवके।
पोत्तय कप्पासमयं, तिरीडरुक्खा तिरीडपट्टो॥ ६५॥

अतसीमयं वा 'वंसि' त्ति वंशकरीलस्य मध्यायन्निष्पद्यते पट्टा एवमादिकं, भाङ्गिकम् यत्पुनः सनवृक्षवल्कात् जातं तद्वस्त्रं सानकम्, 'पोतकं कार्पासमयम्, तिरीडवृक्षवल्काज्जातं तिरीडपट्टकम्।

पञ्च परूवेऊणं, पत्तेयं गेण्हमाणसंतम्मि।
कप्पासिगा य दोण्णि उ, उण्णिय एक्को य परिभोगे॥६६॥

एवं पञ्च वस्त्राणि प्ररूप्य सम्प्रति ग्रहणविधिरभिधीयते प्रत्येकमेकैकस्य साधोः प्रयोग्याणि वस्त्राणि गृह्णतः सविद्यमाने लाभे द्वौ कल्पौ कार्पासिकौ, एकस्त्वौर्णिक इत्येवं यत्रः कल्पाः ग्रहीतव्याः, परिभोगश्चामीषां वक्ष्यमाणविधिना विधातव्यः। यथा पुरातनगाथा।

अथैनामेव विवृणोति—

एकोन्नि सोत्ति दुन्नी, तिण्णि वि गेण्हिज्ज ओण्णिए लहुओ।
पाउरमाणा चेवं, अंतो मज्झे व जति ओण्णि॥ ६७॥

एक आर्णिकः कल्पो, द्वौ वा सौत्रिकौ प्रत्येकं ग्रहीतव्यौ। अथ त्रीनपि कल्पान्, सौत्रिकानौर्णिकान् वा गृह्णाति ततो मासलघु, प्रावृण्वन्नपि यद्यकमौर्णिकं प्रावृणोति तत एवमेव मासलघु. अन्तश्च शरीरानन्तरितं मध्ये तावद् द्वयोः सौत्रिकयोमध्ये भागे यद्यौर्णिकं प्रावृणोति तदापि मासलघु।

इदमेव भावयति—

अब्भिंतरं च बाहिं, बाहिं अब्भिंतरं करेमाणे।
परिभोगविवचासे, आवज्जइ मासियं लहुयं॥ ६८॥

अभ्यन्तरपरिभोग्यं सौत्रिकं कल्पं बहिः कुर्वन् प्रावृण्वन् बहिः परिभोग्यं चौर्णिकमभ्यन्तरं कुर्वन् परिभोगव्यत्यासं करोति; तत्र चापद्यते मासिकं लघुकम्। अतः सौत्रिकमन्तः प्रावृणुयात् और्णिकं तु बहिः, एष विधिपरिभोग उच्यते

अथ विधीयमाने गुणानुपदर्शयति—

छप्पइयपणगरक्खा, भूसा उज्झायणा य परिहरिया।
सीतत्ताणं च कतं, खोम्मिय अब्भितरेणं व॥ ६९॥

और्णिके ह्यन्तःपरिभुज्यमाने षट्पदिकाः संगच्छेरन्; ततः सौत्रिकमन्तः प्रावृण्वता षट्पदिका रक्षिता भवन्ति, और्णिकं चान्तः परिभुज्यमानं मलीमसं भवति, तत्र च पनकः संसज्यते, अतो विधिपरिभोगे पनकस्यापि रक्षा कृता भवति, सौत्रिकेण च बहिः प्रावृतेन विभूषा न भवेत्, तथा वस्त्रमहर्निशमपि परिभुज्यमानं न मलीमसम्भवति, कन्दली तु परिभुज्यमाना मलीमसा जायते, मलीमसतया च दुर्गन्धा। अतो विधिपरिभोगे 'उज्झायणा' दुर्गन्धतः साऽपि परिहृता, सौत्रिककल्पगर्भया च कम्बलिकया प्राव्रियमाणया शीतत्राणं कृतं स्यात्, एतेन कारणकलापेन क्षौमिकं कार्पासिकं वस्त्रमभ्यन्तरे प्रावरणीयम्।

अथ कार्पासिकं न प्राप्यते ततः किं कर्तव्यमित्याह—

कप्पासियस्स असती, वागयपट्टे य कोसिवारे य।
असती य उण्णियस्स, वागतकोसेयपट्टे य॥ ७०॥

कार्पासिकस्याभावे—वल्कजम्, तस्याभावे पट्टवस्त्रम्, तदप्राप्तौ कौशिकवस्त्रमपि ग्रहीतव्यम्, अथौर्णिकं न प्राप्यते तत और्णिकस्य स्थाने प्रथमं वल्कजम्, ततः—कौशेयम्, ततः पट्टमपि ग्राह्यम्, यद्वा—पट्टशब्देनात्र तिरीटपत्रकमुच्यते। चशब्दादतसीवंशमयमपि ग्रहीतव्यम्।

अथ प्रावरणे गणनाविधिमाह—

ण उण्णियं पाउरते तु एक्कं,
दोण्णी जतो खोम्मिय उण्णियं च।
दो सुत्ति अंतो बहि उण्णितो ता,
दुगाहि ओण्णी व बहिं परेणं॥ ७१॥

और्णिकं कल्पमेकं न प्रावृणुते अर्थादापन्नं सौत्रिकमपि प्रावृणुयात्, यदा तु द्वौ कल्पौ प्रावृणोति तदा क्षौमिकमन्तः, द्वितीयं पुनरौर्णिकं बहिः प्रावृणुयात्। त्रिषु कल्पेषु प्रावरीतुमिष्टेषु द्वौ सौत्रिकावन्तः एकं चौर्णिकं बहिः प्रावृणुयात्, अथौर्णिकान् द्व्यादीनपि प्रावरीतुमिच्छति, ततो त्रिप्रभृतयोऽप्यौर्णिका बहिः सौत्रिकात्परतः प्रावरणीयाः।

अथ वस्त्रग्रहणे विधिमाह—

पञ्चण्हं वत्थाणं, परिवाभिगए य होइ गहणं तु।
उप्परिवाडीगहणे, पच्छित्ते मग्गणा होइ॥ ७२॥

पञ्चानां जाङ्गकादीनां वस्त्राणां परिपाट्या ग्रहणं कर्तव्यम्, परिपाटी नाम कार्पासकमौर्णिकं च. तदभावे वल्कजपट्टकादिकमित्यादिरनन्तरोक्तक्रमः, तमुल्लङ्घ्योत्परिपाट्या ग्रहणे प्रायश्चित्तस्य मार्गणा भवति, तद्यथा—जघन्यमुपधिमुत्परिपाट्या गृह्णाति पञ्च रात्रिन्दिवानि, मध्यमे मासलघु उत्कृष्टे चतुर्गुरुकम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतदेव भावयते—

अलंभकम्मस्स तु अप्पकम्म,भावेय तस्सावि तु जं सकम्मं एवं अकाउं चउरो उ मासो,भवंति वत्थे परिवाडिहीणे ७३

तच्छेदनसीवनसन्धानादेरेकमपि परिकर्म यत्र न भवति, तद्यथाकृतम् । यस्य तु दशिका वा केवलं छेत्तव्या, सन्धानं वा द्वयोःखण्डयोर्विधेयम् , वुननं वा कर्त्तव्यम् , तदल्पपरिकर्म । यत् बहुधा छिद्यमानं संधीयमानतया प्रमाणप्राप्तं भवति, यद्वा-बहुधा सीवितव्यम् , तद्वस्त्रं बहुकर्म्मोच्यते,तत्र प्रथमं यथाकृतं मार्गयितव्यम् , तस्याभावे यत्सत्कर्म तस्याप्यभावे बहुपरिकर्म्मकम् । अथैवंविधं योगमकृत्वा प्रथममेवाल्पपरिकर्म बहुपरिकर्म वा गृह्णाति ततश्चत्वारो मासा लघवः । तुशब्दो विशेषणे । तन्नञ्चायमर्थः—उत्कृष्टवस्त्रं यथाकृतादिविपर्यासग्रहणे चतुर्लघवः, मध्यमस्य विपर्यासे मासिकम् , जघन्यस्य व्यत्यासे पञ्चकम् , एवं परिपाटीहीने यथोक्तग्रहणक्रमरहिते वस्त्रे गृह्यमाणे प्रायश्चित्तम् ।

अथ द्वितीयपदमाह—

अद्धाणमाईसु उ कारणेसुं,
कुज्जा अलंभम्मि उ उक्कमं पि ।
गेलन्नमादीसु विवज्जियं वा,
ऽसती य कुज्जा खलु खुम्मियस्स ॥

अध्वा-विप्रकृष्टो मार्गस्तं प्रपन्नानां ततो वा निर्गतानां दुर्लभं वस्त्रं भवेत् एवमादिषु कारणेषु वस्त्रस्यालाभे उत्क्रममपि कुर्यात् , यथाकृतादिक्रमव्यत्यासेनापि गृह्णीयादिति भावः । तथा ग्लानत्वानात्मवशतादिषु कारणेषु विपर्ययमपि कुर्यात् अन्तः परिभोग्यं बहिः परिभोग्यं वा अन्तः प्रावृणुयादिति भावः । क्षौमिकस्य वा कल्पस्याभावे खल्वेकमप्यौर्णिकं प्रावृणुयात् । बृ० २ उ० । पं० भा० । पं० चू० ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा वत्थं एसित्तए, से जं पुण वत्थं जाणेज्जा, तं जहा-जंगियं वा भंगियं वा साणियं वा पोत्तयं वा खोमियं वा तूलकडं वा, तहप्पगारं वत्थं वा जे णिग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारेज्जा,णो बितियं । जा णिग्गंथी सा चत्तारि संघाडीओ धारेज्जा । एगं दुहत्थवित्थारं, दो तिहत्थवित्थाराओ, एगं चउहत्थवित्थारं, तहप्पगारेहिं वत्थेहिं असंधिज्जमाणेहिं । अह पच्छा एगमेगं संसीविज्जा । (सू०-१४१)

स भिक्षुरभिकाङ्क्षेद्वस्त्रमन्वेष्टुं तत्र यत् पुनरेवंभूतं वस्त्रं जानीयात्तद्यथा-' जंगियं ' ति जङ्गमोष्ट्राद्यूर्णानिष्पन्नम् , तथा ' भंगियं ' ति नानाभङ्गिकविकलेन्द्रियलालानिष्पन्नम् , तथा-' साणयं ' ति शणवल्कलनिष्पन्नम् , 'पोत्तगं' ति ताड्यादिपत्रसङ्घातनिष्पन्नम् , ' खोमियं ' ति कार्पासिकम् 'तूलकडं ' ति अर्कादितूलनिष्पन्नम् , एवं तथाप्रकारमन्यदपि वस्त्रं धारयेदित्युत्तरेण संबन्धः । येन साधुना यावन्ति धारणीयानि तद्दर्शयति-तत्र यस्तरुणो निर्ग्रन्थः—साधुर्यौवने वर्त्तते, बलवान्-समर्थः अल्पातङ्कः-अरोगी स्थिरसंहननः-दृढकायः दृढधृतिश्च, स एवंभूतः साधुरेकं वस्त्रम्—प्रावरणं त्वक्त्राणार्थं धारयेन्नो द्वितीयमिति । यदपरमाचार्यादिकृते बिभर्ति तस्य स्वयं परिभोगं न कुरुते । यः पुनर्बालो दुर्बलो वृद्धो वा यावदल्पसंहननः स यथासमाधि द्व्यादिकमपि धारयेदिति, जिनकल्पिकस्तु यथाप्रतिज्ञमेव धारयेत न तत्रापवादोऽस्ति । या पुनर्निर्ग्रन्थी सा चतस्रः सङ्घाटिका धारयेत् , तद्यथा-एकां द्विहस्तपरिमाणां यां प्रतिश्रये तिष्ठन्ती प्रावृणोति, द्वे त्रिहस्त-परिमाणे , तत्रैकामुज्ज्वलां भिक्षाकाले प्रावृणोति, अपरां बहिर्भूमिगमनावसर इति, तथा अपरां चतुर्हस्तविस्तरां समवसरणादौ सर्वशरीरप्रच्छादिकां प्रावृणोति, तस्याश्च यथाकृताया अलाभे अथ पश्चादेकमेकेन सार्द्धं सीव्येदिति । आचा०२श्रु०१ चू०५ अ०१उ० ।

(३) सम्प्रति वस्त्रकल्पिकमभिधित्सुराह-

नामं ठवणा वत्थं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
एसो खलु वत्थस्स उ, निक्खेवो चउविहो होइ ।६०६।

वस्त्रं खलु चतुर्विधम् , तद्यथा-नामवस्त्रम् , स्थापनावस्त्रम् , द्रव्यवस्त्रम् , भाववस्त्रं च । एष खलु वस्त्रस्य निक्षेपश्चतुर्विधो भवति । तत्र नामस्थापने प्रतीते ।

द्रव्यवस्त्रमाह—

दव्वे तिविहं एगिं-दियविगलपचिंदिएहिँ निप्फन्नं ।
सीलंगाइं भावे, दव्वे पगयं तदट्ठाए ॥ ६१० ॥

द्रव्यवस्त्रं त्रिविधम् , तद्यथा—एकेन्द्रियनिष्पन्नं विकलेन्द्रियनिष्पन्नं पञ्चेन्द्रियनिष्पन्नं च । तत्रैकेन्द्रियनिष्पन्नं कार्पासिकादि विकलेन्द्रियनिष्पन्नं कौशेयकादि, पञ्चेन्द्रियनिष्पन्नं-मौर्णिककौष्ट्रिकादि भावे-भाववस्त्रमष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि ।

अथ कान्यष्टादशशीलाङ्गसहस्राणीति ? उच्यते—

करणे जोगे सन्ना-इंदियभोमादिसमणधम्मे य ।
सीलंगसहस्साणं, एता उ भवे समुप्पत्ती ।

अस्या अक्षरगमनिका-करणं त्रिविधम् ,तद्यथा-करणम्,कारापणम्,अनुमोदनं च । त्रिविधो योगो-मनोयोगो, वाग्योगः, काययोगश्च । संज्ञाश्चतस्रः, तद्यथा-आहारसंज्ञा भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा च । इन्द्रियाणि पञ्च, तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियम् , चक्षुरिन्द्रियम् , घ्राणेन्द्रियम् , जिह्वेन्द्रियम् , स्पर्शनेन्द्रियम् । 'भोमादी' ति भौमः-पृथिवीकायविषयसमारम्भः आदिशब्दाद्-अप्कायसमारम्भः तेजस्कायसमारम्भः वायुकायसमारम्भः द्वीन्द्रियसमारम्भस्त्रीन्द्रियसमारम्भश्चतुरिन्द्रियसमारम्भः पञ्चेन्द्रियसमारम्भो जीवकायसमारम्भश्च । श्रमणधर्मोऽपि दशधा क्षान्तिमार्दवमार्जवमलोभतातपःसत्यसंयमस्त्यागोऽकिञ्चनता ब्रह्मचर्यञ्चा एतैःस्थानैरष्टादशानां शीलाङ्गसहस्राणामुत्पत्तिस्तद्यथा-"न करेइ सयं साहू, मणसा आहारसन्नउवउत्तो । सोइंदियसंवरणो, पुढविजिए खंति सम्पन्नो॥१॥ न करेइ सयं साहू,मणसा आहारसन्नउवउत्तो । सोइंदियसंवरणो,पुढविजिए मद्दवपवत्तो॥२॥" एवं तावद्वक्तव्यं यावद्दशम्यां गाथायां 'बंभचेरगए' इति, एते दशभङ्गाः पृथिवीकायसमारम्भपरिहारेण लब्धाः । एवमप्कायादिपरिहारेणापि प्रत्येकं दश दश लभ्यन्ते इति सङ्कलनया जातं शतम् । एतच्च श्रोत्रेन्द्रियेण लब्धमेवं शेषैरपि इन्द्रियैः प्रत्येकं शतं लभ्यते, इति जातानि पञ्च शतानि । एतानि चाहारसंज्ञोपयुक्तेन लब्धानि, एवं शेषाभिरपि संज्ञाभिः प्रत्येकं पञ्चशता-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीति सर्वसंख्यया जाते द्वे सहस्रे । एतं च न करोतीत्यनेन पदेन लब्धे । एवम्-'न, कारवेइ' इत्यनेन 'नो अणुमन्नइ'इत्यनेन च प्रत्येकं लभ्येते इति, सर्वमीलने जातानि षट् सहस्राणि, तानि लब्धानि मनोयोगेन एवं वाग्योगेन काययोगेनापीति सर्वसंख्यया जातान्यष्टादशसहस्राणि । एतैरष्टादशभिः शीलाङ्गसहस्रैर्नित्यप्रावृताः साधवोऽवतिष्ठन्ते । तत एतानि भाववस्त्रम् । 'दव्वे पगइ' मित्यादि अत्र द्रव्यवस्त्रेणाधिकारो यतस्तत् द्रव्यवस्त्रं तदर्थाय-भाववस्त्राय भवति भाववस्त्रस्योपग्रहं करोतीत्यर्थः ।

(४) ततः प्रकृतमत्र द्रव्यवस्त्रेण-

पुणरवि दव्वे तिविहं, जहन्नगं मज्झिमं च उक्कोसं ।
एक्केक्कं तत्थ तिहा, अहाकडऽप्पं सपरिकम्मं ॥६११॥

यत् द्रव्यवस्त्रमेकेन्द्रियादिनिष्पन्नतया त्रिविधमुक्तं तत्पुनरपि प्रत्येकं त्रिधा, तद्यथा-जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं च । तत्र कार्पासिकम्-जघन्यम्—मुखपोत्तिकादि, मध्यमम्—पढलकादि, उत्कृष्टम्—कल्पादि, एवं शेषे अपि कौशेयकादिके यथायोगं भावनीये । एतेषामेकैकं त्रिधा—त्रिप्रकारम्, तद्यथा—यथाकृतमल्पपरिकर्म, सपरिकर्म च ।

एषामुत्पादने यथोक्तविध्यकरणे प्रायश्चित्तमाह—

चाउम्मासुक्कोसे, मासियमज्झे य पञ्च य जहन्ने ।
वोच्चत्थगहणकरणे, तत्थ वि सट्ठाण पच्छित्तं ॥६१२॥

उत्कृष्टे—उत्कृष्टवस्त्रविषये विपर्यस्तग्रहणे च—विपर्यासेन ग्रहणे प्रायश्चित्तं चतुर्मासाः, मध्यमे मासिकम्, जघन्ये पञ्चरात्रिंदिवानि । इयमत्र भावना-उत्कृष्टस्य यथाकृतस्य वस्त्रस्योत्पादनाय निर्गतस्तस्य विषये योगमकृत्वा यद्यल्पपरिकर्मोत्कृष्टं गृह्णाति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु, यदा किल यथाकृतं योगें कृतेऽपि न लभ्यते तदाऽल्पपरिकर्म्म ग्रहीतव्यं नान्यदा न तु विपर्यय इत्युक्तरूपं प्रायश्चित्तम् । यथोत्कृष्टमेव सपरिकर्म्म गृह्णाति तदाऽपि चतुर्लघु । अथ यथाकृतमुत्कृष्टं वस्त्रं कृतेऽपि योगे न लब्धं तत उत्कृष्टस्याल्पपरिकर्म्मणो मार्गणं कर्त्तव्यमेव, तत्करणाय निर्गतस्तस्य योगमकृत्वा सपरिकर्मोत्कृष्टं वस्त्रमाददानस्य चतुर्लघु, एवमुत्कृष्टविषये त्रीणि चतुर्लघुकानि । तथा—मध्यमस्य वस्त्रस्योत्पादनाय निर्गतस्तस्य योगमकृत्वाऽल्पपरिकर्म मध्यमं गृह्णाति तदा मासलघु । अथ सपरिकर्म मध्यमं गृह्णाति तदाऽपि मासलघु, यदा यथाकृतं न लभ्यते तदाल्पऽपरिकर्म मध्यमं याचनीयमिति वचनतो यथाकृतेऽस्य योगे कृतेऽस्यालाभे अल्पपरिकर्मण उत्पादनाय निर्गतस्तस्य विषये योगमकृत्वा यदि सपरिकर्म मध्यमं गृह्णाति तदाऽपि मासलघु, एवं मध्यमविषये त्रीणि मासिकानि । तथा जघन्यस्य यथाकृतस्योत्पादनाय निर्गतस्तस्य योगमकृत्वाऽल्पपरिकर्म जघन्यं गृह्णाति तदा रात्रिन्दिवपञ्चकम्, अथ सपरिकर्म जघन्यमाददाति तदापि पञ्चकम्, यदाऽनुयोगे कृतेऽपि यथाकृतं न लभ्यते तदाऽल्पपरिकर्म्म मार्गयितव्यमिति तस्योत्पादनाय निर्गतस्तद्विषयं योगमकृत्वा सपरिकर्म गृह्णानस्य पञ्चकमेवं जघन्यविषये त्रीणि पञ्चकानि । एतच्च प्रायश्चित्तमधिकृत्य विषये योगाकरणे, योगे तु कृते लाभाभावतस्तथा ग्रहणेऽपि दोषाभावः । तथाह—यथाकृताय निर्गतस्तस्य योगे कृतेऽपि न लब्धं ततोऽल्पपरिकर्मापि गृह्णन् शुद्धः, अल्पपरिकर्मणो वा निर्गतस्तस्य योगे कृतेऽप्यलभ्यमानः सपरिकर्म गृह्णन् शुद्धः, न केवलमेतत्, विपर्यस्तग्रहणे प्रायश्चित्तं किं कृत्वोत्कृष्टादिविपर्यस्तग्रहणे स्वस्थानमपि, तद्यथा-उत्कृष्टस्योत्पादनाय निर्गतो मध्यम गृह्णाति मासिकम्, जघन्यं गृह्णाति रात्रिन्दिवपञ्चकम्, मध्यमस्य निर्गत उत्कृष्टं गृह्णाति चतुर्लघु, जघन्यं गृह्णाति पञ्चकम् । जघन्यस्य निर्गत उत्कृष्टं गृह्णाति मासलघु । सर्वत्र चाज्ञादयो दोषाः । तदेवं ग्रहणे प्रायश्चित्तं स्वस्थानमुक्तम् । एवं करणेऽपि—उत्कृष्टादिकरणेऽपि स्वस्थानप्रायश्चित्तमवसातव्यम् । तद्यथा-उत्कृष्टं वस्त्रं छित्त्वा सीवित्वा च मध्यमकं करोति मासलघु, जघन्यं करोति रात्रिंदिवपञ्चकम् । मध्यमं छित्त्वा सीवित्वा वा उत्कृष्टं करोति चतुर्लघु, जघन्यं करोति रात्रिंदिवपञ्चकम् । जघन्यं सीवित्वा छित्त्वा वा उत्कृष्टं करोति चतुर्लघु, मध्यमं करोति मासिकम् । यत एवं स्वस्थानं प्रायश्चित्तं ततो विपर्यस्तग्रहणकरणे न विधेयं । बृ० १ उ० १ प्रक० । साम्प्रतं वस्त्रकल्पिको भाव्यते, तत्रापि गाथाचतुष्टयं श्रीमलयगिरिणैव व्याख्यातमितः प्रभृति विव्रियते । तत्र यदुक्तमनन्तरगाथायाम्—"वोच्चत्थगहणकरणे तत्थ वि सट्ठाणपच्छित्तं" ति ।

तदेव भावयति—

जोगमकाउमहागडे, जो गिण्हइ दोन्नि तेसु वा चरिमं ।
लहुगा उ तिन्नि मज्झ-म्मि मासिया अंतिमे पंच ॥६१३॥

योगम्-व्यापारमुद्यममकृत्वा यथाकृतं-यथाकृतवस्त्रविषयं साधुः द्वे अल्पपरिकर्मसपरिकर्मणी गृह्णाति, तद्यथा—यथाकृतस्यार्थाय निर्गतस्तस्य योगमकृत्वा प्रथममेवाल्पपरिकर्मसपरिकर्मणोर्योगमकृत्वा प्रथममत एव तयोरल्पपरिकर्मसपरिकर्मणोर्मध्ये चरमम्-अन्त्यं सपरिकर्म गृह्णाति, तस्यैतेषु त्रिषु स्थानेषु उत्कृष्टमध्यमजघन्यान्यधिकृत्य यथाक्रमं प्रायश्चित्तम्, तद्यथा—उत्कृष्टे त्रिषु स्थानेषु त्रयश्चतुर्लघवः, मध्यमे त्रीणि मासिकानि, अन्तिमे जघन्ये त्रीणि पञ्चरात्रिन्दिवानि । अत्र च भावना पूर्वगाथायां कृतेति न भूयो भाव्यते । उक्तं यथाकृतादिविपर्यासग्रहणे प्रायश्चित्तम् ।

संप्रत्युत्कृष्टादिविषये विपर्यासेन ग्रहणे च तदाह—

एगयरनिग्गओ वा, अन्नं गिण्हेज्ज तत्थ सट्ठाणं ।
छित्तूण सीविऊणं, जं कुणइ तगं ण जं छिंदे ॥६१४॥

जघन्यादीनामेकतरस्यार्थाय निर्गतो वाशब्दो वैपरीत्ये स च प्रकारान्तरद्योतने । अन्यत् येन न प्रयोजनं तत् गृह्णीयात्ततः स्वस्थानं प्रायश्चित्तम्, तद्यथा—उत्कृष्टस्य निर्गतो मध्यमं गृह्णाति मासिकम्, जघन्यं गृह्णाति पञ्चकम् । मध्यमस्य निर्गतः उत्कृष्टं गृह्णाति चतुर्लघु, जघन्यं गृह्णाति पञ्चकम् । जघन्यस्य निर्गत उत्कृष्टं गृह्णाति चतुर्लघु, मध्यमं गृह्णाति मासलघु । तथा आज्ञाभङ्गादयश्च दोषाः । यत्तेन विवक्षितवस्त्रेण कार्यं तस्यान्येनाप्रतिपूरणम्, जघन्येन प्रयोजने समापतिते मध्यमोत्कृष्टयोर्गृह्यमाणयोरतिरिक्तोपकरणदोषस्तथोत्कृष्टादिकं छित्त्वा सीवित्वा वा यन्मध्यमादिकं करोति, गतं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । पुनर्यच्छिनत्ति तन्निष्पन्नम् । तथाहि-उत्कृष्टं छित्त्वा मध्यमं करोति मासलघु, जघन्यं करोति पञ्चकम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मध्यमानि छित्वा सीवित्वा च उत्कृष्टं करोति—चतुर्लघु, जघन्यं करोति पञ्चकम् । जघन्यानि सीवित्वा उत्कृष्टं करोति चतुर्लघु, मध्यमं करोति मासलघु इति । एवं यत्करोति तन्निष्पन्नमेव प्रायश्चित्तमापद्यते न पुनः छिद्यमानसीव्यमानवस्त्रनिष्पन्नम्—अन्येऽप्याज्ञाभङ्गादयो दोषाः द्रष्टव्याः, नवरं विराधना द्विधा-संयमविराधना, आत्मविराधना च । संयमविराधना-वस्त्रे छिद्यमाने सीव्यमाने वा तद्गता षट्पदिकादयो विनाशमापद्यन्ते । आत्मविराधना-हस्तोपघातादिका । तथा यावद्वस्त्रं छिद्यते सीव्यते वा तावत्सूत्रार्थपरिमन्थ इत्यादयो दोषा अभ्यूह्य वक्तव्याः । यत एवं दोषजालमुपढौकते ततः कारणाभावे छेदनसीवनादि न कर्त्तव्यम् । कारणे तु यतनया कुर्वाणः शुद्धः । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

(५)कियद्दूरं गवेषणायां वस्त्रस्य गन्तव्यम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा परं अद्धजोयणमेराए वत्थपडियाए णो अभिसंधारिज्ज गमणाए । (सू०-१४२) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण आर्सेस पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं जहा पिंडेसणाए भाणियव्वं ॥ एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं । बहवे साहम्मिणीओ बहवे समणमाहण० तहेव पुरिसंतरकडा जहा पिंडेसणाए । (सू०-१४३)

'से'इत्यादि स भिक्षुर्वस्त्रार्थमर्द्धयोजनात् परतो गमनाय मनो न विदध्यादिति सूत्रद्वयमाधाकर्मिकोद्देशेन पिण्डैषणावन्नेयमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

(६) अथ वस्त्रस्य गवेषणे कति प्रतिमा गच्छवासिनां कति गच्छनिर्गतानामित्यत आह—

उद्दिट्ठ पेहि अन्तर, उज्झियधम्मे चउत्थए होइ ।
चउपडिमा गच्छजिण, दोण्हग्गहभिग्गहण्णयरं ॥६१५॥

इह यद्वस्त्रं गुरुसमक्षमुद्दिष्टं-प्रतिज्ञातं यथा-अमुकं जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं वा आनेष्य तदेव गृहिभ्यो याचमानस्योद्दिष्टवस्त्रमिति प्रथमा । तथा-'पेहि'त्ति प्रेक्षा—आलोकनम् तत्पुरस्सरं यद्वस्त्रं याच्यते तत्प्रेक्षावस्त्रम्, तथाऽभिनवं वस्त्रयुगलं परिधाय प्रावृत्य च पुरातन स्थापयितुकामो न तावदद्यापि स्थापयति इत्यत्रान्तरा-अपान्तराले यद्याच्यते तदन्तरावस्त्रम्,तथा'उज्झियं'उज्झितं परित्याग इत्यर्थः,धर्मशब्दश्च यद्यपि "धर्मोपमेयोपमापुण्यस्वभावाचारधनवसुसत्सङ्गेऽर्हत्यहिंसादौ-न्यायोपनिषदोरपी" ति वचनादनेकेष्वर्थेषु रूढः, तथापीह-प्रकृतत्वात् स्वभावार्थो द्रष्टव्यः । तत उज्झितमेव धर्मः स्वभावो यस्य तदुज्झितधर्म परित्यागार्हमित्यर्थः, एतच्च वस्त्रैषणासूत्रक्रमप्रमाण्याच्चतुर्थमेव चतुर्थकं भवति,एताश्चतस्रः प्रतिमाप्रतिपत्तयः-वस्त्रस्य ग्रहणप्रकारा इत्यर्थः ।'गच्छ' त्ति सूत्रकत्वात्सूत्रस्य गच्छवासिनामेताश्चतस्रोऽपि भवन्ति, 'जिणे' त्ति जिनकल्पिकानां यावज्जीवं द्वयोरुपरितनयोः आद्ययोर्द्वया ग्रहणं स्वीकार आग्रहो द्वयोरेवैतयोर्ग्रहणं नाधस्तनयोर्द्वयोरित्यर्थः । तत्राप्यन्तरस्यामभिग्रहः, किमुक्तं भवति-यदा तृतीयस्यां ग्रहणं न तदा चतुर्थ्याम् ,यदा चतुर्थ्यां न तदा तृतीयस्यामिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति-

उद्दिट्ठतिगेगयरं, पेहा पुण दट्ठु एरिसं भणइ ।
अन्नेनियत्थच्छुरिए, इतरऽन्नेणितो उ तइयाए ॥६१६॥

उद्दिष्टं—गुरुसमक्षं प्रतिज्ञातं यत् जघन्यमध्यमोत्कृष्टलक्षणस्य त्रिकस्यैकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियनिष्पन्नवस्त्रत्रिकस्य वा एकतरं तदेव वाद्दष्टं सन्धाव्यमानमुद्दिष्टमिति भाविता प्रथमा प्रतिमा । अथ द्वितीया भाव्यते-'पेहा पुण' त्ति प्रेक्षावस्त्रं यदि पुनरिदम् , यथा कोऽपि साधुः कस्याप्यागारिणः सत्कं वस्त्रं दृष्ट्वा भणति—यादृशमेतद्वस्त्रं दृश्यते तादृशमिदं मे प्रयच्छेति भणन् तदेव वस्त्रं हस्तप्रान्तेन दर्शयति तत् प्रेक्षावस्त्रमिति द्वितीया प्रतिमा । तृतीया भाव्यते-तस्याश्चान्तरीयोत्तरीयवस्त्रयुगलद्वारेण प्ररूपणा कर्त्तव्या, तथा—श्रीमदाचाराङ्गे द्वितीये श्रुतस्कन्धे प्रथमे अध्ययने प्रमोद्देशके सूत्रमिदम्-"अहावरा तच्चा पडिमा से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण वत्थं जाणेज्जा, तं जहा—अंतरिज्जगं वा उत्तरिज्जगं वा"अथ किमिदमन्तरीयं किं वा उत्तरीयम्?उच्यते-अन्तरीयं नाम निवसनं परिधानमित्यर्थः, उत्तरीयं नाम प्रावरणं प्रच्छदपटीत्यर्थः, अथवा-अन्तरीयं यच्छय्यायामधस्तनं वस्त्रमास्तीर्यते, उत्तरीयं पुनः-यत्तदुपरि प्रस्तीर्यते तस्मिन्नन्तरीयोत्तरीयवस्त्रयुगले-अन्यस्मिन्नभिनवे नियच्छुरिते निवासिते परिहिते वृत्ते वा इत्यर्थः, द्वितीयव्याख्यानापेक्षया शय्याया उपरि 'अच्छुरिय' त्ति आस्तीर्णे इतरत् पुराणमन्तरीयोत्तरीययुगलम् अपनयतश्चापनयितुमना इत्यन्तरा यन्मार्ग्यते तदन्तरावस्त्रमिति तृतीया प्रतिमा ।

संप्रति चतुर्थीं व्याख्यानयति—

दव्वाइ उज्झिय द-व्वओ उ मूलं मए न घेत्तव्वं ।
दोहि वि भावनिसिद्धं, तमुज्झिओ भद्दणो भद्दं॥६१७॥

इह चतुर्थी प्रतिमा उज्झितधर्मवस्त्रं गवेषणीयं तच्चतुर्द्धा द्रव्योज्झितम्,आदिशब्दात्क्षेत्रकालभावोज्झितपरिग्रहः। तत्र द्रव्योज्झितम्,यथा-कनचिदगारिणा प्रतिज्ञातं मया स्थूलवस्त्रं न ग्रहीतव्यम् , अन्यदा तस्य तदेव केनापि वयस्यादिनोपढौकितम् , स च ब्रूते-पर्याप्तमेतेन नाहं गृह्णामि, इतरोऽपि ब्रूते-ममाप्यलमेतेन नाहमात्मना दत्तं पुनः स्वीकरोमि इत्येवं द्वाभ्यामपि दायकग्राहकाभ्यां भावतः परमार्थतोऽपि स्पृष्टं परित्यक्तमनुष्मिन् देशकाले यदि जिनकल्पिकादिसाधुरवभाषितमनवभाषितं वा लभेत तदा द्रव्योज्झितं ज्ञातव्यम् । इह चावभाषितं-याचितम् , अनवभाषितं वस्त्रं विना याचनेन स्वयमेव ताभ्यां प्रदत्तम् ।

अथ क्षेत्रोज्झितमाह—

अमुगिचगं न भुंजे, उवणीयं तं च केणई तस्स ।
जं उज्झे कप्पडिया, सदेसबहुवत्थदेसे वा ॥ ६१८ ॥

'अमुगिच्चगं' अमुकदेशोद्भवं वस्त्रं न भुञ्जे-न परिधानप्रावरणोपभोगमानयामि, तथाऽज्ञातविषयोद्भवं वस्त्रं मया न परिभोक्तव्यमिति केनचित्प्रतिज्ञा कृता भवेत् , अथ कदाचित्तस्य 'तं च' त्ति चशब्दस्यावधारणार्थत्वात्तदेवापनीतमुपढौकितं केनचित्ततः पूर्वोक्तनीत्या ताभ्यामुभाभ्यामपि परित्यक्तं क्षेत्रप्राधान्यविवक्षया क्षेत्रोज्झितं ज्ञात-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यम्, ' जं तुज्झे कप्पडिय ' त्ति वाशब्दः प्रकारान्तरोपदर्शने । प्रकारान्तरेण क्षेत्रोज्झितं प्ररूप्यते इत्यर्थः । यद्वस्त्रजातमुज्झेयुः-परित्यजेयुः कार्पटिकाः स्वदेशं प्रति व्यावृत्त्या गच्छन्तः स्वदेशाद्वा देशान्तरं प्रस्थिता अपान्तराले बहुपापामरण्यानीं मत्वा किं तस्कराणां हेतोर्निरर्थकं वस्त्रभारं वहाम इति कृत्वा यदुज्झन्ति, यद्वा--बहुवस्त्रे--वस्त्रप्रचुरे देशेऽन्यत् सुन्दरतरं वस्त्रं लब्ध्वा पुरातनं परिहरेयुः एतत्सर्वमपि क्षेत्रोज्झितम् ।

कालोज्झितमाह—

कासाइमाइ जं पु-व्वकालजोग्गं तदन्नहिं उण्हे ।
होहि वि एस्सइ काले,अजोग्गयमणागयं उज्झे ॥६१६॥

कषायेण रक्ता काषायी गन्धकषायिकेत्यर्थः, सा हि स्वभावत एवातिशीतला ग्रीष्मर्तुभरेऽपि सकलसंतापनिर्वापणी शास्त्रेषु पठ्यते, यत उक्तम्—"सरसो चंदणपंको, अग्घइ सरसाइ गंधकासाई । पाडलिसिरीससमधिय—पियाइं काले निदाहम्मि" आदिग्रहणेन शीतकालोचितवस्त्रपरिग्रहः । ततश्च काषाय्यादिकं द्रव्यं वस्त्रं पूर्वस्मिन् ग्रीष्मादौ काले योग्यमुपयोगि तदन्यस्मिन् वर्षाकालादावुज्झेत्-परित्यजेत् । इयमत्र भावना-गन्धकाषाय्यादिकं शीतवीर्यादिष्वपि भावना कार्या । अथ प्रकारान्तरेणैतदेवाह-' होहि व ' इत्यादि ' भव ' इत्यादि भविष्यति वा गन्धकाषायिकामेव एष्यति-आगामिनि काले वर्षादावयोग्यमित्यभिसंधायानागतं वर्षाकालादर्वागेव उज्झेत्तदपि कालोज्झितम् ।

भावोज्झितमाह—

लद्धूण अन्नवत्थे, पोराणि य ते उ देइ अन्नस्स ।
सो वि अ निच्छइ ताइं, भावुज्झियमेवमाईयं ॥६२०॥

कोऽपि कस्यापि पार्श्वे लब्ध्वा—प्राप्य अन्यान्यपि अभिनवानि वस्त्राणि ततः स पुराणानि अन्यस्य कस्यचिद्ददाति सोऽपि च तानि दीयमानानि जीर्णानीति कृत्वा नेच्छति तदेतत् भावं जीर्णतापर्यायमाश्रित्योज्झितं भावोज्झितमेवमादिकं ज्ञातव्यम् । तदेवं समर्थिता तुरीयाऽपि प्रतिमा । गच्छवासिनश्चतसृभिः प्रतिमाभिर्वस्त्रं गवेषयन्तीत्युक्तम् ।

(७) तत्र परः प्रश्नयति-कया समाचार्या ते गवेषयन्ति ? इति उच्यते—

जं जस्स नत्थि वत्थं, सो उ निवेदेइ तं पवत्तिस्स ।
सो वि गुरूणं साहइ, निवेइ वावारए वाऽवि ॥ ६२१ ॥

तद्वर्षाकल्पान्ते कल्पादिकषायस्य साधोर्नास्ति—न विद्यते वस्त्रं स तद्विवक्षितवस्त्राभावस्वरूपं निवेदयति प्रवर्तिनः--प्रवर्तकाभिधानस्य तृतीयपदस्थगीतार्थस्य, स हि सकलस्यापि गच्छस्य चिन्तानियुक्तः, सर्वेऽपि साधवः स्वं स्वं प्रयोजनं तस्याग्रे निवेदयन्ति । ततः सोऽपि प्रवर्त्तको गुरूणामाचार्याणां ' साहइ ' त्ति कथयति-विज्ञपयतीत्यर्थः, यथा--भट्टारकाः ? नास्त्यमुकस्य साधोरमुकं वस्त्रमितिगच्छे चेयं सामाचारी यदुताभिग्रहिकाणामस्माभिः सकलस्यापि गच्छस्य वस्त्राणि वा पात्राणि वा पूरणीयानि, अपरेण वा येन प्रयोजनमिति प्रतिपन्नाभिग्रहाः । तेषामाचार्यो निवेदयति, यथा आर्याः ! नास्त्यमुकस्यामुकं वस्त्रं तेऽप्यनुग्रहोऽप्यस्माकमित्यभिधाय स्वामिग्रहपरिपालनाय स्वयमेवोत्पादयन्ति । अथ न संप्रत्याभिग्रहिकाः ततः स यदि वस्त्रार्थं साधुः स्वयमसमर्थः उत्पादयितुं ततोऽन्यं वस्त्रोत्पादनसमर्थं गुरवो व्यापारयेयुः,यथा-वस्त्राणि गवेषय । वाशब्दः पक्षान्तरद्योतने, अपिः संभावनायाम् ।

तत्राभिग्रहिकेण व्यापारितेन वा केन विधिना वस्त्रमुत्पादयितव्यम् ? उच्यते—

भिक्खं चिय हिंडंता, उप्पायंतऽसइ बिइअ-पढमासु ।
एवं पि अलब्भंते, संघाडेक्केकवावारे ॥ ६२२ ॥

सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा भिक्षामेव हिण्डमाना वस्त्रमुत्पादयन्ति । अथ भिक्षामटन्तो न लभेरन् ततः-असति-अलाभे, द्वितीयस्यां पौरुष्यामर्थग्रहणं हापयित्वा तस्याप्यभावे प्रथमायां सूत्रपौरुष्यामुत्पादयन्ति । अथैकः पर्यटन्न लभेत बहूनां वा साधूनामुत्पादनीयानि ततः कोविधिरित्याह—एवमेव सूत्रपौरुषीहापनेऽप्येकसंघाटकेनालभ्यमाने बहूनां चोत्पादयितव्ये संघाटकमेकैकं व्यापारयेत्, तेऽपि तथैव याचन्ते ' भिक्खं चिअ हिंडंता ' इत्यादि । अथ तथापि न प्राप्नुयुस्ततो वृन्दसाध्यानि कार्याणीति वचनात् वृन्देन पर्यटन्ति ।

आह च—

एवं पि अलब्भंते, मुत्तूण गणिं तु सेसगा हिंडे ।
गुरुगमणे गुरुओह-मभियोगे सेहहीला य ॥६२३॥

एवमपि बहुभिः संघाटकैरप्यलभ्यमाने गणिनमाचार्यमेकं मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽपि वृन्देन हिण्डन्ते,यदि गुरवः स्वयमेव पर्यटन्ति तदा तेषां गुरूणां गमने चत्वारो गुरुकाः 'ओहमि' त्ति यदमी आचार्या अपि सन्त एवमितरभिक्षुवत्पर्यटन्ति नूनमेतेषामाचार्यकमपीदृशमेवेति महती गुरूणामपभ्राजना भवेत् । तथा काचिदविरतिका सर्वाङ्गीणलावण्यश्रियाऽलंकृतमाचार्यमवलोक्य मदनपरवशा सती 'अभियोग' त्ति कार्मणं कुर्यात्,अन्यतीर्थिका वा आचार्याणां प्रतापमसहमाना विषप्रयोगं प्रयुञ्जीरन् अवभाषितेषु शिष्याणामाचार्यविषया हीला स्यात्, दृष्ट्वा आचार्याणां लब्धीः स्वयमपि याचमानाः श्रीवराण्यपि न लभन्ते यस्मादेते दोषास्तस्मादाचार्यैर्न पर्यटनीयम् , शेषाः सर्वेऽपि पर्यटन्ति—

सव्वे वा गीयत्था, मीसा व जहन्न एक्कगीयत्थो ।
इक्कस्स वि असईए, करिंति तो कप्पियं एक्कं ॥ ६२४॥

ते च वृन्देन पर्यटन्तः सर्वेऽपि गीतार्थाः केचनागीतार्थाः न प्राप्यन्ते तदा जघन्यत एको गीतार्थः सर्वेषामगीतार्थानामग्रणीभूय पर्यटति, अथ नास्त्याचार्यं मुक्त्वा परः कोऽपि गीतार्थस्तत एकस्याऽपि गीतार्थस्याऽसत्यभावे यः प्रगल्भः सलब्धिकश्च तमेकं वस्त्रैषणामुत्सर्गापवादसहितां कथयित्वा कल्पिकं कुर्वन्ति गुरव इति ।

अथ तैः केन विधिना गन्तव्यम् ? उच्यते—

आवस्स सोहिअखलं-त समगउस्सग्ग दंडग न भूमी ।
पुच्छा देवपलंभे,न किं पमाणं धुवं दाहि ॥ ६२५ ॥

इह समयपरिभाषया कायिकी संज्ञा व्युत्सर्जनमवश्यं क्रि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत इति व्युत्पत्तेरावश्यकमभिधीयते; तस्य शोधः—शोधनं कार्यं वस्त्राणामुत्पादनाय गतानां भविष्यति नवेति प्रथममेवावश्यकं शोधनीयमित्यर्थः , ' अखलंत ' त्ति उत्तिष्ठतां पादयोः शिरसि वा स्खलनं यथा न भवति तथा-तथातव्यम् । यद्वा गुरुवचनमस्खलद्भिरविकुट्टयद्भिरुत्थातव्यम् सममिति सर्वैरपि समकमुत्थानं कर्त्तव्यं न पुनरेके उत्थिताः प्रतीक्षन्ते, अन्येऽद्याप्युपविष्टाः । अथवा समकं सर्वैरुपयोगसम्बन्धी कायोत्सर्गः कर्तव्यः, दण्डकाः कायोत्सर्गादारभ्य यावन्नाद्यापि प्रथमलाभस्तावन्न भूमौ स्थापयितव्याः । अपरे पुनर्यावदावृत्य न प्रतिश्रयमागताः तावदिति ब्रुवते । पृच्छति शिष्यः,किं निमित्तं कायोत्सर्गः क्रियते किं देवताराधनार्थं यदसावाराधिता सती वस्त्राण्युत्पादयति ?, आहोश्वित् तत्कायोत्सर्गप्रभावादेव वस्त्राणां भूयान् लाभो भूयादिति लाभनिमित्तम् । अत्र सूरिः प्रत्युत्तरयति—' न ' त्ति न भवति तद्देवताराधननिमित्तं किंतूपयोगनिमित्तम् , उपयोजनमुपयोगश्चिन्ता विमर्श इत्यनर्थान्तरम् । स च गणनाप्रमाणेन प्रमाणप्रमाणेन वा, किंप्रमाणं वस्त्रं ग्रहीतव्यं को वा याचितः सन् ध्रुवमवश्यं दास्यति यो ज्ञायते निश्चितमेष दास्यति स एव प्रथमं याच्यते ।

(८) अथ प्रथमं कायोत्सर्गः केनोत्सारणीयः ?
इति उच्यते—

रायणिओ उस्सारे, तस्सऽसतोमो वि गीतो लद्धीओ ।
अगीतो वि सलद्धिओ, मग्गइ इअरे परिच्छंति॥६२६॥

यो रात्निको रत्नाधिकः सोऽपि यदि सलब्धिकस्तदा स एव प्रथमं कायोत्सर्गमुत्सारयति, तस्य रत्नाधिकस्य सलब्धिकस्य असति—अभावे अवमोऽपि-पर्यायलघुरपि गीतार्थो यः सलब्धिकः स प्रथमं पारयति । अथ नास्ति गीतार्थः सलब्धिकस्तत आह—अगीतार्थोऽपि यः सलब्धिकः स प्रथमं पारयति, स एव वाऽग्रणीत्वं कुर्वन् वस्त्राणि मार्गयति इतरे गीतार्थाः परीक्षन्ते-किं कल्पते न वेत्येवं पृष्ठतो लग्ना वस्त्रैषणाविधिं विचारयन्तीत्यर्थः ।

(९)अनन्तरोदितसामाचारीवैपरीत्यकरणे प्रायश्चित्तमाह—

उस्सग्गाई वितहं, खलंत अणोण्णओ य लहुओ उ ।
उग्गमविप्परिणामो, ओभावणसावगं न तओ ॥६२७॥

उत्सर्गः-कायोत्सर्गस्तमादिं कृत्वा सर्वेषु पदेषु समाचारीं वितथां कुर्वाणस्य लघुमासः प्रायश्चित्तम् , तद्यथा-कायोत्सर्गं न कुर्वन्ति, आवश्यकं न शोधयन्ति, यमकसमकं कायोत्सर्गं न कुर्वन्ति, दण्डकं भूमौ लगयन्ति, पृथक् पृथक् गुरूणामादेशं मार्गयन्ति, ' इच्छाकारेण संदिसह 'ति न भणन्ति, आचार्याः ' लाभो ' त्ति न भणन्ति, साधवः ' किं गिण्हामो ' त्ति न भणन्ति, आचार्या ' जहगहियं पुव्वसाहूहिं ' ति न भणंति, साधवः ' जस्स य जोगं ' न भणन्ति, एतेषु सर्वेषु असमाचारीनिष्पन्नं मासलघु, आवश्यिकीं न कुर्वन्ति, लघुरात्रिन्दिवपञ्चकम् । 'खलंत ' त्ति स्खलन्तः उत्तिष्ठन्ति गुरुवचनं वा स्खलयन्ति मासलघु । 'अणोण्ण उ' त्ति अन्योन्यतश्च व्रजन्ति न परस्परामवङ्क्या ऋजुश्रेण्या तत्रापि लघुको मासः , इत्थं सामाचारीं सम्पूर्णां कृत्वा यदि निर्गताः श्रावकमवभाषन्ते मासलघु । ये तस्मिन्नवभाष्यमाणे बहवो दोषास्तानेवाह—' उग्गम ' इत्यादि, कोऽपि श्रावकः साधुभिर्वस्त्रं याचितः । स चिन्तयति—अहो अमी महात्मानस्तावद्यतस्ततः कारणं विना न वस्त्राणि याचन्ते, न वा गृह्णन्ति, मद्भाग्यसंभारप्रेरिता एव सन्तोषपोषितवपुषोऽपि मामित्थं याचन्ते तत्प्रयच्छामि यथेच्छममीषां वस्त्राणि , मम पुनरन्यान्यपि भविष्यन्तीति विभाव्य सर्वाण्यपि हर्षप्रकर्षारूढः प्रदद्यात् । ततोऽभिनववस्त्रनिर्मापणक्रयणादिनोद्गमदोषा भवेयुः, विपरिणामो वा नवधर्मणः कस्यचिदुपासकस्य स्यात् , यथा हुं—ज्ञातममीषां श्रमणानां रहस्यम्-य एतेषामुपासको भवति तमेवमेव याञ्चाभिरुद्वेजयन्तीति ततश्चाधर्मं प्रतिपद्येत । यद्वा-' ओहावणा ' अप्रभ्राजना भवेत् । इयमत्र भावना-तस्य-श्रावकस्य कदाचिद्वस्त्राणि न भवेयुः, तदा मिथ्यादृष्टयो ब्रवीरन्—अहो अमीषां प्रतिबोधप्रसादः, यदेतद्योग्यान्यप्येतदीयोपासका वस्त्राणि न संपादयन्ते । लोको वा ब्रूयात्—यदेतेषां स्वकीया अपि श्रावका न प्रयच्छन्ति तदाऽन्यः को नाम दास्यतीति ततः श्रावकं नावभाषेत ।

दाउं च उड्डुरुस्से, फासुचरियं तु सेसयं देइ ।
भावियकुलओभासण,नीणिइ कस्से य किं आसी।६२८।

स श्रावको लोकलज्जया तदानीं दत्त्वा च ' उड्डुरुस्से ' त्ति प्रद्वेषं यायात् , किमेतैरेतदपि न ज्ञातं श्रावकस्य यत् वस्त्रादि स्वाधीनं तदयाचितमेव ददाति किं तेन याचितेन, अतः परं न गच्छाम्यमीषां सकाशमिति । यत एते दोषास्ततः श्रावकं नावभाषेतेति पूर्वगाथाया—अन्त्यपदेन संबन्धः । यस्मादुपासकस्यैषा सामाचारी यत्प्राशुकमेषणीयमुद्धरितमधिकं वस्त्रं तत् स्वयमेवायाचितोऽपि निमन्त्र्य ददाति तेन तं मुक्त्वा यान्यन्यानि भावितानि साधुसंसर्गवासितानि सम्यक्त्वाद्यभ्युत्पन्नमतीनि यथा भद्रकाणि कुलानि तेष्वेव भाषणं कर्त्तव्यम् । कथमिति चेदुच्यते—तत्र यः प्रमाणभूतः पुरुषस्तं स्वधर्मं लाभयित्वा ब्रुवते,श्रावक ! साधवस्तव सकाशमागताः सन्ति प्रयोजनमस्माकमीदृशैर्वस्त्रैरिति, यदि पुनर्धन्यस्त्वं श्लाघ्यं ते जन्मजीवितमनर्घ्यम् सुपात्राय वस्त्रपात्रादिदानमिति तद्गुणविकत्थनवस्त्रदानफलोत्कीर्तनादि करोति, तदा मासलघु । ततः स याच्यमान एवं ब्रूयात्—अहो मे धन्यता यस्य गृहाङ्गणं जङ्गमा इव कल्पपादपा अमी भगवन्तः स्वपादपल्लवैः पवित्रितवन्तः इत्यभिधाय स्वयमन्येन वा गृहमध्याद्वस्त्रमानयेत् , आनाययेद्वा, तत्तस्मिन्'नीणिइ'ति आनीते पृच्छयते-कस्यैतद्वस्त्रम् ,किं वा आसीत् । उपलक्षणत्वात् किं भविष्यति । क च स्थापितमासीत् । यदि कस्यैतदिति न पृच्छन्ति तदा मासिकम् । बृ० १ उ० १ प्रक० । प्रति० ।

(१०)सांप्रतं वस्त्रग्रहणाभिग्रहविशेषमधिकृत्याह—

इच्चेइयाइं आयतणाइं उवाइकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा चउहिं पडिमाहिं वत्थं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसिय वत्थं जाएज्जा, तं जहा-जङ्गियं वा भङ्गियं वा साणयं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा पोत्तयं वा खोमियं वा तूलकमं वा तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाणेज्जा परो वा णं देज्जा फासुयं एसणीयं लाभे संते पडिग्गहेज्जा पढमा पडिमा। १। अहावरा दोच्चा पडिमा–से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पेहाए वत्थं जाणेज्जा, तं जहा–गाहावती वा०जाव कम्मकरी वा से पुव्वामेव आलोएज्जा आउसो त्ति वा भगिणीति वा दाहिसि मे एत्तो अन्नतरं वत्थं ?, तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाणेज्जा परो वा से देज्जा ० जाव फासुयं एसणीयं लाभे संते पडिग्गहेज्जा दोच्चा पडिमा।२। अहावरा तच्चा पडिमा–से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा, तं जहा–अंतरिज्जगं वा उत्तरिज्जगं वा तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाणेज्जा०जाव पडिग्गहेज्जा तच्चा पडिमा।३। अहावरा चउत्था पडिमा–से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उज्झियधम्मियं वत्थं जाएज्जा जं चऽन्ने बहवे समणमाहणा अतिहिकिवणवणीमगा णावकंखंति तहप्पगारं उज्झियधम्मियं वत्थं सयं वा णं जाणेज्जा परो वा से देज्जा फासुयं ० जाव पडिग्गहेज्जा चउत्था पडिमा।४। इच्चेयाणं चउण्हं पडिमाणं जहा पिंडेसणाए। (सू०–१४६ ×)

'इच्चेइयाइं' इत्यादि इत्येतानि-पूर्वोक्तानि वक्ष्यमाणानि वा यतनान्यतिक्रम्याथ भिक्षुश्चतसृभिः प्रतिमाभिर्वक्ष्यमाणैरभिग्रहविशेषैर्वस्त्रमन्वेष्टुं जानीयात्, तद्यथा–उद्दिष्टं–प्राक् सङ्कल्पितं वस्त्रं याचिष्ये, प्रथमा प्रतिमा १, तथा प्रेक्षितं–दृष्टं सद् वस्त्रं याचिष्ये नापरमिति द्वितीया २, तथान्तरपरिभोगेन उत्तरीयपरिभोगेन वा शय्यातरेण परिभुक्तप्रायं वस्त्रं ग्रहीष्यामीति तृतीया ३, तथा तदेवोत्सृष्टधार्मिकं वस्त्रं ग्रहीष्यामीति चतुर्थी प्रतिमेति ४। सूत्रचतुष्टयसमुदायार्थः। आसां चतसृणां प्रतिमानां शेषा विधिः पिण्डैषणावन्नेय इति। आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

(११) अथ को दोषो यद्येवं न परिपृच्छ्यते ?, उच्यते—

कस्स त्तिऽपुच्छियम्मि, उग्गमपक्खेवगाइणो दोसा।
किं आसिऽपुच्छियम्मि, पच्छाकम्मं पवहणं च ॥६२९॥

कस्य सम्बन्धीत्येवमपृष्टे उद्गमदोषाः प्रक्षेपकादयश्च दोषा भवेयुः। आदिग्रहणान्निक्षेपकपरिग्रहः। किमासीदित्यपृष्टे पश्चात्कर्मदोषाः प्रवहनदोषो वा संभवेत्। एतच्चोत्तरत्र भावयिष्यते।

अथ कस्येति पृच्छायामविधीयमानायां कथमुद्गमदोषा भवेयुः ?, उच्यते—

कीस न नाहिह तुब्भे, तुब्भट्ठकयं व कीयधोयाई।
अमुएण व तुब्भट्ठं, ठवियं गेहे न गिण्हह से ॥६३०॥

कस्येदमिति पृष्टः कोऽपि ब्रूयात्, कस्मान्न ज्ञास्यथ यूयम् ?, ज्ञास्यथैव, तथाप्यस्मान् पृच्छथ पृच्छतां च कथयामः, युष्मदर्थमेव क्रीतमेतद्वस्त्रम्। वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः युष्मदर्थमेव क्रीतं धौतमादिग्रहणाद्धूपितवासितादिग्रहः। अमुकेन वा युष्मदर्थमस्मद्गृहे स्थापितं यतः (से) तस्यामुकस्य गेहे न गृह्णीथ यूयमिति। अथ यदुक्तम्—'तुब्भट्ठकयं' ति तत्र मूलगुणकृतं वा स्यादुत्तरगुणकृतं वा।

अथ के मूलगुणाः ? के चोत्तरगुणाः ?, इत्याह—

तणविणणसंजयट्ठा, मूलगुणा उत्तरा उ पज्जमया।
गुरुगा गुरुगा लहुगा, विसेसिया चरमए सुद्धो ॥६३१॥

इह संयतार्थं वस्त्रनिष्पत्तिहेतोर्यत्तननं तानपरिकर्म विततनं च वितानपरिकर्म क्रियते एते मूलगुणा मन्तव्याः, उत्तरा–उत्तरगुणरूपा आयतनता यद्वस्त्रं निष्पन्नं सत्खलिकां प्राप्यते उपलक्षणमिदं तेन यन्मोटयित्वा सलेपा प्रक्षिप्यते तदादयो धावनधूपनादयश्च वस्त्रस्योत्तरगुणा द्रष्टव्याः। अत्र चतुर्भङ्गी तननवितननं संयतार्थं, आयतनमपि संयतार्थम्, १तननवितननं संयतार्थम्, आयतनं स्वार्थम्२, तननवितननं स्वार्थं आयतनं संयतार्थम् ३, तननवितननं स्वार्थं आयतनमपि स्वार्थम् ४, अत्राद्येषु गुरुका लघुकाश्च तपःकालाभ्यां विशेषिताः प्रायश्चित्तम्, तद्यथा–प्रथमे भङ्गे चत्वारो गुरुकास्तपसा कालेन च गुरवः, द्वितीयेऽपि चतुर्गुरुकाः, तपसा गुरवः, कालेन लघवः, तृतीये चत्वारो लघुकाः, कालेन गुरवस्तपसा लघवः, चरमे–चतुर्थे भङ्गे द्वयोरपि मूलोत्तरगुणयोः स्वार्थत्वात् शुद्धः।

अथ प्रक्षेपकादयो दोषाः कथं भवेयुः ?, इत्यत आह—

समणे समणी सावग, साविगा संबंधि इड्ढि मामाए।
राया तेणे व वक्खेव, एव निक्खेवगं जाण ॥ ६३२ ॥

षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् श्रमणस्य श्रमण्याः श्रावकस्य श्राविकायाः संबन्धिन ऋद्धिमतो मामकसत्काया भार्याया राज्ञः स्तेनस्य च संबन्धी प्रक्षेपको भवति। प्रक्षेपणं प्रक्षेपकः "नाम्नि पुंसि चे" ति भावे णकप्रत्ययः, यथा अरोचनम् अरोचक इत्यादि। निक्षेपकमप्येतेष्वेव च स्थानेषु जानीयादिति संग्रहगाथासमासार्थः।

सांप्रतमेनामेव व्याख्यानयति–

लिंगत्थेसु अकप्पं, सावगनीएसु उग्गमासंका।
इड्ढि अपवेससाविग, इड्ढिस्स च उग्गमासंका ॥६३३॥
एमेव मामगस्स वि, सड्ढी भज्जा उ अन्नहिं ठवए।
निवतप्पिंडविवज्जी, मा होज्ज तदाहडं तेणे ॥ ६३४ ॥

ये श्रमणश्रमणीजना लिङ्गमात्रधारिणस्ते उद्गमादिभिर्दोषैरशुद्धानि वस्त्राणि गृह्णन्ति। स्वयमेव वा तन्तुवायैर्वाययन्ति लिङ्गतः प्रवचनतोऽपि साधर्मिकाश्च ते इति, तेषु लिङ्गेषु अकल्पनीयमिति हेतोः साधवो न गृह्णन्ति, ततस्ते लिङ्गस्थाः संविग्नबहुमानिनः सन्तो वस्त्राण्यन्यत्र यथा भद्रककुलादौ प्रक्षिपेयुः, यदि साधवो वस्त्राणि गवेषयेयुः तदा प्रदद्ध्वमिति कृत्वा, यथा श्रावकेषु उपलक्षणत्वात् श्राविकासु निजकेषु संबन्धिषु भ्रातृभगिनीत्यादिषु उद्गमदोषाशङ्कया साधवो न गृह्णीयुरिति, तेऽपि तथैवान्यत्र स्थापयेयुः, ऋद्धिमतः श्रेष्ठिसार्थवाहादेर्गृहे यतस्ततः प्रवेशो लभ्यते तस्य पत्नी श्राविका सा भक्तिवशादन्यत्र प्रक्षिपेत्, यद्वा–स ऋद्धिमान् पाषण्डिनां श्रमणानां वा पुण्यार्थं वस्त्राणि दद्यात्,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेषु साधूनामुद्गमाशङ्का, ततो निमन्त्रिता अपि न स्वीकुर्युः । तेन सोऽपि दानश्रद्धालुस्तथैवान्यत्र प्रक्षिपेत्, एवमेव ऋद्धिमत्प्रकारेणैव मामकस्यापि प्रान्तत्वेनेर्ष्यालुत्वेन वा कस्यापि स्वगृहे प्रवेशं न ददातीत्येवंलक्षणस्य भार्या ऋद्धिभरप्रेरिता सती तथैवान्यस्मिन् गृहे स्थापयेत्, नृपो-राजा सोऽप्यन्यत्र स्वपुरुषैः प्रक्षेपयेत् यतस्तस्य राज्ञः पिण्डमाहारवस्त्रादिलक्षणं वर्जितुं शीलं येषां ते तत्पिण्डविवर्जिनः साधवः । किमुक्तं भवति—कोऽपि राजा स्वभावत एव एकः श्रावको वा ततः साधवोऽत्यर्थमभ्यर्थिता अपि न कल्पते राजपिण्ड इति हेतोर्यदा न गृह्णन्ति तदा स यथा तथा पुण्यमुपार्जयामीति विचिन्त्यान्यत्र वस्त्राणि स्थापयेत् । स्तेनस्यापि वस्त्रं न गृह्णन्ति, मा भूत् तदाहृतं तदीयं वस्त्रमिति ततः सोऽपि भद्रको 'मदीयं न स्वीकुर्वन्ती' त्यन्यत्र प्रक्षिपेत् ।

उपसंहारमाह—

एए उ अधिप्पंते, अन्नहि संनिक्खिवेंति समणट्ठा ।
निक्खेवओ वि एवं, छिन्नमछिन्नो उ कालेणं ॥६३५॥

एते श्रमणादयोऽनन्तरोक्तकारणैरगृह्यमाणे वस्त्रेऽन्यस्मिन् भावितकुलादौ श्रमणार्थं—साधूनामर्थाय सान्निक्षिपन्ति इत्युक्तः प्रक्षेपकः । सम्प्रति निक्षेपकः प्ररूप्यते । अथ प्रक्षेपकनिक्षेपकयोः कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते-साधूनामेवार्थाय या वस्त्रस्य स्थापना स प्रक्षेपकः, यत्पुनः प्रथमं स्वार्थं निक्षिप्य पश्चात् साधूनामनुज्ञाप्यते स निक्षेपकः । सोऽप्येवं प्रक्षेपकवद्द्रष्टव्यः । इयमत्र भावना-यथा प्रक्षेपकःश्रमणादिस्थानेषु भावितः तथा निक्षेपकोऽपि भावनीयः । यस्तु विशेषस्तं दर्शयति-'छिन्न' इत्यादि स निक्षेपकः कालेन छिन्नो वा स्यादच्छिन्नो वा, छिन्नो नाम निर्द्धारितः यदि वयं देशान्तरं गताः सन्त एतावतः कालादर्वाग् न प्रत्यागच्छामः ततो युष्माभिरमूनि वस्त्राणि श्रमणेभ्यः प्रदातव्यानीति । अच्छिन्नः पुनः प्रतिनियतकालविवक्षारहितः ।

अत्र विधिमाह—

अमुगं कालमणागए, दिज्जह समणाण कप्पइ च्छिण्णे ।
पुण समकालं कप्पइ, वियगदोसा अईअम्मि ॥६३६॥

देशान्तरं जिगमिषुः कोऽपि कस्यापि गृहे किञ्चिद्वस्त्रजातनिक्षेप्तुकामो ब्रूते, अमुकं विवक्षितं कालं मय्यनागते यूयं मदीयं वस्त्रं श्रमणेभ्यो दद्यात इत्यभिधाय निक्षेपकं निक्षिप्य गतोऽसौ देशान्तरं नायातस्तावतः कालावधेः अर्वाक् ततः कल्पते तद्वस्त्रम्, एवं विधिच्छिन्ने निक्षेपके किं सर्वदैव नेत्याह-पूर्णस्यावधेः समकालं कल्पते न परतः । कुत इति ?, आह-स्थापनैव स्थापितकं तस्य दोषा अतीते विवक्षितकालावधौ भवन्ति अच्छिन्ने तु यदा प्रयच्छन्ति तदा कल्पते ।

अथ साधुनिक्षिप्तवस्त्रविधिमाह—

असिवाइकारणेहिं, पुव्विंऽईए मणुस्सनिक्खेवे ।
परिभुंजंति ठविंति व, छड्डंति व ते गए नाउं ॥६३७॥

अशिवम्—व्यन्तरकृतोपद्रवविशेषः, आदिग्रहणाद् अवमौदर्यादिपरिग्रहः, तैरशिवादिभिः कारणैः पूर्वेऽतीते वा काले मनोज्ञाः-सांभोगिकास्तेषां निक्षेपके यद्वस्त्रजातं तत्परिभुञ्जते । इयमत्र भावना-साम्भोगिकसाधुभिरशिवादिभिः कारणैर्देशान्तरं व्रजद्भिर्ग्लानादिप्रतिबन्धस्थितानां साधूनां समीपे यद्वस्त्रजातं निक्षिप्तं तत्पूर्णे अतीते काले यद्यात्मनो वस्त्राणामसर्वतो वास्तव्यसाधवः परिभुञ्जते न तत्र कश्चित् स्थापनादिदोषः । अथ नास्ति वस्त्राणामसत्ता गृहीतानि वा ये प्रयोजनतस्तथैव स्थापयन्ति, अथ ज्ञायते यथा ते ततोऽपि वयं सामान्यं देशं गता ततस्तान् गतान् ज्ञात्वा छर्द्दयन्ति परिष्ठापयन्तीत्यर्थः । तदेवं कस्येति पृष्टे प्रक्षेपकादयो दोषाः सुनिर्णीता भवन्तीत्यावेदितम् ।

(१२) अथ कस्येति पृष्टे यो यादृशमाशङ्कावचनं ब्रूयात् तदेतदभिधित्सुराह—

दमए दूभगे भट्ठे, समणच्छन्ने अ तेणए ।
न य नाम न वत्तव्वं, पुट्ठे रुट्ठे जहा वयणं ॥ ६३८ ॥

द्रमके-दरिद्रे दुर्भगे-ऽनिष्टे भ्रष्टे राज्यच्युते 'समणच्छन्ने' त्ति भावप्रधानत्वात् श्रमणशब्दस्य श्रामण्येन श्रमणवेषेण छन्ने आच्छादिते गार्हस्थ्यैस्तेनके—चौरे प्रथमं कस्येति पृष्टे ततः स्वहृदयसमुत्थया शङ्कया रुष्टे कषायिते तस्य समाधानविधानार्थं न च नाम न वक्तव्यं किं तु वक्तव्यमेव वचनस्यानतिक्रमेण यथावचनं यथायोगमाशङ्कापनोदकं वाक्यमित्यर्थः, तच्च यथावसरं पुरस्ताद्वक्ष्यते ।

तत्र प्रथमं द्रमकद्वारं विवृणोति—

किं दमओ हं तं ते, दमगस्स वि किं मे चीवरा नत्थि ।
दमएण वि कायव्वो, धम्मो मा एरिसं पावे ॥ ६३९ ॥

कस्येति पृष्टे कोऽपि ब्रूयात्-भदन्त ! भवद्भिःकिमहं द्रमकः संभावितो येनैवं पृच्छत, यद्वा—यद्यप्यहं द्रमकस्तथापि किं मे चीवराण्यपि न सन्ति किंतु सन्त्येव । किञ्च—द्रमकेणापि धर्मः कर्त्तव्यः, कुतः इत्याह—मा ईदृशं दारिद्र्योपद्रवलक्षणं दुःखं भूयः प्राप्नुयामिति कृत्वा तस्य पुरतः साधुभिरभिधातव्यम्, भद्र ! न वयं भवन्तं द्रमकं भणित्वा कस्येति पृच्छामः,किन्तु सार्वज्ञोऽस्माकमयमुपदेशः, यतः-कदाचित्तव स्वजनमित्रादीनां सत्कमिदं भवेत्, यथा यस्य तथाविधस्याभावेऽप्रीतिकं कुर्युः, अभिनवं वा वस्त्रं संमूर्छयेयुः क्रीणीयुर्वा । अस्माकं तु तृतीयव्रतातिचारः, यथा—श्रमणादिभिः स्तेनपर्यन्तैरिदमस्मदर्थं स्थापितं भवेदित्यादयो दोषाः कस्येति पृच्छया परिहर्त्तुं शक्यन्ते । इत्युक्ते यदि स ब्रूयात् ममैवैतन्नान्यस्येति तदा निर्दोषं मत्वा गृह्यते एवं दुर्भगादिष्वपि पदेषु यथायोगमुपयुज्य भावना कार्या ।

दुर्भगद्वारमाह—

जइ रन्नो भज्जाए, व दूभगा दूभगो व जइ पइणो ।
किं दूभगा मि तुज्झ वि,वत्था विव दूभगा किं मे॥६४०॥

दुर्भगो ब्रूयात्—यद्यहं राज्ञो, भार्याया वा दुर्भगो द्वेष्यस्तत्किं युष्माकमपि दुर्भगः, यदि वा—काचिदविरतिका दात्री तदा ब्रूयात्—यद्यहं पत्युर्दुर्भगा तत्किं युष्माकमपि दुर्भगा, वस्त्राण्यपि वा किममूनि मे दुर्भगाणि, यदेवं दीयमानान्यपि कस्य सत्कानीति पृच्छन्ते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ भ्रष्टश्रमणच्छन्नद्वारद्वयमाह—

जइ रज्जाओ भट्ठो, किं चीरेहिं पि पिच्छ एयाणि ।
अच्छिमहं साभरगा, मा हिरेज्ज त्ति पव्वइओ ॥६४१॥

राजपदच्युतः प्राह—यद्यहं राज्याद्भ्रष्टः तत् किं चीरेभ्योऽपि, नैवेत्यर्थः। पश्यत-अवलोकयत एतानि मद्गृहे भूयांसि वासांसीति ब्रुवन् हस्तसंज्ञया दर्शयति। श्रमणः पृच्छन्नोऽथाह—सन्ति मम पार्श्वे बहवः 'साभरग' त्ति देशीवचनम्, रूपकास्तेऽथमा राजकुलादिना ह्रियेरन्नित्यहं प्रव्रजितः—शाक्यतापसपरिव्राजकाजीवकाख्यानां श्रमणानामन्यतमः संवृत्त इत्यर्थः ।

अथ स्तेनको यद् ब्रूयात्, तदाह—

अच्छि मे घरे वि वत्था, नाहं वत्थाइं साहु चोरेमि ।
सुट्ठु मुणिअं व तुब्भे, किं पुच्छह किं च हं तेणो ।६४२।

सन्ति मे मम-गृहे वस्त्राणि अत एव हे साधो!नाहं वस्त्राणि चोरयामि, यद्वा-सुष्ठु-शोभनं मुणितम्-परिज्ञातं युष्माभिः, यथाऽहं स्तेनः! को नाम साधून् मुक्त्वाऽपरो ज्ञास्यति,तदहं सत्यं स्तेनः, न पुनः साधूनामर्थाय चोरयामि। अथवा—यूयं किं पृच्छथ, यस्य वा तस्य वा भवतु यूयं गृह्णीत। यद्वा-किमहं स्तेनो येन यूयं कस्येति पृच्छथ। अत्रापि समाधानं प्राग्वत्।

अथ कस्येति पृच्छति—प्रवृद्धामेव द्वारान्तरप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

इत्थी-पुरिस-नपुंसग, धाई-सुण्हा य होइ बोधव्वा ।
बाले अ वुड्ढजुगले, तालायर-सावए तेणे ॥ ६४३ ॥

स्त्रीपुरुषनपुंसकधात्रीस्नुषा च भवति बोद्धव्या ततो बालयुगलं वृद्धयुगलं तालाभिश्चरन्तीति तालाचरा—नटाः सेवकः स्तेनश्च प्रतीतः, इति द्वारगाथासमासार्थः ।

व्यासार्थं प्रतिद्वारं बिभणिषुराह—

तिविहित्थी थेरेहिं, भणंति मा होज्ज तुज्झ जायाणं ।
मज्झिमया पइदेवर-कण्हं मा थेरभाईणं ॥ ६४४ ॥

त्रिविधा स्त्री, तद्यथा—स्थविरा, मध्यमा, कन्या च। तत्र स्थविरादिस्त्रीं भणन्ति-मा भूयाज्जातानां-पुत्राणां सत्कमिदं वस्त्रं तेन वयं कस्येति पृच्छाम;इति योजना सर्वत्र कर्त्तव्या। मध्यमा भण्यन्ते-मा भूत्तव पतिदेवरयोः सत्कम्, कन्यां-कुमारीं भणन्ति, मा भूत्तव स्थविरः—पिता भ्राता प्रतीतः तयोरिति ।

एमेव य पुरिसाण वि, पंडगपडिसेविसानि आणं ते ।
सामियकुलस्स धाई,सुण्हं जह मज्झिमा इत्थी ॥६४५॥

एवमेव च यथा स्त्रीणा तथा पुरुषाणामपि स्थविरमध्यमतरुणभेदस्त्रैविध्यं द्रष्टव्यम्। स्थविरपुरुषो भण्यते, मा तव पुत्राणां कलत्रस्य वा सत्कं वस्त्रं भवेत्। मध्यमोऽभिधीयते, मा भूत्तव भ्रातॄणां पत्न्या वा संबन्धि । तरुण उच्यते मा तव पितुर्मातुर्भ्रातॄणां चास्वाधीनं भवेत्,पण्डको-नपुंसकः 'पडिसेवि' त्ति अकारप्रश्लेषादप्रतिसेवी तृतीयवेदोदयरहितोऽसंक्लिष्ट इत्यर्थः, तस्य ग्रहीतुं कल्पते। स चाभिधीयते मा ते निजानां सम्बन्धिनामिदं वस्त्रं भवेत् यः पुनस्तृतीयवेदोदयो भुक्तस्य हस्तात् गृह्णतां चत्वारो लघुकाः आज्ञाभङ्गादय आत्मपरोभयसमुत्थाश्च दोषाः। या धात्री साऽभिधीयते,मा ते स्वामिकुलस्य स्वामिनो गृहस्य सत्कं भवेत्। स्नुषां-वधूं भणन्ति, यथा मध्यमा स्त्री भाणिता मा ते पत्युर्देवरस्य वा सम्बन्धि भवेत् ।

दोण्हं पि अ जुयलाणं, जहारिहं पुच्छिऊण जइ बहुणो।
गिण्हंति तओ तेसिं, मुच्छा सुद्धे अणुन्नायं ॥ ६४६ ॥

इह द्वे युगले नाम बालयुगलं वृद्धयुगलं च । बालयुगलं बालो बालिकाः, वृद्धयुगलं वृद्धो वृद्धा वा तयोर्द्वयोरपि युगलयोर्यथार्हं-यथायोग्यं स्वरूपं पृष्ट्वा प्रत्ययिकपुरुषमुखेन च निश्चित्य यदि प्रभवस्ते बालादयस्ततो गृह्णन्ति तेषां हस्तात्। अथ न प्रभवस्तदा यत्पितृपुत्रादिप्रभुस्तस्य समीपे यथाऽऽपृच्छ्य किं गृह्यतां न वेति तथा शुद्धं गृह्यतां निर्विकल्पमित्यनुमत्या निःसन्दिग्धे कृते ग्रहणमनुज्ञातम् ।

तूपति देते मा ते, कुसीलते तेसु तूरिए मा ते ।
एमेव भोगिसेवग, तेणा उ चउव्विहो इणमो ॥६४७॥

तूर्यपतिर्नटमहत्तरस्तास्मन् ददाति भण्यते, मा ते कुशीलवानां सत्कं भवेत्, तेषु कुशीलेषु ददत्सु मा युष्माकं तूर्यिकस्य तूर्यपतेर्भवेत्, एवमेव-तूर्यपतिकुशीलेषूक्तप्रकारेणैव भोगिकसेवकयोरपि वाच्यम्, यदि सेवको—ददाति तदा वक्तव्यम्, मा ते भोगिकस्य स्वामिनः स्वाधीनं भवेत्। भोगिके दातरि वाच्यम्, मा युष्माकं सेवकस्य सम्बन्धि भवतु। स्तेनस्वरूपमाह-स्तेनः पुनश्चतुर्विधोऽयं वक्ष्यमाणलक्षणः ।

चातुर्विध्यमेवाह—

सग्गामपरग्गामे, सदेस परदेस होइ उड्डाओ ।
मूलं छेओ छम्मा-समेव गुरुगा य चत्तारि ॥ ६४८ ॥

यस्मिन् ग्रामे साधवः स्थिताः सन्ति स स्वग्रामस्तस्मिन् यः स्तैन्यं करोति स स्वग्रामस्तेनः, तदपेक्षया अपरस्मिन् ग्रामे स्तैन्यं कुर्वन् परग्रामस्तेनः । स्वदेशे—विवक्षितसाधुविहारविषयभूते विषये चौर्यं कुर्वाणः स्वदेशस्तेनः, तदपेक्षया अपरत्र देशे चौरिकां विदधानः परदेशस्तेनः । एतेषु गृह्णतामुड्डाहः प्रवचनलाघवं भवति, अहो अमी लुब्धशिरोमणयस्तपस्विनो यदेवं स्तेनाहृतानि वस्त्राणि गृह्णानाः राजविरुद्धमपि तथाऽपेक्षन्ते इति। तेषु प्रायश्चित्तमाह-'मूलमि' त्यादि स्वग्रामस्तेने गृह्णतां मूलम्, परग्रामस्तेने छेदः, स्वदेशस्तेने षण्मासा गुरुकाः, परदेशस्तेने चत्वारो गुरुकाः, यथाक्रमदूरतरमस्तैन्यदोषत्वादिति भावः। तदेवं व्याख्याता 'इत्थीपुरिस' इत्यादिद्वारगाथा। तद्व्याख्याने च समर्थितं कस्येति पृच्छाद्वारम् ।

अथ किमासीदिति पृच्छाद्वारमाह—

एवं पुच्छा सुद्धे, किं आसि इमं तु जं तु परिभुत्तं ।
किं होहिइ त्ति अह तं,कत्थासि अ पुच्छणे लहुगा।६४६।

एवं—अमुना प्रकारेण कस्येति पृच्छया शुद्धे निर्दोषे निर्णीते सति यत्परिभुक्तम् भुक्तपूर्वं तत् पृच्छ्यते, किमिदं वस्त्रमासीत् युष्माकं कीदृशमुपयोगमागतवदित्यर्थः, यत्पुनरिह अपरिभुक्तं तत्पृच्छ्यते, किमेतद्भविष्यतीति 'क-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्थासि' त्ति क्व पेटायां-मञ्जूषायामपरस्मिन् वा स्थाने इद-मासीत्, तत्र यदि पेटायां किं पृथिव्यादिषु सकायेषु पेटा प्रतिष्ठिता अप्रतिष्ठिता वा, इत्याद्युपयुज्य वाच्यम्-कस्येदं किमासीत्, कुत्रासीत्, किं भविष्यतीत्यप्रच्छने चतसृणामपि पृच्छानामकरणे प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः।

तत्र किमासीदिति पृष्टे ते गृहस्था अभिदध्युः—

निच्चनियंसण-मज्जण-छणुस्सवे रायदारिए चेव।
सुत्तत्थजाणिएणं, चउपरियट्टे तओ गहणं ॥ ६५० ॥

नित्यनिवसनं—नित्योपभोग्यमेतदासीत् मज्जनकं नाम स्नानान्तरं यत्परिधीयते धौतवस्त्रमित्यर्थः तदासीत्। तथा क्षणः—प्रतिनियतः कौमुदीशक्रमहादिकः, उत्सवः—पुनरनियतो नामकरणचूडाकरणपाणिग्रहणादिकः। अथवा—यत्र पक्वान्नविशेषः क्रियते स क्षणः, यत्र तु पक्वान्नं विनाऽपरो भक्तविशेषः स उत्सवः। क्षणे उत्सवे च परिभुज्यते यत्तत्क्षणोत्सविकं तद्वाऽऽसीत्। तथा राजामात्यमहत्तमादिभवनेषु गच्छद्भिर्यत् परिभुज्यते तद् राजद्वारिकं तद्वाऽऽसीत्। तत्रैवमुक्ते सूत्रार्थज्ञेन गीतार्थेन चतुर्णां—नित्यनिवसनीयादीनां परिवर्तनानां वस्त्रयुगलानां समाहारश्चतुःपरिवर्तनं यथा दृश्यं परिवर्तनमेकतरं वा वस्त्रं ददाति तादृशे अन्यस्मिन् व्याप्रियमाणे सति ततो ग्रहणं कर्तव्यम्।

एतदेव भावयति—

णिच्चनियंसणियं ति य, असस्सइ पच्छकम्म वहणाई।
अत्थि व हंते घिप्पइ, इयरफुसद्धो य गए ययी ॥६५१॥

यदि गृहस्थो ब्रूयात् नित्यनिवसनीयमिदमासीत् ततो यदि तस्यापरं नित्यनिवसनीयमस्ति ततः कल्पते, यतोऽन्यस्य नित्यनिवसनीयस्यासत्यभावे पश्चात्कर्मवहनादयो दोषा भवन्ति, पश्चात्-विवक्षितवस्त्रग्रहणानन्तरं कर्माभिनववस्त्रस्य कारापणं-पश्चात्कर्म, वहनं नाम-अव्याप्रियमाणं वस्त्रं तद्वहमानकं क्रियते, आदिग्रहणात्—क्रीतकृतप्रामित्यादयो दोषाः, अतो यद्यपरं नित्यनिवसनीयमिति तदपि यदि वहमानं व्याप्रियमाणं तदा गृह्णात्। कुत इत्याह-इतरस्मिन् अवहमाने स्पर्शनाधौतप्रक्षालनादयो दोषाः। इयमत्र भावना--यद् वहमानं तस्योपभोगार्थमप्कायेनोपस्पर्शनं कुर्यात्, धावनं वा विदध्यात्, तस्य परिभोगप्रारम्भमुद्दिश्य प्रक्षालनं वा कुर्यात्, आदिग्रहणात्-धूपनवासनादीनि वा विदधीत। यत एवं ततोऽन्यस्मिन् वहमाने ग्रहीतव्यम्।

अपरिभुक्तमधिकृत्य किमेतद् भविष्यतीति पृष्टः सन्नेवं ब्रूयात्--

होहिइ व नियंसणियं, असासइगहणपच्छकम्माई।
अत्थि न वेविउ गिण्हइ, तहि तुल्लपवाहणा दोसा ॥६५२॥

वाशब्दः परिभुक्तादपरिभुक्तस्य पक्षान्तरद्योतकः, भविष्यति नित्यनिवसनीयमेतदित्यभिहिते यद्यपरं तादृशं नास्ति ततोऽन्यस्य तादृशस्यासति ग्रहणे एव पश्चात्कर्मादयो दोषाः। अथास्त्यन्यत् तादृशं ततः कल्पते, तच्च यद्यपि नवमवहमानकं तथापि गृह्णाति, कुत इत्याह--तुल्यास्तत्र प्रवहनादोषाः। किमुक्तं भवति—यदि साधवो गृह्णन्ति न गृह्णन्ति वा तथापि स गृहीतयोरपरिभुक्तवस्त्रयोरेकतरमात्मप्रयोगेणैव प्रवहयिष्यति ततःसाधूनां गृह्णतामपि न कश्चिद्दोष इति।

एमेव मज्जणाई, पुच्छा सुद्धे तु सव्वओ पेहा।
मणिमाई दाइंति व, असिट्ठ सेहस्सुवादाणं ॥६५३॥

एवमेव यथा नित्यनिवसनीयमभिहितं तथा मज्जनिकक्षणोत्सविकराजद्वारिकाण्यभिधातव्यानि, यदा पृच्छया शुद्धमिति निर्धारितं तदा सर्वतः—समन्तात् प्रेक्षेत—निभालयेत्, प्रेक्ष्यमाणे च यदि मण्यादिकं--मणिहिरण्यसुवर्णादिकं किञ्चिदर्थजातमुपनिबद्धमुपलभ्यते तदा भण्यन्ते गृहस्थाः। यथा-निरीक्षध्वं समन्तादपि वस्त्रमिदम्, यदि निरीक्षमाणैस्तैः स्वयमेव दृष्टं तदा लष्टम्, नो चेत् ततः साधवो 'दाइंति' त्ति दर्शयन्ति इदं यौष्माकीणं किमप्युपनिबद्धमस्ति। आहैवमभिधीयमाने कथमधिकरणे दोषो न भवतीत्युच्यते, अल्पीयानेवायं दोषः, अशिष्टे-अकथिते पुनः शैक्षस्यावधावितुकामस्य तत् द्रव्यमुपादानं भवेत् गृहीतत्वात् प्रव्रजेदित्यर्थः, आगारिणो वा महान्तमुड्डाहं कुर्युः, यथा वस्त्रेण सार्द्धं स्तनितमस्मद्द्रव्यमेभिः श्रमणैः, तत एवं प्रभूततरो दोषो मा भूदिति कथ्यते।

उपसंहरन्नाह—

एवं तु गविट्ठेसुं, आयरिया दिंति जस्स जं नत्थि।
समभागेसु कएसु व, जह राइणिया भवे बीओ ॥६५४॥

एवमुक्तप्रकारेणैव वस्त्रेषु गवेषितेषु यथासंभवं लब्धेषु च गुरूणां समीपमागम्य यथावदालोच्य वस्त्राणि विधिवद्दर्शयति, ततः आचार्यो यस्य साधोर्यज्जघन्यं मध्यमम् उत्कृष्टं वा वस्त्रं नास्ति तस्मै तद्ददतीति प्रथमः प्रकारः। पश्चार्धे द्वितीयस्सः समेषु—तुल्येषु भागेषु कृतेषु साधूनां संख्यामनुमाय प्रेमाशङ्कतया वस्त्रेषु विभक्तेष्विति भावः। वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतेन यथा रत्नाधिकः तस्मै प्रथमं दीयते इत्ययं भवेत् द्वितीयो दानप्रकारः, इत्युक्तो वस्त्रकल्पिकः। वृ० १ उ० १ प्रक०। नि०चू०। दर्श०। पं० भा०। पं० चू०।

(१३) साम्प्रतमुत्तरगुणानधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण वत्थं जाणेज्जा असंजए भिक्खुपडियाए कीयं वा धोयं वा रत्तं वा घट्ठं वा मट्ठं वा संमट्ठं सम्पधूमितं वा तहप्पगारं वत्थं अपुरिसंतरकडं०जाव णो पडिग्गाहेज्जा अह पुण एवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडं० जाव पडिग्गाहेज्जा। (सू०-१४४)

'से' इत्यादि, साधुप्रतिज्ञया—साधुमुद्दिश्य गृहस्थेन क्रीतधौतादिकं वस्त्रमपुरुषान्तरकृतं न प्रतिगृह्णीयात्, पुरुषान्तरस्वीकृतं तु गृह्णीयादिति पिण्डार्थः। आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०। याञ्चावस्त्रं निमन्त्रणावस्त्रं वा याचेत इति। ("निग्गंथा णं च गाहावइकुलं" ३६ इत्यादि सूत्रम् 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०७८ पृष्ठे सामान्यतो व्याख्यातम्।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ विस्तरार्थं बिभाणिषुराह—

दुविहं च होइ वत्थं, जायगवत्थं निमंतणाए य।
णिमंतणवत्थं ठप्पं, जायणवत्थं तु वोच्छामि ॥६५१॥

द्विविधं भवति वस्त्रं याञ्चावस्त्रम्, निमन्त्रणावस्त्रं च। तत्र निमन्त्रणावस्त्रं स्थाप्यम्. पश्चादभिधास्यते इत्यर्थः, याञ्चावस्त्रं पुनः साम्प्रतमेव वक्ष्यामि।

यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

नामं ठवणावत्थं, दव्ववत्थं च भाववत्थं च।
एसो खलु वत्थस्स, निक्खेवो चउविहो होइ ॥६५२॥

इत्यादिका—" एवं तु गविट्ठेसुं, आयरिया देंति जस्स जं नत्थि। समभागेसु कप्पसु य, जह राइणिया भवे बीओ ॥ १ ॥ " इति पर्यन्ताः षट्चत्वारिंशद्गाथाः पीठिकायां वस्त्रकल्पिकद्वारं तथैवात्र द्रष्टव्याः।

उपसंहरन्नाह—

एयं जायणवत्थं, भणियं एत्तो निमंतणं वोच्छं।
पच्छा दुगपरिसुद्धं, पुणरवि पुच्छेज्जिमा मेरा ॥६५३॥

एतद्याञ्चावस्त्रं भणितम्, इत ऊर्ध्वं निमन्त्रणावस्त्रं वक्ष्यामि, तच्च तथा-कस्यैतद्वस्त्रं किं वा नित्यनिवसनीयादिकमिदमासीदिति पृच्छाद्वयेन परिशुद्धं भवति, तदा पुनरपि तृतीयया पृच्छया पृच्छेत्। तत्र चेयं वक्ष्यमाणा मर्यादा-सामाचारी।

तामेवाह—

विउसग्गजोगसंघा-डए य नाइअकुले तिविहपुच्छा।
कस्स इमं किंच इमं, कस्स व कज्जे लहुगआणा ॥६५४॥

व्युत्सर्गो नाम-उपयोगसंबन्धिकायोत्सर्गः, तं कृत्वा यस्य च योग इति भणित्वा संघाटकेन भिक्षार्थं निर्गतस्ततो भोगिककुले उपलक्षणत्वादन्यत्रापि यथा प्रधाने कुले प्रविष्टः कयाचिदीश्वरया महता संभ्रमेण भक्तपानेन प्रतिलाभ्य वस्त्रेण निमन्त्रितः, तत्र त्रिविधा पृच्छा प्रयोक्तव्या, तद्यथा-कस्य सत्कमिदं वस्त्रम्, किं चेदमासीत्, अनेन पृच्छाद्वयेन परिशुद्धं यथा भवति तथा प्रष्टव्यम्। कस्य वा कार्यस्य हेतोः प्रयच्छसीति यद्येवं न पृच्छति ततश्चत्वारो लघवः, आज्ञादयश्च दोषाः।

तानभिधित्सुराह—

मिच्छत्त सोच संका, विराहणा भोइए तहिँ गए वा।
चउत्थं च वेटलं व, वत्थगदाहणं च ववहारो ॥६५५॥

भोगिन्या दीयमानं वस्त्रं यदि केन कार्येण प्रयच्छसीति न पृच्छयते तदा भोगिको मिथ्यात्वं गच्छेत्। अथासौ देशान्तरं गतस्तत आगतश्च महत्तरादिमुखात् श्रुत्वा शङ्का भवति, भोगिके तत्र स्थिते गते वा देशान्तरप्राप्ते पश्चादपते सति विराधना वक्ष्यमाणा भवति। सा वाऽविरतिका चतुर्थं वा-मैथुनमवभाषेत, वैण्टलं-वशीकरणादिप्रायोग्यं पृच्छेत्, नतश्च वक्तव्यम्, वैण्टलमहं न जानामि उपलक्षणत्वाच्चतुर्थं च सेवितुं न कल्पते। ततो यदि सा वस्त्रं याचेत तदा दानं कर्त्तव्यं-भूयोऽपि तस्या एव तद्वस्त्रं समर्पणीयमिति भावः। अथ तद्वस्त्रं छिन्नं वा माघूर्लकादीनां दत्तं वा भवेत्, सा च तदेव वस्त्रं मार्गयेत्, तदा राजकुलं गत्वा व्यवहारः कर्त्तव्य इति द्वारगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह—

वत्थम्मि नीणियम्मि, किं दलसि अपुच्छिऊण जइ गेण्हे।
अन्नस्स भोयगस्स व, संका घडिया णु किं पुव्विं ॥६५६॥

वस्त्रे भोगिन्या निष्काशिते सति यदि किमर्थं ददासीत्यपृष्ट्वा च गृह्णाति तदा भोक्तृत्तदीयस्यैव भर्तुः अन्यस्य वा श्वशुरदेवरादेराशङ्का भवति, किं-मन्ये एतौ परस्परं पूर्वमेव घटितौ यदेवं तूष्णीकौ दानग्रहणे कुरुतः। अथवा-किमेषा मैथुनार्थिनी भूत्वा वस्त्रमस्मै प्रयच्छति,ततो वैण्टलार्थिनीति।

मिच्छत्तं गच्छेज्जा, दिज्जंतं दट्ठु भोइओ तीसे।
वोच्छेयपदोसं वा, एगमणेगाण सो कुज्जा ॥ ६५७ ॥

तद्वस्त्रं दीयमानं दृष्ट्वा तस्याः सम्बन्धी भोजको-भर्त्ता मिथ्यात्वं गच्छेद् वा यन्निस्सारं प्रवचनममीषामित्यादिप्रतिपन्नमिथ्यात्वश्च तस्य वा एकस्य साधोरनेकेषां वा साधूनां तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदं कुर्यात्, प्रद्वेषं वा गच्छेत्।

एमेव पउच्छं-तो, इयम्मि तुसिणीयदाणगहणे तु।
महतरगादीकहिए, एगतरपदोसवोच्छेदो ॥ ६५८ ॥
मेहुणसंकमसंके, गुरुगा मूलं च वेंटले लहुगा।
संकमसंके गुरुगा, सविसेसतरापउत्थम्मि ॥ ६५९ ॥

एवमेव योषिति देशान्तरगतेऽपि भोगिके दोषा वक्तव्याः, तथा तेन-भोगिकेन देशान्तरं गच्छता ये महत्तरकाः स्थापितास्तैरादिशब्दान्महत्तरिकया द्वयत्तरिकया कर्मकरेण वा तयोरविरतिकासंयतयोस्तूष्णीकदानग्रहणे दृष्ट्वा भोगिकस्य पूर्वसमागतस्य कथितम्, ततश्च स एकतरस्य अविरतिकायाः संयतस्य वा उपरि प्रद्वेषं गच्छेत्, प्रद्विष्टश्चाविरतिकां संयतं वा हन्यान्निष्काशयेद्वा,वध्नीयाद्वा, विमानयेद्वा, व्यवच्छेदमेकस्यानेकेषां वा कुर्यात्। अत्र मैथुनशङ्कायां चत्वारो गुरुकाः, निःशङ्किते मूलम्, वेण्टलशङ्कायां चत्वारो लघुकाः, निःशङ्किते चत्वारो गुरवः, सविशेषतराश्च दोषाः प्रोषिते भोगिके भवन्ति। ते च यथास्थानं प्रागेवोक्ताः।

एए ता गेण्हंते, गहिए दोसा पुणो इमे होंति।
घरगयमुवस्सए वा, ओभासइ पुच्छए वावि ॥ ६६० ॥

एवं तावद् गृह्णतो दोषा उक्ताः, गृहीते पुनर्वस्त्रे एते वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति, तस्मिन् गृहे यदा स एव साधुरन्यस्मिन् दिवसे गतो भवति, सा च अविरतिका तस्य साधोरुपाश्रये आगता भवति, तदा मैथुनमवभाषते। एवं ममोद्भ्रामको भवेः, वेण्टलं वा सा पृच्छति, कथय किमपि तादृशं वशीकरणं येन भोगिको मे वशी भवति।

इदमेव स्पष्टयति—

पुच्छाहीणं गहियं, आगमणं पुच्छणा निमित्तस्स।
छिन्नं पि हु दायव्वं, ववहारो लब्भए तत्थ ॥६६१॥

ग्रहणकाले केन कार्येण मे प्रयच्छसीत्येवं पृच्छया हीनं वा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्त्रं गृहीतम् , गृहीते च तस्याः संयतप्रतिश्रये आगमनम् , आगता च सा पुत्रो मे भविष्यति नवेत्यादिकं निमित्तं पृच्छति,येन वाढं भोगिकस्यातिरुचिता भवामि तत्किमप्युपदिश। ततःसाधुना वक्तव्यं न कल्पते मैथुनं प्रतिसेवितुं साधुना विरलं निमित्तं वा नाहं जानामि, एवमुक्ते यदि सा वस्त्रं भूयोऽपि मार्गयेत् ततः प्रतिदातव्यम् । अथ तेन वस्त्रेण छित्वा पात्रबन्धादिकं किमपि परं कृतं तन्निश्छन्नमपि तदा दातव्यम् । अथ न छिन्नं गृह्णाति ब्रवीति च मम सकलमेव प्रयच्छ ततो राजकुलं गत्वा व्यवहारे प्रारब्धे कारणिका अभिधातव्याः । यथा केनचिद् वृक्षस्वामिना वृक्षो विक्रीतः, क्रयकेण च मूल्यं दत्त्वा च स गृहं नीतः, ततो विक्रयकः पश्चात्तापितो भणति प्रतिग्रहाण मूल्यं प्रत्यर्पय मदीयं वृक्षम् । क्रयिकःप्राह-मया स वृक्षश्छित्त्वा पृथक् काष्ठानि कृतः । अथ कथं तमेव वृक्षमखण्डमहं ते समर्पयामि; एवं विवदमानौ तौ राजकुलमुपस्थितौ । ततः कथयत कारणिकाः किं स क्रयिको युष्माभि वृक्षं दाप्यते, अथवा काष्ठानि दाप्यन्ते । ततः काष्ठान्येव न पूर्वावस्थं वृक्षमिति व्यवहारो लभ्यते ।

पाहुण एणऽसेण व, णीयं बहि हो इ हयं व डज्झं वा ।
तहिं य अणुसट्ठाई, अन्नं वा दट्ठुमोत्तूणं ॥ ६६२ ॥

अथ वस्त्रं प्राघूर्णकेनान्येन वा साधुनाऽन्यत्र नीतं भवेत् स्तेनेन वा हृतं प्रदीपनकेन वा दग्धम् , तत्र चानुशिष्ट्यादिकं कर्तव्यम्,अनुशिष्टिर्नाम सद्भावकथनपुरस्सरप्रज्ञापना। तथाप्यनुपरतायां धर्मकथा कर्तव्या. विद्यया मन्त्रेण वा निराकरणीया । तदभावेऽन्यद्वस्त्रं तस्या दातव्यम् । परिदग्धं वस्त्रं मुक्त्वा दग्धे हृते वा न किंचिद्दीयते इति भावः । यदि सा राजकुलमुपतिष्ठते ततस्तत्रापि व्यवहारो लभ्यते, दत्तादानम् नीश्वर इति । अथ दानकाले साधुना पृष्टं किं निमित्तं ददासि, तत्र सा तूष्णीका स्थिता न बहिश्चेष्टया तथाविधः कोऽपि भाव उपदर्शितः परं ग्रहणानन्तरं काचिदुपाश्रयमागत्य वेण्टलं पृच्छति चतुर्थमवभाषते ।

तथा तत्राभिधातव्यम्—

न विजाणामो निमित्तं,न य मे कप्पइ पउंजिउं गिहिणो ।
परदारदोसकहणं, तं मम माया य भगिणी य ॥६६३॥

वयं निमित्तं न जानीमः, न वाऽस्माकं जानतामपि गृहिणां पुरतो निमित्तं प्रयोक्तुं कल्पते, ततः संयमाविकृतिप्रसङ्गात् । या चतुर्थमवभाषते तस्याः परदारदोषकथनं क्रियते । यथा-परपुरुषपरदारप्रसक्तयोः स्त्रीपुंसयोरिहैव भवेद्दण्डनभण्डनतर्जनताडनादयः । परभवे-नरकगतौ गतानां तथाऽयः पुत्तलिकालिङ्गमादाय तत उद्वृत्तानां तिर्यग्मनुष्य भवग्रहणे भूयोऽपि नपुंसकत्वदौर्भाग्यप्रभृतयो वा ।

एकस्स व एकस्स व, कज्जे दिज्जंत गेण्हई जो उ ।
ते चेव तत्थ दोसा, वालम्मि य भावसंबंधो ॥ ६६४ ॥

एकस्य वा-पूर्वसम्बन्धस्य एकस्य वा—पश्चात्सम्बन्धस्य कार्ये दीयमानं वस्त्रं यःसाधुर्गृह्णाति तस्य ते एव शङ्कादयः प्रागुक्ता दोषा वाले—वालविषये—भावसम्बन्धो वक्ष्यमाणो भवतीति समासार्थः ।

अथैनामेव गाथां विवृणोति—

अह सा पुट्ठा पुव्वे-ण तत्थ बन्धेण वा सरिसमाह ।
संकाइया उ तत्थ वि,कडगा य बहुमहिलियाणं ॥६६५॥

अथ—सा दात्री पृष्टा सती पूर्वसंबन्धेन यादृशो मम भ्राता तादृश एव त्वं वर्तसे, पश्चात्सम्बन्धेन तु श्वशुर इव भर्तृवत्सिद्धस्त्वं विलोक्यसे अतोऽहं भवतो वस्त्रं प्रयच्छामि इत्याद्येवमभ्यन्तरेण सम्बन्धकार्येण दीयमानं यदि गृह्णाति तदा एवं शङ्कादयो दोषाः, यदि तस्या अविरतिकाया बालमपत्यं किमपि विद्यते तदा स साधुस्तया सह सम्बन्धभावेन प्रतिपन्नः सन् चिन्तयति-इदं मे भागिनेयम् । अथ भर्तृतया प्रतिपन्नस्ततश्चिन्तयति-इदं मे पुत्रभाण्डम् , एवमादिको भावे बन्धो भवति , ततश्च प्रतिगमनादयो दोषाः । किञ्च-महिलिकानां बहुभिन्नकानि कैतवानि भवन्ति , तेन देवरादिग्रहणोपायेन सम्बन्धमानीय चारित्रात् परिभ्रंशयन्तीति भावः ।

यत एवमतः—

एयदोसविमुक्कं, वत्थग्गहणं तु होइ कायव्वं ।
खमउ त्ति दुव्वलो त्ति य, धम्मो त्ति य होति निद्दोसं ६६६

एतैरनन्तरोक्तैर्दोषैर्विमुक्तं वस्त्रग्रहणं साधुना कर्तव्यं भवति , कथमित्याह-' खमउ ' त्ति इत्यादि , यदि सा दात्री पृष्टा सती ब्रूयात् क्षपकस्तपस्वी त्वम् , अथवा दुर्बलोऽसि क्षपकतया स्वभावेन वा ततस्ते प्रयच्छामि, यतस्तपस्विने दीयमाने धर्मो भवतीति कृत्वा ददामि , एवं ब्रुवति दायकेन तद्वस्त्रं लभ्यमानं निर्दोषं भवति ।

किञ्च—

आरम्भनियत्ताणं , अकिणंताणं अकारवेंताणं ।
धम्मट्ठा दायव्वं, गिहिहि धम्मे य कयमणाणं ॥६६७॥

आरम्भः-षट्कायमर्दस्तस्मान्निवृत्तानां तथा अक्रीणतां-वस्त्रादिक्रयमकुर्वाणानाम् अकारयताम्—आरम्भक्रयकारणे परमव्यापारयताम् एवंविधानां धर्मे-श्रुतचारित्रभेदभिन्ने कृतमनसां-साधूनां गृहिभिः—सर्वारम्भप्रवृत्तैर्धर्मार्थं कुशलानुबन्धिपुण्योपार्जनार्थं वस्त्रपात्रादिकं यथायोग्यं दातव्यमिति बुद्ध्या यत्रोपासकादिर्वस्त्रेणोपनिमन्त्रयति तस्य ग्रहीतव्यमिति प्रक्रमः ।

तदेवं वस्त्रमुत्पन्नं यावद्गुरूणां समीपे न गम्यते तावत्कस्यावग्रहे भवतीति । उच्यते—

संघाडए पविट्ठे , रायणिए तह य ओमराइणिए ।
जं लब्भति पायोग्गं, राइणिए उग्गहो होइ ॥ ६६८ ॥

उपयोगे कायोत्सर्गं कृत्वा भिक्षार्थं संघाटकः प्रविष्टः तत्रैको रात्निको द्वितीयोऽवमरात्निकः । तत्र च यत् प्रायोग्यं संघाटकेन लभ्यते तद्यावदाचार्यपादमूलं न गम्यते तावत्सर्वं रात्निकस्य ज्येष्ठार्यस्यावग्रहो भवति, ज्येष्ठार्यस्तस्य स्वामी इति भावः ।

अथ यदुक्तम् " कप्पइ से सागारकडं गहा य दोपि उग्गहं अणुन्नवित्ता परिहारं परिहरित्तए " त्ति तदेतत् । यथा केचिदाचार्यदेशीयाः स्वच्छन्दबुद्ध्या व्याचक्षते तथा प्रतिपादयति—

दोच्चं पि उग्गहो त्ति य, केइ गिहत्थेसु दोच्चमिच्छंति ।
सावय गुरुणो नयामो,अग्गिन्छे पच्छा हरिस्सामो।६६९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीयमपि वारमवग्रहोऽनुज्ञापितव्य इति सूत्रे यदुक्तं केचिदाचार्या गृहस्थादिष्विमं द्वितीयमवग्रहमिच्छन्ति. कथमित्याह 'सावय' इत्यादि यः श्रावको वस्त्रं ददाति स वक्तव्यो हे श्रावक ! कथम् ? एतद्वस्त्रं गृहीत्वा गुरूणां समीपे तावन्नयामः यद्याचार्या एते ग्रहीष्यन्ति ततो भूयोऽप्यागम्य भवतः समीपे द्वितीयं वारमवग्रहमनुज्ञापयिष्याम इति, आचार्या वस्त्रं न ग्रहीष्यन्ति ततस्तेषां वस्त्रस्यानिच्छायां भवेत् एवेदं प्रत्याहरिष्यामः ।

इहरा परिट्ठवणिया, तस्य व पच्चप्पिणंति अहिगरणं ।
गिहिगहणे अहियरणं, सो वा दट्ठूण वोच्छेदं ॥६७०॥

इतरथा यद्येवं न विधीयते ततो दर्शितमपि वस्त्रं यदा आचार्या न गृह्णीयुस्तदा परिष्ठापनिकादोषः, अथ न परिष्ठापयन्ति ततोऽप्रातिहारिकं गृहीत्वा भूयस्तस्यैव गृहस्थस्य प्रत्यर्पयतां परिभोगधावनादिकमधिकरणमुपजायते । अथ तत्परिष्ठापितं वस्त्रं कोऽपि गृही गृह्णाति ततोऽप्यधिकरणमेव, स वा दाता तद्वस्त्रं परिष्ठापितमन्यगृहस्थगृहीतं वा दृष्ट्वा तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदम्, एकस्यानेकेषां वा साधूनां कुर्यात् ।

अथ सूरिः परोक्तं दूषयन्नाह—

चोयग ! गुरुपडिसिद्धे, तहिं पउच्छे धरिज्ज दिन्नंसु ।
धारणपक्खे अहिगरणं, गेण्हज्ज सयं व पडिणीतं ॥६७१॥

हे नोदक ! एवं क्रियमाणे त एव प्रागुक्तदोषा भवन्ति । तथाहि-तद्वस्त्रमानीय गुरूणामर्पितं तेन चाचार्याणां न प्रयोजनं ततस्तैः प्रतिषिद्धम्, तच्च वस्त्रं यावत्तस्य दायकस्य प्रत्यर्प्यते तावदसौ ग्रामान्तरं प्रोषितः । प्रोषिते च तस्मिन् यदि तद्वस्त्रं धारयति-परिभुङ्क्त इत्यर्थः, तदा अदत्तादानम्, अथ तस्य सत्कं भणित्वा धारयति तदाऽधिकरणम्, आत्मार्थिनं कृत्वा धारयति अथाप्यधिकरणम् । अतिरिक्तोपकरणस्यापरिभोग्यतया अधिकरणत्वात् । अथ तद्वस्त्रम् उज्झति-परिष्ठापयतीत्यर्थः तथाऽपि गृहिगृहीतोऽधिकरणं परिष्ठापनादोषाः, अथवा-प्रतिनीतं तद्वस्त्रं स्वयमेवात्मना गृह्णीयात्, न प्रतिदद्यादिति भावः । तस्मादेष नयुक्तो द्वितीयावग्रहः । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

(१४) धौतस्य प्रतापनविधिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखिज्ज वत्थं आयावित्तए वा पयावित्तए वा तहप्पगारं वत्थं नो अणंतरहियाए ० जाव पुढवीए संताणए आयावित्तए वा पयावित्तए वा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखिज्ज वत्थं आयावित्तए वा पयावित्तए वा तहप्पगार वत्थं थूणंसि वा गिहेलुगंसि वा उसुयालंसि वा कामजलंसि वा अन्नयरे तहप्पगारे अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे दुन्निक्खित्ते अणिकंपे चलाचले नो आयावित्तए वा नो पयावित्तए वा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखिज्ज वत्थं आयावित्तए वा पयावित्तए वा तहप्पगारं वत्थं कुलियंसि वा भित्तंसि वा सिलंसि वा लेलुंसि वा अन्नयरे वा तहप्पगारं अंतलिक्खजाए ० जाव नो आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा वत्थं आयावित्तए वा पयावित्तए वा तहप्पगारं वत्थं खंधंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अन्नयरे वा तहप्पगारं अतलिक्खजाए नो आयाविज्ज वा नो पयाविज्ज वा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा २ अहे झामथंडिलंसि वा० जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिल्लंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव वत्थं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा एवं खलु० तस्स भिक्खुस्स वा २ सामग्गियं वत्थेसणाए (सू०-१४८) त्ति बेमि ॥

स भिक्षुरव्यवहितायां भूमौ वस्त्रं नातापयेदिति ॥ किञ्च-स भिक्षुर्यद्यभिकाङ्क्षेद्वस्त्रमातापयितुं ततः स्थूणादौ चलाचले स्थूणादिवस्त्रपतनभयान्नातापयेत्, तत्र गिहेलुकः-उम्बरः उसुयालं—उदूखलम् कामजलं—स्नानपीठमिति । स भिक्षुर्भित्तिशिलादौ पतनादिभयाद्वस्त्रं नातापयेदिति । स भिक्षुः स्कन्धमञ्चकप्रासादादावन्तरिक्षजाते वस्त्रं पतनादिभयादेव नातापयेदिति । यथा चातापयेत्तथा चाह-स भिक्षुस्तद्वस्त्रमादाय स्थण्डिलादि प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहरणादिना तत आतापनादिकं कुर्यादिति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

(१५) धरणविधिरभिधीयते,इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा नो धोइज्जा नो रएज्जा नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा अपलिउंचमाणो गामंतरेसु० ओमचेलिए, एवं खलु वत्थधारिस्स सामग्गियं ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पविसिउकामे सव्वं चीवरमायाए गाहावइकुलं निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा, एवं बहियविहारभूमिं वा वियारभूमिं वा गामाणुगामं वा दूइज्जिज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणं पेहाए जहा पिंडेसणाए नवरं सव्वं चीवरमायाए । (सू०-१४९)

स भिक्षुः यथैषणीयानि-अपरिकर्माणि वस्त्राणि याचेत यथा परिगृहीतानि च धारयेत्, न तत्र किञ्चित्कुर्यादिति दर्शयति, तद्यथा— न तद्वस्त्रं गृहीतं सत् प्रक्षालयेत् नापि रञ्जयेत्, तथा नापि वाकुशिकतया धौतरक्तानि धारयेत्, तथाभूतानि न गृह्णीयादित्यर्थः, तथाभूताधौतारक्तवस्त्रधारी च ग्रामान्तरं गच्छन् 'अपलिउंचमाणो' त्ति अगोपयन् सुखेनैव गच्छेद्, यतोऽसौ—अवमचेलिकः-असारवस्त्रधारी, इत्येतत्तस्य भिक्षोर्वस्त्रधारिणः सामग्र्यं—सम्पूर्णो भिक्षुभावः यदेवंभूतवस्त्रधारणमिति । एतच्च सूत्रं जिनकल्पिकोद्देशे न द्रष्टव्यं, वस्त्रधारित्वविशेषणाद् गच्छान्तर्गतेऽपि चाविरुद्धमिति । किञ्च—'से' इत्यादि पिण्डैषणावन्नेयम्, नवरं तत्र सर्वमुपधिम्, अत्र तु सर्वं चीवरमादायेति विशेषः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१६) इदानीं प्रातिहारिकोपहतवस्त्रविधिमधिकृत्याह–

से एगइओ मुहुत्तगं मुहुत्तगं पाडिहारियं वत्थं जाइज्जा ०जाव एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा विप्पवसिय विप्पवसिय उवागच्छिज्जा, नो तह वत्थं अप्पणो गिहिज्जा, नो अन्नमन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं करिज्जा , नो परं उवसंकमित्ता एवं वइज्जा–आउ० समणा ! अभिकंखसि वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ? , थिरं वा संतं नो पलिच्छिदिय पलिच्छिदिय परिट्ठविज्जा, तहप्पगारं वत्थं ससंधियं वत्थं तस्स चेव निसिरिज्जा नो णं साइज्जिज्जा ॥ से एगइओ एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म जे भयंतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि ससंधियाणि मुहुत्तगं मुहुत्तगं ०जाव एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छंति , तह० वत्थाणि नो अप्पणा गिण्हंति नो अन्नमन्नस्स दलयंति तं चेव० जाव नो साइज्जंति, बहुवयणेण भाणियव्वं , से हंता अहमपि मुहुत्तगं पाडिहारियं वत्थं जाइज्जा ०जाव एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा विप्पवसिय विप्पवसिय उवागच्छिस्सामि, अवियाइं एयं ममेव सिया, माइट्ठाणं संफासे नो एवं करिज्जा ॥ (सू०–१५०)

स–कश्चित्साधुरपरं साधुं मुहूर्त्तादिकालोद्देशेन प्रतिहारिकं वस्त्रं याचेत, याचित्वा चैकाक्येव ग्रामान्तरादौ गतः तत्र चासावेकाहं यावत्पञ्चाहं वोषित्वाऽऽगतः, तस्य चैका, कित्वात्स्वपतो वस्त्रमुपहतम् , तच्च तथाविधं वस्त्रं तस्य समर्पयतोऽपि वस्त्रस्वामी न गृह्णीयात् , नापि गृहीत्वाऽन्यस्मै दद्यात् , नाप्युच्छिन्नं दद्याद् , यथा गृहाणेदम् , त्वं पुनः कतिभिरहोभिर्ममान्यद्दद्याः , नापि तदैव वस्त्रेण परिवर्त्तयेत् , न चापरं साधुमुपसंक्रम्यैतद्वदेत् , तद्यथा आयुष्मन् ! श्रमण ! अभिकाङ्क्षसि इच्छस्येवंभूतं वस्त्रं धारयितुं परिभोक्तुं चेति ?, यदि पुनरेकाकी कश्चिद्गच्छेत्तस्य तदुपहतं वस्त्रं समर्पयेत् न स्थिरं–दृढं सत् परिच्छिद्य परिच्छिद्य– खण्डशः खण्डशः कृत्वा परिष्ठापयेत्– त्यजेत् , तथाप्रकारं वस्त्रं ' ससंधियं ' ति उपहतं स्वतो वस्त्रस्वामी नास्वादयेत्–न परिभुञ्जीत , अपि तु तस्यैवोपहन्तुः समर्पयेत् , अन्यस्मै वैकाकिनो गन्तुः समर्पयेदिति । एवं बहुवचनेनापि नेयमिति । किञ्च–सः–भिक्षुः एकः– कश्चिदेवं साध्वाचारमवगम्य ततोऽहमपि प्रातिहारिकं वस्त्रं मुहूर्त्तादिकालमुद्दिश्य याचित्वाऽन्यत्रैकाहादिना वासेनोपहनिष्यामि, ततस्तद्वस्त्रं ममैवं भविष्यतीत्येवं मातृस्थानं संस्पृशेत् , न चैतत्कुर्यादिति ।

तथा–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा नो वण्णमंताइं वत्थाइं विवण्णाइं करिज्जा, विवण्णाइं न वण्णमंताइं करिज्जा, अन्नं वा वत्थं लभिस्सामि त्ति कट्टु नो अन्नमन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं कुज्जा, नो परं उवसंकमित्तु एवं वदेज्जा,आउसो ! ० समभिकंखसि मे वत्थं धारित्तए वा ?, परिहरित्तए वा ?, थिरं वा संतं नो पलिच्छिदिय पलिच्छिदिय परिट्ठविज्जा, जहा मेयं वत्थं पावगं परो मन्नइ, परं च णं अदत्तहारी पडिपहे पेहाए तस्स वत्थस्स नियाणाय नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा, ०जाव अप्पुस्सुए, तओ संजयामेव गामाणुगामं दुइज्जिज्जा । से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपिंडिया गच्छेज्जा, णो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छेज्जा० जाव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥ से भि० दूइज्जमाणे अंतरा से आमोसगा पडियागच्छेज्जा, ते णं आमोसगा एवं वदेज्जा–आउसं० ! आहरेयं वत्थं देहि णिक्खिवाहि जहा रियाए णाणत्तं वत्थपडियाए, एयं खलु० सया जइज्जासि । (सू०–१५१)

स भिक्षुर्यदेवन्ति वस्त्राणि चौरादिभयाच्चो विगतवर्णानि कुर्यात् , उत्सर्गतस्तादृशानि न आद्याएयेव, गृहीतानां वा परिकर्म न विधेयमिति तात्पर्यार्थः । तथा विवर्णानि न शोभनवर्णानि कुर्यादित्यादि सुगममिति । नवरं 'विहं' ति अटवीप्रायःपन्थाः । तथा तस्य भिक्षोः पथि यदि आमोषकाः– चौरा वस्त्रग्रहणप्रतिज्ञया समागच्छेयुरित्यादि पूर्वोक्तं यावदेतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० २ उ० ।

याञ्चावस्त्रं निमन्त्रणावस्त्रं वा ज्ञात्वा पृथग्वा धरेत्––

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा जायणावत्थं वा णिमंतणावत्थं वा अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पडिग्गाहेइ पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ ६६ ॥

जायणावत्थं जं मग्गिज्जति,कस्सेयं ति अपुच्छिय,, कस्सट्ठा कडं ति अगवेसिय, णिच्चणियंसणं जं दिया रातो य परिहरिज्जति मज्झिमं तिण्हातो जं परिहेति, देवघरपवेसं वा करेंतो तं मज्जणजयं । जत्थ एक्केण विसेसो कज्जति सो छणो,जत्थ सामण्णभत्तविसेसो कज्जति सो ऊसवो । अहवा छणो चेव ऊसवो छणोसवो तम्मि जं परिहिज्जति तत्थ णं सचियरायकुलं पविसंतो जं परिहेति तं रायदारियं । एवं वत्थं जो अपुच्छिय अगवेसिय गेण्हति तस्स चउलहु , आणादिया य दोसा । एस सुत्तत्थो । नि० चू० १५ उ० ।

(१७) निर्ग्रन्थीनां वस्त्रग्रहणम्––

निग्गंथिं च णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतं समाणं, केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा कप्पई से सागारकडं ग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हाय आयरियपायमूले ठवित्ता दोच्चं पि उग्गहमणुन्नवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ४० ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत्।

अथ भाष्यम्—

बहिया व निग्गयाणं, जायणवत्थं तहेव जयणाए।
निमंतणे वत्थं तहेव, सुद्धमसुद्धं च खमगादी ॥६७२॥

बहिर्विचारभूमौ-वा संज्ञासु विहारभूमौ-च स्वाध्याय-भूमिकायां निर्गतानां याञ्चावस्त्रं न चैव यतनया ग्रहीतुं कल्पते यथा भिक्षाचर्यायामुक्तं निमन्त्रणे वस्त्रमपि तथैव शुद्धमशुद्धं च वक्तव्यम्। शुद्धं नाम यत् क्षपक इति वा धर्म इति वा कृत्वा दीयते, अशुद्धं यच्चतुर्थेन वा वेण्टला-दिकार्येण वा दीयते।

निग्गंथिं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्प-विट्ठं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछ-णेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवि-त्तिणीपायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुन्नवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ४१ ॥ निग्गन्थिं च णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतिं समाणिं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय पवित्तिणीपायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि उग्गहमणुन्न-वित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ४२ ॥

अस्य सूत्रद्वयस्यापि व्याख्या प्राग्वत्।

अथ भाष्यविस्तरः—

निग्गन्थिवत्थगहणे, चउरो मासा हवन्तिऽणुग्घाया।
मिच्छत्ते संकाई, पसज्जणा जाव चरिमपदं ॥ ६७३ ॥

निर्ग्रन्थीनां गृहस्थेभ्यो वस्त्रग्रहणं कुर्वतीनां चत्वारो मासा अनुद्घाताः प्रायश्चित्तम्, ताश्च वस्त्रं गृह्णतीर्दृष्ट्वा कश्चिदभिनवश्राद्धो मिथ्यात्वं गच्छेत्, प्रसञ्जना नाम-भोजिका घटिका-दिप्रसङ्गपरम्परा, तत्र चरमपदं पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तम्।

इदमेव भावयति—

पुरिसेहिंतो वत्थं, गिण्हंतिं दिस्स संकमादीया।
ओभासणं चउत्थे, पडिसिद्धे करेज्ज उड्डाहं ॥६७४॥

पुरुषेभ्यः सकाशाद्वस्त्रं गृह्णन्तीं निर्ग्रन्थीं दृष्ट्वा शङ्कादयो दोषाः, किमेषा भाटिं गृह्णाति एवं शङ्कायां चतुर्गुरु, भोजि-कायाः कथिते षड्लघु, घटिकस्य कथने षड्गुरु, ज्ञातीनां कथने छेदः,आरक्षिकेण श्रुते मूलम्, श्रेष्ठिसार्थवाहपुरोहित-श्रुते अनवस्थाप्यम्, अमात्यनृपतिभ्यां श्रुते पाराञ्चिकम्, स वा गृहस्थो वस्त्राणि दत्त्वा चतुर्थविषयमेव भाषणं चरेत्, तया प्रतिषिद्धे उड्डाहं कुर्यात्, एषा मदीयां भाटिं गृहीत्वा संप्रति मदुक्तं न करोति।

किं चान्यत्—

लोभे अ आभिओगे, विराहणापट्टएण दिट्ठंतो।
दायव्वो गणहरेणं, तं पि परिच्छित्तु जयणाए।६७५॥

'लोभे य' त्ति येन वा तेन वा वस्त्रादिना स्त्रीमुखेनैव प्रलो-भ्यते 'अभियोगे' त्ति कोऽप्युदारशरीरां संयतीं दृष्ट्वा तस्याः वशीकरणमभियोगं कुर्यात् ततश्चारित्रविराधना, अत्र च पट्टकेन दृष्टान्तः। यत एवमतः संयतीनां गणधरेण वस्त्राणि दातव्यानि, तदपि वस्त्रदानं सप्त दिवसानि परी-क्ष्य परीक्षां कृत्वा यतनया वक्ष्यमाणया कर्त्तव्यमिति संग्रह-गाथासमासार्थः।

अथ विस्तरार्थमाह—

पगईपेलवसन्ना, लोभिज्जइ जेण तेण वा इत्थी।
अवि य हु मोहो दिप्पइ, सुइरं तासिं सरीरेसु ॥६७६॥

प्रकृत्या-स्वभावेनैव स्त्री प्रायः 'पेलवसत्त्वा' तुच्छधृतिब-ला ततो येन वा वस्त्रादिना लोभ्यते, अपि च ताः स्वभावे-नैव बहुमोहा भवन्ति अतस्तासां पुरुषैः सह संलापं कुर्व-तीनां दारं गृह्णतीनां स्वैरं-स्वेच्छया शरीरेषु मोहो दीप्यते। अभियोगं वा तस्या विद्याभिमन्त्रितवस्त्रप्रदानव्याजेन कु-र्यात्, अभियोगिता च सती चारित्रं विराधयेत्।

तथा चात्र दृष्टान्तमाह—

वियरिग सोआरामे, ससरक्खे पुप्फदाणपट्टकया।
निसि वेल दारपिट्टण,पुच्छा गामेण निच्छुभणं।६७७।

एगत्थ गामे वियरिया सा य आरामसमीवे ठिओ, तत्थ य इत्थिजणो पाणियं वहइ। तम्मि आरामे एगो ससरक्खो सो वियरियं ओरालं आविरइयं दट्ठुं तीए विज्जाभि-मंतियाणि पुप्फाणि देइ। तीए घरं गंतुं नीसापट्टए ता-णि ठवियाणि, तओ ते पुप्फा पट्टगं आविसिउं अड्डरत्त-वेलाए घरदारं पिट्टेंति। तओ आगारो निग्गओ, पेच्छइ प-ट्टगं सपुप्फं तेण आगारी पुच्छिता। तीए सब्भावो कहि-ओ, तेण वि गामस्स कहियं, गामेण सो ससरक्खो निच्छू-ढो। अथाक्षरगमनिका—विदरिकः क्वापि कामश्चारारा-मसमीपे ततः सरजस्को वाटिकातटे काञ्चिदविरतिकां दृष्ट्वा विद्याभिमन्त्रितपुष्पदानं करोति, तया च गृहं ग-त्वा तानि पट्टके कृतानि, ततो निशि-रात्रौ वेलायामर्द्धरात्रौ गृहद्वारस्य पिट्टनं तैः कृतम्, ततस्तेन तस्याः पृच्छा कृता सद्भावे च कथिते ग्रामस्य कथयित्वा तेन निष्काशनं सरजस्कस्य कृतम्, यत एते दोषा अतो निर्ग्रन्थीभिरात्म-ना गृहस्थेभ्यो वस्त्राणि न ग्रहीतव्यानि किं तु गणधरेण तासां दातव्यानि।

(१८) कः पुनरत्र विधिरित्यत आह—

सत्त दिवसे ठवेत्ता, थेरपरिच्छाऽपरिच्छणे गुरुगा।
देइ गणी गणिणीए, गुरुगा सय दाण अद्धाणे ॥६७८॥

संयतीप्रायोग्यमुपधिमुत्पाद्य सप्त दिवसान् स्थापयति-प-रिवासयति, ततः कल्पं कृत्वा स्थविरो धर्मश्रद्धावान् प्र-वार्यते, यदि नास्ति कोऽपि विकारः सुन्दरम्। एवं परीक्षा कर्त्तव्या, यद्यपरीक्ष्य प्रयच्छति ततश्चत्वारो गुरवः, एवं परीक्षितो गणी-गणधरो गणिन्याः—प्रवर्तिन्याः प्रयच्छति, साऽपि गणिनी संयतीनां यथाक्रमं ददाति। अथाचार्य आ-त्मना प्रयच्छति ततश्चतुर्लघुकम्। काचिन्मन्दधर्मा ब्रूयात् एतस्याः सुन्दरतरं दत्तं न मम, यस्मादियमस्याभीष्टा, ए-वं स्वयं दाने विधीयमाने आचार्यस्यास्थाने स्थापनं भ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वति यत एवमतः प्रवर्तिन्या तासां दातव्यम् । नोदकः प्राह—यद्येवं तर्हि सूत्रं निरर्थकं तत्र निर्ग्रन्थ्या वस्त्रग्रहणस्यानुज्ञातत्वात् ।

आचार्यः प्राह—

असइ समणाण चोयग, जायनिमंतणे वत्थ तह चेव ।
जायंति घरे असई, विमिस्सिया मोत्ति सेठाणे ॥६७६॥

हे नोदक ! निरर्थकं न भवति किं तु श्रमणानामसति यदा स्थविरा निर्ग्रन्थ्यो वस्त्राणि गृह्णन्ति तद्विषयमेतत्सूत्रम् , यथा याञ्चावस्त्रे निमन्त्रणावस्त्रे च तथैव सर्वोऽपि विधिर्द्रष्टव्यः, ताश्च प्रथमतः स्थविराः एव केवला याचन्ते, तासामसति तरुणीविमिश्रिताः । स्थविराः परमितानि स्थानानि मुक्त्वा ।

तान्येव दर्शयति—

कावालिए य भिक्खू , सुइवादी कुचिए अ वेसित्थी ।
वाणियगतरुण संस-ट्ठ मेहुणे भोयए चेव ॥ ६८० ॥
माता पिया य भगिणी, भाउगसम्बन्धिणो अ तह सन्नी ।
भावितकुलेसु गहणं, असई पडिलोमजयणाए ॥६८१॥

कापालिको-ऽस्थिरजस्कः भिक्षुकः-सौगतः शुचिवादी-दकसौकरिकः कूर्चिका-कूर्चधराः वेश्यास्त्रीवणिजकाश्च प्रतीताः तरुणो—युवा संसृष्टः—पूर्वपरिचित उद्भ्रामकः । मैथुनो-मातुलपुत्रः भोक्ता-भर्ता: माता. पिता, भगिनी.भ्राता, एते चत्वारोऽपि प्रसिद्धाः । संबन्धी-सामान्यतः सज्ञातिकः संज्ञी-श्रावकः एतान् कापालिकादीन् मुक्त्वा यानि भावितानि यथा प्रधानानि मध्यस्थानानि कुलानि तेषु संयतीभिर्वस्त्रग्रहणं कर्त्तव्यम् । अथ भावितकुलानि न प्राप्यन्ते ततस्तेषामभावे प्रतिलोमं-प्रतिक्रमेण प्रतिषिद्धस्थानेष्वेव यतनया यथा वक्ष्यमाणा दोषा न भवन्ति तथा गृह्णीयादिति सङ्ग्रहगाथाद्वयसमासार्थः ।

अथैतदेव प्रतिपदं भावयति—

अट्ठी विज्जा कुच्छित-भिक्खु निरुद्धओ लज्जए ऽणत्थ ।
दगसोगरि य कुचिय-सुयरा त्ति य बंभचारित्ता॥६८२॥

'अट्ठि' त्ति सरजस्काः ते विभूत्या मन्त्रेण वा संयतीनां वस्त्रदानव्याजेनाभियोगं कुर्युः, अपि च ते कुत्सिता भवन्ति ये तु भिक्षुकाः सौगतास्ते प्रायो निरुद्धवस्त्राः । ये अन्यत्र च द्वचरिकादिषु गच्छन्तो लज्जन्ते, गाथायां प्राकृतत्वात् एकवचननिर्देशः । एवं दकसौकरिका परिव्राजकाः कूर्चिकाश्च कूर्चधरा वक्तव्याः ते चोभयेऽप्येवं मन्यन्ते, एताः श्रमण्यो ब्रह्मचारित्वादप्रसवाः अप्रसवत्वात् शुचयः-पवित्रा एता इति ।

अन्नट्ठवणज्जुन्ना, अनिओगो जाव रूविणी गणिया ।
भाइगचोरियदिन्नं, दट्ठं समणीसु उड्डाहो ॥ ६८३ ॥

या जीर्णा गणिका सा स्वयं स्थापयितुमसमर्था रूपवतीं संयतीं दृष्ट्वा अन्यस्थापनार्थमपरगणिकास्थापनार्थम्-अभियोगयेत् , या वा रूपवती गणिका साऽप्येवमेवाभियोगं कुर्यात् , तेषां यो मातुलपुत्रस्तेन संभोगिकाया वस्त्रं चौरिकया संयत्या दत्तं तच्च तया प्रावृतं दृष्ट्वा सा भोगिनी बहुजनमध्ये उड्डाहं कुर्यात् , एषा मे गृहभङ्गं करोति ।

देसिय वाणियलोभा, सइ दिन्नेण उवरिं पि होहिंति ।
तरुणुब्भामग भोयग, संकादी आतयसमुत्था ॥६८४॥

देशिको-देशान्तरयातो वाणिजश्चिन्तयति साक्षादेकवारं दत्तेन दानेन मतेयं चिरमपि भविष्यति इति विचिन्त्य लोभाद्भूयांसि वस्त्राणि दत्त्वा प्रलोभयेत् , यस्तु सुरूपः स विकारबहुल उत्कटमोहश्च भवति. संसृष्टपूर्व उद्भ्रामकः भोक्ता-प्राक्तनो भर्ता एव तेषां हस्तादादीयमाने वस्त्रे शङ्कादय आत्मसमुत्थाश्च दोषा भवन्ति ।

दाहामो णि य कस्सइ, नियगो मो होहिइ सहाओऽसे ।
सन्नी वि संनियाणं, दाहिइ इति विप्परीणामो॥६८५॥

पितामातृप्रभृतयो निजकाश्च जनाश्चिन्तयन्ति कस्याप्येनां वयं दास्यामः, सोऽस्माकं सहायो भविष्यति, यस्तु संज्ञी श्रावकः सोऽप्येषामेव धर्मसहायो भविष्यति अन्यच्च संयतानाम् एषा विपुलं भक्तपानं मदीये गृहे वर्त्तमाना दास्यति , एवं चिन्तयित्वा विपरिणम्य चोन्निष्क्रमणं कारयेत् , यत एवमत एतानि स्थानानि वर्जयित्वा यानि भावितकुलानि तेषु ग्रहीतव्यम् ,भावितकुलानामभावे प्रतिषिद्धस्थानेष्वेव पश्चानुपूर्व्या गृह्णीयात् । प्रथमं यः सभोगिकः श्रावकस्तस्य सकाशाद् ग्रहीतव्यम् , तस्याभावे असंभोगिकश्रावकहस्तादपि, एवं प्रतिप्रक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्भिक्षुकाणामभावे कापालिकानां सकाशादपि यतनया वस्त्रग्रहणं कर्त्तव्यम् ।

यतनामेवाह—

मग्गंति थिविरियाओ, लद्धं पि य थेरिया उ गेण्हंति ।
आगारदट्ठतरुणी-ण य दंते तं न गिण्हंति ॥ ६८६ ॥

या स्थविरा धर्म्मश्रद्धा वयो वृद्धा गीतार्थाश्च ता वस्त्राणि मार्गयन्ति,लब्धमपि च वस्त्रदायकसकाशात् स्थविरा गृह्णाति। अथासौ दाता काणाक्षिप्रभृतीनां आकारान् करोति, स्थविरया वा हस्ते प्रसारिते ख्याति न तव ददामि एतस्यास्तरुण्याः प्रयच्छामीति एवमाकारान् दृष्ट्वा तरुणीनां वा ददतं दायकं विज्ञाय तद्वस्त्रं न गृह्णन्ति ।

एवमादिदोषविप्रमुक्तं वस्त्रमुत्पाद्य वसतिमाप्तानामयं विधिः।

सत्त दिवसे ठवित्ता, कप्पे कते थेरिया परिच्छंति ।
सुद्धस्स होइ धरणा, असुहे छेत्तुं परिट्ठवणा ॥ ६८७ ॥

सप्त दिवसान् वस्त्रं स्थापयन्ति यद्यस्थापयित्वा परिभुञ्जते तदा चत्वारो गुरुव आज्ञादयश्च दोषाः । यत एवं ततः स्थापयित्वा कल्पं-प्रक्षालनं कुर्वन्ति, कृते च कालस्थविराः तद्वस्त्रं प्रावृत्य परीक्षन्ते, यदि शुद्धं ततस्तस्य धारणम् , अथाशुद्धमशुद्धभावोत्पादकं तद्वस्त्रं ततस्तच्छित्त्वा परिष्ठापनं कर्त्तव्यम् ।

(१६) वस्त्रोत्पादननिर्गतानां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च सामान्यतो लाभालाभादिनिमित्तपरिज्ञाने.पायमाह—

जं पुण पढमं वत्थं, चउकोणा तस्स होंति लाभाय ।
वितिरिच्छंतामम्मे य, गरहिया चउगुरूआणा ॥६८८॥

यत्पुनः प्रथमं वस्त्रं लभ्यते तस्य ये चत्वारः कोणकास्ते वक्ष्यमाणाञ्जनखञ्जनलेपादिचिह्नोपलाञ्छिता यदि भवन्ति उपलक्षणमिदं तेन यौ चञ्चलमध्यभागौ तावपि लाभाय यौ तु वितिरिश्चीनौ करणपट्टिकायां अन्त्यौ विभागौ यश्चैतयो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मध्यवर्ती विभागः एते त्रयोऽप्यञ्जनलेपादिचिह्नोपलक्षिता गर्हिताः-अप्रशस्ताः, एतेषु चात्मविराधनासद्भावाच्चतुर्गुरुकम्, आज्ञा च भगवतां विराधिता भवति।

अमुमेवार्थमन्याचार्यपरिपाट्याऽभिधायोच्यते—

नवभागकए वत्थे, चउसु वि कोणेसु होइ वत्थस्स।

लाभो विणासमन्ने. अन्ते मज्झे य जाणाहि ॥ ६८६॥

इह यतो वस्त्रं मार्ग्यते ततः प्रथमतस्त्रयो भागाः कल्पन्ते भूयाऽप्येकैको भागस्त्रिधा विभज्यते, एवं नवभागीकृते वस्त्रे ये चत्वारः कोणकाः अपिशब्दात्—कोणकमध्यवर्त्तिनौ द्वौ भागौ तेषु वस्त्रस्याञ्जनलेपादिसम्भवे लाभो भवति, ये पुनरन्ये वस्त्रमध्यवर्त्तिनस्त्रयो भागास्तद्यथा—द्वावन्त्यविभागौ, एकः सर्वमध्यवर्तिविभागस्तेषु विनाशं ग्लानत्वादिकं जानीहि।

अथ यैश्चिह्नैस्तेषु लाभो विनाशो वा अनुमीयते तानेवाह—

अंजणखंजणकद्दमलित्ते, मूसगभक्खिअग्गिविदड्ढे।

तुन्नियकुट्टियपज्जव लीढे,होइ विवागो सुहो असुहो।६९०।

अञ्जनं-सौवीराञ्जनादि खञ्जनं-दीपमलः कर्दमः-पङ्कस्तैर्लिप्ते खण्डिते तथा मूषिकैरुपलक्षणत्वात् कंसारिकादिभिश्च भक्षिते अग्निना वा विशेषेण दग्धे तथा तुन्नकारेण तुन्निते स्वकलाकौशलतः पूरितछिद्रे कुट्टिते—रजः कुट्टनेन पतितच्छिद्रे पर्यवैः पुराणादिभिः पर्यायैर्लीढे जीर्णे अतिजीर्णतया कुत्सितवर्णान्तरादिसंयुक्ते स्फुटित इत्यर्थः। एवंविधे वस्त्रे गृहीते सति शुभोऽशुभो वा विपाकपरिणामो भवति। तत्र ये शुभविभागास्तेषु शुभो विपाकः, ये त्वशुभास्तेष्वशुभ इति।

(२०) अथ नवानामपि भागानां स्वामिनः प्रतिपादयति—

चउरो य दिव्विया भा-गा माणुसा दुवे भाया य।

असुरा य दुवे भागा, मज्झे वत्थस्स रक्खसओ॥६९१॥

चत्वारः कोणका दिव्या-देवसंबन्धिनो भागाः, द्वावञ्चलमध्यभागौ मानुषौ-मनुष्यस्वामिकौ, द्वौ भागौ च कर्णपट्टिकामध्यलक्षणावासुरावसुरसम्बन्धिनौ,सर्वमध्यगतः पुनरेको भागो राक्षसस्वामिक इति।

अथैतेषु विभागेषु शुभाशुभफलमाह—

दिव्वेसु उत्तमो लाभो, माणुस्सेसु य मज्झिमो।

आसुरेसु य गेलन्नं, मज्झे मरणमाइसे ॥ ६९२ ॥

दिव्येषु विभागेषु यद्यञ्जनादिभिर्दूषितं वस्त्रं तदा तस्मिन् गृहीते साधूनामुत्तमो वस्त्रपात्रादीनां लाभो भवति, मानुषभागयोरञ्जनादिदूषितं वस्त्रे मध्यमो लाभः, आसुरभागयोरञ्जनादिदूषितयोर्ग्लानत्वम् राक्षसभागे पुनरञ्जनादियुक्ते यतीनां मरणमादिशेदिति।

जं किंचि होइ वत्थं,पमाणवं रुइकरं थिरं निद्धं।

परदोसे निरुवहतं, तारिसगं खु भवे धन्नं ॥ ६९३ ॥

यत्किंचिद्वस्त्रं प्रमाणवत्—सूत्रोक्तप्रमाणोपेतं स एवान्यत्र स्थू तमन्यत्र श्लक्ष्णं रुचिकारकं स्थिरं—दृढं स्निग्धं सरजोभिः पञ्चभि पदैस्त्रिशद्भङ्गा भवन्ति एष नवमो भङ्गा गृहीतः। परदोषा आसुरराक्षसभागेष्वञ्जनप्रभृतयस्तैर्निरुपहतं वर्जितम्, यद्वा-परो दायकस्तस्य दोषा क्रीतकृतत्वादयस्तैर्विवर्जितं तादृशं वस्त्रं खुरवधारणे. धन्यं ज्ञानादिधनप्रापकं लक्षणोपेतमित्यर्थः। बृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०। ग०।

अनलमध्रुवमलक्षणम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण वत्थं जाणेज्जा अप्पंडं० जाव संताणगं अणलं अथिरं अधुवं अधारणिज्जं रोइज्जंतं ण रुच्चइ तहप्पगारं वत्थं अफासुयं० जाव पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण वत्थं जाणेज्जा अप्पंडं० जाव संताणगं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं रोइज्जंतं रुच्चइ तहप्पगारं वत्थं फासुयं० जाव पडिगाहेज्जा। (सू०-१४७+)

'से भिक्खू' इत्यादि, स भिक्षुर्यत् पुनरेवंभूतं वस्त्रं जानीयात्, तद्यथा—अल्पाण्डं यावदल्पसंतानकं किं तु अनलम्—अभीष्टकार्यासमर्थं हीनादित्वात्, तथा अस्थिरं-जीर्णम् अध्रुवम्-स्वल्पकालानुज्ञापनात्, तथा अधारणीयम्—अप्रशस्तप्रदेशखञ्जनादिकलङ्काङ्कितत्वात्, तथा चोक्तम्"चत्तारि देविया भागा,दो य भागा य माणुसा। असुरा य दुवे भागा, मज्झे वत्थस्स रक्खसो ॥ १ ॥ देविएसुत्तमो लाभो, माणुसेसु य मज्झिमो। आसुरेसु अगेलण्णा, मरणं जाण रक्खसे ॥२॥" किञ्च—"लक्खणहीणो उवही, उवहणई णाणदंसणचरित्तं" इत्यादि, तदेवंभूतमप्रायोग्यं रोच्यमानं प्रशस्यमानं दीयमानमपि वा दात्रा न रोचते—साधवे न कल्पत इत्यर्थः। एतेषां चानलादीनां चतुर्णां पदानां षोडश भङ्गा भवन्ति, तत्राद्याः पञ्चदश अशुद्धाः शुद्धस्त्वेकः षोडशस्तमधिकृत्य सूत्रमाह—स भिक्षुर्यत् पुनरेवंभूतं वस्त्रं चतुष्पदविशुद्धं जानीयात् तच्च लाभे सति गृह्णीयादिति पिण्डार्थः। आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

(२१) पर्युषणायाः चातुर्मास्यं वस्त्रग्रहणम्—

नो कप्पइ निग्गन्थाणं वा निग्गंथीणं वा पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिग्गाहित्तए ॥ १७ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा दोच्चसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिग्गाहित्तए ॥ १८ ॥

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्ध इत्याह—

दिट्ठं वत्थग्गहणं, न य वुत्तो तस्स गहणकालो उ।

ओसरणम्मि अगज्झं, तेण समोसरणमुत्तं तु ॥५४६॥

पूर्वसूत्रे वस्त्रग्रहणं दृष्टं न च तस्य ग्रहणकाल उक्तः, कदा कल्पते कदा च नेति. अतो वर्षाकालाख्ये प्रथमे 'ओसरणे' समवसरणे अग्राह्यं तद्वस्त्रम्, द्वितीये तु ऋतुबद्धाख्ये ग्राह्यमिति निरूपणाय इदं समवसरणसूत्रमारभ्यते।

अहवा वि सओवधिओ, सेहो दव्वं तु एसमक्खायं।

तं कालि खित्तम्मि य,गज्झं कहियं अगज्झं च ॥५४७॥

अथवा पूर्वसूत्रे सोपधिकं शैक्षलक्षणं द्रव्यमेतदाख्यातम्,तद् द्रव्यं कुत्र काले क्षेत्रे वा ग्राह्यम्,कुत्र वा अग्राह्यमित्यधुना प्रतिपाद्यते। अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (सूत्र-१७-१८) व्याख्या-"नो कप्पइ"त्ति आर्षत्वादेकवचनम्,नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा प्रथमसमवसरणे वर्षाकाले उद्देशः-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेत्रकालविभागस्तं-प्राप्तानि प्रथमसमवसरणोद्देशप्राप्तानि, चेलानि—वस्त्राणि प्रतिग्रहीतुम्, किमुक्तं भवति-इह साधवो यत्र वर्षावासं चिकीर्षवस्तत्क्षेत्रं यावताऽपि प्राप्नुवन्ति प्राप्ता वा परं नाद्याप्याषाढपूर्णिमा लगति तावत् कल्पन्ते वस्त्राणि परिग्रहीतुम्। अथ वर्षावासप्रायोग्यं क्षेत्रं प्राप्ताः आषाढपूर्णिमा च संजाता तत इयन्तं क्षेत्रकालविभागं प्राप्तानि वस्त्राणि न कल्पन्ते। द्वितीयसमवसरणोद्देशप्राप्तानि तु कल्पन्ते-इति सूत्रसंक्षेपार्थः।

साम्प्रतं विस्तरार्थमभिधित्सुः प्रेर्यमुत्थापयन्नाह—

पढमंमि समोसरणे, उद्देसकडं ण कप्पती जस्स।
तस्स व किं कप्पंती, उग्गमदोसा उ अवसेसा ॥५४८॥

इह परः प्रस्तुतसूत्रस्योपरि परम्पराघातमनन्तरोक्तमर्थमनवबुद्ध्यमानः प्रेरयति। ननु च सूत्रे 'उद्देसपत्ताइं' ति यत्पदं तस्यायमर्थः। उद्देशनमुद्देशः औद्देशिकाख्यो द्वितीय उद्गमदोषस्तं प्राप्तानि वस्त्राणि न कल्पन्ते, एतच्च न युज्यते, यतो-यस्य साधोः प्रथमसमवसरणे उद्देशकृतं वस्त्रादि न कल्पते तस्य च शेषाः कर्मोदयः पञ्चदशोद्गमदोषाः किं कल्पन्ते? यद्देवमुद्देशकृतमेव प्रतिषिध्यते।

पर एव सूरीणामभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

उद्देसग्गहणेण व, उग्गमदोसा उ सव्वे जति गहिता।
उप्पादणादिसेसा, तम्हा कप्पंति किं दोसा ॥ ५४६ ॥

अथैकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायादुद्देशग्रहणेन सर्वेऽप्युद्गमदोषा गृहीताः। एवं तर्हि उत्पादनादयः शेषा दोषाः किं कल्पन्ते येनोद्गमदोषा एव गृह्यन्ते।

पर एवाचार्यं शिक्षयमाण इदमाह—

अहवा उद्दिस्सकता, एसणदोसा वि होंति गहिता तु।
आदीयंतग्गहणे, गहिया उप्पादणा वि तहिं ॥५५०॥

अथवा—यस्मादेषणादोषा अपि साधूनुद्दिश्य-प्रणिधाय कृताः, अत उद्देशग्रहणेन तेऽपि गृहीताः। एवं चाद्यस्योद्गमदोषकलापस्यान्त्यस्य चैषणादोषजालस्य ग्रहणे उत्पादना दोषा अपि गृहीता अत्र मन्तव्याः। आद्यन्तग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायात्। अतो द्वाचत्वारिंशदपि दोषा न कल्पन्ते इति सिद्धम्।

एवमाचार्यस्याकृत्यमाशङ्क्य दूषणान्तरमाह—

एए अ तस्स दोसा, उडुबद्धे जं च कप्पते घेत्तुं।
कोई भणिज्ज दोसु वि, ण कप्पत्ति सुत्तं तु सुणएति।५५१।

यथैवं सामर्थ्याक्षिप्ता द्वाचत्वारिंशदपि दोषाः प्रथमसमवसरणे प्रतिषिद्धास्तर्हि ऋतुबद्धाख्ये द्वितीयसमवसरणे एते सर्वेऽपि दोषास्तस्य साधोः कल्पन्ते?, यथाऽत्रैव सूत्रे अभिहितम्-कल्पन्ते द्वितीयसमवसरणे उद्देशप्राप्तानि चेलानि प्रतिग्रहीतुमतोऽपि ज्ञाप्यते द्वितीयसमवसरणे द्वाचत्वारिंशद्दोषदुष्टमपि कल्पते, एवं कश्चित्परो भणेत्। तत्र सूरिराह-द्वयोरपि समवसरणयोर्न कल्पते। योऽपि परः प्राह यद्ययं द्वितीयेऽपि समवसरणे प्रतिषेधयथ तन्न युज्यते। यतः श्रुतं सूत्रमेव कल्पते इति ब्रुवाणमनुज्ञां सूत्रयति।

अपि वा—

एवं सुत्तविरोधो, दोचम्मि य कप्पतीति जं भणितं।
सुत्तणिवातो जम्मि तु, तं पुण वोच्छं समासेणं ॥५५२॥

एवं भवतां सूत्रेण समं विरोधः प्राप्नोति, यतः सूत्रे द्वितीये समवसरणे कल्पत इति भणितम्। अथ गुरुराह-सर्वमप्येतदाकाशकुसुममिव लक्ष्यते। सूत्राभिप्रायमनवबुध्यैव यथा प्रलपनात्। कः पुनः सूत्राभिप्राय इति चेदत आह-यस्मिन्नर्थे सूत्रस्य निपातोऽवतारस्तं शृणु समासेन-संक्षेपेण वक्ष्येऽहम्-

समोसरणे उद्देसे, छव्विधिपत्ताण दोण्ह पडिसेधो।
अप्पत्ताण उ गहणं, उवधिस्स उ सातिरेगस्स ॥५५३॥

प्रथमसमवसरणं ज्येष्ठावग्रहो वर्षावास इति चैकार्थम्, द्वितीयसमवसरणम्। ऋतुबद्ध इति चैकार्थम्, तत्र य उद्देशस्तद्विपर्ययः षड्विधो निक्षेपः कर्त्तव्यः। 'पत्ताण दुण्ह पडिसेहो' त्ति आर्षत्वाद्विभक्तिव्यत्ययः, द्वाभ्यां—क्षेत्रकालाभ्यां प्राप्तानां वस्त्रादिग्रहणे प्रतिषेधो भवति, अप्राप्तानां तु सातिरेकस्योपधेर्ग्रहणं भवतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः। (अथ विस्तरार्थ 'उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ७६५ पृष्ठे गतः।) तत्र क्षेत्रोद्देशेन कालोद्देशेन वाऽधिकारः। शेषास्तु विनेयव्युत्पादनार्थमुच्चारितार्थसदृशा इति कृत्वा प्ररूपिताः, तदत्र परेण यदुद्गमौद्देशिकं प्रतिपादितं तत्राधिकृतमिति स्थितम्।

अथ प्राप्तानामिति पदं व्याख्याति—

खित्तेण य कालेण य, पत्तापत्ताण हुंति चउभङ्गो।
दोहि विपत्तो ततिओ,पढमो वितिओ य एकेणं ॥५५७॥

क्षेत्रेण कालेण च प्राप्तानां चतुर्भङ्गी भवति। क्षेत्रेण प्राप्ता न कालेन १, कालेन प्राप्ता न क्षेत्रेण २, क्षेत्रेण कालेन च ३, प्राप्ताः, नापि क्षेत्रेण नापि कालेन ४, अत्र तृतीयो भङ्गो द्वाभ्यामपि क्षेत्रकालाभ्यां प्राप्तः। चतुर्थः पुनरुभाभ्यामप्यप्राप्तः।

अथामूनेव भङ्गान् भावयति—

वासाखित्तपुरोक्खड-उडुबद्धठियाण खेत्तओ पत्तो।
अद्धाणमादिएहिं, दुल्लभखित्ते च वीओ उ ॥ ५५८ ॥

वर्षाक्षेत्रे पुरस्कृतं प्रथमत ऋतुबद्धकाले स्थितानां क्षेत्रतः प्राप्ता इति प्रथमो भङ्गो भवति। इयमत्र भावना—ऋतुबद्धे चरमो मासकल्पो यत्र कृतः। अन्यच्च वर्षावासप्रायोग्यं क्षेत्रं नास्ति ततस्तत्रैव वर्षावासं कर्तुकाम आषाढपूर्णिमामद्याप्यप्राप्नुवन्तः प्राप्ता न काल इत्याद्यो भङ्गो भवति, अध्वप्रतिपन्नत्वादिभिः कारणैर्दुर्लभे वा वर्षावासप्रायोग्ये क्षेत्रे अपान्तराल एव आषाढपूर्णिमा संजाता एवं द्वितीयो भङ्गो भवति।

आसाढपुण्णिमाए, ठिया उ दोहिं पि होंति पत्ताउ।
तत्थेव य पडिसिज्झइ, गहणं ण उ सेसभङ्गेसु ॥५५६॥

वर्षाक्षेत्रे आषाढपूर्णिमायां ये स्थिता ते द्वाभ्यामपि क्षेत्रकालाभ्यां प्राप्ता भवन्ति, आषाढपूर्णिमामासप्राप्तानामन्तरा अध्वनि वर्त्तमानानाम् ऋतुबद्धे मासकल्पे भवा अन्यत्र क्षेत्रे स्थितानां चतुर्थो भङ्गो भवति। अथ च तत्रैव तृतीयभङ्ग एव वस्त्रादीनां ग्रहणं प्रतिषिध्यते, न शेषेषु—प्रथमद्वितीयचतुर्थभङ्गेषु एकतरेण द्वाभ्यां वा अप्राप्तत्वात्। एतेन 'दोण्ह पडिसेहो' त्ति व्याख्यातम्। अ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थ 'अप्पत्ताणउ गहणं उवहिस्स साइरेगस्से ' ति पश्चार्द्धं व्याचिख्यासुराह—

दुण्हं जा उवगरणा, णिप्फज्जति जं व होति वासासु ।
अग्गहणम्मि वि लहुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ५६०

इह वर्षाकालक्षेत्रकालाभ्यामप्राप्तौ सातिरेक उपधिर्ग्रहीतव्यः । कियत्प्रमाण इति चेदुच्यते—द्वयोर्जनयोः संबन्धिना यावतोपकरणेन एकस्य साधोर्योग्यः परिपूर्णः प्रत्यवतारोऽतिरिक्तो निष्पद्यते , येन वर्षासु वर्षाकल्पादिकमुपयुज्यते तदात्मनो योग्यं द्विगुणं भवति , इयत्प्रमाणं ग्रहीतव्यम् । इदमुक्तं भवति—एकैकसाधुरुद्वतृतीयान् प्रत्यवतारान् गृह्णाति, किं कारणं कदाचिदध्वनिर्गताः साधवो विविक्ता आगच्छेयुः, ततो द्वौ साधू एकस्य साधोः संपूर्णं प्रत्यवतारं प्रयच्छतः , तयोश्चात्मनः प्रत्येकं द्विगुणाः प्रत्यवतारास्तिष्ठन्ति । यद्येवं न गृह्णन्ति ततश्चतुर्लघुकाः तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवन्ति । बृ० ३ उ० । (वर्षासु अतिरिक्तोपकरणग्रहणकारणोपदर्शनदृष्टान्तः 'उवहि ' शब्दे द्वितीयभागे १०६५ पृष्ठे गतः ।)

(२२) अथ निर्गतानां सामाचारीमुपदर्शयति —

पुण्णम्मि णिग्गयाणं, साहम्मियखेत्तवज्जिते गहणं ।
संविग्गाण सकासं, इयरे गहियम्मि गेण्हंति ॥५६८॥

पूर्णे-वर्षावासावग्रहे निर्गतानां यत्र साधर्मिकैर्वर्षावासः कृतस्तत् क्षेत्रं वर्जयित्वा अन्येषु ग्रामनगरादिषूपकरणस्य ग्रहणं भवति । ये संविग्नाः सांभोगिका असांभोगिका वा तेषां यद्वर्षाक्षेत्रं तत् सक्रोशयोजनं परित्यज्य गृह्णन्ति, इतरे पार्श्वस्थादयस्तेषां . वर्षावासक्षेत्रं तत्र तैर्गृहीते उपकरणे पश्चात् संविग्ना गृह्णन्ति । तेषां च क्षेत्रं मासद्वयं न परिह्रियते ।

कुत इति चेदुच्यते-

वासासु वि गिण्हंति, णेव य णियमेण इतरे विहरंती ।
तेहि इ सुद्धमसुद्धे, गहिए गिण्हंति जं सेसं ॥५६६॥

इतर-पार्श्वस्थादयो वर्षास्वपि वस्त्राणि गृह्णन्ति, न च नियमेनैव चतुर्मासानन्तरं ते विहरन्ति, अतस्तैः शुद्धेऽपि अशुद्धेऽपि वा उपकरणे गृहीते यच्छुद्धं वस्त्रादिकं श्राद्धाः प्रयच्छन्ति तन्मासद्वयमध्येऽपि गृह्णन्ति ।

सक्खेत्ते परक्खेत्ते वा, दो मासा परिहरेउ गेण्हंति ।
जं कारणं ण णिग्गय,तं पि बहिज्झोसियं जाणे ॥६००॥

स्वक्षेत्र-यत्रात्मना वर्षाकल्पः कृतः परक्षेत्र-यत्रापरसंविग्ना वर्षाकल्पं स्थिताः, तत्र स्वक्षेत्रे वा द्वौ मासौ परिहृत्य तृतीये मासि गृह्णन्ति । अथ चतुर्मासानन्तरं कर्दमादिभिः कारणैर्न निर्गतास्ततो यावन्तं कालं कारणमपेक्ष्य न निर्गतास्तमपि कालं बहिर्झोषितम्-बहिः क्षिप्तं जानीयात्-गणयेत् तावन्तमपि कालं बहिर्निर्गता इव मन्तव्या इति भावः ।

कैः पुनः कारणैर्न निर्गता इत्याह—

चिक्खल्लवासअसिवा-दिएसु जहिँ कारणेसु उवणेंति ।
दिन्ते पडिसेधित्ता, गेण्हंति उ दोसु पुण्णेसुं ॥ ६०१॥

चिक्खल्लः-कर्दमस्तदाकुलाः प्रतिपिध्य द्वयोस्तु मासयोर्नो परमते, अशिवदुर्भिक्षादीनि वा बहिरुपस्थितानि एवमादिभिः कारणैः पदं न निर्गच्छन्ति, तत्र यदि केचिद्वस्त्रादिना निमन्त्रयन्ति तदा तान् ददतः प्रतिषिध्य द्वयोस्तु मासयोः पूर्णयोर्वस्त्रादिकं गृह्णन्ति ।

कुत इत्याह—

भावो उ णिग्गतेहिं, वोच्छिज्जइ देंति ताइ अण्णस्स ।
अत्तट्ठेंति व ताइं, एमेव य कारणमिणंतो ॥ ६०२ ॥

ये साधव इह क्षेत्रे वर्षावासं स्थितास्तेषां वस्त्राणि दास्यामः, इत्येवं यः श्राद्धानां भावः स निर्गतेषु साधुषु व्यवच्छिद्यते । यानि वस्त्राणि दातुं संकल्पितानि अन्यस्य—पार्श्वस्थादेः प्रयच्छन्ति, स्वयमेव वाऽऽत्मार्थयन्ति—परिभुञ्जत इत्यर्थः । अथ चतुर्मासानन्तरं कारणमपेक्ष्य न निर्गच्छन्ति, ततो मासद्वयमध्ये श्राद्धानामभ्यर्थनायामप्यगृह्णत्स्वेवमेव भावो व्यवच्छिद्यते, ततो द्वौ मासौ परिहृत्य ग्रहीतव्यम् , कारणे मासद्वयमध्येऽपि गृह्णीयात् ।

तदेव दर्शयति--

गच्छे सबालवुड्ढे, असती परिहरदिवड्ढमासं तु ।
पणतीसा पणवीसा, पन्नरस दसेव एक्कं च ॥ ६०३ ॥

सबालवृद्धे गच्छे वस्त्राभावे शीतं सोढुमसमर्थे सार्द्धमासं परिहर-वर्जय, परिहृत्य च ततः सार्द्धं गृह्णीयात् । अथ सार्द्धमासमपि परिहर्तुं न शक्तिस्ततः पञ्चत्रिंशति दिनानि परिहर । अथैवमपि गच्छो न संस्तरति ततः पञ्चविंशति दिनानि. तथाऽप्यसंस्तरणे पञ्चदश दिनानि, तथाप्यशक्तौ दश दिवसान् , तथाऽप्यसामर्थ्ये एकमपि दिनं परिहरेदिति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

बालासहवुड्ढअतरं-तखमगसेहाउलम्मि गच्छम्मि ।
सीतं अविसहमाणे, गेण्हंति इमाएँ जयणाए ॥६०४॥

तथाविधवस्त्राभावाद्बालासहिष्णुवृद्धग्लानक्षपकशैक्षाकुले गच्छे सीतमविषहमाणे--सोढुमशक्ते साधवः अनया यतनया स्वक्षेत्रे वा वस्त्राणि गृह्णन्ति ।

पञ्चूणे दो मासे, दसदिवसूणे दिवड्ढमासं वा ।
दसपञ्चाहिय मासं, पणवीसदिणे व वीसं वा ॥६०५॥
पन्नरस दस य पञ्च व,दिणाणि परिहरिय गेण्ह एगं वा ।
अहवा एक्केक्कदिणं, अउणट्ठिदिणाइ आरब्भ ॥६०६॥

अगाढे कारणे पञ्चभिर्दिवसैरूनौ द्वौ मासौ परिहृत्य वस्त्रं ग्रहीतव्यम् ,तथा तावन्तं कालं यावद्बालवृद्धादयः शीतेन परितप्यमाना न संस्तरन्ति, ततो दशदिवसोनौ द्वौ मासौ परिहृत्य वस्त्रं ग्राह्यम् । एवं सार्द्धमासं दशदिवसाधिकं वा मासपञ्चविंशति दिनानि दश दिनानि पञ्च वा दिनानीति यथाक्रमं परिहृत्य वस्त्रं गृह्णीयात् , अथ पञ्च दिवसानपि वस्त्राभावे बालवृद्धादयो नात्मानं निर्वाहयितुमीशास्ततश्चत्वारि त्रीणि द्वे यावदेकमपि दिनं परिहृत्य ग्रहीतव्यम् । अथ एकैव दिनहानिर्द्रष्टव्या, तद्यथा-यत्र वर्षावासं स्थितास्तत्र षष्टिर्दिनानि परिहृत्य उत्सर्गतो वस्त्रग्रहणं कर्त्तव्यम् । कारणे पुनरेकोनषष्टिर्दिनान्यारभ्यैकैकदिनं ह्रापयता तावद्गन्तव्यं या-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वदेकमपि दिनं परिहृत्य वस्त्रग्रहणं कार्यम् । व्याख्यातं प्रथमसमवसरणसूत्रम् । वृ० ३ उ० ।

जे भिक्खू पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइं चीवराइं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ । ५३ । नि० चू० १० उ० ।

(२३) ऋतुबद्धे वस्त्रग्रहणमिति द्वितीयसमवसरणसूत्रं व्याख्याति—

विइयम्मि समोसरणे, मासा उक्कोसगा दुवे होंति ।
ओमंथगपरिहाणी, पश्च य पञ्चेव य जहन्ने ॥ ६०७ ॥

द्वितीयं समवरणं नाम ऋतुबद्धकालस्तत्र मासकल्पेन स्थिता वस्त्रादिकमुपकरणमुत्पादयन्ति, मासकल्पानन्तरं च तत्र द्वौ मासावुत्कर्षतः परिहर्तव्यौ भवतः । कारणे तु तथैवासुखपरिहाराय पञ्च दिनानि हापयता तावन्नेयं यावत् जघन्यत एकं दिनं परिहर्तव्यम् ।

अमुमेवार्थं स्फुटतरमाह—

अपरिहरंतस्सेते, दोसा ते चेव कारणे गहणं ।
बालवुड्ढाउले गच्छे, असती दस पश्च एक्को य॥६०८॥

यत्र क्षेत्रे मासकल्पः कृतस्तत्र द्वौ मासावपरिहारतस्त एव दोषा मन्तव्याः, ये वर्षावासे मासद्वयमपि परिहरत उक्ताः, कारणे तु ग्रहणं कर्तव्यम् । कथमित्याह-बालवृद्धाकुले गच्छे वस्त्राभावे पञ्चकपरिहाण्या एकैकपरिहाण्या वा तावद्वक्तव्यं यावद्दश वा पञ्च वा एको वा दिवसः परिहर्तव्यः । यत्र संविग्नैर्मासकल्पो वर्षाकल्पः कृतस्तत्र मासद्वयादुपरि पञ्चसु दिवसेष्वपूर्णेषु अन्येषां न कल्पते किंचिदपि ग्रहीतुम् ।

यो गृह्णाति तस्य दोषानुपदर्शयति—

करणाणुपालयाणं, भगवतो आणं पडिच्छमाणाणं ।
जो अंतरा उ गेण्हति, तट्ठाणारोवणमदत्तं ॥ ६०९ ॥

कारणस्य-पिण्डविशुद्ध्यादेः अनु-पश्चात् पूर्वर्षिपरंपराक्रमेण पालकाः कारणानुपालकास्तेषां करणस्य च चरणाविनाभावित्वाच्चरणानुपालकानामित्यपि द्रष्टव्यम् , एतेन शीतलविहारतादोषस्तेषां परिहृतो भवति । भगवतो वर्द्धमानस्वामिनो या आज्ञा तां तथेति प्रतिपत्त्या प्रतीच्छताम् , अनेन यथाच्छन्दतादोषास्तेषां नास्तीत्युक्तं भवति , एवंविधानां साधूनां क्षेत्रमन्तरा तैरगृहीते उपकरणे यो वस्त्रादि गृह्णाति , तस्य तत्स्थानारोपणप्रायश्चित्तम् । तद्यथा-उत्कृष्टे चतुर्लघवः, मध्यमे मासिकम् , जघन्ये पञ्चकम् । सूत्रादेशेन वा साधर्मिकस्तैन्यमिति कृत्वा अनवस्थाप्यम् , ' अदत्तं ' ति भगवता नानुज्ञातमिति कृत्वा तीर्थकरदत्तमपि न भवति ।

उवरिं पञ्चमपुण्णे, गहणमदत्तं गत त्ति गेण्हंति ।
अणपुच्छा दुप्पुच्छा, तं पुण्णगत त्ति गेण्हंति ॥६१०॥

परक्षेत्रे द्वयोर्मासयोरुपरि पञ्चसु दिनेषु अपूर्णेषु यदि ग्रहणं करोति तदा अदत्तादानदोषः प्रसज्यते । अथ जानन्ति गता अन्यदेशं क्षेत्रस्वामिनः ततोऽपूर्णेष्वपि पञ्चरात्रिदिवसेषु गृह्णन्ति । अथ शङ्कितं ततो न गृह्णन्ति । अथ ते परदेशं न गतास्ततो वचनापृच्छया वा वस्त्रं गृह्णन्ति ततस्तथैवादत्तादानदोषं प्राप्नुवन्ति । यत एवमतस्तद्वस्त्रादिकमुपकरणं गता निःशङ्कितमन्यदेशं क्षेत्रिका इति विज्ञाय पूर्णे मासद्वये गृह्णन्ति । अत्रानापृच्छा नाम क्षेत्रकैर्वस्त्रग्रहणं कृतं नवेति न पृच्छति । दुष्पृच्छा पुनरविधिना प्रच्छनम् ।

सा चेयम्—

गोवालवच्छवाला, कासगआदेस बालवुड्ढा य ।
अविधी विधी तु सावग, महत्तरधुवम्मि लिंगत्था ।६११।

ये गोपालवत्सपालकर्षकाः प्रभाते निर्गताः सन्तो भूयः ग्रामं प्रविशन्ति तत्रादेशाः प्राघूर्णका अन्यग्रामादायाता ये बालवृद्धादयोऽत्यन्तमुग्धा विस्मरणशीलाश्च तान् पृच्छति, किं श्रमणैः कृतं वस्त्रग्रहणं भवति ?, एषा अविधिपृच्छा । विधिपृच्छा पुनरियम्—श्रावका वा महत्तरा वा पृच्छनीयाः । येषु साधूनां वस्त्रग्रहणसंभवो भवति, ये वा ध्रुवकर्मिका लोहकाररथकारादयो ये वा लिङ्गधारिणस्तान् पृच्छति, वस्त्रादिग्रहणं साधुभिः कृतं न वेति ।

परक्षेत्रे वस्त्रग्रहणविधिमभिधित्सुराह—

गंतूण पुच्छिऊण य, तेसिं वयणे गवेसणा होति ।
तेसागतेसु सुद्धे-सु जत्तियं सेस अग्गहणं ॥ ६१२ ॥

क्षेत्रस्वामिनां समीपे गत्वा विधिवदापृच्छय तेषां साधूनां वचने अनुज्ञायां तदीये क्षेत्रे गवेषणा कर्त्तव्या भवति । अथ न ज्ञायते ते कुत्रापि गता अमीभिः साधुभिस्तत्र वस्त्रग्रहणं कियदपि कृतम्, ते च क्षेत्रस्वामिन आगताः । ततस्तेषु शुद्धेषु विधिना आगतेषु यावद्वस्त्रादि गृहीतं तावत्तेषां प्रत्यर्पयितव्यम् ।

इदमेव सविशेषमाह—

उप्पन्नकारणा गं-तु पुच्छिउं तेहि देण्ह गेण्हंति ।
तेसागतेसु सुद्धे-सु जत्तियं सेस अग्गहणं ॥ ६१३ ॥

बालवृद्धे शैक्षादीनां शीतपरितापनालक्षणे वस्त्रग्रहणकारणे उत्पन्ने स्वक्षेत्रे वस्त्रदुर्लभतां सम्यग् निश्चित्य परक्षेत्रे वस्त्रग्रहणं कर्तुं कामाः क्षेत्रस्वामिनामन्तिके गत्वा पृष्ट्वा च तैर्दत्तमभ्यनुज्ञातं यावत्प्रमाणं वस्त्रादि तावदेव गृह्णन्ति, नातिरिक्तम् । अथ न ज्ञायन्ते कुत्रापि गतास्ततो विधिपृच्छया उपकरणे गृहीते यदि ते क्षेत्रकाः शुद्धाः समागच्छेयुः, ततः शुद्धेषु तेष्वागतेषु ततो यावद् गृहीतं तावत्तेषां प्रत्यर्पयन्ति शेषस्य च ग्रहणम् ।

कथं पुनस्ते क्षेत्रिका आगताः शुद्धा अशुद्धा वा भवन्तीत्युच्यते—

पडिजग्गंति गिलाणं, ओसहहेऊहिँ अहव कज्जेहिं ।
एतेहि होंति सुद्धा, अह संखडिमादि तह चेव ॥६१४॥

क्षेत्रिका मासद्वये पूर्णेऽपि अमीभिः कारणैर्न समागन्तुं शक्नुयुः । ग्लानं प्रति जाग्रतः स्थिताः, ग्लानस्य वा औषधमगदं तन्मीलनहेतोः स्थिताः, कुलगणसङ्घकार्येषु वा व्यापृताः, एवमादिभिः कारणैरनागच्छन्तः शुद्धाः । अथ संखडिनिमित्तं स्थिता व्रजिकादिषु वा प्रतिबध्यमाना आगताः ततः तथैव मासद्वयं यावत्तदीयं क्षेत्रम्, उपरि तु पञ्चरात्रं न ते प्रभवस्ततो यत्तैस्तत्र क्षेत्रे गृहीतं तद्गृहीतमेव न क्षेत्रिकाणाम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रायश्चित्तम् . अमूनि तु विशुद्धकारणानि—

तेणभयसावयभया , वासेण णदीएँ वा विरुद्धाणं ।

दायव्वमदेंताणं , चउगुरु तिविहं च णवमं च ॥६१५॥

स्तेनभयाद्वा श्वापदभयाद्वा वर्षेण वा नद्या वा निरुद्धानां चिरादागमनमभूत्ततो यद् गृहीतं तत्तेषां गतानां दातव्यम् ,अथ न ददाति ततश्चतुर्गुरुकम्,उपकरणनिष्पन्नं वा त्रिविधं पञ्चकमासिकं चतुर्लघुकलक्षणम् , नवमं वा सूत्रादेशेनानवस्थाप्यम् ।

परदेसगते णाउं , सयं व सेज्जातरं व पुच्छित्ता ।

गेण्हंति असढभावा , पुण्णेसु तु दोसु मासेसु ॥६१६॥

स्वयमपि क्षेत्रिकान् परदेशगतान् निश्चित्य द्वयोर्मासयोः पूर्णयोरशठभावाः शुद्धपरिणामा गृह्णन्ति ।

बिइयपदमणाभोगे , सुद्धा देंता अदेंत ते चेव ।

आउट्टिया गिलाणा, दिज्जति यं सेस अग्गहणं ॥६१७॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते । अनाभोगो नाम किमत्र साधवो वर्षाकल्पं कृतवन्तो नवेति न सम्यक् परिज्ञातम् । ततः परक्षेत्रेऽपि गृह्णीयुः, पश्चात् ज्ञाते क्षेत्रिकाणां प्रयच्छन्तः शुद्धाः । अथ अप्रयच्छतां त एव दोषाः । अथाकुट्टिकया आभोगेन गृहीतं परं ग्लानादीनामर्थे ततो यावत्तेषामुपयुज्यते तावद् गृह्णन्ति, शेषमतिरिक्तं न गृह्णन्ति । बृ०३ उ० ।

जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं तस्स णं नो एवं भवइ–चउत्थं वत्थं जाइस्सामि , से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा, नो धोइज्जा नो रएज्जा, नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए, एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं । (सू०–२११)

इह प्रतिमाप्रतिपन्नो जिनकल्पिको वा अच्छिद्रपाणिः, तस्य हि पात्रनिर्योगसमन्वितं पात्रं कल्पत्रयं चायमौघोपधिर्भवति नौपग्रहिकः , तत्र शिशिरादौ क्षौमिकं कल्पद्वयं–सार्द्धहस्तद्वयायामविष्कम्भं तृतीयस्त्वौर्णिकः , स च सत्यपि शीते नापरमाकाङ्क्षतीत्येतद्दर्शयति-यो भिक्षुः त्रिभिर्वस्त्रैः पर्युषित—व्यवस्थितः , तत्र शीते पतत्येकं क्षौमिकं प्रावृणोति , ततोऽपि शीतासहिष्णुतया द्वितीयं क्षौमिकम् ,पुनरपि अतिशीततया क्षौमिककल्पद्वयोपर्यौर्णिकमिति, सर्वथौणकस्य बाह्याच्छादनता विधेया । किम्भूतैस्त्रिभिर्वस्त्रैरिति दर्शयति-पात्रचतुर्थैः-पतन्तमाहारं पातीति पात्रम् , तद्ग्रहणेन च पात्रनिर्योगः सप्तप्रकारोऽपि गृहीतः , तेन विना तद्ग्रहणाभावात् । स चायम्–" पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिआ । पडलाइ रयत्ताणं, च गोच्छओ पायणिज्जोगो ॥ १ ॥ " तदेवं सप्तप्रकारं पात्रं कल्पत्रयं रजोहरणम् १ मुखवस्त्रिका २ चेत्येवं द्वादशधोपधिः , तस्यैवम्भूतस्य भिक्षोः ' णं ' इति वाक्यालङ्कारे नैवं भवति , नायमध्यवसायो भवति , तद्यथा-न ममास्मिन् काले कल्पत्रयेण सम्यक् शीतापनोदो भवत्यतश्चतुर्थं वस्त्रमहं याचिष्ये, अध्यवसायनिषेधे च तद्याचनं दूरोत्सादितमेव । यदि पुनः कल्पत्रयं न विद्येत शीतकालश्चापतितस्ततोऽसौ जिनकल्पिकादिरेषणीयानि वस्त्राणि याचेत—उत्कर्षणापकर्षणरहितान्यपरिकर्म्माणि प्रार्थयेदिति । तत्र " उद्दिट्ठ १ पेह २ अंतर ३ उज्झियधम्मा ४ य " चतस्रो वस्त्रैषणा भवन्ति , तत्र चाधस्तन्योर्द्वयोरग्रहः , इतरयोस्तु ग्रहः , तत्राप्यन्यतरस्यामभिग्रह इति, याञ्चावाप्तानि च वस्त्राणि यथापरिगृहीतानि धारयेत् , न तत्रोत्कर्षणधावनादिकं परिकर्म्म कुर्याद् । एतदेव दर्शयितुमाह—नो धावेत्—प्रासुकोदकेनापि न प्रक्षालयेत् , गच्छवासिनो ह्यप्राप्तवर्षादौ ग्लानावस्थायां वा प्रासुकोदकेन यतनया धावनमनुज्ञातम् , न तु जिनकल्पिकस्येति , तथा—न धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत् , पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानीति , तथा ग्रामान्तरेषु गच्छन् वस्त्राण्यगोपयन् व्रजेद् । एतदुक्तं भवति—तथाभूतान्यसावन्तप्रान्तानि बिभर्ति कानि गोपनीयानि न भवन्ति , तदेवमसाववमचेलिकः , अवमं च तच्चेलं चावमचेलं प्रमाणतः परिमाणतो मूल्यतश्च , तद्यस्यास्त्यसाववमचेलिक इत्येतत् पूर्वोक्तम् , खुः-अवधारणे । एतदेव वस्त्रधारिणः सामग्र्यं भवति—एषैव त्रिकल्पात्मिका द्वादशप्रकारौधिकोपध्यात्मिका वा सामग्री भवति नापरेति ।

(२४) शीतापगमे तान्यपि वस्त्राणि त्याज्यानीत्येतद्दर्शयितुमाह—

अह पुण एवं जाणिज्जा–उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा , अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले । (सू० २१२)

यदि तानि वस्त्राण्यपरहेमन्तस्थितिसहिष्णूनि तत उभयकालं प्रत्युपेक्षयन् बिभर्ति , यदि पुनर्जीर्णदेश्यानि जीर्णानीति जानीयात् ततः परित्यजति, इत्येतेन सूत्रेण दर्शयति । अथ पुनरेवं जानीयाद्यथाऽपक्रान्तः खल्वयं हेमन्तो ग्रीष्मः प्रतिपन्नः, अपगता शीतपीडा , यथा परिजीर्णान्येतानि वस्त्राणि , एवमवगम्य ततः परिष्ठापयेत्—परित्यजेदिति । यदि पुनः सर्वाण्यपि न जीर्णानि ततो यद्जीर्णं तत्तत्परिष्ठापयेत् , परिष्ठाप्य च निस्सङ्गो विहरेत् । यदि पुनरतिक्रान्तेऽपि शिशिरे क्षेत्रकापुरुषगुणाद्धेवच्छीतं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—अपगते शीते वस्त्राणि त्याज्यानि । अथवा—क्षेत्रादिगुणाद्धिमकणिनि वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत्—सान्तरमुत्तरम्—प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित्प्रावृणोति क्वचित्पार्श्ववर्त्ति बिभर्ति शीताशङ्कया नाद्यापि परित्यजति । अथवा—अवमचेल एककल्पपरित्यागात् द्विकल्पधारीत्यर्थः । अथवा—शनैः शनैः शीतेऽपगच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् तत एकशाटकः संवृतः, अथवा—आत्यन्तिके शीताभावे तदपि परित्यजेदतोऽचेलो भवति, असौ मुखवस्त्रिकारजोहरणमात्रोपधिः ।

किमर्थमसावेवैकं वस्त्रं परित्यजेदित्याह—

लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ । (सू०–२१३)

लघोर्भावो लाघवं लाघवं विद्यते यस्यासौ लाघविक (स्त) मात्मानमागमयन्—आपादयन् वस्त्रपरित्यागं कुर्यात् , शरीरोपकरणकर्म्मणि वा लाघवमागमयन् वस्त्रपरित्यागं कु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

र्यादिति । तस्य चैवम्भूतस्य किं स्यादित्याह—' से ' तस्य वस्त्रपरित्यागं कुर्वतः साधोस्तपोऽभिसमन्वागतं भवति, कायक्लेशस्य तपोभेदत्वात्, उक्तं च—"पंचहिं ठाणेहिं समणाणं निग्गंथाणं अचेलगत्तं पसत्थं भवति, तं जहा—अप्पा पडिलेहा १ वेसासिए रूवे २ तवे अणुमए ३ लाघवे पसत्थे ४ विउले इंदियनिग्गहे ५ "।

एतच्च भगवता प्रवेदितमिति दर्शयितुमाह—

जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा । (सू०–२१४)

यदेतद्भगवता—वीरवर्द्धमानस्वामिना प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य-ज्ञात्वा सर्वतः-सर्वैः प्रकारैः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समत्वं वा-सचेलाचेलावस्थयोस्तुल्यतां समभिजानीयात् आसेवनापरिज्ञया आसेवेतेति । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

(२५) अचार्यानुज्ञया निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वस्त्रग्रहणम्—

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहाराइणियाए चेलाइं पडिग्गाहित्तए ॥ १६ ॥

अस्य सम्बन्धमाह—

दिट्ठं वत्थग्गहणं, तेसिं परिभायणे इमं सुत्तं ।
अविणय असंविभागा, अधिकरणादीसु णेवं तु ॥६१८॥

द्वितीयसमवसरणे दृष्टं तावद्वस्त्रग्रहणं संप्रति तेषां-वस्त्राणां परिभाजने-विभज्य प्रदाने यो विधिस्तदभिधायकमिदं सूत्रमारभ्यते । इत्थं विभज्य प्रदाने किं प्रयोजनमिति चेदत आह-एवं यथा रत्नाधिकं वस्त्राणां विभज्य दाने अविनयोऽसंविभागोऽधिकरणादयश्च दोषा न भवन्तीत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (१६ सूत्रस्य) व्याख्या-कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा यथारात्निकं यो यो रात्निको भवेत् रत्नैरधिकस्तदनतिक्रमेण चेलानि प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

संघाडएण एक्क–चो हिंडंति वंदएण जयणाए ।
साधारणऽणापुच्छा,अदत्तं ता इक्कओ भागा ॥६१९॥

संघाटकेनैकतः—एकस्यां दिशि साधवो वस्त्रग्रहणार्थं हिण्डन्ते, अथ संघाटकेन न प्राप्यते ततो वृन्देनापि यतनया पर्यटन्ति । अथ साधारणं बहूनामाचार्याणां सामान्यं तत् यदि तत्रापरेषामाचार्याणामनापृच्छया गृह्णन्ति तदा ' अदत्तं' ति साधर्मिकस्तैन्यं भवति । अतस्तानापृच्छय गृहीत्वा च तेषां वस्त्राणामेकत-एकसदृशा भागाः कर्त्तव्याः न विसदृशा इति ग्रहणगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

निस्साधारणखेत्ते, हिंडंतो चेव गीतसंघाडो ।
उप्पादयते वत्थे, असती तिगमादिवंदेणं ॥ ६२० ॥

निस्साधारणे एकाचार्यप्रतिबद्धे क्षेत्रे गीतार्थसङ्घाटको भिक्षां हिण्डमान एव वस्त्राण्युत्पादयति, अथ संघाटकेन हिण्डमाना न प्राप्नुवन्ति तत्तस्त्रिकादिवृन्देन त्रिचतुःपञ्चादिसाधुसमूहेन पर्यटन्त उत्पादयन्ति ।

साधारणक्षेत्रे पुनरयं विधिः—

दुगमादी सामण्णे, अणपुच्छा तिविह सोधि णवमं वा ।
संभोइयसामण्णे, तह चेव जहेक्कगच्छम्मि ॥ ६२१ ॥

द्विकादीनां-द्वित्रिप्रभृतीनामाचार्याणां सामान्ये क्षेत्रे तेषामनापृच्छया गृह्णतस्त्रिविधा शोधिः-प्रायश्चित्तम् ,जघन्ये पञ्चकम्, मध्यमे मासिकम्, उत्कृष्टे चतुर्लघवः नवमं वा सूत्रादेशेनानवस्थाप्यम् । ते चाऽऽचार्याः परस्परं सांभोगिकास्ततः,सामान्ये क्षेत्रे वस्त्रग्रहणे तथैव विधिरवसातव्यः । एकस्मिन् गच्छे संघाटकादिक्रमेण अनन्तरगाथायामुक्तः ।

असांभोगिकेषु विधिमाह—

अमणुण्ण कुलविरेगो, साही पडिवसह मूलगामे वा ।
अहवा जो जं लाभी, ठायंति जहा समाधीए ॥६२२॥

अमनोज्ञा-असांभोगिकास्तैः सह यत् क्षेत्रं साधारणं तत्र कुलादीनां विरेको-विभजनं कर्तव्यम्, यथा-एतेषु कुलेषु युष्माभिर्वस्त्राणि ग्रहीतव्यानि, एतेषु पुनरस्माभिः । यद्वा-अस्यां साहिकायां गृहपङ्क्तिरूपायां भवद्भिः, अस्यां पुनरस्माभिः । अथवा-प्रतिवृषभग्रामेषु यूयं ग्रहीष्यथ, वयं मूलग्रामं ग्रहीष्यामः । मूलग्रामे वा यूयम्, वयं प्रतिवृषभग्रामेषु, अथवा-यो यद्वस्त्रं कुलादौ पर्यटन् लाभी—लप्स्यते, तेन तस्य ग्रहणं कर्तव्यम् । एतेषामन्यतमेन प्रकारेण व्यवस्थां स्थापयित्वा यथा समाधिना तत्र तिष्ठन्ति ।

एवं साधारणाऽसाधारणे क्षेत्रे वस्त्राणि गृहीत्वा किं कर्तव्यमित्याह—

वत्थेहिं आणितेहि देंति जह रातिणिं तिहिं वसभा ।
अदाणे गुरुणो लहु–गा सेसे लहु इमे होंति ॥६२३॥

वस्त्रेषु समानीतेषु ये वृषभास्ते यथारत्नाधिकं तत्र वस्त्राणि प्रयच्छन्ति । यदि तत्र गुरूणां प्रथमतो वस्त्रदानं न कुर्वन्ति तदा चतुर्लघुकः, शेषाणां यथा रत्नाधिकं विभज्य न प्रयच्छन्ति लघुमासः । ते च रत्नाधिका इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति ।

तत्र गुरूणां यादृशानि वस्त्राणि दीयन्ते । तदेतत्प्रतिपादयति—

विदु क्खमा जे य मणोऽणुकूला,
जे यो व जुञ्जंति असंथरंतो ।
गुरुस्स साणुग्गहमप्पिणित्ता,
भायंति सेसाणि उ झंझहीणा ॥ ६२४ ॥

साधुभिर्यथाविधि गृहीत्वा भूयांसि वासांसि वृषभाणां समर्पितानि,ततो वृषभा 'विदु' त्ति विदित्वा सुन्दरा सुन्दरताविभागं विज्ञाय यानि क्षमाणि-दृढानि यानि च मनोऽनुकूलानि गुरूणां मनसोऽभिरुचितानि यानि वा संस्तरन्ति गच्छे गुरुपरिभुक्तान्यपि शेषसाधूनामुपयुज्यन्ते, तानि गुरुः सानुग्रहम्-सविशेषं यथा भवति एवमर्पयित्वा शेषाणि वस्त्राणि झञ्झा-कलहस्तेन हीना-विरहिताः सन्तो यथारत्नाधिक परिभाजयन्ति ।

अथ तानेव रत्नाधिकानाह—

उवसंपज्ज गिलाणे, परिन्नसुतसोयअत्थवयजाती ।
तवभासालद्धीए, ओमे दुविहस्स अरिहाओ ॥ ६२५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

' उवसंपज्ज ' त्ति यस्तत्र प्रथमतया उपसंपदं प्रतिपद्यते । ग्लानो-मन्दः । स च द्विधा आगाढोऽनागाढश्च । यस्तु परिमितोपधिः 'सुत' त्ति बहुश्रुतः ' सोयअत्थ ' त्ति यो व्याख्यानमण्डल्या उत्थितानां सूत्रार्थश्रोतव्ये ज्येष्ठतया व्यवह्रियते ' जाइ ' त्ति जातिस्थविरः षष्टिवर्षपर्यायः ' तव ' त्ति तपस्वी 'भास' त्ति य आभाषिकः स्वदेशभाषायामभिज्ञः ' लद्धीए ' त्ति यस्य लब्ध्या वस्त्राणि लभ्यन्ते, एतेषामुपसंपद्यमानादीनां यथाक्रमं दत्त्वा ततो यो यः पर्यायरत्नाधिकः स स प्रथमं गृह्णाति ' ओमि ' त्ति अवमरात्निकः पश्चाद् गृह्णाति । एते यथाक्रमं द्विविधस्य उपधेरौपग्राहकोपधेश्च ग्रहणे अर्हाः-योग्या मन्तव्याः ।

एएसि परूवणया, जा य विणा तेहि होति परिहाणी ।
अहवा एक्केक्कस्स उ, अद्धोक्कंतिक्कमो होति ॥ ६२६ ॥

एतेषामुपसंपद्यमानादीनां प्ररूपणा—व्याख्या कर्त्तव्या, सा चानन्तरमेव कृता । यद्येतेषां यथाक्रमं वृषभा न प्रयच्छन्ति ततो या तेषां तैर्वस्त्रैर्विना परिहाणिः संयमविराधनादिका भवति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथवा-एकैकस्यौपसंपद्यमानादेः प्रत्येकं ग्लानादिविषयोऽयमर्द्धापक्रान्तिक्रमो भवति ।

तद्यथा—

उवसंपज्जगिलाणो,अगिलाणो वाऽवि दोसि वि गिलाणे।
तत्थ वि य जो परित्तो, एस गमो सेसगेसुं पि ॥६२७॥

उपसंपद्यमानो द्विविधः-ग्लानोऽग्लानश्च । तत्र यो ग्लानस्तस्य दातव्यम् । अथ द्वावपि ग्लानावग्लानौ वा, ततो यस्तत्र परीत्तोपधिस्तस्मै दातव्यमेवमेष गमः—प्रकारः शेषेष्वपि बहुश्रुतादिपदेषु मन्तव्यः । तद्यथा—द्वावपि परीत्तोपधी अपरीत्तोपधी वा ततो यो बहुश्रुतस्तस्मै देयम् । अथ द्वावपि बहुश्रुतौ ततो यश्चिन्तनिकाकारकस्तस्मै दातव्यम् । अथ द्वावपि चिन्तनिकाकारकौ ततो यस्तत्र जातिस्थविरस्तस्य दातव्यम् । अथ द्वावपि जातिस्थविरौ ततो यस्तपस्वी तस्य दातव्यम् । अथोभावपि तपस्विनौ ततो यो भाषिकस्तस्मै दातव्यम् । अथ द्वावप्यभाषिकौ भाषिकौ वा ततो यो लब्धिमान् तस्मै प्रदातव्यम् ।

प्रकारान्तरेण यथारत्नाधिकपरिपाटिमाह—

आयरिए य गिलाणे, परित्त-पूया-पवत्ति-थेर-गणी ।
सुत-भासा-लद्धिवओ, ओमे परियागरातिणिए ॥६२८॥

आचार्यस्य पूर्वं विशिष्टानि वस्त्राणि दत्त्वा ततो ग्लानस्य दातव्यानि, ततः परीत्तोपधेस्ततः ' पूयं ' ति चूर्ण्यभिप्रायेण पूजनार्हस्य उपाध्यायस्य, बृहद्भाष्याभिप्रायेण तु पूजनार्हस्य गुरुसंबन्धिपितृव्यादेः, ततः प्रवर्तिनस्तदनन्तरं स्थविरस्य,ततो 'गणि' त्ति गणावच्छेदकस्य, ततः श्रुतसम्पन्नस्य, ततो भाषिकस्य, ततो लब्धिमतः, यथाक्रमं दातव्यम् । अर्द्धापक्रान्तिचारणिका प्राग्वत् कर्त्तव्या । तदनन्तरं यो यः पर्यायरात्निकः तस्य प्रथमम् ,अवमरात्निकस्य तु पश्चाद् यथाक्रमं दातव्यम् । एवं तावत्संघाटकेनानीतानां विधिरुक्तः ।

अथ वृन्देनानीतानां यो विधिस्तदभिधित्सुराह-

णेगेहिँ आणियाणं, परित्त परियाग खुभिय पिंडेत्ता ।
आवलिया मण्डलिया, लुद्धस्स य संमता अक्खा ।६२९।

अनेकैः साधुभिरानीतानां वस्त्राणां परिभाजनविधिरुच्यते, आचार्यादिक्रमेण परीत्तोपधीनां यावत् दत्त्वा ततो ये पर्यायरात्निकास्तेषामहिण्डमानानामपि प्रथमतो दातव्यम् । तत्र च यैस्तानि वस्त्राणि समानीतानि ते पिण्डित्वा-संभूय क्षुभितं क्षोभं कुर्वीरन् कलहमिति यावत् ब्रुवीरन् । "आवलिकया मण्डलिकया वा" विभजनं विधीयतां, "लुद्धस्स य संमता अक्ख" त्ति कस्यापि पुनर्लुब्धस्य अक्षान् पातयित्वा वस्त्रविभजनमभिमतमेष संग्रहगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुराह-

गेण्हंतु पुज्जा गुरवो जदिट्ठं ,
सव्वं भणामऽम्ह वि एयदिट्ठं ,
अणुण्हसंवट्टियऽकक्कसङ्गा ,
गिण्हन्ति जं अत्ति न तं सहामो ॥ ६३० ॥

अहिण्डमानानां वस्त्रेषु दीयमानेषु ये वस्त्राणामानेतारस्ते ब्रुवीरन् । ' जदिट्ठं ' मनोऽनुकूलं वस्त्रं गुरवो गृह्णन्ति तत्ते सकलगच्छस्वामितया पूज्या इति कृत्वा गृह्णन्तु । यद् गुरूणामुत्कृष्टं वस्तु दीयते तत् सत्यमवितथमिति वयमपि भणामः । न केवलं वचसैव भणामः, किंतु-मनसाऽप्यस्माकमेतदिष्टमेव । परमनुष्णेन-भिक्षापरिभ्रमणाभावादुष्णलगनाभावेन संवर्तितानि-वर्तुलीभूतानि अत एवाकर्कशानि अङ्गानि पाणिपादपृष्ठोदरप्रभृतीनि येषां ते अनुष्णसंवर्तिताऽकर्कशाङ्गाः, एवंविधाः सन्तो यदन्ये अहिण्डमानाः प्रथमं गृह्णन्ति न तद्वयं सहामहे ।

आगंतुगमादीणं, जइ दायव्वाइँ तो किणं अम्हे ।
कम्हारभिक्खुयाणं, गाहिज्जामेण गइमसिग्घा ॥६३१॥

आगन्तुका—उपसंपत्तारस्तेषामादिशब्दाद्-ग्लानादीनां च यदि दातव्यानि वस्त्राणि ततः ' किण ' त्ति केन कारणेन वयं कर्मकारभिक्षुकाणां देवद्रोणीवाहकभिक्षुविशेषाणां गतिमश्लाघ्यां—निन्दनीयां ग्राह्यामहे । किमुक्तं भवति—यदि नामास्मदानीतानां वस्त्राणामेते आगन्तुकादयः स्वामिभावं भजन्ते, ततः किमेवं वयं देवद्रोणीवाहकभिक्षुकवन्मुधैव वस्त्राद्यानयनकर्म कार्यामहे इति वस्त्राण्यानेतारश्चिन्तयेयुः ।

ततः--

विविच्चमाणे अहवा विरक्के ,
खोभं विदित्ता बहुगाण तत्थ ।
ओमेण कारिंति गुरुव्विरेगं ,
विमज्झिमो जो व तहिं पट्टू य ॥ ६३२ ॥

एवं विविच्यमाने, अथवा-विरिक्ते उपकरणे बहूनामनन्तरोक्तं क्षोभं विदित्वा यस्तत्रावमः सर्वेषामपि पर्यायलघुर्यो वा विमध्यमोऽपि तत्र वस्त्रविभजने पटुः कुशलस्तेन गुरवो विभजनं कारयन्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ कोऽपि लुब्ध एव कमप्यपरितुष्यन् ब्रूयात्-आवलिकया मण्डलिकया वा वस्त्राणि विभज्यतां ततः को विधिरित्याह—

आवलियाएँ जतिट्ठं, तं दाऊणं गुरूण तो सेसं ।
गेण्हंति कमेण जश्रो, उप्परिवाडिं न पूयेंति ॥ ६३३ ॥
मंडलियाण विसेसो, गुरुगहिते सेसगा जहावुड्ढं ।
भागे समे करेत्ता, गेण्हंति अणंतरं उभश्रो ॥ ६३४ ॥

आवलिका नाम ऋज्वायतश्रेण्या वस्त्राणां व्यवस्थापनं तया समभागीकृत्य वस्त्रेषु स्थापितेषु यदिष्टं वस्त्रं तत् गुरूणां दत्त्वा शेषाणि यथारत्नाधिकं गृह्णन्ति यावदावलिका निष्ठामुपगच्छति । उत्परिपाट्या ग्रहणं न पूजयन्ति—न प्रशंसन्ति तीर्थकरादय इति गम्यते । मण्डलिकायामप्येवमेव नवरं तेषां विशेषोऽयमुपदर्श्यते-पूर्वं गुरुभिर्गृहीते-ततः शेषाः यथावृद्धं यो यः पर्यायवृद्धस्तदनतिक्रमेण समान् भागान् कृत्वा उभयोरप्यायातलक्षणयोरनन्तरमव्यवहितं वस्त्राणि गृह्णन्ति । इयमत्र भावना-मण्डलिकया वस्त्रेषु स्थापितेषु प्रथममाचार्येण गृहीते ततो यः शेषाणां मध्ये रत्नाधिकः स मण्डलिकाया धुरि स्थापितं वस्त्रं गृह्णाति । अवमरात्निकस्तु पर्यन्तस्थापितं सर्वान्तिमम् । ततोऽपि योऽवमपर्यायस्साधुभिस्स्थापितः स तदनन्तरं गृह्णाति, तदपेक्षया लघुतरपर्यन्तपार्श्वादुपान्त्यं गृह्णाति एवं तावद् गृह्णन्ति यावन्मण्डलिका निष्ठिता भवति । एवमपि विभज्यमाने कोऽपि लोभाभिभूतमानसो ब्रूयात् अक्षान् पातयित्वा यद्यस्य भागे समायाति तत्तस्य दीयताम् ,एवं ब्रुवाणोऽसौ प्रज्ञापयितव्यः। कथमिति चेदुच्यते—

जइ ताव दलंति गालिणो,
धम्माऽधम्मविसेसबाहिला ।
बहुसंजयविंदमज्झके,
उवकलणेऽसि किमेव मुच्छि[illegible] ॥ ६३५ ॥

यदि तावदगारिणो धर्माधर्मविशेषबाह्या अपि मूर्च्छां परित्यज्य साधूनामिव चात्मीयानि वस्त्राणि दलन्ति-प्रयच्छन्ति ततो बहुसंयतवृन्दमध्यके—प्रभूतसाधुजनमध्यविभागे त्वमेवैकोपकरणे कमयं सम्यक्परिज्ञातजिनवचनोऽपि मूर्च्छितोऽसि । नैतद्भवतो युज्यत इति भावः ।

एवमप्युक्तो यद्यसौ नोपशाम्यति ततो वक्तव्यम्—

अज्जो ! तुमं चेव करेहि भागे,
ततोऽणुघिच्छामों जहक्कमेणं ।
गिण्हाहि वा जं तुह एत्थ इट्ठं,
विणासधम्मीसु हि किं ममत्तं ॥ ६३६ ॥

आर्य ! त्वमेव समान् भागान् कुरु ततो यथाक्रमेण वयं ग्रहीष्यामः, यद्वा—गृहाण यत्तवामीषां वस्त्राणां मध्ये इष्टमभिरुचितम् ,विनाशधर्मीणि हि विनश्वरस्वभावानि वस्त्रादीनि वस्तूनि अतः किं नाम तेषु ममत्वं विधीयते ।

एवमप्युक्तो यदि नोपरतः ततः को विधिरित्याह—

तह वि अवियस्स दाउं , विगिंचणोवट्ठिए खरंटणया ।
अक्खेसु होंति गुरुगा , लहुगा सेसेसु ठाणेसुं ॥६३७॥

तथाऽप्यस्थितस्य तस्य तदभीष्टं वस्त्रं दत्त्वा विवेचनं कर्त्तव्यम् । निर्गच्छ मदीयाद् गच्छादिति भणनीयमिति भावः । ततो यदि भूयोऽप्युपतिष्ठते , मिथ्या मे दुष्कृतं न पुनरेवं विधास्यामीति , ततः खरण्टनी वक्ष्यमाणा कर्त्तव्या,प्रायश्चित्तं च दातव्यम् । किमित्याह-अक्षेषु गुरुका भवन्ति । यो ब्रवीति अक्षान् पातयित्वा विभजत तस्य चतुर्गुरुकम् । शेषेषु स्थानेषु क्षोभकरणावलिकामण्डलिकाविभाजनलक्षणेषु चतुर्लघुकम् ।

अथ खरण्टनामुपदर्शयति—

हिरन्नदारं पसुपेसवग्गं ,
जदा च उज्झित्तु दमे ठितोऽसि ।
किलेसलद्धेसु इमेसु गिद्धी ,
जुत्ता न कत्तुं तव खिंसणेवं ॥ ६३८ ॥

हिरण्यं-सुवर्णं दाराश्च-कलत्रं हिरण्यदारं,पशवश्च गोमहिषीप्रभृतयः प्रेष्याश्च कर्मकरास्तेषां वर्गः-समूहस्तमेवमादिकं परिग्रहमुज्झित्वा-तृणवत् परित्यज्य यदा किल त्वमेवंविधे दमे संयमे स्थितोऽसि, तदा साम्प्रतमेतेषु वस्त्रेषु क्लेशलब्धेषु—प्रभूतगृहपरिभ्रमणादिप्रयासप्राप्तेषु तव गृद्धिः कर्तुं न युक्ता, एवं खिंसना तस्य कर्त्तव्या ।

सम्मं विदित्ता समुवट्ठियं तु ,
थेरासि तं चेव कदाइ देज्जा ।
अन्नेसि गाहे बहुदोसले वा ,
छोढूण तत्थेव करिंति भाए ॥ ६३९ ॥
वत्थेव गए कोई, वत्थं लद्धं निवेयध गुरुणो ।
देहि तुमं चिय हणिश्रो,भाएइ णिगइ णिमो सो य ।६४०।

सम्यग् पुनः करणेन समुपस्थितं तं विदित्वा स्थविराः-सूरयः कदाचित्तस्यैव तद्वस्त्रं दद्युः । अथान्येषामपि बहूनां तद्वस्त्रग्रहणे ग्राहो मोहनिर्बन्धः 'बहुदोसले वा' प्रभूतदोषवानसौ यतः बहुभिः सह द्वेषवान् विरोधविधायी स बहुद्वेषवानिति, ततस्तस्य दीयमाने अन्येषां महदप्रीतिकमुपजायते, एवंविधं कारणं विचिन्त्य तत्रैव तेषु वस्त्रेषु मध्ये प्रक्षिप्य एकसदृशान् भागान् कुर्वन्ति । ततो यथा रत्नाधिकं गृह्णन्ति । एवं तावदनेकेषामानीतानां वस्त्राणां परिभाजने विधिरुक्तः ।

अथ क्षपकेणानीतानां तेषामेव विधिमभिधित्सुराह—

खमए लद्धूण अंबले ,
दाउं गुरुए य सांवलित्तए ।
वेइ गुलुं एमेव सेसए ,
देह जईणं गुलूहिँ वुच्चई ॥ ६४१ ॥
सयमेव य देहि अंबले ,
तव जे लोयइ इत्थ संजए ।
इय छंदिय पेसिउं तहिं,
खमश्रो देइ निसीलअंबले ॥ ६४२ ॥

कोऽपि क्षपकः कुत्रापि भावितकुलादौ अम्बराणि लब्ध्वा तानि वरिष्ठानि-सर्वप्रधानानि वासांसि तानि दत्त्वा ततो गुरुं ब्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीति—एवमेव शेषाण्यपि मदानीतानि वस्त्राणि यतीनां प्रयच्छत, ततो गुरुभिरसावुच्यते-स्वयमेवामूनि अम्बराणि देहि। यस्त्वत्र संयतो रोचते वस्त्रदानयोग्यतया रुचिगोचरीभवति, इत्यमुना प्रकारेण वन्दितः-प्रार्थितः पूर्वं छन्दितो यस्य रोचते, तस्मै दातव्यानीत्येवमनुज्ञातच्छन्दः। ततः प्रेषितो-मुकुलितः सन् स क्षपकस्तत्रावसरे आर्याणामम्बराणि प्रयच्छति। इह सर्वत्रापि रकारस्य लकारादेशो 'रसोर्लशौ'॥ ८।४।२८८। इति मागधभाषालक्षणवशात्।

ततश्च—

खमएण आणियाणं, दिज्जंतेगस्स वारणे वयणं।
गहणं तुमं न याणसि,तिविदिय पुच्छा ततो कहणं ६४३।

क्षपकेणानीतानां तत्रैव दीयमानानां वस्त्राणां कस्यचिल्लुब्धस्य वारणे वचनम्, एवममीषां रत्नाधिकानां दीयमानानि मा यावच्च समागमिष्यन्तीति बुद्ध्या वस्त्रग्राहकसाधून् मा आर्या गृह्णीध्वमित्येवं कोऽपि निवारितवानिति भावः। ततः क्षपकः प्राह-किं मदीयानि वस्त्राणि न ग्राह्यन्ते। इतरः प्राह-ग्रहणमेव यावत् त्वं न जानीयाः। क्षपको ब्रवीति—जानामि इत्थम्। इतरो भणति—यद्येवं ततः कीदृशम्, क्षपक आह-'वंदित्ता वि न पुच्छा' येनाहं कथयामि ततस्तेन क्षपको वन्दित्वा पृष्टः सन् कथयितुमारब्धवान्। बृ० ३ उ०। (इतोऽग्रे एतद्वक्तव्यता 'गहण' शब्दे तृतीयभागे ८५६ पृष्ठे गता।)

निर्ग्रन्थ्या प्रवर्तिनीनिश्रया चैलानि ग्रहीतव्यानि—

निग्गंथीए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठाए चेलट्ठे समुप्पज्जेज्जा, नो से कप्पइ अप्पणो नीसाए चेलाई पडिग्गाहित्तए, कप्पइ से पवित्तिणी नीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए॥ १३॥ णो जत्थ पवित्तिणी समाणी सिया जे तत्थ समाणो आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्तिणी वा थेरे वा गणी वा गणधरे वा गणावच्छेइए वा कप्पइ से तन्नीसाए चेलाइं पडिग्गाहित्तए॥ १४॥

अथास्य (१४) सूत्रस्य कः सम्बन्ध इत्याह—

नियमा सचेल इत्थी, वातिज्जति संयमा विणा तेणं।
उग्गहणमाइ चेला, ण गेण्हणा तेण जोगा य॥४६१॥

नियमाद्-अवश्यतया स्त्री-निर्ग्रन्थी सचेला भवात, ततस्तेन चेलेन विना सा संयमाच्चाल्यते, इत्यनन्तरसूत्रे उक्तम्, तेन कारणेनावग्रहानन्तकादीनां चेलानां ग्रहणे विधिरभिधीयते। अयं योगः प्रकृतसूत्रस्य सम्बन्धः।

अथवा—

चेलेहि विणा दोसं, णाउं मा ताणि अप्पणा गेण्हे।
तत्थ वि ते चिय दोसा, तव्वारणकारणासुत्तं॥४६२॥

चेलैर्विना भिक्षामटन्त्याः संयत्याः महान् दोषो भवतीति ज्ञात्वा मा तानि चेलानि आत्मना गृह्णीयात्। कुत इत्याह-तत्राप्यात्मना चेलग्रहणेऽपि त एव दोषा भवन्ति ये पूर्वं चेलस्याग्रहणे प्रागुक्ताः। अतस्तद्वारणकारणात् स्वयं ग्रहणमात्रषधार्थमिदं सूत्रमारभ्यते।

इदमेव सोपयुक्तिकमाह—

सयगहणं पडिसेहति, चेलग्गहणं तु सव्वसो ताति।
संडासतिरो वण्ही, ण डहति कुरुए य किचाइं॥४६३॥

स्वयं ग्रहणमत्र सूत्रे सूत्रकृत् प्रतिषेधयति न पुनः सर्वथा तासां संयतीनां चेलग्रहणम्। यतः संदंशकेन तिरोहितो वह्निर्गृह्यमाणो न दहति। कृत्यानि च धान्यपाकादीनि कार्याणि कुरुते, एवं संयतीनामपि साधुभिस्तिरोहितं चेलग्रहणं न दुष्यति, कार्यं च संयमपालनात्मकं करोति। अत इदमारभ्यते। अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (सूत्रस्य—१३--१४) व्याख्या—निर्ग्रन्थ्या गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टायाः चेलेनार्थः प्रयोजनं चेलार्थः। स समुत्पद्येत। न 'से' तस्याः कल्पते आत्मनो निश्रया चेलं प्रतिग्रहीतुं किंतु कल्पते 'से' तस्याः प्रवर्त्तिनीनिश्रया चेलं प्रतिग्रहीतुम्। अथ न तत्र प्रवर्त्तिनी 'समाणी' सन्निहिता ततो यस्तत्राचार्यो वा उपाध्यायो वा प्रवर्त्तको वा स्थविरो वा गणी वा गणधरो वा गणावच्छेदको वा सन्निहितो वा भवेत्, गणी-गणाधिपतिराचार्यो-गणधरः संयतः-परिवर्तकः। शेषाः सर्वेऽपि प्रतीताः। एतेषां निश्रया यं वा अभ्यङ्गीकृतार्थः साधुः पुरः कृत्वा विहरति। तन्निश्रया कल्पते 'से' तस्याश्चेलं प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः।

अथ विस्तरार्थं भाष्यकारो विभणिपुराह—

चेलट्ठ पुव्वभणिते, पडिसेहो कारणे जहा गहणं।
णवरं पुण णाणत्तं, णीसागहणं णऽणीसाए॥ ४६४॥

चेलार्थं पूर्वे—प्रथमोद्देशके "निग्गन्थीणं केइ वत्थेण वा पाएण वा निमंतिज्जा" इत्यादिसूत्रे यथा भणितो यथा च तत्र संयतानां स्वयं वस्त्रग्रहणप्रतिषेधो यथा च कारणे ग्रहणमुक्तं तथैवात्रापि वक्तव्यम्। नवरं केवलं पुनरत्र नानात्वं विशेषः, वस्त्रग्रहणं ताभिर्निश्रया कर्त्तव्यं न पुनरनिश्रया। निश्रयोपसंज्ञानकादिना वस्त्रं दीयमानं प्रवर्तिन्या निवेदयति। प्रवर्त्तिनी गणधरस्य निवेदयति, ततो गणधरः स्वयमागत्य परीक्ष्य शुद्धं कृत्वा गृह्णाति। अथ नास्ति तत्र प्रवर्त्तिनी ततस्तद्वस्त्रं वर्णेन रूपेण चिन्हेन चोपलक्ष्य गणधरस्य कथयति, स चागत्य स्वयं गृह्णाति। एतन्निश्राग्रहणमुच्यते।

आयरिओ गणिणीए,पवत्तिणी भिक्खुणी ण कत्थेति।
गुरुगा लहुगा लहुगो, तासिं अप्पडिसुणंतीणं॥४६५॥

आचार्य एतत्सूत्रं गणिन्या न कथयति चत्वारो गुरवः। प्रवर्तिनी भिक्षुणीनां न कथयति चत्वारो लघवः, तासां भिक्षुणीनामप्रतिशृण्वन्तीनां मासलघु।

अथ स्वयं वस्त्रग्रहणे दोषानाह—

मिच्छत्ते संकादी,विराहणा लोभ अभियोगे य।
तुच्छा ण सहति गारव-मंडण अट्ठाण ठवणं च॥४६६॥

पुरुषेण संयत्या वस्त्रं दीयमानं दृष्ट्वा अभिनवधर्माणो मिथ्यात्वं गच्छेयुः। दुर्दृष्टधर्माणोऽमी इति शङ्कादयश्च दोषा भवन्ति। विराधना च संयमात्मविषया। लोभे हि स्तोकेनापि वस्त्रादिप्रदानेन स्त्री लोभ्यते। 'आभियोगे' त्ति आभियो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गिकवस्त्रप्रदानेन कश्चित्कार्मणं कुर्यात्, स्त्री च प्रायेण तुच्छा भवति, तुच्छत्वेन च गौरवं लब्धिमाहात्म्यं न सहते । ततश्च भण्डनं-कलहोऽस्थानस्थापनं च भवतीति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीपुराह—

इत्थी वि ताव देंती, संकिज्जइ किं ण केणऽवि पउत्ता ।
किं पुण पुरिसो देंतो, परिजुण्णाइं पि जुण्णाए ॥४६७॥

स्त्री-अविरतिका साऽपि वस्त्रं संयत्याः प्रयच्छन्ती शङ्क्यते, किं केनापि प्रयुक्ता सती प्रयच्छति उत स्वयमेव धर्मार्थमिति, किं पुनः पुरुषः परिजीर्णान्यपि वस्त्राणि जीर्णाया अपि आर्यिकायाः प्रयच्छन् स सुतरां शङ्क्यत इति भावः। तत्र शङ्कायां चतुर्गुरु,चतुर्थार्थमेवेति निःशङ्किते मूलम् ,एवं मिथ्यात्वं शङ्कादयश्च दोषा भवेयुः । विराधना च संयमात्मविषया अभ्यूह्य वक्तव्या ।

(२६) लोभद्वारमभियोगद्वारं चाह—

णामिज्जइ थोवेणं, जच्चसुवण्णं च सारणी वावि ।
अभियोगियवत्थेणं, कड्डिज्जइ पट्टए जातं ॥ ४६८ ॥

यथा जात्यं सुवर्णं सारणी वा कुल्या स्तोकेनापि प्रयत्नेन नाम्यते तथा संयत्यपि स्तोकेनापि वस्त्रादिप्रदानेन मान्यते । यद्वा—तद्वस्त्रं केनापि विद्यामन्त्रादिबलेनाभियोगिकं वशीकरणकर्म कृतमस्ति , ततस्तेन स आकृष्यते येन कार्मणं कृतं तदभिमुखं नीयते । पट्टकेन वाऽत्र जातं-दृष्टान्तो भवति, स च यथा प्रथमोद्देशके ।

अथ गौरवादिद्वारद्वयं युगपदाह—

वत्थेहि वच्चमाणी, दाएंती वावि उयह वत्थे मे ।
मच्छरियाओ वेंती, धिरत्थु वत्थाण तो तुज्झं ॥४६९॥
हिंडयमाणसछंदा, णेव सयं गेण्हिमो ण पभवामो ।
ण य जं जणो वियाणति, कम्मं जाणामो तं काउं॥४७०॥

काचिदार्यिका तुच्छतया गौरवमसहिष्णुर्वस्त्रैभ्यो व्रजन्ती आत्मानं ख्यापयति-अहमीदृशानि ईदृशानि वस्त्राणि गृहीत्वा समागमिष्यामि । यद्वा—स्वयमानीतानि वस्त्राणि दर्शयन्ती ब्रूयात् ,' उयह ' पश्यत मदीयानि वस्त्राणि इति । तत इतराः संयत्यो मत्सरिता ब्रुवते । धिगस्तु भवदीयानि वस्त्राणि भवन्ती च यदेवमात्मानं कथयसि । अपि-च—यथा यूयं स्वच्छन्दाः पर्यटथ, न तथा वयं हिण्डामः । नैव च स्वयं गृह्णीमः । नचात्मानं प्रभवामः—प्रकर्षेण श्लाघामहे । न च यत् कुण्डलादिकं कर्म कर्तुं युष्मादृशो जनो जानाति तद्वयं कर्तुं जानीमः ।

जम्हा य एवमादी, दोसा तेसिं तु गिण्हमाणीणं ।
तम्हा तासि णिसिद्धं, वत्थग्गहणं अणीसाए ॥ ४७१ ॥

यस्मादेवमादयो दोषास्तासां गृह्णतीनां भवन्ति, तस्मात्तासामनिश्रया वस्त्रग्रहणं निषिद्धम् ।

परः प्राऽऽह—

सुत्तं निरत्थगं खलु कारणियं तं च कारणमिणं तु ।
असती पाउग्गे वा, मन्नक्खोवाइ जतणाए ॥ ४७२ ॥

यदि संयतीनामनिश्रया वस्त्रग्रहणं न कल्पते । ततः सूत्रं निरर्थकं प्राप्नोति । सूरिराह-कारणिकं सूत्रम् , तच्च कारणमिदम्-न सन्ति संयतीनां वस्त्राणि, सन्ति वा परं न प्रायोग्याणि । ' मन्नक्खो वा '—महादौर्मनस्यं संज्ञातकादीनां संयतीभिर्वस्त्रे अगृह्यमाणे भवति । तत्रेयं यतना ।

तामेवाभिधित्सुराह—

तरुणी य पव्वमाणी, नियएहि णिमंतणा य वत्थेहिं ।
पडिसेहणणिव्वंधे, लक्खण गुरुणो णिवेदेज्जा ॥४७३॥

कस्याप्याचार्यस्य पार्श्वे महर्द्धिकानां बहुजनपाक्षिकाणां प्रव्रज्या समजनि । ताश्च कियन्तमपि कालमन्यस्मिन् देशे विहृत्य सूरिभिः सार्द्धं तत्रैव समायाताः । ततो निजकैः-संज्ञातिकैस्तासां वस्त्रैर्निमन्त्रणा कृता, ततो न कल्पते अस्माकं वस्त्रग्रहणं कर्तुमिति प्रतिषेधः कर्त्तव्यः । अथ गाढतरं निर्बन्धं कुर्वन्ति, तदेतद् वक्तव्यम्—अस्माकं गुरव एव वस्त्रलक्षणं जानन्ति, ततो गुरूणां निवेदयाम इत्यनुज्ञाते तेषां निवेदयेयुः ।

इदमेव व्याख्याति-

थेरा पडिच्छंति कथेमु तेसिं,
जाणेंति ते दिस्स अजुग्गजोग्गं ।
पिच्छामु ता तस्स पमाणवण्णे,
तो णं कधेस्सामु तहा गुरूणं ॥ ४७४ ॥

सागाऽकडे लहुगो, गुरुगो पुण होति चिंधऽकरणम्मि ।
गणिणी असिट्ठे लहुगा,गुरुगा पुण आयनीसाए ।४७५।

स्थविरा—आचार्या अस्मत्प्रायोग्यं वस्त्रं परीक्षन्ते अतः कथयामस्तेषाम् , ज्ञास्यन्ति तद् दृष्ट्वैव वस्त्रमयोग्यं योग्यं वा वयं परं तावदिदानीं तस्य वस्त्रस्य प्रमाणं वर्णं च पश्यामः । ततो ' ण ' मिति तद्वस्त्रं तथा तेन प्रमाणवर्णादिना प्रकारेण गुरूणां कथयिष्यामः । एवं यद्वस्त्रं साकारत्वेन यथाऽवस्थापितं तत् साकारकृतम् , तच्च यदि न कुर्वन्ति ततो मासलघु, साकारकृतं कृत्वा प्रमाणवर्णाभ्यां चिह्नं न कुर्वन्ति ततो मासगुरु, यदि गणिन्या तद्वस्त्रप्रमाणादि न कथयन्ति ततश्चतुर्लघवः । अथ आत्मनिश्रया स्वयमेव गृह्णन्ति ततश्चतुर्गुरवः ।

अथ गृहस्था एवं ब्रूयुः-

जइ भे रोयति गेण्हध,ण वयं गणिणिं गुरुं च जाणामो ।
इय विभणिया वि गणिणो,कथेंति ण य तं पडिच्छंति।४७६।

यदि 'भे' भवतीनां रोचते ततो गृह्णीध्वमेतद्वस्त्रं न वयं गणिनीं-प्रवर्तिनीं गुरुं वाऽऽचार्यं जानीमः, इत्यपि भणिताः सन्त्यः गणिन्यः सूरिणः कथयन्ति न पुनस्तद्वस्त्रं प्रतीच्छन्ति। सूरिभिश्च संयतीमुखाद्वस्त्रवृत्तान्तं श्रुत्वा इत्थं वक्तव्यम्-

कतरो भे णत्थुवधी, जा दिज्ज भणाहमो विसुरिंतो ।
पुव्वुप्पण्णो दिज्जति, तस्सऽसतीए इमा जयणा ॥ ४७७॥

भणत-प्रतिपादयत वर्षाकल्पान्तरकल्पादीनां मध्यात्कतरो 'भे' भवतीनां नास्त्युपधिर्यः साम्प्रतं दीयताम् । मा यूय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुपधिना विसूरयथ-खेदमुद्वहथ, इत्युक्त्वा यस्या उपधेरभावस्तां निवेदयन्ति। स यदि पूर्वोत्पन्नो वर्तते ततो दीयते। अथ पूर्वोत्पन्नो नास्ति ततस्तस्याभावे इयं यतना—

नाऊण यं परित्तं, वावारे तत्थ लद्धिसम्पन्ने।
गन्धड्ढे परिभुत्ते, कप्पकते दाणगहणं वा ॥ ४७८ ॥

परीत्तं-स्तोकमभावोपलक्षणं चेदम्, ततोऽयमर्थः—परीत्तं नाम न संयतीनां वस्त्राणि इति ज्ञात्वा ये तत्र लब्धिसम्पन्नाः साधवस्तान् व्यापारयेत्। यथा-आर्याः! संयतीनां प्रायोग्याणि वस्त्राणि गवेषयत, ततस्ते वस्त्राणि गृहीत्वा गुरूणां समर्पयन्ति। तानि च गन्धाढ्यानि-परिभुक्तानि भवेयुः, ततः कल्पे कृते सति दानं ग्रहणं वा कर्त्तव्यम्। किमुक्तं भवति-तानि वस्त्राणि प्रक्षाल्य सप्त दिवसानि स्थापयित्वा यदि नास्ति कोऽपि विकार उद्भूतस्ततो गणधरेण प्रवर्त्तिन्या दातव्यानि। प्रवर्तिनीहस्ताच्च संयतीभिर्ग्रहीतव्यानि इति संग्रहगाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

गुरुस्स आणाएँ गवेसिऊणं,
वावारिता ते अह छंदिया वा।
दुधा पमाणेण जहोइयाइं,
गुरूणमासंसु णिवेदयंति ॥ ४७९ ॥

ये व्यापरिता गुरुभिर्वस्त्रग्रहणाय प्रवर्तिताः, ये वा यथाच्छन्दिका अव्यापारिता एव गुरूणां पुरतो भणन्ति वयं वस्त्राणि गवेषयिष्यामः, आभिग्रहिका इति भावः। ते द्वयेऽपि गुरोराज्ञया वस्त्राणि द्विधाप्रमाणेन—वर्णेन प्रमाणेन च यथा भगवद्भिस्तीर्थकरैरुदितानि-भणितानि तथा गवेषयित्वा गुरूणां पादयोः पुरतस्तान्निवेदयन्ति-निक्षिपन्तीत्यर्थः।

ततश्च—

गंधड्ढ अपरिभुत्ते, विसोधिउं देंति किमु अपडिपक्खे।
गणिणी य णिवेदेज्जा, चतुगुरु सयदाणअड्डाण ॥४८०॥

यानि गन्धाढ्यानि तानि यद्यप्यपरिभुक्तानि तथापि धावित्वा प्रक्षाल्य संयतीनां ददाति, 'किमु'त्ति किं पुनः अप्रतिपक्षाणि परिभुक्तानीत्यर्थः,तानि सुतरां प्रक्षालनीयानीति भावः। उपलक्षणमिदम्, तेन यद्यपि तानि गन्धाढ्यानि तथापि धावनीयान्येव, धावयित्वा च सप्त दिवसानि स्थापयित्वा स्थविरः प्रावरणं कार्यते,यदि नास्ति कोऽप्यभियोगविकारस्ततो गणधरा गणिन्याः प्रवर्त्तिन्यास्तानि निवेदयेत्-अर्पयेदित्यर्थः। सा च संयतीनां ददाति। अथ गणधरः स्वयं तासां ददाति ततश्चतुर्गुरु, अस्थाने च शेषसंयतीभिः स्थाप्यते। शुद्धभावनाऽपि हि यदि काचिदार्थिकाविशेषो लभ्यते तथापि काचिदपरा संयती तत्र निरूपणाभिः प्रपातनया शङ्कां करोति, किं पुनः स्वयं वस्त्रप्रदाने।

अपि च—

इहरह वि ताव मेहा, माणं भंजंति पणइणिजणस्स।
किं पुण वलागसुरवा, विज्जुपज्जोदिया संता। ४८१।

इतरथाऽपि च बलाकासुरवापादिविशेषमन्तरेणापि तावन्मेघा गगनमण्डलमापूर्य गर्जयन्तः प्रणयिनीजनस्य—मानवतीलोकस्य मानं भञ्जन्ति। किं पुनर्वलाकासुरवाः विद्युत्प्रद्योतिताः सन्तः, एवंविधाः सुतरां मानमुन्मूलयन्ति। एवमप्यतिप्रौढा—समर्था वाऽहमिति कृत्वा अस्माकं मानभङ्गं पुराऽपि करोति। साम्प्रतं तु गुरुभिः स्वयं पूजितः सन् करोत्यविशेषतः करिष्यतीति शेषसाध्व्यश्चिन्तयेयुः।

दुल्लभवत्थे वसिया, आसण्णियाण वा वि णिब्बंधं।
पुच्छंतज्जं थेरा, वत्थपमाणं च वण्णं च ॥ ४८२ ॥

अथ स देशो दुर्लभवस्त्रो भवेत् ततो ये व्यापारितास्तैरपि न लब्धानि वस्त्राणि, अथवा-यैर्निजैः सज्ञातिकैस्ता निमन्त्रितास्ते समासन्नाः अतीव प्रत्यासन्नाः-अतीव प्रत्यासन्नसंबन्धास्ततो न तन्निर्बन्धोऽप्रमाणीकर्तुं शक्यते, एवमादौ कारणे समुत्पन्ने स्थविरा-आचार्या आर्या-प्रवर्तिनीं वस्त्रस्य प्रमाणं वर्णं च पृच्छन्ति, कीदृशैर्वस्त्रैर्यूयं निमन्त्रिताः, किं वा तेषां प्रमाणम्।

ततः संयत्यो ब्रुवते—

सेयं च सिंधवण्णं, अहवा मइलं च ततियगं वत्थं।
तस्सेव होति गहणं, विवज्जए भाव जाणित्ता ॥४८३॥

एकं वस्त्रं श्वेतं-शरदिन्दुसुधावदातम्, द्वितीयं सैन्धववर्णं-पाण्डुरम्। अथवाशब्दो वर्णप्रकारान्तरताद्योतकः। तृतीयं परिमलितत्वान्मलिनम्, प्रमाणमपि च तस्य वस्त्रस्य ईदृशमस्तीति ताभिरुक्ते गुरुभिस्तत्र गत्वा तस्यै वस्त्रस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम्। अथ ते गृहस्थास्तत्र गतानामाचार्याणामन्यानि वस्त्राणि दर्शयन्ति तत एवं विपर्यये भावं भद्रकप्रान्तगतमभिप्रायं ज्ञात्वा ग्रहणं कर्त्तव्यं न वा।

इदमेव स्पष्टयन्नाह—

पुव्वगता ते पडिच्छह, अम्हे वि य पत्थुता तहिं गंतुं।
गुरुआगमणकधंता, णीणावेंता गते तम्मि ॥ ४८४ ॥

सूरयः प्रवर्तिनीं भणन्ति—यूयं तत्र पूर्वगताः प्रतीक्षत वयमपि युष्माकमनुमार्गत एवागच्छामः। ततस्तास्तत्र गृहस्थकुले गत्वा गुरूणामागमनं कथयन्ति। ततस्तस्मिन् गुरावागते संयत्यो भणन्ति-निष्काशयत तानि वस्त्राणि यैर्वयं निमन्त्रिताः, एवमुक्ते यदि तान्येव दर्शयन्ति ततो गृह्णन्ति।

अथान्यानि ततः सूरिभिरिदं वक्तव्यम्—

अन्नं इदं ति पुट्ठा, भणंति किह तुज्झ तारिसं देमो।
इति भद्दे पंतेसु तु, भणंति सीसं ण तं एतं ॥ ४८५ ॥

येन भवद्भिः संयत्यो निमन्त्रिता नेदं तद्वस्त्रम्, किं तु प्रमाणेन वर्णेन वा अन्यादृशत्वेन अन्यदिदमिति पृष्टाः सन्तो ते गृहस्था यदि भद्रकास्तत इदं भणन्ति-कथं वयं युष्माकं स्वयमेवागतानां तादृशं सामान्यं वर्णादियुक्तं प्रयच्छामः, इदं तु ततो विशिष्टतरवर्णादिगुणोपेतम्, अत इदं गृह्णीत इति भद्रका ब्रूयुः। ये तु प्रान्तास्तेषु सूरयः शीर्षं धूनयन्ति। इदं वचनं ब्रुवते-येन संयत्या निमन्त्रितास्तदिदं वस्त्रं न भवति।

एवमुक्ते ते चिन्तयेयुः—

बहु जाणिया ण सक्का, तं वेउं तेसि जाणिओ भावं।
णिच्छंति भद्दएसु तु, पहट्ठभावेसु गेण्हंति ॥ ४८६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ अमीभिराचार्यैर्वहु-प्रभूतं ज्ञाता-उपलक्षिता वयम् ,य-देत आभियोगिकानि वस्त्राणि प्रयच्छन्तीति अतो न शक्या अमी वञ्चयितुम् , इत्यादिकं तेषां भावम्—अभिप्रायं मुख-विकारादिभिराकारैर्ज्ञात्वा नेच्छन्ति । भद्रकेषु तु ग्रहणभा-वेषु गृह्णन्ति ।

भद्रकेष्वेव विशेषमुपदर्शयति—

न वि एयं तं वत्थं, जं तं अज्जाण णीणियं भे त्ति ।
तुज्झे इमं पडिच्छह, तं चिय एताण दाहामो ॥४८७॥

नाप्येतद्वस्त्रं यत्तदार्यिकाणामर्थाय निष्काशितं भवद्भिरि-त्युक्ते यदि गृहस्था ब्रुवन्ति—तावदिदं वस्त्रं प्रतीच्छते । ए-तासां तु वयं तदेव दास्यामः ।

ततो वक्तव्यम्—

अन्नेण म्हे ण कज्जं, एतट्ठा चेव गेण्हिमो अम्हे ।
जति ताणि वि देंति दुवे,णीणेंति दुवे वि गेण्हंति।४८८।

अन्येन-वस्त्रेण अस्माकं न कार्यम् , एतासामेवार्थाय वयं सम्प्रति गृह्णीमः, इत्युक्ते यदि तान्यपि प्राक्तनानि वस्त्राणि आनयन्ति ततो द्वयान्यपि प्राक्तनपश्चात्तनानि गृह्णन्ति ।

ताणि वि उवस्सयम्मि,सत्त दिणे ठविय कप्प काऊणं ।
थेरा परिच्छिऊणं, विहिणा अप्पेंति तेणेव ॥ ४८९ ॥

तान्यपि-वस्त्राणि गृहीत्वा उपाश्रये आनीय सप्त दिनानि स्थापयित्वा कल्पं कृत्वा स्थविरप्रावरणद्वारेण परीक्ष्य यदि नास्ति कोऽप्यभियोगविकारस्ततः स्थविरा आचार्या-स्तेनैव विधिना संयतीनामर्पयन्ति । एवमाचार्यनिश्रया ग्रहणमुक्तम् ।

अथोपाध्यायनिश्रया तदेवाऽऽह—

आयरिय उवज्झाए, पवत्ति थेरे गणी गणहरे य ।
गणवच्छेइयणीसा, पवत्तिणी तत्थ आणेइ ॥ ४९० ॥

आचार्यस्याभावे उपाध्यायस्य प्रवर्तिनः स्थविरस्य गणिनो गणधरस्य गणावच्छेदिनो वा निश्रया वस्त्रग्रहणं कर्त्तव्यम् । एतेषामभावे प्रवर्त्तिनी तत्र गृहस्थकुले गत्वा स्वयमानयति ।

इदमेव व्याख्यानयति—

आयरिएऽसाधीणे, साहीणे वाऽवि वाउलगिलाणे ।
एक्किक्कगपरिहाणी, एमादीकारणेहिं तु ॥ ४९१ ॥

यदि तत्राचार्योऽस्वाधीनः स्वाधीनो वा परं व्याकुलः, कुलादिकार्येषु व्यापृतः, ग्लानो वा तत उपाध्यायनिश्रया ग्रहणं विधेयम् । तत्रापि स एव विधिः । अथोपाध्यायः अस्वाधीनो व्याकुलो वा तत एकैकपरिहाण्या तावन्नेयं यावत् प्रवर्त्तिनीनिश्रयाऽपि ग्रहीतव्यम् । एवमादिभिः का-रणैः संयतीनां वस्त्रग्रहणं भवतीति ।

सुत्तणिवाते थेरा, गहणं तु पवत्तिणीऍ नीसाए ।
तरुणीण य अग्गहणं, पवत्तिणी तत्थ आणेति ॥४९२॥

अत्र पुनः सूत्रनिपात इत्थं मन्तव्यः । आचार्यादीनां ग-णावच्छेदकान्तानामभावे प्रवर्त्तिन्या निश्रया स्थविरा आर्यिकाः स्वयं वस्त्रग्रहणं कुर्वन्ति, तरुणीनां तु सर्वथै-व वस्त्रस्याग्रहणम् । उत्सर्गतः प्रवर्त्तिनी स्वयं तत्र गत्वा आनयति ।

इदमेव भावयति सा च—

जयाऽऽरिया तत्थ न होज्ज कोई,
छंदेज्ज णीया तरुणी जया य ।
पवत्तिणी गंतु सयं तु गेण्हे ,
आसंकभीया तरुणिं न नेंति ॥ ४९३ ॥

यदा तत्राचार्यादीनां मध्यात्कोऽपि गीतार्थः साधुर्न भ-वति, यदा च निजकाः सज्ञातकास्तरुणीं छन्दयेयुर्निमन्त्र-येरन् तदा प्रवर्तिनी तत्र स्वयं गत्वा गृह्णाति , आशङ्काभी-ता च प्रत्यपायशङ्कया चकिता तरुणी नात्मना तं नयति ।

असति पवत्तिणीए, आयरियादी व जं व णीसाए ।
आगाढकारणम्मि उ, गिहिणीसाए वसंतीणं ॥४९४॥

अथ नास्ति प्रवर्त्तिनी तत आचार्योपाध्यायादीन् यं वा सामान्यसाधुमपि निश्रयं-निश्रां कृत्वा विहरति, तन्निश्रया ग्रहणं कर्त्तव्यम् । आगाढे तु कारणे गृहिनिश्रया वसन्तीनां स्वयमपि ग्रहणं भवतीति वाक्यशेषः ।

इदमेव सविशेषमाह—

असति य पवत्तिणीए, अभिसेगादी विवज्जणीसाए ।
गेण्हंति थेरिया पुण,दुगमादी दोण्ह वी असती ।४९५।

प्रवर्त्तिन्या अभावे अभिषेका—गणावच्छेदिकाप्रभृतयो या गीतार्थाः संयत्यस्ताः स्वयं गत्वा गृह्णन्ति । 'विवज्जनीसा-ए' त्ति विपर्ययो नाम अभिषेकादयोऽपि न सन्ति ततः पर-स्परनिश्रया स्थविरा आर्यिका गृह्णन्ति । ताश्च द्विकादयो द्वित्रिप्रभृतिसंख्याकाः पर्यटन्ति । अथ द्वे अपि न भवतस्त-तो वक्ष्यमाणविधिना ग्रहीतव्यम् ।

कथं पुनर्द्वयोरप्यभाव इत्याशङ्क्याह—

दुब्भूइमाईसु उ कारणेसुं,
गिहत्थनीसा वइणी वसंती ।
जे नालबद्धा तह भाविया वा,
निद्दोससन्नी व तहिं वसेज्जा ॥ ४९६ ॥

दुर्भूतिरशिवम् आदिशब्दादवमौदर्यादिपरिग्रहः, तेषु कार-णेषु गृहस्थनिश्रया एकाकिनी व्रतिनी वसन्ती ये नालव-द्धास्तस्याः ये सज्ञातका ये वा अनालवद्धा अपि भाविताः साधुसामाचारीपरिकर्मितमतयो यथा भद्रका ये वा निर्दोषा हास्यकन्दर्पादिदूषणरहिताः संज्ञिनस्तेषां गृहे वसेत् , तत्र च स्थितां भिक्षां पर्यटन्तीं यदा कोऽपि वस्त्रेण निमन्त्रयेत् त-दा वक्तव्यम् ।

सज्जायरो व सण्णी, व जाणती वत्थलक्खणं अम्हं ।
तेण परिच्छियमेत्तं , तदणुण्णातं परिग्घेत्तुं ॥ ४९७ ॥

शय्यातरो वा संज्ञी वा अस्माकं प्रायोग्यस्य वस्त्रस्य लक्षणं जानाति, अतस्तेन परीक्षितं तदनुज्ञातं च सदहमिदं परिग्र-हीष्यामि ।

पंतो दट्ठूण गतं, संकाए अवणयं करेज्जाहि ।
अस्सासिं वा दिस्सं, वइतं णीयं व हसिता वा ॥ ४९८ ॥

ततः संयत्या समानीतं शय्यातरं संज्ञिनं वा दृष्ट्वा प्रान्तः शङ्कया अपनयं वस्त्रस्यैकान्ते स्थापनं कुर्यात् , यद्वा-ब्रूयात्—अन्यासां संयतीनां दत्तं व्रजिकां चानीतम् , हसेद्वा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवा—

तुब्भेऽवि कहं विमुहे, काहामो तेण दाम से अन्नं।
इति पंते वज्जणता, भद्देसु तथेव गेण्हंति ॥ ४६६ ॥

युष्मानपि कथं विमुखान् करिष्यामः, अतस्तस्याः-अपरस्याः संयत्या अन्यद्वस्त्रं दास्यामः। इदं तु यूयं गृह्णीत इति ब्रुवाणे प्रान्ते वर्जनं कर्त्तव्यम्, न तदीयं वस्त्रं ग्रहीतव्यमिति भावः। भद्रेषु तथैव पूर्वोक्तप्रकारेण गृह्णन्ति।

अंबा वि होंति सित्ता, पियरो वि य तप्पिया वदे भद्दो।
धम्मो य म्हे भविस्सति, तुज्झं व पियं अतो अन्नं ॥५००॥

भद्रकः इत्थं वदेत्-आम्रा अपि सिक्ता भवन्ति, पितरोऽपि च तर्पिता भवन्ति। एवमस्माकं धर्मो भविष्यति, युष्माकं च प्रियः, अतोऽन्यद्वस्त्रं दास्याम इत्युक्ते गृह्णंते।

अथ ये चतुर्थावभाषणनिमित्तं प्रयच्छन्ति ते कथं ज्ञातव्या इत्याह—

वेवहु चला य दिट्ठी, अण्णोण्णणिरक्खियं खलति वाया।
दिण्णं मुहवेवण्णं, णयाणुरागोऽनु कारीणं ॥ ५०१ ॥

ये कारिणश्चतुर्थनिमित्तं वस्त्रदायिनस्तेषां शरीरे वेपथुः-कम्पश्चला च दृष्टिर्भवति। अन्योन्यनिरीक्षितं कस्पो नाम मां जानातीति बुद्ध्या अन्योन्यस्य च संमुखं निरीक्षन्ते इति भावः वाक् च तेषां स्खलति ज्ञाते वदन्ति प्रायः तेषां दैन्यं मुखवैवर्ण्यं चोपजायते न च तेषां वस्त्रं ददानानामनुरागो हृष्टप्रहृष्टतालक्षणो भवति। वृ० ३ उ०।

(२७) विभूषाद्वारमाह—

उडाहडा जे हरिया हडीए,
परेहि धोयाइय याउ वत्थे।
भूसानिमित्तं खलु ते करेंते,
उग्घातिमा वत्थ सवित्थराओ ॥ ३०८ ॥

प्रथमोद्देशके हृताहृतिकासूत्रम्, परैः स्तेनैः हृतानि धौतानि पटानि यानि वस्त्रे उदाहृतानि तानि यद्यात्मनो विभूषितास्ततश्चत्वार उद्घातिमा मासा भवन्ति। इयमत्र भावना-विभूषानिमित्तं यद्यात्मीयं वस्त्रं प्रक्षालयति रञ्जति धृतिपृष्टं वा करोति पटवासनादिना वा वासयति, तदा चतुर्लघुकं सविस्तरग्रहणादधौतानि पटानि कुर्वतो या आत्मविराधना तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तम्।

किमर्थं पुनर्विभूषामासेवते इत्याह—

मलेण घत्थं बहुणा उ वत्थं,
उज्झाइओऽहं विमिणा भवामि।
हं तस्स धोवम्मि करेमि तत्तिं,
वरं न जोगो मलिणा ण जोगो ॥ ३०६ ॥

इदं मदीयं वस्त्रं बहुना मलेन ग्रस्तमापूरितमतोऽहम् 'उज्झाइओ' विरूपं भवामि—तैश्चाहं विरूप उपलभ्ये। ततस्तस्य धौतव्ये तन्निमहं करोमि, ये भागा सूत्रादिनाशुष्यन्ति, तदानयानीत्यर्थः। कुत इत्याह-वरं मे वस्त्रेण सह न योगः,परिमलितवस्त्राणां योगो न वरम्। मलिनवस्त्रप्रावरणादप्रावरणमेवाश्रय इति भावः। कारणे तु वस्त्रं धावन्नपि शुद्धः। परः प्राह-ननु वस्त्रधावने विभूषा भवति। सा च साधूनां कर्तुं न कल्पते। 'विभूसा इत्थिसंसग्ग' इत्यादि वचनात्।

सूरिराह—

कामं विभूसा खलु लोभदोसो,
तहा वि तं पाउणओ न दोसो।
मा हीलणिज्जो इमिणा भविस्सं,
पुव्विड्ढिमाई इय संजई वि, ॥ ३१० ॥

कामम्-अनुमतमतत्। खलुरवधारणे। येषा विभूषा सा लोभदोष एव तथापि तथाभूतं कारणं कृत्वा प्रावृण्वतो न दोषः॥ कस्येत्याह—यः पूर्वं राजादिक ऋद्धिमानासीत् स तादृशीम् ऋद्धिं विहाय प्रव्रजितः सन् चिन्तयति, अमुना मलक्लिन्नवाससा अमुष्य जनस्य इह लोकप्रतिबद्धस्य हीलनीयो भविष्यामि। यथा—नूनं केनापि देवादिना शापतप्तोऽयं यदेवं तादृशीं विभूतिं विहाय साम्प्रतमीदृशीमवस्थां प्राप्तः। आदिशब्दाद्—आचार्यादिरप्येवमेतदशुचिभूतं वस्त्रं प्रावृणोति संयत्यपि ऋद्धिमत् प्रव्रजिता नित्यं पांसुरपटप्रावृता तिष्ठति पर्यटति वा।

शुचिभूतं वस्त्रं प्रावृण्वतस्तस्य कथं रागो भवतीत्याह—

न तस्स वत्थाइसु कोइ भंगो,
रज्जं तणं चेव जढं तु तेणं।
जो सोउ उज्झाइय वत्थजोगो,
तं गारवा सो नवए त्ति मोत्तुं ॥ ३११ ॥

योऽसौ ऋद्धिमान् प्रव्रजितस्तस्य वस्त्रादिषु कोऽपि स्वल्पोऽपि भङ्गो—रागो नास्ति, यतस्तेन महात्मना राज्यं तृणमिव परित्यक्तम्। यः पुनरसौ 'उज्झाइ' विरूपोऽहममुना मलेन विलीने वाससि इत्येवमभिप्रायेण धौतादिगुणोपेतस्य वस्त्रस्य योगत्वमसौ विभूषादि यः संयतो 'गारव' त्ति ऋद्धौ गौरवाच्च मोक्तुं शक्नोति अतस्तत्प्रायश्चित्तमुक्तमिति भावः। गतं विभूषाद्वारम्।

मूर्च्छाद्वारमाह—

महद्धणे अप्पधणे व वत्थे,
मुच्छिज्जती जो अविवित्तभावो।
संतं पि नो भुंजति मा हु झिज्जे,
वारेति वन्नं कसिणा दुगाओ ॥ ३१२ ॥

महाधने—महामूल्ये अल्पधने वा—अल्पमूल्ये वस्त्रे पात्रे विविक्तभावे विवेकविकलाशयः मूर्छति—मूर्च्छां करोति। कथमेतज्ज्ञायते इत्याह—स्वयमपि तत्प्रधानं वस्त्रं न परिभुङ्क्ते मा क्षीयतां न परिभुज्यमानं सत् परिजीर्यतामिति कृत्वा अन्यं परिभुञ्जानं च वारयति। तस्य प्रायश्चित्तं कृत्स्नाः सम्पूर्णा 'दुगादो' त्ति चत्वारो मासाः। चतुर्गुरुकमित्यर्थः।

अथ किमर्थं वस्त्रेषु मूर्च्छां करोतीत्याह—

देसिल्लगं वन्नजुयं मणुन्नं,
चिरंतणं दोइ सिणेहओ वा।
लब्धं च अन्नं पि इमप्पभावा,
मुच्छिज्जई एय भिसं कुसत्तो ॥३१३॥

देशङ्गगं-देशविशेषोद्भवं वर्णयुतं वर्णोपेतं स्वदेशीयं परदेशी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यं वा श्लक्ष्णं स्थूलं वा यन्मनसो रुच्यते तन्मनोज्ञं चिरन्तनं नाम यदाचार्यपरंपरागतम् 'दोइ' ति निपातो विकल्पार्थो येन वा तत्प्रदत्तं तस्योपरि महान् स्नेहो, यद्वा—अमुना वस्त्रेण तिष्ठता अहमन्यदपि वस्त्रमेतत्प्रभावादेव लप्स्ये एवमेतैः कारणैः भृशमत्यर्थं कुसत्त्वस्तुच्छवृत्तिवलो मूर्छेति मूर्च्छा तस्य न विवक्षितं वस्त्रं परिभुङ्क्ते । उक्तो वस्त्रविषयो विधिः । बृ० ३ उ० ।

जे भिक्खू वत्थस्स परं तिरहं पडियाणियाणं देयइ देयाणं देयंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

जे भिक्खू वत्थेणं परं तिरहं देंति देंतस्स मासगुरुं पच्छित्तं, दिट्ठा एगा पडियाणिया या कारणे पसंगा बहुई उदाहिति तेणिमं सुत्तं भणति ।

पडियाणियाणि तिरहं, परेण वत्थम्मि देंति जे भिक्खू ।
पंचरहं अपतरे, सो पावति आणमादीणि ॥ २७२ ॥

कारणे—जाव तिरिण ताव देया, तिरहं परतो चउत्था ण देया । जंगियादि पञ्च किरहवणाति वा पंच देंतस्स आणादयो दोसा, कारणतो पुण तिरहं परतो वि दिज्जा ।

किं कारणं उच्यते—" संतासंतसतीए, दुब्बलहीणे अलब्भमाणे वा ॥ २७३ ॥" "असि० ॥ २७४ ॥" 'सच्छक्षे० ॥२७५॥' एताउ गाहाउ "संतासं१८० एह० ॥२७६॥" गाहा–

जे भिक्खू अविहीए वत्थं सिव्वई सिव्वंतं वा साइज्जइ ।५०।

दिट्ठा पडियाणिया सा असिव्विया ण भवति एवं सिव्वणं दिट्ठं, तं पुण काए विहीए, एतेणाभिसंबंधेणिमं सुत्तं-जे भिक्खू अविहीए, वत्थं सिव्वति तस्स मासगुरुं पच्छित्तं ।

पंचविधम्मि वि वत्थे, दुविधा खलु सिव्वणा तु णातव्वा।
अविधीए सिव्वणया,अविधी पुण तत्थिमा होति।।२७७।।

दुविहा सिव्वणा-अविधिसिव्वणा , विधिसिव्वणा य ।

तत्थ अविहिसिव्वणा इमा–

गग्गरगदंडिवज्जित, जालगसराकसादुखील एक्का य ।
गोमुत्तिगा य अविधी, विहिफ्फसकंटायिसरडो य ।।२७८।।

गग्गरगसिव्वणी जहा—संजतीणं, डंडिसिव्वणी जहा गारत्थाणं, जालगसिव्वणी जहा-वरक्खाइसु, एगसरा जहा संजतीणं , पयालणी कसासिव्वणी णिम्मंगे वा दिज्जति , दुक्खीला संधिज्जंते उ तम्रो खीला देंनि, एगखीला एगत्तो देंति, गोमुत्ता संधिज्जंतेइम्रो एक्कसिं वत्थं विंधइ एसा अविधी, विधी फसकंटा सा संधणे भवति एक्कतो वा उक्कुड्डते संभवति विसरिया ।

सरडो भणति—

एगो एगतरीए, अविधिविधीएसु जो उ सीवेज्जा ।
पंचरहं एगतरं, सो पावति आणमाईणि ॥ २७९ ॥
चउरो ता गाहाओ, अत्थ वि कमेण भविचाउ ।
दुब्बल दुल्लह वत्थे, अविधिविधीसिव्वणं कुज्जा ।।२८०।।

सुत्तत्थपालमंथो जं च पडिलेहाए मज्झति संजमविराहणा, कारणे पुण विधीए पुच्छा अविधीए वि सीवेज्जा ।

जे भिक्खू वत्थस्स परं तिरहं फालियगंठियाण करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥

जे भिक्खू वत्थे एगमपि फालिगंथिं देति दंतस्स मासगुरुं पच्छित्तं ।

पचरहं अप्रतरे, वत्थे जो फालियं छियं देज्जा ।
सीवणगंधे मगधी, सो पावति आणमाईणि ॥ २८१ ॥
गहणं तु अधाकडए, तस्सऽसतीए उ अप्पपरिकम्मे ।
तस्स सइ सपरिकम्मे,गहणं तु अफालिए होति ।।२८२।।
तस्स सति फालितम्मि, गहणं जं एगगंठिणा वज्झी ।
तस्स सति दुगतिगं पी,तस्स सती तिरह वि परेणं।।२८३।।

कंठा ।

जे भिक्खू वत्थस्स परं तिरहं फालियगंठियाण करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ५२ ॥

जे भिक्खू वत्थे तिरह परं दें(ति) तस्स मासगुरुं आणादिणो दोसा ।

जे भिक्खू वत्थं अविहीए गंठइ गंठंतं वा साइज्जइ।।५३।।
तिरह परं फालियाणं, वत्थं जो फालियं तु संसिव्वे ।
पचरहं एगयरे, सो पावति आणमादीणि ॥ २८४ ॥

संतासंत० " ताओ चेव गाहाओ सव्वाओ कंठाओ वस्त्रमतज्जातं न गृह्णन्ति ।

जे भिक्खू वत्थं अतिज्जायाएण गाहति गाहंतं वा साइज्जइ ॥ ५४ ॥

तं पुण गहणं दुविधं, तज्जातं चेव तह अतज्जातं ।
तं एक्केकं तज्जा–तंति चतुरो अतज्जातं ॥ २८५ ॥

जंगमादि एक्केके सामरणजातीयं एक्केकं तज्जायं, असामरणं चउरो अतज्जाता वरणतो वा तज्जातमतज्जातं तं ।

जं जारिसयं वत्थं, वत्थं वत्रेण जारिसं होति ।
तारिसतज्जातेणं, गहणेणं तं गहेतव्वं ॥ २८६ ॥

कंठा ।

बितियपदमणप्पज्झे,गेहेज्ज अवि कोऽवि चेव अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, असती सरिसस्स दोरस्स ।।२८७।।

खित्तादिचित्तो अणप्पवसो सेहो वा अवि कोविओ जाणओ वा गीयत्थो, असति सरिसदोरस्स अतज्जाएणं गहेज्जा । नि० चू० १ उ० । (रात्रौ वस्त्रगहणम् ' उवहि ' शब्दे द्वितीयभागे १०७२ पृष्ठे निषिद्धम् ।)

अथातिरिक्तहीनद्वारमाह–

पेहाऽपेहा दोसा, भारो अहिकरणमेव अतिरित्ते ।
एए भवंति दोसा, कज्जविवत्ती य हीणम्मि ॥ ३०५ ॥

अतिरिक्तमुपधिं यदि प्रत्युपेक्षते तदा सूत्रार्थयोर्महान् परिमन्थः । अथ न प्रत्युपेक्षते तत उपधिनिष्पन्नम्, एवं प्रत्युपेक्षणाप्रत्युपेक्षणयोरपि दोषाः,भारश्च महान् मार्गे गच्छतां भवति । अपरिभोग्यस्य चोपधिधारणे मन्थातिरिक्तदोषा भवन्ति । अथ हीनं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथोक्तप्रमाणान् न्यूनमुपकरणं भवति ततः कार्यस्य विपत्ति-र्यत्तेन कल्पादिना कार्यं तन्न सिध्यतीति भावः ।

अथ परिकर्मणि द्वारमाह—

परिकम्मणि चउभंगो,कारणविहि बितिओ कारणे अविही
निक्कारणम्मि य विधी,चउत्थो निक्कारणे अविही ।३०६।

परिकर्मणायां चतुर्भङ्गी, गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् सा च-यम्-कारणे विधिना परिकर्मणमित्येको भङ्गः, कारणे विधिने-ति द्वितीयः, निष्कारणे विधिनेति तृतीयः, निष्कारणेऽवि-धिनेति चतुर्थः ।

कारणेऽणुन्नविहिणा, सुद्धो सेसेसु मासिका तिन्नि ।
तवकालेसु विसिट्ठा, अन्ने गुरुगा य दोहिं पि ॥३०७॥

कारणे विधिना परिकर्मणमनुज्ञातम् , अत एवायं प्रथमो भङ्गः शुद्धः । शेषेषु त्रिषु भङ्गेषु त्रीणि मासिकानि भवन्ति न-वरं तपःकालयोर्विशिष्टानि । तत्र द्वितीयभङ्गे काले गुरुकम् , तृतीये तपोगुरुकम् अन्ते—चतुर्थभङ्गे द्वाभ्यामपि तपःका-लाभ्यां गुरुकम् । अथ च गर्गरसीवनादिकमविधिपरिक-र्मणं मन्तव्यम् , एकसराद्विसराभ्रयकण्टकवेसवेनिका—विधिपरिकर्मणमनुज्ञातम् । वृ० ३ उ० ।

अतिरेकगृहीतं वस्त्रं धरति—

जे भिक्खू अइरेगगहियं वत्थं परं दिवड्ढमासाउ धा-रेइ धारंतं वा साइज्जइ ॥ ५५ ॥

जे भिक्खू अतिरेगगहितं वत्थं परं दिवड्ढमासातो धरेज्जा तस्स आणाइ, (दोसा) मासगुरुं च से पच्छित्तं ।

अवलक्खणेगगहितं, दुगतिगअतिरेगगंठिगहियं वा ।
जो वत्थं परियट्टति, परं दिवड्ढाउ मासाउ ॥ २२८ ॥

कंठा । जो धरेति ।

सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, अण्णं वत्थं विमग्गेज्जा ॥ २८९ ॥

कंठा । अवलक्खणस्स इमे दोसा ।

दुऽवलक्खणे उ उवधी, उवहणती णाणदंसणचरित्ते ।
तम्हा ण धरेतव्वो, कारणं विमग्गणे य इमा ॥२९०॥

कारणे पुण धरेयव्वो, इमाए विहीए । सलक्खणो उवधी मग्गियव्वो ।

अवलक्खणेगगहिते, सुत्तत्थकरेंति मग्गणं कुज्जा ।
दुगतिगबंधे सुत्तं, तिण्हुवरिं दो वि वज्जेज्जा ॥ २९१ ॥

दुगतिगगहिते सुत्तं करेंत अत्थं वज्जेति, चउरो दिसु गहि-तेसु सुत्तत्थे दो वि वज्जित्ता मग्गति ।

इदाणीं अहाकडप्पबहुपरिकम्माणं कालो भण्णति-

चत्तारि अधाकडए, दो मासा होंति अप्पपरिकम्मे ।
तेण परँऽवि मग्गेज्जा, दिवड्ढमासं सपरिकम्मं ॥२९२॥
एवं वि मग्गमाणो, जदि वत्थं तारिसं णऽवि लभेज्जा ।
तं चेव ण कड्ढेज्जा, जाव णऽण्णं लभति वत्थं ॥२९३॥

गाहा पूर्ववत् । नि० चू० १ उ० ।

कृत्स्नवस्त्रं धरति—

जे भिक्खू कसिणाइं वत्थाइं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ ।२२।

जे भिक्खू अभिट्ठाइं वत्थाइं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ ।२३।

सदसं प्रमाणातिरिक्तं कृत्स्नं भवति एष सूत्रार्थः । नि० चू० २ उ० ।

(२८) कृत्स्नवस्त्रनिषेधमाह—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं व-त्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ७ ॥
कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ८ ॥

अस्य (सूत्रद्वयस्य) सम्बन्धमाह—

पडिसिद्धं खलु कसिणं,सम्मं वत्थकसिणं पि नेच्छामो ।
अववादियं तु चम्मं, ण वत्थमिति जोगणाणत्तं ॥२०३॥

प्रतिषिद्धं खल्वनन्तरसूत्रे चर्म कृत्स्नं यथा चैतन्न क-ल्पते तथा वस्त्रकृत्स्नमपि नेच्छामः प्रतिग्रहीतुम् , यद्वा-पूर्वसूत्रे चर्म अपवादिकमुक्तम् इदं तु वस्त्रं नापवादिकं किं-तु सदैव साधुभिः परिभुज्यमानत्वेनौत्सर्गिकम् , अत इदं प्र-तिपक्षतया सूत्रमारभ्यते इति योगसंबन्धस्य नानात्वं प्र-कारान्तरतेत्यर्थः । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (सूत्रद्वयस्य ७-८) व्याख्या-' नो कप्पइ ' त्ति । आर्षत्वादेकवचनम् । नो कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां कृत्स्नानि-सकलरूपाणि व-स्त्राणि धारयितुं वा-परिग्रहे धर्तुं परिभोक्तुम्, अकृत्स्नानि तु कल्पन्ते धर्तुं परिभोक्तुमित्येतत्सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ निर्युक्तिगाथाभाष्यविस्तरः—

कसिणस्स उ वत्थस्स,णिक्खेवो छव्विहो उ कायव्वो ।
नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य भावे य ॥ २०४ ॥

कृत्स्नवस्त्रस्य निक्षेपः षड्विधः कर्तव्यः । तद्यथा—नाम-कृत्स्नं स्थापनाकृत्स्नं द्रव्यकृत्स्नं क्षेत्रकृत्स्नं कालकृत्स्नं भाव-कृत्स्नं चेति । ते च नामस्थापने गतार्थे ।

द्रव्यकृत्स्नमाह—

दुविहं तु दव्वकसिणं, सकलं कसिणं पमाणकसिणं च।
एतेसिं दोण्हं पी, पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥ २०५ ॥

द्विविधं-द्विप्रकारं द्रव्यकृत्स्नम्,तद्यथा-सकलकृत्स्नं प्रमाण-कृत्स्नं चेति । एतयोर्द्वयोरपि प्रत्येकं पृथक् २ प्ररूपणां वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

घणमसिणं णिरुवहयं, जं वत्थं लब्भते सदसियागं ।
एयं तु सकलकसिणं, जहण्णगं मज्झिमुक्कोसं ॥२०६॥

घनं तन्तुभिः सान्द्रं मसृणं-सुकुमारस्पर्शं निरुपहतमञ्ज-नादिदोषरहितम् , एवंविधं यद्वस्त्रं सदशाकं लभ्यते , एतत् सकलकृत्स्नमुच्यते । तच्च जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं वा ज्ञातव्यम् । जघन्यं-मुखपोत्तिकादि, मध्यमं पटलकादि, उ-त्कृष्टं कल्पादि ।

वित्थारायामेणं, जं वत्थं लब्भए समतिरेगं ।
एयं पमाणकसिणं, जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ॥ २०७ ॥

विस्तारश्च-विस्तीर्णत्वम् आयामश्च-दैर्घ्यम् , विस्तारायाम-म् । द्वन्द्वैकवद्भावः, तेन यद्वस्त्रं यथोक्तप्रमाणतासमतिरिक्तं लभ्यते एतत्प्रमाणकृत्स्नं भण्यते । तच्च जघन्यमध्यमोत्कृष्ट-भेदात् त्रिविधं प्राग्वद् द्रष्टव्यम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यं वा ऋक्ष्णं स्थूलं वा यन्मनसो रुच्यते तन्मनोज्ञं चिरन्तनं नाम यदाचार्यपरंपरागतम् 'दोइ'ति निपातो विकल्पार्थो येन वा तत्प्रदत्तं तस्योपरि महान् स्नेहो, यद्वा—अमुना वस्त्रेण तिष्ठता अहमन्यदपि वस्त्रमेतत्प्रभावादेव लप्स्ये एवमेतैः कारणैः भृशमत्यर्थं कुसत्त्वस्तुच्छवृत्तिवलो मूर्छेति मूर्छा तस्य न विवक्षितं वस्त्रं परिभुङ्क्ते। उक्तो वस्त्रविषयो विधिः। बृ० ३ उ०।

जे भिक्खू वत्थस्स परं तिण्हं पडियाणियाणं देयइ देयाणं देयंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

जे भिक्खू वत्थेणं परं तिण्हं देंति देंतस्स मासगुरुं पच्छित्तं, दिट्ठा एगा पडियाणिया या कारणे पसंगा बहुई उदाहिति तेणिमं सुत्तं भणति।

पडियाणियाणि तिण्हं, परेण वत्थम्मि देंति जे भिक्खू।
पंचण्हं अण्णतरे, सो पावति आणमादीणि ॥ २७२ ॥

कारणे—जाव तिण्णि ताव देया, तिण्हं परतो चउत्था ण देया। जंगियादि पञ्च किण्हवण्णाति वा पंच देंतस्स आणादयो दोसा, कारणतो पुण तिण्हं परतो वि दिज्जा।

किं कारणं उच्यते—"संतासंतसतीए, दुब्बलहीणे अलब्भमाणे वा ॥ २७३ ॥" "असि० ॥ २७४ ॥" ' सच्छेण० ॥२७५॥' एताउ गाहाउ "संतासं१८० एह० ॥२७६॥" गाहा–

जे भिक्खू अविहीए वत्थं सिव्वई सिव्वंतं वा साइज्जइ ।५०।

दिट्ठा पडियाणिया सा असिव्विया ण भवति एवं सिव्वणं दिट्ठं, तं पुण काए विहीए, एतेणाभिसंबंधेणिमं सुत्तं-जे भिक्खू अविहीए, वत्थं सिव्वति तस्स मासगुरुं पच्छित्तं।

पंचविधम्मि वि वत्थे, दुविधा खलु सिव्वणा तु णातव्वा।
अविधीए सिव्वणया,अविधी पुण तत्थिमा होति॥२७७॥

दुविहा सिव्वणा-अविधिसिव्वणा, विधिसिव्वणा य।

तत्थ अविहिसिव्वणा इमा–

गग्गरगदंडिवज्जित, जालगसराकसादुखील एक्का य।
गोमुत्तिगा य अविधी, विहिझसकंटायिसरडो य ॥२७८॥

गग्गरगसिव्वणी जहा—संजतीणं, डंडिसिव्वणी जहा गारत्थाणं, जालगसिव्वणी जहा-वरक्खाइसु, एगसरा जहा संजतीणं, पयालणी कसासिव्वणी णिब्भंगे वा दिज्जति, दुक्खीला संधिज्जंते उ तओ खीला देनि, एगखीला एगत्तो देंति, गोमुत्ता संधिज्जंतेइओ एक्कसिं वत्थं विंधइ एसा अविधी, विधी झसकंटा सा संधणं भवति एकतो वा उक्कुइते संभवति विसरिया।

सरडो भणति—

एगो एगतरीए, अविधिविधीएसु जो उ सीवेज्जा।
पंचण्हं एगतरं, सो पावति आणमाईणि ॥ २७६ ॥
चउरो ता गाहाओ, अत्थ वि कमेण भविन्नाउ।
दुब्बल दुल्लह वत्थे, अविधिविधीसिव्वणं कुज्जा ॥२८०॥

सुत्तत्थपालमंथो जं च पडिलेहाण मज्झति संजमविराहणा, कारणे पुण विधीए पुच्छा अविधीए वि सीवेज्जा।

जे भिक्खू वत्थस्स परं तिण्हं फालियगंठियाण करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥

जे भिक्खू वत्थे एगमवि फालिगंथिं देति देंतस्स मासगुरुं पच्छित्तं।

पचण्हं अण्णतरे, वत्थे जो फालियं छियं देज्जा।
सीवणगंधे मगधी, सो पावति आणमाईणि ॥ २८१ ॥
गहणं तु अधाकडए, तस्सऽसतीए उ अप्पपरिकम्मे।
तस्स सइ सपरिकम्मे,गहणं तु अफालिए होति ॥२८२॥
तस्स सति फालितम्मि, गहणं जं एगगंठिणा वज्झी।
तस्स सति दुगतिगं पी,तस्स सती तिण्ह वि परेणं॥२८३॥

कंठा।

जे भिक्खू वत्थस्स परं तिण्हं फालियगंठियाण करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ५२ ॥

जे भिक्खू वत्थे तिण्ह परं दें(ति) तस्स मासगुरुं आणादिणो दोसा।

जे भिक्खू वत्थं अविहीए गंठइ गंठंतं वा साइज्जइ॥५३॥

तिण्ह परं फालियाणं, वत्थं जो फालियं तु संसिव्वे।
पचण्हं एगयरे, सो पावति आणमादीणि ॥ २८४ ॥

संतासंत०" ताओ चेव गाहाओ सव्वाओ कंठाओ वस्त्रमतज्जातं न गृह्णन्ति।

जे भिक्खू वत्थं अतिज्जायाएण गाहति गाहंतं वा साइज्जइ ॥ ५४ ॥

तं पुण गहणं दुविधं, तज्जातं चेव तह अतज्जातं।
तं एक्केक्कं तज्जा-तंति चतुरो अतज्जातं ॥ २८५ ॥

जंगमादि एक्केके सामण्णजातीयं एक्केक्कं तज्जायं, असामण्णं चउरो अतज्जाता वण्णतो वा तज्जातमतज्जातं तं।

जं जारिसयं वत्थं, वत्थं वण्णेण जारिसं होति।
तारिसतज्जातेणं, गहणेणं तं गेहतव्वं ॥ २८६ ॥

कंठा।

बितियपदमणप्पज्झे,गेहेज्ज अवि कोऽवि चेव अप्पज्झे।
जाणंते वा वि पुणो, असती सरिसस्स दोरस्स ॥२८७॥

खित्तादिचित्तो अणप्पवसो सेहो वा अवि कोविओ जाणओ वा गीयत्थो, असति सरिसदोरस्स अतज्जाएणं गहेज्जा। नि० चू० १ उ०। (रात्रौ वस्त्रगहणम् ' उवहि ' शब्दे द्वितीयभागे १०७२ पृष्ठे निषिद्धम्।)

अथातिरिक्तहीनद्वारमाह–

पेहाऽपेहा दोसा, भारो अहिकरणमेव अतिरित्ते।
एए भवंति दोसा, कज्जविवत्ती य हीणम्मि ॥ ३०५ ॥

अतिरिक्तमुपधिं यदि प्रत्युपेक्षते तदा सूत्रार्थयोर्महान् परिमन्थः। अथ न प्रत्युपेक्षते तत उपधिनिष्पन्नम्, एवं प्रेक्षाप्रेक्षयोरपि दोषाः,भारश्च महान् मार्गे गच्छतां भवति। अपरिभोग्यस्य चोपधिधारणे मन्थातिरिक्तदोषा भवन्ति। अथ हीनं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथोक्तप्रमाणान् न्यूनमुपकरणं भवति ततः कार्यस्य विपत्तिर्येन कल्पादिना कार्यं तन्न सिध्यतीति भावः ।

अथ परिकर्मणि द्वारमाह—

परिकम्मणि चउभंगो,कारणविहि बितिओ कारणे अविही
निक्कारणम्मि य विधी,चउत्थो निक्कारणे अविही ।३०६।

परिकर्मणायां चतुर्भङ्गी, गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् सा चेयम्-कारणे विधिना परिकर्मणमित्येको भङ्गः, कारणे विधिनेति द्वितीयः, निष्कारणे विधिनेति तृतीयः, निष्कारणेऽविधिनेति चतुर्थः ।

कारणेऽणुन्नविहिणा, सुद्धो सेसेसु मासिका तिन्नि ।
तवकालेसु विसिट्ठा, अन्ने गुरुगा य दोहिं पि ।।३०७।।

कारणे विधिना परिकर्मणमनुज्ञातम् , अत एवायं प्रथमो भङ्गः शुद्धः । शेषेषु त्रिषु भङ्गेषु त्रीणि मासिकानि भवन्ति नवरं तपःकालयोर्विशिष्टानि । तत्र द्वितीयभङ्गे काले गुरुकम् , तृतीये तपोगुरुकम् अन्ते—चतुर्थभङ्गे द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां गुरुकम् । अथ च गर्गरसीवनादिकमविधिपरिकर्मणं मन्तव्यम् , एकसराद्विसराभ्रूपकएटकवेसवेनिका—विधिपरिकर्मणमनुज्ञातम् । बृ० ३ उ० ।

अतिरेकगृहीतं वस्त्रं धरति—

जे भिक्खू अइरेगगहियं वत्थं परं दिवड्ढमासाउ धारेइ धारंतं वा साइज्जइ ।। ५५ ।।

जे भिक्खू अतिरेगगहितं वत्थं परं दिवड्ढमासातो धरेज्जा तस्स आणाइ, (दोसा) मासगुरुं च से पच्छित्तं ।

अवलक्खणेगगहितं, दुगतिगअतिरेगगंठिगहियं वा ।
जो वत्थं परियट्टति, परं दिवड्ढाउ मासाउ ।। २२८ ।।

कंठा । जो धरेति ।

सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, अण्णं वत्थं विमग्गेज्जा ।। २८९ ।।

कंठा । अवलक्खणस्स इमे दोसा ।

दुऽवलक्खणे उ उवधी, उवहणती णाणदंसणचरित्ते ।
तम्हा ण धरेंतव्वो, कारणं विमग्गणे य इमा ।।२९०।।

कारणे पुण धरेयव्वो, इमाए विहीए । सलक्खणो उवधी मग्गियव्वो ।

अवलक्खणेगगहिते, सुत्तत्थकरेंति मग्गणं कुज्जा ।
दुगतिगवंधे सुत्तं, तिण्हुवरिं दो वि वज्जेज्जा ।। २९१ ।।

दुगतिगगहिते सुत्तं करेंति अत्थं वज्जेति, चउरो दिसु गहितेसु सुत्तत्थे दो वि वज्जित्ता मग्गति ।

इदाणीं अहाकडप्पवहुपरिकम्माणं कालो भण्णति—

चत्तारि अधाकडए, दो मासा होंति अप्पपरिकम्मे ।
तेण परँऽवि मग्गेज्जा, दिवड्ढमासं सपरिकम्मं ।।२९२।।
एवं वि मग्गमाणो, जदि वत्थं तारिसं णऽवि लभेज्जा ।
तं चेव ण कड्ढेज्जा, जाव णऽण्णं लभति वत्थं ।।२९३।।

गाहा पूर्ववत् । नि० चू० १ उ० ।

कृत्स्नवस्त्रं धरति—

जे भिक्खू कसिणाइं वत्थाइं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ ।२२।

जे भिक्खू अभिट्ठाइं वत्थाइं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ ।२३।

सदसं प्रमाणातिरिक्तं कृत्स्नं भवति एव सूत्रार्थः । नि० चू० २ उ० ।

(२८) कृत्स्नवस्त्रनिषेधमाह—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।। ७ ।।
कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।। ८ ।।

अस्य (सूत्रद्वयस्य) सम्बन्धमाह—

पडिसिद्धं खलु कसिणं,सम्मं वत्थकसिणं पि नेच्छामो ।
अववादियं तु चम्मं, ण वत्थमिति जोगणाणत्तं।।२०३।।

प्रतिषिद्धं खल्वनन्तरसूत्रे चर्म्म कृत्स्नं यथा चैतन्न कल्पते तथा वस्त्रकृत्स्नमपि नेच्छामः प्रतिग्रहीतुम् , यद्वा—पूर्वसूत्रे चर्म अपवादिकमुक्तम् इदं तु वस्त्रं नापवादिकं किंतु सदैव साधुभिः परिभुज्यमानत्वेनौत्सर्गिकम् , अत इदं प्रतिपक्षतया सूत्रमारभ्यते इति योगसंबन्धस्य नानात्वं प्रकारान्तरतेत्यर्थः । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (सूत्रद्वयस्य ७-८) व्याख्या-' नो कप्पइ ' त्ति । आर्षत्वादेकवचनम् । नो कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां कृत्स्नानि-सकलरूपाणि वस्त्राणि धारयितुं वा-परिग्रहे धर्त्तुं परिभोक्तुम्, अकृत्स्नानि तु कल्पन्ते धर्त्तुं परिभोक्तुमित्येतत्सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ निर्युक्तिगाथाभाष्यविस्तरः—

कसिणस्स उ वत्थस्स,णिक्खेवो छव्विहो उ कायव्वो ।
नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य भावे य ।। २०४ ।।

कृत्स्नवस्त्रस्य निक्षेपः षड्विधः कर्त्तव्यः । तद्यथा—नामकृत्स्नं स्थापनाकृत्स्नं द्रव्यकृत्स्नं क्षेत्रकृत्स्नं कालकृत्स्नं भावकृत्स्नं चेति । ते च नामस्थापने गतार्थे ।

द्रव्यकृत्स्नमाह—

दुविहं तु दव्वकसिणं, सकलं कसिणं पमाणकसिणं च।
एतेसिं दोण्हं पी, पत्तेयपरूवणं वोच्छं ।। २०५ ।।

द्विविधं-द्विप्रकारं द्रव्यकृत्स्नम्, तद्यथा-सकलकृत्स्नं प्रमाणकृत्स्नं चेति । एतयोर्द्वयोरपि प्रत्येकं पृथक् २ प्ररूपणां वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

घणमसिणं णिरुवहयं, जं वत्थं लब्भते सदसियागं ।
एयं तु सकलकसिणं, जहण्णगं मज्झिमुक्कोसं ।।२०६।।

घनं तन्तुभिः सान्द्रं मसृणं-सुकुमारस्पर्शं निरुपहतमञ्जनादिदोषरहितम् , एवंविधं यद्वस्त्रं सदशाकं लभ्यते , एतत् सकलकृत्स्नमुच्यते । तच्च जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं वा ज्ञातव्यम् । जघन्यं-मुखपोत्तिकादि, मध्यमं पटलकादि, उत्कृष्टं कल्पादि ।

वित्थारायामेणं, जं वत्थं लब्भए समतिरेगं ।
एयं पमाणकसिणं, जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ।। २०७ ।।

विस्तारश्च-विस्तीर्णत्वम् आयामश्च-दैर्घ्यम् , विस्तारायामम् । द्वन्द्वैकवद्भावः, तेन यद्वस्त्रं यथोक्तप्रमाणतासमतिरिक्तं लभ्यते एतत्प्रमाणकृत्स्नं भण्यते । तच्च जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् त्रिविधं प्राग्वद् द्रष्टव्यम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेत्रकृत्स्नमाह—

जं वत्थं जम्मि देस-म्मि दुल्लहं अचियं व जं जत्थ ।

तं खित्तजुयं कसिणं, जहमयं मज्झिमुक्कोसं ॥ २०८ ॥

यद्वस्त्रं यस्मिन् देशे दुर्लभं यत्र यदर्चितम् सुमहार्घं यथा पूर्वदेशजं वस्त्रं लाटविषयं प्राप्य महार्घ्यं तत्-क्षेत्रयुतं कृत्स्नमुच्यते क्षेत्रकृत्स्नमित्यर्थः । तदपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात्त्रिविधम् ।

कालकृत्स्नमाह—

जं वत्थं जम्मि काल-म्मि अग्गितं दुल्लभं व जं जत्थ ।

तं कालजुतं कसिणं, जहमयं मज्झिमुक्कोसं ॥ २०९ ॥

यद्वस्त्रं यस्मिन् काले अर्चितं बहुमूल्यं यच्च यत्र दुर्लभम्, यथा—ग्रीष्मे काषायिकादि शिशिरे प्रावारादिवर्षासु कुङ्कुमखचितादि तदेतत्कालकृत्स्नम्, एतदपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात्त्रिविधम् ।

भावकृत्स्नमाह—

दुविहं च भावकसिणं, वन्नजुतं चेव होति मोल्लजुयं ।

वन्नजुयं पञ्चविहं, तिविहं पुण होइ मुल्लजुतं ॥ २१० ॥

द्विविधं च भावकृत्स्नं तद्यथा-वर्णयुतं, मूल्ययुतं च । वर्णतो मूल्यतश्चेत्यर्थः । तत्र वर्णयुतं पञ्चविधम् कृत्स्नादिवर्णभेदात् । पञ्चधा-पञ्चप्रकारम्, मूल्ययुतं पुनस्त्रिविधं जघन्यादिभेदात्त्रिप्रकारम् ।

इदमेव स्पष्टयति—

पञ्चण्हं वन्नाणं, अन्नतराएण जं तु वन्नड्ढं ।

तं वन्नजुयं कसिणं, जहन्नयं मज्झिमुक्कोसं ॥ २११ ॥

पञ्चानां कृत्स्नादीनां वर्णानामन्यतरेण वर्णेन यदाढ्यं-समृद्धं तद्वर्णयुतं कृत्स्नमुच्यते । इदमपि जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं चेति । मूल्ययुतं सभेदमप्युपरि वक्ष्यते ।

अथानन्तरोक्तकृत्स्नेषु प्रायश्चित्तमाह—

चाउम्मासुक्कोसे, मासो मज्झे य पञ्च य जहन्ने ।

तिविहम्मि वि वत्थम्मि, तिविधा आरोवणा भणिया २१२

उत्कृष्टे कल्पादौ कृत्स्ने चतुर्लघवः, मध्यमे पटलकादौ लघुमासः । जघन्ये मुखवस्त्रिकादौ पञ्चरात्रिन्दिवानि । एवं त्रिविधेऽपि कृत्स्ने वस्त्रे यथाक्रमं त्रिविधा आरोपणा भणिता ।

दव्वाइतिविहकसिणे, एसा आरोवणा भवे तिविहा ।

एसेव वन्नकसिणे, चउरो लहुगा च तिविधे वि ॥२१३॥

एषा च त्रिविधाऽप्यारोपणा द्रव्यादौ त्रिविधकृत्स्ने कालकृत्स्ने चेत्यर्थः । एषैव च वर्णकृत्स्नेऽपि मन्तव्या । अथवा वर्णकृत्स्ने जघन्यादिभेदात्त्रिविधेऽपि चतुर्लघुकमेव, नवरं तपःकालविशेषोऽत्र क्रियते, उत्कृष्टे यच्चतुर्लघु तत्तपसा कालेन च गुरुकम्, मध्यमे तदेव तपोगुरुकम्, जघन्ये कालगुरुकम् । यद्वा-उत्कृष्टे द्वाभ्यां गुरुकम्, मध्यमे अन्यतरगुरुकम् ।

अथ मूल्ययुतं व्याख्यानयति—

मुल्ले जुयं पि तिविहं, जहन्नगं मज्झिमं च उक्कोसं ।

जहन्नेणऽट्ठारसगं, सतसहस्सं च उक्कोसं ॥ २१४ ॥

मूल्ययुतमपि कृत्स्नं त्रिविधं जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं च । यस्य रूपकाणामष्टादशकमूल्यं तत् जघन्यम्, शतसहस्त्ररूपकमूल्यमुत्कृष्टम्, शेषमष्टादशकादूर्ध्वं शतसहस्त्रादर्वाक् मूल्यलभ्यं सर्वमपि मध्यमम् ।

अथ किं नाम तद्रूपकभेदप्रमाणं निरूप्यत इत्याह—

दो साभरगादादि-व्वगा तु सो उत्तरापथे एक्को ।

दो उत्तरापहा उण, पाडलिपुत्ते हवति एक्को ॥ २१५ ॥

द्वीपं नाम सुराष्ट्राया दक्षिणस्यां दिशि समुद्रमवगाह्य यद् वर्तते तदीयौ द्वौ साभरकौ स उत्तरापथे एको रूपको भवति, द्वावुत्तरापथरूपकौ पाटलिपुत्रक एको रूपको भवति

अथवा—

दो दक्खिणावहाओ, कंचीए णेलओ सदुगुणो य ।

एगो कुसुमणगरगो, तेण पमाणं इमं होति ॥ २१६ ॥

दक्षिणापथे द्वौ रूपकौ काञ्चीपुर्यान्ध्रविषयप्रतिबद्धयोः एको नेलको रूपको द्विगुणितः सन् कुसुमनगरसत्करूपको भवति । कुसुमनगरं पाटलिपुत्रमभिधीयते तेन च रूपकेण इदमनन्तरोक्तमष्टादशकादिप्रमाणं प्रतिपत्तव्यं भवति ।

अथ मूलवृद्ध्या प्रायश्चित्तवृद्धिमुपदर्शयति—

अट्ठारसवीसाया, अगुणा पन्नासं पंच य सयाइं च ।

एगूणगं सहस्सं, दस पन्नासं सतसहस्सं ॥ २१७ ॥

चत्तारि छच्चलहुगुरु, छेदो मूलं च होइ बोधव्वं ।

अणवट्ठप्पो य तहा, पावति पारंचियं ठाणं ॥ २१८ ॥

अष्टादशरूपकमूल्यं वस्त्रं गृह्णाति चत्वारो लघवः । विंशतिरूपमूल्ये चत्वारो गुरवः, एकोनपञ्चाशन्मूल्ये षड्लघवः, पञ्चशतमूल्ये षड्गुरवः, एकोनसहस्त्रमूल्ये अनवस्थाप्यम्, शतसहस्त्रमूल्ये पाराञ्चिकं स्थानं प्राप्नोति ।

प्रकारान्तरेणात्रैव प्रायश्चित्तमाह—

अट्ठारस वीसाया, सड्ढसड्ढाइज्जपंचयसयाइं ।

सहस्सं दससहस्सा, पन्नासतधा सतसहस्सं ॥ २१९ ॥

लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।

छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ २२० ॥

अष्टादशरूपकमूल्ये वस्त्रे गृह्यमाणे लघुमासः, विंशतिमूल्ये चतुर्लघवः, शतमूल्ये चतुर्लघवः, अर्द्धतृतीयशतमूल्ये षड्लघवः, पञ्चशतमूल्ये षड्गुरवः, सहस्त्रमूल्ये छेदः, दससहस्त्रमूल्ये मूलम्, पञ्चशतसहस्त्रमूल्ये च अनवस्थाप्यम्, शतसहस्त्रमूल्ये पाराञ्चिकम् ।

अथवा—

अट्ठारस वीसाया, पन्नासतधा य सयसहस्सं च ।

पएणा पञ्चसहस्सा, तत्तो य भवे सयसहस्सा ॥२२१॥

चउगुरुगा छल्लहुगुरु, छेदो मूलं च होति बोधव्वं ।

अणवट्ठप्पा य तहा, पावति पारंचियं ठाणं ॥२२२॥

अष्टादशरूपकमूल्ये चतुर्गुरवः, विंशतिमूल्ये षड्गुरुकः, शतमूल्ये छेदः, सहस्त्रमूल्ये मूलम्, पञ्चाशत्सहस्त्रमूल्ये अनवस्थाप्यम्, शतसहस्त्रमूल्ये पाराञ्चिकम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकारान्तरेण भावकृत्स्नमुपदर्शयति—

अहवा रागसहगतो, वत्थं धारेति दोससहितो वा ।
एवं तु भावकसिणं, तिविहं परिणामणिप्फरणं ॥२२३॥

अथवा—अहो रमणीयं वस्त्रमित्येवं रागसहगतो, यद्वा-अहो मे मलिनं—कुथितं वस्त्रमित्येवं द्वेषसहितो यद्वस्त्रं धारयति । तदेतद्भावकृत्स्नं मन्तव्यम् । इदं च परिणामनिष्पन्नं त्रिविधम्, तद्यथा—जघन्येन रागद्वेषपरिणामेन जघन्यम्, मध्यमेन मध्यममुत्कृष्टेनोत्कृष्टम् ।

अथ द्रव्यादिकृत्स्नेषु दोषानाह—

भारो भय परियावण,मारण अहिगरण दव्वकसिणम्मि।
पडिलेहणाएँ लोवो, मणसंतावो उवायाणं ॥ २२४ ॥

प्रमाणातिरिक्तं वस्त्रं वहत आत्मन एव भारो भवति, अध्वप्रपन्नानां सकलकृत्स्नादौ स्तेनेभ्यो भयं भवेत्, ते च साधूनां बन्धनादिरूपं परितापनं मारणं वा कृत्वा तादृशं वस्त्रमपहरेयुः । अविरतकैश्च गृहीते अधिकरणं भवेत् । एते द्रव्यकृत्स्ने गृह्यमाणे दोषास्तथा क्षेत्रकालकृत्स्नोपधिं मा सागारिकोऽद्राक्षीदिति कृत्वा यदि न प्रत्युपेक्षन्ते तत उपधिनिष्पन्नं तीर्थकृतां चाज्ञाया लोपः कृतो भवति । अथ प्रत्युपेक्षन्ते ततस्ते तादृशं वस्त्रं दृष्ट्वा हरेयुः । पन्थानं वा वद्ध्वा तिष्ठेयुः । हृते च महान्मनःसंतापो भवति । यद्वा-तत् कृत्स्नवस्त्रं शैक्षस्योत्प्रव्रजितुकामस्योपादानं भवति तदपहृत्योत्प्रव्रजेदित्यर्थः ।

गहणं च गोमिएहिं,परितावणधोवकम्मबंधो य ।
अन्ने वि तत्थ रुंभइ, तेण कते वा अहव अन्ने ॥२२५॥

कृत्स्नवस्त्रनिमित्तं गौल्मिकैः शुल्कपालैर्ग्रहणं प्राप्नुवन्ति कुतोऽमीषामीदृशानि वस्त्राणि, नूनं कस्यापि गृहादपहृतानीति कृत्वा ते च गृहीत्वा बन्धनादिभिः परितापनां कुर्वन्ति । ततस्तानि वस्त्राण्यपहृत्य प्रावृण्वन्ति । मलिनीभूतानि च तानि धावन्ति । तत्र कर्मबन्धसद्भावो यावत्तस्मात् स्थानान् न प्रतिक्रामति । यद्वा—' परितावणधोवकम्मबंधो य ' त्ति प्रमाणातिरिक्तवस्त्राणि धावनकाले महता प्रयासेन धाव्यन्ते तत्र परितापनादयो दोषाः प्राभृतेन च पानकेन च वस्त्रधावनेऽनुपदेशः कोऽपि तया कर्मबन्धो भवति । तथा गौल्मिका अन्यान् वा साधून् निरुन्धन्ति, सर्वेषामपि ईदृशानि वस्त्राणि सन्तीति कृत्वा त एव गौल्मिका अपरमार्गेण गत्वा स्तेनका भवन्ति । अथवा तैः प्रेरिताः सन्तोऽन्ये अपहरन्ति ।

भावकसिणम्मि दोसा, ते चेव नवरि तेणदिट्ठंतो ।
देसीगिलाण जावो-ग्गहो उ दव्वम्मि वितियपयं ।२२६।

भावकृत्स्नेऽपि वर्णयुतमूल्यलक्षणे त एव भारभयपरितापनादयो दोषाः, नवरं केवलमत्र स्तेनदृष्टान्तो भवति, स चानन्तरमेव वक्ष्यते । कारणे तु प्राप्ते कृत्स्नमपि गृह्णीयात् । कथमित्याह ' देसी '—इत्यादि । देशविशेषं ग्लानं वा प्रतीत्य सकलकृत्स्नं प्रमाणकृत्स्नं वा गृह्णीयात् । आचार्या वा कुलादिकार्येषु निर्गतास्ततो ' जावोग्गहो ' त्ति यावत्तेषां समीपे वस्त्रस्यावग्रहो नानुज्ञापितः तावत्तस्य दशिका न छिद्यन्ते । इत्येवमत्र द्रव्यकृत्स्ने द्वितीयपदं मन्तव्यमिति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुः स्तेनदृष्टान्तमाह-

उवसामिओ नरिंदो, कंबलरयणेहिं छंदए गच्छं ।
णिव्वंधे एगगहणं, णिववयणे पाउतो णेति ॥२२७॥
णीलोगो य णिसिज्जा, रत्तिं तेणागमो गुरुग्गहणं ।
दंसणमपत्ति पत्ति, सिव्वावणवायरो से णं ॥ २२८ ॥

“ एगेणं आयरिएणं धम्मकहालद्धिसंपन्नेणं राया उवसामिओ । सो सव्वं गच्छं कंबलरयणेहिं पडिलाभिउं, उवट्ठिओ । आयरिएहिं निसिद्धो , न वट्टइ एयारिसं मुल्लकसिणं गिरिहउं ति । तहा वि अतिनिब्बंधेण एगं गहियं । राया भणइ—पाउया हट्टमग्गेणं गच्छ तहा कयं । तेणगेण दिट्ठा । तेहिं वसहिं आगंतु सेज्जाओ कयाओ । सो तेणओ रत्तिं आगंतु आयरियाणं उवरिं छुरियं कड्ढिऊण भणइ-देहि मे तं वत्थं अन्नहा मारिस्सामि । ते भणन्ति-इमाणि खण्डाणि अत्थि, सो भणइ-सीवित्ता मे देह अन्नहा ओवद्दविस्सामि । तेहिं सीवित्ता दिन्नं । ” अथ गाथाद्वयस्याक्षरार्थः—केनचिदाचार्येणोपशामितो नरेन्द्रः । कम्बलरत्नैर्गच्छं छन्दयति-निमन्त्रयते । तत आचार्यो महति निर्बन्धे एकस्य कम्बलवस्त्रस्य ग्रहणं कृत्वा नृपवचनात्तेन प्रावृत्तो निर्गच्छति । ततस्तेन 'नीलोको'-अवलोकनं कृत्वा आचार्यैश्च वसतिमागम्य कम्बलरत्नेन निषद्या कृता । रात्रौ स्तेनस्यागमः । गुरोश्च तेन छुरिकामाकृष्य ग्रहणं कृत्वा भणितम्-प्रयच्छत मम तत्कम्बलरत्नम्, सूरिभिरुक्तम्-खण्डितं तदस्माभिः । स प्राह-दर्शय । ततस्तत्राप्रत्ययविप्रत्ययमकुर्वाणे खण्डानां दर्शनम् । रोषाच्च तेन भूयः सीवनं कारयित्वा कम्बलरत्नं गृहीतम्, यत एवमादयः कृत्स्ने दोषाः अतो द्रव्यतः स्थूलमदशाकं यथोक्तप्रमाणोपेतम्, क्षेत्रतः कालतश्च सर्वजनभोग्यं भावतो वर्णहीनमल्पमूल्यं च वस्त्रं ग्रहीतव्यम् ।

अथ द्वितीयपदं विभावयिषुः संग्रहगाथोक्तं देशीपदं व्याख्यानयति—

परे न दोच्चा गरिहा बलो य, थूणाइएसुं विहरिज्ज एवं ।
भोगातिरित्तारभडा विभूसा,कप्पिज्जमिज्जेव दसा उ तत्थ २२९

' परेदोच्च ' त्ति चौरभयं तद्यत्र नास्ति यत्र च तथाविधे वस्त्रे प्राव्रियमाणे लोके गर्हा नोपजायते । तत्र स्थूणादिविषयेष्वेवं कृत्स्नमपि वस्त्रं प्रावृत्य विहरेत् । परं तस्य दशाः छेत्तव्याः-न इत्याह—' भोग ' त्ति तासां दशानां सुषिरतया परिभोगः कर्तुं न कल्पते । अतिरिक्तश्चोपधिर्भवति प्रत्युपेक्षमाणे च दशिकाभिरारभटा दोषा विभूषा च सदशाके वस्त्रे प्राव्रियमाणे भवति इत्येवमेभिः कारणैस्तत्र वस्त्रे दशाः कल्पयेत्-छिन्द्यात् ।

कारणतो न छिन्द्यादपीति दर्शयति—

पासंगतेसु बद्धेसुं, दढं होहि ति तेण तु ।
णातिदिग्घदसं वा वि, ण तं छिंदिज्ज देसओ ॥२३०॥

किंचिद्वस्त्रं प्रथमत एव दुर्बलं ततः पार्श्वान्तेषु दशिकाभिर्बद्धेषु दृढं चिरकालवहनकृतं भविष्यतीति कृत्वा तेन कारणेन दशिकास्तस्य न कल्पयेत । यद्वा—देशतः सिन्धा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिदेशमाश्रित्य यत्र तद्दीर्घदशाकं वस्त्रं तत्र छिन्द्यात् । तस्य दशिका न कर्तयितव्या इति भावः ।

अथ ग्लानद्वारं व्याचष्टे—

असंफुरगिलाणऽट्ठा, तेण माणाधियं सिया ।
सदसं वेज्जकज्जे वा, विसकुंभट्ठयानि वा ॥२३०॥

असंस्फुरो नाम—ग्लानो यः क्षीणबलतया संकुचितपादः स्वप्तुं न शक्नोति,तस्य प्रमाणयुतं वस्त्रं प्रावियमाणं कसति, एतदर्थं मानाधिकमपि—प्रमाणातिरिक्तमपि वस्त्रं स्यात् । यद्वा-ग्लानचिकित्सको यो वैद्यस्तत्कार्ये-तस्य दानार्थम् । अथवा—दीर्घजातीयेन कश्चिद्दष्टो भवति , ततस्तस्य विद्याकार्ये विद्यायां प्रयुज्यमानायाम् अपमार्जनाय सदशवस्त्रमुपजायते । विषकुम्भः—स्फाटिकाविशेषस्तस्यापमार्जनाय सदशवस्त्रं ग्रहीतव्यम् ।

अथ यावदवग्रहद्वारमाह—

अविभत्ता ण छिज्जंति, लाभो छिज्जिज्ज मा खलु ।
पारदोच्चाववादस्स, पडिपक्खो व होज्ज उ ॥२३१॥

आचार्याः कुलादिकार्येषु निर्गतास्ततो यावदद्यापि तैः प्रतिनिवृत्य वस्त्राणि न विभक्तानि तावत्तानि प्रमाणातिरिक्तान्यपि न छिद्यन्ते,मा खलु लाभः छिद्येत-मा भूयो वस्त्रलाभव्यवच्छेदो भवेदिति भावः । तथा न ' पारदुच्चा ' इत्यादिना स्थूणादौ विषये यत्कृत्स्नवस्त्राणां प्रावरणमनुज्ञातमेष ' पारदोच्चापवादो ' भण्यते । यत्तु तेषां कृत्स्नवस्त्राणां दशाः परिभोगातिरिक्तादिदोषपरिहारार्थं छेत्तव्या इत्युक्तम् एष तस्य—पारदोच्चापवादस्य प्रतिपक्ष उच्यते । स चात्र यावदवग्रहद्वारे भवेत् । अविभक्तानामपि तेषां वस्त्राणां दशिका छेत्तव्या इति भावः ।

अथवा यत्र—

अववादाववादो वा, एत्थ जुज्जइ कारणे ।
सच्छाणं वा समब्भेति, अच्छिज्जं जं उदाहरं ॥२३२॥

अपवादापवादो वा अत्र कारणे युज्यते । किमुक्तं भवति— स्थूणाविषयादिप्रतीत्य यत्कृत्स्नं वस्त्रं न कल्पते , एवं तावदपवादः । यत्तु तत्र दशिका छेत्तव्या इत्युक्तम् , एष भूयोऽपि तत्रापवादे उत्सर्गो मन्तव्यः । अयमप्यापाद्यते यदा तत्पार्श्वान्तेषु दशिकाभिर्बद्धेषु दृढं भविष्यतीति मत्वा, सिन्धुविषये वा नातिदीर्घदशाकस्य वस्त्रस्य यद्दशा अपि न छिद्यन्ते, एतेनापवादेन य उत्सर्गः सोऽपि अपवादापवाद उच्यते, सोऽप्यत्र घटते । एवं च स्वस्थानं वा कृत्स्नत्वमेव तद्वस्त्रमभ्येति-प्राप्नोति यदच्छेद्यमच्छेदनीयमुदाहृतमुक्तम् । इयमत्र भावना-प्रमाणातिरिक्तं दशिकाश्च यस्य न छिद्यन्ते तत्कृत्स्नमेव ज्ञातव्यं नाकृत्स्नमिति । गतं द्रव्यकृत्स्ने द्वितीयपदम् ।

अथ भावकृत्स्ने द्वितीयपदमाह—

देसीगिलाणजावो-ग्गहो उ भावम्मि होति वितियपदं ।
तब्भाविते य तत्तो, ओमादि उपग्गहट्ठा वा ॥ २३३ ॥

देशीग्लानं यावदवग्रहविषयं भावविषयं भावकृत्स्ने द्वितीयपदं भवति । ततस्तदनन्तरं तैर्भावकृत्स्नैर्गृहवासे भावितस्तद्भावितस्तद्विषयं द्वितीयपदम् । सोऽपि भावकृत्स्नानि परिभुङ्क्ते इत्यर्थः । अवमौदर्यादिषु वा गच्छस्योपग्रहणार्थं तानि धारयेदिति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

देसीगिलाण जावो-ग्गहो उ दव्वकसिणम्मि जं वुत्तं ।
तह चेव होति भावे, तं पुण सदसं व अदसं व ॥२३४॥

देशीग्लानं यावदवग्रहद्वारेषु यदेव द्रव्यकृत्स्ने द्वितीयपदमुक्तं तदेव भावकृत्स्नेऽपि वर्णादौ बहुमूल्ये वा वस्त्रे मन्तव्यम् । नवरं न पुनः सदशमदशं वा भवेत् , उभयमप्यपवादपदेन ग्राह्यमिति भावः ।

अथ क्षेत्रकृत्स्नमपवदति—

नेपालतामलित्ती य, सिन्धुसोवीरमादिसु ।
सव्वलोकोवभोजाइं, धरिज्ज कसिणाइ वि ॥ २३५ ॥

नेपालविषये तामलिप्त्यां सिन्धुसौवीरादिषु च विषयेषु सर्वलोकोपभोज्यानि कृत्स्नान्यपि च वस्त्राणि धारयेत् ।

कुत इत्याह—

आइन्नता ण चोरादी, भयं णेव य गारवो ।
उज्झाइवत्थवं चेव, सिंधुमादिसु गरहितो ॥ २३६ ॥

नेपालादौ देशे सर्वलोकेनापि तादृग्वस्त्राणामाचीर्णता , नच तत्र चौरादिभयम् , नैव च गौरवमहो अहमीदृशानि वस्त्राणि प्रावृणोमीत्येवं लक्षणमपि ' उज्झाइवत्थवं ' विरूपं यद्वस्त्रं तद्वान् सिन्धुसौवीरकादिषु गर्हितो भवति । अतस्तत्र कृत्स्नान्यपि परिभोक्तव्यानि ।

अथ कालकृत्स्नमपवदति—

नीलकम्बलमादित्तु, उण्णियं होति अच्चियं ।
सिसिरे तं पि धारेज्भा,सीतं जत्तेण रुज्भति ॥ २३७ ॥

नीलकम्बलादिकमौर्णिकं महाराष्ट्रविषये अर्चितं महार्घ्यं भवति, तदपि तत्र प्राप्तः शिशिरे-शीतले धारयेत् । प्रावृण्वादित्यर्थः । शीतं यतो नान्येन वस्त्रेण निरुध्यते ।

अथ तद्भावितपदं व्याख्याति—

न लभइ खरेहि निदं,अरतिं च करेंति से दिवसतो वि ।
उज्झाइयं व मन्नति, थूलेहिँ अभावितो जाव ॥ २३८ ॥

खरैः-स्थूलतया कठिनस्पर्शैश्चीवरै राजादिः प्रव्रजितः कश्चिन्निद्रां न लभते , तानि च तस्य दिवसतोऽप्यरतिं कुर्वन्ति ' उज्झाइयं वा ' जुगुप्सां मन्यते तैस्ततः स्थूलैर्यावद्द्याप्यभावितस्तावत्तस्य भावकृत्स्नवस्त्रमनुज्ञातम् ।

अवमादिषु गच्छस्योपग्रहार्थमिति भावयति—

ओमासिवदुट्ठेसुं, सीमट्ठेऊण तं असंथरणे ।
गच्छो नित्थारिज्जति,जाव पुणो होति संथरणं ॥२३६॥

अवमौदर्याशिवराजद्विष्टेषु भक्तपानाहारे गच्छस्यासंस्तरणं भवेत्ततः शतसहस्रमूल्यं वस्त्रं ' सीमट्ठेऊणं ' ति चूर्णिकारवचनात् , विक्रीय गच्छो निस्तार्यते , यावत्पुनरपि संस्तरणं भवति । विशेषचूर्णौ तु-'सीमट्ठेऊण' इत्यस्य स्थाने ' ओवक्कमट्ठाव ' त्ति पाठसूत्रोपक्रमः । कालगगनं तदर्थम्, किमुक्तं भवति-कस्यापि साधोरतर्कितं कालगमनं

१ यद्यपि सदीपनीथकः कृष्णशब्द एव तथापि पुस्तकानुरोधात्संभावात्क- त्वाच्च कृत्स्न शब्द एव ज्ञेयः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवेत् । तस्याच्छादनार्थं भावकृत्स्नं वर्णाढ्यं वस्त्रं प्रागेव ग्रहीतव्यम् ।

अथवा द्रव्यकृत्स्नं भावकृत्स्नं चेति द्विविधमेवेह कृत्स्नं कथमिति चेदुच्यते-

माणाहियं दसाहिय, दुवे वि निपडंति दव्वकसिणम्मि ।
तस्सेव य जो वन्नो, मुल्लं व गुणो य तं भावे ॥२४०॥

क्षेत्रकृत्स्ने कालकृत्स्ने च यन्मानाधिकं—यथोक्तप्रमाणातिरिक्तं यच्च दशाधिकं-सदशाकं वस्त्रम् , एते द्वे अपि द्रव्यकृत्स्ने निपततः, यस्तु तस्यैव वस्त्रस्य वर्णः-कृष्णत्वादिको, यच्च मूल्यमष्टादशरूपकादि, यश्च गुणो मृदुत्वादि, तदेतत्सर्वमपि भावकृत्स्ने अवतरति ।

(२६) न कल्पन्ते अभिन्नानि वस्त्राणि-

नो कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गंथीण वा अभिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ६ ॥

नो कल्पन्ते, निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अभिन्नानि अच्छिन्नानि वस्त्राणि धारयितुं वा परिहर्तुं वेति ।

भाष्यम्—

अकसिणभिन्नमभिन्नं,व होज्ज भिन्नं तु अकसिणे भइतं ।
कसिणाकसिणे य तहा, भिन्नमभिन्ने य चउभङ्गो।२४१।

यत्पूर्वसूत्रे अकृत्स्नमुक्तं तद्भिन्नमभिन्नं वा स्यात् । अभिन्नमपि अकृत्स्ने भक्तं-विकल्पितम् अकृत्स्नं वा भवतीत्यर्थः । अत एव कृत्स्नाकृत्स्नपदाभ्यां-भिन्नाभिन्नपदाभ्यां चतुर्भङ्गी । गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् , सा चेयम्-कृत्स्नमभिन्नम् १, कृत्स्नं भिन्नम् २, अकृत्स्नमभिन्नम् ३, अकृत्स्नं भिन्नम् ४, तत्राद्यभङ्गे कृत्स्नपदेन द्रव्यक्षेत्राद्यविशिष्टं सामान्यतः कृत्स्नं गृहीतमभिन्नपदेन तु सकलम् ।

आह च बृहद्भाष्यकृत्—

दव्वाई अविसिट्ठं, कसिणग्गहणेण होइ गहियं तु ।
गहणेण अभिन्नस्स उ, सगलग्गहणं कयं होइ ॥२४२॥

एवं द्वितीयभङ्गे द्रव्यक्षेत्राकृत्स्नमसकलं गृहीतम् , तृतीयभङ्गे तु क्षेत्रकालभावैरकृत्स्नं परं सकलं, चतुर्थभङ्गे क्षेत्रादिभिरकृत्स्नमसकलम् ।

अत्र विधिगतं दिशन्नाह—

तम्मि वि सो चेव गमो, उस्सग्गववादतो जहा कसिणो ।
भिन्नग्गहणं तम्हा, असती य सयं पि भिंदिज्जा॥२४३॥

तस्मिन्नप्यभिन्ने स एवोत्सर्गतः, अपवादतश्च गमः-प्रकारः यथा कृत्स्ने भणितः। तथाहि-कृत्स्नवद् द्रव्याभिन्नमपि चतुर्द्धा । तत्र द्रव्याभिन्नं गणनया प्रमाणतश्चातिरिक्तम् ,क्षेत्राभिन्नं यद्यस्मिन् क्षेत्रे महार्घ्यम् ,कालाभिन्नं यद्यस्मिन् काले अर्चितम् ,भावाभिन्नं तथैव वर्णयुतं मूल्ययुतं च, यावत्कृत्स्ने आरोपणा सैवाभिन्नेऽपि द्रष्टव्या, परमिदं चतुर्ष्वपि द्रव्यादिषु सकलमेव प्रतिपत्तव्यम्।यत एवं तस्माद्भिन्नस्य वस्त्रस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम् । अथ भिन्नं न प्राप्यते ततः स्वयमपि भिन्द्यात् , यावता-प्रमाणेनातिरिक्तं तावच्छित्त्वा प्रमाणयुक्तं कुर्यादिति भावः । परः प्राह—यदि पूर्वसूत्रोक्त एव गम इहापि सूत्रे वक्तव्यः , ततः—

पुणरुत्तदोस एवं, पिट्ठस्सेॅ व पीसणं णिरत्थं तु ।
कारणमवेक्खति सुत्तं, दुविहपमाणं इमं सुत्ते ॥ २४४ ॥

पुनरुक्तदोष एवं प्राप्नोति—एतच्च पुनर्भणनं पिष्टस्यैव पेषणं निरर्थकं परिफल्गुप्रायमेव पश्याम्यहम् , अतो नेदं सूत्रमारम्भणीयमिति भावः । सूरिराह—सूत्रमिदं कारणमपेक्षते । किं पुनस्तत्कारणमपेक्षते ? इह सूत्रे वस्त्राणां द्विविधं प्रमाणम्-गणनालक्षणं प्रमाणप्रमाणम् , नियम्यते-कियन्ति किं प्रमाणानि वा तानि ग्रहीतव्यानि—इत्येवं निरूप्यत इत्यर्थः ।

तम्हाउ भिंदियव्वं,केई पण्हेहि अहव तह चेव ।
लोगंते पाणादी, विराधणा तेसि पडिघाता ॥ २४५ ॥

यस्मादभिन्नस्य धारणे पूर्वसूत्रोक्ता दोषाः तस्मात्प्रमाणातिरिक्तं वस्त्रं भेत्तव्यं-छेदनीयम् ,न तदवस्थं धारयितव्यम् । अथवाऽत्र केचिन्नोदकाः प्रेरयन्ति-वस्त्रे छिद्यमाने यानि पक्ष्माण्युड्डीयन्ते तैर्लोकान्तं यावद्गच्छद्भिर्बहूनां प्राणादीनां त्रसप्राणिप्रभृतीनां सूक्ष्मजन्तूनां विराधना भवति , अतो 'तह चेव' त्ति यथालब्धं तथैवाधितिष्ठेत् । एवं वदतां तेषां नोदकानां प्रतिघातो-निराकरणं विधेयमिति पुरातनगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुः परः प्रेर्यमेव प्रपञ्चयन्नाह—

सद्दो तहिं मुच्छति छेदणा वा,
धावंति ते दो वि सुजाव लोगो ।
वत्थस्स देहस्स य जो विकंपो,
ततो विहातादि भरिंति लोगं ॥ २४६ ॥

भो आर्य ! तत्र वस्त्रे छिद्यमाने शब्दः संमूर्छति । छेदनका वा सुपक्ष्मावयवा उड्डीयन्ते । एते च द्वयेऽपि निर्गता लोकान्तं यावत्प्राप्नुवन्ति । तथा वस्त्रस्य देहस्य च यो विकम्पश्चलनं ततोऽपि विनिर्गता वातादयः प्रसरन्तः सकलमपि लोकमापूरयन्ति ।

अहिच्छसी जंति न ते उ दूरं,
संखोभिता ते अवरे वयंति ।
उड्ढं अधो याऽवि चउद्दिसिं पि,
पूरिंति लोगं तु खणेण सव्वं ॥ २४७ ॥

अथाचार्य ! त्वमित्थं मन्यसे ते च वस्त्रछेदनसमुत्थाः शब्दपक्ष्मवातादिपुद्गला न दूरं-लोकान्तं यान्ति तर्हि तैः संक्षोभिताश्चालिताः सन्तोऽपरे व्रजन्ति, एवमपरापरपुद्गलप्रेरिताः पुद्गलाः प्रसरन्तः क्षणेनोर्ध्वमधस्तिर्यक्षु वेनेष्वपि दिक्षु सर्वमपि लोकमापूर्यन्ते ।

यत एवमतः—

विन्नाय आरंभमिणं सदोसं,
तम्हा जहा लद्धमधिट्ठिहिज्जा ।
वुत्तं स एओ खलु जाव देही,
ण होति अंततकरी तु ताव ॥ २४८ ॥

इममनन्तरोक्तं सर्वलोकपूर्णात्मकमारम्भं सदोषं सूक्ष्मजीवविराधनया सावद्यं विज्ञाय तस्मात्कारणाद्यथालब्धं वस्त्रम-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धितिष्ठेत् । न छेदनादिकं कुर्यात्, यत उक्तम्-भणितं स्याख्याप्रज्ञप्तौ यावदयं देही-जीवः स्वयं संक्रम्य चेष्टावानित्यर्थः तावदसौ कर्मणो भवस्य वा अन्तकारी न भवति । तथा च तदालापकः-"जाव णं एस जीवो सयं संकमिय एयइ वेयइ चलइ फंदइ घडइ वज्झइ दीरइ तं तं भावं परिणमइ ताव णं तस्स जीवस्स अंतेकिरिया न भवति " अथेत्थं भणिष्यथ एवं तर्हि भिक्षादिनिमित्तमपि चेष्टा न विधेया इति ।

नैवम्-यतः-

जाओ वि चिट्ठा इरियाइयाओ,
संपस्सहेताहि विणा न देहो ।
संचिट्ठए नेवमछिज्जमाणे,
वत्थम्मि संजायइ देहनासो ॥ २४९ ॥

याश्चापि चेष्टा ईर्यादिकाः संपश्यत ततः तत्करणमीर्या भिक्षा भूम्यादौ गमनम्, आदिशब्दाद्-भोजनशयनादयो गृह्यन्ते एताभिर्विना देहः पौद्गलिकत्वान्न सन्तिष्ठते—न निर्वहति । देहमन्तरेण च संयमस्यापि व्यवच्छेदः प्राप्नोति । वस्त्रे पुनरच्छिद्यमाने नैवं देहनाशः संजायते अतो न तच्छेदनीयम् ।

किंच—

जहा जहा अप्पतरा से˘ जोगा,
तहा तहा अप्पतरो से˘ बंधो ।
निरुद्धजोगिस्स व जो ण होति ,
अछिद्दपोतस्स य अम्बुणोधे ॥ २५० ॥

यथा यथा'से'तस्स जीवस्य अल्पतरा योगास्तथा तथा'से' तस्याल्पतरो बन्धो भवति,यो वा निरुद्धयोगी-शैलेश्यवस्थायां सर्वथा मनोवाक्कायव्यापारविरहितः तस्य कर्मबन्धो न भवति । दृष्टान्तमाह-अच्छिद्रपोतस्येव, अम्बुधिना, यथा किल निश्छिद्रप्रवहणं सलिलसंचयसंपूर्णेऽपि जलधौ वर्त्तमाने स्वल्पमपि जलं नास्रवति एवं निरुद्धयोग्यापज्जन्तुकर्मवर्गणापुद्गलैरञ्जनचूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरमिवैतेऽपि लोके वर्त्तमानाः स्वल्पीयोऽपि कर्म नोपाददते । अतः कर्मबन्धस्य योगान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तत्परिजिहीर्षुणा वस्त्रछेदनादिव्यापारो न विधेयः ।

इत्थं परेण स्वपक्षे स्थापिते सति सूरिराह-

आरंभमिट्ठो जति आसवा य ,
गुत्ती य सेआय तधा तु साधु ! ।
मा फंद वारेहि व छिज्जमाणं ,
पतिण्णहाणी वअणोवघातो ॥ २५१ ॥

' आरम्भमिट्ठो ' मकारोऽलाक्षणिकः हे नोदक ! यथाऽऽरम्भस्तथाऽऽश्रवाय-कर्मोपादानाय इष्टः-अभिप्रेतः गुप्तिश्च-तत्परिहाररूपा श्रेयसे-कर्मानुपादानायाभिप्रेता,तथा च सति हे साधो ! मा स्पन्दं मा वा वस्त्रं छिद्यमानं वारय । किमुक्तं भवति-यदि वस्त्रच्छेदनमारम्भतया भवता कर्मबन्धनिबन्धनमभ्युपगम्यते,ततो येयं वस्त्रच्छेदनप्रतिषेधाय हस्तस्पन्दनादिका चेष्टा क्रिया तया वा तत्प्रतिषेधको ध्वनिरुच्चार्यते तावप्यारम्भतया भवता न कर्तव्यौ, अतो मदुक्तोपदेशादन्यथा चेत्करोषि ततस्ते प्रतिज्ञाहानिः-स्ववचनविरोधलक्षणं दूषणमापद्यते इत्यर्थः । अथ ब्रवीथाः योऽयं मया वस्त्रच्छेदनप्रतिषेधको ध्वनिरुच्चार्यते स आरम्भप्रतिषेधकत्वात् निर्दोष इति ।

अत्रोच्यते—

अदोसवंते जति एस सद्दो ,
अण्णो वि कण्हा ण भवे अदोसो ।
अथिच्छया तुज्झ सदोस एक्को ,
एवं सती कस्स भवे न सिद्धी ॥ २५२ ॥

यद्येष त्वदीयः शब्दोऽदोषवान् ततोऽन्योऽपि वस्त्रच्छेदनादिसमुत्थः शब्दः कस्माददोषो न भवेत् । तस्याऽपि प्रमाणातिरिक्तपरिभोगविभूषादिदोषपरिहारहेतुत्वात्, अथेच्छया—स्वाभिप्रायेण चैको वस्त्रच्छेदनशब्दः सदोषः अपरस्तु निर्दोषः । एवं सति कस्य तत्स्वपक्षसिद्धिर्भवेत्, सर्वस्यापि वा गाढं वचनमात्रेण भवत इव स्वाऽभिप्रेतार्थसिद्धिर्भवेदिति भावः । ततश्चास्माभिरप्येवं वक्तुं वा शक्यम् । योऽयं वस्त्रच्छेदनसमुत्थः शब्दः स निर्दोषः शब्दत्वात् भवत्परिकल्पितनिर्दोषशब्दवदिति ।

किंच—

तं छिंदओ होज्ज सतिं तु दोसो ,
खोहादि तं चेव जतो करेति ।
जे पीह तो होंति दिणे दिणे तु,
संपावणंते य णिबुज्झ ते वि ॥ २५३ ॥

यतस्तदेव वस्त्रं छिद्यमानं पुद्गलानां क्षोभादि करोति, अतस्तद्वस्त्रं छिन्दतः सकृदेकवारं दोषो भवति । अच्छिद्यमाने तु वस्त्रे प्रमाणातिरिक्तं तत्प्रत्युपेक्षमाणस्य ये भूमिलोलनादयः अप्रत्युपेक्षणादोषास्ते दिने दिने भवन्ति । ये च तद्वस्त्रसंप्रावृते विभूषादयो बहवो दोषास्तानपि विबुध्यस्व अक्षिणी निमील्य सम्यक् निरूपयेति भावः । आह-यदि वस्त्रच्छेदने युष्मन्मतेनापि सकृद्दोषः संभवति , ततः परिह्रियतामसौ गृहस्थैः स्वयोगेनैतद्भिन्नं वस्त्रम् ,तदेव गृह्यताम् ।

उच्यते—

घेतव्वगं भिन्नमहिच्छितं ते ,
जा मग्गतो हाणिसुतादि ताव ।
अप्पेस दोसो गुणभूतिजुत्तो,
पमाणमेवं तु जतो करेंति ॥ २५४ ॥

अथ ते-तवेष्टं मतम् । यथा—चिरमपि गवेष्य भिन्नं ग्रहीतव्यम् , तत उच्यते-यावद् भिन्नं वस्त्रं मार्गयति तावत्तस्य सूत्रादौ सूत्रार्थपौरुष्यादौ हानिर्भवति । अपि च-य एष वस्त्रच्छेदनलक्षणो दोषः स प्रत्युपेक्षणाशुद्धिविभूषापरिहारप्रभृतीनां गुणानां भूत्या—संपदा युक्तो बहुगुणकलित इति-भावः । कुत इत्याह—यतः प्रमाणमेव वस्त्रस्य तदानीं साधवः कुर्वन्ति , न पुनस्तत्राधिकं किमपि सूत्रार्थव्याघातादिकं दूषणमस्तीति ।

अथ जाया विविधा ' इरियाइया उ ' इत्यादि
परोक्तं परिहरन्नाह-

आहारणीहारविहीसु जोगो ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सव्वो अदोसाय जहा व तस्स।
विया य सस्सम्मि व सस्सियस्स,
भंडस्स एवं परिकम्मणं तु ॥ २५५ ॥

यथा यत्तस्य प्रयत्नपरस्य साधोराहारनीहारादिविधिविषयः सर्वोऽपि योगो भवन्मतेनाप्यदोषाय भवति, तथा भाण्डस्योपकरणस्य परिकर्म्मणमपि छेदनादिकमेव यतनया क्रियमाणं निर्दोषं द्रष्टव्यम्। दृष्टान्तमाह—'विया य सस्सम्मि व सस्सियस्स' त्ति सस्येन चरतीति सास्यिकः—कृषीवलस्तद्विषयं परिकर्मणं निन्दणनादिकं हिताय भवति, तथेदमपि भाण्डपरिकर्मणः, तथाचोक्तम्—यद्वत् सस्यहितार्थं सस्याकीर्णेऽपि विचरतः क्षेत्रे या भवति सस्यपीडा यत्नवतः साऽल्पदोषाय तथा जीवहितार्थं जीवाकीर्णेऽपि विचरतो लोके या भवति जीवपीडा यत्नवतः साऽल्पदोषाय।

किंच—

अप्पेव सिद्धंतमजाणमाणो,
तं हिंसयं भाससि जोगवंतं।
दव्वेण भावेण य संविभत्ता,
चत्तारि भङ्गा खलु हिंसगत्ते ॥ २५६ ॥

अपीत्यभ्युच्चये। अस्त्यन्यदपि वक्तव्यमिति भावः। यदेव योगवन्तं—वस्त्रच्छेदनादिव्यापारवन्तं जीवहिंसकं त्वं भाषसि—स्थापयसि सम्यक् सिद्धान्तमजानान एवं प्रलपसि, सिद्धान्ते योगमात्रप्रत्ययादेव हिंसोपवर्ण्यते। अप्रमत्तसंयतादीनां सयोगिकेवलिपर्यन्तानां योगमतामपि तद्भावात्। कथं तर्हि सा प्रवचनैः प्ररूप्यत—इत्याह, द्रव्येण भावेन च सुविभक्ताश्चत्वारो भङ्गाः खलु हिंसकत्वे भवन्ति। तथाहि—द्रव्यतो नामैका हिंसा न भावतः, भावतो नामैका हिंसा न द्रव्यतः, एका द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि, एका न द्रव्यतो नापि भावतः।

अथैनामेव यथाक्रमं भावनां कुर्वन्नाह—

आहच्च हिंसा समितस्स जा उ,
सा दव्वतो होति ण भावतो उ।
भावे न हिंसा तु असंजतस्स,
जं वाऽवि सत्तेण स दाव चेति ॥ २५७ ॥
संपत्ति तस्सेव जदा भविज्जा,
सा दव्वहिंसा खलु भावतो य।
अज्झत्थसुद्धस्स जदा ण होज्जा,
वधे ण जोगो दुहतोऽप्पहिंसा ॥ २५८ ॥

समितस्येर्यासमितावुपयुक्तस्य या तु 'आहच्च' कदाचिदपि हिंसा भवेत् सा द्रव्यतो हिंसा। इयं च प्रमादयोगाभावात्तत्त्वतोऽहिंसैव मन्तव्या, 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसे' ति वचनाद्भावेन—भावतो वा हिंसा न तु द्रव्यतः, सा असंयतस्य—प्राणातिपातादेरनिवृत्तस्योपलक्षणत्वात् संयतस्य वा अनुपयुक्तगमनादि कुर्वतो यानपि सत्त्वानसौ सदैव न हन्ति तानप्याश्रित्य मन्तव्या। 'जे विज्जंति नियमा तेसिं पि हिंसओ सो उ' इति वचनात् तु तस्यैव प्राणिव्यपरोपणसंप्राप्तिर्भवति तदा सा द्रव्यतो हिंसा प्रतिपत्तव्या। यस्य पुनरात्मनः चेतःप्रणिधानेन शुद्ध—उपयुक्तगमनागमनादिक्रियाकारीत्यर्थः, तस्य यदा वधेन—प्राणव्यपरोपणेनेह योगः—सम्बन्धो न भवति तदा द्विधाऽपि द्रव्यतो भावतोऽपि हिंसा न भवतीति भावः। तदेवं भगवत्प्रणीते प्रवचने हिंसाविषयाश्चत्वारो भङ्गाः उपवर्ण्यन्ते। अत्र चाद्यभङ्गे हिंसायां व्याप्रियमाणकाययोगेऽपि भावत उपयुक्तं तथा भगवद्भिरहिंसक एवोक्तः, ततो यदुक्तं भवता च अच्छेदनव्यापारं कुर्वतो हिंसा भवतीति तत्प्रवचनरहस्यानभिज्ञतासूचकमिति।

किंच—

रागो य दोसो य तहेव मोहो,
ते बंधुहेतु तु तओ विजाणं।
णाणत्तगं तेसि जधा य होति,
जाणाहि बन्धस्स तथा विसेसं ॥ २५६ ॥

रागश्चाभिष्वङ्गलक्षणः, द्वेषश्चाप्रीतिकरूपकः, तथैव मोहोऽज्ञानलक्षणः। एतान् त्रीनपि बन्धहेतून् जानीहि नानात्वंविशेषो यथा तेषां रागादीनां भवति तथा कर्मबन्धस्यापि विशेषं जानीहि।

इदमेव बिभावयिषुरिदमाह—

तिव्वे मंदे णायमनाते, भावाधिकरणविरिए य।
जह दीसति णाणत्तं, तह जाण सुकम्मबंधेऽवि ॥२६०॥

हिंसादिपापं कुर्वतो रागादिपरिणामस्तीव्रो वा भवेत् मन्दो वा 'नायमनाय' त्ति एको हिंसादिफलविपाकव्यपायं वा जीवे जीवतया ज्ञाते हिंसादि करोति, अपरस्तु न जानाति परमेवमेव जानन् हिनस्ति। तथा भाव औदयिकादिः अधिकरणं—निवर्त्तनादिरूपं प्रागुक्तम् वीर्यं—देहबलं बालपण्डितादिसामर्थ्यं वा, एवं तीव्रमन्दादिकं नानात्वम्, यथा—रागादिषु दृश्यते तथा कर्मबन्धेऽपि नानात्वं जानीहि इति द्वारगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह—

तिव्वेहि होति तिव्वो, रागादीएहि उपचओ कम्मे।
मंदेहिँ होति मंदो, मज्झिमपरिणामतो मज्झो ।२६१।

विदधानस्य यदि तीव्राः संक्लिष्टपरिणामा रागादयो भवन्ति ततस्तीव्रकर्म्मण्युपचयो भवति, यदाभूत एव मन्दः—प्रतनुपरिणामस्तदा कर्मोपचयोऽपि मन्दो भवति, यदा तेषां मध्यमपरिणामो नातितीव्रो न वातिमन्द इत्यर्थः, तदा मध्यमः कर्मोपचयो भवति।

अथ ज्ञानाऽज्ञानद्वारमाह—

जाणं करेति एको, हिंसमजाणं पुणो अविरतो य।
तत्थ वि बंधविसेसो, महंतरं देसितो समए ॥ २६२ ॥

इह द्वावविरतौ तत्रैकस्तं जानन् हिंसां करोति, विचिन्त्येत्यर्थः। अपरः पुनरजानन्। तत्रापि तयोरपि बन्धविशेषो 'महंतर' त्ति महता अन्तरेण देशितः समये—सिद्धान्ते। तथाहि—यो जानन् जीवहिंसां करोति स तीव्रानुभावं बहुतरं पापकर्मोपचिनोति, इतरस्तु मन्दतरविपाकमल्पतरं तदेवोपादत्ते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरतो पुण जो जाणं, कुणति अजाणं च अप्पमत्तो य।
तत्थ वि अज्झत्तसमा,संजायति णिज्जरा ण चत्रो।२६२।

यः पुनर्विरतः-प्राणातिपातादेर्निवृत्तः स जानानोऽपि स-दोषमिदमित्यवबुध्यमानोऽपि गीतार्थतया द्रव्यक्षेत्राद्यागा-ढेषु प्रलम्बादिग्रहणेन हिंसां करोति। यद्वा-न जानाति परम्,अप्रमत्तो-विकथादिप्रमादरहितः, उपयुक्तः सन् यत्क-दाचित्प्राण्युपघातं करोति, तत्राप्यध्यात्मसमा चित्तप्रणि-धानतुल्या निर्जरा संजायते। यस्य यादृशः तीव्रो मन्दो म-ध्यमो वा शुभाध्यवसायस्तस्य तादृश्येव कर्मनिर्जरा भव-तीति भावः। 'न चत्रो'त्ति न पुनश्चयः कर्मबन्धः सूक्ष्मो भ-वति प्रथमस्य भगवदाज्ञया यतनया प्रवर्त्तमानत्वात्, द्विती-यस्य तु प्रमादरहितस्याजानतः कथं प्राण्युपघातनं, तद्भावा-ऽदुष्टत्वात्।

अथ भावद्वारमाह—

एगो खओवसमिए, वट्टति भावेऽपरो उ ओदइए।
तत्थ वि बंधविसेसो, संजायति भावणाणत्तं ॥२६३॥

एकः कोऽपि क्षायोपशमिके भावे वर्त्तते अपरस्त्वौदयिके त-त्रापि बन्धविशेषः संजायते भावनानात्वात्। तथाहि—य औदयिके भावे वर्तते स तीव्रतरं कर्मोपचिनोति,यस्तु क्षा-योपशमिके स मन्दतरमिति।

एमेव ओवसमिए, खओवसमिए तहेव खइए य।
बंधाऽबंधविसेसो, ण तुल्लबंधा य जे बन्धा॥२६४॥

एवमेवौपशमिके—क्षायौपशमिके तथैव क्षायिके च भावे बन्धा-बन्धविशेषाः सम्यगुपयुज्य वक्तव्याः। येऽपि बन्धिनः-कर्मबन्धका जीवास्तेऽपि नातुल्यबन्धकाः, किं तु—प्रकृ-तिस्थित्यनुभावप्रदेशैः परस्परविसदृशकर्मबन्धकाः।

अथाधिकरणद्वारमाह—

अहिकरणं पुव्वुत्तं, चउव्विहं तं समासओ दुविधं।
णिव्वत्तणाया एया, संयोगे चेव णेगविधं ॥ २६५ ॥

अधिकरणं पूर्वं—प्रथमोद्देशके यथा निर्वर्त्तनानिक्षेपणा—संयोजनानिसर्जनाभेदाच्चतुर्विधमुक्तं तथैव ज्ञातव्यम्, नवरं तदधिकरणं समासतो द्विविधं भवति। तद्यथा-निर्वर्तनायां संयोगे चैव, संयोजनायां च पुनरेकैकमनेकविधं भवति।

तत्र निर्वर्तनाधिकरणमनेकविधमुपदर्शयति—

एगो करेति परसुं, णिव्वत्तेति णखछेदनं अवरो।
कुंतकखग्गे या वज्जे, आरियसूई अ अवरो तु ॥२६६॥

एको लोहकारः पर्शुं—कुठारं करोति। अपरस्तु लोहकार आरिकां सूचीं वा करोति। तत्र यः कुठारकुन्तकरणका-दीनि करोति स तीव्रकर्मबन्धभाक्, यस्तु नखछेदनारिका-सूचीर्निर्वर्त्तयति स स्वल्पकर्मबन्धक इति।

सूईसुं पि विसेसे, कारणसूईसु सिव्वणीसुं च।
संगामियपरियाणिय, एमेव य जाणमादीसुं ॥ २६७॥

सूचीष्वपि विशेषो विद्यते, एकाः कारणसूच्यः अपराः सी-वनसूच्यः। तत्र याः परव्यपरोपणादिकारणमुद्दिश्य कारयि-त्वा परस्य नखमूलादौ कुट्यन्ते ताः कारणसूच्य उच्यन्ते,ता-सु विधीयमानासु महान् कर्मबन्धो भवति। यास्तु वस्त्रसीव-नार्थं क्रियन्ते तासु स्वल्पतरः कर्मबन्धः। एवमेव च या-नादिष्वपि वक्तव्यम्। तथाहि—किमपि यानं सांग्रामिकं भवति, यत्रारूढैः संग्रामः क्रियते, अपरं तु पारियानिकम्। परियानं-गमनं तत्प्रयोजनमस्येति पारियानिकम्, उद्यानादौ यस्मिन्नारूढैर्गम्यते। तत्र सांग्रामिकयानादीनि कुर्वतो महान् कर्मबन्धः। पारियानिकानि तु कुर्वाणस्याल्पतरः।

आह-यदि नामाधिकरणं नैकविधं तत्तस्मिन्निमित्तः कर्मब-न्धविशेषः कथमुपपद्यते ?, यावता परिणामवैचित्र्यप्रत्यय ए-वासाविष्यत इत्याह-

कारगकरेंतगाणं, अधिकरणं चेव तं तहा कुणति।
जह परिणामविसेसो, संजायति तेसु वत्थूसु॥ २६८ ॥

उपकाराय कुर्वन्नसौ तदधिकरणमेव तथा तेन रूपेण करो-ति-बुद्धिमुपजनयति, यथा तेषु पर्शुनखच्छेदनादिषु वस्तुषु कार्यमाणेषु च परिणामविशेषः संक्लिष्टासंक्लिष्टरूपमध्यवसा-यवैचित्र्यं संजायते, यथा कारयाम्यहमिदं पर्शुकुन्तबाण-कादिकं ततोऽनेन तत्राध्यासितं बधमेव, यत् वस्त्रादेर्ग्रहणं पुराणस्य—प्रागृगृहीतस्य चोलपट्टकादेः कूर्प्परादिना ग्रह-णं पुराणग्रहणम्,तच्च द्विधा—उपस्थापनाग्रहणमुपस्थितिग्र-हणं च। तत्रोपस्थापनायां विधीयमानायां हस्तिदन्ताऽऽका-रहस्तादिभिर्यद् रजोहरणादि गृह्यते तदुपस्थापनाग्रहणम्, द्वितीयम्-उपधिस्थापितस्याच्छेदोपस्थापनीयचारित्रं प्रापि-तस्य यदुपधिधारणं परिभोगो वा तदुपस्थितिग्रहणम्।

एनामेव गाथां व्याख्यानयति—

ओहोवहियोवगहियं, अभिनवगहणं तु होइ अचित्तं।
इयरस्स वि होइ दुहा, गहणं तु पुराणउवहिस्स ॥२६९॥

अचित्तस्य वस्त्रपात्रादेरभिनवग्रहणं द्विधा-ओघोपधिवि-धेयम्, औपग्रहिकोपधिविधेयं च। इतरस्यापि पुराणोप-धिग्रहणं द्विधा—उपस्थापनाग्रहणमुपस्थितग्रहणं चेत्यर्थः,।

अथवा अभिनवग्रहणमिदमनेकविधम्—

जायणनिमँतणुवस्सय, परियावन्नं परिट्ठवियनट्ठं।
पम्हट्ठपडियगहियं, अभिनवगहणं अणेगविहं ॥२७०॥

याच्ञा-अवभाषणं निमन्त्रणा-गृहस्थानामभ्यर्चनापुरस्स-रं यद्वस्त्रावग्रहणं यच्चोपाश्रये पर्यापन्नस्योपध्यादिभिर्वि-स्मृत्य परित्यक्तस्य वस्त्रादेर्ग्रहणं यच्च परिष्ठापितस्य भूयः कारणे ग्रहणं तथा नष्टं-हारियं 'पम्हट्ठं'-विस्मृतं पतितं हस्तात्परिभ्रष्टं गृहीतं प्रत्यनीकेन बलादाच्छिद्य स्वीकृत-म्, एतेषां पुनर्लब्धानां यद्ग्रहणमेवमादिकमनेकविधमभिन-वग्रहणं मन्तव्यम्।

अथवा याच्ञानिमन्त्रणाग्रहणयोर्विधिमतिदिशन्नाह—

जो चेव गमो हेट्ठा, उस्सग्गाई उ वणिओ गहणे।
दुविहोवहिम्मि सो चिय, कास त्तिय किं न कीस त्ति२७१

य एव गमः-प्रकारोऽधस्तात्पीठिकायाम्, उत्सर्गादिः-का-योत्सार्गादिको वस्त्रग्रहणविषयो वर्णितः स एवात्र द्विवि-धोपधेरौपधिकौपग्रहिकलक्षणस्य ग्रहणे कस्य सत्कमेत-द्वस्त्रपात्रादिकं वा पूर्वमासीद्भविष्यति वा कस्माद्वा प्रयच्छ-सीति पृच्छात्रयपरिशुद्धो द्रष्टव्यः। उपाश्रयपर्यापन्नवस्त्रा-दिग्रहणविषयस्तु विधिरिहैवोद्देशके पुरस्तादाभिधास्यते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिष्ठापनादिस्तु यथा कारणतो भूयोऽपि ग्रहणं क्रियते तथा व्यवहाराध्ययने भणिष्यते। गतमभिनवग्रहणम्।

अथ पुराणग्रहणमुपस्थापितग्रहणं च वक्ष्यमाणं तावदाह-

कोप्परपट्टगगहणं, वामकरनामियाए मुहपोत्ती।
रयहरणहत्थिवंतु-न्नएहिँ हत्थेहुवट्ठाणं ॥ २७२ ॥

कूर्पराभ्यां चोलपट्टकस्य ग्रहणं कृत्वा वामकरसत्कया अनामिकया मुखपोत्तिकं गृहीत्वा रजोहरणं हस्तिदन्तोन्नताभ्यां हस्ताभ्यामादाय उपस्थापनं कर्त्तव्यं—शैक्षस्य व्रतस्थापना विधेयेत्यर्थः।

अथोपस्थापितग्रहणमाह—

उवठावियस्स गहणं, अहभावे चेव तह य परिभोगे।
एक्केक्कं पायादी, नेयव्वं आणुपुव्वीए ॥ २७३ ॥

उपस्थापितस्य यदुपकरणग्रहणं तत् द्विधा-यथाभावः परिभोगश्च, अनेन च द्विविधेनापि ग्रहणेन एकैकं पात्रादिकमानुपूर्व्या-परिपाट्या नेतव्यम्।

इदमेव भावयति—

पडिसामियं तु इच्छइ, पायाई एस होंति जहभावो।
सव्वपाणभिक्खा, निल्लेवण पायपरिभोगे ॥ २७४ ॥

यत्पात्रादिकं प्रतिस्वामिकं विवक्षितसाधुलक्षणेन स्वामिप्रतिगृहीतं सत् आस्ताम् तदानीं परिभुज्यते एष यथाभावो भवति, स्वपरिग्रहे धारणीयमित्यर्थः। परिभोगो नाम यत्पात्रादि यस्यां वेलायां परिभुज्यते तत्र सत् शोभनमाचार्यादिप्रायोग्यं यद् द्रव्यं यच्च पानकं भैक्षं चात्मनो योग्यं तत्र गृह्यते, निर्लेपनं च आचमनं तेन विधीयते एष पात्रस्य परिभोगः। इह च पात्रशब्देन प्रतिग्रहो मात्रकं वा गृहीतम्।

तथा—

पाणिदयासीयमत्थुय,मपज्जचिलिमिलिनिसिज्ज कालगते।
गेलन्नमज्जअमहु, च्छेअणसागारिए भोगो ॥ २७५ ॥

वर्षाकल्पादिकं प्राणिदयार्थमप्कायादिजीवरक्षानिमित्तं परिभोगे वैरिणं व्यापाद्यात्मनः सुखमुत्पादयिष्यामीत्यादि, अतस्तत्त्वतः परिणामवैचित्र्यप्रत्यय एवात्रापि कर्मबन्धविशेष इति न किंचिदनुपपन्नम्। उक्तं निर्वर्त्तनाधिकरणम्।

अथ संयोजनाधिकरणमाह—

संयोजना य कूडं, हलं पडं ओसहे य अन्नोण्णे।
भोयणविहिं च अन्ने, तत्थ वि णाणत्तगं बहुहा ॥ २७६ ॥

कश्चिल्लुब्धको मृगादीनां बन्धनाय कूटं रज्ज्वादिकमासंयोजयति। अपरो हालिकादिक्षेत्रकर्षणाय हलं युगादिना योजयति। अन्यस्तु पटं पटान्तरेण सह सीवनप्रयोगेण संयुनक्ति। कश्चित्तु वैद्यादिरौषधानि हरीतकीपिप्पलीप्रभृतीनि अन्योऽन्यानि परस्परेणैकमेकत्र मीलयति। अन्यस्तु भोजनविधिं शालिदालिघृतशालनकादिकं संयुनक्ति। तत्रापि कर्मबन्धविशेषस्य बहुधा नानात्वं प्रतिपत्तव्यम्, तथाहि-यः कूटं संयोजयति तस्य संक्लिष्टपरिणामतया तीव्रतरः कर्मबन्धस्तदपेक्षया हलं संयोजयतः स्वल्पतरः, पटं संयोजयतः स्वल्पतमः, इत्यादि स्वबुद्ध्या सम्यगुपयुज्य वक्तव्यम्।

अथ निर्वर्त्तनासंयोजने द्वे अपि यत्र सम्भवतः तान्युपदर्शयति—

निव्वत्तणा य संजो-जणा य सगडाइएसु अ भवंति।
आसज्जुत्तरकरणं, णिव्वत्ती मूलकरणं तु ॥ २७७ ॥

निर्वर्त्तना च संयोजना च शकटादिषु द्वे अपि भवतः। तथाहि—शकटाङ्गानां द्विचक्रप्रभृतीनां या प्रथमतो घटना सा निर्वर्त्तना, पुनस्तेषामेव निर्वर्त्तितानामेकत्र संघातना सा संयोजना। अत्र चोत्तरकरणं संयोजनारूपामुत्तरक्रियामासाद्य-प्रतीत्य निर्वृत्तिः-प्रथमतो निर्वर्त्तना मूलकरणं प्रतिपत्तव्यम्। गतमधिकरणद्वारम्।

अथ वीर्यद्वारमाह—

देहबलं खलु विरियं, बलसरिसो चेव होति परिणामो।
आसज्ज देहविरियं, छट्ठाणगया तु सव्वत्तो ॥ २७८ ॥

यद्देहबलं संहननजनितं शरीरसामर्थ्यं तत् खलु वीर्यं मन्तव्यम्, तस्य च बलस्य सदृश एव प्राणिनां परिणामो भवति, तथाहि—यः सेवार्त्तसंहननो जघन्यबलो जीवस्तस्य परिणामः शुभोऽशुभो वा मन्द एव भवति न तीव्रः, ततः शुभाशुभकर्मबन्धोऽपि तस्य स्वल्पतर एव। अत एवास्योर्ध्वगतौ कल्पचतुष्टयादूर्ध्वमधोगतौ नरकपृथ्वीद्वयादध उपपाते भवतीति प्रवचने प्रतिपाद्यते, एवं कीलिकासंहननेष्वपि भावना कार्या। इदं च देहवर्यमासाद्य-प्राप्य षट्स्थानगताः सर्वतः सर्वेष्वपि संहननेषु प्राणिनः परस्परं भवन्ति। तथाहि-सेवार्त्तसंहननेषु ये सर्वजघन्यबलास्तदपेक्षया अपरेऽनन्तभागवृद्ध्या असंख्यातभागवृद्ध्या संख्यातभागवृद्ध्या अनन्तगुणवृद्ध्या असंख्यातगुणवृद्ध्या संख्यातगुणवृद्ध्या वा भवन्ति, एवं कीलिकादिष्वपि। यतः षट्स्थानपतिताः प्राणिनः अतो देहबलवैचित्र्येण परिणामवैचित्र्यात् कर्मबन्धोऽपि विचित्रो भवतीति स्थितम्।

बलद्वारमेव प्रकारान्तरेण व्याचष्टे—

अथवा बालाऽऽदीयं, तिविहं विरियं समासतो होति।
बंधविसेसो तिण्ह वि, पंडियबंधी अबंधी वा ॥ २७९ ॥

अथवा-वीर्यं बालादिभेदात् त्रिविधम्, तत्र बालस्यासंयतस्य प्राणातिपाताद्यसंयमकरणे यद्वीर्यं तद्बालवीर्यम्, बालपण्डितस्य देशविरतस्य संयमासंयमविषयं वीर्यं बालपण्डितवीर्यम्, पण्डितस्य सर्वविरतस्य सर्वसंयमविषयं वीर्यं पण्डितवीर्यम्, एतत्त्रिविधं वीर्यं समासतो भवति, एषां त्रयाणामपि बन्धविशेषस्तद्यथा-बालवीर्यवान् प्रभूततरं कर्म बध्नाति, बालपण्डितवीर्यवान् अल्पतरम्, पण्डितवीर्यवान् अल्पतमम्। स च पण्डितो द्विधा-बन्धः, अबन्धो वा। प्रमादादीनां कर्मबन्धहेतूनां क्वापि कियतां सद्भावादवश्यं बध्नातीति बन्धी, "णिन् चावश्यकाधमर्ण्ये" इति णिन् प्रत्ययः। न बन्धी अबन्धी, तत्र प्रमत्तसंयतमादौ कृत्वा सयोगिकेवलिनं यावत् बन्धकः, अयोगिकेवली तु नियमादबन्धकः। गतं वीर्यद्वारम्।

अथोपसंहरन्नाह—

तम्हा ण सव्वजीवा, उ बंधगाइ णेव बंधगा तुल्ला।
अधिकिच्च संपरायं, इरियावहिबंधगा तुल्ला ॥ २८० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत एवं तस्मान्न सर्वेऽपि जीवा बन्धकाः, येऽपि बन्धकास्तेषामपि सम्परायं कषायप्रत्ययं कर्माऽधिकृत्य बन्धनं नैव तुल्यं रागादिवैचित्र्यतः कर्मबन्धविशेषस्यान्तरमेव प्रसाधितत्वात्, ये तूपशान्तमोहक्षीणमोहाः सयोगिकेवलिन ऐर्यापथस्य योगमात्रप्रत्ययस्य कर्मणो बन्धकास्ते परस्परं तुल्याः एकस्यैव सातवेदनाकस्य द्विसमयस्थितिकस्य सर्वेषामपि बन्धनादेवं न योगप्रत्ययकर्मबन्धस्याल्पबहुत्वविशेषः-किन्तु, रागादितीव्रमन्दताप्रत्ययः, ततो वस्त्रच्छेदनं विधिना कुर्वतां न कश्चिद्दोषः।

अपि च-

संजमहेऊ जोगो, पउंजमाणो अदोसवं होइ ।
जह आरोग्गनिमित्तं, गंडच्छेदो व विज्जस्स ॥ २८१ ॥

संयमः-प्रत्युपेक्षणादिशुद्धिरूपस्तद्धेतोर्योगो-वस्त्रच्छेदनादिव्यापारः प्रयुज्यमानोऽदोषवान् भवति, यथा आरोग्यनिमित्तं रोगिणो रोगव्यपनयनार्थं वैद्यस्य गण्डच्छेदोऽदुष्ट इति। परः प्राऽऽह—यद्येवं ततो यथाऽहं भणामि तथा वस्त्रं छिद्यताम्।

कथमिति चेदुच्यते—

भिन्नम्मि माउगंत-म्मि केइ अहिकरणगहियपडिसेहो ।
एवं खु भिज्जमाणं, अलक्खणं होइ उड्ढं च ॥ २८२ ॥

इह वस्त्रं यतो व्ययते तदादिभूतत्वान् मात्रिकेव मात्रिका अन्तश्चेह दशान्त उच्यते मात्रिका चान्तश्च मात्रिकान्तं द्वन्द्वैकवद्भावः, तस्मिन् भिन्ने छिन्ने सति वस्त्रं यद्यपि स्तेनैरपह्रियेत तथापि तैर्गृहीते सति नाधिकरणं भवति, उभयपार्श्वयोः छिन्नत्वेन परिभोगाभावादित्यभिप्रायः, एवं केचिदाचार्यदेशीया भणन्ति तेषामेवं वदतां प्रतिषेधः कर्त्तव्यः, कथम्? इत्याह—एवम्-अमुना प्रकारेण खुरवधृतार्थे अवधारितोऽयमर्थः-परमेवं भिद्यमानं वस्त्रमलक्षणं भवति। भूयोऽपि परः प्राह—तद्येवं तत ऊर्ध्वं कृत्वा तद्वस्त्रं द्विधा छिद्यताम्। सूरिराह—एवमप्यलक्षणदोषाश्चापरे बहवो भवन्ति, अतो नैवं छेदनीयमिति संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति-

उभओ पासिं छिज्जउ, मा दसिया उक्किरिज्ज एगत्तो ।
अहिगरणं सेवं खलु, उड्ढ फालो व मज्झम्मि ॥२८३॥

परः प्राऽऽहः-उभयपार्श्वयोर्वस्त्रं छिद्यतां किं कारणमिति चेदत आह-यद्येकपार्श्वतः छिद्यते तदा कदाचित् स्तेनैरपह्रियेत ततस्तत्रैकतः छिन्ने दशिका उत्किरेयुः, उत्कीर्ये च तद्वस्त्रं विक्रीणन्तः सदशाकतया प्रभूतं मूल्यं प्राप्नुयुः, स्वयं वा तत्परिभुञ्जीरन्, ततो द्वयोरपि पार्श्वयोः छेदनीयम्। एवं विधीयमाने अधिकरणं न भवति। अथ नैवं भवतां विचारचर्याय संगच्छते ततो मध्ये गृहीत्वा ऊर्ध्वफालो विधीयताम्—ऊर्ध्वं द्विधा फाल्यतामिति भावः।

अथ सूरिः प्रथमं परोक्तमाद्यप्रकारमङ्गीकृत्य—
परिहरन्नाह-

भन्नइ दुहओ भिन्ने, उभओ दसियाइं किण्ह जायंति ।
कप्पासए करेंति व, अदसाणि व किं ण भुंजंते ॥२८४॥

भण्यते अत्रोत्तरम्-त्वदुक्तनीत्या द्विधा छिन्ने वस्त्रे किमुत्कीर्यमाणा उभयतो दशिका न जायन्ते एव। अथवा-तेनोभयतः छिन्नेन वाससा तैः स्तेनाः कार्पासकान् कुर्वन्ति। अथवा-ते किमदशिकानि वस्त्राणि न भुञ्जते, येनैवमुच्यते उभयतश्छेत्तव्यमिति।

अथ द्वितीयं प्रकारमङ्गीकृत्य परिहरन्नाह—

उड्ढं फालानि करेंति, अणिहुताउ दुब्बलं च तं होति ।
कज्जं तं च ण पुस्सति, असिव्वसिव्वंत दोसा य ।२८५।

इह अनिभृता नाम त्रिदण्डिनस्त एव प्राय ऊर्ध्वं फालानि वस्त्राणि वसितुं प्रावरितुं वा कुर्वन्ति नान्ये, तथा तदूर्ध्वफालितं वस्त्रं दुर्बलत्वादेव च तद्विवक्षितं कार्यं प्रावरणादिकं न पुष्यति-न पूरयति परिभुज्यमानमचिरादेव स्फटतीति भावः। स्फटितं च यदि न सीव्यते ततो बहुतरं स्फटति। ततश्च वस्त्राभावे यन्त्रणग्रहणादयो दोषास्तान् प्राप्नुवन्ति, अथ सीव्यते ततः सूत्रार्थपरिमन्थाऽऽदयो दोषाः।

अपि च—

छिन्नम्मि माउगंते, अलक्खणं मज्झफालियं चेव ।
गुणवुड्ढा जं गहियं, न करेइ गुणं अलंभेणं ॥ २८६ ॥

ज्ञानादीनामुपघातो भवति, न पुनः कोऽपि गुणः। अतो गुणवृद्ध्या यद्वस्त्रं गृहीतं सत्तमेव गुणं न करोति, अलं तेन वस्त्रेण, न तद् ग्रहीतुमुचितमिति भावः। बृ० ३ उ०।

तथा चात्र द्रमकेण दृष्टान्तः क्रियते, तमेवाह—

थाइणि वलवा वरिसं, दमओ पालेति तस्स भाएणं ।
चेडीघडण निकायण,उवविट्ठदुमग्गभेसणया॥ २८६ ॥
दुण्ह वि तेसिं गहणं, अलम्मि अस्सेहि अस्सिगं भणइ ।
वड्ढइभावुयधूया-पयाणकुलएण ओवम्मं ॥ २६० ॥

इह पारसविषये कस्यचिद् गृहे प्रभूताः प्रतिवर्षप्रसविन्यो वडवाः सन्ति, तत एव च तुरङ्गमा अपि तस्य बहवः समजायन्त। तेन चाश्वस्वामिना एतावदश्वसमूहमध्ये त्वया वर्षान्ते अश्वद्वयमसक्तो ग्राह्यमित्युक्त्वा कश्चिद्द्रमकोऽश्ववडवारक्षणार्थं भृतः, तस्य वडवास्वामिदुहित्र्या सार्द्धं संगतिरभूत्, भृतिकाले च समायाते तेनाश्वरक्षकेण सा तद्दुहिता पृष्टा, कथय अमीषां मध्ये किमपि लक्षणयुक्तमश्वद्वयं येन तद् गृह्णामि, ततस्तयाऽभिहितोऽसौ सर्वेष्वश्वेषु अरण्ये वृक्षच्छायायां विस्रब्धमुपविष्टेषु चर्ममयः कुतुपः पाषाणखण्डानां भृत्वा वृक्षशिखरमारुह्य ततः स चर्मकुतुपः खण्डं खण्डं कुर्वन्नधस्तने मोक्तव्यः, पटहश्च तदग्रतो वादनीयः, एवं कृते यो न त्रस्यते तस्य खुरकेण चर्ममयेण पाषाणखण्डभृतेन पृष्ठतो वाह्यमानेन सर्वानपि वाहय,यौ शेषाश्ववाहनिकातोऽधिकं निर्वहतः तौ द्वावपि गृहाणेति,तेन सर्वं तथैव कृतम्।मूल्यकाले च तेनाश्वस्वामी याचितो ममामुकावश्वौ देहि । तुरङ्गमस्वामी तु समस्तलक्षणयुक्ताविमावश्वाविति कृत्वा ब्रवीति शेषान् द्वौ त्रीन् सर्वान् वा गृहाणेति किमेताभ्यां करिष्यसि?सोऽपि तदश्वद्वयवर्जमपरं कथमपि नेच्छति।ततश्चाश्वस्वामिना स्वभार्याऽभिहिता प्रदीयतामस्मै स्वपुत्रिका, येन गृहजामातृत्वं प्रतिपन्नो न सलक्षणावश्वौ गृहीत्वाऽन्यत्र व्रज-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिः सा च हीनोऽस्याविति नेच्छत्यमुमर्थम्। ततोऽश्वस्वामी भार्यावबोधाय वर्द्धकिसुतं दृष्टान्तीकरोति । यथा केनापि वर्द्धकिना भागिनेयः स्वसुतां दत्त्वा गृहजामाता कृतः । स च किमपि व्यवसायं न करोति, ततो वर्द्धकिदुहित्रा प्रेरितः किमिति पुरुषव्रतरहितः परदत्तमुपजीवंस्तिष्ठसि ? विधेहि किंचित्कर्मान्तरमिति । ततः कुठारं गृहीत्वा काष्ठकर्त्तनार्थमटवीं गतः, स्वाभिलषितकाष्ठप्राप्त्यभावाच्च प्रतिदिवसं रिक्त एव निवर्त्तते, षष्ठे च मासे लब्धं कृष्णचित्रककाष्ठम् , घटितस्ततः कुलकः कलसिकाचतुर्थांशरूपो धान्यमानविशेषः। ततः प्रेषिता स्वभार्या द्रव्यलक्षेण यो गृह्णाति तस्मै प्रदातव्य इत्युक्त्वा,हट्टमार्गे विक्रयार्थं सा च तन्मूल्यलक्षं याचमाना लोकैरुपहस्यते । समायातश्च तत्र कश्चिद् बुद्धिमान् वणिक्, परिभावितं च तेन स्वचेतसि नूनमत्र कारणेन भवितव्यम् , यदेवमियमस्य काष्ठस्य मूल्यं लक्षं याचते, ततो यावत्तेन धान्यं मिमीते तावन्न कथंचित्क्षीयते अतो धान्याद्यक्षयनिमित्तं लक्षमपि दत्त्वा गृहीतस्तेन कुलकः । ततः प्रभृति तेन सल्लक्षणजातात्कृकेण गृहे धृतेन सर्वमपि वर्द्धकिकुटुम्बं धनधान्यादिना वृद्धिमुपययौ । तथा त्वमपि निजदुहितरं यद्यस्मै प्रयच्छसि ततोऽनेन अस्मद्गृहे तिष्ठता समस्तलक्षणोपेतमश्वद्वयमपि तिष्ठति, ततोऽश्वद्वयमाहात्म्येन च सर्वाः संपदः करस्था एवास्माकं भवन्तीत्यादि बहुविधमुक्त्वा दापिता तस्मै दुहिता । अथ गाथाद्वयस्याक्षरार्थः-स्वापिन्यो नाम वडवाः ता उच्यन्ते या वर्षे वर्षे विजनयन्ते ताश्च वर्षमेकं कश्चिद्द्रमकः पालयति, उपलक्षणमिदं तेनाश्वानपि पालयतीत्यादि द्रष्टव्यम् ,कथम् पालयति?,इत्याह-तस्याधिपतेर्भामेन चेतनभूताश्च द्वयलक्षेण ततश्च वडवं पालयति चेटिका समं घटना, तया च स निकारितः एवंविधलक्षणोपेतमेवाऽश्वद्वयं ग्रहीतव्यं नान्यदिति, किं पुनस्तल्लक्षणमित्याह—उपविष्टेष्वश्वेषु द्रुममारुह्य चर्मकुतपस्य घोषणा कर्त्तव्या यौ न त्रस्यतस्तौ लक्षणयुक्तौ, ततो भृतिकाले द्वयोरपि तयोः सलक्षणयोरसौ ग्रहणं करोति, अलं मे परैरश्वैः इदमेव च द्वयं समर्पयेत्येवमाश्विकमश्वस्वामिनं भणति, स च स्वकार्यावबोधाय वर्द्धकेः—रथकारस्य भावुको भागिनेयस्तस्य यद्वर्द्धकिना दुहितुः प्रदानं ततः स्वभार्यया प्रेरितेन कृष्णचित्रकाष्ठमानीय यत् कुलकोद्घाटितस्तेनोपलक्षितमौपम्यं दृष्टान्तवान्। एवं गच्छति लक्षणयुक्तेनोपधिना ज्ञानादीनां वृद्धिरुपजायते । ततश्च स्थितमेतत्-विधिनैव तथा वस्त्रं छेदनीयं यथा प्रमाणयुक्तं भवति । वृ० ३ उ० । (अथ प्रमाणादिस्वरूपनिरूपणद्वारगाथा ' उवहि ' शब्दे द्वितीयभागे १०६० पृष्ठे गता ।)

महाधनवस्त्राणि—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जाइं पुण वत्थाइं जाणिज्जा विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं, तं जहा-आइणगाणि वा सहिणाणि वा सहिणकल्लाणाणि वा आयाणि वा कायाणि वा खोमियाणि वा दुगुल्लाणि वा पट्टाणि वा मलयाणि वा पन्नुन्नाणि वा अंसुयाणि वा चीणंऽसुयाणि वा देसरागाणि वा अमिलाणि वा गज्जफलाणि वा फालियाणि वा कोयवाणि वा कंबलगाणि वा पावराणि वा, अन्नयराणि वा तहप्पगाराइं वत्थाइं महग्घमुल्लाइं लाभे सन्ते नो पडिगाहिज्जा । (सू०-१४५ ×)

स भिक्षुर्यानि पुनर्महाधनमूल्यानि जानीयात् , तद्यथा—आजिनानि—मूषकादिचर्मनिष्पन्नानि श्लक्ष्णानि-सूक्ष्माणि च तानि वर्णच्छव्यादिभिश्च कल्याणानि—शोभनानि वा सूक्ष्मकल्याणानि, 'आयाणि' त्ति क्वचिद्देशविशेषे अजाः सूक्ष्मरोमवत्यो भवन्ति तत्पक्ष्मनिष्पन्नानि आजकानि भवन्ति, तथा क्वचिद्देशे इन्द्रनीलवर्णः कर्पासो भवति तेन निष्पन्नानि कायकानि, क्षौमिकम्—सामान्यकार्पासिकम् , दुकूलम्—गौडविषयविशिष्टं कार्पासिकम् , पट्टसूत्रनिष्पन्नानि पट्टानि मलयानि—मलयजसूत्रोत्पन्नानि ' पन्नुन्नं ' ति वल्कलतन्तुनिष्पन्नम् अंशुकचीनांशुकादीनि नानादेशेषु प्रसिद्धाभिधानानि, तानि च महार्घमूल्यानीति कृत्वा ऐहिकामुष्मिकापायभयाल्लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति । आचा०२श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां भिन्नानि वस्त्राणि—

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा भिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ १० ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् ।

आह किमेतेन सूत्रेण प्रयोजनं पूर्वसूत्रेणैव गतार्थत्वात् ?, उच्यते—

अन्नो गडो य भणितो, उवधिविभागा उ आदिसुत्तेसु ।
सो पुण विभज्जमाणे, उवरि स एगो गडो होति ॥३६२॥

अन्यकृतोऽयं जिनकल्पिकानामयं स्थविरजिनकल्पिकानामयमार्यिकाणामित्येवमविशेषित एवोपधिविभाग आदिसूत्रेषु अनन्तरोक्तेषु भणितः, स पुनरुपधिविभागो जिनकल्पिकादिविभागो भज्यमानोऽस्मिन् प्रस्तुते उपरिसूत्रे व्याकृतः स्फुटो भवति । अत इदं सूत्रमारभ्यते ।

तमेवोपधिविभागं प्रचिकटयिषुराह—

चोद्दससपणवीसो, ओहो व धुवग्गहो अणेगविधो ।
संथारपट्टमादी, उभयोपक्खम्मि णेयव्वो ॥ ३६३ ॥

इह जिनकल्पिकानामौघिक एवोपधिर्भवति नौपग्रहिकः, स्थविरकल्पिकानां तु द्विविधोऽपि भवति, तत्रौघोपधिर्द्विधा चतुर्दशविधः पञ्चविंशतिविधः,चतुर्दशविधः साधूनां,पञ्चविंशतिविधस्तु साध्वीनाम् , उपग्रहोपधिः पुनरनेकविधः।स च संस्तारपट्टादिके उभयपक्षे-साधुसाध्वीजनलक्षणे ज्ञातव्यः । तत्र स्थविरकल्पिकानां चतुर्दशविध ओघोपधिः प्रागनन्तरसूत्र एवोक्तः । वृ० ३ उ० । (' उवहि ' शब्दे द्वितीयभागे १०६८ पृष्ठे प्रथमं प्रव्रजतो वस्त्रग्रहणं प्रतिपादितम् ।)

जुगुप्सापरीषहं प्रत्यधिकं वस्त्रं धरेत्—

तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा, तं जहा-हिरिवत्तियं दुगंछावत्तियं परीसहवत्तियं । (सू०-१७१)

' तिही त्यादि, ह्रीः—लज्जा संयमो वा प्रत्ययो—निमित्तं यस्य धारणस्य तत्तथा, जुगुप्सा—प्रवचनखिंसा विकृताङ्गदर्शनेन मा भूदित्येवं प्रत्ययो यत्र तत्तथा , एवं परी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षहाः—शीतोष्णदंशमशकाऽऽदयः , प्रत्ययो यत्र तत्तथा। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

(३०) गृहपतिकुले वस्त्रग्रहणसामाचारी—

सिया णं एताए एसणाए एसमाणं परो वइज्जा–आउसंतो समणा ! इज्जाहि तुमं मासेण वा दसराएण वा पंचराएण वा सुते वा सुततरे वा तो ते वयं आउसो अण्णयरं वत्थं दाहामो , एयप्पगारं णिग्घोसं सुच्चा णिसम्म से पुव्वामेव आलोइज्जा, आउसो त्ति वा भइणि त्ति वा णो खलु मे कप्पति एयप्पगारं संगारं पडिसुणेत्तए, अभिकंखसि मे दातुं इयाणिमेव दलयाहि से णेवं वदंतं परो वइज्जा–आउसंतो समणा ! अणुगच्छाहि तो ते वयं अण्णयरं वत्थं दाहामो से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसो त्ति वा भइणि त्ति वा, णो खलु मे कप्पइ एयप्पगारे संगारवयणे परिसुणेत्तए अभिकंखसि मे दातुं इयाणिमेव दलयाहि से सेवं वदंतं परो णेत्ता वइज्जा आउसो त्ति वा भइणि त्ति वा आहारे तं वत्थं समणस्स दाहामो अवियाइं वयं पच्छा वि अप्पणो सयट्ठाए पाणाइं० ४ समारंभं समुद्दिस्स० जाव वेएस्सामो, एयप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म तहप्पगारं वत्थं अफासुयं ०जाव णो पडिगाहेज्जा। (सू०–१४६+)

' सिया ण ' मित्यादि स्यात्-कदाचित् णमिति वाक्यालङ्कारे , एतयाऽनन्तरोक्तया वस्त्रैषणया वस्त्रमन्वेषन्तं साधुं परो वदेद्यथा—आयुष्मन् श्रमण ! त्वं मासादौ गते समागच्छ ततोऽहं वस्त्रादिकं दास्यामि , इत्येवं तस्य न शृणुयाच्छेषं सुगमम् , यावदिदानीमेव ददस्वेति एवं वदन्तं साधुं परो ब्रूयाद्यथा अनुगच्छ तावत् पुनः स्तोकवेलायां समागताय दास्यामीत्येतदपि न प्रतिशृणुयाद्वदेद्यदानीमेव ददस्वेति तदेवं पुनरपि वदन्तं साधुं परो गृहस्थो नेता अपरं भगिन्यादिकमाहूय वदेत् , यथा–आनयैतद् वस्त्रं येन श्रमणाय दीयते वयं पुनरात्मार्थं भूतोपमर्देनापरं करिष्याम इत्येतत्प्रकारं वस्त्रं पश्चात्कर्मभयाल्लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति।

सिया णं परो णेत्ता वएज्जा आउसो त्ति वा भइणी ति वा आहर एयं वत्थं सिणाणेण वा०४जाव आघंसित्ता वा पघंसित्ता वा समणस्स ण दास्सामो, एयप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा आउसो त्ति वा भइणीति वा मा एयं तुमं वत्थं सिणाणेण वा०जाव पघंसाहि वा,अभिकंखसि मे दातुं एमेव दलयाहि, से सेवं वदंतस्स परो सिणाणेण वा०जाव पघंसिचा दलएज्जा तहप्पगारं वत्थं अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा। से णं परो णेत्ता वदेज्जा आउसो त्ति वा भइणीति वा आहर एतं वत्थं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेत्ता वा पधोवेत्ता वा समणस्स णं दाहामो, एयप्पगारं णिग्घोसं तहेव, णवरं मा एयं तुमं वत्थं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेहि वा पच्छोलेहि वा, अभिकंखसि सेसं तहेव ०जाव णो पडिगाहेज्जा। (सू०–१४६ ×)

'सिया ण'मित्यादि, तथा स्यात्पर एवं वदेत् , यथा–स्नानादिना सुगन्धद्रव्येणाघर्षणादिकां क्रियां कृत्वा दास्यामि, तदेतन्निशम्य प्रतिषेधं विदध्याद् , अथ प्रतिषिद्धोऽप्येवं कुर्यात्ततो न परिगृह्णीयादिति । एवमुदकादिना धावनादिसूत्रमपि।

से णं परो णेत्ता आउसो त्ति वा भइणीति आहरेति तं वत्थं कंदाणि वा ०जाव हरियाणि वा विसोहित्ता समणस्स णं दाहामो , एयप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म ०जाव भइणीति वा एयाणि तुमं कंदाणि वा ०जाव विसोहेहि,णो खलु मे कप्पति, एयप्पगारे वत्थे पडिग्गाहित्तए, से सेवं वदंतस्य परो जाव० विसोहित्ता दलएज्जा, तहप्पगारं वत्थं अफासुयं० जाव णो पडिग्गाहेज्जा। (सू०–१४६ +)

' से ण ' मित्यादि, स परो वदेद्याचितः सन् यथा कन्दादीनि वस्त्रादपनीय दास्यामीति अत्रापि पूर्ववन्निषेधादिकश्चर्चं इति।

किञ्च—

सिया से परो णेचा वत्थं णिसिरेज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसो त्ति वा भइणीति वा तुमं चेव णं संतियं वत्थं अंतो अंतेणं पडिलेहिस्सामि, केवली बूया–आयाणमेयं वत्थं तेण बद्धे सिया कुंडले वा गुणे वा हिरण्णे वा सुवण्णे वा मणी वा ०जाव रयणावली वा पाणे वा वीए वा हरिए वा अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा० ४ जं पुव्वामेव वत्थं अंतो अंतेण पडिलेहिज्जा। (सू०–१४६)

स्यात्परो याचितः सन् कदाचिद्वस्त्रं निसृजेद्दद्यात् , तं च ददमानमेवं ब्रूयाद्यथा त्वदीयमेवाहं वस्त्रमन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षिष्ये, नैवाप्रत्युपेक्षितं गृह्णीयाद्यतः केवली ब्रूयात्–कर्मोपादानमेतत्किमिति यतस्तत्र किंचित् कुण्डलादिकमाभरणजातं बद्धं भवेत् , सचित्तं वा किंचिद् भवेत् अतः साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यद्वस्त्रं प्रत्युपेक्ष्य गृह्णीयादिति।

किञ्च—साण्डं सपरिकर्म वस्त्रम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण वत्थं जाणेज्जा सअंडं०जाव ससंताणगं तहप्पगारं वत्थं अफासुयं०जाव णो पडिग्गाहेज्जा। (सू०–१४७+)

' से ' इत्यादि,स भिक्षुर्यत् पुनः साण्डादिकं वस्त्रं जानीयात्तन्न प्रतिगृह्णीयादिति। आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

गृहपतिकुलं सर्वचीवरमादाय गोचरचर्यायै गच्छेत् एकेन वस्त्रेण परिव्युषितः स्यात्—

जे भिक्खू एगेणं वत्थेणं परिवुसिए पायबितिएणं, तस्स

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णो एवं भवति वितियं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जं वत्थं जाएज्जा अहापरिग्गहियं वत्थं धारेज्जा०जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठवेज्जा परिट्ठविज्जित्ता अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे ०जाव सम्मत्तमेव समभिजाणीया। (सू०-२१८) आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०।

(३१) इदानीं परिभोग उच्यते—

अब्भंतरं च बाहिं, बाहिं अब्भिंतरं करेमाणो।
परिभोग विवच्चासे, आवज्जति मासियं लहुयं ॥२६१॥

बाहिं दो पाउणमाणस्स कप्पासियमब्भंतरे परिभुंजति, उण्णियं बाहिं परिभुंजति,एस विहिपरिभोगो। अविहिपरिभोगो पुण कप्पासियं बाहिं उण्णियं अंतो एस परिभोगविवच्चासो। असमायारिणिप्फन्नं च से मासलहुयं।

एक्कं पाउरमाणो, तु खोमियं उण्णिए लहू मासो।
दोण्णि य पाउरमाणे, अंते खोमी बहिं उण्णी ॥ २६२॥

एक्कं खोमियं पाउणति, उण्णियमेगं ण पाउणिज्जति। अह पाउणति मासलहुं च से पायच्छित्तं। पच्छद्धं कंठं। खोमियस्स अंतो उण्णियस्स य बाहिं परिभोगे इमो गुणो।

छप्पइय पणगरक्खा, भूसा उज्झातिया य पडिगज्झा।
सीतत्ताणं च कतं, तेण तु खोमं ण बाहिरतो ॥ २६३॥

कप्पासिएण छप्पतिया ण भवन्ति,इतरहा बहू भवन्ति। पणओ उण्णी अंतो उण्णिए वा उण्णिज्जमाणे मलीमसं तत्थ मलीमसे उण्णी भवति, सा विहिपरिभोगेण रक्खिता भवति। बाहिं खोमिएण पाउएण विभूसा भवति, विधिपरिभोगेणं सावि परिहिया। वत्थं मलक्खमं ण। कंबली मलीमसा य। कंबली दुग्गंधा विहिपरिभोगेण सावि उज्झातिया-परिहरिया पडिगज्झा, कंबलीति सीयत्ताणं कयं भवति। एतेहिं कारणेहिं खोमं ण बाहिं पाउणिज्जति त्ति विकप्पंतं पुणो वि एक्कक्कत्ति पयस्स इमं वक्खाणं।

जं बहुधा छेज्जं तं, पमाणवं होति संधिजं तं वा।
सिव्वंतं जं बहुहा, तं वत्थं सपरिकम्मं तु ॥ २६४ ॥

जं बहुहा छिज्जं तं वा पमाणपत्तं भवति, बहुहा वा जं सिव्वियव्वं तं वत्थं बहुपरिकम्मं।

जं छेदेणेगेणं, पमाणवं होति छिज्जमाणं तु।
संधणसिव्वणरहितं, तं वत्थं अप्पपरिकम्मं ॥ २६५ ॥

जं एगच्छेदेण पमाणवं भवति, दसा उ वा परिच्छिंदियव्वा तं अप्पपरिकम्मं। संधणं दोण्ह खंधाणं सिव्वणं, उज्झयइयं तुणणाति।

जं णेव छिंदियव्वं, संधेयव्वं ण सीवियव्वं च।
तं होति अधाकडयं, जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ॥ २६६ ॥

जं पुण छिंदणसिव्वणसंधणरहितं तं अहाकडं बहुपरिकम्मादि एक्केक्कं जहण्णमज्झिममुक्कोसयं भवति।

पढमे पंचविधम्मि वि, दुविहा पडिताणिता मुणेयव्वा।
तज्जातमतज्जाता, चतुरो तज्जाति इतरंगा ॥ २६७ ॥

इह पन्नवणं प्रति बहुपरिकम्मं, तं च जंगमंगादी पंचविधं। तत्थ कारणमासज्ज गहिते दुविधं पडियाणि य देज्जा, तमतज्जायजंगियस्स भंगियादि चउरो अतज्जाता, जंगिय असमाणजातितणओ एगा तज्जाया, एवं सेसाणमवि-चउरोऽतज्जाया। इतरा एगा तज्जाता। अहवा—एक्केक्कं वत्थं वण्णओ पंचविधं, तत्थ समाणवज्जा तज्जाया, चउरो अतज्जाता।

एतेसामण्णतरे, वत्थे पडियाणियं तु जो देज्जा।
तज्जातमतज्जातं, सो पावति आणमादीणि ॥ २६८ ॥

एतेसिं जंगियादिवत्थाणं किण्हादिवत्थाणं वा अण्णतरे तज्जातमतज्जातं जो पडियाणियं देति सो आणादि पावति। तम्हा आणादिदोसपरिहरणत्थं अहाकडं घेत्तव्वं। अहाकडस्स सता "संतासंतसती" गाहा ॥ २६९ ॥ "आसि च्छिण्णा एतेण" ॥ २७० ॥

संतासंतसतीए, कप्पति पडियाणिता तु तज्जाता।
असती तज्जाताए, पडियाणियमेत्तरं देज्जा ॥२७१॥

संतासंतसतिमादिकारणेहिं कप्पति तज्जाया पडियाणिया दाउं, असति तज्जाते इतरा अतज्जाता साऽवि दायव्वा। नि० चू०१ उ०। (अन्ययूथिकपार्श्वस्थादिभ्यो वस्त्राणि ददातीति 'दाण' शब्दे चतुर्थभागे २४६ पृष्ठे गतम्।) (मृतसाध्वर्थं वस्त्रपरिष्ठापना 'साहु' शब्दे वक्ष्यते।) (वस्त्रे यतना यथा वि कलेन्द्रिया न हन्येरन्, इति 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३६३ पृष्ठे उक्तम्।)

न वस्त्राणि धावेत्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णो णवए मे वत्थे त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सिणाणेण वा०जाव पघंसेज्ज वा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णो णवए मे वत्थे ति कट्टु णो बहुदेसिएण सीतोदगवियडेण वा ०जाव पधोएज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा दुब्भिगंधे मे वत्थे त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सिणाणेण वा तहेव बहुसीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा आलावओ। (सू०-१४७)

'से' इत्यादि स भिक्षुर्नवम्—अभिनवं वस्त्रं मम नास्तीति कृत्वा ततो बहुदेश्येन ईषद् बहुना स्नानादिकेन सुगन्धिद्रव्येणाघृष्य—प्रघृष्य वा नो शोभनत्वमापादयेदिति। तथा—'से' इत्यादि स भिक्षुर्नवम्—अभिनवं वस्त्रं मम नास्तीति कृत्वा ततस्तस्यैव (नो) नैव शीतोदकेन बहुशो न धावनादि कुर्यादिति। अपि च—'से' इत्यादि स भिक्षुर्यद्यपि मलोपचितत्वात् दुर्गन्धिवस्त्रं स्यात् तथापि तदपनयनार्थं सुगन्धिद्रव्योदकादिना नो धावनादि कुर्यात्, गच्छनिर्गतः-तदन्तर्गतस्तु यतनया प्रासुकोदकादिना लोकोपघातसंसक्तिभयान्मलापनयनं कुर्यादपीति। आचा०२ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ। (मलिनानां वस्त्राणां धावनमाचार्यस्य कल्पत इति 'अइसय' शब्दे प्रथमभागे २८ पृष्ठे उक्तम्।) (वर्षादौ वस्त्रधावनप्रकारः 'धावण' शब्दे चतुर्थभागे २७५१ पृष्ठे उक्तः।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्त्रग्रहणे कारणमाह—

तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा, तं जहा–हिरिवत्तियं दुगंछा-वत्तियं परीसहवत्तियं ।

'तिहीं' त्यादि, ह्रीर्लज्जा संयमो वा प्रत्ययो निमित्तं यस्य धारणस्य तत्तथा, जुगुप्सा प्रवचनखिंसा विकृताङ्गदर्शनेन मा भूदित्येवं प्रत्ययो यत्र तत्तथा, एवं परीषहाः शीतोष्णदंशमशकादयः प्रत्ययो यत्र तत्तथा । आह च—

"वेउव्विपाउडे वा–इए य ही खद्ध पजणणे चेव ।
एसिं अणुग्गहट्ठा, लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥ १ ॥"

'वेउव्विय'त्ति विकृते तथा अप्रावृत्ते वस्त्राभावे सति वातिके च उच्छूनत्वभाजने ह्रियां सत्यां खद्धे बृहत्प्रमाणे प्रजनने–मेहने 'लिंगुदयट्ठ' त्ति । स्त्रीदर्शने लिङ्गोदयरक्षार्थमित्यर्थः । तथा "तणगहणानलसेवा, निवारणधम्मसुक्कझाणट्ठा । दिट्ठं कप्पपहाणं, गिलाणमरणट्ठया चेव" ॥ १ ॥ इति । स्था० ३ ठा० । (वस्त्रप्रत्युपेक्षणा 'पडिलेहणा' शब्दे पञ्चमभागे ३४४ पृष्ठे उक्ता ।) (अवग्रहानन्तकम् 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६३ पृष्ठे उक्तम् ।) (वस्त्रस्य पुद्गलोपचये साद्यनादिचतुर्भङ्गी 'उवचय' शब्दे द्वितीयभागे ८८१ पृष्ठे गता ।)

जिनकल्पिकानामेकावतारित्वप्रघोषस्सत्योऽसत्यो वा ?, तथा तेषामेव वस्त्राभावे नाग्न्यदर्शनाभावसूचकाक्षराणि भवन्ति तानि प्रसाद्यानीति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्–जिनकल्पिकानामेकावतारित्वप्रघोषमाश्रित्य तथा च तेषां वस्त्राभावे नाग्न्यदर्शनाभावमाश्रित्याक्षराणि तु शास्त्रे दृष्टानि न स्मरन्तीति ॥ ४२ ॥ सेन० १ उल्ला० । यथाऽऽहारं हस्तशतादूर्ध्वमानीतमभ्याहृतं भवति, वस्त्रादिषु तथैवान्यथा वेति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्–'आइन्नं तुक्कोसं, हत्थसयातो घरे उ तिन्नि तहिं ।' इत्यादि पिण्डविशुद्ध्यादिगाथानुसारेण वस्त्रैषणायामपि ज्ञेयम्, य एवाहारदोषास्त एव वस्त्रदोषा इति ॥ १५२ ॥ सेन० ३ उल्ला० । शरीरोद्वर्तनमले तथा स्नानपानीये तथा परिस्वेदपिण्डीकृतवस्त्रादिषु च सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रिया उत्पद्यन्ते न वा इति?प्रश्नः, अत्रोत्तरम्–प्रज्ञापनासूत्रमध्ये–'सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु वा संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति' इत्येतच्चतुर्दशालापकवृत्तिमध्येऽन्यानि यानि मनुष्यसंसर्गादशुचिस्थानानि सन्ति तेषु सम्मूर्च्छिममनुष्या उत्पद्यमानाः कथितास्सन्ति, एतदनुसारेण भवल्लिखितस्थानेष्वपि उत्पद्यमानास्सम्भाव्यन्त इति ॥ १७ ॥ सेन० ४ उल्ला० । तथा–अम्बडश्रावकेणादत्तवारि प्रत्याख्यातमस्ति दत्तवारि तु वस्त्रपूतमपायि किं वाऽन्यथेति?प्रश्नः, अत्रोत्तरम्–औपपातिकोपाङ्गानुसारेणाम्बडो वस्त्रपूतं वारि पीतवानिति ॥ ४७५ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

विषयसूची—

(१ एषणासमितिर्वस्त्रगता तत्रानुयोगद्वारवक्तव्यता ।
(२) वस्त्राणि जङ्गिकादीनि ।
(३) वस्त्राकल्पिकाऽभिधानम् ।
(४) द्रव्यवस्त्रवक्तव्यता ।
(५) वस्त्रगवेषणायां कियद्दूरं गन्तव्यम् ।
(६) वस्त्रगवेषणे प्रतिमाः ।
(७) कया समाचार्या वस्त्रं गवेषणीयम् ।
(८) प्रथमं कायोत्सर्गः केनोत्सारणीयः ।
(९) सामाचारीवैपरीत्यकरणे प्रायश्चित्तम् ।
(१०) वस्त्रग्रहणाभिग्रहविशेषाः ।
(११) कस्य संबन्धीत्येवमपृष्टे उद्गमादिदोषाः ।
(१२) कस्येति पृष्टे आशङ्कनादिप्ररूपणा ।
(१३) वस्त्रविषये उत्तरगुणानधिकृत्य प्ररूपणा ।
(१४) धौतवस्त्रस्य प्रतापनविधिः ।
(१५) वस्त्रधरणविधिः ।
(१६) प्रातिहारिकोपहतवस्त्रविधिः ।
(१७) निर्ग्रन्थीनां वस्त्रग्रहणम् ।
(१८) संयतीप्रायोग्यमुपधिमुत्पाद्य परीक्षणम् ।
(१९) वस्त्रोत्पादननिर्गतानां लाभालाभपरिज्ञानम् ।
(२०) नवानामपि वस्त्रभागानां स्वामिनः ।
(२१) पर्युषणायाः चातुर्मास्ये वस्त्रग्रहणम् ।
(२२) निर्गतानां सामाचारी ।
(२३) ऋतुबद्धे वस्त्राऽग्रहणम् ।
(२४) शीतापगमे तान्यपि वस्त्राणि त्याज्यानि ।
(२५) आचार्यानुज्ञया निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वस्त्रग्रहणम् ।
(२६) लोभद्वारमभियोगद्वारं च ।
(२७) विभूषाद्वारम् ।
(२८) कृत्स्नवस्त्रनिषेधः ।
(२९) अभिन्नवस्त्रग्रहणप्रतिषेधः ।
(३०) गृहपतिकुले वस्त्रग्रहणसामाचारी ।
(३१) वस्त्रपरिभोगविधिः ।

वत्थकप्पिय–वस्त्रकल्पिक–पुं० । वस्त्रग्रहणसामाचारीज्ञातरि, बृ० १ उ० १ प्रक० । (तद्विधिः 'वत्थ'शब्देऽनुपदमेव उक्तः ।)

वत्थक्खेड्ड–वस्त्रखेल–न० । खेलशब्दस्य खड्डादेशः । वस्त्रक्रीडायाम्, तत्परिज्ञानरूपे कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० ।

वत्थगंध–वस्त्रगन्ध–पुं० । वस्त्रं–चीनांशुकादि—गन्धाः काष्ठपुटपाकादयो वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धम्, समाहारद्वन्द्वः । वस्त्रगन्धोभये, "वत्थगंधमलंकार–मित्थीओ सयणाणि य ।" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

वत्थग्गहण–वस्त्रग्रहण–न० । वस्त्रैषणायाम्, प्रव० १२५ द्वार । (तच्च 'वत्थ' शब्देऽनुपदमेव प्रत्यपादि ।)

वत्थण्णयाणुसारि(न्)–वस्त्वन्वयानुसारिन्–पुं० । वस्तुनो धूमादेरन्वयः कार्येऽनुगमो वस्त्वन्वयस्तमनुसरति अनुयातीत्येवं शीलो वस्त्वन्वयानुसारी । वस्तूनामन्वयं साक्षात्कुर्वाणे, अनं० ३ अधि० ।

वत्थधारि(न्)–वस्त्रधारिन्–पुं० । सचेले, "इच्चेयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं" आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

वत्थधोवग–वस्त्रधावक–पुं० । वस्त्रप्रक्षालके रजके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

वत्थधोवण–वस्त्रधावन–न० । वासःक्षालने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ('धावन' शब्दे चतुर्थभागे २७५१ पृष्ठे दर्शितं वस्त्राणां धावनम् ।)

वत्थपडिमा–वस्त्रप्रतिमा–स्त्री० । अभिग्रहविशेषे, स्था० ।

चत्तारि वत्थ पडिमाओ पन्नत्ताओ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्त्रग्रहणविषये प्रतिज्ञाः—कार्पासिकादीत्येवमुद्दिष्टं वस्त्रं याचिष्ये इति प्रथमा, प्रेक्षितं वस्त्रं याचिष्ये नापरमिति द्वितीया, तथोत्तरपरिभोगेन उत्तरीयपरिभोगेन वा शय्यातरेण परिभुक्तप्रायं वस्त्रं ग्रहीष्यामीति तृतीया, तथा तदेवोत्सृष्टधर्मिकं ग्रहीष्यामीति चतुर्थी । स्था० ४ ठा० ।

वत्थपडिया-वस्त्रप्रतिज्ञा-स्त्री० । वस्त्रग्रहणप्रतिज्ञाने, "वहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपिडिया " आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

वत्थपणग-वस्त्रपञ्चक-न० । अप्रत्युपेक्ष्य-दुष्प्रत्युपेक्ष्य-लक्षणे, द्विधा वस्त्रपञ्चके , पा० ।

"अप्पडिलेहिय दूसे, तूली उवहाणगं च नायव्वं ।
गंडुवहाणालिङ्गिणि , मसूरए चेव पोत्तमए ॥ ६ ॥
पल्हविकोयविपावा, रनवयए तह दाढिगाली य ।
दुप्पडिलेहिय दूसे, एयं बीयं भवे पणगं ॥७॥
पल्हविहत्थुत्थरणं, कोयवओ रूवपूरिओ पडओ ।
दढगालि धोयपोत्ती, सेसपसिद्धा भवे भेया ॥ ८ ॥"

अत्र वृद्धसम्प्रदायः-"हत्थुत्थरणं खरडं, १, कोयविओ चूरडिया (वृरुठिया)२, पावा रोसलोमपडओ ३ नवओ जीणं४ दढगाली धोयपोत्ती सदसवत्थं ति भणियं होइ।५।"पा०।स्था०।

वत्थपरिवट्ट-वस्त्रपरिवर्त्त-पुं० । वस्त्रपरिवर्त्तने, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

वत्थपाउरण-वस्त्रप्रावरण-न० । और्णादौ महामूल्ये वस्त्रे , नि० चू० ८ उ० ।

वत्थपूसमित्त-वस्त्रपुष्यमित्र-पुं० । दशपुरनगरे आर्यरक्षितसूरेः स्वनामख्याते शिष्ये, विशे० । " वत्थपुस्समित्तस्स पुण एलेव लद्धी, वत्थेसु उप्पाइयव्वएसु,दव्वतो वत्थं, खेत्ततो वइदिसे महुराए वा, कालतो वासासु सीतकाले वा, भावओ जहा एका कावि रंडा, तीए दुक्खदुक्खेण, छुहाए भरंतीए कत्तिऊण एक्का पोत्ती वुणाविया, कल्लं नियं सेहाति त्ति, एत्थंतरे सा पुस्समित्तेण जाइया, हट्ठतुट्ठा दिज्जा, परिमाणओ सव्वस्स गच्छस्स उप्पाएति । " आव० १ अ० ।

वत्थभोग-वस्त्रभोग-पुं० । देवदूष्यक्षीरोदकादिवस्त्राणां परिभोगे, औ० ।

वत्थव-वास्तव-न० । वस्त्वेव वास्तवम् । सत्यभूते पदार्थे, वाच० । वस्तोरिदम् वास्तवम् । वस्त्वनन्यतत्त्वे,"अवास्तवविकल्पैः सा, पूरिताब्धिरिवोर्मिभिः । " अष्ट० १ अष्ट० ।

वत्थविज्जा-वस्त्रविद्या-स्त्री० । वस्त्रविषयायां विद्यायाम् ,यया परिजपितेन वस्त्रेण वा प्रमृज्यमानः आतुरः प्रगुणो भवति । व्य० ५ उ० ।

वत्थविलेवणमल्लाइ-वस्त्रविलेपनमाल्यादि-पुं० । वासोऽनुलेपनपुष्पप्रभृतौ, पञ्चा० ६ विव० ।

वत्थविहि-वस्त्रविधि-पुं० । वस्त्रस्य परिधानीयादिरूपस्य नवकोणदैविकादिभागयथास्थानविशेषादिविज्ञाने , जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । औ० । वस्त्रप्रकारे, स० २ सम० । "तयाणंतरं च णं वत्थविहिपरिमाणं करेइ णएणत्थ एगेण खोमयजुयलेणं अवसेसं वत्थविहिं पच्चक्खामि " उपा० १ अ० ।

वत्थव्व-वास्तव्य-त्रि० । वसतीति वास्तव्यः । वसेस्तव्यत्कर्त्तरि णिच्चेति तव्यः, णित्वाद् वृद्धिः । वासिनि, " तत्थ य वारवतीए वत्थव्वस्स चेव अन्नस्स रणो," आ० म०१ अ० ।

वत्थाणी-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

वत्थामिल-अम्लातवस्त्र-न० । यानि शीघ्रं न म्लायन्ति तेषु वस्त्रेषु, नि० चू० २ उ० ।

वत्थि-वस्ति-स्त्री० । दृतौ, भ० ।

वत्थी णं भंते ! वाउकाएणं फुडे, वाउकाए वत्थिणा फुडे ?, गोयमा ! वत्थी वाउकाएणं फुडे णो वाउकाए वत्थिणा फुडे । (सू० ६४४ ×)

' वत्थी ' त्यादि , वस्तिर्दृतिः वायुकायेन स्पृष्टो—व्याप्तः सामस्त्येन तद्विवरपरिपूरणात्नो वायुकायो वस्तिना स्पृष्टो वस्तेर्वायुकायस्य परित एव भावात् । भ० १८ श १० उ० । चर्ममय्यां खल्याम् , ओघ० । उपस्थे, गुदे च । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " वत्थी अवाणं " पाइ० ना० २२५ गाथा ।

वत्थिकम्म-वस्तिकर्म्म-न० । चर्मवेष्टनप्रयोगेण शिरःप्रभृतीनां स्नेहपूरणे , विपा० १ श्रु० १ अ० । गुदे वस्त्यादिक्षेपणे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । पुटकेनाधिष्ठाने, स्नेहदाने, दश० ३ अ० । अनुवासने,सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । शलाकानिवेशनस्थाने, औ० ।

वत्थिणिरोह-वस्तिनिरोध-पुं० । उपस्थसंयमे,आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

वत्थिपुडग-वस्तिपुटक-न० । उदरान्तर्वर्त्तिनि प्रदेशे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

वत्थिप्पएस-वस्तिप्रदेश-पुं० । गुह्यप्रदेशे, जं० २ वक्ष० ।

वत्थिभाय-वस्तिभाग-पुं० । नाभेरधो मूत्राधारस्थाने, वाच० । " मणिरयणं, छत्तरयणं वत्थिभाए ठवेइ, " आ० म० १ अ० ।

वत्थिय-वास्त्रिक-पुं० । वस्त्रं शिल्पमस्येति वास्त्रिकः । वस्त्रनिर्माणोपयोगिनि, अनु० । जीवाजीवरूपे, आ० म० १ अ० ।

वत्थु-वस्तु-न० । वसतीति वस्तु । द्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विशे० । आव० । औ० । स्था० । पदार्थे, अष्ट० १ अष्ट० । (उत्पादव्ययध्रौव्यरहिते वस्तु न संभवतीति ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १४६ पृष्ठे चिन्तितम् ।) अथवा-त्रिविधं वस्तु—ग्राह्यं, हेयम् , उपेक्षणीयं चेति । तत्र क्षान्त्यादयो ग्राह्याः, क्रोधादयो हेयाः । अतो निग्रहीतव्यास्त इत्येवमर्थमित्थमुपन्यस्ता इति स्यात्साधु सर्वमेवैतद्गाथासूत्रमिति । ओघ० । वसन्त्यस्मिन् गुणा इति । विशे० । आचार्यादिपुरुषरूपेषु नमस्कारार्हेषु, विशे० । स्था० ६ ठा०३ उ० ।नि० चू० । आ० चू० । आ० म० । पूर्वान्तर्गतेषु अध्ययनस्थानीयेषु ग्रन्थविशेषेषु, नं० । स्था० । अनु० । कर्म० । स० । वसतः साध्यधर्मसाधनधर्मौ अत्रेति वस्तु । प्रकरणात् पक्षे, स्था० १० ठा० ३ उ० । वस्तुनि, " भावो वत्थु पयत्थो " । पाइ० ना० १५५ गाथा । " वत्थुसहावो एसो अचिंतचिंतामणीमहाभागो। थोऊणं तित्थयरे, सेवणे जह तहहं पि ॥१॥" (६ श्लोक-टी०) द्वा० १ अष्ट० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वास्तु–न० । वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु, उत्त० ३ अ० । गृहे, उपा० १ अ० । व्य० । प्रश्न० । नि० चू० । उत्त० । ध० । आव० । सूत्र० । वास्त्वपि सेतुकेतुभेदात् द्विधा—भूमिगृहं सेतु, प्रासादगृहादिकं केतु । तत्र नरेन्द्राद्यध्यासितः सप्तभूमादिरावासविशेषः–प्रासादः, गृहं–शेषजनाधिष्ठितमेकभूमादिकम्, आदिग्रहणात्–कुटीमण्डकापवरादिकं परिगृह्यते ।

तिविहं च भवे वत्थुं, खायं तह उच्चियं च उभयं च ।
भूमिघरं पासाओ, संवद्धघरं भवे उभयं ॥

अथवा–वास्तु त्रिविधं भवेत्, तद्यथा–खातं च, उच्छ्रितं च, उभयं च; खातोच्छ्रितमित्यर्थः । त्रिविधमपि क्रमेणोदाहरति–'भूमिघर'मित्यादि, खातं–भूमिगृहमुच्छ्रितं–प्रासादः, उपलक्षणादन्यदप्येकभूमिद्विभूमादिकं गृहमुच्छ्रितम्, यत्पुनः प्रासादगृहादिकं भूमिगृहेण संवद्धं तद्भवेदुभयं–खातोच्छ्रितम् । बृ० १ उ० २ प्रक० । आचा० । " गृहमध्ये हस्तमितं, खातं परिपूरितं पुनः श्वभ्रम् । यद्यूनमनिष्टं त–त्समे समं धान्यमधिकं तत् ॥ १ ॥ " जं० ३ वक्ष० ।

वत्थुकुरुड–वस्तुकुरुट–न० । शटितपटितगृहे, तद्धि उत्कटमिंवति कृत्वा वास्तुकुरुटमुच्यते । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

वत्थुगयबोह–वस्तुगतबोध–पुं० । जीवाजीवादिपदार्थस्वरूपगतबोधे, दर्श० ३ तत्त्व ।

वत्थुजीवग–वस्तुजीवक–पुं० । गुल्मवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद ।

वत्थुणाण–वस्तुज्ञान–न० । किमिदं राजाऽमात्यादि सभासदादि वा वस्तु दारुणमदारुणं भद्रकमभद्रकं चेति निरूपणे, उत्त० १ अ० ।

वत्थुत्त–वस्तुत्व–न० । जातिव्यक्तिरूपे गुणभेदे, द्रव्या० ११ अध्या० । (वस्तुतत्त्वं च तथा जातिव्यक्तिरूपत्वमिति 'गुण' शब्दे तृतीयभागे ६११ पृष्ठे गतम् ।)

वत्थुदोस–वस्तुदोष–पुं० । वस्तु–प्रकरणात् पक्षस्तस्य दोषः । प्रत्यक्षनिराकृतत्वादिके पक्षदोषे, यथा—श्रावणः शब्दः शब्दे हि श्रावणत्वं प्रत्यक्षनिराकृतमिति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

वत्थुधम्म–वस्तुधर्म–पुं० । वस्तुस्वरूपे, अने० १ अधि० ।

वत्थुल–वस्तुल–पुं० । स्वनामख्याते शाकभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । आचा० । स च गुच्छवनस्पतिषु परिगण्यते । प्रज्ञा० १ पद ।

वत्थुविज्जा–वास्तुविद्या–स्त्री० । प्रासादादिलक्षणाभिधायिशास्त्रे, उत्त० ।

" कुटिला भूमिजाश्चैव, वैनीका द्वन्द्वजास्तथा ।
लतिनो नागराश्चैव, प्रासादाः क्षितिमण्डनाः ॥ १ ॥
सूक्ष्माः पदविभागेन, कर्ममार्गेण सुन्दराः ।
फलावासिकरा लोके, भङ्गभेदयुता विभोः ॥ २ ॥
अण्डकैस्तु विविक्तास्ते, निर्गमैश्चारुरूपकैः ।
चित्रपत्रैर्विचित्रैश्च, विविधाकाररूपकैः ॥ ३ ॥ "

इत्यादि । उत्त० १५ अ० । स्था० । आव० । वास्तुनो गृहभूमेर्विद्या वास्तुविद्या । वास्तुशास्त्रप्रसिद्धे गुणदोषविज्ञानरूपे कलाभेदे, जं० २ वक्ष० ।

वत्थुसंत–वस्तुसत्–त्रि० । परमार्थतो विद्यमाने, ध० १ अधि० ।

वत्थुसच्च–वस्तुसत्य–न० । परमार्थसत्ये, षो० १६ विव० ।

वत्थुसमास वस्तुसमास–पुं० । वस्तुसंज्ञकानां पूर्वान्तर्वर्त्यधिकारविशेषाणां द्व्यादिसंयोगे, कर्म० १ कर्म० ।

वत्थूल–वस्तूल–पुं० । गुच्छवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद । हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । नि० चू० ।

वत्थेसणा–वस्त्रैषणा–स्त्री० । वस्त्रगतैषणासमितौ, सा च आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्चमाध्ययने प्रतिपादिता, तत्र द्वा उद्देशकौ, प्रथमोद्देशके तावत् वस्त्रग्रहणविधिः प्रतिपादितो. द्वितीये तु धरणविधिरिति; तदध्ययनमपि वस्त्रैषणेति । आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

वदमाण–वदत्–त्रि० । वाक्यं ब्रुवाणे, प्रज्ञा० ११ पद ।

वादित्ता–वदित्वा–अव्य० । उक्त्वेत्यर्थे, सूत्र०१श्रु०४ अ०१ उ० ।

वद्दलय–वार्दलक–न० । वाः—पानीयं तस्य दलानि वार्दलानि वार्दलान्येव वार्दलकानि । मेघेषु, रा० । स्था० । आ० म० । आव० ।

वद्दलियाभत्त–वार्दलिकाभक्त–न० । वार्दलिका—मेघाडम्बरं तत्र दीयमानं भक्तम् । दुर्दिने दीयमाने भक्ते, वार्दलिकायां हि वृष्ट्या भिक्षाभ्रमणाऽक्षमो भिक्षुको भवतीति गृहीतमर्थं विशेषतो भक्तं दानाय निरूपयतीति । स्था०६ ठा०३ उ० । औ० ।

वद्धमाण–वर्द्धमान–पुं० । राधमाने, वर्धमानः सुभूपोऽथ यौवनाभिमुखोऽभवत्, आ० क० १ अ० । उत्पत्तेरारभ्य ज्ञानाऽऽदिभिर्वर्धत इति वर्द्धमानः, उत्पन्ने वा यस्मिन् ज्ञातकुलं विशेषेण धनेन धान्येन च वर्द्धत इति वर्द्धमानः । आव० २ अ० । श्रीवीरजिनेन्द्रे, " द्वादशे चाह्नि नामास्य, वर्धमान इति व्यधात् । जन्मतोऽपि यतः सौख्यं, राज्याद्यं सर्वमैधत ॥१॥ " आ०क० १ अ० । पं० व० । कल्प० । आ० म० । आ० चू० । स० । (सर्वा वक्तव्यताऽस्य 'वीर' शब्दे वक्ष्यते) " यद्धापितार्थलवमाप्य दुरापमाशु, श्रीगौतमप्रभृतयः शमिनामधीशाः । सूक्ष्मार्थसार्थपरमार्थविदो बभूवुः, श्रीवर्द्धमानविभुरस्तु स वः शिवाय ॥१॥ " कर्म०४ कर्म० । " यो विश्वविश्वभविनां भवबीजभूतं, कर्मप्रपञ्चमवलोक्य कृपापरीतः । तस्य क्षयाय निजगाद सुदर्शनादि–रत्नत्रयं स जयतु प्रभुवर्द्धमानः ॥१॥ " कर्म० ५ कर्म० । " जयति सकलकर्मक्लेशसम्पर्कमुक्त–स्फुरितविनतविप्रज्ञानसम्भारलक्ष्मीः । प्रतिविहतकुतीर्थाशेषमार्गप्रवादः, शिवपदमधिरूढो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥ १ ॥ " पं० सं० ५ द्वार । " अशेषकर्माशतमःसमूह–क्षयाय भास्वानिव दीप्ततेजाः । प्रकाशिताशेषजगत्स्वरूपः, प्रभुः स जीयाज्जिनवर्द्धमानः ॥१॥ " कर्म० ५ कर्म० । "दिनेशवद्ध्यानकरप्रतापै–रनन्तकालप्रचितं समन्तात् । योऽशोषयत्कर्मविपाकपङ्कं, देवः सुदेवोऽस्तु सवर्द्धमानः ।" कर्म०१ कर्म० । अशेषकर्मद्रुमदाहदावं, समस्तविज्ञान–जगत्स्वभावम् । विधूतनिःशेषकुतीर्थिमानं, प्रणौमि देवं जिनवर्द्धमानम् । पं०सं०१द्वार । अस्यामवसर्पिण्यांजाते चतुर्विंशे तीर्थंकरे, स०। सिद्धये वर्द्धमानः स्तात्, ताम्रा यन्नखमण्डली । प्रत्यूहशलभप्लोषे, दीप्रदीपाङ्कुरायते । रत्ना०१ परि० । स्फुरद्वागंशुविध्वस्त–मोहोन्धतमसोदयम् । वर्द्धमानार्कमभ्यर्च्य, यते स-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऽमतिवृत्तये। सम्म०१काण्ड।" जो देवाण वि देवो, जं देवा पं-जली नमंसंति। तं देवदेवमहियं, सिरसा वंदेमहावीरं ॥१॥" ल०"नमःश्रीवर्द्धमानाय,वर्द्धमानाय पर्ययैः। उक्ताचारप्रपञ्चाय, निष्प्रपञ्चाय तायिने॥१॥" आचा०२ श्रु०१ चू०२ अ०१ उ०। "इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स। संसार-सागराओ,तारेइ नरं व नारिं वा ॥१॥" आव०५ अ०। स्कन्धारोपितपुरुषे, म०६ श० ३३ उ०। कल्प०। त्रि०। कृताभिमाने, औ०। नपुं०। अनन्तजिनतीर्थकरस्य प्रथमभिक्षालाभस्थाने, आ० म० १ अ०।

वद्धमाणगणि-वर्द्धमानगणिन्-पुं०। कुमारविहारप्रशस्ति-ग्रन्थकर्त्तरि हेमचन्द्राचार्यशिष्ये, जै० इ०।

वद्धमाणय-वर्द्धमानक-न०। वर्द्धत इति वर्द्धमानं तदेव वर्द्धमानकम्, संज्ञायां कन्प्रत्ययः। बहुबहुतरे बन्धनप्रक्षेपादभिवर्धमानज्वलनज्वालाकलाप इव पूर्वावस्थातो यथायोगं प्रशस्तप्रशस्ततराध्यवसायिनो वर्धमाने अवधिज्ञाने, एतत्किलाङ्गुलासंख्येयभागादिविषयमुत्पद्य पुनर्वृद्धिविषयविस्तरेणात्मिकां याति, यावदलोके लोकप्रमाणान्यसंख्येयानि खण्डानीति। कर्म्म० १ कर्म्म०।

से किं तं वद्धमाणयं ओहिनाणं ?, वद्धमाणयं ओहिनाणं पसत्थेसु अज्झवसाणट्ठाणेसु वट्टमाणस्स वद्धमाणचरित्तस्स विसुज्झमाणस्स विसुज्झमाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओही वड्ढइ।

"जावइअतिसमयाहा-रगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स।
ओगाहणा जहन्ना, ओहीखित्तं जहन्नं तु ॥ ४८ ॥
सव्वबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु।
खित्तं सव्वदिसागं, परमोही खेत्तनिद्दिट्ठो ॥ ४६ ॥
अंगुलमावलिआणं, भागमंसखिज्ज दोसु संखिज्जा।
अंगुलमावलिअंतो, आवलिआ अंगुलपुहुत्तं ॥५०॥
हत्थम्मि मुहुत्तंतो, दिवसंतो गाउअम्मि बोद्धव्वो।
जोयणदिवसपुहुत्तं, पक्खंतो पन्नवीसाओ ॥५१॥
भरहम्मि अ द्धमासो, जंबुद्दीवम्मि साहिओ मासो।
वासं च मणुअलोए, वासपुहुत्तं च रुअगम्मि ॥५२॥
संखिज्जम्मि उ काले, दीवसमुद्दा वि हुंति संखिज्जा।
कालम्मि असंखिज्जे, दीवसमुद्दा उ भइअव्वा ॥५३॥
काले चउण्ह वुड्ढी, कालो भइअव्वुखित्तवुड्ढीए।
वुड्ढीऍ दव्वपज्जव-भइअव्वा खित्तकाला उ ॥५४॥
सुहुमो अ होइ कालो, तत्तो सुहुमयरं हवइ खित्तं।
अंगुलसेढीमित्ते, ओसप्पिणिओ असंखिज्जा ॥५५॥"

सेत्तं वद्धमाणयं ओहिनाणं ॥ (सू०-१२)

अथ किं वर्द्धमानकमवधिज्ञानम् ?, सूरिराह-वर्द्धमानकमवधिज्ञानं प्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषु वर्तमानस्य, इह सामान्यतो द्रव्यलेश्योपरञ्जितं चित्तमध्यवसायस्थानमुच्यते, तच्चानवस्थितम्, तत्तल्लेश्याद्रव्यसान्निध्ये विशेषसम्भवात्, ततो बहुवचनमुक्तम् 'प्रशस्तेष्वि' ति, अनेन चाप्रशस्तकृष्णादिद्रव्यलेश्योपरञ्जितव्यवच्छेदमाह-प्रशस्तेष्वध्यवसायेषु वर्तमानस्येति। किमुक्तं भवति ?-प्रशस्ताध्यवसायस्थानकलितस्य सर्वतः—समन्तादवधिः परिवर्द्धते, इति सम्बन्धः। अनेनाविरतसम्यग्दृष्टेरपि परिवर्द्धमानकोऽवधिर्भवतीत्याख्यायते, तथा-'वद्धमाणचरित्तस्स'-प्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषु वर्द्धमानचरित्रस्य, एतेन देशविरतसर्वविरतयोर्वर्धमानकमवधिमभिधत्ते। वर्धमानकश्चावधिरुत्तरोत्तरां विशुद्धिमासादयतो भवति नान्यथा, तत आह-विशुध्यमानस्य—तदावरणकमलकलङ्कविगमत उत्तरोत्तरविशुद्धिमासादयतः, अनेनाविरतसम्यग्दृष्टेर्वर्द्धमानकावधेः शुद्धिजन्यत्वमाह, तथा-'विशुद्ध्यमानचरित्रस्य च, 'इदं च विशेषणं देशविरतसर्वविरतयोर्वेदितव्यम् सर्वतः-सर्वासु दिक्षु समन्तादवधिः परिवर्द्धते। स च कस्यापि सर्वजघन्यादारभ्य प्रवर्द्धते। ततः प्रथमतः सर्वजघन्यमवधिं प्रतिपादयति- त्रिसमयाहारकस्य आहारयति। आहारं गृह्णातीत्याहारकः, त्रयः समयाः समाहृतास्त्रिसमयम्, त्रिसमयमाहारकस्त्रिसमयाहारकः। 'नामनाम्नैकार्थे समासो बहुल' मिति समासः, तस्य त्रिसमयाहारकस्य सूक्ष्मस्य—सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्तिनः, पनकजीवस्य-पनकश्चासौ जीवश्च पनकजीवश्च, पनकजीवो वनस्पतिविशेषः, तस्य 'यावती' यावत्परिमाणा अवगाहन्ते क्षेत्रं यस्यां स्थिता जन्तवः साऽवगाहना—तनुरित्यर्थः, जघन्या—त्रिसमयाहारकशेषसूक्ष्मपनकजीवापेक्षया सर्वस्तोका, एतावत्परिमाणमवधेर्जघन्यं क्षेत्रम्, तुशब्द एवकारार्थः; स चावधारणे, तस्य चैवं प्रयोगः जघन्यमवधिक्षेत्रमेतावदेवेति। अत्र चायं सम्प्रदायः-यः किल योजनसहस्रपरिमाणायामो मत्स्यः स्वशरीरबाह्यैकदेश एवोत्पद्यमानः प्रथमसमये सकलनिजशरीरसम्बद्धमात्मप्रदेशानामायामं संहृत्याङ्गुलासंख्येयभागबाहल्यं स्वदेहविष्कम्भायामविस्तारं प्रतरं करोति, तमपि द्वितीयसमये संहृत्याङ्गुलासंख्येयभागबाहल्यविष्कम्भां मत्स्यदेहविष्कम्भायाममात्मप्रदेशानां सूचिं विरचयति, ततस्तृतीयसमये तामपि संहृत्याङ्गुलासंख्येयभागमात्र एव स्वशरीरबहिःप्रदेशे सूक्ष्मपरिणामपनकरूपतयोत्पद्यते, तस्योपपातसमयादारभ्य तृतीये समये वर्तमानस्य यावत्प्रमाणं शरीरं भवति तावत्परिमाणं जघन्यमवधेः क्षेत्रमालम्बनवस्तुभाजनमवसेयम्, उक्तं च—

"योजनसहस्रमानो, मत्स्यो मृत्वा स्वकायदेशे यः।
उत्पद्यते हि पनकः, सूक्ष्मत्वेनेह स ग्राह्यः ॥ १ ॥
संहृत्य चाद्यसमये, स ह्यायामं करोति च प्रतरम्।
संख्यातीताख्याङ्गुल—विभागबाहल्यमानं तु ॥ २ ॥
स्वकतनुपृथुत्वमात्रं, दीर्घत्वेनापि जीवसामर्थ्यात्।
तमपि द्वितीयसमये, संहृत्य करोत्यसौ सूचिम् ॥ ३ ॥
संख्यातीताख्याङ्गुल—विभागविष्कम्भमाननिर्दिष्टाम्।
निजतनुपृथुत्वदीर्घां, तृतीयसमये तु संहृत्य ॥ ४ ॥
उत्पद्यते च पनकः, स्वदेहदेशे स सूक्ष्मपरिणामः।
समयत्रयेण तस्या—वगाहना यावती भवति ॥ ५ ॥
तावज्जघन्यमवधे—रालम्बनवस्तुभाजनं क्षेत्रम्।
इदमित्थमेव मुनिगण-सुसम्प्रदायात् समवसेयम् ॥ ६ ॥"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आह—किमिति योजनसहस्रायामो मत्स्यः ?, किं वा तस्य तृतीयसमये स्वदेहदेशे सूक्ष्मपनकत्वेनोत्पादः ?, किं वा त्रिसमयाहारकत्वं परिगृह्यते ?, उच्यते—इह योजनसहस्रायामो मत्स्यः, स किल त्रिभिः समयैरात्मानं संक्षिपति महतः प्रयत्नविशेषात्. महाप्रयत्नविशेषारूढश्चोत्पत्तिदेशेऽवगाहनामारभमाणोऽतीव सूक्ष्ममारभते, ततो महामत्स्यस्य ग्रहणम्। सूक्ष्मपनकश्चान्यजीवापेक्षया सूक्ष्मतमावगाहनो भवति, ततः सूक्ष्मपनकग्रहणम्। तथा उत्पत्तिसमये द्वितीयसमये चातिसूक्ष्मो भवति, चतुर्थादिषु च समयेष्वतिस्थूरः त्रिसमयाहारकस्तु योग्यः ततः त्रिसमयाहारकग्रहणम्। उक्तं च—

"मच्छो महल्लकाओ, संखित्तो जो उ तीहिं समएहिं।
स किर पयत्तविसेसे-ण सरहमोगाहणं कुणइ ॥ १ ॥
सरहयराऽसरहयरो, सुहुमो पणओ जहन्नदेहो य।
स बहुविसेसविसिट्ठो, सरहयरो सव्वदेहेसु ॥ २ ॥
पढमबीएऽतिसरहो, जायइ थूलो चउत्थयाईसुं।
तइयसमयम्मि जोगो, गहिओ तो तिसमयहारो ॥ ३ ॥"

अन्ये तु व्याचक्षते—'त्रिसमयाहारकस्ये' ति आयामप्रतरसंहरणे समयद्वयं तृतीयश्च समयः सूचीसंहरणोत्पत्तिदेशागमनविषयः, एवं त्रयः समया विग्रहगत्यभावाच्चैतेषु त्रिष्वपि समयेष्वाहारकः, तत उत्पादसमय एव त्रिसमयाहारकः सूक्ष्मपनकजीवो जघन्यावगाहनश्च। ततः तच्छरीरमानं जघन्यमवधेः क्षेत्रम्, तच्चायुक्तम्, यतस्त्रिसमयाऽऽहारकस्येति विशेषणं पनकस्य, न च मत्स्यायामप्रतरसंहरणसमयौ पनकभवस्य सम्बन्धिनौ, किन्तु-मत्स्यभवस्य, तत उत्पादसमयादारभ्य त्रिसमयाहारकस्येति द्रष्टव्यम्, नान्यथा। एतावत्प्रमाणं जघन्यं क्षेत्रमवधेः तैजसभाषाप्रायोग्यवर्गणापान्तरालवर्तिद्रव्यमालम्बते 'तेयाभासादव्वाणमंतरा एत्थ लहइ पट्ठवओ' इति वचनात्, तदपि चालम्ब्यमानं द्रव्यं द्विधा—गुरुलघु, अगुरुलघु च। तत्र तैजसप्रत्यासन्नं गुरुलघु, भाषाप्रत्यासन्नं चागुरुलघु, तद्गतांश्च पर्यायान् चतुःसंख्यानेव वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणान् पश्यति न शेषान्। यत आह—"दव्वाइँ अंगुलावलि-संखेज्जातीतभागविसयाइं। पेच्छइ चउग्गुणाइं, जहन्नओ मुत्तिमंताइं ॥१॥" अत्र 'जघन्यत' इति जघन्यावधिज्ञानी। तदेवं जघन्यमवधेः क्षेत्रमभिधाय साम्प्रतमुत्कृष्टमभिधातुकाम आह—यतः ऊर्ध्वमन्य एकोऽपि जीवो न कदाचनापि प्राप्यते सर्वबहवः, सर्वबहवश्च ते अग्निजीवाश्च सूक्ष्मबादररूपाः सर्वबहुग्निजीवाः, कदा सर्वबहुग्निजीवा इति चेद्, उच्यते, यदा सर्वासु कर्मभूमिषु निर्व्याघातमग्निकायसमारम्भकाः सर्वबहवो मनुष्याः, ते च प्रायोऽजितस्वामितीर्थकरकाले प्राप्यन्ते, यदा चोत्कृष्टपदवर्त्तिनः सूक्ष्मानलजीवाः तदा सर्वबहुग्निजीवाः। उक्तं च—"अव्वाघाए सव्वासु, कम्मभूमिसु जया तयारम्भा। सव्वबहवो मणुस्सा, होंतिऽजियजिणिंदकालम्मि ॥ १ ॥ उक्कोसिया य सुहुमा, जया तया सव्वबहुअगणिजीवा।" इति, 'निरन्तरमिति' क्रियाविशेषणं यावत्परिमाणं क्षेत्रं भृतवन्तः। एतदुक्तं भवति—नैरन्तर्येण विशिष्टसूचिरचनया यावद् भृतवन्तः, भृतवन्त इति च भूतकालनिर्देशः अजितस्वामिकाल एव प्रायः सर्वबहवोऽनलजीवा अस्यामवसर्पिण्यां सम्भवन्ति स्मेति ख्यापनार्थम्। इदं चानन्तरोदितं क्षेत्रमेकदिक्कमपि भवति तत आह सर्वदिक्कम्, अनेन सूचिभ्रमणप्रमितत्वं क्षेत्रस्य सूचयति, परमश्चासाववधिश्च परमावधिः, एतावदनन्तरोदितं सर्वबहुनलजीवसूचीपरिक्षेपप्रमितं क्षेत्रमङ्गीकृत्य निर्दिष्टः-प्रतिपादितो गणधरादिभिः क्षेत्रनिर्दिष्टः, एतावत्क्षेत्रं परमावधेर्भवतीत्यर्थः। किमुक्तं भवति ?—सर्वबहुग्निजीवा निरन्तरं यावत् क्षेत्रं सूचीभ्रमणेन सर्वदिक्कं भृतवन्तः एतावति क्षेत्रे यान्यवस्थितानि द्रव्याणि तत्परिच्छेदसामर्थ्ययुक्तः परमावधिः क्षेत्रमधिकृत्य निर्दिष्टो गणधरादिभिः। अयमिह सम्प्रदायः—सर्वबहुग्निजीवाः प्रायोऽजितस्वामितीर्थकृत्काले प्राप्यन्ते, तदारम्भकमनुष्यबाहुल्यसम्भवात्, सूक्ष्माश्चोत्कृष्टपदवर्तिनः तत्रैव विवक्ष्यन्ते, ततश्च सर्वबहवोऽनलजीवा भवन्ति, तेषां स्वबुद्ध्या षोढाऽवस्थानं परिकल्प्यते। एकैकक्षेत्रप्रदेशे एकैकजीवावगाहनया सर्वतश्चतुरस्रो घन इति प्रथमम्, स एव घनो जीवैः स्वावगाहनादिभिरिति द्वितीयम्, एवं प्रतरोऽपि द्विभेदः, श्रेणिरपि द्विधा, तत्राद्या पञ्चप्रकारा अनादेशाः, तेषु क्षेत्रस्याल्पीयस्तया प्राप्यमाणत्वात्, षष्ठस्तु प्रकारः सूत्रादेशः, उक्तं च—"एक्केक्कागासपए—सजीवरयणाएँ सावगाहे य। चउरंसं घणपयरं, सेढी छट्ठो सुयादेसो ॥ १ ॥" ततश्चासौ श्रेणिः स्वावगाहनासंस्थापितसकलानलजीवावलीरूपा अवधिज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु शरीरपर्यन्तेन भ्राम्यते, सा च भ्राम्यमाणा असंख्येयान् लोकमात्रान् क्षेत्रविभागानलोके व्याप्नोति, एतावत्क्षेत्रमवधेरुत्कृष्टमिति। उक्तं च—"निययावगाहणागणि—जीवसरीरावलीसमंतेणं। भामिज्जइ ओहिनाणि, देहपज्जंतओ सा य ॥ १ ॥ अइगंतूणमलोगे, लोगागासप्पमाणमेत्ताइं। ठाइ असंखेज्जाइं, इदमोहिक्खेत्तमुक्कोसं ॥ २ ॥" इदं च सामर्थ्यमात्रमुपवर्ण्यते, एतावति क्षेत्रे यदि द्रष्टव्यं भवति तर्हि पश्यति, यावता तन्न विद्यते, अलोके रूपिद्रव्याणामसम्भवात्, रूपिद्रव्यविषयश्चावधिः, केवलमयं विशेषो यावदद्यापि परिपूर्णमपि लोकं पश्यति तावदिह स्कन्धानेव पश्यति, यदा—पुनरलोके प्रसरमवधिरधिरोहति तदा यथा यथाऽभिवृद्धिमासादयति तथा तथा लोके सूक्ष्मान् सूक्ष्मतरान् स्कन्धान् पश्यति, यावदन्ते परमाणुमपि। उक्तं च—"सामत्थमेत्तमुत्तं, दट्ठव्वं जइ हवेज्ज पेच्छेज्जा। न उ तं तत्थऽत्थि जओ, सो रूविनिबंधणो भणिओ ॥१॥ वड्ढंतो पुण वाहिं, लोगत्थं चेव पासई दव्वं। सुहुमयरं सुहुमयरं, परमोही जाव परमाणू ॥ २ ॥" परमावधिकलितश्च नियमादन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण केवलालोकलक्ष्मीमालिङ्गति। उक्तं च—'परमोहिनाणठिओ, केवलमंतो मुहुत्तमेत्तेणं'। एवं तावज्जघन्यमुत्कृष्टं चावधिक्षेत्रमुक्तम्। सम्प्रति मध्यमं प्रतिपिपादयिषुरेतावत्क्षेत्रोपलम्भे एतावत्कालोपलम्भः, एतावत्कालोपलम्भे चैतावत्क्षेत्रोपलम्भ इत्यस्यार्थस्य प्रकटनार्थं गाथाचतुष्टयमाह-अङ्गुलमिह क्षेत्राधिकारात् प्रमाणाङ्गुलमभिगृह्यते, अन्ये त्वाहुः—अवध्यधिकारादुत्सेधाङ्गुलमिति। आवलिका असंख्येयसमयात्मिका, अङ्गुलं चावलिका चाङ्गुलावलिके तयोरङ्गुलावलिकयोर्भागमसंख्येयमसंख्येयं पश्यत्यवधिज्ञानी, इदमुक्तं भवति-क्षेत्रतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रं पश्यन् कालत आवलिकाया असंख्येयमेव भागमतीतमनागतं च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पश्यति । उक्तं च—' खेत्तमसंखेज्जंगुल—भागं पासंतमेवकालेणं । आवलियाए भागं, तीयमणायं च जाणाइ ॥ १ ॥ ' आवलिकायाश्चासंख्येयं भागं पश्यन् क्षेत्रतोऽङ्गुलासंख्येयभागं पश्यति, एवं सर्वत्रापि क्षेत्रकालयोः परस्परं योजना कर्त्तव्या । क्षेत्रकालदर्शनं चोपचारेण द्रष्टव्यम्, न साक्षात् । न खलु क्षेत्रं कालं वा साक्षादवधिज्ञानी पश्यति, तयोरमूर्त्तत्वात्, रूपिद्रव्यविषयश्चावधिः, तत एतदुक्तं भवति—क्षेत्रे काले च यानि द्रव्याणि तेषां च द्रव्याणां ये पर्यायास्तान् पश्यतीति । उक्तं च—" तत्थेव य जे दव्वा, तेसिं चिय जे हवंति पज्जाया । इय खेत्ते कालम्मि य, जोएज्जा दव्वपज्जाए ॥ १ ॥ " एवं सर्वत्रापि भावनीयम् । क्रिया च गाथाचतुष्टये स्वयमेव योजनीया । तथा द्वयोरङ्गुलावलिकयोः संख्येयौ भागौ पश्यति, अङ्गुलस्य संख्येयभागं पश्यन् आवलिकाया अपि संख्येयमेव भागं पश्यतीत्यर्थः । तथा अङ्गुलम्—अङ्गुलमात्रं क्षेत्रं पश्यन् आवलिकान्तः—किञ्चिदूनामावलिकां पश्यति, आवलिकां चेत् कालतः पश्यति तर्हि क्षेत्रतोऽङ्गुलपृथक्त्वम्-अङ्गुलपृथक्त्वपरिमाणं क्षेत्रं पश्यति । उक्तं च—" संखज्जंगुलभागं, आवलियाए वि मुणइ तइभागं । अंगुलमिह पेच्छंतो, आवलियंतो मुणइ कालं ॥ १ ॥ आवलियं मुणमाणो, संपुन्नं खेत्तमंगुलपुहुत्त " मिति, पृथक्त्वं द्विप्रभृतिः आनवभ्य इति, तथा हस्ते—हस्तमात्रे क्षेत्रे ज्ञायमाने कालतो मुहूर्त्तान्तः पश्यति, अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं कालं पश्यतीत्यर्थः । तथा कालतो दिवसान्तः—किञ्चिदूनं दिवसं पश्यन् क्षेत्रतो गव्यूते—गव्यूतविषयो द्रष्टव्यः, तथा योजनं—योजनमात्रं क्षेत्रं पश्यन् कालतो दिवसपृथक्त्वं पश्यति, दिवसपृथक्त्वमानं कालं पश्यतीत्यर्थः । तथा पक्षान्तः किञ्चिदूनं पक्षं पश्यन् क्षेत्रतः पञ्चविंशतियोजनानि पश्यति, भरते—सकलभरतप्रमाणक्षेत्रावधौ कालतोऽर्द्धमास उक्तः, भरतप्रमाणं क्षेत्रं पश्यन् कालतोऽतीतमनागतं चार्द्धमासं पश्यतीत्यर्थः, एवं जम्बूद्वीपविषयेऽवधौ साधिको मासः कालतो विषयत्वेन बोद्धव्यः । तथा—मनुष्यलोके—मनुष्यलोकप्रमाणक्षेत्रविषयेऽवधौ वर्षं संवत्सरमतीतमनागतं च पश्यति, तथा रुचकाख्ये रुचकाख्यबाह्यद्वीपप्रमाणक्षेत्रविषयेऽवधौ वर्षपृथक्त्वं पश्यति । तथा संख्यायत इति संख्येयः, स च वर्षमात्रोऽपि भवति, ततः तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ?, संख्येयकालो वर्षसहस्रात् परो वेदितव्यः, तस्मिन् संख्येये कालेऽवधिगोचरे सति क्षेत्रतः तस्यैवावधेर्गोचरतया द्वीपाश्च समुद्राश्च द्वीपसमुद्राः तेऽपि संख्येया भवन्ति, अपिशब्दात्-महानेकोऽपि महत एकदेशोऽपि । किमुक्तं भवति ?-संख्येये कालेऽवधिना परिच्छिद्यमाने क्षेत्रमप्यत्रत्यप्रज्ञापकापेक्षया संख्येयद्वीपसमुद्रपरिमाणं परिच्छेद्यं भवति, ततो यदि नामात्रत्यस्यावधिरुत्पद्यते तर्हि जम्बूद्वीपादारभ्य संख्येया द्वीपसमुद्रास्तस्य परिच्छेद्याः । अथवा—बाह्ये द्वीपे समुद्रे वा संख्येययोजनविस्तृते कस्यापि तिरश्चः संख्येयकालविषयोऽवधिरुत्पद्यते तदा स यथोक्तक्षेत्रपरिमाणं तमेवैकं द्वीपं समुद्रं वा पश्यति, यदि पुनरसंख्येययोजनविस्तृते स्वयम्भूरमणादिके द्वीपे समुद्रे वा संख्येयकालविषयोऽवधिः कस्याप्युत्पद्यते तदानीं स प्रागुक्तपरिमाणं तस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा एकदेशं पश्यति, इहत्यमनुष्यबाह्यावधिरिव कश्चित्, तथा कालेऽसंख्येये पल्योपमादिलक्षणे अवधेर्विषये सति तस्यैव संख्येयकालपरिच्छेदकस्यावधेः क्षेत्रतया परिच्छेद्या द्वीपसमुद्राः भाज्या-विकल्पनीया भवन्ति, कस्यचिदसंख्येयाः कस्यचित्संख्येयाः कस्यचिदेकदेश इत्यर्थः, यदा इह मनुष्यस्यासंख्येयकालविषयोऽवधिरुत्पद्यते तदानीमसंख्येया द्वीपसमुद्रास्तस्य विषयः, यदा पुनर्बाह्यद्वीपे समुद्रे वा वर्तमानस्य कस्यचित् तिरश्चोऽसंख्येयकालविषयोऽवधिरुत्पद्यते तर्हि तस्य संख्येया द्वीपसमुद्राः, अथवा—यस्य मनुष्यस्य संख्येयकालविषयो बाह्यद्वीपसमुद्रालम्बनो बाह्यावधिरुत्पद्यते तस्य संख्येया द्वीपाः, यदा पुनः स्वयम्भूरमणे द्वीपे समुद्रे वा कस्यचित्तिरश्चोऽवधिरसंख्येयकालविषया जायते तदानीं तस्य स्वयम्भूरमणस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा एकदेशो विषयः, स्वयम्भूरमणविषयमनुष्यबाह्यावधेर्वा तदेकदेशो विषयः । क्षेत्रपरिमाणं पुनर्योजनापेक्षया सर्वत्रापि जम्बूद्वीपादारभ्यासंख्येयद्वीपसमुद्रपरिमाणमवसेयम् । तदेवं यथा क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिः कालवृद्धौ च यथा क्षेत्रवृद्धिः तथा प्रतिपादितम् । सम्प्रति द्रव्यक्षेत्रकालभावानां मध्ये यद्वृद्धौ यस्य वृद्धिरुपजायते यस्य च न तदभिधित्सुराह-काले अवधिगोचरे वर्द्धमाने चतुर्णां-द्रव्यक्षेत्रकालभावानां वृद्धिर्भवति तथा क्षेत्रस्य वृद्धिः क्षेत्रवृद्धिस्तस्यां सत्यां कालो भजनीयो-विकल्पनीयः, कदाचिद्वर्द्धते कदाचिन्न । क्षेत्रं ह्यत्यन्तसूक्ष्मं, कालस्तु तदपेक्षया परिस्थूरः । ततो यदि प्रभूता क्षेत्रवृद्धिस्ततो वर्द्धते शेषकालं नेति, द्रव्यपर्यायौ तु नियमतो वर्द्धेते । आह च भाष्यकृत्—"काले पवड्ढमाणे, सव्वे दव्वादओ पवड्ढंति । खेत्ते कालो भइओ, वड्ढंति उ दव्वपज्जाया ॥ १ ॥ " तथा द्रव्यं च पर्यायश्च द्रव्यपर्यायौ तयोर्वृद्धौ सत्याम्, सूत्रे विभक्तिलोपः प्राकृतशैल्या, भजनीयावेव क्षेत्रकालौ, तुशब्द एवकारार्थः, स च भिन्नक्रमस्तथैव च योजितः । विकल्पश्चायं-कदाचित्तयोर्वृद्धिर्भवति कदाचिन्न, यतो द्रव्यं क्षेत्रादपि सूक्ष्मम्, एकस्मिन्नपि नभःप्रदेशेऽनन्तस्कन्धावगाहनात्, द्रव्यादपि सूक्ष्मः पर्यायः, एकस्मिन्नपि द्रव्येऽनन्तपर्यायसम्भवात्, ततो द्रव्यपर्यायवृद्धौ क्षेत्रकालौ भजनीयावेव भवतः, द्रव्ये च वर्धमाने पर्याया नियमतो वर्धन्ते, प्रतिद्रव्यं संख्येयानामसंख्येयानां चावधिना परिच्छेदसम्भवात्, पर्यायतो वर्द्धमाने द्रव्यं भाज्यम्, एकस्मिन्नपि द्रव्ये पर्यायविषयावधिवृद्धिसम्भवात् । आह च भाष्यकृत्—" भयणाए खेत्तकाला, परिवड्ढंतेसु दव्वभावेसुं । दव्वे वड्ढइ भावो, भावे दव्वं तु भयणिज्जं ॥ १ ॥ " अत्राह—ननु जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नयोः अवधिज्ञानसम्बन्धिनोः क्षेत्रकालयोरङ्गुलावलिकाऽसंख्येयभागादिरूपयोः परस्परं समयप्रदेशसंख्ययोः किं तुल्यत्वमुत हीनाधिकत्वम् ?, उच्यते-हीनाधिकत्वम्, तथाहि-आवलिकाया असंख्येयभागे जघन्यावधिविषये यावन्तः समयाः तदपेक्षया अङ्गुलस्यासंख्येयभागे जघन्यावधिविषय एव ये नभःप्रदेशास्ते असंख्येयगुणाः, एवं सर्वत्रापि अवधिविषयात् कालादसंख्येयगुणत्वमवधिविषयस्य क्षेत्रस्यावगन्तव्यम् । उक्तं च—" सव्वमसंखेज्जगुणं, कालाओ खेत्तमोहिविसयं तु । अवरोप्परसंबद्धं, समयपएसप्पमाणेणं ॥ १ ॥ " अथ क्षेत्रस्येत्थं कालादसंख्येयगुणता कथमवसीयते ?, उच्यते—सूत्रप्रामाण्यात्, तदेव सूत्रमुपदर्शयति—सूक्ष्मः-श्लक्ष्णो भ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वति कालः, चशब्दो वाक्यभेदक्रमोपदर्शनार्थः, यथा सूक्ष्मस्तावत्कालो भवति यस्मादुत्पलपत्रशतभेदे प्रतिपत्रमसंख्येयाः समयाः प्रतिपाद्यन्ते ततः सूक्ष्मः कालः, तस्मादपि कालात् सूक्ष्मतरं क्षेत्रं भवति, यस्मादङ्गुलमात्रे क्षेत्रे-प्रमाणाङ्गुलैकमात्रे श्रेणिरूपे नभःखण्डे प्रतिप्रदेशं समयगणनया असंख्येया अवसर्पिण्यस्तीर्थकृद्भिराख्याताः। इदमुक्तं भवति-प्रमाणाङ्गुलैकमात्रे एकैकप्रदेशश्रेणिरूपे नभःखण्डे यावन्तो ऽसंख्येयास्ववसर्पिणीषु समयाः तावत्प्रमाणाः प्रदेशा वर्तन्ते, ततः सर्वत्रापि कालादसंख्येयगुणं क्षेत्रं, क्षेत्रादपि चानन्तगुणं द्रव्यं, द्रव्यादपि चावधिविषयाः पर्यायाः संख्येयगुणा असंख्येयगुणा वा। उक्तं च-"खेत्तपएसेहिंतो, दव्वमणंतगुणियं पएसेहिं। दव्वेहिंतो भावो, संखगुणोऽसंखगुणिओ वा॥१॥" तदेतद्वर्द्धमानकमवधिज्ञानम्। नं०। शरावसंपुटे, रा०। जं०। आ० म०। ओघ०। पुरुषारूढे पुरुषे, इत्यन्ये। स्वस्तिकपञ्चके, इत्यन्ये। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रासादविशेषे, इत्यन्ये। भ० ६ श० ३३ उ०। अस्थिकग्रामे, "तस्स पुण अट्ठियगामस्स पढमं वद्धमाणयं ति नाम होत्था," आ० म० १ अ०। आ० चू०। स्वनामख्याते नगरे, तत्र हि अञ्जूरित्यभिधाना कन्या विजयराजपरिणीता योनिशूलेन कृच्छ्रं जीवित्वा नरकं गता। स्था० १० ठा० ३ उ०। द्विषष्टितमे महाग्रहे, स्था०।

दो वद्धमाणगा (सू०) स्था० २ ठा० ३ उ०।

वद्धमाणसूरि-वर्द्धमानसूरि-पुं०। चान्द्रकुलीये स्वनामख्याते विदुषि, "यस्मिन्नतीते श्रुतसंयमश्रिया-वप्राप्नुवत्यावपरं तथाविधम्। स्वस्याश्रयं संवसतोऽतिदुःस्थिते, श्रीवर्द्धमानः स यतीश्वरोऽभवत्॥१॥" पञ्चा० १६ विव०। अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १०८८ अर्बुदगिरौ विमलशाहकृतजिनायतने प्रतिष्ठामकारयत्, प्रथममयं चैत्यवासी जिनचन्द्रसूरिशिष्य आसीत्। जै० इ०।

वद्धमाणा-वर्द्धमाना-स्त्री०। चतसृणां शाश्वतजिनप्रतिमानामन्यतमस्यां शाश्वतजिनप्रतिमायाम्, रा०। ती०।

वद्धवइत्ता-वर्द्धयित्वा-अव्य०। जयादिशब्दै-र्वर्द्धस्वेत्याद्युक्त्वेत्यर्थे, "जएणं विजएणं वद्धावेंति" जयेन वर्धापयते-जय त्वं देव! विजयस्व त्वं देवेत्येवं वर्द्धापयन्तीत्यर्थः। रा०। विपा०।

वपु-वपुष्-न०। शरीरे, स०।

वप्प-वप्र-पुं०। समुन्नते भूभागे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ०। जलभृते केदारे, नि० चू० २० उ०। जी०। जं०। प्रश्न०। "केआरो वप्पिणं वप्पो"। पाइ० ना० १३१ गाथा। पितरि, दश० ७ अ०। तटे, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ०। "रोहो वप्पो य तडो"। पाइ० ना० १३१ गाथा। स्था०। तादृक्प्रेक्षावच्चमत्कारजनके, द्वा० ३ द्वा०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमायां शीतोदाया महानद्या उत्तरस्यां चक्रवर्तिविजये, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

दो वप्पा। स्था० २ ठा० ३ उ०। वप्पो विजये विजया रायहाणी चंदे वक्खारपव्वए।

वप्रो विजयो विजया राजधानी चन्द्रो वक्षस्कारपर्वतः। जं० ४ वक्ष०।

वप्पगा-वप्रका-स्त्री०। धर्मजिननिष्क्रमणोद्याने, आ० म० १ अ०। भरतक्षेत्रेऽस्यामवसर्पिण्यामेकादशचक्रिणो जयस्य मातरि, स०। आव०।

वप्पगावई-वप्रकावती-स्त्री०। जम्बूद्वीपे शीतोदाया महानद्या उत्तरे समुद्रप्रत्यासन्ने विजये वर्तमानायां नद्याम्, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

दो वप्पगावई। स्था० २ ठा० ३ उ०।

वप्पद्दार-वप्रद्वार-न०। द्वारविशेषे, सेन०। तथा—समवसरणे तृतीयवप्रद्वारेषु द्वारपालमाश्रित्य—"प्रतिवप्रं प्रतिद्वारं, तुम्बरुप्रमुखाः सुराः। दण्डिनो हि प्रतीहाराः, स्फारशृङ्गारिणोऽभवन्॥१॥" इति वृद्धश्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्ये। तथा—"द्वारेषु रौप्यवप्रस्य, प्रत्येकं तुम्बरुः स्थितः। नृमुण्डमाली खट्वाङ्गी, जटामुकुटभूषितः॥१॥" इति श्रीशान्तिनाथचरित्रे॥ तथा—"अन्यवप्रे प्रतिद्वारं, तस्थौ, द्वास्थस्तु तुम्बरुः। खट्वाङ्गी नृशिरःस्रग्वी, जटामुकुटमण्डितः॥१॥" इति हैमवीरचरित्रे। तथा—"तइयबहिसुरा तुम्बरु, खट्टंगि कवालि जडोमउडधारी। पुव्वाइदारवाला, तुम्बरुदेवो अ पडिहारो॥१॥" इति 'थुणिमो केवलिवत्थं' इति स्तोत्रे इति मतान्तराणि दृश्यन्ते, तेन नवीनप्रारब्धसमवसरणे किंनामानः किमायुधाश्च प्रतीहारा विधीयन्ते?, तथा प्रतिद्वारमेको द्वौ वेति व्यक्त्या प्रसाद्यमिति? प्रश्नः, अत्रोत्तरं—नवीनप्रारब्धसमवसरणे समवसरणस्तोत्रानुसारेण प्रतीहाररूपाणि विधेयानि, प्रतिद्वारं च "वीए देवी जुअला" इति पदस्योपलक्षणपरत्वेन प्रतीहाररूपद्वयं समानाऽऽयुधं भवतीति समवसीयत इति॥३०॥ सेन १ उल्ला०।

वप्पहट्टि-वप्रहृष्ट-पुं०। स्वनामख्याते सूरौ, अनेन मथुराया अन्तिमो राजा प्रतिबोधितः। कलाकलितः शिलास्तम्भश्च कारितः। ती० ६ कल्प।

वप्पा-वप्रा-स्त्री०। भरते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यामेकविंशजिननमेर्मातरि, स०। ति०। आव०। प्रव०।

वप्पि(ण्)-वप्रिन्-पुं०। केदारे, रा०। ज्ञा०। प्रश्न०। "केआरो वप्पिणं वप्पो"। पाइ० ना० १३१ गाथा। क्षेत्रे, मुषिते च। दे० ना० ७ वर्ग ८५ गाथा।

वप्पिय-वाप्रिक-त्रि०। पैतृके, "पुत्ते जाए कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण। जा वप्पी की भुँहडी, चंपिज्जइ अवरेण॥१॥" जातेन पुत्रेण को गुणः, मृतेन पुत्रेण कोऽवगुणः। येन पुत्रेण स नेति गम्यते, या पैतृकी भूमिः परेणाक्रम्यते। प्रा० ढुं० ४ पाद।

वप्पीडिअ-देशी-क्षेत्रे,-दे० ना० ७ वर्ग ४८ गाथा।

वप्फ-वाष्प-पुं०। "वाष्पे होऽश्रुणि"॥८।२।७०॥ इत्यनश्रुवाचके न हकारादेशः। ऊष्मणि, प्रा० २ पाद।

वप्फड-वराक-पुं०। हीने, श्रेष्ठे, "प्रिय एवहिं करे सेल्लुकरि, छड्डहिं तुहुँकरवालु। जं कावलिअ वप्फडा, लेहिँ अभग्गु कवालु॥१॥ प्रा० ४ पाद।

वभिआर-व्यभिचार-पुं०। विकल्पे, व्याहतौ, भजनायाम्, अनियमे, विशे०।

वभिआरि(ण्)-व्यभिचारिन्-त्रि०। नियमभञ्जके, जारे, व्य० ६ उ०। स्वैरिणि, व्य० ७ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वमण-वमन-न० । मदनफलादिना (दश० ३ अ० ।) छर्दने, ओघ० । आचा० । विपा० । उद्गिरणे, उत्त०पाई १५ अ० । ऊर्ध्वविरेके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । त्यजने , उत्त० ११ अ० । स्था० । वमनविरेचने करोति । नि० चू० ।

जे भिक्खू वमणं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

जे भिक्खू विरेयणं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

जे भिक्खू वमणविरेयणं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

उड्डद्दरेण वमणं, अहोदरेण विरेयो ।

गाहा—

वमणं विरेयणं वा, जे भिक्खू आइए अणट्ठाए ।

सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ७० ॥

णिप्पयोयणं अणट्ठा चउलहुं च पच्छित्तं पावेति । समतिरित्ते तत्थ पदग्गहणं इमीए गाहाए ।

गाहा—

वमणं विरेयणं वा, अब्भंगो वोलणं सिणाणं वा ।

नेहादि तप्पणरसा-वायणं नत्थि च वत्थी वा ॥७१॥

अब्भंगो तेल्लादिणा फासुगेण देसे, उच्छोलणं । सव्वगातस्स सिणाणं, वण्णबलादिणिमित्तं घयादिणेहपाणं तप्पणं, आदिग्गहणातो—अब्भंगो तप्पणं च । वयत्थंभणं एगमणेगदव्वेहिं रसायणं, णासाऽरसादिरोगणासणात्थं णासकरणं, नत्थं कडिवायअरिसविणासणत्थं च अपाणद्दारेण वत्थिणा तेल्लादिपदत्थाणं वत्थिकम्मं । किं चान्यत्-विविधाणं दव्वाणं एगाणेगयुत्ताणं वीरियविवागफलं णेगविहं जाणेऊण दव्वाणं अब्भवहारं करेति । जतो बन्नति ।

वण्णरसगाहा—

वण्णरसरूवमेहा-वगपलितपणासणट्ठा वा ।

दीहाउ तदट्ठा वा, थूलकिसट्ठा व तं कुज्जा ॥ ७२ ॥

सरीरेसु वन्नया भवति महुरसरो पडिपुण्णेंदिओ रूववं माहात्म्यधारणाजुत्तो भवति । चंगा गंड भवन्ति सुकुचियगत्ता वलीपलितयाणयणासणट्ठा उवउज्जंति, दव्वे, अहवा-दीहाउ भवामि त्ति तदट्ठा वोवयुज्जंति: थूलो वा किसो वा भवामि किसो वा थूलो वा भवामीति एतदट्ठा तव्विधदव्वोवयोगं करेति । एवमादि करेंतस्स आणादिया दोसा ।

इमे य दोसा—

उभयधरणम्मि दोसा, अह करणे कयो य जं च उड्डाहो ।

पत्थणमग्गणं पि य,अगिलाणगिलाणकरणे य ॥७३॥

उभए त्ति वमणं विरेयणं । अतीव वमणे मरेज्ज, अह उभयं धरेति तो उड्डणिरोहे कोढो, वच्चनिरोहे य सुखेनैव मरणं । अध अतिवेगेण अत्थंडिलादिसु छड्डणा णिसिरिणं वा एत्थ कायविराहणा । जं च अप्पाणं अगिलाणं गिलाणं करेति तण्णिप्फणं, चत्तसरीरा वि सरीरकम्मं करेति, त्ति उड्डाहो । तम्मि कते पत्थं अण्णं मग्गियव्वं पथ्यभोजनमित्यर्थः, अहवा-पत्थणं करेंतेहिं अप्पसागारितो पडिस्सतो मग्गियव्वो ।

इमं वितियपदं । गाहा—

ठाण वुप्पतियं दुक्खं, अभिभूतो वेदणाए तिव्वाए ।

अदीणो य अव्वहितो, तं दुक्खहियासए सम्मं ॥ ७४ ॥

अव्वोच्छित्तिनिमित्तं, जीवट्ठाए समाहिहेउं वा ।

वमणविरेयणमादी, जयणाए आदिते भिक्खू ॥ ७५ ॥

दोहि गाहातो ततिए उद्देसकगमेण पूर्ववत् । नि०चू०१३उ० ।

वमाल-पुञ्जि-धा० । ण्यन्तः । चयने, " पुञ्जेरारोल-वमालौ " ॥ ८ । ४ । १०२ ॥ इति पुञ्जेर्ण्यन्तस्य वमालादेशः । वमालइ । पुञ्जयति । प्रा० । कलकले, " रोलो रावो वयलो हलवोलो कलयलो वमालो य " पाइ० ना० ३४ गाथा ।

वमालइ-देशी—पुञ्जयति, दे० ना० ७ वर्ग ४६ गाथा ।

वम्फ-काङ्क्ष-धा० । पृच्छायाम् , खादने च । " धातवोऽर्थान्तरेऽपि " ॥ ८ । ४ । २५९ ॥ इत्यन्तर्गणसूत्रेण काङ्क्षतेर्वम्फादेशः । प्राकृते—वम्फइ । अस्यार्थः--पृच्छति, खादति वा । प्रा० । "दलिवल्योर्विसट्ट-वम्फौ" ॥ ८ । ४ । १७६ ॥ इति वलेर्वम्फादेशः । वम्फइ । वलइ । वलते । प्रा० । "वर्गेऽन्त्यो वा" ॥८ । १ । ३०॥ इति चानुस्वारः । वम्फइ । वंफइ । प्रा० १ पाद ।

वम्म-वर्मन्-न० । वृणोति-आच्छादयति शरीरकमिति वर्म । अश्वतनुत्राणे, उत्त० ४ अ० ।

वम्मधारि-(ण्)-वर्मधारिन्-त्रि० । वर्म सन्नाहं धरतीति । सन्नाहधारके, उत्त० ४ अ० ।

वम्मह-मन्मथ-पुं० । " मन्मथे वः " ॥ ८ । १ । २४२ ॥ इति मन्मथे मस्य वः । प्रा० । " न्मो मः " ॥ ८ । २ । ६१ ॥ इति मस्य न्मः । कामदेवे, " मयरद्धओ अणंगो, रइणाहो वम्महो कुसुमवाणो । कंदप्पो पंचसरो, मयणो संकप्पजोणी य । " पाइ० ना० ७ गाथा ।

वम्मीअ-वल्मीक-न । वल्मीके, " रप्फा--वम्मीअ-वामलूरा य " पाइ० ना० १७१ गाथा ।

वम्मिय-वर्मित-त्रि० । वर्मीकृते, औ० । सन्नद्धे, रा० । अङ्गरक्षीकृते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

वल्मीक-न० । पृथ्वीविकाररूपे स्तूभे,सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

वम्मीसर-देशी—कामे, दे० ना० ७ वर्ग ४२ गाथा ।

वय-वचस्-न० । वचने, विशे० । आचा० । उत्त० । स्था० । ज्ञा० । प्रव० ।

व्रज-पुं० । गोकुले, भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । उपा० । वृ० । ओघ० ।

व्रत-न० । नियमे , हा० १३ अष्ट० । नि० । व्रते, उपा० २ अ० । आचा० । स्थूलप्राणातिपातविरमणे, स्था० ४ ठा० । ग० । " सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं १ , सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं २, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ३, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ४, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ५" इति व्रतानि । ग० १ अधि० । महाव्रतेषु, कल्प० १ अधि० १ क्षण । तं० । मूलगुणेषु, स० । प्रव० ।

पञ्चयामचतुर्यामवक्तव्यता । तत्र व्रतद्वारमाह--

पंचायामो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।

मज्झिमगाण जिणाणं,चाउज्जामो भवे धम्मो ॥ ३२३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पञ्च यामा व्रतानि यत्र स पञ्चयामः, "दीर्घह्रस्वौ मिथोवृत्तावि" ति प्राकृतलक्षणवशाच्चकारस्य दीर्घत्वम् । एवंविधो धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य, मध्यमकानां जिनानां पुनश्चतुर्यामो धर्मो भवति , मैथुनव्रतस्य परिग्रहवत एवान्तर्भावविवक्षणात् ।

कुत एवमिति चेत् ? उच्यते—

पुरिमाण दुव्विसोज्झो, चरिमाणं दुरणुपालओ कप्पो ।
मज्झिमगाण जिणाणं,सुविसुज्झो सुअणुपालो य ।३२४।

पूर्वेषां साधूनां दुर्विशोध्यः कल्पचरमाणां पश्चिमानां दुरनुपाल्यः, मध्यमकानां तु जिनानां तु तीर्थे साधूनां सुविशोध्यः सुखानुपाल्यश्च भवति । इयमत्र भावना-पूर्वे साधव ऋजुजडास्ततः परिग्रहव्रत एवान्तर्भावं विवक्षित्वा यदि मैथुनव्रतं साक्षान्नोपदिश्यते ततस्ते जडतया नेदमवबुध्यन्ते, यथा-मैथुनमपि परिहर्त्तव्यम्,यथा तु पृथक् परिस्फुटं मैथुनं प्रतिषिध्यते ततः पर्यवस्यति परिहरति च, पश्चिमस्था वक्रा जडास्ततो मैथुने साक्षादप्रतिषिद्धे परिग्रहान्तस्तदन्तर्भावं जानन्तोऽपि वक्रतया परपरिगृहीतायाः स्त्रियाः प्रतिसेवनां कुर्वीरन्,पृष्टाश्च ब्रुवीरन्, नैवास्माकं परिग्रह इति,तत एतेषां पूर्वपश्चिमानां पञ्चयामो धर्मो भगवता ऋषभस्वामिना वर्द्धमानस्वामिना च स्थापितः । ये तु मध्यमाः साधवस्ते ऋजुप्रज्ञास्ततः परिग्रहे प्रतिषिद्धे प्राज्ञत्वेनोपदेशमात्रादप्यशेषहेयोपादेयविशेषात्पुनः पटीयस्तया चिन्तयेयुः,नापरिगृहीता स्त्री परिभुज्यते, अतो मैथुनमपि न वर्तते सेवितुम् , एवं मैथुनपरिग्रहे अन्तर्भाव्य तथैव परिहरन्ति । ततस्तेषां चतुर्यामो धर्मो मध्यमजिनैरुक्त इति ।

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह—

जडुत्तणेण हंदि, आइक्खविभागउवणता दुक्खं ।
सुहसमुइयदंताण य, तितिक्खअणुसासणा दुक्खं ।३२५।

सर्वेषां साधूनां जडतया ' हंदी ' त्युपदर्शने, वस्तुतत्त्वस्याख्यानं दुःखं कृच्छ्रेण महता वचनादौ प्रयासेन कर्त्तुं शक्यमित्यर्थः । एवमाख्यानेऽपि वस्तुतत्त्वे विभागः—पार्थक्येन व्यवस्थापनं महता कष्टेन कर्तुं शक्यते , विभक्तेऽपि वस्तुतत्त्वे उपनयो हेतुदृष्टान्तैः प्रतीतावारोपणं कर्तुं दुःशक्यम् ,तत्र, प्रथमतीर्थकरसाधवः सुखसमुदिताः कालस्य स्निग्धतया शीतोष्णादीनां तथाविधदुःखहेतूनामभावात् । सुखेन सम्पूर्णास्ततस्ते भिक्षापरीषहादेरधिसहनं तेषां दुःखं दुष्करम् । तथा दाता एकान्तेनोपशान्तास्ते ततः क्वचित्प्रमादस्खलितादौ शिष्यमाणानामनुशासनाऽपि कर्तुं दुःशका ।

मिच्छत्तभावियाणं, दुवियड्ढगतीण वामसीलाणं ।
आइक्खिउ विभइउं, उवणाउं वा वि दुक्खं तु ॥३२६॥
दुक्खेहि भज्जिताणं,तणुधितिअवभत्तओ य दुतितिक्खं ।
एमेव दुरणुसासं, ताणुक्कडओ य चरिमाणं ॥३२७॥

ये तु चरमतीर्थंकरसाधवस्ते प्रायेण मिथ्यात्वभाविता दुर्विदग्धमतयो वा अशीलाश्च, ततस्तेषामपि च श्रुतत्त्वमाख्यातुं विभक्तमुपनेतुं दुःखं दुःखतरम् । तथा कालस्य रूक्षतया च दुःखैर्विविधाधिव्याधिप्रभृतिभिः शारीरमानसैर्भर्त्सितानामत्यन्तमुपतापितानां तनुः शरीरं धृतिः मानसोपष्टम्भस्तद्विषयाऽबलत्वं-बलाभावस्ततः कारणात् दुस्तितिक्षं तेषां परीषहादिकं भवति । एवमेव मानस्याहंकारस्योपलक्षणत्वात् क्रोधादेश्चोत्कटतया दुरनुशासं चरमाणां भवति । उत्कटकषायतया दुःखेनानुशासनां त प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । अत एषां पूर्वेषां च पञ्चयामो धर्म इति प्रक्रमः—

एए चेव य दुट्ठा-सुप्पन्नुज्जुत्तणेण मज्झाणं ।
सुहदुहउभयबलाण य, विमिस्सभावा भवे सुगमा ।३२८।

एतन्मन्ये व्याख्यानादीनि स्थानानि मध्यमानां सुगमानि-सुकराणि भवेयुरिति सम्बन्धः । कुतः ?, इत्याह-सुप्राज्ञऋजुत्वेन प्राज्ञतया ऋजुतया चेत्यर्थः , स्वल्पप्रयत्नेनैव प्रज्ञापनीयास्ते, तत आख्यातविभञ्जनोपनयनानि सुकराणि 'सुहिदुहि' त्ति कालस्य स्निग्धरूक्षतया सुखदुःखे उभे अपि तेषां भवतः । तथा ' उभयबलाणय ' त्ति शारीरं मानसिकं वा उभयमपि बलं तेषां भवति । ' विमिस्सभाव ' त्ति नैकान्तेनोपशान्ता, न वा उत्कटकषायांस्ते ततो विमिश्रभावात् अनुशासनमपि सुकरमेव तेषां भवति । ततश्चतुर्यामस्तेषां धर्म इति । गतं व्रतद्वारम् । बृ० ६ उ । प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणेषु, आव० १ अ० । पं० भा० । पं० चू० । प्रव० । पञ्चा० । व्रता-नियमा इति भागवताः । द्वा० ८ द्वा० । "अहिंसा-सत्यमस्तेयं, ब्रह्माऽकिञ्चन्यमेव च । महाव्रतानि षष्ठं च, व्रतं रात्रौ च भोजनम् " ॥१॥ ध० ३ अधि० । महा० ।

तिविहं तिविहेण समणेहिं, सव्वसावज्जमुज्झियं ।
जावज्जीवं वयं घोरं, पडिवज्जिय मोक्खसाहणं ॥
दुविहेगविहं वा थूलसावज्जमुज्झियं ।
उद्दिट्ठकालियं तु, वयं देसे ण संवमे ॥ महा० २ अ० ।

" वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं, न चापि भग्नं चिरसञ्चितव्रतम् । वरं हि मृत्युः परिशुद्धकर्मणां, न शीलवृत्तस्खलितस्य जीवितम् ॥ १ ॥ " आ० चू० ४ अ० । बृ० ।

तवसंजमं वएसु य, नियमो दंडनायगो ।
तमेव खंडमाणस्स, ण वए णोवसंजमे॥१॥महा०६अ०।

वयस्–न० । पुं० । " स्नम-दाम-शिरो नभः " ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति वा पुंस्त्वम् । देहावस्थाविशेषे, आ० म० १ अ० ।

तओ वया पण्णत्ता, तं जहा—पढमे वए मज्झिमे वए, पच्छिमे वए । (सू०-१५५ ×)

'तओ वए' इत्यादि स्फुटम् , किन्तु प्राणिनां कालकृतावस्था वय उच्यते,तत् त्रिधा बालमध्यमवृद्धत्वभेदादिति। वय उपलक्षणं चेदम्-"आषोडशाद्भवेद्बालो, यावत् क्षीरान्नवर्तकः। मध्यमः सप्तति यावत् , परतो वृद्ध उच्यते ॥ १ ॥ " इति, शेषं प्राग्वत् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । नं० । प्रश्न० ।

तिहिं वएहिं आया केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा,सवणयाए, तं जहा—पढमे वए मज्झिमे वए, पच्छिमे वए, एसो चेव गमो णेयव्वो,० जाव केवलणाणं ति । (सू० १५५ ×) स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

कुमारयौवनमध्यमवृद्धत्वे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । पञ्चा० । आव० । सूत्र० । ज्ञा० । रा० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यय-पुं० लब्धस्य प्रणाशे, नि० चू० १ उ०। व्ययं चायोचितं कुर्यात्, यतः—"पादमायान्निधिं कुर्यात्, पादं वित्ताय कल्पयेत्। धर्मोपभोगयोः पादं, पादं भर्तव्यपोषणे ॥ १ ॥" केचित्त्वाहुः—"आयादर्द्धं नियुञ्जीत, धर्मे समधिकं ततः। शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम् ॥ १ ॥" निर्द्रव्यसद्रव्ययोरयं विभाग इत्येके। ध० २ अधि०।

वाक्य-न०। वचने, "पच्छा वयमुयाहरे" दश० ७ अ० २ उ०।

वयंत-वदत्-त्रि०। ब्रुवाणे, "वादांश्च प्रतिवादांश्च, वदन्तो निश्चितांस्तथा। तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीडकवद्गतौ" ॥ १ ॥ द्वा० २३ द्वा०।

वयंस-वयस्य-पुं०। स्त्री०। "वक्रादावन्तः" ॥ ८। १। २६॥ इति मध्येऽनुस्वारः। प्रा०। मित्रे, आ० म० १ अ०। "पियवयंसो हिरमाणिज्जो," प्रा० २ पाद। "मित्तो सही वयंसो"। पाइ० ना० १०० गाथा।

वयंसि (ण्)-वचस्विन्-पुं०। वचनं सौभाग्याद्युपेतं यस्यास्ति स वचस्वी। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। नि०। वक्रादित्वादनुस्वारः। वचनसौभाग्योपेते, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०।

वयगुत्त-वचोगुप्त-त्रि०। वचनगुप्त्या गुप्ते, उत्त० १२ अ०। निरूद्धवाक्प्रसरे, उत्त० पाइ० १२ अ०।

वयगुत्ति-वाग्गुप्ति-स्त्री०। "सच्चा तहेव मोसा य, सच्चा मोसा तहेव य। चउत्थी असच्चमोसा उ, वयगुत्ती चउव्विहा ॥१॥" (उत्त० छ० २४ अ०।) इति चतुर्विधे वचोगोपने, नि० चू० १ उ०।

वयग्गाम-व्रजग्राम-पुं०। गोकुले, "ततो सामी वयग्गामं गोउलं पत्तो, तत्थ य दिवसं छणो सव्वत्थ परमन्नं उवक्खडियं" आ० चू० १ अ०। आ० म०।

वयछक्क-व्रतषट्क-न०। प्राणातिपातादीनां रात्रिभोजनविरतिपष्ठानां व्रतानां षट्के, दश० ६ अ०। आव०। दर्श०।

अधुना द्वितीयस्थानविधिमाह—

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूआ, नो वि अन्नं वयावए ॥ ११ ॥
मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहिँ गरहिओ।
अविस्सासो अ भूआणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥ १२ ॥

'अप्पणट्ठ' त्ति सूत्रम्, आत्मार्थम्-आत्मनिमित्तमग्लान एव ग्लानोऽहं ममानेन कार्यमित्यादि, परार्थं वा—परनिमित्तं वा एवमेव, तथा क्रोधाद्वा त्वं दास इत्यादि, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति, मानाद्वा अबहुश्रुत एवाहं बहुश्रुत इत्यादि, मायातो भिक्षाटनपरिजिहीर्षया पादपीडा ममेत्यादि, लोभाच्छोभनतरान्नलाभे सति प्रान्तस्यैषणीयत्वेऽप्यनेषणीयमिदमित्यादि, यदि वा—भयात्—किञ्चिद्वितथं कृत्वा प्रायश्चित्तभयान्न कृतमित्यादि, एवं हास्यादिष्वपि वाच्यम्, अत एवाह—हिंसकं—परपीडाकारि सर्वमेव न मृषा ब्रूयात् स्वयम्, नाप्यन्यं वादयेत् एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्-ब्रुवतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयादिति सूत्रार्थः ॥११॥ किमित्येतदेवमित्याह-'मुसावाउ' त्ति सूत्रम्, मृषावादो हि लोके सर्वस्मिन्नेव सर्वसाधुभिः गर्हितः—निन्दितः, सर्वव्रतापकारित्वात्-प्रतिज्ञातापालनात्। अविश्वासश्च-अविश्वसनीयश्च भूतानां मृषावादी भवति, यस्मादेवं तस्मान्मृषावादं विवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ उक्तो द्वितीयस्थानविधिः।

साम्प्रतं तृतीयस्थानविधिमाह—

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि-उग्गहंसि अजाइया ॥ १३ ॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नोऽवि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥ १४ ॥

'चित्तमंत' त्ति सूत्रम्, 'चित्तवद्—द्विपदादि वा अचित्तवद्वा—हिरण्यादि, अल्पं वा मूल्यतः प्रमाणतश्च, यदि-वा-बहु मूल्यप्रमाणाभ्यामेव, किं बहुना ?-दन्तशोधनमात्रमपि तथाविधं तृणादि अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा न गृह्णन्ति साधवः कदाचनेति सूत्रार्थः ॥१३॥ एतदेवाह-'तं' ति सूत्रं, तत्—चित्तवदादि आत्मना न गृह्णन्ति विरतत्वात्, नापि ग्राहयन्ति परं विरतत्वादेव, तथा अन्यं वा गृह्णन्तमपि स्वयमेव नानुजानन्ति—नानुमन्यन्ते संयता इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ दश० ६ अ० २ उ०। (व्रतषट्कमध्यगतो मैथुनविषयः 'मेहुण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४२६ पृष्ठे गतः।) प्रतिपादितस्तृतीयस्थानविधिः।

इदानीं पञ्चमस्थानविधिमाह-

विडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणिअं।
न ते संनिहिमिच्छंति, नायपुत्तवओरया ॥ १७ ॥
लोहस्सेस अणुप्फासे, मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से ॥ १८ ॥
जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति अ ॥ १९ ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छापरिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा ॥ २० ॥
सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे।
अवि अप्पणोऽवि देहम्मि, नायरंति ममाइयं ॥ २१ ॥

'विड' त्ति सूत्रम्, विडं—गोमूत्रादिपक्वम्, उद्भेद्यं—सामुद्रादि, गद्वा—विडं—प्रासुकम्, उद्भेद्यम्—अप्रासुकमपि एवं द्विप्रकारं लवणम्। तथा तैलं सर्पिश्च फाणितम्, तत्र तैलं-प्रतीतम्, सर्पि-र्घृतम्, फाणितं-द्रवगुडः, एतन्नन्दनाद्येवं प्रकारमन्यच्च न ते साधवः संनिधिं कुर्वन्ति—पर्युषितं स्थापयन्ति, ज्ञातपुत्रवचोरताः—भगवद्वर्धमानवचसि नि:-सङ्गताप्रतिपादनपरे सक्ता इति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ संनिधिदोषमाह-'लोभस्स' त्ति सूत्रम्, लोभस्य-चारित्रविघ्नकारिणश्चतुर्थकषायस्य 'एस अणुप्फास' त्ति एषोऽनुस्पर्शः-एषोऽनुभावो यदेतत्संनिधिकरणमिति, यतश्चैवमतो मन्येमन्यन्ते, प्राकृतशैल्या एकवचनम्, एवमाहुस्तीर्थकरगणधराः अन्यतरामपि—स्तोकामपि यः स्यात्—यः कदाचित्संनिधिं कामयते-सेवते, गृही—गृहस्थोऽसौ भावतः प्रव्रजितो नेति, दुर्गतिनिमित्तानुष्ठानप्रवृत्तेः; संनिधीयते नरकादिष्वात्माऽनयेति 'संनिधिः' इतिशब्दार्थात्, प्रव्रजितस्य च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुर्गतिगमनाभावादिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ आह-यद्येवं वस्त्रा-
दि धारयतां साधूनां कथमसंनिधिरित्यत आह-' जंपि ' त्ति
सूत्रम्, यदप्यागमोक्तं वस्त्रं वा-चोलपट्टकादि, पात्रं वा-अला-
बुकादि, कम्बलं-वर्षाकल्पादि, पादपुञ्छनं-रजोहरणम्,
तदपि ' संयमलज्जार्थ ' मिति पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पु-
रुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति संयमपालनाभावात् लज्जा-
र्थं वस्त्रम्, तद्व्यतिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिर-
हितस्य निर्लज्जतोपपत्तेः, अथवा-संयम एव लज्जा तदर्थं
सर्वमेतद्वस्त्रादि धारयन्ति, पुष्टालम्बनविधानेन परिहरन्ति
च परिभुञ्जते च मूर्च्छारहिता इति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥
यतश्चैवमतः-' न सो ' त्ति सूत्रम्, नासौ निरभिष्वङ्गस्य
वस्त्रधारणादिलक्षणः परिग्रह उक्तो बन्धहेतुत्वाभावात्,
केन ?, ' ज्ञातपुत्रेण ' ज्ञात-उदारक्षत्रियः सिद्धार्थः, तत्पुत्रे-
ण-वर्धमानेन त्रात्रा-स्वपरपरित्राणसमर्थेन, अपि तु-मू-
र्च्छा असत्स्वपि वस्त्रादिष्वभिष्वङ्गः परिग्रह उक्तो बन्धहेतु-
त्वात्, अर्थतस्तीर्थकरेण, ततोऽवधार्य इति-एवमुक्तो मह-
र्षिणा-गणधरेण, सूत्रे 'सेज्जंभव आहे' ति सूत्रार्थः ॥ २० ॥
आह-वस्त्राद्यभावभाविन्यपि मूर्च्छा कथं वस्त्रादिभावे सा-
धूनां न भविष्यति ?, उच्यते-सम्यग्बोधेन तद्बीजभूतावो-
धापघातात्, आह च-' सव्वत्थ ' त्ति सूत्रम्, सर्वत्र-उचि-
ते क्षेत्रे काले च उपधिना-आगमोक्तेन वस्त्रादिना सहा-
पि बुद्धा-यथावद्विदितवस्तुतत्त्वाः साधवः-संरक्षणपरि-
ग्रहाः इति, संरक्षणाय षण्णां जीवनिकायानां वस्त्रादिपरिग्रहे
सत्यपि नाचरन्ति ममत्वमिति योगः। किं चानेन ?, ते
हि भगवन्तः अप्यात्मनोऽपि देहे इत्यात्मनो धर्मकार्ये-
ऽपि विशिष्टप्रतिबन्धनसंगतिं न कुर्वन्ति । ममत्वम्-
आत्मीयाभिधानं, वस्तुतत्त्वावबोधात्, तिष्ठतु तावदन्यत्,
ततश्च देहवदपरिग्रह एव तदिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ उक्तः
पञ्चमस्थानविधिः। (षष्ठस्थानविधिस्तु ' राइभोयण ' श-
ब्देऽस्मिन्नेव भागे ५१० पृष्ठे दर्शितः।) उक्तं व्रतषट्कम्।
दश० ६ अ० २ उ०।

वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ॥ २६८ ॥

व्रतषट्कं-प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनि रात्रिभोजनविरति-
षष्ठानि षड् व्रतानि, कायषट्कं-पृथिव्यादयः षड्जीवनिकायाः
अकल्पः-शिक्षकस्थापनाकल्पादिर्वक्ष्यमाणः गृहिभाजनं-
गृहस्थसम्बन्धि कांस्यभाजनादि प्रतीतं पर्यङ्कः-शयनविशेषः
प्रतीतः । निषद्या च-गृहे एकानेकरूपा स्नानं-देशसर्व-
भेदभिन्नं शोभावर्जनं-विभूषापरित्यागः, वर्जनमिति च
प्रत्येकमभिसंबध्यते, शोभावर्जनं स्नानवर्जनमित्यादीति
गाथार्थः ॥

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसिअं ।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजयो ॥ ८ ॥
जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा ।
ते जाणयमजाणं वा, न हणे णो विघायए ॥ ९ ॥
सव्वे जीवाऽवि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १० ॥

सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिः, अधुना सूत्रान्तरं व्याख्यायते । अस्य
चायमभिसम्बन्धः, गुणा अष्टादशसु स्थानेषु अखण्डास्फुटि-
ताः कर्तव्याः, तत्र विधिमाह-'तत्थिमं' ति सूत्रम्। तत्र-
अष्टादशविधे स्थानगणे व्रतषट्के वा अनासेवनाद्वारेण इदं-
वक्ष्यमाणलक्षणं प्रथमं स्थानं महावीरेण-भगवता अपश्चि-
मतीर्थकरेण देशितं-कथितं यदुताहिंसेति । इयं च सामा-
न्यतः प्रभूतैर्देशितेत्यत आह-निपुणा-आधाकर्माद्यपरिभो-
गतः कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा, न आगमद्वारेण देशि-
ता अपि तु दृष्टा-साक्षाद्धर्मसाधकत्वेनोपलब्धा, किमिती-
यमेव निपुणेत्यत आह-यतोऽस्यामेव महावीरदर्शितायां
सर्वभूतेषु सर्वभूतविषयः संयमो, नान्यत्र, उद्दिश्यकृतादिभो-
गविधानादिति सूत्रार्थः ।८। एतदेव स्पष्टयन्नाह-'जावंति' सू-
त्रम्, यतो हि भागवत्याज्ञा यावन्तः केचन लोके, प्राणिनस्त्रसा-
द्वीन्द्रियादयः, अथवा-स्थावराः-पृथिव्यादयः तान् जानन्
रागाद्यभिभूतो व्यापादनबुद्ध्या अजानन्वा प्रमादपारतन्त्र्येण
न हन्यात् स्वयम्, नापि घातयेदन्यैः'एकग्रहणे तज्जातीयग्रह-
णात्' घ्नतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयाद्, अतो निपुणा दृष्टेति
सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ अहिंसैव कथं साध्वीत्येतदाह-'सव्वे' ति
सूत्रम्, सर्वे जीवा अपि दुःखितादिभेदभिन्ना इच्छन्ति जीवितुं
न मर्तुं प्राणवल्लभत्वात्, यस्मादेवं तस्मात्प्राणवधं घोरं
रौद्रं दुःखहेतुत्वाद् निर्ग्रन्थाः-साधवो वर्जयन्ति भावतः।
णमिति वाक्यालङ्कार इति सूत्रार्थः॥१०॥ दश०६ अ० २ उ०।

वयजुय-व्रतजुत-त्रि०। महाव्रताणुव्रतादिसमन्विते, कर्म०१
कर्म०।

वयजोग-वाग्योग-पुं० । निसृज्यमानभाषापुद्गलसमूहरूपे
(विशे०।) वाग्व्यापारे, सूत्र० २ श्रु० ४ अ०। औ०। ('जोग'
शब्दे चतुर्थभागे १६१५ पृष्ठे अस्य वक्तव्यता उक्ता।)

वयट्ठवणा-व्रतस्थापना-स्त्री०। हिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहे-
भ्यो विरतयो व्रतानि तेषु स्थापना। सामायिकसंयतस्यो-
पस्थापनायाम्, पं० व०। ननु व्रतानां स्थापनेति न युक्तं तत्र
तेषामारोप्यमाणत्वाद्, उच्यते-सामान्येन व्रतानामनादित्वा-
त्तेषु तस्योपस्थाप्यमानत्वादित्थमप्यदोष एव। पं०व०१ द्वार।
(सा च 'उवट्ठवणा' शब्दे द्वितीयभागे ८८३ पृष्ठे प्रत्यपादि।)

वयण-वचन-न०। भणने, स्था० ३ ठा० ३ उ० । अनु० ।
वाक्यक्रियायाम्, प्रव० २ द्वार। रा०। प्रश्न०। " वग्गु त्ति
वा वय त्ति वा वयण त्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० ।

वचनभेदानाह-

तिविहे वयणे पण्णत्ते, तं जहा-तव्वयणे, तदन्नवयणे,
णोअवयणे। (सू०-१७५)

' तिविहे ' त्यादि, अयमस्य गमनिका-तस्य विवक्षितार्थ-
स्य घटादेर्वचनं-भणनं तद्वचनं घटार्थापेक्षया घटवचना-
त्। तस्माद्विवक्षितघटादेरन्यः पटादिस्तस्य वचनं तदन्य-
वचनं घटापेक्षया पटवचनवत्।नोअवचनम्-अभणननिवृत्ति-
र्वचनमात्रं डित्थादिवदिति। अथवा-स-शब्दव्युत्पत्तिनिमि-
त्तधर्मविशिष्टोऽर्थोऽनेनोच्यते इति तद्वचनं यथार्थनामेत्य-
र्थः.ज्वलनतपनादिवत्। तथा तस्माच्छब्दव्युत्पत्तिनिमित्तध-
र्मविशिष्टादन्यः-शब्दप्रवृत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टोऽर्थ उच्यते अ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नेनेति तदन्यवचनमयथार्थमित्यर्थः, मण्डपादिवत्। उभयव्यतिरिक्तं नोअवचनम्, निरर्थकमित्यर्थो डित्थादिवत्। अथ वा-तस्याचार्यादेर्वचनं तद्वचनम्, तद्व्यतिरिक्तवचनं तदन्यवचनम्, अविवक्षितप्रणेतृविशेषम्, नोअवचनम्—वचनमात्रमित्यर्थः। त्रिविधवचनप्रतिषेधस्त्ववचनम्। स्था० ३ ठा० ३ उ०। आ० म०।

एकद्विबहुवचनानि—

तिविहे वयणे पण्णत्ते, तं जहा-एगवयणे दुवयणे बहुवयणे। (सू०-१६३ ×)

'तिविहे' त्यादि, एकोऽर्थ उच्यतेऽनेनोक्तिर्वेति वचनमेकस्यार्थस्य वचनमेकवचनमेवमितरेऽपि। अत्र क्रमेणोदाहरणानि—देवः, देवौ, देवाः, वचनाधिकारे। स्था० ३ ठा० ४ उ०। आ० म०।

स्त्रीपुंनपुंसकवचनानि—

अहवा तिविहे वयणे पण्णत्ते, तं जहा-इत्थिवयणे पुंवयणे णपुंसगवयणे। (सू० १६३ ×)

'अहवे' त्यादि सुबोधम्। उदाहरणानि तु स्त्रीवचनादीनां नदी, नदः, कुण्डमित्यादि। स्था० ३ ठा० ४ उ०। ('सामाइय' शब्दे तद्गतवचनविचारं वक्ष्यामि।)

अतीतानागतप्रत्युत्पन्नवचनानि—

अहवा तिविहे वयणे पण्णत्ते, तं जहा-तीतवयणे पडुप्पन्नवयणे अणागयवयणे। (सू० १६३ ×)

अतीतादीनां कृतवान् करोति करिष्यति, वचनं हि जीवपर्यायस्तदधिकारात्तत्पर्यायान्तराणि त्रिस्थानकेऽवतारयन्नाह—'तिविहे' त्यादि (स्पष्टम्।) स्था० ३ ठा० ४ उ०। (बहूनि वचनानि 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे १५५० पृष्ठे विशेषतः प्रतिपादितानि।) (कथं भाषा भाषणीयेति 'अत्थिवाय' शब्दे प्रथमभागे ५२३ पृष्ठे गतम्।) (पञ्चत्रिंशत्सत्यवचनातिशयाः 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे ३२ पृष्ठे दर्शिताः।) अभियोगपूर्वके आदेशे, भ० ३ श० १ उ०। राजादेशे, औ०। आभाषितस्य इच्छाकारभणने, गृहीतमौनव्रतस्य वचनविषये केनाप्याभाषणे कृते तस्योत्तरभणने, व्य० ३ उ०। (उच्यते इति वचनम्। वचनं त्रिधा—मधुरकटुरूक्षभेदादित्यादि। (ध० १ अधि०।) 'भरह' शब्दे पञ्चमभागे १४२० पृष्ठे गतम्।) आगमे, ध० १ अधि०। ज्ञा०। वक्तव्ये, जं० ३ वक्ष०। भाषापरिणामापन्ने प्रतिपादने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। पुद्गलद्रव्यसमूहे, कर्म० ४ कर्म०।

वदन—न०। करणे ल्युट्। मुखे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। "सारयससंकसोमवयणा" प्रश्न० १ पद। विपा०। प्रश्न०।

वयणकप्प-वचनकल्प-पुं०। वचनवक्तव्यताप्रतिबद्धे कल्पे, पं० भा०।

..................एतो वोच्छं वयणकप्पं।
आहारउवहिसेज्जा, तिकरणसोहीएँ जाहें परितंतो।
पग्गहितविहारातो, तो चेव तिविसयपडिबद्धो।
को तिविसेसं बुज्झति, पसत्थठाणा अहं परिब्भट्ठो।

अंधत्तेणं को वी, ण वुज्झए मंदधम्मत्ता।
दव्वे भावे अंधो, दव्वे चक्खूहिँ भावे ओसण्णो।
संविग्गतणं रोयति, ण तियाइ पहाणमिच्छंतो।
जत्तो चउव्विहारा, तं चेव पसंसते सुलभबोही।
ओसण्णविहारं पुण, पसंसए दीहसंसारी।
आहारोवहिसेज्जा, णीयावासो वि तिकरणविसोही।
तह भावम्मि वि केई, इमं पहाणं ति घोसंति।
णीया विवहारम्मि वि, जदि कुणती णिग्गहं कसायाणं।
तस्स हु भवते सिद्धी, अवितहसुत्ते भणियमेवं।
बहुमोहे वि हु पुव्विं, विहरित्ता संवुडे कुणति कालं।
सो सिज्झति अवि य इमे, पुरिसज्जाता भवे चउरो।
णाणेणं संपण्णो, णाणचरित्तेण एत्थ चउभंगो।
णाणं चेव पहाणो, एवं भासंति णिद्धम्मा।
तम्हा तु न एत्ताइं, कुज्जा आलंबणाइमतिमंतो।
कुज्जाहि य सत्थाइं, इमाइँ आलंबणाइं तु।
तित्थगराण चरित्तं, कसिणंगं पारगाणं च।
जो जाणति सद्दहती, ओसण्णं सो णरो एति।
धुवसिज्झितव्वगम्मि वि, तित्थगरो जदि तवम्मि उज्जमति।
किं पुण तवउज्जोगो, अवसेसेहिं न कायव्वो ?।
चोद्दसपुव्विं कसिणं-गपारगा तेसि जो उ उज्जोगो।
तं जो जाणति सो खलु, संविग्गविहारसद्दहतो।
एमादी आलंबण, काउं संविग्गगं तु रोएति।
को पुण सण्णहतरोए-ति भण्णति इमो तु सुत्तत्थं।
तदुभए अकरजोगि-ओसण्णं रोयओ अण्णो होज्जा।
अहवा दुग्गहियत्थो, अहवा वी मंदधम्मत्ता।
अण्णाणी कडजोगी, दुग्गहियत्थो तु जेण अववादो।
गहिओ ण वि उस्सग्गो, गहिते वा मंदधम्मो तु।
सो रोए उस्सण्णे, इति एसो वण्णिओ वयणकप्पो।
पं० भा० ५ कल्प।

वयणखंति-वचनक्षान्ति-स्त्री०। वचनक्षान्तौ, षो०। "श्रुतमयमात्रापोहा—चिन्तामयभावनामये भवतः। ज्ञाने परे यथार्हं, गुरुभक्तिविधानसल्लिङ्गे" षो० १० विव०। ('णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९८१ पृष्ठे व्याख्यातम्।)

वयणजोग-वचनयोग-पुं०। उच्यते इति वचनं भाषापरिणामापन्नः पुद्गलद्रव्यसमूह इत्यर्थः। तेन वचनेन सह करणभूतेन योगो वचनविषयो वा योगः। वाग्व्यापारे, कर्म० ४ कर्म०।

वयणत्तिय-वचनत्रिक-न०। एको द्वौ बहव इत्येकत्वाद्यभिधायकशब्दत्रये, विशे०। प्रश्न०।

वयणपज्जाय-वचनपर्याय-पुं०। वचनरूपा वस्तुनः पर्याया वचनपर्यायाः। ये शब्दाः सर्वं वस्तु सम्पूर्णं प्रतिपादयन्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वयसमिय-वयःसमित-त्रि०। वाचा समितें, अकुशलवाङ्-निवृत्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

वयसुहया-वचःसुखता-स्त्री०। वाचि सुखं यस्याऽसौ वाक्सुखस्तस्य भावो वाक्सुखता। सर्वेषां श्रोत्रमनःप्रसादकारिण्यां वाचि, प्रश्न० २३ पद।

वयस्स-वयस्य-पुं०। समानवयसि गाढतरस्नेहविषये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। "वयस्याश्चिन्तयामासुः, स्नेहः सत्योऽनयोर्न वा," आ० क० १ अ०।

वया-वचा-स्त्री०। उग्रायाम्, ल० प्र०।

वयाइ-वयआदिक-पुं०। कालकृतावस्थाप्रभृतिषु वयोबैलक्षण्यरूपसौभाग्यैश्वर्यादिषु, पञ्चा० ६ विव०।

वयी-वाचा-स्त्री०। वचनं वाक्, वाग्योगे। स्था० १ ठा०।

एगा वई। (सू० २०)

'एगा वइ' त्ति वचनम्-वाक् योगः-औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो, वाग्योग इति भावः। इयं च सत्यादिभेदादनेकाऽप्येकैव, सर्वेवाचां वचनसामान्येऽन्तर्भावादिति। स्था० १ ठा०।

वर-वर-त्रि०। प्रधाने, उत्त० १ अ०। ज्ञा०। स्था०। कल्प०। सूत्र०। अनु०। आ० म०। जी०। प्रश्न०। औ०। उत्तमे, प्रश्न० १ पद। श्रेष्ठे,सूत्र०२ श्रु०२ अ०। सू० प्र०। रा०। आव०। ज्ञा०। नं०। "वरकुंडलुज्जोइयाणणे"-वराभ्यां कुण्डलाभ्यामुद्योतितं भास्वरीकृतमाननं येषां ते वरकुण्डलोद्योतिताननाः। जी० ४ प्रति० २ उ०। वरिष्ठे, आ० चू० २ अ०। भव्ये, "वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।" उत्त० १ अ०। परिणेतरि, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ०। जारे,जामातरि च। पुं०। कुङ्कुमे, मनागभीष्टे, न०। भावे अप्-अच् वा। इच्छायाम्, याचने, आवरणे, वेष्टने च। वाच०।

वरअ-वराक-पुं०। दीने, "दीणो वरओ।" पाइ० ना०२६१ गाथा।

वरइअ-देशी-धान्यविशेषे, दे० ना० ७ वर्ग ४६ गाथा।

वरइत्त-देशी-अभिनववरे, दे० ना० ७ वर्ग ४४ गाथा।

वरउप्फ-देशी-मृते, दे० ना० ७ वर्ग ४७ गाथा।

वरंक-वराङ्क-पुं०। प्रधानलक्षणे, औ०।

वरंकुर-वराङ्कुर-पुं०। कर्मधारयसमासः। प्रथममुद्भिद्यमानेऽङ्कुरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। बहुव्रीहिः समासः। त्रि०। वराङ्कुरोपेते, रा०।

वरंग-वराङ्ग-न०। गण्डे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

वरंड-देशी-प्राकारे, दे० ना० ७ वर्ग ८६ गाथा।

वरंतिया-वरान्तिका-स्त्री०। श्रेष्ठदिशि,यस्यां दिशि तीर्थकरकेवलिमनःपर्यायज्ञानावधिज्ञानिचतुर्दशपूर्वधरादयो यावत् युगप्रधाना विहरन्ति। आ० म० १ अ०।

वरकडग-वरकटक-पुं०। वरकङ्कणे, कल्प० १ अधि० १ क्षण।

"वरकडगतुडियथंभियभुयं" वरैः-प्रधानैः कटकैः-वलयैः तुटकैश्च बाह्वाभरणैः स्तम्भित इव भुजो यस्य स तथा। कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

वयदुप्पणिहाण-वाग्दुष्प्रणिधान-न०। कृतसामायिकस्य निष्ठुरसावद्यवाक्प्रयोगे, आव० ६ अ०।

वयधर-व्रतधर-पुं०। भरतक्षेत्रजपद्मप्रभतीर्थकरसमकालिके ऐरवतषष्ठजिने,प्रव०७ द्वार। व्रतधारिशब्दोऽप्यत्र यथा-"पउमप्पभो भरहे वयधारिजिणो य एरवयवासे," ति०। स०।

वयपडिमा-व्रतप्रतिमा-स्त्री०। "दंसणपडिमाजुत्तो, यततो गुणव्वए निरइयारे। अणुकंपाइगुणजुतो, जीवो इह होइ वयपडिमा॥१॥" इत्युक्तलक्षणे उपासकप्रतिमाभेदे, उपा० १ अ०।

वयपडिवत्ति-व्रतप्रतिपत्ति-स्त्री०। अणुव्रतादीनामङ्गीकरणे, पञ्चा० १ विव०।

वयपत्त-वयःप्राप्त-त्रि०। यौवनं प्राप्ते, पिं०।

वयपरिणाम-वयःपरिणाम-पुं०। वृद्धत्वे, "वयपरिणामो य जरा।" पाइ० ना० १०७ गाथा।

वयपुण्ण-वाक्पुण्य-न०। वाचा तीर्थकरादिप्रशंसनलभ्ये पुण्ये, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

वयप्पहाण-व्रतप्रधान-पुं०। व्रतं-यतित्वं प्रधानमुत्तमं शाक्यादियतित्वापेक्षया निर्ग्रन्थयतित्वात्, येषां व्रतेन वा प्रधाना ये ते तथा। निर्ग्रन्थश्रमणेषु, औ०।

वयभंग-व्रतभङ्ग-पुं०। नियमभङ्गे, पञ्चा० ५ विव०। आव०। "वरमग्गिम्मि पवेसो, वरं विसुद्धेण कम्मणा मरणं। मा गहियव्वयभंगो, मा जीअं खलु असीलस्स॥१॥" कल्प० १ अधि० १ क्षण।

वयमंत-व्रतवत्-त्रि०। रात्रिभोजनविरमणषष्ठपञ्चममहाव्रतधारिणि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०।

वयमाण-वदत्-त्रि०। वाचं ब्रुवति, सूत्र० १ श्रु० २ अ०२ उ०। व्रजत्-त्रि०। गच्छति, "आपरिमाणमवंतं वयमाणे" अवर्णमश्लाघामवज्ञां वा वदन्-व्रजन् कुर्वन्नित्यर्थः। स्था० ६ ठा० ३ उ०।

वयर-वदर-पुं०। "बोर" इति प्रसिद्धे वृक्षभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। आ० म०।

वयरी-वैरी-स्त्री०। कोटिककाकन्दिकाभ्यां निर्गतस्य कोटिकगणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

वयल-देशी-पुं०।कलकले,"रोलो रावो वयलो हलवोलो कलयलो वमालो य" पाइ० ना० ३४ गाथा। विकसने, दे० ना० ७ वर्ग ८४ गाथा।

वयली-देशी-स्त्री०। निद्रायाम्, करनारलतायां च। "पोअइआ य वयली य।" पाइ० ना० १४८ गाथा।

वयविणय-वाग्विनय-पुं०। वाचो विनयार्हेषु कुशलप्रवृत्तौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

वयसंकिलेस-वचःसंक्लेश-पुं०। संक्लेशभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ०।

वयसमिइ-वचःसमिति-स्त्री०। वचोऽकुशलत्वनिरोधे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वरकणग–वरकनक–न०। जात्यसुवर्णे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। वरं–प्रधानं सुवर्णम् वरसुवर्णम्। पीतसुवर्णे, जं० १ वक्ष०। रा०।

वरकणगणिघस–वरकनकनिघर्ष–पुं०। वरकनकस्य जात्यसुवर्णस्य यः कषपट्टको निघर्षः स वरकनकनिघर्षः। पीतसुवर्णस्य कषपट्टके रेखायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

वरकणगथूभियाग–वरकनकस्तूपिकाक–न०। वरकनका वरकनकमयी स्तूपिका–शिखरं यस्य तत् वरकनकस्तूपिकाकम्। स्वर्णमयशिखरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०।

वरकमल–वरकमल–पुं०। प्रधानहरिणे, श्रेष्ठकमले च। जं० २ वक्ष०।

वरकमलगब्भ–वरकमलगर्भ–पुं०। श्रेष्ठकमलमध्यभागे, वरकमलस्य प्रधानहरिणस्य गर्भ इव गर्भो जठरसंभूतत्वसाधर्म्यात्, वरकमलगर्भः। कस्तूरिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

वरकमलगब्भगोरी–वरकमलगर्भगौरी–स्त्री०। वरकमलगर्भः–कस्तूरिका तद्वत् गौरी–अवदाता वरकमलगर्भगौरी श्यामवर्णत्वात्कस्तूरिकायाः। श्यामच्छायायाम्, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

वरकमलगब्भवण्णा–वरकमलगर्भवर्णा–स्त्री०। श्यामवर्णायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

वरकमलपइट्ठाण–वरकमलप्रतिष्ठान–त्रि०। वरं–प्रधानं यत्कमलं तत्प्रतिष्ठानमाधारो येषां ते वरकमलप्रतिष्ठानाः, उत्तमकमलाहितेषु, रा०।

वरकम्म–वरकर्मन्–न०। विवाहसमये वरपक्षीये कर्मणि, भगवत ऋषभस्य वरकर्म देवेन्द्रोऽकार्षीत्, द्वयोर्वरमहिलकयोर्नन्दासुमङ्गलयोर्वधूकर्म देव्योऽकार्षुः। आ० म० १ अ०।

वरकलस–वरकलश–पुं०। माङ्गल्ये प्रवरघटे, आ० चू०१अ०।

वरकहा–वरकथा–स्त्री०। परिणतकथायाम्, प्रश्न० ४ संव० द्वार।

वरकुसुमदाम–वरकुसुमदामन्–न०। प्रधानपुष्पमालावलौ, पञ्चा० ४ विव०। "वरकुसुमदामुज्जलं" वराश्च ताः कुसुमदाममालाश्च वरकुसुममालास्ताभिरुज्ज्वलं देदीप्यमानत्वाद् वरकुसुमदाममालोज्ज्वलम्। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

वरकोउय–वरकौतुक–न०। श्रेष्ठकुतूहले, "वरकोउयमंगलोवयारकयसंतिकम्मं" वराणि यानि कौतुकानि भूतिरक्षादीनि मङ्गलानि च सिद्धार्थकादीनि तद्रूप उपचारः–पूजा तेन कृतं शान्तिकर्म–दुरितोपशमक्रिया यस्य सः। भ० ११ श० ११ उ०।

वरग–वरक–पुं०। वरट्टे, धान्यविशेषे, जं० २ वक्ष०। भ०। मण्यादिमहामूल्ये, आचा० १ श्रु० ७ अ० ७ उ०।

वरगंध–वरगन्ध–पुं०। प्रधानवासे, स०। औ०। प्रज्ञा०।

वरगंधपुप्फदाण–वरगन्धपुष्पदान–न०। सुगन्धिकुसुमानां प्रधानवासानां पुष्पाणां वितरणे, पञ्चा० २ विव०।

वरगंधिय–वरगन्धिक–त्रि०। वरो गन्धो वरगन्धः सोऽस्यास्तीति वरगन्धिकम्। ततोऽनेकस्वरादितीकप्रत्ययः। सुगन्धयुक्ते, सू० प्र० २० पाहु०। चं० प्र०।

वरगवेसिय–वरगवेषित–त्रि०। ग्रामनगरादिषु प्रमाणीकृतेन ग्राममहत्तरादिना गवेषिते, नि० चू०।

जे भिक्खू वरगवेसियपडिग्गहयं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ। नि० चू० २ उ०।

('पत्त' शब्दे पञ्चमभागे ४०३ पृष्ठे व्याख्यातम्।)

वरचंदणवंदिय–वरचन्दवन्दित–त्रि०। वरचन्दनं वन्दितं ललाटे निवेशितं येनेति। चन्दनलिप्तमस्तके, भ० ६ श० ३३ उ०।

वरचंपय–वरचम्पक–पुं०। राजचम्पके, जं० ३ वक्ष०।

वरचम्म–वरचर्मन्–न०। प्रधानचर्मविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

वरचार–वरचार–पुं०। पाण्डवसमकालिके मथुराराजे, "छट्ठं दूयं महुरानयरे तत्थ णं तुमं वरचारं करमल० जाव समोरयह।" ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

वरचीणपट्ट–वरचीनपट्ट–न०। दुकूलवृक्षवल्कवृक्षस्यैव याऽभ्यन्तरहीरतया निष्पाद्यन्ते सूक्ष्मतराणि भवन्ति तानि चीनदेशोत्पन्नानि वा चीनान्युच्यन्ते पट्टसूत्रमयानि पट्टानि। वस्त्रभेदेषु, प्रश्न०४ आश्र०द्वार।

वरजोह–वरयोध–पुं०। प्रधानयोधे, "निच्छियवरजोहजुद्धसद्धा य" प्रश्न० ४ आश्र०द्वार।

वरट्ट–वरट्ट–पुं०। धान्यविशेषे, प्रव० १५४ द्वार। प्रज्ञा०।

वरडी–देशी–तैलाट्याम्, दंशभ्रमरे, दे० ना० ७ वर्ग ८४ गाथा।

वरण–वरण–न०। ग्रहणे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

वरणा–वरणा–स्त्री०। वाणारस्या नगर्याः समीपे नद्याम्, ती० ३७ कल्प। वैराटनगरप्रतिबद्धे जनपदे, वत्स–देशराजधान्यां च। स्त्री०। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

वरतरुणीसंपउत्त–वरतरुणीसंप्रयुक्त–त्रि०। सुरमणीसंप्रयुक्ते, विपा० २ श्रु० १ अ०।

वरतालियंट–वरतालवृन्त–न०। व्यजनविशेषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

वरतुरग–वरतुरग–पुं०। जात्याश्वे,जं० २ वक्ष०। रा०। औ०।

वरत्ता–वरत्रा–स्त्री०। रज्ज्वाम्, "रज्जू वरत्ता य" पाइ० ना० २१० गाथा।

वरदरिसि(ण्)–वरदर्शिन्–पुं०। चरमव्यभिचारित्वेन वस्तुस्वरूपं द्रष्टुं शीलं येषां ते वरदर्शिनः। सम्यग्ज्ञानदर्शनवत्सु, उत्त० २८ अ०। क्षायिकदर्शिनि, स० ३० सम०।

वरदत्त(दिन्न)–वरदत्त–पुं०। अरिष्टनेमेः प्रथमगणधरे, प्रव० ८ द्वार। आ० म०। कल्प०। स०। नि०। आ० चू०। ['अरिट्ठणेमि' शब्दे प्रथमभागे७६५पृष्ठे कथोक्ता।] साकेतमित्रनन्दिनः पुत्रे, विपा०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तद्वक्तव्यता चेयम्—

जइ णं दसमस्स उक्खेवओ एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं साएयं णामे णयरे होत्था, उत्तरकुरुउज्जाणे पासमियो जक्खो मित्तणंदी राया, सिरिकंता देवी वरदत्ते कुमारे वीरसेणपामोक्खा णं पंच देवी सया तित्थगरागमणं सावगधम्मं पुव्वभवो पुच्छा, मणुस्साउए निबद्धे सयदुवारे णयरे विमलवाहणे राया धम्मरुई णामं अणगारं एज्जमाणं पासति पासित्ता पडिलाभिए समाणे मणुस्साउए निबद्धे इहं उप्पण्णे सेसं जहा सुबाहुस्स कुमारस्स चिंता० जाव पव्वज्जा, कप्पंतरीओ० ०जाव सव्वट्ठसिद्धे, तओ महाविदेहे० जाव सिज्झिहिति बुज्झिहिति० सव्वदुक्खाण अंतं करेति एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति। (सू० ३४) । विपा० २ श्रु० १ अ० ।

वरदाम-वरदामन्-न० । स्वनामख्याते जलतीर्थे, तच्च भारते वर्षे दक्षिणस्यामैरवते तत्रत्यापेक्षया दक्षिणस्यां विजयक्षेत्रेषु मध्यमभागेषु इत्येवं चतुस्त्रिंशद्विजयक्षेत्रयुगलानि । जं० ६ वक्ष० । आ० म० ।

वरधणु-वरधनुष्-पुं० । ब्रह्मदत्तराजमन्त्रिणो धनुर्नाम्नः सुते, येन ब्रह्मदत्तमातृव्यभिचारो ब्रह्मदत्तं प्रति कथितः । उत्त० १३ अ० । आ० क० । आ० म० । आ०चू० । व्य० ।('परिणामिया ' शब्दे पञ्चमभागे ६१८ पृष्ठे अस्य वृत्तमुक्तम् ।)

वरधम्मतित्थमग्ग-वरधर्मतीर्थमार्ग-पुं०। धर्मस्य जिनोक्तरूपस्य तीर्थं-पवित्रकरणस्थानकं तस्य मार्गो-ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः, वरश्चासौ धर्मतीर्थमार्गश्चेति तथा । मोक्षमार्गे,तं० ।

वरधम्मसिरी-वरधर्मश्री-पुं० । अतीतायां चतुर्विंशतिकायामन्तिमतीर्थकरे, महा० ।

तेणं कालेणं जा अतीता अन्ना चउव्वीसिगा तीए जारिसो अह य (श्रीवीरः) तारिसो चेव सत्तरयणीपमाणेणं जगच्छेरयभूओ देविंदवंदियए वरधम्मसिरी नाम चरिमतित्थंकरो अहेसि । महा० ।

वरधूव-वरधूप-पुं० । प्रधानधूपे, पञ्चा० ४ विव० ।

वरपट्टण-वरपत्तन-न० । प्रधानपत्तने, औ० । वरवस्त्रोत्पत्तिस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

वरपायव-वरपादप-पुं० । प्रधानद्रुमे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

वरपुंडक-वरपौण्ड्रक-पुं० । विशिष्टे पुण्ड्देशोद्भवे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वरपुरिस- वरपुरुष-पुं० । वासुदेवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । रा० । आ० म० । प्रज्ञा० ।

वरपुरिसवसण-वरपुरुषवसन-न० । वरपुरुषो वासुदेवस्तस्य वसनम् । वासुदेववस्त्रे , तच्च किल पीतमेव भवतीति, पीतोपमायां वर्ण्यते । आ० म० १ अ० । जी० । रा० ।

वरपोय-वरपोत-पुं० । बोहित्थे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

वरप्पसन्ना-वरप्रसन्ना-स्त्री० । सुराविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वरफलग-वरफलक-न० । प्रधानफलके,प्रश्न०३आश्र० द्वार ।

वरफलिह-वरस्फटिक-न० । प्रवलार्गलायाम् , प्रश्न०३आश्र० द्वार ।

वरबोहि-वरबोधि-स्त्री०।विशिष्टसम्यग्दर्शनलाभे,द्वा०३अष्ट० ।

वरबोहिलाभ-वरबोधिलाभ-पुं० । वरः—प्रधानोऽप्रतिपातित्वाद् बोधिलाभः-सम्यग्दर्शनावाप्तिर्यस्य स वरबोधिलाभकः । अप्रतिपातिसम्यग्दर्शिनि , " वरबोहिलाभओ सो , सव्वुत्तमपुण्फसंजुओ भगवं " पञ्चा० ७ विव० ।

वरबोहिलाभपरूवणा-वरबोधिलाभप्ररूपणा-स्त्री० । वरस्य तीर्थकरलक्षणफलकारणतया शेषबोधिलाभेभ्योऽतिशायिनो बोधिलाभस्य प्ररूपणा-प्रज्ञापना, अथवा-वरस्य-द्रव्यलाभव्यतिरिक्तस्य पारमार्थिकस्य बोधिलाभस्य प्ररूपणा।तीर्थकरत्वस्य फलतो हेतुतश्च प्ररूपणायाम् , ध० । हेतुतः स्वरूपतः फलतश्चेति । तत्र हेतुतस्तावदाह-तथा भव्यत्वादितोऽसाविति । भव्यत्वं नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वमनादिपरिणामिभाव आत्मस्वतत्त्वमेव । तथा भव्यत्वं तु भव्यत्वस्य फलदानाभिमुख्यकारि वसन्तादिवद्वनस्पतिविशेषस्य कालः कालसद्भावेऽपि न्यूनाधिकव्यपोहेन नियतकार्यकारिणी नियतिः,अपचीयमानसंक्लेशनानाशुभाशयसंवेदनहेतुः कुशलानुबन्धिककर्मसमुपचितपुण्यसंभारो महाकल्याणाशयः प्रधानपरिज्ञानवान् प्ररूप्यमाणार्थपरिज्ञानकुशलः पुरुषः ततस्तथा भव्यत्वमादौ येषां ते तथा, तेभ्यः असौ वरबोधिलाभः प्रादुरस्ति, स्वरूपं च जीवादिपदार्थश्रद्धानमस्य । ध० १ अधि० ।

वरभवण—वरभवन—न० । सामान्यतो विशिष्टे गृहे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। औ० । " वरभवणविसिट्ठसंठाणसंठिए " वरभवनविशिष्टसंस्थानसंस्थिताः । वरभवनं सामान्यतो विशिष्टं गृहं तस्येव यत् विशिष्टं संस्थानं तेन संस्थिताः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वरमउड-वरमुकुट-न० । प्रवरशेखरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

वरमल्लधर-वरमाल्यधर-त्रि० । वराभरणधारिणि , सू० प्र० २० पाहु० ।

वरमहिस-वरमहिष-पुं० । प्रधाने सौरभेये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । औ० । जं० ।

वरमुत्तम-वरमोत्तम-त्रि० । वरा-श्रेष्ठा मा-लक्ष्मीस्तया उत्तमम् । सुश्रीके, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

वरमुरय-वरमुरज-पुं० । महामर्दले, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

वररुइ-वररुचि-पुं० । नवमनन्दसमकालिके काव्यकर्त्तरि, आ० क० ४ अ० । (' थूलभद्द ' शब्दे चतुर्थभागे २४१६ पृष्ठे कथोक्ता ।) वररुचिकृतं प्राकृतव्याकरणमपि अस्ति , तथा चाह स्वप्राकृतलक्षणे-'इजेराः पादपूरणे' ॥ ८।२।२१७ ॥ इति लेखात् । आ० म० १ अ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वरला-वरला-स्त्री० । हंस्याम् , "वरलाओ हंसीओ ।" पा-इ० ना० १२५ गाथा ।

वरवइरविग्गहिय-वरवज्रविग्रहिक-पुं० । वरवज्रस्येव ग्रह आकृतिर्यस्य स स्वार्थिकप्रत्यये वरवज्रविग्रहिकः । मध्य-क्षाम, भ० २ श० ८ उ० ।

वरवरा-वरवर्ण-पुं० । प्रधानचन्दने, औ० ।

वरवराह-वरवराह-पुं० । श्रेष्ठशूकरे, तं० ।

वरवरिया-वरवरिका-स्त्री० । समयपरिभाषया, वरं याचध्वं वरं याचध्वमित्येवं घोषणायाम् , आ० म० १ अ० । आव० । ('महादाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६१ पृष्ठे स्वरूपमस्याः प्रतिपादितम् ।)

वरवारण-वरवारण-पुं० । प्रधानगजेन्द्रे तं०।औ०।प्रश्न०।जी०। "वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलासियगई" अस्य व्याख्या-अत्रापि मत्तशब्दस्य विशेष्यात् परनिपातः प्राकृतत्वात् । मत्तो-मदोन्मत्तो यो वरः-प्रधानो भद्रजातिको वारणो हस्ती तस्य तुल्यः सदृशो विक्रमः-पराक्रमो विलासिता-विलासः संजातोऽस्या विलासिता तारकादिदर्शनादितप्रत्ययः । वि-लासवती गतिर्गमनं येषां ते वरवारणमत्ततुल्यविक्रमविला-सितगतयः । जी० ३ प्रति० २ उ० ।

वरवारुणी-वरवारुणी-स्त्री० । वरा चासौ वारुणी वरवा-रुणी । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । उत्तमवारुणीनामके मदि-राभेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रश्न० ।

वरसमाहि-वरसमाधि-पुं० । परमस्वास्थ्यरूपे भावसमाधौ, ध० २ अधि० । ल० ।

वरसासण-वरशासन-न० । अनुत्तरे शासने,क० प्र०१० प्रक० ।

वरसिट्ठ-वरसिष्ट-न० । शक्रलोकपालस्य वरशिष्टस्य विमाने, भ० ३ श० ७ उ० । (वक्तव्यता 'लोगपाल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ।)

वरसीधु-वरसीधु-न० । वरं च तत्सीधु वरसीधु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । मदिराविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वरहाड-निरसृ-धा० । बहिर्देशसंयोगानुकूले व्यापारे, "नि-स्सरे-र्णीहर-नील-धाड-वरहाडाः" ॥ ८ । ४ । ७६ ॥ इति निस्सरतेर्वरहाडादेशः । वरहाडइ । निस्सरति । प्रा० ४ पाद ।

वरहिण-वर्हिण्-पुं० । मयूरे, जी० १ प्रति० । नि० चू० । जं० । रा० । प्रश्न० । आचा० । प्रज्ञा० ।

वराग-वराक-पुं० । तपस्विनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । तं० । दुःस्थमोक्तार्थमभ्युच्यते,सूत्र०१ श्रु०१अ०१ उ० । अपुष्टधर्मिणि, दशा०६ अ० । अशक्ते, यः सर्वथाऽशक्तः पङ्गुप्रायः स वराक उच्यते, बृ० १ उ० २ प्रक० । आ० म० ।

वराडय-वराटक-न० । दक्षिणापथीये जनपदविशेषे, दर्श० २ तत्त्व । कपर्दके, । उत्त० ३६ अ० । जी० । प्रज्ञा० । आव० । अनु० । आ० म० । पिं० ।

वराह-वराह-पुं० । शूकरे, औ० । जं० । रा० । प्रव० । जी० । प्रज्ञा० । "कोला किडी वराहो" । पाइ० ना० १२७ गाथा ।

वराहमिहिर-वराहमिहिर-पुं० । भद्रबाहुस्वामिभ्रातरि, वा-राहाः संहितायाः कारके स्वनामख्याते द्विजे, कल्प० २ अ-धि० ८ क्षण । ग० । (वर्णवादे गुरुप्रत्यनीकवाराहमिहिर-सम्बन्धो 'भद्दबाहु' शब्दे पञ्चमभागे १३६६ पृष्ठे गतः ।)

वराहरुहिर-वराहरुधिर-न० । वराहः शूकरस्तस्य रुधिरम्-शूकरशोणितम् , तद्धि अतिशोणितं भवति । अतिलोहिते वराहरक्ते, रा० ।

वराही-वराही-स्त्री० । परिव्राजकसम्बन्धिन्यां वराहविकुर्वणा-त्मिकायां विद्यायाम् , आ० क० १ अ० । आ० म० । विशे० । कल्प० ।

वरिट्ठ-वरिष्ठ-न० । प्रधाने, औ० । आचा० ।

वरिम्ह-वर्ष्मन्-न० । काये, द्वा० २६ द्वा० ।

वरिय-वर्य-त्रि० । "स्याद्-भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात्" ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति संयुक्तस्य यात्पूर्वं इकारः । प्रा० । प्रधाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

वरिस-वृष्-धा० । वर्षणे, "वृषादीनामरिः" ॥ ८ । ४ । २३५ ॥ 'वृष' इत्येवं प्रकाराणां धातूनामृवर्णस्यारि इत्यादेशो भव-ति । वरिसइ । वर्षति । प्रा० ४ पाद ।

वर्ष-न० । "र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा ॥" ८ । २ । १०५ ॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः । वरिसं । प्रा० । "वत्स सं-वत्सर संवदित्यादि पर्यायाः" है० । वत्सरे, उत्त० ७ अ० ।

वरिसकण्ह-वर्षकृष्ण-पुं० । काश्यपगोत्रावान्तरगोत्रप्रवर्त्तके ऋषिभेदे, तद्गोत्रपुरुषेषु च । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

वरिसगंथि-वर्षग्रन्थि-स्त्री० । जन्मदिनोत्सवे, यत्र वर्षे वर्षे प्रतिसंख्याज्ञापनार्थं ग्रन्थिबन्धः क्रियते । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

वरिसधर-वर्षधर-पुं० । वर्द्धितकीकरणेन नपुंसकीकृते अन्तः-पुरमहत्तके, भ० ६ श० ३३ उ० । क० प्र० । औ० ।

वरिसा-वर्षा-स्त्री० । "र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा" ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इतीकारः । प्रा० । श्रावणभाद्रपदमासयोः,स्था० ६ ठा०३ उ० ।

वरिसारत्त-वर्षारात्र-पुं० । भाद्रपदाश्वयुग्मासद्वयरूपे ऋतुभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । सू० प्र० । चं० प्र० । आ० म० ।

वरिह-वर्ह-पुं० । "र्ह-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित्" ॥८।२।१०४॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः । मयूरक-लापे, प्रा० २ पाद ।

वरुंट-वरुण्ट-पुं० । विच्छिके, शिल्पविशेषोपजीवके, प्रज्ञा० १६ पद । अनु० । स्था० ।

वरुण-वरुण-पुं० । स्वनामख्याते नागनप्तृके, भ०५ श०६ उ० । ('रहमुसल' शब्दे ५०० पृष्ठे वक्तव्यता ।) शक्रस्य पश्चि-मदिग्लोकपाले, (वक्तव्यता 'लोगपाल' शब्देऽस्मिन्नेव भा-गे ७१७ पृष्ठे गता।)(वरुणस्य शताञ्जलं विमानं वरुणकायिका वरुणदेवकायिका नागकुमारा नागकुमार्य उदधिकुमारा उद धिकुमार्यः स्तनितकुमाराः स्तनितकुमार्यश्च वशे तिष्ठन्तीति 'लोगपाल' शब्दे ७१७ पृष्ठे उक्तम् ।) शतभिषजो नक्ष-त्रस्य देवयोः, स्था० ।

दो वरुणा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जं० । अनु० । चमरस्य पश्चिमदिक्पालो वरुणः । स्था० ४ ठा० १ उ० । वलेरुत्तरदिक्पालो वरुणः, ईशानस्य पश्चिमदिक्पः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं यावदच्युतस्य। स्था० ४ ठा० १ उ० । दक्षिणयोः कृष्णराज्योर्मध्ये शुभंकरे विमाने, लोकान्तिकदेवे च। स्था० ८ ठा० ३ उ० । भ० । आ० म० । ज्ञा० । श्रीमुनिसुव्रतस्य शासनयक्षे, स च चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः असितवर्णो वृषभवाहनो जटामुकुटभूषितोऽष्टभुजो बीजपूरकगदाबाणशक्तियुक्तदक्षिणकरकमलचतुष्को नकुलपद्मधनुःपरशुयुजवामपाणिचतुष्टयश्च। प्रव० २६ द्वार। भोगपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, ध० र० ।

तद्वर्णनं चैवम्—

"वरमलयजतरव इव, प्रासादा यत्र भोगिजनकलिताः ।
सततं संतापहरा, भोगपुरं नाम त्रिदशपुरम् ॥ १ ॥
वरुणस्तत्र महेभ्यः, सर्वेभ्यः पुरजनेभ्य आढ्यतरः ।
गमसंगमसुभगागम-निगदितविधिविशदपदपथिकः ॥ २ ॥
तस्य च नितान्तकान्ता, श्रीकान्ता संज्ञिताऽभवत्कान्ता ।
तनयः सुलसः सुलस-द्विनयादिगुणाम्भसः कलशः ॥३॥
अथ नगरे भवचक्रे, चक्रेश्वरशक्रचक्रबलदलनः ।
निवसति वसतिर्दुस्तर-तरतमसां मोहभूभर्ता ॥ ४ ॥
सहसा सोऽन्येद्युरभू-च्चिन्ताचयचुम्बितः समासीनः ।
अथ रागकेशरी स्मा-ह विस्मितस्तात! ननु किमिदम्? ॥५॥
यत्त्वयि कुपिते शंस-च विद्यया खेचरी त्रिलोकीयम् ।
चिन्तासन्तानाव—र्तगर्तपरिवर्तिनी भवति ॥ ६ ॥
कृतनिखिलशत्रुबलभर—शातस्तातस्तु वहति यच्चिन्ताम् ।
तत् किमपि महच्चित्रं, मोहोऽथ जगाद हे २ वत्स ! ॥ ७ ॥
चारित्रधर्मनामा, वामात्मा ननु सदागमोऽप्यस्ति ।
उद्दामसदागमदुष्ट—दुष्टसाहाय्यदुर्ललितः ॥ ८ ॥
रागः प्राह विरूपक—मसाधुना किमधुनाऽमुना चक्रे ।
मोहः स्माह न सम्प्रति, वत्स ! कृतं किन्तु कर्त्ताऽसौ ॥९॥
भोगपुरेऽस्ति सदागम—वचनैकरुचिः शुचिर्वरुण इभ्यः ।
तस्य तनूजः सुलसः, प्रज्ञाविज्ञानकुलभवनम् ॥ १० ॥
तं यदि सदागमोऽयं, व्युद्ग्राहयिता निजं मतं दुष्टः ।
निश्चितमस्मत्कन्दा—न्निष्कन्दयिता स एव तदा ॥ ११ ॥
रागोऽभ्यधादहं लघु, कुदृष्टिरागेण निजकरूपेण ।
तमधिष्ठाय विधास्ये, वशंवदं तातपादानाम् ॥ १२ ॥
मोहो जगाद तुष्टः, साधूक्तं साधुवच्च तव भवतु ।
कुशलं पथ्यनुजोऽयं, द्वेषगजेन्द्रः सहायस्ते ॥ १३ ॥
पित्रा तावित्युक्ता-वुपसुलसं जग्मतुस्तदा तत्र ।
नगरे कश्चिच्चरकः, सुदुस्तपं तप्यते हि तपः ॥ १४ ॥
तं नन्तुं भूरिमुदा-ऽऽगच्छन्तं वीक्ष्य पुरजनं सर्वम् ।
सुलसः कौतुकितमना—स्तं गत्वा प्रतिपपातोच्चैः ॥ १५ ॥
लब्धावसरेणाथो, कुदृष्टिरागेण सुदृढमधितष्ठे ।
तममन्यत तत्त्वधिया, गुरुमिव देवमिव जनकमिव ॥ १६ ॥
प्रतिदिवसमसमभक्ति-स्तं प्रणमति नौति पर्युपास्ते च ।
कृतकृत्यं मन्वानः, परिहृतसकलान्यकर्त्तव्यः ॥ १७ ॥
अथ विज्ञाय सदागम—निषिद्धविधिलालसं सुतं सुलसम् ।
वरुणः स्फूर्जत्करुण-स्तम्प्रति हितमिति निगदतिस्म ॥१८॥
रागादिवीरविजयी, कृतसुरसेवः सदा जिनो देवः ।
शक्त्या जिनगदितागम-विधिकरणपरः स साधुगुरुः॥१९॥
गतसकलदूषणगणं, विलसन्निःशेषभूषणं परमम् ।
आगमतत्त्वं नित्यं, यस्य गृहे ज्ञायते वत्स ! ॥ २० ॥
स हि कथमयथातथ-दर्शि दर्शिते पापकुञ्जरनिकुञ्जे ।
आगमविधिविपरीते, तत्त्वाभ्यासेऽपि रज्येत ? ॥ २१ ॥
किं वत्स ! सरसविसिनी—विसविसरोत्पन्नसतनसौहित्यः ।
कादम्बो हि कदम्बे, लिम्बं वाऽऽलम्बते क्वापि ? ॥ २२ ॥
जलमुग्विमुक्तमुक्ता—फलनिर्मलसलिलबिन्दुपानचणः ।
कस्मलनड्वलनीरं, वप्पीहोऽपीहते किं नु ? ॥ २३ ॥
बहुनिष्कृत्रिमपाक्रिम—फलभरसारं विलोक्य सहकारम् ।
चेतोऽपि दधीत कदापि, किं शुकः किंशुकसतृष्णम्? ॥२४॥
दुस्तपतपसः कर्तु—र्भर्तुः समतां सदापि जैनमुनेः ।
कोऽन्यत्र मुनौ सुमनाः, स्वमनः कुर्वीत वीततमाः ? ॥ २५ ॥
अथ विहितसन्निधानो, द्वेषगजेन्द्रेण सुलस इत्यूचे ।
किं तात ! पातकादपि, न विभेषि महात्मनो निन्दन्? ॥२६॥
मासक्षपणविधाता, निर्दोषसमस्ततत्त्वविज्ञाता ।
अमुना मुनिना सदृशः, कोऽन्यः सकलेऽपि भूमितले ॥२७॥
अहह गुणिष्वपि रागं, निवारयन् धारयन् मनो मलिनम् ।
का जगति गतिस्तव पाप—भाविनी भाव्यकल्याण ! ॥२८॥
श्रुत्वैवं विच्छायो, वरुणो ह्यरुणोदये प्रदीप इव ।
दध्यौ धिग् धिग् विलसित-मसममिदं दृष्टिरागस्य ॥ २९ ॥
अपि कामस्नेहाख्यौ, रागौ भव्याङ्गिना सुखनिवार्यौ ।
विदुषाऽपि दुरुच्छेदः, पापीयान् दृष्टिरागस्तु ॥ ३० ॥
कलिकालविलसितं त-च्च वाऽकूनुलं पचेलिमं कर्म ।
यदपेक्षते जनोऽयं, सदागमार्थेऽपि मूढमनाः ॥ ३१ ॥
किं वातकी जनोऽयं, पिशाचकी वाऽथवा किमुन्मत्तः ? ।
आगमविधिं विना यत्, कुरुतेऽन्यत्रापि तत्त्वधियम् ॥३२॥
भविनो भवे भवेयुः, कथमेते दुःखमागलितमतयः ? ।
तीर्थाधिनाथगदितो, यदि न स्यादागमो भगवान् ॥ ३३ ॥
प्रथितानयेन तनयेन, किमधुना किममुनाऽपि विभवेन ? ।
श्रीमन्तमागममहं, सेविष्ये सङ्गनिर्मुक्तः ॥ ३४ ॥
एवं ध्यात्वा वरुणः, स्वधनं पात्रे ददौ प्रविव्रजिषुः ।
तत्र तदानीमागा-द्धर्म्मवसुर्नाम मुनिराजः ॥ ३५ ॥
इभ्यस्तन्नमनार्थं, प्रययौ नत्वा गुरून् समयविधिना ।
निषसाद यथास्थानक-मथ सूरिर्देशनां चक्रे ॥ ३६ ॥" ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० । चतुःकरप्रमाणदेवावासैककरदेवालयनिर्मापके मधुपुरवास्तव्ये श्रावके, उत्त० ९ अ० । अहोरात्रस्य पञ्चदशे मुहूर्त्ते, सू० प्र० १० पाहु० । द० प० । ज्यो० । पुष्कलावतीविजये पुष्कलावतिनगरेऽतिकृपणे सार्थवाहे, दर्श० १ तत्त्व ।

वरुणकाइय–वरुणकायिक–पुं० । शक्रलोकपालस्य वरुणस्याभियोग्येषु देवेषु, भ० ३ श० ७ उ० ।

वरुणणई–वरुणनदी–स्त्री० । कालिञ्जराटव्यां स्वनामख्यातायां नद्याम्, कालिञ्जराटव्यां वरुणनदीतीरे ऋषभजिनभवनम् । सङ्घा० १ प्रस्ता० १ अधि० ।

वरुणदेवकाइय–वरुणदेवकायिक–पुं० । स्वनामख्यातेषु शक्रलोकपालस्य वरुणस्याभियोगिकदेवेषु, भ० ७ श० ३ उ० ।

वरुणदेवा–वरुणदेवा–स्त्री० । मेतार्यस्य वीरदशमगणधरस्य मातरि, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

वरुणप्पभ–वरुणप्रभ–पुं० । वरुणद्वीपदेवे, सू० प्र० १९ पाहु० । द्वी० । शक्रादिलोकपालस्य वरुणस्य उत्पातपर्वते, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वरुणप्पभा--वरुणप्रभा--स्त्री० । वरुणप्रभद्वीपस्य दक्षिणरा-जधान्याम् , द्वी० । (अत्रत्या गाथाः 'रायहाणी' शब्देऽस्मि-न्नेव भागे ५५६ पृष्ठे गताः ।)

वरुणवर--वरुणवर--पुं० । पुष्करोदसमुद्रस्य सर्वतो द्वीपे, जी०।

पुक्खरोदे णं समुद्दे वरुणवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारे० जाव चिट्ठति, तहेव समचक्कवालसंठिते केवइयं चक्कवाल-विक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं ?, पण्णत्ता, गोयमा ! संखे-ज्जाइं जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं संखेज्जाइं जो-यणसयसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, पउमवरवेइया वणसं-डवण्णओ दारंतरं पदेसा जीवा तहेव सव्वं । (सू०-१८०)

'पुक्खरोदे ण' मित्ति पूर्ववत् , समुद्रं वरुणवरो नाम द्वी-पो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संप-रिक्षिप्य तिष्ठति। अत्रापि पुष्करोदसमुद्रवत् , चक्रवालविष्क-म्भपरिक्षेपवेदिकावनखण्डद्वारतदन्तरप्रदेशजीवोपपातवक्त-व्यता वक्तव्या।

संप्रति नामान्वर्थमभिधित्सुराह—

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुचइ वरुणवरे दीवे वरुणवरे दीवे ?, गोयमा ! वारुणवरे णं दीवे तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे खुड्डा खुड्डियाओ ० जाव बिलपंतियाओ अच्छाओ पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खेवेणं वणसंडप-रिक्खेवेणं वारुणिवरोदगपडिहत्थाओ पासाइयाओ, तासु णं खुड्डाखुड्डियासु० जाव बिलपंतियासु बहवे उप्पायप-व्वया ० जाव खडहडगा सव्वफलिहामया अच्छा, तहेव वरुणवरुणप्पभा एत्थ दो देवा महिड्ढिया ० जाव परिव-संति, से तेणट्ठेणं ० जाव णिच्चे । जोइसं सव्वं संखेज्ज-गुणं ० जाव तारागणकोडिकोडीओ । (सू०-१८०)

'से केणट्ठेण ' मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्य-ते वरुणवरो द्वीपो वरुणवरो द्वीपः ? , भगवानाह— गौतम ! वरुणवरस्य द्वीपस्य तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बह्वचो ' खुड्डाखुड्डियाओ ० जाव बिलपंतिओ ' यावत्करणात्—' पुक्खरिणीओ गुंजालियाओ दीहियाओ सराओ सरपंतियाओ सरसरपंतियाओ० जाव महुररसणिचयाओ ' ' बिलपंतीओ अच्छाओ ' इति, यावत्करणात्—" सण्हाओ रयणमयकुलाओ समतीराओ वइरामयपासाणाओ तवणिज्जतलाओ सुवण्णसुब्भर-ययवालुयाओ वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडाओ सु-होयाराओ सुहुत्ताराओ णाणामणितित्थसुबद्धाओ वाउक्को-णाओ आणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजलाओ संछन्नपत्त-भिसमुणालाओ बहुउप्पलकुमुयनलिणसुभगसोगंधियाओ पुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवचियाओ छप्पयपरिभु-ज्जमाणकमलाओ अच्छविमलसलिलपडिपुण्णाओ पडिहत्थ-गभमंतमच्छकच्छभअणेगसउणगणमिहुणविचरियसदुन्न-इयमहुरसरनाइयाओ " अस्य व्याख्यानं प्राग्वत् । 'वारुणि-वरोदगपडिहत्थाओ' इत्यादि, वारुणिवरं च वरवारुणीव यत् उदकं तेन 'पडिहत्थाओ' प्रतिपूर्णाः 'पत्तेयं पत्तेयं पउ-मवरवेइयापरिक्खित्ताओ पासाइयाओ दरिसणिज्जाओ अ-भिरूवाओ पडिरूवाओ' इति पाठसिद्धम् 'तिसोवाणतोरण' इति तासां त्रिसोपानानि तोरणानि च प्रत्येकं वक्तव्यानि तानि चैवम्—" तासि णं खुड्डाखुड्डियाणं वावीणं पुक्खरिणी णं दीहियाणं गुंजालियाणं सरसियाणं सरपंतियाणं सरस-रपंतियाणं बिलपंतियाणं पत्तेयं पत्तेयं चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता , तेसि णं तिसोवाणपडिरूव-गाणं इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा—वइरामया नेमा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा वइरामया संधी लोहियक्खमइओ सूईओ णाणा मणिमया अवलम्बणा अवलंबणवाहाओ पासाईया दरि-सणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, तेसि णं तिसोवाणपडिरू-वगाणं पुरतो पत्तेयं पत्तेयं तोरणा पन्नत्ता , ते णं तोरणा णाणामणिमया णाणामणिमयेसु खंभेसु उवनिविट्ठा विवि-हमुत्तंतरोवचिया विविहतारारूवोवचेया ईहामिगउस-भतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणल-यपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवरवेइयापरिगयाभिरामा वि-ज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ता विव अच्चीसहस्समालिणीया रू-वगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयण-लेसा सुहफासा सस्सिरीया पासाईया दरिसणिज्जा अभि-रूवा पडिरूवा , तेसि णं तोरणाणं उवरिं अट्ठट्ठमंगलगा पन्नत्ता, तं जहा–सोत्थियसिरिवच्छनंदियावत्तवद्धमाणगभ-द्दासणकलसमच्छदप्पणा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव प-डिरूवा । तेसि णं तोरणाणं उवरिं बहवे किण्हचामरज्झ-या नीलचामरज्झया लोहियचामरज्झया हालिद्दचामर-ज्झया सुक्किल्लचामरज्झया अच्छा सण्हा रुप्पपट्टा वइरा-मयदंडा जलयामलगन्धिया सुरम्मा पासाईया दरिसणि-ज्जा अभिरूवा पडिरूवा तेसि णं तोरणाणं उवरिं बहवे छ-त्ताइछत्ता पडागाइपडागा घंटाजुयला उप्पलहत्थगा कुमु-यहत्थगा नलिणहत्थगा सुभगहत्थगा सोगंधियहत्थगा पों-डरीयहत्थगा महापोंडरीयहत्थगा सतपत्तहत्थगा सहस्स-पत्तहत्थगा सयसहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कं-कडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासाईया द-रिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा " अस्य व्याख्या पूर्ववत् । "तासि णं खुड्डाखुड्डियाणं वावीणं पुक्खरिणीणं० जाव बि-लपंतियाणं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे उप्पायपव्व-गा निययपव्वगा जगतीपव्वयगा दारुपव्वयगा मंडवगा दग-मंडवगा दकमालगा दगपासाया उसडगा खडखडगा अंदोलगा पक्खंदोलगा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडि-रूवा" इत्यपि प्राग्वत्। "तेसु णं पव्वयगेसु० जाव पक्खंदोलगेसु बहवे हंसासणाइं उन्नयासणाइं पणयासणाइं दीहासणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मगरासणाइं पउमासणाइं सी-हासणाइं दिसासोवत्थियासणाइं सव्वफालियामयाइं अच्छा-इं०जाव पडिरूवाइं वरुणवरस्स णं दीवस्स तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे आलीघरगा मालीघरगा केइयघरगा अच्छ-णघरगा पेच्छणघरगा मज्जणघरगा मंडणघरगा पसाहण-घरगा गब्भघरगा मोहणघरगा चित्तघरगा मालघरगा जा-लघरगा कुसुमघरगा सव्वफालियामया अच्छा० जाव प-डिरूवा । तेसु णं आलीघरएसु० जाव कुसुमघरएसु बह-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे हंसासणाइं० जाव दिसासोवत्थियासणाइं सव्वफालिया-मयाइं अच्छाइं० जाव पडिरूवाइं, वरुणवरे णं दीवे तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे जातिमंडवगा जूहियामंडवगा मल्लियामंडवगा नवमालियामंडवगा वासंतियमंडवगा दहिवासइमंडवगा सूरुल्लियामंडवगा तंबोल्लमंडवगा अप्फायामंडवगा अइमुत्तमंडवगा मुद्दियामंडवगा मालुयामंडवगा सा [सो] मलयामंडवगा सव्वफालिहामया अच्छा० जाव पडिरूवा, तेसु णं जाइमंडवेसु० जाव सा [सो] मलयामंडवेसु बहवे पुढविसिलापट्टगा पन्नत्ता, अप्पेगइया हंसासणसंठिया अप्पेगइया कोंचासणसंठिया० जाव अप्पेगइया दिसासोवत्थियासणसंठिया अप्पेगइया वरसयणविसिट्ठसंठाणसंठिया सव्वफालिहामया अच्छा० जाव पडिरूवा । तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति निसीयंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीलंति पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरक्कंताणं सुभाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणाणं फलवित्तिविसेसे पच्चणुब्भवमाणा विहरंति" एतत्सर्वं प्राग्वत् व्याख्येयम् , नवरं पुस्तकेष्वन्यथा अन्यथा पाठ इति यथावस्थितपाठप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमपि लिखितमस्ति , तावदेवं यस्माद्वरवारुणी वाऽत्र वाप्यादिषु उदकं तस्मादेष द्वीपो वरुणवरः । अन्यच्च वरुण-वरुणप्रभौ चात्र वरुणवरे द्वीपे द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तस्माद्वरुणवरो वरुणदेवप्रधानः, तथाचाह-'से एएणट्ठेण' मित्यादि चन्द्रादिसंख्याप्रतिपादनार्थमाह ' वरुणवरे णं दीवे कइ चंदा पभासिंसु' इत्यादिपाठसिद्धम् सर्वत्र संख्येयतयाऽभिधानात् । जी० ३ प्रति० २ उ० । अनु० । सू० प्र० । चं० प्र० ।

वरुणा–वरुणा–स्त्री० । अच्छजनपदप्रधाननगर्याम् , 'वरुणा अच्छा य ' वरुणा-नगरी, अच्छो-देशः । अन्ये तु—वरुणा अच्छा पुरीत्याहुः । प्रव० २७५ द्वार ।

वरुणोद–वरुणोद-पुं० । वरुणवरद्वीपस्याभितः समुद्रे, जी० ।

वरुणवरं णं दीवं वारुणोदे णामं समुद्दे वट्टे वलया० जाव चिट्ठति,समचक्कवाल० विसम० तहेव सव्वं भाणियव्वं विक्खंभपरिक्खेवो संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं दारंतरं च पउमवरवणसंडे पएसा जीवा अत्थो गोयमा ! वारुणोदस्स णं समुद्दस्स उदये से जहानामए चंदप्पभाए वा मणिसिलागाइ वा वरसीधुवरवारुणीइ वा पत्तासवेइ वा पुप्फासवेइ वा चोयासवेइ वा फलासवेइ वा महुमेरएइ वा जातिप्पसन्नाइ वा खज्जूरसारेइ वा मुद्दियासारेइ वा कापिसायणाइ वा सुपक्कक्खोयरसेइ वा पभूतसंभारसंचिता पोसमाससतभिसयजोगोवचिता निरुवहतविसिट्ठदिण्णकालोवयारा सुधोता उक्कोसगअट्ठपिट्ठपुट्ठा मुखइंतवरकिमदिण्णकद्दमा कोपसन्ना अच्छा वरवारुणी अतिरसा जंबूफलपुट्ठवण्णा सुजाता ईसी उट्ठावलंबिणी अहियमहुरपेज्जा ईसासिरत्तणेत्ता कोमलकवोलकरणी० जाव आसादिता विसदिता अणिहुयसंलावकरणहरिसपीतिजणणी संतो सततबिब्बोकहावविब्भमविलासवेल्लहलगमणकरणी विरणअहियसत्तजणणी य होति संगामदेसकाले करणसमरपसरकरणी कढियाणविज्जुपयतिहिययाणमउयकरणी य होति उववेसिता समाणा गतिं खलावेतिय सयलम्मि वि सुभासवुप्पालिया समरभग्गवणोसहयारसुरभिरसदीविया सुगंधा आसायणिज्जा विस्सायणिज्जा पणिज्जा दप्पणिज्जा मयणिज्जा सव्विंदियगातपल्हातणिज्जा आसला मांसला पेसला(ईसी ओट्ठावलंबिणी ईसी तंबच्छिकरणी ईसी वोच्छेया कडुआ)वण्णेणं उववेता गंधेणं उववेया रसेणं उववेया फासेणं उववेया भवे एयारूवे सिया ?, गोयमा ! नो तिणट्ठे समट्ठे वरुणोदस्स णं समुद्दस्स उदये एतो इट्ठतरे ० जाव उदए । से एएणऽट्ठेणं एवं वुचति० तत्थ णं वारुणिवारुणकंता देवा महिड्ढिया ० जाव परिवसंति, से एएणऽट्ठेणं ०.जाव णिच्चे, सव्वं जोतिससंखेज्जकेण णायव्वं वारुणवरे णं दीवे कइ चंदा पभासिंसु वा पभासंति वा पभासिस्संति वा (सू०-१८०)

' वरुणवरं णं दीव' मित्यादि वरुणवरमिति पूर्ववत् , वरुणोदः—समुद्रो वृत्तो-वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः-समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति, यथैव पुष्करोदसमुद्रस्य वक्तव्यता तथैवास्यापि यावज्जीवोपपातसूत्रद्वयम् । संप्रति नामनिबन्धनमभिधित्सुराह—' से केणट्ठेण ' मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—वरुणोदः-समुद्रो वरुणोदः समुद्र?इति,भगवानाह-गौतम! वरुणोदस्य-समुद्रस्योदकम् , सा लोकप्रसिद्धा यथा नाम चन्द्रप्रभेति वा—चन्द्रस्येव प्रभा—आकारो यस्याः सा चन्द्रप्रभा—सुराविशेषः , इतिशब्द उपमाभूतवस्तुपरिसमाप्तिद्योतकः, वाशब्दः समुच्चये, एवमन्यत्रापि, मणिशलाकेव मणिशलाका, वरं च तत् सीधू च वरसीधू , वरा चासौ वारुणीव वरवारुणी, धातकीपत्ररससार आसवः पत्रासवः, एवं पुष्पासवः फलासवश्च परिभावनीयः, चोयो—गन्धद्रव्यं तत्सार आसवः चोयासवः, मधुमेरकौ लोकादवसातव्यौ मद्यविशेषौ जातिपुष्पवासिता प्रसन्ना जातिप्रसन्ना, मूलदलखर्जूरसार आसवः खर्जूरसारः, मृद्वीका-द्राक्षा तत्सारनिष्पन्न आसवो मृद्वीकासारः, कापिशायनं मद्यविशेषः सुपक्वः—सुपरिपाकागतो यः क्षोदरस इक्षुरसस्तन्निष्पन्न आसवः सुपक्वेक्षुरसः, अष्टवारपिष्टप्रदाननिष्पन्ना अष्टपिष्टनिष्ठिता जम्बूफलकालिवरप्रसन्ना सुराविशेषः, उत्कर्षेण मदं प्राप्ता उत्कर्षमदप्राप्ता आसला—आस्वादनीया मांसला—बहला पेसला-मनोज्ञा ईषत् ओष्ठमवलम्बते ततः परमतिप्रकृष्टास्वादगुणरसोपेतत्वात् , झटिति परतः प्रयाति ईषदोष्ठावलम्बिनी, तथा—ईषत्ताम्राक्षिकरणी, तथा-ईषत्—मनाक् व्यवच्छेदे-पानोत्तरकालं कटुका तीक्ष्णेति भावः, एलाद्युपबृंहकद्रव्यसमायोगात् , तथा वर्णेनातिशायिना एवं गन्धेन स्पर्शेन उपेता आस्वादनीया—महतामप्यास्वादयितुं योग्या, विस्वादनीया विशेषत आस्वादयितुं योग्या अतिपरमास्वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दनीयरसोपेतत्वात्,दीपयति जाठराग्निमिति दीपनीया,"कृद् बहुल" मिति वचनात् कर्त्तर्यनीयप्रत्ययः, एवं मदयतीति मदनीया मन्मथजननी बृंहयतीति बृंहणीया धातूपचयकारितत्वात् सर्वेन्द्रियाणि गात्रं च प्रह्लादयतीति सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीया। एवमुक्ते गौतम आह—भगवन्! भवेदेतद्रूपं वरुणोदकसमुद्रस्योदकम्?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थः वरुणोदस्य णमिति यस्मादर्थे निपातानामनेकार्थत्वात्, समुद्रस्योदकम्। इतः पूर्वस्मात् सुरादिविशेषसमूहादिष्टतरमेव कान्ततरमेव प्रियतरमेव मनोज्ञतरमेव मनआपतरमेव आस्वादेन प्रज्ञप्तम्, ततो वारुणीवोदकं यस्यासौ वारुणोदः, तथा वारुणिवारुणकान्तौ चात्र-वारुणोदे समुद्रे यथाक्रमं पूर्वापरार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ देवौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, ततो वारुणवारुणकान्तस्य च संबन्धि उदकं यत्रासौ वारुणोदः पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः। तथा चाह—'से एएणट्ठेणं' मित्याद्युपसंहारवाक्यम्, चन्द्रादिसूत्रं प्राग्वत्। जी० ३ प्रति० २ उ०। सू० प्र०। द्वी०। जं०। स्था०।

वरुणोववाय–वरुणोपपात–पुं०। वरुणो नाम देवस्तत्समयनिबद्धो ग्रन्थस्तदुपपातहेतुर्वरुणोपपातः। संक्षेपिकदशानां सप्तमेऽध्ययने, स्था०।

वरुणोववाए (सू० ७५५×)

यदा तदध्ययनमुपयुक्तः सन् श्रमणः परिवर्त्तयति तदाऽसौ वरुणो देवः स्वसमयनिबद्धत्वाच्चलितासनः सम्भ्रमोद्भ्रान्तलोचनः प्रयुक्तावधिस्तद् विज्ञाय हृष्टोऽवपतति, अवपत्य च तदा तस्य श्रमणस्य पुरतः स्थित्वाऽन्तर्हितः शृण्वंस्तिष्ठति,समाप्ते च भणति सुस्वाध्यायितमिति वरं वृणीष्वेति। ततोऽसाविहलोकनिष्पिपासः प्रतिवदति न मे वरेणार्थ इति ततोऽसौ वरुणो देवः प्रदक्षिणां कृत्वा प्रतिगच्छति। स्था० १० ठा० ३ उ०। पा०। व्य०।

वरूहिणी–वरूथिनी–स्त्री०। सेनायाम्, "सेणा वरूहिणी वाहिणी अणीअं चमू सिन्नं" पाइ० ना० ३४ गाथा।

वरेण्ण–वरेण्य–त्रि०। प्रधानतरे,तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गः। जै०गा०।

वरोट्टिया–वरोट्टिका–स्त्री०। ब्राह्मया लिपेरन्यतमे लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद। आ० म०। स०।

वरोरु–वरोरु–त्रि०। वरः प्रधान ऊरुर्विशालश्च यस्य सः। प्रधानोरुयुजि, कल्प० १ अधि० २ क्षण।

वल–देशी–आरोपणे, ग्रहणे च। दे० ना० ७ वर्ग ८६ गाथा।

वलअंगी–देशी–वृतिमत्याम्, दे० ना० ७ वर्ग ४३ गाथा।

वलंगणआ–देशी–वृतिमत्याम्, दे० ना० ७ वर्ग ४३ गाथा।

वलक्ख–वलक्ष–त्रि०। श्वेते, "सेअं सिअं वलक्खं, अवदायं पंडु धवलं च"। पाइ० ना० ६२ गाथा।

वलगय–अवलगक–त्रि०। पश्चाल्लगित्वा वार्ताश्रावके, "प्रान्तग्रामे क्वचित्कश्चि-देकोऽवलगकः पुमान्" आ०क०१ अ०।

वलग्ग–आरुह–धा०। उच्चैर्गमने, "आरुहेश्चड—वलग्गौ" ॥८।४।२०६॥ इति आङ्पूर्वकस्य रुहधातोर्वलग्गादेशः। वलग्गइ। आरुहइ। आरोहति। प्रा० ४ पाद।

वलग्गइ–देशी–आरोहणे, दे०ना० ७ वर्ग ४६ गाथा। पाइ०ना०।

वलग्गंगणी–देशी–वृतिवाचके, दे० ना० ७ वर्ग ४३ गाथा।

अवलग्न–त्रि०। आरूढे, "वलग्गं आरूढं"। पाइ० ना० २४७ गाथा।

वलमय–देशी–शीघ्रे, दे० ना० ७ वर्ग ४६ गाथा।

वलय–वलक–न०। वलयानि-पृथिवीनां वेष्टनानि। घनोदधिघनवाततनुवातलक्षणे, स्था० २ ठा० ४ उ०। क्षेत्रे, गृहे च। दे० ना० ७ वर्ग० ८५ गाथा।

वलयणी–देशी–वृतिवाचके, दे० ना० ७ वर्ग ४३ गाथा।

वलयबाहु–वलयबाहु–पुं०। चूडकाख्ये भुजाभरणे, दे० ना० ७ वर्ग ५२ गाथा। पाइ० ना०।

वलयवाडी–देशी–वृतिवाचके, दे० ना० ७ वर्ग ४३ गाथा।

वलयमरण–वलन्मरण–न०। मरणभेदे, उत्त० पाई० ५ अ०। (व्याख्या 'मरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०६ पृष्ठे गता।)

वली–वली–स्त्री०। द्वितीये असुरकुमारे,स्था० २ ठा० ३ उ०।

वलविअ–देशी–शीघ्रार्थे, दे० ना० ७ वर्ग ४८ गाथा।

वलुण–वरुण–पुं०। हरिद्रादित्वाद् रस्य लः। पश्चिमदिक्पाले, प्रा० १ पाद।

वल्लई–वल्लकी–स्त्री०। वीणायाम्, "विवंचिआ वल्लई वीणा।" पाइ० ना० १२२ गाथा। गवि, दे० ना० ७ वर्ग ३६ गाथा।

वल्लर–वल्लर–न०।गहने, "गुविलं कलिलं च वल्लरं गहनं"। पाइ० ना० १४१ गाथा। अरण्यक्षेत्र, "वल्लरं अरन्नछित्तं"। पाइ० ना० १४३ गाथा। अरण्यादौ, दे० ना० ७ वर्ग ८६ गाथा।

वल्लरी–वल्लरी–स्त्री०। मञ्जर्याम्, "वल्लीउ वल्लरीओ"। पाइ० ना० १३६ गाथा।

वल्लव–वल्लव–पुं०। गोपाले, "गोवाला वल्लवा गोवा"। पाइ० ना० १०४ गाथा।

वल्लाओ–देशी–श्येने, नकुले च। दे० ना० ७ वर्ग ८४ गाथा।

वल्ली–वल्ली–स्त्री०। मञ्जर्याम्, "वल्लीउ वल्लरीओ"। पाइ०ना० १३८ गाथा। कृतानन्तवनस्पतिप्रत्याख्यानिनां भूमिकूष्माण्डं तापादिव्यतिरेकेण शुष्कं वाऽऽर्द्रं वा कल्पते, किं वा-आर्द्रविध्युक्तसंस्कृतार्द्रकवदकल्प्यम्?, यतस्तद्वल्लीपत्राण्येवोर्ध्वे दृश्यन्ते फलानि भूमिगतान्येवेति प्रश्नः,अत्रोत्तरम्—भूमिकूष्माण्डं सम्यक्तया शुष्कं सदनन्तवनस्पतिप्रत्याख्यानिनामौषधादिकारणे ग्रहीतुं कल्पत इति व्यवहारो दृश्यते, परं तदातपं विना सम्पूर्णतया शुष्कं न भवतीति तत्स्वरूपविदो विदुरिति ॥५२॥ सेन० १ उल्ला०।

वव–वव–न०। ज्योतिषप्रसिद्धे अध्रुवकरणभेदे,उत्त० ४ अ०। विशे०। जं०। आ० चू०। आ० म०। प्रव०।

ववगम–व्यपगम–पुं०। व्यवच्छेदने, आ० म० २ अ०।

ववगय–व्यपगत–त्रि०। अविद्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। "ववगयइड्डिसक्कारा" व्यपगता ऋद्धिर्विभवैश्वर्यं सत्कारश्च सेव्यतालक्षणो येभ्यस्ते तथा। जं०२ वक्ष०। औ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

" ववगयखीरदहिणवणीयसप्पितेल्लगुललोणमहुमज्जमंसपरिचत्तकयाहाराओ " त्ति। औ०। ['आराहगा' शब्दे द्वितीयभागे ३७९ पृष्ठे व्याख्यातमेतत्।]

ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसियपहा।

व्यपगतः-परिभ्रष्टो ग्रहचन्द्रसूरनक्षत्ररूपाणामुपलक्षणमेतत्ताराराूपाणां च ज्योतिष्काणां पन्थाः-मार्गो येभ्यस्ते व्यपगतग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कपथाः। प्रज्ञा० २ पद। " ववगयचुयचावियचत्तदेहं जीवविप्पजढं " अनु०। ['आवस्सय' शब्दे द्वितीयभागे ४४८ पृष्ठे व्याख्यातमेतत्।] " ववगयचुयचइयचत्तदेहं " भ० ७ श० १ उ०। ['आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५२३ पृष्ठे व्याख्यातमेतत्।] " ववगयजरामरणभया " जरा-वयोहानिलक्षणा मरणं प्राणत्यागरूपं भयम्-इहलोकादिभेदात्सप्तप्रकारम्, उक्तं च—" इहपरलोगादाणं, अकम्हआजीवमरणमसिलोए " इति, विशेषतोऽपुनर्भावत्यागरूपतया, अपगतानि-भ्रष्टानि जरामरणभयानि येभ्यस्ते तथा तान्। प्रज्ञा० १ पद। "ववगयदुब्भिक्खदोसमारि" व्यपगतं दुर्भिक्षं दोषमारिश्च यत्र तत् व्यपगतदुर्भिक्षदोषमारि। रा०। " ववगयपेमरागदोसमोहे "। व्यपगतम्—नष्टम् प्रेम च—अभिष्वङ्गलक्षणं रागश्च-विषयानुरागलक्षणो द्वेषश्च अनिष्टेऽप्रीतिरूपो मोहश्च अज्ञानरूपो वा यस्य स तथा। औ०। " ववगयमालावण्णगविलेवणं " भ० ७ श १ उ०। ['आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५२३ पृष्ठे व्याख्यातमेतत्]

ववच्छित्ति(वोच्छित्ति) णय-व्यवच्छित्तिनय-पुं०। अनित्यवादिनि पर्यायास्तिकनये, विशे०।

ववट्ठावण-व्यवस्थापन-न०। निक्षेपे, अनु०।

ववण-वपन-न०। तूले, "पलही वपणं तूलो रूवो"। पाइ० ना० २५५ गाथा।

ववणीयदोहला-व्यपनीतदोहदा-स्त्री०। सर्वथाऽसद्दोहदायाम्, यस्याः सर्वे दोहदाः पूरिताः। कल्प०१ अधि०४ क्षण।

ववत्था-व्यवस्था-स्त्री०। मर्यादायाम्, वृ० ६ उ०। स्था०। स्थितिः समयो व्यवस्था मर्यादेत्यनर्थान्तरम्। आ० चू० २ अ०। स्था०।

ववदेस-व्यपदेश-पुं०। प्रतिपादने, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। आचा०। तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो, यथा-मञ्चाः क्रोशन्ति। आ० म० १ अ०।

ववरोवण-व्यपरोपण-न०। विनाशने, ध० ३ अधि०। प्रच्यावने, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।

ववरोविता-व्यपरोपयिता-स्त्री०। भ्रंशयितरि, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

ववरोविय-व्यपरोपित-त्रि०। मारिते, ध० २ अधि०। "जीवियाओ ववरोविया " आ० म० १ अ०।

ववसायि(ण्)-व्यवसायिन्-त्रि०। अनलसे उद्योगवति, ध्य० ३ उ०।

ववसाय-व्यवसाय-पुं०। दुष्करणाध्यवसाये, पा०। ध०। व्यापारे, उत्त० ३ अ०। विशिष्टोऽवसायो-निर्णयः। नं०। निश्चये, प्रश्न० १ संव० द्वार। सूत्र०। इच्छायाम्, वृ० १ उ० २ प्रक०। आ० म०। विशेषनिश्चये, विशे०। रा०। आ० चू०। अनुष्ठानोत्साहे, स०। सद्व्यापारे, औ०।

व्यवसायभेदानाह—

तिविहे ववसाये पण्णत्ते, तं जहा-धम्मिए ववसाये, अहम्मिए ववसाये, धम्मियाधम्मिए ववसाये ४। अहवा-तिविहे ववसाये पण्णत्ते, तं जहा-पच्चक्खे पच्चइए आणुगामिए ५। (सू० १८५ ×)

व्यवसायो-वस्तुनिर्णयः पुरुषार्थसिद्ध्यर्थमनुष्ठानं वा, स च व्यवसायिनां धार्मिकाऽ१धार्मिक २ धार्मिकाऽधार्मिकाणां ३—संयतासंयतदेशसंयतलक्षणानां सम्बन्धित्वादभेदेनोच्यमानस्त्रिधा भवतीति, संयमाऽसंयमदेशसंयमलक्षणविषयभेदाद्वा ४, व्यवसायो—निश्चयः स च प्रत्यक्षो ऽवधिमनःपर्यायकेवलाख्यः प्रत्ययात्-इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणान्निमित्ताज्जातः प्रात्ययिकः, साध्यम्—अग्न्यादिकमनुगच्छति साध्याभावे न भवति यो धूमादिहेतुः सोऽनुगामी, ततो जातमानुगामिकम्-अनुमानं तद्रूपो व्यवसाय आनुगामिक एवेति। अथवा-प्रत्यक्षः-स्वयंदर्शनलक्षणः प्रात्ययिकः-आप्तवचनप्रभवः तृतीयस्तथैवेति ५।

अहवा-तिविहे ववसाये पण्णत्ते, तं जहा—इहलोइए परलोइए इहलोइयपरलोइए ६। इहलोइए ववसाये तिविहे पण्णत्ते,तं जहा—लोइए वेइए सामइए७,लोइए ववसाये तिविहे पन्नत्ते,तं जहा—अत्थे धम्मे कामे ८। वेइए ववसाए तिविहे पन्नत्ते, तं जहा—रिउव्वेए जउव्वेए सामवेए ९। सामइए ववसाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—णाणे दंसणे चरित्ते ॥१०॥ (सू० १८५×)

इह लोके भव ऐहलौकिकः, य इह भवे वर्तमानस्य निश्चयोऽनुष्ठानं वा स ऐहलौकिको व्यवसाय इति भावः।यस्तु परलोके भविष्यति स पारलौकिकः, यस्त्विह परत्र च स ऐहलौकिकपारलौकिक इति ६। लौकिकः-सामान्यलोकाश्रयो निश्चयो-ऽनुष्ठानं वा, वेदाश्रितो वैदिकः,समयः-सांख्यादीनां सिद्धान्तस्तदाश्रितस्तु सामयिकः७। लौकिकादयो व्यवसायाः प्रत्येकं त्रिविधास्ते च प्रतीता एव, नवरम्-अर्थधर्मकामविषयो निर्णयो यथा—" अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च, धर्मस्य दानं च दया दमश्च। कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च,मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियासु ॥१॥ " इत्यादिरूपस्तदर्थमनुष्ठानं वा अर्थादिरेव व्यवसाय उच्यत इति ८। ऋग्वेदाद्याहितो निर्णयो व्यापारो ऋग्वेदादिरेवेति९।ज्ञानादीनि सामायिको व्यवसायः,तत्र ज्ञानं व्यवसाय एव पर्यायशब्दत्वात्,दर्शनमपि, श्रद्धानलक्षणं, व्यवसायः, व्यवसायांशत्वात् तस्येति प्रतिपादितमेव। चारित्रमपि समभावलक्षणो व्यवसाय एव, बोधस्वभावस्यात्मनः परिणतिविशेषत्वात्। यच्चोच्यते-"सच्चरणमणुट्ठाणं, विहिपडिसेहाणुगं तत्थ" त्ति तत्र तद्ग्राह्यचारित्रापेक्षमवगन्तव्यमिति। अथवा—ज्ञानादौ विषयं यो व्यवसायो बोधोऽनुष्ठानं वा स विषयभेदात्त्रिविध इति-सामायिकता चास्य सम्यग्मिथ्याशब्दलाञ्छितस्य ज्ञानादि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रयस्य सर्वसमयेष्वपि भावादिति । ॥१०॥ स्था० ३ ठा०३उ० ।

ववसायसभा–व्यवसायसभा–स्त्री० । व्यवसायनिबन्धनभूता सभा व्यवसायसभा । रा० । व्यवसायार्थसभायाम्, यत्र पुस्तकवाचनतो व्यवसायं–तत्त्वनिश्चयं करोति देवेन्द्रादिः । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

तीसे णं अलंकारियसभाए उत्तरपुरत्थिमे णं महेगा ववसायसभा पण्णत्ता, जहा ववसायसभा ० जाव सीहासणं सपरिवारमणिपेढिया । रा० ।

ववसिय–व्यवसित–न० । भावे क्तः । व्यवसाये, ज्ञा० १ श्रु० १अ० । सौधर्मे, कल्प०१अधि० ३ क्षण । कर्तरि क्तः । त्रि० । अभ्युपगतवति, व्य० ३ उ० ।

ववहरण–व्यवहरण–न० । व्यवहारे, व्यवह्रियत इति व्यवहरणम् । बहुलवचनात् कर्मण्यनट् । व्यवहरणीये, द्रव्यादौ, व्य० १ उ० ।

ववहरियव्व–व्यवहर्त्तव्य–त्रि० । व्यवहर्त्रा निष्पाद्ये कार्ये, व्य० ।

(भाष्यम्)—

ववहरियव्वं कज्जं, कुम्भादितियस्स जह सिद्धी ॥ २ ॥

व्यवहारेण–हेतु (करण) भूतेन व्यवहरन् कर्त्ता यन्निष्पादयति कार्यं तद् व्यवहर्तव्यमित्युच्यते, तथा चाह—"ववहरियव्वं कज्जं" यत्कार्यं कर्त्तव्यं व्यवहारेण तद् व्यवहर्तव्यं, व्यवहर्त्तव्यकार्ययोगात् पुरुषा अपि व्यवहर्त्तव्याः, ततः प्रागुक्तम्—"ववहरियव्वा य जे जहा पुरिसा" इति । अथ कथं व्यवहारग्रहणेन व्यवहारी व्यवहर्त्तव्यश्च सूच्यते, न खलु देवदत्तग्रहणे यज्ञदत्तस्य सूचा भवतीति । तत आह—'कुम्भादितियस्स जह सिद्धी' कुम्भ आदिरेषामिति कुम्भादयस्तेषां त्रिकं कुम्भादित्रिकम्, तस्य यथा सिद्धिः, कुम्भग्रहणेन तथा कुम्भ इत्युक्ते सकृतकः इति तस्य कर्ता कुलालः, करणं मृच्चक्रादि सामर्थ्यात् सूच्यते (तन्यते), कृतकस्यासतः कर्तृकरणव्यतिरेकेणासंभवात् । एवमत्रापि, व्यवहार इत्युक्ते व्यवहारी, व्यवहर्त्तव्यश्च सूच्यते । करणस्यापि सकर्मकक्रिया साधकतमरूपस्य कर्मकर्तृव्यतिरेकेणासंभवादिति त्रितयसिद्धिः । तदेवमेकग्रहणे सामर्थ्यादितरस्य द्वयस्य ग्रहणं भवतीत्येतत्सामान्येन सनिदर्शनमुक्तम् ।

सम्प्रति करणग्रहणेऽवश्यं कर्तृकर्मग्रहणं भवतीत्यर्थे निदर्शनमाह—

नाणं नाणी नेयं, अन्ना वि य मग्गणा भवे तितए ।
विविहं वा विहिणा वा, ववहरणं चेव ववहारो ॥ ३ ॥

मार्गणा भवति । तामेवाह-'नाणं नाणी नेयं' इति । तत्र ज्ञायते वस्तु परिच्छिद्यते अनेनेति ज्ञानम्, तत्र यथा ज्ञानमित्युक्ते ज्ञानिनो ज्ञानक्रिया कर्तुर्ज्ञेयस्य च-ज्ञानक्रियाविषयस्य परिच्छेद्यस्य सिद्धिर्भवति । तद्द्वितयसिद्धिमन्तरेण ज्ञानस्य ज्ञानत्वस्यैवासंभवादेवमत्रापि व्यवहारग्रहणेन व्यवहारी व्यवहर्तव्यश्च सूच्यते इति; भवति त्रितयस्याप्युपक्षेपः । एका तावन्मार्गणा त्रितयविषया-कुम्भादित्रिकसिद्धिदृष्टान्तेन प्रागभिहिता । वाशब्दः प्रकारान्तरे । अथवा-इयमन्या त्रितयविषया । तदेवं संक्षेपतो व्यवहारादिपदत्रयस्य प्ररूपणा कृता । व्य० १ उ०१ प्रक० । ("आभवंते य पच्छित्ते, ववहरियव्वं समासतो दुविहं"। व्य०१० उ० । इति 'ववहार' शब्दे व्याकरिष्यते) निक्षेपः-संप्रति व्यवहर्त्तव्याः-ते च नामादिभेदाच्चतुर्द्धा । तद्यथा-नामव्यवहर्त्तव्याः, स्थापनाव्यवहर्त्तव्या, द्रव्यव्यवहर्त्तव्या, भावव्यवहर्तव्याश्च । तत्र नामस्थापने प्रतीते । द्रव्यव्यवहर्त्तव्याः अपि द्विधा—आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो व्यवहर्तव्यशब्दार्थज्ञास्ते चानुपयुक्ता नोआगमतोऽपि त्रिधा-ज्ञशरीरभव्यशरीररूपाः प्रतीताः । तद्व्यतिरिक्तास्तु द्विधा-लौकिकाः, लोकोत्तरिकाश्च । भावव्यवहर्त्तव्या द्विधा-आगम-नोआगमभेदात् । तत्र आगमतो व्यवहर्त्तव्यपदार्थज्ञाः सूत्रे चोपयुक्ताः, नोआगमतो, लौकिका लोकोत्तरिकाश्च ।

तत्र लौकिकद्रव्यभावव्यवहर्त्तव्यप्रतिपादनार्थमाह—

लोए चोराईया, दव्वे भावे विसोहिकामाओ ।
जायमयसूतकादिसु, निज्जूढा पायकहयाओ ॥ १७ ॥

लोके—लोकविषया व्यवहर्त्तव्या द्विधा, तद्यथा—द्रव्यव्यवहर्त्तव्याः, भावव्यवहर्तव्याश्च । तत्र द्रव्ये—द्रव्यव्यवहर्त्तव्याः—चौरादयः, चौराः—तस्कराः, आदिशब्दात्—पारदारिकघातकहेरिकादिपरिग्रहः । ते हि चौर्यादिकं कृत्वाऽपि न सम्यक् प्रतिपद्यन्ते । बलात् प्रतिपाद्यमानाः, अपि न भावतो विशोधिमिच्छन्ति, ततस्ते द्रव्यव्यवहर्त्तव्याः । भावे-भावविषया व्यवहर्त्तव्या विशोधिकामा एव । तुशब्दस्य एवकारार्थत्वात् विशोधौ कामोऽभिलाषा येषां ते विशोधिकामाः, कथमस्माकमेतत्कुकर्मविषया विशुद्धिर्भविष्यतीति विशुद्धिं प्रत्यभ्युद्यतभावा व्यवहर्त्तव्या इति भावः । न केवलं द्रव्यव्यवहर्त्तव्याश्चौरादयः, किं तु-'जायमयसूयगाइसु निज्जूढा' इत्यादि सूतकशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । जातसूतके नाम जन्मानन्तरं दशाहानि यावत्, मृतकसूतकं नाम—मृतानन्तरं दश दिवसान् यावत् । तत्र जातकसूतके मृतकसूतके वा आदिशब्दात्-तदन्येषु तथाविधेषु शूद्रगृहादिषु ये कृतभोजनाः सन्तो धिग्जातीयैर्निर्व्यूढा असंभाष्याः कृतास्तथा ये पातकहताश्च—पातकेन ब्रह्महत्यालक्षणेन मातापित्रादिघातलक्षणेन वा हताः पातकहताः । एते हि द्वयेऽपि यदा न स्वदोषं प्रतिपद्यन्ते, प्रतिपद्यमाना वा न सम्यगालोचयन्ति; किन्तु-व्याजान्तरेण कथयन्ति तदा द्रव्यव्यवहर्त्तव्या द्रष्टव्याः । तथाहि-"एगो धिज्जाइतो उरालाए एडुसाए चंडालीए वा अज्झोववण्णो, ततो तं काएण फासेत्ता पायच्छित्तनिमित्तं चतुव्वेयमुवट्ठितो भणइ—सुमिणे एडुसं चंडालिं वा गतोमि" त्ति । एवमादयोऽपि द्रव्यव्यवहर्त्तव्याः ।

तथा चाह—

फासिऊण अगम्मं, भणइ सुमिणे गओ अगम्मं ति ।
एमादिलोयदव्वे, उज्जू पुण होइ भावम्मि ॥ १८ ॥

स्पृष्ट्वा कायेनेति गम्यते । अगम्यां—स्नुषां चाण्डाल्यादिकां वा स्त्रियमिति शेषः । भणति प्रायश्चित्तनिमित्तं चतुर्वेदमुपस्थितः सन्, यथा-स्वप्ने गतोऽगम्यामिति, एवमादयः । आदिशब्दात्—अपेयम्—सुरादिकं पीत्वा प्रायश्चित्तनिमित्तं चतुर्वेदमुपस्थितो ब्रूते—स्वप्ने अपेयपानं कृतवानहमित्यादिपरिग्रहः । 'लोयदव्व' त्ति लौकिका द्रव्यव्यवहर्त्तव्याः 'उज्जू पुण होइ भावम्मि' अत्र सामान्यविवक्षायामेकवचनम् । ततोऽयमर्थः—त एव जातमृतसूतकादिनिर्व्यूढादय ऋजवः सन्तो यदा सम्यगालोचयन्ति तदा भावे—भावविषया लौ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किका व्यवहर्त्तव्याः भवन्ति। उक्ता लौकिकद्रव्यभावव्यवहर्त्तव्याः।

सम्प्रति लोकोत्तरिकद्रव्यभावव्यवहर्त्तव्यप्रतिपादनार्थमाह–

परपच्चएण सोही, दव्वुत्तरिओ उ होइ एमादी।
गीतो व अगीतो वा, सब्भाव उवट्ठिओ भावे॥ १९॥

यस्य शोधिः परप्रत्ययेन, पर आचार्यादिकः स एव प्रत्ययः कारणं परप्रत्ययस्तेन, किमुक्तं भवति-नूनमहं प्रतिसेवमान आचार्येण उपाध्यायेन अन्येन वा साधुना ज्ञातोऽस्मि, ततः सम्यगालोचयामीत्येवं परप्रत्ययेन यस्य शोधिः प्रतिपत्तिरेवमादिः, आदिशब्दात्—यो गुरुं दोषं सेवित्वा अल्पं कथयति, स्वकृतं वाऽन्यकृतं ब्रवीति तदादिपरिग्रहः। लोकोत्तरिको द्रव्यव्यवहर्त्तव्यो भवति। भावे—भावविषयः, पुनर्लोकोत्तरिको व्यवहर्त्तव्यो गीतो वा गीतार्थो वा, अगीतो वेति अगीतार्थो वा प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यर्थं सद्भावेनोपस्थितः, स च वक्ष्यमाणगुणैरुपेतः सन् भवतीति।

तानेव गुणानुपदर्शयति—

अवंकेॅ अकुडिले यावि, कारणपडिसेवि तह य आहच्च।
पियधम्मे य बहुसुए, बिइयं उवदेसपच्छित्तं॥ २०॥

वक्रः-असंयतः न वक्रोऽवक्रः, संयतो-विरत इत्यर्थः। अकुटिलः-अमायी, चशब्दादक्रोधी अमानी अलोभी चेति परिग्रहः। अपिः पदार्थसंभावने, स चामून् पदार्थान् संभावयति। कारणे समापतिते सति नामैको यतनया प्रतिसेवते इत्येको भङ्गः १, कारणे अयतनयेति द्वितीयः २, अकारणे यतनयेति तृतीयः ३, अकारणे अयतनयेति चतुर्थः ४। अत्र प्रथमो भङ्गः शुद्ध इति तत्प्रतिपादनार्थमाह-कारणप्रतिसेवीति, कारणे-अशिवादिलक्षणे विशुद्धेनालम्बनेन बहुशो विचार्य शुल्कादिपरिशुद्धिलाभाकाङ्क्षिवणिग्दृष्टान्तेनाकृत्यं यतनया प्रतिसेवते इत्येवंशीलः कारणप्रतिसेवी 'तह य आहच्चे' ति। तथाचेति समुच्चये, कारणेऽप्यकृत्यप्रतिसेवी, न यदा तदा वा किं तु 'आहच्च' कदाचिदन्यथा दीर्घसंयमस्फातिमनुपलक्षमाणः। अथवा-आहच्चेति कदाचिदकारणेऽपि प्रतिसेवी 'पियधम्मे य बहुसुए' इति आद्यन्तयोर्ग्रहणं मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायात्। प्रियधर्मा—दृढधर्मा संविग्नोऽवद्यभीरुः सूत्रार्थतदुभयविद् इत्यपि द्रष्टव्यम्। एते सर्वेऽपि व्यवहर्त्तव्याः। 'बिइयं' ति, अत्र द्वितीयं मतान्तरं केचिदाहुरवक्रादीनामपि प्रतिपन्ना व्यवहर्त्तव्या इति। 'उपदेसपच्छित्तं' इह द्विविधः साधुर्गीतार्थः, अगीतार्थश्च। तत्र यो गीतार्थः स गीतार्थत्वादेवानाभाव्यं न गृह्णातीति न तस्योपदेशः। यः पुनरगीतार्थस्तस्यानाभाव्यं गृह्णातीति उपदेशो दीयते, यथा न युक्तं तवानाभवत् ग्रहीतुम्, यदि पुनरनाभवत् ग्रहीष्यसि ततस्तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं भविष्यति इत्युपदेशदानम्। तत एवमुपदेशे दत्ते सति दानप्रायश्चित्तं दीयते, इति गाथासमासार्थः। अत्र शिष्यः प्राह—कारणसेवी भावव्यवहर्त्तव्य उक्तः, स कथमुपपद्यते? प्रतिषिद्धं हि यतनयाऽपि सेवमानो जिनाऽऽज्ञाप्रद्वेषकारी ननु स दुष्टभाव इति, कथं भावव्यवहर्त्तव्यः। नैष दोषो जिनाऽऽज्ञाप्रद्वेषकारित्वाभावात्सति कारणे प्रतिसेवायामपि वर्तते। जिनाऽऽज्ञामवलम्ब्यैव यथाऽस्यामवस्थायां दीर्घसंयमस्फातिनिमित्तमकृत्यप्रतिसेवायामपि प्रवर्तितव्यमिति ततो न कश्चिद्दोषः। अपि च-भगवन्तो वीतरागा न मिथ्या कदाचनापि ब्रुवते वीतरागतया तेषां मिथ्यावचनकारणाभावात्। उक्तं च—" रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषा—स्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात्॥ १॥" भगवता वा यतनयाऽपि कारणे प्रतिसेविनो भावव्यवहर्त्तव्या उक्ताः, तद्यदि भगवद्वचनात् द्वितीयभङ्गवर्तिनोऽपि भावव्यवहर्त्तव्यास्ततः प्रथमभङ्गवर्तिनः सुतरां भावव्यवहर्त्तव्या भवेयुः।

तथा चाह—

आहच्च कारणम्मि, सेवंतो अजयणं सिया कुज्जा।
एसो वि होइ भावे, किं पुण जयणाएँ सेवंते॥ २१॥

आहच्च—कदाचिदनन्यगत्या कारणे-अशिवादिलक्षणे अकृत्यं सेवमानः स्यात्कदाचिदयतनां कुर्यात्-अयतनया प्रतिसेवितेति भावः। एषोऽपि भगवद्वचनाद्वा भवति भावे व्यवहर्त्तव्यः, किं पुनर्यतनया प्रतिसेवमानः प्रथमभङ्गवर्ती, स सुतरां भवेद्भावे व्यवहर्त्तव्य इत्यर्थः। न केवलं प्रथमभङ्गवर्ती वा भगवद्वचनाद् भावे व्यवहर्तव्यः, किं तु-तृतीयभङ्गवर्त्यपि।

तथा चाह—

पडिसेवियम्मि सोहिं, काहं आलंबणं कुणइ जो उ।
सेवंतो वि अकिच्चं, ववहरियव्वो स खलु भावे॥२२॥

कारणमन्तरेणापि यतनया प्रतिसेविते अकृत्ये पश्चात् शोधिं प्रायश्चित्तमहं करिष्यामीत्येवंरूपमालम्बनं यः करोति। किमुक्तं भवति—एवंरूपेणालम्बनेनाकृत्ये यः प्रवृत्तिं चिकीर्षति स तथारूपमालम्बनं कृत्वा प्रतिसेवमानोऽप्यकृत्यं खलु निश्चितं भावे व्यवहर्त्तव्यः। अन्तःकरणविशुद्धिपुरस्सरं यतनया प्रवर्त्तमानत्वेन भावतो व्यवहार्योग्यत्वात्। किमुक्तं भवति—अकारणे यतनयेति तृतीयभङ्गवर्त्यपि भगवद्वचनाद्भावव्यवहर्त्तव्यो वेदितव्य इति। तदेवं चतुर्भङ्गिकायामाद्यभङ्गत्रयवर्त्तिनो भावव्यवहर्तव्या उक्ताः।

संप्रति चतुर्भङ्गिकामनपेक्ष्यान्यथैव भावव्यवहर्तव्यलक्षणमाह—

अहवा कज्जाऽकज्जे, जताऽजतो वा वि सेविउं साहू।
सब्भावसमाउट्टो, ववहरियव्वो हवइ भावे॥ २३॥

अथवेति-प्रकारान्तरे, तच्च प्रकारान्तरमिदम्। प्राक् चतुर्भङ्गिकां प्ररूप्य भावव्यवहर्त्तव्या उक्ताः, संप्रति तु तामनपेक्ष्यैव भावव्यवहर्त्तव्योऽभिधीयते। कथमिति चेदत आह-'कज्जाकज्जे'-कार्ये-अशिवादिनिस्तरणलक्षणे-प्रयोजने, अकार्ये—तथाविधपुष्टप्रयोजनाभावे 'जयाजयो व' त्ति। यतमानो वा अयतमानो वा साधुरकृत्यं सेवित्वा सद्भावेन पुनरकरणलक्षणया तात्त्विक्या वृत्त्या समावृत्तोऽकृत्यकरणात् प्रत्यावृत्तः सन् गुरोः समीपे य आलोचयतीति शेषः, स भावे भवति व्यवहर्तव्यः, भावतोऽकृत्यकरणतः प्रत्यावृत्तत्वात्।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संप्रति प्राक् प्ररूपितायां चतुर्भङ्गिकायां यश्चतुर्थो भङ्गस्तत्प्ररूपणार्थमाह—

निक्कारणपडिसेवी, कज्जे निद्धंधसो व्व अणवेक्खो ।
देसं वा सव्वं वा, गूहिस्सं दव्वतो एस ॥ २४ ॥

यो निष्कारणे-कारणमन्तरेण प्रतिसेवी अकृत्यप्रतिसेवनशीलः'कज्जे निद्धंधसो'त्ति।अत्र अपिशब्दोऽनुक्तोऽपि गम्यते सामर्थ्यात् । ततोऽयमर्थः-कार्येऽपि तथाविधे समुत्पन्ने 'निद्धंधसो' देशीवचनमेतत् । अकृत्यं प्रतिसेवमानो नाधिकृतारम्भविराध्यमानप्राण्यनुकम्पापर इत्यर्थः । चः-समुच्चये, स भिन्नक्रमोऽनपेक्ष्यश्चेत्येवं योजनीयः । न विद्यते अपेक्षा-वैरानुबन्धो मे विराध्यमानजन्तुभिः सह भविष्यति संसारो वा दीर्घतर इत्येवंरूपा यस्यासावनपेक्षः, हा दुष्टं कृतं मयेति पश्चादनुतापरहित इति भावः । तथा यः प्रतिसेवित्वा देशं गूहिष्यामि न सर्वमिति भावः । 'सव्वं व' त्ति सर्वं वा गूहिष्यामि न किंचिदालोचयिष्यामीत्यर्थः ; इति चिन्तयति, चिन्तयित्वा च तथैव करोति । एष द्रव्यतो व्यवहर्त्तव्यो वदितव्यः ।

किं वा नेत्यत आह—

सो वि हु ववहरियव्वो, अणवत्था वारणं तदन्ने य ।
घडगारतुल्लसीलो, अणुवरओसन्नमज्झत्थी ॥ २५ ॥

सोऽप्यनन्तरोक्तस्वरूपो द्रव्यव्यवहर्त्तव्य एव, किं कारणमत आह-'अणवत्थावारणं तदन्ने य' इति । तस्मिन्-व्यवह्रियमाणे अनवस्थावारणं भवति, तदन्ये च निषिद्धा जायन्ते । किमुक्तं भवति-सोऽप्यनवस्थया मा पुनः पुनरकृत्यं कार्षीत् । तदन्ये च तं तथा प्रवर्त्तमानं दृष्ट्वा मा तथा प्रवृत्तिं कार्षुरिति । स च व्यवहर्तुमिष्यमाणः पूर्वमेव वक्तव्यो, यथा-आलोचय महाभाग ! स्वकृतमपराधमनालोचिताप्रतिक्रान्तो दीर्घसंसारभाग् भवतीति । एवं च भणिते यो ज्ञायते-प्रतिपत्स्यते शिक्षावचनं प्रतिपद्य वा अकृत्यकरणात् विरतो, विरम्य च न भूयः प्रतिसेवीति । यस्तु तथा भण्यमानोऽपि न सम्यगकृत्यकरणादुपरमते सोऽनुपरतो घटकारतुल्यशीलः—कुम्भकारसदृशस्वभावोऽवसन्नमध्ये द्रष्टव्यो न तु व्यवहर्त्तव्यः । अथ कोऽसौ कुम्भकारो यत्सदृशस्वभावः सन्नव्यवहर्तव्यः,उच्यते-"कुंभगारसालाए साहू ठिया, तत्थ आयरिएण साहू वुत्ता । अज्जो ! एएसु कुंभगारभायणेसु अप्पमादी भवेज्जाह, मा भंजिहह । तत्थ पमादी चेल्लगो कुंभगारभायणं भंजिऊण मिच्छादुक्कडं करेइ।एवमभिक्खणं दिणे दिणे । तओ सो कुंभगारो रुट्ठो तं चेल्लं कियाडियाए घेत्तुं सीसे खडक्कं दाउं खडक्को नाम-टोल्लओ मिच्छा मि दुक्कडं भणइ सीसो भणइ-किं ममं निरवराहं पिट्टेसि ? कुम्भगारो भणइ-भाणगाणि तए भग्गाणि । चेल्लओ भणइ-मिच्छा दुक्कडं कयं । कुंभगारो भणइ—मए वि मिच्छादुक्कडं कयं । नऽत्थि कम्मबंधो मम तव पहारं देंतस्स । एसो कुंभगारमिच्छादुक्कडसरिसमिच्छादुक्कडो अव्ववहरियव्वो" तदेवं तह य आहश्चेति व्याख्यातम् ।

संप्रति 'पियधम्मो य बहुस्सुए' इत्यस्य व्याख्यानमाह—

पियधम्मो जाव सुयं, ववहारं नाउ जे समक्खाया ।
सव्वे वि जहा दिट्ठा, ववहरियव्वा य ते हुंति ॥ २६ ॥

इहाद्यन्तग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायात् प्रियधर्म्मबहुश्रुतग्रहणे तदन्तरालवर्त्तिनामपि दृढधर्मादीनां ग्रहणम् । ततः प्रियधर्मण आरभ्य यावत् श्रुतं सूत्रार्थतदुभयविद इति पदम् , तावत् ये व्यवहारज्ञा व्यवहारपरिच्छेदकर्त्तारः प्राक् समाख्यातास्ते सर्वेऽपि यथादिष्टा-यथोक्तस्वरूपा व्यवहर्त्तव्या-भावव्यवहर्त्तव्या भवन्ति, प्रत्येतव्या इतिशेषः । प्रियधर्मादितया सूत्रार्थतदुभयविदः, यावत्तेषां प्रज्ञापनीयत्वादिति । व्यवहारप्रायश्चित्तव्यवहार आभवत्सचित्तादिव्यवहारश्च, तत्र द्विविधेऽपि व्यवहारे व्यवहर्त्तव्यः, प्रायो गीतार्थेन सह नागीतार्थेन ।

तथा चाऽऽह—

अग्गीएणं सद्धिं , ववहरियव्वं न चेव पुरिसेणं ।
जम्हा सो ववहारे , कयम्मि सम्मं न सद्दहई ॥ २७ ॥

यः स्वयं व्यवहारमवबुध्यते प्रतिपाद्यमानो वा प्रतिपद्यते व्यवहारं स गीतार्थः इतरस्त्वगीतार्थः । तत्रागीतेन अगीतार्थेन सार्द्धं नैव पुरुषेण व्यवहर्त्तव्यम् , कस्माद्?, इत्याह-यस्मात्सोऽगीतार्थो व्यवहारे यथोचिते कृतेऽपि न सम्यक् श्रद्धत्ते-न परिपूर्णं व्यवहारं कृतं तथेति कृतं प्रतिपद्यते इति । तस्माद् गीतार्थेन सह व्यवहर्त्तव्यम् ।

यत आह—

दुविहम्मि वि ववहारे , गीयत्थो पण्णविज्जई जं तु ।
तं सम्मं पडिवज्जइ , गीयत्थम्मी गुणा चेव ॥ २८ ॥

द्विविधेऽपि प्रायश्चित्तलक्षणे आभवत्सचित्तादिव्यवहारलक्षणे च व्यवहारे गीतार्थो यत्प्रत्याप्यते पाठान्तरम्-'पण्णविज्जइ' प्रज्ञाप्यते तत्सम्यक् प्रतिपद्यते गीतार्थत्वात् तथा चाह—'गीयत्थम्मी गुणा चेव' गीतार्थे गुणा एव नागुणाः, अगुणवतो गीतार्थत्वायोगात् ।

यथा च गीतार्थः सम्प्रतिपद्यमानः सम्यक् प्रतिपद्यते तथा प्रतिपादयन्नाह—

सच्चित्ताऽऽदुप्पन्ने, गीयत्था सइ दुवेण्ह गीयाणं ।
एगयरे उ नियत्ते , सम्मं ववहारसद्दहणा ॥ २९ ॥
गीओ अणाइयंतो , छिंद तुमं चेव छंदिनो संतो ।
कहमंतरम्मि ठविओ , तित्थयराणंतरं संघं ॥ ३० ॥

"दोन्नि जणा गीयत्था विणओवसंपयाए विहरंति, तेसिं सच्चित्ताई किंचि उप्पन्नं, तन्निमित्तं ववहारो जाओ । एगो भणइ-ममाऽऽभवइ, बीओ भणइ-ममाऽऽभवइ, तस्य य समीपे अन्नो गीयत्थो नऽत्थि, जस्स सगासे गच्छंति । ताओ एगेण बीओ भणितो-अज्जो ! तुमं चेव ममं पमाणं भणाहि, कस्साऽऽभवइ ?, तओ सो एवं निउत्तो चिंतेइ—तित्थयराणंतरं संघे अहं ठवितो ता कहमहं तित्थयराणंतरं संघमइक्कमामि त्ति । भणइ—तुमं चेवाऽऽभवति न ममं ति ।" एष भावार्थः, अक्षरयोजना त्वेवम्—सचित्ताद्युत्पन्ने आदिशब्दादचित्तमिश्रपरिग्रहः । समासश्च कर्मधारयस्ततोऽयमर्थः, सचित्ते शिष्ये अचित्ते वस्त्रादौ मिश्रे सोपकरणे शिष्ये उत्पन्ने सति द्वयोर्गीतार्थयोः परस्परं विवदमानयोः अन्यस्मिन्समीपे व्यवहारपरिच्छेदकर्त्तरि गीतार्थे असति, कथमप्येकतरस्मिन् गीतार्थतया निवृत्ते—विवादात्प्रत्यावृत्ते प्रागुक्तनीत्या व्य-

१ 'अग्गीएणं' इति युक्तम् , छन्दोऽनुरोधात् पुस्तकानुरोधाच्च तथेति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहारश्रद्धानं भवति, सम्यग्व्यवहारप्रतिपत्तिरुपजायते । कथम् ?, इत्याह-' गीओ अणाइयंतो' इत्यादि, गीतो-गीतार्थोऽनतिक्रामन् यद्विवादादनतिक्रामन् द्वितीयेन गीतार्थेन सचित्ताद्युत्पादनसहवर्त्तिना व्यवहारममुं त्वमेव छिन्धि नत्वमगीतार्थो, नापि युक्तमयुक्तं वा त्वं न जानासि इत्येवं छन्दितो—निमन्त्रितः सन् चिन्तयति—अहमनेनास्मिन् व्यवहारे प्रमाणीकुर्वता तीर्थकरानन्तरसंघमध्यवर्त्ती स्थापितः, संघश्च भगवदाज्ञानिर्वर्त्तितया यथावस्थितार्थवक्ता अन्यथा तीर्थकरानन्तरत्वायोगात् । तद्यदि लोभादितया कथमपि व्यवहारं विलोप्स्यामि ; ततो मयैव तीर्थकरानन्तरः सत्संघोत्तारितः कृतो भवेत्, तत एवं तद्व्यवहारविलोपनेन कथमहं तीर्थकरानन्तरं संघमन्तरं स्थापयामि अन्तरयामीति चिन्तयित्वा सोऽवादीत्-तवैवेदमाऽऽभवति न ममेति । तस्माद् द्विविधोऽपि व्यवहारो गीतार्थेन सह कर्त्तव्यो नाऽगीतार्थेन । गीतार्थश्च प्रियधर्मत्वादिगुणोपेत इति प्रियधर्मादयो भावा व्यवहर्त्तव्याः । ननु ये प्रियधर्मादयस्ते प्रियधर्मत्वादिगुणैरेवाकल्प्यं न किमपि प्रतिसेविष्यन्ते इति कथं व्यवहर्त्तव्या निर्दिश्यन्ते ?, व्यवहारंहत्वकल्प्यप्रतिसेवनासम्भवात् । नैष दोषः, प्रमादवशतस्तेषामपि कदाचिदकल्प्यप्रतिसेवनापत्तेः । अन्यच्च प्रमादाभावेऽपि कदाचिदशिवाद्युत्पत्तौ गुरुलाघवं पर्यालोच्य दीर्घसंयमस्फातिनिमित्तमकल्प्यमपि प्रतिसेवन्ते, ततो भवति तेषामपि व्यवहारयोग्यतेति व्यवहर्तव्या निर्दिष्टाः । अथ ये प्रियधर्मादिगुणोपेता अपि प्रमादिनस्ते कथं व्यवह्रियन्ते, प्रमादितया तेषां व्यवहारयोग्यताया अभावात् ।

तत आह—

पियधम्मे दढधम्मे, संविग्गे चेव जे उ पडिवक्खा ।
ते वि हु ववहरियव्वा,किं पुण जे तेसि पडिवक्खा॥३१॥

प्रियधर्मा दृढधर्मसंविग्नौ च ये प्रतिपक्षा अप्रियधर्मः अदृढधर्मः असंविग्नश्च तेऽप्यनवस्थावारणाय तदन्यनिषेधाय हु-निश्चितं व्यवहर्त्तव्या भगवद्भिरुक्ताः,किं पुनर्ये तेषामप्रियधर्मादीनां प्रतिपक्षाः प्रियधर्मदृढधर्मसंविग्नाः ते सुतरां व्यवहर्तव्याः, प्रियधर्मादितया तेषां भावतो व्यवहारप्रवृत्तेः । तदेवं 'पियधम्मे य बहुस्सुए' इत्येतद् व्याख्यातम् ।

सम्प्रति 'बितिय' मित्यवयवं व्याचिख्यासुराह—

बिइय मुवएसअवंका-इयाण जे होंति ते उ पडिवक्खा ।
ते वि हु ववहरियव्वा, पायच्छित्ताऽऽभवंते य ॥ ३२ ॥

द्वितीय उपदेश आदेशो मकारोऽलाक्षणिकः,द्वितीयम्-मतान्तरमित्यर्थः,अवक्रादीनां ये भवन्ति प्रतिपक्षाः वक्रः-कुटिलो निष्कारणप्रतिसेवी, तथा सततप्रतिसेवनशीलोऽप्रियधर्मा यावदबहुश्रुतस्तेऽपि केचित् व्यवहारयोग्यतया अपरे अनवस्थावारणाय तदन्यनिषेधाय आभवति प्रायश्चित्ते व्यवहर्त्तव्याः ।

सम्प्रति ' उपदेसपच्छित्त ' मित्येतद् व्याचिख्यासुराह—

उवएसो उ अगीए, दिज्जइ बिइओ उ सोधिववहारो ।
गहिए वि अणाभव्वे, दिज्जइ वियर्य तु पच्छित्तं॥३३॥

साधुर्द्विविधो—गीतार्थः, अगीतार्थश्च । तत्र यो गीतार्थः स स्वयमेव जानीते, जानानस्य च नोपदेशः । यस्त्वगीतार्थः स युक्तायुक्तपरिज्ञानविकलतया अनाभाव्यमपि गृह्णाति, ततस्तस्मै अगीतार्थाय उपदेशो दीयते , यथा—न युक्तं तवानाभाव्यं ग्रहीतुम् , यो ह्यनाभाव्यं गृह्णाति तस्य तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमाभवति । एवमुद्दिश्य तस्यानाभाव्यग्रहणप्रवृत्तिनिमित्तं दानप्रायश्चित्तं दीयते, प्रथमत उपदेश इति आभाव्यग्रहणप्रवृत्तिनिमित्तं दानप्रायश्चित्तं दीयते । तथा चाह—'बिइओ उ सोहिववहारो'शोधिः-प्रायश्चित्तम्,अनाभाव्यं गृह्णाति प्रथमत उपदेश आदीयते , द्वितीयः शोधिदानव्यवहारः तदेतदनाभाव्यं गृह्णन्तं प्रत्युक्तम् । सम्प्रति गृहीतानाभाव्यं प्रत्याह—'गहिए वी' त्यादि, अपिशब्दः समुच्चये, न केवलमनाभाव्ये गृह्यमाणे किं तु गृहीतेऽप्यनाभाव्ये दीयते,प्रथमतः उपदेश इति गम्यम् , तदनन्तरं सूत्रमुच्चार्य प्रायश्चित्तं यथावस्थितं कथयित्वा एतत्तवाऽऽभवति प्रायश्चित्तमिति प्रथमं ततो दानप्रायश्चित्तं दीयते इति द्वितीयम् । व्य० १ उ० ।

ववहार–व्यवहार–पुं० । व्यवह्रियते यद्यस्य प्रायश्चित्तमाभवति स तद्दानविषयीक्रियतेऽनेनेति व्यवहारः । "ऋतो भावात् समश्च हलः " इति करणे घञ् प्रत्ययः । व्य० १ उ० । कथंचिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षणे, दश० ३ अ० । स्था० । प्रायश्चित्तसमाचारे, पञ्चा० १६ विव० । व्यवह्रियन्ते जीवादयोऽनेनेति व्यवहारः । अथवा—व्यवहरणं व्यवहारः मुमुक्षुप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपेऽर्थे तत्कारणे, ज्ञानविशेषे च । प्रव० १२५ द्वार । व्यवहारप्ररूपणा कर्त्तव्या, तत्र व्यवहारग्रहणेन व्यवहारी व्यवहर्त्तव्यं चेति द्वितयं सूचितमेव तद्व्यतिरेकेण व्यवहारस्यासंभवात् ,न खलु करणं सकर्मकक्रियासाधकतमरूपं कर्म कर्त्तारं च विना क्वचित्सम्भवदुपलब्धम् । व्य०१ उ० ।

[१] व्यवहारे व्यवहर्त्तव्यम् , ततो यथा व्यवहारस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या, तथा व्यवहारिव्यवहर्त्तव्ययोरपीति त्रयाणामपि प्ररूपणां चिकीर्षुः, भाष्यकृदेतदाह—

ववहारो ववहारी, ववहरियव्वा य जे जहा पुरिसा ।
एएसिं तु पयाणं, पत्तेयपरूवणं वुच्छं ॥ १ ॥

व्यवहार—उक्तशब्दार्थः व्यवहरतीत्येवंशीलो व्यवहारी—व्यवहारक्रियाप्रवर्त्तकः । प्रायश्चित्तदायीति यावत् । तथा ये पुरुषाः पुरुषग्रहणं पुरुषोत्तमो धर्म्म इति ख्यापनार्थम् , अन्यथा स्त्रियोऽपि द्रष्टव्यास्तासामपि प्रायश्चित्तदानविषयतया प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । यथा ये वक्ष्यमाणेन प्रकारेण व्यवहर्त्तव्याः-व्यवहारक्रियाविषयीकर्त्तव्याः । पाठान्तरम्-'जं जहा काले ' अस्यायमर्थः—ये यथा-यस्मिन्काले व्यवहर्त्तव्यास्तद्यथा-यदा आगमव्यवहारिणः सन्ति , तदा तदुपदेशेनैव व्यवहर्त्तव्यास्तेषु व्यवच्छिन्नेषु श्रुतज्ञानव्यवहार्युपदेशेन तदैव चाज्ञयाऽपि तदैव धारणया तदैव तु जीतव्यवहारेणापि व्यवहर्त्तव्या इति । एतेषां व्यवहारव्यवहारिव्यवहर्तव्यरूपाणां त्रयाणां पदानाम् , तुर्विशेषणे सचैतद्विशिनष्टि, संक्षेपतो विस्तरतश्च । प्रत्येकमिति प्रत्येकशब्दः यथेत्यादिना अव्ययीभावः । एकैकस्येत्यर्थः, प्ररूपणां—व्याख्यां वक्ष्ये ।

तत्र संक्षेपप्ररूपणार्थमिदमाह—

ववहारी खलु कत्ता, ववहारो होइ करणभूतो उ ।
ववहरियव्वं कज्जं, कुंभादितियस्स जह सिद्धी ॥ २ ॥

' ववहारी खलु कत्त ' त्ति व्यवहारस्य कर्त्ता; व्यवहारस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छेत्ता अभिधीयते इति शेषः। व्यवहारः पुनर्भवति करण-
भूतः। व्यवहारच्छेदक्रियां प्रति करणत्वं प्राप्तः। तुशब्दः
पुनरर्थे व्यवहितसम्बन्धश्च, स च यथास्थानं योजित एव। स
च व्यवहारः करणभूतः पञ्चधा-आगमः, श्रुतम्, आज्ञा, धा-
रणा, जीतश्च। आह च चूर्णिकृत्-'पञ्चविधो व्यवहारः करण'-
मिति तेन च पञ्चविधेन व्यवहारेण करणभूतेन व्यवहरन् क-
र्त्ता यन्निष्पादयति कार्यम् तद्व्यवहर्त्तव्यमित्युच्यते। व्य० १
उ०। प्रथमतो व्यवहारपदस्य निरुक्तं वक्तुकाम इदमाह—
'विविहं वा' इत्यादि, विविधं तत्तद्योग्यतानुसारेण विचित्रं
विधिना वा सर्वज्ञोक्तेन प्रकारेण वपनं तपःप्रभृत्यनुष्ठानविशे-
षस्य दानम्-'डुवप्'-बीजतन्तुसंताने इति वचनात्। हरणम-
तीचारदोषाज्जातस्य। अथवा-संभूय द्वित्र्यादिसाधूनां कचि-
त्प्रयोजने प्रवृत्तौ यत् यस्मिन्नाभवति, तस्य तस्मिन्वपन-
मितरस्माच्च हरणमिति व्यवहारः किमुक्तं भवति-विविधो
विधिना वा हारो व्यवहारः "पृषोदरादय" इति विवाप-
शब्दयोर्व्यव आदेशः।

सम्प्रति वपनहरणशब्दयोरर्थं वक्तुकामस्तदेकार्थिकान्याह—

ववणं ति रोवणं ति य, पकिरणपडिसाडणा य एगट्ठं।
हारो त्ति य हरणं ति य, एगट्ठं हीरएव वत्ति ॥ ४ ॥

डुवप्—बीजतन्तुसन्ताने, उप्यते, वपनं इतिशब्दः शब्दस्वरू-
पपरिसमाप्तिद्योतकः,एवमुत्तरेऽपि। रोपणमिति रुह-जन्मनि,
रोहति कश्चित्तमन्यः प्रयुङ्क्ते प्रयोक्तृव्यापारे णिच् रुहेः
'पो वा' इति हकारस्य पकारः। रोप्यते इति रोपणं भावे
अनट्, वा समुच्चये 'पकिरणे' त्ति। कृ-विक्षेपे, प्रपूर्वः प्र-
शब्दोऽत्र दाने, प्रदातुं कीर्यते-विक्षिप्यते इति प्रकिरणम् 'प-
रिसाडणा य' इति, शट् रुजायाम् परिपूर्वः परिशटति प-
रिभ्रश्यति, तमन्यः प्रयुङ्क्ते पूर्ववत् णिच्। परिशाट्यते इ-
ति परिशाटनानि वेत्यादि अनट्प्रत्ययः, आप्। चः समुच्चये।
'एगट्ठ' मिति एतत् शब्दचतुष्टयमेकार्थम्,एकार्थप्रवृत्ताः पर-
स्परमेते पर्याया इति भावः। तेन यदुक्तं भवति-रोपणमिति
प्रकरणमिति परिशाटनेति वा तदुक्तं भवति, वपनमिति।
एतावता वपनशब्दस्य प्रदानलक्षणोऽर्थः समर्थितः। 'हा-
रो त्ति वे' त्यादि। हरणं हारः, हृतिर्हरणम्, ह्रियते
इति वा एकार्थाः त्रयोऽप्येते शब्दा एकार्थिका इत्यर्थः।
तदेव वापशब्दस्य हारशब्दस्य च प्रत्येकमर्थोऽभिहितः।

सम्प्रति तयोरेव समुदितयोरर्थं जिज्ञापयिषुरिदमाह—

अत्थी पच्चत्थीणं, हाउं एक्कस्स ववइ बिइयस्स।
एएण उ ववहारो, अहिगारो एत्थ उ विहीए ॥ ५ ॥

अर्थी-याचको यः परस्मान्ममेदं लभ्यमिनि याचते। प्रत्य-
र्थी अर्थिनः प्रतिकूलः। किमुक्तं भवति—यः परस्य गृहीत्वा
न किमपि तस्मै प्रयच्छति, तयोरर्थिप्रत्यर्थिनोर्विवदमान-
योर्व्यवहारार्थं स्थेयपुरुषमुपस्थितयोः स व्यवहारपरिच्छेद-
कुशलो व्यवहारविधापनसमर्थश्च स्थेयो यस्मात् 'हाउं ए-
कस्स' त्ति। सूत्रे षष्ठी पञ्चम्यर्थे प्राकृतत्वात्। प्राकृते हि-
विभक्तिव्यत्ययोऽपि भवति। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृत-
लक्षणे-व्यत्ययोऽप्यासामिति। यस्य यन्नाऽऽभवति तस्मात्
तत् हृत्वा-आदाय यस्याऽऽभवति तस्मै द्वितीयाय वपति-
प्रयच्छति 'एएण उ ववहारो' इति एतेन-अनन्तरोदितेन
कारणेन स स्थेयव्यापारो व्यवहारः। किमुक्तं भवति—य-
स्मादेष स्थेयपुरुषो विवादानिर्णयाय एकस्माद्धरति अ-
न्यस्मै प्रयच्छति, तस्मात्तद्व्यापारो वपनहरणात्मकत्वात्
व्यवहार इति। एतावता समुदायार्थकथनं कृतम्, स च व्य-
वहारो विधिव्यवहारोऽविधिव्यवहारश्च। तत्रापि अविधिव्य-
वहारपरित्यागेन विधिव्यवहार एव कर्त्तव्य इति प्रतिपादना-
र्थमाह-'अहिगारो एत्थ उ विहीए'। अत्र-एतस्मिन् शास्त्रे
अधिकारः—प्रयोजनं व्यवहारेण विधिनैव—विधिपूर्वकेणैव
तुशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, नाविधिना अविधेर्मोक्षप्रति
पन्थित्वात्। तदेवमुक्तं व्यवहारशब्दस्य निर्वचनम्। तच्च क्रि-
यामात्रमपेक्ष्योक्तमधिकृतग्रन्थयोजनायां तु करणव्युत्पत्तिरा-
श्रयणीया। विधिना उप्यते ह्रियते च येन स व्यवहार इति।

(२)संप्रति व्यवहारस्य नामादिभेददर्शनार्थमाह—

ववहारम्मि चउक्कं, दव्वे पत्तादि लोइयादी वा।
नोआगमतो पणगं, भावे एगऽट्ठिया तस्स ॥ ६ ॥

व्यवहारे—व्यवहारविषये चतुष्कम्। किमुक्तं भवति—चतु-
र्द्धा व्यवहारः। तद्यथा—नामव्यवहारः, स्थापनाव्यवहारो,
द्रव्यव्यवहारो, भावव्यवहारश्च। तत्र नामस्थापने सुप्रतीते,
द्रव्यव्यवहारो द्विधा—आगमतो, नोआगमतश्च आगमतो-
व्यवहारपदार्थज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तो नोआगमतस्त्रिधा-
ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरी-
रव्यवहारौ गतौ,ज्ञशरीरभव्यशरीरयोरन्यत्रानेकशोऽभिहित-
त्वात् तद्व्यतिरिक्तमाह—'दव्वे पत्तादि लोइयादी वा' द्र-
व्ये-द्रव्यविषये व्यवहारो नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्य-
तिरिक्तः पत्रादिः, आधाराधेययोरभेदविवक्षणादयं निर्देशः।
ततोऽयमर्थः-ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यव्यवहारः स्व-
त्वेष एव ग्रन्थः पुस्तकपत्रलिखितः, आदिशब्दात्-काष्ठसंपुट-
फलकपट्टिकादिपरिग्रहः। तत्राप्येतद्ग्रन्थस्य लेखनसम्भवा-
त् लौकिकादिर्वेति। यदि वा—ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो
द्रव्यव्यवहारस्त्रिविधः,तद्यथा-लौकिकः कुप्रावचनिको, लो-
कोत्तरिकश्च। तत्र लौकिको यथा-आनन्दपुरे खड्गाद्युद्गीर्णे
रूपकाणामशीतिसहस्रं दण्डो, मारितेऽपि तावानेव। प्रहारे
तु पतिते यदि कथमपि न मृतस्तर्हि रूपकपञ्चको दण्डः, उ-
त्कृष्टे तु कलहे प्रवृत्ते अर्द्धत्रयोदशरूपको दण्डः। कुप्रावचनि-
को यथा—यत्कर्म्म यो न करोति न ततः कर्मणस्तस्य किं-
चिदिति। लोकोत्तरिको यथा—एते पाण्डुरपटप्रावरणा जि-
नानामनाज्ञया स्वच्छन्दं व्यवहरन्तः परस्परमशनपानादिप्र-
दानरूपं व्यवहारं कुर्वन्ति। भावव्यवहारो द्विधा-आगमतो,
नोआगमतश्च। आगमतो व्यवहारपदार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्तः
'उपयोगो भावनिक्षेप' इति वचनात्। नोआगमतः पञ्चवि-
धो व्यवहारः। तथा चाह—'नोआगमतो पणगं' 'भावे' इ-
ति भावे विचार्यमाणे नोआगमतो व्यवहारो व्यवहारपञ्चक-
म्-आगमः श्रुतम् आज्ञा धारणा जीतमिति। नोशब्दो देशव-
चनः, तस्य पञ्चविधस्यापि नोआगमतो भावव्यवहारस्य-
सामान्येन एकार्थिकान्यमूनि।

तान्येवाह—

सुत्ते अत्थे जीए, कप्पे मग्गे तहेव नाए य।
तत्तो य इच्छियव्वे, आयरिए चेव ववहारो ॥ ७ ॥

तत्तदर्थसूचनात् सूत्रम् औणादिकी शब्दव्युत्पत्तिः, तच्च
पूर्वाणि छेदसूत्राणि वा। तथा अर्थ्यते-प्रार्थ्यते मोक्षमभिल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षड्विरित्यर्थः, सूत्रस्याभिधेयम् । तथा जीतं नाम प्रभूतानेकगीतार्थकृता मर्यादा तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्युपचारात् जीतम् । तथा कल्पन्ते समर्था भवन्ति संयमाध्वनि प्रवर्त्तमाना अनेनेति कल्पः । मृजूष्-शुद्धौ, मृजन्ति शुद्धीभवन्त्यनेनातिचारकल्मषप्रक्षालनादिति मार्गः " उभयत्र व्यञ्जनात् घञ् " इति घञ्प्रत्ययः । तथा—इण्—गतौ, निपूर्वान्नितरामीयते गम्यते मोक्षोऽनेनेति न्यायः, तथा सर्वैरपि मुमुक्षुभिरीप्स्यते प्राप्तुमिष्यते इतीप्सितव्यः, आचर्यते स्म वृहत्पुरुषैरप्याचरितम् । व्यवहार इति पूर्ववत्, उक्तान्येकार्थिकानि ॥

सम्प्रत्यत्रैवाक्षेपपरिहारावभिधित्सुराह—

एगट्ठिया अभिहिया, न य ववहारपणयं इहं दिट्ठं ।
भरणइ एत्थेव तयं, दट्ठव्वं अंतगयमेव ॥ ८ ॥

नन्वभिहितान्येकार्थिकानि परमेतेष्वेकार्थिकेषु व्यवहारपञ्चकमागमश्रुताज्ञाधारणाजीतलक्षणं न दृष्टम्-नोपात्तं जीतस्यैव केवलस्योपात्तत्वात्, अत्र सूरिराह—भरणयते-अत्रोत्तरं दीयते । अत्रैव-एतेष्वेव एकार्थिकेषु तत्-व्यवहारपञ्चकमन्तर्गतमेव द्रष्टव्यम् ।

कथमित्याह—

आगमसुया उ सुत्तेण, सूइया अत्थतो उ तिचउत्था ।
वहुजणमाइन्नं पुण,जीवं उचिगं ति एगट्ठं ॥ ९ ॥

सूत्रेण-सूत्रशब्देन सूचिते आगमश्रुते-आगमश्रुतव्यवहारौ, तथाहि-आगमव्यवहारिणः षट् । तद्यथा-केवलज्ञानी मनःपर्यायज्ञानी अवधिज्ञानी चतुर्दशपूर्वी दशपूर्वी नवपूर्वी च । श्रुतव्यवहारिणोऽप्यशेषपूर्वधरा एकादशाङ्गधारिणः कल्पव्यवहारादिसूत्रार्थतदुभयविदश्च । ततो भवति सूत्रग्रहणेनागमश्रुतव्यवहारयोर्ग्रहणं चतुर्दशपूर्वादीनां कल्पव्यवहारादिच्छेदग्रन्थानामपि च सूत्रात्मकत्वात् । तथा अर्थतः-अर्थशब्देन सूचितौ त्रिचतुर्थौ—तृतीयचतुर्थावाज्ञाधारणालक्षणौ व्यवहारौ । व्य० १ उ० । (आज्ञाव्यवहारः ' आणा ' शब्दे द्वितीयभागे १२२ पृष्ठे गतः ।)(धारणाव्यवहारः 'धारणाववहार ' शब्दे चतुर्थभागे २७४६ पृष्ठे गतः । जीतव्यवहारश्च 'जीयववहार' शब्दे चतुर्थभागे १५१३ पृष्ठे गतः ।)

(३) व्यवहारा धारणादयः—

कइविहे णं भंते ! ववहारे पण्णत्ते ?, गोयमा ! पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए । जहा से तत्थ आगमे सिया आगमेणं ववहारं पट्ठवेज्जा णो य से तत्थ आगमे सिया । जहा से तत्थ सुए सिया सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा, णो वा से तत्थ सुए सिया ; जहा से तत्थ आणा सिया आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा, णो य से तत्थ आणा सिया । जहा से तत्थ धारणा सिया धारणाए णं ववहारं पट्ठवेज्जा, णो य से तत्थ धारणा सिया । जहा से तत्थ जीए सिया जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा, इच्चेएहिं पंचहिं ववहारं पट्ठवेज्जा, तं जहा—आगमेणं सुएणं आणाए धारणाए जीएणं । जहा जहा से आगमे सुए आणा धारणा जीए तहा तहा ववहारं पट्ठवेज्जा । से किमाहु भंते ! आगमवलिया समणा णिग्गंथा इच्चेयं पंचविहं ववहारं जहा जहा जहिं जहिं तहा तहा तहिं तहिं अणिस्सिओवसितं सम्मं ववहारमाणे समणे णिग्गंथे आणाए आराहए भवइ । (सू०-३४०)

' कइविहे ण ' मि त्यादि, व्यवहरणं व्यवहारो—मुमुक्षुप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः इह तु तन्निबन्धनत्वात् ज्ञानविशेषोऽपि व्यवहारः, तत्र आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः-केवलमनःपर्यायावधिपूर्वचतुर्दशकदशकनवकरूपः , तथा श्रुतं—शेषमाचारप्रकल्पादिनवादिपूर्वाणां च श्रुतत्वेऽप्यतीन्द्रियार्थेषु विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सातिशयत्वादागमव्यपदेशः केवलवदिति, तथा आज्ञा—यद्गीतार्थस्य पुरतो गूढार्थपदैर्देशान्तरस्थगीतार्थनिवेदनायातीचारालोचनमितरस्यापि तथैव शुद्धिदानम् । तथा धारणा—गीतार्थसंविग्नेन द्रव्याद्यपेक्षया यत्रापराधे यथा या विशुद्धिः कृता तामवधार्य यद्गुप्तमेवालोचनदानस्तत्रैव तथैव तामेव प्रयुङ्क्ते इति वैयावृत्यकरादेर्वा गच्छोपग्रहकारिणोऽशेषानुचितस्य प्रायश्चित्तपदानां प्रदर्शितानां धरणमिति, तथा जीतं—द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषप्रतिसेवानुवृत्त्या संहननधृत्यादिपरिहाणिमवेक्ष्य यत्प्रायश्चित्तदानं, यो वा यत्र गच्छे सूत्रातिरिक्तः कारणतः प्रायश्चित्तव्यवहारः प्रवर्तितो वहुभिरन्यैश्चानुवर्तित इति । आगमादीनां व्यापारणे उत्सर्गापवादावाह—' जहे ' त्यादि, यथेति—यथाप्रकारः केवलादीनामन्यतमः ' से ' तस्य व्यवहर्त्तुः स चोक्तलक्षणो व्यवहारस्तत्र तेषु पञ्चसु व्यवहारेषु मध्ये तस्मिन् वा प्रायश्चित्तदानादिव्यवहारकाले व्यवहर्त्तव्ये वा वस्तुनि विषये आगमः-केवलादिः-स्याद्-भवेत् तादृशेनेति शेषः । आगमेन व्यवहारं प्रायश्चित्तदानादिकं प्रस्थापयेत्-प्रवर्त्तयेत् न शेषैः आगमेऽपि षड्विधे केवलेनावन्ध्यबोधत्वात्तस्य तदभावे मनःपर्यायेण एवं प्रधानतराभावे इतरेणेति । अथ नो—नैव चशब्दो-यदिशब्दार्थः, ' से ' तस्य स वा तत्र व्यवहर्त्तव्यादावागमः स्यात् यथा-यत्प्रकारम् ' से ' तस्य तत्र व्यवहर्त्तव्यादौ श्रुतं स्यात्, तादृशेन श्रुतेन व्यवहारं प्रस्थापयेदिति, ' इच्चेएहिं ' इत्यादि निगमनम्, सामान्येन-' जहा जहा से ' इत्यादि तु विशेषनिगमनमिति, एतैर्व्यवहर्तुः फलं प्रश्नद्वारेणाह—' से किमि-त्यादि, अथ किं हे भदन्त ! भट्टारका आहुः—प्रतिपादयन्ति ?,ये आगमवलिकाः-उक्तज्ञानविशेषवलवन्तः श्रमणा-निर्ग्रन्थाः केवलिप्रभृतयः 'इच्चेयं' ति इत्येतद् वक्ष्यमाणम्, अथवा-इत्येवमिति-एवं प्रत्यक्षं पञ्चविधं व्यवहारं प्रायश्चित्तदानादिरूपम् ' सम्मं ववहरमाणे ' त्ति सम्बध्यते, व्यवहरन् प्रवर्त्तयन्नित्यर्थः,कथम् ?,'सम्मं' ति-सम्यक् तदेव कथम् ?, इत्याह-यदा यदा यस्मिन्यस्मिन्नवसरे यत्र यत्र प्रयोजने वा क्षेत्रे वा यो य उचितस्तं तमिति शेषः तदा तदा काले तस्मिंस्तस्मिन् प्रयोजनादौ, कथम्भूतम् ?, इत्याह-(' अणिस्सिओवसितं ' इत्यादिसूत्रावयवम् ' अणिस्सिओवस्सिय ' शब्दे प्रथमभागे ३३८ पृष्ठे व्याख्यातम्) आज्ञाया जिनोपदेशस्याराधको भवतीति, हन्त ! आहुरेवेति गुरुवचनं गम्यमिति । अन्ये तु-' से किमाहु भंते ' इत्याद्येवं व्याख्यान्ति-अथ किमाहुर्भदन्त ! आगमवलिकाः श्रमणा निर्ग्रन्थाः पञ्चविधव्यवहारस्य फलमिति शेषः । भ० ८ श० ८ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचविहे ववहारे पएणत्ते, तं जहा–आगमे १, सुए २, आणा ३, धारणा ४, जीए ५। (सू०–४२१×)स्था०५ ठा०२ उ०।

अस्य सम्बन्धप्रतिपादनार्थमाह–

बहुआगमितो पडिमं, पडिवज्जइ आगमो इमो वि खलु।
सव्वं व पवयणं पव–यणीया ववहारविसयत्थं ॥ ४६ ॥
खलियस्स वि पडिमाए, ववहारो को त्ति सो इमं सुत्तं।
ववहारविहिएणू वा, पडिवज्जइ सुत्तसंबंधो ॥ ५० ॥

अनन्तरसूत्रे प्रतिमाभिहितानां च प्रतिमां प्रतिपद्यते बहागमिकः, अयमपि पञ्चविधोऽपि व्यवहारः खल्वागमस्तत आगमप्रस्तावात्प्रतिमासूत्रादनन्तरं व्यवहारसूत्रमवादि । 'सव्वं वे' त्यादि वाशब्दः संबन्धस्य प्रकारान्तरोपदर्शने सर्वप्रवचनं प्रावचनिकश्च व्यवहारविषयस्थं व्यवहारविषयान्तर्गमतोऽवश्यं व्यवहारो वक्तव्य इति व्यवहारसूत्रम् । अथवा-प्रतिमायां स्थितस्य प्रतिमायाः स्खलितस्य को व्यवहारः किं कर्त्तव्यमिति प्रश्नमाशङ्क्य स व्यवहारः पञ्चविध इत्यादिकमिदं सूत्रमुपन्यस्तम्। यदि वा-अनन्तरसूत्रे प्रतिमाः प्रतिपद्यते इत्युक्तं ताश्च प्रतिपद्यते व्यवहारो विधिज्ञो नेतर इति प्रतिमासूत्रादनन्तरं व्यवहारसूत्रस्य संबन्धः । सूत्राक्षरसंस्कारः सुप्रतीतो विशेषव्याख्यां तु भाष्यकृत्करिष्यति। व्य० १० उ०।

तत्र–

जहा से तत्थ आगमे सिया आगमेण ववहारं पट्ठवेज्जा। (सू०-४२१) स्था० ५ ठा०।

अस्य व्याख्यामाह–

सो पुण पंचविगप्पो, आगम सुय आण धारणा जीते।
सेतम्मि ववहरंते, उप्परिवाडी भवे गुरुगा ॥ ५१ ॥

सः-पुनर्व्यवहारः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-आगमः श्रुतम् आज्ञा धारणा जीतमिति। तत्र सति आगमादौ व्यवहारे यदि उत्परिपाट्या-उत्क्रमेण व्यवहरति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। इयमत्र भावना—आगमे विद्यमाने यद्यन्येन सूत्रादिना व्यवहरति तदा चतुर्गुरुकम्। यदा पुनरागमो न विद्यते तदा श्रुतेन व्यवहर्तव्यम्। श्रुते वर्तमाने यद्याज्ञादिभिर्व्यवहरति तदा चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम्। यदा तु श्रुतमपि न विद्यते तदाऽऽज्ञया व्यवहर्त्तव्यम्। आज्ञायां विद्यमानायां यदि धारणया प्रस्थापयति तदा चतुर्गुरुकम् । आज्ञाया अभावे धारणया व्यवहर्त्तव्यम्। यदि पुनर्धारणायां सत्यां जीतेन व्यवहरति तदा चतुर्गुरुकम् । धारणाया अभावे जीतेन व्यवहर्तव्यमिति। तत्र 'से तत्थ आगमे सिया' इत्यादिकस्य (स्थानाङ्ग ४२१×) सूत्रावयवस्यायमर्थः–तत्र तस्मिन्व्यवहारपञ्चकमध्ये 'से' तस्य साधोरागमः स्यात्तर्हि आगमेन व्यवहारं प्रस्थापयेत् व्यवहारो न शेषैः सूत्रादिभिः।

एतदेवाह–

आगमववहारी आ–गमेण ववहरेइ सो ँ न अन्नेणं।
न हि सूरस्स पगासं, दीवपगासो विसेसेइ ॥ ५२ ॥

स आगमव्यवहारी आगमेन व्यवहरति। नान्येन-श्रुतादिना तस्य ततो हीनत्वादेतदेव प्रतिवस्तूपमया दर्शयति-न हि सूर्यस्य प्रकाशं दीपप्रकाशो विशेषयति-न सूर्यप्रकाशात् दीपप्रकाशोऽधिकतरः, किंतु-हीन इत्यर्थः। एवमिहापि यादृशो विषय आगमस्य न तादृशः शेषाणां व्यवहाराणामिति । आह-यस्मिन् काले गौतमादिभिरिदं सूत्रं कृतम्। 'ववहारे पंचविहे पन्नत्ते' इत्यादि तदा आगमो विद्यते, ततः किं कारणमाज्ञादयोऽपि सूत्रे निबद्धाः।

अत्राह–

सुत्तमणायविसयं, खेत्तं कालं च पप्प ववहारो।
होहिंति न आइल्ला, जो तित्थं जाव जीतो उ ॥ ५३ ॥

सूत्रमज्ञातविषयं भविष्यति स तादृशः कालो यस्मिन्नागमो व्युच्छेत्स्यति, ततः शेषैर्व्यवहारैर्व्यवहर्त्तव्यम् ,तत्रापि व्यवहारः। क्षेत्रं कालं च प्राप्य यो यथासंभवति तेन तथा व्यवहरणीयम्। किमुक्तं भवति-यस्मिन्२काले यो यो व्यवहारो व्यवच्छिन्नः अव्यवच्छिन्नो वा तदा तदा प्रागुक्तेन क्रमेण व्यवहर्त्तव्यम्। तथा यत्र यत्र क्षेत्रे युगप्रधानैराचार्यैर्या व्यवस्था कृता तया अनिश्रोपश्रितं व्यवहर्त्तव्यम्। अन्यच्च-आद्याश्चत्वारो व्यवहारा न यावत्तीर्थं च भविष्यन्ति जीतस्तु व्यवहारो यावत्तीर्थं तावद्भवितेति जीतोपादानम्। व्य० १० उ०। ("आणाए अणाणाए आराहेइ" इत्यस्य व्याख्यानम्—'आणा' शब्दे द्वितीयभागे १२३ पृष्ठे गतम्।)

सांप्रतमाराधनामाह—

आराहणा उ तिविहा, उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना उ।
एग दुग तिग जहन्नं, दु तिग ह भवा उ उक्कोसा॥५५॥

आराधना त्रिविधा—उत्कृष्टा, मध्यमा, जघन्या च। तत्रोत्कृष्टाऽऽराधनायाः फलमेको भवः, मध्यमाया द्वौ भवौ, जघन्यायास्त्रयो भवाः। अथवा—यदि तद्भवे मोक्षाभावः तदा उत्कृष्टाऽऽराधनायाः फलं जघन्यं संसरणं द्वौ भवौ, मध्यमायास्त्रयो भवाः, जघन्याया उत्कृष्टा अष्टौ भवाः। तदेवं भाष्यकृता सूत्रव्याख्या कृता।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः—

जेण य ववहरइ मुणी, जं पिय ववहरइ सो वि ववहारो।
ववहारो तहिँ य ठप्पो, ववहरियव्वं तु वुच्छामि ॥५६॥

येन मुनिर्व्यवहरति स आगमादिर्व्यवहारः,व्यवह्रियतेऽनेनेति व्यवहारः इति व्युत्पत्तेर्यदपि च व्यवहर्त्तव्यं मुनिर्व्यवहरति। सोऽपि व्यवहारः कर्मणि घञ्। समापन्नान् तत्र यो व्यवहारः करणपक्षरूपः स स्थाप्यः पश्चाद्वक्ष्यत इति भावः। व्यवहर्त्तव्यं तु वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

आभवंते य पच्छित्ते, ववहरियव्वं समासतो दुविहं।
दोसु वि पणगं पणगं, आभवणाए अहीगारो ॥५७॥

व्यवहर्त्तव्यं समासतो द्विविधम्, तद्यथा-आभवत्, प्रायश्चित्तं च । तत्र द्वयोरपि आभवति प्रायश्चित्ते च प्रत्येकं पञ्चकम्, तत्राधिकारः प्रयोजनमिदानीमाभवनया एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेनामेव व्याचिख्यासुराह। तत्र प्रथमतः 'दोसु वि पणगं पणग' मित्यस्य व्याख्यानमाह—

खेत्तेसु य सुहदुक्खे, मग्गे विणए य पंचहा होइ।
सच्चित्ते अच्चित्ते, खेत्ते काले य भावे य ॥ ५८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आभवत्पञ्चधा—पञ्चप्रकारं भवति । तद्यथा—क्षेत्रे श्रुते सुखदुःखे मार्गे विनये च । प्रायश्चित्तमपि पञ्चधा, तद्यथा—सचित्ते अचित्ते क्षेत्रे काले भावे च । एष प्रतिद्वारगाथासमासार्थः । व्य० १० उ० । [तत्र क्षेत्रे तावदाभवद्व्यवहारः ' खेत्त ' शब्दे तृतीयभागे ७४८ पृष्ठे गतः ।]

अधुना श्रुतद्वारमाह—

दुविहा सुतोवसंपय-अभिधारेंते तहा पढंते य ।
एक्केक्काऽवि य दुविहा, अणंतरपरंपरा चेव ॥ १२६ ॥

द्विविधा श्रुतसंपत् , तद्यथा—अभिधारयति, पठति च । एकैका द्विविधा—अनन्तरा , परम्परा च । तत्राभिधारयत्यनन्तरा नाम—एकः साधुः कंचिदाचार्यमभिधारयति । योऽसावभिधार्यमाणः सन् कञ्चिदन्यमभिसंधारयति परंपरा नाम एकः साधुः कञ्चिदाचार्यमभिसंधारयति सोऽप्यभिधार्यमाणोऽन्यमभिधारयति, सोऽप्यन्यम् , सोऽप्यन्यमेवमनियतं परिमाणम् ।

तदेवाह—

एत्थं सुतं अहीहम्मि, सुत्तवं सो य अन्नहिं ।
वच्चंतो सो भिधारेंतो, सो वि अन्नत्तमेव वा ॥ १२७ ॥
दोण्हं अन्नतरा होति, तिगमादी परम्परा ।
सट्ठाणं पुणरेतस्स, केवलं तु निवेयणा ॥ १२८ ॥

अत्र अस्य पार्श्वे श्रुतमध्येष्ये इति कश्चिदभिधारयन् व्रजति, सोऽपि श्रुतवान् अन्यत्राभिधारयन् व्रजति , सोऽप्यन्यम् । यदि वा-तमेवाभिधारयति । तत्र द्वयोरनन्तरा श्रुतोपसंपद्भवति त्रिकादीनां तु परम्परा स्वस्थानं पुरागच्छतः केवलं तस्याभिधारितस्य निवेदना कर्त्तव्या । यथाऽहं स्वस्थानं गमिष्यामीति ।

[४] साम्प्रतमनन्तरायां परम्परायां वाऽभिधारणायामाभवन्तमाह—

अछिन्नोवसंपयाए, गमणं सट्ठाण जत्थ वा छिन्नं ।
मग्गण कहण परंपर, छम्मासं चेव वल्लिदुगं ॥१२९॥

अच्छिन्नोपसम्पदमभिधार्यमाणो यदन्यं वाऽभिधारयति तस्य हि लाभो न छिद्यते । तस्मादभिन्नोपसंपदि योऽभिधारयतां लाभः स स्वस्थानं गच्छति , योऽभिधारितस्तस्यान्येनाच्छिन्नः सन् गच्छतीत्यर्थः । अथ छिन्ना उपसंपत् तत आदित आरभ्य यत्र सर्वेषां लाभो गच्छति इहाभिधारयन् योऽभिधारितस्तं प्रति संप्रस्थितः स चापान्तराले यदन्यमभिधारयति आत्मीये वा गच्छे प्रतिनिवर्तते, तदा यदभिधारयता पथि लब्धं सचित्तं तदभिधारितस्य स्वयं वा गत्वा समर्पयति , अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति । अथ नार्पयति स्वयमन्यप्रेरणेन वा तत्राह-' मग्गणे ' त्यादि , तत्र ' कहणपरम्पर ' त्ति यैः स दृष्ट आगच्छन् तैर्यः पूर्वमभिधारितस्तस्य परम्परकेणाख्यातम् । यथा-युष्मानभिधारयत । तेन संप्रस्थितेन सचित्तं लब्धम् , ततः युष्माकं तेन न प्रेषितम् ' मग्गण ' त्ति स चैतत् श्रुत्वा तं मार्गयति , क गतो भवेन्मम सचित्तहारीति मृगयमाणैश्च स्नानादिसमवसरणे दृष्टः पृष्टश्च । यथा-अमुककाले अस्मानभिधारयता समागच्छता सचित्तं लब्धं तन्मह्यं देहि, यदि न ददाति तदा बलात् व्यवहारेण दाप्यते । मायानिष्पन्नश्च तस्य गुरुको मासः प्रायश्चित्तम् । सचित्ते चत्वारो गुरुकाः, अचित्ते उपधिनिष्पन्नम् , स पुनरभिधारयन् यैः सचित्तैः सोऽभिधार्यते तेषां मध्ये किं लभते इत्याह-"छम्मासं चेव वल्लिदुग" मिति षद् नालवद्धानि निर्मिश्राणि लभते १ मिश्रं च २ एवं रूपं निर्मिश्रलक्षणं वल्लिद्विकं लभते ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवृण्वन्नाह—

अभिधारेंते पढंते वा, छिन्नाए ठाति अंतए ।
मंडलीए उ सट्ठाणं, वयतो न उ मज्झिमे ॥ १३० ॥

अभिधारयति पठति वा यो लाभः स छिन्नायामुपसंपदि अन्तके—पर्यन्ते तिष्ठति सर्वेषां लाभस्तत्र विश्राम्यतीत्यर्थः । मण्डल्यां तु यो लाभः स स्वस्थानं लभते व्याख्यातुरुपतिष्ठत इत्यर्थः, न तु मध्यमे मण्डलीमध्यवर्तिनि ।

कस्मादित्याह—

जो उ मज्झिल्लए जाति, नियमा सो उ अंतिमं ।
पावते निन्नभूमिं तु, पाणीयं च पलोठियं ॥ १३१ ॥

यो मण्डलीमध्यवर्तिनि लाभो याति सोऽपि नियमादन्तिमं व्याख्यातृलक्षणं प्राप्नोति, निम्नभूपानीयं प्रलोठितम् ।

पूर्वं षद् निर्मिश्राण्ययुक्तानि तानि सम्प्रति दर्शयति—

माया पिया य भाया, भगिणी पुत्तो तहेव धूया य ।
एसा अणंतरा खलु, निम्मिस्सा होति वल्ली उ ॥१३२॥

माता पिता भ्राता भगिनी पुत्रो दुहिता च, एषा खलु अनन्तरा निर्मिश्रा भवति वल्ली ।

सेसाण उ वल्लीणं, परलाभो होइ दोन्नि चउरो वा ।
एवं परंपराए, विभासतत्तो य जा परतो ॥ १३३ ॥

शेषाणां तु वल्लीनां यो लाभो भवति द्वे-पुत्र-दुहितरौ, यदि वा-चत्वारि-मातापितृभ्रातृभगिनीरूपाणि स समस्तोऽपि परलाभोऽभिधारितस्य लाभ इत्यर्थः । एवं परम्परायामपि विभाषा कर्तव्या । ततोऽपि याः परतो वल्ली तस्य या परतः ताः सर्वा अपि परलाभः । व्य० १० उ० । (मिश्रवल्ली 'मिस्सवल्ली' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ।)

दुविहो अभिधारेंतो, दिट्ठमदिट्ठो य होति नायव्वो ।
अभिधारेज्जंतगसं-तएहिं ऽदिट्ठो य अन्नेहिं ॥ १३६ ॥

अभिधारयन् द्विविधो दृष्टव्यस्तद्यथा-दृष्टोऽदृष्टश्च । तत्र दृष्टोऽभिधार्यमाणसत्कैः साधुभिरन्यैर्वा, अदृष्टो-न केनापि दृष्टः ।

सचित्ते अंतरालद्धे, जो उ गच्छति अन्नहिं ।
जो तं पेसे सयं वावि, नेइ तत्थ अदोसवं ॥ १३७ ॥

सचित्ते अन्तरा पथि लब्धे यः अभिधारयन् अन्यत्र गच्छति, स्वगच्छं वा प्रतिनिवर्तते, तत्र यस्तत् सचित्तं लब्धमभिधारितस्य प्रेषयति, स्वयं वा नयति, सोऽदोषवान् ।

जो उ लद्धुं वए अण्णं, सगणं पेसवेइ वा ।
दिट्ठो व अदिट्ठो वा, मायती होंति दोण्हि वि ॥१३८॥

यस्तु सचित्तं लब्ध्वा अन्यमाचार्यं व्रजति, स्वगणं वा तत्सचित्तं प्रेषयति । दृष्टोऽदृष्टो वा सन् तौ दृष्टादृष्टरूपौ द्वावपि मायिनौ भवतः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एहाणाइएसु तं दिस्सा, पुच्छा सिट्ठे हरंति से गुरुगो ।
गुरुगा चेव अचित्ते,तिविहं पुण सम्म तग्गहणा॥१३९॥

परम्परया कथमपि श्रुतं यथा अमुकोऽस्मानभिधार्य समागच्छन् अन्तरा पथि सचित्तं लब्धवान् परं सोऽन्यत्र गतः, स्वगणं वा गतवान्, ततस्तं मृगयमाणैस्तैः स्नानादिभिः समवसरणेषु तं दृष्ट्वा पृच्छा कृता, यथा—त्वममुककालेऽस्माकमभिधार्य समागच्छन्नन्तरा सचित्तमुत्पादितवान्?, तेन च यथावस्थितं शिष्टं, ततः स तस्य सकाशात् तत्सचित्तं हरति । अथ स न ददाति तर्हि बलात् व्यवहारेण दाप्यते, मायाप्रत्ययश्च तस्य गुरुको मासः प्रायश्चित्तम् । अचित्तापहरणे चत्वारो गुरुकाः, अचित्ते पुनस्त्रिविधे जघन्योपधिनिष्पन्नं मध्यमोपधिनिष्पन्नमुत्कृष्टोपधिनिष्पन्नं च ।

अत्रैवान्यकर्तृकं किंचिद्विशेषसूचकं गाथाद्वयम्—

दुविहो अभिधारेंतो, दिट्ठमदिट्ठो व होइ नायव्वो ।
अभिधारिज्जंतगसं-तिएहिं दिट्ठो व अन्नेहिं ॥ १४० ॥
दिट्ठो माइ अमाई, एवमदिट्ठो वि होइ दुविहो उ ।
अमाई उ अप्पिणती,मायी उ न अप्पिणे जो उ॥१४१॥

आद्यगाथाव्याख्यानं प्राग्वत् । दृष्टो द्विविधः-मायी, अमायी च । एवमदृष्टोऽपि द्विविधो भवति—मायी, अमायी च । तत्र अमायी लब्धं सचित्तादिकमर्पयति,यस्तु मायी स नार्पयति, ततः स बलात् व्यवहारेण दाप्यते । शेषं तथैव ।

एवं ता जीवंते, अभिधारेंतो उ एइ जो साहू ।
कालगते एयम्मि उ, इणमन्नो होइ ववहारो ॥ १४२ ॥

एवं तावत् जीवत्यभिधार्यमाणे योऽभिधारयन् साधुरागच्छति तस्य व्यवहारः, कालगते पुनरेतस्मिन्नभिधार्यमाणे अयमन्यो भवति व्यवहारः ।

तमेवाह—

अप्पत्ते कालगते, सुद्धमसुद्धे अदेंत देंते य ।
पुव्विं पच्छा निग्गय, संतमसंतेसु ते बलिया ॥ १४३ ॥

कश्चिदाचार्यमभिधारयन् संप्रस्थितस्तत्र यं गच्छमभिधार्य संप्रस्थितस्तमप्राप्त एव स आचार्यः कालगतः, अत्र च त्रयः प्रकाराः—"पुव्विं पच्छा निग्गय" त्ति । यदैवाभिधारयन् निर्गतस्तदैव कालगत आचार्यः १, अथवा—पूर्वमभिधारयन् निर्गतः पश्चादाचार्यः कालगतः २, यदि वा—पूर्वमाचार्यः कालगतः स पश्चादभिधारयन् निर्गतः ३ । अत्र प्रथमे प्रकारे यत्तेनाभिधारयता पथि सचित्तादि लब्धं तत्कालगताचार्यशिष्याणामाभवति । द्वितीये प्रकारे लब्धे अलब्धे वा सचित्तादिके यद्युपरताः स्थविरास्तदाऽपि तत्सचित्तादि तच्छिष्याणामाभवति । तृतीये प्रकारे अभिधारयता दूरादागच्छता तावन्न ज्ञानं यावत्तं गच्छं प्राप्तस्ततो यन्निमित्तं स तत्रागतस्तत् श्रुतं यदि तस्य शिष्यस्यास्ति तदा स तत् श्रुतं तस्मै दातुमिच्छति ततः कालगताचार्यस्य लभते शिष्याः सचित्तादिकम् । यद्यपि सोऽभिधारको विपरिणतो न गृह्णाति शिष्यस्य सकाशात् श्रुतं ग्रहीतुं तत्रापि कालगताचार्याणामेव तत्सचित्तादि आभवति । अथ तत् श्रुतं नास्ति, न वा ददाति, तदा न लभते कालगताचार्यशिष्यः सचित्तादिकम् । आह—किं कारणं तृतीयेऽपि प्रकारे कालगताचार्यशिष्याणामेवाऽऽभवतीत्यत आह-'बलिय' त्ति बलवती श्रुताज्ञा, तत् श्रुतं तदवस्थमेव यन्निमित्तं तेनाभिधारितम् ' सुद्धमसुद्धे अदेंतदेंते य ' इति यत् कालगताचार्यस्य शिष्याणामाभवति तद्यद्यभिधारको ददाति , तदा शुद्धः-अप्रायश्चित्तीत्यर्थः । अथ न ददाति तदा अशुद्धः-प्रायश्चित्तभाग् भवतीत्यर्थः । तत्र सचित्तस्यादाने प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, आदेशान्तरेणानवस्थाप्यम् । अचित्तं उपधिनिमित्तं योऽपि चानाभाव्य न दत्ते तस्याप्येवमेव प्रायश्चित्तम् ।

संप्रति ' पुव्विं पच्छा निग्गत संतमसंते ' इत्यस्य किंचिद्व्याख्यानमाह—

लद्धे उवरया थेरा, तस्स सिस्साण सो भवे ।
मए वि लभते सीसो, जइ से अत्थि देइ वा ॥ १४४ ॥

तत्र प्रथमे प्रकारेऽभिहितं प्राक्,तथैव द्वितीये प्रकारे लब्धेउपलक्षणमेतत् अलब्धे वा सचित्ते स्थविरा उपरतास्ततः स सचित्तादिको लाभस्तस्य शिष्याणामाभवति । तृतीये पुनः प्रकारे मृतेऽप्यभिधारिते लभते शिष्यो यदि ' से ' तस्य श्रुतमस्ति, ददाति वा । अथवा—नास्ति, न ददाति वा, तदा न लभते । एतावता ' संतमसंते ' इत्यपि व्याख्यातम् ।

उपसंहारमाह—

एवं नाणे तह दं-सणे य सुत्तत्थ तदुभए चेव ।
वत्तणसंधणगहणे, नव नव भेया य एक्केक्के ॥ १४५ ॥

एवमुक्तप्रकारेण ज्ञाननिमित्तमभिधार्यमाणे यद् आभवति तत् भणितम् , तथा तेनैव प्रकारेण दर्शनेऽपि दर्शनप्रभावकशास्त्राणामप्यर्थायाभिधार्यमाणे आभवत्प्रतिपत्तव्यम् । तत्र ज्ञानार्थं दर्शनार्थं वा योऽभिधार्यते स ' सुत्तत्थ तदुभए चेव ' त्ति सूत्रार्थतया अर्थार्थतया तदुभयार्थतया च । तत्र च सूत्रार्थतया अभिधारणं तद्वर्त्तनार्थतया संधानार्थतया ग्रहणार्थतया च । तत्र पूर्वगृहीतस्य पुनरुज्ज्वालनं वर्तना, विस्मृतस्याऽपान्तराले त्रुटितस्य पुनः संधानकरणं संधना । अपूर्वस्य ग्रहणं ग्रहणमिति । एवं त्रयो भेदाः-सूत्रार्थतया अर्थार्थतया तदुभयार्थतया च प्रत्येकं द्रष्टव्याः । सर्वसंख्यया ज्ञाने दर्शने च प्रत्येकं नव नव भेदाः । तथा चाह—' नव नव भेया य एक्केक्के ' ।

(५) संप्रति चरणार्थमभिधारयन्तमधिकृत्याह—

पासत्थमगीयत्था, उवसंपज्जंति जे उ चरणट्ठा ।
सुत्तोवसंपयाए, जो लाभो सो उ तेसिं तु ॥ १४६ ॥

ये पार्श्वस्थादयोऽगीतार्थाश्चरणार्थमुपसंपद्यन्ते तेषां चरणोपसंपन्निमित्तं कमप्यभिधारयन्समागच्छतां श्रुतोपसंपदि चान्तरायो लाभो भवति स स तेषामभिधार्यमाणानां भवति । नालबद्धवल्लीद्विकं तु तेषामभिधारयतामिति ।

गीयत्था ससहाया, असमत्ता जं तु लहंति सुहदुक्खी ।
सुत्तत्थ अतक्केंता समत्तकप्पी उ न दलंति ॥ १४७ ॥

ये पुनः पार्श्वस्थादयो गीतार्थाः ससहायाः संभोगनिमित्तमालोचनां दास्याम इत्यभिधारयन्तः सूत्रार्थान् अतर्कयन्तोऽनपेक्षमाणा आगच्छन्तोऽन्तरा यं लभन्ते सचित्तमचित्तं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा येऽपि च गीतार्था असमाप्ता-असमाप्तकल्पा आगच्छन्तो लभन्ते यच्च एकाकी एकाकिदोषपरिवर्जनार्थमुपसंपत्तुकामो लभते ये च समाप्तकल्पिकास्तेषामेवाऽऽभवति। न तु येषां समीपं प्रस्थिताः तेषामेवं-निर्ग्रन्थीनामपि द्रष्टव्यम्।

अभिधेरिज्जंत अप्पत्ते, एस वुत्तो गमो खलु।
पढंते उ विहिं वुच्छं, सो य पाठो इमो भवे ॥१४८॥

एषः-अनन्तरोदितः खलु गमः-प्रकारोऽभिधार्यमाणे अप्राप्त उक्तः, अत ऊर्ध्वं तु प्राप्त सति पठति विधिं वक्ष्यामि। स च पाठोऽयं वक्ष्यमाणो भवति।

तमेवाह—

धम्मकहा सुत्ते य, कालिएँ तह दिट्ठिवाएँ अत्थे य।
उपसंपयसंजोगे, दुगमाइ जहुत्तरं बलिया ॥१४९॥

धर्मकथायां सूत्रे कालिके तथा दृष्टिवादे अर्थे च पाठार्थमुपसंपद् भवति। तत्र सूत्रतोऽर्थतश्च सूत्रार्थयोश्च स्वस्थाने द्विकादिसंयोगे यथोत्तरं बलिका-बलवन्तः,सूत्रचिन्तायां परम्परसूत्रं पाठयन्,अर्थचिन्तायां परम्परमर्थं व्याख्यानयन्, सूत्रार्थयोरेव परस्परचिन्तायामर्थप्रदाता बलीयानिति भावः।

आवलियमंडलिकमो, पुव्वुत्तो छिन्नऽछिन्नभेदेणं।
एसा सुओवसंपय, एत्तो सुहदुक्खसंपयं वोच्छं ॥१५०॥

या सा श्रुतोपसंपत्परम्पराप्ता आवलिका ज्ञातव्या, यात्वनन्तरा सा मण्डली, सा च अच्छिन्ना कथमिति चेदुच्यते-यस्मादभिधारकस्य लाभोऽन्येन छिन्नः सन्नभिधार्यमाणं मार्गयति,ततोऽच्छिन्नलाभयोगात् सा उपसंपदच्छिन्नेत्युच्यते। या चावलिका सा छिन्ना यतस्तस्यां यो लाभ आदित आरभ्य परम्परया छिद्यमानोऽन्तिमेऽभिधार्येऽन्यमनभिधारयति-विश्राम्यति ततः सा छिन्नोपसपत्। एवं छिन्नाच्छिन्नभेदेनावलिकामण्डलिकाक्रमः पठत्यपि पूर्वोक्तो द्रष्टव्यः, तदेवमुक्तैषा श्रुतोपसंपत् अत ऊर्ध्वं सुखदुःखोपसंपदं वक्ष्ये।

तामेवाह—

अभिधारो उववन्नो, दुविहो सुहदुक्खितो मुणेयव्वो।
तस्स उ किं आभवती, सचित्ताऽचित्तलाभस्स ॥१५१॥

सुखदुःखितो द्विविधो ज्ञातव्यस्तद्यथा—अभिधारयतीत्यभिधारोऽभिधारयन्, उपपन्नः—सुखदुःखोपसंपदं प्राप्तः। तस्य द्विविधस्यापि सचित्ताचित्तलाभस्य वा मध्ये किमाभवतीति च वक्तव्यम्।

अथ कः सुखदुःखोपसंपदमुपपद्यते। इत्यत आह-

सहायगो तस्स उ नऽत्थि कोती,
सुत्तं च तक्केइ न सो परत्तो।
एगाणिए दोसगणं विदित्ता,
सो गच्छमब्भेइ समत्तकप्पं ॥ १५२ ॥

तस्य सहायकः कोऽपि न विद्यते, न च परस्मात् सूत्रमपेक्षते स्वयं सूत्रार्थपरिपूर्णत्वात्। केवलमेकाकी स दोषगणं विदित्वा स गच्छं समाप्तकल्पमभ्येति—अभ्युपगच्छति।

तत्रोपसंपन्नमधिकृत्याऽऽभवद्व्यवहारमाह—

खेत्ते सुहदुक्खीओ, अभिधारेंताइँ दोन्नि वी लभति।
पुरपच्छसंथुयाइं, हेठिल्लाणं च जो लाभो ॥ १५३ ॥

सुखी—सुखदुःखोपसंपदमुपसंपन्नः क्षेत्रे—परक्षेत्रेऽपि एतदर्थमेव क्षेत्रग्रहणमन्यथैतन्निरर्थकं स्यात्। द्वयान्यपि पूर्वसंस्तुतानि पश्चात्संस्तुतानि वाऽभिधार्यन्ते लभते ये च तेन दीक्षिताः तेषामधस्तनानां यो लाभः सोऽपि तस्याऽऽभवति।

संप्रति क्षेत्रे इत्यस्य विवरणमाह—

परखेत्तम्मि वि लब्भति, सो देंतेण गहणखेत्तस्स।
जस्स वि उवसंपन्ना,सो वि य से न गिण्हए ताइं॥१५४॥

मातापितृप्रभृतीनि श्वश्रूश्वशुरप्रभृतीनि च यदि तं सुखदुःखोपसंपन्नमभिधारयन्त्युपतिष्ठन्ते व्रतग्रहणाय परक्षेत्रेऽपि लभते इति प्रतिपत्तिः स्यादित्येवं लक्षणेन कारणेन क्षेत्रस्य ग्रहणं कृतमन्यथा न कमप्यर्थं पुष्णाति, यस्यापि समीपे स उपसंपन्नः सोऽपि तानि न गृह्णाति सूत्रादेशतोऽनाभाव्यत्वात्।

परखेत्ते वसमाणो, अतिकमंतो व न लभति असन्नी।
छंदेण पुव्वसन्नी, गाहियसम्मादि सो लभई ॥१५५॥

परक्षेत्रे तिष्ठन् व्यतिक्रामन् वा यस्तस्य सुखदुःखोपसंपन्नस्य उपतिष्ठते स यदि असंज्ञी-अविदितपूर्वस्तदा तमसंज्ञिनं न लभते केवलं स क्षेत्रिकस्याऽऽभवति। यः पुनः पूर्वसंज्ञी-पूर्वविदितस्वरूपस्तं पूर्वसंज्ञिनं छन्देन लभते, यदि स वल्लीसंबन्धो भवति, तं च सुखदुःखितमभिधारयति तदा लभते। अथ तं नाभिधारयति, अभिधारयन्नपि च वल्लीसंबन्धो न भवति ततो यस्य समीपे सुखदुःखोपसंपदं जिघृक्षुः संप्रस्थितस्तस्याऽऽभवति। 'गाहियसम्मादि सो लभते' इति। यदि स सुखदुःखेन सम्यक्त्वं ग्राहित आदिशब्देन मद्यमांसविरतिं वा ततः पश्चात् प्रव्रज्यापरिणामपरिणतः स यद्यपि वल्लीद्विकसम्बन्धो न भवति, तथापि यदि तस्य सुखदुःखितस्य समीपे उपतिष्ठते तदा स तं लभते।

एतदेव सविशेषमभिधित्सुराह—

सुहदुक्खिएण जइ, परखेत्तुवसामितो तहिं कोइ।
वेति अभिनिक्खमामि,सो ऊ खेत्तिस्स आभवइ॥१५६॥

तेन सुखदुःखितेन यदि तत्र परक्षेत्रे कोऽप्युपशामितः सम्यक्त्वं ग्राहितो भवति, तत्कालमेव च ब्रूते अभिनिष्क्रमामि-प्रव्रज्यां प्रतिपद्ये तदा स क्षेत्रिणः क्षेत्रिकस्याऽऽभवति न तु सुखदुःखितस्य।

अह पुण गहितो दंसण, ताहे सो होति उवसमेंतस्स।
कम्हा जम्हा सावएँ, तिण्णि वरिसाणि पुव्वदिसा॥१५७॥

अथ पुनर्दर्शनं सम्यक्त्वं तेन सुखदुःखितेन पूर्वं ग्राहितस्ततः स तस्य उपशमयतः सद्देशनया प्रतिबोधितः, स आभवति। कस्मादिति चेदत आह—यस्मात् श्रावके त्रीणि वर्षाणि पूर्वदिक् भवति-पूर्वासन्नता भवति।

एएण कारणेणं, सम्मद्दिट्ठी तु न लभइ खेत्ती।
एसो उवसम्पन्नो, अभिधारेंतो इमो होइ ॥१५८॥

एतेन कारणेन सम्यग्दृष्टिं पूर्वग्राहितसम्यग्दर्शनं क्षेत्रिको न लभते एष सुखदुःखोपसंपदमुपसम्पन्न उक्तः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साम्प्रतमभिधारयन्वक्तव्यः सोऽयं वक्ष्यमाणो भवति । तमेवाह—

मग्गणकहणपरम्पर—अभिधारेंतेण मंडली छिन्ना ।
एवं खलु सुहदुक्खे, सचित्तादी उ मग्गण कया ॥१५६॥

सुखदुःखनिमित्तमन्यं गच्छमुपसंपद्यमानस्य मार्गणा भवति । कुत्र स गच्छो विद्यते गवेषयन् गच्छति , ततः केनापि तस्य कथनं भवति, यथा-अमुकस्थाने स गच्छोऽस्तीति । ततस्तेनाभिधारयता परम्परा आवली छिन्ना , अनन्तरा मण्डली अच्छिन्ना प्रागिव परिभाव्या । परिभाव्य च यद्यस्याऽऽभवति तत्तस्मै दातव्यम् । इयमत्र भावना-आवलिकायां मण्डल्यां वा वल्लीत्रिकमभिधारयत आभवति , शेषं तु यत्स लभते तत्तेनाभिधारितस्य न भवति । तदपि च परम्परया व्रजदन्तिमस्याभिधार्यमाणस्य विश्राम्यति मण्डल्यामन्येनाच्छिद्यमानो लाभोऽनन्तरस्याभिधार्यमाणस्योपतिष्ठते, एवमुक्तेन प्रकारेण सुखदुःखे-सुखदुःखोपसंपदमभिजिघृक्षोरभिधारयतः सचित्तादौ मार्गणा कृता ।

सम्प्रति प्रकारान्तरेण सुखदुःखोपसंदसुपसंपन्ने अभिधारयति सचित्तादौ मार्गणां करोति ।

जइ से अत्थि सहाया,जइ वा वि करेंति तस्स तं किंचं ।
सो लभतें तं इहरा,पुण तेसिमणुन्नाणसाहारं ॥ १६० ॥

यदि 'से' तस्य-सुखदुःखोपसम्पन्नस्य सहायाः सन्ति, यदि वा त एव येषां समीपे उपसंपन्नास्तस्य तत्कृत्यं वैयावृत्त्यादि कुर्वन्ति तदा यत्तस्योपतिष्ठते तं लभते इतरथा पुनस्तेषां समनोज्ञानां साम्भोगिकानां साधारणं तद् भवति ।

अप्पुण्णकप्पिया जे उ, अन्नोन्नमभिधारए ।
अन्नोन्नस्स य लाभो उ, तेसिं साहारणो भवे ॥ १६१ ॥

अपूर्णकल्पिका नाम गीतार्था असहाया ये अपूर्णकल्पिका अन्योन्यमभिधारयन्ति अन्योन्यस्य सुखदुःखोपसंपदं प्रतिपद्यन्ते , तेषां यो लाभः सोऽन्योन्यस्य—परस्परस्य साधारणो भवति ।

जाव एक्केक्कगो पुन्नो, ताव तं सारवेइ उ ।
कुलादिथेरगाणं व, देंति जो वाऽवि सम्मतो ॥१६२॥

यावत्तेषामेकैकस्य पूर्णो गच्छो भवति । किमुक्तं भवति-यावदेकैकस्य प्रत्येकं गच्छो नोपजायते तावत्तमभ्युपपन्नगच्छमेकतरे सारयन्ति येषामवग्रहे वर्तते । अथ ते सारयन्तः परिताम्यन्ति तदा कुलस्थविराणाम् आदिशब्दात्-गणस्थविराणां संघस्थविराणां वा तान् ददति-अर्पयन्ति । यो वा कोऽपि तेषां सम्मतस्तस्य समर्पयन्ति । गता सुखदुःखोपसंपत् ।

(६) सम्प्रति मार्गोपसंपद्वक्तव्या । तथा चाह—

सुहदुक्खे उवसंपय, एसा खलु वण्णिया समासेणं ।
अह एत्तो उवसंपय, मग्गोग्गहवज्जिए वुच्छं ॥१६३॥

एषा-अनन्तरोदिता खलु उपसंपद्वर्णिता समासेन सुखदुःखे,अथानन्तरमत उर्द्धं, मार्गे अवग्रहवर्जिते वक्ष्ये-मार्गोपसंपदं वक्ष्ये इत्यर्थः । अत्र चेयं व्युत्पत्तिः-मार्गे देशनायोपसंपत् मार्गोपसंपत् ।

मग्गोवसंपयाए, गीयत्थेणं परिग्गहीयस्स ।
अगीयस्सावि लाभो, का पुण उवसंपया मग्गे ॥१६४॥

मार्गोपसंपदि प्रतिपन्नायागीतार्थस्यापि सतो गीतार्थेन परिगृहीतस्य लाभो भवति, अन्यथा अगीतार्थस्य न किञ्चिदाभवतीति वचनान्न कोऽपि लाभः स्यात् ।

का पुनरुपसंपत् मार्गे ? इति चेदत आह—

जह कोई मग्गन्नू , अन्नं देसं तु वच्चती साहू ।
उवसंपज्जइ उ तगं, तत्थऽन्नो गंतुकामो उ ॥ १६५ ॥

यथेति मार्गोपसंपत्प्रदर्शने, यथा—कश्चित् साधुर्मार्गज्ञोऽन्यं देशं व्रजति, तत्र देशे अन्यो गन्तुकामस्तं साधुमुपसंपद्यते , अहमपि युष्माभिः सह समागमिष्यामि ।

अथ कीदृशो मार्गोपदर्शननिमित्तमुपसंपद्यते , तत आह—

अव्वत्तो अविहाडो, अदिट्ठदेसो अभासिगो वाऽवि ।
एगमणेगे उवसं-पयाए चउभंगो जा पंथो ॥१६६॥

अव्यक्तो—वयसा अविहाडः-अप्रगल्भः अदृष्टदेशोऽदृष्टपूर्वदेशान्तरः भाषिको-देशभाषापरिज्ञानविकलः सा चोपसंपत् एकस्यानेकस्य च । अत्र चतुर्भङ्गी, तद्यथा-एकमेकः संपद्यते १, एकमनेकः २, अनेकमेकः ३, अनेकमनेकः ४, सा चोपसंपत् तावत् यावत् पन्थाः । किमुक्तं भवति-यावत्पन्थानं व्रजति ततो वा प्रत्यागच्छतीति ।

एतदेव सविशेषमभिधित्सुराह—

गयागते गयनियते, फिडिय गविट्ठे तहेव अविगिट्ठे ।
उब्भामगसन्नायग-नियट्टअदिट्ठभासी य ॥१६७॥

अव्यक्तोऽविहाडोऽदेशिकोऽभाषिको वा अन्यं साधुमुपसंपद्यते, अस्मान् अमुकप्रदेशे नयत । अथवा—यत्र तेषां गन्तव्यं तत्र ये विवक्षितसाधोरन्ये व्यक्तविहाडादयो गन्तुकामास्तान् ब्रुवते, वयं युष्माभिः सह समागमिष्यामस्तत्र यत्र गन्तुकामाः । ततो यदि प्रत्यागच्छन्ति ततः गतागतमित्युच्यते । तस्मिन्मार्गोपसंपत् ' गयनियते ' इति । अनुपसंपन्ना एवात्मीयेन व्यक्तविहाडादिना समं गतास्तस्य च कालगततया प्रतिभग्नत्वादिना वा कारणेन प्रत्यागन्तव्यं नाऽऽभवत्ततः प्रत्यागच्छन्तं सुसाधुमुपसंपद्यन्ते । एषा गतनिवृत्ते मार्गोपसंपत् । तथा ' फिडियगविट्ठे तहेव अविगिट्ठे ' इति स्फिटितो नाम नष्टः, कथं नष्टस्तत आह-' उब्भामग ' त्यादि उद्भ्रामकः भिक्षाचर्यया अदृष्टपूर्वविषये गतस्ततो न जानाति कुतो गन्तव्यमिति स्फिटितः । अथास्य ज्ञातयो गवेषमाणाः समागतास्ततस्तस्मात् स्थानाददृष्टपूर्वे विषये नष्टः, ततः स्फिटितः । तथा अभाषकोऽदृष्टपूर्वे विषये पृष्ठतो लग्नो यान परं मिलितुं न शक्नोति, स च दृष्ट्वाऽपि प्रतिप्रच्छनीयं देशभाषामजानन् न प्रतिपृच्छति ततो यथावत् परिभ्रष्टो नश्यति. स च नष्टो गवेषणीयः । तत्र स्फिटिते गवेषिते तथैव चागवेषिते अभावेन मार्गणा कर्तव्या ।

तत्र तदेव गवेषयतां वा अगवेषयतां वा भवनमनाभवनमाह—

उवणट्ठ अन्नपंथे, ण वा गयं अगवेसंते न लभंति ।
अगवेट्ठेतिपरिणते, गवेसमाणा खलु लभंति ॥१६८॥

उपेत्य—स्वज्ञातिकान् दृष्ट्वा नष्टः उपनष्टः, अन्येन वा यथा स विवक्षितं स्थानं गतो भविष्यतीत्येवंसंकल्पा ये मार्गोपदर्शनायोपसंपन्नास्ते यदि तं न गवेषयन्ति तदा ते अग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेषयन्तस्तस्य सत्कं न किंचिल्लभन्ते । यदि पुनरद्यापि न गवेषित इति परिणते चेतसि प्रयत्नं विधाय गवेषयन्ति तदा तस्याऽदर्शनेऽपि खलु तत्सत्कं लभन्ते ।

अथोपसंपद्यमानानां किमाभवति किं वा नेत्यत आह—

अम्मापितिसंबद्धा, मित्ता य वयंसगा य जे तस्स ।
दिट्ठा भट्ठा य तहा, मग्गुवसंपन्नतो लभति ॥१६९॥

व्रजन्तः—प्रत्यागच्छन्तो वा यत्ते उपसंपद्यमानाः सचित्तादिकमुत्पादयन्ति तत्सर्वं मार्गोपदेशकस्य-नेतुराभवति, ये पुनर्मातापितृसंबद्धाः-नालबद्धवल्लीद्विकमिति भावः। मित्राणि-वयस्या दृष्टा भाषिताश्च ये तमभिधारयन्ति तान् मार्गोपसंपदं प्रतिपन्नो लभते । तदेवं गता मार्गोपसंपत् ।

(७)संप्रति विनयोपसंपदमाह–

विणओवसंपयातो, पुच्छण साहण अपुच्छगहणे य ।
नायमनाए दोन्नि वि, नमंति पक्किल्लसाली वा ॥१७०॥

अत ऊर्ध्वं विनयोपसंपद्, वक्तव्या इति शेषः । सा चैवम्—कारणतो वा केचिद्विहरन्तोऽकारणतो वा केचिद्विहरन्तोऽदृष्टपूर्वं देशं गताः । तैर्वास्तव्यानां सांभोगिकानां समीपे प्रच्छनं कर्तव्यम् । यथा—कानि मासप्रायोग्याणि क्षेत्राणि , कानि वर्षावासप्रायोग्याणि, एवं पृष्टैरपि साधनं-कथनं कर्त्तव्यम् । अन्यथा वक्ष्यमाणप्रायश्चित्तम्। अथाक्रेरथ तथैवागन्तुका न पृच्छन्ति तदा तेषामपि प्रायश्चित्तम् । 'गहणे य' त्ति सचित्तादिकस्य ग्रहणे सति परस्परं निवेदनं कर्त्तव्यम् , यथैतत्सचित्तमचित्तं वा लब्धम् , यूयं गृह्णीतेति अनिवेदने असमाचारी । तथा 'नायमनाए' त्ति ते आगन्तुका वास्तव्याश्च परस्परं जानन्ति, तथा यतन्ते न प्रमादिनः 'अनाए' त्ति न जानन्ति, कियन्तस्ते, किं वा-प्रमादिनस्तत्र ज्ञाता न ज्ञाता वा द्रव्यादिभिः परीक्ष्योपसंपद्येरन् नान्यथा 'दुन्नि वि नमंति' त्ति । ते च परीक्षापूर्वकमुपसंपद्यमाना द्वयोरपि परस्परं नमन्ति । किमुक्तं भवति-रत्नाधिकस्य प्रथमतोऽवमरत्नाधिकेनालोचना दातव्या , पश्चात् रत्नाधिकस्य। अत्र पक्वशालयो दृष्टान्ताः । यथा-पक्वाः शालयः परस्परं नमन्ति तथाऽत्रापीति भावः ।

सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतः ' पुच्छण साहण अपुच्छ ' त्ति व्याख्यानार्थमाह—

कारणमकारणे वा, अदिट्ठदेसं गया विहरमाणा ।
पुच्छा विहारखेत्ते, अपुच्छलहुगो य जं वा वि ॥१७१॥

कारणे—अशिवादिलक्षणे अकारणे-विहारप्रत्यये सुखविहारो भविष्यतीति बुद्ध्या विहरन्तो यथा-सुखमक्लेशेन सूत्रार्थान् कुर्वन्तोऽदृष्टपूर्वं देशं गताः, तत्र च तेषां सांभोगिकाः सन्ति ततस्तैरागन्तुकैस्ते वास्तव्याः सांभोगिकाः ' पुच्छा विहारखेत्त ' त्ति मासकल्पप्रायोग्याणि वर्षाकल्पप्रायोग्याणि वा विहारक्षेत्राणि प्रष्टव्यास्तानि च तैः कथयितव्यानि । यदि न पृच्छन्ति, पृष्टा वा यदि ते न कथयन्ति, तदा द्वयानामपि प्रत्येकं प्रायश्चित्तं लघुको मासः । यच्च पृच्छामन्तरेण वा स्तेनश्वापदादिभ्योऽनर्थं साधवः प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नमपि तेषां द्वयानामपि प्रायश्चित्तम् ।

अधुना ' गहणे य ' इत्यस्य व्याख्यानमाह—

सचित्तम्मि उ लद्धे, अण्णोण्णस्स वि अणिवेयणे लहुयो ।
ववहारेण उ हाउं, पुणरवि दाणं नवरमासो ॥१७२॥

यत्ते आगन्तुका वास्तव्या वा सचित्तं लभन्ते उपलक्षणमेतदचित्तं वा तस्मिन् लब्धे अन्योन्यस्य निवेदना कर्त्तव्या । यथैतत् मया सचित्तमचित्तं वा लब्धं यूयं प्रतिगृह्णीत, एवं निवेदने कृते द्वितीया न गृह्णन्ति परं सामाचारी एषेत्यवश्यं निवेदनं कर्तव्यम् , अनिवेदने प्रायश्चित्तं लघुको मासः । एतदेव सविशेषमाह ' ववहारेण उ ' इत्यादि न निवेदयति तदा असमाचारीप्रतिषेधनार्थं व्यवहारेणागमप्रसिद्धेन तत् हृत्वा मासलघु प्रायश्चित्तं दत्त्वा तस्यैव पुनः प्रतियच्छन्ति ।

सम्प्रति ' जायमनाए ' इत्यस्य व्याख्यानमाह—

नाए व अनाए वा, होइ परिच्छाविही जहा हेट्ठा ।
अपरिच्छणम्मि गुरुगा,जो उ परिच्छाएँ अविसुद्धो ॥१७३॥

ज्ञाते अज्ञाते वा भवति द्रव्यादिभिः परीक्षाविधिर्यथाऽधस्ताद्वर्णितस्तथा कर्तव्यः । यदि पुनरपरीक्ष्योपसंपद्यते योऽपि च गच्छः परीक्षायामविशुद्धः प्रमादीति कृत्वा तमपि ये उपसंपद्यन्ते तेषां प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।

संप्रति ' दोन्नि वि नमंती ' त्यत्र मतान्तरमाह–

केई भणंति ओमा, नियमेण निवेइ इच्छ इयरस्स ।
तं तु न जुज्जइ जम्हा, पक्किल्लगसालिदिट्ठंतो ॥ १७४ ॥

केचित् ब्रुवते नियमेनावमोऽवमरत्नाधिको न निवेदयति इतरस्य रत्नाधिकस्य इच्छा यदि प्रतिभासते ततो निवेदयतिनो चेन्नेति , तच्च न युज्यते यत् पक्वशालिदृष्टान्तः उपन्यस्तः, स चोभयनमनसूचक इति ।

सम्प्रति द्वयोर्नमनमाह—

वंदण लोयण चेव, तहेव य निवेयणा ।
सेहेण ओयरत्तम्मि, इयरो एत्थ पुव्वतो ॥ १७५ ॥

शैक्षेण अवमरत्नाधिकेन वन्दने—आलोचनायां तथैव च निवेदने सचित्तादेः कृते पश्चात् इतरो रत्नाधिकस्तस्य पुरतो वन्दनमालोचनां निवेदनं च करोति ।

संप्रति क्षेत्रश्रुतसुखदुःखमार्गविनयोपसंपत्सु यदाभाव्यं तदुपदर्शयति—

सुयसुहदुक्खे खेत्ते, मग्गे विणओवसंपयाए य ।
बावीसपुव्वसंथुएँ, वयंस दिट्ठा य भट्ठे य ॥ १७६ ॥

श्रुतोपसंपदि उपसंपद्यमानो द्वाविंशतिं लभते । तद्यथा-षट् अमिश्रवल्ल्यां माता पिता भ्राता भगिनी पुत्रो दुहिता इत्येवं रूपां, षोडश मिश्रवल्ल्यां तद्यथा—मातुर्माता पिता भ्राता भगिनी, एवं पितुरपि भ्रात्रादीनां चतुर्णां प्रत्येकं द्वौ द्वौ । तद्यथा—पुत्रो दुहिता च । सुखदुःखोपसंपदि पूर्वं संस्तुतान् मातापितृसंबद्धान् , उपलक्षणमेतत् मित्रवयस्यप्रभृतीनि च क्षेत्रोपसंपदि । वयस्यान् इदमप्युपलक्षणं पूर्वसंस्तुतान् पश्चात्संस्तुतान् नालबद्धवल्लीद्विकं च लभते, मार्गोपसंपदि दृष्टान् भाषितान् चशब्दात्—वल्लीद्विकं मित्राणि च विनयोपसंपदि सर्वान् लभते नवरं निवेदयति ।

एतदेवाह—

खेत्ते मित्तादीया, सुतोवसंपन्नओ उ छल्लभते ।
अम्मापिउसंबद्धो, सुहदुक्खि इयरो वि दिट्ठंतो ।१७७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेत्रे उपसंपद्यमानो मित्रादीन् लभते, आदिशब्दात्-पूर्वपश्चात्संस्तुतान् नालवन्नीद्धिकमाहारं मात्रकलिकं संस्तारं वसतिं चेति परिग्रहः, श्रुतोपपन्नो लभते, षट् मात्रादिकान् मिश्रां च वल्लि मातृपितृसंबद्धां, सुखदुःखी-सुखदुःखोपसंपन्नो मातापितृसंबद्धान् लभते। वयस्यादींश्च, इतरो-मार्गोपसंपन्नो दृष्टान् दृष्टाऽऽभाषितान्, उपलक्षणमेतत्—वल्लिद्धिकं मित्राणि च लभते। विनयोपसंपन्नस्याभाव्यं सुप्रतीतमिति न व्याख्यातम्।

इच्चेयं पंचविहं, जिणाण आणाएँ कुणइ सद्वाणे।
पावइ धुवमाराहं, तव्विवरीए विवच्चासं ॥ १७८ ॥

इत्येवं पञ्चविधं क्षेत्रश्रुतादिभेदतः पञ्चप्रकारमाभवद्व्यवहारं स्वस्थाने—आत्मीये स्थाने यथा क्षेत्रोपसंपदि यत् उपसंपद्यमानस्य वाऽऽभवति तत्तथैव व्यवहरति। एवं शेषेष्वपि स्थानेषु वक्तव्यं जिनानामाज्ञया करोति-परिपालयति स ध्रुवमन्ते आराधनां प्राप्नोति जिनाज्ञया परिपालितत्वात्। तद्विपरीते आभवद्व्यवहारविपर्यासकारी विपर्यासं प्राप्नोति नाराधनामन्तकाले प्राप्नोतीति भावः।

इच्चेसो पञ्चविहो, ववहारो आभवंतितो नाम।
पच्छित्ते ववहारं, सुण वच्छ ! समासतो वोच्छं ॥१७९॥

इत्येष आभवंतिको नाम व्यवहारः पञ्चविध उक्तः। व्य० १० उ०। पं० भा०। नि० चू०। व्य०। (प्रायश्चित्तव्यवहारः ' पच्छित्तं ' शब्दे पञ्चमभागे १८६ पृष्ठे उक्तः।)

प्रतिज्ञातमेव करोति—

पंचविहो ववहारो, दुग्गतिभयतारगेहिँ पन्नत्तो।
आगम सुय आयरणा,कप्प य जीए य पञ्चमए॥१६४॥

येन व्यवह्रियते स व्यवहारो-दुर्गतिभयतारकैर्दुर्गतिभयविध्वंसकैः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-आगमः श्रुतमाचरणा कल्पो जीतं च पञ्चमः। व्य० १० उ०। (आगमव्यवहारः ' आगमववहार ' शब्दे द्वितीयभागे ८२ पृष्ठे दर्शितः।)

नवरं परिशिष्टोऽत्र—एतदेव गाथाद्वयं व्याचिख्यासुराह—

अट्ठायारवमादी, वय छक्कादी हवंति अट्ठरस।
दसविहपायच्छित्ते, आलोयण दोसदसहिं वा ॥३१७॥

अष्टौ-स्थानानि आचारवत्त्वादीनि,तानि च प्रागभिहितानि चाऽऽलोचनार्हत्वनिबन्धनानि। तथा चोक्तं स्थानाङ्गे—' अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ आलोयणं पडिच्छित्तए, तं जहा—' इति पाठः नास्ति; अट्ठहिं जति सम्पन्ने भवति, तो आलोयणारिहो, तं जहा—आयारव ' मित्यादि अष्टादश स्थानानि व्रतषट्कादीनि भवन्ति, पुनरष्टादशग्रहणमेतेषु ये अपराधास्तेषु प्रायश्चित्तविधिपरिज्ञानप्रतिपत्त्यर्थं दश स्थानानि ' दसविधमालोयणपडिक्कमणे " त्यादिरूपं प्रायश्चित्तम्। आलोचनादोषेषु दशसु आ (अ) कम्पयिता इत्यादिरूपेषु। तथा—

छहिँ काएहिँ वतेहिं, गुणेहिँ आलोयणाए दसहिं वा।
छट्ठाणावडिएहिं, छहिँ चेव जे उ अपरोक्खा ॥३१८॥

षड्भिरिति कायेषु व्रतेषु वा तथा आलोचनायाः संबन्धेषु गुणेषु दशसु जातिसंपन्नप्रभृतिषु, उक्तं च स्थानाङ्गे-' दसहिं ठाणेहिं सम्पन्ने अरिहइ अत्तदोसमालोइत्तए, तं जहा-जाति संपन्ने कुलसंपन्ने ' इत्यादि तथा षट्सु स्थानेष्वपतिति षट्स्थानपतितेषु स्थानेषु ये अपरोक्षाः साक्षाद्वेदितारः।

कियन्ति षट्स्थाने पतितानि-स्थानानीत्यत आह—

संखादीया ठाणा, छहिँ ठाणेहिँ पडियाणा ठाणाणं।
जे संजया सरागा, सेसा एक्कम्मि ठाणम्मि ॥ ३१९ ॥

षट्सु स्थानेष्वनन्तभागवृद्धानन्तगुणवृद्धासंख्यातभागवृद्धासंख्यातगुणवृद्धसंख्यातभागवृद्धसंख्यातगुणवृद्धेषु यानि पतितानि स्थानानि तेषां सम्बन्धिनो ये सरागाः संयतास्ते वेदितव्याः, षट्स्थानपतितेषु स्थानेषु सरागमसंयता वर्तन्ते इति भावः। तेषां च तानि षट् स्थानानि पतितानि स्थानानि संयमस्थानानि संख्यातीतानि असंख्येयालोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि। अत एव सरागसंयतानां केषांचित् वर्द्धते, केषांचित् हीयते, केषांचित् वर्द्धते हीयते च। ये तु शेषा वीतरागसंयतास्ते एकस्मिन् स्थाने। तथाहि—न तेषां चारित्रं वर्द्धते, नापि हानिमुपगच्छति कषायाणामभावात्किं त्ववस्थितमेकमेव परमप्रकर्षप्राप्तं संयमस्थानमिति एतेषां वस्तूनां ये साक्षाद्वेदिनस्ते आगमव्यवहारिणः।

तथा चाह—

ए आगमववहारी, पण्णत्ता रागदोसनीहूया।
आणाएँ जिणिंदाणं, जे ववहारं ववहरंति ॥ ३२० ॥

रागद्वेषनिभृता-रागद्वेषव्यापाररहिता आगमव्यवहारिणः प्रज्ञप्ताः। जिनेन्द्राणामाज्ञया व्यवहारं व्यवहरन्ति।

एवं भणिते भणती, ते वोच्छिन्ना उ संपयं इहइं।
तेसु अवोच्छिन्नेसुं, नऽत्थि विसुद्धी चरित्तस्स ॥३२१॥
देंता वि न दीसंति, न वि य करेंतो उ संपयं केइ।
तित्थं च नाणदंसण, निज्जवगा चेव वोच्छिन्ना ।३२२।

एवं-प्रागुक्तेन प्रकारेण भणिते चोदको भणति-व्यवच्छिन्ना खल्विह भरतक्षेत्रे साम्प्रतमागमव्यवहारिणस्तेषु च व्यवच्छिन्नेषु चारित्रस्य विशुद्धिर्नास्ति, सम्यक्परिज्ञानाभावतो यथावस्थितशुद्धिदायकाभावात्। अन्यच्च मासिकं पाक्षिकमित्यादि प्रायश्चित्तं ददतोऽपि न केचित् दृश्यन्ते, नापि केचित्तथारूपं प्रायश्चित्तं कुर्वन्तस्ततो ददतां कुर्वतां चाभावे सम्प्रति तीर्थं-ज्ञानदर्शनं ज्ञानदर्शनात्मकमनुवर्तते, न तु चारित्रात्मकम्, यतश्चारित्रस्य पर्यन्तसमये निर्यापका एव यथावस्थितशोधिप्रदानत उत्तरोत्तरचारित्रनिर्वाहका एव व्यवच्छिन्नाः।

संप्रत्येतदेव विभावयिषुः प्रथमतश्चारित्रस्य शुद्धिर्नास्तीति भावयति—

चोद्दसपुव्वधराणं, वोच्छेदो केवलीण वुच्छेए।
केसिंचिय आदेसो, पायच्छित्तं पि वोच्छिन्नं ॥३२३॥

केवलिनां व्यवच्छेदे सति तदनन्तरं स्तोकेन कालेन चतुर्दशपूर्वधराणामपि व्यवच्छेदो भवति, ततः शोधिदायकाभावान्नास्ति शुद्धिश्चरित्रस्य। अन्यच्च केषांचिदयमादेशो, यथा—प्रायश्चित्तमपि व्यवच्छिन्नम्।

एतदेव भावयति—

जं जत्तिएण सुज्झइ, पावं तस्स तह देंति पच्छित्तं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिणचोद्दसपुव्वधरा, तव्विवरीया जहिच्छाए ॥ ३२४॥

जिनाः-केवलिप्रभृतयश्चतुर्दशपूर्वधरा यत्पापं यस्य यावता प्रायश्चित्तेन शुद्धयति, तस्य तावन्मात्रं प्रायश्चित्तं ददति। ये तु तद्विपरीताः-कल्पव्यवहारनिशीथधरास्ते आगमव्यवहाराभावात् यदृच्छया प्रायश्चित्तं दद्युः कदाचिन्न्यूनं, कदाचिदधिकं वा। ततः परमार्थतः सम्प्रति प्रायश्चित्तं व्यवच्छिन्नं तद्व्यवच्छेदे निर्यापका अपि चारित्रस्य व्यवच्छिन्नाः।

एतदेव स्पष्टयति—

पारगमपारगं वा, जाणंते जस्स जं च करणिज्जं।
देइ तहा पच्चक्खी, घुणक्खरसमो उ पारोक्खी ॥३२५॥

एष-संवरीतुकामः पारगामी भविष्यति, एष नेति, पारगमपारगं वा प्रत्यक्षागमव्यवहारिणः सम्यग् जानते। यच्च यस्य करणीयं-कर्त्तुं शक्यं तस्य तज्ज्ञात्वा तदेव तथा ददति, तथा ते पाराऽपारगादिज्ञानं समास्थितास्तादृशमुपायमुपदिशन्ति, येन स पारगामी भवति, यतश्चाराधक उपजायते। यस्तु परोक्षी-परोक्षज्ञानी स घुणाक्षरसमः। किमुक्तं भवति-घुणाक्षरवत् यदृच्छया ततः कदाचित्पापशुद्धिर्नावश्यमिति। अन्यच्च तस्य परोक्षज्ञानिनः प्रायश्चित्तं ददतो महत्प्रायश्चित्तं-पापम्।

तथा चाह—

जा य ऊणाहिते दाणे, वुत्ता मग्गविराहणा।
ण सुज्झे इति दिंतो उ, असुद्धो कं च सोहए ॥३२६॥

स हि-परोक्षज्ञानी यदृच्छया व्यवहरन् कदाचिदूनमधिकं वा प्रायश्चित्तं दद्यात्। ततो य ऊनाधिकं प्रायश्चित्तदाने मार्गविराधना—मोक्षपथसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविराधना जिनैरुक्ता, तया स दाता न शुद्धयति। स्वयमशुद्धश्च कथमन्यं शोधयेदिति भावः। अथ सोऽपि सूत्रबलेन प्रायश्चित्तं ददाति तत्कथं न शोधयति, तदप्यसम्यक् सूत्रस्याप्यपरिज्ञानात्।

तथा चाह—

अत्थं पडुच्च सुत्तं, अणागयं तं तु किंचि आमुसति।
अत्थो वि कोइ सुत्तं, अणागयं चेव आमुसति ॥३२७॥

अर्थं प्रतीत्य किंचित्सूत्रमनागतमेव आमृशति, किंचित्पुनः सूत्रं स्वस्थानं गतं वा अर्थमामृशति। विचित्रा सूत्रस्य प्रवृत्तिरिति वचनादर्थोऽपि कश्चित्सूत्रमनागतमेवामृशति। एतच्च सम्यग् जानाति चतुर्दशपूर्वधरो नान्ये। ततः संप्रति सूत्रार्थस्यापरिज्ञानान्न तत्प्रायश्चित्तदानशुद्धिस्तदभावाच्च निर्यापकाणामप्यशुद्धिः।

संप्रति 'देंतावि न दीसंति' इत्यादिव्याख्यानार्थमाह—

देंता वि न दीसंति, मास चउमासिया उ सोहिं तु।
कुणमाणे य वि सोहिं,न पासिमो जो वि तं देज्जा ॥३२८॥

मासिकीं चातुर्मासिकीम्, उपलक्षणमेतत् पञ्चमासिकीमपि वा शोधिं सम्प्रति केचित् ददतोऽपि न दृश्यन्ते, नापि काश्चित् तां मासिकीं वा कुर्वाणान् संप्रति पश्यामः।

सोहीए य अभावे, देंताण करेंतगाण य अभावे।
वड्ढइ संपइ कालं, तित्थं सम्मत्तनाणेहिं ॥ ३२९ ॥

उक्तप्रकारेण शोधेरभावे शोधिं ददतां-कुर्वतामभावः। संप्रति काले तीर्थं वर्त्तते सम्यक्त्वज्ञानाभ्याम्।

एवं तु चोइयम्मी, आयरितो भणइ न हु तुमे णायं।
पच्छित्तं कहियं तु, किं धरती किं च वोच्छिन्नं ॥३३०॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण चोदिते-प्रश्ने कृते सति आचार्यो ब्रूते, न हु-नैव त्वया ज्ञातम्, यथा-प्रायश्चित्तं प्रथमतः उक्तम्, किं वा संप्रति प्रायश्चित्तस्य धरते विद्यते किं वा व्यवच्छिन्नम्। व्य० १० उ०।

तत्र प्रथमतः सापेक्षेण दातव्यम्—

संघयणधितिहीणा, असंतविभवेहिं होंति तुल्लाओ।
निरवेक्खो जइ तेसिं, देति ततो ते विणस्संति ॥३६२॥

ये पुनर्धृतिसंहननाभ्यां हीनास्ते असद्विभवैस्तुल्यास्तेषां यदि निरपेक्षः सन् यन्निरवशेषं प्रायश्चित्तं ददाति, ततस्ते विनश्यन्ति। तथाहि-ते तत्प्रायश्चित्तं निरवशेषं वोढुमशक्नुवन्तस्तपसा कृशीकृता जीवितादपगच्छेयुः।

ते तेण परिच्चत्ता, लिङ्गविवेगं तु काउं वच्चंति।
तित्थुच्छेदो अप्पा, एगाणि य तेण गच्छो य ॥३६३॥

यदि ते प्रायश्चित्तभग्ना लिङ्गविवेकं कृत्वा व्रजन्ति, ततस्तेऽनेन-निरविशेषप्रायश्चित्तदात्रा परित्यक्ताः। यथैवमेकः एवमन्येऽप्येवमपरेऽपि। ततः सर्वसाधुव्यपगमतस्तीर्थस्योच्छेदस्तथा तेनाचार्येण निरविशेषं प्रायश्चित्तं साधूनां ददता प्रायश्चित्तभग्नभयात्साधूनामपगमत आत्मा एकाकीकृतः। एकाकिना यावत्यक्तश्चशब्दात्—गच्छोऽपि त्यक्तः। तथाहि-साधूनामपगमे बालवृद्धग्लानादीनामुपग्रहे न कोऽपि वर्त्तते। ततस्तेऽपि तेन तत्त्वतः परित्यक्ताः। तथा अवधाविताः सन्तो ये दीर्घकालं संसारमाहिण्डिष्यन्ते सोऽपि तान्निमित्त इति तस्य महत्पापम्। तदेवं निरपेक्षस्य दोष उक्तः।

सम्प्रति सापेक्षस्य गुणमाह—

सावेक्खो पवयणम्मि, अणवत्थपसंगवारणाकुसलो।
चारित्तरक्खणट्ठा, अव्वोच्छित्ती य उ विसुज्झो ॥३६४॥

यः पुनराचार्यः प्रवचने सापेक्षः अनवस्थाप्रसङ्गवारणाकुशलः स चारित्रस्य रक्षार्थं भवति। तीर्थस्य चाव्यवच्छेदस्तथोपायेन शोधयति इत्यर्थः।

उपायमेवाह—

कल्लाणगमावन्ने, अतरंते जहकमेण काउं जे।
दस कारेंति चउत्थे, तद्दुगुणाऽऽयंबिलतवे वा ॥३६५॥
एकासणपुरिमड्ढा, निव्विगती चेव विगुणविगुणाओ।
पत्तेया बहुदाणं, करेइ वा सन्निकालं तु ॥ ३६६ ॥

पञ्च अभक्तार्थाः, पञ्च आचाम्लानि, पञ्च एकाशनकानि पञ्च पूर्वार्द्धानि पञ्च निर्विकृतिकानि एतत्पञ्चकल्याणकम्, तत् शिष्यापन्ना यथाक्रमेण च कर्त्तुमशक्नुवन्तस्तान् दश चतुर्थान् कारयन्ति, तथाऽप्यशक्नुवन्तस्तद्द्विगुणा आचाम्लतपः कारयन्ति, विंशतिमायामाम्लानि कारयन्तीत्यर्थः। एवमेकाशने पूर्वार्द्धनिर्विकृतिर्द्विगुणाः कारयन्ति। किमुक्तं भवति-विंशत्यायामाम्ले करणाशक्तौ अशीतिपूर्वार्द्धानि कार-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यन्ति। तत्राप्यशक्तौ पष्टिशतं निर्विकृतिकानां कारयन्ति। एतत्पञ्चसु कल्याणेष्वेकैकं कल्याणं प्रत्येकमव्यवस्थितस्य कर्तुमसहस्यासमर्थस्य दातुमुक्तम्। अथवायमन्यो विकल्पः। 'करेति वा सन्निकासं' सन्निकाशं-सन्निभं वा कारयन्ति। इयमत्र भावना-यत्तत्पञ्चकल्याणमापन्नः,तन्मध्यादाद्यं द्वितीयं तृतीयं वा कल्याणकनरं यथाक्रमेण वहति। शेषमायामाम्लादिभिः प्रदर्शयति।

पुनरन्यथाऽनुग्रहप्रकारमाह-

चउ तिय दुग कल्लाणं, एगं कल्लाणगं च कारेंती।
जं जो उ तरति तस्स, देंती असहस्स भासेंति॥३६७॥

यदि वा पञ्चकल्याणकमुक्तस्वरूपं यथाक्रमेण व्यवच्छित्त्या कर्तुमशक्नुवन्तं चतुःकल्याणकं कारयन्ति। तदप्यशक्नुवन्तं त्रिकल्याणकं तत्राऽप्यसमर्थतया द्विकल्याणकं तत्राप्यशक्नुवन्तमेकं कल्याणकं कारयन्ति। किं बहुना, यत्तपः कर्तुं शक्नोति तस्य तद्ददन्ति नाधिकमाबाधासंभवात्। अथैकमपि कल्याणं कर्तुं न शक्नोति, तदा तस्य सर्वं भाषयित्वा एकभक्तार्थं दीयते। अथवा-एकमायामाम्लम्, यदि वा-एकमेकाशनकम्, अथवा-एकं पूर्वार्द्धम्, अथवा-निर्विकृतिकम्, अथ न किंचिद्ददाति तदा अनवस्थाप्रसङ्गः।

एतदेवत्र स्पष्टयति—

एवं सदयं दिज्जति, जेणं सो संजमे थिरो होति।
न य सव्वहा न दिज्जति, अणवत्थपसंगदोसातो॥३६८॥

एवमनुना प्रकारेण सदयं सानुकम्पं दीयते प्रायश्चित्तम्,येन स संयमे स्थिरो भवति न च सर्वथा न दीयते अनवस्थाप्रसङ्गदोषात्। अत्र दृष्टान्तो-बालकतिलस्तेनकद्वयेन "एगो पिइतो अङ्गोअलिं काऊण रमंतो तिलरासिम्मि निमज्जितो, बाल त्ति काऊण न केण वारितो, तिला सरीरम्मि लग्गा। ततो सो सलीलो घरमागतो। जणणीए तिला दिज्जए। कोडिया गहिया य। ततो तिललोभेण पुणो अंगोअलिं-काऊण दारगं पेसइ कालेण तिलोवतिणो वेइ, ततो सो पसंगदोसेण तेणो जातो। रायपुरिसेहिं गहितो मारितो माउदोसेण। बालो वि पसंतो णो जातो त्ति माऊए थणच्छेयाइमवराहं पाविय वेति। तो कप्पट्ठगो तहेव अङ्गोअलिं काऊण रमंतो तिलरासिम्मि निमज्जितो। माऊए वारितो मा पुणो एवं कुज्जा, तिला य पक्खोडेऊण तिलरासिम्मि य पक्खित्ता। सो कालंतरेण जीवियभोगाए अभोगी जातो नेव जणणी थणच्छेयादियमवराहं पत्ता।"

एतदेवाह—

दिट्ठंतो तेणएणं, पसंगदोसेण जह वहं पत्तो।
पावंति अणंताइं, मरणाइ अवारियपसङ्गा॥ ३६९॥

अनवस्थाप्रसङ्गदोषे दृष्टान्तः, स्तेनकेन-बालकेन तिलापहारिणा यथा स प्रसङ्गदोषात् वधं प्राप्तस्तथा साधवोऽप्यनिवारितप्रसङ्गा अनन्तानि मरणानि प्राप्नुवन्ति।

निब्भच्छणाएँ बितिया, वारेंतो जीवियाण य अभागी।
नेव य थणछेयादी, पत्ता जणणी य अवराहं॥ ३७०॥
इय अणिवारियदोसा, संसारे दुक्खसागरमुवेंति।
विणियत्तपसङ्गा खलु, करेंति संसारवोच्छेयं॥३७१॥

द्वितीयया बालकस्तिलान् शरीरे लग्नानादाय समागतो निर्भर्त्सनया वारितः, ततः स जीवितानां जीवितसुखानामाभागी जातो, नैव च जननी स्तनच्छेदादिकमपराधं प्राप्ता। इत्येवममुना दृष्टान्तद्वयगतेन प्रकारेण अनिवारिता दोषाः संसारे दुःखसागरमुपयन्ति। विनिवृत्तप्रसङ्गाः पुनः खलु कुर्वन्ति संसारव्यवच्छेदम्।

एवं धरती सोही, देंत करेंता वि एवँ दीसंति।
जं पि य दंसणनाणेँ हि, जाति तित्थंति तं सुणसु॥३७२॥

एवम्-अमुना प्रकारेण धरते-विद्यते शोधिः। तदा ददतः कुर्वतश्च शोधिमेवमुक्तप्रकारेण दृश्यते। यदपि चोक्तं दर्शनज्ञानाभ्यां तीर्थं जानाति तदप्ययुक्तं यथा भवति तथा शृणुत। व्य०१० उ०। (यथा लघुस्वकव्यवहारः 'अहालहुस्सय' शब्दे प्रथमभागे ८७० पृष्ठे गतः) (श्रुतव्यहारः 'सुयववहार' शब्दे वक्ष्यते) (आज्ञाव्यवहारः 'आणा' शब्दे द्वितीयभागे १२३ पृष्ठे उक्तः)

सम्प्रति द्विकादिपदजातस्य व्याख्यानं किंचित्तदेव दर्शयति-

दुविहं ति दप्पकप्पे, तिविहं णाणाइयं तु अट्ठाए।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य चउव्विहं एयं॥ ६०४॥
तिविहो अतीतकाले, पच्चुप्पन्ने वि सेवियं जं तु।
सेविस्सं वा एस्से, पागडभावो विगडभावो॥६०५॥

द्विविधां शोधिं करोति दर्पे—दर्पविषयां कल्पे-कल्पविषयां, त्रिविधां—ज्ञान-दर्शन-चारित्राणामर्थायातिचारविशुद्धिलाभाय करोति। प्रशस्ते—द्रव्ये प्रशस्ते क्षेत्रे प्रशस्ते काले प्रशस्ते भावे एतच्चतुर्विधं विशोधनं द्रष्टव्यम्। तथा त्रिविधे—अतीते, प्रत्युत्पन्ने च काले यत्सेवितं यत् एष्यति काले सेविष्येऽहमित्यध्यवसितं यश्च चटितभावः प्रकटभाव आलोचयति।

किं पुण आलोएई, अतियारं सो इमो य अतियारो।
वयछक्कादीयो खलु, नायव्वो आणुपुव्वीए॥ ६०६॥

किं पुनस्तदालोचयति। सूरिराह—अतीचारम्, पुनरतीचारोऽयं वक्ष्यमाणो व्रतषट्कादिको-व्रतषट्कादिविषयः खल्वानुपूर्व्या ज्ञातव्यः।

तमेव दर्शयति—

वयछक्ककायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंकणिसेज्जा य, सिणाणं सोभवज्जणं॥ ६०७॥

व्रतषट्कं-प्राणातिपातनिवृत्त्यादि रात्रिभोजनविरमणपर्यन्तं कायषट्कं-पृथिव्याद्यकल्पपिण्डादिको, गृहिभाजनं-कांस्यपात्र्यादि पल्यङ्कः-प्रतीतो निषद्या-गोचरप्रविष्टस्य निषदनम्। अस्नानं देशतः सर्वतो वा स्नानस्य वर्जनं, शोभावर्जनं-भूषापरित्यागः, एतत् विधेयं प्रायः प्रतिषेध्यतया यत् यथोक्तं नाचरितं तत् आलोचयति।

तं पुण होज्जा सेविय, दप्पेणं अहव होज्ज कप्पेणं।
दप्पेण दसविहं तु, इणमो वोच्छं समासेणं॥ ६०८॥

तत्पुनर्विरुद्धं सेवितं दर्पेण, अथवा-कल्पेन। तत्र यद्दर्पेण सेवितं तदिदं वक्ष्यमाणं दशविधं तावत् समासेन वक्ष्ये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिज्ञातमेव करोति—

दप्प अकप्पनिरालं–ब चियत्ते अप्पसत्थ वीसत्थे ।
अपरिच्छि अकडजोगी, अणाणुतावी अ णिस्संको॥६०९॥

दर्पो निष्कारणधावनवलने वीर्य्युद्धादिकरणम् १, अकल्पः–अपरिणतपृथ्वीकायादिग्रहणमगीतार्थानीतोपधिशय्याहाराद्युपभोगश्च २। निरालम्बो—ज्ञानाद्यालम्बनरहितप्रतिसेवनाकः३।'चियत्ते' त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्त्यक्तकृत्यः संस्तरन्नपि सन्नकृत्यप्रतिसेवी त्यक्तचारित्र इत्यर्थः ४, अप्रशस्तो-बलवर्णादिनिमित्तं प्रतिसेवी ५, विश्वस्तः-स्वपक्षतः परपक्षतो वा निर्भयं प्राणातिपातादिसेवी ६, अपरीक्षी युक्ताऽयुक्तः-परीक्षाविकलः ७ अकृतयोगी-अगीतार्थः त्रीन् वारान् कल्पमेषणीयं वा परिभाव्य प्रथमवेलायामपि यतस्ततोऽकल्पान्वेषणीयमपि ग्राही ८, अननुतापी-अपवादपदेन कायानामुपद्रवेऽपि कृते पश्चात् अनुतापरहितः ९, निःशङ्को-निर्दयः इहपरलोकशङ्कारहित इत्यर्थः ।

एयं दप्पेण भवे, इणमन्नं कप्पियं मुणेयव्वं ।
चउवीसइअभिहाणं, तमहं वुच्छं समासेणं ॥ ६१०॥

एतदनन्तरोक्तेन प्रकारेण सेवितं दर्पेण भवति । इदमन्यत् कल्पिकं चतुर्विंशतिविधानं ज्ञातव्यं तदहं समासेन वक्ष्ये ।

तदेवाह—

दंसणणाणचरित्ते, तवपवयणसमितिगुत्तिहेउं वा ।
साहम्मिय वच्छल्ले,ण वा वि कुलतो गणस्सेव ।६११।
संघस्सायरियस्स य, असहस्स गिलाण बालवुड्ढस्स ।
उदयग्गिचोरसावय, भयकत्तारो वतीसवणे ॥ ६१२॥

दर्शने—दर्शनप्रभावकं शास्त्रग्रहणं कुर्वन्नसंस्तरणे १, ज्ञाने-सूत्रमर्थं वा अधीयमानोऽसंस्तरणे २, चारित्रे—अनेषणादोषतः स्त्रीदोषतो वा चारित्ररक्षणाय ततः स्थानादन्यत्र गमने ३, तपसि—विकृष्टतपोनिमित्तं धृतपानादि, विष्णुकुमारादिवद् वैक्रियविकुर्वणादि ४, प्रवचने-द्वादशाङ्गे गणिपिटकादौ ग्रहणादि ५, समितौ वीर्यसमित्यादिरक्षणनिमित्तं चक्षुःसावद्यचिकित्साकरणादि ६, गुप्तौ—भावितकारणतो विकटपाने कृते मनोगुप्त्यादिरक्षणनिमित्तमकल्प्यादि ७,साधर्म्मिकवात्सल्यनिमित्तम् ८, कुलतः कार्यनिमित्तम् ९, एवं गणकार्यनिमित्तम् १०, सङ्घकार्यनिमित्तम् , ११, आचार्यनिमित्तम् १२, असहनिमित्तम् १३, ग्लाननिमित्तम् १४, प्रतिपिद्धबालदीक्षितसमाधिनिमित्तम्१५,प्रतिपिद्धवृद्धदीक्षितसमाधिनिमित्तम् १६, उदके-जलप्लवे १७, अग्नौ-दवाग्न्यादौ १८, चौरे-शरीरोपकरणापहारिणि १९, श्वापदे-सिंहव्याघ्रादावापतति यद्वृक्षारोहणादि२०, तथा भये-म्लेच्छादिसमुत्थे २१, कान्तारे-अर्ज्यमानभक्तपाने अध्वनि २२, आपदि-द्रव्याद्यापत्सु २३, व्यसने-मद्यपानगीतगानादिविषये पूर्वाभ्यासतः प्रवृत्तिः २४, तत्र यद्यतनया प्रतिसेवते स कल्पः ।

एतदेवाह—

एयन्नतरागाढे , दंसणनाणे चरण सालंबे ।
परिसेविउं कयाई, होइ समत्थो पसत्थेसु ॥ ६१३ ॥

एतेषामन्तरोदितानामन्यतरस्मिन् आगाढे समुत्थिते दर्शनज्ञानचरणसालम्बे प्रतिसेव्याकल्प्यप्रतिसेवनां कृत्वा कदाचित्प्रशस्तेषु शुभेषु प्रयोजनेषु कर्तव्येषु समर्थो भवति । ततः एषा कल्पिका प्रतिसेवना ।

ठावेउ दप्पकप्पे, हेट्ठा दप्पस्स दसपए ठावे ।
कप्पाधो चउवीसति, तेसिमह ऽट्ठारस पयाइं ॥६१४॥

प्रथमतो दर्पकल्पौ स्थापयित्वा तदनन्तरं दर्पस्याधस्तात् दर्पादीनि पदानि स्थाप्य-कल्पस्याधो दर्शनादीनि चतुर्विंशतिपदानि तेषां दशचतुर्विंशतिपदानामधो व्रतषट्कादीन्यष्टादशपदानि स्थापयेत् ।

(८) संप्रत्यालोचनाक्रममाह—

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु ।
पढमे छक्के अब्भिं–तरं तु पढमं भवे ठाणं ॥ ६१५ ॥

इह प्रथमं कार्यं दर्पलक्षणं तस्य प्रथमतः स्थापितत्वात्तस्य प्रथमकार्यस्य सम्बन्धिना प्रथमेन पदेन—दर्पलक्षणेन यत्सेवितम् , कथंभूतमित्याह—प्रथमे षट्के—व्रतषट्करूपे अभ्यन्तरमन्तर्गतम् । तत्कतरदित्याह-प्रथमं-प्राणातिपातलक्षणं भवेत् स्थानम् । एवं मृषावादे अदत्तादाने मैथुने परिग्रहे रात्रिभोजने च वक्तव्यम् । पाठोऽप्येवमुच्चारणीयः ।

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु ।
पढमे छक्के अब्भिं–तरं तु वीयं भवे ठाणं ॥ ६१६ ॥

एवं तइयं भवे ठाणं, जाव छट्ठं भवे ठाणं ।

एतदेव कथयन्नाह—

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु ।
पढमे छक्के अब्भिं–तरं तु सेसेसु वि पएसु ॥ ६१७ ॥

अक्षरगमनिका प्राग्वत् । नवरं 'सेसेसु वि पएसु' इति आद्यं पादत्रयममुञ्चता शेषेष्वपि मृषावादादिषु पदेषु 'विइयं भवे ठाणं, तइयं भवे ठाण' मित्यादि पदसंचारतो वक्तव्यम् ।

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु ।
बिइए छक्के अब्भिं–तरं तु पढमं भवे ठाणं ॥ ६१८ ॥

प्रथमस्य कार्यस्य दर्पलक्षणस्य प्रथमेन पदेन दर्परूपेण यत् 'सेवियं जं तु' सेवितं द्वितीये षट्के कायषट्के अभ्यन्तरमन्तर्गतं तत्कतरदित्याह-प्रथमं पृथिवीकायलक्षणं भवेत् स्थानम् । एवमप्काये तेजस्काये वायुकाये वनस्पतिकाये त्रसकाये च यथाक्रमं 'विइयं भवे ठाणं, तइयं भवे ठाणमि' त्यादि पदसंचारतः पूर्वक्रमेण पञ्च गाथा वक्तव्याः ।

एतदेवाह—

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु ।
बिइए छक्के अब्भिं–तरं तु सेसेसु वि पएसु ॥ ६१९ ॥

इयमपि प्राग्वत् । नवरं 'सेसेसु वि पएसु' इति शेषेष्वप्कायादिपदेषु ।

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु ।
तइए छक्के अब्भिं–तरं तु पढमे भवे ठाणं ॥ ६२० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथमस्य कार्यस्य दर्प्पलक्षणस्य प्रथमेन पदेन दर्प्परूपेण यत्सेवितम्, कथंभूतमित्याह-तृतीये षट्के-अकल्पगृहिभाजनादिलक्षणे अभ्यन्तरमन्तर्गतम्, कतरदित्याह—प्रथमकल्पलक्षणं भवेत् स्थानम् एवं गृहिभाजने पल्यङ्के निषद्यायां स्नाने शोभायां च यथाक्रमं चं 'बिइयं भवे ठाणमि' त्यादिपदसंचारतः पञ्च गाथा वक्तव्याः।

तथा चाह—

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
तइयं छक्के अब्भिं-तरं तु सेसेसु वि पएसु ॥ ६२१ ॥

अक्षरगमनिका प्राग्वत्। तदेवं प्रथमस्य कार्यस्य प्रथमं पदं दर्प्पलक्षणममुञ्चता अष्टादश पदानि एवमकल्पादिभिरपि द्वितीयादिभिः पदैः संचारणीयानि। पाठोऽप्येवम्-"पढमस्स य कज्जस्स य, बीएण पएण सेवियं जं तु। पढमे छक्के अब्भं-तरं तु पढमं भवे ठाणमि" त्यादि सर्वसंख्याभङ्गानामशीतिशतम् १८०।

तदेवं प्रथमं दर्परूपं विशुद्धमिदानीं द्वितीयं कल्पपदमधिकृत्याह—

बिइयस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
पढमे छक्के अब्भिं-तरं तु पढमे भवे ठाणं ॥ ६२२॥

द्वितीयस्य कार्यस्य कल्पलक्षणस्य सम्बन्धिना प्रथमेन पदेन दर्शनलक्षणेन यत्सेवितम्, कथंभूतमित्याह-प्रथमे षट्के उभयषट्करूपे अभ्यन्तरमन्तर्गतं कतरच्चादित्याह-प्रथमं-प्राणातिपातलक्षणं भवेत् स्थानम्, एवं मृषावादे अदत्तादाने मैथुने परिग्रहे रात्रिभोजने च पूर्वप्रकारेण यथाक्रमं पञ्च गाथा वक्तव्याः।

तथा चाह—

बीयस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
पढमे छक्के अब्भिं-तरं तु सेसेसु वि पएसु ॥ ६२३ ॥

अक्षरगमनिका प्राग्वत्।

द्वितीयं षट्कं कामरूपमधिकृत्याह-

बिइयस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
बिइये छक्के अब्भिं-तरं तु पढमं भवे ठाणं ॥ ६२४ ॥

अत्र प्रथमं स्थानं पृथिवीकायलक्षणमेवमप्काये अग्निकाये वायुकाये वनस्पतिकाये त्रसकाये प्रागुक्तप्रकारेण पञ्च गाथा वक्तव्याः।

तथा चाह—

बिइयस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
बिइए छक्के अब्भिं-तरं तु सेसेसु वि पएसु ॥ ६२५ ॥

प्राग्वत्॥

तृतीयमकल्पादिषट्कमधिकृत्याह—

बिइयस्स य कज्जस्स य पढमेण पएण सेवियं जं तु।
तइए छक्के अब्भिं-तरं तु पढमं भवे ठाणं ॥ ६२६ ॥

अत्र प्रथमं स्थानं कल्पलक्षणमेवं गृहिभाजने पल्यङ्के निषद्यायां स्नाने शोभायां च प्रागुक्तप्रकारेण पञ्च गाथा वक्तव्याः।

एतदेव सूचयति-

बिइयस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
तइए छक्के अब्भिं-तरं तु सेसेसु वि पएसु ॥ ६२७ ॥

व्याख्या प्राग्वत्। तदेवं द्वितीयस्य कार्यस्य कल्पलक्षणस्य प्रथमं दर्शनरूपं पदममुञ्चता अष्टादशपदानि संचारितान्येवं ज्ञानादिलक्षणैर्द्वितीयादिभिरपि पदैस्त्रयोविंशतिसंख्याकैः प्रत्येकमष्टादश पदानि संचारयितव्यानि, सर्वसंख्यया भङ्गानां द्वात्रिंशदधिकानि चत्वारि शतानि ४३२, अष्टादशानां चतुर्विंशत्या गुणने एतावत्याः संख्याया भावात्।

संप्रति 'पढमस्स य कज्जस्स य' इत्यादिपदव्याख्यानार्थमाह-

पढमं कज्जं नामं, निक्कारण दप्पओ पढमपयं।
पढमे छक्के पढमं, पाणाइवाए मुणेयव्वो ॥ ६२८ ॥

अत्र निष्कारणं नाम दर्प्पः, प्रथमं पदं दर्पिको दर्प्पः। शेषं सुगमम्-

एवं तु मुसावादो, अदिन्नमेहुणपरिग्गहो चेव।
बिइछक्के पुढवादी, तइये छक्के अकप्पादी ॥ ६२६ ॥

एवमुक्तप्रकारेण मृषावादोऽदत्तमदत्तादानं मैथुनं परिग्रहश्चशब्दात्-रात्रिभोजनं च। संचारणं—द्वितीये षट्के क्रमेण पृथिव्यादयः संचारणीयास्तृतीये षट्के अकल्पादयः।

निक्कारणदप्पेणं, अट्ठारस चारियाइं एयाइं।
एवमकप्पादीसु वि, एक्केका होंति अट्ठरस ॥ ६३० ॥

एवं निष्कारणस्य दर्प्पलक्षणस्य कार्यस्य संबन्धिना प्रथमेन पदेन दर्प्पेण एतानि व्रतषट्कप्रभृतीन्यष्टादश पदानि संचारितानि। एवमकल्पादिष्वपि नवसु पदेषु एकैकस्मिन् प्रत्येकमष्टादश पदानि संचारितव्यानि भवन्ति।

बिइयं कज्जं कारण-पढमपयं तत्थ दंसणनिमित्तं।
पढमं छक्क वयाइं, तत्थ वि पढमं तु पाणवहो ॥६३१ ॥

द्वितीयं कार्यं नाम कारणं कल्प इत्यर्थः। तत्र प्रथमं पदं दर्शननिमित्तं प्रथमं षट्कं-व्रतानि, तत्र प्रथमं पदं-प्राणवधः।

दंसणममुयंतेणं, पुव्वकमेणं तु चारणीयाइं।
अट्ठारस ठाणाइं, एवं णाणाइ एक्केको ॥ ६३२ ॥

दर्शनं-तद्दर्शनपदं प्रथममममुञ्चता पूर्वक्रमेणाष्टादश स्थानानि चारणीयानि, एवं ज्ञानादिरेकैको भेदः संचारयितव्यः।

चउवीसऽट्ठारसगा, एवं एए हवंति कप्पम्मि।
दस होंति अकप्पम्मि, सव्वसमासेण मुण संखं ॥६३३॥

एवमुक्तेन प्रकारेण कल्पे चतुर्विंशतिरष्टादशका भवन्ति। चत्वारि शतानि द्वात्रिंशानि ४३२। भङ्गानां भवन्तीति भावः। अकल्पे दर्प्पे दश अष्टादशका भवन्ति। अशीतिः शतम्-१८०। भङ्गानां भवन्तीति भावः। एतां कल्पे दर्प्पे च समासेन च संख्यां जानीहि।

सोऊण तस्स पडिसे-वणं तु आलोयणाकमविहिं च।
आगमपुरिसज्जायं, परियागबलं च खेत्तं च ॥ ६३४ ॥

श्रुत्वा तस्यालोचनकस्य प्रतिसेवनाम्, आलोचनाक्रमविधिं च-आलोचनाक्रमपरिपाटीं चावधार्य तथा तस्य यावानागमोऽस्ति तावन्तमागमम्, तथा पुरुषजातमष्टमादिभिर्भावितमभावितं वा, पर्यायं गृहस्थपर्यायो यावानासीत्, यावांश्च तस्य व्रतपर्यायः तावन्तमुभयं पर्यायम्, बलं—शारीरकं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्य तथा यादृशं तत्तत्रमेतत् सर्वमालोचकाचार्यकथनतः स्ततो दर्शनतश्चावधार्य स्वदेशं गच्छति ।

तथा चाह-

आहारेउं सव्वं, सो गंतूणं गुरुसगासम्मि ।
तेसि निवेदेइ तहा, जहाणुपुव्विं गतं सव्वं ॥ ६५५ ॥

स आलोचनाचार्यप्रेषितः सवमनन्तरोदितम् ,आ-समन्तात् धारयित्वा पुनरपि स्वदेशागमनेन गुरुसकाशं गत्वा तेषां गुरूणां सर्वं तथा निवेदयति , यथा-आनुपूर्व्या परिपाट्या गतम्—अवधारितम् । व्य० १० उ० । (अत्र-प्रायश्चित्तं ' पच्छित्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३५ पृष्ठे गतम् ।) (धारणाव्यवहारो ' धारणाववहार ' शब्दे चतुर्थभागे २७४८ पृष्ठे गतः ।)

उपसंहारमाह—

जीएणं ववहारं,सुण वोच्छे जहक्कमं वच्छ ! ॥६६०॥

साम्प्रतं जीतव्यवहारं यथाक्रमं वक्ष्ये तं च वत्स ! वक्ष्यमाणं शृणु ।

तथा चाह—

वत्तऽणुवत्तपवत्तो, बहुसो अणुवत्तिओ महजणेणं ।
एसो उ जीयकप्पो, पंचमओ होइ ववहारो ॥ ६६१ ॥

यो व्यवहारो वृत्तः-एकवारं प्रवृत्तः, अनुवृत्तो-भूयो भूयः प्रवृत्तो, वारद्वयं प्रवृत्त इति भावः । तथा बहुशोऽनेकवारं प्रवृत्तः महाजनेन चानुवर्तितः, एष पञ्चमको जीतकल्पो व्यवहारो भवति ।

वृत्तादिपदानां व्याख्यानमाह—

वत्तो नामं एकसि, अणुवत्तो जो पुणो बितियवारं ।
तइयं वार पवत्तो, परिग्गहीतो महजणेणं ॥ ६६२ ॥

(एकसि) एकमेकवारं यः प्रवृत्तः स वृत्तो नाम, यः पुनर्द्वितीयवारं, प्रवृत्तः सोऽनुवृत्तः , तृतीयवारं वृत्तः प्रवृत्तोऽनुवृत्तः प्रवृत्तोऽनुवर्तितः स परिगृहीतो महाजनेन ।

अत्र परस्य प्रश्नमाह—

चोदेती वोच्छिन्ने, सिद्धपहे तइयम्मि पुरिसजुगे ।
वोच्छिन्ने तिविहे सं-जमम्मि जीएण ववहारो ॥६६३॥

परश्चोदयति-किं तृतीये पुरुषयुगे जम्बूस्वामिनाम्नि सिद्धिपथे व्यवच्छिन्ने च त्रिविधे संयमे परिहारविशुद्धिप्रभृतिके जीतेन व्यवहारः ।

अत्र केचिदुत्तरमाहुः—

संघयणं संठाणं, च पढमगं जो य पुव्वउवओगो ।
ववहारचउक्कं पि य, चोद्दसपुव्वम्मि वोच्छिन्नं ॥६६४॥

प्रथमसंहननम्-वज्रर्षभनाराचं,प्रथमसंस्थानम्-समचतुरस्रं यश्चान्तर्मुहूर्तेन चतुर्दशानामपि पूर्वाणामुपयोगोऽनुप्रेक्षणं यच्चादिमम् आगमश्रुताज्ञाधारणालक्षणं व्यवहारे चतुष्कमेतत्सर्वं चतुर्दशपूर्विणि-चतुर्दशपूर्वधरे व्यवच्छिन्नम् ।

एतन्निराकुर्वन् भाष्यकृदाह—

आहाऽऽयरियो एवं, ववहारचउक्कं जे उ वोच्छिन्नं ।
चउदसपुव्वधरम्मि, घोसंती तेसिमणुघाया ॥ ६६५ ॥

एवं परेणोत्तरे कृते आचार्य आह-ये एवं-प्रागुक्तप्रकारेण व्यवहारचतुष्कं चतुर्दशपूर्वधरे व्यवच्छिन्नं घोषयन्ति, तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरुका मिथ्यावादित्वात् ।

मिथ्यावादित्वमेव प्रचिकटयिषुरिदमाह—

जे भावा जहि यं पुण, चोद्दसपुव्वम्मि जंबुनामे य ।
वोच्छिन्ना ते इणमो,सुणसु समासेण सीसंतो ॥ ६६६ ॥

ये भावा यस्मिन् चतुर्दशपूर्विणि ये जम्बूनाम्नि व्यवच्छिन्नास्तान् समासेन शिष्यमाणान् इमान् शृणुत ।

तानेवाह—

मणपरमोहिपुलाए, आहारगखवगउवसमे कप्पे ।
संजमतियकेवलिसि-ज्झणा य जंबुम्मि वोच्छिन्ना ।६६७।

मनःपर्यायज्ञानिनः—परमावधयः पुलाको—लब्धिपुलाकः आहारकशरीरलब्धिमान् क्षपकः—क्षपकश्रेणिरुपशमे-उपशमश्रेणिः कल्पो—जिनकल्पः संयमत्रिकं शुद्धपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपरायययथाख्यातलक्षणं केवलिनः सिद्धिगमनमेते भावा जम्बूस्वामिनि व्यवच्छिन्नाः, इह ' केवलि ' ग्रहणेन ' सिज्झणा' ग्रहणेन वा गते यत् उभयोपादानं ततः यः केवली स नियमात् सिध्यति, यश्च सिध्यति स नियमात्केवली सञ्जात व्याख्यापनार्थम् ।

संघयणं संठाणं, च पढमगं जो य पुव्व उवओगो ।
एते तिन्नि वि अत्था,चोद्दसपुव्विम्मि वोच्छिन्ना।६६८।

प्रथमं संहननं, प्रथमं संस्थानं, यश्चान्तर्मौहूर्त्तिकः समस्तपूर्वविषय उपयोगः, एते त्रयोऽप्यर्था न जम्बूस्वामिनि तृतीये पूर्वयुगे व्यवच्छिन्नाः, किं तु-चतुर्दशपूर्विणि भद्रबाहौ । व्यवहारचतुष्कं पुनः पश्चादप्यनुवृत्तम् ।

यत आह—

केवलमणपज्जवना-णिणो य तत्तो य ओहिनाणजिणा ।
चोद्दस दस नवपुव्वी, आगमववहारिणो धीरा ।६६९।
सुत्तेण ववहरंते, कप्पव्ववहारधारिणो धीरा ।
अत्थधर ववहरंते, आणाए धारणे य पथा ॥६७० ॥
ववहारचउक्कस्स, चोद्दसपुव्विम्मि छेदो जं भणियं ।
तं ते मिच्छा जम्हा, सुत्तं अत्थो य धरए उ ॥ ६७१ ॥

केवलिनो मनःपर्यायज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्चतुर्दशपूर्विणो दशपूर्विणः नवपूर्विणश्च, एते षट् धीरा आगमव्यवहारिणः । ये पुनः कल्पव्यवहारधारिणो धीरास्ते सूत्रेण-कल्पव्यवहारगतेन व्यवहरन्ति । ये पुनः छेदश्रुतस्यार्थधरास्ते अनया धारणया च व्यवहरन्ति, छेदश्रुतस्य च सूत्रमर्थश्चाद्यापि धरन्ता विद्यन्ते दशपूर्वधराः । अपि च-आगमव्यवहारिणस्ततो व्यवहारचतुष्कस्य चतुर्दशपूर्विणि व्यवच्छेद इति यद् भणितं तत् मिथ्या ।

अन्यच्च—

तित्थुग्गाली एत्थं, वत्तव्वा होइ आणुपुव्वीए ।
जे जस्स आगमस्स, वुच्छेदो जहि विणिद्दिट्ठो ॥६७२॥

तेषां मिथ्यावादित्वप्रकटनायाह-यो यस्यां यस्यागमस्य वा यत्र व्यवच्छेदो विनिर्दिष्टः सा तीर्थोद्गालिरत्रानुपूर्व्या-क्रमेण वक्तव्या,येन विशेषतस्तेषां प्रत्यय उपजायेत । व्य० १० उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(को जीतव्यवहारं प्रयुञ्जीत इति 'जीयववहार' शब्दे-चतुर्थभागे १५१४ पृष्ठे उक्तम्।)

निगमनम्—

एवं जहोवदिट्ठ-स्स धीरविओ देसिओ पसत्थस्स।
नीसंदो ववहार-स्स को इ कहिओ समासेणं ॥६६०॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण पञ्चविधस्य धीरैः तीर्थकरगणधरैर्यथाक्रमतः सूत्रतश्च देशितो विद्वः—चतुर्दशपूर्वधरास्तैः प्रशस्तः—प्रशंसितस्तस्य निष्पन्दः कोऽपि कथितः समासेन विस्तरेणाऽभिधातुमशक्यत्वात्।

तथा चाह—

को वित्थरेण वुत्तू-ण समत्तो णिरवसेसिए एत्थ।
ववहारे जस्स मुहे, हवेज्ज जीहामयसहस्सं॥ ६६१॥
किं पुण गुणोवएसो, ववहारस्स उ विओ पसत्थस्स।
एसो भे परिकहिओ, दुवालसंगस्स णवणीयं॥६६२॥

यस्य मुखे जिह्वाशतसहस्रं जिह्वालक्षं भवेत्, सोऽपि को नाम व्यवहारे-व्यवहारसूत्रस्य निरवशेषितान् गुणान् वक्तुं समर्थो नैव कश्चित्, किंत्वेष व्यवहारस्य-व्यवहारसूत्रस्य किञ्चित् प्रशस्तस्य-चतुर्दशपूर्वधरभद्रबाहुस्वामिना दत्तस्य गुणोपदेशो-गुणोत्पादननिमित्तमुपदेशो, (भे) भवतां कथितः। किं विशिष्ट इत्याह-दशाङ्गस्य नवनीतमिव सारमित्यर्थः। व्य० १० उ०।

सङ्घव्यवहारो यथाऽऽचार्येण कर्तव्यस्तदाह—

किह पुण कज्जमकज्जं, करेज्ज आहारमादिसंगहितो।
जह कम्मि वि नगरम्मि, उप्पणं संघकज्जं तु ३०३॥

कथं पुनराहारादिसंगृहीतः सन् कार्यमुपलक्षणमेतत् अकार्यमपि करोति। अत्र सूरिर्निदर्शनमाह-यथा—कस्मिंश्चिन्नगरे किमपि सङ्घकार्यमुत्पन्नं सचित्तादिनिमित्तं वास्तव्यसङ्घस्य व्यवहारो जात इत्यर्थः। स च वास्तव्यसंङ्घेन छेत्तुं न शक्यते।

बहुसुयपरिवारो य, आगतो तत्थ कोइ आयरितो।
तेहिं य नागरगेहिं, सो उ नियुत्तो उ ववहारे॥३०४॥

अन्यदा कोऽप्याचार्यो बहुश्रुतो बहुपरिवारस्तत्र नगरे समागतः, स च तैर्नागरकैः-नगरवास्तव्येन सङ्घेनेत्यर्थः। नियुक्तो व्यवहारे बहुश्रुतस्त्वम्, अत एव व्यवहारं छिन्धि।

नायेण छिन्ने ववहारे, कुलगणसंघेण कीरइ पमाणं।
तो सेविउं पवत्ता, आहारादीहि कज्जी य॥ ३०५॥

एवमुक्ते तेन न्यायेन श्रुतोपदेशेन व्यवहारश्छिन्नः। ततः कुलगणसंघेन स प्रमाणं क्रियते। एष बहुश्रुतो न चश्रुतोत्तीर्णं किमपि वदति, तस्माद्यदेष भाषते तत्प्रमाणमिति, एवं च प्रमाणीकृते तस्मिन् श्रावकसिद्धपुत्रादयः कार्यिकादयस्तत्कार्यार्थिनः सन्तस्तमाहारादिभिः सेवितुं प्रवृत्ताः स च तान्याहारादीनि दीयमानानि गृह्णाति।

तो छिंदिउं पउत्तो, निस्साए तत्थ सो उ ववहारं।
पच्चत्थीहिं नायं, जह छिंदइ एस निस्साए॥ ३०६॥

ततः आहारादिग्रहणानन्तरं स तत्र नगरे व्यवहारं निश्रया-पक्षपातेन छेत्तुं प्रवृत्तः, ततो ये आहारादिकं न दत्तवन्तस्ते तस्य प्रत्यर्थिनस्तैः प्रत्यर्थिभिर्ज्ञातम्, यथा एष व्यवहारं निश्रया छिनत्ति।

को णु हु हवेज्ज अन्नो, जो नाएणं नएज्ज ववहारं।
अह अन्नय समवाओ, घुट्ठो आयो य तत्थ विऊ॥३०७॥

ततस्ते प्रत्यर्थिनश्चिन्तयन्ति। को 'नु' 'हु' निश्चितं भवेदन्यो गीतार्थो यो न्यायेन व्यवहारं नयेत्। अथान्यदा सचित्तादिव्यवहारच्छेदनार्थं संघसमवायो घुष्टो-घोषितः, संघसमवायघोषणां श्रुत्वा तथा संघसमवायविदः विद्वान् सूत्रार्थतदुभयकुशलोऽन्यः प्राघूर्णकः कोऽपि समागतः।

(६)इह समवायघोषणामाकर्ण्य धूलीधूसरैरपि वादे अवश्यमागन्तव्यमन्यथा प्रायश्चित्तमित्येतदधुना प्रतिपादयति—

घुट्ठम्मि संघकज्जे, धूलीजंघो वि जो न एज्जाहि।
कुलगणसँघसमवाए, लग्गति गुरुगे चउम्मासे॥३०८॥
जं काहिंति अकज्जं, तं पावइ बले अगच्छंतो।
अच्छाइ ताव तो हा-ण मादि जं कुज्ज तं पावे॥३०९॥

घुष्ट—घोषिते संघकार्ये-संघसमवाये धूलीजङ्घोऽपि आस्तामन्य इत्यपिशब्दार्थः। धूलया धूसरे जङ्घे यस्य स धूलीजङ्घः, शाकपार्थिवादिदर्शनान्मध्यमपदलोपी समासः। सङ्घसमवायघोषणामाकर्ण्य प्राघूर्णकेनापि पादलग्नायामपि धूलावप्रमत्ततया त्वरितमवश्यमागन्तव्यमिति ज्ञापनार्थम्। धूलीजङ्घोऽपीत्युपादाने सति बले यो न आगच्छेत्, कुलसमवाये गणसमवाये सङ्घसमवाये वा गुरुकं चतुर्मासे लगति; तस्य गुरुकाश्चत्वारो मासाः प्रायश्चित्तमिति भावः। न केवलमेतत्, किं त्वदन्यदपि। तथा चाह—' जं काहि ' इत्यादि, सति बले आगच्छन् व्यवहारोच्छेदाकार्यकरणतो वान्यैरन्यथा छिन्ने व्यवहारे यत् अकार्यं ते व्यवहारार्थिनः करिष्यन्ति तत्प्राप्नोति, तन्निमित्तमपि प्रायश्चित्तं तस्यापद्यते इत्यर्थः। अन्यदपि चापमानवशतो यद्वधावनादि कुर्यात्तदपि प्राप्नोति।

तम्हा उ संघसद्दे, घुट्ठे गंतव्व धूलिजंघेणं।
धूलीजंघनिमित्तं, ववहारो उट्ठितो सम्मं॥ ३१०॥

यत एवमनागमने दोषास्तस्मात्सङ्घशब्दे घुष्टे-घोषिते धूलीजङ्घेनाप्यवश्यं सति बले गन्तव्यम्। यतः कदाचित् धूलीजङ्घनिमित्तं व्यवहारः सम्यगुत्थितो भवेत्, यथा-प्राघूर्णको गीतार्थो धूलीजङ्घः समागतः सन् यद् भणिष्यति तत्प्रमाणमिति।

तेण य सुयं जहेसो, तेल्लघयादीहिँ संगहीतो उ।
कज्जाइं नेति तहिं, माई पावोवजीवी उ॥३११॥

तेन च धूलीजङ्घेनाऽऽगच्छतैव कस्यापि पार्श्वे श्रुतम्, यथैष-वास्तव्यो व्यवहारच्छेत्ता तैलघृतादिभिः संगृहीतः सन् मायी अभीक्ष्णं मायाप्रतिसेवी पापोपजीवी कोऽण्टलाद्युपजीवी वितथमुत्सूत्रं कार्याणि नयति।

सो आगतो उ संतो, वितहं दट्ठूण तत्थ ववहारं।
समएण निवारेई, कीस इमं कीरइ अकज्जं॥ ३१२॥

एवं श्रुत्वा समागतः सन् तूष्णीकस्तावदास्ते यावत्तेन निर्दिश्यमानं व्यवहारं पश्यति, तं च तथाभूतं वितथं व्यवहारं दृष्ट्वा समयेन-सिद्धान्तेन निवारयति, यदकस्मादिदमकार्यं क्रियते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न केवलमेवं निवारयति , किंत्वेतदपि वक्ति—

निद्धमहुरं निवायं , विणीयमविजाणएसु जंपंतो ।
सचित्तखेत्तमीसे, अत्थधर निहोडणा विहिणा॥३१३॥

सचित्तनिमित्तव्यवहारे ' खेत्त ' त्ति क्षेत्रनिमित्ते व्यवहारे ये दुर्व्यवहारिणस्तेषां प्रतिदिवसनिमित्तम् ' अविजाणएसु ' त्ति येऽपि च साधवो न जानन्ति , यथा-घृतादनुवृत्ता वितथमेते व्यवहरन्ति, तेष्वपि विजानत्सु विज्ञाननिमित्तमेवं जल्पति-अहो स्निग्धो व्यवहारः । किमुक्तं भवति-तैलघृतादिसंगृहीता एवमेते अन्यथा व्यवहरन्तीति । अथ गुडशर्करादिभिर्गृहीता वितथव्यवहारिणः, ततो—जल्पति—अहो मधुरो व्यवहारः । यदि पुनरुपाश्रयो निर्वातो लब्धः, शीतप्रावरणानि वेति वितथं व्यवहरन्ति , तत आह-निर्वातो व्यवहारः । अथ कृतिकर्म्मविनयादिभिः संगृहीतास्ततो ब्रूते—अहो विनीतो व्यवहारः । एवं स्निग्धमधुरनिवातविनीतव्यवहारं जल्पन् सोऽर्थधरस्तेषां दुर्व्यवहारिणां विधिना सूत्रोपदेशेन निहोडणां—निवारणं करोति ।

एयं चेव य सुत्तं, उच्चारेउं दिसं अवहरंति ।
अप्पावराह आउ—ट्ट दाण इयरे उ जा जीयं ॥ ३१४ ॥

एवं निहोडणं कृत्वा एतदेवाधिकृतं सूत्रं—सप्तसूत्रात्मकमुच्चार्य दिशमाचार्यत्वादिकमपहरन्ति–उद्दालयन्ति । अथ सोऽल्पापराधः प्रत्यावृत्तश्च तदा ' दाण ' त्ति तस्य दिक् पुनर्दीयते ' इयरे उ ' इति सप्तमी षष्ठ्यर्थे , इतरस्य त्वनावृत्तस्य आवृत्तस्य वा बहुदोषस्य यावज्जीवमाचार्यत्वादिकं न दीयते ।

एवं ताव बहूसुं , मज्झत्थेसुं तु सो उ ववहरति ।
अह होज्ज बली इयरे, ठावेइ उ तत्थिमं वयणं । ३१५॥

एवमनन्तरोदितेन प्रकारेण तावद्बहुषु मध्यस्थेषु सत्सु सोऽर्थधरो व्यवहरति । अथ भवेयुरितरे दुर्व्यवहारिणो बहुत्वेन बलीयांसः , ततस्तत्रान्यथा व्यवहारच्छेदे क्रियमाणे इदं वक्ष्यमाणं ब्रूते ।

तदेवाह—

रागेण व दोसेण व, पक्खग्गहणेण एक्कमेक्कस्स ।
कज्जम्मि कीरमाणे, किं अच्छति संघमज्झत्थो ॥३१६॥

रागेण वा एकस्य पक्षस्य ग्रहणेन द्वेषेण वा-एकस्य पक्षस्याग्रहणेन, द्वेषेण वा कार्ये क्रियमाणे वितथे व्यवहारे छिद्यमाने किं संघो मध्यस्थस्तिष्ठति ।

रागेण व दोसेण व, पक्खग्गहणेण एक्कमेक्कस्स ।
कज्जम्मि कीरमाणे, अम्हो विभणाउ ता किंचि ॥३१७॥

रागेण वा एकस्य पक्षस्य ग्रहणेन द्वेषेण वा पक्षाऽग्रहणेन कार्ये क्रियमाणे ततस्तस्मात् किंचिदन्योऽपि भणतु ।

बलवंतेसेवं वा, भणाति अम्हो वि लभति को एत्थ ।
वत्तुं जुत्तमजुत्तं, उयाहु न वि लब्भतेऽम्हस्स ॥३१८॥

बलवत्सु दुर्व्यवहारिष्वेवं वक्ष्यमाणरीत्या भणति,तामेवाह—अत्र-अस्मिन् संघसमवाये युक्तमयुक्तं वा वक्तुमन्योऽपि कश्चित् लभते उताहो अन्यस्य वक्तुं न लभ्यते,अन्यो न लभते इत्यर्थः।

जति बेंति लब्भते तु, बूहि तुमं जं तु जाणसी जुत्तं ।
तो अणुमाणेऊणं, बेंति तहिं नायतो सो उ ॥ ३१९ ॥

यदि ब्रुवते लभते अन्योऽपि नावक्तुमतः त्वमपि यज्जानासि वक्तुं तत् ब्रूहि । ततः एवमुक्ते तां पर्षदमनुमान्य सम्यक् क्षमयित्वा तत्र न्यायतः स ब्रूते ।

कथमनुमापयतीत्यनुमानप्रकारमाह—

संघो महाणुभावो, अहं तु वेदेसिओ इहं भयवं ।
संघसमितिं न जाणे, तो मे सव्वं खमावेमि ॥३२०॥

संघो महानुभावः-अचिन्त्यशक्तिरस्येति महानुभावः । अहं च वैदेशिको-विदेशवर्ती, इह-अस्मिन् स्थाने ' संघसमितिं ' भागवती सङ्घमर्यादां न जाने, ततो युक्तमयुक्तं वा वक्तुं सर्वं ' भे ' भवतः क्षमयामि ।

यतः—

देसे देसे ठवणा, अण्णो अण्णत्थ होइ समितीणं ।
गीयत्थेहोइण्णा, अदेसिओ तं न जाणामि ॥ ३२१ ॥

समितीनां-संघमर्यादानां स्थापना गीतार्थैराचीर्णा, अत्र जगति देशे अन्या भवति । ततोऽहमदेशिक इह तां—संघमर्यादां-स्थापनां न जानामि, ततः क्षमयत ।

श्रुतोपदेशेनाहमपि किंचिद्वच्मि—

अणुमाणेउं संघं, परिसग्गहणं करेइ तो पच्छा ।
किह पुण गेण्हइ परिसं, इमेणुवाएण सो कुसलो॥३२२॥

एवं सङ्घमनुमान्य सम्यक् क्षमयित्वा ततः पश्चात्पर्षद्ग्रहणं करोति । शिष्यः प्राह—कथं पुनः पर्षदं गृह्णाति । सूरिराह-कुशलो-दक्षोऽनेनोपायेन गृह्णाति समीचीनामसमीचीनां वा जानाति ।

तमेवोपायमाह—

परिसा ववहारीया, मज्झत्था राग-दोस-नीहूया ।
जइ होंति दो वि पक्खा, ववहरिउं तो सुहं होइ॥३२३॥

पर्षन्नाम व्यवहारार्थौ द्वावपि पक्षौ तौ ब्रूते, यदि द्वावपि पक्षौ मध्यस्थौ भवतः, मध्यस्थता-रागद्वेषाऽकरणतो भवति तत आह—निभृतौ-निर्व्यापारौ रागद्वेषौ ययोस्तौ रागद्वेषनिभृतौ, क्रान्तस्य पाक्षिकः परनिपातः सुखादिदर्शनात् । ततः सुखं व्यवहर्तुं व्यवहरणं भवति ।

एवं पर्षद्ग्रहणं कृत्वा ये दुर्व्यवहारिणस्तान्निक्षिपन्निदमाह—

ओसन्नचरणकरणे, सच्चव्ववहारयादुसद्दहिया ।
चरणकरणं जहंतो, सच्चव्ववहारयं जहइ ॥ ३२४ ॥

अवसन्ने शिथिलतां गते चरणकरणे व्रतश्रमणधर्मादिपिण्डविशोधिसमित्यादिरूपे यस्य सोऽवसन्नचरणकरणः तस्मिन्सत्यव्यवहारता यथावस्थितव्यवहारकारिता दुःश्रद्धेया यतश्चरणकरणं जहत्-त्यजन् सत्यव्यवहारतामपि जहाति ।

जइ याऽणेणं चत्तं, अप्पणतो नाणदंसणचरित्तं ।
ताहे तस्स परेसुं, अणुकंपा नऽत्थि जीवेसुं ॥ ३२५ ॥

यदाऽनेनात्मनः संबन्धि ज्ञानदर्शनचारित्रं त्यक्तम् , तदा तस्य परेषु जीवेष्वनुकम्पा नास्ति, यस्य ह्यात्मनो दुर्गतौ प्रपततो नानुकम्पा तस्य कथं परेष्वनुकम्पा भवेदिति भावः ।

भवसयसहस्सलद्धं, जिणवयणं भावतो जहंतस्स ।
जस्स न जायं दुक्खं, न तस्स दुक्खं परे दुहिते ॥३२६॥

यस्य भवशतसहस्रैः कथमपि लब्धं जिनवचनं भावतः परमार्थतो जहतः-त्यजतो दुःखं न जातम् , न तस्य परे दुः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खिते दुःखम्। यस्य ह्यात्मन्यपि दुःखिते न पीडा, तस्य परे दुःखिते कथं स्यादिति भावः।

आयारे वट्टंतो, आयारपरूवणो असंकीओ।
आयारपरिब्भट्ठो, सुद्धचरणदेसणे भइतो ॥ ३२७ ॥

आचारे वर्त्तमानः खल्वाचारप्ररूपणा अशङ्कचोऽ—शङ्कनीयो भवति। यः पुनराचारपरिभ्रष्टः स शुद्धचरणदेशने-यथावस्थितचरणप्ररूपणासु भक्तो—विकल्पितः, शुद्धचरणप्ररूपणां करोति वा न वेत्यर्थः। एवं दुर्व्यवहारिणामासंपे कृते ते ब्रूयुर्वयमप्रमाणीकृता युष्माभिः।

ततः स गीतार्थः प्राह—

तित्थयरे भगवंते, जगजीवबियाणए तिलोयगुरू।
जो ण करेइ पमाणं, न सो पमाणं सुयहराणं ॥३२८॥

तीर्थकरान् भगवतो जगज्जीवविज्ञायकान्सर्वज्ञानित्यर्थः, त्रिलोकगुरून् यो न करोति प्रमाणं न स प्रमाणं श्रुतधराणाम्।

तित्थयरे भगवन्ते, जगजीवबियाणए तिलोयगुरू।
जो उ करेइ पमाणं,सो उ पमाणं सुयहराणं ॥ ३२६ ॥

तीर्थकरान् भगवतो जगज्जीवविज्ञायकान् त्रिलोकगुरून्सर्वज्ञानित्यर्थः, यस्तु करोति प्रमाणं स प्रमाणं श्रुतधराणाम्। एवं धूलीजङ्घेन दुर्व्यवहारिषूपालब्धेषु ते ब्रूयुः, एवं संघमप्रमाणीकुरुथ यूयमिति।

ततः प्राह—

संघो गुणसंघातो, संघायविमोयगो य कम्माणं।
रागद्दोसविमुक्को, होइ समो सव्वजीवाणं ॥ ३३० ॥

संघो नाम—गुणानां मूलगुणानामुत्तरगुणानां च संघातः-संघातात्मकः, गुणसंघातात्मकत्वादेव च कर्म्मणां-ज्ञानाऽऽवरणीयादीनां संघाताद्विमोचयति प्राणिन इति संघातविमोचकः। रागद्वेषविमुक्तः-आहारादिकं ददत्सु रागाऽकारी, तद्विपरीतेषु द्वेषाकारीत्यर्थः। अत एव भवति समः सर्वजीवानाम्, स इत्थंभूतो नाप्रमाणीकर्तुं शक्यते श्रुतोपदेशेन व्यवहरणात्।

किं चान्यत्—

परिणामियबुद्धीए, उववेतो होइ समणसंघो उ।
कज्जे निच्छियकारी, सुपरिच्छियकारगो संघो ॥ ३३१॥

पारिणामिकी चासौ बुद्धिश्च पारिणामिकबुद्धिस्तया उपेतो-युक्तो भवति श्रमणसंघः। तथा कार्ये दुर्गेऽपि समापतिते यत् श्रुतोपदेशबलेन सम्यग्निश्चितं तत्करणशीलः कार्ये निश्चितकारी, तथा सुष्ठु देशकालपुरुषौचित्येन श्रुतबलेन च सुपरीक्षितं तस्य कारकः संघो, न यथाकथंचनकारी।

किह सुपरिच्छियकारी,एक्कसि दो तिण्णि वावि पेसविए।
न वि उक्खियए सहसा,को जाणइ नागतो केणं॥३३२॥

कथं—केन प्रकारेण सुपरीक्षितकारी। उच्यते—इहार्थिना संघप्रधानस्य समीपे संघसमवायो निमन्त्रितस्तेन चाज्ञप्तः संघमेलापककारी, संघस्त्वया मेलनीयः। तत्र च प्रत्यर्थी कुतश्चित्कारणान्नागच्छति। ततो मानुषः प्रेषणीयः, संघस्त्वां शब्दयति। स नागतस्ततो द्वितीयमपि वारं मानुषं प्रेषयति। तथापि नागच्छति, तत्रापरिणामका ब्रुवते-उद्घाट्यतामेषः। गीतार्थास्त्वाहुः-पुनः प्रेष्यतां गीतार्थं मानुष्यम्, केन कारणेन नागच्छति। किं परिभवेन, उत भयेन। तत्र यदि भयेन नाऽऽगच्छति ततो वक्तव्यम्-मा भैषीस्त्वम्, परित्राणकारी खलु भगवान् श्रमणसंघ इति। अथ परिभवेन तत उद्घाट्यते। एवं सुपरीक्षितकारी। तथा चाह-एवं द्वौ त्रीन् वारान् मानुषे प्रेषितेऽपि-तमनागच्छन्तं सहसा संघो न क्षिपति-न संघबाह्यं करोति। येन एवं पर्यालोचयति। को जानाति न ज्ञायते इत्यर्थः। केन कारणेन नागत इति।

नाऊण परिभवेणं, नागच्छन्ते ततो य निज्जुहणा।
आउट्टे ववहारो, एवं सुविनिच्छकारी अ ॥३३३॥

परिभवेण नागच्छतीति ज्ञात्वा तस्मिन्ननागच्छति ततः संघान्निर्यूहणा-निष्कासनं कर्त्तव्यम्। अथ शठतामपि कृत्वा स प्रत्यावर्तते। प्रत्यावृत्तश्च संघं प्रसादयति। ततस्तस्मिन्नावृत्ते व्यवहारो दातव्यः। एवं सुविनिश्चितकारी संघः।

यस्तु भीतो नागच्छति तं प्रति इदं वक्तव्यम्—

आसासो विस्सासो, सीयघरसमो य होइ मा भाहि।
अम्मापित्तिसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं ॥३३४॥

आश्वासयतीति आश्वासो भीतानामाश्वासनकारी-भगवान् श्रमणसंघः। विश्वासयतीति विश्वासो व्यवहारे वञ्चनायाः अकर्ता, सर्वत्र समतया शीतगृहेण समः शीतगृहसमः। तथा मातापितृभ्यां समानो मातापितृसमानः-पुत्रेषु मातापितराविव व्यवहारादिष्वविषमदर्शी, तथा सर्वेषां प्राणिनां शरणं भगवान्संघः, तस्मात् मा भैषीस्त्वमिति। इदं च परिभावयन् संघो व्यवहारं न करोति।

सीसो पडिच्छतो वा, आयरितो वा न सुग्गइं नेई।
जे सच्चकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति ॥ ३३५ ॥

शिष्यः-स्वदीक्षितः प्रतीच्छकः—परगणवर्ती सूत्रार्थतदुभयग्राहकः, आचार्यो वाचनाचार्यादिको न सुगतिं नयति-किंतु ये सत्यकरणयोगाः—संयमानुगतमनोवाक्कायव्यापारास्ते संसाराद्विमोचयन्ति।

सीसो पडिच्छओ वा, आयरिओ वा वि एँते इह लोए।
जे सचकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति ॥ ३३६ ॥

शिष्यः प्रतीच्छको वा आचार्यो वा एते सर्वेऽपि इह लोके परलोके पुनः ये सत्यकरणयोगास्ते संसाराद्विमोचयन्ति।

सीसो पडिच्छओ वा, कुलगणसंघो न सुग्गतिं नेति।
जे सचकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति ॥ ३३७ ॥

शिष्यः प्रतीच्छको वा कुलं वा गणो वा संघो वा न सुगतिं नयति, किं तु-ये सत्यकरणयोगास्ते संसाराद्विमोचयन्ति।

सीसो पडिच्छओ वा, कुलगणसंघो व एँत इह लोए।
जे सचकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति ॥ ३३८ ॥

सुगमा।

शीतगृहसमः संघ इत्युक्तम्, तत्र शीतगृहसमतां व्याख्यानयति—

सीसे कुलव्वए वा, गणव्वएँ संघवए य समदरिसी।
ववहारसंथवेसु य, सो सीयघरोवमो संघो ॥ ३३६ ॥

शिष्ये-स्वदीक्षिते 'कुलव्वए' त्ति स्वकुलसम्बन्धिनि गणसंबन्धिनि संघसंबन्धिनि च जाते व्यवहारे समदर्शी। किमुक्तं भवति शिष्याणां कुलगणसंघसंबन्धिनां च परस्परं व्यवहारे जाते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समदर्शी। तथा संस्तवेषु पूर्वसंस्तुतेषु—पश्चात्संस्तुतेषु चान्यैः समं व्यवहारे जात समदर्शी, अतः स संघः शीतगृहोपमः, यथा शीतगृहमाश्रितानां स्वपरविशेषाकरणतः परितापहारी, तथा व्यवहारार्थमागतानां संघोऽपि स्वपरविशेषाकरणतः परितापहारीति भावः।

(१०) संप्रति संघशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह—

गिहिसंघायं जहिउं, संयमसंघाययं उवगएणं।
णाणचरणसंघायं, संघायंते हवइ संघो ॥ ३४० ॥

गृहिणां—संसारिणां मातापित्रादीनां संघातं हित्वा—परित्यज्य संयमसंघातमुपगतः सन्, णमिति वाक्यालङ्कारे यो ज्ञानचरणसंघातं संघातयति—आत्मनि स्थितं करोति, स ज्ञानचरणे संघातयन् भवति संघः। संघातयतीति संघ इति व्युत्पत्तेर्विपरीतस्तु संघो न भवति।

नाणचरणसंघायं, रागद्दोसेहिं जो विसंघाए।
अबुहो गिहिसंघायम्मि,अप्पाणं मेलितो न सो संघो।३४१।

यो ज्ञानचरणसंघातं रागद्वेषैरनेकैर्व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनं विसंघातयति, विघटयति सोऽबुधो—मूर्खो गृहिसंघाते आत्मानं संघातयति—मेलयति स परमार्थतो न संघः। ज्ञानचरणसंघातनलक्षणप्रवृत्तिनिमित्ताभावात्।

तस्यापापरूपं फलमाह—

णाणचरणसंघायं, रागद्दोसेहि जो विसंघाए।
सो भमिही संसारे, चउरंगंतं अणवदग्गं ॥ ३४२ ॥

यो ज्ञानचरणसंघातं रागद्वेषैः विसंघातयति-विघटयति चतुर्षु अंगेषु-नारकतिर्यङ्नरामरगतिरूपेष्वन्तः पर्यन्तो यस्य स चतुरङ्गान्तः.तम् 'अणवदग्गं'कालतोऽपरिमाणं भविष्यति तस्य च संसारं परिभ्रमनो वितथव्यवहारकारितयोन्मार्गदेशनया च तीर्थकराऽऽशातनया बोधिरपि भवान्तरे दुर्लभा।

तथा चाह—

दुक्खेण लहइ बोहिं, बुद्धो वि य न लब्भति चरित्तं तु।
उम्मग्गदेसणाए, तित्थकरासायणाए य ॥ ३४३ ॥

वितथं हि व्यवहारं कुर्वता तेनोन्मार्गदेशिना तीर्थकरश्चाशातितः, तत उन्मार्गदेशनया तीर्थकराशाननया च संसारं परिभ्रमन् दुःखेन लभते बोधिम्, बुद्धोऽपि च न लभते चारित्रम्।

कस्मान्न लभते इत्याह—

उम्मग्गदेसणाए, संतस्स य छायणाए मग्गस्स।
बंधति कम्मरयमलं, जरमरणाणंतकं घोरं ॥ ३४४ ॥

उन्मार्गदेशनया सन्तो मार्गस्याच्छादनया-स्थगनेन बध्नाति कर्म्म। किं विशिष्टमित्याह-रज इव रजः संक्रमणोद्वर्त्तनापवर्तनादियोग्यम्, मल इव मलो निधत्तनिकाचितावस्थाम्, तथा जरामरणान्यनन्तानि यस्मात्तत् जरामरणानन्तकम्। प्राकृतत्वाद्विशेषणस्य परानपातो मकारोऽलाक्षणिकः। अत एव घोरं-रौद्रमतो न लभते बोधिम्, नापि चारित्रमिति।

कीदृशेन पुनर्व्यवहारश्छेत्तव्यस्तत आह—

पंचविहं उवसंपय, नाऊणं खेत्तकालपव्वज्जं।
तो संघमज्झगारे, ववहरियव्वं अणिस्साए ॥ ३४५ ॥

यत एवं वितथव्यवहारकरणे दोषास्ततस्तस्मात् पञ्चविधां ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवैयावृत्यभेदतः पञ्चप्रकारामुपसंपदं क्षेत्रं कालं प्रव्रज्यां च ज्ञात्वा संघमध्ये व्यवहर्त्तव्यम्, किमुक्तं भवति-यः पञ्चविधायामुपसंपदि आभवन्तमनाभवन्तं जानाति, यश्च क्षेत्रमक्षेत्रं वा बुध्यते क्षेत्रेऽपि च क्षेत्रिकस्य यदा भवति तज्जानाति तथा क्षेत्र यावन्तं कालमवग्रहोऽनुव्रजति तावन्तं कालमवबुध्यते, तथा प्रव्राजयितुं यो जानाति प्रव्राजितोऽपि केनापि तस्य यत् आभवति यच्च नाभवति तत् जानाति, तेन संघमध्ये अनिश्रया आहारप्रदायिषु स्वकुलसम्बन्ध्यादिषु रागाकरणत इतरेषामद्वेषाकरणतो व्यवहर्त्तव्यम्।

अत्र परस्याशङ्कामाह—

उस्सुत्तं ववहरंतो, उ वारितो नेव होइ ववहारो।
वेति जइ बहुसुएहिं, वुत्तो तत्तो भणइ इणमो ॥३४६॥

उत्सूत्रं—सूत्रोत्तीर्णं व्यवहरतो बहुश्रुतस्य बहुश्रुतैः कृतव्यवहारो नैवान्यैर्वारितस्ततः स प्रमाणमिति यदि ब्रूत, तत इदं भण्यते-द्विविधाः खलु व्यवहारच्छेदकाः। तद्यथा-प्रशंसनीया अप्रशंसनीयाश्च।

तथा चोभयानेव सनिदर्शनमभिधित्सुराह—

तगराए नगरीए, एयायरियस्स पासे निप्फण्णा।
सोलस सीसा तेसिं, सव्ववहारीउ अट्ठ इमे ॥ ३४७ ॥

तगरायां नगर्यामेकस्याचार्यस्य पार्श्वे षोडश शिष्या निष्पन्नास्तेषां च मध्येऽष्टौ व्यवहारिणः, अष्टौ चाव्यवहारिणः। तत्र व्यवहारिणोऽष्टाविमे।

तानेवाह—

मा कित्ते कंकडुयं, कुणिमं पक्कुत्तरं च चव्वायं।
बहिरं च गुंठसमणं, अंबिलसमणं च निद्धम्मं ॥३४८॥

मा कीर्त्तय—प्रशंसय व्यवहारिणम्, कं कमित्याह-कङ्कडुकम् १, कुणपं—कुनपनखम् २, पक्कम् ३, उत्तरम् ४, चार्वाकम् ५, बधिरम् ६, गुण्ठसमानं—लाटमायाविसमानम् ७, अम्लसमानं च निर्द्धर्माणम् ८।

तत्र कङ्कडुकं कुणपं च प्रतिपादयति—

कंकडुओ विव मासो, सिद्धिं न उवेइ जस्स ववहारो।
कुणिमणहो व न सुज्झति,दुच्छेज्जो जस्स ववहारो।३४९।

यस्य व्यवहारः काङ्कडुकः माष इव न सिद्धिमुपयाति, स काङ्कडुकव्यवहारयोगात् काङ्कडुकः। यस्य पुनर्व्यवहारो दुश्छेद्यो न च छिन्नोऽपि सर्वथा निरवशेषः शुद्ध्यति। तथा कुणपे-मांसे सूक्ष्मो नखो-नखावयवः यस्य स कुणपनखावयवतुल्यव्यवहारकरणयोगात् कुणपः। व्य० ३ उ०। (पक्कव्याख्या 'पक्क' शब्दे पञ्चमभागे ६६ पृष्ठे गता।) (उत्तरचार्वाकवधिरव्याख्या 'उत्तर' शब्दे द्वितीयभागे ७५७ पृष्ठे गता।) (गुण्ठसमान-व्याख्या 'गुंठसमाण' शब्दे तृतीयभागे ६०४ पृष्ठे गता।) येषु वचनेषूक्तेषु परस्य शरीरं त्रिडविडायते तानि अम्लानि, अम्लैः पुरुषैश्च वचनैर्व्यवहारं न सिद्धिं नयति। सोऽम्लवचनयोगादम्ल इति।

उपसंहारमाह—

एए अकज्जकारी, तगराए आसितम्मि उ जुगम्मि।
जे.ए कया ववहारा, खोडिज्जंतऽप्परज्जेसुं ॥ ३५५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एते अनन्तरोक्तस्वरूपा अष्टौ कार्यकारिणो दुर्व्यवहारिण-स्तस्मिन् युगे तस्मिन्विवक्षिते काले तगरायामासीरन् यैः कृता व्यवहारा अन्येषु राज्येषु क्षोभ्यन्ते ।

दुर्व्यवहारिणामिह परलोके च फलमाह-

इहलोए य अकित्ती, परलोए दुग्गती धुवा तेसिं ।
अणाणाए जिणिंदाणं, जे ववहारं ववहरंति ॥ ३५६ ॥

ये जिनेन्द्राणामनाज्ञया व्यवहारं व्यवहरन्ति, तेषामिह-लोके अकीर्तिः, परलोके ध्रुवा दुर्गतिः ।

तेण न बहुस्सुतो वी, होइ पमाणं अणायकारी उ ।
नाएण ववहरंतो, होइ पमाणं जहा उ इमे ॥ ३५७ ॥

यत एवं दुर्व्यवहारिण इहलोके अपकीर्तिः परलोके दुर्ग-तिस्तेन-कारणेन बहुश्रुतोऽप्यन्यायकारी न भवति प्रमा-णम् । न्यायेन पुनर्व्यवहरन् भवति प्रमाणम्, यथा-इमे-व-क्ष्यमाणाः तगरायां तस्यैवाऽऽचार्यस्याष्टौ शिष्याः ।

तानेवाह-

कित्तेहि पूसमित्तं, वीरं सिवकोट्ठगं च अंज्जासं ।
अरहन्नग-धम्मत्तग-खंदिल-गोविंद-दत्तं च ॥ ३५८ ॥

कीर्त्तय—प्रशंसय सुव्यवहारकारितया पुष्पमित्रम् १, वी-रम् २, शिवकोष्ठकम् ३, आर्याशम् ४, अर्हन्तकम् ५, धर्मा-न्वगम् ६, स्कन्दिलम् ७, गोपेन्द्रदत्तं च ८ ।

एते उ कज्जकारी, तगराए आसि तम्मि उ जुगम्मि ।
जेहिँ कया ववहारा, अक्खोब्भा अण्णरज्जेसु ॥३५९॥

अनन्तरोदिताः तस्मिन् युगे तस्मिन्काले कार्यकारिणः सु-व्यवहारिणः तगरायामासीरन्, यैः कृता व्यवहारा अक्षो-भ्या वाच्या अन्यराज्येषु ।

(११) सुव्यवहारिणामिह परलोके च फलमाह—

इह लोगम्मि य कित्ती, परलोगे सोगती धुवा तेसिं ।
आणाएँ जिणिंदाणं, जे ववहारं ववहरंति ।३६०।

ये जिनेन्द्राणामाज्ञया व्यवहारं व्यवहरन्ति, तेषामिह लोके कीर्त्तिः परलोके सुगतिः ध्रुवा ।

केरिसगो ववहारी, आयरियस्स य जुगप्पहाणस्स ।
जेण सकासोग्गहियं,परिवाडीहिं तिहिँ असेसं ॥३६१।

कीदृशो ननु व्यवहारी भवति ? एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सूरिराह—येन युगप्रधानस्याचार्यस्य सकाशे-समीपे ति-सृभिः परिपाटीभिरशेषं श्रुतं व्यवहारिकमवगृहीतम्—

ता एव परिपाटीराह—

सुय(ग)परायणं पढमं, बिइयं पडुब्भेदितं ।
तइयं च निरवसेसं, जति सुज्झति गाहगे ॥ ३६२ ॥

प्रथमं सूत्रकपारायणम् । अर्थपरिसमाप्त्या पदच्छेदेन सू-त्रोच्चारणसंहितेति भावार्थः । द्वितीयं-पदोद्भेदकम्—पारा-यणं पदविभागपदार्थमात्रकथनपरम्, विग्रहफला द्वितीया परिपाटीति भावः । तृतीयं पारायणम्-निरवशेषं चालना-प्रत्यवस्थानात्मिका तृतीया परिपाटीत्यर्थः । एवं श्रुते यदि शङ्का भवति तर्हि ग्राहकः—आचार्यः शोधयति परीक्षते इ-त्यर्थः । कथमिति चेदुच्यते-तिसृभिः परिपाटीभिः श्रुतेऽपि व्यवहारादिके ग्रन्थे सूरिणा स विचारणीयः । किं सम्यक् गृहीतं न वा । गृहीतेऽपि पुनः परीक्षणीयः । किं व्यवहारी अव्यवहारी वा । तत्र यदि व्यवहारी तर्हि योग्यः । अथाऽ-व्यवहारी अयोग्यः । अथवा-ग्राहको नाम शिष्यः स यदि ति-सृभिः परिपाटीभिः शुद्ध्यति भावतो निःशेषसूत्रार्थपारगो-भवति, ततः स व्यवहारीक्रियते ।

एतदेव व्याख्यानद्वयं विवरीषुराह—

गाहगो ँ आयरिओ उ, पुच्छइ सो जाणि विसमठाणाणि।
जइ निव्वहती तहियं,तस्स हिययं तु तो सुज्झे ॥३६३॥

ग्राहकः आचार्यः ग्राहयतीति ग्राहक इति व्युत्पत्तेः, स या-नि विषमाणि स्थानानि पृच्छति, तत्र यदि निर्वहति । किमुक्तं भवति—तस्य हृदयं सम्यगभिप्रायं जानाति त-तः शुद्ध्यति व्यवहर्तुं व्यवहारकरणयोग्यः ।

द्वितीयं व्याख्यानमाह—

अहव गाहगो सीसो,तिहिँ परिवाडीहिँ जेण निस्सेसे ।
गहियं गुणियं अवधा-रियं च सो होइ ववहारी ॥३६४॥

अथवा ग्राहको नाम शिष्यः, गृह्णातीति ग्राहकः, इति व्यु-त्पत्तेर्येन तिसृभिः परिपाटीभिर्निर्विशेषं व्यवहारादिकं गृ-हीत प्रथमतः, पश्चाद् गुणितमनेकवारमभ्यस्तीकृतम्, अव-धारितं तात्पर्यग्रहणतो हृदये विश्रामितं स व्यवहारी ।

पारायणे ँ सम्मत्ते, थिरपरिवाडी पुणो उ संविग्गे ।
जो निग्गओ वितिण्णो, गुरूहिँ सो होइ ववहारी ॥३६५॥

पारायणे सूत्रकादिलक्षणे त्रिविधे समाप्तेऽपि पुनयः संवि-ग्ने संविग्नसमीपे स्थिरपरिपाटिरभूद्,यश्च गुरुभिर्वितीर्णोऽनु-ज्ञातः सन् निर्गतो विहारक्रमेण स भवति व्यवहारी न शेषः।

तथा चाह—

पडिणीय-मंदधम्मो, जो निग्गतो ँ अप्पणो सकम्मेहिं ।
न हु सो होइ पमाणं, असमत्तो देसनिग्गमणे ॥३६६॥

आत्मनः परेषां च प्रतिकूलः-प्रत्यनीकः, धर्मे मन्दो मन्द-धर्म्मः, राजदन्तादिदर्शनात् धर्मशब्दस्य परनिपातः, संय-मे शिथिल इत्यर्थः। तथा यः आत्मनः स्वकर्म्मभिः स्वव्यापा-रैर्निर्गतो विहारक्रमेण न तु गुरुभिरनुज्ञातः, स (नहु)नैव भवति प्रमाणमसमाप्तश्च भवति देशनिर्गमनेन देशेषु वि-हारक्रमकरणे ।

आयरियादेसाधा-रिएण अत्थेण गुणियखरिएण ।
सो संघमज्झयारे, ववहरियव्वं अणिस्साणं ॥ ३६७ ॥

यत एव विक्षिप्तदोषास्तस्मात् संघमध्यकारे कारशब्दोऽत्र रूपमात्रे संघमध्ये व्यवहर्तव्यम्,अर्थेन किं विशिष्टेनेत्याह-आचार्यादेशात्-आचार्यकथनादवधारितेन संप्रदायागतत्व-मावेदितम्,तथा-गुणितेन-अनकशः परावर्तितेन अक्षरितेन कस्य लक्षणतः स्थिरतया अवस्थितसारेण । एवंभूतनाप्यर्थे-न व्यवहर्तव्यमनिश्रया रागद्वेषाकरणेन नान्यथा, अर्थस्य तत्त्वतः अक्षरितत्वानुपपत्तेः ।

आयरिय अणाएसो, धारिएँण सच्छंदबुद्धिरइएणं ।
सच्चित्तखेत्तमीसे, जो ववहरते ण सो धम्मो ॥ ३६८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यः सचित्तव्यवहारे क्षेत्रव्यवहारे मिश्रव्यवहारे च प्रागुक्तरूपेऽर्थे न व्यवहरति आचार्यानादेशात् धारितेन आचार्योपदेशमृते धारितेन, कथमित्याह-स्वच्छन्दबुद्धिरचितेन-स्वेच्छया निजबुद्धिकलितेन न स धन्यः-श्रेयानिति।

यतः—

सो अभिमुहेइ लुद्धो, संसारे कडिल्लगम्मि अप्पाणं ।
उम्मग्गदेसणाए, तित्थयराऽऽसायणाए य ॥ ३६९ ॥

स उन्मार्गदेशनया तीर्थकराणामाशातनया चात्मानं संसारगहनेऽभिमुखयति—अभिमुखं करोति, पातयतीत्यर्थः । तस्मान्न स धन्यः ।

अधुना अस्यैव प्रायश्चित्तमाह—

उम्मग्गदेसणाए, संतस्स य छायणाए मग्गस्स ।
ववहरिउमसक्कंते, मासा चत्तारि भारीया ॥ ३७० ॥

उन्मार्गदेशनया-सतो मार्गस्याच्छादनया च व्यवहरन् गीतार्थैः प्रतिषेधितोऽप्रतिषेधितश्च व्यवहरितुमशक्नुवति प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका मासाः ।

गारवरहिएण तहिं, ववहरियव्वं तु संघमज्झम्मि ।
को पुण गारवो इणमो, परिवारादी मुणेयव्वो ॥३७१॥

तत्रापि गौरवरहितेनसंघमध्ये व्यवहर्त्तव्यम् । किं पुनर्गौरवमिति चेत्, सूरिराह-इदं वक्ष्यमाणं परिवारादिकं-परिवारादिविषयं ज्ञातव्यम् । व्य० ३ उ० । (गौरवव्याख्या 'गोरव' शब्दे तृतीयभागे ८७१ पृष्ठे गता ।)

बहुपरिवार-महड्ढि, निक्खंतो वावि धम्मकह-वादी ।
जइ गारवेण जंपि-ज्जइ अगीतो भणइ इणमो ॥३७३॥

बहुपरिवारो १,महर्द्धिको वा निष्क्रान्तो २,धर्मकथावान्३, वादी ४, उपलक्षणमेतत् । क्षपको नैमित्तिको विद्यावान् रात्निको वा यदि गौरवेणागीतार्थः सन् जल्पेत्-यूयमस्मानेव प्रमाणीकुरुतेति, तर्हि स इदं वक्ष्यमाणं भण्यते ।

तदेवाह—

जत्थ उ परिवारेणं,पत्रोयणं तत्थ भणिहह तुज्झे ।
इड्डीमंतेसु तहा, धम्मकहा वायकज्जे वा ॥ ३७४ ॥
पवयणकज्जे खमगो , नेमित्ती चेव विज्जसिद्धे य ।
रायणिए वंदणयं, जहिँ दायव्वं तहिँ भणेज्जा ।३७५।

परिवारगौरववानिदं भण्यते-यत्र संघस्य प्रेषणादिके कार्ये समुत्पन्ने परिवारेण प्रयोजनं भविष्यति, तत्र यूयं भणिष्यथ,तत्र प्रमाणीकरिष्यध्वे यूयम् ,नात्र प्रस्तुते व्यवहार इति भावः । तथा ऋद्धिमत्सु वक्तव्यम् । धर्मकथावान् धर्मकथाप्रयोजने ; वादी वादकार्ये । इयमत्र भावना-ऋद्धिगौरवोपेतो महर्द्धिक एवमुच्यते—यदि लोकेन कृत्यं भविष्यति , तदा त्वां प्रमाणीकृत्य त्वत्पार्श्वात् लोकोऽनुवर्तयिष्यते। धर्मकथावान् भण्यते-यदि राजादीनां धर्म्मः कथयितव्यो भविष्यति, तदा युष्मान्वयमभ्यर्थयिष्यामो यथा-कथय कथानकं संप्रति राजादीनामिति । वादी भण्यते—यदा परवादी कश्चनाप्युत्थास्यति , तदा त्वदभ्यर्थनं करिष्यते । यथा-निगृहीत कथमप्येनं वादिनमिति । तथा क्षपको नैमित्तिको विद्यासिद्धो वा प्रवचनकार्ये उपालम्भनीयः । यथा क्षपकः, यदा संघस्य कृत्ये देवतया प्रयोजनं भविष्यति, तदा त्वया कायोत्सर्गं कारयित्वा सा आकम्पयिष्यते । नैमित्तिको भण्यते-यदि संघस्य निमित्तेन प्रयोजनं भविष्यति, तदा त्वामभ्यर्थयिष्यसे । विद्यासिद्धो भण्यते-यदा संघस्य कार्यं विद्यया साधनीयं भविष्यति, तदा त्वत्पार्श्वात्साधयिष्यते । रात्निको-रत्नाधिकः पुनरेवं भण्यते-यत्र पाक्षिकादिवन्दनकं दातव्यं भविष्यति, तत्र यूयं भणिष्यथ किमिदानीमायासं कुरुथेति ।

एतच्च स तान् प्रति प्राह—

न हु गारवेण सक्का, ववहरिउं संघमज्झयारम्मि ।
नासेइ अगीयत्थो, अप्पाणं चेव कज्जं तु ॥ ३७६ ॥

(न हु) नैव संघमध्ये गौरवेण शक्यं व्यवहर्त्तव्यमन्यैर्जिनाराधकैर्गीतार्थैर्निवारणात् , केवलं सोऽगीतार्थतया दुर्व्यवहारं कुर्वन् आत्मीयमेव कार्यं नाशयति । उत्सूत्रप्ररूपणातोऽबोधिफलनिविडकर्म्मबन्धनात् ।

तथा चाह—

नासेइ अगीयत्थो, चउरंगं सव्वलोयसारंगं ।
नट्ठम्मि उ चउरंगे, न हु सुलभं होइ चउरंगं ॥३७७॥

अगीतार्थो गौरवेण यो व्यवहरन् अबोधिफलकर्म्मबन्धनात्, चतुर्णामङ्गानां समाहारश्चतुरङ्गं मानुषत्वम् ,श्रुतिः श्रद्धा संयमे च वीर्यमित्येवंरूपम् , कथंभूतमित्याह—सर्वस्मिन्नपि लोके सारमङ्गं स्वरूपं यस्य तत्सर्वलोकसाराङ्गं नाशयति । नष्टे च तस्मिन् चतुरङ्गे न हु-नैव भूयो भवति सुलभं चतुरङ्गम् , निबिडकर्मणाऽर्वाक्परं संसारे क्षिप्तत्वात् ।

थिरपरिवाडीएहिं, संविग्गेहिं अणिस्सियकरेहिं ।
कज्जेसु जंपियव्वं, अणुओगियगंधहत्थीहिं ॥ ३७८ ॥

स्थिराः सूत्रार्थपरिपाट्यो येषां ते स्थिरपरिपाटीकास्तैः , संविग्नैः मोक्षाभिलाषिभिः अनिश्रितकरैः-रागद्वेषपरिहारतो यथावस्थितव्यवहारकारिभिरानुयोगिकगन्धहस्तिभिः—अनुयोगधरप्रकाण्डैः कार्येषु जल्पितव्यं न शेषैरिति ।

एतदेव भावयति—

एयगुणसंपउत्तो, ववहरई संघमज्झयारम्मि ।
एयगुणविप्पमुक्के, आसायणा सुमहती होति ॥३७९॥

एतैरन्तरगाथयोक्तैः स्थिरपरिपाटीकत्वादिभिर्गुणैः संप्रयुक्तः एतद्गुणसंप्रयुक्तः संघमध्ये व्यवहरति । एतद्गुणविप्रमुक्तः पुनर्व्यवहरति सुमहती आशातना भवति न केवलमाशातना, व्रतलोपश्च । व्य० ३ उ० । (अत्रावशिष्टम् ' उद्देस ' शब्दे द्वितीयभागे ८११ पृष्ठे गतम् ।) विधिवद् व्यवहरणाद् व्यवहारः । यदि वा-विधिवद्वपनात् हरणाच्च व्यवहारः । यस्य नाऽऽभवति तस्य हापयति, यस्याऽऽभवति तस्मै ददाति । व्यवहाराध्ययनवत्तेति व्यवहार इत्यर्थः । उक्तं च-"अत्थि य पच्चत्थीणं , हाउं एकस्स उवति बीयस्स । एएण उ ववहारो, अहिगारो एत्थ उवहीए" बृ० १ उ० १ प्रक० । एतदर्थप्रतिपादकच्छेदश्रुतविशेषे , आ० चू० ४ अ० । तत्र दशोद्देशकाः—

" प्रणमत नेमिजिनेश्वर-मखिलप्रत्यूहतिमिररविबिम्बम् ।
दर्शनपथमवतीर्णं, शशिवद् दृष्टेः प्रसत्तिकरम् ॥ १ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नत्वा गुरुपदकमलं, व्यवहारमहं विचित्रनिपुणार्थम् ।
विवृणोमि यथाशक्ति, प्रबोधहेतोर्जडमतीनाम् ॥ २ ॥

विषमपदविवरणेन, व्यवहारस्तव्यो व्यधायि साधूनाम् ।
येनायं व्यवहारः, श्रीचूर्णिकृते नमस्तस्मै ॥३॥

भाष्यं क चेदं विषमार्थगर्भ, क चाहमेषोऽल्पमतिप्रकर्षः ।
तथापि सम्यग्गुरुपर्युपास्ति-प्रसादतो जातदृढप्रतिज्ञः ॥४॥"

उक्तं कल्पाध्ययनम्, इदानीं व्यवहाराध्ययनमुच्यते तस्य चायमभिसम्बन्धः—कल्पाध्ययने आभवत्प्रायश्चित्तमुक्तं, न तु दानप्रायश्चित्तम् । दानव्यवहारे तु दानप्रायश्चित्तमालोचनाविधिश्चाभिधास्यते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्यवहाराध्ययनस्य व्याख्या प्रस्तूयते । व्य० १ उ० ।

"देशक इव निर्दिष्टो, विषमस्थानेषु तत्त्वमार्गस्य ।
विदुषामतिप्रशस्यो, जयति श्रीचूर्णिकारोऽसौ ॥ १ ॥

विषमोऽपि व्यवहारो, व्यधायि सुगमो गुरूपदेशेन ।
यदवापि चात्र पुण्यं, तेन जनः स्यात्सुगतिभागी ॥ २ ॥

दुर्बोधातपकल्प—व्यपगमलब्धैकविमलकीर्तिभरः ।
टीकामिमामकार्षीन्-मलयगिरिः पेशलवचोभिः ॥ ३ ॥

व्यवहारस्य भगवतो, यथास्थितार्थप्रदर्शने दक्षम् ।
विवरणमिदं समाप्तं, श्रमणगणानाममृतभूतम् ॥ ४ ॥"

इति श्रीमलयगिरिविरचिता व्यवहारटीका समाप्ता । व्य० १० उ० । आव० । पा० ।

कल्पव्यवहारयोर्भेदमाह-

कप्पम्मि वि पच्छित्तं, ववहारम्मि वि तहेव पच्छित्तं ।
कप्पव्ववहाराणं, को णु विसेसो त्ति चोएइ ॥ १५२ ॥

ननु कल्पेऽपि प्रायश्चित्तमुक्तम्, व्यवहारेऽपि च तदेव प्रायश्चित्तमभिधीयते, ततः कल्पव्यवहारयोः को नु विशेषो; नैव कश्चनापीति भावः । 'नु' शब्दस्याक्षेपद्योतकत्वादिति, चोदयति—प्रश्नयति शिष्यः, अपि वाऽभिधानतोऽपि कल्पव्यवहारयोर्विशेषानुपपत्तिः ।

तथा चाह—

जो अवितहववहारी, सो नियमा वट्टए उ कप्पम्मि ।
इय वि हु नत्थि विसेसो,अज्झयणाणं दुवेण्हं पि ।१५३।

यो नाम साधुरवितथव्यवहारी—अवितथव्यवहारकारी स नियमादवश्यंभावेन वर्त्तते एव तुरेवकारार्थः कल्पे—आचारे, आचारवर्तिन एव यथोक्तावितथव्यवहारकारित्वात् । यश्च वर्तते कल्पे-आचारे स नियमादवितथव्यवहारकारी, अवितथव्यवहारकारिण एवाचारे वृत्तिसंभवात् । इत्थं च परस्परमविनाभावित्वम्, कल्पव्यवहारशब्दयोरेकार्थत्वात् । तथाहि—कल्पो, व्यवहार आचार इत्यनर्थान्तरमिति । 'इय वि हु' इति, इत्यपि—एवमपि अर्थगत्याभिधानाभेदतोऽपि आस्तां प्रागुक्तप्रकारेणाभिधेयाभेद इत्यपिशब्दार्थः । हुः—निश्चितम्, द्वयोरपि कल्पव्यवहारयोरध्ययनयोर्नास्ति विशेषः ।

२३२

एवं परेणाभिधेयाभेदतोऽभिधानाभेदतश्चैक्ये प्रतिपादिते सूरिरभिध्येयभेदं दर्शयन् "कप्पारोवण त्ति" अवयवं व्याख्यानयति—

कप्पम्मि कप्पिया खलु, मूलगुणा चेव उत्तरगुणा य ।
ववहारे ववहरिया,पायच्छित्ताऽऽभवंते य ॥ १५४ ॥

कल्पे—कल्पाध्ययने कल्पितान्येव-प्ररूपितान्येव, खलु-शब्दस्यैवकारार्थत्वात् । ननु दानव्यवहारे प्रवर्तितानि कानीत्याह—" मूलगुणा चेव उत्तरगुणा य " इति विषयेण विषयिणो लक्षणात्, मूलगुणापराधप्रायश्चित्तानि उत्तरगुणापराधप्रायश्चित्तानि व्यवहारे-व्यवहाराध्ययने पुनर्व्यवहृतानि दानव्यवहारविषयीकृतानि । किमुक्तं भवति—कल्पाध्ययने मूलगुणापराधे वा उत्तरगुणापराधे वा आभवन्ति प्रायश्चित्तान्युक्तानि, यस्मिँस्तु व्यवहाराध्ययने तेषामाभवतां प्रायश्चित्तानां दानमुक्तमिति । यानि च कल्पाध्ययने आभवन्ति प्रायश्चित्तानि नोक्तानि तानि व्यवहारेऽभिधीयन्ते तेषां दानं च ।

किंच—

अविसेसियं च कप्पे, इहइं तु विसेसियं इमं चउहा ।
पडिसेवण- संजोयण-आरोवण-कुंचियं चेव ॥ १५५ ॥

चः समुच्चये, अन्यच्चेत्यर्थः, कल्पे-कल्पाध्ययने प्रायश्चित्तमविशेषितं विशेषपरहितमुक्तम् 'इहइं तु' त्ति इः पादपूरणे, सानुस्वारता पूर्ववत् । तुः-पुनरर्थे, इह व्यवहाराध्ययने पुनरिदं प्रायश्चित्तं चतुर्द्धा—चतुर्भिः प्रकारैर्विशेषितम् । तानेव प्रकारानाह—प्रतिसेवनं संयोजनमारोपणं कुञ्चनमिति प्रतिकुञ्चनम् । एतानि अनन्तरमेव सप्रपञ्चं व्याख्यातानीति न भूयो व्याख्यायन्ते । तदेवमभिधेयाभेदतो नास्ति विशेष इति यदुक्तं तदसिद्धमिति प्रतिपादितमभिधेयभेदस्य दर्शितत्वात् ।

यत्पुनरुच्यते-अभिधानाभेदतो नास्ति विशेष इति तदनैकान्तिकमिति दर्शयति-

नाणत्तं दिस्सए अत्थे, अभिन्ने वंजणम्मि वि ।
वंजणस्स य भेदम्मि, कोइ अत्थो न भिज्जए ॥१५६॥

भिद्यते-प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनेन; प्रदीपेनेव घट इवेति व्यञ्जनम्—शब्दस्तस्मिन्, अपिशब्दो भिन्नक्रमः, स चैवं योजनीयोऽभिन्नेऽपि-एकरूपेऽपि अर्थे-अर्थविषये नानात्वं दृश्यते । यथा—सैन्धव इत्युक्ते तत् तत्प्रस्तावादिना अश्वलवणघटाद्यर्थे नानात्वम्, तथा व्यञ्जनस्य शब्दस्य भेदेऽपि च-शब्दोऽपिशब्दार्थो भिन्नक्रमश्चेत्यत्र संबध्यते । कश्चिदर्थो न भिद्यते । यथा खं-व्योम-आकाशमिति । कस्मादेवं शब्दाऽभेदेऽपि अर्थनानात्वमिति-चेत् ? उच्यते-शब्दार्थयोर्भेदाभेदविषये चतुर्भङ्गी कार्या भवति । तथाहि—अर्थस्याप्यभेदः शब्दस्याप्यभेद इति प्रथमो भङ्गः । अर्थस्याभेदः शब्दस्य भेद इति द्वितीयः, अर्थस्य भेदः शब्दस्याभेद इति तृतीयः, अर्थस्य भेदः शब्दस्य भेद इति चतुर्थः ।

एतेष्वेव चतुर्षु भङ्गेषु क्रमेणोदाहरणान्युपदर्शयति—

पढमो इंदो इंदो-त्ति बिइयओ होइ इंदसक्को त्ति ।
तइओ गोपसुरस्सि-णो त्ति चरिमो घडपडो त्ति ।१५७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथमो भङ्गोऽर्थाभेदशब्दाभेद इत्येवंरूपः, यथा-इन्द्र इन्द्र इति । तथा ह्येकेनापि इन्द्र इत्युक्तं द्वितीयेनापि इन्द्र इति । अत्र च द्वयोरपि शब्दयोः स्वरूपाभेदोऽर्थाभेदश्च । द्वितीयोऽर्थाभेदः शब्दस्य भेद इत्येवंरूपः, यथा-इन्द्रः शक्र इति । अत्र हि शब्दस्य नानात्वमर्थस्त्वभिन्न एव, द्वयोरपि एकार्थिकत्वात् । तृतीयोऽर्थस्य भेदः शब्दस्याभेद इत्येवंलक्षणः, यथा-भूपशुरश्मिषु पुरुषभेदेन कालभेदेन वा प्रयुज्यमाना गोशब्दाः । अत्र हि गौरिति सर्वत्राप्यभिन्नं रूपमर्थस्तु भिन्न इति । चरमो यथा-घटः पटः इति । अत्र हि द्वयोरपि शब्दयो रूपभेदोऽप्यस्ति अर्थभेदोऽपि ततः उपपद्यते । शब्दभेदेऽपि अर्थनानात्वम्,अर्थाभेदेऽपि शब्दनानात्वम्,तेन यदुच्यते- अभिधानाभेदतो नास्ति विशेष इति , तदनैकान्तिकमुपदर्शितम् भूपशुरश्मिवाचिनां गोशब्दानामभिधानाभेदेऽप्यर्थविशेषदर्शनात् , स चार्थविशेषोऽत्राप्यस्ति । यच्चोक्तं प्राक् अभिधानाभेदे इति यदुक्तं तत्प्रत्यक्षविरुद्धम् , व्यञ्जनभेदस्य साक्षादुपलभ्यमानत्वात् , तथा ह्येकत्र कल्प इति अपरत्र व्यवहार इति । अथाऽर्थगत्याऽभिधानाभेद उच्यते न स्वरूपतः, तदप्यसत् , अर्थविशेषस्याप्युभयत्र भावात् ।

तथा चाह—

वंजणेण य णाणत्तं, अत्थतो य विकप्पियं ।
दिस्सए कप्पनामस्स, ववहारस्स तहेव य ॥ १५८ ॥

कल्पनाम्नोऽध्ययनस्य, तथैव च व्यवहारस्य-व्यवहाराध्ययनस्य दृश्यते,व्यञ्जनेन-व्यञ्जनभेदेन नानात्वं प्रत्यक्षत एव पृथग्विभिन्नानां व्यञ्जनानामुपलभ्यमानत्वात् । तथा-अर्थतोऽर्थमाश्रित्य अस्ति नानात्वम् , अविकल्पितं-निश्चितं प्रायश्चित्तभेदानां प्रतिसेवनासंयोजनादीनां प्रायश्चित्तार्हपुरुषजातानां च कल्पाध्ययनानामुक्तानामिह व्यवहारेऽभिधानात् । तदेवम्-'अज्झयणेण विसेसो' इति द्वारं व्याख्यातम् । व्य० १ उ० । बृ० । स्वकार्य्यनिर्णयार्थं राजकुलादौ न्यायकारणे,आतु० । विविधाभिधायकत्वेन (स०) व्यवहरणं व्यवहारः । स्नानपानदहनपचनादिकायां क्रियायाम् , द्वा० ८ द्वा० । 'ववहारस्स परमनिपुणस्स' अत्र परमग्रहणं मोक्षाङ्गत्वान्निपुणग्रहणं त्वध्वंसकत्वात् , न खल्वयं व्यवहारो मन्वादिप्रणीतव्यवहार इव ध्वंसकः 'सव्व पइन्ना खु ववहारा' इति वचनात् । आ०म०१अ० । मिश्रकव्यवहारश्रेणीव्यवहारादौ, पाटीगणितप्रसिद्धे संख्यानभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० । सूत्र० । व्यवहरणं व्यवहारः । लोकस्यैहिकामुष्मिकयोः कार्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणेऽर्थे, " एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो न विज्जइ " इति । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । ('अणायार' शब्दे १ भागे ३१६ पृष्ठे व्याख्यातम् ।) "अभव्वस्स ववहारो ण विज्जइ" आचा० । 'अकम्मस्स' इत्यादि, न विद्यते कर्म अष्टप्रकारमस्येत्यकर्मा तस्य 'व्यवहारो न विद्यते' नासौ नारकतिर्यग्नरामरपर्याप्तकापर्याप्तकबालकुमारादिसंसारिव्यपदेशभाग् भवति । यश्च सकर्म्मा स नारकादिव्यपदेशेन व्यपदिश्यते । आचा० १ श्रु०३ अ०१ उ०। अन्योन्यदानग्रहणादौ विवादे, स्था० ४ ठा० १ उ० । व्यवहारो नाम-विसंवादे सति राजकुलकरणे गत्वा निजनिजभाषालेखापनलक्षणः कार्यपरिच्छेदनार्थं वा पणमुक्तिलक्षणः । आ० म०१ अ० । पण्यविनिमये, सूत्र०१ श्रु० १२ अ० । विविधमवहरणम्—(उत्त० ७ अ० । सूत्र० ।) व्यवहारः । निक्षेपे, आव० ६ अ० । उपा० । विविधं विधिवद्वा व्यवहरणमनेकार्थत्वादाचरणं व्यवहारः । यतिकर्त्तव्य— तायाम् , उत्त० १ अ० । व्यवह्रियतेऽङ्गीक्रियते धर्मार्थिभिरिति व्यवहारः । विशेषेणापहरति पापमिति व्यवहारः । प्राणातिपाताद्याश्रवनिवारके साध्वाचारे, उत्त० ५ अ० । गीतार्थचरिते, ध० २ अधि० । व्यवहरणं व्यवह्रियते वा विशेषेण वा सामान्यमवह्रियते-निराक्रियतेऽनेनेति लोकव्यवहारपरो व्यवहारः । विशेषमात्राभ्युपगमपरे (स्था० ३ ठा० ३ उ० । विशे० । अनु० ।) नयविशेषे , द्वा० १७ द्वा० । प्रश्न० । व्यवहारवत् । मतुब्लोपाद् व्यवहारवान् । ध० २ अधि० । स्था० । आगमश्रुताज्ञाधारणाजीतलक्षणानां पञ्चानामुक्तरूपाणां व्यवहाराणां ज्ञातरि, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

विषयाः—

(१) व्यवहारे व्यवहर्त्तव्यम् ।
(२) व्यवहारस्य नामादिभेदनिदर्शनम् ।
(३) व्यवहारा धारणाऽऽदयः ।
(४) आभवद्व्यवहारनिरूपणम् ।
(५) चरणार्थमभिधारयन्तमधिकृत्य वर्णनम् ।
(६) व्यवहारे मार्गोपसंपद्वर्णनम् ।
(७) व्यवहारे विनयोपसंपद्वर्णनम् ।
(८) व्यवहारे आलोचनाक्रमः ।
(९) समवायघोषणामाकर्ण्य धूलीधूसरैरपि वादेऽवश्यमागन्तव्यम् ।
(१०) व्यवहारे संघशब्दव्युत्पत्तिनिदर्शनम् ।
(११) सुव्यवहारिणामिह परलोके च फलम् ।

ववहारउत्त-व्यवहारोक्त-त्रि० । छेदग्रन्थभणिते, " भणिओ नो तक्करणं, तहा य ववहारउत्तं च " । जी० १ प्रति० ।

ववहारज्झाण-व्यवहारध्यान-न० । व्यवहारः स्वकार्यनिर्णयार्थं राजकुलादौ न्यायकारणं तस्य ध्यानम् । पुत्रधनार्थं देशान्तराऽऽयातसार्थवाहपत्न्योः-सपत्न्योरिव दुर्ध्याने, आतु० ।

ववहारकप्प-व्यवहारकल्प-पुं० । प्रायश्चित्तदानसामाचार्याम् , पं० भा० ।

ववहारकप्पमहुणा, गुरूवएसेण वोच्छामि ॥
ववहारे कोऽवि भिक्खु, सचित्तणिवायणिद्धमहुरेहिं ।
ववहरती ववहारं, वितहं सो संघमज्झम्मि ॥
कोऽपि बहुस्सुयभिक्खू , अपुव्वणगरम्मि किंचि ववहारं ।
णाएणं छिंदित्ता, वत्थव्वेहिं पमाणकतो ॥
अह पच्छा सचित्तं, खुड्डादी तस्स केणवी दिण्हं ।
वसही पाउरणं वा, वरण्हपक्खं ववहरे तु ॥
घततेल्लादी णिद्धं, खंडगुलादीहिँ वावि संगहितो ।
अच्चालिएहि ताहे, ववहरए पक्खवाएणं ॥
दुट्ठववहारिए तं, को तु णिसिहिज्जतो वदे संघो ।
एतद्धा संघमेलो, कीरति इणमो य संपत्तो ॥
अण्हो तहिं तु गीओ, संघसमित्ती य तिण्हि वाराओ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उच्चारें सिद्धपुत्तो , तत्थ य मेरा इमा होति ॥
घुट्ठम्मि संघसद्दे, धूलीजंघो वि जो ण एज्जाहि ।
कुलगणसंघसमाए, णग्गति गुरुश्रो चउम्मासो ॥
जं काहिंति अकज्जं, तं पावति सति बिले अगच्छन्तो ।
अण्हाई याव ओहा-वणादि तेसिं व जं कुज्जा ॥
सोऊण संघसद्दं, धूलीजंघे वि होति आगमणं ।
धूलीजंघनिमित्तं , ववहारो उवट्ठितो होति ॥
सोऊण संघसद्दं , धूलीजंघो उ आगतो संतो ।
वितहं ववहरमाणे, साहू समएण वारेइ ॥
णिद्धं महुरनिवादं, कितिकम्म विजाणएसु जंपंतो ।
सच्चित्तखेत्तमीसे, अत्थधरणिहोडदिसहरणं ॥
भिक्खू य मुसावादी, ववहारे तइयगम्मि उद्देसे ।
सुत्तं उच्चारेति, य अह बहुपक्खो इमं होति ॥
रागेण व दोसेण व, पक्खग्गहणम्मि एक्कमेक्कस्स ।
कज्जम्मि कीरमाणे, किं अच्छति संघमज्झत्थो ।
रागेण व दोसेण व, पक्खग्गहणेण एक्कमेक्कस्स ।
कज्जम्मि कीरमाणे, अण्हेव भणेतु ता कोइ ॥
कुलगणसंघट्ठवणा, इहं ण याणामि देसिओ मि अहं ।
अण्हेण वि ता केण वि, कप्पति इह जंपितुं किंचि ॥
संघेण अणुण्हाए, अह जंपति सो तहिं गुणसमिद्धो ।
ववहारनीतिकुसलो , अणुजाणंतो तयं संघं ॥
संघो महाणुभावो, अहं च वेदेसिओ इहं भंते ! ।
संघसमितिं ण जाणे, तुब्भे सव्वं खमावेमि ॥
देसे देसे ठवणा, अण्हं अत्तत्थ होति समिती य ।
गीतत्थेहाचिण्णा, तं देसीओ ण जाणामि ॥
अणुमाणेत्ता एवं, ताहे अणुण्हाएँ जंपए इणमो ।
परिसा ववहारीण य, इमे गुणे तू समासेणं ॥
परिसा ववहारीया, मज्झत्था रागदोसनिहुया य ।
जदि होंति दो हि पक्खा, ववहरितुं तो सुहं होति ॥
वुत्ते वत्थधरेणं , जदि तु ववहारिणो तु जंपेज्जा ।
नूणं तुम्हे मण्हह, मज्झं सच्चिक्कवयणं ति ॥
सेसा तु मुसावादी, सव्वपरिब्भट्ठगा तु किं सव्वे ।
भण्हति सुणेह एत्थं , भूतत्थमिमं समासेणं ॥
ओसण्हचरणकरणे, सव्वव्ववहारता दुसद्दहिया ।
चरणकरणं जहंतो, सव्ववहारितं पि जहे ॥
जइया अणेण चत्तं अप्पणओ णाणदंसणचरित्तं ।
तइया तस्स परेसुं, अणुकंपा णऽत्थि जीवेसु ॥
भवसतसहस्सदुलहं, जिणवयणं भावतो जहंतस्स ।
जस्स ण जातं दुक्खं, ण तस्स दुक्खं परे वुहिते ॥
आयारे वट्टंतो , आयारपरूवणे असंकीओ ।
आयारपरिब्भट्ठो, सुद्धचरणदेसणे भइओ ॥
तित्थगरे भगवंते, जगजीववियाणए तिलोयगुरू ।
जो ण करेइ पमाणं, ण सो पमाणं सुतधराणं ॥
तित्थगरे भगवंते, जगजीववियाणए तिलोयगुरू ।
जो तू करे पमाणं, सो उ पमाणं सुतधराणं ॥
संघो गुणसंघातो, संघातविणयओ य कम्माणं ।
रागद्दोसविमुक्को , होति समो सव्वसाहूणं ॥
परिणामियवुद्धीए, उववेओ होति समणसंघो तु ।
कज्जे णिच्छितकारी, सुपरिच्छितकारओ संघो ॥
एकसि दु तेव तिण्हि व, पेसविएणं ति परिभवेणं तु ।
आणानिक्कमणिज्जू-हणा तु आउट्टववहारो ॥
आसासो वीसासो,सीतघरसमो य होति मा भायी ।
अम्मापित्तिसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं ॥
सीसो पडिच्छओ वा, आयरिओ वा ण सोग्गतिं णेति ।
जे सच्चकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति ॥
सीसो पडिच्छओ वा,कुलगणसंघो ण सोग्गतिं णेति ।
जे सच्चकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति ॥
सीसो पडिच्छओ वा, कुलगणसंघो व एते इह लोए ।
जे सच्चकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति ॥
सीसे कुलव्वए वा,गणव्वएँ व संघवए व समदरिसी ।
ववहारसंथवेसु य, सो सीतघरोवमो संघो ॥
गिहिसंघातं जहिउं, संजमसंघाययं उवगएणं ।
णाणचरणसंघातं, संघाएंतो भवति संघो ॥
णाणचरणसंघातं, रागद्दोसेहि जो विसंघाते ।
सो संघाए अबुहो, गिहिसंघातम्मि अप्पाणं ॥
णाणचरणसंघातं, रागद्दोसेहि जो विसंघाते ।
सो भमिही संसारं, चतुरंतं तं अणवदग्गं ॥
दुक्खेण लभति बोहिं,बुद्धो वि य न लभति चरित्तं तु ।
उम्मग्गदेसणाए, तित्थगराऽऽसायणाए य ॥
उम्मग्गदेसणाए, संतस्स य छायणाए मग्गस्स ।
बंधति कम्मरयमलं, जरमरणमणंतगं घोरं ॥
पंचविहं उवसंपद, णाऊणं खेत्तकालपव्वज्जं ।
तो संघमज्झकारे, ववहरियव्वं अणिस्साए ॥
णिदरिसणं तत्थ इमं, तगराणगरीएँ सोलसायरिया ।
अण्हो य नायकारी, वत्थव्ववहार अट्ठ इमे ॥
मा कित्ते कंकडुयं, कुणिमं पक्कुत्तरं च चव्वायं ।
बहिरं च गुंठसमणं, अंबिलसमणं च णिद्धम्मं ॥
कंकडुओ विव मासो,सिद्धिं ण उवेति जस्स ववहारो ।
कुणिमणहो व ण सुज्झति, दुच्छिज्जो एव बितियस्स ॥
पक्कुल्ला व भयातो, कज्जं पि न सेसगं उदीरेति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पादेण आह गुत्तिय,उत्तरसो वाहणेणं ति ॥
रोमंथयते कज्जं, चव्वादी नीरसं ववसणेति ।
कहिते कज्जे संते, बहिरो व भणति ण सुतं मे ॥
मरहट्ठलाडपुच्छा, केसरिया लाडमुंठसाहिस्सं ।
पावारभंडिछुभणं, दसियागणणं पुणो दाणं ॥
गुंठाहि एवमादी-हिँ हरति मोहे तु तं तु ववहारं ।
अंबफरसेहिं अप्पो,ण णेति सिद्धिं च ववहारो ॥
एते अकज्जकारी, तगराए आसि तम्मि तु जुगम्मि ।
जेहिँ कता ववहारा, खोडिज्जंतऽण्णरज्जेसुं ॥
इहलोगम्मि अकित्ती, परलोगे दुग्गती धुवा तेसिं ।
आणाएँ जिणिंदाणं, जे ववहारं ववहरंति ॥
कित्तेह पूसमित्तं, धीरं सिवकोट्ठतिं च अज्जासं ।
अरहण्णधम्मराहग-खंदिल-गोविंददत्तं च ॥
एते सुकज्जकारी, तगराए आसि तम्मि तु जुगम्मि ।
जेहिँ कता ववहारा, अक्खोब्भा अण्णरज्जेसुं ॥
इहलोगम्मि य कित्ती, परलोगे सुग्गती धुवा तेसिं ।
आणाएँ जिणिंदाणं, जे ववहारं ववहारंति ॥
तहियं पुण केरिसए, ण जंपियव्वं तु होति समणेणं ।
भण्णति सुणसु इणमो, जारिसएणं तु वोचव्वं ॥
पारायणे समत्ते, थिरपरिवाडी पुणो य संवेग्गे ।
जो णिग्गतो विदिन्ने, गुरूहिं सो होति ववहारी ॥
मूगपारायणं पढमं, बीयं पदुब्भेतिमं ।
ततियं च णिरवसेसं, जदि सुज्झति गाहगो ॥
सुत्तत्थो खलु पढमो,बीओ निज्जुत्तिमीसओ भणिओ ।
ततिओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगो ॥
पडिणीय-मंदधम्मो,जो णिग्गओ अप्पणो सकम्मेहिं ।
ण हु होति सो पमाणं, असमत्तो देसणिग्गमणे ॥
आयारियादेसा धा-रिएण सत्थेण गुणितसरिएण ।
तो संघमज्झयारे, ववहरियव्वं अणिस्साए ॥
आयरियअणादेसा, धोरिएँण सच्छंदबुद्धिरचिएणं ।
सच्चित्तखित्तमीसे, जो ववहरती ण सो धन्नो ॥
सो अभिमुहेति लुद्धो, संसारे कडिल्लगम्मि अप्पाणं ।
उम्मग्गदेसणाए, तित्थगराऽऽसायणाए य ॥
उम्मग्गदेसणाए, संतस्स य छायणाएँ मग्गस्स ।
उम्मग्गदेसगस्स, मासा चत्तारि भारीया ॥
परिवार वुड्ढधम्मक-ह वादिखमगे तहेव णेमित्ती ।
विज्जाराइणियाइ-त्ति गारवा अट्ठहा होंति ॥
एमादिगारवेहिं, अकोविया जे तु तत्थ भासेज्जा ।
ते वत्तव्वा इणमो, ण तुज्झ भागे इहं वोत्तुं ॥
बहुपरिवारो भण्णति, जय परिवारेण होज कज्जं तु ।
तह परिवारं देज्जसु, वुड्ढो पुण भण्णई इणमो ॥
लोगेण जत्थ समयं, ववहारगयं तु तत्थ होज्जाहि ।
तत्थ तुमं जंपेज्जसु, धम्मकही भण्णति इमं तु ॥
जहियं धम्मकहाए, कज्जं तहियं तुमं भणेज्जासि ।
वादी जत्थ तु वादी, पओयणं तत्थ भासेज्जा ॥
खमगो भण्णति इणमो, देवयकज्जं जहिं भवेज्जाहिं ।
असिवादिकारणेहिं, तत्थ तुमं तं करेज्जासि ॥
विज्जासिद्धो भण्णति, विज्जाए जत्थ संघकज्जम्मि ।
कज्जं होज करेज्जसु, वाइणिओ भण्णति इमं तु ॥
वेले कितिकम्मस्स तु, अणुवट्टंताण वंदणं अम्हं ।
कुज्जाहि तुममिमं तु, इह पुण गीयस्स विसओ तु ॥
ण हु गारवेण सक्का, ववहरितुं संघमज्झयारम्मि ।
णासेति अगीयत्थो, अप्पाणं चेव कज्जं च ॥
णासेइ अगीयत्थो, चउरंगं सव्वलोगसारंगं ।
णट्ठम्मि य चउरंगे, ण हु सुलभं होति चउरंगं ॥
थिरपरिवाडीहिँ बहु-स्सुएहि संवेगणिस्सियकरेहिं ।
कज्जम्मि भासियव्वं, अणुओयधरेहिं गंधहत्थीहिं ॥
मायी य मुसावादी, बितियं बितियं वयं चलावेति ।
मायी य पावजीवी, असुतीलित्ते कणगदंडे ॥
आभवते पच्छित्ते, ववहारो समासतो भवे दुविहो ।
दोसु य पणगं पणगं, आभवंते अहीकारो ॥
सचित्तो अचित्तो, य मीसओ खेत्तकालनिप्फण्हो ।
पञ्चविहो ववहारो, आभवंतो तु णायव्वो ॥
सेहम्मि तु सचित्तो, अचित्तो हवति वत्थमादीओ ।
मीसो सभंडगाणं, सत्तम्मि तु गाममादीहिं ॥
णगरादि अखित्ते पुण, वसहीए तत्थ मग्गणा होति ।
काले उडुवासासु य, आभवणा होति णायव्वा ॥
अहवा भवंतमण्हो, उवसंपयखेत्तकालपव्वज्जा ।
णाऊण संघमज्झे, ववहरियव्वं अणिस्साणं ॥
सुतसुहदुक्खे खेत्ते, मग्गे विणएण पंचहा होंति ।
सव्वे वि य एयाओ, सुयणाणमणुप्पवत्तीओ ॥
जत्थ तु सुतोवसंपद, तत्थ तु सव्वा हवंति एयाओ ।
अहवा सुतोवदिट्ठा, ण तु सेच्छाए ऽऽहवंते य ॥
गुरुसीसपडिच्छाणं, तिण्हं वि को कस्स किं उवकरेति ।
वेयावच्चगमागम-काले चित्तादिदव्वे य ॥
सीसो आयरियस्स तु, वेयावच्चं तु कुणति जज्जीयं ।
जहिँ गच्छति तहिँ वच्चति, पेसेइ व जत्थ तहिँ जाति ।
कज्जं समाणइत्ता, एती लद्धिं च सव्वमप्पेति ।
कायव्वुवग्गहो तू, णाणादीएहिं गुरुणाऽवि ॥
दव्वे सचित्तादी, लाभा सीसस्स जो तहिं होति ।
सोऽवि य जावज्जीवं, सव्वो गुरुणो तु आभवति ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दारं–कुणती पाडिच्छो वि तु,वेयावच्चं तु असणमादीहिं।
वच्चइ वड्ढमाणेणं कालेणं रोयती जाव ॥

गेण्हइ वा जाव सुतं, ता कुणती सव्वमेव पाडिच्छो ।
एत्तो दव्वे पुच्छं, जं आभवती तु पाडिच्छे ॥

जं होति णाणवद्धं, अभिसंधारे तगं तगं एति ।
संदेसदिण्हगं वा, णामे विंवे य काले य ॥

वल्लीॅ अणंतरसंतर–अणंतरा छज्जणा इमे होंति ।
माया पिया य भाता, भगिणी पुत्तो य धूया य ॥

मातुम्माया य पिता, भाता भगिणी य एव पितुणो वि ।
भाओ भगिणीणवचा, धूता पुत्ताण वि तहेव ॥

परंपरवल्लि एसा, जदि वारेंति पडिच्छगस्सेव ।
अह णो अभिवारेंति, सुतगुरुणो तो उ आभव्वा ॥

संगारो पुव्वकओ, पच्छा पाडिच्छओ तु सो जाओ ।
तेण निवेदेयव्वं, उवट्ठिता पुव्व सेहा मे ॥

एवतिएहिँ दिणेहिं, तुज्झसगासं अवस्स एहामो ।
संगारो एव कतो, विंवाणि य चेसि चिंचेइ ॥

कालेण य विंबेहि य, अविसंवादीहिँ तस्स गुरुनिहरा ।
कालम्मि विसंवदिए, सुच्छिज्जति किण्ह आओसि ॥

सिंगारयदिवसेहिं, जदि गेलण्हादी वयि तु तो तु ।
तस्सेव अह तु भावो, विपरिणतो पच्छ पुणोॅ जातो ॥

तो होति गुरुस्सेव तु, एवं सुतसंपदाए भणितं तु ।
दारं–सुहदुक्खुवसंपण्हे, एत्तो लाभं पवज्जामि ॥

वट्टसु मम सुहदुक्खे, अहमवि तुब्भं तु एवमुपसंपे ।
पुरपच्छसंथुयाउ, सो लभती जे य वाचीसं ॥

दारं–सुहदुक्खसंपदेसा, एत्तो खेत्तोवसंपदं वोच्छं ।
खेत्तोग्गहो सकोसं, वाघाए वा अकोसं तु ॥

पत्ते उग्गहसारण, वासावासे तहेव उड्ढवद्धे ।
सव्वदिसासु सकोसं, णिव्वाघातेण पत्ते उ ॥

अडविजलतेणसावद–वाघाते एगदुगतिचउसुं वा ।
होज्जा अकोसोॅ उग्गहोॅ, अहुणा साहारणं वोच्छं ॥

साहारणेॅ होज्जाही, पडिलेहणपुव्वपच्छणिगमेणं ।
पुव्वा पच्छा य परे, आयरिए वसह अज्जासु ॥

दुगमादी गच्छाणं, पडिलेहगणिग्गताण समगं तु ।
पत्ता खेत्तं एसो, पढमगभंगो मुणेयव्वो ॥

समगं णिग्गयएक्के, पच्छा पत्ता य वितियओ भंगो ।
पच्छा णिग्गयपुव्वं, पविट्ठ पच्छा य दुण्णे वि ॥

पढमगभंगे जो खलु, पुव्विं तु अणुण्हवेंति ते खेत्ती ।
समगं पुणोॅ ऽणुण्हविए, सामण्हं होति दोण्हं पि ॥

वितीयभंगे दप्पेण, पुव्विं पत्ता उ जदि णऽणुण्हवते ।
इयरेसिं असढाण य, अणुण्हवंताण खेत्तं तु ॥

पुराणिग्गता कहं पुण, पच्छा पत्ता उ ते हवेज्जाहि ।
गेलण्हखमग पारण, वाघातो अंतर हव्वेज्जा ॥

गेलण्हेॅ वाउलाणं तु, खेत्तमन्नस्स णोदए ।
णिसिद्धो खमओ चेव, तेण तस्स ण लब्भती ॥

अंतर वाघाएणं, पच्छा पत्ताण पुव्वि जे पत्ता ।
असेढेहिँ अणुण्हवितं, पुव्विं पत्ता ण तं खेत्तं ॥

अह समगमणुण्हविए, कातु पमादं पि तो उ साहारं ।
एवं तु वितियभंगो, अहुणा तइयम्मि वोच्छामि ॥

पच्छा वि पत्थियाणं, सभावसिग्घगतिणो भवे खेत्तं ।
एमेव य आसण्णे, दूरद्धाणं व एयाणं ॥

भंगे चउत्थभंगी, पुव्वाणुण्हाएॅ असढभावाणं ।
पढमगभंगसरिच्छा, आभवणा तत्थ णायव्वा ॥

पुव्वगहिओ वि उग्गहोॅ,होति गिलाणट्ठताए जहियव्वो।
अह होज्जा संथरणं, कालक्खेवो दुपक्खे वि ॥

पुव्वट्ठितकेत्तीणं, जदि आगच्छे गिलाणइत्तऽण्हे ।
जदि दोण्ह असंथरणं, ते णिग्गमो खेत्तियाणं तु ॥

अह दोण्हँ वि संथरणं,दोण्ह वि अच्छंति जा गिलाणो उ।
एते य दोण्हि पक्खा, अहवा समणा य समणीओ ॥

गेलण्ण उवहि किच्चा, भत्तोवहि लद्धिता विहिग्गहितं ।
पेल्लंती परखेत्तं, साहम्मियतेणिया तिविहा ॥

उवही नियडी माया, गिलाणणिस्साए विज्जमाणे वि ।
छड्डेतु एंति खेत्ते, भत्तोवहिलुद्धताए उ ॥

लब्भंति सुंदराइं, गिलाणणियडिएॅ एंति तो तत्थ ।
इतरे वि गिलाणो त्ति य,काउ तओ णेंति खेत्ताओ ॥

तेसिं तु णिग्गएसुं, सच्चित्तादी उ तिविह जं गेण्हे ।
तं तेसि होंति तेण्हं, पच्छित्तं चेव तिविहं तु ॥

जे पुण असंथरंता, एंति तहिं तेसिमा भवे मेरा ।
आयरिएॅ वसभअज्जा–ण चेव वोच्छं समासेणं ॥

अच्छंति संथरे सव्वे, वसभाणीति ऽसंथरे ।
जत्थ तुल्ला भवे दो वि, तत्थिमा होति मग्गणा ॥

णिप्पण्हा तरुणे सेहे, जुंगितपादच्छिणासकरकण्हा ।
एते व संजतीणं, णवरं वुड्ढीसु णाणत्तं ॥

परिवारअणिप्फण्हो, अच्छाति णिप्फण्हतो तु णिग्गच्छे ।
अच्छंति वुड्ढतरुणा, य णिंति सेहे असेहिण्होणीति ॥

अच्छंति जुंगिया तु, णिंति अरे तुह व जुंगिता दोऽवि ।
तत्थाऽऽइल्ला अच्छे, अच्छे समणीण तरुणीओ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समणाण य समणीण य,अच्छंति य संजतीओ णियमेणं।
जेण बहुपच्चवाता, अणुकंपा तेण समणीणं ॥
संथारभत्तसंतुट्ठा, तस्स लोभम्मि अप्पइ ।
झुंगियमादीएसु य, वयं तक्खेत्तीण ते जेसिं ॥
दुयमादी गच्छाणं, खेत्ते साहारणम्मि वसियव्वे ।
अप्पत्तियपडिसेह-ट्ठताए मेरा इमा तत्थ ॥
अत्थी बहुवसभगामा, कुदेसनगरो व मासु ववहारा ।
बहुमच्चुग्गहकरा, सीमच्छेदेण वसियव्वं ॥
आयरियउवज्झाया,दुहि तिहि सेही तु पंचओ गच्छे।
एवं तिगिच्छतिण्ही, उदुबद्धे संथरे जत्थ ॥
वासासुँ ति चउ जुत्ता, आयरिय उवज्झ सत्तओ गच्छो।
एव तिगिच्छा तिण्हि तु, वासासुं संथरे जत्थ ॥
कालदुयम्मि वि एयं, जहण्णयं होति वासखेत्ते तु ।
बत्तीसं तु सहस्सा, गच्छो उक्कोस उसभम्मि ॥
बहुगच्छुवग्गहकरा, एत्तियमेत्ताण जत्थ संथरणं ।
ऊणाअणुवग्गहिता, सीमच्छेदं अतो वोच्छं ॥
तुज्झत्तो महयाहिं, तुज्झ सचित्तं ममेतरं वाऽवि ।
आगंतुयवत्थव्वा, थीपुरिसकुलेसु व विवेगो ॥
सेसे सक्कोसजोयण-मूलणिबंधं अणुस्सुयंतेण ।
सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसे वि य दिन्नकालम्मि ॥
संसेति निसाहरणं , मूलखेत्ते अणुस्सुयं नाणं ।
होति सकोसं जोयण-दिसि विदिसासुं तु सव्वत्तो ॥
एवं खेत्तउ एसो, काले उदुवद्धे होति मासो तु ।
वासासु चउम्मासो, एवति कालो विदिण्हो तु ॥
एवति कालविदिण्हं, पुण्णे णिक्कारणम्मि तेण परं ।
ण तु उग्गहो विदिण्हो, मोत्तूणं कारणमिमेहिं ॥
असिवादिकारणेहिं, दुविहतिरेगे वि उग्गहो होति ।
जा कारणं तु छिण्हं, तेण परं उग्गहो ण भवे ।
जदि होति खेत्तकप्पो, असती खेत्तं ण होज्ज बहुगा वि ।
खेत्तेण य कालेण य, सव्वस्स वि उग्गहो णगरे ॥
सलिलं मे खेत्ताणं , जोग्गाणं जो तु जत्थ संथरति ।
सो तहिँ तं संवेक्खे, खेत्ताण सती पुणो बहूवीए ॥
गच्छतु गामादीसुं, जहियं तू संथरंति तहि अत्थे ।
सव्वेसिं तहिँ उग्गहो, साहारणे होति जह णगरे ॥
एसा खेत्तुवसंपद, पुरपच्छा संथुए लभति एत्थ ।
तह मेत्तवयं साया, जं जं लंभे सुतोविसपण्णो ॥
दारं-सग्गोवसंपदाए, मग्गं देसेति जाव सो तस्स ।
लभती दिट्ठा भट्ठा-दि जो य लाभो पुरिल्लाणं ॥
दारं-विणओवसंपदा पुण,कुव्वति वीयं तु जो उ राइणिए।
सव्वं तस्साऽऽभवती, जो उ उवट्ठायती तस्स ॥
उवसंपद इच्चेसा, पंचविहा वण्णिता समासेणं ।
खेत्तम्मि परक्खेत्ते, णिक्खमिओ जो तु होज्जाहि ॥
काले उदुवासं वा,वसिऊणं णिग्गताण जो अण्हो ।
पढमबितियदिवसेसुं, णिक्खामे कालओ एसो ॥
इच्चेसो पंचविहो, ववहारो आभवंतिओ णामं ।
पच्छित्तव्ववहारो, जह दसमुद्देस ववहारे ॥ पं०भा०
५ कल्प ।

इयाणिं ववहारकप्पो—गाहा भिक्खू य मुसावाई एया-
ओ गाहाओ-ववहारे सिद्धाओ, किंचि उल्लोय से तं भण्हइ ।
कोइ बहुस्सुओ आयरिओ एगं नगरं गओ,तेण समं ववहारो-
छिन्नो। सो तत्थ प्रमाणीकृतो। ताहे सो सव्वाणि णियायाणि
काउमारद्धो। सचित्तेत्ति खुड्डुओ वा से केणइ दिन्ने निवाया
वसही दिण्हा, महुराणि वा खंडाइं केणई दिन्नाणि । तेण
सो वितहं ववहरिउमारद्धो। गाहा-सोऊणं कुलसद्दं गणसद्दं
वा सोऊणं कहं पुण आणा विज्जइ, संघसमवाओ वा आण-
त्तो, इहरा वा मिलिएसु समिति तिन्नि वेला उच्चारिज्जइ।
गाहा-'सोऊण संघसद्दं धूली' तत्र कश्चिद्धूलीजंघो तत्थेव न-
गरियाओ वहियाए पडिक्कमइ। तहेव तेण आगंतव्वं,कज्जे नि-
च्छियकारी सुपरिच्छियकारओ त्ति। एक्कसिं पायट्ठीए नए-
ज्ज सो पच्चत्थी विइए वि जं किंचि कारणं नऽत्थि, तइए वा
ताहे सक्खिणो घेत्तूण प्रत्याचक्षीत एस णागच्छइ त्ति ।
कोइ भणिज्जा-एस संघमेरं भंजइ, किं किज्जंते न एइ । उ-
ग्घाडिज्जाउ। तत्थ निच्छियकारी संघो भणइ, न जुज्जइ किं
कारणं न एइ पुच्छिज्जउ। अज्जो ! जइ कारणं दीवेइ, जं नि-
मित्तं न एइ ताहे न उग्घाडिज्जइ। अह परिभवेण न एइ ता-
हे तिण्हि वारा उच्चारिज्जइ। एस अज्जो ! नागच्छइ उव-
ग्गहववहारी जाओ। भणउ-वच्छ ! कोइ किंचि ताहे उग्घाडि-
ज्जइ एस निच्छियकारी संघो। एवं जाव न हु गारवेण सक्का
तत्थ भणिज्जइ कोइ-तुमं उस्सुत्तं मंतेसि। सो भणइ—अम्हे
ओमराइणिया, अण्णो भणइ-अम्हे लोगाओ सक्कारसम्माणं
लभामो तुब्भं न लभामो उल्लावेउं। अन्नो भणइ—अहं प्राव-
चनी धर्मकही वादी वा एवमादी। तत्थ राइणिओ भण्णइ-
जया वंदणए पओयणं तया उवट्ठाएज्जसि, परिवारइतो
भण्हइ—जया किंचि परिवारेण कज्जं तया तुमं परिवारं
देज्जासि, तवस्सी भण्हइ-तुमं जया किंचि पभावेयव्वं देवया
वा आकंपेयव्वा तया उवट्ठाएज्जासि। जो भणइ-लोगाओ हं
सक्कारं लभामि, तो तुब्भं सगासे न लभामि । ववहारं तु-
ल्लावेउं सो वि भण्हइ-जया लोए किंचि पओजणं तया उव-
ट्ठाएज्जासि।जो वादी सो भण्हइ-तुमं वादकाले सज्जो भवेज्जा-
सि। इह-गीयत्थमउज्झत्थाणं विसओ, अरहंतेहिं भणियं जं
तं कायव्वं। जेसिं पारायणं समत्तं, जे य थिरपडिवाडी पुणो-
संविग्गा गुरूहि य विइण्णा सो ववहारी। जेण मूयं हुंकारं वा
जाव परिनिट्ठ सेत्तमे एतेहिं भाणियव्वं। संघसमाए जेहि य
" सुत्तत्थो खलु पढमो, विइओ निज्जुत्तिमीसओ भणिओ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥१॥" ते पमाणा ववहारे जे पठणीयादओ ते अप्पमाणा। सेसं गाहासिद्धं। तगराए एगस्स आयरियस्स सोलस सीसा। तत्थऽट्ठ ववहारी अट्ठ अव्ववहारी। गाहा-मा किं ते कंकडुयं कंकडुयभूओ नाम वल्लाइएं अग्गिणा वि न सिज्झइ, एवं तस्स ववहारो कंकडुयभूओ न सिज्झइ। कुणिमो नाम जहा कुलिमनहो घडिज्जंतो वि निम्मलत्तं न जाइ। एवं तस्स वि ववहारो कुलिमनहभूओ निम्मलत्तं न जाइ। पक्को नाम जहा महिसो पाणीए ओइन्नो, एवं सोऽवि महिसो विव आडुयालं करेइ। उत्तरो नाम ववहारो छिण्हे उत्तरं भणइ। चव्वाइ नाम ववहारं वच्चंतो अच्छइ। वधिरो नाम-छिन्ने ववहारे भणइ मया न चेव सुयं। लाडगुंठसमणो नाम लाडगुंठाहिं ववहारं ववहरइ। अंबिलसमाणो नाम अंधं ववहारं करेइ। एसेव निद्धम्मो। एए सव्वे ववहारी तगराए। गाहासिद्धं 'इह लोए य अकित्ती' गाहा सिद्धं। इमे ववहारी पूसमित्ताइ गाहासिद्धं। सो पुण दुविहो ववहारो-आभवणे य, पायच्छित्ते य। आभवणे ताव पंचविहो, पायच्छित्ते वि पञ्चविहो। सचित्ते ताव सेहाइ, अचित्तं से वत्थाइ। मीसे सभंडोवकरणे सेहे। खेत्तं वसहिमाइ काले उउवासासु। अहवा—आभवणाइ पंचविहा गाहा पंचविहं उवसंपयं नाउं खेत्ताइकालं पवज्जंतो संघमज्झयारे ववहरियव्वं। अणिस्साणं गाहा सुयसुहदुक्खाईण सा पंचविहा, सा पुण उवसंपया सुयाई पंचविहा, सव्वावेयाओ उवसंपयाओ सुयनाणे परूविज्जंति। अहवा-सुयनाणे वा अणुपविसंति। अहवा-सुओवसम्पत्तस्स सव्वाऽवि उवसंपयाओ भवन्ति। सो पुण सुयं गेण्हंतिको सीसो वा, होज्जा पडिच्छओ वा। गाहा दोन्नि य सीसायरिया तेसु पुण सीसपडिच्छएसु किं केण कायव्वमायरियस्स सीसेण ताव वेयावच्चं अहाराइ गुरुणो कायव्वाणि। आयरिएण वि तस्स सुत्तत्थाणि दायव्वाणि। जहिं वा गुरुणो गच्छन्ति पेसन्ति वा तहिं गंतव्वंऽणेण। केच्चिरं कालं? जावज्जीवाए आगए उट्ठेइ, जइ किञ्चि सचित्ताइ इमं पि गुरुणो चेव। इयाणिं पडिच्छएण किं कायव्वं? वेयावच्चं तहेव गुरुणो वा तस्स गमणे तहेव दो वि काले॰ जाव रोयइ ॰जाव पढइ ॰जाव इयाणिं पडिच्छगलाभो सचित्ताइदव्वे। तत्थ गाहा जं होइ नालबद्धं, पडिच्छगस्स जइ तं चेव अभिधारयंति मायापियभायभगिणीधीयपुत्तो वा ताहे तस्सेव। अह आयरियं अभिधारेंति तो आयरियस्स। अहवा-संगारदिण्णयं जइ एताणि निवेएइ गुरुणो जहा मम सेहाणि बद्धिपल्लयाणि-॰जाव न चेव तुब्भं पाया अभिधारेमि ताणि एहिंति। अमुयं अमुयं विधिं अमुयकाले आगया तस्सेव। अह कालविसंवाओ वा ताहे भणंति। कीस नागओऽसि। सिङ्घारकाले जइ किञ्चि कारणं निवेएइ गेलण्णाइ तस्सेव ते। अह विपरिणयभावो आसिज्जइ, सङ्घारकालस्सऽब्भंतरे पुणो वि पवज्जापरिणामो उप्पन्नो पडिच्छियस्सेव। अह सङ्घारकाले अइक्कंते पच्छाभावे उप्पन्नो ताहे आयरियाण। एवं पडिच्छयस्स सेसं सुयगुरुणोवसंपया सकोसं जोयणं आयरियस्सोग्गहं वाघायरहिए वाघाओ, अडविजलसावयतेणएहिं एएणं वाघाएणं अक्कोसं पि होज्जा। अण्हयरीसु दिसासु एवं वासउउवद्धे। एवं ताव एगस्स खेत्तियस्स जइ पुण बहुगा होज्जा, एगम्मि खेत्ते संनिवइया एत्थ मग्गणा।

अन्तरे पत्ता नाम गाहा। गेलण्हमग्गखेत्तोग्गहो पुण वासावासेसु आसाढसुद्धदसमीए खेत्तपडिलेहिया पयट्ठियव्वा। तेहि य पयट्ठिएहिं खेत्तं पडिलेहियं, विहिणा अणुहवेत्ता। सारूवियसिद्धपुत्तसन्निभद्दमहत्तरगंडण्हावियधुवकम्मिय—अक्कराइणोवम्मिय वाह जा अण्ह एयं खेत्तं रुचियं अम्हे पहामो। जे अन्ने पव्वइगा एज्जा तेसिं कहिज्जाह, जहा एयं पव्वइएहिं पडिलेहियं तेसिं खेत्तं, जे अम्हे तेसिं ठियाण वा अट्ठियाण वा एंति ते खेत्तोवसंपन्नया। ते खेत्ते पडिलेहेतुं आगया आयरियसगासे, तेसिं आयरियाणं आलोइयं जहा सुंदरं, खेत्तं गच्छपाउग्गं, तं च अन्नेण पाहुणएण सुयं सोगंतूण अप्पणो आयरियाणं कहेइ-अमुयाणं पव्वइएहिं पडिलेहियं, तत्थ गच्छामो ॥ आयरिया सामत्थेंति गंतव्वे भिन्नए सो निम्मायहं वच्चामो मासलहुं, पच्छिया मासगुरुं, पंथे चउलहुं, पत्ताणं चउगुरुं। तत्थ गया सच्चित्ताइ दव्वं गेण्हंति, सच्चित्ते-सेहाइ, चउगुरुं। अचित्ते उवहिनिप्फण्हं। अहवा-सचित्ते अणवट्ठप्पो, पच्छा आगएहिं निच्छुब्भंति। वलो मोठीए कुलाइथेरेहिं निच्छुब्भंति चउगुरुयं दाऊण। अहवा-खेत्तपडिलेहया पत्थिया अमुयखेत्तं वच्चामो, अन्नेसिं आयरियाणं पव्वइयगा। तं चेव खेत्तं पडिलेहेउं पत्थिया ण पुण जाणंति, जहा अण्णे तत्थ पधाविया, दो वि समं पत्ता। दोहिं वि विहिणा सारूवियाइ अणुण्हविया दोण्ह वि सामण्हं खेत्तं। अह एगं खेत्तं पत्त त्ति काऊणं नाणुण्हवेंति। अन्नेहिं समं पत्तेहिं पच्छा वा आगएहिं विहिया सारूवियाइ अणुण्हविया, तेसिं खेत्तं, जेहिं पुव्वमणुण्हवियं खेत्तं। अह तेहिं समं पत्तेहिं तेसिं एगो गिलाणो जाओ तेण नाणुण्हवियं सामण्हं खेत्तं। अहवा—खमगपारणए वाउलएहिं नाणुण्हवियं अण्हं खेत्तं। अहवा—कुलाइकज्जेहिं वावडेहिं नाणुण्हवियं सामण्हं, पुव्वं पच्छा वा पत्ता हुंतु। अहवा—दोहिं वग्गेहिं समीहियं खेत्तं वग्गेति दोण्हं आयरियाणं। तत्थेगो असढभावो सिग्घगई तेहिं पत्तेहिं अणुण्हविया सारूविया इ तेसिं खेत्तं। अहवा-एगे आसन्ने, एगेसिं दूरमद्धाणं। जे पढमं पत्ता विहिणा य अणुण्हवियं, अहवा-पुव्वं पच्छा वा आगयाणं आयरिया सुत्तत्थविसारदा जप्पसरीरा ते, अण्हे आयरिया दढसरीरा जप्पसरीराण खेत्तमणुजाणन्ति। अहवा-समं पि पत्ताणं जेसिं गिलाणो तेसिं अणुण्हवइ खेत्तं आइग्गहणेणं अन्ना सा विसारया वा विदेसिया वा जुंगा वा समं पि उग्गहिए तेसिं अणुण्हवइ खेत्तं। गाहा-पुव्वुग्गहिओ विग्गहो त्ति पुव्वट्ठिया खेत्तिया, अन्ने य तत्थ आगया गिलाणाइपत्ता, तत्थागयाणं वा जाओ गिलाणो ताहे ते पुव्वट्ठिया वच्चंति। अह दोण्ह वि संथरणं होज्जा ताहे दोहिम्मि अच्छियव्वं। अहवा-साहू साहुणीओ वा तत्थ वि साहू अच्छति साहुणिओ अच्छंति। गाहा गिलाणोवहि जे पुण गिलाण त्ति नियडिं काऊण अण्हाण वि गिलाणपाओग्गाणि खेत्ताणि छड्डिऊण एंति भत्ताइलोभेण परखेत्तं पेल्लंति, ते य पुव्वट्ठिया गिलाणो त्ति काऊण तं ति। ताहे इयरेसिं जं सच्चित्ताइ उप्पज्जइ तं चेव जीवंति। साहम्मियतेणिया दुविहा सच्चित्तमचित्तं वा। किञ्चन वि य पुव्वट्ठिये वि भण्डमच्छरियत्तणं कायव्वं। गाहा अत्थि हु वसभग्गामा जम्हा अत्थि वसभग्गामहायणपाउग्गमा तत्थ महानिज्जरापेहीहिं होयव्वं। न होइ अट्टं झाइयव्वं। नगरे वा बहवे साहू वसंति। सव्वत्थ सकोसं मण्डलं, जत्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

खेत्तो मूलनिबंधं अणुमुयंतेणं सच्चित्ताचित्तमीसएण य अब्भणुण्हाया , कालम्मि उउवासासु वा अक्खेत्ते वसहीए मग्गणा, गाहा–जइ होइ, जइ पुण संपहाणाणि खेत्ताणि मासकप्पपाउग्गाणि न होंति, ताहे एगम्मि चेव खेत्ते बहुया वि अच्छंति, तत्थ सव्वेसिं पि समं ठियाणं उग्गहो भवइ । जहा–नगरे तगरिनगरे वसहीए उग्गहो खेत्तं न होइ, नगरं जत्थ वा इंदट्ठाणं, जत्थ वा राया एस खेत्तोवसंपया । माओवसंपयाए गाहा–माया पिया जइ छ एहालबद्धाणि तं चेव अभिधारेंताणि एंति लभइ । गाहा–सुहदुक्खियस्स सुहदुक्खिओ मायापिइपक्खे अभिधारेंता य सासुससुरपक्खे य पुव्वुद्दिट्ठो सव्वे वि लभइ । खेत्तोवसंपया ए मायापियाइ ० जाव मित्तवयंसे वि लभइ । मग्गोवसंपयाए गाहा—मग्गोवसंपयाए पुण जे मग्गे निज्जंति देसिएण ते माया पियाइ० जाव सहदेसिए वि लभइ । जइ तेसिं उवट्ठेंति ते सेसं जो दिसिओ सो लहइ जाव देसेइ । जइ य नट्ठे मूढे च गवेसइ विणओवसंपयाए, णवरिं विणयं उवचारार्थं दर्शयति-विणओवसंपया नाम देसिया पव्वइया, अन्नविसयं जंति, लाडविसयाइ, तत्थ पुव्वट्ठियाणं आयरियाणं गीयत्थसंविग्गाणं अप्पं निवेएंति । जहा–अम्ह खेत्ताणि दरिसेह । ते दरिसयंति , तेसिं अणापुच्छाए अपुव्वेसु खेत्तेसु नट्ठंति । तत्थ य ठिया जं पव्वावेंति तं तेसिं । पुव्वट्ठियाणं निवेदयंति एस विणयोवसंपया । गीयत्थसंविग्गा परोप्परं संवच्छरियचाउम्मासिएसु आलोयणाविणयं पउंजंति, न पुण किंचि तक्कयंति परस्परतः । केइ पुण भणन्ति जाव आलोचयति ताव जं लभइ सच्चित्ताइ सुत्तनालबद्धं सेसं जस्सालोएइ तस्साऽऽभवइ । पायच्छित्ते ववहारो दसमे उद्देसे व्यवहारस्य वक्ष्यामः । सव्वासु वि उवसंपयासु मायापियाइनालबद्धाणि सो लभइ । जस्स वा ओवद्धंति सो लभइ । अन्नो वि एस ववहारकप्पो । पं० चू० ५ कल्प ।

ववहारकुदिट्ठि–व्यवहारकुदृष्टि–स्त्री० । अनादिमत्यां वितथागोचरायां विद्यापराभिधानायां कुव्यवहारवासनायाम् , " व्यवहारकुदृष्ट्यौच्चै–रिष्टानिष्टेषु वस्तुषु । कल्पितेषु विवेकेन, तत्त्वधीः समतोच्यते " ॥ द्वा० १८ द्वा० ।

ववहारकुसल–व्यवहारकुशल–पुं० । देशादिव्यवहारानुरूपज्ञे, ध० र० ।

सम्प्रति व्यवहारकुशल इति षष्ठं भेदं विवरीषुर्गाथोत्तरार्द्धमाह—

देसद्धादणुरूवं, जाणइ गीयत्थववहारं ॥ ५४ ॥

देशः—सुस्थितदुस्थितादिः, अद्धा—कालः—सुभिक्षदुर्भिक्षादिः, आदिशब्दात्–सुलभदुर्लभादि द्रव्यम् , प्रहृष्टग्लानादिभावश्च परिगृह्यते , तेषामनुरूपं जानाति गीतार्थव्यवहारं यो यत्र देशे काले भावे वा, वर्तमानैर्गीतार्थैरुत्सर्गापवादवेदिभिर्गुरुलाघवपरिज्ञाननिपुणैराचरितो व्यवहारस्तञ्च दूषयतीति भावः । एवंविधव्यवहारकौशलं षष्ठं कौशलं भवति , एतच्चोपलक्षणं ज्ञानादित्रयप्रभृति सर्वभावेष्वपि यः कुशलः स प्रवचनकुशलः, अभयकुमारवत् । ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० । (अभयकुमारकथा च 'अभयकुमार ' शब्दे प्रथमभागे ७१४ पृष्ठे गता ।)

ववहारक्खेवणी–व्यवहारक्षेपणी–स्त्री० । कथाभेदे, स्था० ४ ठा० । ('अक्खेवणी' शब्दे प्रथमभागे १५२ पृष्ठे व्याख्या गता।)

ववहारचूलिका–व्यवहारचूलिका–स्त्री० । स्वनामख्याते ग्रन्थावयवविशेषे , सेन० । व्यवहारचूलिका किंकर्तृकेति ?, प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—सा अमुककर्तृकेति ज्ञातं नास्तीति ॥ १०१ ॥ सेन० १ उल्ला० ।

ववहारणय–व्यवहारनय–पुं० । संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः । व्यवहरणं व्यवहरतीति वा व्यवह्रियते वा अपलप्यते सामान्यमनेन विशेषान् वाऽऽश्रित्य व्यवहारपरो व्यवहारः । स एव नयः । विशेषप्रतिपादनपरे नयभेदे , स्था० ७ ठा० ३ उ० । आ० । आ० चू० । विशे० । अथ व्यवहारनयमाह—व्यवहरणं व्यवहारः । यदिवा—विशेषतोऽवह्रियते–निराक्रियते सामान्यमनेनेति व्यवहारः विशेषप्रतिपादनपरो व्यवहारनय इत्यर्थः । आ० म० १ अ० ।

ववहरणं ववहरए, सतेण ववहीरए व सामन्नं ।

ववहारपरो व जओ, विसेसओ तेण ववहारो ॥२२१२॥

व्यवहरणं व्यवहारः, व्यवहरति स इति वा व्यवहारः, विशेषतोऽवह्रियते—निराक्रियते सामान्यं येनेति व्यवहारः, लोके व्यवहारपरो वा विशेषतो यस्मात्तेन व्यवहार इति । अयं च न यदुक्तसूक्तिकां प्रतिपद्यते " वच्चइ विणिच्छियत्थं, ववहारो सव्वदव्वेसु " त्ति (गाथा० २१८३) अस्य व्याख्यामाह—

सदिति भणियम्मि गच्छइ,विणिच्छयं सदिति किं तदन्नं ति।

होज्ज विसेसेहिंतो, संववहारादवेतं जं ॥ २२१३ ॥

सदिति भणिते सति विनिश्चयमसौ गच्छति , विचार्य विशेषानेव वस्तुत्वेन व्यवस्थापयतीत्यर्थः । तथा ह्येवमयं विचारयति—ननु सदिति यदुच्यते तद्घटपटादिविशेषेभ्यः किमन्यन्नाम यत्संव्यवहारादप्यपेतं व्यवहारे न कचिदुपयुज्यते, वार्तामात्रप्रसिद्धं सामान्यं नास्त्येव क्वापि तदित्यर्थः ।

अपि च—

उवलंभव्ववहारा, भावाओ निव्विसेसभावाओ ।

तं नऽत्थि खपुप्फं पिव,संति विसेसा सपच्चक्खं॥२२१४॥

नास्ति सामान्यम्, उपलम्भव्यवहाराभावात्–उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुलब्धेरित्यर्थः । तथा निर्विशेषभावात्–विशेषव्यतिरिक्तत्वात् , खपुष्पवत् । विशेषास्तु सन्ति स्वप्रत्यक्षत्वाद्घटादिवदिति ।

उपचयहेतुमाह—

जं च विसेसेहिं चिय, संववहारो वि कीरए सक्खं ।

जम्हा सम्मत्तं चिय, फुडं तदत्थंतरमभावो ॥२२१५॥

यस्माच्च जलाऽऽहरणव्रणपिण्डप्रदानादिको लोकव्यवहारो घटनिम्बपत्रादिविशेषैरेव साक्षात्क्रियमाणो दृश्यते, न सामान्येन । तन्मात्रमेव च–विशेषमात्रं यस्मात्स्फुटमुपलभ्यत इति शेषः, तस्मात्तदर्थान्तरभूतं सामान्यमभाव एव न तु भाव इति ।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किंच—

अन्नमणन्नं व मयं, सामन्नं जइ विसेसओऽणन्नं।
तम्मत्तमन्नमहवा, नऽत्थि तयं निव्विसेसं ति ॥२२१६॥

विशेषेभ्यः सामान्यमन्यद् अनन्यद्वा मतं भवतः ? । यदि विशेषेभ्यस्तदनन्यद्-अभिन्नम्, तर्हि तन्मात्रं-विशेषमात्रमेव तदिति । अथान्यद्विशेषेभ्यो भिन्नं सामान्यं तर्हि नास्त्येव तन्निर्विशेषत्वात् खरशृङ्गवदिति ।

यदुक्तम्-"चूओ वणस्सइच्चिये"त्यादि १० तद्विपक्षमाह—

तह चूयाइविरहिओ, अन्नो को सो वणस्सई नाम ।
अवणस्सइ च्चिय तओ, घडो व्व चूयादभावाओ ।२२१७।

तथा चूताऽऽदिविरहितः चूतनिम्बकदम्बजम्बूप्रभृतिविशेषेभ्योऽन्यः को नाम वनस्पतिर्यः सामान्यत्वेन गीयते ? । अथास्ति चूताऽऽदिभ्योऽपरः कोऽपि वनस्पतिः । ननु यद्येवम्, तर्हि ततोऽन्यः कोऽसाववनस्पतिरेव चूताद्यभावरूपत्वाद् घटादिवदिति ।

तदेवं "वच्चइ विणिच्छियत्थं" (२१८३) इत्येतद्व्याख्यायोपसंहरन्नाह—

तो ववहारो गच्छइ, विणिच्छियं को वणस्सई चूओ ।
होज्ज बउलाइरूवो, तह सव्वदव्वभेएसु ॥ २२१८ ॥

ततस्तस्मादुक्तन्यायेन विचार्य विगतसामान्यानां विशेषाणां निश्चयो विनिश्चयस्तं गच्छति-स्वीकरोति व्यवहारनयः । कथं विचार्य ? इत्याह—को नाम वनस्पतिर्भवेत्? इति चिन्तायां चूतो बकुलादिर्वाऽसौ भवेन्न तु तदतिरिक्तवृत्तत्वसामान्यम् । तथा तेनैव प्रकारेण सर्वेष्वपि द्रव्यभेदेषु वक्तव्यम्-गोतुरगरथादयो विशेषा एव गोत्वादिसामान्यं न पुनरन्यदित्येवं सर्वत्र वाच्यमित्यर्थ इति ।

अथवा-अन्यथा विनिश्चयशब्दार्थं व्याचिख्यासुराह—

अहिगो चओ त्ति वा नि-च्छओ त्ति सामन्नमस्स ववहारो ।
वच्चइ विणिच्छियत्थं, जाइ वि सामन्नभावं ति ॥२२१६॥

वा-अथवा अधिकश्चयो निश्चयः, यथा अधिको दाघो निदाघः, स च निश्चयोऽत्र सामान्यम् । अस्य सामान्यस्य व्यवहारनयो व्रजति—याति । किमर्थम् ?, विनिश्चयार्थम् । कोऽर्थः ?, विसामान्यभावं-विसामान्यभावार्थं तदभावाय यतत इत्यर्थः ।

अथवा-लोकव्यवहारो विनिश्चयस्तदर्थं व्रजति व्यवहार इति दर्शयति—

भमराइ पंचवण्णाइँ, निच्छए जत्थ वा जणवयस्स ।
अत्थे विणिच्छओ सो, विणिच्छयत्थो त्ति सो गज्झो ॥
बहुतरउत्तियतंचिय, गमेइ संते वि सेसए मुयए ।
संववहारपरतया, ववहारो लोगमिच्छंतो ॥ २२२१ ॥

वा-अथवा निश्चये-निश्चयनयमते विचिन्त्यमाने भ्रमरादेः पञ्चवर्ण—द्विगन्ध—पञ्चरसाऽ-ष्टस्पर्शत्वे सत्यपि यत्र कृष्णवर्णादावर्थे जनपदस्य निश्चयो भवति स विनिश्चयार्थस्तं व्रजति व्यवहारनय इति प्रकृतम् । कोऽर्थः ?, सत्स्वपि वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शेषु यो यत्र जनपदस्य ग्राह्यस्तमेव व्यवहारनयो गमयति, मन्यते, प्ररूपयति च । सतोऽपि

२३४

शेषान् वर्णादीन्मुञ्चति । कुतः ?, स एव बहुतरः स्पष्ट इति कृत्वा । किं कुर्वन् ? लोकव्यवहारमिच्छन्, कया ?, व्यवहारपरतया—व्यवहारप्रधानतयेति । तदेवमभिहितो व्यवहारनयः । विशे० । स्या० । द्रव्या० । आ० म० । (व्यवहारनयव्याख्या 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८५६ पृष्ठे गता ।)

व्यवहारं लक्षयति—

उपचारेण बहुलो, विस्तृतार्थश्च लौकिकः ।
यो बोधो व्यवहाराख्यो, नयोऽयं लक्षितो बुधैः ॥ २५ ॥

'उपचारेणे' ति उपचारेण-गौणया वृत्त्या बहुलो-बाहुल्येन व्यवहारकारी विस्तृतार्थो-नानाव्यक्तिकशब्दसंकेतग्रहणप्रवणः, लौकिकः-शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणपक्षपाती यो बोधः सोऽयं व्यवहाराख्यो नयः बुधैर्लक्षितः, उपचारबहुलाद्यध्यवसायवृत्तिनयत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणं तेन नाननुगम इत्यर्थः, "लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तरतोऽर्थो व्यवहार" इति तत्त्वार्थभाष्यमनुरुध्येत्थं लक्षितम् । 'वच्चइ विणिच्छियत्थं, ववहारो सव्वदव्वेसु' त्ति निर्युक्तिप्रतीकपर्यालोचनायां तु विनिश्चितार्थप्रापकत्वमस्य लक्षणं लभ्यते । विनिश्चितार्थप्राप्तिश्चास्य सामान्या न तूपगमे सति विशेषाभ्युपगमात्, अत एव विशेषेणावह्रियते—निराक्रियते सामान्यमनेनेति (निरुक्त) युक्त्युपपत्तिः । जलाहरणाद्युपयोगिनो घटादिविशेषानेवायमङ्गीकरोति, न तु सामान्यं तस्यार्थक्रियाऽहेतुत्वात्, न हि गां बधानेत्युक्ते कश्चिद्गोत्वं बद्धुमध्यवस्यत्यननुगतव्यवहारश्चानपोहादिनाऽप्युपपत्स्यते, अखण्डाभावनिवेशाच्च नाऽन्योन्याश्रयोऽस्तु वा सर्वत्र शब्दानुगमादेवानुगतत्वव्यवहारः, कारणत्वव्याप्त्यादावित्थमेवाभ्युपगमादित्यादिकं प्रपञ्चितमन्यत्र ।

उपचारबाहुल्यं विवृणोति—

दह्यते गिरिरध्वाऽसौ, याति श्रवति कुण्डिका ।
इत्यादिरुपचारोऽस्मिन्, बाहुल्येनोपलभ्यते ॥ २६ ॥

'दह्यत' इति, असौ गिरिर्दह्यते, अत्र गिरिपदस्य गिरिस्थतृणादौ लक्षणा, भूयो दग्धत्वप्रतीतिः प्रयोजनम् । असावध्वा याति, अत्राध्वपदस्याध्वनि गच्छति पुरुषसमुदाये लक्षणा, नैरन्तर्यप्रतीतिः प्रयोजनम् । कुण्डिका स्रवतीत्यत्र कुण्डिकापदस्य कुण्डिकास्थजले लक्षणा, निविडत्वप्रतीतिः प्रयोजनम् । सर्वत्रोद्देश्यप्रतीतिर्लक्ष्यार्थे मुख्यार्थाभेदाध्यवसायात्माकव्यञ्जनामहिम्ना व्युत्पत्तिमिमिम्ना चेति विवेचितमन्यत्रेत्यादिरुपचारो गौणोऽस्मिन् व्यवहारनये बाहुल्येनेतरनयापेक्षया भूम्नोपलभ्यते ।

विस्तृतार्थं विवृणोति—

विस्तृतार्थो विशेषस्य, प्राधान्यादेष लौकिकः ।
पञ्चवर्णादिभृङ्गादौ, श्यामत्वादिविनिश्चयात् ॥ २७ ॥

"विस्तृतार्थ" इति विशेषस्य प्राधान्यादेष विस्तृतार्थः, तत्प्राधान्यं च व्यक्तिष्वेवोपयुक्ततया संकेताश्रयणादिना बोध्यम् । तथा वस्तुतः पञ्चवर्णावयवारब्धशरीरत्वेन पञ्चवर्णादिमति भृङ्गादौ श्यामत्वादेरेव विनिश्चयादेष लौकिकः । यथा हि लोको निश्चयतः पञ्चवर्णेऽपि भ्रमरे कृष्णवर्णमेवाङ्गीकरोति, तथाऽयमपीत्यस्य लौकिकसमत्वमिति नयविदः । न-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च कृष्णो भ्रमर इत्यत्र विद्यमानेतरवर्णप्रतिषेधाद् भ्रान्तत्वम-नुद्भूतत्वेनेतराविवक्षणात्, तदनुद्भूतवर्ण-विवक्षाया एवाभिलापादिव्यवहारहेतुत्वात्, कृष्णादिपदस्यो-द्भूतकृष्णादिपरत्वाद्वा अतात्पर्यज्ञं प्रत्येतस्यावोधत्वेनाप्रा-माण्येऽपि तात्पर्यज्ञं प्रति प्रामाण्याल्लोकव्यवहाराऽनुकूलवि-वक्षाप्रयुक्तत्वेन च भावसत्यत्वाविरोधात्, अत एव पीतो भ्रमर इति न व्यवहारतो भावसत्यं लोकव्यवहारानुकूल-त्वात्, नापि निश्चयतः पञ्चवर्णपर्याप्तिमिति पञ्चवर्णप्रकारत्वा-भावेनावधारणाक्षमत्वादित्यसत्यमेवेति दिग्॥ २७॥

ननु कृष्णो भ्रमर इति वाक्यवत्पञ्चवर्णो भ्रमर इति वाक्यमपि कथं न ? व्यवहारनयानुरोधितस्यापि लोकव्य-वहारानुकूलत्वादागमबोधितार्थेऽपि व्युत्पन्नलोकस्य व्य-वहारदर्शनात्, लोकबाधितार्थबोधकवाक्यस्याव्यवहारकत्वे च आत्मा न रूपवानित्यादिवाक्यस्याप्यव्यवहारकत्वापाता-त्तस्याप्यात्मगौरवत्वादिबोधकलोकप्रमाणबाधितार्थबोधक-त्वाद्, भ्रान्तलोकाबाधितार्थबोधकत्वं चोभयत्र तुल्यं प्रत्य-क्षनियतैव व्यवहारिविषयता, न त्वागमादिनियतेति तु व्यवहारदुर्नयस्य चार्वाकमतप्रवर्त्तकस्य मतम्, न तु व्यवहार-नयस्य जैनदर्शनस्पर्शिन इत्याशङ्कायामाह—

पञ्चवर्णाभिलापेऽपि, श्रुतव्युत्पत्तिशालिनाम्।
न तद्बोधे विषयता, परांशे व्यावहारिकी॥ २८॥

'पञ्चे' ति पञ्चवर्णो भ्रमरः इति शब्दाभिलापेऽपि श्रुतव्युत्पत्तिशालिनां तत्तन्नयाभिप्रायप्रयुक्तः शब्दस्तत्र नयीयविषयतयैव शाब्दबोधक इति सिद्धान्तसिद्धका-र्यकारणभावग्रहवतां तद्बोधे उक्ताभिलापजन्यशाब्दबोधे परांशे कृष्णेतरवर्णांशे व्यावहारिकी विषयता नाऽस्ति। तथा च—पञ्चवर्णो भ्रमर इति शाब्दबोधे कृष्णांशे व्याव-हारिक्या संवलिता, इतरांशे च शुद्धा नैश्चयिकी विषयता। अदृष्टार्थे सर्वत्र संवलनसंभवेऽपि लोकप्रसिद्ध (द्धार्थानु) नयवादस्थले क्वचिदेव संवलनाऽभ्युपगमादिति न कश्चिद्दोष इति भावनीयम्। नयो०। सूत्र०। स्या०। (व्यवहारभेदाः 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८६४ पृष्ठे गताः।

दव्वट्ठियनयपगडी, सुद्धा संगहपरूवणा विसओ।
पडिरूवे पुण वयण-त्थनिच्छओ तस्स ववहारो॥४॥

सम्म०१काण्ड।('दव्वट्ठिय'शब्दे चतुर्थभागे २४६७ पृष्ठे व्या-ख्यातैषा।) व्यवहारोऽपि प्रमाणम्। ननु विरतिपरिणामो भावतः प्रव्रज्येति जिनोपदेशः, तत्रैव निर्भरः कर्त्तव्यः किमनेन चैत्यवन्दनादिक्रियाकलापेन ?, श्रूयते—तमन्तरेणापि भर-तादीनां विरतिपरिणामः, अन्यथा—केवलानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च संपादितेऽपि तस्मिन् तत्परिणामो भवति, अभव्या-नामप्यनेन विधिना प्रव्रज्याग्रहणश्रवणात्, इत्यन्वयव्य-तिरेकव्यभिचाराभ्यां न युक्तं चैत्यवन्दनादि, इति चेन्मैवम्, प्रायो विरतिपरिणामहेतुत्वेन तदुपादानात्, न ह्येतावद्विधि-संपत्तिमानकार्यं प्रायः सेवमाना दृश्यते, तेन कार्येण कार-णमनुमीयते इति। न चोक्तव्यभिचारो दोषः तस्य कादा-चित्कत्वात्, तथा च-कदाचिद्दण्डं विनाऽपि हस्तादिनैव चक्रभ्रमणाद्घटोत्पादेऽपि घटं प्रति दण्डस्येव व्यवहारं वि-नाऽपि पूर्वाभ्यस्तकरणानां तथा भव्यत्वपरिपाकवतां भर-तादीनां कदाचिद्विरतिपरिणामोत्पादेऽपि तं प्रति व्यवहा-रस्य न हेतुताक्षतिः, द्वारस्यान्यत एव सिद्धेः, स्वप्रयो-ज्यद्वारसम्बन्धेनैव च हेतुत्वाद्। अभव्यानां च बाह्यव्यव-हारसत्त्वेऽपि विरतिपरिणामानुत्पादो न दोषाय, अन्तरङ्ग-रणाऽसत्त्वात्, सामग्र्या एव कार्यजनकत्वाद्। अविवेकमूल-व्यभिचारदर्शनस्य विवेकिनामविश्वासाऽजनकत्वात्, तादृ-शाविश्वासस्य महानर्थनिमित्तत्वादिति भावः। यत उक्त-मावश्यके-"पत्तेअबुद्धकरणे, चरणं नासंति जिणवरिंदाणं। आहच्च भावकहणे, पंचहिँ ठाणेहिँ पासत्था॥ १॥" 'पंच-हिं' ति प्राणातिपातादिभिरिति, तस्माद्व्यवहारनया-देशाच्चैत्यवन्दनादिरुपवर्ण्यमानो युक्त एव, व्यवहारनि-श्चययोर्द्वयोरेव तुल्यताया एव सूत्रे भणनात्। तदुक्तम्-"ज-इ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारनिच्छए मुअह। ववहारणउच्छेए, तित्थुच्छेओ जओऽवस्सं॥ १॥ " व्य-वहारप्रवृत्त्या हि चैत्यवन्दनादिविधिना प्रव्रजितोऽहमि-त्यादिलक्षणया शुभपरिणामो भवति, ततः कर्मक्षयोपशमा-दिः, ततश्च निश्चयनयसम्मतो विरतिपरिणाम इति द्वयोर-पि तुल्यत्वम्। न च निश्चयव्यवहारकार्ययोर्मुक्तिलक्षणं कार्यं प्रति साक्षात्परंपराकारणतयाऽभ्यर्हितत्वाऽनभ्यर्हितत्वा-भ्यां विशेषः, निश्चयकार्यस्य व्यापारतया व्यवहारकार्यस्य साक्षाद्धेतुताया अविरोधाद्, अभ्यर्हितत्वाच्चतेः, वदन्ति हि तान्त्रिकाः-'न हि व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धि' रिति, न चासति विरतिपरिणामे चैत्यवन्दनादिविधिसंपादने मृषावादोऽपि गुरोर्भगवदाज्ञासंपादनेन त्वं प्रव्रजितोऽसी-त्यादिव्यवहारसत्यवचनस्याऽक्षतत्वात्, एतदकरणे तीर्थो-च्छेदादयो दोषाः, परिणामस्य सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघा-तात्। आहत्य भरतादिभावकथनं चाऽशास्त्रार्थम्। ध० ३ अधि०। पं० सू०। श्रा०। वृ०।

ववहारो वि हु बलवं, जं छउमत्थं पि वंदई अरहा।
जा होइ अणाभिण्णो, जाणंतो धम्मयं एयं॥ ८२६॥

व्यवहारोऽपि आस्तां निश्चय इत्यपिशब्दार्थः। हुः-निश्चि-तं बलवान्। यद्-यस्माच्छद्मस्थमपि-स्वगुरुप्रभृतिकं वन्दते अरहा-केवली। कियन्तं कालमित्यादि, यावदसौ 'अ-णाभिन्नो' त्ति केवलितया अनभिज्ञातो भवति, तावदे-नं व्यवहारनयं बलवत्—बलवत्त्वलक्षणं धर्म्मतो जान-न् छद्मस्थमपि वन्दते इति। बृ० ३ उ०। (असद्भूतव्यवहा-रः, सद्भूतव्यवहारश्च 'उवणय' शब्दे द्वितीयभागे ८६५ पृष्ठे वर्णितः। 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८६२ पृष्ठे विशेषतः प्रतिपादित एषः।)

ववहारपरमाणु–व्यवहारपरमाणु–पुं०। व्यवहारगते परमाणौ, सेन०। अनन्तसूक्ष्मपरमाणुभिरेको व्यवहारपरमाणुर्जायते, अष्टव्यवहारपरमाणुभिरेका उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका जायते। ४८२ सेन० ३ उल्ला०। ('त्रसरेणु' शब्दे चतुर्थभागे २२१८ पृष्ठेऽत्रत्यविस्तरो गतः।)

ववहारमणिय–व्यवहारमणित-त्रि०।छेदग्रन्थोक्ते,जी०१प्रति०।

ववहारभावकुसल–व्यवहारभावकुशल–पुं०। व्यवहारश्च भा-वश्च व्यवहारभावौ तत्र कुशलः। व्यवहारे भावे च कुशले, दर्श०। व्यवहारश्च भावश्च व्यवहारभावौ तस्मिन् कुशला व्यवहारभावकुशलाः। तत्र व्यवहारो-धर्मार्थकामलोक-रूपश्चतुर्विधः,धर्मकुशलो हि कुतीर्थिसंसर्गं न करोति कुती-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

र्थिविम्वविक्रयं न करोति। अर्थकुशलः-पुनरर्थोपार्जनं हस्तलाघवादिपरित्यागेन करोति।) दर्श०। (कामकुशलव्याख्या 'कामकुशल' शब्दे तृतीयभागे ४३३ पृष्ठे गता।) लोककुशलता पुनर्यदुत्तमलोकसंपर्कः क्रियते,राजाऽमात्यादेर्वा यत्सदा सद्भावावसरमुपचरति। दर्श० ३ तत्त्व।

ववहाररासि-व्यवहारराशि-पुं०। व्यवहाररूपे राशौ, सेन०। "जइआ होही पुच्छा, जिणाण मग्गम्मि उत्तरं तइआ। इक्कस्स निगोअस्स य, अणंतभागो अ सिद्धिगओ॥१॥" इत्येतद्वचः किं वादरनिगोदापेक्षिकमुत सूक्ष्मनिगोदापेक्षिकम्?, सूक्ष्मनिगोदापेक्षायामपि सांव्यवहारिकसूक्ष्मनिगोदापेक्षिकत्वे व्यवहारराशिमनुप्राप्ता अपि केचन जीवा न मुक्तिं कदाचिद्यास्यन्तीति महत्यनुपपत्तिः कथं निरस्यति?, प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—एकस्य निगोदस्यानन्ततमो भागो मोक्षं गत इति सामान्येनोक्तमस्ति, न तु सूक्ष्मनिगोदस्य वादरनिगोदस्य वेति विवेकेन, परमुभयथाऽपि न कश्चिद्विरोधः, यतो व्यवहारराशिं प्राप्ताः सर्वे जीवा मोक्षं यान्तीति नियमो नास्ति, तथा च सति श्रीमदुद्भाविताऽनुपपत्तिरप्यनवकाशेति॥ ७४॥ सेन० १ उल्ला०। "सिज्झंति जत्तिआ किर, इह संववहारजीवरासीओ। जंति अणाइवणस्सइ—रासीओ तत्तिआ तम्मि" त्ति॥१॥ इति वचनानुसारेण यावन्तः सिध्यन्ति तावन्त एव जीवा अनादिनिगोदा व्यवहारराशौ यान्त्येवं सत्यनादिसंसारमाश्रित्य विचारे यावन्तः सिद्धाः तावन्त एव सदैव व्यवहारिणोऽपि मृग्यन्ते नाधिकाः, परम्-"जइआ होही पुच्छा, जिणाणमग्गम्मि दंसणं तइआ। इक्कस्स निगोअस्स य, अणंतभागो अ सिद्धिगओ॥१॥" एतदनुसारेणैकस्य सूक्ष्मवादरान्यतरनिगोदस्यानन्ततमो भागः सिद्धिगतस्तथैव व्यवहारिणोऽप्येकस्य निगोदस्यानन्ततम एव भागे युज्यन्ते दृश्यन्ते च-"जीवाः सर्व्वे व्यवहार्य-व्यवहारितया द्विधा। सूक्ष्मनिगोदा एवान्त्या-स्तेऽन्येऽपि व्यवहारिणः॥१॥" इत्येतद् व्यवहारिलक्षणानुसारेण वादरनिगोदादौ सिद्धेभ्योऽनन्तानन्तगुणास्तस्माच्च ज्ञायन्ते सिद्धेभ्यो व्यवहारिजीवा अधिका वा तुल्या वेति सम्यक् प्रसाद्यमिति? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-सिद्धा निगोदस्यानन्ततमे भागे उक्ताः,निगोदाश्च द्विधा-सूक्ष्मा वादराश्च, यावन्तः सिध्यन्ति तावन्तः सूक्ष्मनिगोदेभ्यो व्यवहारराशौ समायान्ति, तथा च कथं सिद्धजीवानां व्यवहारराशिजीवानां च तुल्यता, 'सिज्झंति जत्तिये' त्यादिगाथार्थोऽपि व्यवहारराशेस्तत्तद्ग्रन्थानुसारेणानादितया प्रतिभासात्तदनुरोधेनैव भावनीय इति॥२१०॥ सेन० २ उल्ला०। (केचन निगोदजीवा लघुकर्मीभूय व्यवहारराशौ समायान्तीति 'णिगोयजीव' शब्दे चतुर्थभागे २०३२ पृष्ठे प्रतिपादितम्।) व्यवहारराशिं प्राप्तो जीवः पुनः सूक्ष्मनिगोदमध्ये याति न वा? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-स जीवः सूक्ष्मनिगोदे याति,परं व्यावहारिक एवोच्यते इति॥११८॥ सेन० ४ उल्ला०।

ववहारवं-व्यवहारवत्-त्रि०। आगमश्रुताज्ञाधारणजीतलक्षणानां पञ्चानामुक्तरूपाणां व्यवहाराणां ज्ञातरि, स्था० ८ ठा० ३ उ०। व्यवह्रियतेऽपराधजातं प्रायश्चित्तप्रदानतो येन स व्यवहारः। आगमादिकः पञ्चप्रकारः, सोऽस्यास्तीति व्यवहारवान्। यः सम्यगागमादिव्यवहारं जानाति, ज्ञात्वा च सम्यक् प्रायश्चित्तदानतो व्यवहरति स व्यवहारवानिति भावः। व्य० १ उ०। स च यथावच्छुद्धिसमर्थो भवति। ध० २ अधि०। भ०।

ववहारसच्च-व्यवहारसत्य-न०। व्यवहारेण सत्यं व्यवहारसत्यम्। सत्यभेदे, यथा दह्यते गिरिर्गलति भाजनम्, अयश्च गिरिगततृणादिदाहे व्यवहारः प्रवर्तते, उदके च गलिते सतीति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

ववहारसच्चा-व्यवहारसत्या-स्त्री०।व्यवहारतो लोकविवक्षातः सत्या व्यवहारसत्या। लोकव्यवहारमपेक्ष्य साधोरपि तथा ब्रुवतो भाषायाम्, प्रज्ञा० ११ पद। ध०।

ववहारसत्थ-व्यवहारशास्त्र-न०। लोकव्यवहारप्रतिपादके शास्त्रे, "नग्नार्त्त प्रोषितयातः, सचेलो भुक्तभूषितः। नैव स्नायादनुव्रज्य, बन्धून् कृत्वा च मङ्गलम्"॥१॥ इत्यादि। ध० २ अधि०।

ववहारसम्मत्त-व्यवहारसम्यक्त्व-न०। ज्ञानश्रद्धाचरणैः सप्तषष्टिभेदशीलने च व्यवहारमात्रतः सम्यक्त्वे, ध० २ अधि०।

ववहारसुद्धि-व्यवहारशुद्धि-स्त्री०। व्यवहारस्य शुद्धिः व्यवहारशुद्धिः व्यवहारशुद्धयैव च सर्वोऽपि धर्मः सफलः, यदाह-

"ववहारसुद्धि धम्मस्स, मूलं सव्वन्नुभासए।
ववहारेणं तु सुद्धेणं, अत्थसुद्धी तओ भवे॥१॥
सुद्धेणं चेव अत्थेणं, आहारो होइ सुद्धओ।
आहारेणं तु सुद्धेणं, देहसुद्धी जओ भवे॥२॥
सुद्धेणं चेव देहेणं, धम्मजुग्गो अ जायइ।
जं जं कुणइ किच्चं तु, तं तं से सफलं भवे॥३॥
अणहा अफलं होइ, जं जं किच्चं तु सो करे।
ववहारसुद्धिरहिओ, धम्मं खिंसावए जओ॥४॥
धम्मखिंसं कुणंताणं, अप्पणो अ परस्स य।
अबोही परमा होइ, इअ सुत्ते वि भासिअं॥५॥
तम्हा सव्वपयत्तेणं, तं तं कुज्जा वियक्खणो।
जेण धम्मस्स खिंसं तु, न करे अबुहो जणो॥६॥"

अतो व्यवहारशुद्धयै सम्यगुपक्रम्य इत्युक्तलक्षणे शुद्धिस्वरूपे, ध० २ अधि०।

ववहाराऽऽभास-व्यवहाराभास-पुं०। अयथार्थे व्यवहारे, योऽपारमार्थिकद्रव्यपर्यायप्रविभागमभिप्रैति। स्था० २ ठा० ३ उ०। (अस्य स्वरूपम् 'णयाभास' शब्दे चतुर्थभागे १६०३ पृष्ठे दर्शितम्।)

ववहारि(ण्)-व्यवहारिन्-त्रि०। व्यवहारः पण्यक्रयविक्रयलक्षणो विद्यते यस्य सः। सांयात्रिके, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। व्यवहारस्य कर्तरि, व्यवहारच्छेत्तरि, व्य० १ उ०।

संप्रति व्यवहारिण(ण)इति द्वितीयं द्वारमभिधित्सुराह-

दव्वम्मि लोइया खलु, लंचिल्ला भावतो उ मज्झत्था।
उत्तरदव्वअगीया, गीया वा लंचपक्खेहिं॥ १३॥

व्यवहारिणश्चतुर्द्धा, तद्यथा—नामव्यवहारिणः, स्थापनाव्यवहारिणः, द्रव्यव्यवहारिणो, भावव्यवहारिणश्च। तत्र नामस्थापने सुज्ञाने। द्रव्यव्यवहारिणो द्विधा-आगमतो, नो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगमतश्च। तत्र-आगमतो व्यवहारिशब्दार्थज्ञाः ते चानुपयुक्ताः, नोआगमतस्त्रिविधाः-ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरद्रव्यव्यवहारिणः प्रतीताः। तद्व्यतिरिक्ता द्विविधाः-लौकिकाः, लोकोत्तरिकाश्च। भावव्यवहारिणोऽपि द्विविधाः—आगमतो, नोआगमतश्च। आगमतो व्यवहारिशब्दार्थज्ञाः, तत्रैवोपयुक्ताः, नोआगमतो द्विधा—लौकिका, लोकोत्तरिकाश्च। तत्र पूर्वार्द्धेन नोआगमतो द्रव्यभावलौकिकव्यवहारिणः प्रतिपादयति-द्रव्ये विचार्यमाणे नोआगमतो—ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता लौकिका व्यवहारिणः। " खलु लंचिल्ला ' इति लञ्चा उत्कोच इत्यनर्थान्तरम्, तद्वन्तः। किमुक्तं भवति-परलञ्चामुपजीव्य ये सापेक्षाः सन्तो व्यवहारपरिच्छेदकारिणस्ते द्रव्यतो लौकिकाः व्यवहारिणः। ' भावतो उ मज्झत्था' इति। भावतः पुनः—नोआगमतो लौकिकाः व्यवहारिणो-मध्यस्था-मध्ये-रागद्वेषयोरपान्तराले तिष्ठन्तीति मध्यस्थाः। ये परलञ्चोपचारमन्तरेणारक्तद्विष्टाः सन्तो न्यायैकनिष्ठतया व्यवहारपरिच्छेत्तारस्ते नोआगमतो लौकिका भावव्यवहारिण इति भावः। अधुना लोकोत्तरिकान् नोआगमतो द्रव्यव्यवहारिणः प्रतिपादयति—' उत्तरदव्वअगीया ' इत्यादि। उत्तरे-लोकोत्तरे द्रव्ये विचार्यमाणा नोआगमतो द्रव्यव्यवहारिणः, अगीता-अगीतार्थाः, ते हि यथावस्थितं व्यवहारं न कर्तुमवबुध्यन्ते। ततस्तद्व्यवहारोऽद्रव्यव्यवहार एव,भावस्य यथावस्थितपरिज्ञानलक्षणस्याभावात्। द्रव्यशब्दोऽत्राप्रधानवाची, अप्रधानव्यवहारिणस्ते इत्यर्थः। ' गीया वा लंचपक्खेहिं ' इति। यदि वा—गीतार्था अपि सन्तो ये परलञ्चामुपजीव्य व्यवहारं परिच्छिन्दन्ति, तेऽपि द्रव्यव्यवहारिणः। अथवा—वित्तादिलञ्चया गीतार्था अपि ये ममायं भ्राता ममायं निजक इति पक्षेण—पक्षपातेन व्यवहारकारिणस्तेऽपि द्रव्यव्यवहारिणः,माध्यस्थ्यस्वरूपस्य भावस्यासंभवात्।

सम्प्रति नोआगमतो लोकोत्तरिकान् भावव्यवहारिणः प्राह-

पियधम्मा दढधम्मा, संविग्गा चेव ऽवज्जभीरू य।
सुत्तत्थतदुभयविऊ, ऽणिस्सियववहारकारी य॥ १४॥

प्रियो धर्मो येषां ते प्रियधर्माणः,धर्मे दृढा दृढधर्माः,राजदन्ताऽऽदित्वात् दृढशब्दस्य पूर्वनिपातः। अत्र चतुर्भङ्गिका-प्रियधर्माणो नामैके नो दृढधर्मा इति प्रथमो भङ्गः। नो प्रियधर्माणो दृढधर्मा इति द्वितीयः। अपरे प्रियधर्माणो दृढधर्माश्चेति तृतीयः। अन्ये नो प्रियधर्माणो नो दृढधर्मा इति चतुर्थः। अत्र तृतीयो भङ्गोऽधिकृतो न शेषा इति प्रतिपत्त्यर्थं विशेषणान्तरमाह—संविग्नाः—संविग्ना नाम-उत्त्रस्तास्ते च द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतः संविग्ना मृगास्तेषां यतस्ततो वा बिभ्यतां प्रायः सदैवोत्त्रस्तमानसत्वात्। भावसंविग्ना ये संसारादुत्त्रस्तमानसतया सदैव पूर्वरात्रादिष्वेतच्चिन्तयन्ति-"किं मे कडं किं च मम‌ऽत्थि सेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि" इत्यादि, अत्र भावसंविग्नैरधिकारः। भावसंविग्नप्रतिपत्त्यर्थमेव विशेषणान्तरमाह—' ऽवज्जभीरू' अवद्यं-पापं तस्य भीरवः। ये च अवद्यभीरवस्ते भावसंविग्ना एवेति भवन्ति। अवद्यभीरुग्रहणेन भावसंविग्नप्रतिपत्तिः। एतांश्च यथोक्तविशेषणैः विशिनष्टि। अपि गीतार्थत्वमृते भावव्यवहारकारिणो भवन्तीति गीतार्थं (त्व) प्रतिपत्त्यर्थमाह-' सुत्तत्थतदुभयविऊ'-सूत्रं च अर्थश्च तदुभयं चेति। तच्च तत्-सूत्रार्थलक्षणम्, उभयं च, तदुभयम्। सूत्रार्थतदुभयानि विदन्तीति सूत्रार्थतदुभयविदः। किमुक्तं भवति-सूत्रचिन्तायां सूत्रम्, अर्थचिन्तायामर्थं तदुभयचिन्तायां तदुभयं ये विदन्ति ते सूत्रार्थतदुभयविदः। इह सूत्रार्थवेदने चतुर्भङ्गी, सूत्रविदो नामैके नार्थविदः १। नो सूत्रविदोऽर्थविदः २। अपरे-सूत्रविदोऽपि अर्थविदोऽपि ३। अन्ये नो सूत्रविदो नाप्यर्थविदः ४। अत्र तृतीयभङ्गेनाधिकारः, तत्रापि सूत्रवेलायां सूत्रविद्भिरर्थवेलायामर्थविद्भिस्तदुभयवेलायां तदुभयविद्भिरिति सूत्रार्थतदुभयग्रहणम्। 'अणिस्सियववहारकारी य' इति निश्रा-रागः निश्रा संजाता अस्येति निश्रितः, न निश्रितोऽनिश्रितः, स चासौ व्यवहारश्च अनिश्रितव्यवहारस्तत्करणशीला अनिश्रितव्यवहारकारिणः, न रागेण व्यवहारकारिण इति भावः। एकग्रहणे तज्जातीयस्याऽपि ग्रहणमिति न्यायादनुपश्रितव्यवहारकारिण इत्यपि द्रष्टव्यम्। तत्र उपश्रा नाम—द्वेषः, उपश्रा संजाता अस्येति उपश्रितः, न उपश्रितोऽनुपश्रितः स चासौ व्यवहारश्च तत्करणशीला अनुपश्रितव्यवहारकारिणः, न द्वेषेण व्यवहारकारिण इत्यर्थः। अथवा—एषोऽनुवर्तितः स न मह्यमाहारादिकमानीय दास्यतीत्यपेक्षया, निश्रा—एष मदीयः शिष्यः, यदि वा-प्रतीच्छकः, अथवा-मदीयं मात्रादिकुलमेतत् मदीया वा एते श्रावका इत्यपेक्षया उपश्रा। शेषं तथैव। अनिश्रितव्यवहारकारिण इति। किमुक्तं भवति--लञ्चोपचारानिरपेक्षव्यवहारकारिणः न रागेण व्यवहारकारिणः। किमुक्तं भवति—पक्षपातनिरपेक्षव्यवहारपरिच्छेत्तार इति।

अथ प्रियधर्मदृढधर्मसंविग्नसूत्रार्थतदुभयविद्ग्रहणे किं फलमित्यत आह।

पियधम्मे दढधम्मे य, पच्चओ होइ गीयसंविग्गो।
रागो उ होइ निस्सा, उवस्सितो दोससंजुत्तो॥ १५॥

प्रियधर्मणि दृढधर्मे, चः समुच्चये, भिन्नक्रमश्च। गीते-गीतार्थे सूत्रार्थतदुभयविदि संविग्ने च प्रायश्चित्तं ददति प्रत्ययो-विश्वासो भवति। यथाऽयं प्रियधर्मा दृढधर्मः गीतार्थः संविग्नश्चेति नान्यथा प्रायश्चित्तव्यवहारकारीति प्रियधर्मादिपदानामुपन्यासः। तथा अनिश्रितव्यवहारकारिण इत्यत्र यो निश्राशब्दस्तदर्थमाचष्टे-रागस्तु भवति निश्रा,अनुपश्रितव्यवहारकारिण इत्यत्रोपश्रितशब्दस्य व्याख्यानमाह—उपश्रितो द्वेषसंयुक्तः, उपश्रा—द्वेष इत्यनर्थान्तरमिति भावः।

द्वितीयं व्याख्यानं निश्रो-पश्राशब्दयोर्दर्शयति—

अहवा आहारादी, दाहिइ मज्झं तु एस निस्साओ।
सीसो पडिच्छओ वा, होइ उवस्सा कुलादी वा॥ १६॥

अथवेति—व्याख्यानान्तरोपदर्शने, एषोऽनुवर्तितः सन् मह्यमाहारादिकं दास्यतीत्येषा अपेक्षा लञ्चोपजीवनस्वभावा, निश्रा, तथा-एष मे शिष्य एष मे प्रतीच्छक इदं मे मातृकुलम्, इदं मे पितृकुलम् आदिशब्दाद्—इमे मम सहदेशनिवासिनः भक्ता वा इमे सदैव ममेत्यपेक्षाभ्युपगमस्वरूपा भवन्तु पश्रा, अस्यां हि व्यवहारिणो भवन्ति। ' गीया वा लंचपक्खेहिं " इति वचनात्तत एवायं प्रतिषेधः। उक्ता व्यवहा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रिण। व्य० १ उ०। जीत०। (अष्टौ व्यवहारिणः अष्टाव-व्यवहारिणश्च ' ववहार ' शब्दे पृष्ठेऽनुपदमेव दर्शिताः)

ववहिअ-देशी-मत्ते, दे० ना० ७ वर्ग ४१ गाथा।

ववहिय-व्यवहित-न०। शून्ये, विशे०। यत्र प्रकृतं मुक्त्वा अप्रकृतं व्यासतोऽभिधाय पुनः प्रकृतमुच्यते तादृशे सूत्र-दोषे,विशे०। अनु०। व्यवहितं नाम-अन्तर्हितम्, यत्र प्रकृत-मुत्सृज्याप्रकृतं विस्तरतोऽभिधाय पुनः प्रकृतमधिक्रियते। यथा-हेतुकथामधिकृत्य सुप्तिङन्तपदलक्षणप्रपञ्चमर्थशास्त्रं वाऽभिधाय पुनर्हेतुवचनम्। आ० म० १ अ०।

ववहियकप्पणा-व्यवहितकल्पना-स्त्री०। साकाङ्क्षाणां व्यव-हितानां पदानां सान्निध्यकल्पनालक्षणे व्याख्यानाङ्गे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

ववीलय-अपव्रीडक-पुं०। अपव्रीडयति-लज्जां मोचयतीति अपव्रीडकः। आलोचकं लज्जयाऽतीचारान् गोपायन्तं यो वि-चित्रमधुरादिवचनप्रयोगैस्तथा कथञ्चनापि वक्ति,यथास ल ज्जामपहाय सम्यगालोचयति तादृशे आलोचनार्हे, व्य०१उ०।

वस-वश-त्रि०। पारतन्त्र्ये,ज्ञा०१श्रु०८अ०। अस्वायत्ततायाम्, सूत्र०१ श्रु० ४ अ० १ उ०। ज्ञा०। औ०। स०। प्रश्न०। बले, ज्ञा०। १ श्रु० १७ अ०। सामर्थ्ये, षो० १५ विव०। भ०। औ०।

वस-पुं०। वसतीति वसः अच् प्रत्यये रूपम्। वासिनि,जै०गा०।

वृष-पुं०। वृषभे, कर्म० १ कर्म०।

वसंत-वसन्त-पुं०। लोकोत्तररीत्या नवमे मासे, सू० प्र० १० पाहु०। कल्प०। स्था०। ऋतुभेदे, स च चैत्रफाल्गुनौ। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। (इति जैनमतम्।) चैत्रवैशाखाविति लोके, चं० प्र० १२ पाहु०। सू० प्र०। प्रश्न०। भ०। अनु०। वसन्तऋतौ, "सुरही महू वसंतो।" पाइ० ना० १२६ गाथा।

वसंतउर-वसन्तपुर-न०। मगधजनपदे स्वनामख्याते नगरे, यत्र समाधिको नाम कुटुम्बी प्रतिवसति। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। आव०। विशे०। आ० म०। दर्श०। आ० क०। ज्यो०। आ० चू०।

वसंतणिव-वसन्तनृप-पुं०। विडम्बप्रायचैत्रमासपरिहास-कृतराजे, षो० १२ विव०।

वसंतमास-वसन्तमास-पुं०। फाल्गुनमासे, चं० प्र० १० पाहु०।

वसंतय-वसन्तक-पुं०। उज्जयिन्यां प्रद्योतनृपतेर्हस्तिवाहके, आ० क० ४ अ०। आव०, "एष प्रयाति सार्थः, काञ्चन-माला वसन्तकश्चैव। भद्रवती घोषवति, वासवदत्ता उदयन-श्च।१।" आ०चू०४अ०। आव०। ('सेणिय' शब्दे कथा वक्ष्यते)

वसंतसिरी-वसन्तश्री-स्त्री०। विराटदेशे धराधरनगरे व-सन्तसेनगृहपतेर्भार्यायाम्, दर्श० २ तत्त्व। (रागे तदुदा-हरणं दर्शनशुद्धिग्रन्थादावुक्तम्।)

वसट्ट-वशार्त्त-त्रि०। वशेनेन्द्रियपारतन्त्र्येण ऋताः-पीडि-ताः वशार्त्ताः। वशं वा-विषयपारतन्त्र्यमृताः-प्राप्ताः वशा-र्त्ताः। ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। कर्मायत्तेषु, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

वसट्टमयग-वशार्त्तमृतक-पुं०। वशेनेन्द्रियपारतन्त्र्येण ऋतः-पीडितो वशार्त्तः, वशं वा-विषयपारतन्त्र्यमृतः-प्राप्तो व-शार्त्तः। वशार्त्ततया मृते, औ०।

वसट्टमरण-वशार्त्तमरण-न०। विषयपारतन्त्र्यतया दुःखम-रणे, भ० २ श० १ उ०। स्था०। ज्ञा०। स०। उत्त०। प्रव०। नि० चू०।(व्याख्या'मरण'शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०६ पृष्ठे गता।)

वसण-वसन-न०। वर्तने, आ० म० १ अ०। आवासे, जं० २ वक्ष०। चीनकादौ वस्त्रे, पं० भा० ५ कल्प। वस्त्रे, "चैलं वासं वसणं च, अंसुअं अम्बरं वत्थं"। पाइ० ना० ६६ गाथा। परिधाने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। प्रश्न०। नि० चू०।

वृषण-पुं०। अण्डे, औ०। विपा०। पोत्रके, उपा० २ अ०।

व्यसन-न०। आयति, [आव० ४ अ०।] दुःखे, द्यूतादिषु, दर्श० ४ तत्त्व।

अथ व्यसनसप्तकमाह—

इत्थी जूयं मज्जं, मिगयावसणं तहा वयणफरुया य।
दंडफरुसत्तमत्थस्स, दूसणं सत्त वसणाइं ॥ १३४ ॥

यद्राजा अन्तःपुरस्त्रीषु नित्यमासक्तस्तिष्ठति तत् स्त्री-व्यसनम्, यद् द्यूतं विनोदेनानवरतं दीव्यति तत् द्यूत-व्यसनम्, यत्पुनर्मद्यपानकेन नित्यं मूर्छित इवास्ते तन्म-द्यव्यसनम्, यत्तु मृगया आखेटकस्तत्रानेकेषां मृगादिजन्तू-नां वधं करोति तन्मृगयाव्यसनम्, एतेषु चतुर्षु व्यासक्तो राज्यकार्याणि न शीलयति। तथा यत् खरपरुष-वचनैः सर्वानपि जनान्निर्विशेषमाक्रोशति तद्वचनपरु-षताव्यसनम्, अत्र वचनदोषेण दुरधिगमनीयो भवति। यत्पुनरनपराधे स्वल्पे वाऽपराधे अत्युग्रदण्डं निर्वर्त्तय-ति तद्दण्डपारुष्यव्यसनम्। अथ च-पौरजानपदानामत्युग्र-दण्डभयेन नश्यतां क्रमेण च प्रजायाः अभावे कीदृशं राज्यमिति। अर्थोत्पत्तिहेतवो येषामाद्युपायचतुष्टयप्रभृ-तयः प्रकारास्तेषां यद्दूषणं तदर्थदूषणव्यसनम्, अत्र चा-र्थोत्पत्तिहेतून् दूषयते न तथाविधोऽर्थ उत्पद्यते, अर्थोत्प-त्त्यभावे चाचिरादेव कोशः परिहीयते, परिहीनकोशस्य विनष्टमेव राज्यम्। एतानि सप्त व्यसनानि। बृ० १ उ०। ज्ञा०। ध० र०। दुःखे, पाइ० ना० १७० गाथा। राजाद्युप-सेवे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। 'वसणं पुण वाइत्तगीतादि' वसणं णाम तम्मि वसतीति वसणं। तस्स वा वसे वट्टतीति वसणं। नि० चू० १ उ०। व्यसनेन सामायिकलाभो भवति। आ० म०। आ० क०।

व्यसने द्वौ भ्रातरावुदाहरणम्—

"कुतोऽपि शकटेन द्वौ, भ्रातरौ गच्छतः पथि।
चक्रं मण्डलिनीं रथ्या-स्थितां दृष्ट्वाऽवदन्महान् ॥ १ ॥
शकटं टालयेतस्त्वं, पापो नाटालयल्लघुः।
ऊचे चास्यां विपन्नायां, भ्रातः ? किं भावि सूतकम् ॥ २ ॥
श्रुत्वा सा संज्ञिनी तत्र, चक्रच्छिन्ना मृता तदा।
कुरुदेशे श्रीनिवेशे, हस्तिनागपुरे परे ॥ ३ ॥
कुले कापि बभूव स्त्री, तां धनः श्रेष्ठ्युपायत।
बृहच्छाकटिकस्यात्मा, पूर्वं तस्याः सुतोऽभवत् ॥ ४ ॥
जीवितादप्यभीष्टं तं, परां पुष्टिं निनाय सा।
द्वितीयोऽप्युदरे तस्याः, समुत्पन्नः स्वकर्मणा ॥ ५ ॥
निविष्ट इव पाषाणो, नाभीष्टो गर्भगोऽपि सः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राज्यैः पातनभैपज्यैः , स कृतैरपि नाऽपतत् ॥ ६ ॥
जातश्च वैरिवद् दृष्ट्वा, दास्याश्छर्दितुमर्पितः ।
स दृष्ट्वाऽऽनीय पित्रा तु , दास्याः कस्याश्चिदर्पितः ॥ ७ ॥
अविज्ञातं जनन्या तं, जनकोऽवर्द्धयत्सुतम् ।
महीयान् राजललितो, गङ्गदत्तस्तु कन्यसः ॥ ८ ॥
सुखादिकादिकं ज्यायान् , यत्किंचिल्लभते ततः ।
विश्राणयति तस्यापि , भागं भ्रातुः कनीयसः ॥ ९ ॥
तं विज्ञाय कुतोऽप्यम्बा , दृष्ट्वा हन्ति यथा तथा ।
अन्यदेन्द्रमहे जाते, भुञ्जाने स्वजने जने ॥ १० ॥
पित्राऽऽनीय निवेश्याऽध-स्तुल्यं यावत्स भोज्यते ।
सा तावत्प्रेक्ष्य वृत्ताऽथ, केशेष्वाकर्षति स्म तम् ॥ ११ ॥
चपेटाद्यैस्ताडयित्वा—ऽक्षिपच्छन्दनिकान्तरे ।
नीत्वाऽन्यत्रारुदत्सोऽथ , स्नानं तातेन कारितः ॥ १२ ॥
तदा च तत्र भिक्षार्थ-मेकः साधुः समाययौ ।
श्रेष्ठी पप्रच्छ तं मातुः, पुत्रोऽनिष्टः प्रभो ? भवेत् ॥ १३ ॥

मुनिरुवाच—

यं दृष्ट्वा वर्द्धते कोपः , स्नेहश्च परिहीयते ।
स विज्ञेयो मनुष्येण, एष मे पूर्ववैरिकः ॥ १४ ॥
यं दृष्ट्वा वर्द्धते स्नेहः , क्रोधश्च परिहीयते ।
स विज्ञेयो मनुष्येण , एष मे पूर्वबान्धवः ॥ १५ ॥
ततः श्रेष्ठी तमाहैवं , दीक्षस्वामुं सुतं मम ।
नीतस्तेन गुरूपान्तं , गुरुभिः सोऽथ दीक्षितः ॥ १६ ॥
समागत्य ततः सद्यः , पार्श्वे तस्यैव सद्गुरोः ।
ज्यायानपि प्रवव्राज , भ्रातृस्नेहानुरागतः ॥ १७ ॥
जातौ साधू ततस्तौ द्वौ , तपोनिष्ठौ क्रियापरौ ।
कृशयन्तौ भवं स्वं च , व्यदुपातामनिश्रया ॥ १८ ॥
इतस्तपःप्रभावेन , भूयांसं भाविजन्मनि ।
जगदानन्दन इति , निदानं विदधे लघुः ॥ १९ ॥
गत्वाऽथ त्रिदिवं पश्चा-न्निदानी वसुदेवसूः ।
नवमो वासुदेवोऽभू—द्बलदेवोऽपरः पुनः ॥ २० ॥"
आ० क० १ अ० । आव० । आ० म० ।

वसणपत्त–व्यसनप्राप्त–त्रि० । इन्द्रियपरायत्तताक्रोडीकृतत्वेनोन्मादं वा प्राप्ते, दर्श० ३ तत्त्व । शत्रु० ।

वसणभूय–व्यसनभूत–त्रि० । आपद्भूते, भ० ३ श० ७ उ० ।

वसणविणास–वृषणविनाश–पुं० । वर्द्धितकरणे, स० ।

वसणसेल–व्यसनशैल–पुं० । कष्टपर्वते, अष्ट० २२ अष्ट० ।

वसणि (ण्)–व्यसनिन्–त्रि० । सप्तानां व्यसनानामन्यतरेण व्यसनेन युक्ते, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

वसधि–वसति–स्त्री० । वसन्ति साधवोऽस्यामिति वसतिः । उपाश्रये, बृ० २ उ० । आचा० ।

वसभ (ह)–वृषभ–पुं० । वृषम्–पुण्यं तेन भातीति, वृषभः । संथा० । गीतार्थे,बृ० ३ उ० । आव० । कल्पनागृहीतवसतिनिवासिनि यतिजने, ध० ३ अधि० । उपाध्यायो वृषभानुग इति कृत्वा वृषभ इत्युच्यते । बृ० १ उ० २ प्रक० । महायूथाधिपे, व्य० ३ उ० । गवि, जं० २ वक्ष० ।

वसभकरण–वृषभकरण–न० । वृषभमुद्दिश्य यत्र किञ्चित् क्रियते तादृशे स्थाने, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ।

वसभक्खेत्त–वृषभक्षेत्र–न० । वर्षासु साऽऽचार्यगणावच्छेदकगच्छत्रयावासभूते क्षेत्रे, नि० चू० १७ उ० । (तत्र वृषभक्षेत्रं द्विविधमिति, 'खेत्त' शब्दे तृतीयभागे ७६२ पृष्ठे गतम् ।)

वसभग्गाम–वृषभग्राम–पुं० । तादृशे वृषभावासे,समयपरिभाषिते ग्रामे, वर्षासु एकविंशतिर्जना उपलक्षणत्वादृतुबद्धे पञ्चदश जना यत्र जघन्येन संस्तरन्ति स वृषभग्राम उच्यते । उत्कर्षतस्तु द्वयोरपि कालयोर्द्वात्रिंशत्सहस्रसंख्याको गच्छो यत्र संस्तरति । बृ० ३ उ० । (गाथा 'उग्गह' शब्दे द्वितीयभागे ७१३ पृष्ठे गता ।)

वसभ(ह)वाहण–वृषभवाहन–पुं० । गोवाहने ईशानेन्द्रे, जं० २ वक्ष० ।

वसभ(ह)वीहि–वृषभवीथि–स्त्री० । ज्योतिषप्रसिद्धे शुक्रादिमहाग्रहाणां सञ्चरणयोग्ये आकाशमार्गे, स्था० ९ ठा० ३ उ० ।

वसभा(हा)णुगत्त–वृषभानुगत्व–न० । वृषभस्य स्वस्थानानुगतकल्पे, सत्त्वे, नि० चू० २ उ० ।

वसभाणुजाय–वृषभानुजात–पुं० । अनुजातशब्दः सदृशवचनो वृषभस्यानुजातः-सदृशो वृषभानुजातः । वृषभाकारेण चन्द्रसूर्यनक्षत्राणि यस्मिन् योगे एव तिष्ठन्ति, तादृशे योगे, सू० प्र० १२ पाहु० ।

वसभी–वृषभी–स्त्री० । अभिषेकायाम् , नि० चू० १५ उ० ।

वसभुद्ध–देशी । काके, दे० ना० ७ वर्ग ४९ गाथा ।

वसमाण–वसत्–त्रि० । मासकल्पविहारिणि , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० । नि० चू० । वसमाणो उडुबद्धिए अट्टमासे वासावासं व णवमए य णवविहविहारेंतो वसमाणो भणति । नि० चू० २ उ० । वास्तव्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० ।

वसल–देशी । दीर्घे, दे० ना० ७ वर्ग ३३ गाथा ।

वसवत्ति–वशवर्तिन्–त्रि० । आत्मवशं वर्तितुं शीलमस्येति वशवर्त्ती । वशेन्द्रिये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

वसह–वृषभ–पुं० । वृषभे, " उक्खा वसहा य वच्छाणा " पाइ० ना० १५१ गाथा ।

वसहि–वसति–स्त्री० । " वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे हः " ॥ ८ । १ । २१४ ॥ इति तस्य हः । प्रा० । प्रश्न० । निवासे, अनु० । स्थाने, स्था० १ ठा० । आवासस्थाने, ज्ञा० १ श्रु०१५अ० । निलये,ग्रामे, जीत० । उपाश्रये, बृ०२उ० । (तत्रोपाश्रयनिक्षेपः 'उवस्सय' शब्दे द्वितीयभागे १०४७पृष्ठे उक्तः ।)

(१) इह यथा यादृगुपाश्रय आश्रयणीयस्तथोच्यते—
सर्वोऽपि शय्याविषयः , इत्युद्देशार्थाधिकारप्रतिपादनाय

निर्युक्तिकृदाह—

सव्वे वि य सिज्जविसो-हिकारगा तह वि अत्थि उ विसेसो।
उद्देसे उद्देसे, वुच्छामि समासओ किंचि ॥ ३०२ ॥

सर्वेऽपि-त्रयोऽप्युद्देशका यद्यपि शय्याविशुद्धिकारकास्तथाऽपि प्रत्येकमस्ति विशेषस्तमहं लेशतो वक्ष्य इति ।

एतदेवाह—

उग्गमदोसा पढमि-ल्लुयम्मि संसत्तपच्चवाया १ य ।
बीयम्मि सोअवाई, बहुविहसिज्जाविवेगो २ य ॥३०३॥

तत्र प्रथमोद्देशके वसतेरुद्गमदोषा आधाकर्मादयस्तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गृहस्थादिसंसक्तप्रत्यपायाश्च चिन्त्यन्ते, तथा द्वितीयोद्देशके शौचवादिदोषा बहुप्रकाराः शय्याविवेकश्च—त्यागश्च प्रतिपाद्यत इत्ययमर्थाधिकारः।

तइए जयंतछलणा, सज्झायस्सऽणुवरोहि जइयव्वं।
समविसमाईएसु य, समणेणं निज्जरट्ठाए ३ ॥ ३०४ ॥

तृतीयोद्देशके यतमानस्योद्गमादिदोषपरिहारिणः साधोर्या छलना स्यात् तत्परिहारे यतितव्यम्। तथा स्वाध्यायानुपरोधिनी समविषमादौ प्रतिश्रये साधुना निर्जरार्थिना स्थातव्यमित्ययमर्थाधिकारः। आचा० २ श्रु० १ चू०२अ०१ उ०।

(२) साण्डं सपरिकर्माणमुपाश्रयं न मार्गयेत्।

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा अभिकंखिज्जा उवस्सयं एसित्तए अणुपविसित्ता गामं वा ० जाव रायहाणिं वा, से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा, सअंडं ० जाव ससंताणयं तहप्पगारे उवस्सए नो ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेइज्जा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा अप्पंडं० जाव अप्पसंताणयं तहप्पगारे उवस्सए पडिलेहित्ता पमज्जित्ता तओ संजयामेव ठाणं वा० ३ चेइज्जा। (सू० ६४ ×)

स भिक्षुः उपाश्रयम्-वसतिमेषितुं यद्यभिकाङ्क्षेत्ततो ग्रामादिकमनुप्रविशेत्, तत्र च प्रविश्य साधुयोग्यं प्रतिश्रयमन्वेषयेत्, तत्र च यदि साण्डादिकमुपाश्रयं जानीयात्ततस्तत्र स्थानादिकं न विदध्यादिति दर्शयति—सुगमम्, नवरम्, स्थानं—कायोत्सर्गः शय्या-संस्तारकः निषीधिका-स्वध्यायभूमिः 'णो चेइज्ज' त्ति नो चेतयेत्-नो कुर्यादित्यर्थः। एतद्विपरीते तु प्रत्युपेक्ष्य स्थानादीनि कुर्यादिति।

(३) सम्प्रति प्रतिश्रयगतानुद्गमादिदोषान् विभणिषुराह—

से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं० ४ समारम्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ, तहप्पगारे उवस्सए पुरिसंतरकडे वा अपुरिसंतरकडे वा० जाव अणासेविते वा णो ठाणं वा चेइज्जा एवं बहवे साहम्मिया एगं साहिम्मिणं बहवे साहम्मिणीओ ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा बहवे समणमाहणअतिहिकिविणवणीमए पगणिय २ समुद्दिस्स तं चेव भाणियव्वं ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमए पगणिय २ अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइ ४ ०जाव चेतेइ, तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे ३ ०जाव अणासेविए णो ठाणं वा०३ चेइज्जा०,३ अह पुणेवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडे ०जाव सेविए पडिलेहित्ता पमज्जित्ता तओ संजयमिव चेतेज्जा। (सू० ६४ ×)

सः-भावभिक्षुर्यत् पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा-'अस्सिं पडियाए' त्ति एतत्प्रतिज्ञया एतान् साधून् प्रतिज्ञायोद्दिश्य प्राण्युपमर्दैन साधुप्रतिश्रयं कश्चिच्छ्राद्धः कुर्यादिति। एतदेव दर्शयति-एकं साधर्म्मिकं साधुमर्हत्प्रणीतधर्मानुष्ठायिनं सम्यगुद्दिश्य—प्रतिज्ञाय प्राणिनः समारभ्य प्रतिश्रयार्थमुपमर्द्य प्रतिश्रयं कुर्यात्, तथा—तमेव साधुं सम्यगुद्दिश्य क्रीतं मूल्येनावाप्तम्, तथा— 'पामिच्चं' ति अन्यस्मादुच्छिन्नं गृहीतम् 'आच्छेज्ज' त्ति आच्छेद्यमिति भृत्यादेर्बलादाच्छिद्य गृहीतम्। अनिसृष्टं स्वामिनाऽनुत्सङ्कलितम्। अभ्याहृतम्—निष्पन्नमेवान्यतः समानीतम्। एवंभूतं प्रतिश्रयम्। आहृत्य-उपेत्य 'चेएइ' त्ति साधवे ददाति तथा प्रकारे चोपाश्रये पुरुषान्तरकृतादौ स्थानादि न विदध्यादिति। एवं बहुवचनसूत्रमपि नेयम्। तथा साध्वीसूत्रमप्येकवचनबहुवचनाभ्यां नेयमिति। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।

(४) औद्देशिकीं शय्यां न गृह्णीयात्—

जे भिक्खू उद्दिसियं सेज्जं अणुपविसति अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ६३ ॥

उद्दिश्य कृता औद्देशिका उवागच्छति पविसति तस्स मासलहुं। गाहा—

ओहेण विभागेण य, दुविहा उद्देसिया भवे सिज्जा।
ओहेणेव तियाणं, वारसभेदे विभागम्मि ॥ ११८ ॥

ओहो-संखेवो अविसेसियं समणाणं वा माहणाणं वा णिद्दिसति, एवं वा अविसेसेति, पच्चण्हं वा जणाण अत्ताए कता, पविट्ठा जा भवन्ति ताहे जो अणेगेण णातिक्कंतो पविसति तस्स कप्पति। एसा हु उद्देसिया।

वारसभेया विभागे भवन्ति—

जामातियमंडवओ, रसवति रसालआवणगिहादी।
परिभोगमपरिभोगे, चउएहऽट्ठा कोइ संकप्पे ॥ ११९ ॥

जामातियणिमित्तं कायमाणं मंडवो कतो आसी, भत्तं वा रसवती कता आसी, रहट्ठाए वा साला कता आसी, ववहरणट्ठा वा आवणो कतो आसी, अप्पणो वा गिहं कतं आसी, अप्पणा परिभूतं अपरिभूतं वा अप्पणो णिरुवभोजि भूयं ण भुंजंति।

इमेसिं चउएहं। गाहा—

उद्देसगा समुद्दे-सगा य आदेस तह समादेसा।
एमेव कामचउरो, कम्मम्मि वि होंति चत्तारि ॥१२०॥

एयस्स इमं वक्खाणं। गाहा—

जावंतियमुद्देसा, पासंडाणं भवे समुद्देसा।
समणाण तु आदेसा, निग्गंथाणं समादेसा ॥ १२१ ॥

आचंडाला जावंतियं उद्देसं भणति, सामण्णेणं पासंडीण समुद्देसं भणति, समणा णिग्गंथसक्कतावसगेरुयआजीवा एतेसिं उद्दिट्ठं आदेसं भणति। णिग्गंथा-साहू तेसिं उद्दिट्ठं समादेसं भणति। कडेति एते चेव चतुरो भंगा।

इमं विसेसलक्खणं। गाहा—

सडितपडिताण करणं, कुड्डकडादीण संजतऽट्ठाए।
एमादि कडं कम्मं, तुब्भं जं पुणो कुणति ॥ १२२ ॥

कुड्डकडातीणं सडियं संजयट्ठा करेति, कुड्डकडातीणं पडियं संजयट्ठा करेति, कुड्डकडातीणं खंडं पडियं संजयट्ठा करेति आदिग्गहणेणं छावणथू—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णादियाए एवमादी कडं भण्णति। कस्स पुव्वकयं भंजित्ता तेणेव दारुणा चोक्खतरं अण्णं करेति तं कम्मं भण्णति।

गाहा—

उद्देसियम्मि लहुगो, पत्तेयं होति चउसु ठाणेसुं।
एमेव कमे गुरुत्रो, कम्मादिगलहुगतिसु गुरुगा॥१२३॥

उद्देसे मासलहुं। विभागुद्देसे चउसु वि भंगेसु मासलहुं। तवकालविसिट्ठकडे चउसु वि भेदेसु मासगुरुं तवकालविससियं। कम्मे जावंतियभेदे चउलहुयं। सेसेसु तिसु चउगुरुं।

गाहा—

सुत्तणिवातो ओहे, आदिविभागे य चउसु वि पदेसुं।
एते सामण्णतरा, पविसंताणादिणो दोसा॥ १२४॥
असिवे ओमोयरिए, रायपदुट्ठे भए व गेलएणे।
अद्धाणरोहए वा, जयणाए कप्पती वसितुं॥ १२५॥

जयणा जाहे पणगहाणीए मासलहुं पत्ता। नि० चू० ५ उ०।

(५) संयतार्थमसंयतः प्रतिश्रयं कुर्यात्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण असंजए भिक्खुपडियाए कंडइए वा उक्कंबिए वा छन्ने वा लित्ते वा घट्ठे वा मट्ठे वा सम्मट्ठे वा संपधूमिते वा तहप्पगारे उवस्सए अ पुरिसंतरकडे० जाव अणासेविए णो ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहिं वा चेतेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडे० जाव आसेविए पडिलेहित्ता पमज्जित्ता तओ संजयामेव० जाव चेतेज्जा। (सू० ६४ +)

'से भिक्खू वे' त्यादि (सूत्रद्वयं) पिण्डैषणानुसारेण नेयं सुगमं च। तथा-'से' इत्यादि स-भिक्षुर्यदि पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा-भिक्षुप्रतिज्ञया असंयतो—गृहस्थः प्रतिश्रयं कुर्यात्, स चैवंभूतः स्यात्तद्यथा-कण्टकितः-काष्ठादिभिः कुड्यादौ संस्कृतः, 'उक्कंबिए' त्ति वंशादिकम्बाभिरवबद्धः, 'छन्ने व' त्ति दर्भादिभिश्छादितः, लिप्तो-गोमयादिना, घृष्टः-सुधादिखरपिण्डेन, मृष्टः-स एव लेपनकादिना समीकृतः, संमृष्टः-भूमिकर्मादिना संस्कृतः, संप्रधूपितः-दुर्गन्धापनयनार्थं धूपादिना धूपितः। तदेवंभूते प्रतिश्रये अपुरुषान्तरस्वीकृते यावदनासेविते स्थानादि न कुर्यात्, पुरुषान्तरकृतासेवितादौ प्रत्युपेक्ष्य स्थानादि कुर्यादिति।

(६) प्रतिकर्म—

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सपरिकम्म से जं अणुपविसति अणुपविसंतं वा साइज्जइ॥ ६५॥

सह परिकम्मेण सपरिकम्मा मूलगुणउत्तरगुणपरिकम्मं यस्यास्तीत्यर्थः, तस्स मासलहुं आणाइया य दोसा। नि० चू० ५ उ०।

अथ कतिविधं मूलकरणमुत्तरकरणं वा शोधनीयमत आह-

सत्तेव य मूलगुणे, सोही सत्तेव उत्तरगुणेसुं।
संसत्तम्मि य छक्कं, लहु गुरु लहुगा चरिम जाव॥५८८॥

सप्तैव-सप्तप्रकारैव शोधिर्मूलगुणेषु। गाथायामेकवचनमार्षत्वात्, सप्तैव-सप्तप्रकारैवोत्तरगुणेषु शोधिः। किमुक्तं भवति—मूलकरणं सप्तभेदं शोधनीयं वसतेः साधुभिः उत्तरकरणमपि सप्तविधमिति। तथा संसक्ते—उपाश्रये षट्कं-पृथिव्यप्तेजोवनस्पतित्रसकायसागारिकलक्षणं शोधनीयम्। किमुक्तं भवति—यथोक्तरूपेण षट्केन संसक्तायामपि न स्थातव्यम्, यदि तिष्ठति ततो लघु गुरु लघुका यावच्चरमं पाराञ्चितं तावत्प्रायश्चित्तम्। तद्यथा—पृथिव्यादिभिः कायैः संसक्तायां तिष्ठति चत्वारो लघुकाः, हरितैरनन्तैश्चत्वारो गुरुकाः, प्रत्येकबीजैः पञ्च रात्रिन्दिवानि लघुकानि, अनन्तबीजैस्तान्येव गुरुकाणि, मिश्रैरनन्तैर्मासगुरु, बीजैः प्रत्येकैरनन्तैश्च मिश्रैः सचित्तैरिव त्रसैः संसक्तायां चतुर्गुरु। एवं तिष्ठतः प्रायश्चित्तम्, अथ तिष्ठन् पृथिवीकायादिसंघट्टनादि करोति तदा लघुकगुरुकादि प्रायश्चित्तम्। 'छक्कायचउसु लहुगा' इत्यादिगाथया प्रागुक्तप्रकारेणाभिहितं तावदवसेयं यावच्चरमं पाराञ्चितमिति।

सप्तविधं मूलकरणं शोधनीयमित्युक्तमतः सप्त मूलभेदानाह—

पट्ठीवंसो दो धा-रणाउ चत्तारि मूलवेलीतो।
मूलगुणेहिँ उवहया, जा सा आहाकडा वसही॥५८९॥

उपरितनस्तिर्यक्तया पृष्ठवंशः द्वौ मूलधारणौ ययोरुपरिपृष्ठवंशस्तिर्यग्निपात्यते, चतस्रश्च मूलवेलयः। उभयोः धारणयोरुभयतो द्विद्विवेलिसंभवात्। एते वसतेः सप्त मूलभेदाः। एतैर्मूलगुणैः सप्तभिरुपहता या वसतिः सा आधाकृता भवति, साधूनाधाय—संप्रधार्य कृता आधाकृता, पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः। उत्तरकरणं पुनरिदं सप्तविधम्।

वंसगकडणोक्कडणं, छावणलेवणदुवारभूमी य।
सप्परिकम्मा वसही, एसा मूलोत्तरगुणेसुं॥ ५९०॥

वंशका ये वेलीनामुपरि स्थाप्यन्ते, पृष्ठवंशस्योपरि तिर्यक्, कटनम्-कटादिभिः समन्ततः पार्श्वानामाच्छादनम्, उत्कण्टनम्-उपरि कण्टिकानां बन्धनम्, छादनं—दर्भादिभिराच्छादनम्, लेपनं-कुड्यानां कर्दमेन गोमयेन च लेपप्रदानम्। 'दुवारि' त्ति संयतनिमित्तमन्यतो वसतेर्द्वारीकरणम्, 'भूमि' त्ति समभूमिकरणम्। एतत्सप्तविधमुत्तरकरणम्। एषा सपरिकर्मा वसतिर्मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च। एषा नियमेनाविशोधिकोटिः; अन्येऽपि चोत्तरगुणा वसतेर्विद्यन्ते। कृता विशोधिकोटिः।

के तेऽन्ये उत्तरगुणा इत्यत आह—

दूमिय-धूमिय-वासिय, उज्जोविय-बलिकडा-अवत्ता-य।
सित्ता संमट्ठा वि य, विसोहिकोडीकया वसही॥५९१॥

दूमिया-नाम सुकुमारलेपेन सुकुमारीकृतकुड्या सेटिकया धवलीकृतकुड्या वा, धूपिता-अगु(ग)रुप्रभृतिभिः, वासिता पटवासकुसुमादिभिः, उद्योतिता-अन्धकारेऽग्निकायेन कृतोद्योता, बलिकृता-यत्र संयतनिमित्तं बलिविधानं कृतम्। अवत्ता नाम-यत्र भूमिरुपलिप्ता सिक्ता-आवर्षणकरणतः, सम्मृष्टा—सम्मार्जन्या संयतनिमित्तम्। एवमुत्तरगुणैः कृता वसतिर्विशोधिकोटिर्भवति।

अत्रैव प्रायश्चित्तविधिमाह—

अप्फासुएण देसे, सव्वे वा दूमियादि चउलहुगा।
अफासुयधूमजोती, देसम्मि वि चउलहू होंति॥५९२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेसेसु फासुएणं, देसे लहुसव्वहिं भवे लहुगा ।
संमज्जणसाहॅकुसा–दि छिन्नमेत्तं तु सच्चित्तं ॥५६३॥

यत्र देशतः सर्वतो वा अप्रासुकेन दूमितादि आदिशब्दात्समस्तान्यपि पदानि गृहीतानि, तत्र तिष्ठतः प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । यत्र पुनरगुरुप्रभृतिभिर्धूपनमन्धकारेऽग्निकायेन उद्योतनं तत्र नियमादप्राशुकसच्चित्तोऽग्निकाय इति देशेऽपि चत्वारो लघुकाः, किमुत सर्वतः । शेषेष्वपि तमुद्योतितं च मुक्त्वा अन्येषु दूमितवासितबलीकृतवातासिक्तमृष्टरूपेषु भेदेषु प्राशुकेन देशतःकरणे मासलघु. सर्वतश्चत्वारो लघवः । तथा संमार्जने तत्र सचित्तशाखाकुशादिछिन्नमात्रं तत् यदि देशतः सर्वतो वा सम्मार्ज्यते तदा चतुर्लघु ।

मूलुत्तर चउभङ्गो, पढमे बिइए य गुरुगसविसेसा ।
तइयम्मि होइ भयणा, अत्तट्ठकडो चरिमसुद्धो ॥६६४॥

मूलगुणाः–पृष्ठवंशादयस्तेषु मूलोत्तरगुणेषु चतुर्भङ्गी । गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् , मूलगुणा अपि पृष्ठवंशादयः । संयतनिमित्तं मूलोत्तरगुणा अप्यविशोधिकोटिगता वंशकादयः संयतनिमित्तमिति प्रथमो भङ्गः,अत्र प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, द्वाभ्यां गुरवस्तद्यथा—तपसा कालेन च । मूलगुणाः संयतार्थम् , उत्तरगुणाः–अविशोधिकोटिगताः स्वार्थमिति द्वितीयः । अत्र चत्वारो गुरुकास्तपोगुरवः काललघुकाः । 'तइयम्मि होति भयण' त्ति मूलगुणाः स्वार्थमुत्तरगुणाः संयतार्थमिति तृतीयो भङ्गः । तस्मिन् भजना सा चेयम्—ये अत्रोत्तरगुणास्ते यद्यविशोधिकोटिगतास्तदा चतुर्गुरवस्तपोलघवः कालगुरवः । अथ विशोधिकोटिगतास्तत अप्राशुकने देशे सर्वस्मिन् चापरिकर्मणि चत्वारो लघवः । प्राशुकेन देशतो मासलघू , सर्वत्र चत्वारो लघुकाः।आत्मार्थं मूलगुणा आत्मार्थमेव चोत्तरगुणा इत्येवमात्मार्थकृतश्चरमभङ्गः शुद्धः । तदेवं द्विविधकरणोपघातेति द्वारं व्याख्यातम् । बृ० १ उ० १ प्रक० । नि० चू० ।

उपघायकारणा अन्ने य इमे—

संठावणलिंपणता, भूमीकम्मे दुवारसंथारे ।
थिग्गलकरणे पडिपुं–छणे य दगणिग्गमे चेव ॥१५३॥
संकमकरणे य तहा, दगवातविलाणहोतपिहणे य ।
उच्छेव संधिकामा, ओवग्घा चउ उवस्स तस्सेते॥१५४॥

दारगाहाद्वयं चत्तारि दारगाहाए वक्खाणेति ।

गाहा—

सडितपडिताण करणं, संठवणालिंपभूमिकुलियाणं ।
संकोचणवित्थरणं, पडुच्च कालं तु दारस्स ॥ १५५ ॥

अवयवाणं संडणं, एगदेसखंडस्स पडणं । एतेसिं संठवणालिंपभूमिकुलियाणं कुड्डं भूमिए विसमाए समीकरणं, भूमिपरकम्मे सीतकालं पडुच्च वित्थिरणदुवारा संकुडा कज्जति णिवायऽट्ठा, गिम्हं पडुच्च संकुडा दुवारादिसाला वित्थरणा कज्जति पवायट्ठा ।

गाहा—

तज्जातमतज्जाता, संथारा थिग्गला तु वातऽट्ठा ।
पडिपुच्छणा तु तेसिं, वासा सिसिरे णिवातट्ठा ॥१५६॥

संथारा तज्जाया उवट्टगा करेंति, अतज्जाया कंबिया करेंति, 'थिग्गल' त्ति गिम्हे वातागमट्ठा गवक्खादिछिड्ड करेंति, वासासु वा सिसिरेसु वा णिवातट्ठा तेसिं चेव पडिपुच्छणा ।

गाहा—

दगणिग्गमो पुव्वुत्तो, पुव्वुत्तो संकमो य दगवातो ।
तिण्ह परेणं लहुगा, वसिमे मूलं चउगुरू देसे ॥१५७॥
मूसगविलाण पिहणं, करेइ उच्छेवो संधिकम्मं पि ।
ऍग दुगतिग चउलहुगा,वाराओ जाव वा होंति॥१५८॥

दगणिग्गमो दगवीणिया सा य वितियउद्देसगे पुव्वुत्ता,संकमो पयमग्गो सो वि तत्थेव पुव्वुत्तो,दगवातो सीतघरा सा य उज्झंखणी भण्णति, मूसगातिकयविलाणं पिहणं करेंति । परिपेलवत्थाति तणोच्चगलणं उत्थेवो, कडगस्स य संधी असंवुडा तीए संवुडकरणं संधिकम्मं एवं कुड्डस्स वि इमं पच्छित्तं । एकं थिग्गलं करेंति मासलहुं, दोसु दो मासा, तिसु तिण्णिमासा । तिण्ह परेण चउलहुगा । पडिपुच्छणे वि एवं चेव । उच्छेवं जति वारा लिंपति साहरति भंडगं वा उट्ठति, तति चउलहुगा । अण्णे भणंति—मासलहुं दवगाते संधिकम्मे य एतेसु चउरो लहुगा । वसिमे मूलं, अवसिमे चउगुरुं, देसे त्ति संठवणलिंपणभूमिकम्मे य अफासुएण देसे सव्वे वा चउलहुं । एतेसु चेव फासुएण देसे सव्वे वा चउलहुं, एतेसु चेव फासुएण देसे मासलहुं, सव्वे चउलहुं । संथारदुवारे चउलहुं । उदगवाहसंकमेसु मासलहुं । पच्छा एते मूलुत्तरदोसा कवतिकालं परिहरियव्वा । उत्तरमाह ।

गाहा—

कामं तदुविपरीतो, केइ पदा होंति आवरणजोग्गा ।
सव्वाणुवाइ केई, केई तक्कालुवट्ठाई ॥ १५६ ॥

काममवधृतार्थे द्रष्टव्यः, किमवधृतं यथा वक्ष्यति 'उदुविवरीय' त्ति । पूर्वार्द्धस्य व्याख्या ।

गाहा—

हेमंतकडा वासा, सिसिरे कप्पंति अत्तपरिभुत्ता ।
तद्दिवसे केइ ण तु, केई तक्कालठाणाइ ॥ १६० ॥

उत्तगुरणोवघाता हेमंतजोग्गा जे कया ते गिम्हे अजोग्गेति काउं कप्पंति, गिम्हे जे कता पवातऽट्ठा ते सिसिरवासासु अजोग्गेति काउं कप्पंति । केति दूमितादि गिहीहिं अत्तट्ठिया परिभुत्ता तक्कालं चेव कप्पंति । सव्वाणुवातिके इति सव्वकालं अणुजतंति । तद्देसभावेन कदाचित्कल्पंति ते समूलगुणा इत्यर्थः । 'केई तक्कालट्ठाण' त्ति अस्य व्याख्या–अत्तट्ठिया परिभुत्ता तद्दिवसं केइ गिहीहिं अत्तट्ठियपरिभुत्ता तद्दिवसं चेव साधूण कप्पंति । अहवा–तं कालं तउडं वज्जेउ अन्नकाले उवट्ठायंति ण उक्केति त्ति मूलगुणा गतार्थम् ।

गाहा—

सुत्तणिवाओ एत्थं,विसोहि कोडी य णिव्वयई णियमा ।
एए सामसयरं, परिवसँताणाइणो दोसा ॥ १६१ ॥

दुवमितादि एसु सुत्तणिवातो भवे कारणे ।

गाहा—

असिवे ओमोयरिए, रायपदुट्ठे भए व आगाढे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गेलगउत्तमट्ठे, चरित्तऽमज्झाइए असती ॥ १६२ ॥

उत्तमट्ठपडिवरणश्रो साहू अप्पा य वसही ण लब्भति, जा य लब्भति सा उत्तमट्ठपडिवरणाण पाउग्गा न भवति, चरित्त-दोसो वा अरणासु वसहीसु असिवमत्थि, अरणा वसही वाहिं च असिवा तेण गच्छंति, अरणं वा मासकप्पपाउग्गं खेत्तं णऽत्थि ।

गाहा—

आलंवणे विसुद्धे, सत्तदुगं परिहरिज्ज जतणाए ।

आसज्जतु परिभोगं, जतणा पडिसेवणं कमेणं ॥१६३॥

आलंवणं कारणं विशुद्धे स्पष्टे कारणेत्यर्थः । 'सत्त-दुगं' मूलगुणा पट्ठिवंशादि सत्त, उत्तरगुणा वि वं-सगादि सत्त एतो व सत्तगा । परिहरणा णाम परिभुज्जे ज-यणाए एगगपरिहाणीए । जहा मासलहुगादिपत्तो कारणं पुण आसज्ज पडिसेहिय वसहीसु परिभोगं काउकामो अप्पवहुयजयणाए पणगपरिहाणीए जाहे चउगुरुं पत्तो ताहे इमं अप्पवहुए य ।

गाहा—

एगा मूलगुणेहिँ तु, अविसुद्धा इत्थिसारियो वितिया ।

तुल्ला दो पुण वसही, कारणे कहि तत्थ वसितव्वं ॥१६४॥

एगा मूलगुणेहिं असुद्धा, अवरा सुद्धा । इत्थिपडिवद्धा । दोसु य चउगुरुं, कहिं ठाओ एत्थ भरणति ।

गाहा—

कम्मपसंगऽणवत्था, अणुमदोसा व ते य समतीता ।

कितिकरणभुत्तभुत्ते, संकातिपरीयणेगविधा ॥ १६५ ॥

आहाकम्मिया सज्जपरिभोगे आहाकम्मपसङ्गो कतो भवति । परिभुंजति त्ति पुणो करेति एवं पसङ्गः । एगे-ण आयरिएण एगा आहाकम्मा सेज्जा परिभुत्ता, अरणे वि परिभुज्जंति त्ति अणवत्था कता भवति । परिभुंजंतेण य पाणिवहे अणुरणा कया भवति । एते उक्ता दोषाः । एते साम्प्रतं अतिक्रान्ता भवन्ति । इत्तरी णाम—इत्थीपडि-बद्धाए भुत्तभोगीण कितिकरणं, अभुत्तमादीण कोउअं पडिगमणादी दोसा । गिहीण य संका—एते एत्थ ठिया णूणं पडिसेवंति । संकिते वा णिस्संकिए मूलं । इत्थि सागा-रिए एवं अणेगे दोसा भवन्ति । तम्हा आहाकम्मए ठायंति ।

गाहा—

अथवा गुरुस्स दोसा, कम्मे इत्तरिएँ होंति सव्वेसिं ।

जतिणो तवोवणेसुं, वसंति लोए य परिवातो ॥१६६॥

आहाकम्मवसहीए गुरुस्स चेव पच्छित्तं ण सेसाणं । ज-तो भणितं-कस्सेयं पच्छित्तं गणिणो इत्तरीए इत्थीसा-गारियाए सव्वसाहूण संति मरणादिया दोसा । लोगे य परिवातो । साहू तवोवणे वसंति । अतिशयवचनम् ।

गाहा—

अथवा पुरिसाइण्णा, णातायारे य पुरिस वालासु ।

पव्वुड्डासु य नातिसु, एगं वज्जिज्जए आहाकम्मं ॥१६७॥

जा इत्थी सागारी य सा पुरिसाइरणा—पुरिसबहुला इत्य र्थः । ते वि पुरिसा णाताधारा—सीलवंतः । इत्थिया वाचि सीलवती उभए पुरिसा ते । अथवा ताओ इत्थियाओ बाला-अपत्तजोव्वणा अतीव वुड्ढा । अथवा तरुणीओ वि तेसिं सा-हूणं णालवद्धा । अहं माओ परिसो आहाकम्मं वज्जिज्ज-ति ण इति सागारियं ।

यतश्चैवं । गाहा—

तम्हा सव्वाऽणुण्णा, सव्वणिसेहो य णऽत्थि समयम्मि ।

आयव्वयं तुलेज्जा, लाभाकंखिव्व वाणियओ ॥१६८॥

तस्मात्कारणादेकस्य वस्तुनः सर्वथा-सर्वत्र सर्वकालम-नुज्ञेति न भवति, नापि प्रतिषेधः । किं तु आयव्ययं तुलयेत् । यत्र बहुतरगुणप्राप्तिस्तद्भजन्ते वाणिजवत् ।

गाहा—

दव्वपडिवद्ध एवं, जावंतियमाइगासु भइयव्वा ।

अप्पाण अप्पकालं, हेट्ठाओ मा अणुच्चम्मि ॥१६९॥

एवं दव्वपडिवद्धसिज्जा जावंतियमातिसु सेज्जासु अप्प-बहुत्तेण भइयव्वा । जत्थ अप्पतरा दोसा तत्थ ठाय-व्वा । अहवा अप्पा ते साहू अप्पं च कालं अच्छिओ का-म ताहो दव्वपडिवद्धाए ठायंति न जावंतियासु । नि० चू० ५ उ० ।

मूलोत्तरगुणशुद्धिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा, असंजए भिक्खुपडियाए खुड्डियाओ दुवा-रियाओ, महल्लियाओ कुज्जा, जहा पिंडेसणाए ० जाव संथारगं संथारेज्जा, वहिया वा णिणक्खु तहप्पगारे उव-स्सए अपुरिसंतरकडे नो ठाणं० ३ अह पुणेवं पुरिसंतर-कडे०जाव आसेविए पडिलेहित्ता पमज्जित्ता तओ संजया-मेव० जाव चेइज्जा । (सू०-६५ ×)

स भिक्षुर्यं पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्तद्यथा-असं-यतो—गृहस्थः साधुप्रतिज्ञया लघुद्वारं प्रतिश्रयं महाद्वारं-विदध्यात्, तत्रैवंभूते पुरुषान्तरस्वीकृतादौ स्थानादि न विद ध्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृतासेवितादौ तु विदध्यादिति । अत्र सूत्रद्वयेऽप्युत्तरगुणा अभिहिताः, एतद्दोषदुष्टाऽपि (वसतिः) पुरुषान्तरस्वीकृतादिका कल्पते, मूलगुणदुष्टा तु पुरुषा-न्तरस्वीकृताऽपि न कल्पते । ते चामी मूलगुणदोषाः-' पट्ठी वंसो दो धा-रणाउ चत्तारि मूलवेलीओ ' एतैः पृ-ष्ठवंशादिभिः साधुप्रतिज्ञया या वसतिः क्रियते सा मूल-गुणदुष्टा । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । (अविधि-प्रमार्जने दोषाः ' पडिलेहणा ' शब्दे पञ्चमभागे ३५४ पृष्ठे दर्शिताः ।)

'अइरित्ताए चउप्पत्ता सहेति दारं' प्राप्तम्, अस्य व्याख्या-

जुत्तप्पमाणअतिरे-गहीणमाणादि तिविधसंधातु ।

अप्फुसमाणफुसा, संवाधा चेव णायव्वा ॥ ५३ ॥

वसहीं तिविहा जुत्तप्पमाणा, अतिरित्तप्पमाणा, जा सा-धूहिं संथारगप्पमाणं गेण्हमाणेहिं अप्फुरणा वाविन्ति वुत्तं भवति सा जुत्तप्पमाणा, जा अमाणफुरणा सा अतिरेगा, जत्थ संवाहाए ठायंति सा हीणप्पमाणा णायव्वा ।

तीसुं वि वज्जतीसुं, जुत्तपमाणा य कप्पती ठाउं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्स असतिहीणाए, अतिरेगाए य तस्स सती ॥५४॥

एताासु तिसु विवज्जंतीसु पढमं जुत्तप्पमाणाए ठायव्वं। तस्साऽसति हीणप्पमाणाए, तस्स असति अतिरेगप्पमाणाए ठायव्वं। तत्थ जुत्तप्पमाणाए हीणप्पमाणाए य सद्दस्स असंभवो, अइरित्तप्पमाणाए सद्दसंभवो। जतो भण्णति-

अतिरित्ताएँ ठिताणं, इत्थी पुरिसा य विसयधम्मट्ठी।
उज्जुगमणुज्जुगा वा, एज्जाही तत्थिमे उज्जू ॥ ५५ ॥
पुरिसित्थीआगमणे, आवरणे आणमादिणो दोसा।
उप्पज्जंती जम्हा, तम्हा तु णिवारए ते उ ॥ ५६ ॥

अइरित्तप्पमाणाए ठिताणं इत्थीपुरिसो य विसयधम्मट्ठी तत्थागच्छेज्जा, स्त्रीपरिभोगार्थीत्यर्थः। सो पुण पुरिसो दुविहो—उज्जू, अणुज्जू वा, आगच्छेज्जा मायावी अमायाविति वुत्तं भवति। अतिरित्तवसहिट्ठिताणं जइ इत्थी पुरिसो य आगच्छेज्जइ तो इमा सामायारी। पुरिसित्थी। गाहा। अइरित्तवसहीए, जइ इत्थी पुरिसो य आगच्छंति तो वारेयव्वा। अह ण वारेति तो चउगुरुं आणादिणो य दोसा भवन्ति। तम्हा दोसपरिहरणत्थं ताणि वारेयव्वाणि।

तत्थिमो 'उज्जु' त्ति अस्य व्याख्या-

अम्हे मो आदेसा, रत्तिं वत्था पभाएँ गच्छामो।
एसा य मज्झ भज्जा, पुट्ठोऽपुट्ठो व सो उज्जू ॥ ५७ ॥

जो सो इत्थिसहितो पुरिसो आगओ एवं भणेज्जा अम्हे मो आदेसा, पाहुण त्ति वुत्तं भवति। इह वसहीए रत्तिं वसिउं पभाए गच्छिस्सामो। एसा य इत्थिया मज्झं भज्जा भवति, एवं पुच्छितो वा अपुच्छिओ वा कहेज्जा उज्जू।

अहवा इमो उज्जू—

अण्णो वि होति उज्जू, सब्भावेणेव तस्स सा भगिणी।
तं पि हु भणंति चित्ते, इत्थी वज्जा किमु सचेट्ठा ॥५८॥

अण्णो त्ति अणेण पगारेण उज्जू भवति-सो वि पुच्छिओ वा अपुच्छिओ वा भणति। एस मे इत्थिगा भगिणी भवति। सा य तत्थ परमत्थेणेव भगिणी सब्भाएणेत्ति वुत्तं भवति।तं पि हु त्ति तदिति तं भगिनीवादिनं ब्रुवन्ति-अम्हं चित्तकम्मे वि लिहिया इत्थी वज्जणिज्जा किं पुण जा सचेयणा।तो तुमवि उवागच्छाहि।अपिः पदार्थसंभावने।किं संभावयति यदि भगिनीवादिनं एवं ब्रवीति किमिति भार्यावादिनं ब्रुयेस्मादित्यर्थः। स भज्जावादी भण्णति। ण वट्टए अम्हं सह गिहत्थेहिं वसिउं।

किंच-

वंभवतीए पुरतो, किह मोहिह पुत्तमादिसरिसाणं।
ण वि भइणीई जुज्जति, रत्तिं विहरम्मि संवासो ॥५९॥

वंभव्वतं धरेंति जे ते वंभव्वती। ताण पुरओ अग्गउ त्ति वुत्तं भवति। कहं केण प्पगारेण मोहिह-अणायारं पडिसेविस्सह। प्रायसो पिता पुत्रस्याग्रतो न अनाचारं सेवते माउं वा। अहवा आदि त्ति आदिसद्दाओ भाउं माउं पिउं वा।एवं तुमं पि पुत्तमादिसरिसाणं पुरतो कहं अणायारं पडिसेवसीत्यर्थः। जो णिवादी सो एवं पण्णविज्जति-ण विंत्ति पच्छन्नं, भगिन्या सह रात्रौ विरहिते अप्पगासे वसिउं न युज्जेतत्यर्थः।

इय अणुलोमेण तेसिं, चउक्कभयणा अणिच्छमाणेहिं।
णिग्गमणपुव्वदिट्ठे, ठाणं रुक्खस्स वा हेट्ठा ॥ ६० ॥

इय-एवं अणुलोमेण अणुन्नवणाएण वसति तेसिं कीरइ पन्नविज्जंता वि जति णेच्छंति णिग्गंतुं तदा चउक्कभयणा-चउभंगो कज्जति। पुरिसो भद्दगो इत्थी वि भद्दिया। एवं चउभंगो जं तत्थ भद्दतरं तं अणुलोमिज्जति। जइ निग्गच्छंति तो रमणिज्जं। अहं वितियततियभंगेसु एगतरग्गाहतो अणिग्गंताणं, चउत्थं उभयतो अभद्रत्वात् अणिग्गच्छंताणं णिग्गमणं वा साहूणं, पुव्वदिट्ठे त्ति जं पुव्वदिट्ठसुन्नघराति तत्थ ठायंति। सुन्नघराऽभावओ गामवहिया रुक्खहेट्ठा वि ठायंति, ण य तत्थ इत्थिसंसत्ताए चिट्ठंति।

अह वहिया इमे दोसा—

पुढवी-ओस सजोती, हरिततसा-तेणउवधि-वासं वा।
सावयसरीरतेणग, फरसादी जाव ववहारे ॥ ६१ ॥

वहिया गामस्स रुक्खहेट्ठाओ आगासे वा सचित्तपुढवीओसा वा पडति, अण्णा वा सजोतिया वसही अत्थि, हरियकाओ वा तस्स वाधणा, तहा वि तेसु ठायंति, ण तेहिं सह वसंते। अहवा-वहिता उवहितेणा, वासं वा पडति, सीहादिसावयभयं वा, सरीरतेणा वा अत्थि, अण्णा-य णत्थि वसही, ताहे ण वहिया वसंति तत्थेव वसंतिं। फरुसवयणेहिं णिट्ठुरा वेंति जा ववहारो वि तेण समं ण कज्जति। एवं वा विहावेंति।

अम्हे दाणि विसहिमो, इड्ढिमपुत्तवलेवं ण सहेज्जा।
णीहि अणंते वंधणेॅ, उवाड्ढिते सिरिघराहरणं ॥६२॥

साहू भणंति-अम्हे खमासीला इदाणीं चिविहं विशिष्टं वा सहेमो विसहिमो। जो तत्थ आगारवं साहू सो दाइज्जति। इमो साहू कुमारपव्वतितो साहस्सजोही वा मा ते पंतो वट्टइ इड्ढिपुत्तो वा राजादीत्यर्थः। वलवं-सहस्रयोधी असहमाणो रोसा वला णीणेहि ति। ततो वरं सयं चेव णिग्गतो। जति णिग्गतो तो लट्ठं। अह ण णीति तो सव्वे वा साहू एगो वा वलवं तं वंधति। इत्थी वि जइ तडफडेति तो सा वि वज्झति। उवट्ठिएति गोसे मुक्काणि राउले करणे उवट्ठिताणि। तत्थ कारणियाण ववहारो दिज्जति। सिरिघराहरणदिट्ठंतेण-जइ रण्णो सिरिघररयणा अवहरंतो चोरो गहितो तो से तुज्झे कं दंडं पयत्थह? ते भणंति-सिरसे घेप्पति, सूलाए वा भिज्जइ। साहू भणंति-अम्ह वि एस रयणावहारं अव्वावातिओ मुद्दो मुक्को वंधणेण। केइं भणंति-के तुज्झ रतणा? साहू भणंति-णाणादी। कहं तेसिं अवहारो?, अणायारपडिसेवणातो अवध्यानगमनेनेत्यर्थः। गतो उज्जू।

इदाणीं अणुज्जू भण्णति—

अम्हे मो आएसा, ममेस, भगिणी तु वदति तु अणुज्जू।
वसिया गच्छीहामो, रत्तिं आरद्धु निच्छुभणं ॥ ६३ ॥

ताए घंघसालाए ठिताणं स इत्थी पुरिसो आगतो भणति-अम्हे मो आदेसा पाहुणा। एसा मे स्त्री भगिनी न भार्या एवं ब्रवीति अणुज्जू। इह वसित्ता रत्तिं पभाए गमिस्सामो। एवं सो अणुकूलत्थं से णट्ठिओ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्तिं आरद्धेति रत्तिं सो इत्थियं पडिसेविउमारद्धो, तो वारिज्जति। तह वि अट्ठायमाणे णिच्छुभणं पूर्ववत्। णिच्छुभंतो वा रुट्ठो।

आवरितो कम्मेहिं, सत्तू इव उट्ठिओ थरथरंतो।
मुंचति अ भेंडियाओ,एक्केक्कं भे ति णिग्गमणं ॥ ६४ ॥

आवरिओ-प्रच्छादितः, क्रियत इति कर्म-ज्ञानावरणादि, अहितं करोति, कर्मणा प्रच्छादितत्वात्। कथं जेन सो साहूणं उवरिं सत्तू इव उट्ठितो रोसेण थरथरेंतो-कंपयन्तेत्यर्थः। वावितजोगेणं मुंचति भेंडिया-उक्कोडिओ पोक्काउ त्ति वुत्तं भवति 'भे'-युष्माकं एकैकं व्यापादयामीत्यर्थः।

एवं तम्मि विरुद्धे—

णिग्गमणं तह चेव उ, णिद्दोससदोसणिग्गमे जतणा।
सज्झाए झाणे वा, आवरणे सद्दकरणे य ॥ ६५ ॥

णिग्गमओ णंताओ वसहीओ तह चेव जहा पुव्वं भणियं। जति ते बहिया णिद्दोसं अह सदोसं अतो अणिग्गमा तत्थेवऽच्छंता जयणाए अच्छंति। का जयणा? सज्झाए पच्छद्धं पूर्ववत् कंठं। एवं पि जयंताणं कस्सवि कामोदओ भवेज्जा। ओइएणे य इमं कुज्जा।

कोऊहलं व गमणं, सिंगारे कुड्डछिड्डकरणे य।
दिट्ठे परिणयकरणे, भिक्खुणो मूलं दुवे इतरे ॥ ६६ ॥
लहुओ लहुया गुरुगा, छल्लहु छग्गुरुयमेव छेदो य।
करकम्मस्स तु करणे, भिक्खुणो मूलं दुवे तत्थ ॥६७॥

दो वि गाहाओ जुगवं गच्छंति। कोऊहलं से उप्पण्णं कहमणायारं सेवंति त्ति। एत्थ मासलहू। अह से अभिप्पाओ उप्पज्जति, आसण्णे गंतुं सुणेति अचलमाणस्स मासगुरुं गमणं ति पदभेदे कए चउलहुअं। सिंगारसद्दे कुड्डकडंतरे सुणेमाणस्स चउगुरुं। करणादि कुड्डछिड्डकरणे छल्लहुं। तेण छिड्डेण अणायारं सेवमाणा दिट्ठा छग्गुरुं। करकम्मं करेमि त्ति परिणते छेदो। आरूढत्तो करकम्मं करेउं मूलं भिक्खुणो भवति। दुवे त्ति अत्तिसेगायरिया तेसिं इयरे त्ति अणवट्ठपारंचिया अंतपायच्छित्ता भवंति। हेट्ठा एक्केक्कं हुस्सति। अहवा-कोउआदिसु सत्तसु पदेसु मासगुरुं विवज्जित्ता, मासलहुगादि जहासंखं देया। सेसं तहेव कंठं।

सीसो पुच्छति कहं साहू जयमाणो एवं अज्जेति। भण्णति—

वडपादवउम्मूलण-तिक्खमिव विज्जले वि वच्चंतो।
सद्देहि हीरमाणो, कम्मस्स समज्जणं कुणति ॥ ६८ ॥

जहा वडपादपो अणेगमूलपडिबद्धो वि णदीसलिलवेगेणं उम्मूलिज्जति, एवं साहू वि। णदीपूरेण वा तिक्खेण कयपयत्तो वि जहा हरिज्जति। विगतं जलं विज्जलं सिढिलकर्दमेत्यर्थः, तत्थ कयपयत्तो वि वच्चंतो पडति,एवं साहू वि सद्देहिं पच्छद्धं विसयसद्देहिं भावे हीरमाणे कम्मोवज्जणं करोति। तत एक्कं अतिरित्तवसहीए त्ति गतं। नि॰ चू॰ १ उ॰।

(७) पिण्डादिषु वसतिदोषानाह—

उवस्सयस्स अंतोवगडाए पिंडए वा लोयए वा खीरं वा दहिं वा सप्पिं वा नवणीए वा तेल्ले वा फाणियं वा पूवे वा सक्कुली वा सिहि (ह) रिणी वा उक्खिन्नाणि वा विक्खिन्नाणि विइकिन्नाणि वा विप्पइन्नाणि वा,नो कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए ॥ ८ ॥

अथाऽस्य सूत्रस्य कः संम्बन्ध इत्याह—

देहोवहीण डाहो, तदन्नसंघट्टणा य जोतिम्मि।
संगालचरणडाहो, एसो पिंडस्सुवग्घाओ ॥ १८२ ॥

तेन शैक्षेण अन्येन वा श्वगवादिना ज्योतिषः संघट्टने कृते देहस्य वा उपधेर्वा दाहो भवतीति पूर्वसूत्रे उक्तम्, अत्रापि पिण्डादियुक्तोपाश्रये स्थितस्य साङ्गारं सराग 'रागेण सइंगाले' ति वचनात्। पिण्डादिकं समुद्दिशतश्चरणस्य दाहो भवतीत्येष पिण्डसूत्रस्य पूर्वसूत्रेण वा सहोपोद्घातः-संम्बन्धः, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (८) सूत्रस्य व्याख्या-उपाश्रयस्यान्तर्वगडायां पिण्डको वा लोचको वा क्षीरं वा दधि वा नवनीतं वा सर्प्पिर्वा तैलं वा फाणितं वा पूपो वा शष्कुलिका वा शिखरिणी वा एतानि उत्क्षिप्तानि वा व्यतिकीर्णानि वा विकीर्णानि वा भवेयुः नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि वस्तुमिति सूत्रार्थः। (पिण्डविषयः'पिंड' शब्दे पञ्चमभागे ९१० पृष्ठे गतः।)

अथ भाष्यम्—

पूवो अ उल्लखज्जं, वुट्टगुलो फाणियं तु दविओ वा।
सक्कुलियाई सुक्कं, तु खज्जगं सूयिअं सव्वं ॥ १८३ ॥

पूपः-खाद्यकविशेषः,तद्ग्रहणेन लपनश्रीप्रभृतिकं सर्वमप्यार्द्रखाद्यकं गृहीतम्। 'वुट्टगुलो त्ति' आर्द्रगुडः द्रविकपिण्डगुड एव पानीये तद्भावितः, एतदुभयमपि फाणितमुच्यते, शष्कुलिग्रहणेन मोदकादिकं सर्वमपि शुष्कखाद्यकं सूचितम्।

जा दहिसरम्मि गालिय,गुलेण चउजायसुगयसंभारा।
कूरम्मि छुब्भमाणी,वंधति सिहरं सिहिरिणी उ ॥१८४॥

दध्ना शरे गालितेन गुडेन या निष्पन्ना अपरं च चतुर्जातकसुकृतसंभारा एलात्वक्तमालपत्रनागकेशराख्यैश्चतुर्भिर्गन्धद्रव्यैराधिक्येनोपजनितवासा कूरमध्ये प्रक्षिप्यमाणा शिखरं बध्नाति सा शिखरिणीत्युच्यते, उत्क्षिप्तादिपदव्याख्या प्राग्वत्।

अथैतेषु तिष्ठतां प्रायश्चित्तमाह—

पिंडाई आइन्ने, निग्गन्थाणं न कप्पई वासो।
चउरो य अणुग्घाया,तत्थ वि आणाइणो दोसा ।१८५।

पिण्डादिभिः शिखरिणीपर्यन्तैराकीर्णे प्रतिश्रये निर्ग्रन्थानामुपलक्षणत्वान्निर्ग्रन्थीनां च न कल्पते वासः। अथ तिष्ठन्ति ततश्चत्वारोऽनुद्घाता मासाः,तत्राप्याज्ञादयो दोषा मन्तव्याः।

चउरो विसेसिया वा, दोण्ह वि वग्गाण ठायमाणाणं।
अहवा चउगुरुगाई, नायव्वा छेयपज्जंता ॥ १८६ ॥

अथवा द्वयोरपि निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीवर्गयोस्तत्र तिष्ठतोश्चतुर्गुरुकास्तपःकालविशेषिताः। तद्यथा—भिक्षोश्चतुर्गुरुकं तपसा कालेन च, लघुवृषभस्य कालगुरु, उपाध्यायस्य तपोगुरु, आचार्यस्य तपसा कालेन गुरुकम्। एवं भिक्षुणीप्रभृतीनामपि मन्तव्यम्। अथवा-चतुर्गुरुकमादौ कृत्वा छेदपर्यन्ता चतुर्णामपि यथाक्रमं शोधिर्ज्ञातव्या।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अह पुण एवं जाणेज्जा णो उक्खित्ताइं०४रासिकडाणि वा पुंजकडाणि वा कुलियकडाणि वा भित्तिकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा कप्पइ निगन्थाण वा निगन्थीण वा हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥६॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत्, नवरं यत्र पिण्डादीनि राशीकृतादिरूपाणि तत्र गीतार्थानां कल्पते ऋतुबद्धे वस्तुमिति सूत्रद्वयम्। अत्र "पुंजो उ होइ वद्धो, सो चेव वईसि आयओ रासी" इत्यादि भाष्यगाथापिण्डाद्यभिलापेन प्राग्वन्मन्तव्यम्, यावत्-'का सा य इच्छा समुप्पन्ने' त्ति।

कीदृशी पुनरिच्छा समुत्पन्नेत्युच्यते—

अणुभूया पिंडरसा, नवरं मुत्तूणमेसि पिंडाणं।
काहामो कोउहलं, तहेव सेसा वि भणियव्वा ॥१८७॥

अनुभूतास्तावदन्येषां पिण्डानां रसाः, नवरमेतेषां पिण्डानां रसान् मुक्त्वा अतः करिष्यामः—पूरयिष्यामः कौतूहलमिति विचिन्त्य प्रसुप्तेष्वशेषसाधुषु तानि भोज्यानि भुङ्क्ते, शेषाण्यपि क्षीरादीनि 'अणुभूया खाररसा' इत्याद्यभिलापेन तथैव भणितव्यानि यावत् द्वितीयपदे तत्रापि प्रतिश्रयेऽपि स्थिताः अगीतार्थाः साधुषु भिक्षाचर्यादिनिर्गतेषु सूरयः सागारिकमित्थं ब्रुवते।

तेल्लगुलखंडमच्छं-डियाण महुपाणसक्कराईणं।
दिट्ठ मए संनिचया, अन्ने देसे कुडुंबीणं ॥१८८॥

तैलगुडखण्डमत्स्यण्डिकानां मधुपानशर्करादीनां संनिचया अन्यस्मिन् देशे कुटुम्बिनां गेहेषु दृष्टाः। शेषं सर्वमपि पिण्डाभिलापेन प्राग्वदवसातव्यम्।

अह पुण एवं जाणिज्जा नो रासिकडाइं०जाव नो भित्तिकडाइं कोट्ठाउत्ताणि वा पल्लाउत्ताणि वा मंचाउत्ताणि वा मालाउत्ताणि वा कुंभिउत्ताणि वा करभिउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा विलित्ताणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गन्थीण वा वासावासं वत्थए ॥१०॥

अस्य व्याख्या प्राग्वन्नवरं कुम्भी-मुखाकारा कोष्ठिका, करभी-घटसंस्थानसंस्थिता तयोरागुप्तानि प्रक्षिप्य रक्षितानि कुम्भ्यागुप्तानि वा।

अस्य भाष्यम्—

कुंभीकरहीएँ तहा, पल्ले माले तहेव मंचे य।
उल्लित्तपिहियमुद्दिय, एरिसए ण कप्पती वासो ॥१८९॥

यत्रोपाश्रये कुम्भ्यां वा करभ्यां वा पल्ये वा माले वा चशब्दोक्तकोष्ठे वा प्रक्षिप्तानि पिण्डप्रभृतीनि भवन्ति, तानि चावलिप्तानि पिहितानि मुद्रितानि वा भवेयुः ईदृशे न कल्पते वस्तुम्।

तथा चाह—

उडुबद्धम्मि अतीते, वासावासे उवट्ठिए संते।
ठायंतगाण गुरुया, कस्स अगीतत्थसुत्तं तु ॥ १९० ॥

ऋतुबद्धे काले व्यतीते वर्षावासे चोपस्थिते यद्यपि सूत्रेण तत्रोपाश्रये स्थातुमनुज्ञातं तथापि न कल्पते, यदि तिष्ठन्ति ततश्चतुर्गुरुकाः। शिष्यः पृच्छति-कस्य पुनरेतत्प्रायश्चित्तम्। सूरिराह-अगीतार्थस्य। सूत्रं पुनः गीतार्थमधिकृत्य प्रवृत्तम्। शेषं पिण्डाभिलापेन तथैव वक्तव्यम्।

नो कप्पइ निग्गन्थीणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अब्भावगासियंसि वा वत्थए ॥ ११ ॥

इह निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां सामान्यतः सदोषा उपाश्रया उक्ताः। अथ केवलानामेव निर्ग्रन्थीनामभिधीयत इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-अथशब्दः इहेति शब्दार्थे। पथिकादीनामागमनेनोपेतं तदर्थं वा गृहमागमनगृहम्, विवृतमनावृतं गृहं विवृतगृहम्, वंशीमूलं नाम गृहाद्बहिः स्थितमलिन्दकादिकम्, वृक्षमूलं तु वृक्षेऽप्यसहकारादेर्मूलमधोभागः। अभ्रावकाशमुच्यते एतेषु प्रतिश्रयेषु निर्ग्रन्थीनां वस्तुं न कल्पते इति सूत्रसंक्षेपार्थः ॥ ११ ॥

अथ भाष्यविस्तारः—

आगमणे वियडगिहे, वंसीमूले य रुक्खमब्भासे।
ठायंतगाण गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥१९१॥

आगमनगृहे विवृतगृहे वंशीमूले वृक्षमूले अभ्रावकाशे च तिष्ठन्तीनां निर्ग्रन्थीनां चत्वारो गुरुकाः,तत्राप्याज्ञादयो दोषा मन्तव्याः।

अथवा—

आगमगिहादिएसुं, भिक्खुणिमादीण ठायमाणीणं।
गुरुगादी जा छेदो, विसेसितं चउगुरू तासिं ॥१९२॥

आगमनगृहादीनां भिक्षुण्यादीनां तिष्ठन्तीनां चतुर्गुरुकमादौ कृत्वा छेदं यावत्प्रायश्चित्तम्। तद्यथा-भिक्षुण्याश्चतुर्गुरुकम्, अभिषेकायाः षड्लघुकम्, गणावच्छेदिन्याः षड्गुरुकम्, प्रवर्तिन्याः छेदः। यद्वा-आसां चतसृणामपि तपःकालविशेषितं चतुर्गुरुकं भवति। तत्र भिक्षुण्यास्तपसा कालेन लघुकम्, अभिषेकायाः कालेन गुरुकम्, गणावच्छेदिन्यास्तपसा गुरुकम्, प्रवर्तिन्यास्तपसा कालेन च गुरुकम्।

अथागमनगृहं व्याचष्टे—

आगंतु ऽगारत्थजणो जहिं तु,
संठाति जं वा गमणम्मि तेसिं।
तं आगमो गंतु विदू वदंति,
सभाय वा देउलमादियं वा ॥ ९३ ॥

आगन्तुकः पथिकादिरगारस्थजनो यत्रागत्य संतिष्ठते, यच्च तेषां पथिकादीनामागमने वर्त्तते तदागमौकः आगमनगृहं विद्वांसः—श्रुतधरा वदन्ति। तच्च सभा वा देवकुलादिकं वा मन्तव्यम्।

तत्र तिष्ठन्तीनां दोषानाह।

आगमणगिहे अज्जा, जणेण परिवारिया अणज्जेणं।
दट्ठुं कुलप्पसूता, संजमकामा विरज्जंति ॥ १९४ ॥

आगमनगृहे स्थिता आर्या अनार्येण जनेन च परिवारिता दृष्ट्वा कुलप्रसूताः स्त्रियः संयमकामाः प्रव्रज्यां ग्रहीतुमनसो विरज्यन्ते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथमित्याह—

उवस्सए एरिसए ठियाणं,
ण सीलभारा सगला भवंति।
को दाणि हंसेण किणेज्ज कार्कं,
एवं नियत्तंति कुलप्पसूया ॥ १९५ ॥

ईदृशे उपाश्रये स्थितानामार्यिकाणां शीलं—ब्रह्मचर्यं तत्प्रधानभाराः संयमयोगधराः लक्षणाः सकलाः सम्पूर्णा न भवन्ति, किं तु-खण्डितविराधिताः। अस्माकं च सुसंवृतगृहमध्यमध्यासयन्तीनां प्रत्यपायाभावान्निष्कलङ्कं शीलमनुपालयन्तीनां हंसकल्पो गृहवासः। एवंविधे तु तरुणादिप्रत्युपायबहुले प्रतिश्रये तिष्ठन्तीनां या प्रव्रज्या सा बहुदोषमलीमसतया काककल्पा। अत इदानीं हंसेन काकं कः क्रीणीयात्, एवं विचिन्त्य कुलप्रसूताः स्त्रियः प्रव्रज्याग्रहणान्निवर्तन्ते।

अथात्रैव विशेषदोषानभिधित्सुराह—

काइयपडिलेहसज्झा-य भुंजणे वियारमेव गेलएणे।
साणादी उवगरणे, तरुणादी जे भणियदोसा ॥१९६॥

कायिक्यां-प्रत्युपेक्षणायां स्वाध्याये भोजने विचारे ग्लानत्वे च दोषा भवन्ति। श्वानादिना चोपकरणान्यपह्रियन्ते, तरुणादयश्च ये पूर्वमुद्देशके भणितास्ते अत्र मन्तव्या इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथ व्यासार्थं प्रतिद्वारं विभणिषुराह—

मोयस्स वायस्स य सन्निरोहे,
गेलएणीसद्धमसण्णिरोहे।
पलोट्टणे घाणससद्दमत्ते,
आतोभयत्था य भवंति कीवे।

यद्यागमनगृहे स्थिताः सागारिकमिति कृत्वा मोकस्य वातस्य वा संनिरोधं कुर्वन्ति, ततो ग्लानं-ग्लानत्वं भवति, अथ न तयोः संनिरोधं कुर्वते ततो निस्त्रपा-निर्लज्जा भवेयुः। अथ मात्रके कायिकीं व्युत्सृजन्ति, ततो मात्रकस्य प्रलोचनायां दुरभिगन्धघ्राणिः समुच्छलितमात्रके चशब्दः श्रवणमागच्छति, तं च श्रुत्वा सागारिका उड्डाहं कुर्वन्ति, आत्मपरोभयसमुत्थाश्च तत्र दोषाः। आत्मसमुत्था दोषा नाम—संयती स्वयं क्षुभ्येत, परसमुत्थास्तु—'कीव' त्ति शब्दक्लीवः संयत्याः कायिकीशब्दं श्रुत्वा क्षुभ्येत। उभयसमुत्था—द्वावपि क्षुभ्येते।

पेहेंति उड्डाह पवंच तेणॉ,
अपेहणे सोहनिहोवहिस्स।
कीरंत कीरंतमुवेयदोसा,
ण येंति भिक्खस्स निरुद्धमग्गा।

यदि संयत्यः सागारिकेऽपि पश्यति स्वकीयमुपकरणं प्रत्युपेक्षन्ते तत उड्डाहो भवति, प्रपञ्चं वा ते सागारिकाः कुर्वन्ति। तथैव स्वकीयं वस्तु प्रत्युपेक्षेत इत्यर्थः। स्तेना वा तं सारोपधिप्रत्युपेक्षमाणं दृष्ट्वा हरेयुः। अथैतद्दोषभयान्न प्रत्युपेक्षन्ते ततस्त्रिविधोपधेः प्रायश्चित्तम्। तद्यथा—जघन्ये, पञ्चकम्, मध्यमे मासलघु, उत्कृष्टे चतुर्लघु, श्रुते स्वाध्यायमाने सागारिका आलापका नाम—यत्तथैवोद्धट्टयेयुः। अथ स्वाध्यायो न क्रियते ततः सूत्रार्थनाशादयो दोषाः। तथा सागारिकैर्निष्क्रमणप्रवेशस्थानोपविष्टैर्निरुद्धमार्गाः सत्यो न भैक्षाय निर्गच्छन्ति—निर्गन्तुं शक्नुवन्तीति भावः।

दुक्खं च भुंजंति सचितितेसु,
तर्त्कि न देंते य अदेंति दोसा।
भुंजंति गुत्ता अविकारियाओ,
कुलुग्गया किं पुण जा अतोया ॥ १९९ ॥

सागारिकेषु तत्र सदा-नित्यमेव स्थितेषु संयत्यो दुःखं भुञ्जते। अथ तेषां मध्यात् कश्चिद्द्रमकप्रायस्तर्कयति आहारयाञ्चां करोति, ततो यदि दीयते तदा असंयततपोपणादधिकरणम्, अथ न दीयते ततोऽसौ प्रद्वेषं गच्छेत्। प्रद्विष्टश्च प्रतापनमुड्डाहमभ्याख्यानप्रदानं वा कुर्यात्, एवमुभयथाऽपि दोषाः। किं च—कुलोद्गताः स्त्रियो गुप्ताः-एकान्ते स्थिता अविकारिण्यश्च भुञ्जते, किं पुनर्या अतोकाः शीतोदकविरहिताः संयत्यः काञ्जिकेनाचमनकारिण्य इत्यर्थः, ताभिस्तु सततमेकान्ते भूत्वा भोक्तव्यमिति।

वियारभोम्मे बहि दोसजालं,
णिसट्ठबीभच्छकता य अंतो।
कीरंति किच्चे य गिलाणदोसा,
कालादिपत्ती य तधोसहस्स ॥ २०० ॥

यदि सागारिकमिति मत्वा विचारभूमौ बहिर्गच्छन्ति, ततो दोषजालं मासकल्पप्रकृताभिहितं दूषणनिकुरम्बं ढौकते। अथैतद्दोषभयादन्तः संज्ञां व्युत्सृजेयुः ततः सागारिकैर्लोके व्युत्सृजन्त्यो निस्त्रपा निर्लज्जा बीभत्साश्च गण्यन्ते, तत्कृताश्च उड्डाहादयो दोषाः। ग्लानायाश्च संयत्याः कृत्ये, अकल्प्यपथ्यौषधप्रदानादौ क्रियमाणे सागारिका वदेयुः, एतदमूषामकल्पनीयं परमेतदपि प्रतिसेवन्ते नूनं सर्वमप्यलीकमासामित्यादयो दोषाः। अथ सागारिकमिति मत्वा न क्रियते ततः औषधस्य कालातिपत्तिः स्यात्, कालातिक्रमेण चौषधे दीयमाने ग्लानः परितापमश्नुयात्।

हरंति भाणाइ सुणादिया य,
सुयंति भीया व वसंति णिच्चं।
णिचाउले तत्थ णिरुद्धचारे,
णेगग्गया होति कओ सभाओ ॥ २०१ ॥

तत्रागमनगृहे शुनकादयः प्रविश्य भाजनादिकं हरन्ति। ततो नित्यमहोरात्रमपि तत्र श्वानादिभयभीताः शेरते वा वसन्ति वा, नित्याकुले च सदैव सागारिकैराकीर्णे अत एव निरुद्धचारे—गमागमरहिते तत्र एकाग्रता न भवति कुतः स्वाध्यायोऽमूषां भविष्यति।

तरुणावेसित्थिविवा-ह रायमाईसु होइ सइकरणं।
इच्छमणिच्छे तरुणा, तेणा ताओ य उवहिं वा॥२०२॥

महतादिछर्दे विधीयमाने राजानो वा निर्गच्छन्तः प्रविशन्तो विलोक्यन्ते, ततः स्मृतिकरणकौतुके भुक्ताऽभुक्तानां जायेत। तथा यदि तरुणेन च भाषणानि इच्छति ततो व्रतविराधना। अथ नेच्छति ततस्ते उड्डाहं कुर्युः। स्तेना वा ताः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संयतीरपहरेयुः, उपधिं वा वस्त्रादिकं हरेयुः । तदेवं व्याख्याता ' काइयपडिलेह ' इत्यादिका निर्युक्तिगाथा ।

अथागमनगृह एव दोषान्तराण्याह—

ओभावणा कुलघरे, ठाणं वेसित्थिखंडरक्खाणं ।
उड्डाहो पवयणे, चरित्तमाउंडणा सज्जो ॥ २०३ ॥

धूर्तैः परिवारितासु तासु कुलगृहस्थापभ्राजना स्यात् । अन्यच्च तदागमनगृहं वेश्यास्त्रीणां खण्डरक्षाणां च हिरिडकानां स्थानं वर्तेत, तत्र स्थितानां उड्डाहो-प्रवचनविषया हीला, चारित्रस्य च भ्रंशना,सद्यः—शीघ्रं भवति । तथा तरुणादीन् दृष्ट्वा कस्याश्चिद्दश कामावस्था भवेयुः ।

ते च सप्रायश्चित्ता अमी—

चिंताइ दट्ठुमिच्छइ, दीहं णीससति तह जरे डाहे ।
भत्तारोयग मुच्छा, जडता उम्मत्त मरणे य ॥२०४॥
मासो लहुओ गुरुओ, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य ।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च ॥२०५॥

द्वे अपि प्राग्व्याख्याते । उक्ता आगमनगृह दोषाः ।

अथ विवृतगृहवंशीमूलयोर्दोषानाह—

एए चेव य दोसा, सविसेसतरा हवंति विगडगिहे ।
वंसीमूलट्ठाणे , पडिबद्धा जे भणियदोसा ॥२०६॥

एते एवागमनगृहोक्ता दोषाः सविशेषतरा विवृतगृहे तिष्ठन्तीनां भवन्ति । वंशीमूलस्थाने तु ते दोषा द्रष्टव्याः ये द्रव्यतो भावतश्च प्रतिबद्धे प्रतिश्रये अप्काये यन्त्रप्रयोजनादय आत्मपरोभयसमुत्थाश्च दोषाः प्रथमोद्देशके भणिताः ।

अथैनामेव गाथां व्याख्यानयति—

अवाउडं जं तु चउद्दिसिं पि,
तीसुं दुगुच्छा वि तहेकतो वा,
अहे भवे तं वियडं गिहं तु,
उड्ढं अमालं व अछन्नगं वा ॥ २०७ ॥

विवृतगृहं द्विधा-अधोविवृतम्, ऊर्ध्वविवृतं च । यत्पार्श्वतश्चतसृषु वा दिक्षु द्वयोर्वा दिशोरेकस्यां वा दिशि अपावृतं-कुड्यरहितं परमुपरिच्छन्नं तदधोविवृतगृहं भवेत् यत्पुनरमालम्-मालरहितम् अच्छन्नं वा आच्छादरहितम् परं पार्श्वतः कुड्ययुक्तं तदूर्ध्वविवृतं भवति ।

अवाउडे तेणसुणा उवेंति,
गोणादि णिस्संकमभिद्दवंति ।
तेणादिया (तो चिलिए) तत्थ वि ते य दोसा,
कडादिकम्मं तु सजीवघातं ॥ २०८ ॥

तत्र-विवृतगृहे अपावृते--कुड्याद्यभावादनिरुद्धप्रचारे स्तेनश्वनका उपयान्ति,ततश्चोपकरणादयो दोषाः, गवादयश्च शृङ्गाद्यभिघातं निःशङ्कमभिद्रवन्ति । अथ तत्र पार्श्वतश्चिलिमिलिका दीयते ततः ' चिलिए ' त्ति सूचनात् सूत्रमिति कृत्वा चिलिमिलिकायाः स्तेनादयो दोषाः । तमपहृत्य-गच्छेयुरिति भावः । ' कडाइ ' त्ति अथ कटं कीलितं वा कारायत्वा तत्र स्थापयन्ति तत आधाकर्मदोषनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । सजीवघातमिति, कटादौ निष्पाद्यमाने येषां जीवानामुपघातो भवति तन्निष्पन्नं पृथक् प्रायश्चित्तम् ।

अथ वंशीमूलं व्याचष्टे--

जो ओवणे वी य बहिं घरस्स ,
अलिंदओ वा अवसारिगा वा ।
गेहस्स पासे पुरपिट्ठओ वा,
तं वंसिमूलं कुसला वदंति ॥ २०९ ॥

यो गृहाद् बहिर्द्वाराग्रवर्तिस्थण्डिकारूपः अलिन्दको वा अपसारिका-पटोलिका कुत्रेत्याह—गेहस्य पार्श्वे वा पुरतो वा पृष्ठतो वा तद्वंशी (मूलं) नाम गृहं कुशलास्तीर्थकरादयो वदन्ति, अत्र तिष्ठन्तीनां पूर्वोक्ता दोषाः ।

अथ वृक्षमूलाभ्रावकाशयोर्दोषानाह—

अट्ठिं व दारुकादी, सउणगनिहारपुप्फफलमादी ।
एवं तु रुक्खमूले, अब्भावासम्मि गिण्हा य ॥ २१० ॥

अस्थि वा दारुकं वा आदिशब्दात्—पत्राणि पतेयुः, एषु यथायोगमात्मसंयमविराधना मन्तव्या,एवं वृक्षमूले वृक्षस्याधोवर्तिनि वा गृहे तिष्ठन्तीनां दोषाः । अभ्रावकाशे तु 'गिण्हा'-अवश्यायो भवेत्,आदिशब्दात्-सचित्तरजःप्रपातादिपरिग्रहः । अवश्यायेनाभिभूतानां विसूचिकादिरात्मविनाशनादि । यत एते दोषाः अतो नागमनगृहादिषु स्थातव्यम् । भवेत्कारणं येन तत्रापि स्थीयते । किमित्याह—

अद्धाणनिग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असती य ।
वाडगआगमणगिहे, इयरम्मि य णिग्गहसमत्थे ॥२११॥

अध्वनिर्गतादयस्त्रिकृत्वो निर्दोषां वसतिं मार्गयित्वा यदि न प्राप्नुवन्ति, ततो वाटकस्य मध्यवर्ति यदागमनगृहं देवकुलादिकं तत्र वसन्ति । कथमित्याह—इतरः-शय्यातरः स यदि निग्रहसमर्थो-जितेन्द्रियः प्रत्यनीकनिवारणक्षमश्च भवति तदा तत्र तिष्ठन्ति नान्यथा ।

अथेदमेव स्फुटतरमाह—

जं देउलादी तु णिवेसणस्स,
मज्झम्मि गुत्तं सुपुरोहडं च ।
अदुट्ठगम्मं ण य दुट्ठमज्झे,
अदूरगेहं तहि यं वसंति ॥ २१२ ॥

निवेशनवाटकमध्ये यद्देवकुलादिगुप्तवृत्त्या फलह्निकेन चावृतं सुपुरोहडं-रमणीयसंयतीप्रायोग्यविचारभूमिकम् ,अदुष्टानां—शिष्टजनानां—गम्यमाश्रयो न च दुष्टजनमध्ये तद्वर्तते , अदूरगेहम्—प्रत्यासन्नप्रातिवेश्मिकगृहं तत्र प्रथमतो वसन्ति ।

जुवाणगा जे सविगारगा य,
पुत्तादओ तुज्झ इहं वसंति ।
मा ते वि अम्हं इह संपयंतु ,
इच्छंति सत्ते य वसंति तत्थ ॥ २१३ ॥

एवमुक्ते यद्यसाविच्छति प्रतिशृणोति, यदि च स्वयं शक्तः—तन्निवारणक्षमः ततस्तत्र वसन्ति ।

भोइयकुले व गुत्ते, दुज्जणवज्जे वसंति उ पउत्थे ।
महतरगादिसुगुत्ते, वंसीमूलम्मि ठायन्ति ॥ २१४ ॥

दुर्जनप्रवेशरहिते , यदि लिङ्गकादि तत्र वसन्ति स च भोजिकस्य-ग्रामस्वामिनः कुले च गुप्ते-वृत्त्यादिफलह-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केन च सुसंवृते दुर्जनवर्जे—दुःशीलजनप्रवेशरहिते यदि-लिङ्गकादि तत्र वसन्ति, स त्र भोजिको यदि प्रोषितस्तदा महत्तरकादिभिः–प्रधानपुरुषैस्तद्गृहं यदि सुगुप्तं—सुरक्षितं भवति तत एवंविधे वंशीमूलगृहे तिष्ठन्ति ।

तस्सऽसति उड्डवियडे, वसंति कडगादिछायणं उवरिं ।
तस्सऽसति पासवियडे, कडगादी पंतवत्थेहिं ॥ २१५ ॥

तस्य—यथोक्तगुणोपेतस्य वंशीमूलगृहस्याभावे ऊर्द्ध विवृतगृहे उपरि कटादिकं प्रक्षिप्य तिष्ठन्ति, आदिशब्दाद्-वस्त्रचिलिमिलिकया वाऽऽच्छादनं कुर्वन्ति । तस्याभावे पार्श्वविवृते इत्यर्थः, तत्र च किलिञ्चादिभिश्चिलिमिलिकां कृत्वा पार्श्वतः प्रच्छादयेत् । अथ कटादयो न प्राप्यन्ते ततः प्रान्त-वस्त्रैः–परिजीर्णचीवरैः पार्श्वाणि छादयितव्यानि ।

विहं पवन्ना घणरुक्खहेट्ठा,
वसंति उस्सावनिरक्खणट्ठा ।
तस्सासती अब्भगवासिए वि,
सुवंति चिट्ठंति व ओसिछन्ना ॥ २१६ ॥

अथ विहम्—अध्वानं प्रपन्नास्ताः संयत्यस्तत्र चाऽधो विवृतमपि गृहं न प्राप्यते ततो घनो—बहुलो निश्छिद्रो यो वृक्षो वटादिस्तस्याधस्तादवश्यायस्य–अन्तरिक्षस्थस्याप्कायस्यावनेश्च सचित्तपृथिवीकायस्य रक्षणार्थं वसन्ति, तस्याप्यभावे अभ्रावकाशकेऽप्याकाशे और्णिककल्पच्छन्नाः स्वपन्ति वा तिष्ठन्ति वा ।

(८) वर्षावासयोग्यां वसतिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा असंजए भिक्खुपडियाए उदगप्पसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा ठाणाओ ठाणं साहरइ बहिया वा णिण्णक्खू तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे० जाव णो ठाणं वा०३ चेइज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडं चेइज्जा ॥ (सू०–६५×)

स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्तद्यथा—गृहस्थः साधुप्रतिज्ञया उदकप्रसूतानि कन्दादीनि स्थानान्तरं संक्रामयति बहिर्वा 'णिण्णक्खु' त्ति—निस्सारयति, तथाभूते प्रतिश्रये पुरुषान्तरास्वीकृते स्थानादि न कुर्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृते तु कुर्यादिति । आचा० २ श्रु० १ चू०४ अ० १ उ० ।

अह पुण एवं जाणिज्जा नो रासिकडाइं नो पुंजकडाइं नो भित्तिकडाइं नो कुलियकडाइं कोट्ठाउत्ताणि वा पल्लाउत्ताणि वा मंचाउत्ताणि वा मालाउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा विलित्ताणि वा पिहियाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए ॥ ३ ॥

अथ पुनरेवं जानीयात् नो राशीकृतानि नो भित्तिकृतानि नो कुलियाकृतानि कोष्ठागुप्तानि वा मञ्चागुप्तानि वा मालागुप्तानि वा अवलिप्तानि वा लिप्तानि वा पिहितानि वा लाञ्छितानि वा मुद्रितानि वा तत्र कोष्ठे–कुसूले आगुप्तानि प्रक्षिप्तानि रक्षितानि कोष्ठागुप्तानि एवमुत्तरत्रापि भावनीयम्, नवरं प्रलम्बं शकटकादिकृतो धान्यराशिविशेषः, मञ्चः–स्थूणानामुपरिस्थापितवंशकटकादिमयो लोकप्रसिद्धः मालको–गृहस्योपरितनो भागः अवलिप्तानि—द्वारदेशे पिधानेन सह गोयमादिना कृतलेपानि लिप्तानि—मृत्तिकया सर्वतः खरण्टितानि पिहितानि—स्थगितानि लाञ्छितानि—रेखाक्षरादिभिः कृतलाञ्छनानि मुद्रितानि–मृत्तिकादिमुद्रायुक्तानि एवंविधेषु धान्येषु न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा वर्षावासं वस्तुमिति सूत्रार्थः । अथ भाष्यम्—

कोट्ठाउत्ता य जहिं, पल्ले माले तहेव मंचे य ।
उलित्तपिहियमुद्दिय, एरिसए ण कप्पती वासो ॥१०२॥

यत्रोपाश्रये कोष्ठागुप्तानि पल्ल्यागुप्तानि मालागुप्तानि मञ्चागुप्तानि अवलिप्तानि पिहितानि मुद्रितानि उपलक्षणत्वाल्लिप्तानि लाञ्छितानि वा धान्यानि संभवन्ति ईदृशे न कल्पते वासः । अथ सूत्रस्यैव विषमपदानि व्याचष्टे—

छगणादी ओलित्ता, लित्ता मट्टियकता तु ते चेव ।
कोट्ठियमादी पिहिता, लित्ता वा पल्लकडपल्ला ॥१०३॥
ओलिंपिऊण जहि अ–क्खए कया लंछियं तयं बिंति ।
जहियं मुद्दा पडिया, होति तगं मुद्दियं धणं ॥१०४॥

द्वारदेशे छगणादिना लिप्तानि–अवलिप्तानि यानि तु मृत्तिकया खरण्टितानि तानि लिप्तानि कोष्ठकादीनि, यानि द्वारदेशे स्थगितानि तानि पिहितानि, पल्यकटपल्यानि तु लिप्तानि भवन्ति । इह पल्यकटपल्यमुच्चतरं भवतीति विशेषः । अवलिप्य यत्र धान्ये अक्षराणि कृतानि तल्लाञ्छितमिति ब्रुवते, यत्र तु धान्ये मुद्रा पतिता तन्मुद्रितं भवति ।

उडुबद्धम्मि अतीए, वासावासे उवट्ठिते संते ।
ठायंतगाण लहुगा, कासअगीअत्थसुत्तं तु ॥ १०५ ॥

ऋतुबद्धे काले अतीते वर्षावासे उपस्थिते सति यदि कोष्ठागुप्तादिधान्ययुक्ते प्रतिश्रये तिष्ठन्ति तदा चतुर्लघवः, कस्य पुनरेतत्प्रायश्चित्तम् ?, सूरिराह–अगीतार्थस्य सूत्रं तु कल्पते कोष्ठागुप्तादिधान्येषु वर्षावासे वस्तुमिति लक्षणं गीतार्थविषयं मन्तव्यमिति वाक्यशेषः । इत ऊर्ध्वम् "णत्थि०" इत्यादिकाः गाथा पूर्वोक्ताः एतावदध्येतव्याः यावत् "तत्तत्थ०णाणा देसी०"इति । कीदृशी पुनरिच्छा तस्य समुद्भूतेत्युच्यते—

अणुभूता धन्नरसा, नवरं मोत्तूण गंधसालीणं ।
काहामि कोउहल्लं, थेरी पउरं धणं भणियं ॥ ११० ॥

अनुभूतास्तावत् सर्वेषामपि धान्यानां रसाः, नवरं गन्धशालीनां रसं मुक्त्वा ते अद्यापि नास्वादिता इति भावः । अतः करिष्यामि—पूरयिष्यामि कौतूहलमिति विचिन्त्य तेन कोष्ठपल्ल्यादिशालीनाकृष्य स्थविराया अग्रे प्रचुरं धान्यपाकं कुरुष्वेति वचो भणितम् । इदमेव स्पष्टयति—

इहरा कहासु सुणिमो, इमे हु ते कलमसालिणो सुरभी ।

१- णत्थि अगीतत्थो वा, गीयो वा कोऽपि वसिओ सुत्ते ।
जा पुण एगाणुण्णा, सा सेच्छा कारणं किं वा ॥ १०६ ॥
एयारिसम्मि वासो, ण कप्पति जति वि सुत्तऽणुण्णाओ ।
अव्वोगडो तु भणितो आयरिउ उवेहती अत्थं ॥ १०७ ॥
जं जह सुत्ते भणितं, तधेवं जं जति विआलणा णत्थि ॥
किं कालियाणुयोगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ॥ १०८ ॥
(ताओ चेव गाहाओ)जाव ते तत्थ सक्खि–ग्गहिता संथारगा जहिच्छाए ।
णाणादेसी साधू, कासइ इच्छा समुप्पण्णा ॥ १०९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थेवे वि णऽत्थि तत्तो, को य रसो अम्हमण्णाणं ॥१११॥

इतरथा यदि तावत्पूर्वं वयं गन्धशालीन् कथासु वार्त्तान्तरेषु शृणुम इमे तु प्रत्यक्षमुपलभ्यमानाः ते कथान्तरश्रुताः कलमशालयः सुरभयः, तथा स्तोकोऽप्यत्र कलमशालौ ममास्तु तृप्तिकश्च रसाऽऽस्वादोऽन्योन्यमिश्रितानाममीषाम् , इत्थं विचिन्त्य पल्याच्छान् शालीनाकृष्य स्थविरायाः समर्पयति, साऽप्युपस्कृत्य तस्य संयतस्य दत्त्वा शेषमात्मना भुङ्क्ते ततोऽसौ लब्धाऽऽस्वादो दिवसे दिवसे एवमेव विदधाति ।

ततः किमभूदित्याह—

निग्घोलिय तप्पल्लं, कज्जे सागारियस्स अतिगमणं ।

सागारिओ विसन्नो, भीतो पुण पासए कूरं ॥ ११२ ॥

तेन संयतेनैवं शालीनपहरता तत्पल्यं निर्घोलितम् ,रिक्तीकृतम्, ततः क्वचिदात्मीयकार्ये सागारिकस्य तत्रातिगमनं प्रवेशो भवेत्, ततः सागारिकः पल्यं रिक्तीकृतं दृष्ट्वा विषण्णो विषादमुपगतवान् भीतश्च । किमु स्तेनादयोऽत्र प्रविष्टा भवेयुरिति शङ्कया तत्र परिभ्रमन् शालकूरमानीतं पश्यति ।

सो भणइ कतो लद्धो, एसो अम्हं खु लद्धिसम्पन्नो ।

ओभावणं च कुज्जा, धिरत्थु ते एरिसो लाभो ॥ ११३ ॥

स सागारिको भणति-कुत एष शालिकूरो लब्धः, ततः साधवस्तदीयं वृत्तान्तमजानाना ब्रुवते-एष साधुरस्माकं लब्धिसम्पन्नः, अतः प्रतिदिनमीदृशं शालिकूरमानयति । ततः सागारिकस्तं साधुं ब्रूते—धिगस्तु मुण्ड ! तवेदृशं लाभं येन प्रतिदिवसं शालीनपहृत्यास्माकं पल्यं रिक्तीकृतमिति, अपभ्राजनं वा असौ लोकमध्ये कुर्यात् । यथा स्तेनका अमी अत्र च भद्रकप्रान्तकृता दोषा भवन्ति ।

भद्रकस्तावदिदमभिदध्यात्—

इहरह वि ताव अम्हं,भिक्खुं व पलिं व गिण्हइ न किंचि ।

इण्हिं खु तारिओ मि, ठवेमि अन्ने वि जा धन्नो ॥११४॥

उक्तार्था । यस्तु प्रान्तो भवति स ब्रूयात्, अहो धर्मकम्बुक ! प्रविष्टा अमी लोकं मुष्णन्तीत्यादि । अत्र " लहुगा अणुग्गहम्मी, अप्पत्तिय धम्मकंचुए गुरुगा" । इत्यारभ्य " सेज्जायरो य भणइ, अन्नं धन्नं पुणो वि होइ इणमो । एसो अणुग्गहो मे, जा साहु न दुक्खिओ कोइ ॥ १ ॥ " इति पर्यन्ता गाथास्तदवस्था एवात्र द्रष्टव्याः ।

उवस्सयस्स अंतोवगडाए सुरावियडकुंभे वा सोवीरयवियडकुंभे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए हुरत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा वत्थए दुरायाओ वा वत्थए । जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसेज्जा सेसंतरा छेए वा परिहारे वा ॥४॥

एवमुदकादिसूत्राण्युच्चारणीयानि ।

अथामीषां कः संबन्ध इत्याह—

एगंत उवस्सएहिं, वाघाया तेसि होंति अन्नोन्ना ।

साहारणपत्तेगा, जा पिंडो एस संबन्धो ॥ ११५ ॥

इहोपाश्रये प्रकृतमविकारो वर्त्तते, तेषां चोपाश्रयाणां व्याघातदोषाः अन्योन्ये अपरापरे वा ये विकटोदकप्रतिबद्धतादयो भवन्ति तेषु च यत्राल्पतरा दोषा भवन्ति तत्र स्थातव्यमिति ज्ञापनार्थं साधारणसूत्रप्रत्येकसूत्राणां समारम्भः क्रियते । 'जा पिंडो त्ति उवस्स य, अंतोवगडाए पिंडए वा वि ' इत्यादिकं वक्ष्यमाणं पिण्डसूत्रं यावदेष सम्बन्धो मन्तव्यः, साधारणसूत्राणि नाम यत्रैकसूत्रे द्व्यादिप्रभृतीनि बहूनि पदानि भवन्ति , प्रत्येकसूत्राणि तु यत्रैकसूत्रे एकमेव पदं ततश्चात्र विकटसूत्रमुदकसूत्रं पिण्डसूत्रमित्येतानि त्रीणि साधारणसूत्राणि प्रदीपसूत्रं ज्योतिःसूत्रं च प्रत्येकसूत्रे एष पञ्चानामपि सूत्राणां सम्बन्धः सामान्यत उक्तः ।

अथ विशेषतः संबन्धमाह—

सालिच्छूहि वि कीरइ, विगडं भुत्तति सितोदयं पिवति ।

आहारिमम्मि दोसा, जह तह पेज्जेवि जोगो यं ॥११६॥

शालिभिरिक्षुभिर्वा विकटं क्रियते, अतो धान्यसूत्रानन्तरमिदं विकटसूत्रमारभ्यते शालिकूरादिकमाहारं भुक्त्वा तृषितो भवेत्, तृषितश्चोदकं पिवतीत्युदकसूत्रं निरूपणीयम् । यद्वा-आहारिमे तिलादौ भुक्ते सति यथा दोषा भवन्ति तथा पेयेऽपि मद्यादौ पीयमाने दोषा भवन्त्येवेति तत्प्रतिश्रयेऽपि न स्थातव्यमित्यनेन संवन्धेनायातस्यास्य सूत्रस्य(४)व्याख्या । सुरा-काष्ठपिष्टनिष्पन्नम् ,सौवीरकविकटं तु पिष्टवर्जैर्गुडादिद्रव्यैर्निष्पन्नम्।ततस्सुराविकटकुम्भो सौवीराविकटकुम्भो वा यत्रोपाश्रयस्यान्तर्वगडायाम् उपनिक्षिप्तः स्यात्तत्र नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा यथालन्दकमपि कालं वस्तुम् । 'हुरत्थाय'त्ति देशीपदं बहिरर्थाभिधायकम् ।चशब्दो वाक्यभेदद्योतकः । ततोऽयमर्थः-अथ बहिरन्योपाश्रयं प्रत्युपेक्षमाणो नो लभेत तत एवं (से)-तस्य साधोः कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा तत्र वस्तुम् । यस्तत्रैकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा परम्-ऊर्ध्वं वसति (से) तस्य संयतस्य स्वान्तरा स्वस्वकृतं यदन्तरं त्रिरात्रादिकालावस्थारूपं तस्मात् छेदो वा पञ्चरात्रिन्दिवादिः, परिहारो वा मासलघुकादिस्तपोविशेषो भवतीति सूत्रार्थः ।

अथ विस्तरार्थं भाष्यकृद्भिर्भणिपुराह—

देसीभासाइकयं , जा बहिया सा भवे हुरत्थाओ ।

बंधणुलोमेण कयं , परिहारो होइ पुव्वं तु ॥ ११७ ॥

'हुरत्थे' त्ति यत्पदं तद्देशीभाषया कृतं निबद्धं बहिरर्थाभिधायकम् । ततो यो विवक्षितोपाश्रयाद्बहिर्वर्त्तिनी वगडा सा-' हुरत्थेति ' शब्देनोच्यते । अथ परः प्राह—परिहारस्तावत्तपोविशेष उच्यते , छेदस्तु पर्यायच्छेदरूपः तत्सूत्रम्-' सेसंतरा परिहारे वा छेए वा ' इति पठितुमुचितं किमर्थं-व्यत्यासेन पाठ इत्याशङ्क्याह—बन्धानुलोम्येन सूत्रे परिहारपदात् पूर्वं छेदपदं कृतम् । किमुक्तं भवति-एवंविधो हि पाठः सुललितपदविन्यासतया सुश्लिष्टो भवतीति कृत्वा सूत्रकृता प्रथमं छेदपदमुपन्यस्तम् ।

अहवा वारिज्जंतो, निक्कारणओ वि तिण्ह वि परेणं ।

छेयं चिय आवज्जे , छेयमओ पुव्वमाहंसु ॥ ११८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ यदि तत्र विकटयुक्तोपाश्रये गुर्वादिना वार्यमाणो निष्कारणं तावदर्पतस्तिष्ठति त्रयाणां चाहोरात्राणां परतस्तिष्ठति, तदा छेदाख्यमेव प्रायश्चित्तमसावापद्यते । तच्छेदपदं पूर्वं प्रथममुक्तवन्तो भगवन्तो भद्रबाहुस्वामिनः ।

अथ सुरासौवीरकपदं व्याचष्टे—

पिट्ठेण सुरा होति, सोवीरं पिट्ठवज्जियं जाण ।
ठायंतगाण लहुगा, कास अगीयत्थसुत्तं तु ॥ ११६ ॥

व्रीह्यादिना सम्बन्धिना पिष्टेन यद्विकटं भवति सा सुरा, यत्तु पिष्टवर्जितं द्राक्षाखर्जूरादिभिर्द्रव्यैर्निष्पाद्यते तन्मद्यं सौवीरकविकटं जानीयात् । एतद् द्विविधमपि यत्रोपनिक्षिप्तं भवति तत्रोपाश्रये तिष्ठतां चतुर्लघुकाः,कस्य पुनरेतत्प्रायश्चित्तमित्याह–अगीतार्थस्य सूत्रं तु–" कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए" इत्यादिलक्षणं गीतार्थविषयं मन्तव्यम् । इत ऊर्ध्वं "नऽत्थि अगीयत्थो व"इत्यादिकाः "का स इच्छा समुप्पन्ना" इति पर्यन्ता गाथास्तदवस्था एवात्र द्रष्टव्याः ।

अथ कीदृशी तस्येच्छा समुत्पन्नेत्याह—

अणुभूत्रा मज्जरसा, णवरिं मुत्तूणमेसि मज्जाणं ।
काहामि कोउहल्लं, पासुत्तेसुं समारद्धो ॥ १२० ॥

अनुभूता मया बहवो मद्यरसाः परममीषां मद्यानां रसान् मुक्त्वा अतः करिष्यामि कौतूहलमिति विचिन्त्य प्रसुप्तेषु साधुषु समारब्धोऽसौ तद्भाजनमुद्घाट्य विकटपानं कर्तुं, ततश्च–

इहरा कधासु सुणिमो, इमं खु संकाविसायणं मज्जं ।
पीते वि जायति सती,तज्जुसिताणं किमु अपीते॥१२१॥

इतरथा अद्यदिनात्पूर्वं कथास्वेवं शृणुमः परमिदं तत्कथान्तरश्रुतकातिशायिनं मद्यम्, एवं तन्मद्यं–जुषितं–सेवितं यैस्ते तज्जुषिताः, गृहवासे विकटपायिन इत्यर्थः । तेषां पीतेऽपि विकटे स्मृतिरुपजाते । किं पुनरपीते ।

विगयम्मि कोउहल्ले, बहुवयविराहण त्ति पडिगमणं ।
वेहाणस ओहाणे, गिलाणसोहाण वा दिट्ठो ॥१२२॥

गतार्था ।

उड्डाहं च करिज्जा, विप्परिणामो पहुज्ज सेहस्स ।
गिण्हंतेणं तेणं, खंडियविद्धे व भिन्ने वा ॥ १३३ ॥

शैक्षस्तं संयतं विकटपानं कुर्वाणं दृष्ट्वा लोकस्य पुरत उड्डाहं कुर्यात्, विपरिमाणो वा शैक्षस्य भवेत् । विपरिणतश्च सम्यग्दर्शनं चारित्रं लिङ्गं वा परित्यजेत्, तथा तेन संयतेन विकटभाजनं गृह्णता वाशब्दात्–मुञ्चता वा तद्भाजनं खण्डितम्–एकदेशभग्नम्,विद्धं वा–पतितछिद्रम्, भिन्नं वा–द्विधा कृतं भवेत् । इत ऊर्ध्वं 'फडियमुद्दा तेणं' इत्यारभ्य"अम्हे ठिपल्लगंथिय, अहापवत्तं वहह तुब्भे" इति पर्यन्तं गाथाकदम्बं तथैवाध्येतव्यम् , नवरं मद्याभिलापः कर्त्तव्यः ।

ततश्च—

आमं ति अब्भुवगए, भिक्खवियाराइनिग्गयमिएसु ।
भणइ गुरू सागॉरियं,कहि मज्जं जाणगट्ठाए ॥१२४॥

यदि शय्यातरेणापि अभ्युपगतम्, यूयं निश्चिन्तास्तिष्ठत वयं यथा प्रवृत्तं व्यापारं चिन्तयाम इति । ततो गुराचार्यो भिक्षाविचारभूम्यादिनिर्गतेषु अगीतार्थसागारिकं भणति कुत्र मद्यमस्तीत्येवं परिज्ञानार्थम् ।

किं भणतीत्याह—

गोडीणं पिट्ठीणं, वंसीणं चेव फलसुराणं च ।
दिट्ठं मए संनिचया, अन्ने देसे कुडुंबीणं ॥१२५॥

गौडीनां—गुडनिष्पन्नानां पिष्टीनां—व्रीह्यादिधान्यक्षोदनिष्पन्नानां वंशीनां—वंशकरीलकनिष्पन्नानां फलसुराणां च तालफलद्राक्षाखर्जूरादिनिष्पन्नानाम् एवंविधानां सुराणां संनिचया अन्यस्मिन् देशे मया कुटुम्बिनां गेहेषु दृष्टाः, " एवं च भणियमित्त–म्मि निक्कारणे सो भणइ वेहिच्छं । अत्थिमहं संनिचया, पिच्छह नाणाविहं मज्झ " इत्यादिका, दारं ' न होइ इत्ती ' इति पर्यन्ता गाथाः प्राग्वदत्र सव्याख्याना द्रष्टव्याः ।

अथात्रैव विशेषतो यतना कर्त्तव्या
तामभिधित्सुराह—

गहियम्मि व जा जयणा, गेलन्ने अधव तेण गंधेणं ।
सागारियादिगहणं, णायव्वं लिङ्गभेयाइ ॥ १२६ ॥

शैक्षकेऽपि विकटे गृहीते पीते सति या यतना सा वक्तव्या । ग्लानत्वे वा वैद्योपदेशेन विकटं ग्रहीतव्यम् । अथवा–तेन विकटसंबन्धिना गन्धेन कस्यापि गृहवासे विकटभावितस्याध्युपपातो भवेत्, ततः सागारिकः शय्यातरआदिशब्दात्–श्रावको वा यो मातापितृसमानस्ततो विकटस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम् ,यदि स्वलिङ्गेन न प्राप्यते उड्डाहो वा भवति ततो लिङ्गभेदादिकमपि नेतव्यं–कर्त्तव्यमिति यावदेष निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुराह–

पीयं जहा होज्ज वि गोविएणं,तत्थाणइंताण रसं छुभंति ।
भिन्ने उ गोणादिपए करेंति,तेसिं पवेसस्स तु संभवम्मि १२७

यदि कदाचित् कोविदेन शैक्षकेण शेषसाधुषु प्रसुप्तेषु तद्विकटं पीतं भवेत्तदा गीतार्थास्तत्र विकटभाजने रसमिक्षुरसादिकमानीय प्रक्षिपन्ति । अथ कथमपि तद्भाजनं गृह्यमाणं मुच्यमानं वा भिन्नम् , ततो भिन्ने सति तस्मिन् गवादीनां पदानि प्रतिश्रयप्राङ्गणे प्रविशन्ति निर्गच्छन्ति च कुर्वन्ति—आलिखन्तीत्यर्थः । येन सागारिको जानीते, यथा–गवादिना प्रविश्य भग्नमिदं भाजनमिति । परं यदि तेषां गवादीनां तत्र प्रवेशः संभवति,अन्यथा हि सागारिकः प्रद्वेषं जायात् । एवं तावदमी इत्थं कर्मकारिणः, अपरं च तदपह्नवनायेत्थं प्रपञ्चमुपरचयन्ति । धिगमीषां पाखण्डिनां धर्ममिति ।

छिंदिं तु पीए जउणा ठवेति,
मुद्दा जहा चिट्ठइ अक्खुणासे ।
जाणम्मि दिट्ठम्मि भणंति पुट्ठा,
नूणं परिस्संदति भाणमेयं ॥ १२८ ॥

विकटे पीते तद्भाजनं छिद्रदेशे वस्त्रादिना तद्वत् जतुनालाक्षया स्थगयन्ति,तथा–'से'तस्य भाजनस्य मुद्रा क्षता ति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च्छति । अथ सागारिकस्तद्भाजनस्यन्दनं दृष्ट्वा पृच्छति किमर्थमिदं स्यन्दनमवलोक्यते , एवं पृष्टाः सन्तो भणन्ति-नूनं भाजनमिदं परिस्यन्दति ।

सव्वम्मि पीए अहवा बहुम्मि,
संजोगयादी ठवयंति अन्नं ।
अन्नव्वमग्गी उ छुहंति तत्थ,
गीयं कयं वा गिहिलिङ्गमाई ॥ १२९ ॥

सर्वस्मिन्नथवा—बहुके विकटे पीते सति ये संयोगपातिनो तन्निष्पत्तियोग्यद्रव्यसंयोगवेदिनस्ते तथाविधानि द्रव्याणि संयोज्य विकटं स्थापयन्ति । अथ न सन्ति संयोगपातिनस्ततोऽन्यत् विकटं मार्गयित्वा तत्र प्रक्षिपन्ति, तच्च प्रथमतः शुद्धम् । तदभावे पञ्चकपरिहाण्या चतुर्लघुकं प्राप्तेन क्रीतकृतमपि ग्रहीतव्यम् । यदि स्वलिङ्गेन गृह्णतामुड्डाहो भवति, न वा तेन प्राप्यते ततो गृहिलिङ्गम् । आदिशब्दाद्-अन्यतीर्थिकलिङ्गं वा कर्त्तव्यम् ।

अथ ' गेलन्ने अ अहव तेण गंधेणं ' इत्यादि पदानि व्याख्याति—

तब्भावियट्ठा व गिलाणए वा,
पुराणसागारियसावए वा ।
वीसं भणीआण कुलाण भावा,
गिरहंति रूवस्स विवज्जिएणं ॥ १३० ॥

तेन विकटेन पूर्वं भावितस्तद्भावितः, स तत्र विकटे नाध्यापयितुं भवति, ग्लानो वा कश्चित्तेनैवोपयुक्तेन प्रगुणीभवति; नान्यथा । ततस्तदर्थं पुराणस्य-पश्चात्कृतस्य सकाशात्तद्वयेन वा पितृसमानो यः सागारिकस्तस्य हस्तात्तदप्राप्तौ प्रतिपन्नाणुव्रतस्य मातापितृसमानस्य श्रावकस्य वा पार्श्वाद् ग्रहीतव्यम् । अमीषामभावे, यद्वा-भद्रकान्यपि यानि विश्रम्भणीयानि कुलानि नोड्डाहकारीणीत्यर्थः । तेषु ग्रहीतव्यम् , तेषामप्यभावे यदि स्वलिङ्गेन गृह्णाति ततः प्रवचनोपघातो भवेत् । अतो रूपस्य विपर्ययेण गृह्णन्ति लिङ्गविवेकं कृत्वा विकटमुत्पादयन्तीति भावः ।

अच्चाउरं वा वि समिक्खिऊणं,
खिप्पं तओ घेत्तु दलित्तु तस्स ।
अन्नं रसं वा वि तहिं छुभंति,
संगं व सेतं हवयंति तत्तो ॥ १३१ ॥

अत्यातुरं वा तं ग्लानं समीक्ष्य क्षिप्रं—शीघ्रं ततः प्रतिश्रयवर्तिनो विकटभाजनाद् गृहीत्वा तस्य ग्लानस्य दत्त्वा गीतार्थास्तत्रान्यं वारयन्ति प्रक्षिपन्ति, ततश्च ' से ' तस्य-ग्लानस्य तं विकटविषयं संहापयन्ति कार्ये तिष्ठति सति विकटप्रसङ्गं निवारयन्तीति भावः । गता स्वपक्षयतना ।

अथ परपक्षयतनामाह—

परपक्खितम्मि दारं, पिधेंति जयणाएँ दो वि वारेंति ।
तह वि य अट्टायमाणे, उवेह पुट्ठा न साहंति ॥१३२॥

इत्यादिका मद्याभिलापविशेषिता गाथाः सर्वा अपि तथैवाऽत्र वक्तव्याः ।

उवस्सयस्स अंतोवगडाए सीओदगवियडकुंभे वा उसिणोदगवियडकुंभे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा अहालंदमवि वत्थए हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए,जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसेज्जा सेसंतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ५ ॥

अस्य संबन्धमाह—

छोढूण दगं पिज्जइ, गालिंति दगं व छोढुणं वंतुं ।
पातुं मुहं व धोवइ, तेणऽहिकारो सजीवं वा ॥ १३३ ॥

यतो दकं-पानीयं प्रक्षिप्य विकटं पीयते, ततो विकटसूत्रानन्तरमुदकसूत्रम् , यद्वा—दकं प्रक्षिप्य तद्विकटं गालयन्ति । अथवा—विकटं पीत्वा तज्जनितदौर्गन्ध्यव्यपगमार्थं उदकेन मुखं धावन्ति, तेन कारणेन विकटानन्तरम् उदकाधिकारः प्रारभ्यते । यद्वा-तद्विकटं निर्जीवं वा भवेत् इत्यनेकैस्संबन्धैरायातस्यास्य (५) व्याख्या प्राग्वत् , नवरं विकृतं—शीतोष्णादिशस्त्रेण विकारप्रापितं प्राशुकीकृतमित्यर्थः शीतोदकं च तद्विकृतं च शीतोदकविकृतम् । तस्य कुतो घटः, एवमुष्णोदक विकृतकुम्भोऽपि ।

अथ भाष्यम्—

सीतोदे उसिणोदे, फासुगमप्फासुगे चउब्भङ्गी ।
ठायंतगाण लहुगा, कास अगीतत्थसुत्तं तु ॥ १३४ ॥

शीतोदकोष्णोदकमप्राशुकप्राशुकयोश्चतुर्भङ्गी भवति । गाथायां प्राकृतत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः, तद्यथा-शीतोदकं प्राशुकम्१, शीतोदकमप्राशुकम्२, उष्णोदकं प्राशुकम्३, उष्णोदकमप्राशुकम्४, तत्र प्रथमभङ्गे उष्णोदकमेव शीतीभूतं तन्दुलधावनादिकं वा, द्वितीयभङ्गे शीतोदकमेव स्वभावस्थम् । तृतीयभङ्गे उष्णोदकमुद्वृत्तत्रिदण्डम् । चतुर्थभङ्गे तप्तोदकादिकं मन्तव्यम् । एवंविधोदकप्रतिबद्धे प्रतिश्रये तिष्ठतां चतुर्लघुकाः, एवमविशेषेणोक्तावप्ययं विशेषः-प्रथमतृतीययोर्लघु, द्वितीयचतुर्थभङ्गयोश्चतुर्लघु । आह च निशीथचूर्णिकृत्-' पढमतइयभंगे ठायंतस्स मासलहुं, वितियचउत्थेसु चउलहुं, ' आह-कस्य पुनरेतत् प्रायश्चित्तम् , गुरुराह-अगीतार्थस्य सूत्रं पुनरनुज्ञाविषयं गीतार्थमधिकृत्य प्रवृत्तमित्युपस्कारः इत ऊर्ध्वम् ' नत्थि अगीयत्था वा' इत्यारभ्य 'का स इच्छा समुप्पन्ना' इति पर्यन्तं भाष्यमुदकाभिलापविशेषितं वक्तव्यम् ।

कीदृशी पुनरिच्छा तस्य समुत्पन्ना ? उच्यते—

अणुभूया उदगरसा, नवरं मुत्तुं इमेसि उदगाणं ।
काहामि कोउहल्लं, या सुत्तेसुं समारद्धो ॥ १३५ ॥

अनुभूता मया उदकानां रसाः, नवरं मुक्त्वा अमीषामुदकानां रसान् , अतः करिष्याम्यहमेतद्विषयं कुतूहलं सफलमिति विचिन्त्य प्रसुप्तेषु शेषेषु साधुषु समारब्धमुदकपानं कर्तुम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कानि पुनस्तान्युदकानीत्याह—

धारोदए महासलि-लाजले संभारिते व दव्वेहिं ।
तएहा य तस्स व सती, दिवा व राओ व उप्पज्जे ॥१३६॥

धारोदकं नाम-गिरिनिर्भरजलम्, यथा-उज्जयन्तादौ, अन्तरिक्षं वा,महासलिला-गङ्गाप्रभृतयो महानद्यस्तासां जलं महासलिलाजलम्, द्रव्यैः-कर्पूरपाटलादिभिः संभारितं-वासितं द्रव्यसंभारितम्। एष पानीयेषु तृष्णयाऽपि तस्याभिलाषो भवति, पूर्वानुभूतेषु तु दिवा वा रात्रौ वा स्मृतिः संस्मरणमुत्पद्यते ।

ततश्चोदकमपि पिबन्नात्मनो हृदयस्य प्रत्यक्षमिदमाह—

इतरा कहासु सुणिमो, इमं खु तं विमलसीतलं तोयं ।
विगयस्स वि णऽत्थि रसो,इति सेवे धारतोयादी॥१३७॥

इतरथा कथान्तरेषु शृणुमः, परमद्य विमलशीतलं तत्कथाऽन्तरश्रुतं तत्तोयमास्वादितम्, यच्चोष्णोदकादिकं विकृतंव्यपगतजीवमुदकं पिबामः तस्यापि शस्त्रोपहतत्वेनान्यथाभूतस्य रसो नास्तीति मत्वा धारतोयादिकं जलं सेवते ।

विगतम्मि कोउतम्मि, छट्ठवयविराहण त्ति पडिगमणं ।
वेहाणसओहाणा, गिलाणसेहेण वा दिट्ठो ॥१३८॥

विगते उदकपानकौतुके स संयतः षष्ठव्रतविराधना मया कृतेति मत्वा प्रतिगमनं वा वैहायसं वा मरणम् " ओहावण त्ति " अवधावनं कुरुते । ग्लानेन वा शैक्षेण वा स दृष्टो भवेत् ।

ततश्च-

तएहाइओ गिलाणो, तं दट्ठु पिवेज्ज जा विराहणया ।
एमेव सेहमादी, पियंति अप्पच्चओ वासिं ॥ १३९ ॥

ग्लानस्तृष्णायितस्तं संयतमुदकमापिबन्तं दृष्ट्वा पानीयं पिबेत् । तेन वा पथ्यतया तस्यानागाढपरितापादिका विराधना, तन्निष्पन्नम् । एवमेव च शैक्षादयोऽप्यपरिणतास्तदुदकमापिबन्ति, अप्रत्ययो वा अमीषां भवेत् । यथैतन्मृषा तथाऽन्यदपि, सर्वममीषामुन्मत्तप्रलपितमिति " उड्डाहं च करिज्जा, विप्परिणामो व हुज्ज सेहस्स । गिएहंतेण व तेणं, खंडियवज्झे च भिन्ने वा " इत्यारभ्य " उदकासन्नो य छणू-सवो कज्जं पि य तारिसेण उदगेण । तेणाण य आगमणं, अच्छह तुरिहकया ते वा " इति पर्यन्ता गाथा गतार्थाः ।

अथ यैः कारणैः स्तेना उदकमपहरन्ति तानि दर्शयति--

ऊसवछणेसु संभा-रियं दगं तिसिय रोगियट्ठाए ।
दोहलकुतूहलेण व, हरंति पडिवेसियाई य ॥ १४० ॥

उत्सवाः क्षणाश्च पूर्वोक्ताः तेषु प्रत्यासन्नेषु स्तेना उदकं हरेयुः । यद्वा--तृषिताः सन्तः सूर्यपानार्थं संभारितं कर्पूरपाठादिवासितं चतुर्थमूलं पञ्चमूलकृतं वा तदुदकमपहरन्ति । यद्वा--रोगी कश्चित्तेषामस्ति, तस्य तत्पानीयं पथ्यं तदर्थम्, अथवा--गर्भिण्यास्तादृशमुदकपाने तु दोहदं समुत्पन्नम्, यदि वा--कुतूहलं तेषामुदपादि कीदृशोऽस्य पानीयस्य रसः, एवमेभिः कारणैः प्रतिवेशिमकादयः स्तेना अपहरेयुः ।

गहियं च तेहिं उदकं, घित्तूण गया जहिंसि गंतव्वं ।
सागारिओ व भणई, सउणीवि य रक्खई तिएहं ।१४१।

उक्तार्था ।

दगभायणाणि दट्ठुं, सजनं बहियं दगं च परिसडियं ।
केण इमं तेणेहिं, असिट्ठे भद्देयर इमे उ ॥ १४२ ॥

सागारिको दकभाजनानि स्वजनं चाज्ञाजनमपहृतं दकं वा परिशटितं दृष्ट्वा पृच्छति-केनेदं जलमपहृतम् ?, साधवो ब्रुवते—स्तेनैः । ततोऽसौ भूयः प्रश्नयति—के पुनः स्तेनाः ? ततो यदि नाम्ना वर्णेन वा तान् कथयन्ति ततस्तेषां बन्धनादयो दोषाः । अथ न कथयन्ति ततोऽशिष्टे-अकथिते भद्रकप्रान्तकृता इमे दोषाः ।

लहुगा अणुग्गहम्मी, गुरुगा अप्पत्तियं च कायव्वा ।
लहुगुरू संकुणंते, छम्मासा करभरे छेओ ॥ १४३ ॥

इत ऊर्ध्वम् " आमन्ति अब्भुवगए, भिक्खवियाराइ निग्गयमएसुं । भणइ गुरू सागारियँ, कत्थ दगं जाणणट्ठाए । " इति पर्यन्तं गाथाकदम्बकं प्राग्वत् ।

कथं पुनः सूरयः सागारिकं प्रश्नयन्तीत्याह—

चउमूल पंचमूलं, तलोदगं तावतिलयतोयाणं ।
दिट्ठं मएँ सण्णिचया, अन्नयदेसे कुडुंबीणं ॥ १४४ ॥

चतुर्मूलं नाम—चतुर्भिः सुरभिमूलैर्भावितमेवं यत्पञ्चभिर्मूलैर्भावितं तत्पञ्चमूलम्, तलोदकानि यत्र तोसलिविषये तलतोयानि राजगृहादौ एवंविधानामुदकानां संनिचया मयाऽन्यस्मिन् देशे कुटुम्बिनां गेहेषु दृष्टाः, " एवं च भणियमन्न-म्मि कारणे सो भणाइ आयरिए । अत्थिमहं संनिचया, पच्छह नाणाविहे उदए " इत आरभ्य " जाणंता वि य यतणं, मवन्नरूवेण सा होति " इति पर्यन्तं भाष्यं तथैवात्र वक्तव्यं नवरमुदकाभिलापः कर्त्तव्यः ।

ज्योतिःसूत्रम्-

उवस्सयस्स अन्तोवगडाए सव्वराईए जोई झियाएज्जा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गन्थीण वा अहालंदमवि वत्थए हुरत्थाय उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए । जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसेज्जा सेसंतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ६ ॥

एवं प्रदीपसूत्रमप्युच्चारणीयम् ।

अथास्य सूत्रद्वयस्य कः सम्बन्ध इत्याह—

उदगाणंतरमग्गी, सो उ पईवो व होज्ज जोई वा ।
पडिवक्खेणं व गयं, समागमो एस सुत्ताणं ॥ १४५ ॥

प्रवचने ह्यप्कायप्ररूपणानन्तरं अग्निकायः प्ररूप्यते, अतोऽप्युदकसूत्रानन्तरमग्निसूत्रमारभ्यते । स चाग्निः प्रदीपो वा स्यात्,ज्योतिर्वा । 'पडिवक्खेणं वगयं'ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य, पक्षतया वा इदं सूत्रमागतम् । किमुक्तं भवतिअप्कायस्याग्निकायः शस्त्रम्, अग्निकायस्याप्कायः, अत एतौ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परस्परं प्रतिपच्तौ, प्रतिपन्नत्वेन वा अप्कायानन्तरं साम्प्रतमग्निः प्ररूपणीयः, एष समागमसम्बन्धो द्वयोरपि सूत्रयोर्मन्तव्यः, इत्यनेन संबन्धेनायातस्य प्रथमसूत्रस्य (६) तावत् व्याख्या । सा च प्राग्वत् , नवरं सार्वरात्रिकं ज्योतिरग्निर्यत्रोपाश्रये ध्मापयेत् धातूनामनेकार्थत्वात् प्रज्वलेत् ,तत्र साधुसाध्वीनां वस्तुं न कल्पते ।

अथ भाष्यविस्तरः—

देसीभासाएँ कयं, जा बहिया सा भवे हुरत्थाश्रो ।
वंधणुलोमेण कयं, छेए परिहारपुव्वं तु ॥ १४५ ॥
अहव ण वारिज्जंतो, निक्कारणश्रो व तिण्हं व परेणं ।
छेयं चिय आवज्जे, छेयमश्रो पुव्वमाहंसु ॥ १४६ ॥

गाथाद्वयमपि गतार्थम् ।

ज्योतिःस्वरूपं निरूपयति—

दुविहो य होइ जोई, असव्वराई य सव्वराई य ।
वायतगाणं लहुगा, कास अगीयत्थ सुत्तं तु ॥१४७॥

ज्योतिरग्निकाय उद्दीप्तम् ,तत् द्विविधम्-असार्वरात्रिकं कियतीमपि रात्रिं यत्प्रज्वलति, तद्विपरितं सार्वरात्रिकमुभयोरपि तिष्ठतां चतुर्लघुकाः । अथ कस्य पुनरेतत्प्रायश्चित्तम् ?, उच्यते-अगीतार्थस्य, सूत्रं तु गीतार्थप्रवृत्तमिति ऊर्द्ध्वम्-'नत्थि अगीयत्थो वा' इत्यारभ्य ' रमणिज्ज भिक्खगामो, छायं. तह जोइसालाए ' इति पर्यन्तं भाष्यं तथैवात्र वक्तव्यम् ।

अथ तत्र स्थितानां दोषानुपदर्शयति—

उवगरणे पडिलेहा, पमज्जणा वा सपोरिसि मणे य ।
निक्खमणे य पवेसे, आपडणे चेव पडणे य ॥१४८॥

वसतौ स्थितानामुपकरणप्रत्युपेच्तणे वसतेः प्रमार्जने आवश्यकस्य सूत्रार्थपौरुष्योर्वा करणे, ' मणे य ' त्ति मनसा रागद्वेषगमने, निष्क्रमणे च प्रवेशे चङ्क्रमणे नैषेधिक्यावश्यिक्योः करणे अपनयेनैव गच्छता अणुष्वप्कायादिषु स्खलने पतने च प्रतीति, एतेषु या तेजस्कायस्यात्मनो वा विराधना तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथैतद्दोषभयात्प्रतिलेखनाप्रमार्जनादि न करोति ततोऽपि प्रायश्चित्तम् ।

किं पुनस्तदित्यत आह—

पणगं लहुश्रो गुरुया, चउरो मासा य चउसु ठाणेसु ।
लहुगा गुरुगा य मणे,सेसेसु वि होंति चउलहुगा।१४९।

यदि ज्योतिःशालायां स्थिताः अग्निसंघट्टो मा भूदिति कृत्वा वस्त्राद्युपकरणं न प्रत्युपेच्तन्ते ततो जघन्ये पञ्चकम् , मध्यमे मासलघु, उत्कृष्टे चतुरो लघवः । वसतिं न प्रमार्जयन्ति , यद्वा-निर्गच्छन्तः प्रविशन्तो वाऽग्निविराधनाभयान्न प्रमार्जयन्ति उभयत्रापि मासलघु । आवश्यकं न कुर्वन्ति चतुर्लघु, सूत्रपौरुषीं न कुर्वन्ति मासलघु । अर्थपौरुषीं न कुर्वन्ति मासगुरु । अथैतद्दोषभयादुपकरणप्रत्युपेच्तणां वसतिप्रमार्जनामावश्यकसूत्रार्थपौरुष्यौ न कुर्वन्ति तत एतेषु चतुर्ष्वपि स्थानेषु प्रत्येकं चत्वारो मासलघवः । यस्तु शोभनं समजनि यदेवं प्रकाशे स्थाने स्थिता इत्येवं रागं करोति, यस्य वा सुप्रदेशे निद्रा न गच्छति स यदि तत्र द्वेषं करोति तत एवं मनसा रागद्वेषकरणे यथाक्रमं चतुर्गुरवश्चतुर्लघवश्च । शेषेष्वप्यावश्यिकीनैषेधिकीकरणादिषु स्थानेषु प्रत्येकमग्निविराधनानिष्पन्नं चतुर्लघु ।

अमुमेवार्थं स्फुटतरमाह—

पेहपमज्जणवासग ,
अग्गी ताणिं अकुव्वश्रो जा (परि) हाणी ।
पोरिसिभंगे सजोइ ,
होति मणश्रो रतिमरतिं वा ॥ १५० ॥

उपकरणप्रत्युपेच्तां वसतिप्रमार्जनां'वासय' त्ति आकारलोपादावश्यकं च, यदिति तदग्निविराधनानिष्पन्नं चतुर्लघु,आकारलोपात् तद्दोषभयादेतानि न करोति ततः संयमपरिहाणिस्तन्निष्पन्नं सूत्रपौरुषीभङ्गे मासलघु,अर्थपौरुषीभङ्गे मासगुरु,'अभंगि'त्ति तथाकरणे अग्निविराधना । अथ सज्योतिरुपाश्रय इति मनसि रतिर्भवति तदा चतुर्गुरु, अरतिर्भवति तदा चतुर्लघु ।

जइ उस्सग्गे न कुणइ,तइ मासा सव्व अकरणे चउलहुगा।
वंदणथुई अकरणे, मासो संडासकाईसुं ॥ १५१ ॥

आवश्यके यावतः कायोत्सर्गान् न करोति तावन्तो लघुमासाः । अथ सर्वमप्यावश्यकं न करोति, ततश्चतुर्लघु । अथ वन्दनकं न ददाति स्तुतिमङ्गलं वा न करोति, ततो यावन्ति वन्दनकानि यावतीः स्तुतीर्वा न प्रयच्छति तावन्ति मासलघूनि । अथ यदि ददाति ततश्चतुर्लघु,उपवेशनसंडाशकं न प्रमार्जयति मासलघु, अथ प्रमार्जयति ततश्चतुर्लघु ।

अथ निष्क्रमणादिपदेषु प्रायश्चित्तमाह ।

आवस्सिगानिसीहग-पमज्ज-आसज्ज-अकरणे इमं तु ।
पणगं पणगं लहु लहु, आवडणे लहुगजं वणं ॥१५२॥

निष्क्रामन्तो यद्यावश्यिकीं न कुर्वन्ति पञ्चकम् , प्रविशन्तो नैषेधिकीं न कुर्वन्ति पञ्चकम् , निर्गमप्रवेशौ कुर्वाणा न प्रमार्जयन्ति मासलघु । आवश्यकशब्दस्याकरणे मासलघु । आपतनम् यद्भूमिसंप्राप्तस्य वा जानुकूर्पराभ्यां प्रस्खलनम् , सर्वगात्रेण भूमौ प्रणतः द्वयोरपि चत्वारो लघुमासाः, यच्चापतितः यदि चात्मविराधनादिकमापद्यते तन्निष्पन्नम् । अथवा-यच्चान्यदग्नौ प्रतापनादि करोति तदत्र द्रष्टव्यम् ।

तदेव दर्शयति—

सेहस्स विसीयणया, श्रोसक्कविसक्कअन्नहिं नयणं ।
विज्झविऊण तुअट्टण,अहवाऽवि भवे पलीवणया।१५३।

शैक्षस्य शीतार्त्तस्य चाशातना स्यात् , अग्नौ प्रताप्य स विगतशीतमात्मानं कुर्यादिति भावः । अत्र च यावतो वारान् हस्तौ पादौ वा प्रतापयन् परावर्तयति तावन्ति चतुर्लघूनि । तथा विष्वष्कणं-शीघ्रविध्मापनार्थं ज्वलदुल्मुकानामपकर्षणम् । अवष्वष्कणं तु-तेषामेव प्रज्वलनार्थमुदीरणम् , अन्यत्र नयनं नाम शयनस्थानाभावादग्नेः स्थानान्तरसंक्रमणम् , तथा प्रदीपनकभयादग्निं चारेण धूल्या वा विध्माप्य त्वग्वर्त्तनम् , एतेषु प्रत्येकं चतुर्लघुकम् ।

अथवा-प्रतापयतः प्रमादतः प्रदीपनकं भवेत् ,

तत्रेदं प्रायश्चित्तम्—

गाउअदुगुणा दुगुणं, बत्तीसं जोयणाइ चरिमपदं ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेश्रो मूलं तह दुगं च ॥१५४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गव्यूतादारभ्य द्विगुणाद् द्विगुणवृद्ध्या द्वात्रिंशद्योजनलक्षणं चरमपदं यावदिदं प्रायश्चित्तम् । यदुक्तं गव्यूतं दह्यते ततश्चत्वारो लघुमासाः, अर्द्धयोजनं दह्यते चत्वारो गुरुमासाः, योजनं दह्यते षड् मासलघवः, योजनद्वये षण्मासा गुरवः, चतुर्षु योजनेषु छेदः, अष्टसु मूलम्, षोडशसु अनवस्थाप्यम्, द्वात्रिंशद्योजनेषु दग्धेषु पाराञ्चिकम् ।

तथा—

गोणे य साणमाई, वरणे लहुगा य जं व अहिगरणं ।
लहुगा आवरणम्मि, खंभतणाइं पलीविज्जा ॥१५५॥

तत्र प्रविशन्तो गोश्वा (ना) दीन् यदि वारयन्ति तदा चतुर्लघुकाः, एते वारिताः सन्तो हरितकायादिविराधनारूपमधिकरणं कुर्वन्ति तन्निष्पन्नम् । अथ न वारयन्ति ततोऽपि चतुर्लघवः, प्रविष्टाश्च प्रज्वलदिन्धनचालनेन स्तम्भतृणादीनि प्रदीपयेयुः, तत्रापि गव्यूतादारभ्य द्विगुणाद् द्विगुणवृद्ध्या द्वात्रिंशद् योजनेषु पाराञ्चिकम् । यत एते दोषाः अतो न ज्योतिःशालायां स्थातव्यम् । भवेत्कारणं येन तत्रापि तिष्ठेयुः ।

किं पुनस्तदिति चेदुच्यते—

अद्धाण निग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असतीए ।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो अगणिसालाए ॥१५६॥

अध्वा-महदरण्यम् ततो निर्गताः, आदिशब्दाद्-अशिवावमौदर्यादिषु वर्त्तमाना विकालवेलायां ग्रामं प्राप्तास्त्रिकृत्वः-त्रीन् वारान् शुद्धां वसतिं मार्गयन्ति, यदि न प्राप्यते ततो गीतार्था यतनया अग्निशालायां वसन्ति ।

एतदेव स्पष्टयति—

अद्धाण निग्गयाई, तिण्हं असई य फरुससालाए ।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो पचणसालाए ॥१५७॥

अध्वनिर्गतादयस्तिसृणां—पणितशालाभाण्डशालाकर्मशालानामन्यतरस्याः परुषशालाया अभावे ततो गीतार्था यतनया पचनशालायां-भाजनपाकशालायां वसन्ति ।

इह शालात्रयग्रहणादन्याऽपि कुम्भकारशालाः सूचितास्तासां स्वरूपमुपदर्शयितुमाह-

पणिए य भंडसाला, कम्मपयणे य वावरणसालाए ।
इंधणसाला गुरुगा, सेसासु वि होंति चउलहुगा ॥१५८॥

पणितशाला भाण्डशाला कर्मशाला पचनशाला व्यावरणशाला इन्धनशाला चेति । अत्र निष्कारणे इन्धनशालायां तिष्ठतां चतुर्गुरुकाः, शेषासु पणितशालाप्रभृतिषु चतुर्लघुकाः ।

अथैतासामेव व्याख्यानमाह—

कोलालियावणो खलु, पणिसाला भंडसालजहि भंडं ।
कुंभारघडीकम्मे, पयणे वासासु आवासो ॥१५९॥
तोसलिए वग्घरणा, अग्गीकुंडं तहिं जलति निच्चं ।
तत्थ सयंवरहेतुं, चेडाचेडी य बुज्झंति ॥१६०॥

(पणितशालाव्याख्यानम् 'पणियसाला' शब्दे पञ्चमभागे३८० पृष्ठे गतम् ।) भाण्डशाला यत्र घटकरकादि भाण्डजातं संगोपितमास्ते, कर्मशाला—कुम्भकारघटी, यत्र कुम्भकारो घटादि भाजनादि करोतीत्यर्थः । पचनशाला नाम-यत्र पाकस्थाने वर्षासु भाजनानि पच्यन्ते, इन्धनशाला तु-यत्र तृणकरीषकचवरास्तिष्ठन्ति, व्यावरणशाला नाम-बहुमतं विषये ग्राममध्ये शाला क्रियते, तत्र अग्निकुण्डं स्वयंवरहेतोर्नित्यमेव ज्वलति, तत्र च बहवश्चेटकाः । एका च स्वयंवरा चेटिका प्रक्षिप्यन्ते—प्रवेश्यन्त इत्यर्थः । यस्तेषां मध्ये तस्यैव प्रतिभाति तमसौ वृणीते, एषा व्यावरणशाला । एतासु तिष्ठतां चत्वारो लघुकाः ।

नवरम्—

इन्धनसाला गुरुगा, आदित्ते तत्थ नासिओ दुक्खं ।
दुविहविराहणझुसिरे, सेसा अगणी य सागरिए ॥१६१॥

इन्धनशालायां तिष्ठतां चत्वारो गुरुकाः, कुत इत्याह—तत्र तृणकरीषादावादीप्ते-प्रदीप्ते सति नष्टं दुःखं दुष्करं सुचिरं च तत् तृणादि भवति । ततस्तत्र द्विधा विराधना, संयमात्मविषया, शेषासु-पणितशालादिषु भाजनविक्रयक्रयिकादिभाजनेन सागारिकः पचनशालायां पुनरग्निदोषो भवति ।

एतासु द्वितीयपदे तिष्ठतां विधिमाह—

पढमं तु भंडसाला, तहि सागरि नऽत्थि उभयकालं पि ।
कम्मापणि निसि नत्थी, सेसकमणिंधणिं जाव ॥१६२॥

शुद्धोपाश्रयालाभे प्रथमं भाण्डशालायां तिष्ठन्ति, यतस्तत्रोभयकालेऽपि दिवारात्रौ सागारिको नास्ति, तदभावे कर्मशालायाम्, तदप्राप्तौ आपणिशालायामपि यतस्तत्र निशारात्रौ सागारिको नास्ति । तदभावे शेषासु पचनशालादिषु क्रमेण स्थातव्यं यावदिन्धनशाला । तद्यथा-प्रथमं पचनशालायाम्, ततो व्यावरणशालायाम्, तत इन्धनशालायामपि ।

तत्र स्थितानां यतनामाह—

ते तत्थ संनिविट्ठा, गहिया संथारगा विहीपुव्वं ।
जागरमाणा वसंति, सपक्खजयणाएँ गीयत्था ॥१६३॥

ते साधवस्तत्रोपाश्रये संनिविष्टाः सन्तः स्वाध्यायं कुर्वन्ति, विधिपूर्वम्, यथा रत्नाधिकम्, संस्तारकास्तैस्तत्र गृहीताः, ततश्च, गीतार्थाः स्वपक्षयतनां कुर्वाणाः जाग्रतः सन्तो वसन्ति तिष्ठन्तीत्यर्थः ।

कथमित्याह—

पासे तणाण सोहण, अहिसक्कोसक अन्तहिं नयणं ।
संवरणालिंपणया, छुक्कारणवारणा कड्ढी ॥ १६४ ॥

अग्ने पार्श्वे यदि तृणानि भवन्ति ततस्तेषां शोधना कर्त्तव्या, श्वापदभये अनाक्रान्तिकस्तेनसंभवे अग्नेरभिष्वष्कणं कुर्वन्ति, यदि तत्रोत्क्रान्तिकस्तेनानां संभवस्तदा तमग्निमवष्वष्कयन्ति, स्वप्तुकामा वा तमन्यत्र नयन्ति बहिः संक्रमयन्तीत्यर्थः । कृते कार्ये शरावेण मल्लकेन वा तस्याग्ने संवरणमाच्छादनं कर्तव्यम् । ततो यथायुष्कमनुपाल्य स्वयमेव विध्मापयति, प्रदीपनकभयाच्च च स्तम्भस्य छगणादिना लेपनं कर्त्तव्यम् । श्वा वा गौर्वा यदि तत्र प्रविशति ततो वा ढौकते, तदा छुक्कारयति छिःछिक्कारः कर्त्तव्यः । अथ तथापि न तिष्ठन्ति ततो निवारणा तेषां कर्त्तव्या । सहसा च दीपनके लग्ने कटाहैराकर्षणं कर्त्तव्यम् । यद्वा-तत्प्रदीपनकं धूल्यादिना विध्मापयितव्यम् ।

१—कुम्भकारशाला ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथोपकरणप्रत्युपेक्षणादिषु द्वारेषु यतनामाह—

कडओघचिलिमिणिं वा,असता सभए व बाहिँ जं अंतं।
ठाणासती भयम्मि व,विज्झाएँऽगणिम्मि पेहंति ॥१६५॥

अभ्यन्तरं वंशमयः कटो वस्त्रमयी वा चिलिमिलिका न दातव्या, ततः प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनादीनि सर्वाण्यपि पदानि कुर्वन्ति, कटकचिलिमिलिकयोरभावे प्रतिश्रयाद्बहिरुपकरणं प्रत्युपेक्षणीयम् । अथ बहिः सभयं-स्तेनभययुक्तं ततो यदन्त्यं परिजीर्णमुपकरणं तद्बहिः प्रत्युपेक्षन्ते, सारोपकरणं तु विध्माते ज्योतिषि प्रत्युपेक्षितव्यम् । अथ बहिः स्थानं नास्ति; यद्वा-अन्त्योपकरणस्यापि तत्रापहरणभयं ततः सर्वमप्युपधिं विध्मातेऽग्नौ प्रत्युपेक्षन्ते ।

णिंताण पमज्जंती, मूगावासं तु वंदणगहीणं ।
पोरिसि बाहि मणेण व,सेहाण य दिंति अणुसट्ठिं॥१६६॥

निर्गच्छन्तः प्रविशन्तो वा तत्र प्रमार्जयन्ति आवश्यकमपि मूकं वाग्योगविरहितं वन्दनहीनं च कुर्वते । सूत्रार्थपौरुष्यौ बहिर्विदधति, बहिःस्थानाभावे मनसैव सूत्रमर्थं वा उपेक्षन्ते, ते च शैक्षा ज्योतिःप्रकाशे रागमुपगच्छन्ति । तेषां गीतार्था अनुशिष्टिं प्रयच्छन्ति ।

कथमित्याह—

नाणुज्जोया साहू, दव्वुज्जोयम्मि मा हु गज्झित्था ।
जस्स वि न एइ निद्दा,निमीलिओ वा सुवइ गिम्हे॥१६७॥

ज्ञानोद्योताः सकलजीवादिपदार्थसार्थप्रकाशकज्ञानलक्षणभावोद्योतकलिताः साधवो भवन्ति , अतो द्रव्योद्योतकेऽपि पदपदार्थप्रकाशे ज्योतिःप्रभृतिके मा गृध्यत—रागमुपगच्छत । यस्य वा साधोः सप्रकाशे निद्रा न गच्छति साकल्येन प्रावृतः स्वपिति, ग्रीष्मकाले प्रावृतस्य घर्मो भवति, ततो निमीलितलोचनः स्वपिति ।

अथ स्वकावश्यकं वन्दनकहीनमिति पदं व्याचष्टे—

आवास बाहि असई, वंदणविगडणजयणथुतिहीणं ।
पोरिसि बाहिं अंतो, चिलिमिलि कातूण व झरंति ।१६८।

आवश्यकं बहिः कुर्वन्ति, अथ बहिः स्थानं नास्ति ततो यो यत्र स्थितः स तत्रैव स्थितः मनसैव च करोति—द्वादशावर्त्त वन्दनकं प्रयच्छति । विकटनामालोचनां यतनया वर्षाकल्पप्रावृतानि श्रेष्ठा एव कुर्वन्ति , स्तुतिहीनं नामस्तुतिमङ्गलं मनसैव कुर्वन्ति । अथ ' पोरिसिबाहिं ' ति पदं व्याख्यायते-सूत्रार्थपौरुष्यौ बहिः कुर्वन्ति । अथ बहिः स्थानं नास्ति, ततः प्रतिश्रयस्याभ्यन्तरेऽपि चिलिमिलिकां कृत्वा क्षरन्ति-स्वाध्यायं कुर्वन्ति । ' वा ' विकल्पोपदर्शने , चिलिमिलिकाया अभावे मनसैव सूत्रमर्थं वाऽनुप्रेक्षन्ते इत्यर्थः ।

मूगा विसंति निंती, चउसगमाई कुओ वि अछिवंता ।
सेहा य जोइदूरे, जयंति य जा धरइ जोई ॥ १६९ ॥

मूकाः-ये तूष्णीकाः प्रविशन्ति निर्गच्छन्ति,वा नैषेधिकीमावश्यिकीं च मनसैव कुर्वन्तीत्यर्थः । उत्फुल्लकमलातपादिशब्दादग्निशकटिकां वा क्वचिदप्यस्पृशन्त । तथा निर्गच्छन्ति वा प्रविशन्ति , यथा आपतन-पतनं न भवतः । ये च शैक्षा अगीतार्थाश्च निर्धर्म्माणस्ते ज्योतिषो दूरे स्थापयितव्याः । गीतार्थवृषभाश्च तावत् जाग्रति यावत् ज्योतिरग्निः ध्रियते, न विध्मायतीति भावः । मा शैक्षादयः प्रतापयेयुरिति कृत्वा मनसैव ।

अद्धाणाई अइनि-द्दपिल्लओ गीओ उ समिओ सुवइ ।
सावयभय उस्सके, तेणभये होइ भयणाओ ॥ १७० ॥

अध्वादिपरिश्रान्तोऽतिनिद्राप्रेरितो वा गीतार्थस्तमग्निमपसर्प्य स्वपिति , सिंहव्याघ्रादिश्वापदभये यतनया तान्युल्मुकान्युत्सर्पयति । स्तेनभये तु भजना भवति । यद्याक्रान्तिकस्तेनास्तेतो मा ज्योतिः प्रज्वलदवलोक्य गमनं कार्षुरिति कृत्वा तमग्निमपसर्प्पयति । अथ नाक्रान्तिकास्ततो ज्वलन्तमग्निं दृष्ट्वा जाग्रत्यमी इति बुद्ध्या ते नाभिद्रवन्ति, अतस्तेषु तमग्निमुत्सर्पयतीति ।

अद्धाणविवित्ता वा, परकड असती सयं तु जालेंति ।
सूलाई व तवेउं, कयकज्जा छार अक्कमणं ॥ १७१ ॥

अध्वनि विविक्ताः-मुषिताः परकृतमन्यप्रज्वालितमग्निं सेवन्ते , अथ परकृतो न प्राप्यते ततः स्वयमात्मनैव ज्वालयन्ति शीतार्तास्तत्रेन्धनं प्रक्षिपन्तोन्युक्तं भवति । शूलमादिशब्दाद्विसूचिकां वा तापयितुम्, परकृताभावे स्वयं ज्वालयन्ति कृतकार्या निष्ठिते क्षारेणाक्रमणं कुर्वन्ति मा प्रदीपनकं भविष्यतीति कृत्वा ।

सावयभयआणिंति व, सोउमणा वावि बाहि नीणिंति ।
बाहिं पलीवणभया, छारे तस्स त्ति निव्वावे ॥ १७२ ॥

श्वापदभयेऽन्यस्मात् स्थानादग्निमानयन्ति । स्वप्तुमनसो वा तस्मात् स्थानात् बहिर्नयन्ति । अथ बहिः प्रदीपनकभयान्न नयन्ति ततस्तत्र स्थितमेव क्षारेण छादयन्ति , तथा क्षारस्याऽभावे निर्वापयन्ति-विध्मापयन्तीत्यर्थः ।

सूत्रम्—

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सव्वराईए पईवे दीपेज्जा,नो कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा अहालंदमवि वत्थए हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसेज्जा सेसंतरा छेए वा परिहारे वा ।७।

अस्य व्याख्यानं ज्योतिःसूत्रवन्मन्तव्यम् ।

अथ भाष्यम्—

देसीभासाएँ कयं, जा बहिया भवे हुरत्थाओ ।
बंधणुलोमेण कयं, छेया परिहारपुव्वं तु ॥ १७३ ॥
अहव ण वारिज्जंतो, निक्कारणओ व तिएह व परेणं ।
छेयं चिय आवज्जे, छेयमओ पुव्वमाहंसु ॥ १७४ ॥

गाथाद्वयमपि गतार्थम् ।

दुविहो य होइ दीवो, असव्वराई य सव्वराई य ।
ठायंत लहु लहुगा, कास अगीयत्थसुत्तं तु ॥१७५॥

द्विविधश्च भवति दीपः, तद्यथा—सार्वरात्रिकः, असार्वरात्रिकः । तत्र सार्वरात्रिकप्रदीपयुक्तायां तु चत्वारो लघवः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कस्य पुनरेतत्प्रायश्चित्तम्, सूरिराह-अगीतार्थस्य। इत ऊर्ध्वम् "नऽत्थि अगीयत्थो वा" इत्यारभ्य "गच्छन्ति पईवसालाए" इति पर्यन्तं भाष्यं प्राग्वदत्र वक्तव्यम्।

अथ तत्रावस्थितानां दोषानाह-

उवगरणे पडिलेह, प्पमज्जणा वा सपोरिसि मणे य।
निक्खमणे य पवेसे, आवमणे चेव पडणे य॥ १७६॥
पणगं लहुओ लहुगा, चउरो लहुगा य चउसु ठाणेसु।
लहुगा गुरुगा य मणे,सेसेसु वि होंति चउलहुगा।१७७।

द्वे अपि गाथे व्याख्याते।

मानद्वारे विशेषमाह—

गुरुगा य पगासम्मि, लहुगा ते चेव अप्पगासम्मि।
सातम्मि होंति गुरुगा,अस्साए होंति चउलहुगा॥१७८॥

प्रदीपस्य प्रकाशे अभिरोच्यमाने चत्वारो गुरुकाः, अप्रकाशे चत्वारो लघुकाः। एतदेवोत्तरार्द्धेन व्याचष्टे—सातं सुखं रतिरित्येकोऽर्थः। यदि प्रकाशे रतिं मन्यते तदा चत्वारो गुरवः। अथाऽसौ तमरतिं मन्यते ततश्चत्वारो लघुकाः।

पडिमाए झुसियाए,
उड्डाहो तणाणि वा भवे हेट्ठा।
साणाइ चलणलोले,
खंभ-तणाइं पलीवेज्जा॥ १७९॥

देवकुलादौ प्रदीपे शालायां या स्कन्दमुकुन्दादिप्रतिमा तस्यां प्रदीपेन झुषितायां-दग्धायामुड्डाहो भवेत्, अमीभिः श्रमणकैः प्रत्यनीकतया स्कन्दादिप्रतिमा दग्धेति। अथाधस्ताद्वा संस्तारकौ तृणानि भवेयुः तानि दह्येरन्,शुनादिना चरणैः पातितस्ततः प्रदीपस्य त्व ततः स्थानादवरोहणं विधेयम्। अथ शृङ्खलादीपोऽसौ न ततः स्थानादवतारयितुं शक्यते ततो लोलाया अवसर्पणमुत्सर्पणं वा कुर्यात् श्वगवादीनां "छुच्छुत्कारणं" छुच्छुदिति प्रतिषेधकरणेन वारणं वा दण्डादिदर्शनेन अपकर्षणं वा वर्त्तेर्वा कर्त्तव्यम्।

अथावसर्प्पणमुत्सर्पणं च व्याख्यानयति—

संकलदीवे वत्ति उ, उव्वत्ते पीडए व मा डज्झे।
रूएण व तं नेहं, घेत्तूण दिवा विगिंचिंति॥ १८०॥

शृङ्खलादीपे स्थानान्तरं संक्रामयितुमशक्ये वर्तिमुद्वर्त्तयेद्वा निपीडयेद्वा, मा दह्यतां—मा प्रदीप्यतामिति कृत्वा, रूतेन वा तं प्रदीपवर्त्तिनं स्नेहं—तैलं गृहीत्वा ततो दिवा विगिञ्चन्ते-परिष्ठापयन्ति।

हेट्ठा तणाण सोहण, ओसक्कभिसक्क अन्नहिं नयणं।
आगाढे कारणम्मि, ओसक्कभिसक्कणं कुज्जा॥ १८१॥

प्रदीपस्याधस्तात् तृणानां शोधनं कर्त्तव्यम्। यद्वा—तं प्रदीपमवसर्प्पयति वा अभिसर्प्पयति। अथवा-नयन्ति-संक्रामयन्तीत्यर्थः। एतच्चावसर्प्पणमभिसर्प्पणं वा आगाढकारणे समुत्पन्ने गीतार्थः कुर्यात्, न अनागाढे।

मज्झे व देउलाई, बाहिं ठवियाण होइ अतिगमणं।
जे तत्थ सेहदोसा, ते इह आगाढे जयणाए॥१८२॥

ते साधवो विकाले संप्राप्ताः सन्तः संप्रदीपे देवकुले स्थिता भवेयुः। यद्वा—ग्रामादिमध्ये देवकुलम्, आदिशब्दात्-प्रपासभादिकं वा। तच्च दिवा सागारिकाकुलं तत्र प्रभातेऽपि समागता दिवा बहिः स्थित्वा सन्ध्यायां तत्र प्रविशन्ति। यद्वा—बहिः स्थितानां स्तेनश्वापदादिभयमत्र रात्रौ भवतीति श्रुत्वा समस्त्यंति गमनं प्रवेशो भवति। तत्र च सप्रपायां वसतौ स्थितैर्ये पूर्वं शिष्यविषयाः प्रतापनादयो दोषा उक्ताः ते इहागाढे कारणे यतनया परिहर्त्तव्याः। यदि प्रमादतः प्रदीपनकं भवेत्, तत्र को विधिरित्याह—

अन्नाए तुसिणीया, नाए दट्ठूण सविउलं बोलं।
बाहिं देउल सद्दो, समागयाणं खरंटो य॥ १८३॥

यदि केनापि न ज्ञातम्, यथा-संयताः स्थिताः सन्ति ततः तूष्णीका भूत्वा पलायन्ते। अथ ज्ञातं संयता अत्र स्थिताः सन्तीति, ततः प्रदीप्तं दृष्ट्वा महता शब्देन 'सविउलं' बोलं कुर्वन्ति यावद् भूयान् जनो मिलितः। ततो बहुजनस्य पुरतः भणन्ति पश्यत पश्यत केनापि पापेन प्रदीपनकं कृतमिति। यद्वा-देवकुलाद्बहिर्निर्गत्य तथैव शब्दो—बोलः क्रियते। समागतानां लोकानां खरण्टना कर्त्तव्या, तेन युष्माभिरेवैतत्प्रदीपितं येनैते श्रमणा दह्यन्ताम्, अस्माकं चोपकरणं सर्वमप्यत्र दग्धम्। एवं खरण्टिताः सन्तो न किंचिदुल्लपन्ति। बृ० २ उ०।

(६) अथ वसतौ पीठादिसञ्चालननिषेधमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा, असंजए भिक्खुपडियाए पीढं वा फलगं वा णिस्सेणिं वा उदूखलं वा ठाणाओ ठाणं साहरइ बहिया वा णिण्णक्खू तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे० जाव णो ठाणं वा चेइज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडे ०जाव चेइज्जा। (सू० ६५ ×)

एवमचित्तनिःसारणसूत्रमपि नेयम्, अत्र च त्रसादिविराधना स्यादिति भावः। आचा०२ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।

साधूनामपि आगमनादिगृहेषु स्थातुं न कल्पते इत्याह—

कप्पइ निग्गन्थाणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसिवा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अब्भावगासंसि वा वत्थए॥ १२॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत्।

अथ भाष्यम्-

एसेव गमो नियमा, णिग्गंथाणं पि णवरि चउ लहुगा।
णवरिं पुण णाणत्तं, अब्भागासम्मि ततियादी॥२१७॥

एष एव—निर्ग्रन्थीसूत्रोक्तो गम आगमनगृहादिविषये नियमान्निर्ग्रन्थानामपि भवति, नवरं प्रायश्चित्तं चतुर्लघुकाः, शेषं तु सर्वमपि दोषजालं तथैव वक्तव्यम्। नवरं पुनरत्र द्वितीयपदे तिष्ठतां नानात्वम्। किमित्याह—व्रजिका गोकुलं तस्यां ग्लानार्थं गताः सन्ति, आदिशब्दादध्वनि वा वर्त्तमाना अभ्रावकाशे वसेयुः, उत्सर्गतस्तु निर्ग्रन्थानामप्यागमनगृहादिषु स्थातुं न कल्पते। आह-सूत्रेणानुज्ञातमवस्थानमतस्तेन सह विरोधः प्राप्नोति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूरिराह—

सुत्तनिवाओ पुराणं, आगमे भोइयजणे व रक्खंते ।
आराम अहे विगडे, वंसीमूले च णिद्दोसे ॥ २१८ ॥

पुराणं-चिरन्तनं यदागमनगृहं तत्र सागारिकः संप्रति कोऽपि नागच्छति,यद्वा-तत्रागमनगृहे स्थितानां भोजिको-ग्रामस्वामी जनमुपागच्छन्तं रक्षति । ईदृशे सूत्रनिपातः-सूत्रविस्तारो मन्तव्यः । यथा य आरामो नवमालिकागुल्मादिभिर्गुप्तस्तत्राधो विवृते सूत्रमवतरति । वंशीमूलमपि यन्निर्दोषं तत्र सूत्रावतारः ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भाष्यकारः स्पष्टयति—

अभुज्जमाणी उ सभा पवा वा,
गामेगपासम्मि ण याऽणुपंथे ।
पभू निवारेति जणं उवेंतं ,
ण कुप्पती सो य तहिं व ठंति ॥ २१६ ॥

सभा प्रपा वा या अपरिभुज्यमाना ग्रामस्यैकपार्श्वे भवति, (न च) नैवानुपन्थे-मार्गाभ्यर्णा । यद्वा-भुज्यमानायामपि यत्र स्थितानां प्रभुर्ग्रामस्वामी सम्यग्दृष्टिर्भद्रको वा जनमुपयान्तं निवारयति, स च जनो वार्यमाणः साधूनां ग्रामस्वामिनो वा न कुप्यति, तत्र ईदृशे आगमनगृहेऽपि तिष्ठन्ति ।

गुम्मेहि आगम्म घरम्मि गुत्ते ,
वईएँ तुंगाएँ व एगदारे ।
तहेव गुत्ते छइतम्मि ठंति ,
ण जत्थ लोगो बहु सण्णिलेति ॥ २२० ॥

गुल्मैर्नवमालिकाकोरण्टकादिभिर्गुप्तैर्वृत्त्या वा तुङ्गया उच्चैस्तरया परिक्षिप्ते एकद्वारे आरामगृहे अधो गुप्तेऽप्युपरिच्छादिते स्थगिते तिष्ठन्ति, परं यत्र बहुर्भूयान् लोको न सन्निलीयते-न समायाति ।

जं वंसिमूलं ण मुहं च तेण,
पिहिदुवारं ण तओ व छिंडी ।
सुणेंति सद्दं ण परोप्परस्स,
ण काइयं णेव य दिट्ठिवाता ॥ २२१ ॥

यद्वंशीमूलम् अलिन्दकादि तेन मूलगृहेण सहान्यतो न मुखं पृथग् द्वारं च । अत एव ततस्तदभिमुखा छिण्डिका न भवति । यत्र च परस्परं संयता अविरतिकाश्च शब्दं न शृण्वन्ति, न चैकत्र कायिकीं कुर्वते, नैव च परस्परं दृष्टिपातः, केवलं मूलगृहेण महद्द्रव्य(द्वाट्ट)तः प्रतिबद्धं न वाप्काययोजनादयो दोषाः । एवंविधे कल्पते वस्तुम् ।

असई य रुक्खमूले, जे दोसा तेहिँ वज्जिया ठंति ।
अद्धाणमब्भवासे, गेलण्णागाढवइगादी ॥ २२२ ॥

एतेषामागमनगृहादीनामभावे ये पूर्वमस्थिदारुकादयो दोषा उक्तास्तैर्वर्जितं वृक्षमूले तिष्ठन्ति । तथा अध्वानं प्रतिपन्ना अपरप्रतिश्रयाभावे आगाढे वा ग्लानत्वे व्रजिकादौ संप्राप्ता अभ्रावकाशे वसन्ति ।

अथ मूले तिष्ठतां विशेषं दर्शयति—

कडं कुणंते सति मंडवस्स ,
कडाऽसती पोत्तिमतेणगम्मि ।
सद्दो व उग्गो धणुतामणा य,
सोट्ठादि पाडि त्ति य पुव्वलग्गे ॥ २२३ ॥

यत्र वृक्षमूले अधस्तान्मण्डपो भवति ततः प्रथमतः स्थातव्यं तदभावे कटं कुर्वन्ति । कटचिलिमिलिकां ददतीति भावः । अथ कटो न प्राप्यते ततः पोतं-वस्त्रं चिलिमिलिकां कुर्वन्ति , यदि स्तेनभयं न स्यात् । अथ स्तेनभयं तत्र वर्तते सागारिका ब्रुवते-श्रमणक ! पटमण्डपं न कुर्विति,ततः शब्दः कर्तव्यः पक्षिणां छिच्छिका इत्यादिना शब्देन निवारणं कार्यमिति भावः । उपयोगो वा दातव्यः,धनुर्वेर्वा पाषाणैर्वा पक्षिणामुत्त्रासनां कुर्वन्ति-भयमुपजनयन्तीत्यर्थः । सोट्ठा नाम शुष्ककाष्ठानि तानि च आदिशब्दादिष्टकादीनि च पूर्वलग्नानि पातयन्ति । एषा वृक्षमूले तिष्ठतां यतना भणिता ।

अथाभ्रावकाशे तिष्ठतां प्रतिपाद्यते । आगाढे ग्लानत्वे दुग्धादिना प्रयोजनं चेत् तत्राभ्रावकाशे वसनं संभवेत्

कथमित्याह—

विसोहिकोडी हवई तु गामे,
चिरं व कज्जं ति वयंति घोसं ।
अब्भासगामा सति तत्थ गंतुं,
पडालिरुक्खाऽसतिए अछण्णे ॥ २२४ ॥

यदा स्वग्रामे शुद्धं दुग्धादि न प्राप्यते तदा स्वग्राम एव च ये विशोधिकोटिदोषास्तान् पञ्चकादिप्रायश्चित्तक्रमेण दापयित्वा दुग्धादिकं गृह्णन्ति । अथ तथापि न लभ्यते चिरं वा प्रभूतदिवसात् तेन ग्लानस्य कार्यमिति कृत्वा घोषकुलं व्रजन्ति । कथमित्याह—अभ्यासे गोकुलप्रत्यासन्ने ग्रामे स्थित्वा गोकुलाद् दुग्धादिकमानेतव्यम् । अथ नास्ति प्रत्यासन्नग्रामस्तत्र व्रजिकायां गत्वा पाटलिकायां तिष्ठन्ति, तस्या अभावे वृक्षमूले तस्याप्यभावे अच्छन्ने अभ्रावकाशेऽपि तिष्ठन्ति । बृ० २ उ० ।

(१०) स्कन्धादिषु अन्तरिक्षे वसतिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा, तं जहा—खंधंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि णण्णत्थ,आगाढागाढेहिं कारणेहिं ठाणं वा (नो) चेतेज्जा । से आहच्च चेतिए सिया णो तत्थ सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा हत्थाणि वा पायाणि वा अच्छीणि वा दंताणि वा मुहं वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, णो तत्थ ऊसढं पगरेज्जा, तं जहा—उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा वंतं वा पित्तं वा पूयं वा सोणियं वा अण्णयरं वा सरीरावयवं वा, केवली बूया—आयाणमेयं, से तत्थ उसढं पगरेमाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्थं वा०जाव सीसं वा अण्णयरं वा कायंसि वा इंदियजायं लूसेज्जा , पायाणि वा हु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिहणेज्ज वा ०जाव ववरोवेज्ज वा, अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा हु जं तहप्पगारे उवस्सए अंतलिक्खजाए नो ठाणंसि वा० ३ चेतेज्जा । (सू०–६६)

स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमुपाश्रयं जानीयात्, तद्यथा–स्कन्धः-एकस्य स्तम्भस्योपर्याश्रयः,मञ्चमालौ–प्रतीतौ, प्रासादौ–द्वितीयभूमिका, हर्म्यतलम्—भूमिगृहम्, अन्यस्मिन् वा तथाप्रकारे प्रतिश्रये स्थानादि न विदध्याद्, अन्यत्र तथाविधप्रयोजनादिति, स चैवंभूतः प्रतिश्रयस्तथाविधप्रयोजने सति यद्याहृत्य–उपेत्य गृहीतः स्यात्तदानीं यत्तत्र विधेयं तद्दर्शयति–न तत्र शीतोदकानि हस्तादिधावनं विदध्यात्, तथा न च तत्र व्यवस्थित उत्सृष्टम्—उत्सर्ज्जनं त्यागमुच्चारादेः कुर्यात्, केवली ब्रूयात्—कर्म्मोपादानमेतद् आत्मसंयमविराधनातः । एतदेव दर्शयति–स तत्र त्यागं कुर्वन्निपतेद्वा पतंश्चान्यतरं शरीरावयवमिन्द्रियं वा विनाशयेत् । तथा प्राणिनश्चाभिहन्यात्, यावज्जीविताद् व्यपरोपयेत्–प्रच्यावयेदिति । अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत् प्रतिज्ञादिकं यत्तथाभूतेऽन्तरिक्षजाते प्रतिश्रये स्थानादि न विधेयमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

(११) अथ निर्ग्रन्थीनां सागारिकवसतौ निषेधमतिदिशन्नाह—

एसेव कमो नियमा, निग्गन्थीणं पि होइ नायव्वो ।
पुरिसपडिमा उ तासिं,सागम्मि य जं च अणुरागो ।४०८।

एष एव—द्रव्यभावसागारिकविषयः क्रमो निर्ग्रन्थीनामपि भवति–ज्ञातव्यः । नवरं दिव्यद्वारे तासां पुरुषप्रतिमा द्रष्टव्याः, मनुष्यद्वारे मनुजपुरुषाः, तैरश्चद्वारि तिर्यक्पुरुषा इति तिरश्चो वा श्वानविषयो येष्वनुरागो बभूव । तद् दृष्टान्तो भवति ' जहा एगा अविरइया अवाउडा काइयं वोसिरती विरहे साणेण दिट्ठा । सो य साणो पुंछं लोलिंतो वा दूरिं करेंतो अल्लीणो । सा अगारी चिंतेइ पेच्छामि ताव एस किं करेइ त्ति । तस्स पुरतो सागारियं अभिमुहं काउं जाणुएहिं हत्थेहि य अहोमुही ठिया । तेण सा पडिसेविया । ताए अगारीए तत्थेव साणो अणगारो जातो । एवं मिगछगलवानरादी वि अगारिं अभिलसंति " यत एते दोषास्ततः सागारिके प्रतिश्रये न वस्तव्यम् ।

अथ द्वितीयपदमाह—

अद्धाण निग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए ।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो दव्वसागरिए ॥ ४०९ ॥

अध्वनिर्गतादयस्त्रिकृत्वः—त्रीन् वारान् निर्दोषां वसतिं मार्गयित्वा यदि न लभते ततोऽन्यस्यां वसतौ–असत्यां गीतार्था यतनया द्रव्यसागारिकोपाश्रये वसन्ति ।

यतनामेवाह–

जहि अप्पतरा दोसा, आहरणादीण दूरतो य मिगा ।
चिलिमिलि निसि जागरणं,गीए सज्झायझाणादी४१०

यत्र रूपाभरणादौ अल्पतरा दोषाः तत्र तिष्ठन्ति, मृगा इव मृगा अज्ञत्वादगीतार्थाः स्नानाभरणादीनां दूरतः कुर्वन्ति । चिलिमिलिकां च रूपादीनामपान्तराले बध्नन्ति । निशि–रात्रौ तत्र जागरणं कर्त्तव्यम्, मा स्तेनादिराभरणादिकमपहरेदिति कृत्वा गीतशब्दे च श्रूयमाणे महता शब्देन स्वाध्यायं कुर्वन्ति । ध्यानलब्धिसम्पन्नो वा ध्यानं ध्यायति । आदिशब्दादप्रासनाटके वा विधीयमाने तदभिमुखमवलोकन्ते ।

भावसागारिके द्वितीयपदमाह—

अद्धाण निग्गयादी, वासे सावयभए व तेणभए ।
आयरिया तिविहे वी, वासति जयणाए गीयत्था ।४११।

अध्वनिर्गतादयो ग्रामादीनामन्तः शुद्धां वसतिमलभमाना बहिरप्युद्यानादौ वसन्ति । अथ बहिर्वसताविमे दोषाः 'वासति' त्ति वर्षति—पतति सिंहव्याघ्रादीनां वा श्वापदानां भयम्, स्तेनानां वा शरीरोपधिहराणां भयम्, ततो ग्रामादेरन्तर्भावसागारिके जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदे (प्राजापत्यादिपरिगृहीतभेदाद्वा) त्रिविधेऽपि वसन्ति । तत्र च प्रतिमा वस्त्रादिभिरावृताः क्रियन्ते, मनुष्यतिर्यक्स्त्रियश्च कटकचिलिमिलिकामपान्तराले दत्त्वा यथा न विलोक्यन्ते तथा आवृताः सन्तो गीतार्था यतनया वसन्ति । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सस्त्रीके उपाश्रये निषेधमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा सइत्थियं सखुड्डं सपसुभत्तपाणं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए णो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा । आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइकुलेण सद्धिं संवसमाणस्स अलसगे वा विसूइया वा छड्डी वा उव्वाहिज्जा अण्णयरे वा से दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा, असंजए करुणपडियाए तं भिक्खुस्स गायं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगिज्ज वा मक्खिज्ज वा सिणाणेण वा कक्केण वा लोद्धेण वा वण्णेण वा चुण्णेण वा पउमेण वा आघंसेज्ज वा पघंसेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पक्खालिज्ज वा सिणावेज्ज वा सिंचेज्ज वा दारुणा वा दारुणं परिणामं कट्टु अगणिकायं उज्जालेज्ज वा पज्जालेज्ज वा उज्जालित्ता कायं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा एस पतिण्णा जं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए णो ठाणं वा० ३ चेतेति । (सू०—६७)

'से भिक्खू' इत्यादि, स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमुपाश्रयं जानीयात्, तद्यथा—यत्र स्त्रियं तिष्ठन्तीं जानीयात्, तथा—'सखुड्ड' त्ति सबालम्, यदिवा—सह क्षुद्रैरवबद्धः सिंहश्वमार्ज्जारादिभिर्यो वर्त्तते, तथा पशवश्च भक्तपानं च । यदि वा—पशूनां भक्तपाने तद्युक्तम्, तथाप्रकारे सागारिके गृहस्थाः कुलप्रतिश्रये स्थानादि न कुर्यात्, यतस्तत्रामी दोषाः । तद्यथा—आदानम्—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म्मोपादानमेतद् भिक्षोर्गृहपतिकुटुम्बेन सह संवसतो यतस्तत्र भोजनादिक्रिया निःशङ्का न संभवति। व्याधिविशेषो वा कश्चित् संभवेदिति दर्शयति-' अलसगे ' त्ति हस्तपादादिस्तम्भः श्वयथुर्वा, विशूचिकाछर्दी प्रतीते, एते व्याधयस्तं साधुमुद्बाधेरन्,अन्यतरद्वा दुःखं रोगो-ज्वरादिः आतङ्कः-सद्यः प्राणहारी शूलादिस्तत्र समुत्पद्येत, तं च तथाभूतं रोगातङ्कपीडितं दृष्ट्वा असंयतः कारुण्येन भक्त्या वा तद्भिक्षुगात्रं तैलादिना अभ्यङ्ग्यात्, तथा ईषन् म्रक्षयेद्वा। पुनश्च स्नानं-सुगन्धिद्रव्यसमुदयः, कल्कः-कषायद्रव्यक्वाथः, लोध्रं-प्रतीतम्, वर्णकः-कम्पिल्लकादिः, चूर्णो यवादीनां पद्मकं-प्रतीतम्, इत्यादिना द्रव्येण ईषत्पुनः पुनर्वा घर्षयेत्, दृष्ट्वा चाभ्यङ्गापनयनार्थमुद्वर्त्तयेत्। ततश्च शीतोदकेन वा उष्णोदकेन वा 'उच्छोलेज्ज ' त्ति ईषदुच्छोलनं विदध्यात्, प्रक्षालयेत् पुनः पुनः स्नानं वा-सोत्तमाङ्गं कुर्यात्सिञ्चेद्वेति, तथा दारुणा वा दारूणां परिणामं कृत्वा—संघर्षं कृत्वा अग्निमुज्ज्वालयेत् प्रज्वालयेद्वा। तथा च कृत्वा साधुकायमातापयेत्-सकृत् प्रतापयेत् पुनः पुनः। अथ—साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत् प्रतिज्ञादिकं यत्तथाभूते सागारिके प्रतिश्रये स्थानादिकं न कुर्यादिति।

आयाणमेयं भिक्खुस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स इह खलु गाहावई वा ०जाव कम्मकरी वा अण्णमण्णं अक्कोसंति वा पचंति वा रुंभंति वा उद्दवेंति वा, अह भिक्खू णं उच्चावयं मणं णियंछेज्जा, एते खलु अण्णमण्णं अक्कोसंतु वा मा वा अक्कोसंतु ०जाव मा वा उद्दवेंतु, अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा० ४, जं तहप्पगारे सागारिए तवस्सए णो ठाणं वा० ३ चेइज्जा (सू०-६८) आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावई अप्पणो सअट्ठाए अगणिकायं उज्जालेज्ज वा पज्जालेज्ज वा विज्झवेज्ज वा। अह भिक्खू उच्चावयं मणं णियंछिज्जा, एते खलु अगणिकायं उज्जालेंतु वा मा वा उज्जालेंतु, पज्जालेंतु वा मा वा पज्जालेंतु, विज्झवेंतु वा मा वा विज्झाविंतु। अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा० ४ जं तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा। (सू०-६६) आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स इह खलु गाहावतिस्स कुंडले वा गुणे वा मणी वा मोत्तिए वा हिरण्णेसु वा सुवण्णेसु वा कडगाणि वा तुडिगाणि वा तिसरगाणि वा पालंबाणि वा हारे वा अद्धहारे वा एगावली वा कणगावली वा मुत्तावली वा रयणावली वा तरुणीयं वा कुमारिं अलंकियविभूसियं पेहाए, अह भिक्खू उच्चावयमणं णियच्छेज्जा एरिसिया वा णो वा एरिसिया इय वा णं बूया इति वा णं मणं साएज्जा। अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा० ४ जं तहप्पगारे उवस्सए नो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा। (सू०-७०)

'आयाण' मित्यादि कर्मोपादानमेतद्भिक्षोः ससागारिके प्रतिश्रये वसतः, यतस्तत्र बहवः प्रत्यपायाः संभवन्ति। तानेव दर्शयति—इह-इत्थंभूते प्रतिश्रये गृहपत्यादयः परस्परत आक्रोशादिकाः क्रियाः कुर्युः, तथा च कुर्वतो दृष्ट्वा स साधुः कदाचिदुच्चावचं मनः कुर्यात्, तत्रोच्चं नाममैवं कुर्वन्तु, अवचं नाम—कुर्वन्त्विति, शेषं सुगममिति। 'आयाण'मित्यादि. एतदपि गृहपत्यादिभिः स्वार्थमग्निसमारम्भे क्रियमाणे भिक्षोरुच्चावचमनःसंभवप्रतिपादकं सूत्रं सुगमम्। अपि च—'आयाण' मित्यादि गृहस्थैः सह संवसतो भिक्षोरेते च वक्ष्यमाणदोषाः। तद्यथा—अलंकारजातं दृष्ट्वा कन्यकां वा अलंकृतां समुपलभ्य ईदृशी वा तादृशी वा शोभना अशोभना वा मद्भार्यासदृशी वा तथाऽलङ्कारो वा शोभनोऽशोभन इत्यादिकां वाचं ब्रूयात्, तथोच्चावचं शोभनाशोभनादौ मनः कुर्यादिति समुदायार्थः। तत्र गुणो-रसना, हिरण्यम्—दीनारादिद्रव्यजातम्, त्रुटितानि-मृणालिकाः प्रालम्बः आप्रदीपन आभरणविशेषः। शेषं सुगमम्। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।

तत्र रुग्णस्य साधोः प्रतिक्रियामाह—

अन्नट्ठपगडं लयणं, भइज्ज सयणासणं।
उच्चारभूमिसम्पन्नं, इत्थीपसुविवज्जियं ॥ ५२ ॥

अन्यार्थं प्रकृतम्—न साधुनिमित्तमेव निर्वर्तितम् लयनम्—स्थानं वसतिरूपं भजेत्—सेवेत, तथा शयनाशनमित्यन्यार्थं प्रकृतं संस्तारपीठकादि सेवेतेत्यर्थः। एतदेव विशेष्यते उच्चारभूमिसम्पन्नम्-उच्चारप्रश्रवणादिभूमियुक्तम्, तद्रहिते असकृत्—तदर्थं निर्गमनादिदोषात्, तथा स्त्रीपशुविवर्जितमित्येकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितम्—स्त्र्याद्यालोकनादिरहितमिति सूत्रार्थः।

तदित्थंभूतं लयनं सेवमानस्य धर्मकथाविधिमाह-

विवित्ता य भवे सिज्जा, नारीणं न लवे कहं।
गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिँ संथवं ॥ ५३ ॥

विविक्ता च तदन्यसाधुभी रहिता च, चशब्दात्-तथाविधभुजङ्गप्रायैकपुरुषयुता च भवेत् शय्या-वसतिः यदि ततो नारीणाम्-स्त्रीणां न कथयेत्कथां शङ्कादिदोषप्रसङ्गात्, औचित्ये विज्ञाय पुरुषाणां तु कथयेत्। अविविक्तायां नारीणामपीति, तथा गृहिसंस्तवम्—गृहिपरिचयं न कुर्यात् तत्स्नेहादिदोषसंभवात्। कुर्यात् साधुभिः सह संस्तवम्-परिचयं कल्याणमित्रयोगेन—कुशलपक्षवृद्धिभाव इति सूत्रार्थः। दश० ८ अ० २ उ०।

गृहपतिगृहे न वसेद्यत्र मैथुनार्थं गृहिण्योऽभिकाङ्क्षेयुः—

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावतिणीओ वा गाहावइधूयाओ वा गाहावइसुण्हाओ वा गाहावइधाईओ वा गाहावइदासीओ वा गाहावइकम्मकरीओ वा तासिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति, जे इमे भवंति समणा भगवंतो ०जाव उवरता मेहुणाओ धम्माओ, णो खलु एएसिं कप्पइ मेहुणधम्मं परियारणाए आउट्टित्तए ०जाव खलु एएहिं सद्धिं मेहुणधम्मं परियारणाए आउट्टाविज्जा। पुत्तं खलु सा लभिज्जा ओ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यंसि तेयंसि वचंसि जसंसि संपराइयं आलोय-णदरिसणिज्जं एयप्पगारं णिग्घोसं सोचा णिसम्म तासिं च णं अण्णयरीसड्ढि तं तवस्सिं भिक्खुं मेहुणधम्मपडियारणाए आउट्टावेज्जा, अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा जं-तहप्पगारे सागारिए उवस्सए णो ठाणं वा ० ३ चेतेज्जा एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा साम-ग्गियं । (सू०-७१)

'आयाए' मि त्यादि पूर्वोक्ते गृहे वसतौ भिक्षोरमी दोषाः, तद्यथा-गृहपतिभार्यादय एवमालोचयेयुर्यथैते श्रमणा मैथुनादुपरतास्तदेतेभ्यो यदि पुत्रो भवेत् ततोऽसौ ओजस्वी-बलवान् तेजस्वी-दीप्तिमान् वर्चस्वी-रूपवान् यशस्वी-कीर्तिमानित्येवं संप्रधार्य्य तासां च मध्ये एवंभूतं शब्दं काचित् पुत्रश्रद्धालुः श्रुत्वा तं साधुं मैथुनधर्मम्' प-डियारणाए ' त्ति आसेवनार्थम्-' आउट्टावेज्ज ' त्ति अ-भिमुखं कुर्याद्, अत एतद्दोषभयात् साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकम्, यत्तथाभूते प्रतिश्रये स्थानादि न कार्यमित्येतत्तस्य भिक्षोर्भिक्षुण्या वा सामग्र्यं-सम्पूर्णो भिक्षुभाव इति । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

' जत्थ एए बहवो इत्थीयो य पुरिसा य पण्हावेंति० '
इत्यादि अस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह—

एगागियस्स दोसा, के त्ति य भवती उ सुत्तसंबंधो ।
कारणनिवासिणो वा, दुविहा सेविस्स पच्छित्तं ॥३५६॥

एकाकिनो दोषाः के इति शिष्यस्य प्रश्नावकाशमाशङ्क्याधिकृतसूत्रस्योपनिपातः, एष भवति सूत्रस्य संबन्धः । अथ-वा-कारणनिवासिनो द्विविधासेविनः—सचित्तासेविनः, अचित्तासेविनश्च किं प्रायश्चित्तमिति परप्रश्नमुपजीव्य प्रायश्चित्तप्रतिपादनाय सूत्रद्वयमाहेति संबन्धः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—यत्र—यस्मिन्प्रदेशे प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाः स्त्रियः पुरुषाश्च प्रस्नुवन्ति मैथुनकर्म्म प्रारभन्ते,मैथुनकर्म्म दृष्ट्वा कश्चिदुदीर्णमोहः स श्रमणो निर्ग्रन्थोऽन्यतरस्मिन्नचित्ते हस्तकर्म्मोचिते युगच्छिद्रनलिकादौ श्रोत्रवति शुक्रपुद्गलान् निर्घातयन्-शुक्रपुद्गलनिर्घाताय हस्तकर्म्मप्रवेशनाप्रसक्तो भवति, स च तथाप्रसक्त आपद्यते अनुद्घातिकं मासिकं परिहारस्थानं प्रायश्चित्तस्थानम् । तथा यत्रैते बहवः स्त्रियः पुरुषाश्च प्रस्नुवन्ति-मैथुनकर्म्म प्रारभन्ते तत्र तत् दृष्ट्वा कश्चित् श्रमणो—निर्ग्रन्थोऽन्यतमस्मिन्नचित्ते प्रतिमादौ श्रोत्रवति शुक्रपुद्गलान् निर्घातयन् मैथुनप्रतिसेवनाप्रसक्तो भवति । स च तथाप्रसक्त आपद्यते चातुर्मासिकमनुद्घातिकं गुरुकं परिहारस्थानमित्येष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अधुना भाष्यविस्तरः—

बाहिं वक्खारठिए, महिलादागम अवारणे गुरुगा ।
वारण वासे पेल्लण, मुदए पडिसेवणा भणिया ॥३५७॥

बहिर्वक्षस्कारे अपरके स्थिते त्वदोषवति तत्र निवेशनादौ वा कृतसंकेता स्त्री सस्त्रीको वा पुरुषः समागच्छेत्, समागच्छन् वारयितव्यः । अवारणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । ' वारणे ' त्यादि तत्र यथा वारणं तथा वक्तव्यम् । अथ बहिर्वर्षे गाढं पतिते उपलक्षणमेतत् स्तेनाः श्वापदानि वा बहिर्विघ्नन्ते तेन ते, न निर्गच्छन्ति तदा तेष्वनिर्गच्छत्स्व-धिकृत्य सूत्रस्यावकाशः । तथा साधोः स्त्रिया प्रेरणा क्रियते तदा प्रेरणायां तथा उदये-वेदोदये सूत्रे प्रतिसेवना भणिता । किमुक्तं भवति—प्रेरणायामुदये वाऽधिकृतसूत्रस्योपनिपातः।

तत्र वारणप्रतिपादनार्थमाह—

पडिसेहो पुव्वुत्तो, उज्जुमणज्जुं तहेव मिहुणे च ।
तत्थम्मि निग्गमे वि य,जहिं व सुत्तस्स पारंभो ॥३५८॥

वारणं प्रतिषेधः स च कल्पाध्ययने चतुर्थोद्देशके पूर्वमुक्तः । तथा तस्मिन् मिथुने ऋजु किं वा अनृजु इत्याद्यपि यद् वक्तव्यम् तत्तत्रैवाभिहितम् । तथा सस्त्रीकस्य पुरुषस्य यथा वसतिनिर्गमो भवति यथा वा अनिर्गम एतदपि तत्रैव व्याख्यातम् । " जहिं व सुत्तस्स पारंभो " इत्येतत्पश्चाद्व्या ख्यास्यते । गतं व्यवहरणद्वारम् ।

अधुना उदये प्रतिसेवनेति व्याचिख्यासुस्तान् प्रतिसेवमानान् दृष्ट्वा कोऽपि वेदोदयवशात् येषु स्थानेषु प्रतिसेवनामारभते तानि स्थानानि प्रति—
पादयति—

जुगछिड्डनालिगादिसु, पढमगजामादिसेवणा सोही ।
मूलादी कप्पम्मि य,पुव्वुत्ता पंचमे जामे ॥ ३५९ ॥

युगच्छिद्रं नालिकायामादिशब्दात्तथाविधान्यवस्तुपरिग्रहः। तेषु युगच्छिद्रनलिकादिषु प्रथमयामे सेवने प्रथमयामादावा-सेवनायां शोधिर्मूलादिका पूर्वं कल्पाध्ययने उक्ता.सा चैवम्-यदि रात्रेः प्रथमे यामे युगच्छिद्रेण नलिकायां करकर्म्म करोति तदा प्रायश्चित्तं मूलम्, द्वितीये यामे छेदः, तृतीये यामे षड्गुरु, चतुर्थे यामे चतुर्गुरु, प्रभाते दिवसस्य प्रथमे यामे रात्रिगतप्रथमयामापेक्षया पञ्चमे यामे मासगुरुः । तथा चाह-पञ्चमे यामे भवति सूत्रम् । पञ्चयामविषयमधिकृतसूत्रमिति भावः । एतेन यदुक्तं प्राक् यत्र च सूत्रस्य प्रारम्भस्तद्वक्ष्ये इति, तद्भावितम् ।

सम्प्रति द्वितीयसूत्रव्याख्यानार्थमाह-

दुविहच्चा पडिमेयर-सन्निहितेतरअचित्तसचित्ते ।
बाहिं व देउलादिसु, सोही तेसिं तु पुव्वुत्ता ॥ ३६० ॥

अर्चा द्विविधा । तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता च । तत्र अ-चित्ता द्विविधा-प्रतिमा,इतरा च । इतरा नाम स्त्रीशरीरं निर्जीवम् । एकैका पुनर्द्विधा-संनिहिता,असंनिहिता च । एतेषु-प्रतिसेवनायां प्रथमे रात्रेर्यामे मूलम्, द्वितीये छेदः, तृतीये षड्गुरु,चतुर्थे चतुर्गुरु, पञ्चमेऽपि चतुर्गुरु । सचित्ता-स्त्रीशरीरम् । तत्रापि विधिर्वक्ष्यते । तत्र ग्रामादीनामन्तरुक्तम्, बहिरधिकृत्याह-बहिर्देवकुलादिषु प्रतिमादिकमचित्तमासेवमानस्य करकर्म्म वा कुर्वतस्तेषां भावानां शोधिः पूर्वोक्ता-अनन्तरोक्ता द्रष्टव्या । करकर्म्म कुर्वतः पञ्चमे यामे मासगुरु, प्रतिमाद्यचित्तासेवने चतुर्गुरु इत्यर्थः ।

संप्रति या प्रेरणा पूर्वमुक्ता तां भावयति—

संकेय दित्त एसो, संकेतं वच्चें हिं अपेच्छन्ती ।
पेल्लेज्ज व तं कुलडा, पुत्तट्ठा देज्ज रूवं वा ॥ ३६१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधुं कायिक्यादिनिमित्तं निर्गच्छन्तं दृष्ट्वा सा कुलटा चिन्तयेत्, स एष आगतो येन मम सङ्केतो दत्तः। एवं चिन्तयित्वा तं साधुं गृह्णीयात्, साधुश्च तत्तथाग्रहणमास्वादयेत्। तथा च सति धर्मविराधना। अथवा-तं दत्तसंकेतं पुरुषमप्रेक्षमाणा तं कायिक्यादिविनिर्गतं साधुं प्रेरयेत्, तत्रापि धर्मविराधना। यदि वा-कापि महिला तस्य साधोः रूपं रमणीयं दृष्ट्वा ईदृशो मम पुत्रो भूयादिति पुत्रार्थी सती साधुमाददीत, यदि नेच्छति ततोऽहमुड्डाहं करिष्यामि, ततो धर्मविराधना।

अत्रैव प्रायश्चित्तविधिमाह—

जइ सेव पढमजामे, मूलं सेसेसु गुरुग सव्वत्थ।
अहवा दिव्वाईयं, सचित्तं होइ नायव्वं ॥ ३६२ ॥

यदि प्रागुक्तप्रेरणावशात् स्त्रियं रात्रेः प्रथमयामे सेवते तदा प्रायश्चित्तं मूलम्, द्वितीये यामे छेदः, तृतीये षड्गुरुकाः, चतुर्थे चत्वारो गुरुकाः, पञ्चमेऽपि चत्वारो गुरुका इति। तदेवं प्रेरणाव्याख्यानद्वारेण सचित्तमचित्तं व्याख्यातम्। अथवा-अन्यथा सचित्तमचित्तम्। तथा चाह—सचित्तं दिव्यादिकं भवतिज्ञातव्यम्, दिव्यं तैर्यग्योनं मानुषं च।

तदेव प्रतिपिपादयिषुराह—

जं साऽसु तिधा तितयं, ता दिव्वं पासवं च संगीयं।
जह वुत्तं उवहाणं, न तं न पुण्णं इहावण्णं ॥ ३६३ ॥

असवः-प्राणाः सह असवो यस्य येन वा तत् साऽसु-सचित्तमित्यर्थः। यत्तु साऽसु-सचित्तं तत्त्रिधा-त्रिप्रकारं भवति-दिव्यम्, मानुषम्, पाशवं च। तत्र मानुषं त्रितयं सचित्तम्, तद्यथा-जघन्यमध्यममुत्कृष्टं च। तत्र-जघन्यं प्राकृतम्, मध्यमं कौटुम्बम्, उत्कृष्टं दाण्डिमम्। यथा त्रिविधं मानुषं दिव्यमपि जघन्यादिभेदभिन्नं त्रिधा, पाशवमपि च त्रिधा जघन्यादिभेदतः। संगीतं व्याख्यातं यथा कल्पाध्ययने तथाऽत्रापि व्याख्येयम्। तथा चोक्तमत्रोपधानं प्रायश्चित्तम्, तदपि न तत् पूर्णमिहापन्नं न वक्तव्यम्, किंतु-वक्तव्यम् द्वयोर्न्ज्ञोः प्रकृत्यर्थावगमनात्।

अत्रैवापवादमाह—

बितियपदे तेगिच्छं, निव्वीइयमाइयं अतिकंते।
ताहे इमेण विहिणा, जयणाए तत्थ सेवेज्जा ॥३६४॥

चिकित्सां निर्विकृतिकादिकां प्रागुक्तामतिक्रान्ते अस्थानेशब्दश्रवणतो हस्तकर्मकरणतो वा अनुपशाम्यति वेदोदये ततो द्वितीयपदेन-अपवादपदेनेन अनेन वक्ष्यमाणेन विधिना यतनया सेवेत।

तमेव विधिमाह—

खलखिलमदिट्ठविसया, विसत्त अव्वंग वंगणं काउं।
ताहे इमम्मि लेसे, गीयत्थ जतो निलीएज्जा ॥३६५॥

खलं प्रतीतं यत्र सजीवस्यापि सेवने वैराग्यमुपजायते, किं पुनर्निर्जीवस्य सेवने। तत्र निर्जीवप्रतिपादनार्थमाह—खिलं—निर्जीवमित्यर्थः। तत्कथं सेवेत इत्यत आह-अदृष्टविषं यथा भवत्येवं सेवेत रात्रौ सेवेतेति भावः। पुनः कथमित्याह-विसत्त्वं—विगताः सत्त्वा यत्र तत् विसत्त्वं विगतजनमित्यर्थः। अव्यङ्गं नाम-यस्य क्षतं न विद्यते तस्य व्यङ्गनं कृत्वा-क्षतं कृत्वा अन्यं वेतालोत्थानदोषप्रसञ्जनात् ततोऽस्मिन् निर्जीवे लेश्ये—संक्लेश्ये सूत्रविचार इत्यर्थः। गीतार्थो यतोऽरक्तद्विष्टः सन् निलीयेत् शुक्रपुद्गलान्निष्काशयेत्। व्य० ६ उ०।

(१२) स्त्रीपुंससागारिकोपाश्रये वस्तुं कल्पते न वेत्याह—

नो कप्पइ निग्गंथाणं इत्थिसागारिए उवस्सए वत्थए।२७
कप्पइ निग्गंथाणं पुरिससागारिए उवस्सए वत्थए।२८।
नो कप्पइ निग्गंथीणं पुरिससागारिए उवस्सए वत्थए२९।
कप्पइ निग्गंथीणं इत्थिसागारिए उवस्सए वत्थए ॥३०॥

अस्य सूत्रचतुष्टयस्य संबन्धमाह—

अविसिट्ठं सागॉरियं, वुत्तं तं पुण विभागतो इणमो।
मज्झे पुरिससगारं, आदीयंते य इत्थीसु ॥ ४१६ ॥

पूर्वसूत्रे अविशिष्टं स्त्रीपुरुषविशेषरहितं सागारिकमुक्तम्, अधुना पुनः तदेव सागारिकं विभागतः—स्त्रीपुरुषविशेषात्, अस्मिन् सूत्रचतुष्टये अभिधीयते। अत्र च मध्यवर्तिसूत्रद्वयं पुरुषसागारिक आदिसूत्रे अन्त्यसूत्रे च स्त्रीसागारिकमाश्रित्य विधिरभिधीयते, इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य (२७-२८-२९-३०) सूत्रचतुष्टयस्य व्याख्या—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां स्त्रीसागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥ २७ ॥ कल्पते निर्ग्रन्थानां पुरुषसागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥ २८ ॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां पुरुषसागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥ २९ ॥ कल्पते निर्ग्रन्थीनां स्त्रीसागारिके उपाश्रये वस्तुमिति सूत्रचतुष्टयाक्षरार्थः।

अथ भाष्यकारो विस्तरार्थं विभणिषुराह—

इत्थीसागॉरिय उव-स्सयम्मि सव्वे व इत्थिया होइ।
देवी मणुय तिरिच्छी, सा चेव पसज्जणा तत्थ ॥४१७॥

स्त्रीसागारिके उपाश्रये वस्तुं न कल्पते, सा चानन्तरसूत्रे या दैवी मानुषी तिरश्ची च प्रतिपादिता सैवात्रापि द्रष्टव्या। सैव च प्रसज्जना मिथ्यात्वशङ्का भोजिकादिरूपा, तत्र च प्रायश्चित्तमपि तदेव मन्तव्यम्।

अत्र परः प्राह—

जइ सच्चेव य इत्थी, सोही पसज्जणा य सच्चेव।
सुत्तं तु किमारद्धं, नोदक सुण कारणं इत्थ ॥ ४१८ ॥

यदि सैव स्त्री सैव शोधिः-प्रायश्चित्तं सैव प्रसज्जना तर्हि किमर्थमिदं-स्त्रीसागारिकसूत्रमारब्धम्, पुनरुक्तदोषदुष्टत्वान्नेदमारब्धुं युज्यते इति भावः। सूरिराह—नोदक! कारणमत्रास्ते येनेदं सूत्रमारब्धम्, तत्र अवहितः शृणु निशमय।

पुव्वभणियं तु पुनरवि, जं भन्नइ तत्थ कारणं अत्थि।
पडिसेहोऽणुण्णातो, कॉरणँ विसेसोवलंभो वा ॥४१९॥

तुशब्दोऽपिशब्दार्थे, पूर्वं भणितमपि यद्भण्यते तत्र-कारणमस्ति। किमित्याह—'पडिसेहो' त्ति ये पूर्वमनुज्ञां कुर्वता अर्थो उक्तास्त एव भूयः प्रतिषेधद्वारेण भणितमपि यद्भण्यते 'अणुन्न' त्ति ये अर्थाः पूर्वं प्रतिषेधं कुर्वता भणितास्तेषामेवानुज्ञां कुर्वन् यद्भूयोऽपि दर्शयति-तथा कार-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णं निमित्तं तद्दर्शनार्थं भूयोऽपि दर्शयति, स एवार्थो भणनीयः । अथवा-पूर्वं सामान्येन यः प्रतिपादितोऽर्थस्तस्यैव विशेषोपलम्भार्थं प्राग् भणितमपि प्रतिपादनीयम् । एवं प्रागुक्तभणने चत्वारि कारणानि सन्तीति ।

आह-यद्येवं ततः प्रस्तुते किमायातमित्याह--

ओहे सव्वनिसेहो, सरिसाणुन्ना विभागसुत्तेसु ।
जयणाहेउं भेदो, तह मज्झत्थादश्रो यावि ॥ ४२० ॥

ओघसूत्रे सर्वस्यापि सागारिकस्य निवन्धः कृतः, इह तु विभागसूत्रेषु सदृशानुज्ञा क्रियते । यथा पुरुषाणां पुरुषसागारिके स्त्रीणां स्त्रीसागारिके वस्तुं कल्पते तथा यतनया यथा पुरुषेषु स्त्रीषु वा कर्तव्या तद्दर्शनहेतोर्विभागसूत्राणां भेदः । मध्यस्थादयो वा स्त्रीपुरुषाणां भेदा अर्थतो दर्शयिष्यन्त इति विभागसूत्राणां पृथगारम्भः क्रियते ।

अथ द्वितीयसूत्रे विशेषोपलम्भं दर्शयन्नाह—

सागारिय उवस्सयम्मि, चउरो लहुगा य दोस आणादि ।
ते वि य पुरिसा दुविहा, सविकारा निव्विकारा य ॥४२१॥

कल्पते निर्ग्रन्थानां पुरुषसागारिके उपाश्रये वस्तुमित्येवं यद्यपि सूत्रानुज्ञातं तथाऽप्युत्सर्गतो न कल्पते, यदि वसन्ति ततः चत्वारो लघुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः । तेऽपि च पुरुषाः द्विविधाः-सविकारा, निर्विकाराश्च ।

तत्र सविकारान् व्याख्यानयति--

रूवं आभरणविही, वत्थालङ्कारभोयणे गंधे ।
आओज्ज नट्ट नाडग, गीए अ मणोहरे सुणिया ॥४२२॥

रूपम् उद्वर्तनस्नानदन्तकेशसंस्थापनादिना स्वशरीरे जनयन्ति । आभरणविधिं मणिकनकादिमयनानाभरणभेदान् वस्त्राणि च चीनांशुकादीनि परिदधते । अलङ्कारेण वा केशमाल्यादिना आत्मानमलं कुर्वन्ति । भोजनं वा महता विस्तरेण भुञ्जते, चन्दनकर्पूरादिभिः कोष्ठपुटपाकादिभिर्गन्धैरात्मानमालिम्पन्ति, वासयन्ति वा । ततवितताादिकं चतुर्विधमातोद्यं वादयन्ति, नृत्तं वा कुर्वन्ति । नाटकं नाटयन्ति । मधुरध्वनिना वा गीतमुच्चरन्ति । एते सविकारा उच्यन्ते । एतेषां रूपादीनि मनोहराणि दृष्ट्वा गीतादिशब्दांश्च श्रुत्वा-निशम्य तत्समुत्था दोषाः ।

एतेषु तिष्ठतः प्रायश्चित्तमाह—

एक्केक्कम्मि उ ठाणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संयमाताए ॥४२३॥

लघव इत्यर्थः, आज्ञादयश्च दोषाः । विराधना च संयमे, आत्मनि च द्रष्टव्या ।

एवं ता सविकारे, निव्विकारे य इमे भवे दोसा ।
संसद्देण विबुद्धे, अहिगरणं सुत्तपरिहाणी ॥ ४२४ ॥

एवं सविकारेषु पुरुषेषु दोषा उक्ताः, निर्विकारेषु पुरुषेषु अमी दोषा भवेयुः । साधूनां स्वाध्यायसङ्केनावश्यकीनैषेधिकीसंबन्धिना वा शब्देन विबुद्धास्ते पुरुषाः साधुभिः सहाधिकारणमसंखडं कुर्युः । तत्रात्मविराधना सूत्रपरिहाणिश्च भवति ।

१ " पुरिसागारिय उवस्सयम्मि, चउरो लहुगा य दोस आणादि ।"

संयमविराधना त्वियम्—

आऊ जोवण वणिए, अगणि कुडुम्बी कुकम्म कुम्मरिए ।
तेणे मालागारे, उब्भामगे पंथिए जंते ॥ ४२५ ॥

(एषा गाथा ' पडिवद्धसिज्जा ' शब्दे पञ्चमभागे ३२७ पृष्ठे व्याख्याता ।)

नोदकः प्राह—

एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवाओ उ असइ वसहीए ।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो दव्वसागरिए ॥ ४२६ ॥

यद्येवं पुरुषेष्वपि निर्ग्रन्थानां वस्तुं न कल्पते तर्हि सूत्रम् ' कल्पते पुरुषसागारिके वस्तुमि ' त्येवं लक्षणम्, अफलं प्राप्नोति, पुनःसूत्रनिपातो विशुद्धायां वसतावसत्यां मन्तव्यः । तथा च यद्यसागारिका वसतिर्न प्राप्यते ततो गीतार्था यतनया द्रव्यसागारिके वसन्ति, पुरुषसागारिके इत्यर्थः ।

ते वि य पुरिसा दुविहा, सन्नी असन्निणो य बोधव्वा ।
मज्झत्थाऽऽभरणपिया, कंदप्पा काहिया चेव ॥ ४२७ ॥

तेऽपि च पुरुषा द्विविधाः—संज्ञिनः, असंज्ञिनश्च । संज्ञानाम—देवगुरुधर्मतत्त्वानां यथा तत्परिज्ञानम्, सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः; श्रावका इत्यर्थः । तद्विपरीता असंज्ञिनः; अश्रावका इत्यर्थः । एते प्रत्येकं चतुर्विधाः-मध्यस्थाः आभरणप्रिया कान्दर्पिकाः काथिकाश्च ।

एतान् व्याचष्टे—

आभरणपिए जाणसु, अलंकरिते उ केसमादीणि ।
सइरहसियप्पललिया, सरीरकुइणो य कंदप्पा ॥ ४२८ ॥
अक्खाइया उ अक्खाणगाइं गीयाइँ छलियकव्वाइं ।
कहयंता य कहाओ, तिसमुत्था काहिया होंति ॥४२९॥
एएसिं तिण्हं पि य, जे उ विगारा ण बाहिरा पुरिसा ।
वेरग्गरुई निहुया, निसग्ग हिरिमं तु मज्झत्था ॥४३०॥

केशादीनि माल्यादिभिरलङ्कारैरलंकुर्वतः पुरुषान् आभरणप्रियान् जानीहि । ये तु स्मेरहसितप्रललिताः स्वेच्छया-परस्परमट्टहासादिना हसन्ति, द्यूतदोलनादिना च क्रीडन्ति ये च शरीरकौकुचिकाः,विविधव्यङ्ग्यचेष्टाकारिणस्ते कान्दर्पिकाः । तथा आख्यायिकास्तरङ्गवती-मलयवतीप्रभृतयः आख्यानकानि—धूर्ताख्यानकादीनि गीतानि ध्रुवकादि छन्दोनिबद्धानि गीतपदानि, तथा ललितानि शृङ्गारकाव्यानि कथा-वासुदेवचरितचेटककथाः दन्तकथा याः किंवदन्तीत्युत्पन्ना इत्येतत्समुत्था धर्मकामार्थत्रयवक्तव्यताप्रभवाः संकीर्णकथा इत्यर्थः, एता आख्यायिकादीनि कथयन्तः कथिका उच्यन्ते । एतेषामाभरणप्रियादीनां त्रयाणामपि संबन्धिनो ये विकारास्तेभ्यो बाह्या बहिर्वर्तिनो ये पुरुषा वैराग्यरुचयः केवलवैराग्यश्रद्धालवो न शृङ्गारादिरसप्रियाः, निभृताः करणेन्द्रियेष्वसंलीनाः, निसर्गेण-स्वभावेनैव ह्रीमन्तः—सलज्जा ईदृशा मध्यस्था ज्ञातव्याः ।

पुनरप्यमीषां प्रत्येकं भेदानाह—

एक्केक्का ते तिविहा, थेरा तह मज्झिमा य तरुणा य ।
एवं सन्नी बारस, बारस असन्निणो होंति ॥ ४३१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकैके मध्यस्थादयस्त्रिविधाः स्थविराः तथा मध्यमाश्च तरुणाश्च । ततो मध्यमस्थादयश्चत्वारः स्थविरादिभेदत्रयेण गुण्यन्ते जाता द्वादशभेदाः । एवं संज्ञिनः श्रावकाश्च ते द्वादशविधाः, असंज्ञिनोऽपि द्वादशविधा भवन्ति ।

एतेष्वेव प्रायश्चित्तमाह—

काहीया तरुणेसुं, चउसु वि चउगुरुग ठायमाणस्स ।
सेसेसुं चउलहुगा, समणाणं पुरिसवग्गम्मि ॥ ४३२ ॥

संज्ञिनामसंज्ञिनां च यः काथिकस्तरुणः एतौ द्वौ भेदौ ये वक्ष्यमाणा नपुंसकाः पुरुषनेपथ्याः तेषामपि संज्ञिनामसंज्ञिनां चैकैकाधिकस्तरुणः, एते चत्वारो भेदाः । एतेषु चतुर्षु तिष्ठतां प्रत्येकं चत्वारो गुरुकाः । शेषेषु तिष्ठतां प्रत्येकं चतुर्लघु । एतत्प्रायश्चित्तं श्रमणानां पुरुषवर्गे भणितम् ।

कारणे पुनस्तिष्ठतां विधिमाह—

सन्नीसु पढमवग्गे, असती अस्सन्नि पढमवग्गम्मि ।
तेण परं सन्नीसुं, कम्मेण, अस्सन्निसुं चेव ॥ ४३३ ॥

वसतौ निर्दोषायामसत्यां संज्ञिषु ये प्रथमवर्गे मध्यस्थाः पुरुषास्ते तत्र तिष्ठन्ति, तत्रापि प्रथमं स्थविरेषु, तेषामभावे मध्यमेषु, तदलाभे तरुणेष्वपि । अथ संज्ञिनां प्रथमवर्गो न स्थाप्यते ततोऽसंज्ञिनामपि प्रथमवर्गस्थविरमध्यमतरुणेषु यथाक्रमं तिष्ठन्ति । ततः परमेतेषामभावे द्वितीयादिवर्गेषु क्रमेण तिष्ठन्ति । द्वितीयवर्गो नाम—आभरणप्रियाः तेषु प्रथमं संज्ञिषु स्थविरमध्यमतरुणेषु एतेष्वेवासंज्ञिषु तदभावे संज्ञिनां तृतीयवर्गे कान्दर्पिकपुरुषेषु, तेषामलाभे असंज्ञिनां तृतीयवर्गे स्थविरादिषु यथाक्रमं स्थातव्यम् ।

एवं एक्केकतिगं, वोच्चत्थ कमेण होइ नायव्वं ।
मुत्तूण चरिम सन्निं, एमेव नपुंसएहिं पि ॥ ४३४ ॥

एवं मध्यस्थादिषु एकैकस्मिन् त्रिकं विपर्यस्तक्रमेण । प्रथमं स्थविरेषु,ततो मध्यमेषु, ततस्तरुणेषु इत्येवं लक्षणेन ज्ञातव्यं परं मुक्त्वा चरमं संज्ञिनम् । किमुक्तं भवति—चरमो भेदः काथिकस्तत्र संज्ञिनि प्रथमतस्त्रिकं न वारयितव्यं किं तु द्विकम् । तद्यथा-यदा तृतीयवर्गो न प्राप्यते तदा चतुर्थवर्गे प्रथमसंज्ञिषु काथिकस्थविरेषु,तदलाभे काथिकमध्यमेषु, तदप्राप्तावसंज्ञिषु काथिकस्थविरेषु, तदभावे काथिकमध्यमेषु तिष्ठन्ति । अथ तेऽपि न प्राप्यन्ते ततः संज्ञिषु काथिकतरुणेषु, तदभावे असंज्ञिष्वपि काथिकतरुणेषु तिष्ठन्ति । तत्रोभयेऽपि प्रज्ञापनया यथा कथां न कथयन्ति एवं पुरुषेषु स्थातव्ये विधिरुक्तः । एवमेव च नपुंसकेष्वपि वक्तव्यः । (बृ०)। (तत्रत्यविधिः 'णपुंसग' शब्दे चतुर्थभागे १८०६पृष्ठे द्रष्टव्यः)

एतेषु प्रायश्चित्तमाह—

जह चेव य पुरिसेसुं, सोही तह चेव पुरिसवेसेसुं ।
तेरासिएसु सुविहिय, पडिसेवगअपडिसेवीसुं ॥ ४३७ ॥

यथैव पुरुषेषु शोधिरुपवर्णिता,तथैव पुरुषवेषेष्वपि त्रिराशिके नपुंसकेषु सुविहितप्रतिसेविकेषु वा शोधिं जानीहीत्युपस्कारः । सा चेयम्—पुरुषनपुंसकानां ये काथिकास्तरुणास्तेषु चत्वारो गुरवः, शेषेषु भेदेषु चतुर्लघुकाः । कारणे पुनरध्वनिर्गतादीनां वसतेरलाभे तिष्ठतां तथैव पुरुषनपुंसकेष्वपि यतनाक्रमो यथा पुरुषेषु प्रतिपादितः ।

जह कारणे पुरिसेसुं,तह कारणे इत्थियासु वि वसिज्जा ।
अद्धाण वास सावय, तेणेसु व कारणे वसती ॥४३८॥

यथा कारणे पुरुषेषु पुरुषवेषनपुंसकेषु वा वसन्ति तथा स्त्रीषु स्त्रीवेषधारिषु वा नपुंसकेषु कारणे वसेयुः । किं पुनस्तत्कारणमित्याह—अध्वानं प्रतिपन्नास्ततो निर्गता वा शुद्धामल्पतरदोषदुष्टां वा वसतिं न लभन्ते तत उद्यानादौ तिष्ठन्ति । अथ वर्षं पतति, बहिर्वा श्वापदभयं शरीरोपधिस्तेनभयं वा तत ईदृशे कारणे स्त्रीसागारिके, तदभावे स्त्रीवेषधारिषु नपुंसकेषु पूर्वोक्तक्रमेण वसन्ति ।

निष्कारणे तु तत्र तिष्ठतामिदं प्रायश्चित्तम्—

काहीया तरुणेसुं, चउसु वि मूलं तु ठायमाणाणं ।
सेसासु वि चउगुरुगा,समणाणं इत्थिवग्गम्मि ॥४३९॥

स्त्रीषु स्त्रीवेषधारिषु च नपुंसकेषु याश्चतस्रः काथिकतरुण्यस्तासु तिष्ठतां निर्ग्रन्थानां मूलम् , शेषासु संज्ञिनीषु असंज्ञिनीषु वा स्त्रीषु चतुर्गुरुकाः, एवं श्रमणानां स्त्रीवर्गे तिष्ठतां प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

जह चेव य इत्थीसुं, सोही तह चेव पुरिसवेसेसुं ।
तेरासिएसु विहिया,ते पुण नियमा उ पडिसेवी ॥४४०॥

यथैव श्रमणानां स्त्रीषु तिष्ठतां शोधिरभिहिता तथैव स्त्रीवेषेषु त्रैराशिकेषु सुविहितशोधिमवबुध्यस्वेत्युपस्कारः । ते पुनः स्त्रीनपुंसका नियमात्प्रतिसेविनः । प्रतिसेवना—कारापणशीला इति ।

अथ कारणे तिष्ठतां यतनामाह—

एमेव होंति इत्थी, वारस सन्नी तहेव अस्सन्नी ।
सन्नीण पढमवग्गो,असइ असन्नीण पढमम्मि ॥४४१॥

एवमेव-पुरुषवत् स्त्रियः स्त्रीवेषधारिणश्च नपुंसका मध्यस्थादिभिश्च भेदैः द्वादशसंज्ञिनो द्वादश वा असंज्ञिनः प्रत्येकं भवन्ति, तत्र प्रथमसंज्ञिनां प्रथमवर्गे मध्यस्थस्त्रीलक्षणे तदभावे असंज्ञिनां प्रथमवर्गे स्थविरादिक्रमेण स्थातव्यम् ।

एवं एक्केकतिगं, वोच्चत्थ कमेण होइ नायव्वं ।
मोत्तूण चरिमसन्निं, एमेव नपुंसएहिं पि ॥ ४४२ ॥

एवमेकैकस्मिन्नाभरणप्रियादौ वर्गे त्रिकं तरुण्यादिभेदत्रयं विपर्यस्तक्रमेण नेतव्यम् । प्रथमं स्थविरासु ततो मध्यमासु ततस्तरुणीषु परं मुक्त्वा चरमां काथिकाख्यां संज्ञिनीम् । तत्र हि प्रथमं संज्ञिनीषु स्थविरासु,ततो मध्यमासु. तदलाभे असंज्ञिनीषु स्थविरामध्यमासु. ततः संज्ञिनीषु स्थविरामध्यमासु. ततः संज्ञिनीषु तरुणीषु. तदप्राप्तौ संज्ञिनीषु तरुणीषु, तदप्राप्तावसंज्ञिनीषु तरुणीषु तिष्ठन्ति । एवमेव स्त्रीवेषधारिषु नपुंसकेष्वपि द्रष्टव्यम् । भावितं निर्ग्रन्थसूत्रद्वयम् ।

संप्रति निर्ग्रन्थीसूत्रद्वयं भावयति—

एसेव कमो नियमा, णिग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
जह तेसि इत्थियाओ,तह तासि पुमा मुणेयव्वा ॥४४३॥

एष च क्रमो-नियमो निर्ग्रन्थीनामपि भवति ज्ञातव्यः । परं यथा तेषां निर्ग्रन्थानां स्त्रियो गुरुकतरा ज्ञातव्याः ।

काहीया तरुणीसुं, चउसु वि चउगुरुग ठायमाणीणं ।
सेसासु वि चउलहुगा, समणीणं इत्थिवग्गम्मि॥४४४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्त्रीवेषनपुंसकानां मध्ये काथिकतरुणीषु चतसृष्वपि तिष्ठन्तीनां चतुर्गुरुकाः शेषास्वपि द्वाविंशतिसंख्याकासु स्त्रीषु द्वाविंशतौ च स्त्रीनपुंसकेषु चतुर्लघुकाः । एवं श्रमणीनां स्त्रीवर्गे प्रायश्चित्तं ज्ञातव्यम् ।

काहीया तरुणेसुं, चउसु वि मूलं तु ठायमाणीणं ।
सेसेसुं चउगुरुगा, समणीणं पुरिसवग्गम्मि ॥४४५॥

पुरुषाणां पुरुषनपुंसकानां च संज्ञ्यसंज्ञिनां ये चत्वारः काथिकास्तरुणास्तेषु तिष्ठन्तीनां निर्ग्रन्थीनां मूलम् , शेषेषु-पुरुषेषु पुरुषनपुंसकेषु प्रत्येकं चत्वारो गुरुकाः । एवं श्रमणीनां पुरुषवर्गे प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् ।

अथ परप्रायश्चित्तदोषमाह-

थेराइएसु अहवा, पंचग पन्नरस मासलहुओ उ ।
छेदो मज्झत्थादिसु, काहियतरुणीसु चउलहुओ ॥४४६॥

सन्नी य असन्नीणं, पुरिसनपुंसेसु एस साहूणं ।
एएसु वि इत्थीसुं, गुरुओ समणीण विवरीओ ॥४४७॥

अथवा-स्थविरादिषु त्रिषु पदेषु पञ्चकपञ्चदशको मासलघुः छेदो दातव्यः । तद्यथा-मध्यस्थेषु स्थविरेषु तिष्ठन्ति लघुपञ्चकच्छेदः, मध्येषु—मध्यमेषु लघुपञ्चदशकः, मध्यस्थेषु तरुणेषु लघुमासिकच्छेदः । एवमाभरणप्रियेषु कान्दर्पिकेषु च त्रिविधेष्वपि मन्तव्यम् । काथिका अपि ये स्थविरा मध्यमाश्च तेष्वेवमेवावसातव्यम् । विशेषं चूर्णिकृत्पुनराह- 'काहीए घरं पनरस राइंदियाणि लहुओ छेदो, मज्झिमे मासलहुओ छेदे' त्ति ये तु काथिकास्तरुणास्तेषु चतुर्लघुमासिकच्छेदः, एवं पुरुषनपुंसका वा ये संज्ञिनस्तेषां समुदितानां ये अष्टचत्वारिंशत्संख्याका भेदास्तेषु यथोक्तक्रमेणेषु पञ्चकच्छेदः साधूनां भवति। स्त्रीषु स्त्रीनपुंसकेषु चैतेष्वेव मध्यस्थस्थविरादिभेदेषु साधूनामेष एव छेदो गुरुकः कर्त्तव्यः । तद्यथा- गुरुपञ्चको गुरुपञ्चदशको गुरुमासिको गुरुचतुर्मासिकश्चेति। श्रमणीनां पुनरेष एव छेदो विपरीतो दातव्यः,किमुक्तं भवति- श्रमणीनां स्त्रीवर्गे तिष्ठन्तीनां लघुपञ्चकादिच्छेदः । पुरुषवर्गे तु गुरुपञ्चकादिकः । शेषं सर्वमपि प्राग्वद् द्रष्टव्यम् । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

(१३) इहापि वसतिदोषविशेषप्रतिपादनायाह—

गाहावती णामेगे सुतिसमायारा भवंति,से भिक्खू य असिणाणए मोयसमायारे से तग्गंधे दुग्गंधे पडिकूले पडिलोमे यावि भवति,जं पुव्वं कम्मं तं पच्छा कम्मं जं पच्छाकम्मं तं पुरेकम्मं,तं भिक्खुपडियाए वट्टमाणा करेज्जा वा णो करेज्जा वा । अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा० ४ जं तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा चेतेज्जा । (सू०-७२)

एके-केचन गृहपतयः शुचिः समाचारो येषां ते तथा, ते च भागवतादिभक्ता भवन्ति , भोगिनो वा चन्दनागुरुकुङ्कुमकर्पूरादिसेविनः, भिक्षुश्चाऽस्नानतया तथा कार्यवशात् 'मोय' त्ति कायिका तत्समाचरणात्स भिक्षुस्तद्गन्धो भवति , तथा च दुर्गन्धः, एवंभूतश्च तेषां गृहस्थानां प्रतिकूलो नानुकूलः अनभिमतः, तथा प्रतिलोमस्तद्गन्धाद्विपरीतगन्धो भवति,एकार्थिकौ चैतावतिशयानभिमतत्वाख्यापनार्थावुपात्ताविति, तथा ते गृहस्थाः साधुप्रतिज्ञया यत्तत्र भोजनस्वाध्यायभूमौ स्नानादिकं पूर्वं कृतवन्तस्तत्तेषामुपरोधात्पश्चात् कुर्वन्ति, यद्वा—पश्चात् कृतवन्तस्तत् पूर्वं कुर्वन्ति । एवमवसर्प्पणोत्सर्प्पणक्रियया साधूनामधिकरणसंभवः । यदिवा-ते गृहस्थाः साधूपरोधात्प्राप्तकालमपि भोजनादिकं न कुर्युः, ततश्चान्तरायमनःपीडादिदोषसंभवः । अथवा-त एव साधवो गृहस्थोपरोधाद्यत् पूर्वं कर्म्म प्रत्युपेक्षणादिकं तत्पश्चात् कुर्युः, विपरीतं वा कालातिक्रमेण कुर्युर्न कुर्युर्वा । अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यत्तथाविधे प्रतिश्रये स्थानादिकं न कार्यमिति (प्रतिबद्धशय्यायाः सर्वो विषयः 'पडिबद्धसिज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ३२६ पृष्ठे गतः ।)

तत्र गृहपतिना भोजनं संस्कृतं स्यात्तदा दोषमाह—

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स इह खलु गाहावइस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवे भोयणजाए उवक्खडिए सिया, अह पच्छा, भिक्खुपडियाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडेज्ज वा उवकरेज्ज वा, तं च भिक्खू अभिकंखेज्जा भोत्तए वा पायए वा वियट्टित्तए वा । अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा०४। जं णो तहप्पगारे उवस्सए ठाणं वा चेतेज्जा। (सू०-७३)

कर्मोपादानमेतद्भिक्षोर्यद् गृहस्थावबद्धे प्रतिश्रये स्थानमिति, तद्यथा—'गाहावइस्स अप्पणो' त्ति तृतीयार्थे षष्ठी, गृहपतिना आत्मना स्वार्थं विरूपरूपो नानाप्रकार आहारः संस्कृतः स्याद् । अथ-अनन्तरं पश्चात्साधूनुद्दिश्याशनादिपाकं वा कुर्यादुपकरणादि वा ढौकयेत्तं च तथाभूतमाहारं साधुर्भोक्तुं पातुं वाऽभिकाङ्क्षेत् , 'वियट्टित्तए व' त्ति तत्रैवाहारगृद्धया विवर्तितुमासितुमाकाङ्क्षेत् , शेषं पूर्ववदिति ॥ एवं काष्ठाग्निप्रज्वालनसूत्रमपि नेयम् । तद्यथा-

यत्र गृहपतिः काष्ठं भिन्देत् अग्निं वा प्रज्वालयेत्तदाह—

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइणा सद्धिं संवसमाणस्स इह खलु गाहावइस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिन्नपुव्वाइं भवंति, अह पच्छा भिक्खुपडियाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिंदेज्ज वा किणेज्ज वा पामिच्चेज्ज वा दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु अगणिकायं उज्जालेज्ज वा पज्जालेज्ज वा तत्थ भिक्खू अभिकंखिज्जा आयावित्तए वा पयावित्तए वा वियट्टित्तए वा, अह भिक्खू वा भिक्खुणी वा जं नो तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं चेतेज्जा । (सू० ७४) आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

अप्रावृतद्वारे निषेधमाह-

नो कप्पइ निग्गंथीणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए ।
एगं पत्थारं अंतो किच्चा एगं पत्थारं बाहिं किच्चा ओहाडिय चिलिमिलियागंसि एव एहं कप्पइ वत्थए ॥१४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्य सूत्रस्य संवन्धमाह—

पडिसिद्धविवक्खेसुं, उवस्सएहिं तु संवसंतीणं ।
बम्हवतगुत्ति पगए, वारेंति तेसु वि अगुत्तिं ॥ १९५ ॥

पूर्वसूत्रे प्रतिषिद्धानामापणगृहादीनां विपक्षा ये उपाश्रयाः कल्पनीया इत्यर्थः, तेषु संवसन्तीनां ब्रह्मचर्यगुप्तिः प्रकृता, तदर्थं तेषु वस्तव्यमिति भावः । अतस्तस्याः प्रकृते-प्रक्रमे तेष्वप्यप्रतिषिद्धेषु प्रतिश्रयेषु अप्रावृतद्वारतद्रूपामगुप्तिं वारयन्ति भगवन्तो भद्रबाहुस्वामिनः इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (१४ सूत्रस्य) व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां साध्वीनां अप्रावृतद्वारके-उद्घाटद्वारे उपाश्रये वस्तुमित्येवं यदोपाश्रयालाभे च तत्रापि वसन्तीति तदा इत्थं विधिर्विधेयः । तद्यथा—एकं प्रस्तरं कटमन्तः प्रतिश्रयाभ्यन्तरे कृत्वा एकं प्रस्तरं बहिः कृत्वा , ततश्चिमिलिकयैवावघाटिते पिहितेऽपि द्वारे सूत्रे च अवघाटितशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राकृतत्वात् एवमनन्तरोक्तेन णमिति वाक्यालङ्कारे कल्पते वस्तुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

विस्तरार्थं तु भाष्यकृदाह—

दारे अवंगुयम्मी, निग्गन्थीणं न कप्पए वासो ।
चउगुरु आयरियाई, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥१९६॥

अप्रावृते-उद्घाटिते द्वारे निर्ग्रन्थीनां न कल्पते वासः । अत्र चैवं सूत्रमाचार्यः प्रवर्तिन्या न कथयति चतुर्गुरु,, प्रवर्तिनी संयतीनां न कथयति चतुर्गुरु, आर्यिका यदि न प्रतिशृण्वन्ति तदा तासां मासलघु । तत्राप्यकथनेऽश्रवणे चाज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः

दारे अवंगुयम्मि, भिक्खुणिमादीण संवसंतीणं ।
गुरुगा दोहि विसिट्ठा, चउगुरुगादी व छेदंता ॥१९७॥

द्वारे अप्रावृते भिक्षुण्यादीनां संवसन्तीनां द्वाभ्यां तपः—कालाभ्यां विशिष्टाः चतुर्गुरुकाः, तद्यथा-भिक्षुण्याश्चतुर्गुरुकं तपसा कालेन च लघु, अभिषेकायास्तदेव कालगुरु, तपोलघु गणावच्छेदे तपोगुरु काललघु, प्रवर्त्तिन्या द्वाभ्यामपि गुरुकं चतुर्गुरुकादयो वा छेदान्ता भवन्ति । तद्यथा—भिक्षुण्या अप्रावृते द्वारे वसन्त्याश्चतुर्गुरुकम् , अभिषेकायाः षड्लघुकम् । गणावच्छेदिन्याः षड्गुरुकम् , प्रवर्तिन्याः छेद इति ।

अत्र दोषानाह—

तरुणा वेसित्थीओ, विवाहमादीसु होइ सइकरणं ।
इच्छमणिच्छे तरुणा, तेणा ताओ व उवहिं वा ॥१९८॥

अस्य व्याख्या अनन्तरसूत्रवत् द्रष्टव्या । तत्र गमनिकामात्रं तूच्यते—तत्राप्रावृतद्वारे उपाश्रये तिष्ठन्तीनां संयतीनां तरुणान् वेश्यास्त्रियो वृद्धविवाहनृपतिप्रवेशादिषु वा दृष्ट्वा स्मृतिकरणमुपलक्षणत्वात्कौतुकनिदानगमनं वा भवेत् , तरुणान् वा अवभाषमाणान् यदि सा प्रतिसेवितुमिच्छति ततो व्रतविराधना । अथ नेच्छति ततो बलादपि ते संयतीं गृह्णीयुः, तथा स्तेनास्ता वा संयतीरपहरेयुः, उपधिं वा तासामपहरेयुः, इति ।

किंच—

अन्ने वि होंति दोसा, सावयतेणे य मेहुणट्ठी य ।
वइणीसु अगारीसु य दोच्चं संछोभणादीया ॥ १९९ ॥

अन्येऽप्यभ्यधिका दोषा भवन्ति, तत्राप्रावृतद्वारे श्वापदो वा स्तेना वा चशब्दात्-श्वानो वा प्रविशेयुः,तैश्च यद्विराधनां प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । मैथुनार्थी-उद्भ्रामकः प्रविशेत् , स बलादप्युदारशरीरां संयतीं गृह्णीयात् । व्रतिनीषु वा मध्ये काचिद्यौवनीं मोहयेत् , कस्यापि गृहिणः पार्श्वे दूतीः प्रक्षेपयेत् । गृही वा कश्चित्तस्याः संयत्याः प्रसुप्तायाः सुप्तेषु साध्वीषु रात्रौ काञ्चिदगारिणीं प्रेष्यदौत्यं कारयेत् । आगारीषु वा मध्ये काचित्संक्षोभणं परावर्तं कुर्यात् । संयतीसत्कानि वस्त्राणि प्रावृत्य शयीत-संयती तु तदीयानि वस्त्राणि प्रावृत्यागारस्य सकाशं गच्छेदित्यर्थः , यस्मादेवमादयो दोषास्तस्मात् अप्रावृतद्वारे-प्रतिश्रये साध्वीभिर्न स्थातव्यम् ।

द्वितीये पदे तिष्ठतां किं कर्त्तव्यमित्याह—

पत्थारो अंतो वहि, अंतो वंधाहिँ चिलिमिलिं उवरिं ।
परिहारि दारमूले, मत्तगसुघडं च जयणाए ॥ २०० ॥

प्रस्तार्यत इति प्रस्तारः कटः स च तयोः स्थानयोर्विधातव्यः । तद्यथा—प्रस्तारः द्विधा-अन्तः, बहिश्च । अन्तः अभ्यन्तरप्रस्तारे-'वन्धाहि' त्ति बधान नियन्त्रय चिलिमिलिषु परिविधिना कायिकीषु योजनीया । प्रतीहारी द्वारमूले तिष्ठति , मात्रविसर्जनं स्वपनं च यतनया कर्त्तव्यमिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथ विस्तरार्थमाह—

असई य कवाडस्स, विदलकडादीउ दो कता उभओ ।
फरुगुट्ठियस्स सरिसो, वाहिरकडयम्मि बंधो उ ॥२०१॥

यदि द्वारं कपाटसहितं भवति , ततः सुन्दरमेव । अथ नास्ति ततः कपाटस्यासति प्रस्तारः क्रियते । प्रस्तारः कटः स च द्विदलकः । यदि द्विदलं वंशदलं तन्मयः कटो द्विदलकटः आदिशब्दात्-शरकटः परिगृह्यते, ईदृशौ द्वौ कटौ द्वारस्योभयतः क्रियेते । एकोऽभ्यन्तरे , द्वितीयो बहिरित्यर्थः । ततः स्फरकस्य या मुष्टिग्रहणस्थानं तस्य सदृशो बन्धो बाह्यकटे अभ्यन्तरतो दातव्यः ।

स च बन्धः किम्मयः कर्त्तव्य इत्याह—

सुत्ताइरज्जुबंधो, दुच्छिड्ड अभितरिल्लकडयम्मि ।
हेट्ठा मज्झे उवरिं, तिन्नि वि दो वा भवे बंधा ॥२०२॥

सूत्रस्यादिशब्दाद्—वल्कलस्य वा ऊर्णाया वा यो रज्जुर्दवरकः परिस्थूलो दृढश्च, तस्य बन्धा बाह्यकटके स्फरमुष्टिकसदृशो दातव्यः, अभ्यन्तरकटे च द्वे छिद्रे कर्त्तव्ये कथमित्यत आह-' हेट्ठा मज्झे उवरि ' त्ति मध्ये स्फरकमुष्टेरनुश्रेण्यामेवाधस्तादुपरि छिद्रद्वयं कर्त्तव्यम् । ततो बाह्यकटकस्फुरकमुष्टिदवरको दृढं प्रवेश्य पश्चादभ्यन्तरकटस्य द्वयोरपि छिद्रयोः प्रवेश्य ततोऽभ्यन्तरेण निष्कास्य निविडं बन्धनीयः । ईदृशौ द्वौ वा त्रयो वा बन्धा बध्यन्ते । अभ्यन्तरप्रस्तारस्य चोपरि चिलीमिली बध्यते, सा च तन्निबध्नाति गोपयति, तथा च ते बन्धा बध्यन्ते, यथा प्रतिहारीं मुक्त्वा अन्या काचिन्न जानाति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आह–सा प्रतिहारी कीदृग्गुणान्विता स्थापनीयेत्युच्यते–

काएण उवचिया खलु, पडिहारी संजईए गीयत्था ।
परिणयभुत्तकुलीणा, अभीरु वायामियसरीरा ॥२०३॥

कायेनोचिता–न कृशशरीरा गीतार्था–सम्यगधिगतसूत्रार्था परिणता वयसा बुद्ध्या वा'भुत्त' त्ति भुक्तभोगिनी कुलीना–विशुद्धकुलोत्पन्ना–अभीरुः–कुर्तश्चिदपि स्तेनोद्भ्रामकादेर्वि-विधां विभीषिकां दर्शयतो न बिभेति ' वायामियसरीर ' त्ति व्यायामा–दण्डशरीरा; समर्थदेहा इत्यर्थः, ईदृशी खलु संयतीनां प्रतिहारी स्थापयितव्या ।

सा च किं करोतीत्याह–

आवासगं करित्ता, परिहारी दंडहत्थ दारम्मि ।
तिन्नि उ अप्पडिचरिउं, कालं घेत्तूण य पवेए ॥२७४॥

आवश्यकं–प्रतिक्रमणं कृत्वा प्रतिहारी दण्डकहस्ता अ-ग्रद्वारे तिष्ठति । ततश्च ' तिन्नि उ ' त्ति तिस्रः संयत्यः कालप्रत्युपेक्षणार्थं निर्गच्छन्ति ' अप्पडिचरियं ' ति प्रादो-षिककालं यथा साधवः प्रतिजागरितं गृह्णन्ति तत-स्तथा नेति गृहीत्वा च कालं ततः प्रवर्त्तिन्या निवेद-यन्ति, निवेद्य च स्वाध्याये प्रस्थापिते सर्वा अपि स्वाध्यायं कुर्वते ।

कथमित्याह–

ओहाडिय दाराओ, पोरिसि काऊण पढमए जामे ।
पडिहारि अग्गदारे, गणिणीउ उवस्सयमुहम्मि ॥२०५॥

अवघाटितं–चिलिमिलिकया पिहितं द्वारम्–अग्रद्वारं या-सां ता अवघाटितद्वाराः, सर्वा अपि प्रथमे यामे सूत्रपौरुषीं कृत्वा ततो मध्ये प्रविशन्तीति वाक्यशेषः, पौरुषीं कुर्वा-णानां च प्रतिहारे अग्रद्वारे तिष्ठति गणिनी तु–प्रवर्त्तिनी तू-पाश्रयस्य मुखे मूलद्वारे स्थिता स्वाध्यायं करोति ।

उभयविसुद्धा इयरा, पविसंतीओ पवित्तिणी छिवइ ।
सीसे गंडे वच्छे, पुच्छइ नामं च काऽसि त्ति ॥२०६॥

उभयं–संज्ञा, कायिकी च । तद्विशुद्धं व्युत्सृष्टं याभिस्ता उभयविशुद्धाः, आहिताग्न्यादेः आकृतिगणत्वात् पूर्वापर-निपातव्यत्ययः, इतराः संयत्यो यदा प्रविशन्ति ततः प्रव-र्त्तिनी किमेषा संयती उभयविशुद्धा न वेति परिज्ञानार्थं शीर्षे–शिरसि गण्डे–कपाले वक्षसि–हृदये एवं त्रिषु स्थानेषु परिस्पृशति । नाम च पृच्छति, का किं नामाऽसि त्वमिति । यावत्तत्र प्रवेशसमये विलम्बते यस्मिंश्च प्र-स्तावे निर्गच्छति सा वक्तव्या ।

किं तुज्झ इक्कियाए,धम्मो दारं न होइ एत्तो उ ।
न य निट्ठुरं पि भन्नइ, मा जियलज्जत्तणं हुज्जा ॥२०७॥

किं तवैकस्या एव धर्मो यदेवं निर्गच्छसि, विलम्बसे वा । द्वारमितो न भवति । एवमन्यव्यपदेशेन सा वक्तव्या । न च निष्ठुरं स्फुटमेव भण्यते । मा"जियलज्जत्तणं"ति जितलज्ज-त्वं निर्लज्जानामेतदिति हेतोः ।

ततश्च–

सव्वासु पविट्ठासु, पडिहारी पविसिसि बंधए दारं ।
मज्झे य ठाइ गणिणी, सेसाओ चक्कवालेणं ॥२०८॥

सर्वासु संयतीषु प्रविष्टासु प्रतिहारी प्रविश्य द्वारं पूर्वोक्तविधिना बध्नाति, मध्ये च–मध्यभागे गणिनी–प्रवर्तिनी तिष्ठति; संस्तारं प्रस्तृणातीत्यर्थः । शेषास्तु संयत्यश्चक्रवालेन मण्डलिकया प्रवर्तिनीं परिवार्य संस्तृ-णन्ति, यथा परस्परं सुप्तानां न संघट्टो भवति । आह–किमर्थं न संघट्टः क्रियते ।

उच्यते–

सइकरण कोउहल्ला, फासे कलहो य तेण तं मोत्तुं ।
कडितरुणी कडितरुणी,अभिक्खछिन्नणा य जयणाए २०९

स्पर्शे अन्योन्यं संघट्टने भुक्तभुक्तानां स्मृतिकरणकौतूहले भवतः । कलहश्च असंखडं भवति, यथा अहं त्वया हस्तेन वा पादेन वा संघट्टिता, अनेन हेतुना तं स्पर्शं मुक्त्वा काचित् स्थविरा सा प्रथमतः संस्तारकं करोति , ततस्तदनन्तरिता तरुणी,पुनस्स्थविरा, पुनरपि तरुणी इत्येवं संस्तारकप्रस्तरण-विधिः । यतनया च यथा तासां स्मृतिकरणादि नोपजा-यते तथा अभीक्ष्णं पुनः पुनः स्पर्शना प्रवर्तितव्या कर्तव्या । प्रतिहारी च द्वारमूले संस्तारयति ।

कथमित्यत आह–

तणुनिद्दा पडिहारी, गोविय घेत्तं च सुवइ तं दारं ।
जग्गंति वारएण व, नाउं आमोस दुस्सीलो ॥२१०॥

तन्वी–स्तोका निद्रा यस्याः सा तथा एवंविधा प्रति-हारी तथा ग्रन्थिं गोपयित्वा स्वपिति ; यथाऽन्याः संयत्यो न जानन्त्युद्घाटितम् । हस्तेन वा तद्द्वारकप्रान्तं गृहीत्वा स्वपिति । अथ तत्रामोषाः स्तेना दुःशीला अ-भिपतन्ति; ततस्तान् ज्ञात्वा वारकेण जाग्रति ।

अथ मात्रके यतनामाह–

कुडमुह डगलेसु काउं, मत्तगं इट्ठगाइदुरुढाओ ।
लाल सराव पलालं व, छोढुमायं तु मा सद्दो ॥ २११ ॥

कूटमुखघ्वकण्डकेषु डगलेषु वा मात्रं कृत्वा स्थापयित्वा, तस्य मात्रकस्योपरि शरावं–मल्लकं स्थाप्यते । तस्य च मू-र्ध्नि छिद्रं क्रियते, तत्र छिद्रे वस्त्रमयी लाला–लम्बमानची-रिका पलालं वा प्रक्षिप्यते । मा मोकं व्युत्सृजन्तीनां शब्दो भवतिवति कृत्वा तत उभयपार्श्वत इष्टिकाः क्रियन्ते, आ-दिशब्दात्–पीठिकादिपरिग्रहः । तत्रारूढाः सत्यो रात्रौ मात्रकमेवं व्युत्सृजन्ति ।

अथ स्वपनयतनामाह–

सोऊण दोन्नि जामे, चरिमे उज्झित्तु मोयमंतं तु ।
कालपडिलेहयातो,ओहाडियचिलिमिली तम्मि॥२१२॥

सुप्त्वा द्वौ यामौ–प्रहरौ चरमे यामे उत्थाय मोकमात्र-कमुज्झित्वा–परिष्ठाप्य ततः कालं वैरात्रिकं प्राभातिकं च प्रत्युपेक्ष्य स्वाध्यायो यतनया क्रियते । तस्मिंश्च चरमे यामे अवघाटितचिलिमिलिकं चिलिमिलिकया अवघाटितं–पिहि-तं द्वारं भवति, शेषमुत्कटद्वयमपनीयते इति भावः ।

ताश्च कालं गृहीत्वा न प्रतिजाग्रति, कुत इत्याह–

संकापदं तह भयं, दुविहा तेणा य मेहुणऽट्ठी य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देहड्डिइ दुव्वलओ, कालमओ ता ण जग्गंति ॥२१३॥
यदि ताः प्रतिश्रये द्वारे स्थित्वा कालं प्रतिजागृयुस्ततः सागारिकमनसि आशङ्कापदं भवति किमेषा कंचिदुद्भ्रामकं प्रतीक्षते यदेवमेषा प्रविष्टा जागर्तीति । तथा भयं च तासामल्पसत्त्वतयोपजायते । द्विविधाश्च स्तेनाः-शरीरस्तेनोपधिस्तेनभेदात्, तत्रागच्छेयुः ते संयतीमुपधिं वा अपहरेयुः । मैथुनार्थिनो वा संयतीमुपसर्पेयुः । देहेन—शरीरेण धृत्या च मानसावष्टम्भेन दुर्बलास्ताः, अतः ताः संयत्यः कालं न जाग्रति न प्रतिचरन्ति ।

किं च—

कम्मेहि मोहियाणं, अभिद्दवंताण कोऽत्थि जा भणइ ।
संकापदं व होज्जा, सागारियतेणए वाऽवि ॥२१४ ॥
यदि कर्म्मभिर्मोहिता घनकर्मकर्कशतया समुदीर्णमोहाः केचन पापीयांसः शीलाच्च्यावयितुमभिद्रवेयुः, ततः को विधिरित्यत आह—तेषामभिद्रवतां संयती कोऽयमिति ब्रूते, ततः तस्याः चतुर्गुरुकाः प्रायश्चित्तम्, आज्ञादयश्च दोषाः, शङ्कापदं वा सागारिकस्य, अपिशब्दान्मैथुनार्थिनो वा भवन्ति ।

इदमेव भावयति—

अन्नोऽवि नूणमभिपडइ, एत्थ वीसत्थया तदट्ठीणं ।
सागारि सेज्जगा वा, सइत्थिगा वा उ संकेज्जा ॥ २१५ ॥
तदर्थिनो नाम तद्विवक्षितं स्तैन्यं मैथुनं वा सेवितुं ये समायातास्तेषां संयतीमुखात् क इति वचनं श्रुत्वा शङ्कादय उपजायन्ते नूनमन्योऽपि कश्चिदद्योद्भ्रामकोऽभिपतति. येनैवमेषा क इति प्रश्नयति । ततश्च तेषां तत्र प्रविशतां विश्वस्तता भवति न भयमुत्पद्यते । ये सागारिकशय्यातरसिद्धका वा प्रातिवेश्मिकास्ते एकका वा सस्त्रीका वा शङ्कां कुर्युः किमन्य एतासां संयतीनां दत्तसंकेतः कोऽप्युद्भ्रामकोऽत्रायाति ।

तेणियरं व सगारो, गिण्ह मारेज्ज सो व सागरियं ।
पडिसेह छोभभामण, काहिंती य प्पदोसं च ॥२१६॥
अथवा क इति वचनं श्रुत्वा सागारिक उत्थाय स्तेनम् इतरं वा मैथुनार्थिनं गृह्णीयात्, मारयेद्वा । स वा स्तेनो मैथुनार्थी वा सागारिकं मारयेत् । सागारिके च मारिते तदीयाः संज्ञातकाः प्रतिषेधनं द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदं कुर्युः । स्तेनादयश्च शय्यातरेण गृहीतसंयतीनां ' छोभ ' त्ति अभ्याख्यानं दद्युः,अस्माकं भाटिरेताभिर्गृहीता आसीत्,'भामण' त्ति दुष्टा वा सन्तः शय्यातरगृहं संयतीनां वा प्रतिश्रयं प्रदीपयेयुः । प्रद्विषतो वा यदन्यदर्पिते करिष्यन्ति तन्निष्पन्नमापद्यते । प्रायश्चित्तम् ।

कथं पुनस्तर्हि तद् वक्तव्यमित्याह—

संकियमसंकियं वा, उभयट्ठिं णच्चवेंति अहिलित्तं ।
छुत्ति हमित्ति अणाहा,नत्थि ते माया पिया वा त्ति २१७
उभयं-स्तैन्यं, मैथुनं च । तदर्थिनं शङ्कितं वा ज्ञात्वा अवगम्य अभिलीयमानमायान्तमेवं ब्रुवते 'छु' त्ति 'हडि' त्ति अनुकरणशब्दावेतौ ' छुरि ' ति वा वक्तव्यमित्यर्थः । यद्वा-हे अनाथ ! निःस्वामिक ! किं ते नास्ति माता वा पिता वा यदेतस्यां वेलायां पर्यटसीति ।

भंजंतुवस्सयं णो, छिन्नाला जरग्गवा सगोरहगा ।
नऽत्थि इहं तुह चारी, णस्ससु किं खाहिसि अहन्ना२१८
भञ्जन्ति-विध्वंसन्ते नः-अस्माकमुपाश्रयं-छिन्नालास्तथाविधा दुष्टजातीया जरद्गवा जीर्णबलीवर्दाः सगोरथकाः अतो नास्त्यत्र त्वद्योग्या चारिः, नश्य—पलायस्व त्वं किमत्र खादयसि । अधन्य ! हे निर्भाग्य !, प्राकृतत्वात् गाथायां दीर्घत्वम्, एतेनान्यापदेशभङ्ग्या तस्य प्रविशतः प्रतिषेधः कृतो भवति ।

द्वितीयपदमाह—

अद्धाणनिग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए ।
दव्वस्स व असईए, ताओ व अपच्छिमा पिंडी ॥२१९॥
अध्वनिर्गतादयः संयत्यः । त्रिकृत्वः—त्रीन् वारान् वसतिं मार्गयित्वा असत्यलभ्यमाने गुप्तद्वारे उपाश्रये अप्रावृतद्वारेऽपि वसन्ति । तत्र यदि कपाटमवाप्यते ततः सुन्दरमेव । अथ न प्राप्यते ततो द्रव्यस्य कपाटस्यासति कण्टकादिकमप्यानीय पिधातव्यं यावदपश्चिमा-सर्वान्तिमा यतना 'ताओ व' त्ति ताः सर्वा अपि 'पिंडि' त्ति पिण्डीभूय परस्परं करबन्धं कृत्वा दण्डकव्यग्रहस्तास्तिष्ठन्तीति ।

एतामेव निर्युक्तिगाथां व्याचष्टे—

असत्तो व कवाडं, कडिय दंडेहि चिलिमिली बाहिं ।
कढिया पिंडि भवंति, सभए काऊण णोक्करबंधा।२२०।
भूयः-परस्परं करबन्धं कपाटयुक्तस्य द्वारस्याभावे अन्यतोऽपि कपाटं याचित्वा द्वारं पिधातव्यम् । अथ याच्यमानमपि तत्र लब्धं ततो वंशकटो याचितव्यः । तस्य अलाभे कण्टिका कण्टकशिखाः, तासामप्राप्तौ दण्डकैस्तिरश्चीनी चिलिमिलिका क्रियते । तावद्दण्डानामभावे वस्त्रचिलिमिलिका बध्यते । बहिर्द्वारमूले किलिका स्थविरा-क्रियते । अथ कोऽपि तत्र तासामभिद्रवणं करोति, ततस्तादृशसमयोपसर्गे सति अन्योन्यं करबन्धं कृत्वा पिण्डीभवन्ति ।

अंतो हवंति तरुणी, सद्दं दंडेहि ते य तालिंति ।
अह तत्थ होंति वसभा, वारिंति गिही व ते होउ ।२२१।
अन्तर्मध्ये याः तरुण्यो अगृहीतदण्डहस्तास्तिष्ठन्ति बहिस्तु स्थविराः ताश्चोभया अपि शब्दं वृद्धध्वनिना बोलं कुर्वते, येन भूयान् लोको मिलति । ताश्च स्तेनमैथुनार्थिन उपद्रवतो दण्डकैः प्रताडयन्ति । अथ तत्र वृषभाः सन्निहिताः ततस्ते गृहिणो निवारयन्ति ।

निग्गंथ दारपिहणे. लहुओ मासो उ दोसु आणादी ।
अइगमणे निग्गमणे, संघट्टणमाइपलिमंथो ॥ २२२ ॥
निर्ग्रन्था यदि द्वारपिधानं कुर्वन्ति ततो लघुको मासः प्रायश्चित्तम् आज्ञादयश्च दोषाः । विराधना त्वियम्—कोऽपि साधुः निर्गमनं प्रवेशं करोति, अन्येन च साधुना द्वारपिधानाय कपाटं प्रेरितं तेन च तस्य शिरसोऽभिघाते परितापादिका ग्लानारोपणा । एवं निर्गमनेऽपि केनचिद्बहिः स्थितेन पश्चान्मुखे कपाटे प्रेरिते शीर्ष भिद्यते । तत्र च जन्तूनां संघट्टनमादिशब्दात्—परितापनमपद्रावणं वा द्वारे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पिधीयमाने अपाव्रियमाणे वा भवेत्। परिमन्थश्च सूत्रार्थव्याघातो भूयो भूयः पिदधतामपावृण्वतां च भवति।

एतामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति—

घरकोइलिया सप्पो, व संचाराई य होति हेट्ठुवरिं।
ढक्कित्तवंगुरिंते, अभिघातो णिंतयंताणं ॥ २२३ ॥

द्वारस्याधस्तादुपरि वा गृहकोकिला वा सर्पो वा संचारिमा वा कीटिका कुन्थुकं सारिकादयो जीवा भवेयुः, आदिशब्दात्-कोकिलादयस्तत्र भवेयुः, स्यात्-कदाचित्कारणे पुष्टालम्बने पिदध्यादपि द्वारम्, जिनाः-जिनकल्पिका ज्ञायकास्तस्य कारणस्य सम्यग्वेत्तारः, परं द्वारं न पिदधति।

शिष्यः प्राह—

सति कारणे पिहेज्जा, जिन जाण गच्छे इच्छिमो नाउं।
आगाढकारणम्मि तु,कप्पति जयणाए तं पिहितुं॥२२४॥

गच्छे-गच्छवासिनां सामाचार्याः विधिं ज्ञातुं सूरिराह-आगाढं प्रत्यनीकस्तेनादिरूपं यत्कारणं तत्र यतनया वक्ष्यमाणलक्षणया गच्छवासिनां द्वारं स्थगितुं कल्पते। एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति—

जाणंति जिणा कज्जं, पत्तं पि तु तं न वेंति सेवेंति।
थेरा वि उ जाणंति, अणागयं केइ पत्तं तु ॥ २२५ ॥

जिनाः-जिनकल्पिकास्तत्कार्यमनागतमेव जानन्ति,येन द्वारं पिधीयते। तच्च प्रत्यनीकस्तेनादिकं वक्ष्यमाणलक्षणं तस्मिंश्च प्राप्तेऽपि तत्—द्वारपिधानं न भगवन्तो निषेवन्ते निरपवादानुष्ठानपरत्वात्। स्थविरा अपि-स्थविरकल्पिकाः सातिशयश्रुतज्ञानाश्च प्रयोगबलेन केचिदनागतमेव जानन्ति। केचित्तु निरतिशयाः प्राप्तमेव तत्कार्यं जानन्ति, ज्ञात्वा च यतनया तत्परिहरन्ति।

अहवा जिणप्पमाणा, कारणसेवी अदोसवं होइ।
थेरा वि जाणग चिय, कारणजयणाए सेवंता ॥ २२६ ॥

अथवा—'जिणप्पमाण' त्ति पदमन्यथा व्याख्यायते-जिनः—तीर्थकरः प्रामाण्यात् कारणे द्वारपिधानसेवी अदोषवान् भवति। जिनानां हि भगवतामियमाज्ञा—कारणे यतनया द्वारं पिधातव्यम्। सेवमानाः स्थविरकल्पिका अपि ज्ञायका एव-सम्यग् विधिज्ञा एव। आह-किं तत्कारणं येन द्वारं पिधीयते।

उच्यते—

पडिणीयतेणसावय, उब्भामगगोणसाणसुणगादी।
सीयं दुरद्वियासं, दीहा पक्खी च सागरिए॥ २२७ ॥

उद्घाटिते द्वारे प्रत्यनीकः प्रविश्य आहननमपद्रावणं वा-कुर्यात्, स्तेनाः शरीरस्तेना वा प्रविशेयुः। एवं श्वापदाः-सिंहव्याघ्रादयः उद्भ्रामकाः-पारदारिका गोबलीवर्दाः श्वानप्रायाः, तत एते वा प्रविशेयुः 'साणे' त्ति—अनात्मवशः क्षिप्तचित्तादिः स द्वारे अपिहिते सति निर्गच्छेत्। शीतं दुरधिसहं हिमकणानुषक्तं निपतेत्। दीर्घा वा सर्पाः पक्षिणो वा काककपोतप्रभृतयः प्रविशेयुः। सागारिको वा कश्चित् प्रतिश्रयमुद्धाटकद्वारं दृष्ट्वा प्रविश्य शयीत वा विश्रामं वा गृह्णीयात्।

एक्केक्कम्मि उ ठाणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽयाए ॥२२८॥

द्वारमस्थगयतामनन्तरोक्ता एकैकस्मिन् प्रत्यनीकप्रवेशादौ स्थाने चत्वारो मासा उद्घाताः प्रायश्चित्तं भवति। आज्ञादयश्चात्र दोषाः, विराधना च संयमात्मविषया भावनीया। यदुक्तं चत्वारो मासा उद्घाता इति तदेव तद्बाहुल्यमङ्गीकृत्य द्रष्टव्यम्।

अतोऽपवदन्नाह—

अहिसावयपच्चत्थिसु, गुरुगा सेसेसु होंति चउलहुगा।
तणगोले लहुगुरुगा, आणाइविराहणा दुविहा ॥२२९॥

अहिषु श्वापदेषु स्तेनेषु चतुर्गुरुकाः, उपधिस्तेनेषु चतुर्लघुकाः आज्ञादयश्च दोषाः। विराधना च द्विविधा-संयमविराधना, आत्मविराधना च। तत्र संयमविराधना स्तेनैरुपधावपहृते द्वारे अपिहिते सत्युपाश्रयं प्रविशत्सूपहृते तृणग्रहणमग्निसेवनं वा कुर्वन्ति, सागारिकादयो वा तथा ये गोलकल्पाः प्रविष्टाः सन्तो निषदनादि कुर्वाणा बहूनां प्राणजातीयानामुपमर्दं कुर्युः। आत्मविराधना तु प्रत्यनीकादिषु परिस्फुटैवेति। आह ज्ञातमस्माभिः द्वारमपिधानकारणम्। परं का पुनः यतनेति नाद्यापि वयं जानीमः।

उच्यते—

उवओगं हेट्ठुवरिं, काऊण वएंत वंगुरंते अ।
पेहा जत्थ न सुज्झइ, पमज्जिउं तत्थ सारिंति ॥ २३० ॥

नेत्रादिभिरिन्द्रियैरधस्तादुपरि चोपयोगं कृत्वा द्वारं स्थगयन्ति वा आपवृण्वन्ति वा। यत्र चान्धकारे प्रेक्षा—चक्षुषा निरीक्षणं न शुद्ध्यति ततो रजोहरणेन दारुदण्डकेन वा रजन्यां प्रमृज्य सारयन्ति, द्वारं स्थगयन्तीत्यर्थः। उपलक्षणत्वादुद्घाटयन्तीत्यपि द्रष्टव्यम्। बृ० १ उ०।

उपाश्रयस्यान्तः शाल्यादीनि यत्र भवन्ति तत्र दोषमाह—

उवस्सयस्स अन्तोवगडाए सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा गोधूमाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा उक्खित्ताणि वा विक्खित्ताणि वा विइगिणाणि वा विप्पइण्णाणि वा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए॥ १॥

अथास्य सूत्रस्य संबन्धमाह—

एरिसए खेत्तम्मि, उवस्सए केरिसम्मि वसितव्वं।
पुव्वुत्तदोसरहिते, वितियादि जहेस संवन्धो ॥ १॥

ईदृशे प्रथमोद्देशकान्त्यसूत्रे वर्णिते आर्यक्षेत्रे विहरद्भिरुपाश्रये कीदृशे वस्तव्यमिति चिन्तायामनेन सूत्रेणोपवर्ण्यते। पूर्वमाद्योद्देशके ये उपाश्रयस्य दोषाः सागारिकत्वादय उक्तास्तै रहितो जीवादिपरित्यक्तश्च यत्र उपाश्रयस्तत्र वस्तव्यमित्येष पूर्वसूत्रेण सहास्य संबन्धः।

अहवा पढमे सुत्त-म्मि पलंबा वण्णिया ण भोत्तव्वा।
तेसिं चिय रक्खट्ठा, तस्सऽहवा संनिवारेंति ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवेति संबन्धस्य प्रकारान्तरताद्योतके प्रथमोद्देशके प्रथमे प्रलम्बसूत्रे विस्तरेण प्रलम्बान्युपवर्णितानि तानि न भोक्तव्यानीति प्रतिपिद्धानि; अतो द्वितीयोद्देशकेऽपि प्रथमसूत्रे तेषामेव प्रलम्बानां रक्षार्थं तैर्बीजाख्यैः प्रलम्बैः सह वा समवस्थानं निवारयति—

अवि य अणन्तरसुत्ते, उवस्सतो अधिकते णिसी जत्थ ।
समणाण न निग्गंतुं, कप्पति अह तेण जोगो उ ॥३॥

अपि चेत्यभ्युच्चये, न केवलं पूर्वोक्तं सम्बन्धद्वयं तृतीयोऽपि सवन्धोऽस्तीति भावः । पूर्वसूत्रस्याधस्तादनन्तरसूत्रे—"नो कप्पइ निग्गन्थस्स एगागियस्स राओ वा वियाले वा" इत्यादिलक्षण उपाश्रयः, यत्रैकाकिनां निशि—रात्रौ विचारभूम्याद्यर्थं न निर्गन्तुं कल्पते । अथायं तेन सूत्रेण सह योगः—संवन्धः, इत्यनेकैः संवन्धैरायातस्यास्य व्याख्या-उपाश्रयस्य या अन्तर्वगडा-वगडाया अभ्यन्तरम्, तच्च प्रतिश्रयमध्यं वा स्यात्, प्राङ्गणं वा । 'तओ सालीनि व' त्ति शालिवीजानि वा व्रीहिवीजानि वा । एवं मुद्गमापतिलकुलत्थगोधूमयवयवयवैरपि तद्बीजान्युच्यन्ते । यवयवा-यवविशेषास्तद्बीजानि वा । एतानि वीजानि यत्रोपाश्रये उत्क्षिप्तानि वा विक्षिप्तानि वा व्यतिकीर्णानि वा विप्रकीर्णानि वा तत्र नो कल्पते तदा निर्ग्रन्थानां वा यथालन्दमपि वस्तुम् । इह यथालन्दं त्रिधा—जघन्यम्, मध्यमम्, उत्कृष्टं च । यावता कालेनोदकार्द्रो हस्तः शुष्यति तज्जघन्यम्, पञ्चरात्रिन्दिवान्युत्कृष्टम्, तयोरपान्तराले सर्वमपि मध्यमम् । अत्र जघन्यमध्यमयोः सूत्रावतारः । अपिशब्दः संभावनायाम्, जघन्यमपि मध्यममपि यथालन्दं नो कल्पते वस्तुम्, किं पुनः उत्कृष्टमिति भावः । अत्र चोत्क्षिप्तादीनि पदानि भाष्यगाथयैव व्याख्यास्यन्ते इत्यभिप्रायेण च व्याख्यातानीति सूत्रसंक्षेपार्थः । बृ० २ उ० ।

अथ कोऽसावुपाश्रयो यस्यैषा वगडा वर्णिता । उच्यते—

वलया कोट्ठागारा, हेट्ठा भूमी य होइ रमणिज्जा ।
बीएहिँ विप्पमुक्को, उवस्सओ एरिसो होइ ॥ ८ ॥

वलयानि-कटपल्ल्यादीनि कोष्ठागाराणि च सुप्रतीतानि यत्र भवन्ति, अधस्ताच्च तत्र भूमिर्भवति रमणीया-वीजाद्यभावेन प्रशस्या, ईदृश उपाश्रयो वीजैर्विप्रमुक्तो भवति ।

इदमेव व्याख्यानयति-

कडपल्लाणं सण्णा, तणपल्लाणं च देसीतो वलिया ।
णिप्पडिसाणिमभुज्जं-तगा य कयभूमिकम्मंता ॥ ९ ॥

देशीतो देशीभाषामाश्रित्य कटपल्ल्यानां तृणपल्यानां च वलयानीति संज्ञा तेषां मालेषु बद्धेषु धान्यानि क्रियन्ते, तानि च यत्र निष्परिशायीनि परिशाटरहितानि अभुज्यमानानि अव्यापार्यमाणानि । तथा कृतं भूमिकर्म-छगणलेपनादिकर्म अन्तेषु प्रान्तप्रदेशेषु येषु तानि कृतभूमिकर्मान्तानि, अधस्ताच्च भूमिकावीजादिविप्रमुक्तानि, ईदृशे प्रतिश्रये वस्तुं कल्पते ।

अथ कोष्ठागाराणि व्याचष्टे—

चाउस्सालघरेसु य, जत्थोवरि कोट्ठएसु धण्णाइं ।
णिच्चट्ठइतमभोगा, तेसु निवासं निवारेइ ॥ १० ॥

२४३

अथवा—चतुःशालादिगृहेषु यत्रोपाश्रयेष्वपवरकेषु वा इष्टिकादिमयेसु वा काष्ठकेषु वा मृत्तिकामयेषु वा धान्यानि नित्यस्थगितानि तानि सदा पिहितानि अभोग्यानि—परिभोगरहितानि तिष्ठन्ति । तत्र ये शेषा अपवारकाः—कोष्ठकास्तेषु निवासं निवारयति ।

क्व पुनस्तर्हि वस्तुं न कल्पते इत्याह—

सालीहिं वीहीहिं, तिलकुलत्थेहिँ विप्पकिन्नेहिं ।
आइण्णे वितिकिण्णे, अहलंदं ण कप्पती वासो ॥११॥

शालिभिः व्रीहिभिः तिलैः कुलत्थैरुपलक्षणत्वात् मुद्गमाषादिभिश्च विप्रकीर्णैर्व्यतिकीर्णैरुपलक्षणत्वाद्विकीर्णैश्च संकुले उपाश्रये निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च यथालन्दमपि कालं न कल्पते वासः । एषा श्रीभद्रबाहुस्वामिकृता गाथा, अनया सूत्रपदानि संगृहीतानि आकीर्णग्रहणेन च उत्क्षिप्तपदम्, विकीर्णग्रहणे तु विक्षिप्तपदं गृहीतं मन्तव्यम् । अत्र परः प्राह-ननु जातिवाचकाः शब्दास्ते चात्र शालिरित्यादिपदैरेकवचननिर्देशेन व्यवह्रियमाणा उपलभ्यन्ते ततः किमयमत्र शालिभिर्व्रीहिभिरित्यादिबहुवचननिर्देशः कृतः ।

उच्यते—

सालीहिं वीहीहि य, इति उत्ते होति एतदुत्तं तु ।
सालीमादीयाणं, होंति पगारा बहुविहा उ ॥ १२ ॥

शालिभिर्वा व्रीहिभिर्वा इत्युक्ते एवं बहुवचननिर्देश कृते एतदुक्तमभिहितं भवति, शाल्यादीनां धान्यानां बहुविधाः-बहुप्रकारा भवन्ति-तद्यथा—कलमशालिमहाशालिरित्यादि ।

उत्क्षिप्तादिपदानां व्याख्यानमाह—

उक्खित्तभिन्नरासी, विक्खिण्णा तेसि होति संबंधो ।
वितिकिण्णो सम्मेलो, विप्पइण्णे संघडं जाण ॥ १३ ॥

उत्क्षिप्तानि नाम येषां धान्यानां राशयो भिन्नाः, विक्षिप्तानि नाम त एव धान्यराशयो भिन्नाः, परमेकतः संबुद्धाः, अत एवाह-विक्षिप्तपदे व्याख्यायमाने तेषां भिन्नराशीनां संबन्धो भवति । व्यतिकीर्णानि तु सर्वाण्यपि धान्यान्येकतः संमिलितानि । आह च-व्यतिकीर्णपदे तेषां धान्यानां संमीलको भवति । विप्रकीर्णानि तु सर्वतः संस्तृतानि पुष्पप्रकरवत् । यत एवाह--विप्रकीर्णपदे संस्कृतं विप्रकीर्णं जानीयात् ।

अथात्र वीजाकीर्णे प्रतिश्रये तिष्ठन्तीति प्रायश्चित्तमाह—

वीयाई आइन्ने, लहुओ मासो उ गायमाणस्स ।
आणादिणो य दोसा, विराधना संजमाऽऽताए ॥१४॥

'वीयाइ' त्ति आदिशब्दः—स्वगतानेकभेदसूचकः, ततश्च-वीजैः शाल्यादिभेदादनेकप्रकारैराकीर्णे उपाश्रये तिष्ठत आचार्यादेर्लघुमासः प्रायश्चित्तम् । अयं च तपःकालविशेषितः । तद्यथा—आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरुकः, उपाध्यायस्य तपसा गुरुकः, वृषभस्य कालेन गुरुको, भिक्षोस्तपसा कालेन च लघुकः, एतत्प्रत्येकवीजविषयं प्रायश्चित्तमुक्तम् । अनन्तवीजेष्वप्येवमेव नवरं मासलघुस्थाने मासगुरुकम् । संयतीनामपि प्रवर्त्तिनीगणावच्छेदिन्यभिषेका भिक्षुणीनामेवमेव वक्तव्यम् आज्ञादयश्च दोषा भवन्ति । तथा विराधना संयमे, आत्मनि च मन्तव्या ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इयं द्विधाऽपि पुरस्तादभिधास्यते । प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमाह—

उक्खित्तमाइएसुं, थिराथिरेहिं तु ठायमाणस्स ।
पणगादी जा भिन्नो, विसेसितो भिक्खुमाईणं ॥ १५ ॥
साहारणम्मि गुरुगा, दसादिगं मासे ठाति समणीणं ।
मासो विसेसितो वा, लहुओ साहारणो गुरुगा ॥१६॥

उत्क्षिप्तादिषु स्थिरास्थिरभेदाभिन्नेषु तिष्ठतां भिक्षुप्रभृतीनां पञ्चकादारभ्य भिन्नमासं यावत्तपःकालविशेषितं प्रायश्चित्तम्, तद्यथा—उत्क्षिप्तेषु स्थिरसंहननिषु लघवः रात्रिन्दिवानि, विक्षिप्तेषु स्थिरेषु तिष्ठतो लघु दश रात्रिन्दिवानि, अस्थिरेषु लघु पञ्चदश रात्रिन्दिवानि, व्यतिकीर्णेषु स्थिरेषु तिष्ठतो लघु पञ्चदश रात्रिन्दिवानि,अस्थिरेषु लघु विंशती रात्रिन्दिवानि,विप्रकीर्णेषु स्थिरेषु लघु विंशती रात्रिन्दिवानि,अस्थिरेषु लघु पञ्चविंशती रात्रिन्दिवानि, एतत्सर्वमपि प्रायश्चित्तं भिक्षोस्तपसा कालेन च लघुकम् । वृषभस्य कालेन गुरुकम्, उपाध्यायस्य तपसा गुरुकम्, आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरुकम् । एतत्प्रत्येकबीजविषयप्रायश्चित्तमुक्तम् ।साधारणबीजेषु त्वेतदेव गुरुकं कर्त्तव्यम् । गुरुपञ्चकादारभ्य गुरुपञ्चविंशतिकान्तमित्यर्थः । श्रमणीनां तु लघुदशरात्रिन्दिवेभ्यः प्रारब्धं लघुमासं तिष्ठति । तत्रापि भिक्षुण्या उभयलघुकम्, अभिषेकायाः कालगुरुकम्,गणावच्छेदिन्यास्तपोगुरुकम्,प्रवर्तिन्या उभयगुरुकम् । एवं प्रत्येकबीजविषयमुक्तम्,अनन्तबीजेषु तु एतद्गुरुदशरात्रिन्दिवेभ्यः प्रारब्धं गुरुमासान्तं वक्तव्यम् । अथवा-भिक्षुप्रभृतीनां चतुर्णामप्यविशेषेणोत्क्षिप्तादिषु चतुर्ष्वपि तपःकालविशेषितं मासगुरुकः, उत्कीर्णेषु तपसा कालेन च लघुकः,विकीर्णेषु कालेन गुरुकः,व्यतिकीर्णेषु तपसा गुरुकः,अनन्तबीजेष्वप्युत्क्षिप्तादिष्वेवं तपःकालविशेषितं मासगुरुकम् । द्विविधा च विराधना—संयमात्मविषया मन्तव्या । तत्र संयमविराधना निर्गच्छन् वा प्रविशन् वा बीजानां सङ्घट्टनं परितापनमपद्रावणं वा कुर्यात् । ये च तदाश्रिताः प्राणिनस्तेषामपि सङ्घट्टनादिकं कुर्यात् । तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अथात्मविराधनां भावयति—

सालि जव अच्छि सालुग, निस्सरणं मासमुग्गमादीसुं ।
सुस्सू गुज्झकुतूहल-विप्पइरण मास निस्सरणं ॥१७॥

तत्र स्थितानां साधूनां शालियवाः शालूकाश्चाक्ष्णोः प्रविशन्तीति प्रविष्टैश्चक्षुषी अनागाढस्य वा अगाढस्य वा परिताप्येते । तथा-माषादिषु विप्रकीर्णेषु गमनागमने विराधना निस्सरणे प्रस्खलनं भवति, ततश्च हस्तभङ्गादयो दोषाः । अत्र दृष्टान्तः—" एगो अगारो चिंतेइ—जइ सुस्सूगाए गुज्झोरगाइ पच्छामि, ताहे मासा आगमणनिग्गमणपहे विप्पकिन्ना, सा तत्थ वच्चन्ती फिसलिया । गलियवसणाइ पडिया"।इदमेवाह 'सुस्सू' इत्यादि श्वश्रूसंबन्धि यद्गुह्यं तदवलोकने यत् कुतूहलं तद्वशान्माषाणां विप्रकिरणं ततस्याः श्वश्रवाः निस्सरणे प्रस्खलनमभवत् । एवं तत्र स्थितानां साधूनामप्यात्मविराधना भवेत् ।

द्वितीयपदमाह—

बिइयपयकारणम्मि, पुव्विं वसभा पमज्ज जतणाए ।
विक्खिरणम्मि वि लहुआ,तत्थ वि आणादिणो दोसा॥१८

द्वितीयपदे-कारणे अध्वनिर्गमनादौ शुद्धोपाश्रयालाभे वा विप्रकीर्णे उपाश्रये तिष्ठन्ति । कथमित्याह-पूर्वं वृषभा दण्डप्रोञ्छनकं गृहीत्वा तत्र गत्वा यतनया यथा तेषां बीजानां परितापनादि न भवति तथा प्रमृज्य ततः सबालवृद्धमपि गच्छमानीय यथालन्दं तिष्ठन्ति । यदि प्रमार्जनायां विविधानां बीजानां विकरणमितस्ततो विक्षेपणं कुर्वते तदा लघुमासः प्रायश्चित्तम्, तत्राऽप्यविधिप्रमार्जने आज्ञादयो दोषाः ।

अथैतदेव स्पष्टयति—

गीया पुरा गंतु समिक्खियम्मि,
थिरे य मज्झे तु महाथिरे वा ।
साहट्टुमेगं तु वसंति लण्हं,
उक्कोसयं जाणिय कारणं वा ॥ १९ ॥

केचिदध्वनिर्गतादयः साधवो विवक्षितग्रामं प्राप्ताः, तत्र च गीतार्थाः पुरतो गत्वा त्रिकृत्वः शुद्धां वसतिं समीक्षन्ते-प्रत्युपेक्षन्ते । यदि तथा समीक्षितं न प्राप्यते तदा शाल्यादिबीजषूत्कीर्णेषु प्रथमं स्थिरसंहननिनः तिष्ठन्ति । तदभावे अस्थिरसंहनानिनः तिष्ठन्ति । तानि च बीजानि यतनया प्रमृज्य एकान्ते संहरन्ति—संस्थापयन्ति, संहृत्य च तत्र जघन्यं वा मध्यमं वा यथालन्दं वसन्ति । कारणं वा अध्वपरिश्रमादिकं ज्ञात्वा उत्कृष्टमपि यथालन्दं वसन्ति । अत्र पाठान्तरम्—' साहट्टुमेगं तु ' त्ति तानि बीजानि संहृत्य तत एकमिति जघन्यं यथालन्दं वसन्ति । शेषं प्राग्वत् । उत्कीर्णानामभावे विकीर्णेषु, तेषामभावे व्यतिकीर्णेषु, तदप्राप्तौ विप्रकीर्णेष्वपि तिष्ठन्ति । तत्रापि प्रथमं प्रत्येकेषु, ततः साधारणेष्वपि अधः क्रमेण तिष्ठन्ति । ततो मासलघु संयतीनामप्येवमेव द्वितीयपदं मन्तव्यम् ।

अह पुण एवं जाणिज्जा, नो उक्खित्ताइं नो विक्खित्ताइं नो विकिन्नाइं नो विप्पकिन्नाइं रासीकडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलियकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहिताणि वा,कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥ २ ॥

अथ पुनरेवं जानीयात्, तानि शाल्यादीनि बीजानि तत्रोपाश्रये नोत्क्षिप्तानि नो विक्षिप्तानि नो विकीर्णानि नो विप्रकीर्णानि किं तु राशीकृतानि वा पुञ्जीकृतानि वा भित्तीकृतानि वा कुलिकाकृतानि वा लाञ्छितानि वा मुद्रितानि वा पिहितानि वा तत एवं कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा हेमन्तग्रीष्मेषु वस्तुम्, इति सूत्राक्षरार्थः ।

अत्र भाष्यम्—

रासीकडा य पुंजे, कुलियकडा पिहितमुद्दिया चेव ।
ठायंतगाण लहुगा, कास अगीतत्थसुत्तं तु ॥ २० ॥

यत्रोपाश्रये राशीकृतानि कुलिकाकृतानि पिहितानि मुद्रितानि चशब्दाद्-भित्तीकृतानि लाञ्छितानि च बीजानि तत्र तिष्ठतां च चतुर्गुरुकाः।कस्य पुनरेतत्प्रायश्चित्तम्, उच्यते-अ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गीतार्थस्य । सूत्रं तु पुनः गीतार्थविषयं द्रष्टव्यमिति वाक्यशेषः। बृ० २ उ०। (अथ राशीकृतादिपदानां व्याख्यानं 'रासि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्।)

अतः—

अगीयस्स न कप्पइ, तिविहं जयणं तु सो न जाणाइ ।
अणुण्णए जयणं, सपक्खपरपक्खजयणं च ॥४४॥

अगीतार्थस्य प्रस्तुतसूत्रविषयभूतं वस्तुं न कल्पते,यतोऽसौ त्रिविधां यतनां न जानीते। तद्यथा-अनुज्ञापनायतनाम्, स्वपक्षयतनाम्, परपक्षयतनां चेति। तिस्रोऽप्येता वक्ष्यमाणस्वरूपाः। परः प्राह—अगीतार्थेनापि तावत्सूत्रमधीतम्, अतः कथमसौ न जानीते? उच्यते-इह सर्वेषामप्यागमानामर्थपरिज्ञानमाचार्यसहायकादेवोपजायते, न यथाकथंचिद्, उक्तं च-"सत्स्वपि फलेषु यद्वन्, न ददाति फलान्यकम्पितो वृक्षः। तद्वत्सूत्रमबुद्ध-रकम्पितं नार्थवद्भवति ॥ १ ॥"।

इदमेवाह—

निउणो खलु सुत्तत्थो,ण हु सक्को अपडिबोधितो णाउं ।
ते सुणह तत्थ दोसे, जे तेसि तहिं वसंताणं ॥ ४५ ॥

निपुणः-सूक्ष्मः खलु सूत्रस्यार्थो भवति, अत एव न शास्त्रस्य वाऽऽचार्येणाप्रतिबोधितः सम्यग् परिज्ञातम्, अतागीतार्थः सूत्रमात्रेण पठितेन न यतनामवबुध्यते अथ तेषामगीतार्थानां तत्र बीजाकीर्णोपाश्रये वसतां ये दोषा भवन्ति तान् शृणुत।

अगीयत्था खलु साहू—णवरिं दोसे गुणे अजाणंता ।
रमणिज्ज भिक्खगामो, ठायंतऽह धण्णसालाए ॥ ४६ ॥

अगीतार्थाः खलु केचन साधवः साधुक्रियासु यताः नवरं केवलं सदोषाया निर्दोषाया वा वसतेरनुज्ञापने दोषान् गुणान् अजानन्तः क्वापि ग्रामे भैक्षं प्रभूतं लब्ध्वा भिक्षया रमणीयोऽयं ग्राम इति कृत्वा अथानन्तरं धान्यशालायां तिष्ठति।

इदमेव स्पष्टतरमाह—

रमणिज्ज भिक्खगामो, ठायामो तहेव वसहिमोसेहि ।
धणधराणुण्णवणा, जति रक्खह देसु तो भंते ॥ ४७ ॥

काश्चदगीतार्थः गच्छे ग्रामानुग्रामिकं विरहन् कमपि ग्रामं संप्राप्तः। तत्र बहिः-देवकुलादौ स्थित्वा भिक्षार्थं पर्यटन् प्रभूतमिष्टं भैक्षं लब्धवान्, ततस्तैः साधुभिः परस्परमुक्तं रमणीयोऽयं ग्रामः, अत इहैव मासकल्पं तिष्ठामः। परं वसतिरद्यापि न गवेषितो, अतस्तं 'झोसेहि' त्ति देशीवचनत्वाद्गवेषयत। ततस्तैर्वसतिं प्रत्युपेक्षमाणैः कस्याप्यगारिणो धान्यगृहं दृष्टम्। ततस्तस्यानुज्ञापना कृता। गृहपतिः प्राह-यदि तदन्तर्मदीयं धान्यगृहं तस्करगवादिभिरपहियमाणं रक्षत ततोऽहं प्रयच्छामि, नान्यथा।

अपि च-

वसही रक्खणविग्गा, कम्मं न करेमो णेव पवसामो ।
णिव्वितो होहि तुमं, अम्हे रत्तिं पि जग्गामो ॥ ४८ ॥

वयमस्या वसतेर्धान्यशालारूपाया रक्षणे विग्नाः सन्तः कृष्यादिकं कर्मापि न कुर्महे, न च सुहृदादिभिरामन्त्रिताः क्वापि विवाहादौ कार्ये ग्रामान्तरे प्रवसामः। ततस्ते अगीतार्थां वसत्यनुज्ञापनाविधिमजानन्तो ब्रुवन्ति, निश्चिन्तस्त्वमत्रार्थे भव, वयं रात्रिमपि प्रहरकेण जागरिष्यामः।

जोतिसणिमित्तमादी, छंदं गणियं च अम्ह साधेत्था ।
अक्खरमादी डिंभे, गाधिस्स व अजतणा सुणणा ॥४९॥

ज्योतिषनिमित्तम्, आदिशब्दादन्यदपि गन्धर्वविद्यादिकम्, तथा छन्दःशास्त्रम्, गणितशास्त्रं वा यद्यस्माकं कथयिष्यथाक्षराणि वा-लिपिविज्ञानम्, तत आदिशब्दाद्-व्याकरणादिकं वा यद्यस्माकम्, डिम्भानि-बालकानि ग्राहयिष्यथ,ततस्तिष्ठन्तु भवन्तः। इत्येवं वसतिस्वामिनोक्ते सति यदि ते अगीतार्थाः तत्प्रतिशृण्वन्ति, आमम् कथयिष्यामो ग्राहयिष्यामो वा इत्यनुमन्यन्ते, ततोऽनुज्ञापनया अयतना कृता भवति।

तत्र चामी दोषाः—

अणुण्णवण अजतणा, एए सागारिए घरे चेव ।
तेसिं पि य वीयत्तं, सागारियवज्जियं जातं ॥ ५० ॥

एवमयतना अनुज्ञापनया, तत्र तेषु स्थितेषु सागारिकश्चिन्तयति, एते साधवस्तावन्मदीयं धान्यगृहं रक्षन्ति। अतः अस्मादहं स्वजनादिकार्येण गच्छामीति परिभाव्य कुत्रचिद् ग्रामादौ प्रवसति। प्रोषिते च तस्मिन् गृह एव वा निश्चिन्ततया धान्यानां व्यापारमवहमाने तेषामपि संयतानां प्रीतिकं भवति। साधुः सागारिकवर्जितं जातम्।

अस्या एव गाथायाः पूर्वार्द्धं व्याचष्टे—

तेसु ठिएसु पउत्थो, अत्थंतो वाऽवि ण वहती तत्तिं ।
जति वि य परिसितुकामो,तह वि य ण व एति अतिगंतुं।५१

तेषु-संयतेषु स सागारिको निश्चिन्ततया प्रोषितो गृहे वा तिष्ठन् धान्यानां तप्तिं व्यापारं न वहति। यद्वा-धान्यं संलाभयितुं यद्यप्यसौ तत्र प्रवेष्टुकामः तथापि न गन्तुं—न प्रवेष्टुं शक्नोति।

कुत इति चेदुच्यते-

संथारएहि य तहिं, समंततो आभिकिण्ण विइकिण्णं ।
सागारितो ण एती, दोसे य तहिं ण जाणाति ॥५२॥

संस्तारकैस्तत्रोपाश्रये समन्ततः आभिकीर्णं परिपाट्या प्रसृतमालतम्, व्यतिकीर्णं तैरेवानुपूर्व्या प्रभूतैर्व्याप्तं दृष्ट्वा सागारिको नैति-न आगच्छति, तता य तत्र धान्यपरिशटनादयो दोषास्तानसौ न जानीते। गता अनुज्ञापनया अयतना।

अथ संयतलक्षणविषयां यतनामाह—

ते तत्थ सण्णिविट्ठा, गेहिय संथारगा जहिच्छाए ।
णाणादेसी साधू, कासइ चिंता समुप्पण्णा ॥ ५३ ॥

ते अगीतार्थास्तत्रोपाश्रये संनिविष्टाः-स्थिताः यदृच्छया च तैस्तत्र संस्तारका गृहीताः, न गणावच्छेदकेन, यथा रत्नादिकं प्रदत्ता इति भावः। नानादेशीयाश्च तत्र साधवस्तेषां मध्ये 'कासइ' त्ति कस्यचिच्छन्दधर्मणः चिन्ता समुत्पन्ना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथाऽऽह—

अणुहूया धम्मरसा, णवरं मोत्तूण सेडगतिलाणं ।
काहामि कोउहल्लं, पासुत्तेसुं समारद्धो ॥ ५४ ॥

अनुभूतास्तावदपरेषां धान्यानां रसाः, नवरं 'सेडगतिलाणं' ति श्वेतकतिलानां रसं मुक्त्वा, अत एव तद्विषयं कौतुकमभिलाषं करिष्यामि, पूरयिष्यामीत्यर्थः । एवं विचिन्त्य शेषसाधुषु प्रसुप्तेषु समारब्धवाँस्तान् तिलान् भक्षयितुम् ।

ततश्च—

विगयम्मि कोउहल्ले, छट्ठव्वतविराहण त्ति पडिगमणं ।
वेहाणस ओहाणे, गिलाण सेहेण वा दिट्ठो ॥ ५५ ॥

विगते-व्यतीते सति कौतुके षष्ठव्रतस्य विराधना मा भूत्, एकव्रतभङ्गे च सर्वव्रतभङ्ग इति कृत्वा प्रतिगमनं-भूयोऽपि गृहवासाश्रयणं कुर्यात्। वैहायसं—विरमणमभ्युपगच्छेत्, अवधावनं संविग्नविहारं कुर्वीत पार्श्वस्थादिविहारमाद्रियेत इत्यर्थः। अथवा-स संयतस्तिलभक्षणं विदधानो ग्लानो वा शैक्षेण वा दृष्टो भवेत् ।

ततश्च—

दट्ठूण वा गिलाणो, खुधितो भुंजेज्ज जा विराधणता ।
एमेव सेहमादी, भुंजे अप्पच्चयो वासिं ॥ ५६ ॥

तं साधुं तिलान् भक्षयन्तं दृष्ट्वा ग्लानः क्षुधितः सन् तान् तिलान् भुञ्जीत, ततश्चापथ्यसेवनतया तस्य परितापनादिका विराधना, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । एवमेव शैक्षादयोऽपि तं तिलान् भुञ्जानं दृष्ट्वा तथैव भुञ्जीरन् । अप्रत्ययो वा तेषां भवेत्, यथैतन्मृषा तथाऽन्यदप्यमीषामेवंविधमिति ।

उड्डाहं च करेज्जा, विप्परिणामो व होज्ज सेहस्स ।
गेण्हंतेण व तेणं, सव्वो भुंजो समारद्धो ॥ ५७ ॥

स शैक्षस्तं तिलान् भक्षयन्तं विलोक्य परापरजनेभ्यः कथयन् उड्डाहं कुर्यात्, विपरिणामो वा शैक्षस्य भवेत्, विपरिणतश्च सम्यक्त्वं चारित्रं लिङ्गं वा परित्यजेत् । तेन च साधुना गृह्णता भक्षयता सर्वोऽपि तिलपुञ्जः खादितुं समारब्धः ।

ततश्च—

फेडिय मुद्दा तेणं, कज्जे सागारियस्स अतिगमणं ।
केण इमं तेणेहिं, तेणाणं आगमो कत्तो ॥ ५८ ॥

तिलपुञ्जस्य या छगणलेपादिना मुद्रा कृताऽसीत् सा तेन तिलान् भक्षयता स्फेटिता—अपनीता, तत्र क्वचित्कार्ये सागारिकस्य—शय्यातरस्यातिगमनं प्रवेशो भवेत्। दृष्टश्च तेन खण्डितस्तिलपुञ्जः । ततः पृष्टं केनेदं धान्यं विलुप्तम् ?, साधवो भणन्ति स्तेनैः । सागारिकः प्राह-स्तेनानामागमनं कुतो मद्गृहे संजातो येनास्माभिर्न ज्ञात इति । तेन सागारिकेण चेतसि निश्चितम्-नूनमेतैरेव भुक्तमिदं धान्यमिति । स च भद्रको वा स्यात्, प्रान्तो वा ।

भद्रकस्तावदिदं ब्रूयात्—

इहरह वि ताव अम्हं, भिक्खं व बलिं च गिण्हह ण किंचि ।
एण्हिं खु तारिओ मी, गिण्हह छंदेण जो अट्ठो ॥ ५९ ॥

इतरथाऽपि च अस्माकं गृहे भिक्षां वा बलिं वा देवतानिवेदनमुद्धरितं न गृह्णीथ, अत इदानीं संसारसागरात्तारितोऽस्म्यहम्, अन्येनापि येन भवतामर्थः—प्रयोजनं तद्भगवन्तः छन्देन-स्वेच्छया गृह्णीध्वम् ।

लहुगा अणुग्गहम्मि य, अप्पत्तिग धम्मकंचुए गुरुगा ।
कडुगफरुसं भणंते, छम्मासा करभरे छेदो ॥ ६० ॥

यद्येवं भद्रकोऽनुग्रहं मन्यते तदा चतुर्लघवः । अथ प्रान्तोऽसौ ततोऽप्रीतिकं कुर्यात्, एते धर्मकञ्चुकप्रविष्टा लोकं मुष्णन्ति एवमप्रीतिके चतुर्गुरवः । अथासौ कटुकपरुषम्-चौरस्त्वं धिग् मुण्ड ! दुरात्मन्नित्यादि वचनं भणन्ति तदा षड्गुरवः । अथैवं ब्रूयात्—आहारे करभरभग्नैरस्माभिरिदानीं श्रमणकरो वोढव्यः तदा छेदः प्रायश्चित्तम् ।

मूलं सइज्झएसुं, अणवट्ठप्पो तिए चउक्के य ।
रत्थामहापहेसु य, पावति पारंचियं ठाणं ॥ ६१ ॥

'सइज्झका' नाम सहवासिनः प्रातिवेश्मिका इत्यर्थः, तैः परिज्ञातं यथा श्रमणैर्धान्यं स्तैन्येन भक्षितं ततो मूलम् । अथ त्रिकेषु वा चतुष्केषु वा साधूनां स्तेनवादः प्रसरमुपगतः ततोऽनवस्थाप्यम् । अथ रथ्यासु पथि वा स्तैन्यापयशः समुच्छलितं ततः पाराञ्चिकं स्थानं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति ।

अथ कटुकपरुषकरभरपदानि व्याचष्टे—

चोरि त्ति कडुय दुम्मुं-डितो त्ति फरुसं हओ त्ति पव्वइओ।
समणकरो वोढव्वो, जातो म्हेकरभरहताणं ॥ ६२ ॥

चौरस्त्वमित्यादि वचनं कटुकम्, यत्तु दुर्मुण्ड इति वा हतोऽसि प्रव्राजित इति वा वचनं तत्परुषं मन्तव्यम्, तथा स शय्यातरो ब्रूयात्—अस्माकं करभरहतानां संप्रति श्रमणानां करो वोढव्यः संजातः । एषा स्वपक्षविषया अयतनाऽभिहिता ।

अथ परपक्षविषयामयतनामाह—

परपक्खम्मि अजयणा, दारे उ अवंगुतम्मि चउलहुगा ।
पिहणे वि होंति लहुगा, जं ते तसपाणघातो य ॥ ६३ ॥

मनुष्यगवादयो ये असंयतास्ते परपक्षास्तद्विषया अयतना भाव्यते । इह कोलिकादि जीवविराधनाभयाद्यदि द्वारमपावृतं करोति; न स्थगयतीत्यर्थः ततश्चतुर्लघवः । अथ द्वारस्य पिधानं कुर्वन्ति तदाऽपि चतुर्लघु । यन्त्रे 'च' तदाकारके वा संचारिमाणामुद्देहिकादीनां त्रसप्राणिघातो भवति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

गोणे य साणमादी, वारणलहुगा य जं च अधिकरणं ।
खरए य तेणए य, गुरुगा य पदेसओ जं च ॥ ६४ ॥

अपिहिते द्वारे गौः प्रविष्टो धान्यं भक्षयेत्, श्वानो वा आदिशब्दान् मार्जारो वा प्रविश्य धान्यं विकिरेत्, 'वारण'त्ति ते च यदि वार्यन्ते तदा चतुर्लघवः, ते च वारिताः प्रतिनिवृत्त्य व्रजन्तो हरितमर्दनारूपं यदधिकरणं कुर्वन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। चशब्दादन्तरायं च तेषां कृतं भवति। तथा शय्यातरस्य यद् क्षरकम्-दासदासीरूपम्, ये च स्तेनका धान्यं हर्तुकामा ते यदि वार्यन्ते तदा चतुर्गुरुकाः, ते च वारिताः प्रद्विषतो यदभ्याख्यानपरितापनादिकं करिष्यन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेसि आवारणे लहुगा , गोसे सागारियस्स सिट्ठम्मि ।
लहुगा य जं च रुट्ठो, ऽसिट्ठे संकापदं जं च ॥ ६५ ॥

अथैतद्दोषभयात्तेषां द्धयत्तरकादीनां वारणं न करोति, तदा चतुर्लघवः ते वारिताः सन्तः प्रविश्य धान्यं भक्षयेयुरपहरेयुर्वा ततो यदि गोसे-प्रत्यूषे सागारिकस्य कथयन्ति यथाऽमुकेनामुकेन रात्रौ धान्यमपहृतं ततश्चतुर्लघुकानि । शिष्टे कथिते सति स रुष्टः सन् यद्धयत्तरकादीनां परितापनादि यतो बन्धनघातनं च विशेषतः करिष्यति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । न कथयन्ति ततश्चतुर्लघुकाः । तच्च साधूनामुपरि शङ्कापदं शय्यातरः करोति नूनमेतैरपहृतं यदेवं न कथयन्ति तत्र चतुर्लघु । निःशङ्किते चतुर्गुरु ।

गवादीनां वारणे दोषानुपदर्शयति—

तिरियनिवारण अभिहणण-मारणं जीवघातँ णासंतो ।
खरिया छोभविसागणि-खरएयं तावणादीया ॥ ६६ ॥

गवादीनां तिरश्चां निवारणे शृङ्गादिना संयतानामभिघातो मारणं वा भवेत् , तेन च निवारिता नश्यन्तो जीवानामभिहननं विनाशनं च कुर्युः । द्धयत्तरिका च निवारिता संयतानां क्षोभमभ्याख्यानं दद्यात् ; एष श्रमणो मां प्रार्थयते , विषं वा दद्यात् , वसतिं वा अग्निना प्रज्वालयेत् । द्धयत्तरको वा प्रद्विष्टः प्रतापनादिकं कुर्यात् ।

अथ स्तेनका येन कारणेन धान्यमपहरन्ति तदाह—

आसन्नो य छणोसवो , कज्जं पि य तारिसेण धण्णेणं ।
तेणाण य आगमणं, अच्छह तुण्हिक्का तेणा ॥६७॥

क्षणकः दैवसिक उत्सवः बहुदैवसिको वा, क्षणयुक्त उत्सवः क्षणोत्सवः; शाकपार्थिवादित्वान्मध्यपदलोपी समासः, क्षण उत्सव इत्यर्थः । स स्तेनानां प्रत्यासन्नो वर्त्तते । तत्र च तेषां तादृशेन धान्येन कार्यमस्ति । ततस्तेनानामागमनम् , ततश्च गीतार्थाः भणन्ति , भदन्त ! स्तेनाः समायाताः सन्ति अतस्तूष्णीकास्तिष्ठत । न कल्पते साधूनामेवं ज्ञातुम् अयं चोरक इति । अथवा—संयतैः स्तेना आयाताः सन्तीत्युक्ते स्तेना ब्रुवते-संयताः ! तूष्णीकास्तिष्ठत अन्यथा युष्मान् , अपद्रावयिष्यामः ।

एवमुक्तास्तैः किं कर्तव्यमित्याह—

गहियं च तेहि धण्णं, घेत्तूण गता जहिंसि गंतव्वं ।
सागारिओ य भणती,सउणी वि ति रक्खती णेड्डं॥६८॥

गृहीतं च तैः स्तेनकैर्धान्यम् , गृहीत्वा च ते गतास्तत्रस्थानं यत्र तेषां गन्तव्यम् । सागारिकश्चात्मीयकार्येण प्रभाते समागतो मुद्राभेदं दृष्ट्वा भणति-भगवन् ! शकुनिकाऽपि पक्षिण्यपि तावदात्मनो नीडमाश्रयं रक्षति , भवद्भिः पुनरेतदपि न रक्षितमिति भावः ।

रासी ऊणे दट्ठुं, सव्वं णीतं व धण्णखेरिं वा ।
केण इमं तेणेहिं, ऽसिट्ठे भद्देतर इमं तु ॥ ६९ ॥

सन्-सागारिकस्तत्र धान्यराशी ऊनान्-तुच्छान् दृष्ट्वा सर्वं धान्यं नीतमपहृतं विलोक्य, यद्वा-धान्यस्य खेरिं परिशाटिं दृष्ट्वा पृच्छति-केनेदमपहृतम् ? साधवो ब्रुवते-स्तेनैः । स भूयः पृच्छति, के पुनः स्तेनाः ?, ततो यदि नाम्ना वर्णेन वयसा वा निर्दिश्य कथयन्ति ततः स्तेनानां ग्रहणाकर्षणादयो दोषाः । अशिष्टे-अकथिते एतैरेव हृतमिति शङ्का स्यात् , तत्र भद्रकेतरदोषा भवन्ति । यद्यसौ सागारिको भद्रकः तदा अनुग्रहं मन्येत । अथेतरः प्रान्तस्ततोऽप्रीतिकादयो दोषाः ।

तेषु च भद्रकप्रान्तदोषेष्विदं प्रायश्चित्तम्—

लहुगा अणुग्गहम्मि, गुरुगा अप्पत्तियम्मि कायव्वा ।
कडुगफरुसं भणन्ते, छम्मासा करभरे छेदो ॥ ७० ॥
मूलं सएज्झएसुं, अणवट्टप्पो तिए चउक्के य ।
रत्थामहापहेसु य, पावति पारंचियं ठाणं ॥ ७१ ॥

गाथाद्वयस्य व्याख्या प्राग्वत् ।

एगमणेगे छेदो, दियरातो विणास गरहमादीया ।
जं पाविहिँति विद्धणि-ग्गतादी वसधिं अलभमाणा७२

सागारिकः प्रद्विष्टः सन्नेकेषां-तेषामेवानेकेषां वा-सर्वसाधूनां वा, यद्वा-एकस्य द्रव्यस्यानेकेषां वा तद्द्रव्यान्यद्रव्याणां व्यवच्छेदं विदध्यात् । अथवा-दिवा निष्काशयति चतुर्लघु, रात्रौ निष्काशयति चतुर्गुरु, निष्काशिताश्च स्तेनश्वापदादिभिर्विनाशं लोकाद्वा गर्हामासादयन्ति, एते स्तेना इति कृत्वा निष्काशिताः । आदिग्रहणेन ग्रहणाकर्षणादयो दोषाः । यच्च व्यध्वम्-अध्वतो विनिर्गताः, आदिशब्दाद्-अशिवादिनिर्गता वा तदीयदोषेण वसतिमलभमाना आत्मविराधनादिकं प्राप्स्यन्ति तान्निष्पन्नम् । एते अगीतार्थानां दोषा उक्ताः ।

अथ गीतार्थानधिकृत्य विधिमाह—

गीयत्थेसु वि एवं, णिक्कारणा कारणे अजतणाए ।
कारणे कडजोगिस्स, कप्पति तिविहाएँ जतणाए॥७३॥

गीतार्था अपि यदि निष्कारणं धान्यशालायां तिष्ठन्ति, कारणे वा स्थिता यतनां न कुर्वन्ति, ततस्तेष्वप्येवमेव दोषाः । अथ कृतयोगी गीतार्थः कारणे तिष्ठति तदा तस्य त्रिविधया यतनया अनुज्ञापनादिविषयया वक्ष्यमाणया तत्र स्थातुं कल्पते ।

इदमेव स्पष्टतरमाह—

निक्कारणम्मि दोसा, पडिबंधे कारणम्मि निद्दोसा ।
ते चेव अजतणाए, पुणो वि सो लग्गती दोसे ॥७४॥

धान्यप्रतिबद्धे गृहे निष्कारणे तिष्ठतामेते दोषा मन्तव्याः । कारणे तु यतनया तिष्ठन्तो निर्दोषाः।अथ कारणे स्थितो यतनां न करोति ततस्ते एव पूर्वोक्ता दोषाः लगन्ति ।

किं पुनस्तत्कारणमित्याह—

अद्धाण निग्गतादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असतीए ।
गीतत्था जतणाए, वसंति तो धण्णसालाए ॥ ७५ ॥

अध्वनिर्गतादयस्त्रिकृत्वः-त्रीन् वारान् विशुद्धां वसतिं मार्गयित्वा यदि न प्राप्नुवन्ति तदा गीतार्था यतनया धान्यशालायां वसन्ति ।

तामेव यतनामाह—

तुसधन्नाइं जहि यं, णिप्पडिपरिसाडियाइँ वा होंति ।
तेसुं पढमं ठायति, तेसऽसती दंतखज्जेसुं ॥ ७६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

येषूपाश्रयेषु तुषधान्यानि व्रीहियवादीनि निष्परितानि पारेशटितानि वा भवन्ति, तेषु प्रथमतस्तिष्ठन्ति । तेषामभावे यत्र वृन्तखाद्यानि तिलादीनि धान्यानि तत्र तिष्ठन्ति, तिष्ठतां यदि वसतिस्वामी ब्रूयात्—यूयमस्मद्बालकानां वैद्यज्योतिषादिकमक्षरादिविज्ञानं वा कथयिष्यथ गृहादिकं च रक्षिष्यथ ततो वसतिं प्रयच्छाम इति ।

तत्र साधुभिर्वक्तव्यम्—

न वि जोइसं ण गणियं, ण अक्खरे ण वि य किंचि रक्खामो ।
अप्पस्सगा असुणगा, भायणखंभोवमा वसिमो ॥ ७७ ॥

वयं नापि ज्योतिषं न गणितं नाक्षराणि शिक्षयामः, न वा जानीमः, नापि किंचिद् गृहादिकं रक्षामः, किं तु-भाजनस्तम्भोपमा वसामः । यथा भवतां भाजनं स्तम्भकुड्यादीनि सौख्यदौस्थ्यव्यापारं न वहन्ति; एवं वयमपि भवद्भिर्मन्तव्याः । अत एव गृहे कस्यापि कार्यस्याधिपत्तिं पश्यन्तोऽप्यपश्यकाः । यदा च कोऽपि ब्रूयात्-इदं शय्यातरस्य कथयत, तदा वयं शृण्वन्तोऽप्यश्रोतारो मन्तव्याः ।

यद्येवमभ्युपगच्छन्ति तदा स्थातव्यम्, अत एवाह—

निक्कारणम्मि एवं, कारणे दुलभे भणंतिमं वसभा ।
अम्हे वि तेल्लगच्चिय, यधापवत्तं च इह तुज्झे ॥ ७८ ॥

निष्कारणे भावे एवं तिष्ठन्ति । अथ अशिवादौ कारणे शुद्धा वसतिर्दुर्लभा ततो धान्यशालायां तिष्ठन्ति, इत्थं साधारणवचनं वृषभाः भणन्ति, वयं तावदत्र स्थिताः, एवं यूयमपि यथाप्रवृत्तं दिवसदैवसिकं व्यापारं वहथ । एषा गता अनुज्ञापना यतना ।

अथ स्वपक्षयतनामाह—

आमं ति अब्भुवगते, भिक्खवियारादिणिग्गतमियेसु ।
भणति गुरू सागरियं, णाउं जे कज्ज किं धन्नं ॥७९॥

आममित्यनुमतार्थद्योतकम्, एवं यदि सागारिकेणानुमतं मम निष्प्रत्युपकारिणो भूत्वा यूयं तिष्ठत, ततस्तत्र स्थातव्यम् । स्थितानां च तत्रायं विधिः-ये सर्वेऽपि मृगा अगीतार्था भिक्षायां विचारभूम्यादौ वा निर्गता भवन्ति; तदा गुरुराचार्यः सागारिकमन्यव्यपदेशेन भणति, किमर्थमित्याह—तत्र किं धान्यं वर्तत इति ज्ञातुम् । 'जे' इति पादपूरणे ।

सालीणं वीहीणं, तिलकुलत्थाण मुग्गमासाणं ।
दिट्ठ मए सण्णिचया, अन्ने देसे कुडुंबीणं ॥ ८० ॥

शालीनां व्रीहीणां तिलकुलत्थानां-मुद्गानां माषाणां च सन्निचया अन्यस्मिन् देशे कुटुम्बिनां गृहेषु मया दृष्टाः ।

एवं च भणिय मित्त-म्मि कारणे सो भणामि आयरियं ।
अत्थि महं सण्णिचया, पेच्छह णाणाविहे धन्ने ॥ ८१ ॥

एवं चाऽऽचार्येण भणितमात्रेऽपि स सागारिकः कथनकारणे क्रमप्राप्ते सत्याचार्यं भणति, भगवन् ! सन्ति मे बहवः सन्निचयाः, पश्यत-मानादिधान्यानि । एवं ब्रुवन् हस्तसंज्ञया निर्दिशति, यथा अत्र शालयः सन्ति, अत्र गोधूमाः, अत्र तिला इत्यादि ।

उवलक्खिया य धन्ना, संथाराणं जहाविधिग्गहणं ।
जो जस्स उ पाउग्गो, सो तस्स तहिं तु दायव्वो ॥८२॥

आचार्येणोपलक्षितानि तानि धान्यानि, ततः संस्तारकाणां यथाविधि-यथारत्नाधिकं ग्रहणे प्राप्तेऽपि तत्र स भूयश्चौत्पत्तिकीं सामाचारीं स्थापयति, कथमित्याह—यो यस्य—शैक्षग्लानादेर्गीतार्थादेर्वा धान्यस्य दूरे अदूरे वा यत्र संस्तारकप्रायोग्यः स तस्य तत्रावकाशे दातव्यः ।

निक्खमपवेसवज्जण, दूरे य अभाविया तु धन्नाणं ।
धन्नंतेण परिणता, चिलिमिलि दिवरत्तसुन्नं तु ॥८३॥

यत्र सागारिको धान्यग्रहणार्थं निष्क्रामति प्रविशति वा तमवकाशं वर्जयित्वा साधुभिरासितव्यम्, ये वा पुनरभाविताः-अगीतार्थास्ते धान्यानां दूरे स्थाप्यन्ते, परिणताः-धर्मश्रद्धालवः स्थिरचेतसश्च ते धान्यान्तेन पार्श्वेन क्रियन्ते, धान्यानां वाऽपान्तराले चिलिमिलिका दातव्या । गीतार्थपरिणामकैश्च दिवा च रात्रौ चाशून्यं कर्त्तव्यम् ।

ते तत्थ सण्णिविट्ठा, गहिया संथारगा विहीपुव्वं ।
जागरमाण वसंती, सपक्खजतणाएँ गीयत्था ॥ ८४ ॥

ते साधवस्तत्रोपाश्रये सन्निविष्टाः सन्तः स्वाध्यायादिकं कुर्वन्तीति वाक्यशेषः । तैश्च संस्तारकविधिपूर्वं यथा पूर्वोक्ता दोषा न भवन्ति तथा गृहीताः-गृहीतार्थाः स्वपक्षयतनायै स्वपक्षविषयरक्षार्थं जाग्रतः-सजागरा वसन्ति-स्वपन्ति ।

ठाणं वा ठायंती, णिसज्ज अहवा सजागर सुवंति ।
बहुसो अभिद्दवंते, वयणमिणं वायणं देमि ॥ ८५ ॥

यथा दृढसंहननास्ते स्थानं तिष्ठन्ति; कायोत्सर्गं कुर्वन्तीत्यर्थः । अथवा-'निसिज्ज' त्ति निषण्णास्ते सूत्रार्थमनुप्रेक्ष्यमाणास्तिष्ठन्ति, यश्च शैक्षादिपरिणतस्तेषां धान्यराशीनां समीपे व्रजति तत्र गुरवो वृषभा वा सजागराः स्वपन्तस्तथा काशितादिशब्दं कुर्वन्ति, यथाऽसौ प्रतिनिवर्तते । अथासौ बहुशो भूयोऽपि द्रवति ततो गुरुभिः सामान्यत इदं वचनं वक्तव्यम्-आर्याः! उत्तिष्ठत येन युष्मभ्यं वाचनां प्रयच्छामि, यद्वा-तमेव साधुं भणन्ति । आर्य ! तुभ्यमहं वाचनां प्रयच्छामि ।

फिडियं धन्नट्ठिं वा, जतणा वारेंति न उ फुडं बेंति ।
माणं सोहीं अन्नो, णिच्छंको होज्ज गमणादी ॥ ८६ ॥

फिट्टन्ति दिग्मूढतया द्वारात्परिभ्रष्टं धान्यार्थिनं वा धान्यभक्षणेऽभिलाषिणं साधुं यतनया वारयन्ति, न पुनस्तस्य संमुखं स्फुटं रूक्षवचनं ब्रुवते । कुत इत्याह-मां स्फुटमभिधीयमानमन्यः श्रोष्यति स च श्रुत्वा अन्येषां कथयेत्ततश्च परम्परया सर्वैरपि साधुभिर्ज्ञात—निःशङ्को निर्लज्जो भवेत्, यद्वा—ज्ञातोऽस्म्यहमिति लज्जया गमनवैहासादीनि विदध्यात् ।

कथं पुनर्वारयन्ति इत्याह-

दारं न होइ एत्तो, णिद्दामत्ताणि पुंछ अच्छीणि ।
भण जं च संकियं ते, गिण्हह वेरत्तियं भंते ॥ ८७ ॥

यः—स्फिटितो धान्यार्थी वा साधुः स वक्तव्यः । आर्य ! यत्र भवान् गच्छसि, इतो द्वारं न भवति, निद्राप्रमत्ते वाऽ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रिणी प्रोञ्छ हस्तेन परिस्पृशोन्मीलयेत्यर्थः । यच्च किमपि ते सूत्रेऽर्थे वा शङ्कितं तदस्माकमग्रे भण, ते निःशङ्कि-तं कुर्महे । अन्ये साधवो वक्तव्याः, भवन्त ! आर्याः ! गृह्णीध्वं वैरात्रिकालं येन स्वाध्यायः क्रियते । गता स्वपक्षयतना ।

अथ परपक्षयतनामाह—

परपक्खम्मि वि दारं, पिहंति जतणाए दो वि वारेंति ।
तहऽवि य अठायमाणे, उवेह पुट्ठा व साहिंति ॥ ८८ ॥

परपक्षे—गोश्वानमार्जारादौ प्रतिश्रयं प्रविशति यतन-या द्वारं पिदधते । अथ द्वारं पिधातव्यं न भवति ततो द्वावपि-तिर्यग्मनुष्यौ, दासो दासी वा, स्त्रीपुरुषौ वा, आक्रान्तिकानाक्रान्तिकौ स्तेनौ वा, प्रविशन्तौ निवारय-न्ति । यदि तथापि न तिष्ठन्ति- धान्यग्रहाणोपरमन्ते त-त उपेक्षां कुर्वन्ति, तूष्णीकास्तिष्ठन्तीति भावः । सागारि-केण च केनेदं धान्यमानीतमिति पृष्टाः सन्तः कथयन्ति ; अमुकेनामुकया वा, इति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीपुराह—

पेहियमपज्जियाणं, उवओगं काउ सणिय ढक्केंति ।
तिरियणर दोन्नि एते, खरखरि पुंथी णिसिट्ठितरो ॥८६॥

चक्षुषा प्रत्युपेक्ष्य, रजोहरणेन प्रमृज्य, शनैर्यथा जीवानां विराधना न स्यात्तथा द्वारं ढक्कयन्ति-स्थगयन्ति । अथ तदानीमचक्षुर्विषयं तत्र श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैरुपयोगं कृ-त्वा द्वारपिधानं कुर्वन्ति । तथा द्वौ नाम-तिर्यङ्नरौ, अथ-वा-खरो-दासः खरिका-दासी एते, यद्वा-पुरुषः स्त्री, अथवा-निसृष्ट इतरश्चानिसृष्टः, निसृष्टो नाम—यस्य श-य्यातरेण प्रवेशोऽनुज्ञातः ।

गेण्हंतेसु य दोसु वि, वयणमिणं तत्थ वेंति गीयत्था ।
अहुगं खेसि च धण्णं, किं पगतं होहिती कल्लं ॥ ६० ॥

स्त्रीपुरुषादरूपयोः द्वयोरपि धान्यं गृह्णानयोर्गीता-र्था इदं वचनं ब्रुवते-भो भद्र ! पिधानमद्य धान्यं नयसि किं कल्ये प्रकृतं-प्रकरणं भविष्यति ।

नीसट्ठेसु उवेहं , सत्थेण व नासिताउ तुणिहक्का ।
बहुसो भणंति महिलं,जह तं वयणं सुणइ अण्णो ॥६१॥

निसृष्टा आक्रान्तिकस्तेना ये बलादपि हरन्ति; तेषु स-मागतेषु उपेक्षां कुर्वन्ति, तूष्णीकास्तिष्ठन्ति । अन्यथा—खड्गादिना शस्त्रेण नाशिताः सन्ति । महिलां वा भणन्ति यथा तद्वचनम् अन्योऽपि शृणोति ।

इदमेव व्यक्तीकरोति—

साहूणं वसहीए, रत्तिं महिला ण कप्पती गंती ।
बहुगं व खेसि धण्णं, किं पाहुणगा विकालो य ॥६२॥

साधूनां वसतौ रात्रौ महिला-स्त्री न कल्पते, संप्रति आ-गच्छन्ती त्वं च बहुिदं धान्यं गृह्णासि । किं प्राघूर्णकाः समायाताः, तेनेदानीं ग्रहीतुमवसर इति । विकालश्च संप्रति वर्तते ।

तेणेसु णिसट्ठेसुं , पुव्वावररत्तिमल्लियंतेसुं ।
तेण वियरक्खणट्ठा, वयणमिणं वेंति गीयत्था ॥६३॥

निसृष्टेषु-आक्रान्तिकेषु स्तेनेषु पूर्वरात्रमपररात्रं वा त-ल्लीयमानेषु स्तेनेभ्यः सकाशाद्बीजानां रक्षणार्थं गीतार्थाः उच्चशब्देनेदं वचनं ब्रुवते ।

किं तदित्याह—

जागरह णरा निच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
जो सुवति ण सो धण्णो,जो जग्गति सो सया धण्णो ॥६४॥

भो नराः ! नित्यं जाग्रत-जाग्रतास्तिष्ठत यतो जाग्रतो बुद्धिः सूत्रार्थानुप्रेक्षादिना वर्द्धते । अत एव यः स्वपिति नासौ ध-न्यो ज्ञानादिधनार्हः । यस्तु जागर्ति स सदा धन्यः ।

सीतंति सुवंताणं, अत्था पुरुसाण लोगसारत्था ।
तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोराणयं कम्मं ॥ ६५ ॥

स्वपतां पुरुषाणामर्था ज्ञानादयो लोकसारार्थाः त्रैलोक्यप्र-धानप्रयोजनभूताः सीदन्ति-हानिमुपगच्छन्ति । यत एवं त-स्मात् जाग्रतः सन्तः पुरातनकर्म विधूनयत ।

विसुरति सुवँतस्स सुतं, संकितखलियं भवे पमत्तस्स ।
जागरमाणस्स सुतं, थिरपरिचितमप्पमत्तस्स ॥ ६६ ॥

स्वपतो-निद्रायमाणस्य श्रुतमाचाराङ्गादिकं 'विसुरति' वि-स्मरति,प्रमत्तस्य-विकथादिप्रमादनिमग्नस्य शङ्कितं किमत्र प्र-देशे इदमालाप्यमिदमर्थमिदं वा भवत्युत नेति,संशयक्रोडीकृ-तम्, स्खलितं वा भवति,न परावर्तयतः शीघ्रमागच्छति, किं-तु-संस्मरणेनेति भावः । जाग्रतस्तु विकथादिप्रमादेनाप्रमत्त-स्य श्रुतं स्थिरपरिचितं भवति । स्थिरं नाम—नितान्तम-विस्मरणधर्मकम्, परिचितं नाम--परावर्त्यमानं क्रमेणो-त्क्रमेण वा समागच्छति, श्रुतं वा समाप्तिं याति ।

नालस्सेण समं सुक्खं, न विज्ञा सह निद्दया ।
न वेरग्गं ममत्तेणं, नारंभेण दयालुया ॥ ६७ ॥

नालस्येन समं सौख्यम्, वैराग्यं न ममत्वेन, साऽऽरम्भेण न दयालुतेति ।

अपि च—

जागरिया धम्मीणं, अहम्मियाणं च सुत्तया सेया ।
वत्थाहि व भगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥६८॥

धार्मिकाणां जागरिका श्रेयसी, अधार्मिकाणां तु सुप्तता श्रेयसी । एवं विधवाधिपस्य शतानीकनृपतेर्भगिन्या जय-न्तीनामिकाया जिनो वर्द्धमानस्वामी कथितवान् । अत्र क-थानकम्--" वच्छा जणवए कोसंबीनयरीए सयाणीओ राया । तस्स जयंती नाम भगिणी परमसाविया । अन्नया त-त्थ भगवं वद्धमाणसामी समोसढो । जयंती हट्ठा निग्गया भगवंतं वंदित्ता पुच्छइ-सुत्तया भंते ! मया जागरिया वा । भगवया वागरियं । जयंती ! धम्मियाणं जागरिया मया, न सुत्तया । अधम्मियाणं तु सुत्तया मया, न जागरिया । एवं पन्नत्तीए आलावगा भणिया "। (ते च 'जयंती' शब्दे ४ भागे दर्शिताः)

किं च—

सुयइ य अयगरभूओ, सुतं च से नासई अमयभूयं ।
होहिइ गोणब्भूओ, नट्ठम्मि सुए अमयभूए ॥ ६६ ॥

स खलु अजगरभूतः संज्ञाश्रन्तो-निर्भरः स्वपिति नान्यः । तस्यैवं स्वपतः श्रुतमप्यमृतभूतं माधुर्यादिभिर्गुणैः सुधा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहोदरं नश्यति, नष्टे च श्रुतेऽमृतभूते गोभूता-बलीवर्द-कल्पाऽसौ भविष्यति, एवमादीनि वाक्यानि गीतार्थास्तत्र महता शब्देनोद्घोषयन्ति ।

यद्येवमुपरताः स्तेनास्ततो लष्टम् । अथ नोपरतास्ततः किं कर्तव्यमिति आह—

तासेतूणं ऽवहिते, अवेति ऽपहिते व गोसे˘ साहेंति ।
जाणंता वि य तेणं, साहेंति ण वसरूवेणं ॥ १०० ॥

यद्याक्रान्तिकस्तेनैः साधून् खङ्गादिशस्त्रेण त्रासयित्वा धान्यमपहृतम् , अनाक्रान्तिकस्तेनाः समागच्छन्तः संयतैर्ज्ञाताः एवं तैरप्यपहृते गोसे—प्रभाते शय्यातरस्य कथयन्ति, यथा—स्तेनैर्धान्यमपहृतम् । अथाऽसौ भूयः प्रश्नयेत्,के पुनः स्तेनाः ? ततो यद्यपि वर्णरूपादिभिर्जानन्ति तथापि न कथयन्ति,मा भूवन् ग्रहणाकर्षणादयस्तेषामुपद्रवाः अथ वर्णादिभिरकथितेषु तेषु साधवस्तैन्यार्थकारितया शङ्क्यन्ते ततो यतनया कथयितव्याः ।

इदमेव भावयति—

सुण सावग जं वत्तं, तेणाणं संजयाण इह अज्ज ।
तेणेहि पविट्ठेहिं, जाहे नीएक्कसिं धन्नं ॥ १०१ ॥

हे श्रावक ! शृणु स्तेनानां संयतानां चेहाद्य यद्वृत्तम् । यदा किल स्तेनैः प्रविष्टैस्तै कोष्ठाद् धान्यं नीतं-बहिर्निष्काशितम् ।

ताहे उवगरणाणि य,भिन्नाणि हियाणि चेव अन्नाणि ।
हरिओवही वि जाहे, तेणा न लभंति ते पसरं ॥१०२॥
गहियाउहप्पहरणा, जाध वधाए समुट्ठिया अम्ह ।
नऽत्थि अकम्म त्ति ततो,एतेसि ठिता सुतुण्हिक्का॥१०३॥

तत उपकरणान्यप्यस्य संवन्धीनि तैः कानिचिद्भिन्नानि अन्यानि पुनरपहृतानि । ततो हृतोपधयोऽपि स्तेना यदा द्वितीयं वारं धान्यं हर्तुकामा अप्यस्माकं पार्श्वतः प्रसरं न लभन्ते तदा गृहीतायुधप्रहरणा अस्माकं वधाय ते समुत्थिताः, अभिहितं च तैः-श्रमणास्तूष्णींभावमास्थाय प्रसरत यूयम् ,अन्यथा सर्वानुपद्रावयिष्याम इति,ततश्चिन्तितमस्माभिर्नास्त्यमीषां पापकर्मकारिणामकर्मेति । ततो वयमेते सुतूष्णीकाः स्थिताः ।

एवमाचार्येणोक्ते सति शय्यातरः
किमुक्तवानित्याह—

सेज्जायरो य भणति, अन्नं धन्नं पुणो वि होहिंति ।
एसो अणुग्गहो मे,जं साधू ण दुक्खविओ˘ कोवि।१०४।

शय्यातरः सूरीन् भणति-भगवन्नस्माकमन्यदपि धान्यं पुनरपि भविष्यति,परमेष महाननुग्रहो मे संवृत्तः, यत् कोऽपि युष्मदीयसाधुः स्तेनैर्न दुःखापित इति । वृ० २ उ० ।

(१४) तृणादिपुञ्जेषु वसतिदोषाभिधित्सयाऽऽह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा,तं जहा-तणपुंजेसु वा पलालपुंजेसु वा०सयंडे०जाव ससंताणए तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा तणपुंजेसु वा पलालपुंजेसु वा अप्पंडेहिं ०जाव चेतेज्जा । (सू०-७६)

एतद्विपरीतं सूत्रमपि सुगमम् , नवरमल्पशब्दोऽभाववाची । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

से तणेसु वा तणपुंजेसु वा पलालेसु वा पलालपुंजेसु वा अप्पंडेसु अप्पपाणेसु अप्पवीएसु अप्पहरिएसु अप्पोस्साएसु अप्पुत्तिंगपणगदगमट्टियामक्कडासंताणएसु अहसवणमायाए नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥ २८ ॥

से तणेसु वा ०जाव संताणएसु उप्पिं सवणमायाए कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥ २९ ॥

से तणेसु वा ०जाव संताणएसु अहे रयणिमुक्कमउडे नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ॥ ३० ॥

से तणेसु वा ०जाव संताणएसु उप्पिं रयणिमुक्कमउडे कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए त्ति बेमि ॥ ३१ ॥

सूत्रचतुष्टयस्य संवन्धमाह—

अद्धाणातो निलयं, उवेंति तहियं तु दो इमे सुत्ता ।
तत्थ वि उडुम्मि पढमं, उडुम्मि दूइज्जणा जेणं ॥७५८॥

पूर्वसूत्रे अध्वा प्रकृतस्तत उत्तीर्णा निलयम्-उपाश्रयमुपागच्छन्ति । तद्विषये च ऋतुवद्धवर्षावासयोः प्रत्येकमिमे द्वे सूत्रे आरभ्येते । तत्रापि प्रथमं सूत्रद्वयमृतुवद्धविषयम् , द्वितीयं वर्षावासविषयम् , कुत इत्याह—ऋतुवद्धे येन कारणेन ' दूइज्जणा '—विहारो भवति, न वर्षावासे । पूर्वसूत्रे च विहारोऽधिकृतः, अतः संवन्धानुलोम्येन पूर्वमृतुवद्धसूत्रद्वयम् , ततो वर्षावाससूत्रद्वयमिति ।

अहवा अद्धाणविही, वुत्तो वसहीविहिं इमं भणई ।
साऽविय पुव्वं वुत्ता, इह उ पमाणं दुविहकाले ॥७५९॥

अथवा- अध्वविधिः पूर्वसूत्रे उक्तः, इदं तु प्रस्तुतसूत्रे वसतिविधिं भणति । साऽपि च वसतिः पूर्वं प्रथमोद्देशकादिष्वनेकशः प्रोक्ता , इह तु द्विविधेऽपि—ऋतुवद्धवर्षावासलक्षण काले तस्याः प्रमाणमुच्यते । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—अथ तु तृणेषु वा तृणपुञ्जेषु वा पलालेषु वा पलालपुञ्जेषु वा अल्पाण्डेषु वा अल्पप्राणेषु अल्पबीजेषु अल्पहरितेषु अल्पावश्यायेषु अल्पोत्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कटसंतानकेषु इहाण्डकानि पिपीलिकादीनाम् प्राणा—द्वीन्द्रियादयः, वीजमनङ्कुरितम् ,तदेवाङ्कुरोद्भिन्नं हरितम् 'अवश्यायः—स्नेहः, उत्तिङ्गः—कीटिकानगरम् , पनकः—पञ्चवर्णसङ्कुरोऽनङ्कुरो वा अनन्तवनस्पतिविशेषः, दकमृत्तिका—सचित्तो मिश्रो वा कर्दमः, मर्कटकः—कालिकस्तस्य संतानकं जालकम् । अल्पशब्दश्चेह सर्वत्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाववचनः, ततोऽण्डरहितेषु प्राणरहितेषु इत्यादि मन्तव्यम्। आह-' सवणमायाए ' त्ति अधः श्रवणमात्रया श्रवणयोरधस्ताद्यत्र छेदेन तृणादीनि भवन्ति, तथाप्रकारे उपाश्रये नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा हेमन्तग्रीष्मेषु वस्तुम्। अष्टावृतुवद्धमासानित्यर्थः। एवं प्रतिषेधसूत्रमभिधाय प्रपञ्चितज्ञविनेयानुग्रहार्थं विधिसूत्रमाह-अथ तृणे वा यावदल्पसंतानकेषु उपरि श्रवणमात्रया युक्तेषु तथाविधोपाश्रयेषु कल्पते हेमन्तग्रीष्मेषु वस्तुम् । एवमृतुबद्धसूत्रद्वयं व्याख्यातम् ॥ अथ वर्षावाससूत्रद्वयं व्याख्यायते—अथ तृणेषु वा तृणपुञ्जेषु वा यावदल्पसंतानकेषु ' अधोरयणि मुक्कमउडेसु ' त्ति। अञ्जलिमुकुलितं बाहुद्वयमुच्छ्रितं मुकुट उच्यते, स च हस्तद्वयप्रमाणः। यदाह-बृहद्भाष्यकृत्-' मउडो पुण दोरयणी, पमाणतो हो 'इ मुणेयव्वो' रत्निभ्यां हस्ताभ्यां मुक्ताभ्यां यो निर्मितो मुकुटः स रत्निमुक्तमुकुटः । एतावत्प्रमाणमधस्तादुपरि च यत्रान्तरालं न प्राप्यते तेष्वधोरत्निमुक्तमुकुटेषु तृणादिषु न कल्पते वर्षावासे वस्तुम् , अथ तृणेषु वा यावदल्पसन्तानके उपरि रत्निमुक्तमुकुटेषु यथोक्तप्रमाणेषु मुकुटोपरिवर्तिषु संस्तारके निविष्टस्य साधोरर्द्धतृतीयहस्ताद्यपान्तरालयुक्तेष्वित्यर्थः । ईदृश्यां वसतौ कल्पते वर्षावासे वस्तुमिति । सूत्रचतुष्टयार्थः ।

अथ भाष्यकारः प्रथमसूत्रं विवरीषुराह—

तणगहणा रण्णतणा, सामागादी उ सूइया सव्वे ।
सालीमाति पलाला, पुंजा पुण मंडवेसु कता ॥ ७६० ॥

तृणग्रहणादारण्यकानि श्यामाकादीनि सर्वाण्यपि तृणानि सूचितानि, पलालग्रहणेन शाल्यादीनि पलालानि गृहीतानि, पुञ्जाः पुनस्तृणानां पलालानां चोपरिमण्डपेषु कृता भवन्ति । येषु हि देशेषु स्वल्पानि तृणानि तेषु पुञ्जरूपतया तानि मण्डपेषु संगृह्यन्ते । अधस्ताद् भूमौ स्थापितानि मा विनश्येयुरिति कृत्वा ।

पुंजा उ जहिं देसे, अप्पप्पाणा य होंति एमादी ।
अप्प तिग पंच सत्त य, एएणं वुचती सुत्तं ॥ ७६१ ॥

एवं यत्र देशे मण्डपेषु पुञ्जीकृता भवन्ति तत्र विवक्षितायां वसतौ ते पुञ्जा अल्पप्राणा अल्पबीजा एवमादिविशेषेण युक्ता भवेयुः। अत्र कस्याप्येवं बुद्धिः स्यात् । अल्पाः प्राणास्त्रयः पञ्च सप्त वा मन्तव्याः । अत आह—नैतेन परोक्तेनाभिप्रायेण सूत्रं व्रजति, किं तर्हि अल्पशब्दोऽत्राभाववाचको द्रष्टव्यः। प्राणादयस्तेषु न सन्तीति भावः।

अत्र परः प्राह—

वत्तव्वा उ अपाणा, वंधणुलोमेणिमं कयं सुत्तं ।
पाणादिमादिएसुं, वंते सट्ठाणपच्छित्तं ॥ ७६२ ॥

यद्यभावार्थोऽल्पशब्दस्तत एवं सूत्रालापकाः वक्तव्याः-“ अप्पाणेसु अबीएसु अहरिएसु ” इत्यादि । गुरुराह-बन्धानुलोम्येनेत्थं सूत्रं कृतम्। 'अप्पपाणेसु' इत्यादि । एवंविधो हि पाठः सुललितः—सुखेनैवोच्चरितुं शक्यते। यदि पुनः द्वे त्रयः पञ्च वा द्वीन्द्रियादयः प्राणिन आदिशब्दात्-

अण्डादीनि वा यत्र भवन्ति तत्र तिष्ठन्ति; ततस्तेषां विराधनायां स्वस्थानप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्।

कथं पुनरल्पशब्दोऽभावे वर्त्तते, अत आह—

थोवम्मि अभावम्मि य, विणिओगो होति अप्पसद्दस्स।
थोवे उ अप्पमाणे, अप्पासी अप्पनिद्दो य ॥ ७६३ ॥

स्तोके अभावे च अल्पशब्दस्य विनियोगो-व्यापारो भवति, तत्र स्तोकार्थवाचको यथा—अल्पमानः अल्पासी अल्पनिद्रोऽयम्।

अभाववाचको यथा—

निस्सत्तस्स उ लोए, अभिहाणं होइ अप्पसत्तो त्ति ।
लोउत्तरे विसेसो, अप्पाहारा तुअट्टेज्जा ॥ ७६४ ॥

यः किल निःसत्त्वः पुरुषस्तस्य लोके अल्पसत्त्वोऽयमित्यभिधानं भवति, लोकोत्तरेऽप्ययं विशेषः समस्ति, यथा—अल्पाहारो भवेत्, अल्पवस्त्वग्वर्तयेत्। अभावे दृश्यते। यथा-अल्पातङ्कः-नीरोग इत्यर्थः।

अथ बीजादियुक्तेषु तिष्ठतां प्रायश्चित्तमाह—

बियमट्टियासु लहुया, हरिए लहुगा व होंति गुरुगा वा ।
पाणुत्तिंगदएसुं, लहुगा पणए गुरू चउरो ॥ ७६५ ॥

बीजमृत्तिकायुक्तेषु तृणेषु तिष्ठतां चतुर्लघु, हरितेषु प्रत्येकेषु चतुर्लघु, अनन्तेषु चतुर्गुरु, प्राणेषु द्वीन्द्रियादिषु उत्तिङ्गोदकयोश्चतुर्लघु, पनके चतुर्गुरवः। उक्तः सूत्रार्थः।

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

सवणपमाणा वसही, अधिट्ठते चउलहुं च आणादी ।
मिच्छअवाउडपडिले-हया य साणा य वाले य॥७६६॥

श्रवणप्रमाणा वसतिः, कर्णयोरधस्तात् तृणादियुक्ता या भवति, तस्यामधः श्रवणमात्रायां तिष्ठतश्चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषाः, मिथ्यात्वं च भवति । कथमिति चेदित्याह-येषां—साधूनां सागारिकमप्रावृतं वैक्रियं वा तान् प्रविशतो दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्, अहो ह्रीप्रच्छादनमपि तीर्थकरेण नानुज्ञातम्, लज्जामयश्च पुरुष-स्त्रियोरलङ्कारः। स नूनमसर्वज्ञ एवासौ, एवं मिथ्यात्वगमनं भवेत् । ' पडिलेह ' त्ति उपर्युत्प्रेक्षिते शीर्षमास्फुटति । तत्र प्राणविराधनानिष्पन्नम्, अवनतानां च प्रविशतां निर्गच्छतां वा कटी पृष्ठं वा वातेन गृह्यते। अवनतस्य च प्रविशतः सागारिकं लम्बमानं पृष्ठतः श्वानो मार्जारो वा त्रोटयेत्' वाले य त्ति ' उपरि—शीर्षे आस्फिटिते सर्पो वृश्चिको वा दशेत्। यत एते दोषाः अतोऽधः-श्रवणमात्रायां वसतौ, न स्थातव्यम्।

द्वितीयपदे तिष्ठेयुरपि—

सवणपमाणा वसही, खेत्ते ठायंते बाहिं वोसग्गो ।
पाणादिमादिएसुं, वितिथिन्नाऽगाढजतणाए ॥ ७६७ ॥

पुरेषु क्षेत्रेष्वशिवादीनि भवेयुस्ततः क्षेत्राभावे अधः श्रवणमात्रायामप्यल्पप्राणादियुक्तायां तिष्ठतामियं यतना। वसतेर्बहिरावश्यकं कुर्वन्ति। अन्योऽपि यो व्युत्सर्गः कायोत्सर्गः स बहिष्क्रियते । द्वितीयपदे स प्राणेषु आदिशब्दाद्-बीजादिष्वपि वसतौ विद्यमानेषु पुनस्तत्र यतनया वि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तीर्णायां तिष्ठन्ति। सा येष्ववकाशेषु संसक्ता तान् चारेण लक्षयन्ति। कुटमुखेन वा हरितादिकं स्थगयन्ति। दगमृत्तिकावीजादीन्येकान्ते वृषभाः स्थापयन्ति। एवमागाढे कारणे स्थितानां यतना विज्ञेया।

वेउव्व वाउडाणं, वुत्ता जयणा णिसिज्जकप्पो वा।
उवओगणितइंते, हु छिंदणा णामणा वाऽवि ॥ ७६८ ॥

ये विकुर्विताः-प्रावृतसागारिकास्तेषां प्रथमोद्देशकोक्ता यतना अवधारणीया, प्रविशन्तो निर्गच्छन्तश्च पृष्ठतो निषद्यां कल्पं वा कुर्वन्ति। श्वानादीनामुपयोगं ददाना नित्यं निर्गच्छन्ति प्रविशन्ति च। यान्युपरि तृणान्यवलम्बन्ते तेषां प्रमार्ज्य छेदनं नामनं वा कुर्वन्ति। व्याख्यातम् ऋतुवद्धसूत्रद्वयम्।

अथ वर्षावाससूत्रद्वयं विवृणोति—

अंजलिमउलिकयाओ,दोन्नि वि वाहू समुच्छिया मउडो।
हेट्ठा उवरिं व भवे, मुक्कं तु तओ पमाणाओ ॥ ७६९ ॥

अञ्जली मुकुलीकृतौ द्वावपि वाहू समुच्छ्रितौ मुकुट उच्यते। मुक्तमुकुटं पुनस्ततः प्रमाणात्तावत्तमङ्गीकृत्य संस्तारकनिविष्टस्याध उपरि च यत्रान्तरालं प्राप्यते ईदृश्यामुपरि रत्निमुक्तमुकुटायां वसतौ वर्षाकाले स्थातव्यम्।

कुत इति चेदुच्यते—

हत्थो लंवइ हत्थं, भूमीओ सप्पो हत्थमुट्ठेति।
सप्पस्स य हत्थस्स य, जह हत्थो अंतरा होई ॥७७०॥

फलकादौ संस्तारकस्तत्तस्य हस्तौ, हस्ताभ्यामकम् अधो लम्बते, भूमितश्च सर्पो हस्तमुत्तिष्ठति, ततः सर्पस्य च यथा हस्तोऽन्तरा भवति तथा कर्तव्यम्।

यथा—

माला लंवति हत्थं, सप्पो संथारए निविट्ठस्स।
सप्पस्स य सीसस्स य, जह हत्थो अंतरा होइ ॥ ७७१ ॥

फलकादौ संस्तारके निविष्टस्य मालासर्पौ हस्तो लम्बते, ततः सर्पस्य शीर्षस्य च यथा हस्तोऽन्तरा भवति तथा विधेयम्। ईदृक्प्रमाण उपाश्रयो ग्रहीतव्य इत्यर्थः।

काउस्सग्गं तु ठिए, मालो जइ हवइ दोसु रयणीसु।
कप्पइ वासावासो, इय तणपुंजेसु सव्वेसु ॥ ७७२ ॥

कायोत्सर्गस्थितस्य मालो यदि द्वयो रत्न्योरुपरि भवति तदा कल्पते तस्यां वसतौ वर्षावासः कर्तुम्। अयमेव सर्वेष्वपि तृणपुञ्जेषु विधिर्द्रष्टव्यः।

उप्पिं तु मुक्कमउडे, अहिरंते चउलहुं च आणाई।
मिच्छत्ते वालाई, वीयं आगाढसंविग्गो ॥ ७७३ ॥

अत उपरि मुक्तमुकुटे प्रतिश्रये स्थातव्यम्। अथाऽधो मुक्तमुकुटे तिष्ठन्ति ततश्चतुर्लघु। आज्ञादयो मिथ्यात्वं व्यालादयश्च दोषाः पूर्वसूत्रोक्ता भवन्ति। द्वितीयपदमप्यागाढे कारणे तत्रैव मन्तव्यम्। यत्र च तिष्ठन् संविग्न एव भवति।

अत्रेयं यतना—

दीहाइजाईसु उ विज्जवंधं,
कुव्वंति उल्लोयकडं च पोत्तिं।
कप्पासईए खलु सेसगाणं,
मुत्तुं जहन्नेण गुरुस्स कुज्जा ॥ ७७४ ॥

दीर्घजातीयादिषु वसतौ विद्यमानेषु तेषां विद्यया वन्धं कुर्वन्ति, विद्याया अभावे उपरिष्टादुल्लोचं कुर्वन्ति, उल्लोचाभावे कटम्, कटाऽभावे पोत्तिं-चिलिमिलिकां सर्वसाधूनामुपरि कुर्वन्ति। अथ तावन्तः कल्पाः न विद्यन्ते ततः शेषाणां मुक्त्वा जघन्येन गुरोरुपरिष्टादुल्लोचं कुर्यात्। वृ० ४ उ०।

(१५) अभीक्ष्णं साधर्म्मिकेष्ववपतत्सु वसेत्।

से आगंतागारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अभिक्खणं साहम्मिएहिं उवयमाणेहिं णो उवएज्जा। (सू०-७७)

'से' इत्यादि यत्र ग्रामादेर्वहिरागत्याऽऽगत्य पथिकादयस्तिष्ठन्ति तान्यागन्तागाराणि, तथा आराममध्यगृहाण्यारामागाराणि, पर्यावसथा—मठाः, इत्यादिषु प्रतिश्रयेष्वभीक्ष्णम्-अनवरतं साधर्म्मिकैः-अपरसाधुभिरवपतद्भिः आगच्छद्भिर्मासादिविहारिभिश्छर्दितेषु नावपतेत्—नागच्छेत्। तेषु मासकल्पादि न कुर्यादिति। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ०।

अधुना संसक्तद्वारमाह—

पुढविदगअगणिहरिय-तसपाणसगारियादिसंसत्ता।
वंभव्वय आदंसण, विराहगा पच्चवाया उ ॥ ५९४ ॥

पृथिव्या उदकेनाग्निना हरितकेन त्रसप्राणैः सागारिकादिमिश्र, सागारिकः-शय्यातरः। आदिशब्दादन्यस्त्रीपुरुषगृहस्थैः सम्मिश्रा संसक्ता, तथा प्रत्यपाययति प्रत्यपाये पातयतीति प्रत्यपाया, ब्रह्मव्रतादीनां दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य विराधिका, यत्र ब्रह्मव्रतादीनां विराधनोपजायते सा सप्रत्यपाया; शय्या इत्यर्थः।

अत्रोभयत्रापि प्रायश्चित्तविधिमाह-

काएसु तु संसत्ते, सचित्तमीसेसु होइ सट्ठाणं।
सागारियसंसत्ते, लहुगा गुरुगा य जे जत्थ ॥ ५९५ ॥

कायैः—पृथिवीकायादिभिः सचित्तैर्मिश्रैश्च संसक्ते उपाश्रये तिष्ठतः प्रायश्चित्तं स्वस्थानं—स्वस्थाननिष्पन्नं भवति। तद्यथा-सचित्तैः-पृथिवीकायादिभिः संसक्ते चतुर्लघु, हरितैरनन्तैश्चतुर्गुरु, प्रत्येकवीजैः रात्रिंदिवपञ्चकं लघु,अनन्तवीजैर्गुरुकम्, मिश्रैः-पृथिव्यादिभिर्मासलघु,हरितैरनन्तैर्मिश्रैर्मासगुरु, वीजैरनन्तैश्च मिश्रैः सचित्तैश्च त्रसकायैश्चत्वारो गुरुकाः। 'सागारिये' त्यादि पश्चिमार्द्धम्, निर्गन्थानां पुरुषसंसक्ते उपाश्रये तिष्ठतां चत्वारो लघुकाः, स्त्रीसंसक्ते चत्वारो गुरुकाः। निर्ग्रन्थीनां स्त्रीभिः संसक्ते चतुर्लघु, पुरुषसंसक्ते चतुर्गुरु, ये च यत्राज्ञाभङ्गादयो दोषास्त च तत्र सप्रायश्चित्तं वक्तव्याः।

गुरुगा वंभावाए, आयाए चेव दंसणे लहुगा।
आणादिणो विराहण, भवंति एक्केक्कगपयाउ ॥ ५९६ ॥

ब्रह्मापाये—ब्रह्मप्रत्यपाये आत्मनि-चैव आत्मप्रत्यपाये गु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काश्चत्वारो गुरवः। दर्शने—दर्शनप्रत्यपाये चत्वारो लघवः। आज्ञादयश्च-आज्ञाभङ्गादयो विराधना एकैकपदात् भवन्ति-ज्ञातव्याः। द्विविधकरणोपघातादिपु सर्वेष्वपि पदेषु यथायोगमाज्ञाभङ्गादयो विराधना सप्रायश्चित्ता योजनीया इत्यर्थः।

अथ-के ब्रह्मप्रत्यपाया, आत्मप्रत्यपाया, दर्शनप्रत्यपाया वा ?, तत आह—

तिरियमणुयित्थियातो, बंभावातो उ तिविहपडिमातो।
अहिविलचलंतकुड्डा-दि एवमादी उ आयाए ॥५६७॥
आगाढमिच्छदिट्ठी, सव्वातिहि-मरुगवहुजणट्ठाणे।
पासंडा य बहुविहा, एसा खलु दंसणावाया ॥५६८॥

यत्र तिर्यक्स्त्रियो मनुष्यस्त्रियो वा, यदि वा-यत्र त्रिविधा प्रतिमा—तिर्यक्स्त्रीप्रतिमा मनुष्यस्त्रीप्रतिमा देवस्त्रीप्रतिमा वा सा ब्रह्मप्रत्यपाया। तस्यां स्थितानां ब्रह्मव्रतविनाशसंभवात्। यत्र पुनरहिविलानि चलन्ति—चलानि कुड्यानि आदिशब्दाच्चलवेलीधारणादिपरिग्रहः, एवमादिका आत्मनि आत्मप्रत्यपाया। तथा यत्रागाढमिथ्यादृष्टियत्र च सर्वेऽतिथयः समागच्छन्ति सर्वमित्यर्थः, यत्र मरुकावहुकास्तिष्ठन्ति बहुशाला इति भावः, यच्च बहूनामागन्तुकानां जनानां स्थानं वैदेशिककुटीत्यर्थः, यत्र बहुविधाः पाषण्डाः-एवंरूपा वसतिः खलु दर्शनापाया दर्शनप्रत्यपाया।

संप्रति शय्याविधिद्वारमाह—

कालातिकंता वा, ठाण अभिकंतअणभिकंता य।
वज्जा य महावज्जा, सावज्ज महप्पकिरिया य ॥ ५६९ ॥

शय्या नवप्रकारा भवन्ति, तद्यथा—कालातिक्रान्ता १ उपस्थापना २ अभिक्रान्ता ३ अनभिक्रान्ता ४ वर्ज्या ५ महावर्ज्या ६ सावद्या ७ महासावद्या ८ अल्पक्रिया ९ च।

तत्र कालातिक्रान्तादिपु प्रायश्चित्तविधिमाह—

कालातीते लहुगो, चउरो लहुगा य चउसु ठाणेसुं।
गुरुगा तिसु जमलपया, अप्पकिरियाएँ सुद्धो उ ॥६००॥

ऋतुबद्धे काले कालातिक्रान्ते तिष्ठति मासलघु. वर्षाकाले चत्वारो लघवः, चतुर्पु स्थानेपु उपस्थानायामभिक्रान्तायामनभिक्रान्तायां वर्ज्यायां चेत्यर्थः तिष्ठतः प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः, तथा—त्रिपु स्थानेपु महावर्ज्यायां सावद्यायां महासावद्यायां चेत्यर्थः प्रत्येकं चत्वारो गुरवः। परं तपःकालविशेपिताः, तद्यथा—महावर्ज्यायां चत्वारो गुरुकाः तपोगुरवः. सावद्यायां तपोगुरवः, महासावद्यायां तपसा कालेन च गुरवः। 'जमलपया' इति तपःकालयोः संज्ञा। ततोऽयमर्थः। त्रिपु स्थानेपु गुरुका यमलपदा—यमलपदवन्तस्तपःकालविशेषिता द्रष्टव्याः। अल्पक्रियायां तु तिष्ठन् शुद्धः।

सांप्रतमेतासामेव कालातिक्रान्तादीनां व्याख्यानमभिधित्सुराह—

उदुवासा समतीता, कालातीया उ सा भवे सेज्जा।
सव्वे च उवट्ठाणा, दुगुणादुगुणं अवज्जेत्ता ॥ ६०१ ॥

ऋतुबद्धे काले वर्षाकाले च यत्र स्थितास्तस्यामृतुबद्धे काले मासे पूर्णे वर्षाकाले—चतुर्मासे पूर्णे-यत्र तिष्ठन्ति सा कालातिक्रान्ता वसतिः। 'सव्व' त्यादि. या कालमर्यादाऽनन्तरमुक्ता ऋतुबद्धे मासे वर्षासु चत्वारो मासा इति। तामेव द्विगुणां द्विगुणामवर्जयित्वा यत्र भूयः समागत्य तिष्ठन्ति सा उपस्थाना। किमुक्तं भवति-ऋतुबद्धे काले द्वौ मासौ वर्षास्वष्ट मासान् अपरिहृत्य यदि पुनरागच्छन्ति तस्यां वसतौ ततः सा उपस्थाना भवति। उप—सामीप्येन स्थानमवस्थानं यस्यां सा उपस्थानेति व्युत्पत्तेः, अन्ये पुनरिदमाचक्षते-यस्यां वसतौ वर्षावासं स्थिताः तस्यां द्वौ वर्षारात्रावन्यत्र कृत्वा यदि समागच्छन्ति ततः सा उपस्थाना भवति। अर्वाक् तिष्ठतां पुनरुपस्थापना।

जावंतिया उ सेज्जा, अन्नेहिं सेविया अभिकंता।
अन्नेहि अपरिभुत्ता, अणभिकंता उपविसेया ॥ ६०२ ॥

शय्या—आचारण्डालभ्या यावान्तकी, सा यदाऽन्यैश्चरकादिभिः पाषण्डस्थैर्गृहस्थैर्वा निषेविता, पश्चात् संयतास्तिष्ठन्ति सा अभिक्रान्ता, सैव यावन्तिकी अन्यैः पाषण्डस्थैर्गृहस्थैर्वा अपरिभुक्ता तस्यां यदि संयताः प्रविशन्ति, ततः सा अनभिक्रान्ता।

अत्तऽट्ठ कडं दाउं, जतीण अन्नं करेंति वज्जा उ।
जम्हा तं पुव्वकयं, वज्जेंति ततो भवे वज्जा ॥ ६०३ ॥

आत्मार्थंकृतां वसतिं यतिभ्यो दत्त्वा पुनरन्यामात्मार्थं कुर्वन्ति यदि ततः सा यतिभ्यो दत्ता वर्ज्या भवति। कथा व्युत्पत्त्येत्यत आह-यस्मात्तां पूर्वकृतां वसतिं गृहस्था वर्जयन्ति यतिभ्यः किल दत्तत्वात्,ततो वर्ज्यते इति वर्ज्या भवति सा पूर्वकृतेति।

पासंडकारणा खलु, आरम्भो अभिणवो महावज्जा।
समणऽट्ठा सावज्जा, महासावज्जा उ साहूणं ॥ ६०४ ॥

यत्र बहूनां श्रमणब्राह्मणप्रभृतीनां पाषण्डिनां कारणात्कारणेन खल्वारम्भोऽभिनवः क्रियते सा महावर्ज्या। श्रमणार्थापञ्चानां श्रमणानामर्थाय कृता सावद्या। या पुनरमीषामेव साधूनामर्थाय कृता सा महासावद्या। बृ० १ उ० १ प्रक०। (अल्पक्रियास्वरूपम् 'अप्पकिरिया' शब्दे प्रथमभागे ६१२ पृष्ठे व्याख्यातम्।)

(१६) साम्प्रतं कालतिक्रान्तवसतिदोषमाह—

से आगंतागारेसु वा० ४ जे भयंतारो उडुवद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवायणित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति अयमाउसो! कालाऽतिकंतकिरियाऽवि भवति। (सू० - ७८×)

तेष्वागन्तागारादिपु ये भगवन्त ऋतुबद्धमिति शीतोष्णकालयोर्मासकल्पमुपनीय अतिवाह्य वर्षासु वा चतुरो मासानतिवाह्य तत्रैव पुनः कारणमन्तरेणासते अयमायुष्मन्! कालातिक्रमदोषः संभवति। तथा च स्त्र्यादिप्रतिबन्धस्नेहादुद्गमादिदोषसंभवो चेत्यतस्तथा स्थानं न कल्पत इति। (उपस्थानदोषाः ' कालाइकंतकिरिया ' शब्दे तृतीयभागे ४६४ पृष्ठे गताः)

अथ प्राभृतिकद्वारं विभावयिपुराह—

पाहुडिया वि य दुविहा, वायर-सुहुमा य होइ नायव्वा।
एक्केका वि य एत्तो, पंचविहा होइ नायव्वा ॥ ८३७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अस्या व्याख्या 'पाहुडिया' शब्दे पञ्चमभागे ६१४ पृष्ठे गता ।)

तत्र बादरां पञ्चविधामपि तावदाह—

विद्धंसणछावणलेवणे, भूमिकम्मे पडुच पाहुडिया ।
उस्सक्कण अहिसक्कण, देसे सव्वे य नायव्वा ॥८३८॥

विध्वंसनं-वसतेर्भञ्जनं छादनं-दर्भादिभिराच्छादनं लेपनं-कुड्यानां कर्दमेन गोमयेन च लेपप्रदानं भूमिकर्म-समविषमाया भूमेः परिकर्मणम्, 'पडुच' त्ति प्रतीत्य करणं-त्रिशालगृहं कर्तुकामः साधून् प्रतीत्य चतुःशालं करोति, आत्मीयं वा गृहं साधूनां दत्त्वा आत्मार्थमपरं कारयतीत्यादि । एषा पञ्चविधाऽपि बादरप्राभृतिका प्रत्येकं द्विधा—अवष्वष्कणतः, अभिष्वष्कणतश्च । अवष्वष्कणं नाम विवक्षितविध्वंसनादिकालस्य ह्रासकरणमर्वाक्करणमित्यर्थः, अभिष्वष्कणं तस्यैव विवक्षितकालस्य संवर्द्धनं-परतः करणमित्यर्थः । पुनरेकैके विध्वंसनादयो द्विधा-देशतः, सर्वतश्च ज्ञातव्याः । तत्र देशतः सर्वतो वा विध्वंसनमभिष्वष्कणतो भाव्यते । केनचिद् गृहपतिना चिन्तितम्-यथेदं गृहं ज्येष्ठमासे भङ्क्त्वा ततोऽभिनवं करिष्याम इति, इतश्च ज्येष्ठमासे तत्र साधवो मासकल्पेन स्थिताः ततोऽसौ चिन्तयति—

अच्छंतु ताव समणा, गएसु भंतूण एत्थ काहामो ।
ओभासितेण संते, न एंति जा मंतुयं कुणिमो ॥८३९॥

इदानीं तावदासताम्-तिष्ठन्तु श्रमणाः । गतेषु पश्चादाषाढमासे भङ्क्त्वा करिष्याम इत्येतदभिष्वष्कणम् । अथावष्वष्कणमाह—'ओभासिएण' इत्यादि, क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैरवभाषिते प्रदत्ते चोपाश्रये सति गृहपतिश्चिन्तयति ज्येष्ठमासे तावदत्र साधवः स्थास्यन्ते ततो यावत्ते नागच्छन्ति तावद्वैशाखे मासे भङ्क्त्वा कुर्म इति, एतदवष्वष्कणम् । भाविते विध्वंसनपदम् ।

अथ छादनादीन्यतिदिशन्नाह—

एसो व कमो नियमा, छज्जे लेवे य भूमिकम्मे य ।
तेसाल-चाउसालं, पडुच करणं जई निस्सा ॥ ८४० ॥

एष वा अवष्वष्कणतश्च क्रमो नियमात् मन्तव्यः, क इत्याह—'छज्जे'छादने लेपे-लिम्पने भूमिकर्मणि च । तिष्ठन्तु तावदिदानीं श्रमणाः, पश्चाद्गतेषु सत्सु गृहं छादयिष्यामो भूमिं वा परिकर्मयिष्याम इति, एतदभिष्वष्कणम् । एतान्येव छादनादीनि यद्यनागतमेव करोति तदा चावष्वष्कणं भाव्यते । 'तेसाल' इत्यादि, त्रिशालं गृहं कर्तुकामो यतीनां निश्रया तान् प्रतीत्येति भावः चतुःशालं यत्करोति तत्प्रतीत्य कारणमुच्यते ।

अथवा-

पुव्वघरं दाऊण व, जईण अन्नं करिंति सड्ढाए ।
काउमणा वा अन्नं, एहाणाइसु कालमोसक्के ॥ ८४१ ॥

पूर्वगृहं स्वार्थं पूर्वकृतं यद् ग्रहीतव्यं यतीनां दत्त्वा वाशब्दः प्रकारान्तरतायां स्वार्थमन्यदभिनवं यदगारिणः कुर्वन्ति तच्छ्रा प्रतीत्य करणम् । अथवा—केऽपिश्राद्धाः स्वार्थमन्यद् गृहं ज्येष्ठमासे कर्तुमनसः परं तत्र वैशाखमासि स्नानादिकं जिनचैत्येषु भाविताः, ततस्ते चिन्तयन्ति अनागतमेव गृहं कुर्मो येन तत्र साधवो वैशाखमासि स्नानादिषु समये हि स्थास्यन्ति एवं साधून् प्रतीत्य कालमवष्वष्कयेयुः एतदवष्वष्कणतः प्रतीत्य करणमुक्तम् ।

अथाभिष्वष्कणतस्तदेवाह—

एमेव य एहाणाइसु, सीयलकज्जऽट्ठ कोइ उस्सक्को ।
मंगलबुद्धी सो पुण, गएसु तहिं यं वसिउकामो ॥८४२॥

एवमेवावष्वष्कणवत् कोऽपि श्राद्धः शीतकाले गृहं कर्तुकामश्चिन्तयति—वैशाखमासि स्नानं रथयात्रा चेह भविष्यति, तत्र च साधवः-समागमिष्यन्ति, तच्च तदानीमेव यत्कृतं नवगृहं शीतलं भवति । शीतले च तस्मिन् साधवः सुखमाशिष्यन्त;अतः स्नानादिप्रत्यासन्न एव समये करिष्यामीति साधून् प्रतीत्य स्नानादिषु शीतलकायार्थं यत्कोऽप्यवष्वष्कते एतदभिष्वष्कणतः प्रतीत्य करणं, स पुनरवष्वष्कणमभिष्वष्कणं वा मंगलबुद्ध्या करोति, यथा-पूर्वं साधवो मदीयं नवगृहं यदि परिभुञ्जते ततः पवित्रं भवतीति, गतेषु च तेषु तत्र नवगृहे स्वयमेव वस्तुकाम इति ।

अथात्रैव प्रायश्चित्तमाह—

सव्वम्मि उ चउलहुया, देसम्मी वायराएँ लहुओ उ ।
सव्वम्मि मासियं खलु, देसे भिन्ने य सुहुमाए ॥८४३॥

बादरायां प्राभृतिकायामनन्तरोक्तायामेव सर्वतः करिष्यमाणायां कृतायां वा तिष्ठति चत्वारो लघवः । देशतः करिष्यमाणायां कृतायां वा तिष्ठति मासलघु । सूक्ष्मायां वा प्राभृतिकायां वक्ष्यमाणायां भवति विधास्यमानायां विहितायां वा तिष्ठति मासलघु । देशतस्तस्यामेव भिन्नमासः ।

सा पुनः सूक्ष्मप्राभृतिका पञ्चविधा ।
तामेवाह—

संमज्जणावरिसणा, उवलेवणसुहुमदीवए चेव ।
उस्सक्कणाहिसक्कण-देसे सव्वे य नायव्वा ॥ ८४४ ॥

संमार्जन-बहुरिकया प्रमार्जनम् आवर्षणम् उदकेन छटकप्रदानम्, उपलेपनं-छगणमृत्तिकया भूमिकाया लेपनम् ।'सुहुमे' त्ति सूक्ष्माणि समयभाषया पुष्पाण्युच्यन्ते । तथा च दशवैकालिकनिर्युक्तौ पुष्पाणामेकार्थिकानि-" पुप्फा य कुसुमा चेव, फुल्ला य कुसुमादि य । सुमणा चेव सुहुमा य, सुहुमाकाइया वि य ॥१॥" ततश्च पुष्पाणां प्रकररचनेत्यर्थः । " दीवए चेव " त्ति दीपकप्रज्वालनम् । एतानि पूर्वमात्मार्थं क्रियमाणान्येव विद्यन्ते, नवरं साधून् प्रतीत्य देशतः सर्वतो वा यदवष्वष्कणमभिष्वष्कणं वा क्रियते सा सूक्ष्मप्राभृतिका ज्ञातव्या ।

अथास्या एवावष्वष्कणाभिष्वष्कणे भावयति—

जाव न मंडलिवेला, ताव पमज्जामो होइ उस्सक्का ।
उड्ढं तु ताव पढिउं, उस्सक्कण एव सव्वत्थ ॥८४५॥

यावन्मण्डलीवेला स्वाध्यायमण्डलीकालो नोपढौकते तावत्प्रमार्जयाम इत्येवं विचिन्त्यानागतमेव यदि प्रमार्ज-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यन्ति तदा अवष्वष्कणं भवति । अथ साधवः स्वाध्यायं कुर्वाणास्तदानीं मण्डल्यामुपविष्टाः सन्ति, ततश्चिन्तयन्ति-उत्तिष्ठन्तु तावदमी पठित्वा, ततः पश्चात्प्रमार्जयिष्याम इति विचिन्त्य तथैव यदि कुर्वते तदा अभिष्वष्कणं भवति। एवमेवावष्वष्कणमभिष्वष्कणं च सर्वत्र घर्षणोपलेपनादावपि भावनीयम्।

सा पुनः सूक्ष्मप्राभृतिका द्विविधा—

छिन्नमछिन्ना काले, पुणो य नियया य अनियया चेव।
निद्दिट्ठमनिद्दिट्ठा, पाहुडिया अट्ठ भङ्गा उ ॥ ८४६ ॥

काले—कालतः छिन्ना अच्छिन्ना वा; छिन्नकालिका अच्छिन्नकालिका चेत्यर्थः, यस्यामुपलेपनादिच्छिन्ने प्रतिनियते मासादौ काले क्रियते सा छिन्नकालिका । या तु यदा तदा वा क्रियते सा अच्छिन्नकालिका पुनरेकैका द्विधा नियता अनियता चैव। नियता नाम—या पूर्वाह्णादावेव वेलायाम् अवश्यमेव वा क्रियते। विपरीता-अनियता-पुनरेकैका द्विविधा—निर्दिष्टा, अनिर्दिष्टा च । तत्र यः प्राभृतिकाकारकः स निर्दिष्टः इन्द्रदत्तादिनाम्नोपलक्षितः तेन क्रियमाणा प्राभृतिकाऽपि निर्दिष्टा । तद्विपरिता अनिर्दिष्टा । अत्र च त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गा भवन्ति। तद्यथा—छिन्नकालिका नियता निर्दिष्टा, छिन्नकालिका अनियता अनिर्दिष्टा इत्यादि।

अथ छिन्नकालिकां व्याख्यानयति—

मासे पक्खे व दसरा-तए य पणएगदिवसे य ।
वाघाइम-पाहुडिया,होइ पवाया निवाया य ॥ ८४७ ॥

या प्राभृतिका मासे—मासस्यान्ते-पक्षे पक्षस्यान्ते दशरात्रे दशानामहोरात्राणां पर्यन्ते पञ्चके-पञ्चरात्रिदिवान्ते एकदिवसे एकान्तरिते दिने चशब्दान्निरन्तरं दिने दिने इत्यर्थः। एवं प्रतिनियते काले या क्रियते सा छिन्नकालिका.या तु पक्षस्य कस्मिंश्चिद्दिवसे विधीयते सा अच्छिन्नकालिकेति । व्याघातिमप्राभृतिका नाम या सूत्रार्थपौरुषीवेलायां क्रियते सा भवति प्रवाता, निवाता चेति। प्रवाता नाम या ग्रीष्मकाले अपराह्णे उपलेपनादिकरणेन घर्मं नाशयति । या तु शीतकाले पूर्वाह्णे उपलेपनकरणेन रात्रौ व्यपगतशीतेह जायते सा निवाता भण्यते।

अथ कस्यां प्राभृतिकायां वस्तुं कल्पते कस्यां च नेत्यत आह—

पुव्वण्हे अवरण्हे, सूरम्मि अणुग्गए व अत्थमिए ।
मज्झन्तिए व वसही, सेसं कालं पडिकुट्ठा ॥ ८४८ ॥

पूर्वाह्णे--अनुद्गते सूर्ये अपराह्णे—अस्तमिते मध्याह्ने वा-मध्याह्नवेलायां सूत्रार्थपौरुष्यामनुत्थितेषु इत्यर्थ एतेषु कालेषु यस्यां प्राभृतिका क्रियते सा वसतिरनुज्ञाता सूत्रार्थव्याघाताभावात् 'सेसं कालं ' ति सप्तम्यर्थे द्वितीया । शेषे उद्गतसूर्यादौ काले—यस्यां प्राभृतिका विधीयते सा

प्रतिकुष्टा न कल्पते तस्यां वस्तुम् , सूत्रार्थव्याघातसंभवात्।

अथ निर्दिष्टानिर्दिष्टप्राभृतिके भावयति—

पुरिसज्जाओ अमुगो, पाहुडियाकारओ उ निद्दिट्ठा ।
सेसा उ अनिद्दिट्ठा, पाहुडिया होइ नायव्वा ॥ ८४६ ॥

अमुकः-पुरुषो जातः-पुरुषप्रकारः प्रभृतिकाकारक इन्द्रदत्तादिनाम्ना यस्यां निर्दिष्टः, सा निर्दिष्टा, शेषा तु सर्वाऽप्यनिर्दिष्टा प्राभृतिका भवति—ज्ञातव्या ।

अथ पूर्वोक्तं भङ्गाष्टकविषयं विधिमाह—

काऊण मासकप्पं, वयंति जा कीरई उ मासस्स ।
सा खलु निव्वाघाया, तं वेलाएण निंताणं ॥ ८५० ॥

इह प्रथमे भङ्गे या मासस्यान्ते क्रिया इति कृत्वा छिन्नकालिका, तत्राप्यपराह्ण एव विधीयमानत्वान्नियता अमुकपुरुषकर्तृत्वेन च निर्दिष्टा। तस्यां कृतायां प्रथमतः प्रविष्टास्ततो मासकल्पं कृत्वा यदि व्रजन्ति, कथमित्याह-' तं वेलाएण निंताणं ' ति तस्याः प्राभृतिकाकरणवेलाया अर्वाक् निर्गच्छतां सा प्राभृतिका निर्व्याघाता मन्तव्या सूत्रार्थव्याघाताभावात् , कल्पते तस्यां वस्तुमिति भावः। शेषा द्वितीयादयो भङ्गाः क्वापि कथंचित् सव्याघाता इति कृत्वा तेषु न कल्पते।

अथ प्रवातानिवातेति च पदद्वयं भावयति—

अवरण्हे गिम्हकरणे,पवायाॅ सा जेण नासई घम्मं ।
पुव्वण्हे जा सिसिरे,निव्वाय निव्वाय सा रत्तिं॥८५१॥

ग्रीष्मे अपराह्णे यदुपलेपनस्य करणं सा प्रवाता। कुत इत्याह—येन सा रात्रौ नाशयति-व्यपनयति घर्मं ग्रीष्मर्तुसंभावनायाम्। या शिशिरे—शीतकाले पूर्वाह्णे उपलेपनकरणेन दिवसस्य चतुर्भिः प्रहारैर्निवाता शुष्का इत्यर्थः सा रात्रौ निवाता भवति। एतयोः कारणतोऽवस्थातुं कल्पत इति।

अथ निर्व्याघातिमां भङ्गयन्तरेणाह—

पुव्वण्हेऽपट्ठविए, अवरण्हे उट्ठिएसु य पसत्था ।
मज्झण्हनिग्गएसु य, मंडलिसुतपेहवाघाया ॥ ८५२ ॥

या पूर्वाह्णे अप्रस्थापिते सति स्वाध्याये, अपराह्णे पुनः समुद्दिश्योत्थितेषु साधुषु, मध्याह्ने तु भिक्षापर्यटनार्थं निर्गतेषु या प्राभृतिका क्रियते प्रशस्ता सा। कुत इत्याह-'मंडलिसुयपेह' त्ति येन सूत्रमण्डल्यामुपकरणप्रेक्षणायाश्च 'वाघाय' त्ति अकारप्रश्लेषादव्याघाता-न व्याघातविधायिनी, अत एषा प्रशस्ता प्ररूपिता। बादरा सूक्ष्मा च पञ्चविधा प्राभृतिका एवंविधया संहितायां वसतौ न स्थातव्यम्।

अथ नास्ति तथाविधा अप्राभृतिका वसतिः। ततः कारणतः सप्राभृतिकायामपि तिष्ठतां यतनामाह—

तं वेलसारवंती, पाहुडियाकारगं च पुच्छंति ।
मोत्तूण चरिमभंगं, जयंति एमेव सेसेसुं ॥ ८५३ ॥

यस्यां वेलायां प्राभृतिकाकारकं च पुरुषं पृच्छन्ति कस्यां वेलायां भवान् सम्मार्जनादि करिष्यतीति एवं चरमम्—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अष्टमं भङ्गं मुक्त्वा शेषेषु सप्तस्वपि भङ्गेषु यतन्ते-यतनां कुर्वन्ति ।

चरिमे वि होइ जयणा, वसंति आउत्तउवहिणो निच्चं ।
दक्खे य वसहिपाले, ठवेंति थेरा पुणित्थीसु ॥ ५४ ॥

चरमेऽप्यष्टमे भङ्गे अच्छिन्नकालिका आनयता अनिर्दिष्टा चेत्येवंलक्षणे आगाढ कारणे तिष्ठतां भवति यतना । कथमित्याह-नित्यमायुक्तोपधयो वसन्ति, उपधौ आयुक्ताः सावधाना आयुक्तोपधयः राजदन्तादेराकृतिगणत्वाद्—व्यत्यासेन पूर्वपरनिपातः । मा गोमयादिना कोऽप्युपधिगठं मे प्राभृतिकाकरणव्याजेनापहरेदिति सम्यगुपधिविषयमवधानं ददतीत्यर्थः । दक्षांश्च वसतिपालान् स्थापयन्ति । यदि च तत्प्राभृतिकाकारिणः पुरुषा न स्त्रियस्ततस्तरुणा वसतिपालाः स्थापयितव्याः ' थेरा पुणित्थीसु ' त्ति यदि स्त्रियस्ततो ये स्थविराः-परिपाकप्राप्तब्रह्मचर्यास्ते वसतौ स्थापनीया इति । गतं प्राभृतिकाद्वारम् । वृ० १ उ० २ प्रक० ।

जे भिक्खू सपाहुडियं सेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ६४ ॥

जम्मि वसहीए ठियाणं कम्मपाहुडियाणं भवति सा सपाहुडिया छावणलेवणादिकरणमित्यर्थः । नि० चू० ५ उ० ।

(१७) तथाविधकार्यवशाच्चरककार्पटिकादिभिः सह संवासे विधिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा खुड्डियाओ खुड्डदुवारियाओ णिययाओ संनिरुद्धियाओ भवंति तहप्पगारे उवस्सए राओ वा वियाले वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा पुरा हत्थेण पच्छा पाएण ततो संजतामेव णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा, केवली बूया-आयाणमेयं जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा छत्तए वा मत्तए वा दंडए वा लट्ठिया वा भिसिया वा नालिया वा चिलं वा चिलिमिली वा चम्मए वा चम्मकोसए वा चम्मच्छेदणए वा दुब्बद्धे दुण्णिक्खित्ते अणिकंपे चलाचले । (सू० ८८ +)

स भिक्षुर्यत् पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात् , तद्यथा—क्षुद्रिका लघ्व्यस्तथा क्षुद्रद्वारा—नीचा उच्चैस्त्वरहिताः संनिरुद्धाः-गृहस्थाकुला वसतयो भवन्ति, ताश्चैवं भवान्तस्त्यां साधुवसतौ शय्यान्तरेणान्येषामपि कतिपयदिवसस्थायिनां चरकादीनामवकाशो दत्तो भवेत् , तेषां वा पूर्वस्थितानां पश्चात् साधूनामुपाश्रयो दत्तो भवेत् । तत्र—(आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।)

रात्रौ न प्रविशेत्—

जत्थऽत्थमिए अणाउले,
समविसमाइं मुणीऽहियासए ।
चरगा अदुवा वि भेरवा,
अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया ॥ १४ ॥

तथा भिक्षुर्यत्रैवास्तमुपैति सविता तत्रैव कायोत्सर्गादिना तिष्ठतीति यत्रास्तमितः, यथाऽनाकुलः-समुद्रवन्नकादिभिः परिषहोपसर्गैरक्षुभ्यन् समविषमाणि—शयनासनादीन्यनुकूलप्रतिकूलानि मुनिः—यथावस्थितसंसारस्वभाववेत्ता सम्यग्—अरक्तद्विष्टतयाऽधिसहेत , तत्र च शून्यगृहादौ व्यवस्थितस्य तस्य चरन्तीति चरका—दंशमशकादयः, अथवाऽपि-भैरवा-भयानका रक्षःशिवादयः, अथवा—तत्र सरीसृपाः स्युः—भवेयुः, तत्कृतांश्च परीषहान् सम्यक् अधिसहेतेति ॥ १४ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

रात्रौ वसतौ गमनविधिमाह—

भिक्खू य राओ वा वियाले वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्थं वा पायं वा ०जाव इंदियजायं वा लूसेज्ज वा पाणाणि वा०४ अभिहणेज्ज,०जाव ववरोवेज्ज वा अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा० ४ जं तहप्पगारे उवस्सए पुरा हत्थेणं पच्छा पायेणं ततो संजयामेव णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा । (सू०-८८)

तत्र कार्यवशाद्वसता रात्र्यादौ निर्गच्छता प्रविशता वा,यथा चरकाद्युपकरणोपघातो न भवति तदवयवोपघातो वा तथा पुरो हस्तकरणादिकया गमनागमनादिक्रियया यतितव्यम् , शेषं कण्ठ्यं नवरं चिलिमिलिः—यमनिका चर्म्मकोशः-पार्ष्णित्र खल्लकादिः । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० । (रात्रौ वसतिप्रवेशे आहारकल्पना ' राइभोयण 'शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५३७ पृष्ठ उक्ता ।) (वसतिमधिकृत्य भोजनविधिः ' गोयरचरिया ' शब्दे तृतीयभागे १००३ पृष्ठ गतः ।)

इदानीं वसतियाच्ञाविधिमधिकृत्याह-

से आगंतागारेसु वा अणुवीय उवस्सयं जाइज्जा जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समहिट्ठाए ते उवस्सयं अणुण्णविज्जा कामं खलु आउसो ! अहालंदं अहापरिन्नातं वसिस्सामो ०जाव आउसंतो ०जाव आउसंतस्स उवस्सते ०जाव साहम्मियाइं ततो उवस्सय गिहिस्सामो तेण परं विहरिस्सामो। सू०-८९)

स भिक्षुरागन्तागारादीनि गृहाणि पूर्वोक्तानि तेषु प्रविश्यानुविचिन्त्य च किंभूतोऽयं प्रतिश्रयः ? कश्चात्रेश्वरः?, इत्येवं पर्यालोच्य च प्रतिश्रयं याचेत, यस्तत्रेश्वरो गृहस्वामी यो वा तत्र समधिष्ठाता-प्रभुर्नियुक्तस्तानुपाश्रयमनुज्ञापयेत् । तद्यथा-कामम् , तवेच्छया आयुष्मन् ! त्वया यथा परिज्ञातं प्रतिश्रयं कालतो भूभागतश्च तथैवाधिवत्स्यामः, एवमुक्तः स कदाचिद् गृहस्थ एवं ब्रूयात् यथा-कियत्कालं भवतामत्रावस्थानमित्येवं गृहस्थेन पृष्टः साधुर्वसतिप्रत्युपेक्षक एतद् ब्रूयात् , यथा कारणमन्तरेण ऋतुबद्धे मासमेकं वर्षासु चतुरो मासानवस्थानमिति । एवमुक्तः कदाचित्परो ब्रूयान्नैतावन्तं कालं मनाऽत्रावस्थानं वसतिर्वा, तत्र साधुः तथाभूतकारणसद्भावे एवं ब्रूयात्—यावत्कालमिहायुष्मन्त आसते, यावद्वा-भवत उपाश्रयः तावत्कालमेवोपाश्रयं ग्रहीष्यामस्ततः परेण विहरिष्याम इत्युत्तरेण सम्बन्धः । साधुप्रमाणप्रश्ने चोत्तरं दद्यात् , यथा-समुद्रसंस्थानीया सूरयो नास्ति परिमाणम् ,यतस्तत्र कार्यार्थिनः केचनागच्छन्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपरे कृतकार्या गच्छन्ति अतो यावन्तः साधर्म्मिकाः समागमिष्यन्ति तावतामयमाश्रमः साधुपरिमाणं न कथनीयमिति भावार्थः। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०। (बहुषु सागारिकेषु एकं सागारिकं कुर्यात् इति 'सागारिय' शब्दे वक्ष्यते।) सागारिकस्य नामगोत्रे जानीयात्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जस्सुवस्सए संवसेज्जा तस्स पुव्वामेव णाम गोत्तं जाणेज्जा, तओ पच्छा तस्स गिहे णिमंतेमाणस्स वा अणिमंतेमाणस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अफासुयं०जाव णो पडिग्गाहेज्जा। (सू०-६०)

सुगमं नवरं साधूनां सामाचार्येषा, यदुत शय्यातरस्य नामगोत्रादि ज्ञातव्यम्, तत्परिज्ञानाच्च सुखेनैव; प्राघूर्णकादयो भिक्षामटन्तः शय्यातरगृहप्रवेशं परिहरिष्यन्तीति। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०।

सागारिकस्य निश्रया अनिश्रया वा निवसेत्—

कप्पइ निग्गंथीणं सागारियनिस्साए वत्थए॥ २३॥ कप्पइ निग्गंथाणं सागारियनिस्साए वा अनिस्साए वा वत्थए॥ २४॥

अत्र भाष्यम्—कल्पते निर्ग्रन्थानां सागारिकनिश्रयैव वस्तुमिति।

साहू निस्समनिस्सा, कारणे निस्सा अकारणेऽणिस्सा।
निक्कारणम्मि लहुगा,कारणे गुरुगा अनिस्साए॥३१७॥

साधवः सागारिकस्य निश्रया अनिश्रया वा वसन्ति। तत्र कारणे निश्रया, अकारणे त्वनिश्रया वस्तव्यम्। यदि निष्कारणे सागारिकनिश्रया वसन्ति ततश्चत्वारो लघुकाः। अथ कारणे अनिश्रया वसन्ति ततश्चत्वारो गुरुकाः।

अथ निष्कारणे सागारिकनिश्रया तिष्ठतां दोषमाह—

उड्डेंति निवेसिंते, भुंजण-पेहासु सारिमोए अ।
सज्झायबंभगुत्ती, असंगता तित्थऽवण्णे य॥ ३१८॥

कोऽपि साधुरुत्तिष्ठन् वा निविशमानो वा अप्रावृतो भवेत्। तं दृष्ट्वा पुरुषाः स्त्रियो वा हसन्ति, उड्डुाहकान् वा कुर्वन्ति। भोजनं—समुद्देशनं तत्र मण्डल्यां तुम्बकेषु वा समुद्दिशतो दृष्ट्वा ब्रवीरन्— अहो अमी अशुचय इति, प्रेक्षा—प्रत्युपेक्षणा तस्यां विधीयमानायां ते सागारिका उड्डाहकान् कुर्युः, 'मोय' त्ति निशि मोकेनाचमनं कायिकीव्युत्सर्जने च उड्डाहं कुर्युः, स्वाध्यायमधीयमानं परावर्तमानं वा श्रुत्वा कर्णाहतेनागच्छन्तीनां स्त्रीणां चाङ्गप्रत्ययादौ-विलोकमाने ब्रह्मचर्यस्याऽगुप्तिर्भवेत्, 'असंगय' त्ति यः किलाऽसंगताः प्रतिपन्नाः स्त्रीरहिते प्रतिश्रये स्थातव्यमित्येतदप्येते न जानन्ति, तीर्थस्य वाऽवर्णो भवति—सर्वेऽप्येते एतादृशा इति। यत एते दोषा अत उत्सर्गतः सागारिकस्याऽनिश्रया वस्तव्यम्, कारणे तु निश्रया परिकल्पते वस्तुम्।

तच्चेदम्—

तेणा सावय-मसगा, कारणनिक्कारणे व अहिगरणं।
एएहिँ कारणेहिं, वसंति निस्सा अनिस्सा वा॥३१९॥

स्तेनाः श्वापदा वा यत्रोपद्रवन्ति तत्र ये गृहस्थाः परित्राणं कुर्वते तत तन्निश्रया वस्तव्यम्, मशका वाऽन्यत्राभिद्रवन्ति ततो निश्रयाऽपि वस्तव्यम्, निष्कारणे तु निश्रया वसतामप्काये यत्र वाहनादिकमधिकरणं भवेत्. एतैः कारणैर्निश्रया अनिश्रया वा यथायोगं वसन्तीति। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

कः ससागारिक उपाश्रय इत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा ससागारियं सागणियं सउदयं णो पण्णस्स णिक्खमणपवेसणाए० जाव अणुचिंताए तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा। (सू०-६१)

स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात् तद्यथा-ससागारिकं साऽग्निकं सोदकम्, तत्र स्वाध्यायादिकृते स्थानादि न विधेयमिति। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०।

सागारिकोपाश्रये वस्तुं कल्पते—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारिए उवस्सए वत्थए॥ २५॥

अस्य सम्बन्धमाह—

निस्स त्ति अइपसंगे-ण साहु सागारियम्मि उ वसिज्जा।
ते चेव निस्सदोसा,सागारिय नि(व)स्सओ मा हु॥३२०॥

निर्ग्रन्थीनां सागारिकनिश्रयैव निर्ग्रन्थानामपि कारणे निश्रया वस्तुं कल्पते इत्युक्ते अतिप्रसङ्गेन दोषेण सागारिकेऽपि प्रतिश्रये वसेयुः। कुत इत्याह-सागारिकोपाश्रये निवसन्तो मा तपःस्वस्थाननिवेशनादिविषया निश्रादोषा भवेयुः, अतः सागारिकसूत्रं प्रारभ्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (२५) व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा सागारिके, सागारिकं द्रव्यतो भावतश्च स वक्ष्यमाणलक्षणं तदत्रास्तीति व्युत्पत्तेरभ्रादित्वादप्रत्यये सागारिकः। ईदृशे उपाश्रये वस्तुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः।

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

सागारियनिक्खेवो, चउव्विहो होइ आणुपुव्वीए।
नामं ठवणा दविए, भावे य चउव्विहो भेओ॥३२१॥

सागारिकपदस्य निक्षेपश्चतुर्विधः आनुपूर्व्या भवति। तद्यथा-नाम्नि,स्थापनायां द्रव्ये, भावे, च, इत्येष चतुर्विधो भेदः। तत्र नामस्थापने गतार्थे।

द्रव्यतो नोआगमतो ज्ञशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यसागारिकमाह-

रूवं आभरणविही, वत्थालंकारभोयणे गंधे।
आउज्ज नट्ट नाडग-गीए सयणे य दव्वम्मि॥३२२॥

रूपम् आभरणविधिः वस्त्रालंकारो भोजनं गन्धः आतोद्यं नृत्तं नाटकं गीतं शयनीयं च; एतद् द्रव्यसागारिकम्।

तत्र रूपपदं व्याख्यायते—

जं कट्ठकम्ममाई-सरूवँ सट्ठाणे तं भवे दव्वं।
जीवाजीवविमुक्कं, विसरिसरूवं तु भावम्मि॥ ३२३॥

यत्काष्ठकर्म्मणि वा लेपकर्म्मणि वा पुरुषरूपं वा निर्मितं तत् स्वस्थाने द्रव्यसागारिकं भवेत्। स्वस्थानं नाम नि-

Gaṇesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थानां पुरुषरूपं निर्ग्रन्थीनां तु स्त्रीरूपम्, यत्तु विसदृशरूपं तद्भावसागारिकम्। निर्ग्रन्थीनां तु स्त्रीरूपं निर्ग्रन्थानां तु पुरुषरूपं भावस्य सागारिकमित्यर्थः। यद्वा—जीवविप्रमुक्तम्-पुरुषशरीरं स्त्रीशरीरं वा। तदपि स्वस्थाने द्रव्यसागारिकम्, परस्थाने तु भावसागारिकमिति। अथ 'आभरणविही' त्यादि व्याख्यायते—आभरणं—कटकादि तस्य विधिर्भेदा आभरणविधिः, वस्त्रमेवालङ्कारो वस्त्रालङ्कारः। यदि वा-वस्त्राणि-चीनांशुकादीनि; अलङ्कारो द्विधा-केशालङ्कारो माल्यालङ्कारभेदात्। भोजनम्-अशनपानखाद्यस्वाद्यभेदाच्चतुर्विधम्, गन्धः—कोष्ठपुटपाकादिः, आतोद्यं चतुर्विधम्-ततम्, विततम्, घनम्, शुषिरम्। " ततं—वीणाप्रभृतिकं, विततं—मुरजादिकम्। घनं तु-कांस्यतालादि, वंशादि—शुषिरं मतम्" ॥१॥ नृत्तमपि चतुर्विधम्-आचितम्, रिभितम्, आरभडम्, भसोलम्। एते चत्वारोऽपि भेदा अनादिशास्त्रप्रसिद्धाः। नाटकम्—अभिनयविशेषः।

अथवा—

नट्टं होइ अगीयं, गीयजुयं नाडयं तु नायव्वं।
आभरणादी पुरिसो-वभोगदव्वं तु सट्टाणे ॥ ३२४ ॥

इह अगीतं-गीतविरहितं नाट्यं भवति, यत् पुनर्गीतयुक्तं तन्नाटकं ज्ञातव्यम्। गीतं चतुर्द्धा—तन्त्रीसमम्, तालसमम्, ग्रहसमम्, लयसमं चेति। शयनम्—पल्यङ्कादि, यत्तदाभरणादिकं यत्पुरुषोपभोग्यं तत् स्वस्थाने द्रव्यसागारिकं निर्ग्रन्थानामिति भावः। अन्नं च भोजनगन्धातोद्यशयनानि द्वयोरपि स्त्रीपुरुषपक्षयोः साधारणत्वाद् द्रव्यसागारिकमेव, शेषाणि तु साधुसाध्वीनां स्वस्थानयोग्यानि द्रव्यसागारिकम्, परस्थानयोग्यानि तु भावसागारिकम्।

एतेषु प्रायश्चित्तमाह—

एक्केक्कम्मि य ठाणे, भोयणवज्जाण चउलहू हुंति।
चउगुरुगभोअणम्मि वि,तत्थ वि आणाइणो दोसा।३२५

एकैकस्मिन्—रूपाभरणादौ द्रव्ये सागारिकभोजनवर्जे तिष्ठतां चतुर्लघवः। भोजनसागारिके चतुर्गुरवः, केषांचिन्मतेनाभरणवस्त्रयोरपि चतुर्गुरवः तत्राप्याज्ञादयो दोषाः।

तथा—

को जाणइ को किर सो, कस्स य माहप्पया समत्थत्ते।
धिइदुब्बला उ केई, देवेंति तत्रो अगारिजणं॥३२६॥

को जानाति नानादेशीयानां साधूनां मध्ये कः कीदृशः—कीदृक्परिणामः कस्य वा कीदृशी महात्मता—महाप्रभावता, समर्थत्वे—सामर्थ्ये लोभनिग्रहब्रह्मव्रतपरिपालनं वा प्रतीत्य विद्यते, परचेतोवृत्तीनां निरतिशयैरनुपलक्ष्यत्वात्। भूयो ये केचित् धृतिदुर्बलास्ते तत्र रूपाभरणादिभिराक्षिप्तचित्ताः—परित्यक्तसंयमधुरा अगारीजनं 'देवेंति' गच्छन्ति परिभुञ्जते इत्यर्थः।

तथा—

के इत्थ भुत्तभोगी, अभुत्तभोगी य केऽपि निक्खंता।
रमणिज्ज लोइयंति य, अम्हं पेतारिसा आसी ॥ ३२७ ॥

केचिदत्र गच्छमध्ये भुक्तभोगिनः केचिदभुक्तभोगिनः तेषां उभयेषामित्येवं भावः समुत्पद्यते—रमणीयमिदं लौकिकं चरितं यत्रैवं वस्त्राभरणानि परिधीयन्ते, विविधखाद्यकादीनि यथेच्छं भुञ्जते। अस्माकमपि गृहाश्रमे स्थितानामेतादृशा भोगा आसीरन्।

इदमेव व्यनक्ति—

एरिसओ उवभोगे,अम्ह वि आसिप्पइ एह ओयल्ला।
दुक्कर करेमि भुत्ते, कोउगमियरस्स दट्ठूणं ॥ ३२८ ॥

ईदृश एव गन्धमाल्यताम्बूलाद्युपभोगः पूर्वमस्माकमप्यासीत्, 'एह' इति निपातः पादपूरणे। इदानीं तु वयं उज्जलाः-प्राबल्येन मलिनशरीराः अलब्धसुखास्वादाश्च दुष्करं केशश्मश्रुलुञ्चनभूमिशयनादि कुर्महे, इत्थं भुक्तभोगी चिन्तयति, इतरोऽभुक्तभोगी तस्य रूपाभरणादिकं दृष्ट्वा कौतुकं भवेत्।

को दोष इत्यत आह—

सतिकोउगेण दुन्नि वि,परिहेज्ज लइज्ज या वि आभरणं।
अन्नेसिं उवभोगं, करिज्ज वाएज्ज उड्डाहो ॥ ३२९ ॥

स्मृतिश्च कौतुकं चेति द्वन्द्वैकवद्भावः, तेन स्मृतिकौतुकेन द्वावपि भुक्ताऽभुक्तभोगिनौ वस्त्राणि वा परिदधीयाताम्, आभरणं वा स्वशरीरे गृह्णीयाताम्, अन्येषां वा गन्धशयनीयासनादीनामुपभोगं कुर्वीताम्, आतोद्यं—वादयेतामसंयतो वा असंयतमलंकृतविभूषितं दृष्ट्वा लोकमध्ये उड्डाहं कुर्यात्।

किञ्च—

तच्चित्ता तल्लेसा, भिक्खा-सज्झायमुक्कतत्तीया।
विकहाविस्सुतियमणा,गमणस्स अ उस्सुईभूया॥३३०॥

तदेव-स्त्रीरूपादिचिन्तनात्मकं चित्तं येषां ते तच्चित्ता, लेश्या-नाम-तदङ्गपरिभोगाध्यवसायः, सा च लेश्या येषां ते तल्लेश्याः, भिक्षास्वाध्याययोर्मुक्ततप्तिर्व्यापारो येषां ते भिक्षास्वाध्यायमुक्ततप्तिकाः, तथा संयमाराधनीया वाग्योगप्रवृत्तिः सा कथा तद्विपक्षगता विकथा, विश्रोतसिका नाम-स्त्रीरूपादिस्मरणजनिता विन्दुविप्लुतिः तयोर्मनो येषां ते विकथाविश्रोतसिकमनसः। एवंविधास्ते केचिद्गमने-धावने उत्सुका भवन्ति, केचिच्च उत्सुकीभूता उत्प्रव्रजिता इत्यर्थः।

तत्र विकथा कथं भवतीत्याह—

सुट्ठु कयं आभरणं,विणासियं न वि य जाणसि तुमं पि।
मुच्छुड्डाहो गंधे, विसुत्तिया गीयसद्देसुं ॥ ३३१ ॥

एकः साधुर्ब्रवीति-सुष्ठु-शोभनं कृतमिदमाभरणम्, द्वितीयः प्राह-विनाशितमेतत्, त्वमप्यविशेषज्ञो न जानासि। एवमुत्तरप्रत्युत्तरिकां कुर्वतोस्तयोरसंखडमुपजायते। मूर्च्छा वा तत्र रूपादौ कोऽपि कुर्यात्। तथा वाऽसौ सपरिग्रहो भवति 'उड्डाहो गंधे' त्ति चन्दनादिगन्धेनात्मनं यदि कोऽपि विलिम्पति पटवासादिभिर्वा वासयति ततः उड्डाहो भवति, नूनं कामिनोऽमी अन्यथा कथमित्थमात्मानं मण्डयन्तीति। आतोद्यगीतशब्देषु श्रूयमाणेषु विश्रोतसिका जायते।

अपि च—

निच्चं पि दव्वकरणं, अवहियहियस्स गीयसद्देहिं।
पडिलेहणसज्झाए, आवासगभुंजते रत्ती ॥ ३३२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नित्यमपि-सर्वकालं गीतादिशब्दैरपहृतहृदयस्य प्रत्युपेक्षणायां स्वाध्याये आवश्यके भोजने वैरात्रिके उपलक्षणत्वात्प्राभातिकादिषु च द्रव्यकरणमेव भवति, न भावकरणम्।

भावकरणव्यापारेषु-

ते सादितुमारद्धा, संजमजोगेसु वसहिदोसेणं।
गलति जतू तप्पंतं, एस चरित्तं मुणेतव्वं ॥ ३३३ ॥

जतु-लाक्षा यथा अग्निना तप्यमानं गलति, एवं रागाग्निना तप्यमानं चारित्रमपि गलतीति ज्ञातव्यम्।

उन्निक्खंता केई, पुणो वि संमेलणाएँ दोसेण।
वच्चंति संभरंता, भंतूण चरित्तपागारं ॥ ३३४ ॥

तस्यां वसतौ स्त्रीपुरुषादिसंमेलनाया दोषेण केचिन्मन्दभाग्या उन्निष्क्रान्ता-उत्प्रव्रजितास्ततश्चारित्रमेव प्राकारो-यत्र नगररक्षार्थत्वमत्वाच्चारित्रप्राकारम् भङ्क्त्वा तान्येव स्त्रीरूपादीनि संस्मरन्तः पुनरपि गृहवासं व्रजन्ति।

ततः किमभूदित्याह-

एगम्मि दोसु तीसुं, चउहा चिंतेसु तत्थ आयरिओ।
मूलं अणवट्ठप्पो, पावइ पारंचियं ठाणं ॥ ३३५ ॥

यद्येक उन्निष्क्रामति ततो मूलम्, द्वयोरवधावतोः—अनवस्थाप्यम्। तेषु अवधावमानेषु तत्राचार्यः पाराञ्चिकं स्थानं प्राप्नोति, यस्य वा वशेन तत्र स्थितास्तस्येदं प्रायश्चित्तमिति। गतं द्रव्यसागारिकम्।

अथ भावसागारिकमाह-

अट्ठारसविहऽबंभं, भावा ओरालियं च दिव्वं च।
मणवयणकायगच्छण, भावम्मि य रूवसंजुत्तं ॥३३६॥

अष्टादशविधमब्रह्म भवति। तस्य चौदारिकदिव्यलक्षणौ द्वौ मूलभेदौ। तत्रौदारिकं नवविधम्-औदारिकान् कामभोगान् मनसा गच्छति, मनसा गमयति, गच्छन्तमन्यं मनसैवानुजानीते। एवं वाचाऽपि त्रयो भेदाः प्राप्यन्ते, कायेनापि त्रयः। एतैस्त्रिभिस्त्रिकैर्नवभेदा भवन्ति। एवं दिव्येऽप्यब्रह्मणि नवभेदा लभ्यन्ते। एवमेव तदष्टादशविधमब्रह्म सागारिकं भवति। अथवा-रूपं वा संयुक्तं वा रूपसहगतं यदब्रह्म भावोत्पत्तिकारणं तदपि भावसागारिकम्।

एतदेव स्पष्टयति—

अहवा अबंभजुत्तो, भावे रूवा उ सहगयाओ वा।
भूसणजीवजुयं वा, सहगय तव्वज्जियं रूवं ॥ ३३७ ॥

अथवा-यतो रूपाद्वा अब्रह्मरूपो भाव उत्पद्यते तदपि कारणे कार्योपचारात् भावसागारिकम्। यथा-'नड्वलोदकं पादरोग' इति, तत्र यत् स्त्रीशरीरं भूषणसंयुक्तम्, अभूषितं वा यज्जीवयुक्तं तद्रूपसहगतं मन्तव्यम्। यत्पुनः स्त्रीशरीरमेव तद्वर्जितं भूषणविरहितं जीवयुक्तं वा तद्रूपमुच्यते।

तं पुण रूवं तिविहं, दिव्वं माणुस्सयं तिरिक्खं च।
पायावच्चकुडुंबिय, दंडिय पारिग्गहं चेव ॥ ३३८ ॥

तत्पुनरनन्तरोक्तं रूपं तत् त्रिविधम् दिव्यम्, मानुष्यम्, तैरश्चश्च। पुनरकैकं त्रिधा-प्राजापत्यपरिगृहीतम्, कौटुम्बिकपरिगृहीतम्, दण्डिकपरिगृहीतं चेति। प्राजापत्याः प्राकृतलोका उच्यन्ते। एवं त्रिविधमपि प्रत्येकं त्रिधा, जघन्यमध्योत्कृष्टभेदात्।

तत्र दिव्यस्य जघन्यादिभेदत्रयमाह—

वाणंतरिय जहन्नं, भवणवई जोइसं व मज्झिमगं।
वेमाणिय उक्कोसं, पगयं पुण ताण पडिमासु ॥३३९॥

दिव्येषु यद्वाणव्यन्तरिकं रूपं तज्जघन्यम्, भवनपतिज्योतिष्कयोर्मध्यमम्, वैमानिकरूपम् उत्कृष्टम्। तत्र च तेषां वाणव्यन्तरादीनां याः प्रतिमास्ताभिः प्रकृतमधिकारः, सागारिकोपाश्रयस्य प्रस्तुतत्वात्, तत्र च प्रतिमानामिव सद्भावात्।

प्रकारान्तरेण दिव्यप्रतिमानां जघन्यादिभेदानाह—

कट्ठे पोत्थे चित्ते, जहन्नयं मज्झिमं च दंतम्मि।
सेलम्मि य उक्कोसं, जं वा रूवा तु निप्फन्नं ॥ ३४० ॥

या दिव्यप्रतिमा काष्ठकर्मणि वा पुस्तककर्मणि वा चित्रकर्मणि वा क्रियते तज्जघन्यं दिव्यरूपम्। या तु हस्तिदन्ते क्रियते तन्मध्यमम्, च पुनः शैले वाशब्दात्-मणिप्रभृतिषु च या क्रियते, तदुत्कृष्टम्। यद्वा-रूपान्निष्पन्नं जघन्यादिकं तद् द्रष्टव्यम्। यद् द्रव्यप्रतिमा विरूपा तज्जघन्यं दिव्यरूपम्। या तु मध्यमरूपा तन्मध्यमम्। या पुनः सुरूपा तदुत्कृष्टम्। अत्र चायतप्रतिमायुते उपाश्रये तिष्ठतश्चत्वारो लघुकाः प्रायश्चित्तम्।

अथात्रैव विभागतः प्रायश्चित्तमाह—

ठाणपरिसेवणाए, तिविहे वा दुविहमेव पच्छित्तं।
लहुगा तिन्नि वि सिट्ठा, अपरिग्गहे ठायमाणस्स॥३४१॥

त्रिविधेऽपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्ने दिव्ये प्रतिमायुते तिष्ठतो द्विविधं प्रायश्चित्तम्, स्थानं, निष्पन्नं च। तत्र निष्पन्नमिदम्—दिव्ये प्रतिमायुते परिगृहीते तिष्ठतस्त्रयश्चतुर्लघुकास्तपःकालविशिष्टाः। तद्यथा-जघन्ये चत्वारो लघुकास्तपसा कालेन च लघुकाः, मध्यमे त एव कालगुरुकाः उत्कृष्टे त एव तपोगुरुकाः।

अथ परिगृहीते प्रायश्चित्तमाह—

चत्तारि य उग्घाया, पढमे बिइयम्मि ते अणुग्घाया।
छम्मासा उग्घाया, उक्कोसे ठायमाणस्स ॥ ३४२ ॥
पायावच्चपरिग्गहे, दोहि वि लहु हुंति एते पच्छित्ता।
कालागुरु कोडुंबे, दंडियपारिग्गहे तवसा ॥ ३४३ ॥

प्रथमं-जघन्यं तत्र तिष्ठतश्चत्वार उद्घाता मासाः,लघवो मासा इत्यर्थः,द्वितीयं-मध्यमं तत्र त एव चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरुका इत्यर्थः,उत्कृष्टे तु तिष्ठतः षड्मासा उद्घाताः षड्लघव इत्यर्थः। एतानि च प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यपरिगृहीते द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघुकानि द्रष्टव्यानि। कौटुम्बिकपरिगृहीते वा एतान्येव कालगुरुकाणि, दण्डिकपरिगृहीते एतान्येव तपसा गुरुकाणि। इदं च यस्माज्जघन्यादिविभागेन निर्दिष्टं संनिहिताऽसंनिहितभेदेन न विशेषितं तस्मादेतद्दोषविभागप्रायश्चित्तमभिधीयते। अथ विभाग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रायश्चित्तं निरूपयितव्यम् , तत्र चैतान्येव जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि संनिहिताऽसंनिहितभेदाभ्यां विशेष्यमाणानि षट् स्थानानि भवन्ति।

एतेषु प्रायश्चित्तमाह—

चत्तारि य उग्घाता, पढमे बिइयम्मि तो अणुग्घाया।
तइयम्मि अणुग्घाया,चउत्थ छम्मास उग्घाता ॥३४४॥
पंचमगम्मि वि एवं, छट्ठे छम्मास हौंति ऽणुग्घाया।
संनिहिएऽसंनिहिए, एस विही हाणमाणस्स ॥३४५॥

प्रथमं नाम-जघन्यमसंनिहितम् , द्वितीयं जघन्यं संनिहितम् , तृतीयं मध्यममसंनिहितम् ,चतुर्थं मध्यमं संनिहितम् ,पञ्चममुत्कृष्टमसंनिहितम्, षष्ठमुत्कृष्टं संनिहितम्। अत्राऽयमुच्चारणविधिः। जघन्यके असंनिहिते प्राजापत्यपरिगृहीते तिष्ठति चत्वार उद्घाता मासाः, संनिहिते तिष्ठति त एव चत्वारो मासा अनुद्घाताः। मध्यमके असंनिहिते चत्वारो मासा अनुद्घाताः, संनिहिते षण्मासा अनुद्घाताः। एवोऽसंनिहिते सन्निहिते च तिष्ठतः प्रायश्चित्तविधिरुक्तः।

अथ प्राजापत्यादिविशेषत एवमेव विशेषयति—

पढमिल्लुगम्मि ठाणे, दोहि वि लहुगा तवेण कालेणं।
बिइयम्मि अकालगुरू,तवगुरुगा होन्ति तइयम्मि॥३४६॥

प्रथमे स्थाने—प्राजापत्यपरिगृहीते एतानि प्रायश्चित्तानि द्वाभ्यामपि लघुकानि, तद्यथा—तपसा कालेन च। द्वितीये कौटुम्बिके परिगृहीते तान्येव कालगुरुकाणि , तृतीये दण्डिकपरिगृहीते एतान्येव तपोगुरुकाणि।

स्थानप्रायश्चित्तमेव प्रकारान्तरेणाह—

अहवा भिक्खुस्सेयं, जहन्नगाइम्मि ठाणपच्छित्तं।
गणिणो उवरिं छेदो, मूलायरिए पयं हसति ॥३४७॥

अथवा यदेतज्जघन्यादौ चतुर्लघुकादारभ्य षड्गुरुकावसानं स्थानप्रायश्चित्तमुक्तम्, तद्भिक्षोरेव द्रष्टव्यम् , गणी-उपाध्यायस्तस्य षड्गुरुकादुपरिच्छेदाख्यं प्रायश्चित्तपदं वर्द्धते। एकं पदं चतुर्लघुकाख्यमधो ह्रसति चतुर्गुरुकादारभ्य छेदं तिष्ठतीत्यर्थः। आचार्यस्य षड्लघुकादारब्धं मूलं यावत्प्रायश्चित्तम् , अत्राप्येकं पदमुपरि वर्द्धते, अधस्तादेकं पदं ह्रसतीति। गतं स्थानप्रायश्चित्तम्।

अथ प्रतिसेवनाप्रायश्चित्तमाह—

चत्तारि छच्च लहु गुरु, छम्मासितो छेदो लहु गुरुगा य।
मूलं जहन्नगम्मि य, सेवंति पसज्जणं मोत्तुं ॥ ३४८ ॥

प्राजापत्यपरिगृहीते जघन्ये असन्निहिते-अदृष्टे प्रतिसेवमाने चत्वारो लघवः, दृष्टे चत्वारो गुरवः। संनिहिते अदृष्टे चतुर्लघवः, कौटुम्बिकपरिगृहीते जघन्ये असंनिहिते अदृष्टे प्रतिसेविते लघुषाण्मासिकच्छेदः , दृष्टे षाण्मासिकच्छेदः। संनिहिते अदृष्टे गुरुषाण्मासिकच्छेदः, दृष्टे मूलम्। एतज्जघन्यं दिव्यप्रतिमारूपं सेवमानस्य प्रायश्चित्तं भणितम्। प्रसज्जना नाम दृष्टे सति भोजिकाघाटिकादीनां ग्रहणाकर्षणप्रभृतीनां वा दोषाणां परंपरया प्रसङ्गः, तं मुक्त्वा एतत्प्रायश्चित्तम् , तन्निष्पन्नं तु पृथगापद्यते।

अथ मध्यमे प्रायश्चित्तमाह—

चउगुरुग छच्च लहुगुरु,छम्मासिओ छेदो लहुओ गुरुगो।
मूलं अणवट्ठप्पो, मज्झिमपसज्जणं मोत्तुं ॥ ३४९ ॥

मध्यमे प्राजापत्यपरिगृहीते असंनिहिते अदृष्टे प्रतिसेविते चतुर्गुरवः, संनिहिते अदृष्टे षड्लघवः। दृष्टे षड्गुरवः। कौटुम्बिकपरिगृहीते असंनिहिते अदृष्टे षड्गुरवः। सन्निहिते दृष्टे लघुषाण्मासिकच्छेदः, दृष्टे गुरुषाण्मासिकच्छेदः। दण्डिकपरिगृहीते असंनिहिते अदृष्टे गुरुषाण्मासिकच्छेदः, दृष्टे मूलम् , सन्निहिते दृष्टे अनवस्थाप्यम्। एतन्मध्यमके प्रसज्जनां मुक्त्वा प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्।

उत्कृष्टविषयमाह—

तव छेदो लहु गुरुगो, छम्मासितो मूलसेवमाणस्स।
अणवट्ठो पारंचिय, उक्कोसे पसज्जणं मोत्तुं ॥ ३५० ॥

उत्कृष्टे—प्राकृतपरिगृहीते असंनिहिते अदृष्टे प्रतिसेविते लघुषाण्मासिकं तपः, दृष्टे गुरुषाण्मासिकं तपः। संनिहिते अदृष्टे गुरुषाण्मासिकं तपः, दृष्टे लघुषाण्मासिकच्छेदः। कौटुम्बिकपरिगृहीते असंनिहिते अदृष्टे लघुषाण्मासिकच्छेदः, दृष्टे गुरुषाण्मासिकच्छेदः, संनिहिते दृष्टे मूलम् , दण्डिकपरिगृहीते असंनिहिते अदृष्टे मूलम् , दृष्टे अनवस्थाप्यम् , दृष्टे पाराञ्चिकम्। एवमुत्कृष्टे दिव्यप्रतिमारूपां प्रसज्जनां मुक्त्वा प्रायश्चित्तमवसातव्यम्।

अथ यथाचारणिकाया अभिलापः कर्त्तव्यस्तथा भाष्यकृदुपदर्शयति—

पायावच्चपरिग्गहे, जहन्नसंनिहियए असंनिहिए।
दिट्ठादिट्ठे सेवइ, एसाऽऽलावो उ सव्वत्थ ॥ ३५१ ॥

प्राजापत्यपरिगृहीते जघन्ये असंनिहिते संनिहिते अदृष्टे च सेवते, गाथायाम्-असंनिहिता दृष्टपादयोर्बन्धानुलोम्यात्पश्चान्निर्देशः। एष ईदृश आलापः—उच्चारणविधिः सर्वत्र कौटुम्बिकपरिगृहीतादौ मध्यमादौ च कर्त्तव्यः।

अत्र नोदक आह—

जम्हा पढमे मूलं, बिइए अणवट्ठो तइए पारंची।
तम्हा ठायंतस्स य, मूलं अणवट्ठ पारंची ॥३५२॥

यस्मात् प्रथमे—जघन्ये प्रतिसेवमानस्य चतुर्लघुकादारब्धं मूलं यावत्प्रायश्चित्तं भवति, द्वितीये—मध्यमे चतुर्गुरुकमादौ कृत्वा अनवस्थाप्यम् , तृतीये उत्कृष्टे लघुकादारब्धं पाराञ्चिकं यावद्भवति, तस्मात्तिष्ठत एव स्थाननिष्पन्नानि। जघन्यमध्यमोत्कृष्टे तु यथाक्रमं मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकानि भवन्तु।

सूरिराह—

पडिसेवणा य एवं, पसज्जणा होइ तत्थ एक्केक्के।
चरिमपए चरिमपदं,तं पि य आणाइनिप्फन्नं ॥३५३॥

जघन्यादि प्रतिसेवनायामेवं मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकं यावद्भवति। यच्चाज्ञादिदोषनिष्पन्नं चतुर्गुरुकं तदपि द्रष्टव्यमिति संग्रहगाथासमासार्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथैनामेव विवरीपुराह—

जइ पुण सव्वो विहितो, सेविज्जा होज्ज चरिमपच्छित्तं ।
तम्हा पसंगरहियं, जं सेवइ तं न सेसाई ॥ ३५४ ॥

पुनः शब्दो—विशेषणे, किं विशिनष्टि यद्येष नियमो भवेत् तस्मात् प्रसङ्गरहितं यत् स्थानं सेवते तन्निष्पन्नमेव प्रायश्चित्तं भवति, न शेषाणि मूलादीनि ।

अथ "चरमपदे चरमपद" मिति पदं भावयति—

अदिट्ठाओ दिट्ठं, चरमं तहि संकमाइ जा चरिमं ।
अहव ण चरिमारोवण, ततो वि पुण पावए चरिमं।३५५।

अदृष्टपदाद् दृष्टपदं चरमम्, तत्र चरमपदे शङ्का भोजिकाघाटिकादिक्रमेण चरमपदं—पाराञ्चिकं यावत् प्राप्नोति । आह—यदि दृष्टं ततः कथं शङ्का ननु निःशङ्कितमेव, उच्यते—दूरेण गच्छतो दृष्टेऽपि पदार्थे सम्यगविभाविते शङ्का भवति । अथवा—या यत्र चरमारोपणा यथा जघन्ये चरममूलम्, मध्यमे चरममनवस्थाप्यम्, उत्कृष्टे चरमं पाराञ्चिकम्, तत्तत्र चरमपदम्, ततोऽपि चरमपदात् शङ्कादिभिः पदैश्चरमं पाराञ्चिकं पुनः प्राप्नोति ।

अहवा आणाइविरा–हणाइ एक्किक्किया उ चरिमपदं ।
पावइ तेण उ नियमो, पच्छित्तिहरा अइपसङ्गो ॥३५६॥

अथवा आज्ञाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनापदानां मध्ये यद्विराधनापदं तच्चरमम्, सा च विराधना द्विधा—आत्मनि, संयमे च । तस्या एकैकस्याः सकाशाच्चरमपदं-पाराञ्चिकं प्राप्नोति । तत्र प्रतिमायाः स्वामी तेन दृष्ट्वा प्रतापितस्यात्मविराधनायां परितापनादिक्रमेण पाराञ्चिकम्, संयमविराधनायां तु तस्याः प्रतिमायाः हस्ताद्यवयवे भग्ने यतः संस्थाप्यमाने सति 'छक्काय चउसु लहुगा' इत्यादिक्रमेण पाराञ्चिकम्, यत एवं प्रसङ्गः ततो बहुविधं प्रायश्चित्तम् । तेनायं नियमतस्तिष्ठतः स्थानप्रायश्चित्तमेव न प्रतिसेवनाप्रायश्चित्तम्, इतरथा अतिप्रसङ्गो भवति ।

कथमिति चेदुच्यते-

नऽत्थि खलु अपच्छित्ती,एवं ण य दाणि कोइ मुच्चेज्जा ।
कारि-अकारिय-समया, एवं सइ रागदोसा य ॥३५७॥

यद्यप्रतिसेवमानस्यापि मूलादीनि भवन्ति तत एवं नास्ति कोऽप्यप्रायश्चित्ती, नचेदानीं कश्चित्कर्मबन्धान्मुच्यताम् । यः प्रतिसेवते तस्य कारिणः अकारिणश्च समता भवति, एवं प्रायश्चित्तदाने सति रागद्वेषौ प्राप्नुत इति ।

नयेऽपि चाज्ञादिनिष्पन्नमिति पदं व्याख्यानयति—

पुरिमादी आणाए, अणवत्थ परंपराएँ थिरिकरणं ।
मिछत्ते संकादी, पसज्जणा जाव चरिमपदं ॥ ६५८ ॥

अपराधपदे वर्तमानस्तीर्थकृतामाज्ञाभङ्गं करोति तत्र चतुर्गुरु । अत्र च मौर्यैर्मयूरपोषकवंशोद्भवैः, आदिशब्दादपरैश्चाज्ञासारैः राजभिर्दृष्टान्तः । ततश्च काले अनवस्थाप्यं वर्तते, तत्र चतुर्लघु, अनवस्थातश्च परंपरया स्थिरीकरणं तदेवापराधपदमन्योऽपि करोतीत्यर्थः । तदा वासौ देशतो मिथ्यात्वमासेवते तत्र चतुर्लघु । अपराधपदे च वर्त्तमानो विराधनायां साक्षादेव वर्तते, परस्य च शङ्कादिकं जनयति । यथैतन्मृषा तथाऽन्यदपि सर्वममीषां मृषैव । प्रसज्जना चात्र भोजिकादिरूपा तत्र चरमं-पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तं भवति । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

अथानवस्थामिथ्यात्वविराधनापदानि व्याचष्टे—

अणवत्थाएँ पसंगो, मिच्छत्ते संकमाइया दोसा ।
दुविहा विराहणा पुण ,तहियं पुण संजमे इणमो ॥३६२॥

यद्येष बहुश्रुतोऽप्येवं सागारिके प्रतिश्रये स्थितः, ततः किमित्याह-किमपि न तिष्ठामीत्येवमनवस्थाप्यम्, अन्यस्यापि प्रसङ्गो भवति, मिथ्यात्वे शङ्कादयो दोषाः । शङ्का नाम किं मन्ये यथावादिनस्तथाकारिणोऽमी न भवन्ति । आदि शब्दाद्—विरत्यादिधर्मं प्रतिपद्यमानानां विपरिणाम इत्यादिदोषपरिग्रहः । विराधना द्विविधा-संयमे, आत्मनि च ।

तत्र संयमविषया तावदियम्—

अणट्ठदंडो विकहा, वक्खेव विसोत्तियाएँ सइकरणं ।
आलिंगणादि दोसा, ऽसंनिहिए ठायमाणस्स ॥३६३॥

अर्थः—प्रयोजनं तदभावोऽनर्थः तेन दण्डोऽनर्थदण्डः, स च द्रव्यतो यदकारणे राजकुले दण्ड्यते, भावतस्तु निष्कारणं ज्ञानादीनां हानिः, सा सागारिके प्रतिश्रये स्थितानां भवति । विकथा—वक्ष्यमाणरूपा, व्याक्षेपो नाम—तां प्रतिमां प्रेक्षमाणस्य द्वितीयसाधुना च सहोल्लापं कुर्वतः सूत्रार्थपरिमन्थः । विश्रोतसिका द्विधा—द्रव्यतः सारणी पानीयं वहमानं तृणादिकचवरस्थानीयया चित्तविप्लुत्या निरुद्धे सति चारित्रस्य विनाशो जायते सा विश्रोतसिकेत्युच्यते, तया स्मृतिकरणं भुक्तभोगिनां कौतुकम्, आलिङ्गनादयश्च दोषा भवन्ति । एते असंनिहिते प्रतिमारूपे तिष्ठतो दोषाः ।

अथ विकथापदं विवृणोति—

सुट्ठुकया अह पडिमा,विणासिया न वि य जाणसि तुमं पि।
इय विकहा अहिगरणं,आलिंगणेँ भंगेँ भद्दितरा ।३६४।

एकः साधुः ब्रवीति-सुष्ठुकृतेयं प्रतिमा,द्वितीयः प्राह-विनाशितेयं नापि च जानासि त्वमपि, इत्येवं विकथा । ततश्चोत्तरप्रत्युत्तरिकां कुर्वतोस्तयोरधिकरणं भवति । अथ कोऽप्युदीर्णमोहस्तां प्रतिमामालिङ्गेत्, तत आलिङ्गने प्रतिमाया हस्तपादादिभङ्गो भवेत्, सपरिग्रहायाश्च प्रतिमायां भद्रकेतरदोषाः, भद्रका हस्तपादादिभङ्गे सञ्जाते सति पुनः संस्थापनं विदध्यात्, प्रान्तः आकर्षग्रहणादीनि कुर्यात् ; एते असंनिहिते दोषा उक्ताः ! संनिहितेऽपि त एव वक्तव्याः ।

एते चान्येऽधिकाः-

वीमंसा पडिणीय-ट्ठया व भोगित्थिणी च संनिहिया।
काणच्छी उक्कंपण, आलावनिमंतणपलोभे य ॥३६५॥

संनिहिता सा त्रिभिः कारणैः साधुं प्रलोभयेत्, विमृश्याद्वा, प्रत्यनीकार्थतया वा, भोगार्थितया वा, विमर्शो नाम किमेष साधुः शक्यः क्षोभयितुं नवेति, जिज्ञासा च-या प्रतिमामनुप्रविश्य काणाक्षिकं वा उत्कम्पनं वा स्तनादीनां विदधीत, आलापं वा कुर्यात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काणच्छिमाइएहिं, खोभिय-ओद्धाइयस्स भद्दाओ।
नासइ इतरो मोहं,सुवरणकारेण दिट्ठंतो ॥ ३६६ ॥

यदा काणाक्षिप्रभृतिभिराकारैः क्षोभितपदा गृह्णास्येना-मित्यभिप्रायेणोद्धावितस्तस्य सा देवता यदि भद्रा ततो नश्यति। इतरः साधुस्तस्यां दर्शनीभूतायां मोहं गच्छति, संमूढश्च तां द्रष्टुमिच्छति। हा कुत्र गताऽसि, देहि सकृदात्मीयदर्शनमित्यादिप्रलापांश्च करोति । अत्र च सुवर्णकारेण चम्पानगरीवास्तव्येनानङ्गसेनाख्येन दृष्टान्तः। स चावश्यकादिग्रन्थेषु प्रसिद्धः। (स च ' दसउर ' शब्दे चतुर्थभागे २४७७ पृष्ठे गतः।)

प्रत्यनीकार्थतयेति व्याचष्टे—

वीमंसा पडिणीया, विद्(द)रिसणखित्तमादिणो दोसा।
असंपत्ति संपत्ती, लग्गस्स य कड्ढणादीणि ॥ ३६७ ॥

प्रत्यनीकात् विमर्शात् काणाक्षिप्रभृतिभिराकारैः क्षोभयित्वा यदाऽसौ उत्थापितस्तदा 'असंपत्ति' त्ति यावदसौ हस्तादिना नैव गृह्णाति , तावद्विदर्शनं—विवक्षितं रूपं दर्शयति । अथवा—विदर्शनं नाम—अलग्नमेव लोको लग्नं पश्यति। यद्वा—सा तस्य साधोः क्षिप्तचित्तादिदोषान् कुर्यात् , अथवा-परिभोगसंपत्तिं कृत्वा तत्रैव तस्य सागारिकं लापयेत् , श्वा (ना) दिवत् लग्नस्य च तस्य लेप्यकस्वामी अन्यो वा दृष्ट्वा ग्रहणाकर्षणादीनि कुर्यात् ।

एतदेव व्याचष्टे—

पंता उ असंपत्ती, इमेव मारिज्ज खित्तमादी य।
संपत्ती य वि लाए, तु कड्ढणादीणि कारेज्जा ॥३६८॥

प्रान्तः पुनरसंपत्त्यामेव यावदद्याप्यसौ हस्तादिना न गृह्णाति तावन्मारयेद्वा, क्षिप्तचित्तम् , आदिशब्दाद्यक्षाविष्टं वा कुर्यात्। संपत्त्यामपि सागारिकं लापयित्वा ग्रहणाऽऽकर्षणादीनि कारयेत्।

अथ भोगार्थिनीपदं विवृणोति-

भोगत्थि विगए कोउ-कम्मि खित्ताइदित्तचित्तं वा।
दट्ठूण व सेवंतं, देउलसामी करेज्ज इमं ॥ ३६९ ॥

भोगार्थिनी देवता काणेक्षिकादिभिराकारै रूपैः प्रलोभ्य क्षुभितेन सह भोगान् भुक्त्वा , विगते भोगविषये कौतुके, मा अपरया सह भोगान् भुङ्क्तामिति कृत्वा तं क्षिप्तचित्तं वा यक्षाविष्टं दृप्तचित्तं वा कुर्यात् । अथवा तां देवतां सेवमानं तं साधुं दृष्ट्वा देवकुलस्वामी यथा भावेनेदं कुर्यात्-

तं चेव निट्ठवेई, बंधण निच्छुभण कडगमद्दो य।
आयरिए गच्छम्मि य, कुलगणसंघे य पत्थारो ॥३७०॥

तमेव साधुं क्रुद्धः सन् देवकुलस्वामी निष्ठापयति-मारयतीत्यर्थः। यदि वा-प्रचुरोऽसौ ततः स्वयमेव तं साधुं बध्नीयात् । अप्रचुरोऽपि प्रभुणा बन्धापयेत् , अथवा—वसतेः-ग्रामान्नगराद्देशाद्राज्याद्वा निष्काशयेत् , कटकः-स्कन्धावारः स यथा परविषये तीर्णः कस्याप्येकस्य राज्ञः प्रद्वेषेण निरपराधान्यपि ग्रामनगरादीनि सर्वाणि मृद्नाति एवमेकेन साधुना कार्यं कृतं दृष्ट्वा यो यत्र दृश्यते स तत्र बालवृद्धादिरपि सर्वो मार्यते, एवंविधं कटकमर्दं कुर्यात्। यद्वा-यस्तस्याचार्यो गच्छः कुलगणसंघो वा तस्य प्रस्तारो-विनाशः क्रियते।

तथा—

गहणे गुरुगा मासा, कड्ढणे छेदो य होइ ववहारे।
पच्छाकडम्मि मूलं, कड्ढण विरूवणे नवमं ॥ ३७१ ॥
उद्दावण निव्विसए, एगमणेगे पदोसपारंची।
अणवट्ठप्पो दोसु य, दोसु य पारंचिओ होइ ॥३७२॥

स साधुः प्रतिसेवमानो यदि देवकुलस्वामिना गृहीतः ततो ग्रहणे चत्वारो गुरुकाः, अथ हस्ते वा वस्त्रे वा गृहीत्वा राजकुलाभिमुखमाकृष्टस्तत आकर्षणे षड्लघवः, तेन साधुना प्रत्याकर्षितस्ततः षण्मासा गुरवः, व्यवहारे प्रारब्धे छेदः, पश्चात्कृते पराजिते मूलम् , उड्डहने—रासभारोहणादिके विरूपणे वा—नासिकादिकर्तनेन विरूपणाकरणे नवमम्—अनवस्थाप्यम् , एकस्मिन्ननेकेषु वा साधुषु प्रद्वेषतोऽपद्रावणे कृते निर्विषये वा आज्ञप्ते प्रतिसेवके आचार्ये वा पाराञ्चिकम्। एवं च द्वयोरुड्डाहन-विरूपणयोरनवस्थाप्यः, द्वयोस्तु अपद्रावणनिर्विषयतायां द्वयोः पाराञ्चिको भवतीति।

अथवा प्रद्विष्टः सन्नेवं कुर्यात्—

एयस्स नऽत्थि दोसो,अपरिक्खियदिक्खगस्स अह दोसो।
इति पंतो निव्विसए, उद्दवणविरूवणं व करे ॥ ३७३॥

एतस्य प्रतिसेवकसाधोर्नास्ति दोषः किंतु—एनमपरीक्षितं यो दीक्षितवान् तस्यैव दोष इति विचिन्त्य प्रान्त आचार्यं निर्विषयं कुर्यात्, अपद्रावयेद् वा, कर्णनासानयना-द्युत्पाटनेन विरूपणं वा कुर्यात्।

अथासंनिहिते एते दोषाः—

तत्थेव य पडिबंधो, अदिट्ठगमणाइ वा अणिंतीए।
एए अन्ने य तहिं, दोसा पुण होंति संनिहिए ॥३७४॥

तत्रैव-तस्यामेव देवतायां संयतस्य प्रतिबन्धो भवेत्, अथवा-सा व्यन्तरी विगतकौतुका सती नागच्छति, ततस्तस्यामनायान्त्यां स प्रतिगमनादीनि कुर्यात् । एते चैवमादयो दोषा लेप्यकस्वामिना अदृष्टेऽपि संनिहिते प्रतिमारूपे भवन्ति।

ताश्च संनिहिताः प्रतिमा ईदृश्यो भवेयुः।

कट्ठे पुच्छे चित्ते, दंतकम्मे य सेलकम्मे य।
दिट्ठिप्पत्ते रूवे, खित्तचित्तस्स भंसणया ॥ ३७५ ॥

काष्ठमयी पुच्छमयी चित्रमयी दन्तकर्ममयी शैलकर्ममयी प्रतिमा भवेत्। किं पुनस्तासामाश्रयस्थाने प्रतिसेवने वा।

तासां पुनः संनिहितदेवतानामिमे प्रकाराः—

सुहविन्नवणा सुहा, सुहविन्नवणा य होंति दुहमोया।
दुहविन्नप्पा य सुहा,दुहविन्नप्पा य दुहमोया ॥ ३७६ ॥

विज्ञपना नाम-प्रार्थना प्रतिसेवना वा,सा सुखेन यासां ताः, सुखविज्ञपनाः, सुखेन मोच्यन्त इति सुखमोचाः-सुपरित्या-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्या इत्यर्थः, एष प्रथमो भङ्गः। सुखविज्ञपना दुःखमोचा इति द्वितीयः, दुःखविज्ञप्या सुखमोचा इति तृतीयः। दुःखविज्ञप्या दुःखमोचा चतुर्थः।

तत्र प्रथमभङ्गे दृष्टान्तमाह—

सोपारयम्मि नगरे, रन्ना किर मग्गितो उ निगमकरो।
अकरो त्ति मरणधम्मा,वालतवे धुत्तसंजोगो ॥३७७॥
पंचसय भोइ अगणी, अपरिग्गह सालिभंजि सिंदूरे।
तुह मज्झ धुत्तपुत्ता, दिअवन्ने विज्जखीलणया ॥३७८॥

"सोपारयं नगरं, तत्थ निगमा अकरा परिवसंति। ताण य पंच कुटुंबसयाणि। तत्थ राया मंतिणा वुग्गाहितो तेण निगमा करं मग्गिता। ते पुत्ताण पुत्तियं करो एस भविस्सइ त्ति काउं न दिंति। रन्ना भणिया-जइ न देह तो इमम्मि गेहे अग्गिपवेसं करेह। ततो ते सव्वे अग्गिं पविट्ठा। तेसिं नेगमाणं पंच महिलासयाइं, ताणि वि अग्गिं पविट्ठाणि। ताओ अतीए अकामनिज्जराए पंच वि सयाओ वाणमंतरियाओ जायाओ तेहि य निगमेहिं तम्मि चेव नगरे देवलं कारियं अत्थि। तत्थ पंच सालिभंजिया सता, ततो ताहिं देवताहिं परिग्गहियाओ ताओ अ देवताओ। न कोइ अप्पड्ढिओ वि देवो इच्छइ। ताहे धुत्तेहिं समं संपलग्गाओ। ते धुत्ता तस्स बंधेण भंडणं काउं माढत्ता, एसा मज्झं न तुज्झं, इतरो वि भणेइ—मज्झं न तुज्झं। जा य जेण धुत्तेणं सह अच्छइ सा तस्स सव्वं पुव्वभवं कहेइ। ततो ते भणंति—अरे अमुकनामया एसा तुज्झं माया भगिणी वा, इयाणिं अमुगेण समं संपलग्गा। ता य एयम्मि पीइं न बंधंति, जो जो पडिहाइ तेण सह अच्छंति। तं च सोउं तासिं पुव्वभविएहिं पुत्ताइएहिं अम्हे एस अयसो त्ति काउं विज्जावाइएण खीलावियाउ त्ति।"

गाथाक्षरयोजना—सोपारके नगरे राज्ञा किल मार्गितो निगमानां-वणिग्विशेषाणां समीपे करः। तैश्चाकर इत्यपूर्वकरो मा भूदिति कृत्वा मरणधर्मो व्यवसितः। तासां च भोजिका-महेला पञ्च शतानि अग्निप्रवेशलक्षणेन बालतपसा देवता अपरिगृहीनाः संजाताः, धूर्तैश्च सह संयोगः। कथमित्याह—सिन्दूरं—सिन्दूरारुणं यद्देवकुलं तत्र शालिभञ्जिकानां पञ्च शतानि ताभिर्देवताभिः परिगृहीतानि। तत्र स्थिताश्च धूर्तैः समं संप्रलग्नाः 'तुह मज्झे त्ति नेयं तव ममेयमित्येवं ते धूर्त्ताः कलहायितवन्तः, ततस्तासां पूर्वभववृत्तान्तं श्रुत्वा अवर्णोऽयमस्माकमिति कृत्वा पुत्रादिभिर्विद्याप्रयोगेण तासां कीलना कारितेति। उक्तः प्रथमो भङ्गः।

अथ शेषभङ्गत्रयं भावयति—

बिइयम्मि रयणदेवय, तइए भङ्गम्मि सुइगविज्जाओ।
गौरीगंधारीइं, दुहविण्णप्पा य दुहमोया ॥ ३७९ ॥

द्वितीये भङ्गे रत्नदेवतानिदर्शनम्,सा ह्यल्पर्द्धिकत्वात् कामाऽऽतुरत्वाच्च सुखविज्ञपना सर्वसुखसंपादकतया च दुःखमोचा। तृतीये भङ्गे शुचयो विद्यादेव्यस्ताः शुचितया महर्द्धिकतया च दुःखविज्ञपना, उग्रतया नित्यमत्यन्ताप्रमत्तैराराधनीयत्वात् पर्यन्ते सापायत्वाच्च सुखमोचाः। चतुर्थे पक्षे-गौरीगान्धारीप्रभृतयो मातङ्गविद्यादिदेवता द्रष्टव्याः तथा-

हि-ताः साधनकाले लोकगर्हिततया दुःखविज्ञप्याः या ह्यभीष्टसंप्रापकतया दुःखमोचाः, इति भाविताश्चत्वारो भङ्गाः।

अथ प्राजापत्यादित्रिविधपरिगृहीतेषु गुरुलाघवमाह—

तिण्ह वि कतरो गुरुतो, पागइकोडुंबिदंडिए चेव।
साहसअपरिक्खमए, इयरे पडिपक्खिपभुराया ॥३८०॥

शिष्यः पृच्छति—त्रयाणां प्राजापत्यकौटुम्बिकदण्डिकौ तौ प्राकृतकस्य प्रतिपक्षभूतौ। किमुक्तं भवति-तौ न साहसिकौ तावप्यपरीक्षितकारिणौ, भयं च तयोर्भवति। अत्राचार्यः प्राह—दण्डिककौटुम्बिकौ गुरुतरौ, प्राकृते लघुतरः। यतो राजा उपलक्षणत्वात्कौटुम्बिकप्रभुः प्रभुत्वाच्च स एकस्य रुष्टः संघस्य प्रस्तारं कुर्यादिति।

अथ कौटुम्बिकदण्डिकानां यद्भयमुत्पद्यते तद्दर्शयन् परः स्वपक्षं द्रढयन्नाह-

ईसरियत्ता रज्जा, व भंसए मच्चु पहरणा रिसओ।
ते य समिक्खियकारी,अण्णावि तेॅसिं बहू अत्थि॥३८१॥

ऐश्वर्यवत्ता मृत्युः प्रहरणाश्चापायुधयुताः कोपिताः सन्तो मामेते भ्रंशयेयुरिति, कौटुम्बिकः चिन्तयेत्—राजानुगा-अमी राज्यात् ध्वंशयेयुरिति चिन्तयति। ते च राजादयः समीक्षितकारिणो नाविमृश्य कार्यं कुर्वन्ति। अन्यच्च तेषामन्या अपि बहवः प्रतिमाः सन्ति। अतस्तस्यामेकस्यामेव तेषां नाऽऽदरः।

एवं परेण स्वपक्षे भाविते सति सूरिराह—

पत्थारदोसकारी, निवावराहो य बहुजणे फुसई।
पागइओ पुण तस्स व,निवस्स व भया न पडिकुज्जा।३८२।

प्रस्तारः-कटकमर्दः एकस्य रुष्टः सर्वमपि यत्र व्यापादयतीत्यर्थः, तद्दोषकारी राजा, नृपापराधश्च बहुजनान् स्पृशति, जनमध्ये प्रकटीभवति इति भावः। एवं कौटुम्बिकस्याऽपि द्रष्टव्यम्। अत एतौ द्वावपि गुरुतरौ, प्राकृतकापराधस्तु बहुजनं न स्पृशति। अपि च—प्राकृतकस्तस्य वा—संयतस्य नृपस्य वा भयान्न प्रतिकुर्यात्—न प्रत्यपकारं करोति।

अविय हु कम्म द्दोणी, न य गुत्तीओ सि नेव दारट्ठा।
तेण कयं पि न नज्जइ, इतरेत्थ पुणो धुवा दोसा ॥३८३॥

अपि चेत्यभ्युच्चये, प्राकृतकः क्षेत्रखलादिकर्मभिरक्षणिकस्तस्तासां प्रतिमानामुदन्तं न वहति, न च तत्संबन्धिनीषु देवद्रोणीषु गुप्तिरात्यन्तिकी रक्षा, न वा द्वारस्था—द्वारपालास्ततः कृतमपि प्रतिमाप्रतिसेवनं जायते,इतरत्र तु दण्डिककौटुम्बिकेषु पुनर्ध्रुवा-अवश्यंभाविनः प्रस्तारादया दोषाः द्वारपालादिरक्षासद्भावात्; अत एव तेषां प्रतिमासु पूर्वं प्रभूततरं प्रायश्चित्तमुक्तम्।

न केवलं प्रतिमासु, किं तु स्त्रीष्वपि तदीयासु गुरुतरं प्रायश्चित्तं भवतीति प्रसङ्गतो दर्शयितुमाह—

रन्नो य इत्थियाए, संपत्ती कारणम्मि पारंची।
अमच्चि अणवट्ठप्पो, मूलं पुण पागयजणम्मि ॥३८४॥

राज्ञः स्त्रियामग्रमहिष्यां यन्मैथुनसम्पत्तिलक्षणं तत्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाराञ्चिको भवति । अमात्यायामनवस्थाप्यम् , प्राकृतजनस्त्रियां पुनर्मूलम् ।

शिष्यः प्राह—

तुल्ले मेहुणभावे, णाणत्तारोवणा तु कीस कया ।
जेण निवे पत्थारो, रागो वि य वत्थुमासज्जा ॥३८५॥

दरिडकादिपरिगृहीतासु प्रतिमासु स्त्रीषु वा तुल्ये मैथुनभावे कस्मादारोपणायाः-प्रायश्चित्तस्य नानात्वं विसदृशता कृता । सूरिराह-येन-कारणेन नृपे-राज्ञि प्रस्तारः-कटकमर्दो भवति, अतस्तत्राधिकतरं प्रायश्चित्तम् । तदपेक्षया कुटुम्बिके प्राकृते च यथाक्रमं स्वल्पा स्वल्पतरा दोषाः, ततस्तयोः प्रायश्चित्तमपि हीनं हीनतरम् । रागोऽपि च वस्तु आसाद्य भवति । यादृशं जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं वा वस्तु रागोऽपि तत्र तादृशो भवतीति भावः ।

इदमेव भावयति—

जइ भागा तति मत्ता, रागादीणं तहा वत्र्रोकम्मे ।
रागाइविहुरया वि हु, पायं वत्थूण विहुरत्ता ॥३८६॥

रागादीनां मात्रा जघन्यादिरूपासु त्रिषु यावत्संख्याकेषु भागेषु गता-स्थिता कर्मण्यपि-ज्ञानावरणादौ च यो बन्धः स तथैव द्रष्टव्यः । अथ रागतया मात्रानानात्वं कथं भवतीत्याह-रागादीनां विधुरताऽपि-मात्रावैषम्यमपि प्रायो वस्तूनां-स्त्रीप्रभृतीनां विधुरत्वात् सुन्दरसुन्दरतरसुन्दरतमविभागाद्भवति । प्रायोग्रहणं कस्यापि कदाचिद्वस्तु वैसदृश्यमन्तरेणापि रागादिवैसदृश्यं भवतीति ज्ञापनार्थम् , यतश्चैवमतो युक्तियुक्तं दरिडकपरिगृहीतासु स्त्रीषु प्रतिमासु वा प्रायश्चित्तनानात्वम् । तदेवमुक्तं दिव्यप्रतिमायुतम् , अथ दिव्यस्यैव देहयुतस्यावसरस्तत्सचित्तं न संभवति, जीवस्तस्य—दिव्यशरीरस्य तत्क्षणादेव विध्वंसनात् । यत्तु सचित्तदेवीशरीररूपं देहयुतं तत्र स्थानप्रायश्चित्तं यथा प्रतिमायुते । प्रतिसेवनाप्रायश्चित्तं तु यथा मनुष्यस्त्रीषु भणिष्यते । गतं दिव्यरूपम् ।

अथ मानुष्यरूपमाह—

माणुस्सयं पि तिविहं, जहन्नगं मज्झिमं च उक्कोसं ।
पायावच्चकुडुंबिय, दंडियपारिग्गहं चेव ॥ ३८७ ॥

मानुष्यकमपि रूपं त्रिविधम्-जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं च । पुनरेकैकं त्रिविधम्—प्राजापत्यपरिगृहीतं कौटुम्बिकपरिगृहीतम् , दरिडकपरिगृहीतं चेति ।

तत्रोत्कृष्टादिविभागमाह-

उक्कोस माउभज्जा, मज्झं पुण भगिणिधूतमादीयं ।
खरियादी य जहन्नं, पगयं सज्जिएँतरे देहे ॥३८८॥

इह गृहिणो मातरं भार्यां वा नान्यस्य कस्यापि प्रयच्छन्ति, अतो माता भार्या चोत्कृष्टं मानुष्यरूपम् । यास्तु भगिनीदुहितृपौत्र्यादयो अन्यस्मै स्वाभिरुचिताय दीयन्ते ताः पुनर्मध्यमम् । खरिका-दासी तदादयः इतरत् जघन्यम् ,एतत्त्रयमपि प्रत्येकं द्विधा-प्रतिमायुतं-देहयुतं च । प्रतिमायुतं दिव्यवद्वक्तव्यम् , देहयुतेन तु सजीवेन इतरेण वा अजीवेन प्रकृतमधिकारस्तद्विषयं प्रायश्चित्तं तावदाह—

पढमिल्लुगम्मि ठाणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया ।
छम्मासाऽणुग्घाया, विइए तइए भवे छेदो ॥ ३८६ ॥

प्रथमं नाम—जघन्यं मानुष्यरूपं तत्र प्राजापत्ये परिगृहीतादौ भेदत्रयेऽपि तिष्ठतश्चत्वारोऽनुद्धाता मासाः, गुरव इत्यर्थः । द्वितीयं—मध्यमं तत्रापि त्रिष्वपि भेदेषु षरामासा अनुद्धाताः, तृतीयमुत्कृष्टं तत्र भेदत्रयेऽपि तिष्ठतश्छेदः ।

अथ कीदृशश्छेद इति ज्ञापनार्थमाह—

पढमस्स तइयठाणे, छम्मासुग्घाइओ भवे छेदो ।
चउमासो छम्मासो, विइए तइए अणुग्घाओ ॥३९०॥

प्रथमं-प्राजापत्यपरिगृहीतम् । तस्य यत्तृतीयं स्थानमुत्कृष्टमित्यर्थः,तत्र षरामासिकः छेदः । द्वितीयं कौटुम्बिकपरिगृहीतं तस्य तृतीये स्थाने चतुर्गुरुकच्छेदः, तृतीयं दरिडकपरिगृहीतं तत्रापि यत् तृतीयं स्थानं तत्र षरामासिक उद्धातच्छेदः ।

पढमिल्लुगम्मि तवॉरिह,दोहि वि लहु होंति एते पच्छित्ता ।
विइयम्मि य कालगुरू, तवगुरुगा होंति तइयम्मि ॥३९१॥

प्रथमं-प्राजापत्यपरिगृहीतं तत्र जघन्यमध्यमयोर्ये तपोऽर्हे प्रायश्चित्ते चतुर्गुरू , ते द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघुके कर्त्तव्ये, द्वितीये कौटुम्बिकपरिगृहीते ते एव कालगुरुके, तृतीये दरिडकपरिगृहीते ते एव तपसा गुरुके, कालेन लघुके । उत्कृष्टमुक्तं स्थानप्रायश्चित्तम् ।

अथ प्रतिसेवनामाह—

चउगुरुगा छग्गुरुगा, छेदो मूलं जहन्नए होइ ।
छग्गुरुगछेअमूलं, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ ३९२ ॥
(एवं दिट्ठमदिट्ठे, सेवंते पसज्जणं मोत्तुं ।)

प्राजापत्यपरिगृहीतं जघन्यम् अदृष्टं प्रतिसेवते चत्वारो गुरवः, दृष्टे षरामासा गुरवः । कौटुम्बिकपरिगृहीतं जघन्यमदृष्टं प्रतिसेवते षरामासा गुरवः, दृष्टे छेदः । दरिडकपरिगृहीते उत्कृष्टे अदृष्टे मूलम् , दृष्टे अनवस्थाप्यम् , दरिडकपरिगृहीते उत्कृष्टे अदृष्टे, अनवस्थाप्यम् , दृष्टे पाराञ्चिकम् । दृष्टादृष्टे प्रतिसेवमानस्य प्रसज्जना शङ्का भोजिकादिलक्षणं मुक्त्वा प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् ।

अत्र नोदकः प्राह—

जम्हा पढमे मूलं, विइए अणवट्ठो तइएँ पारंची ।
तम्हा ठायंतस्स य, मूलं अणवट्ठ पारंची ॥ ३९३ ॥

अत्राचार्यः परिहारमाह-

पडिसेवणा य एवं, पसज्जणा तत्थ दोइ एक्केक्के ।
चरिमपदे चरिमपदं, तं पि य आणाइनिप्फन्नं ॥३९४॥

अनयोर्व्याख्या प्राग्वत् ।

ते चेव तत्थ दोसा, मोरियआणाए जे भणियपुव्विं ।
आलिंगणाइ मोत्तुं, माणुस्से सेवमाणस्स ॥ ३९५ ॥

त एवानवस्थामिथ्यात्वादयस्तत्र मानुष्यकस्त्रीरूपे दोषा ये पूर्वं ' मूरियाइ आणाए ' इत्यादि गाथायां भणिताः, नवरं दिव्यप्रतिमाया आलिङ्गने ये भङ्गदोषा भद्रकप्रान्तकृता उक्तास्तान् मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽपि मानुष्यकं सेवमानस्य भणितव्याः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदमेव स्पष्टतरमाह—

आलिंगंते हत्था–इ भंजणे जे उ पच्छकम्माऽऽदी ।
ते इह नऽत्थि इमे पुण, नखादिविच्छेयणे सूया ॥३९६॥

लेप्यप्रतिमामालिङ्गमानस्य तस्य प्रतिमाया हस्तपादाद्यवयवभङ्गे सति ये पश्चात्कर्मादयो दोषाः उक्तास्ते इह मानुष्यके देहे युते न भवन्ति । इमे पुनर्दोषाः अत्र भवन्ति—सा स्त्री कामातुरतया तं साधुं नखैर्विच्छिन्द्यात् , आदिशब्दाद्दन्तक्षतानि वा कुर्यात्, तैश्च तस्य श्रावकस्य स्वपक्षेण वा परपक्षेण वा तथा क्रियते । यदेतस्य वपुषि नखदन्तक्षतानि दृश्यन्ते, तदेष निश्चितं प्रतिसेवक इति ।

अथ मानुषीषु चतुरो विकल्पान् दर्शयति—

सुहविन्नप्पा सुहमो–इया य सुहविन्न(प्पा)पा य दुहमोया।
दुहविन्नप्पा य सुहा, दुहविन्नप्पा य दुहमोया ॥३९७॥

सुखविज्ञप्याः सुखमोच्याः १, सुखविज्ञप्या दुःखमोच्याः २, दुःखविज्ञप्याः सुखमोच्या ३,दुःखविज्ञप्या दुःखमोच्याश्चेति४।

चतुर्ष्वपि भङ्गेषु यथाक्रममम्नूनि निदर्शनानि–

खरिया महिड्ढिगणिया, अंतेपुरिया य रायमाया य ।
उभयं सुहविन्नवणा,सुहमोयाँ दोँहिं पि दुहमोया।३९८।

खरिका—द्व्यक्षरिका सा सर्वजनसाध्यतया सुखविज्ञप्या, परिफल्गुसुखलवास्वादनहेतुत्वाच्च सुखमोच्या १, या तु महर्द्धिका गणिका साऽपि साधारणस्त्रीत्वेनैव सुखविज्ञप्या, यौवनरूपविभ्रमादिभावयुक्तत्वेन दुःखमोच्या २, या पुनरन्तः-पुरिका सा वर्षधरादिरक्षापालकैर्दुष्प्रापतया दुःखविज्ञप्या प्रत्यपायबहुलतया च सुखमोच्या ३, या तु राज्ञः संबन्धिनी माता सा सुरक्षिततया सर्वस्यापि च गुरुस्थाने पूजनीयतया च दुःखविज्ञप्या, प्राप्ता च सती सर्वसौख्यसंपत्तिकारिणी, प्राणांश्च तत्र राज्ञा विधीयमानान् प्रत्यपायान् रक्षितुं शक्नोतीति दुःखविमोच्या ४ । उभयमिति प्रथमा सुखविज्ञाप्या सुखमोच्या १, 'सुहविन्नवण' त्ति द्वितीया सुखविज्ञप्या परं दुःखमोच्या २, ' सुहमोय ' त्ति तृतीया सुखमोचा परं दुःखविज्ञप्या ३, चतुर्थी द्वाभ्यामपि दुःखा-दुःखविज्ञप्या दुःखमोच्या चेति ।

अथाऽऽक्षेपपरिहारौ प्राह—

तिएह वि कयरो गुरुओ, पागयकोंडुंविदंडिए चेव ।
साहस असमिक्खभए, इयरे पडिपक्खपभुराया ॥३९९॥
ईसरियत्ता रज्जा, व भंसए मच्चु पहरणारिसओ ।
ते य समिक्खियकारी,अन्ना वि ते ेसिं बहू अत्थि।४००।
पत्थारदोसकारी, निवावराहो य बहुजणे फुसई ।
पागइओ पुण तस्स व, निवस्स व भया न पडिकुज्जा ।
अवि य हु कम्मद्दोणी, न य गुत्तीओ सि नेव दारट्ठा ।
तेण कयं पि न नज्जइ,इतरत्थ पुणो धुवा दोसा॥४०२॥
तुल्ले मेहुणभावे, नाणत्ताऽऽरोवणा उ कीस कया ।
जेण निवे पत्थारो, रागो वि य वत्थुमासज्ज ॥ ४०३ ॥

इदं गाथापञ्चकमपि दिगृद्वारवद् द्रष्टव्यम् । गतं मानुष्यकम् ।

तैरश्चमाह—

तेरिच्छगं पि तिविहं, जहन्नयं मज्झिमं च उक्कोसं ।
पायावच्च कुडुंबिय, दंडियपारिग्गहं चेव ॥ ४०४ ॥

तैरश्चमपि रूपं त्रिविधम्—जघन्यम् , मध्यमम् , उत्कृष्टञ्च । पुनरेकैकं त्रिधा—प्राजापत्यं, कौटुम्बिकं, दण्डिकपरिगृहीतं-श्चेति ।

तत्र—

अइयाऽमिला जहन्ना,खरमहिसी मज्झिमा वलवमादी ।
गोणिकरेणुक्कोसा, पगयं सजिएतरे देहो ॥ ४०५ ॥

अजिकाः—छगलिकाः , अमिलाः—पटकाः, एता जघन्या जघन्यं तैरश्चरूपमित्यर्थः । एवं खरमहिषीवडवाऽऽदयो मध्यमाः, गावः प्रतीताः, करेणवो–हस्तिन्यस्ता उत्कृष्टा उत्कृष्टं तिर्यग्रूपम्, एतत्त्रयमपि द्विधा-प्रतिमायुतं, देहयुतं च । इह सजीवेनेतरेणाजीवेन देहयुतेन प्रकृतम् , तद्विषयं प्रायश्चित्तमभिधास्यते इत्यर्थः ।

तत्र स्थानप्रायश्चित्तमाह—

चत्तारि य उग्घाया, जहन्नए मज्झिमे अणुग्घाया ।
छम्मासा उग्घाया, उक्कोसे ठायमाणस्स ॥ ४०६ ॥

प्राजापत्यपरिगृहीतादौ जघन्यके तैरश्चदेहयुते तिष्ठति चत्वार उद्घाताः । मध्यमे तिष्ठति चत्वारोऽनुद्घाताः, उत्कृष्टे तिष्ठतः षण्मासा उद्घाताः ।

पढमिल्लुगम्मि ठाणे, दोहि वि लहुगा तवेण कालेणं ।
बिइयम्मि उ कालगुरू,तवगुरुगो होति तइयम्मि ।४०७।

तान्येव गुरुकाणि तृतीयं दण्डिकपरिगृहीते गुरुकाणि । गतं स्थानप्रायश्चित्तम् ।

अथ प्रतिसेवनाप्रायश्चित्तमाह—

चउरो लहुगा गुरुगा, छेदो मूलं जहन्नए होई ।
चउगुरुगछेदमूलं, अणवट्टप्पो य मज्झिमए ॥ ४०८ ॥
छेदो मूलं च तहा, अणवट्टप्पो य होइ पारंची ।
एवं दिट्ठमदिट्ठे, सेवंते पसज्जणं मोत्तुं ॥ ४०९ ।

प्राजापत्यपरिगृहीते जघन्ये दृष्टे प्रतिसेवने चत्वारो लघवः, कौटुम्बिकपरिगृहीते जघन्ये अदृष्टे चत्वारो गुरवः, दण्डिकपरिगृहीते जघन्ये अदृष्टे छेदः, दृष्टे मूलम् । प्राजापत्यपरिगृहीते मध्यमे अदृष्टे चत्वारो गुरवः, दृष्टे छेदः । कौटुम्बिकपरिगृहीते मध्यमे अदृष्टे छेदः, दृष्टे मूलम् । दण्डिकपरिगृहीते मध्यमे अदृष्टे मूलम्, दृष्टे अनवस्थाप्यम् । प्राजापत्यपरिगृहीते उत्कृष्टे अदृष्टे छेदः, दृष्टे मूलम् । कौटुम्बिकपरिगृहीते उत्कृष्टे अदृष्टे मूलम् ,दृष्टे अनवस्थाप्यम् । दण्डिकपरिगृहीते उत्कृष्टे अनवस्थाप्यम् . दृष्टे पाराञ्चिकम् । एवं दृष्टादृष्टयोः प्रसज्जनां शङ्कां भोजिकादिरूपां मुक्त्वा प्रायश्चित्तं ज्ञातव्यम् ।

अत्र प्रागुक्तमेवाक्षेपपरिहारप्रतिबद्धं गाथाद्वयमाह—

जम्हा पढमे मूलं, बिइए अणवट्ठे तइएँ पारंची ।
तम्हा ठायंतस्स य, मूलं अणवट्ठ पारंची ॥ ४१० ॥
पडिसेवणाएँ एवं, पसज्जणा तत्थ होइ इक्किक्के ।
चरिमपदे चरिमपदं, तं पि य आणाइनिप्फन्नं ॥४११॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गतार्थम् ।

ते चेव तत्थ दोसा, मोरियआणाए जे भणियपुव्विं ।
आलावणाएँ मोत्तुं, तेरिच्छे सेवमाणस्स ॥ ४१२ ॥

मौर्यदृष्टान्तद्वारेण या भगवतामाज्ञा बलीयसी प्रसाधिता तस्या भङ्गे ये दोषाः पूर्वं दिव्यद्वारेण मनुष्यद्वारेण च भणिताः, तेऽपि तथैवात्र द्रष्टव्याः, परम् आलापनादीन् मुक्त्वा शेषास्तत्र तैरश्चे देहयुते सेवमानस्य भवन्ति ।

एतदेवालापनादिपदं व्याचष्टे—

जह हासखेड्डआगार, विब्भमा होंति मणुयइत्थीसुं ।
आलावगा बहुविहा,तह नऽत्थि तिरिक्खइत्थीसुं॥४१३॥

यथा मनुष्यस्त्रीषु हास्यक्रीडा आकारविभ्रमालापाश्च बहुविधा भवन्ति तथा तिर्यक्स्त्रीषु अभावात् मनुष्यस्त्रीभ्यः तिर्यक्स्त्रीणां विशेषः ।

अथ चतुर्भङ्गीमाह-

सुहविन्नप्पा सुहमो-इया य सुहविन्नप्पॉ दुहमोया ।
दुहविन्नप्पा य सुहा, दुहविन्नप्पॉ य दुहमोया ॥४१४॥

गतार्था ।

अत्रोदाहरणानि—

अभिलाई उभयसुहा, अरहन्नगभाइमकडि दुमोया ।
गोणाइ तइयभङ्गे, उभयदुहा सीहिवग्घीओ ॥ ४१५ ॥

अभिलाः-पटकास्ता आदिशब्दाद्-अजाखरिकादयश्च तिर्यक्स्त्रिय उभयसुखाः—तत्रातिप्रत्ययापत्त्या सुखविज्ञप्याः, लोकगर्हिततत्वेन तुच्छसुखास्वादहेतुत्वाच्च सुखमोच्याः। 'अरहन्नगभाइमकडि' त्ति अरहन्नकस्य भ्रातृजाया तदनुरागात् मृत्वा या मर्कटी जाता, तदादयस्तिरश्च्यो दुःखमोच्याः, परं सुखविज्ञप्याः। (अरहन्नकदृष्टान्तश्च 'अरहण्ग' शब्दादवसातव्यः) २। तृतीयभङ्गे तु-गोमहिष्यादयः, ते स्वपक्षेऽपि दुःखेन सङ्गमं कारयन्ति किं पुनः परपक्षे मनुजेषु, ततो दुःखविज्ञपनाः। लोकजुगुप्सितश्च तासु संगम इति कृत्वा सुखमोच्याः३,यास्तु सिंहव्याघ्रीप्रभृतयस्ता उभयदुःखास्तत्र जीवितान्तकारिणीत्वाद् दुःखविज्ञपना, अनुरक्ताश्च सत्यः प्रतिबन्धबन्धुरतया दुःखमोच्याः ४।

अत्र नोदकः प्रश्नयति—को नाम प्राकृतोऽप्येतास्तिरश्चीर्वा लोकजुगुप्सिताः प्रतिसेवेत विशेषतो जिनवचनपरिगलितमतिरित्यत्रोच्यते—

जइ ताव णरवईसुं, मेहुणभावं तु पावए पुरिसो ।
जीवियदोच्चं जहि यं, किं पुण सेसासु जाईसु ॥४१६॥

यदि तावत् नरपतिपत्नीषु पुरुषो मैथुनभावं प्राप्नोति यत्र 'जीवितदोच्चं' ति जीवितभयं प्रायः;जीवने संदेहो यासु भवतीत्यर्थः, किं पुनः शेषासु खरिकादिजातिषु । तथा चात्र दृष्टान्तः—" एका सीरिसी रिउकाले मेहुणच्चा सा जाइपुरिसं अलभमाणी पंथे वहंतं इक्कं पुरिसं घित्तुं गुहं पविट्ठा। बाढुं काउमाढत्ता, सा य तेण पडिसेविता। तत्थ तेसिं दोण्ह वि संसाराणुभावतो अणुरागो जातो । गुहाए ठियस्स सा दिणे दिणे पोग्गलं आणेउ देइ, सो वि तं पडिसेवइ। किमंग! पुण जासु जीवियभयं नऽत्थि तासु न पडिसेवियव्वं" इति । यच्चोक्तम्-'विशेषतो जिनवचनपरिगलितबुद्धिरिति तदप्ययुक्तम् , ततः किमेषोऽपि श्लोको भवतो न कर्णकोटरमध्यमध्यासिष्ट—"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा ; न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति" ॥ १ ॥ उक्तं तैरश्चं रूपम् । तदुक्तौ च समर्थितं भावसागारिकम् । एवं निर्ग्रन्थानामुक्तम्। बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

(१८) गृहमध्यान्मार्गवत्युपाश्रये न निवसेत्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा गाहावइकुलस्स मज्झं मज्झेणं गंतुं पंथए पडिबद्धं वा नो पन्नस्स० जाव चिंताए तह०उव्वस्सए नो ठाणं चेइज्जा। (सू०-६२)

'से' इत्यादि यस्योपाश्रयस्य गृहस्थगृहमध्येन पन्थास्तत्र बहुपापसंभवान्न स्थातव्यमिति । तथा गृहपतिकुलस्य मध्येन निर्गमप्रवेशे वस्तुम्। आचा० २ श्रु० २ चू० २ अ० ३ उ०।

कप्पइ निग्गंथाणं गाहावइकुलस्स मज्झं मज्झेणं गंतुं वत्थए ॥ ३५ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् ।

अथ भाष्यम्—

एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि नवरि चउलहुगा ।
नवरं पुण नाणत्तं, सालाए छिंडिमज्झे य ॥ ५२० ॥

एष एव निर्ग्रन्थसूत्रोक्तक्रमो निर्ग्रन्थीनामपि ज्ञातव्यः, नवरं तासां तत्र तिष्ठन्तीनां चतुर्लघुकं प्रायश्चित्तम् , वैक्रियापावृतादर्शविषयाश्च दोषा भवन्ति । शेषं सर्वमपि प्राग्वद् द्रष्टव्यम् ,नवरं पुनर्नानात्वं विशेषः,शालायां छिण्डिकायां मध्ये त्रिष्वपि वक्तव्यम् ।

तत्र शालायां तावदाह—

सालाए कम्मकरा, उड्डंचयगीयसयउवसहणं ।
घरखामणं च दाणं, बहुसो गमणं च संबंधो ॥५३१॥

शालायां स्थितानामार्यिकाणां कर्मकरा उड्डश्चकान् कुर्युः । यथा-यादृशी इयमार्यिका तादृशी मम शालिका मातुलदुहिता वा विदधते गीतेन वा ते कर्मकरादयः । प्रपश्चन्ते यथा-'चंदा सुणंति पडपंडरयं सुधंति,रज्जा एँजंति तरुणाए मणं हरंति' इत्यादि उपहसनं वा कश्चित्करोति । ततश्च भिक्षार्थं गृहं गतायास्तस्याः क्षामणं दानं च वस्त्रपात्रादेर्गमनं च बहु तस्याः समीपे करोति । ततश्चैवं संबन्धस्तयोः परस्परं घटनं भवति ।

अथ पुनरेवोपहसनादीनि गाथात्रयेण भावयति—

पाणसमा तुज्झ मया, इमा य सरिसी सरिव्वया तीसे ।
संखे खीरनिसेओ, जुज्जइ तत्तेण तच्चं च ॥ ५३२ ॥
सो तत्थ तीएँ अन्ना-हि वावि निब्भत्थिओ गओ गेहं ।
खामिंतो किल सुढिओ, अक्खुन्नइ अगगहत्थेहिं ॥५३३॥
पाएसु चेडरूवे, पाडेत्तु भणाइ एस भे माता ।
जं इच्छइ तं दिज्ज व,तुमं पि साइज्ज जायाई ॥ ५३४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्र शालादौ कांचिदुदाररूपां संयतीं दृष्ट्वा कश्चित् पुरुषः स्वसुहृदं वक्ति पत्नी सा तव मृता, अपरा च तथाविधा न विलोक्यते, इयं तु संयती समागता भिक्षार्थम्, तस्याः सदृशी सदृग्रूपा सदृग्वयाः, अतस्तवाऽनया सह सम्बन्धो-विधीयमानः क्षीरनीरयोरिव तथा च लोहमपरेणापि तप्तेन सह संयोज्यमानमिव युज्यते, सुश्लिष्टीभवति। एवं ब्रुवाणोऽसौ तया संयत्या अन्याभिर्वा संयतीभिर्गाढं निर्भर्त्सितः सन् स वयस्योऽपि स्वगेहं गतः। अन्यदा च स तदीयवयस्यः संयतीं भिक्षार्थं स्वगृहमागतां शठतया मुदितः सुष्ठु अतीवावृतः प्रयत्नपरः किल काङ्क्षामयन्निव अग्रहस्तैराक्षुभति। तस्याः पादौ विलगतीत्यर्थः। चटरूपाणि च प्राक्तनपत्न्याः संवन्धीनि तस्याः संयत्याः पादयोः पातयित्वा भणति-एषा (भे) भवतां माता यत्किमपीयमिच्छति तत्सर्वमाहारादिजातमस्यै दातव्यम्, संयतीमपि भणति-एतत्त्वदीयं गृहम्, अमूनि च भवत्याः संवन्धीनि जातान्यपत्यानि। अतस्त्वमेतानि सर्वाणि सङ्गोपयेः एवमुक्त्वा वस्त्रान्नपानादीनि वहुशस्तस्याः प्रयच्छति। सा च स्त्रीस्वभावतया तुच्छेनाप्याहारादिना वशीक्रियत इत्यतो भूयो भूयस्तदीयगृहे गमनाऽगमनं कुर्वत्यास्तस्यास्तेन सह सम्वन्धो भवति, यत एते दोषा अतो न तत्र स्थातव्यम्।

आह-यद्येवं ततः सूत्रापार्थक्यम्, नैवम्-

सुत्तनिवाओ पासे-ण गंतु विइयपएँकारणज्जाए।
सालाएँ मज्झ छिंडी, सागारियनिग्गहसमत्थे ॥५३५॥

यत्र पार्श्वेन गत्वा निर्गमप्रवेशः क्रियते तत्र निर्ग्रन्थीभिर्द्वितीयपदे-अध्वनिर्गमनादौ कारणजाते वास्तव्यमित्येवमत्र सूत्रनिपातः। तत्र च शालायां वा मध्ये वा छिण्डिकायां वा यदि सागारिको निग्रहसमर्थो जितेन्द्रियस्तरुणादीनां वा संयतीरुपसर्पयतां खरण्टनादिना शिक्षाकरणदक्षो भवति ततस्तत्र स्थातव्यम्।

एतदेव व्याख्यातुमाह—

पासेण गंतु पासे, वजंतु तहि यं न होइ पच्छित्तं।
मज्झेण वज्ज गंतुं, पिह उच्चारं घरं गुत्तं ॥ ५३६ ॥
दुज्जणवज्जा साला, सागार अवत्तत्तणगजुया वा।
एमेव मज्झ छिंडी, नियसावगसज्जण जणे वा ॥५३७॥

यत्र पार्श्वेन गत्वा निर्गम्यते प्रविश्यते वा, यद्वा गृहं गृहपतिकुलस्य मध्येन गत्वा प्रविश्यते, तद्यदि पृथक्कृत्वामकायिकाभूमिकागुप्तं च कुड्यकपाटादिभिः सुसंवृतं ततस्तत्रापि प्रायश्चित्तं न भवति, तत्र यदि शालायां स्थातव्यं स्यात्तदा सा दुर्जनवर्जा-दुःशीलरहिता, यद्वा—सागारिकस्य संवन्धिनो ये अव्यक्ता अद्याप्यपरिणतवयसो भ्रूणका वालकास्तैर्युता या शाला तस्यां स्थातव्यम्, एवमेव चतुःशालकादिगृहमध्ये छिण्डिकायां वा यत्र निजकास्तासामेव संयतीनां नालवद्धाः पितृभ्रात्रादयः श्रावका वा मातापितृसमाना जिनवचनभाविता भवन्ति, यानि वा सज्जनानां स्वभावत एव-सुशीलानां तथा भद्रकाणां गृहाणि तत्र स्थातव्यम्। वृ० १ उ० ३ प्रक०। ('अहिगरण' शब्देऽपि प्रथमभागे ५७१ पृष्ठे उक्तोऽयं विषयः)

(१९) यत्र गृहपतिजनाः कलहं कुर्वन्ति गात्राभ्यङ्गं वा कुर्वन्ति तत्र निषेधमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा इह खलु गाहावई वा० जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णं अक्कोसंति वा ०जाव उद्दवंति वा णो पण्णस्स ०जाव सेवं नच्चा तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा। (सू०-९३) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा इह खलु गाहावई वा ०जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णस्स गायं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगेंति वा मक्खेंति वा णो पण्णस्स ०जाव चिंताए तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा। (सू०-९४) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा, इह खलु गाहावई वा ०जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णस्स गायंसि सिणाणेण वा कक्केण वा लोद्देण वा वण्णेण वा चुण्णेण वा पउमेण वा आघंसंति वा पघंसंति वा उव्वलेंति वा उव्वट्टिंति वा णो पण्णस्स णिक्खमणपवेसे ०जाव णो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा। (सू०-९५) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा इह खलु गाहावती वा० जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णस्स गायं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिंति वा पहोवेंति वा सिंचंति वा सिणावेंति वा णो पण्णस्स ० जाव णो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा। (सू०-९६) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा इह खलु गाहावई वा० जाव कम्मकरीओ वा णिगिणा ठिया णिगिणा उल्लीणा मेहुणधम्मं विण्णवेंति रहस्सियं वा मंतं मंतेति, णो पण्णस्स० जाव णो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा। (सू०-९७) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा आइण्णसंलेखं०जाव पण्णस्स णो ठाणं वा० ३ चेतेज्जा। (सू०-९८)

'से' इत्यादि, सुगमम्, नवरं यत्र प्रातिवेशिकाः प्रत्यहं कलहायमानास्तिष्ठन्ति तत्र स्वाध्यायाद्युपरोधान्न स्थेयमिति। एवं तैलाद्यभ्यङ्गकल्काद्युद्वर्त्तनोदकप्रक्षालनसूत्रमपि नेयमिति। किञ्च—इहेत्यादि यत्र प्रातिवेशिकस्त्रियः 'णिगिण' त्ति, मुक्तपरिधाना आसते, तथोपलीनाः—प्रच्छन्ना मैथुनधर्मविषयं किञ्चिद्रहस्यं रात्रिसंभोगं परस्परं कथयन्ति। अपरं वा रहस्यमकार्यसंवद्धं मन्त्रयन्त्रं मन्त्रयन्ते, तथाभूते प्रतिश्रये न स्थानादि विधेयम्। यतस्तत्र स्वाध्यायक्षितिचित्तविप्लुत्यादयो दोषाः समुपजायन्त इति। अपि च-'से' इत्यादि, कण्ठ्यम्, नवरं तत्रायं दोषः चित्तभित्तिदर्शनात् स्वाध्यायक्षितिः, तथाविधचित्रस्थस्त्र्यादिदर्शनात् पूर्वक्रीडिताक्रीडितस्मरणकौतुकादिसंभव इति। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०।

(२०) अभिनिर्वगडायां वासमाह—

से गामंसि वा० जाव रायहाणिंसि वा अभिनिव्वगडा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमणप्पवेसाए कप्पइ निग्गन्थाण य निग्गंथीण य एगओ वत्थए ॥ ११ ॥

अथ ग्रामे वा यावद्राजधान्यां वा अभिनिवगडाके निपातानामनेकार्थत्वादभीत्यनेकानीति नियता वगडाः परिक्षेपा अभिनिशब्दौ पृथग् द्योतकौ द्रष्टव्यौ, ततश्च पृथगनेकावगडा यत्र तदभिनिवगडाकम्, तत्र। एवमभिनिद्वारके अभिनिष्क्रमणप्रवेशके च कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च एकतो वस्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यम्-

एयद्दोसविमुक्के, विच्छिन्नवियारथंडिलविसुद्धे ।
अभिनिव्वगडदुवारे, वसंति जयणाएँ गीयत्था ॥१६३॥

एतैः प्रथमसूत्रोक्तदोषैर्विमुक्ते विस्तीर्णे महाक्षेत्रे विचारस्थण्डिलविशुद्धे यत्र भिक्षाचर्या संज्ञाभूमिश्च परस्परमपश्यतां भवति, तत्रैवंविधे अभिनिवगडाके-अभिनिद्वारे संयतीक्षेत्रे यतनया गीतार्था वसन्ति ।

कथमित्याह—

पिह गोअरउच्चारा, जे अब्भासेऽवि होंति उ निओआ।
वीसुं वीसुं वुत्तो, वासो तत्थोभयस्सावि ॥ १६४ ॥

ये अभ्यासे मूलक्षेत्रप्रत्यासत्तौ नियोगा-ग्रामा भवन्ति तेऽपि साधुसाध्वीनां पृथग्गोचरचर्याकाः पृथगुच्चारभूमिकाश्च परस्परं भवन्ति, आस्तां मूलग्राम इत्यपिशब्दार्थः । उभयस्यापि च संयतानां संयतीनां तत्र पृथक् पृथगुपाश्रये वासः प्रोक्त इति ।

अत्र नोदकः प्रेरयन्नाह—

तं नऽत्थि गामनगरं, जत्थियरीओ न संति इयरे वा।
पुणरवि भणामों ऽरण्ये,वसाउ जइ मेलणे दोसा ॥१६५॥

ग्रामाश्च नगराणि चेति ग्रामनगरम्, यत्रेतराः पार्श्वस्थादिसंयत्यः, इतरे पार्श्वस्थादयो न सन्ति ततः पुनरपि वयं भणामः, यथा अरण्ये उष्यतां-वासः क्रियताम्, यदि मीलनायामेवंविधा दोषाः ।

सूरिराह—

दिट्ठंतो पुरिसपुरे, मुरुंडदूतेण होइ कायव्वो ।
जह तस्स ते असउणा,तह तस्सितरा मुणेयव्वा॥१६६॥

दृष्टान्तोऽत्र—पुरुषपुरे रक्तपटदर्शनाकीर्णे मुरुण्डदूतेन भवति—कर्त्तव्यः । यथा तस्य मुरुण्डदूतस्य ते रक्तपटा अशकुना न भवन्ति, तथा तस्य साधोरितराः पार्श्वस्थादयो भणितव्याः, ता दोषकारिण्यो न भवन्तीत्यर्थः।

इदमेव भावयति—

पाडलि मुरुंडदूते, पुरिसपुरे सचिवमेलणा वासो ।
भिक्खू असउण तइए,दिणम्मि रन्नो सचिवपुच्छा ।१६७।

पाटलिपुरे नगरे मुरुण्डो नाम राजा, तदीयदूतस्य पुरुषपुरे नगरे गमनम्, तत्र सचिवेन सह मीलनम्, तेन च तस्यावासो दापितः, ततो राजानं द्रष्टुमागच्छन्तो भिक्षवो रक्तपटा अशकुना भवन्तीति कृत्वा स दूतो न राजभवनं प्रविशति । ततस्तृतीये दिने राजसचिवपार्श्वे पृच्छा—किमिति दूतो नाद्यापि प्रविशति ।

निग्गमणं च अमच्चे, सब्भावाइक्खिए भणइ दूयं ।
अंतो बहिं च रत्था,नऽरहिंति इहं पवेसणया ॥ १६८ ॥

अमात्यस्य राजभवनान्निर्गमनम्, ततो दूतस्यावासे गत्वा सचिवो मिलितः, पृष्टश्च तेन दूतः । किं न त्वं प्रविशसि राजभवनम्?, स प्राह-अहं प्रथमे दिवसे प्रस्थितः परं तत्र दण्डिकान् दृष्ट्वा प्रतिनिवृत्तः, अपशकुना एते इति कृत्वा । ततो द्वितीये तृतीयेऽपि दिवसे प्रस्थितः, तत्रापि तथैव प्रतिनिवृत्तः । एवं सद्भावे आख्याते कथिते—सति दूतममात्यो भणति-एते इह रथ्याया अन्तर्बहिर्वा नापशकुनत्वमर्हन्ति, ततः प्रवेशना दूतस्य राजभवने कृता । एवमसंयताः किमपि पार्श्वस्थादयः संयत्यश्च रथ्यादौ दृश्यमाना न दोषकारिणो भवन्ति ।

अपि च—

जह चेव अगारीणं, विवक्खबुद्धी जईसु पुव्वुत्ता ।
तह चेव य इयरीणं, विवक्खबुद्धी सुविहिएसु ॥१६९॥

यथैवागारीणां वस्त्राभरणादिविभूषितानां पूर्वम् 'आगन्तुगदव्वविभूसिए' इत्यादिना यतिषु विपक्षबुद्धिरुक्ता तथैवेतराणां पार्श्वस्थादिसंयतीनां हस्तपादधावनाविभूषितविग्रहाणां सुविहितेषु स्नानादिविभूषारहितेषु विपक्षबुद्धिर्भवतीति द्रष्टव्यम्।

आपणगृहादिषु निर्ग्रन्थीनां न वसतिः कल्पते—

नो कप्पइ निग्गन्थीणं आवणगिहंसि वा रत्थामुहंसि वा सिंघाडगंसि वा तियंसि वा चउक्कंसि वा चच्चरंसि वा अंतरावणंसि वा वत्थए ॥ १२ ॥

अथास्य संबन्धमाह—

एयारिसखेत्तेसुं, निग्गन्थीणं तु संवसंतीणं ।
केरिसयम्मि न कप्पइ,वसिऊण उवस्सए जोगो॥१७०॥

एतादृशेषु पृथग्वगडाकेषु-पृथग्द्वारेषु वा क्षेत्रे निर्ग्रन्थीनां च संयतीनां कीदृशे उपाश्रये वस्तुं न कल्पते इत्यनेन सूत्रेण चिन्त्यते एष योगः-संबन्धः ।

प्रकारान्तरेण संबन्धमाह—

दिट्ठमुयस्सवगहणं, तत्थुज्जाणं न कप्पइ इमेहिं ।
वुत्ता सपक्खओ वा,दोसा परपक्खिया इणमो ॥१७१॥

दृष्टम् अनन्तरसूत्रे उपाश्रयग्रहणम्, तत्रार्याणाममीषु प्रतिश्रयेषु वस्तुं न कल्पते, इत्यनेन सूत्रेण प्रतिपाद्यते । उक्ता वा स्वपक्षतः स्वपक्षमाश्रित्य संयतानां संयतीनां च परस्परं दोषाः, इदानीं तु परपाक्षिकाः—गृहस्थाख्यपरपक्षप्रभवा दोषा व्यावर्ण्यन्ते, इत्यनेकैः संबन्धैरायातस्यास्य (१२) सूत्रस्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां-साध्वीनामापणगृहे वा रथ्यामुखे वा शृङ्गाटके वा चतुष्के वा चत्वरे वा अन्तरापणे वा वस्तुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ विस्तरार्थं प्रतिपदमभिधित्सुः प्रायश्चित्तमाह—

आवणगिहरत्थाए, तिए चउक्कंतरावणे तिविहे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ठायंतिगाण गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥१७२॥

आपणगृहे रथ्यामुखे त्रिके चतुष्के अन्तरापणे त्रिविधे-त्रिप्रकारे वक्ष्यमाणस्वरूपे तिष्ठन्तीनां संयतीनां प्रत्येकं चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तम्, तत्राप्याज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः।

आपणगृहादीनां व्याख्यानमाह-

जं आवणमज्झम्मी, जं च गिहं आवणा य दुविहं वि।
तं होइ आवणगिहं, रत्थामुहरत्थपासम्मि ॥१७३॥

यद् गृहमापणमध्ये समन्तादापणैः परिक्षिप्तं तदापणगृहम्, यद्वा-मध्ये गृहम् 'दुविहं वि'त्ति द्वाभ्यामपि च पार्श्वाभ्यां यस्यापणे भवतः तदापणगृहं भवति। तथा रथ्यामुखं-रथ्यायाः पार्श्वे भवति। तच्च त्रिविधम्।

तद्यथा—

तं पुण रत्थमुहं वा, वाहिमुहं वा उभयतो मुहं वा।
अहवा जत्तो पवहइ, रत्था रत्थामुहं तं तु ॥१७४॥

यत्पुनर्गृहं रथ्यायाः पार्श्वे वर्त्तमानं रथ्याया अभिमुखं वा भवेत्, वहिर्मुखं वा रथ्या तस्य पृष्ठतो वर्तत इत्यर्थः, उभयतो मुखं वा-यस्यैकं द्वारं रथ्यायाः पराङ्मुखम्, एकं तु रथ्याया अभिमुखमित्यर्थः; अथवा-यतो-गृहात् रथ्या प्रवहति तद् रथ्यामुखमुच्यते।

सिंघाडगं तियं खलु, चउरत्थसमागमो चउक्कं तु।
छण्हं रत्थाण जहिं, पवहो तं चच्चरं बेंति ॥ १७५ ॥

शृङ्गाटकं नाम-यत्त्रिकं-रथ्यात्रयमीलनस्थानम्, क्वचित्तु सूत्रादर्शे-'तियंसि' वा इत्यपि पदं दृश्यते। तत्रैवं व्याख्या-शृङ्गाटकं-शृङ्गाटकाकारं त्रिकोणस्थानम्, त्रिकं-रथ्यात्रयमीलकः, चतुष्कं तु चतसृणां रथ्यानां सम्यग्गमः। तथा तत्र षण्णां रथ्यानां प्रवहो-निर्गमत्वं चत्वरं ब्रुवते तीर्थकरगणधराः।

अह अंतरावणो पुण, वीही सा एगओ व दुहओ वा।
तत्थ गिहँ अंतरावण, गिहं तु सयमावणो चेव ॥१७६॥

अथेत्यानन्तर्ये, अन्तरापणो नाम-वीथी हट्टमार्ग इत्यर्थः। सा एकतो वा-एकपार्श्वेन 'दुहओ वि' त्ति द्वाभ्यां वा पार्श्वाभ्यां भवेत्, तत्र यद् गृहं तदन्तरापणगृहम्। यद्वा-गृहं स्वयमेवापणस्तदन्तरापणः। किमुक्तं भवति-यत्रैकेन द्वारेण व्यवह्रियते द्वितीयेन तु गृहं तदन्तरापणगृहम्, एतेषु प्रतिश्रयेषु संयतीनां न कल्पते स्थातुम्। अथ तिष्ठन्ति तदा प्रागुक्तमेव चतुर्गुरुकाख्यं प्रायश्चित्तं प्राप्नुवन्ति।

अथात्रैव प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमाह—

आवणरत्थगिहे वा, तिगाइसुन्नंतरावणुज्जाणे।
चउगुरुगा छल्लहुगा, छग्गुरुगा छेयमूलं च ॥१७७॥

आपणगृहे तिष्ठन्तीनां चतुर्गुरुकाः, रथ्यागृहे तिष्ठन्तीनां षड्लघवः 'तिगाइ' त्ति त्रिकेषु चत्वरेषु तिष्ठन्तीनां षड्लघवः 'सुन्न' त्ति अपरिगृहीते-शून्यगृहे अन्तरापणे वा छेदः। उद्याने तिष्ठन्तीनां मूलम्। एवं भिक्षुणीविषयमुक्तम्। गणावच्छेदिन्याः षड्लघुकादारब्धं नवमे तिष्ठति, प्रवर्तिन्याः षड्गुरुकादारब्धं प्रायश्चित्तं दशमे पर्यवस्यति, एतच्चापत्तिमङ्गीकृत्योक्तम्, अन्यथा सर्वासामपि मूलमेव भवति। परतः संयतीनां प्रायश्चित्तस्यैवाभावात्।

सव्वेसु व चउगुरुगा, भिक्खुणिमाईण वा इमा सोही।
चउगुरुविसेसिया खलु, गुरुगा विव छेदनिट्ठवणा॥१७८॥

अथवा सर्वेष्वपि-आपणगृहादिषु स्थानेषु चतुर्गुरुकाऽविशेषितं प्रायश्चित्तम्। अयं च प्रकारः प्रागुक्तोऽपि संग्रहार्थमिह भूयोऽप्युक्त इति न पुनरुक्तता। यदि वा-भिक्षुणीप्रभृतीनामियं शोधिर्द्रष्टव्या। तद्यथा-चतुर्गुरुकास्तपःकालाभ्यां विशेषिताः। तत्र भिक्षुण्याश्चतुर्गुरुकम् उभयलघु। अभिषेकायास्तदेव तपसा लघु कालेन गुरुकम्। गणावच्छेदिन्याः, कालेन लघु, तपसा गुरु। प्रवर्तिन्याः कालेन चतुर्गुरुकम्। यदि-वा चतुर्गुरुकादारभ्य छेदे निष्ठापना कर्तव्या। तद्यथा—भिक्षुण्याः सर्वेष्वपि स्थानेषु चतुर्गुरुकम्, अभिषेकायाः षड्लघुकम्, गणावच्छेदिन्याः षड्गुरुकम्, प्रवर्त्तिन्याः छेदः।

अथात्रैव दोषानुपदर्शयितुं द्वारगाथामाह—

तरुणा वेसित्थिविवा-ह रायमादीसु होइ सइकरणं।
इच्छमणिच्छे तरुणा, तेणा उवहिं व ताओ वा ॥१७९॥

आपणगृहादिषु स्थितानां साध्वीनां तरुणान् वेश्यास्त्रीविवाहं च दृष्ट्वा राजादीनां दर्शने भुक्तभोगानां स्मृतिकरणं भवति, इतरासां कौतुकम्। तरुणांश्च प्रार्थयमानान् यदीच्छन्ति ततः संयमविराधना। अथ नेच्छन्ति तत उड्डाहादिकं कुर्युः, स्तेनाश्च तत्रोपधिं वा ता वा-आर्यिकाः अपहरेयुरिति द्वारगाथासमासार्थः।

अथ विस्तरार्थं प्रतिपदमाह—

चउहाऽलंकारविउ-व्विए तहिं दिस्स सललिए तरुणो।
लडहपयंपितपहसित-विलासगतिणेगविहकिड्डे ॥१८०॥

चतुर्द्धा-वस्त्रपुष्पगन्धाभरणाच्चतुर्विधो योऽलङ्कारस्तेनाचितानलंकृतान् तरुणान् तत्रापणगृहादिषु दृष्ट्वा मोहादयो भवन्तीति वाक्यशेषः। कथंभूतान्?, सललितान् ललितं नाम, हस्तपादाङ्गविन्यासविशेषः। उक्तं च-"हस्तपादाङ्गविन्यासो-भ्रूनेत्रौष्ठप्रयोजितः। सुकुमारो विधानेन, ललितं तत्प्रकीर्तितम्॥ १॥" तेन सहितान्, तथा लडभमन्योन्यं प्रजल्पितं-प्रकृष्टवचनं, प्रसहितं-हास्यम् विलासस्य, "स्थानासनगमनानां, हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैव। उत्पद्यते विशेषो, यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात्॥ १॥" इत्येवंलक्षणा गतिश्च सुललितपदन्यासरूपा अनेकविधा, बहूनां दोलनादिकाः क्रीडा येषां ते तथाविधास्तान्।

अथ वेश्यास्त्रीद्वारमाह-

दिट्ठुं विउव्वियाओ, कुलडा धुत्तेहि संपरिवुडाओ।
विब्बोयपहसियाओ, आलिङ्गणमाइ संमोहो ॥ १८१ ॥

विकुर्विता-अलंकृताः कुलटाः—स्वैरिण्यो; वेश्यास्त्रिय इत्यर्थः, धूर्तैः सङ्गैः संपरिवृताः-समंततो वेष्टिताः, विब्बोकप्रहसिताः-विब्बोको नाम—"इष्टानामर्थानां, प्राप्तावभिमा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नगर्वसंभूतः। स्त्रीणामनादरकृतो, विव्वोको नाम विज्ञेयः ॥१॥" प्रहसितं-हास्याभिधानो रसविशेषः अस्य च लक्षणमिदम्-"हास्यो हास्यप्रकृतिः,हासो विकृताङ्गवेषचेष्टाभ्यः। भवति परस्थाभ्यः स च, भूम्ना स्त्रीनीचबालगतः ॥ १ ॥ " ते विव्वोक-प्रहसिते विद्येते यासां ता विव्वोकप्रहसितवत्यः। गाथायां प्राकृतत्वान्मतुप्रत्ययलोपः। एवंविधा आपणगता दृष्ट्वा तासां चालिङ्गनादिकाश्चेष्टाः क्रियमाणा निरीक्ष्य मोहः समुद्दीप्स्यते।

अथ विवाहद्वारमाह—

तत्थ चउरंतमादी, इब्भविवाहेसु वित्थरा रइया।
भूसियसयणसमागम, रहआसादी य निव्वहणे ।१८२।

तत्राऽऽपणगृहादौ स्थितानां संयतीनामिभ्यविवाहेषु ये चतुरन्तादयो विस्तरा रचिताः,चतुरन्ता नाम-चतुरिका आदिशब्दाद्वन्दनकलशतोरणादिपरिग्रहः,तथा यस्तत्र भूषितानां-वस्त्रादिभिरलंकृतानां स्वजनानां समागमः, यच्च रथेन वा अश्वेन वा आदिशब्दात्-शिविकया वा निर्वहणं वध्वाः सर्वर्द्ध्या श्वशुरगृहे नयनं तद्दर्शने भुक्तभोगिनीनां स्मृतिकरणम्, अभुक्तभोगिनीनां तु कौतुकमुपजायते, ततः प्रतिगमनादयो दोषाः।

अथ राजद्वारमाह—

बलसमुदयेण महया, छत्तसिया वियणिमंगालिपुरोगा।
दीसंति रायमादी, तत्थ ऑनिंता य निंता य ॥ १८३ ॥

महता बलसमुदयेन आनयन्तः प्रविशन्तो निर्गच्छन्तो राजादयो राजेश्वरतलवरप्रभृतयस्तत्र दृश्यन्ते,कथंभूताः? 'छत्तसिय'त्ति प्राकृते पूर्वापरनिपातस्यान्तवत्त्वात् सितं-श्वेतं छत्रं येषां ते सितछत्राः'वियणि'त्ति बालवीजनिका मङ्गलानि-दर्पणपताकादीनि एतानि पुरोगाणि-पुरतो गानि येषां राजादीनां ते तथा।

द्वारगाथायां 'रायमाईसु' त्ति यदादिग्रहणं कृतम्।

तल्लब्धमर्थमाह—

ते नक्खि वालिमुह वा-सिजंघिणो दिस्स अट्ठिया णट्ठि।
होसुं णे एरिसगा, न य पत्ता एरिसा इतरी ॥ १८४ ॥

तान्—पुरुषान् नखिवालिमुखवासिजङ्घिनो दृष्ट्वा भुक्तभोगिन्योऽब्रुवन्-'णे' अस्माकमपीदृशाः पतय इति स्मृतिम्, इतरास्तु-अभुक्तभोगिन्यो नास्माभिरीदृशाः पूर्वं प्राप्ता इत्येवं कौतुकं कुर्युः। तत्र नखाः-करजा विद्यन्ते येषां ते नखिनः प्रशंसायामत्र मत्वर्थीयः, यथा रूपवतीति। विशेषणानामन्यथानुपपत्त्या ताम्रोत्तुङ्गत्वादिगुणोपेताः विशिष्टा एव नखाः, तद्वन्तः। प्रशंसायामत्र मत्वर्थीयः, यथा—रूपवती कन्येत्यादिषु एवं वालाः-केशास्ते श्यामलनिचितकुञ्चितादिगुणोपेता येषां ते वालिनः, मुखवासः—कर्पूरादिभिर्मुखस्य सौरभ्यापादनं तदस्ति येषां ते मुखवासिनः, जङ्घिनो--वर्तुलस्थूलजङ्घायुगलकलिताः, एते अर्थिनो--मैथुनाभिलाषिणः, अनर्थिनो वा यथाभावेन समागच्छेयुः, तांश्च दृष्ट्वा भुक्ताऽभुक्तसमुत्था दोषा भवन्ति।

तानेव भावयति—

एयारिसए मोत्तुं, एरिसए विवाहिताएँ सहस्सुत्ते।
इयरीण कोउहल्लं, निदाणगमणादयो सज्जं ॥ १८५ ॥

एतादृशान् मुक्त्वाऽस्माभिर्दीक्षा गृहीता, ईदृशैर्वा सह विवाहिता वयमपि पूर्वमिति स्मृतिकरणं भुक्तभोगिनीनाम्, इतरासामभुक्तभोगिनीनां पुनः कौतूहलं-कौतुकं भवेत्। तत-श्चोभयासामपि सद्यो निदानगमनादयो दोषाः। निदानम्-अस्मात्--तपोनियमादिप्रभावाद्भवान्तरे ईदृशमेव पुरुषं लभेयेति लक्षणम्, गमनं-स्वगृहं प्रति भूयः प्रत्यावर्तनम्।

अपि च--

आयाणनिरुद्धाओ, अकम्मसुकुमालविग्गहधरीओ।
तेसिं पि होइ दट्ठुं, वइणीओ समुब्भवो मोहो ॥१८६॥

आदानानि-इन्द्रियाणि निरुद्धानि याभिस्ता निरुद्धादानाः गाथायां व्यत्यासेन पूर्वापरनिपातः प्राकृतत्वात्। अकर्मणा--कर्मकरणाभावेन सुकुमारं--कोमलं विग्रहं शरीरं धारयन्तीति अकर्मसुकुमारविग्रहधराः एवंभूता व्रतिनीः दृष्ट्वा तेषामपि नखिवालिप्रभृतीनां मोहस्य समुद्भवो भवति।

अथ 'इच्छमणिच्छे तरुण' त्ति पदं विवृणोति-

संजमविराहणा खलु, इच्छाए ऽणिच्छियं बहिं गेण्हे।
तेणोवहिनिप्फन्ना, सोही मूलाइ जा चरिमं ॥ १८७ ॥

यदि तत्रापणगृहादौ तरुणानवभाषमाणान् इच्छति ततः संयमविराधना, अथ नेच्छति ततो बलादपि संयतीं बहिर्गृह्णीयुः, 'तेणा उवहिं व ताओ वा' इति पदं व्याख्यायते-"तेणोवहिनिप्फन्ना" इत्यादि शून्यगृहादिषु स्थितानां साध्वीनां स्तेना यद्युपधिमपहरेयुः तत उपधिनिष्पन्ना शोधिः, तद्यथा--जघन्यमुपधिमपहरन्ति पञ्चकम्, मध्यमपहरन्ति मासिकम्, उत्कृष्टमपहरन्ति अनवस्थाप्यम्, तिस्रोऽपहरन्ति पाराञ्चिकम्।

अपि च--

ओभावणा कुलघरे, ठाणं वेसित्थिखंडरक्खाणं।
उड्ढंसणा पवयणे, चरित्तभासुंडणा सज्जो ॥ १८८ ॥

चारित्रिकाणां स्थानं तदापणगृहादि भवेत्। तत उद्धर्षणा प्रवचनस्य, तथा सद्यश्चारित्रात्प्रभ्रंशना चोपजायते। एषा द्वारगाथा। अथेयमेव व्याख्यायते-तत्र कुलगृहस्यापभ्राजना भाव्यते, आपणगृहादौ स्थिताः ताः दृष्ट्वा कश्चित्तदीयज्ञातीनामन्तिके गत्वा ब्रूयात्।

किमित्यत आह---

ससिपाया वि ससंका, जासिं गायाणि संनिसेविंसु।
कुलफंसणिओ ता भे,दोन्नि वि पक्खे विघंसेंति॥१८९॥

यासां-युष्मदीयसुतास्नुषादीनां प्रयत्नेन संरक्षमाणानां गात्राणि शशिपादा अपि--चन्द्रमरीचयोऽपि सशङ्काश्चकिता इव संनिषेवितवन्तः, ताश्चेदानीमेवमापणगृहादौ वसन्त्यः 'भे' भवतां कुलस्य पांशवः--कुलमालिन्यकारिण्यो द्वावपि पक्षौ-पैतृकश्वशुरलक्षणौ विघर्षयन्ति—विनाशयन्तीत्यर्थः। एवं कुलगृहस्यापभ्राजना भवति।

अथ 'स्थानं वेश्यास्त्रीषण्डरक्षाणा' मिति द्वारमाह-

छिन्नाइबाहिराणं, तं ठाणं जत्थ ता परिवसंति।
इय सोउं दट्ठूण व, सयं तु ता गेहमाणेंति ॥ १९० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्र ताः श्रमण्यः परिवसन्ति तत्र यदि छिन्नादिबाह्यानां स्थानम् छिन्ना—छिन्नाला आदिशब्दाद्वेश्याखण्डरतविटद्यूतकारादयो ये बाह्या विशिष्टजनबहिर्वर्त्तिनस्तेषां स्थाने यदि तिष्ठन्ति ततस्तदीयाः सज्ञातिका इत्येवं वृत्तान्तं श्रुत्वा दृष्ट्वा वा ताः-संबन्धिसंयतीः स्वं-स्वकं गृहमानयन्ति। अलमनया प्रव्रज्यया यत्रैवंविधे स्थाने वासो विधीयते।

अथोद्धर्पणाप्रवचने इति द्वारमाह—

पेच्छह गरहियवासा,वइणीओ तवोवणा किर सियाओ।
किं मन्ने एरिसओ, धम्मोऽयं सत्थु गरिहा य ॥१९१॥
साधूणं पि य गरहा, तप्पक्खीणं च दुज्जणो हसइ।
अभिमुह पुणरावत्ती, वच्चंति कुलप्पसूयाओ ॥ १९२ ॥

ताश्चापणगृहे दृष्ट्वा कश्चिद् ब्रूयात्—पश्यत लोकाः! यदेवं गर्हितवासाः—शिष्टजनजुगुप्सिते स्थाने स्थिता व्रतिन्यस्तपोवनं किल श्रिताः। किं मन्ये एतत्तीर्थकृता ईदृशोऽयं धर्मो दृष्ट इत्येवं शास्तुः-तीर्थकरस्य गर्हा भवति। साधूनामपि च गर्हा जायते-अहो सदाचारबहिर्मुखा अमी ये स्वकीयाः संयतीरस्मिन्नस्थाने स्थापयन्ति,तथा-ये तत्पाक्षिकाः—साधुपक्षबहुमानिनः श्रावकास्तेषां च पुरतो दुर्जनो-मिथ्यादृष्टिर्लोको हसति,याश्च प्रव्रज्यायामभिमुखास्तासां पुनरावृत्तिर्विपरिणामो वा भवति, कुलप्रसूताश्च याः प्रव्राजितास्तास्तादृशस्थानावस्थानेन अभाविताः सत्यो भूयो गृहाणि व्रजन्ति।

अथ चारित्रभ्रंशनाद्वारमाह—

तरुणादीये दट्ठुं, सइकरणसमुब्भवेहिं दोसेहिं।
पडिगमणादी वसिया, चरित्तभासुंडणा वाऽवि॥१९३॥

तरुणादीन् दृष्ट्वा स्मृतिकरणसमुद्भवैरुपलक्षणत्वात्कौतुकसमुद्भवैः दोषैः प्रतिगमनादीनि वा पदानि तासां स्युर्भवेयुः। आदिशब्दादन्यतीर्थकगमनादिपरिग्रहः। स्वलिङ्गे वा स्थिताः तरुणादिभिः प्रतिसेवनायाः चारित्रभ्रंशना भवेत्। एते आपणगृहे तिष्ठन्तीनां दोषा द्रष्टव्याः।

अथ रथ्यामुखादिषु तानतिदिशन्नाह—

एए चेव य दोसा, सविसेसतरा हवंति सेसेसु।
रत्थामुहमदीसुं, थिराथिरेहिं थिरे अहिया ॥ १९४ ॥

एत एव तरुणादयो दोषाः शेषेषु-रथ्यामुखशृङ्गाटकत्रिकादिष्वपि भवन्ति, नवरं सविशेषतरा उत्तरोत्तरेषु द्रष्टव्याः यावदुद्यानम्। ते च तरुणादयो द्विधा-स्थिराः, अस्थिराश्च। स्थिरा नाम-येषां तत्रैव गृहाणि, अस्थिरा येषामन्यत्र गृहाणि। तत्र च स्थिरे अधिकतरा दोषाः प्रतिपत्तव्याः।

द्वितीयपदे तिष्ठेयुरपि। कथमित्याह—

अद्धाण-णिग्गयादी,तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
रत्थामुहे चउक्के, आवण अंतो दुहिं वाहिं ॥ १९५ ॥

उपलक्षणत्वात् शृङ्गाटकादीनामपि ग्रहणम्, ततोऽयमर्थः-रथ्यामुखस्याभावे आपणगृहे स्थातव्यम्, तदप्राप्तौ शृङ्गाटके वा, तस्याप्यसत्त्वे चतुष्के, तस्यालाभे चत्वरे, तदप्राप्तौ अन्तरापणेऽपि स्थातव्यमिति।

अथ 'अंतो दुहिं वाहिं' ति पदत्रयं व्याचष्टे—

अंतोमुहस्स असई, उभयमुहे तस्स वाहिरं पिहए।
तस्सऽसति वाहिरमुहे, सइ ठइए थेरिया वाहिं ॥१९६॥

पूर्वमन्तर्मुखे-रथ्यामुखगृहे स्थातव्यम्, अन्तर्मुखस्याऽसति उभयमुखे तस्य च यद्बहिर्द्वारं रथ्याभिमुखं तत्पिदधति-कटादिना स्थगयन्ति। द्वितीयेन द्वारेण निर्गमप्रवेशौ कुर्वन्ति। तस्योभयमुखस्याभावे बहिर्मुखे-रथ्याभिमुखद्वारे तिष्ठन्ति, तत्र च द्वारं सदा स्थगितमेव कुर्वन्ति, स्थविरसाध्व्यश्च तत्र 'वाहिं' ति बहिर्द्वारप्रत्यासन्नास्तिष्ठन्ति।

अथ सामान्यत आपणगृहादिविधिमाह—

जत्थप्पयरा दोसा, जत्थ य जयणं तरंति काउं जे।
निच्चमवि जंतिताणं, जंतितवासो तहिं वुत्तो ॥१९७॥

यत्राल्पतराः पूर्वोक्ता दोषास्तेषां दोषाणां परिहरणे यत्र यतनां कर्तुं शक्नुवन्ति, तत्रापणगृहादौ तिष्ठन्तीत्याशयः तत्र च स्थितानां तासां नित्यं यन्त्रितानामपि यन्त्रितवासः प्रोक्तः। किमुक्तं भवति-यद्यपि संयत्यः प्रायोग्योपकरणप्रावरणादिना ताः सर्वदैव सुयन्त्रितास्तथापि तत्रापणगृहादौ विशेषतो यथोक्तयतनया यन्त्रणा कर्तव्या।

का पुनर्यतनेति चेदुच्यते—

वोलेन झायकरणं, ठाणं वत्थुं च पप्प भइयं तु।
वंदेण इंति निंति च, अविणीयनिहोडणा चेव ॥१९८॥

वोलेन—समुदायशब्देन स्वाध्यायकरणं येन पूर्वोक्ता दोषा न भवन्ति, स्थानं वा वस्तु वा प्राप्य भाज्यम्। स्वाध्यायकरणं न कर्त्तव्यमित्यर्थः, वृन्देन च कायिकीसंज्ञाव्युत्सर्जनार्थमातयन्ति निर्यन्ति वा। अविनीतां च दुःशीलानां तरुणादीनां निवेदना कर्त्तव्या, न तत्र प्रवेष्टुं दातव्यमिति भावः।

एएसिं असईए, सुन्ने वहिरक्खियाउ वसहेहिं।
तेसऽसती गिहिनीसा, वइगाइसु भोइए नाउं ॥१९९॥

एतेषामापणगृहादीनामसति अप्रतिपन्नादयो व्रतिन्यो वृषभैः—समर्थसाधुभिर्बहिः—समन्ततो रक्षिताः सत्यः शून्ये उपाश्रये वसेयुः। अथ वृषभा न भवन्ति, ततस्तेषामभावे गृहिणामगारिणां निश्रया भृत्यादिभिः सुगुप्तशून्येऽपि प्रतिश्रये वसन्ति। कथमित्याह-ग्रामाधिपस्य-ग्रामस्वामिनो ज्ञातं-विदितं कृत्वा वयमत्र भवदीयबाहुच्छायापरिगृहीताः स्थिताः स्म, अतो भवता अस्माकं सारा करणीयेति।

कप्पइ निग्गंथाणं आपणगिहंसि वा० जाव अंतरावणंसि वा वत्थए ॥ १३ ॥

अत्र भाष्यम्—

एसेव कमो नियमा, निग्गंथाणं वि नवरि चउलहुगा।
सुत्तनिवातो अंतो-मुहम्मि तह चेव जयणाए ॥२००॥

एष एव क्रमो नियमान्निर्ग्रन्थानामपि भवति, तेषामप्यापणगृहादिषु वसतां पूर्वोक्ता दोषा भवन्तीति भावः। नवरं चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्तम्। आह—यद्येवं तर्हि सूत्रं निरर्थकम्। तत्र साधूनामापणगृहादिषु वस्तुमनुज्ञातत्वात्, नैवं कार-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णिकसूत्रम्, यद्यन्यत्रोपाश्रयो न प्राप्यते ततोऽन्तर्मुखे रथ्या-मुखे गृहे स्थातव्यम्। अत्र सूत्रनिपातः-सूत्रमवतरति तस्या-ऽभावे आपणगृहादिषु शेषेष्वपि तिष्ठद्भिस्तथैव-तेनैव विधि-ना यतनया स्थातव्यम्। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

(२१) वर्षासु यादृशे उपाश्रये वसेत्तदाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा गामं वा ०जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा०जाव राय-हाणिंसि वा णो महती विहारभूमी णो महती वियारभू-मी णो सुलभे पीढफलगसेज्जासंथारए णो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे जत्थ बहवे समणमाहणअतिहिकिवणव-णीमगा उवागया उवागमिस्संति य अच्चाइण्णा वित्ती णो पण्णस्स णिक्खमणपवेसाए ०जाव धम्माऽणुओगचिंताए सेवं णच्चा तहप्पगारं गामं वा णगरं वा० जाव रायहाणिं वा णो वासावासं उवल्लिएज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा गामं वा० जाव रायहाणिं वा० इमंसि खलु गामंसि वा ० जाव महती विहारभूमी महती वियारभूमी सुलभे जत्थ पीढे० ४ सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे णो जत्थ बहवे समण० जाव उवागया उवागमिस्संति वा अप्पाइण्णा वित्ती० जाव रायहाणिं वा ततो संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा। (सू०-११२)

स भिक्षुर्यत्पुनरेवं राजधान्यादिकं जानीयात्, तद्यथा-अस्मि-न् ग्रामे यावद्राजधान्यां वा न विद्यते महती विहारभूमिः-स्वाध्यायभूमिः, तथा विचारभूमिः-बहिर्गमनभूमिः, तथा नै-वात्र सुलभानि पीठफलकशय्यासंस्तारकादीनि, तथा न सुलभः प्रासुकः पिण्डपातः'उंछे' त्ति एषणीयः। एतदेव दर्श-यति।'अहेसणिज्जे' त्ति यथाऽसावुद्गमादिदोषरहित एषणीयो भवति तथाभूतो दुर्लभ इति। यत्र च ग्रामनगरादौ बहवः श्रमणब्राह्मणकृपणवणीमगादय उपागताः अपरे चोपागमि-ष्यन्ति, एवं च तत्राऽत्याकीर्णा वृत्तिः, वर्त्तनं-वृत्तिः, सा च भिक्षाटनस्वाध्यायध्यानबहिर्गमनकार्येषु जनसङ्कुलत्वादाकी-र्णा भवति, ततश्च न प्राज्ञस्य तत्र निष्क्रमणप्रवेशौ यावच्चि-न्तनादिकाः क्रिया निरुपद्रवाः सम्भवन्ति। स साधुरेवं ज्ञात्वा न तत्र वर्षाकालं विदध्यादिति। एवं च व्यत्ययसूत्र-मपि व्यत्ययेन नेयमिति। आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ०।

वर्षावासे वसतिरशून्या कर्त्तव्या। सम्प्रति वर्षा-कालविषयाणि प्रपञ्चयति—

नियमा होइ असुण्णा, वसही नयणे य वसिया दोसा।
दुस्संचरबहुपाणे, वासावासे विउच्छेदो ॥ २१ ॥

वर्षावासे-वर्षाकाले नियमाद्वसतिरशून्या कर्त्तव्या, किं का-रणमिति चेत्, उच्यते-वर्षासूपकरणं सह नीयते। अथ भिक्षादिगच्छन्नयति तर्हि वर्षप्रपातेन तिम्यते। तथा चाह—"उपकरणस्य सह नयने पूर्वं कल्पाध्ययने तमनाद-यो दोषा वर्णिताः"। अन्यच्च शून्यायां वसतौ कृतायां ग-वादिभिर्भञ्जनं भटादिभिर्वा रोधनं भवेत्। तथा च स-त्यन्यस्यां वसतौ गन्तव्यम्, तस्या अलाभेऽन्यद् ग्रामान्तरं गमनीयम्, यत्र च दुस्संचरा मार्गाः सलिलहरितादिभिरा-त्मविराधना संयमविराधना भवेत्। तथा बहुप्राणा मार्गा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाणामनेकजातीयानां सन्मूर्च्छनात्, तथा शय्यातरेण शून्यां वसतिमालोक्याऽदाक्षिण्या एते काऽप्य-नापृच्छय गता इति प्रद्वेषतस्तेषां सर्वेषां वा तद्द्रव्यस्यान्यद्र-व्यस्य वा व्युच्छेदः क्रियेत। इमे दोषास्तस्मात् शून्या वसतिः कदापि न कर्त्तव्येति, जघन्यतोऽप्याचार्यस्योपाध्यायस्य चा-त्मतृतीयस्य वर्षाकाले विहारः, अन्यथा प्रायश्चित्तम्।

तथा चाह--

वासासु दोण्ह लहुया, आणादिविराहणा वसहिमादी।
संथारग उवगरणे, गेलन्ने सल्लमरणे य ॥ २२ ॥

यदि पुनर्द्वौ जनौ वर्षाकाले वसतस्तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुका आज्ञादयश्च दोषाः। तथा विराधना वसत्यादेः आ-दिशब्दादात्मसंयमप्रवचनपरिग्रहः। तथा संस्तारकविषये उपकरणविषये च भूयांसो दोषाः तथा द्वयोर्जन-योर्विहरतोरेकः कथञ्चनापि ग्लानो जायेत, ततो ग्लानं व-सतौ मुक्त्वा अपरो भिक्षादिनिमित्तं बहिर्गतः, ये प-श्चात् ग्लानस्य दोषा द्वितीयोद्देशकेऽभिहिताः। यच्च सश-ल्यस्य सतो मरणं तदेतत्सर्वमत्रापि द्रष्टव्यम्। एष द्वार-गाथासंक्षेपार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो विराधना वसत्यादे-रिति विवृण्वन्नाह--

सुण्णं मुत्तुं वसहिं, भिक्खादीकारणा उ जइ दो वि।
वच्चंति ततो दोसा, गोणाईया हवंति इमे ॥ २३ ॥

यदि द्वावपि शून्यां वसतिं मुक्त्वा भिक्षादिकारणतो व्रज-न्तस्तत इमे वक्ष्यमाणा दोषा गवादिका-गवादिनिमित्ता भवन्ति।

तानेवाह--

गोणे साणे छगले, सूगरमहिसे तहेव परिकम्मे।
मिच्छत्तवडुगमादी, अच्छन्ते सलिंगमादीणि ॥ २४ ॥

गौः श्वा छगलः शूकरो महिषो वा शून्यां वसतिमवबुध्य प्रविशेत् तथा परिकर्म गृहस्थः कुर्यात्, यदि वा-मिथ्यात्वो-पहता बटुकादयः प्रविशेयुः, अथैको गच्छत्येकः पश्चात्तिष्ठति ततः एकस्मिन्पश्चात्तिष्ठति स्वलिङ्गादीनि-स्वलिङ्गप्रतिसेवना-दय आत्मपरोभयसमुत्था बहवो दोषाः। एषाऽपि द्वारगाथा।

तत्र गवादिद्वारव्याख्यानार्थमाह--

गोणादिए पविट्ठे, धाडंतमधाडने भवे लहुया।
अहिगरणवसहि भंगा, तह पवयणे संजमे दोसा॥२५॥

गवादिके-गोश्वछगलशूकरादिके प्रविष्टे यदि तान् गवा-दीन् धाटयति ततस्तत्प्रायोऽयोगोलकल्पास्तिर्यञ्च इति तद्धाटनेन भवति प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, तथा ते गवादयो निर्धाटिताः सन्तो हरितादीनि खादेयुस्ततो-ऽधिकरणदोषसंभवः। 'अधाडणे' त्ति अथ न निर्धाटयति तर्हि वसतिभङ्गः, तथा प्रवचने संयमे च दोषाः, प्रवचन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विराधना, उपलक्षणमेतत्, आत्मविराधना चेत्यर्थः। तथाहि--यदि श्वादयो बालमृतकलेवरादि भक्षयन्तस्तिष्ठन्ति तदा महती प्रवचनस्य कुत्सेति प्रवचनविराधना। शूकरप्रभृतयश्च निष्काश्यमानाः कदाचित् संमुखा अपि वलेरन् तत आत्मविराधना श्वाऽऽदयश्च तिष्ठन्तो मार्जारमूषिकादिकमुपहन्युरिति संयमविराधना। तदेवं 'गोणे साणे' त्यादि व्याख्यातम्।

अधुना 'परिकम्म' त्ति व्याख्यानयति--

दुक्खं ठिएसु वसही, परिकम्मं कीरइ त्ति इति नाउं।
भिक्खादिनिग्गएसुं, सअट्ठ मीसुं विमं कुज्जा ॥ २६ ॥

ते गृहस्थाः परिभावयन्ति-स्थितेषु साधुषु दुःखं महता कष्टेन वसतेः परिकर्म क्रियते स्वाध्यायभङ्गादिदोषभावात्, गतेषु तु न कश्चिद्दोष इति ज्ञात्वा-परिभाव्य भिक्षादिनिमित्तं निर्गतेषु साधुषु सद्वृत्तिस्वार्थं स्ववसतिवलिष्ठताकरणार्थं मिश्रं वा संयता अपि सुखेन स्वाध्यायादिकं च कुर्युरिति स्वार्थं संयमनिमित्तं च इदं वक्ष्यमाणं परिकर्म्म कुर्युः।

तदेवाह—

उच्छेव विलच्छगणे, भूमीकम्मे समज्जणाऽऽमज्जे।
कुड्डाण लिंपणं दू-मणं च एयं तु परिकम्मं ॥ २७ ॥

उच्छेवो नाम-यत्र पतितुमारब्धं तत्रान्यस्येष्टकादेः संस्थापनं विलस्थगनं कोलादिकृतविलेष्विष्टकोपलादिप्रक्षिप्योपरि गोमयमृत्तिकादिना पिधानम्, भूमिकर्म्म नाम विषमाणि भूमिस्थानानि भङ्क्त्वा सन्मार्जन्या सन्मार्जनम्, आमर्जनं-मृदुगोमयादिना लिम्पनम्, तथा कुड्यानां लेपनं कुड्यानामेव च 'दूमणं' ति धवलनम् एतत् परिकर्म्म कुर्युः।

अत्रैव प्रायश्चित्तविधिमाह—

जइ ढक्कंतो छेवा, तइमास विलेसु गुरुग सुद्धेसुं।
पंचिंदिय उद्दाते, एगदुगतिगे उ मूलादी ॥ २८ ॥

'यति' यावन्त उच्छेवा ढक्किताः-समारचिताः 'तति' तावन्तो लघुमासाः प्रायश्चित्तम्। विलेषु शुद्धेषु पञ्चेन्द्रियजीवरहितेषु स्थगितेषु 'गुरुग' त्ति चत्वारो गुरुमासाः। अथ पञ्चेन्द्रियव्याघातो विलस्थगने अभूत् तत एकद्वित्रिषु व्याहतेषु यथाक्रमं मूलादि, एकस्मिन् पञ्चेन्द्रियेऽपद्राविते मूलम्, द्वयोरनवस्थाप्यम्, त्रिषु-त्रिप्रभृतिषु पाराञ्चिकमिति।

भूमीकम्मादीसुं, फासुग देसे उ होइ मासलहुं।
सव्वम्मि लहुग अफा-सुगेण देसम्मि सव्वे य ॥२९॥

भूमिकर्म्मादिषु-भूमिकर्म्मसन्मार्जनमार्जनकुड्यलेपनधवलनेषु देशतः प्राशुकेषु कृतेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं भवति मासलघु। सर्वस्मिन् उपाश्रये प्राशुकेषु कृतेषु प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः। अप्राशुकेनापि जलादिना देशतः सर्वतो वा भूमिकर्म्मादिषु कृतेषु प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः।

सम्प्रति शय्यातरमधिकृत्य प्रायश्चित्तविधिमाह—

सोच्चा गय त्ति लहुगा, अप्पत्तिय गुरुग जं च वोच्छेदो।
वडुचारणभडमरणे, पाहुणनिक्केयणा सुण्णे ॥ ३० ॥

शय्यातरो यदि शून्यां वसतिमालोक्य कस्यापि पार्श्वे पृष्ट्वा श्रुत्वा च तद्वच एतज्जानाति यथा गताः साधव इति न चाप्रीतिरुत्पन्ना तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। अथाप्रीतिकं करोति यथा अदाक्षिण्या एते अनापृच्छया गता इति तर्हि 'गुरुग' त्ति चत्वारो गुरुका मासाः। अथैकानेकभेदेन तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदस्तदा तन्निमित्तमपि चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम्। अधुना 'मिच्छत्तवडुगमादीनि' व्याख्यानयति-'वडुचारणे' त्यादि वडुकाः-द्विजातयः चारणाः-वैतालिकविशेषाः-भटाः-प्रतीताः, ते गताः क्वापि साधव इति विज्ञाय तस्मिन् शून्ये उपाश्रये आवसेयुः, तत्र कलहादिप्रसङ्गः। तथा शून्यां वसतिमालोक्य कश्चित्तिर्यङ् मनुष्यो वा समागत्य म्रियेत तत्र च राजग्रहादिदोषसंभवः। तथा केचित् शय्यातरस्य प्राघूर्णकाः शून्येयं वसतिरिति कृत्वा शय्यातरानुज्ञया तत्र तिष्ठेयुर्नच ते निष्काशयितुं शक्यन्ते, निष्काशिते निष्काशने वा प्रद्वेषादिप्रवृत्तिः, तथा तिरश्ची मानुषी वा प्रसवितुकामा शून्यां वसतिं दृष्ट्वा तत्रागत्य प्रसुवीत, तस्या निष्काशने-आश्रयत्याजने संयमविराधनादयो दोषाः। यथोक्ताः प्राक् एते शून्ये क्रियमाणे दोषाः।

सम्प्रति 'अच्छंते सति लिङ्गमादीणि' इति व्याख्यानयति-

अह चिट्ठति तत्थेगो, एगो हिंडइ उभयहा दोसा।
सल्लिंगसेवणादी, आतुत्थपरे उभयतो य ॥ ३१ ॥

अथ तत्रैकस्तिष्ठति एको हिण्डते तत उभयथा-उभयेन प्रकारेण यस्तिष्ठति गवादयश्च हिण्डन्ते तद्गताश्चेत्यर्थः, स्वलिङ्गसेवनादयो दोषाः। स्वलिङ्गसेवना-संयतीप्रतिसेवना आदिशब्दात्-परलिङ्गसेवना गृहिलिङ्गसेवना च परिगृह्यते। कथंभूता इत्याह—आत्मनोत्थाः आत्मनैव संयत्यादिकं कदाचित्प्रार्थयते इत्यर्थः। तथा परे परतः संयत्यादिकृतक्षोभनात्, उभयतः स्वतः परतश्च समुत्थाः।

यदुक्तं प्राक् 'सोच्चा गयत्ति लहुगा' इत्यादि गाथापूर्वार्द्धं तद्व्याख्यानार्थमाह—

सुण्णे सागरि दट्ठुं, संथारे पुच्छ कत्थ समणाओ।
सोउं गय त्ति लहुगा, अप्पत्तियछेदे चउगुरुगा ॥३२॥

संस्तरन्ति साधवोऽस्मिन्निति संस्तारः-उपाश्रयः सागारिकः-शय्यातरः, सप्तमी प्राकृतत्वात् द्वितीयार्थे, ततोऽयमर्थः-शून्यं संस्तारमुपाश्रयं सागारिको दृष्ट्वा पृच्छेत्-कुत्र गताः श्रमणा इति, तत्र प्रतिवचः श्रुत्वा गता इति ज्ञाते अप्रीत्यकरणे प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। अप्रीतिके समुत्पन्ने छेदे तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदे चत्वारो गुरुकाः। तदेवं विराधना वसत्यादेरिति व्याख्यातम्।

संप्रति 'संथारगउवगरणे' इति व्याख्यानयति—

कप्पट्ठगसंथारे, खेलण लहुगो तुयट्टि गुरुगो उ।
नयणे डहणे चउलहु, एते उ महल्लए वुच्छं ॥ ३३ ॥

संस्तारे-उपाश्रये यदि 'कप्पट्ठग' त्ति बालकः खेलति—क्रीडति ततः खेलने प्रायश्चित्तं लघुको मासः। अथ त्वग्वर्तनं कुर्यात्तर्हि त्वग्वर्त्तनकृतो गुरुको मासः। अथ स बालकस्तत्र स्थितस्तेन नीयते प्रदीपनकेन वा लग्नेन दह्यते, तदा चतुर्लघु। अत ऊर्ध्वं महति त्वग्वर्तनादि कुर्वति प्रायश्चित्तं वक्ष्ये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

तुव्वट्टनयणडहणे, लहुगा गुरुगा हवंतऽणायारे।
अह उवहणति उवहे,त्ति घेत्तूणं हिंडए मासलहुं ॥३४॥
उन्ने लहुग गिलाणा-दिगा य सुण्णे ठवेंति चउलहुगा।
अणरक्खितोवहम्मति, वहिते पावेंति जं जत्थ ॥३५॥

महान् पुरुषः शल्यमुपाश्रयं दृष्ट्वा तत्र त्वग्वर्तनं करोति। यदि वा-उपकरणं नयति, दहति वा। तदा त्वग्वर्तने नयने द-हने वा प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। अथानाचा-रं करोति तत्रापि चत्वारो गुरुकाः। अथवा-उपकरणे-ति व्याख्यानार्थमाह-'अहेत्यादि' अथ उपहन्यते उप-धिरिति मत्वा तं सह नीत्वा भिक्षार्थं हिण्डते तदा प्रा-यश्चित्तं मासलघु। अथ कथमपि सह नीतं वर्षेणार्द्रीक्रि-यते तदा चत्वारो लघुकाः। अथ तस्मिन्नुपाश्रये शून्ये स-ति ग्लानादिकान् आदिशब्दात्-प्राघूर्णकपरिग्रहः, गृह-स्थाः स्थापयन्ति तदाऽपि चत्वारो लघुकाः। अथोपधिं सह न नयति तदाऽसौ अरक्षितः सन् उपहन्यते, तस्क-रैर्वाऽपह्रियते। तदपहारे च जघन्यमध्यमोत्कृष्टापहारनिमि-त्तं प्रायश्चित्तम्। हृते च तस्मिन्नुपकरणे यत् अनेषणादि-कं यत्रोपकरणविषये तौ सेवाते तन्निमित्तमपि प्रायश्चित्तं तौ प्राप्नुतः।

संप्रति 'गेलण्ण सल्लमरणे य' इतिद्वारद्वयमाह-

गेलण्णमरणसल्ला, बितिउद्देसम्मि वण्णिया पुव्विं।
ते चेव निरवसेसा, नवरं इह इं तु बितियपयं ॥ ३६ ॥

ग्लान्यम् 'मरणसल्ल' त्ति सशल्यमरणमेते द्वे अपि पूर्वे-द्वितीयोद्देशके प्रथमसूत्रे ये दोषतया स-विस्तरं वर्णिते ते एव निरवशेषे अत्रापि वक्तव्ये, नवरं तत्र द्वितीयपदमपवादपदं नोक्तमिह तु 'इकारः' पाद-पूरणे, तदुच्यते।

तदेवाह—

असिवादिकारणेहिं, अहवा फिडिया उ खेत्तसंकमणे।
ततियमेत्ता य भवे,दोण्हं वासासु जयण इमा ॥ ३७॥

अशिवादिभिः कारणैः द्वावपि वर्षासु विहरतः। अथवा-एकस्मात् क्षेत्रादन्यस्मिन् क्षेत्रे संक्रमणे कथमपि मार्गतः स्फिटितौ-परिभ्रष्टावेकत्र वर्षासु विहरतः। उपलक्षणमेतत्ते-नैतदपि द्रष्टव्यम्—अशिवादिकारणतो गणे स्फोटं कृत्वैकाकिनो जाताः, संकेतवशाच्च क्वचिद्वर्षासु द्वौ मिलि-ताविति 'तत्तियमेत्ता उ भवे' इति शेषाः प्रतिभग्ना मृता वा, अवशिष्टौ तावन्मात्रावेव-द्वावेव भवतस्तिष्ठतः, एवं द्वौ वर्षासु भवतः। ततस्तयोश्च द्वयोर्वर्षासु इयं वक्ष्यमाण यतना।

तामेवाह—

एगो रक्खति वसहिं,भिक्खवियारादि बितियओ जाति।
संथरमाणेऽसंथरे॑ , निद्दोत्थुवरिं ठविंतुवहिं ॥ ३८ ॥

एको वसतिं रक्षति, द्वितीयो भिक्षाविचारादौ-भिक्षायां विचारे—बर्हिभूमावादिशब्दादन्यस्मिन्वा प्रयाति। एवं यतना तदा भवति यदा तौ संस्तरतः। 'असंथरे' त्ति अथैकाकिनो भिक्षाया अलाभादन्यतो वा कुतश्चित्कारणात् न संस्तरतस्तदा असंस्तरे द्वावपि सह हिण्डेते। तत्रेयं यतना—यदि वसतौ निर्दोस्थ्यं—निर्भयं तदा उपधिमुपरि वसतेः स्थापयतो-बध्नीतः, यथा न कोऽपि पश्यतीति,एवं-भूतां च यतनां कुर्वन्तौ न प्रायश्चित्तविषयौ। अथ न कुरु-तस्तदा यत् आपद्यते प्रायश्चित्तं तत् प्राप्नुत इति।

सुत्तेणं वुद्धारो, कारणियं तं तु होति सुत्तं ति।
कप्पो त्ति अणुण्णातो, वासाणं केरिसे खेत्ते ॥ ३९ ॥

यत एवं दोषास्ततो द्वयोर्विहारो वर्षासु साक्षात् पञ्चमेन सूत्रेण प्रतिषिद्धस्त्रयाणां तु विहारस्योद्धारः, अनुज्ञातः सूत्रेणै-व षष्ठेन कृतः,सोऽप्युत्सर्गतो न कल्पते, ततस्तत्सूत्रं कारणि-कमशिवादिकारणनिष्पन्नं भवतीति वेदितव्यम्। अथ कीदृ-शे क्षेत्रे, वर्षासु गाथायां षष्ठी सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात्। त्रयाणां विहारः कल्पत इत्यनेन पदेनाऽनुज्ञातः।

सूरिराह—

महती वियारभूमी, विहारभूमी य सुलभवित्ती य।
सुलभा वसही य जहिं, जहण्णयं वासखेत्तं तु ॥ ४० ॥

यत्र महती विचारभूमिः—पुरीषोत्सर्गभूमिर्यत्र च महती विहारभूमिः—भिक्षानिमित्तं भ्रमणभूमिर्यत्र च वृत्तिभिक्षा-वृत्तिः सुलभा, वसतिश्च यत्र सुलभा तत् जघन्यं वर्षायोग्यं क्षेत्रम् उत्कृष्टं त्रयोदशगुणोपेतम्। व्य० ४ उ०।

अधुना पञ्चकं व्याख्यानयति—

संगहुवग्गहनिज्जर—सुयपज्जवजायमव्ववच्छित्ती।
पणगमिणं पुव्वुत्तं, जे वायहि ताव लंभादी ॥ ५८ ॥

यत् पञ्चकं पूर्वमुक्तं तदिदम्। तद्यथा—संग्रह उपग्रहः निर्जरा श्रुतपर्यवजातमव्यवच्छित्तिश्च। तत्र संग्रहः शिष्यादेः तथा च श्रुते शिष्यादयः संगृह्यन्ते, उपग्रहः—उपष्टम्भः स च श्रुतज्ञानादिप्रदानतः, निर्जरा-ज्ञानावरणादिकर्मविनिर्ज-रणम्, श्रुतपर्यवजातं-प्रभूता प्रभूततरा श्रुतज्ञानपर्यायवृद्धि-रव्यवच्छित्तिस्तीर्थस्य, ये चात्महितोपलम्भादय आत्महि-तोपलम्भः परहितोपलम्भ उभयहितोपलम्भश्च एकाग्र्यं बहु-मानं चेति तद्वा पञ्चकं प्रतिपत्तव्यम्।

एवं ठियाण पालो, आयरितो सेसे॑ मासियं लहुयं।
कप्पट्ठिनीलकेसी, आयसमुत्था परे उभये ॥ ५६ ॥

एवं त्रयोदशदोषविमुक्ते त्रयोदशभिर्गुणैरुपेते क्षेत्रे कारण-वशतस्त्रयाणां वर्षासु स्थितानां द्वयोर्भिक्षार्थं विनिर्गमे तृ-तीयः पश्चात्पालो—वसतिपालः आचार्यः स्थापनीयः। अथान्यं स्थापयति तत आह—शेषे तु आचार्यव्यतिरिक्ते वसतिपाले स्थाप्यमाने प्रायश्चित्तं मासिकं लघु। तथा यदि तरुणं श्रमणं च वसतिपालं पश्चात्स्थापयति तत इमे खलिङ्गासेवनादिका दोषाः, तथा आत्मसमुत्थाः, (परे) परस-मुत्थाः, उभयस्मिन्-उभयसमुत्थाः। कस्या इवेत्याह—'क-प्पट्ठनीलकेसी' ति कल्पस्थिता बालिका नीलकेशी—कृष्ण-केशी तरुणीत्यर्थः। ततो विशेषणसमासः तस्या इव, विभक्ति-लोपश्च प्राकृतत्वात्। इयमत्र भावना—यथा तरुणी बा-लिका तरुणानां महतां च प्रार्थनीया भवति। एवं तरुणो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऽपि तरुणीनां महतीनां च प्रार्थनीयः, तस्मिन्पश्चात्स्थाप्यमाने स्वलिङ्गगृहलिङ्गसेवनविषया आत्मसमुत्थाः परसमुत्था उभयसमुत्थाश्च मैथुनदोषाः संभवन्ति।

एतदेवाह—

तरुणे वसहीपाले, कप्पट्ठिसलिंगमादिश्रा उभया।
दोसा उ पसज्जंती, अकप्पिए दोसिमे अन्ने ॥ ६० ॥

तरुणे वसतिपाले सति 'कप्पट्ठि' त्ति तरुण्या बालिकाया इव स्वलिङ्गादिकाः-स्वलिङ्गासेवनगृहिलिङ्गासेवनरूपाः 'आउभया' इति आत्मसमुत्था उभयसमुत्था उपलक्षणमेतत् परसमुत्थाश्च दोषास्तस्य प्रसज्जन्ति।

अकल्पिके च बालादाविमे दोषास्तानेवाह—

बलिधम्मकहा किड्डा, पमज्जणा वरिसणा य पाहुडिया।
खंधार अगणिभंगे, मालवतेणा य णाती य ॥ ६१ ॥

साधवः कदाचित् कारणवशतः सप्राभृतिकायां वसतौ स्थिता भवेयुः, तत्र यदि बालादिः वसतिपालः क्रियते तदा बलिदोषः। तथाहि-तत्र बलिकारकाः स्वभावेन वा गच्छेयुः कैतवेन वा। तत्रापि ये कैतवेन ते प्रथमत एवोपकरणहरणनिमित्तमागच्छन्ति, किं त्वागतानां बलिं कुर्वतां बालमेकाकिनं दृष्ट्वा हरणबुद्धिरुपजायते ततोऽपहरन्ति। अथवा—बाले विक्षिप्यमाणे उपकरणं कूरेण खरण्ट्यते, ततो बालो जल्पति-बहिरुपकरणं निष्काशयामि, एवमुक्त्वा सकलमप्युपकरणमादाय बहिर्निर्गतस्तदेतदभ्यन्तरे ते उपधिमपहरन्ति। ये तु कौतुकेन समागच्छन्ति ते उपधिमपहर्तुकामा ब्रुवते—क्षुल्लक! बलिरेष समागच्छति ततस्त्वं बहिर्निर्गच्छ, एवं तं बालं बहिर्निष्काश्योपधिमपहरन्ति। अथवा-ब्रूयुरिदं वयं बलिं करिष्यामस्ततस्त्वं बहिस्तिष्ठ अन्यथा-कूरेण खरण्टना भविष्यति। एवमुक्ते बहिर्निर्गते बाले उपधिमपहरन्ति। अथवेदमाचक्षते—उपधिमभ्यन्तराद्बहिरपनय, यावद्बलिं विदध्महे, स च बालस्तत्कार्यमजानानः समस्तमुपकरणमेकवारं ग्रहीतुमशक्नुवन् स्तोकं गृहीत्वा बहिः संस्थाप्य यावदन्यस्य ग्रहणाय मध्ये प्रविशति तावत्ते धूर्त्ता अपहरन्ति। 'धम्मकह' त्ति धर्म्मकथाश्रवणाय केचित् स्वभावतः आगच्छेयुः, अपरे कैतवेन। समागत्य चेत् ब्रुवते-कथय क्षुल्लक! अस्माकं धर्म्मकथाम्, स च तत्त्वमजानानः कथामारभते। ततः कथाप्रमत्ते केचित् तथैवोपविष्टाः शृण्वन्त्यपरे तूपधिमपहरन्ति। 'किड्ड' त्ति। क्रीडानिमित्तमपि केचित्स्वभावतः समागच्छन्त्यपरे कैतवेन। तेषु च समागतेषु स बालकः स्वयं वा क्रीडति, तान्वा क्रीडतः पश्यति, ततः क्रीडया व्याक्षिप्तस्य सतोऽपहरन्ति। 'पमज्जणावरिसणा य' त्ति य एव बलावुक्तो गमः स एव प्रमार्जने वर्षणे च वेदितव्यः। 'पाहुडिया' इति प्राभृतिका इति भिक्षा अर्चनिका च। तत्र केचित् कैतवेन स्वभावेन वा वदन्ति-क्षुल्लक! गृहाण भिक्षाम्, अथवा-बहिर्निर्याहि यावद्वयमर्चनिकां कुर्म्मः, ततो यावद्भिक्षार्थं याति, बहिर्वा निर्गच्छति, तावदपहरन्ति। 'खंधार' त्ति। अपरे कैतवेन स्वभावेन वा वदेयुः, यथा-एष राज्ञा सह स्कन्धावारः समागच्छति। तत्र स्वभावेन ततो नश्यति, स नश्यन् बालस्तैरपह्रियते।

कैतवेन समागच्छन्तो ब्रुवते-क्षुल्लक! पलायस्व स्कन्धावारः समागच्छति, ततः स नश्यति इतरेऽपहरन्ति। 'अगणि' त्ति प्रदीपनकं लग्नम्, परतः स्वभावेन श्रुत्वा स्वयं वाऽवलोक्य स बालक उपधिलोभाद्वा न स्वयं बसतेर्बहिर्निर्गच्छति, नापि किंचिदुपकरणं निष्काशयति, ततस्तस्य बालकस्योपकरणस्य च विनाशः। यदि वा—उपकरणनिष्काशनाय मध्ये प्रविष्टो गुप्तः सन् बालको दह्यते। कैतवेन केचित् ब्रूयुर्मन्दभाग्य! नश्य प्रदीपनकं लग्नं वर्तते, एवमुक्ते स उपकरणं बहिर्निष्काशयितुमारभते, ततोऽपहरन्ति। 'भङ्गे मालवतेण' त्ति। मालवा-म्लेच्छविशेषाः शरीरापहारिणः स्तेनाः-उपकरणहारिणस्तैर्भङ्गे, स बालको भयतो जनेन सार्द्धं नश्यति न च सारमुपधिं गृह्णाति। यदि वा—उपधिप्रतिबद्धः सन् स वसतावेव तिष्ठत्ततः स मालवैरपह्रियते, स्तेनैर्वा उपकरणमिति। अथवा—केचित् कैतवेन ब्रूयुर्मालवाः स्तेना वा क्षुल्लक! समापतितास्तस्मात्पलायस्व जनेन सार्द्धमिति, एवमुक्ते स बालकस्तत्त्वमजानानो नश्यति, इतरे उपकरणमपहरन्ति। 'नाति' त्ति ज्ञातयः स्वजनास्ते समागतास्तैरेकाकी दृष्टस्ततो नीयते, अन्ये चोपधिमपहरन्ति। अथवा-अन्येन केनचिदागच्छन्तो दृष्टास्तेन कथितम्-क्षुल्लक! तव ज्ञातयः समागच्छन्ति, ततः स पलायते इतरश्चोपकरणमपहरति। अथवा—कोऽपि धूर्तः कैतवेन ब्रूयात्-क्षुल्लक! क ते निजकाः?, क्षुल्लकः प्राह—अमुके ग्रामे नगरे वा। सोऽन्यस्मै कथयति, ततस्तेषां सजातीयानां नाम चिह्नान्यवगम्य तस्य क्षुल्लकस्य समीपमागत्य भणति—अमुकस्य त्वं निजकः, क्षुल्लकः प्राह—कथं त्वं जानासि?, ततः स तन्मातापित्रादीनां वर्णादि कथयति। ततः क्षुल्लकस्य प्रत्यय उपजायते। ततो वक्ति—सत्यमहं तेषां निजकः। ततस्ते धूर्त्तौ ब्रूते—आगतास्तव निमित्तम्, मया अमुकप्रदेशे दृष्टा इति। ततः स पलायते इतरे हरन्त्युपकरणम्। एवं यथा बाले अकल्पिके दोषास्तथा अव्यक्ते निद्राप्रमत्ते कथाप्रमत्ते वा कल्पिके वेदितव्याः।

तम्हा पालेइ गुरू, पुव्वं काउं सरीरचिंतं तु।
इहरा आयुवहीणं, विराहणा धरंतमधरंते ॥ ६२ ॥

ये तरुणे बालकादौ वा कल्पिके वसतिपाले स्थितेऽनन्तरोक्ता दोषा आचार्ये ते न भवन्ति, तस्मात् गुरुराचार्यो वसतिपालं कथयति, कथमिति चेदत आह—पूर्वं शरीरचिन्तां कृत्वा; संज्ञाभूमिं गत्वा इत्यर्थः। अथ शरीरचिन्तां न करोति ततः प्रायश्चित्तं मासलघु। 'इहरा' इत्यादि। इतरथा-शरीरचिन्ताया अकरणे यदि संज्ञां धारयति तत आत्मविराधना मरणं ग्लानत्वं चावश्यं तन्निरोधाद् भवति। अथ न याति किं तु मात्रके व्युत्सृजति ततः श्राद्धादीनामागतानां गन्धागमन उड्डाहः। अथ बहिर्याति तत्रोपधिविराधना-तस्करापहाररूपा। ये चैकाकिनो दोषास्ते च भवन्ति। एष संस्तरणे विधिरुक्तः। असंस्तरणे पुनराचार्यो वसतिं प्रलोकमानस्तस्मिन्नेव वाटके प्रत्यासन्नेषु गृहेषु भिक्षार्थं हिण्डते।

तथा चाह—

जइ संघाडो तिण्ह वि, पज्जत्तंऽऽणेइ तो गुरू न नीति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अह नेवाऽऽणे ताहे, वसहीएऽऽलोगहिंडणया ॥ ६३ ॥

यदि संघाटः-साधुयुग्मं त्रयाणामपि आत्मद्विकस्य गुरो-श्चेत्यर्थः,पर्याप्तं परिपूर्णमानयति ततो गुरुर्भिक्षार्थं न'नीति'त्ति निर्गच्छति । अथ नैव त्रयाणां पर्याप्तमानयत्यलाभादशङ्के-र्वा तदा वसतेरालोको यथा भवत्येवमाचार्यस्य प्रत्यासन्नेषु गृहेषु हिण्डनम् ।

किं यत्पुनस्तत्र गृह्णातीति चेदत आह—

आसण्णेसु गेएहइ, जत्तियमेत्तेण होइ पज्जत्तं ।

जावइएण य ऊणं, इयराणियं तु तं गेण्हे ॥ ६४ ॥

तस्मिन्नेव वाटके प्रत्यासन्नेषु गृहेषु गृह्णाति । तावन्मात्रं या-वन्मात्रेण पर्याप्तं भुञ्जते, किं त्वल्पम् । तथा च सर्वेषां परिपूर्णं भवति । अथ तावन्न लभ्यते तर्हि यावता ऊनं तत् इतराभ्यामानीतं गृह्णाति । ते नच त्रयोऽपि परिपूर्णं भुञ्जते, किं त्वल्पम् ।

तथा चाह-

सव्वे अप्पाहारा, भवंति गेलन्नमादिदोसभया ।

एवं जयंति तहियं, वासावासे वसंता उ ॥ ६५ ॥

ग्लानादिदोषभयात्सर्वेऽपि तेऽल्पाहारा भवन्ति, एवं त-त्र वर्षावासे-वर्षायोग्ये क्षेत्रे वसन्तो यतन्ते । व्य० ४ उ० ।

सम्प्रति शय्याकल्पिकमाह-

दुविहा हवंति सेज्जा, दव्वे भावे य दव्वखातादी ।

साहूहिँ परिग्गहिया, सच्चेव य भावओ सेज्जा ॥५५२॥

द्विविधा भवति शय्या-द्रव्यतो भावतश्च , तत्र द्रव्य तः खातादयः , खातमुच्छ्रितं च । एताः द्रव्यशय्याः साधु-भिः परिगृहीताः भावतः शय्या भवन्ति ।

रक्खणगहणे तु तहा, सेज्जाकप्पो उ होइ दुविहो उ ।

सुन्ने बालगिलाणे, अव्वत्तारोवणा भणिया ॥ ५५२ ॥

शय्यायां कल्पाः;शय्याकल्पिक इत्यर्थः । स द्विविधस्तस्या-भावशय्यायाः रक्षणे, ग्रहणे वा । तत्र रक्षणे प्रोच्यते-वस तिर्नियमतस्तावत् रक्षयितव्या । यदि पुनर्भिक्षादिप्रयोजन-तो गच्छन्तः शून्यायां वसतौ बालं ग्लानमव्यक्तं वा वस-तिपालं स्थापयन्ति तदा आरोपणाप्रायश्चित्तम् ।

भणितमेवोपदर्शयति—

पढमम्मि य चतुलहुयं, सेसेसुं मासियं मुणेयव्वं ।

दोहिं गुरु इक्केणं, चउत्थपएँ दोहि वी लहुयं ॥५५४॥

प्रथममिह गाथाक्रमप्रामाण्यात् शून्यमुच्यते । यदि शून्यां वसतिं कुर्वन्ति तदाऽऽरोपणा-चत्वारो लघुकाः द्वाभ्यां गुर-वः । तद्यथा-तपोगुरुकाः, कालगुरुकाश्च । अथ बालं स्था-पयन्ति तदा मासलघु । ग्लानं स्थापयन्ति मासलघु , त-पोलघु कालगुरु । चतुर्थपदे—अव्यक्तस्थापनलक्षणे मास-लघु-द्वाभ्यामपि लघुकम् । तद्यथा-तपसा, कालेन च । उक्ता-ऽऽरोपणा ।

साम्प्रतमेतेष्वेव दोषा वक्तव्यास्तत्र प्रथमं तावत् शून्ये दोषानाह—

मिच्छत्तवडुगचारण, भाडगमरणं तिरिक्खमणुयाणं ।

आदेस वालनिक्के-यणे य सुन्ने भवे दोसा ॥ ५५५ ॥

शून्यायां कदाचित् शय्यातरस्य मिथ्यात्वगमनं वडुकप्रवे-शो भाटप्रवेशस्तिरश्चां मनुष्याणां वा तत्र मरणम् आदेशाः प्राघूर्णकास्तत्प्रवेशो व्यालप्रवेशः । एते शून्ये उपाश्रये कृते दोषा भवन्ति । तथा निकेतने प्रभूतायास्तिरश्च्या वा निष्काशने दोषाः ।

तत्र प्रथमं मिथ्यात्वद्वारमाह—

सोचा पत्तिमपत्तिय,अकयं तु अदक्खिणा दुविह छेदो ।

भरियभरागमनिच्छुभ, गरिहा न लभंति वन्नत्था ।५५६।

भेदो य मासकप्पे, जह लंभेँ विहादि पाव तेयन्नं ।

वहितुत्थ निसागमणे, गरिहविणासाइ सविवेसा ॥५५७॥

ते साधवो भिक्षादिनिमित्तं सर्वमात्मीयं भाण्डमादाय शू-न्यां च वसतिं कृत्वा गताः, शय्यातरश्चागतो दृष्टा तेन शू-न्या-वसतिः । पृष्टं कस्यापि पार्श्वे क्व गताः साधवः ?, गृह-मानुषैरुक्तम्-दृश्यते शून्या वसतिः,तस्मादवश्यमन्यत्र गताः । इदं तेषां वचः श्रुत्वा यदि प्रीतिकमुपजायते, यथा हि-गता नामेति, तदारोपणा—चत्वारो लघुकाः । अथ तस्याप्री-तिकमुत्पद्यते तदा अकृतज्ञा एते एवमप्युपचारं न जान-न्ति यथा आपृच्छय गन्तव्यम्, अथवा-अदाक्षिण्याः निस्ने-हास्ततो नापृच्छय गता इति तदा चतुर्गुरुकम् । तथा द्वि-विधश्छेदः । तथाहि-स प्रद्विष्टस्तेषामन्येषां वा साधूनां त-द्द्रव्यस्य—वसतिलक्षणस्य अन्यद्रव्याणां वा—भक्तपाना-दीनां व्यवच्छेदं कुर्यात्, ' भरियभरागमनिच्छुभ ' त्ति ततः स कषायितः शय्यातरः, यदा ते साधवो भरि-तभाजनभरेणावनमन्त आगच्छन्ति तदा स्थानं न दद्यात् । तत्र यदि दिवा निष्काशयति तदा चत्वारो लघवः, तथा तैर्भरितैर्भाजनैः सहान्यां वसतिं याचमाना आगाढादिपरि-तापनामाप्नुवन्ति, तेषां प्रायश्चित्तं चतुर्लघु, तथा—जन-मध्ये गर्हामाप्नुवन्ति—किं यूयमकाण्डे एवं निष्काशितास्त-तो न भव्या एते इत्यन्यत्रापि ते वसतिं न लभन्ते । अन्यत्र च वसतिमलभमाना ग्रामादौ व्रजन्ति, ततो मासकल्पभेदः । तत्र च विहारक्रमे या विराधना तन्निष्पन्नाऽपि तेषामारो-पणा । तथाऽन्ये साधवो विहारादिनिर्गतास्तत्र समागता-स्तत्र चान्या वसतिर्न विद्यते, स च शय्यातरस्तेषां दोषेणा-न्येषामपि न ददाति, ततो विहारगता वसतेरलाभे यत्ते श्वापदस्तेनादिभ्योऽनर्थमाप्नुवन्ति तन्निष्पन्नमपि तेषां प्रा-यश्चित्तम् । एवं तावत् कृतभिक्षाटनमात्राणामुक्ता दोषाः । अथ बहिरेव भुक्त्वा रात्रावागता वसतिं न लभन्ते तदाऽऽ-रोपणा चतुर्गुरु, सविशेषतराश्च गर्हादयो दोषा विनाशश्च श्वापदादिभ्यः । अथवा—शय्यातरः प्रथमं सम्यग्दृष्टिभूतः पश्चादनापृच्छया गता इति भावविपरिणामतो मिथ्यात्वं यायात् । गतं मिथ्यात्वद्वारम् ।

अधुना वडुकद्वारमाह—

सुन्नं दट्टुं वडुगा, ओभासिते ठाउ जइ गया समणा ।

आगमपवेस संखड-सागरिदिन्नं तिरियदियाणं ॥५५८॥

संभिचेण व अच्छह, अलियं न करेमऽहं तु अप्पाणं ।

उड्डंचणाऽहिगरणं, उभयपदोसं च निच्छूढा ॥ ५५९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सागारियसंजयाणं, निच्छूढा तेण अगणिमाईहिं ।
जं काहिंति पदुट्ठा, उभयस्स वि ते तमावज्जे ॥ ५६० ॥

शून्यां वसतिं दृष्ट्वा वटुकाश्च सागारिकमवभाषन्ते—याचन्ते अस्माकमुपाश्रयं प्रयच्छत । शय्यातरो ब्रूते-तत्र श्रमणास्तिष्ठन्ति । वटुकैरुक्तम्-गतास्ते । शय्यातरः प्राह-तर्हि तिष्ठत यूयं यदि गताः श्रमणाः । ते स्थिताः, आगताः साधवः । प्रवेष्टुं प्रवृत्ता वसतौ,वटुकैर्निवारिताः,माऽत्र प्रविशथ,वयमत्र तिष्ठामः । ततोऽसंखडं—कलहः परस्परमुपजायते । वटुका ब्रुवते वसतिरस्माकं स्वामिना दत्ता, किमत्र युष्माकम्, इतरेऽपि वदन्ति-स्वामिनैवास्माकमपि वसतिरदायि । ततः साधवः शय्यातरसकाशं गच्छन्ति । स ब्रूते-यूयमनापृच्छ्य शून्यं कृत्वा गताः,मया ज्ञातं गता यूयं येन शून्या कृता दृश्यते वसतिः, अतो मया द्विजानां वटुकानां दत्ता वसतिरिति । तस्मात् संवृत्येन परस्परं संचिन्त्य यूयं वटुकाश्चैकत्र स्थाने तिष्ठत नाहमात्मानमलीकं करोमि । तत्र यदि संवृत्येन तिष्ठन्ति तत्र पठतां प्रतिलेखनां च कुर्वतां संयतभाषाभिश्च उड्डुश्चकान्-देशीपदमेतत् उपहासान् कुर्युस्ततोऽधिकरणमसंखडम्। अथवा-शय्यातरो भद्रकस्ततस्तान् वटुकान् निष्काशयेत्, तथा च सत्यधिकरणं संयतप्रयोगेण वयं निष्कासितास्तस्मात् ज्ञातव्यं संयतानाम् । अथवा-निच्छूढा-निष्काशिताः सन्त उभयेषामपि सागारिकस्य संयतानां चोपरि प्रद्वेषं गच्छेयुः, ततस्ते एवं निक्षिप्ता—निष्काशिताः सन्तः प्रद्विष्टास्तेन प्रयोगतोऽग्न्यादिप्रक्षेपतश्चोभयस्यापि सागारिकस्य संयतानां च यदनर्थजातं करिष्यन्ति तदपि—तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं ते—संयताः शून्यवसतिकारिण आपद्यन्ते । गतं वटुकद्वारम् ।

इदानीं चारणद्वारं-भाटद्वारं चाह—

एमेव चारणभडे, चारणउड्डुंचगा उ अहिगतरा ।
निच्छूढा च पदोसं, तेणाऽगणिमाइ जह वडुया॥५६१॥

एवमेव-वटुकगतेनैव प्रकारेण चारणे, भाटे च दोषा वक्तव्याः, किमुक्तं भवति-ये वटुकेषु दोषा उक्तास्ते चारणे भाटे च प्रत्येकमवसातव्याः । नवरं चारणा वटुकेभ्योऽधिकतराः, यतस्ते उड्डुश्चका याचकाः । इयमत्र भावना-ते चारणाः प्रपञ्चबहुलास्ततः संयतान् प्रपञ्च्य तेभ्यो याचन्ते, ततस्तैः सहैकनिवासेऽधिकतरा दोषाः । तथा चारणा भाटाश्च निष्काशिताः प्रद्वेषमापन्नास्तेनाग्न्यादिभिरुभयेषामप्यनर्थं कुर्युः,यथा वटुका इति ।

इदानीं तिर्यग्मरणद्वारं मनुष्यमरणद्वारमादेशद्वारं-चाऽऽह—

छड्डणिका उड्डाहो, धाणारिस सुत्तअत्थवोच्छेदे ।
इति उभयमरणदोसा, आएस जहा वडुगमाई ॥५६२॥

शून्यां वसतिं दृष्ट्वा गवादिस्तिर्यङ् अनाथमनुष्यो वा प्रविश्याम्रियेत, तं यदि गृहस्थैरसंयतैः परिष्ठापयन्ति तदा छर्दने—परिष्ठापने षण्णां कायानां पृथिव्यादीनां विराधना । अथात्मना परिष्ठापयन्ति तदा प्रवचनस्योड्डाहः—उचिता एतेऽस्य कर्मण इति । अथवा-कोऽप्येवं शङ्केत यथा एतैरेवायं मारितः । अथवा—जुगुप्सा भवेत् अशुचयोऽमी यतो-मृतमाकर्षयन्ति । अथैतद्दोषभयान्न ते स्वयं परिष्ठापयन्ति नाप्यन्यैस्त्याजयन्ति, तर्हि मृतकगन्धेन संयतानां नासार्शांसि जायेरन् । तथा अस्वाध्यायिकमिति कृत्वा सूत्रपौरुषीं न कुर्वन्ति मासलघु । अर्थपौरुषीं न कुर्वन्ति मासगुरु । सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीमकुर्वतां यदि सूत्रं नश्यति तदा चतुर्लघु, अर्थो नश्यति चतुर्गुरु । अवर्णश्च लोकेषूपजायते—ग्राममध्येऽपि वसन्तः श्मशाने तिष्ठन्ति । इतिः-उपप्रदर्शने । एवमुभयस्य तिरश्चो मनुष्यस्य वा मरणदोषागतं तिर्यग्मनुष्यमरणम्, अधुना आदेशद्वारमाह—' आदेस जहा वडुगमादी य ' आदेशाः प्राघूर्णकास्ते केचन शय्यातरस्य समागताः, शून्यां च वसतिं दृष्ट्वा शय्यातरेण तत्र मुक्ताः,ततो वटुकचारणभटेषु ये दोषास्ते अत्रापि योजनीयाः । गतमादेशद्वारम् ।

अधुना व्यालद्वारं निकेतनद्वारं चाह—

अहिगरणमारणाणी, णियम्मि अच्छंते बालियातवहो।
तिरितीय जहा बाले, खतिमणुस्सीएँ उड्डाहो ॥ ५६३ ॥

व्यालो नाम—सर्पः शून्यं दृष्ट्वा वसतौ प्रविशेत् । ततः आगताः सन्तः श्रमणा यदि तं निष्काशयन्ति तदाऽधिकरणं हरितकायादीनां मध्येन तस्य गमनात् । अथवा—स निष्काश्यमानः प्रद्वेषगमनतो दशेत्, ततो मरणम् । अथवा—निष्काशने जनसंमीलनतः स सर्पो लोकेन मार्येत । अथैतद्दोषभीता न तं सर्पं निष्काशयन्ति ततस्तस्मिन् व्याले तिष्ठति आत्मविराधना तेन भक्षणात्, एते च व्याले दोषाः । अथ निकेतने तानाह ' तिरतीय ' इत्यादि, यदि तिर्यक्स्त्री प्रसूता निष्काश्यते ततः सा यथा व्यालस्तथैव निर्गमत इतस्ततो गच्छन्ती हरितकायादीन् व्यापादयेत् । बालकानां च तत्संबन्धिनां तां विना, तया वाऽऽनीयमानानां मरणसंभवः । अथैतद्दोषभयात्सा न निष्काश्यते, तदा सा तिष्ठन्ती यदा तदा वा साधूनामनर्थं कुर्यात्, तत आत्मविराधना । अथ प्रसूता मानुषी निष्काश्यते, तथा एतेषामियमिति प्रवचनोड्डाहः । साऽपि च निष्काश्यमाना कायान् विराधयेत्। लोको वा ब्रूयात्—निरनुकम्पा एते, यद् बालसहितामिमां निष्काशयन्ति । सा च निष्काश्यमाना प्रद्वेषतः साधूनामालं (कलङ्कं) दद्यात्, चेटरूपं वा मारयेत् ।

छड्डेउं व जइ गया, उज्झमणुज्झंति होंति दोसा उ ।
एवं ता सुणाए, बाले ठविते इमे दोसा ॥ ५६४ ॥

अथवा-सा तत्र प्रसूता सती तं चेटरूपं त्यक्त्वा गच्छेत्, ततस्तं यदि उज्झन्ति—परित्यजन्ति तदा निरनुकम्पतादोषः । अथ नोज्झन्ति तदा उड्डाहः । एवमेते तावत् शून्यायां वसतौ दोषाः ।

बाले स्थाप्यमाने पुनरिमे—

बलिधम्मकहा किड्डा, पमज्जणा वरिसणा य पाहुडिया ।
खंधार अगणिभंगे, मालवतेणा य नाती य ॥ ५६५ ॥

बलिद्वारं धर्मकथाद्वारं क्रीडाद्वारं प्रमार्जनाद्वारम् आवर्षणाद्वारं प्राभृतिकाद्वारं स्कन्धावारं यद् द्वारमग्निद्वारं भङ्गद्वारं मालवस्तेनद्वारं ज्ञातिद्वारञ्च एतैर्द्वारैर्बाले रक्षके स्थाप्यमाने दोषा वक्तव्याः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्र प्रथमं बलिद्वारमधिकृत्य दोषानाह—

साभावियतन्नीसा-ऍ आगया भंडगं अवहरंति ।
नीणेमि त्ति व बाहिं, जा पविसइ ता हरंतऽन्ने ॥५६६॥

साधवः कदाचनापि कारणवशतः सप्राभृतिकायां शय्यायां स्थिताः। सप्राभृतिका नाम-सार्वजनिका यत्रागत्य बलिः प्रक्षिप्यते। तत्र ये बलिकारकास्ते द्विधा तत्र समागच्छेयुः। तद्यथा-स्वभावेन वा उपकरणं वा हरिष्यामीति कैतवेन वा। तत्र ये बलिकारकाः स्वाभाविका नोपकरणहरणप्रवृत्तास्ते तन्निश्रया-बलिनिश्रया आगताः सन्तो बलिं कुर्वन्तो बालमेकाकिनं दृष्ट्वा संजातहरणबुद्धयो भाण्डकमपहरन्ति। अथवा-बलिना प्रक्षिप्यमाणेनोपकरणं लेपयुक्तं क्रियते, ततः स बालो बक्ति बहिर्नयाम्युपकरणम्, येन न लेपयुक्तं क्रियते। ततः स बालो यावद्बहिर्निर्गतः प्रविशति तावदन्तरेऽपहरन्त्युपकरणमन्ये । स्वभावत इति गतम्।

कैतवमधिकृत्याऽऽह-

एमेव कइयवा ते, निच्छूढं तं हरंति से उवहिं ।
बाहिं च तुमं अच्छसु, अवणेहुवहिं व जा कुणिमो ।५६७।

एवमेव—अनेनैव प्रकारेण कैतवात्ते समागता उपधिमपहरेयुः। तथाहि—केचन धूर्ताः उपधिं हर्तुकामाः कैतवात् समागत्य क्षुल्लकं ब्रुवते—क्षुल्लक ! एष बलिः समागच्छति, ततस्त्वं बहिर्निर्गच्छ, एवं तं बनिर्निष्काश्य तस्योपधिमपहरन्ति। अथ ते चैवं वदन्ति वयं बलिं करिष्यामः ततो यावद्वयं बलिं कुर्मस्तावत् त्वं बहिस्तिष्ठ, अन्यथा कूरेण खरण्टयिष्यते, एवं तं निष्काश्य तस्योपधिमपहरन्ति । यदि वा-ते एवं ब्रूयुः-यावद्वयं बलिं कुर्मः तावदभ्यन्तरादात्मीयमुपधिमुपनय, स च बालस्तत्कार्यमजानन् एकचारं च सर्वमुपकरणं नेतुमशक्नुवन् स्तोकं गृहीत्वा निर्गत्य बहिः स्थापयित्वा यावदभ्यन्तरे प्रविशति तावत्तदुपकरणमभ्यन्तरस्थितं धूर्तैरपह्रियते। तदेवं बलिद्वारं गतम्।

अधुना धर्मकथाद्वारमाह—

कितएण सभावेण व, कहापमत्ते हरंति से अन्ने ।
किड्डातिसयं रिंखा, पासाति व तहेव किड्डदुगं ॥५६८॥

केचन पुरुषाः धर्मं शृणुम इति कैतवेन वा स्वभावेन वा समागच्छेयुः, तत्र स्वभावतः आगतानां बालकमेकाकिनं दृष्ट्वा हरणबुद्धिरुपजायते, इतरे तु प्रथमत एव हरणबुद्ध्यैव समागताः। ते क्षुल्लकं ब्रुवते-कथय धर्मकथामस्माकमिति। ततः स कथां कथयितुं प्रवृत्तः, प्रबन्धेन च कथयति । कथाप्रमत्ते केचिदग्रत उपविष्टाः शृण्वन्त्यन्ये तस्योपकरणमपहरन्ति। गतं धर्मकथाद्वारम्। क्रीडाद्वारमाह-' किड्डा ' इत्यादि क्रीडायामपि द्विकं वक्तव्यम् । किमुक्तं भवति-क्रीडानिमित्तमपि केचन स्वभावत आगच्छेयुः कैतवेन वा। स्वभावतोऽप्यागतानां बालमेकाकिनं दृष्ट्वा हरणबुद्धिरुल्लसति । तत्र स स्वयं बालः क्रीडति गोलादिना। अथ कदाचित्स क्षुल्लको ब्रूयात्-न वर्ततेऽस्माकं क्रीडा। ततस्ते वदन्ति यद्येवं तर्हि रिङ्खाः कुरु, कः कियतो वारान् रिङ्खति, एवं स बालो रिङ्खाः करोति । अथ ब्रूते-न कल्पन्ते संयतानां रिङ्खा अपि कर्तुमिति। ततस्ते वदन्ति-यद्येवमस्मान् क्रीडतः पश्य। ततः सकौतुकेन क्रीडतः पश्यति । एवं स्वयं क्रीडया रिङ्खाभिर्वा पश्यन् वा क्रीडाप्रमत्त उपजायते। ततस्तथैवान्ये तेन सह क्रीडन्त्यन्ये हरन्त्युपकरणमिति।

संप्रति मार्जनद्वारमावर्षणद्वारं च युगपदाह—

जो चेव बलिए गमो,पमज्जणा वरिसणे वि सो चेव ।

य एवं बलिद्वारे गमः स एव प्रमार्जने आवर्षणे च द्रष्टव्यः। किमुक्तं भवति-प्रमार्जननिमित्तमावर्षणनिमित्तं वा केचित् स्वभावेनापरे कैतवेन समागच्छन्ति, समागत्य च बलिद्वारोक्तेन प्रकारेणोपकरणमपहरन्तीति।

इदानीं प्राभृतिकाद्वारमाह—

पाहुडियं वा गेण्हसु,परिसाडणियं च जा कुणिमो।५६९।

प्राभृतिका-भिक्षाऽपि भण्यते, अर्चनिकाऽपि। तत्र उभयमप्यधिकृत्य दोषानाह-कैतवेन स्वभावेन वा केचन ब्रूयुः,क्षुल्लक ! भिक्षां गृहाण। अथवा-द्वारे निर्गच्छ, यावद्वयं परिसाटनिकामर्चनिकां कुर्मः, एवमुक्तः स यावत् भिक्षामाददाति बहिर्वा निर्गच्छति तावत्तस्योपकरणं हरन्तीति। गतं प्राभृतिकाद्वारम्।

अधुना स्कन्धावारद्वारमग्निद्वारं चाह—

खंधारभया नासति, एस व एति त्ति कइयवेणेस ।
अगणिभया व पलायति,नस्ससु अगणी व एसेति।५७०।

कोऽपि स्वभावतः स्कन्धावारभयान्नश्यति, ब्रूते च-एष सराजकः स्कन्धावारः समागच्छति। स च तथा स्वभावतो नश्यन् बालमेकाकिनं दृष्ट्वाऽपहरेत्, कैतवेन ब्रूते—एष क्षुल्लकः! स्कन्धावारः समायाति, तस्माल्लघु पलायस्व। ततः स बालो नश्यति , इतरे उपधिमुपहरन्ति। अग्निभयादपि कोऽपि स्वभावतः पलायते, स च पलायमानो बक्ति बह्निरागच्छति नश्यतामिति।केचित्पुनः कैतवेन ब्रूयुः-मन्दभाग्याः नश्यत नश्यताग्निः समागच्छति ।

ततः किमित्याह—

उवहीलोभभया वा, अगणिभया वा ण किंचि नीणेइ।
गुत्तो व सयं डज्झइ,उवहिं च विणा उ जा हाणी५७१

उपधिलोभाद्-उपधिमध्ये तिष्ठति, तं मुक्त्वा कथमहं यामि मा कश्चिदपहरेदित्युपधेर्लोभतोऽग्निभयाद्वा स बालो बहिर्न निर्गच्छति, न च तत्र बहिः किञ्चिन्निष्काशयति, ततः कथमप्यग्निसमागमने स मध्ये गुप्तः सन् स्वयं दह्यते कैतवेनाग्न्यागमं कथयित्वा बालं विप्रलभ्योपधिपमहरन्ति। उपधिं च विना या हानिस्तां साधवः प्राप्नुवन्ति । गतं स्कन्धावारद्वारमग्निद्वारं च।

सम्प्रति मालवद्वारं स्तेनद्वारं चाह—

मालवतेणा पडिया, इयरे वा नासती जणेण समं ।
न य गेण्हइ सारुवहिं, तप्पडिबद्धो व हीरेज्जा ॥५७२॥

मालवा एव स्तेनाः, मालवग्रहणेन द्वारगाथायां सूचिताः, इतरे—अन्ये स्तेनाः स्तेनग्रहणेन। केचित्तु कैतवेन स्वभा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेन च ब्रूयुर्मालवस्तेना इतरस्तेना वा पतिताः । तत्र ये कैतवेन ब्रुवते ते पत्तनस्य ग्रामस्य चाभङ्गे जाते उपधिमपहरन्ति । स्वभावेन कथने स बालो भयान्न सारमुपधिं गृह्णाति । अग्रहणे च तदभावे महती हानिः । अथवा-स तस्मिन् उपधौ प्रतिबद्धः सन् मालवस्तेनैरितरैर्वा सोपधिरपहियेत । गतं मालवद्वारं, स्तेनद्वारं, च ।

संप्रति ज्ञातिद्वारमाह—

सन्नायगेहि नीते, एति व नीय त्ति नट्ठे जं उवहिं ।
कहिँ नीय त्ति कइतवे,कहिए अन्नस्स सो कहई ॥५७३॥
चिंधेहि आगमे उ, सो वि य साहेइ तुह निया पत्ता ।
नट्ठे उवहिग्गहणं, तेहि व हं पेसितो हरति ॥ ५७४ ॥

स्वज्ञातिकाः—स्वभावत आगतास्तैरेकाकी दृष्टः क्षुल्लकः, तैर्नीतेऽन्ये पश्चादुपधिमपहरेयुस्ततस्तन्निष्पन्नं तेषां साधूनां प्रायश्चित्तम् । अथवा—अन्येन केनापि ते स्वज्ञातयः आगच्छन्तो दृष्टाः, तेनागत्य क्षुल्लकस्य कथितम्—निजकास्तव समागच्छन्तीति । ततः स पलायितः । तस्मिन्नष्टे यमुपधिं जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं वाऽपहरन्ति; तन्निष्पन्नं तेषां प्रायश्चित्तम् । एवं तावत् स्वभावतः सज्ञातीनामागमनदोषा उक्ताः । अधुना कैतवेन तदागमनकथनतो दोषानाह-कोऽपि कैतवेनागत्य धूर्तो ब्रूते-क्षुल्लक ! क्व ते निजकाः सन्ति ?, तेन कथितममुके ग्रामे नगरे वा । तेनान्यस्य धूर्तस्य कथितम् । मा स्वयमहं ब्रुवाणो लक्ष्ये इति सोऽप्यन्यो धूर्त्तस्तेषां स्वज्ञातीनां चिह्नानि नामानि चावगम्य तस्य क्षुल्लकस्य समीपमागच्छति । आगत्य ब्रूते-स त्वममुकानां निजकः । क्षुल्लको वक्ति त्वं जानासि । इतरो ब्रूते-किं न जानामि । ते मातरममुकनामिकां पितरं चामुकमीदृशेन वर्णेन रूपेण वा । एवं संवादे कृते स क्षुल्लको वदति, सत्यमहं तेषां निजकः । ततः स धूर्तो भाषते-ते निजकास्तव कृते समागताः, मया अमुकप्रदेशे दृष्टाः । सम्प्रति अन्ये प्रविशन्ति वदन्ति च । वयं तमात्मीयं नेष्याम इति । ततः स पलायते; इतरे उपधिमुपहरन्ति । अथवा-वक्ति—तैरहं तथोदन्तवाहकः प्रेषितस्ततः स विश्वासं गच्छति, विश्वस्तस्तस्य चोपधिमपहरेत् । तवानयननिमित्तमहं तैः प्रेपितः, एवमुक्ते स बालः पलायते, इतरे तूपधिमपहरन्ति ।

एते पदे न रक्खति, बालगिलाणे तहेव अव्वत्ते ।
निद्दाकहापमत्ते, वत्ते वि य ए भवे भिक्खू ॥ ५७५ ॥

एतानि-बलिप्रभृतीनि पदानि—स्थानानि बालो न रक्षति स्वाभाविकेषु कैतवेषु स्थानेषु बालो विप्रतार्यत इति भावः । तथा ग्लानोऽव्यक्तो वा गीतार्थः । यद्वा-व्यक्तो गीतार्थोऽपि च—यो भवेन्निद्रालुर्निद्राकथाप्रमत्तः सोऽप्येतानि पदानि न रक्षति । कथाः-तरङ्गवत्याद्यो द्रष्टव्याः ।

ग्लानद्वारम्, व्यक्तद्वारं चाधिकृत्यैतदेव विशेषयन्नाह—

एमेव गिलाणे वा, सयकिड्डाकहापलायणे मोत्तुं ।
अव्वत्तो उ अगीतो, रक्खणकप्पे परोक्खो उ ॥५७६॥

एवमेव-अनेनैव प्रकारेण ग्लानेऽपि दोषा वक्तव्याः,नवरं स्वयं क्रीडाकथापलायनानि मुक्त्वा । इयमत्र भावना-ये बाले दोषास्ते ग्लानेऽपि । नवरं यस्तस्यात्मसमुत्थो दोषः स्वयं क्रीडात्मकः कथादोषो भयेन पलायनदोषश्च स न भवति, किं तु-स वारयितुं समर्थो न वा तं कोऽपि गणयति ग्लानत्वात् । अन्यच्च-क्षुधापिपासया अन्यया वा वेदनया परिताप्यमानः सन् कूजेत् । ततो लोको ब्रूयात्-अहो निरनुकम्पाः साधवो यदमुं त्यक्त्वा हिण्डन्ते । अपथ्यं वा लोकातीतमकल्पिकं संप्रति सेवेतेति । तथा अव्यक्तो नाम-अगीतः-अगीतार्थः स रक्षणकल्पे परोक्षः । किमुक्तं भवति-स स्वाभाविके कैतवे वा कथमुपकरणं रक्षणीयमिति न जानाति । न वा स्वाभाविकेषु ग्लानत्वादिषु केन प्रकारेणात्मा निस्तारयितव्यः कथं वा उपकरणमतः प्रागुक्तं ग्लानोऽव्यक्तश्चैतानि पदानि न रक्षति । योऽपि व्यक्तः सोऽपि यदि निद्रालुर्भवति "तरङ्गवत्या"[1] दिकथाकथनव्यसनी वा तदा न रक्षति प्रमादबहुलत्वात् ।

तम्हा य खलु अबाले, अगिलाणे वत्तमपमत्ते य ।
कप्पइ य वसहिपालो,धिइमं तह वीरियसमत्थो॥ ५७७॥

यस्माद्बालादीनामेते दोषास्तस्माद्यः खल्वबालोऽग्लानो व्यक्तो निद्राकथादिभिरप्रमत्तः । पुनः कथंभूत इत्याह-धृतिमान् यः तृषा क्षुधया वा परितापितोऽपि न शून्यां वसतिं कृत्वा भक्तपानाय गच्छति स इति भावः । वीर्यसम्पन्नो—बलवान् यः स्तेनानां पततो निरोद्धुं समर्थोऽग्न्यादिसंभवे तूपधिमात्मानं च निस्तारयति ईदृशः कल्पते वसतिपालः ।

अथ कियन्त ईदृशा वसतिपालाः स्थापयितव्यास्तत आह-

सति लंभम्मि अणियया,पणगं वजतो व होति अच्छित्ती ।
जहणेणं गुरु चिट्ठइ, तस्संदिट्ठो विमा जयणा ॥५७८॥

सति भिक्षालाभे अनियता वसतिपालाः स्थापयितव्याः । अयमत्र भावः-यत्रैकः संघाटको भैक्षस्य प्रचुरस्य लाभतोऽन्येषां त्रयाणां चतुर्णां चात्मनश्च पर्याप्तमानयति तत्र यावद्भिस्तिष्ठद्भिर्गच्छस्य पर्याप्तं भवति तावन्तस्तिष्ठन्ति । अथवा-आचार्यादयः पञ्च तिष्ठन्ति यैर्गच्छः समस्तोऽपि संगृहीतो वर्त्तते । अथवा—यो ज्ञायते एष सूत्रार्थग्रहणधारणसमर्थोऽव्यवच्छित्तिं करिष्यति स आचार्यस्य सहायोऽस्ति । अथैवमपि न निस्तरन्ति ततो जघन्यतो गुरुरेकस्तिष्ठति शेषाः सर्वे हिण्डन्ते । आचार्योऽपि कुलादिकार्येषु निर्गच्छति, ततो य आचार्येण संदिष्टो मयि निर्गते सर्वमेतस्य पुरत आलोचनादि कार्यं स तिष्ठति । ततो यत्र तानि बलिप्रभृतीनि पदानि स्वभावतः कैतवेन वा प्राप्तानि भवन्ति तत्र तेन वसतिपालेनेयं यतना कर्त्तव्या ।

तत्र बलिपाते तावदाह—

अ (पु) पुव्वमतिहिकरणे,गाहाए य अक्खभंडगंछिविमो ।
भणइ व अठायमाणो,जन्नासइ तुज्झ तं उवरिं ॥५७९॥

साधवो हि कारणेन सप्राभृतिकायामपि शय्यायां स्थिता भवेयुः । साधूनां चेयं समाचारी-ऋतुबद्धे काले बद्ध उपधिस्तिष्ठति वर्षाबद्धः तत्र सप्राभृतिकायां वसतौ वर्षास्वपि समस्तं भाण्डकमेकयोगं प्रकुर्वन्ति, ततो यदि बलिकाराः समागच्छन्ति तथापि न कश्चिद् दोषः । अथ

१—" तरङ्गवती " ग्रन्थः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ते कथमपहरणं कर्त्तुकामा ज्ञातव्याः ? उच्यते-अपूर्वान् दृष्ट्वा ये स्वाभाविकास्ते प्रतिदिवसमागच्छन्तः परिचिताः, ये त्वपूर्वास्ते हर्त्तुकामा विज्ञेयाः। ये वा अतिथौ-विशिष्टतिथ्यभावे बलिकरणाय समागतास्तेऽपि हर्त्तुकामा द्रष्टव्यास्तेऽपि यदि ब्रूयुर्निर्गच्छत, वयं बलिं करिष्यामस्तदा गाथा वक्तव्या।

"न वि लोणं लोणिज्जइ, न वि तुप्पिज्जइ घयं च तेल्लं च।
किह नाम लोडगं भे, धम्मम्मि ठविज्जए वट्टा ॥१॥
अन्ने भंडेहि चणं, चणकुट्टग जत्थ ते वहइ चंचू।
भंगुरत्थणवुग्गहिते, मे खदिरा वइरसारा य ॥२॥"

ततो जानते अयं प्रत्यभिज्ञाता इति। अथवा-वक्तव्यं येषामेतदुपकरणं ते भैक्तस्यानयनाय गताः वयं त्वन्यभाण्डकमन्येषामुपकरणं न स्पृशामः। ततो यदि न तिष्ठन्ति तदा भूयो भणति-शृणुत अस्माभिर्वारिता यूयं न तिष्ठथ ततो यदत्र नश्यति तत् युष्माकमुपरि, एवमुक्ते ते तिष्ठन्ति।

कारणे सपाहुडियाए, वासा वि करिंति एगमायोगं।
सन्नाविय दिट्ठा वा, भणाइ जा सारवेमुवहिं ॥ ५८० ॥

कारणे सप्राभृतिकायां वसतौ स्थिता वर्षास्वपि समस्तस्यापि भाण्डकस्यैकमायोगं कुर्वन्ति, ततो न किञ्चित्पलायते। तत्र ये कैतवेन बलिकारकाः समागच्छन्ति तेषु यतनाविधिरुक्तः। सम्प्रति स्वाभाविकेष्वाह-'सन्नाविय' त्यादि, ये शय्यातरेणान्येन वा बलिकाराः संज्ञापिता दृष्टा वा स्वयमन्यदा बलिं कुर्वाणास्तान् प्रति भणति-वसतिपालास्तावत् प्रतीक्षध्वं यावदुपधिं सारयामि-एवमुक्ते प्रतीक्षन्ते।

अपवरए कोणे वा, काऊण भणाति मा हु लेवाडे।
बहुपेल्लणसारविए, तहेव जं नासती तुज्झं ॥ ५८१ ॥

ततो वसतिपालो यदि कश्चिदस्त्यपवरकस्तत्र तदुपकरणं प्रक्षिपति। अथ नास्त्यपवरकस्ततः एकस्मिन् कोणे सर्वमुपकरणं स्थिरीकरोति, भणति च। शनैर्बलिविधानं कुरुत मा उपकरणं कूरसिक्थैः खरण्टयथ। अथ ते बहवोऽगाराः उन्मत्तकाः सहसैव प्रविष्टा नैव सार्यमाणमुपधिं प्रतीक्षन्ते ततस्तथैव वक्तव्यं यथोक्तं प्राक्, यथा-यदत्र नश्यति तद् युष्माकमुपरीति।

धर्मकथाद्वारयतनामाह-

नऽत्थि कहालद्धी मे, पुव्वं दिट्ठो व वेति गेलन्नं।
दाणादि असंकाए व, आउज्जंतो परिकहेइ ॥ ५८२ ॥

यदि ते कैतवेन स्वभावेन वा समागत्य धर्मकथामापृच्छन्ति, तदा वक्तव्यम्-नास्ति मे कथालब्धिः। अथ धर्मं कथयन् स पूर्वं दृष्टः, ततो वदति-ग्लानत्वं-शिरो मे दुःखयति, गलको वेति। अथ ते धर्मकथाप्रष्टारो दानश्रद्धाः, आदिशब्दादभिगमश्च सम्यक्त्वादयश्च, सम्यग् ज्ञातारो वर्त्तन्ते; ततस्तेषां दानादिश्रावकाणामशङ्कानां-शङ्काया अविषयाणां द्वारमूले स्थित्वा आयोजयन् भाण्डकविषयमुपयोगं ददानः परिकथयति, मा कथाप्रमत्ते मयि कोऽपि हरेदिति हेतोः।

सम्प्रति क्रीडाद्वारयतनामाह-

दट्ठुं पि णेन्नें लभामो, मा किड्ड मा हरिज्जिहं को वि।
संमज्जणा वरिसणे, पाहुडिया चेव बलिसरिसा ॥५८३॥

यदि केचित्तत्र कैतवेन स्वभावेन वाऽऽगत्य क्रीडन्ति तदा तान् प्रति वक्तव्यम्-वयमाचार्यादिपार्श्वतो द्रष्टुमपि क्रीडतो न लभामहे, तस्मादत्र मा क्रीडत एव। तच्चैवमुच्यते मा कश्चिद्धरेदिति कृत्वा प्रमार्जने आवर्षणे प्राभृतिकायां च यथा बलिद्वारे तथा यतना कर्त्तव्या।

खमणं निमंति ते उ, खंधारे कइयवे इमं भणति।
किसे निरागसाणं, गुत्तिकरा काहिई राया ॥ ५८४ ॥

भिक्षां यदि कोऽपि निमन्त्रयति तदा वक्तव्यम्-ममाद्य क्षपणमिति। कैतवे च स्कन्धावारे इदं भणति-किं नः-अस्माकं निरागसाम्-निरपराधानां गुप्तिकरो-रक्षाकरो राजा करिष्यति।

यत्र तु स्वाभाविकः स्कन्धावारः समागच्छति।

तत्रेयं भावना-

पभुऽणुप्पभुं निवेयण, देंति व पेल्लंति जाव नीणेमि।
तह वि य अठायमाणे, पासे जं वा तरति नेउं ॥५८५॥

प्रभुः नाम-राजा अनुप्रभुः-सेनाधिपतिप्रभृतिकस्तं गत्वा धर्मं लाभयति, विविक्तमस्माकमुपाश्रयं कुरुत। ततः स मनुष्यान् ददाति प्रेरयति समस्तानपि लोकानुपाश्रयप्रविष्टानिति। अथ स्कन्धावारो न व्रजति, किं तु-तथैव स्थितवान्, तत्र यदि कोऽपि वसतिं स्थाननिमित्तं प्रेरयेद्, अत्रापि प्रभोरनुप्रभोर्वा निवेदनं कर्त्तव्यं येन स वारयति। अथ प्रभुरनुप्रभुर्वा न वारयति अस्वाधीना वा ते पुरुषास्ततो ब्रूते-यावदुपकरणं नयामि तावत्प्रतीक्षस्व। ततः कल्पं विस्तार्य सर्वमुपकरणं तत्र प्रक्षिप्योपरि बध्वा निष्काशयति। अथ प्रभूतमुपकरणं न शक्नोति सर्वमेकवारं नेतुं तदा त्रिषु चतुर्षु वा कल्पेषु बद्ध्वा कोल्लुकपरंपरकेण महाराष्ट्रप्रसिद्धकोल्लुकचक्रपरंपरन्यायेन निष्काशयति। अथ ते हरन्त्युपकरणं ततो यत्पार्श्वे सारं भाण्डमक्षादि, यद्वा-नेतुं शक्नोति तन्नयति।

सम्प्रति स्वाभाविकोऽग्नौ यतनामाह-

कोल्लुपरंपरसंकलि, आगासं नेइ वायपडिलोमं।
अच्छुल्लूढा जलणे, अक्खाई सारभंडं तु ॥ ५८६ ॥

चलने प्रवर्द्धमाने सर्वमुपकरणमेकवारमशक्नुवन् कल्पेषु चतुर्षु पञ्चसु वा बध्नाति, बद्ध्वा च कोल्लुकचक्रन्यायेन परंपरया 'संकलि' त्ति तान् पोट्टलकान् दवरकेण संकलय्य यत्र न तृणादिसंभवस्तत आकाशं तदपि वा प्रतिलोमं तत्र नयति। अथ ज्वलनेनातिप्रसरता ते अच्छुल्लूढाः स्वस्थानं त्याजितास्ततो यत्सारं भाण्डमक्षादि तन्निष्काशयति।

मालवस्तेनेषु यतनामाह-

असरीरतेण भंगे, पवलाए जणे उ जं तरति नेउं।
न वि भूमो न वि बोलो,न दवति जणो कइयवेसुं ५८७॥

अशरीरस्तेनभङ्गे ये शरीरं नापहरन्ति तैः स्तेनैर्भङ्गे प्रपलायमाने जने यन्नेतुं शक्नोति तन्नयति, यदि पुनः कैतवेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केचन ब्रुवते-अग्निः समुच्छलितः,स्तेना वा द्विविधाः समापतिताः,तदा ते वक्तव्याः-न वै धूमो दृश्यते, 'न वि बोलो' त्ति नापि जनस्य प्रपलायमानस्य बोलस्तस्मान्न द्रवति जनो दग्धः कैतवेष्विति ।

स्वज्ञातिद्वारे यतनामाह—

अएणकुलगोत्तकहणं, पत्तेसु विभीयपरिसो पेल्लेइ ।
पुव्वं अभीइपरिसे, भणाति लज्जाएँ न भणामि ।५८८।
जा ताव ठवेमि वए, पत्ते कुड्डादिछेयसंगारो ।
मासिं हीरे उवहिं, अच्छह जासिं निवेएमि ॥५८९॥

यदि केचन स्वज्ञातय आगता वर्तन्ते, न च ते तं प्रत्यभिजानते तदा अन्यकुलगोत्रकथनं कर्तव्यम्, अन्यत् कुलमन्यच्च गोत्रमात्मनः कथयति, अथ ते सम्यग्ज्ञातारः समागतास्तत्र यदि ते भीतपर्षदस्तदा तान् प्रेरयति-ईदृशास्तादृशा यूयं बन्धयामि युष्मान् राजकुलेनेति । अथैवमुक्तास्ते न बिभ्यति तर्हि तान् अभीतपर्षदो वक्ति ममाप्येतत् अभिप्रेतमुन्निष्क्रमणं परं लज्जया न भणामि युष्मान्, यथाऽहमुन्निष्क्रमामीति,न वा शक्नोमि लज्जया युष्माकं समीपमागन्तुम् , तद्भव्यं कृतं यद् यूयमागताः किं तु तिष्ठत क्षणमात्रं यावदागच्छन्ति साधवः । ततस्तेषां समीपे व्रतानि निक्षिपामि, मा वा तेषां भट्टारकाणामुपकरणं शून्ये उपाश्रये केनापि ह्रियेत । यावच्च तेषां निवेदयामि-यथाऽहं गमिष्यामीति;तावत्तिष्ठत । एवं केनोपायेन तावत्तिष्ठन्ति यावत् साधवः प्राप्ता भवन्ति , ततः उपाश्रयकुड्यस्य छिद्रं पातयित्वा नश्यति, सङ्केतं च करोति-अमुकस्थाने मां गवेषयत आगत्य वा मम मिलितव्यमिति ।

खंधारादी णाउं, इयरेऽवि तहिं दुयं समभिएंति ।
अप्पाहेइ व तेसिं, अमुगं कज्जं दुयं एध ॥ ५९० ॥

इतरेऽपि भिक्षार्थमटन्तः साधवः स्कन्धावारमाग्नमाभवस्तेनपतनं वा ज्ञात्वा द्रुतम्—सत्वरं समभियान्ति—समागच्छन्ति , स वा वसतिपालो भिक्षार्थं गतानां सदृशं कथयति, यथा-अमुकं कार्यमापतितमिति द्रुत मा गच्छत । गतं रक्षणद्वारम् ।

इदानीं ग्रहणकल्पिकमाह—

दुविहकरणोवघाया, संसत्ता पच्चवायसिज्जविही ।
जो जाणति परिहरिउं, सो गहणे कप्पितो होति ।५९१।

वसतेर्द्विविधं करणम्-मूलकरणमुत्तरकरणं च । तेन द्विविधेन करणेनोपघातो यस्याः सा द्विविधकरणोपघाता ; मूलकरणोपहता, उत्तरकरणोपहता चेत्यर्थः । तथा पृथिव्युदकतेजोहरितत्रसप्राणसागारिकसंयुक्ता—संसक्ता ब्रह्मव्रतादिविराधनाकारिणी प्रत्यवाया, तथा विधिर्विधानं भेदः प्रकार इत्यनर्थान्तरम् , शय्याया विधिर्वक्ष्यमाणेन च शय्याया भेदः एतैर्मूलकरणादिदोषैर्यः सम्यक् परिहर्त्तुं जानाति स शय्याग्रहणे कल्पिको भवति । बृ० १ उ० १ प्रक० । नि० चू० । (परचक्रवेष्टितग्रामे वसतिद्वारम् ' उवरोह ' शब्दे द्वितीयभागे ९०८ पृष्ठे गतम् ।)

कदा कियन्तं कालं वसेदित्याह-ऋतुबद्धे एकं मासम्—

से गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा निगमंसि वा रायहाणिंसि वा आसमंसि वा संनिवेसंसि वा संवाहंसि वा घोसंसि वा अंसियंसि वा पुडभेयणंसि वा सपरिक्खेवंसि वा अबाहिरियंसि वा कप्पइ निग्गंथाणं हेमंतगिम्हासु एगं मासं वत्थए ॥ ६ ॥

एवमग्रेतनमपि सूत्रत्रयमुच्चारणीयं तच्च यथास्थानमेवोच्चारयिष्यते ।

अथास्य सूत्रचतुष्टयस्य कः संवन्ध इत्याह-

वुत्तो खलु आहारो, इयाणि वसहीविहिं तु वन्नेइ ।
सो वा कत्थुवभुज्जइ, आहारो एस संबंधो ॥ २८१ ॥

उक्तः खल्वनन्तरसूत्रे आहारः , इदानीं त्वस्मिन् सूत्रे वसतेर्विधिं भगवान् भद्रबाहुस्वामी वर्णयति । यथा स आहारो गृहीतः सन् क ग्रामादौ उपभुज्यते इति निरूपणार्थमिदमारभ्यते, एष द्वितीयप्रकारेण संवन्धः ।

भूयोऽपि संवन्धमाह—

तेसु सपरिग्गहेसुं, खेत्तेसुं साहुविरहिएसुं वा ।
किच्चिरकालं कप्पइ, वसिउं अहवा विकप्पो उ ॥२८२॥

तेषु-क्षेत्रेषु सपरिग्रहेषु—साधुपरिगृहीतेषु साधुविरहितेषु वा कियन्तं कालं निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वस्तुं कल्पते इत्यस्मिन् सूत्रे चिन्त्यते । अयं सम्बन्धस्याऽपरो विकल्प इत्यमीभिः संबन्धैरायातस्यास्य (६) व्याख्या-अत्र च-संहितादिक्रमेण प्रतिसूत्रं व्याख्याने महद्ग्रन्थगौरवमिति कृत्वा पदार्थादिमात्रमेवाभिधास्यते । संहितादिर्वस्तु पूर्ववत् वक्तव्य इति । ' से ' शब्दो मागधदेशीयप्रसिद्धः ; अथशब्दार्थे, 'अथ' शब्दश्च प्रक्रियादिष्वर्थेषु वर्तते, यत उक्तम् —अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेष्विति इहोपन्यासार्थे द्रष्टव्यः । ततश्च यथा साधूनामेकत्र क्षेत्रे वस्तुं कल्पते; तथा उपन्यस्यते इत्यर्थः । ग्रामे वा नगरे वा खेटे वा खर्वटे वा मडम्बे वा पत्तने वा आकरे वा द्रोणमुखे वा निगमे वा राजधान्यां वा आश्रमे वा संनिवेशे वा संबाधे वा घोषे वा अंशिकायां वा पुटभेदन वा सपरिक्षेपे-वृत्त्यादिरूपपरिक्षेपयुक्ते अबाहिरिक-बहिर्भवा बाहिरिका ' अध्यात्मादिभ्यः इकण् ' ति इकण् प्रत्ययः, प्राकारबहिर्वर्तिनी गृहपद्धतिरित्यर्थः । न विद्यते बाहिरिका यत्र तदबाहिरिकं तस्मिन् , कल्पते निर्ग्रन्थानां हेमन्तग्रीष्मेषु ऋतुबद्धकालसंबन्धिषु अष्टसु मासेष्वित्यर्थः , एकं मास वस्तुमनवस्थातुम् । वाशब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्थाः स्वगतानेकभेदसूचका वा द्रष्टव्याः । इति सूत्रसमासार्थः । बृ० १ उ० २ प्रक० । (त्रिंशदहोरात्रमानमेकमृतुमासं कल्पते वस्तुमिति 'मासकप्प' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६७ पृष्ठे गतम् ।) (अयं हि ऋतुबद्धविहारो मासकल्प इत्युच्यते, स च जिनकल्पिकानां 'जिणकप्पिय' शब्दे चतुर्थभागे १४६३ पृष्ठे गतम् ।) (गच्छवासिनां स्थविरकल्पिकानां वसतिद्वारम् ' जिणकप्प ' शब्दे चतुर्थभागे १४७४ पृष्ठे गतम् ।)

मासस्योपरि न वस्तव्यम् । अथोपरि दोषा अपवादश्चेति द्वारद्वयमाह—

माससुवरिं वसति, प्पायच्छित्तं च होंति दोसा य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विइय पदं च गिलाणे,वसही भिक्खं च जयणाए।१२११।

मासस्योपलक्षणत्वाच्चतुर्णां वा मासानामुपरि यदि वसति तदा प्रायश्चित्तं दोषाश्च भवन्ति। द्वितीयपदं च ग्लाने ग्लानार्थम्, उपलक्षणत्वादशिवादिभिश्च कारणैर्मासस्योर्ध्वमप्यवस्थानलक्षणं भवति। तत्र च वसतिर्भैक्षं च यतनया ग्रहीतकम्।

अथैनामेव विवरीषुः प्रायश्चित्तापत्तिस्थानानि तावदाह—

परिसाडिमपरिसाडी, संथाराहारदुविहउवहिम्मि।
डगलगसरक्खमल्लग–मत्तगमादीण पच्छित्तं ॥१२१२॥
ओगासे संथारे, वीयारुच्चारवसहिगामे य।
मास चउम्मासाधिग–वसमाणे हो इमा सोही॥१२१३॥

संस्तारको द्विधा–परिसाटी,अपरिसाटी च। परिसाटी–फलकादिरूपः। एवं द्विविधमपि संस्तारकं यत्र मासकल्पं वासं वा कृतवान् तत्रैव ग्रामादौ गृह्णतः, एवमाहारमपि तेष्वेव कुलेषु गृह्णतः औधिकौपग्रहिकभेदात् द्विविधो य उपधिस्तस्मिंश्च तत्रैव गृह्यमाणे, डगलकानि—पुनः प्रोञ्छनलेष्टुकः सरजस्कः क्षारः मल्लकमात्रे प्रतीते तेषामादिशब्दात्–काष्ठकिलिञ्चादीनां च तत्रैव ग्रहणे प्रायश्चित्तं भवति। तथा अवकाशः–प्रतिश्रयैकदेशः संस्तारः–संस्तारभूमिः एतैः पूर्वपरिभुक्तां चैव परिभुङ्क्ते, विचारः–प्रश्रवणम् उच्चारः–संज्ञा एतौ तत्रैव स्थण्डिलमाचरति वसतिं प्राक् परिभुक्तां परिभुङ्क्ते ग्रामस्योपरि ममत्वं करोति। यद्वा–अवकाशादिषु सर्वेष्वपि ममत्वं करोति, यथा–ऋतुबद्धे मासाधिकम्,वर्षामासे चतुर्मासाधिकं वसति। एतेषु स्थानेष्वियं वक्ष्यमाणा शोधिः।

तामेवाऽऽह—

उक्कोसोवहिफलए, वासातीए य होंति चउलहुगा।
डगलगसरक्खमल्लग–पणगं सेसेसु लहुओ उ ॥१२१४॥

उत्कृष्ट–वर्षाकल्पादौ फलके च–तत्रैव गृह्यमाणे वर्षाकाले च चत्वारो लघवः, डगलकसरजस्कमल्लकेषु उपलक्षणत्वात् काष्ठकिलिञ्चादौ च रात्रिंदिवपञ्चकम्, शेषेषु–परिसाटीसंस्तारकादिषु सर्वेष्वपि लघुको मासः।

अथ मासाद्युपरि तिष्ठतो दोषानाह—

संवासे इत्थिदोसा, उग्गमदोसा व नेह तो कुज्जा।
चमढण गिलाण दुल्लभ–वारत्तिसिभासियाऽऽहरणं।१२१५

ऋतुबद्धे वर्षावासे वा यथोक्तकालावधेरुपरि संवासे–एकत्रावस्थाने संदर्शनसंभाषणादिना स्त्रीविषया आत्मपरोभयसमुत्था दोषा भवेयुः। प्रभूतकालावस्थानतश्च साधूनामुपरि भद्रकगृहिणां गाढतरः स्नेह उपजायते। ततश्च ते स्नेहत उद्गमदोषान् आधाकर्म्मादीन् कुर्युः। ये तु प्रान्ताः गृहपतयस्ते ब्रूयुः कियच्चिरमस्माभिरमीषामद्यापि दातव्यं तिष्ठतीति अतिचमढणया च क्षेत्रं नीरसं भवति, ततो ग्लानस्य उपलक्षणत्वादाचार्यादीनां च प्रायोग्यं दुर्लभं भवेत्। अत्र च वारत्तकमहर्षेः कृतस्वल्पमात्रगृहं संगमस्य प्रद्योतनृपेणोपहसितस्योदाहरणम्। अत एव तेन भगवता ऋषिभाषितेषु यत्सप्तविंशमध्ययनं विरचितं तत्रादावेवेदमुपदेशसूत्रमभाणि–"न चिरं जणे संवसे मुणी, संवासेण सिणेहु वड्ढई। भिक्खुस्स अणिच्चचारिणो, अायट्ठे कम्मा दुहायई॥१॥" इति गतमुपरिदोषा इति द्वारम्।

अथ द्वितीयपदं भावयति—

बहुदोसे वतिरित्तं, जइ लब्भइ वेज्ज ओसहाणि जहिं।
चउभागतिभागत्ते, जयंतणिज्जे अलंभे वा ॥ १२१६ ॥

ग्लाननिमित्तमतिरिक्तमपि कालं वसेत्।अथोद्गमादिभिर्दोषैर्बहुदोषं तत्क्षेत्रं तत उत्पाट्य ग्लानं बहिर्गन्तव्यम्, यदि वैद्यौषधानि तत्र लभ्यन्ते। अथ ग्लानो बहिर्गन्तुं नेच्छति, वैद्यौषधानि वा बहिर्न लभ्यन्ते ततोऽनिच्छति अलाभे वा तत्रैव ग्रामे चतुर्भागीकृते त्रिभागीकृतेऽर्द्धीकृते वा वसतौ भिक्षायां च यतन्ते। इह च यद्यप्युत्सर्गतस्तं ग्राममष्टौ भागान् कृत्वा जायन्ते तथा चात्र संस्तरन्ति, ततः सप्त भागान् एवं यावदेकं भागमपि कृत्वा यतन्ते इति पुरस्ताद्वक्ष्यते। तथापि चतुर्भागत्रिभागार्द्धग्रहणं तुलादण्डमध्यग्रहणन्यायेनाष्टभागादीनामपि ग्रहणार्थम्।

प्रकारान्तरेण द्वितीयपदमाह—

ओमाऽसिवदुट्ठेसुं, चउभागा न करिंति अच्छंता।
पोरुसिमाई वुड्ढी, करिंति तवसो असंथरणे ॥ १२१७ ॥

अवमाऽशिवराजद्विष्टेषु बहिः संजातेषु तत्रैवातिरिक्तमपि कालं तिष्ठन्ति यावद्बहिः सुभिक्षादीनि न जायन्ते। तच्च क्षेत्रं यदि लघुतरं ततस्तत्र तिष्ठन्तोऽसंस्तरणे सति चतुर्भागादिरचनां न कुर्वन्ति, किं तु–तत्र पौरुष्यादितपसो वृद्धिं कुर्वन्ति। तद्यथा–ये पौरुषीप्रत्याख्यानिनस्ते पूर्वार्द्धं प्रत्याचक्षते, ये पूर्वार्द्धप्रत्याख्यातारस्ते एकाशनं प्रत्याख्यान्तीत्यादि।

अथ एनामेव स्पष्टयति––

मासे मासे वसही, तणडगलादी य अन्ने गिण्हंति।
भिक्खायरियवियारा, जहिट्ठिया तत्थ नऽन्नासु॥१२१८॥

मासे मासे वसतिरन्या, तृणडगलादीनि च पूर्वपरिभुक्तानि परित्यज्याऽन्यानि गृह्णाति, यस्मिंश्च भागे मासकल्पं स्थितास्तत्रैव भागे तस्मिन्मासे भिक्षाचर्या विचारभूमिं च गच्छन्ति, नान्यासु–भिक्षाविचारभूमिषु।

अथ भागकरणस्यैव विधिमाह––

अट्ठाइजाव इक्कं, करिंति भागं असंथरे गामं।
अट्ठा इच्चिय वसही,जयंति जा मूलवसही उ ॥१२१९॥

कदाचिदष्टौ ऋतुबद्धमासान् ग्लानकार्येण स्थातव्यं भवेत्, अतो ग्राममष्टौ भागान् कुर्वन्ति ततः प्रथमेऽष्टभागे वसतिं तृणडगलादीनि च गृह्णन्ति, मासं च यावत्प्रथम एवाष्टभागे भिक्षाचर्या विचारभूमिगमनं च कुर्वन्ति। ततो यदि मध्ये मासे सम्पूर्णे ग्लानः प्रगुणीभूतस्तदैव निर्गन्तव्यम्। अथ न प्रगुणीभूतस्ततः पूर्णे मासे द्वितीयेऽष्टभागे तिष्ठन्ति, तत्राप्येष एव विधिर्मन्तव्यः। एवं तृतीयमष्टभागमादौ कृत्वा अष्टभागं यावत् द्रष्टव्यम्। अथाष्टभिर्भागैर्विभक्ते ग्रामं न संस्तरति ततः सप्त भागान् कृत्वा यथैव यतन्ते। एवमप्यसंस्तरणे षड् भागानादौ कृत्वा यावदेकमपि भागं कुर्वन्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं वसतीरपि प्रथमतः पृथक् पृथक् मासकल्पप्रायोग्या अ-ष्टौ गृह्णाति, तदभावे सप्त षट् पञ्चादिक्रमेण यतन्ते यावत्त-स्यामेव मूलवसतौ तिष्ठन्ति।

अथात्रैव भङ्गकानाह—

इत्थं पुण संजोगा, एक्किक्कस्स उ अलंभे लंभे य।
रोगविहाणं गुणिया, तुल्लातुल्लेसु ठाणेसु ॥ १२२० ॥

अत्र पुनः प्रक्रमेण एकैकस्य वसतिभागस्य वा अला-भे लाभे च यानि तुल्यानि तुल्यानि समानसंख्याकानि तेषु विधानेन—चारिकाविधिना गुणिताः सन्तोऽनेके-बहवः संयोगा—भङ्गका भवन्ति। चारणिकाक्रमश्चायम्—अष्टौ व-सतयोऽष्टौ भिक्षाचर्याः १, अष्टौ वसतयः सप्त भिक्षाचर्याः२, एवं षट् भिक्षाचर्याः ३, पञ्च भिक्षाचर्याः ४, चतस्रो भि-क्षाचर्याः ५, तिस्रो भिक्षाचर्याः ६, द्वे भिक्षाचर्ये ७, एका भिक्षाचर्या ८, एवं सप्त वसतयोऽष्टौ भिक्षाचर्याः १, सप्त वसतयः सप्त भिक्षाचर्याः २, इत्यादि चारणिकया सप्तादिसंख्यास्वपि वसतिविषयासु प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गकाः प्राप्यन्ते। सर्वसंख्यया लब्धा भङ्गकानां चतुःषष्टिरिति।

अथैतेष्वेव भङ्गकेषु विधिमाह—

एक्काइ वि वसहीए, ठिया उ भिक्खाचरियाएँ पतंति।
वसहीसु वि जयणेवं,अवि एक्काए वि चरियाए।१२२१।

येषु भङ्गकेष्वेकैव वसतिः प्राप्यते तेष्वेकस्यामपि वसतौ स्थिता भिक्षाचर्यायां प्रयतन्ते। प्रथममष्टौ भागान् ग्रामं वि-भज्य भिक्षां पर्यटन्ति, असंस्तरणे यावदेकमपि भागं कृत्वेति भावः। अपिशब्दो द्व्यादिसंख्यकासु वसतिषु तिष्ठन्तः सुतरां भिक्षाचर्यायां प्रयतन्ते इति सूचनार्थः। यत्र त्वकैव भिक्षाचर्या प्राप्यते तत्रैकस्यामपि भिक्षाचर्यायां पर्यटन्ते। एवमेव वसतिष्वपि यतना कर्त्तव्या। बृ० १ उ० २ प्रक०।

(२२) हेमन्तग्रीष्मयोर्द्वौ मासौ वस्तुं कल्पते—

से गामंसि वा ०जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खे-वंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गन्थाणं हेमंतगिम्हासु दो मासे वत्थए, अंतो इक्कं मासं बाहिं एगं मासं। अंतो वस-माणाणं अंतो भिक्खायरिया बाहिं, वसमाणाणं बाहिं भिक्खायरिया ।। ७ ।।

अस्य संबन्धो, व्याख्या च प्राग्वत्। नवरं सबाहिरिके प्राकारबहिर्वर्त्तिगृहपद्धतिरूपया बाहिरिकया सहिते कल्पते निर्ग्रन्थानां हेमन्तग्रीष्मेषु द्वौ मासौ वस्तुम्। कथमित्याह—अन्तः-प्राकाराभ्यन्तरे एकं मासम्, बहिर्बाहिरिकायामप्येकं मासम्, अन्तर्वसतामन्तर्भिक्षाचर्या, बहिर्वसतां बहिर्भिक्षा-चर्येति।

अथ भाष्यविस्तरः—

एसेव कमो नियमा, सपरिक्खेवे य सबाहिरियम्मि।
नवरं पुण णाणत्तं, अंतो मासो बहिं मासो ॥१२२२॥

एष एव-प्रथमसूत्रोक्तः क्रमः सपरिक्षेपे-सबाहिरिकेऽपि ग्रामादौ नियमाद्वक्तव्यः, नवरं पुनः नानात्वविशेषोऽयम् अन्तः-प्राकाराभ्यन्तरे मासो बहिरपि मासः, इत्येवं मासद्वय-मृतुबद्धे स्थातव्यम्।

पुण्णम्मि अंतो मासे, बहिया संकमण तं पि तह चेव।
नवरं पुण णाणत्तं, तणेसु तह चेव फलएसु ॥१२२३॥

अभ्यन्तरे मासकल्पे पूर्णे बाहिरिकायां संक्रमणं कर्तव्यम्। तदपि संक्रमणं तथैव—पूर्वसूत्रवत् द्रष्टव्यम्, नवरं पुनरत्र नानात्वं तृणेषु तथा फलकेषु। तत्र यदि बाहिरिकायामेव तृणफलकानि प्राप्यन्ते ततस्तत्रैव ग्रहीतव्यानि। अथ तत्र तानि न लभ्यन्ते ततोऽन्यं ग्रामं व्रजन्तु। अथ तत्राशिवा-दीनि कारणानि ततो अभ्यन्तराण्येव तृणफलकानि बाहि-रिकायां नेतव्यानि।

तत्र विधिमाह—

अन्नउवस्सयगमणे, अणापुच्छा नऽत्थि किंचि नेयव्वं।
जइ नेइ अणापुच्छा, तत्थ उ दोसा इमे होंति।१२२४।

द्वितीये मासकल्पे बाहिरिकायामन्यमुपाश्रयं गच्छद्भिरना-पृच्छया नास्ति किञ्चित्तृणफलकादि नेतव्यम्। यद्यनापृच्छया नयति ततस्त्विमे दोषा भवन्ति।

ताइं तणफलगाइं, तेणाहडगाइँ अप्पणो वाऽवि।
निज्जंतयगहियाइं, सिट्ठाइं तह असिट्ठाइं ॥१२२५॥

तृणफलकानि येन साधूनां दत्तानि तस्य स्तेनाहृतानि वा-भवेयुः, आत्मसंबन्धीनि वा भाति च प्रतिश्रयान्तरं नियमानि प्राप्यमाणानि गृहीतानि वा नीतानि सन्ति निशिष्टानि वा भवेयुः।

शिष्टाशिष्टपदं व्याख्यानयति—

कस्सेते तणफलगा, सिट्ठे अमुगस्स तस्स गहणादी।
गिण्हइ वा सो भीओ, पच्चंगिरलोगणुड्डाहो ॥१२२६॥

स्तेनाहृतानि तृणफलकान्यनापृच्छ्य नीयमानानि पूर्वस्वा-मिना राजपुरुषैर्वा दृष्टानि। ततः साधुः पृष्टः—कस्यै-तानि?, साधुः प्राह—अमुकस्य गृहपतेरिति, शिष्टे—क-थिते सति तस्य ग्रहणाकर्षणादयो दोषा भवन्ति। तथाऽसौ साधुर्भीतः सन् निह्नुते—अपलपति; न कथयतीत्यर्थः, ततोऽशिष्टे साधोः प्रत्यङ्गिरादोषो भवति—तृणफलकदा-यकगृहपतेः संबन्धी चौर्यकरणलक्षणो दोषः; स परकीयो ऽप्यात्मनि लगतीत्यर्थः। लोके चोड्डाहो भवति—अहो साधवोऽपि परद्रव्यमपहरन्ति।

अथ अत्रैव प्रायश्चित्तमाह—

नयणे दिट्ठे सिट्ठे, गिण्हण ववहारमेव ववहरिए।
लहुगा लहुया गुरुगा, छम्मासा छेय मूल दुगं।१२२७।

स्तेनाहृततृणानामपृच्छया बाहिरिकायां नयनं करोति लघु-को मासः। अथ तानि नीयमानानि राजपुरुषैर्दृष्टानि ततश्चत्वारो लघुकाः। तैः पृष्टे साधुना शिष्टे-कथितं यथाऽ-मुकस्यैते ततश्चत्वारो गुरुकाः। अथ गृही राजपुरुषै-र्गृहीतस्तथाऽपि चत्वारो गुरुकाः। अथासौ तै राजकुला-भिमुखमाकर्षितस्ततः षण्मासा लघवः। अथ राजकुलाभि-मुखमाकर्षितस्तान् स गृहस्थः प्रतिलोममाकर्षति ततः षड् गुरुकाः। अथ राजकुलं नीत्वा व्यवहारं कारितस्ततः छेदः।व्यवहृते सति यदि स गृहस्थः पश्चात्कृतस्ततो मूलम्। बहुलोकसमक्षमुद्दग्धे, हस्तपादाद्यवयवं व्यङ्गिते वा कृते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनवस्थाप्यम्। अपद्राविते निर्विषये वा कृते पाराश्चिकम्, सर्वत्र संयतस्यैतत् प्रायश्चित्तम्।

अथ 'निगहव' पदं व्याख्याति—

अहवा वि असिट्ठम्मी, एसेव उ तेण संकमे लहुगा।
नीसंकियम्मि गुरुगा, एगमणेगे य गहणादी॥१२२८॥

अथवा मम कथिते सत्येष तृणफलकदाता ग्रहणाकर्षणादि प्राप्यते इति मत्वा यदि न कथयति ततोऽशिष्टे-अकथिते एष एव स्तेनः संभाव्यते इत्येवं शङ्किते चतुर्लघुकाः, निःशङ्किते चत्वारो गुरवः। ततश्च तस्यैव एकस्यानेकेषां वा साधूनां ग्रहणादयो दोषा भवन्ति।

तद्यथा—

नयणे दिट्ठे गहिए, कड्ढणववहारमेव घवहरिए।
उड्डहणे य वियंगण, उद्दवणे चेव निव्विसए॥१२२६॥
लहुओ लहुया गुरुगा, छल्लहु छग्गुरुगछेयमूलं च।
अणवट्ठप्पो दोसु य, दोसु य पारंचिओ होइ॥१२३०॥

तृणानि प्रतिश्रयान्तरमनापृच्छया नयति लघुको मासः। राजपुरुषैर्दृष्टेषु चत्वारो लघवः। ततः पृष्टे साधुना च निह्नुते साधोर्ग्रहणं कुर्वति चत्वारो गुरवः। राजपुरुषैस्त्वं चौर इत्युक्त्वा राजकुलाभिमुखमाकृष्टे षण्मासा लघवः। अथ ते राजकुलाभिमुखमाकर्षन्ति, साधुश्च तान् प्रतीपमाकर्षति, एवं कर्षणाकर्षणे षण्मासा गुरवः। व्यवहारे प्रारब्धे छेदः, व्यवहृते यदि संयतः पश्चात् कृतस्ततो मूलम्। उड्डहनव्यङ्गनयोर्द्वयोरनवस्थाप्यः। अपद्रावणनिर्विषयाज्ञापनयोर्द्वयोः पाराञ्चिकम् इति।

आह-कथं पुनस्तृणानि स्तेनाहृतानि संभवन्तीत्युच्यते—

दंतपुरे आहरणं, तेनाहडुवच्चगादिसु तणेसु।
छावणमीराकरणे, अत्थिरफलगं व चंपादि॥१२३१॥

आवश्यके योगसंग्रहेषु 'दन्तपुरदन्तवक्के' इत्यस्यां गाथायां यदाहरणं-निदर्शनमुक्तम्, तत्र यथा दन्ताः केनापि न गृहीतव्या इति राजाऽऽज्ञया प्रतिषिद्धत्वाद्धनमित्रसार्थवाहमित्रेण दृढमित्रेण दर्भपूलकैराच्छाद्य प्रच्छन्नमानीताः स्तेनाहृताः संवृताः, एवं राज्ञा प्रतिषिद्धानि संभवन्ति तृणान्यपि स्तेनाहृतानीति। तैश्च वल्वकादिभिस्तृणैर्ग्लानादीनां छादनं प्रतिश्रयस्य वा मीराकरणं विधीयते। मीराकरणं नाम—कटैर्द्वारादेराच्छादनम्। उपलक्षणमेतत्, तेन प्रस्तरणार्थमपि तृणानि गृह्यन्ते। फलकं तु प्रस्तरणार्थं मीराकरणार्थं वा तच्चास्थिरफलकं चम्पकपत्रादि मन्तव्यम्। अस्थिरफलकं नाम-उपविशतां यदधो याति तथैवंविधं चम्पकपत्रादि।

अस्तेनाहततृणानां नयने दोषानाह—

अत्तेणाहड नयणे, लहुओ लहुया य होंति सिट्ठम्मि।
अप्पत्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेदपसज्जणा सेसे॥१२३२॥

अस्तेनाहृतानां तृणानामनापृच्छ्य बहिर्नयने लघुको मासः। अपरेण केनापि तस्य शिष्टं—कथितं त्वदीयानि तृणानि संयतैर्बाहिरिकायां नीतानि, तदा चतुर्लघु। कथिते यद्यसावनुग्रहं मन्यते ततोऽपि चतुर्लघु। अथाप्रीतिकं करोति तदा चतुर्गुरु। व्यवच्छेदं वा तद्द्रव्यस्य तस्य साधोर्भूयः प्रदाने कुर्यात्, 'पसज्जणा सेसे' त्ति शेषाणामन्येषामप्यशनपानकादिद्रव्याणामपरेषां वा साधूनां प्रसज्जनां—दानव्यवच्छेदं कुर्यात्।

एसेव गमो नियमा, फलएसु वि होइ आणुपुव्वीए।
नवरं पुण नाणत्तं, चउरो मासा जहन्नपदे॥ १२३३॥

एष एव गमः-प्रकारः फलकेष्वपि भवत्यानुपूर्व्या, यस्तृणेषु 'नयणे दिट्ठे सिट्ठे' इत्यादिना भणितः, नवरं पुनरत्र नानात्वं चत्वारो मासाः। जघन्यपदं नाम-यत्र तृणेषु लघुमासिकमापद्यते तत्रानापृच्छया बहिर्नयनमिति द्रष्टव्यम्, तत्र फलकेषु चतुर्लघु।

अथ मासद्वयादूर्ध्वमवस्थाने दोषान् द्वितीयपदं चाह-

दोण्हि उवरिं वसती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य।
वितियपदं च गिलाणे, वसही भिक्खं च जयणाए।१२३४।

सबाहिरिके क्षेत्रे द्वयोर्मासयोरुपरि यदि वसति ततः प्रायश्चित्तं प्रागुक्तमेव मासलघुकाख्यम्, दोषाश्च त एवावसातव्याः, ये अबाहिरिके क्षेत्रे संवासे इत्यादिना उक्ताः। द्वितीयपदं च ग्लानविषयं तदेव वक्तव्यम्, तत्र च तिष्ठतां वसतिभिक्तं च यतनया ग्रहीतव्यम्। बृ० १ उ० १ प्रक०। (ग्रामादिषु निर्ग्रन्थानां द्वौ मासौ वस्तुं न कल्पते इति ससूत्रो भाष्यविस्तरः, 'णिग्गन्थी' शब्दे चतुर्थभागे २०४६ पृष्ठे गतः।

(२३) एकवगडायामेकपरिक्षेपायां वसतौ निषेधमाह-

से गामंसि वा०जाव रागहाणिंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए नो कप्पइ निग्गन्थाण य निग्गन्थीण य एगयओ वत्थए॥ १०॥

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह—

गामनगराइएसुं, तेसु उ खेत्तेसु कत्थ वसियव्वं।
जत्थ न वसंति समणी, अब्भासे निग्गमपहे वा॥ १॥

ग्रामनगरादिषु तेषु—पूर्वसूत्रोक्तेषु क्षेत्रेषु कुत्र वस्तव्यमिति चिन्तायामनेन सूत्रेण प्रतिपाद्यते। यत्राभ्यासे स्वनिश्रयाऽऽसन्ने निर्गमपथे वा निर्गमद्वारे श्रमण्यो न वसन्ति तत्र वस्तव्यमिति।

अथ प्रकारान्तरेण सम्बन्धमाह—

अहवा निग्गंथीओ, दट्ठु ठिया तेसु गाममाईसु।
मा पिल्लिज्जिहि कोई, तेणिमसुत्तं समुदियं तु॥ २॥

अथवा-निर्ग्रन्थीस्तेषु ग्रामादिषु स्थिता दृष्ट्वा मा कश्चिदाचार्यादिस्तत्रागत्य प्रेरयेन्निष्काशयेदित्यनेन कारणेन इदं सूत्रं समुदितं समायातमनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (१०)व्याख्या—अथवा-ग्रामे वा यावद्राजधान्यां वा, यावत्करणात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नगरे वा खेटे वा इत्यादिपदपरिग्रहः। एकवगडाके—एकद्वारके एकनिष्क्रमणप्रवेशके च क्षेत्रे नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च एकतो मिलितानां वस्तुम्—अवस्थातुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः।

विस्तरार्थं तु भाष्यकृदाह—

वगडा उ परिक्खेवो, पुव्वुत्तो सो उ दव्वमाईसुं।
दारं गामस्स मुहं, सो चेव य निग्गमपवेसो ॥ ३ ॥

वगडा नाम-ग्रामादेः सम्बधी परिक्षेपः, स पुनः परिक्षेपो-द्रव्यादिको द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदभिन्नः। यथा-पूर्वं 'पासणिट्ठनमट्ठिगखेडगकडगकंटिगा पवेदव्वं' इत्यादिना मासकल्पे प्रकृते उक्तस्तथैवात्रापि द्रष्टव्यः। द्वारं नाम—ग्रामस्य मुखं ग्रामप्रवेश इत्यर्थः, स एव च निर्गमेणोपलक्षितः प्रवेशो निर्गमप्रवेशोऽभिधीयते।

इत्थं सूत्रे व्याख्याते सति शिष्यः प्राह—

दारस्स वा वि गहणं, कायव्वं अहव निग्गमपहस्स।
जइ एगट्ठा दुन्नि वि, एगयरं बूहि मा दो वि ॥ ४ ॥

यदि तदेव द्वारं स एव च निर्गमप्रवेशतस्ततो हे आचार्य! द्वारस्य वा ग्रहणं कर्त्तव्यम्, अथ निर्गमप्रवेशपथपदस्य यदि नाम द्वे अपि पदे स्त एकार्थे; तत एकनगरमेकद्वारपदम् एकनिष्क्रमणप्रवेशपदं वा सूत्रे ब्रूहि—भणेत्यर्थः मा द्वे अपि।

एवं शिष्येणोक्ते सूरिराह—

एगवगडेगदारा, एगमणेगा अणेगएगा य।
चरिमो अणेगवगडा, अणेगदारा य भंगो उ ॥ ५ ॥

इह वगडाद्वारयोश्चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा—एका वगडा एकं द्वारम्, यथा-पर्वतादिपरिक्षिप्ते क्वचिद् ग्रामादौ १। एका वगडा अनेकानि द्वाराणि, यथा-प्राकारादिपरिक्षिप्ते चतुर्द्वारनगरादौ २। अनेका वगडा एकं द्वारम्, यथा-पद्मसरःप्रभृतिपरिक्षिप्ते बहुवा(पा)टके ग्रामादौ ३। अनेका वगडा अनेकानि द्वाराणि, यथा-युष्मी प्रकीर्णगृहे ग्रामादौ चतुर्थो भङ्गः४।

यदि नामैवं चत्वारो भङ्गास्ततः प्रस्तुते किमायात—

मित्याह—

तइयं पडुच्च भंगं, पउमसराईहिँ संपरिक्खित्ते।
अन्नोन्नदुवाराण वि, हवेज्ज एगं तु निक्खमणं ॥ ६ ॥

अत्र भङ्गचतुष्टये तृतीयं भङ्गं प्रतीत्य एकद्वारग्रहणमेकनिष्क्रमणप्रवेशग्रहणं च सूत्रे कृतम्, कुत इत्याह—पद्मसरसा, आदिशब्दात्-गर्त्तपर्वतेन वा संपरिक्षिप्ते ग्रामादौ अन्यान्यद्वारकाणामपि वा (पा) टकानामेकमेव निष्क्रमणं भवेत्। तिसृषु दिक्षु पद्मसरःप्रभृतिव्याघातसंभवादेकस्यामेव दिशि निष्क्रमणप्रवेशौ भवतः।

ततः किमित्याह—

तत्थ वि य होंति दोसा, वीयारगयाण अहव पंथम्मि।
संकादीए दोसे, एगवियाराण वोच्छिहिति ॥ ७ ॥

तत्रापि च—तृतीये भङ्गे पृथक् पाटकेषु स्थितानामपि किं पुनः प्रथमभङ्गे द्वितीयभङ्गे वा स्थितानामित्यादि—अपिशब्दार्थः। विचारगतानां-संज्ञाभूमौ संप्राप्तानाम्, अथवा-तस्यां च पथि—मार्गे गच्छतां दोषाः शङ्कादयो भवन्ति, तांश्च शङ्कादीन् दोषान् एकविचाराणामेकसंज्ञाभूमिकानां निर्ग्रन्थानां च सूरिः स्वयमेव निर्युक्तिगाथाभिर्यथावसरमुत्तरत्र वक्ष्यति-भणिष्यति।

तत्र प्रथमभङ्गे तावद्दोषानुपदिदर्शयिषुराह—

एगवगडं पडुच्चा, दोण्ह वि वग्गाण गरहितो वासो।
जइ वसइ जाणओ तु, तत्थ उ दोसा इमे होंति ॥८॥

एकवगडमुपलक्षणत्वादेकद्वारं च क्षेत्रं प्रतीत्य द्वयोरपि वर्गयोः-साधुसाध्वीलक्षणयोरेकत्र वासो गर्हितो-निन्दितो; न कल्पते इत्यर्थः। यदि ज्ञापकः—संयत्योऽत्र स्व गता इति जानानस्तत्रागत्य वसति तत इमे-वक्ष्यमाणा-दोषा भवन्ति।

इदमेव सविशेषमाह—

एगवगडेगदारे, एगयरट्ठियम्मि जो तहिं ठाइ।
गुरुगा जइ वि य दोसा,न होज्ज पुट्ठो तह वि सो उ ॥९॥

एकवगडे एकद्वारे च क्षेत्रे यत्र पूर्वमेकतरः संयतवर्गः संयतीवर्गो वा स्थितो वर्त्तते तत्र य आचार्यादिः प्रवर्त्तिन्यादिर्वा पश्चादागत्य तिष्ठति तस्य चत्वारो गुरुकाः। यद्यपि च तत्र दोषा वक्ष्यमाणा न भवेयुस्तथाऽप्यसौ भावतस्तैः स्पृष्टो मन्तव्यः।

तत्र पूर्वस्थितसंयतीवर्गे क्षेत्रमङ्गीकृत्य तावदाह—

सोऊण य समुदाणं, गच्छं आणेतु देउले ठाति।
ठाइयँतगाण गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥१०॥

श्रुत्वा च समुदानं भैक्षं सुलभप्रायोग्यं द्रव्यं ततो गच्छमानीय देवकुले उपलक्षणत्वादपरस्मिन् वा सभाशून्यगृहादौ तिष्ठति, तत्र च तिष्ठतामाचार्यादीनां चत्वारो गुरुकाः, तत्राप्याज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः।

एनामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति—

फड्डगपइपेसविया, दुविहोवहिकज्जनिग्गया वाऽवि।
उवसंपज्जिउकामा, अतिक्कमाणा च ते साहू ॥ ११ ॥
संजइभावियखेत्ते, समुदा णेऊण बहुगुणं नच्चा।
संपुन्नमासकप्पं, खिंति गणिं पुट्ठऽपुट्ठा वा ॥ १२ ॥

केचन स्वसाधवः केनापि स्पर्द्धकपतिना क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेषिताः, यद्वा-द्विविधः-औधिकौपग्रहिकभेदभिन्नो य उपधिस्तस्योत्पादनार्थं कार्येषु वा कुलगणसङ्घसंबन्धिषु निर्गताः, उपसंपत्तुकामा वा—उपसंपदं जिघृक्षवः, अध्वानं वा अतिक्रामन्तस्तत्र ते साधवः प्राप्ता एते स्पर्द्धकपतिप्रेषितादयः संयतीभाविते क्षेत्रे समुदायं नीत्वा भैक्षं पर्यटय प्रचुरप्रायोग्यलाभेन बहुगुणं तत्क्षेत्रं ज्ञात्वा गुरूणां समीपमायाताः संपूर्णमासकल्पं गणिनमाचार्यं पृष्टा वा ब्रुवते।

कुत इत्याह—

तुज्झ वि पुण्णो कप्पो, न य खेत्तं पेहियं म्हि जं जोग्गं।
जं पि य रुइयं तुज्झं, न तं बहुगुणं जह इमं तु ॥१२॥

क्षमाश्रमणाः! युष्माकमपि मासकल्पाः पूर्णा वर्तन्ते न च तत् क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं यद्भवतां योग्यमनुकूलम्। यदपि च क्षेत्रं युष्माकं रुचितमभिप्रेतं न तद्बहुगुणं यथेदमस्मत्प्रत्युपेक्षितं क्षेत्रम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम्—

एगोऽत्थ नवरि दोसो,संपइ सो वि य न बाहए किंचि ।
न य सो भावो विज्जइ, अदोसवं जो अनिययस्स॥१४॥

नवरमेक एवात्र दोषो विद्यते, परं सोऽपि मां प्रति मदीये-नाभिप्रायेण न किञ्चिद्बाधते, न चाऽसौ भावः पदार्थो जगति विद्यते योऽनियतस्य-अनिश्चितस्यानुद्यमवतो पुरुषस्य अदोषवान् भवति, किं तु-सर्वोऽपि दोषवान् इति भावः ।

अहव ण किं सिट्ठेणं, सिट्ठे काहिहे न वा वि एयं ति ।
खुद्दमुहा संति इहं, जे कोविज्जा जिणवयं पि ॥ १५ ॥

अथवा-किमस्माकमनेनार्थेन शिष्टेन-कथितेन कार्यं; न किञ्चिदित्यर्थः, यतो यूयं शिष्टे सति करिष्यथ वा न वा एनमस्मदभिप्रेतमर्थमिति वयं न विद्मः । कुत इत्याह-क्षौद्रमुखा-मधुमुखा; मधुरभाषिण इत्यर्थः, सन्ति-विद्यन्ते इह—अस्मिन्नर्थे भवतां वल्लभेश्वराः, ये जिनवाचमपि कोपयेयुः-अन्यथा कुर्युः । आस्तां तावदस्मदादिवचनमित्यपिशब्दार्थः ।

इह सपरिहास निब्बं-ध पुच्छिओ वेइ तत्थ समणीओ ।
बलियपरिग्गहियाओ, होइ दढा तत्थ य वयामो॥१६॥

इत्येवं सपरिहासे तेनोक्ते आचार्यो महता निर्बन्धेन पृष्टः । कथय भद्र ! कीदृशस्तत्र दोषो विद्यते, ततः स ब्रवीति-तत्र श्रमण्यो बलिना-बलवता आचार्यादिना परिगृहीता विद्यन्ते, परं तथापि वयं दृढा भवन्तः, कामपि शङ्कां कुरुध्वम्। अत्रार्थे सर्वमप्यहं भणिष्यामि, अतस्तत्र व्रजामो वयम् ।

एवं भणतः प्रायश्चित्तमाह—

भिक्खू साहइ सोउं, व भणइ जइ वावि तहिं मासो ।
लहुगा गुरुगा वसभे, गणिस्स एमेव वेहाए ॥ १७ ॥

यदि भिक्षुरनन्तरोक्तवचनं कथयति, श्रुत्वा वा भिक्षुरेवं भणति बाढं व्रजामः तत्र वयम् , ततो मासलघु प्रायश्चित्तम् । अथ वृषभ उपाध्यायम् एवं ब्रवीति , प्रतिशृणोति वा ततस्तस्य चत्वारो लघवः । गणिन आचार्यस्य इत्थं भणतः प्रतिशृण्वतो वा चत्वारो गुरुकाः । एवमेवोपेक्षायामपि द्रष्टव्यम् । किमुक्तं भवति—इत्थं तेनोक्ते व्रजामो वयमिति वा प्रतिश्रुते यदि भिक्षुरुपेक्षां करोति तदा तस्य लघुमासिकम् । वृषभस्योपेक्षमाणस्य चतुर्लघु।आचार्यस्योपेक्षां कुर्वाणस्य चतुर्गुरु ।

अथवा—

सामत्थण परिवत्थो, गहणे पयभेदपंथसीमाए ।
गामे वसहिपवेसे, मासादी भिक्खुणो मूलं ॥ १८ ॥

भिक्षुस्तत्र गन्तव्यं न वेति 'सामत्थणं' पर्यालोचनं करोति मासलघु ' परिवत्थि ' त्ति देशीशब्दोऽयं निर्णये वर्त्तते । ततो गन्तव्यमेव तत्रेति निर्णयं करोति मासगुरु, ' गहणे ' त्ति निर्णीय यदुपधिं गृह्णाति ततश्चतुर्लघु, पदभेदं कुर्वतश्चतुर्गुरुकम् , पथि व्रजतः षड्लघुकम् , ग्रामसीमायां मासच्छेदः, वसतौ प्रवेशं कुर्वतो मूलम् । एवं भिक्षोर्लघुमासादारभ्य मूलं यावत्प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

गणिआयरिए सपदं, अहवा अविसेसिया भवे गुरुगा ।
भिक्खूमाइ चउण्हं,जइ पुच्छसि तो सुणसु दोसे॥१९॥

गणिन उपाध्यायस्य मासगुरुकादारभ्य स्वपदमनवस्थाप्यं यावत् , आचार्यस्य चतुर्लघुकादारभ्य स्वपदं पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तं मन्तव्यम्। अथवा—भिक्षुवृषभोपाध्यायाचार्याणां चतुर्णामपि तपःकालविशेषिताश्चतुर्गुरुकाः।तद्यथा-भिक्षोर्द्वाभ्यामपि लघवः तपसा कालेन, वृषभस्य कालेन गुरवस्तपसा लघवः, उपाध्यायस्य तपसा गुरवः कालेन लघवः, आचार्यस्य तपसा कालेन च द्वाभ्यामपि गुरवः । अथ केषां तत्र तिष्ठतां दोषा इति यदि पृच्छसि-ततः शृणु-निशमय दोषान् मयाऽभिधीयमानान् ।

तानेवाभिधित्सुराह—

अन्नतरस्स निओगा, सव्वेसिं अणुप्पिएण वातेतु ।
देउले सभासुन्ने, निओयपमुहे ठिया गंतुं ॥ २० ॥

अन्यतरस्य भिक्षोः भिक्षुभावे नियोगान् सर्वेषां-साधूनामनुप्रियेण अनुपाल्यते, आचार्यास्तत्र गत्वा देवकुले वा सभायां वा शून्यगृहे वा नियोगस्य मुखे प्रवेशे एव स्थिताः, ततो निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां चोभयेषां परस्परदर्शनेन बहवो दोषा भवन्ति । (अत्र चाग्निदृष्टान्तः सूरिभिर्वर्णितः स च 'अग्गि' शब्दे प्रथमभागे १७५ पृष्ठे गतः ।)

अथ ' किं पुण तासिं तयं नऽत्थि ' त्ति पदं भावयन् शिष्येण प्रश्नं कारयति—

लुक्खमरसुण्हमनिका-मभोयिणं देहभूसविरयाणं ।
सज्झायपेहमादिसु, वावारेसुं कओ मोहो ॥ ३० ॥

रूक्षम्—निःस्नेहम् ' अरसुण्ह ' त्ति नञ् प्रत्येकमभिसंबध्यते अरसम्-हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतम् अनुष्णं-शीतलम् अनिकामं-परिमितं भक्तं भोक्तुं शीलमेषां ते रूक्षाऽरसाऽनुष्णाऽनिकामभोजिनस्तेषाम्, मकारावलाक्षणिकौ। तथा देहभूषायाः-स्नानादिरूपायाः विरतानां-प्रतिनिवृत्तानां स्वाध्यायः—पठनादिरूपः प्रेक्षा प्रत्युपेक्षणा तयोरादिशब्दाद्वैयावृत्त्यादिषु च व्यापारेषु व्यापृतानां साधुसाध्वीजनानां कुतो मोहः-पुरुषवेदाद्युदयरूपः संभवति ।

अथ प्रतिवचनमाह—

नियणाइ लूणमद्दण, वावारे बहुविहे दिया काउं ।
सुक्खसुदिया वि रत्तिं, किसीबला किं न मोहंति ॥३१॥

' नियणं ' ति निदानं निद्राणमित्यर्थः । आदिशब्द उत्तरत्र योक्ष्यते । लवनं मर्द्दनं च प्रतीतम् , एवमादीन् बहुविधान् व्यापारान् दिवा कृत्वा शुष्काः स्नानाद्यभावेन शीतोष्णादिभिश्च परिम्लानाः ' सुढिआ '-श्रान्ता एवंविधा अपि कृषीवलाः, किमिति-परिप्रश्ने, भवानेवात्र पृच्छयते, कथय—किं ते रात्रौ न मुह्यन्ति ? न मोहमुपगच्छन्ति; मुह्यन्त्येवेति भावः ।

जइ ताव तेसि मोहो, उप्पज्जइ पेसणेहि सहियाणं ।
अव्वावारसुहीणं, न भविस्सइ किह णु विरयाणं ॥३२॥

यदि च तेषां-कृषीवलानां प्रेषणैः व्यापारैः सहितानां मोह उत्पद्यते ततो विरतानां संयतानामव्यापारसुखिनां तथाविधव्यापाररहिततया सुखिनां कथं नु नाम न मोहोदयो भविष्यति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथाऽत्रैव पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

कोई तत्थ भणिज्जा, उप्पन्ने रुंभिउं समत्थो त्ति ।
सो य पभू न वि होई, पुरिसो व घरं पलीवेंतो ॥३३॥

कश्चित्तत्रानन्तरोक्तेऽर्थे ब्रूयात् यद्यपि मोह उत्पद्यते तथाऽप्यहमुत्पन्नेऽपि मोहे आत्मानं निरोद्धुं समर्थ इति। गुरुराह-स पुनरेवं वक्ता तादृशे अवसरे न निरोद्धुं प्रभुः-समर्थो भवति, पुरुष इव गृहं प्रदीपयत्।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति—

कामं अखीणवेदा, ण होइ उदओ जहा वदह तुब्भे।
तं पुण जिणासु उदयं, भावणतवणाणवावारा ॥ ३४ ॥
उप्पत्तिकारणाणं, सब्भावं वी जहा कसायाणं ।
ण हु णिग्गहो णिसिओ, एमेव इमं पि पासामो ॥३५॥

वयं भावनातपोज्ञानव्यापारान्-भावनास्तु कलेवरश्वेतच्छत्रचिन्तनादिकाः, तपश्चतुर्थादिकं ज्ञानव्यापारः सूत्रार्थचिन्तनात्मकः। अपि च—" चउहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती सिया, तं जहा-खेत्तं पडुच्च, वत्थुं पडुच्च, सरीरं पडुच्च, उवहिं पडुच्च।" इत्यादिना स्थानाङ्गादौ प्रज्ञप्तानां कषायोत्पत्तिकारणानां क्षेत्रवस्त्वादीनां सद्भावेऽपि यथा कषायाणां निग्रहो न श्रेयान्?, अपि तु-श्रेयानेव एवमेव इदमपि प्रस्तुतं पश्यामः, मोहोदयकारणानां सद्भावेऽपि तन्निग्रहं करिष्याम इति भावः।

अत्र सूरिः परिहारमाह—

पहरणजाणसमग्गो, सावरणो वि हु छलिज्जई जोहो ।
वालेन य न छलिज्जइ, ओसहहत्थो न किं गाहो ॥३६॥

प्रहरणं-खड्गादि यानं-हस्त्यादि ताभ्यां समग्रः—सम्पूर्णः, तथा सावरणः-सन्नाहसहितः, अपिशब्दाद्-युद्धकौशलादिगुणयुक्तोऽपि, यथा-योधः समरशिरसि प्रविष्टः प्रयत्नं कुर्वाणोऽपि योधान्तरेण छल्यते; छलं लब्ध्वा हन्यते इत्यर्थः। यद्वा—ग्राहः-सर्पग्राहको गारुडिकादिरौषधहस्तोऽपि किं व्यालेन-दुष्टसर्पेण न छल्यते-छल्यत एव, एवं यद्यपि भवान् भावनातपोज्ञानव्यापारयुक्तस्तथाऽपि स्त्रीणां संदर्शनादिकं कुर्वन् मोहोदयेन छल्यत एवेति।

अपि च—

उदयघडे वि करगए, किमोगमादीवितं न उज्जलई ।
अइइद्धो वि न सक्कइ, विनिव्ववेउं कुडजलेणं ॥ ३७ ॥

उदकघटे करतलेऽपि-हस्तस्थितेऽपि ओको-गृहम् आदीपितम्-प्रज्वलितं सन्नोज्ज्वलति-न दीप्यते। अथासावतीद्धोऽविदितोऽग्निस्ततः कुटजलेन प्रक्षिप्तेनापि नासौ निर्वापयितुं शक्यते, एवं यद्यपि व्यापारादिकं जलघटकल्पं स्वाधीनं तथापि मोहोदयाग्निना प्रज्वलितं चारित्रगृहं न प्रदीप्यते, अतिप्रबलो वा मोहो यत्प्रदीप्यते ततो घटजलकल्पेन बहुनाऽपि ज्ञानव्यापारादिना नासौ विध्मापयितुं शक्य इति।

किं च—

रीढा संपत्ती वि हु, न खमा संदेहियम्मि अत्थम्मि ।
नायकए पुण अत्थे,जाऽवि विवत्ती स निद्दोसा ॥ ३० ॥

संयतीक्षेत्रे गतानां मोहोदयनिरोधादिको यः संदेहितः-संशयास्पदीभूतोऽर्थस्तस्मिन्नीढया-यदृच्छया घुणाक्षरन्यायेन संपत्तिरपि न क्षमा-न श्रेयसी, यः पुनः साध्वीरहितक्षेत्रगतसनादिकोऽर्थः पूर्वं ज्ञातो-निर्दोषत्वेन निर्णीतस्ततः कृतः कर्तुमारब्धो ज्ञातकृतस्तस्मिन्नेवंविधे अर्थेऽपि कुतोऽपि वैगुण्यतो विपत्तिर्भवति साऽपि निर्दोषा मन्तव्या।

अथ परः प्राह—

दूरेण संजईओ, असंजईआहि उवहिमाहारो ।
जइ मेलणाए दोसो, तम्हा रत्तम्मि वसियव्वं ॥ ३६ ॥

संयत्यो दूरेण पृथक् क्षेत्रादौ वसन्त्यः परिहर्तुं शक्यन्ते यास्तु असंयत्यः-अविरतिकास्ताः परिहर्तुमशक्याः, यतस्ताभ्य उपधिराहारश्च लभ्यते, ततो यदि मीलनायाः संसर्गस्य दोषः संयतिक्षेत्रे तिष्ठतां भवति ततः साधुभिररण्ये गत्वा वस्तव्यम्।

सूरिराह—

रण्णे वि तिरिक्खीतो, परिन्नदोसा असंतती याऽवि ।
लज्जाय कूलवालो गुणमगुणं किं च सगडाली ॥४०॥

अरण्येऽपि वसन् तिरश्च्यः स्त्रियो-हरिणीप्रभृतयो दोषानुपजनयन्ति, तथा परिज्ञा-भक्तप्रत्याख्यानं तद्दोषश्च भवति तथाहि-तत्राहाराद्यभावात्परिज्ञा भक्तप्रत्याख्यानं कर्त्तव्यम्। तत्र प्रथमत एव कर्तुं न युज्यते विरतिसहितस्य जीवितस्य दुष्प्राप्यत्वात्, न च तदानीं कर्तुं शक्यते, कुर्वतामप्यार्त्तध्यानसंभवात्कुदेवगमनप्रत्यबोधिदुर्लभत्वादयो दोषाः, असंततिश्च-प्रज्ञानाद्यभावान्न शिष्यप्रशिष्यादिसंतान उपजायते, यद्वा-'असंतइए'त्ति सर्वथैव स्त्रीणां ममतायां वनवासमङ्गीकृत्य यत्किल ब्रह्मचर्यं धार्यते तन्न बहुफलं भवति। 'थंभा कोहो अणाभोगा, अणापुच्छा असंतई' इति वचनप्रामाण्येन सदोषत्वात्। नचात्रारण्यं, जनाकुलं वा प्रमाणम्, यतः-कूलवालकोऽटव्यामपि वसन् कं गुणं लब्धवान्, साकटालिः-स्थूलभद्रः स्वामी जनमध्ये गणिकायाः गृहेऽपि तिष्ठन् कम् अगुणं लब्धवान्; न कमपीति भावः।

किं च—

कस्सइ विवित्तवासो, विराहणा दुब्भए अभेदो वा ।
जह सगडालिमणो वा,तह वितिओ किं न रुंभिसु ।४१।

कस्यचिद्विविक्ते—पशुपण्डकविरहितेऽपि वासे वसतः प्रबलवेदोदयाद्विराधना ब्रह्मचर्यस्य भवति। कस्यापि पुनर्दुर्भये रूप्यादिसंशङ्कप्रतिश्रयवासेऽपि वेदनीयमोहनीयक्षयोपशमप्रबलत्वेनाभेदो—न ब्रह्मचर्यविलोपो भवति। वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतनार्थः। आह—यद्येवं तर्हि कर्मोदयक्षयक्षयोपशमादिरेव प्रमाणं न स्त्रीसंसर्गादि, नैवम्-कर्मणामुदयक्षयक्षयोपशमादयोऽपि प्रायस्तथाविधद्रव्यक्षेत्रादिसहकारिकारणसाचिव्यादेव तथा तथा समुपजायन्ते नान्यथा यथा वा शाकटालिः-स्थूलभद्रस्वामी स्वकीयं मनः स्त्रीसंसर्गेऽपि निरुद्धवान्, तथा द्वितीयः सिंहगुहावासी किं न निरुद्धवान्, येन स्त्रीसंसर्गादिकमप्रमाणं गीयते।

यतश्चैवमतः—

होज्ज न वावि पभुत्तं, दोसायतणेसु वट्टमाणस्स ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चूयफलदोसदरिसी, चूयच्छायं पि वज्जेइ ॥ ४२ ॥

भवेद्वा न वा दोषायतनेषु—ब्रह्मविराधनादिदोषस्थानेषु वर्त्तमानस्य मनो निरोद्धुं प्रभुत्वं—सामर्थ्यं तथापि दोषायतनानि दूरतः परिहरणीयानि। दृष्टान्तश्चात्र चूतफलदोषदर्शी चूतच्छायामपि वर्जयति।"जहा एगो रायपुत्तो अंबगपित्तस्स अंबगेहिं अइखइएहिं वाही उट्ठिओ। सो वेज्जेहिं जाप्पकतो अंबगा य पडिसिद्धा। सो अन्नया पारद्धिं गओ, अंबच्छायाए वीसमइ। अमच्चेण पुण पडिसिद्धो, तह वि ठाइ, ताहे तेण वारिज्जंतेण वि तं फलं गहियं। भणइ अमच्चं—न खाइज्जं को दोसो गहिए त्ति। तेण पसंगदोसेण खइयं, विणट्ठो य। एस दिट्ठंतो। अयमत्थोवणओ—जहा तस्स रायपुत्तस्स विज्जेहिं अंबगा अपत्थ त्ति काउं पडिसिद्धा तहा भगवया वि साहूणं अचंतपडिसेवा इह परत्थ य अपत्थ त्ति काउं पडिसिद्धा। तप्परिहरणोवाओ य इत्थीपसुपंडगसंसत्ताए वसहीए संजईखेत्ते य न ठायव्वं,इच्चाइ उवइट्ठो। जो तेसु ठाइ सो नियमा पसङ्गदोसेण विणस्सइ, चरित्तरज्जस्स य अणभोगी भवइ, जहा सो रायपुत्तो। अन्नो पसत्थो रायपुत्तो सो चूतफलदोसदरिसी चूयच्छायं पि परिहरतो इह लोइयाणं कामभोगाणं भोगी जातो। एवं जो साहू तित्थयरपडिसेवादोसदरिसी इत्थिसंसत्ताओ वसहीओ संजईखेत्तं च परिहरइ सो नियमा इह परत्थ य सव्वसुक्खाणं आभोगी भवइ त्ति "।

अथ 'दूरेण संजईओ' इत्यादि यत्परेणाक्षिप्तं तदेतत्परिजिहीर्षुराह—

इत्थीणं परिवाडी, कायव्वा होइ आणुपुव्वीए।
परिवाडीए गमणं, दोसा य सपक्खमुप्पन्ना ॥ ४३ ॥

स्त्रीणाम्—एकखुरादीनां परिपाटी—पद्धतिरानुपूर्व्या कर्त्तव्या भवति—प्ररूपणीयेत्यर्थः। ततः परिपाट्या यथा तासु गमनं भवतीति तथा वाच्यम्, दोषाश्च स्वपक्ष उत्पन्ना भवन्ति वक्तव्यमिति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः।

अथैनामेव गाथां व्याख्यानयति—

एगखुरदुखुरगंडी,सणक्खइत्थीसु चेव परिवाडी।
बद्धाण चरंतीणं, जत्थ भवे वग्गवग्गेसु ॥ ४४ ॥
तत्थऽन्नतरो मुक्को—सजाइमेव परिधावई पुरिसो।
पासगए वि विवक्खे, चरइ सपक्खं अवेक्खंतो ॥४५॥

एकखुरा—वडवादयः द्विखुरा—गोमहिष्यादयः गण्डपदा—हस्तिन्यादयः सनखपदाः—शुनीप्रभृतयः एतासु चतसृष्वपि स्त्रीषु... प्रत्यर्थं प्रत्यभेदादेतासां स्त्रीणां वर्गे वर्गे पृथक् सजातीयसमूहरूपेषु बद्धानां वा चरन्तीनां वा यत्र क्वापि—कुटीवाटकादौ परिपाटी भवेत्, तत्राश्वगोहस्तिशुनकादीनामन्यतमः पुरुषो मुक्तः सन् दूरस्थितामपि स्वजातीयामेव वडवादिकां परिधावति। विपक्षे तु विजातीये—गवादिपक्षे पार्श्वगतेऽपि—प्रत्यासन्नस्थितेऽपि स्वपक्षमप्रेक्षमाणश्चरति, न पुनर्विपक्षमनुधावतीति भावः। एवं श्रमणोऽपि स्वपक्ष इति कृत्वा विश्वस्तमनाः संयतीभिः सह सङ्गं करोति।

यतः—

आगंतुयदव्वविभू—सियं च ओरालियं सरीरं तु।
असमंजसो उ तम्हा, गारित्थिसमागमो जइणो ॥४६॥

आगन्तुकद्रव्यैर्वस्त्राभरणादिभिर्विभूषितमलंकृतं चशब्दादुद्वर्त्तनस्नानादिपरिकर्मयुक्तं च यस्मादगारस्त्रीणामौदारिकं शरीरमन्यादृशमिव प्रतिभाति, तस्मादसमञ्जसो—विसदृशस्ताभिः सह यतेः—साधोर्मलीमसशरीरस्य समागमो—मीलकः।

अपि च—

अविभूसिओ तवस्सी,निक्कामोऽकिंचणो मयसमाणो।
इय गारीणं समणे, लज्जा भयसंथवो न रहो ॥ ४७ ॥

अविभूषितो—विभूषारहितः एष तथा तपस्वी—तपःक्षीणदेहो निष्कामः—शुभरसगन्धाद्युपभोगरहितः, अकिञ्चनो—निष्परिग्रहः, ततो मृतसमानः शवकल्प एष इत्येवं सागारीणां श्रमणे अवज्ञा भवति। श्रमणस्य पुनरगारीभिः सह विपक्षतया लज्जा। यच्चागारीभ्यो भयं तेन ताभिः सह न संस्तवः परिचयो न वा रह एकान्त इति।

स्वपक्षे तु कथमित्याह—

निब्भयता य सिणेहो, वीसत्थत्तं परोप्परनिरोहो।
दाणकरणं पि जुज्जइ, लग्गइ तत्तं च तत्तं च ॥४८॥

संयतस्य संयत्यां निर्भयता; न भयमुत्पद्यते, स्नेहश्चोभयोरपि भवति स्वपक्षत्वात्, विश्वस्तत्वं च विश्वासः; परस्परगुह्यगोपनविषयः प्रत्यय इत्यर्थः,परस्परमुभयोरपि निरोधो—वस्तिनिग्रहात्मकः, तथा दानकरणमपि—वस्त्रपात्रादिलक्षणं संयतीं प्रति तस्य युज्यते; संभवतीत्यर्थः। ततो यथा तप्तं च तं लोहं लगति—संबध्यते तथा संयतीसंयतौ द्वावपि निरोधसंतप्तौ रहो लब्ध्वा लगत इति।

आह—दृष्टास्तावत् स्वपक्षपरपक्षसमुत्था दोषाः परमेते कुत्र भवन्तीति निरूप्यताम्। उच्यते—

वीयार भिक्खचरिया, विहारजइचेइवंदणादीसुं।
कज्जेसु संपरित्ता, ण होंति दोसा इमे दिस्स ॥४९॥

एकवगडे—एकद्वारे च ग्रामादौ विचारभूमिभिक्षाचर्याविहारभूमियतिचैत्यवन्दनादिषु कार्येषु प्रतिश्रयान्निर्गतानां रथ्यादौ सम्पतितानां मिलितानाम् अन्योन्यं दृष्ट्वा एते दोषा भवन्ति।

दूरम्मि दिट्ठि लहुओ,अमुगो अमुगि त्ति चउलहू होंति।
किइकम्मम्मि य गुरुगा, मिच्छत्तपसज्जणा सेसे ॥५०॥

यदि दूरेऽपि संयतः संयत्या दृष्टः, संयती वा संयतेन यदि दृष्टा तदा लघुको मासः, प्रत्यासन्नप्रदेशे समायातं संयतस्य सम्यगुपलक्षयंत संयती यद्यस्तु कोऽयं ज्येष्ठार्य ! ब्रूते, संयतो वा संयतीमुपलक्ष्य अमुका संयतीति ब्रवीति तदा चत्वारो लघवः। अथ सा कृतिकर्मवन्दनं करोति तदा चत्वारो गुरुकाः, ये चाभिनवधर्माणस्ते तथा वन्दमानामुपलभ्य मिथ्यात्वं गच्छेयुः। शेषे—भोजिकाघाटिकादौ शङ्कां कुर्वाणे सति प्रसज्जना—प्रायश्चित्तस्य वृद्धिर्दृष्टव्या।

तामेवाह—

दिट्ठे संका भोइय, घाडियणाईयगामवहिया य।
चत्तारि छच्च लहुगुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥५१॥

संयतस्य संयत्या कृतिकर्म क्रियमाणं केनचिद् दृष्टं दृष्टे सति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्य शङ्का वक्ष्यमाणा संजायते ततश्चत्वारो गुरवः। अथ भोजिकाया—भार्यायाः कथयति ततश्चतुर्लघुकाः, घाटिको—मित्रं तस्याग्रतः कथने च चतुर्गुरवः, ज्ञातीनां—स्वजनानां कथने षट् लघवः, ग्रामस्य कथयति छेदः, ग्रामबहिर्निर्गत्य कथयति मूलम्, गामसीमायां कथने अनवस्थाप्यम्, सीमानमतिक्रम्य कथयति पाराञ्चिकम्।

कीदृशी पुनः शङ्का भवतीत्याह—

कुवियं नु पसादेंती, आओ सीसेण जायए विरहं।
आओ तलपन्नविया, पडिच्छई उत्तिमंगेणं ॥ ५२ ॥

नुरिति वितर्के, किमेषा संयती एवं वन्दमाना कुपितं सन्तमेनं संयतं प्रसादयति, आहोस्वित् शीर्षेण—मस्तकेन रह एकान्तं याचते, उताहो तेन साधुना तलेन वण्डकादिकरणेन प्रज्ञापिता सती प्रार्थनाम् उत्तमाङ्गेन प्रतीच्छति।

इइ संकाए गुरुगा, मूलं पुण होइ निव्विसंके तु।
सोही वासन्नतरे, लहुगतरी गुरुगतरीँ इयरे ॥ ५३ ॥

इति—एवं शङ्कायां चत्वारो गुरुकाः, अथ निर्विशङ्कं—कुपितप्रसादार्थमेव वन्दनकं करोति मन्यते ततो द्वयोरपि मूलम्, भोजिकादिषु यो यस्य संबन्धेनाऽऽसन्नतरस्तत्र शोधिर्लघुकतरा, इतरस्मिन् पाटिकज्ञात्यादौ संबन्धेन दूरतरे गुरुकतरा।

अथ किमिति ज्ञातीनां प्रथमं न कथयतीत्याह—

विस्ससइभोइमित्ता–इएसु तो नायओ भवे पच्छा।
जह जह बहुजणनायं, करेइ तह वड्ढए सोही ॥ ५४ ॥

भोजिकमित्रादिषु शरीरमात्रभिन्नेषु न किमपि गोपनीयमस्तीति कृत्वा यतोऽसौ विश्वसिति ततो ज्ञातीन्–स्वजनान् पश्चाज्ज्ञापयति, यथा यथा चासौ बहुजनज्ञानं करोति तथा तथा शोधिः–प्रायश्चित्तं वर्द्धते। अथासौ ज्ञाप्यमानो जनः प्रतिषेधयति ततः प्रायश्चित्तमप्युपरमते।

तथा चाऽऽह—

पडिसेहो जम्मि पदे, पायच्छित्तं तु ठाइ पुरिमपए।
निस्संकियम्मि मूलं, मिच्छत्तपसज्जणा सेसे ॥ ५५ ॥

तेन पुरुषेण भोजिकाया आख्यातम्–मया संयती संयतं शीर्षप्रणामेनावभाषमाणा दृष्टा ततः सा प्रतिषेधयति न भवत्येवम् एवमसमञ्जसभाव इति, ततः प्रायश्चित्तमप्युपरतम्। अथासौ तया न प्रतिषिद्धस्ततः प्रायश्चित्तं वर्द्धते, एवं घाटिकादिष्वपि वक्तव्यम्, ततो यस्मिन् भोजिकादौ पदे प्रतिषेधस्ततः पूर्वपदे शङ्कादौ प्रायश्चित्तं तिष्ठति, नोर्ध्वं वर्द्धते। तथा कुपितप्रसादनाद्यर्थमेव करोतीति निःशङ्किते मूलम्। एवं मिथ्यात्वं शेषस्य च भोजिकादिविषयप्रायश्चित्तस्य प्रसज्जना भवति।

कथं पुनर्भोजिकादयः प्रतिषेधयन्तीत्याह—

किइकम्मं तीएँ कयं, मा संक असंकणिज्जचित्ताइं।
न वि भूतं न भविस्सइ, एरिसगं संजमधरेसुं ॥ ५६ ॥

कृतिकर्म–वन्दनकं तया संयत्या कृतं मा आशङ्क अशङ्कनीयचित्ता अमूः संक्लिष्टाः नापि भूतम्। अपिशब्दान्न भवति, न च भविष्यति ईदृशं भवत्परिकल्पितं कुपितप्रसादनादिकमसमञ्जसचेष्टितं संयमधरेषु–साधुसाध्वीजनेषु। एवं विचारभूमौ गच्छतां दोषा उक्ताः।

अथ भिक्षाचर्यायां तानेवाऽऽह—

पढमबितियातुरो वा, सइ कालतवस्सिमुच्छसंतो वा।
रत्थामुहाइपविसं–नितो व जणेण दीसिज्जा ॥ ५७ ॥

'रत्थामुहाइ' त्ति तस्मिन् ग्रामे–रथ्यामुखे आदिशब्दादन्यत्र च तथाविधे स्थाने देवकुलं वा शून्यगृहं वा भवेत्, तत्र प्रथमपरीषहातुरः प्रथमालिकार्थम्, द्वितीयपरीषहातुरश्च द्रवपानार्थं प्रविशेत्, यद्वा–यावन्न सत्कालो भिक्षाया आदेशकालो भवति तावदत्रैवोपविष्टस्तिष्ठामि। अथवा–तपस्वीपक्षकः स विश्रामग्रहणार्थम्, यद्वा–अत्युष्णेन कस्यापि मूर्च्छा समुत्पन्ना तस्या अपनयनार्थम्, यद्वा–भिक्षाटनेन श्रान्तोऽहमतोऽत्र विश्रामं गृह्णामि; एवमेतैः कारणैस्तत्र प्रविशेत्। स च प्रविशन् ततो निर्गच्छन् वा जनेन दृश्यते, संयत्यपि तत्रैतैरेव कारणैः प्रविशेत्। साऽपि प्रविशन्ती जनेन दृष्टा स्यात्।

अत्र चतुर्भङ्गीमाह—

संजयोँ दिट्ठो तह सं–जई य दोण्णि वि तहेव संपत्ती।
रत्थामुहे व होज्जा, सुन्नघरे देउले वाऽवि ॥ ५८ ॥

संयतस्तत्र जनेन दृष्टो न संयती १, संयती दृष्टा न संयतः २, संयतः संयती च द्वावपि दृष्टौ ३, तथा द्वावपि न दृष्टौ ४, 'तहेव संपत्ती' ति यैः कारणैः प्रथमद्वितीयपरीषहाऽऽतुरतादिभिः संयतः प्रविष्टस्तैरेव संयत्या अपि तत्र संप्राप्तिरभूत्। एवमनन्तरोक्तचतुर्भङ्गया रथ्यामुखे शून्यगृहे वा देवकुले वा दर्शनं स्यात्।

ततः किमित्याह—

वइणी पुव्वपविट्ठा, जेणायं पविसते जई एत्थ।
एमेव भवति संका, वइणिं दट्ठूण पविसंतिं ॥ ५९ ॥

संयतं तत्र प्रविशन्तं दृष्ट्वा शङ्कते नूनं व्रतिनी पूर्वप्रविष्टा वर्तते, येनाऽयं यतिरत्र प्रविशति। एवमेव व्रतिनीं प्रविशन्तीं दृष्ट्वा शङ्का भवति, नूनं संयतः प्रविष्टोऽत्र येनेयं प्रविशति।

उभयं वा दुदुवारे, दट्ठुं संगारउ त्ति मन्नंति।
ते पुण जइ अन्नोन्नं, पासंता तत्थ न विसंता ॥ ६० ॥

द्विद्वारे वा देवकुले उभयं संयतः संयती प्रविशेत्, तत्रैकेन द्वारेण संयतः प्रविष्टो द्वितीयेन तु संयती। तौ च तथा दृष्ट्वा संगारः–संकेतोऽत्रानयोरिति मन्यमानः तौ च संयतीसंयतौ यद्यन्योन्यमद्रक्ष्यताम् ततस्तत्र नावेक्ष्यतां–प्रवेशं नाकरिष्यताम्। इत्थं प्रवेशे चतुर्भङ्गी दर्शिता।

अथ निर्गमनेऽपि तामतिदिशन्नाह।

एमेव ततो णिंते, भङ्गा चत्तारि होंति नायव्वा।
चरिमो तुल्लो दोसु वि, अदिट्ठभावेण तो सत्त ॥ ६१ ॥

एवमेव–प्रवेशवत् ततः शून्यगृहादेर्निर्गच्छतोरपि तयोश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति–ज्ञातव्याः, तद्यथा–संयतो निर्गच्छन् दृष्टो न संयती १, संयती निर्गच्छन्ती दृष्टा न संयतः २, संयतः संयत्यपि द्वावपि दृष्टौ ३, द्वावपि न दृष्टौ ४, अत्र च द्वयोरपि प्रवेशनिर्गमयोश्चरमः–चतुर्थो भङ्गस्तुल्यः। कुत इत्याह–अदृष्टभावेन द्वयोरपि संयतसंयत्योरदृष्टत्वेन, ततश्च द्वाभ्यामप्येक एव गण्यते। एवं सप्त भङ्गा भवन्ति।

एतेषु दोषानाह—

एक्केकम्मि य भङ्गे, दिट्ठाईया य गहणमाईया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्तमभङ्गे मासो, आउभयादी य सविसेसा ॥ ६२ ॥

एकैकस्मिन् भङ्गे दृष्टे सति शङ्काभोजिकादयो दोषा भवन्ति। तत्र शङ्का नाम-किञ्चित् श्रमणार्थमत्र प्रविशन्ती उत प्रतिसेवनार्थमिति तत्र चतुर्गुरु,स्वप्रतिसेवीति निःशङ्किते मूलम् शेषभोजिकानिवेदनादि प्रायश्चित्तं प्राग्वग्द्रष्टव्यम्। तथा उभयोरपि राजपुरुषैः तत्र प्रवेशे दृष्टे सति ग्रहणाकर्षणादयो दोषाः, सप्तमे भङ्गे मासलघु, तत्र चात्मोभयादिसमुत्थाः सविशेषा दोषाः। तथाहि—तत्रोभयोरप्यदृष्टादन्योन्यदर्शने द्वयोरेकतरस्य वा चित्तभेदः संभवेत्, केनाप्यावां प्रविशन्तौ न दृष्टाविति कृत्वा तत्रैकान्ते घटनं भवेत्, आदिशब्दाच्चतुर्थव्रतं विराधितमावाभ्यामिति मत्वा वैहायसमरणावधावनादीनि कुर्वाताम्।

अथ प्रवेशविषयेषु भङ्गकेषु पञ्चभिरादेशैः प्रायश्चित्तमभिधित्सुः प्रथमादेशतस्तावदाह—

चरिमे पढमे चिइए, तइए भङ्गे य हो इमा सोही।
मासो लहुओ गुरुओ,चउलहुगुरुगा य भिक्खुस्स।६३।

चरमो नाम यत्र द्वे अपि न दृष्टे,प्रथमो यत्र संयत एव दृष्टः, द्वितीयो यत्र द्वे अपि दृष्टे ४, एतेषु भङ्गेषु यथाक्रमं भिक्षोरियं शोधिर्मन्तव्या। तद्यथा-मासो लघुकः, मासो गुरुकः, चतुर्लघुकाः, चतुर्गुरुकाः।

वसभे य उवज्झाए, आयरिएँ एगठाणपरिवुड्ढी।
मासगुरुं आरब्भा, नायव्वा जाव छेदो उ ॥ ६४ ॥

वृषभस्योपाध्यायस्य आचार्यस्य चतुर्गुरुकादारब्धं छेदान्तं द्रष्टव्यम्, एष प्रथमक आदेशः।

अथ द्वितीय उच्यते—

अहवा चरिमे लहुओ, चउगुरुगं सेसएसु भङ्गेसु।
भिक्खुस्स दोहि वि लहू, कालतवे दोहि वी गुरुगा।६५।

अथवा-चरमे भङ्गे लघुको मासः, शेषेषु त्रिष्वपि भङ्गेषु प्रत्येकं चतुर्गुरुकम्, एतानि प्रायश्चित्तानि भिक्षोर्द्वयमपि तपसा कालेन च लघुकानि, वृषभस्य कालगुरुकाणि उपाध्यायस्य तपोगुरूणि, आचार्यस्योभयगुरूणि, एष द्वितीय-आदेशः।

अथ तृतीय उच्यते—

मासो विसेसिओ वा, तइया देसम्मि होइ भिक्खुस्स।
गुरुगो लहुगा गुरुगा, विसेसियो सेसगाणं तु ॥६६॥

'वा' इति-अथवा, तृतीयादेशे चतुर्ष्वपि भङ्गेषु लघुमासस्तपः-कालविशेषितो भिक्षोर्भवति। तद्यथा-चतुर्भङ्गेषु द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघुकं गुरुमासिकम्, प्रथमे तदेव तपसा लघुकं कालेन गुरुकम्, द्वितीये कालेन लघुकम् तपसा गुरुकम्, तृतीये द्वाभ्यामपि तपःकालभ्यां गुरुकम्, शेषाणां वृषभोपाध्यायाऽऽचार्याणां यथाक्रमं गुरुको मासः। चत्वारो गुरुकाश्चतुर्ष्वपि भङ्गेष्वेवमेव तपःकालविशेषिताः प्रायश्चित्तम्, एष तृतीय आदेशः।

अथ चतुर्थमाह—

अहवा चउगुरुगा च्चिय, विसेसिया हुंति भिक्खुमाईणं।
मासाइ जाव गुरुगा, अविसेसा हुंति सव्वेसिं ॥ ६७ ॥

अथवा-चतुर्गुरुका एव भिक्षुप्रभृतीनां चतुर्णामपि तपः-कालविशेषिता भवन्ति। तद्यथा-भिक्षोर्द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघवः, वृषभस्य तपोलघवः कालगुरवः, उपाध्यायस्य तपोगुरुकाः काललघुकाः, आचार्यस्य द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां गुरवः। एष चतुर्थ आदेशः। अथ पञ्चममाह-' मासाइ जाव ' इत्यादि, यद्वा--मासादारभ्य चतुर्गुरु यावदविशेषितानि-तपःकालविशेषरहितानि भिक्षुवृषभादीनां प्रायश्चित्तानि। तद्यथा--भिक्षोर्मासलघु, वृषभस्य मासगुरु, उपाध्यायस्य चतुर्लघुकम्, आचार्यस्य चतुर्गुरुकम्। एतानि च प्रायश्चित्तानि सर्वेषां भङ्गचतुष्टयेऽपि तपकालाभ्यामविशेषितानीति पञ्चम आदेशः। एवं तावत्प्रवेशप्रत्यये पञ्चपदेषु प्रायश्चित्तमुक्तम्।

अथ तत्र प्रविष्टानां ये दोषाः संभवन्ति तत्प्रत्ययं प्रायश्चित्तमाह—

दिट्ठोभासपडिस्सुय-संथारतुयट्टचलणउक्खेवे।
फासणपडिसेवणया, चउलहुगाई उ जा चरिमं ॥६८॥

एवं प्रविष्टयोः संयतसंयत्योः परस्परं दृष्टे--दर्शने सति चतुर्लघवः, ततः संयतः संयती वा यद्यवभाषेत ततश्चत्वारो गुरवः, अवभाषिते सति यदि प्रतिशृणोति तदा षद् लघवः, संस्तारके कृते षट् गुरवः, त्वग्वर्त्तने कृते छेदः, चलनं-पादस्तस्योत्क्षेपे मूलम्, स्पर्शने अनवस्थाप्यम्, प्रतिसेवने पाराञ्चिकम्, एवं प्रविष्टानां प्रायश्चित्तमुक्तम्।

अथ नैगमविषयमाह--

पविसंते जा सोही, चउसु वि भागेसु वन्निया एसा।
निक्खममाणे सच्चिय, सविसेसा होइ भङ्गेसु ॥ ६९ ॥

संयतीसंयतयोः प्रविशतोर्या शोधिश्चतुर्ष्वपि भङ्गेषु पञ्चभिरादेशैरेषा अनन्तरमेव वर्णिता सैव शून्यगृहादेर्निष्कामतोरपि सविशेषा चतुर्ष्वपि भङ्गेषु भवति। एवं तावद् ग्रामादेर्बहिर्व्रजन्तीनाम् अन्तर्विचारभूमौ गच्छन्तीनां भिक्षाचर्यायां च दोषाः प्रतिपादिताः।

अधुना ग्रामादेर्बहिर्विचारभुवं गच्छन्तीनां दोषानुपदर्शयितुमाह--

अंतो वियार असई, अवियत्त सगार दुज्जणवते वा।
बाहिं तु वयंतीणं, अपत्तपत्ताणिमे दोसा ॥ ७० ॥

अन्तर्ग्रामादेरभ्यन्तरे विचारभूमेरभावे, अप्रीतिकं वा सागारिकः-शय्यातरस्तत्र व्युत्सर्जने कुर्यात्, दुर्जनवृतं वा-दुःशीलजनपरिवृतं तत्पुरोहडम्, ततो ग्रामादेर्बहिर्व्रजन्तीनामन्यं स्थण्डिलमप्राप्तानां वा इमे दोषाः।

वीयाराभिमुहीओ, साहुं दट्ठूण संनियत्ताओ।
लहुओ लहुया गुरुगा, छम्मासा छेयमूलदुगं ॥ ७१ ॥

विचारभूमेरभिमुखं गच्छन्त्यः साधुं तत्र यान्तं दृष्ट्वा यदि संनिवर्त्तते तदा लघुको मासः, संनिवृत्ताः सत्यः संज्ञां धारयन्त्यो यद्यनागाढं परिताप्यन्ते तदा चतुर्लघवः, आगाढपरितापनायां चतुर्गुरवः। महादुःखे षद् लघवः, मू-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

र्थायां षड्गुरवः, कृच्छ्रप्राणे छेदः, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलम्, समुद्घाते अनवस्थाप्याम्, कालगमने पाराञ्चिकम्।

एनामेव गाथां व्याख्यानयति-

एसो वि तत्थ वचइ, नियत्तिमो आगयंसि गच्छामो।
लहुओ उ होइ मासो, परितावणमाइ जा चरिमं ॥ ७२॥

एषोऽपिऽसंयतस्तत्र स्थण्डिले व्रजति अतो निवर्तामहे वयम्, आगते प्रतिनिवृत्ते सति गमिष्याम इति कृत्वा यदि संयत्यो निवर्तन्ते तदा लघुमासः। अथ संज्ञानिरोधनादनागाढपरितापनादिकं चरमं-पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तम्।

गड्डाकुडंगगहणे, गिरिदरिउज्जाण अपरिभोगे वा।
पविसंते य पविट्ठे, निंते य इमा भवे सोही ॥ ७३ ॥

अथ तान् साधून् दृष्ट्वा यदि गर्तायां कुडङ्गे वंशजालिकायां गहने-बहुवृत्तनिकुडङ्गे गिरिकन्दर्या-पर्वतकन्दरायाम्,उद्याने वा अपरिभोगे प्रविशेयुः, ततः प्रविशन्तीषु-प्रविष्टासु निर्गच्छन्तीषु चेयं शोधिः साधूनां भवति।

दूरम्मि दिट्ठे लहुओ, अमुई अमुओ त्ति चउगुरू होंति।
ते चेव सत्त भङ्गा, वीयारगए कुडंगम्मि ॥७४॥

यदि दूरे संयत्या संयतः, संयतेन वा संयती दृष्टा ततो लघुको मासः, अथ अमुका संयती अमुको वा अयं ज्येष्ठार्यः तिष्ठति तदा चतुर्गुरवो भवन्ति। तत्र च कुडङ्गे यदि कोऽपि संयतो विचारार्थं गतः पूर्वं प्रविष्टो वर्तते तदा त एव सप्त भङ्गाः तद्यथा-संयतः प्रविशन् दृष्टो न संयती १,संयती प्रविशन्ती दृष्टा न संयतः २,द्वावपि दृष्टौ ३, द्वावपि न दृष्टौ ४। एवं निर्गमनेऽपि चतुर्भङ्गी, नवरं चतुर्थौ भङ्गः प्रवेशनिर्गमयोरुभयोरपि तुल्य इति कृत्वा द्वाभ्यामप्येक एव गण्यते इति सप्त भङ्गा भवन्ति। एतेषु च प्रायश्चित्तं प्रागिव द्रष्टव्यम्।

अथ तत्र ग्रामद्वारे स्थितेषु तेषु यत्तासां संयतीनां निरोधो भवति तदुत्थदोषदर्शनाय दृष्टान्तमाह-

आभीराणं गामो, गामद्दारे य देउलं रम्मं।
आगमणभोइयस्स य, ठाइ पुणो भोइओ तहि यं ॥७५॥

आभीराणां कश्चिद्ग्रामस्तस्य च ग्रामस्य द्वारे देवकुलं रम्यम्। अन्यदा च भोगिकस्य ग्रामस्वामिनस्तत्रागमनम्,ततस्तद्देवकुले भोगिकस्तिष्ठति।

महिलाजणो य दुहितो,निक्खमण पवेसणं च सिं दुक्खं।
सामत्थणा य तेसिं, गोमाहिससंनिरोधो य ॥७६॥

ततस्तेषामाभीराणां महिलाजनो दुःखितोऽभूत्, निष्क्रमणं प्रवेशनं च तासां विचारादौ गच्छन्तीनां दुःखं दुष्करमभवत्। ततस्तेषां 'सामत्थण' त्ति पर्यालोचनमभूत्,यथा-महिलाजनस्यातीव बाधा वर्तते। अथ एनं भोगिकमुपायेनान्यत्र स्थापयाम इति ततस्तैर्गोमाहिषस्य-गोमहिषीसंग्रहस्य स्ववत्सवियोजनस्य ग्रामाद्बहिर्नीत्वा-ग्रामद्वारबन्धने रात्रौ संनिरोधः कृत इति।

इदमेव स्फुटतरमाह—

विगुरुव्वियवोंदीणं, खरकम्मीणं तु लज्जमाणीओ।
भंजंति अणंतीओ, गोवाडपुरोहडे महिला ॥७७॥

इति ते गोणीहि समं, धिइमलभंता उ बंधिउं दारं।
गामस्स विवच्छाओ, बाहिं ठावेसु गावीओ ॥ ७८ ॥

विकुर्विता-वस्त्रादिभिरलंकृता बोन्दिः-शरीरं येषां ते विकुर्वितवोन्दयस्तेषामेवंविधानां भोगिकसंबन्धिनां खरकर्मिकाणां लज्जमानाः सत्यो महेला बहिरनिर्गच्छन्त्यो गोवाटकपुरोहडं निभञ्जन्ति; पुरीषव्युत्सर्गादि वा विनाशयन्तीत्यर्थः, इत्येवं विचार्य ते आभीरा धृतिमलभमाना गोभिरात्मना सार्द्धं संचारिताभिः सह बहिर्निर्गतग्रामस्य द्वारे बद्ध्वा विवत्साः-वत्सरहिताः केवला एव गाः उपलक्षणत्वान्महिषीश्च ग्रामस्य बहिः स्थापितवन्तः। ताश्च तत्र स्थिताः स्ववत्सवियोजिता महता शब्देन सकलामपि रात्रिं विस्वरमारटितवत्यः, वत्सका अपि ग्रामं निःस्थिताः तथैव शब्दायितवन्तः।

ततः किमभूदित्याह—

वच्छगगोणीसद्दे—ण असुवणं भोइए अहणि पुच्छा।
सब्भावे परिकहिए, अन्नम्मि ठिओ निरुवरोहे ॥७९॥

तेषां वत्सकानां गवां च यः शब्दो विस्वरारटनलक्षणस्तेन भोगिकस्यास्वपनं-निद्रा न संयातेत्यर्थः। ततः अहनि-दिवसे उद्गते सति तेन पृच्छा कृता। यथा—किमेवं रात्रौ गोमहिषं विस्वरसमारटत्। तैराभीरैस्ततः सर्वोऽपि सद्भावः परिकथितः। ततोऽसौ भोगिकोऽन्यस्मिन् देवकुले निरुपरोधे-निर्व्याघाते गत्वा स्थित इति।

अत्रोपनयमाह—

एवं चिय निरवेक्खा, वइणीण ठिया निओगपमुहम्मि।
जा तासि विराधणया, निरोधमादी तमावज्जे ॥ ८० ॥

एवमेव भोगिकवत् केचिन्निरपेक्षाः—संयता व्रतिनां सम्बन्धी यो नियोगो ग्रामः क्षेत्रमित्यर्थः, तस्य प्रमुखे निर्गमप्रवेशद्वारे स्थितास्तैर्या तासां निरोधादिका विराधना आदिशब्दादनागाढपरितापनादिका तामापद्यते तन्निष्पन्नं तेषां प्रायश्चित्तं भवतीति भावः।

अहवण थेरा पत्ता, दट्ठुं निक्कारणट्ठियं तं तु।
भोइयनायं काउं, आउट्टविसोहिनिच्छुभणा ॥ ८१ ॥

'अहवण' त्ति अखण्डमव्ययपदमथवेत्यस्यार्थे। अथवा-स्थविराः-कुलस्थविरादयस्तत्र क्षेत्रे प्राप्तमाचार्यादिकं ग्रामद्वार एव स्थितं दृष्ट्वा पृच्छन्ति, आर्य! किमत्र संयतीक्षेत्रे च भवानीदृशे प्रदेशे स्थितः?, इति। ततो निर्वचने प्रदत्ते यदि निष्कारणिकस्ततो भोगिकज्ञानमन्तरोक्तं कुर्वन्ति। यथा-तेन महिलाजनेन महान् क्लेशराशिरनुबभूवे एवमेताभिरपि संयतीभिर्वा भवता अत्र स्थितेन महद् दुःखमनुभवनीयम्। एवमुक्ते यद्यावृत्तः-प्रतिनिवृत्तस्ततो विशोधिं प्रायश्चित्तं देशतः क्षेत्रान्निष्काशना कर्त्तव्या।

एवं ता दप्पेणं, पुट्ठो व भणिज्ज कारणठिओऽमि।
तहि यं तु इमा जयणा, किं कज्जं का य जयणा उ ॥८२॥

एवं तावद्दर्पेणाकुट्टिकया स्थितानां दोषा उक्ताः। अथ कुलादिस्थविरैः पृष्टो भणेत्—कारणे स्थितोऽस्म्यहम्, ततः पुष्टकारणसद्भावे न प्रायश्चित्तम्, न निष्काशना। तत्र तु कारणे स्थितानामियं वक्ष्यमाणा यतना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिष्यः प्राह—किं पुनः कार्यं—कारणम्? का वा यतना?। उच्यते—

अद्धाणनिग्गयाई, अग्गुज्जाणे भवे पवेसो य।
पुण्णो ऊणे व भवे, गमणं खमणं च सव्वासिं॥ ८३॥

अधुना येऽध्वनिर्गता वसिमं प्राप्तास्ते, आदिशब्दादशिवादिकारणेषु वर्त्तमानाः संयतीक्षेत्रे प्राप्तास्तत्र बाह्योद्याने स्थिता गीतार्थाः संयतीप्रतिश्रये प्रहेयाः, तैश्च विधिना तत्र प्रवेशः कर्त्तव्यः। संयतीनां च मासकल्पः पूर्ण ऊनो वा भवेत्, यदि पूर्णस्ततो गमनं कर्त्तव्यम्। अथ न्यूनस्ततः सर्वासामपि क्षपणं भवतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथ विस्तरार्थमाह—

उव्वाया वेला वा, दूरुट्ठियमाइणो य परगामे।
इय थेराओ सिज्जं, विसंतणावाहपुच्छा य॥ ८४॥

अध्वनिर्गतादयः साधवः संयतीक्षेत्रे प्राप्ताः सन्तो यदि न तावद्भिक्षाया देशकालस्ततो यः पुरोवर्ती ग्रामस्तत्र गत्वा भैक्षं गृह्णन्तु। अथ ते उद्वाताः-अतीव परिश्रान्ताः, वेला वा तदानीमतिक्रामति, परग्रामे वा दूरोत्थितादयो दोषाः, तत्र दूरे—दूरवर्ती स ग्रामो न तदानीं गन्तुं शक्यते, उत्थितो वा उद्वसीभूतोऽसौ आदिशब्दात्—क्षुल्लको वा अभिनववासितो वा भाराक्रान्तो वा इत्यादिपरिग्रहः; इति विचिन्त्य अग्रोद्याने स्थित्वा यः स्थविरो-गीतार्थः स आत्मद्वितीयः संयतीप्रतिश्रये प्रेष्यते। स च तत्र गत्वा बहिरेकपार्श्वे स्थित्वा नैषेधिकीं करोति। यदि ताभिः श्रुतं ततः सुन्दरम्। अथ न श्रुतं ततः शय्यान्तराणां निवेद्यते, ता आर्यिकाणां निवेदयन्ति। निवेदिते यदि सर्वा अप्यार्यिका वृन्देन निर्गच्छन्ति ततश्चत्वारो गुरवः। अथ प्रवर्त्तिनी प्रौढाभ्याम्—वयः परिणताभ्यामार्यिकाभ्यां सहिता-निर्गत्यानुजानीतेति भणति ततस्तौ साधू आर्य्याशय्यां-साध्वीप्रतिश्रयं प्रविशतः। ततश्च ताभिः कृतिकर्मणि विहिते स गीतार्थः साधुरधोमुखमवलोकमानः आचार्यवचनेन तासामनाबाधपृच्छां करोति—कच्चिदुत्सर्पन्तीनां संयमयोगा निराबाधं भवतीनाम्? ग्लाना वा न काचिद्वर्त्तते?।

एवं पृष्ट्वा किं कुर्वन्तीत्याह—

अमुगत्थ गमिस्सामो, पुट्ठाऽपुट्ठा वई य वोत्तूणं।
इह भिक्खं काहामो, ठवणाइघरे परिकहेह॥ ८५॥

स्थविराः-गीतार्थाः पृष्टाः अपृष्टा वा अमुकत्र वयं गमिष्यामः इत्युक्त्वा इदं भणन्ति-वयमिह ग्रामे भिक्षां करिष्यामः ततः स्थापनादिगृहाणि परिकथयत। आदिशब्दो मात्रादिगृहसूचकः।

ततस्तेषु कथितेषु यो विधिः कर्त्तव्यस्तमाह—

सामायारिकडा खलु, होइ अवड्ढा य एगसाही य।
सीउण्हं पढमादी, पुरतो समगं व जयणाए॥ ८६॥

हे आर्याः! कृतसामाचारीका यूयमुत नेति? तासां समीपे प्रष्टव्यम्, 'अवड्ढं' त्ति एकस्मिन्मासार्द्धे संयताः पर्यटन्ति, द्वितीयस्मिन् संयत्यः। 'एगसाही य' त्ति एकस्यां साहीकायां गृहपङ्क्त्यां साधवः पर्यटन्ति, द्वितीयस्यां साध्व्य इति। यद्वा-शीतम् उष्णं वा यथायोगं गृह्णन्ति। तथा 'पढमाइ' त्ति प्रथमालिकाः आदिशब्दात्-पानकस्य वा पानं शून्यगृहादिस्थानानि वर्जयित्वा कुर्वन्ति। संयतीनां पुरतः प्रथमं समकं वा यतनया पर्यटन्ति, एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथ विस्तरार्थं प्रतिपदमाह—

कडमकडं ति य मेरा, कडमेरा मित्तियं ति जइ पुट्ठा।
ताहे भणंति थेरा, साहह किह गिण्हिमो भिक्खं॥ ८७॥

स्थविरैस्ताः वक्तव्याः, आर्याः! युष्माकं मर्यादां-सामाचारिकाविधिं जानीम इत्यर्थः। ततः स्थविरा भणन्ति कथयत कथं भिक्षां गृह्णीमो वयम्।

ता बेंति अम्ह पुण्णो, मासो वच्चामो अहव खमणं णे।
संपत्थियाओ अम्हे, पविसह वा जा वयं नीमो॥ ८८॥

ता आर्यिका ब्रुवते-पूर्णोऽस्माकं मासकल्पः अतः सूत्रार्थपौरुष्यौ कृत्वा व्रजामो वयम्—ग्रामान्तरं व्रजिष्याम इति साधवो यथासुखं पर्यटन्तु। अथवा—न पूर्णस्तथाऽपि क्षपणमद्य 'णे' अस्माकं सर्वासामपि ततः पर्यटत यूयम्। अथ न क्षपणं ततस्ता ब्रूयुः—संप्रस्थिता वयं भिक्षाटनार्थं यूयं पश्चात् पर्यटत। अथवा-प्रविशत-भिक्षामवतरत यूयं निर्गच्छाम इति।

यदा च तासां क्षपणं भवति तदा ब्रूयुः—

वित्थिण्णो य पुरोहडो, अन्तोभूमी य णे वियारस्स।
सागारिओ य सन्नी, कुणइ उ सारक्खणं अम्हं॥ ८९॥

विस्तीर्णं 'पुरोहडं' वर्तते। गाथायां प्राकृतत्वात्पुंस्त्वनिर्देशः 'णे' अस्माकमन्तर्ग्राममध्ये विचारभूमिरस्ति, यश्चास्माकं सामायिकः स संज्ञी-श्रावकस्ततः संरक्षणमस्माकं करोति बहिर्विचारभुवं गन्तुं न ददातीत्यर्थः। एवं संयतीभिरुक्ते, साधवस्तत्र यथासुखं पर्यटन्ति। अथ ताभिः पूर्वं क्षपणं न कृतं ततो यदि सुभिक्षं वर्त्तते प्रचुरं च प्राप्यते ततः संयत्यः क्षपणं कुर्वन्तु। अपि च-यद्यपि ताभ्यां साधुभ्यो भक्तपानं प्रदत्तुं न कल्पते तथाऽप्येवं कुर्वन्तीति ताभिः प्राघूर्णयं कृतं भवति। अथ न शक्नुवन्ति क्षपणं कर्तुं ततः संयत्यः प्रागेव पर्यटन्त्यो दोषान्नं गृह्णन्ति, संयता भिक्षाया देशकाले पर्यटन्त उष्णं गृह्णन्ति। अथ संयतीनां दोषान्नमकारकं ततः संयता दोषान्नमितराः पुनरुष्णं गृह्णन्ति।

उभयस्स अकारेंत-म्मि दोसि णे अहव तस्स असईए।
संथरि भणंति तुम्हे, अडिएसु वयं अडीहामो॥ ९०॥

उभयस्य—संयतीसंयतवर्गस्य दोषान्ने अकारके, अथवा-तस्य दोषान्नस्यासत्यभावे संस्तरणे सति संयत्यो भणन्ति-यूयं तावदटत, ततो युष्मासु अटितेषु वयमटिष्यामः। अथैक एव तत्र देशकालस्ततः क्रमेण पर्यटने वेलाया अतिक्रमो भवति; ततः किं कर्तव्यमित्याह—

तुज्झे गिण्हह भिक्खं, इमम्मि पउरन्नपाणगामद्धे।
वागडसाहीए वा, अम्हे सेसेसु घेच्छामो॥ ९१॥

संयत्यो ब्रुवते-यूयं गृह्णीत भिक्षामस्मिन् प्रचुरान्नपानस्य ग्रामस्यार्द्धे, अस्मिंस्तु ग्रामार्द्धे वयं ग्रहीष्यामः। यदि वा-अस्मिन् पाटकेऽस्यां वा साहिकायां यूयं गृह्णीत, वयं शेषेषु ग्रहीष्याम इति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओलीनिवेसणे वा, वज्जितु अडंति जत्थ य पविट्ठा ।
नयवंदणं न नमणं, न य संभासो न वि य दिट्ठी ॥९२॥

'ओलि' त्ति ग्रामगृहाणामेका पङ्क्तिः निवेशनम्-एक-निर्गमनप्रवेशानि द्व्यादीनि गृहाणि, ततो यस्यां पङ्क्तौ निवेशने वा संयत्यः पर्यटन्ति तां वर्जयित्वा अन्यस्यां पङ्क्तौ अन्यस्मिन् वा निवेशने संयता भिक्षामटन्ति । अथ लघुतरोऽसौ ग्रामस्ततः पङ्क्त्यादिविभागो न शक्यते कर्तुं ततो यत्र गृहादौ प्रविष्टा रथ्यायां वा गच्छन्त एकत्र मिलन्ति तत्र च नैव वन्दनं-कृतिकर्म न वा नमनं—शिरःप्रणाममात्रं न च संभाषः-परस्पराऽऽलापो नापि च दृष्टिसं-मुखमवलोकनमाप्नुवन्ति, पूर्वोक्तशङ्कादिदोषप्रसङ्गात् इति ।

पुव्वभणिए य ठाणे, सुन्नोगादी चरंति वज्जेंता ।
पढमबिइयातुरा वा, जयणा आइन्नधुवकम्मी ॥ ९३ ॥

पूर्वभणितानि च शङ्काविषयभूतानि शून्यौकः-शून्यगृहं तदादीनि स्थानानि दूरेण वर्जयन्तश्चरन्ति , प्रथमद्वितीय-परीषहातुराश्च यतनया जनाकीर्णे ध्रुवकर्मिका वा काष्ठसूत्रधारादयो यत्र यन्ति तत्र प्रथमालिकां-द्रवपानं वा-कुर्वन्ति । एवं संयतीक्षेत्रे साधूनामागतानां विधिरुक्तः ।

अथ उभयेषु पूर्वस्थितेषूभयेषामेवागमने विधिमाह—

दोन्नि वि ससंजईया, एगग्गामम्मि कारणेण ठिया ।
तासिं च तुच्छयाए, असंखडं तत्थिमा जयणा ॥९४॥

द्वये अपि वास्तव्या आगन्तुकाश्च साधवो यदि ससंयतीका एकस्मिन् ग्रामे कारणेन स्थिताः, तासां च संयतीनां तुच्छतया यद्यसंखडमुपजायते तत्रेयं वक्ष्यमाणा यतना ।

आह—तिष्ठतु तावद्यतना कथं पुनस्तासामसंखडमुत्पन्न-भूतमिति तावद्वयं जिज्ञासामहे, ताभिर्वास्तव्यसंयतीभि-रागन्तुकसंयत्यः पृष्टाः—आर्याः ?, किं यूयं यदृच्छया भक्त-पानं लभध्वे नवेति ?, ताः प्राहुः—

चुणाइविंटलकए, गरहियसंथवकए य तुज्झाहिं ।
ताइँ अजाणंतीओ, फव्वीहामो कहं अम्हे ॥ ९५ ॥

चूर्ण-वशीकरणादिफलं द्रव्यसंयोगरूपं तेनादिशब्दाज्ज्योतिषनिमित्तादिना च विण्टलेन कृते-भाषिते तथा गर्हितः पूर्वपश्चात्संबन्धरूपो यः संस्तवः—परिचयस्तेन वा कृते-भाविते युष्माभिः क्षेत्रे यानि चूर्णादीनि कर्तुमजानानाः कथं वयमत्र 'फव्वीहामो' त्ति देशीपदत्वात् यदृच्छया भक्तपानं लभामहे ।

वास्तव्यसंयत्यः प्रतिब्रुवते—

सेणाणुमाणेण परं जणोऽयं,
ठावेइ दोसेसु गुणेसु चेव ।
पावस्स लोगो पडिहाइ पावो,
कल्लाणकारिस्स य साहुकारी ॥ ९६ ॥

स्वेन-स्वकीयेनानुमानेन परमन्यमात्मव्यतिरिक्तमयं प्रत्यक्षो लभ्यमानो जनो दोषेषु गुणेषु च स्थापयति, अविद्यमानानामपि तेषां तत्राध्यारोपं करोतीति भावः । एतदेव व्यक्तीकरोति पापस्य-पापकर्मकारिणो जनस्य लोकः-सर्वोऽपि पापः प्रतिभाति, कल्याणकारिणः पुनः सर्वोऽपि साधुकारी ।

ततश्च—

नूणं न तं वट्टइ जं पुरा भे,
इमम्मि खेत्ते जइभावियम्मि ।
अवेयवचाण जतो करेहा,
अम्हाववायं अइपंडियाओ ॥ ९७ ॥

नूनं-निश्चितं यत् कुण्डलविण्टलं पुरा 'भे' भवत्यः कृतवत्यस्तदत्र क्षेत्रे यतिभाविते न वर्तते कर्तुम् । कुत एतज्ज्ञायते ? यद्वयं कुण्डलवेण्टलं कृतवत्य इति वदत आह—अपेतवाच्यानां—वचनीयतारहितानां यत एवं यूयमिति पण्डिता अतीव दुर्विदग्धाः, अस्माकमपवादमसद्दोषोद्घोषणं कुरुथ ।

इत्थमसंखड उत्पन्ने किं कर्तव्यमित्याह—

तत्थेव अणुवसंते, गणिणीति कहिंति तह वि हु अठंते ।
गणहारीण कहेंति, सगाण गंतूण गणिणीओ ॥ ९८ ॥

यदि तत्रैव परस्परमुपशान्तं तदसंखडं ततः सुन्दरमेव । अथ नोपशान्तं ततो गणिन्याः-स्वस्याः स्वस्याः प्रवर्तिन्याः कथयन्ति, यदि न कथयन्ति ततश्चतुर्गुरवः । ततस्ते प्रवर्तिन्यौ मधुरया गिरा प्रज्ञापयोपशमयतः । तथाऽप्यतिष्ठति-अनुपरते द्वे अपि गणिन्यौ गत्वा स्वेषां स्वेषां गणधारिणां कथयतः, यदि न कथयतः ततश्चत्वारो गुरुकाः ।

ततः प्रवर्त्तिन्या कथिते गणधरेण किं विधेयमित्यत आह-

उप्पन्ने अहिगरणे, गणहारिनिवेदणं तु कायव्वं ।
जइ अप्पणा भणेज्जा, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥९९॥

अधिकरणे उत्पन्ने सति प्रवर्त्तिनीमुखादाकर्ण्य तेन गणधरेण द्वितीयस्य गणधारिणो निवेदनं कर्त्तव्यम् । यदि स गणधर आत्मनैव गत्वा द्वितीयगणधरसत्कां व्रतिनीं भणेत्-उपालभेत ततश्चतुर्मासा गुरुका भवेयुः ।

इदमेव सविशेषमाह—

वतिणी वतिणं वयणी,व परगुरुं परगुरुं च जइ वइणिं ।
जंपइ तीसु वि गुरुगा, तम्हा सुगुरूण साहेज्जा ॥१००॥

यदि व्रतिनी व्रतिनीं जल्पति-उपालभते, व्रतिनी वा यदि परगुरुमन्यसंयतीगणधरं जल्पति, परगुरुर्वा यदि व्रतिनीं जल्पति, तत एतेषु त्रिष्वपि चतुर्गुरुकाः । तस्मात् स्वगुरूणां कथयेत् । उपलक्षणत्वात् स्वव्रतिनीं चोपालभेत ।

अथ परव्रतिनीमुपालभमानस्य को दोषः स्यादित्यत्रोच्यते—

जाणामि दूमियं भे, अंगं अरुअम्मि जत्थ अक्कंता ।
को वा एअन्न मुणइ, वारेहिइ कित्तिया वाऽत्रि ॥१०१॥

सा परव्रतिनी भण्यमाना ब्रूयात्-जानाम्यहं यदूनं भवतामङ्गम् , यत्र यस्मिनङ्गे अरुषि-व्रणे युष्मदीयसंयत्यां प्रति ब्रुवाणया मया यूयमाक्रान्ता स्थ, को वा एतमर्थं न जानाति कियतो वा ब्रुवतो निवारयिष्यथ । यद्यहं वारिता सती न जल्पिष्यामि तर्हि अन्येऽपि जल्पिष्यन्तीति ।

अपि च—

निग्गंथं न विवायति,अलाहि किं वाऽवि तेण भणिएणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छाएतुं व पभायं, न वि सक्का पडसएणावि ॥१०२॥

न हि निर्गन्धो वायुर्वाति किं तु यादृशस्य वनखण्डादेर्मध्ये-न समायाति तादृग्गन्धसहित एव.एवं भवतामप्यस्या उपरि यं ईदृशः पक्षपातः स न निःसम्बन्ध इति भावः। अथवा—'अलाहि' अलमनेन वनेनाभिहितेन मर्मानुवेधित्वात्,किं वा तेन भणितेन कार्यम्,यतः-प्रभातं संजातं सन्न पटशतेनापि छादयितुं शक्यम्। इत्थं तन्मुखान्निर्गते असद्भूतार्थेऽपि दूषणे जले पतिते इव तैलबिन्दौ सर्वतः प्रसर्पति , सूरीणां महान् छायाघातो जायते।

स च तत्त्वत आत्मकृत एवैतद् दृष्टान्तमाह—

मज्झत्थं अच्छंतं, सीहं गंतूण जो विबोहेइ।
अप्पवहाए होई, वेयालो चेव दुज्जुत्तो ॥१०३॥

मध्यस्थमुदासीनं तिष्ठन्तं सिंहं गत्वा-उपेत्य यः कश्चिद्वि-बोधयति-विशेषेण पाणिप्रहारादिना बोधयति,स विबोधितः सन् तस्यात्मवधाय भवति, वेताल इव वा-दुष्प्रयुक्तो यथा साधकमेवापहन्ति एवमियमप्याचार्येण प्रबोधिता सती तस्यैव छायाघातमुपजनयति।

यतश्चैवमतः-

उप्पन्ने अहिगरणे, गणहारि पवित्तिणी निवारेइ।
अह तत्थ न वारेई, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥१०४॥

उत्पन्ने अधिकरणे गणधारी प्रवर्त्तिनीं निवारयति , अथ तत्र गणधारी न वारयति ततश्चतुर्मासा गुरुका भवेयुः। ततो गणधरौ द्वावपि मिलित्वा संयतीप्रतिश्रयं गत्वा प्रव-र्त्तिनीं पुरतः कृत्वा स्वस्वसंयतीरुपशमयतः।

तत्र वास्तव्यसंयत्य इत्थमुपशाम्यन्ते—

पाहुन्नं ताणँ कयं, असंखडं देहतो अलज्जाओ।
पुव्वट्ठिय इय अज्जा, उवालभंताऽणुसासंति ॥१०५॥

प्राघूर्णयम्-आतिथेयं तासामागन्तुकसंयतीनां शोभनं कृतं यदेवमलज्जाः सत्योऽसंखडं दत्थ-कुरुध्वम्,पूर्वस्थिता आचा-र्याः स्वकीया आर्या उपालभमाना इत्येवमनुशासते।

आगन्तुकसंयतीनामुपशमनोपायः पुनरयम्—

एगं तासिं खेत्तं, मलेह बिइयं असंखडं देह।
आगंतुय इय दोसं, सिंचिंति तिक्खाइमहुरेहि ॥१०६॥

एकं तावत्तासां वास्तव्यसंयतीसत्कं क्षेत्रं मलयथ-विना-शयथ,द्वितीयं पुनरसंखडं दत्थ-कुरुध्वम्। आगन्तुका आचा-र्या इत्येवं दोषमधिकरणलक्षणं तीक्ष्णमधुरादिभिर्वचनैः 'सिंचिंति' त्ति विध्मापयन्ति-उपशमयन्तीति यावत्।

ततश्च-

अवराह तुलेतूणं, पुव्ववरद्धं च गणधरा मिलिया।
बोहित्तुमसागरिए,दिंति विसोहिं खमावेउं ॥१०७॥

द्वावपि गणधरौ मिलितौ अपराधं तोलयित्वा यस्या या-वान् अपराधस्तं परस्परसंवादेन सम्यक् निश्चित्य; या पूर्वा-पराद्धा—पूर्वमपराद्धं यया सा, तथा असागारिके एकान्ते बोधयित्वा ततो द्वितीयां तस्याः पश्चात् क्षमापयेत्। यः क्ष-मापयित्वा स चोभयोरपि यथोचितां विशोधिं-प्रायश्चित्तं प्रय च्छति इति, गतः प्रथमो भङ्गः।

अथ द्वितीयं भङ्गं विभावयिषुराह—

अभिनिदुवारानिक्खम-ण पवेसे एगवगडिते चेव।
जं इत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥१०८॥

द्वितीयभङ्गो—यद्ग्रामादिकमभिनिद्वारम्-अनेकद्वारम्,अत एवाभिनिष्क्रमणप्रवेशे परमेकवगडम्, तत्र त एव दोषा भवन्ति, ये प्रथमभङ्गे प्रोक्ताः। यत्पुनरत्र द्वितीयभङ्गे ना-नात्वं तदहं वक्ष्ये समासेन।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

तह चेव अन्नहा वा-वि आगया ठंति संजईखेत्ते।
भोइयनाए भयणा, सेसं तं चेविमं वसं ॥१०९॥

तथैव "सोऊण य समुदाणं, गच्छं आणित्त देउले ठाइ" इत्यादिना प्रथमभङ्गोक्तप्रकारेणैव, अन्यथा वा संयतीक्षेत्रे आगताः सन्तस्तिष्ठन्ति, तत्र च स्थितानां तेषां भङ्गिक-ज्ञाते भजना कार्या। यदि संयतीनां विचारभूम्यादिमार्गे स्थिताः ततो भवति भोगिकज्ञातम्। अन्यथा तदनुमतं भ-वतीति भावः। शेषं सर्वमपि प्रायश्चित्तादि तदेव प्रथमभ-ङ्गोक्तं ज्ञातव्यम्।

इदं चान्यदभ्यधिकमभिधीयते—

एगा व होज्ज साही,दाराणि व होज्ज सपडिजुत्ताणि।
पासे व मग्गतो वा, उच्चे नीए व धम्मकहा ॥ ११० ॥

तत्रानेकद्वारे एकवगडे ग्रामादौ साधुसाध्वीप्रतिश्रययो-रेका वा साहिका-गृहपङ्क्तिर्भवेत्, द्वाराणि परस्परं सम्प्रति-मुखानि भवेयुः। अथवा—साध्वीप्रतिश्रयस्य पार्श्वतो वा मा-र्गतो वा उच्चे वा नीचे वा स्थाने स्थिता भवेयुः, तत्राव-स्थितानां धर्मकथा कोऽप्यशुभेन भावेन कुर्यादिति द्वार-गाथासंक्षेपार्थः।

अथ विस्तरार्थमाह—

वइ अंतरियाणं खलु,दोण्ह वि वग्गाण गरहिओ वासो।
आलावे संलावे, चरित्तसंभेइणी विकहा ॥ १११ ॥

एकस्यां साहिकायां वृत्त्या अन्तरितयोः संयतसंयतीरूप-योरपि वर्गयोरेकत्र वासो गर्हितो-निन्दितस्तीर्थकरैः प्रति-क्रुष्ट इत्यर्थः, यतस्तत्र संयतसंयत्योः कायिक्यादिव्युत्स-र्जनार्थं निर्गतयोः परस्परमालापे-सकृज्जल्पे संलापे-पुनः पुनः संभाषणे संजाते सति चारित्रसंभेदिनी विकथा वक्ष्य-माणरीत्या भवेत्।

अथैकसाहिकायामेव दोषानाह—

उभयेगतरट्ठाए, व निग्गया दट्ठु एक्कमेक्कं तु।
संकानिरोहमादी, पबंध आतोभया वाऽऽसु ॥ ११२ ॥

उभयं संज्ञाकायिकीरूपं तस्य एकतरस्य वा व्युत्सर्जना-र्थं निर्गतयोः संयतीसंयतयोरेकैकं दृष्ट्वा शङ्का भवति। त-थाहि-संयतः कायिक्यादिव्युत्सर्जनार्थं निर्गतः संयतीं दृ-ष्ट्वा प्रतिनिवृत्तः, पुनरपि कायिकीसंज्ञाभ्यामुद्बाध्यमानो निर्गतः, ततः संयती तं दृष्ट्वा शङ्कां करोति-नूनमेष मां कामयते। एवं संयतस्यापि संयतीं प्रविशन्तीं निर्गच्छन्तीं च दृष्ट्वा शङ्का भवति। अथवा-लोकस्य शङ्का भवति य-थैष एषा वा यदेवं पौनःपुन्येन प्रविशति निर्गच्छति वा तन्नूनमेनामेनं वा अभिलपतीति, निरोधो वा कायिकी-संज्ञयोर्भवेत्, आदिशब्दाद्-अनागाढपरितापनादिपरिग्रहः। कथाप्रबन्धो वा वक्ष्यमाणो भवेत्। ततश्चात्मसमुत्थेन उभ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यसमुत्थेन वा, वाशब्दात्—परसमुत्थेन वा दोषेण आशु-क्षिप्रं संयमविराधनाऽपि भवेत्।

कुमारप्रव्रजितस्य चेत्थं कौतुकमुपजायते—

पस्सामि ताव छिद्दं, वन्नपमाणं पि ताव से दच्छं।
इति छिड्डेहि कुमारा, लोएंती कोउहल्लेणं ॥ ११३ ॥

पश्यामि तावत्कमपि छिद्रं येन वर्ण-गौरत्वादि प्रमाणं वा-शरीरोच्छ्रयरूपं 'से' तस्याः विवक्षितसंयत्याः सत्कं तावदहं द्रक्ष्यामि, इति कृत्वा छिद्रैः कुमारा-अभुक्तभोगिनः कुतूहले-नाऽवलोकन्ते। ततस्तेषां प्रतिगमनादयो दोषाः।

कथाप्रबन्धं व्याख्यानयति—

दुब्बलपुच्छेगयरे, खमणं किं तत्ति मोहभेसज्जं।
तह वि य वारियवामो, बलियतरं बाहए मोहो॥११४॥

एकतरः संयतः संयती वा दुर्बलो भवेत्, तत्र संयतं संयती पृच्छति-किमेवं दुर्बलोऽसि ? स ब्रूते-क्षपणं करोमि। तत्र संयती प्राह-किं किमर्थं तत्क्षपणं ज्येष्ठार्य ! क्रियते?,संयतः प्राह-मोहभैषज्यं-मोहचिकित्सनार्थमौषधमिद-मासेव्यते। तथाऽप्यसौ मोहो वारितः सः; न वारितः प्रतीक्षते। वारितवामो-बलिकतरमतिशयेन मां बाधते।

संयती प्रतिवक्ति—

मूलतिगिच्छं न कुणह,न हु तण्हा छिज्जए विणा तोयं।
अम्हे वि वेयणाओ, खइया एआ न वि पसंतो ॥११५॥

मूलचिकित्सां यूयं न कुरुथ, न हि तृष्णा तोयम्-उदकं विना छिद्यते, अस्माभिरप्येता एवंविधाः क्षपणप्रतीका वेदनाः खादिताः-असकृदासेविताः परं तथाऽप्यसौ मोहो न प्रशान्तः।

मोहग्गिआहुतिनिभा-हि एहि वायाहि अहियवायाहिं।
धंतं पि धिइसमत्था, चलंति किमु दुब्बलधिईया॥११६॥

मोहाग्निराहुतिनिभाभिर्घृतादिप्रक्षेपकल्पाभिः , इत्येताद्दग्भिर्वाग्भिः अधिकमित्यर्थः, अहिते वा नरकादौ पातयन्तीति अधिकपाता अहितपाता वा ताभिरेवंविधाभिः'धंतं' पि-त्ति अतिशयेनापि ये धृतिसमर्थाः तेऽपि चलन्ति-क्षुभ्यन्ति; किं पुनर्धृतिदुर्बलास्तथाविधमानसावष्टम्भविकलाः, एवं संयतीमपि दुर्बलां प्रतीत्येदमेव वक्तव्यम्। गतमेकसाहिकेति द्वारम्।

अथ सप्रतिमुखानि द्वाराणीति द्वारमाह—

सपडिदुवारे उवस्सए, निग्गथीणं न कप्पए वासो।
दट्ठूण एक्कमेक्कं, चरित्तभासुंडणा सज्जो ॥ ११७ ॥

सप्रतिद्वारे-अभिमुखद्वारयुक्ते निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये विद्यमाने साधूनां न कल्पते वासः, यदि वसन्ति ततस्तत्राभिमुखद्वारयोरुपाश्रययोरेकैकमन्योन्यं दृष्ट्वा चारित्रभ्रंशना संयतीसंयतयोः सद्यः-तत्क्षणादेवोपजायते।

किंच—

घम्मम्मि पवायट्ठा, णिंता दट्ठुं परोप्परं दो वि।
लज्जा विसंति निंति य,संका य निरिक्खणे अहियं॥११८॥

ग्रीष्मकाले 'घम्मम्मि' त्ति विभक्तिव्यत्ययात् घर्मेणोद्वाध्यमानः संयतः प्रवातार्थं बहिर्निर्गच्छति, संयत्यप्येवमेव निर्गच्छति। ततो द्वावपि परस्परं दृष्ट्वा लज्जया भूयः प्रविशतः। ततः संयतः प्रविष्ट इति कृत्वा भूयोऽपि निर्गच्छति, एवं संयतोऽपि तत एवं द्वितीयं तृतीयं वा वारं निर्गच्छतोः प्रविशतोश्च शङ्का भवति। नूनमेष एषा वा मामभिधारयति, एकाग्रया च दृष्ट्या निरीक्षणेऽधिका शङ्का भवति।

वीसत्थऽवाउडन्नो-न्न दंसणे होइ लज्जवोच्छेदो।
ते चेव तत्थ दोसा, आलावुल्लावमादीया ॥ ११९ ॥

अभिमुखद्वारप्रयुक्तयोरुपाश्रययोः विश्वस्तौ सन्तौ संयतीसंयतौ कदाचिदपावृतौ भवतः, तत एवमन्योऽन्यं-परस्परं दर्शने लज्जाया व्यवच्छेदो भवति। ततश्च तत्रालापोल्लापचारित्रविरोधिविकथादयो दोषास्त एव मन्तव्याः। गतं द्वाराणि वा सप्रतिमुखानीति द्वारम्।

अथ पार्श्वतो मार्गतो वेति द्वारं भावयति—

एमेव य एक्कतरे, ठियाण पासम्मि मग्गओ वाऽवि।
धिइअंतरएगनिवे-सणे य दोसा उ पुव्वुत्ता ॥१२०॥

एवमेव संयतीप्रतिश्रयस्यैकतरस्मिन् पार्श्वे मार्गतो वा-पृष्ठतः स्थितानां वृत्त्यन्तरे एकस्मिन् वा निवेशने पाटके स्थितानां दोषाः पूर्वोक्ता एवालापसंलापादयो मन्तव्याः।

अथोच्चनीचद्वारं भावयति—

उच्चे नीचे व ठिआ, दट्ठूण परोप्परं दुवग्गाऽवि।
संका वा सइकरणं, चरित्तभासुंडणा चयई ॥ १२१ ॥

उच्चे नीचे वा स्थाने स्थितौ द्वावपि वर्गौ साधुसाध्वीलक्षणौ भवेताम्, तत्र साधुः साध्वी वा परस्परं दृष्ट्वा किमेष मामभिधारयतीति शङ्कां वा कुर्यात्, स्मृतिकरणं वा भुक्तभोगिनाम्, चारित्रस्य वा भ्रंशना-ब्रह्मव्रतविराधना वा भवेत्। 'चयइ' त्ति सर्वथैव वा संयमं त्यजति-अवधावनं कुर्यादित्यर्थः।

इदमेवोच्चनीचपदद्वयं व्याचष्टे—

माले सुभावओ वा, उच्चम्मि ठिओ निरिक्खई हेट्ठं।
वेट्ठो व निवत्तो वा, तत्थ इमं होइ पच्छित्तं ॥ १२२ ॥

कदाचित्ते संयता माले-द्वितीयभूमिकादौ स्वभावतो वा-उच्चे-देवकुलादौ स्थिता भवेयुः, संयत्यस्तु तद्विपरीते नीचे ततोऽसौ तत्र 'ठिउ' त्ति ऊर्ध्वस्थितः 'वेट्ठो-व' त्ति उपविष्टः 'निवत्तो व' त्ति निवृत्तस्त्वग्वर्तित इत्यर्थः। यदि संयतीमधस्तान्निरीक्ष्यते तत्रेदं प्रायश्चित्तं भवति—

संतर निरंतरं वा, निरिक्खमाणा सई पकामं वा।
कालतवेहिँ विसिट्ठो, भिन्नो मासो तुवट्टम्मि ॥१२३॥

सान्तरं नाम-यद्विरिटकाया हस्तादिना उच्चो भूत्वा शिरः शरीरं वा उच्चैस्तरं कृत्वा पश्यति, निरन्तरं विरिट-कादिकं विना स्वभावस्थ एव प्रेक्षते तत्र त्वग्वर्तिनः सन्-निरन्तरं सकृदेकं वारं संयतीं निरीक्षते, ततो भिन्नमासो, द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघुः। त्वग्वर्त्तित एव निरन्तरं प्रकाममसकृत्प्रेक्षते भिन्नो मासः कालगुरुः तपोलघुः। अथ

१-भासुंडणा इति पुस्तके भासुंडे' इति देशी शब्दानुरोधात् भासुंडणेति युक्तः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वभावस्थः प्रेक्षमाणस्तां न पश्यन्ति ततः सान्तरं विरिटकामन्यद्वा किञ्चिदुच्छीर्षके कृत्वा सकृत्पश्यति भिन्नो मासः तपोगुरुः काललघुः। सान्तरमेव प्रकाशं प्रेक्षते भिन्नो मासो द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां गुरुकः। एवं त्वग्वर्त्तनं कुर्वाणस्य भणितम्।

एसेव गुरु निविट्ठो, ठियम्मि मासो लहू उ भिक्खुस्स।
एक्केकठाणवुड्ढं, चउगुरु अंतं च आयरिए॥ १२४॥

निविष्टो नाम-निषण्णस्तस्यापि प्रेक्षमाणस्य एष एव निरन्तरसान्तरादिकोऽभिलाषो वर्त्तते वक्तव्यः, नवरं प्रायश्चित्तं स एव भिन्नमासो गुरुकश्चतुर्ष्वपि स्थानेषु तपःकालविशेषितस्तथैव कार्यः। स्थितो नाम ऊर्द्धस्थितस्तस्याऽप्येष एवाभिलाषो नवरं प्रायश्चित्तं लघुमासस्तपःकालविशेषितः। एवं भिक्षोः प्रायश्चित्तमुक्तम्। वृषभोपाध्यायाचार्याणां यथाक्रममेकैकस्थानवृद्धिः कर्त्तव्या, यावदाचार्यस्य चतुर्गुरुकम्। तद्यथा-वृषभस्य गुरुभिन्नमासादारब्धं गुरुमासे, उपाध्यायस्य मासगुरुकादारब्धं चतुर्लघुके, आचार्यस्य गुरुमासिकादारब्धं चतुर्गुरुके निष्ठामुपयातीति। एष प्रथम आदेशः।

अथ द्वितीयमाह—

दोहि वि रहियसकामं, पकाम दोहिं पि पेक्खई जो उ।
चउरो य अणुग्घाया, दोहि वि चरिमस्स दोहि गुरू। १२५।

'दोहि वि' त्ति द्वाभ्यामपि नयनाभ्यां यन्निरीक्षते तद्रहितम्, यदेकेन लोचनेन निरीक्षते तदरहितम्, एतदुभयमपि प्रत्येकं द्विधा सकामं, प्रकामं च। तत्र सकाममेकशः, तथा 'दोहिं पि पिक्खई जो उ' त्ति द्वाभ्यामपि रहितारहिताभ्यां सकामप्रकामाभ्यां वा यः प्रेक्षते तस्य चत्वारो मासा अनुद्घाताः, द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां विशेषिताः प्रायश्चित्तम्। चरमस्य-चतुर्थभङ्गवर्त्तिनो द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां गुरुकाः कर्त्तव्याः। एष पुरातनगाथासमासार्थः।

अथास्या एव भाष्यकृद् व्याख्यामाह—

पायठिओ दोहि नयणेहि, पेच्छई रहिय मोत्तु एक्केणं।
तं पुण सइं सकामं, निरंतरं होइ तु पकामं॥ १२६॥

पादाभ्यां तु स्थितो द्वाभ्यां नयनाभ्यां यत्प्रेक्षते तदरहितम्, यत्पुनरेकेन नयनेन मुक्त्वा-परित्यज्य निरीक्षते तद्रहितम्। यत्पुना रहितमपि सकृदेकवारं निरीक्षणं तत् सकामम्, निरन्तरमनेकशस्तदेव प्रकामं भवति।

अहवण समतलपादो, दोहि वि रहियं तु अग्गपाएहिं।
इट्टालादी वि रहियं, एक्केकसकामग पकामं॥ १२७॥

'अहवण' त्ति अथवा-समतलपादो यन्निरीक्षते तदरहितम्, यत्पुनरग्रपादाभ्यामपि स्थितो निरीक्षते तद्रहितम्। अथवा यदिष्टालेष्टुकाद्यारूढः पश्यति तदरहितम्, तदपरं रहितं च। एकैकं प्रकाममन्यम्।

अहवण उच्चावेउं, करवेंटियपीढगादिसुं काउं।
ताओ वावि पमोत्तुं, रहिउं वेट्ठो पुण निसिज्जं॥१२८॥

अथवा-यदि संयता नीचैः प्रदेशे स्थिताः संयत्यस्तूच्चैस्ततः शिरः शरीरं वा उच्चयित्वा-उच्चैःकृत्य यन्निरीक्षते, यद्वा-करे-हस्ते विरिटकायां पीठिकादिषु वा शीर्षं कृत्वा यन्निरीक्षते तद्रहितम्, अथवा—यतय उच्चैः स्थिता यतिन्यस्तु नीचैः ततः करादिषु पूर्वन्यस्ते शिरसि अत्युच्चत्वादनवलोकमानो यत्तानि करविरिटकादीनि प्रमुच्य-उत्सार्य पश्यति तद्रहितम्, एतत्त्वग्वर्त्तनं कुर्वतो रहितमुक्तम्। 'विट्ठो पुण निसिज्जं' ति उपविष्टः पुनर्निषद्यां मुक्त्वा यत् पश्यति तद्रहितम्। तद्विपरीतं त्रिष्वपि स्थानेष्वरहितं द्रष्टव्यम्।

दिट्ठीसंबंधो वा, दोण्ह वि रहियं तु अन्नतरगत्ते।
अप्पो दोसो रहिए, गुरुकतरो उभयसंबंधे॥ १२९॥

अथवा-द्वयोरपि-संयतसंयत्योः यो दृष्टे दृष्ट्योः सम्बन्धस्तदरहितम्। यत्पुनरन्यतरगात्रनिरीक्षणं तद्रहितम्। अत्र चाल्पतरो दोषः, रहिते एकतरदृष्टिसंबन्धः, अरहिते तु उभयदृष्टिसम्बन्धः, तत्र गुरुकतरा दोषाः।

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

दोहि वि रहिय अरहिए, एक्केक सकामए पकामे अ।
गुरुगा दोहि वि लहुगा, लहुगुरुगतवेण दोहिं पि।१३०।

द्वाभ्यामपि नयनाभ्यां निरीक्षणमित्यादिकं यदनेकविधमरहितं भणितम्; तत्र सकामे चत्वारो गुरवः, द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघवः। तत्रैव प्रकामे चत्वारो गुरवः तपोलघुकाः। रहिते तु सकामे चतुर्गुरुकाः तपसा गुरवः। तत्र प्रकामे चतुर्गुरवो द्वाभ्यामपि गुरवः। यत्तु दृष्टिसंवन्धरूपमरहितमन्यतरगात्रनिरीक्षणरूपं तु रहितं व्याख्यातम्, तत्र चैवं प्रायश्चित्तयोजनम्-रहिते सकामे चतुर्गुरु, उभये लघुकम्, प्रकामे चतुर्गुरु कालगुरुकम्। अरहिते सकामे चतुर्गुरु तपोगुरुकम्, अरहिते प्रकामे चतुर्गुरु उभयगुरुकम्।

एक्केका उ पयाओ, साहीमाईसु ठायमाणाणं।
निकारणट्ठियाणं, सव्वत्थ वि अविहिए दोसा॥१३१॥

अरहितसकामप्रकामनिरीक्षणानामेकैकस्मात्पदात्साहि—कायामादिशब्दात्—सम्प्रतिमुखद्वारेषु पुरतो वा मार्गतो वा उच्चे वा नीचे वा सर्वत्रापि निष्कारणे तिष्ठतां कारणे वा अविधिना अयतनया स्थितानाममी दोषा भवेयुः।

दिट्ठा अवाउडाऽहं, भयलज्जाथद्ध होज्ज खित्ता वा।
पडिगमणादी व करे, नित्थक्काओ व आउभया॥१३२॥

काचित्संयती विचारभूमौ प्राप्ता संयतमागच्छन्तं दृष्ट्वा चिन्तयेत्-अहो अहम् ज्येष्ठार्येणापवृता दृष्टा, ततः सा भयेन लज्जया वा स्तब्धा—क्षिप्तचित्ता वा भवेत्। यद्वा-काश्चिदपावृता दृष्टाः कथममीषां पुरतः स्थास्याम इति कृत्वा प्रतिगमनादीनि कुर्युः। अथवा-दृष्टं यद् द्रष्टव्यमिति निःसंधाय 'नित्थक्का' निर्लज्जा भवेयुः, ततश्चात्मसमुत्था उभयसमुत्थाश्च दोषा भवन्ति।

यदि वा—

तासिं कक्खंतरगु-ज्झदेसकुचउदरऊरुमादीए।
निग्गहिय इंदियस्स वि, दट्ठुं मोहो समुज्जलति॥१३३॥

तासां कक्षान्तरगुह्यदेशकुचोदरोरुप्रभृतीन् अवयवान् दृष्ट्वा निगृहीतेन्द्रियस्यापि मोहः, समुज्ज्वलति किं पुनरितरस्येति। ततश्चामी दश कामावस्था उत्पद्यन्ते।

चिंतेइ१ दट्ठुमिच्छइ२, दीहं णीससइ३ तह जरो४ दाहो५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भत्तअरोयग६मुच्छा७,उम्मत्तो८न जाणई९मरणं१० ।१३४
चिन्ता नाम-शोकः१,ततो द्रष्टुमिच्छति२,दीर्घं निःश्वसिति ३, तथा ज्वरो ४, दाहः५, भक्तस्यारोचकः ६,मूर्छा ७,उन्मत्तः संजायते ८,न जानाति किंचिदपि ९, मरणमुपजायते १०।

एतामेव गाथां विवृणोति--

पढमे सोयति वेगे, दट्ठुं तं इच्छती बिइयवेगे।
नीससइ तइयवेगे, आरुहइ जरो चउत्थम्मि ॥ १३५ ॥
डज्झइ पंचमवेगे, छट्ठे भत्तं न रोयए वेगे।
सत्तमगम्मि य मुच्छा, अट्ठमए होइ उम्मत्तो ॥ १३६ ॥
नवमे न मुणइ किंचि, दसमे पाणेहि मुचइ मणूसो।
एएसिं पच्छित्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ १३७ ॥

प्रथमे शोचति वेगे-हा कथं तया सह संगतिर्भविष्यतीति चिन्तयतीत्यर्थः १, द्रष्टुं तां पूर्वदृष्टां पुनरपीच्छति द्वितीये वेगे २, निःश्वसिति, तृतीयवेगे दीर्घान्निःश्वासान् मुञ्चति ३, आरोहते ज्वरश्चतुर्थे ४, दह्यते अङ्गं पञ्चमवेगे ५, षष्ठे भक्तं न रोचते वेगे ६, सप्तमे वेगे मूर्छा ७, अष्टमे उन्मत्तो भवति ८, नवमे न जानाति किञ्चिदपीति निश्चेष्टो भवतीत्यर्थः ९, दशमे वेगे प्राणैर्मुच्यते मनुष्यः। एतेषां दशानामपि वेगानां प्रायश्चित्तं यथाऽनुपूर्व्या वक्ष्ये--अभिधास्ये।

तदेवाह--

मासो लहुओ गुरुओ, चउरो मासा हवंति लहु गुरुगा।
छम्मासो लहु गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ १३८ ॥

प्रथमे लघुको मासः, द्वितीये गुरुकः, तृतीये चतुर्लघवः, चतुर्थे चतुर्गुरवः,पञ्चमे षड्लघवः,षष्ठे षड् गुरवः,सप्तमे छेदः, अष्टमे मूलम्, नवमे अनवस्थाप्यम्, दशमे पाराञ्चिकम्।

एकम्मि दोसु तीसु व, ओहाविंतेसु तत्थ आयरिओ।
मूलं अणवट्ठप्पो, पावइ पारंचियं ठाणं ॥ १३९ ॥

अथ मोहोदयेनैकः अवधावति उत्प्रव्रजति ततः आचार्यो मूलं प्राप्नोति, द्वयोरवधावतोरनवस्थाप्यो भवति। त्रिषु अवधावमानेषु पाराञ्चिकं स्थानं प्राप्नोति। गतमुच्चनीचद्वारम्।

अथ धर्मकथाद्वारमाह--

धम्मकहासुणणाए, अणुरागो भिक्खसंपयाणे य।
संगारे पडिसुणणा, मोक्खरहे चेव खंडीए ॥ १४० ॥

धर्मकथायाः श्रवणेन संयत्या अनुरागः संजायते, ततः स्निग्धमधुरभक्तस्य संप्रदाने संयताय कारयति। ततः शृङ्गारस्य--संकेतस्य प्रतिश्रवणं करोति। कः पुनः संकेत इति आह-' मोक्खरहे चेव ' त्ति अमुष्मिन् देशे रथो हिरिण्डिष्यते, तत्रास्माकं रक्ष्यमाणानां मोक्षो भविष्यति ' खण्डीए' त्ति खण्डी छिण्डिका तस्या-वा द्वारमुद्घाटं रात्रौ भविता दीर्घस्यालाक्षणिकत्वात् खण्डितं श्रामण्यस्य खण्डनाः तयोः प्रतिसेवमानयोर्जायते। एष संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह--

असुभेण अहाभावे-ण वा वि रत्तिं निसंतपडिसंते।
वत्तेइ किन्नरो इव, कोई पुच्छा पभायम्मि ॥ १४१ ॥

कोऽपि साधुरशुभेन वा यथाभावेन वा रात्रौ निशान्ते प्रतिनिशान्ते अन्यत्र भ्रमणादुपरमेत,यद्वा-निशान्तेषु स्वेषु गृहेषु प्रतिशान्ते-विश्रान्ते जने किन्नर इव मधुरया गिरा धर्मकथां कांचित्परिवर्तयति तदाकर्ण्य संयत्यः प्रभाते पृच्छन्ति।

यथा--

कतरो सो जेण निसिं, कन्ना णे पूरिया व अमयस्स।
सो मि अहं अज्जाओ,आसि पुरा सुस्सरो किं वा ।१४२।

कतरोऽसौ येन माधुर्येण निशि रात्रौ कर्णाः 'णे' अस्माकम् अमृतस्य पूरिता इव कृताः। स प्राह-सोऽहमस्मि। आर्याः! पुरा पूर्वमहं सुस्वर आसम्, तदपेक्षया किंचिदसौस्वर्यमिदानीं मम विद्यते।

यतः--

रुक्खासणेण भग्गो, कंठो मे उच्चसद्दपढओ य।
संथुयकुलम्मि नेहं, दावेमि कए पुणो पुच्छा ॥ १४३ ॥

रूक्षाशनेन--स्नेहरहितभोजनेन उच्चशब्देन पठतश्च मे कण्ठो भग्नः, ततो नेदानीं तथा सुस्वर इति, ततस्तदीयसौस्वर्येणातीवानुरञ्जिता काऽपि संयती प्राह--संस्तुते भाविते कुले स्नेहं घृतादिकमहं दापयिष्यामि, येन भवतां स्वरपाटवमुपजायते, ततस्तथा कृते सति पुनस्तथाऽपि तं दुर्बलं दृष्ट्वा पृच्छा कृता, यथा-ज्येष्ठार्य ! किमेवं दुर्बलो दृश्यसे। एवं च कुर्वतोस्तयोः किंभवति-(वृ०) इति ' पेज्ज ' शब्दे पञ्चमभागे १०८० पृष्ठे प्रतिपादितम्।)

ततश्च स तया दुर्बल इति पृष्टो ब्रूयात्--

जह जह करेसि नेहं, तह तह नेहो मे वड्ढइ तुमम्मि।
तेण नडिओ मि यलियं,जं पुच्छसि दुब्बलतरो त्ति।१४५।

यथा यथा करोषि-संपादयसि स्नेहं तथा तथा ' मे ' मम त्वयि स्नेहो वर्द्धते, तेन च स्नेहेन नटितो-विडम्बितोऽस्म्यहं यत्त्वं पृच्छसि दुर्बलतर इति तदेतेन हेतुना दुर्बलोऽहम्।

एवमुक्ते सा ब्रूयात्--

अमुगदिणे मोक्खरहो,होहिइ दारं व बोज्झिहिइ रत्तिं।
तहयाणे पूरिस्सइ, उभयस्स वि इच्छियं एयं ॥ १४६ ॥

अमुष्मिन् दिने रथो--रथयात्रा भविता, तस्यां साधुसाध्वीजनेषु गतेषु अस्माकं रक्ष्यमाणानां मोक्षो भविष्यति। द्वारं वा छिण्डिकया अमुकस्यां रात्रौ वक्ष्यते वहमानकं भविष्यति। तदा ' णे ' आवयोरुभयस्यापि यथेप्सितमेतत्पूरिष्यते। एवं संकेतं प्रतिश्रुत्य प्रतिसेवनां कुर्वतोस्तयोः श्रामण्यस्य खण्डनं भवति।

ततश्च भग्नव्रतोऽहमिति कृत्वा यद्यवधावति। ततः-

एगम्मि दोसु तीसुं, उग्हावंतेसु तत्थ आयरिओ।
मूलं अणवट्ठप्पो, पावइ पारंचियं ठाणं ॥ १४७ ॥

एकस्मिन्नवधावति मूलम्, द्वयोरनवस्थाप्यम्, त्रिषु पाराञ्चिकमाचार्यः प्राप्नोति। द्वितीयपदे एतेष्वपि स्थानेषु तिष्ठेत्।

कथमित्याह--

अद्धाणनिग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण पडिलोमं।
गीयत्था जयणाए, वसंति ते अभिदुवाराए ॥ १४८ ॥

अध्वनो निर्गता आदिशब्दाद्-अशिवादिषु वर्तमाना सहस्रे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैकवगडाकमनेकद्वारं संयतीक्षेत्रं प्राप्ताः, ततस्तत्र त्रिक-त्वस्त्रीन् वारान् निरुपहतां वसतिं मार्गयित्वा यदि न प्राप्नुवन्ति ततः प्रतिलोमं-प्रतीपक्रमणे गीतार्था यतनया अभिद्वारे संयतीक्षेत्रे वसन्ति। के पुनः प्रतिक्रमन्त इति चेदु-च्यते-यानि पूर्वमेकसाहिकादीनि धर्मकथापर्यन्तानि द्वारा-एयुक्तानि तेषु प्रथमतो यस्यां धर्मकथाशब्दः साध्वीभिः श्रूयते तस्यां वसतौ वास्तव्यम्।

तत्र चेयं यतना—

सिंगार वज्जवोले, अह एगो विज्जपाढणुचं वा।
सड्ढादीनिव्बंधे, कहिए वि न ते परिकिहिंति । १४६ ॥

धर्मकथां परिवर्त्तयन्तः शृङ्गाररसवर्ज्यं बोलेन च-वृन्दशब्देन परिवर्तयन्ति,यथैकस्य कस्यापि व्यक्तस्वरो नोपलक्ष्यते।अन्येन सह गुणयतस्तस्य न संचरति। तत एकोऽपि विद्यापाठेन गुणयति, स्वरवर्जितमिति भावः। तदप्यनुच्चं नोच्चैस्तरेण शब्देन। अथ सुस्वरोऽयमिति ज्ञात्वा श्राद्धादय आदिशब्दाद्-था भद्रकादयो वा निर्बन्धं कुर्युः, यथा-स्वरेण धर्मं कथितेऽपि मधुरस्वरेण धर्मे उक्तेऽपि प्रभाते संयतीनां न ते साधवः परिकथयन्ति। यथा-अमुकेनेत्थं धर्मः कथित इति। ईदृश-वसतेरलाभे उच्चे वा नीचे वा स्थातव्यम्।

तत्रेयं यतना—

कड उच्च चिलिमिली वा, तत्तो थेरा य उच्चनीए वा।
पासे ततो न उभयं, मत्तगजयणाउला सद्दा ॥ १५० ॥

प्रविशन्तो निर्गच्छन्तो वा यस्मिन् पार्श्वे परस्परं पश्यन्ति तत्र कटको-वंशादिमयो घनो दीयते। अथ कटको न प्राप्यते तदा चिलिमिली-वस्त्रमयी दातव्या। स्थविराश्च ततस्तस्मि-न्पार्श्वे तिष्ठन्ति,संयतीनां तु क्षुल्लिकाः एव उक्ता उच्चनीचे यत-ना। अथोच्चनीचमपि न लभ्यते ततो यत्र संयतीवसतेः पार्श्व-तो वा मार्गतो वा प्रतिश्रयस्तत्र स्थातव्यम्। तत्र च तिष्ठता-मियं यतना-'पासे ततो न उभयं'ति कायिक्यादिव्युत्सर्जनार्थं निर्गच्छन्तो यत्र परस्परं पश्येयुस्ततस्तस्यां दिशि नोभयम्-न संज्ञां न वा कायिकीं व्युत्सृजन्ति। तादृशस्य स्थण्डिलस्या-प्राप्तौ मात्रकेषु यतनया व्युत्सृजन्ति। अथवा-आकुलाः सश-ब्दाश्च कायिक्यादि पुरं व्रजन्ति। तदभावे सप्रतिमुखद्वारे तिष्ठन्ति।

तत्र चेयं यतना—

पिहदारकरणअभिमुह-चिलिमिलिवेलाससद्दवहु निंति।
साहीए अन्नादिसिं निंती न य काइयं तत्तो ॥ १५१ ॥

यत्र द्वाराणि परस्परमभिमुखानि तत्रान्यस्यां दिशि पृ-थक् द्वारं कुर्वन्ति, अथ न लभ्यते अन्यस्यां दिशि द्वारं कर्तुं ततो द्वारे चिलिमिली नित्यबद्धा स्थापनीया, कटको वा अ-पान्तराले दातव्यः। कायिक्याः संज्ञायाश्च वेलां परस्परं स्थापयित्वा असदृशवेलायां निर्गच्छन्ति, सशब्दाश्च कासि-तादिशब्दं-स्वागमनसूचकं च कुर्वन्तो बहवो निर्यान्ति निर्गच्छन्ति। यत्रैका साहिका तत्रान्यस्यां दिशि यस्य द्वारं तत्र प्रतिश्रये तिष्ठन्ति। यतश्च संयतीनां प्रतिश्रयस्ततः का-यिकीभूमिं न व्रजन्ति। एवं संज्ञाभूम्यामपि द्रष्टव्यम्।

कियद्वाऽत्र भणिष्यते—

जत्थ ऽप्पतरा दोसा, जत्थ य जयणं तरंति काउं जे।
तत्थ वसंति जयंता, अणुलोमं किंचि पडिलोमं ॥१५२॥

यत्रोपाश्रये अल्पतराः पूर्वोक्ता दोषा भवन्ति, यत्र च यतनां यथोक्तां कर्तुं तरन्ति-शक्नुवन्ति 'जे' इति पादपूरणे, तत्रानुलोमं वा किमप्येकसाहिकादिकं स्थानं प्रती-त्य यथोक्तनीत्या यतमाना वसन्ति नात्र कोऽपि प्रति-नियमः, किं तु-गीतार्थेनाल्पबहुत्ववेदिना भवितव्य-मिति भावः।

कथं पुनरल्पतरा दोषा भवन्तीत्युच्यते—

आयसमणीण नाउं, कडिकप्पट्ठी समाणयं वज्जो।
बहुपाडिवेसिजयणं, खमयरगं पारिसोहेइ ॥ १५३ ॥

आत्मनः श्रमणीनां च स्वभावं दृढधर्मत्वादिकं ज्ञात्वा तथा यतितव्यम्,'किडिकप्पट्ठ' त्ति स्थविरश्रमण्यः क्षुल्लका-श्चोभयपार्श्वतः कर्त्तव्याः। वयसा समानां च संयतीं संदर्श-नादौ दूरतो वर्जयेत्। यच्च गृहं बहुप्रातिवेशिकजनमी-दृशे प्रतिश्रये अवस्थानं क्षमतरमतिशयेन युक्तम्। विजने तु विश्वस्ततया बहवो दोषा भवेयुरिति। गतो द्वितीयो भङ्गः।

अथ तृतीयभङ्गमाह—

पउमसर वियरगो वा, वाघातो तम्मि अभिनवगडाए।
तम्मि वि सो चेव गमो,नवरं पुण देउले मेलो ॥१५४॥

तृतीयभङ्गो नाम—अनेकवगडाकमेकनिष्क्रमणप्रवेशं ग्रा-मादि, तत्र वा ऽभिनिवगडाके अनेकवगडे एकद्वारे च क्षेत्रे पद्मसरो वा विदरको वा गर्त्तो वा व्याघातो भवेत्। येनाने-के निष्क्रमणप्रवेशा न भवन्ति तस्मिन्नपि स एव गमः-प्र-कारः सर्वोऽपि ज्ञातव्यः, नवरं केवलं पुनर्देवकुले मील-को भवति।

कथमित्यत आह—

अंतोवियार असई, अन्नाण हविज्जा तइयभङ्गम्मि।
संकिट्ठगवीयारे, व होज्ज दोसा इमं नायं ॥ १५५ ॥

अनेकवगडाके एकनिष्क्रमणप्रवेशे च ग्रामादौ स्थितेषु साधुषु आर्यिकाणामन्तस्तृतीयभङ्गे आयाता संलोकाख्ये विचारभूमेरसत्ता भवेत्,ततो बहिर्निर्गच्छन्तीनां संक्लिष्टवि-चारभूमेर्दोषा भवेयुः, संक्लिष्टविचारभूमिर्नाम एकद्वार-तया अन्या संज्ञाभूमिर्न विद्यते, ततः संयता अपि तत्रै-वायान्ति। आसन्ने वा परस्परं संज्ञाभूमी, ततश्च निर्गमने प्रवेशे वा देवकुले मलको भवेत्। इदं चात्र ज्ञातम्।

दृष्टान्त उच्यते—

वासस्स य आगमणं, महिला कुडऽणंतमेव रत्तट्ठी।
देउलकोणे व तहा, संपत्ती मेलणं होज्जा ॥ १५६ ॥

कस्याश्चिन्महिलायाः कुसुम्भरक्तवस्त्रयुगलाभिवसनायाः प्रावृषि घटं गृहीत्वा जलाहरणार्थं निर्गताया वर्षस्य-वृ-ष्टेरागमनम्, ततोऽसौ महिला रक्तार्थिनी रञ्जनं—रक्तं कुसुम्भराग इत्यर्थः तदर्थिनी, मे वर्षोदकेन पतता कु-सुम्भरागो मा विलीयतामिति कृत्वा कुटे—घटे अन—

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्तके च वस्त्रे द्वे अपि प्रक्षिप्य स्वयमपावृतीभूय काऽपि देवकुले प्रविष्टा । तस्य च कोणके यावदसौ प्रविशति तावत्तत्र कश्चिदगारः पूर्वप्रविष्टः आसीत्, तेन सा अपावृता दृष्टा, जातश्च तस्य मोहोदयः । ततस्तेन सा युक्ता, दृष्टा च तदन्यैः पुरुषैः । एवं तथा संप्राप्त्या तथाविधवर्षपतनादिसमायोगेनैकस्या एव विचारभूमेः प्रतिनिवृत्तयोः संयतीसंयतयोरेकत्र देवकुलादौ वर्षाऽऽर्द्रवस्त्राणि परित्यक्तवतोर्मीलनं भवेदिति ।

अथ तस्यागारस्य किं संवृत्तमित्याह—

गहिओ सो य वराओ, बद्धो अवओडओ दवदवस्स ।
संपाविओ रायकुलं, उप्पत्ती चेव कज्जस्स ॥ १५७ ॥

गृहीतश्च स वराको राजपुरुषैश्च बद्धश्च अवकोटके आनीतः, कृकाटिकापश्चान्मुखीकृतबाहुयुगलो— 'दवदवस्स' त्ति शीघ्रं संप्रापितश्च राजकुलमयम् । तत्र च प्रस्तुतकार्यस्योत्पत्तिः कारणिकैः पृष्टा, तेन चागारेण यथावस्थितं सर्वमपि तत्पुरतो विज्ञप्तम् ।

ततश्च—

जाणंता वि य इत्थिं, दोसवई तीएँ नाइवग्गस्स ।
पच्चयहेउं सचिवा, करेंति आसेण दिट्ठंतं ॥ १५८ ॥

नहि महत्यपि वृष्ट्याद्युपद्रवे स्त्रिया निरावरणत्वं शिष्टानामनुमतमिति कृत्वा स्त्रियं दोषवतीं जानन्तोऽपि तस्याः संबन्धी यो ज्ञातिवर्गः–स्वजनसमुदायस्तस्य प्रत्ययहेतोः सचिवाः–कारणिकाः अश्वेन दृष्टान्तं कुर्वन्ति ।

तमेवाऽऽह—

चम्मिय-कवइय-वलवा, अंगणमज्झे तहेव आसो य ।
वलवाए अगुंठणयं, कज्जस्स य छेदणं भणियं ॥१५९॥

चर्म–लघुस्तनुत्राणविशेषस्तदस्याः संजातमिति चर्मिता, एवं कवचिताऽपि, नवरं कवचत्वं महांस्तनुत्राणविशेषः एवंविधा काचिद्वडवा कस्यचिन्नृपत्यादेरङ्गणमध्ये तिष्ठति । अश्वस्तथैव तत्र तां दृष्ट्वा प्रधावितोऽपि चर्मितकवचितां न प्रतिसेवितुं शक्नोति । यदा तु तस्या वडवाया अपावरणं–चर्मादेरपनयनं क्रियते तदा सुखेनैव प्रतिसेवितुमिष्टा । एवमियमपि यद्यपावृता नाऽभविष्यत् तदा नानेनाऽसौ प्रत्यसेविष्यत् इत्यत इयमेवापराधिनीति तैः कारणिकैः कार्यस्य–व्यवहारस्य छन्दनं—परिच्छेदकारि वचो भणितमिति ।

एवं खु लोइयाणं, महिला अवराहि न पुण सो पुरिसो ।
इह पुण दोण्ह वि दोसो, सविसेसो संजए होइ ॥१६०॥

एवम्–अमुना प्रकारेण खुरवधारणे,लौकिकानां महिला अपराधिनी संवृत्ता; न पुनरसौ पुरुषः । इह पुनरस्माकं लोकोत्तरे व्यवस्थितानां द्वयोरपि संयतीसंयतयोर्दोषः । अपि च–सविशेषः–समधिको दोषः संयते भवति ।

कुत इति चेदुच्यते—

पुरिसुत्तरिओ धम्मो, पुरिसे य धिई ससत्तया चेव ।
पेलव परज्झ इत्थी, फुंफुगपेसी य दिट्ठंतो ॥ १६१ ॥

पुरुषोत्तरः–पुरुषप्रधानो यतः पारमेश्वरो धर्मः, पुरुषे च धृतिर्मानसस्य स्वलक्षणसमवचा त्र सत्वसंपन्नता भवति, ततस्तस्य प्रतिसेवमानस्य सविशेषो दोषः । स्त्री तु पेलवा–निःसत्त्वा 'परज्झ' त्ति परवशा । अत्र फुम्फुकेन पेश्या च दृष्टान्तः । यथा–फुम्फुकः–करीषाग्निर्ज्वालितः सन्नुद्दीप्यते, एवं स्त्रीवेदोऽपि । यथा च पेशी सर्वस्याप्यभिलषणीया एवमियमपि, अतो न तस्याः समधिको दोष इति ।

आह–यदि संयतीनामन्तस्तृतीयभङ्गे विचारभूमिर्भवेत् ततः किं न वर्तते स्थातुम् ?, उच्यते—

जइ वि य होज्ज वियारो,अंतो अज्जाण तइयभङ्गम्मि ।
तत्थ वि विकिंचणादी,विनिग्गयाणं तु ते दोसा ।१६२।

यद्यप्यार्याणामन्तस्तृतीयभङ्गे आपातासंलोकलक्षणे विचारो भवेत्, तथापि विवेचना–उद्धरितभक्तपानादिपरिष्ठापनिका तत्प्रभृतिषु कार्येषु विनिर्गतानां साधुसाध्वीनां परस्परं मिलितानामेकद्वारे क्षेत्रे त एव पूर्वोक्ता दोषा भवेयुः । अतस्तत्रापि न वर्तते स्थातुम् ।

उपसंहरन्नाह—

एए तिन्नि वि भङ्गा, पढमे सुत्तम्मि जे समक्खाया ।
जो पुण चरिमो भङ्गो,सो बिइए होति सुत्तम्मि॥१६३॥

एका वगडा एकं द्वारम्, एका वगडा अनेकानि द्वाराणि, अनेका वगडा एकं द्वारम्, एते त्रयोऽपि भङ्गा ये समाख्यातास्ते प्रथमे वगडासूत्रे प्रत्येतव्याः । तच्च प्रागेव व्याख्यातम् । यः पुनश्चरमो भङ्गः—अनेका वगडा अनेकानि द्वाराणीतिलक्षणः स द्वितीये वगडासूत्रे द्रष्टव्यः । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

से गामंसि वा०जाव संनिवेसंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए णो कप्पति बहूणं अगडसुयाणं एगयउवत्थए अत्थियाइए जे केइ आयारपकप्पधरे णऽत्थि आइएहं केइ छेदे वा परिहारे वा । णऽत्थि आइएहं केइ आयारकप्पधरे सव्वेसिं तेसिं तप्पच्चियं छेदे वा परिहारे वा ॥ ४ ॥

" से गामंसि वा नगरंसि वा " इत्यादि । अत्र सम्बन्धप्रतिपादनार्थमाह—

कप्पति गणिणो वासो, बहिया एगस्स अतिपसंगेण ।
मा अगडसुया वीसुं, वसेज्ज अह सुत्तसंबंधो ॥२६४॥

कल्पते गणिनो–गणावच्छेदिनो वासो बहिरेकस्यैकाकिनः, इति श्रुत्वा मा अतिप्रसङ्गेन–अकृतश्रुता अपि विष्वक् वसेयुः, ततस्तेषां विष्वग् वासप्रतिषेधार्थमिदं सूत्रम्, इत्येष सूत्रसम्बन्धः । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (४) व्याख्या–'से' शब्दोऽथशब्दार्थः । ग्रामे वा नगरे वा यावत्करणात्–' खेडंसि वा कव्वडंसि वा " इत्यादि परिग्रहः । राजधान्यां वा 'एगवडाए वा' एका वगडा परिक्षेपो यस्याः सा, एकवगडा तस्यां तथा एकस्मिन्प्रदेशे निष्क्रमणप्रवेशौ यस्यां सा एकनिष्क्रमणप्रवेशा तस्यां न कल्पते बहूनामकृतश्रुतानामगीतार्थानामित्यर्थः । एकतः एकस्यां वसतौ वस्तुम्, अस्ति चात्र एतेषां मध्ये आचारप्रकल्पधरस्तर्हि नास्त्यमीषां कश्चित् छेदः परिहारो वा । वाशब्दादन्यदपि प्रायश्चित्तम् । अथ नास्ति कश्चिदत्र एतेषां मध्ये आचारप्रकल्पधरस्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिं-' तेसिं ' तेषामन्तरा तस्मात्स्थानादिप्रतिक्रमणलक्षणात् छेदः परिहारो वा एष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अधुना भाष्यविस्तरः—

एगम्मि वीअसंते, न कप्पती कप्पती य संतम्मि ।
उउवद्धे वासासु य, गीयत्थो देसिए चेव ॥ २६३ ॥

एतेषां बहूनामकृतश्रुतानामेकतो वसतामेकस्मिन्नपि गीतार्थे असत्यविद्यमाने ऋतुवद्धे वर्षासु च वस्तुं न कल्पते । यदि वसति ततः ऋतुवद्धे काले प्रायश्चित्तं मासलघु, वर्षाकाले चतुर्लघुकम् । अथैकोऽप्यस्ति गीतार्थस्तर्हि तस्मिन् ऋतुवद्धे वर्षासु च वस्तुं कल्पते; न तत्र प्रायश्चित्तमिति भावः । किं कारणं गीतार्थेन सह संवसतां न प्रायश्चित्तमत आह—गीतार्थोद्देशक एव भवति । इयमत्र भावना—यथा केचित् पुरुषा अटव्यां विप्रनष्टाः केनचिद्देशकेन दृष्टास्ते भणिता मा इतो व्रजन्तोऽटवीं प्रविशत-अहं भवतो निस्तारयामि । ततस्ते ऋजुकेन पथा नगरं प्रापिताः, एवं गीतार्थोऽपि मोक्षपथविप्रनष्टानां मोक्षपथप्रदर्शक इति तेन सह संवसतां कालद्वयेऽपि नास्ति प्रायश्चित्तमिति ।

सम्प्रति परस्य प्रश्नावकाशमाशङ्कमान इदमाह—

किह पुण होज्ज बहूणं, अगडसुयाणं तु एगतो वासो ।
होज्जाहि कक्खडम्मी, खेत्ते अरसादिचइयाणं ॥२६४॥

कथं-केन कारणेन पुनर्बहूनामकृतश्रुतानामेकत्र वासो भवेत् ?, सूरिराह-कर्कशे क्षेत्रे अरसादित्याजितानां भवेदेकत्रवासः । तथाहि-ते साधवो महति गच्छे वर्त्तमाना नगरे रूक्षैः रसविरसादिभिराहारैर्निर्भर्त्सिताः सम्प्रधारयन्ति, कियच्चिरं वयं रूक्षाहारैर्योगं संस्तरणं कर्तुं शक्नुमस्तस्मात् गच्छामः एवं चिन्तयित्वा गच्छादपक्रमन्ति । एवमेतेषामकृतश्रुतानां बहूनामेकत्र वासः ।

चइयाण य सामत्थं, संघयणजुयाणमाउलाणं पि ।
उउवासे लहुलहुगा, सुत्तमगीयाणमाणादी ॥ २६५ ॥

अरसविरसादिभिराहारैस्त्याजितानामाकुलानां संहननयुतानामपि अपिशब्दो भिन्नक्रमत्वादत्र योजितः, एवं सामर्थ्यं सामर्थ्यपर्यालोचनं भवति । यथा कियन्तं कालं वयं रूक्षाहाराः स्थास्यामस्तस्मादपक्रमामो गच्छादिति । एवं चिन्तयित्वा यदि ऋतुवद्धे काले वसन्ति तदा प्रायश्चित्तं मासलघु , वर्षाकाले चतुर्लघुकम् । यतनाऽगीतार्थानां विषयेऽधिकृतं सूत्रं न केवलमधिकृतं प्रायश्चित्तम् । किं त्वाज्ञादयश्च ।

तानेव मिथ्यात्वादीन् दोषान् द्वारगाथया संजिघृक्षुराह—

मिच्छत्तसोहिसागा-रियाइगेलण्ण अहव कालगए ।
अद्धाणओमसंभम-भए य रुद्धे य ओसरिए॥ २६६ ॥

तेषामगीतार्थानां मतिभेदादिना मिथ्यात्वं स्यात् , तथा शोधिस्तैर्न ज्ञायते, तथा ससागारिकायां वसतौ ये दोषाः परिहार्यास्तेषामपरिज्ञानम् । अथवा-ग्लानत्वे,अथवा-कालगते अध्वनि-मार्गे ' अवमे ' अवमौदर्ये अग्न्यादिसम्भ्रमे बोधिकम्लेच्छस्तेनभये अकालवर्षेण रुद्धे तथा अपसृते पथि गच्छतां कस्मिंश्चित् मन्दगतित्वात् स्फिटिते या यतना तां न जानन्ति, एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । व्य० ६ उ० । (अत्र मिथ्यात्वद्वारम् ' मिच्छत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७४ पृष्ठे गतम् ।)

अधुना शोधिद्वारं सागारिकद्वारं चाऽऽह—

आवण्णमणावण्णे, सोहिं न मुणंति ऊणमहियं वा ।
जे वसहीए दोसा,परिहरंति न ते अयाणंतो ॥ २६८ ॥

अकृतश्रुता आलोचिते परेण एष प्रायश्चित्तं प्राप्तो नवेति न जानन्ति, अजानन्तश्चापन्नेऽनापन्ने वा प्रायश्चित्तं—शोधिं नैव ददति । यदि वा-ऊनामधिकां वा ददति । गतं शोधिद्वारम् । अधुना सागारिकद्वारमाह—ये च वसतौ दोषास्तानजानन्तोऽकृतश्रुता न परिहरन्ति ।

सम्प्रति ग्लानत्वादिद्वारचतुष्टयमाह—

गेलन्ने वोच्चत्थं, करेंति नयमयविधिं वियाणंति ।
अद्धाणमडंति सया,जतणा णयणो व ओमे वि ॥२६६॥

ग्लानत्वेऽज्ञानतो विपर्यासं कुर्वन्ति, अनागाढे आगाढकृतमुभयत्रापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम् । गतं ग्लानद्वारम् । अथ कालगतद्वारमाह—न च मृतस्य विधिं वन्धनच्छेदनादिकं परिष्ठापनाविधिं वा न जानन्ति मृतस्योपधिरुपहत इति त्यज्यते । सम्प्रत्यध्वद्वारमाह-अध्वानं पन्थानमजानन्तः सदा-सर्वकालं रात्रौ दिवसे वाऽटन्ति न च कारणतो रात्रावपि गमने यतनां जानन्तीति भावः ।

सम्भ्रमादिद्वारकदम्बकमाह—

अगणादिसंभमेसु य, बोहिगमेच्छादिएसु य भयेसु ।
रायदुट्ठाईसु य, विराहगा जयणऽयाणंता ॥ २७० ॥

अग्न्यादिसम्भ्रमेषु तथा बोधिकाः स्तेना म्लेच्छाः प्रतीता आदिशब्दात्—परचक्रादिपरिग्रहस्तदादिकेषु भयेषु राजद्विष्टादिषु च भयेषु, राजद्विष्टे-राजप्रद्वेष आदिशब्दादशिवादिपरिग्रहः, तथा भिक्षाचर्या गते अकालवर्षतो नदीपूरेणावरुद्धे पथि सह व्रजतां मन्दगतित्वादपसृते यतनामजानन्तः संयमात्मविराधका भवन्ति ।

तथा—

संभमनदिरुद्धस्स वि, उन्निक्खंतस्स अहव फिडियस्स ।
ओसरियसहायस्स व,छड्डे उवहिं उवहतो त्ति ॥ २७१ ॥

अग्न्यादिसंभ्रमवशादेकाकिनस्तथा नदीनिरुद्धस्य उन्निष्क्रान्तस्य अथवा—मन्दगतित्वात्सार्थस्फिटितस्य-अपसृतसहायस्य च—अपगतसहायस्य उपधिरुपहत इति कृत्वा छर्दयति-त्यजति अवहुश्रुतः ।

एएण कारणेणं, अगडसुयाणं बहूण वि ण कप्पो ।
वितिपएँ य रायदुट्ठे, असिवोमगुरूण संदेसे ॥ २७२ ॥

एतेनानन्तरोदितेन कारणेनाकृतश्रुतानां बहूनामप्येकत्र वासो न कल्पते । द्वितीयपदे-अपवादपदे पुनः कल्पते । केत्याह-राजद्विष्टे अवमौदर्ये गुरूणां संदेशे च । तथाहि-राजप्रद्वेषवशादेकाकी आत्मद्वितीयः आत्मतृतीयो वा भवेद् , एवमशिवेऽवमौदर्ये च भावनीयम् । तथा गुरोः संदेशवशादागाढकारणे गीतार्थानामभावे अगीतार्था अपि व्रजन्तीति ।

तह नाणादीणट्ठा, एएसिं गीतो ऽ दिज्ज एक्केक्को ।
असती एगागी वा,फिडिया वा जाव न मिलंति ।२७३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा ज्ञानाद्यर्थाय-ज्ञाननिमित्तं दर्शननिमित्तं चारित्रनिमित्तं वैयावृत्त्यनिमित्तकरणं चलितानां तेषां गीतार्थानामभावे अगीतार्था अपि गच्छन्ति। स्पर्द्धकपतौ वा कालगते आचार्यसमीपमथ सार्थात् मन्दगतितया स्फिटिता यावन्नाद्यापि मिलन्ति तावदेकत्र बहूनामकृतश्रुतानामपि वासो न विरुध्यते।

एगाहिगमट्ठाणे, व अन्तरा तत्थ होज्ज वाघाते।
तेणच्छेज्जा तत्थ वि, सेहस्स नियल्लगा बेंति ॥२७४॥
तत्तो वि पलाविज्जइ, गीयत्थविइज्जइं तु दाऊणं।
असतीए संगारो, कीरइ अमुगत्थ मिलियव्वं ॥२७५॥

कोऽपि साधुः गीतार्थाभावे आचार्येण कचित्प्रयोजने प्रेपितो भणितश्चाद्यैव प्रत्यागन्तव्यमिति। 'एवमेकाहिगमे' एकदिनगमागमे अध्वनि अन्तराले तत्र व्याघातो भवेत्, तेन कारणेन स यत्र प्रेपितस्तत्रैवासीत् न प्रत्यागच्छति। अथ वा-तस्य स्वज्ञातय उत्प्रव्राजननिमित्तमाचार्यसमीपमागताः अपश्यन्तः सर्वतः समन्तात् निरीक्षन्ते, निरीक्षमाणाश्च तत्र गता यत्र स गतस्तिष्ठति। ततो येषां समीपे स प्रेपितस्तत्साधुभिर्ज्ञातम्, यथा-शैक्षस्य निजकाः समायातास्तिष्ठन्ति। ते च ब्रुवते-वयमात्मीयमुत्प्रव्राजयिष्यामस्ततोऽपि स्थानात् द्वितीयं गीतार्थं दत्त्वा पलायते दूरम्, यत्र तन्निजकानां गतिविषयो नास्ति। असति गीतार्थे अगीतार्थोऽपि सहायो दीयते। तेषां च संकेतः क्रियते, यथा-अमुकप्रदेशे मिलितव्यम्। अगीतार्थस्यापि सहायस्याभावे एकाक्यपि प्रेष्यते, तत्रापि संकेतः कर्त्तव्यः। एवमेकाकिनस्त्रिप्रभृतीनां बाहूनामृतुबद्धे वर्षासु च वासो भवति।

रायदुट्ठादीसु व, सव्वेसुं चेव होइ संगारो।
नाणादि व ओसरणे, गीयत्थविइज्जगं मग्गो ॥२७६॥
असती एगाणीउ, निब्बंधे वा बहूण अगीयाणं।
सामायारीकहणं, मा वहिभावं निरुंभंति ॥ २७७ ॥

राजद्विष्टादिषु-राजद्विष्टाशिवावमौदार्यसम्भ्रमादिषु सर्वेषु भवति संकेतः कर्त्तव्यः। तथा स्नानादिनिमित्तं-जिनप्रतिमास्नानरथनिर्याणादिनिमित्तं समवसरणं-भूयः सामाचार्यादीनां मिलनं भविष्यतीति समवसरणे श्रुते कोऽप्याचार्यसमीपमागत्य द्वितीयं गीतार्थं मार्गयति, तस्य द्वितीयो गीतार्थो दातव्यः। असति-अविद्यमाने गीतार्थे, अविद्यमाने तावद् द्विधा-सद्भावेनासद्भावेन वा। सद्भावो नाम-सन्ति गीतार्थाः परं ग्लानादिप्रयोजनव्यापृताः;असद्भावो मूलत एव गीतार्था न सन्ति। तत्र सद्भावेन असद्भावेन वा अविद्यमाने गीतार्थे स प्रतिषेधनीयो यथा नास्ति द्वितीयो गीतार्थः। अथ स निर्वन्धं करोति तर्हि एकाकी प्रेष्यते। यदिवा-बहवोऽगीतार्थाः सहाया दीयन्ते। बहूनामपि ज्ञानदर्शनादिनिमित्तं गमनेच्छाभावात्। तेषां च बहूनामगीतार्थानां या पथि सामाचारी या च समवसरणे प्रविष्टानां तस्याः कथनम्। अथ कस्मात्ते निर्वन्धेऽपि कृते उत्कल्यन्ते तत आह-मा निरुद्ध्यमाना वहिर्भावं व्रजेयुरिति कृत्वा।

सूत्रम्—

से गामंसि वा० जाव सन्निवेसंसि वा अभिणिव्वगडाए अभिणिदुवाराए अभिणिक्खमणपवेसणमाणाए णो कप्पति बहूणं अकडसुयाणं एगयओ वत्थए। अत्थि या इ एहं केइ आयारपकप्पधरे जे तत्तियं रयणिं संवसति णऽत्थि या इत्थ केइ छेए वा परिहारे वा, णऽत्थि या इत्थ केइ आयारकप्पधरे जे तत्तियं रातिं संवसति सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥ ५ ॥

'से गामंसि वा' इत्यादि अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्ध इत्यत आह—

अण्णगामे वासं, णाऊण निवारियं अगीयाणं।
सग्गामे मा वीसुं,वसेज्ज अगडा अयं लेसो ॥ २७८ ॥

अन्यस्मिन् ग्रामे अगीतार्थानां वासं निवारितं ज्ञात्वा मा स्वग्रामे विष्वगपि वासः कल्पते इति मन्यमाना अकृताऽकृतश्रुताः स्वग्रामे विष्वक् वसेयुः, अतस्तन्निषेधार्थमिदं सूत्रमित्ययं सूत्रसम्बन्धलेशः।

अथवाऽयमन्यः सम्बन्धः—

अगडसुया वाऽहिकया, समागमो एस होइ दोण्हं पि।
सच्छंदऽणिस्सिया वा,निस्सयजयणाविहं भणिया।२७६।

अनन्तरसूत्रे अकृतश्रुता अधिकृताः,अस्मिन्नपि सूत्रे त एवाकृतश्रुताः प्रोच्यन्ते इत्येष द्वयोरपि सूत्रयोः समागमः-सम्पर्कः। अथवा-अधस्तनानन्तरसूत्रे स्वच्छन्दतोऽनिश्रिता उक्ताः अस्मिन्पुनः गीतार्थनिश्रितानां यतना भणिता। अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (५ सूत्रस्य) व्याख्या-"से गामंसि वा" इत्यादि पूर्ववत्। नवरम् 'अभिनिव्वगडाए' अभि-प्रत्येकं-नियतो वगडः परिक्षेपो यस्यां सा अभिनिर्वगडा तस्यां पृथक् परिक्षेपायामित्यर्थः। तथा अभि प्रत्येकं नियतं द्वारं यस्याः सा तथा तस्याम्, तथा अभि—प्रत्येकं निष्क्रमणप्रवेशौ निष्क्रमणप्रवेशस्थानं यस्याः सा तथा तस्याम्,वसतौ बहूनामकृतश्रुतानामेकतो वस्तुम्, अस्ति वाऽत्र प्रकल्पधरो यस्तृतीयां रजनीं गत्वा तैः समं वसति, तर्हि तेषामापन्नःसमापन्नो नास्ति कश्चिच्छेदः परिहारो वा। नास्ति कश्चिदाचारप्रकल्पधरो यस्तृतीयां रजनिं गत्वा तैः समं वसति, तर्हि तेषां सर्वेषामपि तत् प्रत्ययमगीतार्थेन सह सम्बन्धनप्रत्ययः छेदः परिहारो वा, एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अधुना भाष्यविस्तरः

गामे उवस्सए वा, अभिनिव्वगडाएँ दोस ते चेव।
नवरं पुण णाणत्तं, तइयदिवसेॅ गीयसंवसणा ॥२८०॥

ग्रामे वा एकस्मिन्नुपाश्रये विष्वक् अभिनिर्वगडायां पृथक् परिक्षेपायामुपलक्षणमेतत् पृथग्द्वारायां पृथग्निष्क्रमणप्रवेशायां येऽनन्तरसूत्रे मिथ्यात्वादयो दोषा उक्तास्त एवान्यूनातिरिक्ता द्रष्टव्याः। नवरं पुनर्नानात्वमिदमस्मिन् सूत्रे यदि गीतार्था निश्रया वसन्ति तर्हि तृतीयदिवसे गीतसंवसनम्-गीतार्थेन सह संवसनं कर्तव्यम्, आचार्यस्तृतीयदिवसे तेषां शोधिनिमित्तं गीतार्थमेकं प्रेषयति। एवं च तेषां नास्ति प्रायश्चित्तम्।

अत्र पर आह—

एवं पि भवे दोसो, दोसुं दिवसेसु जे भणियपुव्विं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारणियं पुण वसही, असती भिक्खोभये जयणा।२८१।

ननु यदि तृतीये दिवसे गीतार्थेन सह संवसनमेवमपि ये पूर्वं भणिता मिथ्यात्वादयो दोषास्ते द्वयोर्दिवसयोर्भवन्ति । आचार्य आह—सत्यमेतत्केवलमिदं सूत्रं कारणिकं-कारणवशप्रवृत्तमतो न दोषः । किं पुनस्तत्कारणमत आह-'वसहि असती' इत्यादि, वसतिरेकत्र सर्वेषां न विद्यते, यदिवा—भिक्षा सर्वेषामेकत्र न भवति , अथवा-उभयमेकत्र सर्वेषां न सम्भवति, तत एतेषां त्रयाणां कारणानामन्यतमेन कारणेन पृथक् पृथक् वसन्ति । तत्र च यतना कर्त्तव्या । यतनया च संवसतां न प्रायश्चित्तम् ।

तामेव यतनामाह—

संकिट्ठा वसहीए, निवेसणस्संते अन्नवसहीए ।

असती य वाडगं तो, तस्सऽसती होज्ज दूरे वा ॥२८२॥

स्वग्रामे संक्लिष्टायामतिसङ्कटायां वसतौ सर्वेषामेकत्र स्थानं न भवति तदा एकनिवेशनस्यान्तः पृथगन्यस्यां वसतौ स्थातव्यम् । असत्येकनिवेशनस्यान्तः-अन्यस्या वसतेरभावे वाटकस्यान्तः पृथगन्यस्यां वसतौ वसन्ति । अथ वाटकस्याप्यन्तः पृथगन्या वसतिर्न लभ्यते, तदा वाटकबहिर्हस्तशताभ्यन्तरे पृथगन्या वसतिर्गवेषणीया , तस्य हस्तशतस्याभ्यन्तरे वसतेरभावे दूरेऽपि वसतिरन्या स्यात् ।

तत्र हस्तशताभ्यन्तरं यावत् यतनामाह—

वीसुं पि वसंताणं, दोण्णि वि आवासगा सह गुरूहिं ।

दूरे पोरिसिभंगे, उग्घाडऽऽगंतु विगडेंति ॥ २८३ ॥

निवेशनवाटकहस्तशताभ्यन्तरे (वीसुं)विष्वगपि वसतामेव विधिर्दिवसे दिवसे द्वे अप्यावश्यके-प्राभातिकप्रतिक्रमणलक्षणे सह गुरुभिः कर्त्तव्ये । भिक्षामप्यटित्वा ततः संनिवृत्ता आचार्यस्य समीपे समागत्याऽऽलोचयन्ति । अथ हस्तशतस्य बहिर्वसतिर्लब्धा तर्हि गुरुसमीपे चतुर्थपौरुष्यामालोचनां कृत्वा वैकालिकमावश्यकं स्वकीयायां वसतौ कुर्वन्ति । ततः प्रातरप्यावश्यकं तत्र कृत्वा गुरुसमीपमागत्य प्रत्याख्यानं गृह्णन्ति । 'दूरे' इत्यादि यदि पुनर्दूरे अन्यस्मिन् ग्रामे स्थिता भवेयुस्ततो यदि गुरुसकाशमागच्छतां पौरुषीभङ्गस्तत उद्घाटायां पौरुष्यामागत्याचार्यसमीपे आलोचयन्ति, प्रत्याख्यानं च गृह्णन्ति पूर्वाह्णिकम् । एतत् दूरे स्थितानामविशेषेणोक्तम् ।

अधुना विशेषमभिधित्सुराह—

गीयसहाया उ गया,आलोयण तस्स सो वि य गुरूणं ।

अगडा पुण पत्तेयं, आलोएंती गुरुसगासे ॥ २८४ ॥

तत्र यदि तेषां दूरे स्थितानां कोऽपि गीतार्थः सहायोऽस्ति तर्हि ते गीतसहायाः—गीतार्थसहाया दूरे गताः सन्तस्तस्य गीतार्थस्य पुरतः आलोचयन्ति । स पुनर्गीतार्थ उद्घाटायां पौरुष्यां गुरूणां समीपमागत्य विकटयति । अथ नास्ति कोऽपि तेषां गीतार्थः सहायस्तर्हि ते केवला अकृताः—अकृतश्रुता उद्घाटायां पौरुष्यां गुरुसकाशे समागत्य प्रत्येकमालोचयन्ति ।

एंताण य जंताण य, पोरिसिभङ्गो तओ गुरूँ वयंति ।

थेरे अजंगमम्मि व, मज्झण्हे वाऽवि आलोए ॥२८५॥

यदि दूरे वसतिर्लब्धा उद्घाटायां च पौरुष्यामागच्छतां गच्छतां च पौरुषीभङ्गस्ततो गुरवः स्वयं तेषामकृतश्रुतानां समीपं व्रजन्ति । आचार्यो वृद्धत्वेन चागन्तुं न शक्तस्ततः स्थविरे अजङ्गमे चाचार्ये ते अकृतश्रुता मध्याह्ने गुरुसमीपमागत्यालोचयन्ति ।

एवं पि दुल्लहाए, पडिवसहठिया न एंति पतिदिवसं ।

समणुण्णदढधिईया,अतरुणे य बहिं विसज्जेन्ति ॥२८६॥

एवमपि-अनेनापि दुर्लभायां वसतौ दूरे प्रतिवृषभस्थिता न प्रतिदिवसं गुरुसमीपमागच्छन्ति, अर्थादापन्नं द्वितीये दिवसे आलोचका आगच्छन्ति । अथ कीदृशास्ते प्रतिवृषभा यानाचार्यः प्रेषयति, तत आह-'समणुण्णे' त्यादि, समनोज्ञा नाम येषां परस्परं प्रीतिस्तान् समनोज्ञान् दृढधृतीन् अतरुणान्मध्यमवयसो बहिः प्रतिवृषभानाचार्यो विसर्जयन्ति । तदेवं वसत्यलाभे यतनोक्ता ।

सम्प्रति भिक्षाया अलाभे यतनामाह—

दुल्लभभिक्खे जतिउं, सग्गामुब्भामपल्लियासुं च ।

अतिखेयपोरिसिवहे,न वाऽवि ठायंति तो वीसुं ॥२८७॥

दुर्लभे भैक्षे यदि स्वग्रामे उद्भ्रामकभिक्षाचरप्रत्यासन्नग्रामे पल्लिकादिषु च यतन्ते , तथापि-यतित्वाऽपि नास्ति संस्तरणम् । अथवा—अतिशयेन-महता कालक्षेपेण यदि पर्याप्तं कथमपि लभ्यते पौरुषीवधेन-द्वितीयचतुर्थपौरुषीभङ्गेन ततो विष्वक्-अन्यक्षेत्रेऽपि गीतार्थाभावनाकृतश्रुता अपि तिष्ठन्ति , ते च विष्वक्-क्षेत्रेषु तथा तिष्ठन्ति यथा आचार्येः स्पर्द्धकेन सह त्रीणि स्पर्द्धकानि भवन्ति ।

उभयस्स अलंभम्मि वि,गीताऽसति वीसु ठंति अगडसुया ।

दुसु तिसु वा ठाणेसुं,पतिदिवसाऽऽलोएँ आयरितो ।२८८।

उभयस्य—वसतेर्भैक्षस्य वाऽलाभे गीतार्थस्याभावे अकृतश्रुता अपि विष्वक् तिष्ठन्ति । कथमित्याह-द्विपु त्रिपु वा स्थानेषु आचार्यस्थानेन तत्सहोत्कर्षतस्त्रिषु स्थानेषु इत्यर्थः, तत्र भिक्षाऽलाभे उभयालाभे वा विष्वक् स्थितानां प्रतिदिवसमाचार्यस्तेषामन्तिकं गत्वा तानालोकते , प्रतिपृच्छादिदानेन तेषां सारं करोतीत्यर्थः ।

किंकारणमाचार्येण प्रतिदिवसं तेषां
समीपे गन्तव्यमत आह—

सइरीभवन्ति अणवे-क्खणाएँ जह भिन्नवाहणा लोए ।

पडिपुच्छ सोहि-चोतण,तम्हा उ गुरू सया वयई ।२८९।

भिन्नप्रवहणाः स्वैरिणो भवन्ति, एवं तेऽपि स्वैरिणो जायन्ते । तस्मात् प्रतिपृच्छा शोधित्वदानाय गुरुः सदा तेषामन्तिकं व्रजति ।

तस्य पुनराचार्यस्य तेषां समीपं व्रजतस्तैर्यत्कर्त्तव्यं तदाह-

तण्हाइयस्स पाणं, जोग्गाहारं व नेंति पच्चो (व्वो) र्ग्गि ।

कितिकम्मं च करेंति, मा जुन्नरहो व सीएज्जा ॥२९०॥

येषां समीपमाचार्यो गच्छति ते आचार्यस्य-'पच्चो(व्वो)ग्गि' सम्मुखं तृष्णायितस्य-अतिशयतृषितस्य योग्यं पानं-पानीयं योग्यमाहारं च प्रथमालिकानिमित्तं नयन्ति । कृतिकर्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च विश्रामणां कुर्वन्ति, मा अन्यथा जीर्णरथ इव स सीदेत् ।

अथ तस्याचार्यस्य नित्यसहायो न विद्यते, तत आह—

असती निच्चसहाए, गेण्हइ पारंपरेण अण्णोण्णे ।
ते चिय अण्णेहिँ समं, तं मेलेउं नियत्तंते ॥ २६१ ॥

असति-अविद्यमाने नित्यसहाये—अवस्थितसहाये यः सकलदिवसमाचार्येण सह हिण्डते, ततः पारंपर्येणान्यानन्यान् सहायान् गृह्णाति । तद्यथा-एके साधवस्तावन्नयन्ति यावत् द्वितीयं स्फर्द्धकम्, ततस्ते तैः समं मेलयित्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते । ततोऽप्यन्ये साधवस्तावन्नयन्ति यावत्तृतीयं स्पर्द्धकम्, ततस्तेऽपि तैः सह मेलयित्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते । तानि च स्पर्द्धकान्याचार्यस्य स्पर्द्धकेन सह त्रीणि स्पर्द्धकानि भवन्ति ।

अथ कथमाचार्य एकदिवसेन त्रयाणामकृतश्रुतस्पर्द्धकानां शोधिं करोति । तत आह—

एगत्थ वसितो संतो, तेसिं दाऊण पोरिसिं ।
मज्झण्हे बितियं गंतुं, भोत्तुं तत्थावरं वए ॥ २६२ ॥

आत्मीये स्पर्द्धके उषितः सन् आचार्यः सूत्रपौरुषीं दत्त्वा मध्याह्ने द्वितीयं स्पर्द्धकं गच्छति, तत्र गत्वा 'भुङ्क्त्वा' शोधिं च कृत्वा तदनन्तरमपरं तृतीयं स्पर्द्धकं व्रजति । तत आलोचनादिशोधिं कृत्वा तत्रैव वसति ।

एवमेगेण दिवसेण, सोहिं कुणति तिण्ह वि ।
पडिपुच्छणं च बलवं, आह सुत्तमवत्थयं ॥ २६३ ॥

एवमेकेन दिवसेनाचार्यस्त्रयाणामपि स्पर्द्धकानां शोधिं करोति, यदि स प्रतिपृच्छां-प्रत्येकं पृच्छां सारां कर्तुं गन्तुं बलवान् । अत्र परः प्राह—यद्येवं तर्हि 'तइयं रयाणं संवसति' त्ति तदिदानीमपार्थकमवकाशाभावात्—

सुत्तनिवातो थेरे, कलाव काउं तिहेण वा सोहिं ।
बितियपयं च गिलाणे, कलाव काऊण आगमणं ।२६४।

आचार्यः प्राह-अधिकृतस्य सूत्रस्य निपातोऽवकाशः स्थविरे । तथाहि-यद्याचार्यः स्थविरतया दुर्बलत्वेन वा प्रतिदिवसं त्रिषु स्पर्द्धकेषु शोधिं कर्तुं न शक्नोति तत एकैकस्मिन् स्पर्द्धके तृतीयां रात्रिं वसति । तथा चाह—आचार्यस्य प्रतिदिवसमनागमने त्र्यहेण वाऽपराधान् कलापं कृत्वा-पिण्डयित्वा शोधिमाचार्यस्य समीपे कुर्वन्ति । तथाहि-एकस्मिन् स्पर्द्धके उषित्वा तत्र पौरुषीं दत्त्वा द्वितीये स्पर्द्धके समायाति, तत्रैव वसति । तत्र वसतौ तत्रत्याः साधवो ये अपराधा अभूवन् ते एकत्र पिण्डयित्वा आचार्यस्य पुरत आलोचयन्ति । आचार्यस्तु शोधिं ददात्यप्रमादार्थं चोपदेशं प्रयच्छति । अत्रापि द्वितीयपदमाह-द्वितीयपदम्-अपवादपदं ग्लाने सत्याचार्ये अपराधान् कलापं कृत्वा; पिण्डयित्वा इत्यर्थः, स्पर्द्धकसाधूनामागमनमाचार्यसमीपे । इयमत्र भावना—यद्याचार्यो ग्लानत्वेनातिवृद्धत्वेनाऽजङ्गमः स्वयं न शक्नोति तेषां समीपं गन्तुं तदा इतरे—स्पर्द्धकद्वयसाधवो यथा मयूरः स्वपिच्छान् कलापयति—एकत्र पिण्डयति एवमपराधानेकत्र पिण्डयित्वा हृदये सम्यगवधार्य गुरुसमीपमागत्यालोचयन्ति । आलोचितेषु च तेषु अपराधेषु यदि प्रायश्चित्तं दातव्यं भवति तदा प्रायश्चित्तमाचार्यो दत्त्वा प्रमादाभावार्थमुपदेशं च दत्त्वा विसर्जयति ।

एतदेव सविस्तरमाह—

एवं अगडसुयाणं, वीसु ठियाणं तु तीसु गामेसु ।
लहुया असंथरंतो, तेसि अणिताण वी लहुतो ॥२६५॥

सर्वेषां यद्याचार्येण समं नास्ति क्षेत्रं यत्र वसतिः संस्तरणं च भवति । अथवा-अस्ति वसतिः संस्तरणं न विद्यते, यदि वा-अस्ति संस्तरणं न पुनर्वसतिः, एवमेतैः कारणैस्त्रिषु ग्रामेषु विष्वक् स्थिता अकृतश्रुतास्तेषामसंस्तरणम्, तथापि स्थितानां यद्याचार्यो द्वयोरितरयोः स्पर्द्धकयोः प्रतिदिवसं सारां न करोति, तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । स्पर्द्धकसाधवो यद्याचार्यमनागच्छन्तं न गवेषयन्ति तदा तेषामप्यनागच्छतां मासलघु ।

एगदिणं एक्केक्के, निट्ठाणत्थाण दुब्बलो वसति ।
अह सो अजंगमो चिय, ताहे इयरे तहिं एंति ॥२६६॥

अथ ग्लानत्वेन वृद्धत्वेन दुर्बलतया न प्रतिदिवसं त्रिषु स्पर्द्धकेष्वागन्तुं शक्नोति तदा स दुर्बल आचार्यस्त्रिस्थानं,स्थानं स्पर्द्धकानामेकैकस्मिन् स्पर्द्धके एकैकं दिनं वसति । यथा च वसति तथा प्रागेवोक्तम् । अथ स आचार्योऽतिवृद्धत्वेन ग्लानत्वेनाजङ्गमो जातस्तत इतरे स्पर्द्धकद्वयसाधवस्तत्राचार्यसमीपे आगच्छन्ति, तेषामपि विधिर्मूलगाथायामुक्तः ।

अथवा-तत्रान्यः प्रकारस्तमेवाऽऽह—

एइ व पडिच्छए वा, मेहावि कलाव काउमवराधे ।
अतिदूरे पण परए, पक्खे मासे परतरे वा ॥ २६७ ॥

यस्तेषां स्पर्द्धकसाधूनां मध्ये कोऽपि साधुर्मेधावी स सर्वेषां साधूनामपराधान् हृदये धारयितुमलं तेन स्पर्द्धकसाधव आलोचयन्ति । तद्यथा-स तेषामपराधपदानि कलापं कृत्वा हृदये संपिण्ड्याचार्यसमीपमागत्यालोचयति । तान्याचार्यः श्रुत्वा यद्यापन्नाः प्रायश्चित्तम्; ततो यत्र येनापन्नं प्रायश्चित्तं तमेनमित्थं वाहयेदिति भणित्वा प्रेषयति । सोऽपि च साधुस्तेषां तत्कथयति प्रायश्चित्तं च तेऽपि साधवस्तद्वहन्ति । 'पडिच्छए व' त्ति अथवा-आचार्य आत्मीयात् स्पर्द्धकात् विनिर्गत्य येन प्रदेशेन इतरे स्पर्द्धका वाऽऽगच्छन्तस्तस्मिन् प्रदेशे अन्तरा प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति तत्र स्पर्द्धकसाधव आगच्छन्ति । एको वा मेधावी अत्राप्यालोचनादिकं तथैव 'अइदूरे' इत्यादि यद्यतिदूरे स्थितास्तदा पञ्चमे पञ्चमे दिवसे, यदि वा-पक्षेण पक्षेण,अथवा-मासेन मासेन, परतरे वेति परतरेण वा द्व्यर्द्धमासादिना समागच्छन्ति । आगत्य चाचार्यादिसमीपे शोधिं कुर्वन्ति ।

से गामंसि वा ० जाव संनिवेसंसि वा अभिणिदुवाराए अभिणिक्खमणपवेसाए णो कप्पति बहुसुयस्स बब्भागमस्स एगागियस्स भिक्खुस्स वत्थए, किंमग ! पुण अप्पागमस्स अप्पसुयस्स भिक्खुस्स ॥ ६ ॥

'से गामंसि वा' इत्यादि । अत्र सम्बन्धप्रतिपादनार्थमाह-

अगडसुयाण न कप्पइ, वीसुं मा अइपसंगतो सुयवं ।
एगागितो वसेज्जा, निकायणं चेव पुरिमाणं ॥२६८॥

अनन्तरसूत्रे अकृतश्रुतानां न कल्पते विष्वग् वास इति श्रुत्वा माऽतिप्रसङ्गतः श्रुतवान् एकाकी वसेदित्येवमर्थमि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दं सूत्रम्। तथा निकाचनं च नियमश्च पूर्वाणामकृतश्रुतानां कृतमनेन सूत्रेण। तथाहि—यदि कृतश्रुतस्यापि न कल्पते एकाकिनो वासः किमङ्ग! पुनरकृतश्रुतस्य तस्य सुतरामेकाकिनो न कल्पते वास इत्येष सूत्रसम्बन्धः। अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (सूत्रस्य ६) व्याख्या-अथ ग्रामे वा नगरे वा यावद्राजधान्यां वा अभिनिर्वगडायामभिनिर्द्वारायामभिनिष्क्रमणप्रवेशायामेतेषां त्रयाणामपि पदानां व्याख्यानं पूर्ववत्। न कल्पते बहुश्रुतस्य सूत्रापेक्षया एकाकिनो भिक्षोर्वस्तुम्, किमङ्ग! पुनरल्पागमस्याल्पश्रुतस्येति सूत्रक्षेपार्थः।

सम्प्रति भाष्यविस्तरः—

अंतो वा बाहिं वा, अभिनिव्वगडाएँ ठायमाणस्स।
गीयत्थे मासलहुं, गुरुतो मासो अगीयत्थो ॥ २६६ ॥

अन्तरुपाश्रयस्याभिनिर्वगडायां-पृथक्परिक्षेपायां वसतौ यथा-एकस्यां वलभ्यां विष्वक् अपवरके बहिरुपाश्रयस्याभिनिर्वगडायामन्यस्मिन् प्रतिश्रये यदि गीतार्थो भिक्षुर्वसति तदा तस्य तत्र तिष्ठतो गीतार्थस्य प्रायश्चित्तं मासलघु, अगीतार्थस्य गुरुको मासः।

सांप्रतमन्तर्बहिर्वा गृहस्य या अभिनिर्वगडा तस्याः प्रकारमाह—

अंतो निवेसणस्स, सोही मादी व जाव सग्गामो।
घरवगडाए सुत्तं, एमेव य सेसवगडासु ॥ ३०० ॥

निवेशनस्य गृहस्यान्तरभिनिर्वगडा, अथवा-निवेशनाद्बहिरन्या वसतिरभिनिर्वगडा तस्यां मुख्यतो द्रष्टव्यम् एवमेव शेषवगडासु निवेशनाद्बहिरभिनिर्वगडाप्रकारेषु च। तच्च गीतार्थानामगीतार्थानां भिक्षूणामेकाकिनां वसतां प्रायश्चित्तम्। तदेव प्रागुक्तं न केवलं प्रायश्चित्तं किं त्वन्येऽपि च दोषाः।

तथा चाह—

आणादिणो य दोसा, विराहणा होइ संजमायाए।
लज्जाभया उ गारव, धम्मसढरक्खाचउद्धा अ ॥३०१॥

अन्तर्निवेशनस्याभिनिर्वगडायां वसतौ तिष्ठत आज्ञादयो दोषाः, तथा संयमविराधना आत्मविराधना च। एते तथा प्राक् चतुर्थपञ्चमातिशये भाविते तथा भावनीये। यदि पुनरनभिनिर्वडायां वसतौ वसति तदा पापं कर्तुमिच्छतो लज्जातो भयतो गौरवतो धर्मश्रद्धातो वा रक्षा चतुर्विधा स्यात्। किमुक्तं भवति—अनभिनिर्वगडायां वसतौ वसन् संयमविराधनारूपमात्मविराधनारूपं वा पापं लज्जादिभ्यो न कुर्यादपि।

तत्र प्रथमतो लज्जाद्वारं भावयति-

लज्जंणिज्जो उ होहामि, लज्जए वा समायरं।
कुलागमतवस्सी वा, सपक्खपरपक्खतो ॥ ३०२ ॥

यद्यहं हस्तकर्माद्यन्यद्वा पापं समाचरिष्यामि लज्जनीयो भविष्यामि, लज्जितश्च कथं कुलस्य गणस्य सङ्घस्य आगमज्ञस्य वा तपस्विनो वा स्वपक्षस्य—श्रावकादेः परपक्षस्य वा-परतीर्थिकादिरूपस्य मुखं दर्शयिष्यामि। अथवा-तत्पापमाचरन् कुलागमज्ञतपस्विस्वपक्षपरपक्षेभ्यो लज्जते। यथाऽहमेवमाचरन् कथमात्मीयं मुखं तेषां दर्शयिष्यामि एवं लज्जातः पापं न करोति।

सम्प्रति भयद्वारभावनार्थमाह—

असिलोगस्स वा वाया, जो ऽतिसंकति कम्मसं।
तहा वि साहु तं जम्हा,जसो वसो य संजमो ॥३०३॥

अश्लोकस्य वा-अवर्णस्य वा वादात्-प्रवादात् यः कर्म्म-अशुभासेवनारूपमतिशयेन शङ्क्यते-अपकीर्त्यपवादभयाच्च कुरुते इत्यर्थस्तथापि तस्य तत् अशुभकर्म्मानाचरणं साधु यस्मात्तेन यशोऽभिकाङ्क्षितम्, 'यशो वर्णः संयम इत्येकार्थम्। 'जसो त्ति वा संजमो त्ति वा वएणो त्ति वा एगट्ठ' मिति वचनात्। ततः परमार्थतः संयमोपचित इति तदनाचरणं श्रेयः।

सम्प्रति यशः संयम इत्येकार्थतया भगवद्वचनमुपदर्शयति—

जसं समुवजीवंति, जे नरा वित्तमत्तणो।
अलेस्सा तत्थ सिज्झंति,सलेस्सा उ विभासिया ।३४०।

ये नरा-मनुष्या वृत्तमात्मन इच्छन्ति ते यशः समुपजीवन्ति—संयममुपजीवन्ति, इत्येतद् व्याख्याप्रज्ञप्तौ राशियुग्मशते भणितम्। तथा च तद्ग्रन्थः-" मणुस्सा णं भंते किं आयजसं उवजीवंति " आत्मसंयममित्यर्थः। " आयअजसं उवजीवंति " आत्माऽसंयममित्यादि, एवं यशःसंयमावेकार्थावुक्तौ। तत्र ये अलेश्याः-शैलेशीप्रतिपन्नास्ते नियमात् सिध्यन्ति, सलेश्याः पुनर्विभाषिता-विकल्पिताः कंचित्सिध्यन्ति केचिन्न सिध्यन्तीत्यर्थः। तत्र ये भव्यास्ते सिध्यन्ति, तत्राहमशुभं कर्म्म समाचरन्नभव्यो भविष्यामीति भयतो नाशुभकर्म्म समासेवते।

दाहिंति य गुरू दंडं, जइ नाहिंति तत्ततो।
तं च वोढुं न चाइस्सं, घायमादी य लोगतो ॥३०५॥

यदि परस्त्र्यादिकं सेविष्ये ततो यदि गुरवस्तत्त्वतो ज्ञास्यन्ति तदा दण्डं-प्रायश्चित्तमुग्रं दास्यन्ति,तथोग्रं प्रायश्चित्तं वोढुमहं न शक्ये, नापि लोकतः—परयुवतिभर्त्रादिलक्षणात् घातादिकं-घातवधादिकं सोढुं शक्ये, इति भयतो नासेवते अशुभं कर्म्म। गतं भयद्वारम्।

अधुना गौरवद्वारमाह—

जोऽहं सइरकहासुं पि, चकामि, गुरुसन्निहो।
सोऽहं कहमुपासिस्सं, तमणायारदूसितो ॥ ३०६ ॥

योऽहं स्वैरकथास्वपि गुरुसन्निधौ गौरवेण चकास्मि सोऽहमनाचारदूषितस्तं गुरुं कथमुपासिस्ये, अनाचारदूषिततया तथारूपगौरवाऽसम्भवात्।

लोए लोउत्तरे चेव, गुरवो मज्झ संमता।
मा हु मज्झावराहेण, होज्ज तेसिं लहुत्तया ॥ ३०७ ॥

मम गुरवो लोके लोकोत्तरेऽपि च संमतास्ततो ममापराधेन मा तेषां लघुता भूयात्।

तथा—

माणणिज्जो उ सव्वस्स, न मे कोई न पूयए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तणाए लहुतरो होऽहं, इति वज्जेति पावगं ॥ ३०८ ॥

अहं सर्वस्यापि माननीयः, न मां कश्चिन्न पूजयति, यदि पुनरधुना पापमाचरिष्यामि ततस्तृणेभ्योऽपि लघुतरो भविष्यामीति हेतोः पापं—मैथुनासेवनादिकं वर्जयति । गतं गौरवद्वारम् ।

अधुना धर्मश्रद्धाद्वारमाह—

आयसक्खियमेवेहं, पावगं परिवज्जए ।
अप्पेव दुट्ठसंकप्पं, रक्खा सा खलु धम्मतो ॥३०६ ॥

यः पापकमात्मसाक्षिकमेव विवर्जयति स परमार्थतो धर्माधिकारीत्येवं मन्यमानस्य,अपिः–सम्भावनायाम्, दुष्टसंकल्पस्य रक्षा मूलत एवानुत्थानमुत्थितस्य विफलीकरणं वा सा खलु धर्मतो भवति । (व्य०) (धर्मश्रद्धाया महत्फलतोपदर्शनम् ' धम्मसद्धा ' शब्दे चतुर्थभागे २७३३ पृष्ठे गतम् ।) तदेवमनभिनिर्वगडायां वसतौ वसतो लज्जादीनि संयमविराधनारक्षकाण्युक्तानि अभिनिर्वगडायां पुनर्वसतः शुभोऽशुभो वा मनःपरिणाम उपजायते ।

तथा चाह—

मणपरिणामो वीयी, सुभासुभो कंटएण दिट्ठंतो ।
खिप्पँ करणं जह लं–खियव्वं तहियं इमं होइ ॥३११॥

यथा गङ्गादीनां नदीनां वातेनानन्तरानन्तरमनेका वीचय उत्पद्यन्ते एवं जीवस्यान्योन्यमनःपरिणाम उपजायते, स च द्विधा–शुभः, अशुभश्च । अत्र दृष्टान्तः–कण्टकेन वृश्चिकलाङ्गूलेन । यथा वा—लङ्खिकायाः क्षिप्रं करणं तथैवमिदं भवति । एवं जीवस्य शुभोऽशुभश्च परिणामः क्षणेनोपजायते क्षणेनैवापैति इत्यर्थः ।

अथ कथं मनसोऽवस्थानमत आह—

परिणामाणऽवत्थाणं, सति मोहे उ देहिणं ।
तस्सेव उ अभावेणं, जायते एगभावया ॥ ३१२ ॥

मनःपरिणामानामनवस्थानं देहिनां—प्राणिनां सति–विद्यमाने मोहे भवति, तस्यैव तु मोहस्याभावेन जायते एकभावता—मनःपरिणामस्य एकरूपता, तदेवं मनःपरिणामो वीचिरूपो व्याख्यातः ।

इदानीं शुभाशुभपरिणामप्रतिपादनार्थमाह—

जहाऽववज्जिए मोहे, सुद्धलेसस्स झाइणो ।
तहेव परिणामो वि, विसुद्धो परिवड्ढए ॥ ३१३ ॥

यथा शुद्धलेश्याकस्य ध्यायिनो—धर्मध्यायिनः शुक्लध्यायिनो वा मोहोऽपचीयते तथैव विशुद्धपरिणामो विवर्द्धते । उक्तः शुभपरिणामः ।

अशुभपरिणामप्रतिपादनार्थमाह—

जहा य कम्मिणो कम्मं, मोहणिज्जं उदिज्जइ ।
तहेव संकिलिट्ठो से, परिणामो विवड्ढति ॥ ३१४ ॥

यथा च कर्म्मिणः संक्लिष्टलेश्यास्थानवर्त्तिन आर्त्तध्यायिनो; रौद्रध्यायिनश्चेत्यर्थः, कर्म–मोहनीयं कषायनोकषायरूपमुदीयते, तथैव ' से ' तस्य संक्लिष्टपरिणामो विवर्द्धते ।

सम्प्रति शुभाशुभपरिणामविवर्त्तनं दृष्टान्तेन भावयति—

जहा य अम्बुनाहम्मि, अणुवद्धपरंपरा ।
वीई उप्पज्जए एवं, परिणामो सुभोऽसुभो ॥ ३१५ ॥

यथा अम्बुनाथे–समुद्रे अनुबद्धपरम्परा वीचिरुत्पद्यते , एवं जीवस्य परिणामः शुभोऽशुभश्चानुबद्धपरम्पराक उपजायते ।

शुभाशुभपरिणामवैचित्र्यमेव दृष्टान्तेन विभावयिपुः कण्टकदृष्टान्तं प्रागुपन्यस्तं भावयति—

कण्हागामी जहा चित्ता, कण्टकं वावि चित्तियं ।
तहेव परिणामस्स, विचित्ता कालकण्डया ॥ ३१६ ॥

कृष्णागामी—कृष्णशृगाला, यथा—सा कृष्णादिभी रेखाभिश्चित्रा–विचित्रवर्णा भवति,वृश्चिकस्य–महाविषस्य लाङ्गूलः कण्टक उच्यते । यथा स कृष्णादिरेखाभिश्चित्रितो नानाप्रकारो भवति तथैव परिणामस्य विचित्राणि कालभेदेन कण्टकान्यसंख्येयस्थानात्मकानि भवन्ति ।

अथ कथं शुभादशुभे अशुभाद्वा शुभे परिणामे याति, तत्र लङ्खिकादृष्टान्तमाह—

लंखिया वा जहा खिप्पं, उप्पतित्ता समोयइ ।
परिणामो तहा दुविहो, खिप्पं एति अवेति य ॥३१७॥

यथा वा लङ्खिका क्षिप्रमुत्प्लुत्य,क्षिप्रमेव समवपतति, तथा परिणामो द्विविधः–शुभोऽशुभश्च क्षिप्रमागच्छति अपैति च ।

एवं शुभादशुभे अशुभाद्वा शुभे परिणामे गमनं क्रियन्ति संख्ययाऽध्यवसायस्थानानीति चेदत आह—

लेस्साठाणे उ एक्केक्के, ठाणासंखमतिच्छिया ।
किलिट्ठेणेतरेणं वा, जे उ भावेण खुंदती ॥ ३१८ ॥

एकैकस्मिन् लेश्यास्थाने संख्यामतिक्रान्तानि संख्यातीतानि स्थानानि–परिणामस्थानानि भवन्ति, यानि क्लिष्टेन—संक्लिष्टेन इतरेण–विशुद्धेन भावेन खुन्दति–आस्कन्दति प्राप्नोतीत्यर्थः । अथ कः संक्लिष्टः , को वा इतरो भाव इति चेत् ? , उच्यते—इह कृष्णलेश्यापरिणामो विशुद्धस्तस्मान्नीललेश्यामपरिणामो विशुद्धस्तस्मादपि कापोतलेश्यापरिणामो विशुद्धस्तस्मादपि तेजोलेश्यापरिणामो विशुद्धः , तस्मादपि पद्मलेश्यामपरिणामो विशुद्धः, ततोऽपि शुक्ललेश्यामपरिणामः । तथा शुक्ललेश्यापरिणामः क्लिष्टः, तस्मादपि पद्मलेश्यापरिणामः क्लिष्टः, तस्मात्तेजोलेश्यापरिणामः क्लिष्टः, तस्मादपि कापोतलेश्यापरिणामः, क्लिष्टः, ततोऽपि नीललेश्यापरिणामस्तस्मादपि कृष्णलेश्यापरिणामः । उक्तं च–क्रमशः स्थितासु लेश्यागतासु जीवस्य भावपरिणतिषु । अवपतनोत्पतनाद्वा, संक्लेशाद्वा विशोध्याद्वा ।

प्रत्येकैकस्मिन् लेश्यास्थाने परिणामसंख्यातीतत्वं भावयति—

भवसंघयणं चेव, ठितिं वाऽऽसज्ज देहिणं ।
परिणामस्स जाणिज्जा, विवड्ढी जस्स जत्तिया ॥३१६॥

भव एव संहननं भवसंहननं दृढभवं देहभवं चाधिकृत्येत्यर्थः। तथा स्थितिं च जघन्यादिभेदभिन्नमाश्रित्य देहिनां नारकादीनां यस्य–परिणामस्य कृष्णलेश्यादिरूपस्य यावती वृद्धिस्त–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्य तावती जानीयात्। तथाहि—नारकाणां देवतानां जघन्यायां स्थितौ कृष्णलेश्यापरिणामा नानाजीवापेक्षया तरतमभेदेन चिन्त्यमाना असंख्येयाः, एवं समयाधिकायामपि जघन्यस्थितौ,द्विसमयाधिकायामपि जघन्यस्थितावेवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टं स्थितिस्थानम्। एवं कृष्णलेश्यायां परिणामा असंख्येया भवन्ति।

एवं नीललेश्यागतस्य विशुद्धस्य भावस्य फलमाह—

विसुज्झंतेण भावेण, मोहो समवचिज्जइ।
मोहस्साऽवचए यावि, भावसुद्धी वियाहिया॥ ३२०॥

विशुध्यता भावेन-लेश्यागतेन मोहो-मोहनीयं कर्म्म समपचीयते—हानिमुपगच्छति। मोहस्यापचये चापि भावविशुद्धिर्जीवस्य परिणामविशुद्धिर्व्याख्याता-प्रतिपादिता यथा कालक्षेपमृते केवलश्रिया लाभो भवति।

अथ मोहनीयं कर्म्म उदयप्राप्तं शुभपरिणामेन क्षपयितुं शक्यते किं वा न शक्यते इति भ्रमः। तथा चाह—

उकढंतं जहा तोयं, सीयलेण उ छिज्जए।
गदो वा अगदेणं तु, वेरग्गेणं तहोदओ॥ ३२१॥

यथा उत्कथ्यमानं तोयं शीतलेन तोयेन क्षीयते, गदो वा अगदेन, तथा मोहनीयस्योदयो वैराग्येण क्षीयते। तदेवमुक्तं प्रसङ्गानुप्रसङ्गम्।

अधुना प्रकृते योजनमाह—

असुभोदयनिप्फण्णा, संभवंति बहुव्विहा।
दोसा एगाणियस्सेवं, इमे अन्ने वियाहिया॥ ३२२॥

अशुभोदयेन—अशुभकर्मोदयेन निष्पन्ना अन्तरुपाश्रयस्याभिनिर्वगडायां वसतावेवमेकाकिनो बहुविधा दोषाः, तदेवमन्तरुपाश्रयस्याभिनिर्वगडायां दोषा उक्ताः। संप्रति बहिरुपाश्रयस्याभिनिर्वगडायां दोषानाह—इमे वक्ष्यमाणा अन्ये दोषा एकाकिनो व्याख्याताः—प्रतिपादिताः।

तानेव द्वारगाथया संजिघृक्षुराह—

मिच्छत्तसोहिसागा—रियादिगेलण्णखद्धपडिणीए।
वहिपेल्लणित्थिवाले, रोगे तह सल्लमरणे य॥३२३॥

एकाकिनो मिथ्यात्वगमनम्, तथा शोधेरभावः,तथा सागारिकप्रवेशो वसतौ आदिशब्दाच्च—चलत्कुड्यां वसतौ कुड्यादिपतनत आत्मविराधनेति परिग्रहः, तथा ग्लानत्वे प्रतिजागरणाभावः, तथा एकाकिनो मन्दाग्नेर्निवारकाभावात् प्रचुरभक्षणसम्भवस्तथा च ग्लानत्वादिभावः, तथा एकाकी प्रत्यनीकस्य गम्यो भवति, तथा उद्भ्रामका दण्डपाशादयो नगररक्षका वा एकाकिनं चोरोऽयं हेरिको वा न ज्ञायते कथमन्यथा एकाकीति विचिन्तयन्तो बहिः प्रेरयेयुः—ग्रामान्नगराद्वा बहिर्निष्काशयेयुरिति भावः। तथा स्त्रीदोषा एकाकिनो जायन्ते, तथा व्यालेन दष्टस्य भिषजोऽकरणसंभवः, रोगस्य च वृद्धिगमनम्, तथा सशल्यस्य सतो मरणमित्येष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो मिथ्यात्वद्वारं शोधिद्वारं चाऽऽह—

ओगाढस्स सहायं तु, पण्णवेंति कुतित्थिया।
समावण्णो विसोहिं च, कस्स पासे करिस्सइ॥३२४॥

ओगाढमप्यसहायं कुतीर्थिकाः प्रज्ञापयन्त्यतो मिथ्यात्वगमनम्,तथा समापन्नः प्रायश्चित्तं कस्य पार्श्वे शोधिं करिष्यति नैव कस्यचित्पार्श्वे ततः शोध्यभावः।

सम्प्रति सागारिकद्वारं ग्लानद्वारं चाह—

भया आमोसगादीणं, सेज्जं वयति सारियं।
असहायस्स गेलण्णे, को से किच्चं करिस्सइ॥३२५॥

आमोषकादीनां भयात्तस्मिन्नेकाकिनि सति शून्यां शय्यां वसतिं दृष्ट्वा तां सागारिको व्रजति, द्वारगाथायामादिशब्दस्य व्याख्यानं तत्रैव कृतम्। तथा असहायस्य 'से' तस्य ग्लानत्वे सति कः कृत्यं करिष्यति।

खद्धाप्रत्यनीकप्रेरणद्वाराण्याह—

मंदग्गी भुंजए खद्धं, ऊसढं ति निरंकुसो।
एगो पदुट्ठगम्मो य,पेल्ले उब्भामया वणं॥३२६॥

एकाकी निवारकाभावाद् निरङ्कुशः 'ऊसढं' ति उत्कृष्टमिति कृत्वा मन्दाग्निः प्रचुरं भुङ्क्ते। ततो ग्लानत्वादिदोषसम्भवः,तथा एकः—असहायः प्रदुष्टस्य-प्रत्यनीकस्य गम्यो भवति। तथा उद्भ्रामका नगरादिरक्षका एकाकिनमसुं चौरादिरिति कृत्वा नगरादेर्बहिः प्रेरयेयुः।

अधुना स्त्रीद्वारमाह—

वभिचारिम्मि परिणते, निंति दट्ठूण समणवसहीतो।
पंतावणादगारो, उड्डाहो पतुसएमादी॥३२७॥

या व्यभिचारी नाम जारस्तस्मिन् परिणते सा स्त्री केनापि कारणेन संयतवसतिं गता भवेत्। ततः श्रमणवसतेस्तां निर्गच्छन्तीं दृष्ट्वा अगारः—तस्या भर्त्ता अन्यो वा निजको वाऽनिजको वा तस्यामाशङ्कः प्रता (प्रान्ता)पनादि-मारणादि कुर्यात्। तथा च सति प्रवचनस्य उड्डाहः। प्रतापनाद्यभावे तस्य दर्शनस्य वा सकलस्योपरि प्रद्वेष उपजायते, तथा च सति तस्यान्यस्य वा भक्तपानादिव्यवच्छेद इत्यादयो दोषाः।

सम्प्रति व्यालद्वारं रोगद्वारं चाह—

वालेण वा वि दट्ठस्स, से को कुणइ भेसजं।
दीहरोगे विवड्ढिं व, गतो किं सो करिस्सइ॥३२८॥

व्यालेन-सर्पादिना दष्टस्य 'से' तस्य को भेषजं करोति नैव कश्चिदेकाकित्वात्, तथा दीर्घरोगे कृत्याऽकरणतो विवृद्धिं गतः स पश्चात्किं करिष्यति नैव किंचित्केवलं मरिष्यतीत्यर्थः।

शल्यमरणद्वारमाह—

सल्लुद्धरणविसोही,मए य दोसा बहुस्सुए वाऽवि।
सविसेसा अप्पसुए, रक्खन्ति परोप्परं दोऽवि॥३२९॥

शल्योद्धरणविशोधेरेकाकिनः शल्योद्धरणाभावस्ततो मृतेऽपि च सशल्ये तस्मिन् दोषाः, तथाहि—सशल्यो यो म्रियते स दीर्घकालं संसारमनुवर्त्तते इति। बहुश्रुते वाऽप्येकाकिनि मृते दोषाः। तथाहि-सोऽप्येकाकी मृतो गृहिणा बलीवर्दाभ्यां मल्लेन,राजकुलेन वा निष्काश्यते। तथा वा लोकनिन्दाप्रवृत्ते प्रवचनव्याघातः।'सविसेसा अप्पसुए' इति अल्पश्रुते एकाकिनि सविशेषा दोषाः। तथाहि-बहुश्रुत आलोचनार्हाभावे सिद्धानामन्तिके आलोचयति, अल्पश्रुतस्त्वमुं विधिं न जानातीति सशल्य एव म्रियते। यदि पुनर्द्वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षपि बहुश्रुता (ऽल्पश्रुता) वभिनिर्वगडायां वसतौ परस्परं सम्भूय वसतस्तदा द्वावपि तौ परस्परं रक्षयतः ।

अधुना 'सविसेसा अप्पसुए' इत्येतद् व्याख्यानयति—

अप्पेव जिणसिद्धेसु, आलोएंतो बहुस्सुतो ।
अगीतो तमजाणंतो, ससल्लो जाति दुग्गतिं ॥ ३३० ॥

अप्येवमेवमपि-एकाक्यपीत्यर्थः । बहुश्रुतो जिनेषु अर्हत्सु सिद्धेषु मनसि संप्रधारितेषु तेषां पुरत आलोचयिष्यति, अगीतोऽबहुश्रुतः पुनस्तं विधिमजानन् सशल्यो मृत्वा याति दुर्गतिमतः सविशेषोऽल्पश्रुते ।

सम्प्रति 'रक्खन्ति परोप्परं दोऽवि'
त्ति व्याख्यानार्थमाह—

सीहो रक्खइ तिणिसे,तिणिसेहि व रक्खितो तहा सीहो।
एवसमणसहिया, बिइयमद्धाणमादीसुं ॥ ३३१ ॥

सिंहो रक्षति तिनिशान्, तिनिशवृक्षगुहां तिनिशैरपैति, तिनिशवृक्षगुहयाऽपि सिंहो रक्ष्यते, एवमाभिनिर्वगडायां वसतौ वसन्तावन्योन्यसहितौ परस्परं रक्षयतः । अत्रैवापवादमाह- द्वितीयपदम्—अपवादपदमध्वानं प्रतिपन्नकारणेनैकाकी अन्यसम्भोगिकादीनां पार्श्वस्थादीनां वा वसतेर्विष्वक् अपवरके निवेशनादिषु वा वसेत् । आदिशब्दादशिवादिगृहीतो वा विष्वक् तिष्ठेत् ।

से गामंसि वा० जाव संनिवेसंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए कप्पति बहुस्सुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए उभओ कालं भिक्खुभावं पडिजागरमाणस्स ॥ ७ ॥

'से गामंसि वा ०जाव रायहाणिंसि वा' इत्यादि
अस्य सूत्रस्य सम्बन्धप्रतिपादनार्थमाह—

कारणतो वसमाणो, गीतोऽगीओ व होति निद्दोसो ।
पुव्वं च वण्णिया खलु,कारणवासिस्स जयणाउ॥३३२॥

कारणतो गीतार्थोऽगीतार्थो वा यतनया वसन् निर्दोषो भवति । सा च यतना कारणत एकाकिनो वसनशीलस्य पूर्वमुक्ता । एतदर्थख्यापनार्थमिदं सूत्रम् ।

अधुना सूत्रत एव सम्बन्धमाह—

सुत्तेणेव उ सुत्तं, जोइज्जइ कारणं तु आसज्ज ।
संबंधघरुव्वरए, कप्पइ वसिउं बहुसुयस्स ॥ ३३३ ॥

सूत्रेणैव सूत्रं योज्यते-सम्बध्यते, तद्यथा—अनन्तरसूत्रेणैकाकिनो बहुश्रुतस्य वासो निषिद्धोऽनेन तु सूत्रेणेदं प्रतिपाद्यते—कारणमाश्रित्याध्वप्रतिपत्त्यादिकं सम्बन्धगृहोद्वरके बहुश्रुतस्य वस्तुं कल्पते, इत्येष सूत्रसम्बन्धः । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य (७) व्याख्या-अथ ग्रामे वा नगरे वा यावद् राजधान्यामेकवगडायामेकपरिक्षेपायामेकद्वारायामेकनिष्क्रमणप्रवेशायां वसतौ बहुश्रुतस्य बह्वागमस्य भिक्षोर्वस्तुं कल्पते, केवलमुभयकालं भिक्षुभावं प्रतिजाग्रतो—भिक्षुभावश्चारित्रं तस्याऽविराधनार्थं या सामाचारी तां कुर्वत इत्येष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अधुना भाष्यनिर्युक्तिविस्तरस्तत्र भिक्षुभावम् 'पडिजागरमाणस्से' ति व्याख्यानार्थमाह भाष्यकृत्—

चरणं तु भिक्खुभावो, सामायारीएँ जा तदट्ठाए ।
पडिजागरणं तम्हा, उभओ कालं अहोरत्तं ॥ ३३४ ॥

भिक्षोर्यथावस्थितस्य भावो भिक्षुभावः-चरणं तदर्थं तस्य चारित्रस्याविराधनार्थं या सामाचारी तस्याः प्रतिजागरणं- नाम करणम्, उभयकालमह्नि रात्रौ च आचार्योऽपि तस्यैवं भिक्षुभावं प्रतिजाग्रतो गोसे रात्रिकं पृच्छति । दिवसेऽपि भक्तपानादिचिन्तां करोति, विकाले च दैवसिकं पृच्छति, सुखेन वृत्तस्तव दिवस इति, एवमुभयकालमाचार्यस्तं प्रतिजागर्त्ति ।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः—

वक्खारे कारणम्मि, निक्कारणेँ पुव्ववण्णिया दोसा ।
किं पुण हुज्जा कारण, तद्दोसाई मुणेयव्वा ॥ ३३५ ॥

वक्षारो नाम एकस्यां वलभ्यामभिनिर्वगडो विष्वक् अपवरकस्तस्मिन् कारणे सति वसति, एतद्विषयमिदं सूत्रम् । यदि पुनः कारणमृते विष्वगपवरके वसति तदा पूर्ववर्णिता मिथ्यात्वादयो दोषाः । किं पुनर्भवेत्तत्कारणं यद्वशात् पृथक् अपवरके तिष्ठति, तत आह —त्वग्दोषादीनि- त्वग्दोषक्षयव्याध्यादीनि कारणानि ज्ञातव्यानि । तथाहि- त्वग्दोषादिकमाचार्यो यदि निष्काशयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम्. तस्मान्न स निर्यूहयितव्यः किं तु-पृथगपवरके स्थितः परिपालनीयः । स च त्वग्दोषो द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां भवति । (व्य०) (एतद्विषया गाथा 'तद्दोस' शब्दे चतुर्थभागे २१८ पृष्ठे गता) तद्व्याख्या चेयम्—द्विविधस्त्वग्दोषस्तद्यथा-स्यन्दमानः, अस्यन्दमानश्च । तत्रास्यन्दनः-अस्रावणश्चित्रप्रसुप्तिमण्डलप्रसुप्तिश्च । यस्तु स्यन्दमानः स कृमीन् प्रस्यन्दते, पूतं वा रसिकां वा । तत्र स्यन्दमाने त्वग्दोषे इयं वक्ष्यमाणा यतना ।

तामेवाह—

संदंते वक्खारो, अंतो बाहिं च सारणा तिण्णि ।
जत्थ विसीदेज्ज ततो, णाणादी उग्गमादी वा ॥३३७॥

स्यन्दमाने त्वग्दोषेऽन्तरस्यां वलभ्यां विष्वगपवरके, तस्याभावे एकस्मिन्निवेशने अन्यस्यां वसतौ स्थाप्यते । तत्र च वसतस्तिस्रः सारणाः—साराः कर्त्तव्याः । यत्र सको विसीदेत् । कास्तास्तिस्रः सारा इत्याह-ज्ञानादौ—ज्ञाने, दर्शने, चारित्रे च । अथवा—उद्गमादौ—उद्गमे उत्पादनायामेषणायां वा ।

अथवा अन्यथा तिस्रः सारास्ता एवाह—

अहवा भत्ते पाणे, सामायारीएँ वा विसीयंतं ।
एएसुं तिसु सारे, तिन्नि वि काले गुरू पुच्छे ॥ ३३८ ॥

अथवेति प्रकारान्तरे भक्ते पाने सामाचार्यां च, एतेषु त्रिषु स्थानेषु सीदन्तं सारयत्याचार्यः । यदि वा—तिस्रः सारा नाम त्रीनपि कालान् गुरुः पृच्छति ।

कथमित्याह—

गोसे केरिसयन्ति य,कयमकयं वाऽवि किं ति आवासं।
भिक्खं लद्धमलद्धं, किं देज्जउ वातेँ मज्झण्हे ॥३३९॥
पेहियमपेहियं वा, वट्टइ ते केरिसं व अवरण्हे ।
निज्जूहणम्मि गुरुगा,अविही परियट्टणे वाऽवि ॥३४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गोसे-प्रातः इदं पृच्छति-कीदृशं ते शरीरमिति, तथा त्वया किमावश्यकं कृतमकृतं वा । तथा मध्याह्ने पृच्छति—भैक्षं त्वया लब्धमलब्धं वा तव दीयतामिति । तथा अपराह्ने पृच्छति—किं तवोपकरणं केनापि त्वया वा प्रेक्षितं किं वा न प्रेक्षितं कीदृशं वा ते शरीरमिति । यदि पुनरेवं सारां न करोति किं त्वेवमेव परित्यजति, तदा गुरोः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । अनिर्यूहणेऽपि यद्यविधिना परिवर्तनं-परिपालनं कारयति तदाऽपि चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ।

आणादिणो य दोसा, विराहणा हो इमेहिँ ठाणेहिं ।
पासवणफासलाला, सेए मरुएण दिट्ठंतो ॥ ३४१ ॥

न केवलं प्रायश्चित्तं किं त्वाज्ञादयो दोषाः, तथा एभिर्वक्ष्यमाणैः स्थानैर्विराधना साधूनामात्मविराधना भवति । कैः स्थानैरित्याह—प्रश्रवणेन तस्य स्यन्देन लालया खेदेन-प्रखेदेन, तथाहि-स्यन्दमानत्वग्दोषवतः प्रश्रवणस्पर्शनेनापि व्याधिरन्यत्र संक्रामति । तथा गात्रस्पर्शनेन, यदिवा-तेन व्याधितेन ये परिभुक्ताः पीठफलकादयस्तान् यद्यव्याधिनः परिभुञ्जते तदा व्याधिः संक्रामति,तथा लालया सह भोजने व्याधिः संक्रामति तस्य प्रखेदेन यदि कोऽपि स्पृश्यते तदा तस्यापि व्याधिः सञ्चरति । अत्र दृष्टान्तो मरुकेण सेडुकब्राह्मणेन तत्कथानकं चावश्यके प्रबन्धतः कथितमिति । ततोऽवधार्यम् ।

साम्प्रतमेतदेव पश्चार्द्धं व्याचिख्यासुः प्रथमतः प्रश्रवणे यतनामाह-

पासवणअन्न असती, भूतीए लक्खमा हु दूसियं मोयं ।
चलणतलेसु कमेज्जा, एमेव य निक्खमपवेसो ॥३४२॥

तस्य-स्यन्दमानत्वग्दोषवतः पृथक् कायकीभूमिः कर्त्तव्या, अन्यस्या विष्वक् प्रश्रवणभूमेरसति—अभावे एकस्या एव कायिक्या भूमेस्तस्य योग्यं पृथक् अवकाशं भूत्या लक्षयति वृषभः । यथा साधवस्तं परिहरन्ति । तथा चाह—मा कोऽपि त्वग्दोषव्याधितस्य दूषितं मोकं—प्रश्रवणं पादैराक्रमेत् । आक्रमणे को दोष इत्यत आह । आक्रान्ते तस्य प्रश्रवणे चरणतलेषु—पादतलेषु त्वग्दोषव्याधिः संक्रामति, तथा तस्य—त्वग्दोषव्याधितस्य येनावकाशेन निष्क्रमणं प्रवेशो वा तमवकाशं भूत्या लक्षयति, येन साधवस्तमपि परिहरन्ति । अपरिहरणे अनन्तरोदित एव दोषः ।

निंती व सो काउ तली कमेसुं,
संथारतो दूरँ असंदणेऽन्नी ।
मा फासदोसेण कमेज्ज तेसिं,
तत्थिकवत्थादि परीहरंति ॥ ३४३ ॥

स स्यन्दमानत्वग्दोषी क्रमयोः-पादयोस्तलिके—उपानहौ कृत्वा निर्गच्छति प्रविशति वा । योऽप्यस्यन्दमानत्वग्दोषी तस्यापि कायिकीभूमिर्विष्वक् क्रियते न पुनः पृथग्भूमिर्निर्गमप्रवेशस्थानम् । सम्प्रति स्यन्दमानस्यास्यन्दमानस्य च स्पर्शविषयां साधारणां यतनामाह—अस्यन्दनेऽपि त्वग्दोषे आस्तां स्यन्दमाने इत्यपि शब्दार्थः । संस्तरको दूरे क्रियते, मा स्पर्शदोषेण तेषां शेषसाधूनां व्याधिः संक्रमेदिति हेतोः, तथा न केवलं दूरे संस्तारकः क्रियते; किंतु-तेन त्वग्दोषवता यत्स्पृष्टं वस्त्रादि तत्परिहरन्ति पूर्वोक्तादेव दोषात् । तदेवं प्रश्रवणयतना स्पर्शयतना च सप्रपञ्चोक्ता ।

सम्प्रति लालास्वेदयतनामाह—

न य भुंजते गढ्ढा, लालादोसेण संकमति वाही ।
सेदो से वज्जिज्जइ, जल्लपडलंतरप्पो य ॥ ३४४ ॥

न च एकार्थे-एकस्मिन्पात्रे तेन त्वग्दोषवता सह साधवो भुञ्जते, कुत इत्याह-यतो लालादोषेण संक्रामति व्याधिः । तथा 'से' तस्य त्वग्दोषवतः स्वेदः-प्रस्वेदो वर्ज्यते, तथा जल्लः शरीरमलस्तथा तत्सत्कानि पात्रपटलानि, तथा आन्तरकल्पश्च परिह्रियते व्याधिसंक्रमभयात् ।

तथा चाह—

एएहि कमइ वाही, एत्थं खलु सेडुएण दिट्ठंतो ।
कुट्ठखयकच्छुयसिवं, नयणामयकामलादीया ॥ ३४५ ॥

एतैर्जल्लादिभिर्व्याधिः—त्वग्दोषव्याधिः संक्रामति । अत्र दृष्टान्तः खलु सेडुकेन, तत एतानि परिह्रियन्ते । किं नाम त्वग्दोष एव उतान्यस्मिन्नपि रोगे, तत आह—कुष्ठेषु क्षयव्याधौ कच्छ्वाम्—पामायाम् अशिवे-शीतलिकायां नयनामये-नयनरोगे; कामलादौ-एषा अनन्तरोदिता प्रश्रवणादिविषया यतना द्रष्टव्या ।

एसॉ जयणा बहुस्सुय,अबहुस्सुय न कीरते तु वक्खारो ।
ठावेंति एगया से, अपरीभोगम्मि उ जतीणं ॥ ३४६ ॥

एषा—अनन्तरोदिता यतना बहुश्रुते द्रष्टव्या, अबहुश्रुतेऽप्येवम्, नवरं स संबद्धगृहापवरके स्थाप्यते, भिन्नस्तु वक्षारः-अपवरको न क्रियते, सम्बद्धगृहापवरकाभावे वसतेरेकस्मिन् यतीनामपरिभोग्ये तं स्थापयन्ति, अपान्तराले कटो दीयते, कटाभावे भूत्या अन्तरं क्रियते ।

अथ किं कारणमबहुश्रुतो बहिर्न क्रियते, तत आह—

विवज्जितो उज्झविवज्जएहिं,
मा वाहि भावं, अबहुस्सुतो उ ।
कट्ठाए भूती व तिरो करेंति,
मा एक्कमेक्कं सहसा फुसेज्जा ॥ ३४७ ॥

उज्झविवर्जकैरहं विवर्जितः—परिहृत इत्येवमबहुश्रुतो मा बहिर्भावमुपयासीदिति भिन्ने अपवरके न स्थाप्यते, किं तु-वसतेरेकस्मिन् प्रदेशे, तत्रापि काष्ठादिना फलकादिरूपेण, तदभावात् भूत्या वा अन्तरं कुर्वन्ति । मा एकैकेन त्वग्दोषेण साधवः सहसा स्पृशेयुः ।

अस्यन्दमानत्वग्दोषे विधिविशेषमाह—

अगलंते न वक्खारो, लालासेयादि वज्जणँ तहेव ।
उस्सासभाससयणा-सणादिहिं होंति संकंतं ॥ ३४८ ॥

अगलति-अस्यन्दमाने त्वग्दोषे पृथग् वक्षारः—अपवरको न लालास्वेदादीनामादिशब्दादुच्छ्वासभाषाशयनासनादिपरिग्रहः, वर्जनं तथैव यथा प्रागभिहितं गलति त्वग्दोषे । तस्मादुच्छ्वासादीनां वर्जनमत आह—उच्छ्वासभाषाशयनासनादिभिरादिशब्दात्—पीठफलकादिपरिग्रहः संक्रान्तिर्व्याधेर्भवति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुत्तूण जल्लपडलं, धरेंति भाणं सें काइयाइगते ।
सीए व दाउकप्पं, उवरिमधो तं परिहरंति ॥३४९॥

यदि स त्वग्दोषव्याध्युपेतः कायिक्या व्युत्सर्गाय व्रजति, भाजनं च तस्य धारयितव्यं भवति तदा 'से' तस्य कायिक्यागतस्य मुक्त्वा स्फेटयित्वा जल्लपटलं भाजनमलखरण्टितं पटलमन्ये साधवो धरन्ति यावत्स आयाति । अथ स त्वग्दोषी ग्लानः शीते पतति नाऽऽत्मीयैर्वस्त्रैः कम्बलेन च संस्तरति,तदा तस्य कल्पं वस्त्रं प्रावरणाय दीयते । सोऽपि च त्वग्दोषी आत्मीयानां वस्त्रकल्पानामुपरि प्रावृणोति, तच्च समर्पितं वस्त्रमधौतं परिहरन्ति । यदा तु तद्वस्त्रमात्मना प्रावरीतुकामास्तदा प्रक्षाल्य प्रावृण्वन्ति ।

असहुस्सुव्वत्तणादीणि, कुव्वतो छिक्कु जत्तियं ।
खेयमकुव्वंत धोइज्जा, मट्टियादीहिँ तत्तियं ॥ ३५० ॥

असहस्य—त्वक्दोषव्याधितस्यागाढं ग्लानीभूतस्योद्वर्त्तनादि-'उद्वर्त्तनमुपविष्टीकरणमि' त्यादि कुर्वतो यावत्स्पृष्टं त्वग्दोषगात्रादिना तावत् खेदमकुर्वन् मृत्तिकादिभिरुद्घृष्य प्रक्षालयेत् ।

असती मोयमहीए, कयकप्पऽगलंत मत्तए निसिरे ।
तेणेव य कयकप्पे, इतरे निसिरंति जयणाए ॥३५१॥

मोकमह्याः-प्रश्रवणभूमेरभावे अगलत्यस्त्राविणि कृतकल्पे मात्रके व्युत्सृजति प्रश्रवणम् , अन्ये साधवोऽन्यस्मिन् मात्रके । पृथग्मात्रकाभावे तेनैव यत्र त्वग्दोषी व्युत्सृष्टवान् तत्रैव कृतकल्पे मात्रके इतरे साधवो यतनया यथा कायिक्या मात्रस्य च शरीरावयवस्पर्शो न भवति तथा कायिकीं निसृजन्ति ।

एसा जयणा उ तहिं, कालगते पुण इमो विही होई ।
अंतरकप्पं जल्लप-डलं च अगलंति उज्झंति ॥३५२॥

एषा-अनन्तरोदिता यतना तत्रगलत्यगलति वा । त्वग्दोषवति कालगते पुनस्त्वग्दोषवति विधिरयं वक्ष्यमाणो भवति तत्र प्रथमतोऽगलत्याह—आन्तरं कल्पं भाजनस्य जल्लपटलमुपरितनवस्त्रमेते द्वे अपि वस्त्रे उज्झन्ति—परिष्ठापयन्ति ।

किं कारणमत आह—

धोया वि न निद्दोसा, तेण छड्डेंति ते दुवे ।
सेसगं तु कए कप्पे, सव्वं से परिभुञ्जइ ॥३५३॥

प्रक्षालिते अपि ते वस्त्रे न निर्दोषे तेन छर्द्यते-परिष्ठाप्येते शेषकं तु सर्वमपि 'से' तस्य कृते कल्पे परिभुज्यते दोषाभावात् ।

गलति त्वग्दोषे विधिमाह—

संदंतस्स वि किंचण, असतीए मोत्तुभायणुक्कोसं ।
लेवड्डगमवणित्ता, अण्णमयं धोविउं लिंपे ॥३५४॥

स्यन्दमानस्यापि—स्यन्दमानत्वग्दोषवतो यत्किञ्चनास्ति तत्सर्वं परिष्ठाप्यते, केवलं यदि भाजनं नास्ति सति वा भाजने यदि तद्भाजनं सलक्षणं तदा तदेकभाजनमुत्कृष्टं मुक्त्वा शेषं परिष्ठाप्यते । तत्रापि लेपमष्टकं चापनीय उष्णोदकादिभिः प्रक्षाल्यान्यमयमिव कृत्वा पुनः लिम्पेत् , ततः परिभुञ्जीत ।

अगलंतमत्तसेवी, असतीए कप्पे काउ भुञ्जंति ।
एसा जयणा उ भवे, सव्वेसिं तेसि नायव्वा ॥ ३५५ ॥

यदि कायिकीभूमिर्न विद्यते, बहिश्च सागारिकस्तथा शेषसाधूनामरोगाणां मात्रकमगलन्—अस्यन्दमानत्वग्दोषवान्सेवेत । किमुक्तं भवति—कायिकीं तस्मिन्मात्रके व्युत्सृजति,ततः कृते कल्पेऽरोगास्तस्मिन् व्युत्सृजन्ति । यदि पुनरकृते कल्पे व्युत्सृजन्ति तदा प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम् । एषा यतना सर्वेषां गलत्त्वग्दोषिणामन्येषां च क्षयव्याध्याद्युपेतानां ज्ञातव्या । व्य० ६ उ० । (उदकतीरे वस्तुं न कल्पते इति 'दगतीर' शब्दे चतुर्थभागे २४४२ पृष्ठे व्याख्यातम्)

(२४) शीतोदकशय्यामनुप्रविशति—

जे भिक्खू सीओदगसेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

सह उदयेण सउदया, उपेत्य गच्छति उपागच्छति । साइज्जणी दुविधा—अणुमोयणा, कारावणा य तिसु वि ।

गाहा—

अह सउदगा उ सेज्जा, जत्थुदगं जा य दगसमीवम्मि ।
एयासिं पत्तेयं, दोण्हं पि परूवणं वोच्छं ॥ १२९ ॥

अथेत्ययं निपातः सागारिकस्यानन्तरभेदप्रदर्शने, निपतति जत्थ गदं ति पाणियघरे प्रवादिजाए वा सेज्जाए दगसमीवे सा चिट्ठइ तओ तत्थ जत्थ उदगं तं ताव परूवेमि । जत्थ णाणाविहा उदया अच्छंति अमी ।

गाहा—

सीतोदे उसिणोदे, फासुगमफासुगे य चउभङ्गा ।
ठायंते चउलहुगा, काम अगीयत्थसुत्तं ति ॥ १३० ॥

सीतोदगं फासुयं, सीतोदगं अफासुयं, उसिणोदगं फासुयं, उसिणोदगं अफासुयं । पढमभंगे उसिणोदगं सीतीभूतं चउलोदगाति वा । वितियभंगे सच्चित्तोदगं चेच, ततियभंगे उसिणोदगं, उव्वत्तं भंडं चउत्थभंगे ता वा उदगाणि । पढमततियभंगे ठायंतस्स मासलहुं,वितियचउत्थेसु चउलहुं । एयं कस्स पच्छित्तं । आयरिओ भणइ—एयं अगीयस्स पच्छित्तं ।

फासुगस्स इमं वक्खाणं । गाहा—

सीतितरफासु चउहा, दव्वे संघट्टमीसगं खेत्ते ।
कालतो पोरिसिपरा, तवणादी परिणतं भावे ॥१३१॥

जं सीतोदगं फासुयं इयरं ति जं उण्होदगं फासुयं तं चउव्विहं—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ य । दव्वओ जं गोरससंसट्ठे भायणे छूढं सीतोदगं तं, तेण गोरससंसट्ठेण परिणामियं दव्वतो फासुयं । खेत्तओ जं कूवतलागाइसु ठियं मधुरं लवणेण मीसिज्जाति, लवणेणं वा मधुरेण वा । कालतो जं इंधणे छूढे पहरमेत्तेण फासुयं भवति । भावओ जं वण्णं रसं गंधं फरिसविप्परिणयं । भावतो जं फासुयं वुत्तं तत्थ जो अगीयत्थो भिक्खू ठाति तस्स एयं पच्छित्तं । नि० चू० १६ उ० ।

सचित्तकर्मणि उपाश्रये न वसेत्—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए ॥ २० ॥ कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए ॥ २१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह–

पढमचउत्थवयाणं, अतिचारो होज्ज दगसमीवम्मि ।

इह वि य हुज्ज चउत्थे, सचित्तकम्मे स संबंधो ॥ २६२ ॥

प्रथमचतुर्थव्रतयोरप्कायपानस्त्रीपशुसंसर्गादिभिरतिचारो दकसमीपे तिष्ठतां भवेदिति कृत्वा तत्र न तिष्ठतीत्युक्तम् । इहापि च सचित्रकर्मणि प्रतिश्रये तिष्ठतां चतुर्थव्रतस्यातिचारो भवेदिति कृत्वा तत्र न तिष्ठतीत्यनेन प्रतिपाद्यत एष संबन्धः ।

प्रकारान्तरेण तमेवाह–

नो कप्पइ जागरिया, चिट्ठणमाईपया य दगतीरे ।

चित्तगयमाणसाणं, जागरिकाया कुतो अहवा ॥ २६३ ॥

नो कल्पते जागरिका-धर्मध्यानं स्थानं-स्थाननिषीदनादीनि दकतीरे कर्तुमित्युक्तम् , इह तु चित्रगतमानसानां कुतो जागरिकास्वाध्यायौ संभवत इत्ययम् , अथवा-द्वितीयसंबन्धः । अनेन संबन्धद्वयेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा सचित्रकर्मणि-चित्रकर्मणा संयुक्ते उपाश्रये वस्तुम् , कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अचित्रकर्मणि उपाश्रये वस्तुमिति सूत्रार्थः ॥ २०-२१ ॥

अथ भाष्यविस्तरमाह–

निद्दोससदोसे वा, सचित्तकम्मे उ दोस आणादी ।

सइकरणं विकहा वा, बिइयं असतीएँ वसहीए ॥ २६४ ॥

निर्दोषे वा सदोषे वा सचित्रकर्मणि प्रतिश्रये तिष्ठतामाज्ञादयो दोषाः, यत्र तादृशे वा चित्रकर्मखचिते वेश्मनि पूर्वभोगान् बुभुजिरे, तेषां स्मृतिकरणमुपलक्षणत्वादितरेषां कौतुकमुपजायते । विकथा वा तत्र वक्ष्यमाणलक्षणा भवेत् । द्वितीयपदं चान्यवसतावसत्यां तत्रापि वसेत् ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्याति–

तरुगिरिनदीसमुद्दो, भवणा वल्ली लया विताणा य ।

निद्दोसचित्तकम्मं, पुण्णकलससोत्थियादी य ॥ २६५ ॥

तरवः–सहकारादयो गिरयो–हिमवदादयो नद्यो–गङ्गासिन्धुप्रभृतयः समुद्रो–लवणोदादिकः भवनानि–गृहाणि वल्ल्यो–नागवल्ल्यादयः लता–माधवीचम्पकलतादयः तासां वितानं–निकुरम्बं तथा पूर्णकलशस्वस्तिकादयश्च ये माङ्गलिकाः पदार्थाः, एतेषां रूपाणि यत्रालिखितानि तच्चित्रकर्म निर्दोषं ज्ञातव्यम् ।

अथ सदोषमाह–

तिरियमणुयदेवीणं, जत्थ य देहा भवंति भित्तिकया ।

सविकार निव्विकारा, सदोसचित्तं हवइ एयं ॥ २६६ ॥

तिर्यग्मनुजदेवीनामिति तिरश्चीनां मानुषीणां देवीनां चेत्यर्थः, एतासां देहाः सविकारा वा यत्र भित्तौ कृता–आलिखिता भवन्ति एतच्चित्रकर्म सदोषं भवति ।

अथात्रैव तिष्ठतां प्रायश्चित्तमाह–

लहुगुरु चउण्ह मासो, विसेसितो गुरुगो आदि छल्लहुगो ।

चउलहुगादी छग्गुरु, उभयस्स वि दुविहचित्तम्मि ॥ २६७ ॥

निर्दोषे चित्रकर्मणि तिष्ठतां चतुर्णामपि तपःकालविशेषितो लघुमासः । तद्यथा-आचार्यस्य द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां गुरुकः । उपाध्यायस्य तपोगुरुकः काललघुकः, वृषभस्य कालगुरुकः तपोलघुकः, भिक्षोर्द्वाभ्यामपि लघुकः । निर्ग्रन्थीनामपि निर्दोषे चित्रकर्मणि तिष्ठन्तीनां प्रवर्त्तिनीगणावच्छेदिन्याभिषेकाभिक्षुणीनामेवं तपःकालविशेषितो गुरुको मासः । निर्ग्रन्थाः सदोषे चित्रकर्मणि यदि तिष्ठन्ति तदा गुरुको मासः आदौ क्रियते, षड् लघुकश्च पर्यन्ते । तद्यथा-भिक्षोर्मासगुरुकम् , वृषभस्य चतुर्लघुकम् , उपाध्यायस्य चतुर्गुरुकम् , आचार्यस्य षड् लघुकम् । निर्ग्रन्थीनां तु सदोषे चित्रकर्मणि तिष्ठन्तीनां चतुर्लघुकमादौ कृत्वा षड्गुरुकान्तं प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-भिक्षुण्याश्चतुर्लघुकम् , अभिषेकायाश्चतुर्गुरुकम् , गणावच्छेदिन्याः षड्लघुकम् , प्रवर्तिन्याः षड्गुरुकम् । एवमुभयस्यापि-निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीवर्गस्य द्विविधे चित्रकर्मणि प्रायश्चित्तं ज्ञातव्यम् ।

अथ विकथापदं व्याख्यानयति–

दिट्ठं अन्नत्थ मए, चित्तं तं सोभणं न एयं ति ।

इति विकहापलिमंथो, सज्झायादीण कलहो या ॥ २६८ ॥

तत्र चित्रकर्म दृष्ट्वा कश्चित्साधुर्ब्रूयात्–मया पूर्वमन्यत्र चित्रकं दृष्टं तच्च शोभनं वर्णकरेखादिशुद्ध्या रमणीयम् , न पुनरेतत् प्रत्यक्षोपलभ्यमानम् । तदाकर्ण्य द्वितीयस्साधुर्ब्रूयात्-मुग्धबुद्धे! किं जानीते इत्थम्-इदमेव रमणीयम् इत्येवम् विकथा संजायेत । ततश्च स्वाध्यायादीनां परिमन्थः कलहश्चोभयोरप्युत्तरप्रत्युत्तरिकां कुर्वतोरुत्पद्यते । यत एते दोषास्तस्मान्न स्थातव्यम् ।

द्वितीयपदं वसतावसत्यामिति द्वारं भावयति–

अद्धाण निग्गयाई, तिपरिरिया असइ अन्नवसहीए ।

तरुणे करिंति दूरे, निच्चावरिए य ते रूवे ॥ २६९ ॥

अध्वानिर्गतादयस्त्रीन् परिरयान्परिभ्रमणेन कृत्वा यदि युक्ता निरुपहता वसतिर्न प्राप्यते ततः सचित्रकर्मके उपाश्रये तिष्ठन्ति । तत्र च प्रथमं निर्दोषे पश्चात् सदोषेऽपि ये च तरुणास्तान् चित्रकर्मणो दूरतः कुर्वन्ति, तानि च रूपाणि नित्याश्रितानि सदैव चिलिमिलिकया प्रच्छादितानि कुर्वन्ति । नापावृतानि तानि स्थापयतीत्यर्थः । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

(२५) यत्र राजा तिष्ठति तत्रोपाश्रये न वसेत्–

जे भिक्खू अह पुण एवं जाणेज्जा–इह जक्खतिए परिवुसिए जे भिक्खू ताए गिहाए ताए विहाराए ताए पएसाए ताओ वासंतरा य विहारं वा करेइ, सज्झायं वा करेइ, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ, उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणायरियं असमणपउग्गकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

अथेत्ययं निपात उक्तः । पिण्डः वसहिविसेसिणे पुणसद्दो यथा वक्ष्यमाण एवं जाणेज्जा ' ज्ञा ' अवबोधने, इहभूप्रदेशे अद्येति वर्त्तमानदिने 'परितुसे' पर्युसिते वसेदित्यर्थः । जे भिक्खू तस्मिन् गृहे निकृष्टतरो अपवरकादिप्रदेशः तस्मिन्नपि निकृष्टतरः खल्वा स्थानं अवकाशः–विहारादि पकरेज्ज तस्स–ह्न ।

गाहा–

राया उज्जहि उसिते, तेसु पएसेसु बितियदिवसादी ।

जे भिक्खू विहरेज्जा, अहवा वि करेज्ज सज्झायं ॥ ६१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असणादी वाऽऽहारे, उच्चारादीणि वोसिरेज्जा वा।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥६२॥

आणादिणो दोसा तस्मिन् गृहे यस्मिन् राजा स्थितः आगेएहा इति आसीत्ततो राया उच्चारियाओ रक्खिज्जंति तत्थ गहणादयो दोसा। अह उच्चारपासवणे परिट्ठवेति ताहे तमेव छन्नं विज्जति।

गाहा-

पम्हुट्ठ अवहितो वा, संका अभिचारुगंध किं कुणति।
इति अभिनववुच्छम्मि,चिरवुच्छ विऽपत्तआणादी ।६३।

तत्थ किंचि पम्हुट्ठं। पम्हुट्ठं णाम-पडियं वीसरियं वा किंचि होज्ज। अषेण वि अवहरिते संकिज्जति। पम्हुट्ठस्स हरणबुद्धिए इंदियट्ठिया उच्चाटणवसीकरणाणि एस एत्थ ठितो अभिचारुअं करेति। अहिणवपवुच्छे एते दोसा, चिरपवुच्छे अपत्तियं गहणादिया दोसु वि।

गाहा-

अहवा मचित्तकम्मे, दट्ठूणो कारिते तु ते दिट्ठे।
अत्थाणी वासहरे, णु वणो संवाहितो वधइं ॥३४॥

तासु सचित्तकम्मासु वसहीसु अणारिसो भावो समुप्पज्जति, एत्थ अत्थाणि मंडा वा एत्थ सेवासंघरं एत्थ णिवणो एत्थ संवाधितो एवमादिट्ठाणा दिट्ठं।

गाहा—

भुत्ताऽभुत्ताण तहिं, हवंति मोहुब्भवेण दोसाओ।
पडिगमणादी जम्हा, एए उय विवज्जेज्जा ॥६५॥

भुत्तभोगीणं तं सुमरिउं मोहुब्भवो भवे। इतरेसिं काउं णेण कारणेण।

गाहा—

वितियपदमणप्पज्झे,उस्सण्णाइं न संभमा एसा।
जयणा अणुप्पवेत्ता, करेज्ज विहारमादीणि ॥६६॥

अणवज्जो सव्वाणि वि करेज्ज। उस्सण्णं णाम तत्थ कोतिचारं वहति ; प्रभूतमित्यर्थः। अइसं स च लोगो आयरति अन्नवसहीए अभावे अग्गिमादिसंभमे वा वोहिगमादिभए वा जयणाए तप्पडियरगे अणुप्पवेत्ता विहारमादीणि करेति। नि० चू० ६ उ०।

(२६)निर्ग्रन्थीभिः अनिश्रया सागारिकोपाश्रये न वस्तव्यम्-

नो कप्पइ निग्गन्थीणं सागारियअनिस्साए वत्थए ।२२।

अस्य सूत्रस्य संवन्धमाह—

एरिसदोसविमुक्क-म्मि आलए संजईण नीसाए।
कप्पइ जईण भइतो, वासो अह सुत्तसंबंधो ॥२६६॥

ईदृशैरनन्तरोक्तैर्दोषैर्विप्रमुक्तो य आलयः—उपाश्रयस्तस्मिन् संयतीनां सागारिकनिश्रया परिगृहीतानां वासः कल्पते। यतीनां तु भक्तो-विकल्पितो; निश्रया वा अनिश्रया वा तेषां वासः कल्पत इत्यर्थः। एतेन द्वितीयसूत्रस्यापि वक्ष्यमाणस्य संवन्धः प्रतिपादितः। अथैष सूत्रसंवन्ध इत्यनेन संवन्धेनायातस्यास्य(२२) व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सागारिकानिश्रया-शय्यातरेण अपरिगृहीतानां वस्तुम्, कल्पते निर्ग्रन्थीनां सागारिकनिश्रया परिगृहीतानां वस्तुम्। एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अथ भाष्यकारो विस्तरार्थं विभणिषुराह—

सागारियं अनीसा, निग्गंथीणं न कप्पए वासो।
चउगुरु आयरियादी, दोसा ते चेव तरुणादी ॥३००॥

सागारिकः-शय्यातरस्तस्य निश्रां कृत्वा, किमुक्तं भवति-शय्यातरस्य या निश्रा-मया युष्माकं चिन्ता करणीया भवतीति कुतोऽपि न भेत्तव्यमित्यभ्युपगमस्तामन्तरेण निर्ग्रन्थीनां न कल्पते वासः। अत एवैतत्सूत्रम्। आचार्यो यदि प्रवर्तिन्या न कथयति ततश्चत्वारो गुरुकाः, सा न प्रतिशृणोति तदा चत्वारो गुरुकाः, आचार्यमुखाद्वा आकर्ण्य सा संयतीनां न कथयति तदा चतुर्गुरुकाः। यति ता न प्रतिशृण्वन्ति तदा तासां लघुको मासः। तत्र वा परिगृहीते उपाश्रये वसन्तीनां त एव तरुणादयः-'तरुणा वेसित्थि विवाह' इत्यादयो दोषाः।

सागारियं अनिस्सा, भिक्खुणमादीण संवसंतीणं।
गुरुगा दोहि विसिट्ठा, चउगुरुगा चेव छेदंता ॥ ३०१ ॥

सागारिकस्यानिश्रया भिक्षुण्यादीनां संवसन्तीनां द्वाभ्यां तपःकालाभ्यां विशिष्टाश्चतुर्गुरुकाः, तत्र भिक्षुण्यास्तपसा कालेन च लघुकाः, अभिषेकायाः कालेन गुरुकाः, गणावच्छेदिन्याः तपसा गुरुकाः, प्रवर्तिन्यास्तपसा कालेन च गुरुकाः। अथवा—चतुर्गुकादीनि छेदान्तानि प्रायश्चित्तानि। तद्यथा—भिक्षुण्याश्चतुर्गुरुकम्, अभिषेकायाः षड् गुरुकम्, गणावच्छेदिन्याः षड् गुरुकम्, प्रवर्तिन्याश्छेद इति, आज्ञादयश्च दोषाः।

अपि च-

कंपइ वातेण लया,अणिस्सिया णिस्सिया तु अक्खोभा।
इय समणी अक्खोभा,सॉगारिनिस्सेयरा भइया। ३०२॥

लता-वल्ली अनिश्रिता-वृक्षाद्यालम्बनरहिता वातेन प्रेर्यमाणा सती कम्पते, निश्रिता तु-सालम्बना अक्षोभ्या-वातेन चालयितुमशक्या। 'इय' एवं श्रमणी सागारिकनिश्रिता सती अक्षोभ्या, इतरा अनिश्रिता भक्ता—विकल्पिता। यदि सा स्वयं धृतिबलयुक्ता तदा तरुणादीनामक्षोभ्या, धृतिदुर्बला तु क्षोभनीयेति भावः।

आह-श्रमणी न खल्वाचार्यप्रवर्तिनीनिश्राविरहिता कदाऽपि भवति अतः किमर्थं तस्याः सागारिकनिश्रेयत्युच्यते।

दोहि वि पक्खेहि सुसं-वुयाण तहवि गिहिनीसमिच्छंति।
वहुसंगहिया अज्जा, होति थिरा इंदलट्ठीव ॥ ३०३ ॥

द्वाभ्यामप्याचार्यप्रवर्त्तिनीलक्षणाभ्यां यद्यप्यार्याः सुसंवृतास्तथापि सांग्रहिणः सागारिकस्य निश्रामिच्छन्ति भगवन्तः। कुत इत्याह-बहुसंगृहीता-बहुभिराचार्यादिभिश्चिन्तकैः परिगृहीता आर्या स्थिरा भवन्ति, इन्द्रयष्टिरिव। यथा खल्विन्द्रयष्टिर्बह्वीभिः इन्द्रकुमारिकाभिर्बद्धा सती निष्कम्पा भवति एवमियमपि।

किंच—

पत्थेंतो वि य संकइ, पत्थिज्जंतो वि संकती वलिणो।
सेणा बहू य सोभइ, बलवइगुत्ता तहऽऽज्जाऽवि ॥३०४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रार्थयन्त्यप्यार्यां तरुणादिजनः शङ्कते-विभेतीत्यर्थः, तथा प्रार्थ्यमानोऽपि संयतीजनो बलिनः-समर्थस्य शय्यातरस्य शङ्कते। अपि च-यथा सेनाबलिना-सेनानायकेन यथा या वधूर्बलवता श्वशुरपक्षेण गुप्ता-रक्षिता शोभते तथा आर्याऽपि बलवता शय्यातरेण परिगृहीता सती विराजते।

अमुमेवार्थं व्यतिरेकभङ्गया द्रढयति-

सुन्नाएँ सुसंघाया, दुब्बलगोवा य कस्स न वि तक्का।
इय दुब्बलनिस्सा नि-स्सियाउ अज्जा वितकाओ।।३०६।।

शून्या-रक्षपालविरहिता दुर्बलगोपा वा-असमर्थरक्षपालपरिगृहीताः पशुसङ्घाता-गवादिपशुवर्गाः कस्य ते वितर्क्या-अभिलषणीया न भवन्ति, इत्यमुना प्रकारेण दुर्बलशय्यातरनिश्रिता सर्वथैव अनिश्रिता वा आर्याः सर्वस्यापि वितर्क्याः-प्रार्थनीया भवन्ति।

अइया कुलपुत्तगभो-इयाउ पक्कन्नमेव सुन्नम्मि।
इच्छमणिच्छे तरुणा,तेणा उवहिं व ताओ वा ।।३०।।

अजिका-छगलिका, कुलपुत्रकाणां च भोजिका महिला पक्वान्नं-मोदकशैवर्त्यादि यथैतानि शून्ये वर्त्तमानानि सर्वस्यापि स्पृहणीयानि भवन्ति, एवं श्रमण्योऽपि। तथा तरुणान् प्रार्थयमानान् यदि इच्छन्ति ततो ब्रह्मव्रतभङ्गः। अथ नेच्छन्ति ततस्ते बलादपि तासां ग्रहणं कुर्युः। स्तेना उपधिं वा ता वा संयतीरपहरेयुः।

उच्छुयघतगुलगोरस-एलालुगमाउलिङ्गफलमादी।
पुप्फविही गंधविही,आभरणविही य वत्थविही।।३०८।।

इक्षुघृतगोरसाः प्रतीताः एलालुकानि चिर्भटिकानि मातुलिङ्गफलानि-बीजपूराणि आदिशब्दादाम्रादिपरिग्रहः। तथा पुष्पविधिश्चम्पकादिकापुष्पजातिः गन्धाः-कोष्ठपुटपाकादयस्तेषां विधिः-प्रकारो गन्धविधिः, एवमाभरणविधिर्वस्त्रविधिश्च। एते इक्षुप्रभृतयः, शून्या दुर्बलपरिगृहीता वा यथा सर्वस्यापि स्पृहणीयास्तथा संयत्योऽप्यनिश्रिता दुर्बलसागारिकनिश्रिता वा तरुणादीनां स्पृहणीयाः। अतोऽनिश्रया दुर्बलनिश्रया वा न स्थातव्यम्। भवेत्। कारणं येनानिश्रयाऽपि तिष्ठेयुः।

कथमिति चेदुच्यते-

अद्धाण निग्गयादी,तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
संथरणं वसभा वा, ताओ य अपच्छिमा पिंडी।।३०९।।

अध्वनो निर्गता आदिशब्दादमूनि वहमानका अध्वशीर्षे प्राप्ता वा त्रिकृत्वः परिगृहीता वसतिर्मार्गयितव्या। यदि न प्राप्यते ततः सागारिकस्याऽनिश्रयाऽपि तिष्ठेयुः। तत्र संस्तरणं-कपाटं तदन्यतो मार्गयित्वा दातव्यम्। अथ कपाटं न प्राप्तं ततो वृषभा गृही (पिण्डी-) भूय यः कश्चित्तरुणादिः संयतीरुपद्रवति तं प्रहरणादिभिर्निवारयन्ति। अथ वृषभा न सन्ति ततस्ता एव संयत्यो दण्डकव्यग्रहस्ताः पिण्डीभूय तिष्ठन्ति। यस्तत्रोपद्रवं चिकीर्षति तं दण्डकमुद्दिश्य निवारयन्ति, बोलं च महता शब्देन कुर्वन्ति। एषा अपश्चिमा यतनेति।

अथवा-

भोइयमहतरगाई, समागयं ता भणंति गामंतु।
निवगुत्ताणं वसही, दिज्जउ दोसा उ भे उवरिं।।३१०।।

तत्र ग्रामादौ यो भोगिको महत्तरो वा, आदिशब्दादन्यो वा प्रमाणभूतस्तम्, अथवा-ग्राममेकत्र सभादौ समागतं मिलितं दृष्ट्वा साधवो भणन्ति-नृपो-राजा तेन गुप्ता-रक्षिताः सन्तो वयं तं-व्रताचारं परिपालयामः, अतो नृपगुप्तानामस्माकं कथमप्येतद्दीयताम्, अन्यथा ये शून्ये प्रतिश्रये तिष्ठन्तीनां तरुणस्तेनाद्युपद्रवदोषा भवेयुः ते सर्वेऽपि युष्माकमुपरि भविष्यन्ति, एवमुक्ते ते भोगिकादयः संयतीप्रायोग्यां परिगृहीतां वसतिं दापयन्ति स्वयं वा प्रयच्छन्ति।

अथ ये वृषभा बहिः प्रहरणादिव्यग्रहस्तास्तिष्ठन्ति ते ईदृशाः कर्त्तव्या इति दर्शयति-

कयकरणा थिरसत्ता, गीया संबंधिणो थिरसरीरा।
जियनिद्दिंदियदक्खा, तब्भूमा परिणयवया य।।३११।।

कृतकरणा-धनुर्वेदकृताभ्यासाः स्थिरसत्त्वा-निश्चलमानसावष्टम्भाः गीताः-सूत्रार्थे विहितसंबन्धिनस्तासामेव संयतीनां नालबद्धाः; भ्रात्रादिसंबन्धयुक्ता इत्यर्थः, स्थिरशरीराः-शारीरबलोपेता जिता-वशीकृता निद्रा इन्द्रियाणि यैस्ते जितनिद्रेन्द्रियाः दक्षाः-कुशलाः तद्भौमाः तस्यामेव भूमौ भवास्तद्भूमिवास्तव्यलोकपरिचिता इत्यर्थः, परिणतवयसश्च-अतिक्रान्तयौवना मध्यमवयःप्राप्ताः एवंविधा वृषभास्तत्र स्थापयितव्या इति। वृ० १ उ० ३ प्रक०।

कारणे अकारणे वा निर्ग्रन्थैर्निर्ग्रन्थीनां वसतौ न वस्तव्यम्-

नो कप्पइ निग्गन्थाणं, निग्गन्थीणं उवस्सए आसइत्तए वा चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुअट्टित्तए वा पयलाइत्तए वा निद्दाइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारं आहारित्तए उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए सज्झायं वा करित्तए झाणं वा झाइत्तए काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए ।। १ ।।

अथास्य सूत्रद्वयोक्तानि निर्ग्रन्थीप्रायोग्याणि वस्त्राणि गृहीत्वा गणधरो निर्ग्रन्थीवर्त्तापकः प्रवर्त्तिन्यास्तानि वस्त्राणि स्वयमेव 'पणामेउं' ति अर्प्पयितुं व्रतिनीनां वसतिं व्रजति। अतस्तद्विषयो विधिरनेन सूत्रेण प्रतिपाद्यते।

प्रकारान्तरेण संबन्धमाह-

वत्थाणि एवमादी-णि गणधरो गिण्हितुं सयं चेव।
वच्चति वतिणीवसहिं, पवत्तिणीए पणावेतुं ।। १ ।।
बीएहिं संसत्तो बितियस्सादिम्मि इह तु इत्थीहिं।
वितिए उवस्सगा वा, पगता इह इंपि सो चेव ।। २ ।।

द्वितीयोद्देशकस्यादिसूत्रे बीजैः संसक्त उपाश्रयो भणितः। इह तु तृतीयोद्देशकस्यादिसूत्रे स्त्रीभिः संसक्त उच्यते। यथा द्वितीये उद्देशके बहुषु सूत्रेषूपाश्रया प्रकृताः येषु साधूनां वस्तुं न कल्पते अत इहाप्यादिसूत्रे स एवोपाश्रयः।

अत्रोच्यते-

तत्थ अकारणगमणं, पडुच्च सुत्तं इमं समुदियं तु।
कज्जेण वा गते तु-उवट्ठणादीणि वारेति ।। ३ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्र-निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये अकारणं-वक्ष्यमाणकारणकलापं विना यद्गमनं यत्प्रतीत्य इदं सूत्रं समुदितं समायातं तदनेन प्रतिषिध्यते इति भावः। अथ कार्येण तत्र गताः, ततो गते-गमने पुनः संजाते त्वग्वर्तनादीनि कर्तुं वारयति अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (१) व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां, निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये स्थातुं वा निषत्तुं वा त्वग्वर्तयितुं वा निद्रायितुं वा प्रचलायितुं वा अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा चतुर्विधमप्याहारमाहर्तुम्, उच्चारं वा प्रश्रवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिष्ठापयितुम्, स्वाध्यायं वा कर्तुम्, ध्यानं वा ध्यातुम्, कायोत्सर्गं वा स्थातुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः।

अथ विस्तरार्थं भाष्यकृद्विभणिषुराह-

आपुच्छमणापुच्छा, व अकज्जे चउगुरुं तु वचंते।
आपुच्छियपडिसिद्धे, सुद्धा लग्गा उवेहंती ॥ ४ ॥

स्थविराणामापृच्छया अनापृच्छया वा यद्यकार्ये निर्ग्रन्थीनामुपाश्रयं व्रजति ततश्चतुर्गुरुकम्। स्थविरा आपृष्टाः सन्तो यदि प्रतिषेधं कुर्वन्ति-मा व्रज नैव वर्तते निष्कारणं निर्ग्रन्थीनामुपाश्रयं गन्तुम्, एवं प्रतिषिद्धे स्थविरा शुद्धाः-न प्रायश्चित्तभाजः। अथ स्थविरा उपेक्षन्ते ततस्तेऽपि लग्नाः-चतुर्गुरुकमापन्ना इत्यर्थः।

अथवा—

चउरो गुरुगा लहुगा,मासो गुरुगो य होति लहुगो य।
आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि य गीतगीतत्थे ॥ ५ ॥

आचार्यो यदि निष्कारणं निर्ग्रन्थीप्रतिश्रयं गच्छति ततश्चत्वारो गुरवः। अभिषेको व्रजति चत्वारो लघवः, गीतार्थभिक्षुर्व्रजति गुरुको मासः, अगीतार्थभिक्षुर्व्रजति लघुको मासः।

यद्वा—

गमणे दूरे संकिय, णिस्संकभिलावकक्खसतिकरणं।
ओभासणपडिसुणणे, संपत्तारोवणा भणिता ॥ ६ ॥

निष्कारणं संयतीनामुपाश्रये गच्छति तत्र गतो दूरे स्थितः संयतीः पश्यति १, एतास्ता इति २, कतरा पुनरियमित्येवं शङ्कां करोति ३, अमुका वा इयमिति निःशङ्कितं जानाति ४, संयतीभिः सममभिलापं करोति ५, कक्षान्तरादीनि विलोकयति ६, स्मृतिकरणमीदृशी मम स्यादिति लक्षणं करोति ७, तामवभाषते ८, अथ भाषिता सती सा प्रतिशृणोति ९, संपत्तिं तया सह करोति १०, एतेषु दशसु स्थानेष्वारोपणा वक्ष्यमाणा भणिता।

अथात्र स्मृतिकरणपदं व्याचष्टे—

भावम्मि उ संबन्धो, सतिकरणं एरिसा व सा आसी।
अहवा णं इणमई, पणएमि सती भवइ एसा ॥ ७ ॥

भावे-भावतः प्रतिसेवनाभिप्रायेण तया सह यः संबन्धः क्रियते यादृशी त्वम्-ईदृशी सा मद्भार्या आसीत्, एतत् स्मृतिकरणमुच्यते। अथवैतां संयतीमहममुमर्थं—प्रतिसेवनालक्षणं प्रणयामि—प्रार्थयामीत्येषा स्मृतिरुच्यते।

अथवा अनन्तरोक्तेषु दशसु स्थानेषु प्रायश्चित्तमाह-

चउरो य अणुग्घाया, लहुगो लहुगा य होंति गुरुगा य।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ ८ ॥

संयतीप्रतिश्रयगमने चत्वारो अनुद्धाता मासाः, दूरदर्शने मासलघु, शङ्कायां चतुर्लघवः, निःशङ्किते चतुर्गुरवः, आलापे षण्मासा गुरवः, स्मृतिकरणे छेदः, अवभाषणे मूलम्, प्रतिश्रवणे अनवस्थाप्यम्, संपत्त्यां पाराञ्चिकम्। एवं तावद्दोषतः प्रायश्चित्तमुक्तम्।

अथ विभागतस्तदेव दर्शयितुमाह—

णिक्कारणगमणम्मि, बहवे दोसा य पच्चवाया य।
जिणथेरपडिकुट्ठा, तेसिं चाऽऽरोवणा इणमो ॥९॥

निष्कारणगमने बहवो दोषाश्च प्रत्यपायाश्च भवन्ति। तत्र दोषा आत्मपरोभयसमुत्थाः, पारलौकिकाः प्रत्यपायाश्च। भोगिनी घाटितया इह लौकिकाः, तत्रोभयेऽपि जिनैस्तीर्थकृद्भिः स्थविरैश्च गणधरादिभिः प्रतिकुष्टाः, यथाऽमी भवन्ति तथा न विधेयमित्युपदिष्टमिति भावः। तेषां च दोषाणामियं वक्ष्यमाणा आरोपणा-प्रायश्चित्तम्।

तच्चैतेषु सूत्रोक्तपदेषु भवति।

चिट्ठित्तु णिसीइत्ता, तुयट्टणिद्दा य पयलसज्झाए।
झाणाऽऽहारविहारे, पच्छित्ते मग्गणा होइ ॥१०॥

स्थातुं निषत्तुं च त्वग्वर्तनं निद्रां-प्रचलां स्वाध्यायं ध्यानम् आहारं वा कर्तुं विहारं चंक्रमणमुपलक्षणत्वादुच्चारप्रश्रवणे कायोत्सर्गं वा कर्तुं न कल्पते। अथ करोति ततः प्रायश्चित्तस्य मार्गणा भवति।

इदमेव प्रकटयति—

एतेसिं तु पयाणं, पत्तेयपरूवणा विभागो य।
जो एत्थं आवण्णो-ऽणावण्णो वाऽवि जो एत्थं ॥११॥

एतेषां स्थापनादीनां प्रत्येकं प्ररूपणा विभागश्च दोषाणां विभापालक्षणः कर्तव्यः। कथमित्याह-योऽत्र दोषजाले-प्रायश्चित्तजाले वा आपन्नो यो वा अनापन्नस्तदेतद्वक्तव्यम्।

यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

निक्कारणमविहीए, णिक्कारणओ तहेव य विहीए।
कारणओ अविहीए, कारणतो चेव य विहीए ॥१२॥
आदिभयणाण तिण्हं, अण्णतरीए उ संजतीसेज्जं।
जे भिक्खू पविसेज्जा, सो पावति आणमादीणि ॥१३॥

साध्वीप्रतिश्रये प्रविशतां चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा-निष्कारणे अविधिना साध्वीप्रतिश्रये, निष्कारणं विधिना, कारणतोऽविधिना, कारणतो विधिना प्रविशति। अत्रादिभजनानामाद्यानां त्रयाणां भङ्गानामन्यतरया भजनया-भङ्गकेन संयतीनां शय्यां-वसतिं यो भिक्षुः प्रविशति स आज्ञादीनि दूषणानि प्राप्नोति।

तत्र प्रथमभङ्गव्याख्यानार्थमाह—

निक्कारणम्मि गुरुगा,तीसु वि ठाणेसु मासियं गुरुगं।
चउलहुय दार मूले, अतिगयमित्ते गुरू पुच्छा ॥१४॥

त्रीणि स्थानानि नाम-अग्रद्वारमध्यासन्नलक्षणानि एतेषु नैषेधिकीमकुर्वतस्त्रीणि मासगुरुकानि भवन्ति। यदि द्वारमूले-द्वारसमीपे बहिस्तिष्ठति ततः चतुर्लघवः। अथैकमपि पदमुपाश्रयमध्ये अतिगतं प्रविष्टस्तदा अतिगतमात्रे चतुर्गुरुकः। पृच्छति-नोदकः पृच्छां करोति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथमित्याह—

पाणाइवायमादी, असेवतो केण होंति गुरुगा उ।
कीस उण बाहि लहुगा, अंतो गुरु चोदग! सुणेहि ॥१५॥

प्राणातिपातादिकमपराधमसेवमानस्य केन कारणेन चतुर्गुरुका भवन्ति ?, कस्माद्वा बहिर्द्वारमूले चतुर्लघुकाः ?, कस्माच्चान्तः प्रविष्टमात्रस्य चतुर्गुरुकम् ?। आचार्य आह-हेनोदक ! शृणु-निशमय अत्र कारणं येनैवं प्रायश्चित्तं दीयते।

किं तदित्याह—

वीसत्था य गिलाणा, खवियवियारे य भिक्खसज्झाए।
पाली एँ होइ भेदो, अप्पाण परं तदुभए य ॥ १६ ॥

काचिदार्यिका तत्र विश्वस्ता—अपावृतशरीरा भवेत्, सा संक्षोभमुपेयात्। ग्लाना क्षपिका वा संयतसंक्षोभेण न भुञ्जीत। विचारभूमौ भिक्षायां स्वाध्यायभूमौ वा प्रस्थितानां तासां व्याघातो भवेत्। पाली नाम-संयममहातडागस्यानतिक्रमलक्षणः सेतुः तस्या आत्मपरोभयसमुत्थो भेदो भवति। यद्वा-पालीति—वसतिपालिका भण्यते, सार्द्धं संलापादि कुर्वतः आत्मसमुत्थपरसमुत्थोभयसमुत्थो वा भेदो भवतीति द्वारगाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

काई सुहवीसत्था, दरजेमिय अवाउडा य पयलाति।
अतिगतमेत्ते य तहिं, संकियपयलाइया थद्धा ॥ १७ ॥

काचिदार्यिका वसतेरन्तः स्थिता सुखविश्वस्ता आत्मसुखेनापावृतशरीरा तिष्ठति। दरजिमिता वा—अर्द्धभुक्ता दरं निवसना काचिदास्ते, अपावृतनिषण्णा वा काचित् प्रचलायते, ततस्तस्मिन् संयते अकस्मादतिगतमात्रे प्रविष्टमात्र एव दृष्टाऽहमनेनापावृतेति शङ्किता-शङ्काऽऽकुला सती प्रपलायते; सहसैव न पश्यतीत्यर्थः। प्रपलायिता सती संक्षोभतः स्तब्धगात्रा सा भवेत्।

अथेदमेव व्याचष्टे—

वीरल्लसउणवित्ता-सियं जहा सउणिवंदयं बुसं।
वच्चंति य णिरवेक्खं,दिसि विदिसाओ विवज्जंति ॥१८॥

वीरल्लशकुनाह्वो लावकः तेन समागच्छता वित्रसितं सद्यथा शकुनिकानाम्-पक्षिणीनां वृन्दं 'बुसं' विपक्षं संचरपक्षं-पुत्रभाण्डाद्यपेक्षारहितम् दिशा विदिशश्चाविभज्यमानं व्रजति सहसैव पलायते। एष दृष्टान्तः।

अयमर्थोपनयः—

तम्मि य अतिगतमत्ते, वित्तत्थाओ जहेव ता सउणी।
णिग्गहंति य संघाडिं, रयहरणेयाऽवि मग्गंति ॥ १९ ॥

तस्मिन् संयतेऽतिगतमात्र एव यथैव ताः शकुनिकास्तथैव ता अपि संयत्यो वित्रस्ता भवन्ति। ततश्च काचिदपावृतगात्रा त्वरितं प्रावृणोति। अन्याः काश्चन संघाटिका गृह्णति। यास्तु संयतं दृष्ट्वा रजोहरणं मुक्त्वा नष्टाः ताः पश्चात् सुस्थीभूताः सत्यो रजोहरणानि मार्गयन्ति इति।

यत्तु नोदकेनोक्तं प्राणातिपातादिकमसेवमानस्य कस्माच्चतुर्गुरुकं दीयते तदेतत्परिहरन्नाह—

छक्कायाण विराहण, पक्खुलणं खाणुकंटए विलिया।
थद्धा य पेच्छिउं भा-व भेओ दोसा उ वीसत्थे ॥ २० ॥

ताः संयत्यः कुम्भकारशालादौ स्थिता भवेयुः। तत्र च निरपेक्षा नश्यन्त्यो मृत्तिकादीनां पृथिवीकायम्, उदककुम्भप्रलोठनेनाप्कायम्, उल्मुकघट्टनेनाग्निकायम्, यत्राग्निस्तत्र नियमाद्वायुरिति कृत्वा वायुकायम्, बीजहरितमर्दनेन वनस्पतिम्, कुन्थुकीटिकादिमर्दनेन त्रसकायं च विराधयेयुः। एषा षट्कायविराधना, सा च तत्त्वतस्तेन एव साधुना कृता। प्रस्खलनं नाम-अधस्तादुपरि वा स्फालनम्, यद्वा-तासां नश्यन्तीनां भवेत्, स्थाणुना वा कण्टकेन वा पादयोरुपघातः स्यात्। 'विलिया' व्रीडिता अकस्मात्तद्दर्शनाल्लज्जिता सती काचित् वैहायसोद्बन्धनादि कुर्यात्। भयातिरेकता वा तथा भवेत्। तां च तथाभूतां दृष्ट्वा भावभेदो भवति। सात्त्विकभावप्रभवोऽयमस्य शरीरे स्तम्भ इत्येवमितराः संयत्यश्चिन्तयेयुरिति भावः। एवमादयो दोषा विश्वस्तार्यिकाविषया मन्तव्याः। गतं विश्वस्ताद्वारम्।

अथ ग्लानाद्वारमाह—

कालाइमकमदाणे, गाढतरं होज्ज णेत्र पउणेज्जा।
संखोभेण णिरोधो, मुच्छा मरणं च असमाही ॥२१॥

ग्लाना संयती तस्य संक्षोभेण न भुङ्क्ते। प्रतिचरिका वा तदर्थं भिक्षां न गच्छति, ततः कालातिक्रमेण तस्या भक्तपानप्रदाने गाढतरं ग्लानत्वं भवेत्, क्षपिकया वा सा न प्रगुणी भवेत्। अथवा-तदीयसंक्षोभेण तस्या वातकर्म्मणः कायिक्याः संज्ञाबाधा भवेत्। ततस्तद्बाधया मूर्च्छा संजायेत। निरोधेन वा मरणमाप्नुयात्। असमाधिर्वा तस्या भवेत्, तत्रानागाढपरितापनादिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

अथ क्षपिकाद्वारमाह—

पारणगपट्ठिया आ-णीयं वऽविगडियदंसित ण भुंजे।
अचियत्तअंतराए, परियाव असज्झवयणे य ॥ २२ ॥

क्षपिका—चतुर्थादितपःकर्मकारिणी पारणकार्थं प्रस्थिताऽपि जेष्ठार्य आगत इति मत्वा निवर्तते। तथा च क्षपिकया पारणकमानीतं परमविकटितमनालोचितमदर्शितं च, अनालोकितं सा न भुङ्क्ते इति कृत्वा प्रवर्तिनी प्रतिपालयन्ती तिष्ठति। ततश्च तस्या अप्रीतिकमन्तरायोऽनागाढमागाढं वा परितापो भवेत्, असत्यवचनं वा सा ब्रूयात्, अहो अयमस्मत्कार्याणां कीलक इव सांप्रतमुपस्थित इति।

विचारद्वारमाह—

नोल्लेऊण ण सका, अंतो वा होज्ज णऽस्थि वीयारो।
संते वा ण य वत्तति,णिक्खमण विणासगरिहा य ॥२३॥

स साधुर्द्वारमूले उपविष्टत्वान्नोदयितुं-लङ्घयितुं न शक्यते। तासां च संयतीनामन्तर्विचारभूमिर्नास्ति,अस्ति वा परं तस्यां संज्ञा न वर्तते,शय्यातरेण वा सा नाऽनुज्ञाता तस्यां व्युत्सर्जने निष्काशनमसौ कुर्यात्,निष्काशिता च श्वापदादिभिर्विना-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शं लोकाच्च गर्हामासादयति, तन्निष्पन्नं तस्य—संयतस्य प्रायश्चित्तम् ।

अथ भिक्षाद्वारमाह—

सइकालफेडणा ए-सणादि पल्लंत पेल्लणा हाणी ।
संका अभाविएसु य, कुलेसु दोसा चरंतीणं ॥ २४ ॥

संयत्यो भिक्षायां प्रस्थिताः, स च साधुः समायातः । ततस्तस्या दाक्षिण्येन तावत् स्थितो यावद्भिक्षाया सत्कालदेशकालः स्फिटितः । ततोऽवेलायां भिक्षामटन्त्य एषणाशुद्धेः आदिशब्दादुद्गमोत्पादनाशुद्धेश्च प्रेरणं कुर्युः । अथ न प्रेरयेयुः ततश्च आत्मनो हानिः-परितापो महादुःखादिना भवेत् । अभावितकुलेषु वा अकालचरन्तीनां शङ्कादयो दोषा भवेयुः । शङ्का मैथुनार्थविषया, आदिशब्दाद्बोजिकादिपरिग्रहः ।

अथ स्वाध्यायद्वारमाह—

सज्झाए वाघातो विहारभूमिं च पत्थियणियत्ता ।
अकरणणासारोवण-सुत्तत्थ विणा य जे दोसा ॥२५॥

ज्येष्ठार्य आगत इति कृत्वा ताः पठनं परावर्तनं वा न कुर्वन्ति, एवं स्वाध्यायव्याघातो भवेत् । वसतौ वा अस्वाध्यायिकं जातं विहारभूमिं स्वाध्यायभुवं प्रस्थिताः, भूयस्तत्र संयतमागतं दृष्ट्वा निवृत्ताः । अतः 'अकरणे' त्ति सूत्रपौरुषीं न कुर्वन्ति मासलघु, अर्थपौरुषीं न कुर्वन्ति मासगुरु, सूत्रार्थनाशनिष्पन्ना चाऽऽरोपणा । सा चेयम्-सूत्रं नाशयति चतुर्लघु, अर्थं नाशयति चतुर्गुरु, सूत्रार्थाभ्यां च विना ये दोषाश्चरणकरणहान्यादयस्तन्निष्पन्नं सर्वमपि संयतस्य प्रायश्चित्तम् ।

पालीभेदद्वारमाह—

संजममहातडाग-स्स णाणवेरग्गसुपडिपुन्नस्स ।
सुद्धपरिणामजुत्तो, तस्स उ अणइक्कमो पाली ॥ २६ ॥

संयमः-पञ्चाश्रवादिविरमणात्मकः स एव महद्-विस्तीर्णं यत्तडागं तस्य ज्ञानवैराग्यसुप्रतिपूर्णस्य; ज्ञानमाचारादि श्रुतं तत्समुत्थं यद्वैराग्यं प्रतिसमयाविशुध्यमानभवनिर्वेदः तेन जलस्थानीयेन तु अतीव प्रतिपूर्णस्य यः सुद्धपरिणामयुक्तस्तस्यानतिक्रमः स पालिरित्युच्यते ।

तस्य भेदः कथं भवतीत्याह—

संजमअभिमुहस्स व, विसुद्धपरिणामभावजुत्तस्स ।
विकहादिसमुप्पन्नो, तस्स उ भेदो मुणेयव्वो ॥ २७ ॥

संयमाभिमुखस्य विशुद्धपरिणामभावयुक्तस्य पालिस्थानीयस्यानतिक्रमस्य यो विकथादिसमुत्पन्नो मिथःकथादिकरणसमुद्भूतो भेदो—विनाशः स इह पालिभेदो ज्ञातव्यः । स आत्मपरोभयसमुत्थो भवेत्

अहवा पालयतीति, उवस्सयं तेण होति सा पाली ।
तीसे जायति भेदो, अप्पाण परोभयसमुत्थो ॥ २८ ॥

अथवा या तत्र उपाश्रयं पालयति सा 'सत्यभामा भामे' ति न्यायात् पाली भण्यते; तस्या एकाकिन्यास्तं संयतं दृष्ट्वा आत्मसमुत्थः परसमुत्थ उभयसमुत्थो वा भेदो जायते ।

कथमिति चेदुच्यते—

मोहतिगिच्छाखमणं,करेमि अहमवि य वोहि पुच्छा य ।
मरणं वा अवियत्ता, अहमवि एमेव संबंधो ॥ २९ ॥

स संयतस्तं संयतीप्रतिश्रयं गतो यावदेका वसतिपालिका तिष्ठति । ततस्तेन सा पृष्टा-आर्ये ! किमिति भवती भिक्षां नावतीर्णा ?, सा प्राह-अद्य मम क्षपणम् । स प्रश्नयति-किं निमित्तम् . सा प्रतिब्रूते-मोहचिकित्सार्थम् । तयाऽपि स संयत एवमेव पृष्टो ब्रवीति—अहमपि मोहचिकित्सार्थं क्षपणं करोमि । ततस्तेन पृच्छा कृता—आर्ये ! भवत्या कथं बोधिरासादिता ?, सा प्राह-मरणं मदीयभर्तुरजनिष्ट , तस्य वा अहमप्रीतिका—द्वेष्या पूर्वमभूवम् ; अतः प्रव्रजिता । ततस्तया सोऽप्येवमेव पृष्टः प्राह-अहमप्येवमेवाभीष्टकलत्रवियोगादिना प्राव्राजिषम् । एवं भिन्नकथासद्भावकथनैर्भावसंबन्धो भवति ।

इदमेव स्फुटतरमाह—

ओमाणस्स व दोसा, तस्स व गमणेण सग्गलोगस्स ।
महतरियपभावेण य, लद्धा मे संयमे वोही ॥ ३० ॥

अपमानं नाम-सापत्न्यतया यद्भर्ता मामवनततया पश्यति स्म तस्य दोषादहं प्राव्राजिषम् । अथवा-मदीयो भर्ता मय्येकान्तानुरक्त आसीत्, अतस्तस्य स्वर्गलोकस्य गमनेन तथा महत्तरिकया यन्मानवरते धर्माख्यानकानि कथितानि तत्प्रभावेण च लब्धा संयमबोधिः-संयमं प्रतिपन्नवतीत्यर्थः ।

यद्वा—

पदूमिताऽम्हि घरासे, तेण हतासेण तो ठिया धम्मे ।
सिट्ठं एय रहस्सं, ण कहिज्जइ जं अणत्तस्स ॥ ३१ ॥

प्रदूमिता-प्रकर्षेण क्लेशिता अस्मि अहं ' घरासे ' गृहवासे प्राकृतत्वाद्वाशब्दलोपः, तेन हताशेन-कुपतिना, ततः स्थिताऽहमेवंविधे धर्मे , इदं च रहस्यमिदानीं मया भवते शिष्टं न कथ्यते ।

रिक्खस्स वा वि दोसो, अलक्खणो से अभागधिज्जो णु ।
न य निग्गुणाभि अज्जो!,तुज्झ वि याणाहि य विसेसं॥३२॥

मम पाणिग्रहणदिवसे यद् ऋक्षम्-नक्षत्रं तस्य वा कोऽपि दोष आसीत् , तेन स तादृशो निस्नेहोऽलक्षणोऽभागधेयश्च मम भर्ता अभवत् , न चाहं निर्गुणा-गुणविकला, यद्वा-आर्या ! यूयमपि जानीथ मदीयं विशेषम्—सगुणतानिर्गुणताविभागम् ।

एवमुक्ते संयतो ब्रूयात्—

इट्ठकलत्तविओगे, अन्नम्मि य तारिसे अविज्जंते ।
महतरयपभावेण य, अहमवि एमेव संबंधो ॥ ३३ ॥

इष्टकलत्रस्य वियोगे संजाते अन्यस्मिंश्च तादृशे कलत्रे अविद्यमाने महत्तरक-आचार्यो मम धर्ममाख्याति स्म, ततस्तत्प्रभावेणाहमपि प्रव्रजितः ' एमेव ' त्ति यथा तया सविकारमात्मीयं चरितमाख्यातं तथा संयतोऽप्येवमेव कथयति एवं तयोः परस्परं भावसंबन्धो भवति ।

किं चान्यत्—

किं पिक्खह सारिक्खं, मोहं मे णेति मज्झ वि तहेव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उच्चगगतामि मतॉ सा, इहराण वि पत्तिश्रंतोऽमि ॥३४॥

संयतस्तां संयतीं निश्चलया दृष्ट्या निरीक्षते , ततः सा ब्रवीति-किमेवं पश्यथ ?, स प्राह-मदीयभोगिन्या सह यद्भवत्याः सर्वथैव सादृश्यं तन्मां मोहं नयति; किमेषा सैवेति; विभ्रमं जनयतीत्यर्थः । सा ब्रवीति—ममापि त्वं तथैव मोहं जनयसि । स प्राह—किं करोमि ममोत्सङ्गे गता स्थिता सा मृता,इतरथा यदि परोक्षं सा मृताऽभविष्यत् ततो देवानामपि वचनेन प्रत्ययं नागमिष्यम्,यथा-त्वं सा मम पत्नी न भवसीति।

इय संदंसणसंभा-सणेहि भिन्नकधविरहजाएहिं ।
सेज्ञातरादिपासण-वोच्छेदे दुट्ठधम्म त्ति ॥३५॥

इत्येवं यत्परस्परं संदर्शनम् ,यश्च संभाषणम्-किमिति त्वमद्य न गतेत्यादि पृच्छारूपं ताभ्याम् ;तथा यास्तया सह भिन्नकथा-यस्य विरह एकान्ते योगः,एतैश्चारित्रस्य भेद उपजायते। तथा शय्यातर आदिशब्दादन्यो वा तत्परिजनादिस्तयोः तथाविधं चेष्टितं पश्यति , स तद्द्रव्यान्यद्रव्ययोर्व्यवच्छेदं कुर्यात् । दुष्टधर्माण एते इत्येवं विपरिणाममुपगच्छेत् । अथासौ तया सह संपर्त्ति गच्छति, ततो नरकायुर्बध्नाति । तीर्थकृतां सङ्घस्य च महतीमाशातनां विधाय बोधिलाभप्रतिबन्धकं कर्मजालमुपचिनोति । उक्तं च—" लिङ्गेण लिङ्गणीए, संपत्तिं जइ निगच्छई मूढो। निरयाऊ य निबंधइ, आसायणया अबोही य " इत्याह—

पयलाणिद्दतुअट्टे, अच्छिदिट्ठम्मि चमढणे मूलं ।
पासवणे सच्चित्ते, संकादुच्छम्मि उड्डाहो ॥३६॥

प्रचला नाम—निषण्णस्य सुप्तजागरावस्था, निद्रायणं तु-निषण्णस्यैव स्वप्नम् ,त्वग्वर्त्तनं-संस्तारकं प्रस्तीर्य शयनम् ,अक्षिचमढनं-चक्षुषोर्मलनम्। एतानि कुर्वणो यद्यपि सागारिकादिना न दृष्टः तथापि चतुर्गुरु, दृष्टे तु शङ्कायां चतुर्गुरु । निःशङ्किते मूलम् , प्रश्रवणं संयतीनां कायिकीभूमौ करोति चतुर्लघु ' सच्चित्ते ' संयत्याः कायिकीं व्युत्सृजन्त्या योनौ संयतनिसृष्टं शुक्रं बीजमवगाहेत ततो मूलम् , ' संकाबुत्थम्मि'त्ति तं संयतं तत्र कायिकीं व्युत्सृजन्तं दृष्ट्वा सागारिकादिः शङ्कां कुर्यात् , किमेष श्रमणको रजन्यामत्रैवोषितः ? ततो महानुड्डाहः प्रवचनस्य भवतीति । एषा पुरातनगाथा ।

अथास्या एव व्याख्यानमाह-

पयलाणिद्दतुवट्टे, अच्छीणं चमढणम्मि चउगुरुगा ।
दिट्ठे वि य संकाए, गुरुगा सेसेसु वि पदेसु ॥३७॥

प्रचलां निद्रां त्वग्वर्तनम् अक्षिचमढनं च कुर्वाणं यदि परो न पश्यति ततश्चतुर्गुरुकाः , दृष्टेऽपि प्रचलादौ शङ्कायां चतुर्गुरुकाः, निःशङ्किते मूलम् , शेषेष्वपि अशिवादिसमुद्देशनस्वाध्यायपारणादिषु पूर्वोक्तप्रदेशेषु पारणादिष्वदृष्टेषु चत्वारो गुरवः। दृष्टेष्वपि शङ्कायां चतुर्गुरु, निःशङ्किते मूलम्।

का पुनः शङ्का भवेदिति चेदुच्यते-

सज्झाएण णु खिन्नो, आउं अन्नेण जेण पयलाति ।
संकाएँ होंति गुरुगा, मूलं पुण होति णिस्संके ॥३८॥

नुरिति वितर्के , किमेष संयतः स्वाध्यायजागरेण खिन्नः , आहोस्विदन्येन सागारिकप्रसङ्गेन रात्रौ खिन्नः । येनैवं प्रचलायते एवं शङ्कायां चतुर्गुरुकाः । निःशङ्किते तु मूलं भवति ।

अन्नत्थ मोयगुरुओ, संजतिवोसिरणभूमिए गुरुगा ।
जोणोगाहणवीए, केऽयी धाराए मूलं तु ॥ ३९ ॥

संयती कायिकां भूमिं विमुच्यान्यत्र मोकस्य व्युत्सर्जने मासगुरु , अथ संयतीव्युत्सर्जनभूमौ व्युत्सजति ततश्चतुर्गुरु , उभयत्र च कदाचिद् दृष्टिकलीवस्यान्यस्य वा बीजनिसर्गो भवेत् ; तच्च बीजं संयतीधाराहतं सदूर्ध्वमुद्धावितं योनाववगाहते तत्र संयतस्य मूलम् , होडितायां च तस्यामुड्डाहादयो दोषाः । केचिदाचार्या ब्रुवते धारया स्पृष्टमात्र एव बीजे मूलं भवति, यत एते दोषाः अतो निष्कारणं संयतीवसतिमविधिना न प्रविशेत् । गतः प्रथमो भङ्गः ।

द्वितीयभङ्गमाह—

निक्कारणे विधीए, दोसा ते चेव जे भणियपुव्विं ।
वीसत्थाई सुत्तं, गेलन्नाई उवरिमाओ ॥ ४० ॥

निष्कारणे विधिनाऽपि नैषेधिकीत्रयकरणरूपेण प्रवेशे त एव दोषाः, ये पूर्वं प्रथमभङ्गे सप्रपञ्चमुक्ताः, नवरं विश्वस्ताविषया ये दोषा उक्ताः , आदिशब्दात्तेषामेवानेकभेदसूचकः तान् मुक्त्वा ये ग्लानादिविषया उपरितना दोषास्ते द्वितीयभङ्गे संभवन्ति , विश्वस्ता दोषास्तु नैषेधिकीत्रयकरणे न संभवन्तीति भावः ।

निक्कारणे विधीए, तिट्ठाणे गुरुगो जेण पडिकुट्ठं ।
कारणगमणे सुद्धो, णवरं अविधीऍ मासतियं ॥ ४१ ॥

निष्कारणे विधिनाऽपि प्रविशन् यस्त्रिषु स्थानेषु नैषेधिकीं प्रयुङ्क्ते तस्यापि मासगुरुकम् । कुत इत्याह—येन प्रतिकुष्टं भगवता निष्कारणमार्यिकावसतौ गमनम् । अथ तृतीयभङ्गमाह-'कारणे'इत्यादि कारणे यः संयतीवसतौ गच्छति स शुद्धः, नवरमविधिना असमाचार्या प्रवेशनिष्पन्नं त्रिषु स्थानेषु यदि नैषेधिकीत्रयं न करोति ततो मासलघुत्रयम् , द्वयोः स्थानयोर्न करोति मासलघुद्वयम् , एकस्मिन् स्थाने न करोति एकं मासलघुकम्।

कारणतो अविधीए, दोसा ते चेव ये भणियपुव्वं ।
कारणविधीएँ सुद्धो, इच्छं तं कारणं किं तु ॥ ४२ ॥

कारणतो विधिना प्रविशतो दोषास्त एव भवन्ति , ये विश्वस्तादिविषयाः पूर्वं भणिता इति। कारणे तु विधिना त्रिषु स्थानेषु नैषेधिकीत्रयं कृत्वा प्रविशन् शुद्धः । शिष्यः पृच्छति-इच्छाम्यहं ज्ञातुं किं तत् कारणं येन तत्र गम्यते ।

सूरिराह—

गम्मइ कारणजाए, पाहुणए गणहरे महिड्ढीए ।
पच्छादणा य सेहे, असहुस्स चउक्कभयणा उ ॥ ४३ ॥

गम्यते संयतीनां प्रतिश्रये कारणजाते उपाश्रयम्, संस्तारकप्रदानादिकं प्राघूर्णको वा साधुः संयतीनामवोधपृच्छानिमित्तं गच्छेत् , गणधरो वा मूर्च्छाविसूचिकादौ संयतीनामागाढे कारणे समुत्पन्ने दिवा रात्रौ वा गच्छेत् । महर्द्धिको वा राजामात्यादिः प्रव्रजितः संयतीनां तेजोगौरवादिजननार्थं यायात्, 'सेहि' त्ति शैक्षस्य राजपुत्रप्रव्रजितादिरमात्यादिभिरुन्निष्क्रामयितुमारब्धस्य प्रच्छादना संयतीप्रतिश्रये ज्ञात्वा कर्तव्या । काचिद्वा संयती ग्लाना तस्याश्चिकित्सा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्त्तव्या। तत्र असहिष्णुसाधोश्चतुष्कभजना भवति, चतुर्भङ्गीत्यर्थः। सा चेयम्-साध्वी सहिष्णुः साधुरपि सहिष्णुः, साध्वी सहिष्णुः साधुरसहिष्णुः, साध्वी असहिष्णुः साधुः सहिष्णुः। साध्वी साधुश्च द्वावप्यसहिष्णू। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुः प्रथमद्वारमङ्गीकृत्याऽऽह-

उवस्सए य संथारे, उवहीसंघपाहुणे ।
सेहट्ठवणुद्देसे, अणुन्ना भंडणा गणे ॥ ४४ ॥
अणप्पज्झ अगणिआऊ, वीआरे पुत्तसंगमे ।
संलेहणवोसिरणे, वोसट्ठे निट्ठिए तिऽहं ॥ ४५ ॥

उपाश्रयस्य संस्तारकस्योपधेर्वा प्रदानार्थं संयतीप्रतिश्रयं गच्छेत्, काश्चिद्वा संयत्यः परीषहपराजितास्तासामवधारणा भवति-विमुखा वर्तन्ते, तासां स्थिरीकरणार्थं संघः प्राघूर्णो गच्छेत्, इह कुलस्थविरा गणस्थविरः संघस्थविरो वा संघस्य गौरवार्हतया प्राघूर्ण उच्यते। शैक्षस्य वा उपस्थापनां कुलानां वा स्थापनां कर्तुं तत्र व्रजेत्। वसतावस्वाध्यायिके श्रुतस्योद्देशमनुज्ञां वा कर्तुं तत्र गच्छेत्। भण्डनं-कलहः तद्वा तासां परस्परं समुत्पन्नम्, तदुपशमनार्थं गन्तव्यम्। 'गणे' त्ति प्रवर्तिन्यां कालगतायां गणार्पणार्थं गच्छेत्। 'अणप्पज्झ' त्ति देशीपदमनात्मवशवाचकः ततश्चात्मवशाया यक्षाविष्टादिरूपाया आर्यिकाया मन्त्रतन्त्रादिप्रयोगेणात्मवशतां कर्तुं गच्छेत्। अग्निना वा संयतीवसतिर्दग्धा, अप्कायपूरेण वा प्लाविता, विचारभूमौ वा गच्छन्तीनां तासां सोपसर्गे, 'पुत्ते' त्ति उपलक्षणत्वात् पुत्रं पिता भ्राता वा तासां कालगतो भवेत् 'संगमे' त्ति पुत्रभ्रात्रादिरेव तासां संज्ञातकश्चिरादागतो भवेत्, तस्य यः संगमो-मीलकस्तदर्थम्, तथा संलेखनं भक्तप्रत्याख्यानाय परिकर्मणं काचिदार्यिका करोति, व्युत्सर्जनं वा-भक्तप्रत्याख्यानम् कर्तुकामा काचिद् व्युत्सृजते व्युत्सृष्टं वा कयाचिद्भक्तं प्रत्याख्यातम्-अनशनं प्रतिपन्नमित्यर्थः, एतेषु कारणेषु गच्छेत्। अथ काचित् निष्ठिता कालगता, ततः शेषसंयतीनां शोकापनयनार्थं त्र्यहं-त्रीन् दिवसान् यावदुपर्यपि सूरिणा गन्तव्यमिति श्लोकद्वयसंक्षेपार्थः।

अथैतदेव प्रतिपदं विभावयिषुराह-

अज्जाणं पडिकुट्टं, वसहीसंथारगाण गहणं तु ।
ओभासिउ दाउं वा, वच्चेज्जा गणहरो तेणं ॥ ४६ ॥

आर्याणां स्वयं वसतेः संस्तारकाणां च ग्रहणं भगवता प्रतिकुष्टं-प्रतिषिद्धम्, अतो वसतिमवभाषितुं गणधरो गच्छति, संस्तारकांश्च तासां प्रायोग्यमुत्पाद्य तान् प्रदातुं गणधरस्तत्र व्रजेत्।

अथोपधिद्वारमाह-

पडियं पम्हुट्ठं वा, पलावियं अवहियं च उग्गमियं ।
उवहिं भाएतुं जे, दाएज्जं वा विवच्चेज्जा ॥ ४७ ॥

भिक्षादौ पर्यटन्तीनां तासामुपधिः पतितः स्वाध्यायभूमौ वा गतानां 'पम्हुट्ठं' ति विस्मृतः। उदकेन वा प्लावितः, स्तेनैर्वाऽपहृतः। स च भूयोऽपि साधुभिर्लब्धः, अपूर्वो वा उपधिस्तैरुद्गमित उत्पादितः। अतस्तमुपधिं भाजयितुं वा दातुं वा गणधरो व्रजेत्। तत्र पतितविस्मृतादेरुपकरणस्य यस्याः सत्कं तस्या एव यद्विभज्य समर्प्यणं तद्भाजनमुच्यते, यत्पुनरपूर्वं उपधिरुत्पाद्य तासां दीयते तद्दानम्। प्रवर्त्तिन्या अभावे शेषसंयतीनां विभज्य समर्पणं विभजनम्, यत्तु प्रवर्तिन्या हस्ते समर्प्यते तद्दानम्।

अथ संघप्राघूर्णद्वारमाह-

ओहाणाभिमुहीणं, थिरकरणं काउ अज्जियाणं तु ।
गच्छेज्जा पाहुणओ, संघकुलथेरगणथेरो ॥ ४८ ॥

अवधावनाभिमुखानां परीषहपराजितानामार्यिकाणां स्थिरीकरणं कर्तुं प्राघूर्णको गच्छेत्। कः पुनः प्राघूर्णक इत्याह-संघस्थविरः कुलस्थविरो वा उपलक्षणमिदम् तेनान्योऽपि यः स्थिरीकरणलब्धिसम्पन्नः स गच्छति।

अथ शैक्षद्वारमाह-

अन्नत्थ अप्पसत्था, होज्ज पसत्था य अज्जिगोवसए ।
एएण कारणेणं, गच्छेज्ज उवट्ठवेउं जे ॥ ४९ ॥

अन्यत्र विधीयमाना उपस्थापना क्षाराङ्गारे कचवराद्यप्रशस्तद्रव्ययुक्तत्वादप्रशस्ता भवेत्। आर्यिकोपाश्रये प्रशस्ता एतेन कारणेन शैक्षमुपस्थापयितुं 'जे' इति पादपूरणे, आर्यिकावसतिं गच्छेत्।

स्थापनाद्वारमाह-

ठवणाकुलाइ ठवेउं, तासिं ठवियाणि वा णिवेदेउं ।
परिहरिउं ठवियाणि य, ठवणादियणं व वोत्तुं जे ॥ ५० ॥

दानश्रद्धादीनि स्थापनाकुलानि तासां समक्षं स्थापयितुम्, यद्वा-तानि स्वयमेव स्थापितानि परं तासां निवेदयितुममुकममुके च कुले स्थापितमित्येवं ज्ञापयितुम् इदानीं वा तानि कुलानि स्थापितानि ततः परिहर्तुं न निवेष्टव्यानीत्येवं निवारयितुम्, येषु जन्मसूतकमृतसूतकादियुक्तेषु कुलेषु पूर्वमित्वरस्थापना कृता तेषु विवक्षितावधिपरिपूर्त्यनन्तरं भूयोऽप्यादानं-ग्रहणं कुरुत इत्याज्ञावचनं वक्तुं गन्तव्यम्।

अथोद्देशानुज्ञाद्वारमाह-

वसहीएऽसज्झाए, गोरवभयसद्धमंगले चेव ।
उद्देसादी काउं, वाएउं वा वि गच्छेज्जा ॥ ५१ ॥

वसतावस्वाध्यायिके जाते संयतीवसतिमुद्देशमनुज्ञां वा कर्तुं गच्छेत्, अथवा-यद्याचार्यः स्वयं तासामुद्देशादिकं करोति ततस्ता आचार्यविषयं यद्गौरवं यच्च तदीयं भयं ताभ्यां शीघ्रं तदङ्गश्रुतस्कन्धादिकमधीयते, आचार्येण वा स्वयमुद्दिष्टे तासां महती श्रद्धोपजायते प्रशस्तद्रव्यादिगुणयुक्तत्वाच्च तत्रोद्देशादौ विधीयमाने मङ्गलं भवेत्। एतैः कारणैरुद्देशादिकं कर्तुं तत्र गच्छेत्। प्रतिवाचिन्यां वा कालगतायामन्या काचित्तासां वाचनादात्री न विद्यते ततो गणधरो वाचयितुं गच्छेत्।

भण्डनद्वारमाह-

उप्पन्ने अहिगरणे, ठिउं सवेउं तहिं पसत्थं तु ।
अच्छंति खउरियाउं, संजम सारं ठवेउं जे ॥ ५२ ॥

अधिकरणे उत्पन्ने सति ताः संयमस्य सारं सर्वस्वभूतमुपशमं पार्श्वे स्थापयित्वा 'जे' इति प्राग्वत्। 'खउरियाउ' त्ति कलुषितचेतसः परस्परमालपन्त्यस्तिष्ठन्ति, ततस्ता ह्युपश-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंथितुं तत्रैव-संयतीवसतौ गणधरस्यान्यस्य वा तथाविधोपशमनलब्धिसम्पन्नस्य गमनं प्रशस्तं भवति ।

गणद्वारमाह—

जइ कालगया गणिनी, नऽत्थि उ अन्नाउ गणहरसमत्था ।
एतेण कारणेणं, गणचिंताए वि गच्छेज्जा ॥ ५३ ॥

यदि गणिनी कालगता, नास्ति चाऽन्या संयती गणधरोद्वहनसमर्था । अत—एतेन कारणेन गणचिन्ताकरणार्थमपि गच्छेत् ।

अथानात्मवशाद्वारमाह—

अज्जं जक्खाइट्ठं, खित्तचित्तं च दित्तचित्तं वा ।
उम्मातप्पत्तं वा, काउं गच्छेज्ज अप्पज्झं ॥ ५४ ॥

यक्षेणाविष्टा-गृहीता यक्षाविष्टा अपमानतया क्षिप्तं—नष्टं चित्तं यस्याः सा क्षिप्तचित्ता, या तु हर्षातिरेकेणापहृतचित्ता सा दीप्तचित्ता भण्यते, या तु मोहनीयकर्म्मोदयेन चित्तस्तब्धतामुपगता सा उन्मादप्राप्ता, ईदृशीमार्यां विद्याचार्यां मन्त्रेण वा 'अप्पज्झं' ति आत्मवशां-स्वचित्तां कर्त्तुं संयतीवसतिं यायात्-गच्छेत् ।

अग्निद्वारमाह—

जइ अगणिना उ वसही, दड्ढा डज्झई डज्झिहिति व त्ति ।
नाऊण व सोऊण व, उवघेत्तुं जे व जाएज्जा ॥ ५५ ॥

यद्यग्निना संयतीवसतिर्दग्धा, दह्यते वा संप्रति काले, अथवा—प्रत्यासन्नाग्निप्रदीपनदर्शनेन धक्ष्यते इति ज्ञात्वा वा स्वयम्, श्रुत्वा वा-परमुखेनाकर्ण्य तां वसतिमुपग्रहीतुं-संस्थापयितुं निर्वापयितुं वा 'जे' इति पादपूरणे, संयतीवसतिं यायात्-गच्छेत् ।

अथाप्कायद्वारमाह-

नइपूरेण व वसही, वुज्झइ वूढा व वुज्झिहिति व त्ति ।
उदगभरियं व सोच्चा, उवघेत्तुं तं तु वच्चेज्जा ॥ ५६ ॥

नदीपूरेण प्रसरता वसतिः साम्प्रतमुह्यते-नीयते, व्यूढा वा-नीता, वक्ष्यते वा-नेष्यते उदकेन वा वसतिर्भृता । एवं श्रुत्वा तां वसतिमुपग्रहीतुमुल्लोचनादिकं कर्त्तुं व्रजेत् ।

विचारद्वारमाह—

घोडेहि व धुत्तेहि व, अहवा वि जती वियारभूमीए ।
जयणाए व करेउं, संठवणाए व वच्चिज्जा ॥ ५७ ॥

घोटैश्चाश्वैर्धूर्त्तैर्वा वसत्याः पुरो वगडे गच्छन्त्यस्ता उपसर्ग्यन्ते ततस्तेषां सानुनयनिवारणार्थं गच्छेत् । अथ संयतीनां विचारभूमौ ते समागच्छन्ति तन्निवारणार्थं गच्छेत् । अथवा-यतनया तासां कायिकीभूमिं-विचारभूमिं वा कर्त्तुं पूर्वकृता या वा संस्थापनानिमित्तं व्रजेत् ।

पुत्रद्वारमाह—

पुत्तो वा भाया वा, भगिणी वा होज्ज ताण कालगया ।
अज्जाए दुखियाए, अणुसट्ठीए वि गच्छेज्जा ॥ ५८ ॥

पुत्रो वा भ्राता वा भगिनी वा तासां कालगता भवेत्, ततो या तत्रार्थिका दुःखिता शोकसागरावगाढा भवति तस्या अनुशिष्ट्यर्थमपि सूरिः स्वयमेव गच्छेत् ।

तस्याश्चेयमनुशिष्टिर्दातव्या—

तेलोक्कदेवमहिया, तित्थयरा नीरया गया सिद्धिं ।
थेरा वि गया केई, चरणगुणपभावया धीरा ॥ ५९ ॥

येऽपि तावत्त्रैलोक्यदेवमहिता-भुवनत्रयवासिभिः सुरासुरैरभ्यर्चितास्तीर्थकरास्तेऽपि भगवन्तो नीरजस्सकलकर्मनिर्मुक्ता गताः-प्राप्ताः सिद्धिम्, तथा स्थविरा अपि ऋषभसेनगौतमादयः केचिच्चरमदेहधारिणो गताः सिद्धिम्, कथंभूताः ? चरणगुणानां-मूलोत्तरगुणरूपाणां स्वगमेनैव चरणं नान्येषां वोपदेशद्वारेण प्रभावकाः-प्रकर्षेण स्फातितारश्चरणगुणप्रभावकाः धीराः-परीषहोपसर्गैरक्षोभ्याः, यद्येवंविधा अपि महापुरुषाः कालगतास्ततश्शेषजनस्य मरणे किमाश्चर्यमिति भावः ।

तथा—

बंभी य सुंदरी या, अन्ना वि य जा उ लोगजेट्ठाओ ।
ताओ वि य कालगया, किं पुण सेसाउ अज्जाओ ॥६०॥

ब्राह्मी सुन्दरी च अन्या अपि च या लोकज्येष्ठा आर्यचन्दनामृगावतीप्रभृतय आर्यिकास्ता अपि कालगताः, किं पुनः शेषा आर्यिकाः ।

ततः—

न हु होइ सोइयव्वो, जो कालगओ दढो चरित्तम्मि ।
सो होइ सोतियव्वो, जो संजमदुब्बलो विहरे ॥६१॥

(न हु) नैवाऽसौ साधुसाध्वीजनः शोचितव्यो भवति । यश्चारित्रे दृढो-निष्प्रकम्पः सन् भक्तप्रत्याख्यानादिविधिना कालगतः, किं तु-श्रावकः शोचनीयो भवति यः पृथिव्याद्युपमर्द्दनानेषणीयं पिण्डादिग्रहणं वा कुर्वन् संयमेन दुर्बलो विहरति । (वृ०) (आज्ञाया विषयः 'आणा' शब्दे द्वितीयभागे ११८ पृष्ठ गतः ।)

अथ संगमद्वारमाह—

पुत्तो पिया व भाया, अज्जाणं आगतो तहिं कोई ।
घित्तूण गणहरो तं, वच्चति तो संजतीवसहिं ॥ ६२ ॥

पुत्रः पिता वा भ्राता वा आर्याणां संबन्धी चिरप्रोषितस्तत्र कश्चिदागतो भवेत्, ततस्तं गृहीत्वा गणधरः संयतीवसतिं व्रजति । येन तासां तस्मिन् संज्ञातकसाधौ दृष्टे समाधिरुपजायते ।

अथ संलेखनव्युत्सृष्टद्वाराणि युगपदाह—

संलिहियं पि य तिविहं, वोसिरियव्वं च तिविह वोसट्ठं ।
कालगये त्ति य सोच्चा, सरीरमहिमाइ गच्छेज्जा ॥६४॥

इह संलेखितम् अपिशब्दात्—संलेख्यमानं वस्तु त्रिधा-आहारः शरीरमुपकरणं वा । यद्वा-उपधिः शरीरं कषायाश्चेति । व्युत्सृष्टव्यमप्येवमेव त्रिविधम्, अनशनप्रतिपत्तिकाले एतदेव त्रयं व्युत्सर्जनीयमिति भावः । एवं निसृष्टमपि त्रिविधमेषु त्रिष्वपि तस्याः स्थिरीकरणार्थं सूरिणा गन्तव्यम् । यावत् कालगता सा संयतीति वार्ता श्रुता तां च श्रुत्वा तस्याः शरीरमहिमार्थं गणधरः स्वयमेव गतः ।

जाहे वि य कालगया, ताहे वि य दुन्नि तिन्नि वा दिवसे ।
गच्छेज्ज संजईणं, णणुसट्ठिं गणहरो दाउं ॥ ६५ ॥

यदाऽपि च प्रवर्तिनीप्रभृतिका महानिनादसंयती कालगता भवति तदा द्वौ त्रीन् वा दिवसान् संयतीनामनुशिष्टिं प्रदातुं गणधरो गच्छेत् । गतं गम्यते कारणजातं इति मूलद्वारम् ।

अथ प्राघूर्णकद्वारमाह—

अप्पवितिऽप्पततिया, पाहुणया आगया सउवचारा ।
सिज्जायरमामाए, पडिकुट्ठुद्देसिए पुच्छा ॥ ६६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राघूर्णकाः साधव आत्मद्वितीया आत्मतृतीया वा तत्राऽऽगताः। तैश्च तत्र श्रुतं यथाऽत्र संयत्यस्तिष्ठन्ति। ततस्ते तासां वसतिं सोपचाराः प्रविशन्ति। सोपचारा नाम—त्रिषु स्थानेषु प्रयुक्तनैषेधिकीशब्दाः, यद्वा—संयतीभिर्येषां वक्ष्यमाण उपचारः प्रयुक्तस्ते सोपचारा उच्यन्ते, तेषु समागतेषु प्रवर्त्तिनी यदि स्थविरा तत आत्मद्वितीया निर्गच्छति। अथ तरुणी तत आत्मतृतीया, या च तत्र स्थविरा पुरतस्तिष्ठति ततः साधवः शय्यातरकुलं मामककुलं प्रतिकुष्टकुलानि वा रजकादिसंबन्धीनि, औद्देशिकं च येषु कुलेषु क्रियते तानि प्रष्टुं प्रवर्त्तिन्याः समीपे गच्छन्ति।

अथोपचारं व्याख्याति—

आसंदग कट्ठमओ, भिसिया वा पीढगं व कट्ठमयं।
तक्खणलंभे असई, पडिहारिगपेहभोगणे ॥ ६७ ॥

यदि साधुषु समागतेषु तत्क्षणादेव काष्ठमय आसन्दकोऽशुषिरादिगुणोपेतः प्राप्यते, वृषिका वा काष्ठमयं वा पीढकं लभ्यते, ततस्तदानीमेव तद् ग्रहीतव्यम्। अथ तत्क्षणादेवासन्दकादि न लभ्यते ततो गतं प्रातिहारिकं गृहीत्वा स्थापयन्ति 'पेह' त्ति तच्चोभयसंध्यं प्रत्युपेक्षते 'भोगणे' त्ति अकारप्रश्लेषादन्यान्यानामसंयतीजनस्य प्रातिहारिकस्य भोगं न करोति। ततस्ते तत्रोपविष्टाः संयतीनां निराबाधादिवार्तां पृष्ट्वा शय्यातरकुलादीनि पृच्छन्ति।

अथ केन विधिना ते पृच्छन्ति, केन वा विधिना तास्तेषां दर्शयन्तीत्युच्यते—

बाहॉए अंगुलीऍ व, लट्ठीऍ व उज्जुअं ठिओ संतो।
न पुच्छेज्ज न दाएज्ज, पच्चावाया भवे तत्थ ॥ ६८ ॥

शय्यातरादिकुलं पृच्छन् दर्शयन् वा बाहया—बाहुं प्रसार्य एवम् अङ्गुल्या वा यष्ट्या वा गृहस्य ऋजुकं संमुखं स्थितः सन् न पृच्छेत्, न वा दर्शयेत्। कुत इत्याह—यतस्तत्रैव पृच्छ्यमाने दर्श्यमाने वा प्रत्यपाया बहवो भवन्तीति।

तानेवाह—

तेणेहि अगणिणा वा, जीवियववरोवणं व पडिणीए।
खरए खरिया सुण्हा, नट्ठे वट्टक्खुरे संका ॥ ६९ ॥

बाह्वादिकं प्रसार्य साधुना यद् गृहं पृष्टं संयत्या वा दर्शितम्; ततः स्तेनैः किञ्चिदपहृतं भवेत्, अग्निना वा तद् गृहं दग्धम्, प्रत्यनीकेन वा तस्मिन् गृहे कस्यापि जीवव्यपरोपणं कृतम्, द्रुमरको वा द्रुमरिका वा केनचिदपहृता स्नुषा वा केनचिद्धूर्त्तेन सह पलायिता, वृत्तखुरो वा प्रधानस्तुरङ्गमो नष्टो भवेत्, ततः साधुसाध्वीविषया शङ्का भवेत्। नूनमेतैरेवापहृतम्, दग्धमित्यादि। ततो नाऽविधिना पृच्छेत्। तत्र वासिनस्ते साधवो न हसन्ति, न वा कन्दर्पं कुर्वन्ति।

किं तु—

सेज्जायराण धम्मं, कहिंति अज्जाण देंति अणुसट्ठिं।
धम्मम्मि य कहियम्मि य, सव्वे संवेगमावन्ना ॥७०॥

शय्यातराणां धर्मं कथयन्ति। आर्याणां वा उद्यतानां स्थिरीकरणार्थं सीदन्तीनां पुनरुद्यमनार्थमनुशिष्टिं प्रयच्छन्ति। धर्मे च कथिते सर्वे श्राद्धाः संयत्यश्च संवेगमापन्ना भवन्ति, आत्मनश्च निर्जरा भवति।

प्राघुणकद्वारमेव प्रकारान्तरेण व्याचष्टे—

अन्नो वि अ आएसो, पाहुणगअभासिया उ तेणभए।
चिलिमिलिअंतरिया खलु, चाउस्साले वसेऽज्जाणं ॥७१॥

अयमन्योऽपर आदेशः प्राघुणकद्वारे समस्ति, ते प्राघुणका आभाषिका द्रविडादिदेशोद्भवाः ततस्तत्र तेषामुपाश्रयो दुर्लभः। अतस्तदर्थं संयत्यो वसतिं मार्गयन्ति। यदि ताभिरपि गवेषयन्तीभिर्न लब्धा ततो वृक्षमूलादिषु बहिर्वसन्ति। अथ बहिः स्तेनभयं ततो यत्रार्याः स्थिताः सन्ति तच्चतुःशालं भवेत् 'तत्रान्यस्यां शालायां साधवश्चिलिमिलिकया अन्तरिता वसेयुः।

चतुःशालस्याऽभावे विधिमाह—

कुड्डंतरस्स असती, कडओ पोत्तं च अंतरे थेरा।
तेसंऽतरिया खुड्डी, समणीण वि मग्गणा एवं ॥७२॥

अन्यस्या वसतेरभावे संयताः संयत्यश्चैकस्मिन् गृहे वसन्ति, कुड्यान्तरस्याभावे कटकोऽपान्तराले दीयते। कटकस्याभावे पोतं- वस्त्रं तन्मयी चिलिमिलिका तस्याः स्तेनभयम्, ततो यस्मिन्पार्श्वे संयत्यस्तस्याः प्रथमं स्थविरास्तैरन्तरिताः क्षुल्लकास्ततो मध्यमास्ततस्तरुणा इति, एवं श्रमणीनामपि मार्गणा कर्त्तव्या। तद्यथा-स्थविरसाधूनामासन्ने क्षुल्लिकास्ततः स्थविरास्ततो मध्यमास्ततो वृद्धाऽऽसन्ने तरुण्यः स्थाप्यन्ते।

तत्र स्थितानां विधिमाह—

अन्नाए आभोगं, नाऍ ससद्दं करेंति सज्झायं।
अव्वुग्घाया व सुवे, अच्छंति व अन्नहिं दिवसं ॥७३॥

यदि तत्र जनेनाज्ञाताः स्थितास्ततो रात्रावभोगमुपयोगं कुर्वते; तूष्णीका आसते इत्यर्थः। अथ ज्ञातास्ततः सशब्दं-महता शब्देन युक्तं स्वाध्यायं कुर्वन्ति। अथ ते चोद्घाताः—परिश्रान्तास्ततः स्वपन्ति। कारणतश्चैकद्वित्रीन् वा दिवसान् तत्रैव यदि स्थास्नवस्ततो दिवसमन्यत्रोद्यानादिषु स्थित्वा रात्रौ तत्र वसन्ति।

कारणाभावे तु तत्रैकरात्रमुषित्वा प्रभाते व्रजन्ति—

समणी समणपविट्ठे, निसंतउल्लावकारणे गुरुगा।
पयलानिद्दतुवट्टे, अच्छीमलणे गिही मूलं ॥ ७४ ॥

श्रमणीजने श्रमणजने च कायिकीं कृत्वा प्रविष्टे सति यद्येकोऽनेको वा एक एवानेकाभिर्वा संयतीभिः समं निशान्ते निःसंचरवेलायामुल्लापकं कारणे-आगाढकारणाभावे कुर्वन्ति ततश्चतुर्गुरुकम्। तथाऽन्यत्रोद्यानादिषु श्वापदस्तेनादिभयाद्वाऽपि तत्रैव तिष्ठन्ति, यदि प्रचलायन्ते, निद्रायन्ते, त्वग्वर्तयन्ति वा अक्षिणी मलयन्ति, तत्र चतुर्गुरुकम्। अथ गृही प्रचलादि विदधानं तं दृष्ट्वा शङ्कां करोति-किमेष स्वाध्यायजागरणेन खिन्नः प्रचलायते उत सागारिकजागरेणेत्यादि, ततश्चतुर्गुरु, निःशङ्किते मूलम्।

उच्चारं पासवणं वा, अन्नहिं मत्तएसु वज्जयंति।
अदिट्ठपविट्ठा वा, अदिट्ठ णिंते ततो भयिता ॥ ७५ ॥

उच्चारं प्रश्रवणं वा यदि बाहीकभूमिं विमुच्यान्यत्र प्रकुर्वन्ति, मात्रकेषु वा कृत्वा बहिः परिष्ठापनायागतास्तत्र यदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गृहिभिर्दृष्टाः प्रविष्टास्ततो भक्तां—विकल्पिताः । दृष्टा वा अदृष्टा वा निर्गच्छन्तीति भावः ।

तत्थऽण्णत्थ व दिवसं, अच्छंता परिहरंति निद्दाई ।
जयणाए व सुवंति, उभयं पि य भग्गए वसहिं ॥७६॥

तत्र रजन्यामुषित्वादिकं च ततस्तत्र वा संयतीवसतावन्यत्र वा उद्यानादिषु तिष्ठन्ति, निद्राप्रचलादिकं परिहरन्ति । यवनिकान्तरिता यतनया स्वपन्ति, यथा सागारिको न पश्यति। यदि तत्र कियन्तमपि कालं स्थातुकामास्तत उभयमपि साधवः साध्व्यश्चान्यां वसतिं मार्गयन्ति,लब्धायां तत्र साधवस्तिष्ठन्ति । गतं प्रा (घूर्ण)घुणकद्वारम् ।

अथ गणधरद्वारमाह—

अहिणा विसूइया वा, सहसा डाहो व होज्ज सासो वा ।
जति आगाढं अज्जा—ण होइ गमणं गणहरस्स ॥७७॥

अहिना सर्पेण काचिदार्यिका दृष्टा, अतिमात्रे वा भुक्ते विसूचिका कस्याश्चिदजनिष्ट, सहसाऽपि तेनाग्निना वा दाहो दाहज्वरो वा भवेत्, श्वासो वा कस्याश्चिदकस्मादजनि । एवमादिकं यद्यागाढं कार्यमार्याणां भवति ततो दिवा रात्रौ वा गणधरस्य गमनमनुज्ञातम् ।

अथवा—

पडिणीयमेच्छमालव—गयगोणमहिसतेणगाई वा ।
आसन्ने उवसग्गे,कप्पइ गमणं गणहरस्स ॥७८॥

प्रत्यनीकम्लेच्छमालवस्तेनगजगोमहिषस्तेनकादयो वा संयतीनामुपसर्गं कर्तुमारब्धाः । यद्वा—न तावदेवोपसर्गयन्ति, परं तेषामासन्न उपसर्गो वर्त्तते तत्क्षणादेव भावीत्यर्थः । ततः कल्पते गणधरस्य वा सामान्यस्य वा समर्थस्य वा तन्निवारणार्थं गमनम् । गतं गणधरद्वारम् ।

अथ महर्द्धिकद्वारमाह—

रायाऽमच्चे सेट्ठी, पुरोहिश्रो सत्थवाहपुत्ते य ।
गामउडे रट्ठउडे, जे य गणहरे महिड्ढीए ॥७९॥

राजा—पृथिवीपतिः अमात्यो मन्त्री,अष्टादशानां प्रकृतीनां महत्तरः श्रेष्ठी.पौरजनपदयुक्तस्य राज्ञो होमादिना अशिवाद्युपद्रवप्रशमकः पुरोहितः,यस्तु क्रयाणकजातं गृहीत्वा लोभार्थमन्यदेशं व्रजन् सार्थं वाहयति योगक्षेमचिन्तया पालयति स सार्थवाहः,पुत्रशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते—राजा राजपुत्र इत्यादि, तथा ग्रामकूटो—ग्राममहत्तरः,राष्ट्रकूटो—राष्ट्रमहत्तरः, एते प्रव्रजिता इह गृह्यन्ते । यश्च गणधरा राजादिवद्बहुमतो विद्याऽतिशयसंपन्नो वा एते सर्वेऽपि महर्द्धिका उच्यन्ते ।

एतेषां संयतीवसतिं गच्छतामभी गुणा भवन्ति—

अज्जाण तेयजणणं, दुज्जणसचकारया य गोरवया ।
तम्हा समणुण्णायं, गणहरगमणं महड्डीए ॥ ८० ॥

आर्याणां तेजोजननं महात्म्योत्पादनं दुर्जनानां च सचमत्कारता—साशङ्कता भवति, न किंचित् प्रत्यनीकत्वं कुर्वन्तीत्यर्थः । लोके चार्याणां गौरवमुपजायते, तस्मात् गणधरस्य महर्द्धिकस्य च राजप्रव्रजितादेर्गमनमार्यिकाप्रतिश्रये समनुज्ञातम् । ताश्चार्यिकास्तान् राजादिदीक्षितान् दृष्ट्वा इत्थं चिन्तयन्ति—

संतविभवा जइ तवं, करेंति अवउज्झिऊण इड्ढीओ ।
सीयंतथिरीकरणं, तित्थविवड्ढी य वण्णो य ॥८१॥

यदि राजादिः संपदः अपोह्य—परित्यज्य तपः कुर्वन्ति ततो वयम् संपदं प्रार्थयमानाः किमेवं प्रमादमत्रास्तिष्ठाम इत्येवं सीदन्तीनामार्यिकाणां स्थिरीकरणं कृतं भवति । स्थिरीकरणे च क्रियमाणे तीर्थस्य वृद्धिस्तीर्थवृद्धौ प्रवचनस्य वर्णो—यशःप्रवादप्रभाविता भवति । गतं महर्द्धिकद्वारम् ।

प्रच्छादना च शैक्ष इति द्वारमाह—

वीसुं(भी)भूतो राया, लक्खणजुत्तो न विज्जती कुमरो ।
पडिणीएहिं कहिए, आहावंती दवदवस्स ॥ ८२ ॥

कस्यापि नृपतेस्त्रयः पुत्राः सम्यग्दर्शनलब्धबुद्धयो दीक्षां कक्षीकृतवन्तः । कालान्तरेण च स राजा विष्वग्भूतः—शरीरात् पृथग्भूतः; कालगत इत्यर्थः । ततोऽमात्यादयो वयमराजकाः सन्तो नाथभाज इति परिभाव्य राज्यलक्षणोपेतं कुमारं प्रयत्नेन गवेषितवन्तः, परं न विद्यते कोऽपि लक्षणयुक्तः कुमारः । ततः कथितं प्रत्यनीकैः स्ववचनिकादिभिर्यथा ये अस्यैव नृपतेः पुत्राः सन्ति ते साधवो विहरमाणा इहैवोद्याने संप्राप्ताः । ततस्ते अमात्यादयः सम्यग् ज्ञात्वा छत्रचामरखड्गादिकं राजार्हं वस्तु गृहीत्वा द्रुतं द्रुतमाधावन्ति साधूनां समीपमागच्छन्ति ।

अथ प्रत्यनीकाः केन कारणेन कथयन्तीत्युच्यते—

अइसिं जणम्मि वण्णो, आयती इड्ढिमंतपूया य ।
रायसुयदिक्खिएणं, तित्थविवड्ढी य लद्धी य ॥ ८३ ॥

अमुना राजसुतेन दीक्षितेन अमीषां श्रमणानामतीव जने लोके वर्णवादः प्रवादो विजृम्भते, यथाऽहो अमीषामेव धर्मः प्रतिपत्तव्यः यत्रेदृशाः प्रव्रजन्ति । आयतिश्च संततिरमीषामेतेनाविच्छिन्ना भविष्यति । ऋद्धिमन्तश्च श्रेष्ठ्यादय एतत्प्रभावेणामीषां पूजां कुर्वन्ति । तथा राजसुतोऽत्र प्रव्रजित इति कृत्वा अपि बहवः प्रव्रजिष्यन्तीति तीर्थवृद्धिर्लब्धिश्चाहारवस्त्रादीनां प्रचुरा भवति । उत्प्रव्रजितेन पुनरमुना वर्णादयो न भविष्यन्तीति बुद्ध्या प्रत्यनीकाः कथयन्ति ।

ततस्तानमात्यादीनुत्प्रव्रजनार्थमागच्छतः श्रुत्वा ते राजपुत्राः किं कुर्वन्तीत्याह—

दट्ठूण य रायिड्ढिं, परीसहपराइतो तहिं कोऽई ।
आपुच्छइ आयरिए, सम्मत्ते अप्पमादो हु ॥ ८४ ॥

तां राजसमृद्धिमागच्छन्तीं दृष्ट्वा तत्र कोऽपि राजपुत्रः परीषहपराजितः संस्तानाचार्यानापृच्छति—भगवन् ! अशक्तोऽहं प्रव्रज्यामनुपालयितुम् । ततः आचार्या भणन्ति—सौम्य ! सम्यक्त्वे भगवता दुर्निश्चितमप्रमादः कर्तव्यः ।

नाऊण य माणुस्सं, दुल्लभं जीवितं च निस्सारं ।
संघस्स चेतियाण य, वच्छल्लत्तं करेज्जाहि ॥ ८५ ॥

ज्ञात्वा मानुष्यं—मनुष्यभवं सुदुर्लभं जीवितं—च निःसारं—मत्वा संघस्य चैत्यानां च वत्सलत्वं भक्तिं कुर्यादिति ।

द्वितीयः पुनराह ।

किं काहिंति ममेते, पडलग्गतणं व मे जटा इड्ढी ।
को वाऽनिट्ठफलेसुं, विभवेसु बलेसु रज्जेज्जा ॥ ८६ ॥

किं करिष्यन्ति ममेते अमात्यादयः, पटलतृणमिव मया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राज्यऋद्धिर्जटाः-परित्यक्ताः, अपिच-राज्यादिविभवानां भुक्तानां ध्रुवं नरकपातः फलम् । बलश्यामीषां संध्याभ्ररागवत्, अतः को वाऽनिष्टफलमिच्छेत् फल्गु अवलेपु च विभवेषु रज्येत्-रागमनुवध्नीयात् । एवमुक्त्वा प्रकट एव प्रदेशे स्थितः सर्वानुपसर्गानभिभूय स संयममनुपालयति ।

यस्तु तृतीयः स किं करोतीत्याह—

तइओ संजमअट्ठी, आयरिए पणमिऊण तिविहेणं ।
गेलन्ने नियडीए, अज्जाणग उवस्सगमतीति ॥ ८७ ॥

तृतीयो राजपुत्रः संयमार्थी, स गुरुभिरभिहितः-आर्य! संयतीप्रतिश्रये निलीयस्व। स प्राह-इच्छाम्यहं भगवद्वचनम्, निस्तारयत मां येन केनापि प्रकारेणास्मादुपसर्गसमुद्रात्। एवमुक्तः स आचार्यान् त्रिविधेन मनोवाक्कायकर्मणा प्रणम्य निकृत्या ग्लानत्वं कृत्वा आर्याणामुपाश्रयं प्रविशति ।

अंतद्धाणा असई, जइमं मूलो य अविलीवीए ।
पीसित्ता देंति मुहे, अप्पगासं ठवेंति य विरेगो ॥ ८८ ॥

यद्यन्तर्द्धानकरणेऽञ्जनमन्त्रादि विद्यते ततः साऽन्तर्हितः कृत्वा तत्रैव स्थाप्यते। अथ नास्त्यन्तर्द्धानकरणं ततः संयतीनेपथ्यं कारयित्वा तद्वसतिं नेतव्यः। यदि तस्य श्मश्रुकूर्चं विद्यते ततो लोचः क्रियते, अम्लिनीबीजादि च पिष्ट्वा तस्य मुखे ददति; तैर्मुखमालिम्पन्तीत्यर्थः । अप्रकाशे च प्रदेशे संयतीवसतौ तं स्थापयन्ति । विरेकश्च विरेचनकारकौषधप्रयोगेण क्रियते ।

संथारकुसंघाडी, अमणुन्ने पाणए य परिसेओ ।
घंसणपीसणओसह, अधितिखरकम्मि मा बोलं ॥८९॥

संस्तारके स संयतः शाय्यते, मलिना त्रुटिता च कुसंघाटी सप्रावरणा कार्यते,अतोऽन्यद् दुर्गन्धिपानकं तेन तस्य परितः क्रियते। तथा काश्चन संयत्यस्तु चन्दनस्य घर्षणम्, अन्यास्तु पेषणमोषधस्य कुर्वन्ति, अपराः पुनः करतलपर्यस्तमुखा भूमिगतदृष्टयोऽधृतिं कुर्वाणास्तिष्ठन्ति । खरकर्म्मिकेषु च राजपुरुषेषु च समागतेषु भणन्ति-मा बोलं कुरुत, एषा प्रवर्त्तिनी ग्लाना न युष्मदीयं बोलं सहते, एवमसौ तत्र संयतीवेषेण तिष्ठन् सर्वाण्यपि स्थाननिषदनादीनि पदानि कुर्यात् । गतं प्रच्छादना वा शैक्ष इति द्वारम् ।

अथासहिष्णोश्चतुष्कभजनेति द्वारं विभावयिषुराह—

दोएह वि सहू भवंती, सो व सहू सा च होज्ज उ असहू ।
दोएहं पि उ असहूणं, तिगिच्छजयणाए कायव्वा ॥९०॥

यस्या ग्लानसाध्व्याश्चिकित्सा क्रियते, यश्च यस्याः प्रतिचारकः तौ द्वावपि सहिष्णू भवतः एष प्रथमो भङ्गः । 'सो वसहु' त्ति साध्वी सहिष्णुः स च साधुरसहिष्णुरिति द्वितीयः। "सा च होज्ज उ असहु"त्ति सा साध्वी असहिष्णुः साधुः सहिष्णुः एष तृतीयः। साध्वी साधुश्च द्वावप्यसहिष्णू इति चतुर्थः । एतेषु चतुर्षु भङ्गेषु यतनया चिकित्सा कर्त्तव्या।

तत्र प्रथमभङ्गं तावद्भावयति—

सोऊणं ओगिलाणिं, पंथे गामे व भिक्खवेलाए ।
जइ तुरियं नागच्छइ,लग्गइ गुरुए चउम्मासे ॥ ९१ ॥

श्रुत्वा ग्लानां संयतीं पथि वा परिभ्रमन् ग्रामे वा तिष्ठन् भिक्षावेलायां वा पर्यटन् यदि त्वरितं ग्लानासमीपं नागच्छति ततश्चतुरो मासान् गुरुकान् लगति-प्राप्नोति , अतो ग्लानां श्रुत्वा निर्जरामभिलषता सर्वेणाप्याद्येण तस्याः समीपं गन्तव्यम् ,कथं पुनस्तस्याः श्रवणं भवति ? उच्यते-यत्र ग्रामे ग्लाना विद्यते तस्य बहिरदूरसमीपे व्यतिव्रजन्तं गृहस्थः कोऽपि ब्रूते-युष्माभिरस्याः प्रतिजागरणं न क्रियते ? । साधुराह—सुष्ठु क्रियते , गृही साधुना सह ब्रवीति । यद्येवं ततः—

लोलंती छगमुत्ते, सोउं घेत्तुं दवं तु आगच्छे ।
तूरंतो तं वसहिं, णिवेयणं छायणज्जाए ॥९२॥

एकाकिनी संयती छगणमूत्रे आत्मीय एव पुरीषप्रश्रवणे लोलन्ती विलुठन्ती अत्र ग्रामे तिष्ठति,एवं श्रुत्वा तत एव द्रवं पानकं गृहीत्वा त्वरमाणः संयतीवसतिमागच्छति । ततो बहिः स्थित्वा शय्यातरीपार्श्वादार्यिकाया निवेदनं कारयति । यथा-बहिः साधुरागतोऽस्तीति । सा च शय्यातरी तस्या आर्यिकाया दुर्निवसितगात्राणां छादनं कुर्यात् । अथ सा न करोति तत आत्मनाऽपि यतनया तां छादयति ।

ततः साधुस्तस्या इत्थं स्थिरीकरणं करोति—

आसासो वीसासो, मा भाहि ति थिरीकरणता से ।
धुविउं व चीरकरणं, तीसऽऽप्पण वाहि कप्पो य॥९३॥

आश्वासो नाम-धीरा भव, अहं ते सर्वमपि वैयावृत्त्यं करिष्ये । विश्वासस्तु त्वं मम माता भगिनी दुहिता वा, अतो मा भैषीः, एवं वयोऽनुरूपमविरुद्धं वचनं ब्रवीति । इत्थं तस्याः स्थिरीकरणं कृत्वा छगणमूत्रलुलितां तां धावित्वा तस्या एवौपग्रहिकाणि चीवराणि, तेषामभावे आत्मीयान्यपि संस्तारके आस्तृणोति, तां वा परिधापयति । ततः खरण्टितचीवराणां प्रतिश्रद्धया बहिः कल्पो दातव्यः । भूमेरपि तस्या उपलेपनं कर्त्तव्यम् ।

अथ प्रवेशविधिं विशेषत आह—

एएहि कारणेहिं, पविसंते ऊ णिसीहिया तिन्नि ।
ठिच्चा णं कायव्वा, अंतरदूरे पवेसे य ॥९५॥

एतैर्ग्लानत्वादिभिः कारणैः संयतीवसतौ प्रविशता तिस्रो नैषेधिक्यः कर्त्तव्याः। कथमित्याह-स्थित्वा प्रथमनैषेधिकीकरणानन्तरं कियन्तमपि कालं प्रतीक्ष्य द्वितीया नैषेधिकी, ततो द्वितीयानन्तरं तृतीयाऽप्येवमेव कर्त्तव्या। प्रथमा नैषेधिकी दूरे-अग्रद्वारे द्वितीया अन्तरे-मध्यभागे , तृतीया प्रवेशे मूलद्वारे विधातव्या ।

ततः—

पडिहारिए पवेसो, तक्कजसमाणणा य जयणाए ।
गेलन्न चिट्ठणादी, परिहरमाणो जतो खिप्पं ॥९५॥

शय्यातराभिः प्रातिहारिके आर्यया ज्ञापिते सति प्रवेशः कर्त्तव्यः , प्रविष्टेन च तस्य-विवक्षितस्य ग्लानकार्यस्य पूर्वोक्तया वक्ष्यमाणया यतनया समानना कर्त्तव्या । एवं ग्लानत्वे तत्र स्थानादीनि पदानि कुर्यात् । तथा ग्लानकृत्यान्युत्सर्गतोऽशुद्धं परिहरन् करोति । अथ शुद्धं न प्राप्यते—ततो 'जउ' त्ति अनागाढे पञ्चकहान्या यतमानः करोति 'खिप्पं' ति आगाढे क्षिप्रमेव करोति । अ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थवा—आत्मपरोभयसमुत्थदोषान् परिहरमाणो ग्लानकृत्यं करोति। कुत इत्याह-'जतो खिप्पं' ति यत आत्मसमुत्थादिदोषानपरिहरतः क्षिप्रमेव संयमविराधना भवति।

कीदृशः पुनस्तां प्रतिजागर्तीत्युच्यते—

पियधम्मो दढधम्मो, मिसवादी अप्पकोउहल्लो य।
अअंगिलाणयं खलु, पडिजग्गति एरिसो साहू॥९५॥

प्रिय इष्टो धर्मो यस्य स प्रियधर्मा,धर्मे दृढो-निश्चलो दृढधर्मा राजदन्तादित्वात् दृढशब्दस्य पूर्वनिपातः, मितं-परिमिताक्षरं वक्तुं शीलमस्येति मितवादी, अल्पशब्दस्येहाभाववचनत्वादल्पम्-अविद्यमानं कौतूहलं स्त्रीरूपदर्शनादिषु यस्य सोऽल्पकौतूहलः। ईदृशः साधुरार्यां ग्लानां प्रतिजागर्ति।

सो परिणामविहिण्णू, इंदियदारेहि संवरियदारो।
जं किंचि दुब्भिगंधं, सयमेव विगिंचणं कुणति॥९६॥

स वैयावृत्त्यकरो वर्णगन्धादिभिः शुभा अपि भावा भूयोप्यशुभा भवन्ति; अशुभा अपि च संस्कारविशेषतो विश्रसया वा शुभा जायन्ते इत्येवं पुद्गलानां परिणामविधिं जानातीति परिणामविधिज्ञः। तथेन्द्रियद्वारेभ्यः संवृतद्वारः इह 'गम्ययपः कर्माधारे' २।२।७४। इत्यनेन पञ्चमी। ततोऽयमर्थः—इन्द्रियरूपाणि द्वाराण्यधिकृत्य संवृतद्वारो न पुनर्बाह्यद्वाराणि। ईदृशः साधुर्यत्किंचिदार्यिकायाः संज्ञादिकं दुरभिगन्धं तस्य स्वयमेव विवेचनं स्फेटनं परिष्ठापनं वा करोति।

संवृतद्वारपदस्य सफलं वा करणार्थमाह—

गुज्झंगवदणकक्खो-रुअंतरे तह थणंतरे दट्ठुं।
संहरति ततो दिट्ठिं, न य बंधति दिट्ठिए दिट्ठिं॥९७॥

गुह्याङ्गस्य वदनस्य कक्षयोरूर्वोश्च यान्यन्तराणि—अवकाशास्तानि, तथा स्तनान्तराणि च दृष्ट्वा संहरति-भास्करादिव ततो दृष्टिं निवर्त्तयति। न च नैवार्यिकायां दृष्टौ दृष्टिं बध्नाति-मीलयतीत्यर्थः।

अथ यत्किंचित् दुरभिगन्धमित्यादि व्याचष्टे—

उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाडए विगिंचणया।
उव्वत्तणपरियत्तण, णंतगणिल्लेवणसरीरो॥९८॥

उच्चारस्य प्रश्रवणस्य खेलस्य सिंघाणस्य च विवेचनं करोति। उद्वर्तनं नाम—तस्या उत्तानायाः पार्श्वतः करणम्, ततः इतरस्यां दिशि स्थापनं परिवर्त्तनं तदपि करोति, नन्तकं—वस्त्रं तथा शरीरं च यदि संज्ञया मूत्रेण वा लिप्तं ततस्तदपि निर्लेपयितव्यम्।

किरियातीतं णाउं, जं इच्छति एसणाएँ तं तत्थ।
सद्धावणा परिण्णा, पडियरणकहा णमोक्कारो॥९९॥

क्रियायां क्रियमाणायामपि या न प्रगुणीभवति सा क्रियातीता, तां ज्ञात्वा सा प्रष्टव्या-केन भवत्या समाधिरुत्पद्यते?, ततो यद् द्रव्यमिच्छति तदेषणया शुद्धं शुद्धस्यालाभे पञ्चकहानियतनयाऽपि गृहीत्वा दातव्यम्। ततः सा तथा श्रद्धाप्यते; यथा परिज्ञाय स्वयमनशनं प्रतिपद्यते। अनशनप्रतिपन्नायाश्च सर्वप्रयत्नेन प्रतिचरणं धर्मकथा च तथा कर्त्तव्या; यथा सम्यगुत्तमार्थमाराधयति। नमस्कारश्च तस्या मरणवेलायां दातव्य इति।

क्रियासाध्याया विधिमाह—

दव्वं तु जाणियव्वं, समाधिकारं तु जस्स जं होति।
णायम्मि य दव्वम्मि य, गवेसणा तस्स कायव्वा॥१००॥

यस्य रोगस्य यद् द्रव्यं यस्या वा ग्लानाया यत् समाधिकारकं तत्प्रथमत एव ज्ञातव्यम्। ज्ञाते च तस्मिन् द्रव्ये सर्वप्रयत्नेन तस्य गवेषणा कर्त्तव्या।

सयमेव दिट्ठपाढी, करेति पुच्छति अजाणओ वेज्जं।
दीवणदव्वादिम्मि य,उवदेसे वादि जा लंभे॥१०१॥

वैद्यकशास्त्ररूपो दृष्टः पाठो येन स एवंविधः स्वयमेव चिकित्सां करोति, अथवा-वैद्यकशास्त्राभिप्रायं न जानाति, ततो वैद्यं पृच्छति, तस्य च वैद्यस्य दीपनं करोति। यथाऽहं कारणत एकाकी संजातः, अतो मा अपशकुनं गृह्णीध्वम्। ततो वैद्येन द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्विधे उपदेशे दत्ते सति ब्रवीति। यदि वयमेतन्न लभामहे ततः किं प्रयच्छामः। एवं पृष्टे भूयो द्रव्यान्तरे उपदिष्टे ब्रूते—यद्येतदपि न लभामहे ततः किं कर्त्तव्यम्-एवं तावत् पृच्छति; यावद्यस्य भुयो लाभः तदुपदेशे च पृच्छा तिष्ठति; उपरमत इत्यर्थः।

अथ रात्रौ विधिमाह—

अब्भासे व वसेज्जा, संवद्धं उवस्सयस्स वा दारे।
आगाढे गेलण्णे, उवस्सए चिलिमिलिविभत्ते॥१०२॥

संयतीप्रतिश्रयस्याभ्यासे-समीपे यदसंवद्धमन्यद् गृहं तत्र वसेत्, तस्याभावे संवद्धेऽप्यन्यगृहे, तदभावे उपाश्रयस्य वा द्वारे। अथ गाढं ग्लानकार्यं भवति तत उपाश्रयेऽपि चिलिमिलिकाविभक्ते सति।

किमर्थं पुनरुपाश्रयस्यान्तर्वसतीत्याह-

उव्वत्तण परियत्तण, उभयविगिंचट्ठपाणगट्ठा वा।
तक्करभयभीरक्खण, णमुक्कारट्ठा वसे तत्थ॥१०३॥

तस्या उद्वर्त्तनं वा कर्तुम् उभयस्य वा-कायिकीसंज्ञालक्षणस्य विवेचनार्थम्, तृषार्त्ताया वा रात्रौ पानकदानार्थम्, यद्वा-तत्र तस्करभयम्; सा च संयती स्वभावेनैव भीरुः ततो भयरक्षणार्थम्, अथेति-अथवा मरणवेलायाः प्रत्यासन्नत्वे नमस्कारदानार्थं वा तत्र वसेत्।

धिइबलजुत्तोऽवि मुणी, सेज्जातरसण्णिसज्झिगादिजुतो।
वसति परपच्चयट्ठा, सलाहणट्ठा य अवराणं॥१०४॥

यद्यपि स मुनिः सहिष्णुत्वाद् धृतिबलयुक्तस्तथापि शय्यातरेण संज्ञिना वा श्रावकेण सिद्धकेन वा सहवासिना युक्तः-सहितः संयतीप्रतिश्रयं वसति, शय्यातरादिकमित्थं भणति न वर्तते ममैकाकिनः संयतीप्रतिश्रये रात्रौ वस्तुम्, अतो मम द्वितीयेन भवता भवितव्यम्। अथ किमर्थमेवं करोतीति चेदित्याह-परप्रत्ययार्थम्-परेषामगारिणां प्रतीत्युत्पादननिमित्तम्, यथा—नैष विरुद्धाभिप्रायेणात्र वसति अपरेषां वा साधूनां श्लाघार्थम्-धन्या अमी येषामेवंविधः सुदृढो धर्म्म इति।

सो णिज्जराए वट्टति, कुणति य वण्णं अणंतणाणीणं।
सपितिज्जओ कहेती, परिवड्ढेगागि वसमाणे॥१०५॥

स साधुरेव कुर्वन् विपुलायां निर्जरायां वर्तते। आज्ञां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाऽनन्तज्ञानिनां—तीर्थकृतां करोति, सद्वितीयो वसन् तस्य—द्वितीयस्य धर्मं कथयति । अथैकाकी वसति ततः सर्वामपि रात्रिं परिवर्तयति ।

पडिजग्गिया य खिप्पं, दोराह सहूणं तिगिच्छजतणाए ।
तत्थेव गणहरो अ, अराहहि जयणाइ तो णेइ ॥१०६॥

एवं तेन साधुना प्रतिजागरिता सा क्षिप्रं-शीघ्रं प्रगुणी-भवेत्, इत्थं द्वयोः सहिष्णोर्यतनया चिकित्साकरणमुक्तम् । तां च प्रगुणीभूतां गृहीत्वा यदि तस्या गणधरस्तत्रैवासन्ने समस्ति ततस्तं गाढं खरण्टयित्वा तस्य समर्पयति । अथान्यत्र दूरदेशे ततः सार्थेन सह तां तत्र प्रस्थापयति, स्वयं वा यतनया तत्र नयति ।

कथमित्याह—

निक्कारणे चमढणा, कारण गिराहेति अहव अप्पाहे ।
गमणऽत्थि मिस्ससंबं-धि वज्जिते असति एगागी ॥१०७॥

यदि सा ग्लाना संयती निष्कारणं गणादतिक्रम्यै-काकिनीभूता ततस्तां चमढयति; निर्भर्त्सयतीत्यर्थः । अथ कारणिकी ततस्तां स्वयं नयति, येषां वा आचार्याणां सा संयती तेषां संदिशति । यथा—युष्माकं संयती साम्प्रतमत्र तिष्ठति, अस्या आनयनकृते संघाटकः प्रहेयः । यदा पुनः स स्वयं नयति । तदा इयं यतना । 'गमणि-त्थि' इत्यादि स्त्रीसार्थेन संबन्धिना समं प्रथमतो नयति, ततः स्त्रीसार्थेनैवासंबन्धिना, ततः पुरुषमिश्राभिरपि स्त्रीभिः,प्रथमं संबन्धिपुरुषयुक्ताभिरपि, ततः पुरुषैरेव केवलैः, प्रथमं सबन्धिभिस्ततोऽसंबन्धिभिरपि समं नयति । एषां प्रकाराणामभावे स साधुरेककोऽपि तां नयति । तत्र चात्मना पुरतो गच्छति, संयती न नासन्ने नातिदूरे पृष्ठतः स्थिता आगच्छति । ततः प्रथमो भङ्गः ।

अथ द्वितीयभङ्गं विभावयिषुराह—

न वि य समत्थो सव्वो, हवेज्ज एतारिसम्मि कज्जम्मि ।
कायव्वो पुरिसकारो, समाहिसंधारणट्ठाए ॥ १०८ ॥

साध्वी सहिष्णुः साधुरसहिष्णुरित्ययं भङ्गो भाव्यते । नापि च-नैव सर्वोऽपि साधुरेतादृशे स्त्रियाः स्पर्शादावपि मनोनिग्रहात्मके कार्ये समर्थो भवेत् । ततः किं सा ग्लाना सती तेन परित्यक्तव्या ?, नेत्याह-ज्ञानदर्शनचारित्राणां यः समाधिरन्योन्याविरोधिनैकत्रावस्थानं तस्य संधारणार्थं तथा साधुना पुरुषकारः कर्त्तव्यः यथा तस्याः चिकित्सा क्रियते, आत्मनश्च शीलखण्डना न भवति ।

स पुनः साधुः कथमसहिष्णुर्भवतीत्युच्यते—

सोऊण य पासित्ता, संलावेणं तहेव फासेणं ।
एतेहि असहमाणे, तिगिच्छजयणाइ कायव्वा ॥१०९॥

स्त्रियाः शब्दं श्रुत्वा रूपं वा तदीयं दृष्ट्वा तया सार्द्धं वा यः संलापो वा तस्याः स्पर्शस्तेन वा तस्य मोहोद्भवे सति एतैः प्रकारैरसहमान—इन्द्रियनिग्रहं कर्तुमक्षमो य—स्तेन यतनया चिकित्सा कर्त्तव्या । तद्यथा—प्रथमं सा ग्लाना प्रष्टव्या, आर्ये ! भवति ! किं सहिष्णुरसहिष्णुः ?, सा गीतार्था वा भवेदगीतार्था वा ? ।

तत्र—

अविकोविया उ पुट्ठा, भणाइ किं मं न पाससी खियए ।
छगमुत्ते लोलंति, तो पुच्छसि किं सहू असहू ॥११०॥

अविकोविदा-अगीतार्था पृष्टा इदं भणति-किं मां न पश्यसि ? निजके छगणे-मूत्रे लोलन्तीम्, तत एवं पृच्छसि-किं सहिष्णुरसहिष्णुरिति ।

साधुराह—

पासामि णाम एतं, देहाऽवत्थं तु भगिणि जा तुज्झं ।
पुच्छामि धितिबलं ते, मा बंभविराहणा होज्जा ॥१११॥

नामेति-कोमलामन्त्रणे, भगिनि ! पश्याम्यहमेतां देहावस्थां या साम्प्रतं तव वर्तते । परमहं ते—तव धृतिबलं पृच्छामि मा मम तव च ब्रह्मव्रतविराधना भवेदिति कृत्वा ।

ततः साध्वी ब्रूते—

इहरा वि ताव सद्दे, रूवाणि य बहुविहाणि पुरिसाणं ।
सोऊण व दट्ठूण व,ण मणक्खोभो महं को वि ॥११२॥

इतरथाऽपि-नीरोगाया अपि मम तावत्पुरुषाणां गीतादीन् श्रुत्वा, रूपाणि च बहुविधानि विशिष्टनेपथ्यालंकृतानि दृष्ट्वा कोऽपि न मनागपि मनःक्षोभो भवति ।

किं च—

संलवमाणी दियए, ण यामि विगतिं ण संफुसित्ताणं ।
हट्ठा वि किं तु सणिंह,तं पुण णियगं धितिं जाण ॥११३॥

अहं सकलमपि दिवसं पुरुषेण सह संलपन्ती विकृतं-विकारं न यामि, न वा पुरुषहस्ताद्यवयवसंस्पृष्टाऽपि विकारं गच्छामि,तदेवं हृष्टाऽपि नीरोगाऽप्यहमेवं सहिष्णुः, किं पुनरिदानीं ग्लानावस्थां प्राप्ता । त्वं पुनर्निजकामात्मीयां धृतिं जानीहि ।

एवमुक्ते स किं करोतीत्याह—

सो मग्गति साहम्मिं, सण्णियहा भद्दगं वि सड्ढं च ।
देंति य से वेदणगं, भत्तं पाणं च पाउग्गं ॥ ११४ ॥

सोऽसहिष्णुः साधुस्तत्रान्यत्र वा ग्रामे साधर्मिकीं संयतीं मार्गयति । तत्र प्रथमं संविग्नां गीतार्थां,तदभावे संविग्नामगीतार्थाम्,तदलाभे पार्श्वस्थां गीतार्थाम्, तदप्राप्तौ पार्श्वस्थामगीतार्थाम् । अथ संयती न प्राप्यते ततः संज्ञिनीं-श्राविकाम्, तामपि प्रथमं गृहीताणुव्रताम्, ततो दर्शनश्राविकामपि तदप्राप्तौ यथा भद्रिकामपि गवेषयति । तदलाभे सूतिकां-नवप्रसूतस्त्रीं सूतीकर्मकारिणीं मार्गयति । सा च धर्मकथया प्रज्ञाप्यते, यथा—मुधिकयैव संयत्या वैयावृत्यं करोति । अथासौ मुधिकया नेच्छति ततो वेतनमपि तस्यै भक्तं पानं वा प्रायोग्यं ददाति ।

एयासिं असतीए, ण कहेति जहा अहं खु मिं असहू ।
सद्दादी जयणं पुण,करेमु एसा खलु जिणाणा ॥११५॥

एतासामनन्तरोक्तस्त्रीणामभावे स साधुस्तस्यां सुरतो नैवं कथयति, यथाऽहमसहिष्णुरस्मि, पराभवश्च चेतसि निश्चिनोति, यथा शब्दादिविषयां यतनां कुर्मः । एषा खलु निश्चितं जिनानामाज्ञा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यतनामेवाह—

सद्दम्मि हत्थवत्था-दिएहि दिट्ठिम्मि चिलिमिलिंतरितो।
संलावम्मि परमुहो, गोवालगकंचुत्रो फासे ॥ ११७ ॥

यद्यसौ साधुः शब्दे असहिष्णुः ततस्तां ग्लानां भणति-मा वचनेन मां व्यापारय, किं तु-हस्तेन वा वस्त्रेण वा अङ्गुल्या वा संज्ञां कुर्याः। यस्तु दृष्टिक्लीवः स सर्वमपि वैयावृत्त्यं चिलिमिलिकया अन्तरितं करोति। अथासौ संलापक्लीवस्ततो ऽवश्यसंलपनीये पराङ्मुखः संलापं करोति। स्पर्शक्लीवस्तु गोपालककञ्चुकमात्मानं प्रावृत्य तस्याः सर्वमुद्वर्तनादि कृत्यं करोति। गतो द्वितीयभङ्गः।

अथ तृतीयचतुर्थभङ्गयोरतिदेशमाह—

एसेव गमो नियमा, निग्गन्थीए वि होति असहूए।
दोरहं पि उ असहूणं,तिगिच्छजयणाएँ कायव्वा।११८।

एष एव द्वितीयभङ्गोक्तो गमः-प्रकारो नियमान्निर्ग्रन्थ्यामप्यसहिष्णौ कर्त्तव्यः;नवरं या शब्दादियतना सा चात्मना कर्तव्या, संयत्या च कारयितव्या। द्वयोरपि च संयतीसंयतयोः सहिष्णवोर्यतनया द्वितीयतृतीयभङ्गोक्तया चिकित्सा कर्तव्या।

प्रगुणीभूता च काचिदिदं ब्रूयात्—

आयंकविप्पमुक्का, हट्ठा बलिगा य निव्वुता संती।
अज्जा भणेज्ज काई, जेट्ठज्जो वीसमामो वा ॥ ११६ ॥

आतङ्केन रोगेण विप्रमुक्ता सती हृष्टा संजाता, तथा बलिका-उपचितमांसशोणिता निर्वृत्ता-स्वस्थीभूतेन्द्रिया एवंविधा सती काचिदार्यिका ब्रूयात्—ज्येष्ठार्य ! चिरसंयमभाराक्रान्तावावाम्, अत एनमसारं परित्यज्य यथासुखं किंचित्कालं तावद्विश्राम्यावः—विश्रामं गृह्णीवः।

किंच—

दिट्ठं परामुहं च, रहस्सगुज्झं च एकमेकस्स।
तं वीसमामो अम्हे,पच्छा वि तवं चरिस्सामो॥१२०॥

रहस्यमेकान्तयोग्यं यद् गुह्यं तन्मदीयं भवता,मयाऽपि भवदीयमुद्वर्तनपरिवर्तनादिक्रियासु बहुश एकैकस्य दृष्टं परामृष्टं च। तत्तस्मात् विश्राम्यावः किंचित्कालम्। पश्चात्पश्चिमे काले तपश्चरिष्यावः।

तं सोचा सो भगवं, संविग्गोऽवज्जभीरुदढधम्मो।
अपरिमियसत्तजुत्तो, णिकंपो मंदरो चेव ॥ १२१ ॥

तत्तस्या आर्यिकायाः वचनं श्रुत्वा स भगवान् संविग्नो मोक्षाभिलाषी अवद्यं—पापं ततो भीरुश्चकितः, दृढधर्मा चारित्रे स्थिरः, अपरिमितमियत्तारहितं यत् सत्त्वं धृतिबलं तेन युक्तः अत एव निष्कम्पो मन्दर इव मेरुगिरिरिव, यथाहि-मन्दरो वायुना न कम्प्यते एवं परिभोगनिमन्त्रणवायुना स भगवान्न कम्पितवान्।

किं तु—

उद्धंसिया य तेणं, सुट्टु वि जाणाविता य अप्पाणं।
चरसु तवं निस्संका, उवासिअं सो उ चिंतेइ ॥ १२२ ॥

उद्धर्षिता-खरण्टिता गाढं तेन भगवती सा संयती, यथानिधर्मे ! ईदृशं दुःखमनुभूय भवत्या वैराग्यमपि न संजातम्। मयाऽपि साधर्म्मिकेति कृत्वा भवती चिकित्साकरणेन प्रगुणीकृता इतरथा मृता अभविष्यत्। एवं सुष्ठु—अतीव ज्ञापिता सा आत्मानम्; आत्मनो निरभिलाषमित्यर्थः। ततश्च चर-संप्रति निःशङ्का तपःकर्म। एवं तां शासित्वा स साधुरावश्यकीं चेतयति; गमनं करोतीत्यर्थः।

अथ द्वितीयपदमाह—

बिइयपयमणप्पज्झे, पविसे य वि कोविए व अप्पज्झे।
तेण गणियाउ संभम,बोहिगतेणेसु जाणमवि ॥१२३॥

द्वितीयपदे संयतीवसतौ अनात्मवशः क्षिप्तचित्तादिको नैषेधिकीत्रयकरणमन्तरेणापि प्रविशेत्। आत्मवशो वा योऽपि कोविदः शैक्षः सोऽप्यविधिना प्रविशेत्। यद्वा-स्तेनाग्न्यप्कायसंभ्रमेषु बोधिकस्तेनेषु वा जानन्नपि गीतार्थोऽपि सहसा प्रविशेत्। बृ० ३ उ०।

जे भिक्खू णिग्गंथीणं उवस्सयंसि अविहीए पविसइ पविसंतं वा साइज्जइ ॥२५॥

णिग्गंथाणं णिग्गंथीउवस्सओ वसही तं जो अविधीए पविसति तस्स मासलहुं आणादिया दोषा भवन्ति। नि० चू० ४ उ०।

(२६) निर्ग्रन्थानां वसतौ निर्ग्रन्थीभिर्न गन्तव्यम्—

नो कप्पइ निग्गन्थीणं-निग्गन्थाणं उवस्सयंसि चिट्ठित्तए वा० जाव काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए ॥२॥

अस्य संबन्धमाह—

पडिवक्खेणं जोगो, तासिं पि ण कप्पती जतीणिलयं।
णिक्कारणगमणादी, जं जुज्जति तत्थ तं णेयं ॥१२४॥

'पडिवक्खेणं' त्ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य प्रतिपक्षतया निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थ्युपाश्रये गमनादिकं कर्तुं न कल्पते, तथा तासामपि निर्ग्रन्थीनां यतिनिलये-निर्ग्रन्थोपाश्रये निष्कारणे गमनादिकं कर्त्तुं न कल्पते, तदर्थप्रतिपादनार्थमिदं सूत्रमारभ्यते। अत्र च यत्प्रायश्चित्तदोषजालादि पूर्वसूत्रोक्तं यत्र निष्कारणगमनादौ युज्यते तत्र तत् स्वयं बुद्ध्याऽभ्यूह्य ज्ञातव्यम्। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (२) व्याख्या प्राग्वत्।

अथ भाष्यम्—

एसेव गमो नियमा, पन्नवणपरूवणासु अज्जाणं।
पडिजग्गती गिलाणं,साहुं जतणाए अज्जाऽवि ॥१२५॥

एष एव पूर्वसूत्रोक्तो गमो नियमात् प्रज्ञापनाप्ररूपणयोरार्याणामपि मन्तव्यः। प्रज्ञापना-निष्कारणे अविधिना प्रविशतीत्याद्युल्लेखेन,चतुर्भङ्ग्याऽसौ सामान्यतः कथनं प्ररूपणा प्रथममेकैकभङ्गकस्य प्ररूपणा। तथा साधुं ग्लानमार्याऽपि यतनया तथैव प्रतिजागर्ति। नवरम्—

सा मग्गइ साधम्मिअ, सण्णि जहा भद्दसंवरादी वा।
देति य से वेदयाणं, भत्तं पाणं च पायोग्गं ॥१२६॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थभङ्गेषु सा संयती साधर्मिकं साधुं मार्गयति,तदप्राप्तौ संज्ञितं-श्रावकम् ,तदलाभे यथाभद्रकम् ,तदभावे संवरं-स्नातिकाशोधनम्,आदिशब्दादन्यमपि तथाविधं मार्गयति। यदि वा-असौ मुधिकया नेच्छति ततस्तस्य वेतनं कमपि ददाति, भक्तं पानं च तस्य ग्लानस्य प्रायोग्यमुत्पा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दयति । बृ० ३ उ० । पं० भा० । पं० चू० । अनन्तरहितायां पृथिव्यां स्थानादीनि न कुर्यात् । नि० चू० १३ उ० । (अभिनिषद्यागमनम्-' अभिणिसज्जा ' शब्दे प्रथमभागे ७१८ पृष्ठे व्याख्यातम् ।)-(उपसंपद्यमानेन कथं वस्तव्यम् इति 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे ६६३ पृष्ठे उक्तम् ।)-(आचार्योपाध्याययोर्वसंतरन्तः एकाकी वस्तुं कल्पते इति ' अइसय' शब्दे प्रथमभागे २६ पृष्ठे व्युत्पादितम् ।)—(' जिणकप्पिय' शब्दे चतुर्थभागे १४८१ पृष्ठे जिनकल्पिकानां वसतिः ।)—('णितियवास' शब्दे चतुर्थभागे २०६७ पृष्ठे नित्यवासनिषेध उक्तः ।)-(वृद्धावासः 'उवसपया' शब्दे द्वितीयभागे ६६८ पृष्ठे गतः ।)

(२७) श्रावकस्य वसतिमाह—

निवसेज्ज तत्थ सड्ढो, साहूणं जत्थ होइ संपाओ ।
चेइयहराइँ जम्मि, तयण्णसाहम्मिया चेव ॥ ४१ ॥

निवसेद्-आवसेत्तत्र-नगरादौ श्राद्धः-श्रावकः साधूनां-यतीनां यत्र नगरादौ भवति-जायते संपात-आगमनम्, तथा चैत्यगृहाणि प्रतीतानि, यस्मिन् नगरादौ भवन्तीति गम्यते । तथा तस्मादधिकृतश्रावकादन्ये-अपरे ये साधर्म्मिकाः समानधर्म्मिकास्ते तदन्यसाधर्मिकाः श्रावकाः, चशब्दः समुच्चये, एवकारोऽवधारणे, तस्य च तत्रैवेत्येवं संवन्धो दृश्यः । अथैवंविधे स्थाने निवसतः किं फलमिति चेदुच्यते-गुणानां वृद्धिः । तथा चोक्तम्-साधुसंपातादिपुरस्काराय—

" साहूण वंदणेणं, नासति पावं असंकिया भावा ।
फासुयदाणे निज्जर, उवग्गहो नाणमाईणं ॥ १ ॥
मिच्छादंसणगहणं , सम्मद्दंसणविसुद्धिहेउं च ।
चियवंदणाइविहिणा, पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥ २ ॥
साहम्मियथिरकरणे, वच्छल्लं सासणस्स सारो त्ति ।
मग्गसहायत्तणओ, तहा अणासोयधम्माओ ॥ ३ ॥ "

इति गाथार्थः ॥ ३ ॥ पञ्चा० १ विव० । (कस्यां वा वसतौ स्वाध्याय इति ' सज्झाय ' शब्दे वक्ष्यते ।) गृहे , ' भवणं घर आवासो, निलयो वसही निहेलणं अगारं ' । पाइ० ना० ४६ गाथा । वसतिस्वामिनि देवलोकं गते कः शय्यातरः स्यादिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-स्वामित्वेन तच्चिन्ताकारी स एव शय्यातरो भवतीति ॥ ७७ ॥ सेन० २ उल्ला० । साधुभिर्वसतिप्रमार्जनानन्तरं श्राद्धाः प्रतिलेखनां कुर्वन्ति, तदा पुनरपि श्राद्धानां वसतिप्रमार्जनं मृग्यते न वेति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-यतिभिर्वसतिप्रमार्ज्जनानन्तरं श्राद्धानां प्रतिलेखनाकरणे काजकोद्धरणं कृतं विलोक्यत इति ॥ ११६ ॥ सेन० २ उल्ला० ।

विषयसूची—

(१) कीदृशी वसतिराश्रयणीया ।
(२) साएडा वसतिर्न मार्गयितव्या ।
(३) प्रतिश्रयगता उद्गमादिदोषाः ।
(४) औद्देशिकीं शय्यां न गृह्णीयात् ।
(५) संयतार्थमसंयतः प्रतिश्रयं कुर्यात् ।
(६) प्रतिकर्म । (कतिप्रकारा शोधिः)
(७) पिण्डादिषु वसतिदोषाः ।
(८) वर्षावासयोग्या वसतिः ।
(९) वसतौ पीठादिसञ्चालननिषेधः ।
(१०) स्कन्धादिषु अन्तरिक्षे वसतिः ।
(११) निर्ग्रन्थीनां सागारिकवसतौ निषेधः ।
(१२) स्त्रीपुंससागारिकोपाश्रये वस्तुं कल्पते न वा ।
(१३) वसतिदोषविशेषप्रतिपादनम् ।
(१४) तृणादिपुञ्जेषु वसतिदोषाभिधानम् ।
(१५) अभीक्ष्णं साधुष्ववपततसु न वसेत् ।
(१६) कालातिक्रान्तवसतिदोषः ।
(१७) तथाविधकार्यवशाच्चरककार्पटिकादिभिः सह संवासे विधिः ।
(१८) गृहमध्यान्मार्गवत्युपाश्रये न निवसेत् ।
(१९) यत्र गृहपतिजनाः कलहं गात्राभ्यङ्गं वा कुर्वन्ति तत्र वासनिषेधः ।
(२०) अभिनिर्वगडायां वासविधिः ।
(२१) वर्षासु कीदृशे उपाश्रये वसेत् ।
(२२) हेमन्तग्रीष्मयोर्द्वौ मासौ वस्तुं कल्पेते ।
(२३) एकवगडायामेकपरिक्षेपायां वसतौ वासनिषेधः ।
(२४) शीतोदकशय्यायां प्रवेशनिषेधः ।
(२५) यत्र राजा तिष्ठति तस्यां वसतौ न वसेत् ।
(२६) निर्ग्रन्थानां वसतौ निर्ग्रन्थीभिर्न गन्तव्यम् ।
(२७) श्रावकस्य वसतिः ।

वसहिदाणफल-वसतिदानफल-न० । वसतिदानफले, बृ० ।

वसहिफलं धम्मकहा, कहणमलद्धीउ सीसवावारे ।
पच्छा अइंति वसहिं, तत्थ य भुज्जो इमा मेरा ॥७४०॥

धर्मकथां कुर्वन्तः सूरयो वसतिफलं कथयन्ति यथा-

"रयणगिरिसिहरसरिसे, जंबूणयपवरवेइअक्खलिए ।
मुत्ताजालगपयरग—खिंखिणिवरसोभितविडंगे ॥ १ ॥
वेरुलियपयरविद्दुम-खंभसहस्सोवसोभिअमुदारं ।
साहूण वसहिदाणा, लभते एयारिसे भवणे ॥ २ ॥" इत्यादि । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

वसहिपाल-वसतिपाल-पुं० । वसतिरक्षके, ओघ० । (भिक्षागतानां साधूनां यो वसतिरक्षपाल आस्ते तेन किं कर्त्तव्यमिति ' भोयण ' शब्दे पञ्चमभागे १६१६ पृष्ठे गतम् ।) (आचार्यैर्वसतिपालत्वेन स्थापनीय इति 'वसति' शब्दे एवोक्तम् ।)

वसा-वसा-स्त्री० । शरीरस्नेहे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । शरीरावयवे, स० । अस्थिमध्यरसे, स्था० ४ ठा० १ उ० । वसार्थं व्याघ्रमकरादयो मार्यन्ते । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

वसिअ-वसित-त्रि० । वसिते, ' कुत्थो वसिओ ' पाइ० ना० २२५ गाथा ।

वसिउ-उषित्वा-अव्य० । स्थित्वेत्यर्थे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

वसिउं-वसितुम्-अव्य० । धातूनामनेकार्थत्वात् बन्धितुमित्यर्थे, तं० ।

वसिट्ठ-वशिष्ठ-पुं० । स्वनामख्याते वाशिष्ठमूलगोत्रप्रवर्तके महर्षौ, यद्गोत्रे आर्यसुहस्तिषष्ठगणधरा आसन् । स्था० ७ ठा० ३ उ० । आ० म० । पार्श्वनाथस्य तृतीये गणधरे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । कल्प० । आ० म० । औत्तराहाणां द्वीपकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० । स० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वसित्त-वशित्व-न०। सिद्धिभेदे, यतः सर्वाण्येव भूतानि वचनं नातिक्रामन्ति। द्वा० २६ द्वा०।

वसित्ता-उषित्वा-अव्य०। वासं कृत्वेत्यर्थे, 'गिहवासमज्झे वसित्ता'। आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ०।

वसिम-वसिम-पुं०। जनावासभूते जनपदे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

वसिया-वशिता-स्त्री०। आत्मायत्ततायाम्, द्वा० १८ द्वा०।

वसीकय-वशीकृत-त्रि०। पराजिते, आचा०१ श्रु० २ अ०४उ०।

वसीकरण-वशीकरण-न०। वश्यताकारके प्रयोगे, विपा० १ श्रु० २ अ०। कल्प०। नि० चू०। ज्ञा०। "सरुषि नतिः स्तुतिवचनं, तदभिमते प्रेम तद्द्विषि द्वेषः। दानमुपकारकीर्तन-ममन्त्रमूलं वशीकरणम् ॥१॥" स्था० ३ ठा० ३ उ०।

वसीकरणसुत्त-वशीकरणसूत्र-न०। अवशा वशाः क्रियन्ते येन तत्। दोरके, नि० चू०।

जे भिक्खू सणकप्पासा उ वा उराणकप्पासा उ वा वोडकप्पासा उ वा आलसिकप्पासा उ वा वसीकरणसुत्ताइं साइज्जइ ॥ ७१ ॥

सणो-वणस्सतिजाती तस्स वा गोकव्वाणिज्जो कप्पासो भएणति, 'उएण' त्ति पलाडाण गड्डरा भएणंति तस्स रोमा कव्वणिज्जा कप्पासो भएणति। अहवा-उएणा एव कप्पासो पोंडा वमणी तस्स फलं; तस्स पम्हा कव्वणिज्जा कप्पासो भएणति। अवसा वा स कीरंति जेण वसीकरणसुत्तयं सो पुण दोरो वा स कीरइ, उवकरणं वज्झति त्ति वुत्तं भवति।

गाहा—

वसिकरणसुत्तगस्स, अंछणयं वट्टणं व जो कुज्जा।
बंधणसिव्वणहेतुं, सो पावति आणमादीणि ॥ ८६ ॥

सचित्ताचित्तदव्वा जेण वसीकीरंति तं वसीकरणसुत्तयं जो करेति, अंछणयं णाम-पएहपासिरणं वट्टणं णाम-दो तंतए जुत्तो वलेति, जहा-सिव्वणदोरो सक्कारदोरवलणं वा वट्टणं पएहाए वा भङ्गो वट्टणं उवकरणातिबंधणहेउं, वट्टस्स वा सिव्वणहेउं। सो आणाती दोसे पावति। नि० चू० ३ उ०।

वसीकारसण्णा-वशीकारसंज्ञा-स्त्री०। ममैवैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इत्येवं विमर्शायां बुद्धौ, "दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" द्वा० ११ द्वा०।

वसु-वसु-न०।द्रव्ये, संयमे च। आचा०१श्रु०८अ०८उ०।सूत्र०। "दुव्वसुमुणी अणाणाए तुच्छए" आचा०१ श्रु०२ अ०६ उ०। सूत्र०। द्रव्या०। वसुनि, द्रव्यभावभेदाद् द्विधा-द्रव्यवसूनि-मरकतेन्द्रनीलवज्रादीनि,भाववसूनि सम्यक्त्वादीनि।आचा० १श्रु०१अ०१उ०।सूत्र०। "वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं" वसु-द्रव्यं तद्भूतः कषायकालिकादिमलापगमाद्; वीतराग इत्यर्थः, साधौ, 'वीतरागो वसुर्ज्ञेयो जिनो वा संयतोऽथवा'। आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। जीवप्रादेशिकाचार्यस्य निह्नवस्य तिष्यगुप्तस्य गुरौ, चतुर्दशपूर्विणि साधौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०। आ० म०। उत्त०। विशे०। आ० क०। आ० चू०। देवे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। धनिष्ठानक्षत्रस्य वसवो देवताः। सू० प्र० १० पाहु०। अनु०। ज्यो०। मल्लीपूर्वभवजीवस्य महाबलस्य बालवयस्ये, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। तगरानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ध० र०। वसुश्रेष्ठिसुतसिद्धवत्।

तथाहि—

"अत्थिह नगरी तगरा,नगरी य महिव्व सुकणया सुपहा।
सययं पुव्वाभासी, आसी सिट्ठी वसू तत्थ ॥ १ ॥
पयडियगुरुजणविणया, सेणी सिद्धो य तस्स दो तणया।
पयइपसंता भद्दा, पियंवया धम्मतिसिया य ॥ २ ॥
सेणो सुणेवि धम्मं, पव्वइओ सीलचंदगुरुमूले।
चरणकरणेसु नवरं, पभायसीलो दढं जाओ ॥३॥
वुड्ढपिउपालणत्थं, अगहियदिक्खो गिहम्मि निवसंतो।
सिद्धो पुण सुद्धमई,अणवरयं चिंतए एवं ॥४॥
कइया अदब्भआरं—भकारणं चइयगेहवासमियं।
गिरिएहस्सं परमसुहि—क्कहेउसव्वन्नुणो दिक्खं ॥५॥
कइया सव्वं संगं, अंगम्मि वि निप्पिहो अह चइउं।
मिगचारियं चरिस्सं, सुहगुरुपयसेवणासत्तो ॥६॥
कइया पहाण उवाहा-ण संगयं सयलदोसपरिमुक्कं।
आयारप्पमुहमहं, आगमसत्थं पढिस्सामि ॥ ७ ॥
समिईगुत्तिपहाणं, पालिस्सं दुद्धरं कया चरणं।
कइया उवसमलच्छी, वच्छेरमिही मम जहिच्छं ॥ ८ ॥
गुरुतरउज्जलतवचरण-करणजलणम्मि खिवियअप्पाणं।
नीसे समलविमुक्कं; कणगं व कया करिस्सामि ॥ ९ ॥
संलिहियदव्वभावो, कइया इह परभवेसु निरविक्खो।
आराहणमाराहिय, पाणच्चायं करिस्सामि ॥ १० ॥
इय सुमणोरहगुरुरह—आरूढमणो गमेइ सो कालं।
अन्नदिणे सेणमुणी, सिद्धं दट्ठुं समणुपत्तो ॥ ११ ॥
जिणसुयभावियमइणा, उप्पलदलकोमलाइवाणीए।
दाउं चोयणमज्जु—म्मेगहिं दो वि उवविट्ठा ॥ १२ ॥
अह कम्मविहाणाओ, विवाइया दो वि असणिवाएण।
अच्चंतदुक्खिओ तो, जाओ जणओ परियणो य ॥ १३ ॥
तत्थऽन्नया महप्पा, जुगंधरो केवली समोसरिओ।
पुट्ठो गईविसेसं, वसुणा सो निययपुत्ताणं ॥ १४ ॥
केवलिणा सिद्धंसे, सिद्धो सोहम्मकप्पमणुपत्तो।
सेणो पुणो महिड्ढी, वंतरदेवो समुप्पन्नो ॥ १५ ॥
कारणमिह सामन्ने, सुद्धे सिद्धस्स आसि करणिच्छा।
इयरेण उ सामन्नं, गहियं पि न पालियं सम्मं ॥ १६ ॥
इय सोउ गेहवासे, विरत्तचित्तो बहूजणो जाओ।
भवियपडिबोहहेउं, गुरू वि अन्नत्थ विहरित्था ॥ १७ ॥
सिद्धस्य वृत्तमेवं, निशम्य भव्याः शुभेन भावेन।
प्रतिमुक्तप्रतिबन्धा, गेहे मन्दादरा भवत ॥ १८ ॥

ध० र० २ अधि०। कृत्तिकादिकस्य द्वात्रिंशतितमस्य ग्रहस्याधिपतौ देवे, स्था०।

दो वसू। स्था० २ ठा० ३ उ०।

स्वनामख्यातायामीशानाग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०। ती०।

वसुआ-उद्वा-धा०। ऊर्ध्वं वाने, "उद्वातेरोरुम्मा-वसुआ"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

॥ ८। ४। ११ ॥ इत्युत्पूर्वस्य वातेर्वसुआ इत्यादेशः। वसु-आइ। उद्वाति। प्रा० ४ पाद।

वसुआइ-देशी। उद्वातौ, दे० ना० ७ वर्ग ४६ गाथा।

वसुआय-उद्वात-त्रि०। 'म्लाने, पव्वाअं वसुआयं, सुसिअं वायं मिलाणऽत्थे' पाइ० ना० ८३ गाथा।

वसुंधरा-वसुन्धरा-स्त्री०। चमरस्य असुरेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०। ईशानाग्रमहिष्याम्, स्था० ५ ठा० २ उ०। भ०। ज्ञा०। नवमचक्रिणोऽग्रमहिष्याम्, स०। पृथिव्याम्, "नेयं कुलक्रमायाता, शासने लिखिता न हि। खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत, वीरभोग्या वसुन्धरा ॥ १ ॥" आ० म० १ अ०। "वसुन्धर व्व सव्वफासविसहे" पृथिवीवत् शीतातपाद्यनेकविधस्पर्शक्षमः। ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे रुचकपर्वते वैडूर्यकूटवासिन्यां दिक्कुमार्याम्, स्था० १ ठा०। ती०। जयन्तीनामपुरीवास्तव्यवसुदत्तगृहपतिभार्यायाम्, ('मालोवहड' शब्दे अस्मिन्नेव भागे२५७पृष्ठे कथा।) पृथिव्याम्,"वसुहा वसुंधरा वसुमई मही मेइणी धरा धरिणी।" पाइ० ना० २६ गाथा।

वसुंधरी-वसुन्धरी-स्त्री०। जीवानुशासनवृत्तिकरणोपष्टम्भकस्य दोहट्टिवसतिवासिनः श्रीजासकश्रावकस्य भार्यायाम्, जी० १ प्रति०।

वसुगुत्ता-वसुगुप्ता-स्त्री०। उत्तरपाश्चात्यरतिकरपर्वतस्य दक्षिणदिग्व्यवस्थितरत्नोच्चयापुरीवास्तव्यायामीशानेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०। भ०। (अस्याः पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे गता)

वसुदत्त-वसुदत्त-पुं०। सुरभिपुरे शुभमतेः प्रियमित्रस्य समरकेतोः पितरि सार्थवाहे, दर्श० ३ तत्त्व। जयन्तीनामपुरीवास्तव्ये गृहपतौ वसुन्धरापतौ, पिं०। सोमदत्तभार्यायां बृहस्पतिदत्तमातरि, स्त्री०। विपा० २ श्रु० १ अ०।

वसुदेव-वसुदेव-पुं०। कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य पितरि, स०। अन्त०। आ० क०। स्था०। आव०। उत्त०।

सोरियपुरम्मि नयरे, आसि राया महिड्डिए।
वसुदेवेति नामेणं, रायलक्खणसंजुए ॥ १ ॥

सौर्यपुरे नाम्नि नगरे वसुदेव इति नाम्ना राजा आसीत्। यद्यपि सौर्यपुरे समुद्रविजयप्रमुखा दश दशार्हाः दश भ्रातरो विद्यन्ते तेषु दशसु लघुर्भ्राता वसुदेवोऽस्ति, तथापि वासुदेवपुत्रो विष्णुरभूत् तेन वसुदेवस्यैव वर्णनं कृतम्। कीदृशो वसुदेवो महर्द्धिकः-छत्रचामरादिविभूतियुक्तः, पुनः कीदृशः-राजलक्षणसंयुतः हस्तपादयोस्तलेषु राज्ञो लक्षणानि चक्रस्वस्तिकाङ्कुशवज्रध्वजछत्रचामरादिभिः सहितः। अथवा-औदार्यधैर्यगाम्भीर्यादिसहितः।

तस्स भज्जा दुवे आसि, रोहिणी देवई तहा।
तासिं दोण्हं पि दो पुत्ता, इट्ठा रामकेसवा ॥ २ ॥

तस्य वसुदेवस्य द्वे भार्ये आस्ताम्-रोहिणी तथा देवकी। यद्यपि वसुदेवस्य द्वासप्ततिसहस्रं दाराः आसन्, तथाप्यत्र उभयोरेव कार्यात् रोहिणीदेवक्योरेव ग्रहणं कृतम्, तयो रोहिणीदेवक्योर्द्वयोर्द्वौ पुत्रौ अभूताम्। द्वौ पुत्रौ कौ?, रामकेशवौ कीदृशौ तौ अतीष्टौ-मातापित्रोरधिकवल्लभौ। उत्त० २२ अ०। (वसुदेवहिण्ड्यां कथा) (संघाचारे च)।

वसुदेवहिंडी-देशी-स्वनामख्याते ग्रन्थे, बृ०।

वसुपुज्ज-वसुपूज्य-पुं०। वासुपूज्यजिनपितरि, स०। आ० चू०। आव०। प्रव०।

वसुभूइ-वसुभूति-पुं०। पाटलिपुरे जिनकल्पं प्रतिपन्नस्य महागिरेः शिष्ये, आ० चू० ४ अ०। आ० म०। आव०।

वसुमई-वसुमती-स्त्री०। चम्पाराजस्य दधिवाहनस्य धारिणीदेव्यां जातायां पुत्र्याम्, आ० क० १ अ०। आ० म०। कल्प०। (सैव चन्दनानाम्नी वीरजिनेन्द्रप्रवर्तिनी बभूवेति 'अज्जचन्दणा' शब्दे प्रथमभागे २०६ पृष्ठे कथोक्ता।) भीमराक्षसेन्द्रस्य द्वितीयाग्रमहिष्याम्,। स्था० ४ ठा०। वसुंधरायाम्, 'वसुहा वसुंधरा वसुमई मही मेइणी धरा धरिणी।' पाइ० ना० २६ गाथा।

वसुमं-वसुमत्-त्रि०। वसूनि द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, द्रव्यवसूनि-मरकतेन्द्रनीलवज्रादीनि, भाववसूनि-सम्यक्त्वादीनि, तानि यस्य यस्मिन्वा सन्ति स वसुमान्। द्रव्यवति, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। संयमवति मूलोत्तरगुणानां सम्यग्विधायिनि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। निवृत्तारम्भे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। सूत्र०।

वसुमित्त-वसुमित्र-पुं। ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिश्वशुरे, येन कूटव्यतिकरे पुस्तीनामकन्या दत्ता। उत्त० १३ अ०।

वसुमित्ता-वसुमित्रा-स्त्री०। अधोलोकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, ति०। उत्तरपश्चिमरतिकरपर्वते पश्चिमायां सर्वरत्नानाम्न्यां राजधान्यामधिष्ठितायामीशानेन्द्रस्याग्रहिष्याम्, स्था० ३ ठा० ३ उ०। भ०। ती०।

वसुया-वसुका-स्त्री०। उत्तरपश्चिमरतिकरपर्वते पूर्वदिक्स्थरत्नाख्योपर्यधिष्ठितायामीशानेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ३ ठा० ३ उ०। भ०। ति०।

वसुल-वृषल-पुं०। शूद्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ०। कस्मिंश्चिद्देशे गौरवार्थे पुरुषामन्त्रणे 'वसुले' ति प्रयुज्यते। ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। 'वसुल त्ति पुरिसं नेवमालवे' वसुल इति पुरुषं नैवमालपेत्। दश० ७ अ०।

वसुवम्मण-वसुवर्मन्-पुं०। ऋषभदेवस्य पदषष्टितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

वसुसूरि-वसुसूरि-पुं०। तिष्यगुप्तस्य जीवप्रादेशिकाचार्यस्य गुरौ, विशे०।

वसुहा-वसुधा-स्त्री०। पृथ्व्याम्, विशे०। प्रश्न०। पाइ०ना० २६ गाथा।

वसुहारा-वसुधारा-स्त्री०। वसु-द्रव्यं तस्य धारा सततपातजनिता वसुधारा। देवैः कृतायां स्वर्णदीनाराणां वृष्टौ, उत्त० १२ अ०। सुवर्णवृष्टौ, आ० क १ अ०। आ० म०। कल्प०। हिरण्यप्रपातरूपायाम् (आ० म० १ अ०) धारायाम्, भ० १५ श०। आ० म०। तीर्थकरजन्मादिष्वाकाशाद् द्रव्यवृष्टौ, भ० ३ श० ७ उ०। स०।

वसूवरिचर-वसूपरिचर-पुं०। उपरिचरे वसुराजे, जी०। वसू राजा उपरिचरः, स हि देवताधिष्ठिताकाशस्फटिकसिं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हासनोपविष्टः सन्नाकाशस्फटिकमयस्य सिंहासनस्यादर्श-नतो लोकेष्वेवं प्रसिद्धिमगमत्, सत्यवादी किलैष वसुराजः न प्राणात्ययेऽप्यलीकं भाषते, ततः सत्त्वावर्जितदेवताकृतप्रातिहार्य एवमुपर्याकाशे चरतीति । स चान्यदा हिंस्रवेदार्थप्ररूपकस्य पर्वतकस्य पक्षमभिगृह्य सम्यगृहष्टेर्नारदस्य पक्षमनभिगृह्णन्नलीकवादित्वात् प्रकुपितदेवताचपेटाहतः सिंहासनात् परिभ्रष्टो रौद्रध्यानमधिरूढः सप्तमपृथिव्याम-प्रतिष्ठाननरकमयासीत् । जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

वसोवगय-वशोपगत-त्रि० । वशमुपगते, वश्ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

वह-व्यथ-पुं० । व्यथयतीति व्यथः । लकुटादिप्रहारे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । दण्डकादिघाते, उत्त० १ अ० ।

वहंत-वहत्-त्रि० । योगवाहिनि, वृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० । परिभोगं कुर्वति, नि० चू० ६ उ० ।

वहग-व्यथक-त्रि० । चपेटादिना ताडके, जं० २ वक्ष० ।

वहड-देशी-दम्यवत्से, दे० ना० ७ वर्ग० ३७ गाथा ।

वहढोल-देशी-वात्यायाम्, दे० ना० ७ वर्ग० ४२ गाथा ।

वहण-वहन-न० । यानपोते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । 'पोओ वहणं' पाइ० ना० ६८ गाथा । प्रहणे, यस्य श्राद्धस्य प्रथमोपधानस्य वहनानन्तरं द्वादशाब्दानि जातानि सन्ति, द्वितीयस्य तु किञ्चिन्न्यूनानि, स प्रथममेवोपधानं पुनर्वहत्युत द्वे अपीति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-यदि मनः स्थाने तिष्ठति तदा प्रथमं द्वितीयं च परावृत्य वहति, तदशक्तौ तु यस्य द्वादश वर्षाणि तत्परावृत्य वहतीति ॥ ८१ ॥ सेन० १ उल्ला० ।

वहपरीसह-वधपरीषह-पुं० । त्रयोदशे परीषहे, आव० ४ अ० । (अस्य स्वरूपं 'परीसह' शब्दे पञ्चमभागे गतम् ।)

वहमाण-वहमान-त्रि० । नद्यादिश्रोतोवर्तिव्याप्रियमाणे, औ० ।

वहिय-व्यथित-त्रि० । पीडिते, आ० म० १ अ० ।

वहिलग-वहिलक-पुं० । करभीवेसरबलीवर्दप्रभृतौ, बृ० १ उ० ३ प्रक० । नि० चू० ।

वहुणी-देशी-ज्येष्ठभार्यायाम्, दे० ना० ७ वर्ग ४१ गाथा ।

वहोल-देशी-लघुजलप्रवाहे, दे० ना० ७ वर्ग ४६ गाथा ।

वा-वा-अव्य० । विकल्पे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । व्य० । नि० चू० । बृ० । उत्त० । प्रश्न० । कर्म० । स्था० । पञ्चा० । औ० । रा० । उत्तरपक्षापेक्षया विकल्पे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । रा० । पूर्वविकल्पापेक्षया समुच्चये, चं० प्र० १ पाहु० । व्य० । सम्म० । जीत० । दशा० । विभाषायाम्, आव० ४ अ० । व्य० । पक्षान्तरद्योतने, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । सू० प्र० । अथवाऽर्थे, विशे० । व्यवस्थायाम्, प्रति० । इवार्थे, विशे० । अप्यर्थे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । आ० म० । पातना-सूचने, विशे० । अवधारणे, स्था० ८ ठा० १ उ० । समुच्चये, विपा० १ श्रु० २ अ० । सू० प्र० । रा० । जं० । उपमायाम्, नं० । स्था० । वा विकल्पोपमानयोः, व्य० १ उ० । उपमानान्तरापेक्षया समुच्चये, जं० १ वक्ष० । पादपूरणे, उत्त० २८ अ० । नि० चू० । आनन्तर्ये, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । व्यवस्थायाम्, प्रति० । म्लै-धा० । हर्षक्षये, "म्लैर्वा-पव्वायौ" ॥ ८ । ४ । १८ ॥ इति म्लैधातोर्वा इत्यादेशः । वाइ । म्लायति, प्रा० ४ पाद ।

वाइ (ण्)-वादिन्-पुं० । वादिप्रतिवादिसभ्यसभापतिरूपायां चतुरङ्गायां पर्षदि प्रतिक्षेपपूर्वकं स्वपक्षस्थापनार्थमवश्यं वदतीति वादी । निरुपमवादिलब्धिसम्पन्नत्वेन वावदूकवादिवृन्दारकवृन्दैरप्यमन्दीकृतवाग्विभवे, प्रव० १४८ द्वार । ध० । परेणाजेये मन्त्रवादिनि, धातुवादिनि, स्था० ६ ठा० ३ उ० । प्रव० । (कस्य तीर्थकृतः कियन्तो वादिन इति 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २३०२ पृष्ठे उक्तम् ।) तीर्थिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । प्रश्न० । सूत्र० । (केचिद् वादिन एवं मन्यन्ते-'गता गौडदेशोद्भवा दूरदेशम्,' इत्यादिश्लोका 'इंदभूइ' शब्दे द्वितीयभागे ५४४ पृष्ठ गताः।)" वाइप्पमायकुसला-रायदुवारे वि लद्धमाहप्पो" संथा० । वादिनिग्रहणार्थे पारिहारिकस्य गमनं 'पारिहारिक' शब्दे पञ्चमभागे ६६० पृष्ठ दर्शितम् ।)

वाइंगणी-वृन्ताकी-स्त्री० । 'वैंगन' इति प्रसिद्धे शाके, आव० ४ अ० ।

वाइत्त-वादित्र-न० । वाद्ये, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । औ० ।

वाइत्तए-वाचयितुम्-अव्य० । सूत्रं पाठयितुम्, अथवा श्रावयितुमित्यर्थे, बृ० ४ उ० ।

वाइद्ध-व्यादिग्ध-त्रि० । विशिष्टद्रव्योपदिग्धे, वक्रे, (इति-वृद्धाः) भ० १६ श० ४ उ० । विपर्यस्तरत्नमालावदनेकप्रकारे, आव० ४ अ० । आ० चू० ।

वाइद्धक्खर-व्याविद्धाक्षर-न० । विपर्यस्तरत्नमालागतरत्नानीव विद्धानि विपर्यस्तान्यक्षराणि यत्र तत्तथा । " संग्रथिते, अनु० । विशे० ।

वाइम-वातव्य-न० । कुविन्दैर्वस्तुविनिर्मितेऽश्वादिके, दश० २ अ० ।

वाइय-वाचिक-त्रि० । उक्तिर्वाक् तया निर्वृत्तो वाचिकः । विशे० । वाक्प्रयोजनमस्य वाचिकः । ध० २ अधि० । वाक्कृते, आव० ४ अ० । आ० म० । आ० चू० । दुर्वचनादिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० " जेणं मुंचइ स वाइओ जोगो " येन संरम्भेण वाग्द्रव्याणि मुञ्चति स वाचिकः । विशे० । मद्ये, नपुं० । बृ० ५ उ० । नि० चू० ।

वाचित-त्रि० । आक्षेपपरिहारपूर्वकतया सम्यग्गुरुपादान्तिके निर्णीतार्थीकृते, व्य० ३ उ० । पाठिते, शिक्षां ग्राहिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

वातिक-पुं० । वातोऽस्यास्तीति वातिकः । स्वनिमित्ततोऽन्यथा वा स्तब्धे मेहने सति स्त्रीसेवनायामकृतायां वेदं धारयितुमसमर्थे, ध० ३ अधि० । वातिको न प्रव्राजनीयः । बृ० ४ उ० ।

अथ वातिकं व्याचष्टे-

उदएण वा वियस्स, सविकारं जा न तस्स संपत्ती ।
तच्चनिय असंथुडिए, दिट्ठंतो होइ अलभंते ॥

यदा सनिमित्तेनानिमित्तेन वा मोहोदयेन सागारिकं सविकारं कथयितुं भवति, तदा न शक्नोति वेगं धारयितुं यावन्न प्रतिसेवनस्य संप्राप्तिर्भवति, एष वातिक उच्यते । अत्र च तच्चनिकेनासंस्तुताया अगार्याः प्रतिसेवकेन दृष्टा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्तो भवति-"एगो तव्वनिओ जलयरभावारूढो तत्थ तस्स पुरओ अहाभावेण अगारी असंवुडा निविट्ठा । तस्स य तव्वनियस्स तं दट्ठुं सागारियं वड्ढंतेण वेयउक्कडयाए असहमाणेण जणपुरओ पडिगाहिया अगारी । तं च पुरिसा हंतुमारद्धा, तहा वि तेण न मुक्का जाहे से वीरियो सग्गा जाओ ताहे मुक्का । " अयमप्यलभमानो-ऽप्राप्नुवन् निरुद्धवेदो नपुंसकतया परिणमति । उक्तो वातिकः । बृ० ४ उ० । स्था० । नि० चू० । पं भा० । पं चू० । वीतरागोद्भवे, सं० । उच्छूनत्वभाजने, विशे० । स्था० । वातरोगिणि, वातिक इव वातिकः । अयन्त्रिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

वादित-त्रि० । शब्दत्वेन कृते, स्था० २ ठा० ३ उ० । पटहादिवादने, प्रश्न० ४ संव०द्वार । वाद्यकलायाम्, सा च ततविततशुषिरघनवाद्यानां चतुःपञ्चत्र्येकप्रकारतया त्रयोदशधा । स० ७२ सम० । प्रश्न० । औ० । " सुट्ठु गाइयं सुट्ठु वाइयं सुट्ठु नच्चियं " आव० ४ अ० ।

वाइल-वातिल-पुं० । पालकग्रामवास्तव्ये वाणिजके, ततो सामी पालयं नाम गामं गतो तत्थ वाइलो नाम वाणिययो सोऽसिं गृहीत्वा तत्र वीरस्वामिनं प्रति प्रधावित इति स्वशिर एव चिच्छेद । आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

वाइसमोसरण-वादिसमवसरण-न० । वादिनस्तीर्थिकाः समवसरन्त्यवतरन्ति एष्विति समवसरणानि । विविधमतमीलकास्तेषां समवसरणानि वादिसमवसरणानि । क्रियावाद्यादिषु वादिमीलकेषु, स्था० ।

चत्तारि वाइसमोसरणा पण्णत्ता । तं जहा-किरियावाई, अकिरियावाई, अण्णाणिअवाई, वेणइयवाई । णेरइयाणं चत्तारि वाइसमोसरणा पण्णत्ता । तं जहा-किरियावाई०जाव वेणइयवाई । एवमसुरकुमाराण वि०जाव थणियकुमाराणं एवं विगलिंदियवज्जं ०जाव वेमाणियाणं ॥ ३४५ ॥

वादिनः-तार्थिकाः समवसरन्ति-अवतरन्त्येष्विति समवसरणानि विविधमतमीलकास्तेषां समवसरणानि वादिसमवसरणानि, क्रियां-जीवाजीवादिरर्थोऽस्तीत्येवंरूपां वदन्तीति क्रियावादिन आस्तिका इत्यर्थः, तेषां यत्समवसरणं तत्त एवोच्यन्ते अभेदादिति, तन्निषेधादक्रियावादिनो-नास्तिका इत्यर्थः, अज्ञानमभ्युपगमद्वारेण येषामस्ति ते अज्ञानिकाः त एव वादिनोऽज्ञानिकवादिनः; अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं प्रतिज्ञा इत्यर्थः, विनय एव वैनयिकं तदेव निःश्रेयसायेत्येवं वादिनो वैनयिकवादिन इति, एतद्भेदसङ्ख्या चेयम्-"असियसयं किरियाणं, अकिरियवाईण होइ चुलसीई । अन्नाणियसत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा ॥ १ ॥" इति, तत्राशीत्यधिकं शतं क्रियावादिनां भवति । इदं चामुनोपायेनावगन्तव्यम्-जीवऽजीवाऽऽश्रवसंवरबन्धनिर्जराऽपुण्यापुण्यमोक्षाख्यान् नव पदार्थान् विरचय्य परिपाट्या जीवपदार्थस्याधः स्वपरभेदावुपन्यसनीयौ, तयोरधो नित्यानित्यभेदौ, तयोरप्यधः कालेश्वरात्मनियतिस्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः, पुनश्चेत्थं विकल्पाः कर्त्तव्याः-अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः, विकल्पार्थश्चायम्-विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण न परापेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव नित्यश्च कालवादिनः, उक्तेनवाभिलापेन द्वितीयो विकल्प ईश्वरकारणिनः, तृतीयो विकल्प आत्मवादिनः 'पुरुष एवेद' मित्यादि प्रतिपत्तुरिति, चतुर्थो नियतिवादिनः, नियतिश्च-पदार्थानामवश्यन्तया यद्यथाभवने प्रयोजनकर्त्रीति पञ्चमः स्वभाववादिनः-एवं स्वत इत्यजहता लब्धाः पञ्च विकल्पाः । परतः इत्यनेनापि पञ्चैव लभ्यन्ते, तत्र परत इत्यस्यायमर्थः-इह सर्वपदार्थानां पररूपापेक्षः स्वरूपपरिच्छेदो यथा ह्रस्वत्वाद्यपेक्षो दीर्घत्वादिपरिच्छेदः, एवमेव चात्मनः स्तम्भकुम्भादीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते हि वस्तुन्यात्मबुद्धिः प्रवर्त्तत इत्यतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परतः एवावधार्यते न स्वत इति । नित्यत्वापरित्यागेन चैते दश विकल्पाः, एवमनित्यत्वेनापि दशैव, एवं विंशतिर्जीवपदार्थेन लब्धाः अजीवादिष्वप्यष्टस्वेवमेव प्रतिपदं विंशतिर्विकल्पानामतो विंशतिर्नवगुणा शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनामिति । एते च विकल्पा एकैकशो न लभ्यन्ते शीलाङ्गवदिति । तथा अक्रियावादिनां तु चतुरशीतिर्द्रष्टव्याः, एवञ्चेयम्-पुण्याऽपुण्यविवर्जितपदार्थसप्तकन्यासस्तथैव जीवस्याधः स्वपररूपविकल्पद्वयोपन्यासः असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यभेदौ न स्तः, कालादीनां तु पञ्चानां षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते । इयं चानभिसन्धिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिरिति पश्चाद्विकल्पाभिलापः-नास्ति जीवः स्वतः कालतः इत्येको विकल्पः, एवमीश्वरादिभिरपि यदृच्छावसानैः सर्वे षड् विकल्पाः, तथा नास्ति जीवः परतः कालत इति षडेव विकल्पा इत्येकत्र द्वादश, एवमजीवादिष्वपि षट्सु प्रत्येकं द्वादश विकल्पाः, एवञ्च द्वादश सप्तगुणाश्चतुरशीति-र्विकल्पाः नास्तिकानामिति । अज्ञानिकानां तु सप्तषष्टिर्भवति, इयं चामुनोपायेन द्रष्टव्या-तत्र जीवाजीवादीन् नव पदार्थान् पूर्ववत् व्यवस्थाप्य पर्यन्ते चोत्पत्तिमुपन्यस्याधः सप्त सदादय उपन्यसनीयाः, सत्त्व १ मसत्त्वं २ सदसत्त्वं ३ अवाच्यत्वं ४ सद्वाच्यत्वं ५ असदवाच्यत्वं ६ सदसदवाच्यत्व ७ मिति, तत एते नव सप्तकाः त्रिषष्टिः, उत्पत्तेस्तु चत्वार एवाद्या विकल्पाः, तद्यथा-सत्त्व १ मसत्त्वं २ सदसत्त्व ३ मवाच्यत्वं ४ चेति, त्रिषष्टिमध्ये क्षिप्ताः सप्तषष्टि-र्भवन्ति, विकल्पाभिलापश्चैवम्-को जानाति जीवः सन्निति किं वा तेन ज्ञातेनेत्येको विकल्पः, एवमसदादयोऽपि वाच्याः, तथा सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति, किं वा-अनया ज्ञातया? एवमसती सदसती अवक्तव्या चेति, सत्त्वादिसप्तभङ्गयर्थश्चायमर्थः-स्वरूपमात्रापेक्षया वस्तुनः सत्त्वं१ पररूपमात्रापेक्षया त्वसत्त्वम्२ तथा एकस्य घटादिद्रव्यदेशस्य ग्रीवादेः सद्भावपर्यायेण ग्रीवात्वादिनाऽऽदिष्टस्य सत्त्वात्, तथा घटादिद्रव्यदेशस्यैवापरस्य बुध्नादेरसद्भावपर्यायेण वृत्तत्वादिना परगतपर्यायेणैवादिष्टस्यासत्त्वाद् वस्तुनः सदसत्त्वम् ३ तथा सकलस्यैवाखण्डितस्य घटादिवस्तुनोऽर्थान्तरभूतैः पटादिपर्यायैर्निजैश्चोर्ध्वकुण्डलोष्ठायतवृत्तग्रीवादिभिर्युगपद्विवक्षितस्य सत्त्वेनाऽसत्त्वेन वा वक्तुमशक्यत्वात् तस्य घटादेर्द्रव्यस्याऽवक्तव्यत्वम् ४, तथा घटादिद्रव्यस्यैकदेशस्य सद्भावपर्यायैरादिष्टस्य सत्त्वादपरस्य स्वपरपर्यायैर्युगपदादिष्टतया सत्त्वेनासत्त्वेन वा वक्तुमश-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्यत्वात् घटादिद्रव्यस्य सदवक्तव्यत्वमिति ५, तथा तस्यैव घटादिद्रव्यस्यैकदेशस्य परपर्यायैरादिष्टस्यासत्त्वादपरदेशस्य स्वपरपर्यायैर्युगपदादिष्टत्वेन तथैव वक्तुमशक्यत्वात् तस्य घटादेरसदवक्तव्यत्वम् ६, तथा—घटादिद्रव्यस्यैकदेशस्य स्वपर्यायैरादिष्टत्वेन सत्त्वादपरस्य परपर्यायैरादिष्टतया असत्त्वादन्यस्य स्वपरपर्यायैर्युगपदादिष्टस्य तथैव वक्तुमशक्यत्वेनावक्तव्यत्वात् तस्य घटादिद्रव्यस्य सदसदवक्तव्यत्वमिति ७,इह च प्रथमद्वितीयचतुर्थो अखण्डवस्त्वाश्रिताः शेषाश्चत्वारो वस्तुदेशाश्रिता दर्शिताः, तथाऽन्यैस्तृतीयोऽपि विकल्पोऽखण्डवस्त्वाश्रित एवोक्तः। तथाहि—अखण्डस्य वस्तुनः स्वपर्यायैः परपर्यायैश्च विवक्षितस्य सदसत्त्वमिति, अत एवाभिहितमाचारटीकायाम्—" इह चोत्पत्तिमङ्गीकृत्योत्तरविकल्पत्रयं न सम्भवति, पदार्थावयवापेक्षत्वात् तस्योत्पत्तेश्चावयवाभावादिति, " एवमज्ञानिकानां सप्तषष्टिर्भवतीति । वैनयिकानां च द्वात्रिंशत्, सा चैवमवसेया—सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृणां प्रत्येकं कायेन वाचा मनसा दानेन च देशकालोपपन्नेन विनयः कार्य इत्येते चत्वारो भेदाः सुरादिष्वष्टासु स्थानेषु भवन्ति, ते चैकत्र मीलिता द्वात्रिंशदिति । सर्वसंख्या पुनरेतेषां त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानीति ।

उक्तञ्च पूज्यैः—

" आस्तिकमतमात्माद्या, नित्यानित्यात्मका नव पदार्थाः ।
कालनियतिस्वभावे-श्वरात्मकृतकाः स्वपरसंस्थाः ॥१॥
कालयदृच्छानियती-श्वरस्वभावात्मनश्चतुरशीतिः ।
नास्तिकवादिगणमतं, न सन्ति सप्त स्वपरसंस्थाः ॥ २ ॥
अज्ञानिकवादिमतं, नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान् ।
भावोत्पत्तिं सदसद्, द्वैधाऽवाच्यांश्च को वेत्ति ? ॥ ३ ॥
वैनयिकमतं विनय-श्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः ।
सुरनृपतियतिज्ञाति—स्थविराधममातृपितृषु सदा ॥ ४ ॥"

इति । एतान्येव समवरणानि चतुर्विंशतिदण्डके निरूपयन्नाह—' नेरइयाणं ' मित्यादि सुगमम्, नवरं नारकादिपञ्चेन्द्रियाणां समनस्कत्वाच्चत्वार्यप्येतानि सम्भवन्ति, 'विगलेन्दियवज्जं' ति एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणाममनस्कत्वान्न सम्भवन्ति तानीति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जीवाः किं क्रियावादिनोऽक्रियायावादिनः—

जीवा णं भंते ! किं किरियावादी अकिरियावादी अण्णाणियवादी वेणइयवादी ?, गोयमा ! जीवा किरियावादी वि अकिरियावादी वि अण्णाणियवादी वि वेणइयवादी वि। सलेस्सा णं भंते ! जीवा किं किरियावादी पुच्छा, गोयमा ! किरियावादी वि अकिरियावादी वि अन्नाणियवादी वि वेणइयवादी वि, एवं ० जाव सुक्कलेस्सा । अलेस्सा णं भंते ! जीवा पुच्छा, गोयमा ! किरियावादी णो अकिरियावादी नो अण्णाणियवादी णो वेणइयवादी । कण्हपक्खिया णं भंते ! जीवा किं किरियावादी पुच्छा, गोयमा ! णो किरियावादी अकिरियावादी अण्णाणियवादी वि वेणइयवादी वि सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा, सम्मदिट्ठी जहा अलेस्सा, मिच्छादिट्ठी जहा कण्हपक्खिया । सम्मामिच्छादिट्ठीणं पुच्छा, गोयमा ! णो किरियावादी णो अकिरियावादी अण्णाणियवादी वि वेणइयवादी वि, णाणी ० जाव केवलणाणी जहा अलेस्से, अण्णाणी० जाव विभंगणाणी जहा कण्हपक्खिया । आहारसन्नोवउत्ता० जाव परिग्गहसण्णोवउत्ता जहा सलेस्सा, णो सण्णोवउत्ता जहा अलेस्सा । सवेदगा ० जाव णपुंसगवेदगा जहा सलेस्सा । अवेदगा जहा अलेस्सा । सकसायी ० जाव लोभकसाई जहा सलेस्सा, अकसायी जहा अलेस्सा, सयोगी० जाव कायजोगी जहा सलेस्सा, अजोगी जहा अलेस्सा सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता जहा सलेस्सा । (सू०८२४×)

'जीवा ण' मित्यादि। तत्र जीवाश्चतुर्विधा अपि, तथा स्वभावत्वात्। ' अलेस्सा ण ' मित्यादि, अलेश्या अयोगिनः सिद्धाश्च; ते च क्रियावादिन एव क्रियावादहेतुभूतयथावस्थितद्रव्यपर्यायरूपार्थपरिच्छेदयुक्तत्वाद्,इह च यानि सम्यग्दृष्टिस्थानानि अलेश्यत्वसम्यग्दर्शनज्ञानिनोसञ्ज्ञोपयुक्तत्वावेदकत्वादीनि तानि नियमात्क्रियावादे क्षिप्यन्ते, मिथ्यादृष्टिस्थानानि तु मिथ्यात्वाज्ञानादीनि शेषसमवसरणत्रये, ' सम्मामिच्छादिट्ठी ण ' मित्यादि, सम्यग्मिथ्यादृष्टयो हि साधरणपरिणामत्वान्नो आस्तिका नापि नास्तिकाः, किं तु-अज्ञानविनयवादिन एव स्युरिति । भ० ३ श० १ उ० ।

नैरयिकादीनाम्—

णेरइया णं भंते ! किं किरियावादी पुच्छा, गोयमा ! किरियावादी वि ०जाव वेणइयववादी वि सलेस्सा णं भंते ! णेरइया किं किरियावादी एवं चेव, एवं ०जाव काउलेस्सा कण्हपक्खिया किरियाविवज्जिया । एवं एएणं कमेणं जच्चेव जीवाणं वत्तव्वया सच्चेव णेरइयाणं वत्तव्वया वि० जाव अणागारोवउत्ता, णवरं जं अत्थि तं भाणियव्वं सेसं ण भण्णइ । जहा णेरइया एवं ० जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइया णं भंते ! किं किरियावादी पुच्छा , गोयमा ! णो किरियावादी अकिरियावादी वि अण्णाणियवादी वि णो वेणइयवादी । एवं पुढवीकाइया णं जं अत्थि तत्थ सव्वत्थ वि एयाइं दो मज्झिल्लाइं समोसरणाइं ०जाव अणागारोवउत्ता वि एवं ०जाव चउरिंदियाणं सव्वट्ठाणेसु एयाइं चेव मज्झिल्लगाइं दो समोसरणाइं , सम्मत्तणाणेहि वि एयाणि चेव मज्झिल्लगाइं दो समोसरणाइं।पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा जीवा णवरं जं अत्थि तं भाणियव्वं मणुस्सा जहा जीवा तहेव णिरवसेसं वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा । (सू० ८२४ ×)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

'पुढविकाइया ण' मित्यादि। 'नो किरियावाइ' त्ति मिथ्यादृष्टित्वात्तेषामक्रियावादिनोऽज्ञानिकवादिनश्च ते भवन्ति, वादाभावेऽपि तद्वादयोग्यजीवपरिणामसद्भावाद्वैनयिकवादिनस्तु ते न भवन्ति. तथाविधपरिणामादिति। 'पुढवीकाइया णं जं अत्थी' त्यादि. पृथिवीकायिकानां यदस्ति सलेश्यकृष्णनीलकापोततेजोलेश्यकृष्णपाक्षिकत्वादि, तत्र सर्वत्रापि मध्यमं समवसरणद्वयं वाच्यमिति। 'एव ०जाव चउरिंदिया ण'मित्यादि ननु द्वीन्द्रियादीनां सासादनभावेन सम्यक्त्वं—ज्ञानं चष्यते तत्र क्रियावादित्वं युक्तं तत्स्वभावत्वादित्याशङ्क्याह—'सम्मत्तनाणेहि वी' त्यादि। क्रियावादविनयवादौ हि विशिष्टतरे सम्यक्त्वादिपरिणामे स्यातां न सासादनरूपे इति भावः। 'जं अत्थि तं भाणियव्वं' ति पञ्चेन्द्रियतिरश्चामलेश्याकषायित्वादि न प्रष्टव्यमसंभवादिति भावः। जीवादिषु पञ्चविंशतौ पदेषु यत्र समवसरणमस्ति तत्तत्रोक्तम्। भ० ३० श० १ उ०। (एतेषामायुर्बन्धनिरूपणम् 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १६ पृष्ठे गतम्।)

किरियावादी णं भंते! जीवा किं भवसिद्धिया अभवसिद्धिया?, गोयमा! भवसिद्धिया णो अभवसिद्धिया। अकिरियावादी णं भंते! जीवा किं भवसिद्धिया पुच्छा, गोयमा! भवसिद्धिया वि अभवसिद्धिया वि। एवं अण्णाणियवादी वि वेणइयवादी वि। सलेस्सा णं भंते! जीवा किरियावादी किं भव० पुच्छा, गोयमा! भवसिद्धिया नो अभवसिद्धिया। सलेस्सा णं भंते! जीवा अकिरियावादी किं भव० पुच्छा, गोयमा! भवसिद्धिया वि अभवसिद्धिया वि, एवं अन्नाणियवादी वि वेणइयवादी वि जहा सलेस्सा, एवं ०जाव सुक्कलेस्सा, अलेस्सा णं भंते! जीवा किरियावादी किं भव० पुच्छा, गोयमा! भवसिद्धिया नो अभवसिद्धिया, एवं एएणं अभिलावेणं कण्हपक्खिया तिसु वि समोसरणेसु भयणाए सुक्कपक्खिया चउसु वि समोसरणेसु भवसिद्धिया णो अभवसिद्धिया सम्मद्दिट्ठी जहा अलेस्सा। मिच्छादिट्ठी जहा कण्हपक्खिया। सम्मामिच्छादिट्ठी दोसु वि समोसरणेसु जहा अलेस्सा। णाणी० जाव केवलणाणी भवसिद्धिया णो अभवसिद्धिया, अण्णाणी० जाव विभंगणाणी जहा कण्हपक्खिया सण्णासु चउसु वि जहा सलेस्सा णो सण्णोवउत्ता जहा सम्मादिट्ठी। सवेदगा ० जाव णपुंसगवेदगा जहा सलेस्सा, अवेदगा जहा सम्मदिट्ठी सकसाई ० जाव लोभकसाई जहा सलेस्सा। अकसाई जहा सम्मादिट्ठी सजोगी० जाव कायजोगी जहा सलेस्सा, अजोगी जहा सम्मादिट्ठी। सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता जहा सलेस्सा एवं णेरइया वि भाणियव्वा, णवरं णायव्वं जं अत्थि। एवं असुरकुमारा वि० जाव थणियकुमारा। पुढवीकाइया सव्वट्ठाणेसु वि मज्झिल्लेसु दोसु वि समवसरणेसु भवसिद्धिया वि अभवसिद्धिया वि एवं० जाव वणस्सइकाइया। बेइंदियतेइंदियचउरिंदिया एवं चेव णवरं सम्मत्ते ओहियणाणे आभिणिबोहियणाणे सुयणाणे एएसु चेव दोसु मज्झिमेसु समोसरणेसु भवसिद्धिया णो अभवसिद्धिया, सेसं तं चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा णेरइया णवरं नायव्वं जं अत्थि। मणुस्सा जहा ओहिया जीवा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा। सेवं भंते! भंते! त्ति॥ (सू० ८२५) भ० ३० श० १ उ०।

अणंतरोववन्नगा णं भंते! णेरइया किं किरियावादी पुच्छा, गोयमा! किरियावादी वि ० जाव वेणइयवादी वि, सलेस्सा णं भंते! अणंतरोववन्नगा णेरइया किं किरियावादी एवं चेव, एवं जहेव पढमुद्देसे णेरइया णं वत्तव्वया तहेव इह वि भाणियव्वा णवरं जं जस्स अत्थि अणंतरोववण्णगाणं णेरइयाणं तं तस्स भाणियव्वं। एवं सव्वजीवाणं ० जाव वेमाणियाणं णवरं अणंतरोववण्णगाणं जं जहिं अत्थि तं भाणियव्वं। (सू० ८२६)

किरियावादी णं भंते! अणंतरोववण्णगा णेरइया किं भवसिद्धिया अभवसिद्धिया?, गोयमा! भवसिद्धिया णो अभवसिद्धिया अकिरियावादी णं पुच्छा गोयमा! भवसिद्धिया वि अभवसिद्धिया वि। एवं अण्णाणियवादी वि। वेणइयवादी वि। सलेस्सा णं भंते! किरियावादी अणंतरोववण्णगा णेरइया किं भवसिद्धिया अभवसिद्धिया?, गोयमा! भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धिया। एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिए उद्देसए णेरइयाणं वत्तव्वया भणिया तहेव इह वि भाणियव्वा ०जाव अणागारोवउत्त त्ति। एवं ०जाव वेमाणियाणं णवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं इमं से लक्खणं जे किरियावादी सुक्कपक्खिया सम्मामिच्छादिट्ठिया एए सव्वे भवसिद्धिया णो अभवसिद्धिया सेसा सव्वे भवसिद्धिया वि अभवसिद्धिया वि सेवं भंते! भंते! त्ति। (सू० ८२६ +)।

परम्परोपपन्नकानां नैरयिकादीनाम्—

परंपरोववण्णगा णं भंते! णेरइया किरियावादी एवं जहेव ओहिओ उद्देसओ तहेव परंपरोववण्णएसु वि णेरइयादिओ तहेव णिरवसेसं भाणियव्वं तहेव तियदंडगसंगहिओ सेवं भंते! भंते त्ति० जाव विहरइ। (सू० ८२७)।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं एएणं कमेणं जच्चेव बंधिसए उद्देसगाणं परिवाडी सच्चेव इहं पि ०जाव अचरिमो उद्देसो णवरं अणंतरा चत्तारि वि एक्कगमगा परंपरा चत्तारि वि एक्कगमएणं एवं चरिमा वि अचरिमा वि। एवं चेव णवरं अलेस्से केवली अजोगी ण भण्णइ सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति। एए एक्कारस वि उद्देसगा (सू० ८२८)

एवं द्वितीयादय एकादशान्ता उद्देशका व्याख्येयाः, नवरं द्वितीयोद्देशके इमं 'से लक्खणं' ति 'से' भव्यत्वस्येदं लक्षणं क्रियावादी शुक्लपाक्षिकः सम्यग्मिथ्यादृष्टिश्च भव्य एव भवति नाभव्यः, शेषास्तु भव्या अभव्याश्चेति। अलेश्यसम्यग्दृष्टिज्ञान्यवेदाकषाययोगिनां भव्यत्वं प्रसिद्धमेवेति नाक्रमिति। तृतीयोद्देशके तु 'तियदंडगसगहिओ' त्ति इह दण्डकत्रयं नैरयिकादिपदेषु क्रियावाद्यादिप्ररूपणादण्डकः१, आयुर्बन्धदण्डको२, भव्याभव्यदण्डक ३ इत्येवमिति एकादशोद्देशके तु-' अलेस्सा केवली अजोगी य न भण्णइ ' त्ति। अचरमाणामलेश्यत्वादीनामसम्भवादिति। भ०३ श०२ उ०।

वाईकरण-वाजीकरण-न०। अवाजिनो वाजिनः करणम् वाजीकरणम्। रेतोवृद्धया अश्वस्येव करणे, विपा० १ श्रु० ७ अ०। तद्धि अल्पक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थम्। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

वाउ-पायु-पुं०। अपाने, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

वायु-पुं०। पवने, आव० ४ अ०। चलनलक्षणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। स्पर्शतन्मात्रजे महाभूते. वायुत्वयुक्ते, स चानुष्णाशीतस्पर्शसंख्यापरिमाणाऽपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वाऽपरत्ववेगाख्यैर्नवभिर्गुणैर्गुणवान्। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। वायुरात्मेति कश्चित्। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। स्वातिनक्षत्रस्य देवे, सू० प्र० १० पाहु०। अनु०। जं०।

दो वाऊ। स्था० २ ठा० ३ उ०।

वायुकायिकजीवे, अनु०। स्था०। प्रव०। ध०। सम्म०। उत्त०। वायुकुमारे, भ० १ श० १ उ०। शक्रस्याश्वानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ०। अहोरात्रस्य चतुर्थे मुहूर्ते, ज्यो० २ पाहु०। कल्प०। स०। जं०।

वाउकम्म-वायुकर्मन्-न०। अपानवायुनिसर्गे, तं०।

वाउकुमार-वायुकुमार-पुं०। भवनपतिदेवभेदे, प्रज्ञा० १ पद। ('परिहारविसुद्धिय' शब्दे चतुर्थभागे ६६५ पृष्ठे तत्स्थानादिवक्तव्यता।) (अन्तक्रियादिविषयका दण्डकाश्च " अंतकिरियाऽऽ " दिशब्देषु।)

चउव्विहा वायुकुमारा पण्णत्ता। तं जहा-काले महाकाले वेलंबे पभंजणे। (सू० २२६) भ० ३ श० १ उ०।

वायुकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा एवं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति। स्था० २ ठा० २ उ०।

वाउकुमाराइआहवण-वायुकुमाराद्याह्वान-न०। वायुकुमारमेघकुमारादीनामागमप्रसिद्धदेवविशेषाणां संशब्दने, पञ्चा०२ विव०।

वाउकलिया-वातोत्कलिका-स्त्री०। समुद्रस्येव वातस्योत्कलिकायाम्, जी० १ प्रति०। भ०।

वाउका(क्का)इय-वायुकायिक-पुं०। वायुः-पवनः स एव कायो येषां ते वायुकायाः वायुकाया एव वायुकायिकाः। प्रज्ञा० १ पद। जी०। दश०। वायुशरीरत्वेन परिगृहीतेषु एकेन्द्रियजीवभेदेषु, स० ६ सम०। वायुकाया लक्षणादिभिर्द्वारैर्व्याख्यायन्ते।

तत्र वायोः स्वरूपनिरूपणाय कतिचिद् द्वारातिदेशगर्भां निर्युक्तिकृद्गाथामाह—

वाउस्स वि दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए।
णाणत्ती उ विहाणे, परिमाणुवभोगसत्थे य ॥ १६४ ॥

वातीति वायुस्तस्य वायोरपि तान्येव द्वाराणि यानि पृथिव्यां प्रतिपादितानि, नानात्वम्—भेदः, तच्च विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रेषु चशब्दाल्लक्षणे च द्रष्टव्यमिति।

तत्र विधानप्रतिपादनायाऽऽह-

दुविहा उ वाउजीवा, सुहुमा तह बायरा उ लोगम्मि।
सुहुमा य सव्वलोए, पंचेव य बायरविहाणा ॥ १६५ ॥

वायुरेव जीवा वायुजीवाः, ते च द्विविधाः-सूक्ष्मबादरनामकर्मोदयात् सूक्ष्मा बादराश्च। तत्र सूक्ष्माः सकललोकव्यापितया अवतिष्ठन्ते दत्तकपाटसकलवातायनद्वारगेहान्तधूमवत् व्याप्त्या स्थिताः बादरभेदास्तु पञ्चैवानन्तरगाथया वक्ष्यमाणा इति।

बादरभेदप्रतिपादनायाऽऽह-

उक्कलिया मंडलिया, गुंजा घणवायसुद्धवाया य।
बायरवाउविहाणा, पंचविहा वण्णिया एए ॥ १६६ ॥

स्थित्वा स्थित्वोत्कलिकाभिर्यो वाति स उत्कलिकावातः, मण्डलिकावातस्तु वातोलीरूपः,गुञ्जा-भम्भा तद्वत् गुञ्जन् या वाति स गुञ्जावातः,घनवातो-ऽत्यन्तघनः पृथिव्याद्याधारतया व्यवस्थितो हिमपटलकल्पो मन्दस्तिमितः शीतकालादिषु शुद्धवातः ये त्वन्ये प्रज्ञापनादौ प्राच्यादिवाता अभिहितास्तेषामेष्वेव यथायोगमन्तर्भावो द्रष्टव्य इति एवमित्येते बादरवायुविधानानि-भेदाः पञ्चविधाः—पञ्चप्रकारा व्यावर्णिता इति। आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०।

वायुकायिकप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं वाउ(क्का)काइया ?, वाउकाइया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—सुहुमवाउकाइया य, बादरवाउकाइया य। से किं तं सुहुमवाउकाइया ?, सुहुमवाउकाइया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा —पज्जत्तगसुहुमवाउकाइया य, अपज्जत्तगसुहुमवाउकाइया य। सेत्तं सुहुमवाउकाइया। से किं तं बादरवाउकाइया?,बादरवाउकाइया अणेगविहा पण्णत्ता,तं जहा-पाईणवाए पडीणवाए दाहिणवाए उदीणवाए उड्ढवाए अहोवाए तिरियवाए विदिसीवाए वाउब्भामे वाउकलिया वायमंडलिया उक्कलियावाए मंडलियावाए गुंजावाए झंझावाए संवट्टवाए घणवाए तणुवाए सुद्धवाए जे यावन्ने तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य। तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता। तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा एतेसि णं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखिज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं पज्जत्तगणिस्साए अपज्जत्तया वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा। सेत्तं बादरवाउकाइया। सेत्तं वाउकाइया। (सू० १८)

प्रतीतं नवरं 'पाईणवाए' इति यः प्राच्या दिशः समागच्छति वातः स प्राचीनवातः, एवं प्रतीचीनवातो दक्षिणवात उदीचीनवातश्च वक्तव्यः, ऊर्द्धमुद्गच्छन् यो वाति वातस्स ऊर्ध्ववातः, एवमधोवाततिर्यग्वातावपि परिभावनीयौ। विदिग्वातो—यो विदिग्भ्यो वाति, वातोद्भ्रामः-अनवस्थितवातः वातोत्कलिकाः-समुद्रस्येव वातोत्कलिकाः वातमण्डली-वातोली उत्कलिकावातः—उत्कलिकाभिः प्रचुरतराभिः सम्मिश्रितो यो वातः मण्डलिकावातो—मण्डलिकाभिर्मूलत आरभ्य प्रचुरतराभिः समुत्थो यो वातः,गुञ्जावातो—यो गुञ्जन् शब्दं कुर्वन् वाति, झञ्झावातः—सवृष्टिरशुभनिष्ठुर इत्यन्ये, संवर्तकवातः—तृणादिसंवर्तनस्वभावः, घनवातो—घनपरिणामो रत्नप्रभापृथिव्याद्यधोवर्ती,तनुवातो-विरलपरिणामो घनवातस्याधः स्थायी, शुद्धवातो-मन्दस्तिमितो वस्तिदृत्यादिगत इत्यन्ये। 'ते समासतो' इत्यादि प्राग्वत्, अत्रापि संख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि सप्तावसेयानि। प्रज्ञा० १ पद।

अचित्तवायुकायिकमाह—

पंचविहा अचित्ता वाउकाइया पन्नत्ता। तं जहा-अक्कंते धंते पीलिए सरीराणुगए संमुच्छिमे। (सू० ४४४)

आक्रान्ते पादादिना भूतलादौ यो भवति स आक्रान्तः, यस्तु ध्माते दृत्यादौ स ध्मातः, जलार्द्रवस्त्रे निष्पीड्यमाने पीडितः उद्गारोच्छ्वासादिः—शरीरानुगतः, व्यजनादिजन्यः-सम्मूर्च्छिमः, एते च पूर्वमचेतनास्ततः सचेतना अपि भवन्तीति। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

सम्प्रति वायुकायपिण्डमाह-

वाउकाओ तिविहो, सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो।
सच्चित्तो पुण दुविहो, निच्छयववहारओ चेव ॥३८॥

वायुकायस्त्रिविधस्तद्यथा—सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च। सचित्तः पुनर्द्विधा—निश्चयतो व्यवहारतश्च।

एतदेव निश्चयव्यवहाराभ्यां सचित्तस्य द्वैविध्यमचित्तं चाऽऽह—

सवलय घणतणुवाया, अइहिमअइदुद्दिणे य निच्छयओ।
ववहारपाइणाई, अक्कंताई य अच्चित्ता ॥ ३९ ॥

सह वलयैर्वर्त्तन्ते इति सवलयाः, ये 'घणतणुवाय'त्ति वातशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, घनवातास्तनुवाताश्च। किमुक्तं भवति?-ये नरकपृथिवीनां पार्श्वेषु घनवातास्तनुवाता वा वलयाकारेण व्यवस्थिता वलयशब्दवाच्याः। ये च नरकपृथ्वीनामेवाधस्तात् घनवातास्तनुवाताश्च। तथा 'अइहिम अइदुद्दिणे य' त्ति अतिशयेन हिमे निपतति, अतिशयेन च दुर्दिने मेघतिमिरे मेघैर्गगनमण्डलस्याच्छादने ये वायवः एव सर्वोऽपि वायुकायो निश्चयतः सचित्तः, अतिहिमातिदुर्दिनाभावे तु यः प्राचीनादिवातः पूर्वादिदिग्वातः स व्यवहारतः सचित्तः। यस्तु आक्रान्तादिकः आक्रान्तः पङ्कादिसमुत्थप्रभृतिकः पञ्चप्रकारो वक्ष्यमाणस्वरूपः सोऽचित्त इति।

आक्रान्तादिस्वरूपमेवाऽऽह—

अक्कंतधंतघाणे, देहाणुगए य पीलियाइसु य।
अच्चित्तवाउकाओ, भणिओ कम्मट्ठमहणेहिं ॥ ४० ॥

आक्रान्ते-पादेनाक्रान्ते कर्दमादौ यो वातश्चिदिति शब्दं कुर्वन् समुच्छलति, यश्चाध्माते मुखवातभृते दृत्यादौ वर्तते, यो वा घाणे—तिलपीडनयन्त्रे तिलपीडनवशात् सशब्दं विनिर्गच्छन्नुपलभ्यते,यश्च देहानुगतः शरीराश्रित उच्छ्वासनिःश्वासवातनिसर्गरूपः, पीलितं-सजलं निश्चोत्यमानं वस्त्रादि आदिशब्दात्तालवृन्तादिपरिग्रहः तेषु च यः संभवति वातः एष पञ्चप्रकारोऽपि वातः कर्माष्टकमथनैरचित्तः प्रतिपादितः।

संप्रति मिश्रं वायुकायं प्रतिपिपादयिषुर्दृत्यादिस्थस्याचित्तवातकायस्य जले स्थितस्य—क्षेत्रमाश्रित्य स्थलस्थितस्य च कालमाश्रित्याचित्तादिविभागमाह—

हत्थसयमेगगंता, दइओ अच्चित्तबीयए मीसो।
तइयम्मि उ सच्चित्तो, वत्थी पुण पोरिसिदिणेसु ॥४१॥

इह ऊर्ध्वमपाटितेनापनीतमस्तकेन निष्कर्षितचर्म्मान्तर्वर्तिसर्वास्थ्यादिकचवरेणापरचर्म्ममयस्थिग्गलकस्थगितापानच्छिद्रेण संकीर्णमुखीकृतग्रीवान्तर्विवरेणाजापश्वादेरन्यतरस्य शरीरेण निष्पन्नश्चर्म्ममयः प्रसेवकः कोत्थलकापरपर्यायो दृतिः। स चाचित्तमुखवातभृतः सन् दवरकेण गाढबद्धमुखो नद्यादिजले प्लाव्यमानः क्षेत्रतो हस्तशतमेकं यावत् गन्ता तावत् स दृतिर्दृतिस्थो वातकायोऽचित्तः प्रथमे च हस्तशतेऽतिक्रान्ते सति द्वितीये प्रविशन् मिश्रो भवति, स च मिश्रस्तावद्भवति यावद् द्वितीयहस्तशतपर्यन्तः, ततो द्वितीये हस्तशतेऽतिक्रान्ते तृतीये प्रविशन् सचित्तो भवति। तत ऊर्ध्वं सचित्त एव। अथवा—एकस्मिन्नेव हस्तशते गमनेनागमनेन च पुनर्गमनेन च क्रमेणाचित्तत्वादिकमवगन्तव्यम्। यदि वा-हस्तशतगमनकालं परिभाव्यैकस्मिन्नपि स्थाने जलमध्यस्थितस्योक्तक्रमेणाचित्तत्वादिकं परिभावनीयम्। दृतिग्रहणं चोपलक्षणं तेन वस्तावप्येवं द्रष्टव्यम्। वस्तिश्च दृतिवत् स्वरूपतो भावनीयः, नवरमपरचर्म्ममयस्थिग्गलकस्थगितग्रीवान्तर्विवरोऽतिविवृतमुखीकृतपाश्चात्यप्रदेशः स विज्ञेयः, तथा 'वत्थि पुण पोरिसि दिणेसु' त्ति। स्थले स्निग्धं रूक्षं च कालमाश्रित्य वस्तिर्वस्तिस्थितो वातः उपलक्षणमेतत्। तेन दृतिस्थोऽपि वातः स्थलस्थः स्निग्धं रूक्षं च कालमधिकृत्य यथाक्रमं पौरुषीषु दिनेषु चाचित्तादिरूपो वेदितव्यः।

एतमेव गाथावयवं भाष्यकृद् गाथाचतुष्टयेन व्याख्यानयति—

निद्धेयरो य कालो, एगंतसिणिद्धमज्झिमजहन्नो।
लुक्खो वि होइ तिविहो, जहन्नमज्झो य उक्कोसो॥१२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एगंतसिणिद्धम्मी, पोरिसिमेगं अचेयणो होई।
बिइयाए संमीसो, तइयाइसचेयणो वत्थी ॥ १३ ॥
मज्झिमनिद्धे दो पो-रिसी उ अचित्त मीसओ।
चउत्थीए सचित्तो, पवणो दइयाइमज्झगओ ॥ १४ ॥
पोरिसितिगमचित्तो, निद्धजहन्नम्मि मीसगचउत्थी।
सचित्तपंचमीए, एवं लुक्खे वि दिणवुड्ढी ॥ १५ ॥

इह कालः सामान्यतो द्विविधः, तद्यथा—स्निग्धो रूक्षश्च। तत्र यः सजलः सशीतश्च स स्निग्धः, उष्णो-रूक्षः, स्निग्धोऽपि त्रिधा तद्यथा—एकान्तस्निग्धो मध्यमो जघन्यश्च। तत्र एकान्तस्निग्धः अतिस्निग्धः। रूक्षोऽपि त्रिधा—तद्यथा—जघन्यो मध्यमः उत्कृष्टः। उत्कृष्टो नाम—अतिशयेन रूक्षः, तत्र एकान्तस्निग्धकाले वस्तिगतो वायुकायः, उपलक्षणमेतत्, तेन दृतिस्थोऽपि एकां पौरुषीं यावदचेतनो भवति। द्वितीयस्यास्तु पौरुष्याः प्रारम्भेऽपि मिश्रः, स च तावद्यावत्परिपूर्णा द्वितीया पौरुषी, तृतीयस्यां तु पौरुष्यामादित एव सचित्तः, तत ऊर्ध्वं सचित्त एव। मध्यमे तु स्निग्धकाले द्वे पौरुष्यौ यावदचित्तस्तृतीयस्यां तु पौरुष्यां मिश्रः चतुर्थ्यां सचेतनः। जघन्ये च स्निग्धकाले दृत्यादिमध्यगतो वायुः पौरुषीत्रिकं यावदचित्तः, चतुर्थपौरुष्यां मिश्रः, पञ्चम्यां तु सचेतनः। एवं रूक्षेऽपि द्रष्टव्यम्, केवलं तत्र दिनवृद्धिः कर्त्तव्या। सा चैवम्-जघन्यरूक्षकाले वसत्यादिगतः पवनो दिनमेकमचित्तो द्वितीये दिने मिश्रस्तृतीये सचित्तः, मध्यमरूक्षकाले दिनद्वयमचित्तस्तृतीयदिने मिश्रश्चतुर्थदिने सचेतनः, उत्कृष्टरूक्षकाले दिनत्रयमचित्तश्चतुर्थदिने मिश्रः पञ्चमदिने सचित्तः।

संप्रत्यचित्तवायुकायप्रयोजनमाह—

दइएण वत्थिणा वा, पओयणं होज्ज वाउणा मुणिणो।
गेलन्नम्मि व होज्जा, सचित्तमीसे परिहरेज्जा ॥ ४२ ॥

दृतिना-दृतिस्थेन वस्तिना—वस्तिस्थेन वेति-समुच्चये न वायुत्तारे प्रयोजनं भवेद्वायुना मुनेः, अनेन जलस्थो वायुर्गृह्यते। अथवा ग्लानत्वे मन्दत्वे सति वायुना प्रयोजनं भवति। क्वापि हि रोगे दृत्यादिना संगृह्य वातोऽपानादौ प्रक्षिप्यते, अनेन स्थलस्थो गृहीतः। सचित्तमिश्रौ तु यत्नतः परिहरेत्। जलमध्ये त्वशक्ये परिहारे प्रायश्चित्तं पश्चादभिगृह्णीयात्। तदेवमुक्तो वायुकायपिण्डः। पिं०।

लक्षणद्वाराभिधित्सयाऽऽह—

जह देवस्स सरीरं, अंतद्धाणं व अंजणादीसुं।
एवोवम आदेसो, वाए संते विरूवम्मि ॥ १६७ ॥

यथा देवस्य शरीरं चक्षुषाऽनुपलभ्यमानमपि विद्यते, चेतनावच्चाध्यवसीयते, देवाः स्वशक्तिप्रभावात्तथाभूतं रूपं कुर्वन्ति यच्चक्षुषा नोपलभ्यते, न चैतद्वक्तुं शक्यते-नास्त्यचेतनं चेति, तद्वायुरपि चक्षुषो विषयो न भवति, अस्ति च चित्तवांश्चेति, यथा वाऽन्तर्द्धानमञ्जनविद्यामन्त्रैर्भवति मनुष्याणां न च नास्तित्वमचेतनत्वं चेति, एतदुपमानं वायावपि भवति, आदेशो-व्यपदेशोऽस्त्यपि रूप इति। अत्र चासच्छब्दो नाभाववचनः, किन्तु असत् रूपं वायोरिति चक्षुर्ग्राह्यं तद्रूपं न भवति, सूक्ष्मपरिमाणात् परमाणोरिव। रूपरसगन्धस्पर्शात्मकश्च वायुरिष्यते, न यथाऽन्येषां वायुः स्पर्शवानेवेति प्रयोगार्थश्च गाथया प्रदर्शितः। प्रयोगश्चायम्—चेतनावान् वायुः अपरप्रेरिततिर्यगनियमितगतिमत्त्वात् गवाश्वादिवत्, तिर्यगेव गमननियमाभावादनियमितविशेषणोपादानाच्च परमाणुनानैकान्तिकासंभवस्तस्य नियमितगतिमत्त्वात्, 'जीवपुद्गलयोः अनुश्रेणिगति' रिति। (तत्त्वा० अ० २ सू० २७) वचनात्, एवमेष वायुः घनशुद्धवातादिभेदोऽशस्त्रोपहतश्चेतनावानवगन्तव्य इति। आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। व्य०। विशे०। सूत्र०।

परिमाणद्वारमाह—

जे बायरपज्जत्ता, पयरस्स असंखभागमित्ता ते।
सेसा तिण्णि वि रासी, वीसं लोया असंखेज्जा ॥१६८॥

ये बादरपर्याप्तका वायवस्ते संवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिपरिमाणाः, शेषास्त्रयोऽपि राशयो विष्वक् पृथगसंख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणा भवन्ति। विशेषश्चायमत्रावगन्तव्यः बादराप्कायपर्याप्तकेभ्यो बादरवायुपर्याप्तका असंख्येयगुणाः, बादराप्कायापर्याप्तकेभ्यो बादरवायुकायापर्याप्तका असंख्येयगुणाः, सूक्ष्माप्कायापर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्मवाय्वपर्याप्तका विशेषाधिकाः, सूक्ष्माप्कायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्मवायुपर्याप्तका विशेषाधिकाः।

उपभोगद्वारमाह—

वियणधमणाभिधारण, उस्सिंचणफुसणआणु पाणू य।
बायरवाउक्काए, उवभोगगुणा मणुस्साणं ॥ १६९ ॥

व्यजनभस्त्राऽऽध्माताभिधारणोत्सिञ्चनफूत्कारप्राणापानादिभिर्बादरवायुकायेनोपभोग एव गुण उपभोगगुणो मनुष्याणामिति। आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। (वायुकायपरिभोगः 'महव्वय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८३ पृष्ठ गतः।)

तत्सेवनिषेधमधिकृत्याऽऽह—

अनिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं, नेयं ताईहि सेवियं ॥ ३६ ॥

'अणिलस्स' त्ति अनिलस्य-वायोः समारम्भं तालवृन्तादिभिः करणं बुद्धास्तीर्थकरा मन्यन्ते-जानन्ति तादृशं जाततेजःसमारम्भसदृशं सावद्यबहुलं पापभूयिष्ठं चैतमिति कृत्वा सर्वकालमेव नैनं त्रातृभिः-सुसाधुभिः सेवितम्-आचरितं मन्यन्ते बुद्धा एवेति सूत्रार्थः।

एतदेव स्पष्टयति—

तालअंटेण पत्तेणं, साहाविहुयणेण वा।
न ते विइउमिच्छंति, वेयावेऊण वा परं ॥ ३७ ॥

'तालयंटेण' त्ति सूत्रम्, तालवृन्तेन पत्रेण शाखाविधूननेन वेत्यमीषां स्वरूपं यथा षड्जीवनिकायिकायाम्, न ते—साधवो वीजितुमिच्छन्त्यात्मानमात्मना, नापि वीजयन्ति परैरात्मानं तालवृन्तादिभिरेव, नापि वीजयन्तं परमनुमन्यन्त इति सूत्रार्थः।

उपकरणात्तद्विराधनेत्येतदपि परिहरन्नाह—

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
न ते वायमुईरंति, जयं परिहरंति य ॥ ३८ ॥

'जं पि' त्ति, सूत्रम् यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा कम्बलं वा पादपुञ्छनम् अमीषां पूर्वोक्तं धर्मोपकरणं तेनापि न ते वातमुदीरय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्ति अयतप्रत्युपेक्षणादिक्रियया, किं तु-यतं परिहरन्ति परिभोगपरिहारेण धारणापरिहारेण चेति सूत्रार्थः ।

यत एवं सुसाधुवर्जितोऽनिलसमारम्भः—

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।

वाउकायसमारंभं, जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ३६ ॥

'तम्ह' त्ति सूत्रम्, व्याख्या पूर्ववत् । दश० ६ अ० २ उ० ।

शस्त्रद्वाराभिधित्सयाऽऽह-तत्र शस्त्रं द्रव्यभावभेदाद् द्विविधम् । द्रव्यशस्त्राभिधित्सयाऽऽह-

वियणे य तालवेंटे, सुप्पसिए पत्तचेलकणे य ।

अभिधारणा य बाहिं, गंधऽग्गी वाउसत्थाइं ॥ १७० ॥

व्यजनं तालवृन्तं सूर्पसितपत्रचेलकर्णादयः द्रव्यशस्त्रमिति, तत्र सितमिति चामरं प्रस्विन्नो यद्बहिरवतिष्ठते वातागमनमार्गे साऽभिधारणा । तथा गन्धाश्चन्दनोशीरादीनाम्, अग्निः-ज्वाला प्रतापश्च, तथा प्रतिपक्षवातश्च शीतोष्णादिकः, प्रतिपक्षवायुग्रहणेन स्वकायादिशस्त्रं सूचितमिति, एवं भावशस्त्रमपि दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायलक्षणमवगन्तव्यमिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

वायुकायविधिमाह—

तालअंटेण पत्तेणं, साहाए विहुणेण वा ।

न वीइज्ज अप्पणो कायं, बाहिरं वा वि पुग्गलं ॥ ६ ॥

'तालअंटेण' त्ति सूत्रम्, तालवृन्तेन-व्यजनविशेषेण पत्रेण पद्मिनीपत्रादिना शाखया-वृक्षडालरूपया विधूननेन वा व्यजनेन वा, किमित्याह-न बीजयेत् आत्मनः कायं; स्वशरीरमित्यर्थः, बाह्यं वापि पुद्गलम् उष्णोदकादीति सूत्रार्थः । दश० ८ अ० २ उ० ।

अधुना सकलनिर्युक्त्यर्थोपसंजिहीर्षुराह—

सेसाइं दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।

एवं वाउद्देसे, निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥ १७१ ॥

शेषाण्युक्तव्यतिरिक्तानि तान्येव द्वाराणि पृथिवीसमधिगमे यान्यभिहितानीति, एवं सकलद्वारकलापव्यावर्णनाद् वायुकायोद्देशके निर्युक्तिः कीर्तितैषाऽवगन्तव्येति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः ।

साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्—

पहु एजस्स दुगुंछणाए । (सू० ५५)

अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तरोद्देशके पर्यन्तसूत्रे त्रसकायपरिज्ञानं तदारम्भवर्जनं च मुनित्वकारणमभिहितम्, इहापि तदेव द्वयं वायुकायविषयं मुनित्वकारणमेवोच्यते, तथा परम्परसूत्रसंबन्धः 'इहमेगेसिं णो णायं भवइ' त्ति किं तत् ज्ञातं भवति 'पहु-एजस्स दुगुंछणाए' त्ति तथा आदिसूत्रसंबन्धश्च 'सुयं मे आउसंतेण' मित्यादि, किं तत् श्रुतम्, यत् प्रागुपदिष्टं तथैतच्च—' पहू एजस्स दुगुंछणाए ' त्ति । ' दुगुंछण ' त्ति जुगुप्सा, प्रभवतीति प्रभुः—समर्थः—योग्यो वा, कस्य वस्तुनः समर्थ इति, 'एजृ' कम्पने, एजयतीत्येजो-वायुः कम्पनशीलत्वात्तस्यैजस्य जुगुप्सा-निन्दा, तदासेवनपरिहारो निवृत्तिरिति यावत्, तस्याः-तद्विषये प्रभुर्भवति वायुकायसमारम्भनिवृत्तौ शक्तो भवतीति यावत्,

पाठान्तरं वा-' पहु य एगस्स दुगुंछणाए ' उद्रेकावस्थावर्तिनैकेन गुणेन स्पर्शाख्येनोपलक्षित इत्येको—वायुस्तस्यैकस्यैकगुणोपलक्षितस्य वायोर्जुगुप्सायां प्रभुः च-शब्दात् श्रद्धाने च प्रभुर्भवतीति, अर्थात्—यदि श्रद्धाय जीवतया जुगुप्सते ततो योऽसौ वायुकायसमारम्भनिवृत्तौ प्रभुरुक्तस्तं दर्शयति—

आयंकदंसी अहियंसि णच्चा, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ एतं तुलमन्नेसिं । (सू० ५६)

(आयंकदंसीत्यादिपदव्याख्या ' आतंकदंसि ' शब्दे द्वितीयभागे १५४ पृष्ठे कृता । तदधिकमिह प्रदर्श्यते)-अतो य आतङ्कदर्शी भवति । विमलविवेकभावात् स वायुसमारम्भस्य जुगुप्सायां प्रभुः हिताहितप्राप्तिपरिहारानुष्ठानप्रवृत्तेः,तदन्यैवंविधपुरुषवदिति वायुकायसमारम्भनिवृत्तेः कारणमाह—' जे अज्झत्थमि ' त्यादि आत्मानमधिकृत्य यद्वर्तते तदध्यात्मं तच्च सुखदुःखादि, तद्यो जानातिअवबुध्यते स्वरूपतोऽवगच्छतीत्यर्थः । स बहिरपि प्राणिगणं वायुकायादिकं जानाति, तथैषोऽपि हि सुखाभिलाषी दुःखाच्चोद्विजते, यथा—मयि दुःखमापतितमतिकटुकमसद्वेद्यकर्मोदयादशुभफलं स्वानुभवसिद्धम्; एवं यो वेत्ति स्वात्मनि सुखं च सद्वेद्यकर्मोदयात् शुभफलमेवं च योऽवगच्छति स खल्वध्यात्मं जानाति, एवं च योऽध्यात्मवेदी स बहिर्व्यवस्थितवायुकायादिप्राणिगणस्यापि नानाविधोपक्रमजनितं स्वपरसमुत्थं च शरीरमनःसमाश्रयं दुःखं सुखं वा वेत्ति स्वप्रत्यक्षतया परत्राप्यनुमीयते । यस्य पुनः स्वात्मन्येव विज्ञानमेवंविधं न समस्ति कुतस्तस्य बहिर्व्यवस्थितवायुकायादिष्वपेक्षा ?, यश्च बहिर्जानाति सोऽध्यात्मं यथावद्वेत्तीतरेतराव्यभिचारादिति । परात्मपरिज्ञानाच्च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह-' एतं तुलमन्नेसिमि ' त्यादि एतां तुलां यथोक्तलक्षणामन्वेषयेद्-गवेषयेदिति । का पुनरसौ तुला? यथाऽऽत्मानं सर्वथा सुखाभिलाषितया रक्षसि तथाऽपरमपि रक्ष । यथा परं तथात्मानमित्येतां तुलां तुलितस्वपरसुखदुःखानुभवोऽन्वेषयेत्;एवं कुर्यादित्यर्थः । उक्तं च-' कट्ठेण कंटएण व, पाए विद्धस्स वेयणट्टस्स । जह होइ अनिव्वाणी, सव्वत्थ जिएसु तं जाण ॥ १ ॥ ' तथा " मरिष्यामीति यद् दुःखं, पुरुषस्योपजायते । शक्यस्तेनानुमानेन, परोऽपि परिरक्षितुम् ॥ १ ॥ " अतश्च यथाऽभिहिततुलातुलितस्वपरा नराः स्थावरजङ्गमजन्तुसंघातरक्षणायैव प्रवर्तन्ते ।

कथमिति दर्शयति—

इह संतिगया दविया, णावकखंति जीविउं । (सू० ५७)

' इहे ' त्यादि इह—एतस्मिन् दयैकरसे-जिनप्रवचने शमनं शान्तिः-उपशमः प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानचरणकलापः शान्तिरुच्यते, निराबाधमोक्षाख्यशान्तिप्राप्तिकारणत्वात्, तामेवंविधां शान्तिं गताः-प्राप्ताः शान्तिगताः शान्तौ वा स्थिताः शान्तिगताः, द्रविका नाम-रागद्वेषविनिर्मुक्ताः द्रवः-संयमः सप्तदशविधानः कर्मकाठिन्यद्रवणकारित्वाद् विलयहेतुत्वात्; स येषां विद्यते ते द्रविकाः नाऽवकाङ्क्षति-न वाञ्छन्ति; नाऽभिलषन्तीत्यर्थः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं नावकाङ्क्षन्ति ?, जीवितुं-प्राणान् धारयितुं केनोपायेन जीवितुं नाभिकाङ्क्षन्ति; वायुजीवोपमर्दनेनेत्यर्थः । शेषपृथिव्यादिजीवकायसंरक्षणं तु पूर्वोक्तमेव । समुदायार्थस्त्वयम्-इहैव जैने प्रवचने यः संयमस्तद्व्यवस्थिता एवोन्मूलितातितुङ्गरागद्वेषद्रुमाः प्रभूतोपमर्दनिष्पन्नसुखजीविकानिरभिलाषाः साधवो नान्यत्रैवंविधक्रियावबोधाभावादिति ।

एवं व्यवस्थिते सति—

लज्जमाणे पुढोपास अणगारामो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारम्भमाणे अणे अणेगरूवे पाणे विहिंसति । तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ अण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणति तं से अहियाए तं से अवोहीए से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे एस खलु णिरए इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अणे अणेगरूवे पाणे विहिंसति । (सू० ५८) से बेमि-संति संपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति, एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स तेच्चेइ आरम्भा अपरिण्णाया भवंति । एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारंभेज्जा णेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारंभावेज्जा णेवण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा जस्सेते वाउसत्थसमारम्भा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि । (सू० ५६)

'लज्जमाणा पुढो पासे' त्यादि पूर्ववन्नेयं यावत्-'से हु मुणीपरिण्णायकम्मे त्ति बेमि' ।

संप्रति षड्जीवनिकायविषयवधकारिणामपायदिदर्शयिषया तन्निवृत्तिकारिणां च संपूर्णमुनिभावप्रदर्शनाय सूत्राणि प्रक्रम्यन्ते—

एत्थं पि जाणे उवादीयमाणा जे आयारे ण रमंति आरंभमाणा विणयं वयंति छंदोवणीया अज्झोववण्णा आरंभसत्ता पकरंति संगं । (सू०-६०)

एतस्मिन्नपि प्रस्तुते वायुकाये अपिशब्दात्-पृथिव्यादिषु च समाश्रितमारम्भं ये कुर्वन्ति ते उपादीयन्ते; कर्मणा बध्यन्त इत्यर्थः, एतस्मिन् जीवनिकाये वधप्रवृत्ताः शेषनिकायवधजनितेन कर्मणा बध्यते, किमिति ?, यतो न ह्येकजीवनिकायविषय आरम्भः शेषजीवनिकायोपमर्दमन्तरेण कर्तुं शक्यत इत्यतस्त्वमेवं जानीहि, श्रोतुरनेन परामर्शः । अत्र च द्वितीयार्थे प्रथमा, ततश्चैवमन्वयो लगयितव्यः-पृथिव्याद्यारम्भिणः शेषकायारम्भकर्मणा उपादीयमानान् जानीहि, के पुनः पृथिव्याद्यारम्भिणः शेषकायारम्भकर्मणोपादीयन्ते? इत्याह-'जे आयारे ण रमं ति' ये-ह्यविदितपरमार्था ज्ञानदर्शनचरणतपोवीर्याख्ये पञ्चप्रकाराचारे न रमन्ते-न धृतिं कुर्वन्ति, तदधृत्या च पृथिव्याद्यारम्भिणः, तान् कर्मभिरुपादीयमानान् जानीहि । के पुनराचारे न रमन्ते ?, शाक्यदिग्म्बरपार्श्वस्थादयः, किमिति ?, यत आह—आरम्भमाणा अपि पृथिव्यादीन् जीवान् विनयं संयममेव भाषन्ते कर्माष्टकविनयनाद्विनयः संयमः, शाक्याद्यो हि वयमपि विनयव्यवस्थिताः इत्येवं भाषन्ते, न च पृथिव्यादिजीवाभ्युपगमं कुर्वन्ति, तदभ्युपगमे वा तदाश्रितारम्भित्वात् ज्ञानाद्याचारविकलत्वेन नष्टशीला इति । किं पुनः कारणम् ?, येनैवं ते दुष्टशीला अपि विनयव्यवस्थितमात्मानं भाषन्ते इत्यत आह— 'छंदोवणीया अज्झोववण्णा' छन्दः—स्वाभिप्रायः इच्छामात्रमनालोचितपूर्वापरं विषयाभिलाषो वा तेन छन्दसोपनीताः—प्रापिता आरम्भमार्गमविनीता अपि विनयं भाषन्ते, अधिकमत्यर्थमुपपन्नाः, तच्चित्तास्तदात्मकाः अध्युपपन्नाः; विषयपरिभोगायत्तजीविता इत्यर्थः, ये एवं विषयाशाकर्षितचेतसस्ते किं कुर्युरित्याह—'आरम्भसत्ता पकरन्ति संगं" आरम्भणमारम्भः सावद्यानुष्ठानं तस्मिन् सक्तास्तत्पराः प्रकर्षेण कुर्वन्ति, सज्यन्ते येन संसारे जीवाः स सङ्गः अष्टविधं कर्म विषयसङ्गो वा तं सङ्गं प्रकुर्वन्ति, सङ्गाच्च पुनरपि संसारः आजवंजवीभावरूपः एवं प्रकारमपायमवाप्नोति षड्जीवनिकायघातकारीति ।

अथ यो निवृत्तस्तदारम्भात् स किंविशिष्टो भवतीत्यत आह—

से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसिं तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवनिकायसत्थं समारंभेज्जा णेवण्णेहिं छज्जीवनिकायसत्थं समारम्भावेज्जा णेवण्णे छज्जीवनिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते छज्जीवनिकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि । (सू०-६१)

'से' इति पृथिव्युद्देशकाद्यभिहितनिवृत्तिगुणभाक् षड्जीवनिकायहनननिवृत्तो वसुमान्-वसूनि द्रव्यभावभेदाद् द्विधा द्रव्यवसूनि-मरकतेन्द्रनीलवज्रादीनि भाववसूनि-सम्यक्त्वादीनि तानि यस्य यस्मिन्—वा सन्ति स वसुमान्; द्रव्यवानित्यर्थः, इह च भाववसुभिर्वसुमत्त्वमङ्गीक्रियते, प्रज्ञायन्ते यैस्तानि प्रज्ञानानि यथावस्थितविषयग्राहीणि ज्ञानानि सर्वाणि समन्वागतानि प्रज्ञानानि यस्यात्मनः स सर्वसमन्वागतप्रज्ञानः सर्वावबोधविशेषानुगतः सर्वेन्द्रियज्ञानैः पडुभिर्यथावस्थितविषयग्राहिभिरविपरीतैरनुगत इति यावत्, तेन सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना । अथवा-सर्वेषु-द्रव्यपर्यायेषु सम्यगनुगतं प्रज्ञानं यस्यात्मनः स सर्वसमन्वागतप्रज्ञानः, आत्मा भगवद्वचनप्रामाण्यादेवमेतत् द्रव्यपर्यायजातं नान्यथेति सामान्यविशेषपरिच्छेदान्निश्चिताशेषज्ञेयप्रपञ्चस्वरूपः सर्वसमन्वागतप्रज्ञान आत्मे—

१—पुनः पुनस्तत्रैवोत्पत्तिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्युच्यते, अथवा—शुभाशुभफलसकलकलापपरिज्ञानान्नरकतिर्यग्नरामरमोक्षसुखस्वरूपपरिज्ञानाच्चापरितुष्यन्ननैकान्तिकादिगुणयुक्ते संसारसुखे मोक्षानुष्ठानमाविष्कुर्वन् सर्वसमन्वागतप्रज्ञान आत्माऽभिधीयते, तेनैवंविधेनात्मना अकरणीयमकर्तव्यमिहपरलोकविरुद्धत्वादकार्यमिति मत्वा नान्वेषयेत्-न तदुपादानाय यत्नं कुर्यादित्यर्थः। किं पुनः तदकरणीयं नान्वेषणीयमिति ?, उच्यते—पापकर्म। (आचा०।) (तद्व्याख्या 'पावकम्म' शब्दे पञ्चमभागे ८७७ पृष्ठे गता।) एतदेवाह—'तं परिण्णाय मेहावी' त्यादि तत्पापमष्टादशप्रकारं परिः-समन्तात् ज्ञात्वा मेधावी मर्यादावान् नैव स्वयं षड्जीवनिकायशस्त्रं स्वकायपरकायादिभेदं समारभेत नैवान्यैः समारम्भयेत्, न चान्यान् समारभमाणान् समनुजानीयात्, एवं यस्यैते सुपरीक्षयकारिणः पड्जीवनिकायशस्त्रसमारम्भाः तद्विषयाः पापकर्मविशेषाः परिज्ञाता ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च स एव मुनिः प्रत्याख्यातकर्मत्वात्, प्रत्याख्याताशेषपापागमत्वात्, तदन्यैवंविधपुरुषवदिति। इतिशब्दोऽध्ययनपरिसमाप्तिप्रदर्शनाय ब्रवीमीति सुधर्मा स्वाम्याह—स्वमनीषिकाव्यावृत्तये भगवतोऽपनीतघनघातिकर्मचतुष्टयस्य समासादिताशेषपदार्थाविर्भावकदिव्यज्ञानस्य प्रणताशेषगीर्वाणाधिपतेश्चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितस्य श्रीवर्द्धमानस्वामिनः उपदेशात्सर्वमेतदाख्यातं यदतिक्रान्तं मयेति। आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। ('मूलगुणपडिसेवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३५६ पृष्ठे एतस्य दर्पिकाकल्पिका च प्रतिसेवनोक्ता।)

वायुकायिकानां शरीरभेदानाह—

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पन्नत्ता, गोयमा ! चत्तारि सरीरगा पन्नत्ता, तं जहा-ओरालिते वेउव्विते तेयए कम्मए सरीरगा पडागसंठिया, चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा-वेयणासमुग्घाते कसायसमुग्घाते मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाते आहारो णिव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सियचउद्दिसिं सिय पंचदिसिं उववातो देवमणुयनेरइएसु णऽत्थि, ठिती जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि वाससहस्साइं सेसं तं चेव एगगतिया दुअगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता समणाउसो !, सेत्तं बायरवाउकाइया । सेत्तं वाउकाइया। (सू०-२६×)

तथा शरीरादिद्वारकलापचिन्तायां शरीरद्वारे चत्वारि शरीराणि औदारिकवैक्रियतैजसकार्मणानि चत्वारः समुद्घाताः—वैक्रियवेदनाकषायमारणान्तिकरूपाः स्थितिद्वारेजघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं वक्ष्यमुत्कर्षतस्त्रीणि वर्षसहस्राणि, आहारो निर्व्याघातेन षड्दिशि व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशि स्याच्चतुर्दिशि स्यात् पञ्चदिशि लोकनिष्कुटादावपि बादरवातकायस्य संभवात्, शेषं सूक्ष्मवातकायवत् उपसंहारमाह-'सेत्तं वाउकाइया' इति उक्ता वायुकायिकाः। जी० १ प्रति०। पुञ्जणिकया वायुकरणे लाभोऽलाभो वा ?, इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-मुख्यवृत्त्या पुञ्जनिकया वायुकरणं ज्ञातं नास्ति, परं गुर्व्वादीनां मक्षिकोड्डायनार्थं वायुकरणे लाभोऽस्ति न त्वलाभः, यतो मक्षिकोड्डायनं गुरुभक्तिरेवेति ॥१४६॥ सेन० ४ उल्ला०।

वाउक्का(का)य- वायुकाय-पुं०। प्रचण्डवाते, स्था०३ ठा०३ उ०।

वाउकाए णं भंते ! वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायाति ?, हंता गोयमा ! ०जाव पचायाति। से भंते ! किं पुट्ठे उद्दाति अपुट्ठे उद्दाति ?, गोयमा ! पुट्ठे उद्दाइ नो अपुट्ठे उद्दाइ। से भंते ! किं ससरीरी निक्खमइ असरीरी निक्खमइ ?, गोयमा ! सिय ससरीरी निक्खमइ सिय असरीरी निक्खमइ। से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सिय ससरीरी निक्खमइ सिय असरीरी निक्खमइ ?, गोयमा ! वाउकायस्स णं चत्तारि सरीरया पण्णत्ता, तं जहा—ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए, ओरालियवेउव्वियाइं विप्पजहाय तेयकम्मएहिं निक्खमति, से तेणऽट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—सिय ससरीरी सिय असरीरी निक्खमइ। (सू० ८६)

'वाउकाए णं भंते!' इति अयं च प्रश्नो वायुकायप्रस्तावाद्विहितोऽन्यथा पृथिवीकायिकादीनामपि मृत्वा स्वकाये उत्पादोऽस्त्येव सर्वेषामेषां कायस्थितेरसंख्याततयाऽनन्ततया चोक्तत्वात्। यदाह—"असंखोसप्पिणीउस्स—प्पिणीउ एगिंदियाण उ चउण्हं। ता चेव ऊ अणंता, वणस्सईए उ बोद्धव्वा ॥ १ ॥" तत्र वायुकायो वायुकाय एवानेकशतसहस्रकृत्वः 'उद्दाइत्त' त्ति अपद्रुत्य—मृत्वा 'तत्थेव' त्ति वायुकाय एव 'पच्चायाइ' त्ति 'प्रत्याजायते उत्पद्यते। पुट्ठे उद्दाइ' त्ति स्पृष्टः स्वकायशस्त्रेण परकायशस्त्रेण वा अपद्रवति-म्रियते 'नो अपुट्ठे' त्ति सोपक्रमापेक्षमिदं 'निक्खमइ' त्ति स्वकलेवरान्निःसरति, 'सिय ससरीरी' ति स्यात्-कथञ्चित् 'ओरालियवेउव्वियाइं विप्पजहाये' त्यादि अयमर्थः—औदारिकवैक्रियापेक्षया अशरीरी तैजसकार्मणापेक्षया तु सशरीरी निष्क्रामतीति। वायुकायस्य पुनस्तत्रैवोत्पत्तिर्भवतीत्युक्तम्। भ० २ श० १ उ०।

वाउक्खित्त-वातोत्क्षिप्त-त्रि०। समीरणोत्पाटिते, पिं०।

वाउचारण-वायुचारण-पुं०। पवनेष्वनेकदिग्मुखोन्मुखेषु प्रतिलोमानुलोमवर्तितत्प्रदेशावलीमुपादाय गतिमत्स्खलितचरणविन्यासमास्कन्दति चारणभेदे, ग० २ अधि०।

वाउजीव-वायुजीव-पुं०। वायुकायिकजीवे, "दुविहा वाउजीवा—सुहुमा य, बायरा य" उत्त० ३ अ०। आचा०।

वाउत्तरवडिंसग-वायूत्तरावतंसक-न०। तृतीये देवलोकविमाने, स० ५ सम०।

वाउद्धूय-वातोद्धूत-त्रि०। वायुकम्पिते, चं० प्र० १८ पाहु०। "वाउद्धूयविजयवेजयंती—" वातोद्धूता-विजयसूचिका वैजयन्ती पार्श्वतो लघुपताकाद्वययुक्ता पताकाविशेषो वातो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्धृतविजयवैजयन्ती। भ० ६ श० ३३ उ०। सू० प्र०। रा०। जी०।

वाउप्पइया-वातोत्पतिका-स्त्री०। पताकजातिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

वाउप्पवेस-वायुप्रवेश-पुं०। गवाक्षे, औ०।

वाउब्भाम-वातोद्भ्राम-पुं०। अनवस्थितवाते, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। वृष्टयव्यभिचारिणि प्रदक्षिणं दिक्षु भ्रमति प्रशस्ते वाते, अनु०।

वाउभक्खि (ण्)-वायुभक्षिन्-पुं०। वायुमात्रभक्षके वानप्रस्थे, नि०। औ०।

वाउभूइ-वायुभूति-पुं०। गौतमगोत्रे इन्द्रभूतेर्भ्रातरि वीरजिनस्य तृतीये गणधरे, स० १ सम०। आ० म०।

अथ तृतीयगणधरस्य वायुभूतेर्वक्तव्यतामभिधित्सुराह—

ते पव्वइए सोउं, तइओ आगच्छई जिणसगासं।
वच्चामी वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि॥ १६४५॥

ताविन्द्रभूत्य-ग्निभूती प्रव्रजितौ श्रुत्वा तृतीयो-वायुभूतिनामा द्विजोपाध्यो जिनसकाशमागच्छति, सातिशयनिजबन्धुद्वयनिष्क्रमणाकर्णनाऽऽभागिति विगलिताभिमानो भगवति संजातसर्वज्ञप्रत्ययः सञ्चिवमवधार्याऽऽगतः-व्रजामि तत्राहमपि वन्दे भगवन्तं श्रीमन्महावीरम्, वन्दित्वा च पर्युपासे-पर्युपास्तिं करोमि तस्य भगवत इति।

अपरञ्च किं विकल्प्य समागतोऽसौ इत्याह—

सीसत्तेणोवगया, संपयमिंदग्गिभूइणो जस्स।
तिहुयणकयप्पणामो,स महाभागोऽभिगमणिज्जो।१६४६।
तदभिगमण वंदणो-वासणाइणा होज्ज पूयपावोऽहं।
वोच्छिन्नसंसओ वा,वोत्तुं पत्तो जिणसगासे॥१६४७॥

पूतपापो-विशुद्धपापः; अपगतपाप इत्यर्थः, शेषं सुगमम्।

ततः किम्? इत्याह—

आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं।१६४८।

व्याख्या पूर्ववदिति, इत्थं सगौरवं साक्षसमाभाषितोऽपि भगवता सकलत्रैलोक्यातिशायिनीं तस्य रूपादिसमृद्धिमभिवीक्ष्य क्षोभादसमर्थो हृद्गतसंशयं प्रष्टुं विस्मयात् तूष्णीमाश्रितः पुनरपि उक्तः।

किम्? इत्याह—

तज्जीव तस्सरीरं, ति संसओ न वि य पुच्छसे किंचि।
वेयपयाण य अत्थं,न याणसी तेसिमो अत्थो।१६४६।

हे आयुष्मन्! वायुभूते! 'तदेवं वस्तु जीवस्तदेव च शरीरम् न पुनरन्यत्' इत्येवंभूतस्तव संशयो वर्त्तते, नाऽपि च तदपनोदार्थं किञ्चिद् मां पृच्छसि। ननु यज्ञवाटान्निर्गच्छता त्वयाऽभिहितमासीत्-'वोच्छिन्नसंसओ वा' इति, तत् किमिति न किञ्चित् पृच्छसि? । अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनो वर्तते। तेषां च वेदपदानामर्थं त्वं न जानासि, तेन संशयं कुरुषे। तेषां चायं वक्ष्यमाणलक्षणोऽर्थ इति।

यथा च वायुभूतेरयं संशयस्तथा विशेषत एव भाष्यकारो भावयन्नाह—

वसुहाइभूय समुदय, संभूया चेयण त्ति ते संका।
पत्तेयमदिट्ठाऽवि हु, मज्जंगमउ व्व समुदाये॥१६५०॥
जह मज्जंगेसु मओ, वीसुमदिट्ठोऽवि समुदए होउं।
कालंतरे विणस्सइ, तह भूयगणम्मि चेयण्णं।१६५०।

वसुधा-पृथ्वी, आदिशब्दादप्तेजोवायुपरिग्रहः, वसुधादय एव भवन्तीति कृत्वा भूतानि वसुधादिभूतानि, तेषां समुदयः-परस्परमीलनपरिणतिर्वसुधादिभूतसमुदयः;तस्मात् प्रागसती संभूता संजाता चेतनेत्येवंभूता तव शङ्का। सा च चेतना पृथिव्यादिभूतेषु प्रत्येकावस्थायामदृष्टाऽपि धातकीकुसुमगुडोदकादिषु मद्याङ्गेषु मद इव तत्समुदाये संभूतेति प्रत्यक्षत एव दृश्यते। तदेवमन्वयद्वारेण चेतनाया भूतसमुदायधर्मता दर्शिता। अथ व्यतिरेकद्वारेण तस्यास्तां दर्शयितुमाह—'जह मज्जंगेसु' इत्यादि, यथा च मद्याङ्गेषु मदभावः प्रत्येकावस्थायामदृष्टोऽपि तत्समुदाये भूत्वा ततः कियन्तमपि कालं स्थित्वा कालान्तरे तथाविधसामग्रीवशात् कुतश्चित् विनश्यति, तथा भूतगणेऽपि प्रत्येकमसच्चैतन्यं भूत्वा ततः कालान्तरे विनश्यति। ततोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते—भूतधर्म्म एव चैतन्यम्। इदमत्र हृदयम्—यत् समुदायिषु प्रत्येकं नोपलभ्यते तत्समुदाये चोपलभ्यते तत्समुदायमात्रधर्म एव, यथा-मद्याङ्गसमुदायधर्मो मदः। स हि मद्याङ्गेषु विष्वग् नोपलभ्यते,तत्समुदाये चोपलभ्यते,अतस्तद्धर्मः,एवं चेतनाऽपि भूतसमुदाये भवति,पृथग् न भवति, अतस्तद्धर्मः। धर्मधर्मिणोश्चाभेद एव भेदे घटपटयोरिव धर्मिधर्मभावाप्रसङ्गात्। तस्मात् स एव जीवस्तदेव च शरीरम्। वाक्यान्तरेषु पुनः शरीराद् भिन्नः श्रूयते जीवः, तद्यथा—'न हि वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' इत्यादि। ततस्तव संशय इति।

अत्रोत्तरमाह—

पत्तेयमभावाओ, न रेणुतेल्लं व समुदये चेया।
मज्जंगेसु तु मओ, वीसुं पि न सव्वसो नऽत्थि॥१६५२॥

'न समुदये चेय त्ति' न भूतसमुदायमात्रप्रभवा चेतना, 'पत्तेयमभावाउ' त्ति भूतप्रत्येकावस्थायां; तस्या अंशतोऽपि सर्वथाऽनुपलब्धेरित्यर्थः। किं यथा किं प्रभवं न भवति? इत्याह-न रेणुतेल्लं व' त्ति यथा प्रत्येकं सर्वथाऽनुपलम्भाद्; रेणुकणसमुदायप्रभवं तैलं न भवतीत्यर्थः। प्रयोगः-यद् येषु पृथगवस्थायां सर्वथा नोपलभ्यते तत् तेषां समुदायेऽपि न भवति, यथा-सिकताकणसमुदाये तैलम्। यच्च तेषां समुदाये भवति न तस्य पृथग्व्यवस्थितेषु तेषु सर्वथाऽनुपलम्भः, यथैकैकतिलावस्थायां तैलस्य सर्वथा नोपलभ्यते च भूतेषु प्रत्येकावस्थायां चेतना, तस्माद् नासौ तत्समुदायमात्रप्रभवा, किन्त्वर्थापत्तेरेवान्यत् किमपि जीवलक्षणं कारणान्तरं भूतसमुदायातिरिक्तं तत्र संघट्टितम्, यत इयं प्रभवतीति प्रतिपत्तव्यम्। आह—प्रत्येकावस्थायां सर्वथाऽनुपलम्भात् इत्यनैकान्तिकोऽयं हेतुः, प्रत्येकावस्थायां सर्वथानुपलब्धस्यापि मदस्य मद्याङ्गसमु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दाये दर्शनात्, इत्याशङ्क्याह—'मज्जंगेसु' इत्यादि धातकीकुसुमादिषु मद्याङ्गेषु पुनर्विष्वक् पृथग् न सर्वथा मदो नास्ति, अपि तु-या च यावती च मदमात्रा पृथगपि तेष्वस्त्येवेत्यर्थः। ततो नानैकान्तिकता हेतोरिति।

भूतेष्वप्येवं भविष्यतीति चेत्, नैतदेवं कुतः? इत्याह—

भमिधणि वितण्हयाई, पत्तेयं पि हु जहा मयंगेसु।
तह जइ भूएसु भवे, चेया तो समुदये होज्जा ॥१६५३॥

यथा प्रत्येकावस्थायां धातकीकुसुमेषु या च यावती च-भ्रमिश्चित्तभ्रमापादनशक्तिरस्ति, गुडद्राक्षेक्षुरसादिषु पुनर्धाणिरतृप्तिजननशक्तिरस्ति, उदके तु वितृष्णताकरणशक्तिरस्ति आदिशब्दादन्येष्वपि मद्याङ्गेष्वन्याऽपि यथासंभवं शक्तिर्वाच्या तथा-तेनैव प्रकारेण व्यस्तेष्वपि पृथिव्यादिभूतेषु यदि काचिच्चैतन्यशक्तिरभविष्यत, तदा तत्समुदाये संपूर्णा स्पष्टा चेतना स्यात् न चैतदस्ति, तस्माद् न भूतसमुदायमात्रप्रभवेयमिति।

ननु यदि प्रत्येकावस्थायां मद्याङ्गेषु सर्वथैव मदशक्तिर्न स्यात् तदा किं दूषणं स्यात्? इत्याह—

जइ वा सव्वाभावो, वीसुं तो किं तदंगनियमोऽयं।
तस्समुदयनियमो वा, अन्नेसु वि तो हवेज्जाहि॥१६५४॥

यदि च मद्याङ्गेषु पृथगवस्थायां सर्वथैव मदशक्त्यभावः तर्हि कोऽयं तदङ्गनियमः—कोऽयं धातकीकुसुमादीनां मद्याङ्गतानियमः तत्समुदायनियमो वा, किमिति मद्यार्थी धातकीकुसुमादीन्येवान्वेषयति, तत्समुदायं किमिति नियमेन मीलयति? इत्यर्थः, नन्वन्येष्वपि च भस्माश्मगोमयादिषु समुदितेषु मद्यं भवेदिति।

अथ मद्याङ्गेषु प्रत्येकावस्थायामपि मदशक्तिसद्भावं साधितमाकर्ण्य कदाचित् पर एवं ब्रूयात्। किम्? इत्याह—

भूयाणं पत्तेयं, पि चेयणा समुदए दरिसणाओ।
जह मज्जंगेसु मओ, मइ त्ति हेऊ न सिद्धोऽयं ॥ १६५५ ॥

स्यात् परस्य मतिः—साधूक्तं यत्-पृथगपि मद्याङ्गेषु किञ्चिद् मदसामर्थ्यमस्तीति। एतदेव हि मम भूतेषु व्यस्तावस्थायां चैतन्यास्तित्वसिद्धावुदाहरणं भविष्यति-तथाहि—व्यस्तेष्वपि भूतेषु चैतन्यमस्ति, तत्समुदाये तद्दर्शनात्, मद्याङ्गेषु मदवदिति। यथा मद्याङ्गेषु मदः पृथगल्पत्वाद् नातिस्पष्टः, तत्समुदाये त्वभिव्यक्तिमिति, तथा भूतेष्वपि पृथगवस्थायामणीयसी चेतना, तत्समुदाये तु भूयसीयमिति। अत्रोत्तरमाह-'हेऊ न सिद्धोऽयमि'ति चेतनाया भूतसमुदाये दर्शनात्, इत्यसिद्धोऽयं हेतुरित्यर्थः। आत्मनो भूतसमुदायान्तर्गतत्वेन चेतनायास्तद्धर्मत्वात्, आत्माभावे च तत्समुदायेऽपि तदसिद्धेरसिद्धोऽयं हेतुरिति भावः, यदि हि-भूतसमुदायमात्रधर्मश्चेतना भवेत्तदा मृतशरीरेऽप्युपलभ्येत, वायोस्तदानीं तत्राभावात्, तदनुपलम्भ इति चेत्; नैवम् नलिकादिप्रयोगतस्तत्प्रक्षेपेऽपि तदनुपलब्धेः, तेजस्तदानीं तत्र नास्तीति चेत्; न तत्प्रक्षेपेऽपि तदनुपलम्भात्। विशिष्टतेजोवाय्वभावादनुपलम्भ इति चेत्, किं नामात्मसत्त्वं विहायान्यत्तद्वैशिष्ट्यम्? ननु संज्ञान्तरेणात्मसत्त्वमेव त्वयाऽपि प्रतिपादितं स्यादिति।

अथ परस्योत्तरमाशङ्क्य प्रतिविधातुमाह—

नणु पच्चक्खविरोहो, गोयम! तं नाणुमाणभावाओ।
तुह पच्चक्खविरोहो, पत्तेयं भूयचेय त्ति ॥ १६५६ ॥

ननु प्रत्यक्षविरूपमेवेदम् यत् भूतसमुदाये सत्युपलभ्यमानाऽपि चेतना न तत्समुदायस्येत्यभिधीयते, न हि घटे रूपादय उपलभ्यमाना न घटस्येति वक्तुमुचितम्, तदयुक्तम्, यतो न भूजलसमुदायमात्रे उपलभ्यमाना अपि हरितादयस्तन्मात्रप्रभवा इति शक्यते वक्तुम्। तद्बीजसाधकानुमानेन बाध्यतेऽसावुपलम्भ इति चेत्; तदेतदिहापि समानम्, एतदेवाह—'गोयमेत्यादि' वायुभूतेरपीन्द्रभूतिसोदर्यभ्रातृत्वेन समानगोत्रत्वाद् गौतम इत्येवमामन्त्रणम्, यत्त्वं ब्रूषे—तदेतद् न भूतसमुदायातिरिक्तात्मसाधकानुमानसद्भावात्, ततस्तेनैव त्वत्प्रत्यक्षस्य बाधितत्वादिति भावः। प्रत्युत तवैव प्रत्यक्षविरोधः, किं कुर्वतः? इत्याह—'पत्तेयं भूयचेय' त्ति ब्रुवतः इति शेषः। प्रत्येकावस्थायां पृथिव्यादिभूतेषु चैतन्याभावस्यैव दर्शनात्, तदस्तित्वं प्रत्यक्षेणैव बाध्यत इति प्रत्येकं भूतेषु चेतना इति ब्रुवतस्तवैव प्रत्यक्षविरोध इत्यर्थः।

किं पुनस्तदात्मसाधकमनुमानम्? इत्याह—

भूइंदियोवलद्धा-णुसरणओ तेहि भिन्नरूवस्स।
चेया पंचगवक्खो-वलद्धपुरिसस्स वा सरओ ॥१६५७॥

तेभ्यो भूतेन्द्रियेभ्यो भिन्नरूपस्य कस्यापि धर्मश्चेतनेति प्रतिज्ञा, भूतेन्द्रियोपलब्धार्थानुस्मरणादिति हेतुः। यथा पञ्चभिर्गवाक्षैरुपलब्धानर्थाननुसरतस्तदतिरिक्तस्य कस्यापि देवदत्तादेः पुरुषस्य चेतनेति दृष्टान्तः। अयमत्र तात्पर्यार्थः इह य एको यैरनेकैरुपलब्धानर्थाननुस्मरति स तेभ्यो भेदवान् दृष्टः, यथा पञ्चभिर्गवाक्षैरुपलब्धानर्थाननुस्मरन् देवदत्तः यश्च यस्माद् भूतेन्द्रियात्मकसमुदायाद् भिन्नो न भवति, किं तर्हि? अनन्यः, नायमेकोऽनेकोपलब्धानामर्थानामनुस्मर्ता, यथाशब्दादिग्राहकमनोविज्ञानविशेषः, तैरुपलभ्यानुस्मरतोऽपि च तदनतिरिक्तत्वे देवदत्तस्यापि गवाक्षमात्रप्रसक्तेः बाधकं प्रमाणम्। इन्द्रियाण्येवोपलभन्ते, न पुनस्तैरन्य उपलभत इति चेत्; तदुपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, तद्व्यापारे च कदाचिदनुपलम्भात् इत्यनन्तरमेव वक्ष्यमाणत्वादिति।

अनुमानान्तरमप्यात्मसिद्धये प्राह—

तदुवरमे वि सरणओ, तव्वावारे वि नोवलंभाओ।
इंदियभिन्नस्स मई, पंचगवक्खाणुभविणो व्व ॥१६५८॥

इन्द्रियेभ्यो भिन्नस्यैवं कस्यापीयं घटादिज्ञानलक्षणा मतिरिति प्रतिज्ञा। तदुपरमेऽपि अन्धत्व-बाधिर्याद्यवस्थायामिन्द्रियव्यापाराभावेऽपि, तद्द्वारेणोपलब्धानामर्थानामनुस्मरणादिति हेतुः। अथवा—अस्यामेव प्रतिज्ञायां तद्व्यापारेऽपि-इन्द्रियव्यापृतावपि कदाचिदनुपयुक्तावस्थायाम्, वस्त्वनुपलम्भादित्यपरो हेतुः। यदि हीन्द्रियाण्येव द्रष्टॄणि भवेयुः, तर्हि किमिति विस्फारिताक्षस्यापि प्रगुणश्रोत्रादीन्द्रियवर्गस्यापि योग्यदेशस्थितानामपि रूपशब्दादिवस्तूनामनुपयुक्तस्य अन्यमनस्कस्य शून्यचित्तस्योपलम्भो न भवति? ततो ज्ञायते—इन्द्रियग्रामव्यतिरिक्तस्यैव कस्यचिदयमुपलम्भः, यथा पञ्चभिर्गवाक्षैर्योपिदादिवस्तून्यनुभवि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुर्दर्शकस्येति दृष्टान्तः । अत्रापि प्रयोगाभ्यां तात्पर्यमुपदर्श्यते, तद्यथा—इह यो यदुपरमेऽपि यैरुपलब्धानामर्थानामनुस्मर्ता स तेभ्यो व्यतिरिक्तो दृष्टः, यथा गवाक्षैरुपलब्धानामर्थानां गवाक्षोपरमेऽपि देवदत्तः,अनुस्मरति चायमात्मान्धबधिरत्वादिकालेऽपीन्द्रियोपलब्धानर्थान् , अतः स तेभ्योऽर्थान्तरमिति । तथा—इन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, तद्व्यापारेऽप्यर्थानुपलम्भात् , इह यो यद्व्यापारेऽपि यैरुपलभ्यानर्थान् नोपलभते स तेभ्यो भिन्नो दृष्टः,यथा स्थगितगवाक्षोऽप्यन्यमनस्कतयाऽनुपयुक्तोऽपश्यंस्तेभ्यो देवदत्त इति ।

अपरमपि भूतेन्द्रियव्यतिरिक्तात्मसाधकमनुमानमाह—

उवलम्भमेण विगा-रगहणओ तदहिओ धुवं अत्थि ।
पुव्वावरवातायण-गहणविगाराइपुरिसो व्व ॥१६५९॥

इह ध्रुवं—निश्चितं तदधिकस्तेभ्य-इन्द्रियेभ्यः समधिकोभिन्नः समस्ति जीवः, अन्येनोपलभ्यान्येन विकारग्रहणात्, इह योऽन्येनोपलभ्यान्येन विकारं प्रतिपद्यते स तस्माद् भिन्नो दृष्टः, यथा प्रवरप्रासादोपरितनस्ततः पदपरिपाटीं कुर्वाणः पूर्ववातायनेन रमणीमवलोक्यापरवातायनेन समागतायास्तस्याः करादिना कुचस्पर्शादिविकारमुपदर्शयन् देवदत्तः, तथा चायमात्मा चक्षुषाऽम्लीकामश्नन्तं दृष्ट्वा रसनेन हृल्लासलालास्रावाऽऽदिविकारं प्रतिपद्यते, तस्मात्तयोर्भिन्न इति । अथवा—ग्रहणशब्दमिहाऽऽदानपर्यायं कृत्वाऽन्यथाऽनुमानं विधीयते—इन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, अन्येनोपलभ्यान्येन ग्रहणात्, इह य आद्ये घटादिकमर्थमन्येनोपलभ्यान्येन गृह्णाति स ताभ्यां भेदवान् दृष्टः, यथा पूर्ववातायनेन घटादिकमुपलभ्यापरवातायनेन गृह्णानस्ताभ्यां देवदत्तः, गृह्णाति च चक्षुषोपलब्धं घटादिकमर्थं हस्तादिना जीवः, ततस्ताभ्यां भिन्न इति ।

अथान्यदनुमानम्—

सव्वेंदिओवलद्धा-णुसरणओ तदहिओऽणुमंतव्वो ।
जह पंचभिन्नविन्ना-णपुरिसविन्नाणसंपन्नो ॥ १६६० ॥

सर्वेन्द्रियोपलब्धार्थानुस्मरणतः कारणात् तदधिकोऽस्ति जीवः । दृष्टान्तमाह-यथा पञ्च च ते भिन्नविज्ञानाश्च पञ्चभिन्नविज्ञानाः, इच्छावशात् प्रत्येकं स्पर्श-रस-गन्ध-रूप-शब्दोपयोगवन्त इत्यर्थः, पञ्चभिन्नविज्ञानाश्च ते पुरुषाश्च पञ्चभिन्नविज्ञानपुरुषास्तेषां यानि स्पर्शादिविषयाणि विज्ञानानि तैः सम्पन्नस्तद्वेत्ता यः षष्ठः पुरुषस्तेभ्यः पञ्चभ्यो भिन्नः । इदमत्र तात्पर्यम्—य इह यैरुपलब्धानामर्थानामेकोऽनुस्मर्ता-स तेभ्यो भिन्नो दृष्टः, यथेच्छाऽनुविधायिशब्दादिभिन्नजातीयविज्ञानपुरुषपञ्चकात् तदशेषविज्ञानाऽभिज्ञः पुमान् , इच्छानुविधायिशब्दादिभिन्नजातीयविज्ञानेन्द्रियपञ्चकाशेषविज्ञानवेत्ता चायमेक आत्मा, तस्मादिन्द्रियपञ्चकाद् भिन्न एवेति । शब्दादिभिन्नविज्ञानपुरुषपञ्चकस्येव पृथगिन्द्रियाणामुपलब्धिप्रसङ्गतोऽनिष्टापादनात् , विरुद्धोऽयं हेतुरिति चेन्न; इच्छानुविधायिविशेषणात् , इच्छायाश्चेन्द्रियाणामसम्भवात्, सहकारिकारणतयोपलब्धिकारणमात्रतया इन्द्रियेष्वपि सद्भावात्, उपचारतस्तेषामप्युपलब्धेरविरोधाददोषः । किञ्च—प्रतिपत्त्युपायमात्रमेवैतत् , न ह्यतीन्द्रि-येष्वर्थेष्वेकान्तेनैव युक्त्यन्वेषणपरैर्भाव्यम् । विशे० । (परभववक्तव्यता ' परभव ' शब्दे पञ्चमभागे ५३० पृष्ठे गता ।)

इदानीमिहभवमङ्गीकृत्याऽऽह—अथवा-क्षणिकत्वमभ्युपगम्योक्तम् , अधुना तत् क्षणिकमेव न भवतीत्याह—

न य सव्वहेव खणिअं, नाणं पुव्वोवलद्धसरणाओ ।
खणिओ न सरइ भूयं, जह जम्मागंतरविनट्ठो ।१६७३।

न च सर्वथैव क्षणिकं ज्ञानं वक्तुं युज्यते । कथञ्चित्तु क्षणिकतां भगवानपीच्छत्येव, इति सर्वथैव इत्युक्तम् । कस्मात्पुनर्ज्ञानं न क्षणिकम् ? इत्याह-पूर्वोपलब्धस्य बालकालाद्यनुभूतस्यार्थस्य वृद्धत्वाद्यवस्थायामपि स्मरणदर्शनात् । न चैतदेकान्तक्षणिकत्वे सत्युपपद्यते, कुतः ? इत्याह—' खणिओ ' इत्यादि यः क्षणिको नायं भूतमतीतं स्मरति , यथा जन्मानन्तरविनष्टः , एकान्तक्षणिकं चेष्यते ज्ञानम् , अतः स्मरणाभावप्रसङ्ग इति ।

क्षणिकज्ञानपक्षे दूषणान्तरमप्याह—

जस्सेगमेगवंधण-मेगंतेण खणियं य विन्नाणं ।
सव्वखणियविन्नाणं, तस्साजुत्तं कदाचिदवि ।१६७४।

यस्य वादिनो बौद्धस्य ' एकविज्ञानसन्ततयः सत्त्वाः ' इति वचनादेकमेवाऽसहायं ज्ञानं तस्य ' सर्वमपि वस्तु क्षणिकम् ' इत्येवंभूतं विज्ञानं कदाचिदपि न युक्तमिति संबन्धः । इष्यते च सर्वक्षणिकताविज्ञानं सौगतैः , ' यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम् ' तथा,—' क्षणिकाः सर्वसंस्काराः ' इत्यादिवचनात् । एतच्च क्षणिकताग्राहकज्ञानस्यैकत्वेन संभवत्येव, यदि हि त्रिलोकीतलगतैः सर्वैरपि क्षणिकैः पदार्थैः पुरः स्थित्वा तदेकं विज्ञानं जन्येत तदा तदेतज्जानीयात्—यदुत—' क्षणिकाः सर्वेऽप्यमी पदार्थाः ' इति । न चैवं सर्वैरपि तैस्तज्जन्यते । कुतः ? इत्याह-' एगवंधणं ' ति यस्मादेकमेव प्रतिनियतं बन्धनं-निबन्धनमालम्बनं यस्य तदेकबन्धनं ज्ञानम् , अतः कथमशेषवस्तुस्तोमव्यापिनीं क्षणिकतामवबुध्येत ? । अपि च-एकालम्बनत्वेऽपि यद्यशेषपदार्थविषयाणामपि ज्ञानानां युगपदुत्पत्तिरिष्यते , आत्मा च तदर्थानुसर्ता, तदा स्यादशेषपदार्थक्षणिकतापरिज्ञानम् । न चाशेषार्थग्राहकानेकज्ञानानां युगपदुत्पत्तिरिष्यते । किञ्च-तदेकमप्येकार्थविषयमपि च विज्ञानं सर्वपदार्थगतां क्षणिकतामज्ञास्यदेव यद्युत्पत्त्यनन्तरध्वंसि नाभविष्यत् । अविनाशित्वे हि तदवस्थिततयोपविष्टं सदन्यमन्यं चार्थमुत्पत्त्यनन्तरमुपरमन्तं दृष्ट्वा सर्वमेवासद्धर्जमसत्सजातीयवर्जं च वस्तु क्षणिकमेव ' इत्यवबुध्येत, न चैतदस्ति । कुतः ? , इत्याह—' एगंतेण खणियं चे' ति यस्य च बौद्धस्यैकान्तेन क्षणिकं क्षणध्वंस्येव विज्ञानम्, न पुनश्चिरावस्थायि , तस्य कथं सर्ववस्तुगतक्षणिकतापरिज्ञानं स्यात् ? , तस्मादक्षणिकमेव प्रमातृज्ञानमेष्टव्यम् । तच्च गुणत्वादनुरूपं गुणिनमात्मानमन्तरेण न संभवति । अतः सिद्धः शरीराद् व्यतिरिक्त आत्मेति ।

उक्तगाथोक्तमेव कञ्चिदर्थं भावयति—

जं सविसयनिययं चिय, जम्माणंतरहयं च तं किह णु ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाहिति सुबहुयविसा–ण विसयखयभंगयाईणि ।१६७५।

यत् स्वविषयमात्रनियतं जन्मानन्तरहतं च प्रमातृवि- ज्ञानम् तत्कथं सुबहुविज्ञानविषयगतान् क्षणभङ्ग-निरात्म- कत्वसुखिदुःखितादीन् धर्मान् ज्ञास्यति ? न कथञ्चिदित्यर्थः।

अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

गिरिहज्ज सव्वभंगं, जइ य मई सविसयाऽणुमाणाओ ।
तं पि न जओऽणुमाणं, जुत्तं सत्ताइसिद्धीओ ॥१६७६॥

यदि च परस्यैवंभूता मतिः स्यात्, यदुत–एकमपि—एका- लम्बनमपि क्षणिकमपि च प्रमातृविज्ञानं सर्ववस्तुगतक्षण- भङ्गं गृह्णीयात् । कुतः ? इत्याह—स्वविषयानुमानात् । एतदु, क्तं भवति–यस्मादयमस्मद्विषयः क्षणिकः,अहं च क्षणनश्वर- रूपं ततो विज्ञानसाम्यादन्यान्यपि विज्ञानानि क्षणिकानि- विषयसाम्याच्चान्येऽपि विषयाः सर्वेऽपि क्षणिकाः, इत्येवं स्वं च विषयाश्च स्वविषयास्तदनुमानात् सर्वस्यापि वस्तु- स्तोमस्य क्षणिकत्वादि गृह्यते । अत्र दूषणमाह—' तं पीत्या- दि ' तदपि न युक्तं न घटमानकम् । कुतः ?, इत्याह— यतस्तत् स्वविषयानुमानमन्येषां विज्ञानानामन्यविषयाणां च पक्षीकृतानां सत्तादिप्रसिद्धावेव युज्यते । न हि सत्त्वे- नाप्यप्रसिद्धे धर्मिणि क्षणिकतादिधर्मः साध्यमानो— विभ्राजते । को हि नाम शब्दादिष्वादावेव सत्त्वेनाप्रतीतेषु कृतकत्वादिनाऽनित्यत्वादिधर्मान् साधयति, ' तत्र पक्षः प्रसिद्धो धर्मी ' इत्यादिवचनात् ? । न चेदेकमेकालम्बनं क्षणिकं च ज्ञानमेतद् बोद्धुं शक्नोति ; यदुत–अन्यज्ञानानि सन्ति,तद्विषयाश्च विद्यन्ते,तेषां च विषयाणां स्वविषयज्ञान- जननस्वभावादय एवंभूता धर्माः सन्तीति एतदपरिज्ञाने च कथमेतेषां क्षणिकतां साधयिष्यति, धर्मिण एवाप्रसि- द्धेः ?। स्यादेतत्, स्वविषयानुमानादेवान्यविज्ञानादिसत्ताऽपि सेत्स्यत्येव,तथा हि—यथाऽहमस्मि तथाऽन्यान्यपि ज्ञानानि सन्ति, यथा च मद्विषयो विद्यते, एवमन्येऽपि ज्ञानविषया विद्यन्त एव, यथा चाहं मद्विषयश्च क्षणिकः, एवमन्यज्ञाना- नि तद्विषयाश्च क्षणिका एवेति,एवं सर्वेषां सत्त्वं क्षणिकता च स्वविषयानुमानादेव सेत्स्यतीति । एतदप्ययुक्तम् , यतः सर्वक्षणिकताग्राहकं ज्ञानं क्षणनश्वरत्वाज्जन्मानन्तरं ' मृत- इवाहमस्मि, क्षणिकं च ' इत्येवमात्मानमपि नावबुध्यते, अन्यपरिज्ञानं तु तस्य दूरोत्सारितमेव । किञ्च–तत् स्ववि- षयमात्रस्यापि क्षणिकतां नावगच्छति, समानकालमेव द्व- योरपि विनष्टत्वात् । यदि हि स्वविषयं विनश्यन्तं दृष्ट्वा तद्गतक्षणिकतां निश्चित्य स्वयं पश्चात् कालान्तरे तद् वि- नश्येत् , तदा स्यात् तस्य स्वविषयक्षणिकताप्रतिपत्तिः , न चैतदस्ति, ज्ञानस्य विषयस्य च निजनिजक्षणं जनयित्वा समानकालमेव विनाशाभ्युपगमात् । न च स्वसंवेदनप्रत्य- क्षेण, इन्द्रियप्रत्यक्षेण वा क्षणिकता गृह्यत इति सौगतैरि- ष्यते, अनुमानगम्यत्वेन तस्यास्तैरभ्युपगमादिति ।

अत्र परस्योत्तरमाशङ्क्य निराचिकीर्षुराह—

जाणेज्जा वासणा उ, सा वि हु वासित्त–वासणिज्जाणं ।
जुत्ता समेच्च दोण्हं, न उ जम्माणंतरहयस्स ॥१६७७॥

स्यादेतत् पूर्वपूर्वविज्ञानक्षणैरुत्तरोत्तरविज्ञानक्षणानामेवंभू- ता वासना जन्यते, यया ऽन्यविज्ञान—तद्विषयाणां सत्त्वक्ष- णिकतादीन् धर्मानेकमेकालम्बनं क्षणिकमपि च विज्ञानं जानाति, अतः सर्वक्षणिकताज्ञानं सौगतानां च विरुध्यते तदप्ययुक्तम् , यतः साऽपि वासना वासकवासनीययोर्द्व- योरपि समेत्य—संयुज्य विद्यमानयोरेव युक्ता, न तु जन्मा- नन्तरमेव हतस्य विनष्टस्य वास्यवासकयोश्च संयोगे- नावस्थाने क्षणिकताहानिप्रसङ्गः । किञ्च—साऽपि वासना क्षणिका, अक्षणिका वा ? । क्षणिकत्वे कथं तद्वशात् सर्व- क्षणिकतापरिज्ञानम् ? । अक्षणिकत्वे तु प्रतिज्ञाहानिरिति ।

तदेवं परपक्षं दूषयित्वा,सांप्रतं स्वपक्षमुप—
दिदर्शयिषुरुपसंहरन्नाह–

बहुविण्णाणप्पभवो, जुगवमणेगत्थयाऽहवेगस्स ।
विण्णाणा वत्था वा, पडुच्च वित्तीविघाओ वा ॥१६७८॥
विण्णाणखणविणासे, दोसा इच्चादयो पसज्जंति ।
न उ ठियसंभूयच्चुय–विण्णाणमयम्मि जीवम्मि १६७९।

तदेवं विज्ञानस्य प्रतिक्षणं विनाशेऽभ्युपगम्यमाने इत्यादयो दोषाः प्रसजन्ति, के पुनस्ते दोषाः ? इत्याह–' बहुविण्णाणे' त्यादि इत्येवं संबन्धः । क्षणनश्वरविज्ञानवादिना भुवनत्र- यान्तर्वर्तिसर्वार्थग्रहणार्थं युगपदेव बहूनां ज्ञानानां प्रभव- उत्पादोऽभ्युपगन्तव्यः, तदाश्रयभूतश्च तद्दृष्टानामर्था- नामनुस्मर्ताऽवस्थित आत्माऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा—यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम् , क्षणिकाः सर्वे संस्काराः, ' निरा- त्मानः सर्वे भावाः' इत्यादि सर्वक्षणिकतादिविज्ञानं नोपप- द्येत, तदभ्युपगमे च स्वमतत्यागप्रसक्तिः । अथवा—क्षणिकं विज्ञानमिच्छतैकस्यापि विज्ञानस्य युगपदनेकार्थता–स- र्वभवनान्तर्गतार्थग्राहिताऽभ्युपगन्तव्या, येन सर्वक्षणिकता- दिविज्ञानमुपपद्यत, न चैतदिष्यते, दृश्यते वा ' विण्णाणा- वत्था व ' त्ति, यदिवा–अवस्थानम्—अवस्था, विज्ञानस्या- वस्था विज्ञानावस्था ऽभ्युपगन्तव्या भवति । इदमुक्तं भव- ति–विज्ञानस्यानल्पकल्पाग्रशोऽवस्थानमेष्टव्यम् , येन तत्स- र्वदा समासीनमन्यान्यवस्तुविनश्वरतां वीक्षमाणां सर्वक्ष- णिकतामवगच्छेदिति सर्वं प्रागेवोक्तमेव । एवं चाभ्युपगमे विज्ञानसंज्ञामात्रविशिष्ट आत्मैवाभ्युपगतो भवति । अथै- तद्बहुविज्ञानप्रभावादिकं नेष्यते तर्हि प्रतीत्य वृत्तिविघातः प्राप्नोति , इदमत्र हृदयम्—कारणं प्रतीत्याश्रित्य कार्यस्य वृत्तिः–प्रवृत्तिरुत्पत्तिरिति यावत् , न पुनः कारणं का- र्यावस्थायां कथञ्चिदप्यन्वेति, इत्येवं सौगतैरभ्युपगम्यते । इत्थं चाभ्युपगम्यमानेऽतीतस्मरणादिसमस्तव्यवहारोच्छे- दप्रसङ्गः । एवं हि व्यवहारप्रवृत्तिः स्याद् , यद्यतीतानेकसं- केतादिज्ञानाश्रयस्तत्तद्विज्ञानरूपेण परिणामादन्वयी आत्मा- ऽभ्युपगम्यते । तथाऽभ्युपगमे च सति प्रतीत्य वृत्त्यभ्युपग- मविघातः स्यादिति । ननु यदि विज्ञानस्य क्षणविनाश ए- ते दोषाः प्रसजन्ति, तर्हि कामी दोषा न भवन्ति ?, इत्याह– 'न उ ठिये'त्यादि न त्वस्मदभ्युपगते जीवेऽभ्युपगम्यमान ए- ते दोषाः प्रसजन्ति । कथंभूते जीवे ? स्थितसंभूतच्युतवि- ज्ञानमये कथञ्चित् द्रव्यरूपतया स्थितम्, कथञ्चित्तूत्तरपर्याये- ण संभूतम् , कथञ्चित्पुनः पूर्वपर्यायेण च्युतं–विनष्टं यद् विज्ञानं तन्मय इत्यर्थः । तस्मादमुमेवोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीराद्यर्थान्तरभूतमस्मदभ्युपगतमात्मानं समस्तव्यवहारसिद्धये प्रतिपद्यस्वेति।

नन्वेवंभूतस्यात्मनः कथं भूतानि ज्ञानानि प्रवर्तन्ते, कस्माच्च हेतोस्तानि जायन्ते ? इत्याह—

तस्स विचित्तावरण–क्खओवसमजाइचित्तरूवाइं।
खणियाणि य कालंतर–वित्तिणियमइविहाणाइं॥१६८०॥

मतेर्मतिज्ञानस्य विधानानि—नानाभेदरूपाणि तस्य—यथोक्तरूपस्यात्मनः प्रवर्तन्ते। कथंभूतानि ? इत्याह-विचित्रो योऽसौ मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्ततो जातानि अत एव स्वकारणभूतक्षयोपशमवैचित्र्याद् विचित्ररूपाणि तथा-पर्यायरूपतया क्षणिकानि, द्रव्यरूपतया तु नित्यत्वात् कालान्तरवृत्तीनि। उपलक्षणं च मतिविधानानि, श्रुताऽवधिमनःपर्यायविधानान्यपि यथासंख्यं श्रुताऽवधिमनःपर्यायज्ञानावरणक्षयोपशमवैचित्र्याद् विचित्ररूपाणि यथासंभवं तस्य द्रष्टव्यानि। केवलं ज्ञानं त्वेकमेवाविकल्पं केवलज्ञानावरणक्षयादेव द्रष्टव्यमिति।

एतदेवाऽऽह—

निच्चो संताणो सिं, सव्वावरणपरिसंखए जं च।
केवलमुदियं केवल–भावेणाणंतमविगप्पं॥१६८१॥

'सिं' ति एतेषां च मतिज्ञानादिविधानानाम—विशेषितज्ञानमात्ररूपसन्तानो नित्योऽव्यवच्छिन्नरूपः, केवलज्ञानं त्वविकल्पं भेदरहितमुदितमाख्यातं भगवद्भिः। यतः सर्वस्यापि निजावरणस्य क्षय एव तदुपजायते। अतोऽविकल्पं केवलभावेनानन्तकालावस्थायित्वात्, अनन्तार्थविषयत्वाच्चानन्तमिति। विशे०। पुनर्वायुभूतिः संदिहानः—अनुपलब्धिविषयं प्रश्नं कृतवान् स च 'अणुवलद्धि' शब्दे प्रथमभागे ४११ पृष्ठे दर्शितः।) अतोऽस्य कर्मानुगतस्य संसारिणो जीवस्यामूर्तत्वाद् नभस इव, कार्मणस्य तु सौक्ष्म्यात् परमाणोरिव सतोऽनुपलब्धिः, नासतः। कथं पुनरेतज्ज्ञायते-नासत आत्मनोऽनुपलब्धिः, किन्तु-सतः ? इति चेत्। उच्यते—अनुमानैस्तत्सत्त्वस्य साधितत्वादिति।

वेदोक्तद्वारेणाऽपि देहव्यतिरिक्तमात्मानं साधयितुमाह-

देहाणण्णे व जिए, जमग्गिहोत्ताइ सग्गकामस्स।
वेयविहियं विहण्णइ, दाणाइफलं च लोयम्मि॥१६८४॥

शरीरमात्रे जीवे सति गौतम ! यत् स्वर्गकामस्य वेदविहितमग्निहोत्राद्यनुष्ठानं तद् विहन्यते. देहस्य वह्निनाऽत्रैव भस्मीकरणात्, जीवाभावे कस्यासौ स्वर्गो भवेत् ? इति भावः। दानादिफलं चानुभवितुरभावात् कस्य भवेत् ? इति। विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनश्चैष वायुभूतेर्जीवशरीरयोर्भेदाभेदविषयः संशयः।

अतो वेदपदार्थकथनद्वारेणापि तमपाकुर्वन्नाह—

विण्णाणघणाईणं, वेयपयाणं तमत्थमविदंतो।
देहाणण्णं मण्णसि, ताणं च पयाणमयमत्थो॥१६८५॥

विज्ञानघनाख्यः पुरुष एवायं भूतेभ्योऽर्थान्तरमित्यादिव्याख्या पूर्ववदेव। अत एव प्रागुक्तम्-शरीरमिदं परिस्थि-तो भूतसंघातोऽयं विद्यमानकर्तृकः, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात् घटवद्, यश्च तत्कर्ता स तदतिरिक्तो जीवः इति। भूतातिरिक्तात्मप्रतिपादकानि च वेदवाक्यानि तत्रापि प्रतीतान्येव। तद्यथा—"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो विशुद्धोऽयं पश्यन्ति धीरा यतयः संयतात्मानः" इत्यादि। तदेवं सर्वेषामपि वेदवाक्यानां भूतातिरिक्तस्य जीवस्य प्रतिपादकत्वाद् भूतेभ्योऽतिरिक्तं जीवं प्रतिपद्यस्वेति।

एवं भगवता संशयेऽपनीते सति वायुभूतिः किं कृतवान् ? इत्याह—

छिन्नम्मि संसयम्मि, जिणेण जरामरणविप्पमुक्केणं।
सो समणो पव्वइओ, पंचहिं सह खंडियसएहिं॥१६८६॥

व्याख्या पूर्ववत्। विशे०।

वाउय–व्यापृत–त्रि०। व्यापारवति,ज्ञा०१ श्रु० ८ अ०। औ०।

वाउरिय–वागुरिक–पुं०। वागुरा-मृगबन्धनं तया चरन्तीति वागुरिकाः। मृगव्याधे, अनु०। आ० म०। स्था०।

वाउल–वातूल–त्रि०। 'उर्ध्वे–हनूमत्कण्डूय–वातूले'॥ ८। १। १२१॥ इत्यूत उत्त्वम्। वाउलो। प्रा०। वातशब्दात् अस्त्यर्थे ऊलच्। वातरोगयुक्ते उन्मत्ते, समूहार्थे ऊलच्। वातसमूहे, पुं०। वाच०।

वाउलग्ग–व्याकुलाग्र–न०। सेवायाम्, "निच्चं वि य वाउलग्गं कुणंति "—'नित्यं वाउलग्गंति ' सेवां कुर्वन्ति विदधति। जीवा० २६ अधि०।

वाउलणा–व्याकुलना–स्त्री०। धर्मकथादिभिराचार्यस्य समयक्षेपे, व्य० ४ उ०।

वाउलिय–व्याकुलित–त्रि०। आकुलीभूते,वृ० ३ उ०। प्रश्न०।

वाउलियसलिला–व्याकुलितशलिला–स्त्री०। विलोलितजलायाम्, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

वाउली–वातोलि–स्त्री०। वात्यायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आचा०।

वाउल्ल–व्याकुल–त्रि०। "सेवादौ वा"॥ ८। २। ६६॥ इति वा लस्य द्वित्वम्। प्रा०। असमञ्जसे, भ० ७ श० ६ उ०। क्षुब्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

वातूल–त्रि०। वातरोगयुक्ते, 'वाउल्लो जम्बुल्लो मुहुलो बहुजंपिरो य वायालो।' पाइ० ना० ६६ गाथा।

वाउल्लिया–व्याकुलिका–स्त्री०। रूपके, अनु०।

वाउसत्थ–वायुशस्त्र–न०। वायव्ये शस्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० २ उ०।

वाउसिय–वाकुश्य–न०। बकुशत्वे, कश्मलचारित्रत्वे ग्लानत्वादिकारणं विनाऽपि हस्तपादादिक्षालनशीलत्वे, जीत०।

वाकुशिक–पुं०। विभूषणशीले, औ०।

वाओस–व्याक्रोश–त्रि०। उद्बुद्धे, विशे०।

वाक्कवासि(ण्)–वल्कवासिन्–पुं०। वल्कवाससि वानप्रस्थे, औ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाकहण-व्याकथन-न०। धर्मकथायाम्, आ० म० १ अ०।

वाग-वल्क-पुं०। शणादिवृक्षत्वचि, बृ० १ उ०।

वागजोगजुत्त-वाग्योगयुक्त-त्रि०। प्राणवायुना सर्वक्रियासु प्रवर्तिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

वागड-व्याकृत-त्रि०। लोकप्रतीतशब्दार्थे, संथा०।

व्यापृत-त्रि०। व्यापारसक्ते, वहमानके, बृ० ३ उ०।

वागपणिहि-वाक्प्रणिधि-पुं०। वाग्नियमे, दश०५ अ०२उ०।

वागमई-वल्कमयी-स्त्री०। वल्केषु कृतायाम्, वल्कमयेन वस्त्रेण दोरकेण वल्कलेन कृतायां चिलिमिलियाम्, नि० चू० १ उ०।

वागय-वल्कज-न०। वल्कनिष्पन्ने अतसीशणदुकूलादौ, पं० चू० १ कल्प।

वागरण-व्याकरण-न०। व्याक्रिते प्रश्नान्तरमुत्तरतयाऽभिधीयते निर्णायकत्वेन यत्तत्तथा। स०। परप्रश्निताथोत्तररूपे (औ०) निर्वचने, स्था० १ ठा० ३ उ०। आ० म०। भ०। ज्ञा०। उपा०। नं०। पृष्टाऽपृष्टार्थकथने, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। षा०। यथाऽवस्थितार्थप्रज्ञापने, आचा० १ श्रु० ५ अ०६ उ०। उपदेशे,आचा०१श्रु०१अ०१उ०।(पाणिनीयव्याकरणे एव नाग्रह इति 'पाणिणि' शब्दे पञ्चमभागे ८४६ पृष्ठे उक्तम्,) (यथा समवसरणेऽनेकेषां प्रश्नानां युगपदुत्तरं भगवान् ददाति तथोपरिष्टात्'समोसरण' शब्दे वक्ष्यते) व्याक्रियन्ते लौकिकाः वैदिकाः सामयिकाश्च शब्दा अनेनेति व्याकरणम्,। शब्दशास्त्रे, तच्च प्रथममृषभदेवेन शक्रेन्द्रं प्रति कथितमिति ऐन्द्रं व्याकरणं जातम्। आ० म०१ अ०। प्रश्न०। व्याकरणानि च विंशतिः-ऐन्द्र १ जैनेन्द्र २ सिद्धहेमचन्द्र ३ चान्द्र ४ पाणिनीय ५ सारस्वत ६ शाकटायन ७ वामन ८ विश्रान्त ६ बुद्धिसागर १० सरस्वतीकण्ठाभरण ११ विद्याधर १२ कलापक १३ भीमसेन १४ शैव १५ गौड १६ नन्दि १७ जयोत्पल १८ मुष्टिव्याकरण १६ जयदेवाभिधानानि २०। कल्प०१ अधि० १ क्षण। आ० चू०। आव०। आ० म०। औ०। नि०। अष्टौ ऐन्द्रादीनि व्याकरणानि न केवलं पाणिनीये एवाग्रहः कार्यः। आव० २ अ०। व्याकरणं संस्कृतशब्दव्याकरणं प्राकृतशब्दव्याकरणं प्रश्नव्याकरणं च। नं०। अन्यच्च ये केचन अबुद्धा धर्मे प्रत्यविज्ञातपरमार्था व्याकरणशुष्कतर्कादिपरिज्ञानेन जातावलेपाः पण्डितमानिनोऽपि परमार्थवस्तुतत्त्वानवबोधादबुद्धा इत्युक्तम्, न च व्याकरणपरिज्ञानमात्रेण सम्यक्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वावबोधो भवतीति, तथा चोक्तम्-"शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि, नैवाबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम्। नानाप्रकाररसभावगताऽपि दर्वी, स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति॥ १॥" सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। प्रश्ने सति निर्वचनतापादमाने पदार्थे, "समणे णं भगवं महावीरे एगदिवसेणं एगनिसिज्जाए चउवन्नाइं वागरणाइं वागरित्था" 'वागरित्थ' त्ति व्याकृतवान्। तानि चाप्रतीतानि। स० ५४ सम०।

वागरणी-व्याकरणी-स्त्री०। प्रतिपादिकायाम्, स्था० ४ ठा० १ उ०।

वागरमाण-व्यागृणत्-त्रि०। व्याकुर्वति, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

वागरित्ता-व्याकृत्य-अव्य०। प्रतिपाद्येत्यर्थे 'स० ५५ सम०।

वागलवत्थनिवसिय-वल्कलवस्त्रनिवसित-त्रि०। वल्कलं वल्कलस्तस्येदं वाल्कलं; तद् वस्त्रं निवसितं येन स वाल्कलवस्त्रनिवसितः। परिहितवाल्कलवस्त्रे, भ० ११ श० ६ उ०।

वागुरा-वागुरा-स्त्री०। मृगबन्धने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। प्रति०। मृगबन्धपाशे, प्रति०। अनु०। उपानद्विशेषे, यया पादयोरङ्गुलीश्छादयित्वा उपर्यपि छादयति। बृ० ३ उ०।

वागुरिय-वागुरिक-पुं०। वागुरया-मृगादिबन्धनरज्ज्वा चरति वागुरिकः। प्रति०। लुब्धके, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। स्था०। प्रश्न०। मृगघातके, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

वाघाइम-व्याघातिम-न०। व्याहननं व्याघातः—पर्वतादिस्खलनम्, तेन निर्वृत्तं व्याघातिमम्। "भावादिमः" ॥ ६। ४। २१॥ इतीमप्रत्ययः। चं०प्र०१८ पाहु०। पर्वतादिकारणिके,सू० प्र० १८ पाहु०। सिंहव्याघ्रादिकृते मरणभेदे, "वाघाइयमाएसो, अवरद्धो होज्ज अन्नतरगंतो। सलिमहिंसीयए हओ, एयं वाघाइयं मरणं" आचा० १ श्रु० ८ अ०।

वाघाय-व्याघात-पुं०। व्याहननं व्याघातः। स्खलने, सू० प्र० १७ पाहु०। चं० प्र०। पञ्चा०। विलोपे, व्य० १० उ०। संहारणे, नं०। विनाशे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। परिमन्थे, बृ० ४ उ०। प्रज्ञापनाद्वितीयपदे बादराग्नेरधिकारे-'वाघायं पडुच्च पञ्चसु महाविदेहेसु' एतत्पदव्याख्याने व्याघातो नामातिस्निग्धोऽतिरूक्षो वा कालः, तस्मिन्सति अग्निव्यवच्छेदात्, ततो यदा पञ्चसु भरतेषु पञ्चस्वैरवतेषु सुषमसुषमा सुषमदुःषमा वर्त्तते तदाऽतिस्निग्धः कालो दुष्षमदुष्षमायां चातिरूक्ष इत्यग्निव्यवच्छेद इत्युक्तमस्ति, अत्र च प्रथमारके तृतीयारके च बादराग्निनिषेधो भणितो न द्वितीयारके, तेन द्वितीयारकेऽग्निर्भवति न वा ?, किञ्च सुषमदुष्मायामत्राग्निनिषेधः प्रोक्तः, 'अगणिस्स य उट्ठाणं' इत्यादिना चाग्निसंभवः प्रोचे, तदेतत्कथं सङ्गच्छते ?, किञ्च-उत्सर्पिण्यां द्वितीयारके कियति गते बादराऽग्निरुत्पस्यते ?, कियति गते च तस्मिन् नीतिप्रवृत्तिस्तत्प्रवर्त्तकश्च को भविष्यतीति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-प्रज्ञापनेत्यत्र प्रज्ञापनापुस्तकपाठानुसारेण प्रथमद्वितीयतृतीयारकेषु कालस्यातिस्निग्धता प्रोक्ताऽस्तीति का शङ्का ?, तथा तृतीयारकेऽतिस्निग्धातायामुक्तायामपि तत्प्रान्ते 'अगणिस्स य उट्ठाणं' इत्यादि भणनं तु अल्पस्या विवक्षणान्न बाधाविधायि, तथोत्सर्पिण्या द्वितीयारकस्यादौ पुष्करसंवर्त्तादिपञ्चमेघवर्षणे बादरवनस्पतिप्रादुर्भवने बिलनिर्गतमनुष्यैर्मांसादिनिवृत्तिरूपा नीतिर्विहिता ग्रामादिनिवेशाश्चाग्निग्रहणादग्न्यादिसम्भवे पाकादिनिवर्त्तनं च प्रागजातजातिस्मरणात्प्रथमकुलकराद्विमलवाहनाद् द्वितीयारक-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्य प्रान्ते प्रवृत्तमिति हैमवीरचरित्रे प्रोक्तमस्ति ॥ २६२ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

वाघायरूव–व्याघातरूप–त्रि० । परिक्षयस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

वाघारियपाणि–व्याघारितपाणि–त्रि० । लम्बितभुजे, अवलम्बितबाहौ, प्रव० ६७ द्वार ।

वाघुण्णिय–व्याघूर्णित–त्रि० । चञ्चले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

वाघेल–व्याघ्र–पुं० । विक्रमवत्सराणामष्टमनवमशतकेषु जाते क्षत्रियजातिविशेषे, " अणहिल्लपट्टनगरे भीमदेवानन्तरं वाघेला अत्तए लूणप्पसायवीरधवलवीसलदेवसारंगदेवकण्हदेवा नरिंदा संजाया, ततो अल्लाबुद्दीणसुरत्ताणाण आणा पयट्टा " ती० २५ कल्प ।

वाड–वाट–न० । वृत्त्यादिपरिक्षिप्तगृहसमूहे, उत्त० ३४ अ० । कण्टकवाटिकायाम्, उत्त० २२ अ० । आचा० । प्रश्न० । पाटकेति संज्ञाप्रसिद्धे, नि० चू० ३ उ० ।

वाडधाणग–वाटधानक–न० । स्वनामख्याते लघुनगरे, "दधिवाहनपुत्रेण, राज्ञा च करकण्डुना । वाटधानकवास्तव्या-श्चाण्डाला ब्राह्मणीकृताः ॥१॥" इति तत्रत्याश्चाण्डालाः करकण्डुना ब्राह्मणीकृताः । आ० क० ४ अ० ।

वाढ–वाढ–न० । अत्यर्थे, 'वाढन्ति भाणिऊणं' वाढमित्यभिधायात्यर्थं करोम्यादेशं शिरसि स्वाम्यादेशमित्युक्त्वा । आ० म० १ अ० । उत्त० ।

वाढंकार–वाढंकार–पुं० । एतन्नान्यथेति कथने, विशे० । नं० । आ० म० ।

वाण–वाण–पुं० । वण्-घञ् । मार्गणे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार । शरे, गवां स्तने, दैत्यभेदे, केवले, वह्निकाण्डावयवे, भद्रमुञ्जे राशि, कादम्बरीग्रन्थकारके कविभेदे च नीलझिण्टयाम् । स्त्री० । वाच० । आचा० । " अयसिकुसुमेइ वा वाणकुसुमेइ वा " प्रज्ञा० १० पद ४ उ० ।

वान–त्रि० । वनेषु भवे, स० ८०० सम० । भ० । आव० ।

वाणपत्थ–वानप्रस्थ–पुं० । वनेऽटव्यां प्रस्था—प्रस्थानमवस्थानं वा वनप्रस्था । साऽस्ति येषाम्, तस्यां वा भवा वानप्रस्थाः । वने भवा वाना प्रस्था वा स्थितिः । वाना प्रस्था येषां ते वानप्रस्थाः । वनतापसेषु, लोकप्रसिद्धतृतीयाश्रमवर्तिषु, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । " वानप्पत्थ त्ति " वने-अटव्या प्रस्था—प्रस्थानं गमनमवस्थानं वा वनप्रस्था सा अस्ति येषां तस्यां वा भवा वानप्रस्थाः । 'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथा' इत्येवंभूततृतीयाश्रमवर्तिनः 'होत्तिय'त्ति अग्निहोत्रिकाः 'पोत्तियं' ति वस्त्रधारिणः 'कोत्तिय'त्ति भूमिशायिनः 'जन्नुइ' त्ति यज्ञयाजिनः 'सड्ढइ' त्ति श्राद्धाः 'थालइ' त्ति गृहीतभाण्डाः 'हुंबउट्ठ'त्ति कुण्डिकाश्रमणाः 'दन्तुक्खलिय'त्ति फलभोजिनः 'उम्मज्जक' त्ति उन्मज्जनमात्रेण ये स्नान्ति । 'संमज्जग'त्ति यन्मज्जनस्यैवासकृत्करणेन ये स्नान्ति 'निमज्जक' त्ति स्नानार्थं निमग्ना एव ये क्षणं तिष्ठन्ति 'संपक्खल' त्ति मृत्तिकादिघर्षणपूर्वकं येऽङ्गं क्षालयन्ति ' दक्खिणकूलग ' त्ति यैर्गङ्गाया दक्षिणकूल एव वस्तव्यम्, ' उत्तरकूलग ' त्ति उक्तविपरीताः 'संखधमग ' त्ति ' शंखं ' धमात्वा ये ' जमं ' ति यद्यन्यः कोऽपि नाऽऽगच्छतीति ' कूलधम्मग ' त्ति ये कूले स्थित्वा शब्दं कृत्वा भुञ्जते ' मियलुद्धय ' त्ति प्रतीता एव ' हत्थितावस ' त्ति ये हस्तिनं मारयित्वा तेनैव बहुकालं भोजनतो यापयन्ति ' उड्डंडग ' त्ति ऊर्द्धीकृतदण्डा ये सञ्चरन्ति ' दिसापेक्खिणो ' त्ति उदकेन दिशः प्रोक्ष्य ये फलपुष्पादिसमुच्चिन्वन्ति 'वाकवासिणो' त्ति वल्कलवाससः 'चेलवासिणो'त्ति व्यक्तम्, पाठान्तरे-'पेलवासिणो'त्ति समुद्रवेलासन्निधिवासिनः 'जलवासिणो' त्ति ये जलनिमग्ना एवासते शेषाः प्रतीताः नवरं ' जलाभिसेयकढिणगाया ' इति ये अस्नात्वा न भुञ्जते स्नानाद्वा पाण्डुरीभूतगात्रा इति वृद्धाः । (पाठान्तरे)- जलाभिषेककठिनं गात्रं भूताः प्राप्ता ये ते तथा ' इंगालसोल्लियं ' ति अङ्गारैरिव पक्वम् ' कंडुसोल्लियं ' ति कन्दुपक्वमिवेति ' पलिओवमवाससयसहस्समब्भहियं ' ति मकारस्य प्राकृतप्रभवत्वाद्वर्षशतसहस्राभ्यधिकमित्यर्थः । अथवा-पल्योपमं वर्षशतसहस्रमभ्यधिकं च पल्योपमादित्येवं गमनिकः । ' पव्वइया समणा ' त्ति निर्ग्रन्था इत्यर्थः ' कंदप्पिय ' त्ति कन्दर्पिकाः नानाविधहासकारिणः ' कुकुइय ' त्ति कुकुचेन कुत्सितावस्पन्देन चरन्तीति कौकुचिकाः, ये हि भ्रूनयनवदनकरचरणादिभिर्भाण्डा इव तथा चेष्टन्ते यथा स्वयमहसन्त एव परान् हासयन्तीति ' मोहरिय ' त्ति मुखरा नानाविधा असम्बन्धाभिधायिनस्त एव मौखरिकाः ' गीयरइपिय ' त्ति गीतिन या रती रमणं क्रीडा सा प्रिया येषां गीतरतयो वा लोकाः प्रिया येषां ते तथा–' सामण्णपरियाग ' त्ति श्रामण्यपर्यायं; साधुत्वमित्यर्थः । ' पाउणंति ' त्ति प्रापयन्ति; पूरयन्तीत्यर्थः ॥११॥ औ० ।

वाणमंतर–व्यन्तर–पुं० । देवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । अन्तरं नाम-अवकाशः, तच्चेहाश्रयरूपं द्रष्टव्यम्, विविधं भवननगरावासरूपमन्तरं येषां ते व्यन्तराः । तत्र भवनानि रत्नप्रभायाः प्रथमे रत्नकाण्डे उपर्यधश्च प्रत्येकं योजनशतमपहाय शेषेऽष्टयोजनशतप्रमाणे मध्यभागे भवन्ति, नगराण्यपि तिर्यग्लोके । तत्र तिर्यग्लोके यथा-जम्बूद्वीपद्वाराधिपतेर्विजयदेवस्यान्यस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वादशयोजनसहस्रप्रमाणा नगरी, आवासाः त्रिष्वपि लोकेषु तत्र ऊर्ध्वलोके पण्डकवनादाविति, अथवा-विगतमन्तरं मनुष्येभ्यो येषां ते व्यन्तराः, तथाहि—मनुष्यानपि चक्रवर्तिवासुदेवप्रभृतीन् भृत्यवदुपचरन्ति केचिद्व्यन्तरा इति मनुष्येभ्यो विगतान्तराः, यदि वा-विविधमन्तरं शैलान्तरं कन्दरान्तरं वनान्तरं वा आश्रयरूपं येषां ते व्यन्तराः, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे वाणमन्तरा इति पाठः । यद्वि वानमन्तरा इति पदसंस्कारः; तत्रेयं व्युत्पत्तिः—वनानामन्तराणि वनान्तराणि तेषु भवा वानमन्तराः । पृषोदरादित्वादुभयपदपदान्तरालवर्तिमकारागमः । प्रज्ञा० १ पद ।

जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इओ चुए पेच्चा देवे सिया ?, गोयमा ! अत्थेगइए देवे सिया अत्थेगइए नो देवे सिया । से केणऽट्ठेणं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

०जाव इत्रो चुए पेच्चा अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया ?, गोयमा ! जे इमे जीवा गामाऽऽगरनगरनिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसन्निवेसेसु अकामतराहाए अकामछुहाए अकामबंभचेरवासेणं अकामसीतातवदंसमसगअरहाणगसेयजल्लमलपंकपरिदाहेणं अप्पतरं वा भुज्जतरं वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति अप्पाणं परिकिलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु वाणमंतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। केरिसाणं भंते ! तेसिं वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा पण्णत्ता ?, गोयमा। से जहानामए इहं मणुस्सलोगम्मि असोगवणेइ वा सत्तवण्णवणेइ वा चंपयवणेइ वा चूयवणेइ वा तिलगवणेइ वा लाउयवणेइ वा निग्गोहवणेइ वा छत्तोववणेइ वा असणवणेइ वा सणवणेइ वा अयसिवणेइ वा कुसुंभवणेइ वा सिद्धत्थवणेइ वा बंधुजीवगवणेइ वा णिच्चं कुसुमियमाइयलवइयथवइयगुलइयगोच्छियजमलियजुवलियविणमियपणमियसुविभत्तपिंडिमंजरिवडेंसगधरे सिरीए अतीव २ उवसोभेमाणे २ चिट्ठइ,एवामेव तेसिं वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएहिं उक्कोसेणं पलिओवमट्ठितीएहिं बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं तद्देवीहि य आइण्णा वितिकिण्णा उवत्थडा संथडा फुडा अवगाढगाढसिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा चिट्ठंति, एरिसगाणं गोयमा ! तेसिं वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा पण्णत्ता, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जीवे णं असंजए ०जाव देवे सिया ! सेवं भंते ! भंते ! त्ति, भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति। (सू० १६)।

'जीवे ण' मित्यादि व्यक्तं, नवरम् 'असंजए' त्ति असाधुः संयमरहितो वा, 'अविरए, त्ति प्राणातिपातादिविरतिरहितः विशेषेण वा तपसि रतो यो न भवति सोऽविरतः, 'अप्पडिहए' त्यादि, प्रतिहतं—निराकृतमतीतकालकृतं निन्दादिकरणेन प्रत्याख्यातं च वर्जितमनागतकालविषयं पापकर्म—प्राणातिपातादि येन स प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा तन्निषेधादप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, अनेनातीतानागतपापकर्मनिषेध उक्तः। असंयतोऽविरतश्चेत्यनेन वर्तमानपापासंवरणमभिहितम्, अथवा—(न) नैव प्रतिहतं, तपोविधानेन मरणकालाद् आरात्क्षपितं प्रत्याख्यातं च मरणकालेऽप्याश्रवनिरोधेन पापकर्म येन स तथा; अथवा-(न) नैव प्रतिहतं—सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तितः प्रत्याख्यातं च सर्वविरत्यङ्गीकरणतः पापकर्म—ज्ञानावरणाद्यशुभं कर्म येन स तथा, 'इओ' त्ति इतः-प्रज्ञापकप्रत्यक्षात्तिर्यग्भवान्मनुष्यभवाद्वा च्युतो-मृतः 'पेच्च' त्ति जन्मान्तरे देवः स्यात् ? इति प्रश्नः, 'जे इमे जीवे' त्ति ये इमे प्रत्यक्षासन्नाः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्या वा 'गामे' त्यादि ग्रामादिष्वधिकरणभूतेषु, तत्र ग्रामो—जनपदप्रायजनाश्रितः स्थानविशेषः 'आकरो-लोहाद्युत्पत्तिस्थानं नकरं-कररहितं निगमो-वणिग्जनप्रधानं स्थानं राजधानी-यत्र राजा स्वयं वसति खेटं-धूलिप्राकारं कर्बटं-कुनगरं मडम्बं-सर्वतो दूरवर्तिसन्निवेशान्तरं द्रोणमुखं-जलपथस्थलपथोपेतं पत्तनं-विविधदेशागतपण्यस्थानं, तच्च द्विधा जलपत्तनं स्थलपत्तनं चेति, रत्नभूमिरित्यन्ये, आश्रमं तापसादिस्थानं सन्निवेशो-घोषादिः, एषां द्वन्द्वस्ततस्तेषु, अथवा—ग्रामादयो ये सन्निवेशास्ते तथा तेषु 'अकामतण्हाए' त्ति अकामानां—निर्जराद्यनभिलाषिणां सतां तृष्णा-तृड् अकामतृष्णा तया, एवमकामक्षुधा, 'अकामबंभचेरवासेणं' ति अकामानां निर्जराद्यनभिलाषिणां सताम् अकामो निरभिप्रायो ब्रह्मचर्येण स्त्र्यादिपरिभोगाभावमात्रलक्षणेन वासो-रात्रौ शयनमकामब्रह्मचर्यवासः अतस्तेन, 'अकामअण्हाणगसेयजल्लमलपंकपरिदाहेणं' ति अकामा येऽस्नानकादयस्तेभ्यो यः परिदाहः स तथा तेन, तत्र स्वेदः—प्रस्वेदः याति च लगति चेति जल्लो-रजोमात्रं मलः—कठिनीभूतं रज एव 'पङ्को—मल एव स्वेदेनार्द्रीभूत इति, 'अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं' ति प्राकृतत्वेन विभक्तिविपरिणामादल्पतरं वा भूयस्तरं वा बहुतरं कालं यावत् वाशब्दौ देवत्वं प्रत्यल्पेतरकालयोः समताऽभिधानार्थौ, केवलं देवत्वे सामान्यतः सत्यपि अल्पतरकालमकामनिर्जरावतामविशिष्टं तत्स्याद् इतरेषां तु विशिष्टमिति, 'अप्पाणं परिकिलेसंति' त्ति विबाधयन्ति, 'कालमासे' त्ति कालो—मरणं तस्य मासः—प्रक्रमादवसरः कालमासस्तत्र 'कालं किच्च' त्ति मृत्वा 'वाणमंतरेसु' त्ति वनान्तरेषु—वनविशेषेषु भवा अवर्णागमकरणाद् वानमन्तराः, अन्ये त्वाहुः-वनेषु भवा वानास्ते च ते व्यन्तराश्चेति वानव्यन्तरास्तेषामेते वानमन्तरा वानव्यन्तरा वाऽतस्तेषु देवलोकेषु—देवाश्रयेषु 'देवत्ताए उववत्तारो भवंति' त्ति ये इमे इत्यत्र यच्छब्दोपादानात्ते देवतयोपपत्तारो भवन्तीति द्रष्टव्यम्। 'तेसिं' ति ये देवलोकेष्वकामनिर्जरावन्तो देवतयोत्पद्यन्ते तेषामिति 'से जहानामए' त्ति 'से' त्ति अथ 'यथा—येन प्रकारेण नामेति संभावने, वाक्यालङ्कारे वा 'ए' इत्यामन्त्रणार्थोऽलङ्कारार्थ एव 'इहं' ति इह मर्त्यलोके 'असोगवणेइ व' त्ति अशोकवनम्, इतिशब्द उपप्रदर्शने, अनुस्वारलोपः सन्धिश्च प्राकृतत्वात्, 'वा' इति विकल्पार्थः, अथवा—'असोगवणे' इत्यत्र प्रथमैकवचनकृत एकारः, इवशब्दस्तु वाक्यालङ्कारे, अशोकादयस्तु प्रसिद्धा एव नवरं 'सत्तवन्न' त्ति सप्तपर्णः-सप्तच्छद इत्यर्थः, कुसुमिय' त्ति संजातकुसुमं 'माइय' त्ति मयूरितं-संजातपुष्पविशेषमित्यर्थः, 'लवइय' त्ति लवकितं—संजातपल्लवलवमङ्कुरवदित्यर्थः। 'थवइय' त्ति स्तबकितं संजातपुष्पस्तबकमित्यर्थः, 'गुलइय' त्ति सञ्जातगुल्मकं, गुल्मं च लतासमूहः 'गुच्छिय' त्ति संजातगुच्छम्, गुच्छश्च पत्रसमूहः, यद्यपि च स्तबकगुच्छयोरविशेषो ना-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मकोशेऽधीतस्तथापीह पुष्पपत्रकृतो विशेषो भावनीयः। 'जमलिय' त्ति यमलतया—समश्रेणितया तत्तरूणां व्यवस्थितत्वात् सञ्जातयमलत्वेन यमलितम् 'जुवलिय' त्ति युगलतया तत्तरूणां सञ्जातत्वेन युगलितम्। 'विणमिय' त्ति विशेषेण-पुष्पफलभरेण नमितमिति कृत्वा विनमितम्। 'पणमिय' त्ति तेनैव नमयितुमारब्धत्वात्, प्रणमितं प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वादिति' तथा सुविभक्ताः अतिविभक्ताः सुनिष्पन्नतया पिण्ड्यो-लुम्ब्यो मञ्जर्यश्च प्रतीताः ता एवावतंसकाः-शेखरकास्तान् धारयति यत्तत्सुविभक्तपिण्डीमञ्जर्यवतंसकधरम्, ततः कुसुमितादीनां कर्मधारय इति। 'सिरीए' त्ति। श्रिया—वनलक्ष्म्या 'उवसोभमाणे २' त्ति, इह द्विर्वचनम् आभीक्ष्ण्ये-भृशत्वे इत्यर्थः। 'आइण्ण' त्ति कचित्प्रदेशे देवानां देवीनां च वृन्दैरात्मीयात्मीया वा समर्यादातुलङ्घनेन व्याप्ता, आङ्शब्दोऽत्र मर्यादावृत्तिः, तथा क्वचित्तु-'विइण्ण' त्ति, तैरेव वृन्दैर्निजावाससीमोल्लङ्घनेन व्याप्ताः, विशब्दो विशेषवाची, 'उवत्थड' त्ति उपस्तीर्णा उपशब्दः सामीप्यार्थः स्तृञ् चाच्छादनार्थः, ततश्चोत्पतद्भिर्निपतद्भिश्चानवरतक्रीडासक्तैरुपर्युपरिच्छादिताः, 'संथड' त्ति संस्तीर्णाः संशब्दः परस्परसंश्लेषार्थः, ततश्च क्वचित्तैरेव क्रीडमानैरन्योन्यस्पर्द्धया समन्ततश्चलद्भिराच्छादिता इति, 'फुड' त्ति स्पृष्टा आसनशयनरमणपरिभोगद्वारेण परिभुक्ताः, स्फुटा वा सप्रकाशा व्यन्तरसुरनिकरकिरणविसरनिराकृतान्धकारतया। 'अवगाढगाढ' त्ति। गाढं—बाढमवगाढास्तैरेव सकलक्रीडास्थानपरिभोगनिहितमनोभिरधोऽपि व्याप्ताः, गाढावगाढा इति वाच्ये प्राकृतत्वादवगाढगाढाः, इह च देवत्वयोग्यस्य जीवस्याभिधानेन तदयोग्यः सामर्थ्यादवसीयत एवेति। 'अत्थेगइए नो देवे सिए' इत्येतस्यादावुक्तस्य पक्षस्य निर्वचनं कृतं द्रष्टव्यमिति, अथोद्देशकनिगमनार्थमाह—'सेवं भंते ! भंते' त्ति यन्मया पृष्टं तद्भगवद्भिः प्रतिपादितं तदेवमित्थमेव भदन्त ! नान्यथा, अनेन भगवद्वचने बहुमानं दर्शयति। द्विर्वचनं चेह भक्तिसंभ्रमकृतमिति। एवं कृत्वा भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति चेति। भ० १ श० १ उ०। पञ्चा०। चं० प्र०। उत्त०।

अथ व्यन्तरभेदानां नामान्याह—

पिसाय १ भूया २ जक्खा य ३, रक्खसा ४ किन्नरा य ५ किंपुरिसा ६। महोरगा य ७ गन्धव्वा ८, अट्ठहा वाणमन्तरा ॥ २०८ ॥

व्यन्तरा अष्टविधाः पिशाचा१भूता२यक्षाश्च३ पुना राक्षसाः ४ किन्नराश्च ५ किंपुरुषाः ६ महोरगाः ७ गन्धर्वाः ८ एवमष्टप्रकारा व्यन्तरा ज्ञेयाः। उत्त० ३६ अ०।

व्यन्तराणां स्थानान्याह—

केवइया णं भंते ! वाणमंतराऽऽवासा पण्णत्ता ?, गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरिं एगं जोयणसयं ओगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसयं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु एत्थ णं वाणमंतराणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा भोमेज्जा नगरावाससयसहस्सा पण्णत्ता, ते णं भोमेज्जा नगरा बाहिं वट्टा अंतो चउरंसा एवं जहा-भवणवासीणं तहेव णेयव्वा, णवरं पडागमालाउला सुरम्मा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। (सू-१५०×) स०। वाणमंतराणं भंते ! सव्वे समाहारा एवं जहा सोलसमसए दीवकुमारुद्देसए० जाव अप्पिड्ढिय त्ति सेवं भंते ! भंते ! त्ति। (सू०-६६१) भ० १६ श० १० उ०।

वाणमंतरी-वाणव्यन्तरी-स्त्री०। व्यन्तरदेवस्त्रियाम्, जी०।

से किं तं वाणमंतरदेवित्थियाओ ? वाणमंतरदेवित्थियाओ अट्ठविधाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-पिसायवाणमंतरदेवित्थियाओ० जाव सेत्तं वाणमंतरदेवित्थियाओ। (सू०-४५) जी० २ प्रति०।

वाणर-वानर-पुं०। मर्कटे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। आ० चू०। अनु०। प्रव०। पाइ० ना०। "सो वाणरजूहवई कंतारे सुविहियाणुकंपाए" आव० ४ अ०। आ० क०।

वाणह-उपानह्-स्त्री०। मोचके, पादत्राणे, ध० २ अधि०।

वाणारसी-वाराणसी-स्त्री०। "करेणु-वाराणस्यो रणोर्व्यत्ययः" ॥ ८। २। ११६। इति रस्थाने णः। प्रा०। काशीजनपदराजधान्याम्, स्था० १० ठा० ३ उ०। सूत्र०। ज्ञा०। आव०। प्रज्ञा०। अन्त०। प्रव०। विपा०। ती०।

"नत्वा तत्त्वाख्यायिनं श्रीसुपार्श्वं, श्रीपार्श्वं च ध्वंसिताशेषविघ्नम्। वाराणस्यास्तीर्थरत्नस्य कल्पं, जल्पामस्सत्कल्पनापोढकल्पम् ॥ १ ॥" अस्त्यत्रैव दक्षिणे भरतार्द्धे मध्यमखण्डे काशीजनपदालंकृतिरुत्तरवाहिन्या त्रिदशवाहिन्याऽलंकृतघनकनकरत्नसमृद्धा वाराणसी नाम नगरी, गरीयसामद्भुतानां निधानम्। वारणा नाम्नी सरित् असिनाम्नी च। द्वे अपि सरितावस्यां गङ्गामनुप्रविष्टे इति वाराणसीति तदुक्तं नामास्याः प्रसिद्धम्, अस्यां सप्तमो जिनसत्तमः श्रीमान्सुपार्श्वः ऐक्ष्वाकुप्रतिष्ठमहीपतिमहिष्याः पृथ्वीदेव्याः कुक्षावववतीर्य जन्मसुपादितत्रिभुवनजनवादितयशःपटहः स्वस्तिकलाञ्छितद्विशतधनुरुच्छ्रायः काञ्चनच्छायकायः क्रमेण प्राज्यराज्यश्रियमनुभूय भूयः सांवत्सरिकं दानं प्रदाय सहस्राऽऽम्रवणे दीक्षां च कक्षीकृत्य विहृत्य छद्मस्थावस्थया नवमासीं केवलममलमासाद्य संमेतगिरिमेत्य निर्वृतः। त्रयोविंशश्च जिनेशः श्रीपार्श्वनाथ ऐक्ष्वाकाश्वसेनसूनुर्वामाकुक्षिसंभवः पन्नगलक्ष्मा नवकरोच्छ्रायो नीलच्छविपुस्तारान्तजन्माऽऽश्रमपदोद्याने कौमार एवोपात्तचारित्रभावः केवलमुत्पाद्य तस्मिन्नेव शैलेशीमवाप्य सिद्धः, अस्यामेव कुमारकाले भगवानेष एव मणिकर्णिकायां पञ्चाग्नितपस्तप्यमानात्कमठऋषेरायतिभाविनीं विपदमात्मनो विदितवानप्यन्तर्दारुणज्वलनज्वालाभिरर्द्धदग्धदन्दशूकं जनन्या जनानां च संदर्श्य कुपथमथनमकार्षीत्। अस्यां काश्यपगोत्रौ चतुर्वेदौ षट्कर्मकर्मठौ समृद्धौ यमलभ्रातरौ जयघोषविजयघोषाभिधानौ द्विजवरावभूताम्, एकदा जयः स्नातुं गङ्गामगात्, तत्र प्रदाकुना ग्रस्यमानं भेकमेकमालोक्य तत्सर्पं च कुललेनोत्क्षिप्य भूमौ पातित-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भद्राक्षीत् । सर्प्पमाक्रम्य स्थितं कुललं तमेव चण्डग्रासैः खादन्तं सर्पं च कुललवशगतमपि विकुर्वाणमण्डूकभक्षणं वीक्ष्य प्रतिबुद्धः प्रव्रज्याक्रमादेकरात्रिकीं प्रतिमां प्रपद्य विहरन् पुनरिमां नगरीमगात् । मासक्षपणपारणके यज्ञपाटकं प्रविष्टस्तत्र विप्रैर्भक्ष्यमादित्सुभिः प्रतिषिद्धस्ततः श्रुत्वाऽभिहितचर्य्यामुपदिश्य भ्रातरं विप्रांश्च प्रत्यबूबुधद् विरक्तो विजयघोषः प्राव्राजीद् द्वावपि मोक्षं प्रापतुः । ती० । (नन्दाभिधाननाविकवृत्तम्‘णंद’शब्दे चतुर्थभागे १७४८पृष्ठे गतम् ।) अस्यां संवाहननरपतिः सातिरेककन्यासहस्रैः सन्नपि परनृपतिपृतनावेष्टितायां पुरि राज्यलक्ष्मीं गर्भस्थोऽप्यङ्गवीरस्त्रातवान्, अस्यां मातङ्गऋषिर्बलनामा मृतगङ्गातीरलब्धजन्मा तिन्दुकोद्याने स्थितवान् गण्डीतिन्दुकं च यक्षं गुणगणैर्हृतहृदयमकार्षीत् । कौशिलिकनृपदुहिता च भद्रा मलक्लिन्नाङ्गं तमृषिं विलोक्य निष्ठ्यूतवती । ततस्तेन यक्षेणाधिष्ठिताङ्गी तेनैव मुखे वपुषि संक्रम्य परिणीता त्यक्ता च मुनिना, ततो रुद्रदेवेन यज्ञपत्नी कृता । मासक्षपणपारणे च भिक्षार्थमुपागतो मातङ्गमुनिर्द्विजातिभिरुपहस्य कदर्थ्यमानः तत्प्रेक्ष्य भद्रयोपलक्ष्य बोधितास्तं क्षमयामासुर्ब्राह्मणाः प्रत्यलाभयंश्च भक्ताद्यैः, विदधे विबुधैर्गन्धोदकवृष्टिः पुष्पवृष्टिर्दुन्दुभिवादनं वसुधारापातश्च । अस्याम्—“ वाणारसीए कोट्ठए, पासे गोचारिभद्दासणे य । णंदसिरीपउमद्दह-रायगिहे सो चिए वीरे ॥ १ ॥ वाणारसी य नगरी, अणगारे धम्मघोस धम्मजसे । मासस्स य पारणए, गोआलगंगा य अणुकंपा ॥ २ ॥ ” एतदावश्यकनिर्युक्तौ संविधानकद्वयमजनि । ती० ४२ कल्प । (नन्दश्रीवार्ता ‘ णंदसिरी ’ शब्दे चतुर्थभागे १७५१ पृष्ठे गता ।) अत्रैव पुर्यां धर्मघोषधर्मयशसौ द्वावप्यनगारौ वर्षारात्रावस्थाताम् ,तौ मासं २ क्षपणेनास्ताम् , अन्यदा चतुर्थपारणके तृतीयपौरुष्यां विहाराय प्रस्थितौ शारदातपेनार्तौ तृषितौ गङ्गामुत्तरन्तौ मनसाऽपि नाम्भ पेक्षतामनेषणीयमिति देवता तद्गुणावर्जिता गोकुलं विकुर्व्य गङ्गातीर्णौ तौ दध्योदनादिभिरुपन्यमन्त्रयत् । तौ दत्तोपयोगौ ज्ञातवन्तौ यथेयं मायेति प्रत्यषेधताम् , पुरःप्रस्थितयोरनुकम्पया वार्दलं व्यकार्षीत् देवता, तौ चार्द्रायां भूमौ शीतलवाताप्यायितौ ग्रामं प्राप्य शुद्धोञ्छमादिषातामिति । श्रीमदयोध्यायामिक्ष्वाकुवंश्यः श्रीहरिश्चन्द्रो महानरेन्द्रस्त्रिशङ्कुपुत्र उशीनरनृपसुतायाः सुतारादेव्या रोहिताश्वेन च पुत्रेण सहितः सुखमनुभवंश्चिरमशात्काश्यपीम् । एकदा सौधर्माधिपतिर्दिवि देवेन्द्रपरिषदि तस्य सत्त्ववर्णनामकरोत्, तदश्रद्दधानावुभौ गीर्वाणौ चन्द्रचूडमणिप्रभनामानौ वसुन्धरामवतीर्णौ । तयोरेको वनवराहरूपं विकृत्यायोध्यापरिसरस्थितशक्रावतारचैत्याश्रमं ससंभ्रमं भङ्क्तुं प्रवृत्ते । अन्येद्युः सदसि सिंहासनस्थितो हरिश्चन्द्रमहीन्द्रस्तमाश्रमोपप्लवं शूकरोपज्ञं श्रुत्वा तत्र गत्वा वाणप्रहारेण तं वराहं प्रहतवान् । तस्मिश्च शरेऽन्तर्हिते गर्हिततरचरितः स यावत्तं प्रदेशमविशत्तावत्तत्र हरिणीं स्ववाणप्रहतां तस्याः स्फुरन्तं च गलितं गर्भं निभाल्य कपिञ्जलकुन्तलमित्राभ्यां सह पर्यालोच्य भ्रूणघ्नं स्वमशोचयत् । प्रायश्चित्तग्रहणार्थं कुलपतिकन्यकानुमत (मास्ल) मकार्षीत् । व्यवहारार्थं त्र ततोऽनेन पापीयसा मन्मृगी हता तन्मरणं च मम मातुश्च मरणं भविष्यतीति निशम्य कुपिताः, कुलपतिनृपतयः, ततस्तत्पदोर्निपत्य नरपतिरलपत्–प्रभो ! सकलामपि वसुधां प्रतिगृह्य मामेतस्मात् एनसो मोचय, तयोश्च मरणनिवारणाय हेमलक्षं दास्यामीति तेनाप्यामिति प्रतिपन्ने सति कौटिल्यमृषिं सह कृत्वा नृपः स्वपुरीमागात्, ततो वसुभूतेर्मन्त्रिणः कुन्तलस्य च सुहृदस्तत्स्वरूपमावेद्य कोशादेकलक्षमानाययत् , ततः स्मित्वा तापसः सागारको व्याकरोदस्मभ्यं जलधिमेखलामखिलामिलां त्वमदाः ततोऽस्मदीयमेव वस्त्वस्मभ्यमेवं दीयत इति काऽयं न्यायः। अथ वसुभूतिः किमपि ब्रुवाणः कुलपतिना शापादपारिकारः, कुन्तलस्तु शृगालः, तौ च वनमध्येऽवसताम् । राजा च मासमवधिं मार्गयित्वा रोहिताश्वमङ्गुलौ लगयित्वा सुतारया सह काशीं प्रति प्राचलत्, क्रमादिमां पुरीं प्राप्य संस्थायां स्थितः, तत्र शिरसि तृणं दत्त्वा वज्रहृदयविप्रहस्ते देवीं कुमारं च हेमसहस्रैर्विचिक्राय । सा तत्र खण्डनपेषणादिकर्माणि निर्ममे । दारकश्च समित्पत्रपुष्पफलाद्याजहार । राज्ञीचिन्ताध्वान्तचेताः स कुलपतिः कनकं मार्गयितुमगाद् । दत्तं तस्मै राज्ञीकाञ्चनसहस्रपट्कम् , कुलपतौ स्तोकमिति कुप्यत्यङ्गारकोऽवोचत्, भोः ! किमर्थं पत्नीमपत्यं च विक्रीणीथाः अत्रत्यचन्द्रशेखरं नरेश्वरं किं न याचसे वसु लक्षम् । राज्ञोक्तम्—अस्मत्कुलेनेदं सिद्ध्यति, डोंवडस्यापि वेश्मनि कर्मकरणमुरीकृत्य दास्यामि तव काञ्चनमिति, ततः कर्म्म कर्तुं प्रवृत्तश्चण्डालेन श्मशानरक्षणे नियुक्तः, ततः परं यथा ताभ्याममराभ्यामकारि मारिः पुर्याम्, यथा भूपादेशानीतमान्त्रिकेण राक्षसीप्रवादमारोऽप्य सुतारा मण्डलमानीय रासभमारोपिता, यथा सुतः पावके दत्तझम्पोऽपि न दग्धः, संस्कारं कर्तुमानीतः, तस्याः करमयाचिष्ट नृपतिः । यथा च सत्त्वपरीक्षानिर्वाणप्रमुदितप्रकटितनिजरूपः त्रिदशकृतपुष्पवृष्टिजयरवध्वनिः सर्वजनैः प्रशंशितः सात्त्विकशिरोमणिः इति, यथा च बर्हिर्मुखसुखाद्वराहादिपुष्पवृष्टिपर्यन्तं दिव्यमायाविलसितमवबुध्य यावच्चेतसि चमत्कृतस्तावत् स्वपुर्यां सदसि सिंहासनस्थं परिवारमपश्यत्, तद्देवीकुमारविक्रयादिदिव्यपुष्पवर्षावसानं श्रीहरिश्चन्द्रस्य चरित्रं सत्त्वपरिक्षानिकषोऽस्यामेव पुर्यामजनि । जनजनितविस्मयं यच्च काशीमाहात्म्ये प्रथमगुणस्थानीयैरभिधीयते—यद्वाराणस्यां कलियुगप्रवेशो नास्ति, तथात्र प्राप्तनिधनाः कीटपतङ्गभ्रमरादयः कृतानेकचतुर्विधहत्यादिपाप्मानोऽपि मनुष्यादयो वा शिवसायुज्यामियतीत्यादि युक्तिरिक्तं तदस्मदादिभिः श्रद्धातुमपि दुःशकम्, किं पुनः कल्पे जल्पितुमित्युपेक्षणीयमेवैतत्, धातुवादरसवादखन्यवादमन्त्रविद्याविधुराः शब्दानुशासनतर्कनाटकालङ्कारद्योतितचूडामणिनिमित्तशास्त्रसाहित्यादिविद्यानिपुणा निश्चलपुरुषा अस्यां परिव्राजकेषु जटाधरेषु योगिषु ब्राह्मणादिचातुर्वर्ण्यवचनैकरसिकमनांसि प्रीणयन्ति चतुर्दिगन्तदेशान्तरवास्तव्याश्चास्यां जना दृश्यन्ते सकलकलापरिकलनकौतूहलिनः । वाराणसी चेयं संप्रति चतुर्द्धा विभक्ता दृश्यते । तद्यथा—देववाराणसी यत्र विश्वनाथप्रासादः तन्मध्ये चाऽऽश्मनं जैनं चतुर्विंशतिपट्टं पूजारूपमद्यापि विद्यते, द्विती-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

था राजधानी वाराणसी—यत्राद्यत्वे यवनाः, तृतीया मदनवाराणसी,चतुर्थी विजयवाराणसीति। लौकिकानि च तीर्थानि अस्यां क इव परिसंख्यातुमीश्वरः अन्तर्वणं दन्तखातं तडागं निकषा श्रीपार्श्वनाथस्य चैत्यमनेकप्रतिमाविभूषितमास्ते, अस्याममलपरिमलभराकृष्टभ्रमरकुलसंकुलानि सरसीसु नानाजातीयानि कमलानि, अस्यां च प्रतिपदमकुतोभयाः संचरिष्णवो न बाध्यन्ते शाखामृगा मूकधूर्ताश्च। अस्याः क्रोशत्रितये धर्मध्यानसंनिवेशो यत्र बोधिसत्त्वस्योच्चैस्तरशिखरचुम्बितगगनमायतनम्। अस्याश्च सार्द्धयोजनद्वयात्परतश्चन्द्रावती नाम नगरी; यस्यां श्रीचन्द्रप्रभोर्गर्भावतारादिकल्याणकचतुष्टयमखिलभुवनजनतुष्टिकरमजनिष्ट। "गङ्गोदकेन च जिनद्वयजन्मना च, प्राकाशि काशिनगरी न गरीयसी कैः। तस्या इति व्यधित कल्पमनल्पभूतेः, श्रीमान् जिनप्रभ इति प्रथितो मुनीन्द्रः॥ १॥" श्रीवाराणसीकल्पः। ती० ३७ कल्प।

वाणिअय–वणिज्–पुं०। वणिजे, 'आवणिआ वाणिअया।' पाइ० ना० १०५ गाथा।

वाणिज्ज–वाणिज्य–न०। पञ्चसु वणिग्व्यापारेषु, ध०।

वाणिज्यान्याह—

वाणिज्यका दन्तलाक्षा–रसकेशविषाश्रिताः॥५२॥

अथोत्तरार्द्धेन पञ्च वाणिज्यान्याह–'वाणिज्यका' इत्यादि, अत्राश्रितशब्दः प्रत्येकं योज्यस्ततो दन्ताश्रितो–दन्तविषया वाणिज्यका–वाणिज्यं; दन्तक्रयविक्रय इत्यर्थः। एवं लाक्षावणिज्यारसवणिज्याकेशवणिज्याविषवणिज्याख्यपि। तत्र दन्ता हस्तिनां, तेषामुपलक्षणत्वादन्येषामपि त्रसजीवावयवानां घूकादिनखहंसादिरोमचर्मचमरश्रृङ्गशङ्खशुक्तिकपर्दकस्तूरीपोहीसकादीनां वणिज्या चात्राकरे ग्रहणरूपा द्रष्टव्या, यत्पूर्वमेव पुलिन्दानां मूल्यं ददाति, दन्तादीन् मे यूयं दद्तेति, ततस्ते हस्त्यादीन् घ्नन्त्यचिरादसौ वाणिजक एष्यतीति, पूर्वानीतांस्तु क्रीणातीति, त्रसहिंसा स्पष्टैवास्मिन् वाणिज्ये, अनाकरे तु दन्तादीनां ग्रहणे विक्रये च न दोषः, यदाहुः–"दन्तकेशनखास्थित्वग्–रोम्णो ग्रहणमाकरे। त्रसाङ्गस्य वणिज्यार्थं, दन्तवाणिज्यमुच्यते॥ १॥"॥ ६॥ ध०।

वाणी–वानी–स्त्री०। वने भवायाम्, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०।

वाणीर–वानीर–पुं०। वानीरे, "वंजुलो वेडसो य वाणीरो।" पाइ० ना० १४४ गाथा।

वात(ता)(य)–वात–पुं०। वायुकायिके, पं०सं०१द्वार। जी०।भ०।

वातानाह—

रायगिहे णगरे ०जाव एवं वयासी–अत्थि णं भंते! ईसिं पुरे वाया पत्था वाया मंदा वाया महावाया वायंति?, हंता अत्थि, अत्थि णं भंते! पुरच्छिमे णं ईसिं पुरे वाया पत्था वाया मंदा वाया महावाया वायंति, हंता अत्थि। एवं पच्चत्थिमे णं दाहिणे णं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं पुरच्छिमदाहिणेणं दाहिणपच्छिमेणं पच्छिमउत्तरेणं। जया णं भंते! पुरच्छिमेणं ईसिं पुरे वाया पत्था वाया मंदा वाया महावाया वायंति तया णं पच्चत्थिमेणं वि ईसिं पुरे वाया, जया णं पच्चत्थिमेणं ईसिं पुरे वाया तया णं पुरच्छिमेण वि?, हंता, गोयमा! जया णं पुरच्छिमेणं तया णं पच्चत्थिमेण वि ईसिं जया णं पच्चत्थिमेण वि ईसिं तया णं पुरच्छिमेण वि ईसिं, एवं दिसासु विदिसासु। अत्थि णं भंते! दीविच्चया ईसिं?, हंता अत्थि। अत्थि णं भंते! सामुद्दया ईसिं?, हंता अत्थि। जया णं भंते! दीविच्चया ईसिं तया णं सा सामुद्दया वि ईसिं, जया णं सामुद्दया ईसिं तया णं दीविच्चया वि ईसिं?, णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति जया णं दीविच्चया ईसिं णो णं तया सामुद्दया ईसिं जया णं सामुद्दया ईसिं णो णं तया दीविच्चया ईसिं?, गोयमा! तेसि णं वायाणं अन्नमन्नस्स विवच्चासेणं लवणे समुद्दे वेलं नातिक्कमइ से तेणट्ठेणं ० जाव वाया वायंति। अत्थि णं भंते! ईसिं पुरे वाया पत्था वाया मंदा वाया महावाया वायंति?, हंता अत्थि। कया णं भंते! ईसिं ० जाव वायंति?, गोयमा! जया णं वाउयाए अहारियं रियंति तया णं ईसिं ०जाव वायं वायंति। अत्थि णं भंते! ईसिं? हंता अत्थि, कया णं भंते! ईसिं पुरे वाया पत्था०?–गोयमा! जया णं वाउयाए उत्तरकिरियं रियइ तया णं ईसिं ०जाव वायंति। अत्थि णं भंते! ईसिं?, हंता अत्थि। कया णं भंते! ईसिं पुरे वाया पत्था वाया?, गोयमा! जया णं वाउकुमारा वाउकुमारीओ वा अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा अट्ठाए वाउकायं उदीरेंति तया णं ईसिं पुरे वाया ०जाव वायंति, वाउकाए णं भंते! वाउकायं चेव आणमंति पाणमंति जहा खंदए तहा चत्तारि आलावगा नेयव्वा अणेगसयसहस्स० पुट्ठे उद्दाति वा, ससरीरी निक्खमति॥ (सू० १८०)

'रायगिहे, इत्यादि, 'अत्थि' त्ति अस्त्ययमर्थो–यदुत वाता वान्तीति योगः, कीदृशाः? इत्याह–'ईसिं पुरे वायं' ति मनाक् तत्रेह वाताः 'पत्था वाय' त्ति पथ्या वनस्पत्यादिहिता वायवः 'मंदा वाय' त्ति मन्दाः शनैः संचारिणो; महावाता इत्यर्थः 'महावाय'? त्ति उद्दण्डवाता; अनल्पाः इत्यर्थः 'पुरच्छिमे णं' ति सुमेरोः पूर्वस्यां दिशीत्यर्थः, एवमेतानि दिग्विदिगपेक्षयाऽष्टौ सूत्राणि। उक्तं दिग्भेदेन वातानां वानम्; अथ दिशामेव परस्परोपनिबन्धेन तदाह–'जया ण' मित्यादि, इह च द्वे दिक्सूत्रे द्वे विदिक्सूत्रे इति। अथ प्रकारान्तरेण वातस्वरूपनिरूपणसूत्रम्, तत्र 'दिविच्चग' त्ति, द्वैप्या द्वीपसम्बन्धिनः 'सामुद्दय' त्ति, समुद्रस्यै–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ते सामुद्रिकाः, 'अन्नयन्नविवच्चासेणं' ति अन्योऽन्यव्यत्यासेन यदैके ईषत्पुरोवातादिविशेषेण वान्ति तदेतरे न तथाविधा वान्तीत्यर्थः। 'वेलं नाइक्कमइ' त्ति, तथाविधवातद्रव्यसामर्थ्याद्वेलायास्तथास्वभावत्वाच्चेति । अथ वातानां वाने प्रकारान्तरेण वातस्वरूपत्रयं सूत्रत्रयेण दर्शयन्नाह- 'अत्थि णं' मित्यादि, इह च प्रथमवाक्यं प्रस्तावनार्थमिति न पुनरुक्तमित्याशङ्कनीयम्, 'अहारियं रियंति' त्ति, रीतं रीतिः; स्वभाव इत्यर्थः तस्यानतिक्रमेण यथारीतं रीयते- गच्छति, यदा स्वाभाविक्या गत्या गच्छतीत्यर्थः, 'उत्तराकिरियं' ति, वायुकायस्य हि मूलशरीरमौदारिकमुत्तरं तु वैक्रियमत उत्तरा—उत्तरशरीराश्रया क्रिया गति— लक्षणा यत्र गमने तदुत्तरक्रियम्, तद्यथा—भवती— त्येवं रीयते—गच्छति, इह चैकसूत्रेणैव वायुवानकारणत्रयस्य वक्तुं शक्यत्वे यत्सूत्रत्रयकरणं तद्विचित्रत्वात् सूत्रगतेरिति मन्तव्यम्। वाचनान्तरे त्वाद्यं कारणं महावातवर्जितानाम्, द्वितीयं तु मन्दवातवर्जितानाम्, तृतीयं तु चतुर्णामप्युक्तमिति। भ०५ श० २ उ०। आ० चू०। "एत्थ अट्ठ वाया वएणेयव्वा, तं जहा-पादीणवाए पदीईणवाए उदीणवाए दाहिणवाए, जो उत्तरपुरत्थिमे णं वातो सो सत्तासुयो, जो दाहिणपुव्वे णं सो तुंगारो, जो दहिणावरे णं सो वीयावो, अवरुत्तरे णं गज्जभो। एवमेते अट्ठ वाया अएणेवि दिसासु अट्ठ, तं जहा—उत्तरसत्तासु य पुरिमसत्तासुओ य तहा पुरिमतुंगारो दाहिणतुंगारो तहा दाहिणवायवो अवरवीयावायाहिं। अवरगज्जभो उत्तरगज्जभो य।" इयमत्र भावना, अत्र चत्वारः शुद्धदिग्वातास्तद्यथा—प्राचीनवातः प्रतीचीनवातः उदीचीनवातो दक्षिणवातश्च। तत्र यः प्राच्या दिशः समागच्छति स प्राचीनवातः, एवं शेषदिग्वातभावनाऽपि कार्या, चत्वारः शुद्धविदिग्वातास्तद्यथा— उत्तरपूर्वस्यां सक्कासुको दक्षिणपूर्वस्यां तुङ्गारो दक्षिणापरस्यां बीजापः अपरोत्तरस्यां गर्जाभः। एवमष्टौ शुद्धदिग्विदिग्वाताः, अष्टावन्ये दिग्विदिगपान्तरालवर्त्तिनः। तद्यथा- उत्तरस्या उत्तरपूर्वस्याश्चापान्तराले उत्तरसक्कासुकः उत्तरपूर्वस्याश्चापान्तराले पूर्वसक्कासुकः पूर्वस्या दक्षिणपूर्वस्याश्चापान्तराले पूर्वतुङ्गारः दक्षिणपूर्वस्या दक्षिणस्याश्चान्तरा दक्षिणतुङ्गारः दक्षिणस्या दक्षिणापरस्याश्च दक्षिणबीजापः। दक्षिणापरस्या अपरस्याश्चापरबीजापः। अपरस्या अपरोत्तरस्याश्चापरगर्जाभः । अपरोत्तरस्या उत्तरस्याश्चापान्तराले उत्तरगर्जाभः। एवमेते षोडश। सप्तदश उत्कालिकावातः। आ० म० १ अ०। "आगासपइट्ठिया वाया" वातो घनवाततनुवातलक्षणः। स्था० ३ ठा० २ उ०। "पारुष्यसङ्कोचनतोदशूल-श्यामत्वभङ्गव्यथचेष्टभङ्गाः। सुसत्त्वशीतत्वखरत्वशेषाः, कर्माणि वायोः प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥१॥" स्था० ४ ठा० ४ उ०।

वात (य) इ-वातकिन्-त्रि०। वातो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी, वातकीव वातकी। वातूले, "स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा" स्या०।

वात (य) कंटग-वातकएटक-पुं० । बहिश्चित्रिते उपरिगपिच्छिले मध्ये जलशून्ये करके, आ० म० १ अ०। जी०। ज्ञं०। रा०।

वात (य) कएह-वातकृष्ण-पुं०वत्सगोत्रान्तर्गतेऽवान्तरगोत्रप्रवर्तके ऋषौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

वात (य)केत-वातकेत-न०। चतुर्थदेवलोकविमाने, स० ५ सम०।

वात (य) कूड-वातकूट-न०। स्वनामख्याते चतुर्थे देवलोकस्थे विमाने, स० ५ सम०।

वात (य) क्खंध-वातस्कन्ध-पुं० । घनवाततनुवातेषु, स्था० २ ठा० ४ उ०।

वात (य) णिसग्ग-वातनिसर्ग-पुं०। अधिष्ठानेन पवननिर्गमे, ल०। आव०। आचा०।

वात (य) पइट्ठिय-वातप्रतिष्ठित-त्रि० । वातोपरिस्थिते, "वायपइट्ठिए उदही" वातप्रतिष्ठित उदधिर्घनोदधिस्तनुवातोपरि स्थितत्वात्। भ० १ श० ६ उ०। स्था०।

वात (य) परिगय-वातपरिगत-त्रि० । देहगतवायुप्रेरिते, वातपरिगते वा देहे सति बाह्यवातेन चोदिते इति । स्था० १ ठा० ३ उ०।

वात (य) पलिक्खोभ-वातपरिक्षोभ-पुं०। वातोऽत्र वात्या तद्वद् वातमिश्रत्वात् परिक्षोभहेतुत्वात्स वातपरिक्षोभ इति। भ० ६ श० ५ उ०। कृष्णराजौ, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

वात (य) फलिहि-वातपरिघ-पुं०। परिहननात् परिघोऽर्गला परिघ इव परिघः। तमस्काये,स्था० ४ ठा०२ उ०। वातोऽत्र वात्या तद्वद्वातमिश्रत्वात्परिघश्च दुर्लङ्घत्वात्स वातपरिघः। भ० ६ श० ५ उ०। कृष्णराजौ, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

वात (य)फलिहक्खोभ-वातपरिघक्षोभ-पुं०। वातं परिघवत् क्षोभवति हेतुमार्गं करोतीति वातपरिघक्षोभः । वात एव वा परिघस्तं क्षोभयति यः स तथा। परिघवद्वातक्षोभकारके, स्था० ४ ठा० २ उ०।

वात (य)मंडलिया-वातमएडलिका-स्त्री० । वातोल्याम्, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। भ०।

वात (य) मंडली-वातमएडली-स्त्री०। मएडलेनोर्द्ध्वप्रवृत्ते वायौ, स्था० ४ ठा० १ उ०।

वाता (या) इद्ध-वाताविद्ध-त्रि० । वातप्रेरिते, उपा० ७ अ०। उत्त०। "वायाविद्धु व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि"॥ ६॥ दश० २ अ०। नि० चू०।

वातावि-वातापि-पुं० । इर्षादगस्त्यमभ्यासादनतो विनष्टे स्वनामख्यातेऽसुरे, ध० १ अधि०।

वाता(या)हयग-वाताहतक-त्रि०। वायुनेपच्छोपमानीते, उपा० ७ अ०।

वातिक-वातिक-पुं०। वातोऽस्यास्तीति वातिकः। सनिमित्ततोऽन्यथामेहने स्तब्धे सति स्त्रीसेवायामकृतायां वेदं धारयितुमशक्ते नपुंसकभेदे, प्रव १०६ द्वार। विकटे,बृ० ५ उ०। उच्छूनत्वे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

वातलिय-वातलिक-पुं०। नास्तिके, दश० १ अ०।

वाद(य)-वाद-पुं०। वदनं वादः। विशे०। स्था०। नं०। स०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वार्तायाम्, बृ०१ उ० ३ प्रक० । विकत्थने, स्था०६ ठा०३ उ० । स्वदर्शनस्थापनलक्षणे; (संथा०) पूर्वपक्षे, अष्ट०५ अष्ट० । द्वा० । अङ्गीकारे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । समभ्युपगम्यपञ्चावयवेन त्र्यवयवेन वा वाक्येन छलजातिविरहिते भूतान्वेषणपरे समर्थने, स० १२ सम० । सूत्र० ।

प्रमाणनयतत्त्वं व्यवस्थाप्य संप्रति तत्प्रयोगभूमिभूतं वस्तुनिर्णयाभिप्रायोपक्रमं वादं वदन्ति—

विरुद्धयोर्धर्मयोरेकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृत्य तत्तदन्यधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणवचनं वादः ॥ १ ॥

विरुद्धयोरेकत्र प्रमाणेनाऽनुपपद्यमानोपलम्भयोर्धर्मयोर्मध्यादिति निर्धारणे षष्ठी सप्तमी वा । विरुद्धाविव हि धर्मावेकान्तनित्यत्वकथञ्चिन्नित्यत्ववादी वादं प्रयोजयतः, न पुनरितरौ, तद्यथा—पर्यायवद् द्रव्यं गुणवच्च, विरोधश्चैकाधिकरणत्वैककालत्वयोरेव सतोः संभवति । अनित्या बुद्धिर्नित्य आत्मेति भिन्नाधिकरणयोः पूर्वं निष्क्रियम्, इदानीं क्रियावद् द्रव्यमिति भिन्नकालयोश्च तयोः प्रमाणेन प्रतीतौ विरोधासंभवात् । अयमेव हि विरोधो यत्प्रमाणेनाऽनुपलम्भनं नाम, अन्यथाऽपि तस्याभ्युपगमे सर्वत्र तदनुषङ्गप्रसङ्गात्; इति विरुद्धत्वान्यथानुपपत्तेरेकाधिकरणत्वैककालत्वयोरवगतौ । यद् न्यायभाष्ये—" वस्तुधर्मावेकाधिकरणौ विरुद्धावेककालावनवसितौ " इति तयोरुपादानम्, तत् पुनरुक्तम्, अपुष्टार्थं वा । यदप्यत्रैवानवसितावित्ति, तदप्यव्यापकम्, यतो वीतरागविषयवादकथायामनवसितत्वसद्भावेऽपि जिगीषुगोचरवादकथायां तदसद्भावात् । वीतरागवादो ह्यन्यतरसन्देहादपि प्रवर्तते । जिगीषुगोचरः पुनर्वादो न नाम निर्णयमन्तरेण प्रवर्तितुमुत्सहते । तथाहि-वादी शब्दादौ नित्यत्वं स्वयं प्रमाणेन प्रतीत्यैव प्रवर्तमानोऽसमानप्रतिपन्नप्रतिक्षेपमनोरथोऽहमहमिकयाऽनुमानमुपन्यस्यति, प्रतिवाद्यपि तत्रैव धर्मिणि प्रतिपन्नानित्यत्वधर्मस्तथैव दूषणमुदीरयतीति क्व नाम वादकथाप्रारम्भात् प्रागनवसायस्यावकाशः ? । ततोऽयं सूत्रार्थः—यावेकाधिकरणावेककालौ च धर्मौ विरुध्येते, तयोर्मध्यादेकस्य सर्वथा नित्यत्वस्य कथंचिन्नित्यत्वस्य वा, व्यवच्छेदेन निरासेन, स्वीकृततदन्यधर्मस्य कथंचिन्नित्यत्वस्य सर्वथा नित्यत्वस्य वा, व्यवस्थापनार्थं वादिनः प्रतिवादिनश्च साधनदूषणवचनं वाद इत्यभिधीयते । सामर्थ्याच्च स्वपक्षविषयं साधनम्, परपक्षविषयं तु दूषणम्, साधनदूषणवचने च प्रमाणरूपे एव संभवतः, तदितरयोस्तयोस्तदाऽऽभासत्वात् न च ताभ्यां वस्तु साधयितुं दूषयितुं वा शक्यमिति । ननुयस्मिन्नेव धर्मिण्येकतरधर्मनिरासेन तदितरधर्मव्यवस्थापनार्थं वादिनः साधनवचनम्, कथं तस्मिन्नेव प्रतिवादिनस्तद्विपरीतं दूषणवचनमुचितं स्यात् ?, व्याघातात्, इति चेत्; तदसत्, स्वाभिप्रायानुसारेण वादिप्रतिवादिभ्यां तथा साधनदूषणवचने विरोधाभावात् । पूर्वं हि तावद् वादी स्वाभिप्रायेण साधनमभिधत्ते, पश्चात् प्रतिवाद्यपि स्वाभिप्रायेण दूषणमुद्भावयति । न खल्वत्र साधनं दूषणं चैकत्रैव धर्मिणि तात्त्विकमस्तीति न विवक्षितम्, किन्तु-स्वस्वाभिप्रायानुसरणेन वादिप्रतिवादिनौ ते तथा प्रयुञ्जाते, इति तथैवोक्तं ॥ १ ॥

अङ्गनियमभेदप्रदर्शनार्थं वादे प्रारम्भकभेदौ वदन्ति—

प्रारम्भकश्चात्र जिगीषुः, तत्त्वनिर्णिनीषुश्च ॥ २ ॥

तत्र जिगीषुः प्रसह्य प्रथमं च वादमारभते, प्रथममेव च तत्त्वनिर्णिनीषुः, इति द्वावप्येतौ प्रारम्भकौ भवतः । तत्र जिगीषोः—"सारङ्गमातङ्गतुरङ्गयूथाः, पलाय्यतामाशु वनादमुष्मात् । साटोपकोपस्फुटकेसरश्री—मृगाधिराजोऽयमुपेयिवान् यत् ॥१॥" इत्यादिविचित्रपदोत्तम्भनम् । अयि ! कपटनाटकपटो ! सितपट ! किमेतान् मन्दमेधसस्तपस्विनः शिष्यानलीकतुण्डताण्डवाडम्बरप्रचण्डपाण्डित्याविष्कारेण विप्रतारयसि ?, क्व जीवः ?, न प्रमाणदृष्टमदृष्टम्, दवीयसी परलोकवार्तेति साक्षादाक्षेपो वा, न विद्यते निरवद्यविद्यावदातस्तव सदसि कश्चिदपि विपश्चिदित्यादिना भूपतेः समुत्तेजनं च, इत्यादिर्वादारम्भः । तत्त्वनिर्णिनीषोस्तु सब्रह्मचारिन् ! शब्दः किं कथञ्चिद् नित्यः स्याद् नित्य एव वेति संशयोपक्रमो वा, कथञ्चिद् नित्य एव शब्द इति निर्णयोपक्रमो वा इत्यादिरूपः । वचनव्यक्ती सूत्रेष्वतन्त्रे, क्वचिदेकस्मिन्नपि प्रौढे प्रतिवादिनि बहवोऽपि संभूय विवदेरन् जिगीषवः, पर्यनुयुञ्जीरंश्च तत्त्वनिर्णिनीषवः, स च प्रौढतयैव तांस्तान्ततोऽप्यभ्युपैति, प्रत्याख्याति च, तत्त्वं चाचष्टे । क्वचिदेकमपि तत्त्वनिर्णिनीषुं बहवोऽपि तथाविधाः प्रतिबोधयेयुः । इत्यनेकवादिकृतः, स्त्रीकृतश्च वादारम्भः संगृह्यते ॥ २ ॥

तत्र जिगीषोः स्वरूपमाहुः—

स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणाभ्यां परं पराजेतुमिच्छुर्जिगीषुः ॥ ३ ॥

स्वीकृतो धर्मः शब्दादेः कथञ्चिद् नित्यत्वादिर्यः तस्य व्यवस्थापनार्थम्, यत्सामर्थ्यात् तस्यैव साधनं परपक्षस्य च दूषणम्, ताभ्यां कृत्वा परं पराजेतुमिच्छुर्जिगीषुरित्यर्थः । एतेन यौगिकोऽप्ययं जिगीषुशब्दो वादाधिकारिनिरूपणप्रकरणे योगरूढ इति प्रदर्शितम् ॥३॥ (तत्त्वनिर्णिनीषोः स्वरूपं "तत्तणिण्णिणीसु" शब्दे चतुर्थभागे २१८१ पृष्ठे गतम् ।)

वादिप्रतिवादिनोर्हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन प्रसिद्धेर्यावद् वादिनः, तावद् वैव प्रतिवादिभिरपि भवितव्यम् ? इत्याहुः—

एतेन प्रत्यारम्भकोऽपि व्याख्यातः ॥ ६ ॥

आरम्भकं प्रति प्रतीपं चाऽऽरभमाणः प्रत्यारम्भकः, सोऽयमेतेन प्रारम्भकभेदप्रभेदप्ररूपणेन व्याख्यातः । प्रदर्शितभेदप्रभेदः सहृदयैः स्वयमवगन्तव्यः । एवं च प्रत्यारम्भकस्यापि जिगीषुप्रभृतयश्चत्वारः प्रकारा भवन्ति । तत्र यद्यप्येकैकशः प्रारम्भकस्य प्रत्यारम्भकेण सार्धं वादे षोडश भेदाः प्रादुर्भवन्ति, तथापि जिगीषोः स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुणा, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषोर्जिगीषुणा, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषोः स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुणा च, केवलिनश्च केवलिना सह वादो न संभवत्येव, इति चतुरो भेदान् पातयित्वा द्वादशैव तेऽत्र गण्यन्ते । तद्यथा-वादी जिगीषुः, प्रतिवादी तु जिगीषुः स्वात्मनि तत्त्वं निर्णिनीपुर्नः, परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुः क्षायोपशमिकज्ञानशाली, केव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ली च । तथा वादी स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुः प्रतिवादी तु जिगीषुर्न स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुर्न परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुः क्षायोपशमिकज्ञानशाली, केवली च । तथा वादी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुः क्षायोपशमिकज्ञानशाली प्रतिवादी तु जिगीषुः, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुः, परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुः क्षायोपशमिकज्ञानशाली, केवली च । तथा वादी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुः केवली च प्रतिवादी तु जिगीषुः, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुः, परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुः क्षायोपशमिकज्ञानशाली, केवली च न । एवमेते चत्वारश्चतुष्का षोडश नञुपलक्षितेषु चतुर्षु पातितेषु द्वादश भवन्ति—"अङ्गनैयत्यनिश्चित्यै, वादे वादफलार्थिभिः ।द्वादशैवाऽवसातव्या,एते भेदा मनस्विभिः"।

अङ्गनियममेव निवेदयन्ति—

तत्र प्रथमे प्रथमतृतीयतुरीयाणां चतुरङ्ग एव, अन्यतमस्याऽप्यङ्गस्यापाये जयपराजयव्यवस्थादिदौःस्थ्यापत्तेः।१०।

उक्तेभ्यश्चतुर्भ्यः प्रारम्भकेभ्यः प्रथमे जिगीषौ प्रारम्भके सति प्रथमस्य जिगीषोरेव, तृतीयस्य परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुभेदस्य क्षायोपशमिकज्ञानशालिनः तद्भेदस्यैव, तुरीयस्य केवलिनश्च प्रत्यारम्भकस्य प्रतिवादिनश्चतुरङ्ग एव प्रकरणाद् वादो भवति । वादिप्रतिवादिरूपयोरङ्गयोरभावे वादस्यानुत्थानोपहततैव, इति तयोरयत्नसिद्धत्वेऽप्यपराङ्गद्वयस्यावश्यम्भावप्रदर्शनार्थं चतुरङ्गत्वं विधीयते । प्रसिद्धं च सिद्धांशमिश्रितस्याऽप्यसिद्धस्यांशस्य विधानम् । यथा-शब्दे हि समुच्चारिते यावानर्थः प्रतीयते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापार इति, निःशेषच्युतचन्दनम्—इत्यादौ वाच्य एवैकोऽर्थ इति प्रत्यवस्थितं प्रति द्वावेतावर्थौ-वाच्यः, प्रतीयमानश्चेत्येवंरूपतया वाच्यस्य सिद्धत्वेऽपि प्रतीयमानपार्थक्यसिद्ध्यर्थं द्वित्वविधानम् । तत्र वादिप्रतिवादिनोरभावे वाद एव न संभवति, दूरे जयपराजयव्यवस्था; इति स्वतः सिद्धावेव तौ । तत्र च वादिवत् प्रतिवाद्यपि चेज्जिगीषुः , तदानीमुभाभ्यामपि परस्परस्य शाठ्यकलहादेर्जयपराजयव्यवस्थाविलोपकारिणो निवारणार्थं लाभाद्यर्थं वाऽपराङ्गद्वयमप्यवश्यमपेक्षणीयम् । अथ तृतीयस्तुरीयो वाऽसौ स्यात् , तथाऽप्यनेन जिगीषोर्वादिनः शाठ्यकलहाद्यपोहाय, जिगीषुणा च प्रारम्भकेण लाभपूजाख्यात्यादिहेतवे तदपेक्ष्यत एवेति सिद्धैव चतुरङ्गता । स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुस्तु जिगीषुं प्रति वादितां प्रतिवादितां च न प्रतिपद्यते , स्वयं तत्त्वनिर्णयानभिमाने परावबोधार्थं प्रवृत्तेरभावात् तस्मात् तत्त्वनिर्णयासम्भवाच्च; इति नायमिहोत्तरत्र च निर्दिश्यते ॥ १० ॥

अनयैव नीत्या जिगीषुमिव स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुमपि प्रत्यस्य वादिता प्रतिवादिता वा न सङ्गच्छत इति पारिशेष्यात् तृतीयतुरीययोरेवास्मिन् वादः सम्भवतीति । तृतीयस्य तावदङ्गनियममभिदधते—

द्वितीये तृतीयस्य कदाचिद् द्व्यङ्गः,कदाचित् त्र्यङ्गः।११।

स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषौ वादिनि समुपस्थिते सति तृतीयस्य परत्र तत्त्वनिर्णिनीषोः क्षायोपशमिकज्ञानशालिनः प्रतिवादिनः कदाचिद् द्व्यङ्गो वादो भवति, यदा ज-

यपराजयादिनिरपेक्षयाऽपेक्षितस्तत्त्वावबोधो वादिनि प्रतिवादिना कर्त्तुं पार्यते , तदानीमितरस्य सभ्यसभापतिरूपस्याऽङ्गद्वयस्यानुपयोगात् । न ह्यनयोः स्वपरोपकारायैव प्रवृत्तयोः शाठ्यकलहादिलाभादिकामभावाः सम्भवन्ति-यदा पुनरुक्तास्यताऽपि क्षायोपशमिकज्ञानशालिना प्रतिवादिना न कथंचित्तत्त्वनिर्णयः कर्तुं शक्यते , तदा तन्निर्णयार्थमुभाभ्यामपि सभ्यानामपेक्ष्यमाणत्वात् कलहलाभाद्यभिप्रायाभावेन सभापतेरनपेक्षणीयत्वात् त्र्यङ्गः ॥ ११ ॥

द्वितीय एव वादिनि चतुर्थस्याङ्गनियममाहुः—

तत्रैव द्व्यङ्गस्तुरीयस्य ॥ १२ ॥

तत्रैव द्वितीये स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषौ वादिनि , तुरीयस्य परत्र तत्त्वनिर्णिनीषोः केवलिनः प्रतिवादिनः, द्व्यङ्ग एव वादः, तत्त्वनिर्णायकत्वाभावासंभवेन सभ्यानामभिहितदिशा सभापतेश्चाऽनपेक्षणात् ॥ १२ ॥

तृतीयेऽङ्गनियममाहुः—

तृतीये प्रथमादीनां यथायोगं पूर्ववत् ॥ १३ ॥

परत्र तत्त्वनिर्णिनीषौ क्षायोपशमिकज्ञानशालिनि वादिनि , निवेदितस्वरूपाणां प्रथमद्वितीयतृतीयतुरीयाणां प्रतिवादिनाम् , उक्तयुक्त्यैव प्रथमस्य चतुरङ्गः, द्वितीयतृतीययोः कदाचिद् द्व्यङ्गः, कदाचित् त्र्यङ्गः, तुरीयस्य तु द्व्यङ्ग एव वादो भवति । निःसीमा हि मोहहतकस्य महिमा , इति कश्चिदात्मानं निर्णीततत्त्वमिव मन्यमानः समग्रपदार्थपरमार्थदर्शिनि केवलिन्यपि तन्निर्णयोपजननार्थं प्रवर्तत इति न कदाचिदसम्भावना , भगवांस्तु केवली प्रबलकृपापीयूषपूरपूरितान्तःकरणतया तमप्यवबोधयतीति को नाम नानुमन्यते ? ॥ १३ ॥

परोपकारैकपरायणस्य भगवतः केवलिनः संभवन्त्यपि परत्र तत्त्वनिर्णिनीषा न केवलकलावलोकितसकलवस्तुतया कृतकृत्ये केवलिनि विलसितुमुत्सहत इति प्रथमादीनां त्रयाणामेवाङ्गनियममाहुः—

तुरीये प्रथमादीनामेवम् ॥ १४ ॥

परत्र तत्त्वनिर्णिनीषौ केवलिनि वादिनि , प्रथमद्वितीयतृतीयानामेवमिति पूर्ववत् । प्रथमस्य चतुरङ्गः , द्वितीयतृतीययोस्तु द्व्यङ्ग एव वादो भवतीत्यर्थः , " प्रारम्भकापेक्षतया यदेव-मङ्गव्यवस्था लभते प्रतिष्ठाम् । संचिन्त्य तस्मादमुमादरेण , प्रत्यारभेत प्रतिभाप्रगल्भः ॥ १ ॥ " ॥ १४ ॥

चतुरङ्गो वाद इत्युक्तम् , कानि पुनश्चत्वार्यङ्गानि ? इत्याहुः—

वादिप्रतिवादिसभ्यसभापतयश्चत्वार्यङ्गानि ॥ १५ ॥

स्पष्टम् ॥ १५ ॥

अथैतेषां लक्षणं कर्म च कीर्तयन्ति—

प्रारम्भकप्रत्यारम्भकावेव मल्लप्रतिमल्लन्यायेन वादिप्रतिवादिनौ ॥ १६ ॥

यौ तौ प्रारम्भकप्रत्यारम्भकौ पूर्वमुक्तौ, तावेव परस्परं वादिप्रतिवादिनौ व्यपदिश्येते, यथा-द्वौ नियुध्यमानौ मल्लप्रतिमल्लाविति ॥ १६ ॥

प्रमाणतः स्वपक्षस्थापनप्रतिपक्षप्रतिक्षेपावनयोः कर्म।१७।

वादिना प्रतिवादिना च स्वपक्षस्थापनं परपक्षप्रतिक्षेपश्च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितयमपि कर्तव्यम्, एकतरस्यापि विरहे तत्त्वनिर्णयानुत्पत्तेः । अत एव स्वपक्षेत्यादिद्विवचनेनोपक्रम्यापि कर्मेत्येकवचनम्, यथेन्धनध्मानाधिश्रयणादीनामन्यतमस्याप्यपाये विक्लित्तेरनिष्पत्तेः सर्वेषामपि पाक इत्येकतया व्यपदेश इति । स्वपक्षस्थापनपरपक्षप्रतिक्षेपयोः समासेन निर्देशः क्वचिदेकप्रयत्ननिष्पन्नताप्रत्यायनार्थम् । यदा हि निवृत्तायां प्रथमकक्षायां प्राप्तावसरायां च द्वितीयकक्षायां प्रतिवादी न किञ्चिद् वदति, तदानीं प्रथमकक्षायां स्वदर्शनानुसारेण सत्प्रमाणोपक्रमत्वे स्वपक्षस्थापनमेव परपक्षप्रतिक्षेपः, यदा वा-विरुद्धत्वादिकमुद्भावयेत्, तदा परपक्षप्रतिक्षेप एव स्वपक्षसिद्धिः ; इति समासेऽपि तुल्यकक्षताप्रदर्शनार्थमितरेतरयोगद्वन्द्वः । यथा स्वपक्षः स्थाप्यते तथा परपक्षः प्रतिक्षेप्यः, यथा चायं प्रतिक्षिप्यते तथा स्वपक्षः स्थाप्यः, न तु सर्वत्र पारिशेष्यात् परितोषिणा भवितव्यम् । " मानेन पक्षप्रतिपक्षयोः क्रमात्, प्रसाधनक्षेपणकेलिकर्मठौ । वादेऽत्र मल्लप्रतिमल्लनीतितो, वदन्ति वादिप्रतिवादिनौ बुधाः ॥ १ ॥ " ॥ १७ ॥

वादिप्रतिवादिसिद्धान्ततत्त्वनदीष्णत्वधारणाबाहुश्रुत्यप्रतिभाक्षान्तिमाध्यस्थ्यैरुभयाभिमताः सभ्याः ॥१८॥

नदीष्ण इति-कुशलः, प्राधान्यख्यापनार्थं वादिप्रतिवादिसिद्धान्ततत्त्वनदीष्णत्वस्य प्रथमं निर्देशः। न चैतद् बहुश्रुतत्वे सत्यवश्यंभावि, तस्यान्यथाऽपि भावात्, अवश्यापेक्षणीयं चैतत्, इतरथा वादिप्रतिवादिप्रतिपादितसाधनदूषणेषु सिद्धान्तसिद्धत्वादिगुणानां तद्बाधितत्वादिदोषाणां चावधारयितुमशक्यत्वात्। सत्यप्येतस्मिन् धारणामन्तरेण न स्वावसरे गुणदोषावबोधकत्वमिति धारणाया अभिधानम्। कदाचिद् वादिप्रतिवादिभ्यां स्वात्मनः प्रौढताप्रसिद्धये स्वस्वसिद्धान्ताप्रतिपादितयोरपि व्याकरणादिप्रसिद्धयोः प्रसङ्गतः प्रयुक्तोद्भावितयोर्विशेषलक्षणच्युतसंस्कारादिगुणदोषयोः परिज्ञानार्थं बाहुश्रुत्योपादानम्। ताभ्यामेव स्वस्वप्रतिभयोत्प्रेक्षितयोस्तत्तद्गुणदोषयोर्निर्णयार्थं प्रतिभायाः प्रतिपादनम्। वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये यस्य दोषोऽनुमन्यते स यदि कश्चिद् कदाचित् परुषमप्यभिदधीत, तथापि नैते सभासदः कोपपिशाचस्य प्रवेशं सहन्ते, तत्त्वावगमव्याघातप्रसङ्गादिति क्षान्तेरुक्तिः । तत्त्वं विदन्तोऽपि पक्षपातेन गुणदोषौ विपरीतावपि प्रतिपादयेयुरिति माध्यस्थ्यवचनम्। एभिः षड्भिर्गुणैरुभयोः प्रकरणात् वादिप्रतिवादिनोरभिप्रेताः सभ्या भवन्ति । सभ्या इति बहुवचनं त्रिचतुरादयोऽमी प्रायेण कर्तव्या इति ज्ञापनार्थम्, तदभावेऽपि द्वावेको वाऽसौ विधेयः ॥ १८ ॥

वादिप्रतिवादिनोर्यथायोगं वादस्थानककथाविशेषाङ्गीकारणाऽग्रवादोत्तरवादिनिर्देशः, साधकबाधकोक्तिगुणदोषाऽवधारणम् यथाऽवसरं तत्त्वप्रकाशनेन कथाविरमणम्, यथासंभवं सभायां कथाफलकथनं चैषां कर्माणि ।१९।

यत्र स्वयमस्वीकृतप्रतिनियतवादस्थानकौ वादिप्रतिवादिनौ समुपतिष्ठेते, तत्र सभ्यास्तौ प्रतिनियतं वादस्थानकं सर्वानुवादेन दूष्यानुवादेन वा वर्गपरिहारेण वा वक्तव्यमित्यादिर्योऽसौ कथाविशेषस्तं चाङ्गीकारयन्ति अस्याग्रवादोऽस्य चोत्तरवाद इति च निर्दिशन्ति, वादिप्रतिवादिभ्यामभिहितयोः साधकबाधकयोर्गुणं दोषं चावधारयन्ति। यदेकतरेण प्रतिपादितमपि तत्त्वं मोहादभिनिवेशाद् वाऽन्यतरोऽनङ्गीकुर्वाणः कथायां न विरमति, यद्वा वा द्वावपि तत्त्वपराङ्मुखमुदीरयन्तौ न विरमतः, तदा तत्त्वप्रकाशनेन तौ विरमयन्ति । यथायोगं च कथायाः फलं जयपराजयादिकमुद्घोषयन्ति, तैः खलूद्घोषितं तन्निर्विवादतामवगाहते। " सिद्धान्तद्वयवेदिनः प्रतिभया प्रेम्णा समालिङ्गिता—स्तत्तच्छास्त्रसमृद्धिबन्धुरधियो निष्पक्षपातोदयाः । क्षान्त्या धारणया च रञ्जितहृदो बाढं द्वयोः संमताः, सभ्याः शम्भुशिरोनदीशुचिशुभैर्लभ्यास्त एते बुधैः ॥ १ ॥ " ॥ १९ ॥

प्रज्ञाज्ञैश्वर्यक्षमामाध्यस्थ्यसंपन्नः सभापतिः ॥ २० ॥

यद्यप्युक्तलक्षणानां सभ्यानां शाठ्यं न संभवति, तथापि वादिनः प्रतिवादिनो वा जिगीषोस्तत् संभवत्येवेति सभ्यानपि प्रति विप्रतिपत्तौ विधीयमानायां नाऽप्राज्ञः सभापतिस्तत्र तत्समयोचितं तथा तथा विवेक्तुमलम्, न चासौ सभ्यैरपि बोधयितुं शक्यते, स्वाधिष्ठितवसुन्धरायामस्फुरिताऽऽज्ञैश्वर्यो न स कलहं व्यपोहितुमुत्सहते, उत्पन्नकोपा हि पार्थिवा यदि न तत्फलमुपदर्शयेयुः, तदा निदर्शनमकिंचित्कराणां स्युः, इति सफले तेषां कोपे वादोपमर्द एव भवेदिति । कृतपक्षपाते च सभापतौ सभ्या अपि भीतभीता इवैकतः किल कलङ्कः, अन्यतश्चालम्बितपक्षपातः प्रतापप्रज्ञाधिपतिः सभापतिरिति ' इतस्तटमितो व्याघ्रः ' इति नयेन कामपि कष्टां दशामाविशेयुः, न पुनः परमार्थं प्रथयितुं प्रभवेयुः, इत्युक्तं प्रज्ञाऽऽज्ञैश्वर्यक्षमामाध्यस्थ्यसंपन्न इति ॥ २० ॥

वादिसभ्याऽभिहिताऽवधारणकलहव्यपोहाऽऽदिकं चास्य कर्म ॥ २१ ॥

वादिभ्यां सभ्यैश्चाभिहितस्याऽर्थस्याऽवधारणम्, वादिनोः कलहव्यपोहो यो येन जीयते स तस्य शिष्य इत्यादेर्वादिप्रतिवादिभ्यां प्रतिज्ञातस्यार्थस्य कारणा, पारितोषिकवितरणादिकं च सभापतेः कर्म । " विवेकवाचस्पतिरुच्छ्रिताज्ञः, क्षमान्वितः संहृतपक्षपातः । सभापतिः प्रस्तुतवादिसभ्यै-रभ्यर्थ्यते वादसमर्थनार्थम् ॥ १ ॥ " ॥ २१ ॥

अथ जिगीषुवादे कियत्कक्षं वादिप्रतिवादिभ्यां वक्तव्यमिति निर्णेतुमाहुः—

सजिगीषुकेऽस्मिन् यावत्सभ्यापेक्षं स्फूर्तौ वक्तव्यम्।२२।

सह जिगीषुणा जिगीषुभ्यां जिगीषुभिर्वा वर्तते योऽसौ तथा तस्मिन् वादे, वादिप्रतिवादिगतायाः स्वपक्षसिद्धिपरपक्षप्रतिक्षेपविषयायाः शक्तेरशक्तेश्च परीक्षणार्थं यावत् तत्र भवन्तः सभ्याः किलाऽपेक्षन्ते, तावत् कक्षाद्वयत्रयादिस्फूर्तौ सत्यां वादिप्रतिवादिभ्यां वक्तव्यम् । ते च वाच्यौचित्यपरतन्त्रतया कदाचित् क्वचित् कियदप्यपेक्षन्ते इति नास्ति कश्चित् कक्षानियमः । इह हि जिगीषुतरतया यः कश्चिद् विपश्चित् प्रागेव पराक्षेपपुरःसरं वादसंग्रामसीम्नि प्रवर्तते, तस्य स्वयमेव वादवि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शेषपरिग्रहे तदपरिग्रहे सभ्यैस्तत्समर्पणे वाऽग्रवादेऽधिकारः; तेन सभ्यसभापतिसमक्षमक्षोभेण प्रतिवादिनमुद्दिश्याऽवश्यं स्वसिद्धान्तबुद्धिवैभवानुसारितया साधुसाधनं स्वपक्षसिद्धयेऽभिधानीयम्। अथ क्षोभादेः कुतोऽपि प्रागेवाऽसौ वक्तुमशक्तो भवेत् तदानीं दूरीकृतसमस्तमत्सरविकारैः सभासारैरुभयोरपि वस्तुव्यवस्थापनदूषणशक्तिपरीक्षणार्थं तदितरस्याग्रे वादेऽभिषेकः कार्यः। अथ वादिनस्तूष्णीम्भावादेव पराजितत्वेन कथापरिसमाप्तेः किमितरस्याग्रवादाभिषेकेण ?, इति चेत्। स्यादेतत्, यदि प्रतिवादिनोऽपि पक्षो न भवेत्, सति तु तस्मिन् वादीव तमसमर्थयमानोऽसौ न जयति, नापि जीयते, प्रौढिप्रदर्शनार्थं तु तद्गृहीतमुक्तमग्रवादमङ्गीकुर्वाणः श्लाघ्यो भवेत्। उभावप्यनङ्गीकुर्वाणौ तु भङ्गयन्तरेण वादमेव निराकुरुत इति तयोः सभ्यैः सभावहिर्भाव एवाऽऽदेष्टव्यः। तत्र वादी-स्वपक्षविधिमुखेन वा, परपक्षप्रतिषेधमुखेन वा साधनमभिदधीत, यथा—जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति, नेदं निरात्मकं तत एवेति। अत्र च यद्यप्यर्थान्तराद्यभिधानेऽपि वस्तुनः साधनदूषणयोरसंभवाद् न कथोपरमः, तथापि परार्थानुमाने वक्तुर्गुणदोषा अपि परीक्ष्यन्त इति न्यायात् स्वात्मनोऽश्लाघ्यत्वविघाताय यावदेवावदातं तावदेवाभिधातव्यम्। अन्यथा शब्दानित्यत्वं साधयितुकामस्य 'प्रागेव नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुः प्राणो नामोर्ध्वमाक्रामन्नुरःप्रभृतीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते, स विधार्यमाणः स्थानमभिहन्ति, तस्मात् स्थानाद् ध्वनिरुत्पद्यते' इत्यादिशिक्षासूत्रोपदिष्टशब्दोत्पत्तिस्थानादिनिरूपणां कर्णकोटरप्रवेशप्रक्रियां च प्रकाश्य य एवंविधः शब्दः सोऽनित्यः कृतकत्वादिति हेतुमुपन्यस्य पुनः पटकुटादिदृष्टान्तमुत्पत्त्यादिमुखेन वर्णयतः प्रथमकक्षैव न समाप्येत, कुतः प्रतिवादिनोऽवकाशः ?। किञ्च—परप्रतिपत्तये वचनमुच्चार्यत इति यावदेव परेणाऽऽकाङ्क्षितम्, तावदेव युक्तं वक्तुम्। लोकेऽपि वादिनोः करणावतीर्णयोरेकः स्वकीयकुलादिवर्णनां कुर्वाणः पराक्रियते, प्रकृतानुगतमेवोच्यतामिति चानुशिष्यते। किं पुनस्तदवदातम् ? इति चेत्, यस्मिन्नभिहिते न भवति मनागपि सचेतसां चेतसि क्लेशलेशः; एते हि महात्मनो निष्प्रतिमप्रतिभाप्रेयसीपरिशीलनसुकुमारहृदयाः स्वल्पेनाप्यर्थान्तरादिसंकीर्तनेन प्रकृतार्थप्रतिपत्तौ विघ्नायमानेन न नाम न क्लिश्यन्ति। तेन स्वस्वदर्शनानुसारेण साधनं दूषणं चाऽर्थान्तरन्यूनक्लिष्टतादिदोषाऽकलुषितं वक्तव्यम्। तत्रार्थान्तरं प्रागेवाऽभ्यधायि न्यूनं तु नैयायिकस्य चतुरवयवाद्यनुमानमुपन्यस्यतः। क्लिष्टं यथायत् कृतकं,कृतकश्चायं, यथा घटः तस्मादनित्यस्तत्तदनित्यम्, कृतकत्वाच्छब्दोऽनित्य इत्यादि व्यवहितसंबन्धम्। नेयार्थं यथा—शब्दोऽनित्यो द्विकत्वादिति, द्वौ ककारौ यत्रेति द्विकशब्देन कृतकशब्दो लक्ष्यते, तेन कृतकत्वादित्यर्थः। व्याकरणसंस्कारहीनं यथा—शब्दोऽनित्यः कृतकत्वस्मादिति। असमर्थं यथा—अयं हेतुर्न स्वसाध्यगमक इत्यर्थेनाऽसौ स्वसाध्यघातक इति। अश्लीलं यथा—नोदनार्थे चकारादिपदम्। निरर्थकं यथा—शब्दो वै अनित्यः कृतकत्वात् खल्विति। अपरामृष्टविधेयांशं यथा—अनित्यशब्दः कृतकत्वादिति, अत्र हि शब्दस्याऽनित्यत्वं साध्यं प्राधान्यात् पृथग् निर्देश्यम्, न तु समासे गुणीभावकालुष्यकलङ्कितमिति। पृथग् निर्देशेऽपि पूर्वमनुवाद्यस्य शब्दस्य निर्देशः शस्यतरः, समानाधिकरणतायां तदनुविधेयस्यानित्यत्वस्याऽलब्धास्पदस्य तस्य विधातुमशक्यत्वादित्यादि। तदेवमादि वदन् वादी समाश्लिष्यते नियतमश्लाघ्यतया। प्रतिवादिना तु स्वस्यानुषङ्गिकश्लाघ्यत्वसिद्धये तत्प्रकाश्य साधनदूषणे यत्नवता भाव्यम्, न तु तावतैव स्वात्मनि विजयश्रीपरिरम्भः संभावनीयः। प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽकलङ्कोऽपि प्राह-वादन्याये दोषमात्रेण यदि पराजयप्राप्तिः पुनरुक्तवच्छ्रुतिदुष्टार्थदुष्टकल्पनादुष्टादयोऽलङ्कारदोषाः पराजयाय कल्पेरन्निति। ननु वादी साधनमभिधाय कण्टकोद्धारं कुर्वीत वा, न वा ?, कामचार इत्याचक्ष्महे। तत्राऽकरणे तावद् न गुणो न दोषः। तथाहि-स्वप्रौढेरप्रदर्शनाद् न गुणः, परानुद्भावितस्यैव दूषणस्यानुद्धाराच्च न दोषः, उद्भावितं हि दूषणमनुद्धरन् दुष्येत्। अथ कथं न दोषः ?, यतः सत्यपि हेतोः सामर्थ्ये तदप्रतिपादानात् सन्देहे प्रारब्धासिद्धिः, इत्यवश्यकरणीयं दूषणोद्धरणमिति चेत्; कस्यायं सन्देहः ? वादिनः, प्रतिवादिनः सभ्यानां वा। न तावद् वादिनः, तस्यासत्यपि सामर्थ्ये तन्निर्णयाभिमानेनैव प्रवृत्तेः, किं पुनः सति प्रतिवादिसभ्यसन्देहापोहाय तु सामर्थ्यं प्रमाणेनैव प्रदर्शनीयम् ?। तत्रापि प्रमाणान्तरेण सामर्थ्याप्रदर्शने सन्देहः, प्रदर्शने तु तत्रापि प्रमाणान्तरेण तत्प्रदर्शनेनाऽनवस्था। अथ यथा स्वार्थानुमाने हेतोः साध्यमध्यवसीयते ? हेतोश्च प्रत्यक्षादिभिः प्रतिपत्तिः, न चाऽनवस्था, तथा परार्थानुमानेऽपीति चेत्, तर्हि यथा प्रत्यक्षादेः कस्यचिदभ्यासदशायां स्वतः सिद्धप्रमाणतयाऽनपेक्षितसामर्थ्यप्रदर्शनस्यापि गमकत्वम्, एवमन्ततो गत्वा कस्यचित् परार्थानुमानस्यापि तथैव तदवश्यमभ्युपेयम्; इति गतं सामर्थ्यप्रदर्शननियमेन। अथ यत्रानभ्यासदशायां परतः प्रामाण्यसिद्धिः, तत्र तत्प्रदर्शनीयमेवेति चेत्, यदि न प्रदर्श्यते किं स्यात् ?, ननूक्तमेव—सन्देहात् प्रारब्धासिद्धिः, इति चेत्। तर्हि यथा सदपि सामर्थ्यमप्रदर्शितं न प्रतिवादिना प्रतीयते, तद्वत् सन्देहोऽपि प्रतिवादिगतोऽप्रदर्शितः कथं वादिना प्रतीयेत ?। स्वबुद्धयोत्प्रेक्ष्यत इति चेत्, इतरेणापि यदि तत्सामर्थ्यं स्वबुद्ध्यैवोत्प्रेक्ष्येत, तदा किं क्षुण्णं स्यात् ?। अथ वादिनः साधनसमर्थनशक्तिं परीक्षितुं न तदुत्प्रेक्ष्यते तर्हि प्रतिवादिनो दूषणशक्तिं परीक्षितुमितरेणापि न सन्देहः स्वयमुत्प्रेक्ष्यते। अथ द्वितीयकक्षायां दूषणान्तरवत् सन्देहमपि प्रदर्शयन् स्फोरयत्येव—दूषणशक्तिं प्रतिवादी, इति चेद्। तर्हि वाद्यपि तृतीयकक्षायां दूषणान्तरवत् सन्देहमपि व्यपोहमानः किं न समर्थनशक्तिं व्यक्तीकरोति ?, किञ्च—केनचित् प्रकारेण सामर्थ्यप्रदर्शनात् कस्यचित् सन्देहस्यापोहेऽपि तस्य प्रकारान्तरेण संभवतोऽनपोहे कथं प्रारब्धासिद्धिः ?, विप्रतिपत्तेरिव सन्देहस्यापि ह्यपरिमिताः प्रकाराः, इति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किंयन्तस्ते स्वयमेवाऽऽशङ्क्याऽऽशङ्क्य शक्याः पराकर्तुम् ?। न च प्रदर्शितेऽपि सामर्थ्ये स्वपक्षैकपक्षपातिनोऽस्य विश्रम्भः संभवति, येन प्रारब्धमवबुध्येत। दृश्यन्ते हि साधनमिव तत्समर्थनमपि कदर्थयन्तः प्रतिवादिनः, इति साधनमभिधाय सामर्थ्याऽप्रदर्शनेऽपि दोषाभावात् स्थितमेतदकरणे न गुणो न दोष इति। करणे तु यदेव सन्देहस्य विवादस्य वा भवेदास्पदम्, तस्यैवोद्धारं कुर्वाणः समलंक्रियते प्रौढतागुणेन, यदुद्धरेत् तत्सन्दिग्धमेव विवादापन्नमेव चोद्धरेदित्येवमवधार्यते, न तु यावत् सन्दिग्धं विवादापन्नं वा तावत् सर्वमुद्धरेदेव; असंख्याता हि सन्देहविवादयोर्भेदाः, कस्तान् कात्स्न्र्येन ज्ञातुं निराकर्तुं वा शक्नुयात् ?। इति यावत्तेभ्यः प्रसिद्धिः प्रतिभा वा भगवति प्रदर्शयति, तावदुद्धरणीयम्, तदधिकोद्धारकरणे तु कदर्थ्यते सिद्धसाधनाभिधानादिदोषेण। सिद्धमपि साधयंश्च कदा नामायं वावदूको विरमेदिति सत्यं व्याकुलाः स्मः, एकेन प्रमाणेन समर्थितस्यापि हेतोः पुनः समर्थनाय प्रमाणान्तरोपन्यासप्रसङ्गात्, साध्यादेरप्येवम्, इति न काञ्चिदमुष्य सीमानमालोकयामः। तेन सिद्धस्य समर्थनमनर्थकत्वाद् न कर्तव्यम्। 'सिद्धसाध्यसमुच्चारणे सिद्धं साध्यायोपदिश्यते' इति न्यायात् साध्यसिद्धये त्वभिधानमस्यावश्यमुपेयम् अपरथा ह्यसिद्धमसिद्धेन साधयतः किं नाम न सिद्ध्येत् ?। यत्र तु सिद्धत्वेननोपन्यस्तस्यापि सिद्धत्वं सन्दिग्धं विवादाधिरूढं वा भवेत्, तत्र तत्समर्थनं सार्थकमेव। ततः स्थितमेतद् यो यत् सिद्धमभ्युपैति, तं प्रति न तत्साधनीयमिति। बौद्धो हि मीमांसकं प्रत्यनित्यः शब्दः सत्त्वात्, इत्यभिधायोभयसिद्धस्यार्थक्रियाकारित्वरूपस्य सत्त्वस्यासिद्धत्वमुद्धरन् न कमप्यर्थं पुष्णाति, केवलं सिद्धमेवार्थं समर्थयमानो न सचेतसामादरास्पदम्। अनैकान्तिकत्वं पुनराशङ्क्योद्धरन्नधिरोपयति सरसं सभ्यचेतसि स्वप्रौढिवल्लरीम्। तदिह यथा—कश्चित् चिकित्सकः कुतश्चित् पूर्वरूपादेः संभाव्यमानोत्पत्तिं दोषं चिकित्सति, अन्यः कश्चिदुत्पन्नमेव, कश्चित्त्वसंभाव्यमानोत्पत्तितयाऽनुत्पन्नतया च निश्चिताभावम्, इत्येते त्रयोऽपि यथोत्तरमुत्तममध्यमाधमाः, तद्वद्वाद्यप्येकः कथञ्चिदाशङ्क्यमानोद्भावनं दोषं समुद्धरति, अपरः परोद्भावितम्, अन्यस्त्वनाशङ्क्यमानोद्भावनमनुद्भावितं चेति, एतेऽपि त्रयो यथोत्तरमुत्तममध्यमाधमा इति परमार्थः। "स्वपक्षसिद्धये वादी, साधनं प्रागुदीरयेत्। यदि प्रौढिः प्रिया तत्र, दोषानपि तदुद्धरेत् ॥ १ ॥" इति, संग्रहश्लोकः। द्वितीयकक्षायां तु प्रतिवादिना स्वात्मनो निर्दोषत्वसिद्धये वादिवदवदातमेव वक्तव्यम्। द्वयं च विधेयम्—परपक्षप्रतिक्षेपः, स्वपक्षसिद्धश्च। तत्र कदाचिद् द्वयमप्येतदेकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यते, यथा नित्यः शब्दः कृतकत्वात्, इत्यादौ विरुद्धोद्भावने, परप्रहरणेनैव परप्राणव्यपरोपणात्मरक्षणप्रायं चैतत् प्रौढतारूपप्रियसखीसमन्वितामेव विजयश्रियमनुषञ्जयति। असिद्धताद्युद्भावने तु स्वपक्षसिद्धये साधनान्तरमनित्यः शब्दः सत्त्वादित्युपाददानः केवलामेव तामवलम्बते। तदप्यनुपाददानस्त्वसिद्धताद्युद्भावनभूतं श्लाघ्यतामात्रमेव प्राप्नोति, न तु प्रियतमां विजयश्रियम्। यदुदयनोऽप्युपादिशत्—वादिवचनार्थमवगम्याऽनूद्य दूषयित्वा प्रतिवादी स्वपक्षे स्थापनां प्रयुञ्जीत, अप्रयुञ्जानस्तु दूषितपरपक्षोऽपि न विजयी श्लाघ्यस्तु स्यात्, आत्मानमरक्षन् परघातीव वीर इति। तद्यदीच्छेत् प्रौढतान्वितां विजयश्रियम्, तत्राऽप्रयत्नोपनतां तयोः प्राणभूतां हेतोर्विरुद्धतामवधीरयेत्, निपुणतरमन्विष्य सति संभवे तामेव प्रसाधयेत्। न च विरुद्धत्वमुद्भाव्य स्वपक्षसिद्धये साधनान्तरमभिदधीत, व्यर्थत्वस्य प्रसक्तेः। एवं तृतीयकक्षास्थितेन वादिना विरुद्धत्वे परिहृते चतुर्थकक्षायामपि प्रतिवादी तत् परिहारोद्धारमेव विदधीत, न तु दूषणान्तरमुद्भाव्य स्वपक्षं साधयेत्, कथाविरामाभावप्रसङ्गात्। नित्यः शब्दः कृतकत्वात्, इत्यादौ हि कृतकत्वस्य विरुद्धत्वमुद्भावयता प्रतिवादिना नियतं तस्यैवाऽनित्यत्वसिद्धौ साधनत्वमध्यवसितम्, अत एव न तदाऽसौ साधनान्तरमारचयति। स चेदयं चतुर्थकक्षायां तत्परिहारोद्धारमनवधारयन् प्रकारान्तरेण परपक्षं प्रतिक्षिपेत्, स्वपक्षं च साधयेत्, तदानीं वादिना तद्दूषणे कृते स पुनरन्यथा समर्थयेत्, इत्येवमनवस्था। किञ्च—एवं चेत् प्रतिवादी विरुद्धत्वोद्भावनमुखेनाऽनित्यत्वसिद्धौ स्वीकृतमपि कृतकत्वं हेतुं परिहृत्य सत्त्वादिरूपं हेत्वन्तरमुररीकुर्यात्, तदा वाद्यपि नित्यत्वसिद्धौ तमुपात्तं परित्यज्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वादि साधनान्तरमभिदधानः कथं वार्येत ?, अनिवारणे तु सैवानवस्था सुस्थाप्यते। तदिदमिह रहस्यम्—उपक्रान्तं साधनं दूषणं वा परित्यज्य नापरं तदुदीरयेदिति। विरुद्धत्वोद्भावनवत् प्रत्यक्षेण पक्षबाधोद्भावनेऽप्येकप्रयत्ननिर्वर्त्ये एव परपक्षप्रतिक्षेपस्वपक्षसिद्धी। कदाचिद् भिन्नप्रयत्ननिर्वर्त्ये एते संभवतः, तत्र चायमेव क्रमः—प्रथमं परपक्षप्रतिक्षेपः, तदनु स्वपक्षसिद्धिरिति। यथा-नित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वात्, प्रमेयत्वाद् वा, इत्युक्तेऽसिद्धत्वानैकान्तिकत्वाभ्यां परपक्षं प्रतिक्षिपेत्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, इत्यादिना च प्रमाणेन स्वपक्षं साधयेत्। ननु न परं निगृह्य स्वपक्षसिद्धये साधनमभिधानार्हम्, पराजितेन सार्धं विवादाभावात्, न खलु—लोकेऽपि कृतान्तवक्त्रान्तरसंचारिणा सह रणो दृष्टः श्रुतो वेति। तत् किमिदानीं द्वयोर्जिगीषतोः क्वचिद्देशे राज्याभिषेकाय स्वीकृतविभिन्नराजबीजयोरेकश्चेदन्यतरं निहन्यात्, तदा स्वीकृतं राजबीजं न तत्राभिषिञ्चेत् ?, तदर्थमेव ह्यसौ परं निहतवान्। अकलङ्कोऽप्यभ्यधात्—" विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य, वादिनं जयतीतरः। आभासान्तरमुद्भाव्य, पक्षसिद्धिमपेक्षते " ॥ १ ॥ इति। परपक्षं च दूषयन् यावता दोषविषयः प्रतीयते, तावदनुवदेत् निराश्रयस्य दोषस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्। न च सर्वं दोषविषयमेकदैवाऽनुवदेत् एवं हि युगपद् दोषाभिधानस्य कर्तुमशक्यत्वात्, क्रमेण दोषवचने कार्ये, ततो निर्धार्य पुनः प्रकृतदोषविषयः प्रदर्शनीयः, अप्रदर्शिते तस्मिन् दोषस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तथा च द्विरनुवादः स्यात्, तत्र च प्राक्तनं सर्वानुभाषणं व्यर्थमेव भवेदिति। अनुवादश्चाऽनित्यः शब्दः कृतकत्वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दियुक्ते कृतकत्वादित्यसिद्धो हेतुः, कृतकत्वमसिद्धम्, असिद्धोऽयं हेतुरित्येवमादिभिः प्रकारैरनेकधा संभवति । अथ दूषणमेकमनेकं वा कीर्त्तयेत्, किमत्र तत्त्वम्? । पर्षदजिज्ञासायामेकमेव, तस्मादेव परपक्षप्रतिक्षेपस्य सिद्धेर्द्वितीयादिदोषाभिधानस्य वैयर्थ्यात्, तज्जिज्ञासायां च संभवे यावत्स्फूर्त्यनेकमपि प्रौढिप्रसिद्धेः, इति ब्रूमः " दूषणं परपक्षस्य, स्वपक्षस्य च साधनम् । प्रतिवादी द्वयं कुर्याद्, भिन्नाभिन्नप्रयत्नतः " ॥ १ ॥ इति संग्रहश्लोकः । तृतीयकक्षायां तु वादी द्वितीयकक्षास्थितप्रतिवादिप्रदर्शितदूषणमदूषणं कुर्यात्, अप्रमाणयेच्च प्रमाणम्, अनयोरन्यतरस्येव करणे वादाभासप्रसङ्गात् । उदयनोऽप्याह-नापि प्रतिपक्षसाधनमनिवर्त्य प्रथमस्य साधनत्वावस्थितिः, शङ्कितप्रतिपक्षत्वादिति, अदूषयंस्तु रक्षितस्वपक्षोऽपि न विजयी, श्लाघ्यस्तु स्याद्, वञ्चितपरप्रहार इव तमप्रहरमाण इति चेति । न च प्रथमं प्रमाणं दूषितत्वात् परित्यज्य परोदीरितं च प्रमाणं दूषयित्वा स्वपक्षसिद्धये प्रमाणान्तरमाद्रियेत्, कथाविरामाभावप्रसङ्गादित्युक्तमेव । अत एव स्वसाधनस्य दूषणानुद्धारे परसाधने विरुद्धत्वोद्भावनेऽपि न जयव्यवस्था; तदुद्धारं तु तदुद्भावनं सुतरां विजयायेति को नाम नानुमन्यते ? । सोऽयं सर्वविजयेभ्यः श्लाघ्यते विजयो यत्परोऽङ्गीकृतपक्षं परित्यज्य स्वपक्षसाधनं कार्यत इति । वादी तृतीयकक्षायां प्रतिवादिप्रदर्शितं दूषणं दूषयेत, पूर्वं प्रमाणं चाप्रमाणयेदिति । एवं चतुर्थपञ्चमकक्षादावपि स्वयमेव विचारणीयम् ॥ २२ ॥

अथ तत्त्वनिर्णिनीपुवादे कियत्कक्षं वादिप्रतिवादिभ्यां वक्तव्यमिति निर्णेतुमाहुः—

उभयोस्तत्त्वनिर्णिनीपुत्वे यावत् तत्त्वनिर्णयं यावत्स्फूर्तिं च वाच्यम् ॥ २३ ॥

एकः स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीपुः परश्च परत्र, द्वौ वा परस्परम्, इत्येवं द्वावपि यदा तत्त्वनिर्णिनीषू भवतस्तदा यावता तत्त्वस्य निर्णयो भवति, तावत् ताभ्यां स्फूर्तौ सत्यां वक्तव्यम्; अनिर्णये वा यावत् स्फुरति तावद् वक्तव्यम् । एवं च स्थितमेतत्—

" स्वं स्वं दर्शनमाश्रित्य, सम्यक्साधनदूषणैः ।
जिगीषोर्निर्णिनीर्षोर्वा, वाद एकः कथाः भवेत् ॥ १ ॥
भङ्गः कथात्रयस्याऽत्र, निग्रहस्थाननिर्णयः ।
श्रीमद्रत्नाकरग्रन्थाद्, धीधनैरवधार्यताम् ॥ २ ॥"

यतः—

" प्रमेयरत्नकोटीभिः, पूर्णो रत्नाकरो महान् ।
तत्रावतारमात्रेण, वृत्तेरस्याः कृतार्थता ॥ १ ॥
प्रमाणे च प्रमेये च, बालानां बुद्धिसिद्धये ।
किञ्चिद्वचनचातुर्य—चापलायेयमादधे ॥ २ ॥
न्यायमार्गादतिक्रान्तं, किञ्चिदत्र मतिभ्रमात् ।
यदुक्तं तार्किकैः शोध्यं, तत् कुर्वाणैः कृपां मयि ॥ ३ ॥
आशावासः समयसमिधां संचयैश्चीयमाने,
श्रीनिर्वाणोचितशुचिवचश्चातुरीचित्रभानौ ।
प्राजापत्यं प्रथयति तथा सिद्धराजे जयश्री—
र्यस्योद्वाहं व्यधित स सदा नन्दताद् देवसूरिः ॥ ४ ॥
प्रज्ञातः पदवेदिभिः स्फुटदृशा संभावितस्तार्किकैः,
कुर्वाणः प्रमदाद् महाकविकथां सिद्धान्तमार्गाध्वगः ।
दुर्वाद्यङ्कुशदेवसूरिचरणाम्भोजद्वयीषट्पदः,
श्रीरत्नप्रभसूरिरल्पतरधीरेतां व्यधाद् वृत्तिकाम् ॥ ५ ॥
वृत्तिः पञ्च सहस्राणि, येनेयं परिपठ्यते ।
भारती भारती चाऽस्य, प्रसर्पन्ति प्रजल्पतः ॥ ६ ॥"

रत्ना० ८ परि० ।

शुष्कवादादिवादस्वरूपनिरूपणायाऽऽह—

शुष्कवादो विवादश्च, धर्मवादस्तथा परः ।
इत्येष त्रिविधो वादः, कीर्तितः परमर्षिभिः ॥ १ ॥

शुष्क एव शुष्को—नीरसः; गलतालुशोषमात्रफल इत्यर्थः, स चासौ वादश्च कमपि विप्रतिपत्तिविषयमाश्रित्य प्रतिवादिना सह वदनं शुष्कवादः । तथा विरूपो—जयप्राप्तावपि परलोकादिबधको वादो विवादः, चशब्द उक्तसमुच्चये, तथा धर्मप्रधानो वादो धर्मवादः, तथा तेनात्यन्तमाध्यस्थ्यादिना धर्महेमकषादिपरीक्षालक्षणेन वा प्रकारेण समुच्चयार्थो वा तथा शब्दः, परः—प्रधानोऽपरो वा उक्तवादाभ्यामन्यः इत्यनेन प्रकारेण एषोऽनन्तरोक्तास्तिस्रो विधाः—प्रकारा यस्य स त्रिविधः, कीर्तितः—संशब्दितः परमर्षिभिः-प्रधानमुनिभिरिति ॥ १ ॥

आद्यवादस्वरूपमाह—

अत्यन्तमानिना सार्द्धं, क्रूरचित्तेन च दृढम् ।
धर्मद्विष्टेन मूढेन, शुष्कवादस्तपस्विनः ॥ २ ॥

अत्यन्तम्—अत्यर्थं मानी—गर्वी अत्यन्तमानी तेन स हि जितोऽपि परगुणं न मन्यते सार्द्धं—सह क्रूरचित्तेन—संक्लिष्टाध्यवसायेन स हि जितो वैरी स्यात्, चशब्दः समुच्चये, तथा दृढमत्यर्थं धर्मो—जिनाख्यातः श्रुतचारित्ररूपस्तस्यैव दुर्गतौ प्रपततां धरणसमर्थत्वात्तस्य द्विष्टो—द्वेषवान् धर्म्मद्विष्टः; तेन स हि निराकृतोऽपि धर्मे न प्रतिपद्यतेऽतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्, तथा—मूढेन—युक्तायुक्तविशेषानभिज्ञेन स हि वादेऽनधिकृत एव प्रतिवादिना यो वादः स इति गम्यते । किमित्याह—शुष्कवादोऽनर्थकवादो भवतीति गम्यम् । कस्येत्याह-तपस्विनः—साधोः तपस्विग्रहणं चेह तस्य सदैवोचितप्रवृत्तिकतया योग्यत्वेन शास्त्रेऽधिकारित्वोपदर्शनार्थमितरस्य चान्यथात्वेन तत्रानधिकारितोपदर्शनार्थं च । अथवा—हे तपस्विनः ! इति । अथ कथमस्य शुष्कवादत्वम्? अनर्थवर्द्धनत्वादिति ब्रूमः, विजयेऽभिभवे तपस्विना कृते सति अस्यात्यन्ताभिमानादिदोषयुक्तस्य प्रतिवादिनः अतिपतनमतिपातः—मरणं स एव आदिर्यस्य चित्तनाशादिदोषवृन्दस्य तदतिपातादि भवतीति गम्यते । स हि विजितो मानात् म्रियेत चित्तनाशैरानुबन्धाशुभकर्मबन्धसंसारपरिभ्रमणादिकं वाऽऽप्नुयात् । अथवा-साधोरेव वैरानुबन्धात् सामर्थ्ये सत्यतिपातं शासनोच्छेदादि वा कुर्यादिति भावना । तथा लाघवं महात्म्यं हानिर्भवतीति गम्यम् । द्वा०१२ अष्ट० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मव्यवस्थातो वादः प्रादुर्भवतीति तत्स्वरूपमिहोच्यते—

शुष्कवादो विवादश्च, धर्मवादस्तथाऽपरः ।
कीर्तितस्त्रिविधो वाद, इत्येवं तत्त्वदर्शिभिः ॥ १ ॥

शुष्केति—स्पष्टः ॥ १ ॥

परानर्थो लघुत्वं वा, विजये च पराजये ।
यत्रोक्तौ सह दुष्टेन, शुष्कवादः स कीर्तितः ॥ २ ॥

परेति—यत्र दुष्टेनात्यन्तमानक्रोधोपेतचित्तेन सहोक्तौ सत्याम् । विजये सति परस्य—प्रतिवादिनः परः—प्रकृष्टो वाऽनर्थो—मरणचित्तनाशवैरानुबन्धसंसारपरिभ्रमणरूपः साध्वतिपातनशासनोच्छेदादिरूपो वा । पराजये च सति लघुत्वं वा " जितो जैनोऽतोऽसारं जैनशासनम् " इत्येवमवर्णवादलक्षणं भवति । स शुष्कवादो गलतालुशोषमात्रफलत्वात् कीर्तितः ॥ २ ॥

छलजातिप्रधानोक्ति-र्दुःस्थितेनार्थिना सह ।
विवादोऽत्रापि विजया-लाभो वा विघ्नकारिता ॥ ३ ॥

छलेति—दुःस्थितेन दरिद्रेण । अर्थिना लाभख्यातादिप्रयोजनिना सह । छलमन्याभिप्रायेणोक्तस्य शब्दस्याभिप्रायान्तरेण दूषणम्, जातिश्चासदुत्तरम् ; ताभ्यां प्रधानोक्तिः विवादोविरुद्धो वादः अत्रापि—विवादेऽपि विजयालाभः परस्यापि छलजात्याद्युद्भावनपरत्वात् । वा-अथवा विघ्नकारिता अत्यन्ताप्रमादितया छलादिपरिहारेऽपि प्रतिवादिनोऽर्थिनः पराभूतस्य लाभख्यात्यादिविघातध्रौव्यात् । वाधते च परापायनिमित्तता तपस्विनः परलोकसाधनमिति । नात्रोभयथाऽपि फलमिति भावः ॥ ३ ॥

ज्ञातस्वशास्त्रतत्त्वेन, मध्यस्थेनाऽघभीरुणा ।
कथाबन्धस्तत्त्वधिया, धर्मवादः प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

ज्ञातेति-ज्ञातं स्वशास्त्रस्याभ्युपगतदर्शनस्य तत्त्वं येन , एवंभूतो हि स्वदर्शनं दूषितमदूषितं वा जानीते । मध्यस्थेन-आत्यन्तिकस्वदर्शनानुरागपरदर्शनद्वेषरहितेन , एवंभूतस्य हि सुप्रतिपाद्यं तत्त्वं भवति । तथा अघभीरुणा-पातकभयशीलेन, एवंभूतो ह्यसमञ्जसवक्ता न भवतीति । सहेति गम्यते तत्त्वधिया—तत्त्वबुद्ध्या । यः कथाबन्धः स धर्मवादो—धर्मप्रधानो वादः प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

वादिनो धर्मबोधादि, विजयेऽस्य महत्फलम् ।
आत्मनो मोहनाशश्च, प्रकटस्तत्पराजये ॥ ५ ॥

वादिन इति—वादिनो विजये सति । अस्य-प्रागुक्तविशेषणविशिष्टस्य प्रतिवादिनो धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणस्तस्य बोधः प्रतिपत्तिस्तदादि । आदिना अद्वेषपक्षपातावर्णवादादिग्रहः । महदुत्कृष्टं फलं भवति । ततः प्रतिवादिनः सकाशात् पराजये चात्मनोऽधिकृतसाधोः मोहस्यातत्त्वादौ तत्त्वाद्यध्यवसायलक्षणस्य नाशश्च प्रकट इत्युभयथाऽपि फलवानयमिति भावः ॥ ५ ॥

अयमेव विधेयस्त-त्तत्त्वज्ञेन तपस्विना ।
देशाद्यपेक्षयान्योऽपि, विज्ञाय गुरुलाघवम् ॥ ६ ॥

अयमेवेति-तत्तस्मात् तत्त्वज्ञेन तपस्विना । अयमेव-धर्मवाद एव विधेयः । अपवादमाह-देशो-नगरग्रामजनपदादिः, आदिना कालराजसभ्यप्रतिवाद्यादिग्रहः, तदपेक्षया-तदाश्रयणेन गुरुलाघवं-दोषगुणयोरल्पबहुत्वं विज्ञाय अन्योऽपि विवादः कार्यः ॥ ६ ॥

अत्र ज्ञातं हि भगवान् , यत्स नाऽभाव्यपर्षदि ।
दिदेश धर्ममुचिते , देशेऽन्यत्र दिदेश च ॥ ७ ॥

अत्रेति—अत्र देशाद्यपेक्षायां ज्ञातमुदाहरणं हि भगवान् श्रीवर्धमानस्वामी । यत् स न अभाव्यपर्षदि प्रथमसमवसरणेऽयोग्यसदसि धर्मं दिदेश, अन्यत्र चोचिते प्रतिबोध्यजनकलिते देशे धर्मं दिदेश ॥ ७ ॥

विषयो धर्मवादस्य, धर्मसाधनलक्षणः ।
स्वतन्त्रसिद्धः प्रकृतो-पयुक्तोऽसद्ग्रहव्यये ॥ ८ ॥

विषय इति-धर्मवादस्य विषयो धर्मसाधनलक्षणः स्वतन्त्रसिद्धः । सांख्यादीनां षष्टितन्त्रादिशास्त्रसिद्धः । असद्ग्रहस्याशोभनपक्षपातस्य व्यये सति , प्रकृतोपयुक्तः प्रस्तुतमोक्षसाधकः । धर्मवादेनैवासद्ग्रहनिवृत्त्या मार्गाभिमुखभावादिति भावः ॥ ८ ॥

यथाऽहिंसादयः पञ्च-व्रतधर्मयमादिभिः ।
पदैः कुशलधर्माद्यैः , कथ्यन्ते स्वस्वदर्शने ॥ ९ ॥

यथेति—यथाऽहिंसादयः , आदिना सूनृतास्तेयब्रह्मापरिग्रहपरिग्रहः , पञ्च स्वस्वदर्शने व्रतधर्मयमादिभिः , तथा कुशलधर्माद्यैः पदैः कथ्यन्ते । तत्र महाव्रतपदेनैतानि जैनैरभिधीयन्ते । व्रतपदेन च भागवतैः , यदाहुस्ते- " पञ्च व्रतानि पञ्चोपव्रतानि " व्रतानि यमाः, उपव्रतानि नियमाः " इति । धर्मपदेन तु पाशुपतैः, यतस्ते दश धर्मानाहुः—" अहिंसा सत्यवचन-मस्तैन्यं चाप्यकल्पना । ब्रह्मचर्यं तथाऽक्रोधो , ह्यार्जवं शौचमेव च ॥ १ ॥ सन्तोषो गुरुशुश्रूषा , इत्येते दश कीर्तिताः " । १० सांख्यैर्व्यासमतानुसारिभिश्च यमपदेनाभिधीयन्ते—" पञ्च यमाः पञ्च नियमाः " तत्र यमाः—"अहिंसा सत्यमस्तैन्यं ब्रह्मचर्यमव्यवहारश्चेति , " नियमास्तु-" अक्रोधो गुरुशुश्रूषा , शौचमाहारलाघवम् ! अप्रमादश्चेति " कुशलधर्मपदेन च बौद्धैरभिधीयन्ते, यदाहुस्ते—"दशाऽ=कुशलानि, तद्यथा-हिंसा स्तेयान्यथाकामं , पैशून्यं परुषानृतम् । संभिन्नालापंव्यापाद—मभिध्या दृग्विपर्ययम् ॥ १ ॥ पापकर्मेति दशधा, कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् । इति " अत्र चान्यथाकामः—पारदार्यम् , संभिन्नालापोऽसंबद्धभाषणम् , व्यापादः-परपीडाचिन्तनम् , अभिध्या-धनादिष्वसन्तोषः परिग्रह इति यावत् , दृग्विपर्ययो—मिथ्याभिनिवेशः, एतद्विपर्ययाच्च दश कुशलधर्मा भवन्तीति । आदिपदाच्च ब्रह्मादिपदग्रहः । एतान्येव वैदिकादिभिर्ब्रह्मादिपदेनाभिधीयन्ते इति ॥ ९ ॥

मुख्यवृत्त्या क्व युज्यन्ते , न वैतानि क्व दर्शने ।
विचार्यमेतन्निपुणै-रव्यग्रेणान्तरात्मना ॥ १० ॥

मुख्येति—एतानि-अहिंसादीनि क्व दर्शने युज्यन्ते , क्व वा दर्शने न युज्यन्ते, एतन्मुख्यवृत्त्याऽनुपचारेण निपुणैर्धर्मविचारनिष्णातैर्विचारणीयम् नान्यद्वस्त्वन्तराविचारणे धर्मवादाभावप्रसङ्गात् । अव्यग्रेण—स्वशास्त्रनीतिप्रणिधाना-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्याक्षिप्तेन अन्तरात्मना—मनसा शास्त्रान्तरनीत्या ह्येकशास्त्रोक्तप्रकाराणामहिंसादीनामप्रयुज्यमानता स्फुटमेव प्रतीयत इति स्वतन्त्रनीतिप्रणिधानेनैव विषयव्यवस्था विचार्यमाणा फलवतीति भावः ॥ १० ॥

ननु स्वतन्त्रनीत्याऽपि धर्मसाधनविचारणे प्रमाणप्रमेयादिलक्षणप्रणयने परतन्त्रादिविचारणमप्यावश्यकमिति व्यग्रताऽनुपरमे कदा प्रस्तुतविचारावसर इत्यत आह—

प्रमाणलक्षणादेस्तु, नोपयोगोऽत्र कश्चन ।
तन्निश्चयेऽनवस्थाना–दन्यथार्थस्थितेर्यतः ॥ ११ ॥

प्रमाणेति—प्रमाणं-प्रत्यक्षादि तस्य लक्षणं—स्वपराभासिज्ञानत्वादि; तदादेः, आदिना प्रमेयलक्षणादिग्रहः । तस्य त्वधर्मसाधनविषये कश्चनोपयोगो नास्ति । अयमभिप्रायः—प्रमाणलक्षणेन निश्चितमेव प्रमाणमर्थग्राहकमिति तदुपयोग इति । न चायं युक्तः, यतस्तल्लक्षणं निश्चितमनिश्चितं वा स्यात् ? । आद्ये किमधिकृतप्रमाणेन ?, प्रमाणान्तरेण वा ? । यदि तेनैव तदेतरेतराश्रयः, अधिकृतप्रमाणाल्लक्षणनिश्चयः तन्निश्चयाच्चाधिकृतप्रमाणनिश्चय इति । यदि च प्रमाणान्तरेण तन्निश्चयस्तदाह—तन्निश्चये प्रमाणान्तरेण तल्लक्षणनिश्चयेऽनवस्थानात्तन्निश्चायकप्रमाणेऽपि प्रमाणान्तरापेक्षाऽविरामात् । यदि च प्रमाणान्तरेणानिश्चितमेव लक्षणं प्रमाणनिश्चये उपयुज्यते इतीष्यते, तदाह—अन्यथाऽन्यतोऽनिश्चितस्य लक्षणस्योपयोगेऽर्थस्थितेरन्यतोऽनिश्चितेनैव प्रमाणेनार्थसिद्धेः । तदुक्तं हरिभद्राचार्येण–" प्रमाणेन विनिश्चित्य, तदुच्येत न वा ननु । अलक्षितात्कथं युक्ता, न्यायतोऽस्य विनिश्चितिः ॥ १ ॥ सत्यां चास्यां तदुक्त्या किं, तद्वद्विषयनिश्चितेः । तत एवाविनिश्चित्य, तस्योक्ति (र्वा) ध्यान्ध्यमेव हि ॥ २ ॥ " इत्थमत्र प्रमाणलक्षणादेरनुपयोगः समर्थितः । इममेव सिद्धसेनसंमत्या दृढयन्नाह-यत इति यत आह वादी; सिद्धसेन इत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रसिद्धानि प्रमाणानि, व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ, ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥ १२ ॥

प्रसिद्धानीति—प्रसिद्धानि लोके स्वत एव रूढानि, न तु प्रमाणलक्षणप्रणेतृवचनप्रसाधनीयानि । प्रमाणानि-प्रत्यक्षादीनि । तथा व्यवहरणं-व्यवहारः स्नानपानदहनपचनादिका क्रिया । चशब्दः प्रसिद्धत्वसमुच्चयार्थः । तत्कृतः प्रमाणप्रसाध्यः प्रमाणलक्षणप्रवीणानामपि गोपालबालाबलादीनां तथा व्यवहारदर्शनात्, ततश्च प्रमाणलक्षणस्याविसंवादिज्ञानं प्रमाणमित्यादेरुक्तौ प्रतिपादने ज्ञायते-उपलभ्यते 'न'-नैव प्रयोजनं-फलं वर्तते । नेति वक्तव्ये 'ज्ञायते नेति' यदुक्तमाचार्येण तदतिवचनपारुष्यपरिहारार्थम् । यस्त्वत्रायमुदयनस्योपालम्भः ये तु प्रमाणमेव सर्वस्य व्यवस्थापकम्, न तु लक्षणम्, तदपेक्षायामनवस्थेत्याहुस्तेषाम्–"निन्दामि च पिबामि चेति" न्यायापातः । यतो व्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहारेण तत्तदर्थव्यवस्थापकं तत्तद्व्यवहारव्यवस्थापकं च प्रमाणमुपाददते तदेव तु लक्षणम् । अनुवादः स इति चेदस्माकमप्यनुवाद एव, न ह्यलौकिकमिह किंचिदुच्यते । न चाऽनवस्था वैद्यके रोगादिलक्षणवद् व्याकरणादौ शब्दादिवच्च व्यवस्थोपपत्तेः, तत्रापि संमुग्धव्यवहारमाश्रित्य लक्षणैरेव व्युत्पादनादिति । स त्वत्र न शोभते, यतो वयं प्रमाणस्यार्थव्यवस्थापकत्वे व्यवहारव्यवस्थापकत्वे वा लक्षणं न प्रयोजकमिति ब्रूमो न तु सर्वत्रैव तदप्रयोजकमिति । समानासमानजातीयव्यवच्छेदस्य तदर्थस्य तत्र तत्र व्यवस्थितत्वात् । सामान्यतो व्युत्पन्नस्य तच्छास्त्रादधिकृतविशेषप्रतीतिपर्यवसानेनानवस्थाभावात्, केवलं केवलव्यतिरेक्येव लक्षणमिति नादरः, प्रमेयत्वादेरपि पदार्थलक्षणत्वव्यवस्थितेः इत्यन्यत्र विस्तरः । वस्तुतो धर्मवादे लक्षणस्य नोपयोगः, स्वतन्त्रसिद्धाहिंसादीनां तादृशधर्मान्तरसंशयजिज्ञासाविचारद्वारकतत्त्वज्ञानेनासद्ग्रहनिवृत्तेः । अन्यथैवोपपत्तेरितरभिन्नत्वेन ज्ञानस्य तत्साध्यस्यात्रानुपयोगात्संमुग्धज्ञानेनैव कार्यसिद्धिरित्यत्र तात्पर्यम् ।

नन्वर्थनिश्चयार्थमेव लक्षणोपयोगः, तेन ज्ञानप्रामाण्यसंशयनिवृत्तौ तन्मूलार्थसंशयनिवृत्त्याऽर्थनिश्चयसिद्धेः इत्याशङ्कायामाह—

न चार्थसंशयापत्तिः, प्रमाणेऽतत्त्वशङ्कया ।
तत्राप्येतदविच्छेदा–द्धेत्वभावस्य साम्यतः ॥ १३ ॥

न चेति—न च प्रमाणेऽतत्त्वशङ्कयाऽप्रामाण्यशङ्कया अर्थसंशयापत्तिः, लक्षणं विनेति गम्यम् । तत्रापि—प्रमाणलक्षणेऽपि । एतदविच्छेदादप्रामाण्यशङ्कायाः स्वरसोत्थापितायाः अनुपरमात् । हेत्वभावस्य शङ्काकारणाभावस्य साम्यतः तुल्यत्वात् । प्रमाणलक्षण इव प्रमाणेऽपि शङ्काकारणाभावे; शङ्काया अनुत्पत्तेरित्यर्थः ।

अहिंसादिधर्मसाधनग्राहकं हि प्रमाणं परेषां षष्टितन्त्रादिकं स्वस्वशास्त्रमेव । तत्र चाहिंसादिग्रहणांशे सर्वतन्त्रप्रसिद्धत्वेन न कदापि संशयस्तद्विशेषांशे तु भवन्नयमनुकूल एव, नचैकांशे शङ्कितप्रामाण्यज्ञानमितरांशस्याप्यनिश्चायकमिति युक्तम्, घटपटसमूहालम्बनात् । घटांशे प्रामाण्यसंशये पटस्याप्यनिश्चयापत्तेरित्याशयवानाह—

अर्थयाथात्म्यशङ्का तु, तत्त्वज्ञानोपयोगिनी ।
शुद्धार्थस्थापकत्वं च, तन्त्रं सद्दर्शनग्रहे ॥ १४ ॥

अर्थेति-अर्थस्याहिंसादेर्याथात्म्यस्य स्वतन्त्रप्रसिद्धनित्याश्रयवृत्तित्वानित्याश्रयवृत्तित्वादेः शङ्का तु विचारप्रवृत्त्या तत्त्वज्ञानोपयोगिनी । ततश्च प्रतीयमानं शुद्धार्थस्य—सर्वथाशुद्धविषयस्य व्यवस्थापकत्वं (स्थापकत्वं) प्रमितिजनकत्वम् । सद्दर्शनस्य शोभनागमस्य ग्रहे—स्वीकारे तन्त्रंप्रयोजकम् तद्ग्रहे च तत एव धर्मसाधनोपलम्भात् किं लक्षणेनेति भावः ।

तत्रात्मा नित्य एवेति, येषामेकान्तदर्शनम् ।
हिंसादयः कथं तेषां, कथमप्यात्मनोऽव्ययात् ॥ १५ ॥

तत्रेति—तत्र धर्मसाधने विचारणीये आत्मा नित्य एव इति येषां सांख्यादीनामेकान्तदर्शनं तेषां हिंसादयः कथं मुख्यवृत्त्या युज्यन्त इति शेषः । कथमपि खण्डितश-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रीरावयवैकपरिणामेनापि आत्मनोऽव्ययादखण्डनात्। न हि बुद्धिगतदुःखोत्पादरूपा हिंसा सांख्यानामात्मनि प्रतिबिम्बोदयेनानुपचरिता संभवति। न वा नैयायिकानां स्वभिन्नदुःखरूपगुणरूपा सा, आत्मनि समवायेन प्रतिबिम्बसमवाययोरेव काल्पनिकत्वात्। न च कथमपि स्वपर्यायविनाशाभावे हिंसाव्यवहारः कल्पनाशतेनाप्युपपादयितुं शक्यत इति। तदिदमाह—"निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति, हन्यते वा न जातुचित्। कंचित्केनचिदित्येवं, न हिंसाऽस्योपपद्यते" ॥ १ ॥

मनोयोगविशेषस्य, ध्वंसो मरणमात्मनः।
हिंसा तच्चेन्न तत्त्वस्य, सिद्धेरर्थसमाजतः ॥ १६ ॥

मन—इति मनोयोगविशेषस्य स्मृत्यजनकज्ञानजनकमनःसंयोगस्य ध्वंस-आत्मनो मरणं तद्धिंसा । इयं ह्यात्मनोऽव्ययेऽप्युपपत्स्यते, अतिसान्निध्यादेव हि शरीरखण्डनादात्माऽपि खण्डित इति लोकानामभिमानो नायं विशेषदर्शिभिरादरणीय इति चेन्न, तत्त्वस्योक्तध्वंसत्वस्य अर्थसमाजतोऽर्थवशादेव सिद्धेः। स्मृतिहेत्वभावादेव स्मृत्यजनकाचरममनःसंयोगस्यापि संयोगान्तरवदेव नाशात्। तथा च नेयं हिंसा केनचित् कृता स्यादिति सुस्थितमेव सकलं जगत् स्यात्।

आत्मन एकान्तनित्यत्वाभ्युपगमे दूषणान्तरमाह-

शरीरेणाऽपि संबन्धो, नित्यत्वेऽस्य न संभवी।
विभुत्वेन च संसारः, कल्पितः स्यादसंशयम् ॥ १७ ॥

शरीरेणापीति—नित्यत्वे सति अस्य आत्मनः शरीरेणापि समं संबन्धो न संभवी । नित्यस्य हि शरीरसंबन्धः पूर्वरूपस्य त्यागे वा स्यादत्यागे वा ? आद्ये स्वभावत्यागस्यानित्यलक्षणत्वान्नित्यत्वहानिः। अन्त्ये च पूर्वस्वभावविरोधाच्छरीरासंबन्ध एवेति। विभुत्वेन चाभ्युपगम्यमानेन हेतुना संसारोऽसंशयं कल्पितः स्यात्, सर्वगतस्य परलोकगमनरूपमुख्यसंसारपदार्थानुपपत्तेः। अथवा-विभुत्वे च संसारो न स्यात्, स्याच्चेदसंशयं कल्पितः स्यादिति योजनीयम्। तदिदमुक्तम्—"शरीरेणापि संबन्धो, नात एवास्य सङ्गतः। तथा सर्वगतत्वाच्च, संसारश्चाप्यकल्पितः ॥ १ ॥"

परः शङ्कते—

अदृष्टाद्देहसंयोगः, स्यादन्यतरकर्मजः।
इत्थं जन्मोपपत्तिश्च, न तद्योगाविवेचनात् ॥ १८ ॥

अदृष्टादिति—अदृष्टात् प्राग्जन्मकृतकर्मणो लब्धवृत्तिकात् । देहसंयोगोऽन्यतरकर्मजः स्यात् । आत्मनो विभुत्वेनोभयकर्माभावेऽपि देहस्य मूर्तत्वेनान्यतरकर्मसंभवादिति। इत्थं जन्मनः संसारस्योपपत्तिः ऊर्ध्वलोकादौ शरीरसंबन्धादेवोर्ध्वलोकगमनादिव्यपदेशोपपत्तेः । इत्थमपि विभुत्वाव्ययात् पूर्वशरीरत्यागोत्तरशरीरोपादानैकस्वभावत्वाच्च न नित्यत्वहानिः, एकत्र ज्ञाने नीलपीतोभयाकारवदेकत्रोक्तैकस्वाभाव्याविरोधात्, कार्यक्रमस्य च सामग्र्यायत्तत्वादित्याशयः। सिद्धान्तयति—न तद्योगस्य—शरीरसंयोगस्याविवेचनात् । तथाहि—किमयमात्मशरीरयोर्भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा ?, आद्ये तत्संबन्धभेदादिकल्पनायामनवस्था। अन्त्ये च धर्मिद्वयातिरिक्तसंबन्धाभावेऽतिप्रसङ्ग इति।

आत्मक्रियां विना च स्या-न्मिताणुग्रहणं कथम्।
कथं संयोगभेदादि-कल्पना चापि युज्यते ॥ १९ ॥

आत्मेति—आत्मनो यावत्स्वप्रदेशैरेकक्षेत्रावगाढपुद्गलग्रहणव्यापाररूपां क्रियां विना च मिताणूनां—नियतशरीरारम्भकपरमाणूनां ग्रहणं कथं स्यात्?। संबद्धत्वाविशेषे हि लोकस्थाः सर्व एव ते गृह्येरन् न वा केचिदपि अविशेषात्। अदृष्टविशेषान्मिताणुग्रहोपपत्तिर्भविष्यतीति चेन्न-अदृष्ट—पुण्यपापरूपे साङ्कर्याज्जातिरूपस्य विशेषस्यासिद्धेः। मिताणुग्रहार्थस्य विशेषस्य जातिरूपस्यादृष्टकल्पनापेक्षया क्रियावत्त्वरूपस्यात्मन्येव कल्पयितुं युक्तत्वात् । तत्संकोचविकोचादिकल्पनागौरवस्योत्तरकालिकत्वेनाबाधकत्वाच्छरीरावच्छिन्नपरिणामानुभवस्य सार्वजनीनत्वेन प्रामाणिकत्वाच्चेति भावः। तथा आत्मनः क्रियां विना नियतशरीरानुप्रवेशानभ्युपगमे सर्वेषां शरीराणां संयोगाविशेषेण सर्वभोगावच्छेदकत्वापत्तिभिया तदात्मभोगे तदीयादृष्टविशेषप्रयोज्यसंयोगभेदादिकल्पनाऽपि कथं युज्यते?, अनन्तसंयोगभेदादिकल्पने गौरवात्। अवच्छेदकनया तदात्मवृत्तिजन्यगुणत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन तच्छरीरत्वेन हेतुत्वे तु बाल्यादिभेदेन शरीरभेदाद् व्यभिचारः। अवच्छिन्नत्वसंबन्धेन तद्व्यक्तिविशिष्टे तद्व्यक्तित्वेन हेतुत्वे तु सुतरां गौरवमिति न किंचिदेतदधिकं लतायाम्।

अनित्यैकान्तपक्षेऽपि, हिंसादीनामसंभवः।
नाशहेतोरयोगेन, क्षणिकत्वस्य साधनात् ॥ २० ॥

अनित्येति—अनित्यैकान्तपक्षेऽपि क्षणिकज्ञानसन्तानरूपात्माभ्युपगमेऽपि हिंसादीनामसंभवो मुख्यवृत्त्याऽयोगः। नाशहेतोरयोगेन—क्षयकारणस्यायुज्यमानत्वेन—क्षणिकत्वस्य-क्षणक्षयित्वस्य साधनात्। इयं हि परेषां व्यवस्था-नाशहेतुभिर्घटादेर्नाशस्ततो भिन्नोऽभिन्नो वा विधीयेत?, आद्ये घटादेस्तादवस्थ्यम्, अन्त्ये च घटादिरेव कृतः स्यात् इति स्वभावत एवोदयानन्तरं विनाशिनो भावा इति। इत्थं च हिंसा न केनाचिक्रियत इत्यनुपप्लवं जगत्स्यादिति भावः।

ननु जनक एव हिंसकः स्यादतो न दोष इत्यत्र जनकः किं सन्तानस्य क्षणस्य वा इति विकल्प्याद्ये दोषमाह-

न च सन्तानभेदस्य, जनको हिंसको मतः।
सांवृतत्वादजन्यत्वा-द्भावत्वनियतं हि तत् ॥ २१ ॥

न चेति-न च सन्तानभेदस्य हिंस्यमानशूकरक्षणसन्तानच्छेदेनोत्पत्स्यमानमनुष्यादिक्षणसन्तानस्य जनको लुब्धकादिर्हिंसको भवेत्, तद्विसदृशसन्तानोत्पादकत्वेनैव तद्धिंसकत्वव्यवहारोपपत्तेरिति वाच्यम्, सांवृतत्वात् काल्पनिकत्वात् सन्तानभेदस्य। अजन्यत्वात् लुब्धकाद्यसाध्यत्वात्। तद्धि जन्यत्वं हि भावत्वनियतं सत्त्वव्याप्तम्, सांवृतं च खरविषाणादिवदसदेवेति भावः।

द्वितीये त्वाह—

नरादिक्षणहेतुश्च, शूकरादेर्न हिंसकः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शूकरान्त्यक्षणेनैव, व्यभिचारप्रसङ्गतः ॥२२॥

नरादीति-नरादिक्षणहेतुश्च लुब्धकादिः शूकरादेर्हिंसको न भवति, शूकरान्त्यक्षणेनैव व्यभिचारस्य हिंसकत्वाति-व्याप्तिलक्षणस्य प्रसङ्गतः । म्रियमाणशूकरान्त्यक्षणोऽपि ह्युपादानभावेन नरादिक्षणहेतुरिति लुब्धकवत् सोऽपि स्व-हिंसकः स्यादिति भावः ।

इष्टापत्तौ व्यभिचारपरिहारे त्वाह—

अनन्तरक्षणोत्पादे, बुद्धलुब्धकयोस्तुला ।
नैवं तद्विरतिः क्वापि, ततः शास्त्राद्यसङ्गतिः ॥२३॥

अनन्तरेति-अनन्तरक्षणोत्पादे स्वाऽव्यवहितोत्तरविसदृश-क्षणोत्पादे हिंसकत्वप्रयोजकेऽभ्युपगम्यमाने इति गम्यम् । बुद्धलुब्धकयोस्तुला साम्यमापद्येत, बुद्धलुब्धकयोरनन्तरक्षणो-त्पादकत्वाविशेषात् । एवमुक्तप्रकारेण तद्विरतिर्हिंसाविरतिः क्वापि न स्यात् । ततः शास्त्रादीनामहिंसाप्रतिपादकशास्त्रादी-मसङ्गतिः स्यात् । न चैतदिष्टं परस्य—" सत्तेऽस्स संति दंडानां, सव्वेसिं जीवितं पियं । अत्तानं उपमं कत्ता, नेव हन्ने न घातये ॥ १ ॥ " इत्याद्यागमस्य परैर-भ्युपगमात् ।

घटन्ते न विनाऽहिंसां, सत्यादीन्यपि तत्त्वतः ।
एतस्या वृत्तिभूतानि, तानि यद्भगवाञ्जगौ ॥ २४ ॥

घटन्त इति-अहिंसां विना सत्यादीन्यपि न घटन्ते । यत एतस्या अहिंसाया वृत्तिभूतानि तानि सत्यादीनि भगवान् जगौ सर्वज्ञो गदितवान् । न च सत्यादिपालनीया-भावे वृत्तौ विद्वान् यतत इति । ननु हन्मीति संकल्प एव हिंसा, तद्योगादेव च हिंसकत्वं तदभावाच्चाहिंसायास्ततश्च तद्वृत्तिभूतसत्यादीनां नानुपपत्तिरिति चेन्न, हन्मीति संक-ल्पक्षणस्यैव सर्वथाऽनन्वये कालान्तरभाविफलजनकत्वा-नुपपत्तेः, कथंचिदन्वये चास्मत्सिद्धान्तप्रवेशापाताच्चेत्य-धिकमन्यत्र ।

मौनीन्द्रे च प्रवचने, युज्यते सर्वमेव हि ।
नित्यानित्य स्फुटं देहा-द्भिन्नाभिन्ने तथात्मनि ॥२५॥

मौनीन्द्र इति-मौनीन्द्रे-वीतरागप्रतिपादिते च प्रवचने सर्वमेव हि हिंसाऽहिंसादिकं युज्यते । नित्याऽनित्ये तथा स्फुटं प्रत्यक्षं देहाद्भिन्नाऽभिन्ने आत्मनि सति । तथाहि-आत्मत्वेन नित्यत्वमात्मनः प्रतीयते, अन्यथा परलोकाद्यभावप्रसङ्गात् । मनुष्यादिना चानित्यत्वम्, अन्यथा मनुष्यभावानुच्छेद-प्रसङ्गात् । धर्मिग्राहकमानेन तत्र नित्यत्वसिद्धावनित्यत्व-धियः शरीरादिविषयकत्वमेवास्त्विति चेन्न धर्मिग्राहक-मानेन त्रैलक्षण्यकलितस्यैव तस्य सिद्धेर्घटाद्युपादानस्यैव ज्ञानाद्युपादानस्य पूर्वोत्तरपर्यायनाशोत्पादान्वितध्रुवत्वानिय-तत्वात् । यथा च भ्रान्तत्वाभ्रान्तत्वे परमार्थसंव्यवहारापे-क्षया परेषां न ज्ञानस्य विरुद्धे, यथा चैकत्र संयोगतद-भावौ, तथा द्रव्यतो नित्यत्वं पर्यायतश्चानित्यत्वं नास्माकं विरुद्धम् । अनपेक्षितविशिष्टरूपं हि द्रव्यम्, अपेक्षि-तविशिष्टरूपं च पर्याय इति । तथा शरीरजीवयोर्मूर्त्ताऽमू-र्त्तत्वाभ्यां भेदः, दहकण्टकादिस्पर्शे वेदनोत्पत्तेश्चाभेद इति । तदुक्तम्-" जीवसरीराणं पि हु, भेआभेओ तहोवलंभाओ । मुत्तामुत्तत्तणओ, छिक्कम्मि य वेयणाओ अ ॥ १ ॥ " न चैवं ब्राह्मणो नष्टो ब्राह्मणो जानातीत्यादिव्यवहारानुपपत्तिः विना ब्राह्मणस्य व्यासज्यवृत्तित्वमित्यादिकमुपपादितम-न्यत्र ।

पीडाकर्तृत्वतो देह-व्यापत्त्या दुष्टभावतः ।
त्रिधा हिंसाऽऽगमप्रोक्ता, न हीत्थमपहेतुका ॥ २६ ॥

पीडेति-पीडाकर्तृत्वतः पीडायां स्वतन्त्रव्यापृतत्वात् । देहस्य व्यापत्तिर्विनाशस्तया कथंचित्तद्व्यापत्तिसिद्धिरिति भावः । दुष्टभावतो हन्मीति संक्लेशात् । त्रिधा जिनप्रोक्ता हिंसा । इत्थमुक्तरूपात्माभ्युपगमे न ह्यपहेतुका-हेतुरहिता भवति ।

अत्रैव प्रकारान्तरेणासंभवं दूषयितुमुपन्यस्यति-

हन्तुर्जाग्रति को दोषो, हिंसनीयस्य कर्मणि ।
प्रसक्तिस्तदभावे चाऽ-न्यत्रापीति मुधा वचः ॥ २७ ॥

हन्तुरिति—हिंसनीयस्य कर्मणि हिंसानिमित्तादृष्टे जाग्रति—लब्धवृत्तिके सति हन्तुः को दोषः ?, स्वकर्मणैव प्राणिनो हतत्वात्, तत्कर्मप्रेरितस्य च हन्तुरस्व—तन्त्रत्वेनादुष्टत्वव्यवहारात् । तदभावे च-हिंसनीयकर्मविपा-काभावे च अन्यत्राप्यहिंसनीयेऽपि प्राणिनि प्रसक्तिः हिंसापत्तिरिति हिंसाऽसंभवप्रतिपादकं वचो मुधाऽनर्थकम् ।

हिंस्यकर्मविपाके य-द्दुष्टाशयनिमित्तता ।
हिंसकत्वं न तेनेदं, वैद्यस्य स्याद्रिपोरिव ॥ २८ ॥

हिंस्येति—हिंस्यस्य प्राणिनः कर्मविपाके सति यद्यस्मात् दुष्टाशयेन हन्मीति संक्लेशेन निमित्तता प्रधानहेतुक-र्मोदयसाध्यां हिंसां प्रति निमित्तभावो हिंसकत्वम् तेन कारणेनेदं हिंसकत्वं रिपोरिव वैद्यस्य न स्यात्, तस्य हिंसां प्रति निमित्तभावेऽपि दुष्टाशयाऽनात्तत्वात् । तदिदमाह—" हिंस्यकर्मविपाकेऽपि, निमित्तत्वनियोगतः । हिंसकस्य भवेदेषा, दुष्टादुष्टानुबन्धतः ॥ १ ॥ " परप्रेरितस्यापि चाभिमरादेरिव दुष्टत्वं व्यपदिश्यत एव । हिंस्यकर्मनिर्जरणसहायत्वेऽपि च तथाविधाऽऽशयाभावान्न हिंसकस्य वैयावृत्यकरत्वव्यपदेश इति द्रष्टव्यम् ।

इत्थं सदुपदेशादे-स्तन्निवृत्तिरपि स्फुटा ।
सोपक्रमस्य पापस्य, नाशात्स्वाशयवृद्धितः ॥ २९ ॥

इत्थमिति—इत्थं परिणामिन्यात्मनि हिंसोपपत्तौ सतां-ज्ञानगुरूणामुपदेशादेः, आदिना अभ्युत्थानादिपरिग्रहः । तदाह—" अब्भुट्ठाणे विणए, परक्कमे साहुसेवणाए य । संम्मद्दंसणलंभो, विरयाविरईइ विरईए ॥ १ ॥ " सोपक्रमस्या-पवर्तनीयस्य—पापस्य चारित्रमोहनीयस्य नाशात् । तन्नि-वृत्तिरपि-हिंसानिवृत्तिरपि स्फुटा-प्रकटा स्वाशयस्य शुभा-शयस्य न कमपि हन्मीत्याकारस्य वृद्धितोऽनुबन्धात् ।

तथारुचिप्रवृत्त्या च, व्यज्यते कर्म तादृशम् ।
संशयं जानता ज्ञातः, संसार इति हि श्रुतिः ॥ ३० ॥

तथारुचीति-तथारुच्या सदाचारश्रद्धया प्रवृत्त्या च । ता-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृशं स्वप्रयत्नोपक्रमणीयं कर्म व्यज्यते । प्रवृत्तिरेवोपक्रमणीयकर्मानिश्चयादुपायसंशये कथं स्यादिति चेदर्थानर्थसंशययोः प्रवृत्तिनिवृत्त्यङ्गत्वादित्याशयवानाह—संशयमर्थानर्थगतं जानता हेयोपादेयनिवृत्तिप्रवृत्तिभ्यां परमार्थतः संसारो ज्ञात इति हि स्थितिः-प्रेक्षावतां मर्यादा । तथा चाचारसूत्रम्-" संसयं परिजाणतो संसारे परिन्नाते भवति, संसयं अपरिजाणतो संसारे अपरिन्नाते भवतीति " ॥

अपवर्गतरोर्बीजं, मुख्या हिंसेयमुच्यते ।
सत्यादीनि व्रतान्यत्र, जायन्ते पल्लवा नवाः ॥ ३१ ॥

अपवर्गेति-स्पष्टः ।

विषयो धर्मवादस्य, निरस्य मतिकर्दमम् ।
संशोध्यः स्वाशयादित्थं, परमानन्दमिच्छता ॥ ३२ ॥

विषय इति-मतिकर्दममादावेव प्रमाणलक्षणप्रणयनादिप्रपञ्चम् ।

वादनिरूपणानन्तरं तत्सजातीया कथा निरूप्यते-

अर्थकामकथा धर्म-कथा मिश्रकथा तथा ।
कथा चतुर्विधा तत्र, प्रथमा यत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

अर्थेति—अर्थकथा कामकथा धर्मकथा तथा मिश्रकथा एवं चतुर्विधा कथा । तत्र प्रथमाऽर्थकथा सा, यत्र यस्यां वर्ण्यते—प्रतिपाद्यते ।

विद्या शिल्पमुपायश्चा-निर्वेदश्चापि संचयः ।
दक्षत्वं सामभेदश्च, दण्डो दानं च यत्नतः ॥ २ ॥

विद्येति—विद्यादयोऽर्थोपाया यत्र वर्ण्यन्ते साऽर्थकथेति भावः ।

रूपं वयश्च वेपश्च, दाक्षिण्यं चापि शिक्षितम् ।
दृष्टं श्रुतं चानुभूतं, द्वितीयायां च संस्तवः ॥ ३ ॥

रूपमिति-रूपं सुन्दरम्, वयश्चोदग्रम्, वेपश्चोज्ज्वलः,दाक्षिण्यं च-मार्दवम्, शिक्षितमपि विषयेषु, दृष्टमद्भुतदर्शनमाश्रित्य, श्रुतं चानुभूतं च, संस्तवश्च—परिचयश्च , द्वितीयायां-कामकथायाम् । रूपादिवर्णनप्रधाना कामकथेत्यर्थः ।

तृतीया चेपणी चैका, तथा विक्षेपणी परा ।
अन्या संवेजनी निर्वे-जनी चेति चतुर्विधा ॥ ४ ॥

तृतीयेति—तृतीया धर्मकथा च एका आक्षेपणी, तथा परा विक्षेपणी, अन्या संवेजनी, च पुनर्निर्वेजनी इति चतुर्विधा ।

आचाराद्व्यवहाराच्च, प्रज्ञप्तेर्दृष्टिवादतः ।
आद्या चतुर्विधा श्रोतु-श्चित्ताक्षेपस्य कारणम् ॥ ५ ॥

आचारादिति-आचारं व्यवहारं प्रज्ञप्तिं दृष्टिवादं चाश्रित्य आद्या क्षेपणी चतुर्विधा । श्रोतुः चित्ताक्षेपस्य तत्त्वप्रतिपत्त्याभिमुखलक्षणस्य अपूर्वशमरसवर्णिकास्वादलक्षणस्य वा कारणम् ॥

क्रिया दोषव्यपोहश्च, सन्दिग्धे साधुबोधनम् ।
श्रोतुः सूक्ष्मोक्तिराचारा-दयो ग्रन्थान् परे जगुः ॥ ६ ॥

क्रियेति-क्रिया—लोचास्नानादिका दोषव्यपोहश्च—कथंचिदापन्नदोषशुद्ध्यर्थप्रायश्चित्तलक्षणः संदिग्धे—संशयापन्नेऽर्थे साधु—मधुरालापपूर्वम् बोधनमुत्तरप्रदानम् श्रोतुः सूक्ष्मोक्तिः—सूक्ष्मजीवादिभावकथनम् आचारादयः-क्रमेणाचारव्यवहारप्रज्ञप्तिदृष्टिवादा अभिधीयन्ते । परे आचार्या आचारादीन् ग्रन्थान् जगुः, तैराचाराद्यभिधानादिति भावः ।

एतैः प्रज्ञापितः श्रोता, चित्रस्थ इव जायते ।
दिव्याञ्जवन्न हि क्वापि,मोघाः स्युः सुधियां गिरः ॥७॥

एतैरिति—व्यक्तः ।

विद्या क्रिया तपो वीर्यं, तथा समितिगुप्तयः ।
आक्षेपणीकल्पवल्ल्या, मकरन्द उदाहृतः ॥ ८ ॥

विद्येति-विद्या-ज्ञानमत्यन्तापकारिभावतमोभेदकम् । क्रिया-चारित्रम् , तपः-अनशनादि वीर्यं-कर्मशत्रुविजयानुकूलः पराक्रमः तथा समितयः-ईर्यासमित्याद्याः गुप्तयो-मनोगुप्त्याद्याः । आक्षेपणीकल्पवल्ल्या मकरन्दो-रस उदाहृतः । विद्यादिबहुमानजननेनैवेयं फलवतीति भावः । द्वा० ६ द्वा० ।

वादं कृत्वा कस्यापि मतं न दूषयेत्—

वायं विविहं समेच लोए,
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी,
उवसंते अविहेडए स भिक्खू ॥ १६ ॥

यः पुनर्लोके विविधं वादं समेत्य 'अविहेठको' भवेत् कस्यचिद्बाधको न भवेत् कस्यचित् पक्षपातं न कुर्यात् । लोके हि बहूनि दर्शनानि सन्ति ते परस्परं वादं कुर्वन्ति-अन्योन्यं मतं दूषयन्ति, मुण्डा जटाधारिभिः नग्ना वस्त्रधारिभिर्गृहस्थाः वनवासिभिः इत्यादि; स्वस्वमताभिशयवचनरूपं वादं कृत्वा कस्यापि बाधां न कुर्यात् इत्यर्थः । कीदृशो यः ?, सहितो-ज्ञानदर्शनचारित्रसहितः, पुनः कीदृशः?, खेदानुगतः खेदयति मन्दीकरोति कर्म अनेनेति खेदः—संयमस्तेन अनुगतः खेदानुगतः सप्तदशविधसंयमरतः, पुनः कीदृशः ?, कोविदात्मा कोविदो—लब्धशास्त्रपरमार्थ आत्मा यस्येति कोविदात्मा, पुनः कीदृशः?, प्राज्ञः-प्रकर्षेण अन्येभ्यः आधिक्येन जानातीति प्राज्ञः स्फारबुद्धिमान् । पुनः कीदृशः ?, अभिभूय सर्वदर्शी अभिभूय—परीषहान् जित्वा रागद्वेषौ निवार्य सर्वजन्तुगणम् आत्मसदृशं पश्यतीत्येवं शीलः सर्वदर्शी, पुनः कीदृशः?, उपशान्तः कषायरहितः स्यात्, स भिक्षुरित्युच्यते । उत्त० १५ अ० । " सम्मदिट्ठी किरिया वादी मिच्छा य सेसगा वाई । जहिऊण मिच्छवायं,सेवह वायं इमं तत्थ ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । "जो जहवायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो । वड्ढेई मिच्छत्तं, परस्स संकं जणमाणो ॥ १६६६ ॥ " पं० व० ५ द्वार । जी० । (वादार्थं परिहारकल्पस्थितस्य गमनं ' परिहार ' शब्दे पञ्चमभागे ६७४ पृष्ठे गतम् ।) (वादलब्धिसंपन्नः साधुर्गृहिवेषं विधाय नास्तिकवादिराजं पदाक्रम्य गच्छतीति ' पुरिसजाय ' शब्दे पञ्चमभागे १०३६ पृष्ठे उक्तम् ।) (आत्मानं पुरुषं क्षेत्रं वस्तु-विदित्वा ज्ञात्वा वादं प्रयुङ्क्ते इति ' पओगमइ ' शब्दे पञ्चमभागे ४७ पृष्ठे उक्तम् ।)

वाद (य) ग्गंथ-वादग्रन्थ-पुं० । परपक्षनिराकरणेन स्वपक्षप्रतिष्ठापने तर्कप्रकरणे, यो० विं० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाद(य) पच्चारंभग-वादप्रत्यारम्भक-पुं० । वादारम्भकं प्रति प्रतीपमारभमाणे, रत्ना० ८ परि० ।

वादारंभग-वादारम्भक-पुं० । तत्त्वनिर्णिणीषु-जिगीषुरूपे वादमात्रारम्भके, रत्ना० ८ परि० ।

वादि(ण्)-वादिन्-पुं० । वादलब्धिसम्पन्ने, नि० चू० १ उ० । (परवादिनिग्रहे क्रियमाणे गुणदर्शनम् ' अणुजाण ' शब्दे प्रथमभागे ३७४ पृष्ठे उक्तम् ।)

वावाहा-व्याबाधा-स्त्री० । विविधा आबाधा व्याबाधा । आ० म० १ अ० । प्रकृष्टपीडायाम् , भ० ८ श० ३ उ० । प्रश्न० ।

वाम-वाम-न० । वा-मन् । धने, वास्तुके च । मनोहरे, प्रतिकूले, सव्यभागस्थे, अधमे च । त्रि० । सव्यदेहे, न० । कामदेवे, महादेवे, तन्त्रोक्ते वेदाचारविरुद्धे मद्यादिपानरूपाचारे च । पुं० । वाच० "प्रतिकूले, वाम, पईव पच्चत्थिणो वामा ।" पाइ० ना० १५४ गाथा ।

व्याम-पुं० । व्यामीयते परिच्छिद्यते रज्ज्वाद्यनेनेति व्यामः । बहुलवचनात् डजिति डच्प्रत्ययः । तिर्यग्बाहुद्वयप्रसारणप्रमाणे, रा० । जं० । जी० । स्था० ।

वामण-वामन-न० । मडहकोष्ठे संस्थानभेदे, यत्र हि पाणिपादशिरोग्रीवं यथोक्तप्रमाणोपेतत्वात् पुनः शेषं कोष्ठं तन्मडहं न्यूनाधिकप्रमाणं भवति । स्था० ६ ठा० ३ उ० । अनु० । जी० । तं० । नि०चू० । यत्र तु हिट्ठिल्लकायं हस्तपादादिकं यथोक्तप्रमाणोपेतमुरउदरादिकं मडहं प्रमाणरहितं भवति । कर्म० ६ कर्म० । भ० । कालानौचित्येनातिह्रस्वदेहे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । पुं० । खर्वशरीरे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । रा० । नि० । आचा० । वैयाकरणभेदे, यद्रचितं व्याकरणशास्त्रं विंशतेर्व्याकरणानामन्यतमम् । कल्प० १ अधि० ५ क्षण । पार्श्वनाथस्य शासनयक्षे मतान्तरेण गजमुखनामके, स चौरगफणामण्डितशिराः श्यामवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो बीजपुरकोरगयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलभुजगयुक्तवामपाणियुगश्च । प्रव० २७ द्वार ।

वामणअ-वामनक-पुं० । वामनके, "खव्वो हस्सो य वामणओ । " पाइ० ना० १०६ गाथा ।

वामणिज्ज-वामनीय-न० । गुणदोषं वा संसर्गान्तरेण वमति । संसर्गजे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

वामणिया-वामनिका-स्त्री० । अत्यन्तह्रस्वदेहायां ह्रस्वोन्नतहृदयकोषायां वा स्त्रियाम् , औ० । भ० । दशा० ।

वामदेवसूरि-वामदेवसूरि-पुं० । नेमिचन्द्रसूरिकृतपञ्चसंग्रहस्य दीपिकानाम्न्याष्टीकायाः कर्त्तरि, जै० इ० ।

वामद्दण-व्यामर्दन-न० । परस्परेण बाह्वाद्यङ्गमोटने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । औ० । भ० ।

वामप्पमाण-वामप्रमाण-न० । प्रसारितभुजयुगलमाने, औ० । जं० ।

वामरत्थ-वामरथ्य-पुं० । वामरथाख्यर्षेर्पत्ये, जं० ७ वक्ष० ।

वामरत्थायण-वामरथ्यायन-पुं० । वामरथ्र्षियुवापत्ये, यद्गोत्रेऽभिजिदादिगणनया द्वाविंशं नक्षत्रम् । जं० ७ वक्ष० ।

वामलूर-वामलूर-पुं० । वल्मीके, " रम्फा वम्मीअ वामलूरा य " पाइ० ना० १७१ गाथा ।

वामलोअणा-वामलोचना-स्त्री० । रमण्याम् , " रामा रमणी सीमंतिणी बहू वामलोअणा विलया । " पाइ० ना० १२ गाथा ।

वामवट्ट-वामवर्त्त-पुं० । प्रतिकूलतया वर्त्तमाने, व्य० ३ उ० ।

वामवर्त्तद्वारमाह—

एहि भणिओ उ वच्चइ, वच्चसु भणिओ दुतं समल्लियइ ।
जं जह भणति तं तह, अकरेंतो वामवट्टो उ ॥७७८॥

यः शिष्य एहि-आगच्छेति भणितः सन् व्रजति, व्रजेति भणितः सन् द्रुतं शीघ्रं समालीयते, एवमन्यदपि कार्यं यद्यथा भण्यते तत्तथा अकुर्वाणो वामवर्त्त उच्यते । बृ० १ उ० १ प्रक० । नि० चू० । वामपार्श्ववर्तिनि, त्रि० । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

वामा-वामा-स्त्री० । योषिति, पाइ० ना० । पार्श्वजिनमातरि वाराणसीराजस्याश्वसेनस्य भार्यायाम् , कल्प० १ अधि० ६ क्षण । स० । प्रव० ।

वामेगकुंडलधर-वामैककुण्डलधर-पुं० । वामे कर्णे एकमेव कुण्डलं धारयन्ति ये ते तथा । वामकर्णमात्रेण कुण्डलधरे दक्षिणे करणे आभरणान्तरधारिणि, औ० । जी० ।

वामोह-व्यामोह-पुं० । मूढतायाम् , पञ्चा० ५ विव० । स्था० ।

वाय-वात-पुं० । वायौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वाद-पुं० । पूर्वपक्षे, अष्ट० ५ अष्ट० ।

व्याज-न० । कपटे, द्वा० १८ द्वा० ।

म्लान-त्रि० । म्लाने, " पव्वायं वसुआयं सुसिअं वायं मिलाणऽत्थे । " पाइ० ना० ८३ गाथा ।

वायंत-वादयत्-त्रि० । वाद्यं कुर्वति, " गायंता वायंता नच्चंता " औ० ।

वायंतियववहार-वागन्तिकव्यवहार-पुं० । वागेवान्तः परिसमाप्तिर्वागन्तिकस्तत्र भवो वागन्तिकः स चासौ व्यवहारश्चेति । वाङ्मात्रनियमिते व्यवहारे, व्य० ४ उ० ।

वायग-वाचक-पुं० । पूर्वगतं श्रुतं सूत्रमन्यच्च विनेयान् वाचयतीति वाचकः । पूर्वगतश्रुतधारिणि, बृ० ६ उ० । वाचकः पूर्वधरोऽभिधीयते स च श्रीमानुमास्वातिनामा महातार्किकः प्रकरणपञ्चशतीकर्ता चाचार्योऽभवत् । पञ्चा० ६ विव० । उपाध्याये, विशे० । आ० म० । (अथ स्वाभिमतसामान्यविशेषोभयात्मकवाच्यवाचकभावसमर्थनपुरःसरं तीर्थान्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रीयप्रकल्पिततदेकान्तगोचरवाच्यवाचकभावनिरासद्वारेण तेषां प्रमावैभवाऽभावनिरूपणम् ' आगम ' शब्दे द्वितीयभागे ६६ पृष्ठे गतम् ।)

वायगवर-वाचकवर-पुं० । वाचकप्रधाने, प्रज्ञा० १ पद ।

वायगवरवंस-वाचकवरवंश-पुं० । वाचकवराः-प्रधानवाचकास्तेषां वंशः-प्रवाहो वाचकवरवंशः । पूर्वधाराणां क्रमभाविपुरुषपूर्वप्रवाहे, नं० । " वायगवरवंसाओ, तेवीसइमेण धीरपुरिसेणं । दुद्धरधरेण मुणिणा , पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीणं ॥ १ ॥ " प्रज्ञा० १ पद ।

वायज्झयण-वाताध्ययन-न० । द्विगृद्धिदशानां प्रथमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

वायड-व्याकृत-त्रि० । प्रकटार्थे, ध० ३ अधि० ।

प्रावृत-त्रि० । अनावृते, विशे० । ती० ।

वायडाग-वाग्डाक-पुं० । मुकुलिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

वायद्धि-वागृद्धि-स्त्री० । वाक्संपत्तौ, आ० म० १ अ० ।

वायण(णा)संपया-वाचनासंपद्-स्त्री० । गणिसंपद्भेदे, व्य० ।

संप्रति वाचनासंपदं चतुःप्रकारामाह—

वायणभेया चउरो, विजियोद्देसणसमुद्दिसणया य ।
परिनिव्वयप्पिया वा, निज्जवणा चेव अत्थस्स ॥२६१॥

वाचनाया भेदाश्चत्वारस्तद्यथा—विचिन्त्य सम्यक् योग्यतां-परिनिश्चित्योद्देशनम्१,विचिन्त्यैव समुद्देशसमुद्देशनता च २, तथा परिनिर्वाप्य वाचयति ३, अर्थस्य निर्यापना ४ ।

तत्र विचिन्त्योद्देशनमाह—

तेणेव गुणेणं तु, वायइयव्वा परिक्खिउं सीसा ।
उद्दिसति वियाणेउं,जं जस्स जोग्गं तं तस्स ॥२६२॥

अयमस्या वाचनाया योग्योऽयमयोग्य इति । तेनैव वाचनाविषयेण गुणेन शिष्याः परीक्ष्य वाचयितव्या नान्यथा । ततो यत् यस्य योग्यं तत्तस्य विज्ञाय उद्दिशति ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह—

अपरीणामगमादी, वियाणिउं अभायणे न वाएति ।
जह आममट्टियघडे, अंबेव ण छुब्भती खीरं ॥२६३॥

अपरिणामकादीन् आदिशब्दादतिपरिणामिकंपरिग्रहः छेदसूत्राणामभाजनानि विज्ञाय न वाचयति—नोद्दिशतीत्यर्थः । यथा आमे—अपक्के मृत्तिकाघटे, पक्के वा अम्ले न क्षीरं क्षिप्यते ।

जइ छुब्भती विणस्सइ, नस्सइ वा एवमपरिणामादि ।
नोद्दिसे छेयसुत्तं, समुद्दिसे वाऽवि तं चेव ॥ २६४ ॥

यद्यम्ले क्षीरं क्षिप्यते तदा विनश्यति, यदि वा—आममृत्तिकाघटे घटस्य भङ्गतो नश्यति । एवमपरिणामादौ छेदसूत्रं विनश्यति नश्यति वा-ततो नोद्दिशति, एषा विचिन्त्योद्देशनता , समुद्दिशेदपि तदेव योग्यं नान्यत् एषा विचिन्त्य समुद्देशनता ।

परिनिव्वविया वाए, जत्तियमेत्तं तु तरइ ओघेत्तुं ।
जागहदिट्ठंतेणं, परिचिते तावतमुद्दिसति ॥ २६५ ॥

परिनिर्वाप्य वाचयति, किमुक्तं भवति—जाहकदृष्टान्तेन यावन्मात्रमवग्रहीतुं शक्नोति तावन्मात्रमग्रेतनपरिचिते उद्दिशति एषा परिनिर्वाप्य वाचनता । व्य० १० उ० । (अर्थस्य निर्यापणा ' अत्थणिज्जावणा ' शब्दे प्रथमभागे ५०६ पृष्ठे गता ।)

से किं तं वायणासंपदा ?, वायणासंपया चउव्विधा पण्णत्ता, तं जहा—विजयं उद्दिसति विजयं वाएति परिणिव्वावियं वाएइ अत्थणिज्जवए यावि भवति । सेत्तं वायणासंपदा ।

' से किं त ' मित्यादि, कण्ठ्यम् । गुरुराह-'वायणे' त्यादि वचना संपच्चतुर्धा प्रज्ञप्ता । विदित्वोद्दिशति १, विदित्वा समुद्दिशति २, परिनिर्वाप्य वाचयति ३, अर्थनिर्यापकश्चापि भवति ४, तत्र विदित्वोद्दिशति यथा योगविधिक्रमेण सम्यग् योगेनाधीष्वैवमुद्दिशति १, समुद्दिशति वा यथा—योगसामाचार्यैव स्थिरपरिचितम् कुर्विदमिति वदतीति, अन्यथा अपारिणामिकादावपक्वघटनिहितजलोदाहरणेन दोषसंभवात्, अथवा-आमभाजने वा निक्षिप्तं क्षीरं विनश्यतिएवमयोग्यदत्तं सूत्रं विनश्यतीति २, परितः-सर्वप्रकारं निर्वापयति, निरो निर्दिग्धादिभृशार्थदर्शनात् भृशं गमयते, पूर्वदत्तालापकादिसर्वात्मना स्वात्मनि परिणमयतः शिष्यस्य सूत्रगताशेषविशेषग्रहणकालं प्रतीक्ष्य शक्त्यनुरूपप्रदानेन प्रयोजकत्वमनुभूय परिनिर्वाप्यवाचयति—सूत्रं प्रददाति ३, अर्थः—सूत्राभिधेयं वस्तु तस्य निरिति भृशं यापना निर्वाहणा पूर्वापरसांगत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमयति निर्यापयतीति निर्यापकः । चापिशब्दौ विचारादिद्योतकौ ४, 'सेत्त' मित्यादि सुगमम् । दशा० ४ अ० । उत्त० । स्था० । ध० र० ।

वायणा-वाचना-स्त्री० । वाचनं वाचना । गुरुभ्यः श्रवणे, अधिगमे, विशे० । स्था० । गुरुप्रदत्तेनैव सूत्रस्य परिपाटीरूपे, विशे० । गुरुसमीपे सूत्राक्षराणां ग्रहणे, उत्त० २६ अ० ।

वाचनाफलम्—

वायणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?, वायणाए णं णिज्जरं जणयइ । सुयस्स य अणासायणयाए वट्टइ, सुयस्स अणासायणयाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलम्बइ, तित्थधम्मं अवलम्बमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ (सू०-१६)

हे पूज्य ! वाचनया वाचयतीति वाचना-पाठना तया जीवः किं जनयति?,गुरुराह-हे शिष्य ! वाचनया-सिद्धान्तवाचनेन निर्जरां कर्मशाटनं जनयति,तथा पुनः श्रुतस्य अनाशातनायां प्रवर्तते, तत्र च प्रवर्त्तमानो जीवस्तीर्थो गणधरस्तस्य धर्म्मः आचारः श्रुतप्रदानरूपस्तीर्थधर्मस्तम् अवलम्बते, ततस्तीर्थधर्म्मम् अवलम्बमानस्तीर्थधर्म्मम् आश्रयन् महानिर्जरो भवति । महती निर्जरा यस्य स महानिर्जरो-महाकर्मविध्वंसको भवति । पुनर्महापर्यवसानः महत्-प्रशस्यं मुक्त्यवाप्त्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्यवसानम्-अन्तः कर्मणो भवस्य वा यस्य स महापर्यवसानश्च भवति, मुक्तिर्भवतीति हार्दम् । उत्त० २६ अ० । अनुयोगे, वृ० ३ उ० । विनयाय निर्जरायै सूत्रादिदाने, आव० ४ अ० । ध० । शिष्याध्ययने, अनु० । स्था० । दश० । स० । सूत्रस्यार्थस्य वा प्रदाने, नं० । आ० म० । स० । (गृहीतसामाचारीकाणां सूत्रार्थवाचना दातव्या इति 'जिणकप्प' शब्दे चतुर्थभागे १४६६ पृष्ठे उक्तम् ।)

वाचनादानग्रहणविधिरेवम्—

" उववसिइ उवज्झाओ, सीसा विअरंति चंदणं तस्स ।
सो तेसि सव्वसमयं, वायइ सामाइअप्पमुहं ॥ १ ॥
सोगाहणाइकुसलो, विअरइ वयरु व्व वायणं तेसिं ।
सीसा वि तह सुणंति अ,जह सीसा सीहगिरिगुरुणो ॥२॥"

तथाऽन्यत्रापि—

" पर्यस्तिकामवष्टम्भं, तथा पादप्रसारणम् ।
वर्जयेद्विकथां हास्य-मधीयन् गुरुसन्निधौ ॥ ३ ॥ " इति

प्रच्छनाविधिस्त्वेवम्—

"आसणगओ न पुच्छिज्जा, सिज्जागओ कयाऽवि णो ।
आगम्मुक्कुडओ संतो,पुच्छिज्जा पंजलीउडो॥४॥"ध०३अधि०।

तओ नो कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—अविणीए विगइपडिबद्धे अविओसवियपाहुडे ॥ ५ ॥ तओ कप्पंति वाइत्तए । तं जहा—विणीए नो विगइपडिबद्धे विओसवियपाहुडे ।६।

त्रयो नो कल्पन्ते वाचयितुं सूत्रं पाठयितुमर्थं वा श्रावयितुम् । तद्यथा-अविनीतः-सूत्रार्थदातुर्वन्दनादिविनयरहितः । विकृतिप्रतिबद्धो—घृतादिरसविशेषगृद्धोऽनुपधानकारीति भावः । अव्यवशमितम्—अनुपशान्तं प्राभृतमिव प्राभृतैरेकपालकौशलकं तीव्रक्रोधलक्षणं यस्यासौ अव्यवशमितप्राभृतः । एतद्विपरीतास्तु त्रयोऽपि कल्पन्ते वाचयितुम् । तद्यथा—विनीतो नाविकृतिप्रतिबद्धो व्यवशमितप्राभृतश्चेति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

विगई अविणीएँ लहुगा,पाहुडगुरुगा य दोस आणादी ।
सो य इयरे य चत्ता, वितियं अद्धाणमादीसु ॥ ३१५ ॥

विकृतिप्रतिबद्धमविनीतं च वाचयतश्चतुर्लघुका आज्ञादयश्च दोषाः । स च इतरे च साधवः परित्यक्ता भवन्ति । तत्र स तावत् विनयमकुर्वन् ज्ञानाचारं विराधयतीति कृत्वा परित्यक्तः । इतरे च तमविनीतं दृष्ट्वा विनयं न कुर्वन्तीति परित्यक्ताः । द्वितीयपदमत्र भवति । अध्वादिषु वर्त्तमानानां योऽविनीतादिरभ्युपग्रहं करोति स वाचनीयः । एषा निर्युक्तिगाथा ।

एतामेव भाष्यकृद्विवृणोति—

अविनीयमादियाणं,तिण्ह वि भयणाउ अट्ठिया होंति ।
पढमे भंगे सुत्तं, पढमं वितियं तु चरिमम्मि ॥ ३१६ ॥

अविनीतादीनां त्रयाणामपि पदानामष्टिका भजना भवति-अष्टभङ्गीत्यर्थः । यथा अविनीतो विकृतिबद्धोऽव्यवशमितप्राभृतः १, अविनीतोऽपि विकृतिप्रतिबद्धो व्यवशमितप्राभृतः २ इत्यादि यावदष्टमो भङ्गो विनीतो विकृत्यप्रतिबद्धो व्यवशमितप्राभृतश्चेति । अत्र च प्रथमे भङ्गे प्रथमसूत्रं निपतति, चरमे—अष्टमे द्वितीयं सूत्रमिति ।

अथ त्रयाणामपि वाचने यथाक्रमं दोषानाह—

इहराऽवि ताव थंभति, अविणीतो लंभितो किमु सुतेणं ।
मा णट्ठो णस्सिहिति, खए व खारावसेउत्तं ॥ ३१७ ॥

इतरथाऽपि-श्रुतप्रदानमन्तरेणापि तावद् अविनीतः स्तभ्यते स्तब्धो भवति । किं पुनः श्रुतेन लम्भितः सन् महिमानमिति शेषः । अतः स्वयं नष्टोऽसावज्ञातेऽपि मां नाशयिष्यतीति क्षते वा क्षारावसेको मा भूदिति कृत्वा नाऽसौ वाचनीयः ।

अपि च—

गोजूहस्स पडागा, सयं पयातस्स वड्ढयति वेगं ।
दोसोदयप्पसवणं, ण होइ ण णिदाणतुल्लं च ॥३१८॥

इह गोपालको गवामग्रतो भूत्वा एव पताकां दर्शयति तदा शीघ्रतरं गच्छन्तीति श्रुतम् , ततो गोवर्गस्य स्वयं प्रयातस्य यथा पताका वेगं वर्द्धयति तथा दुर्विनीतस्यापि श्रुतप्रदानमधिकतरं दुर्विनयं वर्द्धयति । तथा दोषाणां—रोगाणामुदये शमनमौषधं न दीयते, यतश्च निदानादुच्छ्रितो व्याधिस्तत्तुल्यं—तत्सदृशमपि वस्तु रोगवृद्धिभयान्न दीयते, यद्वा—दोषोदये दीयमानं शमनं न निदानतुल्यं भवति , किं तु-भवत्येव, ततो न दातव्यम् । एवमस्यापि दुर्विनयदोषतरे वर्तमानस्य श्रुतौषधमहितमिति कृत्वा न देयम् ।

विणया धीता विज्जा, देंति फलं इह परे य लोगम्मि ।
न फलंति विणयहीणा,सस्साणि व तोयहीणाइं ।३१६॥

विनयेनाधीता विद्या इह परत्र च लोके फलं ददति । जनत्वजननयशःप्रवादलाभादिकमैहिकम् , निःश्रेयसादिकं चामुष्मिकं फलं ढौकयन्तीति हृदयम् । विनयहीनास्तु ता अधीता न फलन्ति, सस्यानीव तोयहीनानि; यथा-जलमन्तरेण धान्यानि न फलन्ति ।

अथ विकृतिप्रतिबद्धमाह—

रसलोलुयता कोई, विगतिं ण मुयति दढो वि देहेणं ।
अब्भंगेण व सगडं, ण चलइ कोई विणा तीए ।।३२०॥

रसलोलुपतया कश्चिद्देहेन दृढोऽपि विकृतिं न मुञ्चति, स वाचयितुमयोग्यः । कश्चित्पुनरभ्यङ्गेन विना यथा शकटं न चलति तथा तया विकृत्या विना निर्वोढुं न शक्नोति, तस्य गुरूणामनुज्ञया विधिना गृह्णतो वाचना दातव्येति ।

किंच—

उस्सग्गं एगस्स वि, ओगाहिमगस्स कारणा कुणति ।
गिण्हति य पडिग्गहए,विगतिं चरमे विसज्जंता ।।३२१॥

योगं वहमानः कश्चिदेकस्याप्यवगाहिमस्य कारणात्कायोत्सर्गं करोति, प्रतिग्रहे वा विकृतिं गृह्णाति, चरमेनाप्यमुनाप्युपायेन मे विकृतिविसर्जयितारः ।

एवं मायां कुर्वतः किं भवतीत्याह—

अतवे न होति जोगो,ण य फलए इच्छियं फलं विज्जा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविफलति विउलमगुणं,साहणहीणा जहा विज्जा।३२२।

अतपाः-स्तपसा विहीनो योगः-श्रुतस्योद्देशनादिव्यापारो न भवति । न च तपसा विना गृह्यमाणा विद्या-श्रुतज्ञानरूपा ईप्सितं-मनोऽभिप्रेतं फलं फलति, अपीत्यभ्युच्चये, प्रत्युत विपुलमगुणमनर्थं फलति । यथा साधनहीना विद्या। यस्याः प्रज्ञप्तिप्रभृतिकाया विद्याया उपवासादिको यः साधनोपचारः सा तमन्तरेण गृह्यमाणा भवतीति भावः ।

अथाव्यवशमितप्राभृतं व्याचष्टे

अप्पे वि पारमाणिं, अवराधे वयति खामियं तं च ।
बहुसो उदीरयंतो,अविओसिय पाहुडो स खलु॥३२३॥

अल्पेऽपि परुषभाषणादावपराधे पारमाणिं परमं क्रोधसमुद्घातं यो व्रजति तच्च क्षामितमपि यो बहुशः उदीरयति, स खल्वव्यवशमितप्राभृत उच्यते ।

अस्य वाचनादोषानाह—

दुविधो उ परिच्चाओ, इह चोदणकलहदेवयच्छलणा।
परलोगम्मि य अफलं, खेत्तम्मि व ऊसरे बीजं ।३२४।

दुर्विनीतादेरपात्रस्य वाचनादाने द्विविधः परित्याग इहपरलोकभेदाद्भवति । तत्रेहलोकपरित्यागो नाम स यदि सारणादिना प्रेर्यते, तदा कलहं करोति । अपात्रवाचनेन च प्रमत्तं प्रान्तदेवता छलयेत्, परलोके तु परित्यागः, श्रुतदानम् अफलं-सुगतिबोधिलाभादिकं पारत्रिकफलं न प्रापयति, ऊषर इव क्षेत्रे बीजमुप्तं यथा निष्फलं भवति ।

'सा य इयरे य चत्ता' इति पदं व्याख्याति-

वाइज्जंति अपत्ता, हणुदाणुवयं पि परिसहो मो ।
इय एस परिच्चाओ,इहपरलोगेऽणवत्था य ॥ ३२५ ॥

मनोवत् ज्ञानाचारविराधकतया संसारं परिभ्रमतीति परित्यक्तः, इतरेऽपि साधवस्तान् वाच्यमानान् दृष्ट्वा चिन्तयन्ति-अहो अपात्राण्यपि यदि वाच्यन्ते 'हणुदाणि' त्ति। ततः सांप्रतं वयमपीदृशा भवामः 'इय त्ति' एवं तेषामपि दुर्विनयादौ प्रवर्त्तमानानामिहपरलोके परित्यागः कृतो भवति । अनवस्था चैवं भवति—न कोऽपि विनयादिकं करोतीत्यर्थः ।

अथ द्वितीयपदमध्वादिषु भवतीति यदुक्तं तद् व्याचष्टे-

अद्धाणओमादिउवग्गहम्मि,
वाए अपत्तं पि तु वट्टमाणं ।
पुच्छिज्जमाणम्मि व संथरेवी,
असासतीए वि तु तं पि वाए ॥ ३२६ ॥

अध्वनि अवमौदर्ये आदिशब्दाद्राजद्विष्टादिषु भक्तपानादिना गच्छस्योपग्रहे वर्त्तमानमपात्रमपि दुर्विनीतादिकं लब्धिसम्पन्नं वाचयेत्। अथवा-किमप्यपूर्वं श्रुतं तस्य समस्ति यद् पुनश्च शिष्यो न प्राप्नोति, तच्चान्यत्रासंक्रम्यमाणं व्यवच्छिद्यते । ततः संस्तरणेऽपि अपात्रं वाचयेत्। यद्वा-नास्ति तस्यान्यः कोऽपि शिष्यस्ततोऽन्यस्याभावे मा सूत्रार्थो विसरतामिति कृत्वा तमप्यपात्रं श्रुतं वाचयेत्। बृ० ४ उ० । स्था० । व्य० ।

वाचनीया अवाचनीयाः-

चत्तारि वायणिज्जा पन्नत्ता, तं जहा-अविणीए विगइपडिबद्धे अविओसवियपाहुडे मायी । चत्तारि वातणिज्जा पन्नत्ता, तं जहा-विणीते अविगतिपडिबद्धे वितोसवितपाहुडे अमाती। (सू० ३२६) स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अव्यक्तं वाचयति—

जे भिक्खू अव्वत्तं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ । १६ ।
जे भिक्खू अव्वत्तं ण वाएति ण वायंतं वा साइज्जइ । २० ।

गाहा—

अव्वंजणजातो खलु, अव्वत्तो सोलसण्ह वारेणं ।
तव्विवरीतो वत्तो, वातति परेण आणादी ॥ २०५ ॥

जाव कक्खादिसु रोमसंभवो ण भवति ताव अव्वत्तो तस्स भवे वत्तो । अहवा जाव सोलसवरिसो ताव अव्वत्तो परतो वत्तो । जइ अव्वत्तं वाएइ इयरंति अन्नं न वाएति तो आणादिया दोसा चउलहुं च ।

अव्वत्ते इमो अववादो । गाहा--

नाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगते कालियाऽणुयोगे य ।
सुत्तत्थजाणएणं, दव्वं खेत्तं च कालं च ॥ २०६ ॥

पूर्ववत्। अववादे वत्तो इमेहिं कारणेहिं "दव्वं खेत्तं" गाहा-पूर्ववत्।

जे भिक्खू अपत्तं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥
जे भिक्खू पत्तं ण वाएइ ण वायंतं वा साइज्जइ ॥२२॥

इत्यादि अप्राप्तं पयस्स अत्थो अपात्रसूत्रे गत एव । आदिट्ठे भावेति तहा वि इहं असुण्णत्थं भण्णति अव्वत्तसुत्तस्स अप्राप्तसूत्रे भाणियव्वे ।

गाहा--

परियाएण सुत्तेण, सुत्तेण य वत्तमवत्ते य ।
सुत्तं अवत्तं वायंते, वत्तमवाएंति आणादी ॥ २०७ ॥

परियाओ दुविहो--जम्मणओ, पव्वज्जाए य । जम्मणओ सोलसण्हं वरिसाणं अपत्तो अव्वत्तो, पव्वज्जाए तिवरिसाए अपवज्जस्स अव्वत्तो । जो वा जस्स सुत्तस्स कालं वुत्तो तं अपावेंतो अव्वत्तो, सुएण--आवस्सगेण अणधीयस्स वेयालिए अव्वत्तो दसवेयालिए अणधीते उत्तरज्झयणाए अव्वत्तो। एवं सव्वं वयपरियायसुत्ते चउभंगा कायव्वो । पढमभंगो दोसु वि वत्तो, बितिओ सुएणं अव्वत्तो, ततिओ वएण अव्वत्तो, चरिमो दोहि वि अव्वत्तो वाएंतस्स पढमभंगिल्ले अवाएंतस्स आणादिया य दोसा चउलहुं च ।

अप्रातोऽपि वाएइ इमेहिं कारणेहिं । गाहा-

नाउण य वोच्छेदं, पुव्वगए कालियाणुयोगे य ।
एतेहिँ कारणेहिं, अव्वत्तं चाऽवि वाएज्जा ॥ २०८ ॥

पूर्ववत् । प्राप्तं पि न वाएति इमेहिं कारणेहिं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा—

दव्वं खेत्तं कालं, भावं पुरिसं तहा समासज्ज।

एएहिँ कारणेहिं, सविपक्खा वाऽवि वाएज्जा ॥२०६॥

"आमे घडे निहत्तं जहा जलं तं घडं विणासेइ" पूर्ववत्। अव्वत्ते अप्राप्ते छेदसुत्तं वाएज्जमाणे इदं दोसदसगं उट्ठाणं 'आमे घडे' गाधा णिहितं-पक्खित्तं सिद्धं—कहियं अप्पा आहारत्ता जत्थ तं अप्पाहारं; अप्पधारणसामर्थ्य-मित्यर्थः। नि० चू० १६ उ०।

जे भिक्खू हेट्ठिल्लाइं समोसरणाइं अवाएत्ता उवरिमसु-यं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

गाहा—

आवासगमादीयं, सुत्ताणं जाव विंदुसाराओ।

उक्कमओ वाएंतो, पावति आणाइणो दोसे ॥ १५१ ॥

जं जस्स आदीए तं तस्स हिट्ठिल्लं, जं जस्स उवरि तं तस्स उवरिल्लं जहा दसवेयालियस्संगं हेट्ठिल्लं उत्तरज्झयणाण दसवेयालियं हेट्ठिल्लं एवं णेयं जाव विंदुसारेति।

गाहा—

सुत्तत्थ तदुभयाणं, ओसरणं अहव भावमादीणं।

तं पुण नियमा अंगं,सुयखंधा अहव अज्झयणं ॥१५२॥

समोसरणं णाम मेलओ सो य सुत्तत्थाणं। अहवा-जवादि-णवपदभावाणं। अहवा-दव्वखेत्तकालभावाए एत्थ समोसढा सव्वे अच्छित्ति वुत्तं भवति, तं समोसरणं भणति। तं पुण किं होज्ज?, उच्यते-अंगं सुयखंधो अज्झयणं उद्देस-गो। अंगं जहा—आयारो तं अवागत्ता सूयगडंगं वाएति। सुयखंधो जहा आवस्सयं तं अवाएत्ता दसवेयालिय-सुयक्खंधं वाएति। अज्झयणं जहा सामाइयं अवाएत्ता चउवीसत्थयं वाएति। अहवा-सत्थपरिण्णं अवाएत्ता लोग-विजयं वाएति। उद्देसगेसु जहा सत्थपरिण्णाए पढमं साम-ण्णुद्देसयं अवाएत्ता पुढविकाउद्देसयं वितियं वाएति। एवं सु-त्तेसु वि दट्ठव्वं। अहवा-दोसु सुअक्खंधेसु जहा बंभचेरे अ-वाएत्ता आयारंगे वाएति। सव्वत्थ कमतो एवं तस्स आ-णादिया दोसा चउलहुगा य। अत्थे चउगुरू भण्णति, पं-तदेवया छलेज्ज।

इमे य दोसा—

उवरि सुयमसद्दहणं, हेट्ठिल्लेहि य अभावितमतिस्स।

ण य णिव्वहती पुच्छो,गेण्हति हाणी य अण्णेसिं ।१५३।

हेट्ठिल्ला-उस्सग्गसुत्ता तेहिं अभावियस्स उवरिल्ला-अववा-तसुया ते ण सद्दहति अतिपरिणामगो भवति। पच्छा वा उस्सग्गं ण रोवेइ अतिकमेयं ति काउं तं ण गेण्हति अण्णं उवरिं गेण्हति। एवं आदिसुत्तस्स हाणी नासमित्यर्थः। आ-दिसु य वज्जितो उवरिसु अट्ठाणेण पयत्तेण बहुस्सुतो भण्णति। पुच्छिज्जमाणो य पुच्छं ण णिव्वहति, जारिसो एस अयाणगो तारिसा अण्णे वि एवं अण्णेसिं पि अवण्णो भवति। जम्हा एवमादी दोसा तम्हा परिवाडीए दायव्वं।

इमो अववातो। गाहा—

काऊण य वोच्छेदं, पुव्वगतिकालियाऽणुजोगे य।

सुत्तत्थ तदुभए वा, उक्कमओ वा वि वाएज्जा ॥१५४॥

पियधम्मदढधम्मस्स निसग्गमतो परिणामगस्स सं-विग्गसमभावस्स विणीयविणयस्स परममेहाविणो परिस-स्स कालियसुत्ते पुव्वंगं एवमवोच्छिज्जओ त्ति उक्कमेऽ-वि देज्जा।

नव ब्रह्मचर्याण्यवाच्य उपरितनं श्रुतं वाचयति—

जे भिक्खू णव बंभचेराइं अवाएत्ता उवरिमं सुयं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

णवबंभचेरग्गहणेणं सव्वो आयारो गहितो। अहवा—सव्वो चरणाणुओगो तं अवाएत्ता उत्तमसुत्तं वाएति त-स्स आणादिया य दोसा तं च लहुं च। किं पुण तं उत्तमसुत्तं?

उच्यते। गाहा—

छेयसुत्तं असुयं, अहवा वि यं दिट्ठिवाओ भणइ।

ओवा तं हि य सुत्ते,वणिज्जइ चउण्ह अणुओगो॥१५५॥

गाहापुव्वद्धं कंठं। अहवा-बंभचेरादिआयारं अवाएत्ता ध-म्माणुओगं इसिभासीयादि वाएति। अहवा-सूरपण्णत्तिमाइं गणियाणुओगं वाएति एवं उक्कमोच्चारणियाए सव्वो वि भासियव्वो। एवं सुत्ते अत्थे वि चरणाणुओगस्स अत्थं अकहेत्ता धम्मादियाणं अत्थं कहेति। आदेसओ वा चउगुरुं-छेदं सुयं। कम्हा उत्तमसुत्तं भणति?, जम्हा तत्थ सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा य तेण चर-णविसुद्धी करेति तम्हा तं उत्तमसुत्तं दिट्ठिवाओ। कम्हा सुत्ते सुत्ते चउरो अणुओगा दंसिज्जंति। उक्तं च—"अ-वुहत्ते" गाहा कंठ्या, णवरं वोच्छिण्णंति एगसुत्ते चउ-ण्हमणुओगाणं जा कहणविधी सा पुहत्तकरणाण वो-च्छिण्णाण संपयं पवत्तइ णज्जइ वा। अहवा—तेसिं अत्था-ण कहणसरूवेण एगसुत्ते व वत्थाणं वोच्छिण्णं पृथक्-स्थापितमित्यर्थः। केण पुहत्तीकयं?, उच्यते—बलबुद्धिमेहा-धारणाहाणीणाओविज्ज "दुब्बलियपूसमित्तं च पडुच्च देविंदे" गाहा कंठ्या। के पुण ते चउरो अणुओगा?।

उच्यन्ते। गाहा—

कालियसुयं च इसिभा-सियाइँ चेव सूरपण्णत्ती।

जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा॥१५६॥

कंठ्या। अहवा किं कारणं ण य वज्जितो चरणाणुओगो पढमं दारठवियं।

उच्यते। गाहा—

नयवज्जिओ वि हु अलं,दुक्खक्खयकारओ सुविहियाणं।

चरणकरणाणुओगो, तेण कयमिणं पढमदारं ।१५७॥

कण्ठ्या। शिष्याह-कालियसुयं आयारादि एक्कारस अंगा-तत्थ य कप्पं आयारं तग्गता जे पुण अंगबाहिरा छेयसुय-ज्झयणा ते कत्थ अणुओगे वत्तव्वा?।

उच्यते। गाहा—

जं च महाकप्पसुयं, जाणिय सेसाणि छेदसुत्ताणि।

चरणकरणाणुयोगो,त्ति कालियछेदो उवगयाणि ।१५८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवस्सयं दसवेयालियं च एत्थ वत्तव्वं चरणधम्मगाणि- म्मगाणि य दवियाण सुत्तत्तणुओगे कमट्ठ वि कारणं।

गाहा-

अवुहत्ते विउकरणं, पढमं वणिज्जते ततो धम्मो।
गणितदिवियाणि वि ततो,सो चेव गमो पुहत्ते वा।१५६।

कंठ्या। तेसु पुण जुगवं वणिज्जमाणेसु इमा विही।

गाहा—

एकेकम्मि उ सुत्ते, चउएहं दोवाण आसितु विभागा।
दारे दारे य नया, गाहगगेएहंतरा एया ॥ १६० ॥

सुत्ते सुत्ते चउरो दार त्ति अणुओगा पुणो एक्केको, अणु- ओगेण एहिं चिंतिज्जति, तयक्षयग्गाहगं पडुच्च गिएहंतगं वा संखेववित्थरेहिं दट्ठव्वा। जति गाहा। गोणं एवं तु समत्थो गेएहंतगो वि समत्थो तो सव्वएहिं वित्थरेण वि भासियव्वं। बितियभंगे गेएहंतगवसेण सातव्वा बितियभंगे जत्तियं वुत्तुं समत्थो ततियं भासति, चरिमे दोसु वि जं सु- त्ताणुरूवं अपुहत्ते पुहत्ते वा ते चउरो अणुओगा कहं वि भासिज्जंति।

उच्यते। गाहा—

समतत्ति होति चरणं, समभावम्मि य ठितस्स धम्मो उ।
काले तिकालविसयं,ठविए वि गुणोऽणुदव्वत्ता ॥१६१॥

तुलाधरणं च-समभावकरणं चरणसमभावट्ठियस्स णि— यमा विसुद्धिसरूवो धम्मो भवति, काले णियमा तिकाल- विसयं चरणं। जम्हा समयखेत्तकालविरहितं ण किंचि अ- त्थि अहवा-तिकालविसयं ति यं चत्थि कायव्वा, जहा धुवा- णित्तिया सासती तहा चरणं भुवि च भवति भविस्सति य। दव्वाणुओगे चरणं चिंता किं दव्वो गुणो त्ति दव्वट्ठिताभि- प्पाएण चरणं दव्वं पज्जवट्ठिताभिप्पाएण चरणं गुणो। अहवा-पढमतो सामाइयगुणे पडिवत्तितो पुव्वमेव चरणं लब्भति चरणट्ठितस्स धम्माणुओगो लब्भति। चरणधम्म- ट्ठियस्स गणियाणुओगो दिज्जति, ततोऽतिअणुओगभावित- स्स थिरमतिस्स दव्वाणुओगो य एहिं विधीहिं दंसिज्जति।

इदं च वर्ण्यते। गाहा-

एत्थं पुण एक्केके, दोयम्मि गुणा य होंत वायाए।
गुणदोसदिट्ठसारो, णियतति सुहं पवत्ततिया ॥१६२॥

एत्थ त्ति एतेसिं अणुओगाणयऽत्थकहणे 'पुण' विशेषणे, किं विशेषेति ?, एक्केके अणुओग गुणा दरिसिज्जंति, अवायति दोसा य। कहं ? उच्यते-पडिसिद्धं आयरंतस्स विहियं अ- करेंतस्स य इहपरलोइया दोसा, पडिसिद्धं वज्जेंतस्स विहि- यं करेंतस्स इहपरलोइया गुणा चरणाणुवचयभवणं गुण- सारो चरणविघातो कम्मुवचओ भवणवंदो संसारो। एवं गुणदोसदिट्ठसारो दोसु ठाणेसु सुहं णिवतति, गुणट्ठाणेसु य सुहं पवत्तते। अहवा—णयवादेसु एगंतग्गाहे दिट्ठ- दोसो सुहं णिवत्तति अणेगंतगाहे य दिट्ठगुणो सुहं पवत्तति अतो भएणइ।

गाहा—

अपुहत्ते व कहेंते, पुहत्ते व कमेण वायंतम्मि।
पुव्वभणिता उ दोसा, वोच्छेदादी मुणेयव्वा ॥१६३॥

अणुओगाणं अपुहत्तकाले पुहत्तं विणा कारणेण कायव्वं, पुहत्तेण कारणेण उक्कमकरणं ण कायव्वं। अहवा—करेंति पडिसिद्धंतो इमातो आदिसुत्ते जे वोच्छेदादिया दोसा वु- त्ता ते भवंति।

गाहा—

आयारे अणहीए, चउएह दाराण अन्नतरगं वा।
जे भिक्खू वाएती, सो पावति आणमादीणि ॥१६४॥

सुयकडादिचरणाणुओगे दट्ठव्वो। सेसं कंठं।

गाहा—

णाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगइकालियाणुजोगे य।
सुत्तत्थजाणएणं, अविहियविहिए य होयव्वं ॥१६५॥

पूर्ववत्कंठ्या।

जे भिक्खू अव्वत्तं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ। १६।
जे भिक्खू अव्वत्तं ण वाएति ण वायंतं वा साइज्जइ।२०।

अपात्रमयोग्यमभाजनमित्यर्थः, तप्पडिपक्खो पत्तं।

जे भिक्खू अप्पत्तं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ। २१।
जे भिक्खू पत्तं ण वाएइ ण वायंतं वा साइज्जइ। २२।

अप्राप्तं क्रमादनधृतश्रुतमित्यर्थः। तप्पडिपक्खो पत्तं। आणा- दी चउलहुं वाएइ चउरो वि सुत्ता एगट्ठा वक्खाणिज्जंति। नि० चू० १६ उ०। (तत्र 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४३ पृष्ठे अनुयोगश्रवणपात्रीभूता बहुश्रुतादयः परिगणिताः स्वस्वस्थाने व्याख्याताः।) अत्र तिस्रो व्याख्यास्तद्यथा प्राप्तमिवानुयोगं श्रोतुमर्हति नाप्राप्तमिति प्रथमा, पात्र ए- वानुयोगश्रवणं कारयितव्यो नापात्र इति द्वितीया, व्यक्त एवानुयोगं श्रावणीयो नाव्यक्त इति तृतीया, अस्यां च तृतीयव्याख्यायां "वत्तो य" त्ति पाठो द्रष्टव्यः।

अथाधस्तनमेव व्याचिख्यासुराह—

तिंतिणिए चलचित्ते, गाणंगणिए अदुब्बलचरित्ते।
आयरियपारिभासी, वामावट्टे य पीसूणे ॥ ७६६ ॥
आदी अदिट्ठभावे, अकडसमायारिए तरुणधम्मे।
गव्वियपइन्ननिएहइ, छेयसुए वज्जए अत्थं ॥ ७६७ ॥

तिन्तिणिकश्चलचित्तो गाणंगणिकश्च दुर्बलचारित्र आ- चार्यपरिभाषी आचार्यपरिभावी वा वामावर्त्तश्च पिशुनश्च 'आदी अदिट्ठभावे' त्ति आदौ आवश्यकादिशास्त्रेषु वर्त्तमाना अदृष्टा भावा येन स आद्यदृष्टभावस्तथा अकृतसामाचा- रीकस्तरुणधर्मा च गर्वितः यः 'पइन्न' त्ति प्रकीर्णप्रश्नः प्र- कीर्णविधश्च 'निएहइ' त्ति गुरुनिह्नवी एतेषां छेदश्रुतवि- षयमर्थं वर्जयेत् न दद्यादित्यर्थः। (तिंतिणिकादयः स्वस्व- स्थाने व्याख्याताः।) (अत्र च तिन्तिणिकचलचित्तगाणं- गणिकदुर्बलचरित्राचार्यपरिभाषितवामावर्तपिशुनाकृतसा- माचारीकगर्वितप्रकीर्णनिह्नविन एकादशाऽपात्रभूताः शिष्याः आदिमोऽदृष्टभावः अप्राप्ततरुणधर्मा पुनरव्यक्तः।

अथैषां सूत्रार्थप्रदाने प्रायश्चित्तमाह—

अव्वत्ते य अपत्ते, लहुगा लहुगा य होंति अप्पत्ते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लहुगा य दव्वतिंतिणि,रसतिंतिणि होंति चउगुरुगा७६३

अव्यक्तस्तरुणधर्मा तस्य तथा 'अपत्ते' त्ति अपात्राणामेकादशसंख्याकानां सूत्रार्थौ यदि ददाति तदा चत्वारो लघुकाः 'लहुगा य होंति अप्पत्ते' त्ति अप्राप्त आद्यद्रष्टभावस्तस्मै ददाति चत्वारो लघुकाः। अत्रैव विशेषमाह—'लहुगा य दव्व' इत्यादि। द्रव्यतिन्तिणिकस्य ददाति चत्वारो लघवः, रसतिन्तिणिकस्य ददाति चत्वारो गुरवः, उपधिशय्यातिन्तिणिकयोर्ददानस्य चत्वारो लघवः। इत्यनुक्रमन्यत्रावसातव्यं निशीथचूर्णावुक्तत्वात्—

अंतो बहिं च गुरुगा, आयरियगिलाणबालबिइयपयं।
आयरियपारिभासि-स्स होंति चउरो अणुग्घाया।७६४।

आहारोपधिशय्याविषयामन्तर्बहिश्च संयोजनां कुर्वतश्चत्वारो गुरवः, आचार्यग्लानबालादीनामर्थाय द्वितीयपदं भवति; एतदर्थं संयोजनामपि कुर्वन् शुद्ध इत्यर्थः। आचार्यपरिभाविणः पुनश्चत्वारो गुरवोऽनुद्घाताः प्रायश्चित्तम्।

अथोपसंहरन्नाह—

तम्हा न कहेयव्वं, आयरिएणं तु पवयणरहस्सं।
खेत्तं कालं पुरिसं, नाऊण पगासए गुत्तं ॥ ७६५ ॥

आचार्येण वचनरहस्यमपवादं न कथयितव्यम्, कथं पुनः कथयितव्यमित्याह—क्षेत्रमध्वादिकं प्रवेष्टव्यं ज्ञात्वा प्रथमतोऽध्वकल्पादिकं प्रवचनरहस्यभूतमपरिणतानामपि कथयितव्यमन्यथा तेषां मार्गे गच्छतां संयमात्मविराधना स्यात्, एवं कालमपि दुर्भिक्षादिकमागमिष्यन्तमागतं वा ज्ञात्वा यथायोगमपरिणतानामपि राहसिकश्रुतार्थं प्रकाशयेत्, पुरुषं वा परिणामलक्षणमुपलक्षणत्वाद् भावं वा ग्लानवृद्धासहिष्णुप्रभृतीनामुपग्रहणकरणादिलक्षणं ज्ञात्वा प्रकाशयेत्, गुह्यं-छेदश्रुतरहस्यमिति व्याख्यातं 'पत्तेय' त्ति द्वारम्।

तथा अनुज्ञातद्वारमाह—

चउभंगोऽणुन्नाए, अणणुण्णाते य पढमतो सुद्धो।
सेसाणं मासलहु, अविणयमाई भवे दोसा ॥ ७६६ ॥

अत्रानुज्ञातानुज्ञातपदाभ्यां चतुर्भङ्गी कार्या। तद्यथा-अनुज्ञातमनुज्ञातो वाचयतीति प्रथमः। अस्य भावना-कश्चित् प्रातीच्छिको गच्छान्तरादागत्य सूत्राध्ययनार्थमुपसंपन्नः, स चाचार्यैरनुज्ञातः, आर्य! उपाध्यायस्य सकाशेऽधीष्वेति। ततः स उपाध्यायस्य समीपे गत्वा ब्रूते—भगवन्! गुरुभिरहमादिष्टो भवतां पादमूले पठनार्थमिति। तत उपाध्यायेनागत्य आचार्याः पृच्छनीयाः यथा-क्षमाश्रमणाः! पाठयाम्यहममुकं साधुमिति?। ततो गुरुभिर्बाढमित्युक्ते स उपाध्यायेन पाठनीयः। एवं कुर्वन्ननुज्ञातो वाचयंस्त्वभिधीयते, एष प्रथमो भङ्गः शुद्धः। अनुज्ञातमननुज्ञात इति द्वितीयः। तद्भावना—स साधुराचार्यैर्भणितः, पठोपाध्यायान्तिके। स तथैवमादिष्टः पठितुमुपस्थित उपाध्यायसन्निधौ, स उपाध्यायो यद्याचार्याननुपृष्ट्वा तं पाठयति तत उपाध्यायस्य मासलघु। अननुज्ञातमनुज्ञात इति तृतीयः। अत्र चाचार्यैरुपाध्यायस्तस्य साधोः शृण्वतः सन्दिष्टः, आर्य! पाठयेरमुं साधुमिति; न पुनरितरः संदिष्टस्ततः स उपस्थितः सन्नुपाध्यायेन प्रश्नीयः। सौम्य! क्षमाश्रमणैः सन्दिष्टस्त्वं न वेति? ब्रूयात् सः, मया युष्माकमादेशो दीयमानः श्रुतो न पुनरहं सन्दिष्ट इत्युक्ते यद्युपाध्यायः पाठयति तदा द्वयोरप्यध्याप्याऽध्यापकयोर्मासलघु, अथ न पाठयति तत उपाध्यायः शुद्धः। अननुज्ञातमननुज्ञातो वाचयतीति चतुर्थो भङ्गः। अत्र चोपाध्यायोऽप्यननुज्ञातः, शिष्योऽप्यननुज्ञात इति कृत्वा द्वयोरपि मासलघु। अत एवाह-शेषेषु-प्रथमभङ्गव्यतिरिक्तेषु भङ्गेषु मासलघु, गाथायां प्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे षष्ठी। अविनयादयश्च दोषा भवन्ति। आदिशब्दादनवस्था अन्येषामपि यदृच्छयाऽध्ययनाध्यापनलक्षणादयो दोषाः परिगृह्यन्ते। गतमनुज्ञातद्वारम्। बृ० १ उ० १ प्रक०। (परिणामकातिपरिणामकद्वाराणि स्वस्वस्थानयोरुक्तानि।)

अव्यक्तवाचने प्रायश्चित्तम्—

सामन्नं पुण सुत्ते, मयमायामं चउत्थमत्थम्मि।
अप्पत्ताऽपत्ताऽव्व-त्तवायणुद्देसणाइसु य ॥ २५ ॥

अपात्रः अयोग्यस्तिन्तिणिकश्चलचित्तः गाणंगणिकादि, अव्यक्तो—वयसा लघुः, श्रुतेन वाऽल्पश्रुतः। एतेषामप्राप्तापात्राव्यक्तानां श्रुतं पाठरूपं यो ददाति, तदुद्देशसमुद्देशानुज्ञां वा करोति, तस्यापि चतुर्थम्। चशब्दोऽनुक्तसमुच्चये, तेन प्राप्तपात्रव्यक्तानां च यो वाचनां न ददाति उद्देशादींश्च न करोति तस्यापि चतुर्थमित्यर्थः। जीत०।

पञ्चभिः प्रकारैर्वाचयेत्—

पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं वाएज्जा, तं जहा-संगहट्ठयाए उवग्गहणट्ठयाए निज्जरट्ठयाए सुत्ते वा मे पज्जवयाए भविस्सइ सुत्तस्स वा अव्वोच्छित्तियट्ठयाए ॥ (सू० ४६८)

'पंचही'त्यादि सुगमम्, नवरं सुत्तं—श्रुतं सूत्रमात्रं वा वाचयेत्-पाठयेत्, तत्र संग्रहः-शिष्याणां श्रुतोपादानं स एवार्थः-प्रयोजनं तस्मै संग्रहार्थाय, संग्रह एव वाऽर्थो यस्य स संग्रहार्थस्तद्भावस्तत्ता तया संग्रहार्थतया श्रुतसंग्रहो भवत्वेषामिति प्रयोजनेनेति भावः। अथवैत एव मया संगृहीता भवन्ति शिष्यीकृता भवन्तीति संग्रहार्थतया, तत्संग्रहायेति भावः, एवमुपग्रहार्थायोपग्रहार्थतया वा एवं ह्येते भक्तपानवस्त्राद्युत्पादनसमर्थतयोपष्टम्भिता भवन्त्विति भावः। निर्जरार्थाय निर्जरणमेवं कर्मणां भवत्विति, श्रुतं वा ग्रन्थो मे मम वाचयत इति गम्यते, पर्यवजातं जातिविशेषं स्फुटतया भविष्यतीति, अव्यवच्छित्त्या नयनं-श्रुतस्य कालान्तरप्रापणम् अव्यवच्छित्तिनयः, स एवार्थस्तस्मै इति। स्था० ५ ठा० ३ उ०। (अस्वाध्याये न वाचयितव्यमिति 'असज्झाइय' शब्दे प्रथमभागे ८३३ पृष्ठे गतम्।) (वाचनायां विनयादिप्रकाराः 'आयारपकप्प' शब्दे द्वितीयभागे ३५५ पृष्ठे गताः।) (गृहस्थेभ्योऽन्ययूथिकेभ्यो न वाचना देयेति 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७२ पृष्ठे उक्तम्।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवर्त्तिन्यां मृतायां संयतीनां वाचना-

कप्पति निग्गंथीणं वितिगिट्ठे काले सज्झायं करेत्तए नि-ग्गंथनिस्साए ॥११॥

कल्पते निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थनिश्रया व्यतिकृष्टेऽपि काले स्वाध्यायं कर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अधुना भाष्यप्रपञ्चः, तत्र प्रथमतः पूर्वपक्षस्यावकाशं दर्शयति—

कप्पइ जइ निस्साए, वितिगिट्ठे संयतीण सज्झाओ ।
इति सुत्तेणुद्धारे, कयम्मि उ कमागतं भणइ ॥२१२॥

कल्पते यतिनिश्रया व्यतिकृष्टे काले संयतीनां स्वाध्याय इति सूत्रेणोद्धारे कृते परः क्रमागतं परिपाट्यागतमिदं भणति ।

किं तदित्याह—

पुव्वं वत्थेऊणं, संजोगविसं च जायरूवं च ।
आरोवणं च गुरुइं, न हु लब्भा वायणं दाउं ॥२१३॥

पूर्वं संयोगविषजातरूपं च विषं; सहजविषं चेत्यर्थः, आरोपणा च-प्रायश्चित्तं चतुर्थी वर्जयित्वा यत्संप्रति वाचनां ददत अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् दापयतां दापयितुं (न हु) नैव लभ्यम् ।

एवं परेण पूर्वपक्षे कृते सूरिराह—

कारणियं खलु सुत्तं, असति पवाएंतियाए वाएज्जा ।
पाढेण विणा तासिं, हाणी चरणस्स होज्जाहि ॥२१४॥

इदं खलु सूत्रं कारणिकं कारणेन निर्वृत्तम् , तदेव कारणमाह-असत्यभावे प्रवाचयन्त्याः-प्रवर्तिन्या वाचयेत् संयतीः, अन्यथा पाठेन विना तासां चरणस्य हानिर्भवेत् ।

यदि भवति ततः को दोष इत्यत आह—

जातो पव्वइयातो, सग्गं मुक्खं च मन्नमाणीतो ।
जइ नऽत्थि नाणचरणं,दिक्खा हु निरत्थिया तासिं२१५॥

याः स्वर्गं मोक्षं च मृगयमाणाः प्रव्राजितास्तासां यदि ज्ञानं चरणं च नास्ति ततो (हु)निश्चितं दीक्षा निरर्थिका ।

कथं निरर्थिकेत्यत आह—

सव्वजगुज्जोयकरं, नाणं नाणेण नज्जए चरणं ।
नाणम्मि असंतम्मी,अज्जा किह नाहिति विसोहिं।२१६।

सर्वस्यापि जगतः उद्योतकरं ज्ञानम् ,ज्ञानेन च जायते चरणम् , ततो ज्ञाने असत्यार्यिका विशोधिकार्यं किं ज्ञास्यति ? नैव ज्ञास्यतीति भावः ।

ततो विशुद्ध्यभावात् चरणाभावस्तथा चाह—

नाणम्मि असंतम्मि, चरित्तं पि न विज्जए ।
चरित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे नो सचरित्तया ॥२१७॥

ज्ञाने असति प्रागुक्तयुक्तेश्चारित्रमपि न विद्यते, असति चारित्रे सकले तीर्थे नार्यिकाणां सचारित्रता ।

अचरित्तयाए तित्थस्स, निव्वाणं नाभिगच्छइ ।
असती निव्वाणस्स य,दिक्खा होति निरत्थगा ॥२१८॥

संयतीरधिकृत्य तीर्थस्याचारित्रतया संयती निर्वाणं काऽपि न गच्छति, निर्वाणस्य चाभावे दीक्षा निरर्थिका ।

तम्हा इच्छावेती, एतासिं नाणदंसणचरित्तं ।
णाणेणं चरणेणं, काहिति अंतं भवसयाणं ॥ २१९ ॥

यतो निर्वाणाभावे दीक्षा निरर्थिका, अथवा-तासां निर्वाणाय भगवता दीक्षाऽनुज्ञाता , तस्मादेतासां दीक्षाबलादपि ज्ञानदर्शनचारित्रं समाहारत्वादेकवचनमिच्छापयति, यतो 'अन्तं'—विनाशं भवशतानां करिष्यन्त्यार्यिकाः, यतो निर्वाणं लभ्यते ज्ञानचरणेन नान्यथा ।

नाणस्स दंसणस्स य, चारित्तस्स य महाणुभावस्स ।
तिएहं पि रक्खणट्ठा, दोसविमुक्को पवाएज्जा ॥ २२० ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्रस्य च कथंभूतस्यैकैकस्येत्यत आह—महान् अनुभावः प्रभावो यस्य तत्तथा तस्य, एतेषां त्रयाणां रक्षणाय दोषविमुक्तो—वक्ष्यमाणदोषविप्रमुक्तः प्रवाचयेत् ।

अप्पसत्थेण भावेण, वाएंतो दोसवं भवे ।
केरिसो अप्पसत्थो उ, इमो सो इ पवुचती ॥ २२१ ॥

अप्रशस्तेन भावेन वाचयन् दोषवान् भवति, न प्रशस्तेन । अथ कीदृशः सोऽप्रशस्तो भावः ?, सूरिराह-सोऽप्रशस्तो भावोऽयं प्रोच्यते ।

तमेवाह—

परिवारहेउमण्ण-ट्ठयाए वभियारकज्जहेउं वा ।
अगारा य बहुविहा, असंवुडादी उ दोसा य ॥ २२२ ॥

परिवारो मे भूयादिति हेतोरन्नाऽर्थतया वा; अन्नं पानं वा ममाऽऽनीय दास्यतीत्येतदर्थं वा इत्यर्थः, व्यभिचारार्थं वा अन्येषां वा—एतदतिरिक्तानां कार्याणां हेतोः, अथ अगाराणि—गृहाणि बहुविधानि असंवृतादीनि मे संपादयिष्यन्तीत्येतदर्थं यदि वाचयति तदा सः अप्रशस्तो भाव इति तस्य दोषाः ।

गणिणी कालगयाए,बहिया य ण विज्जए जया अण्णा ।
संता वि मंदधम्मा, मज्जायाए पवाएज्जा ॥ २२३ ॥

गणिन्यां—प्रवर्तिन्यां कालगतायां तत्रान्यत्र वा बहिर्यदा अन्या प्रव्राजिका न विद्यते, अथास्ति परं सत्यपि सा मन्दधर्म्मा ततः साधुर्मर्यादया प्रवाचयति ।

तामेव मर्यादामाह—

आगाढजोगवाहिणी, पकप्पो वा वि होज्ज असमत्तो ।
सुत्ततो अत्थओ याऽवि, कालगया य पवत्तिणी ।२२४।

आगाढयोगवाहिनी काऽपि संयती , यदि वा-कस्याश्चित्संयत्याः प्रकल्पो-निशीथाध्ययनं सूत्रतोऽर्थतश्चासमाप्तो भवेत्--वर्तते, अत्रान्तरे च प्रवर्तिनी कालगता ।

अण्णा य सगच्छम्मी, जइ नऽत्थि पवाइया ।
अण्णगच्छा मणुण्णं तु, आणयंति ततो तहिं ॥ २२५ ॥

अन्या स्वगच्छे यदि प्रवाचिका न विद्यते, ततोऽन्यगच्छात् मनोज्ञां--सांभोगिकीं तत्रार्थिकां वसतावानयन्ति ।

सा तत्थ निम्मवे एक्कं, तारिसीए असंभवे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उग्गहधारणकुसलं, ताहे य नयंति अन्नत्थ ॥ २२६ ॥

सा-मनोज्ञा समानीता सती तत्र एकामार्यिकां निर्मापयति। अथ तादृशी-मनोज्ञा न विद्यते तत आह तादृश्यभावे ततोऽवग्रहधारणाकुशलामन्यत्राऽसांभोगिके गच्छान्तरे नयन्ति। तत्र संयतानां संयतीनां च परीक्षा कर्त्तव्या।

तथा चाऽऽह-

संविग्गमसंविग्गा, परिच्छियव्वा य दो वि वग्गाओ।

अपरिच्छणम्मि गुरुगा,परिच्छ इमेहिँ ठाणेहिं ॥२२७॥

द्वावपि संयतसंयतीरूपौ वर्गौ संविग्नावसंविग्नाविति वा परीक्षितव्यौ, यदि न परीक्ष्यन्ते ततो द्वयोर्वर्गयोरपरीक्षणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। सा च परीक्षा एभिर्वक्ष्यमाणैः स्थानैः कर्त्तव्या।

तान्येवाह--

वच्चंति ताव एंती, भत्तं गेण्हंति ताव जं देंति।

कंदप्पतरुणवाउस, अकालऽभीया य सच्छंदा ॥२२८॥

संयताः संयतीनामुपाश्रये निष्कारणं व्रजन्ति ता अपि वा संयत्यः संयतानामुपाश्रयं निष्कारणमागच्छन्ति, तथा भक्तं पानं वा संयतानां पार्श्वे संयत्यो यथा कथंचन गृह्णन्ति, ता वा संयत्यः संयतानां प्रयच्छन्ति, तथा परस्परं तरुणास्तरुण्यश्च कन्दर्पकथां कथयन्ति, तथा संयताः संयत्यश्च वाकुशं भावं बिभ्रति, तथा द्वावपि वर्गावकाले चरतः, तथा संयता आचार्यान् न बिभ्यति, आर्यिकाः प्रवर्त्तिन्याः, तथा संयताः संयत्यश्च स्वच्छन्दाः-आत्मन इच्छया; यान्ति आयान्ति वा इत्यर्थः।

अट्ठमीं पक्खिए मोत्तुं, वायणाकालमेव य।

पुव्वुत्ते कारणे वाऽवि, गमणं होइ अकारणे ॥ २२९ ॥

अष्टमीं पाक्षिकं तथा वाचनाकालं तथा पूर्वोक्ता 'निग्गम्मंति कारणजाए' इत्यादिना ग्रन्थेन यानि कल्पेऽभिहितानि तानि मुक्त्वा शेषकालं यद्भवति गमनं तदकारणं; निष्कारणमित्यर्थः, एतेन ता वा संयत्यो निष्कारणमायान्तीति व्याख्यातम्।

थेरा सामायारिं, अज्जा पुच्छंति ता परिकहेंति।

आलोयणसच्छंदं, वेंटलगेलन्नपाहुणिया ॥ २३० ॥

स्थविरा--आचार्या आत्मीया आर्यिका वास्तव्यानामार्यिकाणां समाचारीं पृच्छन्ति, तथा कीदृशी वास्तव्यानामार्यिकाणां सामाचारीति एवं पृष्टाः सत्यस्ताः परिकथयन्ति, या यत्र गतास्तास्ततः प्रत्यागता नालोचयन्ति, नापि दैवसिकं रात्रिकं पाक्षिकं वाऽतीचारमालोचयन्ति। यथा स्वच्छन्दं वर्त्तते, नाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिनीनां वश्यायत्ता। तथा वेण्टलानि प्रयुञ्जन्ति, न च ग्लानायाः प्रतितर्पयन्ति, नापि प्राघूर्णकानां वात्सल्यं विदधाति।

चित्तलए सविकारा, बहुसो उच्छोलणं च कप्पट्ठी।

थलिघोडवेससाला,जंत-वए-काहिय-निसेज्जा ॥२३१॥

तथा चित्रलानि वस्त्राणि परिदधति, तथा सविकारा गतौ उल्लापे च विकारसहिताः, तथा बहुशोऽनेकप्रकारं मुखनयनकक्षाहस्तपादादीनामुच्छोलनं-प्रक्षालनं-कुर्वन्ति, तथा कल्पस्थानि-डिम्भरूपाणि रमयन्ति, मण्डयन्ति। ममीकुर्वन्ति वा। तथा स्थाल्यो-देवद्रोण्यस्तासु भिक्षार्थं व्रजन्ति। तत्र घोटा-डङ्करास्ते निरुद्धा बलादपि गृह्णन्ति। स्थल्यां वा समवसृतः प्रत्यासन्ने य उपाश्रयस्तत्र वसन्ति, वेश्यागृहाणि वा हिण्डन्ते, तत्पाटके वा वसतौ तिष्ठन्ति, शाला-अश्वशाला वा तासु हिण्डन्ते, तासां वा समीपे उपाश्रये तिष्ठन्ति, यन्त्राणि-इक्षुयन्त्रतैलयन्त्रादिगृहाणि तानि हिण्डन्ते, तन्मध्ये वा उपाश्रये वसन्ति। तथा व्रजे गोकुले वा व्रजन्ति, काथिकादिकत्वं वा कुर्वन्ति, गृहनिषद्यां बाधन्ते। एष द्वारगाथाद्वयसमासार्थः।

साम्प्रतमेतदेव विवरीषुः प्रथमत आलोचनद्वारं स्वच्छन्दद्वारञ्चाह--

जा जत्त गया सा उ, नाऽलोए दिवसपक्खियं वाऽवि।

सच्छन्दा ता वयणे, महतरियाए न ठायंति ॥ २३२ ॥

या यत्र गता सा ततः प्रत्यागता नाऽलोचयति, नापि काचन दैवसिकं पाक्षिकमपिशब्दात्—रात्रिकं वाऽतीचारमालोचयति। तथा स्वच्छन्दाः सर्वा अपि वर्त्तन्ते न महत्तरिकाया उपलक्षणमेतत्तत्रान्याचार्योपाध्याययोर्वचने न तिष्ठन्ति।

अधुना वेण्टलादिद्वारचतुष्टयमाह-

वेंटलगाणि पउंजं-ति गिलाणा याऽवि ण पडितप्पेंति।

आगाढेऽणागाढं, करेंतिऽणागाढे आगाढं ॥२३३॥

अजयणाए व कुव्वंति, पाहुणगादि अवच्छला।

चित्तलाणि नियंसंति, चित्ता रयहरणा तहा ॥२३४॥

वेण्टलानि-खिटिकाचप्पुटिकादीनि प्रयुञ्जते, नापि ग्लानान् प्रतितर्पयन्ति-प्रतिचरन्ति। यदि वा-आगाढे अनागाढं कुर्वन्ति, अनागाढे वा आगाढमयतनया कुर्वन्ति। तथा प्राघूर्णिकायामवत्सलास्तथा चित्रलानि-विचित्ररेखोपेतानि वस्त्राणि निवसते-परिदधति, चित्राणि वा नानाप्रकाराणि रजोहरणानि धारयन्ति।

संप्रति सविकारद्वारमाह-

गइविब्भमादिएहिं, आगारविगार तह पदंसेंति।

जह किडगाण वि मोहो,समुदीरति किं तु तरुणाणं॥२३५॥

गतिविभ्रमादिभिः आकारविकारांस्तथा प्रदर्शयन्ति यथा किटकानामपि-वृद्धानामपि मोहः समुदीर्यते किं पुनस्तरुणानामतिबहुशः।

उच्छोलद्वारं कल्पस्थद्वारं चाह—

बहुसो उच्छोलंती, मुहनयणे हत्थपायकक्खादी।

गेण्हण मंडण रामण, भोयंति-या ता कप्पट्ठे ॥२३६ ॥

मुखनयनानि हस्तपादकक्षादिकं च बहुशो—ऽनेकवार-मुच्छोलयन्ति-प्रक्षालयन्ति, तथा गृहस्थबालकानां ग्रहणं कुर्वन्ति,मण्डनं वा रामणं वा क्रीडनं, यदि वा ताः कल्पस्थान्-गृहस्थदारकान् भोजयन्ति।

स्थलीघोटद्वारं, वेश्याद्वारं चाह—

थलिघोडादिट्ठाणे, वयंति ते वाऽवि तत्थ समुवेंति।

वेसित्थीसंसग्गी, उवसंतो वा समीवम्मि ॥ २३७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थलीघोटादिस्थाने; अत्रादिशब्दस्तेषामेव देवडङ्गराणामनेकभेदख्यापनार्थः, ता व्रजन्ति, ते वा स्थलीघोटा देवडङ्गराऽपरपर्यायास्तत्रार्यिकोपाश्रये स्थलीसमीपे समुपयन्ति–गच्छन्ति, तथा वेश्यास्त्रीसंसर्गः सदैव तासाम्, यदि वा–वेश्यागृहसमीपे तासामुपाश्रयः।

संप्रति शालायन्त्रकाथिकत्वद्वाराण्याह–

तह चेव हत्थिसाला, घोडगसालाण चेव आसन्ने।
जंति तह जंतसाला, काहीयत्तं व कुव्वंति ॥२३८॥

तथा चैव हस्तिशालानां घोटकशालानां चासन्ने प्रदेशे हिण्डन्ते, यदि वा–तासां प्रत्यासन्ने उपाश्रये वसन्ति, तथा इक्ष्वादियन्त्रशालां गच्छन्ति, तत्समीपे वा वसन्ति। व्रजद्वारं सुगमत्वान्न विवृतम्। काथिकत्वं वा कुर्वन्ति।

संप्रति स्थलीघोटद्वारे दोषमाह–

थलिघोडादिनिरुद्धा, पसज्झ गहणं करेज्ज तरुणीणं।
संका य होइ तहऽवि य, गोयरे किमु पाडिवेसेहिं।२३९।

स्थलीघोटादयोऽनेकप्रकारा देवडङ्गरा निरुद्धाः कृताः सन्तस्तरुणीनां प्रसह्य–बलात्कारेण ग्रहणं कुर्युस्ततो गोचरेऽपि तत्र गतानां शङ्का भवति, किं पुनस्तैः प्रातिवेशिकैस्तेषु प्रातिवेश्मिकेषु सुतरां शङ्का। एवं हस्तिशालादिष्वपि दोषविभाषा यथायोगं कर्त्तव्या।

काथिकद्वारमेव सविस्तरं गृहनिषद्या–
बाधनाद्वारं चाह—

सज्झायमुक्कजोगा, धम्मकहा विकहपेसणगिहीणं।
गिहिनिसिज्जं च बाहं–ति संथवं वा करेंती उ ॥२४०॥

स्वाध्यायेन मुक्तो योगो–व्यापारो यासां ताः स्वाध्यायमुक्तयोगास्तथाभूताः सत्यो गृहिणां धर्मकथानामाख्याने विकथानां च–स्त्रीकथादीनां करणे प्रेरणे च नानारूपे गृहिणामुद्युक्ताः। तथा गृहनिषद्यां बाधन्ते; गृहनिषद्यामुपविशन्तीत्यर्थः। संस्तवं वा–परिचयं वा गृहस्थैः सह कुर्वन्ति, उपलक्षणमेतत्, वस्त्रारायन्नपानं वा गृहस्थानां ताः संयत्यो ददति, अविरताश्च मण्डयन्ति, मण्डनोपदेशं वा तासां प्रयच्छन्ति। मण्डनकानि वा ददतीति।

एवं तु ताहि सिट्ठे, निक्खिवियव्वाउ ताउ कहियंति।
दोसु वि संविग्गेसुं, निक्खिवियव्वा भवे ताउ ॥२४१॥

एवमुक्तेन प्रकारेण ताभिः–संयतीभिः शिष्टे–कथिते ताः क निक्षिप्तव्याः?, सूरिराह–द्वयोरपि संयतसंयतीवर्गयोः संविग्नयोस्ता भवन्ति निक्षेप्तव्याः। अत्र संयतसंयतीवर्गयोः संविग्नासंविग्नभेदाच्चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा–संयताः सीदन्ति संयत्योऽपि सीदन्तीति प्रथमो भङ्गः, संयताः सीदन्ति न संयत्य इति द्वितीयः, संयता न सीदन्ति किन्तु संयत्यः सीदन्तीति तृतीयः, न संयताः सीदन्ति नापि संयत्य इति चतुर्थः। तत्र 'दोसु वि संविग्गेसुं' इति चतुर्थो भङ्गो गृहीतः, शेषेषु भङ्गेषु निक्षेपणं प्रतिषिद्धम्।

तथा च तत्र प्रायश्चित्तमाह–

संजतसंजतिवग्गे, संविग्गकेक्क अहव दोसुं तु।
निक्खेवणे होंति गुरुगा, अह पुण सुद्धे वि मे दोसा।२४२

संयतवर्गे संयतीवर्गे वा एकैकस्मिन्नसंविग्ने एतेन द्वितीयतृतीयभङ्गौ गृहीतव्यौ, अथवा–द्वयोरपि संयतसंयतीवर्गयोरसंविग्नयोरनेन प्रथमो भङ्गो गृहीतः, निक्षेपणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका भवन्ति, नवरं तपःकालविशेषिताः, प्रथमभङ्गे द्वाभ्यामपि विशेषिताः। अथ पुनः शुद्धेऽपि चतुर्थे भङ्गे इमे वक्ष्यमाणा दोषास्तर्हि तत्रापि क्षेपणे चत्वारो गुरुकाः।

सम्प्रति तानेव दोषानाह–

तरुणा सिद्धपुत्तादी, पविसंति नियल्लगाण निस्साए।
महतरियाॅ न निवारेंति, जदि वि य पडिसेविते किंचि२४३

तरुणाः सिद्धपुत्रादयो निजकानामात्मीयानामार्यिकाणां निश्रया–वन्दनव्याजेन प्रविशन्ति, प्रवेशे च तत्रैव चिरकालमवतिष्ठन्ते; तान् महत्तरिका यदि न निवारयन्ति, येऽपि च तत्र वसतौ कांचिदार्यिकामात्मीयां प्रतिसेवन्ते–पर्युपासन्ते पर्युपासीनाश्च चिरकालं तिष्ठन्ति तानपि न निवारयन्ति। यदि–

निक्खेवणे तत्थ गुरुगा, अह पुण होज्जा हु सा समुज्जुत्ता।
चरणगुणेसुं नियथं, वियक्खणा सीलसंपन्ना ॥ २४४ ॥

तत्रापि निक्षेपणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। अथ पुनः सा महत्तरिका चरणगुणेषु नियतं विचक्षणा शीलसंपन्ना सती समुद्युक्ता अयुक्तं समस्तमपि वारयति।

तथा—

समा सीसपडिच्छीणं, चोयणासु अणालसा।
गणिणी गुणसंपन्ना, ऽपसज्झपुरिसाणुगा ॥ २४५ ॥

शिष्याणां प्रातीच्छिकानां च समा, तथा चोदनासु–शिक्षणासु अनलसा–कृतोद्यमा 'गणिणी'–महत्तरिका गुणसंपन्ना तथा अप्रसह्यः–अप्रधृष्यो यः पुरुषस्तदनुगता—तदनुसारिणी।

संविग्गा भीयपरिसा य, उग्गदंडा य कारणे।
सज्झायज्झाणजुत्ता य, संगहे य विसारया ॥ २४६ ॥

संविग्ना–सामाचार्यां सम्यगुक्ता, तथा भीता पर्षद् यस्याः सा भीतपर्षत्, यतः कारणे उग्रदण्डा, तथा स्वाध्यायध्याने युक्ता संग्रहे च विशारदा।

विकथाविसोत्तियादीहिं, वज्जिया जा य निच्चसो।
एयग्गुणोववेयाए, तीए पासम्मि निक्खिवे ॥ २४७ ॥

या च नित्यशः–सर्वकालं विकथाविश्रोतसिकादिभिः आदिशब्दात्–ऋद्धिगौरवादिपरिग्रहः वर्जिता, एतद्गुणोपपेतायास्तस्याः पार्श्वे निक्षिपेत्।

एयारिसाए असती, वाएज्जाहि ततो सयं।
वायएंते इमा तत्थ, विही उ परिकित्तिया ॥ २४८ ॥

एतादृश्या गणिन्या अभावे स्वयं वाचयेत्। तस्मिंश्च वाचयत्ययं वक्ष्यमाणो विधिः परिकीर्त्तितः। स्त्रीत्वं गाथायां प्राकृतत्वात्।

माया भगिणी धूया, मेहावी उज्जुया य आणत्ती।
एयासिं असईए, सेसा वाएज्जिमा मोत्तुं ॥ २४९ ॥

मातरं भगिनीं दुहितरं वा, कथंभूतामित्याह—मेधाविनीं–प्रज्ञावतीम् ऋजुकामकुटिलाम् आज्ञप्ताम्–यदुपदिश्यते त–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्यै तथैव कारिकां वाचयेदिति योगः । एतासामसत्यभावे शेषा अपि अस्वजना वाचयेत् , इमा वक्ष्यमाणा मुक्त्वा ।

ता एवाह—

तरुणी-पुराण-भोइय, मेहुणियं पुव्वहसियवभिचारिं ।
एतासु होंति दोसा, तम्हा य न वायए ताओ ॥ २५० ॥

तरुणीं पुराणां-पश्चात्कृतवतां पुनरभ्युपगतदीक्षां भोग्यां-वेश्यां मैथुनिकीं-भार्या यया सह पूर्वं हसितमासीत् व्यभिचारिणीं-पूर्वावस्थायां स्वैरिणीम् एतासु यस्माद्वाच्यमानासु पूर्वाभ्यासेनात्मपरसमुत्था दोषा भवन्ति तस्मात्ता न वाचयेत् ।

अत्रैव विशेषमाह—

वज्जकुड्डसमं चित्तं , जइ होज्जा वि दोण्ह वि ।
तहाऽवि संकितो होइ, एयातो वायरंतए ॥ २५१ ॥

यद्यपि द्वयोरपि वाच्यवाचकयोश्चित्तं वज्रकुड्यसमं तथाऽप्येता वाचयन् शङ्कितः—शङ्कागोचरो भवति । तत एतासां वर्जनम् ।

पुव्वं तु किटिं असती-ए मज्झिमँ दोसरहिय वाएति ।
गणहरें अन्नयरो वा, विपरिणतो तस्स असतीए ।२५२।

पूर्वं तावत् किटीं-वृद्धां वाचयेत् , तस्यामसत्यां दोषरहितो गणधरो मध्यमां वाचयेत् । अथ गणधरः प्रयोजनान्तरेण व्याकुलस्ततस्तस्य गणधरस्यासत्यभावे परिणतोऽन्यतरो वाऽपि वाचयेत् ।

तरुणेसु सयं वाए, दोसऽन्नयरेण वावि जुत्तेसु ।
विहिणा उ इमेणं तु, दव्वादीएण उ जतंतो ॥ २५३ ॥

अथान्यतरः परिणतो न विद्यते, किंतु-सर्वेऽपि तरुणा वृद्धा अन्यतरेण दोषेण सविकारत्वादिना युक्तास्ततस्तरुणेषु शेषेषु वृद्धेषु चान्यतरेण दोषेण युक्तेषु सत्स्वनेन—वक्ष्यमाणेन विधिना गणधरः स्वयं वाचयेत् । किं विशिष्ट इत्याह—द्रव्यादिना यतमानः ।

तामेव द्रव्यादियतनामभिधित्सुराह—

दव्वे खेत्ते काले, मंडलिदिट्ठी तहा पसंगो य ।
एएसु जयणं वुच्छं, आणुपुव्विं समासतो ॥ २५४ ॥

द्रव्ये क्षेत्रे काले मण्डल्यां तथा दृष्टिप्रसङ्गे एतमेतेषु स्थानेषु यतनामानुपूर्व्या समासतो वक्ष्ये ।

तत्र प्रथमतो द्रव्ययतनामाह—

जं खलु पुलागदव्वं, तव्विवरीयं दुवे वि भुंजंति ।
पुव्वुत्ता खलु दोसा, तत्थ निरोधे निसग्गे य ॥ २५५ ॥

यत् खलु पुलाकम्-असारं द्रव्यं तद्विपरीतं द्वावपि; वाच्यो, वाचयिता चेत्यर्थः भुञ्जाते, अन्यथा-तत्र व्याख्यानमण्डल्यां मूत्रादिनिरोधे निसर्गे वा पूर्वोक्ताः खलु दोषाः,उक्ता द्रव्ययतना।

क्षेत्रयतनामाह-

सुन्नघरे पच्छन्ने, उज्जाणे देउले सभाऽऽरामे ।
उभयवसहिं च मोत्तुं, वाएज्ज असंकणिज्जेसु ॥ २५६ ॥

शून्यगृहाणि प्रच्छन्नान्-विविक्तान् प्रदेशान् , तथा उद्यानानि देवकुलानि सभा आरामाश्च, तथा उभयवसतिं-संयतीवसतिं संयतवसतिं च मुक्त्वा शेषेष्वशङ्कनीयेषु स्थानेषु वाचयेत् ।

उभयनिजे वयणीए, सण्णि यहाभद्द तह य धुवकम्मी ।
आसन्ने सति अन्ना-णुवस्सए अप्पणो वाऽवि ॥२५७॥

उभयस्य-संयत्याः संयतस्य च निजे-स्वजने आसन्ने सति, यदि वा-व्रतिन्या निजे, अथवा-संज्ञिनि-श्रावके, यदि वा-यथाभद्रके,अथवा-ध्रुवकर्मणि-लोहकारादौ प्रत्यासन्ने सति वाचयेत् । अथान्यद्दर्शनीयं स्थानं न विद्यते , ततः अन्यस्थानस्य असति आर्याणामुपाश्रये, अथवा-आत्मन उपाश्रये, यत्र शय्यातरस्य संलोको भवति तत्र स्थितो वाचयति । गतं क्षेत्रद्वारम् ।

अधुना कालयतनाद्वारमाह—

जइ अत्थि वायगं दिंतो, अदाउं ताहे गच्छइ ।
अह तत्थि ताहे दाऊण, सुत्तइत्ताण पोरिसिं ॥२५८॥

यदि साधूनां सूत्रस्यार्थस्य च वाचनादाता समस्तितः आचार्यो वाचनां साधूनामदत्त्वा गच्छति । प्रातरेव साध्वीनामशङ्कनीये स्थाने वाचनां दातुं गच्छतीति भावः । अथार्थपौरुषीदाता समस्ति न सूत्रपौरुषीदाता तदा सूत्रयतां संयतानां सूत्रपौरुषीं दत्त्वा गच्छति ।

अह विज्जइ ताहे जाहि, तो जाइ पढमाएँ उ ।
असतीए दोण्ह वी दाणे,इमा उ जयणा तहिं ॥२५६॥

अथ सूत्रस्य दाता विद्यते नार्थस्य, साधवश्चार्थवन्तो द्विअर्थार्थिनोऽपि सन्ति ततः प्रथमपौरुष्यां संयतीनां वाचनाप्रदानाय गच्छति । द्वितीयस्यां तु पौरुष्यामागत्य संयतानामर्थं ददाति । अथ संयतानां सूत्रस्य अर्थस्य वा प्रदाता अन्यो न विद्यते, तदाऽन्यस्यासत्यभावे द्वयानामपि संयतानां संयतीनां चात्मन उपाश्रये एकस्मिन् तेन वाचना देया, तत्र द्वयानां वाचनादाने इयं वक्ष्यमाणा यतना।

अत्र मण्डलीयतनाद्वारमापतितं तदेवाऽऽह—

कडिऽणंतरितो वाए, दीसंति जणेण दोऽवि जह वग्गा ।
बंधंति मंडलिं ते, उ एक्कतो वाऽवि एक्कत्तो ॥ २६० ॥

ते संयताः संयत्यश्च मण्डलीं बध्नन्ति । तद्यथा-एकतः संयतमण्डली, एकतः संयतीमण्डली,अपान्तराले च संयतीनां व्यवधानाय कटो दीयते । तत्रापि प्रच्छन्ने प्रदेशे स्थिताः शङ्कादयो दोषा उक्तास्ते अत्रापि स्युस्तत आह-यत्र द्वावपि वर्गौ संयतसंयतीसमुदायरूपावुपविष्टौ जनेन दृश्येते तत्र स्थितः कटेनान्तरितो वाचयति ।

एवं सति यो गुणस्तमाह—

लोगे वि पच्चतो खलु, वंदणमादीसु होंति वीसत्था ।
दुग्गूढादी दोसा, विगारदोसा य नो एवं ॥ २६१ ॥

एवं क्रियमाणे सति लोकेऽपि शुद्धशीलसमाचारविषयः प्रत्यय उपजायते । येऽपि च वन्दनादिषु कार्येषु समागच्छन्ति तेऽपि द्वावपि वर्गौ तथोपविष्टौ दृष्ट्वा विश्वस्ता भवन्ति । एवं च सति ये दुर्गूढादयः प्रच्छन्नप्रदेशादिभाविनो दोषाः, ये च परस्परं संयतसंयतीनां विकारदोषास्ते न भवन्ति । अथ कटो न विद्यते तदा वस्त्रेण चिलिमिली क्रियते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा चाह--

चिलिमिलिछेदे ठायइ, जह पासइ दोएह वी य वायंतो।
दिट्ठीसंबंधादी, इमे य तहिमं न वाएज्जा ॥ २६२ ॥

प्रवाचयन् गणधरश्चिलिमिलिया उपलक्षणमेतत्, कटस्य च छेदे पर्यन्ते तिष्ठति; यथा द्वावपि संयतसंयतीवर्गौ पश्यति। तत्र ये संयताः संयतीनां दृष्टिर्दृष्ट्याऽऽत्मीयया संबधन्ति ते दृष्टिसंबन्धा उच्यन्ते। आदिशब्दान्मैथुनकादिपरिग्रहस्तानिमान् वक्ष्यमाणान्न वाचयेत्।

सविकारा मेहुणादी, जया वि धितिदुब्बला।
अन्नेण वायए ते उ, निसिं च पडिपुंछणं ॥ २६३ ॥

ये दृष्टा सविकारा ये च मैथुनिकादयो मैथुनिको—भर्त्ता आदिशब्दात्पुराणादिपरिग्रहः, ये चापि धृत्या दुर्बलास्तान् अन्येनोपाध्यायादिना वाचयेत्। निशि रात्रौ वा तेषां सन्दिग्धस्थानप्रतिप्रच्छनम्।

अहऽसेसे य पवायंते, पढंति सव्वे तहिं अदोसिल्ला।
अणिसन्न थेरिसहिया, थेरसहाओ पवाएंतो ॥ २६४ ॥

अथान्य उपाध्यायादिः प्रवाचयन् न विद्यते तदा अस्मिन्नसति वाचयति, सर्वे तत्र पठन्ति। ततो दोषवन्तस्तत्राऽपि संयत्यः पठन्त्यः अनिषण्णा-अनुपविष्टा ऊर्द्ध्व स्थिता इत्यर्थः; येन परस्परं दृष्टिसंबन्धो न भवति, तथा स्थविराः सहिताः प्रवाचयन्नपि स्थविरसहायः प्रवाचयति येन तत्सहायः सर्वानपि निभालयति।

संयत्योऽनिषण्णाः पठन्तीत्युक्तं तत्रापवादमाह—

जा दुब्बला होज्ज चिरं सभ्कातो,
ताहे निसण्णा ण य उच्चसद्दा।
पलंबसंघाडि न उज्जला य,
अणुन्नया वासतिरंजली य ॥ २६५ ॥

या शरीरेण दुर्बला भवति-वर्त्तते चिरं स्वाध्यायः कर्त्तव्यः तदा निषण्णा-उपविष्टा सती पठति, न च उच्चशब्देन; बृहता शब्देनालापकमुद्घोषयतीत्यर्थः। तथा संघाटिः प्रलम्बा पादगुल्फपर्यन्ता क्रियते नोज्ज्वला, तथा अनुन्नता पठति। किमुक्तं भवति-नोर्ध्वमुखा सती अन्यस्यान्यस्य मुखं विप्रेक्षमाणा पठति। तथा वासो—वस्त्रं तेन तिरोहिताञ्जलिरालापकं गुरोः समीपे याचते।

एयविहिविप्पमुक्को, संजतिवग्गं तु जो पवाएज्जा।
मज्जायाऽतिक्कंतं, तमणायारं वियाणाहि ॥ २६६ ॥

एतेनानन्तरोदितेन विधिना विप्रमुक्तो यः संयतीवर्गं प्रवाचयेत् तं मर्यादातिक्रान्तमनाचारसहितं विजानीयात्। व्य० ७ उ०।

वायणाकप्प-वाचनाकल्प-पुं०। वाचनाग्रहणसामाचार्याम्। पं० भा० १ कल्प। पं० चू०।

वायणापडिसुणणा-वाचनाप्रतिश्रवणा-स्त्री०। सूत्रदानस्य श्रवणे, पञ्चा० १२ विव०।

वायणारिय-वाचनाचार्य पुं०। उपाध्यायादिसन्दिष्टो य उद्देशादि करोति तस्मिन्, अध्यापनाचार्ये, आव० ४ अ०। आ० चू०।

वायणिय-वाचनीय-त्रि०। पाठनीये, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

वायप्पभ-वातप्रभ-न०। चतुर्थे देवलोकस्थे विमानभेदे, स० ५ सम०।

वायमहण्णव-वादमहार्णव-पुं०। वेदान्तग्रन्थविशेषे, स्या०।

वायरुह-वातरुह-न०। अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

वायला-वात(य)ला-स्त्री०। सातवाहननृपतिसहचरवीरजन्मभुवि, ती० ३२ कल्प।

वायलेस-वातलेश्य-न०। चतुर्थदेवलोकीये विमानभेदे, स० ५ सम०।

वायव-वायव-त्रि०। वायुरस्यास्तीति वायवः। वातिके, "जाइवहिरे जाइपंगुले हुंडे य वायवे णऽत्थि णं तस्स दारगस्स हत्था"। उपा० १ अ०।

वायवन्न-वातवर्ण-न०। चतुर्थदेवलोकविमाने, स० ५ सम०।

वायव्वा-वायव्या-स्त्री०। पश्चिमोत्तरविदिशि, स्था० १० ठा० ३ उ०। विशे०।

वायस-वायस-पुं०। काके, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। प्रश्न०। जी०। प्रज्ञा०। ज्ञा०। अनु०। 'भामेइ तहा दिट्ठिं, चलचित्तो वायसु व्व उस्सग्गे'। आव० ५ अ०। दृष्टिं भ्रमयति चलचित्तो वायस इव इतस्ततो नयनगोलकभ्रमणं दिग्निरीक्षणं वा कुरुते उत्सर्गे इत्येवं लक्षणे कायोत्सर्गदोषे, प्रव० ४ द्वार।

वायसंजय-वाक्संयत-पुं०। अकुशलवाग्निरोधात्कुशलवाग्निरोधेन संयमवति, दश० १० अ०।

वायसपरिमंडल-वायसपरिमण्डल-न०। वायसादीनां पक्षिणां यत्र स्थानादिकं स्वराश्रयेणाशुभफलं चिन्त्यते तादृशे निमित्तशास्त्रे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

वाया-वाच्-स्त्री०। वचने, स्था० १० ठा० ३ उ०। इदमित्थं करोमीत्यात्मके वचसि, उत्त० १ अ०। स्था०। विशे०।

वाक्करणमाह—

वयणं वागुच्चए वा,ऽणए त्ति वाय त्ति दव्वओ सा य।
तज्जोग्गपोग्गला जे,गहिया तप्परिणया भावो॥३५२६॥

वचनं वागुच्यते वा अनयेति वाक्, सा च द्रव्यतो द्रव्यवाग् एतद्योग्या भावयोग्या भाषावर्गणाभ्यो गृहीताः पुद्गला इति। ये तु तत्परिणता—भाषात्वेन परिणता उच्यमानाः पुद्गलाः सा भावो भाववागिति। विशे०। सरस्वत्याम्, 'वाणी वाया भणिई सरस्सई भारई गिरा भासा।' पाइ० ना० ५१ गाथा।

वायाभिओग-वागभियोग-पुं०। वाचाऽभियोगो वागभियोगः वचसा प्रेरणे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

वायाम-व्यायाम-पुं०। व्यापारे, स्था० १ ठा० २ उ०। यथा—लकुटभ्रामणम्। नि० चू० १ उ०।

वायामण-व्यायामन-न०। व्यायामकरणे, जी० ३ प्रति० १ अधि०।

वायाभित्त-वाङ्मात्र-न०। केवलवाचि, "वायाभित्तेण जत्थ, भट्ठचरित्तस्स निग्गहं विहिणा। बहुलद्धिजुयस्स वि, कीरइ गुरुणा तयं गच्छं" ग० २ अधि०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वायायण-वातायन-पुं०। गवाक्षे, 'वायायणो गवक्खो' पाइ० ना० ११६ गाथा।

वायाल-वाचाल-त्रि०। वाचाले, "वाउल्लो जंबुल्लो मुहुलो बहुजंपिरो य वायालो" पाइ० ना० ६६ गाथा।

वार-वार-न०। दिने, आदित्यादिवारे, "तिथिर्वारं च नक्षत्रं योगः करणमेव च। पञ्चाङ्गम्" । द० प०। पङ्कप्रभायां नरकपृथिव्यामभिक्रान्तनरके, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

वारग-वारक-पुं०। लघुघटरूपे, आ०म०१अ०। गडुके, उपा०७अ०। क्रमे, व्य०१उ०। परिपाट्याम्, नि०चू० १ उ०। "अज्जाण वारओ पुण, मज्झिमओ होइ अइरित्तो" आर्याणामप्येवमेवान्तरं तासां जनमध्य एवोपाश्रयस्यानुज्ञातत्वात्, ससागारिके वसन्तीनां प्रश्रवणव्युत्सर्जनानन्तरमुदकस्पर्शनार्थं वारको मध्यमोपधावतिरिक्तो भवति। बृ० ३ उ०। अनु०। आ० क०। ('णिग्गंथी' शब्दे चतुर्थभागे २०४६ पृष्ठे उक्तं तासां वारकग्रहणम्।) नपुं०। गुप्तिगृहे, व्य० ४ उ०। त्रि०। अशुद्धपाठनिषेधके, नि०। कल्प०। औ०। ज्ञा०।

वारगजग्गण-वारकजागरण-न०। वारकेण क्रमेण जागरणम्, एके जाग्रति अन्ये स्वपन्ति तदन्तरं ते जाग्रत्यन्ये स्वपन्ति इत्येवंरूपे क्रमिकजागरणे, व्य० ४ उ०।

वारण-वारण-न०। निषेधने, आ० म० १ अ०। व्य०। गजे, "दो घट्टा दन्ति वारणो" पाइ० ना० १० गाथा।

वारणमअ-वारणमद-पुं०। हस्तिमदे, 'वारणमओ दाणं' पाइ० ना० २०३ गाथा।

वारणा-वारणा-स्त्री०। वृञ् वरणे इत्यस्य एयन्तस्य ल्युटि, वारणा भवति। वारणं-वारणा। निषेधनायाम्, आव०।

सा च नामादिभेदतः षोढा भवति। तथा चाह—

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे अ।
एसो उ वारणाए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२३७ ॥

तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यवारणा तापसादीनां हलकृष्टादिपरिभोगवारणा अनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेर्वा देशनायाम्, उपयुक्तस्य वा निह्नवस्यापथ्यस्य वा रोगिण इति इयं चोदनारूपा, क्षेत्रवारणा तु यत्र क्षेत्रे व्यावर्ण्यते—क्रियते वा क्षेत्रस्य वाऽनार्यस्येति, कालवारणा यस्मिन्व्यावर्ण्यते-क्रियते वा कालस्य वा विकालादेः वर्षासु वा विहारस्येति, भाववारणेदानीम्; वा सा च द्विविधा—प्रशस्ता, अप्रशस्ता च। प्रशस्ता-प्रमादवारणा, अप्रशस्ता-संयमादिवारणा। अथवौघत एवोपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरिति तयेहाधिकारः; प्रतिक्रमणपर्यायता चास्याः स्फुटा। आव०४ अ०। आ० चू०। कुसंसर्गाद्यकृत्यस्य निषेधने, ध० २ अधि०। ग०। दृष्टान्तः-"इयाणिं वारणाए विसभोयणतलाएण दिट्ठंतो—जहा एगो राया परचक्कागमं अदूरागयं च जाणेत्ता गामेसु दुद्धदधिभक्खभोज्जाइसु विसं पक्खिवावेइ। जाणि य मिट्ठपाणियाणि वावितलागाईणि तेसु य, जं य रुक्खा पुप्फफलोवगा ताणि वि विसेण संजोएऊण पुव्वक्कंतो, इयरेण राया आगओ, सो तं विसभावियं जाणिऊण घोसावेइ खंधावारे—जो एयाणि भक्खभोज्जाणि तलागाइसु य मिट्ठाणि पाणियाणि एएसु य रुक्खेसु पुप्फफलाणि मिट्ठाणि उवभुंजइ सो मरइ। जाणि एयाणि खारकडुयाणि दुणापाणियाणि उवभुंजह जं तं घोसणं सुणित्ता विरया ते जीविया इयरे मता, एसा दव्ववारणा। भाववारणाए दिट्ठंतस्स उवणओ—एवमेव रायत्थाणीएहिं तित्थगरेहिं विसन्नपाणसरिसा विसय त्ति काऊण वारिया। तेसु जे पसत्ता ते बहूणि जम्मणमरणाणि पाविहिंति, इयरे संसाराओ उत्तरंति" ॥ ४ ॥ आव० ४ अ०। अकृत्यप्रतिसेवनां कुर्वतां प्रतिषेधने, बृ० १ उ० २ प्रक०।

वारदत्त-वारदत्त-पुं०। राजगृहे नगरे स्वनामख्याते राज्ञि, (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य द्वादश वर्षाणि संयमं परिपाल्य विपुले पर्वते सिद्ध इति, षष्ठे वर्गे नवमेऽध्ययने सूचितम्।) अन्त०।

वारधावण-वारधावन-न०। गुडघटधावने, दश० ५ अ० १ उ०।

वारवाण-वारबाण-पुं०। कञ्चुके, "कुप्पासो कंचुअओ णिधुल्लो वारवाणो य" पाइ० ना० ६८ गाथा।

वारसवय-द्वादशव्रत-न०। व्रतभेदे, द्वादशव्रतपौषधिकानां 'चत्तारि अट्ठदस' सत्कपौषधिकानां चालोचनाप्रायश्चित्तप्रदानमुपधानानुसारेणान्यथा वेति? प्रश्नः, अत्रोत्तरम् द्वादशव्रतपौषधिकादीनां प्रायश्चित्तप्रदानं सामान्यतो जीवघातादौ यादृगापतति तदनुसारेण न तूपधानाद्यनुसारेणेति सम्भाव्यत इति ॥ २५ ॥ सेन० १ उल्ला०।

वारसावत्त-द्वादशावर्त-पुं०। सूत्राभिधानगर्भे कायव्यापारविशेषे, आव० ३ अ०। अश्वलक्षणविशेषे च, द्वादशावर्ताश्च इमे वराहोक्ताः—"ये प्रपाणगलकर्णसंस्थिताः, पृष्ठमध्यनयनोपरिस्थिताः। ओष्ठसक्थिभुजकुक्षिपार्श्वगा-स्ते ललाटसहिताः सुशोभनाः ॥ १ ॥" जं० ३ वक्ष०।

वाराह-वाराह-त्रि०। वाराहसम्बन्धिनि नवमतीर्थकरप्रथमशिष्ये, स०। पष्ठबलदेवपूर्वभवजीवे, स०।

वाराही-वाराही-स्त्री०। वराहमिहिरनिर्मितज्योतिःशास्त्रसंहितायाम्, (तत्करणमुक्तम् 'भद्दबाहु' शब्दे पञ्चमभागे १३७० पृष्ठे।)

वारि-वारि-स्त्री०। गजबन्धने, आ० क० १ अ०। आव०। बृ०। नपुं०। जले, "अंबु सलिलं वणं वारि नीरं उदयं दयं पयं तोयं" पाइ० ना० ८८ गाथा। "वार्य्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः" इति रघुः। वाचि, सरस्वत्याम्, स्त्री०। वाच०।

वारिअ-वारित-त्रि०। प्रतिषिद्धे, "पडिसिद्धो वारिओ" पाइ० ना० २६३ गाथा।

वारिखल-वारिखल-पुं०। प्रव्राजके, बृ० १ उ० ४ प्रक०।

वारिज्ज-देशी-विवाहे, दे० ना० ५५ गाथा।

वारिज्जमाण-वार्यमाण-त्रि०। निवर्त्यमाने, भ० १५ श०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वारिज्जय-देशी-न० । विवाहे, 'वारिज्जयं विवाहो' । पाइ० ना० १५४ गाथा ।

वारिधाराचारण-वारिधाराचारण-पुं० । प्रावृषेण्यादिजलधाराविनिर्गतवारिधारावलम्बनेन प्राणिपीडामन्तरेण याति चारणभेदे, ग० २ अधि० ।

वारिप्पवेसण-वारिप्रवेशन-न० । जले प्रक्षेपे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

वारिभद्दग-वारिभद्रक-पुं० । अब्भक्षे, शैवलाशिनि, नित्यं स्नानपानादिधावनाभिरते वा । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । भागवतविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

वारिय-वारित-त्रि० । अहितान्निवारिते, पा० । ध० । आ० म० । नि० चू० ।

वारयित्वा-अव्य० प्रतिषिध्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

वारिवसह-वारिवृषभ-पुं० । वहने, आव० ५ अ० ।

वारिसिय-वार्षिक-न० । वर्षोद्भवे, आव० ५ अ० । ध० । अथ वार्षिककृत्यानि—यथा संघार्चनादीनि बहुविधानि यतः श्राद्धविधिविवेकादशद्वारैः प्रतिपादितानि । गाथोत्तरार्द्धम्—"पइवरिसं संघच्चण १, साहम्मिअभत्ति२ जत्ततिगं३ ॥१॥ जिणगिहण्हवणं ४ जिणधण-वुड्ढी ५ महपूय ६ धम्मजागरिया ७ । सुअपूआ ८ उज्जवणं ९, तह तित्थपहावणा सोही ॥ २ ॥ " ध० २ अधि ।

वारिसेण-वारिषेण-पुं० वसुदेवस्य धारिण्यां जाते पुत्रे, (स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य षोडश वर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य शत्रुञ्जये सिद्ध इति अन्तकृद्दशानां चतुर्थे वर्गे पञ्चमे अध्ययने सूचितम् ।) अन्त० । श्रेणिकस्य धारिण्यां जाते पुत्रे, (स च वीरस्वामीनोऽन्तिके प्रव्रज्य पञ्च वर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य मृत्वा सर्वार्थसिद्धे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिके प्रथमे वर्गे पञ्चमे अध्ययने सूचितम् ।) अनु० । भरतक्षेत्रजवीरजिनसमकालिके एरवतजे चतुर्विंशे तीर्थकरे, ति० ।

वारिसेणा-वारिषेणा-स्त्री० । देवकुरुषु विद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वतस्य कनककूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, स्था० ६ ठा० ३ उ० । अधोलोकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० । ऊर्ध्वलोकवासिन्यां दिक्कुमार्याम्, आ० क० १ अ० । जं० । ति० । आ० चू० । जम्बूमन्दरस्योत्तरे रक्तावतीनदीसक्तायां महानद्याम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० । शास्वतजिनप्रतिमायाम्, रा० । ती० ।

वारिहि-वारिधि-पुं० । समुद्रे, अष्ट० २६ अष्ट० ।

वारी-वारी-स्त्री० । गजबन्धिन्याम्, "वारी करिधरणट्ठाणं" पाइ० ना० २६७ गाथा ।

वारुण-वारुण-पुं० । वरुणदेवस्वामिके अक्षादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आर्द्रानक्षत्रस्वामिनि, अनु० । अहोरात्रस्य पञ्चदशे मुहूर्त्ते, जं० ७ वक्ष० । ज्यो० । कल्प० । चं० प्र० ।

वारुणिप्पभ-वारुणीप्रभ-पुं० । वरुणोदसमुद्रदेवे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । सू० प्र० ।

वारुणी-वारुणी-स्त्री० । वरुणो देवता यस्याः सा वारुणी । म० १० श० १ उ० । स्था० । विशे० । वरुणदैवत्यायां पश्चिमदिशि, आ० म० १ अ० । उत्तररुचकपर्वतस्य रत्नसञ्चयकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, आ० क० १ अ० । आ० चू० । आ० म० । स्था० । नवमतीर्थकरप्रवर्तिन्याम्, ति० । प्रव० । तथा कायोत्सर्गस्थितो निष्पद्यमानसुरेव बुडबुडाशब्दमव्यक्तरवं करोतीति वारुणीदोषः । वारुणीमत्तस्येव घूर्णमानस्य स्थानं वारुणीदोष इत्यन्ये । प्रव० ५ द्वार । व्यक्तस्य वीरगणधरस्य मातरि, आ० चू० १ अ० । आ० म० । मदिरायाम्, उत्त० ३४ अ० । स्था० । " कायंवरी पसन्ना हाला तह वारुणी मइरा । " पाइ० ना० ६४ गाथा ।

वारुणोद-वारुणोद-पुं० । वारुणी-सुरा, तया समानं वारुणम् । वारुणमुदकं यस्मिन्स वारुणोदकः । लवणादिगणनया चतुर्थे समुद्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । रा० । ('वरुणोद' शब्दे अस्मिन्नेव भागे पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता ।)

वारेऊण-वारयित्वा-अव्य० । प्रतिषिध्येत्यर्थे, " वारेऊण न कप्पइ, जिणाण थेराण उ गिहीणं " नि० चू० १ उ० ।

वाल-व्याल-पुं० । दुष्टसर्पे, बृ० १ उ० ३ प्रक० । श्वापदभुजङ्गे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आव० । व्य० । आ० म० । भ० । तं० । दुष्टगजे,व्यालाः सर्पा दुष्टगजाश्चोच्यन्ते । विशे० । औ० । आ० क० । जी० । भ० । रा० । जं० । व्य० । कल्प० ।

वाल-पुं० । केशे 'केसा चिहुरा सिरोरुहा वाला' । पाइ० ना० १०६ गाथा ।

वालअ—वालक—पुं० । अर्भके, 'हिरिवेरो वालओ' पाइ० ना० २१५ गाथा ।

वालगाहि (ण्)-व्यालग्राहिन्-पुं० । सर्पग्रहणशीले, आव० ४ अ० ।

वालवि (ण्)-व्यालपिन्-पुं० । व्यालान्-भुजङ्गान् पान्तीति व्यालपास्ते विद्यन्ते येषान्ते व्यालपिनः । सर्पवधबन्धाद्युपजीविषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

वालसतसंकणिज्ज—व्यालशतशङ्कनीय-त्रि० । भुजगादिभिर्भयङ्करे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

वालहि-वालधि-पुं० । लाङ्गूले, 'लंगूलं वालही छिप्पं' पाइ० ना० १२८ गाथा ।

वालाइरक्खा-व्यालादिरक्षा-स्त्री० । श्वापदभुजगादिभ्यो गजादिभ्यश्च व्यापाद्यमानस्य त्राणे, पञ्चा० २ विव० ।

वालिअय-वालितक-त्रि० । भविष्यति काले, 'वालिअयं परिअत्तियं' । पाइ० ना० २६५ गाथा ।

वालुंक-वालुङ्क-न० । वालुके, 'सीलुट्टं चिब्भिडं च वालुंकं' पाइ० ना० १७२ गाथा ।

वालुयप्पभा-वालुकाप्रभा-स्त्री० । तृतीयपृथिव्याम्—जी० ।

वालुयप्पभाए णं भंते ! पुढवीए अट्ठावीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता, हेट्ठा केवइयं वज्जित्ता, मज्झे केवइए, केवइया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?, गोयमा ! वालुयप्पभाए पुढवीए अट्ठावीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहित्ता हेट्ठं एगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे छव्वीसुत्तरे जोयणसयसहस्से । एत्थ णं वालुयप्पभा पुढविनेरइयाणं पण्णरस निरयावाससयसहस्सा भवन्तीति मक्खायं । जी० ३ प्रति० १ उ० ।

वाव–वाव–अव्य० । वाशब्दार्थे, आ० म० १ अ० । 'वावि–त्ति' वा निवाओ वासद्दत्थो । वाव इत्ययं शब्दो निपातः, स च वाशब्दार्थः–'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' । विशे० ।

वावग–व्यापक–त्रि० । व्याप्तिकर्तरि, तत्सत्त्वेऽवश्यं वर्त्तमाने आधारभेदे, यथा—तिलेषु विद्यते तैलम् । आ० म० १ अ० ।

वावट्टिय–व्यावर्तित–त्रि० । पुञ्जीकृते, ध० २ अधि० ।

वावड–व्यापृत–त्रि० । "प्रत्यादौ डः" ॥८।१।२०६॥ इति तस्य डः । प्रा० । व्यापारिते, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता० । नि० चू० । आ० म० । व्यापारयुक्ते वहमानके, बृ० ३ उ० ।
व्याकृत–त्रि० । स्पष्टे, प्रकटार्थे, दश० ७ अ० ।
व्यापद्–स्त्री० । उपद्रवे, व्य० १ उ० ।

वावडया–देशी० । अज्ञाणिकायाम्, 'वावडया अक्खणिआ' पाइ० ना० १६१ गाथा ।

वावण्ण–व्यापन्न–त्रि० । विनष्टे, प्रज्ञा० १ पद । प्रश्न० । विशरारुभूते, प्रश्न० ५ संव० द्वार । प्रज्ञा० । शकुनिशृगालादिभक्षणाद्बीभत्सतां गते, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ० ।

वावण्णदंसण–व्यापन्नदर्शन–पुं० । व्यापन्नं विनष्टं दर्शनं येषान्ते व्यापन्नदर्शनाः । निह्नवादिषु, ज्ञा०१ श्रु० १२ अ० । ध० ।

वावण्णसोया–व्यापन्नश्रोतस्–स्त्री० । व्यापन्नं—विनष्टं रोगतः श्रोतो-गर्भाशयच्छिद्रलक्षणं यस्याः सा तथा । नष्टगर्भाशयच्छिद्रे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

वावत्त–व्यावृत्त–त्रि० । शुभव्यापारवति, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

वावत्ति–व्यापत्ति–स्त्री० । व्यावर्त्तनं व्यावृत्तिः कुतोऽपि हिंसाद्यवद्यान्निवृत्तौ, स्था० ।

तिविहा वावत्ती पण्णत्ता, तं जहा–जाणू अजाणू वितिगिच्छा । एवमज्झोववज्जणा परियावज्जणा । (सू०२१८)

'तिविहेत्यादि' व्यावर्त्तनं—व्यावृत्तिः । कुतोऽपि हिंसाद्यवद्यान्निवृत्तिरित्यर्थः, सा च ज्ञस्य हिंसादेर्हेतुस्वरूपफलविदुषो ज्ञानपूर्विका व्यावृत्तिः सा तदभेदात् 'जाणु' त्ति गदिता । या त्वज्ञस्याज्ञानात् सा 'अजाणू' इत्यभिहिता । या तु विचिकित्सातः-संशयात् सा निमित्तनिमित्तिनोरभेदाद्विचिकित्सेत्यभिहिता । व्यावृत्तिरित्यनेनानन्तरं चारित्रमुक्तं तद्विपक्षश्चाशुभाध्यवसायानुष्ठाने इति, तयोरधुना भेदानतिदेशत आह—एवमित्यादि सूत्रं । एवमिति व्यावृत्तिरिव त्रिधा "अज्झोववज्जण त्ति" अध्युपपादनं कचिदिन्द्रियार्थे अभ्युपपत्तिरभिष्वङ्ग इत्यर्थः; तत्र जानतो विषयजन्यमनर्थं या तत्राध्युपपत्तिः सा 'जाणू'। या त्वजानतः सा 'अजाणू'। या तु संशयवतः सा विचिकित्सेति । 'परियावज्जण त्ति' पर्यापादनं पर्यापत्तिरासेवेति यावत्, साऽप्येवमेवेति । 'जाण त्ति' ज्ञः स च ज्ञानात्स्यादित्युक्तम् । स्था० ३ ठा० ४ उ० । आचा० । विजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदे, स्या० ।

वावम्फ–कृ०–धा० । श्रमकरणे, 'श्रमे वावम्फः' ॥८।४।६८॥ श्रमविषयस्य कृञो 'वावम्फ' इत्यादेशो भवतीति वावम्फादेशः । वावम्फइ । श्रमं करोति । प्रा० ४ पाद ।

वावरणमाला–व्यावरणशाला–स्त्री० । यत्राग्निकुण्डं स्वयंवरहेतोर्नित्यमेव ज्वलति । एवंभूतायां शालायाम्, बृ० २ उ० । (विशेषोऽत्र 'वसहि' शब्दे ६५४ गतम् ।)

वावहारिय–व्यावहारिक–पुं० । व्यवहारनिष्पन्ने, स० ६५ सम० ।

वावादिय–व्यापादित–त्रि० । मारिते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

वावाय–व्यापाद–पुं० । परपीडायाम्, द्वा० ८ द्वा० ।

वावार–व्यापार–पुं० । करणे,आ०म०१अ०।आव० । आ०चू० ।

वावारिय–व्यापारित–त्रि० । नियुक्ते, उत्त० ८ अ० ।

वाविद्ध–व्याविद्ध–त्रि० । विपर्यस्तरत्नमालागतरत्न इव विपर्यस्ते, आ० म० १ अ० । निरुद्धे, 'वावि (दि द्धसोया' गर्भं न धरति व्यादिग्धं व्याविद्धं वा वातादिव्याप्तं विद्यमानमप्युपहतशक्तिकं श्रोत उक्तरूपं यस्याः सा व्यादिग्धश्रोता व्याविद्धश्रोता वा गर्भं न धरति । स्था० ५ ठा० २ उ० । आ० म० ।

वाविय–व्यापृत–त्रि० । विचिक्ते, विशे० । स्था० ।

वाविया–वाविता–स्त्री० । सकृद्धान्यवपनवत्याम्, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

वावी–वापी–स्त्री० । चतुरस्राकारे जलाशयविशेषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । अनु० । ज्ञा० । औ० । भ० । नि० चू० । प्रज्ञा० । जी० । जं० । रा० । प्रज्ञा० । पुष्करावर्त्ते जलाशयविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । (वापीनां वर्णकः 'पुक्खरिणी' शब्दे पञ्चमभागे ९६६ पृष्ठे उक्तः ।)

वास–वर्ष–न० । वत्ससंवत्सरसंवदित्यादिपर्यायाः। हैम० । 'लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः' ॥८।१।४३॥ इति रलोपे दीर्घः । प्रा० । भरतादिक्षेत्रे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

वर्षाणि आह–

जंबूमंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तओ वासा पन्नत्ता, तंजहा–भरहे हेमवए हरिवासे । जंबूमंदरस्स उत्तरेणं तओ वासा पण्णत्ता, तंजहा—रम्मगवासे हेरन्नवए एरवए । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

(धातकीखण्डे द्वौ वर्षौ 'धायइसंडदीव' शब्दे चतुर्थभागे २७४३ पृष्ठादारभ्य व्याख्यातौ ।)

जंबूदीवे दीवे छ वासा पण्णत्ता, तंजहा–भरहे एरवए हेमवए हेरण्णवए हरिवासे रम्मगवासे । (सू० ५२२ ×) स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे कति वासा पण्णत्ता ?, गोयमा ! सत्त वासा पण्णत्ता, तं जहा–भरहे१ एरवए२ हेमवए३ हेरण्णवए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरिवासए ५ रम्मगवासे ६ महाविदेहे ७। जं० ६ वक्ष० । जम्बूद्वीपे सप्त वर्षाणि 'जंबूदीव' शब्दे चतुर्थभागे १३७२ पृष्ठ प्रतिपादितानि ।)

धातकीखण्डे सप्त वर्षाणि—

धायइखंडदीवपुरच्छिमऽद्धे णं सत्त वासा पण्णत्ता, तं जहा-भरहे० जाव महाविदेहे। (सू०-५५५+) स्था०७ठा०३उ०।

क्षेत्रप्रकरणमाह—

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, तं जहा-बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयामविक्खंभसंठाणपरिणाहेणं, तं जहा-भरहे चेव एरवए चेव एवमेएणं अहिलावेणं नेयव्वं, हेमवए चेव हेरन्नवते चेव हरिवासे चेव रम्मयवासे चेव। (सू०-८६×)

सुगमं चैतत्, नवरमिह जम्बूद्वीपप्रकरणं परिपूर्णं—चन्द्रमण्डलाकारं जम्बूद्वीपं तन्मध्ये मेरुम् उत्तरदाक्षिणतः क्रमेण वर्षाणि च स्थापयित्वा, तद्यथा-"भरहं हेमवयं ति य, हरिवासं ति य महाविदेहं ति । रम्मय एरन्नवयं, एरवयं चेव वासाइं' ति । तथा वर्षान्तरेषु वर्षधरपर्वतान् कल्पयित्वा, तद्यथा—"हिमवंत १ महाहिमवंत-२, पव्वया निसढनीलवंता य ४। रूपी ५ सिहरी ६ एए वा सहरगिरी मुणेयव्व" ति ॥ १ ॥ सर्वमेवं बोद्धव्यमिति । मन्दरस्य मेरोरुत्तरा च दक्षिणा च उत्तरदक्षिणं तयोरुत्तरदक्षिणयोरिति । वाक्ये उत्तरदक्षिणेनेति स्याद् एनप्रत्ययविधानादिति, द्वे वर्षे-क्षेत्रे प्रज्ञप्ते जिनैः । समतुल्यशब्दः सदृशार्थः । अत्यन्तं समतुल्ये बहुसमतुल्ये प्रमाणतः अविशेषे-अविशेषलक्षणे नग-नगर-नद्यादिकृतविशेषरहिते अनानात्वे अवसर्पिण्यादिकृतायुरादिभावभेदवर्जिते । किमुक्तं भवतीत्याह—अन्योन्यं—परस्परं नातिवर्तेते, इतरेतरं न लङ्घयेते इत्यर्थः । कैरित्याह-आयामेन-दैर्घ्येण विष्कम्भेन-पृथुत्वेन संस्थानेन-आरोपितज्याधनुराकारेण परिणाहेन-परिधिनेति, इह च द्वन्द्वैकवद्भावः कार्य इति । अथवा-बहुसमतुल्ये आयामतः। तथाहि-भरतपर्यन्तश्रेणीयम्, "चोद्दस य सहस्साइं, सयाइँ चत्तारि एगसयराइं। भरहद्धुत्तरजीवा, छच्च कला ऊणिया किंचि"॥१॥ कला च योजनस्यैकोनविंशतितमो भाग इति १४४७१ $\frac{6}{19}$ । ऐरवतेऽप्येवम्। तथा अविशेषो विष्कम्भतस्तथाहि-"पंच सए छव्वीसे, छच्च कलावित्थडं भरहवासं ति, ५२६ $\frac{6}{19}$ अयमेव चैरवतस्यापीति. अनानात्वे संस्थानतः अन्योन्यनातिवर्तेते. परिणाहतः परिणाहश्च ज्याधनुः पृष्ठयोर्यत्प्रमाणं तत्र ज्याप्रमाणमुक्तम्. धनुःपृष्ठप्रमाणं त्विदम्-" चोद्दस य सहस्साइं, पंचेव सयाइँ अट्ठवीसाइं। एगारस य कलाओ, धणुपुट्ठं उत्तरद्धस्स "। यथा भरतस्यैरवतस्यापि-तथैवेति १४५२८ $\frac{11}{19}$ एकार्थिकानि चैतानि पदानि, भृशार्थत्वाच्च न पुनरुक्तानीति। उक्तञ्च-"अनुवादादरवीप्सा-भृशार्थ-विनियोगहेत्वसूयासु। ईषत्संभ्रमविस्मय—गणनास्मरणे न पुनरुक्तमिति ॥" तद्यथा—भरहे चेवेत्यादि। 'उत्तरदाहिणेणं' नि एतस्य पाठस्य यथासंख्यन्यायानाश्रयणात् यथा सत्यन्यायाश्रयणाच्च जम्बूद्वीपस्य दक्षिणे भागे भरतमाहिमवतस्तस्यैवोत्तरे भागे ऐरवतं शिखरिणः परत इति एवमिति-भरतैरवतवत् एतेनाभिलापेन " जंबुद्दीवे दीवे मन्दरस्से" त्यादिना उच्चारणेनापरं सूत्रद्वयं वाच्यम्, तयोश्चायं विशेषः। 'हेमवए चे' त्यादि.तत्र हैमवतं दक्षिणतः हिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये हैरण्यवतमुत्तरतः रुक्मिशिखरिणोरन्तः हरिवर्षं दक्षिणतो महाहिमवन्निषधयोरन्तः रम्यकवर्षश्चोत्तरतो नीलरुक्मिणोरन्तरिति। स्था० २ ठा० ३ उ०। पुष्करवरद्वीपे द्वितीये वर्षे, स्था०२ ठा० ३ उ०। ('पुक्खरवरदीव' शब्दे पञ्चमभागे ९६६ पृष्ठे गता एतद्वक्तव्यता।)

वर्ष-पुं०। वृष्टौ, विशे०। नि० चू०। स्था०। वर्षोऽल्पतरो वृष्टिस्तु महतीति तयोर्भेदः। भ० ३ श० ७ उ०। जलसमूहे, ज्ञा०१ श्रु० १ अ०। आचा०। ध०। मेघे, भ० १६ श० ८ उ०।

पुरुषो वर्षो वर्षति।

पुरिसे णं भंते! वासं वासति नो वासतीति ?, हत्थं वा पायं वा बाहुं वा ऊरुं वा आउट्टावेमाणे वा पसारेमाणे वा कइ किरिए ?, गोयमा ! जाव च णं से पुरिसे वासं वासइ वासं णो वासतीति हत्थं वा०जाव ऊरुं वा आउट्टावेति वा पसारेति वा ताव च णं से पुरिसे काइया०जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। (सू०-५८५)

'पुरिसेण' मित्यादि 'वासं वासइ' वर्षो-मेघो वर्षति नो वा वर्षो वर्षतीति ज्ञापनार्थमिति शेषः। अचक्षुरालोके हि वृष्टिराकाशे हस्तादिप्रसारणादेव गम्यत इति कृत्वा हस्तादिकमाकुण्टयेद्वा, प्रसारयेद्वाऽऽदित एवेति ॥ भ० १६ श० ८ उ०। प्रावृट्काले, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। प्रव०। द्वादशमासात्मके कालभेदे, दर्श० ५ तत्त्व।

व्यास-पुं०। विस्तरे, रत्ना० ७ परि०। स्था०। कृष्णद्वैपायने, आव० २ अ०। द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

वास-पुं०। समवस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। अधिष्ठाने, स्था० ५ ठा० २ उ०। " तत्थ न कप्पइ वासो, आहारा जत्थ नत्थि पंच इमे। राया वेज्जो धणियं, न वइया रूवजक्खा य ॥ १ ॥ " व्य० १ उ०। " सुचिरतरमुषित्वा बान्धवैर्विप्रयोगः, सुचिरमपि हि रन्त्वा नास्ति भोगेषु तृप्तिः । सुचिरमपि सुपुष्टं याति नाशं शरीरं, सुचिरमपि विचिन्त्यो धर्म एकः सहायः ॥ १ ॥ " सुगन्धिसारद्रव्यनिष्पन्ने कृत्रिमाकृत्रिमभेदभिन्ने गन्धे, दर्श० १ तत्त्व। सुगन्धद्रव्यनिष्पन्ने शुष्कपेषंपिष्टे गन्धे, पिं०। ध०। पौषधिकः पट्टपट्टिकालिखितप्रतिमां वासेन पूजयति न वा ?, इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-पौषधिकः कारणं विना पट्टादिकं न पूजयतीति ज्ञेयमिति ॥ ३४१ ॥ सेन० ३ उल्ला०।

वासस्-न०। वस्त्रे, " चेलं वासं वसणं च अंसुअं अम्बरं वत्थं। " पाइ० ना० ९६ गाथा।

वासंतिया-वासन्तिका-स्त्री०। पुष्पप्रधाने वृक्षविशेषे, जं० १ वक्ष०। प्रश्न०। आचा०। ज्ञा०। प्रज्ञा०। आ० म०। औ०।

वासंतियामउल-वासंतिकामुकुल-न०। वासन्तिकाकोरके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वासंतियामंडव-वासन्तिकामण्डप-पुं० । वासन्तिकालताम ये मण्डपे, जी० ४ प्रति० ।

वासकोडि-वर्षकोटि-स्त्री० । शतलक्षभिर्वर्षैर्गुणिते संख्याभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

वासकोडाकोडि-वर्षकोटिकोटि-स्त्री० । वर्षकोटिभिर्गुणितायां वर्षकोटौ, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

वासक्खेव-वासक्षेप-पुं० । गन्धचूर्णस्य शिरसि क्षेपे, महा० ।

वासक्षेपमन्त्रः-

एताहे गोयमा ! इमाए चेव विज्जाए अहिमंतियाओ सत्त गंधमुट्ठीओ तस्सुत्तमंगे "नित्थारगपारगो भवेज्जासि" त्ति उच्चारेमाणेणं गुरुणा घेत्तव्वाओ ।

अंउम् णम्ओ भगवओ अरहओ सइज्झउ मए भगवती महावि ज्ज् आ, वइर् ए वइर् ए मह् आवइ र् ए वद्धम् आणवइर् ए जय् अंत् ए, अपर् आजइए, स्व् आह् आ । उपचारो चउत्थभत्तेणं साहिज्जइ, एयाए विज्जाए सव्वगओ नित्थारगपारगो होइ,उवट्ठावणाए वा,गणिस्स अणुन्नाए वा सत्त वारा परिजवेयव्वा नित्थारगपारगो होइ । उत्तिमट्ठ-पडिवन्ने वा अभिमंतिज्जइ आराहगो भवइ, विग्घविणाय-गा उवसमंति, सूरो संगामे पविसंतो अपराजिओ भवइ, कप्पसम्मातिए मंगलवहणी खेमवहणी हवइ । तहा साहू समणोवासगसड्ढिगा सेसा सेसा सतसाहम्मियजणं च-उव्विहेणं पि समणसंघेणं नित्थारगपारगो भवेज्जा । धन्नोसि पुन्नोसि सलक्खणो सि तुमं ति उच्चारेमाणेणं गंधमुट्ठीओ घेत्तव्वाओ । तओ जगगुरूणं जिणिंदाणं पूयगा दसाओ गंधड्ढाऽमिलाणसियमल्लदामं गहाय सहत्थेणोभयखंधे समारोवयमाणेणं गुरुणा णीसंदेहमेवं भाणियव्वं । जहा भो भो जम्मंतरसंचियगुरुगुरुपुन्नपब्भारसुलद्धसुविढत्त सुसहलमणुयजम्म देवाणुप्पिया ! खइयं च णरयगइदारं तुज्झं ति अबंधगो य अयसअकित्तीनीय-गोत्तकम्मविसेसाणं, तुमं ति भवंतरगयस्सवि उण दुल्लहो तुब्भ पंच नमोक्कारो भाविजम्मंतरेसु, पंचनमुक्कारपभावओ य जत्थ जत्थोववज्जेज्जा तत्थ तत्थुत्तमा जाई, उत्तमं च कुलरूवारोग्गसंपयं ति एयं ते निच्छइओ भवेज्जा । (महा० ३ अ०)

* अंउम् णअम्ओ कुउदद्अव्उद्धईणअम्, अउम् णअम्ओ प्अय् आणउसआरईणअम्, अउम् णअम्ओ सअम्भ्-इण्णसउईणअम्, अउम् णअम्ओ खईरआसवलद्धईण-अम्, अउम् णअम्ओ सव्वओसहिलद्धईणअम्, अउम् णअम्ओ अक्खईणअमहआलद्धईणअम्, अउम् णअम्ओ भगवओ अरहओ महइ महावीरवद्धमाणधम्म-तित्थंकरस्स, अउम् णम्ओ सव्वधम्मतित्थंकराणं, अउम् णम् ओ सव्वसिद्धाणं अउम् णम् ओ सव्वसाहूणं अउम् णम्ओ भगवतो मइणआणस्स, अउम् णम्ओ भगवओ सुयणआणस्स, अउम् णम्ओ भगवओ ओहइणआणस्स अउम् णम्ओ भगवतो,मणपज्जवणआणस्स अउम् णम्ओ भगवओ केवलणाणस्स, अउम् णम्ओ भगवतीए सुयद-एवयआए, सिज्झउ मे एय् आहिवा विज्जा, अउम् णम्ओ भगवओ णम्ओ वअम्, अउम् णअम्ओ णम्ओ ओ औ अभिवत्तीसलक्खणं सम्मदंसणं, अउम् णम्ओ अट्ठआ-रसअसईलअंगसहस्साहिट्ठियस्स, णईस् अम गेणहइ, णइआण—णईसल्ल णइसयसल्ल गत्तूण सरआस स-व्वदुक्खणिम्महणपरमणिव्वुइकरस्स णं पवयणस्स । एसा विज्जा सिद्धंतिएहिं अक्खरेहिं लिहिया । एसा य सिद्धंतिया लिवी, अमुणियसमयसब्भा-वाणं सुयधरेहिं ण पण्णवेयव्वा, तह य कुसीलाणं च ॥ ४६ ॥ इमाए पवरविज्जाए सव्वहाउ अताणगं । अहि-मंतेऊण सो विज्जा,खंतो दंतो जिइंदिओ॥५०॥महा०१अ०।

तथा—श्रीवीरजन्मनि गुलपर्पटिकादिभोजनं लात्वाऽऽ-गच्छन्ति तदुपरि यतीनां वासक्षेपः कृतः शुद्धयति न वा इति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—श्रीवीरजन्मनि गुलपर्पटिका-दिभोज्योपरि सुविहितानां वासक्षेपपरम्परा नास्तीति ॥ १३० ॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा—प्रतिष्ठाधिकारे साधूनां वासक्षेपाक्षराणि क्व सन्ति ?, यदि च सन्ति तदा प्रतिष्ठावत्प्रतिदिनं ते वासक्षेपपूजां कथं न कुर्वन्ति?, इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—पञ्चचत्वारिंशदागमानां मध्ये आवश्यकबृहद्वृत्तौ गणधरपदप्रतिष्ठाधिकारे साधूनां वासक्षेपाक्षराणि सन्ति, प्रतिदिनं वासक्षेपपूजाक्षराणि तु साधूनां कुत्रापि न सन्तीति तद्विधानं कुतस्त्यमिति ॥२४७॥ सेन० ३उल्ला० ।

१-ॐ णमो अरहओ भगवओ महइ महावीरवद्धमाणसामिस्स सिज्झउ मे भगवई महइ महाविज्जा वीरे वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे जए विजए जयंते अपराजिए अणीहए (ॐ ह्रीं स्वाहा)

२-उट्ठिविणाए इत्यपि पाठः ।

* ३-ॐ णमो कुट्ठबुद्धीणं ॐ णमो पयाणुसारीणं ॐ णमो संभिन्नसोईणं ॐ णमो खीरासवलद्धीणं, ॐ णमो सव्वोसहिलद्धीणं ॐ णमो अक्खीणमहालद्धीणं ॐ णमो भगवओ अरहओ महइ महावीरवद्धमाणधम्मतित्थंकरस्स ॐ णमो सव्वधम्मतित्थयराणं, ॐ णमो सव्वसिद्धाणं ॐ णमो सव्वसाहूणं, ॐ णमो भगवतो मइनाणस्स ॐ णमो भगवओ सुयनाणस्स ॐ णमो भगवओ ओहिनाणस्स ॐ णमो भगवओ मणपज्जवनाणस्स ॐ णमो भगवओ केवलनाणस्स ॐ णमो भगवतीए सुयदेवयाए सिज्झउ मे एयाहिवा विज्जा, ॐ णमो भगवओ ॐ णमो वं (ॐ णमो पं) आउअभिवत्तीसलक्खणं सम्मदंसणं ॐ णमो अट्ठारससीलंगसहस्साहिट्ठियस्स णीसम गेण्हइ णियाणणीसल्ल णिसयसल्ल गत्तेणं सरणसव्वदुक्खणिम्महणपरमनिव्वुइकरस्स णं पवयणस्स—परमपवित्तुत्तमस्सेति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वासग--वासक-पुं०।'वास्' शब्दकुत्सायाम्। वासन्तीति वासकाः। भाषालब्धिसंपन्नेषु द्वीन्द्रियादिषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

वासग्ग-वर्षगत-त्रि०। आर्षं वा तथा रूपम्। वर्षलक्षणे कालपरिणाममाश्रिते, उत्त० २ अ०।

वासघरय--वासगृहक-न०। शयनगृहे, कल्प० १ अधि० २ क्षण। ज्ञा०। नि० चू०।

वासणा--वासना--स्त्री०। अविच्युत्याहिते संस्कारे, आ० म० १ अ०। नं०। (वासना सौगतानां कर्मेति 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २४७ पृष्ठे प्रतिक्षिप्तम्।)

वासत्ताण-वर्षत्राण-न०। छत्रे ध०। " वासत्ताणे पणगं, चिलिमिलिपणगं दुगं च संथारे। दंडाई पणगं पुण, मत्तगतिगपायलेहणिआ॥१॥" वर्षात्राणे पञ्चकम्, तद्यथा-कम्बलमयं १ सूत्रमयं २ तालपत्रसूची ३ लासपत्रकुटशीर्षकं ४ छत्रकं ५ चेति। इमानि च लोकप्रसिद्धप्रमाणानीति । ध० ३ अधि०।

वासध (ह)र--वर्षधर--पुं०। वर्धितकरणेन नपुंसकीकृते अन्तःपुरमहल्लके, दशा० १ अ०। वर्ष-क्षेत्रविशेषं धारयते-व्यवस्थापयते इति। हिमवदादिषु, अनु०। स्था०।

वर्षधरौ समौ—

दो वासहरपव्वया पण्णत्ता। तं जहा--बहुसमउल्ला, अविसेसमणाणत्ता। अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तोव्वेहसंठाणपरिणाहेणं। तं जहा--चुल्लहिमवंते चेव,सिहरी चेव, एवं महाहिमवंते चेव, रुप्पी चेव,एवं णिसढे चेव, णीलवंते चेव। (सू०--८०)

'जं'इत्यादि।वर्षं क्षेत्रविशेषं धारयतो व्यवस्थापयत इति वर्षधरौ। 'चुल्ल' त्ति महदपेक्षया लघुर्हिमवान् चुल्लहिमवान्, भरतानन्तरः शिखरी पुनर्यत्परमैरवतः, तौ च पूर्वापरतो लवणसमुद्रावबद्धावायामतश्च"चउवीस सहस्साइं, नव य सए जोयणाण बत्तीसं। चुल्लहिमवंतजीवा, आयामेणं कलद्धं च" ॥१॥ एवं शिखरिणोऽपि। तथा भरतद्विगुणविस्तारौ योजनशतोच्छ्रायौ, पञ्चविंशतियोजनान्यवगाढौ आयतचतुरस्रसंस्थानसंस्थितौ, परिणाहस्तु तयोः " पणयालीस सहस्सा, सयमेगन्नव य बारस कलाओ। अद्धं कलाएँ हिमवं-त परिरओ सिहरिणो चेव" त्ति ॥१॥ एवमिति यथा हिमवच्छिखरिणौ 'जंबूदीवे' त्यादिनाऽभिलापेनोक्तौ एवं महाहिमवदादयोऽपीति। तत्र महाहिमवान् लघ्वपेक्षया .; स च दक्षिणतः, रुक्मी चोत्तरतः। एवमेव निषधनीलवन्तौ नवरमेतेषामायामादयो विशेषतः क्षेत्रसमासादवसेयाः ।

किञ्चित्तु तद्गाथाभिरेवोच्यते—

"पंचसए छव्वीसे, छच्च कलावित्थडम्भरहवासं।
दससयबावन्नहिया, बारस य कलाओ हिमवंते ॥ १ ॥
हेमवए पंचऽहिया, इगवीससयाओ पंच य कलाओ।
दसऽहियबायालसया, दस य कलाओ महाहिमवे ॥ २ ॥
हरिवासे इगवीसा, चुलसीइसया कला य एक्का य।
सोलससहस्स अट्ठ य, बायाला दो कला निसढे ॥ ३ ॥
तेत्तीसं च सहस्सा, छच्च सया जोयणाण चुलसीया।
चउरो य कला सकला, महाविदेहस्स विक्खंभो ॥ ४ ॥
जोयणसयमुव्विद्धो, कणगमया सिहरिचुल्लहिमवंता।
रुप्पिमहाहिमवंता, दुसउच्चारुप्पकणगमया ॥ ५ ॥
चत्तारि जोयणसए, उव्विद्धा निसढनीलवंता य।
निसहो तवणिज्जमओ, वेरुलिओ नीलवंतगिरी ॥ ६ ॥
उस्सेहचउब्भागो, ओगाहो पायसो नगवराणं।
वट्टपरिही उ तिगुणो, किंचूणछभायजुत्तो त्ति ॥ ७ ॥"

चतुरस्रपरिधिस्तु आयामविष्कम्भाद्विगुण इति। स्था० २ ठा० ३ उ०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरतो दक्षिणतश्च त्रयो-वर्षधराः। स्था०।

जंबूमंदरस्स दाहिणेणं तओ वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा-चुल्लहिमवंते महाहिमवंते निसढे। जंबूमंदरस्स उत्तरेणं तओ वासहरपव्वया पण्णत्ता.तं जहा-णीलवंते रुप्पी सिहरी। (सू०-१९७ ×) स्था० ३ ठा० ४ उ०।

संग्रहेण षट्—

जंबूदीवे छ वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा-चुल्लहिमवंते १ महाहिमवंते २ निसढे ३ नीलवंते ४ रुप्पी ५ सिहरी ६। (सू०-५२२+) स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सप्त वर्षधराः—

जंबूदीवे सत्त वासहरपव्वया पण्णत्ता,तं जहा-चुल्लहिमवंते महाहिमवंते निसढे नीलवंते रूपी सिहरी मंदरे। (सू०-७×) स० ७ सम०। स्था०।

(क्षुद्रहिमवदादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

एषां धनुःपृष्ठोच्चत्वम्—

महाहिमवंतरुप्पीणं वासहरपव्वयाणं जीवाणं धणुपिट्ठं सत्तावन्नं जोयणसहस्साइं दोन्नि य तेणउए जोयणसए दस य एगूणवीसइभाए जोयणस्स परिक्खेवेणं ॥ (सू०-५७) " जीवाणं धणुपिट्ठान्त " मण्डलं खण्डाकारं क्षेत्रं इहसूत्रे संवादगाथार्द्धम् " सत्तावन्न सहस्सा धणुपिट्ठंतेणउय दुसय दस कल " त्ति ॥ स० ५७ सम० ॥

सव्वे वि णं णिसहनीलवंता वासहरपव्वया चत्तारि चत्तारि जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि गाउयसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता। (सू०-१०६×) स० ३०० सम०।

सम्प्रति वर्षधराणां विस्तारप्रतिपादनार्थमाह—

भरहेरवयप्पभिई, दुगुणादुगुणो उ होइ विक्खंभो।
वासा वासहराणं, जाव्व वासं विदेहेत्ति ॥ १७८ ॥

भरतैरवतप्रभृतीनाम्, किमुक्तं भवति-जम्बूद्वीपस्य दक्षिणपार्श्वे भरतादीनामुत्तराभिमुखानाम् उत्तरपार्श्वे,ऐरवतादीनां दक्षिणाभिमुखानां वर्षाणां वर्षधराणां च विष्कम्भं पूर्वस्मात् द्विगुणो द्विगुणस्तावदवसेयो यावदुभयेषां वर्षं 'विदेहाइं' ति इयमत्र भावना-भरतैरवतापेक्षया द्विगुणविष्कम्भौ चुल्लहिमवच्छिखरिणौ, ताभ्यामपि द्विगुणविष्कम्भौ हैमवतहैरण्यवतौ,ताभ्यामपि द्विगुणविष्कम्भौ महाहिमवद् रुक्मिपर्वतौ,ताभ्यामपि हरिवर्षरम्यकवर्षे द्विगुणविष्कम्भे, ततो निषधनी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लवन्तौ द्विगुणविष्कम्भौ, ताभ्यामपि द्विगुणविष्कम्भं महाविदेहाभिधं वर्षमिति । ज्यो० १० पाहु० ।

समयखित्तेणं मंदरवज्जा एगूणसत्तरिं वासा वासधरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा–पणतीसं वासा तीसं वासहरा चत्तारि उसुयारा । (सू०–६६×) स० ।

वासधरकूड-वर्षधरकूट-पुं०। न०। वर्षधरपर्वतसम्बन्धिनि शिखरे,

सव्वे वि णं वासहरकूडा पंच पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था । मूले पंच पंच जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता । (सू०–१०८)

अथैकोनसप्ततिस्थानके किञ्चिल्लिख्यते–'समये' त्यादि, मन्दरवर्ज्जा–मेरुवर्जाः वर्षाणि च—भरतादिक्षेत्राणि वर्षधरपर्वताश्च–हिमवदादयस्तत्सीमाकारिणो वर्षधरपर्वताः समुदिताः, एकोनसप्ततिः प्रज्ञप्ताः, कथं ?, पञ्चसु मेरुषु प्रतिबद्धानि सप्त भरतहैमवतादीनि पञ्चत्रिंशद्वर्षाणि,तथा प्रतिमेरु षद् षद् हिमवदादयो वर्षधरास्त्रिंशत्तथा चत्वार पर्वतेषु प्रकारा इति सर्वसंख्ययैकोनसप्ततिरिति । स० ६८ सम० ।

वासध (ह) रपव्वय–वर्षधरपर्वत–पुं० । क्षुद्रहिमवदादिषु, जं० ३ वक्ख० । स्था० । (एतद्वक्तव्यता 'वासधर' शब्दे ।)

वासध (ह) रसंठिय–वर्षधरसंस्थित–पुं० । हिमवदादिवर्षधरपर्वताकारे, भ० ८ श० २ उ० ।

वासपूजा–वासपूजा–स्त्री० । प्रत्यहं तीर्थकरपूजने, त्रिकालपूजाकरणे प्रभाते मालादिनिर्माल्यमपास्य सर्व्वस्नानेन वासपूजा क्रियतेऽन्यथा वेति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—प्रभाते पुष्पमालादिनिर्माल्यमनपास्य श्राद्धा वासपूजां कुर्व्वन्तो दृश्यन्ते, सर्व्वस्नानकरणेऽप्येकान्तो ज्ञातो नास्ति, हस्तपादप्रक्षालनेन शुद्ध्यतीति ॥१६७॥ सेन० ४ उल्ला० ।

वासपूयाफल–वासपूजाफल–न० । तीर्थकरपूजायाः माहात्म्यप्रदर्शने, दर्श० । " अत्थि इहेव भारहे खित्तमज्झयारम्मि तारहारनीहारवं उज्जलविज्जाहरनिवासनयरसोहियउभयमेहलाकलावो अणेगदेवदाणवनरिंदवासभूमी चउद्दिसं पि भरहखेत्तमाणदंडो व्व विरायमाणो वेयड्ढो नाम नगवरो । तत्थ दाहिणसेढिवरविलग्गमेहलावररयणभूयं देवनयरं व गयणंगणगामिनरनारिनियरोवसोहियं हत्थिणाउरं नाम नयरं । तत्थ दरियारिदप्पविमद्दणो कोयंडदंडो व्व सरासणनिवासो तोणीरमज्झं व अणेगमग्गणोवसेविज्जमाणपयकमलो सजीवचावं व सत्तुसंतासंसंपायगो जियसत्तू नाम राया । तस्स णं रइ व्व इट्ठा सव्वलोयाणं सद्दाइ समुद्द व्व आवासो विसयगामाणं मयणकंदली नाम भज्जा, रई व अणंगस्स, सई व संकदणस्स अइट्ठा राइणो । तीए सह विसयसुहमणुहवंतस्स अणेगमणोरहसयसमायरिसियासयलसुहोदयसमप्पियवसंतो सुहसमुप्पायगा जाया मयणावली नाम कन्नगा । कारावियं च पुत्तजम्मेव अणेगविप्पोसयसयलकलाकलावकुसला पत्ता य सयलजणनयणाभिरामं जोव्वणं । जाओ य चिंतावरो राया।जओ-"जाया जणयइ दुहियं,वरकाले जोव्वणे य पीमायं । दुहिया दुहसयहेऊ,सया वि नामेण वि कहेइ॥१॥"तओ चिंतासागरमवगाहमाणमवलोइऊण रायाणं भणियं मइसागरमंतिणा–सचिंतो व्व लक्खिज्जइ सामी एयमायणिऊण अदिन्नपडिवियणेण वि अइदीहं नीससिऊण पडियं नरवइणा–"माणी पियाविउत्तो,सुकई सुयणे सुयतु उ पिसुणो।कन्नापिऊ दरिद्दो,एए चिंताउरा होंति ॥१॥" मंतिणा भणियं-देव ! किमेएण निरत्थएण चिंतासमुद्दमवगाहणेण, करेउ सामी दुहियाए सयंवरमंडवो, मेलिज्जंतु सयलविज्जाहरभूगोयरनरसेहरकुमारा । दंसिज्जंति पत्तेयं पत्तेयं सयलकलाकुसलपरमुत्तमगुणगणवक्खणापुक्खा । एवं कए सामिस्स मणसमीहियं होहि । एवं ति पडिवज्जिऊण नरवइणा काराविओ चित्तसालिभंजिउवसोहियाणेगमणिरयणथंभसयसमासिओ पहाणमंचाइमंचकलिओ विचित्तचित्तभित्तिनयणाभिरामो फालिहामयसिलासयसंबद्धपरमरमणिज्जकुट्टिमतलो सयंवरमंडवो । तओ आहूय उभयसेणिनिवासिणो सयलविज्जाहरकुमारा भूमिगोयरनरवइणो । कयमुचियकरणिज्जं । निरूपियं मयणावलीए सयंवरमंडवे समंगलदिवसं , ततो पच्छयदियहे य विविहनेवत्थियसरीरा नाणामाणिक्कणगरयणविहूसियंगी चारुचामीयरचिचइयपेरंवहयलालोवमएहाणपरिहियसियसदसवसणा पहाणनारिकरयधरियउद्दंडपुंडरीया सरयब्भगब्भसुब्भससरलसुकुमालकंचणनिचयचारुचमरोवसोहियउभयपासिल्ला पहाणपरियणाणुगम्ममाणा । समागया मयणावली रंगमंडवे । ततो दक्खिणसुइणा परमविणीएण सयलकलाकलावकुसलेण सव्वनरनाहविन्नायकुलनायगुणगणाइवुत्तन्तेण रइवल्लहकंचुइणा पहाणकंचणमयमणिरयणचिचइयलीलालट्ठिहत्थेण भणिया । जहा सामि ! एस णं गयणवल्लहपुराहिवो वेयड्ढगिरिसिहरसंठियउत्तरसेढिसयलविज्जाहररायनेयो सिंगारसिरिसेहरो नाम, सूरो चायं कयकोउओ। एस पुण सियमंदिरनयरसामी नररयणचूलो नाम पंडियपयंडचंडपासंडखंडणो,एयं पुण पुरोवत्तीणं देवादिट्ठीए पसायं करेइ रहनेउरचक्कपुरवरभुत्तारं अणंगरहं जाणाहि। एवं परिवाडीए सव्वे वि दंसिया राइणो । एवं तस्स व पुन्नेहिं परिपेरिया ते सुरपुरनिवासिणो सिंहरहराइणो सयलसुहपरंपर व्व पक्खित्ता कंठम्मि वरमाला । जाओ बहलकोलाहलो, संजायं महाविभूईए पाणिग्गहणं, जाओ य परोप्परं दढाणुराओ, उवभुंजइ राइणो समीहियाइं मणुयलोयसुहाइं । अह अन्नया सुहंसंदोहामयमज्झगयाए कणइ पुव्वदुक्कयकम्मपरिणइवसेण जाया अइसयदुरभिगंधा नियपरियणस्स नयरलोयस्स वि उव्वेयणिज्जा राइणो अइइट्ठा ठाणओ तीए पुण काराविओ महाडईए पुण सा उम्मुक्का तत्थ करेइ नासाबंधपुव्वयं परियणो सरीरट्ठिइं । खंतियदुरट्ठिया चेव रायनिउत्ता नरा । मयणावली वि पासायसिहरसंठिया विज्जाहरि व्व पब्भट्ठविज्जारहंगधराणि व्व संभावियरयणिसमागमा रायहंसि व्व उल्लूरियसरससरोवरसारतामरसविसरा परमदुहिया अच्चंतउव्विग्गमाणसा सोयसायरमज्झगया चिन्ताभरनिब्भरा जाणुवरिउक्खियकरयलविणिहितवामकचोला विचिंतयंती नियकम्मपरिणइकडुयविवागं चिट्ठइ । अहऽन्नयाए रयणीए पढमजामे समागयं सुयजुवाण मिहुणयं ठियं पच्चासन्नगवक्खंतरे । कइंतरं य भणिओ नियसुईए , सामि ! कहेह किंचि कहाणयं । न जाइ निव्विणणावगयाणं रयणी, सुएण भणियं–पिए ! चरियं कप्पियं वा कहेमि । सुईए भणियं–लोयणाणंदणानि सुयाइं चेव तुम्ह पाए पसायत्तु । अणेगहा समइविगप्पियाइं कप्पियाइं च–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

रियं परमसुणिविवान्नियं सद्धम्मवुद्धिजणगं कहेह। जइ एवं ता सुंदरि! सुणहि सावहाणा। ततो चिंतियं मयणावलीए-अज्ज णं सोयसायरनिवडियाए एयं सोहणं समुत्तरणं,ता मोत्तूण सयलचिंतं निसुणेमि सावहाणा होऊण। अत्थि इहेव वेयड्ढनगरे दाहिणसेढिए हत्थिणाउरं नाम नयरं। तत्थ नमिरविज्जाहरसिरसेहररइअमंदारमालावलीए पयकमलो जयसुरो नाम नरवई। तस्स णं सुहमई व्व सयलसुहसंपायगा सुहमई भज्जा। अन्नया तीए गब्भाणुभावओ चेव जाओ तित्थजत्ताकरणपरिणामो। लज्जाए न कहियं भत्तुणो। जायखामकवोला पुच्छिया य नरवइणा, सुंदरि! कीस तुमं अकंडे चेव असंभावणिज्जसरीरा जाया। किमत्थि कोइ मए आणावडिच्छए तुब्भावमाणकारी, तओ हसि हसिऊण लज्जाए मुहं परावत्तिऊण अहोमुहीए सुहमईए भणियं-पिय! न मम तुब्भ पयपसायओ सुविणेऽवि कोऽवि अवमाणं करेइ ता किंमरिसं। ततो लज्जं पमुत्तूण अइनिब्बंधं कहियं-जइ अट्ठावयपव्वयाइसु सयं चेव गंतूण सुगंधेहिं वहलपरिमलपासियसयलदिसिमुहेहिं कोट्ठपुडपायमएहिं वासेहिं चुन्नेहिं पहाणपुप्फागुरुमाइएहिं पूयं करेमि। राइणा भणियं-पिए! पूरेमि मणोरहे।विउव्वियं तक्खणमेव अणेगकिंकिणीजालमालोवसोहियं पलंबंतमुत्ताहालाउलं मणिकणगरयणखंभसमूसियं गगणतलावलीयं सियचहुलविजयवजयंतीविहुयदिसिवउज्जमुहमंडलं पहाणरमणिज्जविमाणं समारोविऊण ववगओ चेव राया अट्ठावयपव्वयं; कयं परमसुरहिदव्वमीसजलेहिं पडुपडहगीयवाइयरवपूरिज्जमाणगगणंगणगिरिकंदरविवरं विहीए मज्जणं। पच्छा विरइया पूया पहाणमुचकुंदमंदारासोयवउलपारियायकन्नियारचंपयाईकुसुमामंदामोयवासियदिसिविदिसिएहिं सुसिणिद्धगंधलुद्धचंचलचंचरीया उ सुहमई सह भत्तुणा पडिपुन्नमणोरहा अच्चंतरासियहियया, ताव आच्छाइया ससरसवउलासोयकयंवसहयारमंजरीवहुलामोओ तिरिक्खाण वि नासियाविवरसंतावसंपायगो अग्घाइओ असुहो गंधो, ततो ठइया नासिया, निच्छूढं हुं हुं ति भणंतीए पुच्छिओ य नियदइओ। सामि! कस्सेरिसो गंधो अइदूसहो तिरिक्खाण वि। खेयराहिवेण वि अवलोइऊण वणंतराणि कहियं-पिए! मा एवं दुगुंछं करेह, पेक्ख णं एयं महप्पाणं पुरतो सुद्धसिले काउस्सग्गट्ठियं उद्धवाहुं सूरियाभिमुहं चत्तसयलसंगं निप्पिवासं चत्तकलत्तपुत्तसहिसयणजणवंधवसिणेहचारं आइच्चकरतावियमललित्तसरीरसवियजलाविलं देवदाणवनरिंदवंदवंदियपयकमलं पणामित्तोवयारजणजणियपावसंतावोवसमं। आउमाहीलहपयं महातवस्सिं अहीलणिज्जं सया सीलसुयधरं पिए! एरिसा चेव सवणा हवंति, जओ-'मलमइलजुन्नवसणा,अन्हाणदंतवणविगहविणमुक्का। छज्जीवघायविरया, ज ते तारंति उभयं पि।' ताए भणियं- सामिय!एवमेयं, तहावि जइ फासुओदएणं परिभिएणं अंगपक्खालणं मणुन्नायं होज्जा को दोसो हुंतो। तओ भणियं रन्ना-पिए!मा एवं पजंपसु महादोसो सरीरसोहणन्हाणस्स। जओ-"सिंगारसंगमेयं, पढमं जं सूसणं सरीरस्स। न्हाणं तंबोला विव,गंति लोए विविहाउ॥१॥" एवमेयं तहावि करेह मे मणसमाहिं। धोएमो फासुओदएणं करेमो पवरगंधेहि पूओवयारं। तओ भणियं सुईए-अज्जउत्त! किं सा न साविया जा एवंविहाणं पि महामुणीणं दुगुंछं करेइ.सिद्धंतरहस्सं न याणइ। सुएण भणियं-एसा साविगा परं मोहपसारा अविन्नायसिद्धंतभावा जहा भद्दगा। ततो आणीयं फासुयमुदयं, पक्खालियं सरीरं मुणिवरस्स. आलिंपिओ ससरगोसीसचंदणेणं,पक्खित्ता य समत्थसरीरोवरि वासियसयलनहंगणाचुन्नगंधा, वंदिओ य भत्तिब्भरनिब्भरंगाए सह पिययमेणं गयाइ जहच्चियं चेइयाणं वंदणत्थं.अभिवंदिऊण य नंदीसराइं सुचेइयाणि जा विलग्गइ अट्ठावयं पलोएइ मुणिदिसा हुत्तं ता पेच्छइ तं मुणिवरं। ततो ससंकाए पुच्छिओ राया। सामियं!कहिं सो महामुणी,रन्ना वि अइनिउणं पलोयंतेण वणंतराणि दिट्ठो सिणिद्धगंधलुद्धमुद्धालिमालुम्मालियसयलदेहमंडलो दवदड्ढथाणुसारिसो। ततो दंसिओ राइणा पिए! पेच्छह एयं भयवंतं उवसग्गिज्जंतं गंधलुद्धमहुयरेहिं। ततो सुहमई विसायमावन्ना।पेच्छह मए मंदभायाए भत्ती कया; नवरं अणत्थो जाओ, परं अहो मुणिणो धीरया, अहो खंती,अहो मेरुगिरिस्सेव निप्पकंपया. तो गंतूण निवारेमि उवसग्गं ति। ओइन्नाइं गयणयलाओ निद्धाडिया सव्वेवि महुयरा। मुणिणो वि निच्चलमणोवाक्कायस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स घाइयघाइकम्मचउक्कस्स निरावरणं कसिणं पडिपुन्नं लोयावभासयं केवलणाणं समुप्पन्नं। समागया य चउनिकाया देवा. कुणंति केवलिमहिमं, सिंचंति चउद्दिसिं सुरहिगंधोदगसित्तभूमीए दिव्वं दसद्धवन्नकुसुमवरिसविरइयचारुचामीकरकमलं, उवविट्ठो य भयवं। तत्थ वंदिओ सदेवमणुयासुराए परिसाए,जयसूरणावि खेयराहिवेण सह पियाए वंदिऊण परमविणएण भणियं-भयवं! मरसिज्जाहि जमत्थावरद्धमम्हेहिं अन्नाणमोहमोहियमणेहिं। भयवया भणियं-महाभाग! को तुम्हेत्थावरद्धो नियकम्मपरिणइवसेणं चेव पाणिणं सुहदुक्खाइं परिणमंति तं सव्वहा न खओ कायव्वो। जओ-" समसत्तुमित्तचित्ता, चरित्तिणो चत्तपुत्तसुहिसयणा।कम्मक्खयमुज्जुत्ता,अवरद्धे वि हु न कुप्पंति॥१॥" भयवं! एवमेयं सच्चं जहा चेव मुणिणो हवंति तहा वि उवसग्गकारणं जया वयं,कया तीसे महतिमहालियाए परिसाए धम्मदेसणा,तयावसाणे जयसूरिखेयराहिवो सह जायाए गओ सट्ठाणं, भुंजइ मणिच्छियाइं भोगाइं सुहमई पडिपुन्नडोहला उचियसमए सव्वलक्खणधरं सुरूवं सुकुमालपाणिपायं दारगं पसूया।पइट्ठियं नाम कल्लाणगो,ततो तस्स रज्जधुरापरिपालणसमत्थस्स दाऊणं रज्जं पव्वइओ सह जायाए जयसूरनरवई। काऊणं उग्गं तओकम्मं पालिऊण जहाविहीए परमसामन्नं गतो देवलोगं सह सुहमईए, पुणो सुईए भणियं, सुय! कहेह किं सुहमई पुणो पाविस्सइ,सुएण भणियं-पिए! सा संपयं देवलोगा चुया इहेव सुरपुराहिवस्स भज्जा जाया, गंधपूयापभावेण अइइट्ठा राइणो परं संपइ उप्पणं तं मुणिदुगुंछाजणियं कम्मं, जाया तप्पभावेण अइदुग्गंधा सव्वलोयदुगुंछणिज्जा-ततो मुक्का। एसा एयम्मि पासाए। सुईए भणियं-अइपाणवल्लह! दुक्खिया अहं एयाए महाभागाए दुक्खेणं। ता कहेह कियच्चिरं अइचिपुन्नाए एत्थ अत्थेयव्वं?, सुएणं भणियं-सामिणि!। एया पुव्वभवे चेव मुणिणो पुणो २ खमावणाए थोवमेत्तं कयं ता जइ संपयं सत्त दिणे तित्थस-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राणं परमविसिट्ठसुगंधेहिं गंधपूयं करेइ ता सव्वहा नि-
ज्जरेइ। जाएइ पुव्वावत्थसरीरा। एयकहावसाणे सा
मयणावली हट्ठतुट्ठा पासाइं पलोएइ ता न पेच्छइ तं
अइइट्ठं सुयमिहुणयं। तओ सहस त्ति चिन्ताइया—किमेयं
सुमिणयं ?, किं वा मणवियप्पो ?, किं वा देवेण पच्छन्नरूवेण
पडिबोहिया ?, एवंविहणाणावियप्पेहिं सुहं सुहेणं वाहि-
या रयणी। ततो हट्ठतुट्ठाए जिणाययणेसु काराविया पूया
विसिट्ठपुप्फेहिं, विसेसओ सुविगंधगंधेहिं। ततो जिणपू-
याएहाणमंतुत्थ पिसाउ व्व खणेण देहाउ पणट्ठो असुहो गं-
धो। जाया सहावसरीरा पच्चाविओ राया पासपरिवत्तिणा
जणेणं। अमयरससित्तिणो व परमतोसमावन्नेणं दिन्नं
परमपारिओसियं, गतो सयं चेव नवरई मयणावलीपासे। हरि-
सभरेणं निब्भरेणं सयं चेव समारोविया जक्खासणे, स-
माणीया महाविभूईए नियमंदिरे. काराविओ नयरमहूसवो।
एवं पमोयभरनिब्भरस्स रन्नो निवेइयं उज्जाणपालेण ज-
हा देव ! अमरतेयमुणिणो सयललोयालोयपयासगं समुप्पन्नं
केवलं नाणं, समागया सुरासुरकिन्नरनरनियरा संपयं दे-
वो पमाणं। ततो भणियं मयणावलीए-सामिय ! गच्छामो मु-
णिवंदणत्थं। जओ-तप्पायपसायओ चेव संपज्जंति सयलस-
मीहियाइं, तुट्टंति कम्मनियलाइं, पणस्संति सयलसंसया,
एवं ति पडिवज्जिऊण गतो महाविभूईए।वंदिओ य सबहुमाणं
सह जायाए। उवविट्ठो तयंतिए कहावसाणे भणियं मय-
णावलीए-भयवं ! किं तं सुमिणयं ?. किं वा दाणवेण वा केणइ
अणुकंपाए अहं मूढमणा पडिबोहिया सुयमिहुणरूवेण।
मुणिणा भणियं-भद्द ! सो हु वेमाणिओ देवो तुब्भ पुव्वभव-
भत्ता तित्थकरसयासाओ सव्वमवितहं वियाणिऊणं तुब्भ
दुक्खसायरनिवडियाए पडियाए पडिबोहणत्थमागओ। पु-
णो वि मयणावलीए भणियं-भयवं ! कहिं पुण सो संपयं मह-
प्पा मह हिययनिव्वुइकरो,मुणिणा भणियं- एस चेव तुह पुरओ
चिट्ठइ मणिरयणभूसणोवसोहियसरीरो।तओ उट्ठिऊण मयणा-
वलीए अभिवंदिओ, भणिओ य। सागयं अणुवयारपरहियक-
रणिकरसियस्स साहम्मियस्स केणाहं पुणो तुब्भ पच्चुवयारं
करिस्सं। देवेण भणियं-सुधम्मकरणलालसे! जइ तुमं अच्चंत-
पच्चुवयारकरणतण्हालुय ता हं इओ य सत्तमदिणे चविऊ-
ण खयराहिवसुओ भविस्सं, तुमं मम गिहेहिं चेव जाहिसि
अओ पडिबोहेयव्वो।तीए भणियं-धन्नाहं जइ मम परिसी सत्ती
होही। ततो गतो सुरो सट्ठाणे, रयणावली य नायवुत्तंता
अणुहूयदुक्खसंदोहसंवेगपराइक्षा नियदइयं भणिउमाढत्ता।
जहा-सयलसमीहियसंपायगहियाणंददायग ! अज्जउत्त ! ना-
यं त भवसरूवं,अवगओ चेवऽस्स वि दुव्विलसियस्स कम्मुणो
विवागो। जइ एवं ता नाह ! विसज्जेह समीहियसंपायग !
हिययाणंददायग ! अज्जउत्त ! नाम करेमि परमपव्वज्जं, मु-
क्का चेव मए आसि मज्झं सुहकम्मपरिणइपरिपेरिएण।
ततो राइणा ईसिं हसिऊण भणियं-तहा वि पुणरागयं रयणं
को परिच्चयइ। मयणावलीए भणियं-सामिय ! मा पडिबंधं
करेह।जओ दारुणो मोहपसरो,दुरंतो विसयाहिलासो,अणि-
वारणिज्जपसरो मच्चू, अलंघणिज्जो दिव्वपरिणामो, संभ्भब्भ-
रायसरिसं तारुण्णं,तडितच्चंचलाउ लच्छीउ,जुवईसहावसरि-
सो विसयपरिणामो। ता नाह ! विसज्जिह ममं किमेत्थ पडि-
बंधकारणं। ततो अहबहुअब्भत्थणाहिं कहकह वि विस—
ज्जिया भयवया वि पव्वाविया महाविभूईए। इओ राइणा-
पविट्ठो य नियनगरे निराणंदो वाहजालुल्लोलेगल्लियकवोलो
संसारसायरं विचिंतयंतो। मयणावली वि दुक्करतवचरण-
रया विहरइ सह अज्जाहिं अब्भुज्जयविहारेणं। देवो वि अहाउ
यक्खएणं चविऊण विमाणाउ समुप्पन्नो खयरसुओ.जातो य
सयलकलाकलावसीमाआयारो जोव्वणगुणरयणाणं संपुन्न-
पुन्नोदहिलावन्नजलनियरस्स। अन्नया तेण गयणंगणगामिणा
दिव्वविमाणारूढेण दिट्ठा मयणावली भज्जा नियपडिसयस्स
दुवारदेसे काउसग्गगया। तं तहाविहमवि दट्ठूण पुव्वभव-
ब्भासओ दट्ठूणं जायअणुराओ परो दंसेइ, अइदुल्लहा भूमि-
गोयराणं नियविज्जाहररिद्धी, पयडेइ अणुरायं, दंसेइ मयण-
वियारे, करेइ अणुकूलोवसग्गे, भणेइ महुरवयणेहिं, कीस
णं तुमं किसोयरि ! कज्जेण विणा सुहोइयसिरीसकुसुमं
व सुकुमालयलं, लावन्नस्स निहाणं, सव्वविलासाणं
अइदुल्लहं, अकयसुकयाणं नियसरीरं। एयाए खरकक्कस-
कट्ठकिरियाए हीणदरिद्ददुहियजणोइयाए नीओपासिकी-
ए ममाणुरायपरस्स पत्थणापवत्तस्स किंकरत्तमुवगय-
स्स पडिवयणं न देसि ?, सुणसु य अहं खयरकुमारो मयंको
नामा चलिओ य रयणमालाए वरकन्नगाए विवाहणनिमि-
त्तं। दिट्ठा तुमं नायणियगमणविग्घकरा अंबरतलगएणं। ता
सुंदरि ! आरुहसु दिव्ववरविमाणं, भुंजसु मए समं दाण-
वोवमे भोए। होउ णं एयाए कट्ठकिरियाए इहलोए फलं.एवं
जाव बहु भणिया वि पडिवयणं न देइ तओ पुणो वि भणिया.
चारुपहिणि ! कीस अकन्नसुयं करेसि ? जइ वि तुमं सिवसु
हसाहणुज्जुया तहावि ममाणुकंपाए एहि. आरुह विमाणं।
पिए ! जहा नियदंसणेणं आणंदिआइं लोयणाइं, एवं काम-
ग्गिजलियजालतीसं पतितं मे सरीरं सरलसुकुमारसंगनीर-
निवहेणं निव्वाहेह, एवं अणेगचाडुसयाणि कुणंतस्स वि नि-
च्चलसुक्कज्झाणोवगयाए तयावरणिज्जकम्मक्खओवसमेणं स-
मुप्पन्नं सव्वहा निरावरणं केवलं नाणं। ततो समागया देवा,
जाओ दिव्वाज्जोओ कया सव्वायरेणं केवलिमहिमा, विम्हि-
ओ तं तारिसं धम्ममाहप्पं पेच्छिऊणं, चिंतियं च चिट्ठामि
ताव किमेत्थमन्नं भवइ, ततो आरूढो मयणावलीए अज्जाए
भद्द ? परिच्चय संसारवाससमारंभं. परिहरसु किंपागफल-
सरिच्छा विसया,ता पडिवज्जसु पुव्वंखयराहिव भवपरिच्चा-
लियं समणधम्मं ततो कहिओ सव्वो वि पुव्वभवपबंधो, सं
भरियं च सुरभवबोहिपत्थणावयणं, ततो संभरिया जाया
पडिवन्नं च समं मयणावलीए वयणं। गहिया सुगुरुसगासे
दिक्खा, परिवालिया जहोवइट्ठा, काऊणं सयलमलविणासं
जाव सव्वदुक्खपहीणो परिनिव्वुडो "जयसूर-सुहमईए, वि-
ज्जाहरचरियमुत्तमं नाउं। भो भविया? होह सया, समुज्जुया
वासपूयाए ॥१॥"। वासपूयाकहाणयं सम्मत्तं। दर्श०२ तत्त्व।

वासयंत-वासयत्-त्रि०। सुरभिं कुर्वति,कल्प०१अधि०३क्षण।

वासर-वासर-पुं०। दिवसे, " अहो दिणा वासरा दिआ दि-
अहा।" पाइ० ना० १५७ गाथा।

वासरेणु-वासरेणु-पुं०। वासके रजसि, औ०।

वासव-वासव-पुं०। इन्द्रे, को०। आ० चू०। अष्ट०। वै-
ताढ्ये पर्वते, तोरणाभिधे पुरे दृढशक्तेः खेचरस्य पुत्र्याः क-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नकमालायाः पतित्वार्थं युद्धमृते खेचरे, उत्त० ६ अ०। कनककूटपुराधिपतौ राज्ञि, यस्य कमला कमलसेना सुलोचना नाम्न्यः तिस्रो दुहितरः। ध० र० १ अधि०। इन्द्रे, "अखंडलो सुरवई, पुरंदरो वासवो सुणासीरो" पाइ० ना० २३ गाथा।

वासवदत्त-वासवदत्त-पुं०। विजयपुरराजे कृष्णदेवीपतौ, विपा० २ श्रु० ३ अ०।

वासवदत्ता-वासवदत्ता-स्त्री०। प्रद्योतस्य दुहितरि अङ्गारवत्या आत्मजायाम्, आ० चू० ४ अ०। आ० क०। आव०। (तद्वक्तव्यता 'सेणिय' शब्दे वक्ष्यते।) वासवदत्ताचरितनिबद्धे नाटकभेदे, आ० म० १ अ०।

वासवसुअ-वासवसुत-पुं०। जयन्ते, "वासवसुओ जयंतो" पाइ० ना० ६८ गाथा।

वासवारो-देशी-तुरगे, दे० ना० ७ वर्ग ५६ गाथा।

वासवालो-देशी-श्वनि, दे० ना० ७ वर्ग ६० गाथा।

वाससंठिय-वर्षसंस्थित-त्रि०। भारतादिवर्षाकारे, भ० ७ श० २ उ०।

वाससय-वर्षशत-न० शतसंख्येषु वर्षेषु, "वीसं जुगाइं वाससयं" भ० ६ श० ७ उ०। विंशत्या युगैर्वर्षशतम्। नं०। कर्म०। अनु०। जं०।

वाससयसहस्स-वर्षशतसहस्र-न०। वर्षलक्षे, "सयं वाससहस्साणं वाससयसहस्सं" भ० ६ श० ७ उ०। दशभिर्वर्षशतैः परिमितं कालविशेषे, अनु०। भ०। "दस वाससयाइं वाससहस्सं" भ० १ श० ५ उ०।

वाससयाउ(क)य-वर्षशतायुष्क-पुं०। वर्षशतमायुर्यत्र काले मनुष्याणां स वर्षशतायुष्कः कालस्तत्र यः पुरुषः सोऽप्युपचाराद् वर्षशतायुष्कः। ऐदंयुगीने शतायुषि पुरुषे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

वासहय-वर्षहत-त्रि०। अववृष्टे, "ऊअट्ठं वासहयं" पाइ० ना० १६७ गाथा।

वासा-वर्षा-स्त्री०। वृष्टौ, बृ० १ उ० २ प्रक०। वर्षाकाले, नि० चू० १ उ०।

वासारत्त-वर्षारात्र-पुं०। वर्षाकाले, संथा०। बृ०। वर्षा एव वासो वर्षावासः। स द्विधा-प्रावृद्, वर्षारात्रश्च। तत्र श्रावणभाद्रपदमासौ प्रावृडुच्यते, आश्विनकार्तिकौ तु वर्षारात्रः, आह च चूर्णिकृत्—" पाउसो-सावणो भद्दवओ अ, वासारत्तोअस्सोओ कत्तिओ अत्थि" बृ० १ उ० ३ प्रक०। आश्वयुजादौ, भ० ६ श० ३३ उ०। भाद्रपदाश्वयुजलक्षणे द्वितीये ऋतौ, ज्ञा०१ श्रु० ६ अ०। अनु०। ज्यो०। वर्षाऋतौ, 'वासारत्तो य घणसमओ' पाइ० ना० १५६ गाथा।

वासावास-वर्षावर्षा-स्त्री०। वर्षासु वर्षाकाले वर्षा-वृष्टिः वर्षावर्षा। वर्षाकालिकवृष्टौ, स्था० ५ ठा० २ उ०।

वर्षावास-पुं०। वर्षासु आवासोऽवस्थानं वर्षावासः। स्था०५ ठा० २ उ०। आचा०। कल्प०। दशा०। व्य०। वर्षा-वर्षाकालस्तस्मिन्वासः। पर्युषणायाम्, नि० चू० १० उ०। चतुर्मासके, कल्प०३ अधि०६क्षण। पं० भा०। पं० चू०। औ०।

वासावासिय-वर्षावार्षिक-त्रि०। वर्षास्वन्यत्र स्थिते, आचा० "से आगंतारेसु वा ४ ये भवंतारो उउबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवातिणावेत्ता"। आचा०२ श्रु०२ चू०२ अ०२उ०

वासिउकाम--वर्षितुकाम--त्रि०। वर्षणकामे, स्था०३ठा०३ उ०

वासिक--वार्षिक--त्रि०। वर्षाकालसम्बन्धिनि, चं० प्र० १२ पाहु०।

वासिकच्छत्त--वार्षिकच्छत्र--न०। वार्षिकाणि-वर्षाकाले पानीयरक्षणार्थं यानि कृतानि तानि वार्षिकाणि; तानि च छत्राणि। वर्षाकालिकजलनिवारणछत्रेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०।

वासिकतव--वार्षिकतपस्--न०।वर्षाकालिके तपसि,तथा वार्षिकतपः कियता कालेन पूर्णं भवतीति?,प्रश्नः,अत्रोत्तरम्-एतदालोचनातपः अशीत्यधिकशतोपवस्त्रप्रमाणमेकवर्षे पूर्णं भवति,तत्तपः उपवासाचामाम्लैकाशनकरीत्या क्रियते,परमेकान्तरोपवासा न कर्त्तव्याः,पुनस्तिथेर्वृद्धिर्हानिर्भवति तदोपवस्त्रमेकाशनकं वा कर्त्तव्यम्, परमाचामाम्लं नायाति ततः पर्वदिने उपवस्त्रमेव समायाति। तथा विंशत्यधिकशता चामाम्लानि तेषां षष्ट्युपवासानि भवन्तीत्यनया रीत्या अशीत्यधिकशतोपवस्त्रैर्वार्षिकं तपः पूर्णं भवति, एकाशनकानि त्वधिकान्यतोद्व्यशनकान्यपि करोति तथापि तपः पूर्णं भवतीति ॥ ७० ॥ सेन० ४ उल्ला०।

वासिट्ठ--वाशिष्ठ--पुं०। वाशिष्ठगोत्रे,चं० प्र० १० पाहु०। आचा०। जं०। आ०म०। 'मंडियपुत्ते वासिट्ठगोत्ते' कल्प०२अधि० ८ क्षण। स्था०।

जे वासिट्ठा ते सत्तविहा पण्णत्ता,तं जहा--ते वासिट्ठा ते उंजायणा ते जारेकण्हा ते वग्घावच्चा ते कोडिन्ना ते सण्णी ते पारासरा। (सू०--५५१X) स्था०७ ठा० ३ उ०।

वासिट्ठिया--वाशिष्ठिका--स्त्री०। आर्यसुहस्तात् वाशिष्ठसगोत्रान्निर्गतस्य मानवगणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

वासित्ता--वर्षितृ--त्रि०। प्रवर्षणकारिणि,स्था० ४ ठा० ४ उ०।

वासिय--वासित--त्रि०। पटवासकुसुमादिभिरपनीतदुर्गन्धभावे,ग०२अधि०।बृ०। भाविते, आव० ४ अ०। स्था०। समुत्पन्नशब्दपरिणामे द्रव्ये, विशे०। आ० म०।

वृष्ट--त्रि०।वर्षितुमारब्धे,ज्ञा० १ श्रु०१अ०। सुरभीकृते, कल्प० १ अधि० २ क्षण।

वासी--वासी--स्त्री०। 'वसुला' इति ख्याते लोहकारोपकरणविशेषे, हा० २६ अष्ट०। आचा०। ज्ञा०।

वासीचंदणकप्प--वासीचन्दनकल्प--पुं०। उपकार्यनुपकारिणोरपि मध्यस्थे, आव० ५ अ०। वासीव वासी-अपकारकारी तां चन्दनमिव दुष्कृतं तत्क्षणहेतुतयोपकारकत्वेन कल्पयन्ति-मन्यन्ते वासीचन्दनकल्पाः।हा०। यदाह-"यो मामपकरोत्येष,तत्त्वेनोपकरोत्यसौ। शिरामोक्षाद्युपायेन, कुर्वाण इव नीरुजम्॥" अथ वास्यामपकारिण्यां चन्दनस्य कल्प इव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च्छेद इव य उपकारित्वेन वर्तन्ते ते वासीचन्दनकल्पाः। आह च-" अपकारपरेऽपि परे, कुर्वन्त्युपकारमेव हि महान्तः। सुरभीं करोति वासीं, मलयजमपि तक्षमाणमपि॥१॥" वास्यां वा चन्दनस्येव कल्प आचारो येषां ते तथा। अथ वास्यां चन्दनकल्पाश्चन्दनतुल्या ये ते तथा। भावना तु प्रतीतैव। हा० २६ अष्ट०। ज्ञा०।

वासुइ-वासुकि-पुं०। स्वनामख्याते महानागे, द्वी०।

वासुदेव-वासुदेव-पुं०। बलदेवलघुभ्रातरि त्रिखण्डभरताधिपे.तं०भरते अवसर्पिण्यां नव वासुदेवाः, त्रिपृष्ठादयस्तेषां सपतरो मातरः प्रतिशत्रवश्चैवमुत्सर्पिण्यां नव। ऐरवतजाश्च नव नव वासुदेवाः। ति०। आव०। स०। ती०। स्था०।

साम्प्रतं वासुदेवादीनां वर्णप्रमाणप्रतिपादनायाऽऽह—

वरणेण वासुदेवा, सव्वे नीला बला य सुकिलया।
एएसि देहमाणं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥ ४०२॥
पढमो धणूणऽसीई१,सत्तरि२ सट्ठी३अपण४पणयाला५।
अउणत्तीसं च धणू६,छव्वीसा७सोलस८दसेव९॥४०३॥

गाथाद्वयं निगदसिद्धम्।

साम्प्रतं वासुदेवादीनां गोत्रप्रतिपादनायाऽऽह—

बलदेव वासुदेवा, अट्ठेव हवंति गोयमसगुत्ता।
नारायण पउमा पुण, कासवगुत्ता मुणेअव्वा॥४०४॥

निगदसिद्धा।

वासुदेवबलदेवानां यथोपन्यासमायुःप्रतिपादनायाऽऽह—

चउरासीइ१विसत्तरि२,सट्ठी३तीसा य४दस५य लक्खाइं।
पण्णट्ठिसहस्साइं ६, छप्पण्णा७बारसे८ गं च९॥ ४०५॥
पंचासीई १ पण्ण-त्तरी अ २ पण्णट्ठि ३ पंचवण्णा ४ य।
सत्तरस सयसहस्सा ५, पंचमए आउअं होइ॥ ४०६॥
पंचासीइ सहस्सा ६, पण्णट्ठी ७ तह य चेव पण्णरस ८।
बारस सयाइँ ९ आउं, बलदेवाणं जहासंखं॥ ४०७॥

निगदसिद्धाः।

साम्प्रतममीषामेव पुराणि प्रतिपाद्यन्ते—तत्र—

पोअणं१ बारवइतिगं४, अस्सपुरं५ तह य होइ चक्कपुरं६।
वाणारसी७रायगिहं८,अपच्छिमो जाओ महुराए९।४०८।

निगदसिद्धा।

एतेषां मातापितृप्रतिपादनायाऽऽह—

मिगावई १ उमा चेव२,पुहवी ३ सीआ य ४ अम्मया५।
लच्छीमई६ सेसमई७, केगमई८ देवई९ इअ॥ ४०९॥
भद्द१ सुभद्दा२ सुप्पभ३,सुदंसणा४विजय५वेजयंती६अ।
तह य जयंती७अपरा-जिआ८ य तह रोहिणी९चेव।४१०।
हवइ पयावइ१ बंभो२,रुद्दो३सोमो४ सिवो५महसिवो३अ।
अग्गिसिहे७अ दसरहे८,नवमे भणिए अ वसुदेवे९।४११।

निगदसिद्धाः।

एतेषामेव पर्यायवक्तव्यतामभिधित्सुराह—

परिआओ पव्वज्जा, ऽभावाओ नऽत्थि वासुदेवाणं।
होइ बलाणं सो पुण,पढमऽणुओगाओ णायव्वो।४१२।

निगदसिद्धा एव।

एतेषामेव गतिं प्रतिपादयन्नाह—

एगो अ सत्तमाए, पंच य छट्ठीएँ पंचमी एगो।
एगो अ चउत्थीए, कण्हो पुण तच्च पुढवीए॥४१३॥

गमनिका-एकश्च सप्तम्याम्,पञ्च च षष्ठ्याम्, पञ्चम्यामेकः, एकश्च चतुर्थ्याम्, कृष्णः पुनस्तृतीयपृथिव्यां यास्यति, गतो वेति सर्वत्र क्रियाध्याहारः कार्यः। भावार्थः स्पष्ट एव॥४१३॥ आव० १ अ०। आ० चू० (वासुदेवानां बलं 'बल' शब्दे पञ्चमभागे १२८० पृष्ठे व्याख्यातम्।) विशे०। आ० म०। (वासुदेवो वासुदेवं न पश्यतीति 'दुवई' शब्दे चतुर्थभागे २५६५ पृष्ठे कपिलं प्रति मुनिसुव्रतस्वामिसंवादेनोक्तम्।)

अथ वासुदेवस्य रत्नान्याह—

चक्कं खग्गं च२धणू३,मणी य४माला तहा गया संखो।
एए सत्त उ रयणा, सव्वेसिं वासुदेवाणं॥ २९॥

चक्रखड्गधनुर्मणयः प्रतीताः। माला सदैव चाम्लाना देवार्पिता, गदा—कौमोदकीनामा प्रहरणविशेषः, शङ्खःपाञ्चजन्यो द्वादशयोजनविस्तारिध्वानः एतानि सप्तरत्नानि सर्वेषामपि वासुदेवानां भवन्ति। प्रव० २१२ द्वार। वसुदेवस्य पुत्रो वासुदेवः। कृष्णवासुदेवे, आ० म० १ अ०। अनु०। " वासुदेवोऽभवत्तत्र (द्वारवत्याम्) वसुदेवनृपाङ्गजः। देवकीकुक्षिकासार-कलहंसः क्षितीश्वरः॥१॥" आ० क० १ अ०।

कृष्णवासुदेवस्य भेरीत्रयकथा तद्भेदाश्चैवम्—

"वासुदेवस्स तिन्नि भेरीओ, तं जहा-संगामिया, अब्भुदइया, कोमुइया। तत्र प्रथमा संग्रामकाले समुपस्थिते सामन्तादीनां ज्ञापनार्थं वाद्यते, द्वितीया पुनरागन्तुके कस्मिंश्चित्प्रयोजने समुद्भूते लोकानां सामन्तादीनां परिज्ञापनाय, तृतीया कौमुदीमहोत्सवायुत्सवज्ञापनार्थम्। ततो तिण्णि वि गोसीसचंदणमइतो देवतापरिग्गहियातो तस्स चउत्थी भेरी असिवप्पसमणी। तीसे उप्पत्ती कहिज्जइ—तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्को देविंदो, सो तत्थ देवलोगे सुरमज्झे वासुदेवस्स गुणकित्तणं करेइ। अहो उत्तमपुरिसा एए अवगुणं न गिण्हंति, नीएणं य जुद्धेण न जुज्झंति। तत्थ एगो देवो असद्दहंतो आगतो वासुदेवो वि जिणसगासं चंदगो पट्ठितो। सो अंतरा कालसुणयरूवं मययं विउव्वइ दुब्भिगंधं। तस्स गंधेण सव्वो लोगो पराभग्गो, वासुदेवेण दिट्ठो भणियं—वएणेण अहो इमस्स कालसुणयस्स पंडुरा दंता मरगयभायणनिहितमुत्तावलि व्व रेहंति। देवो चिंतेइ सच्चं गुणग्गाही। ततो वासुदेवस्स आसरयणं गहाय पहावितो। सो य मंदुरापालएण नातो तेण कहियं जहा आसो हीरइ। ततो कुमारा रायाणो य निग्गया, ते देवेण हयविप्पहया काऊण धाडिया। वासुदेवो निग्गतो भणइ—कीस मम आसरयणं हरसि ?, एसो मम आसो तुब्भ न होइ। देवो भणति—इमं जुज्झे पराजिऊण गिण्हाहि। वासुदेवेण भणियं-बाढं किह जुज्झामो, तुमं भूमिए अहं च रहेणं, तो रहं गेण्ह। देवो भणइ—अलं मे रहेण। एवं आसो हत्थी पडिसिद्धो। बाया जुज्झाइया-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इं सव्वाइं पडिसेहेइ । तो अक्खायं केण जुज्झेण जुज्झियव्वं ?। देवो भणइ-अहिट्ठाणजुद्धेण । वासुदेवेण भणितं-पराजितोऽहं नेहि आसरयणं नाहं नीयजुद्धेण जुज्झामि। ततो देवो तुट्ठो-समाणो भणति-वरेहि वरं,किं ते देमि ?'। वासुदेवेण भणि-यं-असिवोवसमणि भेरिं देहि । तेण दिण्णा । एसा तीसे भे-रीए उप्पत्ती ॥ " आ० म० १ अ० । विशे० ।

वासुदेवखंधावार–वासुदेवस्कन्धावार–पुं० । वासुदेवकटकस न्निवेशे , प्रज्ञा० १ पद ।

वासुदेवघर–वासुदेवगृह–न० । वासुदेववेश्मनि. आ०म०१ अ० ।

वासुदेवपडिमा–वासुदेवप्रतिमा–स्त्री० । वासुदेवमूर्त्तौ,'वासु-देवपडिमाए मुहे अहिट्ठाणं काऊण ठितो' आ० म० १ अ० ।

वासुपुज्ज–वासुपूज्य–पुं० । भरतक्षेत्रजे अवसर्पिण्या द्वादशे जिने, पञ्चा०१६ विव०।आ०म०। वसवो देवास्तेषां पूज्यः वासुपूज्यः, वसुपूज्य एव वासुपूज्यस्तत्र सर्वेऽपि तीर्थकृतो वासुपूज्याः ।

ततो विशेषमाह—

पूएइ वासवो जं, अभिक्खणं तेण वासुपुज्जो सो ।

तस्मिंश्च भगवति गर्भगते वासवो देवराजोऽभीक्ष्णं जननीं पूजति, तेन वासुपूज्य इति , वा पृषोदरादित्वा— दिष्टरूपनिष्पत्तिः । अथवा वासवो नाम वैश्रमणः स गर्भ-गते भगवति तद्राजकुलमभीक्ष्णं वसुभी रत्नैः पूजयति पूरयति तेन कारणेन वासुपूज्यः । आ०म० २ अ० । अनु० । ध० स० । प्रव० । (एतद्विषयिका 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठादारभ्य सर्वा वक्तव्यतोक्ता ।)

वासुपुज्जस्स णं अरहओ वासट्ठिं गणा वासट्ठिं गणहरा होत्था ॥

वासुपूज्यस्येह द्विषष्टिर्गणा गणधराश्चोक्ताः, आवश्यके तु षट्षष्टिरुक्तेति मतान्तरमिदमपीति स० ६२ सम० ।

वासुपुज्जे णं अरहा सत्तरिं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था । स० ६२ सम० ।

वासुपुज्जे णं अरहा छहिं पुरिससएहिं सद्धिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए । (सू०-५२०+)स्था०६ठा० ।

वासेसि–व्यासर्षि–पुं० । 'पदयोः सन्धिर्वा' ॥ ८ । १ । ५ ॥ इति संस्कृतोक्तः सन्धिः सर्वः प्राकृते पदयोर्व्यवस्थितविभाषया भवतीति सन्धिर्वा । वासइसी । वासेसी । कृष्णद्वैपायने, प्रा० १ पाद ।

वाह–वाह–पुं० । वाहनं वाहः । भारोद्वहने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । वाहयतीति वाहः । शाकटिके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । धरिमप्रमाणचिन्तायाम् , ज्यो० २ पाहु० । अष्ट-भिराढकशतैर्निर्वृत्ते मानभेदे, अनु० ।

व्याध–पुं० । 'अधो मनयाम्' ॥८।२।७८॥ इति यलोपः प्रा० । 'ख-घ-थ-ध-भाम्' ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इति धस्य हः । प्रा० । लुब्धके, व्य० ३ उ० ।

वाहइ–व्याहृति–स्त्री० । भजनायाम् , विशे० ।

वाहगणी–देशी-मन्त्रिणि, दे० ना० ६१ गाथा ।

वाहण–वाहन–न० । शकटाद्याकर्षणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । परेगैवामिव (प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।) व्यापारणे, प्रव० ६ द्वार । 'अणंतरेणं नयणप्पगारेणं नयणं वाहणं भण्णति' । नि० चू० १८ उ० । शिबिकावेगसरादिके, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । स्था० । ज्ञा० । रा० । हस्त्यश्वबलीवर्दादिके, औ० । शकटादिषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । रा० । ग० । यानपात्रेषु, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । प्रवहणेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । (वाहनविधिप्रत्याख्यानम् ' आणंद ' शब्दे द्वितीयभागे ११० पृष्ठ उक्तम् ।)

वाहणकहा–वाहनकथा–स्त्री० । वेगसरादिकथायाम् , "हेसंत-हयं गज्जंत-मयंगलं घणघणंतरहलक्खं । कस्सन्नस्स वि सेन्नं, निन्नासियसत्तुसिन्नंभो ॥ १ ॥ " स्था० ४ ठा० २ उ० ।

वाहणा–उपानह्–स्त्री० । पादरक्षिकायाम् , भ० २ श० १ उ० ।

वाहतेण–वाहस्तेन–पुं० । मार्गचौरे, " अडविं गच्छंताओ य उदगं घेत्तुं गच्छति" नि० चू० १६ उ० ।

वाहय–वाहक–पुं० । अश्ववारे,विशे० । अश्वन्दमे,उत्त०१अ० ।

व्याहत–त्रि० । व्याहतिदुष्टे, यत्र पूर्वेण परं व्याहन्यते । यथा– "कर्म चास्ति फलं चास्ति,कर्ता न त्वस्ति कर्मणा" मित्यादि । अनु० । विशे० । आ० म० । बाधिते, नं० ।

वाहरमाण–व्याहरत्–त्रि० । आह्वयति, प्रा० ४ पाद । आव० ।

वाहरिउं–व्याहृत्य–अव्य० । अकार्येत्यर्थे, व्य० ४ उ० ।

वाहि–व्याधि–पुं० । विशिष्टचित्तपीडायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । चिरस्थायिनि (विपा०१ श्रु० ७ अ० ।) ज्वरकुष्ठादिके, स्था० १० ठा० ३ उ० । रोगे, तं० । प्रश्न० । ज्वरातिसारादौ, द्वा० १६ द्वा० । बृ० । स्था० ।

चउव्विहा वाही पण्णत्ता,तं जहा–वाइए पित्तिए वसंभि-ते सन्निवाइए ॥ (सू०-३४३×) ॥

कण्ठ्यं केवलं वातो निदानमस्येति वातिकः । एवं सर्वत्र नवरं संनिपातः संयोगो द्वयोस्त्रयाणां वेति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । द्विविधो व्याधिः-साध्योऽसाध्यश्च । आ०म० । (अत्रत्या वक्तव्यता 'इंदभूइ' शब्दे द्वितीयभागे ५४३ पृष्ठे गता ।) रुजि, पञ्चा० १७ विव० । " वाहिरोगवेयणोदीरणपरिणामसलिल त्ति " व्याधयः—स्थिराः कुष्ठादयो—रोगाः—सद्योघातिनः शूलादयस्तज्जन्याया वेदनाया योदीरणा सैव परिणामो य-स्य सलिलस्य तत्तथा, तदेवंविधं सलिलं येषान्ते तथा, अत एवामनोज्ञापनीयकाः । भ० ७ श० ६ उ० । रोगे, "आयं-को आयल्लो, वाही तह आमयो रोओ" पाइ० ना०५१ गाथा ।

वाहिगत्थ–व्याधिग्रस्त–त्रि० । कुष्ठाद्यभिभूते, द्वा० १२ द्वा० ।

वाहिणी–वाहिनी–स्त्री० । नद्याम् , को० । नि० चू० । सेना-याम् , " सेणा वरूहिणी वा--हिणी अणीअं चमू सिन्नं । " पाइ० ना० ३४ गाथा ।

वाहित्त–व्याहृत–त्रि० । 'इत्कृपादौ' ॥ ८ । १ । १२८ ॥ इति ऋ-त इत्त्वम् , प्रा० । सेवादित्वात्तकारस्य वा द्वित्वम् । प्रा० । आहूते, उत्त० १ अ० । जी० । शब्दिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आहूते, "आहूओ वाहित्तो" । पाइ० ना० २४७ गाथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाहिप्प-व्याहृ-वि-आ-हृ-धा० । भाषणे, " व्याहृतेर्वाहिप्पः " ॥ ८।४। २५३ ॥ व्याहरतेः कर्मणि भावे च 'वाहिप्प' इत्यादेशो वा भवति । तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक् । वाहिप्पइ । वाहरिज्जइ । व्याह्रियते । प्रा० ४ पाद ।

वाहिम-वाहिम-त्रि० । वाहनयोग्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

वाहिय-व्याधित-त्रि० । सञ्जातकुष्ठादिरोगे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । ज्ञा० । पीडिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । भगन्दरातीसारकुष्ठश्लीहशूलार्शःप्रभृतिरोगैर्ग्रस्ते, ग० १ अधि० । पं० व० । विशिष्टचित्तपीडावति शोकादिविप्लुतचित्ते, विशिष्ट आधिर्यस्य स व्याधिः । स्थिरो रोगः कुष्ठादिस्तद्वान् । ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । पं० सू० । रोगिणि, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ग्लाने, बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

इयाणिं वाहिय त्ति । गाहा-

रोगेण वाहिएणं, अभिभूतो जो तु अभिलसे दिक्खं ।
सोलसविहो उ रोगो, वाही पुण होइ अट्ठविहो ॥ ३५८॥

कंठा । इमो सोलसविहो रोगो चेव ' मंगियं पंगु वडभ-भिम्माणि मलसंच सक्करपमेहं । बहिरंधकुंटवडभ, गंडीकोटीक्खंतसूई'॥१॥ इमो अट्ठविहो वाही-'जर सास कास डाहे, अतिसार भगंदरे य सूले य । तत्तो अजीरघातग, आसुचिरं वाहिरोगविहो ॥१॥' आसुघातित्वात् व्याधिः, चिरघातित्वाद्रोगः ।

रोगवाहियत्थं पव्वावेंतस्स दोसा आणादी इमे य । गाहा-

छक्कायसमारंभा, नालचरित्ताण चेव परिहाणी ।
घंसण पीसण परणय, दोसा एवंविहा होंति ॥ ३५९॥

जदि तस्स तिगिच्छं आउट्टति तो छक्कायविराधणा एस चरित्तपरिहाणी । गिलाणवेयावच्च वावडस्स सुत्तत्थपोरिसीओ अकरेंतस्स णाणपरिहाणी । चंदणादियाण घंसणं वडवक्लिमादियाण पीसणं घयमादीण परणयं एवमादिपलिमंथदोसेहिं अप्पणो सकिरया परिहाणी । अध न करेंति से किरियं तो चउगुरुं,जं सो वा वापादति पावेहिं वा तं च पावति, दिक्खितो ।

किं चान्यत् । गाहा-

जाता अणाहसाला,समणा वि य दुक्खिया पडियरंता ।
तत्तियपडणासंता,होज्ज व समणाण वा होज्जा ॥ ३६०॥

' अणाहसास त्ति ' आरोग्गसाला गच्छवासो अणाहसालावत् । तत्थ साहवो अन्नस्स वमणं, अन्नस्स विरेयणं, अण्णस्स असणं, अण्णस्स पाणयं, अण्णस्स व घयाइयं एवमादिउग्गमेत्ता दुक्खिया जाता । पच्छद्धं कंठं । रोगि त्ति गतं । नि० चू० ११ उ० ।

वाहिसमारुग्गविण्णाण-व्याधिशमारोग्यविज्ञान-न०।व्याधिशमाद्यदारोग्यं तदवबोधे, पं० सू० ४ सूत्र ।

वाही-व्याधी-स्त्री० । व्याधदुहितरि, बृ० ६ उ० ।

वाहोवम-व्याधोपम-त्रि० । व्याधस्थानीये, व्य० २ उ० ।

वि-वि-अव्य० । विविधे-सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । अनेकप्रकारे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । विरूपरूपे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । स० । विशेष, उत्त० ३३ अ० । विशे० । प्रकर्षे, सूत्र० २ श्रु०१ अ० । विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः । आ० म० १ अ० । ध० । आचा० । सूत्र० । भ० । विपा० । 'प्यादयः' ॥८।२। २१८॥ प्यादयो नियतार्थवृत्तयः प्राकृते प्रयोक्तव्याः । पि-वि-अप्यर्थे, प्रा० २ पाद ।

विअंगिअ-देशी-निन्दिते, दे० ना० ६६ गाथा ।

विअंसओ-देशी-व्याधे, दे० ना० ७२ गाथा ।

विअड-विकट-न० । प्रकटप्रकाशे, स० ११ सम० । विविधौपधमिश्रे मद्ये, उत्त० २ अ० । नि० चू० ।

विअडभोइ(ण्)-विकटभोजिन्-पुं० । विकटे प्रकटप्रकाशे दिवा न रात्रौ दिवाऽपि वा अप्रकाशे न भुङ्क्ते अशनाद्यभ्यवहरतीति विकटभोजी । अरात्रिभोजिनि, स० ११ सम० ।

विअड्डि-वितर्दि-पुं०'सम्मर्द-वितर्दि-विच्छर्द-च्छर्दि-कपर्द-मर्दिते-र्दस्य'॥८।२।३६॥इति दस्य डः। शरीरसन्धिपीडने,प्रा०।

विअडीकरण-विकटीकरण-न० । विकसितमुकुलितार्थमुकुलितभेदनं कुर्वतो मालाकारस्येव आलोचने, आव० ४ अ० ।

विअड्ढ-विदग्ध-त्रि० । 'दग्धविदग्धवृद्धिवृद्धे ढः'॥८ । २ ।४०॥ इति संयुक्तस्य ढः । चतुरे, प्रा० २ पाद ।

विअण-व्यजन-न० । 'इः स्वप्नादौ' ॥८ । १ । ४६ ॥ इति यकारस्य इकारः । तालवृन्तके, प्रा० १ पाद ।

विअणा-वेदना-स्त्री० । 'एत इद्वा वेदना-चपेटा-देवर-केसरे' ॥ ८ । १ । १४६ ॥ इत्येत इत्त्वम् । शारीरदुःखे, प्रा० १ पाद ।

विअसिय-विकसित-त्रि० । विकासं प्राप्ते, " दरविअसिअं " अर्द्धेन, यद्वा-विकसितम् । प्रा०२ पाद । " विअसिअवरकमलाणणनयणे " विकसितं वरं-प्रधानं यत्कमलं तद्वत् आननं-मुखं नयनं च यस्य स तथा प्रमोदपूरितत्वात् । कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

विआण-वितान-न०।'कगचजेति' तलुक्।विस्तारे । प्रा०१पाद।

विआर-विचार-पुं० । बहिर्भूमिर्गमने, पं० व० १ द्वार । (कथं कर्त्तव्यो विचार इति अस्य वक्तव्यता ' अइयार ' शब्दे प्रथमभागे १० पृष्ठे गता ।)

विआरिया-देशी-पूर्वाह्णभोजने, दे० ना० ७१ गाथा ।

विआलुओ-देशी-असहने, दे० ना० ६८ गाथा ।

विआलो-देशी-संध्यायाम् , चौरे च । दे० ना० ६० गाथा ।

विइकिण्ण-व्यतिकीर्ण-त्रि० । परिपाट्या प्रसृते, मिलिते, बृ० २ उ० । दे० ना० । वृन्दैर्निजावाससीमोल्लङ्घनेन व्याप्ते, भ० १ श० १ उ० ।

विइण्ण-वितीर्ण-त्रि० । अनुज्ञाते,ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । स्था०।

विकीर्ण-त्रि० । गमनागमनाभ्यां व्याप्ते, ज्ञा०१ श्रु० १ अ० ।

विइण्णवियार-वितीर्णविचार-पुं० । वितीर्णो राज्ञाऽनुज्ञातो विचारोऽवकाशो यस्य विश्वसनीयत्वात् असौ वितीर्णविचारः । राजानुज्ञातविचारे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

विइण्ह-वितृष्ण-त्रि० । "इत् कृपादौ" ॥८।१।१२८॥ इतीकारः। तृष्णारहिते, प्रा० १ पाद ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विइत्तु-विदित्वा-अव्य०। विज्ञायेत्यर्थे, दश० १० अ०। 'विइत्तु उद्देसणं' विदित्वा समुद्देशनं परिणामादिकं शिष्यं ज्ञात्वेत्यर्थः। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

विइय-विदित-त्रि०। ज्ञाते, आव० १ अ०। प्रतीते, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। कलिते, पाइ० ना० ६१ गाथा।

विउ-विद्वस्-त्रि०। सद्विद्योपेते, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। सदसद्विवेकज्ञे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। संयमकरणैकनिपुणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। ज्ञातसर्वपदार्थस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। विदितसंसारस्वभावे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ०। विवेकिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। पण्डिते, दश० ४ अ०। गीतार्थे,प्रश्न० ५ संव० द्वार। ज्ञापके, आव० ६ अ०। परिज्ञावति, आ० चू० ६ अ०।

विउक्कंति-व्यवक्रान्ति-स्त्री०। मरणे, भ० १ श० ७ उ०।

विउक्कमण-व्यवक्रमण-न०। च्यवने, स्था० ३ ठा० ३ उ०। स्थानान्तरगमने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

विउक्कम्म-व्यवक्रम्य-अव्य०। परित्यज्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। आचा०।

विउक्कस-व्युत्कर्ष-त्रि०। माने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। आत्मनः श्लाघायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

विउच्छेय-व्यवच्छेद-पुं०। विनाशे, पञ्चा० १७ विव०।

विउट्टण-व्यावर्तन-न०। अतीचारान्निवृत्तौ, स्था० ८ ठा० ३ उ०। आचा०।

विउट्टण-वित्रोटन-न०। विविधमनेकप्रकारं त्रोटनमपनयनम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। अनुबन्धच्छेदने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। भ०। तदध्यवसायविच्छेदने, स्था० ३ ठा० ३ उ०। आचा०।

विउट्टणा-विकुट्टना-स्त्री०। विविधा विरूपा वा कुट्टना। जातिमरणशोककृतायां शरीरपीडायाम्, सूत्र० १ श्रु०१२ अ०।

विउट्टा-स्त्री०। विकुट्टन-न०। शल्योद्धरणे, ओघ०।

विउट्टित्तए-विवर्त्तयितुम्-अव्य०। अतिचारानुबन्धि विच्छेदयितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ०।

वित्रोटयितुम्-अव्य०। अतिचारानुबन्धि विच्छेदयितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ०।

विकुट्टयितुम्-अव्य०। अतिचारानुबन्धि विच्छेदयितुमित्यर्थे, स्था० २ उ० १ उ०।

विउड-नश्-धा। "नशेर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः" ॥ ८।४।३१॥ इति नशेर्ण्यन्तस्य विउडादेशः। विउडइ। नश्यति। प्रा० ४ पाद।

विउडिअ-विकुटित-त्रि०। विनाशिते, पाइ० ना० १८८ गाथा।

विउत्त-वियुक्त-त्रि०। शून्ये, आ० म० १ अ०।

विउद्धियमंदमइप्पसर-विकुट्टिमन्दमतिप्रसर-त्रि०। चूर्णितकुतुकाशमुपिकबुद्धिप्रागल्भ्ये, जी० १ प्रति०।

विउमंत-विद्वस्-पुं०। विवेकिनि, यथावस्थितसंसारस्वभावस्य वेत्तरि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

विउल-विपुल-त्रि०। प्रभूततरे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। ज्ञा०। ओघ०। रा०। बहुशब्दार्थे,विशे०। स्था०। आ० म०। विस्तीर्णे, औ०। नि०। स०। रा०। जं०। पं० चू०। उत्त०। चं० प्र०। आव०। स्था०। ज्ञा०। आ० म०। जी०। प्रतिपूर्णे, तं०। ज्ञा०। महति, स्था० ५ ठा० ३ उ०। स्वनामख्याते पर्वतविशेषे, भ०२ श०१ उ०। विपुलकालवेद्ये, प्रश्न० ४ संव० द्वार। शरीरव्यापिन्यां वेदनायाम्, स्था० ६ ठा० ३ उ०। भ०। विशेषग्राहिण्याम्, स्था० २ ठा० १ उ०। 'विउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं' कल्प०१अधि० ५ क्षण। विशाले, "वियडं विउलं पिहुलं, वित्थिन्नं वित्थयं उरु विसालं" पाइ०ना० ८८ गाथा।

विउलकयवित्तिय-विपुलकृतवृत्तिक-पुं०। विहितप्रभूतजीवके, वृत्तिप्रमाणं चेदम्-अर्द्धत्रयोदशरजतसहस्राणि। यदाह-" मंडलियाणं सहस्सा, पीइदाणं सयसहस्सा " औ०।

विउलकुलबालिया-विपुलकुलबालिका-स्त्री०। विपुलकुला च ता बालिका चेति विग्रहः। उत्तमकुलजातायां बालिकायाम्, भ० ६ श० ३३ उ०।

विउलखंध-विपुलस्कन्ध-त्रि०। विपुलो विस्तीर्णः स्कन्धोऽशदेशो येषान्ते तथा। महास्कन्धेषु,जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

विउलट्ठाणभाव-विपुलस्थानभाव-पुं०। विपुलं मोक्षहेतुत्वात्संयमस्थानं च सेवते तच्छीलश्च यः स तथा। संयमस्थानसेविनि, दश० ६ अ०।

विउलतरग-विपुलतरक-त्रि०। प्रभूततरके, नं०।

विउलधण-विपुलधन-न०। प्रचुरगवादिके, भ०६ श०३३उ०।

विउलमइ-विपुलमति-स्त्री०। विपुलं-बहु विशेषसंख्योपेतं वस्तु मन्यते गृह्णातीति विपुलमतिः, बाहुलकात्कर्तरि क्तिप्रत्ययः। यदि वा-विपुला पर्यायशतोपेता चिन्तनीयघटादिवस्तुविशेषग्राहिणी मतिर्मननं यत्तत् विपुलमतिः। बहुग्राहिण्यां वस्तुविशेषग्राहिण्यां वा बुद्धौ, आ० म० १ अ०। विशे०। औ०। कर्म०। ग०। भ०। प्रव०।

विउलं वत्थुविसेसेणं, नाणं तग्गाहिणी मई विउला।
चिंतियमणुसरइ घडं, पसङ्गओ पज्जवसएहिं॥ १४॥

विपुलं वस्तुनो-घटादेर्विशेषणानां देशक्षेत्रकालादीनां मानं संख्यास्वरूपं तद्ग्राहिणी मतिर्विपुला, सा च परेण चिन्तितं घटं प्रसङ्गतः पर्यवशतैरुपेतमनुसरति। सौवर्णः पाटलिपुत्रकोऽद्यतनो महान् अपवरकस्थित इत्याद्यपि प्रभूतविशेषविशिष्टं घटं परेण चिन्तितमवगच्छतीत्यर्थः। प्रव० २७० द्वार। पा०। विशे०। कल्प०। नं०।

विउलमइलद्धि-विपुलमतिलब्धि-स्त्री०। पर्यायशतोपेतघटादिवस्तुविशेषचिन्तनप्रवृत्तमनोद्रव्यग्राहिस्फुटतरं संपूर्णमनुष्यक्षेत्रविषयं ज्ञानं विपुलमतिलब्धिः। प्रव० २७० द्वार। विशुद्धतरे संपूर्णमनुष्यक्षेत्रवर्तिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोद्रव्यप्रत्यक्षीकरणहेतौ मनःपर्यायज्ञानभेदे, ग० २ अधि०।

विउला-विपुला-स्त्री०। सकलशरीरव्यापितया विस्तीर्णायां वेदनायाम्, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विउलाउल-व्याकुलाकुल-त्रि०। अतिव्याकुले, औ०।

विउवसिय-व्यवशमित-त्रि०। उपशमिते, बृ० ६ उ०।

विउवसिओदीरणवयण-व्यवशमितोदीरणवचन-न०। व्यवशमितस्य पुनरुदीरणे नामनि षष्ठे वचने, बृ०।

अथ व्यवशमितोदीरणे वचनमाह—

खामितवोसविताइं, अधिकरणाइं तु जे उईरेंति।

ते पावा णायव्वा, तेसिं च परूवणा इणमो॥ ५८॥

क्षामितानि वचसा मिथ्यादुष्कृतप्रदानेन शमितानि वोपशमितानि। विविधमनेकधा मनसा व्युत्सृष्टानि क्षामितानि च तानि व्युत्सृष्टानि चेति क्षामितव्युत्सृष्टानि। एवंविधान्यधिकरणानि ये भूय उदीरयन्ति ते पापाः-साधुधर्मबाह्या ज्ञातव्याः।

तेषां चेयं प्ररूपणा—

उप्पायगउप्पण्णे, संबद्धे कक्खडे य बाहू य।

आवट्टणा य मुच्छण-समुग्घायति घायणा चेव॥५६॥

लहुओ लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य।

छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची॥ ६०॥

द्वौ साधू पूर्वं कलहं कृतवन्तौ, तत्र च क्षामितव्युत्सृष्टेऽपि तस्मिन्नधिकरणे। अन्यदा तयोरेक एवं भणति-एवं नाम त्वया तदानीमहमित्थमित्थं च भणितः, एष उत्पादक उच्यते। अस्य च मासलघु। इतरोऽपि ब्रूते-अहमपि त्वया तदानीं किं स्तोकं भणितः, एवमुक्त उत्पादकः प्राह-यदि तदानीं त्वममभणिष्यस्तदा किमहमेवमेव त्वामवक्ष्ये एवमधिकरणमुत्पन्नमुच्यते। तत्र द्वयोरपि चतुर्लघु। संबद्धं नाम-वचसा परस्परमाक्रोशनं कर्तुमारब्धं तत्र चतुर्गुरु। कर्कशं नाम-तटस्थितैरुपशम्यमानावपि नोपशाम्यतस्तदा षड्लघु। 'बाहु' त्ति रोषभरपरवशतया बाहूबाहवि युद्धं कर्तुं लग्नौ तत्र षड्गुरुकाः। आवर्त्तना नाम-एकेनापरो निहत्य पातितस्तत्र छेदः। योऽसौ निहतः स मूर्च्छां यदि प्राप्तस्तदा मूलम्, मारणान्तिकसमुद्घाते समवहते अनवस्थाप्यम्, अतिपातनं नाम-मरणं तत्र पाराञ्चिकम्। बृ० ६ उ०।

विउवाय-व्यापात-पुं०। भ्रंशे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

विउव्विज्जमाणी-वैक्रियमाण-त्रि०। वैक्रियतया परिणम्यमाने,

विउविज्जमाणे पुग्गले चलेज्जा।

वैक्रियमाणो वैक्रियशरीरतया परिणम्यमानो वैक्रियमाणो वा शरीरे परिचार्यमाणो मैथुनसंज्ञया विपर्यीक्रियमाणः शुक्रपुद्गलादिः परिचार्यमाणो वा भुज्यमानः स्त्रीशरीरादौ शुक्रादिरेव चलेत्। स्था० १० ठा० ३ उ०।

विउव्व-विकुर्व-धा०। सामयिको ऽयं धातुः। विक्रियायाम्, पञ्चा० १ विव०। प्रव०।

विउव्वइत्ता-विकुर्व्य-अव्य०। वैक्रियं कृत्वेत्यर्थे, उपा० २ अ०।

विउव्वणा-विकुर्वणा-स्त्री०। 'विकुर्व' विक्रियायामिति धातुः, प्रव० १ द्वार। युक्त भूषणादिभिरलङ्करणे, बृ० १ उ०। मण्डने, बृ० ४ उ०। नानारूपायां विक्रियायाम्, स० ६५ सम०। वैक्रियलब्धौ, स्था०।

दोण्हं गब्भत्थाणं विउव्वणा पण्णत्ता, तं जहा-पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं चेव, मनुस्साणं चेव। (सू०-८५) स्था० २ ठा० ३ उ०।

एगा जीवाणं अपरियाइत्ता विगुव्वणा। (सू०-१८)

'एगा जीवाणं' ति प्रतीतम् 'अपरियाइत्त' त्ति अपर्यादाय परितः-समन्तादगृहीत्वा वैक्रियसमुद्घातेन बाह्यान् पुद्गलान् या विकुर्वणा भवधारणीयवैक्रियशरीररचनालक्षणा स्वस्मिन् स्वस्मिन्नुत्पत्तिस्थाने जीवैः क्रियते सा एकैव प्रत्येकमेकत्वाद्भवधारणीयस्येति सकलवैक्रियशरीरापेक्षया वा भवधारणीयस्यैकलक्षणत्वात् कथञ्चिदिति। या पुनर्बाह्यपुद्गलपर्यादानपूर्विका सोत्तरवैक्रियरचनालक्षणा, सा च विचित्राभिप्रायपूर्वकत्वाद् वैक्रियलब्धिमतस्तथाविधशक्तिमत्त्वाच्चैकजीवस्याप्यनेकाऽपि स्यादिति पर्यवसितम्। अथ बाह्यपुद्गलोपादान एवोत्तरवैक्रियं भवतीति कुतोऽवसीयते?, येनेह सूत्रे 'अपरियाइत्ता' इत्यनेन तद्विकुर्वणा व्यवच्छिद्यते इति चेद्, उच्यते-भगवतीवचनात्। स्था० १ ठा०।

तिविहा विगुव्वणा पण्णत्ता, तं जहा-बाहिरए पोग्गलए परियाइत्ता एगा विगुव्वणा, बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता एगा विगुव्वणा, बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता वि अपरियाइत्ता वि एगा विगुव्वणा। तिविहा विउव्वणा पन्नत्ता, तं जहा—अब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता एगा विउव्वणा। अब्भंतरए पोग्गले अपरियाइत्ता एगा विउव्वणा। अब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता वि अपरियाइत्ता वि एगा विउव्वणा। तिविहा विउव्वणा पण्णत्ता, तं जहा-बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता एगा विउव्वणा, बाहिरब्भंतरए पोग्गले अपरियाइत्ता एगा विउव्वणा, बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता वि अपरियाइत्ता वि एगा विउव्वणा। (सू०-१२०)

'तिविहे' त्यादि। सूत्रत्रयी कण्ठ्या नवरं बाह्यान् पुद्गलान् भवधारणीयशरीरानवगाढक्षेत्रप्रदेशवर्तिनो वैक्रियसमुद्घातेन पर्यादाय गृहीत्वैका विकुर्वणा क्रियत इति शेषः। तान् पर्यादाय या तु भवधारणीयरूपैव साऽन्या, यत्पुनर्भवधारणीयस्यैव किञ्चिद्विशेषापादानं सा पर्यादायाऽपि, अपर्यादायाऽपि, इति तृतीया व्यपदिश्यते। अथवा विकुर्वणा-भूषाकरणं तत्र बाह्यपुद्गलानादायाभरणादीन् अपर्यादाय केशनखसमा-रचनादिना उभयतस्तूभयथेति। अथवा अपर्यादायेति कृकलाससर्पादीनां रक्तत्वफणादिकरणलक्षणेति। एवं द्वितीयसूत्रमपि, नवरमभ्यन्तरपुद्गला भवधारणीयेनौदारिकेण वा शरीरेण ये क्षेत्रप्रदेशमवगाढास्तेष्वेव ये वर्तन्ते ते

१. प्राकृतशैलीवशादिदं रूपम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवसेयाः, त्रिभूयापत्ते तु निष्ठीवनादयोऽभ्यन्तरपुद्गला इति। तृतीयं तु बाह्याभ्यन्तरपुद्गलयोगेन वाच्यमिति। तथाहि-उभयेषामुपादानाद्भवधारणीयनिष्पादनं तदनन्तरं तस्यैव केशादिरचनञ्च, अनादानाच्चिरविकुर्वितस्यैव मुखादिविकारकरणम्, उभयतस्तु बाह्याभ्यन्तराणामनभिमतानामादानतोऽन्येषाञ्चानादानतोऽनिष्टरूपभवधारणीये-तररचनमिति। स्था० ३ ठा० १ उ०।

नैरयिकविकुर्वणामाह—

नेरइयाणं भंते ! किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए, पुहत्तं पभू विउव्वित्तए ?, जहा जीवाभिगमे आलावगो तहा नेयव्वो ०जाव दुरहियासं। (सू०-२०६)

'एगत्तं' ति एकत्वं प्रहरणानाम् 'पुहत्तं' ति, पृथक्त्वम् बहुत्वं प्रहरणानामेव, जहा 'जीवाभिगमे' इत्यादि। आलापकश्चैवम्-" गोयमा ! एगत्तं पि पभू विउव्वित्तए, पुहुत्तं पि पहू विउव्वित्तए। एगत्तं विउव्वमाणे एगं महं मोग्गररूवं वा भुसुंढिरूवं वा " इत्यादि। 'पुहुत्तं विउव्वमाणे मोग्गररूवाणि वे'त्यादि। "ताइं संखेज्जाइं नो असंखेज्जाइं। एवं संबद्धाइं २ सरीराइं विउव्वंति, विउव्वित्ता अण्णमण्णस्स कायं अभिहणमाणाऽवेयणं उदीरेंति विउलं उज्जलं पगाढं कक्कसं कडुयं फरुसं निट्ठुरं चंडं तिव्वं दुक्खं दुग्गं दुरहियासं"ति। तत्राऽज्ज्वलां-विपक्षलेशेनाप्यकलङ्कितां विपुलां-शरीरव्यापिकां प्रगाढां प्रकर्षवतीं कर्कशां कर्कशद्रव्योपमामनिष्टामित्यर्थः, एवं कटुकां परुषां निष्ठुरां चेति, चण्डां रौद्रां तीव्रां झगिति शरीरव्यापिकां दुःखामसुखरूपां दुर्गां-दुःखाश्रयणीयाम्; अत एव दुरधिसह्यामिति। भ० ५ श० ६ उ०।

संप्रति वैक्रियशक्तिं विचिचिन्तयिषुरिदमाह-

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नेरतिया किं एकत्तं पभू विउव्वित्तए पुहुत्तं पि पभू विउव्वित्तए ?, गोयमा ! एकत्तं पि पभू पुहुत्तं पि पभू विउव्वित्तए। एगत्तं विउव्वेमाणा एगं महं मोग्गररूवं वा एवं भुसुंढिकरवत्तअसिसत्तिहलगदामुसलचक्कणारायकुंततोमरसूललउडभिंडमाला य०जाव भिंडमालरूवं वा पुहुत्तं पि विउव्वेमाणा मोग्गररूवाणि वा० जाव भिंडमालरूवाणि वा, ताइं संखेज्जाइं नो असंखेज्जाइं संबद्धाइं नो असंबद्धाइं सरिसाइं नो असरिसाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता अण्णमण्णस्स कायं अभिहणमाणा अभिहणमाणा वेदणं उदीरेंति, उज्जलं विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं फरुसं निट्ठुरं चंडं तिव्वं दुक्खं दुग्गं दुरहियासं एवं० जाव धूमप्पभाए पुढवीए छट्ठसत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया बहू मा हंताइं लोहियकुंथूरूवाइं वयरामयतुंडाइं गोमयकीडसमाणाइं विउव्वंति, गोमयकीडसमाणाइं विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा २ खायमाणा २ सयपोरागकिमिया विव चालेमाणा २ अंतो २ अणुप्पविस्समाणा २ वेयणं उदीरंति उज्जलं० जाव दुरहियासं (सू०-८९X)

'रयणप्पभे' त्यादि रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त ! प्रत्येकं किम् एकत्वम् एकं रूपं विकुर्वितुं प्रभवः, उत पृथक्त्वं पृथक्त्वशब्दो बहुवाची। आह च-कर्मप्रकृतिसंग्रहणिचूर्णिकारोऽपि—"पुहुत्तसद्दो बहुत्तवाई" इति प्रभूतानि रूपाणि विकुर्वितुं प्रभवः, 'विकुर्व' विक्रियायाम्, इत्यागमप्रसिद्धो धातुरस्ति यस्य विकुर्वणा इति प्रयोगस्ततो विकुर्वितुमित्युक्तम्। भगवानाह—एकत्वमपि प्रभवो विकुर्वितुं पृथक्त्वमपि प्रभवो विकुर्वितुम्, तत्रैकं रूपं विकुर्वन्तो मुद्गररूपं वा। मुद्गरः प्रतीतः, मुशुण्ढिरूपं वा मुशुण्ढिः-प्रहरणविशेषः, करपत्ररूपं वा असिरूपं शक्तिरूपं वा हलरूपं गदारूपं वा मुशलरूपं वा चक्ररूपं वा नाराचरूपं वा कुन्तरूपं वा तोमररूपं वा शूलरूपं वा लकुटरूपं वा भिण्डमालरूपं वा विकुर्वन्ति। करपत्रादयः प्रतीताः, भिण्डमालः शस्त्रजातिविशेषः, अत्र संग्रहणीगाथा क्वचित् पुस्तकेषु—" मुग्गरमुसुंढिकरकय—असिसत्तिहलं गया मुसलचक्का। नारायकुंततोमर—सूललउडभिंडमाला य ॥ १ ॥ " गतार्था नवरं 'करकय'त्ति क्रकचं करपत्रमित्यर्थः, पृथक्त्वं विकुर्वन्तो मुद्गररूपाणि वा यावत् भिण्डमालरूपाणि वा तान्यपि सदृशानि (समानरूपाणि, नो असदृशानि (अ) समानरूपाणि तथा संख्येयानि-परिमितानि न असंख्येयानि-संख्यातीतानि विसदृशकरणे असंख्येयकरणे वा शक्त्यभावात्। तथा संबद्धानि स्वात्मनः शरीरसंलग्नानि नासंबद्धानि-स्वशरीरात् पृथग्भूतानि, स्वशरीरात् पृथग्भूतकरणे शक्त्यभावात्, विकुर्वन्ति। विकुर्वित्वा अन्यान्यस्य कायमभिघ्नन्तो वेदनामुदीरयन्ति। किं विशिष्टामित्याह-उज्ज्वलां दुःखरूपतया जाज्वल्यमानां सुखलेशेनाप्यकलङ्कितामिति भावः। विपुलां-सकलशरीरव्यापितया विस्तीर्णां प्रगाढां-प्रकर्षेण मर्मप्रदेशव्यापितया अतीव समवगाढां कर्कशामिव कर्कशाम्। किमुक्तं भवति ?—यथा कर्कशः पाषाणसंघर्षः शरीरस्य खण्डानि त्रोटयति एवमात्मप्रदेशान् त्रोटयन्तीव या वेदनोपजायते सा कर्कशा तां, कटुकामिव कटुकां पित्तप्रकोपपरिकलितवपुषो रोहिणीकटुकद्रव्यमिवोपभुज्यमानमतिशयेनाप्रीतिजनिकामिति भावः। तथा परुषां मनसोऽतीव रौक्ष्यजनिकां निष्ठुरामशक्यप्रतीकारतया दुर्भेद्यां चण्डाम्—रुद्रां रौद्राध्यवसायहेतुत्वात्। तीव्राम्-अतिशायिनीं दुःखां-दुःखरूपां दुर्गां दुर्लङ्घ्यामत एव च दुरधिसह्याम्। एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावत् पञ्चम्याम्, 'छट्ठसत्तमीसु ण' मित्यादि। षष्ठसप्तम्योः पुनः पृथिव्योर्नैरयिकाः बहूनि-महान्ति गोमयकीटप्रमाणत्वात्, लोहितकुन्थुरूपाणि—आरक्तकुन्थुरूपाणि वज्रमयतुण्डानि गोमयकीटसमानानि विकुर्वन्ति, विकुर्वित्वा अन्योन्यस्य परस्परस्य कायं-शरीरं समतुरङ्गा इवाचरन्तः समतुरङ्गायमाणा अश्वा इव अन्योन्यमारुहन्त इत्यर्थः। 'खायमाणा खायमाणा' भक्षयन्तो भक्षयन्तोऽन्तरन्तरनुप्रविशन्तोऽनुप्रविशन्तः 'सयपोरागकिमिया इव' शतपर्वकृमय इव इक्षुपर्वकृमय इव 'चालेमाणा' २ शरीरस्य मध्यभागेन सं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरन्तो वेदनामुत्पादयन्त्युज्ज्वलामित्यादि प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० २ उ० ।

सौधर्मेशानयोरेकत्वविकुर्वणामाह—

सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु देवा एगत्तं पभू विउव्वित्तए, पुहुत्तं पभू विउव्वित्तए ?, हंता पभू । एगत्तं विउव्वेमाणा एगिंदियरूवं वा ०जाव पंचिंदियरूवं वा पुहुत्तं विउव्वेमाणा एगिंदियरूवाणि वा० जाव पंचेंदियरूवाणि वा । ताइं संखेज्जाइं पि असंखेज्जाइं पि सरिसाइं वि असरिसाइं पि, संबद्धाइं पि असंबद्धाइं पि रूवाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता अप्पणा जहिच्छियाइं कज्जाइं करेंति० जाव अच्चुओ । गेवेज्जणुत्तरोववाइया देवा किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए पुहुत्तं पभू विउव्वित्तए ?, गोयमा ! एगत्तं पि पुहुत्तं पि । नो चेव णं संपत्तीए विउव्विंसु वा विउव्वंति वा विउव्विस्संति वा । (सू०-२१७×)

'सोहम्मीसाणेसु ण' मित्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवा एकत्वम्—एकरूपं विकुर्वितुं प्रभवः पृथक्त्वं ? बहूनीत्यर्थः. भगवानाह—गौतम ! एकत्वमपि प्रभवो विकुर्वितुं पृथक्त्वमपि प्रभवो विकुर्वितुम्. एकत्वं विकुर्वन्त एकेन्द्रियरूपं वा द्वीन्द्रियरूपं वा त्रीन्द्रियरूपं वा चतुरिन्द्रियरूपं वा पञ्चेन्द्रियरूपं वा विकुर्वितुं पृथक्त्वं कुर्वन्तः, एकेन्द्रियरूपाणि यावत्पञ्चेन्द्रियरूपाणि वा. तान्यपि संख्येयानि विकुर्वन्ति असंख्येयानि वा । तान्यपि सदृशानि—सजातीयानि वा असदृशानि वा—विजातीयानि संबद्धानि-आत्मनि समवेतानि असंबद्धानि-आत्मप्रदेशेभ्यः पृथग्भूतानि प्रासादघटपटादीनि. यथा चतुर्दशपूर्वधरा घटात् घटसहस्रं पटात् पटसहस्रं विकुर्वन्ति विकुर्वित्वा पश्चात् याहच्छिकानि कार्याणि कुर्वन्ति, एवं तावद्यावदच्युतकल्पदेवाः । 'गेवेज्जगदेवा णं भंते' इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्रतीतम्, भगवानाह—गौतम ! एकत्वमपि प्रभवः, विकुर्वितुं पृथक्त्वमपि । 'नो चेव ण' मित्यादि. नैव पुनः संपत्त्या साक्षाद्वैक्रियरूपसंपादनेन विकुर्वितवन्तो विकुर्वन्ति विकुर्विष्यन्ति, एवमनुत्तरोपपातिका अपि वक्तव्याः। जी०३ प्रति०२उ० ।

असुरकुमाराणामृजुवक्रविकुर्वणा—

दो भंते! असुरकुमारा एगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमारदेवत्ताए उववन्ना तत्थ णं एगे असुरकुमारे देवे उज्जुयं विउव्विस्सामि त्ति उज्जुयं विउव्वइ, वंकं विउव्विस्सामीति वंकं विउव्वइ, जं जहा इच्छइ तं तहा विउव्वइ एगे असुरकुमारे देवे उज्जुयं विउव्विस्सामीति वंकं विउव्वइ, वंकं विउव्विस्सामीति उज्जुयं विउव्वइ, जं जहा इच्छइ णो तं तहा विउव्वइ । से कहमेयं भंते ! एवं ?, गोयमा ! असुरकुमारा देवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—मायी मिच्छादिट्ठी उववण्णगा य अमायी सम्मदिट्ठी उववण्णगा य । तत्थ णं जे से मायी मिच्छदिट्ठी उववण्णए असुरकुमारे देवे से णं उज्जुयं विउव्विस्सामीति वंकं विउव्वइ जाव णो तं तहा विउव्वइ । तत्थ णं जे से अमायी सम्मदिट्ठी उववण्णए असुरकुमारे देवे से उज्जुयं विउव्वइ ०जाव तं तहा विउव्वइ । दो भंते ! णागकुमारा एवं चेव, एवं ०जाव थणियकुमारा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया एवं चेव सेवं भंते ! भंते त्ति । (सू०-६२६)

'दो भंते ! असुरकुमारा' इत्यादि. यच्चेह मायिमिथ्यादृष्टीनामसुरकुमारादीनामृजुविकुर्वणेच्छायामपि वक्रविकुर्वणं भवति तन्मायामिथ्यात्वप्रत्ययकर्मप्रभावात् । अमायिसम्यग्दृष्टीनां तु यथेच्छं विकुर्वणा भवति तदार्जवोपेतसम्यक्त्वप्रत्ययकर्मवशादिति । भ० १८ श० ५ उ० ।

भव्यदेवानां विकुर्वणां प्ररूपयन्नाह—

भवियदव्वदेवा णं भंते ! किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए पुहुत्तं पभू विउव्वित्तए ?, गोयमा ! एगत्तं पि पभू विउव्वित्तए पुहुत्तं पि पभू विउव्वित्तए । एगत्तं विउव्वमाणे एगिंदियरूवं वा ०जाव पंचिंदियरूवं वा, पुहुत्तं विउव्वमाणे एगिंदियरूवाणि वा ०जाव पंचिंदियरूवाणि वा । ताइं संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा सरिसाणि वा असरिसाणि वा विउव्वंति विउव्वित्ता तओ पच्छा अप्पणो जहिच्छियाइं कज्जाइं करेंति, एवं णरदेवा वि, एवं धम्मदेवा वि । देवाहिदेवाणं पुच्छा, गोयमा ! एगत्तं पि पभू विउव्वित्तए पुहुत्तं पि पभू विउव्वित्तए, णो चेव णं संपत्तिए विउव्विंसु वा, विउव्वंति वा, विउव्विस्संति वा । भावदेवाणं पुच्छा, जहा भवियदव्वदेवा । (सू०-४६४)

'भवियदव्वदेवा ण' मित्यादि । 'एगत्तं पभू विउव्वित्तए' त्ति भव्यद्रव्यदेवो मनुष्यः । पञ्चेन्द्रियतिर्यग् वा वैक्रियलब्धिसम्पन्नः, एकत्वम् एकरूपं प्रभुः—समर्थो विकुर्वयितुम् 'पुहुत्तं' ति । नानारूपाणि, देवातिदेवास्तु सर्वथौत्सुक्यवर्जितत्वान्न विकुर्वते. शक्तिसद्भावेऽपीत्येतदुच्यते—'नो चेव ण' मित्यादि । 'संपत्तीए' त्ति वैक्रियरूपसंपादनेन, विकुर्वणशक्तिस्तु विद्यते, तल्लब्धिमात्रस्य विद्यमानत्वात् । भ० १२ श० ६ उ० ।

देवो बाह्यपुद्गलानादाय प्रभुः

देवे णं भंते ! महिड्ढिए ०जाव महाणुभाए बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगवण्णं एगरूवं विउव्वित्तए ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे देवे णं भंते ! बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू ?, हंता ! पभू । से णं भंते ! किं इहगए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, तत्थगए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ, अन्नत्थगए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ ?, गोयमा ! नो इहगए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, तत्थगए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, नो

१ पुहत्त इति युक्तः पाठः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ । एवं एएणं गमेणं ०जाव एगवन्नं एगरूवं १, एगवन्नं अणेगरूवं २, अणेगवन्नं एगरूवं ३ , अणेगवन्नं अणेगरूवं ४, चउभङ्गो । देवे णं भंते ! महिड्ढिए ०जाव महाणुभागे बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू , कालयं पोग्गलं नीलगपोग्गलत्ताए परिणामेत्तए नीलगं पोग्गलं वा कालगपोग्गलत्ताए परिणामेत्तए ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे,परियाइत्ता पभू । से णं भंते ! किं इह गए पोग्गले तं चेव नवरं परिणामेइ त्ति भाणियव्वं, एवं कालगपोग्गलं लोहियपोग्गलत्ताए,एवं कालएणं०जाव सुक्किल्लं, एवं णीलएणं०जाव सुक्किल्लं,एवं लोहियपोग्गलं०जाव सुक्किल्लत्ताए एवं हालिद्दएणं०जाव सुक्किल्लं,तं जहा–एवं एयाए परिवाडीए गंधरसफास०कक्खडफासपोग्गलं मउयफासपोग्गलत्ताए २, एवं दो दो गरुअलहुअ २ सीयउसिण २ णिद्धलुक्ख २, वन्नाइ सव्वत्थ परिणामेइ, आलावगा य दो दो पोग्गले अपरियाइत्ता परियाइत्ता । (सू०–२५३)

'देवे ण' मित्यादि, 'एगवन्नं' ति कालाद्येकवर्णम्—एकरूपम्—एकविधाकारं स्वशरीरादि, 'इह गए' त्ति प्रज्ञापकापेक्षया इह गतान्—प्रज्ञापकप्रत्यक्षासन्नक्षेत्रस्थितानित्यर्थः । 'तत्थ गए' त्ति देवः किल प्रायो देवस्थान एव वर्तत इति तत्र गतान्–देवलोकादिगतान् 'अण्णत्थ गए' त्ति प्रज्ञापकक्षेत्राद्देवस्थानाच्चापरत्र स्थितान् , तत्र च स्वस्थान एव प्रायो विकुर्व(रु)ते, यतः कृतोत्तरवैक्रियरूप एव प्रायोऽन्यत्र गच्छतीति नो इह गतान् पुद्गलान् पर्यादायेत्याद्युक्तमिति । 'कालयं पोग्गलं नीलपोग्गलत्ताए' इत्यादौ कालनीललोहितहारिद्रशुक्ललक्षणानां पञ्चानां वर्णानां दशद्विकसंयोगसूत्राण्यध्येयानि । एवं 'एयाए पडिवाडीए गंधरसफास' त्ति इह सुरभिदुरभिलक्षणगन्धद्वयस्यैकमेव । तिक्तकटुकषायाम्लमधुररसलक्षणानां पञ्चानां रसानां दशद्विकसंयोगसूत्राण्यध्येयानि, अष्टानां च स्पर्शानां चत्वारि सूत्राणि परस्परविरुद्धेन कर्कशमृद्वादिना द्वयेनैकैकसूत्रनिष्पादनादिति । भ० ६ श० ६ उ० ।

देवो रूपीभूत्वा अरूपी न भवति—

देवे णं भंते ! महिड्ढिए० जाव महेसक्खे पुव्वामेव रूवी भवित्ता पभू अरूविं विउव्वित्ता णं चिट्ठित्तए?, णो इणट्ठे समट्ठे । से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ देवे णं०जाव णो पभू अरूविं विउव्वित्ता णं चिट्ठित्तए?,गोयमा!अहमेयं जाणामि, अहमेयं पासामि, अहमेयं बुज्झामि,अहमेयं अभिसमन्नागच्छामि।मए एयं णायं,मए एयं दिट्ठं, मए एयं बुद्धं, मए एयं अभिसमन्नागयं, जन्नं तहागयस्स जीवस्स सरूविस्स सकम्मस्स सरागस्स सवेदणस्स समोहस्स सलेसस्स ससरीरस्स ताओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एवं पन्नायति । तं जहा- कालत्ते वा०जाव सुक्किल्लत्ते वा सुब्भिगंधत्ते वा दुब्भिगंधत्ते वा तित्ते वा०जाव महुरत्ते वा कक्खडत्ते वा०जाव लुक्खत्ते से तेणऽट्ठेणं गोयमा !०जाव चिट्ठित्तए । सच्चेव णं भंते! से जीवे पुव्वामेव अरूवी भवित्ता पभू रूविं विउव्वित्ता णं चिट्ठित्तए ?,णो इणट्ठे समट्ठे०जाव चिट्ठित्तए गोयमा!अहमेयं जाणामि, ०जाव जन्नं तहागयस्स जीवस्स अरूवस्स अकम्मस्स अरागस्स अवेदस्स अमोहस्स अलेसस्स असरीरस्स ताओ सरीराओ विप्पमुक्कस्स णो एवं पन्नायति,तं जहा–कालत्ते वा ०जाव लुक्खत्ते वा,से तेणऽट्ठेणं ०जाव चिट्ठित्तए वा सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (सू०–५६७)

'देवे ण' मित्यादि, 'पुव्वामेव रूवी भवित्त' त्ति पूर्वं-विवक्षितकालात् शरीरादिपुद्गलसंबन्धात् मूर्त्तो भूत्वा मूर्त्तः सन्नित्यर्थः प्रभुः 'अरूविं' ति अरूपिणं-रूपातीतम् अमूर्तमात्मानमिति गम्यते. 'गोयमा !' इत्यादिना स्वकीयस्य वचनस्याव्यभिचारित्वोपदर्शनाय सम्बोधपूर्वकतां दर्शयन्नुत्तरमाह–'अहमेयं जाणामि' त्ति अहमेतद्वक्ष्यमाणमधिकृतप्रश्ननिर्णयभूतं वस्तु जानामि विशेषपरिच्छेदनेत्यर्थः । 'पासामि'त्ति सामान्यपरिच्छेदतो दर्शनेनेत्यर्थः । 'बुज्झामि' त्ति बुध्ये–श्रद्दधे , बोधेः सम्यग्दर्शनपर्यायत्वात् । किमुक्तं भवति?–'अभिसमागच्छामि'त्ति अभिविधिना साङ्गत्येन चावगच्छामि—सर्वैः परिच्छित्तिप्रकारैः परिच्छिनद्मि । अनेनात्मनो वर्तमानकालेऽर्थपरिच्छेदकत्वमुक्तमथातीतकाले एभिरेव धातुभिस्तद्दर्शयन्नाह—'मए' इत्यादि, किं तदभिसमन्वागतम्?, इत्याह—'जन्न'मित्यादि, 'तहागयस्स' त्ति तथागतस्य–तं देवत्वादिकं प्रकारमापन्नस्य 'सरूविस्स' त्ति वर्णगन्धादिगुणवतः । अथ स्वरूपेणामूर्त्तस्य सतो जीवस्य कथमेतत् ? इत्याह—'सकम्मस्स' त्ति कर्मपुद्गलसम्बन्धादिति भावः । एतदेव कथमित्यत आह 'सरागस्स' त्ति रागसम्बन्धात् कर्मसंबन्ध इति भावः । रागश्चेह मायालोभलक्षणो ग्राह्यः, तथा 'सवेयस्स' त्ति स्त्र्यादिवेदयुक्तस्य, तथा 'समोहस्स' त्ति इह मोहः–कलत्रादिषु स्नेहो मिथ्यात्वं चारित्रमोहो वा, 'सलेसस्स ससरीरस्स' त्ति व्यक्तम् , 'ताओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स' त्ति येन शरीरेण सशरीरस्तस्माच्छरीरादविप्रमुक्तस्य , 'एवं' ति वक्ष्यमाणं प्रज्ञायते सामान्यजनेनापि; तद्यथा–कालत्वं वेत्यादि , यतस्तस्य कालत्वादि प्रज्ञायते अतो नासौ तथागतो जीवो रूपी सन्नरूपमात्मानं विकुर्व्य प्रभुः स्थातुमिति । एतदेव विपर्ययेण दर्शयन्नाह–'सच्चेव णं भंते !' इत्यादि, 'सच्चेव णं भंते ! से जीवे' त्ति यो देवादिरभूत् स एवासौ भदन्त ! जीवः पूर्वमेव विवक्षितकालात् 'अरूवि' त्ति अवर्णादिः 'रूविं' ति वर्णादिमत्त्वम् 'नो एवं पण्णायति' त्ति नैवं केवलिनाऽपि प्रज्ञायतेऽसत्त्वात् , असत्त्वं च मुक्तस्य कर्मबन्धहेत्वभावेन कर्माभावात्तदभावे च शरीराभावाद्वर्णाद्यभाव इति । नारूपी भूत्वा रूपी भवतीति । भ० १७ श० ३ उ० ।

वायुकायस्य विकुर्वणामाह—

पभू णं भंते ! वाउकाए एगं महं इत्थिरूवं वा पुरिसरूवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा हत्थिरूवं वा जाणरूवं वा एवं जुग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणियरूवं वा विउव्वित्तए ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। वाउकाएणं विकुव्वमाणे एगं महं पडागासंठियं रूवं विकुव्वइ पभू णं भंते ! वाउकाए एगं महं पडागासंठियं रूवं विउव्वित्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?, हंता ! पभू। से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छइ परिड्ढीए गच्छइ ?, गोयमा ! आयड्ढीए गच्छइ णो परिड्ढीए गच्छइ, जहा आयड्ढीए एवं चेव आयकम्मुणाऽवि आयप्पयोगेण वि भाणियव्वं। से भंते ! किं ऊसिओदयं गच्छइ,पयतोदगं गच्छइ?, गोयमा ! ऊसिओदयं पि गच्छइ पयोदयं पि गच्छइ। से भंते ! किं एगओ पडागं गच्छइ,दुहओ पडागं गच्छइ ?, गोयमा ! एगओ पडागं गच्छइ, नो दुहओ पडागं गच्छइ। से णं भंते ! किं वाउकाए पडागा ?,गोयमा ! वाउकाए णं से नो खलु सा पडागा। (सू० १५७)

पभू णं भंते ! बलाहगे एगं महं इत्थिरूवं वा०जाव संदमाणियरूवं वा परिणामेत्तए ?, हंता ! पभू। पभू णं भंते ! बलाहए एगं महं इत्थिरूवं परिणामेत्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?, हंता ! पभू। से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छइ, परिड्ढीए गच्छइ ?, गोयमा ! नो आयड्ढीए गच्छइ, परिड्ढीए गच्छइ। एवं नो आयकम्मुणा परकम्मुणा नो आयप्पओगेणं परप्पओगेणं ऊसितोदयं वा गच्छइ पयोदयं वा गच्छइ। से भंते ! किं बलाहए इत्थी ?, गोयमा ! बलाहए णं से णो खलु सा इत्थी, एवं पुरिसेण आसे हत्थी। पभू णं भंते ! बलाहए एगं महं जाणरूवं परिणामेत्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए जहा इत्थिरूवं तहा भाणियव्वं, नवरं एगओ चक्कवालं पि दुहओ चक्कवालं पि गच्छइ (त्ति) भाणियव्वं। जुग्गगिल्लिथिल्लिसीयासंदमाणियाणं तहेव। (सू० १५८)

'पभू ण' मित्यादि, 'जाणं' ति शकटम् 'जुग्गं' ति गोल्लविषयप्रसिद्धं जम्पानं-द्विहस्तप्रमाणं वेदिकोपशोभितम्। 'गिल्लि' त्ति हस्तिन उपरि कोल्लररूपा या मानुषं गिलतीव गिल्लिः। 'थिल्लि' त्ति लाटानां यदश्वपल्ल्यानं तदन्यविषयेषु थिल्लीत्युच्यते। 'सीय' त्ति शिबिका कूटाकाराच्छादितो जम्पानविशेषः। 'संदमाणि य' त्ति पुरुषप्रमाणायामो जम्पानविशेषः। 'एगं महं पडागासंठियं' ति महत् पूर्वप्रमाणापेक्षया पताकासंस्थितं स्वरूपेणैव वायोः पताकाकारशरीरत्वात् वैक्रियावस्थायामपि तस्य तदाकारस्यैव भावादिति। 'आइड्ढीए' त्ति। आत्मर्द्ध्या—आत्मशक्त्याऽऽत्मलब्ध्या वा। 'आयकम्मुण' त्ति आत्मक्रियया 'आयप्पओगेणं' ति न परप्रयुक्त इत्यर्थः। ऊसिओदयं' ति उच्छ्रित—ऊर्ध्वं उदय-आयामो यत्र गमने तदुच्छ्रितोदयम्-ऊर्ध्वपताकमित्यर्थः। क्रियाविशेषणं चेदम्। 'पतोदयं' ति पतदुदयं पतितपताकं गच्छति। ऊर्ध्वपताकास्थापना चेयम्-पतितपताकास्थापना त्वियम्, 'एगओ पडागं' ति एकतः एकस्यां दिशि पताका यत्र तदेकतःपताकम्, स्थापना त्वियम्। 'दुहओ पडागं' ति,द्विधापताकम्, स्थापना त्वियम्। रूपान्तरक्रियाधिकाराद्बलाहकसूत्राणि 'बलाहए' त्ति मेघाः, 'परिणामेत्तए' त्ति बलाहकस्याजीवत्वेन विकुर्वणाया असम्भवात्परिणामयितुमित्युक्तम्, परिणामश्चास्य विश्रसारूपः। 'नो आइड्ढीए' त्ति अचेतनत्वान्मेघस्य विवक्षितायाः शक्तेरभावान्नात्मर्द्ध्या गमनमस्ति। वायुना देवेन वा प्रेरितस्य तु स्यादपि गमनमतोऽभिधीयते 'परिड्ढीए' त्ति 'एवं पुरिसे आसे हत्थि' त्ति स्त्रीरूपसूत्रमिव पुरुषरूपाश्वरूपहस्तिरूपसूत्राण्यध्येतव्यानि। यानरूपसूत्रे विशेषोऽस्तीति तद्दर्शयति—'पभू णं भंते ! बलाहए एगं महं जाणरूवं परिणामेत्ता' इत्यादि 'पतोदयं पि गच्छइ' इत्येतदन्तं स्त्रीरूपसूत्रसमानमेव। विशेषः पुनरयम्—'से भंते ! किं एगओ चक्कवालं दुहओ चक्कवालं गच्छइ ?, गोयमा ! एगओ चक्कवालं पि गच्छइ, दुहओ चक्कवालं पि गच्छइ' त्ति। अस्यैवोत्तररूपमंशमाह—नवरं 'एगओ' इत्यादि। इह यानं-शकटं चक्कवालं—चक्रम्, शेषसूत्रेषु त्वयं विशेषो नास्ति, शकट एव चक्रवालसद्भावात्। ततश्च युग्यगिल्लिथिल्लिशिविकास्यन्दमानिकारूपसूत्राणि स्त्रीरूपसूत्रवदध्येयानि। एतदेवाह-'जुग्गगिल्लिथिल्लिसीयासंदमाणियाणं तहेव' त्ति। भ० ३ श० ४ उ०।

भाषाविकुर्वणे प्रभुत्वमाह—

देवे णं भंते ! महिड्ढीए० जाव महेसक्खे रूवसहस्सं विउव्वित्ता पभू भासासहस्सं भासित्तए ?, हंता पभू। सा णं भंते। किं एगा भासा भासासहस्सं?, गोयमा ! एगा णं सा भासा णो खलु तं भासासहस्सं। (सू०-५३५×)

'देवे ण' मित्यादि 'एगा णं सा भासा भास' त्ति एकाऽसौ भाषा, जीवैकत्वेनोपयोगैकत्वात्, एकस्य जीवस्यैकदा एक एवोपयोग इष्यते,ततश्च यदा सत्याद्यन्यतरस्यां भाषायां वर्त्तते तदा नान्यस्यामित्येकैव भाषेति। भ० १४ श०६ उ०।

केरिसा विउव्वणा।

तत्र 'केरिसविउव्वण' त्ति कीदृशी चमरस्य विकुर्वणाशक्तिरित्यादिप्रश्ननिर्वचनार्थः प्रथम उद्देशकः। भ० ३ श० १ उ०।

तत्र कीदृशी विकुर्वणा ?, इत्याद्यर्थस्य प्रथमोद्देशकस्येदं सूत्रम्—

तेणं कालेणं तेणं समएणं मोया नामं नगरी होत्था, वण्णओ—तीसे णं मोयाए नगरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे णं नंदणे नामं चेतिए होत्था। वण्णओ—तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे परिसा निग्गच्छइ पडिगया परिसा। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स दोच्चे अंतेवासी अग्गिभूती नामं अणगारे गोयमगोत्तेणं सत्तुस्सेहे० जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी–चमरे णं भंते ! अ–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुरिंदे असुरराया केमहिड्डिए ? केमहज्जुत्तिए ? केमहाबले ? केमहायसे ? केमहासोक्खे ? केमहाणुभागे ?, केवइयं च णं पभू विउव्वित्तए ? । गोयमा ! चमरे णं असुरिंदे असुरराया महिड्डिए० जाव महाणुभागे से णं तत्थ चोत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसग.णं० जाव विहरइ, एवं महिड्डिए० जाव महाणुभागे, एवतियं च णं पभू विउव्वित्तए, से जहानामए जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरयाउत्ता सिया, एवामेव गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, वेउव्वियसमुग्घाए णं समोहणइ संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरइ, तं जहा-रयणाणं० जाव रिट्ठाणं अहाबायरे पोग्गले परिसाडेइ, अहाबायरे पोग्गले परिसाडित्ता अहासुहुमे पोग्गले परियाएंति, अहासुहुमे पोग्गले परियाइत्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति २ त्ता पभू णं गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णं वितिकिण्णं उवत्थडं संथडं फुडं अवगाढा अवगाढं करेत्तए । अदुत्तरं च णं गोयमा ! पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णे वितिकिण्णे उवत्थडे संथडे फुडे अवगाढावगाढे करेत्तए, एस णं गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए णो चेव णं संपत्तीए विकुव्विंसु वा विकुव्वति वा विकुव्विस्सति वा । (सू० १२६) ॥

'तेणं कालेणं' मित्यादि सुगमं, णवरं 'केमहिड्डिए' त्ति केन रूपेण महर्द्धिकः ?, किंरूपा वा महर्द्धिरस्येति किमहर्द्धिकः, कियन्महर्द्धिक इत्यन्ये, 'सामाणियसाहस्सीणं' ति समानया-इन्द्रतुल्यया ऋद्ध्या चरन्तीति सामानिकाः 'तायत्तीसाए' त्ति त्रयस्त्रिंशतः 'तायत्तीसगाणं' ति मन्त्रिकल्पानां यावत्करणादिदं दृश्यम्-" चउण्हं लोगपालाणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं चउण्णं चउसट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं चमरचंचारायहाणीवत्थव्वाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महयाऽऽहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे " त्ति तत्राधिपत्यम्—अधिपतिकर्म पुरोवर्त्तित्वम्—अग्रगामित्वं स्वामित्वं—स्वस्वामिभावं भर्तृत्वम्-पोषकत्वम् आज्ञेश्वरस्य—आज्ञाप्रधानस्य सतो यत्सेनापत्यं तत्तथा, तत्कारयन् अन्यैः पालयन् स्वयमिति, तथा महता रवेणेति योगः। 'आहय' त्ति आख्यानकप्रतिबद्धानीति वृद्धाः, अथवा-'अहय' त्ति अहतानि—अव्याहतानि नाट्यगीतवादितानि, तथा तन्त्री—वीणा तलतालाः—हस्ततालास्तला वा हस्ताः तालाः—कांसिकाः 'तुडिय' त्ति शेषतूर्याणि, तथा घनाकारो ध्वनिसाधर्म्याद्यो मृदङ्गो—मर्दलः पटुना-दक्षपुरुषेण प्रवादित इत्येतेषां द्वन्द्वोऽत एषां यो रवः स तथा तेन 'भोगभोगाइं' ति भोगार्हान् शब्दादीन् 'एवं महिड्डिए' त्ति एवं महर्द्धिक इव महर्द्धिकः, इयन्महर्द्धिक इत्यन्ये । 'से जहानामए' इत्यादि, यथा युवतिं युवा हस्तेन हस्ते गृह्णाति, कामवशाद्गाढतरग्रहणता निरन्तरहस्ताङ्गुलितयेत्यर्थः, दृष्टान्तान्तरमाह-'चक्कस्से' त्यादि, चक्रस्य वा नाभिः, किंभूता ?-'अरगाउत्त' त्ति अरकैरायुक्ता—अभिविधिनाऽन्विता अरकायुक्ता 'सिय' त्ति 'स्यात्—भवेत्, अथवा—अरका उत्तासिता—आस्फालिता यस्यां सा आरकोत्तासिता, 'एवमेव' त्ति निरन्तरतयेत्यर्थः, प्रभुर्जम्बूद्वीपं बहुभिर्देवादिभिराकीर्णं कर्तुमिति योगः। वृद्धैस्तु व्याख्यातं-यथा यात्रादिषु युवतियूनो हस्ते लग्ना-प्रतिबद्धा गच्छति बहुलोकप्रचितं देशं, एवं यानि रूपाणि विकुर्वितानि तान्यकस्मिन् कर्त्तारि प्रतिबद्धानि। यथा वा चक्रस्य नाभिरेका बहुभिरारकैः प्रतिबद्धा घना निश्छिद्रा. एवमात्मशरीरमतिबद्धैरसुरदेवैर्देवीभिश्च पूरयेदिति । 'वेउव्वियसमुग्घाएणं' ति वैक्रियकरणाय प्रयत्नविशेषेण 'समोहणइ' त्ति समुपहन्यते समुपहतो भवति समुपहन्ति वा—प्रदेशान् विक्षिपतीति । तत्स्वरूपमेवाह—'संखेज्जाइं' इत्यादि, दण्ड इव दण्डः—ऊर्ध्वाध आयतः शरीरबाहल्यो जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसमूहः, तत्र च विविधपुद्गलानादत्त इति दर्शयन्नाह—तद्यथा—रत्नानां—कर्केतनादीनाम्, इह च यद्यपि रत्नादिपुद्गला औदारिका वैक्रियसमुद्घाते च वैक्रिया एव ग्राह्या भवन्ति तथाऽपीह तेषां रत्नादिपुद्गलानामिव सारताप्रतिपादनाय रत्नानामित्याद्युक्तम्, तच्च रत्नानामिवेत्यादि व्याख्येयम् । अन्ये त्वाहुः—औदारिका अपि ते गृहीताः सन्तो वैक्रियतया परिणमन्तीति । यावत्करणादिदं दृश्यम्—'वइराणं वेरुलियाणं लोहियक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुलयाणं सोगंधियाणं जोतीरसाणं अंकाणं अंजणाणं रयणाणं जायरूवाणं अंजणपुलयाणं फलिहाणं' ति, किम् ?, अत आह-'अहा बायरे' त्ति यथा बादरान्-असारान् पुद्गलान् परिशातयति दण्डनिसर्गगृहीतान्, यच्चोक्तं प्रज्ञापनाटीकायां यथा-'स्थूलान्—वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्बद्धान् शातयती' ति तत्समुद्घातशब्दसमर्थनार्थमनाभोगिकं वैक्रियशरीरकर्मनिर्जरणमाश्रित्येति। 'अहा सुहुमे' त्ति यथा सूक्ष्मान्-सारान् 'परियाए' त्ति पर्यादत्त, दण्डनिसर्गगृहीतान्; सामस्त्येनादत्त इत्यर्थः। 'दोच्चं पि' त्ति द्वितीयमपि वारं समुद्घातं करोति, चिकीर्षितरूपनिर्माणार्थं ततश्च 'पभु' त्ति समर्थः 'केवलकप्प' त्ति केवलः—परिपूर्णः कल्पत इति कल्पः—स्वकार्यकरणसामर्थ्योपेतस्ततः कर्मधारयः, अथवा—केवलकल्पः—केवलज्ञानसदृशः परिपूर्णतासाधर्म्यात्सम्पूर्णपर्यायो वा केवल-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्प इतिशब्दः। 'आइन्न' मित्यादय एकार्था अत्यन्तव्याप्तिदर्शनायोक्ताः। 'अदुत्तरं च णं' ति अथापरं च इदं च सामर्थ्यातिशयवर्णनम्. 'विसए' त्ति गोचरो वैक्रियकरणशक्तेः, अयं च तत्करणयुक्तोऽपि स्यादित्यत आह— 'विसयमेत्ते' त्ति विषय एव विषयमात्रं—क्रियाशून्यं 'बुइए' त्ति उक्तम्, एतदेवाह—'संपत्तीए' त्ति यथोक्तार्थसम्पादनेन 'विउव्विसु वा' विकुर्वितवान् विकुर्वति वा विकुर्विष्यति वा, 'विकुर्व' इत्ययं धातुः सामायिकोऽस्ति, विकुर्वणत्यादिप्रयोगदर्शनादिति।

जति णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढिए० जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए, चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररन्नो सामाणिया देवा केमहिड्ढीया० जाव केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?, गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररन्नो सामाणिया देवा महिड्ढिया० जाव महाणुभागा। ते णं तत्थ साणं साणं भवणाणं साणं साणं सामाणियाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं० जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति। एवं महिड्ढिया० जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए, से जहानामए—जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा चक्कस्स वा नाभी अरयाउत्ता सिया एवामेव गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररन्नो एगमेगे सामाणिए देवे वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता० जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति समोहणित्ता पभू णं गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररन्नो एगमेगे सामाणिए देवे केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइन्नं वितिकिन्नं उवत्थडं संथडं फुडं अवगाढावगाढं करेत्तए। अदुत्तरं च णं गोयमा ! पभू चमरस्स असुरिंदस्स असुररन्नो एगमेगे सामाणियदेवे तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णे वितिकिण्णे उवत्थडे संथडे फुडे अवगाढावगाढे करेत्तए। एस णं गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररन्नो एगमेगस्स सामाणियदेवस्स अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए णो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वति वा विकुव्विस्सति वा। जति णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररन्नो सामाणिया देवा एवं महिड्ढिया० जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए। चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररन्नो तायत्तीसिया देवा केमहिड्ढिया ?, तायत्तीसिया देवा जहा सामाणिया तहा नेयव्वा, लोयपाला तहेव, नवरं संखेज्जा दीवसमुद्दा भाणियव्वा। बहूहिं असुरकुमारेहिं-अ० रीहि य आइन्ने० जाव विउव्विस्संति वा। जति णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररन्नो लोगपाला देवा एवं महिड्ढिया० जाव एवतियं च णं पभू विउव्वित्तए। चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररन्नो अग्गमहिसीओ देवीओ केमहिड्ढियाओ० जाव केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?, गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो अग्गमहिसीओ महिड्ढियाओ० जाव महाणुभागाओ। ताओ णं तत्थ साणं साणं भवणाणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं महत्तरियाणं साणं साणं परिसाणं० जाव एमहिड्ढियाओ अन्नं जहा लोगपालाणं अपरिसेसं। सेवं भंते ! भंते ! त्ति। (सू०१२७)

भगवं दोच्चे गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता तच्चं गोयमं वायुभूतिं अणगारं एवं वदासी-एवं खलु गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया एवं महिड्ढिए तं चेव एवं सव्वं अपुट्ठवागरणं नेयव्वं अपरिसेसियं० जाव अग्गमहिसीणं वत्तव्वया समत्ता। तए णं से तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे दोच्चस्स गोयमस्स अग्गिभूइस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स भासमाणस्स पण्णवेमाणस्स परूवेमाणस्स एयमट्ठं नो सद्दहइ नो पत्तियइ नो रोयइ एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ ०जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी--एवं खलु भंते ! मम दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे एवमातिक्खइ भासइ पन्नवेइ परूवेइ-एवं खलु गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्ढिए ०जाव महाणुभावे से णं तत्थ चोत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं एवं तं चेव सव्वं अपरिसेसं भाणियव्वं० जाव अग्गमहिसीणं वत्तव्वया समत्ता। से कहमेयं भंते !, एवं गोयमादिसमणे भगवं महावीरे तच्चं गोयमं वाउभूतिं अणगारं एवं वदासी-जएणं गोयमा ! दोच्चे गोयमा ! अग्गिभूई अणगारे तव एवमातिक्खइ एवं भासइ एवं पन्नवेइ एवं परूवेइ। एवं खलु गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्ढिए एवं तं चेव सव्वं० जाव अग्गमहिसीणं वत्तव्वया समत्ता सच्चे णं एसमट्ठे। अहं पि णं गोयमा ! एवमातिक्खामि भासेमि पण्णवेमि परूवेमि, एवं खलु गोयमा ! चमरे ०जाव महिड्ढिए सो चेव बितिओ गमो भाणियव्वो ०जाव अ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्गमहिसीओ, सच्चे णं एसमट्ठे सेवं भंते! भंते! त्ति। तच्चे गोयमे! वायुभूती अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता जेणेव दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता दोच्चं गोयमं अग्गिभूतिं अणगारं वंदइ नमंसति २ त्ता एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेति। (सू०-१२८)

तए णं से तच्चे गोयमे वाउभूती अणगारे दोच्चेणं गोयमेणं अग्गिभूतिणामेणं अणगारेणं सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे ०जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-जति णं भंते! चमरे असुरिंदे असुरराया एवं महिड्ढिए ०जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए बली णं भंते! वइरोयणिंदे वइरोयणराया केमहिड्ढिए ० जाव केवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए?, गोयमा! बली णं वइरोयणिंदे वइरोयणराया महिड्ढिए ०जाव महाणुभागे, से णं तत्थ तीसाए भवणावाससयसहस्साणं सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं सेसं जहा चमरस्स तहा बलियस्स वि णेयव्वं। णवरं सातिरेगं केवलकप्पं जंबुद्दीवं ति भाणियव्वं, सेसं तं चेव णिरवसेसं णेयव्वं, णवरं णाणत्तं जाणियव्वं भवणेहिं सामाणिएहिं,सेवं भंते! भंते त्ति। तच्चे गोयमे वायुभूती ० जाव विहरति० भंते! त्ति। भगवं दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ २त्ता एवं वदासी--जइ णं भंते! बली वइरोयणिंदे वइरोयणराया एमहिड्ढिए ० जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए। धरणे णं भंते! नागकुमारिंदे नागकुमारराया केमहिड्ढिए ०जाव केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए?, गोयमा! धरणे णं नागकुमारिंदे नागकुमारराया एमहिड्ढिए ०जाव से णं तत्थ चोयालीसाए भवणावाससयसहस्साणं छण्हं सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं छण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउत्तीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च ०जाव विहरइ। एवतियं च णं पभू विउव्वित्तए से जहानामए-जुवतिं जुवाणे ०जाव पभू केवलकप्पं जंबुदीवं दीवं ०जाव तिरियं संखेज्जे दीवसमुद्दे बहूहिं नागकुमारीहिं ०जाव विउव्विस्संति वा। सामाणिया तायत्तीसलोगपालगा महिसीओ य तहेव, जहा चमरस्स। एवं धरणे णं नामकुमारराया महिड्ढिए ०जाव एवतियं जहा चमरे तहा धरणेण वि, णवरं संखेज्जे दीवसमुद्दे भाणियव्वं। एवं ०जाव थणियकुमारा वाणमंतरा जोइसिया वि, नवरं दाहिणिल्ले सव्वे अग्गिभूती पुच्छति, उत्तरिल्ले सव्वे वाउभूती पुच्छइ, भंते! त्ति भगवं दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति २ त्ता एवं वयासी-जति णं भंते! जोइसिंदे जोतिसराया एवं महिड्ढिए० जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए सक्के णं भंते! देविंदे देवराया केमहिड्ढिए ०जाव केवतियं च णं पभू विउव्वित्तए?, गोयमा! सक्के णं देविंदे देवराया महिड्ढिए०जाव महाणुभागे, से णं तत्थ वत्तीसाए विमाणावाससयसहस्साणं चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं० जाव चउण्हं चउरासीणं आयरक्ख-(देव) साहस्सीणं अन्नेसिं च० जाव विहरइ। एवं महिड्ढिए ० जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, एवं जहेव चमरस्स तहेव भाणियव्वं, नवरं दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे अवसेसं तं चेव। एस णं गोयमा! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे विसए विसयमेत्ते णं बुइए नो चेव णं संपत्तीए विउव्विंसु वा विउव्वति वा विउव्विस्सति वा। (सू०-१२६)

'नवरं संखेज्जा दीवसमुद्द' त्ति लोकपालादीनां सामानिकेभ्योऽल्पतरर्द्धिकत्वेनाल्पतरत्वाद्वैक्रियकरणलब्धेरिति। 'अपुट्ठवागरणं' ति अपृष्टे सति प्रतिपादनं 'वइरोयणिंदे' त्ति दाक्षिणात्यासुरकुमारेभ्यः सकाशाद्विशिष्टं रोचनं-दीपनं येषामस्ति ते वैरोचना—औदीच्यासुरास्तेषु मध्य इन्द्र —परमेश्वरो वैरोचनेन्द्रः 'साइरेगं केवलकप्पं' ति औदीच्येन्द्रत्वेन बलेर्विशिष्टतरलब्धिकत्वादिति। 'एवं० जाव थणियकुमार' त्ति धरणप्रकरणमिव भूतानन्दादिमहाघोषान्तभवनपतीन्द्रप्रकरणान्यध्येयानि, तेषु चेन्द्रनामान्येतद्गाथानुसारतो वाच्यानि--" चमरे १ धरणे २ तह वे-णुदेव ३ हरिकंत ४ अग्गिसीहे य ५। पुण्णे ६ जलकंते वि य ७, अमिय ८ विलंबे य ९ घोसे य १०॥ १॥" एते दक्षिणनिकायेन्द्राः। इतरे तु--" बलि १ भूयाणंदे २ वेणुदालि३ हरिसह ४ऽग्गि (ग्गि) माणव ५ वसिट्ठे ६। जलप्पभे ७ ऽमियवा-हणे ८ पभंजण ९ महाघोसे १० ॥१॥" एतेषां च भवनसंख्या-" चउतीसा १ चउचत्ता २" इत्यादिपूर्वोक्तगाथाद्वयादवसेया। सामानिकात्मरक्षसंख्या चैवम्--" चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्सा उ असुरवज्जाणं। सामाणिया उ एए, चउग्गुणा आयरक्खा उ ॥ १॥" अग्रमहिष्यस्तु प्रत्येकं धरणादीनां षट्। सूत्राभिलापस्तु धरणसूत्रवत्कार्यः, 'वाणमंतरजोइसिया वि' त्ति व्यन्तरेन्द्रा अपि धरणेन्द्रवत्सपरिवारा वाच्याः, एतेषु च प्रतिनिकायं दक्षिणोत्तरभेदेन द्वौ द्वौ इन्द्रौ स्याताम्, तद्यथा-" काले य महाकाले १, सुरूवपडिरूव २ पुण्णभद्दे य। अमरवइमाणिभद्दे, भीमे य तहा महाभीमे ॥ १॥ किंनरकिंपुरिसे खलु, सप्पुरिसे चेव तह महापुरिसे। अइकायमहाकाये ७, गीयरई चेव गीयजसे ८॥ २॥" एतेषां ज्योतिष्काणां च त्रायस्त्रिंशा लोकपालाश्च न सन्तीति ते न वाच्याः, सामानिकास्तु चतुःसहस्रसंख्याः। एतच्च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

चतुर्गुणात्मरक्षाः । अग्रमहिष्यश्चतस्र इति । एतेषु च सर्वेष्वपि दाक्षिणात्यानिन्द्रानादित्यं चाग्निभूतिः पृच्छति, औदीच्यांश्चन्द्रश्च वायुभूतिस्तत्र च दाक्षिणात्येष्वादित्ये च केवलकल्पं जम्बूद्वीपं संस्तृतमित्यादि । औदीच्येषु च चन्द्रे च सातिरेकं जम्बूद्वीपमित्यादि च वाच्यम्, यच्चेहाधिकृतवाचनायामसूचितमपि व्याख्यातं तद्वाचनान्तरमुपजीव्येति भावनीयमिति । तत्र कालेन्द्रसूत्राभिलाप एवम्—' काले णं भंते ! पिसाइंदे पिसायराया केमहिड्डिए ६ केवइयं च णं पभू विउव्वित्तए ?, गोयमा ! काले णं महिड्डिए ६ से णं तत्थ असंखेज्जाणं नगरावाससहस्साणं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं अन्नेसिं च बहूणं पिसायाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं ०जाव विहरइ, एमहिड्डिए ६ एवइयं च णं पभू विउव्वित्तए ०जाव केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं ०जाव तिरियं संखेज्जे दीवसमुद्दे ' इत्यादि, शक्रस्य प्रकरणे, 'जाव चउण्हं चउरासीए ' मित्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्—'अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चउण्हं लोगपालाणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं 'ति, शक्रस्य विकुर्वणोक्ता ।

अथ तत्सामानिकानां सा वक्तव्या, तत्र च स्वप्रतीतं सामानिकविशेषमाश्रित्य तच्चरितानुवादतस्तां प्रश्नयन्नाह—

जइ णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया एमहिड्डिए ० जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए, एवं खलु देवाणुप्पिया णं अंतेवासी तीसए नामं अणगारे पगइभद्दए ०जाव विणीए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं अट्ठ संवच्छराइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सयंसि विमाणंसि उववायसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलस्स असंखेज्जभागमेत्तीए ओगाहणाए सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सामाणियदेवत्ताए उववण्णे । तए णं तीसए देवे अहुणोववण्णमेत्ते समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ, तं जहा-आहारपज्जत्ती सरीर-इंदिय-आणापाणपज्जत्तीए भासामणपज्जत्तीए । तए णं तं तीसयं देवं पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तभावं गयं समाणं सामाणियपरिसोववण्णया देवया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसा वत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-अहो णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए जारिसाणं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए तारिसियाणं सक्केणं देविंदेणं देवरण्णो दिव्वा देविड्ढी ०जाव अभिसमण्णागया जारिसिया णं (सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा दिव्वा देविड्ढी ०जाव अभिसमण्णागया तारिसिया णं) देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी ०जाव अभिसमण्णागया । से णं भंते ! तीसए देवे केमहिड्डिए ०जाव केवतियं च णं पभू विउव्वित्तए ?, गोयमा ! महिड्डिए जाव०महाणुभागे । से णं तत्थ सयस्स विमाणस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण०जाव विहरति, एवं महिड्डिए०जाव एवइयं च णं पभू विउव्वित्तए । से जहाणामए जुवतिं जुवाणे हत्थेण हत्थे गेण्हेज्जा जहेव सक्कस्स तहेव० जाव एस णं गोयमा ! तीसयस्स देवस्स अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए नो चेव णं संपत्तीए विउव्विसु वा ३ । जति णं भंते ! तीसए देवे महिड्डिए० जाव एवइयं च णं पभू विउव्वित्तए, सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरन्नो अवसेसा सामाणिया देवा केमहिड्डिया ?, तहेव सव्वं ०जाव, एस णं गोयमा ! सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो एगमेगस्स सामाणियस्स देवस्स इमेयारूवे विसयमेत्ते बुइए नो चेव णं संपत्तीए विउव्विसु वा विउव्विति वा विउव्विस्संति वा तायत्तीसाए य लोगपालअग्गमहिसीणं जहेव चमरस्स नवरं दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे अन्नं तं चेव, सेवं भंते ! भंते ! त्ति । दोच्चे गोयमे ० जाव विहरति । (सू०–१३०)

' एवं खलु ' इत्यादि, ' एवम् ' इति वक्ष्यमाणन्यायेन सामानिकदेवतयोत्पन्न इति योगः, ' तीसए ' त्ति तिष्यकाभिधानः ' सयंसि ' त्ति स्वके विमाने, ' पंचविहाए पज्जत्तीए ' त्ति पर्याप्तिः—आहारसरीरादीनामभिनिर्वृत्तिः, सा चान्यत्र षोढोक्ता, इह तु पञ्चधा, भाषामनःपर्याप्त्योर्बहुश्रुताभिमतेन केनापि कारणेनैकत्वविवक्षणात्, ' लद्धे ' त्ति जन्मान्तरे तदुपार्जनापेक्षया ' पत्ते ' त्ति प्राप्ता देवभवापेक्षया ' अभिसमण्णागए ' त्ति तद्भोगापेक्षया ' जहेव चमरस्स ' त्ति अनेन लोकपालाग्रमहिषीणां ' तिरियं संखेज्जे दीवसमुद्दे ' त्ति वाच्यमिति सूचितम् ।

भंते ! त्ति भगवं तच्चे गोयमे वाउभूती अणगारे समणं भगवं० जाव एवं वदासी- जति णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया एमहिड्डिए ०जाव एवइयं च णं पभू विउव्वित्तए ईसाणे णं भंते ! देविंदे देवराया केमहिड्डिए ?, एवं तहेव, नवरं साहिए दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे अवसेसं तहेव । (सू०–१३१)

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'ईसाणे णं भंते !' इत्यादि, ईशानप्रकरणम् इह च 'एवं तहेव' त्ति अनेन यद्यपि शक्रसमानवक्तव्यमीशानेन्द्रप्रकरणं सूचितं तथाऽपि विशेषोऽस्ति, उभयसाधारणपदापेक्षत्वादतिदेशस्येति। स चायम्—' से णं अट्ठावीसाए विमाणावाससयसहस्साणं असीईए सामाणियसाहस्सीणं ०जाव चउण्हं असीईणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं ति।' ईशानवक्तव्यतानन्तरं तत्सामानिकवक्तव्यतायां सुप्रतीतम्।

तद्विशेषमाश्रित्य तच्चरितानुवादतः प्रश्नयन्नाह—

जति णं भंते! ईसाणे देविंदे देवराया एमहिड्ढिए०जाव एवतियं च णं पभू विउव्वित्तए। (भ०)एवं सामाणियतायत्तीसलोगपालअग्गमहिसीणं ०जाव एस णं गोयमा! ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो एवं एगमेगाए अग्गमहिसीए देवीए अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए नो चेव णं संपत्तीए विउव्विंसु वा० ३॥ (सू०--१३२ ×) एवं सणंकुमारे वि, नवरं चत्तारि केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे अदुत्तरं च णं तिरियमसंखेज्जे एवं सामाणियं तायत्तीसलोगपालअग्गमहिसीणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे सव्वे विउव्वंति, सणंकुमाराओ आरद्धा उवरिल्ला लोगपाला सव्वे वि असंखेज्जे दीवसमुद्दे विउव्वंति, एवं माहिंदे वि, नवरं सातिरेगे चत्तारि केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे। एवं बंभलोए वि, नवरं अट्ठ केवलकप्पे, एवं लंतए वि, नवरं सातिरेगे अट्ठ केवलकप्पे, महासुक्के सोलस केवलकप्पे, सहस्सारे सातिरेगे सोलस, एवं पाणए वि, नवरं बत्तीसं केवलं एवं अच्चुए वि नवरं सातिरेगे बत्तीसं केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे अन्नं तं चेव, सेवं भंते! भंते! त्ति। तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसति ०जाव विहरति। तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाई मोयाओ नगरीओ नंदणाओ चेतियाओ पडिनिक्खमइ२त्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ। (सू०--१३३)

(कुरुदत्तपुत्रवृत्तान्तं 'कुरुदत्तपुत्त' शब्दे तृतीयभागे ५६१ पृष्ठे गतम्।) 'एवं सणंकुमारे वि' त्ति, अनेनेदं सूचितम्—'सणंकुमारे णं भंते! देविंदे देवराया केमहिड्ढिए ६ केवइयं च णं पभू विउव्वित्तए?, गोयमा! सणंकुमारे णं देविंदे देवराया महिड्ढिए ६, से णं बारसण्हं विमाणावाससयसाहस्सीणं बावत्तरीए सामाणियसाहस्सीणं ०जाव चउण्हं बावत्तरीणं आयरक्खदेवसाहस्सीण' मित्यादीति, 'अग्गमहिसीणं' ति यद्यपि सनत्कुमारे स्त्रीणामुत्पत्तिर्नास्ति तथाऽपि याः सौधर्मोत्पन्नाः समयाधिकपल्योपमादिदशपल्योपमान्तस्थितयोऽपरिगृहीतदेव्यस्ताः सनत्कुमारदेवानां भोगाय सम्पद्यन्ते इति कृत्वाऽग्रमहिष्यः इत्युक्तमिति। एवं माहेन्द्रादिसूत्राण्यपि गाथानुसारेण विमानमानं सामानिकादिमानं च विज्ञायानुसन्धानीयानि। गाथाश्चैवम्—' बत्तीस अट्ठ वीसा २, बारस ३ ऽट्ठ ४ चउरो ५ य सयसहस्सा। आरेण बंभलोया, विमाणसंखा भवे एसा॥ १॥ पण्णासं ६ चत्त ७ छच्चे-व ८ सहस्सा लंतसुक्कसहसारे। सयचउरो आणयपा-णएसु ९--१० तिण्णारणच्चुयओ ११-१२॥ २॥" सामानिकपरिमाणगाथा-" चउरासीइ असीई, बावत्तरि सत्तरी य सट्ठी य। पण्णा चत्तालीसा, तीसा वीसा दससहस्सा॥ १॥" इह च शक्रादिकान् पञ्चैकान्तरितानग्निभूतिः पृच्छति, ईशानादींश्च तथैव वायुभूतिरिति। भ० ३ श० १ उ०।

इदानीं "निरयतिरिनरसुराणं उक्कोसविउव्वणाकालो"

इति त्रिंशदुत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

अंतमुहुत्तं नरए-सु होंति चत्तारि तिरिअ-मणुएसु।
देवेसु अद्धमासो, उक्कोसविउव्वणाकालो॥ १३२२॥

अन्तर्मुहूर्तं नरकेषूत्कर्षतो विकुर्वणाऽवस्थानकालः, तिर्यक्षु मनुष्येषु चत्वार्यन्तर्मुहूर्तानि, देवेषु भवनपत्यादिषु अर्द्धमासः पञ्चदशदिनान्युत्कृष्टतो विकुर्वणाकाल इति। प्रव० २३० द्वार।

विउव्वदुग-वैक्रियद्विक-न०। वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गरूपे वैक्रियोपलक्षितं द्वयं, पं० सं० ५ द्वार। कर्म०।

विउव्वमाण-विक्रियमाण-त्रि०। विक्रियकरणवशवर्तिनि, स्था० ३ ठा० १ उ०। स्वेच्छया (सू० प्र० २० पाहु०) विकुर्वणां कुर्वति, भ० १२ श० ६ उ०। वैक्रियशरीरं कुर्वति, भ० ३ श० २ उ०।

विउव्ववग्गणा-वैक्रियवर्गणा-स्त्री०। वैक्रियशरीरग्रहणप्रायोग्यवर्गणायाम्, कर्म० ५ कर्म०।

विउव्विउ-विकुर्वितुम्--अव्य०। सिद्धान्तप्रसिद्धो 'विकुर्व' इति धातुरस्ति यस्य विकुर्वणेति प्रयोगः, ततस्तुमुन्। विक्रियां कर्तुमित्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। भ०।

विउव्विय-विकृत्य-अव्य०। परिचारणायोग्यं विधायेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

विकुर्वित-त्रि०। दैवशक्त्या कृते, आ० म० १ अ०।

विउव्वियबोंदि-वैक्रियबोन्दि--त्रि०। विकुर्विता-वस्त्रादिभिरलंकृता बोन्दिः-शरीरं येषां ते तथा। अलङ्कृतशरीरेषु, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

विउव्वियसमुग्घाय--वैक्रियसमुद्घात--पुं०। समुद्घातभेदे, (एतद्वक्तव्यताम् 'वेउव्वियसमुग्घाय' शब्दे दर्शयिष्यामः।) 'विउव्वियसमुग्घाएणं समोहयं' विहितोत्तरवैक्रियशरीरमिति। भ० ३ श० ४ उ०।

विउस-विद्वस्-पुं०। कुशले, 'चउरा निउणा कुसला, छेआ विउसा बुहा य पत्तट्ठा'। पाइ० ना० ६० गाथा।

विउसज्ज-व्युत्सृज्य-अव्य०। परित्यज्येत्यर्थे, व्य० १ उ०।

विउसमणकालसमय-व्यवशमनकालसमय-पुं०। व्यवशमनं पुंवेदविकारोपशमस्तस्य यः कालसमयः स तथा। रतावसाने, भ० १२ श० ६ उ०।

विउसमणया-व्यवशमनता-स्त्री०। परस्मिन् क्रोधान्निर्वर्त्तयति सति क्रोधोज्झने, भ० १ श० ६ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विउसमिय-व्यवशमित-त्रि०। उपशमिते, स्था० ६ ठा० ३ उ०। नि० चू०।

विउसमियपाहुड-व्यवशमितप्राभृत-त्रि०। विशेषेणावसायितमवसानं नीतं प्राभृतं-कलहो येन स व्यवशमितप्राभृतः। व्युत्सृष्टकलहे, वृ० १ उ० ३ प्रक०।

विउसरण-व्युत्सर्जन-न०। परित्यजने, दर्श० १ तत्त्व। आचा०। उत्सर्गे, आव० ५ अ०।

विउसरणया-व्यवसर्जनता-स्त्री०। त्यागे, भ० २ श० ५ उ०।

विउसविय-व्यवशमय्य-अव्य०। विविधमनेकप्रकारैर्द्रव्यपदार्थप्रतिपत्तिपुरस्सरं मिथ्यादुष्कृतप्रदानेनावशमय्य उपशमं नीत्वेत्यर्थे, वृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०।

विउस्सग्ग-व्युत्सर्ग-पुं०। विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः, उच्छब्दो-भृशार्थः, सर्जनं—सर्गः, विविधं-विशेषेण वा भृशं त्यजनम्—अतीतसावद्ययोगमिति भावः। आ० म० १ अ०। गौणादित्वात् व्युत्सर्गस्थाने-'विउसग्गो'। प्रा० २ पाद। परित्यागे, स च द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्यतो-गणशरीरोपध्याहारविषयो, भावतस्तु-क्रोधादिविषय इति। आव० ६ अ०। ममत्वस्य त्यागे, उत्त० ३० अ०। निःसङ्गतया देहोपधित्यागे, स्था० ४ ठा० १ उ०। औ०। उपयोगसम्बन्धिनि कायोत्सर्गे, वृ० १ उ० ३ प्रक०। स्था०। भ०। अनेषणीयादिषु त्यक्तेषु गमनागमनसावधानस्वप्नदर्शननौसन्तरणोच्चारप्रश्रवणेषु च विशिष्टप्रणिधानपूर्वककायवाङ्मनोव्यापारत्यागे, ध० ३ अधि०। आ० चू०।

द्रव्यभावव्युत्सर्गभेदानाह—

से किं तं विउस्सग्गे ?, विउस्सग्गे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-दव्वविउस्सग्गे, भावविउस्सग्गे अ। से किं तं दव्वविउस्सग्गे ?, दव्वविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-सरीरविउस्सग्गे गणविउस्सग्गे उवहिविउस्सग्गे भत्त-पाणविउस्सग्गे। से तं दव्वविउस्सग्गे। से किं तं भावविउस्सग्गे ?, भावविउस्सग्गे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-कसायविउस्सग्गे संसारविउस्सग्गे कम्मविउस्सग्गे। से किं तं कसायविउस्सग्गे?, कसायविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-कोहकसायविउस्सग्गे माणकसायविउस्सग्गे मायाकसायविउस्सग्गे लोहकसायविउस्सग्गे। से तं कसायविउस्सग्गे। से किं तं संसारविउस्सग्गे ?, संसारविउस्सग्गे चउव्विहे। पण्णत्ते, तं जहा-णेरइअसंसारविउस्सग्गे तिरियसंसारविउस्सग्गे मणुअसंसारविउस्सग्गे देवसंसारविउस्सग्गे। से तं संसारविउस्सग्गे। (सू०-२०)

'संसारविउस्सग्गे' त्ति नरकायुष्कादिहेतूनां मिथ्यादृष्टित्वादीनां त्यागः। औ०। (कर्मव्युत्सर्गः 'कम्मविउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे ३४२ पृष्ठे गतः।) द्रव्यभावव्युत्सर्गे, आव० १ अ०। (व्युत्सर्गद्वारे द्रव्यव्युत्सर्गकरकण्डुकानां दृष्टान्तत्वेन भावनं 'करकंडु' शब्दे तृतीयभागे ३५७ पृष्ठे उक्तम्।) (तता 'णमि' शब्दे चतुर्थभागे १८१० पृष्ठे चतुर्णां मलकः।)

दव्वविउस्सग्गे खलु, पसन्नचंदो भवे उदाहरणं।
पडियागयसंवेगो, भावम्मि वि होइ सो चेव।

द्रव्यव्युत्सर्गो गणोपधिशरीरान्नपानादिव्युत्सर्गः। अथवा-द्रव्यव्युत्सर्गो नाम-आर्त्तध्यानादिध्यायिनः कायोत्सर्गः, अत एवाह-द्रव्यव्युत्सर्गे खलु प्रसन्नचन्द्रो राजर्षिर्भवत्युदाहरणम्। भावव्युत्सर्गः स्वस्थानादिपरित्यागः। अथवा-धर्म्मशुक्लध्यायिनः कायोत्सर्गः। तथा चाह--प्रत्यागतसंवेगो भावेऽपि-भावव्युत्सर्गेऽपि स एव प्रसन्नचन्द्रो राजर्षिरुदाहरणमिति गाथाक्षरार्थः। आ० म० १ अ०। आ० चू०। (अत्रार्थे प्रसन्नचन्द्रराजर्षिकथा 'पसण्णचन्द' शब्दे पञ्चमभागे ८११ पृष्ठे गता।) कुस्वप्नादौ कायोत्सर्गे, आव० ५ अ०।

विउस्सग्गपडिमा—व्युत्सर्गप्रतिमा—स्त्री०। कायोत्सर्गकरणे, औ०। स्था०। तथा पूर्वादिचतुष्टयाभिमुखस्य प्रत्येकप्रहरचतुष्टयमानकायोत्सर्गे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

विउस्सग्गारिह-व्युत्सर्गार्ह-न०।कायचेष्टानिषेधोपयोगमात्रेण यत् दुःस्वप्नादिकमेव शुध्यति तत् व्युत्सर्गार्हम्।जी०१प्रति०। प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। (व्युत्सर्गप्रायश्चित्तविषयः 'काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे ४२७ पृष्ठे उक्तः।)

विउस्सिय-व्युत्सृत-त्रि०।विविधमनेकप्रकारमुत्प्राबल्येन सितो-बद्धः। स्वस्वमतेष्वभिनिविष्टे, सूत्र०१ श्रु०१ अ० १ उ०। संसारे उषितः। संसारान्तर्वर्तिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

विउह-विबुध-त्रि०।'क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्' ॥८।१।१७७॥ इति बलुक्। विदुषि, प्रा० १ पाद।

विऊरमण-व्युपरमण-न०। विराधने, ध० ३ अधि०।

विऊरिअ-देशी। नष्टे, दे० ना० ७ वर्ग ७२ गाथा।

विऊह-व्यूह-पुं०। रचनाविशेषे, पञ्चा० ५ विव०। ध०।

विओग- वियोग--पुं०। त्यागे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ०। पित्रादिभिः सह विप्रयोगे, दर्श० ४ तत्त्व। आचा०।

विओजण-वियोजन-न०। विश्लेषणे- सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। खण्डने, विशे०। स्था०।

विओयावइत्ता-वियोजयिता-त्रि०। मोक्तरि, स्था० ४ ठा० २ उ०।

विओल-देशी०। आविग्ने, दे० ना० ७ वर्ग ६३ गाथा।

विओसिय--व्यवसित-त्रि०। विवियमवसितं व्यवसितम्। पर्यवसिते, उपशान्ते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

विंख-विङ्ख-न०। वाद्यभेदे, आ० चू० १ अ०।

विंछिअ--वृश्चिक-पुं०। 'इत्कृपादौ' ॥८।१।१२८॥ इति ऋतः इ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वम् । प्रा० । "वक्रादावन्तः" ॥८। १ । २६ ॥ इत्यनुस्वारागमः। विषपुच्छकण्टके जन्तुभेदे, प्रा० १ पाद ।

विं (वें) ट-वृन्त-न०। 'इदेदोद्वृन्ते'॥८।१।१३९॥इति वृन्तशब्दे ऋत इत् एत् ओच्च भवतीति इदेदोत आदेशाः।प्रा०। बन्धने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । फलस्य मूले , आ० क० ४ अ० । मूलनाले, ध० २ अधि० ।

विंटट्ठाइ-वृन्तस्थायिन्-त्रि०।वृन्तेनाधोवर्तिना तिष्ठतीत्येवंशीलं वृन्तस्थायि । वृन्तमधोभागे उपरि पत्राणि इत्येवं स्थानशीले, रा० । आ० म० । औ० ।

विंटबद्ध-वृन्तबद्ध-न० । अतिमुक्तकप्रभृतिषु , प्रज्ञा० १ पद ।

विंटल-विण्टल-न० । तथाविधज्योतिषनिमित्तादिके छलोपजीवनोपाये, बृ० । " चुसाइ विंटलकए , गरहिय संथवकए य तुज्झाहिं " बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

विंतागी-वृन्ताकी-स्त्री० । गुच्छवनस्पतिभेदे,आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । वृन्ताकीफलं न भक्ष्यम् । ध० २ अधि० ।

विंदमाण-विन्दत्-त्रि० । लभमाने, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

विंदावण-वृन्दावन-न० । मथुरासविधे यमुनातटस्थे वृन्दादेव्यावासभूते लौकिकवने, यो० विं० ।

वरं वृन्दावने रम्ये, क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम् ।
न त्वेवाविषयो मोक्षः, कदाचिदपि गौतम ! ॥१३८॥

वरं-प्रधानं वृन्दावने-यमुनानदीतटवर्तिनि मथुरोपवनविशेषे रम्ये-रमणीये क्रोष्टुत्वम्-शृगालत्वमभिवाञ्छितम्-अभिलषितम् , नत्वेव-नैव पुनरविषयः कदाचित्क्रियया साधयितुमयोग्यः मोक्षो—ऽपवर्गः कदाचिदपि काऽप्यवस्थाविशेषे वाञ्छितः । गौतमेति गालवेन निजशिष्यविशेषस्यामन्त्रणं कृतमिति । यो० विं० ।

विंदु-पुं०।न०।बिन्दु-पुं० । "गुणाद्याः क्लीबे वा" ॥८। १ ।३४॥ इति वा नपुंसकत्वम् । जलकणे, प्रा० । अनुस्वारपरिचायके, पतितबिन्दुसंस्थाने, "बिन्दौ च वाग्बीजम् " जै० गा० ।

विंदुसार-बिन्दुसार-पुं० । चन्द्रगुप्तसुते, अशोकश्रीमहाराजपितरि मगधराजे, कल्प० ९ अधि० ८ क्षण । विशे० । " चंदगुत्तपपुत्तोऽयं,बिंदुसारस्स नत्तुओ । असोगसिरिणो पुत्तो-ऽधो जायइ कागणिं ॥ ८६२ ॥ " बृ० १ उ० । नि० चू० १६ उ० । लोकशब्दोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यस्ततश्च लोकस्य बिन्दुरिवाक्षरस्य सारं सर्वोत्तमं यत्तल्लोकबिन्दुसारम् । स० १४ सम० । चतुर्दशे पूर्वे, आ० म० १ अ० । स्था० । आव० ।

विंहणिज्ज-बृंहणीय-त्रि० । मांसोपचयकारिणि,औ०। स्था० । ज्ञा० । जी० । धातूपचयकारिणि, जं० २ वक्ष० । जी० । संवर्द्धनीये, षो० ६ विव० ।

विकंपण-विकम्पन-न० । स्वस्वमण्डलाद्बहिरवष्वष्कणे, अभ्यन्तरप्रवेशने च । सू० प्र० १ पाहु० ।

सूर्यमण्डलानां विकम्पनमाह—

ता केवतियं (ते) एगमेगेणं रातिंदिएणं विकंपइत्ता सूरिए चारं चरति आहिते त्ति वदेज्जा ?, तत्थ खलु इमाओ सत्त पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु-ता दो जोयणाइं अद्धदुचत्तालीसं तेसीतसयभागे जोयणस्स एगमेगेणं रातिंदिएणं विकंपइत्ता २ सूरिए चारं चरति, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता अड्ढातिज्जाइं जोयणाइं एगमेगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता २ सूरिए चारं चरति, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु-ता तिभागूणाइं तिन्नि जोयणाइं एगमेगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता २ सूरिए चारं चरति, एगे एवं माहंसु ३ । एगे पुण एवमाहंसु-ता तिण्णि जोयणाइं अद्धसीतालीसं च तेसीतिसयभागे जोयणस्स एगमेगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता २ सूरिए चारं चरति , एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसु-ता अद्धट्ठाइं जोयणाइं एगमेगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता २ सूरिए चारं चरति, एगे एवमाहंसु ५ । एगे पुण एवमाहंसु-ता चउब्भागूणाइं चत्तारि जोयणाइं एगमेगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता २ सूरिए चारं चरति एगे एवमाहंसु ६ । एगे पुण एवमाहंसु-ता चत्तारि जोयणाइं अद्धबावण्णं च तेसीतिसतभागे जोयणस्स एगमेगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता २ सूरिए चारं चरति एगे एवमाहंसु ७ । वयं पुण एवं वदामो-ता दो जोयणाइं अडतालीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगं मंडलं एगमेगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता २ सूरिए चारं चरति, तत्थ णं को हेतू इति वदेज्जा ?, ता अयण्णं जंबूदीवे २ ०जाव परिक्खेवेणं पन्नत्ते, ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारस मुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ । से णिक्खममाणे सूरिए णवं संवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि अब्भिंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति । ता जया णं सूरिए अब्भिंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं दो जोयणाइं अडयालीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता चारं चरति । तता णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे, दुवालसमुहुत्ता राई भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया, से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भिंतरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति , ता जया णं सूरिए अब्भिंतरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति , तता णं पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स दोहिं

१-पवर्गादय एते तत्रानुकला दिहोकाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राइंदिएहिं विकंपइत्ता चारं चरति, तता णं अट्ठा-रसमुहुत्ते दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवति, चउहिं एगट्ठिभा-गमुहुत्तेहिं अधिया। एवं खलु एतेणं उवाएणं णि-क्खममाणे सूरिए तताऽणंतराओ तदाणंतरं मंडलातो मंडलं संकममाणे २ दो जोयणाइं अडतालीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगं मंडलं एगमेगेणं रा-इंदिएणं विकंपमाणे २ सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमि-त्ता चारं चरति। ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरातो मंडलातो सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तता णं सव्वब्भंतरं मंडलं पणिहाय एगेणं तेसीतेणं राइं-दियसतेणं पंचदसुत्तरजोयणसते विकंपइत्ता चारं चरति, तता णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भ-वइ, जहराणए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति। एस णं पढमं छम्मासे। एस णं पढमछम्मासस्स पज्जवसाणे। से य पवि-समाणे सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तं-सि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता जता णं सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं दो दो जोयणाइं अडयालीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता चारं चरति, तता णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति, दोहिं एगट्ठिभागेहिं मुहुत्तेहिं अहिए। से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरतच्चंसि मंडलंसि उवसंकमित्ता चारं चरति। ता ज-या णं सूरिए बाहिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं पंचजोयणाइं पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स दोहिं राइंदिएहिं विकंपइत्ता चारं चरति, राइंदिए तहेव। एवं खलु एतेणुवाएणं पविसमाणे सूरिए तताऽणंतराओ तयाणंतरं च णं मंडलं संकममाणे २ दो जोयणाइं अ-डयालीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं राइंदिएणं विकंपमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरातो मंडलातो सव्वब्भंत-रं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं स-व्वबाहिरं मंडलं पणिधाय एगेणं तेसीएणं राइंदिय-सतेणं पंचदसुत्तरे जोयणसते विकंपइत्ता चारं चरति, तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहरिणया दुवालसमुहुत्ता राई भव-इ। एस णं दोच्चे छम्मासे एस णं दोच्चस्स छ-म्मासस्स पज्जवसाणे, एस णं आदिच्चे संवच्छरे, एस णं आदिच्चस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे॥ (सू०-१८)

'ता केवइयं ते एगमेगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता' इत्या-दि। ता इति पूर्ववत्, कियत्प्रमाणं क्षेत्रमिति गम्यते। 'एगमेगेणं' ति अत्र प्रथमादेकशब्दान्मकारोऽलाक्षणिक-स्ततोऽयमर्थः—एकैकेन रात्रिन्दिवेन अहोरात्रेण विकम्प्य विकम्प्य विकम्पनं नाम—स्वस्वमण्डलाद् बहिरवष्व-ष्कणमभ्यन्तरप्रवेशनं वा सूर्य—आदित्यश्चारं चरति, चा-रं चरन् आख्यात इति वदेत्?। एवं भगवता गौतमेन प्रश्ने कृते सति एतद्विषयपरतीर्थिकप्रतिपत्तिमिथ्याभावो-पदर्शनाय प्रथमतस्ता एव प्ररूपयति 'तत्थे' त्यादि। त-त्र सूर्यविकम्पविषये खल्विमाः सप्त प्रतिपत्तयः परमत-रूपाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—'तत्थेगे' त्यादि, तत्र—तेषां स-प्तानां प्रवादिनां मध्ये एके एवमाहुः—द्वे योजने अर्धो-द्वाचत्वारिंशत् द्वाचत्वारिंशत्तमो येषां ते अर्धद्वाच-त्वारिंशतस्तान्—सार्द्धैकचत्वारिंशत्सङ्ख्यानित्यर्थः, त्र्यशी-त्यधिकशतभागान् योजनस्य। किमुक्तं भवति?—त्र्यशी-त्यधिकशतसंख्यैर्भागैः प्रविभक्तस्य योजनस्य सम्बन्धि-नोऽर्धाधिकैकचत्वारिंशत्सङ्ख्यान् भागान् एकैकेन रात्रि-न्दिवेन विकम्प्य विकम्प्य सूर्यश्चारं चरति। अत्रैवोपसं-हारमाह-'एगे एवमाहंसु'। एके—पुनर्द्वितीया एवमाहुः—अर्द्धतृतीयानि योजनानि एकैकेन रात्रिन्दिवेन विकम्प्य-२ सूर्यश्चारं चरति। अत्राप्युपसंहारः—'एगे एवमाहंसु' २। एके पुनस्तृतीया एवमाहुः—त्रिभागोनानि त्रीणि यो-जनानि एकैकेन रात्रिन्दिवेन विकम्प्य २ सूर्यश्चारं चरति। अत्रोपसंहारः 'एगे एवमाहंसु' ३। एके पुनश्चतुर्थास्तीर्था-न्तरीया एवमाहुः—त्रीणि योजनानि अर्द्धसप्तचत्वारिंशत-श्चसार्द्धपट्चत्वारिंशतश्चेत्यर्थः, त्र्यशीत्यधिकशतभागान् योजनस्य एकैकेन रात्रिन्दिवेन विकम्प्य २ सूर्यश्चारं चरति, अत्रैवोपसंहारमाह—'एगे एवमाहंसु' ४। एके पुनः पञ्चमा एवमाहुः—अर्द्धचतुर्थानि योजनानि एकैकेन रात्रिन्दिवेन विकम्प्य २ सूर्यश्चारं चरति। अत्रोपसंहारवाक्यम्—'एगे एवमाहंसु' ५। एके पुनः ष-ष्ठास्तीर्थान्तरीया एवमाहुः—चतुर्भागोनानि चत्वारि यो-जनानि एकैकेन रात्रिन्दिवेन विकम्प्य २ सूर्यश्चारं च-रति। अत्रोपसंहारवाक्यम्-'एगे एवमाहंसु' ६। एके पुनः सप्तमा एवमाहुः—चत्वारि योजनानि अर्द्धपञ्चाशतश्च—सा-र्द्धैकपञ्चाशत्संख्यांश्च त्र्यशीत्यधिकशतभागान् योजन-स्य एकैकेन रात्रिन्दिवेन सूर्यो विकम्प्य २ चारं चरति। अत्रोपसंहारवाक्यम् 'एगे एवमाहंसु'। तदेवं मिथ्यारू-पाः परप्रतिपत्तीरुपदर्श्य, सम्प्रति स्वमतं भगवानुपदर्श-यति—'वयं पुण' इत्यादि। वयं पुनरेवं वक्ष्यमाण-प्रकारेण केवलज्ञानोपलम्भपुरस्सरं वदामः। यदुत द्वे द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकैकेन रात्रिन्दिवेन सूर्यो विकम्प्य २ चारं चरति, चारं चरन् आख्यात इति वदेत्। साम्प्रतमस्यैव वाक्यस्य स्पष्टा-वगमनिमित्तं प्रश्नसूत्रमुपन्यस्यति—'तत्थ को हेतू इति वएज्जा, तत्र-एवंविधवस्तुतत्त्वावगतौ को हेतुः?, का उपपत्तिरिति वदेत् भगवान्। एवमुक्ते भगवानाह—'ता अयराणं' मित्यादि। इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्णे पठनीयं व्याख्यानीयं च। 'ता जया ण' मित्यादि। तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्तः-परमप्रकर्षप्राप्त उत्कर्षतः-उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, जघन्या च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः। 'से निक्खममाणे' इत्यादि। ततः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रामन् स सूर्यो नवं संवत्सरमाददानो नवस्य संवत्सरस्य प्रथमेऽहोरात्रे 'अब्भितराणंतरं' ति-सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्यानन्तरं-बहिर्भूतं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, 'ता जया ण' मित्यादि। तत्र यदा तस्मिन्नवसंवत्सरसत्के प्रथमेऽहोरात्रे सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति, चारं चरितुमारभते, 'तदा ण' मिति प्राग्वत्, द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशतं च एकषष्टिभागान् योजनस्य एकैकेन रात्रिन्दिवेन पाश्चात्येनाऽहोरात्रेण विकम्प्य चारं चरति। इयमत्र भावना—सर्वाभ्यन्तरे मण्डले प्रविष्टः सन् प्रथमक्षणादूर्ध्वं शनैः शनैस्तदनन्तरं द्वितीयमण्डलाभिमुखं तथा कथंचन मण्डलगत्या परिभ्रमति यथा तस्याऽहोरात्रस्य पर्यन्ते सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतान् अष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यापरे च द्वे योजने अतिक्रान्तो भवति, ततो द्वितीयेऽहोरात्रे प्रथमक्षणे एव द्वितीयमण्डलमुपसम्पन्नो भवति, तत उक्तम्—'तया णं दो जोयणाइं अडयालीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगेणं राइंदिएणं विकंपइत्ता सूरिए चारं चरति तया ण' मित्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलचारचरणकाले णमिति पूर्ववत् अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति द्वाभ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यामूनः, द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः द्वाभ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका। तस्मिन्नपि द्वितीये मण्डले प्रथमक्षणादूर्ध्वं तथा कथञ्चनाऽपि तृतीयमण्डलाभिमुखं मण्डलपरिभ्रमणगत्या चारं चरति यथा तस्याहोरात्रस्य पर्यन्ते द्वितीयमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यापरे च तद्बहिर्भूते द्वे योजने अतिक्रान्तो भवति, ततो नवसंवत्सरस्य द्वितीयेऽहोरात्रे प्रथमक्षण एव तृतीयं मण्डलमुपसंक्रामति। तथा चाह—'से निक्खममाणे' इत्यादि। स सूर्यो द्वितीयान्मण्डलात् प्रथमक्षणादूर्ध्वं शनैः शनैर्निष्क्रामन्—बहिर्मुखं परिभ्रमन् नवसंवत्सरसत्के द्वितीयेऽहोरात्रे 'अब्भिंतरतच्चं, ति सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा द्वाभ्यां रात्रिन्दिवाभ्यां यावत्प्रमाणं क्षेत्रं विकम्प्य चारं चरति, तावन्निरूपयितुमाह—'ता जया ण' मित्यादि तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदा द्वाभ्यां रात्रिन्दिवाभ्यां सर्वाभ्यन्तरमण्डलगततदनन्तरद्वितीयमण्डलगताभ्यां पञ्चयोजनानि पञ्चत्रिंशतं च एकषष्टिभागान् योजनस्य विकम्प्य, तथाहि—एकेनाप्यहोरात्रेण द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशच्च योजनस्यैकषष्टिभागा विकम्पिता द्वितीयेनाप्यहोरात्रेण। तत उभयमीलने यथोक्तं विकम्पपरिमाणं भवति एतावन्मात्रं विकम्प्य चारं चरति। 'तया ण' मित्यादि, रात्रिन्दिवपरिमाणं सुगमम्। सम्प्रति शेषमण्डलेषु गमनमाह—एवं खलु, इत्यादि, एवमुक्तेन प्रकारेण खलु- निश्चितमेतेनोपायेन तत्तन्मण्डलप्रवेशप्रथमक्षणादूर्ध्वं शनैः शनैस्तत्तद्बहिर्भूतमण्डलाभिमुखगमनरूपेण तस्मात्तन्मण्डलान्निष्क्रामन् तदनन्तरान् मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् २ एकैकेन रात्रिन्दिवेन द्वे द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य निष्कम्पयन् २ प्रथमषण्मासपर्यवसानभूते त्र्यशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। 'ता जया ण' मित्यादि, सुगमम्। 'तया ण' मित्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरं मण्डलं प्रणिधाय—अवधीकृत्य तत्तद्गतमहोरात्रमादि कृत्वा इत्यर्थः, त्र्यशीतेन—त्र्यशीत्यधिकेन रात्रिन्दिवशतेन पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि विकम्प्य, तथाहि—एकैकस्मिन्नहोरात्रे द्वे द्वे योजने अष्टचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य विकम्पयति, ततो द्वे द्वे योजने त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्येते, जातानि त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि ३६६ येऽपि चाष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागास्तेऽपि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते, जातानि सप्ताशीतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ८७८४, तेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धं चतुश्चत्वारिंशं योजनशतम् १४४, एतत्पूर्वस्मिन् योजनराशौ प्रक्षिप्यते, जातानि पञ्च शतानि दशोत्तराणि ५१०, एतावत्प्रमाणं विकम्प्य चारं चरति। 'तया ण' मित्यादि, रात्रिन्दिवपरिमाणं सुगमम्, सर्वबाह्ये च मण्डले प्रविष्टः सन् प्रथमक्षणादूर्ध्वं शनैः शनैरभ्यन्तरसर्वबाह्यानन्तरद्वितीयमण्डलाभिमुखं तथा कथंचनापि मण्डलगत्या परिभ्रमति येन प्रथमषण्मासपर्यवसानभूताहोरात्रपर्यवसाने सर्वबाह्यमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यापरे च द्वे योजने अतिक्रम्य सर्वबाह्यानन्तरद्वितीयमण्डसीमायां वर्त्तते, ततोऽनन्तरे द्वितीयस्य षण्मासस्य प्रथमेऽहोरात्रे प्रथमक्षणे सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयमभ्यन्तरं मण्डलं प्रविशति, तथा चाह—'से पविसमाणे' इत्यादि, स सूर्यः सर्वबाह्यान्मण्डलादुक्तप्रकारेणाभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीयषण्मासस्य प्रथमेऽहोरात्रे 'बाहिराणंतरं' ति सर्वबाह्यस्य मण्डलस्याभ्यन्तरं द्वितीयमनन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, 'ता जया ण' मित्यादि, 'ता' इति—तत्र यदा सूर्यो बाह्यानन्तरं—सर्वबाह्यमण्डलानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकेन रात्रिंदिवेन सर्वबाह्यमण्डल—गतेन प्रथमषण्मासपर्यवसानभूतेन द्वे योजने अष्टाच—त्वारिंशतं च एकषष्टिभागान् योजनस्य विकम्प्य, एतच्चानन्तरमेव भावितं, चारं चरति—चारं प्रतिपद्यते। 'तया ण' मित्यादि, रात्रिन्दिवपरिमाणं सुगमम्। 'से पविसमाणे' इत्यादि। स सूर्यः सर्वबाह्यानन्तराभ्यन्तरद्वितीयमण्डलादपि प्रथमक्षणादूर्ध्वं शनैः शनैरभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीयेऽहोरात्रे 'बाहिरतच्चं' ति सर्वबाह्यस्य मण्डलस्याभ्यन्तरं तृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, 'ता जया ण' मित्यादि, तत्र यदा सूर्यः सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं तृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा द्वाभ्यां रात्रिन्दिवाभ्यां सर्वबाह्यमण्डलगतसर्वबाह्यानन्तरद्वितीयमण्डलगताभ्यां पञ्चयोज-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य विकम्प्य तथा एकेनाप्यहोरात्रेण प्रथमषरामासपर्यवसानभूतेन द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य विकम्पयति । द्वितीयेनाप्यहोरात्रेण द्वितीयषराामासप्रथमेन, तत उभयमीलने यथोक्तं विकम्पपरिमाणं भवति । 'तया ण' मित्यादि, रात्रिन्दिवपरिमाणं सुगमम् । 'एवं खलु एएण उवाएणं पविसमाणे' इत्यादिसूत्रं प्रागुक्तसूत्रानुसारेण स्वयं परिभावनीयम् । सू० प्र० १ पाहु० । ('चंदमंडल' शब्दे तृतीयभागे १०७६ पृष्ठ विकम्पक्षेत्रमुक्तम् ।)

विकंपमाण-विकम्पमान-त्रि० । चलति, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

विकट्टिय-विकर्तित-त्रि० । पाटिते, तं० ।

विकडुभ-विकडुभ-न० । विदारिते, शालनके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । वृ० ।

विकट्ठ-विकृष्ट-न० । दूरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपरीतकर्षणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

विकत्त-विकिरत्-त्रि० । अन्नादिविकिरति, उत्त० २० अ० ।

विकत्थण-विकत्थन-न० । श्लाघने, व्य० ६ उ० । स्था० । आचा० ।

विकप्प-विकल्प-पुं० । भेदे, विशे० । प्रकारे, अनु० । स्था० । प्रश्न० । आ० चू० । "विकप्पो त्ति वा पगारो त्ति वा एकट्ठा" मनोविशेषे, विमर्शे, विकल्पो व्याहतिर्भजना व्यभिचार इत्येकार्थाः । विशे० । स्था० ।

एत्तो तु समासेणं, वोच्छामि विकप्पमहुणा तु ॥
अतिरेगं परिकम्मण, तह भंदुप्पायणा य बोधव्वा ।
एमादिविकप्पो तु, तत्थऽतिरेगं इमं होति ॥
एगेण अलेवकडं, कप्पो संघाडलेवगपकप्पो ।
तिप्पभिइं तु विकप्पो, मत्तगभोगो यऽणट्ठाए ॥
पादेगेण अलेवं, गिराहे जिणकप्पिया तु सो कप्पो ।

दारं—

थेराण दोन्नि पादा, संघाडेणं च हिंडंति ॥
तत्थेगपडिग्गहए, भत्तं लेवाडगम्मि हेराहंति ।
एगत्थ दवं मत्तग, दोराहं पी तिरित्तगपकप्पो ॥

दारं—

तिप्पभितिं हिंडंती, णिक्कारणमत्तएसु वा गेराहे ।
सो होति विकप्पो जइ, तत्थ य सोही इमो होति ॥
जदि भोयणमावहंती, तति मासा जति दिणा तु आणाती ।
तावइया चउमासा, बितिया आरोवणा भणिया ॥
समणीण तिराह कप्पो, चउपंचराहँ भणितो पकप्पो तु ।
तेण परेण विकप्पो, एत्तो उवहिं तु वोच्छामि ॥
तिरिह तु भणिता कप्पा, अतरंताऽधिपतिणो य कप्पविही ।
उप्पायगवज्जाणं, तिट्ठाणाऽऽरोवणा भणिता ॥
गणणाएँ पमाणेण य, उ विहियमाणं दुहा मुणेयव्वं ।
गणणाएँ जिणाणं तू, एक्को दोरिह वि वा कप्पो ॥
दो रयणी संडासी, इत्थीओ वाऽवि होति आयामे ।
रुंदादिवट्टहत्थं, एयपमाणप्पमाणं तु ॥
दो खोम्मि उरिह एक्को, थेराणं तिरिह होति गणणाए
आयामाण पमाणा, दुहत्थ अद्धं च वित्थिरणहा ॥
एसो कप्पो, तु हवे पकप्पो तु गिलाणए गुरूणं वा ।
चतुसत्तवाविया उण, माणऽतिरित्तं च वारेज्जा ॥
कारणे पकप्पो होती, विकप्पो णिक्कारणे मुणेयव्वो ।
उप्पायणगो पवित्ती, सो वतिरेगं धरेज्जाहि ॥
गणणाएँ पमाणेण व, गच्छट्ठाए तु तं पमोत्तूणं ।
जो अराहो अतिरेगं, धरेति सोधी तु तस्स इमा ॥
चाउम्मासुक्कोसे, मासियमज्झे य पंच य जहन्ने ।
तिविहम्मि वि उवहिम्मि, अतिरेगारोवणा भणिता ॥
अतिरेगउवहिदारं, संखेवेणोदितं अह इयाणिं ।

दारं—

परिकम्मदारवोच्छं, अपरिकम्मो जिणाऽणुबंधी तु ॥
कारणविही पकप्पो, थेराणं अविहिए विकप्पो उ ।
परिकम्मणा उ एसा, भंदुप्पायं अतो वोच्छं ॥
गाहट्ठ गहणँ गेज्झ, जहसंखेणिमो तु णायव्वो ।
पुरिसे पडिमा उवत्ती, तिरिह तिगा भावसुद्धाइं ॥
गाहगो गीयत्था खलु, पुरिसो नियमेण होति णायव्वो ।

दारं—

उद्दिट्ठमादियाहिं, गहणं पडिमाउ होंति य भणित्तुं ॥

दारं—

घेत्तव्वो उवही खलु, तिरिहत्ता हार उवहिसेज्ज त्ति ।
तिरिह वि तिविसुद्धाइं, उग्गममादीहि नियमेणं ॥
एगेण चेव गहणं, कप्पो दोहिं भवे पकप्पो तु ।
तिप्पभितिं तु विकप्पो, भत्ते पाणे तहा उवही ॥
आदितिएण तु गहणं, बितियट्ठाणम्मि अब्भणुराहातं ।
हंदि परिरक्खणिज्जो, सुहाकरो सव्वसाहूणं ॥
आदि त्ति होति कप्पो, तिगं ति आहारउवहिसेज्जाओ ।
गहणं तु होति तिविहं, उग्गममादी तिगविसुद्धं ॥
बितियट्ठाणपकप्पो, तत्थ वि वा सुद्धमेव घेत्तव्वं ।
असती य अणुण्णातं, पणिहाणीए असुद्धं पि ॥
केण पुण कारणेणं, गच्छे ऽसुद्धं पि उग्गमादीहिं ।
घेप्पति भणति सुणसु, कारणमिणं सो समासेणं ॥
रयणाकरो व्व जम्हा, उ आगारो होति सव्वसोक्खाणं ।
णाणादीण य पभवो, ततो पमोक्खे तु तो रक्खे ॥
आइराहता महाणो, कालो विसमो सपक्खओ दोसो ।
आदितिगभंगगेणं, गहणं भणितं पकप्पम्मि ॥
तियतिक्कंतपमाणे, अणुवासो चेव कारणणिमित्तं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिकम्मणपरिहरणे, उवही अतिरित्तगपमाणे ।
गच्छो सबालवुड्ढो, गिलाणसेहादिएहि आदिएहे ॥
एसोवमहाणे तू, तस्स दुल्लभं तिगविसुद्धं ।
दारं-
कालो विसमो दुब्भि-क्खमादिदोसा सपक्खओ उ इमे ॥
वासात्थदी बहवे, ओमाणंतो तओ होति ।
अहव असंविग्गा वी, जह महुरा कोंटइल्लगा केइ ।
मायाएँ उड्डमंती, सड्ढा अवि गोऽवि ण विजाणे ।
एतेहि कारणेहिं, अलभेयाइ तिण्ण गहणं तु ॥
आदितिगमुग्गमादी, भंगो तू भंसणा होति ।
कारणतो तिविहं पी, माणं तू ऽतिक्कमेज्जउ कदादी ॥
किं पुण तिविहं माणं, भण्णति इणमो निसामेह ।
भवती व माणमाणं, खेत्तपमाणं च कालमाणं च ॥
एवं तिविहपमाणं, अतिक्कमो तेसिमो होति ।
अतिरेगपमाणेणं, तिण्ह परेणं पि णाम गेण्हेज्जा ॥
खेत्तओऽतिक्कमो तु, परतो वि दुगाउ या मग्गे ।
कालपमाणातिक्कम-कुज्जा पाउरणगँ अकालेणं ॥
दारं-
वसती कालातीतं, असिवादणुवासणं एयं ।
दारं-
परिकम्मणमविहीए, पलियट्ठा दुब्बलम्मि कुज्जाहि ।
दुल्लभलंभे सीते ण अहिओ उणियं पंतो ॥
अतिरित्तपमाणं वा, वारिज्जति कारणेहिँ एएहिं ।
सो सव्वो तु पकप्पो, निक्कारणतो विकप्पो तु ॥
पं०भा० ३ कल्प ।

इयाणि विकप्पो--तत्र गाहा--अइरेग अपडिकम्मे जिण-कप्पियस्स ताव एगेण पाएण अलेवाडं गेण्हंतस्स कप्पो भवति । पकप्पिओ नाम-दोण्ह वि हिंडंताणं एग-पडिग्गहे कूरं, एगपडिग्गहे पाणयं, गेलण्णयारित्ता पकप्पो चेव । अह मत्तएसु गेण्हंति भत्तं पाणं वा निक्कारणे ताहे विकप्पो । आरोवणा-से जइ भोयणमावहइ चउलहु-याइ, अट्ठमे दिवसे पारंचिओ । एयं पाए वत्थे वा जिणाणं कप्पमाणाणं संडासओ सोत्थिओ वा गणणाए एगो दो तिण्णि वा । थेराण गणणा वि तिण्णि कप्पा । पमाणप्पमाणे-ण आयप्पमाणा एस कप्पो । विगप्पो पुण गाहा--तिण्णि य भणिया । असंथरंतस्स वा अण्णस्स वा बालवुड्ढाइ च-त्तारि सत्त वा पाउणेज्जा । गणणप्पमाणेण पमाणप्पमाणे उप्पायगो नाम पवत्ती तस्स बहुगा विकप्पा भवन्ति । से-साणमइरेगमणट्ठा । एए धरेंताण उवहिनिप्फण्णं पाय-च्छित्तं चाउम्मासुक्कोसे । परिकम्मेत्ति दारं । अपरिकम्माणं जिणाणं उवही थेराण विही । परिकम्मिओ जइ तो प-कप्पो । अविहिपरिकम्मिए विकप्पो । हंतुप्पायणे त्ति दारं । तत्थ गाहा--गाहओ तत्र ग्राहको ग्रहणं ग्रहीतव्यमिति पुरुषग्राहकग्रहणं प्रतिमाग्रहीतव्युपधी । तिन्नि य त्ति ति-न्नि ता वा आहारोवहिसेज त्ति । ताणि तिहिं वि सुद्धाणि उग्गमाइसुद्धाणि पुरिसे त्ति एगो कप्पे ठिओ गेण्हइ । बिइओ नाम--पकप्पो । तत्थ दो जणा गेण्हंति । तहेव कप्पो तत्थ तिण्णिभिइ बहवो वि गेण्हंति । किं च--तं घेप्पइ भत्तपाणसेज्जोवहिआइ विकप्पो त्ति । क-प्प-पकप्प-विकप्पो । तत्थाइ जिणकप्पो । तत्थ नियमं एकेण गहणं उग्गमुप्पायणेसणाए सुद्धं । बिइयट्ठाणं नाम--पकप्पो । तत्थ निक्कारणे तिहि वि उग्गमाईहिं सुद्धं । आहाराइगहणं कारणे रागदोसविप्पमुक्कस्स असुद्धं पि अणुण्णायं । एतदुक्तं भवति-तिण्हि तिका भावओ सुद्धा । किं कारणं ? आइकप्पट्ठियस्स उग्गमाइसुद्धस्स गहणं गच्छे य असुद्धमवि घेप्पइ । हंवत्स ! गच्छो परिरक्खणिज्जो सबालवुड्ढाउलो जम्हा सव्वसोक्खकरो जिणकप्पाईणं तओ निप्फत्ती रयणागरदिट्ठंतसामत्था । केण पुण कार-णेणं गच्छे उग्गमाइअसुद्धं पि घेप्पइ ?, उच्यते-आकिण्णया महायणो गाहा--जहा आकिण्णदोसा सपक्खाइ महायणो-य साहूण एगत्थ अच्छंति, जइ एगो वा दो वा अइंति तेसिं सुलभा भिक्खाई, कालो य दुब्भिक्खाईविसमो स-पक्खदोसाइ असंविग्गा वि । महुराए कोंटइल्ल य दिट्ठंतो । जहा-उग्गमेति अविकोविया य सावगा न याणेंति ताहे ओमाणदोसेण साहू ण लहंति आहाराइ, ताहे आइति-यभंगो नाम उग्गमाइगाणं अइक्कमंति । किं पुण तं ति-विहं ?, पमाणाइक्कंतं खेत्ताइक्कंतं कालाइक्कंतं । पमाणाइक्कंतं आयप्पमाणओ अइरेगं पि गिण्हेज्जा, गणणाए तिण्ह क-प्पाणं अइरेगं पि गेण्हेज्जा । खेत्तपमाणाइक्कंतं अद्धजोयणस्स परेण वि गेण्हेज्जा । कालाइक्कंतं अणुवासं उवइयं अणुव-सइ । अणुवासो--मासं वासावासं वा अच्छिओ पुणो वि तत्थेव अच्छइ । असिवाइसु कारणेसु परिकमणे त्ति अविहीए परिकमणं पि करेज्जा । पलिओगोउ त्ति अविही-ए परिकमेज्जा । अंतो कंबलिं करेज्जा । अइरेगपमाणं पि ध-रेज्जा । परिहरण त्ति असंथरंतो अंतो उणिणयं पि करेज्जा । सीयाभिभूओ एवमाइयकारणे वितहं करेंति । सो वि सव्वो विकप्पो । पं० चू० ३ कल्प । अंशे, आ० म० १ अ० ।

विकप्पण-विकल्पन-न० । छेदने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

विकप्पणत्थ-विकल्पनार्थ-पुं० । भेदकथनार्थे,आ०चू०१ अ० ।

विकप्पणा-विकल्पना-स्त्री० । अर्थभेदोपदर्शने, विशे० ।

विकप्पसो-विकल्पशस्-अव्य० । अनेकप्रकारे, व्य० १० उ० ।

विकप्पिय-विकल्पित-त्रि० । उत्प्रेक्षिते, प्रव० २ द्वार ।

विकरण-विकरण-न० । विविधमनेकप्रकारं करणं खण्डनं यस्य तद्विकरणम् । लिङ्गविवेके, वृ० ४ उ० ।

विकराल-विकराल-त्रि० । भीमे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

विकल-विकल-त्रि० । असम्पूर्णे, भ० ७ श० ६ उ० ।

विकलाएस-विकलादेश-पुं० । नयवाक्ये, स्था० २ ठा० २ उ० ।

विकसिय-विकसित-त्रि० । फुल्ले, अनु० । आ० म० ।

विकहा-विकथा-स्त्री० । विरुद्धा संयमबाधकत्वेन कथा व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चनपद्धतिर्विकथा । स्था० ४ ठा० २ उ० । अनिष्टायाम् , (आव० ४ अ० ।) पैशून्यापादिन्यां वा कथायाम् , सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

विकथाः—

चत्तारि विकहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–इत्थिकहा, भत्तकहा, देसकहा रायकहा। (सू०२८२) स्था० ४ ठा०२ उ०। संथा० । ध० । प्रश्न० । ग० । (स्त्रीकथाद्याः स्वस्वस्थाने ।)

विकथाः—

सत्त विकहाओ, पण्णत्ताओ, तं जहा–इत्थिकहा भत्तकहा देसकहा रायकहा मिउकालुणिया दंसणभेयणी चरित्तभेयणी । (सू०-५६६) स्था० ७ ठा० ३ उ० । आव० । दर्श० । ग० । जीत० ।

विकथासु प्रायश्चित्तम्—

एवं तु अइकमिज्जाणं गोयमा ! किंचूणगं दिवड्ढ वडिगं पुव्वण्हिगस्स णं पढमजामस्स एयावसरम्मि उ गोयमा ! जे णं भिक्खू गुरूणं पुरओ विहीए सज्झायं संदिसाविऊणं एगग्गचित्तेसु जाओ ते दढं धिइए घडिगूणपढमपोरिसिं जावज्जीवाभिग्गहेणं अणुदियहं अपुव्वनाणगहणं न करेज्जा, तस्स दुवालसमं पच्छित्तं निद्दिसेज्जा । अपुव्वनाणाहिज्जनाणस्स असइ जमेव पुव्वाहिज्जयं तं सुत्तत्थोभयमणुसरमाणो एगग्गमाणसेण परावत्तेज्जा, भत्तित्थीरायतक्करजणवयाइविचित्तविगहासु ण अभिरमेज्जा अवंदणिज्जा । जेसिं च णं पुव्वाहीयं सुत्तं ण छंदे अपुव्वनाणगहणस्स णं असंभवो वा तेसिमवि घडिगूणपढमपोरिसी पंचमंगलं पुणो२परावत्तियं। अहा णं णो परावत्तिया विग्गहं कुव्विया वा निसामिया वा से णं अवंदे । एवं घडिगूणगाए पढमपोरिसीए जे णं भिक्खू एगग्गचित्तो सज्झायं काऊणं तओ पत्तगमत्तगकमढइं भंडोवगरणस्स णं अवेक्खताउ तो विहीए पच्चुप्पएणं ण करेज्जा तस्स णं चउत्थं पच्छित्तं निद्दिसेज्जा । भिक्खू सदोसपच्छित्तसद्दोस इमे सवत्थपइएयं जोजणीए जइ णं तं भंडोवगरणं ण भुंजीय अहा णं परिभुंजे दुवालसं एवं अइक्कंता पढमपोरिसी । बीयपोरिसीए अत्थग्गहणं न करेज्जा पुरिमड्ढं, जइ णं वक्खाणस्स णं अभावो अहाणं वक्खाणं तत्थेव तं ण सुणेज्जा अवंदे , वक्खाणस्स संभवे कालवेलं ०जाव वायणाइसज्झायं न करेज्जा दुवालसं , एवं एत्ताए कालवेलाए जं किंचि अइयाराइ य देवसियाइयारे निंदिए गरहिए आलोइयपडिक्कंते जं किंचि काइगं वा वाइगं वा माणंसिगं वा उस्सुत्तायरणेण वा उम्मग्गायरणेण वा अकप्पासेवणेण वा अकरणिज्जसमायरणेण वा दुज्झाएण वा दुव्विचिंतिएण वा अणायारसमायरणेण वा अणिच्छियव्वसमायरणेण वा । असमणपाउमग्गसमायरणेण वा नाणे दंसणे चरित्ते सुसामाइए तिण्हं गुत्तियादीणं चउण्हं कसायादीणं पंचण्हं अणुव्वयाणं छण्हं जीवनिकायाणं सत्तण्हं पाणेसणमाईणं सत्तण्हं पिंडेसणमाईणं अट्ठण्हं पवयणमाईणं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहसमणधम्मस्स एवं तु ०जाव णं पमाइअणेगालोवगमाईणं खंडणविराहणे वा आगमकुसलेहिं णं गुरूहिं पायच्छित्तमुवइट्ठं तं निमित्तेणं जहासत्तीए अणगूहियबलवीरियपुरिसयारपरक्कमे असढत्ताए अहीणमाणसे अणसणाइ सव्वब्भंतर दुवालसविहं तवोकम्मं गुरूणमंतिए पुणरवि णिट्टंकिऊणं सुपरिफुडं काऊण तह त्ति अभिनंदित्ता णं खंडखंडी विभत्तं वा एगपिंडट्ठियं वा णं समणुचिट्ठेज्जा से णं अवंदे । से भवयं ! केणं अट्ठेणं खंडखंडीए काउं समणुचिट्ठेज्जा ?, गोयमा ! जे णं भिक्खू संवच्छरद्धचाउम्मासखमणं वा एक्को लग्गं काऊणं न सक्कुणोइ तेणं छट्ठट्ठमदसमदुवालसद्धमासखमणेहि णं तं पायच्छित्तं अणुपवेसेइ, अन्नमवि जं किंचि पायछित्ताणुयं एतेणं अट्ठेणं खंडखंडीए समणुचिट्ठेज्जा । एवं तु मसोगाढं किंचूणं पुरिमड्ढं एयावसरम्मि (महा०) (‘जे णं पडिक्कमंते वा’ इत्यादि ‘पडिक्कमण’ शब्दे पंचमभागे ३१७ पृष्ठे गतम् ।) वंदतेइ वा सज्झायं करेंतेइ वा परिभमितेइ वा संवरंतेइ वा मएइ (तपःकर्मविषयः ‘तव’ शब्दे चतुर्थभागे २२०४ पृष्ठे गतम् ।) तमेव बीयदियहे उवाहिसेज्जा जेसिं च णं वंदंताण वा पडिक्कमंताण वा दीहं वा मज्जारं वा छिंदिऊणं गयं हवेज्जा तेसिं च णं लोयकरणं अन्नत्थ गमंताणं उग्गं तवाभिरमणं एयाइ ण कुणंति तओ गच्छं वज्जे, जेणं तुमं महोवसग्गमाहणगं उप्पायगं दुन्निमित्तममंगलावहं हविया । जे णे पढमपोरिसीए वा बीयपोरिसीए वा चंकमणियाए परिसकरेज्जा अगालसन्निए वा छड्डिं करेइ वा से णं जइ चउव्विहेणं ण संवरेज्जा तओ छट्ठं दिया थंडिलेहिं एगओसन्नं वोसिरिज्जा समाहीए वा एगासणं गिलाणस्स अन्नेसिं तु छट्ठमेव । जइ णं दिया ण थंडिलं पच्चुपेहियं णो णं समाहिसंजमिया अपच्चुप्पेहिए थंडिले वहिया चेव समाहीए रयणीए मत्तं वा काइयं वा वोसिरिज्जा । एगासणं गिलाणस्स सेसाणं दुवालसं । अहाणं गिलाणस्स मिच्चुकडं वा एवं पढमपोरिसीए, बीयपोरिसीए सुत्तत्थाहिज्जाणं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोत्तूणं जे णं इत्थीकहं वा भत्तकहं वा देसकहं वा रायकहं वा तेणकहं वा गोरच्छियकहं वा अन्नं असंबद्धं वा रोद्दट्टज्झाणोदीरणकहं पत्थावेज्जा उदीरेज्जा वा कहेज्ज वा काहावेज्जा वा से णं संवच्छरं ०जाव अवंदे। अहा णं पढमचीइपोरिसीए जइ णं कहाइ महया कारणवसेणं अट्ठघडिगं वा सज्झायं न कयं तत्थ मिच्छुकमडं गिलाणस्स अनेसिं निव्विगइयं। महा० १ चू०।

विकहाविहीण--विकथाविहीन--त्रि०। विकथया-भक्तकथादिरूपया विशेषेण-हस्तसंज्ञादेरपि परिहारेण-हीनास्त्यक्ताः। त्यक्तविकथादिकेषु बृ० ३ उ०।

विकाल--विकाल--पुं०। विगतः सन्ध्याकालोऽत्रेति विकालः बृ०१उ० ३ प्रक०। दिनभिन्नेऽहोरात्रभागे, बृ०१उ०३प्रक०। चोरपारदारिकादयो विरमन्त्यत्रेति। बृ० १ उ० ३ प्रक०। संध्याकाले, बृ० १ उ० ३ प्रक०। केषांचिदाचार्याणां दिवसलक्षणकालविगमात्संध्या विकालः। बृ० २ उ० ३ प्रक०।

विकालग--विकालक--पुं०। स्वनामख्याते द्वितीये महाग्रहे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।('महग्गह' शब्दे ५ भागे विशेषो गतः)

विकासर--विकस्वर--त्रि०। "लुप्त-य-र-व-श-ष-सां शषसां दीर्घः" ॥ ८। १। ४३॥ इति मध्यदीर्घः। विकासनशीले, प्रा० १ पाद।

विकिइ--विकृति--स्त्री०। अन्यथाभावे, विशे०।

विकिंचणा--विवेचना--स्त्री०। उद्धरितभक्तपानादिपरिष्ठापनिकायाम्, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

विकिण्ण--विकीर्ण--त्रि०। विक्षिप्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

विकिण्णाभरण--विकीर्णाभरण--न०। विक्षिप्तालंकारे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

विकिरण--विकिरण--न०। विक्षेपे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। विनश्वरत्वे, तं०।

विकिरिज्जमाण--विकीर्यमाण--त्रि०। इतस्ततो विक्षिप्यमाणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

विकिरिया--विक्रिया--स्त्री०। विविधायां--विशिष्टायां क्रियायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ०। "विविहाय य विसिट्ठा य किरिया विकिरिया।" अनु०।

विकुव्वमाण--विकुर्वमाण--त्रि०। वैक्रियं कुर्वति, स्था० ३ ठा० १ उ०।

विकुस--विकुश--पुं०। वल्वजादिषु तृणविशेषेषु, भ० ६ श० ७ उ०। औ०। ध०। ज्ञा०। रा०।

विकोय--विकोच--त्रि०। फुल्ले, विशे०।

विकोवण--विकोपन--न०। प्रकोपने, झटिति तत्तदर्थतया प्रसरीभवने, पिं०।

विकोविय--विकोविद--पुं०। गीतार्थे, परिणामके, व्य०।

गीतो विकोविती खलु, कयपच्छित्तो सिया अगीतोऽवि। गीतो-गीतार्थः खलु कृतप्रायश्चित्तो विकोविदः। योऽप्यगीतो यथा आर्य! यदीदं भूयः सेविष्यसे तच्छेदं मूलं वा दास्यामः सोऽपि विकोविदः, तद्विपरीतोऽगीतार्थः। व्य०१ उ०।

विकोस--विकोश--त्रि०। विकाशिते, विशे०। अपनीतकोशके निरावरणे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

विकोसायंत--विकोशायमान--त्रि०। विगतकोशीकृते, तं०।

विकंत--विक्रान्त--त्रि०। परकीयभूमण्डलाक्रमणसमर्थे,कल्प० १ अधि० ३ क्षण। भ०। त्रयश्चत्वारिंशे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

विकंति--विक्रान्ति--स्त्री०। विक्रमे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

विक्कम--विक्रम--पुं०। पराक्रमे, तं०। औ०। पौरुषे, औ०। हरितिलकराजसुते, तं०।

विक्कमपुर--विक्रमपुर--न०। विक्रमनगरे, (बीकानेर) "चोल देसावयंसो कामाण य नयरे विक्कमपुरवत्थव्वपद्ध जिणवइसूरी चुल्लपिऊ साहुमाणदेवो" ती० २० कल्प।

विक्कमवच्छर--विक्रमवत्सर--पुं०। वीरमोक्षात्४७० वर्षे प्रवृत्ते विक्रमादित्यशके, अग०।

विक्कमसागर--विक्रमसागर--पुं०। जयपुरनगरराजस्य विक्रमसेनस्य पुत्रे, दर्श० ३ तत्त्व।

विक्कमसिंह--विक्रमसिंह--पुं०। 'किइकम्म' शब्दे उदाहृते शृङ्गारमञ्जरीपतौ, प्रव० २ द्वार।

विक्कमसूरि--विक्रमसूरि--पुं०। चान्द्रकुले देवानन्दसूरिशिष्ये, ग० २ अधि०।

विक्कमसेण--विक्रमसेन--पुं०। भारतवर्षे जयपुरनगरराजे, दर्श० ३ तत्त्व।

विक्कमाइच्च--विक्रमादित्य--पुं०। संवत्सरप्रवर्तके उज्जयिनीराजे, ती० ४५ कल्प। (पञ्चदण्डग्रन्थात्तत्कथावगन्तव्या 'कुडुंबेसर' शब्दे तृतीयभागे ५७६ पृष्ठे तत्सम्यक्त्वग्रहणमुक्तम्।)

विक्कय--विक्रय--पुं०। मूल्येनान्येषां वस्त्रपात्रादिकार्पणे, ग०। "जत्थ य मुणिणो कयविक्कयाइँ कुव्वंति संजमब्भट्ठा। तं गच्छं गुणसायर!, विसं व दूरं परिहरेज्जा" ॥१॥ग०२ अधि०।

विक्कव--विक्लव--पुं०। "सर्वत्र ल-व-राम (व) चन्द्रे" ॥ ८। २। ७९॥ इति लस्य लुक्। विकलतायाम्, प्रा० २ पाद।

विक्कवया--विक्लवता--स्त्री०। तच्छेकातिरेकेणाहारादिष्वप्यनपेक्षतायाम्। दश० ६ अ०।

विक्कायमाण--विक्रीयमाण--त्रि०। आपणे मूल्येन गृह्यमाणे, "विक्कायमाणं पसढं रएण परिफासियं" दश० १ अ० ५ उ०।

विक्किण--वि-क्री--धा०। मूल्यं गृहीत्वा वस्तुदाने, "क्रियः किणो वेस्तु के च" ॥ ८। ४। ५२॥ इति क्रीणातेर्वेः परस्य द्विरुक्तः कः चकारात् किणश्चादेशः। विक्किणइ। प्रा०। "स्वरादनतो वा" ॥ ८। ४। २४०॥ इति अन्तेऽकारागमः। विकेअइ। विक्रीणाति। प्रा० ४ पाद।

विक्खंभ--विष्कम्भ--पुं०। उन्माने, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०। पूर्वोत्तरायत्ततया विस्तारे, स्था०५ ठा०३ उ०। पृथुत्वे, स्था० १० ठा० ३ उ०। सू० प्र०। "विक्खंभायामसुप्पमाणे" विष्कम्भे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नायामेन शोभनमौचित्यानतिवर्ति प्रमाणं यस्य स विष्कम्भायामसुप्रमाणः। रा०। विस्तरे, " विक्खंभो वित्थरो य परिणाहो।" पाइ० ना० १६८ गाथा।

विक्खंभण-विष्कम्भन-न०। यथाशक्तिनिरोधे, षो० ५ विव०।

विक्खंभसूइ-विष्कम्भसूचि-स्त्री०। विस्तरश्रेणौ, अनु०।

विक्खमाण-वीक्षमाण-त्रि०। विविधं दिक्षु पश्यति, ध० ३ अधि०।

विक्खरण-विकिरण-न०। इतस्ततो विक्षेपणे, बृ० २ उ०। उपा०।

विक्खरिज्जमाण-विकीर्यमाण-त्रि०। इतस्ततो विप्रकीर्यमाणे, रा०।

विक्खाअ-विख्यात-त्रि०। प्रसिद्धे, " विक्खाओ विस्सुओ पयडो "। पाइ० ना० १०८ गाथा।

विक्खाय-विख्यात-त्रि०। प्रसिद्धे, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता०। "इक्खागरायवसभो, कुन्थू नाम नरेसरो। विक्खायकित्ती भयवं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४०॥" उत्त० १८ अ०।

विक्खिण्ण-विकीर्ण-त्रि०। प्रसारिते, भ० १४ श० १ उ०।

विक्खित्त-विक्षिप्त-त्रि०। आकृष्टे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। आव०। विक्षिप्तानि नामत एव धान्यराशयोऽभिन्नाः परमेकतः संबद्धाः। बृ० २ उ०।

व्याक्षिप्त-त्रि०। अनेकभविकलोकसंकुलायां सभायां देशनाकरणादिना व्याकुले, प्रव० २ द्वार।

विक्खित्तय-विक्षिप्तक-त्रि०। विक्षिप्ते, "विक्खित्तयं पइण्णं" पाइ० ना० १८६ गाथा।

विक्खित्ता-विक्षिप्ता-स्त्री०। प्रतिलेखितस्य वस्त्रस्य अप्रतिलिखितवस्त्रोपरिमोचनं यवनिकादौ वा प्रक्षेपणे, वस्त्राञ्चलादीनामूर्ध्वं क्षेपणे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। इयं सप्रमादा प्रतिलेखना षष्ठी त्याज्या। उत्त० २६ अ०। ' विक्खित्तत्ति भण्यते' तत्राह-" विक्खेवं तु विक्खेवो " विक्षेपां तु तां विद्धि यत्र वस्त्रस्यान्यत्र क्षेपणम्। एतदुक्तं भवति-प्रतिलेखयित्वा वस्त्रमन्यत्र जवनिकादौ क्षिपति। अथवा-विक्षेपा वस्त्राञ्चलानामूर्ध्वं यत् क्षेपणम्, स च प्रत्युपेक्षणायां न कर्तव्यः। ओघ०।

विक्खेव-विक्षेप-पुं०। विस्मृतिगमने, व्य० ६ उ०। सप्तदशे निर्ग्रन्थस्थानभेदे, स्था०। क्षोभे, "छोहो विक्खेवो" पाइ० ना० २७० गाथा।

विक्खेवणविणय-विक्षेपणविनय-पुं०। विक्षिप्यते इति विक्षेपणं तदेव विनयो विक्षेपणविनयः। विनयभेदे, प्रव०। स चतुर्धा-तत्र मिथ्यादृष्टिं मिथ्यामार्गाद्विक्षिप्य सम्यक्त्वमार्गं ग्राहयतीत्येकः। सम्यग्दृष्टिं तु गृहस्थं गृहस्थभावाद्विक्षिप्य प्रव्राजयतीति द्वितीयः। सम्यक्त्वाच्चारित्राद्वा च्युतं तद्भावाद्विक्षिप्य पुनस्तत्रैव व्यवस्थापयतीति तृतीयः, स्वयं च चारित्रधर्मस्य यथैवाभिवृद्धिस्तथैव प्रवर्ततेऽनेषणीयपरिभोगादित्यागेन च एषणीयपरिभोगादिस्वीकारेण चेति चतुर्थः। प्रव० ६४ द्वार।

विक्षेपणाविनयमाह—

अदिट्ठं दिट्ठं खलु, दिट्ठं साहम्मियत्तविणएणं।
चुयधम्म धम्मे ठावे, तस्सेव हियट्ठमब्भुट्ठे ॥ ३०३ ॥

अदृष्टम्—अदृष्टधर्म्माणं दृष्टमिव दृष्टपूर्वमिव—धर्म्मं ग्राहयति। दृष्टं—दृष्टपूर्वश्रावकं साधर्म्मिकत्वविनयेन विनयति; प्रव्राजयतीत्यर्थः। तथा च्युतधर्म्मं-धर्मात्प्रभ्रष्टं पुनर्धर्म्मे स्थापयति। तथा तस्यैव चारित्रधर्म्मस्य वृद्धये हितमभ्युत्तिष्ठति।

तत्र प्रथमभेदव्याख्यानार्थमाह—

वी णाणाभावम्मि,खिवि पेरणे विक्खिवित्तु परसमया।
ससमयंतेणमभिछुभे, अदिट्ठधम्मं तु दिट्ठं वा ॥३०४॥

विशब्दो-नानाभावे 'क्षिप' प्रेरणे परसमयाद्विनिक्षिप्य नानाप्रकारं प्रियदृष्टधर्म्माणं दृष्टं चेति। वाशब्द-उपमायाम्। दृष्टधर्म्माणमिव स्वसमयान्तेन स्वसमयाभिमुखमभिक्षिपति।

एतदेव चरमपदं व्याचष्टे—

धम्मसभावो सम्म-द्दसणं तं जण पुव्वि न उ लद्धं।
सो होति दिट्ठपुव्वो, तं गाहइ पुव्वदिट्ठं च ॥ ३०५॥

धर्म्मः स्वभावः सम्यग्दर्शनमित्येकार्थम्। तत्सम्यग्दर्शनं येन पूर्वं न लब्धं स भवत्यदृष्टपूर्वोऽदृष्टपूर्वधर्म्मस्तं पूर्वदृष्टमिवाविचिक्तो विश्रान्ततया पूर्वोपलब्धमिव धर्म्मं ग्राहयति।

अदृष्टम्, दृष्टमित्यस्यान्यथा व्याख्यानमाह—

जह मायरं च पियरं, मिच्छद्दिट्ठिं पि गाहिसम्मत्तं।
दिट्ठपुव्वं च सावग-साहम्मि करेति पव्वावे ॥ ३०६॥

न दृष्टं-अदृष्टं पूर्वं—दृष्टमिव—दृष्टपूर्वमिव धर्म्मं ग्राहयति। किमुक्तं भवति-यथा भ्रातरं पितरं वा सम्यक्त्वं ग्राहयति एवमदृष्टपूर्वं मिथ्यादृष्टिमपि सम्यक्त्वं ग्राहयति। ' दिट्ठसाहम्मिय' त्ति 'विणएणं' इत्यस्य व्याख्यानमाह-दृष्टो नामदृष्टपूर्वः, स च श्रावकस्तं साधर्म्मिकत्वविनयेन शिक्षयतिसाधर्म्मिकं करोति; प्रव्राजयतीत्यर्थः।

'चुतधम्म धम्मे ठावे' इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह—

चुयधम्मो भट्ठधम्मो, चरित्तधम्मो तु दंसणातो वा।
तं ठावेइ तहिं चिय, पुणो वि धम्मे जहोदिट्ठो॥३०७॥

च्युतधर्म्मो नाम—भ्रष्टधर्म्मः, धर्म्माद्भ्रष्टो भ्रष्टधर्म्मः, राजदन्तादिदर्शनात् धर्मशब्दस्य परनिपातः। कस्मात् च्युत इत्याह—चारित्रधर्म्मात् दर्शनाद्वा। तं च्युतधर्म्माणं तत्रैवचारित्रधर्म्मे सम्यग्दर्शने वा यथोचिते पुनः स्थापयति। एष तृतीयो भेदः।

'तस्सेव हियट्ठमब्भुट्ठे' इति चतुर्थभेदमाह—

तस्सत्ती तस्सेव उ, चरित्तधम्मस्स वुड्ढिहेतुं तु।
वारेयऽणेसणादी, न य गिण्हे सयं हियट्ठाए॥३०८॥

तस्येति-तस्यैव चारित्रधर्मस्य वृद्धिहेतोरेषणादि वारयति। हितार्थमभ्युत्तिष्ठतीति हितार्थाय। नच स्वयमनेषणादि गृह्णाति। हितायायेत्युपलक्षणं तेन हिताय सुखाय क्षमाय निःश्रेयसे आनुगामिकायाभ्युत्तिष्ठतीति द्रष्टव्यम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततो हितादिपदानां व्याख्यानमाह—

जं इहपरलोगे वा, हितं सुहं तं खमं मुणेयव्वं ।
निस्सेयसँ मोक्खाय उ, यंत अणुगच्छते जं तु ॥२०६॥

यत्-यस्मात् कारणात् तत्-अभ्युत्थानमिहलोके हितं तेन हितमित्युच्यते । सुखम्—इहपरलोके सुखकरणात्, क्षमम्-ऐहिकपारत्रिकप्रयोजनक्षमत्वात्, निःश्रेयसं-कल्याणकारित्वात्, अनुगामि यन्मोक्षाय अनुगच्छति।व्य०१०उ० ।

विक्खेवणी-विक्षेपणी-स्त्री० । विक्षिप्यते सन्मार्गात्कुमार्गे कुमार्गाद् वा सन्मार्गे श्रोताऽनयेति विक्षेपणी । स्था० ४ ठा० २ उ० । कथाभेदे, स्था० ।

विक्खेवणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-ससमयं कहेइ, ससमयं कहेत्ता परसमयं कहेइ१, परसमयं कहेत्ता ससमयं ठावित्ता भवइ २, सम्मावायं कहेइ सम्मावायं कहेत्ता मिच्छावायं कहेइ ३, मिच्छावायं कहेत्ता सम्मावायं ठावइत्ता भवइ ४ । (सू०-२८२ ×)

स्वसमयं-स्वसिद्धान्तं कथयति-तद्गुणानुद्दीपयति पूर्वं ततस्तं कथयित्वा परसमयं कथयति, तद्दोषान् दर्शयतीत्येका १। एवं परसमयकथनपूर्वकं स्वसमयं स्थापयिता-स्वसमयगुणानां स्थापको भवतीति द्वितीया २। 'सम्मावाय' मित्यादि, अस्यायमर्थः—परसमयेष्वपि घुणाक्षरन्यायेन यो यावान् जिनागमतत्त्ववादसदृशतया सम्यग् अविपरीतस्तत्त्वानां वादः सम्यग्वादस्तं कथयति । तं कथयित्वा तेष्वेव यो जिनप्रणीततत्त्वात्—विरुद्धत्वं मिथ्यावादस्तं दोषदर्शनतः कथयतीति तृतीया ३ । परसमयेष्वेव मिथ्यावादं कथयित्वा सम्यग्वादं स्थापयिता भवतीति चतुर्थी ४। अथवा-सम्यग्वादः-अस्तित्वं मिथ्यावादः-नास्तित्वं तत्रास्तिकवादिदृष्टीरुक्त्वा नास्तिकवादिदृष्टीर्भणतीति तृतीया। एतद्विपर्ययाच्चतुर्थीति । स्था० ४ ठा० २ उ० । द्वा० । ग० । औ० । दश० ।

विक्षेपणीमाह—

जा ससमयवज्जा खलु, होइ कहा लोगवेयसंजुत्ता ।
परसमयाणं च कहा, एसा दिक्खेवणी नाम ॥१६७

कथयित्वा स्वसमयं-स्वसिद्धान्तं ततः कथयति परसमयं-परसिद्धान्तमित्येको भेदः, अथवा—विपर्यासाद्-व्यत्ययेन कथयति—परसमयं कथयित्वा स्वसमयमिति द्वितीयः। मिथ्यासम्यग्वादयोरेवमेव भवतो द्वौ भेदाविति मिथ्यावादं कथयित्वा सम्यग्वादं कथयति, सम्यग्वादं च कथयित्वा मिथ्यावादमिति । एवं विक्षिप्यतेऽनया सन्मार्गात् कुमार्गे कुमार्गाद्वा सन्मार्गे श्रोतेति विक्षेपणीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः। तच्चेदम्-"विक्खेवणी सा चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा-ससमयं कहेत्ता परसमयं कहेइ १, परसमयं कहेत्ता ससमयं कहेइ २, मिच्छावादं कहेत्ता सम्मावादं कहेइ ३, सम्मावादं कहेत्ता मिच्छावायं कहेइ ४। तत्थ पुव्विं ससमयं कहेत्ता परसमयं कहेइ—ससमयगुणे दीवेइ परसमयदोसे उवदंसेइ। एसा पढमा विक्खेवणी गया। इयाणीं बिइया भन्नइ—पुव्विं परसमयं कहेत्ता तस्सेव दोसे उवदंसेइ, पुणो ससमयं कहेइ गुणे य से उवदंसेइ । एसा बिइया विक्खेवणी गया । इयाणिं तइया—परसमयं कहेत्ता तेसु चेव परसमएसु जे भावा जिणप्पणीएहिं भावेहिं सह विरुद्धा असंता चेव वियप्पिया ते पुव्विं कहित्ता दोसा तेसिं भाविऊण पुणो जे जिणप्पणीयभावसरिसा घुणक्खरमिव कहवि सोभणा भणिया ते कहयइ । अहवा मिच्छावादो णत्थित्तं भन्नइ, सम्मावादो अत्थित्तं भण्णति । तत्थ पुव्विं णाहियवाईणं दिट्ठीओ कहित्ता पच्छा अत्थित्तपक्खवाईणं दिट्ठीओ कहेइ । एसा तइया विक्खेवणी गया । इयाणिं चउत्थी विक्खेवणी । सावि एवं चेव । णवरं पुव्विं सोभणे कहेइ पच्छा इयरेत्ति । एवं विक्खिवति सोयारंति " गाथाभावार्थः । दश० ३ अ० १ उ० ।

विक्खेविया-व्याक्षेपिका-स्त्री० । व्याक्षेपस्य व्याक्षेपशब्दस्य भावः प्रवृत्तिनिमित्तं व्याक्षेपिका । व्याक्षेप, व्य० ६ उ० ।

विग—वृक—पुं० । ईहामृगपर्याये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । तरक्षके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । प्रश्न० ।

विगइ—विकृति—स्त्री० । विकारे, बृ० ३ उ० । शरीरमनसोः प्रायो विकारहेतुत्वात् घृतादिरसविशेषे, स्था० ।

चत्तारि सिणेहविगतीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तेल्लं घयं वसा णवणीतं । चत्तारि महाविगतीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—महुं मंसं मज्जं णवणीतं ॥ (सू०--२७४+)

'चत्तारि, इत्यादि, गवां रसो गोरसः' व्युत्पत्तिरेवेयं गोरसशब्दस्य, प्रवृत्तिस्तु महिष्यादीनामपि दुग्धादिरूपे रसे । विकृतयः शरीरमनसोः प्रायोविकारहेतुत्वादिति । शेषं प्रकटम्, नवरं सर्पिः—घृतम् नवनीतं—म्रक्षणं स्नेहरूपाविकृतयः स्नेहविकृतयो वसा--अस्थिमध्यरसः, महाविकृतयो—महारसत्वेन महाविकारकारित्वात्, महतः सत्त्वोपघातस्य कारणत्वाच्चेति । इह विकृतिप्रस्तावाद् विकृतयो वृद्धगाथाभिः प्ररूप्यन्ते—

" खीरं ५ दहि ४ णवणीयं ४,
घयं ४ तहा तेल्लमेव ४ गुड २ मज्जं २ ।
महु ३ मंसं ३ चेव तह,
ओगाहिमगं च दसमी उ ॥ १ ॥
गोमहिसुट्टिपसूणं, एलगखीराणि पंच चत्तारि ।
दहिमाइयाइँ जम्हा, उट्टीणं ताणि णो हुंति ॥ २ ॥
चत्तारि होंति तेल्ला, तिलअयसिकुसुंभसरिसवाणं च ।
विगईओ सेसाइं, डोलाईणं न विगईओ ॥ ३ ॥
दवगुलपिंडगुला दो, मज्जं पुण कट्ठपिट्ठनिप्फन्नं ।
मच्छियकोत्तियभामर-भेयं च तिहा महुं होइ ॥ ४ ॥
जलथलखहयरमंसं, चम्मं वससोणियं ति हेयं पि ।
आइल्ल तिन्नि चलचल, ओगाहिमगं च विगईओ ॥ ५ ॥"

आदिमानि त्रीणि चलचलेत्येवं पक्वानि विकृतिरित्यर्थः ।

" सेसा न होंति विगई, अजोगवाहीण ते उ कप्पंती ।
परिभुज्जंति न पायं, जं निच्छयओ न नज्जंति ॥ १ ॥
एगेण चेव तवअ, पूरिज्जति पूयएण जो ताओ ।
बीओ वि स पुण कप्पइ, निव्विगई लेवडो नवरं ॥ २ ॥ "

स्था० १ ठा० ४ उ० । (तैलघृतवशानवनीतव्याख्या स्वस्वस्थाने ।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नव विकृतयः—

नव विगईओ पएणत्ताओ, तं जहा-खीरं दहि एवणीयं सप्पिं तिल्लं गुलो महुं मज्जं मंसं। (सू० ६७४)

'विगईओ'त्ति विकृतयो विकारकारित्वात्पक्वान्नं तु कदाचिदविकृतिरपि तेनैता नव अन्यथा तु दशाऽपि भवन्तीति, तथाहि-'पक्केण चेव तओ. पूरिज्जइ पूयएण जो ताओ। बीओ वि स पुण कप्पइ, निव्विगइअलेवडो नवरं' मिति। द्वितीयोऽपि विकृतिर्न भवतीति भावः। तत्र क्षीरं पञ्चधा-अजैडकागोमहिष्युष्ट्रीभेदाद् दधिनवनीतघृतानि चतुर्द्धैव, उष्ट्रीणाम् तदभावात्, तैलं चतुर्द्धा-तिलातसीकुसुम्भसर्षपभेदात्। गुडो द्विधा-द्रवपिण्डभेदात्। मधु त्रिधा—माक्षिककौन्तिकभ्रामरभेदात्। मद्यं द्विधा-काष्ठपिष्टभेदात्। मांसं त्रिधा-जलस्थलाकाशचरभेदादिति। स्था० ६ ठा० ३ उ०। दश विकृतयः मनसो विकृतिहेतुत्वात् विकृतयस्ताश्च दश। यदाहुः—"खीरं दहि एवणीयं, घयं तहा तेल्लमेव गुड मज्जं। महु मंसं चेव तहा, उग्गाहिमगं च विगईओ॥१॥" तत्र पञ्च क्षीराणि गोमहिष्यजोष्ट्रैलकासम्बन्धिभेदात्। दधिनवनीतघृतानि च चतुर्भेदानि, उष्ट्रीणां तदभावात्। तैलानि चत्वारि-तिलातसीलट्टासर्षपसंबन्धिभेदात्, शेषतैलानि तु न विकृतयः लेपकृतानि तु भवन्ति। गुडः-इक्षुरसक्वाथः, स द्विधा-पिण्डो, द्रवश्च। मद्यं द्वेधा-काष्ठपिष्टोद्भवत्वात्। मधु त्रेधा-माक्षिकं, कौन्तिकं, भ्रामरं च। मांसं त्रिविधं-जलस्थलखचरजन्तूद्भवत्वात्, अथवा-मांसं त्रिविधं—चर्मरुधिरमांसभेदात्। अवगाहेन स्नेहबोलनेन निर्वृत्तमवगाहिमं पक्वान्नम् 'भावादिमः' ६-४-२१। श्री सि० इतीमः।यत्तापिकायां घृतादिपूर्णायां चलाचलं खाद्यकादि पच्यते तस्यामेवं तापिकायां तेनैवं घृतेन द्वितीयं तृतीयं च खाद्यकादि विकृतिः ततः पक्वान्नानि अयोगवाहिनां निर्विकृतिप्रत्याख्यानेऽपि कल्पन्ते। अथैकेनैव पूपकेन तापिका पूर्यते तदा द्वितीयं पक्वान्नं, निर्विकृतिप्रत्याख्यानेऽपि कल्पते। लेपकृतं तु भवतीत्येषा वृद्धसामाचारी। ध० २ अधि०। तथा तद्दिनतलितपक्वान्नं कटाहविकृतिप्रत्याख्यानवतः कल्पते न वेति ?, अत्र तद्दिनतलितपक्वान्नं कटाहविकृतिप्रत्याख्यानवतः प्रत्याख्यानकरणसमये यदि मुत्कलं रक्षितं भवति तदा कल्पते नान्यथेति परंपरा दृश्यते इति। ही० ४ प्रका०। श्रावकैर्विकृतयो भक्ष्याः षट्। ता दुग्ध १ दधि २ घृत ३ तैल ४ गुड सर्वपक्वान्नभेदात्। ध० २ अधि०। आव०।

इदानीं कस्यां विकृतौ कानि किन्नामकानि कियन्ति विकृतिगतानि भवन्तीत्याह—

अह पेया १ दुद्धट्टी २, दुद्धवलेही य ३ दुद्धसाडी य ४।
पंचेव विगइगयाइँ, दुद्धम्मि य खीरसहियाइं॥ २३१॥

अथानन्तरं पञ्चैव दुग्धे चशब्दस्यावधारणार्थत्वात् विकृतिगतानि भवन्ति, विकृतौ क्षीरादौ गतानि—स्थितानि विकृतिगतानि—विकृत्याश्रितानि; न विकृतिरित्यर्थः। कानि तानीत्याह—पेया ; दुग्धकाञ्जिकमित्यर्थः। तथा दुग्धाटी-दुग्धावलेहिका दुग्धसाटिका च क्षीरसहिता इति। क्षैरेय्या पायसेन सहितानि पूर्वोक्तानि चत्वारि पञ्चमी च; क्षैरेयीत्यर्थः। एतानि क्षीरे पञ्च विकृतिगतानीति।

एतेषु स्वयमेव कानिचिद्विवृणोति—

अंबिलजुअम्मि दुद्धे, दुद्धट्टी दक्खमीसरद्धम्मि।
पयसाडी तह तंदुल-चुराणसेहम्मि अवलेहि॥ २३२॥

अम्लिलेन युक्ते दुग्धे दुग्धाटी किलाटिकेत्यर्थः, अन्ये तु बलाहिकामाहुः, तथा द्राक्षामिश्रे दुग्धे राद्धे पयसाटी, पयो-दुग्धं सटति—गच्छतीति व्युत्पत्तेः, तथा तन्दुलचूर्णकसिद्धे दुग्धे अवलेहिका।

दधिविकृतिगतान्याह—

दहिए विगयगयाइं, घोलवडा घोल सिहरिणि करंबो।
लवणकणदहि य महियं,संगरिगायम्मि अप्पडिए।२३३।

दध्नि-दधिविषये विकृतिगतानि पञ्च घोलवटकानि-घोलयुक्तवटकानि तथा घोलो—वस्त्रगालितं दधि, तथा शिखरिणी करमथितखण्डयुक्तदधिनिष्पन्ना, तथा करम्बको दधियुक्तकूरनिष्पन्नस्तथा लवणकणयुक्तं दधि च मथितं राजिका खाटकमित्यर्थः। तच्च संगरिकादिके पतितेऽपि विकृतिगतं भवति। संगरिका पुंस्फलं शकलादौ पतिते पुनर्भवत्येव।

घृतविकृतिगतान्याह—

पक्कघयं घयकिट्टी, पक्कोसहिउपरि तरियसप्पिं च।
निब्भंजण वीसंदण, गई घय विगय विगइ गया॥२३४॥

औषधैः पक्वं घृतं सिद्धार्थकादि. तथा घृतकिट्टी—घृतमलं तथा घृतपक्वौषधोपरि तरिकारूपं यत् सर्पिस्तद्विकृतिगतम्, तथा निर्भञ्जनं पक्वान्नोत्तीर्णं दुग्धघृतमित्यर्थः। तथा विस्पन्दनं दधितरिका कणिक्कानिष्पन्नद्रव्यविशेषः, सपादलक्षप्रसिद्धं घृतविकृतिगतान्येतानि पञ्चापीत्यर्थः।

तैलविकृतिगतान्याह—

तेल्लमली १ तिलकुट्टी २, दद्ध तेल्लं ३ तहोसहोव्वरियं।
लक्खाइ४दव्वपक्कं, तेल्लं५तेल्लम्मि पंचेव॥ २३५॥

तैलमलिका१तथा तिलकुट्टिः तथा दग्धं तैलं निभर्ज्जनमित्यर्थः, तथा तैलपक्वौषधोपरिभागे यदुद्धरितं तथा लाक्षादिद्रव्यपक्वं च तैलम्। एतानि तैलविकृतौ पञ्च तैलविकृतिगतानि।

गुडविकृतिगतान्याह—

अद्धकढिक्खुरसो २, गुडपाणीअं च सक्कराखंडं।
पायगुलं गुलविगई, विगइगयाइं तु पंचेव॥ २३६॥

अर्द्धक्वथितेक्षुरसस्तथा गुडपानीयम्, तथा शर्करा, तथा खण्डम् तथा पाकगुडो येन खज्जकादि लिप्यते गुडविकृतौ विकृतिगतानि एतानि पञ्चैव।

पक्वान्ने विकृतिगतान्याह—

जेणेगेणं तवओ, पूरिज्जइ पूयगेण तव्वीओ।
अक्खवियनेहो पचइ, जइ सव्वे होइ ते विगई॥ २३७॥
एगं एगस्सुवरिं, तिन्नोवरिं बीअगं च जं पक्कं।
तुप्पेणं तेणं चिय, तइयं गुलहाणिया पभिई॥ २३८॥

एकं विकृतिगतं तद्यदेकस्य घाणस्योपरि पच्यते। कोऽभिप्रायः ?, प्रक्षिप्तघृतादिके तापके पक्केनैव पूपकेन स-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कले पूरिते, द्वितीयपूपकादिस्तत्र प्रक्षिप्तो विकृतिगतमेव भवति । यदवाचि—" जेणेगेणं तवश्रो, पूरिज्जइ पूयगेण तव्वीश्रो । अखिविय नेहो पच्चइ, जइ सो नइ होइ तव्विगई ॥१॥" द्वितीयं विकृतिगतं त्रयाणां घाणानामुपरि अप्रक्षिप्तापरघृतम् ,यत्तेनैव 'तुप्पेण'त्ति घृतेन पक्वं तृतीयं गुडधानिकाप्रभृति ।

तथा—

चउत्थं जलेणं सिद्धा, लप्पसिया पंचमं तु पूयलिश्रा ।
चुप्पडियतावियाए, परिपक्कंती समिलिएसुं ॥२३६॥

चतुर्थं समुत्सारिते सुकुमारिकादौ पश्चादुद्ध(द्ध)रितघृतादिखरण्टितायां तापिकायां जलेन सिद्धा लपनश्रीः पञ्चमम्।पुनः स्नेहदिग्धतापिकायां परिपक्वा पूपका । एवं च षद् विकृतिसंबन्धिनी । पञ्च पञ्च विकृतिगतानि मिलितानि त्रिंशद्भवन्तीति । इह च विकृतिगतानां स्वरूपं नाचार्येण स्वमनीषिकयाऽभिदधे किं तु सिद्धान्ताभिहितमेव ।

यदाह—

आवस्सयचुणीए, परिभणिश्रं एत्थ वरिणश्रं कहियं ।
कहिअव्वं कुसलाणं,पउंजिअव्वं तु कारणिए ॥२४०॥

आवश्यकचूर्णौ परिभणितम् , अत्र ग्रन्थे वर्णितं-सामान्यद्वारेण कथितम् ,विशेषद्वारेणास्माभिरेतच्च कथयितव्यम् , कुशलानां-बुद्धिमतां प्रयोक्तव्यश्च कारणिके-कारणिकविषये । अयमभिप्रायः—यद्यपि क्षैरेयीप्रमुखाणि साक्षाद्विकृतयो न भवन्ति किं तु विकृतिगतान्येव निर्विकृतिकानामपि कल्पन्ते, तथापि उत्कृष्टानि एतानि द्रव्याणि भक्ष्यमाणान्यवश्यं मनोविकारमानयन्ति शान्तानामपि, न च कृतनिर्विकृतिकानामेतेषु भक्ष्यमाणेषु उत्कृष्टा निर्जरा संपद्यते तस्मादेतानि न गृह्यन्ते इति । यस्तु विविधतपःकरणक्षाम उदारानुष्ठानं स्वाध्यायाध्ययनादिकं कर्तुं न शक्नोति सविकृतिगतान्युत्कृष्टान्यपि द्रव्याणि भुङ्क्ते, न कश्चिद् दोषः। कर्मनिर्जराऽपि तस्य महती भवति । यदाहुः—

"नवरं इह परिभोगो, निव्विइयाणं पि कारणावेक्खो ।
उक्कोसगदव्वाणं, नउ विसेसेण विन्नेश्रो ॥ १ ॥
आवन्नानिव्विगइय-स्स असाहुणो जुज्जई परीभोगो ।
इंदियजयखुद्दाए, विगई चायम्मि नो जुत्तो ॥ २ ॥
जो पुण विगई चायं, काऊणं खाइ निद्धमहुराइं ।
उक्कोसगदव्वाइं , तुच्छफलो तस्स सो नेश्रो ॥ ३ ॥
दीसंति श्र केइ इहिं, पच्चक्खाए वि मंदधम्माणो ।
कारणिश्रं पडिसेवं, श्रकारणेणावि कुणमाणा ॥ ४ ॥
निलमोअगतिलवट्टि, वरिसो लगनालिकेरखंडाइं ।
अइबहलघोलखीरिं, घयपप्पुयवंजणाइं च ॥ ५ ॥
घयबुट्टमंडगाई, दहिदुद्धकरंबधेयमाईयं ।
कुल्लुरिचूरिमपमुहं,श्रकारणे केइ भुजंति ॥ ६ ॥
न य तं पि इह पमाणं, जहुत्तकारीण आगमंतूणं ।
जरजम्ममरणभीसण-भवन्नवुब्बिग्गचित्ताणं ॥ ७ ॥
मोत्तुं जिणाणमाणं, जियाण बहुदुहदवग्गिगतवियाणं ।
न हु अन्नो पडियारो, कोइ इहं भववणे जेण ॥ ८ ॥
विगई परिणइधम्मो,मोहो जसुदिज्जए उदिन्ने य ।
सुट्ठु वि चित्तचयपरो, कहं अकज्जे न वट्टिहिइ ॥६॥
दावानलमज्झगश्रो, को तदुवसमट्ठयाए जलमाई ।
संते वि न सेविज्जा, मोहानलदीविए उवमा ॥ १० ॥
विगइं विगईभीश्रो, विगयगयं जो य भुंजए साहू ।
विगई विगयसहावो, विगई विगइं बला नेइ ॥ ११ ॥ "

इत्यादि । सुगमाश्चैताः, नवरमन्त्यगाथाः किंचिद्विषमत्वाद्वितन्यते । विगतेर्नरकादिकाया यो भीतस्त्रस्तः साधुर्विकृतिं क्षीरादिकाम् , चशब्दस्यापि दर्शनाद्विकृतिगतं च क्षीरान्नादिकं यो भुङ्क्ते स दुर्गतिं यातीति शेषः । कस्मादित्याह—विकृतिबलात् जीवमनिच्छन्तमपि विगतिं नरकादिकां नयतीति । एतदपि कुत इत्याह-विकृतिर्यतो विकृतिस्वभावा मनोविकारकारिस्वरूपेति । प्रव० ४ द्वार । वृ० । श्रा० चू० । नि० चू० । पं० व० । दश० । (विकृतावुदाहरणम् ' आलंबण ' शब्दे द्वितीयभागे ३६४ पृष्ठे गतम् ।) (वर्षासु विकृतिस्थापनम् ' पज्जुसवणाकप्प ' शब्दे पञ्चमभागे २४२ पृष्ठे उक्तम् ।)

विकृतिं भुङ्क्ते णिज्जतिवित्थारे ति इच्छामो नाउं
का विगती केवतियाउ वा । गाहा—

तेल्ले घतणवणीते, दधिविगती उ होंति चत्तारि ।
फाणियविगडे दो दो, खीरम्मि य होंति पंचेव ॥३४॥
मधुपोग्गलम्मि तिण्णि व,चलचल ओगाहिमं च जं पक्कं।
एतासिं अवदिसं, जोगमजोगे य संवरणे ॥ ३५ ॥

सव्वे तेल्ला एक्कविगती, सेसा पुण तेल्ला णिव्विगइया लेवाडा पुण, सव्वे घता एका य विगती । एवं णवणीयादि वि । दहिविगतीश्रो वि चत्तारि गावीमहिसीअयएलगाणं च । फाणिश्रो गुलो भणति सो दुविहो-छिद्दगुडो, खंडगुडो य । वियडं-मज्जं तस्य दो भेया,पिट्ठकडं, गुलकडं च । खीराणि पंच, गावीमहिसीअयएलयउट्टीणं च । मद्दूणि तिण्णि-कोंतियं मक्खियं भामरं च । पोग्गलाणि तिण्णि, जलयं थलयं खहचरं च । चलचले त्ति तत्थ पढमं जं घयं खित्तं तत्थ अण्णं अ पक्खिवंती । आदिभे जे तिण्णि घाणा एयतितं चलचले त्ति तेण ते अचलचलओगाहिमं भण्णति । तत्थेव घता जे सेसा पच्चंति तेण चलचलेत्ति, अतो तेण आतिल्ला तिण्णि घाणा मोत्तुं सेसा पच्चक्खाणिस्स कप्पंति । जति अण्णं घयं ण पक्खिवति, जोगवाहिस्स पुण सेसगा विगती । एतेसिं विगतीणं जो अण्णतरं विगतिं आहारेति जोगवाही वा संवरणे वा ।

गाहा—

आगाढमणागाढे, दुविधे जोगे समासतो होति ।
आगाढेण व वज्जण, भयणं पुण होतऽणागाढे ॥३६॥

जोगो दुविहो-आगाढो य,अणागाढो य । अगाढतरा जम्मि जोगं जतणा सो आगाढो यथा-भगवतीत्यादि, इतरो अणागाढो यथा-उत्तराध्ययनादि । आगाढे ओगाहिमवज्जा णव विगतीश्रो वज्जिज्जेति।दसमाए भयणा।सव्वा ओगाहिमविगती पण्णत्तीए कप्पति,महाकप्पेसु ते एक्का, परं मोत्तगविगती कप्पति । सेसा आगाढेसु सव्वविगतीतो ण कप्पंति । अणागाढे पुण दस विगतीश्रो भयंति।ताश्रो जश्रो गुरुअणुण्णाते कप्पंति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अणुएणाए विणा ण कप्पंति । एसा भयणा । जति अणुएणाते अविधीए तो जोगभङ्गो भवति वा । जोगभंगो दुविहो-सव्वभंगो, देसभंगो य ।

गाहा—

विगतिमणट्ठा भुंजति, ण कुणति आयंबिलं ण सद्दहती ।
एसो तु सव्वभङ्गो, देसे भङ्गो इमो तत्थ ॥ ३७ ॥

विगती निक्कारणे अणुएणाओ भुंजति आयंबिलवारए आयंबिलं ण कारेति, सव्वरसे य भुंजति ण सद्दहति वा एस सव्वभङ्गो । आगाढे सव्वभंगे चउगुरुं, अणागाढे सव्वभंगे चउलहुं, इमो देसभंगे ।

गाहा—

काउस्सग्गमकातुं, जति भोत्तूण कुणति वा पच्छा ।
सयकाउँ जे च भुंजति, तत्थ लहू तिण्णि उ विसिट्ठा ॥ ३८ ॥

जदि कारणे काउस्सग्गमकाउं भुंजइ भोत्तूण वा पच्छा काउस्सग्गं करेति, सयं वा काउस्सग्गं काउं भुंजइ । अवरो गुरुं भणति—मम विगतिं विसज्जेह । एएसु वि चउसु वि मासलहुं तवकालविसिट्ठं चउत्थे दोहि वि लहुं । जो पुण कारणे अणुएणातो काउस्सग्गं काउं भुंजति सो सुद्धो । आगाढजोगे वि देसभंगे एवं चेव नवरं मासगुरुं ।

अणागाढागाढजोगाण देसभंगे इमं पच्छित्तं । गाहा—

ण करेति भुंजितूणं, करेति काऊण भुंजति सयं तु ।
वीसज्जे धम्मंति य, तवकालविसेसिओ मासो ॥ ३९ ॥

इमो विगतिविवज्जणे गुणो—

जागरंतमजीए वि, ण फुसे लूहवित्तिणं ।
जोगीऽहं ती सुहं लद्धो, विगती परिहरिस्सति ॥ ४० ॥

सुत्तत्थधरणहेतुं रातो जागरंतं अजीरातिया दोसा ण फुसंति लूहवित्तिणं । किं चान्यात्—जोगीऽहमिति लद्धे वि सुहेणं विगतिवज्जंति । कारणे जोगीऽवि विगतिं आहारेति ।

गाहा—

बितियपदमणागाढे, गेलएणए महामहट्ठाणे ।
ओमे य रायदुट्ठे, ऽणागाढाऽऽगाढ जतणाए ॥ ४१ ॥

अणागाढगेलएणगहणातो गाढं पि गहियं वए त्ति गोउलं महामहो—इंदमहादि अद्धाणे वा ओमे दुब्भिक्खे रायदुट्ठे वा, एतेहिं कारणेहिं अणागाढजोगी आगाढजोगी वा जयणाए विगतिं वि भुंजति ।

गाहा—

जोगे गेलएणम्मि य, अगाढितरे य होति चतुभंगो ।
पढमो उभयागाढे, बितिओ ततिओ य एक्केणं ॥ ४२ ॥

जोगगेलएणेसु आगाढअणागाढेसु चउभंगो कायव्वो । पढमे उभयमवि आगाढं, बितिए जोगो आगाढो ण गेलएणं, तइए न जोगो गेलएणं आगाढं, चउत्थे दो वि अणागाढा ।

गाहा—

उभयम्मि वि आगाढे, दव्वे दट्ठे य पक्क एएहिं ।
मक्खंति अठायंते, पज्जंति (इ)यरे दिणे तिण्णि ॥ ४३ ॥

उभयम्मि आगाढे त्ति पढमभंगे दट्ठल्लगं ओगाहिमणिग्गालो जं वा दोहिं तिहिं वा दव्वेहिं णिद्दड्ढं पक्कल्लगं हंसतेल्लमाती एएहिं पतिदिणा तिण्णि दिणे मक्खेति. 'अठाअंते' त्ति जइ रोगो न उवसमति ताहे से सव्वहा जोगो णिक्खिपति ।

गाहा—

जत्तिएँ अच्छति दिवसे, विगतिं सेवति ण उद्दिसे तं तु ।
तह वि य अठायमाणे, णिक्खिवणं सव्वधा जोगे ॥ ४४ ॥
जति णिक्खिवती दिवसे, भूमीउ तत्तिए उवरि वड्ढो ।
अपरिमियं उद्देसो, भूमीउ परं तधा कमसो ॥ ४५ ॥

जत्तिए दिवसे णिक्खित्तजोगो अच्छति, पुणो उक्खित्तजोगे जोगभूमीओ तत्तिए दिवसे उवरि वड्ढिज्जति जोगभूमीए वि विरायणजोगभूमीए जे केति दिवसा सेसा सो जोगभूम्यंतो भएणति, तत्थ मेहाविणो कद्दमस्स अपरिमिओ उद्देसो, विरायणजोगभूमीए परउवड्ढिदिवसेसु कमेण उद्देसो कज्जति । अएणे भणंति—जत्तिए दिवसेण उद्दिट्ठं तत्तिए दिवसे, अपरिमिओ उद्देसो कायव्वो । ततो परं कमेण उद्देसो ।

इदाणिं बितियभंगो । गाहा—

गेलएणमणागाढे, रसवति णेहोवरए अ सति पक्का ।
तह वि य अठायमाणे, मा वट्टे णिक्खिवे य तहा ॥ ४६ ॥

जोगो आगाढे गेलएणे अणागाढे णेहावगाढभत्तरसोतीए छुब्भति णेहोवरते वा । ते णेहावयवपोग्गला सरीरमणुपविट्ठा रंगोवसमा भवंति, ततो दट्ठल्लगपक्कल्लगेहिं मक्खेति । तिण्णि दिणे अट्ठीए पज्जति तहावि अट्ठते तो रोगो मा अतीव रोगवड्ढी भविस्सति तम्हा जोगणिक्खेवो । तहेव जहा पढमभंगे । इदाणिं ततियभंगो अणागाढलोगे आगाढगेलएणे तिएिण दिणा दट्ठल्लगपक्कल्लगेहिं मक्खेंति अवरे तिएिण दिणे पज्जंति ।

ततो परं । गाहा—

तिण्णि तिगेगंतरिया, गेलएणगाढपरतो णिक्खिवणा ।
तिण्णि वि एगंतरिता, चउत्थछट्ठेव णिक्खिवणा ॥ ४७ ॥

तिएिण तिगेव तेसिं पक्कको वि एगो णिव्वीयंतरिओ कायव्वो । तिएिण दिणे काउस्सग्गं काउं विगतिं आहारेत्ता चउत्थदिवसे णिव्वीयं आहारेति । ताहे पंचमछट्ठसत्तमाणि दिवसाणि विगतिं आहारेति, अट्ठमे दिवसे निव्वीयं करेति, नवमे दिणे विगतिं आहारेति, ताहे जति णोवसमति ताहे दसमे दिवसे जोगो णिक्खिप्पति । इदाणिं चउत्थभंगो । एत्थ वि रसवतिणेहो व्व मक्खणापमज्जणं तहेव, अतो परं तिएिणं वि पच्छद्धेतिएिण वि तिया एत्थ एते, एगंतरएण णिव्वीतितेण णेयव्वा । विगति णिवीतितं-वि० १ नि० १ वि० १ नि० १ वि० १ नि० १ अतो परं अठायंते सव्वहा जोगणिक्खेवो पतिदिवसमलब्भंते परिव्वसावेतव्वकड्डियव्वगे वा जोगणिक्खेवो । अहवा—अजोगिगिलाणस्स वि खीराति णो होज्ज ताहे य सग्गामे मग्गियव्वं । असति सक्खेत्ते परगा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मे सक्खेत्ते असति खेत्तवाहिया तो वि आणियव्वं । सव्वहा अलब्भंते गिलाणोवचितं णिज्जेज्जा । वतियाए त्ति दारं तत्थिमा जयणा । गाहा—

वयिगा य अयोगी व, अदढो अतरंतगस्स दिज्जंति ।
णिव्वीतियमाहारो,सति अंतर विगतिणिक्खिविणा ॥४८॥

अतरंतगो–गिलाणो अदढो विणा वि गेलण्णेण जो दुब्बलो एते जया वइआ णिज्जंति तत एतेसिं सहाया अजोगवाही दिज्जंति । असति अजोगवाहीणं अणागाढजोगवाही वि दिज्जंति, अहवा अदढ त्ति अजोगवाहिणो जे अदढसरीरा ते अंतरंगस्स वि धितिज्जगा दिज्जंति, तेऽपि तत्र बलिनो भविष्यन्ति इत्यर्थः । जे जोगवाहिणो ते तत्थ वईआए णिव्वियमाहारं गेण्हंति । असति णिव्वीतियस्स अपज्जंतं वा लब्भति, ताहे अंतरंतरा काउस्सग्गं करेति । विगतिं भुंजंतु आयरणा पुण ततियभंगविकप्पे ण सपयं सव्वहा वा णिव्वितीए अलब्भंते णिक्खिवणे जोगस्स । गाहा—

.... ।
....॥४९॥

तत्थ वतिताए "आयंबिलपारणं" आयंबिलस्स अलंभे । अभत्तट्ठं करेज्ज जति उववासगस्स असण्ह ताहे तकाति वेगंगियं भुंजति । आदिसद्दातो वल्लचणगमुग्गपाणियं बिलं वा कंजियसागंता एवमाति जं णिव्वीतियं अत्थि तो वहंति अलब्भंते पुण आगाढजोगे जोगणिक्खेवो आगाढाऽणागाढा पुणो उक्खित्तो उद्देसो तहेव । जहा गिलाणदारे । एवं वईआए ।

इदाणिं महामहे त्ति दारं । गाहा—

सक्कमहादीएसुं, पमत्त देवा छलेज्ज तेण ठंते ।
पीणिज्जंति व दढा, इतरे उ वहंति ण पढंति ॥ ५० ॥

सक्कमहो–इंदमहो आदिसद्दाओ सुगिम्हादि जो व जत्थ महामहो एतेसु मा पमत्तं देवया छलेज्ज तेण उण उवट्ठवण त्ति । अणागाढजोगणिक्खेवो । किं चान्यत्–तेसु य सक्कमहादिदिवसेसु विगतिलाभो भवति, ताओ दुब्बलसरीरा भुंजति तहा पीणिज्जंति; बलिनो भवंतीत्यर्थः । इतरे णाम आगाढजोगवाही ते जोगं वहंति–जोगखंधा अच्छंति, ण तेसु उद्देसो न वा पुव्वदिट्ठं पढंति ।

इदाणिं अद्धाणओमरायदुट्ठं च तिण्णि वि दारं जुगवं वक्खाणेति । दारगाहा—

अद्धाणओमदुट्ठे, एमाणि जोगीण सेसपणगादी ।
असती य अणागाढे,णिक्खिव सव्वासती इतरे ॥५१॥

अद्धाणगामाणुगामिए छिण्णद्धाणे वा जोगं वहंति, ताहे जं एसणिज्जं तं जोगीण दिज्जति । सेस त्ति अजोगवाहीते पणगपरिहाणीए जयंति, फासुयएसणिज्जस्स असति जइ सव्वे जोगवाहिणो ण संथरंति ताहे अणागाढे जोगवाहीणं जोगो णिक्खिप्पइ, सव्वासति णाम सव्वहा एसणिज्जो अलब्भमाणे इयराण वि आगाढे जोगो णिक्खिप्पति । चउभागतिभागअद्धाण वा असंथरणा णिक्खेवो एवं ओमोयरियरायदुट्ठेसु वि । जोगो त्ति गयं । नि० चू० ४ उ० ।

विगई परिभुंजे पंचेव आयंबिलाणि दोण्हं विगईणं उ- ड्डुं परिभुंजे पंच निव्विइगा इयाणि अकारणिगो विगइपरिभोगं कुज्जा अट्ठमं । महा० १ चू० ।

विगइंगालधूम–विगताङ्गारधूम–त्रि० । अङ्गारधूमदोषरहिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

विगइणिज्जूढ–विगतिनिर्यूढ–त्रि० । निर्विकृतिके, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

विगइपच्चक्खाण–विकृतिप्रत्याख्यान–न० । विकृतित्यागे, ध० २ अधि० । ('णिव्विगइ' शब्दे चतुर्थभागे २१३० पृष्ठे व्याख्यातमिदम् ।)

विगइपडिबद्ध–विकृतिप्रतिबद्ध–त्रि० । घृतादिरसविशेषगृद्धे, अनुपधानकारिणि, बृ० ४ उ० । स्था० ।

विगओदग–विगतोदक–त्रि० । बिन्दुरहिते, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

विगिंचिउ–विविच्य–अव्य० । परिष्ठाप्येत्यर्थे, व्य० २ उ० ।

विगणिज्जंत–विगण्यमान–त्रि० । आत्मपरेषां जुगुप्सायोग्ये, तं० ।

विगत्तग–विकर्तक–त्रि० । प्राणिनां चर्मापनेतृषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

विगत्तिऊण–विकर्त्त्य–अव्य० । छित्त्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

विगप्प–विकल्प–पुं० । अध्यवसायमात्रे, रत्ना० ३ परि० । चित्तविभ्रमे, अष्ट० ६ अष्ट० । अवस्तुविषयायां शाब्दधियाम्, द्वा० ११ द्वा० । "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्योऽर्थो- विकल्पः" इति पतञ्जलिः । द्वा० २० द्वा० । "विकल्पः शब्दार्थः" इति बौद्धविशेषाः । तथा–'ब्राह्मण' इत्युक्ते तपो वा जातिर्वा श्रुतं वा, तपश्च जातिश्च श्रुतं चेति न प्रतिपत्तिर्भवति, अपि तु–साकल्येन संबन्ध्यन्तरव्यवच्छिन्नास्तपःप्रभृतयस्संहताः प्रतीयन्त इति । बहुष्वप्यनेकसमुदायिभेदावधारणं विकल्पः । सम्म० १ काण्ड ३ गाथाटी० ।

विगप्पण–विकल्पन–न० । उपकरणपरिकल्पने,उत्त० २३ अ० ।

विगप्पिय–विकल्पित–त्रि० । कल्पनाशिल्पनिर्मिते,नं०।अनु० ।

विगम–विगम–पुं० । विनाशे, विशे० । आ० म० । आ० क० । ग० । नि० चू० । स्था० । आव० । निर्जरणे, पञ्चा० १५ विव० ।

विगमसहाव–विगमस्वभाव–त्रि० । विनश्वररूपे, विशे० ।

विगय–विकृत–विकारवति, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । उपा० । विगतजीवे, बृ० २ उ० ।

विगत–त्रि० । अपगते , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । व्यतीते, बृ० २ उ० । प्रलीने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । विनष्टे , आ० म० १ अ० । विप्रनष्टे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अतिक्रान्ते, पञ्चा० ५ विव० । " विगयभग्गभुग्गभुमए " विकृते–विकारवत्यौ भग्ने–विसंस्थुलतया भुग्ने वक्रे भ्रुवौ यस्य पिशाचरूपस्य तत्तथा । उपा० २ अ० ।

विगयकप्पयणिभ–विकृतकल्पकनिभ–त्रि० । विकृतौ योऽरञ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कादीनां कल्प एव कल्पकश्छेदः—खण्डं तन्निभम्। कर्परसदृशे, उपा० २ अ०।

विगयकिरियणियट्टि–विगतक्रियानिवर्त्तिन्–पुं०। विगतप्राणातिपातप्रचारे, शेषकायवाङ्मनोयोगसर्वदेशपरिस्पन्दत्वात् विगतक्रियानिवर्तीत्युच्यते। सम्म० ३ काण्ड।

विगयगेहि विगतगृद्धि–त्रि०। विगता–प्रलीना बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु गृद्धिर्गार्द्ध्याभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। आचा०। विगता–अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्यासौ विगतगृद्धिः। आहारादिषु गृद्धिरहिते, "बुसिए य विगयगेही" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

विगयधूम–विगतधूम–न०। द्वेषरहिते, "रागेण सइंगालं दोसेण सधूमगं ति णायव्वो" प्रश्न० १ संव० द्वार।

विगयपक्ख–विगतपक्ष–पुं०। विगतं विगमो वस्तुनोऽवस्थान्तरापेक्षाया विनाशः; स एव पक्षो वस्तुधर्मस्तस्य वा पक्षः परिग्रहो विगतपक्षः। विनाशपक्षे, "छिज्जमाणे छिन्ने भिज्जमाणे भिण्णे दज्झमाणे दड्ढे, भिज्जमाणे मए णिज्जमाणे णिज्जिण्णे एए णं पंच पदा णाणट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा विगयपक्खस्स" विगतं त्विहाशेषकर्माभावोऽभिमतो जीवेन तस्याप्राप्तपूर्वतयाऽत्यन्तमुपादेयत्वात्तदर्थत्वाच्च पुरुषप्रयासस्य। भ० १ श० १ उ०।

विगयमोह–विगतमोह–त्रि०। मोहरहिते, ध० २ अधि०। अपगतमोहे, अपगतमोहनीये, षो० १५ विव०।

विगयसोगा–विगतशोका–स्त्री०। नलिनावतीविजयक्षेत्रवर्त्तिपुरीयुगले, स्था० २ ठा० ३ उ०। पंचसप्ततितमे महाग्रहे, स्था०। ('महग्गह' शब्दे विशेषो गतः)।

दो विगयसोगा। स्था० १ ठा० १ उ०।

विगयागार–विगताकार–त्रि०। साकाररहिते, अनाकारप्रत्याख्याने, स्था० २ ठा० ३ उ०।

विगरण–विकरण–न०। उचितकरणादर्शने व्य० १० उ०। खण्डशः कृत्वा परिष्ठापने, बृ० ४ उ०।

विगरणभाव–विकरणभाव–पुं०। कायनैरपेक्ष्येणेन्द्रियाणां वृत्तिलाभे, द्वा० २६ द्वा०।

विगराल–विकराल–त्रि०। विकृताङ्गोपाङ्गधरे, उत्त० १२ अ०। भयोत्पादके, तं०।

विगल–विकल–त्रि०। विरुद्धेन्द्रियवृत्तिषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। पाणिपादाद्यवयवव्यङ्गितेषु, बृ० १ उ० २ प्रक०।

विगलतिक–विकलत्रिक–न०। द्वीन्द्रीयत्रिद्रीयचतुरिन्द्रियजातिलक्षणे विकलेन्द्रियजातिके, कर्म० ३ कर्म०। क० प्र०।

विगलाएस–विकलादेश–पुं०। नयवाक्यापरपर्याये नये, स्या०।

विगलिंदिय–विकलेन्द्रिय–पुं०। विकलान्यसंपूर्णानि इन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रियाः। एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु, व्य० १ उ०। विशे०। अपर्श्वेन्द्रियेषु, स्था० ३ ठा० १ उ०। (विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियादीनां प्रत्येकशरीरिणां सर्वा वक्तव्यता 'पत्तेयसरीर' शब्दे पञ्चमभागे ४२८ पृष्ठे उक्ता।

२८५

विगल्लणयर–विगल्लनगर–न०। नगरभेदे, "विगउल्लीदेसे, विगल्लं नयरं तत्थ सिरिपालो नाम नरवई हुत्था"। ती० ५१ कल्प।

विगसंत–विकसत् त्रि०। वर्द्धमानविकाशे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

विगसिय–विकसित–त्रि०। व्याकोशीभूते, अभिनवोद्बुद्धे, चं० प्र० १ पाहु०।

विगहा–विकथा–स्त्री०। विरुद्धा स्त्र्यादिविषया कथा। स० ४ सम०। 'जो संजओ पमत्तो, रागदोसगो परिकहेइ। सा उ विकहा पवयणे, पन्नत्ता धीरपुरिसेहिं' ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे कषायादिवशगेन कथने, द्वा० ६ द्वा०।

विगहापरायण–विकथापरायण–त्रि०। सप्तप्रकारविकथातत्परे, ग० १ अधि०।

विगहामहण–विकथामथन–न०। विकथाविनाशने, पं०व०३द्वार।

विगहासील–विकथाशील–त्रि०। विरुद्धकथाकथनस्वभावे, ग० २ अधि०।

विगाढ–विगाढ–त्रि०। विशेषेण गाढो विगाढः। विनाशयितुमशक्ये, उत्त० १० अ०। समन्ताद् व्याप्ते, स्था० १ ठा०।

विगार–विकार–पुं०। वर्णस्यान्यथाभावापादने, अनु०। रागाद्यशुद्धाध्यवसाये, अष्ट० १५ अष्ट०।

विगिंचण–विवेचन–न०। पृथक्करणे, बृ० १ उ० ३ प्रक०। सूत्र०। आचा०। अपनयने, सूत्र०२ श्रु० १३ अ०। त्यागे, आचा०१ श्रु० १ अ०२ उ०। स्था०। सूत्र०। आ० चू०। पञ्चा०। निर्जरायाम्, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

विगिंचमाण–विवेचयत्–त्रि०। क्षपयति, आचा० २ श्रु०६ अ० २ उ०। परिष्ठापयति, सकृच्छोधयति, स्था० ५ ठा० २ उ०।

विगिंचिय–विविच्य–अव्य०। त्यक्त्वेत्यर्थे, आचा०१ श्रु०२ अ० ८ उ०। भ०।

विगिट्ठ–विकृष्ट–त्रि०। नातिदीर्घे, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ०।

विगिट्ठखमग–विकृष्टक्षपक–पुं०। अष्टमादिविकृष्टतपःसेविनि, पञ्चा० १३ विव०।

विगीय–विगीत–त्रि०। निषिद्धे, प्रति०।

विगुण–विगुण–पुं०। विगताः क्षायोपशमिकज्ञानादयो गुणा यस्य स विगुणः। आ० म० १ अ०। केवलिनि, सत्त्वरजस्तमोगुणरहिते, विशे०।

विगुव्वणा–विकुर्वणा–स्त्री०। वैक्रियकरणे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

विगुव्वित्ता–विकुर्व्य–अव्य०। वैक्रियं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

विगोवइत्ता–विगोप्य–अव्य०। गुप्तं प्रकटीकृत्येत्यर्थे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

विग्गह–विग्रह–पुं०। कलहे, विशे०। प्रश्न०। विशिष्टं वाह्येन्द्रियेण गृह्यत इति विग्रहः। औदारिकशरीरे, आचा०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१ श्रु० ५ अ० २ उ०। युद्धे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। वक्रगमने, स्था० ३ ठा० ४ उ०। क्षेत्रविभागे, स्था० १० ठा० ३ उ०। लोकनाडीवक्रे, स्था० २ ठा० ४ उ०। काये, पाइ० ना० ५६ गाथा।

विग्गहकंडय-विग्रहकण्डक-न०। विग्रहो-वक्रं कण्डकम्-अवयवो विग्रहरूपं कण्डकं विग्रहकण्डकम्। ब्रह्मलोककूर्परे लोकाऽवयवे, यत्र वा प्रदेशवृद्ध्या हान्या वा वक्रं भवति, तद्विग्रहकण्डकम्। प्रायो लोकान्तेषु अवयवविशेषे, भ० १३ श० ४ उ०। अन्नादाने, शिक्षे, नि० चू० ११ उ०।

विग्गहगइ-विग्रहगति-स्त्री०। वक्रगतौ, स्था०२ठा०३उ०। भ०।

जीवे णं भंते! किं विग्गहगतिसमावन्नए अविग्गहगतिसमावन्नए?, गोयमा! सिय विग्गहगइसमावन्नए सिय अविग्गहगइसमावन्नगे, एवं ० जाव वेमाणिए। जीवा णं भंते! किं विग्गहगइसमावन्नया अविग्गहगइसमावन्नगा?, गोयमा! विग्गहगइसमावन्नगा वि अविग्गहगइसमावन्नगा वि। नेरइया णं भंते! किं विग्गहगतिसमावन्नया अविग्गहगतिसमावन्नगा?, गोयमा! सव्वे वि ताव होज्जा अविग्गहगतिसमावन्नगा १, अहवा अविग्गहगतिसमावन्नगा य विग्गहगतिसमावन्ने य २, अहवा अविग्गहगतिसमावन्नगा य विग्गहगइसमावन्नगा य ३। एवं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। (सू०-५६)।

'विग्गहगइसमावन्नए' त्ति विग्रहो-वक्रं तत्प्रधाना गतिर्विग्रहगतिः। तत्र यदा वक्रेण गच्छति तदा विग्रहगतिसमापन्न उच्यते, अविग्रहगतिसमापन्नस्तु ऋजुगतिकः स्थितो वा, विग्रहगतिनिषेधमात्राश्रयणात्। यदि चाविग्रहगतिसमापन्न ऋजुगतिक एवोच्यते तदा नारकादिपदेषु सर्वदैवाविग्रहगतिकानां यद्बहुत्वं वक्ष्यति तन्न स्याद्, एकादीनामपि तेषूत्पादश्रवणात्। टीकाकारेण तु केनाप्यभिप्रायेणाविग्रहगतिसमापन्न ऋजुगतिक एव व्याख्यात इति। 'जीवा णं भंते!' इत्यादि प्रश्नः। तत्र जीवानामानन्त्यात् प्रतिसमयं विग्रहगतिमतां तन्निषेधवतां च बहूनां भावादाह-'विग्गहगइ' इत्यादि। नारकाणां त्वल्पत्वेन विग्रहगतिमतां कदाचिदसम्भवाद्। सम्भवेऽपि चैकादीनामपि तेषां भावाद्, विग्रहगतिप्रतिषेधवतां च सदैव बहूनां भावात्। आह-'सव्वे वि ताव होज्ज अविग्गहे' त्यादि विकल्पत्रयम्। असुरादिषु एतदेवातिदेशत आह-'एव' मित्यादिजीवानां निर्विशेषाणामेकेन्द्रियाणां चोक्तयुक्त्या विग्रहगतिसमापन्नत्वे तत्प्रतिषेधे च बहुत्वमेवेति न भङ्गत्रयम्, तदन्येषु तु त्रयमेवेति। 'तियभंगो' त्ति त्रिकरूपो भङ्गस्त्रिकभङ्गो, भङ्गत्रयमित्यर्थः। भ० १ श० ७ उ०।

विग्गहगइसमावन्नग-विग्रहगतिसमापन्नक-त्रि०। तद्गतिप्राप्तेषु, भ० १ श० २ उ०।

विग्गहविग्गहिय-विग्रहविग्रहिक-पुं०। विग्रहो-वक्रं तद्युक्तो विग्रहः-शरीरं यस्यास्ति स विग्रहविग्रहिकः। वक्रकाये, भ०।

कहिं णं भंते! विग्गहविग्गहिए लोए पण्णत्ते?, गोयमा! विग्गहकंटए एत्थ णं विग्गहविग्गहिए (लोए) पण्णत्ते। भ० १३ श० ४ उ०।

विग्गहसीलत्त-विग्रहशीलत्व-न०। पश्चादननुतापितया क्षामणादावपि सत्यप्राप्त्या च विरोधानुबन्धे, ध० ३ अधि०।

विग्गहिय-विग्रहिक-पुं०। विग्रहो-युद्धं स विद्यते यस्यासौ विग्रहिकः। युद्धप्रिये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

विग्गहियउण्णयकुच्छि-विग्रहीतोन्नतकुक्षि-त्रि०। विग्रहिता-मुष्टिग्राह्या उन्नता च कुक्षिर्येषां ते विग्रहीतोन्नतकुक्षयः। मुष्टिमितकटिकेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

विग्घ-न०। विघ्न-पुं०। अन्तराये, आव०५अ०। ज्ञा०। तं०। औ०। तच्च विषयभेदात्पञ्चधा-दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायभेदात्। कर्म्म० ५ कर्म्म०। "दिंतस्स लभंतस्स व, भुंजंतस्स व जिणस्स एस गुणो। खीणंतराययत्ते, जं से विग्घं न संभवइ"॥६॥ जिनस्य-क्षीणसकलघातिकर्म्मणः क्षीणान्तरायत्वे सत्येष गुणो जायते, यदुत-'से' तस्य जिनस्य ददतो लभमानस्य वा भुञ्जानस्य वकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादुपभुञ्जानस्य च यद्विघ्नो न भवति, प्राकृतत्वाच्च विघ्नशब्दस्य नपुंसकनिर्देशः। नं०।

विग्घकर-विघ्नकर-त्रि०। अन्तरायकारके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। "इह भवविहारिणो सा, विग्घकरी वेयणा समुट्ठेइ" इह भवविहारिणो। विघ्नकरी-विग्घविघातकारिणी वेदना समुत्तिष्ठति। संघा० १ अधि०।

विग्घजय-विघ्नजय-पुं०। विघ्नस्य धर्मान्तरायस्य जयः-परिभवो निराकरणम्। विघ्नाभिभवे, षो० ३ विव०। (विघ्नविजयवक्तव्यता 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६७० पृष्ठे गता।)

विग्घविघायणहेउ-विघ्नविघातनहेतु-पुं०। उपद्रवविनाशनार्थे, जी० १ प्रति०।

विग्घोवसमणी-विघ्नोपशमनी-स्त्री०। विघ्नानुपशमयतीति विघ्नोपशमनी। पूजाभेदे, षो०६विव०। ('पूया' शब्दे पञ्चमभागे १०७५ पृष्ठे दर्शितैषा।)

विघडण-विघटन-न०। विनाशने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

विघण-विघन-न०। विगतं घनं-मेघं यत्र। मेघरहिते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

विघाय-विघात-पुं०। अन्तरे, विशे०।

विघुट्ठ-विघुष्ट-त्रि०। विरूपघोषकरणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

विचक्खु-द्विचक्षुष्-पुं०। द्वाभ्यां चक्षुरिन्द्रियावधिभ्यां तत्त्वग्रहीतरि, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

विचच्चिया-विचर्चिका-स्त्री०। विपादिकायाम्, बृ० १ उ० ३ प्रक०। प्रश्न०।

विचिकी-विचिकी-स्त्री०। वाद्यभेदे, रा०।

विचित्त-विचित्र-त्रि०। विविधरूपवति, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नानाप्रकारे, विशे०। चं० प्र०। अपूर्वे, आ०म०१अ०। प्रज्ञा०। नि० चू०। विविधवर्णविशेषवति, स्था०१ ठा०३ उ०। विविधचित्रयुक्ते,सू०प्र० २० पाहु०। कर्बुरे, ज्ञा० १ श्रु०६अ०। स्था०। "विचित्तवत्थाभरणे" विचित्राणि वस्त्राणि वाऽऽभरणानि च यस्य वस्त्राण्येव वाऽऽभरणानि-भूषणानि अस्याभरणानि अवस्थोचितानीत्यर्थो यस्य स तथा। स्था०८ठा० ३ उ०।'विचित्तउल्लोए'विचित्रो विचित्रकलित उल्लोकः उपरिभागो यत्र तत्तथा। कल्प० १ अधि० २ क्षण। भ०।'विचित्तमणिरयणकुट्टिमतले' विचित्राणां मणिरत्नानां कुट्टिमतलं बद्धभूभागो यस्य स तथा। कल्प० १ अधि० ७ क्षण। जी०। 'विचित्तमालामउली' विचित्रा मालाश्च पुष्पमाला मौलिश्च शेखरो यस्य स तथा। स्था०८ठा०३उ०। 'विचित्तसुहकेउबहुला' विचित्रैर्नानाप्रकारैः शुभैर्मङ्गलभूतैः केतुभिर्ध्वजैर्बहुला व्याप्ता विचित्रशुभकेतुबहुला। रा०। जं०। 'विचित्तहत्थाभरणे' विचित्राणि नानारूपाणि हस्ताभरणानि येषां ते विचित्रहस्ताभरणाः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। स्था०। भ०। वेणुदेववेणुदारिणोः पूर्वलोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ०।

विचित्तकुसुम-विचित्रकुसुम-न०।नानाविधपुष्पे,पञ्चा०८विव०।

विचित्तकूड-विचित्रकूट-पुं०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे वक्षस्कारपर्वते, स्था० १० ठा० ३ उ०।

विचित्तत्थग-विचित्रार्थ-पुं०। बहुधार्थेषु, षो० ६ विव०।

विचित्तपक्ख-विचित्रपक्ष-पुं०। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। वेणुदेववेणुदारिणोरुत्तरलोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०।

विचित्तभेद-विचित्रभेद-त्रि०। बहुप्रकारे, पञ्चा० १६ विव०।

विचित्तवेस-विचित्रवेष-त्रि०। विविधवस्त्रादिनेपथ्यधारिणि, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

विचित्ता-विचित्रा-स्त्री०। ऊर्ध्वलोकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, आ०चू० १ अ०। स्था०। आव०। अधोलोकवासिन्यां दिक्कुमार्याम्, आ० क० १ अ०। आ० म०। जं०। नि०।

विच्च-विच्चय-त्रि०।च्युते, वाते,जी०३प्रति०४अधि०। आ०म०। अपान्तराले, पं० व० २ द्वार।

विच्चवण-विच्यवन-न०। भ्रंशे, विशे०।

विच्चामेलिय-व्यत्याम्रेडित-न०। विपरीते, विशे०।

विच्चामेलणें अन्नु-न्नसत्थपल्लवविमिस्सपयसेवो।
तं चेव यहिट्ठुवरिं, वायट्ठे आवली नायं॥ २६७॥

व्यत्याम्रेडितं नाम अन्यान्यशास्त्रपल्लवविमिश्राणां तत्र द्रव्यतो व्यत्याम्रेडिते पायसमुदाहरणम्-"जहा कोलिया वइयं गया तत्थ तेहिं परमन्नं रंधेमो दुट्ठं आरहितं, इत्थ जं जं बुज्झइ तं तं पायसो भवइ त्ति तंदुला चवला मुग्गा तिला कुक्कुसा बु(बु)ढं तं सव्वं विणट्ठं अकिंचिकरं जायं।" एवमेव भावे। सूत्रं व्यत्याम्रेडयति "सव्वभूयभूयस्स सम्मं भूयाईपासओ" अत्रेदमपि घटत इति कृत्वा क्षिपति। श्रूयतां धर्मं सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यतामात्मनः प्रतिकुलानि परेषां न समाचरेत्। भावतो व्यत्याम्रेडितं सूत्रं कुर्वतोऽर्थस्य विसंवाद इत्यादि विभाषा प्रागिव या दीक्षा निरर्थिका। बृ० १ उ० १ प्रक०।

विच्चामेलियदाण-व्यत्याम्रेडितदान-न०। वितथसूत्रार्थप्रदाने, विशे०।

विच्चुइ-विच्युति-स्त्री०। विस्मरणे, विशे०।

विच्चुय-विच्युत-त्रि०। विस्मरतः पतिते, व्य० ८ उ०।

विच्चुया-विच्युता-स्त्री०। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

विचोयय--न०। उपधानके, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। कल्प०।

विच्छड्ड-विच्छर्द-पुं०। "सम्मर्द-वितर्दि-विच्छर्द-च्छर्दि-कपर्द-मर्दिते र्दस्य" ॥ ८। २। ३६ ॥ इति र्दस्य डः। प्रा०। महति जनसामग्रीसम्मर्दे, 'छ्वः प्रवेशोऽभवद्यस्य, विच्छर्देन महीयसा।' आ० क० १ अ०।

विच्छड्डइत्ता-विच्छर्द्य-अव्य०। विशेषेण त्यक्त्वेत्यर्थे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

विच्छड्डिय-विच्छर्दित-त्रि०। त्यक्ते, स्था० ८ ठा० ३ उ०। "विच्छड्डियपउरभत्तपाणे" विच्छर्दितप्रचुरभक्तपानः। विच्छर्दिते त्यक्ते बहुजनभोजनदानेनावशिष्टोच्छिष्टसंभवात् सञ्जातविच्छर्दे वा नानाविधभक्तिके भक्तिपाने यस्य स तथा। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विच्छर्दितं विविधमुज्झितं बहुलोकभोजनत उच्छिष्टावशेषसम्भवात्। विच्छर्दितं वा विविधं विच्छित्तिमद् विपुलं भक्तं च पानकं च येषां ते तथा। भ० ३ श० ५ उ०। विच्छर्दिते त्यक्ते बहुजनभोजनावशेषतया विच्छर्दितवती विभूतिमती विविधभक्ष्यभोज्यचोष्यलेह्यपेयाहारभेदयुक्ततया प्रचुरे भक्तपाने येषु तानि तथा। स्था० ८ ठा० ३ उ०। प्रासुक्ते, पाइ० ना० ७६ गाथा।

विच्छय-विक्षत-त्रि०। विविधप्रकारेण पीडिते, "वाहेण जहावा विच्छए अवले होइ गवं पचोइए।" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। अनेकप्रकारं हते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

विच्छवि-विच्छवि-त्रि०। विगतच्छाये, स्फुरितच्छवौ, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

विच्छिदण-विच्छेदन-बहुवारं सुष्ठु वा छेदने,नि०चू०३ उ०।

विच्छिंदमाण-विच्छन्दत्-त्रि०। नितरामसकृद् वा छिन्दति, भ० ८ श० ३ उ०। विशेषेण विविधतया वा छिन्दति, भ० १५ श०। विशे०।

विच्छिंदावंत-विच्छिन्दत्-त्रि०। नितरामसकृद्वा छिन्दति, नि० चू० १ उ०।

विच्छिण्ण-विच्छिन्न-त्रि०। सान्तरे, विशे०।

विस्तीर्ण-त्रि०। पृथुले, अतिविस्तीर्णे,प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। विस्तारवति, स्था० ८ ठा० ३ उ०। जं०। आ० म०। "विच्छिन्नविपुलभवणसयणा"—विस्तीर्णानि-विस्तारवन्ति विपुलानि—बहूनि भवनानि—गृहाणि शयनानि—पर्यङ्कादीनि आसनानि—सिंहासनादीनि यानानि—रथादीनि वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनानि च वेगसरादीनि येषु कुलेषु तानि तथा। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

विच्छिण्णतर–विस्तीर्णतर–त्रि०। विष्कम्भतो विस्तीर्णे, भ० १३ श० ३ उ०।

विच्छिण्णदोहला–विच्छिन्नदोह (दोह्) दा–स्त्री०। विवक्षितार्थवाञ्छानुबन्धायाम्, विपा० १ श्रु० २ अ०।

विच्छित्ति–विच्छित्ति–स्त्री०। भक्तिषु, विशे०। रा०। विन्यासे, 'विन्नासो विच्छित्ती' पाइ० ना० ११६ गाथा।

विच्छिप्पमाण–विच्छुप्यमान–त्रि०। विशेषेण स्पृश्यमाने, "मणोमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे" जं० २ वक्ष०। कल्प०।

विच्छुडिय–विच्छुटित–त्रि०। मुक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

विच्छुय–वृश्चिक–पुं०। पुच्छकण्टकावयधरे चतुरिन्द्रिजीवभेदे, स्था० ४ ठा०४ उ०। आचा०। प्रज्ञा०। जी०।

विच्छुयडंक–वृश्चिकडङ्क–पुं०। वृश्चिकपुच्छकण्टके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

विच्छुयविज्ञा–वृश्चिकविद्या–स्त्री०। वृश्चिकप्रधाना विद्या वृश्चिकविद्या। शतसहस्रवृश्चिकविकुर्वणात्मिकायां परिव्राजकविद्यायाम्, आ० म० १ अ०।

विच्छुरिअग–विच्छुरितक–त्रि०। जटिते, पाइ० ना०८० गाथा।

विच्छुलंगुल–वृश्चिकलाङ्गूल–न०। वृश्चिकपुच्छे, वृश्चिकलाङ्गूलसंस्थानं पूर्वाषाढायाः। जं० ७ वक्ष०।

विच्छूढ–विक्षिप्त–त्रि० विक्षिप्त, पाइ० ना० ८३ गाथा।

विच्छेय–विच्छेद–पुं०। विविधैः प्रकारैश्छेदे, उपा० ७ अ०। विशे०। दशा०।

विच्छेयण–विच्छेदन–न०। दूरे व्यवस्थापने, विशेषेण छेदने, स्था० ५ ठा० १ उ०।

विच्छोल–कपि–धा०। चलने, "कम्पेर्विच्छोलः" ॥ ८।४। ४६॥ कम्पपर्यन्तस्य विच्छोल इत्यादेशो वा। विच्छोलइ। कंपेइ। कम्पते। प्रा० ४ पाद।

विच्छोलिअ–विच्छोलित–त्रि०। धावने,"धोअं विच्छोलिअं' पाइ० ना० २६१ गाथा। प्रा०।

विच्छोह–विक्षोभ–पुं०। विरहे, "पिअ-माणुस-विच्छोह-गरु गिलिगिलिराहुमयंकु"। प्रा० ४ पाद।

विजइंदसूरि–विजयेन्द्रसूरि–पुं०। देवेन्द्रसूरिसतीर्थ्ये देवभद्रसूरिशिष्ये, बृ०। "तृतीयशिष्याः श्रुतवारिवाधयः, परोपहाद्योभ्यमनःसमाधयः। जयन्ति पूज्या विजयेन्द्रसूरयः, परोपकारादिगुणौघसूरयः" ॥ १३ ॥ बृ० ६ उ०।

विजढ–विहीन–न०। परित्यक्ते, पं० व० १ द्वार। ओघ०। बृ०। व्य०।

विजंभिय–विजृम्भित–न०। मुखविस्फाटने, विशे०।

विजण–विजन–त्रि०। विगतजने, आव० ४ अ०।

विजय–विचय–पुं० निर्णये, स्था० १० ठा० ३ उ०।

विजय–पुं०। परदेशजये,कल्प०१ अधि०१क्षण। समृद्धौ,स्था० १० ठा० ३ उ०। स०। अभ्युदये, चं० प्र० १८ पाहु०। जी०। रा०। जं०। अपरेषामभिभवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विपा०। परेषामसहमानानामभिभवोत्पादे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

विजयश्च षोढा—

लोगो भणिओ दव्वं, खित्तं कालो अ भावविजओ अ।
भवलोगभावविजओ, पगयं जह वज्झई लोगो ॥१६७॥

विजयस्य तु निक्षेपं नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यादिकमाह—'दव्व' मित्यादिना, द्रव्यविजयो व्यतिरिक्तो द्रव्येण द्रव्यात् द्रव्ये वा विजयः कटुतिक्तकषायादिना श्लेष्मादेर्नृपतिमल्लादेर्वा। क्षेत्रविजयः षट्खण्डभरतादेर्यस्मिन् वा क्षेत्रे विजयः प्ररूप्यते। कालविजय इति कालेन विजयो यथा षष्टिभिर्वर्षसहस्रैर्भरतेन जितं भरतम्, कालस्य प्राधान्यात्, भृतककर्मणि वा मासोऽनेन जित इति, यस्मिन् वा काले विजयो व्याख्यायत इति। भावविजय औदयिकादेर्भावस्य भावान्तरेण औपशमिकादिना विजयः। तदेवं लोकविजययोः स्वरूपमुपदर्श्य प्रकृतोपयोग्याह— 'भवे' त्यादि, अत्र हि भवलोकग्रहणेन भावलोक एवाभिहितः, छन्दोभङ्गभीत्या ह्रस्व एवोपादायि, तथा चावाचि— "भावे कसायलोगो, अहिगारो तस्स विजएणं" ति,तस्य औदयिकभावकषायलोकस्य औपशमिकादिभावलोकेन विजयः। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

तेनैव भावलोकविजयेन किं फलमित्याह—

विजिओ कसायलोगो, सेयं खु तओ नियत्तिउं होइ।
कामनियत्तमई खलु, संसारा मुच्चई खिप्पं ॥ १६८ ॥

विजितः—पराजितः कोऽसौ?—कषायलोकः औदयिकभावकषायलोक इति यावत्। विजितकषायलोकः सन् किमवाप्नोतीत्याह—संसारान्मुच्यते क्षिप्रम्, अतस्तस्मान्निवर्तितुं श्रेयः, खलुर्वाक्यालङ्कारे, अवधारणे वा,निवर्तितुं श्रेय एव। किं कषायलोकादेव निवृत्तः संसारान्मुच्यते आहोश्विदन्यस्मादपि पापोपादानहेतोरिति दर्शयति—'कामे' त्यादि, गाथार्द्धं सुगमम्। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। "जएणं विजएणं वद्धावेइ" जय विजयेत्यादिभिर्मङ्गलाभिधायकवचनशतैरित्यर्थः वर्धयते। औ०। रा०। लोकोत्तररीत्या आश्विनमासे, जं० ७ वक्ष०। सू० प्र०। ज्यो०। अहोरात्रस्य सप्तदशे मुहूर्त्ते, विजये मुहूर्त्ते षष्ठेन भक्तेन निर्गतः श्रीवीरजिनः। आ० म० १ अ०। आ० चू०। कल्प०। ज्यो०। द०प०। ज्ञा०। स०। चं० प्र०।चक्रवर्तिविजेतव्ये क्षेत्रे, स्था० २ ठा०४ उ०। (विजयाः 'धायइसंडदीव' शब्दे चतुर्थभागे ७४६ पृष्ठे व्याख्याताः।)

कहि णं भंते! जम्बुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे सुकच्छे णामं विजए पण्णत्ते?, गोयमा! सीआए महाणईए उत्तरेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं गाहावईए महाणईए पच्चत्थिमेणं चित्तकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे सुकच्छे णामं विजए पण्ण–

१–पुस्तकानुरोधात्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्ते, उत्तरदाहिणायए जहेव कच्छे विजए, तहेव सुकच्छे विजए, णवरं खेमपुरा रायहाणी सुकच्छे राया समुप्पज्जइ तहेव सव्वं। (सू०-९५+)

'कहि ण' मित्यादि, सर्वं सुगमं कच्छतुल्यवक्तव्यत्वात्, नवरं खेमपुरा राजधानी सुकच्छस्तत्र राजा चक्रवर्त्ती समुत्पद्यते, विजयसाधनादिकं तथैव सर्वं वक्तव्यमिति शेषः। उक्तः सुकच्छः। जं० ४ वक्ष०। (महाकच्छविजयवक्तव्यता 'महाकच्छ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८४ पृष्ठे गता।)-(कच्छकावतीविजयवक्तव्यता 'कच्छगावई' शब्दे तृतीयभागे १८६ पृष्ठे गता।)-(आवर्तविजयव्याख्या 'आवट्ट'शब्दे द्वितीयभागे ४४०पृष्ठे गता।)-(मङ्गलावर्तविजयवक्तव्यता 'मंगलवत्तविजय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७ पृष्ठे गता।)-(पुष्कलावर्तविजयवक्तव्यता 'पुक्खलावत्तविजय' शब्दे पञ्चमभागे ९६८ पृष्ठे गता।)-(पुष्कलावतीचक्रवर्तिविजयवक्तव्यता, 'पुक्खलावई' शब्दे पञ्चमभागे ९६७ पृष्ठे गता।)-(वत्सविजयवक्तव्यता 'वच्छ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।) ऊर्ध्वलोके प्रथमानुत्तरोपपातिकविमाने, तद्वास्तव्येषु देवेषु च। स०। अनु०। प्रज्ञा०। स्था०। चं० प्र०। जी०। जम्बूद्वीपस्य लवणसमुद्रस्य धातकीखण्डस्य कालोदस्य पुष्करवरद्वीपस्य पुष्करोदस्य च पूर्वद्वारेषु, स्था० ४ ठा० २ उ०। विजयद्वाराधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जी०। संघा०। जं०। (द्वारस्य देवस्य च वर्णको 'लवणसमुद्द' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२३ पृष्ठे दर्शितः।) नालन्दायां वीरजिनस्य प्रथमभिक्षादायके श्रेष्ठिनि, भ० १५ श०। कल्प०। आ० क०। आ० म०। चतुर्दशतीर्थकरस्यानन्तजितः प्रथमभिक्षादायके, स०। आ० म०। वाणिजकग्रामे उज्झितकस्य दारकस्य पितरि, स्था० १० ठा० ३ उ०। पोलासपुरनगरे अतिमुक्तककुमारपितरि, स्था० १० ठा० ३ उ०। अन्त०। मृगापुत्रपितरि, मृगग्रामराजे, स्था० १० ठा० ३ उ०। उपा०। अस्यामवसर्पिण्यां जाते द्वितीयबलदेवे, स०। उत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वितीयबलदेवे च। स० ७३ सम०। आव०। ति०।

तहेव विजओ राया, अणट्ठा कित्तिपव्वए।
रज्जं तु गुणसमिद्धं, पयहित्तु महायसो ॥ ५० ॥

हे मुने! तथैव विजयो नामा द्वितीयो बलदेवो राजा प्रव्रजितो-दीक्षां प्रपन्नः, किं कृत्वा राज्यं तु 'पयहित्तु' इति परिहृत्य। कीदृशं राज्यम्—गुणसमृद्धं गुणैः—सप्ताङ्गैः पूर्णम्-स्वाम्य १ मात्य २ सुहृत् ३ कोश ४ राष्ट्र ५ दुर्ग ६ बलानि च ७ राज्याङ्गानि। अथवा गुणैः—इन्द्रियकामगुणैः पूर्णम्। कीदृशो विजयः 'अणट्ठा' अनार्त्तः-आर्त्तध्यानरहितः, पुनः कीदृशः, कीर्तिः-कीर्त्या उपलक्षितः, अथवा-'अणट्ठाकित्ति' इति अनष्टा कीर्तिः आ—समन्तात् नष्टा अकीर्त्तिर्यस्य स अनष्टाकीर्तिः। अयशोरहितः। ५०। अत्र विजयराजकथा—द्वारावत्यां ब्रह्मराजस्य पुत्रः सुभद्राकुक्षिसम्भूतो विजयो नाम द्वितीयो बलदेवोऽस्ति, स च स्वलघुभ्रातृद्विसप्ततिवर्षशतसहस्रायुर्द्विपृष्ठवासुदेवमरणानन्तरं श्रामण्यमङ्गीकृत्य उत्पादितकेवलज्ञानः पञ्चसप्ततिवर्षशतसहस्राणि सर्वायुरतिवाह्य मुक्तिं गतः सप्ततिधनूंषि चानयोर्देहमानमिति। उत्त० १८ अ०। प्रव०। स०।

विजए णं बलदेवे तेवत्तरिं वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥ ७३ ॥

तथा विजयो द्वितीयो बलदेवस्तस्येह त्रिसप्ततिर्वर्षलक्षाण्यायुरुक्तम्। आवश्यके तु-पञ्चसप्ततिरितीदमपि मतान्तरमेव। स० ७३ सम०। अष्टषष्टितमे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। जयस्य एकादशचक्रवर्तिपितरि,स०। उत्सर्पिण्यां भविष्यति विंशतितमे तीर्थकरे, प्रव० ४६ द्वार। ती०। श्रीचन्द्रप्रभस्य शासनयक्षे, स हरितवर्णस्त्रिलोचनो हंसवाहनो द्विभुजः कृतदक्षिणहस्तचक्रो वामहस्तधृतमुद्गरश्च। प्रव० २६ द्वार। पुरिमतालनगरस्य उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे शालाटवीपल्लीराजे चोरसेनापतौ स्कन्धश्रीभर्त्तरि अभग्नसेनपितरि, विपा० १ श्रु० १ अ०। भृगुकच्छपुरसमवसृतसूरिशिष्ये, योऽवन्तीपुर्यां किञ्चित्कार्यार्थं दौत्याय प्रेषितः। आव० ४ अ०। आ० क०। राजगृहवासिनि स्वनामख्याते तस्करराजे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। ('धण' शब्दे चतुर्थभागे २६४५ पृष्ठे धनसार्थवाहवक्तव्यतायां तत्सम्मिश्रा एतद्वक्तव्यतोक्ता।) एकविंशतीर्थकरस्य नमेः पितरि, मत्स्यभेदे च। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। वप्रापतौ, स० ६ सम। ति०।

विजयकुमार-विजयकुमार-पुं०। लज्जालुत्वेन प्रसिद्धे स्वनामख्याते विशालापुरीराजजयानुगपुत्रे, ध० र०।

"अत्थि सुविसालसाला, दुहा विसाला पुरी विसाल त्ति।
तत्थ निवो जयतुंगो, चंदवई तस्स पाणपिया ॥ १ ॥
लज्जानइ नरनाहो, पडुपयडपयावविजियदिणनाहो।
परकज्जसज्जचित्तो, विजओ नामेण तप्पुत्तो ॥ २ ॥
अन्नम्मि दिणे, कोई, जोई निवभवणसंठियं कुमरं।
भालयलमिलियकरकम-लसंपुडो फुडमिमं भणइ ॥ ३ ॥
कुमर! मह अज्ज कसिण-ट्ठमीइरयणीइ भइरवमसाणे।
मंतं साहंतस्स य, तं उत्तरसाहगो होसु ॥ ४ ॥
तं पडिवज्जइ कुमरो, परो परोहप्पहाणमणकरणो।
पत्तो य भणियठाणे, करे करेऊण करवालं ॥ ५ ॥
तो जोई जोइँ जोइ, कुंडकलियं करित्तु सुपवित्तो।
रत्तकणवीरगुग्गल-माईहिं तं च तप्पइ ॥ ६ ॥
पभणिय निसग्गउवस-ग्ग वग्गसंसग्गरंगिरे तत्थ।
नियसत्तचत्तडरभर-कुमर! खणं होसु अपमत्तो ॥ ७ ॥
निरुनियनासावंस-ग्ग लग्गनयणो जवइ जा मंतं।
कुमरो वि जाव चिट्ठइ, तप्पासे खग्गवग्गकरो ॥ ८ ॥
ताव निरवज्जविज्जो, एगो विज्जाहरो तहिं पत्तो।
अह जंपइ कुमरं पइ, निडालतडघडियकरकोसो ॥ ९ ॥
तुममुत्तमसत्तधरो, सि सरणपत्ताण तुं सरन्नो सि।
बहु अत्थि सत्थमणचिं-तयत्थकप्पमो तुं सि ॥ १० ॥
ता तायव्वा ताय-व्व पुत्तिया महद्दुपिया इमा तुमए।
जा वरि खयरं द-प्पदुद्धरं जिणिय एमि अहं ॥ ११ ॥
किं कायव्वविमूढो,······वि चिट्ठए कुमरो।
ता झत्ति उप्पइत्ता, पत्तो खयरो अदिट्ठिपहं ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्थंतरम्मि नियसिय, कत्ती कत्ती रउद्दपाणितलो।
असिमसिकसिणसरीरो, गुंजापुंजारुणत्थिउडो ॥ १३ ॥
अट्टट्टहासजियफु-ट्टमाणवंभंडभंडचंडरवो।
हण हण हण त्ति भणिरो, समुट्ठिओ रक्खसो एगो ॥ १४ ॥
भणइ य जोइं रे रे, अणज्ज ! अज्ज वि अकज्जसज्ज इहं।
मज्झ वि पूयमकाउं, चिट्ठसि ता धिट्ठ ! नट्ठोऽसि ॥ १५ ॥
मह मुहकुहरहुयासे, तुह संगिल्लं इमं कुमारं पि।
लहु दहउ तणगणं पिव, अहव कुसंगो न किं जणई ॥ १६ ॥
तव्वयणसवणउप्प—न्नमन्नुभरिओ भणेइ तो कुमरो।
रे रे ! तुहऽज्ज पत्तं, कयं तदत्तं समणुपत्तं ॥ १७ ॥
मइ पासठिए विग्घं, इमस्स सक्को वि काउ न हु सक्को।
इय जंपंतो पत्तो, झत्ति कुमारो तयासन्नं ॥ १८ ॥
अह दोवि कोवकडनिव-डभिउडिणो फुरफुरंतअहरदला।
अन्नुन्नं पहरंता, तज्जंता फरुसवयणेहिं ॥ १९ ॥
जा संपत्ता दूरं, ता नवरयणीयरु व्व रयणियरो।
खिणमित्तेणं कुडिलो, नयणअगोयरपहं पत्तो ॥ २० ॥
पडियागओ कुमारो, गयजीयं जोइयं निएऊण।
गुरुतरविसायविहुरो, पलोयए खेयरिं तेण ॥ २१ ॥
तमवि मयच्छिम्मपिच्छिय-हयसव्वस्सुव्व दीणकसिणमुहो।
निंदइ अत्ताणमत्ता-ण कारणं सरणपत्ताणं ॥ २२ ॥
इत्तो झत्ति स पत्तो, खयरो कुमरं नमित्तु वज्जरइ।
तुज्झ पभावेण मए, निहओ दक्खो वि पडिवक्खो ॥ २३ ॥
ता परनारि सहोयर !, सरणागयवज्जपंजर ! सुधीर !।
अणवज्जकज्जअप्पसु, मह पाणपियं पियं कुमर ! ॥ २४ ॥
परकज्जउज्जयमणो, अह वीओ नत्थि इत्थ जियलोए।
जयतुंगरायवंसो, विभूसिओ तुज्झ जम्मेण ॥ २५ ॥
जह जह थुव्वइ कुमरो, तह तह उव्विग्ग माणसो धणियं।
लज्जाभरमंथरकं-धरो य न हु किं पि जंपेइ ॥ २६ ॥
तं पइ पुणो पयंपइ, खयखारं पिव खरं गिरं खयरो।
जइ तुह कज्जं मह पण-इणीइ ता जामि एस अहं ॥ २७ ॥
तुह-सरिसपवरपुरिस-स्स महप्पिया जइ सि जाइ उवओगं।
लद्धं जं लहियव्वं, मणं पि मा कुणसु मणखेयं ॥ २८ ॥
इय वुत्तं उप्पइओ, खयरो ता चिंतए इमं कुमरो।
अह ह वह्णू पावभरिओ, निम्मलकुलदूसणो अह यं ॥ २९ ॥
सरणागए न रक्खइ, विजयकुमारु त्ति किं न पज्जत्तं।
जं कुणसि परत्थिकलं-कअंकियं मज्झ रे दिव्व ! ॥ ३० ॥
वरमिहपाणच्चाओ, लज्जिक्कधणाण पवरपुरिसाणं।
भट्ठपइन्नाण कलं-कियाण न जियं पि जं भणियं ॥ ३१ ॥
लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाः ॥
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति।
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ ३२ ॥
इइ चिंताभरविहुरं, कुमरं को वि हु सुरो सुकंतिल्लो।
जंपइ आहरणपहा, उज्जोइयसयलदिसिचक्को ॥ ३३ ॥
मा कुणसु कुमर ! खेयं, सेयं एयं सुणेहि मह वयणं।
इयरो वि भणइ तुह वय-णसवणपवणा य मे सवणा ॥ ३४ ॥
आह सुरो वीरपुरे, पुरम्मि जिणदासनामवरसिट्ठी ॥
कयगुरुजणअणुसिट्ठी, अइधम्मिट्ठी विमलदिट्ठी ॥ ३५ ॥

तस्स य मिच्छद्दिट्ठी, मित्तो अइवल्लहो धणो नाम।
सो पडिवज्जइ वज्जि-विसओ ताव सवय कइया ॥ ३६ ॥
तो चिंतइ जिणदासो, एए अन्नाणिणो वि जइ एवं।
पावभरपसरभीरू, विसं व विसए परिहरंति ॥ ३७ ॥
अवगयभवस्सरूवा, जिणपवयणसवणनायनायव्वा।
निम्मलविवेइणो वि हु, ता किं अम्हे न ते चइमो ॥ ३८ ॥
इय चिंतित्तु सविणयं, विणयंधरगुरुसमीवगाहियवओ।
अणसणविहिणा मरिउं, जाओ सोहम्मसग्गसुरो ॥ ३९ ॥
मित्तं पि वंतरं तं, जायं सो झत्ति ओहिणा दट्ठुं।
निययं रिद्धिसमुदयं, निदंसए बोहणत्थं सो ॥ ४० ॥
चिंतेइ वंतरो तो, अव्वो लहिऊण मणुयजम्ममहं;
जइ जिणधम्मं तइया, सेवंतो तो सुही हुंतो ॥ ४१ ॥
जइ रे जिय ! गुणगुरुणो, गुरुणो अमरत्तरु व्व सेवंतो।
तो रुद्ददरिद्दं पिव, न लहंतो हीणअमरत्तं ॥ ४२ ॥
जइ जियजिणपवयण अम-यपाणपवणो तया तुमं हुंतो।
असरिस अमरिसविसपर-वसत्तणं तो न पावंतो ॥ ४३ ॥
इच्चाइ वहुवियं जू-रिऊण नियमित्तअमर वयणेण।
सम्मं सम्मं धम्मो, पडिवन्नो मुक्खतरुवीयं ॥ ४४ ॥
दसवरिससहस्सठिइं, नियय जाणित्तु भणइ सुरपवरं।
परकज्जचित्तमणुय-त्तणे वि वोहिज्ज मित्त ! ॥ ४५ ॥
तियसेण वि पडिवन्ने, उव्वट्टिय वंतरो तुमं जाओ।
एकंतवीरवित्ती, न मुणसि नामं पि धम्मस्स ॥ ४६ ॥
तो तुज्झ बोहणकए, मए इमा वहुल वहुलिया विहिया।
ओहावणं अपत्ता, जं न हु वुज्झंति माणधणा ॥ ४७ ॥
इय सुणमाणुच्चिय जा-इसरणफुडवियडमुणियनियचरिओ
कुमरो विन्नवइ सुरं, विवोहिओ साहु साहु तए ॥ ४८ ॥
तुं मह मित्तो तुं म-ज्झ-वंधवो तुं सया गुरू मज्झ।
इय भणिय गिण्हइ वयं, सुरअप्पियसाहुनेवत्थो ॥ ४९ ॥
तो कयकाउस्सग्गं, कुमरमुणिं खामिउं पणमिउं च।
पत्तो सुरो सठाणं, उदिओ इत्थंतरम्मि रवी ॥ ५० ॥
तत्थेव तया पत्तो, जयतुंगनिवो वि कुमरसुद्धिकए।
पुत्तं निइत्तु सहस, त्ति लुत्तविहुरं भणइ दीणो ॥ ५१ ॥
हा वच्छ ! पणयवच्छल !, छलिया अम्हे वि कह तए एवं।
धवलजस धरसु अज्ज वि, रज्जधुरुद्धरणधवलत्तं ॥ ५२ ॥
वुड्ढवय उचियमेयं, वयमुज्झसु झत्ति सत्तिनयनकलियं !।
तुह वयणामयपाणं, लहु लहइ जणो इमो वच्छ ॥ ५३ ॥
इय जपंतं निसुणियं, मोहतिव्वं निवं विवोहेउं।
पारियकाउस्सग्गो, कुमरमुणी भणइ वयणमिणं ॥ ५४ ॥
भो भो नरिंद ! तडिलय-चलाइ अभिमाणमित्तसुहयाए।
सग्गापवग्गसंस-ग्गमग्गगुरुविग्घभूयाए ॥ ५५ ॥
नरयअइदुसह दुहका-रणाइ धम्मतरुजलणजालाए।
को णप्पमई अप्पं विडंवए रायलच्छीए ॥ ५६ ॥
पिउणा जणियं लच्छिं, भइणं पिव अप्पणा उ धूयं व।
परसंतियं परत्थिं, व किह ण सेविज्ज लज्जालू ॥ ५७ ॥
पवणपहरिल्लकम्मलग्ग-लग्गजललवचलम्मि जीयम्मि।
कल्ले काहं धम्मं, को भणइ सकन्न विन्नाणो ॥ ५८ ॥

जओ—

जस्स ऽत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुएसियं ॥ ५९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तए।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥ ६० ॥

तथा—

जो जाणइ पुणरुत्तं, कइया होही उ धम्मसामग्गी।
रंकधणुव्व विहिज्जउ, वयाण इहिंह पि पत्ताणं ॥ ६१ ॥
इय सुणियगलियमोहो, संवेयविवेयपरिगओ राया।
कुमररिसिपायमूले, सम्मं गिणहइ गिहीधम्मं ॥ ६२ ॥
भत्तीइ मुणिं नमिउं, खामित्तु गओ निवासठाणम्मि।
साहू वि दढपइन्नो, सयासयायारसारवओ ॥ ६३ ॥
लज्जातवाइसहिओ, सहिओ तिहुयणजणाण मरिऊण।
जाओ तत्थेव सुरो, जिणदासो अत्थए जत्थ ॥ ६४ ॥
तत्तो चुया समाणा, महाविदेहम्मि जिणसमीवम्मि।
निम्मियनिव्वणचरणा, सिद्धिं ते दो वि गमिहंति ॥ ६५ ॥
लज्जामकार्यपरिहारसुकार्यकार्य-
रूपां सदा विदधतः क्षितिपात्मजस्य ॥
एवं निशम्य फलमुत्तममेकताना,
नित्यं समाश्रयत भव्यजनास्तदेनाम् ॥ ६६ ॥"

इति विजयकुमारकथा । ध० र० १ अधि० ६ गुण।

विजयकूड-विजयकूट-न०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तर रुचकवरपर्वतस्य कूटभेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

विजयघोस-विजयघोष-पुं० । वाराणसीवास्तव्ये जयघोषभ्रातरि, उत्त० २५ अ०। ती०। (तत्कथा 'जयघोष' शब्दे चतुर्थभागे १४१६ पृष्ठे उक्ता।)

विजयचंद-विजयचन्द्र-पुं०। चित्रावालकगच्छीयभुवनचन्द्रसूरिशिष्ये देवभद्रगणिगुरौ, ध० र० ३ अधि०। तपागच्छे, संवत्सरे १२८५-याते जगदिन्द्रसूरिशिष्ये,ग० ३ अधि०। तेन च केशिकुमारचरित्रग्रन्थो रचितः। जै० इ०।

विजयतिलगसूरि-विजयतिलकसूरि-पुं०। हीरविजयशिष्ये-विजयसेनसूरिशिष्ये, कल्प० ३ अधि०६क्षण। "विजयतिलकसूरिर्भूरिसूरिप्रकृष्टो, दिनमणिरुदयाद्रौ तस्य पट्टे बभूव। कुमतितिमिरमुग्रं प्रास्य शुद्धोपदेश—प्रसृमरकिरणैर्योऽवूबुधद्भव्यपद्मान्"॥ १॥ ध० ३ अधि०।

विजयदाणसूरि-विजयदानसूरि-पुं० । वीरजिनात्सप्तपञ्चाशानामानन्दविमलसूरीणां शिष्ये हीरविजयसूरिगुरौ, ग० ३ अधि०।

विजयदार-विजयद्वार-न०। जम्बूद्वीपलवणसमुद्रधातकीखण्डकालोदपुष्करवरपुष्करोदानां द्वीपसमुद्राणां पूर्वद्वारे, जं० १ वक्ष०।

विजयदूसग-विजयदूष्य-न०। वितानकरूपे वस्तुविशेषे,स्था० ४ ठा० २ उ०। आ० म०। जी०।

विजयदेवसूरि-विजयदेवसूरि-पुं०। यशोविजयसूरिसमकालिकविजयप्रभगुरुविजयसिंहगुरौ,"सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरौ पट्टाम्बराहर्मणौ, सूरिश्रीविजयादिसिंहसुगुरौ शक्रासनं भेजुषि। सूरिश्रीविजयप्रभो श्रितवति प्राज्यं च राज्याकृतौ, ग्रन्थोऽयं वितनोतु कोविदकुले मोदं विनोदं तथा ॥ १ ॥ प्रत्यक्षरं निरूप्यास्य, ग्रन्थमानं विनिश्चितम्। अनुष्टुभां सहस्राणि, त्रीणि षट् च शतानि वै ॥ २ ॥" श्रीतपागच्छे श्रीविजयदेवसूरिवराणां गच्छे श्रीजीतविजयप्राज्ञास्तेषां सतीर्थ्यधराः श्रीनयविजयप्राज्ञाः। अष्ट० ३२ अष्ट०।

विजयदेवा-विजयदेवा-स्त्री०। मण्डिकमौर्यपुत्रयोर्वीरगणधरयोर्मातरि, आ० म० १ अ०।

विजयपुर-विजयपुर-न०। सुमतिनाथस्य तीर्थकृतः प्रथमपारणकस्थाने, आ० म० १ अ०। विजयपुरराजस्य कनकरथनाम्नो धन्वन्तरिनामा वैद्य आसीत्। स्था०१० ठा३ उ०। यत्रार्यवर्यपिता रुद्रसोमो द्विज आसीत्। सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०। "चउत्थस्स उक्खेवओ विजयपुरं णयरं णंदणवणं उज्जाणं असोगो जक्खो वासवदत्तो राया" नि०।

विजयपुरा-विजयपुरा-स्त्री०। पद्मकावतीविजयक्षेत्रवर्तिपुरीयुगले, जं० ४ वक्ष०।

दो विजयपुराओ। (सू०-६२+) स्था० २ ठा०३ उ०।

विजयप्पभ-विजयप्रभ-पुं०। यशोविजयसमकालिके तपागच्छपदाधिष्ठिते सूरौ, नं०।

विजयपुंडरीगिणी-विजयपुण्डरीकिणी-स्त्री०। पुष्कलावतीविजयनगर्याम्, दर्श० १ तत्त्व।

विजयवद्धमाण-विजयवर्द्धमान-पुं०। एकापि राष्ट्रकूटरक्षिते, ग्रामभेदे, विपा० १ श्रु० १ अ०। ('तस्स णं सयदुवारस्स णयरस्स' इत्यादिसूत्रालापकः 'मियापुत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २८८ पृष्ठे गतः।)

विजयमाण-विजयमान-पुं०। तपागच्छीयहीरविजयसूरिशिष्यविजयराजेन्द्रसेनशिष्यविजयतिलकसूरिशिष्यविजयानन्दगुरुशिष्यविजयराजशिष्ये, "तदनु पट्टपतिर्विहितोऽधुना, विजयराजतपागणभूभुजा। विजयमान इति प्रथिताह्वयो, विजयतेऽतुलभाग्यनिधिः सुधीः" ॥६॥ ध० ३ अधि०।

विजयवाणारसी-विजयवाराणसी-स्त्री०। विश्वनाथप्रासादस्थाने वाराणसीभागे, ती० ३८ कल्प।

विजयविमल-विजयविमल-पुं०। गच्छाचारप्रकीर्णकवृत्तिकारके सूरौ, ग० ३ अधि०। ('गच्छायार' शब्दे तृतीयभागे ८१२ पृष्ठेऽस्य मुनेर्वृत्तम्।)

विजयवेजयंती-विजयवैजयन्ती-स्त्री०। विजयोऽभ्युदयस्तत्सूचिका वैजयन्त्यभिधाना या पताका। अथवा—विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यते तत्प्रधाना वैजयन्ती विजयवैजयन्ती। रा०। सूत्र०। जी०। आ० म०। ज्ञा०। भ०। विजयसूचके पार्श्वतो लघुपताकाद्वययुते पताकाविशेषे, औ०।

विजयसिंह-विजयसिंह-पुं०। यशोविजयोपाध्यायसमकालिकाचार्यविजयप्रभगुरौ, हीरविजयसूरिपट्टपरम्परासूरौ, नं०। दर्श०। मुनिचन्द्रशिष्याजितदेवसूरिशिष्ये, ग० ३ अधि०। मलधारिहेमचन्द्रसूरिशिष्ये च। स च विक्रमे-११५२ संवत्सरे विद्यमान आसीत्। कल्पसूत्रोपरिकल्पावबोधिनीनाम टीकां व्यधात्। जै० इ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विजयसूरि-विजयसूरि-पुं०। सुरत्नद्विजयशिष्ये, "श्रीवीरपट्टाधिपतिर्बभूव, सूरिः सुरत्नद्विजयो यशस्वी। यस्मिन् समुद्रं विविशुः समग्रा, विद्याः सुनद्यश्च चतुर्दशापि" ॥ १ ॥ द्रव्या० १५ अध्या०।

विजयसेट्ठि-विजयश्रेष्ठिन्-पुं०। स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ध० र०।

तत्कथा चैवम्—

" इह विजयवद्धणपुरे,अत्थि विसालु त्ति विस्सुओ सिट्ठी।
कयकोहजोहविजओ, विजओ नामेण से पुत्तो ॥ १ ॥
सो उज्झायमुहाओ, कयाइ आयन्नई इमं वयणं।
अप्पहिएण नरेणं, खमापहाणेण होयव्वं ॥ २ ॥
खंती सुहाण मूलं, मूलं कोहो दुहाण सव्वाणं।
विणओ गुणाण मूलं, मूलं माणो अणत्थाणं ॥ ३ ॥
जिणजणणी रमणीणं, मणीण चिंतामणी जहा पवरो।
कप्पलया य लयाणं, तहा खमा सव्वधम्माणं ॥ ४ ॥
इह इक्कं चिय खंतिं, पडिवज्जिय जियपरीसहकसाया।
सायाणंतमणंता, सत्ता पत्ता पयं परमं ॥ ५ ॥
पीऊसवरिससरिसं, तं सो संगिण्हइ तत्तबुद्धीए।
जाओ विउसो कमसो, पत्तो य सुतारतारुन्नं ॥ ६ ॥
पियरेहिं वसंतपुरे, सागरसिट्ठिस्स गोसिरिं धूयं।
परिणाविओ तहिं चिय, मुत्तु पियं नियपुरं पत्तो ॥ ७ ॥
ससुरगिहाउ कयाइ वि, घित्तु पियं नियगिहम्मि सो इंतो।
अद्धपहे पडिभणिओ, नियपियरुक्कंठियपियाए ॥ ८ ॥
बाहइ तिसापिसाई, भिसं ममं नाह! तो इमो तुरियं।
पत्तो कूवे सद्धिं, णुमग्गलग्गाइ दइयाए ॥ ९ ॥
जा कड्डइ वारि तओ, ता अवडे तं खिवित्तु सा पत्ता।
जयणगिहे भणइ अहं, न तेण नीया असउणत्ता ॥ १० ॥
निवडंतो स तडुब्भव-तरुम्मि लग्गिय विणिग्गओ तत्तो।
चिंतइ सहावसोमो, किं तीइ अणुज्झिओ अहयं ॥ ११ ॥
हुं नायं पियगिहगमण—पवणचित्ताइ ता अरे जीव!।
मा कुणसु तीइ उवरिं, रोसं सोसं च देहस्स ॥ १२ ॥
सव्वो पुव्वकयाणं, कम्माणं पावए फलविवागं।
अवराहेसु गुणेसु य, निमित्तमित्तं परो होई ॥ १३ ॥
जइ खमसि दोसवंते, ता तुह खंतीइ होइ अवयासो।
अह न खमसि तो तुह अवि, सया अखंतीइ वावारो ॥१४॥
इह चिंतिय नियगेहं, पत्तो जणणीइ पुच्छिओ भणइ।
अवसउणकारणा मे, सुण्हा नो आणिया अंब ॥ १५ ॥
बहुआ बहुआणयणे, पिऊहिं भणिओ वि सो न उच्छहइ।
को तीइ वराईए, काहिइ दुक्खं ति काऊण ॥ १६ ॥
कइया वि भिसं मित्तेहिं, पेरिओ सो गओ ससुरगेहे।
ठाऊण कइवयदिणे, घित्तुं पियं सगिहमणुपत्तो ॥ १७ ॥
पियरेसु उवरएसुं, जायं तेसिं गिहस्स सामित्तं।
पिम्मपराण कमेणं, चउरो तणया समुप्पन्ना ॥ १८ ॥
पयई सोमसहावो, विवओ पाएण हणिय बहुपावो।
जाओ सुसेवणिज्जो, परियणसुहिसयणपभिईण ॥ १९ ॥
तस्संसग्गिवसेणं, पसमिक्करसो घणो जणो जाओ।
जं संगाउ जियाणं, गुणा गुणा हुंति भणियं च ॥ २० ॥"

काव्यम्—

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते,
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वातौ सागरशुक्तिसंपुटगतं तज्जायते मौक्तिकं,
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो दृश्यते ॥ २१ ॥
"निव्वुइदाणपहाणं, खमागुणं मुणियसुहमणो विजओ।
जइ नियइ कं पि कलहं, तयं तओ भणइ इय वयणं ॥ २२ ॥
विलसिरपरमपमोया, खमापहाणा भवेह भो लोया!।
मा कुणह कह वि कोहं, ओहं पि व भवसमुद्दस्स ॥ २३ ॥
धम्मत्थकाममुक्खा-ण हारणं कारणं दुहसयाणं।
कलहं कलहंसा इव, कलुसजलं चयह भो भविया! ॥ २४ ॥
सव्वस्साविहिलीयं, अजंपियं जंपिया उ वरमिहयं।
निउणमइस्स परस्स वि, अपुच्छियं पुच्छियाउ वरं ॥२५ ॥
इय पइदिणमुवएसं, दिंतं जणयं भणेइ जिट्ठसुओ।
किं ताय! तुमं पुणरु-त्तमेमुवइससि सव्वेसिं ॥ २६ ॥
विजओ जंपइ अणुहव-सिद्धमिणं वच्छ! मज्झ सो आह।
कह णु भणइ तो सिट्ठी, अजंपियं जंपिया उ वरं ॥२७ ॥
गाढायरेण तणए-ण, पभणिओ अह भणेइ सिट्ठी वि।
तुह जणणीइ पुराहं, पणुल्लिओ वियडअवडम्मि ॥ २८ ॥
न य तं तीए वि मए, कहियं जा तं सुहावहं जायं।
तुमए वि तओ एयं, कहियव्वं नेव कस्सावि ॥ २९ ॥
हसिऊण ऊणमइणा, तेण पुट्ठं कयाइ किं अम्मो।
सच्चमिणं जं ताओ, तुमए कूवम्मि पक्खित्तो ॥ ३० ॥
कह नायमिणं तीए, बट्टे रुणे आह ताय दयणाओ।
तं सुणिय लज्जिया सा, हियय फुडियं धस त्ति मया ॥३१॥
एयं नाउं विजओ, अप्पं अप्पासयं ति निंदंतो।
सोयभरभरियहियओ, करेइ दइआइमयकिच्चं ॥ ३२ ॥
संवेगरंगियमणो, कयावि सिरिविमलसूरिपासम्मि।
निरवज्जं पव्वज्जं, सज्जो पडिवज्जए विजओ ॥ ३३ ॥
सामन्नं बहुवरिसे, परिपालिय चइय पाटवं देहं।
लहिउं च अमरगेहं, कमेण पाविहि य सिद्धिं पि ॥ ३४ ॥"

इति निशम्य सुसाम्य निवन्धनं,विजयवृत्तमुदारमनुत्तरम्।
प्रकृतिसौम्यगुणं गुणशालिनः,श्रयत भव्यजना जनर्नाच्छिदे३५
इति विजयश्रेष्ठिकथा। ध० र० १ अधि० ३ गुण।

विजयसेण-विजयसेन-पुं०। अङ्गारमर्दकाचार्यस्य रुद्रदेवस्य अभव्यत्वपरीक्षके गर्जनकपुरसमवसृते आचार्ये पञ्चा० ३ विव०। हीरविजयसूरिशिष्ये, ध० ३ अधि०। ('मानविजय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४२ पृष्ठेऽस्य वृत्तं गतम्।)
" श्रीविजयसेनसूरि-प्रमुखैर्मुनिपुङ्गवैर्विगतदोषैः। सेवितपदारविन्दाः, श्रीगुरवस्ते जयन्तितराम् ॥ ७२॥" ग० ३ अधि०। स्वनामख्याते चन्द्रकान्तानगरीराजे, कल्प० १० अधि० १ क्षण। एकोनविंशे अहोरात्रमुहूर्त्ते,चं० प्र०१०पाहु०। नागेन्द्रगच्छीये कलिकालगौतमविरुद्धवतो हरिभद्रसूरेः शिष्ये, धर्माभ्युदयग्रन्थकृति उदयप्रभस्य गुरौ, अयं १२५० संवत्सरे विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

विजया-विजया-स्त्री०। पूर्वरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ०। आ० चू०। जं० ५ वक्ष०। आ० म०। ति०। आ० क०। पक्षस्य सप्तमतिथिरात्रौ, चं० प्र० १० पाहु०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्प० । जं० । ज्यो० । अङ्गारादीनां महाग्रहाणामग्रमहिषीषु.स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । जं० । श्रीविमलस्य शासनदेव्याम् , प्रव० २७ द्वार । ('तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२६६ पृष्ठेऽस्याः स्वरूपमुक्तम् ।) द्वितीयजिनस्य अजितस्वामिनो मातरि, आव० १ अ० । पञ्चमतीर्थकरस्य निष्क्रमणशिविकायाम् , स० । आव० । चतुर्थचक्रवर्तिभार्यायाम् , स० । स्वनामख्यातायां पार्श्वनाथान्ते वासिन्याम् ,आ०म०१अ०। मृगावतीप्रतिहारिण्याम् .आ० म०१अ०।आ०चू० । पञ्चमबलदेवमातरि, स०। आव०। ति०। उत्तरस्य अञ्जनादिपर्वतस्य पूर्वदिशि नन्दापुष्करिण्याम् , द्वी० । ती० । स्था० । शक्रत्रायस्त्रिंशदेवोत्पातपर्वतपूर्वदिग्राजधान्याम् , द्वी० ।

विजयाणंद-विजयानन्द-पुं० । धर्मसंग्रहवृत्तिकृन्मानविजयगुरुशान्तिविजयस्य गुरौ, ध० ३ अधि० । कल्प० । (' माणविजय ' शब्देऽस्मिन् भागे २४३ पृष्ठेऽस्य स्वरूपमुक्तम् ।)

विजहण-विहान-न० । परित्यागे, स्था० । ' विजहण ' त्ति आचार्योपाध्यायगणित्वादिभेदेन त्रिविधैव विहानं-परित्यागः । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

विज(य)हित्ता-विहाय-अव्य० । विशेषेण तदनुस्मरणात्मकेन हित्वा।(उत्त०८अ०।) परित्यज्येत्यर्थे, आचा०१श्रु०१अ०३उ० ।

विजाणंत-विजानान-त्रि० । विवेकिनि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

विजिइंदिय-विजितेन्द्रिय-पुं०।निवृत्तविषयप्रसरे, द्वा०२द्वा०।

विजियसमुद्देसणा-विवित्यसमुद्देशना-स्त्री० । तदेव योग्यं-नान्यदिति विचिन्त्य समुद्देशने, व्य० १० उ० ।

विजियोद्देसणा-विजितोद्देशना-स्त्री० । सम्यग्योग्यतां परिनिश्चित्योद्देशने, व्य० १० उ० ।

विजोगंत-वियोगान्त-त्रि० । विरसावसाने, पं० सू० ३ सूत्र ।

विज्ज-विद्वस्-त्रि०।पण्डिते,सूत्र०१ श्रु०१३अ०। सदसद्विवेकिनि,यथावस्थिततत्त्वग्रहीतरि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । सकलपदार्थानां करतलामलकन्यायेन वेत्तरि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । सश्रुतिके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

वैद्य-पुं० । चिकित्साकर्त्तरि, ग० १ अधि० । वैद्यकशास्त्रे, चिकित्सायां च कुशले, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

वैद्यस्वरूपम्—

अम्मापिईहिँ जणियस्स, आयंकपउरदोसेहिं ।
विज्जा दिंति समाहिं, जेहिँ कया आगमा हुंति ॥३६१॥

मातापितृभ्यां जनितस्य तस्याधिकृतस्य वणिजः आतङ्कान्-रोगान् ये समुत्था प्रचुरदोषास्तैरुपेतस्येति गम्यते । वैद्या ददति-कुर्वन्ति समाधिं-स्वास्थ्यं; नीरोगतामित्यर्थः । यैः कृता-अभ्यस्ता आगमा—वैद्यकशास्त्रलक्षणा भवन्ति-वर्तन्ते । व्य० १ उ० । (अष्टौ वैद्याः 'गिलाण' शब्दे तृतीयभागे ८८३ पृष्ठे वैद्यानुवर्त्तनायां व्याख्याताः ।)

विज्जकिरिया-वैद्यक्रिया-स्त्री० । चिकित्सापरिज्ञानरूपे कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

विज्जणाया-वैद्यज्ञाता-स्त्री० । स्थविरात् श्रीगुप्तान्निर्गतस्य चारणगणस्य शाखायाम् , कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

विज्जपुत्त-वैद्यपुत्र-पुं० । वैद्यकशास्त्रचिकित्सोभयकुशलस्य पुत्रे , विपा० १ श्रु० १ अ० ।

विज्जमाण-विद्यमान-त्रि० । सति, पञ्चा० ६ विव० । स्या० । आ० चू० । आचा० । " अत्थि भावो त्ति वा विज्जमाणभावो त्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० ।

विज्जय-वैद्यक-न० । चिकित्साशास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

विज्जल-विज्जल-न० । विगतं जलं विज्जलम् । शिथिलकर्दमे , नि० चू० १ उ० । दश० ।

विज्जा-विद्या-स्त्री० । वेदनं विद्या । तत्त्वज्ञाने, उत्त० ६ अ० । नं० । अत्यन्तापकारिभावतमोभिदके, दश० १ अ० । सम्यग्ज्ञाने, उत्त० ५ अ० । सूत्र० । नं० । ग० । परिज्ञाने, आ० म० १ अ० । स० । ससाधनायां प्रज्ञप्त्यादिदेवताधिष्ठितायां वर्णानुपूर्व्याम् , दर्श० ३ तत्त्व । व्य० । नि० चू० । पं० व० । पं० भा० । पं० चू० । औ० । ज्ञा० ।

अथ विद्यामन्त्राख्यद्वारमाह—

विज्जामंतपरूवण-विज्जाए भिक्खुवासओ होइ ।
मंतम्मि सीसवेयण, तत्थ मुरुंडेण दिट्ठंतो ॥ ४६४ ॥

विद्यामन्त्रयोः प्ररूपणा कर्तव्या । सा चैवम्-ससाधना स्त्रीरूपदेवताधिष्ठिता वाऽक्षरपद्धतिर्विद्या । असाधना पुरुषरूपदेवताधिष्ठिता वा मन्त्रः । 'तत्थ' त्ति तत्र विद्यायां भिक्षूपासको दृष्टान्तः, मन्त्रे शिरोवेदनायां मुरुण्डेन राज्ञोपलक्षितः पादलिप्तसूरिः ।

तत्र भिक्षूपासकदृष्टान्तं गाथाद्वयेन भावयति—

परिपिंडियमुल्लावो, अइपंतो भिक्खुवासओ दाहे ।
जइ इच्छह अणुजाणह, घयगुलवत्थाणि दावेमि ।४६५।
गंतुं विज्जामंतण-किं देमि ? घयंगुलं च वत्थाई ।
दिन्ने पडिसाहरणं, केण हियं केण मुट्ठोऽमि ? ॥ ४६६ ॥

गन्धसमृद्धे नगरे धनदेवो नाम भिक्षूपासकः । स च साधुभ्यो भिक्षार्थं गृहे समागतेभ्यो न किञ्चिदपि ददाति । अन्यदा च तरुणश्रमणानामेकत्र परिपिण्डितानां परस्परमुल्लापः । तत्रैकेनोक्तम्-अतिप्रान्तोऽयं धनदेवः संयतानां न किमपि ददाति, तदस्ति कोऽपि साधुर्य एनं घृतगुडादिकं दापयति । ततस्तेषां मध्ये केनाप्यूचे—यदीच्छथ ततोऽनुजानीध्व मां , येनाहं दापयामि । तैरनुज्ञातः । ततो गतस्तस्य गृहमभिमन्त्रितो विद्यया । ततो ब्रूते साधून्—किं प्रयच्छामि ? , तैरुक्तम्—घृतगुडवस्त्रादि । ततो दापितं तेन संयतेभ्यः प्रचुरं घृतगुडादिकम् । तदनन्तरं च प्रतिसंहृता क्षुल्लकेन विद्या । जातः स्वभावस्थो भिक्षूपासकः । ततो यावन्निभालयति घृ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तादिकं तावत्स्तोकं पश्यति। ततः केन मे हृतं घृतादि?, केनाहं मुषितोऽस्मि?, इति विलपितुं प्रवृत्तः। ततः परिजनेनोक्तम्—युष्माभिरेव दापितं संयतेभ्यः तत्किं यूयमेवं भणथ?, ततो मौनमवलम्ब्य स्थितः।

अत्र दोषानुपदर्शयति—

पडिविज्जत्थंभणाई, सो वा अन्नो व से करिज्जाहि।
पावाजीवी माई, कम्मणगारी य गहणाई ॥४६७॥

यो विद्ययाऽभिमन्त्रितः स च स्वभावस्थो जातः सन् कदाचित्प्रद्विष्टोऽन्यो वा तत्पक्षपाती प्रद्विष्टः सन् प्रतिविद्यया स्तम्भनादि—स्तम्भनोच्चाटनमारणादि कुर्यात्। तथा पापाजीविनः—पापेन—विद्यादिना परद्रोहकरणरूपेण जीवनशीला मायिनः-शठा इति लोके जुगुप्सा। तथा कार्मणकारिण इमे इति राजकुले ग्रहणाकर्षणवेषपरित्याजनकदर्थनमारणादि। पिं०। (परिव्राजकस्य सप्त विद्याः 'तेरासिय' शब्दे चतुर्थभागे २३६० पृष्ठे गताः।) (भौमादीनि शास्त्राणि 'पुरिसविजय—विभंग' शब्दे पञ्चमभागे १०३६ पृष्ठे गतानि।) "अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च, विद्या ह्येताश्चतुर्दश" ॥१॥ आ० चू०१ अ०। वृ०। आ० म०। आव०। "तस्स दो विज्जातो अत्थि-ओणामणी य, उन्नामणी य।" नि०चू०१ उ०। नमिविनमिभ्यां भगवानृषभः—गौरीगान्धारी-रोहिणी-प्रज्ञप्तिलक्षणाश्चतस्रो महाविद्याश्च पाठसिद्धा एव दत्तवान्। यच्चोक्तं किरणावलीकारेण अष्टचत्वारिंशत्संख्याका इति तद्युक्तम्। आवश्यकवृत्तौ अष्टचत्वारिंशत्सहस्राणामुक्तत्वात्। कल्प०१ अधि०७ क्षण। (विद्यास्वरूपं 'वासक्खेव' शब्देऽस्मिन् भागे ११०३ पृष्ठे गतम्।)

तत्रागमे—

जे भिक्खू अणउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा विज्जं पउंजइ पउंजंतं वा साइज्जइ। (सू०-२४) नि०चू०१३उ०।

('अणउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे व्याख्यातमिदम्।) (विद्यां प्रतीत्य कथा 'अत्थकहा' शब्दे प्रथमभागे ५०७ पृष्ठे उक्ता।) विद्यते ज्ञायते आभिस्तत्त्वमिति विद्याः। आरण्यकब्रह्माण्डपुराणात्मिकायां वेदभङ्क्तौ, "विज्जा—माहणसंपया" उत्त० २५ अ०। विद्यानिक्षेपः—तत्र नामविद्या इति नाम जीवस्याभिधानं क्रियते सा नामविद्या। अक्षबराटककाष्ठादिविद्या इति स्थाप्यते, सा स्थापनाविद्या। द्रव्यविद्या लौकिका शिल्पादिरूपा, लोकोत्तरा द्विविधा-कुप्रावचनिका—भारतरामायणोपनिषद्रूपा, लोकोत्तरा—सुप्रावचनिका विद्या आवश्यकाचाराङ्गादिलक्षणा। साऽपि ज्ञशरीरभव्यशरीरस्य तद्भ्यासवतः अनुपयुक्तस्य द्रव्यविद्या। अथवा—अनुपयुक्तस्य-हेयोपादेयपरीक्षाविकलस्य वाचना पृच्छना परिवर्त्तना धर्मकथा अनुप्रेक्षाविकलाऽपि चेतना विज्ञप्तिर्द्रव्यरूपा ज्ञेया। भावविद्या तु लोकोत्तराहत्प्रणीतागमरहस्याभ्यासवतः नित्यानित्याद्यनन्तपर्यायोपेतचिद्रूपोपादेयबुद्धिविभावाद्यन्तपरभावपरित्यागप्रज्ञप्तिलक्षणा। भावविद्याभ्यासस्यावसरः, तत्र मत्यादिज्ञानक्षयोपशमनिमित्ता इन्द्रियादयः। नैगमेन विद्या सर्वजीवद्रव्यादिसंग्रहेण, द्रव्यश्रुतं व्यवहारेण ऋजुसूत्रेण वाचनादि। शब्दनयेन यथार्थोपयोगः कारणकार्यादिसंकररूपं सविकल्पचेतना-समभिरूढेन निर्विकल्पचेतना-क्षायोपशमकी साधनावस्था एवंभूतेन साधका निर्विकल्पा तात्त्विकी। तथा—कंचित् केचलक्षानरूपसिद्धविद्या इति आद्यनयचतुष्टयस्य द्रव्यनिक्षेपान्तर्गतत्वेन कारणरूपा गृहीता; अतो न यत्र यस्य भावरूपत्वेन कार्यरूपा उत्तरोत्तरसूक्ष्मा गृहीता तत्र कारणोद्यमेन कार्याऽऽदरवता भवितव्यम्—

नित्यशुच्यात्मताख्याति-रनित्याशुच्यनात्मसु।
अविद्या तत्त्वधीर्विद्या, योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

'नित्यशुच्ये' ति-अनित्याशुच्यनात्मसु नित्यशुच्यात्मताख्यातिः-अविद्या इत्यन्वयः। अनित्ये चेतनात् जातिभिन्नमूर्त्तपुद्गलग्रहणोत्पन्ने परसंयोगे या नित्यता ख्यातिः सा अविद्या। अशुचिषु-शरीरादिषु स्रवन्नवद्वाररन्ध्रेषु शुद्धस्वरूपावतरणनिमित्तेषु शुचिख्यातिः, अनात्मसु—पुद्गलादिषु आत्मख्यातिः 'अहमन्ये' इति बुद्धिः 'इदं शरीरं मम, अहमेवैतत्, तस्य पुष्टौ पुष्टः' इति ख्यातिः—कथनं-ज्ञानं तत्र रमणम्—इयमविद्या-भ्रान्तिबुद्धिः। या तत्त्वबुद्धिः, शुद्धात्मनि नित्यता-शुचिता—आत्मता—इति ज्ञप्तिः विद्या—तत्त्वविवेकः। अत्र नित्यत्वं तु उत्पादव्ययध्रुवरूपेऽपि अर्पितानर्पितप्रकारेण द्रव्यास्तिककूटस्थनित्यता ज्ञेया। इयं विद्या परमार्थसाधनपद्धतिर्योगाचार्यैः, योगः—ज्ञानश्रद्धाचरणात्मकमोक्षोपायः तस्य आचार्याः—तदाचरणकुशलाः तैः प्रकीर्तिता। अत्र भेदज्ञानं साधनम्। उक्तं च अध्यात्मविन्दौ—"यावन्तो ध्वस्तबन्धा अभूवन्, भेदज्ञानाभ्यास एवात्र मूलम्। यावन्तोऽध्वस्तबन्धा भ्रमन्ति, भेदज्ञानाभाव एवात्र बीजम् ॥ १ ॥"

यः पश्येन्नित्यमात्मन-मनित्यं परसङ्गमम्।
छलं लब्धुं न शक्नोति, तस्य मोहमलिम्लुचः ॥ २ ॥

'यः पश्ये' दिति—य आत्मार्थी आत्मानं नित्यं—सदा अचलितस्वरूपम्, पश्येत्—अवलोकयेत्, परसंगमं—शरीरादिकम् अनित्यम्-अध्रुवं पश्येत्, तस्य-साधनोद्यतस्य मोहो—मौढ्यं मुग्धता—मिथ्यात्वादिभ्रान्तिरूपा स एव मलिम्लुचः—तस्करः छलम्—छिद्रं लब्धुं न शक्नोति—न समर्थो भवति। इति अनेन यथार्थज्ञानवतः रागादयो न प्रवर्द्धन्ते-तस्यात्मा मोहाधीनो न भवति।

तरङ्गतरलां लक्ष्मी-मायुर्वायुवदस्थिरम्।
अदभ्रधीरनुध्यायेद्-दभ्रवद् भङ्गुरं वपुः ॥ ३ ॥

'तरङ्गे' ति अदभ्रधीः—पृथुबुद्धिः लक्ष्मीः तरङ्गवत्—जलधिकल्लोलवत् तरला-चपला तां तरङ्गतरलाम्—अस्थिराम्, अनुध्यायेत् आयुः—जीवितं याति तद् वायुवत्, अस्थिरम्—गत्वरं प्रतिसमयविनश्वरम्, अध्यवसानानि विघ्नोपयुक्तम्, अनुध्यायेत्—चिन्तयेत्, वपुः—शरीरं पुद्गलस्कन्धनिश्चितम् अभ्रवद्भङ्गुरम्—भङ्गुरशीलम्, अनुध्यायेत्—इदं च यथार्थचिन्तनम्। भावना च स्वसम्पद्विमुक्तेन पृथ्वीकायस्कन्धासम्पद्रूपेण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपचरिता। न च ते सम्पत् तथा जीवः ज्ञानदर्शनवीर्यसुखरूपैः भावप्राणैरेव जीवति । आयुर्जीवनं तु बाह्यप्राणसंम्बन्धस्थितिहेतुतया तन्नात्मस्वरूपम् । तथा वर्णगन्धरसस्पर्शाचेतनशरीरोपचयश्च न स्वरूपम् , तदपि अस्थिरम् इत्येवमस्थिरपरभावे स्वात्मधर्मप्रध्वंसके कः प्रतिबन्धः ?, तदर्थं च स्वगुणानचेतनावीर्यादीन् कः परभावग्रहणोन्मुखान् करोति ?। अत आत्मनि आत्मगुणप्रवृत्तिरेव करणीया।

शुचीन्यप्यशुचीकर्त्तुं , समर्थेऽशुचिसम्भवे ।
देहे जलादिना शौच-भ्रमो मूढस्य दारुणः ॥ ४ ॥

'शुचीन्यपी' ति मूढस्य—अज्ञस्य—यथार्थापरयोगरहितस्य देहेन्द्रियायतने जलादिना—पानीयमृत्तिकादिसङ्गेन शौचभ्रमः श्रोत्रियादीनां दारुणः—भयकृत् , यश्च जात्याऽशुचिः स किं जलव्यूहैः शुचीभवति, ?, कथंभूते देहे ? शुचीन्यपि—कर्पूरादीन्यपि अशुचीकर्तुं समर्थे , देहसङ्गात् मलयजविलेपनादयोऽऽप्यशुचीभवन्ति , पुनः कथं भूते देहे ? अशुचिसम्भवे—अशुचि आर्त्तवं मातुः रक्तं पितुः शुक्रं, तेन सम्भवः उत्पत्तिः यस्य स तस्मिन् । उक्तं च भवभावनायाम्—"सुक्कं पिउणो माउए, साणियं तदुभयं पि संसट्ठं । तप्पढमाए जीवो, आहारइ तत्थ उप्पन्नो ॥ १ ॥ जूकाइसुणयभक्खे, किमिकुलवासे य वाहिखित्ते य । देहम्मि अवधुविहुरे, सुसाणत्थाणे य पडिबन्धो" ॥२॥ अतः अस्थिरे अपवित्रे औपाधिके अभिनवबन्धकारणे द्रव्यभावाधिकरणे कः संस्कारः ॥ ४ ॥

अथ देहे आत्मत्वारोपोऽपि बहिरात्मदोषौघः
अतः तन्निवार्य स्वरूपे आत्मनः पावित्र्यं
करणीयं तदुपदिशति—

यः स्नात्वा समताकुण्डे, हित्वा कश्मलजं मलम् ।
पुनर्न याति मालिन्यं, सोऽन्तरात्मा परः शुचिः ॥ ५ ॥

'यः स्नात्वेति'-स अन्तरात्मा देहात् भिन्न आत्मज्ञानी स्वपरविवेकी परः—प्रकृष्टः शुचिः-पवित्रः ज्ञेयः पुरुषः, समता अरक्तद्विष्टता तद्रूपे कुण्डे स्नात्वा कश्मलजम्-पापोत्पन्नं मलं हित्वा पुनः मालिन्यं न प्राप्नोति । सम्यक्त्वभावितात्मा परमशुचिः ' बन्धेण वोलइ कयाऽवि ' इति वचनात् , सम्यग्दृष्टिरनेनांशेन स्नातकः न पुनः उत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति,एतदेव सहजं पवित्रत्वम् ॥५॥ (अष्ट०) ('आत्मबोधः' (६) इति श्लोकः 'आतबोध' शब्दे द्वितीयभागे १६२ पृष्ठे गतः ।)

मिथो युक्तपदार्थाना-मसंक्रमचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥ ७ ॥

'मिथो युक्त ' इति परस्परं युक्ताना मिलितानां पदार्थानां-धर्मादीनामेकक्षेत्रावगाहिनां पुद्गलानां च स्वक्षेत्रपरिणतानामसंक्रमचमत्क्रिया, न संक्रमः परस्परमीलनरूपः चमत्क्रिया—चमत्कारः, एकक्षेत्रावगाढा अपि न परस्परं व्यापारका भवन्ति इत्यनेन स्वरूपतो भिन्ना एव । एषां चमत्क्रिया विदुषा एव अनुभूयते-पण्डितेनैव विभज्यते । कथंभूतेन विदुषा ?-चिन्मात्रपरिणामेन-ज्ञानमात्रपरिणामेन ज्ञानमात्रबलेन इत्यनेन पञ्चास्तिकायानां कैश्चित्साधारणगुणैः अगुरुलघ्वादिभिः तुल्येनापि असाधारणगुणैः गतिस्थित्यवगाहचेतनापूरणगलनादिलक्षणैश्च भेद एव , स्वाशुद्धग्राहकतागृहीतपुद्गलेष्वपि न स्वगुणसंक्रमः, नाऽपि पुद्गलगुणसंक्रमः, यावत् एषां भेदचमत्क्रिया भिन्नद्रव्ये स्वद्रव्यगुणपर्यायाणामेकद्रव्यं व्याप्यावस्थितानामाधाराधेयत्वेनाभेदरूपाणामपि स्वस्वधर्मपरिणतिरूपा भेदचमत्क्रिया । एवं द्रव्याद् द्रव्यस्य, गुणाद् गुणस्य, पर्यायात्पर्यायस्य स्वभावस्य भेदलक्षणचमत्क्रिया विदुषा पण्डितेनैव अनुभूयते, नान्येन द्रव्यानुयोगज्ञानविकलेन । उक्तं च सम्मतौ-" अणोण्णाणुगयाणं, "इमं व तं व त्ति विभयणमजुत्तं । जह दुद्धपाणियाणं, जावंत विसेसपज्जाया ॥ ४७ ॥ (१) जं दव्वखित्तकाले , एगत्ताणं पि भावधम्माणं । सुअनाणकारणेणं , भेए नाणं तु सा विज्जा ॥ १ ॥ " इति । हरिभद्रपूज्यैः द्रव्यानुयोगलीनानामाधाकर्मादिदोषमुख्यत्वं न मतम् । तथा च भगवत्यङ्गे—' समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभमाणे किं कज्जइ ? गोयमा ! बहुतरा से निज्जरा कज्जइ, अप्पतरो से पावे कम्मे कज्जइ " । तद्वृत्तिः—इह च केचित् मन्यन्ते—असंस्तरणादिकारणे एवाप्रासुकादिदाने बहुतरा निर्ज्जरा भवति नाकारणम् । यत उक्तम्-" संथरणम्मि असुद्धं , दोण्ह वि गेण्हंतदितयाण हिअं । आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे " ॥ १ ॥ अन्ये त्वाहुः—कारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशात् बहुतरा निर्जरा भवति, अल्पतरं च पापं कर्म इति निर्विशेष—त्वात् , सूत्रस्य परिणामस्य च प्रामाण्यात् । आह—

" परमरहस्समिसीणं, समत्तगणिपिडगधरियसाराणं ।
परिणामिअं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाणं " ॥ १ ॥

इमे पुनः—

" चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।
चरणकरणस्स सारं, निच्छयसुद्धं न याणंति ॥ २ ॥
अहागडाइ भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा ।
उवलित्ते वियाणिज्जा, ऽणुवलित्ते त्ति वा पुणो, ॥ १ ॥
एतेहिँ दोहिँ ठाणेहिं, ववहारेण विज्जइ ।
एतेहिँ दोहिँ ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ २ ॥ इति "

द्वितीययोगे २१ अध्ययने इत्यादि गीतार्थस्याकल्पं कल्पम् , एषा लब्धिः तत्त्वज्ञानवतामेव ॥ ७ ॥

अविद्यातिमिरध्वंसे, दशाविद्याञ्जनस्पृशा ।
पश्यन्ति परमात्मान-मात्मन्येव हि योगिनः ॥ ८ ॥

'अविद्या' इति, हि-निश्चये योगिनः-समाधिदशावस्थाप्रवृत्तचक्रयोगिनः आत्मनि एव-स्वात्मनि एव परात्मानम्-उत्कृष्टनिष्पन्नसिद्धात्मानम् पश्यन्ति-आत्मनि परमात्मत्वं निर्धारयन्ति। कया ? विद्याञ्जनस्पृशा दृशा अविद्या-अज्ञानमबोधविद्या-तत्त्वबुद्धिरूपा , सा एव अञ्जनं तस्य स्पृशा दृशा—चक्षुषा , क्व सति ? अयथार्थोपयोगो वा तदेव तिमिरं तस्य ध्वंसः तस्मिन् , इत्यनेन मिथ्यात्वतिमिरध्वंसे जाते सम्यग्दृष्टयः आत्मानम् आत्मनि पश्यन्ति, अत एव अनेकोपयोगेन श्रुताभ्यासेन आत्मस्वरूपोपलम्भाय-तत्त्वपरी-

(१)-नेयं गाथा सम्मताबुपलभ्यते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षणाय यतितव्यम्, यथार्थम् आत्मस्वरूपपरिज्ञानं विद्या- परोपकारिणी इति ज्ञेयम् ॥ ८ ॥ अष्ट० १ अष्ट० ।

" विद्यया राजपूज्यः स्या—द्विद्यया कामिनीप्रियः । विद्या हि सर्वलोकस्य, वशीकरणकार्मणम् ॥ १ " स्था० ५ ठा० ३ उ० । पार्श्वनाथशासनदेव्याम्, ती० ५ कल्प ।

विज्जाचरण–विद्याचरण–न० । श्रुतसंयमयोः, उत्त० २२ अ० । विद्या च चरणं च क्रिया ते द्वे अपि विद्येते कारणत्वेन यस्येति विगृह्य अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्, असौ विद्याचरणः । ज्ञानक्रियाजन्ये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

विज्जाचरणपारग–विद्याचरणपारग–पुं० । विद्या—श्रुतज्ञानं तथा चर्यत इति चरणं-चारित्रम्, विद्या च चरणं च विद्याचरणे; तयोः पारगः—पर्यन्तगामी । उत्त० पाई० १८ अ० । ज्ञानचारित्रयोः पारगामिनि, उत्त० २३ अ० ।

विज्जाचरणविणिच्छय–विद्याचरणविनिश्चय–पुं० । विद्येति ज्ञानं तच्च सम्यग्दर्शनसहितमवगन्तव्यमन्यथा ज्ञानत्वायोगात्, चरणं चारित्रमेतेषां फलविनिश्चयप्रतिपादको ग्रन्थो विद्याचरणविनिश्चयः । श्रुतभेदे, नं० ।

विज्जाचारण–विद्याचारण–पुं० । विद्या-श्रुतं तच्च पूर्वगतं तत्कृतोपकारश्चारणो विद्याचारणः । भ० २० श० ८ उ० । उत्त० । विद्या-विवक्षितः कोऽप्यागमस्तत्प्रधानश्चारणो विद्याचारणः । विशे० । विद्यावशतः समुत्पन्नगमनागमनलब्धौ, प्रव० ६८ द्वार । प्रति० । आ० म० । पा० । आ० चू० । " विद्याचारणास्तु गच्छ-न्त्येकेनोत्पातकर्मणा । मानुषोत्तरमन्येन, द्वीपं नन्दीश्वराह्वयम् ॥१॥ तस्मादायान्ति चैकेनो-त्पातेनोत्पतिता यतः । यान्त्यायान्त्यूर्ध्वमार्गेऽपि, तिर्यग्यानक्रमेण ते ॥२॥" ग० २ अधि० । ('चारण' शब्दे ३ भागे ११७३ पृष्ठे विशेषः ।)

विज्जाणंदसूरि–विद्यानन्दसूरि–पुं० । कर्मग्रन्थषट्कशोधकाचार्ये, कर्म० २ कर्म० । ग० ।

विज्जाणुओग–विद्यानुयोग–पुं० । रोहिणीप्रभृतिविद्यासाधनाभिधायके शास्त्रे, स० २६ सम० ।

विज्जाणुप्पवाय–विद्यानुप्रवाद–न० । विद्या अनेकातिशयसंपन्ना अनुप्रवदति साधनानुकूल्येन सिद्धिप्रकर्षेण प्रवदतीति विद्यानुप्रवादम् । दशमे पूर्वगते, तस्य पदपरिमाणम्-एका पदकोटी दश च पदलक्षाः । नं० ।

विज्जाणुप्पवायस्स णं पुव्वस्स पन्नरस वत्थू पण्णत्ता । स० ।

विज्जातिसय–विद्यातिशय–पुं० । विद्याविशेषेषु, यैराकाशगमादीनि भवन्ति । व्य० ४ उ० ।

विज्जापिंड–विद्यापिण्ड–पुं० । विद्यया-व्याख्यानतो यः प्राप्तः पिण्डः स विद्यापिण्डः । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । विद्ययोपार्जिते उत्पादनादोषविशिष्टे आहारे, प्रव० ६७ द्वार । पञ्चा० । जी० । यदा विद्यया क्षुद्रं साधयित्वा आहारं गृह्णाति तदा विद्यापिण्डो द्वादशो दोषः । अथवा-विद्यां पाठयित्वा ग्रन्थमध्याप्य भोजनादिकं गृहस्थात् गृह्णाति तदा विद्यापिण्डो द्वादशो दोषः । उत्त० २४ अ० । ध० ।

विद्यापिण्डं भुङ्क्ते—

जे भिक्खू विज्जापिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥६३॥

नि० चू० १३ उ० ।

गाहा—

विज्जाए उभएणं, वज्जे उग्घाएँ (पुण) गिण्हए भिक्खं ।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १६२ ॥

नि० चू० १३ उ० । आ० क० । आचा० । स्था० ।

विज्जारंभ–विद्यारंभ–पुं० । प्रथमाध्ययनारम्भे, "सवणेण धणिट्ठाई, पुणव्वसू न वि करिज्ज णिक्खमणं । सयभिसय पूसथभे, विज्जारंभं पवत्तिज्जा " ॥ २२ ॥ ८६८ ॥ द० प० ।

विज्जावं–विद्यावत्–त्रि० । प्रज्ञप्त्यादिविद्याशालिनि, ध० २ अधि० ।

विज्जासत्थ–विद्याशास्त्र–न० । विद्याधिष्ठिते शास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

विज्जासिद्ध–विद्यासिद्ध–पुं० । साधितविद्ये, सिद्धभेदे, आ० म० ।

अधुना विद्यासिद्धं सनिदर्शनमुपदर्शयति—

विज्जाण चक्कवट्टी, विज्जासिद्धो स जस्स वेगाऽवि ।
सिज्झेज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धोऽज्जखउडो व्व ॥

विद्यानां सर्वासां चक्रवर्ती—अधिपतिर्विद्यासिद्ध इति व्युत्पत्तेः । यस्य वा एकाऽपि महाविद्या महापुरुषदत्तापि सिध्येत् स विद्यासिद्धः । सातिशयत्वात् क इव आर्य्यखपुटवदिति गाथाक्षरार्थः । आ० म० १ अ० । आ० चू० । आचा० । नि० चू० । संथा० ।

कथा चेयम्—

" आस्ते पुरं भृगुपुरं, लाटदेशललाटिका ।
तत्रार्यखपुटाचार्या, विद्यानां चक्रवर्तिनः ॥ १ ॥
तेषां च भगिनीपुत्रः, शिष्यः प्राज्ञोऽस्ति बालकः ।
तेनैकदा गुरोः पार्श्वा-द्विद्यैका जपतः श्रुता ॥ २ ॥
विद्यासिद्धैव सा तस्य, विद्यासिद्धगुरोर्वशात् ।
इतश्च गुडशस्त्राख्यं, पुरमस्ति गुडाकरः ॥ ३ ॥
तत्रैकः साधुभिर्वादे, परिव्राड् निर्जितः पुरा ।
पराभवान्मृतः सोऽभू-द्यक्षो वट्टकराभिधः ॥ ४ ॥
भापिताः साधवस्तेन, प्राग्वैरस्मरणक्रुधा ।
अथाऽऽर्यखपुटाचार्याः, संघेनाकारितास्तदा ॥ ५ ॥
मुक्त्वा तत्राखिलं गच्छं, भागिनेयं च बालकम् ।
स्वयमल्पपरीवारा, गुडशस्त्रं समाययुः ॥ ६ ॥
साधवः प्रेषिता मध्ये, स्वयं वट्टकरालये ।
सायं तत्र स्थिताः कृत्वो—पानहौ तस्य कर्णिकौ ॥ ७ ॥
तदुत्सङ्गे निवेश्याङ्घ्री, सुप्ताः सौख्येन सूरयः ।
देवद्रव्यङ् प्रातरायातो, दृष्ट्वा चख्यौ जनस्य तत् ॥ ८ ॥
पर्युजनास्तमुद्धाट्यो- द्घाट्यैक्षन्त यतो यतः
तत्र तत्र निरीक्ष्याधि-ष्ठानं राज्ञे न्यवेदयन् ॥ ९ ॥
दृष्ट्वा राजाऽपि लकुट-लेष्ट्वाद्यैस्तमताडयत् ।
प्रहारांस्तान् गुरुस्तस्या—न्तः पुरे समचिक्रमत् ॥ १० ॥
भक्तिवाक्यैस्ततः स्तुत्वा, क्षमितः प्रणतश्च सः ।
अथार्यखपुटाचार्या, उत्थाय स्वमदर्शयन् ॥ ११ ॥
शक्तिं तस्य गुरोर्वीक्ष्य जनः सर्वो विसिष्मिये ।
उत्साहेनाथ राजाद्या, गुरुं प्रावीविशन् पुरं ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्तो वटुकरोऽग्रेऽगा-न्मूर्त्तयश्चापरा अपि।
इषन्मय्यौ महाद्रोण्यौ, ततोऽप्यग्रे च ते कृते ॥ १३ ॥
उत्पतन्त्यः पतन्त्यश्च, प्रभोः पाषाणमूर्त्तयः।
एता निघ्नन्ति जीवांस्त-न्मुच्यतामित्यवग् जनः ॥ १४ ॥
ततो लोकोपरोधेन, गुरुभिः करुणापरैः।
उक्तो वटुकरोऽन्याश्च, यातारः स्वस्वमाश्रयम् ॥ १५ ॥
प्रतोलीद्वारमभितो, द्रोण्यौ मुक्ते न ते पुनः।
अन्यो मम समः कोऽपि, स्वस्थानं प्रापयेदिमे ॥ १६ ॥
गुरवोऽन्तर्गतास्तेऽथ, राजादीन् प्रत्यबोधयन्।
उपशान्तो वटुकरो, जातः साधुषु भाक्तिकः ॥ १७ ॥
जामेयो भृगुकच्छे च, मिलितः सौगतेषु सः।
पात्राणि प्रेषयद् व्योम्ना, तदुपासकवेश्मसु ॥ १८ ॥
पुरस्थं मात्रकं श्वेत-चस्त्रेण पिहिताननम्।
तस्याप्यग्रे टोप्परिका-मेकां संप्रासनस्थिताम् ॥ १९ ॥
तन्मुखोऽभूज्जनो भूयान्, संघोऽथाज्ञापयद् गुरून्।
गुडशस्त्रादथायासीद् गुरुरज्ञातचर्यया ॥ २० ॥
तत्पाषाणमथायातां, भूतानामन्तरा शिला।
विचक्रे गुरुभिस्तस्यां, सर्वाण्यास्फाटय पुस्फुटुः ॥ २१ ॥
भीतश्च क्षुल्लको नश्य-त्कृत्वो यातान् गुरूंस्ततः।
बुद्धायतनमागत्य, गुरवो बुद्धमूचिरे ॥ २२ ॥
एहि शौद्धोदने ! वत्स !, वन्दस्वास्मानिहागतान्।
आगत्य बुद्धप्रतिमा, पतिता गुरुपादयोः ॥ २३ ॥
प्रेषितोऽगान्निजस्थान-मुक्तः स्तूपोऽप्यवन्दत।
ऊचे च तिष्ठ स्वस्थाने, किंचिन्नम्रस्तथा स्थितः ॥ २४ ॥
निर्ग्रन्थानामित इति, तस्य ख्यातिरभूदतः।
एवंविधः सिद्धवाक्यो, विद्यासिद्धोऽभिधीयते ॥ २५ ॥"
आ० क० १ अ०। दश०।

विज्जाहर–विद्याधर–पुं०। विद्यां धरन्तीति विद्याधराः। वैताढ्यपुराधिपतिषु, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। प्रज्ञप्त्यादिविविधविद्याविशेषधारिषु, औ०। विशिष्टशक्तिमत्पुरुषविशेषेषु, जं० ४ वक्ष०। रा०। आ० म०। प्रज्ञा०। "विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्तं पिव" त्ति। विद्याधरयोर्यत् यमलं समश्रेणिकं युगलं–द्वयं तेनैव यन्त्रेण सञ्चरिष्णुपुरुषप्रतिमाद्वयरूपेण युक्ता सा तथा ताम्, आर्षत्वाच्चैवंविधः समासः। भ० ६ श० ३३ उ०। वज्रसेनप्रव्राजिते जिनदत्तपुत्रे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। सुस्थितसुमतिबुद्धयोः शिष्ये, कल्प० १ अधि० २ क्षण। विंशतिव्याकरणानां मध्ये अन्यतमव्याकरणस्य कर्तरि, कल्प० १ अधि० १ क्षण।

विज्जाहरनगरावास–विद्याधरनगरावास–पुं०। वैताढ्यपर्वते विद्याधरश्रेणिषु नगररूपेषु आवासेषु, जं० ४ वक्ष०। ('वेयड्ढ' शब्दे वर्णकः।)

विज्जाहरसेढि–विद्याधरश्रेणि–स्त्री०। दीर्घवैताढ्यसंभवेषु विद्याधरनगरश्रेणिषु, स्था०।

सव्वाओ वि णं विज्जाहरसेढीओ दस दस जोयणाइं विक्खंभेणं पन्नत्ता। (सू०७७४×)

सर्वाः सर्वदीर्घवैताढ्यसंभवा विद्याधरश्रेण्यो विद्याधरनगरश्रेण्यः, दीर्घवैताढ्या हि पञ्चविंशतिर्योजनान्युच्चैस्त्वेन पञ्चाशच्च मूलविष्कम्भेण। तत्र दश योजनानि धरणीतलादतिक्रम्य दश योजनविष्कम्भा दक्षिणत उत्तरतश्च श्रेण्यो भवन्ति, तत्र दक्षिणतः पञ्चाशन्नगराणि, उत्तरस्ततु षष्टिरिति भरतेषु, ऐरवतेषु तदेव व्यत्ययेन। विजयेषु तु पञ्चपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशदिति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

विज्जाहरी–विद्याधरी–स्त्री०। विद्याधरसम्बन्धिन्याम् (ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। प्रति०) कोटिककाकन्दिकाभ्यां निर्गतस्य कोटिकगणस्य शाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। स्थविराद् विद्याधरगोपालान्निर्गतशाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

विज्जिडियामच्छ–विज्जिटिकामत्स्य–पुं०। मत्स्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

विज्जु–विद्युत्–स्त्री०। तडिति, प्रव० २६८ द्वार। प्रज्ञा०। स्था०। सू० प्र०। औ०। "विज्जुआअंति" विद्युतं विकुर्वन्तीत्यर्थः। आ० म० १ अ०। औ०। असुरकुमारस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ५ ठा० १ उ०। रा०। ईशानेन्द्रलोकपालानामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०। (पूर्वोत्तरजन्मकथाऽनयोः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७३ पृष्ठे गता।) विद्युत्कुमारे, पुं०। प्रश्न० आश्र० द्वार।

विज्जुअंतरिया–विद्युदन्तरिका–स्त्री०। विद्युति सत्यामन्तरं भिक्षाग्रहणस्य येषामस्ति ते विद्युदन्तरिकाः। विद्युत्सम्पाते भिक्षामनटत्सु, औ०।

विज्जुकुमार–विद्युत्कुमार–पुं०। भूषणनियुक्तवज्ररूपचिह्नधरेषु भवनपतिभेदेषु, प्रज्ञा० २ पद। प्रव०। स्था०। भ०।

छावत्तरिं विज्जुकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता। (सू०–७६×) स० ७६ सम०।

विज्जुकुमारीमहत्तरिया–विद्युत्कुमारीमहत्तरिका–स्त्री०। विदिग्रुचकवास्तव्यासु दिक्कुमारीमहत्तरिकासु, स्था०।

चत्तारि विज्जुकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–चित्ता, चित्तकणगा, सतेरा, सोयामणी। (सू०–२५९×)

विद्युत्कुमारीमहत्तरिकास्तु विदिग्रुचकवास्तव्याः। एताश्च भगवतो जातमात्रस्य चतसृष्वपि दिक्षु स्थिता दीपिकाहस्ता गायन्तीति। स्था० ४ ठा० १ उ०।

छ विज्जुकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–आला सक्का सतेरा सोयामणी इंदा घणविज्जुया। (सू०–५०७+) स्था० ६ ठा० ३ उ०।

विज्जुजिब्भ–विद्युज्जिह्व–पुं०। कर्दमस्यानुवेलन्धरनागस्यावासपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ०।

विज्जुदंत–विद्युद्दन्त–पुं०। स्वनामख्याते अन्तरद्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ०। नं०। प्रव०। प्रज्ञा०। ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ६७ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता।)

विज्जुप्पभ–विद्युत्प्रभ–पुं०। देवकुरुपश्चिमगजदन्तके, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहि णं भंते ! जंबूदीवे दीवे महाविदेहे वासे विज्जुप्पभे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते ?, गोयमा ! णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरे णं मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणपच्चत्थिमे णं देवकुराए पच्चत्थिमे णं, पम्हस्स विजयस्स पुरत्थिमे णं । एत्थ णं जंबूदीवे दीवे महाविदेहे वासे विज्जुप्पभे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते, उत्तरदाहिणायए एवं जहा मालवंते णवरि सव्वतवणिज्जमए अच्छे ०जाव देवा आसयंति ।

'कहि ण' मित्यादि सर्वं स्पष्टं माल्यवदतिदेशेन वाच्यत्वात् । नवरमयं सर्वात्मना रक्तसुवर्णमयः ।

अथात्र कूटवक्तव्यतामाह—

विज्जुप्पभे णं! वक्खारपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ?, गोयमा! नव कूडा पण्णत्ता?,तं जहा-सिद्धायणकूडे विज्जुप्पभकूडे देवकुरुकूडे पम्हकूडे कणगकूडे सोवत्थिअकूडे सीओआकूडे सयज्जलकूडे हरिकूडे। "सिद्धे अ विज्जुणामे,देवकुरू पम्हकणगसोवत्थी। सीओआ य सयज्जल-हरिकूडे चेव बोद्धव्वे ॥१॥"एए हरिकूडवज्जा पञ्चसइआ णेअव्वा। एएसिं कूडाणं पुच्छा, दिसिविदिसाओ णेअव्वाओ जहा मालवन्तस्स हरिस्सहकूडे तह चेव हरिकूडे रायहाणी जह चेव दाहिणेणं चमरचंचा रायहाणी तह णेअव्वा । कणगसोवत्थिअकूडेसु वारिसेणबलाहयाओ दो देवयाओ अवसिट्ठेसु कूडेसु कूडसरिसणामया देवा रायहाणीओ दाहिणेणं। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-विज्जुप्पभे वक्खारपव्वए विज्जुप्पभे वक्खारपव्वए ?, गोयमा! विज्जुप्पभे णं वक्खारपव्वए विज्जुमिव सव्वओ समन्ता ओभासेइ उज्जोवेइ पभासेइ विज्जुप्पभे य इत्थ देवे पलिओवमट्ठिइए ०जाव परिवसइ। से एएणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ विज्जुप्पभे२, अदुत्तरं च णं जाव णिच्चे । (सू० १०१ ।)

' विज्जुप्पभे ' इत्यादि , प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् , उत्तरसूत्रे सिद्धायतनकूटं विद्युत्प्रभवक्षस्कारनाम्ना कूटं देवकुरुनाम्ना कूटं पद्मविजयकूटं कनककूटं सौवस्तिककूटं शीतोदाकूटं शतज्वलकूटं हरिनाम्नो दक्षिणश्रेण्यधिपविद्युत्कुमारेन्द्रस्य कूटं हरिकूटम्। उक्तमेव संग्रहगाथयाऽऽह-' सिद्धे अ विज्जुनामे ' इत्यादि, एतानि हरिकूटा (दी) नि पञ्चशतिकानि ज्ञातव्यानि। एतेषां कूटानां ' कहि णं भंते ! विज्जुप्पभे वक्खारपव्वए सिद्धायणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? ' इत्येवंरूपायां पृच्छायां दिशो विदिशश्च ज्ञेयाः; यथायोगमवस्थित्याधारतया वाच्या इत्यर्थः। तथाहि-मेरोर्दक्षिणपश्चिमायां दिशि मेरोरासन्नमाद्यं सिद्धायतनकूटं तस्य दक्षिणपश्चिमायां दिशि विद्युत्प्रभकूटं ततोऽपि तस्यां दिशि तृतीयं देवकुरुकूटं तस्यापि तस्यामेव दिशि चतुर्थं पद्मकूटम्। एतानि चत्वारि कूटानि विदिग्भावीनि। चतुर्थस्य दक्षिणपश्चिमायां पञ्चस्य कूटस्योत्तरतः पञ्चमं कनककूटं तस्य दक्षिणतः षष्ठं सौवस्तिककूटं तस्यापि दक्षिणतः सप्तमं शीतोदाकूटं तस्यापि दक्षिणतोऽष्टमं शतज्वलकूटं, नवमस्य सविशेषत्वेन हरिस्सहातिदेशमाह—यथा—माल्यवद्वक्षस्कारस्य हरिस्सहकूटं तथैव हरिकूटं बोद्धव्यं सहस्रयोजनोच्चम् अर्द्धतृतीयशतान्यवगाढं मूले सहस्रयोजनानि पृथु इत्यादि । तथा-पृथुत्वविषयकावाक्षेपपरिहारौ तथैव वाच्यौ; नवरमष्टमतो दक्षिणतः इदं निषधासन्नमित्यर्थः। हरिस्सहकूटम् उत्तरतो नीलवदासन्नम् ,अस्य राजधानी यथैव दक्षिणेन चमरचञ्चा राजधानी तथैव ज्ञेया । कनकसौवस्तिककूटयोर्वारिषेणबलाहके दिक्कुमार्यौ द्वे देवते, अवशिष्टेषु विद्युत्प्रभादिषु कूटेषु कूटसदृशनामानो देवा देव्यश्च राजधान्यो दक्षिणेन। यद्यप्युत्तरकुरुवक्षस्कारयोर्यथायोगं सिद्धहरिस्सहकूटवर्जकूटाधिपराजधान्यो यथाक्रमं वायव्यामैशान्यां च प्रागभिहितास्तथा देवकुरुवक्षस्कारयोर्यथायोगं सिद्धहरिकूटवर्ज्जकूटाधिपराजधान्यो यथाक्रममाग्नेय्यां नैर्ऋत्यां च वक्तुमुचितास्तथापि प्रस्तुतसूत्रसम्बन्धियावदादर्शेषु पूज्यश्रीमलयगिरिकृतक्षेत्रविचारवृत्तौ च तथा दर्शनाभावात्, अस्माभिरपि राजधान्यो दक्षिणेनेत्यलेखि। अथास्य नामनिमित्तं पिपृच्छिषुराह-' से केणट्ठेण ' मित्यादि, उत्तरसूत्रे विद्युत्प्रभो वक्षस्कारपर्वतो विद्युदिव रक्तस्वर्णमयत्वात् सर्वतः समन्तादवभासते द्रष्टृणां चक्षुषि प्रतिभासति यदयं विद्युत्प्रकाश इति, एतदेव दृढयति-भास्वरत्वादासन्नं वस्तु द्योतयति, स्वयं च प्रभासते शोभते, तेन विद्युदिव प्रभातीति विद्युत्प्रभः। विद्युत्प्रभश्चात्र देवः परिवसति तेन विद्युत्प्रभः। शेषं प्राग्वत्। जं० ४ वक्ष० ।

दो विज्जुप्पभा । (सू०६९४) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

विज्जुप्पभदह-विद्युत्प्रभह्रद-पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे देवकुरुषु ह्रदभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

विज्जुमई-विद्युन्मती-स्त्री० । कालायां सन्निवेशे सिंहनामग्रामकूटेन सह रतायां गोष्ठीदास्याम् , आ० म०१अ०।आ०चू०। चित्रदुहितरि ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिभार्यायाम्, उत्त० १३ अ० ।

विज्जुमाली-विद्युन्मालिन्-पुं०। पञ्चशैलद्वीपराजे उदयनराजाय वीरप्रतिमासमर्पके स्वनामख्याते यक्षे, ग० २ अधि०। आ०क०। कल्प०। नि०चू०। आ०चू०। स्वनामख्याते ब्रह्मलोकेन्द्रे, आ० म०१ अ० । आ० चू० ।

विज्जुमुह-विद्युन्मुख-पुं०। स्वनामख्यातेऽन्तरद्वीपे,प्रव०२६२ द्वार । ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता ।)

विज्जुमेह-विद्युन्मेघ-पुं० । विद्युत्प्रधाने जलवर्जितमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

विज्जुया-विद्युत्-स्त्री०।बलिलोकपालानामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

विज्जुयार-विद्युत्कार-पुं० । विद्युत्—तडित्सैव क्रियत इति-कारः--कार्यं विद्युतो वा करणं कारः क्रिया । विद्युत्करणे, स्था० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिहिं ठाणेहिं देवे विज्जुयारं करेज्जा, तं जहा–विउव्वमाणे वा पडियारेमाणे वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा इड्ढिं जुइं जसं बलं वीरियं पुरिसकारपरक्कमं उवदंसेमाणे देवे विज्जुयारं करेज्जा। (सू०१३३×)

विद्युतं कुर्यादित्यर्थः, वैक्रियकरणादीनि हि सदर्पस्य भवन्ति, तत्प्रवृत्तस्य च दर्पोल्लासवतश्चलनविद्युद्गर्जनादीन्यपि भवन्तीति चलनविद्युत्कारादीनां वैक्रियादिकं कारणतयोक्तमिति। ऋद्धिं विमानपरिवारादिकां द्युतिं–शरीराभरणादीनां यशः–प्रख्यातिं बलम्–शारीरं वीर्यम्–जीवप्रभवम्, पुरुषकारश्च अभिमानविशेषः स एव निष्पादितस्वविषयः पराक्रमश्चेति पुरुषकारपराक्रमम्। समाहारद्वन्द्वस्तदेतत्सर्वमुपदर्शयमान इति। स्था० ३ ठा० १ उ०।

विज्जुला–विद्युत्–स्त्री०। "विद्युत्पत्रपीतान्धाल्लः" ॥८।२।१७३॥ इति स्वार्थे लः। तडिति, प्रा० २ पाद।

विज्जुवएस–वैद्योपदेश–पुं०। वैद्यनिरूपिते, ग० १ अधि०।

विज्जुसिरी–विद्युच्छ्री–स्त्री०। आमलकल्पायां विद्युन्नामगृहपतेर्विद्युद्दारिकाजनिकायां भार्यायाम्, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग ४ अ०।

विज्जुसिहा–विद्युच्छिखा–स्त्री०। शिवमन्दरे नगरे ज्वलनशिखरस्य राज्ञो देव्याम्, उत्त० १३ अ०।

विज्जुसोयामिणीपहा–विद्युत्सौदामिनीप्रभा–स्त्री०। विशेषेण द्योतते इति विद्युत्, सा चासौ सौदामिनी चेति विद्युत्सौदामिनी। तद्वत्प्रभा यस्याः सा विद्युत्सौदामिनीप्रभा। स्फुरद्विद्युत्कान्तौ, उत्त० ६ अ०।

विज्झडिय–देशी–त्रि०। मिश्रिते, व्याप्ते, भ० ७ श० ६ उ०।

विज्झवण–वि(ध्या)ध्मापन–न०। विविधे उपशमने, नि० चू० ५ उ०। आचा०। निर्वापने,आचा०२ श्रु० १ चू०२ अ० १ उ०।

विज्झवेयव्व–विध्यापयितव्य–त्रि०। दाहादुपरमणे, न०। निर्वापयितव्ये, दश० २ अ०। आव०।

विज्झायसंकम–विध्यातसंक्रम–पुं०। यासां प्रकृतीनां गुणप्रत्ययतो बन्धो न भवति तासां संक्रमकरणे, पं० सं० ५ द्वार। क० प्र०।

विटंक–विटङ्क–पुं०। कपोतपाल्याम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

विट्टाल–अस्पृश्यसंसर्ग–त्रि०। स्पृष्टुमयोग्ये संसर्गे, "शीघ्रादीनां वहिल्लादयः" ॥८।४।४२२॥ इति। अस्पृश्यसंसर्गस्य विट्टालः। "जं छुड्डविणु रयणनिहि, अप्पउंतडि घल्लंति। तह संखहं विट्टालपर–फुक्किज्जंत भमंति।" प्रा० ४ पाद।

विट्ठ–विष्ट–त्रि०। उपविष्टे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

वृष्ट–त्रि०। "इदुतौ वृष्ट–वृष्टि–पृथङ्–मृदङ्ग–नप्तृके" ॥८।१।१३७॥ इति ऋत इकारः। वृष्टिमुपगते, प्रा० १ पाद।

विट्ठि–विष्टि–स्त्री०। भद्रायाम्, प्रा०। करणभेदे, ववादिकरणानामन्यतमे, आ० म० १ अ०। सूत्र०। आ० म०। विशे०। आ० चू०। उत्त०। जं०।

विट्ठा–विष्ठा–स्त्री०। उपलक्षणे, मृत्तिकामले, गुथे च। पं० व० १ द्वार।

विट्ठाकोट्ठागार–विष्ठाकोष्ठागार–न०। वर्चस्कगृहोपमे कलेवरे, तं०।

विड–विट–पुं०। स्त्रैणे, स्त्रीलम्पटे, आ० म० १ अ०।

विट्–स्त्री०। गोमूत्रादिपक्वे लवणभेदे, दश० ६ अ०।

विडंक–विटङ्क–पुं०। कपोतपाल्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। लोमपक्षिभेदे, जी० १ प्रति०।

विडंबक–विडम्बक–पुं०। विदूषके, नानावेषकारिणि, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। ज्ञा०।

विडंबिय–विडम्बित–त्रि०। भूतावेष्टितपीतमद्यादिजनाङ्गविक्षेपतुल्ये, उत्त० १३ अ०। विकृतिकृते, अनु०। ज्ञा०।

विडवि(ण्)–विटपिन्–पुं०। वृक्षे, को०।

विडविड्ड–रच्–धा०। निर्माणे, "रचेरुग्गहावह–विडविड्डाः" ॥८।४।९४॥ इति रचधातोः विडविड्ड आदेशः। विडविड्डइ। रचयति। प्रा० ४ पाद।

विडाली–विडाली–स्त्री०। मार्जार्याम्, आ० क० १ अ०।

विडिम–विटपिन्–पुं०। वृक्षे, दश० १ अ०।

विडिमंतरपरिवसण–विडिमान्तरपरिवसन–पुं०। विडिमान्तरेषु शाखान्तरेषु प्रासादाद्याकृतिषु परिवसनमाकालमावासो येषां ते विडिमान्तरपरिवसनाः। वृक्षगेहालयेषु सुषमामनुष्येषु, विडिमान्तरनिवासिशब्दोऽप्यत्र। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

विडिमा–विडिमा–स्त्री०। ऊर्ध्वविनिर्गतायां वृक्षशाखायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। रा०।

विड्डा–व्रीडा–स्त्री०। "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥८।२।७९॥ इति रलोपः। तैलादित्वाद् द्वित्वम्। विड्डा। व्रीडा। लज्जायाम्, प्रा० २ पाद।

विड्डार–विद्वार–न०। विगतद्वारे नक्षत्रे, पूर्वद्वारिके नक्षत्रे, पूर्वदिशागन्तव्ये यदाऽपरया दिशा गच्छति तदा तद् विद्वारं भवति। व्य० १ उ०। पं० व०। नि० चू०। विशे०। द० प०। आ० म०।

विड्डर–न०। यस्मिन् नक्षत्रे ग्रहो वक्रतामुपयाति शुद्धं वा विधत्ते तादृशे नक्षत्रभेदे, जीत०।

विढत्त–अर्जित–त्रि०। "क्लेनाप्फुणादयः" ॥८।४।२५८॥ इति अर्जितस्थाने विढत्तादेशः। उत्पादिते, प्रा० ४ पाद।

विढप्प–अर्ज–धा० उत्पादने, "अर्जेर्विढप्पः" ॥८।४।२५१॥ अन्त्यस्येति निवृत्तम्। अर्जेर्विढप्प इत्यादेशो वा भवति तत्संनियोगे क्यस्य च लुक्। विढप्पइ। पक्षे–विढविज्जइ। अज्जिज्जइ। प्रा० ४ पाद।

विढव–अर्ज–धा०। उत्पादने, "अर्जेर्विढवः" ॥८।४।१०८॥ अर्जेर्विढव इत्यादेशो वा भवति। विढवइ अर्जयति। प्रा०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विणइय-विनयित-त्रि०। शिक्षां ग्राहिते, स्था०१०ठा० ३ उ०।

विणश्रोणय-विनयावनत-त्रि० । सर्वैर्विनयैर्नमति, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । भ० ।

विणश्रोवगय-विनयोपगत-त्रि०। मानमकुर्वति,स० ३२ सम०।

विनयोपगतानाह—

" उज्जेणी अंबरिसी, मालुग तह निम्बए अ पव्वज्जा।
संकमणं च परगणे, अविणये विणए य पडिवत्ती ॥ १ ॥"
" उज्जयिन्यामिहाम्बर्षि-र्ब्राह्मणो मालुकाप्रियः।
निम्बः सुतो मालुकायां, मृतायां स सुतो द्विजः ॥ १ ॥
व्रत्यभूद् दुर्विनीतस्तु, निम्बकः कायिकाभुवि।
कण्टकान्न्यखनत् चौति, स्वाध्यायस्य प्रवेदने ॥ २ ॥
हन्ति कालं विपर्यस्तां, सामाचारीं करोति च।
आचार्यं साधवोऽथाहु-रस्त्वेषो यदि वा वयम् ॥ ३ ॥
निःसार्यते स्म निम्बोऽथ, जनकोऽपि तमन्वगात्।
गतोऽन्याचार्यनिकटे, तत्रापि निरसार्यत ॥ ४ ॥
पञ्चप्रतिश्रयशता-न्यवन्त्यां हिण्डितोऽथ सः।
स्थितिः कुत्राप्यभून्नाथ, संज्ञाभूमौ पिताऽरुदत् ॥ ५ ॥
सोऽवक् किं रोदिषि पित-र्निम्बो नाम त्वया कृतम्।
पितोचे सान्वयं नाम, नाद्य किं त्वेवमेव तत् ॥ ६ ॥
साम्प्रतं दुष्कृतैस्ते भो !, लेभे नाहमपि स्थितिम्।
न चेत्प्रव्राजितुं शक्यं, तस्याप्यासीदथाधृतिः ॥ ७ ॥
ऋषितस्तात ! कुत्रापि, मार्गयत् स्थानमेकदा।
इतो भावी विनीतोऽहं, पार्श्वेऽगाद्दीक्षितुस्ततः ॥ ८ ॥
साधवः क्षुभिताः सोऽवक्, न करिष्यति दुर्नयम्।
तथाऽप्यैच्छन्ति ते नैव, तानाचार्यास्ततोऽभ्यधुः।
प्राघूर्णकौ तिष्ठतोऽद्य, यातारौ स्वसुतः स्थितौ ॥ ९ ॥
स्थण्डिलादिविधिं कुर्वन्, निम्बोऽप्यारञ्जयन्मुनीन्।
अमृताम्रस्ततो जात-स्तेनान्येऽपि प्रतिश्रयाः ॥ १० ॥
विनयाद्यैररज्यन्त, सर्वत्राभून्महर्घता।
विनयोपगता तस्य, नादौ पश्चाच्च साऽभवत् ॥ ११ ॥"
आ० क० ४ अ०

विणश्रोवयार-विनयोपचार-पुं०। विनय एवोपचारो विनयोपचारः। विनयरूपे उपचारे, "विणश्रोवयारमाणस्स संजणा पूअणा गुरुजणस्स" आव० ३ अ०।

विणश्रोववण्ण-विनयोपपन्न-त्रि०। ज्ञानदर्शनसेवनरूपं विनयमुपपन्ने, उत्त० १ अ०।

विणट्ठ-विनष्ट-त्रि०। उच्छूनत्वादिविकारैः स्वरूपादपेते,ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। अत्यन्तविकृतावस्थां प्राप्ते, प्रश्न०१आश्र० द्वार। विगतभावे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। व्यापन्ने, स्था० ५ ठा० २ उ०। विश्रुते , ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

विणट्ठंग-विनष्टाङ्ग-त्रि०। विकृतशरीरे, अप्रतिकर्मशरीरे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

विणट्ठतेय-विनष्टतेजस्-त्रि०। निःसत्ताकीभूततेजसि , भ० १५ श०।

विणण-विन (वा) न-न०। वस्त्रस्य वानकर्मणि, बृ० १ उ० १ प्रक०।

विणत-विनत-न०। प्राणतदेवलोकविमानभेदे, स० १९ सम०।

विणमि-विनमि-पुं०। महाकच्छसुते, भगवता ऋषभेण पुत्रत्वेन प्रतिपन्ने वैताढ्यनगेश्वरे विद्याधरे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। ती०। आ० चू०। आ० म०। आ० क०। (अस्य 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे कथोक्ता।)

विणमिय-विनमित-त्रि०। विशेषेण फलपुष्पभारेण नते, औ०। ज्ञा०। भ०।

विणय-विनय-पुं०। विनयनं विनयः। कर्मापनयने, विनीयते वाऽनेन कर्मेति विनयः। आव० २ अ०। विनयति-नाशयति सकलक्लेशकारकमष्टप्रकारं कर्म स विनयः। देशकालाद्यपेक्षया यथोचितप्रतिपत्तिलक्षणे (आ० म० १ अ०। प्रव०। दश०। ध०।) कर्मविनयनसमर्थे अनुष्ठानविशेषे, पञ्चा० ६ विव०। ज्ञा०। स्था०। ध० र०। औ०। आन्तरतपोरूपे, उत्त० १ अ०। ग०। स०। सूत्र०। नं०। विशिष्टो नयो विनयः। गुरुप्रतिपत्तिविशेषे,स्था० ३ ठा० ३ उ०। दर्श०। गुरुशुश्रूषायाम् , स्था० ४ ठा० ४ उ०। आव०। आ० म०। आ० चू०। अभ्युत्थानपादधावनादौ, दश० ३ अ०। पादधावनादिरूपे,(आ० म० १ अ०।) गुरुसेवाप्रकारे,दश० ९ अ० ५ उ०। आव०। नं०। ग०। अञ्जलिकरणादौ, भ० ९ श० ३३ उ०। औ०। आ० म०। अभिवन्दनादिलक्षणे (आ० म० १ अ०। आ०चू०।) अभ्युत्थानाद्युपचारे, प्रश्न०४ संव०द्वार। आ०क०। ध०। प्रमाणे, आव० २ अ०। आ०चू०। इच्छाकारादिदानेन बलात्कारपरिहारादिलक्षणे एकत्रान्यत्र च गुर्वनुज्ञया भोजनादिकृत्यकरणलक्षणे उपचारे, प्रश्न० ३ संव०द्वार। नि०चू०। नीचैर्वृत्त्यनुत्सेके, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। "उववातो निद्देसो; आणा विणओ पश्रोति एगट्ठा" व्य० ४ उ०। संयमे,आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। चारित्रे, स० ३० सम०।

कर्मणां द्राग् विनयना-द्विनयो विदुषां मतः।
अपवर्गफलाढ्यस्य, मूलं धर्मतरोरयम् ॥ १ ॥

'कर्मणामिति' कर्मणां-ज्ञानावरणीयादीनां द्राक्-शीघ्रं विनयनाद्-अपनयनाद्विदुषां विनयो मतः। अयमपवर्गफलेनाढ्यस्य पूर्णस्य धर्मतरोर्मूलम् ॥ १ ॥ द्वा० २८ द्वा०।

विनयनिक्षेपः—

विणयस्स समाहीए, निक्खेवो होइ दोण्ह वि चउक्को।
दव्वविणयम्मि तिणिसो,सुवन्नमिच्चेवमाईणि ॥ ३०९ ॥

विनयस्य-प्रसिद्धतत्त्वस्य समाधेश्च-प्रसिद्धतत्त्वस्यैव निक्षेपो-न्यासो भवति। द्वयोरपि चतुष्को नामादिभेदात्। तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यविनयमाह-द्रव्यविनये ज्ञशरीरभव्यतिरिक्ते तिनिसो-वृक्षविशेष उदाहरणम्। स यथाङ्गादिषु यत्र २ यथा २ विनीयते स तत्र २ तथा २ परिणमति, योगत्वादिति। तथा सुवर्णमित्यादीनि कटककुण्डलादिप्रकारेण विनयनात्। द्रव्याणि द्रव्यविनयः आदिशब्दात्तत्तद्योग्यरूप्यादिपरिग्रह इति गाथार्थः।दश०९ अ० २ उ०। आ०चू०।

साम्प्रतं भावविनयमाह—

लोगोवयारविणओ, अत्थनिमित्तं च कामहेउं च।
भयविणयमुक्खविणओ,विणओ खलु पंचहा होइ ।३१०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोकोपचारविनयो—लोकप्रतिपत्तिफलः अर्थनिमित्तं च अर्थप्राप्त्यर्थं च कामहेतुश्च—कामनिमित्तश्च तथा भयविनयो-भयनिमित्तः मोक्षविनयो-मोक्षनिमित्तः एवमुपाधिभेदाद्विनयः खलु पञ्चधा-पञ्चप्रकारो भवतीति गाथासमासार्थः।

व्यासार्थाभिधित्सया तु लोकोपचारविनयमाह—

अब्भुट्ठाणं अंजलि-आसणदाणं च अइहिपूआ य।
लोकोपचारविणओ, देवयपूया य विभवेणं ॥ ३११ ॥

'अब्भुट्ठाणं' तदुचितस्यागतस्याभिमुखमुत्थानम् अञ्जलिः विज्ञापनादौ आसनदानं च गृहागतस्य प्रायेण अतिथिपूजा चाहारादिदानेन एव इत्थंभूतो लोकोपचारविनयः, देवतापूजा च यथाभक्ति बल्याद्युपचाररूपा विभवेनेति यथाविभवं विभवोचितेति गाथार्थः। उक्तो लोकोपचारविनयः। दश० ६ अ० १ उ० । आ० म० । नं० । व्य० ।

अर्थविनयमाह—

अब्भासवित्तिछंदा-णुवत्तणं देसकालदाणं च।
अब्भुट्ठाणं अंजलि-आसणदाणं च अत्थकए ॥ ३१२ ॥

अभ्यासवृत्तिः—नरेन्द्रादीनां समीपावस्थानं छन्दोऽनुवर्तनम् अभिप्रायाराधनं देशकालदानं च कटकादौ विशिष्टनृपतेः प्रस्तावदानम्, तथा अभ्युत्थानमञ्जलिरासनदानं नरेन्द्रादीनामेव कुर्वन्ति अर्थकृतेऽर्थार्थमिति गाथार्थः। उक्तोऽर्थविनयः।

कामादिविनयमाह—

एमेव कामविणओ, भये अ नेयव्वमाणुपुव्वीए।
मोक्खम्मि वि पंचविहो, परूवणा तस्सिमा होइ॥३१३॥

एवमेव यथार्थविनय उक्तोऽभ्यासवृत्त्यादिः तथा कामविनयः भये चेति भयविनयश्च ज्ञातव्यो—विज्ञेयः आनुपूर्व्या-परिपाट्या, तथाहि—कामिनो वेश्यादीनां कामार्थमेवाभ्यासवृत्त्यादि यथाक्रमं सर्वं कुर्वन्ति, प्रेष्याश्च भयेन स्वामिनामिति। उक्तौ कामभयविनयौ। मोक्षविनयमाह—मोक्षेऽपि मोक्षविषयो विनयः-पञ्चविधः-पञ्चप्रकारः प्ररूपणा—निरूपणा तस्यैषा भवति वक्ष्यमाणेति गाथार्थः।

दर्शनादिविनयमाह—

दंसणनाणचरित्ते, तवे य तह ओवयारिए चेव।
एसो अ मोक्खविणओ, पंचविहो होइ नायव्वो ॥३१४॥

दर्शनज्ञानचारित्रेषु दर्शनज्ञानचारित्रविषयः तपसि च—तपोविषयश्च तथा औपचारिकश्चैव प्रतिरूपयोगव्यापारश्चैव, एष तु मोक्षविनयो मोक्षनिमित्तः पञ्चविधो भवति-ज्ञातव्य इति गाथासमासार्थः। दश० ६ अ० २ उ० । आ० चू० । ग० । ध० । ति० ।

ज्ञानादिसप्तविनयाः—

से किं तं विणए?, विणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा--णाणविणए दंसणविणए चरित्तविणए मणविणए वइविणए कायविणए लोगोवयारविणए। (सू० २० ×)

ज्ञानविनयः—

से किं तं णाणविणए?, णाणविणए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा--आभिणिबोहियणाणविणए सुअणाणविणए ओहिणाणविणए मणपज्जवणाणविणए केवलणाणविणए। (सू० २० +) औ० । भ० । व्य० ।

दर्शनविनयः—

से किं तं दंसणविणए?, दंसणविणए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुस्सू(स्सु)सणाविए अणच्चासायणाविणए । से किं तं सुस्सूसणाविणए?, सुस्सूसणाविणए अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—अब्भुट्ठाणेइ वा आसणाभिग्गहेइ वा आसणप्पदाणेति वा सक्कारेइ वा संमाणेइ वा कितिकम्मेइ वा अंजलि पग्गहेइ वा एयस्स अणुगच्छणया ठिअस्स पज्जुवासणया गच्छंतस्स पडिसंसाहणया । से तं सुस्सूसणाविणए। (सू० २० ×) औ० ।

(दर्शनविनयोऽप्यष्टप्रकारः स च 'दंसणायार' शब्दे चतुर्थभागे २४३६ पृष्ठे दर्शितः।) (अनत्याशातनाविनयः 'अणच्चासायणाविणय' शब्दे प्रथमभागे २८३ पृष्ठे दर्शितः।)

उपसंहरन्नाह—

एसो भे परिकहिओ,विणओ पडिरूवलक्खणो तिविहो।
बावन्नविहिविहाणं, बेंति अणासायणाविणयं ॥३२४॥

एषः-अनन्तरोदितः 'भे'-भवतां परिकथितो विनयः प्रतिरूपलक्षणस्त्रिविधः कायिकादिः द्विपञ्चाशद्विधिविधानम्; एतावत्प्रभेदमित्यर्थः ब्रुवते—अभिदधति तीर्थकरा अनाशातनाविनयं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः।

एतदेवाह—

तित्थयरसिद्धकुलगण-संघकियाधम्मनाणनाणीणं ।
आयरियथेरओज्झा-गणीणँ तेरस पयाणि ॥३२५॥

तीर्थकरसिद्धकुलगणसंघक्रियाधर्मज्ञानज्ञानिनां तथा आचार्यस्थविरोपाध्यायगणिनां संबन्धीनि त्रयोदश पदानि, अत्र तीर्थकरसिद्धौ प्रसिद्धौ, कुलं-नागेन्द्रकुलादि गणः-कोटिकादिः संघः-प्रतीतः-क्रिया अस्तिवादरूपा, धर्मः-श्रुतधर्मादिः ज्ञानम्—इत्यादि ज्ञानिनस्तद्वन्तः, आचार्यः प्रतीतः स्थविरः-सीदतां स्थिरीकरणहेतुः, उपाध्यायः प्रतीतः गणाधिपतिर्गणिरिति गाथार्थः।

एतानि त्रयोदश पदान्यनाशातनादिभिश्चतुर्भिर्गुणितानि द्विपञ्चाशद्भवन्तीत्याह—

अणासायणा य भत्ती, बहुमाणो तह य वन्नसंजलणा ।
तित्थगराई तेरस , चउग्गुणा होंति बावन्ना ॥ ३२६॥

अनाशातना च तीर्थकरादीनां सर्वथा अहीलनेत्यर्थः, तथा भक्तिस्तेष्वेवोचितोपचाररूपा, तथा बहुमानस्तेष्वेवान्तरभावप्रतिबन्धरूपः, तथा च वर्णसंज्वलना तीर्थकरादीनामेव सद्भूतगुणोत्कीर्त्तना । एवमनेन प्रकारेण तीर्थकरादयस्त्रयोदश चतुर्गुणा अनाशातनाद्युपाधिभेदेन भवन्ति द्विपञ्चाशद्भेदा इति गाथार्थः। उक्तो विनयः। दश० ६ अ० २ उ० । (चारित्रविनयः 'चारित्तविणय' शब्दे तृतीयभागे ११७५ पृष्ठे गतः।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से किं तं मणविणए ?, मणविणए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-पसत्थमणविणए, अपसत्थमणविणए । से किं तं अपसत्थमणविणए ? २, जे अ मणे सावज्जे सकिरिए सकक्कसे कडुए णिट्ठुरे फरुसे अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे परितावणकरे उद्दवणकरे भूओवघाइए तहप्पगारं मणो णो पहारेज्ज । से तं अपसत्थमणोविणए । से किं तं पसत्थमणोविणए ?, पसत्थमणोविणए तं चेव पसत्थं णेअव्वं । एवं चेव वइविणओ वि एतेहिं पदेहिं चेव णेअव्वो, से तं वइविणए । (सू० २०×)

कायविनयः--

से किं तं कायविणए ?, कायविणए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-पसत्थकायविणए, अपसत्थकायविणए । से किं तं अपसत्थकायविणए ?, अपसत्थकायविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा--अणाउत्तं गमणे अणाउत्तं ठाणे अणाउत्तं णिसीदणे अणाउत्तं तुअट्टणे अणाउत्तं उल्लंघणे अणाउत्तं पल्लंघणे अणाउत्तं सव्विंदियकायजोगजुंजणया । से तं अपसत्थकायविणए । से किं तं पसत्थकायविणए ?, पसत्थकायविणए एवं चेव पसत्थं भाणियव्वं । से तं पसत्थकायविणए । से तं कायविणए । (सू० २०×) औ० ।

कायिकमाह-

अब्भुट्ठाणं अंजलि-आसणदाणं अभिग्गहकिई अ ।
सुस्सूसणमणुगच्छण-संसाहणकायअट्ठविहो ॥ ३२१ ॥

अभ्युत्थानमर्हस्य अञ्जलिः प्रश्नादौ आसनदानं पीठकाद्युपनयनम् अभिग्रहो--गुरुनियोगकरणाभिसंधिः कृतिश्चेति कृतिकर्म; वन्दनमित्यर्थः । शुश्रूषणं--विधिवददूरासन्नतया सेवनम् । अनुगमनम्-आगच्छतः प्रत्युद्गमनं संसाधनं चगच्छतोऽनुव्रजनं चाष्टविधः कायविनय इति गाथार्थः । दश० ६ अ० २ उ० ।

लोकोपचारविनयः--

से किं तं लोगोवयारविणए ?, लोगोवयारविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा-अब्भासवत्तिअं परच्छंदाणुवत्तिअं कज्जहेउं कयपडिकिरिआ अत्तगवेसणया देसकालण्णुया-सव्वट्ठेसु अपडिलोमया । से तं लोगोवयारविणए । (सू० २०×) औ० ।

शुश्रूषणाविनयः--

से किं तं सुस्सूसणाविणए ?, सुस्सूसणाविणए अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा-सक्कारेति वा सम्माणेति वा जहा चउद्दसमसए तइयउद्देसए० जाव पडिसंसाहणया । से तं सुस्सूसणाविणए । (सू० ८०२×) भ० २५ श० ७ उ० । ध० । संथा० । प्रव० ।

सम्प्रति तृतीयं विनयभेदं प्रचिकटयिषुर्गाथापूर्वार्द्धमाह—

अब्भुट्ठाणाईयं, विणयं नियमा पउंजइ गुणीणं ॥

अभिमुखमुत्थानमभ्युत्थानं तदादिः यस्य सः अभ्युत्थानादिरादिशब्दात्संमुखयानादिपरिग्रहः । तदुक्तम्-"दट्ठुं अब्भुट्ठाणं, आगच्छंताण संमुहं जाणं । सीसे अंजलिकरणं, सयमासणढोयणं कुज्जा ॥ १ ॥ निविसिज्ज निसन्नेसुं, गुरूण वंदणमुवासणं ताणं । जंताणं अणुगमणं, इय विणओ अट्ठहा होइ ॥२॥" इति । तमित्थंभूतं विनयं-प्रतिपत्ति नियमात्-निश्चयेन प्रयुङ्क्ते विदधाति गुणिनां-गुरुगौरवार्हाणां पुष्पसालसुतवत् । ध० र० २ अधि० ३ लक्ष० ।

वाग्विनयः—

से किं तं वइविणए ?, वइविणए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-पसत्थवइविणए, अप्पसत्थवइविणए य । से किं तं पसत्थवइविणए ? पस० २ सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा-अपावए० जाव अभूताभिसंकणे । सेत्तं पसत्थवइविणए । से किं तं अप्पसत्थवइविणए ?, अप्पसत्थवइविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा-पावए सावज्जे० जाव भूताभिसंकणे । सेत्तं अप्पसत्थविणए । सेत्तं वइविणए । (सू०८०२×) भ० २५ श० ७ उ० ।

वागादिविनयमाह—

हियमियअफरुसवाई, अणुवीईभासिवाइओ विणओ ।
अकुसलचित्तनिरोहो, कुसलमणउईरणा चेव ॥ ३२२ ॥

हितमितापरुषवागिति हितवाक्—हितं वक्ति परिणामसुन्दरं मितवाग्मितं स्तोकैरक्षरैः अपरुषवाक् अपरुषम् अनिष्ठुरं, तथा अनुविचिन्त्यभाषी स्वालोचितवक्तेति वाचिको विनयः । तथा अकुशलमनोनिरोधः आर्त्तध्यानादिप्रतिषेधेन कुशलमनउदीरणं चैव धर्मध्यानादिप्रवृत्त्येति मानस इति गाथार्थः ।

आह-किमर्थमयं प्रतिरूपविनयः कस्य चैष इति । उच्यते—

पडिरूवो खलु विणओ, पराणुयत्तिम्मओ मुणेअव्वो ।
अप्पडिरूवो विणओ, नायव्वो केवलीणं तु ॥ ३२३ ॥

प्रतिरूपः-उचितः खलु विनयः परानुवृत्त्यात्मकस्तत्तद्रूपसंपत्तया प्राय आत्मव्यतिरिक्तप्रधानानुवृत्त्यात्मको मन्तव्यः अयं च बाहुल्येन छद्मस्थानाम् । तथा अप्रतिरूपो विनयः अपरानुवृत्त्यात्मकः, स च ज्ञातव्यः केवलिनामेव तेषां तेनैव प्रकारेण कर्मविनयनात् तेषामपीतरः प्रतिरूपो ज्ञातकेवलभावानां भवत्येवेति गाथार्थः । दश० ६ अ० २ उ० । स्था० । व्य० ।

प्रतिरूपविनयमाह—

पडिरूवो खलु विणओ, काइयजोए य वायमाणसिओ ।
अट्ठ चउव्विह दुविहो, परूवणा तस्सिमा होई ॥३२४॥

प्रतिरूपः-उचितः खलु विनयस्त्रिविधः,काययोगे च, वाचि, मानसः, कायिको वाचिको मानसश्च, अष्टचतुर्विधद्विविधः । कायिकोऽष्टविधः, वाचिकश्चतुर्विधः, मानसो द्विविधः । प्ररू-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पणा तस्य कायिकाष्टविधादेरियं भवति वक्ष्यमाणलक्षणानि गाथार्थः । दश० ६ अ० २ उ० । उत्त० । व्य० । नि० चू० । (विनयमूलो धर्म इति, विनयश्च कतिविध इति च 'थावच्चापुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २४०१ पृष्ठे दर्शितम् ।)

विनये उदाहरणम् । इयाणिं विणए त्ति दारं—

णीयासणंजलीए-ग्गहादिविणयो तहिं तु हरिएसो ।
भत्तीए उ महोसव, बहुमाणो भावपडिबन्धो ॥ १३ ॥

णीयं—नीयं निम्नं आसीयते जम्मि तमासणं नीयं आसणं णीयासणं । गुरूण णीततरं उवविसति । तं च पीठगादि आसणं भवति । दो वि हत्था मउलकमलसंठिया अंजली भण्णति । पगरिसेण गहो पग्गहो । सो य णीयासणस्स वा अंजलिपग्गहो वा । अहवा—णिसेज्ज दंडगादीण वा पग्गहो भवति । आदिसद्दग्गहणेण णिद्दाविगहापरिवज्जिणाइं । गाहा—एवं पढंतस्स वा सुणेंतस्स वा विणओ भवति, इहरहा अविणओ । अविणीयस्स पच्छित्तं, तं चिमं--सुत्ते मासलहु । अत्थे मासगुरु । अहवा--सुत्ते-ह्न । अत्थे-ह्व । तम्हा विणएण अधीयव्वं । विणओवचेयस्स इह परलोगे विज्जाओ फलं पयच्छंति तहिं तु अत्थे विणओवकारित्ते ठियस्स जहा विज्जाओ फलं पयच्छंति तहा हरिएसो दिट्ठंतो भण्णति । रायगिहं णयरं सेणिओ राया सो य भज्जाए भण्णति । एगखंभं मे पासायं करेहि । तेण वड्डइणो आणत्ता गया कट्ठच्छिदा सलक्खणं महादुमो दि[...] धूवो वि दिण्णो । इमं च तहिं भणियं-जेण एस परिग्[...] ओ भूतातिणा सो दरिसावं देउ जाव ण छिंदामो । '[...] भ-रसिऊण गता तहिंयं जेण य सो परिग्गहितो [...]णमंतरेण तेण अभयस्स राती दरिसाओ दिण्णो । इमं च [...] तेण भणियं अहं एगखंभं पासायं सपायारपरिक्खेवं [...] करेमि, सव्वोउयपुप्फफलोववेयएण वणसंडेण णवरं [...]मा मज्झ णिलओवरिट्ठिओ रुक्खो छिज्जइ । अ[...]एण पडिस्सुयं । कओ य सो तेण आरक्खिय[...]पुरिसेहि य अहोरायं रक्खिज्जइ । अण्णया एक्कीए [...] मायंगीए अकाले अंबदोहलो, भत्तारं भणइ—आणे[...] । सो भणति-अकालो अंबगाणं । तीए लवियं-जतो ज[...]सि ततो आणेहि । सो गओ रायाण आमं तस्स य दो [...]ज्जाओ अत्थि-ओणामणी य, उण्णामणी य । ओणामणीए [...]ओणामिया गहियाणि पज्जत्तगाणि, उण्णामिणीए उण्णामि[...]या साहा । दिट्ठो य रण्णा अंबग्गहणपरिच्छेदो, चिंतियं च जस्स एसा सत्ती सो अंतेउरं पि धरिसेहिहि त्ति । अभयं भणति-सत्तरत्तस्स अभंतरे जति ण चोरं लभसि ततो ते जीवियं णत्थि । गवेसति अभओ । पेच्छइ य एगत्थ लोगं मिलितं ण ताव णडो (जाणाति) आगच्छति । तत्थ आगंतु अभओ भण्णति-जाव णडो आढवेइ एवं ताव अक्खाणयं सुणेह । एगम्मि दरिद्दकुले वड्डकुमारी रूववती , सा य एगत्थ आरामे चोरियाइ कुसुमाइं गेण्हइ, ताणि य घेत्तुं कामदेवं अच्चेति । सा य अण्णया आरामिएण गहिया, असुभभावो य सो कड्डिउमारद्धो । सा भणति—मा मे विणासेहि तव वि भगिणी जीवा अत्थि । सो भणति--किमेतेण एक्कहा मुयामि जया परिणीया तया जति पढमं मम स-

मीवमागमिस्ससि तो ते मुयामि । तीए पडिस्सुयं विसज्जिया परिणीया य वासघरं पविट्ठा, भत्तारस्स सब्भावं कहियं, तेण विसज्जिआ आरामं जाति । अंतरा चोरेहिं गहिया, सब्भावे कहिए तेहिं मुक्का पुणो गच्छति । अंतरा रक्खसो आहारत्थी छण्हं मासाणं एति तेण य गहिता । सब्भावे सिट्ठे मुक्का । गया आरामियस्स पासं दिट्ठा. कतो सि भणति सो समयो, कहं मुक्का भत्तारेण ?, स सव्वं कहेति । अहो सच्चपइण्णाए त्ति मुक्का कहमहं दुह[...]मि मुक्का य पडिइंति । सव्वेहिं मुक्का भत्तारस्स[...]गासमक्क[...]क्षा गता । अभओ पुच्छति-एत्थ केण दुक्करं कयं ?, जे[...]तत्थ इस्सालू ते भणंति भत्तारेण, छुहा रक्खसेणं, पा[...]दारिया मालिएणं । हरिएसो भणति चोरेहिं । अभएण[...] गहितो एस चोरो त्ति । रण्णा उवणीओ पुच्छिओ स[...]भावो कहिओ । राया भणति—जइ चोरविज्जाओ देसि [...] तो जीवसि तेण पडिसुयं दमि त्ति । आसणत्थो प[...]ढउमाढवेति ण वहइ । अभओ पुच्छिओ किं ण वहति?[...]अभओ भणति-अविणयगहिया एस हरिकेसो भूमित्थो त[...]मं सीहासणत्थो तओ तस्स अण्णं आसणं दिण्णं राया णीतत[...] ठिता सिद्धा । एवं णाणं पि विणयगहियं फलं देति अ[...]णयगहियं ण देति । तम्हा विणएण गहियव्वं । विणयए [...]त दारं । नि० चू० १ उ० । (विनयाकरणे प्रायश्चित्तम् , 'तवायार' शब्दे चतुर्थभागे २२०८ पृष्ठे दर्शितम् ।)

साम्प्रतमार्त्तगवेषणतारूपविनयप्रतिपादनार्थमाह—

दव्वाऽऽवइमाईसुं, अत्तमणत्ते गवेसणं कुणई ।

द्रव्यापदि—दुर्लभद्रव्याऽऽपत्सौ च तथा भवति । केषुचित् देशेष्ववन्त्यादिषु दुर्लभं घृतादिद्रव्यमिति , आदिशब्दात्-क्षेत्रापदादिपरिग्रहः । तत्र क्षेत्रापदि कान्तारादिपतने, कालापदि दुर्भिक्षे, भावापदि गाढग्लानत्वे आर्त्तस्य-पीडितस्य अत्यन्तसहिष्णुतया अनार्त्तस्य वा यथाशक्ति यद् गवेषणं करोति-दुर्लभद्रव्यादि रूपादयति स आर्त्तगवेषणविनयः ।

सम्प्रति (भाष्यकारः) कालज्ञताविनयप्रतिपादनार्थमाह—

आहारादिपयाणं, छंदम्मि उ छट्ठओ विणओ ॥८४॥

षष्ठः कालज्ञतालक्षणो विनयः एष यदुत 'छन्दम्मि उ' इति तृतीयार्थे सप्तमी । तथा 'तिसु तेसु अलंकिया पुहवी ' इत्यत्राऽयमर्थः,छन्दसा गुरूणामभिप्रायेणेव तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् आहारादिप्रदानम् । किमुक्तं भवति-यद्यस्मै प्रतिभासते तदिङ्गिताकारादिभिरपि विज्ञाय आचार्यग्लानोपाध्यायप्रभृतीनामकालक्षेपं संपादयति । स एष कालकृतो विनयः उक्तः कालज्ञताविनयः ।

संप्रति सर्वत्रानुलोमतालक्षणं विनयमाह—

सामायारिपरूवण-निद्देसे चेव बहुविहे गुरुणो ।
एमेय त्ति तह त्ति य, सव्वत्थऽणुलोमया एसा । ८५॥

'गुरुणो' इत्यत्र-कर्तरि षष्ठी. गुरोः सामाचारीप्ररूपणे किमुक्तं भवति-इच्छामिथ्यादिरूपायां तस्यां तस्यां सामाचार्यां गुरुणा प्ररूप्यमाणायाम् एवमेतद्यथा-भगवन्तो वदन्ति । नान्यथेति प्रतिपत्तिः, तथा बहुविधे बहुप्रकारे निर्देशे तत्क-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

र्तव्यज्ञापनलक्षणे गुरोर्गुरुणा क्रियमाणे या तथेति वचनतः कर्तव्यतया च प्रतिपत्तिरेषा सर्वाऽपि सर्वानुलोमताविनयः ।

उपसंहारमाह—

लोगोवयारविणओ, इय एसो वणिओ सपक्खम्मि ।
आसज्ज कारणं पुण, कीरइ जयणा विपक्खे वि ॥८६॥

इत्येवमुक्तेन प्रकारेण एष लोकोपचारविनयः स्वपक्षे-सुविहितलक्षणे वर्णितः । आसाद्य कारणं पुनर्विपक्षेऽपि गृहस्थेषु तथाविधागारिषु, श्रावकेषु पार्श्वस्थादिषु च एष लोकोपचारविनयोऽभ्यासः वर्तित्वादिलक्षणो यतनया प्रवचनोन्नतिव्याघातपरिहारेण संयमानाबाधया च क्रियते । तदेवं कायवाङ्मनोलोकोपचारभेदैश्चतुष्प्रकारः प्रतिरूपविनय उक्तः ।

अथवा चतुष्प्रकारः प्रतिरूपविनयस्तानेव प्रकारान् दर्शयति—

चउहा वा पडिरूवो, तत्थेगणुलोमवयणसहियत्तं ।
पडिरूवकायकिरिया, फासणसव्वाणुलोमं च ॥ ८७ ॥

घाशब्दः प्रकारान्तरद्योतनार्थः । अन्यथा वा चतुर्धा-चतुष्प्रकारः प्रतिरूपविनयस्तत्र तेषु चतुर्षु प्रकारेषु मध्ये एकः प्रतिरूपविनयस्तावदयम्-यदुत अनुलोमवचनसहितत्वं यत्किमपि कार्यमादिष्टः करोति तत्सर्वमनुलोमवचनपूर्वकं करोति नान्यथेति भावः । द्वितीयप्रतिरूपकायक्रिया; यथा-परिपाट्या शरीरविश्रामणमित्यर्थः । तृतीयः संस्पर्शनविनयः यथा गुर्वादेः सुखासिकोपजायते तदा मृदुसंस्पर्शात्मकः संस्पर्शनविनय इति भावः । चतुर्थः सर्वानुलोमता सूत्रे सर्वानुलोममिति भावप्रधानो निर्देशः । चः समुच्चये । सा च सर्वानुलोमता व्यवहारविरुद्धेऽपि प्राणव्यपरोपणकारिण्यपि वा समादेशे यथाक्रमं तथेति प्रतिपत्तिस्तथैव च कार्यसंपादनमित्येवंरूपा ।

एतानेव प्रकारान् क्रमेण व्याचिख्यासुः प्रथमतोऽनुलोमवचनसहितत्वं व्याख्यानयति—

अमुगं कीरउ आमं-ति भणइ अनुलोमवयणसहितो उ ।
वयणपसायाईहि य, अभिणंदइ तं वयं गुरुणो ॥ ८८ ॥

इच्छाकारेण भो शिष्य ! अमुकं क्रियतामित्येवं गुरुणा समादिष्टे यो वचसा आममिति ब्रूते न केवलं ब्रूते एव किंतु गुरोस्तां वाचं वदनप्रसादादिभिर्वदनस्य प्रसादेन-मुखस्य प्रसन्नतया आदिशब्दात्-उत्फुल्लनयनकमलोऽञ्जलिप्रग्रहादिना वाऽभिनन्दति महान् कृतः प्रसादो यदिदं समादिष्टमित्येवं ज्ञापनेन स्फातिं करोति स विनयविनयवतोरभेदोपचारात् अनुलोमवचनसहितः प्रतिरूपविनयः । तुशब्द एवकारार्थः । एवंरूप एवानुलोमवचनसहितो नान्य इति ।

अस्यैव विनयस्य करणे उपदेशमाह—

चोययंते परं थेरा, इच्छाणिच्छेन तं वइं ।
जुत्ता विणयजुत्तस्स, गुरुवक्काणुलोमता ॥ ८६ ॥

स्थविरा-आचार्यादयः ते परं शिष्यं चोदयन्ते-शिक्षयन्ते तेषां तत्राधिकारित्वात् । तत्र तां चोदनात्मिकां वाचं प्रति यदि इच्छा भवति तदादिष्टकार्यकरणाय, यदि वा-अनिच्छा तथापि विशुद्धान्वयतया विनययुक्तस्य गुरुवाक्यानुलोमता । आममित्येवं गुरुवाक्योपबृंहणं गुरुवाक्योपदिष्टकार्यसंपादकता चेति लक्षणा युक्ता । इयमत्र भावना-जातिकुलसमन्वितेन विनयमिच्छता सदैव गुरोर्निकटवर्तिना भवितव्यं तत्र यदा गुरुः शिक्षयते तदा तां शिक्षामिच्छता अनिच्छता वाऽवश्यं गुरुवाक्यमाममिति तथैवेत्येव वा उपबृंहणीयं कार्यं च संपादनीयमिति ।

एतदेव सविस्तरमाह—

गुरवो जं पभासंति, तत्थ खिप्पं समुज्जमे ।
न हु सच्छंदया सेया, लोए किमुत उत्तरे ॥ ६० ॥

गुरवो यत्प्रभाषन्ते-कर्त्तव्यतयोपदिशन्ति, तत्र क्षिप्रं—शीघ्रं समुद्यच्छेत्-सम्यगुद्यमं कुर्यात्, यतो 'न हु'-नैव स्वच्छन्दता स्वाभिप्रायेणावर्तिता श्रेयसी लोकेऽपि अपिशब्दोऽत्रानुक्तोऽपि सामर्थ्यात् गम्यते, किमुत उत्तरे—लोकोत्तरे सुविहितजनमार्गे परलोकार्थिनस्तस्य सुतरां न श्रेयसी, ज्ञानादिविच्युतिप्रसङ्गात् ।

जं जुत्तं गुरुनिद्देसं, जो वि आइसई मुणी ।
तस्सावि विहिणा जुत्ता, गुरुवक्काणुलोमता ॥ ६१ ॥

यथोक्तं गुरुनिर्देशं गुर्वाज्ञारूपं योऽपि मुनिरादिशति-कथयति तस्यापि तथा दिशतः प्रतिविधिना सूत्रोक्तेन युक्ता गुरुवाक्यानुलोमता यथोक्तस्वरूपा । तदेवमुक्तोऽनुलोमवचनसहितत्वरूपो विनयः ।

संप्रति प्रतिरूपकायक्रियाविनयमाह—

अद्दाणवायणाए, निव्वासणए परिकिलंतस्स ।
सीसाई जाव पाया, किरियापायादविणओ उ ॥ ६२ ॥

अध्वनि—मार्गे वा वाचनायां सूत्रार्थप्रदानलक्षणायां नित्यासनतया—निरन्तरोपवेशनतः परिक्लान्तस्य—समन्ततः क्लममुपागतस्य क्रिया प्रतिरूपकायक्रिया विश्रामणेति तात्पर्यार्थः । कर्त्तव्येति वाक्यशेषः । कथं कर्त्तव्येत्यत आह-शीर्षादि यावत्पादौ शिरस आरभ्य क्रमेण तावत्कर्तव्या यावत्पादौ, यदि पुनः पादादारभ्य करोति तदा अविनयपादादिमलस्य शीर्षादिषु लगनात् ।

अत्रैवापवादमाह—

जत्तो पभणाइ गुरू, करेइ किइकम्म मो ततो पुव्वं ।
संफरिसणविणओ पुण, परिमउअं वा जहा सहइ ॥६३॥

यतो वा अङ्गादारभ्य गुरुर्भणति ततः पूर्वमारभ्य कृतिकर्म्म विश्रामणां 'मो' इति पादपूरणे करोति । तथा च सति पादादप्यारभ्य कुर्वतो नाविनयः गुर्वाज्ञाकारित्वात् । उक्तोऽनुलोमकायक्रियाविनयः। संप्रति संस्पर्शनविनयमाह—'संफरिसण' त्यादि संस्पर्शनविनयः पुनः परिमृदुकम्, वाशब्दादल्पमृदुकं वा यथा सहते तथापि विश्रामणां करोति अतिखरेण विश्रामणायां परितापनसंभवात् ।

अथ विश्रामणायां को गुण इत्यत आह—

वायाई सट्ठाणं, वयंति भद्दासणस्स जे खुभिया ।
खेयजतो तणुथिरया, बलं च अरिसादओ नेवं ॥६४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घातादयो-वातपित्तश्लेष्माणो ये बद्धासनस्य सतः क्षुभिताः-स्थानात् प्रचलितास्ते स्वस्थानं व्रजन्ति-स्वस्थानं प्रतिपद्यन्ते; ते न विक्रियां भजन्तीति भावः । तथा वाचनाप्रदानतो मार्गगमनतो वा यः खेद उपजातस्य यतोऽपगमो भवति । तथा तनोः-शरीरस्य स्थिरता-दार्ढ्यं भवति, न विशरारुताभावः । अत एव च बलं शारीरं तदुपष्टम्भतो वाचिकं मानसिकं च । तथा एवं विश्रामणातो वातादीनां स्वस्थागमने अर्शआद्योऽर्शांसि वातपित्तश्लेष्मजानि आदिशब्दात्-तदन्ये च रोगा नोपजान्ते । एते विश्रामणायां गुणास्ततः कर्त्तव्योऽवश्यमनुलोमकायक्रियाविनयः, संस्पर्शनविनयश्च ।

संप्रति सर्वत्रानुलोमताविनयमाह—

सेयवऊ मे कागो, दिट्ठो चउदंतपंडुरो वेभो ।
आमं पडिति भणंते, सव्वत्थऽणुलोमपडिलोमे ॥६५॥

श्वेतवपुः-श्वेतशरीरो मया काको दृष्टः। यदिवा-इभो-हस्ती चतुर्दन्तः, पाण्डुरश्च मया दृष्ट इति वर्तते । एवं प्रतिलोमे लोकव्यवहारविरुद्धे गुरुणा कथमप्युच्यमाने इति प्रतिभणति शिष्ये सर्वत्रानुलोमलक्षणो विनयः प्रतिपत्तव्यः । किमुक्तं भवति—यदि नाम श्वेतवपुर्मया काको दृष्ट इत्यादिकं लोकव्यवहारप्रतिकूलं कथमपि गुरुर्भणति तथापि तदानीं सकलजनसमक्षमाममित्येव वक्तव्यम्, न पुनस्तद्वचः कुट्टयितव्यम्। केवलं विशेषार्थिना जनविरहे कारणं प्रष्टव्यम्। एवं हि सर्वानुलोमतालक्षणो विनयः प्रकटितो भवति नान्यथा ।

मिणु गोणसंऽगुलेहिं, गणेहि से दड्ढचक्कलाइं से ।
अग्गंऽगुलीए वग्घं, तुद डिवगडं भणइ आमं ॥ ६६ ॥

मिनु-प्रमिणु गोनसं—सर्पजातिविशेषम् अङ्गुलैः-यथा कियन्त्यङ्गुलानि अयं गोनसो विद्यते इति । तथा गण-परिसंख्याहि 'से' तस्य गोनसस्य दंष्ट्राः, यदि वा-'से' तस्य चक्रवालानि-पृष्ठस्योपरि मण्डललक्षणानि गणय, कियन्त्योऽस्य दंष्ट्रा कियन्ति वास्य पृष्ठस्योपरि चक्रवालानीत्येतत् गणयित्वा कथयेति भावः । तथा अत्राङ्गुल्यग्रभागेन व्याघ्रं तुदतोत्रेण वा व्यथय, तथा 'डिव' निपत्योल्लङ्घय अवटं-कूपम् । एवं प्राणिप्रतिलोमं वदति गुरौ, सर्वत्रानुलोमताविनययुक्तः शिष्य आममिति भणति । गुरवो हि सकलजगत्प्राणिवर्गविषयपरमकरुणापरीतचेतसस्ततस्त एव युक्तमयुक्तं वा जानन्ति । किमत्र शिष्यस्य चिन्तयेति शिष्येण सर्वत्रानुलोमविनयमिच्छुना ईदृशमपि गुरुवचनं तथेति प्रतिपत्तव्यमिति । व्य० १ उ० । ध० र० । (लौकिको लोकोत्तरिको बलीयानिति संज्ञाभूमिगमनप्रस्तावे आचार्यस्य 'अइसय' शब्दे प्रथमभागे १६ पृष्ठे उक्तः ।) (सत्कारादिविनयेषु दण्डकः 'सक्कार' शब्दे वक्ष्यते ।)

साम्प्रतं सूत्रानुगमः, तत्रालीकोपघातजनकत्वादिदोषरहितं निर्दोषसार (वत्वा) त्वादिगुणान्वितं सूत्रमुच्चारणीयम्, तच्चेदम्—

संजोगविप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो ।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

अस्य च संहितादिक्रमेण व्याख्या-तत्र चास्खलितपदोच्चारणं संहिता, सा चानुगतैव, सूत्रानुगमस्य तद्रूपत्वात्, तथा चाह-"होइ कयत्थो वोत्तुं, सपयच्छेयं सुयं सुयाणुगमो" त्ति । पदं तु नामिकनैपातिकादि स्वधियैव भावनीयम्, पदार्थस्त्वयम्-अन्यसंयुक्तस्यासंयुक्तस्य वा सचित्तादिवस्तुनो द्रव्यादिना संयोजनं-संयोगः, स च संयुक्तसंयोगादिभेदेनानेकधा वक्ष्यते, तस्मान्मात्रादिसंयोगरूपादौदयिकादिक्लिष्टतरभावसंयोगात्मकाच्च विविधैः-ज्ञानभावनादिभिर्विचित्रैः प्रकारैः प्रकर्षेण-परीषहोपसर्गादिसहिष्णुतालक्षणेन मुक्तो-भ्रष्टो विप्रमुक्तः, तस्य-'अनगारस्ये' ति अविद्यमानमगारमस्येत्यनगार इति व्युत्पन्नोऽनगारशब्दो गृह्यते, यस्त्वव्युत्पन्नो रूढिशब्दो यतिवाचकः, यथोक्तम्-'अनगारो मुनिर्मौनी, साधुः प्रव्रजितो व्रती । श्रमणः क्षपणश्चैव, यतिश्चैकार्थवाचकाः ॥ १ ॥" इति । इह न गृह्यते, भिक्षुशब्देनैव तदर्थस्य गतत्वात्, तत्र चागारं द्विधा-द्रव्य-भावभेदात्; तत्र द्रव्यागारमगैः-द्रुमदृषदादिभिर्निर्वृत्तम्, भावागारं पुनरगैः-विपाककालेऽपि जीवविपाकतया शरीरपुद्गलादिषु बहिः प्रवृत्तिरहितैरनन्तानुबन्ध्यादिभिर्निर्वृत्तं कषायमोहनीयम्, तत्र च द्रव्यागारपक्षे तन्निषेधे ततोऽनगारस्याविद्यमानगृहस्येत्यर्थः, भावागारपक्षे त्वल्पताभिधायी, ततः स्थितिप्रदेशानुभागतोऽत्यल्पकषायमोहनीयस्येत्यर्थः । कषायमोहनीयं हि कर्म, न च कर्मणा स्थित्यादिभूयस्त्वे विरतिसङ्गमः । यत आगमः-"सत्तण्हं पयडीणं, अब्भितरओ उ कोडिकोडीओ । काऊण सागराणं, जइ लहइ चउण्हमन्नयरं ॥१॥" इत्यादि, क्लिष्टतरभावसंयोगमुक्तत्वेनैव चास्य गतत्वे पुनरभिधानं कषायमोहनीयस्यातिदुष्टताख्यापनार्थम् । विशेष्यमाह—'भिक्षो' रिति, अत्र च पचनपाचनादिव्यापारोपरमतः साधुर्भिक्षते तद्धर्मा चेत्यर्थे "सनाशंसभिक्ष उ" रिति (पा० ३-२-१६८) ताच्छीलिक उप्रत्ययः । अस्य च वर्त्तमानाधिकारविहितत्वेऽपि सञ्ज्ञाप्रकारास्ताच्छीलिका इति भाष्यकारवचनाद् भिक्षुशब्दस्त्रिकालविषयो यतिपर्यायः सिद्धो भवति, शेषविवक्षायां च षष्ठी । अथवा-"अणगारस्स भिक्खुणो" त्ति अस्वेषु भिक्षुरस्वभिक्षुः जात्याद्यनाजीवनादनात्मीकृतत्वेनानात्मीयानेव गृहिणोऽन्नादिभिक्षत इति कृत्वा, स च यतिरेव । ततोऽनगारश्चासावस्वभिक्षुश्च अनगारास्वभिक्षुस्तस्य । किमित्याह-विशिष्टो विविधो वा नयो नीतिर्विनयः साधुजनासेवितः समाचारस्तं, विनमनं वा विनतं 'णीयं सेज्जं गइं ठाणं' इत्याद्यागमात् । द्रव्यतो नीचैर्वृत्तिलक्षणं प्रह्वत्वम्, भावतश्च सध्वाचारं प्रतिप्रवणत्वं प्रादुष्करिष्यामि—प्रकटयिष्यामि । कथमित्याह—पूर्वस्य पश्चादनुपूर्वं तस्य भाव इत्यर्थे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः" (पा० ५-१-१२६) कर्मणि चेति ष्यञ्, तस्य च षित्करणसामर्थ्यात् स्त्रीत्वे "षिद्गौरादिभ्यश्च" ति (पा० ४-१-४१) ङीष्यानुपूर्वीक्रमः—परिपाटीति यावत् तया, द्वितीया तु 'छन्दोवत् सूत्राणी' ति न्यायतः छान्दसत्वे 'सुपां सुपो भवन्ती' ति वचनात् तृतीयार्थे, शृणुत-आकर्णयत श्रवणं प्रत्यवहिता भवत । यद्वा-शृणु इहेति-जगति जिनमते वा; व्याख्याद्वयेऽपि शिष्याभिमुखीकरणमित्यर्थः । अनेन च पराङ्मुखमपि प्रतिबोधयतो व्याख्यातुर्धर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पवेति ख्यापितं भवति । तथा च वाचकः-" न भवति धर्मः श्रोतुः, सर्वस्यैकान्ततोहितश्रवणात् । ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्य, वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥ १ ॥ " मे—मम विनयं विनतं वा प्रादुष्करिष्यत इति प्रक्रमः । उक्तः पदार्थस्तदभिधानात् सामासिकपदान्तर्गतः पदविग्रहश्च (उक्त इति) ततश्चालनावसरः, सा च सूत्रार्थगतदूषणात्मिका, "सुत्तगयमत्थविसयं, व दूसणं चालणं मयं तस्स" इति वचनात्, तत्र सूत्रचालना—संयोगस्य विप्रमुक्तक्रियां प्रति कर्तृत्वात् संयोगादिति कथं पञ्चमी ?, अर्थचालना च 'विनयं प्रादुष्करिष्यामी' ति प्रतिज्ञातम्, उत्तरत्र च 'आणाऽणिद्देसकरे' इत्यादिना 'खड्डुयाहिं चवेडाहिं' इत्यादिना च विपर्ययप्रतिपादनमपि दृश्यते इति कथं न प्रतिज्ञाक्षतिः ?, प्रत्यवस्थानं शब्दार्थन्यायतः परोपन्यस्तदोषपरिहाररूपम्, यत आह-"सइत्थनायाश्रो, परिहारो पच्चवत्थाणं" तत्र च यद्यपि संयोगेन विमुच्यमानो भिक्षुः कर्म तथापि कर्तृत्वेनात्र विवक्ष्यते, ततश्च तस्य तं विप्रमुञ्चतो विश्लेषोऽस्तीति विश्लेषक्रियायां संयोगस्य ध्रुवत्वेनापादानत्वान्न्याय्यैव पञ्चमी, अत एव विप्रमुक्त इत्यत्र कर्मकर्तुः कर्मवद्भावात् कर्मणि क्तोऽपि सिद्धो भवति इति न सूत्रदोषो, नाप्यर्थदोषः । यतो यद् यल्लक्षणं तत्तद्विपर्ययाविधान एव तल्लक्षणमक्लेशेन ज्ञातुं शक्यमिति । अत्र विनयाभिधानप्रतिज्ञानेऽप्यविनयाभिधानम्, तथा च शय्यम्भवप्रणीताचारकथायामपि "वयछक्ककायछक्क" मित्यादिनाऽऽचारप्रक्रमेऽप्यनाचारवचनम् । अथवा—एकमपीदं सूत्रमावृत्त्या श्वेतो धावती' तिवदर्थद्वयाभिधायकम्, ततश्चायमन्योऽर्थः-संयोगेन कषायादिसम्पर्कात्मकेनाप्यविप्रमुक्तः-अपरित्यक्तः, संयोगाविप्रमुक्तस्तस्य, ऋणमिव कालान्तरक्लेशानुभवहेतुतया ऋणम्-अष्टप्रकारं कर्म तत् करोतीति कोऽर्थः ?—तथा तथा गुरुवचनविपरीतप्रवृत्तिभिरुपचिनोतीति ऋणकारस्तस्य भिक्षोः—कषायादिवशतो जीववीर्यविकलस्य पौरुषघ्नीमिव भिक्षां तथाविधफलनिरपेक्षतया भ्रमणशीलस्य विनयं 'प्रादुष्करिस्यामि'इति"प्राकाश्यसम्भवे प्रादु" रिति वचनात् प्रादुःशब्दस्य सम्भवार्थस्यापि दर्शनादुत्पादयिष्यामि, सम्भवति हीदमध्ययनमधीयानानां गुरुकर्मणामपि प्रायो विनीताविनीतगुणदोषविभावनातो ज्ञानादिविनयपरिणतिः, अथवा-विरुद्धो नयो विनयः; असदाचार इत्यर्थः, तं प्रादुष्करिष्यामि-प्रकटयिष्यामि, कस्य-भिक्षोः—उक्तन्यायेन भिक्षणशीलस्य, सम्यग्-अविपरीतो योगः समाधिः—संयोगः, ततो विविधैः परीषहासनगुरुनियोगासहिष्णुत्वालस्यादिभिः प्रकारैः प्रकर्षेण मुक्तो विप्रमुक्तः तस्य, शेषं प्राग्वत् । एवं चाविनयप्रतिपादनस्यापि प्रतिज्ञातत्वात् सर्वं सुस्थम् । अपरस्त्वाह—प्रतिज्ञातमपि विनयमभिधित्सोरप्रस्तुतम्, इदमपि बालप्रजल्पितं यतः शास्त्रारम्भेऽभिधेयाद्यवश्यमभिधेयम् अन्यथा प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यसम्भवात्, तत्प्रदर्शनात्मकं चैतत् प्रतिज्ञानम्, तथाहि-विनयं प्रादुष्करिष्यामीत्युक्ते विनयोऽस्याध्ययनस्याभिधेयः, तत्प्रादुष्करणं फलम्, तथा चेदमुपेयम्, उपायश्चास्य प्रस्तुताध्ययनम्, इत्थमनयोरुपायोपेयभावलक्षणः सम्बन्ध इति च दर्शितं भवति, ततो नाप्रस्तुतत्वं प्रतिज्ञातस्येति स्थितम् । उत्त०पाइ० १ अ० ।

सम्प्रति यदुक्तं विनयं प्रादुष्करिष्यामीति, तत्र विनयो धर्मः स च धर्मिणः कथञ्चिदभिन्न इति धर्मिद्वारेण तत्स्वरूपमाह-

आणानिद्देसयरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसम्पन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ ॥ २ ॥

आज्ञिति स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्यादयाऽभिव्याप्त्या वा ज्ञायन्तेऽर्था अनयेत्याज्ञा—भगवदभिहितागमरूपा तस्या निर्देश-उत्सर्गापवादाभ्यां प्रतिपादनमाज्ञानिर्देशः, इदमित्थं विधेयमित्थं वेत्येवमात्मकः तत्करणशीलस्तदनुलोमानुष्ठानो वा आज्ञानिर्देशकरः, यद्वा-आज्ञा-सौम्य ? इदं कुरु इदं च मा कार्षीरिति गुरुवचनमेव, तस्या निर्देश इदमित्थमेव करोमि इति निश्चयाभिधानं तत्करः, आज्ञानिर्देशेन वा तरति भवाम्भोधिमित्याज्ञानिर्देशतर इत्यादयोऽनन्तगमपर्यायत्वाद्भगवद्वचनस्य व्याख्याभेदाः सम्भवन्तोऽपि मन्दमतीनां व्यामोहहेतुतया बालाऽबलादिबोधोत्पादनार्थत्वाच्चास्य प्रयासस्य न प्रतिसूत्रं प्रदर्शयिष्यन्ते, तथा गुरूणाम्-गौरवार्हाणामाचार्यादीनामुप-समीपे पतनं स्थानमुपपातः-दृग्वचनविषयदेशावस्थानं तत्कारकः-तदनुष्ठाता, न तु गुर्वादेशादिभीत्या तद्व्यवहितदेशस्थायीति यावत्, तथेङ्गितं-निपुणमतिगम्यं प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचकमीषद् भ्रूशिरःकम्पादि आकारः—स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादिभावाभिव्यञ्जको दिगवलोकनादिः, आह च-" अवलोयणं दिसाणं, वियंभणं साडयस्स संठवणं । आसणसिढिलीकरणं, पट्ठियलिंगाइँ एयाइं ॥ १ ॥ " अनयोर्द्वन्द्वे इङ्गिताकारौ तौ अर्थाद्-गुरुगतौ सम्यक् प्रकर्षेण जानाति इङ्गिताकारसम्प्रज्ञः, यद्वा-इङ्गिताकाराभ्यां गुरुगतभावपरिज्ञानमेव कारणे कार्योपचारादिङ्गिताकारशब्देनोक्तम्, तेन सम्पन्नो-युक्तः, 'स' इत्युक्तविशेषणान्वितः विनीतः-विनयान्वितः, 'इति' सूत्रपरामर्शे उच्यते तीर्थकृद्गणधरादिभिरिति गम्यते, अनेन च स्वमनीषिकाऽपोहमाह इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

इह विनयोऽभिधित्सितः, स च विपर्ययाभिधान एव तद्विविक्ततया सुखेन ज्ञातुं शक्यत इत्यविनयं धर्मिद्वारेणाह-

आणानिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥

पादद्वयं प्राग्वत्, नवरं नञ्योजनाद्व्यतिरेकतो व्याख्येयम्, प्रत्यनीकः—प्रतिकूलवर्ती शिलाऽऽक्षेपककूलवालकश्रमणवत्, दोषानीकं प्रति वर्तत इति प्रत्यनीकः, किमित्येवंविधोऽसावित्याह-असम्बुद्धः—अनवगततत्त्वः, अविनीतः-अविनयवान् 'इत्युच्यते' इति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

साम्प्रतं दृष्टान्तपूर्वकमिहैवास्य सदोषतामाह—

जहा सुणी पूइकण्णी, णिक्कसिज्जइ सव्वसो ।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ ॥४॥

यथा इत्युपदर्शने, श्वसितीति शुनी, स्त्रीनिर्देशोऽत्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्तकुत्सोपदर्शकः, पूती-परिपाकतः कुथितगन्धौ कृमिकुलाकुलत्वाद्युपलक्षणमेतत्, तथाविधौ कर्णौ-श्रुती यस्याः पक्वकर्क वा पूतिस्तद्व्याप्तौ कर्णौ यस्याः सा पूतिकर्णा, सकलावयवकुत्सोपलक्षणं चैतत्, सा चेदृशी शुनी, किमित्याह--निष्काश्यते--निर्वास्यते बहिर्निःसार्यते इति यावत्, कुतः ?--'सव्वसो' त्ति सर्वतः--सर्वेभ्यो गोपुरगृहाङ्गणादिभ्यः, सर्वान् वा हतहतेत्यादिविरूपवचनलतालकुटलेष्टुघातादिकान् प्रकारानाश्रित्य 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ती' ति छान्दसत्वाच्च सूत्रे शस्प्रत्ययः । उपनयमाह--एवम्--अनेनैव प्रकारेण, दुष्टमिति रागद्वेषादिदोषविकृतं शीलं--स्वभावः समाधिराचारो वा यस्यासौ दुःशीलः, प्रत्यनीकः प्राग्वत्, मुखेनारिमावहति मुखमेव वेह परलोकापकारितयाऽरिरस्य मुधैव वा कार्यं विनैवारयो यस्यासौ मुखारिर्मुधारिर्वा-बहुविधासम्बद्धभाषी, सूत्रत्वाद्वा 'मुहरि' त्ति मुखरो वाचाटो निष्काश्यते 'सर्वतः' इतीहापि योज्यते, ततश्च सर्वतो निष्काश्यते, सर्वथा कुलगणसंघसमवायबहिर्वर्ती विधीयत इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

आह--दौःशील्यनिमित्त एवायमविनीतस्य दोषः, प्रत्यनीकतामुखरत्वयोरपि तत्प्रभवत्वात् तत्र चैवमनर्थहेतौ किमसौ प्रवर्तत इति, अत्रोच्यते, पापोपहतमतित्वेन तत्रैवास्याभिरतिरिति कृत्वा, तामेव दृष्टान्तपूर्विकामाह-

कणकुंडगं जहित्ता णं, विट्ठं भुंजइ सूयरो ।
एवं सीलं जहित्ता णं, दुस्सीले रमई मिए ॥ ५ ॥

कणाः--तन्दुलास्तेषां तन्मिश्रो वा कुण्डकः--तत्त्वोदनोत्पन्नकुक्कुसः कणकुण्डकस्तं 'हित्वा' पाठान्तरतस्त्यक्त्वा वा विष्ठाम्-पुरीषं भुङ्क्ते--अभ्यवहरति 'सूकर' इति गर्तासूकरो, यथेति गम्यते, एवं शीलम्--उक्तरूपं प्रस्तावाच्छोभनं हित्वा--प्राग्वत्त्यक्त्वा वा दुष्टं शीलं दुःशीलं तस्मिन् भावप्रधानत्वाद्वा निर्देशस्य दुष्टं शीलमस्येति दुःशीलस्तद्भावो दौःशील्यं तस्मिन्, उभयत्र दुराचारादौ रमते--धृतिमाधत्ते मृग इव मृगः अज्ञत्वादविनीत इति प्रक्रमः । इदमत्र हृदयम्--यथा मृग उद्गीर्णासिपुत्रिकगौरिगायनपुरुषहेतुकमायतौ मृत्युरूपमपायमपश्यन्नज्ञः, एवमयमपि दौःशील्यहेतुकमागामिनं भवभ्रमणलक्षणमपायमनालोकयन्नज्ञ एव सन् गर्तासूकरोपमः सदा पुष्टिदायिकणकुण्डकसदृशं शीलमपहाय विवेकिजनगर्हिततया विष्ठोपमं दुःशीले दौःशील्ये वा रमते । इह च दृष्टान्तेऽपि विड्भुक्त्यभिरतिरेवार्थत उक्ता, तदविनाभावित्वात्तस्याः, यद्वा-शुभपरिहारेणाशुभाश्रयणमुभयत्रापि सादृश्यनिमित्तमस्तीति नोपमानोपमेयभावविरोध इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

उक्तोपसंहारपूर्वकं कृत्योपदेशमाह-

सुणिया भावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य ।
विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥ ६ ॥

श्रुत्वा--आकर्ण्य अभावं--नञः कुत्सायामपि दर्शनादशोभनं भावं सर्वतो निष्काशनलक्षणं पर्यायं 'साणस्स' त्ति प्राकृतत्वाद्विभक्तिव्यत्ययस्य गम्यमानत्वात् शुन्या इव सूकरस्य--उक्तन्यायेन शूकरोपमस्य नरस्य, 'चः' पूरणे, यद्वा--शुन्याः शूकरस्य च दृष्टान्तस्य नरस्य च दार्ष्टान्तिकस्याशोभनं भावं त्रयाणामप्युक्तरूपं श्रुत्वा, किमित्याह-विनये वक्ष्यमाणस्वरूपे, स्थापयेदात्मानम्, आत्मनैवेति गम्यते, इच्छन्--वाञ्छन् हितम्--ऐहिकमामुष्मिकं च पथ्यम् आत्मनः--स्वस्य, इह च पुनर्दृष्टान्ताभिधानमुपसंहारत्वेनाविनये शिष्यस्याशुभभावस्योत्पादनार्थत्वेन वा नाप्रकृतमिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

यतश्चैवं ततः किमित्याह--

तम्हा विणयमेसिज्जा, सीलं पडिलभे जओ ।
बुद्धउत्ते नियागट्ठी, न निक्कसिज्जइ कण्हुइ ॥ ७ ॥

'तस्माद्' इति यस्मादविनयदोषदर्शनादात्मा विनये स्थापनीयस्तस्मात् विनयम् 'एषयेत्' अनेकार्थत्वेन धातूनां पर्यवसितवृत्त्या वा कुर्यात्, एवं ह्यात्मा विनये स्थाप्यत इति । किं पुनरस्य विनयस्य फलम् येनैवमत्रात्मनोऽवस्थापनमुद्दिश्यत इत्याशङ्क्याह--शीलम्--उक्तरूपं प्रतिलभेत--प्राप्नुयात्--' यत ' इति विनयात्, अनेन विनयस्य शीलावाप्तिः फलमुक्तम्, अस्यापि किं फलमित्याह--बुद्धैः--अवगततत्त्वैस्तीर्थकरादिभिरुक्तम्--अभिहितं, तच्च तन्निजमेव निजकं च--ज्ञानादिस्तस्यैव बुद्धैरात्मीयत्वेन तत्त्वत उक्तत्वात्, बुद्धोक्तनिजकम्, तदर्थयते--अभिलषतीत्येवंशीलः बुद्धोक्तनिजकार्थी सन्, पठन्ति च--'बुद्धवुत्ते णियागट्ठि' त्ति बुद्धैः--उक्तरूपैर्युक्तो-विशेषेणाभिहितः स च द्वादशाङ्गरूप आगमस्तस्मिन् स्थित इति गम्यते, यद्वा--बुद्धानाम्--आचार्यादीनां पुत्र इव पुत्रो बुद्धपुत्रः 'पुत्ता य सीसा य समं विहित्ता' इति वचनात्, स्वरूपविशेषणमेतत्, नितरां यजनं यागः--पूजा यस्मिन् सोऽयं नियागो-मोक्षः, तत्रैव नितरां पूजासम्भवात्, तदर्थी सन्, किमित्याह--न निष्काश्यते--न बहिष्क्रियते, कुतश्चिद् गच्छगणादेः, किन्तु-विनीतत्वेन सर्वगुणाधारतया सर्वत्र मुख्य एव क्रियते इति भावः, इति सूत्रार्थः ॥७॥

कथं पुनर्विनय एषयितव्य इत्याह--

णिसंते सिया अमुहरि, बुद्धाणमंतिए सया ।
अट्ठ जुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥८॥

नितराम्--अतिशयेन शान्तः उपशमवान् अन्तःक्रोधपरिहारेण बहिश्च प्रशान्ताकारतया निःशान्तः स्याद्-भवेत्, तथा अमुखारिः-प्राग्वत् अमुखरो वा सन् बुद्धानाम्--आचार्यादीनाम् अन्तिके--समीपे, न तु, विनयभीत्याऽन्यथैव सदा--सर्वकालमर्यते--गम्यते इति अर्थः अर्तेरौणादिकस्थन् (उषिकुषिगाऽर्तिभ्यस्थन् उ० २--४) स च हेय उपादेयश्चोभयस्याप्यर्यमाणत्वात्, तेन युक्तानि-अन्वितानि अर्थयुक्तानि, तानि च हेयोपादेयाभिधायकानि, अर्थादागमवचांसि, यद्वा--मुमुक्षुभिरर्थ्यमानत्वादर्थो मोक्षस्तत्र युक्तानि--उपायतया सङ्गतानि अर्थं वा-अभिधेयमाश्रित्य युक्तानि--यतिजनोचितानि शिक्षेत--अभ्यस्येत, प्रपञ्चितज्ञविनेयानुग्रहाय, व्यतिरेकत आह--निरर्थकानि--उक्तविपरीतानि डित्थडवित्थादीनि,

१- सूकरशब्दो दन्त्यादिस्तालव्यादिश्च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्वा—वैश्यिकवात्स्यायनादीनि स्त्रीकथादीनि वा 'तु:' पुनरर्थे, वर्जयेत्—परिहरेत् । इह च निशान्त इत्यनेन प्रशमादीनामुपलक्षितत्वात् तेषां च दर्शनाविनाभावित्वाद् दर्शनस्य च जिनोक्तभावश्रद्धानरूपत्वात् तस्यैव दर्शनविनयत्वात् अर्थतो दर्शनविनयो दर्शितः । उक्तं हि प्राक्- "दव्वाण सव्वभावा, उवइट्ठा जे जहा जिणिंदेहिं । तं तह सद्दहइ णरो, दंसणविणओ हवति तम्हा ॥ १ ॥" शेषेण तु श्रुतज्ञानशिक्षाऽभिधायिना ज्ञानदर्शनविनय उक्तः, तत्स्वरूपमाह—" णाणं सिक्खइ णाणं गुणेइ णाणेण " त्ति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

कथं पुनरर्थयुक्तानि शिक्षेतेत्याह—

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंतिं सेवेज्ज पंडिए ।
बालेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥ ९ ॥

'अनुशिष्ट' इति अर्थयुक्तानि शिक्ष्यमाणः कथञ्चित् स्खलितादिषु गुरुभिः परुषोक्त्याऽपि शिक्षितः न कुप्येत्—न कोपं गच्छेत्, किं तर्हि कुर्यादित्याह—'क्षान्ति'—परुषभाषणादिसहनात्मिकां सेवेत—भजेत, पण्डा-बुद्धिः सा संजाताऽस्येति पण्डितः, तथा क्षुद्रैः—बालैः शीलहीनैर्वा पार्श्वस्थादिभिः सह समं 'संसग्गिं' ति प्राकृतत्वात्संसर्गं, हसनं हासस्तं, क्रीडां च—अन्ताक्षरिकाप्रहेलिकादानादिजनितां च वर्जयेत्—परिहरेत् सर्वेषामप्यमीषां विशिष्टशिक्षाक्षितिहेतुत्वात् लोकागमविरुद्धत्वाच्चेति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

पुनरन्यथा विनयमाह—

मा य चंडालियं कासी, बहुयं मा य आलवे ।
कालेण य अहिज्जित्ता, तत्तो झाइज्ज इक्कओ ॥ १० ॥

'मा' निषेधे, चः—समुच्चये, चण्डः क्रोधस्तद्वशादलीकम्—अनृतभाषणं चण्डालीकं, भयालीकाद्युपलक्षणमेतत्, यद्वा—चण्डेनाऽऽलमस्य चण्डेन वा अलितश्चण्डालः, स चातिक्रूरत्वाच्चण्डालजातिस्तस्मिन् भवं चाण्डालिकं कर्मेति गम्यते, अथवा—अचण्ड ! सौम्य ! अलीकम्—अन्यथात्वविधानादिभिरसत्यं, गुरुवचनमागमं चेति गम्यते ; मा कार्षीः—मा विधाः, भगवदुद्दिष्टतिलोत्पाटकस्वेच्छालापिगोशालकवत्, बह्वेव बहुकम् अपरिमितमालजालरूपं 'मा च' इति प्राग्वत्, आङिति स्त्र्यादिकथाऽभिव्याप्त्या लपेत्—भाषेत, बह्वालापनात् ध्यानाध्ययनक्षितिवातक्षोभादिसम्भवात्, किं पुनः कुर्यादित्याह—कालः—अध्ययनावसरः प्रथमपौरुष्यादिस्तेन, चः—पुनरर्थे, अधीत्य—पठित्वा, प्रच्छनाद्युपलक्षणमेतत्, 'ततः' अध्ययनात्, अनन्तरमिति गम्यते, ध्यायेत्—चिन्तयेत्, 'एकक' इति भावतो रागद्वेषादिसाहित्यरहितः, द्रव्यतस्तु—विविक्तशय्यादिसंस्थः, इत्थं हि चाण्डालिककरणाद्यनुत्थानमधीतार्थस्थिरीकरणं च कृतं भवतीति भावः । इह च पादत्रयेण साक्षाद्वाग्गुप्तिरुक्ता, ध्यायेदित्यनेन मनोगुप्तिः, आद्यपादोत्तरव्याख्यानद्वयेन तु कायगुप्तिरपि, एताश्च चारित्रान्तर्गता एव, यदुक्तम्—"पणिहाणजोगजुत्तो, पंचहिं समितीहिं तिहिँ गुत्तीहिं । एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ णायव्वो ॥१॥" न च चारित्राचारस्तत्त्वतश्चारित्रविनयादतिरिच्यते इति देशतस्तस्याप्यनेनाभिधानमिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

इत्यमकृत्यनिषेधः कृत्यविधिश्चोपदिष्टः कदाचिदेतद्विपर्ययसम्भवे च किं करणीयमित्याह—

आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कण्हुइ ।
कडं कडं ति भासिज्जा, अकडं नो कडं ति य ॥ ११ ॥

आहत्य-कदाचित् चण्डालिकं च चाण्डालिकं चोक्तरूपम्, यद्वा-चण्डश्चालीकं च चण्डालीकं कृत्वा-विधाय न निह्नुवीत-न कृतमेवेति नापलपेत्, कदाचिदपि, यदा परैरुपलक्षितो यदा वा नोपलक्षितस्तदाऽपीत्यर्थः, किं तर्हि कुर्यादित्याह-कृतम्-विहितं चाण्डालीकादि कृतमिति—इति कृतमेव,न भयलज्जादिभिरकृतमपि भाषेत-ब्रूयात्,अकृतम्-तदेवाविहितं नोकृतमिति-अकृतमेव भाषेत, न तु मायोपरोधादिना कृतमपि, अन्यथा मृषावादादिदोषसम्भवात्, उपलक्षणत्वाच्चास्य बहुनालपनकालाध्ययनादिविपर्ययसम्भवेऽप्येतदेव कृत्यम् । इदं चात्राकूतं—कथञ्चिदतिचारसम्भवे लज्जाद्यकुर्वन् स्वयं गुरुसमीपमागत्य-'जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणति । तं तह आलोएज्जा, मायाभयविप्पमुक्को उ ॥ १ ॥" इत्याद्यागमसमनुस्मरन् कथञ्चित् परैः प्रतीतमप्रतीतं वा मनःशल्यं यथावदालोचयेत्, ततश्चानेनान्तरतपोऽन्तरगताऽऽलोचनाख्यप्रायश्चित्तभेदाभिधानम्, अनेन च शेषतपोभेदानामप्युपलक्षितत्वात् तपोविनयमाह इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

इहैवं पुनः पुनरुपदेशश्रवणाद् यदैव गुरोरुपदेशस्तदैव प्रवर्तितव्यं निवर्तयितव्यं चेति स्यादाशङ्का, तदपनोदायाह—

मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
कसं व दट्ठुमाइन्नो, पावगं परिवज्जए ॥ १२ ॥

मा-निषेधे, गलिः-अविनीतः, स चासावश्वश्च गल्यश्वः स इव, कशतीति कशस्तम्, उपलक्षणत्वात् कशप्रहारं वचनम् प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयमुपदेशं, प्रस्तावाद् गुरूणाम्, इच्छेत्-अभिलषेत्,पुनः पुनः-वारं बारम्, कोऽभिप्रायः?-यथा गल्यश्वो दुर्विनीततया न पुनः पुनः कशप्रहारं विना प्रवर्तते निवर्तते वा,नैवं भवताऽपि प्रवृत्तिनिवृत्त्योः पुनःपुनर्गुरुवचनमपेक्षणीयं, किन्तु 'कसं व दट्ठुमाइण्णे' त्ति इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् कसं-चर्मयष्टिं दृष्ट्वाऽऽकीर्णो-विनीतः, स चेह प्रस्तावादश्वः स इव, सूचकत्वात् सूत्रस्य, सुशिष्यो गुरोराकारादि दृष्ट्वा, पापमेव पापकं, गम्यमानत्वादनुष्ठानं परिवर्जयेत्-सर्वप्रकारं परिहरेत्, उपलक्षणत्वादितरच्चानुतिष्ठेत्, पठन्ति च-'पावगं पडिवज्जइ' त्ति तत्र च पुनातीति पावकं-शुभमनुष्ठानं प्रतिपद्येत—अङ्गीकुर्यात्, इहापि प्राग्वदितरत् परिहरेत्, किमुक्तं भवति ?-यथाऽऽकीर्णोऽश्वः कशग्रहणादिनाऽऽरोहकाभिप्रायमुपलभ्य कशेनाताडित एव तदभिप्रायानुरूपं प्रवर्तते निवर्तते वा, तथा सुशिष्येणाप्याकारादिभिराचार्याशयमवगम्य-वचनेनाप्रेरित एव प्रवर्तते. मा भूद्-यथाऽऽरोहकस्येव गुरोरायास इति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्र च निर्युक्तिकृत् गल्याकीर्णौ व्याचिख्यासुः ' तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्या ' इति तत्पर्यायानाह—

गंडी गली मराली, अस्से गोणे य हुंति एगट्ठा ।
आइन्ने य विणीए, य भद्दए वावि एगट्ठा ॥ ६४ ॥

गच्छति प्रेरितः प्रतिपथादिना डीयते च कूर्दमानो विहायोगमनेनेति गण्डिः, गिलत्येव केवलं न तु वहति गच्छति वेति गलिः, म्रियत इव शकटादौ योजितो राति च ददाति लत्तादि लीयते च भुवि पतनेनेति मरालिः- अमी च अश्वे तुरगे गोणे च बलिवर्दे भवन्ति एकार्थाः-एकोऽर्थो-दुष्टतालक्षणः अनन्तरोक्तनीत्या प्रवृत्तिनिमित्तभेदेऽप्यमीषामिति कृत्वा । आकीर्यते-व्याप्यते विनयादिभिर्गुणैरिति आकीर्णः चः-पूरणे, विशेषेण नीतः-प्रापितः प्रेरकचित्तानुवर्तनादिभिः श्लाघादीति विनीतः, भाति-शोभते स्वगुणैर्ददाति च प्रेरयितुश्चित्तनिर्वृत्तिमिति भद्रः; स एव भद्रकः, चशब्दः इहाप्यश्वे गोणे चेति विषयानुवृत्त्यर्थः, अपिशब्द इह पूर्वत्र चानुक्तपर्यायान्तरसमुच्चयार्थः, एकार्था इति प्राग्वदिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥

न चैवं गल्याकीर्णतुल्यशिष्ययोर्गुरोरायासजननाजनने एव गुणदोषौ, किन्तु-गलिसदृशस्यानाश्रवत्वादेराकीर्णतुल्यस्य चित्तानुगतत्वादेः सम्भव इति तद्वशतः कोपनप्रसादने अपि । अत एवाह—

अणासवा थूलवया कुसीला, मिउं पि चंडं पकरंति सीसा ।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया, पसायए ते हु दुरासयं पि ॥ १३ ॥

'अणासव ' त्ति आ-समन्तात् शृण्वन्ति-गुरुवचनमाकर्णयन्तीत्याश्रवाः न तथा प्रतिभाषाविषयस्य तस्याश्रवणादनाश्रवाः, पठ्यते च—'अणासुण ' त्ति अस्यार्थः स एव स्थूलम्-अनिपुणं यतस्वतो भाषितया वचो येषां ते स्थूलवचसः 'कुशीला' इति दुःशीलाः, मृदुमपि—अकोपनमपि कोमलालापिनमपि वा चण्डं-कोपनं परुषभाषिणं वा प्रकुर्वन्ति-प्रकर्षेण विदधति शिष्याः—विनेयाः, सम्भवति ह्येवंविधशिष्यानुशासनाय पुनः पुनर्वचनात्मकं खेदमनुभवतो मृदोरपि गुरोः कोप इति । इत्थं गलितुल्यस्य दोषमभिधायेतरस्य गुणमाह-चित्तं-हृदयं प्रक्रमात् प्रेरकस्यानुगच्छन्ति कसपातानपेक्ष्य जात्याश्ववदनुवर्त्तयन्तीति चित्तानुगाः लघु-शीघ्रमेव दक्षस्य भावो दाक्ष्यम्-अविलम्बितकारित्वं तेन ' उववेय ' त्ति उपपेता युक्ता दाक्ष्योपपेताः प्रसादयेयुः सम्प्रसादे कुर्युः ' ते ' इति शिष्याः, 'हुः' पुनरर्थः, दुःखेनाऽऽश्रयन्ति तमतिकोपनत्वादिभिरिति दुराश्रयस्तमपि, प्रक्रमाद् गुरुं, किं पुनरनुत्कटकषायमित्यपिशब्दार्थः। अत्रोदाहरणं चण्डरुद्राचार्यशिष्याः, तत्र च सम्प्रदायः—"अवन्तीजणवए उज्जेणीणयरीए एहवणुज्जाणे साहुणो समोसरिया, तेसिं सगासं एगो जुवा उदत्तवेसो वयंससहिओ उवागतो, सो ते वंदिऊण भणति—भयवं ! अम्हे संसाराउ उत्तारेह पव्वयामि त्ति, एस एमेव पवंचेति त्ति काऊण ' घृष्यतां कलिना कलिरि ' ति चंडरुद्दं आयरियं उवदिसन्ति, एस ते नित्थारेहि त्ति । सोऽवि य सभावेण फरुसो, तओ सो वंदिऊण भणइ-भगवं ! पव्वावेह (हि) ममं ति, तेण भणितो—छारं आणेह त्ति, आणीए लोयं काऊण पव्वाविओ वयंसगा से अधिइं काऊण पडिगया । तेऽवि उवस्सयं नियगं गया, विलंबिए सूरे पंथं पडिलेहेइ, परं पच्चूसे वच्चामि त्ति विसज्जिओ । पडिलेहिउमागओ । पच्चूसे निग्गया पुरतो वच्चति त्ति भणितो । वच्चंता पंथातो फिडितो चंडरुद्दो खाणुए पक्खलितो । रुसिएण हा दुट्ठ सेह त्ति दंडएण मत्थए आहतो, सिरं फोडितं । तहावि सम्मं सहइ विमले पहाए चंडरुद्देण रुहिरोग्गलंतमुद्धाणो दिट्ठो । हा ! दुट्ठु कयं ति संवेगमावण्णेण खामिओ । " एवं गुरुप्रसादात् चण्डरुद्राचार्यशिष्यस्येव सकलसमीहितावाप्तिरिति मत्वा मनोवाक्कायैर्गुरुचित्तानुवृत्तिपरैर्भाव्यमिति । अनेनानन्तरेण च सूत्रेण प्रतिरूपयोगयोजनात्मक औपचारिको विनय उक्त इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

कथं पुनर्गुरुचित्तमनुगमनीयमित्याह-

णाऽपुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नाऽलियं वए ।
कोहं असच्चं कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं ॥ १४ ॥

नापृष्टः-कथमिदम् ? इत्याद्यजल्पितः, गुरुणेति गम्यते, व्यागृणीयात्—वदेत्, तथाविधं कारणं विना, किञ्चित्-स्तोकमपि, पृष्टो वा न अलीकम्—अनृतं वदेत् कारणान्तरेण च गुरुभिरतिनिर्भर्त्सितोऽपि न तावत् क्रुध्येत् कथंचिदुत्पन्नं वा क्रोधम् असत्यं--तदोत्पन्नकुविकल्पविफलीकरणेन कुर्वीत—विदध्यात्, कथम् ?—धारयेत्-स्थापयेत्, मनसीति शेषः, ' पियमप्पियं ' ति इवाप्योर्गम्यमानत्वात् प्रियमिवेष्टमिव सदा गुणकारणतया अप्रियमपि कर्णकटुकतया तदाऽनिष्टमपि, गुरुवचनमिति गम्यते, अत्र श्लोकपूर्वार्धेन वाचा यथा गुरुरनुवर्त्तनीयः तथोक्तमुत्तरार्धेन तु मनसेति । अथवा-नापृष्ट इति--न गुरुणैव किन्तु येन केनचिदपीत्यादि क्रमेण पादत्रयं सामान्येन प्राग्वन्नेयं, नवरं क्रोधम् उपलक्षणत्वान्मानादिकषायं चोत्पन्नमसत्यं कुर्वीत । क्रोधासत्यतायामुदाहरणं संप्रदायः-" कस्स वि कुलपुत्तयस्स भाया वेरिएण वावाइओ । तओ सो जणणीए भण्णइ—पुत्त ! पुत्तघायगं घायसु त्ति, तओ सो तेण जीवग्गहो गिण्हिऊण जणणीसमीवमुवणीओ । भणिओ अणेण--भायघायय ? कहिं ते आहणामि त्ति, तेण भणिओ-जहिं सरणागया आहम्मंति, तेण जणणी अवलोकिया, ताए भण्णइ-ण पुत्त ! सरणागया आहम्मंति । तेण भण्णइ--कहं रोसं सफलं करेमि त्ति । तेण भण्णइ--ण पुत्त ! सव्वत्थ रोसो सफलो कज्जइ । पच्छा सो तेण विसज्जिओ । " एवं क्रोधमसत्यं कुर्वीत, मानादिविफलीकरणे उदाहरणान्यागमादवधारणीयानि, इत्थमुदितानां क्रोधादीनां विफलीकरणमुपदिष्टम् । सम्प्रति यथैषामुदय एव न स्यात् तथोपदेष्टुमाह— धारयेत्—स्वरूपेणावधारयेत्, न तद्वशतो रागं द्वेषं वा कुर्यात्, प्रियं—प्रीत्युत्पादकं शेषजनापेक्षया स्तुत्यादि, अप्रियं तद्विपरीतं निन्दादि, तत्रोदाहरणं संप्रदायः—" असिवोवद्दुए णयरे तिन्नि भूयवाइया रायाणमुवगया, भणंति-अम्हे असिवं उवसमेमो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्ति, राइणा भणियं—सुमिणो केणोवाएणं ति । तत्थेगो भणइ—अत्थिमहेगं भूयं, तं सुरूवं विउव्विऊण गोपुररत्थाइसु पडियडइ, तं न णिहालेयव्वं, तं णिहालियं रूसइ । जो पुण तं निहालेति सो विणस्सइ, जो पुण पिच्छिऊण अहोमुहो ठाइ सो रोगाओ मुच्चइ । राया भणति-अलाहि एएण अइरोसणेणं ति । बिइओ भणति—महच्चयं भूयं महति महालयं रूवं विउव्वति, लंबोयरं विवियकुच्छि पंचसिरं एगपादं विसिहं विस्सरूवं अट्टट्टहासं मुयंतं गायंतं पणच्चंतं, तं विकितरूपं दट्ठूणं जो पहसति पवंचेति वा तस्स सत्तहा सिरं फुट्टइ, जो पुण तं सुहाहिं वायाहिं अभिणंदति धूवपुप्फाईहिं पूएइ सो सव्वहाऽऽमयातो मुच्चइ । राया भणइ—अलमेएणं पि । ततितो भणइ—मम वि एवंविहमेव णातिविसेसकरं भूयमत्थि, पियप्पियकारिणं दरिसणादेव रोगेहिंतो मोचयति, एवं होउ त्ति-तेण तहा कए असिवं उवसंतं । एवं साधू वि आसारूपत्ते सति सद्दादिपडिकूलत्ते च परेहिं परिभूयमाणो पवंचिज्जमाणो हसिज्जमाणो वा तथा थुव्वमाणे वा पूइज्जमाणो वा तं पियापियं सहेत " । अनेन च मनोगुप्त्यभिधानाच्चारित्रविनय उक्त इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

आह—क्रोधासत्याकरणादिभिरात्मदमनोपाय उक्तः, तत्र च बाह्येष्वपि दमनीयेषु सत्सु किमिति तस्यैव दमनोपाय उद्दिश्येत ?, किं वा तद्दमने फलमिति, अत्रोच्यते—

अप्पामेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पादंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥ १५ ॥

अतति—सततं गच्छति शुद्धिसंक्लेशात्मकपरिणामान्तराणीत्यात्मा तमेव दमयेत्—इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन मनोऽज्ञेतरविषयेषु रागद्वेषवशतो दुष्टगजमिवोन्मार्गगामिनं स्वयं विवेकाङ्कुशेनोपशमनं नयेत्, पठन्ति च—' अप्पा चेव दमेयव्वो ' त्ति स्पष्टम्, किमेवमुपदिश्यत इति आह—आत्मैव, हुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् ' खलु ' इति यस्मात् दुर्दमः—दुर्जयः, ततस्तद्दमने दमिता एव बाह्यदमनीया इति, न तद्दमनमुपदिश्यत इति भावः, उक्तं हि—" सव्वमप्पे जिए जियं " कः पुनरेवंगुण इत्याह—आत्मा दान्त—उपशममानीतः, सुखमस्यास्तीति सुखी, भवति, क ?—अस्मिन्—इत्यनुभूयमानायुषि विनेयाध्यक्षे लोके—भवे परत्र च इत्यागामिनि भवान्तरे, दान्ताऽऽत्मानो हि परमर्षय इहैव सुरैरपि पूज्यन्ते, अदान्ताऽऽत्मानस्तु चौरपारदारिकादयो विनश्यन्ति, तथा—" सद्देण मओ रूवे—ण पयंगो महुयरो य गंधेणं । आहारेण य मच्छो, बज्झइ फरिसेण य गइंदो ॥ १ ॥ " तद्विपर्ययतस्तु—इह परत्र च नन्दन्ति, तत्र चोदाहरणम्—" दो भायरो चोरा, तेसिं उवस्सए साहुणो वासावासं उवागया, तेहिं वासरत्तपरिसमत्तीए गच्छंतेहिं तेसिं चोराणं अन्नं वयं किंचि अपडिवज्जमाणाणं रत्तिं न भोत्तव्वं ति वयं दिन्नं । अन्नया तेहिं उद्दाएहिं सुवहुयं गोमाहिसं आणीयं, तत्थ अन्ने महिसं मारेउं पइउमारद्धा, अन्ने मज्जस्स गया, मंसइत्ता संपहारेन्ति—अड्ढगे मंसे विसं पक्खिवामो तो मज्जइत्ताणं दाहामो, तओ अम्हं सुवहु गोमाहिसं भागेण आगमिस्सइ, मज्जइत्ता वि एवं चेव सामत्थेहिं ति, एवं तेहिं विसं पक्खित्तं, आइच्चो य अत्थं गतो, ते भायरो न भुत्ता, इयरे परोप्परं विससंजुत्तेण मज्जमंसेण उवभुत्तेण मया, मरिऊण य कुगइं गया, इयरे इह परलोए य सुहभागिणो जाया, एवं ताव जिब्भिंदियदमे, एवं सेसेसु वि इंदिएसु, अप्पादंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य । " इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

किं पुनः परिभावयन्नात्मानं दमयेदित्याह—

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥ १६ ॥

वरं—प्रधानं मे—मया आत्मा—अभिहितरूपस्तदाधाररूपो वा देहः, ' दान्त ' इति दमं ग्राहितः असमञ्जसचेष्टातो व्यावर्तितः, केन हेतुना ?—संयमेन—पञ्चाश्रवविरमणादिना, तपसा च—अनशनादिना, चशब्दो द्वयोरप्यनपेक्षितायां मुक्तिहेतुताविरहात् परस्परसापेक्षतासूचनार्थः, सम्यग्-ज्ञानसमुच्चयार्थो वा-विपर्यये दोषदर्शनायाह—' मा ' प्राग्वत्, ' अहम् ' इत्यात्मनिर्देशः, परैः—आत्मव्यतिरिक्तैः ' दम्मंतो ' त्ति आर्षत्वाद्दमितः, कैः ?—बन्धनैः—वर्धादिविरचितैर्मयूरबन्धादिभिः वधैश्च—लतालकुटादिताडनैः, अत्रोदाहरणम्—" सेयणओ गंधहत्थी अडवीए हत्थिजूहं महल्लं परिवसइ, तत्थ जूहवती जाए जाए गयकलभए विणासेइ, तत्थेगा करिणी आवण्णसत्ता चिंतेइ—जइ कहं चि गयकलभतो जायइ. सोऽपि एतेण विणासिज्जिहि त्ति काउं लंगंति ओसरइ, जूहाहिवेण जूहं छुब्भइ-पुणो ओसरइ, ताहे बितियततियदिवसे जूहेण मिलइ, ताहे एगं रिसिआसमपयं दिट्ठं, सा तत्थ अल्लीणा संवणिया य अणपरिसओ, सा पसूया गयकलहं, सो तेहिं रिसिकुमारेहिं सहिओ पुप्फारामं सिंचइ, सेयणउ त्ति से नामं कयं । वयत्थो जातो, जूहं दट्ठूण जूहपतिं हंतूण जूहं तेण पडिवण्णं । गंतूण य अणेण सो आसमो विणासितो, नो अन्नावि कावि एवं काहिति त्ति । ताहे तेरिसितो रुसिया, पुप्फफलगहियपाणी सेणियस्स रण्णो सयासं उवगया । कहियं चऊणेहिं—परिसो सव्वलक्खणसंपुण्णो गंधहत्थी सेयणतो णाम । सेणिओ हत्थिगहणाय गतो । सो य हत्थी देवयाए परिगहितो, ताहे (ए) ओहिणा आभोइयं—जहा-अवस्सं एसो घेप्पति, ताहे ताए सो भणइ—पुत्त ! वरं ते अप्पा दंतो, ण यऽसि परेहिं दंमंतो बंधणेहिं वहेहि य । सो एवं भणिओ सयमेव रत्तीए गंतूण आलाणखंभं अस्सितो " यथा हि अस्य स्वयन्दमनान्महागुणः तथा मुक्त्यर्थिनोऽपि विशिष्टनिर्जरातः, इतरथा त्वकामनिर्जरातो न तथेति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

गुर्वनुवृत्त्यात्मकं प्रतिरूपविनयमाह—

पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा ।
आवि वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि ॥१७॥

प्रत्यनीकम् इति—प्रतिकूलम्, चः पूरणे, चेष्टितमित्युपस्कारः, भावप्रधानत्वाद्वा निर्देशस्य प्रत्यनीकत्वं केषाम् ?—बुद्धानाम्—अवगतवस्तुतत्त्वानां गुरूणामिति यावत्,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कया ?, वाचा, किं त्वमपि किञ्चिज्जानीषे ?, इत्येवंरूपया विपरीतप्ररूपणायां प्रेरितस्त्वयैवैतदित्थमस्माकं प्ररूपितमित्याद्यात्मिकया वा, अथवा-कर्मणा—संस्तारकातिक्रमणकरचरणसंस्पर्शनादिना आविः—जनसमक्षं प्रकाशदेश इति यावत्, यदिवा-रहस्ये विविक्तोपाश्रयादौ 'न' इति निषेधे एव—अवधारणे, स च 'शत्रोरपि गुणा ग्राह्याः, दोषा वाच्या गुरोरपी' ति कुमतनिराकरणार्थः कुर्यात् इतिविदध्यात् कदाचित्—परुषभाषणादावपीति सूत्रार्थः ॥१७॥

पुनः शुश्रूषणात्मकं तमेवाह—

णं पक्खओ ण पुरओ, णेव किच्चा ण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे ण पडिस्सुणे ॥१८॥

न पक्षतः—दक्षिणादिपक्षमाश्रित्य उपविशेदिति सर्वत्रोपस्कारः तथोपवेशने तत्पङ्क्तिसमविशतः तत्साम्यापादनेनाविनयभावात्, गुरोरपि वक्त्रावलोकने स्कन्धकन्धरादिवाधासम्भवात्, न पुरतः—अग्रतः, तत्र वन्दकजनस्य गुरुवदनानवलोकनादिनाऽप्रीतिभावात्, नैव इति पूर्ववत् कृतिः-वन्दनकं तदर्हन्ति कृत्याः दण्डादित्वाद् यप्रत्ययः' ते चार्थादाचार्यादयस्तेषां पृष्ठतः—पृष्ठदेशमाश्रित्य, द्वयोरपि मुखादर्शने तथाविधरसवत्ताऽभावादिदोषसम्भवात् न युज्यात्-न संघट्टयेद् अत्यासन्नोपवेशादिभिः, ऊरुणा—आत्मीयेन, ऊरुंकृत्य संबन्धिनं, तथा करणेऽत्यन्ताविनयसम्भवात्, उपलक्षणं चैतत् शेषाङ्गस्पर्शपरिहारस्य, शयने-शय्यायां शयित आसीनो वेति शेषः, किमित्याह—न प्रतिशृणुयात्, किमुक्तं भवति ?-कदाचिच्छय्यागतो गुरुणाऽऽकारित उक्तो वा कृत्यं प्रति न तथास्थित एवावज्ञया कुर्मे एवमित्यादिवचनतः प्रतिजानीयात्, किन्तु-गुरुवचनसमनन्तरमेव सम्भ्रान्तचेता विनयविरचितकराञ्जलिः समीपमागत्य पादपतनपुरस्सरमनुगृहीतोऽहमिति मन्यमानो भगवन्निच्छामोऽनुशिष्टिमिति वदेदिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥

पुनस्तमेवाह—

नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिंडं व संजए।
पाए पसारिए वाऽवि, न चिट्ठे गुरुणंतिए ॥ १९ ॥

नैव पर्यस्तिकां-जानुजङ्घोपरिवस्त्रवेष्टनाऽऽत्मिकां कुर्यात्, पक्षपिण्डं वा बाहुद्वयकायपिण्डात्मकं संयतः—साधुः, तथा पादौ प्रसारयेत् वाऽपि नैव, वा-समुच्चयार्थः, अपिः-किं पुनरित इतो विक्षिपेदिति निदर्शनार्थः। अन्यच्च—न तिष्ठेत् नाऽऽसीत, क ?-गुरूणामन्तिके इति, प्रक्रमादतिसन्निधौ, किन्तूचितदेश एव, अन्यथाऽविनयदोषसम्भवात्, अथवा-'पाए पसारिए वावि' त्ति पाठात् पादौ प्रसारितौ वाऽपि, कृत्वेति शेषः, एकारस्यालाक्षणिकत्वात् प्रसार्य वा न तिष्ठेद् गुरूणामन्तिके उचितप्रदेशेऽपीति, उपलक्षणं चैतद्दण्डपादिकाऽवष्टम्भादीनामिति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥

पुनः प्रतिश्रवणविधिमेव सविशेषमाह—

आयरिएहिँ वाहितो, तुसिणीओ ण कयाइ वि।
पसायट्ठी नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया ॥ २० ॥

आचार्यैः उपलक्षणत्वादुपाध्यायादिभिः 'वाहितो' त्ति व्याहृतः-शब्दितः 'तुसिणीओ' त्ति तूष्णीकः तूष्णीशीलः न कदाचिदपि ग्लानाद्यवस्थायामपि, भवेदिति गम्यते, किन्तु-'धन्यस्योपरि निपत-त्यहितसमाचरणधर्मनिर्वापी। गुरुवदनमलयनिसृतो, वचनरसश्चन्दनस्पर्शः ॥१॥' इति। प्रसादोऽयं यदन्यसद्भावेऽपि मामादिशन्ति गुरव इति प्रेक्षितुम्-आलोचितुं शीलमस्येति प्रसादप्रेक्षी, पाठान्तरतः प्रसादार्थी, वा गुरुपरितोषाभिलाषी 'णियागट्ठी' ति पूर्ववत्, उपतिष्ठेत मस्तकेनाभिवन्द इत्यादि वदन् सविनयमुपसर्पेत्, गुरुं सदा-सर्वकालमिति सूत्रार्थः ॥ २० ॥

तथा—

आलवंते लवंते वा, ण णिसीज्जा कयाइ वि।
चइत्ता आसणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥ २१ ॥

आङिति ईषल्लपति-वदति लपति वा वारमनेकधा वाऽभिदधति न निषीदेत्—न निषण्णो भवेत्, कदाचिदपि—व्याख्यानादिना व्याकुलतायामपि, किन्तु?-त्यक्त्वा-अपहाय आसनं—पादपुञ्छनादि, धिया राजते धीरः, अक्षोभ्यो वा परीषहादिभिः,'यत' इति यतो यत्नवान्'जत्तं' ति प्राकृतत्वाद्बिन्दुलोपे तस्य च द्वित्वे यद्गुरव आदिशन्ति तत् प्रतिशृणुयात्-अवश्यविधेयतया अभ्युपगच्छेदिति यावत्। यद्वा-यत इति यत्र गुरवः, तत्र गत्वेति गम्यते, यात्रां-संयमयात्रां प्रस्तावाद् गुरूपदिष्टां प्रतिशृणुयादिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥

पुनः प्रतिरूपविनयमेवाऽऽह—

आसणगओ ण पुच्छिज्जा, णेव सिज्जागओ कया।
आगम्मुक्कुडुओ संतो, पुच्छिज्जा पंजलीगडे ॥ २२ ॥

'आसनगतः' इति आसनासीनो न पृच्छेत्, सूत्रादिकमिति गम्यते, नैव शय्यागत, इति संस्तारकस्थितः, तथाविधावस्थां विनेत्युपस्कारः, 'कदाचिदपि' बहुश्रुतत्वेऽपि, किमुक्तं भवति ?—बहुश्रुतेनापि संशये सति 'न'-न प्रष्टव्यम्, पृच्छताऽपि नावज्ञया, सदा गुरुविनयस्यानतिक्रमणीयत्वात्, तथा चाऽऽगमः—"जहाहि अग्गी जलणं न मंसे, णाणाहुई मंतपयाहि सित्तं। एवायरियं (रीं) यं उवचिट्ठइज्जा, अणंतणाणोवगओऽवि संतो ॥ १ ॥" किं तर्हि कुर्यादित्याह-आगम्य-गुर्वन्तिकमेत्य उत्कुटुक इति—मुक्तासनः, कारणतो वा पादपुञ्छनादिगतः सन् शान्तो वा पृच्छेत्—पर्यनुयुञ्जीत, सूत्रादिकमितीहापि गम्यते, प्रकर्षेण अन्तःप्रीत्यात्मकेन कुतो—विहितोऽञ्जलिः उभयकरमीलनात्मकोऽनेनेति प्रकृताञ्जलिः, प्राकृतत्वाच्च कृतशब्दस्य परनिपातः, 'पंजलिउड' त्ति पाठे च प्रकर्षे भावान्विततयाऽञ्जलिपुटमस्येति प्राञ्जलिपुट इति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥

ईदृशस्य शिष्यस्य गुरुणा यत् कृत्यं तदाह—

एवं विणयजुत्तस्स, सुत्तं अत्थं च तदुभयं।
पुच्छमाणस्स सिस्सस्स, वागरिज्ज जहासुयं ॥ २३ ॥

एवम्-इत्युक्तप्रकारेण विनययुक्तस्य-विनयान्वितस्य सूत्रं-कालिकोत्कालिकादि अर्थं च तस्यैवाभिधेयं तदुभयम्-सूत्रार्थोभयं पृच्छतः—झीप्सतः शिष्यस्य-स्वयं दीक्षितस्यो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पसम्पन्नस्य वा व्यागृणीयात्-विविधमभिव्याप्त्याऽभिदध्यात् व्याकुर्याद्वा-प्रकटयेत् यथा येन प्रकारेण श्रुतम्-आकर्णितं, गुरुभ्य इति गम्यते, न तु स्वबुद्ध्यैवोत्प्रेक्षितमित्यभिप्रायः। अनेन च-"आयारे सुयविणए, विक्खिवणे चेव होइ बोद्धव्वे। दोसस्स य निग्घाए,विणए चउहेस पडिवत्ती ॥ १ ॥" इत्यागमाभिहितचतुर्विधाचार्यविनयान्तर्गतस्य,

"सुत्तं अत्थं च तहा, हियकरणिस्सेसयं च वाएइ।
एसो चउव्विहो खलु, सुयविणओ होइ णायव्वो ॥ १ ॥
सुत्तं गाहेति उज्जुत्तो, अत्थं च सुणावए पयत्तेणं।
जं जस्स होइ जोगं, परिणामगमाइ तं तु सुयं ॥ २ ॥
निस्सेसमपरिसेसं, जाव समत्तं च ताव वाएइ।
एसो सुयविणओ खलु, निद्दिट्ठो पुव्वसूरीहिं" ॥ ३ ॥

इत्याद्यागमाभिहितस्य श्रुतविनयस्य साक्षादभिधानम्,यच्च विनयं प्रादुष्करिष्यामीति प्रतिज्ञाय 'अब्भुट्ठाणं अंजलि'तथा 'दंसणणाणचरित्ते' इत्यादिना ग्रन्थेनैव न तस्य शुद्धस्वरूपाभिधानं, किं तु-'णिसंते सिया अमुहरी' इत्यादि लिङ्न्तादिपदैरुपदेशरूपतया, तदपि प्रसङ्गत एव यथायोगमाचार्यविनयोपदर्शनपरमिति भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥ उत्त० पाइ० १ अ०। (पुनः शिष्यस्य वाग्विनयः 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे १५४५ पृष्ठे गतः।)

इत्थं स्वगतदोषपरिहारमभिधायोपाधिकृतदोषपरिहारमाह-

समरेसु अगारेसुं, गिहसंधिसु अ महापहेसु।
एगो एगित्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥ २६ ॥

समरेषु-खरकुटीषु, तथा च चूर्णिकृत्-समरं नाम-जत्थ हेट्ठा लोहयारा कम्मं करेंति' उपलक्षणत्वादस्यान्येष्वपि नीचास्पदेषु अगारेषु-गृहेषु गृहसन्धिषु च-गृहद्वयान्तरालेषु च महापथेषु-राजमार्गादौ, किमित्याह-एकः-असहायः एका-असहाया सा चासौ स्त्री च एकस्त्री तया सार्द्धं-सह नैव तिष्ठेत्-असंलपन्नेव चोर्द्धस्थानस्थो न भवेत्, न संलपेत्-न तयैव सह संभाषं कुर्यात्, अत्यन्तदुष्टतोद्भावनपरं चैकग्रहणम्, अन्यथा ससहायस्यापि ससहायया अपि च स्त्रिया सहावस्थानं सम्भाषणं चैवंविधास्पदेषु दोषायैव, प्रवचनमालिन्यादिदोषसम्भवात्, अथवा-सममरिभिर्वर्त्तन्त इति समरा द्रव्यतो जनसंहारकारिणः संग्रामाः, भावतु स्त्रीणामरिभूतत्वात् ज्ञानादिजीवस्वतत्त्वघातिनः, तासामेव दृग्द्रष्टया दृष्टिसम्बन्धाः, तत्रेह भावसमरैरधिकारः, सप्तमी चेयम्, ततोऽयं भावार्थः-द्रव्यसमरा हि न स्युरपि प्राणापहारिणः, भावसमरास्तु ज्ञानादिभावप्राणापहारिण एव, विशेषतस्त्वेकाकितायाम्, तत एवमेतेष्वपि दारुणेषु भावसमरेषु सत्सु नैक एकस्त्रिया सार्द्धमगारादिषु तिष्ठेत् संलपेद्वा, अनेनापि चारित्रविनय एवोक्तः। उपदेशाधिकाराच्च न पौनरुक्त्यम्, एवमन्यत्रापि भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥

कदाचित्स्खलिते च गुरुभिः शिक्षितो यत्कुर्यात् तदेवाह-

जं मे बुद्धाऽणुसासंति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभु त्ति पेहाए,पयओ य (तं) पडिस्सुणे ॥ २७ ॥

यन्मां बुद्धा अनुशासन्ति-शिक्षां ग्राहयन्ति शीतेन-सोपचारवचसा, 'शीलेन वे' ति पाठः, तत्र शीलं-महाव्रतादि उपचारात्तज्जनकं वचोऽपि शीलं तेन, यद्वा-शील-समाधौ, ततः शीलेन-समाधानकारिणा-भद्र! भवादृशामिदमनुचितमित्यादिना, परुषेण-कर्कशेन, उभयत्र वचसेति गम्यते, तत् प्रतिशृणुयात्-विधेयतया अङ्गीकुर्यादित्युत्तरेण सम्बन्धः, किमभिसन्धायेत्याह-मम लाभः-अप्राप्तार्थप्राप्तिरूपः, यन्मामनाचारकारिणममी शासन्तीति 'पेहाए' त्ति एकारस्यालाक्षणिकत्वात् प्रेक्ष्य-आलोच्य प्रेक्षया वा एवंविधबुद्ध्या 'पयतो' त्ति प्रयतः-प्रयत्नवान् पदतो वा-तथाविधानुस्मर्यमाणसूत्रालापकादिति सूत्रार्थः ॥२७॥

किमिह परत्र चात्यन्तोपकारि गुरुवचनमपि कस्यचिदन्यथा सम्भवति ?, येनैवमुपदिश्यते इत्याह-

अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य पेरणं।
हियं तं मन्नए पन्नो, वेस्सं भवइ ऽसाहुणो ॥ २८ ॥

अनुशासनम्-उक्तरूपम् 'ओवायं' ति उपाये-मृदुपरुषभाषणादौ भवमौपायम्, यद्वा-'ओवायं' ति सूत्रत्वात् उपपतनमुपपातः-समीपभवनं तत्र भवमौपपातं गुरुसंस्तारास्तरणविश्रामणादिकृत्यं दुष्कृतस्य च-कुत्सिताचरितस्य प्रेरणं-हा! किमिदमित्थमाचरितमित्याद्यात्मकं गुरुविहितमिति गम्यते, हितम्-इह परलोकोपकारि, तदित्यनुशासनादि मन्यते प्राज्ञः-प्रज्ञावान् द्वेष्यम्-द्वेषोत्पादकं भवति-जायते, कस्य ?-असाधोः-अपगतभावसाधुत्वस्य, तदनेनासाधोर्गुरुवचनस्याप्यन्यथात्वसम्भव उक्त इति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥

अमुमेवार्थं व्यक्तीकर्त्तुमाह-

हियं विगयभया बुद्धा, फरुसमप्पणुसासणं।
वेस्सं तं होइ मूढाणं, खंति सुद्धिकरं पयं ॥ २९ ॥

हितम्-पथ्यं विगतभयाः-सप्तभयरहिताः बुद्धाः-अवगततत्त्वाः, मन्यन्त इति शेषः, परुषमपि-कर्कशमपि, अनुशासनं शिष्याणां गुरुविहितमिति प्रक्रमः, द्वेष्यम्-द्वेषोत्पादि तद् इति-अनुशासनं भवति मूढानाम्-अज्ञानानां क्षान्तिः-क्षमा शुद्धिः-आशयविशुद्धता तत्करणम्, यद्वा-क्षान्तेः शुद्धिः-निर्मलता क्षान्तिशुद्धिस्तत्करणम्, अमूढानां विशेषतः क्षान्तिहेतुत्वाद् गुर्वनुशासनस्य, मार्दवादिशुद्धिकरत्वोपलक्षणं चैतद्, अत एव पद्यते-गम्यते गुणैर्ज्ञानादिभिरिति पदं ज्ञानादिगुणस्थानमित्यर्थः, अथवा-परुषमपीति अपिशब्दो भिन्नक्रमः ततश्च हितमप्यायत्यां विगतभयाद् बुद्धाद्-आचार्यादेः उत्पन्नमिति शेषः, परुषं यच्छुल्यसुखदमनुशासनम्, तत्किमित्याह-द्वेष्यं तद्भवति मूढानां, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥

पुनर्विनयमेवाह-

आसणे उवचिट्ठिज्जा, अणुच्चेऽकुक्कुए थिरे।
अप्पुत्थाई निरुत्थाई, निसीज्जा अप्पकुक्कुई ॥ ३० ॥

आसनम्-पीठादि वर्षासु ऋतुबद्धे तु पादपुञ्छनं तत्र पीठादौ उपतिष्ठेत्-उपविशेत्, अनुच्चे-द्रव्यतो नीचे भावतस्त्वल्पमूल्यादौ, गुर्वासनात् इति गम्यते; अकुक्कुचे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्पन्दमाने, न तु तिनिशफलकवत् किञ्चिच्चलति, तस्य शृङ्गाराङ्गत्वात्, स्थिरे-समपादप्रतिष्ठिततया निश्चले, अन्यथा सत्त्वविराधनासम्भवात्, ईदृश्यप्यासने अल्पमुत्थातुं शीलमस्येति अल्पोत्थायी, प्रयोजनेऽपि न पुनः पुनरुत्थानशीलः, निरुत्थायी-न निमित्तं विनोत्थानशीलः, उभयत्रान्यथाऽनवस्थितत्वसम्भवात्, एवंविधश्च किमित्याह—निषीदेत्-आसीत् 'अप्पकुक्कुइ' त्ति अल्पस्पन्दनः, करादिभिरल्पमेव चलन्, यद्वा—अल्पशब्दोऽभावाभिधायी, ततश्चाल्पम्—असत्, 'कुक्कुयं' ति कौत्कुचं—करचरणभ्रूभ्रमणाद्यसच्चेष्टात्मकमस्येत्यल्पकौत्कुचः, अनेनाप्यौपचारिकविनयः प्रकारान्तरेणोक्त इति सूत्रार्थः ॥ ३० ॥

सम्प्रति चरणकरणविनयात्मिकामेषणासमितिमाह—

कालेण णिक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥३१॥

'कालेण' त्ति सप्तम्यर्थे तृतीया, काले—प्रस्तावे निष्क्रामेत्-गच्छेत् भिक्षुः, अकालनिर्गमे आत्मक्लामनादिदोषसम्भवात्, तथा कालेन च प्रतिक्रामेत्—प्रातनिवर्त्तेत भिक्षाटनादिति शेषः, इदमुक्तं भवति-अलाभेऽपि-'अलाभो त्ति न सोइज्जा, तवो त्ति अहियासए' इति समयमनुस्मरन्, अल्पं मया लब्धं न लब्धं वेति, लाभार्थी नाटन्नेव तिष्ठेत्, किमित्येवमत आह-अकालं-तत्तत्क्रियाया असमयं चेति, यस्माद्विर्ययकाले प्रस्तावे प्रत्युप्रेक्षणादिसम्बन्धिनि 'कालामति' तत्तत्कालोचितं क्रियाकाण्डं समाचरेत्-कुर्यात्, अन्यथा कृषीवलकृषीक्रियाया इवाभिमतफलोपलम्भासम्भव इति गर्भार्थः, अनेन च कालनिष्क्रमणादौ हेतुरुक्तः, प्रसङ्गात् शेषक्रियाविषयतया वा नेयम्, समुच्चयार्थश्च तदा चशब्द इति सूत्रार्थः ॥ ३१ ॥
(निर्गतश्च यत्कुर्यात्तद् 'एसणा' शब्दे तृतीयभागे ६६ पृष्ठे दर्शितम् ।)

यदुक्तं 'यतमान' इति तत्र वाग्यतनामाह-

सुकडं ति सुपक्कं ति सुच्छिन्नं सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥३६॥

सुकृतं—सुष्ठु निर्वर्तितमन्नादि सुपक्वं—घृतपूर्णादि, 'इतिः' उभयत्र प्रदर्शने, सुच्छिन्नं—शाकपत्रादि सुहृतं-शाकपत्रादेस्तिक्तत्वादि घृतादि वा सूपविलेपिकादीनां, तथा 'मडे' त्ति प्रक्रमात् सुष्ठु मृतं घृताद्येव सक्तुसूपादौ, तथा सुष्ठु निष्ठितमित्यतिशयेन निष्ठां-रसप्रकर्षपर्यन्तात्मिकां गतं, 'सुलट्ठि' त्ति सर्वैरपि रसादिभिः प्रकारैः शोभनमिति, इतिः—एवं प्रकारार्थः, एवंप्रकारमन्यदपि सावद्यं प्रक्रमाद्वचो, वर्जयेन्मुनिः । यद्वा-सुष्ठु कृतं यदनेनारातेः प्रतिकृतं, सुष्ठु पक्वं मांसाशनादि, सुच्छिन्नोऽयं न्यग्रोधपादपादिः, सुहृतं कदर्यादर्थजातं, सुहतो वा चौरादिः सुमृतोऽयं प्रत्यनीकधिग्वर्णादिः सुनिष्ठितोऽयं प्रासादकूपादिः, 'सुलट्ठि' त्ति शोभनोऽयं करितुरगादिरिति सामान्येनैव सावद्यं वचो वर्जयेन्मुनिः । निरवद्यं तु सुकृतमनेन धर्मध्यानादि, सुपक्वमस्य पचनविज्ञानादि, सुच्छिन्नं स्नेहनिगडादि, सुहृतमुपकरणमशिवोपशान्तये, सुहतं वा कर्मानीकादि, सुमृतमस्य पण्डितमरणमतुः, तथा सुनिष्ठितोऽसौ साध्वाचारविषये, 'सुलट्ठि' त्ति शोभनमस्य तपोऽनुष्ठानमित्यादिरूपं, कारणतो वा—" पयत्तपक्क त्ति व पक्कमालवे, पयत्तछिन्न त्ति व छिन्नमालवे । पयत्तलट्ठि त्ति व कम्महेउयं, पहारगाढे त्ति व गाढमालवे ॥१॥" इत्याप्तोपदेशात् प्रयत्नकृतपक्वादिरूपं वदेदपीति । अस्मिश्च पक्षे प्रतिरूपयोगयोजनात्मको वाचिकविनय उक्त इति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥

विनय एवादरख्यापनाय सुविनीतेतरोपदेशदानतो यद्गुरोर्भवति तदुपदेशयितुमाह-

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए ।
वालं सम्मइ सासंतो, गलिअस्समिव वाहए ॥ ३७ ॥

रमते—अभिरतिमान् भवति पण्डितान्—विनीतविनेयान्, 'सासत्' इत्याज्ञापयन् कथञ्चित् प्रमादस्खलिते शिक्षयित्वा, गुरुरिति शेषः, कमिव कः ? इत्याह-हयमिव—अश्वमिव, कीदृशम् ?-भाति भन्दते वा भद्रस्तं-कल्याणावहं 'वाहकः' अश्वन्दमः, वालम्—अज्ञं श्राम्यति-खिद्यते शासत्, स हि सकृदुक्त एव न कृत्येषु प्रवर्तते, तत इदं कुरु इदं च मा कार्षीरित्यादि पुनः पुनस्तमाज्ञापयन् शिक्षयित्वा, कमिव कः?इत्याह-गलिम्-उक्तरूपमश्वमिव वाहक इति सूत्रार्थः।३७।

गुरोः श्रमहेतुत्वमुद्भावयन् वालस्याभिसन्धिमाह-

खड्डुयाहिं चवेडाहिं, अक्कोसेहि वहेहि य ।
कल्लाणमणुसासंतं, पावदिट्ठि त्ति मन्नइ ॥ ३८ ॥

खड्डुकाभिः-टक्कराभिः चपेटाभिः—करतलाघातैः आक्रोशैः- असत्यभाषणैः वधैश्च-दण्डकादिघातैः, चशब्दादन्यैश्चैवं प्रकारैर्दुःखहेतुभिरनुशासनप्रकारैस्तमाचार्यं कल्याणम्-इहपरलोकहितम् अनुशासन्तं-शिक्षयन्तं, पापा दृष्टिः-बुद्धिरस्येति पापदृष्टिः, अयमाचार्य इति मन्यते, यथा-पापोऽयं मां हन्ति निर्घृणत्वात्, चारकपालकवत् पठन्ति च-'खड्डुयामे' इत्यादि, अत्र व्यवच्छेदफलत्वाद् वाक्यस्य खड्डुकादय एव मम नापरं किञ्चित् समीहितमस्तीत्यभिसन्धिना कल्याणमनुशासन (त) माचार्यं पापदृष्टिं मन्यते, यद्वा-वाग्भिरप्यनुशास्यमानोऽसौ खड्डुकादिरूपा वाचो मन्यत इति सूत्रार्थः॥३८॥

गुरोरतिहितत्वं प्रचिकाशयिषुर्विनीताभिसन्धिमाह-

पुत्तो मे भायनाइ त्ति, साहू कल्लाण मन्नइ ।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं, सासं दासं व मन्नइ ॥ ३९ ॥

पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति, अत्रैवार्थस्य गम्यमानत्वात् पुत्र इवेत्यादि बुद्ध्याऽऽचार्यो मामनुशास्तीति साधुः—सुशिष्यः कल्याणं-कल्याणहेतुमाचार्यमनुशासनं वा मन्यते स हि विवेचयति शिष्यः-सौहार्दादसौ मां शास्ति, दुर्विनीतत्वे हि मम किमस्य परिहीयते ?, ममैव त्वर्थभ्रंश इति । वालोऽप्येवं किं न मन्यत इत्याह-पापदृष्टिस्तु—कुशिष्यः पुनरात्मानं 'सासं' ति प्राकृतत्वाद्धितानुशासनेनापि शास्यमानं दासमिव मन्यते, यथा असौ दासवन्मामाज्ञापयति, ततोऽस्य शास्तरि पापदृष्टिताऽभिसन्धिरेव सम्भवतीति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विनयसर्वस्वमुपदेष्टुमाह—

ण कोवए आयरियं, अप्पाणं पि ण कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥ ४० ॥

न कोपयेत्—न कोपोपेतं कुर्यात्, आचार्यम्, उपलक्षणत्वादपरमपि विनयार्हम्, 'आत्मानमपि' गुरुभिरतिपरुषभाषणादिनाऽनुशिष्यमाणं न कोपयेत्, कथञ्चित् सकोपतायामपि बुद्धोपघाती आचार्योपघातकृत् न स्यात्—न भवेत्, तथा न स्यात् तुद्यते-व्यथ्यतेऽनेनेति तोत्रंद्रव्यतः प्राजनको भावतस्तु तद्दोषोद्भावकतया व्यथोपजनकं वचनमेव, तद् गवेषयति किमहममीषां जात्यादिदूषकं वच्मि ? इत्यन्वेषयतीति तोत्रगवेषकः,प्रक्रमाद्-गुरूणां,न स्यादिति चादरख्यापनार्थत्वान्न पुनरुक्तम्, यदुक्तं बुद्धोपघाती न स्यात्तत्रोदाहरणम्-कश्चिदाचार्यादिगणिगुणसम्पत्समन्वितो युगप्रधानः प्रक्षीणप्रायकर्माऽऽचार्योऽनियतविहारितया विहर्तुमिच्छन्नपि परिक्षीणजङ्घाबलः क्वचिदेकस्थान एवावतस्थे। तत्रत्यश्रावकजनेन चैतेषु भगवत्सु सत्सु तीर्थं सनाथमिति विचिन्तयता तद्वयोऽवस्थासमुचितस्निग्धमधुराहारादिभिः प्रतिदिवसमुपचर्यते स्म, तच्छिष्याश्च गुरुकर्मतया कदाचिदचिन्तयन्, यथा-कियच्चिरमयमजङ्गमोऽस्माभिरनुपालनीयः, ततस्तमनशनमादापयितुमिच्छवोऽतिभक्तश्रावकजनानुदिनदीयमानमुचितमशनादि तस्मै न समर्पयामासुः, अन्तप्रान्तादि च समुपनीय सविषादमिव तत्पुरत उक्तवन्तः-किमिह कुर्मः ?, यदीदृशामपि भवतामुचितमशनादि नामी विवेकविकलतया सदपि सम्पादयितुमीशत, श्राद्धानभिदधति च, यथा-अत्यन्तनिःस्पृहतया शरीरस्यापनामपि प्रत्यनपेक्षिणः प्रणीतं भक्तपानमाचार्या नेच्छन्ति, किन्तु-संलेखनामेव विधातुमध्यवस्यन्तीति। ततस्ते तद्वचनमाकर्ण्य मन्युभरनिभृतचेतसस्तमुपसृत्य सगद्गदं जगदुः-भगवन् ! भुवनभवभावस्वभावावभासिष्वर्हत्सु चिरतरातीतेष्वपि प्रतपत्सु भवत्सु भुवनमवभासवदिवाभाति, तत्किमयमत्र भवद्भिरकाल एव संलेखनाविधिरारब्धः ?, न च वयममीषां निर्विद्दहतव इति मन्तव्यम्, यतः-शिरःस्थिता अपि भवन्तो न भारमस्माकममीषां वा शिष्याणां कदाचिदादधति, ततस्तैरिङ्गितज्ञैरवगतं-यथाऽस्मच्छिष्यमतिविजृम्भितमेतत्, किममीषामप्रीतिहेतुना प्राणधारणेन ? न खलु धर्मार्थिनां कदाचिदप्रीतिरुत्पादयितुमुचितेति चेतसि विचिन्त्य मुकुलितमेव तत्पुरत उक्तम्—कियच्चिरमजङ्गमैरस्माभिरुपरोधनीयास्तपस्विनो भवन्तश्च, तद्वरमुत्तमाचरितमुत्तमार्थमेव च प्रतिपद्यामहे इति तानसौ संस्थाप्य भक्तमेव प्रत्याचचक्षे। इत्येवं बुद्धोपघाती न स्यादिति सूत्रार्थः ॥४०॥

एवं तावदाचार्यं न कोपयेदित्युक्तं, कथञ्चित् कुपिते वा यत् कृत्यं तदाह-

आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए।
विज्झविज्जा पंजलिउडे, वएज्जा न पुणो त्ति य ॥४१॥

आचार्यम्—उक्तस्वरूपम्, उपलक्षणत्वादुपाध्यायादिकमपि कुपितम्—इति सकोपमनुशासनोदासीनताभिः, 'पुरिसजाए वि तहा, विणीयविणयम्मि णऽत्थि अभिओगो। सेसम्मि उ अभिओगो, जणवयजाए जहा आसे ॥ १ ॥' इत्यागमात्, कृतबहिष्कोपं वा दुष्टप्रदानादिना ज्ञात्वा-अवगम्य 'पत्तिएणं' ति आर्षत्वात् प्रतीतिः प्रयोजनमस्येति प्रातीतिकं—शपथादि, अपिशब्दस्य चेह लुप्तनिर्दिष्टत्वात् तेनापि प्रसादयेत्। इदमुक्तं भवति—गुरुकोपहेतुकमबोध्याशातनामुक्त्यभावादिकं विगणयन् यया तया गत्या तत्प्रसादनमेवोत्पादयेत्, सर्वमपि वा प्रतीत्युत्पादकं वचः प्रातीतिकं तेन प्रसादयेत्, यद्वा--'पत्तिएणं' ति प्रीत्या साम्नैव, न भेददण्डाद्युपदर्शनेन, एतदेवाह-विध्यापयेत्--कथञ्चिदुदीरितकोपानलानप्युपशमयेत्, प्रकर्षेण--अन्तःप्रीत्यात्मकेन कृतो—विहितोऽञ्जलिः उभयकरमीलनात्मकोऽनेनेति प्रकृताञ्जलिः, प्राकृतत्वाच्च कृतशब्दस्य परनिपातः, प्रकृष्टं वा—भावान्विततयाऽञ्जलिपुटमस्येति प्राञ्जलिपुटः। इत्थं कायिकं मानसं च विध्यापनोपायमभिधाय वाचकं वक्तुमाह—वदेत्-ब्रूयात् न पुनरिति, चशब्दो भिन्नक्रमः, वदेदित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, ततोऽयमर्थः—कथञ्चित् कृतकोपानपि गुरून् विध्यापयन् वदेत् यथा—भगवन् ! प्रमादाचरितमिदं मम क्षमितव्यम्, न पुनरित्थमाचरिष्यामीति सूत्रार्थः ॥ ४१ ॥

साम्प्रतं यथा निरपवादतयाऽऽचार्यकोप एव न स्यात्, तथाऽऽह-

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धे हाऽऽयरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छइ ॥ ४२ ॥

धर्मेण--क्षान्त्यादिरूपेणार्जितम्—उपार्जितं धर्मार्जितं, न हि क्षान्त्यादिधर्मविरहित इमं प्राप्नोतीति, चः—पूरणे, विविधं विधिवद्वाऽवहरणमनेकार्थत्वाद्वाचरणं व्यवहारस्तं यतिकर्तव्यतारूपं, बुद्धैः—अवगततत्त्वैः आचरितं, सदा—सर्वकालम्, 'त' मिति सदावस्थिततया प्रतीतमेव आचरन्—व्यवहरन्, यद्वा-यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् सुब्व्यत्ययाच्च धर्मार्जितो बुद्धैराचरितश्च यो व्यवहारस्तमाचरन् कुर्वन्, विशेषेणापहरति पापकर्मेति व्यवहारस्तं व्यवहारविशेषणमेतत्, एवं च किमित्याह—गर्हाम्—अविनीतोऽयमित्येवंविधां निन्दां नाभिगच्छति--न प्राप्नोति, यतिरिति गम्यते। यद्वा—आचार्यविनयमनेनाह. तत्र धर्मादनपेतो धर्म्यो--न धर्मातिक्रान्तः, 'जियं च ववहारं' ति प्राकृतत्वाच्चास्य भिन्नक्रमत्वाज्जीतव्यवहारश्च, अनेन चागमादिव्यवहारव्यवच्छेदमाह-अत एव बुद्धैः—आचार्यैराचरितः सदा-सर्वकालं त्रिकालविषयत्वात् जीतव्यवहारस्य य एवंविधो व्यवहारस्तं व्यवहारं-प्रमादात् स्खलितादौ प्रायश्चित्तदानरूपमाचरन् गर्हां-दण्डरुचिरयं निर्घृणो वेत्येवंरूपां जुगुप्सां नाभिगच्छति, आचार्यो इति शेषः, न चायं निजक उपकारी वा मम विनेय इति न दण्डनीय इति ज्ञापनार्थं च धर्म्यजीतविशेषणम्। पठन्ति च-' तमायरंतो मेहावि ' त्ति सुगममेवेति सूत्रार्थः ॥ ४२ ॥

किं बहुना ?—

मणोगयं वक्कगयं, जाणित्ताऽऽयरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥ ४३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनसि—चेतसि गतम्—स्थितं मनोगतं तथा वाक्यं वचनरचनात्मनि गतं वाक्यगतं, कृत्यमिति शेषः, वाक्यग्रहणं तु पदस्यापरिसमाप्तार्थाभिधायित्वेन क्वचिदप्रयोजकत्वात्, ज्ञात्वा—अवबुध्य आचार्यस्य—विनयार्हस्य गुरोः, तुशब्दः कायगतकृत्यपरिग्रहार्थः, तत्—मनोगतादि परिगृह्य—अङ्गीकृत्य वाचा वचसः इदमित्थं करोमि इत्यात्मकेन कर्मणा—क्रियया तन्निर्वर्तनात्मिकया तदुपपादयेत्-विदधीत, पठन्ति च' मणोरुइं वक्करुइं, जाणित्ताऽऽयरियस्स उ ' अत्र च—मनसि रुचिः-अभिलाषस्तामाचार्यस्य ज्ञात्वा—इदममीषां भगवतामभिमतमित्यवगम्य, वाक्यं रुचिः-पर्यवसितकार्यवाञ्छा तां च, शेषं प्राग्वत्, अनेन सूक्ष्मो विनय उक्त इति सूत्रार्थः ॥ ४३ ॥

स चैवं विनीतविनयतया यादृक् स्यात्तदाह—

वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोयए ।
जहोवइट्ठं सुकडं, किच्चाइं कुव्वई सया ॥ ४४ ॥

वित्त इति—विनीतविनयतयैव सकलगुणाश्रयतया प्रतीतः प्रसिद्ध इति यावत्, ' अचोइए ' त्ति यथाहि वलवद्विनीतधुर्यः प्रतोदोत्क्षेपमपि न सहते, कुतस्तन्निपतनम् ?, एवमयमप्यचोदित एव प्रतिप्रस्तावं गुरुकृत्येषु प्रवर्तत इति, कुतः प्रेरितत्वमस्य ?, नित्यम्-सदा न कदाचिदेव, स्वयं प्रवर्त्तमानोऽपि प्रेरितोऽनुशयवानपि स्यादिति कदा शङ्कापनोदायाह-क्षिप्रम्—इति शीघ्रं भवति ' सुचोयए ' त्ति शोभने प्रेरयितरि, गुराविति गम्यते, सोपस्कारत्वाच्च क्षिप्रमेव प्रेरके सति कृत्येषु वर्तते, नानुशयतो विलम्बितमेव, पठ्यते च-' वित्ते अचोइए खिप्पं, पसन्ने थामवं करे ' इति, अत्र च—प्रसन्नः—प्रसत्तिमान्, नाहमाज्ञापित इत्यप्रसन्नो भवति, किन्तु ममायमनुग्रह इति मन्यते, क्षिप्रमेव च तत्कुरुते, 'थामवं' ति स्थाम-बलं तद्वान्। किमुक्तं भवति ?-सति बले करोति, असति च सद्भावमेवाऽऽख्याति, यथा ऽहमनेन कारणेन न शक्नोमीति। क्षिप्रमपि कुर्वन् कदाचिद्विपरीतमर्धविहितं वा विदध्यात् तद्व्यवच्छेदायाह-यथोपदिष्टम्—उपदिष्टानतिक्रमेण सुकृतम्—सुष्ठु परिपूर्णं कृतं यथा भवत्येवं कृत्यानि करोति—निर्वर्तयति, सदा सता वा शोभनेन प्रकारेणेति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥

सम्प्रत्युपसंहर्त्तुमाह—

णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती य जायइ ।
किच्चाणं सरणं होइ, भूयाणं जगई जहा ॥ ४५ ॥

ज्ञात्वा—अनन्तरमखिलमध्ययनार्थमवगम्य नमति—तत्कृत्यकरणं प्रति प्रह्वीभवति मेधावी-एतदध्ययनार्थावधारणशक्तिमान् मर्यादावर्ती वा, तद्गुणं वक्तुमाह—लोके-कीर्तिः सुलब्धमस्य जन्म निस्तीर्णरूपो भवोदधिरनेनेत्यादिका श्लाघा चशब्दात्—' एकादिग्व्यापिनी कीर्तिः, सर्वदिग्व्यापकं यशः ' इति प्रसिद्धेर्यशश्चेति समुच्चिनोति, उभयमपि प्रक्रमाज्जन्तुरेव जायते—प्रादुर्भवति, स एव भवति . कृत्यानाम्—उचितानुष्ठानानां कलुषान्तःकरणवृत्तिभिरविनीतविनयैरतिदूरमुत्सादितानां शरणम्—आश्रय इत्यर्थः । केषां केव ?—भूतानाम्—प्राणिनां जगती—पृथ्वी यथेति सूत्रार्थः ॥ ४५ ॥

ननु विनयः पूज्यप्रसादनफलः ततोऽपि च किमवाप्यत इत्याह—

पुज्जा जस्स पसीयंति, संबुद्धा पुव्वसंथुया ।
पसन्ना लंभइस्संति, विउलं अट्ठिअं सुयं ॥ ४६ ॥

पूजयितुमर्हाः-पूज्या-आचार्यादयः यस्य इति—विवक्षितशिष्योपदर्शकं सर्वनाम प्रसीदन्ति—तुष्यन्ति सम्बुद्धाः-सम्यगवगतवस्तुतत्त्वाः, (उत्त०) (पूर्वसंस्तुतपदव्याख्या-'पुव्वसंथुय' शब्दे पञ्चमभागे १०६४ पृष्ठे गता।) शेषविनयोपलक्षणमेतत् प्रसन्ना इति-सप्रसादाः, पठ्यते च-संपन्नाः ज्ञानादिगुणपरिपूर्णाः सम्यग्-अविपरीताः प्रज्ञा येषां ते सत्प्रज्ञा वा, लम्भयिष्यन्ति—प्रापयिष्यन्ति, किमित्याह-विपुलम्—विस्तीर्णम् अर्यत इति अर्थो-मोक्षः सप्रयोजनमस्येत्यार्थिकं, तदस्य " प्रयोजनम् " (पा० ५-१-१०६) इति ठक्, अथवा-अर्थः स एव प्रयोजनरूपोऽस्यास्तीत्यार्थिकः, " अत इनिठनौ " पा० (५-२-११५) इति ठन्, श्रुतम्-अङ्गोपाङ्गप्रकीर्णकादिभेदमागमं, न तु हरिहरहिरण्यगर्भादिवत् साक्षात् स्वर्गादिकम्, अनेन पूज्यप्रसादस्यानन्तरफलं श्रुतमुक्तम्, व्यवहितफलं तु मुक्तिरिति सूत्रार्थः ॥ ४६ ॥

सम्प्रति श्रुतावाप्तौ तस्यैहिकफलमाह—

स पुज्जसत्थे सुविनीयसंसए,
मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया ।
तवोसमायारिसमाहिसंवुडे,
महज्जुई पंचवयाइँ पालिया ॥ ४७ ॥

स इति-शिष्यः प्रसादितगुरोरधिगतश्रुतः पूज्यं-सकलजनश्लाघादिना पूजार्हं शास्त्रमस्येति पूज्यशास्त्रः, विनीतस्य हि शास्त्रं सर्वत्र विशेषेण पूज्यते, यदि वा प्राकृतत्वात् पूज्यः शास्ता गुरुरस्येति पूज्यशास्तृकः, विनीतो हि विनयः शास्तारं पूज्यमपि विशेषतः पूजां प्रापयति, अथवा-पूज्यश्चासौ शस्तश्च सर्वत्र प्रशंसास्पदत्वेन पूज्यशस्तः, सुष्ठु-अतिशयेन विनीतः—अपनीतः प्रसादितगुरुणैव शास्त्रपरमार्थसमर्पणेन संशयो-दोलायमानमानसात्मकोऽस्येति सुविनीतसंशयः, सुविनीता वा संसत् परिषदस्येति सुविनीतसंसत्कः, विनीतस्य हि स्वयमतिशयविनीतैव परिषद्भवति. ' मणोरुइ ' त्ति मनसः—चेतसः प्रस्तावाद् गुरुसम्बन्धिनी रुचिः—प्रतिभासोऽस्मिन्निति मनोरुचिः, तिष्ठति-आस्ते, विनयाधिगतशास्त्रो हि न कथञ्चिद् गुरूणामप्रीतिहेतुरिति। तथा ' कम्मसंपय ' त्ति कर्म—क्रिया दशविधचक्रवालसामाचारीप्रभृतिरितिकर्तव्यता तस्याः सम्पत् सम्पन्नता तया, लक्षणे तृतीया, ततः कर्मसम्पदोपलक्षितस्तिष्ठतीति सम्बन्धः, हेतौ वा तृतीया, मनोरुचित्वोपपत्तया च हेतुत्वम् । अथवा-मनोरुचितेव मनोरुचिता, तिष्ठति-आस्ते कर्मणां ज्ञानावरणादीनां सम्पद्-उदयोदीरणादिरूपा विभूतिः—कर्मसम्पद्, अस्येति गम्यते तदुच्छेदशक्तियुक्ततया अस्य प्रतिभासमानतयैव तत्स्थ-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेरुपलक्ष्यमाणत्वात्, पठ्यते च—'मणोरुइ' त्ति तत्र मनसो रुचिः-अभिलाषो यस्मिंस्तन्मनोरुचि-स्वप्रतिभासानुरूपं यथा भवत्येवं तिष्ठति, कया ?-कर्मसंपदा—यत्यनुष्ठानमाहात्म्यसमुत्पन्नपुलाकादिलब्धिसम्पत्त्या, पठन्ति च-'मणोरुइं चिट्ठइ कम्मसंपयं' तत्र च मनोरुचितफलसम्पादकत्वेन मनोरुचितां कर्मसम्पदं शुभप्रकृतिरूपाम् अनुभवन्निति शेषः, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-'मणिच्छियं संपयमुत्तमं गय' त्ति, इह च संपदं यथाख्यातचारित्रसंपदम्, अन्यत् सुगममेव, तपसः-अनशनाद्यात्मकस्य सामाचारीति-समाचरणम्, यद्वा-तपश्च सामाचारी च न्यक्षतो वक्ष्यमाणस्वरूपा समाधिश्च-चेतसः स्वास्थ्यं तैः संवृतः निरुद्धाश्रवः तपस्सामाचारीसमाधिसंवृतः, यद्वा—तपस्सामाचारीसमाधिभिः संवृतं संवरणं यस्य स तथाविधः, महती द्युतिः-तपोदीप्तिस्तेजोलेश्या वाऽस्येति महाद्युतिः, भवतीति गम्यते, किं कृत्वेत्याह—पञ्चव्रतानि-प्राणातिपातविरमणादीनि, पालयित्वा-निरतिचारं संस्पृश्येति सूत्रार्थः ॥ ४७ ॥

पुनरस्यैवैहिकमामुष्मिकं च फलं विशेषेणाह—

स देवगंधव्वमणुस्सपूइए, चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वाऽप्परए महिड्ढिए ॥४८॥
त्ति बेमि।

स—तादृग् विनीतस्त्विनयः, देवैः-वैमानिकज्योतिष्कैः गन्धर्वैश्च गन्धर्वनिकायोपलक्षितैर्व्यन्तरभुवनपतिभिः मनुष्यैश्च-महाराजाधिराजप्रभृतिभिः पूजितः-अर्चितो देवगन्धर्वमनुष्यपूजितः, त्यक्त्वा-अपहाय देहं-शरीरम्-'मलपंकपुव्वयं' ति जीवशुद्ध्यपहारितया मलवन्मलः स चासौ 'पावे वज्जे वेरे पंके पणए य' त्ति वचनात् पङ्कश्च कर्ममलपङ्कः स पूर्वं-कार्यात् प्रथमभावितया कारणमस्येति मलपङ्कपूर्वकम्, यद्वा-'माओउयं पिऊसुक्कं' ति वचनात् रक्तशुक्रे एव मलपङ्कौ तत्पूर्वकं, सिद्धो वा-निष्ठितार्थो वा भवति-जायते शास्वतः-सर्वकालावस्थायी, न तु परपरिकल्पिततीर्थनिकारादिकारणतः पुनरिहागमवानशाश्वतः, सावशेषकर्मवांस्तु देवो वा भवति. 'अप्परए' त्ति अल्पमिति-अविद्यमानं रतमिति-क्रीडितं मोहनीयकर्मोदयजनितमस्येति अल्परतो-लवसत्तमादिः, अल्परजा वा प्रतनुबध्यमानकर्मा, महती-महाप्रमाणा प्रशस्या वा ऋद्धिः-चक्रवर्तिनमपि योधयेत् इत्यादिका विकरणशक्तिः-तृणाग्रादपि हिरण्यकोटिरित्यादिरूपा वा समृद्धिरस्येति महर्द्धिकः, देवविशेषणं वा, इतिः-परिसमाप्तावेवमर्थे वा, एतावद्विनयश्रुतमनेन वा प्रकारेण 'ब्रवीमि' इति गणभृदादिगुरूपदेशतः, न तु स्वोत्प्रेक्षया इति सूत्रार्थः ॥ ४८ ॥ उक्तोऽनुगमः। उत्त० पाई० १ अ०।

साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर इत्यादि चर्चः पूर्ववत् तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्-

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव ऊ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीअस्स वहाय होइ ॥ १ ॥

'थंभा व' त्ति, अस्य व्याख्या-स्तम्भाद्वा मानाद्वा जात्यादिनिमित्तात् क्रोधाद्वा अक्षान्तिलक्षणात् माया-प्रमादादिति मायातो-निकृतिरूपायाः प्रमादाद् निद्रादेः सकाशात्, किमित्याह-गुरोः सकाशे-आचार्यादेः समीपे विनयम्—आसेवनाशिक्षाभेदभिन्नं न शिक्षते—नोपादत्ते, तत्र स्तम्भात्कथमहं जात्यादिमान् जात्यादिहीनसकाशे शिक्षामीति, एवं क्रोधात्कचिद्धितथकरणचोदितोरोषाद्वा, मायातः शूलं मे क्रियत इत्यादिव्याजेन, प्रमादात्प्रक्रान्तोचितमनवबुध्यमानो निद्रादिव्यासङ्गेन, स्तम्भादिक्रमोपन्यासश्चेत्थमेवामीषां विनयविघ्नहेतुतामाश्रित्य प्राधान्यख्यापनार्थः। तदेवं स्तम्भादिभ्यो गुरोः सकाशे विनयं न शिक्षते, अन्ये तु पठन्ति-गुरोः सकाशे विनये न तिष्ठति-विनये न वर्त्तते; विनयं नासेवत इत्यर्थः। इह च 'स एव तु' स्तम्भादिः' विनयशिक्षाविघ्नहेतुः तस्य जडमतेः अभूतिभाव इति—अभूतेर्भावोऽभूतिभावः; असंपद्भाव इत्यर्थः, किमित्याह-वधाय भवति-गुणलक्षणभावप्राणविनाशाय भवति। दृष्टान्तमाह-फलमिव कीचकस्य-कीचको-वंशस्तस्य यथा फलं वधाय भवति, सति तस्मिंस्तस्य विनाशात् तद्वदिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

जे आवि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता,
डहरे इमे अप्पसुअ त्ति नच्चा।
हीलंति पिच्छं पडिवज्जमाणा,
करंति आसायण ते गुरूणं ॥ २ ॥
पगईइ मंदावि भवंति एगे,
डहरावि (अ) जे सुअबुद्धोववेआ।
आयारमंतो गुणसुट्ठिअप्पा,
जे हीलिआ सिहिरिव भासकुज्जा ॥ ३ ॥
जे आवि नागं डहरंति नच्चा,
आसायए से अहिआ य होइ।
एवायरिअं पि हु हीलयंतो,
निअच्छई जाइ पहं खु मंदो ॥ ४ ॥
आसीविसो वावि परं सुरुट्ठो,
किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा ?।
आयरिअप्पाया पुण अप्पसन्ना,
अबोहिआसायण नत्थि मुक्खो ॥ ५ ॥
जो पावगं जलिअमवक्कमिज्जा,
आसीविसं वा वि हु कोवइज्जा।
जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी,
एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ ६ ॥
सिआ हु से पावय नो डहिज्जा,
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिआ विसं हालहलं न मारे ,
न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ७ ॥
जो पव्वयं सिरसा भित्तुमिच्छे ,
सुत्तं व सीहं पडिबोहइज्जा ।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं,
एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ ८ ॥
सिआ हु सीसेण गिरिं पि भिंदे ,
सिआ हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिआ न भिंदिज्ज व सत्तिअग्गं ,
न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ६ ॥
आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना,
अबोहिआसायण नत्थि मुक्खो ।
अम्हा अणावाहसुहाभिकंखी ,
गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ॥ १० ॥

किंच—'जे आवि' त्ति सूत्रं , ये चापि केचन द्रव्यसाधवोऽगम्भीराः, किमित्याह—'मन्द इति गुरुं विदित्वा' क्षयोपशमवैचित्र्यात्तन्त्रयुक्त्यालोचनाऽसमर्थः सत्प्रज्ञाविकल इति स्वमाचार्यं ज्ञात्वा तथा कारणान्तरस्थापितमप्राप्तवयसम् डहरोऽयम्—अप्राप्तवयाः खल्वयं , तथा 'अल्पश्रुत' इत्यनधीतागम इति विज्ञाय , किमित्याह—हीलयन्ति—सूयया असूयया वा खिंसयन्ति, सूयया—अतिप्रज्ञस्त्वं वयोवृद्धो बहुश्रुत इति, असूयया तु—मन्दप्रज्ञस्त्वमित्याद्यभिदधति, 'मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमाना' इति गुरुर्न हीलनीय इति तत्त्वमन्यथाऽवगच्छन्तः कुर्वन्ति आशातनां—लघुतापादनरूपां ते—द्रव्यसाधवः गुरूणाम्—आचार्याणां तत्स्थापनाया अबहुमानेन एकगुर्वाशातनायां सर्वेषामाशातनेति बहुवचनम् , अथवा-कुर्वन्ति आशातनाम्-स्वसम्यग्दर्शनादिभावापहासरूपां ते गुरूणां संबन्धिनीं , तन्निमित्तत्वादिति सूत्रार्थः ॥२॥ अतो न कार्या हीलनेति , आह च-'पगइ' त्ति सूत्रं, प्रकृत्या—स्वभावेन कर्मवैचित्र्यात्, मन्दा अपि—सद्बुद्धिरहिता अपि भवन्ति एके-केचन वयोवृद्धा अपि, तथा डहराः, अपि च—अपरिणता, अपि च-वयसाऽन्येऽमन्दा भवन्तीति वाक्यशेषः। किं विशिष्टा ? इत्याह-ये च श्रुतबुद्ध्युपपेताः, तथा सत्प्रज्ञावन्तः श्रुतेन बुद्धिभावेन वा, भाविनीं वृत्तिमाश्रित्याल्पश्रुता इति, सर्वथा आचारवन्तो—ज्ञानाद्याचारसमन्विताः गुणसुस्थितात्मानो—गुणेषु—संग्रहोपग्रहादिषु सुष्ठु-भावसारं स्थित—आत्मा येषां ते तथाविधा न हीलनीयाः, ये हीलिताः—खिंसिताः शिखीव—अग्निरिवेन्धनसंघातं भस्मसात्कुर्युः—ज्ञानादिगुणसंघातमपनयेयुरिति सूत्रार्थः॥३॥ विशेषेण डहरहीलनादोषमाह—'जे आवि' त्ति सूत्रम् , यश्चापि कश्चिदज्ञो नागं—सर्पं डहर इति—बाल इति ज्ञात्वा-विज्ञाय आशातयति—किलिश्नादिना कदर्थयति स—कदर्थ्यमानो नागः 'से' तस्य कदर्थकस्य अहिताय भवति-भक्षणेन प्राणनाशाय भवति, एष दृष्टान्तः। अयमर्थोपनयः—एवमाचार्यमपि कारणतोऽपरिणतमेव स्थापितं हीलयन् निर्गच्छति जातिपन्थानम्-द्वीन्द्रियादिजातिमार्गं मन्दः-अज्ञः, संसारे परिभ्रमतीति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ अत्रैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्महदन्तरमित्येतदाह- 'आसि' त्ति सूत्रं , 'आशीविषश्चापि' सर्पोऽपि परं सुरुष्टः-सुक्रुद्धः सन् किं जीवितनाशात्—मृत्योः परं कुर्यात् ?, न किंचिदपीत्यर्थः, आचार्यपादाः पुनः अप्रसन्ना—हीलनया अननुग्रहे प्रवृत्ताः , किं कुर्वन्तीत्याह-अबोधिम्-निमित्तहेतुत्वेन मिथ्यात्वसंहतिं , तदाशातनया मिथ्यात्वबन्धात् , यतश्चैवमत आशातनया गुरोर्नास्ति मोक्ष इति , अबोधिसन्तानानुबन्धेनानन्तसंसारिकत्वादिति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ किंच-'जो पावगं' ति सूत्रं , यः पावकम्—अग्निं ज्वलितं सन्तम् 'अपक्रामेद्' अवष्टभ्य तिष्ठति, 'आशीविषं वापि हि-भुजङ्गमं वापि हि कोपयेत्-रोषं ग्राहयेत् , यो वा विषं खादति जीवितार्थी—जीवितुकामः, एषोपमा—अपायप्राप्तिं प्रत्येतदुपमानम् , आशातनया कृतया गुरूणां संबन्धिन्या तद्वदपायो भवतीति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ अत्र विशेषमाह-'सिआ हु' त्ति सूत्रं , स्यात्-कदाचिन्मन्त्रादिप्रतिबन्धादसौ पावकः—अग्निः न दहेत्—न भस्मसात्कुर्यात् , आशीविषो वा-भुजङ्गो वा कुपितो न भक्षयेत्—न खादयेत् , तथा स्यात्-कदाचिन्मन्त्रादिप्रतिबन्धादेव विषम्-हालाहलम् अतिरौद्रं न मारयेत्—न प्राणांस्त्याजयेत् , एवमेतत्कदाचिद्भवति न चापि मोक्षो गुरुहीलनया-गुरोराशातनया कृतया भवतीति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ किंच-'जो पव्वयं' ति सूत्रं, यः पर्वतं शिरसा उत्तमाङ्गेन भेत्तुमिच्छेत् , सुप्तं वा सिंहं गिरिगुहायां प्रतिबोधयेत् , यो वा ददाति शक्त्यग्रे प्रहरणविशेषाग्रे प्रहारं हस्तेन , एषोपमाऽऽशातनया गुरूणामिति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ अत्र विशेषमाह—'सिआ हु' त्ति सूत्रम् , स्यात्-कदाचित्कश्चिद्वासुदेवादिः प्रभावातिशयाच्छिरसा गिरिमपि-पर्वतमपि भिन्द्यात् , स्यान्मन्त्रादिसामर्थ्यात्सिंहः कुपितो न भक्षयेत् , स्याद्देवतानुग्रहादेर्न भिन्द्याद्वा शक्त्यग्रं प्रहारे दत्तेऽपि, एवमेतत्कदाचिद्भवति, न चापि मोक्षो गुरुहीलनया-गुरोराशातनया भवतीति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ एवं पावकाद्याशातनाया गुर्वाशातना महतीत्यतिशयप्रदर्शनार्थमाह-'आयरिअ' त्ति सूत्रम् , आचार्यपादाः पुनरप्रसन्ना इत्यादि पूर्वार्धं पूर्ववत् , यस्मादेवं तस्माद् अनाबाधसुखाभिकाङ्क्षी-मोक्षसुखाभिलाषी साधुः गुरुप्रसादाभिमुख-आचार्यादिप्रसाद उद्युक्तः सन् रमेत-वर्तेत इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

जहा हि अग्गी जलणं नमंसे,
नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।
एवायरिअं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओऽवि संतो ॥ ११ ॥
जस्संतिए धम्मपयाइँ सिक्खे,
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कायगिरा भो मणसा अ निच्चं ॥ १२ ॥
लज्जा दया संजम बंभचेरं,
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति,
तेऽहं गुरू सययं पूअयामि ॥ १३ ॥
जहा निसंते तवणच्चिमाली,
पभासई केवलभारहं तु ।
एवायरिओ सुअसीलबुद्धिए,
विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥ १४ ॥
जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो,
णक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के,
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥ १५ ॥
महागरा आयरिआ महेसी,
समाहिजोगे सुअसीलबुद्धिए ।
संपाविउकामे अणुत्तराइं,
आराहए तोसइ धम्मकामी ॥ १६ ॥
सुच्चा ण मेहावी सुभासिआइं,
सुस्सूसए आयरिअप्पमत्तो ।
आराहइत्ता ण गुणे अणेगे,
से पावई सिद्धिमणुत्तरं ति ॥ १७ ॥ बेमि ।

केन प्रकारेणेत्याह-' जहा हि अग्गि' त्ति सूत्रम् ,यथा आहिताग्निः-कृतावसथादिर्ब्राह्मणो ज्वलनम्—अग्निं नमस्यति, किं विशिष्टमित्याह-नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम्-तत्राहुतयो-घृतप्रक्षेपादिलक्षणा मन्त्रपदानि-अग्नये स्वाहेत्येवमादीनि तैरभिषिक्तं—दीक्षासंस्कृतमित्यर्थः, एवम्—अग्निमिवाचार्यम् उपतिष्ठेत्—विनयेन सेवेत । किं विशिष्ट इत्याह-' अनन्तज्ञानोपगतोऽपी ' ति अनन्तं स्वपरपर्यायापेक्षया वस्तु ज्ञायते येन तदनन्तज्ञानं तदुपगतोऽपि सन्, किमङ्ग! पुनरस्य इति सूत्रार्थः॥११॥एतदेव स्पष्टयति-'जस्स' त्ति सूत्रम् ,यस्यान्तिके-यस्य समीपे धर्मपदानि-धर्मफलानि सिद्धान्तपदानि शिक्षेत—आददीत् तस्यान्तिके-तत्समीपे किमित्याह-वैनयिकं प्रयुञ्जीत-विनय एव वैनयिकं तत्कुर्यादिति भावः।कथमित्याह-सत्कारयेदभ्युत्थानादिना पूर्वोक्तेन शिरसा—उत्तमाङ्गेन प्राञ्जलिः—प्रोद्गताञ्जलिः सन् कायेन-देहेन गिरा—वाचा मस्तकेन वन्दे इत्यादिरूपया ' भो ' इति शिष्यामन्त्रणं मनसा 'च' भावप्रतिबन्धरूपेण नित्यं—सदैव सत्कारयेत,न तु सूत्रग्रहणकाल एव, कुशलानुबन्धव्यवच्छेदप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ एवं च मनसि कुर्यादित्याह-'लज्जादय ' त्ति सूत्रम् , लज्जा-अपवादभयरूपा दया-अनुकम्पा संयमः-पृथिव्यादिजीवविषयः ब्रह्मचर्यम्—विशुद्धतपोऽनुष्ठानम् , एतल्लज्जादिविपक्षव्यावृत्त्या कुशलपक्षप्रवर्तकत्वे कल्याणभागिनो जीवस्य विशोधिस्थानम्—कर्ममलापनयनस्थानं वर्तते, अनेन ये मां गुरवः—आचार्याः ' सततम्—अनवरतम् अनुशासयन्ति-कल्याणयोग्यतां नयन्ति तानहमेवंभूतान् गुरून् सततं पूजयामि, न तेभ्योऽन्यः पूजार्ह इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ इतश्चैते पूज्या इत्याह—' जह ' त्ति सूत्रम्, यथा निशान्ते—राव्यवसाने; दिवस इत्यर्थः तपन् अर्चिर्माली-सूर्यः प्रभासयति-उद्योतयति केवलम्-संपूर्णं भारतम्-भरतक्षेत्रं, तुशब्दादन्यच्च क्रमेण एवम्-अर्चिर्मालीवाऽऽचार्यः श्रुतेन—आगमेन शीलेन—परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च स्वाभाविक्या युक्तः सन् प्रकाशयति जीवादिभावानिति । एवं च वर्तमानः सुसाधुभिः परिवृतो विराजते सुरमध्ये इव—सामानिकादिमध्यगत इव इन्द्रः इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ किंच-' जह ' त्ति सूत्रम् , यथा शशी-चन्द्रः कौमुदीयोगयुक्तः;कार्तिकपौर्णमास्यामुदित इत्यर्थः स एव विशेष्यते—नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा—नक्षत्रादिभिर्युक्त इति भावः, खे—आकाशे शोभते । किं विशिष्टे खे ?-विमलेऽभ्रमुक्ते अभ्रमुक्तमेवात्यन्तं विमलं (तत्) भवतीति ख्यापनार्थमेतत्, एवं चन्द्र इव गणी—(तत्) आचार्यः शोभते भिक्षुमध्ये साधुमध्ये, अतोऽयं महत्त्वात्पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ किंच—' महागर ' त्ति सूत्रम् , महाकरा ज्ञानादिभावरत्नापेक्षया आचार्या महैषिणो—मोक्षैषिणः, कथं महैषिण इत्याह—समाधियोगश्रुतशीलबुद्धिभिः-समाधियोगैः—ध्यानविशेषैः श्रुतेन-द्वादशाङ्गाभ्यासेन शीलेन-परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च औत्पत्तिक्यादिरूपया अन्ये तु व्याचक्षते—समाधियोगश्रुतशीलबुद्धीनां महाकरा इति । तानेवंभूतानाचार्यान् संप्राप्तुकामोऽनुत्तराणि ज्ञानादीनि आराधयेद्विनयकरणेन सकृदेव, अपि तु-तोषयेद्—असकृत्करणेन तोषं ग्राहयेत् धर्मकामो निर्जरार्थं, न तु ज्ञानादिफलापेक्षया ऽपीति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ ' सोच्चा ण ' त्ति सूत्रम्, श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि गुर्वाराधनफलाभिधायीनि, किमित्याह—शुश्रूषयेदाचार्यान् अप्रमत्तो—निद्रादिरहितस्तदाज्ञां कुर्वीतेत्यर्थः, य एवं गुरुशुश्रूषापरः स आराध्य गुणान्—अनेकान् ज्ञानादीन् प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तरां मुक्तिमित्यर्थः, अनन्तरं सुकुलादिपरम्परया वा ब्रवीमीति पूर्ववदयं सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ दश० ९ अ० १ उ० ।

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुविंति साहा ।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता ।
तओ सि पुप्फं च फलं रसो अ ॥ १ ॥
एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो ।
जेण किर्त्ति सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥ २ ॥

विनयाधिकारवानेव द्वितीय उच्यते, तत्रेदमादिमं सूत्रम्-' मूलाउ ' इत्यादि, अस्य व्याख्या-मूलाद्—आदिप्रबन्धात् स्कन्धप्रभवः—स्थुडोत्पादः , कस्येत्याह-द्रुमस्य—वृक्षस्य ततः—स्कन्धात् सकाशात् पश्चात्—तदनु समुपयान्ति-आत्मानं प्राप्नुवन्त्युत्पद्यन्त इत्यर्थः । कास्ता इत्याह—शाखाः—तद्भुजाकल्पाः , तथा-शाखाभ्य—उक्तलक्षणाभ्यः प्रशाखास्तदंशभूता विरोहन्ति-जा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यन्ते-तथा तेभ्योऽपि पत्राणि-पर्णानि विरोहन्ति ततः—तदनन्तरं 'से' तस्य द्रुमस्य पुष्पं च फलं च रसश्च फलगत एवैते क्रमेण भवन्तीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ एवं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—'एवं' ति सूत्रम्—एवं-द्रुममूलवत् धर्मस्य-परमकल्पवृक्षस्य विनयो मूलम् आदिप्रबन्धरूपं 'परम' इत्यग्रो रसः 'से' तस्य फलरसवन्मोक्षः, स्कन्धादिकल्पानि तु देवलोकगमनसुकुलागमनादीनि, अतो विनयः कर्त्तव्यः किं विशिष्ट इत्याह—येन-विनयेन कीर्तिं—सर्वत्र शुभप्रवादरूपां तथा श्रुतम्-अङ्गप्रविष्टादि श्लाघ्यम्—प्रशंसास्पदभूतं निःशेषम् संपूर्णम् अधिगच्छति-प्राप्नोतीति ॥ २ ॥

अविनयवतो दोषमाह—

जे अ चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे ।
वुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सो अयं जहा ॥३॥
विणयं पि जो उवाएणं, चोइओ कुप्पई नरो ।
दिव्वं सो सिरिमिज्जंति, दंडेण पडिसेहए ॥ ४ ॥

'जे अ' त्ति सूत्रं, यः चण्डो-रोषणो मृगः-अज्ञः हितमप्युक्तो रुष्यति तथा स्तब्धो-जात्यादिमदोन्मत्तः दुर्वाग्-अप्रियवक्ता निकृतिमान्-मायोपेतः शठः-संयमयोगेष्वनादृतः, एभ्यो दोषेभ्यो विनयं न करोति यः उह्यतेऽसौ पापः संसारस्रोतसा अविनीतात्मा—सकलकल्याणैकनिबन्धनविनयविरहितः। किमिवेत्याह-काष्ठं स्रोतोगतं—नद्यादिप्रवाहनिपतितं यथा तद्वदिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ किं च—'विणयं पी' ति सूत्रम्, विनयम्-उक्तलक्षणं यः उपायेनापि—एकान्तमृदुभणनादिलक्षणेनापि अपिशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः, चोदितः—उक्तः कुप्यति-रुष्यति नरः । अत्र निदर्शनमाह-दिव्याम्-अमानुषीम् असौ-नरः । श्रियं—लक्ष्मीम् आगच्छन्तीम्-आत्मनो भवन्तीम् दण्डेन काष्ठमयेन प्रतिषेधयति-निवारयति। एतदुक्तं भवति—विनयः संपदो निमित्तं, तत्र स्खलितं यदि कश्चिच्चोदयति स गुणस्तत्रापि रोषकरणेन वस्तुतः संपदो निषेधः, उदाहरणं चात्र दशारादयः कुरूपागतश्रीप्रार्थनाप्रणयभङ्गकारिणस्तद्रहितास्तदभङ्गकारी—श्च तद्युक्तः कृष्ण इति सूत्रार्थं ॥ ४ ॥

अविनयदोषोपदर्शनार्थमेवाह-

तहेव अविणीअप्पा, उववज्झा हया गया ।
दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिआ ॥ ५ ॥
तहेव सुविणीअप्पा, उववज्झा हया गया ।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ६ ॥

'तहेव' त्ति सूत्रम्, तथैवेति—तथैवेते अविनीतात्मानः-विनयरहिता अनात्मज्ञाः, उपवाह्यानां-राजादिवल्लभानामेते कर्मकरा इत्यौपवाह्याः हयाः-अश्वाः गजा-हस्तिनः, उपलक्षणमेतन्महिषकादीनामिति। एते किमित्याह—दृश्यन्ते—उपलभ्यन्त एव मन्दुरादौ अविनयदोषेण उभयलोकवर्तिना यवसादिवोढारः दुःखम्-संक्लेशलक्षणम् एधयन्तः—अनेकार्थत्वादनुभवन्तः आभियोग्यं—कर्मकरभावम् उपस्थिताः-प्राप्ता इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ एतद्व्यतिरेकेण विनयगुणमाह—'तहेव' त्ति सूत्रम्, तथैवेति—तथैवैते सुविनीतात्मानः विनयवन्त आत्मज्ञा औपवाह्या राजादीनां हया गजा इति पूर्ववत् । एते किमित्याह-दृश्यन्ते-उपलभ्यन्त एव सुखम्-आह्लादलक्षणम् एधमानाः अनुभवन्तः शुद्धिं प्राप्ता इति विशिष्टभूषणालयभोजनादिभावतः प्राप्तर्द्धयो महायशसो-विख्यातसद्गुणा इति सूत्रार्थः ॥६॥

एतदेव विनयाऽविनयफलं मनुष्यानधिकृत्याह-

तहेव अविणीअप्पा, लोगंमि नरनारिओ ।
दीसंति दुहमेहंता, छायाविगलितेंदिआ ॥ ७ ॥
दंडसत्था परिज्जुन्ना, असब्भवयणेहि अ ।
कलुणा विवन्नच्छंदा, खुप्पिवासाइपरिगया ॥ ८ ॥
तहेव सुविणीअप्पा, लोगंसि नरनारिओ ।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ९ ॥

'तहेव' त्ति सूत्रम्, तथैव-तिर्यञ्च इव अविनीतात्मान इति पूर्ववत् । लोके अस्मिन्मनुष्यलोके, नरनार्य इति प्रकटार्थं दृश्यन्ते दुःखमेधमाना इति पूर्ववत्, छाताः (ताः) कसघातव्रणाङ्कितशरीराः विगलितेन्द्रियाः अपनीतनासिकादीन्द्रियाः पारदारिकादय इति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ तथा 'दंड' त्ति सूत्रम्, दण्डाः—वेत्रदण्डादयः शस्त्राणि खड्गादीनि ताभ्यां परिजीर्णाः-समन्ततो दुर्बलभावमापादिताः तथा 'असभ्यवचनैश्च' खरकर्कशादिभिः परिजार्णाः, त एवंभूताः सतां करुणाहेतुत्वात्करुणा-दीना व्यापन्नच्छन्दसः परायत्ततया अपेतस्वाभिप्रायाः, क्षुधा-बुभुक्षया पिपासया-तृषा परिगता-व्याप्ता अन्नादिनिरोधस्तोकदानाभ्यामिति, एवमिह लोके प्रागविनयोपात्तकर्मानुभावतः एवंभूताः परलोके तु कुशलाप्रवृत्तेर्दुःखिततरा विज्ञेया इति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ विनयफलमाह-'तहेव' त्ति सूत्रं, तथैव-विनीततिर्यञ्च इव सुविनीतात्मानो लोके अस्मिन्नरनार्य-इति पूर्ववत्। दृश्यन्ते सुखमेधमानाः शुद्धिं प्राप्ता महायशस इति पूर्ववदेव, नवरं स्वाराधितनृपगुरुजना उभयलोकसाफल्यकारिण एत इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

एतदेव विनयाऽविनयफलं देवानधिकृत्याह-

तहेव अविणीअप्पा, देवा जक्खा अ गुज्झगा ।
दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिआ ॥ १० ॥
तहेव सुविणीअप्पा, देवा जक्खा अ गुज्झगा ।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ११ ॥

'तहेव' त्ति सूत्रं, तथैव—यथा नरनार्यः अविनीतात्मानो—भवान्तरेऽकृतविनयाः देवा-वैमानिका ज्योतिष्का यक्षाश्च-व्यन्तराश्च गुह्यका-भवनवासिनः, त एते दृश्यन्त आगमभावचक्षुषा दुःखमेधमानाः पराज्ञाकरणपरर्द्धिदर्शनादिना, आभियोग्यमुपस्थिताः अभियोगः-आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीत्यभियोगी तद्भाव आभियोग्यं, कर्मकरभावमित्यर्थः, उपस्थिताः-प्राप्ता इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ विनयफलमाह—'तहेव' त्ति तथैवेति पूर्ववत् सुविनीतात्मानो-जन्मान्तरकृतविनया निरतिचारधर्माराधका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्यर्थः, देवा यक्षाश्च गुह्यका इति पूर्ववदेव, दृश्यन्ते सुखमेधमाना अर्हत्कल्याणादिषु, ऋद्धिं प्राप्ता-इति देवाधिपादिप्राप्तर्द्धयो महायसशसो विख्यातसद्गुणा इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

एवं नारकापोहेन व्यवहारतो येषु सुखदुःखसंभवस्तेषु विनयाविनयफलमुक्तम् । अधुना विशेषतो लोकोत्तरविनयफलमाह-

जे आयरिअउवज्झा-याणं सुस्सूसॉवयणकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥ १२ ॥

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, सिप्पा णेउणिआणि अ ।
गिहिणो उवभोगट्ठा, इहलोगस्स कारणा ॥ १३ ॥

जेणं बंधं वहं घोरं, परिआवं च दारुणं ।
सिक्खमाणा निअच्छंति, जुत्ता ते ललिइंदिआ ॥१४॥

तेऽवि तं गुरुं पूअंति, तस्स सिप्पस्स कारणा ।
सक्कारंति नमंसंति, तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥ १५ ॥

किं पुणं जे सुअग्गाही, अणंतहिअकामए ।
आयरिया जं वए भिक्खू तम्हा तं नाइवत्तए ॥१६॥

'जे आयरिअ' त्ति सूत्रं, य आचार्योपाध्याययोः-प्रतीतयोः शुश्रूषावचनकरा-पूजाप्रधानवचनकरणशीलास्तेषां-पुण्यभाजां शिक्षा-ग्रहणासेवनालक्षणा भावार्थरूपाः प्रवर्द्धन्ते-वृद्धिमुपयान्ति दृष्टान्तमाह-जलसिक्ता इव पादपा-वृक्षा इति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ एतच्च मनस्याधाय विनयः कार्य इत्याह-आत्मार्थम्-आत्मनिमित्तमनेन मे जीविका भविष्यतीति , एवं परार्थं वा-परनिमित्तं वा पुत्रमहमेतद्ग्राहयिष्यामीत्येवं शिल्पानि-कुम्भकारक्रियादीनि नैपुण्यानि च-आलेख्यादिकलालक्षणानि गृहिणः-असंयता उपभोगार्थम्-अन्नपानादिभोगाय, शिक्षन्त इति वाक्यशेषः । इह लोकस्य कारणम्-इह लोकनिमित्तमिति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ येन-शिल्पादिना शिक्ष्यमाणेन वन्धं निगडादिभिः वधं कषादिभिः घोरं-रौद्रं परितापं च दारुणम्-एतज्जनितमनिष्टं निर्भर्त्सनादिवचनजनितं च शिक्षमाणा गुरोः सकाशात् नियच्छन्ति-प्राप्नुवन्ति 'युक्ता' इति नियुक्ताः शिल्पादिग्रहणे ते ललितेन्द्रिया-गर्भेश्वरा राजपुत्रादय इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ तेऽपीत्वरं शिल्पादि शिक्षमाणास्तं गुरुं बन्धादिकारकमपि पूजयन्ति सामान्यतो मधुरवचनाभिनन्दनेन तस्य शिल्पस्येत्वरस्य कारणात् , तन्निमित्तत्वादिति भावः । तथा सत्कारयन्ति-वस्त्रादिना, नमस्यन्ति-अञ्जलिप्रग्रहादिना । तुष्टा-इत्यमुत इदमवाप्स्यत इति हृष्टा-निर्देशवर्त्तिनः-आज्ञाकारिण इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ यदि तावदेतेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति अतः-'किं' सूत्रं, किं पुनर्यः साधुः श्रुतग्राही-परमपुरुषप्रणीतागमग्रहणाभिलाषी 'अनन्तहितकामुकः' मोक्षं यः कामयत इत्यभिप्रायः, तेन तु सुतरां गुरवः पूजनीया इति । यतश्चैवमाचार्या यद्वदन्ति किमपि तथा तथाऽनेकप्रकारं भिक्षुः-साधुस्तस्मात्तदाचार्यवचनं नातिवर्तेत, युक्तत्वात्सर्वमेव संपादयेदिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

विनयोपायमाह-

नीअं सिज्जं गई ठाणं, नीअं च आसणाणि अ ।
नीअं च पाएँ वंदिज्जा, नीअं कुज्जा अ अंजलिं ॥१७॥

संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि ।
खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणुत्ति अ ॥ १८ ॥

दुग्गओ वा पओएणं, चोइओ वहई रहं ।
एवं दुब्बुद्धिकिचाणं, वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥ १९ ॥

(आलवंते लवंते वा, न निसिज्जाइ पडिस्सुणे ।
मुत्तूण आसणं धीरो, सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥)

कालं छंदोवयारं च, पडिलेहित्ता ण हेउहिं ।
तेण तेण उवाएणं, तं तं संपडिवायए ॥ २० ॥

नीचां शय्यां-संस्तारकलक्षणामाचार्यशय्यायाः सकाशान्कुर्यादिति योगः, एवं नीचां गतिम् आचार्यगतेः, तत्पृष्ठतो नातिदूरेण नातिद्रुतं यायादित्यर्थः । एवं नीचं स्थानमाचार्यस्थानात् , यत्राचार्य आस्ते तस्मान्नीचतरे स्थाने स्थातव्यमिति भावः । तथा नीचानि लघुतराणि कदाचित्कारणजाते आसनानि पीठकानि तस्मिन्नुपविष्टे तदनुज्ञातः सेवेत,नान्यथा । तथा नीचं च सम्यगवनतोत्तमाङ्गः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत,नावज्ञया।तथा क्वचित्प्रश्नादौ नीचं नम्रकायं कुर्यात्-संपादयेच्चाञ्जलिं,न तु स्थाणुवत्स्तब्ध एवेति सूत्रार्थः॥१७॥एवं कायविनयमभिधाय वाग्विनयमाह-संघट्टिय-स्पृष्ट्वा कायेन-देहेन कथञ्चित्तथाविधप्रदेशोपविष्टमाचार्यं तथा उपधिनाऽपि-कल्पादिना कथञ्चित्संघट्टय मिथ्यादुष्कृतपुरःसरमभिवन्द्य क्षमस्व-सहस्व अपराधं-दोषं मे मन्दभाग्यस्यैवं वदेद्-ब्रूयात् न पुनरिति च-नाहमेनं भूयः करिष्यामीति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ एतच्च बुद्धिमान् स्वयमेव करोति, तदन्यस्तु कथमित्याह-दुर्गौरिव-गलिवलीवर्द्दवत् प्रतोदेन-आरादण्डलक्षणेन चोदितो-विद्धः सन् वहति-नयति क्वापि रथं-प्रतीतम् , एवं-दुर्गौरिव दुर्बुद्धिः-अहितावहबुद्धिः शिष्यः कृत्यानाम्-आचार्यादीनां कृत्यानि वा-तदभिरुचितकार्याणि उक्त उक्तः-पुनः पुनरभिहित इत्यर्थः, प्रकरोति-निष्पादयति प्रयुङ्क्ते चेति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ एवं च कृतान्यमूनि न शोभनानीत्यतः (आह)-कालं-शरदादिलक्षणं, छन्दः तदिच्छारूपम् उपचारम्-आराधनाप्रकारं, चशब्दाद्देशादिपरिग्रहः, एतत् प्रत्युपेक्ष्य-ज्ञात्वा हेतुभिः-यथानुरूपैः कारणैः, किमित्याह-तेन तेनोपायेन गृहस्थावर्जनादिना तत्तत्-पित्तहरादिरूपमशनादि सम्प्रतिपादयेत्, यथा काले शरदादौ पित्तहरादिभोजनं प्रवातनिवातादिरूपा शय्या इच्छानुलोमं वा यद्यस्य हितं रोचते च आराधनाप्रकारोऽनुलोमं भाषणं ग्रन्थाभ्यासवैयावृत्त्यकरणादिदेशे अनुपदेशाद्युचितं निष्ठीवनादिभिर्हेतुभिः श्लेष्माधाधिक्यं विज्ञाय तदुचितं संपादयेदिति सूत्रार्थः ॥२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किंच-

विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणिअस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥ २१ ॥

जे आवि चंडे मइइड्ढिगारवे,
पिसुणे नरे साहसहीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए,
असंविभागी न हु तस्स मुक्खो ॥ २२ ॥

निद्देसवित्ती पुण जे गुरूणं,
सुअत्थधम्मा विणयम्मि कोविआ।
तरित्तु ते ओघमिणं दुरुत्तरं,
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमंगय ॥२३॥ त्ति बेमि।

विपत्तिरविनीतस्य ज्ञानादिगुणानां, संप्राप्तिर्विनीतस्य च ज्ञानादिगुणानामेव, यस्यैतत्—ज्ञानादिप्राप्त्यप्राप्तिद्वयम् उभयतः—उभयाभ्यां विनयाऽविनयाभ्यां सकाशात् भवतीत्येवं 'ज्ञातम्-उपादेयं चैतदिति भवति शिक्षाम्-ग्रहणासेवनारूपाम् असौ—इत्थंभूतः अधिगच्छति प्राप्नोति, भावत उपादेयपरिज्ञानादिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ एतदेव दृढयन्नविनीतफलमाह—यश्चापि चण्डः—प्रव्रजितोऽपि रोषणः ऋद्धिगौरवमतिः-ऋद्धिगौरवे अभिनिविष्टः पिशुनः—पृष्ठिमांसखादकः नरो—नरव्यञ्जनो न भावनरः साहसिकः—अकृत्यकरणपरः हीनप्रेषणः—हीनगुर्वाज्ञापरः अदृष्टधर्मा—सम्यगनुपलब्धश्रुतादिधर्मा विनयेऽकोविदो—विनयविषयेऽपण्डितः असंविभागी-यत्र क्वचन लाभे न संविभागवान्। य इत्थंभूतोऽधर्मो नैव तस्य मोक्षः, सम्यग्दृष्टेश्चारित्रवत इत्थंविधसंक्लेशाभावादिति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥ विनयफलाभिधानेनोपसंहरन्नाह-निर्देशआज्ञा तद्वर्त्तिनः पुनर्ये गुरूणाम्-आचार्यादीनां श्रुतार्थधर्मा-इति प्राकृतशैल्या श्रुतधर्मार्थाः; गीतार्था इत्यर्थः, विनये कर्त्तव्ये कोविदा-विपश्चितो य इत्थंभूतास्तीर्त्वा ते महासत्त्वाः ओघमेनं—प्रत्यक्षोपलभ्यमानं संसारसमुद्रं दुरुत्तारं तीर्त्वैव तीर्त्वा, चरमभवं केवलित्वं च प्राप्येति भावः, ततः क्षपयित्वा कर्म निरवशेषं भवोपग्राहिसंज्ञितं गतिमुत्तमां सिद्ध्याख्यां गताः-प्राप्ताः। इति ब्रवीमिति पूर्ववदिति सूत्रार्थः॥ २३ ॥ दश० ६ अ० २ उ०।

इह च विनीतः पूज्य इत्युपदर्शयन्नाह-

आयरिअं अग्गिमिवाहि अग्गी,
सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा।
आलोइअं इंगिअमेव नच्चा,
जो छंदमाराहयई स पुज्जो ॥ १ ॥

आयारमट्ठा विणयं पउंजे,
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो,
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥ २ ॥

रायणिहिएसुं विणयं पउंजे,
डहरा अवि अ जे परिआयजिट्ठा।
नीअत्तणे वट्टइ सच्चवाई,
उवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥ ३ ॥

अन्नायउंछं चरई विसुद्धं,
जवणट्ठया समुआणं च निच्चं।
अलद्धुअं नो परिदेवइज्जा,
लद्धुं न वीकत्थइ (वा) स पुज्जो ॥ ४ ॥

संथारसिज्जासणभत्तपाणे,
अप्पिच्छया अइलाभेऽविसंते।
जो एवमप्पाणभितोसइज्जा,
संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥ ५ ॥

सक्का सहेउं आसाइकंटया,
अओ मया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहिज्ज कंटए,
वईमए कन्नसरे स पुज्जो ॥ ६ ॥

मुहुत्तदुक्खाउ हवंति कंटया,
अओ मया तेऽवि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ७ ॥

आचार्यं—सूत्रार्थप्रदं तत्स्थानीयं वाऽन्यं ज्येष्ठार्यं, किमित्याह—अग्निमिव तेजस्कायमिव आहिताग्निः ब्राह्मणः शुश्रूषमाणः-सम्यक्सेवमानः प्रतिजागृयात् तत्तत्कृत्यसंपादनेनोपचरेत्, आह-यथाऽऽहिताग्निरित्यादिना प्रागिदमुक्तमेव, सत्यं, किंतु-तदाचार्यमेवाङ्गीकृत्य इदं तु रत्नाधिकाविक्रमप्यधिकृत्योच्यते, वक्ष्यति च-'रायणिएसु विणयमि' त्यादि, प्रतिजागरणोपायमाह-आलोकितं-निरीक्षितम् इङ्गितमेव च अन्यथा वृत्तिलक्षणं ज्ञात्वा विज्ञायाचार्यीयं यः-साधुः छन्दः-अभिप्रायमाराधयति यथा शीते पतति प्रावरणावलोकने तदा नयने, इङ्गिते वा निष्ठीवनादिलक्षणे शुण्ठ्याद्यानयनेन स पूज्यः स इत्थंभूतः साधुः पूजार्हः कल्याणभागिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ प्रक्रान्ताधिकार एवाह-आचारार्थं ज्ञानाद्याचारनिमित्तं विनयम् उक्तलक्षणं प्रयुङ्क्ते करोति यः शुश्रूषन् श्रोतुमिच्छन्, किमयं वक्ष्यतीत्येवम्। तदनु तेनोक्ते सति परिगृह्य वाक्यम् आचार्यीयं ततश्च यथोपदिष्टं-यथोक्तमेव अभिकाङ्क्षन्, मायारहितः श्रद्धया कर्त्तुमिच्छन् विनयं प्रयुङ्क्ते, अतोऽन्यथाकरणेन गुरुं त्विति—आचार्यमेव नाशातयति-न हीययति यः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ किं च-रत्नाधिकेषु-ज्ञानादिभावरत्नाभ्युच्छ्रितेषु विनयं-यथोचितं प्रयुङ्क्ते-करोति, तथा डहरा अपि च ये वयःश्रुताभ्यां पर्यायज्येष्ठाः-चिरप्रव्राजितास्तेषु विनयं प्रयुङ्क्ते, एवं च यो नीचत्वे-गुणाधिकान् प्रति नीचभावे वर्त्तते सत्यवादी-अविरुद्धवक्ता तथा अवपातवान् वन्दनशीलो निकटवर्त्ती वा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं च यो वाक्यकरो-गुरुनिर्देशकरणशीलः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ किं च-अज्ञातोञ्छं-परिचयाऽकरणेनाज्ञातः सन् भावोञ्छं गृहस्थोद्धरितादि चरति-अटित्वाऽऽनीतं भुङ्क्ते, न तु ज्ञातस्तद्बहुमतमिति, एतदपि विशुद्धम्-उद्गमादिदोषरहितम् , न तद्विपरीतम् ,एतदपि यापनार्थम्-संयमभरोद्वाहिशरीरपालनाय नान्यथा समुदानं च-उचितभिक्षालब्धं च नित्यं-सर्वकालं न तूञ्छमप्येकत्रैव बहुलब्धं कादाचित्कं वा, एवंभूतमपि विभागतः अलब्ध्वा-अनासाद्य, न परिदेवयेत-न खेदं यायात् , यथा-मन्दभाग्योऽहमशोभनो वाऽयं देश इति, एवं विभागतश्च लब्ध्वा-प्राप्योचितं न विकत्थते-न श्लाघां करोति-स पुण्योऽहं शोभनो वाऽयं देश इत्येवं स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ किं च-संस्तारकशय्यासनभक्तपानानि प्रतीतान्येव एतेषु अल्पेच्छता-अमूर्च्छया परिभोगोऽतिरिक्ताग्रहणं वा अतिलाभेऽपि सति संस्तारकादीनां गृहस्थेभ्यः सकाशात् य एवमात्मानम् अभितोषयति-येन वा तेन वा यापयति संतोषप्राधान्यरतः-संतोष एव प्रधानभावे सक्तः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ इन्द्रियसमाधिद्वारेण पूज्यतामाह-शक्याः सोढुम् आशये-त्ति इदं मे भविष्यतीति प्रत्याशया, क इत्याह-कण्टका अयोमया-लोहात्मकाः उत्सहतानरेण-अर्थोद्यमवतेत्यर्थः. तथा च कुर्वन्ति केचिदयोमयकण्टकास्तरणशयनमप्यर्थलिप्सया, न तु वाक्कण्टकाः शक्या इत्येवं व्यवस्थिते अनाशया-फलप्रत्याशया निरीहः सन् यस्तु सहेत कण्टकान् वाङ्मयान्-खरादिवागात्मकान् कर्णसरान्-कर्णगामिनः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥६॥ एतदेव स्पष्टयति-मुहूर्तदुःखा-अल्पकालदुःखा भवन्ति कण्टका अयोमयाः वधकाल एव प्रायो दुःखभावात् , तेऽपि ततः-कायात् सूद्धराः-सुखेनैवोद्ध्रियन्ते व्रणपरिकर्म च क्रियते, वाग्दुरुक्तानि पुनः दुरुद्धराणि-दुःखेनोद्ध्रियन्ते मनोलक्षवेधनाद् वैरानुबन्धीनि-तथा श्रवणप्रद्वेषादिनेह परत्र च वैरानुबन्धीनि भवन्ति, अत एव महाभयानि, कुगतिपातादिमहाभयहेतुत्वादिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

समावयंता वयणाभिघाया,
कन्नं गया दुम्मणिअं जणंति ।
धम्मु त्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥ ८ ॥
अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीअं च भासं ।
ओहारणिं अप्पिअकारिणिं च ,
भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ॥ ९ ॥
अलोलुए अकुहए अमाई,
अपि (पी) सुणे आवि अदीणवित्ती ।
नो भावए नोऽवि अ भाविअप्पा,
अकोउहल्ले असया स पुज्जो ॥ १० ॥
गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुणमुंचऽसाहू ।
विआणिआ अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहि समो स पुज्जो ॥ ११ ॥
तहेव डहरं च महल्लगं वा,
इत्थिं पुमं पव्वइअं गिहिं वा ।
नो हीलए नोऽवि अ खिंसइज्जा,
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥ १२ ॥
जे माणिआ समयं माणयन्ति,
जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी,
जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥ १३ ॥
तेसिं गुरूणं गुणसायराणं,
सुच्चा ण मेहावि सुभासिआइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो,
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ १४ ॥
गुरूमिह सययं पडिअरिअ मुणी,
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले ।
धुणिअरयमलं पुरकडं,
भासुरमउलं गइं वयइ ॥ १५ ॥ त्ति बेमि ॥

किंच-समापतन्त-एकीभावेनाभिमुखं पतन्तः, क इत्याह-वचनाभिघाताः-खरादिवचनप्रहाराः कर्णगताः सन्तः प्रायोऽनादिभवाभ्यासात् दौर्मनस्यं दुष्टमनोभावं जनयन्ति प्राणिनामेवंभूतान् वचनाभिघातान् धर्म इति कृत्वा सामायिकपरिणामापन्नो न त्वशक्त्यादिना परमाग्रशूरो-दानसंग्रामशूरापेक्षया प्रधानः शूरो जितेन्द्रियः सन् यः सहते नतु तैर्विकारमुपदर्शयति स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ तथा-अवर्णवादं च अश्लाघावादं च पराङ्मुखस्य-पृष्ठत इत्यर्थः प्रत्यक्षतश्च प्रत्यक्षस्य च प्रत्यनीकाम्-अपकारिणीं चौरस्त्वमित्यादिरूपां भाषां तथा अवधारिणीम्-अशोभन एवायमित्यादिरूपाम् अप्रियकारिणीं च-श्रोतुर्मृतनिवेदनादिरूपां भाषां वाचं न भाषेत सदा यः कदाचिदपि नैव ब्रूयात्स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ तथा-अलोलुपः-आहारादिष्वलुब्धः अकुहकः-इन्द्रजालादिकुहकरहितः अमायी कौटिल्यशून्यः अपिशुनश्चापि नो छेदभेदकर्ता अदीनवृत्तिः-आहाराद्यलाभेऽपि शुद्धवृत्तिः नो भावयेद् अकुशलभावनया परं, यथाऽमुकपुरतो भवताऽहं वर्णनीयः नापि च भावितात्मा-स्वयमन्यपुरतः स्वगुणवर्णनापरः अकौतुकश्च सदा नटनर्त्तकादिषु यः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ किंच-गुणैः-अनन्तरोदितैर्विनयादिभिर्युक्तः साधुर्भवति, तथा-अगुणैः-उक्तगुणविपरीतैरसाधुः, एवं सति गृहाण साधुगुणान् मुञ्चासाधुगुणानिति शोभन उपदेशः, एवमधिकृत्य प्राकृतशैल्या विज्ञापयति विविधं ज्ञापयत्यात्मानमात्मना यः, तथा रागद्वेषयोः समः न रागवान्न द्वेषवानिति स पूज्य इति सूत्रार्थः॥११॥ किंच-तथैवे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ति पूर्ववत् डहरं वा महल्लकं वा वाशब्दान्मध्यमं वा स्त्रियं पुमांसमुपलक्षणत्वान्नपुंसकं वा प्रव्रजितं गृहिणं वा वाशब्दादन्यतीर्थिकं वा न हीलयति, नापि च खिंसयति, तत्र सूयया असूयया वा । सकृद् दुष्टाभिधानं हीलनम्, तदेवासकृत्खिसनमिति । हीलनाखिंसनयोश्च निमित्तभूतं स्तम्भं च मानं च क्रोधं च रोषं च त्यजति यः स पूज्यो, निदानत्यागेन तत्त्वतः कार्यत्यागादिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ किं च—ये मानिता अभ्युत्थानादिसत्कारैः सततम्—अनवरतं शिष्यान् मानयन्ति-श्रुतोपदेशं प्रति चोदनादिभिः, तथा यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति-यथा मातापितरः, कन्यां गुणैर्वयसा च संवर्द्ध्य योग्यभर्त्तरि स्थापयन्ति एवमाचार्याः शिष्यं सूत्रार्थवेदिनं दृष्ट्वा महत्याचार्यपदेऽपि स्थापयन्ति । तानेवंभूतान् गुरून्मानयति योऽभ्युत्थानादिना मानार्हान्—मानयोग्यान् तपस्वी सन् जितेन्द्रियः सत्यरत इति, प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषणद्वयं, स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ तेषां गुरूणाम्—अनन्तरोदितानां गुणसागराणां—गुणसमुद्राणां संबन्धीनि श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि—परलोकोपकारकाणि चरति—आचरति मुनिः—साधुः—पञ्चरतः—पञ्चमहाव्रतसक्त -त्रिगुप्तो-मनोगुप्त्यादिमान् चतुःकषायापगत इति-अपगतक्रोधादिकषायो यः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ प्रस्तुतफलाभिधानेनोपसंहरन्नाह-गुरुम्-आचार्यादिरूपम् इह मनुष्यलोके सततम्—अनवरतं परिचर्य—विधिनाऽऽराध्य मुनिः—साधुः, किंविशिष्टो मुनिरित्याह—जिनमतनिपुणः-आगमे प्रवीणः अभिगमकुशलो—लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्षः, स एवंभूतः विधूय रजोमलं पुराकृतं, क्षपयित्वा अष्टप्रकारं कर्मेति भावः, किमित्याह—भास्वरां ज्ञानतेजोमयत्वात् अतुलाम्—अनन्यरूपदर्शी गतिं-सिद्धिरूपां व्रजति—गच्छति तदा जन्मान्तरेण वा सुकुलप्रत्यष्टजात्यादिना प्रकारेण ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥१५॥ दश० ६ अ० ३ उ० ।

कर्मणां द्राग्विनयना-द्विनयो विदुषांमतः ।
अपवर्गफलाढ्यस्य, मूलं धर्मतरोरयम् ॥१॥ (द्वा०) ।
(अस्मिन्नेव शब्दे ११५२ पृष्ठे प्राग् व्याख्यातः ।)

ज्ञानदर्शनचारित्र-तपोभिरुपचारतः ।
अयं च पञ्चधा भिन्नो, दर्शितो मुनिपुङ्गवैः ॥ २ ॥

'ज्ञानेति' ज्ञानादीनां विनयत्वं पूर्वकर्मविनयनादुत्तरकर्माबन्धाच्च द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

प्रतिरूपेण योगेन, तथा नाशातनात्मना ।
उपचारो द्विधा तत्रा-दिमो योगत्रयात्त्रिधा ॥ ३ ॥

प्रतिरूपेणेति-प्रतिरूपेणोचितेन योगेन । तथाऽनाशातनात्मना आशातनाऽभावेन उपचारो द्विधा । तत्रादिमः प्रतिरूपयोगात्मको योगत्रयात्त्रिधा कायिको वाचिको मानसश्चेति ॥ ३ ॥

अभिग्रहासनत्यागा-वभ्युत्थानाञ्जलिग्रहौ ।
कृतिकर्म च शुश्रूषा, गतिः पश्चाच्च संमुखम् ॥ ४ ॥

अभिग्रहेति-अभिग्रहो-गुरुनियोगकरणाभिसन्धिः, आसनत्यागः—आसनदान पीठकाद्युपनयनमित्यर्थः । अभ्युत्थानं निषण्णस्य सहसाऽर्हद्दर्शनेन । अञ्जलिग्रहः—प्रश्नादौ कृतिकर्म च वन्दनम् शुश्रूषा-विधिवददूरासन्नतया सेवनम् । पश्चाद्गतिर्गच्छतः, संमुखं च गतिरागच्छत इति ॥ ४ ॥

कायिकोऽष्टविधश्चायं, वाचिकश्च चतुर्विधः ।
हितं मितं चापरुषं, ब्रुवतोऽनुविचिन्त्य च ॥ ५ ॥

कायिक इति—अयं चाष्टविधः कायिक उपचारः । वाचिकस्तु चतुर्विधः-हितं परिणामसुन्दरं ब्रुवतः प्रथमः, मितं स्तोकाक्षरं ब्रुवतो द्वितीयः, अपरुषं चानिष्ठुरं ब्रुवतस्तृतीयः, अनुविचिन्त्य-स्वालोच्य च ब्रुवतश्चतुर्थ इति ॥ ५ ॥

मानसश्च-द्विधा शुद्ध-प्रवृत्त्याऽसन्निरोधतः ।
छद्मस्थानामयं प्रायः, सकलोऽन्यानुवृत्तितः ॥ ६ ॥

मानसश्चेति-मानसश्चोपचारो द्विधा शुद्धप्रवृत्त्या धर्मध्यानादिप्रवृत्त्या, असन्निरोधत आर्तध्यानादिप्रतिषेधात् अयं च सकलः प्रायः प्रतिरूपो विनयश्छद्मस्थानामन्यानुवृत्तितः आत्मव्यतिरिक्तप्रधानानुवृत्तेः प्रायोग्रहणादज्ञातकेवलभावदशायां केवलिनामपि । अन्यदा तु तेषामप्रतिरूप एव विनयस्तथैव तत्कर्मविनयनोपपत्तेः । तदुक्तम्-" पडिरूवो खलु विणओ, पराणुअत्तिमइओ मुणेअव्वो । अप्पडिरूवो विणओ, णायव्वो केवलीणं तु ॥ १ ॥ " ॥ ६ ॥

अर्हत्सिद्धकुलाचार्यो-पाध्यायस्थविरेषु च ।
गणसंघक्रियाधर्म-ज्ञानज्ञानिगणिष्वपि ॥ ७ ॥

अर्हदिति—अर्हन्तस्तीर्थकराः, सिद्धाः—क्षीणाष्टकर्ममलाः, कुलम्-नागेन्द्रादि, आचार्यः—पञ्चविधाचारानुष्ठाता तत्प्ररूपकश्च । उपाध्यायः-स्वाध्यायपाठकः, स्थविरः—सीदतां स्थिरीकरणहेतुः, गणः—कौटिकादिः, संघः—साध्व्यादिसमुदायः, क्रिया-अस्तिवादरूपा, धर्मः-श्रुतधर्मादिः, ज्ञानम्-मत्यादि, ज्ञानिनस्तद्वन्तः, गणिः-गणाधिपतिः ॥ ७ ॥

अनाशातनया भक्त्या, बहुमानेन वर्णनात् ।
द्विपञ्चाशद्विधः प्रोक्तो, द्वितीयश्चौपचारिकः ॥ ८ ॥

अनाशातनयेति-अनाशातनया-सर्वथाऽहीलनया, भक्त्या उचितोपचाररूपया, बहुमानेनान्तरभावप्रतिबन्धरूपेण, वर्णनात्—सद्भूतगुणोत्कीर्तनात्, द्वितीयश्चानाशातनात्मक औपचारिकविनयो द्विपञ्चाशद्विधः ५२ प्रोक्तः । त्रयोदशपदानां चतुर्भिर्गुणने, यथोक्तसंख्यालाभात् ॥ ८ ॥

एकस्याशातनाऽप्यत्र, सर्वेषामेव तत्त्वतः ।
अन्योऽन्यमनुविद्धा हि, तेषु ज्ञानादयो गुणाः ॥ ९ ॥

एकस्येति-अत्रार्हदादिपदेषु एकस्यापि आशातना तत्त्वतः सर्वेषां हि यतस्तेषु ज्ञानादयो गुणा अन्योन्यमनुविद्धाः, यदेव ह्येकस्य शुद्धं ज्ञानं तदेवापरस्यापि । इत्थं च हीलनाविषयीभूतज्ञानादिसंबन्धस्य सर्वत्राविशेषादेकहीलने सर्वहीलनापत्तेर्दारुणविपाकत्वमवधार्य न कस्यापि हीलना कार्येति भावः ॥ ९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नूनमल्पश्रुतस्यापि, गुरोराचारशालिनः ।
हीलना भस्मसात्कुर्याद्,गुणं वह्निरिवेन्धनम् ॥ १०।

'नूनमिति' नूनं—निश्चितमल्पश्रुतस्याप्यनधीतागमस्यापि कारणान्तरस्थापितस्य गुरोराचार्यस्याचारशालिनः पञ्चविधाचारनिरतस्य हीलना गुणं-स्वगतचारित्रादिकं भस्मसात् कुर्यात्, इन्धनमिव वह्निः ॥ १० ॥

शक्त्यग्रज्वलनव्याल-सिंहक्रोधातिशायिनी ।
अनन्तदुःखजननी, कीर्तिता गुरुहीलना ॥ ११ ॥

शक्त्यग्रेति-शक्तिः-प्रहरणविशेषस्तदग्रं शक्त्यग्रं, ज्वलनोऽग्निः व्यालसिंहयोः-सर्पकेसरिणोः क्रोधः—कोपः, तदतिशायिनी-तेभ्योऽप्यधिका अनन्तदुःखजननी गुरुहीलना कीर्तिता दशवैकालिकं ॥ ११ ॥

पठेद्यस्यान्तिके धर्म-पदान्यस्यापि सन्ततम् ।
कायवाङ्मनसां शुद्धया, कुर्याद्विनयमुत्तमम् ॥ १२ ॥

पठेद्धिति—यस्यान्तिके धर्मपदानि-धर्मफलानि सिद्धान्तपदानि पठेत्। अस्य सन्ततमपि-निरन्तरमपि, न तु सूत्रग्रहणकाल एव, कुशलानुबन्धव्यवच्छेदप्रसङ्गात्। कायवाङ्मनसां शुद्धया उत्तमं विनयं कुर्यात् ॥ १२ ॥

पर्यायेण विहीनोऽपि, शुद्धज्ञानगुणाधिकः ।
ज्ञानप्रदानसामर्थ्या-दतो रत्नाधिकः स्मृतः ॥ १३ ॥

पर्यायेणेति—अतो धर्मपाठकस्य सदा विनयार्हत्वात् पर्यायेण-चारित्रपर्यायेण विहीनोऽपि शुद्धज्ञानगुणेनाधिको ज्ञानप्रदानसामार्थ्यमधिकृत्य रत्नाधिकः स्मृत आवश्यकादौ। स्वापेक्षितरत्नाधिक्येन तत्त्वव्यवस्थितेः। विवेचितमिदं सामाचारीप्रकरणे ॥ १४ ॥

शिल्पार्थमपि सेवन्ते, शिल्पाचार्यं जनाः किल ।
धर्माचार्यस्य धर्मार्थं, किं पुनस्तदतिक्रमः ॥ १४ ॥

शिल्पार्थमिति व्यक्तः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थं विनयं प्राहु-रपि प्रकटसेविनः ।
अत एवापवादेना-न्यथा शास्त्रार्थबाधनम् ॥ १५ ॥

ज्ञानार्थमिति-अत एव ज्ञानादिग्रहणे विनयपूर्वकत्वनियमस्य सिद्धान्तसिद्धत्वादेवापवादेन ज्ञानार्थं प्रकटसेविनोऽपि विनयमाहुः, पर्यायादिकारणेष्वेतदन्तर्भावात्। अन्यथा तथाविधकारणेऽपि तद्विनयानादरे शास्त्रार्थबाधनं-शास्त्राज्ञाव्यतिक्रमः। तदुक्तम्-"पयाइँ अकुव्वंतो, जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे। ण हवइ पवयणभत्ती, अभत्तिमंतादओ दोसा ॥१॥"।

नन्वेवमपवादतोऽपि प्रकटप्रतिषेविणोऽगृहीतग्रहिलनृपन्यायेन द्रव्यवन्दनमेव यदुक्तं तद्भङ्गापत्तिर्ज्ञानगुणबुद्धया तद्वन्दने भाववन्दनावतारादित्याशङ्कय तदुक्तिप्रायिकत्वाभिप्रायेण समाधत्ते-

न चैवमस्य भावत्वाद्, द्रव्यतोक्तिर्विरुध्यते ।
सद्भावकारणत्वोक्ते-र्भावस्याप्यागमाख्यया ॥ १६ ॥

न चैवमिति—न चैवं ज्ञानार्थं प्रकटप्रतिषेविणोऽपि विनयकरणेऽस्य ज्ञानार्थविनयस्य भावत्वाद्द्रव्यत्वोक्तिरापवादिकविनयस्योपदेशपदादिप्रसिद्धा विरुध्यते, भावस्यापि आगमाख्यया—आगमनाम्ना सद्भावकारणत्वोक्तः पुद्गलस्वनत्ववचनादस्वारसिककारणस्थल एवोक्तनियमादिति। भावलेशस्तु मार्गानुसारी यत्र क्वचिदपि मार्गोद्भासनार्थे वन्दनादिविनयार्हतानिमित्तमेव श्रूयते। यदुक्तं बृहत्कल्पभाष्ये-" दंसणनाणचरित्तं, तवविणयं जत्थ जत्तियं पासे। जिणपन्नत्तं भत्ती-इ पूयए तं तहिं भावं " ॥ १६ ॥

विनयेन विना न स्या-ज्जिनप्रवचनोन्नतिः ।
पयःसेकं विना किं वा, वर्धते भुवि पादपः ॥ १७ ॥

विनयं ग्राह्यमाणो यो, मृदूपायेन कुप्यति ।
उत्तमां श्रियमायान्तीं, दण्डेनापनयत्यसौ ॥ १८ ॥

त्रैलोक्येऽपि विनीतानां, दृश्यते सुखमङ्गिनाम् ।
त्रैलोक्येऽप्यविनीतानां, दृश्यतेऽसुखमङ्गिनाम् ॥१९॥

ज्ञानादिविनयेनैव, पूज्यत्वाप्तिः श्रुतोदिता ।
गुरुत्वं हि गुणापेक्षं, न स्वेच्छामनुधावति ॥ २० ॥

विनये च श्रुते चैव, तपस्याचार एव च ।
चतुर्विधः समाधिस्तु, दर्शितो मुनिपुङ्गवैः ॥ २१ ॥

शुश्रूषति विनीतः सन्, सम्यगेवावबुध्यते ।
यथावत् कुरुते चार्थं, मदेन च न माद्यति ॥ २२ ॥

श्रुतमेकाग्रता वा मे, भविताऽऽत्मानमेव वा ।
स्थापयिष्यामि धर्मेऽन्यं, वेत्यध्येति सदागमम् ॥२३॥

कुर्यात्तपस्तथाऽऽचारं, नैहिकामुष्मिकाशया ।
कीर्त्याद्यर्थं च नो किं तु, निष्कामो निर्जराकृते ॥ २४ ॥

इत्थं समाहिते स्वान्ते, विनयस्य फलं भवेत् ।
स्पर्शाख्यं स हि तत्त्वाप्ति-र्बोधमात्रं परः पुनः ॥ २५ ॥

अक्षेपफलदः स्पर्श-स्तन्मयी भावतो मतः ।
यथा सिद्धरसस्पर्श-स्ताम्रे सर्वानुवेधतः ॥ २६ ॥

इत्थं च विनयो मुख्यः, सर्वानुगमशक्तितः ।
मिष्टान्नेष्विव सर्वेषु, निपतन्निक्षुजो रसः ॥ २७ ॥

दोषाः किल तमांसीव, क्षीयन्ते विनयेन च ।
प्रसृतेनांशुजालेन, चण्डमार्तण्डमण्डलात् ॥ २८ ॥

श्रुतस्याप्यतिदोषाय, ग्रहणं विनयं विना ।
यथा महानिधानस्य, विमानधनसन्निधिम् ॥ २९ ॥

विनयस्य प्रधानत्व-द्योतनायैव पर्षदि ।
तीर्थं तीर्थपतिर्नत्वा, कृतार्थोऽपि कथां जगौ ॥ ३० ॥

छिद्यते विनयो यैस्तु, शुश्रूषोऽपि परैरपि ।
तैरप्यग्रेसरीभूय, मोक्षमार्गो विलुप्यते ॥ ३१ ॥

नियुङ्क्ते यो यथास्थान-मेनं तस्य तु सन्निधौ ।
स्वयंवराः समायान्ति, परस्य रतिसंपदः ॥ ३२ ॥

अर्थः स्पष्टः ॥ ३२ ॥ द्वा० २९ द्वा० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदेवं प्रव्रज्यामभ्युद्यतो नित्यं गुरुकुलवासमावसन् सर्वत्र स्थानशयनासनादावुपयुक्तो भवति तदुपयुक्तस्य च गुणमुद्भावयन्नाह—

जे ठाणश्रो य सयणासणे य,
 परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते ।
समितीसु गुत्तीसु य आयपन्ने ,
 वियागरिंते य पुढो वएज्जा ॥ ५ ॥

सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि ,
 अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा ,
 कहं कहं वा वितिगिच्छतिन्ने ॥ ६ ॥

डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिए उ,
 रातिणिएणावि समव्वएणं ।
सम्मं तयं थिरतो णाभिगच्छे ,
 णिज्जंतए वावि अपारए से ॥ ७ ॥

विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे ,
 डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य ।
अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा ,
 अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे ॥ ८ ॥

यो हि निर्विण्णसंसारतया प्रव्रज्यामभ्युद्यतो नित्यं गुरुकुलवासतः स्थानतश्च-स्थानमाश्रित्य तथा शयनतः-आसनतः, एकश्चकारः समुच्चये, द्वितीयोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, चकाराद्गमनमाश्रित्यागमनं च तथा तपश्चरणादौ पराक्रमतश्च (सु) साधोः-उद्युक्तविहारिणो ये समाचारास्तैः समायुक्तः सुसाधुयुक्तः; सुसाधुर्हि यत्र स्थानं—कायोत्सर्गादिकं विधत्ते तत्र सम्यक् प्रत्युपेक्षणादिकां क्रियां करोति। कायोत्सर्गे च मेरुरिव निष्प्रकम्पः शरीरनिःस्पृहो विधत्ते, तथा शयनं च कुर्वन् प्रत्युपेक्ष्य संस्तारकं तद्धुवं कायं चोचितकाले गुरुभिरनुज्ञातः स्वपेत्, तत्रापि जाग्रदिव नात्यन्तं निःसह इति। एवमासनादिष्वपि तिष्ठता पूर्ववत्संकुचितगात्रेण स्वाध्यायध्यानपरायणेन सुसाधुना भवितव्यमिति। तदेवमादिसुसाधुक्रियायुक्तो गुरुकुलनिवासी सुसाधुर्भवतीति स्थितम्। अपि च-गुरुकुलवासे निवसन् पञ्चसु समितिष्वीर्यासमित्यादिषु प्रविचाररूपासु, तथा तिसृषु च गुप्तिषु प्रविचाराप्रविचाररूपासु, आगता-उत्पन्ना प्रज्ञा यस्यासावागतप्रज्ञः-संजातकर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकः-स्वतो भवति, परस्यापि च व्याकुर्वन्-कथयन् पृथक् पृथग् गुरोः प्रसादात् परिज्ञातस्वरूपः समितिगुप्तीनां यथावस्थितस्वरूपप्रतिपालनम् तत्फलं च वदेत्-प्रतिपादयेदिति ॥५॥ ईर्यासमित्याद्युपेतेन यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह-शब्दान्-वेणुवीणादिकान् मधुरान्-श्रुतिपेशलान् श्रुत्वा-समाकर्ण्य, अथवा-भैरवान्-भयावहान् कर्णकटूनाक्रर्ण्य शब्दान् आश्रवति तान् शोभनत्वेन अशोभनत्वेन वा गृह्णातीत्याश्रवो नाश्रवोऽनाश्रवः, तेष्वनुकूलेषु प्रतिकूलेषु श्रवणपथमुपगतेषु शब्देष्वनाश्रवो-मध्यस्थो-रागद्वेषरहितो भूत्वा परि-समन्ताद् व्रजेत् परिव्रजेत्—संयमानुष्ठायी भवेत्, तथा-निद्रां च-निद्राप्रमादं च भिक्षुः—सत्साधुः प्रमादाङ्गत्वान्न कुर्यात्। एतदुक्तं भवति—शब्दाश्रवनिरोधेन विषयप्रमादो निषिद्धो निद्रानिरोधेन च निद्राप्रमादः, चशब्दादन्यमपि प्रमादं विकथाकषायादिकं न विदध्यात्। तदेवं गुरुकुलवासात् स्थानशयनासनसमितिगुप्तिष्वागतप्रज्ञः प्रतिषिद्धसर्वप्रमादः सन् गुरोरुपदेशादेव कथं कथमपि विचिकित्सां—चित्तविप्लुतिरूपां (वि) तीर्णः-अतिक्रान्तो भवति, यदि वा—मद्गृहीतोऽयं पञ्चमहाव्रतभाराऽतिदुर्वहः कथं कथमप्यन्तं गच्छेत्; इत्येवंभूतां विचिकित्सां गुरुप्रसादाद्वितीर्णो भवति, अथवा-यां काञ्चिच्चित्तविप्लुतिं देशसर्वगतां तां कृत्स्नां गुर्वन्तिके वसन् वितीर्णो भवति अन्येषामपि तदपनयनसमर्थः स्यादिति ॥ ६ ॥ किञ्चान्यत्-स गुर्वन्तिके निवसन् क्वचित् प्रमादस्खलितः सन् वयःपर्यायाभ्यां क्षुल्लकेन—लघुना चोदितः—प्रमादाचरणं प्रति निषिद्धः, तथा वृद्धेन वा—वयोऽधिकेन श्रुताधिकेन वा अनुशासितः-अभिहितः, तद्यथा-भवद्विधानामिदमीदृक्प्रमादाचरणमासेवितुमयुक्तं, तथा रत्नाधिकेन वा-प्रव्रज्यापर्यायाधिकेन श्रुताधिकेन वा समवयसा वा अनुशासितः—प्रमादस्खलिताचरणं प्रति चोदितः कुप्यति यथा अहमप्यनेन द्रमकप्रायेणोत्तमकुलप्रसूतः सर्वजनसंमत इत्येवं चोदितः-इत्येवमनुशास्यमानो न मिथ्यादुष्कृतं ददाति न सम्यगुत्थानेनोत्तिष्ठति नापि तदनुशासनं सम्यक् स्थिरतः-अपुनःकरणतयाऽभिगच्छेत्—प्रतिपद्येत, चोदितश्च प्रतिचोदयेद्, असम्यक्प्रतिपद्यमानश्चासौ संसारस्रोतसा नीयमान—उह्यमानोऽनुशास्यमानः कुपितोऽसौ न संसारार्णवस्य पारगो भवति। यदि वा—आचार्यादिना सदुपदेशदानतः प्रमादस्खलितनिवर्तनतो मोक्षं प्रति नीयमानोऽप्यसौ संसारसमुद्रस्य तदकरणतोऽपारग एव भवतीति ॥ ७ ॥ साम्प्रतं स्वपक्षचोदनानन्तरतः (२) स्वपरचोदनमधिकृत्याह-विरुद्धोत्थानेनोत्थितो व्युत्थितः-परतीर्थिको गृहस्थो वा मिथ्यादृष्टिस्तेन प्रमादस्खलिते चोदितः स्वसमयेन, तद्यथा—नैवंविधमनुष्ठानं भवतामागमे व्यवस्थितं येनाभिप्रवृत्तोऽसि, यदिवा—व्युत्थितः—संयमाद् भ्रष्टस्तेनापरः साधुः स्खलितः सन् स्वसमयेन—अर्हत्प्रणीतागमानुसारेणानुशासितो मूलोत्तरगुणाचरणे स्खलितः सन् चोदितः—आगमं प्रदर्श्याभिहितः, तद्यथा-नैतत्त्वरितगमनादिकं भवतामनुज्ञातमिति, तथा अन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना क्षुल्लकेन—लघुतरेण वयसा वृद्धेन वा कुत्सिताचारप्रवृत्तश्चोदितः, तुशब्दात्समानवयसा वा तथा अतीवकार्यकरणं प्रति उत्थिता अत्युत्थिताः, यदि वा-दासीत्वेन अत्यन्तमुत्थिता दास्या अपि दासीति तामेव विशिनष्टि—घटदास्या—जलवाहिन्याऽपि चोदितो न क्रोधं कुर्यात्, एतदुक्तं भवति-अत्युत्थितयाऽतिकुपितयाऽपि चोदितः स्वहितं मन्यमानः सुसाधुर्न कुप्येत् किं पुनरन्येनेति। तथा अगारिणां-गृहस्थानां यः समयः—अनुष्ठानं तत्समयेनानुशासितो, गृहस्थानामपि एतन्न युज्यते कर्तुं यदारब्धं भवतेत्येवमात्मावमेनापि चोदितो ममैवैतच्छ्रेयः इत्येवं मन्यमानो मनागपि न मनो दूषयेदिति ॥ ८ ॥

२९५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतदेवाह—

ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा,
णा यावि किंची फरुसं वदेज्जा।
तहा करिस्संति पडिस्सुणेज्जा,
सेयं खु मेयं ण पमाय कुज्जा ॥ ९ ॥

वणंसि मूढस्स जहा अमूढा,
मग्गाणुसासंति हितं पयाणं।
तेणेव (तेणावि) मज्झं इणमेव सेयं,
जं मे बुहा समणुसासयंति ॥ १० ॥

अह तेण मूढेण अमूढगस्स,
कायव्व पूया सविसेसजुत्ता।
एओवमं तत्थ उदाहु वीरे,
अणुगम्म अत्थं उवणेति सम्मं ॥ ११ ॥

णेता जहा अंधकारंसि रात्रो,
मग्गं ण जाणाति अपस्समाणे।
से सूरिअस्स अब्भुग्गमेणं,
मग्गं वियाणाइ पगासियंसि ॥ १२ ॥

तेषु-स्वपरपक्षेषु स्खलितचोदकेष्वात्महितं मन्यमानो न क्रुध्येद् अन्यस्मिन् वा दुर्वचनेऽभिहिते न कुप्येद् एवं च चिन्तयेत्-"आक्रुष्टेन मतिमता, तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या। यदि सत्यं कः कोपः?, स्यादनृतं किं नु कोपेन ? ॥१॥" तथा नाप्यपरेण स्वतोऽधमेनापि चोदितोऽर्हन्मार्गानुसारेण लोकाचारगत्या वाऽभिहितः परमार्थं पर्यालोच्य तं चोदकं प्रकर्षेण व्यथेत्-दण्डादिप्रहारेण पीडयेत्, न चापि किञ्चित्परुषं तत्पीडादिकारि वदेत्-ब्रूयात्, ममैवायमसदनुष्ठायिनो दोषो येनायमपि मामेवं चोदयति, चोदितश्चैवंविधं भवता असदाचरणं न विधेयमेवंविधं च पूर्वर्षिभिरनुष्ठितमनुष्ठेयमित्येवंविधं वाक्यं तथा करिष्यामीत्येवं मध्यस्थवृत्त्या प्रतिशृणुयाद् अनुतिष्ठेच्च-मिथ्यादुष्कृतादिना निवर्त्तेत, यदेतच्चोदनं नामैतन्ममैव श्रेयो, यत एतद्भयात्कचित्पुनः प्रमादं न कुर्यान्नैवासदाचरणमनुतिष्ठेदिति ॥९॥ अस्यार्थस्य दृष्टान्तं दर्शयितुमाह-वने-गहने महाटव्यां दिग्भ्रमेण कस्यचिद् व्याकुलितमतेर्नष्टसत्पथस्य यथा केचिदपरे कृपाकृष्टमानसा अमूढाः-सदसन्मार्गज्ञाः कुमार्गपरिहारेण प्रजानां हितम्-अशेषापायरहितमीप्सितस्थानप्रापकं मार्गं-पन्थानम् अनुशासन्ति प्रतिपादयन्ति, स च तैः सदसद्विवेकिभिः सन्मार्गावतरणमनुशासित आत्मनः श्रेयो मन्यते, एवं तेनाप्यसदनुष्ठायिना चोदितेन न कुपितव्यम्, अपि तु-ममायमनुग्रह इत्येवं मन्तव्यम्, यदेतद् बुद्धाः सम्यगनुशासयन्ति सन्मार्गेऽवतारयन्ति पुत्रमिव पितरः तन्ममैव श्रेय इति मन्तव्यम् ॥ १० ॥ पुनरप्यस्यार्थस्य पुष्ट्यर्थमाह—अथेत्यानन्तर्यार्थे, वाक्योपन्यासार्थे वा, यथा तेन-मूढेन सन्मार्गावतारितेन तदनन्तरं तस्य अमूढस्य-सत्पथोपदेष्टुः पुलिन्दादेरपि परमुपकारं मन्यमानेन पूजा विशेषयुक्ता कर्त्तव्या, एवमेतामुपमाम् उदाहृतवान्-अभिहितवान् वीरः-तीर्थकरोऽन्यो वा गणधरादिकः अनुगम्य-बुद्ध्वा अर्थं-परमार्थं चोदनाकृतं परमोपकारं सम्यगात्मन्युपनयति, तद्यथा-अहमनेन मिथ्यात्ववनाज्जन्मजरामरणाद्यनेकोपद्रवबहुलात्सदुपदेशदानेनोत्तारितः, ततो मयाऽस्य परमोपकारिणोऽभ्युत्थानविनयादिभिः पूजा विधेयेति। अस्मिन्नर्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति तद्यथा-"गेहम्मि अग्गिजाला-उलम्मि जह णाम डज्झमाणम्मि। जो बोहेइ सुयंतं, सो तस्स जणो परमबंधू ॥ १ ॥ जह वा विससंजुत्तं, भत्तं निद्धमिह भोत्तुकामस्स। जो वि सदोसं साहइ, सो तस्स जणो परमबंधू ॥ २ ॥" ॥ ११ ॥ अयमपरः सूत्रेणैव दृष्टान्तोऽभिधीयते-यथाहि सजलजलधराच्छादितबहलान्धकारायां रात्रौ नेता-नायकोऽटव्यादौ स्वभ्यस्तप्रदेशोऽपि मार्गं—पन्थानमन्धकारावृत्तत्वात्स्वहस्तादिकमपश्यन्न जानाति-न सम्यक् परिच्छिनत्ति। स एव प्रणेता सूर्यस्य-आदित्यस्याभ्युद्गमेनापनीते तमसि प्रकाशिते दिक्चक्रे सम्यगाविर्भूते पाषाणदरिनिम्नोन्नतादिके मार्गे जानाति-विवक्षितप्रदेशप्रापकं पन्थानमभिव्यक्तचक्षुः परिच्छिनत्ति-दोषगुणविचारणातः सम्यगवगच्छतीति।१२।

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याऽऽह—

एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे,
धम्मं न जाणाइ अबुज्झमाणे।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा,
सूरोदये पासति चक्खुणेव ॥ १३ ॥

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावरा जे य पाणा।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा,
मणप्पओसं अविकंपमाणे ॥ १४ ॥

कालेण पुच्छे समियं पयासु,
आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं।
तं सोयकारी (य) पुढोपवेसे,
संखा इमं केवलियं समाहिं ॥ १५ ॥

अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी,
एएसु या संति निरोहमाहु।
ते एव मक्खंति तिलोगदंसी,
ण भुज्जमेयंति पमायसंगं ॥ १६ ॥

यथा ह्यसावन्धकारावृतायां रजन्यामतिगहनायामटव्यां मार्गं न जानाति सूर्योद्गमेनापनीते तमसि पश्चाज्जानाति एवं तु शिष्यकः-अभिनवप्रव्रजितोऽपि सूत्रार्थानिष्पन्नः अपुष्टः-अपुष्कलः सम्यगपरिज्ञातो धर्मः-श्रुतचारित्राख्यो दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावो येनासावपुष्टधर्मा, स चागीतार्थः—सूत्रार्थानभिज्ञत्वादबुध्यमानो धर्मं न जानातीति-न सम्यक् परिच्छिनत्ति, स एव तु पश्चाद् गुरुकुलवासाज्जिनवचनेन कोविदः-अभ्यस्तसर्वज्ञप्रणीतागमत्वान्निपुणः सूर्योदयेऽपगतावरणचक्षुषे यथावस्थितान् जीवादीन् पदार्थान् पश्यति। इदमुक्तं भवति-यथा हि इन्द्रि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यार्थसंपर्कात्साक्षात्कारितया परिस्फुटा घटपटादयः पदार्थाः प्रतीयन्ते एवं सर्वज्ञप्रणीतागमेनापि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्वर्गापवर्गदेवतादयः परिस्फुटा निःशङ्कं प्रतीयन्त इति । अपि च—कदाचिच्चक्षुषाऽन्यथाभूतोऽप्यर्थोऽन्यथा परिच्छिद्यते, तद्यथा-मरुमरीचिकानिचयो जलभ्रान्त्या किंशुकनिचयोऽग्न्याकारेणापीति । न च सर्वज्ञप्रणीतस्यागमस्य क्वचिदपि व्यभिचारः, तद्व्यभिचारे हि सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्गात्, तत्संभवस्य चासर्वज्ञेन प्रतिपेद्धुमशक्यत्वादिति ॥ १३ ॥ शिक्षको हि गुरुकुलवासितया जिनवचनाभिज्ञो भवति, तत्कोविदश्च मूलोत्तरगुणान् जानाति, तत्र मूलगुणानधिकृत्याह-ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् दिक्षु विदिक्षु चेत्यनेन क्षेत्रमङ्गीकृत्य प्राणातिपातविरतिरभिहिता, द्रव्यतस्तु दर्शयति—त्रस्यन्तीति त्रसाः—तेजोवाय्वादिद्वीन्द्रियादयश्च, तथा ये च स्थावराः-स्थावरनामकर्मोदयवर्तिनः पृथिव्यब्वनस्पतयः, तथा ये चैतद्भेदाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकाऽपर्याप्तकरूपा दशविधप्राणधारणात्प्राणिनस्तेषु, सदा-सर्वकालम्, अनेन तु कालमधिकृत्य विरतिरभिहिता, यतः परिव्रजेत्-परि-समन्ताद् व्रजेत् संयमानुष्ठायी भवेत्, भावप्राणातिपातविरतिं दर्शयति-स्थावरजङ्गमेषु प्राणिषु तदपकारे उपकारे वा मनागपि मनसा प्रद्वेषं न गच्छेद्, आस्तां तावद् दुर्वचनदण्डप्रहारादिकं, तेष्वपकारिष्वपि मनसाऽपि न मङ्गुलं चिन्तयेद्, अविकम्पमानः-संयमादचलन् सदाचारमनुपालयेदिति । तदेवं योगत्रिककरणत्रिकेण द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपां प्राणातिपातविरतिं सम्यगरक्तद्विष्टतयाऽनुपालयेद् एवं शेषाण्यपि महाव्रतान्युत्तरगुणांश्च ग्रहणासेवनाशिक्षासमन्वितः सम्यगनुपालयेदिति ॥ १४ ॥ गुरोरन्तिके वसतो विनयमाह-सूत्रार्थं तदुभयं वा विशिष्टेन-प्रष्टव्यकालेनाचार्यादेरवसरं ज्ञात्वा प्रजायन्त इति प्रजा-जन्तवस्तासु प्रजासु जन्तुविषये चतुर्दशभूतग्रामसंबद्धं कञ्चिदाचार्यादिकं सम्यगितं-सदाचारानुष्ठायिनं सम्यग् वा समन्ताद्वा जन्तुगतं पृच्छेदिति । स च तेन पृष्ट आचार्यादिराचक्षाणः शुश्रूषयितव्यो भवति । यदाचक्षाणस्तद्दर्शयति-मुक्तिगमनयोग्यो भव्यो द्रव्यं रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यं तस्य द्रव्यस्य-वीतरागस्य तीर्थकरस्य वा वृत्तम्-अनुष्ठानं संयमं ज्ञानं वा तत्प्रणीतमागमं वा सम्यगाचक्षाणः सपर्योऽयं माननीयो भवति । कथमित्याह-' तद् ' आचार्यादिना कथितं श्रोत्रे-कर्णे कर्तुं शीलमस्य श्रोत्रकारी-यथोपदेशकारी आज्ञाविधायी सन् पृथक् पृथगुपन्यस्तमादरेण हृदये प्रवेशयेद्-चेतसि व्यवस्थापयेत् । व्यवस्थापनीयं दर्शयति-संख्याय-सम्यक् ज्ञात्वा ' इम ' मिति वक्ष्यमाणं केवलिन इदं कैवलिकं-केवलिना कथितं समाधिं सन्मार्गं सम्यग्ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमाचार्यादिना कथितं यथोपदेशं प्रवर्तकः पृथग् विविक्तं हृदये पृथग्व्यवस्थापयेदिति ॥ १५ ॥ किंचान्यत्-अस्मिन् गुरुकुलवासे निवसता यच्छ्रुतं श्रुत्वा च सम्यक् हृदयव्यवस्थापनद्वारेणावधारितं तस्मिन् समाधिभूते मोक्षमार्गे सुष्ठु स्थित्वा त्रिविधेनेति-मनोवाक्कायकर्मभिः कृतकारितानुमतिभिर्वाऽऽत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी जन्तूनां सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीलो वा तस्य स्वपरत्रायिणः, एतेषु च समितिगुप्त्यादिषु समाधिमार्गेषु स्थितस्य शान्तिर्भवति अशेषद्वन्द्वोपरमो भवति । तथा निरोधम्-अशेषकर्मक्षयरूपम् आहुः—तद्विदः प्रतिपादितवन्तः । क एवमाहुरित्याह—त्रिलोकम्—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणं द्रष्टुं शीलं येषां ते त्रिलोकदर्शिनः तीर्थकृतः सर्वज्ञास्ते एवम् अनन्तरोक्तया नीत्या सर्वभावान् केवलालोकेन दृष्ट्वा आचक्षते-प्रतिपादयन्तीति । एतदेव समितिगुप्त्यादिकं संसारोत्तारणसमर्थं ते त्रिलोकदर्शिनः कथितवन्तो न पुनर्भूय एतं (नं) प्रमादसङ्गं मद्यविषयादिकं सम्बन्धं विधेयत्वेन प्रतिपादितवन्तः ॥ १६ ॥

किञ्चान्यत्—

निसम्म से भिक्खू समीहियऽट्ठं,
पडिभाणवं होइ विसारए य ।
आयाण अट्ठी वोदाणमोणं,
उवेच्च सुद्धेण उवेति मोक्खं ॥ १७ ॥

स गुरुकुलवासी भिक्षुः द्रव्यस्य वृत्तं निशम्य-अवगम्य स्वतः समीहितं चार्थं—मोक्षार्थं बुद्ध्वा हेयोपादेयं सम्यक् परिज्ञाय नित्यं गुरुकुलवासतः प्रतिभानवान्-उत्पन्नप्रतिभो भवति, तथा सम्यक् स्वसिद्धान्तपरिज्ञानाच्छ्रोतॄणां यथावस्थितार्थानां विशारदो भवति-प्रतिपादको भवति । मोक्षार्थिनाऽऽदीयत इत्यादानं-सम्यग्ज्ञानादिकं तेनार्थः स एव वाऽर्थः आदानार्थः स विद्यते यस्यासावादानार्थी, स एवंभूतो ज्ञानादिप्रयोजनवान् व्यवदानं-द्वादशप्रकारं तपो मौनं-संयम आश्रवनिरोधरूपस्तदेवमेतौ तपःसंयमावुपेत्य-प्राप्य ग्रहणासेवनरूपया द्विविधयाऽपि शिक्षया समन्वितः सर्वत्र प्रमादरहितः प्रतिभानवान् विशारदश्च शुद्धेन-निरुपाधिना उद्गमादिदोषशुद्धेन चाहारेणात्मानं यापयन्नशेषकर्मक्षयलक्षणं मोक्षमुपैति 'न उवेइमारं' ति क्वचित्पाठः, बहुशो म्रियन्ते स्वकर्मपरवशाः प्राणिनो यस्मिन् स मारः-संसारस्तं जातिजरामरणरोगशोकाकुलं शुद्धेन मार्गेणात्मानं वर्तयन् न उपैति । यदि वा-मरणं-प्राणत्यागलक्षणं मारस्तं बहुशो नोपैति । तथाहि-अप्रतिपतितसम्यक्त्व उत्कृष्टतः सप्ताष्टौ वा भवान् म्रियते नोर्ध्वमिति ॥१७॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । (गुरुकुलनिवासितया धर्मे सुस्थिता बहुश्रुता प्रतिभानवन्तोऽर्थविशारदाश्च सन्तो यत्कुर्वन्ति तद्दर्शितम् ' धम्मकहा ' शब्दे चतुर्थभागे २७१२ पृष्ठे ।)

स च प्रश्नमुदाहरन् कदाचिदन्यथाऽपि
ब्रूयादतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह—

णो छायए णोऽवि य लूसएज्जा,
माणं ण सेवेज्ज पगासणं च ।
ण याऽवि पन्ने परिहास कुज्जा,
ण याऽऽसिया वा य वियागरेज्जा ॥ १६ ॥
भूताभिसंकाइ दुगुंछमाणे,
ण णिव्वहे मंतपदेण गोयं ।
ण किंचि मिच्छे मणुए पयासुं,
असाहु धम्माणि ण संवएज्जा ॥ २० ॥

सः—प्रश्नस्योदाहर्ता सर्वार्थाश्रयत्वाद्रत्नकरण्डकल्पः कुत्रिकापणकल्पो वा चतुर्दशपूर्विणामन्यतरो वा क—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्चिदाचार्यादिभिः प्रतिभानवान् अर्थविशारदस्तदेवंभूतः कुतश्चिन्निमित्तात् श्रोतुः कुपितोऽपि सूत्रार्थं न छादयेत्—नान्यथा व्याख्यानयेत् स्वाचार्यं वा नापलपेत् धर्मकथां वा कुर्वन्नार्थं छादयेद् आत्मगुणोत्कर्षाभिप्रायेण वा परगुणान्न छादयेत्। तथा परगुणान्न लूषयेत्–न विडम्बयेत्, शास्त्रार्थं वा नापसिद्धान्तेन व्याख्यानयेत्। तथा समस्तशास्त्रवेत्ताऽहं सर्वलोकविदितः समस्तसंशयापनेता न मत्तुल्यो हेतुयुक्तिभिरर्थप्रतिपादयितेत्येवमात्मकं मानम्–अभिमानं–गर्वं न सेवेत, नाप्यात्मनो बहुश्रुतत्वेन तपस्वित्वेन वा प्रकाशनं कुर्यात्। चशब्दादन्यदपि पूजासत्कारादिकं परिहरेत्। तथा न चापि प्रज्ञावान्–सश्रुतिकः परिहासं–केलिप्रायं ब्रूयाद्, यदिवा—कथंचिद्बुध्यमाने श्रोतरि तदुपहासप्रायं परिहासं न विदध्यात्। तथा नापि चाशीर्वादं बहुपुत्रो बहुधनो [बहुधर्मो] दीर्घायुस्त्वं भूया इत्यादि व्यागृणीयात्। भाषासमितियुक्तेन भाव्यमिति ॥ १६ ॥ किं निमित्तमाशीर्वादो न विधेय इत्याह—भूतेषु–जन्तुषु उपमर्दशङ्का–भूताभिशङ्का तयाऽऽशीर्वादं सावद्यं—सपापं जुगुप्समानो न ब्रूयात्, तथा गा(त्रा)यत इति गोत्रं—मौनं वाक्संयमस्तं मन्त्रपदेन—विद्याप्रमार्जनविधिना न निर्वाहयेत्–न निःसारं कुर्यात्। यदिवा–गोत्रं–जन्तूनां जीवितं मन्त्रपदेन राजादिगुप्तभाषणपदेन राजादीनामुपदेशदानतो न निर्वाहयेत्–नापनयेत्। एतदुक्तं भवति—न राजादिना सार्धं जन्तुजीवितोपमर्दकं कुर्यात्, तथा प्रजायन्त इति प्रजाः–जन्तवस्तासु प्रजासु मनुजो–मनुष्यो व्याख्यानं कुर्वन् धर्मकथां वा न किमपि लाभपूजासत्कारादिकम् इच्छेद्–अभिलषेत्। तथा कुत्सितानाम्–असाधूनां धर्मान्–वस्तुदानतर्पणादिकान् न संवदेत्–न ब्रूयाद्, यदिवा–नासाधुधर्मान् ब्रुवन् संवादयेद्, अथवा–धर्मकथां व्याख्यानं वा कुर्वन् प्रजास्वात्मश्लाघारूपां कीर्तिं नेच्छेदिति ॥ २० ॥

किञ्चान्यत्—

हासं पि णो संधति पावधम्मे,
 ओए तहीयं फरुसं वियाणे।
णो तुच्छए णो य वि कंथइज्जा,
 अणाइले वा अकसाइ भिक्खू ॥ २१ ॥

संकेज्ज याऽसंकितभावभिक्खू,
 विभज्जवायं च वियागरेज्जा।
भासादुयं धम्म समुट्ठितेहिं।
 वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥ २२ ॥

अणुगच्छमाणे वितहं विजाणे,
 तहा तहा साहु अकक्कसेणं।
ण कत्थई भास विहिंसइज्जा,
 निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा ॥ २३ ॥

समालवेज्जा पडिपुन्नभासी,
 निसामिया समिया अट्ठदंसी।
आणाइसुद्धं वयणं भिउंजे,
 अभिसंधए पावविवेग भिक्खू ॥ २४ ॥

यथा परात्मनोर्हास्यमुत्पद्यते तथा शब्दादिकं शरीरावयवमन्यान् वा पापधर्मान् सावधान् मनोवाक्कायव्यापारान् न संधयेत्—न विदध्यात्, तद्यथा—इदं छिन्धि भिन्धि। तथा कुप्रावचनिकान् हास्यप्रायं नोत्प्रासयेत्, तद्यथा—शोभनं भवदीयं व्रतं, तद्यथा–" मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे। द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥ १ ॥ " इत्यादिकं परदोषोद्भावनप्रायं पापबन्धकमिति कृत्वा हास्येनापि न वक्तव्यम्। तथा–' ओजो ' रागद्वेषरहितः स बाह्याभ्यन्तरग्रन्थत्यागाद्वा निष्किञ्चनः सन् तथ्यमिति परमार्थतः सत्यमपि परुषं वचोऽपरचेतोविकारि ज्ञपरिज्ञया विजानीयात् प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरेत्। यदि वा—रागद्वेषविरहादोजाः तथ्यं—परमार्थभूतमकृत्रिममप्रतारकं परुषं—कर्मसंश्लेषाभावाच्निर्ममत्वाद्–लपसत्त्वैर्दुरनुष्ठेयत्वाद्वा कर्कशमन्तप्रान्ताहारोपभोगाद्वा परुषं–संयमं विजानीयात्—तदनुष्ठानतः सम्यगवगच्छेत्। तथा स्वतः कञ्चिदर्थविशेषं परिज्ञाय पूजासत्कारादिकं वाऽवाप्य न तुच्छो भवेत्–नोन्मादं गच्छेत्। तथा न विकत्थयेत्–नात्मानं श्लाघयेत् परं वा सम्यगनवबुध्यमानः नो विकत्थयेत्–नात्यन्तं चमढयेत्। तथा अनाकुलो—व्याख्यानावसरे धर्मकथावसरे वाऽनाविलो लाभादिनिरपेक्षो भवेत्, तथा सर्वदा अकषायः–कषायरहितो भवेद् भिक्षुः–साधुरिति ॥ २१ ॥ साम्प्रतं व्याख्यानविधिमधिकृत्याह—भिक्षुः–साधुर्व्याख्यानं कुर्वन्नर्वाग्दर्शित्वादर्थनिर्णयं प्रति अशङ्कितभावोऽपि शङ्केत–औद्धत्यं परिहरन्नहमेवार्थस्य वेत्ता नापरः कश्चिदित्येवं गर्वं न कुर्वीत, किन्तु–विषममर्थं प्ररूपयन् साशङ्कमेव कथयेद्, यदि वा–परिस्फुटमप्यशङ्कितभावमप्यर्थं न तथा कथयेत् यथा परः शङ्केत, तथा विभज्यवादं–पृथगर्थनिर्णयवादं व्यागृणीयात्, यदिवा–विभज्यवादः–स्याद्वादस्तं सर्वत्रास्खलितं लोकव्यवहाराविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेद्, अथवा–सम्यगर्थान् विभज्य–पृथक् कृत्वा तद्वादं वदेत्, तद्यथा–नित्यवादं द्रव्यार्थतया; पर्यायार्थतया त्वनित्यवादं वदेत्। तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति, परद्रव्यादिभिस्तु न सन्ति, तथा चोक्तम्–" सदैव सर्वं को नेच्छे–त्स्वरूपादिचतुष्टयात्। असदेव विपर्यासा–न्नचेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १ ॥" इत्यादिकं विभज्यवादं वदेदिति। विभज्यवादमपि भाषाद्वितयेनैव ब्रूयादित्याह–भाषयोः—आद्यचरमयोः सत्यासत्यामृषयोर्द्विकं भाषाद्विकं तद्भाषाद्वयं कचित्पृष्टोऽपृष्टो वा धर्मकथावसरेऽन्यदा वा सदा वा व्यागृणीयात्—भाषेत। किंभूतः सन् ?—सम्यक् सत्संयमानुष्ठानेनोत्थिताः समुत्थिताः सत्साधव उद्युक्तविहारिणो न पुनरुदायिनृपमारकवत्कृत्रिमास्तैः सम्यगुत्थितैः सह विहरन् चक्रवर्तिद्रमकयोः समतया रागद्वेषरहितो वा शोभनप्रज्ञो भाषाद्वयोपेतः सम्यग्धर्मं व्यागृणीयादिति ॥ २२ ॥ किञ्चान्यत्—तस्यैवं भाषाद्वयेन कथयतः कश्चिन्मेधावितया तथैव तमर्थमाचार्यादिना कथितमनुगच्छन् सम्यगवबुध्यते, अपरस्तु मन्दमेधावितया वितथम्—अन्यथैवाभिजानीयात्, तं च सम्यगनवबुध्यमानं तथा तथा—तेन तेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेतूदाहरणसद्युक्तिप्रकटनप्रकारेण मूर्खस्त्वमसि तथा दुर्दुरूढः खसूचिरित्यादिना कर्कशवचनेनानिर्भर्त्सयन् यथा यथाऽसौ बुध्यते तथा तथा—साधुः सुष्ठु बोधयेत् न कुत्रचित्क्रुद्धमुखहस्तौष्ठनेत्रविकारैरनादरेण कथयन् मनःपीडामुत्पादयेत् । तथा प्रश्नयतस्तद्भाषामपशब्दादिदोषदुष्टामपि धिङ् मूर्खासंस्कृतमते ! किं तवानेन संस्कृतेन पूर्वोत्तरव्याहतेन वोच्चारितेनेत्येवं न विहिंस्यात्—न तिरस्कुर्याद् असंबद्धोद्घट्टनतस्तं प्रश्नयितारं न विडम्बयेदिति । तथा निरुद्धम्—अर्थस्तोकं दीर्घवाक्यैर्महता शब्ददुर्धरेणार्कविटपिकाष्ठिकान्यायेन न कथयेत् निरुद्धं वा स्तोककालीनं व्याख्यानं व्याकरणतर्कादिप्रवेशनद्वारेण प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या न दीर्घयेत्-न दीर्घकालिकं कुर्यात् । तथा चोक्तम्—' सो अत्थो वत्तव्वो, जो भण्णइ अक्खरेहिं थोवेहिं । जो पुण थोवो बहुअ—क्खरेहिं सो होइ निस्सारो ॥ १ ॥ " तथा किंचित्सूत्रमल्पाक्षरमल्पार्थं वा इत्यादि चतुर्भङ्गिका । तत्र यदल्पाक्षरं महार्थं तदिह प्रशस्यत इति ॥ २३ ॥ अपि च—यत्पुनरतिविषमत्वादल्पाक्षरैर्न सम्यगवबुध्यते तत्सम्यग्-शोभनेन प्रकारेण समन्तात्पर्यायशब्दोच्चारणतो भावार्थकथनतश्चालपेद् भाषेत समालपेत्, नाल्पैरेताक्षरैरुक्त्वा कृतार्थो भवेद्, अपि तु-क्षेयगहनार्थभाषणे सद्धेतुयुक्त्यादिभिः श्रोतारमपेक्ष्य प्रतिपूर्णभाषी स्याद्, अस्खलितामिलिताहीनाक्षरार्थवादी भवेदिति । तथा आचार्यादेः सकाशाद्यथावदर्थं श्रुत्वा—निशम्य अवगम्य च सम्यग्-यथावस्थितमर्थं यथा गुरुसकाशादवधारितमर्थं प्रतिपाद्यं दष्टुं शीलमस्य स भवति सम्यगर्थदर्शी; स एवंभूतः संस्तीर्थकराज्ञया-सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारेण शुद्धम्-अवदातं पूर्वापराविरुद्धम् निरवद्यं वचनमभियुञ्जीतोत्सर्गविषये सति-उत्सर्गमपवादविषये चापवादं तथा स्वपरसमययोर्यथास्वं वचनमभिवदेत् । एवं चाभियुञ्जन् भिक्षुः पापविवेकं लाभसत्कारादिनिरपेक्षतया काङ्क्षमाणो निर्दोषं वचनमभिसन्धयेदिति ॥ ४ ॥

पुनरपि भाषाविधिमधिकृत्याह—

अहावुइयाइं सुसिक्खएज्जा,
जइज्जमाणातिवेलं वदेज्जा ।
से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा,
से जाणई भासिउं तं समाहिं ॥ २५ ॥
अलूसए णो पच्छन्नभासी,
णो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई ।
सत्थारभत्ती अणुवीइवायं,
सुयं च सम्मं पडिवाययंति ॥ २६ ॥

यथोक्तानि तीर्थकरगणधरादिभिस्तान्यहर्निशं सुष्ठु शिक्षेतग्रहणशिक्षया सर्वज्ञोक्तमागमं सम्यक् गृह्णीयाद् आसेवनाशिक्षया त्वनवरतमुद्युक्तविहारितयाऽऽसेवेत , अन्येषां च तथैव प्रतिपादयेत्, अतिप्रसक्तलक्षणनिवृत्तये त्वपदिश्यते सदा ग्रहणासेवनाशिक्षयोर्देशनायां यतेत, सदा यतमानोऽपि यो यस्य कर्त्तव्यस्य कालोऽध्ययनकालो वा तां वेलामतिलङ्घ्य नातिवेलं वदेद् अध्ययनकर्तव्यमर्यादां नातिलङ्घयेत्स (दस) दनुष्ठानं प्रतिव्रजेद्वा,यथावसरं परस्पराबाधया सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः । स एवंगुणजातीयो यथाकालवादी यथाकालचारी च सम्यग्दृष्टिमान्-यथावस्थितान् पदार्थान् श्रद्दधानो देशनां व्याख्यानं वा कुर्वन् दृष्टि—सम्यग्दर्शनं न लूषयेत्-न दूषयेत् । इदमुक्तं भवति—पुरुषविशेषं ज्ञात्वा तथा तथा कथनीयमपसिद्धान्तदेशनापरिहारेण यथा यथा श्रोतुः सम्यक्त्वं स्थिरीभवति, न पुनः शङ्कोत्पादनतो दूष्यते, यश्चैवंविधः स जानाति—अवबुध्यते भाषितुं-प्ररूपयितुं समाधिं-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यं सम्यक्चित्तव्यवस्थानाख्यं वा तं सर्वज्ञोक्तं समाधिं सम्यगवगच्छतीति ॥ २५ ॥ किञ्चान्यत्-'अलूसए' इत्यादि सर्वज्ञोक्तमागमं कथयन् ' नो लूषयेत् ' नान्यथाऽपसिद्धान्तव्याख्यानेन दूषयेत् , तथा न प्रच्छन्नभाषी भवेत् सिद्धान्तार्थमविरुद्धमवदातं सार्वजनीनं तत्प्रच्छन्नभाषणेन न गोपयेत् , यदिवा-प्रच्छन्नं वाऽर्थमपरिणताय न भाषेत्, तद्धि सिद्धान्तरहस्यमपरिणतशिष्यविध्वंसनेन दोषायैव संपद्यते । तथा चोक्तम्-"अप्रशान्तमतौ शास्त्र-सद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्णे, शमनीयमिव ज्वरे ॥१॥" इत्यादि, न च सूत्रमन्यत् स्वमतिविकल्पनतः स्वपरत्रायी कुर्वीतान्यथा वा सूत्रं तदर्थं वा संसारात् त्रायी त्राणशीलो जन्तूनां न विदधीत, किमित्यन्यथा सूत्रं न कर्त्तव्यमित्याह—परहितैकरतः शास्ता तस्मिन् शास्तरि या व्यवस्थिता भक्तिः बहुमानस्तया तद्भक्त्या अनुविचिन्त्य ममानेनोक्तेन न कदाचिदागमबाधा स्यादित्येवं पर्यालोच्य वादं वदेत् । तथा यच्छ्रुतमाचार्यादिभ्यः सकाशात्तत्तथैव सम्यक्त्वाराधनामनुवर्त्तमानोऽन्येभ्य आज्ञणमोक्तं प्रतिपद्यमानः प्रतिपादयेत्-प्ररूपयेन्न सुखशीलतां मन्यमानो यथाकथंचित्तिष्ठेदिति ॥ २६ ॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

इयाणिं विणएणं-जहा मगहविसए गोवरगामे पुप्फसालो गिहवती । भद्दा भारिया पुत्तो से पुप्फसालसुतो सो मायापियरं पुच्छई-को धम्मो ?, तेहिं भण्णइ मायापियरं सुस्सूसियव्वं दो चेव देवयाइं माया पियरो य जीवलोगम्मि । तत्थ वि पिया विसिट्ठो,जस्स वसे वट्टइ माया । ताहे सो ताण पायमुहधावणाइं विभासा देवयाणि व सुस्सूसई । अन्नया गामभोइओ आगतो ताणि संभंताणि पाहुण्णं करेंति । सो वि चिंतेइ एयाणि वि एस देवयं एयं पूएमि तो धम्मो होहिइ । तस्स सुस्सूसा कया । अन्नया तस्स भोइयस्स अन्नो महल्लो दिट्ठो० जाव सेणिओ राया तओ लग्गिउमारद्धो । सामी समोसढो सेणिओ इड्ढिए गंतूण वंदइ, ताहे सो सामिं भणइ अहं तुब्भो ओलग्गामि, सामिणा भणियं-अहं रयहरणपडिग्गहतायाए ओलग्गिज्जामि ताए खुखणाए संबुद्धो । एवं विणएणं सामाइयं लब्भइ ॥ आ० म० १ अ० । (' विणयकम्म ' शब्दे ऽप्येतत्कथानकं स्फुटं वक्ष्यते ।)

" विणएण णरो गंध-ण चंदणं सोमयाइ रयणियरो ।
महुररसेणं अमयं, जणप्पियत्तं लहइ भुवणे ॥ २ ॥
सुविसुद्धसीलजुत्तो, पावइ कित्तिं जसं च इहलोए ।
सव्वजणवल्लहो वि य, सुहगइभागी य परलोए ॥ ३ ॥ "
ध० र० १ अधि० ४ गुण । नीतौ, उत्त० १ अ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विणयकम्म—विनयकर्मन्—न० । विनयनं विनयः । कर्मापनयनमित्यर्थः । विनीयते वाऽनेनाष्टप्रकारं कर्मेति विनयस्तस्य च कर्म विनयकर्म । पूजाकर्मणि, कृतिकर्मणि, प्रव० २ द्वार । आव० । वैनयिककृत्ये, पञ्चा० ८ विव० । विनयकर्माऽपि द्विधा—द्रव्यतो निह्नवादीनामनुपयुक्तसम्यग्दृष्टीनां च । भावत उपयुक्तसम्यग्दृष्टीनां विनयक्रियेति । आच० ३ अ० ।

उदाहरणं विनये पुष्पशालकथा—

मागधे गोवरग्रामे, पुष्पशालः कुटुम्बिकः ।
भद्रा भार्या च तस्याऽऽसीत् , पुष्पशालस्तु तत्सुतः ॥ १ ॥
स मातापितरावूचे, को धर्मस्ताववोचतुः ।
विनयाद्वत्स ! शुश्रूषा, मातापित्रोर्विधीयते ॥ २ ॥
द्वे एव देवते वत, माता च पिता च जीवलोकेऽस्मिन् ।
तत्रापि पिताऽभ्यधिको, यस्य वशे वर्त्तते माता ॥ ३ ॥
पादशौचादिशुश्रूषां, स चक्रेऽथ सदा तयोः ।
ग्रामाधिपोऽन्यदाऽऽयातः, स ताभ्यामप्यपूज्यत ॥ ४ ॥
सोऽथ दध्यावसौ ताव—न्मातृपित्रोरपि दैवतम् ।
तच्छुश्रूषामथाकार्षी—द्भावी लाभो महानितः ॥ ५ ॥
तस्याप्यन्योऽन्यदाऽधीशः, प्राप्तस्तं सोऽप्यपूजयत् ।
अस्याप्यसौ पूज्य इति , मुक्त्वैतमहमप्यमुम् ॥ ६ ॥
सेवेऽथ तस्य सेवायां, प्रवृत्तो धर्मकामुकः
उपर्युपरि सेवार्थी, श्रेणिकं सेवते स्म सः ॥ ७ ॥
श्रेणिकोऽपि नमन् दृष्टः, श्रीवीरं सोऽथ दध्यिवान् ।
सेवेऽहमप्यमुं तस्मात् , पूजितैरपि पूजितम् ॥ ८ ॥
अथोचे भगवन्तं स, प्रभो ! सेवां करोमि वः ।
स्वाम्यूचे साधुवेषेण , सेवाऽस्माकं विधीयते ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा भगवद्वाक्यं, संबुद्धो व्रतमग्रहीत् ।

एवं वैनयिकात्तस्या—ऽभवत्सामायिकव्रतम् ॥१०॥ आ० क० १ अ० । आ० चू० ।

विणयचंदसूरि—विनयचन्द्रसूरि—पुं० । तपागच्छीये रत्नसिंहसूरिशिष्ये, येन कल्पसूत्रे निर्युक्तिः कृता, विक्रमीये १३२५ संवत्सरे अयमासीत् । जै० इ० ।

विणयण—विनयन—न० । गमने , प्रापणे , आ० चू० १ अ० ।

विणयण्णु—विनयज्ञ—पुं० । विनयो—ज्ञानदर्शनचारित्रौपचारिकरूपस्तं जानातीति विनयज्ञः । ज्ञानादिरत्नत्रयज्ञे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

विणय(यं)धर—विनयधर—पुं० । स्वनामख्याते पुरुषे, ध० र० ।

विनयंधरकथा पुनरेवम्—

"अत्थि इह सुवन्नरुइरा, चंपा चंपयलय व्व पवरपुरी ।
फुरियनयधम्मवुद्धी , तत्थ निवो धम्मवुद्धि त्ति ॥ १ ॥
अमरीओ वि जयंती, रूवेण पिया य तस्स विजयंती ।
सिट्ठी य इब्भनामो, पुन्नजसा नाम से भज्जा ॥ २ ॥
निच्चं गुरुजणपणओ , नियतणुअइकंतकंतिजियकणओ ।
उल्लसिरबहुलविणओ , ताणं विणयंधरो तणओ ॥ ३ ॥
सो सव्वकलाकुसलो , कोमुइनाहु व्व सयलजणइट्ठो ।
निरुवमसुंदेरिमरं—ग संगयं जुव्वणं पत्तो ॥ ४ ॥
सुहसंगहियकलाओ , लवणिमउव्वहसियतियसरमणीओ ।
सायरकुलजम्माओ , पडिवन्नगिहत्थधम्माओ ॥ ५ ॥
तारा सिरी य विणया, देवी नामाउ विमलसीलाओ ।
जमगं चउरो परिणे—इ पवरसिट्ठीण धूयाओ ॥ ६ ॥
ववहारसुद्धिसारो, पायं परिहरिय पावपब्भारो ।
सो सुहजलहिनिमग्गो, कालं बोलइ अणुव्विग्गो ॥ ७ ॥
को अइसुहिओ इहयं, नयरे नयकुलहरे सया सुहिए ।
वत्ता इमा पवत्ता, कयाऽवि नरनाहअत्थाणे ॥ ८ ॥
एगेण तत्थ भणियं सुहियाण जणाण मत्थयमणि व्व ।
अत्थि इह इब्भपुत्तो, धणियं विणयंधरो नाम ॥ ९ ॥
जस्स धणं धणयस्स व, जणप्पियं रूवममरपहुणु व्व ।
जीवस्स व अमलमई, करिरायस्स व सया दाणं ॥ १० ॥
जस्स य पिया उ चउरो, अइसयसुंदेरमंदिरं दट्ठुं ।
विलियाओ अमरीओ, मन्ने नो इंति दिट्ठिपहं ॥ ११ ॥
इच्चाइ बहुपयारं , निरुनिरुवमवन्नणं सुणिय ताणं ।
मयणसरपसरविहुरो, राया रायाउरो जाओ ॥ १२ ॥
तिहुयणमणोहरीओ, कहमह संपज्जिहंति एयाओ ।
इय चिंताउरचित्त—स्स तस्स बुद्धी इमा जाया ॥ १३ ॥
पच्चाइय पउरजणं, दोसं उप्पाइयं च सेवणिणो ।
गिण्हामि बला ताओ, न होमि गरिहारिहो जेण ॥ १४ ॥
इय निच्छिय एगंते , निभिच्च भिच्चो पयंपियो तेण ।
विणयंधरेण सद्धिं, कुण मित्तिं कवडनेहेण ॥ १५ ॥
तत्तो वि भुज्ज खंडे, लहुं लिहाविय इमं तुमं गाहं ।
पच्छन्नमेव मज्झं , उवणेहि अयाणियंतेणं ॥ १६ ॥

तथा हि—

"पसयच्छिरइवियक्खणि,अज्ज अभग्गस्स तुह दुसहविरहे ।
सा जामिणी तिजामा, तिजाम सहसि व्व मह जाया" ।१७।
तेण वि तहेव विहिए, निवेण पउराण पेसियं भुज्जं ।
देवीए गंधपुडे, पहियं विणयंधरेणेयं ॥ १८ ॥
भो भो लिवी परिच्छं, विहिऊण विणिच्छयं कहह मज्झं ।
नहु पच्छा कहियव्वं, अहह अजुत्तं कयं रन्ना ॥ १९ ॥
ते वि हु न हुंति दुद्धे , पूयरया तह वि सासणं पहुणो ।
कायव्वं ति भणंता, कुणंति हत्थे लिविपरिच्छं ॥ २० ॥
पिच्छि वि लिविसंवायं, भणियं नायरजणेण सविसायं ।
जइ वि लिवी संवाओ, न य घडइ इमं तु एयाओ ॥ २१ ॥
जो चरइ मणभिरामे, सल्लइतरुनियरबहलआरामे ।
सो कंटइयसरीरे , करी करीरे कहं रमइ ॥ २२ ॥
जो दुल्ललिओ सलिले, सया वि माणससरस्स अइविमले ।
सो कह करेइ किड्डं, कलहंसो गामनइम्मि ॥ २३ ॥
जो अत्थइ तप्पासे, खणमवि पडिपुन्नपुन्नपसरस्स ।
वंजुलसंगेण विसं—व पन्नगो मुयइ सो पावं ॥ २४ ॥
ता मज्झत्थो होउं, देवो चिंतेउ वत्थुपरमत्थं ।
अगडंतयं पि गडियं, एयं केणावि पिसुणेण ॥ २५ ॥
सुद्धो वि फालिहमणी, उवाहिवसओ धरेइ अन्नत्तं ।
खलसंगाउ इमस्स वि, खलियं अक्खलियसीलस्स ॥२६॥
इय भणिए पउरजणे, पडियारं मयगल व्व अगणंतो ।
भंजियमेरालाणो, एगओ असमंजसं निवई ॥ २७ ॥
भणइ य रे रे सुहडा, हठेण आणेह तस्स तस्स दइयाओ ।
मुद्देह य हरगेहे, निद्धाडिय परियणं दूरे ॥ २८ ॥
तुब्भे पुण नायरया, हंहो दोसिल्लपक्खवाइल्ला ।
तं कारह मह पुरओ, सुद्धं जेणासु मुंचामि ॥ २९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इय पउरं फरुसागिरा-हिं ताडिया धाडिया नरिंदेण ।
किवणेण मग्गणा इव, पउरा पत्ता सगेहेसु ॥ ३० ॥
तो विणयंधरभज्जा, ताओ निरवज्जकज्जसज्जाओ ।
आणाविय सुहडेहिं, राया पक्खिवइ ओरोहे ॥ ३१ ॥
ताएँ सुरूवं दट्ठु, चिंतइ निवई अहो अहं धन्नो ।
जं निसुया दिट्ठाओ, मम गेहमिमाउ पत्ताओ ॥ ३२ ॥
बहुचाडुवयणपुव्वं, विसए पत्थि तओ निवो ताहिं ।
लज्जो ण य वयणाहिं, महासईहिं इमं भणिओ ॥ ३३ ॥
पररमणीरमणीयं, रूवं पासंति अहह मूढमणा ।
न मणागं पि हु अप्पं, निवडंतं भीमभवकूवे ॥ ३४ ॥
परजुवइजुव्वणभरं, जे जोअंते जणे जए जिणइ ।
कुसुमसरो वि अणंगो, कह ते वुच्चंति नरसीहा ॥ ३५ ॥
परकंतं कामंता, गयसुत्तरियजीविया महामलिणा ।
गुरुपावकारिणो इव, कह ते दंसंति नियमुहं ॥ ३६ ॥
इह विनडिय अप्पाणं, कुलं कलंकिय अकित्ति अक्कंता ।
अइदुस्सहनरयदुह—ग्गितावतविया भमंति भवे ॥ ३७ ॥
इय सुणिय दोसजालं, नराहमाणं विणट्ठसीलाणं ।
मणसा वि सीलरयणं, मा मइलसु सुकुलसंभूआ ॥३८॥
इय सुणिय सो विलक्खो,सयलदिणं तं निसं च कह कह वि ।
गमिउं गोसे पत्तो, तासिं पासे पुणो वि निवो ॥ ३९ ॥
ता नियइ ताउ सव्वा-उजलए जालालिकविलकेसाओ ।
अइसयवीभच्छीओ, जरजीवरमलिणगत्ताओ ॥ ४० ॥
परिगलियजुव्वणाओ, रागीण विरागकरणपउणाओ ।
चिंतइ य निराणंदो, वेरग्गगओ नरवरिंदो ॥ ४१ ॥
किं एस दिट्ठिबंधो, मइमोहो वाऽवि सुविणओ किं वा ।
किं वा दिव्वपओगो, अहवा पावप्पभावो मे ॥ ४२ ॥
अहह हयासेण मए, कलंकियं नियकुलं सया विमलं ।
वित्थारिओ य भुवणे, तमालदलसामलो अयसो ॥ ४३ ॥
इच्चाइ बहुविहं ज़ू-रिऊण राया विसज्जए ताओ ।
विणयंधरस्स पासे, सज्जो जाया सरूवत्था ॥ ४४ ॥
इत्तो य तत्थ नयरे, पत्तो सिरिसूरसेणवरसूरी ।
पत्ता गुरुनमणत्थं, निवविणयंधरपउरलोया ॥ ४५ ॥
तिपयाहिणपुव्वमपु-व्वभावभावियमणा नमिय गुरुणो ।
निसियंति उचियदेसे, इय कहइ गुरू वि धम्मकहं ॥४६॥
धम्मो दुविहो भणिओ, जिणेहिं जियरागदोसमोहेहिं ।
सिवनयरिगमणगमो, सुसाहुधम्मो य गिहिधम्मो ॥४७॥
तत्थ य पढमं साव-ज्ज कज्जपरिवज्जणुज्जुओ उज्जू ।
पंचमहव्वयपव्वय-गुरुभारसहुव्वहणपवणो ॥ ४८ ॥
समिईगुत्तिपवित्तो, अममत्तो सत्तुमित्तसमचित्तो ।
खंतो दंतो संतो, अवगयतत्तो महासत्तो ॥ ४९ ॥
निम्मलगुणगणजुत्तो, गुरुपयभत्तो करेइ जो सत्तो ।
सो अचिरेणं पावइ, सुमग्गलग्गो पवग्गपुरं ॥ ५० ॥
तक्करणासत्तेहिं, सावगधम्मोऽवि होइ कायव्वो ।
कालेण सोऽवि सिवसु-क्खदायगो देसिओ समए ॥ ५१ ॥
इय सोउं धम्मकहं, लद्धावसरेण पुच्छियं रन्ना ।
भयवं ! किं कयमसमं, सुकयं विणयंधरेण पुरा ॥ ५२ ॥
जं सव्वपिओ एसो, पियाउ एयस्स पवररूवाओ ।
केण पओगेण तया, ताउ विरूवाउ जायाओ ॥ ५३ ॥

अह भणइ गुरू निव ! इह, आसी नयरम्मि हत्थिसीसम्मि ।
राया वियारधवलो, धवलजसो धवलियदियंतो ॥ ५४ ॥
तस्स चरो वेयाली, अगन्नकारुन्नमाइगुणसाली ।
निच्चं परोवयारी, आसि दढं पावपरिहारी ॥ ५५ ॥
सो अइउदारयाए, पइदिवसं असणमाइसमणुन्नं ।
दाउं कस्सइ उचियं, पच्छा भुंजइ सयं नियमा ॥ ५६ ॥
सो अन्नदिणे बिंदु-ज्जाणे, पडिमाठियं सविहिनाहं ।
उवसमरसं व मुत्तं, दट्ठुं तुट्ठो थुणइ एवं ॥ ५७ ॥

जिणस्तुतिकाव्यम्—

वपुरि अंगविचालु वपुरिलोयणघणलवणिम,
कटरिभालुसुविसालु कटरिमुहकमलपसन्निम ।
अरिरि सरलुभुयजुयलु अरिरि सिरिवत्थहसत्थिम,
अइयचरण भवहरण अइयसव्वंगसुचंगिम ॥
अरि कुणह नयणघणुरंक धउ वलिवलिजोइवि एहु पहु ।
देवाहिदेव तिहुयण तिलओ परमप्पउंजिम लहु हु लहु॥५८॥
एवं थुणिऊण असू-ण भत्तिराएण सुद्धसद्धिल्लो ।
बहुमाणमुव्वहंतो, जिणम्मि सगिहं इमो पत्तो ॥ ५९ ॥
पन्नाणुबंधिपुन्नो-दएण अह तस्स भोयणावसरे ।
सिरिसुविहिजिणो भिक्खा-इआगओ गिहदुवारम्मि॥६०॥
तं सुट्ठु दट्ठु वंदी, अमंदआणंदजायरोमंचो ।
पडिलाभेइ जिणिंदं, परिवेसियकामगुणिएणं ॥ ६१ ॥
चिंतइ य अहं धन्नो, अज्ज ममं जम्मजीवियं सहलं ।
जं पाणिपुडेणमिणं, दाणं गिण्हइ सयं भयवं ॥ ६२ ॥
अह उग्घुट्ठं गयणे, अहो सुदाणं अहो सुदाणं ति ।
वियसिय मुहेहिं विबुहे-ति ताडिया अमरभेरीओ ॥६३॥
बहुजणजणियचमक्कं, गंधोदगकुसुमवरिसणं जायं ।
उक्कोसा वसुहारा, पडिया भुवणंगणे तस्स ॥ ६४ ॥
नर सुर असुरपहू विहु, वंदिंसु वंदिणो वि से पत्ता ।
सुह परिणामेण तया, जाया सम्मत्तसंपत्ती ॥ ६५ ॥
काउं सुपत्तपत्तं, वित्तं चित्तम्मि जिणमणुसरंतो ।
सो वइय पुद्देहं, पत्तो पढमं अमरगेहं ॥ ६६ ॥
तत्तो चविओ एसो, जाओ विणयंधरो उ लोयपिओ ।
तद्दाणपुन्नवसओ, इमाउ जायाउ जायाओ ॥ ६७ ॥
तुह वेरग्गनिमित्तं, तासिं सुद्दसीलरंजियमणाए ।
सासणदेवीइ तया, इमा विरूवाउ विहियाओ ॥ ६८ ॥
इय सुणिय फुरियगुरुवरण, धम्मबुद्धिनिवो ।
काऊण रज्जसुत्थं, सुत्थमाणो गिण्हए दिक्खं ॥ ६९ ॥
विणयंधरो वि धम्मे, बहुमाणं बहुजणाण वहुंतो ।
चउहिं वि भज्जाहिं समं, महाविभूईए पव्वइओ ॥ ७० ॥
पउराचि ससत्तीए, धम्मं गहिउं चयंति सट्ठाणं ।
सूरी वि सपरिवारो, सुहेण अन्नत्थ विहरेइ ॥ ७१ ॥
तो धम्मबुद्धि विणयं-धर मुणिणो चरियचरणमकलंकं ।
निहणिय असेसकम्मा, जाया संकलियसिवसम्मा ॥ ७२ ॥

श्रुत्वेति वृत्तं विनन्धरस्य,
प्रभूतसत्त्वाहितबोधिबीजम् ।
भो भव्यलोका ! विलसद्विवेका !
लोकप्रियत्वं गुणमाश्रयध्वम् ॥ ७३ ॥

इति विनयंधरकथा समाप्ता । ध० र० १ अधि० ४ गुण ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विणयपडिवत्ति-विनयप्रतिपत्ति-स्त्री०। विनयस्य प्रारम्भे, अङ्गीकारे, दशा०।

आयरितो अंतेवासी इमाए चउव्विहाए विणयपडिवत्तीए विणएत्ता णिरिणित्तं गच्छंति। तं जहा-आयारविणएणं सुयविणएणं विक्खेवणाविणएणं दोसनिग्घायणाविणएणं।

आचार्यः आङित्यभिव्याप्त्या मर्यादया वा स्वयं पञ्चविधाचारमाचरति आचारयति वा इत्याचार्यः, पूर्वोक्तगुणयुक्तो वा 'अन्तेवासि' त्ति अन्ते-समीपे वस्तुं चारित्रक्रियायां वस्तुं शीलमेषामित्यन्तेवासिनः तान् 'इमाए' त्ति अनयाऽनन्तरवक्ष्यमाणया चतुःसंख्यया विनयस्य प्रतिपत्तिः प्रारम्भाङ्गीकार इति यावत् विनयप्रतिपत्तिस्तया विनयप्रतिपत्त्या विनयित्वा शिक्षयित्वा अनृणीभवति। यदा आचार्येण गच्छोद्धारकरणसमर्थोऽन्यः कोऽपि शिष्यो विनयितो भवति तदा स अनृणीभवतीति। स(ऋ)णस्तु लोकेऽपि गर्हितो भवति; निन्दापात्रमित्यर्थः, स च चतुर्द्धा शिष्ययति, तद्यथा-आचारविनयेन १, श्रुतविनयेन २, विक्षेपणाविनयेन ३, दोषनिर्घातनतया ४। दशा०४ अ०। व्य०।

विणयपरिहीण-विनयपरिहीन-त्रि०। शिक्षावियुक्ते, ध० २ अधि०।

विणयब्भंसि(ण्)-विनयभ्रंशिन्-पुं०। विनयाद् भ्रश्यतीति विनयभ्रंशी। विनयकरणभीरौ, विशे०।

विणयमूल-विनयमूल-पुं०। विनयो विनीतता मूलं कारणं यस्यासौ विनयमूलः। विनयप्रभवे, पा०।

विणयवई-विनयवती-स्त्री०। विगतभयाया अन्तिके प्रव्रजितायां साध्व्याम्, सा च भक्तप्रत्याख्यानेन मृत्वा देवलोकं गता। आव० ४ अ०। आ० चू०।

विणयवादि(ण्)-विनयवादिन्-पुं०। विनयादेव केवलात् क्रियासाध्यासिद्धिमिच्छति वैनयिके, आचा १ श्रु० १ अ० ७ उ०। सूत्र०।

विणयविजय-विनयविजय-पुं०। कल्पसुबोधिकाकारे, श्रीकीर्तिविजयगणि-शिष्योपाध्यायश्री ५ विनयविजयगणिविरचितायां कल्पसुबोधिकायां सामाचारीव्याख्यानं सम्पूर्णम्। कल्प० ३ अधि० २ क्षण। "तस्य स्फुरद्दुरुकीर्तेर्वाचकवरकीर्तिविजयपूज्यस्य। विनयविजयो विनेयः, सुबोधिकां व्यरचयत् कल्पे॥१॥" कल्प० ३ अधि० २ क्षण।

विणयसंपण्ण-विनयसम्पन्न-त्रि०। अभ्युत्थानादिविनयसम्पन्ने, पं० चू० १ कल्प। स्था०। औ०।

विणयसमाहि-विनयसमाधि-पुं०। विनयस्य समाधेश्च प्रतिपादके दशवैकालिकस्य नवमेऽध्ययने, दश० ८ अ०। ('विणय' शब्दे सर्वा वक्तव्यतोक्ता।)

विणयसमाहिट्ठाण-विनयसमाधिस्थान-न०। विनयसमाधिभेदरूपेऽर्थे, दश०।

सामान्योक्तविनयविशेषोपदर्शनार्थमिदमाह-

सुअं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता?, इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। तं जहा-विणयसमाही सुअसमाही तवसमाही आयारसमाही।

"सुअं मे" इत्यादि सूत्रम्। अस्य व्याख्या-श्रुतं मया आयुष्मंस्तेन भगवता एवमाख्यातमित्येतद्यथा-षड्जीवनिकायां तथैव द्रष्टव्यम्। 'इह खल्विति' इह क्षेत्रे प्रवचने वा खलुशब्दो विशेषणार्थः। न केवलमत्र किं त्वन्यत्राप्यन्यतीर्थकृत्प्रवचनेष्वपि स्थविरैर्गणधरैर्भगवद्भिः-परमैश्वर्यादियुक्तैश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि-विनयसमाधिभेदरूपाणि प्रज्ञप्तानि-प्ररूपितानि। भगवतः सकाशे श्रुत्वा ग्रन्थत उपरचितानीत्यर्थः। कतराणि खलु तानीत्यादिना प्रश्नः; अमूनि खलु तानीत्यादिना निर्वचनम्। तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। विनयसमाधिः, श्रुतसमाधिः, तपःसमाधिः, आचारसमाधिः। तत्र समाधानं समाधिः-परमार्थत आत्मनो हितं सुखं स्वाध्यम्। विनये विनयाद्वा समाधिः विनयसमाधिः। एवं शेषेष्वपि शब्दार्थो भावनीयः।

एतदेव श्लोकेन संगृह्णाति-

विणए सुए अ तवे, आयारे निच्चपंडिआ।
अभिरामयंति अप्पाणं, जे भवंति जिइंदिआ॥१॥

अस्य व्याख्या-विनये यथोक्तलक्षणे, श्रुते-अङ्गादौ, तपसि बाह्यादौ, आचारे च मूलगुणादौ चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः। नित्यं-सर्वकालं पण्डिताः-सम्यक्परमार्थवेदिनः। किं कुर्वन्तीत्याह-अभिरामयन्ति अनेकार्थत्वादाभिमुख्येन विनयादिषु युञ्जत आत्मानं-जीवम्। किमित्यस्योपादेयत्वात्। के एवं कुर्वन्तीत्याह-ये भवन्ति जितेन्द्रियाः, जितचक्षुरादिभावशत्रवः त एव परमार्थतः पण्डिता इति प्रदर्शनार्थमेतदिति सूत्रार्थः॥१॥

विनयसमाधिमभिधित्सुराह-

चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ। तं जहा-अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ १, सम्मं संपडिवज्जइ २, वेयमाराहइ ३, न य भवइ अत्तसंपग्गहिए ४, चउत्थं पयं भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो॥

'चउव्विहे' त्यादि। चतुर्विधः खलु विनयसमाधिर्भवति। तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। 'अणुसासिज्जंतो' इत्यादि। अनुशास्यमानस्तत्र तत्र चोद्यमानः शुश्रूषति-तदनुशासनमर्थितया श्रोतुमिच्छति १। इच्छाप्रवृत्तितः तत् सम्यक् संप्रतिपद्यते। सम्यगविपरीतमनुशासनतत्त्वं यथाविषयमवबुध्यते २। स चैवं विशिष्टप्रतिपत्तेरेव वेदमाराधयति। वेद्यतेऽनेनेति वेदः-श्रुतज्ञानं तद्यथोक्तानुष्ठानपरतया सफलीकरोति ३। अत एव विशुद्धप्रवृत्तेर्न च भवत्यात्मसंप्रगृहीतः। आत्मैव सम्यक् प्रकर्षेण गृहीतो येनाहं विनीतः सुसाधुरित्येवमादिना। स तथा नात्मोत्कर्षप्रधानत्वाद्विनयादेर्नचैवंभूतो भवतीत्यभिप्रायः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थं पदं भवतीत्येतदेव सूत्रक्रमप्रामाण्यादुत्तरोत्तरगुणापेक्षया चतुर्थमिति । भवति चात्र श्लोकः । अत्रेति विनयसमाधौ श्लोकश्छन्दोविशेषः । स चायम्—

पेहेइ हिश्राणुसासणं, सुस्सूसई तं च पुणो अहिट्ठिए ।
न य माणमएण मज्जई, विणयसमाहि आययट्ठिए ॥२॥

'पेहेइ' इत्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या-प्रार्थयते-हितानुशासनमिच्छतीहलोकपरलोकोपकारिणमाचार्यादिभ्य उपदेशम् । शुश्रूषतीत्यनेकार्थत्वाद्यथाविषयमवबुध्यते । तच्चावबुद्धं सत्पुनरधितिष्ठति-यथावत् करोति । न च कुर्वन्नपि मानमदेन-मानगर्वेण माद्यति-मदं याति । विनयसमाधौ-विनयसमाधिविषये आयतार्थिको मोक्षार्थीति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ दश० ६ अ० ४ उ० ।

विणयसुद्ध--विनयशुद्ध--न० । 'किइकम्मविसोहि पउं-जए जो अहीणमइरित्तं । मणवयणकायगुत्तो, तं जाणसु विणयश्रो सुद्धं ॥१॥' इत्युक्तलक्षणे विनयतः शुद्धे कृतिकर्मणि, स्था० ५ ठा० ३ उ० । आ० चू० । आव० ।

विणयस्सुय-विनयश्रुत-न० । विनयप्रतिपादके उत्तराध्ययनानां प्रथमेऽध्ययने, उत्त० १ अ० । तत्र चाद्यं विनयश्रुतमिति तस्य कीर्तनावसरः । न च तद् उपक्रमाद्यनुयोगद्वारतद्भेदनिरुक्तिक्रमप्रयोजनप्रतिपादनमन्तरेण शक्यं कीर्तयितुमिति मन्वानः प्रस्तुताध्ययनस्यानुयोगविधानक्रममर्थाधिकारं चाह—

तत्थऽज्झयणं पढमं, विणयसुयं तस्सुवक्कमाईणि ।
दाराणि पन्नवेउं, अहिगारो इत्थ विणएणं ॥ २८ ॥

तत्र—एतेष्वध्ययनेषु मध्ये अध्ययनं प्रथमम्-आद्यं विनयाभिधानकं श्रुतं विनयश्रुतं मध्यपदलोपी समासः । तस्य इति-विनयश्रुतस्य उपक्रमादीनि द्वाराणि प्ररूप्य-तद्भेदनिरुक्तिक्रमप्रयोजनप्रतिपादनद्वारेण प्रज्ञाप्य, एतदनुयोगः कार्य इति शेषः, अधिकारश्चात्र विनयेन, तस्येहानेकधाऽभिधानात् । आह-'पढमे विणओ' इत्यनेनैवोक्त्वात् पुनरुक्तमेतद्, उच्यते-शास्त्रपिण्डार्थविषयं तत्, एतच्च प्रस्तुतैकाध्ययनगोचरमिति न पौनरुक्त्यमिति गाथार्थः । उत्त० पाइ० १ अ० ।

विणयहीण-विनयहीन-त्रि० । अकृतोचितविनये, ध० ३ अधि० । आव० ।

विणयायार--विनयाचार-पुं० । ज्ञानाचारभेदे, नि० चू० १ उ० ।

विणस्समाण--विनश्यत--त्रि० । अनेकशो म्रियमाणे, उपा० ७ अ० ।

विणा-विना-अव्य० । वर्जयित्वेत्यर्थे, पञ्चा, १२ विव० । अन्तरेणार्थे, व्य० १ उ० ।

विणायग-विनायक-पुं० । राक्षसभेदे, प्रश्न० १ पद । 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां, कापि यान्ति विनायकाः ॥ १ ॥' आ० म० १ अ० ।

विणास-विनाश-पुं० । भूतविघटने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । दण्डे, दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः । आव० ६ अ० । अत्यन्ताभावरूपे, सूत्र० २ श्रु० १ (बौद्धानां स्वत एव निर्हेतुको विनाश इति तृतीयभागे 'खणिअवाय' शब्दे ७०४ पृष्ठे परीक्षितम् ।) "विणासो बलस्स" (नारी) पुरुषबलस्य क्षयहेतुत्वात् । उक्तं च—" दर्शने हरते, चित्तं,स्पर्शने हरते बलम् । सङ्गमे हरते वीर्यं, नारी प्रत्यक्षराक्षसी ॥ १ ॥ " तं० । आ० म० ।

विणासण-विनाशन-न० । शैलेश्यवस्थायां सामस्त्येन कर्माभावापादने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

विणासधम्म[ण्]-विनाशधर्मन्-त्रि० । विनश्वरस्वभावे, सू० ३ उ० ।

विणासवाय-विनाशवाद-पुं० । क्षणिकैकान्तवादे, स्या० ।

विणासि[ण्]-विनाशिन्-त्रि० । विनश्वरे, विशे० ।

विणिउत्त-विनियुक्त-त्रि० । प्रतिसमयं प्रवृत्तिमति, विशे० । निवेशिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । व्यापारिते, व्य० १ उ० ।

विणिओग-विनियोग-पुं० । नियोगे, विणिओगो त्ति वा निओगो त्ति वा एगट्ठा । आ० चू० १ अ० । आशयभेदे, षो० ३ विव० । विशे० । (कदा विनियोगः कार्य इति 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६१६ पृष्ठे गतम् ।)

विणिक्खमित्ता-विनिष्क्रम्य-अव्य० । विमुच्येत्यर्थे, पञ्चा० १८ विव० ।

विणिगूहण-विनिगूहन-प्रच्छादने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ० ।

विणिघाय-विनिघात-पुं० । विनाशे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा विणिघायमावज्जंति । तं जहा-सद्दहिं० जाव फासेहिं । (सू०-३९० ×)

विनिघातं मरणं मृगादिवत्संसारं वाऽऽपद्यन्ते प्राप्नुवन्तीति । आह च-"रक्तः शब्दे हरिणः; स्पर्शे नागो रसे च वारिचरः । कृपणपतङ्गो रूपे, भ्रमरो गन्धे ननु विनष्टः ॥ १ ॥ पञ्चसु रक्ताः पञ्च विनष्टा, यत्रागृहीतपरमार्थाः । एकः पञ्चसु रक्तः, प्रयाति भस्मान्ततां मूढः ॥२॥" इति । स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रतिस्खलने, अनु० ।

विणिच्छय-विनिश्चय-पुं० । विगतो निश्चयो विनिश्चयः । अनु० । उत्त० । आ० म० । आ० चू० । निर्णये, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । निःसामान्यानां विशेषाणां निश्चये, विशे० ।

तिविहे विणिच्छए पण्णत्ते, तं जहा-अत्थविणिच्छए, धम्मविणिच्छये, कामविणिच्छए । (सू०-१८९×)

अर्थादिविनिश्चया अर्थादिस्वरूपपरिज्ञानानि। स्था० ३ठा० ३उ० ।

विणिच्छियट्ठ-विनिश्चितार्थ-त्रि० । प्रश्नानन्तरम् । (भ० ११ श० ११ उ० ।) पदैपर्यार्थस्योपलम्भात् (भ० २ श० ५ उ०) निर्णीतार्थे, कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

विणिज्जरा-विनिर्जरा-स्त्री० । विशेषेण निर्जरणं विनिर्जरा । पूर्वोपचितशुभाशुभकर्मपरिशाटे, सा च समितिगुप्तिश्रवणधर्मभावनामूलगुणोत्तरगुणपरीषहोपसर्गादिसहनतरस्य भवति । जीत० ।

विणिद्दिट्ठ-विनिर्दिष्ट-त्रि० । उक्ते, पञ्चा० १६ विव० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विणिम्माण-विनिर्माण-न०। निर्मापणे, विशे०।

विणिम्मुयंत-विनिर्मुञ्चत्-त्रि०। विसृजति, औ०। विक्षिपति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विकिरति, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

विणियट्टणा-विनिवर्तना-स्त्री०। पञ्चेन्द्रियाणां विषयेभ्यो विशेषेण निवर्त्तने, उत्त० २६ अ०।

विनिवर्त्तनायाः फलमाह—

विणिवट्टणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?, विणिवट्टणयाए णं पावाणं कम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरंतसंसारकंतारं वीईवयइ ॥ ३२ ॥

हे स्वामिन्! विनिवर्त्तनया विषयेभ्य आत्मनः पराङ्मुखीभावेन जीवः किं जनयति?, गुरुराह—हे शिष्य! विनिवर्त्तनया पापकर्मणामकरणत्वेन सावद्यकर्मत्यागेन अभ्युत्तिष्ठते—धर्माय सावधानो भवति, पूर्वबद्धानां पापकर्मणां निर्जरया नूतनपापकर्मणामकरणत्वेन सावद्यकर्म्मत्यागेन अभ्युत्तिष्ठते-धर्माय सावधानो भवति। पूर्वबद्धानां पापकर्मणामनुपादनेन तत् पापकर्म निवर्त्तयति-निवारयति, ततः पश्चात् चातुरन्तसंसारकान्तारं 'वीईवयइ' व्यतिव्रजति—व्युत्क्रामतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ उत्त० २६ अ०।

विविक्तशयनाशनतायां च विनिवर्त्तना भवतीति तामाह—विनिवर्त्तनया—विषयेभ्यः आत्मनः पराङ्मुखीकरणरूपया—पापकर्म्मणां-सावद्यानुष्ठानानामकरणतया न मया पापानि कर्त्तव्यानीत्येवंरूपयाऽभ्युत्तिष्ठते—धर्म्मे प्रत्युत्सहते पूर्वबद्धानां पापकर्मणामिति प्रक्रमश्चशब्दो निर्ज्जरणानन्तरं द्रष्टव्यस्ततः पूर्वबद्धानां निर्ज्जरणया चशब्दादभिनवानुपादाने च तदिति कर्म निवर्त्तयति—विनाशयति, यदि वा पापकर्मणां-ज्ञानावरणादीनाम् 'अकरणया' इति आर्षत्वाद् अकरणेन अपूर्वानुपार्ज्जनेनाभ्युत्तिष्ठते मोक्षायेति शेषः। पूर्वबद्धानां च कर्मणां निर्ज्जरणया अन्यत् प्राग्वत् ॥ ४० ॥ उत्त० पाई० २६ अ०।

विणियट्टपरास-विनिवृत्तपराश-त्रि०। विनिवृत्ता-निवृत्ता परस्य आशा येषां ते तथा। सर्वथा पुद्गलाशारहिते निर्वाञ्छके, "विनिवृत्तपराशानाम्।" अष्ट० ३२ अष्ट०।

विणियट्टमाण-विनिवर्त्तमान-त्रि०। समस्ताशुभव्यापारात् (आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०।) भोगेभ्यो वा विषयेभ्यः निवर्त्तमाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

विणिवट्टण-विनिवर्त्तन-न०। असंयमस्थानेभ्यो विरमणे, भ० १७ श० ३ उ०।

विणिवाइय-विनिपातिक-न०। नाट्यभेदे, आ० म० १ अ०।

विणिवाय-विनिपात-पुं०। सुतादिमरणे, अनु०। धर्मभ्रंशे, संसारे च। स्था० ४ ठा० ३ उ०। औ०।

विणिविट्ठ-विनिविष्ट-त्रि०। विविधमनेकधा निविष्टं स्थितम्। नानाप्रकारैर्निविष्टे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

विणिविट्ठचित्त-विनिविष्टचित्त-त्रि०। विविधमनेकधा निविष्टं स्थितमवगाढमर्थोपार्जनोपाये मातापित्राद्यभिष्वङ्गे वा शब्दादिविषयोपभोगे वा चित्तम्-अन्तःकरणं यस्य स तथा। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। अभिनिविष्टचित्ते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

विणिहय-विनिहत-त्रि०। व्यापादिते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। विशेषेण निपातिते, उत्त० ३ अ०।

विणिहिय-विनिहित-त्रि०। विशेषेण निहितं स्थापितं विनिहितम्। पातिते, स्था०।

विणीय-विनीत-त्रि०। विनयप्रापित्ते, उत्त०१अ०। आ० म०। ज्ञा०। अनुद्धतप्रकृतौ, द्वा० २१ द्वा०। विनीतात्मतया प्रश्रयवति, तं०। सूत्र०। प्रति०। पं०सू०। स्वाभीष्टकारित्वात् (आव० १ अ०।) वृद्धपुरुषविनयकरणशीले, तं०। विनयवति, कल्प० १ अधि० ५ क्षण। गुणाधिकेषु गौरवकृति, ध० १ अधि०। भ०। जं०। आ०चू०। विनीता गुरुजनगौरवकृतः। विनयवति हि सपदि संपदः प्रादुर्भवन्तीति श्रावकगुणत्वम्। प्रव० २४१ द्वार। ध० र०। सदैवागर्वितत्वेन विनयार्हं प्रति प्रह्वीभूतमनोवाक्काये, दर्श०२ तत्त्व। अपनीते, उत्त० १ अ०। सूत्र०। (विनीतस्याऽविनीतस्य च स्वरूपमनुपदमेव 'विणय' शब्दे उक्तम्।)

विणीयणगरी-विनीतनगरी-स्त्री०। ऋषभदेवस्य जन्मस्थानेऽयोध्यायाम्, आ० म० १ अ०।

विणीयतण्ह-विनीततृष्ण-त्रि०। अपेताभिलाषे, दश०८अ०।

विणीयदोहला-विनीतदोहदा-स्त्री०। वाञ्छाविनयनात् अपनीतदोहदायाम्। विपा० १ श्रु० २ अ०।

विणीयसंसार-विनीतसंसार-त्रि०। तीर्थकरादौ विनष्टसंसारे, आ० चू० ४ अ०।

विणीया-विनीता-स्त्री०। विनीता मनुष्या अत्रेति विनीता। आ० चू० १ अ०। अयोध्यायाम्, ती० १२ कल्प। ('अउज्झा' शब्दे प्रथमभागे तत्कल्प उक्तः।) (तदुत्पत्तिः 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे उक्ता।)

विणु-विना-अव्य०। "पुनर्विनः स्वार्थे डुः" ॥८। ४॥ ४२६॥ अपभ्रंशे पुनर्विना इत्येताभ्यां स्वार्थे डुः प्रत्ययो भवतीति डुः। अन्तरेणार्थे, 'विणु जुज्झे न बलाहु'। प्रा० ४ पाद।

विणुत्ति-विनोक्ति-स्त्री०। "विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्नेतरः" इत्युक्तलक्षणेऽलंकारे, प्रति०।

विणेय-विनेय-पुं०। शिष्ये, नं०। आव०। शास्त्रानुयोग्ये, विशे०।

विणेयाणुगुण-विनेयानुगुण्य-न०। शिक्षणीयसत्त्वानुरूप्ये, पञ्चा० १६ विव०।

विणोय-विनोद-पुं०। विश्रामे, आ० चू० १ अ०। आ० म०। आचा०।

विनोकस्-पुं०। नरविहीने निवासगृहे, व्य० ५ उ०।

विणत्त-विज्ञप्त-त्रि०। उक्ते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

विएणत्ति-विज्ञप्ति-स्त्री०। विविधं विशेषेण वा ज्ञपनं प्रबोधनं विज्ञप्तिः। विशे०। विज्ञानं वा विज्ञप्तिः। परिच्छेदे, नं०। आ० म०। आचा०। ज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। "विज्ञप्तिः फलदा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ॥ ३० ॥ " नयो० ।

विण्णत्तिहेउभूय-विज्ञप्तिहेतुभूत--त्रि० । ज्ञातव्यसामर्थ्यायुक्ते, विज्ञप्तिकारणे, आ० चू० १ अ० ।

विण्णयपरिणयमेत्त--विज्ञकपरिणतमात्र--पुं० । विज्ञ एव विज्ञकः स चासौ परिणतमात्रं च कलादिष्विति गम्यते । विज्ञपरिणतमात्र, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । योग्यविज्ञानं प्राप्ते, भ० ११ श० ११ उ० । विपा० ।

विण्णवण--विज्ञपन--न० । विज्ञप्तौ, परिच्छेदे, आ० म० १ अ० । " पन्नवण त्ति वा विन्नवण त्ति वा एगट्ठा " आ० म० १ अ० ।

विण्णवणा--विज्ञापना--स्त्री० । विज्ञप्तिकायाम्, सप्रणयप्रार्थने, भ० ६ श० ३३ उ० । सूत्र० । ज्ञा० । नि० । प्रतिसेवनायाम्, प्रार्थनायाञ्च । बृ० १ उ० ३ प्रक० । विज्ञाप्यन्ते याः कामार्थिभिस्तदर्थिन्यो वा कामिनमिति विज्ञापनाः । स्त्रीषु, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

विण्णाण--विज्ञान--न० । विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम् । "ज्ञो ञः" ॥८। २।४२॥ इति काचित्कत्वादत्र न ञकारः।प्रा० । "म्नज्ञोर्णः"इति ज्ञस्थाने णः । प्रा० । ज्ञानदर्शनोपयोगे,विशे० । औ० । क्षयोपशमविशेषत एवावधारितार्थविषये, तीव्रतरधारणाहेतौ बोधविशेषे,नं०।चक्षुरादीन्द्रियोपलब्धिरूपे विशेषावबोधे, आतु० । नं०। सूत्र०। हिताऽहितप्राप्तिपरिहाराध्यवसाये, आचा०१श्रु० ४ अ० २ उ० । अर्थादीनां हेयोपादेयत्वविनिश्चये,स्था० ३ ठा० ३ उ० । मतिविशेषभूतौत्पत्तिक्यादिबुद्धिरूपपरिच्छेदे,ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अनेकप्रकाररूपादिकरणे, तं० । अनेकधर्मिणि वस्तुनि तत्तथाध्यवसाये, दश० ४ अ० । 'णाणे विण्णाणफले' प्रव० २ द्वार । ज्ञानं विशिष्टज्ञानफलम् । श्रुतज्ञानाद्धि हेयोपादेयविवेककारिविज्ञानमुत्पद्यते । भ० ३ श० ७ उ० । विज्ञायतेऽनेनेति । मनसि, विज्ञाने, अनु० ।

विण्णाणखंध--विज्ञानस्कन्ध--पुं० । रूपविज्ञानादिरूपे बौद्धपरिभाषिते पञ्चसु स्कन्धेष्वन्यतमे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

विण्णाणघण--विज्ञानघन--पुं० । ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकं विज्ञानं तन्मयत्वादात्मा विज्ञानघनः । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । विज्ञानपिण्डे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । पृथिव्यादिभूतानां विज्ञानलवसमुदाये, पृथिव्यादिविज्ञानांशानां पिण्डे, विशे० । (" विण्णाणओ "० (१५६३-१५६४) इत्यादिगाथाद्वयम्-' आता ' शब्दे द्वितीयभागे १७६ पृष्ठे व्याख्यातम् ।)

विण्णाणपत्त--विज्ञानप्राप्त--त्रि० । हिताहितप्राप्तिपरिहाराध्यवसायं प्राप्ते, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अवाप्तसद्बोधे, उपा० १ अ० ।

विण्णाणवाइ--विज्ञानवादिन्--पुं० । शेषनीलादिविकल्पशून्यस्य पारमार्थिकरागादिवासनाविशेषरहितस्य बोधलक्षणस्य प्रतिज्ञापके बौद्धभेदे, षो० १६ विव० । स्या० ।

तन्मतनिरासः-

न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद् विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ।

अथ व्याख्यातुमुपक्रम्यते—तत्र च बाह्यार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्वते तेषां प्रतिक्षेपः । तन्मतं चेदम्-ग्राह्यग्राहकादिकलङ्काऽनङ्कितं निष्प्रपञ्चं ज्ञानमात्रं परमार्थसत् । बाह्यार्थस्तु विचारमेव न क्षमते । तथाहि-कोऽयं बाह्योऽर्थः ? किं परमाणुरूपः स्थूलावयविरूपो वा ? । न तावत्परमाणुरूपः प्रमाणाऽभावात् । प्रमाणं हि प्रत्यक्षमनुमानं वा?। न तावत्प्रत्यक्षं-तत्साधनं बद्धकक्षम् । तद्धि योगिनां स्यात् अस्मदादीनां वा ?। नाद्यम्; अत्यन्तविप्रकृष्टतया श्रद्धामात्रगम्यत्वात् । न द्वितीयम्, अनुभवबाधितत्वात् । न हि वयमयं परमाणुरयं परमाणुरिति स्वप्नेऽपि प्रतीमः, स्तम्भोऽयं कुम्भोऽयमित्येवमेव नः सदैव संवेदनोदयात् । नाप्यनुमानेन तत्सिद्धिः, अणूनामतीन्द्रियत्वेन तैः सह अविनाभावस्य कापि लिङ्गे ग्रहीतुमशक्यत्वात् । किं च-अमी नित्या अनित्या वा स्युः ? । नित्याश्चेत्क्रमेणाऽर्थक्रियाकारिणो युगपद्वा ? । न क्रमेण; स्वभावभेदेनाऽनित्यत्वापत्तेः न युगपत्, एकक्षणे एव कृत्स्नार्थक्रियाकरणात् क्षणान्तरे तदभावादसत्त्वापत्तिः । अनित्याश्चेत् क्षणिकाः, कालान्तरस्थायिनो वा ? क्षणिकाश्चेत्, सहेतुका निर्हेतुका वा ? । निर्हेतुकाश्चेन्नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यान्निरपेक्षत्वात् । अपेक्षातो हि कादाचित्कत्वम् । सहेतुकाश्चेत्, किं तेषां स्थूलं किञ्चित्कारणं परमाणवो वा?। न स्थूलं; परमाणुरूपस्यैव बाह्यार्थस्याऽङ्गीकृतत्वात् । न च परमाणवः । ते हि सन्तोऽसन्तः सदसन्तो वा स्वकार्याणि कुर्युः ? सन्तश्चेत्, किमुत्पत्तिक्षण एव, क्षणान्तरे वा ? । नोत्पत्तिक्षणे, तदानीमुत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तेषाम् । अथ-" भूतिर्येषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते" इति वचनाद्भवनमेव तेषामपरोत्पत्तौ कारणमिति चेत्, एवं तर्हि रूपाणवो रसाणूनाम्, ते च तेषामुपादानं स्युरुभयत्र भवनाऽविशेषात् । न च क्षणान्तरे, विनष्टत्वात् । अथासन्तस्ते तदुत्पादकास्तर्हि एकं स्वसत्ताक्षणमपहाय सदा तदुत्पत्तिप्रसङ्गः, तदसत्त्वस्य सर्वदाऽविशेषात् । सदसत्पक्षस्तु "प्रत्येकं यो भवेद्दोषो, द्वयोर्भावे कथं न सः ?, " इति वचनाद्विरोधाघ्रात एव । तन्नाणवः क्षणिकाः नापि कालान्तरस्थायिनः क्षणिकपक्षसदृक्षयोगक्षेमत्वात् । किं च—अमी कियत्कालस्थायिनोऽपि किमर्थक्रिया पराङ्मुखाः,तत्कारिणो वा ?। आद्ये खपुष्पवदसत्त्वापत्तिः उदग्विकल्पे किमसद्रूपं सद्रूपमुभयरूपं वा ते कार्यं कुर्युः ? । असद्रूपं चेत्-शशविषाणादेरपि किं न करणम्? । सद्रूपं चेत्, सतोऽपि करणेऽनवस्था । तृतीयभेदस्तु प्राग्वद्विरोधदुर्गन्धः । तन्नाणुरूपोऽर्थः सर्वथा घटते । नापि स्थूलावयविरूपः । एकपरमाण्वसिद्धौ कथमनेकतत्सिद्धिः ? तदभावे च तत्प्रचयरूपः स्थूलावयवी वाङ्मात्रम् । किं च-अयमनेकावयवाधार इष्यते । ते चावयवा यदि विरोधिनस्तर्हि नैकः स्थूलावयवी; विरुद्धधर्माध्यासात् । अविरोधिनश्चेत्प्रतीतिबाधः, एकस्मिन्नेव स्थूलावयविनि चलाचलरक्तारक्ताऽऽवृतानावृतादिविरुद्धावयवानामुपलब्धेः । अपि च—असौ तेषु वर्त्तमानः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा वर्त्तेत ? कार्त्स्न्येन वृत्तावेकस्मिन्नेवावयवे परिसमाप्तत्वादनेकावयववृत्तित्वं न स्यात्; प्रत्यवयवं कार्त्स्न्येन वृत्तौ चावयविबहुत्वापत्तेः । एकदेशेन वृत्तौ च तस्य निरंशत्वाभ्युपगमविरोधः, सांशत्वे वा तेंऽशास्ततो भिन्नाः, अभिन्ना वा ? । भिन्नत्वे पुनरप्यनेकांशवृत्तेरेकस्य कार्त्स्न्यैकदेशविकल्पानतिक्रमादनवस्था । अभिन्नत्वे न केचिद्देशाः स्युः । इति नास्ति बाह्योऽर्थः कश्चित् । किन्तु-ज्ञानमेवेदं सर्वं नीलाद्याकारेण प्रतिभाति । बाह्यार्थस्य जडत्वेन प्रतिभासायोगात् । यथोक्तं "स्वाकारबु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्विजनका दृश्या नेन्द्रियगोचराः" । अलङ्कारकारेणाप्युक्तम्-"यदि संवेद्यते नीलं, कथं बाह्यं तदुच्यते ? । न चेत्संवेद्यते नीलं, कथं बाह्यं तदुच्यते ? ॥१॥" यदि बाह्योऽर्थो नास्ति किं विषयस्तर्ह्ययं घटपटादिप्रतिभास इति चेन्ननु निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितो निर्विषयत्वादाकाशकेशज्ञानवत्, स्वप्नज्ञानवद्वेति । अत एवोक्तम्-" नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयाऽस्ति,तस्या नानुभवोऽपरः । ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥१॥ बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो, यथा बालैर्विकल्प्यते । वासनालुण्ठितं चित्त-मर्थाभासे प्रवर्तते ॥२॥" इति । तदेतत्सर्वमवद्यम् । ज्ञानमिति हि क्रियाशब्दस्ततो ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं ज्ञप्तिर्वा ज्ञानमिति । अस्य च कर्मणा भाव्यं; निर्विषयाया ज्ञप्तेरघटनात् । न चाकाशकेशादौ निर्विषयमपि दृष्टं ज्ञानमिति वाच्यं, तस्याप्येकान्तेन निर्विषयत्वाऽभावात् । न हि सर्वथाऽगृहीतसत्यकेशज्ञानस्य तत्प्रतीतिः । स्वप्नज्ञानमप्यनुभूतदृष्टाद्यर्थविषयत्वान्न निरालम्बनम् । तथा च महाभाष्यकारः—" अणुहूय-दिट्ठ-चिंतिय-सुयपयइ वियारदेवयाणू वा । सुमिणस्स निमित्ताइं, पुण्णं पावं च णाऽभावा ॥ १ ॥ " यश्च ज्ञानविषयः स बाह्योऽर्थः । भ्रान्तिरियमिति चेद् । चिरं जीव, भ्रान्तिर्हि मुख्येऽर्थे क्वचिद् दृष्टे सति करणाऽपाटवादिना अन्यत्र विपर्यस्तग्रहणे प्रसिद्धा । यथा शुक्तौ रजतभ्रान्तिः । अर्थक्रियासमर्थेऽपि वस्तुनि यदि भ्रान्तिरुच्यते तर्हि प्रलीना भ्रान्ताऽभ्रान्तव्यवस्था । तथा च सत्यमतद्वचः-" आशामोदकतृप्ता ये, ये चास्वादितमोदकाः । रसवीर्यविपाकादि, तुल्यं तेषां प्रसज्यते ॥ १ ॥ " न चामून्यर्थदूषणानि स्याद्वादवादिनां बाधां विदधते, परमाणुरूपस्य स्थूलावयविरूपस्य चार्थस्याङ्गीकृतत्वात् । यच्च परमाणुपक्षखण्डनेऽभिहितं प्रमाणाऽभावादिति । तदसत् । तत्कार्याणां घटादीनां प्रत्यक्षत्वे तेषामपि कथंचित् प्रत्यक्षत्वं, योगिप्रत्यक्षेण च साक्षात्प्रत्यक्षत्वमवसेयम् । अनुपलब्धिस्तु सौक्ष्म्यात् । अनुमानादपि तत्सिद्धिः, यथा—सन्ति परमाणवः स्थूलावयविनिष्पत्त्यन्यथाऽनुपपत्तेरित्यन्तर्व्याप्तिः । न चाणुभ्यः स्थूलोत्पाद इत्येकान्तः, स्थूलादपि सूत्रपटलादेः स्थूलस्य पटादेः प्रादुर्भावविभावनात्; आत्माकाशादेरपुद्गलकार्यत्वकक्षीकाराच्च । यत्र पुनरणुभ्यस्तदुत्पत्तिस्तत्र तत्तत्कालादिसामग्रीसव्यपेक्षक्रियावशात्प्रादुर्भूतं संयोगातिशयमपेक्ष्येयमवितथैव यदपि किंचायमनेकावयवाधार इत्यादि न्यगादि, तत्रापि कथंचिद्विरोध्यनेकावयवाऽविष्वग्भूतवृत्तिरवयव्यभिधीयते । तत्र च यद्विरोध्यनेकावयवाधारतायां विरुद्धधर्माध्यासनमभिहितं तत्कथंचिदुपेयत एव,तावदवयवात्मकस्य तस्यापि कथंचिदनेकरूपत्वात् । यच्चोपन्यस्तमपि च-असौ तेषु वर्तमानः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा वर्ततेत्यादि तत्रापि विकल्पद्वयाऽनभ्युपगम एवोत्तरम्, अविष्वग्भावेनाऽवयविनोऽवयवेषु वृत्तेः स्वीकारात् । किं च-यदि बाह्योऽर्थो नास्ति किमिदानीं नियताकारं प्रतीयते 'नीलमेतदि' ति ?। विज्ञानाकारोऽयमिति चेन्न ज्ञानाद्बहिर्भूतस्य संवेदनात् । ज्ञानाकारत्वे तु 'अहं नीलमि'ति प्रतीतिः स्यान्न त्विदं नीलमिति। ज्ञानानां प्रत्येकमाकारभेदात् कस्यचिदहमिति प्रतिभासः कस्यचिन्नीलमेतदिति चेत् । नीलाद्याकारवदहमित्याकारस्य व्यवस्थितत्वाभावात् । तथा च-यदेकेनाहमिति प्रतीयते तदेवाऽपरेण त्वमिति प्रतीयते । नीलाद्याकारस्तु व्यवस्थितः,सर्वैरप्येकरूपतया ग्रहणात् । भक्षितहृत्पूरादिभिस्तु यद्यपि नीलादिकं पीतादितया गृह्यते तथापि तेन न व्यभिचारः, तस्य भ्रान्तत्वात्,स्वयं स्वस्य संवेदनेऽहमिति प्रतिभासत इति चेत्।ननु किं परस्यापि संवेदनमस्ति ?, कथमन्यथा स्वशब्दस्य प्रयोगः ?, प्रतियोगिशब्दो ह्ययं परमपेक्ष्यमाण एव प्रवर्त्तते । स्वरूपस्यापि भ्रान्त्या भेदप्रतीतिरिति चेत् ।हन्त ! प्रत्यक्षेण प्रतीतो भेदः कथं न वास्तवः ? । भ्रान्तं प्रत्यक्षमिति चेत् । ननु कुत एतत्?।अनुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्धेरिति चेत् किं तदनुमानमिति पृच्छामः ,? यद्येन सह नियमेनोपलभ्यते तत्ततो न भिद्यते । यथा सच्चन्द्रादसच्चन्द्रः । नियमेनोपलभ्यते च ज्ञानेन सहार्थः । इति व्यापकाऽनुपलब्धिः । प्रतिषेध्यस्य ज्ञानार्थयोर्भेदस्य व्यापकः सहोपलम्भान्नियमस्तस्याऽनुपलब्धिर्भिन्नयोर्नीलपीतयोर्युगपदुपलम्भनियमाभावात् । इत्यनुमानेन तयोरभेदसिद्धिरिति चेन्न । संदिग्धानैकान्तिकत्वेनास्यानुमानाभासत्वात् । ज्ञानं हि स्वपरसंवेदनं, तत्परसंवेदनतामात्रेणैव नीलं गृह्णाति , स्वसंवेदनतामात्रेणैव च नीलबुद्धिम् । तदेवमनयोर्युगपद्ग्रहणात्सहोपलम्भनियमोऽस्ति । अभेदश्च नास्ति । इति सहोपलम्भनियमरूपस्य हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तेः संदिग्धत्वात् संदिग्धाऽनैकान्तिकत्वम् । असिद्धश्च सहोपलम्भनियमो, नीलमेतदिति बहिर्मुखतयाऽर्थेऽनुभूयमाने तदानीमेवान्तरस्य नीलानुभवस्याऽननुभवात्। इति कथं प्रत्यक्षस्यानुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्ध्या भ्रान्तत्वम्?,अपि च-प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वेनाऽबाधितविषयत्वादनुमानस्यात्मलाभो, लब्धात्मके चानुमाने प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वमित्यन्योन्याश्रयदोषोऽपि दुर्निवारः । अर्थाभावे च नियतदेशाधिकरणाप्रतीतिः कुतः ?, न हि तत्र विवक्षितदेशेऽयमारोपयितव्यो नान्यत्रेत्यस्ति नियमहेतुः । वासनानियमात्तदारोपनियम इति चेत् । न, तस्या अपि तद्देशनियमकारणाभावात् । सति ह्यर्थसद्भावे यद्देशोऽर्थस्तद्देशोऽनुभवस्तद्देशा च तत्पूर्विका वासना । बाह्यार्थाभावे तु तस्याः किं कृतो देशनियमः ?। अथास्ति तावदारोपनियमः । न च कारणविशेषमन्तरेण कार्यविशेषो घटते । बाह्यश्चार्थो नास्ति । तेन वासनानामेव वैचित्र्यं तत्र हेतुरिति चेत् ।तद्वासनावैचित्र्यं बोधाकारादन्यदनन्यद्वा?।अनन्यच्चेत् बोधाकारस्यैकत्वात्कस्तासां परस्परतो विशेषः ? अन्यच्चेदर्थे कः प्रद्वेषो ?, येन सर्वलोकप्रतीतिरपभूयते ?। तदेवं सिद्धो ज्ञानार्थयोर्भेदः । तथा च प्रयोगः।विवादाध्यासितं नीलादि ज्ञानाद् व्यतिरिक्तं विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्।विरुद्धधर्माध्यासश्च ज्ञानस्य शरीरान्तः, अर्थस्य च बहिः ; ज्ञानस्याऽपरकाले, अर्थस्य च पूर्वकाले वृत्तिमत्त्वात् ,ज्ञानस्य आत्मनः सकाशाद् अर्थस्य च स्वकारणेभ्य उत्पत्तेः;ज्ञानस्य प्रकाशरूपत्वादर्थस्य च जडरूपत्वादिति । अतो न ज्ञानाद्वैतेऽभ्युपगम्यमाने बहिरनुभूयमानार्थप्रतीतिः कथमपि संगतिमङ्गति । न च दृष्टमपह्नोतुं शक्यमिति । अत एवाह स्तुतिकारः-"न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित्" इति। सम्यग्-अवैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित्, स्वसंवेदनपक्षे तु संवेदनं संवित् ज्ञानम्, तस्या अद्वैतम् । यद् द्वयोर्भावो द्विता । द्वितैव द्वैतं; प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकेऽणि , न द्वैतमद्वैतं बाह्यार्थप्रतिक्षेपादेकत्वम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संविदद्वैतं ज्ञानमेवैकं तात्त्विकं न बाह्योऽर्थ इत्यभ्युपगम इत्यर्थः। तस्य पन्थाः-मार्गः संविदद्वैतपथस्तस्मिन्। ज्ञानाद्वैतवादपक्ष इति यावत्। किमित्याह-" नार्थसंवित्"। येयं बहिर्मुखतयाऽर्थप्रतीतिः साक्षादनुभूयते सा न घटते इत्युपस्कारः। एतच्चानन्तरमेव भावितम्। एवं च स्थिते सति किमित्याह—" विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् " इति—सुगतो-मायापुत्रस्तस्य सम्बन्धि तेन परिकल्पितं क्षणक्षयादि वस्तुजातमिन्द्रजालमिवेन्द्रजालं, मतिव्यामोहविधायित्वात्। सुगतेन्द्रजालं सर्वमिदं विलूनशीर्णम्—पूर्वं विलूनं पश्चात् शीर्णं विलूनशीर्णम्; यथा किंचित्तृणस्तम्बादि विलूनमेव शीर्यते-विनश्यति एवं तत्कल्पितमिदमिन्द्रजालं तृणप्रायं धारालयुक्तिशस्त्रिकया छिन्नं सद्विशीर्यत इति। अथवा-यथा निपुणैन्द्रजालिककल्पितमिन्द्रजालमवास्तवतत्तद्वस्त्वद्भुततोपदर्शनेन तथाविधं बुद्धिदुर्विदग्धजनं विप्रतार्य पश्चादिन्द्रधनुरिव निरवयवं विलूनशीर्णतां कलयति, तथा सुगतपरिकल्पितं तत्तत्प्रमाणतत्तत्फलाऽभेदक्षणक्षयज्ञानार्थहेतुकत्वज्ञानाऽद्वैताभ्युपगमादि सर्वं प्रमाणाऽनभिज्ञं लोकं व्यामोहयमानमपि युक्त्या विचार्यमाणं विशरारुतामेव सेवत इति। अत्र च सुगतशब्द उपहासार्थः। सौगता हि शोभनं गतं ज्ञानमस्येति सुगत इत्युशन्ति। ततश्चाहो तस्य शोभनज्ञानता येनेत्थमयुक्तियुक्तमुक्तम्। इति काव्यार्थः॥१६॥ स्या०। (विस्तरार्थस्तु 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १६६० पृष्ठे गतः।)

विषाय--विज्ञात--त्रि०। विशेषेण ज्ञातं विज्ञातम्। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। विदिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। विज्ञाय--अव्य०। अवेत्येत्यर्थे। दश० ८ अ०। पं० सू०।

विषायपरिणयमेत्त-विज्ञातपरिणतमात्र-त्रि०। विज्ञातं-विज्ञानं तत्परिणतमात्रं यत्र सः। परिपक्वविज्ञाने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

विषाया-विज्ञातृ-त्रि०। प्रतिभेदज्ञानेन पदार्थानां परिच्छेदके, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ०। सूत्र०।

विषास-विन्यास--पुं०। निक्षेपे, विशे०।

विएणु--विद्वस्--पुं०। पण्डिते, द्वा० २७ द्वा०। अष्ट०। ज्ञानपिण्डे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। जिनागमगृहीतसारे, आचा० २ श्रु० ४ चू०।

अथ (यश्च) विद्वानिति द्वारमाह—

विदु जाणए विणीए, उववाए जो उ चिट्ठइ गुरूणं।
तव्विवरीयविणीए, अदिंते दिंते अ लहु गुरुगा॥७६५॥

विद ज्ञाने इत्यस्य धातोर्वेत्ति-जानातीति व्युत्पत्त्या विद्वान् ज्ञायक उच्यते। स चेहाभ्युत्थानासनप्रदानादिरूपस्य विनयस्य विज्ञाता ग्राह्यः। न केवलं ज्ञायकः, किं तु-विनीतो यथावसरमभ्युत्थानादिविनयप्रयोक्ता। तथा उपपाते-आज्ञानिर्देशे गुरूणां 'यस्तु'-यः पुनर्वर्त्तते तस्य सूत्रं न ददाति चतुर्लघु, अर्थं न ददाति चतुर्गुरु। गतं(यश्च)विद्वानिति द्वारम्। बृ० १ उ० १ प्रक०।

एगा विएणू। (सू०-३२)
विद्वान् विज्ञो वा तुल्यबोधत्वादेक इति। स्त्रीलिङ्गत्वं च

प्राकृतत्वात्। उत्पाद (स्य) उप्पावत् लुप्तभावप्रत्ययत्वाद् वा एका विद्वत्ता; विज्ञता वेत्यर्थः। स्था० १ ठा०।

विषेय-विज्ञेय-त्रि०। अवबोद्धव्ये, दर्श० १ तत्त्व। अवगन्तव्ये, विशे०।

विएहवण-विस्नपन-न०। विशेषेण स्नपने, बृ०१उ० २ प्रक०। बालस्नापने, पं० व० ५ द्वार।

विएहावणग-विस्नापनक-न०। विविधैर्मन्त्रमूलादिभिः संस्कृतजलैः स्नापनके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

विएिह-वृष्णि-पुं०। स्वनामख्याते अन्धकवृष्णिपुत्रे, अन्त०। (स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गे दशमाध्ययने सूचितम्।)

विएहु-विष्णु-पुं०। "सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः" ॥८।२। ७५॥ इति ष्णस्य ण्हः। प्रा०। वाशिष्ठसगोत्रस्य जेहिलस्य माढरसगोत्रे स्वनामख्याते शिष्ये,कल्प०२ अधि० ८ क्षण। वासुदेवे,आ०क०१अ०।स्था०।"जले विष्णु. स्थले विष्णु-र्विष्णुः पर्वतमस्तके। सर्वभूतमयो विष्णु-स्तस्माद्विष्णुमयं जगत्"॥१॥ अनेन हि वाक्येन विष्णोर्महिमा प्रतीयते। कल्प०।

"जले विष्णुः स्थले विष्णु—र्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालमालाकुले विष्णुः, सर्वं विष्णुमयं जगत्॥१॥

तथा—

अहं च पृथिवी पार्थ!, वाय्वग्निजलमप्यहम्।
वनस्पतिगतश्चाहं, सर्वभूतगतोऽप्यहम्॥२॥

तथा—

सो किल जलयसमुत्थे, एगदएगण्णवम्मि लोगम्मि।
वीतीपरंपरेणं, घोलंतो उदयमज्झम्मि॥३॥

स किल मार्कण्ड ऋषिः।

पेच्छइ सो तसथावर-पण्टुसुरनरतिरिक्खजोणियं।
एगण्णवं जगमिणं, महब्भूयविवज्जियं गुहिरं॥२॥
एवंविहे जगम्मि, पिच्छइ नग्गोहपायवं सहस्सा।
मंदरगिरिं व तुंगं, महासमुद्दं व वित्थिन्नं॥३॥
खंधम्मि तस्स सयणं, अच्छइ तह बालओ मणभिरामो।
(विष्णुरित्यर्थः)
संविद्धो सुद्धहियओ, मिउकोमलकुंचियसुकेसो॥४॥
हत्थो पसारिओ से, महरिसिणो एहि वच्छ ! भणिओ य।
खंधे इमं विलग्गसु, मा मरिहिसि उदयबुड्डीए॥५॥
तेण य घेत्तुं, हत्थे, मिलिओ सो रिसी तओ तस्स।
पिच्छइ उदरम्मि जयं, ससेलवणकाणणं सव्वं॥६॥" इति।

पुनः सृष्टिकाले विष्णुना सृष्टम्। कुदर्शनता चास्य प्रतीतिबाधितत्वात्। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। श्रवणनक्षत्रस्य देवतायाम्, जं० ७ वक्ष०। सू०प्र०।

दो विएहू (सू०) स्था० २ ठा० ३ उ०।

विएहुकुमार-विष्णुकुमार-पुं०। वैक्रियलब्धिसंपन्नत्वेन प्रसिद्धे स्वनामख्याते साधौ, कर्म०। (विष्णुकुमारस्य वृत्तम् 'पावा' शब्दे पञ्चमभागे ८८६ पृष्ठे गतम्।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विष्णुकुमारसंबन्धः कुत्र ग्रन्थे वर्तते। तथा तेन यल्लक्षयोजनप्रमाणं रूपं कृतं श्रूयते तत् किमुत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नेन योजनेन प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नेन वा ?। तथा तेन पूर्वपश्चिमसमुद्रयोः पादौ मुक्तौ स्त इत्यप्युक्तमस्ति तेनैतदाश्रित्य यथा घटमानं भवति तथा प्रसाद्यमिति ?। अत्र विष्णुकुमारसंबन्धः उत्तराध्ययनवृत्तिपुष्पमालावृत्तिप्रमुखग्रन्थेषु वर्त्तते, तथा तेन यल्लक्षयोजनप्रमाणं रूपं कृतं वर्त्तते तदुत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नयोजनप्रमाणेन, यत्पुनः पूर्वपश्चिमसमुद्रयोः पादौ मुक्तौ तज्जम्बूद्वीपमध्यस्थलवणसमुद्रखातिकायामिति संभाव्यते, अन्यथा उत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नलक्षयोजनप्रमाणशरीरस्य चरणाभ्यां पूर्वपश्चिमलवणसमुद्रस्पर्शनं दुःशक्यमिति ॥३॥ ही० ४ प्रका०।

विण्हुगायत्ती–विष्णुगायत्री–स्त्री०। 'वाग्विशुद्धाय विद्महे वाग्विशुद्धाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' इति विष्णुदेवताकगायत्र्याम्, गा०।

विण्हुमित्त–विष्णुमित्र–पुं०। मानपिण्डशब्दे उदाहृते स्वनामख्याते श्रावके, पिं०।

विण्हुसिरी–विष्णुश्री–स्त्री०। वीरतीर्थे सर्वान्तिमायामनगार्याम्, 'परिसगुणजुत्ता चेव सुगहियनामधिज्जा विण्हुकुमारी' महा० ४ अ०।

वितंडा–वितण्डा–स्त्री०। वितण्डयते आहन्यतेऽनया प्रतिपक्षसाधनमिति। प्रतिपक्षस्थापनाहीने वाक्ये, अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिकः। इति हि न्यायवार्तिकम्। जैनपरिभाषया—तत्त्वविचारमौखर्ये, स्था०। नि० चू०। सूत्र०। स०। कल्प०।

वितक्क–वितर्क–पुं०। विमर्शे, नं०। नि० चू०। श्रुते, आव० ४ अ०।

वितर्क्य–त्रि०। प्रार्थनीये, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

वितक्किय–वितर्कित–त्रि०। वितर्किते, पं० चू० १ कल्प।

वितडी–वितटी–स्त्री०। विरूपासु नदीषु, ज्ञा०१ श्रु० १ अ०।

वितण्हा–वितृष्णा–त्रि०। विगतगार्ध्ये, द्वा० ११ द्वा०।

वितत–वितत–न०। विस्तृते, संथा०१ अधि०१ प्रस्ता०। विततीकृते, ताडिते, आ० म०१ अ०। जी०। प्रज्ञा०। भ०। पटहादिके, जं० २ वक्ष०। जी०। सूत्र०। "ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकम्। घनं तु कांस्यतालादि,वंशादि शुषिरं मतम्॥१॥" स्था० ४ ठा० ४ उ०। श्रीहेमचन्द्रास्तु विततस्थाने आनद्धमाहुः। जं० ५ वक्ष०। रा०। जी०। स्था०। आचा०। आ० चू०। प्रश्न०। सप्तसप्ततितमे महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ०। चं० प्र०। कल्प०।

दो वितता। (सू०) स्था० २ ठा० ३ उ०।

विततपक्खि[ण्]- विततपक्षिन्–पुं०। विततौ पक्षावस्येति। स्था० ४ ठा० ४ उ०। बहिर्द्वीपवर्त्तिनि पक्षिभेदे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

वितद्द–वितर्द–पुं०। विविधं तर्दयतीति वितर्दः। तर्द–हिंसायामित्यस्मात्कर्तरि पचाद्यच्। हिंसके, संयमे, प्रतिकूले च। आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

वितरण–वितरण–न०। दानार्थनिमन्त्रणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

वितल–वितल–त्रि०। शबले, 'सबले त्ति वा वितले त्ति वा एगट्ठा'। आ० चू० ४ अ०।

वितह–वितथ–त्रि०। अयथाभूते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सूत्र०। असद्भूते, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। आव०। दश०। मिथ्यावितथमव्रतमिति पर्यायाः। आ० म० १ अ०। वितहं ति वा असच्चं ति वा एगट्ठं। आ० चू० १ अ०। स्था०। सूत्र०।

वितहकरण–वितथकरण–न०। विपरीतकरणे,पं० व०४ द्वार।

वितहायरण–वितथाचरण–न०। अन्यसामाचार्या आचरणे, ओघ०।

वितिकिण्ण–व्यतिकीर्ण–त्रि०। अनानुपूर्व्या विप्रकीर्णे, नि० चू० १६ उ०।

वितिकीर्ण–त्रि०। एकतः सम्मिलितेषु सर्वेष्वपि धान्येषु, व्यतिकीर्णा यदेतेषां धान्यानां सम्मीलका भवन्तीति उक्तः। बृ० २ उ०।

वितिगिच्छतिण्ण–विचिकित्सातीर्ण–त्रि०। चित्तविप्लुतिसंशयज्ञानं वा अतिक्रान्ते, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

वितिगिच्छा–विचिकित्सा–स्त्री०। चित्तविप्लुतौ,सूत्र०१ श्रु० १४ अ०। दानादौ फलं प्रति सन्देहे, ध० २ अधि०। बृ०। मतिविभ्रमे, ध० १ अधि०। स्था०। सूत्र०। आशङ्कायाम्, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। नि० चू०। वि इति विशेषेण विविधैः प्रकारैर्वा चिकित्सा—प्रतिक्रिया। स्था० ४ ठा० २ उ०। सूत्र०। विमर्षे, मीमांसायाम्, सूत्र० २ श्रु०२ अ०। आशङ्कायाम्, आचा०१ श्रु०३ अ० ३ उ०। अनेषणीयाशङ्कायाम्, आचा०२ श्रु० १ चू०१ अ०३ उ०। युक्त्याऽऽगमोपपन्नेऽप्यर्थे फलं प्रति सम्मोहः, किमस्य महतस्तपःक्लेशायासस्य सिकताकणकवलनादेरायत्यां मम फलसंपद् भविष्यति किं वा नेति। आव०४ अ०। आ०चू०। इदाणिं वितिगिच्छ त्ति दारं-'संतम्मि वि वितिगिच्छे'गाहा-पच्छद्धं 'संतम्मि विज्जमाणम्मि'अवि-पयत्थसंभावणे। किं-संभावयति?-पच्चक्खे वि ताव अत्थे वितिगिच्छं करेति किमु परोक्खे, एतं संभावयति-वितिगिच्छा णाम चित्तविप्लुतिः जहा-थाणुरयं पुरिसोऽयमिति। सिज्झेज्जत्ति। जहाऽभिलसितफलपावणं सिज्झीणगारेण संदेहं जणयति। मे इति आत्मनिर्देशः। अयमिति ममाभिप्रेतः। अर्थ अर्थ्यत इत्यर्थः। एस पयत्थो भणिओ। उदाहरणसहिओ समुदायत्थो भण्णति–सा वितिगिच्छा दुविहा–देसे, सव्वे य। तत्थ देसे अम्हे मोयसेयमल्लजल्लपंकदिद्धगत्ता अच्छामो अब्भंगुव्वट्टणादि ण किंचि वि करेमो णो य णज्जति किं फलं भविस्सति ण वा?।एमातिदेसे। सव्वसो–बंभचरणकेसुप्पाडणजल्लधरणभूमिसयणपरिसहोवसग्गविसहणाणि य एवमाईणि बहूणि करेमो न नज्जइ किमेतेसिं फलं होज्ज वा ण वा?। एवं वितिगिच्छंति। जे ते आतिजुगपुरिसा ते संघयणधितिबलजुत्ता जहाभिहितं मोक्खमग्गं आचरंता जहाऽभिलसियमत्थं साहेंति,अम्हे पुण संघयणादिविहूणा फलं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि लहिज्जामो ए वा?,ए एज्जति। अहवा-सव्वं साहूणं लद्धं-दिट्ठं जात एवरं जीवाकुलो लोगो ए दिट्ठो होंतो तो सुंदरं होंतं देसवितिगिच्छा एसा। सव्वसो वितिगिच्छा-जइ सव्वएणूहिं तिकालदरिसीहिं सव्वं सुकरं दिट्ठं होंतं ता एं अम्हारिसा कापुरिसा सुहं करेंता एवं सुंदरं-होंतं । नि० चू० १ उ०। विचिकित्सायां वियासाधकसावगो नंदीसरवरगमणं दिव्वगंधाणं देवसंसग्गेण मित्तस्स पुच्छणं,विज्जाए पदाणं साहणं मसाणे,चउपायगसिक्कयं हेट्ठा इंगालखायरो पतलो अट्ठसयवारा परिजवित्ता पादो सिक्कगस्स छिज्जइ। एवं बीओ, तइओ य छिज्जइ। चउत्थे छिन्ने आगासेण वच्चइ। तेण सा विज्जा गहिया कालचउद्दसरात्तिं साहेइ मसाणे। चोरो य एयरारक्खिएहिं पारद्धो परिभममाणो तत्थेव अइगओ। ताहे वेढेउं मसाणं ठिया। पभाए घिप्पिहि सो य भमंतो तं विज्जासाहगं पेच्छइ। तेण पुच्छिओ। सो भणइ। विज्जं साहेमि। चोरो भणइ केण ते दिण्णा। सो भणइ-सावगेणं। चोरेण भणियं। इमं दव्वं गिरहाहि विज्जं देहि। सो सड्ढो विचिकिच्छइ सिज्झिज्जा न व त्ति। तेणं दिन्ना। चोरो चिंतइ सावगो कीडियाए वि पावं नेच्छइ सच्चं मेयं तो सो साहिउमारद्धो सिद्धा। इयरो स लुद्धो गहिओ। तेण आगसगएण लोगो भेसिओ।ताहे सो मुक्को। दो वि सावगा जाय त्ति। आ०। प्रव०। ध०। वृ०। स्था०। युक्त्या समुत्पन्नेऽपि मतिव्यामोहोत्पन्नचित्तविप्लुतौ, द्वा० १४ द्वा०। सूत्र०। चित्तभ्रान्तौ,संशीतौ, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। दश०। फलं प्रति शङ्कायाम्, पञ्चा० १५ विव०। उपा०। जीत०।

वितिगिच्छासण्णा–विचिकित्सासंज्ञा–स्त्री०। मोहोदयात् चित्तविप्लुतौ, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

वितिगिच्छासमावण्ण–विचिकित्सासमापन्न–पुं०। अनेषणीयाशङ्कागृहीते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०।

वितिगिच्छिय–विचिकित्सित–त्रि०। फलं प्रति शङ्कोपेते, स्था० ३ ठा० ४ उ०। अस्मिन्नुत्तरे दत्ते किमस्य प्रतीतिरुत्पत्स्यते न वेत्येवं संशयिते, (भ०) किमिदमिहोत्तरमिदं वेति सञ्जातशङ्क इदमित्थमुत्तरं साधु इदं च न साधु । भ० २ श० २ उ०। स्था०। ज्ञा०।

वितिगिट्ठ–व्यतिकृष्ट–त्रि०। अतिशयेन क्षेत्रतो भावतश्च विकृतेन व्यतिकृष्टदिशमुद्दिशेत्। व्य० ७ उ० । दूरदेशवर्तिनि, वृ० १ उ० ३ प्रक०। ('उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ८११ पृष्ठे व्याख्यातम्।)

वितिण्ण–वितीर्ण–त्रि०। अतिक्रान्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ०२ उ०।

वितिमिर–वितिमिर–त्रि०। विगतं तिमिरं तिमिरसंपाद्यो भ्रमो येषां ते वितिमिरः। प्रकृष्टतरवितिति तरप्प्रत्ययः। ततः प्राकृतलक्षणे स्वार्थे कः प्रत्ययः। नं०। औ०। भ्रमरहिते, विशुद्धतरके वा निरन्धकारेषु, कर्मतिमिरवासनापगमात्। (प्रज्ञा० ३६ पद।) क्षीणावरणे, भ० ५ श० ४ उ०। स०। न०। विगताज्ञानेषु, औ० । नपुं० । ब्रह्मलोके पञ्चमविमाने, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

वितिमिरकर–वितिमिरकर–पुं०। वितिमिराः करा यस्यासौ वितिमिरकरः। निरन्धकारकिरणे, जं० २ वक्ष०।

वितिय–द्वितीय--त्रि०। द्वित्वसंख्यापूरके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। अमौद्शस्-रूपायां द्वितीयसुब्विभक्तौ, "विइया उवएसणे" अनु०। उत्त०।

वितियपद--द्वितीयपद--न०। अपवादपदे, नि० चू० १ उ०।

वित्त–वित्त--त्रि०। विनयादिगुणेन प्रसिद्धे, उत्त० १ अ०। स्था०। भ०। विख्याते,नि०। नपुं०। द्रव्ये,स०३० सम०। ज्ञा०। उत्त०। पो०। औ०। दशा०। सूत्र०। आचा०। द्रव्यजाते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। वित्ते गद्धो वित्तगद्ध इति। वित्त इति अदत्तादानस्योपलक्षणम्। उत्त० ५ अ०। सूत्र०। द्वा०।

वृत्त–न०। अनुष्ठाने, संयमे, ज्ञाने च। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। सच्छन्दस्के पद्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

वित्तट्ठ--वृत्तस्थ--पुं०। वृत्तमनाचारपरिहारः सम्यगाचारपालनं च तत्र तिष्ठन्तीति वृत्तस्थाः। आचाररतेषु, "वित्तट्ठणाणवुड्ढारिहा" ध०। सेवाऽभ्युत्थानादिलक्षणा गुणभाजो हि पुरुषाः सम्यक् सेव्यमाना नियमात्कल्पतरव इव सदुपदेशादिफलैः फलन्ति। यथोक्तम्-"उपदेशः शुभो नित्यं, दर्शनं धर्मचारिणाम्। स्थाने विनय इत्येतत्, साधुसेवा फलं महत् ॥ १ ॥" ध० १ अधि०।

वित्तड्ढ–वित्ताढ्य--पुं०। विभवनायके, द्वा० १४ द्वा०।

वित्तपाइ (ण्)--वित्तपातिन्--त्रि०। वित्तेन पतनशीले, यो०विं०।

वित्तप्पजाय–वृत्तप्रजात--न०। पद्यप्रकारे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

वित्तवाव–वित्तवाप--पुं०। वित्तस्य-धनस्य श्रावकाधिकारान्न्यायोपात्तस्य वा यो व्ययकरणम्। सत्कार्येषु धनव्यये, ध० २ अधि०।

वित्तसंजुत्त--वित्तसंयुक्त–त्रि०। प्रभूतद्रव्यवति,प्रभूतवित्तो ह्युदारतया व्यापारयन्नपि अन्येषां भावमुत्पादयति, अहो धन्याः खल्वमी य एवंविधोदारतया निजभुजोपात्तं वित्तं जिनायतनेषूपयोगं नयति। ततश्च शासनोन्नतिश्च जायते। स्ववित्तानुसारेण जिनभवनविधौ प्रवर्त्तमानेन स्वाशयवृद्धिरपि कृता भवति। दर्श० १ तत्त्व।

वित्तास--वित्रास–पुं०। विक्षोभे, उत्त० २ अ०। आ० म०। आचा०।

वित्तासणय--वित्रासनक--न०। विकरालरूपादिदर्शने, आव० ४ अ०।

वित्ति--वृत्ति–स्त्री०। वृत्तिर्वर्तनम्। कृपादित्वादित्वम्। प्रा०। राजादेशकारिणो जीविकायाम्, विपा० १ श्रु० १ अ०। भ०। स्था०। सूत्र०। ज्ञा०।

अथ तान्येव नामतः श्लोकद्वयेनाह

वृत्तयोऽङ्गारविपिना–नोभाटीस्फोटकर्मभिः ।
वाणिज्याका दन्तलाक्षा–रसकेशविषाश्रिताः ॥ ५२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यन्त्रपीडनकं निर्ला–ञ्छनं दानं दवस्य च ।
सरःशोषोऽसतीपोष–श्चेति पञ्चदश त्यजेत् ॥ ५३ ॥

ध० २ अधि० । (तत्तच्छब्दानां व्याख्या स्वस्वस्थाने) पालने , प्रव० ६५ द्वार । विविधैरभिग्रहविशेषैर्वर्तने , नं० । भ० । नि० । दश० । औ० । पञ्चा० । दशा० । विपा० । आचा० । सूत्र० । ध० । पं० व० । बृ० । जीवनोपाये, कल्प० १ अधि० १ क्षण । निर्वाहे , श्चा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । प्राणसंधारणे , स्था० ६ ठा० ३ उ० । देहपरिपालनायाम् , दश० १ अ०।यथानियुक्तपुरुषेभ्यः सुवर्णस्य द्वादशशतसहस्राणि (आ० म० १ अ० ।) वर्तन्तेऽनयेति द्वात्रिंशत्कवलपरिमाणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । प्रव० । अनुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । अभ्यन्तरायां निर्वृत्तौ, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । तान्त्रिक्या परिभाषया प्राणेन्द्रिये, द्वा० २६ द्वा० । सूत्रविवरणे, विशे० । आव० । बहुसंस्कृताक्षरनिबद्धसूत्रादिविवरणरूपायाम् , संथा० । समुदायलक्षणस्यावयविनोऽवयवे, द्वा० ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

तच्चित्तं वृत्तयस्तस्य, पञ्चतय्यः प्रकीर्तिताः ।

द्वा० ११ द्वा० ।(वृत्तयः ' जोग ' शब्दे चतुर्थभागे १६२१ पृष्ठे व्याख्याताः ।) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद् वृत्तिः । समवाये, स्या० ।

वित्तिकंतार–वृत्तिकान्तार–न०।वृत्तिर्जीविका तस्याः कान्तारमरण्यं तदिव कान्तारं क्षेत्रं कालो वा वृत्तिकान्तारम् । निर्वाहाभावे, उपा० १ अ० ।

वित्तिकर–व्यक्तिकर–पुं० । व्यक्तिकरणशीलो व्यक्तिकरः । निरवशेषप्रच्युतपत्तिमतिचारानतिचारफलादिभेदभिन्नमर्थं भाषमाणे, आ० म० १ अ० ।

वृत्तिकर–त्रि० । निर्वाहकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

वित्तिच्छेय–वृत्तिच्छेद–पुं० । वर्त्तनोपायविघ्ने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । आचा० । प्रश्न० । " जे य दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं । जे उ तं पडिसेहंति , वित्तिच्छेयं करेंति ते ॥१॥ " प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

वित्तिदाण–वृत्तिदान–न० । नियुक्तपुरुषेभ्यः सार्द्धद्वादशसुवर्णसहस्रदानं, आ० म० १ अ० ।

वित्तिभिक्खा–वृत्तिभिक्षा–स्त्री० । "निःस्वान्धपङ्गवो ये तु, न शक्ता वैक्रियान्तरे । भिक्षामटन्ति वृत्त्यर्थं वृत्तिभिक्षेयमुच्यते ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे भिक्षाभेदे, हा० ५ अष्ट० ।

वित्तिय–वित्तिक–त्रि० । वित्तं द्रव्यं तदस्ति यस्येति । धनसमृद्धे, वृत्तिं चाश्रितलोकानां ददाती वृत्तिदम् । जीविकादातरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स० । औ० ।

वित्तिवोच्छेय–वृत्तिव्यवच्छेद–पुं० । जीविकाविघाते, पञ्चा० ।

अथ कथमापवादिककालानाश्रयणे शुभसन्तानव्यवच्छेदः स्यात् ? वृत्तिव्यवच्छेदादिति ब्रूमः । एतदेवाह—

वित्तीवोच्छेयम्मि य,गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ । णिरवेक्खस्स उ जुत्तो, संपुण्णो संजमो चेव ॥ ७ ॥

वृत्तिव्यवच्छेदे–जीविकाविघाते वृत्तिक्रियाविरुद्धपूजाकालाश्रयणे कृते, चशब्दो—विशेषद्योतकः, पुनःशब्दार्थः , तस्य चैवं भावना–वृत्तिक्रियाविरुद्धकालाश्रयणे वृत्तिव्यवच्छेदो भवति । वृत्तिव्यवच्छेदे पुनः । किमित्याह—गृहिणो गृहस्थस्य सीदन्ति—न प्रवर्त्तन्ते सर्वक्रिया—धर्मलोकाश्रिता समस्तव्यापाराः । अथ सीदन्तु ताः सकलकल्मषविमोषपरपरममुनिपदपङ्कजपूजनप्रवृत्तस्य किं ताभिरित्यत्राह–निरपेक्षस्य तु वृत्तिनिःस्पृहस्य पुनः पुरुषस्य युक्तः—सङ्गतो विधेयतया संपूर्णः सर्वविरतिरूपतया परिपूर्णः । संयमश्चैव साधुधर्म एव साधोरिवान्यथा सर्वथा निरपेक्षत्वासिद्धेः । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ पञ्चा० ४ विव० ।

वित्तिसंखय–वृत्तिसंक्षय–पुं०।असंप्रज्ञातसमाधौ,द्वा०२० द्वा०।

विकल्पस्पन्दरूपाणां, वृत्तीनामन्यजन्मनाम् ।
अपुनर्भावतो रोधः, प्रोच्यते वृत्तिसंक्षयः ॥२५॥

विकल्पेति–स्वभावत एव निस्तरङ्गमहोदधिकल्पस्यात्मनोऽन्यजन्मनां पवनस्थानीयस्वेतरतथाविधमनःशरीरद्रव्यसंयोगजनितानां विकल्पस्पन्दरूपाणां वृत्तीनाम् , अपुनर्भावतः पुनरुत्पत्तियोग्यतापरिहारात् , रोधः–परित्यागः केवलज्ञानलाभकाले अयोगिकेवलित्वकाले च वृत्तिसंक्षयः प्रोच्यते । तदाह–" अन्यसंयोगवृत्तीनां, यो निरोधस्तथा तथा । अपुनर्भावरूपेण, स तु तत्संक्षयो मतः ॥१॥" द्वा० १८ द्वा० । (' जोग ' शब्दे चतुर्थभागे १६३१ पृष्ठे गतोऽयं वृत्तिसंक्षयविस्तरः ।)

वित्तिसंखेव–वृत्तिसंक्षेप–पुं० । वृत्तेर्भिक्षाचर्यारूपायाः संक्षेपोऽभिग्रहविशेषात्संकोचनं वृत्तिसंक्षेपः । पा० । भिक्षाचर्यारूपे (ग०१ अधि० ।) बाह्यतपोभेदे,स०६ सम० । द्रव्याद्यभिग्रहणे, पञ्चा० । सा (वृत्तिः)द्रव्यतो द्वात्रिंशत्कवलमानपूर्णाहारापेक्षयैकादिकवलन्यूनाहारग्रहणतोऽनेकविधा । भावो नोदरिका तु कषायत्यागः,तथा वृत्तेर्भिक्षाचर्यायाः संक्षेपणमल्पताकरणं वृत्तिसंक्षेपणं द्रव्याद्यभिग्रहग्रहणम् । तत्र द्रव्यतो लेपकृदेवेतरदेव वा,द्रव्यं मया ग्राह्यमित्यादि । एवं क्षेत्रतः स्वग्राम एव परग्राम एव वा एतावत्स्वेव वा, गृहेषु यल्लप्स्यत इत्यादि । एवं कालतः पूर्वाह्णे मध्याह्ने अपराह्णे वा,भावतः पुनरुत्क्षिप्तमेव वा गायतो वा रुदतो वा यल्लप्स्यत इत्यादि । पञ्चा० १६ विव० ।

वित्तेसि–वित्तैषिन्–त्रि० । वित्तं–द्रव्यं तदन्वेष्टुं शीलं येषां ते वित्तैषिणः । द्रव्यार्थिषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

वित्थड–विस्तृत–त्रि०। विस्तरवति,प्रव०६४ द्वार । औ० । रा० ।

वित्थर–विस्तर–पुं० । प्रपञ्चे, आ० म० १ अ० । महावचनसंदर्भे, स० । प्रव० ।

वित्थराल–विस्तराल–त्रि० । विशाले, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

वित्थार–विस्तार–पुं० । विष्कम्भे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । पृथक्त्वे, नि० चू० ४ उ० ।

वित्थाररुइ–विस्ताररुचि–पुं०। विस्तारो–व्यासः सकलद्वादशाङ्गस्य नयैः पर्यालोचनमिति ततोऽपबृंहिता रुचिर्यस्य स विस्ताररुचिः । प्रज्ञा० १ पद । विस्तारो व्यासस्तज्ज्ञा रुचि–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

र्यस्य तथा । दर्शनभेदे , धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां सर्वप-र्यायाणां सर्वैर्नयैः प्रमाणैर्ज्ञातरि, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

अथ विस्ताररुचिमाह—

दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा ।
सव्वेहिँ नयविधीहिं, वित्थाररुई मुणेयव्वो ॥६७१॥

द्रव्याणां—धर्मास्तिकायादीनामशेषाणामपि सर्वे भावाः प-र्यायाः सर्वप्रमाणैरशेषैः प्रत्यक्षादिभिर्यस्योपलब्धा यस्य प्र-माणस्य यत्र व्यापारस्तेनैव प्रमाणेन प्रतीताः, 'सव्वेहिं' ति सर्वैश्च नयविधिभिर्नैगमादिनयप्रकारैरमुं भावमयममुं चायं नयभेदमिच्छतीति स विस्ताररुचिरिति ज्ञातव्यः । सर्वव-स्तुपर्यायप्रपञ्चावगमेन तस्य रुचेरतिविमलरूपतया भा-वात् । प्रव० १४६ द्वार । प्रज्ञा० । ध० ।

वित्थिएण—विस्तीर्ण—त्रि० । विस्तारवति, भ० २ श० ५ उ० । रा० । संथा० । आव० । रा० । ऊर्ध्वाधोऽपेक्षया पृथुत्वे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । "वित्थिएणछत्तचामरवालवीयणं" वि-स्तीर्णानि छत्राणि चामररूपवालव्यजनिकाश्च येषां ते तथा। भ० १३ श० ६ उ० । " वित्थिएणविउलभवणसयणासणजा-णवाहणाइएणा " विस्तीर्णानि-विस्तारवन्ति विपुलानि-प्र-चुराणि भवनानि-गृहाणि शयनासनयानवाहनैराकीर्णानि येषां ते तथा । अथवा—विस्तीर्णानि-विपुलानि भवनानि येषां ते, शयनासनयानवाहनानि चाकीर्णानि गुणवन्ति येषां ते तथा । भ० २ श० ५ उ० । " वित्थिएणविउलबलवाहणं ति" विस्तीर्णविपुले-अतिविस्तीर्णे बलवाहने-सैन्यगजा-जादिके यस्य स तथा । भ० ११ श० ११ उ० । कल्प० ।

विदंड—विदण्ड—पुं० । विशिष्टदण्डे , जीत० ।

विदंसग—विदंशक—पुं० । विदंशतीति विदंशकः । श्येनादौ , प्रश्न० १ आश्र० द्वार । पक्षिबन्धनविशेषे, उपा० १ अ० ।

विदंसण—विदर्शन—न० । अन्धकारस्य वस्तुप्रकाशने , प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अलग्नस्यैव लग्नत्वेन दर्शने, सू० १ उ० ३ प्रक० । नि० चू० ।

विदद्ध—विदग्ध—त्रि० । विचक्षणे, पो० १० विव० । गेयनीति-निपुणे, द्वा०२२ द्वा० । धूमगन्धिनि अजीर्णभेदे, ध०१ अधि०।

विदब्भ—विदर्भ—पुं० । सप्तमतीर्थकरप्रथमशिष्ये, स० ।

विदर—विदर—पुं० । क्षुद्रकनद्याकारेषु नदीपुलिनस्यन्दजल-गतरूपेषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

विदरिसण—विदर्शन—न० । विरूपाकारे, विभीषिकादिदृष्टे, उत्त० ३६ अ० ।

विदाय—विदित्वा—अव्य० । विद-ज्ञाने क्त्वः । विज्ञायेत्यर्थे, दशा० ४ अ० ।

विदारय—विदारक—त्रि० । विदारयतीति विदारकः । स्फोट-के, प्रश्न० १ संव० द्वार । ज्ञा० ।

विदालण—विदारण—न० । विविधप्रकारैर्दारणे , प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

विदिएण—वितीर्ण—त्रि० । वितत्ते , आ० म० १ अ० । राजानु-ज्ञाते, रा० । " विदिएणछत्तवालवीयणा " वितीर्णछत्रचा-लवीजना वितीर्णं राज्ञा प्रसादतो दत्तं छत्रं चामररूपा वाल-वीजनिका यस्यै सा तथा । गणिकायाम् , विपा० १ श्रु० २ अ० । "विदिएणवियारे" साधुः वितीर्णो राजानुज्ञातो वि-चारोऽवकाशो यस्य स विश्वसनीयत्वात्स वितीर्णविचारः । संघकार्यादिष्विति प्रकृतम् । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

विदित्ता—विदित्वा—अव्य० । बुद्ध्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

विदित्तासमुद्देसणा—विदित्वासमुद्देशना—स्त्री० । ज्ञात्वा परि-णामत्वादिगुणोपेतं शिष्यं यद्यस्य योग्यं तस्य तदेव समुद्दि-शतः । वाचनासंपद्भेदे, उत्त० १ अ० ।

विदितोद्देसणा—विदित्वोद्देशना—स्त्री० । ज्ञात्वा परिणामत्वा-दिगुणोपेतं शिष्यं यद्यस्य योग्यं तस्य तदेवोद्दिशतः । उद्देश-नालक्षणे वाचनासंपद्भेदे, उत्त० १ अ० ।

विदिय—विदित—त्रि० । प्रत्यभिज्ञाते, विपा० १ श्रु० ३ अ० । उत्त० । नि० । आ० चू० । पर्यालोचित, नं० ।

विदिसा—विदिश्—स्त्री० । एकप्रदेशात्मिकायां कोणदिशि , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । मोक्षसंयमाभिमुखाया दिशोऽ-न्यस्यां कुदिशि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

विदिसापइएण—विदिक्प्रतीर्ण—त्रि० । मोक्षसंयमाभिमुखा दिक् ततोऽन्या विदिक् तां प्रकर्षेण तीर्णः विदिक्प्रतीर्णः । असं-यमाभिमुखे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

विदिसावाय—विदिग्वात—पुं० । विदिग्भ्यो वाति वायुकाये, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

विदु—विदित्वा—अव्य० । विज्ञायेत्यर्थे, सू० ३ उ० ।

विद्वस्—त्रि० । बुधे, पञ्चा० १६ विव० । कालज्ञे, आचा० २ श्रु० ४ चू०।सू०। ('विएणु' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विस्तरो गतः ।)

विदुगुंछा—विद्वज्जुगुप्सा—स्त्री० । विद्वांसः—साधवः विदित-संसारस्वभावाः परित्यक्तसमस्तसंघास्तेषां जुगुप्सा—निन्दा । साधुजुगुप्सारूपे दर्शनाचारातिचारे, यथा—अस्नानात् प्र-स्वेदजलक्लिन्ना मलिनत्वाद् दुर्गन्धिवपुषो भवन्ति तान्नि-न्दति, आव० ६ अ० । को दोषः स्याद्यदि प्रासुकेन वारि-णा अङ्गक्षालनं कुर्वीरन् भवन्त इत्येवमपि न कुर्यादिह-स्यैव परमार्थतोऽशुचित्वात् । आव० ६ अ० ।

विदुगुच्छ त्ति वि भणति,सा पुण आहारमोयमसिणाइं ।
तीसु वि देसे गुरुगा, मूलं पुण सव्वहिं होंति ॥ २५ ॥

विदू—साहू कुच्छति—गरहति; निन्दतीत्यर्थः । वि इति वि-तियविकप्पदरिसणं । भएणइ त्ति—भणियं होंति,सा इति—सा विदुगुंछा पुणसद्दो विसेसणत्थे दट्ठव्वो । पुव्वाभिहिताव-तिगिंछातो इमं विदुगुच्छं विसेसयति । सा पुण विदु-गुंछा इमेसु संभवति—आहार त्ति वज्जिकरेसु आहारंति । अहवा-मंडलिविहाणेण भुंजमाणा पाणा इव सव्वे एक-लाला असुइणो, एते मोए-त्ति काइयं वोसिरिउं दवं ण गेराहंति । समाहिसु वा वोसिरिउं नारिसेसु चेव लवणेसुं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भायणाणि छिंवंति । असिणाणे त्ति अण्हाणा य एते पस्सेयउल्लियमलब्भंतरगत्ता सया कालमेवं चिट्ठंति । आदिसद्दातो-सोवीरंगग्गहणं तेण य णिल्लेवणं मोयपडिमापडिवत्ती य एते घेप्पंति । जहा-केण कया विदुगुंछा । तत्थुदाहरणं-सड्ढो पव्वंते वसति । तस्स धूयाविवाहे किह वि साहुणो आगता । सा पिउणा भणिया-पुत्ति ! पडिलाहेहि, सा मंडियपसाहिता पडिलाहेति । साहूणं जल्लगंधो तीए अग्घाओ । सा हियएण चिंतेति-अहो अणवज्जो धम्मो भगवता देसिओ; जति फासुएण ण्हाएज्जा को दोसो होज्जा ? । सा तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालगता । देवलोगगमणं, चुता मगहरायगिहे गणियाए धूया जाया । गब्भगता चेव अरतिं जणेति । गब्भसाडणेहिं वि ण पडति, जाता समाणी उज्झिया । सा गंधेण तं वणं वासेति । सेणिओ य तेण उ मग्गेण णिग्गच्छेति सामिं वंदन्तो सो खंधावारो तीए गंधं ण सहंत, उम्मग्गेण य पयाओ । रण्णा पुच्छियं-किमेयं ?, तेहिं कहियं, दारियाए गंधो गंतूणं दिट्ठा भणंति-एसेव ममं पढमपुच्छा , भगवं पुव्वभवं कहेति । भणति—एस कहिं पच्चणुभविस्सति ? । सामी भणति-तीए तं चेतितं । इदाणिं सा तव चेव भज्जा भविस्सति । अग्गमहिसी बारस संवच्छराणि । सा कहं जाणियव्वा ? , जा तुमं रममाणस्स पिट्ठीए हंसोलीणं काहिति तं जाणिज्जासि, वंदित्ता गओ । सा अवगयगंधा एगाए आहीरीए गहिता । संवड्ढिया जोव्वणत्था जाया । कोमुदीवारं माताए समं आगता । अभओ सेणिओ पच्छण्णं कोमुदीवारं पच्छति । तीसे दारियाए अंगफासेणं सेणिओ अज्झोववण्णो णामसुद्दिया य तीसे दंसियाए वंधति । अभयस्स कहेति णाममुद्दा हरिता । मग्गाहि । तेण मणूसा पेसिता तेहिं वारा बद्धा, ते एक्केक्कं माणुसं णीणंति । सा दारिया दिट्ठा चोरी गहिता । अभओ चिंतेति । एतदत्थं तीसे दंसियाए वेढओ बद्धो, अभओ गओ सेणियस्स समीवं । भणति-गहिओ चोरो । कहिं सो?, मारिओ,सेणिओ अधिति पगओ । अभओ भणइ-मुक्का सा पुण मया आसाय धीया नरेत्ता परिणीया । अण्णया वुक्कण्णए य ण रमंति । राणियाउ पोत्तं वहावेंति हत्थं वो देंति जाहे राया जिप्पइ ताहे णवं ताहेति-इयरीए जितो पोत्तं वेढेत्ता विलग्गं । रण्णा सरियं मुक्का, भणति-ममं विसज्जेह । विसज्जिया पव्वइया य एवं विदुगुंछाए फलं । विदुगुंछेति दारं गतं । नि० चू० १ उ० ।

विदुग्ग-विदुर्ग--पुं० । समुदाये, भ० १ श० ८ उ० । नि० चू० ।

विदुपरिसा--विद्वत्पर्षद्--स्त्री० । अनेकविज्ञानपर्षदि, रा० ।

विदुर--विदुर--पुं० । ' क-ग-च-ज० ' इत्यादिसूत्रस्य काचित्कत्वाद्लोपो न । प्रा० १ पाद । बन्धुदत्तसाधुना पाटलिपुत्रे नगरे वादपराजयेन प्रव्राजितेऽव्यक्तलिङ्गे षड्दर्शनपारगे लौकिकसाधौ, ध० र० । हस्तिनापुरनगरराजधृतराष्ट्रभ्रातरि क्षत्रिये, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

विदूसय--विदूषक--पुं० । नानावेषादिकारिणि, अनु० । औ० ।

विदेश--विदेश--पुं० । स्वकीयदेशापेक्षयाऽन्यदेशे , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विदेशो द्विधा—अनूपो , जङ्गलश्च । नद्यादिपानीयबहुलोऽनूपः, तद्विपरीतो जङ्गलो; निर्जल इत्यर्थः । सू० १ उ० २ प्रक० ।

विदेह--विदेह--पुं० । लोकप्रसिद्धे राजर्षौ, स च प्रव्रज्य क्षत्रियपरिव्राजकेषु प्रसिद्धोऽभूत् । औ० । विशिष्टं देहं यस्य सः । कल्प० १ अधि० ५ क्षण । ऋषभदेवस्य अष्टाविंशतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । तद्राज्ये मिथिलानगरीप्रतिबद्धे जनपदे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । उत्त० । आव० । प्रज्ञा० । स्था० । सूत्र० । इहेव भारहे वासे पुव्वदेसे विदेहा णामं जणवया । संपइ काले तिरहु त्ति देसो त्ति भण्णइ ' । ती० १८ कल्प । आ० चू० । नि० चू० । वर्षभेदे, चत्वारि वर्षाणि—विदेहे अपरविदेहे देवकुरा उत्तरकुरा । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

विदेहकूड--विदेहकूट—न० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरे नीलवतो वर्षधरस्य तृतीयकूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

विदेहजंबू--विदेहजम्बू—स्त्री० । विदेहेषु जम्बू विदेहजम्बू । विदेहान्तर्गतोत्तरकुरुकृतनिवासत्वात् सौमनस्यहेतुत्वात् । जम्बूसुदर्शनायाम्,जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । जम्बूद्वीपो ह्यनया जम्ब्या भुवनत्रयेऽपि विदितमहिमा ततः संपन्नं यथोक्तयशोधारित्वमस्याः । जं० ४ वक्ष० ।

विदेहजच्च--विदेहजार्च—पुं० । विदेहा—त्रिशला तस्यां जाता अर्चा-शरीरं यस्य स तथा । वीरस्वामिनि, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

विदेहजात्य--पुं० । वीरस्वामिनि, आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

विदेहदिन्न--विदेहदत्त—पुं० । विदेहदत्ता-त्रिशला, तस्या अपत्यं वैदेहदत्तः । वीरस्वामिनि, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

विदेहदिन्ना--वैदेहदत्ता—स्त्री० । त्रिशलायां वीरस्वामिमातरि, कल्प० १ अधि० ८ क्षण । आचा० ।

विदेहपुत्त--विदेहपुत्र—पुं० । कूणिके, "वज्जी विदेहपुत्ते जइत्था" भ० ७ श० ९ उ० ।

विदेहरायवरकण्णगा--विदेहराजवरकन्यका—स्त्री० । विदेहो मिथिलानगरीजनपदस्तस्य राजा कुम्भकस्तस्य वरकन्या या सा तथा । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । मल्लीस्वामिन्यामेकोनविंशतीर्थकृति , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

विदेहसुकुमाल--विदेहसुकुमार—पुं० । विदेहशब्देनात्र गृहवास उच्यते, तत्र सुकुमारः । दीक्षायां तु परीषहादिसहनेऽतिकठोरत्वात् । वीरे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । आचा० ।

विद्दव--विद्रव—पुं० । विसर्पे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

विद्दवण--विद्रवण--न० । विनाशकरणे, जी० १ प्रति० ।

विद्दविअ--विद्रवित--त्रि० । विनाशिते, व्य० २ उ० ।

विद्दाअ--विद्रुत—त्रि० । मुकुलादित्वात् उत आकारः । विनष्टे, प्रा० १ पाद ।

विद्दायमाण--विद्वस्यत्—त्रि० । विद्वांसो वयमित्येवं मन्यमानेषु, " अह संभवंता विद्दायमाणा अहमंसा विउक्कंसे " आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विदुम-विद्रुम-पुं० । प्रवाले, ध० २ अधि० । ज्ञा० । स्था० ।

विदुय-विद्रुत-त्रि० । अभिभूते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

विद्ध-विद्ध-त्रि० । ताडिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । वृद्ध-पुं० । श्रुतपर्यायाभ्यां महति, "तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध-सेवा" उत्त० ३२ अ० । "विद्धकइनिरूवियं" प्रा० २ पाद ।

विद्धंसण-विध्वंसन-न० । रोगज्वरादिना जर्जरीकरणे, तं० । विनाशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । सर्वथा क्षये, स्था० ३ ठा० १ उ० । तं० । वसतेर्भञ्जने, बृ० १ उ० २ प्रक० । प्रकृतेरुच्छेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

विद्धंसणधम्म-विध्वंसनधर्म-त्रि० । विध्वंसनं धर्मोऽस्येति । विशरारुस्वभावे,गत्वरे, सूत्र०१ श्रु० २ अ०२ उ० । आचा० ।

विद्धकइ-वृद्धकवि-पुं० । कृपादित्वाद्—इः । प्राचीनकवौ, प्रा० १ पाद ।

विद्धत्थ-विध्वस्त-त्रि० । अप्ररोहसमर्थे, " विद्धत्था अविद्धत्था जोणी जीवाणं होइ " दश० ४ अ० ।

विद्धि-वृद्धि-स्त्री० । वर्धन स्वनामख्याते औषधिभेदे, पञ्चा० ८ विव० । कुटुम्बिनां वितीर्णस्य धान्यस्य द्विगुणादिग्रहणे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

विद्धिकर-वृद्धिकर-पुं० । समृद्धिहेतौ, " दस नक्खत्ता णाणस्स विद्धिकरा " स्था० १० ठा० ३ उ० ।

विद्धूण-विद्ध्वा-अव्य० । वेधं कृत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

विधम्म-विधर्मन्-पुं० । विगतो धर्मो येभ्यस्ते विधर्माणः । धर्मरहितेषु, प्रति० ।

विधम्ममाण-विधर्मयत्-त्रि० । विगतधर्मं कुर्वति, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

विधवा-विधवा-स्त्री० । रण्डायाम् , नि० चू० ८ उ० ।

विधाण-विधान-न० । यत्र प्राप्तव्यं तस्य करणे, "असंसयं तं असुणाणमग्गं, गतो विधाणे दुरतिक्कमम्मि " बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

विधाय-विधात-पुं० । व्यन्तराणामौत्तराहाणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

विधुणणा-विधुनना-स्त्री० । धूञ्—कम्पने, विविधप्रकारा धुणणा विधुणणा । आ० चू० २ अ० । नि० चू० । अपनयने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । आचा० ।

विधुर-विधुर-न० । अपाये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

विधूत-विधूत-त्रि० । क्षुण्णे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

विधूतकप्प-विधूतकल्प-पुं० । विधूतः-क्षुण्णः सम्यक् स्पृष्टः कल्पः-आचारो येन स तथा । कृताचारे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

विधूमट्ठाण-विधूमस्थान-न० । विधूमस्याग्नेः स्थाने, सूत्र०१ श्रु० ५ अ० २ उ० । " सम्मूसियं णाम विधूमठाणं, जं सोयतत्ता करुणं भणंति " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

विधूयरयमल-विधूतरजोमल-पुं० । रजश्च मलं च रजोमले । विधूते प्रकम्पितेऽनेकार्थत्वाद् वा अपनीते रजोमले यैस्ते तथाविधाः । अकर्मसु सिद्धेषु, ल० ।

विधेयता-विधेयता-स्त्री० । विधेयवृत्तौ, विषयताविशेषे, ध० १ अधि० ।

विपंची-विपञ्ची-स्त्री० । वितन्त्र्यां वीणायाम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रश्न० । रा० । आचा० ।

विपक्क-विपक्व-त्रि० । विशिष्टपरिपाकमागते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

विपक्ख-विपक्ष-पुं० । शत्रौ, उत्त० १४ अ० ।

विपक्खभूय-विपक्षभूत-त्रि० । तत्प्रतिबन्धकतयाऽत्यन्तप्रतिभूते, उत्त० १४ अ० । शत्रुभूते, उत्त० १४ अ० ।

विपच्चइय-विप्रत्ययिक-न० । दृष्टिवादस्य स्वनामख्याते सूत्रे,स० ।

विपच्छिय-विपश्चित्-पुं० । विदुषि, स्था० ।

विपज्जय-विपर्यय-पुं० । मिथ्याज्ञाने,द्वा० ११ द्वा० । (उद्देशानुसारेण विपर्ययस्वरूपं ' पमाण ' शब्दे पञ्चमभागे ४५३ पृष्ठे गतम् ।) (विशेषः 'खाइ' शब्दे ३ भागे ७३५ पृष्ठे गतः ।)

विपणोल्लय-विप्रणोदयत्-त्रि० । विविधैः प्रकारैः संसारभावनादिभिः प्रेरयति, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

विपत्ति-विपत्ति-स्त्री० । कार्यस्यासिद्धौ, बृ० १ उ० २ प्रक० । विपत्तिशब्देन कार्यस्यासिद्धिरत्राभिधीयते । तदुक्तम्-"संप्राप्तिश्च विपत्तिश्च, कार्याणां द्विविधा स्मृता । सम्प्राप्तिः सिद्धिरर्थेषु, विपत्तिश्च विपर्ययः ॥ १ ॥ " बृ० १ उ० २ प्रक० ।

विपरामुसंत-विपरामृशत्-त्रि० । विविधमनेकप्रकारं विषयाभिलाषितया परामृशत्युपतापयतीति । दण्डकशतताडनादिभिर्घातयति, आचा०१ श्रु०५ अ० १ उ० । नानापीडाकरणैर्वधकरणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

विपरिकुंचिय-विपरिकुञ्चित-न० । अर्द्धवन्दित एव देशादिकथाकरणे,ध० २ अधि० । प्रव० । " देसकहाविसंते कधेति दरवंदिए विपरिकुंची" वन्दिते—अर्द्धवन्दनके दत्ते सति देशकथावृत्तान्तान् यत्र करोति तद्विपरिकुञ्चितम् । बृ० ३ उ० ।

विपरिणमणा-विपरिणमना-स्त्री० । गिरिसरिदुपलन्यायेन द्रव्यदेशादिभिर्वा करणविशेषेण वा अवस्थान्तरापादने,स्था० ४ ठा० २ उ० ।

विपरिणममाण-विपरिणमत्-त्रि० । परिणामान्तराणि गच्छति, भ० ७ श० १० उ० ।

विपरिणाम-विपरिणाम-पुं० । विविधेन प्रकारेण परिणमनं विपरिणामो वस्तूनामिति । स्था० ४ ठा० १ उ० । परिणामान्तरगमने,विभङ्गविपरिणामरूपे व्याख्याङ्गे, आचा०१ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

विपरिणामाणुप्पेहा-विपरिणामानुप्रेक्षा-स्त्री० । वस्तूनां प्रतिक्षणं विविधपरिणामगमनानुचिन्तने,ग० १ अधि० । भ० ।

विपरिणामित्तए-विपरिणामयितुम्-अव्य० । विपर्ययतः परिणामयितुमित्यर्थे, उपा० २ अ० ।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विपरिणामिय--विपरिणामित--त्रि० । स्थितिघातरसघातादिभिः विपरिणामं नीते, भ० ६ श० १ उ० ।

विपरियास--विपर्यास--पुं० । वैपरीत्ये मिथ्यात्वमोहे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । उत्त० ।

विपलाइज्जंत--विपलायमान--त्रि० । विपलायति, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

विपाग--विपाक--पुं० । पुण्यपापरूपकर्मफले, विपा० १ श्रु० १ अ० । स्था० ।

विपिक्खंत--विप्रेक्षमाण--त्रि० । पश्यति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

विपित्त--देशी--विकसिते, दे० ना० ७ वर्ग ६१ गाथा ।

विपिनकम्म--विपिनकर्मन्--न० । कर्मभेदे, ध० । विपिनं--वनं, तत्कर्म--छिन्नाच्छिन्नवनपत्रपुष्पफलकन्दमूलतृणकाष्ठकम्बावंशादिविक्रयः, कणदलपेषणं वनकच्छादिकरणं च, यतः--" छिन्नाच्छिन्नवनपत्र--प्रसूनफलविक्रयः । कणानां दलनोत्पेषाद्, वृत्तिश्च वनजीविका ॥१॥ " इति । अस्यां च वनस्पतेस्तदाश्रितत्रसादेश्च घातसम्भव इति दोषः ॥ २ ॥ ध० २ अधि० ।

विपुल--विपुल--त्रि० । प्रचुरे, भ० २ श० ५ उ० । प्रश्न० । विस्तीर्णे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

विप्पइट्ठ--विप्रकृष्ट--त्रि० । बृहदन्तराले, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

विप्पइट्ठणाण--विप्रकीर्णज्ञान--न० । असन्निकृष्टार्थज्ञाने, द्वा० २६ द्वा० ।

विप्पइण्ण--विप्रकीर्ण--त्रि० । अनेकधा विक्षिप्ते, दश० ५ अ० १ उ० ।

विप्पइण्णबाहु--विप्रकीर्णबाहु--त्रि० । विप्रकीर्णौ--अवकीर्णौ--विरलाविरलावित्यर्थः, बाहू यस्य स विप्रकीर्णबाहुः । विरलभुजे, तं० ।

विप्पओग--विप्रयोग--पुं० । अप्रणिधाने, प्रव० ६ द्वार । वियोगे, आव० ४ अ० । औ० । स्था० ।

विप्पगब्भिय--विप्रगल्भित--त्रि० । विविधं विशेषेण वा धाष्टर्योपगते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

विप्पचेइयव्व--विप्रत्यक्तव्य--त्रि० । त्याज्ये, तं० ।

विप्पजढ--विप्रहीण--त्रि० । परित्यक्ते, उत्त० ८ अ० । नि० चू० । अनु० । आचा० ।

विप्पजहणा--विप्रहाणि--स्त्री० । विशेषेण विविधं प्रकर्षतो हानिस्त्यागो विप्रहाणिः । परित्यागे, औ० ।

विप्पजहमाण--विप्रजहत्--त्रि० । परित्यजयति, स्था० २ ठा० २ उ० ।

विप्पजहसेणियापरिकम्म--विप्रहाणश्रेणिकापरिकर्मन्--न० । दृष्टिवादपरिकर्मभेदे, स० ।

विप्पजहाय--विप्रहाय--अव्य० । त्यक्त्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

विप्पजहियव्व--विप्रहातव्य--त्रि० । त्याज्ये, भ० ६ श० ३३ उ० ।

विप्पडिवण्ण--विप्रतिपन्न--त्रि० । विशेषेण प्रतिपन्नो विप्रतिपन्नः । ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । विविधं प्रतिपन्नो विप्रतिपन्नः । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । स्था० । साधुसन्मार्गद्वेषिणि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । असंबद्धे, विशे० ।

विप्पडिवत्ति--विप्रतिपत्ति--स्त्री० । मिथ्याभिनिवेशे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

विप्पडिवेयण--विप्रतिवेदन--न० । पर्यालोचने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

विप्पणट्ठ--विप्रणष्ट--त्रि० । वीति--विधिना प्रति--प्रकर्षेण प्रक्षिप्यमाणो--नष्टः । नि० चू० २ उ० । स्वामिकैर्गवेषयद्भिरपि अप्राप्ते, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

विप्पणमंत--विप्रणमत्--त्रि० । विविधं संयमानुष्ठानं प्रति प्रणमत्, । प्रह्वीभवति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

विप्पणासधम्म--विप्रणाशधर्म--त्रि० । प्रणाशो--विनश्वरो धर्मः--स्वभावो यस्य तद्--विप्रणाशधर्मम् । विनश्वरस्वभावे, तं० ।

विप्पमाय--विप्रमाद--पुं० । विविधे प्रमादे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

विप्पमुक्क--विप्रमुक्त--त्रि० । अपगते, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । विविधं परमार्थभावनया शरीरानुबन्धात्प्रमुक्तो विप्रमुक्तः । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । सूत्र० । अनु० । विविधमनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण प्रभावसारं मुक्तः--परित्यक्तः । दश० ३ अ० । जं० । प्रज्ञा० । उत्त० । सूत्र० । च्युते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

विप्पय--विप्पक--पुं० । कुट्टिते त्वग्रूपे, बृ० २ उ० ।

विप्परद्ध[1]--विपराद्ध--त्रि० । व्याहते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

विप्परिणामियभाव--विपरिणामितभाव--पुं० । विपरिणामितो विवक्षिताचार्यादुत्तारितो भावो यस्य स विपरिणामितभावः । स्वाचार्यं प्रति प्रतिकूलवृत्तौ, बृ० ३ उ० ।

विप्परियास--विपर्यास--पुं० । विविधोऽनेकप्रकारः पर्यासः--परिक्षेपः । अनेकधाऽरघट्टघटीन्यायेन परिभ्रमणे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । तत्त्वे अतत्त्वाभिनिवेशः, अतत्त्वे च तत्त्वाभिनिवेशः, हितेऽहितबुद्धिरित्येवंभूते विपर्यये, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । सूत्र० । पर्यायान्तरे, भ० १४ श० ६ उ० । आचा० । व्यत्यये, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । जन्मजरामरणरोगशोकोपद्रवे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । आत्मानं विपर्यासयति, नि० चू० । विपर्यासो नाम अवंभचेरं । आ० चू० ४ अ० ।

जे भिक्खू अप्पाणं विप्परियासेइ विप्परियासंतं वा साइज्जइ ॥ १७३ ॥ जे भिक्खू परं विप्परियासेइ विप्परियासंतं वा साइज्जइ ॥ १७४ ॥

विपर्ययकरणं विप्परियासणा तम्मि चउगुरुगा सा य विप्परियासणा चउव्विहा दव्वादिया इमा ।

१--अत्र विप्परद्ध--विप्परिणामियभाव--विप्परियास--इत्यादौ आर्षत्वात्पकारस्य द्वित्वम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा—

दव्वे खेत्ते काले, भावे य चउव्विहो विवज्जासो।
एएसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ६३ ॥
दव्वम्मि दाडिमं वा-दिएसु खेत्तेसु णाममादीसु।
काले गेलण्णावहि-भावम्मि य णिव्वुयादीसुं ॥ ६४ ॥

जो अजाणयस्स पुच्छंतस्स दालिमं अंबाडयं वा अंबाडयं दालिमं कहेति। खेत्ते विवज्जासं दुनामे कए, जहा-आणंदपुरं अक्कस्थली अक्कस्थली आणंदपुरं, कालविवज्जासो-अणागाढे गेलन्ने अणागाढकालकरणं, उवहिं वा अकाले गेण्हति काले ण गिण्हति। भावम्मि य अप्पाणं अनिव्वुतं णिव्वुयं दंसेति, निव्वुयं परं अनिव्वुयं पगासेति। आदिसद्दातो खमादिया भावा वा तथा।

गाहा—

जेण पगारेण भवे,
णियओ उ तमण्णहा जो तु।
मणति करेति वदति,
विप्परियासो भवे एसो ॥ ६५ ॥

वयणभाव इति द्रव्यादिको भावः, नियतो त्ति ठितो तं अन्नहा जो साहू मणसा मन्नति, किरियाए वा करेति, अन्नस्स वा अग्गतो पन्नवेंतो वदति एसो विपर्यासः।

तत्थ दव्वभावविप्परियासो इमो। गाहा—

चेयणणं व वएज्जा, कुज्ज व चेयणणमचित्तं वावि।
वेसगहणादिएसु वि, थीपुरिसं अण्णहा दव्वे ॥ ६६ ॥

सचित्तं पुढवाइयं दव्वं अचित्तं वदति करेति वा इंदजालादिणा। इत्थि वा पुरिसनेवत्थं करेति वदति, पुरिसं वा इत्थिनेवत्थं करेति वदति वा, अण्णहाकारमित्यर्थः।

खेत्ते भावे पुण-ममादिसु त्ति अस्य व्याख्या। गाहा—

साएतणओउज्झो, अहवा उज्झातो भणइ साएते।
वत्थव्वमवत्थव्वा, मालवो मागधोऽण्णहा वाऽहं ॥ ६७ ॥

कोवि साहू अउज्झाणगरातो पाहुणगो गतो, सो वत्थव्वगसाधुणा पुच्छितो-आउज्झातो आगतो सि?, ताहे सो भणति-णो अउज्झाओ साएयातो आगतोऽम्हि। सो वत्थव्वगसाहू तं वितियणामं ण याणति। एवं साएते पुच्छिते अउज्झं भासति। अहवा—वत्थव्वगोऽसि त्ति पुच्छिते अवत्थव्वं अप्पाणं कधिति। अवत्थव्वगो वा अप्पाणं वत्थव्वं कहेति। मालवविसयुप्पण्णो वा पुच्छितो मगहविसए उप्पण्णं वा अण्णं वा कहेति, एवं मागधः स पृष्टः मालवमन्यं वा विषयं कथयति।

कालभावविव्वज्जासो इमो। गाहा—

वरिसा णिसासु रीयति, इतरेसु णयरीं तो वयति मन्ने।
वयपरिणामं व वए, परियायं वा विवज्जासं ॥ ६८ ॥

वरिसाकाले रीयति णो उडुबद्धे, अहवा णिसासु रीयति नो दिवा, सतो पन्नवेंति वासासु रातो वा विहरियव्वं। इयरेसु य उडुबद्धे दिवसे य णो विहरियव्वं। मनुते—मन्यते वा वासासु रातो य विहरणं श्रेयमिति।

वयपरिणामं वा विवरीयं करेति वदति वा। जहा—नडो, थेरो तरुणं वेसं करोति तरुणो वा थेरं करोति। जम्मं पव्वज्जापरियागं वा, विवरीयं वदति, जहा—वीसतिवासपरियागो पंचवीसपरियागं अप्पाणं कहेति, पंचवीसवासपरियागो वीसवासपरियागं कहेति।

भावविवच्चासो इमो। गाहा—

अतवस्सिणं तवस्सिं, दढं गिलाणोऽमि सो वि हु ण तिण्णो।
सारिक्खो सोऽमि अहं, न वत्ति सरवण्णभेदं वा ॥ ६९ ॥

कोऽवि साहू सभावकिसो सरीरेण, सो पुच्छितो सोतथमं तवस्सी सो अप्पाणं अतवस्सिं कहेति। अहवा-सभावकिसो अगिलाणो विसट्ठो जायवितिगतिमादियं देहि मे गिलाणो त्ति। सट्ठेहिं वा पुच्छितो सो तुमं गिलाणो त्ति?। आमं ति वदति। अहवा-रुट्ठेहिं पुच्छितो कयरो सो गिलाणो?, देमि से पाओग्गं, ताहे अप्पाणं वदति। अन्नं वा किसं साधुं दंसेति अगिलाणं। लुद्धो वा हट्ठेऽवि गिलाणे गंतुं सड्ढे जायति-सो गिलाणो अज्ज वि ण तरति, देह से दधिखीरादियं पाउग्गं। कोइ चिरप्पवासी सुयणो दूस्स सरिसयं साधुं दट्ठुं भणेज्ज, एस साहू तस्स सारिक्खो, ताहे सो साहू भणेज्ज-सोऽम्हि अहं, सब्भूतं वा पञ्चभिन्नातो अवलावं करोति। ण वत्ति सरवन्नभेदिकारीणीहिं वा अप्पाणं अन्नहा करेज्जा।

(विपर्यासे प्रायश्चित्तम्) गाहा—

एतेसि कारणाणं, एगतराएण जो विवज्जासे।
अप्पाणं च परं वा, सो पावति आणमादीणि ॥ ७० ॥
दव्वादिविपज्जासं, अहवा वी भिक्खुणो वदंतस्स।
अहिगरणाइ परेहिं, मायामोसं अदत्तं च ॥ ७१ ॥

आणादिया य दोसा, संजमविराहणा य, मायाकरणं च बादरमुसावायभासणं च। कीस वा अवलवसि त्ति असंखडं भवेज्जा।

गाहा—

वितियपदं गेलण्णे, खेत्ते सतीए व अपरिणामेसु।
अण्णस्सट्ठे दुलभे, एवं चउसु वि पदेसुं वि ॥ ७२ ॥

गेलन्ने त्ति-दव्वाववादो, खेत्तावाए त्ति खेत्तावचादो अपरिणामेसु त्ति कालाववादो, अन्नस्सट्ठे दुलभे त्ति भावाववादो। चउसु वि दव्वादिएसु पत्तेयं एते अपवादपदा इमेण विधिणा। तत्थ गेलन्ने-अचित्तस्स अलंभे फलाइयं मिस्सं सचित्तं वा आणियंतं च गिलाणो पुच्छति ताहे तो भण्णति, अवस्सं एयं अचित्तं चेव। ओसढं पलंबादियं आणीयं च गिलाणस्स अप्पत्थं जम्हा जातं तं भन्नति एयं मिस्सं सचित्तं संसत्तं वा। जदि गिलाणो भणेज्ज—कीस भे तो एयं गहियं?, स भन्नति—अणाभोइयाणि एयं परिट्ठवेयव्वं। खेत्तासतीए वि अतोज्झाए मासकप्पो कतो वासावासो वा पुन्ने मासकप्पे वासाकाले वा अन्नं खेत्तासतीए तहेव ठितो, ताहे ततो खेत्तातो अन्नो कोऽवि गीयत्थो अन्नं खेत्तं अपरिणामगाणं सकासं पाहुणगो गतो। ताए तेहिं अपरिणामगेहिं पुच्छितो-कतो आगतोऽसि? ताहे सो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गीयत्थो चिंतेति,मा एते अपरिणामगा जाणिस्संति त्ति एते-णितियवासंति त्ति ताहे सो गीयत्थो भणति-आगतोऽहं साएयातो। इदाणि कालतो अपरिणामगेसु त्ति-कारणे अ-णुदियत्थमिते घेत्तव्वं दव्वं आइच्चं भणेज्जा उदितो, का-रणे वा उदितं अणुदितं भणेज्जा, अत्थं गतं वा भणेज्जा। (घरतीति)भावतो अन्नस्सऽट्ठा। दुल्लभे त्ति-दुल्लभे गिलाणाति-पाओग्गे अप्पणो अन्नस्स वा अट्ठा परववएसं करेति। अतवस्सी वि सो तवस्सीति अप्पाणं भणेज्जा, तस्स वा तवसिस्सऽट्ठा तं णेमि। अगिलाणं वा गिलाणं अप्पाणं भणे-ज्ज, जेण वा परयवदेसेण लभति तं ववदेसग्गहणं वा करेति। नि० चू०११ उ०। आ० चू०। (अन्ययूथिकान् प्रति विपर्यासविषयः 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७२ पृष्ठे गतः।)

विप्परियासिभूय-विपर्यासीभूत—त्रि०। अध्युपपन्ने,आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०।

विप्पलाव-विप्रलाप—पुं०। विविधे अनर्थके वचसि,स्था० ७ ठा० ३ उ०। तं०।

विप्पवसिय-विप्रोषित—त्रि०। देशान्तरं गन्तुं प्रवृत्ते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

विप्रोष्य—अव्य०। परदेशं गत्वेत्यर्थे, "पंचाहेण वा विप्प-वसियओ वा गच्छेज्जा।" आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० २ उ०।

विप्पसाय—विप्रसाद—पुं०। विविधः प्रसादो विप्रसादः। आगमदृष्ट्याऽऽत्मनो विविधैरुपायैरिन्द्रियप्रणिधानप्रमा-दादिभिः प्रसादे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

विप्पहूण-विप्रहीण–त्रि०। विविधं-प्रकर्षेण हीनो-रहितः। बृ० ४ उ०। सूत्र०। विमुक्ते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। अपगत-कर्त्तव्यविवेके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

विप्पित्तु-विप्पित्वा–अव्य०। कुट्टयित्वेत्यर्थे, बृ० २ उ०।

विप्पिय-विप्पित–त्रि०।यस्य जातमात्रस्यैवाङ्गुष्ठप्रदेशिन्योर्म-ध्यमाभिर्मलयित्वा वृषणद्वयं गालितं तादृशे नपुंसकभेदे, बृ० १ उ० ३ प्रक०। ग०। ध०। पं० भा०। पं० चू०।

विप्पुय-विप्लुत–त्रि०। विक्षुभे, स्था० ५ ठा० १ उ०।

विप्पुस-विप्रुष्–न०। मूत्रस्य पुरीषस्य वाऽवयवेषु आ० म० १ अ०।

विप्पेक्खिय-विप्रेक्षित–न०। विविधमर्द्धाक्षिकटाक्षादिभिर्भे-दैः प्रेक्षितं विप्रेक्षितम्। बृ० १ उ० ३ प्रक०। निरीक्षिते, नि० चू० १ उ०। प्रश्न०। विशे०। भ०।

विप्पोसहि-विप्रोषधि–पुं०। मूत्रपुरीषयोरवयवो विप्रडुच्य-ते। अन्ये त्वाहुः—वि इति-उच्चारः प्र इति-प्रश्रवणम् ओ-षधिर्यस्येति। लब्धिभेदे, यस्य हि विप्रुषः परस्य व्याध्यपन-यनसमर्था भवन्ति। विशे०। औ०। आ० म०। ग०। प्रश्न०। विप्पोसहिगहणेण विट्ठस्स गहणं कीरइ तं चेव विट्ठं ओ सहिसामत्थजुत्तेण विप्पोसहि भन्नति। आ० चू० १ अ०। 'मुत्तपुरीसाण विप्पुसो विप्पो' त्ति। मूत्रपुरीषयोर्विप्रुषोऽव-यवाः इह विप्रुडुच्यते—'विप्पुसो वावि' त्ति पाठस्तु ग्रन्था-न्तरेष्वदृष्टत्वादुपेक्षितः। अथवा—अवश्यमेतद्व्याख्यानेन प्रयोजनं तदित्थं व्याख्येयम्—वाशब्दः-समुच्चये, अपिश-ब्द-एवकारार्थौ,भिन्नक्रमश्च। ततो मूत्रपुरीषयोरेवावयवा इह विप्रडुच्यते इति। अन्ये तु भाषन्ते-'वि इति' विष्ठा, प्र इति प्रश्रवणं-मूत्रं सूचकत्वात् सूत्रस्येति। ततः 'एए त्ति' ए-तौ विण्मूत्रावयवौ, 'अन्ने य' त्ति अन्ये च खेलजल्लके-शनखादयो बहवः सर्वे च समुदिता अवयवा येषां साधूनां सुरभयो रोगोपशमसमर्थाश्च ते साधवो भवन्ति। कथंभू-ता? इत्याह—'त उसहिं पत्ति' त्ति ते च ते औषधयश्च त-दौषधयो विण्मूत्रखेलजल्लकेशनखाद्यौषधयः सर्वौषधयश्च साधवो भवन्तीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—यन्माहात्म्यान्मू-त्रपुरीषावयवमात्रमपि रोगराशिप्रणाशाय संपद्यते सुरभि-च सा विप्रुडौषधिः। प्रव० २७० द्वार। पा०।

विप्फंदमाण-विस्पन्दमान–न०। अस्वतन्त्रे, इतश्चेतश्च धा-वति, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०।

विप्फाल-विस्फाल–धा०। विघाटने, विविधैः प्रकारैः स्फा-लने,। नि० चू० ४ उ०। पृच्छायाम्, विप्फालेइ देशीवच-नमेतत्; पृच्छतीत्यर्थः। विप्फालन त्ति वा पुच्छण त्ति वा एगट्ठमिति वचनात्। व्य० १ उ०।

विप्फालिय-विस्फाल्य–अव्य०। भृशं पाटयित्वेत्यर्थे, आ-चा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ०।

विस्फारित–त्रि०। विकाशिते, "विप्फालियपुंडरीयणय-णा" विस्फारितं रविकिरणैर्विकाशितं यत्पुण्डरीकं-सि-तपद्मं तद्वन्नयने येषां ते विस्फारितपुण्डरीकनयनाः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

विप्फुज्जिय-विस्फूर्जित-त्रि०। सम्यग्व्याख्यानविलसिते,प्रति०।

विप्फुरंत-विस्फुरत्–त्रि०। विविधं परिणमति, प्रति०। इत-स्ततस्तडफडति, उत्त० १९ अ०।

विफल-विफल–त्रि०। फलासाधने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

विबद्ध-विबद्ध–त्रि०। विशेषेण बद्धे,सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २उ०।

विबुह-विबुध–त्रि०। फुल्ल, आ० म० १ अ०। पुं०। देवे, हरिभ-द्रसूरिमित्रस्य मानदेवसुगुरोः शिष्ये, ग० २ अधि०।

विबोह-विबोध–पुं०। जागरणे, पञ्चा० १ विव०। आ० म०।

विब्भंत-विभ्रांत–त्रि०। विविधं भ्रान्ते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

विब्भंस-विभ्रंस–पुं०। प्राणातिपाते, प्राणिप्राणवियोजने, स्था० ५ ठा० १ उ०।

विब्भम-विभ्रम–पुं०। क्षिप्तचित्ततादिरूपसंभवे, बृ० ३ उ०।व-क्त्रमनसोर्भ्रान्तत्वे, स० ३५ सम०। रा०। आ० म०। पं० व०। पञ्चदशे गौणालीके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। (वि-भ्रमस्वरूपम् 'अबंभ' शब्दे प्रथमभागे ६७६ पृष्ठे गतम्।) भ्रूसमुद्भवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। शृङ्गाररसप्रभवे मनसोऽ-स्थिरत्वे, "यच्चित्तवृत्तेरनवस्थितत्वं, शृङ्गारजं विभ्रम उच्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेऽसौ।" उत्त० १५ अ०। विभ्रमविक्षेपकिलिकिञ्चितादि-विमुक्तत्वम्। विभ्रमो-वक्तृमनसोर्भ्रान्तता विक्षेपस्तस्यैवा-भिधेयार्थं प्रत्यनासक्तता, किलिकिञ्चितं-रोषभयाभिलाषादि-भावानां युगपदसकृत्करणम्, आदिशब्दात्-मनोदोषान्तर-परिग्रहस्तैर्वियुक्तं यत्तत्तथा तद्भावस्तत्त्वम्॥ २१॥ औ०।

विब्भलगइ-विह्वलगति-त्रि०। अर्द्धचितर्द्दगतिमत्सु, जं०२वक्ष०।

विब्भिडिमच्छ-विब्भिटिमत्स्य-पुं०। मत्स्यभेदे, विपा० १ श्रु० ८ अ०।

विब्भिसमाण-विभ्रश्यत्-त्रि०। असकृद्दीप्यमाने, आ० म० १ अ०।

विभंग-विभङ्ग-पुं०। विपरीतो भङ्गः-परिच्छित्प्रकारो यस्मिन् तद् विभङ्गमिति। प्रव० २२६ द्वार। प्रज्ञा०। सूत्र०। कर्म०। मिथ्यादृष्टेरवधौ, स्था० ३ ठा० ३ उ०। पं० सं०। नि० चू०।

विभंगणाण-विभङ्गज्ञान-न०। विरुद्धो, वितथो वाऽन्यथा वस्तुभङ्गो-वस्तुविकल्पो यस्मिंस्तद्विभङ्गं तच्च तज्ज्ञानं च साकारत्वादिति। मिथ्यात्वसहितावधौ, स्था०।

सत्तविहे विभंगणाणे पण्णत्ते, तं जहा-एकदिसिलोगा-भिगमे १, पंचदिसिलोगाभिगमे २, किरियावरणे जीवे ३, मुदग्गे जीवे ४, अमुदग्गे जीवे ५, रूवी जीवे ६, सव्वमिणं जीवा७। तत्थ खलु इमे पढमे विभंगणाणे ज-या णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा विभंग-णाणे समुप्पज्जति, से णं तेणं विभंगणाणेणं समु-प्पन्नेणं पासइ। पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा उड्ढं वा ०जाव सोहम्मे कप्पे तस्स णमेवं भवइ-अ-त्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने एगदिसिं लो-गाभिगमे, संतेगइया समणा वा माहणा वा एवमाहंसु पंचदिसिं लोगाभिगमे, जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एव-माहंसु पढमे विभंगणाणे १। अहावरे दोच्चे विभंग-णाणे, जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा विभंगणाणे समुप्पज्जइ से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्प-न्नेणं पासइ, पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा उड्ढं ० जाव सोहम्मे कप्पे तस्स णमेवं भवइ-अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने पंचदिसिं लोकाभि-गमे संतेगइया समणा वा माहणा वा एवमाहंसु एगदिसिं लोगाभिगमे जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु, दोच्चे विभंगणाणे २। अहावरे तच्चे विभंगणाणे, जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा विभंगणाणे समु-प्पज्जइ, से णं तेणं विभंगनाणेणं समुप्पन्नेणं पासइ पाणे अइवाएमाणे मुसं वयमाणे अदिन्नमादित्तमाणे मेहुणं प-डिसेवमाणे परिग्गहं परिगेण्हमाणे वा राइभोयणं भुंज-माणे वा पावं च णं कम्मं कीरमाणं णो पासइ, तस्स ण-मेवं भवइ-अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने किरियावरणे जीवे संतेगइया समणा वा माहणा वा एव-माहंसु नो किरियावरणे जीवे, जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु तच्चे विभंगणाणे ३। अहावरे चउत्थे विभं-गणाणे, जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा ०जाव समुप्पज्जइ, से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं देवामेव पासइ बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता पुढेगत्तं णाणत्तं फुसित्ता फुरित्ता फुट्टित्ता विगुव्वित्ता णं विगुव्वित्ता णं चिट्ठित्तए तस्स णमेवं भवइ-अत्थि णं मम अइसेसे णा-णदंसणे समुप्पन्ने मुदग्गे जीवे संतेगइया समणा वा माहणा वा एवमाहंसु अमुदग्गे जीवे, ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु चउत्थे विभंगणाणे ४। अहावरे पंचमे विभं-गणाणे, जया णं तहारूवस्स समणस्स०जाव समुप्पज्जइ से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं देवामेव पासइ बाहिरब्भंतरए पोग्गलए अपरियाइत्ता पुढेगत्तं णाणत्तं ०जाव विउव्वित्ता णं चिट्ठित्तए तस्स णमेवं भवइ-अत्थि ०जाव समुप्पन्ने अमुदग्गे जीवे संतेगइय समणा वा मा-हणा वा एवमाहंसु मुदग्गे जीवे जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु पंचमे विभंगणाणे ५। अहावरे छट्ठे विभं-गणाणे-जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा ०जाव समुप्पज्जइ से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं देवामेव पासइ बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता वा अ-परियाइत्ता वा पुढेगत्तं णाणत्तं फुसित्ता ०जाव विउव्वि-त्ता चिट्ठित्तए तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने रूवी जीवे संतेगइया समणा वा मा-हणा वा एवमाहंसु अरूवी जीवे जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु छट्ठे विभंगणाणे ६। अहावरे स-त्तमे विभंगणाणे जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा विभंगणाणे समुप्पज्जइ से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं पासइ सुहुमेणं वाउ-काएणं फुडं पोग्गलकायं एयंतं वेयंतं चलंतं खु ब्भंतं फंदंतं घट्टंतं उदीरेंतं तं तं भावं परिणमंतं तस्स णमेवं भवइ-अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने सव्वमिणं जीवा संतेगइया समणा वा माहणा वा एवमाहिंसु जीवा चेव अजीवा चेव, जे ते एवमाहिंसु मिच्छं ते एवमाहंसु तस्स णमिमे चत्तारि जीवनिकाया णो सम्ममुवगया भ-वंति, तं जहा-पुढविकाइया आऊ तेऊ वाउकाइया। इच्चे-एहिं चउहिं जीवनिकाएहिं मिच्छादंडं पवत्तेइ सत्तमे वि-भंगणाणे॥ ७॥ (सू०—५४२)

'सत्तविहे' त्यादि सप्तविधं—सप्तप्रकारं, विरुद्धो वितथो वा अन्यथा वस्तुभङ्गो—वस्तुविकल्पो यस्मिंस्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्विभङ्गं तच्च तज्ज्ञानं च साकारत्वादिति विभङ्गज्ञानं मिथ्यात्वसहितोऽवधिरित्यर्थः। 'एगदिसं' ति एकस्यां दिशि एकया दिशा पूर्वादिकयेत्यर्थः। लोकाभिगमः-लोकावबोध इत्येकं विभङ्गज्ञानम्। विभङ्गता चास्य शेषदिक्षु लोकस्यानभिगमेन तत्प्रतिषेधनादिति १। तथा पञ्चसु दिक्षु लोकाभिगमो नैकस्यां कस्यांचिद्दिशीति इहापि विभङ्गता एकदिशि लोकनिषेधादिति २। क्रियामात्रस्यैव प्राणातिपातादेर्जीवैः क्रियमाणस्य दर्शनात्तद्धेतुकर्म्मणश्चादर्शनात् क्रियैवावरणं कर्म यस्य स क्रियावरणः, कोऽसौ ?-जीव इत्यवष्टम्भपरं यद्विभङ्गं तत्तृतीयं, विभङ्गता चास्य कर्म्मणोऽदर्शनेनानभ्युपगमादेवमुत्तरत्रापि विभङ्गताऽवसेयेति ३।'मुयग्गं' त्ति बाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितशरीरो जीव इत्यवष्टम्भवत् भवनपत्यादिदेवानां बाह्याभ्यन्तरपुद्गलपर्यादानतो वैक्रियकरणदर्शनादिति चतुर्थम् ४। 'अमुदग्गे जीवे' त्ति देवानां बाह्याभ्यन्तरपुद्गलादानविरहेण वैक्रियवतां दर्शनाद् अबाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरीरो जीव इत्यवसायवत् पञ्चमम् ५। तथा 'रूवी जीवे' त्ति देवानां वैक्रियशरीरवत्सादर्शनाद्रूप्येव जीव इत्येवमवष्टम्भवत् षष्ठमिति ६। तथा 'सव्वमिणं जीव' त्ति वायुना चलतः पुद्गलकायस्य दर्शनात्सर्वमेवेदं वस्तु जीवा एव चलनधर्मोपेतत्वादित्येवं निश्चयवत्सप्तममिति। संग्रहवचनमेतत् 'तत्थे' त्यादि त्वेतस्यैव विवरणवचनमुत्तानार्थमेव, नवरम् 'तत्थ' त्ति तेषु सप्तसु मध्ये 'जया णं' ति यस्मिन्काले 'से णं' ति इह तदेति गम्यते स विभङ्गी 'पासइ' त्ति उपलक्षणत्वाज्जानातीति च अन्यथा ज्ञानत्वं विभङ्गस्य न स्यादिति। 'पाईणं वे' त्यादि, वा विकल्पार्थः 'उड्ढं जाव सोहम्मे कप्पे' इत्यनेन सौधर्मात्परतः किल प्रायः बालतपस्विनो न पश्यन्तीति दर्शितम् तथाऽवधिमतोऽप्यधोलोको दुरधिगमो विभङ्गज्ञानिनस्तु सुतरामित्यधोदिग्दर्शनमिह नाभिहितं दुरधिगम्यता चाधोलोकस्य त्रिस्थानकेऽभिहितेति। 'एवं भवइ' त्ति एवंविधो विकल्पो भवति-यदुत अस्ति मे अतिशेषं शेषाण्यतिक्रान्तं; सातिशयमित्यर्थः। ज्ञानं च दर्शनं च, ज्ञानेन वा दर्शनं ज्ञानदर्शनं ततश्चैकदिशो दर्शनेन तत्रैव लोकस्योपलम्भादाह-एकदिशि लोकाभिगम इति, एकदिग्मात्र एव लोकस्तथोपलम्भादिति भावः। सन्ति-विद्यन्ते एकके श्रमणा वा ब्राह्मणा वा ते चैवमाहुः—अन्यास्वपि पञ्चसु दिक्षु लोकाभिगमो भवति, तास्वपि तस्य विद्यमानत्वात्। ये ते एवमाहुः—यदुत पञ्चस्वपि दिक्षु लोकाभिगमो मिथ्या ते एवमाहुरिति प्रथमं विभङ्गज्ञानमिति १। अथापरं द्वितीयम्—तत्र 'पाईणं वे' त्यादौ वाशब्दश्चकारार्थो द्रष्टव्यः, विकल्पार्थत्वे तु पञ्चानां दिशां पश्यत्ता न गम्यते; एकस्या एव च गम्यते। तथा च प्रथमद्वितीययोर्विभङ्गयोर्भेदो न स्यादिति। क्वचिद् वाशब्दा न दृश्यन्त एवेति २, प्राणानतिपातयमानानित्यादिषु जीवानिति गम्यते, 'नो किरियावरणे' त्ति अपि तु कर्मावरण इति ३, 'देवामेव' त्ति देवानेव भवनवास्यादीनेव। 'बाहिरब्भंतरे' त्ति बाह्यान्—शरीरावगाहक्षेत्राद्भ्यन्तरान्—अवगाहक्षेत्रस्थान् पुद्गलान्—वैक्रियवर्गणारूपान् पर्यादाय परि—समन्तात् वैक्रियसमुद्घातेनादाय गृहीत्वा 'पुढेगत्तं' ति पृथक्कालदेशभेदेन कदाचित्; क्वचिदित्यर्थः। एकत्वम्—एकरूपत्वम्, नानात्वम्-नानारूपत्वं विकृत्य उत्तरवैक्रियतया 'चिट्ठित्तए' त्ति स्थातुम्-आसितुं प्रवृत्तानिति वाक्यशेष इति संबन्धः। कथं विकृत्येत्याह 'फुसित्ता' तानेव पुद्गलान् स्पृष्ट्वा तथाऽऽत्मना स्फुरित्वा-वीर्यमुल्लास्य पुद्गलान् वा स्फोरयित्वा-तथा स्फुटित्वा-प्रकाशीभूय पुद्गलान् वा स्फोटयित्वा वाचनान्तरे तु पदद्वयमपरमुपलभ्यते। तत्र संवर्त्य सारानेकीकृत्य निवर्त्य असारान् पृथक्कृत्येति, अथवा—पर्याप्तपुद्गलैरुत्तरवैक्रियशरीरस्यैकत्वं नानात्वं च कर्मतापन्नं स्पृष्ट्वाऽऽरभ्य तथा स्फुरत् कृत्वा-स्फुटं कृत्वा सम्-एकीभावेन वर्त्तितं सामान्यनिष्पन्नं कृत्वा निर्वर्तितं कृत्वा सर्वथा परिसमाप्य, किमुक्तं भवति—विकुर्व्य—वैक्रियं कृत्वा नत्वौदारिकतयेति, तस्येति—विभङ्गज्ञानिनो बाह्याभ्यन्तरपुद्गलपर्यादानप्रवृत्तदेवान् पश्यत एवं भवति इति विकल्पो जायते। 'मुदग्गे' त्ति बाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितशरीरो जीव इति ४, अथापरं पञ्चमम्—तत्र बाह्याभ्यन्तरान् पुद्गलान् अपर्यादायेत्यत्र निषेधस्य वैक्रियसमुद्घातापत्तित्वादुत्पत्तिक्षेत्रस्थांस्तूत्पत्तिकाले गृहीत्वा भवधारणीयशरीरस्यैकत्वमेकदेवापेक्षया कण्ठाद्यवयवापेक्षया वा, नानात्वं त्वनेकदेवापेक्षया हस्ताङ्गुल्याद्यवयवापेक्षया वा, विकुर्व्य स्थातुं प्रवृत्तानित्यादि शेषं प्राग्वत्। बाह्यपुद्गलपर्यादानं हि विनोत्तरवैक्रियैकत्वनानात्वे किल न भवति; इति भवधारणीयमिहाधिकृतम्, तदेवमबाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितशरीरदेवदर्शनात्तस्यैवं विकल्पो भवति। 'अमुदग्गे' त्ति अबाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरीरो जीव इति ५। 'रूवी जीवे' त्ति पुद्गलानां पर्यादाने अपर्यादाने च वैक्रियरूपस्यैकानेकरूपस्य देवेषु दर्शनाद्रूपवानेव जीव इत्यवसायो जायते तस्य अरूपस्य कदाचनाप्यदर्शनादिति ६। 'सुहुमे' त्यादि सूक्ष्मेण-मन्देन न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तिना तस्य वस्तुचालनासमर्थत्वात्। 'फुडं' ति स्पृष्टं पुद्गलकायं-पुद्गलराशिम् 'एयंत' ति एजमानं-कम्पमानं वेजमानं-विशेषेण कम्पमानं चलन्तं स्वस्थानादन्यत्र गच्छन्तं क्षुभ्यन्तम् अधोनिमज्जन्तं स्पन्दन्तम्-ईषच्चलन्तं घट्टयन्तं वस्त्वन्तरं स्पृशन्तमुदीरयन्तं वस्त्वन्तरं प्रेरयन्तं तं तमनाख्येयमनेकविधं भावं पर्यायं परिणमन्तं—गच्छन्तम् 'तं सव्वमिणं' ति सर्वमिदं चलत्पुद्गलजातं जीवाः स्पन्दनलक्षणजीवधर्मोपेतत्वाद्यच्च चलदपि श्रमणादयो जीवाश्चाजीवाश्चेति प्राहुस्तन्मिथ्येति तदध्यवसाय इति, 'तस्स णं' ति तस्य विभङ्गज्ञानवतः 'इमे' त्ति वक्ष्यमाणा न सम्यगुपगताः अचलनावस्थायां जीवत्वेन न बोधविषयीभूताः, तद्यथा-पृथिव्यप्तेजोवायवः, चलनदोहदादिधर्मवतां त्रसानामेव दोहदादित्रसधर्मवतां वनस्पतीनामेव च जीवतया प्रज्ञानात्। पृथिव्यादीनां तु वायुचलनेन स्वतश्चलनेन च त्रसत्वेनैव प्रज्ञानात् स्थावरजीवतया तु तेषामनभ्युपगमाच्चेति। 'इच्चेएहिं' ति इति हेतोरेतेषु चतुर्षु जीवनिकायेषु मिथ्यात्वपूर्वो दण्डो हिंसामिथ्यादण्डस्तं प्रवर्त्तयति तद्रूपानभिज्ञः संस्तान् हिनस्ति निह्नुते चेति भाव इति सप्तमं विभङ्गज्ञानमिति ७। स्था० ७ ठा० ३ उ०। पा०। अनु०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभङ्गज्ञानविषयः—

विभंगनाणस्स णं भंते ! केवइए विसए पण्णत्ते?, गोयमा! से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं विभंगनाणी विभंगनाणपरिगयाइं दव्वाइं जाणइ पासइ, एवं ० जाव भावओ णं विभंगनाणी विभंगनाणपरिगए भावे जाणइ पासइ। (सू० ३२२ +)

'दव्वओ णं विभंगणाणी' त्यादि 'जाणइ' त्ति विभङ्गज्ञानेन 'पासइ' त्ति अवधिदर्शनेनेति। भ० ८ श० २ उ०। ('ओहि' शब्दे तृतीयभागे १४६ पृष्ठे विभङ्गवक्तव्यतोक्ता।)

विभङ्गज्ञानेन देवोऽपरं पश्यति। देवाधिकारादिदमाह—

अविसुद्धलेसे णं भंते ! देवे असमोहएणं अप्पाणएणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अन्नयरं जाणति पासति १, ?। गोयमा ! णो तिणट्ठे समट्ठे, एवं अविसुद्धलेसे असमोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ २। अविसुद्धलेसे समोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ ३। अविसुद्धलेसे देवे समोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ ४। अविसुद्धलेसे समोहया असमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ ५। अविसुद्धलेसे समोहया असमोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ ६। विसुद्धलेसे असमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसे देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ १। विसुद्धलेसे असमोहएणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ २। विसुद्धलेसे णं भंते ! देवे समोहएणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ ?, हंता जाणइ पासइ। एवं विसुद्धलेसे णं भंते ! देवे समोहएणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ ?, हंता जाणइ ४। विसुद्धलेसे समोहया समोहएणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ ५। विसुद्धलेसे समोहया समोहएणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ ६। एवं हेट्ठिल्लएहिं अट्ठहिं न जाणइ न पासइ उवरिल्लएहिं चउहिं जाणइ पासइ। सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (सू० २५४)

'अविसुद्धे' त्यादि, 'अविसुद्धलेसे णं' ति अविसुद्धलेश्यो विभङ्गज्ञानो देवः 'असमोहएणं अप्पाणएणं' ति अनुपयुक्तेनात्मना, इहाविशुद्धलेश्यः १ असमवहतात्मा देवः २ अविशुद्धलेश्यं देवादिकम् ३ इत्यस्य पदत्रयस्य द्वादश विकल्पा भवन्ति, तद्यथा—'अविसुद्धलेसे णं देवे असमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ ?, नो इणट्ठे समट्ठे' इत्येको विकल्पः १। 'अविसुद्धलेसे असमोहएणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ, नो इणट्ठे समट्ठे' इति द्वितीयः—२। अविसुद्धलेसे समोहएणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ णो इणट्ठे समट्ठे' इति तृतीयः—३। 'अविसुद्धलेसे समोहएणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ, नो इणट्ठे समट्ठे' इति चतुर्थः ४। 'अविसुद्धलेसे समोहया समोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ णो इणट्ठे समट्ठे' इति पञ्चमः ५। 'अविसुद्धलेसे समोहया समोहएणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ, नो इणट्ठे समट्ठे' इति षष्ठः ६। 'विसुद्धलेसे असमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ, नो इणट्ठे समट्ठे त्ति सप्तमः ७। विसुद्धलेसे असमोहएणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ, नो इणट्ठे समट्ठे' त्ति अष्टमः ८। एतैरष्टभिर्विकल्पैर्न जानाति, तत्र षड्भिर्मिथ्यादृष्टित्वात् द्वाभ्यां त्वनुपयुक्तत्वादिति। 'विसुद्धलेसे समोहएणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ ?, हंता जाणइ' इति नवमः ९। 'विसुद्धलेसे समोहएणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ ? हंता जाणइ' इति दशमः १०। विसुद्धलेसे समोहया समोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ ?, हंता जाणइ त्ति एकादशः ११। 'विसुद्धलेसे समोहया समोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं देविं अण्णयरं जाणइ पासइ' त्ति द्वादशः १२। एभिः पुनश्चतुर्भिर्विकल्पैः सम्यग्दृष्टित्वादुपयुक्तत्वानुपयुक्तत्वाच्च जानाति, उपयोगानुपयोगपक्षे उपयोगांशस्य सम्यग्ज्ञानहेतुत्वादिति। एतदेवाह–'एवं हेट्ठिल्लेहिं' इत्यादि, वाचनान्तरे तु सर्वमेवेदं साक्षाद् दृश्यत इति। भ० ६ श० ९ उ०।

विभंगु–विभङ्गु–न०। तृणभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

विभज्ज–विभज्य–त्रि०। विभक्तुं शक्ये, स्था० ३ ठा० २ उ०।

विभज्य–अव्य०। पृथक्कृत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

विभज्जवाय–विभज्यवाद–पुं०। स्याद्वादे, "संकेज्ज या संकितभावभिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा" विभज्यवादः-स्याद्वादस्तं सर्वत्रास्खलितं लोकव्यवहाराविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेद्। अथवा–सम्यगर्थान् विभज्य पृथक् कृत्वा तद्वादं वदेत्। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

विभत्त–विभक्त–त्रि०। विभागवति, तं०। जी०। विविक्ते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। दृश्यमानान्तरे, भ० ७ श० ६ उ०। औ०। जं०। पृथग्व्यवस्थापिते, आ० म० १ अ०। आचा०। भोजनविशेषरहिते, जं० २ वक्ष०। भावे क्तः। नपुं०। विभागे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

विभत्ति–विभक्ति–स्त्री०। विभजनं–विभक्तिः। विभक्ततायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। पार्थक्येन स्वरूपप्रकटने, नं०।

विभक्तिनिक्षेपः—

णिक्खेवो विभत्तीए, चउव्विहो दुविह होइ दव्वम्मि।
आगमनोआगमओ,नोआगमओ अ सो तिविहो॥५५३॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो भवे दुविहो।
जीवाणमजीवाण य,जीवविभत्ती तहिं दुविहा॥५५४॥
सिद्धाणमसिद्धाण य, अजीवाणं तु होइ दुविहा उ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूवीणमरूवीण य, विभासियव्वा जहा सुत्ते ॥ ५५५ ॥
भावम्मि विभत्ती खलु-नायव्वा छव्विहम्मि भावम्मि ।
अहिगारो एत्थं पुण, दव्वविभत्तीएँ अज्झयणे ॥५५६॥

तथा विभक्तिनिक्षेपे सति विभक्तिर्भवेत् द्विविधा-द्विप्रकारा द्वैविध्यं चास्याः संबन्धिभेदादेवेति । तमाह—जीवानामजीवानां च कोऽर्थः? जीवविभक्तिः-जीवानां विभागेनावस्थापनम् , एवमजीवविभक्तिश्च । उत्तरत्राप्येवमेव संबन्धिभेदाद् भेदो व्याख्येयः । 'तर्हि' ति वचनव्यत्ययात्तयोर्जीवाजीवविभक्त्योर्मध्ये द्विविधा—सिद्धानामसिद्धानां च-'अजीवाणं तु' त्ति तुरपिशब्दार्थस्ततोऽजीवानामपि भवति 'दुविहा उ' त्ति तु अवधारणे, ततो द्विविधैव रूपिणामरूपिणां च विभागितव्या—विशेषेण व्यक्तं वक्तव्या, यथा सूत्रे-प्रक्रान्ताध्ययनरूपे, इह तु प्रक्रमायाताऽपि पौनरुक्त्यप्रसक्तेरसौ न प्रतिपाद्यत इति भावः । भावे—भावनिक्षेपे विभक्तिः, खलु-निश्चितं ज्ञातव्या षड्विधे भावे-षट्प्रकारौदयिकादिभावविषया । आह-एवमनेकविधायां विभक्ताविह कयाऽधिकारः?, उच्यते-अधिकारः-अधिकृतं अत्रेति प्रस्तुते-पुनःशब्दो-वाक्यान्तरोपन्यासे द्रव्यविभक्त्या जीवाजीवद्रव्यविभागावस्थापनरूपया तस्या एवात्र प्रदर्श्यमानत्वादिति भावः । इति निर्युक्तिगाथाष्टकावयवार्थः इत्यवसितो नाम निष्पन्ननिक्षेपः । उत्त० पाई० ३६ अ० ।

सांप्रतं विभक्तिपदनिक्षेपार्थमाह—

णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो उ विभत्तीए, णिक्खेवो छव्विहो ॥ ६६ ॥

'नामं ठवणे' त्यादि , विभक्तेर्नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः । तत्र नामविभक्तिर्यस्य कस्यचित् सचित्तादेर्द्रव्यस्य विभक्तिरिति नाम क्रियते, तद्यथा-स्वाद्योऽष्टौ विभक्तयस्तिवादयश्च । स्थापनाविभक्तिस्तु यत्र ता एव प्रातिपदिकाद्धातोर्वा परेण स्थाप्यन्ते पुस्तकपत्रकादिन्यस्ता वा । द्रव्यविभक्तिर्जीवाजीवभेदाद् द्विधा, तत्रापि जीवविभक्तिः सांसारिकेतरभेदाद् द्विधा तत्राप्यसांसारिकजीवविभक्तिर्द्रव्यकालभेदात् द्वेधा , तत्र द्रव्यतस्तीर्थातीर्थसिद्धादिभेदात्पञ्चदशधा । कालतस्तु प्रथम—समयसिद्धादिभेदादनेकधा । सांसारिकजीवविभक्तिरिन्द्रियजातिभवभेदात्त्रिधा । तत्रेन्द्रियविभक्तिः—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्पञ्चधा , जातिविभक्तिः—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदात् षोढा , भवविभक्तिर्नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभेदाच्चतुर्धा, अजीवद्रव्यविभक्तिस्तु रूप्यरूपिद्रव्यभेदाद् द्विधा । तत्र रूपिद्रव्यविभक्तिश्चतुर्धा, तद्यथा-स्कन्धाः स्कन्धदेशाः स्कन्धप्रदेशाः परमाणुपुद्गलाश्च । अरूपिद्रव्यविभक्तिर्दशधा, तद्यथा—धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य देशो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः । एवमधर्माकाशयोरपि प्रत्येकं त्रिभेदता द्रष्टव्या, अद्धासमयश्च दशम इति । क्षेत्रविभक्तिश्चतुर्धा, तद्यथा—स्थानं दिशं द्रव्यं स्वामित्वं चाश्रित्य । तत्र स्थानाश्रयणादूर्ध्वाधस्तिर्यग्विभागव्यवस्थितो लोको वैशाखस्थानस्थपुरुष इव कटिस्थकरयुग्म इव द्रष्टव्यः । तत्राप्यधोलोकविभक्तिः-रत्नप्रभाद्याः सप्त नरकपृथिव्यः,तत्रापि सीमन्तकादिनरकेन्द्रकावलिकाप्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रादिनरकस्वरूपनिरूपणम् । तिर्यग्लोकविभक्तिस्तु-जम्बूद्वीपलवणसमुद्रधातकीखण्डकालोदसमुद्रेत्यादिद्विगुणद्विगुणवृद्ध्या द्वीपसागरस्वयंभूरमणपर्यन्तस्वरूपनिरूपणम् । ऊर्ध्वलोकविभक्तिः—सौधर्माद्या उपर्युपरि व्यवस्थिता द्वादश देवलोकाः नव ग्रैवेयकानि पञ्च महाविमानानि, तत्रापि विमानेन्द्रकावलिकाप्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रादिविमानस्वरूपनिरूपणमिति । दिगाश्रयेण तु पूर्वस्यां दिशि व्यवस्थितम् , क्षेत्रमेवमपरास्वपीति द्रव्याश्रयणाच्छालिक्षेत्रादिकं गृह्यते, स्वाम्याश्रयणाच्च देवदत्तस्य क्षेत्रं यज्ञदत्तस्य वेति । यदि वा-क्षेत्रविभक्तिरार्याऽनार्यक्षेत्रभेदाद् द्विधा । तत्राप्यार्यक्षेत्रमर्धषड्विंशतिजनपदोपलक्षितं राजगृहमगधादिकं गृह्यते ।

" रायगिहमगहचंपा, अंगा तह तामलि त्ति वंगा य ।
कंचणपुरं कलिङ्गा, वाणारसी चेव कासी य ॥ १ ॥
साकेयकोसलागय-पुरं च कुरुसोरियं कुसट्टा य ।
कंपिल्लं पंचाला, अहिछत्ता जंगला चेव ॥ २ ॥
बारवई य सुरट्ठा, मिहिलविदेहा य वच्छकोसंबी ।
नंदिपुरं संदिब्भा, भद्दिलपुरमेव मलया य ॥ ३ ॥
वइराडमच्छवरणा, अच्छा तह मित्तियावइ दसण्णा ।
सुत्तीमई य चेदी, वीयभयं सिंधुसोवीरा ॥ ४ ॥
महुरा य सूरसेणा, पावा भंगी य मासपुरिवट्टा ।
सावत्थी य कुणाला, कोडीवरिसं च लाढा य ॥ ५ ॥
सेयविया वि य णयरी, केयइअद्धं च आरियं भणियं ।
जत्थुप्पत्ति जिणाणं, चक्कीणं रामकिण्हाणं ॥ ६ ॥

अनार्यक्षेत्रं धर्मसंज्ञारहितमनेकधा । तदुक्तम्—
सगजवणसवरबब्बर-कायमुरुंडो दुगोणपक्कणया ।
अक्खागहूणरोमस—पारसखसखासिया चेव ॥ १ ॥
दुविलयलवासबोक्कस, भिल्लिंदपुलिंदकोंचभमररूया ।
कांबोयचीणचंचुय, मालयदमिला कुलक्खा य ॥ २ ॥
केकयकिरायहयमुह, खरमुह गयतुरयमेढगमुहा य ।
हयकण्णा गयकण्णा, अण्णे य अणारिया बहवे ॥ ३ ॥
पावा य चंडदंडा अणारिया णिग्घिणा णिरणुकंपा ।
धम्मो त्ति अक्खराइं, जेसु ण णज्जंति सुविणे वि ॥ ४ ॥

कालविभक्तिस्तु अतीताऽनागतवर्त्तमानकालभेदात् त्रिधा । यदिवैकान्तसुषमादिकक्रमेणाऽवसर्पिण्युत्सर्पिण्युपलक्षितं द्वादशारं कालचक्रम् , अथवा-"समयावलियमुहुत्ता, दिवसमहोरत्तपक्खमासा य । संवच्छरयुगपलिया, सागरउस्सप्पिपरियट्टे' त्येवमादिका कालविभक्तिरिति । भावविभक्तिस्तु-जीवाजीवभावभेदाद् द्विधा-तत्र जीवभावविभक्तिः औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकभेदात् षट्प्रकारा । तत्रौदयिको गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकषड्भेदक्रमेणैकविंशतिभेदभिन्नः, तथौपशमिकः सम्यक्त्वचारित्रभेदाद् द्विविधः,क्षायिकः सम्यक्त्वचारित्रज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदान्नवधा, क्षायोपशमिकस्तु ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः । तथा सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमभेदक्रमेणाष्टादशधेति, पारिणामिको जीवभव्याभव्यत्वादिरूपः, सान्निपातिकस्तु द्विकादिभेदात् षड्विंशतिभेदः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संभवी तु षड्विधोऽयमेव गतिभेदात्पञ्चदशधेति । अजीवभावविभक्तिस्तु मूर्त्तानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानपरिणामः। अमूर्त्तानां गतिस्थित्यवगाहवर्त्तनादिक इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। ('अणुमाण' शब्दे प्रथमभागे ४०५ पृष्ठे द्वावपि विभक्ती द्रष्टव्ये ।) (प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थीपञ्चमीषष्ठीसप्तमीलक्षणा वचनविभक्तयो 'वयणविभत्ति' शब्देऽस्मिन्नेव उक्ताः ।)

विभत्तिभाव-विभक्तिभाव-पुं०। विभागरूपे, भ०।

अथ विचित्रपरिणाम एव जीवस्य यतो भवति तद्दर्शयितुमाह—

कम्मओ णं भंते ! जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, कम्मओ णं जए नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ ?, हंता गोयमा ! कम्मओ णं तं चेव० जाव परिणमइ नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, सेवं भंते । सेवं भंते ! त्ति ॥ (सू०-४५२)

'कम्मओ ण' मित्यादि, कर्मतः सकाशान्नो अकर्मतः-न कर्माणि विना जीवो 'विभक्तिभावं—विभागरूपं भावं नारकतिर्यग्मनुष्यामरभवेषु नानारूपं परिणाममित्यर्थः परिणमति—गच्छति, तथा—'कम्मओ णं जए' त्ति गच्छति तांस्तान्नारकादिभावानिति । जगत्—जीवसमूहो जीवद्रव्यस्यैव वा विशेषो जङ्गमाभिधानो "जगन्ति जङ्गमान्याहु" रिति वचनादिति । भ० १२ श० ४ उ०।

विभत्तिभिन्न-विभक्तिभिन्न-न०। सूत्रदोषे, यत्र विभक्तिव्यत्ययः—यथा वृक्षं पश्य इति वक्तव्ये वृक्षः पश्येति ब्रूयात्। अनु०। विशे०। आ० म०। अत्र हि विभक्तेरन्यथाप्रयोगाद् विभक्तिभिन्नत्वम्। बृ० १ उ० १ प्रक०।

विभत्तिविपरिणाम-विभक्तिविपरिणाम-पुं०। विभक्तीनां व्यत्यासे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। आव०।

विभव-विभव-पुं०। कृतसफलसंपदि, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। लक्ष्म्याम्, स० १४६ सम०। समृद्धौ,ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। 'विभव' इति किं मदस्तेऽ, उत विभवः किं विषादमुपयासि ?। करनिहितकन्दुकसमाः, पातोत्पाता मनुष्याणाम्'॥१॥ आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०।

विभवण-विभवन-न०। विरूपकरणे, नि० चू० १६ उ०।

विभवसार-विभवसार-त्रि०। विभूत्युत्कर्षे, पञ्चा० ८ विव०। ध०। विभवापेक्षायाम्, पञ्चा० २ विव०। ध०। तथा विभवादीनां वित्तवयोऽवस्थानिवासस्थानादीनामनुसारत आनुरूप्येण वेषो वस्त्राभरणादिभोगः लोकपरिहासाद्यनास्पदतया योग्यो वेषः कार्य इति भावः। यो हि सत्यप्याये कार्पण्याद् व्ययं न करोति, सत्यपि वित्ते कुचेलत्वादिधर्मा भवति स लोकगर्हितो धर्मेऽप्यनधिकारी स्यात्। प्रसन्ननेपथ्यो हि पुमान् मङ्गलमूर्त्तिर्भवति, मङ्गलाच्च श्रीसमुत्पत्तिः, यथोक्तम्—"श्रीर्मङ्गलात्प्रभवति, प्रागल्भ्याच्च प्रवर्द्धते। दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं, संयमात्प्रतितिष्ठति ॥१॥" मूलमित्यनुबन्धं प्रति तिष्ठतीति प्रतिष्ठां लभत इति। ध० १ अधि०।

विभवोचिय-विभवोचित-त्रि०। स्वसमृद्ध्यनुरूपे, पञ्चा० ८ विव०।

विभाग-विभाग-पुं०। विभजनं-विभागः। विस्तरे, नि० चू० २० उ०। व्य०। प्रव०। प्रस्तावोऽवसरो विभाग इत्यनर्थान्तरम्। विशे०। आ० म०। प्राप्तिपूर्विकायामप्राप्तौ, सम्म० ३ काण्ड। विशे०। नैयायिकसंमतगुणभेदे, व्यक्तताापादने, आ० म० १ अ०। अंशे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। बंटगो विभागो वेति एगट्ठं आव० ४ अ०।

विभावण-विभावन-न०। प्रकटार्थीकरणे, आविर्भावने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

विभावणा-विभावना-स्त्री०। संविभागे, संविभागो विभावना भवयते, यथा-व्रतानां धारणं समितीनां रक्षणं कषायाणां निग्रह इत्यादि। (बृ०) विभावनं तु प्राणातिपाताद्विरमणं यावत्परिग्रहाद्विरमणमिति। बृ० ३ उ०। ('अंतरगिह' शब्दे प्रथमभागे ८८ पृष्ठे सूत्रं गतम्।)

विभावता-विभावता-स्त्री०। विभावस्वभावे, दश० १ अ०।

विभावसभाव-विभावस्वभाव-पुं०। स्वभावादन्यथाकरणे-द्रव्या०।

स्वभावादन्यथाभावो, विभावोऽपि महद्व्यथा।
नानादेशादिकर्मोपा-धियतो घटते कथम् ॥ ८ ॥

स्वभावात् योऽन्यथाभावः स विभावस्वभावः, कथ्यते इति तु महद्व्यथारूपं लगति। एतच्च विभावस्वभावस्याङ्गीकरणं विना जीवस्य नानादेशादिकर्मोपाधिः कथं घटते नानादेशाद्यनियतदेशकालादिविपाकिकर्मोपाधिर्जीवस्य अलग्ना युज्यते, तत उपाधिसंबन्धयोग्यानादिविभावस्वभाव इति। द्रव्या० १२ अध्या०।

विभासग-विभाषक-पुं०। अनुयोगाचार्येण भणितस्य व्याख्यानस्य सम्यं भाषमाणे, विशे०। विभाषकस्तु अनुयोगाचार्यभाषितस्यैव अनेकधा अर्थमभिधत्ते, यथा—समभावः—सामयिकं समानां वा-ज्ञानदर्शनचारित्राणां यः समवायः समाय एव सामायिकं स्वार्थे इकण् प्रत्यय इत्यादि। आ० म० १ अ०। आ० चू० ('भासग' शब्दे पञ्चमभागे १५२१ पृष्ठे उदाहरणम्।)

विभासा-विभाषा-स्त्री०। विविधा भाषा विभाषा। विषयविभागव्यवस्थापनेन व्याख्यायाम्, आव० २ अ०। नि० चू०। पञ्चा०। विविधपर्यायशब्दैः स्वरूपकथने, आ० म० १ अ०। भास त्ति वा विभास त्ति वा वत्तियं ति वा एगट्ठा। आ० चू० १ अ०। बृ०।

साम्प्रतमभ्रपटलदृष्टान्तसमन्वितं विभाषाद्वारमाह—

एगपए उ दुगाई, जो अत्थे भणइ विभासा उ।
असइ य आसु य धावइ, न य सम्मइ तेण आसो उ ।२०१।
एकेणं एक्कदलं, ताहिं कयं बिइयएण बहुतरगा।
तइएण छाइयं तं, तिल्लंबिलमादिगाएहिं ॥२०२॥

एकेन छत्रकारेण त्रयाणामात्मीयशिष्याणां छत्रच्छादनार्थमभ्रपटलानि दत्तानि। छत्राण्याच्छादयत। तत्रैकेन शिष्येण एकमभ्रपटलदलं तत्र छत्रे कृतम्, द्वितीयेनात्मीये छत्रे बहुतराणि द्वित्रिचतुःप्रभृतीनि अभ्रपटलानि लापितानि, तृतीयेन बहून्यभ्रपटलानि दत्त्वा तैलाम्लादिभिर्गुणैस्तु छत्रं सर्वात्मना छादितम्। किमुक्तं भ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वति—तान्यश्वपटलदलानि पालितानि तैलाऽऽलादिभिस्ति-मित्वा सर्वथा निर्भेदम्। एष दृष्टान्तः। अयमर्थोपनयः-प्रथमशिष्यसदृशो भाषकः, द्वितीयशिष्यसदृशो विभाषकः। तथा चाह-य एकस्मिन् द्वित्रादीनर्थान् वक्ति; यथा-अश्नातीत्यश्वः; यदिवा—आशु धावति न च श्राम्यतीत्यश्वः, एष विभाषकः तस्य भाषणं विभाषा। तृतीयशिष्यसदृशो व्यक्तिकरः। उक्तं च—" पढमसरिच्छो भासग, बिइयविभासो य तइय वित्तिकरो ' इति। बृ० १ उ० १ प्रक०। विकल्पे, भजनायां च। दश० ४ अ०। श्रुतस्य शेषविशेषरूपायां भाषायाम्; विशे०। अर्थकथने, नि० चू० १ उ०।

विभासित्तए–विभाषयितुम्–अव्य०। व्याख्यातुमित्यर्थे, आ० म० १ अ०। प्रव०।

विभिण्ण–विभिन्न–त्रि०। विदारिते, उत्त० ३२ अ०। विशेषेण सूक्ष्मखण्डीकृते, उत्त० १६ अ०।

विभीयग–विभीतक–पुं०।'बहेडा' इति ख्याते वृक्षभेदे,विशे०।

विभीसण–विभीषण–पुं०। अपरविदेहे सलिलावतीविजये वीतशोकायां नगर्यां जितशत्रुनृपतिपुत्रे वासुदेवे, आ० चू० १ अ०। आ० म०।

विभु–विभु–त्रि०। व्यापके, विशे०। हा०। आ० म०। स०।

विभूइ–विभूति–स्त्री०। उत्कृष्टपरसंपदि, आव० ४ अ०। आ० म०। ज्ञा०। रा०। विच्छर्दे, औ०। नि० चू०। स्था०। प्रश्न०।

विभूसणा–विभूषणा–स्त्री०। मण्डनायाम्, आ० म० १ अ०। औ०। व्य०। चूल त्ति वा विभूसगं ति वा सिहरं ति वा एते एगट्ठा। नि० चू० १ उ०। स्नानविलेपनधूपननखदन्तकेशसंमार्जनादिके स्वशरीरसंस्कारे, प्रव० ६६ द्वार।

विभूसा–विभूषा–स्त्री०। विभूषणं विभूषा। शरीरोपकरणकरणादिषु, स्नानधावनादिभिः संस्कारे, उत्त० १६ अ०। वस्त्रादिराढायाम्, दश० ८ अ०। स्फारोदारशृङ्गारकरणे, आ० म० १ अ०। रा०। उचितनेपथ्यादिकरणे, औ०।

विभूषाप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणा देवा केरिसया विभूसाए पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा–वेउव्वियसरीरा य, अवेउव्वियसरीरा य। तत्थ णं जे ते वेउव्वियसरीरा ते हारविराइयवच्छा ०जाव दससदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा ०जाव पडिरूवा। तत्थ णं जे ते अवेउव्वियसरीरा ते णं आभरणवसणरहिता पगतित्था विभूसाए पण्णत्ता। सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु देवीओ केरिसयाओ विभूसाए पण्णत्ताओ?,गोयमा ! दुविहाओ पण्णत्ताओ,तं जहा–वेउव्वियसरीराओ य अवेउव्वियसरीराओ य। तत्थ णं जाओ वेउव्वियसरीराओ ताओ णं सुवण्णसद्दालाओ सुवण्णसद्दालाइं वत्थाइं पवरपरिहिताओ चंदाणणाओ चंदविलासिणीओ चंदद्धसमणिडालाओ सिंगारागारचारुवेसाओ संगय ०जाव पासातीयाओ ०जाव पडिरूवाओ। तत्थ णं जाओ अवेउव्वियसरीराओ ताओ णं आभरणवसणरहियाओ पगतित्थाओ भूसाए पण्णत्ताओ, सेसेसु देवा देवीओ णऽत्थि ०जाव अच्चुतो, गेविज्जगदेवा केरिसया विभूसाए पण्णत्ता ?, गोयमा ! आभरणवसणरहिया य,एवं देवी णऽत्थि भाणियव्वं, पगतित्था विभूसाए पण्णत्ता। एवं अणुत्तरा वि। (सू० २१८)

सौधर्मैशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवानां शरीरकाणि कीदृशानि विभूषया प्रज्ञप्तानि ?,भगवानाह–गौतम ! द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भवधारणीयानि उत्तरवैक्रियाणि च। तत्र यानि (तानि) भवधारणीयानि, तानि—आभरणवसनरहितानि प्रकृतिस्थानि. विभूषया प्रज्ञप्तानि, स्वाभाविक्येव तेषां विभूषा नौपाधिकीति भावः। तत्र यानि (तानि) उत्तरवैक्रियरूपाणि शरीराणि तानि 'हारविराइयवच्छा' इत्यादि पूर्वोक्तं तावद्वाच्यं यावत् 'दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा विभूसाए पन्नत्ता' अस्य व्याख्या प्राग्वत्। एवं देवीष्वपि नवरं 'ताओ णं अच्छराओ सुवण्णसद्दालाओ' इति नूपुरादिनिर्घोषयुक्ताः 'सुवण्णसद्दालाइं वत्थाइं पवरपरिहिताओ' सकिंकिणीकानि वस्त्राणि प्रवरमत्युद्भटं यथा भवत्येवं परिहितवत्य इति भावः। 'चंदाणणाओ चंदविलासिणीओ चंदद्धसमनिडालाओ चंदाहियसोमदंसणाओ उक्का इव उज्जोवेमाणीओ विज्जुघणमरीइसूरदिप्पंततेयअहियथरसंनिकासाओ सिंगारागारचारुवेसाओ. पासाईयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ' इति प्राग्वत्, एवं देवानां शरीरविभूषा तावद्वाच्या यावदच्युतः कल्पः, देव्यस्तु सनत्कुमारादिषु न सन्तीति न तत्सूत्रं तत्र वाच्यम्। 'गेवेज्जगदेवाणं भंते ! सरीरा केरिसगा विभूसाए पन्नत्ता ?, गोयमा ! गेवेज्जगदेवा णं एगे भवधारणिज्जे सरीरे ते णं आभरणवसणरहिआ पगइत्था विभूसाए पण्णत्ता' इति पाठः। एवमनुत्तरोपपातिका अपि वाच्याः। जी० ३ प्रति० २ उ०।

विभूसावत्तिय–विभूषाप्रत्यय–न०। विभूषानिमित्ते, दश०।

विभूषाकरणे दोषमाह—

विभूसावत्तिअं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ ६५ ॥

विभूषाप्रत्ययम्—विभूषानिमित्तं भिक्षुः—साधुः कर्म बध्नाति चिक्कणं-दारुणं, संसारसागरे घोरे-रौद्रे येन कर्मणा पतति दुरुत्तारे-अकुशलानुबन्धतोऽत्यन्तदीर्घे इति सूत्रार्थः ॥ ६५ ॥

एवं बाह्यविभूषापायमभिधाय संकल्पविभूषापायमाह—

विभूसावत्तिअं चेअं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेअं, नेयं ताईहि सेविअं ॥ ६६ ॥

'विभूस' त्ति सूत्रं, विभूषाप्रत्ययं—विभूषानिमित्तं चेत एवं चैवं च यदि मम विभूषा संपद्यत इति, तत्प्रवृत्त्यङ्गं चित्तमित्यर्थः, बुद्धाः–तीर्थकराः मन्यन्ते-जानन्ति, तादृशं-रौद्रकर्मबन्धहेतुभूतं विभूषाक्रियासदृशं सावद्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहुलं चैतद्-आर्त्तध्यानानुगतं चेतः, नैतदित्थंभूतं त्रात भिः—आत्मागमैः साधुभिः सेवितम्—आचरितं कुशल-चित्तत्वात्तेषामिति सूत्रार्थः॥ ६६॥ दश० ६ अ० २ उ०। आ० म०। ज्ञा०। ग०। आ० चू०। (साधोर्विभूषाप्रत्ययः 'बभचेरसमाहिट्ठाण' शब्दे ५ भागे १२६६ पृष्ठे दर्शितः।)

विभूषाप्रत्ययमार्जनादि—

जे भिक्खू विभूसावडिए अप्पणो पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ॥ १०१॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो पाए संवाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा संवाहंतं वा पडिमद्दंतं वा साइज्जइ॥१०२॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो पाए तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा भिलिङ्गेज्ज वा मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ॥१०३॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो पाए लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हवणेण वा पउमचुण्णेण वा सिणाहणेण वा उव्वट्टेज्ज वा परियट्टेज्ज वा उव्वट्टंतं वा परियट्टंतं वा साइज्जइ॥ १०४॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो पाए सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ॥१०५॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो पाए फूमेज्ज वा रएज्ज वा मंखेज्ज वा फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ॥१०६॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ॥ १०७॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायं संवाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ॥ १०८॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायं तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा भिलिङ्गेज्ज वा मंखंतं वा भिलिङ्गंतं साइज्जइ॥ १०९॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायं लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हवणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणाहणेण वा उव्वट्टेज्ज वा परिवट्टेज्ज वा उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ॥११०॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ॥१११॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायं फूमेज्ज वा रएज्ज वा मंखेज्ज वा फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ॥ ११२॥ जे भिक्खू विभू० अप्पणो कायंसि वणं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ॥११३॥ जें भिक्खू विभू० अप्पणो कायंसि वणं संवाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ॥ ११४॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायंसि वणं तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएणं वा मंखेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ॥ ११५॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायंसि वणं लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हवणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणाहणेण वा उव्वट्टेज्ज वा परिवट्टेज्ज वा उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ॥ ११६॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायंसि वणं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उंच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ॥११७॥जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायंसि वणं फूमेज्ज वा रएज्ज वा मंखेज्ज वा फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ॥ ११८॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदेज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा अच्छिंदंतं वा विच्छिंदंतं वा साइज्जइ॥ ११९॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदेज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहिएज्ज वा णीहरंतं वा विसोहंतं वा साइज्जइ॥ १२०॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदेज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहिएज्ज वा सीओदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ॥ १२१॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदेज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा अण्णयरेण वा आलेवणजाएणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ॥१२२॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदेज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहिएज्ज वा अण्णयरेण आलेवणजाएणं तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा अब्भिंगेज्ज वा मंखेज्ज वा अब्भिंगंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ॥ १२३॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा असियं वा भगंदलं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा अप्ययरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदेज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहिएज्ज वा अणयरेण वा धुवेज्ज वा पधुवेज्ज वा धुवंतं वा पधुवंतं वा साइज्जइ ॥ १२४ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो पालुकिमियं वा कुच्छिकिमियं वा अप्पणो अंगुलियाए निवेसिय हरेज्ज वा णीहरेज्ज वा हरंतं वा णीहरंतं वा साइज्जइ ॥ १२५ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाओ णहसिहाओ कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १२६ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं वच्छरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥१२७॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं जंघरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १२८ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं सीसकेसाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १२९ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं कण्णरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १३० ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं भुमयरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १३१ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं अच्छिपत्ताइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १३२ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं चक्खुरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १३३ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं नकरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १३४ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं मंसुरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ।१३५। जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं कक्खरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १३६ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं पासरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १३७ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दीहाइं उत्तरउट्ठाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ १३८ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते आघसेज्ज वा पघसेज्ज वा आघसंतं वा पघसंतं वा साइज्जइ ॥ १३९ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥१४०॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते फूमेज्ज वा रएज्ज वा मंखेज्ज वा फूमंतं वा रयंतं मंखंतं वा साइज्जइ ॥१४१॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो उट्ठे आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ १४२ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो उट्ठे संवाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥ १४३ ॥ जे भिक्खू अप्पणो उट्ठे तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा भिलिङ्गेज्ज मंखंतं वा भिलिङ्गंतं वा साइज्जइ ॥ १४४ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो उट्ठे लोद्देण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ १४५ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो उट्ठे सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ १४६ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो उट्ठे फूमेज्ज वा रएज्ज वा मंखेज्ज वा फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ १४७ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो अच्छीणि आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ॥१४८॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो अच्छीणि संवाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥१४९॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो अच्छीणि तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा भिलिङ्गेज्ज वा मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥१५०॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो अच्छीणि लोद्देण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वसाएण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ १५१। जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो अच्छीणि सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥१५२॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो अच्छीणि फूमेज्ज वा रएज्ज वा मंखेज्ज वा फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥१५३॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरेइ णीहरंतं वा साइज्जइ ॥१५४॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायाओ सेयं वा जल्लं वा पंकं वा मलं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा णीहरंतं वा विसोहंतं वा साइज्जइ ॥१५५॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे अप्पणो सीसदुवारियं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ १५६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभूषाप्रतिज्ञया एवं० जाव सीसदुवारियं करेति । सुत्तं-

जे भिक्खू विभूसावडियाए वत्थं वा पडिग्गहं वा कंवलं वा पायपुञ्छणं वा अएणयरं वा उवगरणजायं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ ॥ १५७ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए वत्थं वा पडिग्गहं वा कंवलं वा पायपुञ्छणं वा अएणयरं वा उवगरणजायं धोवेइ धोवंतं वा साइज्जइ ॥ १५८ ॥ जे भिक्खू विभूसावडियाए वत्थं वा पडिग्गहं वा कंवलं वा पायपुञ्छणं वा अएणयरं वा उवगरणजायं धुवेइ धुवंतं वा साइज्जइ ॥ १५६ ॥

तं सेवमाणे आवज्जइ चउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घातियं विभूसाए आसेवंतस्स चउलहु पच्छित्तं ।

गाहा—

पादपमज्जणमादी, सीसदुवाराउ जाव उवहिंति ।
जे कुज्ज विभूसट्ठा, वत्थादि धरेज्ज वाऽऽणादी ॥ ३७३ ॥

जे आणादिया जहिं संभवंति ते तहिं भाणियव्वा दोसा ।

गाहा—

इयरह वि ता ण कप्पति, पादादिपमज्जणं विभूसाए ।
देहपलोगपसंतो, साता उच्छोलगमणादी ॥ ३७४ ॥

' इयरह ' त्ति विणा विभूसाए जो विभूसाए पदेसु पमज्जणं करेति सो तेण पसंगेण देहपलोयणं करेज्जा ताहे वसापडियाए उच्छोलणादिसु देसे सव्वे वा पवट्टति तप्पसंगे य पडिगमणादीणि करेज्जा ।

गाहा—

एमेव य उवगरणे, अभिक्खधुवणे विराहणा दुविहा ।
संका य अमादीणं, वेणगमुहणंतदिट्ठंतो ॥ ३७५ ॥

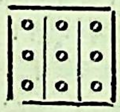

अभिक्खा पुणो पुणो, दुविधा—आयविराहणा संजमविराहणा, संकाए जहा वा ससरीरोवकरणपाओसो दीसति तहा से नूणं कोई पसंगो वि अत्थि एवं अविरता संकंति,उज्जले विहिते य तेणगमुहणंतगदिट्ठंतो-एगे आयरिया बहुसिस्सपज्जागमा, एगेण रएणा कंवलरयणेण पडिलाभिता, भणिता य—पाउतेण य णिग्गच्छह । ते पाउएण णिग्गच्छंता तेणगेहिं दिट्ठा, वसहिं गंतु तत्थ मुहणंतगा कया तेणगा वि राओ आगता । भणंति, देह तं कंवलरयणं । दंसिया य तहिं एते मुहणंतगा कता । तेणगेहिं रुट्ठेहिं सीवावेतुं मुक्का । जम्हा एते दोसा तम्हा ण विभूसाए धरियव्वं । सव्वेसिं सुत्ताणं इमं वितियपदं जहासंभवं भाणियव्वं ।

गाहा—

वितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वावि दुविह तेइच्छे ।
अभिओगअसिवदुभि-क्खमादिसुं जा जहिं जयणा ३७६।

अणवज्जो खत्तादिगो सेहो वा अजाणंतो । असेहो वि दुविधा मोहानिगच्छाए अणिमित्तसु । णिमित्ते वा मोहोदए रायादिअभियोगेण वा असिवे वा असिवोवसमणनिमित्तं, दुब्भिक्खे वा कुचेलस्स ण लब्भति त्ति सिंधुमालवगादिसु तत्थुज्जलो वा विवरणं पि करेज्ज । समादिपओयणेसु उज्जलोवहिधरणं करेंतस्स जा जहिं जयणा संभवति सा कायव्वा " रविकिरणमभिधारणक्खर-सत्तमवग्गंतअक्खरजुएणं । णाम जस्सित्थाएसुं , तेण तस्सेस कयचुणी ॥ १ ॥ " नि० चू० १५ उ० ।

विभूसिय—विभूषित—त्रि० । वस्त्रादिभिः सञ्जातविभूषे, औ० । भ० । ज्ञा० । अन्त० । प्रश्न० । कल्प० । भ० । मण्डिते, दर्श० ३ तत्त्व । अलंकृते , विशे० । आ० म० । आव० ।

विभेलय—विभीतक—पुं० । (बहेडा) वृक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

विमग—विमक—पुं० । पर्वकवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

विमज्झ—विमध्य—न० । अन्तराले, विशे० ।

विमण—विमनस्—त्रि० । विगतमिव विगतं मनश्चित्तमस्येति विमनाः । विषण्णे , उत्त० १० अ० । सूत्र० । प्रश्न० । विषण्णचेतसि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । विदूनमनसि , उत्त० १२ अ० । शोकाकुलमनसि, जं० २ वक्ष० । प्रश्न० । विगतं भोगकषायादिष्वरतौ वा मनो यस्य स विमनाः । असंयमचित्ते , आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

विमता-विमता—स्त्री० । वज्रवीर्यराज्ञो भार्यायाम् ,उत्त०२३अ० ।

विमरिस—विमर्श—पुं० । विकल्पे, मनोविशेषे, स्था० ४ ठा० १ उ० । विशे० ।

विमल—विमल—त्रि० । विगतागन्तुकमले , भ० १५ श० । रा० । तं० । जी० । स्वाभाविकागन्तुकमलरहिते , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । तं० । औ० । रा० । स० । कर्ममलरहिते, उत्त० १२ अ० । " विमलमहातवणिज्जं " विमलं—निर्मलं महत्—महाजातीयमेवं तपनीयं रक्तवर्णसुवर्णम् । कल्प० १ अधि० २ क्षण । षट्सप्ततितमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० ।

दो विमला । (सू० ६० ×) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सहस्रारस्याष्टमदेवलोकेन्द्रस्य पारियानिके विमाने , स्था० ८ ठा० ३ उ० । औ० । ऋषभदेवस्य पञ्चमे पुत्रे , कल्प० १ अधि० ७ क्षण । आनतप्राणतयोर्देवेन्द्रयोः पारियानिकविमानवाहके देवे, जं ५ वक्ष० । द्वादशदेवलोकस्थविमानभेदे , स० २२ सम० । सनत्कुमारदेवलोकसम्बन्धिनि षष्ठे विमाने, स० ७ सम० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे त्रयोदशे तीर्थकरे, आ० म० । नामान्वर्थमाह—विमलः विगतमलो, ज्ञानादियोगाद्वा विमलः । तत्र सर्वेऽपि भगवन्त इत्थंभूताः, इतो विशेषमाह— " विमलतणुमहद्धं , गब्भयतो माताए सरीरं बुद्धी य अतिविमला । जओ तेण विमलेति । आ० म० २ अ० । सामएणं सव्वे विमलमती , विसेसो माताए सरीरं अतीवविमलं जातं बुद्धीतत्ति ॥ १३ ॥ आ०चू० २ अ० । स० । ध० । भ० । कल्प० । अनु० । काम्पिल्यनगरं , ती० २४ कल्प । (काम्पिल्यपुरेऽस्य जन्मादीति ' कंपिल्ल ' शब्दे तृतीयभागे १७६ पृष्ठे गतम् ।) (' तित्थयर ' शब्दे चतुर्थभागे २२७४ पृष्ठे सर्वा वक्तव्योक्ता ।)

विमलस्स णं अरहओ छप्पन्नं गणा गणहरा (य) होत्था । (सू-५६ ×) स० ५६ सम० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विमलस्स णं अरहओ अडसट्ठिं समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया होत्था । (सू० ६८+)स० ६८ सम०।

पुरुषाः सिद्धाः—

विमलस्स णं अरहओ णं चउआलीसं पुरिसजुगाइं अणुपिट्ठिं सिद्धाइं०जाव प्पहीणाइं । सू० ४४+)स०४४सम० ।

पञ्चमे भारतातीतजिने, प्रव० ७ द्वार । ति० । भारते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति मल्लीपर्याये द्वाविंशे तीर्थकरे, स० । ति० । (विमलस्यार्हतः शिष्यसन्तानेन सुमङ्गलेनानगारेण गोशालकजीवो विमलवाहनराजा भस्मीकृत इति 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०३४ पृष्ठे गतम् ।) भारते भविष्यति दशमे चक्रवर्तिनि , ती० २० कल्प । ऐरवते वर्षे भविष्यति एकविंशे तीर्थकरे, स० । द्वितीयतीर्थकरस्याजितस्वामिनः पूर्वभवजीवे , स० । स्वनामख्याते कुवलयचन्द्रश्रेष्ठिनः सुते, ध० र० ।

तत्कथानकञ्चैवम्-

सिरिनंदणं समयरं, अत्थि कुसत्थलपुरं मयणसरिणं ।
तत्थ य कुवलयचंदो, चंदो व्व जणप्पिओ सिट्ठी ॥ १ ॥
गयदंदा णंदसिरी, सिरीव पुरिसुत्तमस्स से भज्जा ।
विमलसहदेवनामा, ताणं पुत्ता सया भत्ता ॥ २ ॥
पगईए पावभीरू , जिट्ठो विवरीयओ कणिट्ठो उ ।
कइया वि कीलिउं ते, उज्जाणगया नियंति मुणिं ॥ ३ ॥
तस्स कमकमलममलं, सुट्ठु पहिट्ठानमित्तु उवविट्ठा ।
साहू वि कहइ धम्मं, तासुचियं सयलजीवहियं ॥४॥
हयसयलकम्मलेवो, देवो गुरुणो विसुद्धगुणगुरुणो ।
धम्मो दयाइरम्मो, भुवणे रयणत्तणं एयं ॥ ५ ॥
इय सुणिउं तुट्ठेहिं , गहिओ सम्मत्तमाइ गिहिधम्मो ।
असमत्थेहिं तहिं, दुद्धरजइधम्मधुरधरणे ॥ ६ ॥
ते अन्नदिणे चलिया, गहिउं पणियाइपुव्वदेसम्मि ।
केण वि पहिएण इमं, अद्धपहे पुच्छिओ विमलो ॥ ७ ॥
भो कहसु पंजलपहं, घणइंधणनीरनीरणाइजुयं ।
विमलो वि दंडभीरू, जंपइ अहयं न याणामि ॥ ८ ॥
पभणेइ पुणो पहिओ, गामे नयरे व कत्थ गंतव्वं ।
सिट्ठी ˘ तए सो साहइ, अग्घिस्सइ जत्थ नणु पणियं ॥ ९ ॥
पुण पहिएणुल्लवियं, नियनयरं कहसु जत्थ तुं वससि ।
स भणइ निवहाणीए, न य नयरं अत्थि मम इह किंचि॥१०॥
जइ पभणसि विमल ! तुमं, तए समं एमि तेण इय वुत्ते ।
सो आह सइच्छाए, इंताण तुमाण के अम्हे ॥ ११ ॥
अह पत्तो पुरबाहिं, पागत्थं जाव जालए जलणं ।
विमलो तापहिएणं, भणिओ अप्पेसु मह दहणं ॥ १२ ॥
सो वि पयंपइ तं पइ,मह पासे जिमसु अवि य भो पहिय ! ।
न य अगणिपमुहदाणं, तु कप्पए समयपडिसेहा ॥ १३ ॥

तथाहि—

महुमज्जमंसभेस—ज्जमूलसत्थग्गिजंतमंताइं ।
न कया वि हु दायव्वं, सड्ढेहिं पावभीरूहिं ॥ १४ ॥

अन्यत्राप्युक्तम्—

न ग्राह्याणि न देयानि, पञ्च द्रव्याणि पण्डितैः ।
अग्निर्विषं तथा शस्त्रं, मद्यं मांसं च पञ्चमम् ॥ १५ ॥
तो सो कुविउ व्व अरे, रे धिट्ठ ! निक्किट्ठ ! दुट्ठधम्मिट्ठ ! ।
बद्धुत्तराइँ पकुणसि, मह पुरओ विमल इय भणिउं ॥१६॥
उत्तासियसयलजणो, कसिणतणुं तह य वड्ढिउं लग्गो ।
जह तस्स किंचि भीयं, वउ वरिहुत्तं गयं गयणं ॥ १७ ॥
तह जंपइ विमलं पइ, रे पागकए महाग्गिमप्पेसु ।
जं भुक्खि उम्हि वाढं, इहरा ते नासिहं पाणे ॥ १८ ॥
इयरो वि भणइ जललव—चलाण पाणाण कारणा भद्द ! ।
को नाम पावभीरू, इय परिसपावमावहइ ॥ १९ ॥
अथिरेहिं थिरो समले-हि गयमलो परवसेहि साहीणो ।
पाणेहि जइ विढप्पइ, धम्मो ता किं न खलु पत्तं ॥ २० ॥
जं जाणसि तं पकुणसु, न उण निरत्थं करेमि पावमहं ।
ता सो संहरिय तणू , नियरूवं काउमाह तयं ॥ २१ ॥
विमल ! अइविमलगुणगण !,धन्नो सि तुमं तुमं चिय सपुन्नो ।
जं सक्को वि पसंसइ, तुह पयडं पावभीरुत्तं ॥ २२ ॥
सावज्जवयणवज्जण—पच्चलनिच्चलसुधम्मवरसुवरं ।
सो भणइ तए दिन्नं, दिंतेण सदंसणं सव्वं ॥ २३ ॥
वरदाणपरे अमरे, पुणो वि जंपइ इमो अहो भद्द ! ।
नियमणं अइगउणं, करेसु गुणिजणगुणग्गहणे ॥ २४ ॥
अह तम्मि अइनिरीहे, सप्पविसुच्छायणं मणिं सुमणो ।
बंधिय तदुत्तरीए, बलावि पत्तो सयं ठाणं ॥ २५ ॥
विमलो करेइ सद्दं, सह देवाईण ते वि तो पत्ता ।
पुच्छंति पहियचरियं, जहट्ठियं सोऽवि साहेइ ॥ २६ ॥
जिणमुणिसुमरणपुव्वं, ते भुत्तुं अह गया नयरमज्झे ।
ता तत्थ पुरे वणिए-हि आवणा लहु पिहिज्जंति ॥ २७ ॥
चउरंगबल पबलं, इओ तओ भमइ समरसज्जं वा ।
मालिज्जइ पायारो, दिव्वं ति य गोयरकवाडे ॥ २८ ॥
तं असरिच्छं पिच्छिय, विमलेण कोऽवि पुच्छिओ पुरिसो ।
भीयं पिव पुरमेयं, किं दीसइ भद्द ! सयलं पि ॥ २९ ॥
तो विमलसवणमूले, ठाऊण भणेइ सो वि जह इत्थ ।
बलिबंधुकरो पुरिसु—त्तमु व्व पुरिसुत्तमो राया ॥ ३० ॥
इक्को चिय से पुत्तो, अरिमल्लो नाम विजिय अरिमल्लो ।
सो अज्ज केलिभवणे, सुत्तो डसियो भुयंगेणं ॥ ३१ ॥
तप्पणइणीइ गाढं, पुक्करिए परियणेण मिलिएण ।
अइनिउणं पि गविट्ठो, न य दिट्ठो विसहरो दुट्ठो ॥ ३२ ॥
पत्तो निवो वि तहियं, मयं व कुमरं निए विरुत्तिगओ ।
मुच्छामउच्छ पवणा—इएहि जाओ पुणो पउणो ॥ ३३ ॥
किरियाओ ˘ बहुविहाओ, नरिंदविंदारएहिं विहियाओ ।
न य जाओ को वि गुणो, तत्तो भणियं निवेण इमं ॥ ३४ ॥
जइ कह वि किं पि कुमर—स्स मंगुलं जायए अमच्चवरा ! ।
तो मज्झ वि नणु सरणं, जलणो जालाभरियगयणो ॥ ३५ ॥
तो वुत्तो परिवारो, रुयंति अंतेउरी उ करुणसरं ।
सामंता वि विसन्ना, खलभलिओ सयलपुरलोओ ॥ ३६ ॥
अह दाविओ पडहओ, निवेण आउलमणेण इय नयरे ।
जो जीवावइ कुमरं, तस्स अहं देमि रज्जद्धं ॥ ३७ ॥
तं सुणिय भणइ विमलं, सहदेवो भाय ! कुणसु उवयारं ।
ओहलिय मणिं छंटसु, कुमरं जं जियइ लहु एसो ॥ ३८ ॥
गरुयं अहिगरणमिणं, बंधव ! को रज्जकारणे कुणइ ।
इय विमलेणं वुत्ते, सहदेवो भणइ भो भाय ! ॥ ३९ ॥
उज्जीविऊण कुमरं, अम्ह कुलस्स वि दलेसु दालिद्दं ।
कइय वि जीविओ किर, करिज्ज कुमरो वि जिणधम्मं ॥४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एमाइ तम्मि भणिरे, जा विमलो किं पि उत्तरइ ताव।
वेलं चलाउ इमिणा, गहियमणि छित्तश्रो पडहो ॥ ४१ ॥
नीओ कुमरसमीवे, मणिमोहलिऊण छंटिओ एसो।
सुत्तविउट्ठु व्व खणे-ण उट्ठिओ पुच्छइ नरिंदं ॥ ४२ ॥
किं ताय ! एस पुरिसो, अंबा अंतेउरी उ पुरलोओ।
सव्वो वि इत्थ मिलिओ, तो राया कहइ तं सव्वं ॥ ४३ ॥

हिट्ठेणं सहदेवो, रज्जद्धेणं निमंतिओ रन्ना।
सो आह देव जस्स-प्पभावओ जीविओ कुमरो ॥ ४४ ॥
सो मह भाया जिट्ठो, विमलो विमलासओ सपरिवारो।
चिट्ठइ चउहट्टे त-स्स देसु एयं इहाणेउं ॥ ४५ ॥
तो गच्छइ तत्थ निवो, सह सहदेवेण करिवरारूढो।
तं दट्ठु सुट्ठु उट्ठो, अवगूहि वि पभणए एवं ॥ ४६ ॥
भो विमल ! पुत्तभिक्खा, दिन्ना सुन्नासयस्स मज्झ तुए।
तो काऊण य सायं, लहु मह गिहमेहि देहि मुदं ॥ ४७ ॥

जह जह जंपइ तं पइ, राया वयणाइ पणयपउणाइं।
गुरु अहिगरणपवित्ती, तह तह सल्लइ विमलहियए ॥ ४८ ॥
पडिभणियं तेण नरिं-द अनयविसपसर हरणसु नरिंद !।
सहदेवविलसियमिणं, ता किज्जउ उचियमेयस्स ॥ ४९ ॥

आरोविओ गयवरे, सबंधवो नियगिहे इमो नीओ।
भणिओ य रज्जविसए, रन्ना पडिभणइ इय विमलो ॥ ५० ॥

इक्कं ता खरकम्मं, बीयं अइरित्तया परिगहस्स।
ता निव मह न हु कज्जं, रज्जेणमवज्जमूलेण ॥ ५१ ॥
अह स जिगीसं नाउं, सहदेवं तस्स निवइणा दिन्नं।
हयगयरहभडजणवय-पुरपमुहं पि भइउं सव्वं ॥ ५२ ॥

अप्पित्तो धवलहरं, सरं व कमलाउलं उदयकलियं।
विमलो पुण सिट्ठिपए, संठविओऽणिच्छमाणो वि ॥५३॥
नियजणयपमुहलोओ, समाणिओ तत्थ तेहि अह विमलो।
कुव्वंतो जिणधम्मं, सम्ममइक्कमइ बहुकालं ॥ ५४ ॥
सहदेवो उण रज्जे, रट्ठे विसएसु अइसयसय (ति) एहो।
अकरं करेइ बहुइ, पुव्वकरे दंडए लोयं ॥ ५५ ॥
वियरइ पाउवएसे, अहिगरणे कुणइ हणइ अरिदेसे।
असुहज्झाणोवगओ, कया वि विमलेण तो भणिओ ॥५६॥

करिकलहकन्नचवला-इरायकमलाइकारणा भाय !।
को पावेसु पवत्तइ, नियनियमधुरं विराहित्ता ॥ ५७ ॥
वरमनलम्मि पवेसो, फणिमुहकुहरे वरं करो खित्तो।
वरमसमामयपीडा, न हु विरइविराहणा भाय ! ॥ ५८ ॥
इय निसुणंतो जाओ, जलभरियघणु व्व कसिणवयणो सो।
विमलेण तओ मोणं, विहियमजोग्गु त्ति काऊणं ॥ ५९ ॥
जिणधम्मे विगयरई, विवन्नविरइप्फुरंत पावमई।
अइघणमणत्थदंडं, कुव्वंतो वंतसम्मत्तो ॥ ६० ॥
केण वि नरेण पुव्वं, विराहिएणं कया वि सहदेवो।
लहिउं छलं छुरीए, हणिओ पत्तो पढमपुढविं ॥ ६१ ॥

तयणुगुरुगाढरभवजल-निहिम्मिअइसहियदुसहदुहनिवहं।
कह कह वि लहिय नरज-म्मकम्महाणिउं गमी स सिवं ॥६२॥
अच्चंतपावभीरू, विमलो पुण पालिऊण गिहिधम्मं।
जाओ अमरो पवरो, महाविदेहम्मि सिज्झिहिइ ॥ ६३ ॥
इत्यवेत्य विमलस्य चेष्टितं, वेष्टितं न खलु कर्मकोटिभिः।
हे जना ! भवत पापभीरवो, धीरयोधिचरणव्यवस्थिताः ॥६४॥

इति विमलदृष्टान्तः समाप्तः। ध० र० १ अधि० ६ गुण। साकेते महाबलस्य राज्ञश्छत्रकरे, आव० ४ अ०। आ० चू०। क्षीरोदसमुद्रस्याधिपतौ देवे च। सू० प्र० १९ पाहु०।

विमलकूड–विमलकूट–न०। जम्बूद्वीपे सौमनसवक्षस्कारपर्वतस्य वत्साभिधानाधोलोकनिवासिदिक्कुमार्यावासभूते पञ्चमे कूटे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

विमलकुमार–विमलकुमार–पुं०। स्वनामख्याते विमलराजतनूजे, ध० र० १ अधि० १९ गुण। (विमलकुमारचरितं कृतज्ञतायामुदाहृतम् 'कयएणू' शब्दे तृतीयभागे ३४७ पृष्ठे।)

विमलगणि–विमलगणिन्–पुं०।अभयदेवसूरिशिष्ये,"प्रथमादर्शे लिखिता, विमलगणिप्रभृतिभिर्निजविनेयैः। कुर्वद्भिः श्रुतभक्तिं, दक्षैरधिकं विनीतैश्च ॥ १३ ॥" भ० ४१ श०। धर्मघोषसूरिशिष्ये, येन चन्द्रप्रभसूरिकृतदर्शनशुद्धिग्रन्थस्य टीका कृता। जै० इ०।

विमलगुत्त–विमलगुप्त–पुं०। विचित्रवेगनृपस्य व्रतग्राहके आचार्ये, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

विमलघोस–विमलघोष–पुं०। जम्बूद्वीपे भारतक्षेत्रे अतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते पञ्चमे कुलकरे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

विमलचंद–विमलचन्द्र–पुं०। विक्रमसमये चान्द्रकुले मानदेवसूरिशिष्य,'तस्माच्च विमलचन्द्रः, सद्हेमसिद्धिर्बभूव सूरिवरः'। ग०३ अधि०। बृहद्गच्छीयवादिदेवसूरिगुरुभ्रातरि प्रश्नोत्तरमालिकानामग्रन्थकर्तरि, अयमाचार्यः विक्रमे १२२६ संवत्सरे विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

विमलजस–विमलयशस्–पुं०। भारते वर्षे सुमङ्गलापतौ पुष्पचूडपितरि, ती० ४२ कल्प।

विमलणाह–विमलनाथ–पुं०। विमलतीर्थकरस्य प्रतिमायाम्, काम्पिल्ये गङ्गामूले सिंहपुरे च श्रीविमलनाथः। ती० ४३ कल्प।

विमलणाहत्थय–विमलनाथस्तव–पुं०। समन्तभद्रविरचिते श्रीविमलनाथस्तोत्रे, 'नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः। भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणताः हितैषिणम्' ॥१॥ स्था०२ ठा० ३ उ०।

विमलद्दि–विमलाद्रि–पुं०। शत्रुञ्जये, ती० १ कल्प।

विमलधी–विमलधी–त्रि०। विमलबुद्धौ, षो० ६ विव०।

विमलप्पभ–विमलप्रभ–पुं०। क्षीरोदसमुद्रदेवे,सू०प्र०१९पाहु।

विमलप्पभसूरि–विमलप्रभसूरि–पुं०।तपागच्छीये, सोमप्रभसूरिशिष्ये, ग० ३ अधि०।

विमलवर–विमलवर–न०। प्राणतदेवेन्द्रस्य नवमदेवलोकाधिपतेः पारियानिके विमाने, स्था० १० ठा० ३ उ०। विमलोत्तमे, 'विमलवरबद्धचिंधपट्टे' विमलवरो बद्धश्चिह्नपट्टो वरत्रादिमयो यैस्ते तथा। विपा० १ श्रु० २ अ०।

विमलवाहन–विमलवाहन–पुं०। अपरविदेहजवयस्यस्य मायिनः सम्प्रति हस्तित्वं प्राप्तस्य आभियोग्यतां गतस्य

१—भगवतीवृत्तिः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाहनीकरणात् लोके विमलवाहनेति नाम्ना प्रसिद्धः । भारतेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते, प्रथमे कुलकरे, आ० म० १ अ० । ति० । स्था० । स० । आ० चू० । ('कुलगर' शब्दे तृतीयभागे ५६३ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता ।)

विमलवाहणे णं कुलकरे सत्तविहा रुक्खा उवभोगत्ता-ए हव्वमागच्छिसु, तं जहा-"मत्तंगया य भिङ्गा, चित्तंगा चेव होंति चित्तरसा । मणियंगा य अणिअणा, सत्तमगा कप्परुक्खा य ॥ १ ॥" (सू० ५५६×)

तथा विमलवाहने प्रथमकुलकरे सति सप्तविधा इति पूर्वे दशविधा अभूवन् । 'रुक्ख' त्ति कल्पवृक्षाः । 'उवभोगत्ताए' त्ति उपभोग्यतया । 'हव्वं' शीघ्रमागतवन्तः, भोजनादिसंपादनेनोपभोगं तत्कालीनमनुष्याणामागता इत्यर्थः । 'मत्तंगया य' गाहा । 'मत्तंगया य' इति मत्त-मदस्तस्य कारणत्वान् मद्यमिह मत्तशब्देनोच्यते तस्याङ्गभूताः—कारणभूतास्तदेव वा अङ्गमवयवो येषां ते मत्ताङ्गकाः; सुखपेयमद्यदायिन इत्यर्थः । चकारः पूरणे । 'भिंग' त्ति संज्ञाशब्दत्वात् । भृङ्गारादिविविधभाजनसंपादका भृङ्गाः । 'चित्तंग' त्ति चित्रस्यानेकविधस्य माल्यस्य कारणत्वाच्चित्राङ्गाः । 'चित्तरस' त्ति चित्रा विचित्रा रसा मधुरादयो मनोहारिणो येभ्यः सकाशात्संपद्यन्ते ते चित्ररसाः 'मणियंग' त्ति मणीनामाभरणभूतानामङ्गभूताः कारणभूता मणयो वा अङ्गान्यवयवा येषां ते मण्यङ्गाः; भूषणसंपादका इत्यर्थः । 'अणियण' त्ति अनग्नकारकत्वादनग्ना विशिष्टवस्त्रदायिनः । संज्ञाशब्दो वाऽयमिति । 'कप्परुक्ख' त्ति उक्तव्यतिरिक्तसामान्यकल्पितफलदायित्वेन कल्पना-कल्पस्तत्प्रधाना वृक्षाः कल्पवृक्षा इति । स्था० ७ ठा० ३ उ० । कल्प० । आ० क० । जं० ।

विमलवाहणे णं कुलकरे नव धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था । (सू०-६६६) स्था० ६ ठा० ३ उ० । स० ।

गोशालस्योत्तरभवजीवे देवसेनापरपर्याये राजनि, (स च सुमङ्गलेनानगारेण तेजोदग्धो मृत इति 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०३१ पृष्ठे कथितम् ।) भरतक्षेत्रे, चम्पुदेशे चम्पुचूडनगरे चम्पुशेखरनरपतेरमात्यस्य चम्पुपथस्य भार्याया रतिकन्दल्याः पितरि श्रेष्ठिनि, दर्श० १ तत्त्व । भारते वर्षे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां जनिष्यमाणे पञ्चमे कुलकरे, स्था० १० ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे ऐरवते वर्षे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां जनिष्यमाणे प्रथमे कुलकरे, स० । तृतीयतीर्थंकरस्य संभवस्य पूर्वभवजीवे, स० । महापद्मापरनामके भारते वर्षे उत्सर्पिणीप्रथमतीर्थंकरे, स्था० ६ ठा०३ उ० । (अस्य 'उस्सप्पिणी' शब्दे द्वितीयभागे ११७१ पृष्ठे कथोक्ता) जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां जनिष्यमाणे दशमचक्रवर्तिनि, स० । कल्किनृपपुत्रदत्तवंश्ये अपश्चिमनरेन्द्रे, ति० । "राया य विमलवाहणो, सुमुहो नामेण तस्स य अमच्चो । इह दुसमाए काले, रायामच्चा अपच्छिमिमो" ।३६। ति० । "अस्याः पश्चिममुद्धारं, राजा विमलवाहनः । श्रीदुष्प्रभसूरीणा-मुपदेशाद् विधास्यति ॥१॥" ती० १ कल्प ।

विमलसूरि-विमलसूरि-पुं० । नागिलकुलीयविजयसेनसूरिशिष्ये, येन प्राकृतभाषानिबद्धं पद्मचरित्रं निर्ममे । अयमाचार्यः विक्रमीय६० संवत्सरे आसीत् , "पंचेव य वाससया,दुसमाए तीसवरिससंजुत्ता । वीरेहिं सिद्धिमुवगए, तओ निबद्धं चरियमेयं ॥१॥" इति तत्रत्योक्तेः । जै० इ० ।

विमलहरिस-विमलहर्ष-पुं० । स्वनामख्याते वाचके आचार्ये, यद्वंश्येन भावविजयवाचकेन विनयविजयविरचितकल्पसूत्रटीका सुबोधिका व्यशोधि । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

विमला-विमला-स्त्री० । वितिमिरत्वाद् उर्ध्वदिशि, स्था० १० ठा० ३ उ० । विशे० । सा च रुचकादूर्ध्वं विनिर्गता दिक् । आ० म० १ अ० । स्था० । भ० । धरणलोकपालकालस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । गीतरतेर्गन्धर्वस्याग्रमहिष्याम् , भ० १० श० ५ उ० । स्था० । पोतनपुरराजवज्रसिंहामात्यस्यात्यन्तवल्लभायां भार्यायां कमलस्य कुमारस्य मातरि, दर्श० १ तत्त्व । त्रयोदशस्य तीर्थंकरस्य निष्क्रमणशिबिकायाम् , स० ।

विमलाचल-विमलाचल-पुं० । विमलपर्वते, ती० १ कल्प । ('सत्तुंजय' शब्देऽस्य वक्तव्यतां वक्ष्यामि)

विमाण-विमान-न० । विविधं मन्यते उपभुज्यते पुण्यवद्भिर्जीवैरिति विमानम् । प्रज्ञा० १ पद । जी० । वैमानिकदेवावासविशेषे, स्था० २ ठा० ४ उ० । जी० । प्रश्न० । भ० । तानि च ज्योतिःसंबन्धीनि अनुत्तरविमानान्तानि विमानशब्देन गृह्यन्ते । दर्श० ४ तत्त्व । जी०।(ईशानविमानानां 'लोगपाल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७२२ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता ।)

सम्प्रति वैमानिकदेवानां विमानान्याह—

कहि णं भंते ! वेमाणियाणं देवाणं विमाणा पण्णत्ता ? । (सू० २०७+)

'कहि णं भंते ! वेमाणियाण'मित्यादि, क भदन्त ! वैमानिकानां देवानां विमानानि प्रज्ञप्तानि?(जी०)भगवानाह-गौतम ! अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद् रुचकोपलक्षिताददिति भावः, ऊर्ध्वं चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपाणामप्युपरि बहूनि योजनानि बहूनि योजनशतानि बहूनि योजनसहस्राणि बहूनि योजनशतसहस्राणि बह्वीर्योजनकोटीकोटीः ऊर्ध्वं दूरमुत्प्लुत्य—बुद्ध्या गत्वा , एतच्च सार्द्धरज्जूपलक्षणम् , तथा चोक्तम्—" सोहम्मम्मि दिवड्ढा , अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे । बंभम्मि अद्धपंचम , छ अच्चुए सत्त लोगंते ॥ १ ॥ " 'एत्थ ण' मित्यादि , 'अत्र' एतस्मिन् सार्द्धरज्जूपलक्षिते क्षेत्रे ईषत्प्राग्भारादर्वाक् सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकशुक्रसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतग्रैवेयकानुत्तरेषु स्थानेषु अत्र—एतस्मिन् वैमानिकानां चतुरशीतिर्विमानावासशतसहस्राणि सप्तनवतिः सहस्राणि त्रयोविंशतिर्विमानानि ८४९७०२३ भवन्तीत्याख्यातानि । इयं च संख्या—"बत्तीस अट्ठ वीसा,वारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा" इत्यादिसंख्यापरिमीलनेन भावनीया ॥ 'ते णं विमाणा '

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्यादि, तानि विमानानि सर्वरत्नमयानि ' अच्छा सरहा लरहा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा '। जी० ३ प्रति० १ उ०।

सौधर्मे विमानसंख्यामाह—

सोहम्मे कप्पे बत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा णं पण्णत्ता। (सू० ३२ ×) स० ३२ सम०।

सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु पढमे पत्थडे पडमावलियाए एगमेगाए दिसाए बासट्ठिं विमाणा पण्णत्ता। (सू० ६२ ×)

' सोहम्मी ' त्यादि तत्र सौधर्मेशानयोस्त्रयोदश विमानप्रस्तटा भवन्ति, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्द्वादश ब्रह्मलोके षट् , लान्तके पञ्च, शुक्रे चत्वारः, एवं सहस्रारे आनतप्राणतयोश्चत्वारः, एवमारणाच्युतयोः ग्रैवेयकेष्वधस्तनमध्यमोपरिमेषु त्रयः त्रयः, अनुत्तरेष्वेक इति द्विषष्टिस्ते भवन्ति । एतेषां च मध्यभागे प्रत्येकमुडुविमानादिकाः सर्वार्थसिद्धविमानान्ता वृत्तविमानरूपा द्विषष्टिरेव विमानेन्द्रका भवन्ति । तत्पार्श्वतश्च पूर्वादिषु दिक्षु त्र्यस्रचतुरस्रवृत्तविमानक्रमेण विमानानामावलिका भवन्ति । तदेवं सौधर्मेशानयोः कल्पयोः प्रथमे प्रस्तटे सर्वाधस्तन इत्यर्थः , ' पढमावलियाए ' त्ति प्रथमा—उत्तरोत्तरावलिकापेक्षया आद्याश्चतस्र आवलिका यस्मिन् स प्रथमावलिकाकस्तत्र , अथवा-प्रथमात्-मूलभूताद्विमानेन्द्रकादारभ्य याऽसावावलिका विमानानुपूर्वी तया, अथवोत्तरोत्तरावलिकापेक्षया एकैकस्यां दिशि या प्रथमा आद्याऽवलिका तस्याम् , ' पढमावलिय ' त्ति पाठान्तरे तु उत्तरोत्तरावलिकापेक्षया एकैकस्यां दिशि या प्रथमाऽऽवलिका सा द्विषष्टिर्द्विषष्टिप्रमाणेन प्रज्ञप्तेति , ' एगमेगाए ' त्ति उडुविमानाभिधानदेवेन्द्रकापेक्षया एकैकस्यां पूर्वादिकायां दिशि द्विषष्टिर्द्विषष्टिर्विमानानि प्रज्ञप्तानि, द्वितीयादिषु पुनः प्रस्तटेषु एकैकहान्या विमानानि भवन्ति यावद् द्विषष्टितमेऽनुत्तरसुरप्रस्तटे सर्वार्थसिद्धदेवेन्द्रकः पार्श्वे तदेकैकमेव भवतीति । स० ६२ सम०।

देवेन्द्रस्तवे पुष्पावकीर्णकानां सौधर्मादिविमानानां संख्या-

अउणाणउइसहस्सा, चउरासीइं च सयसहस्साइं ।
एगूणयं दिवड्ढं, सयं च पुप्फावकिण्णाणं ॥ २०८ ॥
सत्ते व सहस्साइं, सयाइँ बावत्तराइँ अट्ठ भवे ।
आवलियाइविमाणा, सेसा पुप्फावकिण्णाणं ॥ २०९ ॥
आवलियाइविमाणा, अंतरयं नियमसो असंखिज्जं ।
संखिज्जमसंखिज्जं, भणियं पुप्फावकिन्नाणं ॥ २१० ॥
॥ ११३५ ॥ द० प० ।

आरणे कप्पे दिवड्ढं, विमाणावाससयं पण्णत्ता, एवं अच्चुए वि। (सू० १५०) स० १५० सम०।

त्रिप्रतिष्ठितानि विमानानि—

तिपइट्ठिया विमाणा पण्णत्ता, तं जहा-घणोदहिपइट्ठिया घणवायपइट्ठिया उवासंतरपइट्ठिया। (सू० १८० ×)

प्रतिष्ठानसूत्रस्येयं विभजना (देवेन्द्रस्तवे)-"घणउदहिपइट्ठाणा,सुरभवणा होंति दोसु कप्पेसु । तिसु वाउपइट्ठाणा , तदुभयसुपइट्ठिया तीसु ॥ १८९ ॥ ११२७ ॥ तेण परं उवरिमगा, आगासंतरपइट्ठिया सव्वे ॥ (१९०) (११२८) " त्ति । स्था० ३ ठा० ३ उ०।

सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु विमाणपुढवी किं पइट्ठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! घणवायपइट्ठिया पण्णत्ता। बंभलोए णं भंते ! कप्पे विमाणपुढवी णं पुच्छा, गोयमा ! घणवायपइट्ठिया पण्णत्ता,लंतगे णं भंते ! पुच्छा,गोयमा ! तदुभयपइट्ठिया पण्णत्ता,महासुक्कसहस्सारेसु वि तउभयपइट्ठिया। आणय ०जाव अच्चुएसु णं भंते ! कप्पेसु पुच्छा, गोयमा ! उवासंतरपइट्ठिया पण्णत्ता, गेविज्जविमाणपुढवीणं पुच्छा, गोयमा ! उवासंतरपइट्ठिया पण्णत्ता, अणुत्तरोववाइयपुच्छा, गोयमा ! उवासंतरपइट्ठिया पण्णत्ता। (सू० २०९ +)

भदन्त ! सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोर्विमानपृथिवी किंप्रतिष्ठिता-कस्मिन् प्रतिष्ठिता किमाश्रया;किमाधारा इत्यर्थः प्रज्ञप्ता, भगवानाह गौतम ! घनोदधिप्रतिष्ठिता प्रज्ञप्ता, एवं सनत्कुमारमाहेन्द्रेषु घनवातप्रतिष्ठिता ब्रह्मलोकेऽपि घनवातप्रतिष्ठिता, लान्तके तदुभयप्रतिष्ठिता-घनोदधिघनवातप्रतिष्ठिता. महाशुक्रसहस्रारयोरपि तदुभयप्रतिष्ठिता, आनतप्राणतारणाच्युतेष्ववकाशान्तरप्रतिष्ठिता-आकाशप्रतिष्ठिता,एवं ग्रैवेयकविमानपृथिवी अनुत्तरविमानपृथिवी च।(उक्तं च-"घणउदहि०" इत्यादि अनुपदमेव) जी० ४ प्रति० ३ उ०। "दुसु तिसु तिसु कप्पेसु घणुदहिघणवायतदुभयं च कमा" इत्यत्र घनोदधिघनवाततदुभयानां तद्वलयानां च विष्कम्भादिप्रमाणं कियदस्ति, कुत्र चेति संदिहानोऽस्ति । तन्निर्णये च तत्रत्यभूमेरपि विष्कम्भायामादिनिर्णयो भवति? "दुसु तिसु तिकप्पेसु घणुदहिघणवायतदुभयं च कमा"। अत्र घनोदध्यादीनामष्टसु स्वर्गेषु विमानानामाधारतया आगमे प्रतिपादनं दृष्टमस्ति, न तु तेषां परिमाणवलयानि चाद्य यावद् दृष्टानि स्मृतिमायान्ति । ही० ३ प्रका०।

त्रिरवस्थितानि विमानानि—

तिविधा विमाणा पण्णत्ता, तं जहा-अवट्ठिता वेउव्विता पारिजाणिता। (सू० १८० +)

अवस्थितानि-शाश्वतानि वैक्रियाणि-भोगाद्यर्थं निष्पादितानि यतोऽभिहितं भगवत्याम्—"जाहे णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजिउकामे भवइ से कहमियाणि पकरेइ ?, गोयमा ! ताहे च णं से सक्के देविंदे देवराया एगं महं नेमिपडिरूवगं विउव्वइ" नेमिरिति चक्रधारा—दुद्धतविमानमित्यर्थः। "एगं जोयणसयहस्सं आयामविक्खंभेण" मित्यादि यावत् "पासायवडिंसए सयणिज्जे तत्थ णं से सक्के देविंदे देवराया अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं दोहि य अणीएहिं णट्टाणीएण गंधव्वाणीएण य सद्धिं महया णट्ट० जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ त्ति" परि-परियानं—तिर्यग्लोकावतरणादि तत्प्रयोजनं

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

येषां तानि पारियानिकानि—पालकपुष्पकादीनि वक्ष्यमाणानीति। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

सौधर्मेशानयोर्विमानपृथिवी—

सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणपुढवी किंपइट्ठिया पण्णत्ता?, गोयमा! घणोदधिपइट्ठिया पण्णत्ता। (सू० २०६+)

" सोहम्मीसाणेसु णं भंते!" इत्यादि सौधर्मेशानयोः, सूत्रे द्विवचनेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्। उक्तं च—" बहुवयणेण दुवयणं, छट्ठिविभत्तीएँ भन्नइ चउत्थी। जह हत्था तह पाया, नमोऽत्थु देवाहिदेवाणं" ॥ १ ॥ जी० ४ प्रति० ३ उ०। विमानानामन्तराले भूमिरस्ति न वा?, इत्यत्र सा नास्तीति विज्ञायते, यतो भगवत्यादौ नरकसत्काः सप्त ईषत्प्राग्भारा चैकेति अष्टैव पृथिव्य उक्ताः सन्ति। यदि स्वर्गेपि साऽभविष्यत् तदाऽधिकाऽपि उक्ताऽभविष्यदिति। ही० ३ प्रक०।

सोहम्मीसाणेसु बंभलोए य तिसु कप्पेसु चउसट्ठिं विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता। (सू० ६४ ×)

'सोहम्मी' त्यादि सौधर्मे द्वात्रिंशदीशानेऽष्टाविंशतिः, ब्रह्मलोके च चत्वारि विमानलक्षाणि भवन्तीति सर्वाणि चतुःषष्टिरिति, 'चउसट्ठिलट्ठिए' त्ति चतुःषष्टिर्यष्टीनां शरीराणां यस्मिन्नसौ चतुःषष्टियष्टिकः। स० ६४ सम०।

विमानानां बाहल्यमुच्चत्वं च—

सोहम्मीसाणकप्पेसु विमाणपुढवी केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ता?, गोयमा! सत्तावीसं जोयणसयाइं बाहल्लेणं पएणत्ता। एवं पुच्छा, सणंकुमारमाहिंदेसु छव्वीसं जोयणसयाइं। बंभलंतएसु पंचवीसं, महासुक्कसहस्सारेसु चउव्वीसं, आणयपाणयआरणच्चुएसु तेवीसं सयाइं गेविज्जविमाणपुढवी बावीसं, अणुत्तरविमाणपुढवी एकवीसं जोयणसयाइं बाहल्लेणं। (सू० २१० ×)

'सोहम्मीसाणेसु णमि' त्यादि सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानपृथिवी कियत्—किंप्रमाणा बाहल्येन प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! सप्तविंशतियोजनशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्ता। एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः षड्विंशतिर्योजनशतानि वक्तव्यानि। ब्रह्मलोकलान्तकयोः पञ्चविंशतिः, महाशुक्रसहस्रारयोश्चतुर्विंशतिः, आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु त्रयोविंशतिः, ग्रैवेयकेषु द्वाविंशतिः, अनुत्तरविमानेषु एकविंशतिर्योजनशतानि।

संप्रति विमानानामुच्चैस्त्वपरिमाणं प्रतिपिपादयिषुराह—

सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणा केवतियं उड्ढं उच्चत्तेणं?, गोयमा! पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं। (सू० २११ +)

'सोहम्मीसाणेसु णमि' त्यादि इह विमानं महानगरकल्पं तस्य चोपरि वनखण्डप्राकारप्रासादादयस्तत्र पूर्वेण सूत्रकदम्बकेन विमानपृथिवीबाहल्यमुक्तम्, अनेन प्रासादापेक्षया उच्चत्वमुच्यते इति गर्भः। सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कियत उर्द्धमुच्चैस्त्वेन प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह-गौतम! पञ्च योजनशतानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन प्रज्ञप्तानि मूलप्रसादादीनां तत्र पञ्चयोजनशतोच्छ्रयप्रमाणत्वात् एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि।

सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः—

सणंकुमारमाहिंदेसु छ जोयणसयाइं। (सू० २११×)

सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः षट् योजनशतानि वक्तव्यानि। जी० ३ प्रति० १ उ०। स्था०।

ब्रह्मलोकलान्तकयोः—

बंभलंतएसु सत्त। (सू० २११×)

ब्रह्मलोकलान्तकयोः सप्त योजनशतानि। जी० ३ प्रति० १ उ०।

महाशुक्रसहस्रारयोः—

महासुक्कसहस्सारेसु दोसु कप्पेसु विमाणा अट्ठ जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता। (सू० १११×) स०८००सम०।

आणयपाणयआरणऽच्चुएसु कप्पेसु विमाणा नव जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता। (सू० २११×)

ग्रैवेयकेषु—

गेविज्जगविमाणाणं भंते! केवइयं उड्ढं उच्चत्तेणं?, गोयमा! दस जोयणसयाइं। (सू० २११×)

ग्रैवेयकेषु दश योजनशतानि।

अनुत्तरविमानेषु—

अणुत्तरविमाणाणं एक्कारस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं। (सू० २११×)

अनुत्तरेष्वेकादश योजनशतानि सर्वत्रापि विमानानि बाहल्योच्चत्वमीलनेन च द्वात्रिंशत् योजनशतानि उपर्युपरि बाहल्येनोच्चैस्त्वस्य वृद्धेर्भावात्, उक्तं च—

" सत्तावीससयाइं, आदिमकप्पेसु पुढविबाहल्लं।
एक्केक्कहाणिसेसे, दुदुगेण दुगे चउक्के य।
पंचसु उच्चत्तेणं, आइमकप्पेसु होंति य विमाणा।
एक्केक्कवुड्ढिसेसे, दुदुगे य दुगे चउक्के य।
गेविज्जणुत्तरेसुं, एसेव कमो उ वुड्ढिहाणीए।
एक्कक्कम्मि विमाणा, दोन्नि वि मिलिया उ बत्तीसं ॥ ३ ॥

जी० ३ प्रति० १ उ०। स०।

अनुत्तरोपपातिकेषु—

अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं विमाणा एक्कारस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता। (सू०११३×) स०११००सम०।

संस्थानमाह—

सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणा किंसंठिता पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आवलियापविट्ठा य, बाहिरा य। तत्थ णं जे ते आवलियापविट्ठा ते ति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विहा पण्णत्ता। तं जहा-वट्टा तंसा चउरंसा। तत्थ णं जे ते आवलियबाहिरा ते णं णाणासंठाणसंठिता पएणत्ता, एवं ०जाव गेवेज्जविमाणा। अणुत्तरोववाइयविमाणा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—वट्टे य तंसा य। (सू० २१२)

'सोहम्मीसाणेसु णं भंते' इत्यादि सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि किंसंस्थितानि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आवलिकाप्रविष्टानि आवलिकाबाह्यानि च। तत्रावलिकाप्रविष्टानि नामयानि पूर्वादिषु चतसृषु दिक्षु श्रेण्या व्यवस्थितानि, यानि पुनरावलिकाप्रविष्टानां प्राङ्गणप्रदेशे कुसुमप्रकर इव यतस्ततो विप्रकीर्णानि तान्यावलिकाबाह्यानि तानि पुष्पावकीर्णानीत्युच्यन्ते, पुष्पाणीव इतस्ततोऽवकीर्णानि—विप्रकीर्णानि पुष्पावकीर्णानि इति व्युत्पत्तिः, तानि च मध्यवर्तिनो विमानेन्द्रस्य दक्षिणतोऽपरत उत्तरतश्च विद्यन्ते न तु पूर्वस्यां दिशि। उक्तं च—'पुप्फावकिन्नगा पुण, दाहिणतो पच्छिमेण उत्तरतो। पुव्वेण विमाणिंद—स्स नत्थि पुप्फावकिन्ना उ॥ १॥' 'तत्थ णमि' त्यादि, तत्रावलिकाप्रविष्टावलिकाबाह्येषु मध्ये यानि तानि आवलिकाप्रविष्टानि तानि त्रिविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वृत्तानि त्र्यस्राणि चतुरस्राणि। इहावलिकाप्रविष्टानि प्रतिप्रस्तटं विमानेन्द्रकस्य पूर्वदक्षिणापरोत्तररूपासु चतसृषु दिक्षु श्रेण्या व्यवस्थितानि, विमानेन्द्रकश्च सर्वोऽपि वृत्तस्ततः पार्श्ववर्तीनि चतसृष्वपि दिक्षु त्र्यस्राणि तेषां पृष्ठतश्चतसृष्वपि दिक्षु चतुरस्राणि तेषां पृष्ठतो वृत्तानि, ततोऽपि—भूयोऽपि त्र्यस्राणि ततोऽपि चतुरस्राणि, इत्येवमावलिकापर्यन्तस्तत्र त्रिविधान्येवावलिकाप्रविष्टानि। 'तत्थ णमि' त्यादि, तत्र यान्यावलिकाबाह्यानि तानि नानासंस्थानसंस्थितानि प्रज्ञप्तानि, तथाहि—कानिचिन्नन्द्यावर्ताकाराणि, कानिचित्स्वस्तिकाकाराणि, कानिचिद् खड्गाकाराणीत्यादि। उक्तं च—"आवलियासु विमाणा, वट्टा तंसा तहेव चउरंसा। पुप्फावकिन्नगा पुण, अणेगविहरूवसंठाणा॥ १॥" एवं तावद्वाच्यं यावद् ग्रैवेयकविमानानि तान्येव यावदावलिकाप्रविष्टानामावलिकाबाह्यानां च भावात्, परत आवलिकाप्रविष्टान्येव, तथा चाह—'अणुत्तरविमाणा णं भंते! विमाणा किंसंठिया पन्नत्ता' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-गौतम! द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—'वट्टे य तंसा य' मध्यवर्तिसर्वार्थसिद्धाख्यं विमानं वृत्तं, शेषाणि विजयादीनि चत्वार्यपि त्र्यस्राणि। उक्तं च—'एगं वट्टं तंसा,चउरो य अणुत्तरविमाणा'। जी० ३ प्रति० १ उ०। भ०

त्रिसंस्थितानि विमानानि—

तिसंठिया विमाणा पण्णत्ता, तंजहा-वट्टा तंसा चउरंसा। तत्थ णं जे तं वट्टा विमाणा ते णं पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिया सव्वओ समंता पागारपरिक्खित्ता एगदुवारा पन्नत्ता। तत्थ णं जे ते तंसा विमाणा ते सिंघाडगसंठाणसंठिया दुहओ पागारपरिक्खित्ता एगओ वेइयापरिक्खित्ता तिदुवारा पण्णत्ता। तत्थ णं जे ते चउरंसविमाणा ते णं अक्खाडगसंठाणसंठिया सव्वओ समंता वेइयापरिक्खित्ता चउदुवारा पन्नत्ता। (सू० १८० ×)

'तिसंठिए' त्यादि, सूत्रत्रयं स्फुटमेव, केवलं त्रीणि संस्थितानि—संस्थानानि येषां तानि, त्रिभिर्वा प्रकारैः संस्थितानि त्रिसंस्थितानि। 'तत्थ णं' ति तेषु मध्ये 'पुक्खरकण्णिए' त्ति पुष्करकर्णिका—पद्ममध्यभागः, सा हि वृत्ता समोपरिभागा च भवति। सर्वत इति-दिक्षु समन्तादिति-विदिक्षु 'सिंघाडगं' ति त्रिकोणो जलजफलविशेषः, एकतः-एकस्यां दिशि यस्यां वृत्तविमानमित्यर्थः 'अक्खाडगो' चतुरस्रः प्रतीत एव, वेदिका-मुण्डप्राकारलक्षणा, एतानि चैवंक्रमाण्येवावलिकाप्रविष्टानि भवन्ति, पुष्पावकीर्णानि त्वन्यथाऽपीति। भवन्ति चात्र गाथाः—

"सव्वेसु पत्थडेसुं, मज्झे वट्टं अणंतरे तंसं।
पयंतर चउरंसं, पुणो वि वट्टं पुणो तंसं॥ १॥
वट्टं वट्टस्सुवरिं, तंसं तंसस्स उप्पिरं होइ।
चउरंसे चउरंसं, उड्ढं तु विमाणसेढीओ॥ २॥
वट्टं च वलयगं पिव, तंसं सिंघाडगं पिव विमाणं।
चउरंसविमाणं पिय, अक्खाडगसंठियं भणियं॥ ३॥
सव्वे वट्टविमाणा, एगदुवारा हवन्ति विन्नेया।
तिन्नि य तंसविमाणे, चत्तारि य होंति चउरंसे॥ ४॥
पागारपरिक्खित्ता, वट्टविमाणा हवंति सव्वे वि।
चउरंसविमाणाणं चउद्दिसिं वेइया होइ॥ ५॥
जत्तो वट्टविमाणं, तत्तो तंसस्स वेइया होइ।
पागारो बोधव्वो, अवसेसेहिं तु पासेहिं॥ ६॥
आवलियासु विमाणा, वट्टा तंसा तहेव चउरंसा।
पुप्फावगिन्नया पुण, अणेगविहरूवसंठाणा॥ ७॥"

स्था० ३ ठा० ३ उ०।

अधुना त्वायामविष्कम्भादिपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणा केवतियं आयामविक्खंभेणं, केवतियं परिक्खेवेणं पएणत्ता?, गोयमा! दुविहा पएणत्ता, तं जहा-संखेज्जवित्थडा य असंखेज्जवित्थडा य। जहा नरगा तहा ० जाव अणुत्तरोववातिया संखेज्जवित्थडा य असंखेज्जवित्थडा य। तत्थ णं जे से संखेज्जवित्थडे से जंबुदीवप्पमाणे, तत्थ जे से असंखेज्जवित्थडा असंखेज्जाइं जोयणसयाइं ०जाव परिक्खेवेणं पएणत्ता। (सू० २१३ ×)

'सोहम्मीसाणेसु णं भंते!' इत्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कियदायामविष्कम्भेन कियत् परिक्षेपेण प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! द्विविधानि विमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—संख्येयविस्तृतानि, असंख्येयविस्तृतानि च। तत्र यानि तानि संख्येयविस्तृतानि संख्येयानि योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भेन संख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण, तत्र यानि तानि असंख्येयविस्तृतानि असंख्येयानि योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भेन असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण, एवं तावत् वाच्यं यावत् ग्रैवेयकविमानानि तानि यावत् संख्येयविस्तृतानामसंख्येयविस्तृतानां च वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हल्येन भावात् नतु परतः। तथा चाह—'अणुत्तरविमाणे णं भंते! केवइयं आयामविक्खंभेणमि' त्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-संख्येयविस्तृतानि असंख्येयविस्तृतानि च। सर्वार्थसिद्धं संख्येयविस्तृतं शेषाण्यसंख्येयविस्तृतानीति भावः। तत्र यत्तत् संख्येयविस्तृतं तत् एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेन त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे शते सप्तविंशत्यधिके योजनानां क्रोशत्रिकमष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलानि एकमर्द्धाङ्गुलमिति परिक्षेपेण, तत्र यानि तानि असंख्येयविस्तृतानि तानि असंख्येयानि योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भेन असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तानि। जी० ३ प्रति० १ उ०।

संप्रति वर्णप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणेसु णं भंते! विमाणा कतिवण्णा पण्णत्ता?, गोयमा! पंचवण्णा पण्णत्ता, तं जहा-किण्हा नीला लोहिया हालिद्दा सुकिल्ला। (सू० २१२ +)

'सोहम्मीसाणेसु णं भंते!' इत्यादि सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कतिवर्णानि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह-गौतम! पञ्चवर्णानि, तद्यथा—कृष्णानि नीलानि लोहितानि हारिद्राणि शुक्लानि, एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि।

सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः—

सणंकुमारमाहिंदेसु चउवण्णा नीला० जाव सुकिल्ला। (सू० २१३ +)

नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोश्चतुर्वर्णानि कृष्णवर्णाभावात्। जी० ३ प्रति० १ उ०।

सणंकुमारमाहिंदेसु णं कप्पेसु विमाणा चउवण्णा पण्णत्ता, तं जहा-णीला लोहिया हालिद्दा सुकिल्ला। (सू० ३७५×)

'सणंकुमारे' त्यादिका द्विसूत्री सुगमा चेयं, नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोश्चतुर्वर्णानि कल्पान्तरेषु त्वन्यथा, तदुक्तम्—"सोहम्मि पंचवण्णा, एक्कगहाणी उ जा सहस्सारे। दो दो तुल्ला कप्पा, तेण परं पुंडरीयाओ॥१॥" द्वयोर्द्वयोः कल्पयोर्वर्णस्य हानिः कार्येत्यर्थः। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

बंभलोगलंतएसु वि तिवण्णा लोहिया० जाव सुकिल्ला, (सू० २१३ +)

ब्रह्मलोकलान्तयोस्त्रिवर्णानि कृष्णनीलवर्णाभावात्। जी० ३ प्रति० १ उ०।

महासुक्कसहस्सारेसु णं कप्पेसु विमाणा दुवण्णा पन्नत्ता, तं जहा-हालिद्दा य सुकिल्ला य। आणयपाणतारणच्चुएसु सुकिल्ला, गेविज्जविमाणा सुकिल्ला, अणुत्तरोववातियविमाणा परमसुकिल्ला वण्णेणं पण्णत्ता। (सू० २१३ +)

महाशुक्रसहस्रारयोर्द्विवर्णानि कृष्णनीलहारिद्रवर्णाभावात्, आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु एकवर्णानि, शुक्लवर्णस्यैकस्य भावात्, ग्रैवेयकविमानानि अनुत्तरविमानानि च परमशुक्लानि। उक्तञ्च—"सोहम्मि पंचवण्णा, एक्कगहीणा उ जा सहस्सारे। दो दो तुल्ला कप्पा, तेण परं पुंडरीया (ओ) इं॥१॥" जी० ३ प्रति० १ उ०।

संप्रति प्रभाप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणा केरिसयाए पभाए पण्णत्ता?, गोयमा! णिच्चालोया णिच्चुज्जोया सयंपभाए पभाए पण्णत्ता, जाव० अणुत्तरोववातियविमाणा णिच्चालोया णिच्चुज्जोया सयंपभाए पण्णत्ता। (सू० २१३×)।

सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कीदृशानि प्रभया प्रज्ञप्तानि कीदृशी तेषां प्रभा प्रज्ञप्तेति भावः। भगवानाह—गौतम! प्रभया प्रज्ञप्तानि-नित्यालोकानि नित्यमालोको-दर्शनं दृश्यमानता येषां तानि नित्यालोकानि न तु जातुचिदपि तमसाऽऽश्रियन्त इति भावः। कथं नित्यालोकानि इति हेतुद्वारेण विशेषणमाह—नित्योद्योतानि निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति हेतौ प्रथमा, ततोऽयमर्थः-यस्मान्नित्यं सततमप्रतिघमुद्योतो दीप्यमनता येषां तानि नित्योद्योतानि,तथा ततो नित्यालोकानि, सततमुद्योतमानता च परसापेक्षाऽपि सम्भाव्यते यथा मेरोः स्फटिककाण्डस्य सूर्यरश्मिसंपर्कतस्तत आह—स्वयंप्रभाणि, स्वयं सूर्यादिप्रभावत् देदीप्यमानता येषां तानि तथा, एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरविमानानि।

सम्प्रति गन्धप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणा केरिसया गन्धेणं पण्णत्ता?, गोयमा! से जहानामए कोट्ठपुडाण वा० जाव गंधेणं पण्णत्ता, एवं ०जाव एत्तो इट्ठतरगा चेव ०जाव अणुत्तरविमाणा। (सू० २१३×)

'सोहम्मीसाणेसु णं भंते!' इत्यादि सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कीदृशानि गन्धेन प्रज्ञप्तानि? भगवानाह-गौतम! "से जहानामए कोट्ठपुडाण वा चंपगपुडाण वा दमणगपुडाण वा कुंकुमपुडाण वा चंदणपुडाण वा उसीरपुडाण वा मरुयापुडाण वा जाईपुडाण वा जूहियापुडाण वा मल्लियापुडाण वा ण्हाणमल्लियापुडाण वा केयइपुडाण वा पाडलिपुडाण वा नोमालियापुडाण वा वासपुडाण वा कप्पूरपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण वा कुट्टिज्जमाणाण वा रुविज्जमाणाण वा उक्कीरिज्जमाणाण वा विक्खरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा परिभाइज्जमाणाण वा भंडाओ वा भंडं साहरिज्जमाणाण वा ओराला मणुण्णा मणहरा घाणमणनिव्वुइकरा सव्वतो समंता गन्धा अभिनिस्सवंति भवे एयारूवे सिया नो इणट्ठे समट्ठे। ते णं विमाणा एत्तो इट्ठतरा चेव कंततरा चेव मणुण्णतरा चेव मणामतरा चेव गंधेणं पण्णत्ता"। अस्य व्याख्या पूर्ववत्। एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरविमानानि। जी० ३ प्रति० १ उ०।

स्पर्शप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणेसु विमाणा केरिसया फासेणं पण्णत्ता, से जहानामए आइणेति वा रूतेति वा सव्वो फासो भाणियव्वो ० जाव अणुत्तरोववातियविमाणा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सौधर्मैशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्विमानानि कीदृशानि स्पर्शेन प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह-गौतम ! " से जहानामए अइणेइ वा रूवइ वा बूरेइ वा नवणीएइ वा हंसगब्भतुलीइ वा सिरीसकुसुमनिचए वा पवालकुसुमपत्तरासीइ वा भवे एयारूवे ?, नो इणट्ठे समट्ठे। तेणं विमाणा इत्तो इट्ठतरा चेव कंततरा चेव मणुण्णतरा चेव मणामतरा चेव फासेणं पण्णत्ता" इति पूर्ववत् एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरविमानानि।

महत्त्वप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! (कप्पेसु) विमाणा केमहालिया पण्णत्ता ? गोयमा ! अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सो चेव गमो० जाव छम्मासे वीइवएज्जा० जाव अत्थेगइया विमाणावासा वीइवएज्जा, अत्थेगइया मिवाणावासा नो वीइवएज्जा०जाव अणुत्तरोववातियविमाणा अत्थेगतियं विमाणं वीइवएज्जा अत्थेगतिया नो वीइवएज्जा। (सू०२१२+)

'सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु' इत्यादि सौधर्मैशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्विमानानि किंमहान्ति-किंप्रमाणमहत्त्वानि प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह-'गौतम ! अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे' इत्यादि, जम्बूद्वीपवाक्यं परिपूर्णमेवं द्रष्टव्यम्। "सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भन्तराए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूयसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्सा दो य सया सत्तावीसा तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं धणुसयं तेरह अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पन्नत्ते " इदं च पूर्ववत् भावनीयम्। देवो नाम महर्द्धिको यावन्महानुभावः, यावत्करणान्महाद्युतिरित्यादिपरिग्रहः। 'जाव इणामेवे' ति यावदिदानीमेव अनेन चप्पुटिकात्रयानुकरणपुरस्सरमत्यन्तं कालस्तोकत इति कृत्वा केवलकल्पं परिपूर्णं जम्बूद्वीपं द्वीपं त्रिभिरप्सरोनिपातैस्त्रिभिश्चप्पुटिकाभिरित्यर्थः। त्रिःसप्तकृत्व एकविंशतिवारान् अनुपरिवर्त्य प्रादक्षिण्येन परिभ्रम्य 'हव्वं'-शीघ्रमागच्छेत्। 'से णं देवे' इत्यादि सदेवस्तया सकलदेवजनप्रसिद्धया पूर्वदृष्टान्तभावितया उत्कृष्टया अतिशायिन्या 'तुरियाए चवलाए चंडाए सिग्घाए उद्धुयाए जवणाए छेयाए' अमीषां पदानां व्याख्यानं पूर्ववत्। दिव्यया देवगत्या व्यतिव्रजन् यावदेकाहं वा द्व्यहं वा उत्कर्षतः षण्मासान् व्यतिव्रजेत्। तत्रास्त्येककं विमानं यत् व्यतिव्रजेत्, अस्त्येककं विमानं यत् न व्यतिव्रजेत्। 'एवं महालियाणं' ति एतावन्ति महान्ति गौतम ! विमानानि प्रज्ञप्तानि, एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरविमानानि।

सौधर्मैशानयोर्विमानानि किम्मयानि।

सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! विमाणा किम्मया पण्णत्ता ?, गोयमा ! सव्वरयणामया पण्णत्ता, तत्थ णं बहवे जीवा य पोग्गला य वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उवचयंति सासया णं ते विमाणे दव्वट्ठयाए ०जाव फासपज्जवेहिं असासया० जाव अणुत्तरोववाइया विमाणा। (सू० २१३ ×)

सोहम्मीसाणेसु ण ' मित्यादि सौधर्मैशानयोर्भदन्त !, कल्पयोर्विमानानि किम्मयानि प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह-गौतम ! सर्वात्मना रत्नमयानि अच्छानि यावत्प्रतिरूपाणि'तत्थ ण' मित्यादि, तत्र तेषु विमानेषु बहवो जीवा पृथिवीकायरूपाः पुद्गलाश्चापक्रामन्ति-गच्छन्ति व्युत्क्रामन्ति-उत्पद्यन्ते। तथा चीयन्ते-चयमुपगच्छन्ति, उपचीयन्ते-उपचयमुपगच्छन्ति। एतत्पुद्गलापेक्षं विशेषणं पुद्गलानामेवं चयोपचयधर्मकत्वात्। शाश्वतानि भदन्त ! विमानानि द्रव्यार्थतया प्रज्ञप्तानि, वर्णपर्यायै रसपर्यायैर्गन्धपर्यायैः स्पर्शपर्यायैरशाश्वतानि प्रज्ञप्तानि। एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरविमानानि। जी० ३ प्रति० १ उ०।

शक्रेशानविमानानां नीचोन्नतत्वम्—

सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरन्नो विमाणेहिंतो ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो विमाणा ईसिं उच्चयरा चेव ईसिं उन्नयतरा चेव। ईसाणस्स वा देविंदस्स देवरन्नो विमाणेहिंतो सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो विमाणा णीययरा चेव ईसिं निन्नयरा चेव ?, हंता ? गोयमा ! सक्कस्स तं चेव सव्वं नेयव्वं। से केणट्ठेणं ?, गोयमा ! से जहानामए-करयले सिया देसे उच्चे देसे उन्नए देसे णीए देसे निन्ने से तेणट्ठेणं। (सू० १२३×)

'उच्चतरा चेव' त्ति उच्चत्वं प्रमाणतः 'उन्नयतरा चेव' त्ति उन्नतत्वं गुणतः, अथवा उच्चत्वं प्रासादापेक्षम्, उन्नतत्वं तु प्रासादपीठापेक्षामिति। यच्चोच्यते-' पंचस उच्चत्तेणं, आइमकप्पेसु हौंति उ विमाण ' त्ति तत्परिस्थूलन्यायमङ्गीकृत्यावसेयं, तेन किंचिदुच्चतरत्वेऽपि तेषां न विरोध इति। 'देसे उच्चे देसे उन्नए ' त्ति प्रमाणतो गुणतश्चेति। (ज्यौतिषिकाणां स्थानानि 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १७०७ पृष्ठे दर्शितानि।)

चन्द्रविमानम्—

चंदविमाणे णं भंते ! किंसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! अद्धकविट्ठगसंठाणसंठिते सव्वफालितामए अब्भुग्गतभूसितपहसिते वण्णओ, एवं सूरविमाणे वि नक्खत्तविमाणे वि ताराविमाणे वि सव्वे अद्धकविट्ठसंठाणसंठिते। चंदविमाणे णं भंते ! केवतियं आयामविक्खंभेणं ? केवतियं परिक्खेवेणं ? केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! छप्पन्ने एगसट्ठिभागे जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अट्ठावीसं एगसट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं पण्णत्ते। सूरविमाणस्स वि सच्चेव पुच्छा, गोयमा ! अडयालीसं एगसट्ठिभागे जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं चउव्वीसं एगसट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं पन्नत्ते। एवं गहविमाणे वि अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं सविसेसं परिक्खेवे कोसं बाहल्लेणं। णक्खत्तविमाणे णं कोसं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सविसेसं परिक्खेवेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं पण्णत्ते, ताराविमाणे णं अद्धकोसं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं पंचधणुसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। (सू० १९७)

'चंदविमाणे णं भंते!' इत्यादि, चन्द्रविमानं भदन्त! किंसंस्थितं' किमिव संस्थितं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह-गौतम! 'अर्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितम्' उत्तानीकृतमर्द्धकपित्थं तस्येव यत् संस्थानं तेन संस्थितमर्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितम्। आह-यदि चन्द्रविमानमुत्तानीकृतार्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितं तत उदयकालेऽस्तमयकाले वा यदि वा तिर्यक्परिभ्रमत् पौर्णमास्यां कस्मात्तदर्द्धकपित्थफलाकारं नोपलभ्यते?, कामं शिरस उपरि वर्त्तमानं वर्तुलमुपलभ्यते, अर्द्धकपित्थस्य शिरस उपरि दूरमवस्थापितस्य परभागादर्शनतो वर्त्तुलतया दृश्यमानत्वात्, उच्यते—इहार्द्धकपित्थफलाकारं चन्द्रविमानं न सामस्त्येन प्रतिपत्तव्यं; किन्तु तस्य विमानस्य पीठं, तस्य च पीठस्योपरि चन्द्रदेवस्य ज्योतिश्चक्रराजस्य प्रासादः, स च प्रासादस्तथा कथञ्चनापि व्यवस्थितो यथा पीठेन सह भूयान् वर्त्तुल आकारो भवति, स च दूरभावादेकान्ततः समवृत्ततया जनानां प्रतिभासते ततो न कश्चिद्दोषः। नचैतत् स्वमनीषिकाया विजृम्भितम्, यत एतदेव जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणेन विशेषणवत्यामाक्षेपपुरस्सरमुक्तम्-"अद्धकविट्ठागारा, उदयत्थमणम्मि कह न दीसंति। ससिसूराण विमाणा, तिरियक्खेत्ते ठियाणं च?॥१॥ उत्ताणद्धकविट्ठा-गारं पीढं तदुवरि च पासाओ। वट्टालेखेण ततो, समवट्टं दूरभावातो॥२॥" तथा सर्वं निरवशेषं स्फटिकविशेषमणिमयं तथाऽभ्युद्गता-आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृताः प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा तया सितम् अभ्युद्गतोत्सृतप्रभासितम्। यावत्करणात्-'विविहमणिरयणभत्तिचित्ते वा उद्धूयविजयवेजयन्तीपडागच्छत्तातिछत्तकलिये तुंगे गगणतलमणुलिहंतसिहरे जालंतररयणपंजलोम्मीलियमणिकणगथूभियागे वियसियसयवत्तपुंडरीयतिलगरयणद्धचंदचित्ते अंतो बहिं च सण्हे तवणिज्जवालुयापत्थडे सुहफासे सस्सिरीयरूवे पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे' इति, तत्र विविधा-अनेकप्रकारा मणयः चन्द्रकान्तादयो रत्नानि च कर्केतनादीनि तेषां भक्तयो—विच्छित्तिविशेषास्ताभिश्चित्रम्-अनेकरूपवद् आश्चर्यवद्वा विविधमणिरत्नभक्तिचित्रं, तथा वातोद्धूता-वायुकम्पिता विजयः-अभ्युदयस्तत्संसूचिका वैजयन्त्यभिधानाः पताका विजयवैजयन्त्यः, अथवा-विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते, तत्प्रधाना-वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः पताकास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः छत्रातिच्छत्राणि—उपर्युपरिस्थितातपत्राणि तैः कलितं वातोद्धूतविजयवैजयन्तीपताकाकलितं तुङ्गम्-उच्चम् अत एव 'गगणतलमणुलिहंतसिहरं' गगनतलमनुलिखद्-अभिलङ्घयद् गगनतलानुलिखच्छिखरं, तथा जालानि-जालकानि तानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि तदनन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि यत्र तज्जालान्तररत्नम्। सूत्रे चात्र प्रथमैकवचनलोपो द्रष्टव्यः। तथा पञ्जराद् उन्मीलितमिव-बहिष्कृतमिव पञ्जरोन्मीलितमिव, यथाहि-किल किमपि वस्तुपञ्जराद्-वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायत्वात् शोभते; तथा तदपि विमानमिति भावः, तथा मणिकनकानां सम्बन्धिनी स्तूपिका शिखरं यस्य तत् मणिकनकस्तूपिकाकं, तथा विकसितानि यानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च द्वारादौ प्रतिकृतित्वेन स्थितानि तिलकाश्च—भित्त्यादिषु पुण्ड्राणि रत्नमयाश्चार्द्धचन्द्रा द्वारादिषु तैश्चित्रं विकसितशतपत्रपुण्डरीकतिलकरत्नार्द्धचन्द्रचित्रम्, 'अंतो बहिं च सण्हे' इत्यादि अञ्जनपर्वतोपरिसिद्धायतनद्वारवत्, 'एवं सूरविमाणे वि' इत्यादि, एवं चन्द्रविमानमिव सूर्यविमानमपि वक्तव्यं; ग्रहविमानमपि नक्षत्रविमानमपि ताराविमानमपि, ज्योतिर्विमानानां प्राय एकरूपत्वात्। 'चंदविमाणे णं भंते!' इत्यादि चन्द्रविमानं भदन्त! कियदायामविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण कियद्बाहल्येन प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह-गौतम! षट्पञ्चाशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यायामविष्कम्भेन, तदेवायामविष्कम्भमानं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण, अष्टाविंशतिमेकषष्टिभागान् योजनस्य बाहल्येन प्रज्ञप्तम्। 'सूरविमाणे णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, भगवानाह-गौतम! अष्टचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यायामविष्कम्भेन, तदेवायामविष्कम्भमानं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण, चतुर्विंशतिमेकषष्टिभागान् योजनस्य बाहल्येन। 'गहविमाणे णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं तथैव, भगवानाह-गौतम! अर्द्धयोजनमायामविष्कम्भेन तदेवार्द्धयोजनं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण क्रोशं बाहल्येन। 'नक्खत्तविमाणे णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं तथैव, भगवानाह-गौतम! क्रोशमेकमायामविष्कम्भेन तदेवायामविष्कम्भपरिमाणं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण अर्द्धक्रोशं च बाहल्येन प्रज्ञप्तम्। 'ताराविमाणे णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं तथैव, भगवानाह-गौतम! अर्द्धक्रोशमायामविष्कम्भेन तदेवायामविष्कम्भायामपरिमाणं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण, पञ्चधनुःशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्तम्। एवं परिमाणं च ताराविमानमुत्कृष्टस्थितिकस्य तारादेवस्य सम्बन्धि द्रष्टव्यं, जघन्यस्थितिकस्य तु पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भेन अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि बाहल्येन, उक्तञ्च—तत्त्वार्थभाष्ये-"अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाः सूर्यमण्डलविष्कम्भः; चन्द्रमसः षट्पञ्चाशत्, ग्रहाणामर्द्धयोजनं, गव्यूतं नक्षत्राणां, सर्वोत्कृष्टायास्ताराया अर्द्धक्रोशः, जघन्यायाः पञ्चधनुःशतानि, विष्कम्भार्द्धबाहल्याश्च भवन्ति सर्वे सूर्यादयो नृलोके" इति।

चंदविमाणे णं भंते! कति देवसाहस्सीओ परिवहंति?, गोयमा! चंदविमाणस्स णं पुरच्छिमेणं सेयाणं सुभगाणं सुप्पभाणं संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासाणं (महुगुलियपिंगलक्खाणं) थिरलट्ठ (पउट्ठ) वट्टपीवरसुसिलिट्ठसुविसिट्ठतिक्खदाढाविडंवितमुहाणं रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालतालुजीहाणं (पसत्थसत्थवेरुलियभिसंतकक्कडनहाणं) विसालपीवरोरुपडिपुन्नविउलखंधाणं मिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणविच्छिन्नकेसरसडोवसोभिताणं चंकमितललियपुलियधवलगब्वि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तगतीणं उस्सियसुणिम्मियसुजायअप्फोडियणंगूलाणं वइरामयणक्खाणं वइरामयदन्ताणं वइरामयदाढाणं तवणिज्जजीहाणं तवणिज्जतालुयाणं तवणिज्जजोत्तगसुजोतिताणं कामगमाणं पीतिगमाणं मणोगमाणं मणोरमाणं मणोहराणं अमियगतीणं अमियवलवीरियपुरिसकारपरक्कमाणं महता अप्फोडियसीहनातीयबोलकलयलरवेणं महुरेण य मणहरेण य पूरिंता अंबरं दिसाओ य सोभयंता चत्तारि देवसाहस्सीओ सीहरूवधारिणं देवाणं पुरच्छिमिल्लं वाहं परिवहंति। चंदविमाणस्स णं दक्खिणेणं सेयाणं सुभगाणं सुप्पभाणं संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणियरप्पगासाणं वइरामयकुंभजुयलसुट्ठितपीवरवरवइरसोंडवट्टियदित्तसुरत्तपउमप्पकासाणं अब्भुण्णयगुणा [मुहा] णं तवणिज्जविसालचंचलचलंतचवलकण्णविमलुज्जलाणं मधुवण्णभिसंतणिद्धपिंगलपत्तलतिवण्णमणिरयणलोयणाणं अब्भुग्गतमउलमल्लियाणं धवलसरिससंठितणिव्वणदढकसिणफालियामयसुजायदंतमुसलोवसोभिताणं कंचणकोसीपविट्ठदंतग्गविमलमणिरयणरुइरपेरंतचित्तरूवगविरायिताणं तवणिज्जविसालतिलगपमुहपरिमंडिताणं णाणामणिरयणमुद्धगेवेज्जवद्धगलयवरभूसणाणं वेरुलियविचित्तदंडणिम्मलवइरामयतिक्खलट्ठअंकुसकुंभजुयलंतरोदियाणं तवणिज्जसुवद्धकच्छदप्पियवलुद्धराणं जंबूणयविमलघणमंडलवइरामयलालाललियतालणाणामणिरयणघण्टपासगरयतामयरज्जूवद्धलंबितघंटाजुयलमहुरसरमणहराणं अल्लीणपमाणजुत्तवट्टियसुजातंलक्खणपसत्थतवणिज्जवालगत्तपरिपुच्छणाणं उवचियपडिपुण्णकुम्मचलणलहुविक्कमाणं अंकामयणक्खाणं तवणिज्जतालुयाणं तवणिज्जजीहाणं तवणिज्जजोत्तगसुजोतियाणं कामकमाणं पीतिकमाणं मणोगमाणं मणोरमाणं मणोहराणं अमियगतीणं अमियवलवीरियपुरिसकारपरक्कमाणं महया गंभीरगुलगुलाइयरवेणं महुरेणं मणहरेणं पूरेन्ता अंबरं दिसाओ य सोभयंता चत्तारि देवसाहस्सीओ गयरूवधारीणं देवाणं दक्खिणिल्लं वाहं परिवहंति। चंदविमाणस्स णं पच्चत्थिमेणं सेताणं सुभगाणं सुप्पभाणं चंकमियललियपुलितचलचवलककुदसालीणं सण्णयपासाणं संगयपासाणं सुजायपासाणं मियमाइतपीणरइतपासाणं झसविहगसुजातकुच्छीणं पसत्थणिद्धमधुगुलितभिसंतपिंगलक्खाणं विसालपीवरोरुपरिपुण्णविपुलखंधाणं वट्टपडिपुण्णविपुलकवोलकलिताणं घणणिचितसुवद्धलक्खणुण्णतईसिआणयवसभोट्ठाणं चंकमितललितपुलियचक्कवालचवलगव्वितगतीणं पीवरोरुवट्टियसुसंठितकडीणं ओलंवपलंबलक्खणपमाणजुत्तपसत्थरमणिज्जवालगंडाणं समखुरवालधारीणं समलिहिततिक्खग्गसिंगाणं तणुसुहुमसुजातणिद्धलोमच्छविधराणं उवचितमंसलविसालपडिपुण्णखुदपमुहपुंडराणं (खंधपएससुंदराणं) वेरुलियभिसंतकडक्खसुणिरिक्खणाणं जुत्तप्पमाणप्पधाणलक्खणपसत्थरमणिज्जगग्गरगलसोभिताणं घग्घरगसुवद्धकण्ठपरिमंडियाणं नाणामणिकणगरयणघण्टवेयच्छगसुकयरतियमालियाणं वरघंटागलगलियसोभंतसस्सिरीयाणं पउमुप्पलभसलसुरभिमालाविभूसिताणं वइरखुराणं विविधविखुराणं फालियामयदंताणं तवणिज्जजीहाणं तवणिज्जतालुयाणं तवणिज्जजोत्तगसुजोतियाणं कामकमाणं पीतिकमाणं मणोगयाणं मणोरमाणं मणोहराणं अमितगतीणं अमियवलवीरियपुरिसयारपरक्कमाणं महया गंभीरगज्जियरवेणं मधुरेण य मणहरेण य पूरेंता अंबरं दिसाओ य सोभयंता चत्तारि देवसाहस्सीओ वसभरूवधारिणं देवाणं पच्चत्थिमिल्लं वाहं परिवहंति। चंदविमाणस्स णं उत्तरेणं सेयाणं सुभगाणं सुप्पभाणं जच्चाणंतरमल्लिहायणाणं हरिमेलामदुलमल्लियच्छाणं घणणिचितसुवद्धलक्खणुण्णताचंकमि (चंचुच्चि) यललियपुलियचलचवलचंचलगतीणं लंघणवग्गणधावणधारणतिवइजईण सिक्खितगईणं सण्णतपासाणं ललंतलामगलायवरभूसणाणं सण्णयपासाणं संगतपासाणं सुजायपासाणं मितमायितपीणरइयपासाणं झसविहगसुजातकुच्छीणं पीणपीवरवट्टितसुसंठितकडीणं ओलंवपलंवलक्खणपमाणजुत्तपसत्थरमणिज्जवालगंडाणं तणुसुहुमसुजायणिद्धलोमच्छविधराणं मिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणविकिण्णकेसरवालिधराणं ललियसविलासगति (ललंतथासगल) लाडवरभूसणाणं मुहमंडगोचूलचमरथासगपरिमंडियकडीणं तवणिज्जखुराणं तवणिज्जजीहाणं तवणिज्जतालुयाणं तवणिज्जजोत्तगसुजोतियाणं कामगमाणं पीतिगमाणं मणोगमाणं मणोरमाणं मणोहराणं अमितगतीणं अमियवलवीरियपुरिसयारपरक्कमाणं महया हयहेसियकिलकिलाइयरवेणं महुरेणं मणहरेण य पूरेंता अंबरं दिसाओ य सोभयंता चत्तारि देवसाहस्सीओ हयरूवधारीणं उत्तरिल्लं वाहं परिवहंति ॥ (सू० १६८×)

'चंदविमाणे णं भंते ! ' इत्यादि, चन्द्रविमानं णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! कति देवसहस्राणि परिवहन्ति ?, भगवानाह—गौतम ! षोडश देवसहस्राणि परिवहन्ति, तद्यथा पूर्वेण—पूर्वतः, एवं दक्षिणेन पश्चिमेन उत्तरेण। तत्र पूर्वेण सिंहरूपधारिणां देवानां चत्वारि सहस्राणि परिवहन्ति। दक्षिणेन गजरूपधारिणां देवानां चत्वारि सहस्राणि, पश्चिमेन वृषभरूपधारिणां देवानां चत्वारि सहस्राणि, उत्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रेणाश्वरूपधारिणां देवानां चत्वारि देवसहस्राणि । इयमत्र भावना-चन्द्रादिविमानानि तथा जगत्स्वाभाव्यान्निरालम्बनान्येव वहन्ति-अवतिष्ठन्ते, केवलमाभियोगिका देवास्ते तथाविधनामकर्मोदयवशात् समानजातीयानां हीनजातीयानां वा निजस्फातिविशेषप्रदर्शनार्थमात्मानं बहु मन्यमानाः प्रमोदभृतः सततवहनशीलेषु विमानेष्वधः स्थित्वा केचित्सिंहरूपाणि केचिद् गजरूपाणि केचिद् वृषभरूपाणि केचिदश्वरूपाणि कृत्वा तानि विमानानि वहन्ति । नचैतदनुपपन्नं, यथाहि-कोऽपि तथाविधाभियोग्यनामकर्मोपभोगभागी दासोऽन्येषां समानजातीयानां हीनजातीयानां वा पूर्वपरिचितानामेवमहं नायकस्यास्य सुप्रसिद्धस्य संमत इति निजस्फातिविशेषप्रदर्शनार्थं सर्वमपि स्वोचितं कर्म्म नायकसमक्षं प्रमुदितः करोति, तथा आभियोगिका देवास्तथाविधाभियोग्यनामकर्मोपभोगभाजः समानजातीयानां हीनजातीयानां वा देवानामन्येषामेवं वयं समृद्धा यत्सकललोकप्रसिद्धानां चन्द्रादीनां विमानानि वहाम इति निजस्फातिविशेषप्रदर्शनार्थमात्मानं बहु मन्यमाना उक्तप्रकारेण चन्द्रादिविमानानि वहन्ति । एवं सूर्यादिविमानविषयाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि । जी० ३ प्रति० २ उ० । जं० ।

अत्थि णं भंते ! विमाणाइं सोत्थियाणि सोत्थियावत्ताइं सोत्थियपभाइं सोत्थियकन्ताइं सोत्थियवन्नाइं सोत्थियलेसाइं सोत्थियझयाइं सोत्थिसिंगाराइं सोत्थिकूडाइं सोत्थिसिट्ठाइं सोत्थुत्तरवडिंसगाइं ?, हंता अत्थि । ते णं भंते ! विमाणा के महालया पण्णत्ता, गोयमा ! जावतिए णं सूरिए उदेति जावइए णं च सूरिए अत्थमेति एवतिया तिण्णोवासंतराइं अत्थेगतियस्स देवस्स एगे विक्कमे सिता, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए ०जाव दिव्वाए देवगतीए वितीवयमाणे २, ०जाव एकाहं वा दुयाहं वा उक्कोसेणं छम्मासा वितीवएज्जा अत्थेगतिया विमाणं वितीवइज्जा अत्थेगतिया विमाणं नो वितीवएज्जा, एमहालता णं गोयमा ! ते विमाणा पण्णत्ता, अत्थि णं भंते ! विमाणाइं अच्चीणि अच्चिएवत्ताइं तहेव०जाव अच्चुत्तरवडिंसगाणि,हंता अत्थि,ते विमाणा के महालता पण्णत्ता?, गोयमा ! एवं जहा सोत्थी (माई) णि णवरं एगतियाइं पंच उवासंतराइं अत्थेगतियस्स देवस्स एगे विक्कम्मे सिता सेसं तं चेव । अत्थि-णं भंते ! विमाणाइं कामाइं कामवत्ताइं०जाव कामुत्तरवडिंसयाइं?,हंता अत्थि ते णं भंते! विमाणा के महालया पण्णत्ता ?, गोयमा ! जहा सोत्थीणि णवरं सत्त उवासंतराइं विक्कमे सेसं तहेव ॥ अत्थि णं भंते! विमाणाइं विजयाइं वेजयंताइं जयंताइं अपराजिताइं?, हंता अत्थि, ते णं भंते ! विमाणा के महालया?, गोयमा! जावतिए सूरिए उदेइ एयाइ नव उवासंतराइं सेसं तं चेव नो चेव णं ते विमाणे वीइवएज्जा एमहालया णं विमाणा पण्णत्ता समणाउसो ! । [सू० ६६]

'अत्थि णं भंते !' इत्यादि, अस्तीति निपातो बह्वर्थे , सन्ति-विद्यन्ते णमिति वाक्यालङ्कारे, विमानानि-विशेषतः पुण्यप्राणिभिर्मन्यन्ते तद्गतसौख्यानुभवनेनानुभूयन्ते इति विमानानि , तान्येव नामग्राहमाह—अर्चीषि-अर्चिर्नामानि , एवमर्चिरावर्त्तानि अर्चिःप्रभाणि अर्चिःकान्तानि अर्चिर्वर्णानि अर्चिर्लेश्यानि अर्चिर्ध्वजानि अर्चिःशृङ्गाराणि अर्चिःसृ (ऋि) ष्टानि अर्चिःकुटानि अर्चिरुत्तरावतंसकानि सर्वसंख्यया एकादश नामानि । भगवानाह—' हंता अत्थि ' हन्तेति प्रत्यवधारणे अस्तीति निपातो बह्वर्थे सन्त्येवैतानि विमानानीति भावः । ' के महालया णं' मित्यादि, किंमहान्ति कियत्प्रमाणमहत्त्वानि । णमिति पूर्ववत् भदन्त ! तानि विमानानि प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह-गौतम ! ' जाव य उएइ सूरो, ' इत्यादि जम्बूद्वीपे सर्वोत्कृष्टे दिवसे सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानः सूर्यो यावति क्षेत्रे उदेति यावति च क्षेत्रे सूर्योऽस्तमुपयाति, एतावन्ति त्रीणि अवकाशान्तराणि , उदयास्तमितप्रमितमधिकृतं क्षेत्रं त्रिगुणमित्यर्थः अस्त्येतद्—बुद्ध्या परिभावनीयमेतद् यथैकस्य विवक्षितस्य देवस्यैको विक्रमः स्यात् तत्र जम्बूद्वीपे सर्वोत्कृष्टे दिवसे सूर्य उदेति सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके योजनानामेकस्य च योजनस्यैकविंशतिः षष्टिभागा एतावति क्षेत्रे,उक्तञ्च-"सीयालीससहस्सा,दोण्णि सया जोयणाण तेवट्ठी । इगवीससट्ठिभागा, कक्कडमाइम्मि पेच्छ नरा ॥१॥ " ४७२६३ $\frac{21}{60}$, एतावत्येव क्षेत्रे तस्मिन् सर्वोत्कृष्टे दिवसेऽस्तमुपयाति । तत एतत्क्षेत्रं द्विगुणीकृतमुदयास्तापान्तरालप्रमाणं भवति, तच्चैतावत्—चतुर्नवतिः सहस्राणि पञ्च शतानि षड्विंशत्यधिकानि योजनानामेकस्य, च योजनस्य (च) द्वाचत्वारिंशत्षष्टिभागाः ६४५२६ $\frac{42}{60}$ एतावत्त्रिगुणीकृतं यथोक्तविमानपरिमाणकरणाय देवस्यैको विक्रमः परिकल्प्यते । स चैवंप्रमाणः—द्वे लक्षे त्र्यशीतिः सहस्राणि पञ्च शतानि अशीत्यधिकानि योजनानाम् एकस्य च योजनस्य षष्टिभागाः षट् २८३५८० $\frac{6}{60}$ इति । 'से णं देवे ' इत्यादि स—विवक्षितो देवः तया—सकलदेवजनप्रसिद्धया उत्कृष्टया त्वरितया चपलया चण्डया—शीघ्रया उद्धतया—जवनया छेकया दिव्यया देवगत्या, अमीषां पदानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः, व्यतिव्रजन् व्यतिव्रजन् जघन्यत एकाहं वा द्व्यहं वा यावदुत्कर्षतः षण्मासान् यावद् व्यतिव्रजेत्—गच्छेत् । तत्रैवं गमने अस्त्येतद् यथैकं किञ्चन विमानं पूर्वोक्तानां विमानानां मध्ये व्यतिव्रजेत्—अतिक्रामेत् , तस्य पारं लभेतेति भावः । तथा अस्त्येतद् यथैककं विमानं न व्यतिव्रजेत् , न तस्य पारं लभेत । उभयत्रापि जातावेकवचनं,ततोऽयं भावार्थः-उक्तप्रमाणेनापि क्रमेण यथोक्तरूपयाऽपि च गत्या षण्मासानपि यावदधिकृतो देवो गच्छति तथापि,केषाञ्चिद्विमानानां पारं लभते केषाञ्चित् पारं न लभते इति एतावन्महान्ति तानि विमानानि प्रज्ञप्तानि हेश्रमण ! हेआयुष्मन् ! ' अत्थि णं भंते!' इत्यादि,सन्ति भदन्त ! विमानानि स्वस्तिकानि स्वस्तिकावर्त्तानि स्वस्तिकप्रभाणि स्वस्तिककान्तानि स्वस्तिक-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्णानि स्वस्तिकलेश्यानि स्वस्तिकध्वजानि स्वस्तिकशृङ्गाराणि स्वस्तिकशिष्टानि स्वस्तिककूटानि स्वस्तिकोत्तरावतंसकानि ?, ' हंता अत्थि ' इत्यादि, समस्तं प्राग्वत्, नवरमत्र ' एवइयाइं पंच ओवासंतराइं ' इति कण्ठ्यम्, उदयास्तापान्तरालक्षेत्रं पञ्चगुणं क्रियत इति भावः । ' अत्थि णं भंते !' इत्यादि, सन्ति भदन्त ! विमानानि कामानि कामावर्तानि कामप्रभाणि कामकान्तानि कामवर्णानि कामलेश्यानि कामध्वजानि कामशृङ्गाराणि कामशिष्टानि कामकूटानि कामोत्तरावतंसकानि ?, ' हंता अत्थि ' इत्यादि सर्वं पूर्ववत्, नवरमत्रोदयास्तापान्तरालक्षेत्रं सप्तगुणं कर्त्तव्यं, शेषं तथैव । ' अत्थि णं भंते !' इत्यादि, सन्ति भदन्त ! विजयवैजयन्तजयन्तापराजितानि विमानानि ?, ' हंता अत्थी ' त्यादि, प्राग्वत्, नवरमत्र ' एवइयाइं ' नव ओवासंतराइं ' इति वक्तव्यं शेषं तथैव । उक्तञ्च—

" जावइ उदेइ सूरो, जावइ सो अत्थमेइ अवरेणं ।
तिय पण सत्त नवगुणं, काउं पत्तेय पत्तेयं ॥ १ ॥
सीयालीससहस्सा, दो य सया जोयणाण तेवट्ठा ।
इगवीससट्ठिभागा, कक्खडमाइम्मि पेच्छ नरा ॥ २ ॥
एयं दुगुणं काउं, गुणिजए तिपणसत्तमाईहिं ।
आगयफलं च जं तं, कमपरिमाणं वियाणाहि ॥ ३ ॥
चत्तारि वि सकमेहिं, चंडादिगईहि जंति छम्मासं ।
तह वि य न जंति पारं, केसिं चि सुरा विमाणाणं ॥ ४ ॥ "
जी० ३ प्रति० १ उ० ।

विमाणपत्थड—विमानप्रस्तट—पुं० । विमानसम्बन्धिषु घनसमभागेषु, सौधर्मेशानयोस्त्रयोदश विमानप्रस्तटा भवन्ति । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्द्वादश, ब्रह्मलोके षट्, लान्तके पञ्च, शुक्रे चत्वारः, एवं सहस्रारे आनतप्राणतयोश्चत्वारः, एवमारणाच्युतयोर्ग्रैवेयकेष्वधस्तनमध्यमोपरिमेषु त्रयः, अनुत्तरेषु एक इति द्विषष्टिस्ते भवन्ति । स० ।

सव्वे वेमाणियाणं वासट्ठिं विमाणपत्थडा पत्थडग्गेणं पण्णत्ता । [सू० ६२ ×]

' सव्वे ' त्ति सर्वे वैमानिकानां देवविशेषाणां सम्बन्धिनो द्विषष्टिर्विमानप्रस्तटा—विमानप्रतराः प्रस्तटाग्रेण प्रस्तटपरिमाणेन प्रज्ञप्ता इति । स० ६२ सम० ।

साधुचर्याफलभोक्तृस्थानविशेषमाह—

बंभलोए णं कप्पे छ विमाणपत्थडा, पण्णत्ता, तं जहा—अरए विरए नीरए निम्मले वितिमिरे विसुद्धे । [सू० ५१६]

' बंभलोए ' त्ति पञ्चमदेवलोके षडेव विमानप्रस्तटाः प्रज्ञप्ताः, आह च—"तेरस वारस ३ छ पंच ५, चेव ६ चत्तारि चउसु कप्पेसु ॥ १ ॥ गेविज्जेसु तिय तिय, ३-३-३-एगो य अणुत्तरेसु १ भवे ।" इति १३-१२-६-५-१६-६-१-सर्वेऽपि ६२ द्विषष्टिः । स० ४ सम० । तद्यथा-'अरजा' इत्यादि सुगममेवेति । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

विमाणपविभत्ति—विमानप्रविभक्ति—स्त्री० । आवलिकाप्रविष्टेतरविभजनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा विमानप्रविभक्तिः । अङ्गबाह्यकालिकश्रुतभेदे, सा च द्विधा एकाऽल्पग्रन्थार्था, तथाऽन्या महाग्रन्थार्था । अतः क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्तिर्महती विमानप्रविभक्तिरिति । पा० । नं० । व्य० ।

खुड्डियाए णं विमाणपविभत्तीए तइए वग्गे चत्तालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता । (सू० ४० ×)

महालियाए णं विमाणपविभत्तीए पढमे वग्गे एकचत्तालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता । (सू० ४१ +) स० ४१ सम० ।

विमाणभवण—विमानभवन—न० । विमानाकारे भवने, "विमाणभवणं सुविणे पासइ " विमानाकारं भवनं विमानभवनम्, अथवा देवलोकाद् योऽवतरति तन्माता विमानं पश्यति, यस्तु नरकात्तन्माता भवनमिति । भ० ११ श० ११ उ० । कल्प० ।

विमाणवरपोंडरीय—विमानवरपुण्डरीक—न० । विमानवरेषु मध्येषु पुण्डरीकमिव, अत्युत्तमत्वात् । विमानोत्तमे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

विमाणवास—विमानवास—पुं० । सुरलोके, आव० ३ अ० । भ० ।

सोहम्मे णं भंते ! कप्पे केवइया विमाणवासा पण्णत्ता ?, गोयमा ! बत्तीसं विमाणवाससयसहस्सा पण्णत्ता, एवं ईसाणाइसु अट्ठावीसवारसअट्ठचत्तारि एयाइं सयसहस्साइं पण्णासं चत्तालीसं छ एयाइं सहस्साइं आणए पाणए चत्तारि आरणच्चुए तिण्णि, एयाणि सयाणि । एवं गाहाहिं भाणियव्वं । (सू० १५० +) स० १५० सम० ।

वत्तीसट्ठावीसा, वारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा ।
पन्ना चत्तालीसा, छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥ १ ॥
आणयपाणयकप्पे, चत्तारि सयाऽऽरणच्चुए तिन्नि ।
सत्त विमाणसयाइं, चउसु वि एएसु कप्पेसुं ॥२॥
एक्कारसुत्तरं हे-ट्ठिमेसु सत्तुत्तरं सयं च मज्झिमए ।
सयमेगं उवरिमए, पंचेव अणुत्तरविमाणा ॥ ३ ॥
(सू० ४३) भ० १ श० ५ उ० ।

" सोहम्मे णं भंते ! कप्पे केवइया विमाणावासा पण्णत्ता ?, गोयमा ! बत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता" एवमीशानादिष्वपि द्रष्टव्यम् । एतदेवाह—' एवं ईसाणाइसु ' त्ति ' एवं गाहाहिं भाणियव्वं ' ति ' वत्तीस अट्ठवीसा' इत्यादिकाभिः पूर्वोक्तगाथाभिस्तदनुसारेणेत्यर्थः । प्रतिकल्पं भिन्नपरिमाणा विमानावासा भणितव्यास्तद्वर्णकश्च वाच्यः 'जाव तेणं विमाणे' त्यादि यावत् पडिरूवा, नवरमभिलापभेदोऽयं यथा-" ईसाणे णं भंते ! कप्पे केवइया विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता, गोयमा ! अट्ठावीसं विमाणावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खाया । ते णं विमाणा० जाव पडिरूवा " एवं सर्वं पूर्वोक्तगाथानुसारेण प्रज्ञापनाद्वितीयपदानुसारेण च वाच्यमिति । (सू० १५०) स० १५० सम० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोहम्मीसाणेसु दोसु कप्पेसु सट्ठिं विमाणा(ण)वाससयसहस्सा पण्णत्ता । (सू० ६० ×)

' सट्ठि ' त्ति सौधर्मे द्वात्रिंशदीशाने चाष्टाविंशतिर्विमानलक्षाणीति कृत्वा षष्टिस्तानि भवन्तीति । स० ६० सम० ।

ईसाणे णं कप्पे अट्ठावीसं विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता । (सू० २८ ×) स० २८ सम० ।

सोहम्मसणंकुमारमाहिंदेसु तिसु कप्पेसु बावन्नं विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता । (सू० ५२) स० ५२ सम० ।

सहस्सारे णं कप्पे छ विमाणावाससहस्सा पण्णत्ता । (सू० ११६ ×) स० ११६ सम० ।

माहिंदे णं कप्पे अट्ठ विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता । (सू० १३१) स० ।

लंतए कप्पे पन्नासं विमाणावाससहस्सा पण्णत्ता । (सू० ५० ×) स० ५० सम० ।

विमाणावलिया–विमानावलिका–स्त्री० । आवलिकाप्रविष्टेषु ग्रैवेयकादिविमानेषु, प्रश्न० २ पद ।

विमाणोववण्णग–विमानोपपन्नक–पुं० । विमानेषु-सामान्यरूपेषूपपन्नो विमानोपपन्नकः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ग्रैवेयकानुत्तरलक्षणविमानोपपन्ने कल्पातीते वैमानिकभेदे, स्था० २ ठा० २ उ० ।

विमाया–विमात्रा–स्त्री० । विविधा मात्रा विमात्रा । सूत्र० १ श्रु०२ अ० । अनेकविधमात्रायाम् , विशे० ।

विमिस्स–विमिश्र–त्रि० । युक्ते, विशे० । आचा० ।

विमुउल–विमुकुल–त्रि० । विकसिते, नं० । औ० । ज्ञा० ।

विमुक्क–विमुक्त–त्रि० । निःसङ्गे, आचा० २ श्रु० ४ चू० । लोभद्वेषत्यक्ते, प्रश्न० ३ संव० द्वार । आचा० ।

विमुक्कसंधिबंधण–विमुक्तसन्धिबन्धन–त्रि० । श्लथीकृतसन्धाने, भ० ६ श० ३३ उ० । श्लथीकृताङ्गसन्धाने, प्रश्न० १ आ० श्र० द्वार ।

विमुत्त–विमुक्त–त्रि० । विविधं मुक्तः । अनेकैः प्रकारैर्मुक्ते, (" विमुत्ता हु ते जणा" इत्यादिसूत्रम् (७४) ' लोगविजय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७२७ पृष्ठे व्याख्यातम् ।)

विमुत्तया–विमुक्तता–स्त्री० । धर्मोपकरणेष्वपि अमूर्च्छायाम् , दश० ७ अ० ।

विमुत्ति–विमुक्ति–स्त्री० । मोक्षे, आचा० । निक्षेपः-चतुर्थचूडारूपं विमुक्त्यध्ययनमारभ्यते । अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरं महाव्रतभावनाः प्रतिपादिताः , तदिहाप्यनित्यभावना प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति । तत्रोपक्रमान्तर्गतमर्थाधिकारं दर्शयितुं निर्युक्तिकृदाह—

अणिच्चे पव्वए रुप्पे, भुयगस्स तहा महासमुद्दे य ।
एए खलु अहिगारा, अज्झयणम्मी विमुत्तीए ॥३४२॥

अस्याध्ययनस्यानित्यत्वाधिकारः तथा पर्वताधिकारः पुना रूप्याधिकारः तथा भुजगत्वगधिकार एवं समुद्राधिकारश्च इत्येते पञ्चार्थाधिकारास्तांश्च यथायोगं सूत्र एव भणिष्याम इति ।

नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे विमुक्तिरिति नाम, अस्य च नामादिनिक्षेपः उत्तराध्ययनान्तःपाति विमोक्षाध्ययनवदित्यतिदेष्टुं निर्युक्तिकार आह—

जो चेव होइ मुक्खो, सा उ विमुत्तिपगयं तु भावेणं ।
देसविमुक्का साहू, सव्वविमुक्का भवे सिद्धा ॥ २४३ ॥

य एव मोक्षः सैव विमुक्तिः, अस्याश्च मोक्षवन्निक्षेप इत्यर्थः । प्रकृतम् अधिकारो भावविमुक्त्येति । भावविमुक्तिस्तु देशसर्वभेदात् द्वेधा—तत्र देशतः साधूनां भवस्थकेवलिपर्यन्तानां, सर्वविमुक्तास्तु सिद्धा इति, अष्टविधकर्मविघटनादिति ।

सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यम् । तच्चेदम्—

अणिच्चमावासमुविंति जंतुणो,
पलोयए सुचमिणं अणुत्तरं ।
विउस्सरे विन्नु अगारबंधणं,
अभीरु आरंभपरिग्गहं चए ॥ १ ॥

आ वसन्त्यस्मिन्नित्यावासो—मनुष्यादिभवस्तच्छरीरं वा तमनित्यमुप—सामीप्येन यान्ति—गच्छन्ति जन्तवः—प्राणिन इति, चतसृष्वपि गतिषु यत्र यत्रोत्पद्यन्ते तत्र तत्रानित्यभावमुपगच्छन्तीत्यर्थः । एतच्च मौनीन्द्रं प्रवचनमनुत्तरं श्रुत्वा, प्रलोकयेत्—पर्यालोचयेद् , यथैव प्रवचनेऽनित्यत्वादिकमभिहितं तथैव लक्ष्यते—दृश्यते इत्यर्थः । एतच्च श्रुत्वा प्रलोक्य च विद्वान् व्युत्सृजेत्—परित्यजेत् अगारबन्धनं-गृहपाशं पुत्रकलत्रधनधान्यादिरूपम् । किम्भूतः सन् ? इत्याह—अभीरुः—सप्तप्रकारभयरहितः परीषहोपसर्गाप्रधृष्यश्च आरम्भं—सावद्यमनुष्ठानं परिग्रहं च सबाह्याभ्यन्तरं त्यजेदिति ॥ १ ॥

साम्प्रतं पर्वताधिकारे—

तहागयं भिक्खुमणंतसंजयं,
अणेलिसं विन्नु चरंतमेसणं ।
तुदंति वायाहि अभिद्दवं नरा,
सरेहि संगामगयं व कुंजरं ॥ २ ॥

तथाभूतं साधुम्—अनित्यत्वादिवासनोपेतं व्युत्सृष्टगृहबन्धनं त्यक्तारम्भपरिग्रहं, तथाऽनन्तेष्वेकेन्द्रियादिषु सम्यग् यतः संयतस्तम् अनीदृशम्—अनन्यसदृशं विद्वांसं-जिनागमगृहीतसारम् एषणायां चरन्तं-परिशुद्धाहारादिना वर्त्तमानं तमित्थंभूतं भिक्षुं नराः-मिथ्यादृष्टयः-पापोपहतात्मानः वाग्भिः—असभ्यालापैः तुदन्ति—व्यथन्ते, पीडामुत्पादयन्तीत्यर्थः, तथा लोष्टप्रहारादिभिरभिद्रवन्ति च । कथमिति दृष्टान्तमाह—शरैः संग्रामगतं कुञ्जरमिव ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपि च—

तहप्पगारेहिँ जणेहिँ हीलिए,
ससद्दफासा फरुसा उईरिया ।
तितिक्खए नाणि अदुट्ठचेयसा ,
गिरि व्व वाएण न संपवेयए ॥ ३ ॥

तथाप्रकारैः-अनार्यप्रायैर्जनैः हीलितः—कदर्थितः, कथं ?, यतस्तैः परुषास्तीव्राः सशब्दाः—साक्रोशाः स्पर्शाः-शीतोष्णादिका दुःखोत्पादका उत्-प्राबल्येनेरिता-जनिताः कृता इत्यर्थः, ताँश्च स मुनिरेवं हीलितोऽपि तितिक्षते—सम्यक् सहते, यतोऽसौ ज्ञानी—पूर्वकृतकर्मण एवायं विपाकानुभव इत्येवं मन्यमानः, अदुष्टचेताः—अकलुषान्तःकरणः सन् न तैः संप्रवेपते-न कम्पते गिरिरिव वातेनेति ॥ ३ ॥

अधुना रूप्यदृष्टान्तमधिकृत्याह—

उवेहमाणे कुसलेहिँ संवसे,
अकंतदुक्खी तसथावरा दुही ।
अलूसए सव्वसहे महामुणी,
तहाहि से सुस्समणे समाहिए ॥ ४ ॥

उपेक्षमाणः-परीषहोपसर्गान् सहमान इष्टानिष्टविषयेषु वोपेक्षमाणो-माध्यस्थ्यमवलम्बमानः कुशलैः-गीतार्थैः सह संवसेदिति । कथम् ?, अकान्तम्—अनभिप्रेतं दुःखम्—असातावेदनीयं तद्विद्यते येषां त्रसस्थावराणां तान् दुःखिनस्त्रसस्थावरान् अलूषयन्-अपरितापयन् पिहिताश्रवद्वारः पृथ्वीवत् सर्वसहः—परीषहोपसर्गसहिष्णुः महामुनिः-सम्यग् जगत्त्रयस्वभाववेत्ता तथा ह्यसौ सुश्रमण इति समाख्यातः ॥ ४ ॥

किञ्च—

विऊ नए धम्मपयं अणुत्तरं ,
विणीयतण्हस्स मुणिस्स झायओ ।
समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा,
तवो य पन्ना य जसो य वड्ढइ ॥ ५ ॥

विद्वान्—कालज्ञः नतः—प्रणतः प्रह्वः, किं तत् ?—धर्मपदम्—क्षान्त्यादिकं, किंभूतम् ?—अणुत्तरम्—प्रधानमित्यर्थः, तस्य चैवंभूतस्य मुनेर्विगततृष्णस्य ध्यायतो धर्मध्यानं समाहितस्य—उपयुक्तस्याग्निशिखावत्तेजसा ज्वलतस्तपः प्रज्ञा यशश्च वर्द्धत इति ॥ ५ ॥

तथा—

दिसो दिसंऽणंतजिणेण ताइणा,
महव्वया खेमपया पवेइया ।
महागुरू निस्सयरा उईरिया ,
तमेव तेउ त्ति दिसं पगासगा ॥ ६ ॥

दिशो दिशमिति—सर्वास्वप्येकेन्द्रियादिषु भावदिक्षु क्षेमपदानि-रक्षणस्थानानि प्रवेदितानि—प्ररूपितानि, अनन्तश्चासौ ज्ञानात्मतया नित्यतया वा जिनश्च-रागद्वेषजयनादनन्तजिनस्तेन, किंभूतानि व्रतानि ?—महागुरूणिकापुरुषैर्दुर्वहत्वात् निःस्वकराणि—स्वं-कर्मानादिसम्बन्धात्तदपनयनसमर्थानि निःस्वकराणि उदीरितानि-आविष्कृतानि तेजस इव तमोऽपनयनात्त्रिदिशं प्रकाशकानि । यथा-तेजस्तमोऽपनीयोर्ध्वाधस्तिर्यक् प्रकाशते एवं तान्यपि कर्मतमोऽपनयनहेतुत्वात्त्रिदिशं प्रकाशकानीति ॥ ६ ॥

मूलगुणानन्तरमुत्तरगुणाभिधित्सयाऽऽह—

सिएहिँ भिक्खू असिए परिव्वए,
असज्जमित्थीसु चइज्ज पूयणं ।
अणिस्सिओ लोगमिणं तहा परं,
न मिज्जई कामगुणेहिँ पंडिए ॥ ७ ॥

सिताः-बद्धाः कर्मणा-गृहपाशेन रागद्वेषादिनिबन्धनेन वेति गृहस्था अन्यतीर्थिका वा, तैः असितः-अबद्धः-तैः सार्द्धं सङ्गमकुर्वन् भिक्षुः परिव्रजेत्—संयमानुष्ठायी भवेत् । तथा स्त्रीषु असजन्—सङ्गमकुर्वन् पूजनं त्यजेत् , न सत्काराभिलाषी भवेत् । तथा अनिश्रितः—असंबद्ध-इहलोके-अस्मिन् जन्मनि तथा परलोके—स्वर्गादाविति, एवंभूतश्च कामगुणैः—मनोज्ञशब्दादिभिः न मीयते—न तोल्यते न स्वीक्रियत इति यावत् , पण्डितः—कटुविपाककामगुणदर्शीति ॥ ७ ॥

तहा विमुक्कस्स परिन्नचारिणो,
धिईमओ दुक्खखमस्स भिक्खुणो ।
विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं,
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥ ८ ॥

तथा-तेन प्रकारेण मूलोत्तरगुणधारित्वेन विमुक्तो-निस्सङ्गस्तस्य, तथा परिज्ञानं परिज्ञा-सदसद्विवेकस्तया चरितुं शीलमस्येति परिज्ञाचारी ज्ञानपूर्वं क्रियाकारी तस्य, तथा धृतिः—समाधानं संयमे यस्य स धृतिमांस्तस्य, दुःखम्—असातावेदनीयोदयस्तदुदीर्णं सम्यक् क्षमते-सहते, न वैक्लव्यमुपयाति, नापि तदुपशमार्थं वैद्यौषधादि मृगयते; तदेवंभूतस्य भिक्षोः पूर्वोपात्तं कर्म विशुध्यति—अपगच्छति । किमिव ? समीरितं-प्रेरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषाऽग्निनेति ॥ ८ ॥

साम्प्रतं भुजङ्गत्वगधिकारमधिकृत्याह—

से हु(हू)परिन्नासमयम्मि वट्टई,
निराससे उवरयमेहुणा चरे ।
भुयंगमे जुन्नतयं जहा चए,
विमुच्चई से दुहसिज्ज माहणे ॥ ९ ॥

स—एवंभूतो भिक्षुर्मूलोत्तरगुणधारी पिण्डैषणाध्ययनार्थकरणोद्युक्तः, परिज्ञासमये वर्त्तते, तथा निराशंसः—ऐहिकामुष्मिकाशंसारहितः,तथा मैथुनादुपरतः, अस्य चोपलक्षणत्वादपरमहाव्रतधारी च, तदेवंभूतो भिक्षुर्यथा सर्पः कञ्चुकं मुक्त्वा निर्मलीभवति एवं मुनिरपि दुःखशय्यातः—नरकादिभवाद्विमुच्यत इति ॥ ९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समुद्राधिकारमधिकृत्याह—

जमाहु ओहं सलिलं अपारयं ,
महासमुद्दं व भुयाहि दुत्तरं ।
अहे य णं परिजाणाहि पंडिए ,
से(हु) हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चई ॥ १० ॥

यं—संसारं समुद्रमिव भुजाभ्यां दुस्तरमाहुस्तीर्थकृतो गणधरादयो वा , किम्भूतम् ?—ओघरूपं , तत्र द्रव्यौघः सलिलप्रवेशो भावौघ आस्रवद्वाराणि , तथा मिथ्यात्वाद्यपारसलिलम् , इत्यनेनास्य दुस्तरत्वे कारणमुक्तम् । अथैनं संसारसमुद्रमेवंभूतं ज्ञपरिज्ञया सम्यग् जानीहि , प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु परिहर पण्डितः—सदसद्विवेकज्ञः । स च मुनिरेवंभूतः कर्मणोऽन्तकृदुच्यते ॥ १० ॥

अपि च—

जहा हि बद्धं इह माणवेहिं ,
जहा य तेसिं तु विमुक्ख आहिए ।
अहा तहा बन्धविमुक्ख जे विऊ ,
से (हु) हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चई ॥ ११ ॥

यथा—येन प्रकारेण मिथ्यात्वादिना बद्धं कर्म—प्रकृतिस्थित्यादिनाऽऽत्मसात्कृतम् इह—अस्मिन् संसारे मानवैः—मनुष्यैरिति, तथा यथा च सम्यग्दर्शनादिना तेषां कर्मणां विमोक्ष आख्यातः इत्येवं याथातथ्येन बन्धविमोक्षयोर्यः सम्यग्वेत्ता स मुनिः कर्मणोऽन्तकृदुच्यते ॥ ११ ॥

इमम्मि लोए परए य दोसु वि ,
न विज्जई बंधणं जस्स किंचि वि ।
से (हु) हु निरालंबणमप्पइट्ठिए ,
कलंकलीभावपहं विमुच्चइ त्ति बेमि ॥ १२ ॥

अस्मिन् लोके परत्र च द्वयोरपि लोकयोर्न यस्य बन्धनं किञ्चनास्ति स निरालम्बनः—ऐहिकामुष्मिकाशंसारहितः अप्रतिष्ठितः—न क्वचित्प्रतिबद्धोऽशरीरी वा स एवंभूतः कलंकलीभावात्—संसारगर्भादिपर्यटनाद्विमुच्यते ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः । आचा० २ श्रु० ४ चू० । आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य षोडशेऽध्ययने , स० । आचा० । नि० चू० । आव० । विमुच्यते प्राणी सकलबन्धनेभ्यो यया सा विमुक्तिः ॥ १२ ॥ गौणीहिंसायाम् , प्रश्न० १ संव० द्वार । बन्धदशानामष्टमे अध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

विमुह—विमुख—त्रि० । निरपेक्षे, विशे० । विमुखस्यादेरभावाद् विमुखम् । भ० २ श० २ उ० ।

विमुहया—विमुखता—स्त्री० । वैमुख्ये, पो० ४ विव० ।

विमुहीकय—विमुखीकृत—त्रि० । विरञ्जिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

विमोइ(चि)य—विमोचित—त्रि० । स्वस्थानाच्चलिते, सू० ३ उ० ।

विमोक्ख—विमोक्ष—पुं० । परित्यागे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । निसर्गे, विशे० ।

विमोक्षस्य निक्षेपं चिकीर्षुर्निर्युक्तिकार आह—

नामं ठवणविमुक्खो, दव्वे खित्ते य काले भावे य ।
एसो उ विमुक्खस्स, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ २५८ ॥

नामविमोक्षः स्थापनाविमोक्षो द्रव्यविमोक्षः क्षेत्रविमोक्षः कालविमोक्षो भावविमोक्षश्चेत्येवं विमोक्षस्य निक्षेपः षोढा भवतीति गाथासमासार्थः ।

व्यासार्थप्रतिपादनाय तु सुगमनामस्थापनाव्युदासेन द्रव्यादिविमोक्षप्रतिपादनद्वारेणाह—

दव्वविमुक्खो नियला—इएसु खित्तम्मि चारयाईसुं ।
काले चेइयमहिमा—इएसु अणघायमाईओ ॥ २५९ ॥

द्रव्यविमोक्षो द्वेधा—आगमतो, नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तः, नो आगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो निगडादिकेषु विषयभूतेषु यो विमोक्षः स द्रव्यविमोक्षः । सुब्व्यत्ययेन वा पञ्चम्यर्थे सप्तमी, निगडादिभ्यो द्रव्येभ्यः सकाशाद्विमोक्षो द्रव्यविमोक्षः,अपरकारकवचनसम्भवस्तु स्वयमभ्यूह्योऽऽयोज्यः । तद्यथा—द्रव्येण द्रव्यात् सचित्ताचित्तमिश्राद्विमोक्ष इत्यादि, क्षेत्रविमोक्षस्तु यस्मिन् क्षेत्रे चारकादिके व्यवस्थितो विमुच्यते, क्षेत्रदानाद्वा यस्मिन्वा क्षेत्रे व्यावर्ण्यते स क्षेत्रविमोक्षः । कालविमोक्षस्तु चैत्यमहिमादिकेषु कालेष्वनाघातादिघोषणापादितो यावन्तं कालं मुच्यते यस्मिन्वा काले व्याख्यायते सोऽभिधीयत इति गाथार्थः ।

भावविमोक्षप्रतिपादनायाह—

दुविहो भावविमुक्खो, देसविमुक्खो य सव्वमुक्खो य ।
देसविमुक्खा साहू, सव्वविमुक्खा भवे सिद्धा ॥२६०॥

भावविमोक्षो द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो, नोआगमतस्तु द्विधा-देशतः, सर्वतश्च । तत्र देशतोऽविरतसम्यग्दृष्टीनामाद्यकषायचतुष्कक्षयोपशमाद् देशविरतानामाद्याष्टकषायक्षयोपशमाद्भवति,साधूनां च द्वादशकषायक्षयोपशमात् क्षपकश्रेण्यां च यस्य यावन्मात्रं क्षीणं तस्य तत्क्षयाद् देशविमुक्ततेत्यतः साधवो देशविमुक्ताः । भवस्थकेवलिनोऽपि भवोपग्राहिसद्भावाद्देशविमुक्ता एव, सर्वविमुक्ताश्च सिद्धा भवेयुरिति गाथार्थः ।

ननु बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य निगडादिमोक्षवदित्याशङ्काव्यवच्छेदार्थं बन्धाभिधानपूर्वकं मोक्षमाह—

कम्मं य दव्वेहिँ समं, संजोगो होइ जो उ जीवस्स ।
सो बन्धो नायव्वो,तस्स विओगो भवे मुक्खो ॥२६१॥

कर्मद्रव्यैः कर्मवर्गणाद्रव्यैः समं—सार्द्धं यः संयोगो जीवस्य सम्बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपो बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थश्च ज्ञातव्यः । तथैकैको ह्यात्मप्रदेशोऽनन्तानन्तैः कर्मपुद्गलैर्बद्धः, बध्यमाना अप्यनन्तानन्ता एव, शेषाणामग्रहणयोग्यत्वात् । कथं पुनरष्टप्रकारं कर्म्म बध्नातीति चेद् ?, उच्यते—मिथ्यात्वोदयादिति । उक्तं च—" कहं णं भंते ! जीवा अट्ठ कम्मपगडीओ बंधंति ? , गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं निअच्छन्ति, दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएण मिच्छत्तं णियच्छन्ति, मिच्छत्तेणं उइन्नेणं, एवं खलु जीवे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ" यदिवा-"णेहत्तुप्पिअगत्त-स्स रेणुओ लग्गई जहा अंगे। तह रागदोसणेहा-लियस्स कम्मं पि जीवस्स॥ १॥" इत्यादि, तस्यैवम्भूतस्याष्टप्रकारस्य कर्म्मणः आस्रवनिरोधात् तपसाऽपूर्वकरणक्षपकश्रेणिप्रक्रमेण शैलेश्यवस्थायां वा योऽसौ वियोगः-क्षयः स मोक्षो भवेदिति गाथार्थः।

अस्य च प्रधानपुरुषार्थत्वात् प्रारब्धासिधारावतानुष्ठानफलत्वात् तीर्थिकैः सह विप्रतिपत्तिसद्भावाच्च यथावस्थितमव्यभिचारिमोक्षस्य स्वरूपं दर्शयितुमाह। यदिवा-पूर्व्वं कर्म्मवियोगोद्देशेन मोक्षस्वरूपमभिहितम्, साम्प्रतं जीववियोगोद्देशेन मोक्षस्वरूपं दर्शयितुमाह—

जीवस्स अत्तजणिए-हि चेव कम्मेहि पुव्वबद्धस्स।
सव्वविवेगो जो ते-ण तस्स अह इत्तिगो मुक्खो॥२६२॥

जीवस्यासंख्येयप्रदेशात्मकस्य स्वतोऽनन्तज्ञानस्वभावस्यात्मनैव-मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपरिणतेन जनितानि बद्धानि यानि कर्म्माणि तैः पूर्वबद्धस्यानादिबन्धबद्धस्य प्रवाहाऽपेक्षया तेन कर्म्मणा सर्वविवेकः-सर्वाभावरूपतया यो विश्लेषस्तस्य-जन्तोः, अथेत्युपप्रदर्शने एतावन्मात्र एव-मोक्षो नापरः-परपरिकल्पितो निर्वाणप्रदीपकल्पादिक इति गाथार्थः।

उक्तो भावविमोक्षः। स च यस्य भवति तस्यावश्यं भक्तपरिज्ञादिमरणत्रयान्यतरेण मरणेन भाव्यं, तत्र कार्ये कारणोपचारात् तन्मरणमेव भावविमोक्षो भवतीत्येतत्प्रतिपादयितुमाह—

भत्तपरिन्नाइंगिणि, पायवगमणं च होइ नायव्वं।
जो मरइ चरिममरणं, भावविमुक्खं वियाणाहि॥२६३॥

भक्तस्य परिज्ञा भक्तपरिज्ञा; अनशनमित्यर्थः, तत्र त्रिविधचतुर्विधाहारनिवृत्तिमान् संप्रतिकर्म्मशरीरो धृतिसंहननवान् यथा समाधिर्भवेत्तथा अनशनं प्रतिपद्यते, तथेङ्गिते प्रदेशे मरणमिङ्गितमरणमिदं चतुर्विधाहारनिवृत्तिस्वरूपं विशिष्टसंहननवतः स्वत एवोद्वर्त्तनादिक्रियायुक्तस्यावगन्तव्यम्। तथा परित्यक्तचतुर्विधाहारस्यैवाधिकृतचेष्टाव्यतिरेकेण चेष्टान्तरमधिकृत्यैकान्तनिष्प्रतिकर्म्मशरीरस्य पादपस्येवोप-सामीप्येन गमनं-वर्त्तनं पादपोपगमनमेतच्च ज्ञातव्यं *भवति*। यो हि भवसिद्धिकश्चरमम्—अन्तिमं मरणमाश्रित्य म्रियते स एतत्पूर्वोक्तत्रयान्यतरेण मरणेन म्रियते, नान्येन वैहानसादिना बालमरणेनेत्येतच्चानन्तरोक्तं मरणं चेष्टाभेदोपाधिविशेषात् त्रैविध्यमनुभवद्भावमोक्षं विजानीहीति गाथार्थः॥ आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। ('मरण' शब्देऽ-स्मिन्नेव भागे ११३ पृष्ठे मरणभेदा इदमध्ययनं च व्याख्यातम्।)

विमोक्खण-विमोचण-न०। अष्टविधकर्मणः पृथक्करणे, उत्त० ८ अ०। विमोचके, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। कर्मबन्धनान्मुक्तिकरणे, उत्त० २६ अ०।

विमोयग-विमोचक-त्रि०। अपनेतरि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

विमोयणा-विमोचना-त्रि०। त्याजने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। ज्ञा०।

विमोयतर-विमोच्यतर-त्रि०। त्याज्यतरे, स्था०२ ठा० १ उ०।

विमोह-विमोह-पुं०। विगतो मोहो येषु येषां वा येभ्यो वा। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। अज्ञानरहितेषु, उत्त० ५ अ०। अनुत्तरोपपातिनो विमोहाः। मोहसमुत्थेषु परीषहोपसर्गेषु प्रादुर्भूतेषु विमोहो भवेत्तान् सम्यक् सहेतेति यत्राभिधीयते स विमोहः। स्था० ६ ठा० ३ उ०। आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य सप्तमे अध्ययने, स० ६ सम०। आव०। उत्त०। विमोहा इवाल्पवेदादिमोहनीयोदयतया विमोहाः। अथवा—मोहो द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतोऽन्धकारो, भावतश्च—मिथ्यादर्शनादिः। स द्विविधोऽपि सततरत्नोद्योतितत्वेन सम्यग्दर्शनस्यैव च तत्र संभवेन विगतो मोहो येषु ते विमोहाः। उत्त० ५ अ०। आचा०।

विमोहित्ता-विमोह्य-अव्य०। मोहमुत्पाद्येत्यर्थे, भ० १० श० ३ उ०।

विम्ह-वेश्मन्-न०। वसतौ, ध० ३ अधि०।

विम्हअणिज्ज-विस्मयनीय-त्रि०। "वोत्तरीयानीय-तीयकृद्ये ज्जः" ॥ ८। १। २४८॥ इति यस्य द्विरुक्तो जकारो वा। विस्मयविषये, प्रा० १ पाद।

विम्हय-विस्मय-पुं०। "पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः" ॥ ८। २। ७४॥ इति स्मभागस्य मकाराक्रान्तो हकारः। प्रा०। आश्चर्ये, आव० ४ अ०। मयाऽप्राप्तपूर्वमिदमित्येवंरूपे प्रमोदे, पञ्चा० ३ विव०। अनु०।

विम्हर-स्मृ-धा०। स्मरणे, "स्मरेर्झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः" ॥ ८। ४। ७४॥ इति स्मरतेर्विम्हरादेशः। विम्हरइ। स्मरति। प्रा० ४ पाद।

विस्मृ-धा०। विस्मृतौ, "विस्मुः पम्हुस-विम्हर-वीसराः" ॥ ८। ४। ७५॥ इति विस्मरतेर्विम्हादेशः। विम्हरइ। विस्मरति। प्रा० ४ पाद।

विम्हावण-विस्मापन-न०। बालस्मयने, पं० व० ५ द्वार। आश्चर्यकुहकपराक्षेपकरणे, नि० चू०।

जे भिक्खू अप्पाणं विम्हावेइ विम्हावंतं वा साइज्जइ।१७०।
जे भिक्खू परं विम्हावेइ विम्हावंतं वा साइज्जइ॥ १७१॥

विस्मयकरणं विम्हावणा। आश्चर्यं कुहकपराक्षेपकरणमित्यर्थः।

गाहा—

विम्हावणा उ दुविधा, अभूयपुव्वा य भूयपुव्वा य।
विज्जा तवइंदजालिय, निमित्तवयणादिसुं चेव॥५८॥

विज्जाए मंतेण वा तवोलद्धीए वा इंदजालेण वा नाणागतपडुप्पन्नेण वा णिमित्तवयणेण आदिसद्दातो अंतद्धाणपादलेवजोगेण वा, अहवा वयणं मरहट्ठयदमियकुडुब्बगोल्लयकीरट्ठकसेंधवातीयाण य कुट्टिकरणं। इमं अभूतपुव्वाण भूतपुव्वाण य वक्खाणं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा—

जो जेण अकयपुव्वा, अस्सुयपुव्वा अदिट्ठपुव्वा वा।
सा होतऽभूयपुव्वा, तव्विवरीया भवे भूता ॥ ५६ ॥

जेण पुरिसेण जो विज्जामंतजोगइंदजालादियोपयोगो अप्पणा अकयपुव्वो अन्नेण वा कज्जमाणो न दिट्ठो असुतो वा सो तस्स अभूतपुव्वो भण्णति, तव्विवरीतो पुण जो सयंकतो दिट्ठो सुतो वा सो भूतपुव्वो भवति। एत्थ संभूते चउलहुं, असंभूए चउगुरुं, नेमित्ते अतीते चउलहुं, पडुप्पन्नागतेसु चउगुरुं।

एत्थ निमित्तवयणे असम्भूते इमं उदाहरणं

गाहा—

दिव्वं अच्छेरं वि-म्हओ य अतिसाहसं।
अतिसओ य कतो से, णाउं जे किं सुहं णातुं ॥ ६० ॥

दो जणा मिलिउं कित्तियादियाण सत्तण्हं णक्खत्ताणं इमं णाम संगारं करेंति। अच्छेरं विम्हतो अतिसाहसं अतिसतो कतो। से णातुं जे किं णाहि त्ति किमुहं णाउं एवं मघादि अणुराहादि धणिट्ठादि, एवं संगारं करित्ता बहुजणमज्झे एवं भासति-जो जं सत्तवीसाणं नक्खत्ताणं अनंतरं छिवति तमहं जाणामि, तं परोक्खं कातुं छिक्कं। इतरो संगारसाहू भणाति-जदि पुव्वदारियं तो पुव्वा महा महोट्ठिआ अहो दिव्वं नाणं ताहे जाणतिकिया एवं अन्नम्मि वि संगारे नामे उक्कितिते जाणति। एवं सव्वणक्खत्ते जाणति।

गाहा—

एत्तो एगतरेणं, विम्हितकरणेन सन्नसंतेणं।
अप्पपरं विम्हाहे, सो पावति आणमादीणि ॥ ६१ ॥

विज्जामंतादिया एगतरेण विम्हावंतस्स आणादिया य इमे दोसा।

गाहा—

उम्मायं पावेज्जा, तदट्ठजाएण पडिणिए खित्तं।
अत्तं व परं कुज्जा, तव णिव्वहणं व माया य ॥ ६२ ॥

एरिसं मया कतेति सयमेव दित्तचित्तो भवेज्जा, तं वा विम्हावणकरणट्ठं जाएज्जा। दिन्ने अहिगरणं अदिज्जंते पडिणीतो। एसो वा विम्हावितो खित्तचित्तो भवति। विज्जाजीवणप्पयोगेण य तवो णिव्वहति-विफलीभवतीत्यर्थः। असम्भूते य मायाकरणं मुसावादो य। जम्हा एते दोसा तम्हा णो वेम्हाविज्जा।

इमेहिं कारणेहिं विम्हावेज्जा। गाहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाणरोहए वा, जयणाए विम्हयावेज्जा ॥ ६३ ॥

असिवअवणयणेण विम्हावेज्जा, अहवा असिवे ओमे य अप्पबंता विम्हावेज्ज, रायदुट्ठ भए य आउंटणाणिमित्तं विम्हावेज्जा, गेलण्णे आउंटणऽट्ठा ओसहट्ठा वा रोधगअद्धाणेसु वि अपुव्वणाणादिगाणि बहुकारणाणि अविक्खिऊण विम्हावेज्जा। तं च जयणाते। सा इमा—पुव्वं मंतेण पणगादिजयणा वा जाहे चउलहू पत्तो, ताहे विम्हावेज्जा। नि० चू० ११ उ०।

विम्हावित-विस्मापयत्--त्रि०। विस्मापके, इन्द्रजालिनि, स्था० ४ ठा० ४ उ०। पं० व०। ('परविम्हावग' शब्दे पञ्चमभागे ५४८ पृष्ठेऽयं व्याख्यातः।)

विय--विद्--पुं०। विदन्तीति विदः। विदुषि, आ० म० १ अ०। विदितवेद्य, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। भावे क्विप्। विज्ञाने, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

अविच-अव्य०। समुच्चयार्थे, अपि चेत्यव्ययद्वयस्थाने वियशब्दः समुच्चयार्थः। जी० १ प्रति०।

व्यय-पुं०। विगमे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

वियइ-विगति--स्त्री०। मरणे, स्था०।

एगा वियती। (सू० २३)

'वियइ' त्ति विगतिर्विगमः, सा चैकोत्पादवदिति विकृतिर्विगतिरित्यादिव्याख्यान्तरमप्युपचितमायोज्यम्, अस्माभिस्तु उत्पादसूत्रानुगुण्यतो व्याख्यातमिति ॥२३॥ स्था० १ ठा०।

विकृति-स्त्री०। विकारे, पिं०। ('विगइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विशेषः)।

वियंग-विग(क)ताङ्ग--त्रि०। विगतकर्णनासाहस्ताद्यङ्गे, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। प्रश्न०।

वियंजिय-व्यञ्जित--त्रि०। अभिव्यक्तीकृते, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

वियंति-व्यन्ति--स्त्री०। विशेषेणान्तिर्व्यन्तिः। अन्तक्रियायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ०।

वियंतिकारय-व्यन्तिकारक-पुं०। विशेषेणान्तिर्व्यन्तिरन्तक्रिया तस्याः कारकः। आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ०। कर्मक्षयविधायिनि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ०।

वियंभिय-विजृम्भित-त्रि०। प्रबलीभूते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विवृताङ्गतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। विस्फुरिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

वियकिल-विचकिल--पुं०। वनस्पतिविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

वियक्क--वितर्क-पुं०। विकल्पे, स्था० ४ ठा० १ उ०। ऊहे, आतु०। मीमांसायाम्, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। प्राकृते स्त्रीत्वमपि। द्वा० २१ द्वा०। (सप्तविंशतिर्वितर्का इति 'मित्ता' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याख्याताः।)

वियक्कज्झाण-वितर्कध्यान-न०। कथं राज्यादि ग्रहीष्ये इति चिन्तामाध्याने नन्दराज्यं जिघृक्षोश्चाणक्यस्येव दुर्ध्याने, आतु०।

वियक्खण-विचक्षण-पुं०। विविधमाख्याति-कथयतीति विचक्षणः। पण्डिते, दश० ६ अ०। विदुषि, दश० ५ अ० १ उ०। पो०। उत्त०। विविधं सर्वासु दिक्षु पश्यति, ओघ०। ध०।

वियच्चा--विगतार्चा--स्त्री०। विगतस्य-विगमवतो जीवस्य; मृतस्येत्यर्थः अर्चा—शरीरं विगतार्चः। विगतिमज्जीवशरीरे, स्था० १ ठा०।

विचर्चा-स्त्री०। विशिष्टोपपत्तिपद्धतौ, विशिष्टभूषायां च।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एगा वियचा । (सू०-२४)
एका विगतार्चा विचर्चा वा सामान्यात् । स्था० १ ठा० ।

वियट्ट–व्यावृत्त–त्रि० । निवृत्ते, अपगते, भ०१ श० १ उ० । स० ।

विवर्त्त–पुं० । कारणविकारेण वस्तुजन्मनि, द्वा० १० द्वा० । ("परिणामा विवर्तन्ते जीवस्तु न कदाचन" इति 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६२१ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादितम् ।)

वियट्टछउम–व्यावृत्तच्छद्मन्–पुं० । व्यावृत्तं निवृत्तमपगतं छद्म शठत्वमावरणं वा यस्यासौ व्यावृत्तछद्मा । केवलिनि, भ० १ श०१ उ० । स० । कल्प० । "वियट्टछउमाणं" व्यावृत्तछद्मभ्यः छादयतीति छद्म–घातिकर्माऽभिधीयते, ज्ञानावरणादि, तद्बन्धयोग्यतालक्षणश्च भावाधिकार इति असत्यस्मिन् कर्मयोगाभावात् । अत एवाहुरपरे–असहजाऽविद्येति, व्यावृत्तं छद्म येषां ते तथाविधा इति विग्रहः, नाक्षीणे संसारेऽपवर्गः क्षीणे च न जन्मपरिग्रह इत्यसत्; हेत्वभावेन सदा तदापत्तेः । न तीर्थनिकारो हेतुः, अविद्याभावेन तत्संभवाभावात्, तद्भावे च छद्मस्थास्ते, कुतस्तेषां केवलमपवर्गो वेति भावनीयमेतत् । न चान्यथा भव्योच्छेदेन संसारशून्यतेत्यसदालम्बनं ग्राह्यम्, आनन्त्येन भव्योच्छेदासिद्धेः । अनन्तानन्तकस्यानुच्छेदरूपत्वाद्; अन्यथा सकलमुक्तिभावेनेष्टसंसारिवदुपचरितसंसारभाजः सर्वसंसारिणः इति बलादापद्यते । अनिष्टं चैतदिति । व्यावृत्तछद्मान इति ॥ २६ ॥ ल० ।

वियट्टभोइ(ण्)–व्यावृत्तभोजिन्–त्रि० । व्यावृत्ते सूर्ये भुङ्क्ते इत्येवंशीलो व्यावृत्तभोजी । प्रतिदिनभोजिनि, भ० २ श० २ उ० ।

वियट्टमाण–विवर्त्तमान–त्रि० । विचरति, द्वा० १ श्रु० १ अ० । आचा० ।

वियट्टिऊण–विवर्तितुम्–अव्य० । विविधमनेकप्रकारं वा वर्तितुमित्यर्थे, पं० चू० ५ कल्प० ।

वियट्टित्तए–विवर्तयितुम्–अव्य० । आसितुमित्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

वियड–विकट–न० । समयभाषया जले, स्था० ५ ठा० २ उ० । सूत्र० । विगतजीवे उदके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्रासुकोदके, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । नि० चू० । शीतोष्णादिशस्त्रेण विकारं प्रापिते प्रासुकीकृते, बृ० २ उ० । उष्णोदके, स्था० ३ ठा० ३ उ० । पल्वलादिगते जले, सं० । देशीवचनत्वात् । तडागिकायाम्, उत्त० २ अ० । मद्ये, पिं० । (विकटं क्रीणातीत्यादि 'कीयगड' शब्दे तृतीयभागे ५६५ पृष्ठे गतम् ।)

जे भिक्खू वियडं पामिच्चइ पामिच्चवेइ पामिच्चियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥२॥
जे भिक्खू वियडं परियट्टेइ परियट्टावेइ परियट्टियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥
जे भिक्खू वियडं अच्छिज्जं अणिसिट्ठं अभिहडमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

एतेसिं स्वरूपं पूर्ववत् । जहा पिंडणिज्जुत्तीए । एतेसु पच्छित्तं चउलहुं । जं च दुगुंछियपिंडग्गहणे पच्छित्तं च भवति–द्व ।

गाहा—

एमेव तिविहकरणे, पामिच्चं पडिगहे य परियट्टे ।
अणिसट्ठे अच्छिज्जे, तिविहं करणं णवरि णत्थि ॥६॥

तिविहं करणं–कृतं कारितं अनुमोदितं च । अच्छिज्जाणिसट्ठेसु तिविहं करणं ण भवति, सेसं सव्वं बितियपदं पूर्ववत् । नि० चू० १६ उ० । (दत्तिविषयः 'दत्ति' शब्दे चतुर्थभागे २४१० पृष्ठे गतः ।)

गाहा—

वियडत्तस्स उ विहिणे, गंतुं देति अह बला णीति ।
जयणाएँ पत्तवासे, गोयणबलवंतदढमवि ॥ १३ ॥

जइ जुत्तमेत्तपीएण अतिरित्तेण वा मतो वियडत्तणो जाता मत्तो पराधीणं उवहिं णिग्गच्छेज्ज ता ण देति से णिग्गंतुं, बला णिंतो जयण त्ति जहा ण पीडिज्जति तहा पत्तवासेति वज्झइ । अह पत्तवासिं तो मोक्कलो वा गाएज्ज वा पलवेज्ज वा तो आसमविति आसममुहं तं पि से विज्जति । अहवा–दैतो तिएहं दत्तीणं अतिरित्तमवि गेएिहज्ज ।

गाहा–

विवियपदं गेलएणे, विज्जुवदेसे तहेव सिक्खाए ।
गहणं अतिरित्तस्स वि, विज्जुवदेसे य आतियरं ॥१४॥

गेलएणट्ठा वेज्जुवदेसेण सिक्खाए वा, एतेहिं कारणेहिं गहणं अतिरित्तस्स । आतियरं पि अतिरित्तस्स गेलएणसिक्खादिविशेषतो वेज्जुवदेसेण तं पुण इमेसु ठाणेसु कमेण गेएहेज्ज । गहणं पुराणसावगसड्ढअहाभद्ददासणसड्ढे य भावियकुलेसु, ततो जयणाए, न तु परलिङ्गेण ।

जे भिक्खू वियडं गहाय गामाणुग्गामं दूइज्जइ दूइज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

वियडेण हत्थगतेण जो गामाणुगामं दूइज्जइ तस्स आणादी चउलहुं च ।

गाहा–

कारणतो सग्गामे, सति लब्भति जो (सयं) परग्गामे ।
आणिज्जाए वियडं, णिज्जा वा आणमादीणि ॥१५॥

कारणओ वियडं घेत्तव्वं; तं पि सग्गामे 'सती' तिं लब्भमाणे जो परग्गामातो आणति सग्गामाओ वा परग्गामं णिज्जा तस्स आणादिया इमे दोसा ।

गाहा–

परिगलणपवडणे वा, अणुपंथियगंधमादिउड्डाहो ।
आहारइयरे तेणा, किं लद्धं ति कुतूहलो चेव ॥ १६ ॥

परिगलंते पुढवादिछक्काया विराहिज्जंति । पडियस्स वा भायणभग्गो य छक्कायविराहणा । अहवा परिगलंते पडियस्स वा छड्डिते अणुपंथिओ वा पडिपंथिओ वा गंधमाघाएज्जा । सो य उड्डाहं करेज्ज । अंतरा वा आहारतेणा भायणं उग्घाडेज्ज, ते ददठुं आदीएज्ज, उड्डाहं वा करेज्ज । इयरे त्ति उवकरणतेणा ते वा कुतूहलेण भायणं उग्गाहेज्जा किं लद्धं ति तं वा उड्डाहं करेज्जा । जम्हा एवमादी दोसा–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा—

तम्हा खलु सग्गामे, घेत्तूणं बंधणं तहा कुज्जा ।
एत्तो चिय उवउत्तो, गिहीण दूरेण संचरितो ॥ १७ ॥

खलुसद्दो सग्गामावधारणे, स्वग्राम एव ग्रहीतव्यं । सग्गामासति परगामातो आणियव्वं । कारणे वा परगामं णेयव्वं इमेण विहिणा संकुडमुहभायणे ओमंथियं सरावं घणं परिबंधणं कुज्जा, पंथं उवउत्तो गच्छति । जहा णो परिगलति, पक्खलति. वा, गिहीण वा पयं जंताण हेट्ठोवायण दूरतो गच्छति । तं पि भायणं वा से कप्पदि णासुसंवृतं करेति । अववादकारणेण परगामं णति आणावेति ।

गाहा—

वितियपदं गेलण्णे, वेज्जुवएसे तहेव सिक्खाए ।
एतेहिँ कारणेहिं, जतणेमा तत्थ कायव्वा ॥ १८ ॥

पूर्ववत् । एवमादिकारणेहिं गेण्हंतस्स इमा जयणा ।

गाहा—

पुराणेसु सामंएसुं, सण्णिअहाभद्ददाणसड्ढे य ।
मज्झत्थकुलीणेसुं, किरियावादीसु तग्गहणा ॥ १६ ॥

पुव्वं पुराणस्स हत्थातो घेप्पइ, तस्स असति गहिताणुव्वतसावगस्स , ततो अविरयसम्मद्दिट्ठिस्स, ततो अहाभद्दगस्स, ततो दाणसड्ढस्स, मज्झत्था-जे णो अम्हं सासणं पडिवण्णा, णो अण्णेसिं ते य । जातिकुलीणा एत्थ कुलीणो सभावट्ठितो दिट्ठे अदिट्ठे य सदृशेत्यर्थः । क्रियां वदति क्रियावादीति वैद्येत्यर्थः ।

खेत्ततो पुण इमेसु गहणं । गाहा-

गिहकुलपाणागारिसु, गहणं पुण तस्स होदि ठाणेहिं ।
सागारियमादीहिं, ओगाढे अन्नलिंगेणं ॥ २० ॥

दोहिं ठाणेहिं गहणं करेति, पुराणादियाणं गिहेसु, पाणागारि त्ति-कल्लाणावणे । पुराणादिगिहासइ पच्छा कल्लाणावणे गिण्हेति । पुव्वं सेज्जातरगिहातो आणिज्जति । जे दूराणयणे दोसा ते परिहरिया भवंति । सेज्जातरगिहासति पच्छा णिवेसणतो वाडगसाहि सग्गामपरग्गामातो य । जत्थ सलिंगेण उड्डाहो तत्थ परलिङ्गेणं गहणं करेति ।

गाहा ।

अह दिट्ठमस्सुतेसुं, परलिङ्गंणंतरे सलिङ्गेहिं ।
आसज्ज वावि दोसं, अदिट्ठपुव्वे वि लिङ्गेण ॥ २१ ॥

जत्थ णगरे गामे वा सो साधू केणइ दिट्ठो वा अगारीहिं वा सुतो तत्थ परलिंगेणं ठितो गेण्हइ । ण तरति जत्थ पुण सो परलिङ्गट्ठितो वि पच्चभक्षति जति सलिंगेण वा गेण्हति । अहवा 'आसज्ज वा वि दोसं' ति, जत्थ दोसो ण णज्जति, किं एतेसिं वियडं कप्पं अकप्पं ति, ण वा लोगो गरहति तत्थ सलिङ्गेण गेण्हति । 'अदिट्ठपुव्वे' त्ति जत्थ गामणगरादिसु अदिट्ठपुव्वो तत्थ वा सलिंगेण गेण्हति । नि० चू० १६ उ० । (गालनविषयः 'गालण' शब्दे तृतीयभागे ८७१ पृष्ठे गतः) (विकटपानविवरणं ' वसहि ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६४६पृष्ठे गतम् ।) (एतद्विषयकप्रतिसेवना ' मूलगुणपडिसेवणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४४ पृष्ठे उक्ता ।) विस्तीर्णसूक्ष्मतरबुद्धिगम्ये, त्रि० । चं०प्र० १ पाहु । उपा० । अ० । ज्ञा० । प्रभूते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अतिप्रकटे स्थूरे, व्य० १ उ० । स० । पुं० । एकपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । सू० प्र० । जं० ।

दो वियडा । (सू०) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

विकृत–त्रि० । अस्वाभाविके, व्य० ७ उ० ।

विवृत–त्रि० । अनावृते, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

वियडगिह–विवृतगृह–न० । अधःकुड्याभावादुपरि वाच्छादनाभावादनावृते गृहे, पञ्चा० १८ विव० । स्था० । आचा० । बृ० । विवृतम्—अनावृतं, तच्च द्वेधा—अध ऊर्ध्वं च । तत्र पार्श्वत एकादिदिक्ष्वनावृतमधोविवृतम् , नाच्छादितममालगृहं चोर्ध्वविवृतं; तदेव गृहं विवृतगृहम् । उक्तञ्च–"अनाउडं जं तु चउद्दिसिं पि, दिसामहो तिन्नि दुवे य एक्का । अहो भवे तं वियडं गिहं तु, उड्ढं अमालं च अतिच्छदं च ॥ १ ॥" त्ति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

वियडजाण—विवृतयान—न० । तल्लरकवर्जिते शकटे, भ० ११ श० ११ उ० ।

वियडणा—विकटना—स्त्री० । आलोचनायाम् , ओघ० । व्य० । प्रति० । बृ० । नि० चू० । पं० व० ।

वियडदत्ति—विकटदत्ति—स्त्री० । विकटं पानकाहारस्तस्य दत्तय एकप्रक्षेपप्रदानरूपाः । पानकदत्तिषु, स्था० ।

णिग्गंथस्स णं गिलायमाणस्स कप्पंति ततो वियडदत्तीओ पडिग्गाहित्तते, तं जहा—उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना । (सू० १७१)

निर्ग्रन्थस्य ग्लायतः अशक्नुवतः, वृद्धवेदनादिना अभिभूयमानस्येत्यर्थः, आहारग्रहणं हि वेदनादिभिरेव कारणैरनुज्ञातम्, 'तओ' त्ति तिस्रः 'वियड' त्ति पानकाहारः, तस्य दत्तयः-एकप्रक्षेपप्रदानरूपाः प्रतिग्रहीतुम्—आश्रयितुं वेदनोपशमायेति, उत्कर्षः—प्रकर्षः तद्योगादुत्कर्षा, उत्कर्षतीति वोत्कर्षा; उत्कृष्टेत्यर्थः , प्रचुरपानकलक्षणा, यया दिनमपि यापयति, मध्यमा ततो हीना, जघन्या यया सकृदेव वितृष्णो भवति यापनामात्रं वा लभते । अथवा—पानकविशेषादुत्कृष्टाद्या वाच्याः, तथाहि—कलमकाञ्जिकावश्रावणादेर्द्राक्षापानकादेर्वा प्रथमा १, षष्टिका (दि) काञ्जिकादेर्मध्यमा २, तृणधान्यकाञ्जिकादेरुष्णोदकस्य वा जघन्येति । देशकालस्वरुचिविशेषाद्वोत्कर्षादि नेयमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

वियडधम्मिय—विकटधर्म्मिक—पुं० । स्वनामख्याते शत्रुञ्जयचैत्योद्धारकारके, ती० १ कल्प ।

वियडभोइ(ण्)–विकटभोजिन्–त्रि० । विकटे–प्रकटे दिवसे; न रात्रौ (इति यावत्) भोक्तुं शीलमस्येति विकटभोजी । चतुर्विधाहाररात्रिभोजनवर्जके, पञ्चा० १० विव० । उपा० ।

वियडवेस–विकृतवेष–पुं० । देशदशाविभवानुचितवेषे, दर्श० ३ तत्त्व ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वियडा–विवृता–स्त्री० । योनिभेदे, तत्र द्वीन्द्रियादीनां चतुरिन्द्रियपर्यन्तानां सम्मूर्च्छिममनुष्याणां च विवृता योनिस्तेषामुत्पत्तिस्थानस्य जलाशयादेः स्पष्टमुपलभ्यमानत्वात् । प्रज्ञा० १० पद ।

वियडावइवासि(न्) –विकटापतिवासिन्–पुं० । विकटावतीवास्तव्ये, स्था० ।

दो वियडावईवासी । (सू०९२×) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

वियडावाइ(न्)–विकटापातिन्–पुं०।जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरत ऐरण्यवते वर्षे प्रभासदेवाधिष्ठिते वृत्तवैताढ्यपर्वते, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दो वियडावाई । सू०९२ ×)

विकटापातिदेवयोर्द्वित्वेन तदावासपर्वतावपि द्वौ । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

वियडासय–विकटाश (श्र) य–पुं० । विकटं-जलं तस्याशयः आश्रयो वा स्थानं विकटाशयो विकटाश्रयो वा । क्षुल्लुके, भ० १५ श० ।

वियडासव—विकटाश्रव–त्रि० । अनिवारिताश्रवे, "वियडासवा जलम्मि उ, कहं तु नावा न वोडेज्जा ।" 'वियडासवे' त्यादि, विकटानि-अतिप्रकटानि स्थूराणीत्यर्थः आश्रवाणि जलप्रवेशस्थानानि यस्य स तथा । व्य० १ उ० ।

वियंडी–वितटी–स्त्री० । विरूपायां तट्याम्, अटव्यां च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

वियंडिज्जंत–विकथ्यमान–त्रि० । आलोच्यमाने, व्य० ५ उ० ।

वियडोदग–विकटोदक–न० । प्रासुकजले, पञ्चा० १८ विव० ।

वियत्त–व्यक्त–त्रि० । परिस्फुटे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । वयःश्रुताभ्यां परिणते, स० १८ सम० । बालभावान्निष्क्रान्ते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अमुक्ते, विवेकं प्राप्ते, सूत्र० १ अ० २ उ० । द्रव्यभाववृद्धे, दश० ६ अ० । स्था० । वीरजिनेन्द्रस्य चतुर्थे गणधरे, आ० म० १ अ० । ('वत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८२८ पृष्ठे एतद्वर्णनमुक्तम् ।) प्रीतिकरे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । स्था० ।

वियत्तकिच्च–व्यक्तकृत्य–त्रि० । अकार्यं कृत्वाऽपि इष्टे, स्था० । 'वियत्तकिच्च' त्ति व्यक्तस्य भावतो-गीतार्थस्य कृत्यं करणीयं व्यक्तकृत्यं-प्रायश्चित्तमिति । गीतार्थो हि गुरुलाघवपर्यालोचनेन यत्किञ्चन करोति तत्सर्वं पापविशोधकमेव भवतीति । अथवा—ज्ञानाद्यतिचारविशुद्धये यानि प्रायश्चित्तान्यालोचनादीनि विशेषतोऽभिहितानि तानि तथा व्यपदिश्यन्ते । प्रायश्चित्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

विदत्तकृत्य–त्रि० । प्रायश्चित्ते, विशेषेण-अवस्थाद्यौचित्येन विशेषानभिहितमपि दत्तं वितीर्णमभ्यनुज्ञातमित्यर्थः । यत्किञ्चिन्माध्यस्थगीतार्थेन कृत्यमनुष्ठानं तत् विदत्तकृत्यं प्रायश्चित्तमेव । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

वियत्तूण–विवर्त्य–अव्य० । आवर्त्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

वियत्थ–वितस्त–पुं० । अष्टाविंशतितमे महाग्रहे, स्था० ।

दो वियत्था । (सू० ९० +) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

वियत्थि–वितस्ति–पुं० । द्वादशाङ्गुलप्रमाणे मानभेदे, जी० १ प्रति० ।

वियय–वितत–त्रि० । विस्तारिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रसारिते, विशे० ।

वियर–वितर–पुं० । नदीपुलिनादौ जलार्थं गर्ते, स्था० ५ ठा० ४ उ० ।

विदर–पुं० । जलस्थानविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कूपिकायाम्, नि० चू० १५ उ० ।

विवर–न० । रन्ध्रे, उत्त० २० अ० । निर्झरविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ।

वियरण–विचरण–न० । बालानां विजटीकरणे, प्रव० ३८ द्वार ।

वितरण–न० । ग्रहणानुज्ञादाने, नि० चू० २ उ० ।

वियरिय–विचरित–त्रि० । आसेविते, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ।

वियसंती–विकसन्ती–स्त्री० । अमुकुलितायाम्, प्रज्ञा० २ पद । जी० ।

वियसिय–विकसित–त्रि० । प्रफुल्लिते, 'वियसियसयपत्तपोंडरीया' विकसितानि यानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च द्वारादौ प्रकृतित्वेन स्थितानि यत्रेति । सू० प्र० १८ पाहु० । स० । प्रज्ञा० । रा० ।

वियाउरी–विजनयित्री–स्त्री० । अपत्यानां विजननशीलायाम्, नि० । आ० म० । ज्ञा०

वियागरेमाण–व्याकुर्वत्–त्रि० । सम्यग् व्याकर्तरि, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० । कथयति, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

व्यागृणत्–त्रि० । प्रतिपादयति, सूत्र १ श्रु० १४ अ० । व्याख्यानयति, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । आचा० ।

वियाण–वितान–न० । अनेकेषां संघाते, नि० चू० १ उ० ।

वियाणग–विज्ञापक–पुं० । विज्ञे, पञ्चा० १२ विव० । वादाभिज्ञे, व्य० १ उ० । विशिष्टावबोधसहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

वियाणमाण–विजानत्–त्रि० । विशेषेण विविधं वा जानन् विजानन् । अवगच्छति, उत्त० १९ अ० । अर्थधर्मज्ञे, उत्त० १२ अ० ।

वियाणिय–विज्ञाय–अव्य० । विशेषेण (देवगतिमनुष्यगतित्यागामित्वलक्षणेन) ज्ञात्वेत्यर्थे, उत्त० ७ अ० । सूत्र० ।

वियाय–विजनय्य–अव्य० । प्रसूयेत्यर्थे, 'वियायपुत्तं हत्थिजूहेण समं चरति' आव० ४ अ० ।

वियार–विचार–पुं० । मते, अभिमते, विशे० । विचरणमर्थाद् व्यञ्जने, व्यञ्जनार्थे, तथा मनःप्रभृतीनां संयोगानामन्यतरस्मादन्यतरस्मिन्निति विचारः । अर्थव्यञ्जनयोगसं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रान्तौ, स्था० ४ ठा० १ उ० । आव० । नं० । सञ्चरणे, विपा० १ श्रु० ६ अ० । अवकाशे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । उच्चारादिपरिष्ठापने, व्य० १ उ० । नि० चू० । प्रव० । संज्ञाव्युत्सर्जनार्थबहिर्गमने, प्रव० १०१ द्वार । ग० । आव० ।

सम्प्रति विचारकल्पमाह-

अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयपरिच्छणम्मि चउगुरुगा ।
दोहि गुरू तवगुरुगा, कालगुरू दोहि वी लहुगा ॥४१७॥

सूत्रे-सप्तसप्तकलक्षणे ओघनिर्युक्तिलक्षणे वा अप्राप्ते यदि विचारभूमावेकाकिनं प्रस्थापयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, ते च द्वाभ्यां गुरुकाः, तद्यथा—तपोगुरुकाः, कालगुरुकाश्च । अथ प्राप्तेऽपि श्रुते तदर्थमकथयित्वा, कथनेऽप्यधिगतस्तदर्थो नवेत्यपरिज्ञायाऽधिगतमपि सम्यक् श्रद्दधाति न वेत्यपरीक्ष्य यदि प्रेषयति तदा प्रत्येकमकथनेऽनधिगमेऽपरीक्षणे च तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । ते च विचाराधिकारात् सर्वत्रापि च द्वाभ्यां लघवः, तपोलघुकाः काललघुकाश्च । न केवलमेतत् प्रायश्चित्तं किं त्वाज्ञादयश्च दोषाः । संयमविराधना त्वेवं सोऽप्राप्तश्रुतादित्वादेकाकी प्रस्थापितः षट्सु जीवनिकायेषु संज्ञां व्युत्सृजेत, उड्डाहं वा स्थण्डिले व्युत्सृजन् कुर्यात् । विरुद्धदिक्षु व्युत्सृजनेनायुषोऽपगमत आत्मविराधना । तस्मात्—

पढिते य कहिय अहिगय, परिहरति वियारकप्पितो सो उ ।
तिविहं तीहिँ विसुद्धं, परिहर नवएण भेदेणं ॥४१८॥

यदा सूत्रं सप्तसप्तकादिरूपं पठितं भवति, तस्य चार्थः कथितोऽधिगतोऽधिगम्य च सम्यक् श्रद्धानविषयीकृतोऽस्तीति निशीथोक्तेन प्रकारेण परीक्ष्यमाणस्त्रिविधं सचित्तमचित्तं मिश्रं च स्थण्डिलं परिहारविषयेण नवकभेदेन त्रिभिर्मनोवाक्कायैर्विशुद्धं परिहरति । तद्यथा-सचित्तं स्थण्डिलं तन्मनसा स्वयं न गच्छति, नाप्यन्यान् गमयति, न चाप्यन्यं गच्छन्तमनुजानाति । एवं वाचा३ कायेनापि । एवं मिश्रमचित्तं चापातसंलोकादिदोषदुष्टं संभवति । वि (चा) रकल्पिकेन विचारभूमौ गतेन स्थण्डिले उपवेष्टव्यम् । वृ० १ उ० १ प्रक० । ('थंडिल' शब्दे चतुर्थभागे २३७० पृष्ठे शेषविधिरुक्तः ।)

वियारण-विचारण-न० । अनुगमने, अनु० । अर्थानां पर्यालोचने, आ० म० १ अ० । स्था० ।

विदारण-न० । स्फोटने, विशे० । आव० । भेदने, आव० ४ अ० । स्था० ।

वियारभूमि-विचारभूमि-स्त्री० । शरीरचिन्तार्थगमने, कल्प० ३ अधि० ९ क्षण । विष्ठोत्सर्गभूमौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । व्य० । नि० चू० । बृ० ।

वियाररयणागर-विचाररत्नाकर-पुं० । हीरविजयसूरिशिष्यकीर्तिविजयकल्पसुबोधिकाकारविनयविजयगुरौ, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । (विचाररत्नाकरवृत्तम् 'कप्पसुबोहिया' शब्दे तृतीयभागे २३६ पृष्ठे गतम् ।)

वियारामयसंगह-विचारामृतसंग्रह-पुं० । चैत्यपूजाद्यर्थप्रतिबद्धे ग्रन्थभेदे, ध० २ अधि० ।

वियाल-विकाल-पुं० । सन्ध्यायाम्, नि० चू० ४ उ० । विपा० । सन्ध्यापगमे, नि० चू० ४ उ० । ज्ञा० । आचा० । प्रत्यपराह्णकालसमये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० म० ।

विचाल-न० । अन्तराले, विशे० ।

व्याल-पुं० । सर्पे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० ।

वियालण-विचारण-न० । ईहाज्ञाने, "वियालणं ति ईहणं ति मग्गणं वि वा एगट्ठं । " आ० चू० १ अ० ।

वियालग-विकालग-पुं० । द्वितीये महाग्रहे, सू०प्र० २०पाहु० ।

दो वियालगा (सू० ६०+) स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० ।

वियालयारि(ण्)-विकालचारिन्-पुं० । विकालेऽपि-रात्रावपि चरतीति विकालचारी । औ० । साहसिकत्वाद् रात्रावपि विचरणशीले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

वियावण-वितापन-न० । शीतार्दितस्य शीतापनयनाय काष्ठप्रज्वालने, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

वियावत्त-व्यव्यक्त-त्रि० । अव्यक्ते, "सामी जंभियगामं गतो तस्स बहिया वियावत्तस्स चेइयस्स अदूरसामंते" अव्यक्तं पतितशटितम् ; प्रकटमित्यर्थः । आ० म० १ अ० । आ० चू० । महाशुक्रदेवलोकस्थविमानभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० । स्तनितकुमारेन्द्रयोर्घोषमहाघोषयोर्दक्षिणलोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० । स्था० ।

वियास-व्यास-पुं० । पराशरपुत्रे, कृष्णद्वैपायनर्षौ, विशे० । सूत्र० ।

विहाय-व्याख्या-स्त्री० । व्याख्यायन्तेऽर्था यस्यां सा व्याख्या । प्राकृतत्वात्पुंलिङ्गत्वम् । अर्थविवृतौ, स० १३६ सम० ।

वियाहिय-व्याख्यात-त्रि० । विविधमाख्यातो व्याख्यातः । आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । तीर्थकरगणधरादिभिः प्रतिपादिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० । स्था० । भ० ।

व्याहृत-त्रि० । कथिते, ग० २ अधि० । सूत्र० । आचा० । उत्त० ।

वियुत्त-वियुक्त-त्रि० । रहिते, नि० चू० २० उ० । विशे० ।

विय्या(ज्ञा)हल-विद्याधर-पुं० "ज-च-यां यः" ॥ ८।४।२९२॥ इति यस्थाने द्विरुक्तो यः । वैताढ्यपर्वतमनुष्ये, "अप्प किल विय्याहले आगदे" प्रा० ४ पाद ।

विर-गुप-धा० । गोपने, " गुप्येर्विर—णडौ " ॥ ८।४।१५० ॥ इति गुप्यतेर्विरादेशः । विरइ । गुप्पइ । गुप्यति । प्रा०४पाद ।

भञ्ज-धा० । आमर्दने, भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जाः " ॥ ८ । ४ । १०६ ॥ इति भञ्जधातोर्विरादेशः । विरइ । भनक्ति । प्रा०४ पाद ।

विरइ-विरति-स्त्री० । विरमणं विरतिः । स्था० १ ठा० । प्राणातिपातादिनिवृत्तौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । प्रश्न० । (" पाणाइवायविरई " (महा० १ चू०) इत्यादि 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४३६ पृष्ठे गतम् ।) सावद्ययोगान्निवृत्तौ, विशे० । उत्त० । प्रश्न० । आ० म० । सम्यक्त्वपूर्विकायां सावद्यारम्भान्निवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अ०। प्रत्याख्येयार्थेषु निवृत्तिपरिणामे, पञ्चा० ५ विव०। वर्जने, संघा० १ अधि० १ प्रस्ता०। आ० म०।

विरइपरिणाम–विरतिपरिणाम–पुं०। प्राणातिपातादिनिवर्त्तने पारमार्थिकाध्यवसाये, ध० २ अधि०। पं० व०।

विरइभाव–विरतिभाव–पुं०। सावद्ययोगविरमणपरिणामे, पञ्चा० १४ विव०।

विरइय–विरचित–त्रि०। निर्मिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०। विहिते,स०। 'विरइयवरकण्णपूरे' विरचिते वरकर्णपूरे प्रधान कर्णाभरणविशेषौ यस्य स तथा। भ० ७ श० ६ उ०। औ०।

विरइरयण–विरतिरत्न–न०। अत्युत्तमत्वाद् विरतितत्त्वे, पं० व० ५ द्वार।

विरंगभंगि–विरङ्गभङ्गि–त्रि०। तथाविधरङ्गेन—रागद्रव्येण भङ्गिर्विच्छित्तिर्यत्र तद् विरङ्गभङ्गि। वर्णचित्रे, व्य० ८ उ०।

विरत्त–विरक्त–त्रि०। क्वचिदपि रतिमप्राप्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। निवृत्ते, प्रश्न० ५ संव० द्वार। आतु०। विविधरागे, विरागे वा। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

विरमण–विरमण–न०। रागादिविरतिप्रकारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। आतु०। सर्वसावद्ययोगनिवृत्तौ, आ० म० १ अ०।

विरमाल–प्रति–ईक्ष्–धा०। प्रत्याशायाम्, "प्रतीक्षेः सामय–विहीर–विरमालाः"। ८। ४। १९३। इति प्रतीक्षतेर्विरमालादेशः। विरमालइ। प्रतीक्षते। प्रा०४ पाद।

विरय–विरत–त्रि०। विरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो निवर्त्तते स्मेति विरतः। "गत्यकर्मण्यनाधारे वा" इति कर्त्तरि क्तप्रत्यय पं० सं० १ द्वार। प्राणातिपातादिनिवृत्ते, दश० २ अ०। उत्त०। विषयसुखनिवृत्ते, द्वा० २७ द्वा०। औ०। दश०। सूत्र०। असंयमान्निवृत्ते, उत्त० १५ अ०। सूत्र०। आचा०। हिंसाद्याश्रवद्वारेभ्यो निवृत्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। उत्त०। सूत्र०। संथा०। आचा०। निवृत्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। सम्यक्संयमरूपेणोत्थिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। विशे०। विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः। तपोरते, दश० ४ अ०। ध०। पुं०। द्वासप्ततितमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु०। सू० प्र०। कल्प०। कर्म०। आ० म०। विरतिर्विरतं क्लीबे क्तप्रत्ययः। नपुं०। सावद्ययोगप्रत्याख्याने, कर्म० २ कर्म०। ('अविरयसम्मद्दिट्ठि' शब्दे प्रथमभागे ८०६ पृष्ठे व्याख्यातमेतत्।)

विरयण–विरचन–न०। निक्षेपे, अनु०।

विरयणा–विरचना–स्त्री०। प्रस्तारे, अनु०। विधौ, स्था० ४ ठा० २ उ०।

विरयाऽविरइ–विरताविरति–स्त्री०। विरमणं–विरतं, न विरतिरविरतिः, विरतं चाविरतिश्च यस्यां निवृत्तौ सा विरताविरतिः। देशविरतिसामायिके, विशे०।

विरयाऽविरय–विरताविरत–त्रि०। विरतः स्थूलादिविशेषणेभ्यः प्राणातिपातादिभ्योऽविरतश्चानिवृत्तः सूक्ष्मादिविशेषणेभ्यः स एवेति विरताविरतः। पञ्चा० ६ विव०। आ० चू०। आव०। विशे०। देशविरते श्रावके, स० १४ सम०।

३०८

विरल–विरल–त्रि०। अल्पे, अष्ट० २६ अष्ट०। आ० म०। ज्ञा०। उपा०।

विरलिया–विरलिका–स्त्री०। दोरिकाख्ये पटीभेदे, प्रव० ८४ द्वार। द्विसरसूत्रपट्याम्, बृ० ३ उ०।

विरली–विरली–स्त्री०। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त० ३६ अ०।

विरलोत्तमंग–विरलोत्तमाङ्ग–न० विरलकेशे, "लोयविरलुत्तमंग" अत्र उत्तमाङ्गशब्देन उत्तमाङ्गस्थाः केशा उच्यन्ते। पिं०।

विरल्ल–तन्–धा० "तनेस्तड–तड्ड–तड्डव–विरल्लाः"॥ ८। ४। १३७॥ इति तनधातोर्विरल्लादेशः। विरल्लइ। तनोति। प्रा०।

विरल्लअ–विरल्लक–पुं०। लावकपक्षिणि, बृ० २ उ०।

विरल्लिअ–तत–त्रि०। तनूञ् विस्तारे इत्यस्य, "तनेस्तड–तड्ड तड्डव–विरल्लाः"॥ ८। ४। १३७॥ तनूञ्धातोर्विरल्लादेशः प्रा०। विरलीकृते,जं० २ वक्ष०। जी०। विस्तारिते,स्था०४ ठा०४ उ०। जलार्द्रेषु; दे० ना० ७ वर्ग ८२ गाथा।

विरस–विरस–न०। विगतरसे, पुराणधान्यौदनादौ, स्था० ५ ठा० १ उ०। ज्ञा०। दश०। भ०। प्रश्न०।

विरसमेह–विरसमेघ–पुं०। विरुद्धरसे मेघे, भ० ७ श० ६ उ०। दे० ना०।

विरसाहार–विरसाहार–त्रि०।विरसं–विगतरसं पुराणधान्यौदनादि आहरन्तीति विरसाहाराः।विरसो वाऽऽहारो यस्य स विरसाहारः। अभिग्रहविशेषेण विरसस्यैवाहर्तरि, स्था० ५ ठा० १ उ०। सूत्र०। औ०।

विरह–विरह–पुं०। विनाशे, पञ्चा १६ विव०। अभावे, पं० व० ३ द्वार। विजनत्वे, नि०। ज्ञा०। त्यागे, पञ्चा०४ विव०। "अष्टकाख्यं प्रकरणं, कृत्वा यत्पुण्यमर्जितम्। विरहात्तेन पापस्य, भवन्तु सुखिनो जनाः॥१॥" विरहशब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्वं प्रकरणस्यावेदितं विरहाङ्कत्वाद्धरिभद्रसूरेरिति। हा० ३२ अष्ट०।

अहेसत्तमा णं पुढवी उक्कोसेणं छम्मासा विरहिया उववाएणं, सिद्धिगईणं उक्कोसेणं छम्मासा विरहिया उववाएणं। (सू० ५३५ ×)।

अधः सप्तमीत्यत्र सप्तमी हि रत्नप्रभाऽपि कथञ्चिद् भवतीति तद्व्यवच्छेदार्थमधोग्रहणम्; अतस्तमस्तमेत्यर्थः। सा षण्मासान् विरहितोपपातेन, यदाह—"चउवीसइं मुहुत्ता १, सत्त अहोरत्त २ तह य पन्नरस ३। मासो य ४ दो य ५ चउरो ६, छम्मासा विरहकालो उ ७॥ १॥"इति। सिद्धिगतावुपपातो गमनमात्रमुच्यते न जन्म, तद्धेतूनां सिद्धस्याभावादिति, इहोक्तम्—"एगसमओ जहन्नं, उक्कोसेणं हवंति छम्मासा। विरहो सिद्धिगईए, उव्वट्टणवज्जिया नियमा॥ १॥" इति। शेषं सुगममिति॥ स्था० ६ ठा० ३ उ०। एकान्त–कुसुमभरक्लवस्त्रयोः, दे० ना० ७ वर्ग १ गाथा। विजने, नि० चू० १ उ०।

विरहग्गि–विरहाग्नि–पुं०। "ह्रस्वः संयोगे"॥ ८।१। ८४॥ इति संयोगे परे दीर्घस्य ह्रस्वः। प्रियविप्रयोगजनितशोकाग्नौ; प्रा०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरहय-विरहक-पुं० । पुष्पप्रधाने, विशे० । अन्तरकाले, आ० म० १ अ० ।

विरहानल-विरहानल-पुं० । विरहाग्नौ, " विरहानलजालकरालि अउ पहिओ को वि बुड्डिविट्टिअओ " । प्रा० ४ पाद ।

विरहाल-देशी-कुसुम्भरक्ते वस्त्रे, दे० ना० ७ वर्ग ६८ गाथा ।

विरहालंभ-विरहालम्भ-पुं० । विजनालम्भे, नि० चू० १ उ० ।

विरहाली-विरहाली-स्त्री० । कणधान्यभेदे, ध० २ अधि० ।

विरहिय-विरहित-त्रि० । विजनस्थाने, विपा० १ श्रु० ६ अ० । वियुक्ते, आतु० । त्यक्ते, प्रव० ४० द्वार । विशे० । "निरयगईएं केवइयं कालं विलं विरहिया " भ० १ श० १० उ० ।

विरा-वि-ली-धा० । विलयगमने, विराइ । विलिज्जइ । विलीयते । प्रा० ४ पाद ।

विराग-विराग-पुं० । विरञ्जने, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । " विरागरूवेसु गच्छेज्जा " आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । सूत्र० । (सर्वकामेषु विरक्तता 'सव्वकाम' शब्दे वक्ष्यते ।) विरुद्धो रागो विरागः । अमनोज्ञरागे, विगतो रागो मन्मथभावो यस्मात्स विरागः । वैराग्ये, तं० ।

विराड-विराट्-पुं० । विशेषो राट् यत्र । देशभेदे, तद्देशाधिपे नृपे च । नगरभेदे, यत्र युधिष्ठिरकाले कीचकराजो राजा आसीत् । " नवमं इयं विराडनगरं तत्थ एं तुमं कीयं रायं भाउयसयसमग्गं करयल-०जाव समोसाढ " ॥ ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

विराम-विराम-पुं० । अवसाने, दश० ६ अ० १ उ० ।

विरामपच्चयाभास-विरामप्रत्ययाभ्यास-पुं० । विरामो वितर्कादिचिन्तात्यागः स एव प्रत्ययो विरामप्रत्ययस्तस्याभ्यासः-पौनः पुन्येन चेतसि निवेशनं विरामप्रत्ययाभ्यासः । विरामप्रत्ययस्य शतताभ्यासे, " विरामप्रत्ययाभ्यासा-न्नेति नेति निरन्तरात् । ततः संस्कारशेषाच्च, कैवल्यमुपतिष्ठते । " द्वा० २० द्वा० ।

विरायंत-विराजमान-त्रि० । शोभमाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । रा० । सूत्र० ।

विराल-विडाल-पुं० । मार्जारे, प्रज्ञा० ११ पद । "जहा विडालावसहस्स मज्झे, न मूसगाणं वसही पसतथा" उत्त० ३२ अ० ।

विराली-विडाली-स्त्री० । मार्जार्याम्, प्रज्ञा० ११ पद । सूत्र० । आ० म० । परिव्राट्प्रयुक्तमूषिकविद्याप्रतिपक्षभूतायां विडालप्रधानायां विद्यायाम्, आ० म० १ अ० । आ०क० । विशे० । विदारी-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

विराहग-विराधक-पुं० । विराधयतीति विराधकः । ज्ञानादीनां विनाशके, नि० चू० १ उ० । स० । रा० । ज्ञा० ।

विराहणा-विराधना-स्त्री० । विराध्यन्ते दुःखं स्थाप्यन्ते प्राणिनोऽनयेति विराधना । आव० ४ अ० । ज्ञानादीनां सम्यगननुपालनायाम्, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

तओ विराहणा पन्नत्ता, तं जहा-नाणविराहणा, दंसणविराहणा, चरित्तविराहणा । (सू० ३ +) ।

विराधनाः-खण्डनास्तत्र-ज्ञानस्य विराधना ज्ञानविराधना । ज्ञानप्रत्यनीकता-निह्नवादिरूपा एवमितरेऽपि नवरं दर्शनं सम्यग्दर्शनं क्षायिकादिचारित्रं सामायिकादीति ॥ ३ ॥ स० ३ सम० । प्रश्न० । कस्यचिद्वस्तुनः खण्डने, आव० ४ अ० । स्था० । खण्डनायाम्, विराहणा खंडणा भंजणा य एगट्ठा । नि० चू० १ उ० । पं० सू० । अपराधासेवने, षो० १३ विव० । पं० व० । औ० । आ० चू० । विराधना द्विविधा-संयमे, आत्मनि च । तत्र संयमविषया तावदियम्-"अण्ट्ठो दंडो विकहा, वक्खेवो विसोत्तिया य सइकरणं । आलिंगणाए दोसा, ऽसंनिहिए वायमाणस्स ॥१॥ " बृ० १ उ० ३ प्रक० । नि०चू० । आ०चू० । नाणस्स विराहणा णाणविराहणा । आ० चू० " । पडिक्कमामि निहिं विराहणाहिं । " विगता आराहणा विराहणा, नाणविराहणाए अकालसज्झायकारओ उदाहरणं । दंसणविराहणाए सावगधीता जज्जगंधेणं । चरित्तविराहणाए-खुड्डओ सुतओ जातो, महिसो वा, एताहिं तिहिं विराहणाहिं जो मे० जाव दुक्कडंति । आ० चू० ४ अ० । (एते द्वे अपि विराधने 'पलम्ब' शब्दे पञ्चमभागे ७०५ पृष्ठे गते ।) (संयम-विराधना योगविराधनादिवक्तव्यता ' उस्सारकप्प ' शब्दे द्वितीयभागे ११७४ पृष्ठे गता ।)

विराहणी-विराधनी-स्त्री० । ज्ञानदर्शनचारित्रविराधनाकारिण्यां भाषायाम्, "सच्चा मोसा विराहणी होइ" दश०७अ० । (' भासा ' शब्दे पञ्चमभागे १५२३ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता ।)

विराहित्ता-विराध्य-अव्य० । दूषयित्वेत्यर्थे, सूत्र०१श्रु०११अ० ।

विराहिय-विराधित-त्रि० । देशभग्ने, आव० ५ अ० । सुतरां भग्ने, एकान्ततोऽभावमनापादिते, ध० ३ अधि० । दुःखेन स्थापिते, आव० ४ अ० । ध० ।

विराहियसंजम-विराधितसंयम-पुं० । विराधितः सर्वात्मना खण्डितो न पुनः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या भूयः सन्धितः संयमो यैस्ते विराधितसंयमाः । खण्डितचारित्रेषु, प्रज्ञा० २० पद ।

विरिंच-विरिञ्चि-पुं० । ब्रह्मणि, प्रजापतौ पाइ० ना० ।

विरिंचिअ-देशी-विमल-विरक्तयोः, दे० ना०७ वर्ग ६३ गाथा ।

विरिंचिर-दे० ना० । अश्वविरलयोः, दे० ना०७ वर्ग ६३ गाथा ।

विरिक्क-देशी-पाटिते, दे० ना० ७ वर्ग ६४ गाथा ।

विरिज्जिअ-देशी-अनुचरे, दे० ना० ७ वर्ग ६६ गाथा ।

विरुअ-देशी-विरूपार्थे, दे० ना० ७ वर्ग ६३ गाथा ।

विरुद्ध-विरुद्ध-त्रि० । प्रतिपन्थिनि, पञ्चा० ११ विव० । हेत्वाभासभेदे, रत्ना० ।

अधुना विरुद्धलक्षणमाचक्षते-

साध्यविपर्ययेणैव यस्यान्यथाऽनुपपत्तिरध्यवसीयते स विरुद्ध इति ॥ ५२ ॥

यदा केनचित्साध्यविपर्ययेणाविनाभूतो हेतुः साध्याविनाभावभ्रान्त्या प्रयुज्यते तदाऽसौ विरुद्धो हेत्वाभासः ।

अत्रोदाहरणम्-

यथा नित्य एव पुरुषोऽनित्य एव वा, प्रत्यभिज्ञानादिमत्त्वादिति ॥ ५३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

आदिशब्दात्-स्मरणप्रमाणतदाभासादिग्रहः । अयं च हेतुः प्राचि साध्ये सांख्यादिभिराख्यातः स्थिरैकस्वरूपपुरुषसाध्यविपरीतपरिणामिपुरुषेणैव व्याप्तत्वाद्विरुद्धः । तथाहि-यद्येष पुरुषः स्थिरैकस्वरूप एव तदा सुषुप्ताद्यवस्थायामिव बाह्यार्थग्रहणादिरूपेण प्रवृत्त्यभावात् प्रत्यभिज्ञानादयः कदाचिन्न स्युः, तद्भावे वा स्थिरैकरूपत्वहानिः । अवस्थाभेदादयं व्यवहारः ; इत्यप्ययुक्तम् , तासामवस्थातुर्व्यतिरेकाव्यतिरेकविकल्पानुपपत्तेः, व्यतिरेके तास्तस्येति संवन्धाभावः । अव्यतिरेके पुनरवस्थातैवेति तदवस्थस्तदभावः । कथं च तदेकान्तैक्ये अवस्थाभेदो पि भवेत् । तथैकान्तानित्यत्वेऽपि साध्ये सौगतेन क्रियमाणे अयं हेतुर्विरुद्धः परिणामिपुरुषेणैव व्याप्तत्वात् । तथाहि-अत्यन्तोच्छेदधर्मिणि पुरुषे पुरुषान्तरचित्तवदेकसन्तानेऽपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञाने न स्यातां; नित्यानित्ये पुंसि पुनः सर्वमेतदवदातमुपपद्यते । विरोधादेः सामान्यविशेषवच्चित्रज्ञानवच्चासंभवात् । तथा तुरङ्गोऽयं शृङ्गसङ्गित्वादित्याद्यप्यत्रोदाहर्त्तव्यम् । ये च सति सपक्षे पक्षविपक्षव्यापका इत्यादयो विरुद्धभेदास्तेऽस्यैव प्रपञ्चभूताः । तथाहि—सति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः पक्षविपक्षव्यापको यथा—नित्यः शब्दः कार्यत्वात् । सपक्षश्चात्र चतुर्ष्वपि व्योमादिर्नित्यः , स्वकारणसमवायः कार्यत्वम् ; उभयान्तोपलक्षिता सत्ताऽनित्यत्वमित्येके, तदभिप्रायेण प्रागभावस्यापि नित्यत्वाद्युक्तमेव विरुद्धोदाहरणम् । अन्यथा न विपक्षव्यापि कार्यत्वं स्यात् । यदा त्वादिमत्त्वमेव कार्यत्वं तदा प्रध्वंसस्य नित्यत्वेऽपि कार्यत्वमस्तीत्यनैकान्तिकं स्यान्न विरुद्धमिति । अयं च पक्षे शब्दे विपक्षे घटादौ व्याप्य वर्तते॥ १ ॥ विपक्षैकदेशवृत्तिः पक्षव्यापको यथा—नित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् । अर्हत्यर्थे कृत्याभिधानात् ग्रहणयोग्यतामात्रग्राह्यत्वमुक्तम् , तेनास्य पक्षव्यापकत्वम् , विपक्षे तु घटादावस्ति न सुखादौ ॥२॥ पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा-नित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । अयं हि पुरुषादिशब्दे पक्षेऽस्ति न वाय्वादिशब्दे घटादौ च, विपक्षे न विद्युदादौ ॥ ३ ॥ पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा-नित्या पृथिवी कृतकत्वात् । कृतकत्वं द्व्यणुकादावस्ति पृथिव्यां न परमाणौ, विपक्षे तु घटादौ सर्वत्रास्ति ॥४॥ असति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः पक्षविपक्षव्यापको यथा-आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात् । एषु चतुर्ष्वप्याकाशे विशेषगुणान्तरस्याभावात् सपक्षाभावः । अयं च पक्षे शब्दे, विपक्षे च रूपादौ व्याप्य वर्तते ५। पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा-तत्रैव पक्षे प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् अयं पक्षे पुरुषादिशब्दे एव, विपक्षे च रूपादावेवास्ति, न वाय्वादिशब्दे विद्युदादौ च ६ । पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा-तत्रैव पक्षे बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् । अयं शब्दं पक्षं व्याप्नोति, विपक्षे तु रूपादावस्ति न सुखादौ ७ । विपक्षव्यापकः पक्षैकदेशवृत्तिर्यथा-तत्रैव पक्षे अपदात्मकत्वात् । अयं पक्षैकदेशे वर्णात्मकेऽस्ति नान्यत्र , विपक्षे तु रूपादौ सर्वत्रास्ति ८ । ननु चत्वार एव विरुद्धभेदा ये पक्षव्यापका नान्ये ये पक्षैकदेशवृत्तयस्तेषामसिद्धलक्षणोपपन्नत्वात् । तदसत् । उभयलक्षणोपपन्नत्वेनोभयव्यवहारविषयत्वात् । तुलायां प्रमाणप्रमेयव्यवहारवत् । धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनधर्मिविशेषविपरीतसाधनौ तु सौगतसम्मतौ हेत्वाभासावेव न भवतः ; साध्यस्वरूपविपर्ययसाधकस्यैव विरुद्धत्वेनाभिधानाद् अन्यथा समस्तानुमानोच्छेदापत्तिः । तथाहि-अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति हेतुरनित्यतां साधयन्नपि यो यः कृतकः स शब्दो न भवति, यथा घटः । यो यः कृतकः स श्रावणो न भवति , यथा-स एवेति धर्मिणः स्वरूपं विशेषं च साधयत्येवेत्यहेतुः स्यात् , नचैवं युक्तमिति ॥ ५३ ॥ रत्ना० ६ परि० । पुण्यपापपरलोकाद्यभ्युपगमपरेऽक्रियावादिनि, तस्य सर्वपाखण्डिभिः सह विरुद्धचारित्वात् । ग० २ अधि० । औ० । ज्ञा० । स्या० । देशकालनृपलोकधर्मविरुद्धवर्जनम् । ध० २ अधि० ।

विरुद्धरज्ज–विरुद्धराज्य–न० । विरुद्धः स्वकीयस्य राज्ञः प्रतिपन्थी तस्य राज्यं कटकं देशो वा विरुद्धराज्यम् । स्वराजविरुद्धनृपस्य सेनायां, राज्ये च । पञ्चा० १ विव० । ध० र० । ध० ।

विरुद्धरज्जाइक्कम–विरुद्धराज्यातिक्रम--पुं० । विरुद्धनृपयो राज्यं विरुद्धराज्यं तस्यातिक्रमोऽतिलङ्घनं विरुद्धराज्यातिक्रमः । विरुद्धनृपाज्ञामन्तरेण तद्देशगमनरूपे स्थूलादत्तादानविरतेऽतिचारे, आव० ६ अ० । आ० । उपा० ।

विरूढ--विरूढ--त्रि० । अङ्कुरितेषु द्विदलधान्येषु, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

विरूव--विरूप--त्रि० । नानाभूते , आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । सूत्र० । बीभत्सामवस्थां प्राप्ते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

विरूवरूव--विरूपरूप--त्रि० । विरूपं बीभत्सं मनोऽनाह्लादि , विविधं वा मन्दादिभेदाद्रूपं येषां ते विरूपरूपाः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । इष्टानिष्टरूपतया नानाप्रकारेषु , आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सूत्र० । नि० चू० । बीभत्सरूपे , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

विरेय--विरेक--पुं० । विभजने, बृ० ३ उ० । आव० ।

विरेयण--विरेचन--न० । कोष्ठशुद्धिरूपे, उत्त० १५ अ० । वान्त्यादिना-(दश० ३ अ० ।) निःश्रोतआदिभिर्वा अधोविरेके, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । आचा० । आव० । उत्त० । (विरेचने प्रायश्चित्तादि ‘ वमण ’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् ।) निरूहे च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

विरोयण–विरोचन–पुं० । विविधैः प्रकारै रोचयन्ते दीप्यन्ते इति विरोचनाः । उत्तरदिग्वासिषु, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

विरोल–मन्थ–धा० । विलोडने , “ मन्थेर्घुसल-विरोलौ ” ॥ ८ । ४ । १२१ ॥ इति मन्थधातोर्विरोलादेशः । विरोलइ । मथ्नाति । प्रा० ४ पाद ।

विरोह--विरोध--पुं० । विपर्यये, विशे० । द्विविधो हि विरोधः-परस्परपरिहारलक्षणः, सहानवस्थानलक्षणश्च । नं० । सूत्र० ।

विरोहि–विरोधिन्–त्रि० । विरुद्धे,पूर्वापरविरोधादिदोषाघ्राते, स्या० ।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विल–विड–न० । खनिविशेषोत्पन्ने लवणभेदे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । जत्थ विसए लोणं नत्थि तत्थ उ सो पच्चति तं विललोणं भष्णति । नि० चू० ११ उ० ।

विलअ–देशी–सूर्यास्तमने, दे० ना० ७ वर्ग ६३ गाथा ।

विलइअ–देशी–अधिज्य–दीनयोः, दे०ना० ७ वर्ग ६२ गाथा ।

विलओलग–देशी० । लुण्टाके, ये ग्रामं मुष्णन्ति । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

विलंब–विलम्ब–पुं० । परिमन्थरे, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

विलंबिय–विलम्बित–न० । सूर्येण परिभुज्य मुक्ते नक्षत्रभेदे, व्य० १ उ० । विशे० । पं० व० । आ० म० । द० प० । विलम्बकरणे, नाट्यभेदे च । आ० म० १ अ० । रा० ।

विलग्ग–विलग्न–त्रि० । अवस्थिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आ० म० । नि० चू० ।

विलट्ठि–वियष्टि–स्त्री० । चतुरङ्गुलोनाऽऽत्मप्रमाणे दण्डभेदे, “लट्ठी आयपमाणा, विलट्ठी चउरंगुलेण परिहीणा,” ध० ३ अधि० ।

विलय–विलय–पुं० । विनाशे, विशे० । आव० ।

विलया–वनिता–स्त्री० । “ वनिताया विलया ” ॥ ८ । २ । १२८ ॥ इति वनिताया विलयादेशो वा । योषिति , प्रा० ।

विलवणया–विलपनता–स्त्री० । क्लिष्टभाषणे, ग० १ अधि० ।

विलवमाण–विलपमान–त्रि० । आर्त्तस्वरं कुर्वाणे , विपा० १ श्रु० २ अ० । विलापान् कुर्वति, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

विलविय–विलपित–न० । आर्त्तस्वरे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । विलापे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । विलपितमिव विलपितम् । निरर्थकतया मत्तबालगीततुल्ये, उत्त० १३ अ० । औ० ।

विलवियसद्द–विलपितशब्द–पुं० । भर्तृगुणान् स्मारं २ प्रलापरूपे शब्दे, उत्त० १६ अ० ।

विलसंत–विलसत्–त्रि० । दीप्यमाने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

विलसिय–विलसित–न० । नेत्रविकारे , ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । कर्त्तरि क्तः । त्रि० । विलासवति, औ० ।

विलह–देशी–धवले, दे० ना० ७ वर्ग ६१ गाथा ।

विलाव–विलाप–पुं० । आर्त्तस्वरकरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । शब्दविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

विलास–विलास–पुं० । सकामे नेत्रचेष्टाविशेषे, अनु० । ज्ञा० । स्त्रीणां स्थानासनगमनादिरूपे चेष्टाविशेषे, स च “ स्थानासनगमनानां, हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैव । उत्पद्यते विशेषो, यः श्लिष्टोऽसौ विलासः स्यात् ॥१॥” अन्ये त्वाहुः–विलासो नेत्रजो विकारः।तथा चोक्तम्–“हावो मुखविकारः स्याद्, भावश्चित्तसमुद्भवः । विलासो नेत्रजो ज्ञेयो, विभ्रमो भ्रूसमुद्भवः ॥१॥ ” रा० । औ० । भ० । ज्ञा० । प्रश्न० । ग० । ज्ञा० । विपा० । बृ० । जं० । स्वकुलौचित्येन श्टङ्गारादिकरणे, रा० ।

विलासिय–विलासित–त्रि० । विलासः संजातोऽस्येति तारकादिदर्शनादितच्प्रत्ययः । विलासवत्याम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जातविलासे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

विलिअ–देशी–लज्जायाम् , दे० ना० ७ वर्ग ६५ गाथा ।

विलिंगण–विलिङ्गन–न० । कन्दर्पप्रधानानां वक्त्रसंयोगादिकानां क्रियाणां करणे, आचा० २ श्रु० २ चू० २ अ० ।

विलिंजरा–देशी–धानासु, दे० ना० ७ वर्ग ६६ गाथा ।

विलिंपावंत–विलेपयत्–त्रि० । विलेपनं कुर्वति , नि० चू० १७ उ० ।

विलिइय–व्यलीकित–त्रि० । सञ्जातव्यलीके, भ० १५ श० ।

विलिय–व्यलीक–न० । “ इः स्वप्नादौ ” ॥ ८ । १ । ४६ ॥ इत्यादेर्यस्येत्वम् । प्रा० । “पानीयादिष्वित्” ॥ ८ । १ । १०१ ॥ इति मध्येकारस्येत्वम् । प्रा० । असत्ये, प्रा० ।

विलिव्विली–देशी–कोमलनिःश्यामतनौ , दे० ना० ७ वर्ग ६६ गाथा ।

विलिहमाण–विलिखत्–त्रि० । नितरामनेकशो वा कर्षति, भ० ८ श० १ उ० ।

विलिहिज्जमाण–विलिख्यमान–त्रि० । खच्यमाने, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

विलीण–विलीन–त्रि० । क्लिन्ने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जुगुप्सिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० ।

विलुंगय–निलुङ्कक–पुं० । निर्ग्रन्थे, अकिञ्चने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

विलुंचण–विलुञ्चन–न० । विच्छित्त्या विश्वतो वा लुञ्चने, पिं० ।

विलुंप–काङ्क्ष–धा० । वाञ्छायाम् , “ काङ्क्षेराहाहि-लङ्घाहि-लङ्घ-वच्च-वंफ-मह-सिह-विलुम्पाः ॥ ८ । ४ । १९२ ॥ इति काङ्क्षतेर्विलुम्पादेशः । विलुंपइ । काङ्क्षति । प्रा० ४ पाद ।

विलुंपअ–देशी–कीटे, दे० ना० ७ वर्ग ६७ गाथा ।

विलुंपइत्ता–विलम्पयितृ–त्रि० । कशाप्रहारादिभिरत्यन्तदुःखोत्पादनेन लुम्पके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सर्वस्वापहारेण आशु पञ्चत्वं नयति, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । ग्रामघातादिना लुण्ठके, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

विलुत्त–विलुप्त–त्रि० । विशेषेण लुप्ते, “विलुत्तो वि वंतेहिं, ढंककंकेहिं णंतसो” विलुप्तः–चुम्थितः । विशेषेण लुप्तो विलुप्तः नासानेत्रान्त्रकालेयादिषु त्रुटित इत्यर्थः । उत्त० १६ अ० ।

विलुत्तहिअअ–देशी–प्रासङ्गिककार्यकरणानभिज्ञे, दे० ना० ७ वर्ग ७३ गाथा ।

विलुप्पमाण–विलुप्यमान–त्रि० । बाह्योपध्यपहारतो लुप्यमाने, उपा० ७ अ० ।

विलुलिय–विलुलित–त्रि० । शिथिलतया चञ्चले , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । लुठिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विलेवण–विलेपन–न०। कुङ्कुमचन्दनादिभिर्लेपने, पं० ६ विव०। औ०। कुङ्कुमचन्दनादिना विलेपनकरणे, ध० २ अधि०।

विलेवणविहि–विलेपनविधि–पुं०। विलेपनप्रकारे, उपा० १ अ०। (विलेवणविहिपरिमाणं करेइ इति 'आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे गतम्।) यक्षकर्दमादिपरिज्ञाने, जं० २ वक्ष०। कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०।

विलेविया–विलेपिका–स्त्री०। पानभेदे, विलेपिकायाम्, बृ०। विलेपिका द्विविधा-एका काञ्जिकविलेपिका, द्वितीया उदकविलेपिका। बृ० १ उ० २ प्रक०।

विलोट्ट–वि–सं–वद्–धा०। विरुद्धे संवादे, विपरीतकथने, " विसंवदेर्विअट्ट-विलोट्ट-फंसाः॥ ८। ४। १२९॥ इति विसंपूर्वस्य वदधातोर्विलोट्टादेशः। विलोट्टइ। विसंवदति। प्रा० ४ पाद।

विलोव–विलोप–पुं०। उच्छेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। अवच्छेदने, आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०। सद्धर्माद् बाधने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

विल्ल–विल्व–पुं०। संयोगे-" इत एद् वा "॥ ८। १। ८५॥ इति इत एत्वं वा। वेल्लं। विल्लं। प्रा०। बहुबीजफले वृक्षभेदे, प्रज्ञा० १७ पद। आचा०। अनु०। स्थानान्तरालेषु, दे० ना० ७ वर्ग ८६ गाथा।

विल्लल–विल्ल(ल्व)ल–पुं०। सनखचतुष्पदविशेषे, प्रज्ञा०१ पद।

विल्लिय–विलीय–त्रि०। दीप्यमाने, विशेषेण लीने, औ०।

विव–इव–अव्य०। इवार्थे, तं०। "मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा॥ ८। २। १८२॥ इति इवार्थे विवशब्दः। प्रा०।

विवइ–विपद्–स्त्री०। "आपद्विपत्संपदां द इः"॥ ८। ४। ४००॥ इति विपदोऽन्त्यस्य दस्य इः। विपत्तौ, प्रा० ४ पाद।

विवक्क–विपक्व–त्रि०। सुपरिनिष्ठिते, प्रकर्षपर्यन्तमुपगते, उदयागते, स्था० ५ ठा० २ उ०।

विवक्ख–विपक्ष–पुं०। विपरीतः पक्षो-धर्मो विपक्षः। विवक्षितवस्तुधर्मस्य विपरीते धर्मे, अनु०। यथा शृगाली अशिवाऽप्यमाङ्गलिकशब्दपरिहारार्थं शिवा भण्यते। अनु०। वैधर्म्ये, विशे०। विसदृशः पक्षो विपक्षः, साध्यादिविपर्यये, दश०१ अ०। (इह विपक्षः पञ्चम इति 'अणुमाण' शब्दे प्रथमभागे ४०६ पृष्ठे गतम्।)

विवक्खपडिसेह–विपक्षप्रतिषेध–पुं०। अनुमानवाक्यस्य षष्ठेऽवयवे, दश० १ अ०। (विशेषव्याख्या 'अणुमाण' शब्दे प्रथमभागे ४०६ पृष्ठे गता।)

विवक्खा–विवक्षा–स्त्री०। वक्तुरिच्छायाम्, पिं०।

विवक्खापुव्व–विवक्षापूर्व–त्रि०। विवक्षाकारणे, दश० १ अ०।

विवच्छा–विवत्सा–स्त्री०। वत्सरहितायाम्, बृ० १ उ० ३ प्रक०। सिन्धुसङ्गते नदीभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

विवच्छिय–विपश्चित्–पुं०। एकान्तपण्डिते, द्वा० ३१ द्वा०।

३०६

विवज्जअ–विपर्यय–पुं०। अन्यथाकरणे, पं० व० ४ द्वार। व्यत्यासे, पञ्चा० ६ विव०। अतस्मिंस्तदध्यवसाये, विशे०।

विवज्जणा–विवर्जना–स्त्री०। विशेषतस्त्यागे, मिथ्याश्रुतश्रवणकुदृष्टसङ्गत्यागे, उत्त० ३२ अ०। "तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।" उत्त० ३२ अ०।

विवज्जत्थ–विपर्यस्त–त्रि०। विपरीते, पञ्चा० १२ विव०।

विवज्जयंत–विपर्ययत्–त्रि०। अनेकैः प्रकारैः सूत्रोक्तैः परिहरति, दश० ५ अ० १ उ०।

विवज्जास–विपर्यास–पुं०। वैपरीत्यभवने, विशे०। सूत्र०। आचा०। "मूढो विपरियासमुवेति" विपर्यासमुपैति, तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशमतत्त्वे च तत्त्वाभिनिवेशं च। हितेऽहितबुद्धिमेवं सर्वत्र विपर्ययं विदधाति, उक्तं च "दाराः परिभवकारा, बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः। मोऽहो जनस्य कोऽयं, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा॥१॥" आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

विवज्जिय–विवर्जित–त्रि०। रहिते, जी० १ प्रति०। अष्ट०। विकले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

विवड्ढणी–विवर्धनी–स्त्री०। विशेषेण वृद्धिहेतौ, "कामरागविवड्ढणि" विषयरागस्य अतिशयेन वृद्धिकर्त्रीम्। उत्त० १६ अ०।

विवणि–विपणि–पुं०। वणिक्पथे, औ०। ज्ञा०। दरिद्रापणे, बृ० १ उ०।

विवण्ण–विवर्ण–त्रि०। अशोभनवर्णे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० २ उ०। रूपवर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। विगतवर्णे, दश० ५ अ० २ उ०।

द्विपर्ण–त्रि०। पर्णद्वययुक्ते, "विवन्नओ रुक्खो" आचा०२ श्रु० १ चू० ५ अ० २ उ०। द्विपर्णो-वृक्षः, अङ्कुरोद्गमावस्थायां हि प्रथमं द्वौ पर्णौ भवतः। बृ० १ उ० १ प्रक०।

विवण्णच्छंद–विवर्णच्छन्दस्–त्रि०। परायत्ततया अपेतस्वाभिप्राये, दश० ९ अ० २ उ०।

विवण्णसारसद्द–विवर्णसारशब्द–पुं०। विगतसर्वद्रव्यभाण्डे, उत्त० १४ अ०।

विवत्ति–विपत्ति–स्त्री०। कार्यविनाशे, नि०चू० १५ उ०। वि०। "सम्प्राप्तिश्च विपत्तिश्च, कार्य्याणां द्विविधा स्मृता। सम्प्राप्तिः सिद्धिरर्थेषु, विपत्तिश्च विपर्ययः॥ १॥" नि० चू० १५ उ०।

विवद्धन–विवर्द्धन–न०। विविधैः प्रकारैर्वृद्धिकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

विवर–विवर–न०। विगतावरणतया विवरम्। आकाशे, भ० १७ श० ८ उ०। रन्ध्रे, उत्त० २० अ०। आचा०। सूत्र०।

विवरण–विवरण–न०। बालानां विजढीकरणे, ध० २ अधि०।

विवरीउप्पाय–विपरीतोत्पात–पुं०। अशुभसूचके प्रकृतिविकारे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवरीय–विपरीत–त्रि० । परमार्थादन्यथाभूते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । विपर्यस्ते, नि० चू० १ उ० ।

विवरीयपरूवणा–विपरीतप्ररूपणा–स्त्री० । अन्यथा पदार्थकथनायाम्, आव० ४ अ० । उन्मार्गदेशनायाम्, ध० २ अधि० ।

विवलीयभासग–विपरीतभाषक–पुं० । भाषकाद् विपरीतो विपरीतभाषकः । राजदन्तादिवत्समासः । अभाषके, अनु० ।

विवस–विवश–त्रि० । पराधीने, कर्म० १ कर्म० ।

विवाग–विपाक–पुं० । विपचनं विपाकः । शुभाशुभकर्मपरिणामे, स० १४५ सम० । नं० । अशुभफलदायकत्वे, पञ्चा० १ विव० । विपच्यमानतायाम्, रसप्रकर्षावस्थायाम्, भ० ६ श० ३ उ० । द्वा० । उदये साध्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । परिणामे, आव० ४ अ० । अनुभावे, स्था० ४ ठा० २ उ० । परिपाककाले, उत्त० ३२ अ० । सूत्र० । फले, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । पुष्टतायाम्, आ० म० १ अ० । द्विगृद्धिदशानां द्वितीयेऽध्ययने, स्था० १ ठा० ३ उ० । भारते वर्षे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति एकोनविंशे जिने, स० । जी० ।

विवागखंति–विपाकक्षान्ति–स्त्री० । विपाके क्षान्तिः विपाकक्षान्तिः । कर्मफलविपाकं नरकादिगतमनुपश्यतो दुःखभीरुतया मनुष्यभारमेव वाऽनर्थपरम्परामालोचयतो विपाकदर्शनपुरस्सरायां क्षान्तौ, षो० १० विव० ।

विवागविजय–विपाकवि(च)जय–पुं० । विपाकः कर्मणां ज्ञानावरकत्वादि विचीयते–निर्णीयते विजीयते–अभिगमद्वारेण परिचितीक्रियते यस्मिंस्तद् विपाकविज(च) यम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । अशुभकर्मविपाकानुचिन्तनार्थे प्रकृत्यादिभेदभिन्नस्य कर्मणः स्वरूपध्यानरूपे धर्मध्याने, ध० २ अधि० । आ० चू० ।

विवागविरस–विपाकविरस–पुं० । बहुतरदुःखानुबन्धबीजत्वेन परिणतिविरसे, द्वा० १३ द्वा० ।

विवागसाधण–विपाकसाधन–न० । अनुभावकारणे, पं० सू० १ सू० ।

विवागसुय–विपाकश्रुत–न० । विपचनं विपाकः । शुभाशुभकर्मपरिणाम इत्यर्थः । तत्प्रतिपादकं श्रुतं विपाकश्रुतम् । नं० । एकादशाङ्गे, विपा० ।

अथ विपाकश्रुतमिति कः शब्दार्थः ?, उच्यते–विपाकः–पुण्यपापरूपकर्मफलं तत्प्रतिपादनपरं श्रुतम्–आगमो विपाकश्रुतम्, इदं च द्वादशाङ्गस्य प्रवचनपुरुषस्यैकादशमङ्गम् । इह च शिष्टसमयपरिपालनार्थं मङ्गलसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि किल वाच्यानि भवन्ति । तत्र चाधिकृतशास्त्रस्यैव सकलकल्याणकारिसर्ववेदिप्रणीतश्रुतरूपतया भावनन्दीरूपत्वेन मङ्गलस्वरूपत्वात्, न ततो भिन्नं मङ्गलमुपदर्शनीयम् । अभिधेयं च शुभाशुभकर्मणां विपाकः, स चास्य नाम्नैवाभिहितः । प्रयोजनमपि श्रोतृगतमनन्तरं कर्मविपाकावगमरूपं नाम्नैवोक्तमस्य । यत्किल कर्मविपाकावेदकं श्रुतं तत् शृण्वतां प्रायः कर्मविपाकावगमो भवत्येवेति । यत्तु निःश्रेयसावाप्तिरूपं परम्परप्रयोजनमस्य तदाप्तप्रणीतत्वेनैव प्रतीयते, न ह्याप्ता यत्कथञ्चिन्निःश्रेयसार्थं न भवति तत्प्रणयनायोत्सहन्ते आप्तत्वहानेरिति । सम्बन्धोऽप्युपायोपेयभावलक्षणो नाम्नैवास्य प्रतीयते, तथाहि–इदं शास्त्रमुपायः कर्मविपाकावगमस्तूपेयमिति । यस्तु गुरुपर्वक्रमलक्षणसम्बन्धोऽस्य तत्प्रतिपादनायेदमाह–

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था, वण्णओ–पुन्नभद्दे चेइए । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसुहम्मे णामं अणगारे जाइसंपन्ने, वण्णओ चउद्दसपुव्वी चउनाणोवगए पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं० जाव जेणेव पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं० जाव विहरइ, परिसा निग्गया धम्मं सोच्चा निसम्म जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जजंबूनामं अणगारे सत्तुस्सेहे जहा गोयमसामी तहा० जाव झाणकोट्ठोवगए विहरति । तए णं अज्जजंबूनामे अणगारे जायसड्ढे० जाव जेणेव अज्जसुहम्मे अणगारे तेणेव उवागए तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति करेत्ता वंदति वंदेत्ता नमंसति नमंसित्ता० जाव पज्जुवासति, एवं वयासी–(सू० १) (विपा०)

एक्कारसमस्स णं भंते ! अंगस्स विवागसुयस्स समणेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पन्नत्ते?, तते णं अज्जसुहम्मे अणगारे जंबुं अणगारं एवं वयासी–एवं खलु जंबु ! समणेणं० जाव संपत्तेणं एक्कारसमस्स अंगस्स विवागसुयस्स दो सुयक्खंधा पन्नत्ता, तं जहा–दुहविवागा य १, सुहविवागा य २, जइ णं भंते ! समणेणं० जाव संपत्तेणं एक्कारसमस्स अंगस्स विवागसुयस्स दो सुयक्खंधा पन्नत्ता, तं जहा–दुहविवागा य १, सुहविवागा य २ । (सू० २)

'दुहविवागा य' त्ति दुःखविपाकाः पापकर्मफलानि दुःखानां वा–दुःखहेतुत्वात् पापकर्मणां विपाकास्ते यत्राभिधेयतया सन्त्यसौ 'वरणानगर' मिति न्यायेन दुःखविपाकाः–प्रथमश्रुतस्कन्धः, एवं द्वितीयः सुखविपाकः । 'तए णं' ति ततः–अनन्तरमित्यर्थः ।

पढमस्स णं भंते ! सुयक्खंधस्स दुहविवागाणं समणेणं० जाव संपत्तेणं कइ अज्झयणा पन्नत्ता ?, तते णं अज्जसुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी–एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव आइगरेणं तित्थगरेणं० जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता, तं जहा–" मियपुत्ते १ (य) उज्झियते २, अभग्ग ३ सगडे ४ बहस्सई ५ नंदी ६ । उंबर ७ सोरियदत्ते ८, य देवदत्ता य ९ अंजू य १० ॥१॥ "
(सू० २ +)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'मियउत्ते' इत्यादि गाथा, तत्र 'मियपुत्ते' त्ति मृगापुत्राभिधानराजसुतवक्तव्यताप्रतिबद्धमध्ययनं मृगापुत्रः १ । एवं सर्वत्र, नवरम् 'उज्झिए' त्ति उज्झितको नाम सार्थवाहपुत्रः २, 'अभग्ग', त्ति सूत्रत्वादभग्नसेनो विजयाभिधानचौरसेनापतिपुत्रः३, 'सगडे' त्ति शकटाभिधानसार्थवाहसुतः ४, 'बहस्सइ' त्ति सूत्रत्वादेव बृहस्पतिदत्तनामा पुरोहितपुत्रः५, 'नंदी' इति सूत्रत्वादेव नन्दिवर्द्धनो राजकुमारः६, 'उंबर' त्ति सूत्रत्वादेव उदुम्बरदत्तो नाम सार्थवाहसुतः७, 'सोरियदत्ते' त्ति शौरिकदत्तो नाम मत्स्यबन्धपुत्रः८, चशब्दः समुच्चये 'देवदत्ता य' त्ति' देवदत्ता नाम गृहपतिसुता६, चः समुच्चये 'अंजू य' त्ति अञ्जूनाम सार्थवाहसुता १० । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अथ द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य प्रथमाध्ययने किञ्चिल्लिख्यते–

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णगरे गुणसिले चेइए सोहम्मे समोसढे जंबू० जाव पज्जुवासणे एवं वयासी–जति णं भंते ! समणेणं० जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं अयमट्ठे पण्णत्ते . सुहविवागाणं भंते ! समणेणं ०जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?, तते णं से सोहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी–एवं खलु जंबू समणेणं ० जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता, तं जहा– "सुबाहू१ भद्दनंदी२य, सुजाए य३ सुवासवे ४। तहेव जिणदासे५ य, धणपती य६ महब्बले७ ॥१॥ भद्दनंदी ८ महच्चंदे ६, वरदत्ते १० ।" (सू०३३X) विपा० २ श्रु०१अ०।

से किं तं विवागसुयं ? , विवागसुए णं सुकडदुक्कडाणं कम्माणं फलविवागे आघविज्जंति, से समासओ दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–दुहविवागे चेव,सुहविवागे चेव । तत्थ णं दस दुहविवागाणि, दस सुहविवागाणि । से किं तं दुहविवागाणि ?, दुहविवागेसु णं दुहविवागाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणखंडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ नगरगमणाइं संसारपवंधे दुहपरंपराओ य आघविज्जंति । सेत्तं दुहविवागाणि । से किं तं सुहविवागाणि ?, सुहविवागेसु सुहविवागाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणखंडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइयइड्ढिविसेसा भोगपरिचाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं परियागा पडिमाओ संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाया पुण बोहिलाहा, अंतकिरियाओ य आघविज्जंति । दुहविवागेसु णं पाणाइवायअलियवयणचोरिक्ककरणपरदारमेहुणससंगयाए महतिव्वकसायइंदियप्पमायपावप्पओयअसुहज्झवसाणसंचियाणं कम्माणं पावगाणं पावअणुभागफलविवागा णिरयगतितिरिक्खजोणिबहुविहवसणसयपरंपरापबद्धाणं मणुयत्ते वि आगयाणं जहा पावकम्मसेसेण पावगा होन्ति फलविवागा–बहवसणविणासनासाकन्नुट्ठंगुट्ठकरचरणनहच्छेयणजिब्भच्छेअणअंजणकडग्गिदाहगयचलणमलणफालणउल्लंबणसूललयालउडलट्ठिभंजणतउसीसगतत्ततेल्लकलकलअहिसिंचणकुंभिपागकंपणाथिरबंधणवेहवज्झकत्तणपतिभयकरकरपल्लीवणादिदारुणाणि दुक्खाणि अणोवमाणि बहुविविहपरंपराणुबद्धा ण मुच्चंति पावकम्मवल्लीए, अवेयइत्ता हु णऽत्थि मोक्खो तवेण धिइधणियबद्धकच्छेण साहेणं तस्स वावि हुज्जा । एत्तो य सुहविवागेसु णं सीलसंजमणियमगुणतवोवहाणेसु साहूसु सुविहिएसु अणुकंपासयप्पओगतिकालमइविसुद्धभत्तपाणाइं पययमणसाहियसुहनीसेसतिव्वपरिणामनिच्छियमई पयच्छिऊणं पयोगसुद्धाइं जह य निव्वत्तेंति उ बोहिलाभं जह य परित्तीकरेंति नरनरयतिरियसुरगमणविपुलपरियट्टअरतिभयविसायसोगमिच्छत्तसेलसंकडं अन्नाणतमंधकारचिक्खिल्लसुदुत्तारं जरमरणजोणिसंखुभियचक्कवालं सोलसकसायसावयपयंडचंडं अणाइअं अणवदग्गं संसारसागरमिणं जह य णिबंधंति आउगं सुरगणेसु जह य अणुभवंति सुरगणविमाणसोक्खाणि अणोवमाणि, ततो य कालंतरे चुआणं इहेव नरलोगमागयाणं आउवपुपुण्णरूवजातिकुलजम्मआरोग्गबुद्धिमेहाविसेसा मित्तजणसयणधणधण्णविभवसमिद्धसारसमुदयविसेसा बहुविहकामभोगुब्भवाण सोक्खाण सुहविवागोत्तमेसु, अणुवरयपरंपराणुबद्धा असुभाणं सुभाणं चेव कम्माणं भासिआ बहुविहा विवागा विवायसुयम्मि भगवया जिणवरेण संवेगकारणत्था अन्ने वि य एवमाइया बहुविहा वित्थरेणं अत्थपरूवणया आघविज्जंति, विवागसुअस्स णं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा० जाव संखेज्जाओ संगहणीओ । से णं अंगट्ठयाए एक्कारसमे अंगे वीसं अज्झयणा वीसं उद्देसणकाला वीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसयसहस्साइं पयग्गेणं पण्णत्ता । संखेज्जाणि अक्खराणि अणंता गमा अणंता पज्जवा० जाव एवं चरणकरणपरूवणया आघविज्जंति, सेत्तं विवागसुए ॥ ११ ॥ (सू० १४६)

'से किं त' मित्यादि, विपचनं विपाकः—शुभाशुभकर्म्मपरिणामस्तत्प्रतिपादकं श्रुतं विपाकश्रुतं 'विवागसुए ण' मित्यादि कण्ठ्यं, नवरं 'फलविपाके' त्ति फलरूपो विपाकः फलविपाकः तथा 'नगरगमणाइं' ति भगवतो गौतमस्य भिक्षार्थं नगरप्रवेशनानीति । एतदेव पूर्वोक्तं प्रपञ्चयन्नाह—'दुहविवागेसु ण' मित्यादि, तत्र प्राणातिपातालीकवचनचौर्यकरणपरदारमैथुनैः सह 'ससंगयाए' त्ति या ससंगता सपरिग्रहता तया संचितानां कर्मणामिति योगः , महातीव्रकषायेन्द्रियप्रमादपापप्रयोगाशु–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाध्यवसायसञ्चितानां कर्मणां पापकानां पापानुभागा—अशुभरसा ये फलविपाका—विपाकोदयास्ते तथा ते आ-ख्यायन्त इति योगः । केषामित्याह—निरयगतौ—तिर्यग्-योनौ च ये बहुविधव्यसनशतपरम्पराभिः प्रबद्धाः ते तथा तेषां, जीवानामिति गम्यते । तथा 'मणुयत्ते' त्ति मनुज-त्वेऽप्यागतानां यथा पापकर्मशेषेण पापका भवन्ति फल-विपाकाः; अशुभा विपाकोदया इत्यर्थः, तथा आख्यायन्ते इति प्रकृतम् । तथाहि-वधो-यष्ट्यादिताडनं वृषणविनाशो-वर्द्धितककरणं तथा नासायाश्च कर्णयोश्च ओष्ठस्य चाङ्गुष्ठा-नां च करयोश्च चरणयोश्च नखानां च यच्छेदनं तत्तथा जिह्वाछेदनम् 'अंजन' त्ति अञ्जनं-तप्तायःशलाकया नेत्रयोः म्रक्षणं वा देहस्य क्षारतैलादिना 'कडग्गिदाहणं' ति कटानां-विदलवंशादिमयानामग्निः कटाग्निस्तेन दाहनं कटाग्निदाहनं; कटेन परिवेष्टितस्य बाधनमित्यर्थः, तथा गजचलनमलनं फालनं—विदारणम् उल्लम्बनं—वृक्षशाखादावुद्बन्धनं तथा शूलेन लतया लकुटेन यष्ट्या च भञ्जनं गात्राणां तथा त्रपु-णा—धातुविशेषेण सीसकेन च—तेनैव तप्तेन तैलेन च 'कलकल' त्ति सशब्देनाभिषेचनं तथा कुम्भ्यां—भाजन-विशेषे पाकः कुम्भीपाकः कम्पनं—शीतलजलाच्छोटनादिना शीतकाले गात्रोत्कम्पजननं तथा स्थिरबन्धनं—निबिडनि-यन्त्रणं वेधः—कुन्तादिना शस्त्रेण भेदनं वर्द्धकर्त्तनं—त्वगु-त्त्रोटनं प्रतिभयकरं—भयजननं तच्च तत् करप्रदीपनं च वस-नावेष्टितस्य तैलाभिषिक्तस्य करयोरग्निप्रबोधनमिति कर्म्म-धारयः, ततश्च वधश्च वृषणविनाशश्चेत्यादि यावत्प्रतिभय-करकरप्रदीपनं चेति द्वन्द्वः, ततस्तानि आदिर्येषां दुःखानां तानि च तानि दारुणानि चेति कर्म्मधारयः । कानीमानी-त्याह—दुःखानि, किम्भूतानि ?—अनुपमानि दुःखविपाके-ष्वाख्यायन्त इति प्रक्रमः । तथेदमाख्यायते बहुविविधपर-म्पराभिः दुःखानामिति गम्यते । अनुबद्धाः—सन्ततमालि-ङ्गिता बहुविधपरम्परानुबद्धा जीवा इति गम्यते न मुच्यन्ते-न त्यज्यन्ते, कया ?—पापकर्मवल्ल्या दुःखफलसम्पादिक-या, किमित्याह—यतोऽवेदयित्वा—अननुभूय कर्मफलमि-ति गम्यते, हुर्यस्मादर्थे, नास्ति—न भवति मोक्षो—वियोगः कर्म्मणः सकाशात्, जीवानामिति गम्यते । किं सर्वथा ने-त्याह—तपसा—अनशनादिना, किम्भूतेन ?—धृतिः—चि-त्तसमाधानं तद्रूपा 'धणिय' त्ति अत्यर्थं बद्धा—निष्पीडि-ता कच्छा—बन्धविशेषो यत्र तत्तथा तेन, धृतिबलयुक्तेने-त्यर्थः । शोधनम्—अपनयनं तस्य-कर्म्मविशेषस्य 'वावि' त्ति सम्भावनायां 'होज्जा' सम्पद्येत नान्यो मोक्षोपायोऽस्तीति भावः । "एत्तो ये' त्यादि इतश्चानन्तरं सुखविपाकेषु, द्विती-यश्रुतस्कन्धाध्ययनेष्वित्यर्थः, यदाख्यायते तदभिधीयते इति शेषः, शीलं—ब्रह्मचर्यं समाधिर्वा संयमः—प्राणातिपातवि-रतिर्नियमा-अभिग्रहविशेषाः गुणाः-शेषमूलगुणाः उत्तरगु-णाश्च तपोऽनशनादि एतेषामुपधानं-विधानं येषां ते तथा अतस्तेषु शीलसंयमनियमगुणतपउपधानेषु, केष्वित्याह-साधुषु-यतिषु, किम्भूतेषु ?-सुष्ठु विहितम्-अनुष्ठितं येषां ते सुविहितास्तेषु भक्तादि दत्त्वा यथा बोधि-लाभादि निर्वर्त्तयन्ति तथह्याख्यायत इति सम्बन्धः । इह च सम्प्रदानेऽपि सप्तमी न दुष्टा विषयस्य विवक्षणात्, अ-नुकम्पा—अनुक्रोशस्तत्प्रधान आशयः—चित्तं तस्य प्रयो-गो—व्यावृत्तिरनुकम्पाशयप्रयोगस्तेन, तथा 'तिकालम-ति' त्ति त्रिषु कालेषु या मतिः—बुद्धिर्यदुत दास्यामीति परितोषो दीयमाने परितोषो दत्ते च परितोष इति सा त्रिकालमतिस्तया च यानि विशुद्धानि तानि तथा, तानि च ता-नि भक्तपानानि चेति अनुकम्पाशयप्रयोगत्रिकालमतिविशुद्ध-भक्तपानानि प्रदायेति क्रियायोगः । केन प्रदायेत्याह-प्रयत-मनसा—आदरभूतचेतसा, हितोऽनर्थपरिहाररूपत्वात् सुख-हेतुत्वात् सुखः शुभो वा 'नीसेस' त्ति निःश्रेयसः कल्या-णकरत्वात् तीव्रः—प्रकृष्टः परिणामः—अध्यवसानं यस्याः सा तथा सा निश्चिता-असंशया मतिः—बुद्धिर्येषां ते हि-तसुखनिःश्रेयसतीव्रपरिणामनिश्चितमतयः, किं ?—'पय च्छिऊणं' ति प्रदाय, किं भूतानि भक्तपानानि ?-प्रयोगेषु शुद्धानि दायकदानव्यापारापेक्षया सकलाशंसादिदोषरहि-तानि ग्राहकग्रहणव्यापारापेक्षया चोद्गमादिदोषवर्ज्जितानि, ततः किं ?-यथा च-येन च प्रकारेण पारम्पर्येण-मोक्षसाध-कत्वलक्षणेन निर्वर्त्तयन्ति, भव्यजीवा इति गम्यते, तुशब्दो भाषामात्रार्थः, बोधिलाभम्, यथा च परित्तीकुर्वन्ति—ह्र-स्वतां नयन्ति संसारसागरमिति योगः । किं भूतं ?—नर-निरयतिर्यक्सुरगतिषु यज्जीवानां गमनं—परिभ्रमणं स एव विपुलो-विस्तीर्णः परिवर्त्तो—मत्स्यादीनां परिवर्त्तन-मनेकधा सञ्चरणं यत्र स तथा, तथा अरतिभयविषाद-शोकमिथ्यात्वान्येव शैलाः—पर्वतास्तैः सङ्कटः—सङ्कीर्णो यः स तथा ततः कर्म्मधारयोऽतस्तम्, इह च विषादो-दैन्यमात्रं शोकस्त्वाक्रन्दनादिचिह्न इति, तथा अज्ञानमेव तमोऽन्धकारं महान्धकारं यत्र स तथा अतस्तं, 'चिक्खि-ल्लसुदुत्तारं' ति चिक्खिल्लं—कर्दमः संसारपक्षे तु चिक्खि-ल्लं विषयधनस्वजनादिप्रतिबन्धस्तेन सुदुस्तरो दुःखोत्तार्यो यः स तथा तम्, तथा जरामरणयोनय एव संक्षुभितं म-हामत्स्यमकराद्यनेकजलजन्तुजातसम्मर्देन प्रविलोडितं चक्र-वालं जलपरिमाण्डल्यं यत्र स तथा तं, तथा षोडश कषा-या एव स्वापदानि—मकरग्राहादीनि प्रकाण्डचण्डानि—अत्यर्थं रौद्राणि यत्र स तथा तम्, अनादिकमनवदग्रमनन्तं संसारसागरमिमं प्रत्यक्षमित्यर्थः, लथा यथा च सागरो-पमादिना प्रकारेण निबध्नन्त्यायुः सुरगणेषु साधुदानप्रत्य-यमिति भावः, यथा चानुभवन्ति सुरगणविमानसौख्यानि अनुपमानि, ततश्च कालान्तरेण च्युतानाम् 'इहेव' त्ति तिर्यग्लोके नरलोकमागतानामायुर्वपुर्वर्णरूपजातिकुलजन्मा-रोग्यबुद्धिमेधाविशेषा आख्यायन्त इति योगः, तत्रायुषो विशेष इतरजीवायुषः सकाशात् शुभत्वं दीर्घत्वं च एवं वपुः-शरीरं तस्य स्थिरसंहननता वर्णस्योदारगौरत्वं रूपस्याति-सुन्दरता जातेरुत्तमत्वं कुलस्याप्येवं जन्मनो विशिष्टक्षेत्र-कालौ निराबाधत्वम् आरोग्यस्य प्रकर्षः बुद्धिरौत्पत्तिक्या-दिका तस्याः प्रकृष्टता मेधा-अपूर्वश्रुतग्रहणशक्तिस्तस्या विशेषः प्रकृष्टतैवेति, तथा मित्रजनः-सुहृल्लोकः स्वजनः-पितृपितृव्यादिः धनधान्यरूपो यो विभवो-लक्ष्मीः स धन-धान्यविभवस्तथा समृद्धेः—पुरान्तः पुरकोशकोष्ठागा-रबलवाहनरूपा याः सम्पदो यानि साराणि—प्रधानानि व-स्तूनि तेषां यः समुदायः—समूहः स तथा इत्येतेषां द्वन्द्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तत एषां ये विशेषाः प्रकर्षास्ते तथा, तथा बहुविधका-मभोगोद्भवानां सौख्यानां विशेषा इतीहापि सम्बन्धनीयम्, शुभविपाक उत्तमो येषां ते शुभविपाकोत्तमास्तेषु जीवेष्विति गम्यम्। इह चेयं षष्ठ्यर्थे सप्तमी, तेन शुभविपाकाध्ययनवाच्यानां साधूनामायुष्कादिविशेषाः शुभविपाकाध्ययनेऽभ्याख्यायन्ते इति प्रकृतम्। अथ प्रत्येकं श्रुतस्कन्धयोरभिधेये पुण्यपापविपाकरूपे प्रतिपाद्य तयोरेव यौगपद्येन ते आह-'अणुवरये' त्यादि, अनुपरता-अविच्छिन्ना ये परम्परानुबद्धाः-पारम्पर्यप्रतिबद्धाः, के ?—विपाका इति योगः, केषाम्? अशुभानां शुभानां चैव कर्मणां प्रथमद्वितीयश्रुतस्कन्धयोः क्रमेणैव च भाषिताः—उक्ता बहुविधा विपाकाः विपाकश्रुते एकादशाङ्गे भगवता जिनवरेण संवेगकारणार्थाः—संवेगहेतवो भावाः अन्येऽपि चैवमादिका आख्यायन्त इति पूर्वोक्तक्रियया वचनपरिणामाद्वोत्तरक्रियया योगः, एवं च बहुविधा विस्तरेणार्थप्ररूपणता आख्यायन्त इति। शेषं कण्ठ्यम्, नवरं संख्यातानि पदशतसहस्राणि पदाग्रेणेति, तत्र किल एका पदकोटी चतुरशीतिश्च लक्षाणि द्वात्रिंशच्च सहस्राणीति ॥ ११ ॥ स० १४६ सम० । नं० । " नामेण पूसमित्तो, समणो समणगुणनिउणविवतितो। होही अपच्छिमो किर, विवायसुयधारको धीरो ॥" ति० ।

विवाय–विवाद–पुं०। विरुद्धो वादो विवादः। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। विप्रतिपत्तौ, प्रश्न० २ संव० द्वार। विप्रतिपत्तिसमुत्थवचने, क्रोधकार्यत्वादस्य क्रोधकषायविशेषे, भ० १२ श० ५ उ० । स० । सूत्र०। वाक्कलहे, जी० १ प्रति०। कलहो त्ति वा भंडणं ति वा विवादो त्ति वा एगट्ठं। नि० चू० १६ उ०।

छव्विहे विवादे पण्णत्ते, तं जहा–ओसक्कतित्ता उस्सक्कइत्ता अणुलोमइत्ता पडिलोमतित्ता भइत्ता भेलतित्ता। (सू० ४१२)

'छव्विहे' त्यादि षड्विधः—षड्भेदो विप्रतिपन्नयोः क्वचिदर्थे वादो—जल्पो विवादः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'ओसक्कइत्त' त्ति अवष्वष्क्य—अपसृत्यावसरलाभाय कालहरणं कृत्वा यो विधीयते स तथोच्यते, एवं सर्वत्र, क्वचिच्च 'ओसक्कावइत्त' त्ति पाठस्तत्र प्रतिपन्थिनं केनापि व्याजेनापसर्प्य—अपसृतं कृत्वा पुनरवसरमवाप्य विवदते, 'ओसक्कइत्त' त्ति उत्ष्वष्क्य—उत्सृत्य लब्धावसरतयोत्सुकीभूय 'उस्सक्कावइत्त' त्ति पाठान्तरे परमुत्सुकीकृत्य लब्धावसरो जयार्थी विवदते, तथा 'अणुलोमइत्त' त्ति विवादाध्यक्षान् सामनीत्याऽनुलोमान् कृत्वा प्रतिपन्थिनमेव वा पूर्वं तत्पक्षाभ्युपगमेनानुलोमं कृत्वा 'पडिलोमइत्ता' प्रतिलोमान् कृत्वा अध्यक्षान् प्रतिपन्थिनं वा, सर्वथा सामर्थ्ये सतीति, तथा 'भइत्त' त्ति अध्यक्षान् भक्त्वा--संसेव्य, तथा 'भेलइत्त' त्ति स्वपक्षपातिभिर्मिश्रान् कारणिकान् कृत्वेति भावः। क्वचित्तु-'भेयइत्त' त्ति पाठः, तत्र भेदयित्वा केनाप्युपायेन प्रतिपन्थिनं प्रति कारणिकान् द्वेषिणो विधाय स्वपक्षग्राहिणो वेति भावः। स्था० ६ ठा० ३ उ०।

लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद्, दुःस्थितेनाऽमहात्मना।
छलजातिप्रधानो यः, स विवाद इति स्मृतः ॥ ४ ॥

लब्धिः-सुवर्णादीनां लाभः ख्यातिश्च—प्रसिद्धिः ताभ्यामर्थः प्रयोजनं यस्यास्ति स तथा तेन, तुशब्दः पुनःशब्दार्थः, स चाद्यवादविवादयोर्विशेषद्योतकः स्याद्भवेत् यो वाद इति संबन्धः, दुस्थितेन-दरिद्रेण मनोदुःस्थितेन वा अमहात्मना-अनुदारचित्तेन एवंविधस्य हि पराजये हि विषादवृत्तिच्छेदादिदोषप्रसङ्गेन साधोः परलोकबाधेति कृत्वा वादस्य विरुद्धता स्यादत एव कारणात् विशेषितोऽसाविति। इह च सह वादिनेति गम्यम्, छलजातिप्रधानो यस्तत्र छलं वाक्छलादि यथा नवकम्बलो देवदत्तः जातयो दूषणाभासाः यथा-अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति, अस्य हेतोर्दूषणं तथाहि-यदि घटगतं कृतकत्वं हेतुस्तदा तच्छब्देन सिद्ध—मित्यसिद्धो हेतुः, अथशब्दगतं तदनित्यत्वेन व्याप्तं न सिद्धमित्यसाधारणानैकान्तिको हेतुरिति तत्प्रधानो यः स तथा स एवंविधो वादो विवाद इति स्मृत-एवमभिहित इति ॥४॥

कस्माद्विवादोऽयं स्मृत इत्याह। मूलसूत्रम्—

विजयो ह्यत्र सन्नीत्या, दुर्लभस्तत्त्ववादिनः।
तद्भावेऽप्यन्तरायादि, दोषोऽदृष्टविघातकृत् ॥ ५ ॥

विजयः-प्रतिवाद्यभिभवद्वारेण जयो ह्रियस्मात्-अत्र छलादिप्रधाने विवादे सन्नीत्या-शोभनेन न्यायेन यतस्तत्र सन्नीत्युदग्रहणपरस्यापि छलाय शब्दादिना निग्रहस्थानावाप्तिः स्यात्, दुर्लभो न सुलभः। कस्येत्याह—तत्त्ववादिनः वस्तुतत्त्ववदनशीलस्य साधोः अथात्यन्तप्रमादितया छलादिपरिहृतो विजयस्य लाभो भवति तत्रान्तरायादिदोषमाह-तद्भावेऽपि आस्तां विजयाभावो दोषस्तद्भावेऽपि परनिराकरणे हि अन्तरायः प्रतिवादिनो लाभख्यात्यादिविघात आदिर्यस्य शोकप्रद्वेषादेः स तथा स चासौ दोषश्चेत्यन्तरायादिदोषः संभवतीति गम्यते। स हि पराजितो राजादिभ्यो न किंचिल्लभते, लब्धं चास्य ह्रियते। किंविधो दोष इत्याह-अदृष्टविघातकृतत् परलोकव्याहतिकारीति ॥ ५ ॥ हा० १२ अष्ट०।

शक्रेशान्योर्विवादः—

अत्थि णं भंते ! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं विवादा समुप्पज्जंति, हंता अत्थि। से कहमिदाणिं पकरेइ?, गोयमा !, ताहे चेव णं ते सक्कीसाणा देविंदा देवरायाणो सणंकुमारं देविंदं देवरायं मणसीकरेंति। तए णं से सणंकुमारे देविंदे देवराया तेहिं सक्कीसाणेहिं देविंदेहिं देवराईहिं मणसीकए समाणे खिप्पामेव सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं अंतियं पाउब्भवंति, जं से वयइ तस्स आणा उववायवयणनिद्देसे चिट्ठंति। (सू० १४०) भ० ३ श० १ उ०।

विवाह--विवाह--पुं०। पाणिग्रहणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। वैवाह्यं विवाह एव तत्कर्म वा वैवाह्यं सामान्यतो गृहस्थधर्मं इति प्रकृतम्, अग्रेऽपि सर्वत्र ज्ञेयम्। अत्र लौकिकनीतिशास्त्रमिदम्—द्वादशवर्षा स्त्री षोड-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शवर्षः पुमान् तौ विवाहयोग्यौ, विवाहपूर्वो व्यवहारः कुटुम्बोत्पादनपरिपालनारूपश्चतुरो वर्णान् कुलीनान् करोति। युक्तितो वरविधानम्, अग्निदेवादिसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः। स च लोकेऽष्टविधः, तत्र अलंकृत्य कन्यादानं ब्राह्मयो विवाहः १, विभवविनियोगेन कन्यादानं प्राजापत्यः २, गोमिथुनदानपूर्वमार्षः ३, यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा स दैवः ४; एते धर्म्या विवाहाश्चत्वारः गृहस्थोचितदेवपूजनादिव्यवहाराणामेतदन्तरङ्गकारणत्वात्। मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात् परस्परानुरागेण समवायाद्गान्धर्वः ५, पणबन्धेन कन्याप्रदानमासुरः ६, प्रसह्य कन्याग्रहणाद्राक्षसः ७, सुप्तप्रमत्तकन्याग्रहणात्पैशाचः ८; एते च चत्वारोऽधर्म्याः। यदि वधूवरयोरनपवादं परस्परं रुचिरस्ति तदा अधर्म्या अपि धर्म्याः। शुद्धकलत्रलाभफलो विवाहः। तत्फलं च सुजातसुतसंततिरनुपहता चित्तनिर्वृत्तिर्गृहकृत्यसुविहितत्वमाभिजात्याचारविशुद्धत्वं देवातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं चेति। कुलवधूरक्षणोपायास्त्वेते गृहकर्मविनियोगः, परिमितोऽर्थसंयोगः, अस्वातन्त्र्यं, सदाचारमातृतुल्यस्त्रीलोकावरोधनमिति॥ ६॥ ध० १ अधि०। "वर्षासु शुभकार्याणि, नान्यान्यपि समाचरेत्। गृहिणां मुख्यकार्यस्य, विवाहस्य तु का कथा॥ १॥" कल्प० १ अधि० ७ क्षण। आ० म०। (सर्वतः पूर्वमृषभेन भगवता युगलिकमनुष्याणां विवाहोऽनुष्ठापित इति 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे २२२७ पृष्ठे उक्तम्।) (एवं जगद्गुरुविषयां महादानविप्रतिपत्तिनिरतस्यैव राज्यदानविषयतां निरस्य परमतं 'रज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितम्।) (परविवाहकरणं 'परविवाहकरण' शब्दे पञ्चमभागे ५४८ पृष्ठे व्याख्यातम्।)

विवाहचूलिया-व्याख्याचूलिका-स्त्री०। व्याख्या-भगवती तस्याश्चूलिका व्याख्याचूलिका। संक्षेपिकानां दशानां पञ्चमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ०। नं०। पा०। ध०। ती०।

विवाहपण्णत्ति-व्याख्याप्रज्ञप्ति-स्त्री०। भगवत्यपरनामके प्रवचनपुरुषस्य पञ्चमे अङ्गे, भ०।

विवाह(ध)प्र(ज्ञा)ज्ञ(त्ति)प्ति-स्त्री०। भगवत्यपरनामके प्रवचनपुरुषस्य पञ्चमे अङ्गे, भ०।

अथ 'विवाहपन्नत्ति' त्ति कः शब्दार्थः?, उच्यते, विविधा—जीवाजीवादिप्रचुरतरपदार्थविषयाः आ-अभिविधिना कथञ्चिन्निखिलज्ञेयव्याप्त्या मर्यादया वा-परस्परासंकीर्णलक्षणाभिधानरूपया ख्यानानि—भगवतो महावीरस्य गौतमादिविनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्यास्ताः प्रज्ञाप्यन्ते—प्ररूप्यन्ते भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्?, अथवा विविधतया विशेषेण वा आख्यायन्त इति व्याख्याः—अभिलाप्यपदार्थवृत्तयस्ताः प्रज्ञाप्यन्ते यस्याम् २, अथवा व्याख्यानाम्-अर्थप्रतिपादनानां प्रकृष्टाः ज्ञप्तयो—ज्ञानानि यस्यां सा व्याख्याप्रज्ञप्तिः ३, अथवा व्याख्यायाः—अर्थकथनस्य प्रज्ञायाश्च—तद्धेतुभूतबोधस्य व्याख्यासु वा प्रज्ञाया आप्तिः—प्राप्तिः आत्तिर्वा—आदानं यस्याः सकाशादसौ व्याख्याप्रज्ञाप्तिर्व्याख्याप्रज्ञात्तिर्वा ४-५, व्याख्याप्रज्ञाद्वा-भगवतः सकाशादाप्तिरात्तिर्वा गणधरस्य यस्याः सा तथा ६, अथवा विवाहा-विविधा विशिष्टा वाऽर्थप्रवाहा नयप्रवाहा वा प्रज्ञाप्यन्ते-प्ररूप्यन्ते प्रबोध्यन्ते वा यस्यां, विवाहा वा-विशिष्टसन्ताना विबाधा वा-प्रमाणाबाधिताः प्रज्ञा आप्यन्ते यस्याः, विवाहा चासौ विबाधा चासौ वा प्रज्ञप्तिश्च-अर्थप्रज्ञप्तिश्चार्थप्ररूपणा विवाहप्रज्ञप्तिर्विवाहप्रज्ञाप्तिः विबाधप्रज्ञाप्तिर्विबाधप्रज्ञप्तिर्वा ७-८-९-१०-(भ० १ श० १ उ०।) स०। अनु०। पा०। 'विवाहपन्नत्ति' त्ति सञ्ज्ञितस्य पञ्चमाङ्गस्य समुन्नतजयकुञ्जरस्येव ललितपदपद्धतिप्रबुद्धजनमनोरञ्जकस्य उपसर्गनिपाताव्ययस्वरूपस्य घनोदारशब्दस्य लिङ्गविभक्तियुक्तस्य सदाख्यातस्य सल्लक्षणस्य देवताधिष्ठितस्य सुवर्णमण्डितोद्देशकस्य नानाविधाद्भुतप्रवरचरितस्य षट्त्रिंशत्प्रश्नसहस्रप्रमाणसूत्रदेहस्य चतुरनुयोगचरणस्य ज्ञानचरणनयनयुगलस्य द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयद्वितयदन्तमुशलस्य निश्चयव्यवहारनयसमुन्नतकुम्भद्वयस्य प्रस्तावनावचनरचनाप्रकाण्डशुण्डादण्डस्य निगमनवचनातुच्छपुच्छस्य कालाद्यष्टप्रकारप्रवचनोपचारचारुपरिकरस्य उत्सर्गापवादसमुच्छलदतुच्छघण्टायुगलघोषस्य यशःपटहपटुप्रतिरवापूर्णदिक्चक्रवालस्य स्याद्वादविशदाङ्कुशवशीकृतस्य विविधहेतुहेतिसमूहसमन्वितस्य मिथ्यात्वाज्ञानाविरमणलक्षणरिपुबलदलनाय श्रीमन्महावीरमहाराजेन नियुक्तस्य बलनियुक्तककल्पगणनायकमतिप्रकल्पितस्य मुनियोधैरनाबाधमधिगमाय पूर्वमुनिशिल्पिकल्पितयोर्बहुप्रवरगुणत्वेऽपि ह्रस्वतया महतामेव वाञ्छितवस्तुसाधनसमर्थयोर्वृत्तिचूर्णिनाडिकयोस्तदन्येषां च जीवाभिगमादिविविधविवरणदवरकलेशानां संघट्टनेन बृहत्तरा, अत एवामहतामप्युपकारिणी हस्तिनायकादेशादिव गुरुजनवचनात्पूर्वमुनिशिल्पिकुलोत्पन्नैरस्माभिर्नाडिकेवेयं वृत्तिरारभ्यते, इति शास्त्रप्रस्तावना। (सू० १) भ० १ श० १ उ०।

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं। (सू० १) णमो बंभीए लिवीए। (सू० २)।

अधिकृतशास्त्रस्यैव मङ्गलत्वात्किं मङ्गलेन?, अनवस्थादिदोषप्राप्तेः, सत्यं, किन्तु शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहार्थं मङ्गलोपादानं शिष्टसमयपरिपालनाय चेत्युक्तमेवेति। अभिधेयादयः पुनरस्य सामान्येन व्याख्याप्रज्ञप्तिरिति नाम्नैवोक्ता इति ते पुनर्नोच्यन्ते, तत एव श्रोतृप्रवृत्त्यादीष्टफलसिद्धेः। तथाहि—इह भगवतोऽर्थव्याख्या अभिधेयतया उक्ताः, तासां च प्रज्ञापना बोधो वाऽनन्तरफलं, परम्परफलं तु मोक्षः, स चास्याऽऽप्तवचनत्वादेव फलतया सिद्धो, न ह्याप्तः साक्षात् पारम्पर्येण वा यन्न मोक्षाङ्गं तत्प्रतिपादयितुमुत्सहते, अनाप्तत्वप्रसङ्गात्, तथाऽयमेव सम्बन्धो यदुतास्य शास्त्रस्येदं प्रयोजनमिति॥ २॥ तदेवमस्य शास्त्रस्यैकश्रुतस्कन्धरूपस्य सातिरेकाध्ययनशतस्वभावस्य उद्देशकदशसहस्री (१००००) प्रमाणस्य षट्त्रिंशत्प्रश्नसहस्र (३६०००) सहस्रपरिमाणस्य अष्टाशीतिसहस्राधिकलक्षद्वय (२८८०००) प्रमाणपदराशेर्मङ्गलादीनि दर्शितानि। अथ प्रथमे शते ग्रन्थान्तरपरिभाषयाऽध्ययने दशोद्देशका भवन्ति। उद्देशकाश्च—अध्ययनार्थदेशाभिधायिनोऽध्ययनविभागाः। उद्दिश्यन्ते-उपधानविधिना शिष्यस्याचार्येण, यथा-एतावन्तमध्ययनभागमधीष्वेत्येवमुद्देशास्त एवोद्देशकाः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तांश्च सुखधरणस्मरणादिनिमित्तमाद्याभिधेयाभिधानद्वारेण संग्रहीतुमिमां गाथामाह-

रायगिहंचलणदुक्खे, कंखपओसे य पगइपुढवीओ।
जावंते नेरइए, बाले गुरुए य चलणाओ ॥ १ ॥

अधिकृतगाथार्थो यद्यपि वक्ष्यमाणोद्देशकदशकाभिगमे स्वयमेवावगम्यते तथाऽपि बालानां सुखावबोधार्थमभिधीयते—तत्र 'रायगिहे' त्ति लुप्तसप्तम्येकवचनत्वाद्राजगृहे नगरे वक्ष्यमाणोद्देशकदशकस्यार्थो भगवता श्रीमहावीरेण दर्शित इति व्याख्येयम्। एवमन्यत्रापीष्टविभक्त्यन्तताऽवसेया। 'चलण' त्ति चलनविषयः प्रथमोद्देशकः 'चलमाणे चलिए' इत्याद्यर्थनिर्णयार्थ इत्यर्थः १, 'दुक्खे' त्ति दुःखविषयो द्वितीयः 'जीवो भदन्त! स्वयं कृतं दुःखं वेदयती' त्यादिप्रश्ननिर्णयार्थ इत्यर्थः २, 'कंखपओसे' त्ति काङ्क्षा-मिथ्यात्वमोहनीयोदयसमुत्थोऽन्यान्यदर्शनग्रहरूपो जीवपरिणामः स एव प्रकृष्टो दोषो-जीवदूषणं काङ्क्षाप्रदोषस्तद्विषयस्तृतीयः, 'जीवेन भदन्त! काङ्क्षामोहनीयं कर्म्म कृत' मित्याद्यर्थनिर्णयार्थ इत्यर्थः ३, चकारः समुच्चये, 'पगइ' त्ति प्रकृतयः-कर्म्मभेदाश्चतुर्थोद्देशकस्यार्थः, 'कति भदन्त! कर्म्मप्रकृतयः?' इत्यादिश्चासौ ४, 'पुढवीओ' त्ति रत्नप्रभादिपृथिव्यः पञ्चमे वाच्याः,'कति भदन्त! पृथिव्यः?' इत्यादि च सूत्रमस्य५,'जावंते'त्ति यावच्छब्दोपलक्षितः षष्ठः'यावन्तो भदन्त! अवकाशान्तरात्सूर्य' इत्यादिसूत्रश्चासौ६, 'नेरइए' त्ति नैरयिकशब्दोपलक्षितः सप्तमः, 'नैरयिको भदन्त! निरये उत्पद्यमानः' इत्यादि च तत्सूत्रम्। ७, 'बाले' त्ति बालशब्दोपलक्षितोऽष्टमः, 'एकान्तबालो भदन्त! मनुष्यः' इत्यादिसूत्रश्चासौ ८, 'गुरुए' त्ति गुरुकविषयो नवमः, 'कथं भदन्त! जीवा गुरुकत्वमागच्छन्ति?' इत्यादि च सूत्रमस्य ९, चः समुच्चायार्थः 'चलणाओ' त्ति बहुवचननिर्देशाच्चलनाद्या दशमोद्देशकस्यार्थः, तत्सूत्रं चैवम्-'अन्यूथिका भदन्त! एवमाख्यान्ति चलद् अचलितमित्यादी'ति प्रथमशतोद्देशकसङ्ग्रहणिगाथार्थः ॥ १ ॥

तदेवं शास्त्रोद्देशे कृतमङ्गलादिकृत्योऽपि प्रथमशतस्यादौ विशेषतो मङ्गलमाह—

नमो सुयस्स ॥ (सू० ३) ।

'नमो सुयस्स' त्ति नमस्कारोऽस्तु श्रुताय—द्वादशाङ्गीरूपायार्हत्प्रवचनाय, नन्विष्टदेवतानमस्कारो मङ्गलार्थो भवति, न च श्रुतमिष्टदेवतेति कथमयं मङ्गलार्थ इति?, अत्रोच्यते-श्रुतमिष्टदेवतैव, अर्हतां नमस्करणीयत्वात्, सिद्धवत्, नमस्कुर्वन्ति च श्रुतमर्हन्तो, 'नमस्तीर्थाये' ति भणनात्। तीर्थं च श्रुतं संसारसागरोत्तरणसाधारणकारणत्वात्, तदाधारत्वेनैव च सङ्घस्य तीर्थशब्दाभिधेयत्वात्, तथा सिद्धानपि मङ्गलार्थमर्हन्तो नमस्कुर्वन्त्येव—"काऊण नमोकारं,सिद्धाणमभिग्गहं तु सो गिरहे" इति वचनादिति ॥ ३ ॥

एवं तावत्प्रथमशतोद्देशकाभिधेयार्थलेशः प्रागदर्शितः, ततश्च 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायमाश्रित्यादितः प्रथमोद्देशकार्थप्रपञ्चो वाच्यः, तस्य च गुरुपर्वक्रमलक्षणं सम्बन्धमुपदर्शयन् भगवान् सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनमाश्रित्येदमाह—

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था, वएणओ, तस्स णं रायगिहस्स बहिया नगरस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गुणसिलए नामं चेइए होत्था, सेणिए राया, चेल्लणा देवी । (सू० ४)

अथ कथमिदमवसीयते यदुत—सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनमभिसंबन्धग्रन्थमुक्तवानिति?, उच्यते-सुधर्म्मस्वामिवाचनाया एवानुवृत्तत्वात्, आह च-"तित्थं च सुहम्माओ, निरवच्चा गणहरा सेसा" सुधर्म्मस्वामिनश्च जम्बूस्वाम्येव प्रधानः शिष्योऽतस्तमाश्रित्येयं वाचना प्रवृत्तेति । तथा षष्ठाङ्गे उपोद्घात एवं दृश्यते—यथा किल सुधर्म्मस्वामिनं प्रति जम्बूनामा प्राह—"जइ णं भंते! पंचमस्स अंगस्स विवाहपन्नत्तीए समणेणं भगवया महावीरेणं अयमट्ठे पण्णत्ते, छट्ठस्स णं भंते! के अट्ठे पन्नत्ते?" त्ति तत एवमिहापि सुधर्म्मैव जम्बूनामानं प्रत्युपोद्घातमवश्यमभिहितवानित्यवसीयत इति । अयं चोपोद्घातग्रन्थो मूलटीकाकृता समस्तं शास्त्रमाश्रित्य व्याख्यातोऽस्माभिः प्रथमोद्देशकमाश्रित्य व्याख्यास्यते प्रतिशतं प्रत्युद्देशकमुपोद्घातस्येह शास्त्रेऽनेकधाऽभिधानादिति । अयं च प्राग् व्याख्यातो नमस्कारादिको ग्रन्थो वृत्तिकृता न व्याख्यातः कुतोऽपि कारणादिति । 'तेणं कालेणं' ति, ते इति-प्राकृतशैलीवशात्तस्मिन् यत्र तन्नगरमासीत्, णकारोऽन्यत्रापि वाक्यालङ्कारार्थो यथा-"इमा णं भंते! पुढवी" त्यादिषु काले अधिकृतावसर्पिणीचतुर्थविभागलक्षण इति, 'तेणं' ति तस्मिन् यत्रासौ भगवान् धर्मकथामकरोत् 'समएणं' ति समये—कालस्यैव विशिष्टे विभागे, अथवा तृतीयैवेयं ततस्तेन कालेन हेतुभूतेन तेन समयेन हेतुभूतेनैव 'रायगिहे' त्ति एकारः प्रथमैकवचनप्रभवः 'कयरे आगच्छइ दित्तरूवे' इत्यादाविव। ततश्च राजगृहं नाम नगरं 'होत्थ' त्ति अभवत्। नन्विदानीमपि तन्नगरमस्तीत्यतः कथमुक्तमभवदिति?, उच्यते, वर्णकग्रन्थोक्तविभूतियुक्तं तदैवाभवत् न तु सुधर्म्मस्वामिनो वाचनादानकाले, अवसर्पिणीत्वात्कालस्य तदीयशुभभावानां हानिभावात् । 'वन्नओ' त्ति इह स्थानके नगरवर्णको वाच्यः, ग्रन्थगौरवभयादिह तस्यालिखितत्वात्। भ० १ श० १ उ०। "इति गुरुगमभङ्गैः सागरस्याहमस्य, स्फुटमुपचितजाड्यः पञ्चमाङ्गस्य सद्यः। प्रथमशतपदार्थावर्तगर्तव्यतीतो, विवरणवरपोतं प्राप्य सद्धीवराणाम् ॥ १ ॥" इति श्रीमदभयदेवाचार्यविरचितायां भगवतीवृत्तौ प्रथमशतं समाप्तमिति। भ० १ श० १० उ० ।

अथ द्वितीयं व्याख्यायते-तत्रापि प्रथमोद्देशकः-तस्य चायमभिसम्बन्धः-प्रथमशतान्तिमोद्देशकान्ते जीवानामुत्पादविरहोऽभिहितः, इह तु तेषामेवोच्छ्वासादि चिन्त्यत इत्येवं सम्बन्धस्यास्येदमुपोद्घातसूत्रानन्तरसूत्रम्। गाहा—

ऊसासखंदए वि य १, पुढवि २, दिय ३, अन्नउत्थि- ४ भासा ५ य। देवा य ६ चमरचंचा ७, समयखित्त ८ ९ ऽत्थिकाय १० बीयसए ॥१॥ भ० २ श० १ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri .

" श्रीपञ्चमाङ्गे गुरुसूत्रपिण्डे,शतं स्थितानेकशते द्वितीयम्। अनैपुणेनापि मया व्यचारि, सूत्रप्रयोगज्ञवचोऽनुवृत्त्या ॥१॥" इति। भ० २ श० १० उ०।

तृतीयं व्याख्यायते-अस्य चायमभिसम्बन्धः-अनन्तरशतेऽस्तिकाया उक्ताः, इह तु तद्विशेषभूतस्य जीवास्तिकायस्य विविधधर्म्मा उच्यन्ते, इत्येवं सम्बन्धस्यास्य तृतीयशतस्योद्देशकार्थसङ्ग्रहायेयं गाथा—

केरिसविउव्वणाचम-रकिरियजाणित्थिनगरपाला य।
अहिवइ इंदियपरिसा, ततियम्मि सए दसुद्देसा ॥६॥

भ० ३ श० १ उ०।

" श्रीपञ्चमाङ्गस्य शतं तृतीयं, व्याख्यातमाश्रित्य पुराणवृत्तिम्। शक्तोऽपि गन्तुं भजते हि यानं, पान्थः सुखार्थं किमु यो न शक्तः ? ॥ १ ॥ " भ० ३ श० १० उ०।

तृतीयशते प्रायेण देवाधिकार उक्तः, अतस्तदधिकारवदेव चतुर्थं शतं, तस्य पुनरुद्देशकार्थाधिकारसंग्रहगाथा—

चत्तारि विमाणेहिं,चत्तारि य होंति रायहाणीहिं। नेरइए
लेस्साहिय,दस उद्देसा चउत्थसए। भ० ४ श० १ उ०।

'स्वतः सुबोधेऽपि शते तुरीये , व्याख्या मया काचिदियं विहब्धा। दुग्धे सदा स्वादुतमे स्वाभावात्, क्षेपो न युक्तः किमुशर्करायाः ॥ १ ॥ ' भ० ४ श० १० उ०।

चतुर्थशतान्ते लेश्या उक्ताः, पञ्चमशते तु प्रायो लेश्यावन्तो निरूप्यन्ते इत्येवं संबन्धस्यास्योद्देशकसंग्रहाय गाथेयम्—

चंपरवि अनिल गंठिय, सद्दे छउमाउएयण णियंठे।
रायगिहं चंपा चं-दिमा य दस पंचमम्मि सए ॥ १ ॥

भ० ५ श० १ उ०।

'श्रीरोहणाद्रेरिव पञ्चमस्य, शतस्य देशानिव साधुशब्दान्। विभिद्य कुश्येव बुधोपदिष्ट्या, प्रकाशिताः सन्मणिवन्मयाऽर्थाः' ॥१॥ भ० ५ श० १० उ०। व्याख्यातं विचित्रार्थं पञ्चमं शतम्।

अथावसरायातं तथाविधमेव षष्ठमारभ्यते, तस्य तस्य चोद्देशकार्थसंग्रहणी गाथेयम्–

वेयण आहार मह-स्सवे य सपएस तमुय भविए य।
साली पुढवी कम्म, ऽन्नउत्थि दस छट्ठगम्मि सए ।१।

' वेयणे ' त्यादि, तत्र ' वेयण ' त्ति महावेदनो-महानिर्ज्जर इत्याद्यर्थप्रतिपादनपरः प्रथमः १। ' आहार ' त्ति अहाराद्यर्थाभिधायको द्वितीयः २। 'महस्सवे' य त्ति महाश्रवस्य पुद्गला बध्यन्ते इत्याद्यर्थाभिधानपरस्तृतीयः ३। 'सपएस' त्ति सप्रदेशो जीवोऽप्रदेशो वा इत्याद्यर्थाभिधायकश्चतुर्थः ४। ' तमुए य ' त्ति तमस्कायार्थनिरूपणार्थः पञ्चमः ५। ' भविए' त्ति भव्यो—नारकत्वादिनोत्पादस्य योग्यस्तद्वक्तव्यतानुगतः षष्ठः ६। ' सालि ' त्ति शाल्यादिधान्यवक्तव्यताऽऽश्रितः सप्तमः ७। ' पुढवि ' त्ति रत्नप्रभादिपृथिवीवक्तव्यताऽर्थोऽष्टमः ८। ' कम्म ' त्ति कर्मबन्धाभिधायको नवमः ९। ' अन्नउत्थि ' त्ति अन्ययूथिकवक्तव्यतार्थो दशमः १० इति। भ० ६ श० १ उ०। " प्रतीत्य भेदं किल नालिकेरं, षष्ठं शतं मन्मतिदन्तभाञ्जि। तथापि विद्वत्सभसच्छिल्लायां, नियोज्य नीतं स्वपरोपयोगम् ॥ १ ॥ " भ० ६ श० १० उ०।

व्याख्यातं जीवाद्यर्थप्रतिपादनपरं षष्ठं शतम्। अथ जीवाद्यर्थप्रतिपादनपरमेव सप्तमं शतं व्याख्यायते, तत्र चादावेवोद्देशकार्थसंग्रहगाथा—

आहार विरति थावर, जीव पक्खी य आउ अणगारे।
छउमत्था संवुड अ-ण्णउत्थि दस सत्तमम्मि सए ॥१॥

'आहारे' त्यादि 'आहार' त्ति आहारकानाहारकवक्तव्यतार्थः प्रथमः। ' विरइ ' त्ति प्रत्याख्यानार्थो द्वितीयः। तत्र 'थावर' त्ति वनस्पतिवक्तव्यतार्थस्तृतीयः। ' जीव' त्ति संसारिजीवप्रज्ञापनार्थश्चतुर्थः। ' पक्खी य' त्ति खचरजीवयोनिवक्तव्यतार्थः पञ्चमः। ' आउ ' त्ति आयुष्कवक्तव्यतार्थः षष्ठः। 'अणगारे' त्ति अनगारवक्तव्यतार्थः सप्तमः। ' छउमत्थ ' त्ति छद्मस्थमनुष्यवक्तव्यतार्थोऽष्टमः। 'असंवुड' त्ति असंवृतानगारवक्तव्यतार्थो नवमः। ' अन्नउत्थिय ' त्ति कालोदायिप्रभृतिपरतीर्थिकवक्तव्यतार्थो दशम इति। भ० ७ श० १ उ०। " शिष्टोपदिष्टयष्ट्या , पदविन्यासं शनैरहं कुर्वन्। सप्तमशतविवृतिपथं, लङ्घितवान् वृद्धपुरुष इव ॥ १ ॥ " भ० ७ श० १० उ०।

पूर्वं पुद्गलादयो भावाः प्ररूपिता इहापि त एव प्रकारान्तरेण प्ररूप्यन्त इत्येवं सम्बद्धमष्टमशतं विविय्रते ; तस्य चोद्देशकसंग्रहार्थं ' पोग्गले ' त्यादि गाथामाह—

पोग्गल आसीविस रु-क्ख किरिय आजीव फासुगमदत्ते।
पडिणीय बंध आरा-हणा य दस अट्ठमम्मि सए ॥ १ ॥

' पोग्गल ' त्ति पुद्गलापरिणामार्थः प्रथम उद्देशकः , पुद्गल एवोच्यत एवमन्यत्रापि। ' आसीविस ' त्ति आसीविषादिविषयो द्वितीयः। ' रुक्ख ' त्ति संख्यातजीवादिवृक्षविषयस्तृतीयः। ' किरिय' त्ति कायिक्यादिक्रियाभिधानार्थश्चतुर्थः। ' आजीव' त्ति आजीविकवक्तव्यतार्थः पञ्चमः। 'फासुय ' त्ति प्रासुकदानादिविषयः षष्ठः। ' अदत्ते ' त्ति अदत्तादानविचारणार्थः सप्तमः। ' पडिणीय ' त्ति गुरुप्रत्यनीकाद्यर्थप्ररूपणार्थोऽष्टमः। ' बंधे ' त्ति प्रयोगबन्धाद्यभिधानार्थो नवमः। ' आराहण ' त्ति देशाराधनाद्यर्थो दशमः। भ० ८ श० १ उ०। " सद्भक्त्याहुतिना विवृद्धमहसा पार्श्वप्रसादाग्निना, तन्नामाक्षरमन्त्रजप्तिविधिना विघ्नेन्धनप्लोषितः। सम्पन्नेऽनघशान्तिकर्मकरणे क्षेमादहं नीतवान्, सिद्धिं शिल्पिवदेतदष्टमशतव्याख्यानसन्मन्दिरम् ॥ १ ॥ " भ० ८ श० १० उ०।

व्याख्यातमष्टमशतम्। अथ नवममारभ्यते अस्य चायमभिसम्बन्धः—अष्टमशते विविधाः पदार्था उक्ताः , नवमेऽपि त एव भङ्ग्यन्तरेणोच्यन्ते , इत्येवं सम्बन्धस्योद्देशकार्थसंसूचिकेयं गाथा—

जंबुद्दीवे जोइस, अंतरदीवे असोच्च गंगेय।
कुंडग्गामो पुरिसे, नवमम्मि, सयम्मि चोत्तीसा ॥ १ ॥

'जंबुद्दीवे' त्यादि तत्र 'जंबूदीवे' त्ति जम्बूद्वीपवक्तव्यताविषयः प्रथमोद्देशकः। 'जोइस ' ति ज्योतिष्कविषयो द्वितीयः। 'अंतरदीवे' त्ति अन्तरद्वीपविषयाः अष्टाविंशतिरुद्देशकाः। असोच्च' त्ति अश्रुत्वा धर्म्मं लभेतेत्याद्यर्थप्रतिपादनार्थ एकत्रिंशत्तमः। 'गंगेय' त्ति गाङ्गेयाभिधानाऽनगारवक्तव्यतार्थो द्वात्रिं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शतमः । 'कुंडग्गामे' त्ति ब्राह्मणकुण्डग्रामविषयस्त्रयस्त्रिंशत्तमः। 'पुरिसे'त्ति पुरुषाः पुरुषं घ्नन्तीत्यादिवक्तव्यतार्थश्चतुस्त्रिंशत्तम इति । भ०९ श०१ उ०। "अस्मन्मनोव्योमतलप्रचारिणः, श्रीपार्श्वसूर्यस्य विसर्प्पितेजसा । दुर्द्धृष्यसंमोहतमोपसारणा-द्विभक्तमेवं नवमं शतं मया ॥१॥" भ ९ श० ३४ उ० ।

व्याख्यातं नवमं शतम् । अथ दशमं व्याख्यायते-अस्यायमभिसम्बन्धोऽनन्तरशते जीवादयोऽर्थाः प्रतिपादिता इहापि त एव प्रकारान्तरेण प्रतिपाद्यन्त इत्येवं सम्बन्धस्यास्योद्देशकार्थसंग्रहगाथेयम्—

दिसि संवुडमणगारे, आइड्ढी सामहत्थि देवि सभा ।
उत्तर अंतरदीवा, दसमम्मि सयम्मि चोत्तीसा ॥ १ ॥

'दिसी' त्यादि 'दिसि' त्ति दिशमाश्रित्य प्रथम उद्देशकः । 'संवुडमणगारे' त्ति संवृतानगारविषयो द्वितीयः । 'आइड्ढि,'त्ति आत्मर्द्ध्या देवो देवी वा वासान्तराणि व्यतिक्रामेदित्याद्यर्थाभिधायकस्तृतीयः । 'सामहत्थि'त्ति श्यामहस्त्यभिधानश्रीमन्महावीरशिष्यप्रश्नप्रतिबद्धश्चतुर्थः । 'देवि' त्ति । चमराद्यग्रमहिषीप्ररूपणार्थः पञ्चमः । 'सभ ' त्ति सुधर्मसभाप्रतिपादनार्थः षष्ठः । 'उत्तरअंतरदीव' त्ति उत्तरस्यां दिशि ये अन्तरद्वीपास्तत्प्रतिपादनार्था अष्टाविंशतिरुद्देशका एवं चादितो दशमे शते चतुस्त्रिंशदुद्देशका भवन्तीति। भ०१०श०१उ०। "इति गुरुजनशिक्षापार्श्वनाथप्रसाद-प्रसृतरपतत्रद्वन्द्वसामर्थ्यमाप्य । दशमशतविचारक्ष्माधराग्र्येऽधिरूढः, शकुनिशिशुरिवाहं तुच्छबोधाङ्गकोऽपि ॥१॥ " भ० १० श० ३४ उ० ।

व्याख्यातं दशमं शतम् । अथैकादशं व्याख्यायते,अस्य चायमभिसम्बन्धः-अनन्तरशतस्यान्तेऽन्तरद्वीपा उक्तास्ते च वनस्पतिबहुला इति वनस्पतिविशेषप्रभृतिपदार्थस्वरूपप्रतिपादनायैकादशं शतं भवतीत्येवं सम्बद्धस्यास्योद्देशकार्थसंग्रहगाथा—

उप्पल सालु पलासे, कुंभी नाली य पउम कन्नी य ।
नलिण सिव लोग काला, लंभिय दस दो य एक्कारे॥१॥

भ० ११ श० १ उ० । (व्याख्या ' वणप्फइ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ।) " एकादशशतमेवं, व्याख्यातमबुद्धिनाऽपि यन्मयका । हेतुस्तत्राग्रहिता, श्रीवाग्देवीप्रसादो वा ॥ १ ॥" भ० ११ श० १२ उ० ।

व्याख्यातं विविधार्थमेकादशं शतम् । अथ तथाविधमेव द्वादशमारभ्यते तस्य चोद्देशकार्थाभिधानार्था गाथेयम्-

संखे जयंति पुढवी, पोग्गल अइवाय राहु लोगे य ।
नागे य देव आया, बारसमसए दसुद्देसा ॥ १ ॥

' संखे ' इत्यादि, शङ्खश्रमणोपासकविषयः प्रथम उद्देशकः । 'जयंति' त्ति जयन्त्यभिधानश्राविकाविषयो द्वितीयः । ' पुढवि ' त्ति रत्नप्रभापृथिवीविषयस्तृतीयः । ' पुग्गल ' त्ति पुद्गलविषयश्चतुर्थः । ' अइवाए ' त्ति प्राणातिपातादिविषयः पञ्चमः । ' राहु ' त्ति राहुवक्तव्यतार्थः षष्ठः । ' लोगे य ' त्ति लोकविषयस्सप्तमः । ' नाग य ' त्ति सर्पवक्तव्यतार्थोऽष्टमः । ' देव ' त्ति देवभेदविषयो नवमः । ' आय ' त्ति आत्मभेदनिरूपणार्थो दशम इति । भ० १२ श० १ उ० । " गम्भीररूपस्य महोदधेर्यत्, पोतः परम्पारमुपैति मङ्क्षु । गतावशङ्कोऽपि निजप्रकृत्या, कस्याप्यदृष्टस्य विजृम्भितं तत् ॥ १ ॥ " भ० १२ श० १० उ० ।

व्याख्यातं द्वादशं तत्र चानेकधा जीवादयः पदार्था उक्तास्त्रयोदशेऽपि त एव भङ्ग्यन्तरेणोच्यन्त इत्येवं सम्बद्धमिदं व्याख्यायते । तत्र पुनरियमुद्देशकसंग्रहगाथा-

पुढवी देवमणंतर-पुढवी आहारमेव उववाए ।
भासा कम्मऽणगारे, केयाघडिया समुग्घाए ॥ १ ॥

'पुढवी' इत्यादि, 'पुढवी' ति नरकपृथिवीविषयः प्रथमः । 'देव' त्ति देवप्ररूपणार्थो द्वितीयः । ' अणंतर ' त्ति अनन्तराहारा नारका इत्याद्यर्थप्रतिपादनपरस्तृतीयः । ' पुढवी ' ति पृथिवीगतवक्तव्यताप्रतिबद्धश्चतुर्थः । ' आहारे ' त्ति नारकाद्याहारप्ररूपणार्थः पञ्चमः । ' उववाए ' त्ति नारकाद्युपपातार्थः षष्ठः । 'भास' त्ति भाषार्थः सप्तमः । ' कम्म ' त्ति कर्मप्रकृतिप्ररूपणार्थोऽष्टमः । 'अणगारे केयाघडिय ' त्ति अनगारो-भावितात्मा लब्धिसामर्थ्यात् ' केयाघडिय ' त्ति रज्जुबद्धघटिकाहस्तः सन् विहायसि व्रजेदित्याद्यर्थप्रतिपादनार्थो नवमः, 'समुग्घाए' त्ति समुद्घातप्रतिपादनार्थो दशम इति । भ० १३ श० १ उ० । " त्रयोदशस्यास्य शतस्य वृत्तिः, कृता मया पूज्यपद—प्रसादात् । नह्यन्धकारे विहितोद्यमोऽपि, दीपं विना पश्यति वस्तुजातम् " ॥ १ ॥ भ० १३ श० १० उ० ।

व्याख्यातं विचित्रार्थं त्रयोदशतम् । अथ विचित्रार्थमेव क्रमायातं चतुर्दशमारभ्यते , तत्र च दशोद्देशकास्तत्र सङ्ग्रहगाथा चेयम्—

चर उम्माद सरीरे, पोग्गल अगिणी तहा किमाहारे ।
संसिट्ठमंतरे खलु, अणगारे केवली चेव ॥ १ ॥

'चर उम्मायसरीरे' त्यादि तत्र 'चर' त्ति सूचामात्रत्वादस्य चरमशब्दोपलक्षितोऽपि चरमः प्रथम उद्देशकः । 'उम्माय' त्ति उन्मादार्थाभिधायकत्वादुन्मादो द्वितीयः।'सरीरे'त्ति शरीरशब्दोपलक्षितत्वाच्छरीरस्तृतीयः ।'पुग्गल'त्ति पुद्गलार्थाभिधायकत्वात् पुद्गलश्चतुर्थः। 'अगिणि' त्ति अग्निशब्दोपलक्षितत्वादग्निः पञ्चमः । 'किमाहारे' त्ति किमाहारा इत्येवंविधप्रश्नोपलक्षितत्वात्किमाहारः षष्ठः । 'संसिट्ठ' त्ति "चिरसंसिट्ठो सि गोयम" त्ति इत्यत्र पदे यः संश्लिष्टशब्दस्तदुपलक्षितत्वात्संश्लिष्टोद्देशकः सप्तमः । 'अंतरे' त्ति पृथिवीनामन्तराभिधायकत्वादन्तरोद्देशकोऽष्टमः । ' अणगारे ' त्ति अणगारेति पूर्वपदत्वादनगारोद्देशको नवमः । 'केवलि' त्ति केवलीति प्रथमपदत्वात्केवली दशमोद्देशक इति । भ० १४ श० १ उ० । "चतुर्दशस्येह शतस्य वृत्ति-र्येषां प्रभावेण कृता मयैषा । जयन्तु ते पूज्यजना जनानां, कल्याणसंसिद्धिपरस्वभावाः ॥१॥ " भ० १४ श० १० उ० ।

व्याख्यातं चतुर्दशं शतम् । अथ पञ्चदशममारभ्यते, तस्य चायं पूर्वेण सहाभिसम्बन्धः-अनन्तरशते केवली रत्नप्रभादिकं वस्तु जानातीत्युक्तं तत्परिज्ञानं चात्मसंबन्धि यथा भगवता श्रीमन्महावीरेण गौतमायाऽऽविर्भावितं गोशालकस्य स्वशिष्या-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भासस्य नरकादिगतिमधिकृत्य तथाऽनेनोच्यते इत्येवं संबन्धस्यास्येदमादिसूत्रम्—

णमो सुयदेवयाए भगवतीए।

" श्रीमन्महावीरजिनप्रभावा—द्गोशालकाहङ्कृतिवद्गतेषु। समस्तविघ्नेषु समापितेयं, वृत्तिः शते पञ्चदशे मयेति ॥१॥" भ० १५ श०।

व्याख्यातं पञ्चदशं शतं, तत्र चैकेन्द्रियादिषु गोशालकजीवस्यानेकधा जन्म मरणं चोक्तमितीहापि जीवस्य जन्ममरणाद्युच्यते,इत्येवं सम्बद्धस्यास्येयमुद्देशकाभिधानसूचिका गाथा—

अहिगरणि जरा कम्मे, जावतियं गंगदत्त सुमिणे य।
उवओग लोग बलिओ—हि दीव उदही दिसा थणिया।१।

'अहिगरणी' त्यादि 'अहिगरणि' त्ति अधिक्रियते-भ्रियते कुट्टनार्थं लोहादि यस्यां साऽधिकरणी—लोहकाराद्युपकरणविशेषः, तत्प्रभृतिपदार्थविशेषितार्थविषय उद्देशकोऽधिकरण्येवोच्यते। स चात्र प्रथमः। 'जर' त्ति जराद्यर्थविषयत्वाज्जरेति द्वितीयः। 'कम्मे' त्ति कर्म्मप्रकृतिप्रभृतिकार्थविषयत्वात्कर्म्मेति तृतीयः। 'जावइयं' ति 'जावइय' मित्यनेन आदिशब्देनोपलक्षितो 'जावइयमिति' चतुर्थः। 'गंगदत्त' त्ति 'गङ्गदत्तदेववक्तव्यताप्रतिवद्धत्वाद्गङ्गदत्त एव पञ्चमः। 'सुमिणेय' त्ति स्वप्नविषयत्वात्स्वप्न इति षष्ठः। 'उवओग' त्ति उपयोगार्थप्रतिपादकत्वादुपयोग एव सप्तमः। 'लोग' त्ति लोकस्वरूपाभिधायकत्वाल्लोक एवाष्टमः। 'बलि' त्ति बलिसम्बन्धिपदार्थाभिधायकत्वाद्बलिरेव नवमः। 'ओहि' त्ति अवधिज्ञानप्ररूपणार्थत्वादवधिरेव दशमः। 'दीव' त्ति द्वीपकुमारवक्तव्यतार्थो द्वीप एकादशः। 'उदहि' त्ति उदधिकुमारविषयत्वादुदधिरेव द्वादशः। 'दिसि' त्ति दिक्कुमारविषयत्वाद्दिगेव त्रयोदशः। 'थणिय' त्ति स्तनितकुमारविषयत्वात्स्तनित एव चतुर्दश इति। भ० १६ श० १ उ०। "सम्यक् श्रुताचारविवर्जितोऽप्यहं, यदप्रकोपात्कृतवान्विचारणाम्। अविघ्नमेतां प्रतिषोडशं शतं, वाग्देवता सा भवताद्वरप्रदा ॥ १ ॥" भ० १६ श० १४ उ०।

व्याख्यातं षोडशं शतम्। अथ क्रमायातं सप्तदशमारभ्यते, तस्य चादावेवोद्देशकसंग्रहाय गाथा—

कुंजर संजय सेले—सि किरिय ईसाण पुढवि दग वाऊ।
एगिंदिय नाग सुव—ण्णविज्जु वायुऽग्गि सत्तरसे ॥१॥

'कुंजरे' त्यादि। तत्र 'कुंजर' त्ति श्रेणिकसूनोः कूणिकराजस्य सत्क उदायिनामा हस्तिराजः तत्प्रमुखार्थाभिधायकत्वात्कुञ्जर एव प्रथमोद्देशक उच्यते-एवं सर्वत्र। 'संजय' त्ति संयताद्यर्थप्रतिपादको द्वितीयः। सेलेसि' त्ति शैलेश्यादिवक्तव्यतार्थस्तृतीयः। 'किरिय' त्ति क्रियाद्यर्थाभिधायकश्चतुर्थः। 'ईसाण' त्ति ईशानेन्द्रवक्तव्यतार्थः पञ्चमः। 'पुढवि' त्ति पृथिव्यर्थः षष्ठः सप्तमश्च। 'दग' त्ति अप्कायार्थोऽष्टमो नवमश्च। 'वाउ' त्ति वायुकायार्थो दशम एकादशश्च। 'एगिंदिय' त्ति एकेन्द्रियस्वरूपार्थो द्वादशः। 'नाग' त्ति नागकुमारवक्तव्यतार्थस्त्रयोदशः। 'सुवण्ण' त्ति सुवर्णकुमारार्थानुगतश्चतुर्दशः। 'विज्जु' त्ति विद्युत्कुमाराभिधायकः पञ्चदशः। 'वाउ' त्ति वायुकुमारवक्तव्यतार्थः षोडशः। 'अग्गि' त्ति अग्निकुमारवक्तव्यतार्थः सप्तदशः। 'सत्तरसे' त्ति सप्तदशशते एते उद्देशका भवन्ति। भ० १७ श० १७ उ०। "शते सप्तदशे वृत्तिः, कृतेयं गुर्वनुग्रहात्। यदन्धो याति मार्गेण, सोऽनुभावोऽनुकर्षिणः ॥ १ ॥" भ० १७ श० १७ उ०।

व्याख्यातं सप्तदशशतम्। अथावसरायातमष्टादशं व्याख्यायते, तस्य च तावदादावेवेयमुद्देशकसंग्रहणी गाथा—

पढमे विसाहमायं—दिए य पाणाइवाय असुरे य।
गुल केवलि अणगारे, भविए तह सोमिलट्ठऽरसे ॥१॥

'पढमे' त्यादि, तत्र 'पढमे' त्ति जीवादीनामर्थानां प्रथमाऽप्रथमत्वादिविचारपरायण उद्देशकः प्रथम उच्यते, स चास्य प्रथमः। 'विसाह' त्ति विशाखा नगरी तदुपलक्षितो विशाखेति द्वितीयः। 'मागंदिए य' त्ति माकन्दीपुत्राभिधानाऽनगारोपलक्षितो माकन्दिकस्तृतीयः। 'पाणाइवाय' त्ति प्राणातिपातादिविषयः प्राणातिपातश्चतुर्थः। 'असुर य' त्ति असुरादिवक्तव्यताप्रधानोऽसुरः पञ्चमः। 'गुल' त्ति गुलाद्यर्थविशेषस्वरूपनिरूपणपरो गुलः षष्ठः। 'केवलि' त्ति केवल्यादिविषयः केवली सप्तमः। 'अणगारे' त्ति अनगारादिविषयोऽनगारोऽष्टमः। 'भविय' त्ति भव्यद्रव्यनारकादिप्ररूपणार्थो भव्यो नवमः। 'सोमिल' त्ति सोमिलाभिधानब्राह्मणवक्तव्यतोपलक्षितः सोमिलो दशमः। 'अट्ठरसे' त्ति अष्टदशशते एते उद्देशका इति। भ० १८ श०१ उ०।

"अष्टादशशतवृत्ति-र्विहिता वृत्तानि वीक्ष्य वृत्तिकृताम्। प्राकृतनरा ह्यदृष्टं, न कर्म्म कर्त्तुं प्रभुर्भवति ॥ १ ॥" भ० १८ श० १० उ०।

व्याख्यातमष्टादशशतमथावसरायातमेकोनविंशतितमं व्याख्यायते, तत्र चादावेवोद्देशकसङ्ग्रहाय गाथा—

लेस्सा य गब्भ पुढवी, महासवा चरम दीव भवणा य।
निव्वत्ति करण वणचर—सुरा य एगूणवीसइमे ॥ १ ॥

'लेस्से' त्यादि। तत्र 'लेस्सा य' त्ति लेश्याः प्रथमोद्देशके वाच्या इत्यसौ लेश्योद्देशक एवोच्यते, एवमन्यत्रापि। चशब्दः समुच्चये। 'गब्भ' त्ति गर्भाभिधायको द्वितीयः। 'पुढवि' त्ति पृथिवीकायिकादिवक्तव्यतार्थस्तृतीयः। 'महासव' त्ति नारका महास्रवा महाक्रिया इत्याद्यर्थपरश्चतुर्थः। 'चरम' त्ति चरमेभ्योऽल्पस्थितिकेभ्यो नारकादिभ्यः परमा महास्थितयो महाकर्म्मतरा इत्याद्यर्थप्रतिपादनार्थः पञ्चमः 'दीव' त्ति द्वीपाद्यभिधानार्थः षष्ठः। 'भवणा य' त्ति भवनाद्यर्थाऽभिधानार्थः सप्तमः। 'निव्वत्ति' त्ति निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः शरीरादेस्तदर्थोऽष्टमः। 'करण' त्ति करणार्थो नवमः। 'वणचरसुरा य' त्ति वनचरसुरा-व्यन्तरा देवास्तद्वक्तव्यतार्थो दशम इति। भ० १९ श० १ उ०। "एकोनविंशस्य शतस्य टीका-मक्षोऽप्यकार्षं सुजनानुभावात्। चन्द्रोपलश्चन्द्रमरीचियोगा—दनम्बुवाहोऽपि पयः प्रसूते ॥ १ ॥" भ० १९ श० १ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्याख्यातमेकोनविंशतितमं शतम्। अथावसरायातं विंशतितममारभ्यते-तस्य चादावेवोद्देशकसंग्रहणीम् 'वेइंदिये' त्यादिगाथामाह—

वेइंदियमागासे, पाणवहे उवचए य परमाणू।
अंतर बंधे भूमी, चारण सोवक्कमा जीवा ॥ २ ॥

तत्र 'वेइंदिय' त्ति द्वीन्द्रियादिवक्तव्यताप्रतिबद्धः प्रथमोद्देशको द्वीन्द्रियोद्देशक एवोच्यत इत्येवमन्यत्रापि। 'आगासे' त्ति आकाशाद्यर्थो द्वितीयः। 'पाणवहे' त्ति प्राणातिपाताद्यर्थपरस्तृतीयः। 'उवचए' त्ति श्रोत्रेन्द्रियाद्युपचयार्थश्चतुर्थः। 'परमाणु' त्ति परमाणुवक्तव्यतार्थः पञ्चमः। 'अंतर' त्ति रत्नप्रभाशर्करप्रभाद्यन्तरालवक्तव्यतार्थः षष्ठः। 'बंधे' त्ति जीवप्रयोगादिबन्धार्थस्सप्तमः। 'भूमि' त्ति कर्म्माकर्म्मभूम्यादिप्रतिपादनार्थोऽष्टमः। 'चारण' त्ति विद्याचारणाद्यर्थो नवमः। 'सोवक्कमा जीव' त्ति सोपक्रमायुषो निरुपक्रमायुषश्च जीवा दशमे वाच्या इति। भ० २० श० १ उ०।
"विंशतितमशतकमलं, विकासितं वृद्धवचनरविकिरणैः।
विवरणकरणद्वारे-ण सेवितं मधुलिहेव मया ॥ १ ॥" भ० २० श० १० उ०।

व्याख्यातं विंशतितमशतम्। अथावसरायातमेकविंशतितममारभ्यते, अस्य चादावेवोद्देशकवर्गसंग्रहायेयं गाथा—

सालि कल अयसि वंसे, इक्खू दब्भे य दब्भ तुलसी य।
अट्ठेए दस वग्गा, असीति पुण होंति उद्देसा ॥१॥

भ०२१श०१उ०।(व्याख्या चास्य 'वणप्फइ'शब्दे ८१२ पृष्ठे गता।)'एकविंशं शतं प्रायो,व्यक्तं तदपि लेशतः। व्याख्यातं सद्गुणाधायी,गुडक्षेपो गुडेऽपि यत् ॥१॥' भ० २१ श० ८ वर्ग।

व्याख्यातमेकविंशतितमं शतम्। अथ क्रमायातं द्वाविंशं व्याख्यायते, तस्य चादावेवोद्देशकवर्गसङ्ग्रहायेयं गाथा—

तालेगट्ठिय बहुवी-यगा य गुच्छा य गुम्म वल्ली य।
छद्दस वग्गा एए, सट्ठिं पुण होंति उद्देसा ॥ १ ॥

भ० २२ श० १ वर्ग। (८१४ पृष्ठे 'वणप्फइ'शब्दे गता।)
"द्वाविंशं तु शतं व्यक्तं, गम्भीरं च कथञ्चन। व्यक्तगम्भीरभावाभ्या-मिह वृत्तिः करोतु किम्? ॥ १ " भ० २२ श० ६ वर्ग।

व्याख्यातं द्वाविंशं शतमथावसरायातं त्रयोविंशं शतमारभ्यते, अस्य चादावेवोद्देशकवर्गसंग्रहायेयं गाथा—

आलुय लोहो अवया, पाढी तह मास वन्नि वल्ली य।
पंचेते दस वग्गा, पन्नासा होंति उद्देसा ॥ १ ॥

भ० २३ श० १ वर्ग।
"प्राक्तनशतवन्नेयं, त्रयोविंशं शतं यतः। प्रायः समं तयो रूपं,व्याख्याऽतोऽत्रापि निष्फला ॥१॥" भ० २३ श० ५ वर्ग।

व्याख्यातं त्रयोविंशं शतम्। अथावसरायातं चतुर्विंशं शतं व्याख्यायते, तस्य चादावेवेदं सर्वोद्देशकद्वारसंग्रहगाथाद्वयम्—

उववाय परीमाणं,संघयणुच्चत्तमेव संठाणं।
लेस्सा दिट्ठी णाणे, अणाणे जोग उवओगे ॥ १ ॥
सण्णा कसाय इंदिय, समुग्घाया वेयणा य वेदे य।
आऊ अज्झवसाणा, अणुबंधो कायसंवेहो ॥ २ ॥

'उववाये' त्यादि, एतच्च व्यक्तं नवरम् 'उववाय' त्ति नारकादयः कुत उत्पद्यन्ते इत्येवमुपपातो वाच्यः, 'परीमाणं' ति ये नारकादिषूत्पत्स्यन्ते तेषां स्वकाये उत्पद्यमानानां परिमाणं वाच्यं 'संघयण' ति तेषामेव नारकादिषूत्पित्सूनां संहननं वाच्यम्, 'उच्चत्तं' ति नारकादियायिनामवगाहनाप्रमाणं वाच्यम्, एवं संस्थानाद्यप्यवसेयम्। 'अणुबंधो' त्ति विवक्षितपर्यायेणाव्यवच्छिन्नेनावस्थानं 'कायसंवेहो' त्ति विवक्षितकायात्कायान्तरे तुल्यकाये वा गत्वा पुनरपि यथासम्भवं तत्रैवागमनम्। भ० २४ श० १ वर्ग।
"चरमजिनवरेन्द्रप्रोदितार्थे परार्थे, निपुणगणधरेण स्थापितानिन्द्यसूत्रे। विवृत्तमिह शते नो कर्तुमिष्टे बुधोऽपि, प्रचुरगमगभीरे किं पुनर्माद्दशोऽज्ञः ॥१॥" भ० २४ श० २४ उ०।

व्याख्यातं चतुर्विंशतितमशतम्। अथ पञ्चविंशतितममारभ्यते तस्य चैवमभिसम्बन्धः—प्राक्तनशते जीवा उत्पादादिद्वारैश्चिन्तिता इह तु तेषामेव लेश्यादयो भावाश्चिन्त्यन्ते इत्येवं सम्बन्धस्यास्योद्देशकसंग्रहगाथेयम्—

लेसा य दव्व संठा-ण जुम्म पज्जव णियंठ समणा य।
ओहे भवियाऽभविए, सम्मा मिच्छे य उद्देसा ॥ १ ॥

'लेसे' त्यादि। तत्र 'लेसा य' त्ति प्रथमोद्देशका लेश्यादयोऽर्था वाच्या इति लेश्योद्देशक एवायमुच्यत इत्येवं सर्वत्र। 'दव्व' त्ति द्वितीये द्रव्याणि वाच्यानि। 'संठाण' त्ति तृतीये संस्थानादयोऽर्थाः। 'जुम्म' त्ति चतुर्थे कृतयुग्मादयोऽर्थाः। 'पज्जव' त्ति पञ्चमे पर्यवाः। 'नियंठ' त्ति षष्ठे पुलाकादिका निर्ग्रन्थाः। 'समणा य' त्ति सप्तमे सामायिकादिसंयतादयोऽर्थाः। 'ओहे' त्ति अष्टमे नारकादयो यथोत्पद्यन्ते तथा वाच्यं, कथम्?, ओघे सामान्ये वर्त्तमाना भव्याभव्यादिविशेषणैरविशेषिता इत्यर्थः। 'भविए' त्ति नवमे भव्यविशेषणा नारकादयो यथोत्पद्यन्ते तथा वाच्यम्। 'अभविए' त्ति दशमेऽभव्यत्वे वर्त्तमाना अभव्यविशेषणा इत्यर्थः। 'सम्म' त्ति एकादशे सम्यग्दृष्टिविशेषणाः। 'मिच्छेय' त्ति द्वादशे मिथ्यात्वे वर्त्तमाना मिथ्यादृष्टिविशेषणा इत्यर्थः। 'उद्देस' त्ति एवमिह शते द्वादशोद्देशका भवन्तीति। भ० २५ श० १ उ०। "क्वचिट्टीकावाक्यं क्वचिदपि वचश्चौर्णिमनघं, क्वचिच्छाब्दीं वृत्तिं क्वचिदपि गमं वाच्यविषयम्। क्वचिद्धिद्वाचं क्वचिदपि महाशास्त्रमपरं, समाश्रित्य व्याख्या शत इह कृता दुर्गमगिराम् ॥ १ ॥" भ० २५ श० १२ उ०।

व्याख्यातं पञ्चविंशतितमं शतम्।अथ षड्विंशतितममारभ्यते,अस्य चायमभिसंबन्धः-अनन्तरशते नारकादिजीवानामुत्पत्तिरभिहिता; सा च कर्म्मबन्धपूर्विकेति षड्विंशतितमशते मोहकर्मबन्धोऽपि विचार्यते इत्येवं सम्बन्धस्यास्यैकादशोद्देशकप्रमाणस्य प्रत्युद्देशकद्वारनिरूपणाय तावद्गाथामाह—

जीवा य लेस्स पक्खिय, दिट्ठी अन्नाण णाण सन्नाओ।
वेय कसाए उवओ-ग जोग एकार वि ट्ठाणा ॥ १ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'जीवा य' इत्यादि 'जीवा य' त्ति जीवाः प्रत्युद्देशकं ब-न्धवक्तव्यतायाः स्थानम्, ततो लेश्याः पाक्षिकाः दृष्टयः अज्ञानं ज्ञानं संज्ञा वेदः कषाया योग उपयोगश्च बन्धव-क्तव्यतास्थानम्, तदेवमेतान्येकादशाऽपि स्थानानीति गाथा-र्थः। भ० २६ श० १ उ०। "येषां गौरिव गौः सदर्थपयसां दात्री पवित्रात्मिका, सालङ्कारसुविग्रहा शुभपदन्यासा सुव-र्णान्विता। निर्गत्यास्य गृहाङ्गणाद् बुधसभाग्रामाजिरं राज-येत्, ये चास्यां विवृतौ निमित्तमभवन्नन्दन्तु ते सूरयः॥१॥" भ० २६ श० ११ उ०।

व्याख्यातं षड्विंशं शतम्। अथ सप्तविंशमारभ्यते, अ-स्य चायमभिसंबन्धः, अनन्तरशते जीवस्य कर्मबन्धनक्रिया-भूतादिकालविशेषेणोक्ता, सप्तविंशशते तु जीवस्य तथावि-धैव कर्मकरणक्रियोच्यत इत्येवं सम्बद्धस्यास्येदमादिसूत्रम्-

जीवे णं भंते! पावं कम्मं किं करिंसु करेंति करिस्सं-ति १ ?, करिंसु करेंति ण करिस्संति २ ?, करिंसु ण करेंति करिस्संति ३?,करिंसु ण करेंति ण करिस्संति ४ ?। गोयमा! अत्थेगइए करेंसु करेंति करिस्संति१, अत्थेगइए करिंसु करेंति ण करिस्संति २, अत्थेगइए करिंसु न करेंति करिस्संति ३, अत्थेगइए करिंसु ण करेंति ण क-रिस्संति ४। भ० २७ श० १ उ०। (सू० ८१८×)

"व्याख्यातशतसमानं, शतमिदमित्यस्य नो कृता विवृतिः। दृष्टसमाने मार्गे, किं कुरुतादृशिकस्तस्य ?॥१॥" भ० २७ श० ११ उ०।

व्याख्यातं कर्मवक्तव्यतानुगतं सप्तविंशं शतम्। अथ क्रमाया-तं तथाविधमेवाष्टविंशं व्याख्यायते, तत्र चैकादशोद्देशका जी-वाद्येकादशद्वारानुगतपापकर्मादि दण्डकनवकोपेता भव-न्ति चाद्योद्देशकस्येदमादिसूत्रम्—

जीवा णं भंते! पावं कम्मं कहिं समज्जिणिंसु ?, कहिं समायरिंसु ?, गोयमा! सव्वे वि ताव तिरिक्खजोणिएसु होज्जा॥१॥ भ० २८ श० १ उ०।

"इति चूर्णिवचनरचना-कुञ्जिकयोद्घाटितं मयाऽप्येतत्। अष्टाविंशतितमशत-मन्दिरमनघं महार्घचयम्॥१॥" भ० २८ श० ११ उ०।

व्याख्यातं पापकर्मादिवक्तव्यतानुगतमष्टाविंशं शतम्। अथ क्रमायातं तथाविधमेवैकोनत्रिंशं व्याख्यायते, तत्र च तथै-वैकादशोद्देशका भवन्ति। भ० २९ श० १ उ०। "अनुसृत्य मया टीकां, टीकेयं टिप्पिता प्रपङ्गुनेव। अप्रकटपाटवोऽपि हि, पङ्गूयते पङ्गुगमेनाटन्॥१॥" भ० २९ श० ११ उ०। व्याख्यातमेकोनत्रिंशं शतम्। अथ त्रिंशमारभ्यते-अस्य चायं पूर्वेण सहाभिसम्बन्धः-प्राक्तनशते कर्मप्रस्थापनाद्याश्रित्य जीवा विचारिता इह तु कर्म्मबन्धादिहेतुभूतवस्तुवादमा-श्रित्य त एव विचार्यन्ते। भ० ३० श० १ उ०। "यद्वाङ्म-हामन्दरमन्थनेन, शास्त्रार्णवादुच्छलितान्यतुच्छम्। भा-वार्थरत्नानि ममापि दृष्टौ, यातानि ते वृत्तिकृतो जयन्ति। ॥१॥" भ० ३० श० ११ उ०। त्रिंशत्तमशते चत्वारि समवसर णान्युक्तानीति चतुष्टयसाधर्म्याच्चतुर्युग्मवक्तव्यतानुगतम-ष्टाविंशत्युद्देशकयुक्तमेकत्रिंशं शतं व्याख्यायते। भ० ३१ श० १ उ०। "शतमेतद्भगवत्या, भगवत्या भावितं मया वाग्याः। यदनुग्रहेण निरव-ग्रहेण सदनुग्रहेण तथा ॥१॥" भ० ३१ श० २८ उ०। एकत्रिंशे शते नार-काणामुत्पादोऽभिहितो द्वात्रिंशे तु तेषामेवोद्वर्त्तनोच्यत इत्येवं संबद्धमष्टाविंशत्युद्देशकमानमिदं व्याख्यायते। भ० ३२ श० १ उ०। "व्याख्याते प्राक्शते व्याख्या, कृतैवास्य समत्वतः। एकत्र तोयचन्द्रे हि, दृष्टे दृष्टाः परेऽपि ते॥१॥" भ० ३२ श० २८ उ०। द्वात्रिंशे शते नारकोद्वर्त्तनोक्ता नार-काश्चोद्वृत्ता एकेन्द्रियादिषु नोत्पद्यन्ते, के च ते इत्यस्या-माशङ्कायां ते प्ररूपयितव्या भवन्ति, तेषु चैकेन्द्रियास्ताव-त्प्ररूपणीया इत्येकेन्द्रियप्ररूपणपरं त्रयस्त्रिंशं शतं द्वादशा-वान्तरशतोपेतं व्याख्यायते। भ० ३३ श० १ उ०। "व्याख्ये-यमिह स्तोकं, स्तोका व्याख्या तदस्य विहितेयम्। न ह्यो-दनमात्राया-मतिमात्रं व्यञ्जनं युक्तम्॥१॥" भ०३३श०६ उ०। त्रयस्त्रिंशशते एकेन्द्रियाः प्ररूपिताश्चतुस्त्रिंशच्छतेऽपि भ-ङ्ग्यन्तरेण त एव प्ररूप्यन्ते। भ० ३४ श०१ उ०। "यद्गीर्दी-पशिखेव खण्डिततमा गम्भीरगेहोपम-ग्रन्थार्थप्रचयप्रका-शनपरा सद्दृष्टिमोदावहा। तेषां ज्ञप्तिविनिर्जितामरगुरुप्रज्ञा-श्रियां श्रेयसां, सूरीणामनुभावतः शतमिदं व्याख्यातमेवं मया॥१॥" भ० ३४ श० ६ उ०। चतुस्त्रिंशशते एकेन्द्रि-याः श्रेणिप्रक्रमेण प्रायः प्ररूपिताः,पञ्चत्रिंशे तु त एव रा-शिप्रक्रमेण प्ररूप्यन्ते। भ० ३५ श० १ उ०। "व्याख्या श-तस्यास्य कृता सकष्टं, टीकाऽल्पिका येन न चास्ति चू-र्णिः। मन्दैकनेत्रो वत पश्यताद्वा, दृश्यान्यकष्टं कथमुद्यतो-ऽपि॥१॥" भ० ३५ श० १२ उ०। पञ्चत्रिंशे शते सं-ख्यापदैरेकेन्द्रियाः प्ररूपिताः षट्त्रिंशे तु तैरेव द्वीन्द्रियाः प्ररूप्यन्ते। भ० ३६ श० १ उ०।

सव्वाए भगवईए अट्ठतीसं सतं सयाणं १३८। उद्देस-गाणं १९२५ भ० ४१ श०।

आद्यानि द्वात्रिंशच्छतान्यविद्यमानावान्तरशतानि ३२त्रय-स्त्रिंशादिषु तु सप्तसु प्रत्येकमवान्तरशतानि द्वादश ८४, चत्वारिंशे त्वेकविंशतिः, २१ एकचत्वारिंशे तु नास्त्यवान्त-रशतम् १, एतेषां च सर्वेषां मीलनेऽष्टत्रिंशदधिकं शतानां शतं भवति। एवमुद्देशकपरिमाणमपि सर्वं शास्त्रमवलो-क्यावसेयम्, तच्चैकोनविंशतिशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि।

"इह शतेषु कियत्स्वपि वृत्तिकां, विहितवानहमस्मि सुश-ङ्कितः। विवृतिचूर्णिगिरां विरहाद्विदृक्, कथमशङ्कमियर्त्य-थवा पथि ?॥१॥" एकचत्वारिंशं शतं वृत्तितः परि-समाप्तम्॥४१॥

अथ भगवत्या व्याख्याप्रज्ञप्त्याः परिमाणाभिधित्सया गाथामाह—

चुलसी य सयसहस्सा, पदाण पवरवरणाणदंसीहिं। भावाभावमणंता, पन्नत्ता एत्थमंगम्मि॥१॥

'चुलसी'त्यादि, चतुरशीतिः शतसहस्राणि पदानामत्रा-ङ्गे इति सम्बन्धः। पदानि च विशिष्टसम्प्रदायगम्यानि, प्रवराणां वरं यज्ज्ञानं तेन पश्यन्तीत्येवंशीला ये ते प्रवरवर-ज्ञानदर्शिनस्तैः केवलिभिरित्यर्थः प्रज्ञप्तानीति योगः। इद-मस्य सूत्रस्य स्वरूपमुक्तमथार्थस्वरूपमाह—'भावाभावम-णंता' त्ति भावा-जीवादयः पदार्थाः अभावाश्च-त एवान्या-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पेक्षया भावाभावाः , अथवा भावा—विधयः, अभावा-निषेधाः प्राकृतत्वाच्चेत्थं निर्देशः, अनन्ताः-अपरिमाणाः अथवा-भावाभावैर्विषयभूतैरनन्तानि भावाभावानन्तानि चतुरशीतिः शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि अत्र-प्रत्यक्षे पञ्चमे इत्यर्थः अङ्गे—प्रवचनपरमपुरुषावयव इति गाथार्थः ॥ १ ॥

अथान्त्यमङ्गलार्थं संघं
समुद्ररूपकेण स्तुवन्नाह-

तवनियमविणयवेलो, जयति सदा नाणविमलविपुलजलो ।
हेतुसतविपुलवेगो, संघसमुद्दो गुणविसालो ॥ २ ॥

'तवे ' त्यादि गाथा , तपोनियमविनया एव वेला—जलवृद्धिरवसरवृद्धिसाधर्म्याद्यस्य स तथा जयति—जेतव्यजयेन विजयते सदा-सर्वदा ज्ञानमेव विमलं—निर्मलं विपुलं—विस्तीर्णं जलं यस्य स तथा, अस्ति (अस्ताघ) त्वसाधर्म्यात्स तथा, हेतुशतानि-इष्टानिष्टार्थसाधननिराकरणयोर्लिङ्गशतानि तान्येव विपुलो-महान् वेगः-कल्लोलावर्त्तादिर्यो यस्य विवक्षितार्थज्ञपसाधनसाधर्म्यात्स तथा संघसमुद्रः-जिनप्रवचनोदधिर्गाम्भीर्यसाधर्म्यात् , अथवा साधर्म्यं साक्षादेवाह-गुणैः-गाम्भीर्यादिभिर्विशालो विस्तीर्णस्तद्बहुत्वाद्यः स तथेति गाथार्थः ॥ २ ॥

णमो गोयमाईणं गणहराणं , णमो भगवईए विवाहपन्नत्तीए, णमो दुवालसंगस्स गणिपिडगस्स ॥ (कुसुम)

" कुम्मसुसंठियचलणा , अमिलियकोरंटवेंटसंकासा ।
सुयदेवया भगवई, मम मतितिमिरं पणासेउ ॥ १ ॥ "

पण्णत्तीए आयिमाणं अट्ठण्हं सयाणं दो दो उद्देसगा उद्दिसिज्जंति णवरं चउत्थे सए पढमदिवसे अट्ठ वितियदिवसे दो उद्देसगा उद्दिसिज्जंति, णवरं णवमाओ सताओ आरद्धं जावइयं जावइयं तावइयं तावइयं एकदिवसेणं उद्दिसिज्जंति, उक्कोसेणं सतं पि एगदिवसेणं मज्झिमेणं दोहिं दिवसेहिं सतं, जहण्णेणं तिहिं दिवसेहिं सतं एवं०जाव वीसतिमं सतं, णवरं गोसालो एगदिवसेणं उद्दिसिज्जंति । जदि ठिओ एगेण चेव आयंबिलेणं अणुण्णज्जिहिति । अह ण ठितो आयंबिलेणं छट्ठेणं अणुण्णवति, एकवीसवावीसतेवीसइमाइं सताइं एकेकदिवसेणं उद्दिसिज्जंति, चउवीसतिमं सयं दोहिं दिवसेहिं छ-छ उद्देसगा, पंचवीसतिमं सयं दोहिं दिवसेहिं छ छ उद्देसगा, वंधिसयाइ अट्ठसयाइं एगेणं दिवसेणं सेढिसयाइं वारस, एगेणं एगिंदियमहाजुम्मसयाइं वारस, एगेणं एवं वेंदियाणं वारस, तेइंदियाणं वारस, चउरिंदियाणं वारस, एगेण असण्णिपंचिंदियाणं वारस, सण्णिपंचिंदियमहाजुम्मसयाइं एकवीसं एगदिवसेणं उद्दिसिज्जंति, रासीजुम्मसतं एगदिवसेणं उद्दिसिज्जति । (सू० ८६६) ।

वियसियअरविंदकरा, नासियतिमिरा सुयाहिया देवी ।
मंज्झं पि देउ मेहं, बुहविबुहणमंसिया णिच्चं ॥ १ ॥
सुयदेवयाएँ पणमिमो ,जिए पसाएण सिक्खियं णाणं ।
अण्णं पवयणदेवी, संतिकरी तं नमंसामि ॥ २ ॥
सुयदेवयाएँ जक्खो, कुंभधरो वंभसंति वेरोट्टा ।
विज्जा य अंतहुंडी, देउ अविग्घं लिहंतस्स ॥ ३ ॥

इति श्री विवाहपन्नत्ती पंचमं अंगं सम्मत्तं । भ० ।

यदुक्तमादाविह साधुयोधैः,
श्रीपञ्चमाङ्गोन्नतकुञ्जरोऽयम् ।
सुखादिगम्योऽस्त्विति पूर्वगुर्वी.
प्रारभ्यते वृत्तिवरात्रिकेयम् ॥ १ ॥
समर्थितं तत्पटुबुद्धिसाधु-
साहायकात् केवलमत्र सन्तः ।
सद्बुद्धिदात्र्याऽपगुणान् लुनन्तु,
सुखग्रहा येन भवत्यथैषा ॥ २ ॥
चान्द्रे कुले सद्वनकक्षकल्पे,
महाद्रुमो धर्मफलप्रदानात् ।
छायान्वितः शस्तविशालशाखः,
श्रीवर्द्धमानो मुनिनायकोऽभूत् ॥ ३ ॥
तत्पुष्पकल्पौ विलसद्विहार-
सद्गन्धसम्पूर्णदिशौ समन्तात् ।
बभूवतुः शिष्यवरावनीच-
वृत्ती श्रुतज्ञानपरागवन्तौ ॥ ४ ॥
एकस्तयोः सूरिवरो जिनेश्वरः ,
ख्यातस्तथाऽन्यो भुवि बुद्धिसागरः ।
तयोर्विनेयेन विबुद्धिनाऽप्यलं,
वृत्तिः कृतैषाऽभयदेवसूरिणा ॥ ५ ॥
तयोरेव विनेयानां, तत्पदं चानुकुर्वताम् ।
श्रीमतां जिनचन्द्राख्य—सत्प्रभूणां नियोगतः ॥ ६ ॥
श्रीमज्जिनेश्वराचार्य-शिष्याणां गुणशालिनाम् ।
जिनभद्रमुनीन्द्राणा—मस्माकं चाङ्घ्रिसेविनः ॥ ७ ॥
यशश्चन्द्रगणेर्गाढ—साहाय्यात्सिद्धिमागता ।
परित्यक्तान्यकृत्यस्य , युक्तायुक्तविवेकिनः ॥ ८ ॥ युग्मम् ।
शास्त्रार्थनिर्णयसुसौरभलम्पटस्य ,
विद्वन्मधुव्रतगणस्य सदैव सेव्यः ।
श्रीनिर्वृताख्यकुलसन्नदपद्मकल्पः ,
श्रीद्रोणसूरिरनवद्ययशःपरागः ॥ ९ ॥
शोधितवान् वृत्तिमिमां,
युक्तो विदुषां महासमूहेन ।
शास्त्रार्थनिष्कनिकषण—
कषपट्टककल्पबुद्धीनाम् ॥ १० ॥
विशोधिता तावदियं सुधीभि—
स्तथापि दोषाः किल सम्भवन्ति ।
सन्मोहतस्तांश्च विहाय सद्भि—
स्तद्ग्राह्यमाप्ताभिमतं यदस्याम् ॥ ११ ॥
यदवाप्तं मया पुण्यं, वृत्ताविह शुभाशयात् ।
मोहाद् वृत्तिजमन्यच्च. तेनागो मे विशुध्यतात् ॥ १२ ॥ भ० ।

१–अन्यकृता एवेमा गाथा इति ! प्रतीयते- २–ग्रन्थलेखनकर्तृकृतानि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्याः करणव्याख्या, श्रुतिलेखनपूजनादिषु यथार्हम् ।
दायिकसुतमाणिक्यः, प्रेरितवानस्मदादिजनान् ॥ १४ ॥
अष्टाविंशतियुक्ते, वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके ।
अणहिलपाटकनगरे, कृतेयमच्छुप्तधनिवसतौ ॥ १५ ॥
अष्टादशसहस्राणि, षट् शतान्यथ षोडश ।
इत्येव मानमेतस्याः, श्लोकमानेन निश्चितम् ॥ १६ ॥
ग्रन्थसंख्या (१८६१६) भ० टी० ।

विवाहपन्नत्तीए एकासीतिं महाजुम्मसया पएणत्ता । (सू० ८१ ×)

'विवाहपन्नत्तीए' त्ति व्याख्याप्रज्ञप्तौ एकाशीतिर्महायुग्मशतानि प्रज्ञप्तानि । इह च शतशब्देनाध्ययनान्युच्यन्ते,तानि कृतयुग्मादिलक्षणराशिविशेषविचाररूपाणि, अवान्तराध्ययनस्वभावानि तदवगमावगम्यानीति । स० ८१ सम० ।

विवाहपन्नत्तीए णं भगवतीए चउरासीइं पयसहस्सा पदग्गेणं पण्णत्ता । (सू० ८४ +)

व्याख्याप्रज्ञप्त्यां-भगवत्यां चतुरशीतिः पदसहस्राणि पदाग्रेण-पदपरिमाणेन,इह च यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदं मतान्तरेण तु अष्टादशपदसहस्रपरिमाणत्वादाचारस्य, एतद्द्विगुणत्वाच्च शेषाङ्गानां व्याख्याप्रज्ञप्तिर्द्वे लक्षे अष्टाशीतिः सहस्राणि पदानां भवन्तीति । तथा चतुरशीतिर्नागकुमारावासलक्षाणि, चतुश्चत्वारिंशतो दक्षिणायां,चत्वारिंशतश्चोत्तरायां भावादिति । स० ८४ सम० ।

विवाहप्रज्ञप्तिविषयः—

से किं तं वियाहे ?, वियाहे णं ससमया विआहिज्जंति परसमया विआहिज्जंति ससमयपरसमया विआहिज्जंति । जीवा विआहिज्जंति अजीवा विआहिज्जंति जीवाजीवा विआहिज्जंति । लोगे विआहिज्जई, अलोए विआहिज्जई, लोगालोगे विआहिज्जई । वियाहे णं नाणाविहसुरनरिंदरायरिसिविविहसंसइअपुच्छियाणं जिणेणं वित्थरेण भासियाणं दव्वगुणखेत्तकालपज्जवपदेसपरिणामजहच्छिअभावअणुगमनिक्खेवणयप्पमाणसुनिउणोवक्कमविविहप्पकारपगडपयासियाणं लोगालोगपयासियाणं संसारसमुद्दरुंदउत्तरणसमत्थाणं सुरवइसंपूजियाणं भवियजणपयहिययाभिनंदियाणं तमरयविद्धंसणाणं सुदिट्ठदीवभूयईहामतिबुद्धिवद्धणाणं छत्तीससहस्समणूणयाणं वागरणाणं दंसणाओ सुयत्थवहुविहप्पगारा सीसहियत्थाय गुणमहत्था,वियाहस्स णं परित्ता वायणा,संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ । से णं अंगट्ठयाए पंचमे अंगे एगे सुयक्खंधे,एगे साइरेगे अज्झयणसते दस उद्देसगसहस्साइं,दस समुद्देसगसहस्साइं, छत्तीसं वागरणसहस्साइं, चउरासीई पयसहस्साइं पयग्गेणं पएणत्ता । संखेज्जाइं अक्खराइं,अणंता गमा,अणंता पज्जवा,परित्ता तसा, अणंता थावरा सासया कडा णिबद्धा णिकाइया जिणपएणत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आया से एवं णाया एवं विण्णाया एवं चरणकरणपरूवणया आघविज्जंति । से त्तं वियाहे ॥ ५ ॥ (सू० १४०)

'से किं तं वियाहे' इत्यादि,अथ केयं व्याख्या ?, व्याख्यायन्ते अर्था यस्यां सा व्याख्या । 'वियाहे' इति च पुंल्लिङ्गनिर्देशः प्राकृतत्वात् , 'वियाहे णं' ति व्याख्यया व्याख्यायां वा समया इत्यादीनि नव पदानि सूत्रकृतवर्णके व्याख्याततत्त्वादिह कण्ठ्यानि, 'वियाहे ण' मित्यादि नानाविधैः सुरैः नरेन्द्रैः राजर्षिभिश्च 'विविहसंसइय' त्ति विविधसंशयितैः-विविधसंशयवद्भिः पृष्टानि यानि तानि तथा तेषां नानाविधसुरनरेन्द्रराजऋषिविविधसंशयितपृष्टानां व्याकरणानां षट्त्रिंशत्सहस्राणां दर्शनात् श्रुतार्था व्याख्यायन्त इति पूर्वापरेण वाक्यसम्बन्धः । पुनः किम्भूतानां व्याकरणानाम् ?, जिनेनेति भगवता महावीरेण 'वित्थरेण भासियाणं' विस्तरेण भणितानामित्यर्थः, पुनः किंभूतानाम् ?, 'दव्वे' त्यादि, द्रव्यगुणक्षेत्रकालपर्यवप्रदेशपरिणामाऽवस्थायथाऽस्तिभावाऽनुगमनिक्षेपनयप्रमाणसुनिपुणोपक्रमैर्विविधैः प्रकारैः प्रकटः प्रदर्शितो यैर्व्याकरणैस्तानि तथा तेषां, तत्र द्रव्याणि--धर्मास्तिकायादीनि गुणा-ज्ञानवर्णादयः क्षेत्रमाकाशं कालः-समायादिः पर्यवाः-स्वपरभेदभिन्ना धर्माः, अथवा-कालकृता अवस्था--नवपुराणादयः पर्यवाः--प्रदेशा निरंशावयवाः परिणामा-अवस्थातोऽवस्थान्तरगमनानि यथा-येन प्रकारेणास्तिभावः—अस्तित्वं सत्ता यथास्तिभावं अनुगमः संहितादिव्याख्यानप्रकाररूपः उद्देशनिर्देशनिर्गमादिद्वारकलापात्मको वा निक्षेपो—नामस्थापनाद्रव्यभावैर्वस्तुनो न्यासः नयप्रमाणं नया—नैगमादयः सप्त द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकभेदात् ज्ञाननयक्रियानयभेदान्निश्चयव्यवहारभेदाद्वा द्वौ ते एव तावेव वा प्रमाणं वस्तुतत्त्वपरिच्छेदनं नयप्रमाणं, तथा सुनिपुणः-सुसूक्ष्मः सुनिपुणो वा सुष्ठु निश्चितगुण उपक्रमः-आनुपूर्व्यादिः विविधप्रकारता चैषां भेदभणनत एवोपदर्शितेति । पुनः किंभूतानां व्याकरणानां, लोकालोकौ प्रकाशितौ येषु तानि तथा तेषां, तथा—'संसारसमुद्दरुंदउत्तरणसमत्थाणं' ति संसारसमुद्रस्य रुन्दस्य-विस्तीर्णस्य उत्तरणे-तारणे समर्थानामित्यर्थः , अत एव सुरपतिसम्पूजितानां प्रच्छकनिर्णायकपूजनात् सूक्तत्वेन श्लाघितत्वाद्वा, तथा 'भवियजणपयहिययाभिणंदियाणं' ति भव्यजनानां-भव्यप्राणिनां प्रजा-लोको भव्यजनप्रजा भव्यजनपदो वा तस्यास्तस्य वा हृदयैश्चित्तैरभिनन्दितानामनुमोदितानामिति विग्रहः, तथा तमोरजसी-अज्ञानपातके विध्वंसयति-नाशयति यत्तत्तमोरजोविध्वंसं तच्च तद् ज्ञानं च तमोरजोविध्वंसज्ञानं तेन सुष्ठु दृष्टानि निर्णीतानि यानि तानि तथा अत एव तानि च तानि दीपभूतानि चेति, अत एव तानि ईहामतिबुद्धिवर्द्धनानि चेति तेषां तमोरजोविध्वंसज्ञानसुदृष्टदीपभूतेहामतिबुद्धिवर्द्धनानाम् , तत्र ईहा-वितर्कों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मतिः-अवायो;निश्चय इत्यर्थः बुद्धिः-औत्पत्तिक्यादिचतुर्विधेति, अथवा-तमोरजोविध्वंसनानामिति पृथगेव पदं पाठान्तरेण सुदृष्टदीपभूतानामिति च, तथा 'छत्तीससहस्समणूणयाणं' ति अन्यूनकानि षट्त्रिंशत् सहस्राणि येषां तानि तथा, इह मकारोऽन्यथा पदनिपातश्च प्राकृतत्वादनवद्य इति, 'वागरणाणं' ति व्याक्रियन्ते प्रश्नान्तरमुत्तरतयाऽभिधीयन्ते निर्णायकेन यानि तानि व्याकरणानि तेषां दर्शनात्—प्रकाशनादुपनिबन्धनादित्यर्थः। अथवा-तेषां दर्शनाः, उपदर्शका इत्यर्थः। क इत्याह—' सुतत्थबहुविहप्पयारे ' त्ति श्रुतविषया-अर्थाः श्रुतार्थाः; अभिलाप्यार्थविशेषा इत्यर्थः, श्रुता वा आकर्णिता जिनसकाशे गणधरेण ये अर्थास्ते श्रुतार्थाः, अथवा-श्रुतमिति सूत्रम् , अर्था-निर्युक्त्यादय इति श्रुतार्थास्त च ते बहुविधप्रकाराश्चेति विग्रहः, श्रुतार्थानां वा बहवो विधाः-प्रकारा इति विग्रहः। किमर्थं ते व्याख्यायन्ते?,इत्याह-शिष्यहितार्थाय-शिष्याणां हितमनर्थप्रतिघातार्थप्राप्तिरूपं तदेवार्थः प्रार्थ्यमानत्वात्तस्य तस्मै इति। किंभूतास्ते?,अत आह-गुणहस्ता गुण एवार्थप्राप्त्यादिलक्षणो हस्त इव हस्तः प्रधानावयवो येषां ते तथा ' विवाहस्से ' त्यादि तु निगमनान्तं सूत्रसिद्धं, नवरं शतमिहाध्ययनस्य संज्ञा चतुरशीतिः पदसहस्राणि पदाग्रेणेति समवायापेक्षया द्विगुणताया इहानाश्रयणादन्यथा तद्द्विगुणत्वे द्वे लक्षे अष्टाशीतिः सहस्राणि च भवन्तीति। स० १४१ सम०।

विवाहिय-विवाहित-त्रि०। संजातविवाहे, आ० म० १ अ०। स्था०।

विविण-विपिन-न०। वने, ध० २ अधि०।

विविणकम्म-विपिनकर्मन्-न०। छिन्नाछिन्नवनपत्रपुष्पफलकन्दमूलतृणकाष्ठकम्बावंशादिविक्रये कणदलपेषणे, वनकच्छादिकरणे च। विपिनं—वनं तत्कर्म छिन्नाच्छिन्नवनपत्रपुष्पफलकन्दमूलतृणकाष्ठकम्बावंशादिविक्रयः कणदलपेषणं वनकच्छादिकरणं च। यतः—" छिन्नाच्छिन्नवनपत्रप्रसूनफलविक्रयः। कणानां दलनोत्पेषा-द्वृत्तिश्च वनजीविका ॥ १ ॥ " इति। अस्यां च वनस्पतेस्तदाश्रितत्रसादेश्च घातसम्भव इति दोषः २। ध० २ अधि०।

विवित्त-विविक्त-त्रि०। स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। स्त्र्यादिरहितोपाश्रये,उत्त० ३२ अ०। आचा० बृ०। प्रश्न०। पृथग्भूते त्यक्ते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। रहस्यभूते, दशा० ५ अ०। आ० म०। एकान्तसंविग्ने, व्य० ४ उ०।

विवित्तचरिया-विविक्तचर्या-स्त्री०। पशुपण्डककुशीलवर्जितानवद्याश्रयाश्रयणे, पञ्चा० १६ विव०।

अधुना विविक्तचर्या सा पुनरियम्—

आरामुज्जाणादिसु, थीपसुपंडगविवज्जिएसु (जं) ठाणं।
फलगादीण य गहणं, तह भणियं एसणिज्जाणं ॥ १ ॥

गता विविक्तचर्या। दश० १ अ०।

चूलिअं तु पवक्खामि, सुअं केवलिभासिअं।
जं सुणित्तु सुपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जए मई ॥ १ ॥

अणुसोअपट्ठिअबहु-जणम्मि पडिसोअलद्धलक्खेणं।
पडिसोअमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं ॥ २ ॥
अणुसोअसुहो लोओ,पडिसोओ आसवो सुविहिआणं।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ३ ॥
तम्हा आयारपर-क्कमेण संवरसमाहिबहुलेणं।
चरिआ गुणा अ नियमा,अ हुंति साहूण दट्ठव्वा ॥४॥

चूडां तु प्रवक्ष्यामि—चूडां—प्राग्व्यावर्णितशब्दार्थां तुशब्दविशेषितां भावचूडां प्रवक्ष्यामीति—प्रकर्षेणावसरप्राप्ताभिधानलक्षणेन कथयामि, श्रुतं—केवलिभाषितमिति, इयं हि चूडा श्रुतं—श्रुतज्ञानं वर्त्तते, कारणे कार्योपचारात्, एतच्च केवलिभाषितम्—अनन्तरमेव केवलिना प्ररूपितमिति सफलं विशेषणम्। एवं च वृद्धवादः—कयाचिदार्ययाऽसहिष्णुः कुरगडुकप्रायः संयतश्चातुर्मासिकादावुपवासं कारितः, स तदाराधनया मृत एव। ऋषिघातिकाऽहमित्युद्विग्ना सा तीर्थकरं पृच्छामीति,गुणावर्जितदेवतया नीता श्रीसीमन्धरस्वामिसमीपम्, पृष्टो भगवान्, अदुष्टचित्ताऽघातिकेत्यभिधाय भगवतेमां चूडां ग्राहितेति। इदमेव विशेष्यते—यच्छ्रुत्वेति—यच्छ्रुत्वा—आकर्ण्य सुपुण्यानां—कुशलानुबन्धिपुण्ययुक्तानां प्राणिनां धर्मे—अचिन्त्यचिन्तामणिकल्पे चारित्रधर्मे उत्पद्यते मतिः—संजायते भावतः श्रद्धा। अनेन चारित्रे—चारित्रबीजं चोपजायत इत्येतदुक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ एतद्धि प्रतिज्ञासूत्रम्, इह चाध्ययने चर्यागुणा अभिधेयाः, तत्प्रवृत्तौ मूलपादभूतमिदमाह—अनुस्रोतःप्रस्थिते—नदीपूरप्रवाहपतितकाष्ठवद् विषयकुमार्गद्रव्यक्रियानुकूल्येन प्रवृत्ते बहुजने तथाविधाभ्यासात् प्रभूतलोके तथा प्रस्थानेनोदधिगामिनि, किमित्याह—प्रतिस्रोतोलब्धलक्ष्येण द्रव्यतस्तस्यामेव नद्यां कथञ्चिद्देवतानियोगात्प्रतीपस्रोतःप्राप्तलक्ष्येण, भावतस्तु विषयादिवैपरीत्यात्कथञ्चिदवाप्तसंयमलक्ष्येण प्रतिस्रोत एव—दुरपाकरणीयमप्यपाकृत्य विषयादिसंयमलक्ष्याभिमुखमेव आत्मा—जीवो दातव्यः-प्रवर्त्तयितव्यो भवितुकामेन—संसारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना, न क्षुद्रजनाचरितान्युदाहरणीकृत्यासन्मार्गप्रवणं चेतोऽपि कर्त्तव्यम्, अपि त्वागमैकप्रवणेनैव भवितव्यमिति।

उक्तं च—

" निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन,
स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशाः।
तपःश्रुतज्ञानधनास्तु साधवो,
न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम् ॥ १ ॥

तथा—

कपालमादाय विपन्नवाससा,
वरं द्विषद्वेश्मसमृद्धिरीक्षिता।
विहाय लज्जां न तु धर्मवैशसे,
सुरेन्द्रता (सा) र्थेऽपि समाहितं मनः ॥ २ ॥

तथा—

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः,
प्राप्यापदं सघृण एव विमध्यबुद्धिः।
प्राणात्ययेऽपि न तु साधुजनः स्ववृत्तं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः ॥ ३ ॥

इत्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ अधिकृतमेव स्पष्टयन्नाह-अनुस्रोतःसुखो लोकः—उदकनिम्नाभिसर्पणवत् प्रवृत्याऽनुकूलविषयादिसुखो लोकः, कर्मगुरुत्वात्, प्रतिस्रोत एव-तस्माद्विपरीतः आश्रवः—इन्द्रियजयादिरूपः परमार्थपेशलः कायवाङ्मनोव्यापारः आश्रमो वा—व्रतग्रहणादिरूपः सुविहितानां-साधूनाम्, उभयफलमाह-अनुस्रोतः संसारः-शब्दादिविषयानुकूल्यं संसार एव, कारणे कार्योपचारात्, यथा-विषं-मृत्युः, दधि-त्रपुषी, प्रत्यक्षो-ज्वरः, प्रतिस्रोतः-उक्तलक्षणः, तस्येति पञ्चम्यर्थे षष्ठी 'सुपां सुपो भवन्ती'ति वचनात्, तस्मात्-संसाराद् उत्तारः-उत्तरणमुत्तारः, हेतौ फलोपचारात् यथाऽऽयुर्घृतं तण्डुलान्वर्षति पर्जन्य इति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ यस्मादेतदेवमनन्तरोदितं तस्मात् आचारपराक्रमेणेति—आचारे—ज्ञानादौ पराक्रमः—प्रवृत्तिबलं यस्य स तथाविध इति, गमकत्वाद्बहुव्रीहिः, तेनैवंभूतेन साधुना 'संवरसमाधिबहुलेने' ति संवरे-इन्द्रियादिविषये समाधिः—अनाकुलत्वं बहुलं-प्रभूतं यस्य स इति, समासः पूर्ववत्, तेनैवंविधेन सता अप्रतिपाताय विशुद्धये च, किमित्याह-चर्या-भिक्षुभावसाधनी बाह्याऽनियतवासादिरूपा गुणाश्च—मूलगुणोत्तरगुणरूपाः नियमाश्च—उत्तरगुणानामेव पिण्डविशुद्ध्यादीनां स्वकालासेवननियोगाः भवन्ति साधूनां द्रष्टव्या इत्येते चर्यादयः साधूनां द्रष्टव्या भवन्ति, सम्यग्ज्ञानासेवनप्ररूपणारूपेणेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ दश० २ चू० ।

गि(हिणो)हीण वेआवडिअं न कुज्जा,
ऽभिवायणं वंदणपूअणं वा ।
असंकिलिट्ठेहि समं वसिज्जा,
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥ ६ ॥

इयं साधूनां विहारचर्येति सूत्रस्पर्शनमाह—

दव्वे सरीरभविओ, भावेण य संजओ इहं तस्स ।
उग्गहिआ पग्गहिआ, विहारचरिया मुणेअव्वा ॥३६८॥

साधूनां विहारचर्याऽधिकृतेति साधुरुच्यते, स च द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र 'द्रव्य' इति द्वारपरामर्शः, 'शरीरभव्य' इति मध्यमभेदत्वादागमनोआगमज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तद्रव्यसाधूपलक्षणमेतत्, 'भावेन चेति' द्वारपरामर्शः, स एव 'संयत' इति संयतगुणसंवेदको भावसाधुः । इह अध्ययने तस्य—भावसाधोः अवगृहीता—उद्यानारामादिनिवासार्थानियता प्रगृहीता—तत्रापि विशिष्टाभिग्रहरूपा उत्कुटुकासनादिविहारचर्या मन्तव्या—बोद्धव्येति गाथार्थः ।

सा चेयमिति सूत्रस्पर्शेनाह—

अणिएअं पइरिक्कं, अणायं सा मुआणिअं उंछं ।
अप्पोवही अकलहो, विहारचरिआ इसिपसत्था ॥३६९॥

व्याख्या सूत्रवदवसेया । अवयवक्रमस्तु गाथाभङ्गभयाद्, अर्थतस्तु सूत्रोपन्यासवद् द्रष्टव्य इति । 'विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ता' इत्युक्तं तद्विशेषोपदर्शनायाह-' आकीर्णावमानविवर्जना च ' विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ते' ति, तत्राकीर्णराजकुलसंखड्यादि अवमानं-स्वपक्षपरपक्षप्राभूत्यजं लोकाबहुमानादि, अस्य विवर्जना, आकीर्णे-हस्तपादादिलूषणदोषात् अवमाने-अलाभाऽऽधाकर्मादिदोषादिति । तथा उत्सन्नदृष्टाहृतं प्राय उपलब्धमुपनीतम् 'उत्सन्नशब्दः प्रायो वृत्तौ वर्त्तते यथा—" देवा ओसन्नं सायं वेयणं वेएंति " किमेतदित्याह-भक्तपानम्-ओदनारनालादि इदं चोत्सन्नदृष्टाहृतं यत्रोपयोगः शुद्ध्यति, त्रिगृहान्तरादाहृत इत्यर्थः, ' भिक्खग्गाही एग—त्थ कुणइ वीओ य दोसुमुवओग " मिति वचनादित्येवंभूतमुत्सन्नं दृष्टाहृतं भक्तपानमृषीणां प्रशस्तमिति योगः।(दश०)उपदेशाधिकार एवाह-गृहिणो-गृहस्थस्य वैयावृत्त्यं गृहिभावोपकाराय तत्कर्मस्वात्मनो व्यावृत्तभावं न कुर्यात् स्वपरोभयाश्रेयःसमायोजनदोषात्, तथा अभिवादनं-वाङ्नमस्काररूपं वन्दनं-कायप्रणामलक्षणं पूजनं वा वस्त्रादिभिः समभ्यर्चनं वा गृहिणो न कुर्यात्, उक्तदोषप्रसङ्गादेव तथैतद्दोषपरिहारायैवासंक्लिष्टैर्गृहिवैयावृत्त्याकरणसंक्लेशरहितैः साधुभिः समं वसेन्मुनिः चारित्रस्य—मूलगुणादिलक्षणस्य यतो—येभ्यः साधुभ्यः सकाशान्न हानिः, संवासतस्तद्दृत्यानुमोदनादिनेत्यनागतविषयं चेदं सूत्रं प्रणयनकाले संक्लिष्टसाध्वभावादिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

ण या लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहिअं वा गुणओ समं वा ।
इक्कोऽवि पावाइँ विवज्जयंतो,
विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १० ॥
संवच्छरं वाऽवि परं पमाणं,
बीअं च वासं न तहिं वसिज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू,
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ ११ ॥
जो पुव्वरत्तावररत्तकाले,
संपेहए अप्पगमप्पगेणं ।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ? ॥ १२ ॥
किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं वाऽहँ खलिअं न विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥ १३ ॥
जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं,
काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा,
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥ १४ ॥
जस्सेरिसा जोगजिइंदिअस्स,
धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी,
सो जीअई संजमजीविएणं ॥ १५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असंक्लिष्टैः समं वसेदित्युक्तमत्र विशेषमाह—कालदोषाद् न यदि लभेत—न यदि कथंचिद् प्राप्नुयात् निपुणं—संयमानुष्ठानकुशलं सहायं—परलोकसाधनाद्वितीयं, किंविशिष्टमित्याह—गुणाधिकं वा—ज्ञानादिगुणोत्कटं वा, गुणतः समं वा, तृतीयार्थे पञ्चमी गुणैस्तुल्यं वा, वाशब्दाद्धीनपि जात्यकाञ्चनकल्पं विनीतं वा । ततः किमित्याह—एकोऽपि संहननादियुक्तः पापानि—पापकारणान्यसदनुष्ठानानि विवर्जयन्—विविधमनेकैः प्रकारैः सूत्रोक्तैः परिहरन् विहरेदुचितविहारेण कामेषु—इच्छाकामादिषु असज्यमानः—सङ्गमगच्छन्नेकोऽपि विहरेत्, न तु पार्श्वस्थादिपापमित्रसङ्गं कुर्यात्, तस्य दुष्टत्वात्। तथा चान्यैरप्युक्तम्—

"वरं विहर्तुं सह पन्नगैर्भवे-च्छठात्मभिर्वा रिपुभिः सहोषितुम्।
अधर्मयुक्तैश्चपलैरपण्डितै-र्न पापमित्रैः सह वर्त्तितुं क्षमम् ।१।
इहैव हन्युर्भुजगा हि रोषिताः,धृतासयश्छिद्रमवेक्ष्य चारयः।
असत्प्रवृत्तेन जनेन संगतः, परत्र चैवेह च हन्यते जनः ॥२॥

तथा

परलोकविरुद्धानि , कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् ।
आत्मानं योऽभिसंधत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ? ॥ ३ ॥

तथा—

ब्रह्महत्या सुरापानं , स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहु-रेभिश्च सह संगमम् ॥ ४ ॥ "

इत्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ विहारकालमानमाह—संवत्सरं वापि—अत्र संवत्सरशब्देन वर्षासु चातुर्मासिको ज्येष्ठावग्रह उच्यते । तमपि , अपिशब्दान्मासमपि , परं प्रमाणं—वर्षाऋतुबद्धयोरुत्कृष्टमेकत्र निवासकालमानमेतत् , द्वितीयं च वर्षम्—चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः , द्वितीयं वर्षं वर्षासु—चशब्दान्मासं च ऋतुबद्धे न तत्र-क्षेत्र वसेत् , यत्रैको वर्षाकल्पो मासकल्पश्च कृतः, अपि तु सङ्गदोषाद् द्वितीयं तृतीयं च परिहृत्य वर्षादिकालं ततस्तत्र वसेदित्यर्थः , सर्वथा । किं बहुना ? , सर्वत्रैव सूत्रस्य मार्गेण चरेद्भिक्षुः—आगमादेशेन वर्त्तेतेति भावः । तत्रापि नौघत एव यथा श्रुतग्राही स्यात् अपि तु सूत्रस्य अर्थः—पूर्वापराविरोधितन्त्रयुक्तिघटितः पारमार्थिकोत्सर्गापवादगर्भो यथा आज्ञापयति—नियुङ्क्ते तथा वर्त्तेत , नान्यथा । यथेहापवादतो नित्यवासेऽपि वसतावेव प्रतिमासादि साधूनां संस्तारगोचरादिपरिवर्त्तेन, नान्यथा , शुद्धापवादायोगादित्येवं वन्दनकप्रतिक्रमणादिष्वपि तदर्थं प्रत्युपेक्षणेनानुष्ठानेन वर्त्तेत , न तु तथाविधलोकहेर्या तं परित्यजेत् , तदाशातनाप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ एवं विविक्तचर्यावतोऽसीदनगुणोपायमाह—यः साधुः पूर्वरात्रापररात्रकाले , रात्रौ; प्रथमचरमयोः प्रहरयोरित्यर्थः , संप्रेक्षते सूत्रोपयोगनीत्या आत्मानं कर्मभूतमात्मनैव करणभूतेन । कथमित्याह—किं मे कृतमिति--छान्दसत्वात्तृतीयार्थे षष्ठी । किं मया कृतं शक्त्यनुरूपं तपश्चरणादियोगस्य ? , किं च मम कृत्यशेषं--कर्त्तव्यशेषमुचितम् ?, किं शक्यं वयोऽवस्थानुरूपं वैयावृत्त्यादि न समाचरामि न करोमि?, तदकरणे हि तत्कालनाश इति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ तथा-किं मम स्खलितं परः--स्वपक्षपरपक्षलक्षणः पश्यति ?, किं वाऽऽत्मा क्वचिन्मनाक् संवेगापन्नः ?, किं वाऽहमोघत एव स्खलितं न विवर्जयामि, इत्येवं सम्यगनुपश्यन् अनेनैव प्रकारेण स्खलितं ज्ञात्वा सम्यग्—आगमोक्तेन विधिना भूयः पश्येत् अनागतं न प्रतिबन्धं कुर्यात्—आगामिकालविषयं नासंयमप्रतिबन्धं करोतीति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ कथमित्याह—यत्रैव पश्येत्—यत्रैव पश्यत्युक्तवत्परात्मदर्शनद्वारेण क्वचित्-संयमस्थानावसरे धर्मोपधिप्रत्युपेक्षणादौ दुष्प्रयुक्तं--दुर्व्यवस्थितमात्मानमिति गम्यते, केनेत्याह—कायेन वाचा, तथा मानसेनेति, मन एव मानसं; करणत्रयेणेत्यर्थः । तत्रैव-तस्मिन्नेव संयमस्थानावसरे धीरो—बुद्धिमान् प्रतिसंहरेत्—प्रतिसंहरति य आत्मानं; सम्यग् विधिं प्रतिपद्यत इत्यर्थः । निदर्शनमाह-आकीर्णो जवादिभिर्गुणैः, जात्योऽश्व इति गम्यते असाधारणविशेषणात् । तच्चेदम्--क्षिप्रमिव खलिनं-शीघ्रं कविकामिव, यथा जात्योऽश्वो नियमितगमननिमित्तं शीघ्रं खलिनं प्रतिपद्यते, एवं यो दुष्प्रयोगत्यागेन खलिनकल्पं सम्यग् विधिम् , एतावतांऽशेन दृष्टान्त इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ यः पूर्वरात्रेत्यधिकारोपसंहारायाह--यस्य साधोः ईदृशाः—स्वहितालोचनप्रवृत्तिरूपा योगा--मनोवाक्कायव्यापारा जितेन्द्रियस्य--वशीकृतस्पर्शनादीन्द्रियकलापस्य धृतिमतः--संयमे सधृतिकस्य सत्पुरुषस्य—प्रमादजयान्महापुरुषस्य नित्यं—सर्वकालं सामायिकप्रतिपत्तेरारभ्याऽऽमरणान्तम् ' तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविनं ' तमेवंभूतं साधुमाहुः—अभिदधति विद्वांसः लोके—प्राणिसंघाते प्रतिबुद्धजीविनं-प्रमादनिद्रारहितजीवनशीलं, स—एवंगुणयुक्तः सन् जीवति संयमजीवितेन कुशलाभिसंधिभावात् सर्वथा संयमप्रधानेन जीवितेनेति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ दश० २ चू० ।

विवित्तजीवि (ण्)–विविक्तजीविन्–त्रि० । विविक्तं स्त्रीपशुपण्डकसमन्वितशय्यादिरहितमसंक्लिष्टं जीवितुं शीलमस्येति विविक्तजीवी । स्त्र्यादिसंसक्तासनादिवर्जनतो जीवनशीले, भ० ६ श० ३३ उ० ।

विवित्तमउअ–विविक्तमृदुक–त्रि० । दोषवियुक्ते, लोकान्तरासंकीर्णे वा कोमले, " विवित्तमउएहिं सयणासणेहिं " भ० ६ श० ३४ उ० ।

विवित्तवासवसहि–विविक्तवासवसति–स्त्री० । विविक्तानांनिर्दोषाणां वासो–निवासो यस्यां, सा चासौ वसतिः । निर्दोषजनावासे, प्रश्न० ३ संव० द्वार । तदन्यसाधुभी रहितायां वसतौ च । दश० ८ अ० ।

विवित्तसयणासणसेवणया–विविक्तशयनासनसेवनता-स्त्री० । विविक्तानि स्त्र्याद्यसंसक्तानि यानि शयनासनानि उपलक्षणत्वादुपाश्रयश्च तेषां या सेवनता सा तथा । भ० १७ श० ३ उ० । स्त्रीपशुपण्डकादिरहितशयनासनानामासेवनायाम् , उत्त० २६ अ० ।

तत्फलमाह—

विवित्तसयणासणसेवणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?, विवित्तसयणासणसेवणयाए णं चरित्तगुत्तिं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जणयइ, चरित्तगुत्ते णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगन्तरए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ ॥ ३१ ॥

हे भदन्त ! विविक्तानि-स्त्रीपशुपण्डकवर्जितानि शयनासनानि-उपाश्रयस्थानानि यस्य स विविक्तशयनासनस्तस्य भावो विविक्तशयनासनता तया स्त्रीपशुपण्डकादिरहितस्थितिनिवासत्वेन जीवः किं जनयति ? । गुरुराह—हे शिष्य ! विविक्तशयनासनतया जीवश्चारित्रगुप्तिं चारित्रस्य रक्षां जनयति, गुप्तचरित्रश्च जीवो विविक्ता-विकृत्यादिशरीरपुष्टिकारकवीर्यवृद्ध्यादिकृद्वस्तुरहित आहारो यस्य स विविक्ताहारस्तादृशः स्यात् । तथा दृढं निश्चलं चरित्रं यस्य स दृढचरित्रः, पुनरत एव एकान्तेन-निश्चयेन रक्त-आसक्तः एकान्तरतः संयमेन सावधानः स्यात् । तथा मोक्षभावेन मनसा प्रतिपन्नः-आश्रितो मोक्षो मया साध्य इति बुद्धिमान् क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्याष्टविधकर्मग्रन्थिं निर्जरयति-क्षपयति । उत्त० २९ अ० ।

विवित्तेसि(ण्)-विविक्तैषिन्-त्रि० । विविक्तं स्त्रीपशुपण्डकादिविरहितं स्थानमेषितुं शीलमस्य । स्त्रीपशुपण्डकादिरहितस्थानसेवके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

विविदिसा-विविदिषा-स्त्री० । वेदितुमिच्छा विविदिषा । जिज्ञासायाम् , पञ्चा० ४ विव० ।

विविद्धि-विवृद्धि-स्त्री० । उत्तरभाद्रपदनक्षत्राधिपतौ देवे, स्था० ।

दो विविद्धी । (सूत्र० ९०+) । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

विविह-विविध-त्रि० । अनेकप्रकारे, चं० प्र० १८ पाहु० । आचा० । सूत्र० । नि० चू० । दश० । प्रश्न० । पं० चू० । रा० । स० । नानाप्रकारे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । जं० । विचित्रे, आ० म० १ अ० । रा० । " विविहताराख्वोवचिया " विविधैस्तारारूपैस्तारिकारूपैरुपचितानि तोरणेषु हि शोभार्थं तारिका निबध्यन्ते इति प्रतीतम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । " विविहदेसनेवत्थगहियवेसे " विविधैर्देशनेपथ्यैर्गृहीतो वेषो यैस्ते विविधदेशनेपथ्यगृहीतवेषाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । " विविहफलहरसण्णामियचित्तडाले, " विविधफलभरेण सन्नामितान्यवनतीकृतानि चित्राणि विविधानि डालानि शाखा यस्य स तथा । पञ्चा० १६ विव० । ' विविहमुत्तंतरोवियं ' विविधा विविधविच्छित्तिकलिता मुक्ता—मुक्ताफलानि अन्तरेति अन्तराशब्दो गृहीतवीप्सोऽपि सामर्थ्याद् वीप्सां गमयति अन्तरा ' आरोविया ' आरोपितानि यत्र तानि तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ' विविहवाहिसयसंणिकेयं ' इह संनिकेतं स्थानम् । भ० ६ श० ३३ उ० ।

विविहकरणबुद्धि-विविधकरणबुद्धि-त्रि० । विविधचिकीर्षौ, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

विविहगर-विविधकर-पुं० । ३६ ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

विविहगुणतवोरय-विविधगुणतपोरत-त्रि० । अनशनाद्यनेकगुणे तपसि रते , दश० ९ अ० ४ उ० । 'विविहगुणतवोरए निच्चं भवइ निरासए ' दश० ९ अ० ४ उ० ।

विविहजाइ-विविधजाति-स्त्री० । नानाजातीयेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

विविहजोग-विविधयोग-पुं० । बहुविधव्यापारे , पञ्चा० ११ विव० ।

विविहतित्थकप्प-विविधतीर्थकल्प-पुं० । खरतरगच्छालङ्कारश्रीजिनप्रभसूरिविरचिते कल्पप्रदीपाऽपरपर्यायेऽनेकतीर्थानां कल्पे, स च "अनुष्टुभां सहस्राणि, त्रीणि नव शतानि च । एकोनत्रिंशदन्यस्मात् ३९२९ ग्रन्थमानं विनिश्चितम् ॥१॥" इयत्प्रमाणः शत्रुञ्जयादितीर्थानां निखिलवक्तव्यताप्रतिबद्ध आगमैतिह्यमूलो जिनप्रभसूरिभिर्महता श्रमेण सन्दृब्धः पुरेति वृत्तजिज्ञासुभिस्त्ववश्यं वीक्ष्यः । नापरोऽस्मादेवंविधो ग्रन्थो विक्रमार्कसमयाद्यवनसमयं यावद् भारतदशादशके उपलभ्यते । ती० ५५ कल्प ।

विविहपाण-विविधपान-न० । द्राक्षापानकादौ, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

विविहप्पगार-विविधप्रकार-त्रि० । अनेकप्रकारेषु , पं० व० ४ द्वार ।

विविहवण्णसंजुत्त-विविधवर्णसंयुक्त-त्रि० । विचित्राक्षरसंयोगे, षो० ६ विव० ।

विविहवत्थमल्लधारि-(ण्)-विविधवस्त्रमाल्यधारिन्-त्रि० । विविधानि शुभतराणि वस्त्राणि माल्यानि च धारयन्तीत्येवंशीलाः विविधवस्त्रमाल्यधारिणः । अनेकविधवस्त्रमाल्यधारकेषु, जी० ४ प्रति० २ उ० ।

विविहवित्थराणुगम-विविधविस्तरानुगम-पुं० । विविधश्चासौ सत्पदप्ररूपणाद्यनेकानुयोगद्वाराश्रितत्वेन विस्तरानुगमः । विस्तारानुगमनीयानेकजीवादितत्त्वानां विस्तरप्रतिपादने , स० १३७ सम० ।

विविहवेस-विविधवेश-पुं० । विविधवेश्याजने, औ० ।

विविहसत्त-विविधसत्त्व-पुं० । विविधा बहुप्रकारा वर्णादिभेदात् सत्त्वा येषामनन्तकायिकवनस्पतिभेदानां ते तथा । अनेकविधसत्त्वेषु, भ० ७ श० ३ उ० । ' अणंतजीवा विविहसत्ता । ' भ० ७ श० ३ उ० ।

विविहसत्थ-विविधशस्त्र-न० । स्वकायपरकायभेदेषु शस्त्रेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

विवेग-विवेक-पुं० । विवेचनं विवेकः । 'विचिर' पृथग्भावे । ओघ० । परित्यागे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । व्य० । सूत्र० । विवेकस्त्यागः । स्था० १ ठा० । स्वजनसुवर्णादित्यागे , आ० म० १ अ० । संसक्तान्नपानोपकरणशय्यादिविषये त्यागे , ध० ३ अधि० । अशुद्धभक्तादिविवेचने, ग० १ अधि० । भ० । अनेषणीयभक्तादित्यागे, । पञ्चा० १६ विव० । कायोत्सर्गाऽभिधाने, आव० ५ अ० । (' दव्वाइओ विवेगो०—(३९६) इत्यादिपिण्डनिर्युक्तिगाथया विवेकव्याख्या ' उग्गम ' शब्दे द्वितीयभागे ९९४ पृष्ठे कृता ।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्रोक्तार्थविभागस्थापनासमर्थे, दर्श० ५ तत्त्व । हेयोपादेयपरिरक्षणे, अष्ट० १५ अष्ट० । बुद्ध्या पृथक्करणे, औ० । स्था० । विनिश्चये,प्रति० । " स्यात्क्षणक्रमसम्बन्ध-संयमाद्यद्विवेकजम् । ज्ञानाज्ज्ञात्यादिभिस्तच्च,तुल्ययोः प्रतिपत्तिकृत् " द्वा० २६ द्वा० । (विवेकाष्टकम् ' आता ' शब्दे द्वितीयभागे २०६ पृष्ठे गतम् ।)

विवेगक्खाइ-विवेकख्याति-स्त्री० । प्रतिपक्षभावनाबलादविद्याप्रावल्ये विनिवृत्तज्ञातृत्वाकर्तृत्वाभिमानाया रजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेरन्तर्मुखायाश्चिच्छायायाः संक्रान्तौ.द्वा० २५ द्वा० । ('विवेकख्यातिनिरूपणं' 'मोक्ख' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४३४ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।)

विवेगद्दि-विवेकाद्रि-पुं० । तत्त्वज्ञानतत्त्वरमणगिरौ, अष्ट० १५ अष्ट० ।

विवेगपडिमा-विवेकप्रतिमा-स्त्री० । विवेचनं विवेकस्त्यागः, स चान्तराणां कषायादीनां बाह्यानां च गणशरीराशुचिन्ताभक्तपानादीनां तत्प्रतिपत्तिर्विवेकप्रतिमा । अभिग्रहविशेष, स्था० २ ठा० ३ उ० । सुद्धातिरिक्तभक्तपानवस्त्रशरीरतन्मलादित्यागे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

विवेगभासि (ण्)-विवेकभाषिन्-त्रि० । भाषासमित्युपेते, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

विवेगविलास-विवेकविलास-पुं० । स्वनामख्याते श्रावकशौचाचारप्रतिपादके ग्रन्थे,"मौनी वस्त्रावृतः कुर्या-द्दिनसन्ध्याद्वयेऽपि च । उदङ्मुखः शकृन्मूत्रे,रात्रौ याम्याननः पुनः॥१॥" ध० २ अधि० ।

विवेगारिह-विवेकार्ह-न० । परित्यागशोध्ये, स्था० १० ठा० ३ उ० । प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । अशुद्धभक्तादिविवेचने, औ० । स्था० । यस्य चानेषणीयग्रहणादौ विधिना परित्यागेनैव शुद्धिर्भवति । जीत० । व्य० । (विवेकार्हप्रायश्चित्तम् ' उभयारिह ' शब्दे द्वितीयभागे ८४३ पृष्ठे गतम् ।)

अधुना विवेकार्हं भण्यते—

पिंडोवहिसिज्जाई, गहियं कडजोगिणोवउत्तेण ।
पच्छा नायमसुद्धं, सुद्धो विहिणा विगिंचिंतो ॥ १६ ॥

पिण्डसंघातोऽशनपानखाद्यस्वाद्यभेदभिन्नः उपधिरौधिक उपग्रहिकश्च प्रागुक्तरूपः शय्या-उपाश्रयः आदिशब्दात्-औषधतृणलोष्टक्षारमल्लकादिग्रहः । ततः पिण्डोपधिशय्यादिकं कृतयोगिना गीतार्थेन सूत्रतोऽर्थतोऽपि चाधिगतशेषतत्त्समयवर्त्तमानश्रुतेन उपयुक्तेन-दत्तोपयोगेन गृहीतं पश्चाद् ग्रहणानन्तरम् उद्गमोत्पादनैषणादन्यतरदोषदुष्टत्वेनाऽशुद्धमिति ज्ञातं-निर्णीतं विधिना पातासंलोकादौ स्थण्डिले विविचन्-परित्यजन् शुद्धो-निर्दोषो भवति ।

कालद्धाणा इच्छिय-मणुग्गयत्थमियगहियमसढेण ।
कारणगहिउव्वरियं, भत्ताइविगिंचियं सुद्धो ॥१७॥

कालाध्वातिक्रान्तं-प्रहरत्रयादूर्ध्वं ध्रियमाणं कालातिक्रान्तम् अर्द्धयोजनातिरेकादानीतं चाध्वातिक्रान्तं, तच्च साधूनामपरिभोगम् । आह-साधूनामुपयुक्तत्वात्कथं कालातिक्रान्तत्वसंभवः ? सत्यम् , संभवत्येव ग्लानादिहेतोः, तत्त्वतो वा स्थण्डिलं न स्यात् , सागारिका वा तत्र स्युश्चौरादिभयं वा तथा स्यादिति । अथानुद्गतास्तमितगृहीते अशठत्वेन मेघमहिकामहीधररजोराहुभराद्वृते भास्वति प्रातरुद्गतबुद्ध्या गृहीतं पश्चात्काले गृहीतामिति ज्ञातं तथा कारण—गृहीतोद्वृत्तं बालग्लानाचार्यप्राघूर्णकदुर्लभद्रव्यसहसालाभादिना कारणेन गृहीतस्य विधिना च भुक्तस्योद्वृत्तं भक्तादि-अशनपानं खाद्यरूपम्-अशठः श्रुतोक्तस्थण्डिल विविञ्चन्-त्यजन् शुद्धः कोऽर्थः ? कालातिक्रान्तादीनां सर्वेषां विवेकार्हप्रायश्चित्तेनैव शुद्धिर्भवति । उक्तं विवेकार्हम् । जीत० ।

विवेयणा-विवेचना-स्त्री० । निर्जरायाम् , स्था०८ ठा०३ उ० ।

विव्वोअ-देशी-अवलोकितविश्रान्तयोः,दे०ना०७वर्ग०८गाथा।

विव्वोय-विब्बोक-पुं० । "इष्टानामर्थानां,प्राप्तावभिमानगर्वसंभूतः । स्त्रीणामनादरकृतो,विब्बोको नाम विज्ञेयः । " इत्युक्तलक्षणे स्त्रीणां चेष्टाभेदे, बृ० १ उ० ३ प्रक० । ग० । ज्ञा० । आचा० । देशीपदं वा 'विव्वोय' त्ति । अङ्गजविकारे, अनु० ।

विव्वोयण-देशी-न० । उपधानके , सू० प्र० २० पाहु । दश० । ज्ञा० । भ० । 'विव्वोयणा' उपधानकान्युच्यन्त इति जीवाभिगममूलटीकाकाराः । रा० ।

विस-विष-अस्त्री० । गरले, उत्त०१६ अ० । ग० । प्रश्न० । "गरलं । विसं । " पाइ० ना० २१० गाथा । प्रव० । आव० । ध० २० । यो० विं० । कालकूटे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आव० । विषगरलक्ष्वेडब्रह्मसुतवत्सनाभेति पर्यायाः । है० । विषकालकूटगरलहालाहलकाकोलाः पुंनपुंसकाः । है० । (विषव्याख्या 'उवभोगपरिभोगपरिणाम' शब्दे द्वितीयभागे ६०१ पृष्ठे गता ।) विषं स्थावरजङ्गमभेदाद् द्विधा । स्था०१०ठा०३उ० । वल्लीभेदे, व्य० ४ उ० ।

विष्-स्त्री० । विष्ठायाम् , अष्ट० १६ अष्ट० ।

वृष-पुं० । गवि, व्य० १ उ० ।

बिस-न० । कमलकन्दे, प्रा० १ पाद ।

विसअ-विषय-पुं० । गोचरे, ' गोअरो विसओ । ' पाइ० ना० २६१ गाथा ।

विसओदय-विषयोदय-पुं० । विषयग्रहणेन विषयविषयो मोहः परिगृह्यते, विषयेण विषयिणोपलक्षणात् । विषय— विषयमहोदये , व्य० १ उ० ।

विसंखलिय-विशृङ्खलित-त्रि० । निरवग्रहे , को० ।

विसंखलया-विशृङ्ख(लिका)ला-स्त्री० । स्वच्छन्दायाम् , "सच्छंदा उद्दामा , निरग्गला मुक्कला विसंखलया" । पाइ० ना० १३ गाथा ।

विसंथुल-विस्थुल-त्रि० । "ठो स्थि विसंस्थुले" ॥ ८ ।२। ३२ ॥ इति संयुक्तस्य ठः । प्रा० । 'लच्छिविसंठुलधाई ।' प्रा०४ पाद । विह्वले, " विहुलं विसंठुलं जाण " । पाइ० ना० २६४ गाथा ।

विसन्धि-विसन्धि-पुं० । विगलितबन्धने , सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आव० । व्यवस्थितौ, आ० चू० ४ अ० । द्वापञ्चाशत्तमे महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो विसंधी । (सू० ९०+) स्था० २ ठा० ३उ० । कल्प० ।

विसंभ–विश्रम्भ–पुं० । विश्वासे, प्रव० २ द्वार ।

विसंभट्ठाण–विश्रम्भस्थान–न० । विश्वासस्थाने,प्रव० २ द्वार।

विसंभोइय–विसंभोगिक–पुं० । विसंभोगो दानादिभिरसंव्यवहारः, स यस्यास्ति स विसंभोगिकः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । मण्डलीबाह्ये, स्था० ५ ठा० १ उ० । भोजनादिभिरसंव्यवहार्ये,

'साम्भोगिकस्य विसम्भोगीकरणमाह—

तिहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे साहम्मियं संभोगियं विसंभोगियं करेमाणे णातिकमति । तं जहा-सयं वा दट्ठुं सड्ढस्स वा निसम्म तच्चं मोसं आउट्टइ चउत्थं नो आउट्टइ । (सू० १७३)

'साहम्मियं' ति समानेन धर्मेण चरतीति साधर्मिकस्तम्, सम्—एकत्र भोगो—भोजनं संभोगः–साधूनां समानसामाचारीकतया परस्परमुपध्यादिदानग्रहणसंव्यवहारलक्षणः स विद्यते यस्य स सांभोगिकस्तं विसंभोगो दानादिभिरसंव्यवहारः स यस्यास्ति स विसंभोगिकस्तं कुर्वन्नातिक्रामति–न लङ्घयत्याज्ञां सामयिकं वा विहितकारित्वादिति । स्वयमात्मना साक्षात् दृष्ट्वा सांभोगिकेन क्रियमाणां सांभोगिकदानग्रहणादिकामसमाचारीं तथा 'सड्ढस्स' त्ति श्रद्धा–श्रद्धानं यस्मिन्नस्ति स श्राद्धः श्रद्धेयवचनः कोऽप्यन्यः साधुस्तस्य वचनमिति गम्यते निशम्य—अवधार्य, तथा 'तच्चं' ति एकं द्वितीयं यावत् तृतीयं 'मोसं' ति मृषावादम् अकल्पग्रहणपार्श्वस्थदानादिना सावद्यविषयप्रतिज्ञाभङ्गलक्षणमाश्रित्येति गम्यते आवर्त्तते—निवर्त्तते ; तमालोचयतीत्यर्थः, अनाभोगस्तस्य भावात् प्रायश्चित्तं चास्योचितं दीयते, चतुर्थन्त्वाश्रित्य प्रायो नो आवर्त्तते—तं नालोचयति, तस्य दर्पत एव भावादिति, आलोचनेऽपि प्रायश्चित्तस्यादानमस्येति,अतश्चतुर्थासंभोगकारणकारिणं विसंभोगिकं कुर्वन्नातिक्रामतीति प्रकृतम् । उक्तं च—" एगं व दोवि तिन्नि व, आउट्टंतस्स होइ पच्छित्तं । आउट्टंते वि तओ, परेणे तिण्हं विसंभोगो ॥१॥ " इति एतच्चूर्णिः-स सम्भोइओ असुद्धं गिण्हंतो चोइओ भणइ—" संतपडिचोयणा, मिच्छा मि दुक्कडं, ण पुणो एवं करिस्सामो," एवमाउट्टो जमावन्नो तं पायच्छित्तं दाउं संभोगो । एवं बीयवाराए वि, एवं तइयवाराए वि, तइयवाराओ परओ चउत्थवाराए तमेवाइयारं सेविऊण आउट्टंतस्स वि विसंभोगो ' इति । इह चाद्यं स्थानद्वयं गुरुतरदोषाश्रयम् । यतस्तत्र ज्ञातमात्रे श्रुतमात्रे च विसम्भोगः क्रियते, तृतीयं त्वल्पतरदोषाश्रयं, तत्र हि चतुर्थवेलायां स विधीयत इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

संभोगिकं विसंभोगिकं करोति–

नवहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे संभोइयं विसंभोइयं करेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा-आयरियपडिणीयं उवज्झायपडिणीयं थेरपडिणीयं कुलपडिणीयं । गणपडिणीयं । संघपडिणीयं । नाणपडिणीयं । दंसणपडिणीयं । चरित्तपडिणीयं । (सू० ६६१) स्था० ९ ठा० ३ उ० ।

विसंभोग–विसंभोग–पुं० । दानादिभिरसंव्यवहारे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । आर्यसुहस्तिसमयाद्विसंभोगः । व्य० ।

अधुना भाष्यविस्तरः—

संभोइए त्ति भणिते, संभोगो छव्विहो उ आदीए ।
भेदप्पभेदतो वि य, ऽणेगविहो होति नायव्वो ॥ ५१ ॥

संभोगिक इति भणिते संभोगो विचार्यते । तत्रादौ संभोगः षड्विधो भवति भेदप्रभेदतोऽपि च एकैकस्य भेदस्य प्रभेदतः पुनरनेकविधो भवति ।

तत्र प्रथमतः षड्विधमाह—

ओहे अभिग्गहे दाणे, गहणे अणुपालणाएँ उववाए ।
संवासम्मि य छट्ठो, संभोगविही मुणेयव्वो ॥५२॥

ओघे-उपध्यादौ अभिग्रहे दानग्रहे अनुपालनायामुपपाते एवमेते पञ्च संभोगा भवन्ति, षष्ठसंभोगविधिः संवासे ज्ञातव्यः ।

तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमत ओघसंभोगमभिधित्सुराह—

ओघो पुण बारसहा, उवधिमादिक्कमेण बोधव्वो ।
कायव्व परूवणया, एतेसिं आणुपुव्वीए ॥५३॥
उवहिसुयभत्तपाणे, अंजली पग्गहेइ वा ।
दावणा य निकाए य, अब्भुट्ठाणे त्ति आवरे ॥५३॥
कितिकम्मस्स (य) करणे, वेयावच्चकरणे इ य ।
समोसरणसन्निसेज्जा, कहाए य पबंधणे ॥५४॥

ओघसंभोगो द्वादशप्रकारस्तद्यथा—उपधिविषयः १, श्रुतविषयः २, भक्तपानविषयः ३,अञ्जलिग्रहविषयः ४, 'दावणाए' त्ति दापना-शय्यातरोपधिस्वाध्यायशिष्यगणानां प्रदापनं तद्विषयः ५, 'निकाय' त्ति निकाचो निकाचनं-छदनं निमन्त्रणमित्येकार्थास्तद्विषयः ६, 'अब्भुट्ठाणे त्ति आवरे' अपरोऽभ्युत्थानविषयः ७,'कितिकम्मस्स य'इत्यादि,कृतिकर्म वन्दनकं तत्करणविषयः ८, वैयावृत्त्यकरणविषयः ९, समवसरणविषयः १०, सन्निषद्याविषयः ११, कथाप्रबन्धनविषयश्च ॥ १२ ।

तत्रोपधिसंभोगः षट्प्रकारस्तथा चाह—

उवहिस्स य छब्भेया, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धो ।
परिकम्मण परिहरणा, संजोगो छट्ठओ होइ ॥ ५५ ॥

उपधेरुपधिसंभोगस्य षड् भेदा भवन्ति, तद्यथा-उद्गमशुद्धः १, उत्पादनाशुद्धः २ एषणाशुद्धश्च ३, परिकर्मणा—संभोगः ४, परिहरणासंभोग : ५, संयोगविषयः षष्ठः संभोगः ६, तत्र यत्सांभोगिकः सांभोगिकेन सममाधाकर्मादिभिः षोडशभिरुद्गमदोषैः शुद्धमुपधिमुत्पादयति एष उद्गमशुद्धमुपधिसंभोगः। अथाशुद्धमुत्पादयति तर्हि येन दोषेण अशुद्धमुत्पादयति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमापद्यते । तत्रापीयं व्यवस्था—अशुद्धग्राही सांभोगिकः शिक्ष्यमाणः सति मे प्रतिचोदनेऽपि मन्यमानो मिथ्यादुष्कृतपुरस्सरं न पुनरेवं करिष्यामीति ब्रुवाणः प्रत्यावर्तते, तदा यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तद्दत्त्वा संभोग्यते, एवं द्वितीयवारं तृतीयवारमपि चतुर्थवेलायां त्वावृत्तस्यापि न संभोगः। अथ निष्कारणे अन्यसांभोगिकेन समं शुद्धमशुद्धं चोपधिमुत्पादयति, तर्हि सोऽपि यदि शिक्ष्यमाणः व्यावर्तते ततः संभोगविषयीक्रियते अन्यथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथमवेलायामपि तस्य विसंभोगः । एवं द्वितीयवारं तृतीयवारमपि चतुर्थवारमावृत्तस्यापि नियमतो विसंभोगः । वारत्रयेऽपि तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु, कारणे त्वन्यसांभोगिकेनापि सममुपधिमुत्पादयन् शुद्धः । एवं पार्श्वस्थादिभिर्गृहिभिर्यथाछन्दैश्च सह वक्तव्यम्, प्रायश्चित्तविधिरपि तथैव नवरं यथा-छन्दे मासगुरु चतुर्गुरुकमित्यपरे । योऽपि पार्श्वस्थादेः संघाटकं प्रयच्छति तस्यापि मासलघु. तथा संयतीभिः संविग्नाभिरसंविग्नाभिर्वा सांभोगिकाभिरसांभोगिकाभिर्वा सममुद्गमेन शुद्धमशुद्धं वोपाधमुत्पादयतश्चतुर्गुरुकम् । एतत्तावत्पुरुषवर्गेऽभिहितं संयतीवर्गेऽपि द्रष्टव्यम् । एवं षोडशभिरुत्पादनादोषैर्दशभिरेषणादोषैः सांभोगिकेन सममुपधिमुत्पादयन् शुद्धः, विपर्यासे प्रायश्चित्तविधिः पूर्ववत् (२, ३) । 'परिकम्मण' त्ति परिकर्म्मणा नाम यदुपधिमुचितप्रमाणकरणतः संयतप्रायोग्यं करोति । तत्र भङ्गाश्चत्वारस्तद्यथा-परिकर्म्मणा कारणे विधिना १. कारणेऽविधिना २, निष्कारणे विधिना ३, निष्कारणेऽविधिना ४, अत्र प्रथमभङ्गः शुद्धः, द्वितीये मासलघु तपोगुरु. तृतीये मासलघु कालगुरुकम्, चतुर्थे मासलघु द्वाभ्यां गुरु । संविग्नैरन्यसांभोगिकैः समं चतुर्थेष्वपि भङ्गेषु मासलघु.अत्रापि द्वितीयादिषु भङ्गेषु पूर्ववत् । तपःकालविशिष्टता गृहस्थैः पार्श्वस्थादिभिः समं प्रत्येकं चतुर्लघुकं, यथाछन्दैः समं चतुर्गुरुकमत्रापि द्वितीयादिषु भङ्गेषु प्राग्वत्, तपःकालविशिष्टता । तथा सांभोगिकीनां संयतीनामुपधिं विधिना संयतीप्रायोग्यं गणधरः परिकर्म्मयन् ददानश्च परिशुद्धः, अविधिना परिकर्म्मयतश्चतुर्गुरु, पार्श्वस्थादिसंयतीनां गृहस्थानां च कारणे विधिनेत्यादि भङ्गचतुष्टये प्रत्येकं चतुर्गुरु । द्वितीयादिषु भङ्गेषु तपःकालविशिष्टता प्राग्वत् । तथा परिहरणा नाम परिभोगस्तत्रापि भङ्गचतुष्टयं कारणे विधिना १, कारणेऽविधिना २, निष्कारणे विधिना ३, निष्कारणेऽविधिना ४, तत्र प्रथमभङ्ग सांभोगिकैः सममुपकरणं परिभुञ्जानः शुद्धः, शेषेषु द्वितीयादिषु भङ्गेषु मासलघु तपःकालविशिष्टम्, असांभोगिकैः सममुपकरणं परिभुञ्जानस्य चतुर्ष्वपि भङ्गेषु मासलघु. द्वितीयादिषु तु तपःकालविशिष्टता पार्श्वस्थादिभिर्गृहस्थादिभिश्च सममुपभुञ्जानस्य भङ्गचतुष्टयेऽपि प्रत्येकं चतुर्लघु, यथाछन्दैः संयतीभिः गृहस्थाभिश्चतुर्गुरु । उभयत्रापि द्वितीयादिषु भङ्गेषु तपःकालविशिष्टता ५ । संयोगो-द्व्यादिपदानां मीलनम् । तत्र भङ्गाः षड्विंशतिः, तद्यथा-दश द्विकसंयोगाः, दश त्रिकसंयोगाः पञ्च चतुष्कसंयोगाः एकः पञ्चसंयोगः । तत्र दश द्विकसंयोगा इमे-साम्भोगिकेन समसुद्गमेनोत्पादनया च शुद्धमुपधिमुत्पादयतीति प्रथमः, उद्गमेनैषणया च द्वितीयः । उद्गमेन शुद्धमुत्पादयति परिकर्मयति चेति तृतीयः । उद्गमेन शुद्धमुत्पादयति परिहरति चेति चतुर्थः । एते चत्वारोऽपि भङ्गा उद्गमपदममुञ्चता लब्धाः । एवमुत्पादनापदामोचनेन लभ्यन्ते त्रयः, एषणापदामोचनेन द्वौ, परिकर्म्मणापरिहरणापदयोरेकः । दशत्रिकसंयोगा इमे—साम्भोगिकः साम्भोगिकेन सममुद्गमेनोत्पादनया एषणया च शुद्धमुत्पादयतीति प्रथमः । उद्गमेनोत्पादनया च शुद्धमुत्पादयति परिकर्मयति चेति द्वितीयः । उद्गमेनोत्पादनया च शुद्धमुत्पादयति परिहरति चेति तृतीयः । इत्याद्युपयुज्य वक्तव्यम् । एवं पञ्चचतुष्कसंयोगाः । एकः पञ्चकसंयोगश्च वक्तव्यः । एतेषु च षड्विंशतिभङ्गेषु सांभोगिकेन समं शुद्धः, असांभोगिकादिभिः सममसांभोगिकादिविषयं द्व्यादिसंयोगनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-उद्गमनिष्पन्नमुत्पादनानिष्पन्नमित्यादि, एवमुक्तमुपधिसंभोगः ।

सम्प्रति श्रुतसंभोगादीनतिदेशत आह—

एवं जहा निसीथे, पंचमउद्देसए समक्खातो ।
संभोगविही सव्वो, तहेव इह इं पि वत्तव्वो ॥ ५६ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण यथा निशीथे—निशीथाध्ययने पञ्चमे उद्देशके सर्वश्रुतादिसंयोगनिष्पन्नं प्रायश्चित्तविषयं संभोगविधिः समाख्यातस्तथैवेहापि वक्तव्यः । स च ग्रन्थगौरवभयान्न शक्यते लिखितुमिति तत एवावधारणीयः ।

एष च संभोगविधिः पूर्वमस्मिन्नर्द्धभरते सर्वसंविग्नानामेकरूप आसीत् पश्चात्कालदोषत इमे सांभोगिका इमे त्वसांभोगिका इति प्रवृत्तम् । किं कारणमिति चेदत आह—

अगडे भाउय तिलतं-दुले सरक्खे य गोणि असिवे य ।
अविणट्ठे संभोगे, सव्वे संभोइया आसी ॥ ५७ ॥

पूर्वमविनष्टे संभोगे सर्वे संविग्नाः सांभोगिका एकसंभोगा आसीरन् । पश्चात्तु कालवैगुण्यतः सांभोगिकाऽसांभोगिकविभागः । तत्र दृष्टान्तोऽवटः १ गाथायां जातावेकवचनम्, एवमुत्तरत्रापि । तथा द्वौ भ्रातरौ २, तिलाः ३, तण्डुलाः ४, सरजस्काः ५, गोवर्गश्चाशिवविषयः ६ ।

तत्रावटदृष्टान्तभावनार्थमाह—

आगंतु तदुत्थेण व, दोसेण विणट्ठे कूवे तो पुच्छा ।
कुत आणीयं उदयं, अविणट्ठे नासि सा पुच्छा ॥ ५८ ॥

" एगस्स नगरस्स एक्कीए दिसाए बहवे महुरोदगा कूवा, तत्थ केइ कूवा आगंतुकेण तया विसाइणा दोसेण केइ तदुत्थेण खारलोणविसपाणियसिरासंभवरूवेण विणट्ठा । तत्थ केसु वि कूवेसु पाणियं पिज्जमाणं कुट्ठाइणा सरीरसंदूसणकरं हवइ । केई जीवंतकरा भवंति । केइ एहाणायमणाइसु अविरुद्धा, केई एहाणाइसु विरुद्धा । तत्र बहुजणो एयद्दोसदुट्ठे ते नाउं आणीए पाणीए पुच्छइ, कओ आणियंतत्थ जइ निद्दोसं तो परिभुंजंति, अह सदोसं तो वज्जंति । तत्थ वि जइ जाणंतेन सदोसमाणीयं ताहे सो तओ फेडिज्जइ तज्जिज्जइ य । अह अयाणंतेणमाणीयं तो वारिज्जइ मा पुणो आणेज्जासि । " अक्षरगमनिका त्वेवम्-आगन्तुकेन तदुत्थेन वा दोषेण कूपे कूपसंघाते विनष्टे सति ततस्तदनन्तरं यतस्ततो वा समानीते उदके लोकस्य पृच्छा प्रावर्तत कुत आनीतमिदमुदकम् ? इति । अविनष्टे कूपसंघाते नासीत् सा पृच्छा । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः अविनष्टे संभोगे न सांभोगिकासंभोगिकपृच्छा आसीत्, अधुना दुःषमानुभावतः केचिच्चारित्रशरीरोत्तरगुणदूषका अभवन्, केचिच्चारित्रजीवितव्यपरोपकाः । केचित्संस्पर्शपरिभोगिनः । केचित्संस्पर्शतोऽपि विवर्जिताः । ततः परीक्षा १ ॥

अधुना भ्रातृदृष्टान्तमाह—

भोइकुलसेवि भाउय, दुस्सीलेगे तु जा यतो पुच्छा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एमेव सेसएसु वि, होइ विभासा तिलाईसु ॥ ५६ ॥

द्वौ भ्रातरौ भोजिकुलसेवकौ राजकुले अभ्यर्हितसेवकौ सर्वत्राधारितप्रसारौ. तयोः कनिष्ठोऽन्तःपुरे कृतानाचारो जातस्ततो राज्ञा प्रवेशो निवारितः । ज्येष्ठोऽपि च राज्ञोऽकथित प्रवेशं न लभते, प्रतीहारेण तु कथिते राज्ञा पृच्छ्यते क आगतो ज्येष्ठः कनिष्ठो वा । तत्र ज्येष्ठ इति कथिते स प्रवेश्यते.इयं तु पृच्छा पूर्वं नासीत् । कालक्रमेण च कस्मिन् कनिष्ठे दुःशीले जाते प्रावर्त्तत । उपनयभावना प्राग्वत् २ । तिलादिदृष्टान्तानाह-'एमेवे' त्यादि एवमेवानेनैव प्रकारेण शेषेष्वपि तिलादिषु दृष्टान्तेषु भवति विभाषा-व्याख्यानं कर्त्तव्यम् । तत्रेदम्-पूर्वं सर्वेष्वपि आपणेषु अपूतिकास्तिला अदुष्टजन्मानस्तण्डुला विक्रयाय प्रसार्यन्ते स्म, ततः कालदोषात्त एकेन वणिजा निकृतिबहुलेन पूतिकास्तिलाः प्रसारिताः ; अपरेण तु दुष्टजन्मानस्तन्दुलास्ततो लोकस्य पृच्छा प्रावर्त्तत,कीदृशास्तवापणे तन्दुलाः कीदृशा वा तिला इति. पूर्वं तु नासीत् । उपनयः प्राग्वत् (३-४)। तथा एकस्मिन्नगरे एकस्यां दिशि बहूनि देवकुलानि तेषु सर्वेषु सरजस्का वसन्ति सुशीलास्तान् सर्वानपि भूयान् जनो निर्विशेषं पूजयति,पश्चात्केषुचिद्देवकुलेषु दुःशीला जाताः,निमन्त्रणवेलायां पृच्छा प्रवृत्ता कतमान्निमन्त्रयामि । पूर्वं त्वेवंरूपा पृच्छा नासीत् । उपनयः प्राग्वत् ५ । तथा एकस्मिन्ग्रामे महान् गोवर्गः स कदाचिदशिवेन गृहीतस्ततस्तस्मात् ग्रामादानीतासु गोषु लोकस्य पृच्छा अभवत् । कुतो ग्रामादानीता कस्य गोवर्गस्येयमिति । पूर्वं तु नासीत् ६ । एवमत्रापि विनष्टे संभोगे सांभोगिकः परीक्ष्य संभोज्यते ।

तथा चाह—

साहम्मिय वइधम्मिय, निघरिसमाणे तहेव कूवे य ।
गावीपुक्खरिणी य, नीयल्लगसेवआगमणे ॥ ६० ॥

सधर्मता-समानधर्मशीलता तां सम्यक् परीक्षया ज्ञात्वा संभुञ्जते, विधर्मता—विगतधर्मशीलता तां ज्ञात्वा परिवर्जयन्ति । यथा सुवर्णं निघर्षे निकषोपले परीक्ष्य यदि युक्तं ज्ञायते ततः प्रतिगृह्यते, अन्यथा तु परित्यज्यते । एवमज्ञातशीलोऽपि भाजनेन परीक्षणीयः । यदि भाजनस्य तलमघृष्टमुपकरणं वा विधिना सेवितं तत ' आलएण विहारेण ' मित्यादिवचनतः साधर्मिको ज्ञेयः , शेषस्तु वैधर्मिकः । यथा वा कूपे, यदि वा-गोषु यथा वा पुष्करिणी यथा वा निजकस्य भ्रातुः सेवकस्यागमने परीक्षा तथा अत्रापि परीक्ष्य संभोगविसंभोगौ । उक्तः सप्रपञ्चः संभोगः ।

सम्प्रति येनाधिकारस्तमभिधित्सुरिदमाह-

एएसि कयरेणं, सम्भोगेणं तु होइ सम्भोगी ।
समणाणं समणीतो, भण्णइ अणुपालणाए उ ॥ ६१ ॥

एतेषामनन्तरोदितानां संभोगानां मध्ये कतरेण सम्भोगेन संभोगिन्यः श्रमणानां श्रमण्यो भवन्ति ?, सूरिराह-भण्यते अनुपालनया-अनुपालनारूपेण सम्भोगेन,तदेवमुक्तः संभोगः। व्य० ५ उ० । नि० चू० ।

विसंवइअ-विसंवादित-त्रि० । विसंवादयुक्ते, " विअट्टं विसंवइअं । " पाइ० ना० २४६ गाथा ।

विसंवाय-देशी०—मलिन, दे० ना० ७ वर्ग ७२ गाथा ।

विसंवायणा-विसंवादना-स्त्री० । अनाभोगादिना गवादिकमश्वादिकं यद्वदति कस्यैचित् अभ्युपगम्य वा यन्न करोति तादृशे मिथ्याप्रत्यये. स्था० ४ ठा० १ उ० ।

विसकंठिया-विसकण्ठिका-स्त्री० । विसं मृणालमिव कण्ठोऽस्त्यस्याः ठन् । बलाकायाम् , आ० म० १ अ० ।

विसकंद-विसकन्द-पुं० । खाद्यविशेष.जी०३प्रति०४ अधि० ।

विसकल-विशकल-त्रि० । खण्डाखण्डीकृत. व्य० ८ उ० ।

विसकलिय-विशकलित-त्रि० । खण्डिते, आ० म० १ अ० ।

विसकुंभ-विषकुम्भ-पुं० । स्फोटिकाविशेषे, बृ० ३ उ० । विषभृतकुम्भे, 'विसकुंभे णाममेगे विसप्पिहाणे, ' स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

विसकण-विष्वष्कण-न० । शीघ्रविध्या (ध्मा)पनार्थं ज्वलतामुल्मुकानामपकर्षणे, बृ० २ उ० ।

विसगंडूस-विषगण्डूष-पुं० । कालकूटभृतगण्डूषे, ' जह णाम विसगंडूसं कोती घेत्तूण नाम तुण्हिको ' सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । प्रश्न० ।

विसघाइ (ण्) -विषघातिन्-त्रि० । गरदोषहननशीले, पञ्चा० १४ विव० । दश० ।

विसघारियजोगतुल्ल-विषघारितयोगतुल्य-पुं०।हालाहलव्याप्तपुरुषव्यापारसदृश, अस्पष्टचेतनत्वादल्पे, पञ्चा० ६ विव० ।

विसज्जणा-विसर्जना-स्त्री० । मुत्कलने, व्य० ४ उ० ।

विसज्जिय-विसृष्ट-त्रि० । प्रेरिते, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । नि० चू० । आ० म० । आव० ।

विसट्ट-दलि-धा०।चूर्णीकरणे,विकासे च।"दलि वल्योर्विसट्टवम्फौ" ॥८।४।१७६॥ इति दलेर्धातोर्विसट्टादेशः । विसट्टइ । विदलति । प्रा० ४ पाद ।

दलित-त्रि० । " विसट्टं विहडिअत्थे । "पाइ० ना० २४२ गाथा ।

विसट्टमाण-विदलत्-त्रि० । विकसति, स्था० ४ ठा० ४ उ० । भ० ।

विसट्ठया-विषार्थता-स्त्री० । विषमेवार्थो विषार्थस्तद्भावस्तत्ता । विषत्वे, भ० ८ श० २ उ० । स्था० ।

विसढ-विषम- । नीरोगे, दे० ना० ७ वर्ग ६२ गाथा । पाइ० ना० २०७ गाथा ।

विसण-विशन-न० । प्रवेशे,व्य० ७ उ० ।

विसणंदि (ण्) -विषनन्दिन्-पुं० । प्रथमबलदेवस्याचलस्य पूर्वभवजीव. स० । ति० ।

विमण्ण-विषण्ण-त्रि० । विविधमनेकप्रकारं सन्नो मग्नो विषण्णः । उत्त० ६ अ० । सूत्र० । विशेषेण सन्नो निमग्नो विषण्णः । उत्त० ८ अ० । आचा० । विशेषेण दीने, उत्त० १२ अ० । सूत्र० । आचा० । अवसक्ते विषयप्रधाने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । शङ्किते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । असंयमे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विसएगचित्त--विषयैकचित्त--त्रि० । मूर्छितं, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

विसएसि(ण)--विषयैषिन्--त्रि० । विषयेणोऽसंयमस्तमे-षितुं शीलमस्येति विषयैषी । असंयमगवेषके, ' दुगुणं करेइ से पावं पूयणकामो विसंचेसी ' । सूत्र० १ श्रु० ४ अ०१ उ० ।

विसत्त--विसत्त्व--त्रि० । विगताः सत्त्वा यत्र तद् विसत्त्वम् । विगतजने , व्य० ६ उ० ।

विसद--विशद--त्रि० । धवले , कल्प० १ अधि० ५ क्षण । व्यक्ते, नि० चू० १ उ० ।

विसदंसण--विषदर्शन--पुं० । आगाढकारणे उत्पन्ने प्रतिसेव-मान, नि० चू० १ उ० ।

विसपरिगय--विषपरिगत--त्रि० । विषव्याप्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

विसपरिणय--विषपरिणत--त्रि० । विषरूपापन्ने, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

विसपरिणाम--विषपरिणाम--पुं० । गरलपरिपाके, स्था० ।

छव्विहे विसपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा-डक्के भुत्ते निव-इए मंसाणुसारी सोणिताणुसारी अट्ठिमिंजाणुसारी । (सू० ५३३ ×)

'डक्के' त्ति दष्टस्य प्राणिनो दंष्ट्रा विषादिना यत्पीडाकारी तद्दष्टं जङ्गमविषम्, यच्च भुक्तं सत् पीडयति तद् भुक्तमित्यु च्यत,तच्च स्थावरम् । यत्पुनर्निपतितम् उपरि पतितं सत् पीड यति तन्निपतितं त्वग्विषं दृष्टिविषं चेति त्रिविधं स्वरूपतः, तथा किंचिन्मांसानुसारी मांसान्तधातुव्यापकं किंचिच्छो-णितानुसारी तथैव किंचिच्चास्थिमज्जानुसारि तथैवेति त्रि-विधं कार्यतः । एवं च सति षड्विधं तत्ततस्तत्परिणामोऽपि षोढेति ॥ स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

विसप्पमाण--विसर्पत्--त्रि० । विस्तारं व्रजति, भ० २ श० १ उ० । आ० म० । ज्ञा० । रा० । विशेषेण सर्पतीति विसर्पत् । विस्फुरति, उत्त० ३५ अ० ।

विसप्पि(ण)--विसर्पिन्--त्रि० । विसर्पणशीलं विसर्पि । वि-स्तारयुक्ते, षो० ११ विव० ।

विसभ--वृषभ--पुं० । बलीवर्दे, भ० ११ श० ११ उ० ।

विसभक्खण--विषभक्षण--न० । विषं तालपुटादि तस्य भक्ष-णं विषभक्षणम्, ग० २ अधि० । गरलाशने , विषभक्षणेन मरणभेदे , भ० २ श० १ उ० ।

विसभागपरिक्खय--विषभागपरिक्षय--पुं० । स्वनामख्याते बौ-द्धानां संज्ञाभेदे.विषभागपरिक्षयो बौद्धानाम् । द्वा० २४ द्वा० ।

विसम--विषम--त्रि० । "शषोः सः" ॥ ८ । ४ । ३०६ ॥ इति ष-स्य सः । प्रा० । दुरारोहावरोहस्थाने, जं० २ वक्ष० । जी० । निम्नोन्नते, विपा० १ श्रु० ३ अ० । प्रश्न० । आचा० । नि० चू० । दश० । तं० । विषमभूमिप्रतिष्ठिते. भ० ३ श०४ उ० । पाषाणगर्त्ततर्वाद्याकुलभूमिरूप,भ० ३ श० २ उ० । स्था० । बृ० । (विषमपदं 'गहण' शब्दे तृतीयभागे ८६० पृष्ठे व्याख्यातम् ।) निस्नेहे दुःसंचारे.आव०४अ० । प्रतिकूले,सूत्र०१ श्रु० २ अ०२ उ० । "चलबहुलविसमचम्मो" चलं श्लथं बहुलं स्थूलं विषमं वलियुक्तं चर्म यस्य स तथा । स्था० ४ ठा० २ उ० । असंयमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । दुर्गमत्वाद् विषमम् । आकाशे, भ० २ श० २ उ० । ' विसढं विसमं' पाइ० ना० २०७ गाथा ।

विसमइअ--विषमय--त्रि० । ' मयट्यइर्वा ' ॥ ८ । १ । ५० ॥ म-यद्प्रत्यये आदेरतः स्थाने अइ इत्यादेशः । विषमयः । विस-मइओ । विसमओ । विषप्रचुरे, प्रा० १ पाद ।

विसमंत--विषमान्त--पुं० । कूटपाशादियुक्तप्रदेशे , सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

विसमचारिणक्खत्त--विषमचारिनक्षत्र--पुं० । विषमचारीणि, यथा स्वतिथिष्वन्तर्वर्तीनि नक्षत्राणि यत्र स विषमचारिन-क्षत्रः । विषमचारिनक्षत्रयुक्ते संवत्सरे, ' ससिसगलपुण्णमा-सी, जोएइ विसमचारिणक्खत्ते ' । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

विसमय--देशी--भल्लातके. दे० ना० ७ वर्ग ६६ गाथा ।

विसमसंधिबंधण--विषमसन्धिबन्धन--त्रि० । विषमाणि दीर्घ-ह्रस्वत्वादिना सन्धिरूपाणि बन्धनानि येषां ते विषमसन्धि-बन्धनाः । असमसन्धिबन्धनेषु. भ० ७ श० ६ उ० ।

विसमायव--विषमातप--पुं० । तलोपः । " पदयोः सन्धिर्वा " ॥ ८ । १ । ५ ॥ इति संस्कृतोक्तः सन्धिर्वा । प्रतिकूलधर्मे , प्रा० १ पाद ।

विसमिश्र--देशी--विपुलोत्थितयोः , दे० ना० ७ वर्ग ६२ गाथा ।

विसमीस--विषमिश्र--त्रि० । गरलयुक्ते , सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

विसमेह--विषमेघ--पुं० । जनमरणहेतुजले मेघे , भ० ७ श० ६ उ० ।

विसय--विशद--पुं० । निर्मले, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । व्यक्ते , औ० । स्पष्टे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । धवले,औ० ।

विशय--पुं० । विशन्त्यस्मिन्निति विशयः । गृहे , उत्त० ७ अ० । ' संभावनायाम् , 'विसओ त्ति वा सम्भवो त्ति वा उ-ववति त्ति वा एगट्ठा ' आ० चू० १ अ० ।

विषय--पुं० । विषीदन्ति धर्मं प्रति नोत्सहन्ते एतेष्विति विषयाः, यद्वा-सेवनकाले मधुरत्वेन परिणामे चातिकटुक-त्वेन विषस्योपमां यान्तीति विषयाः । उत्त० ४ अ० । विषीयन्ते निबध्यन्ते विषयिणोऽस्मिन्स्मिन्निति विषयः । गोचरे, परिच्छेद्ये, रत्ना० ५ परि० । पञ्चा० । ध० । ग्राह्ये अर्थे, भ०८श०२ उ० । 'विषयः प्राप्तिर्गोचर एगट्ठा' आ० चू० १अ० । विषीदन्त्येतस्मिन् सक्ताः प्राणिन इति विषयाः । इन्द्रियगो चरे,आव० ४ अ० । शब्दरूपरसगन्धस्पर्शाख्ये, ग० २ अधि० । आचा० । व्य० । जी० । भ० । आव० । उत्त० । स्था० । सूत्र० । व्य० । प्रव० । ज्ञा० । चक्षुरादिग्राह्येषु रूपादिषु,द्वा०२३ द्वा० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दश । शब्दादिषु (विषयेषु) जीवाः सज्जन्ति यावदमन्ते । स्था० ।

पंच कामगुणा पण्णत्ता , तं जहा-सद्दा रूवा गंधा रसा फासा ३, पंचहिं ठाणेहिं जीवा सज्जन्ति, तं जहा-सद्देहिं० जाव फासेहिं ४, एवं रज्जंति ५, मुच्छंति ६, गिज्झंति ७ , अज्झोववज्जंति ८, (स्था०) पंच ठाणा अपरिण्णाता जीवाणं अहिताते असुभाते अखमाते अणिस्सिताते अणाणुगामियत्ताते भवंति, तं जहा-सद्दा० जाव फासा १०, पंच ठाणा सुपरिण्णाता जीवाणं हियाते सुभाते० जाव आणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—सद्दा ० जाव फासा ११, (सू० ३९० +)

'कामगुण' त्ति कामस्य-मदनाभिलाषस्य अभिलाषमात्रस्य वा संपादका गुणाः—धर्माः पुद्गलानां, काम्यन्त इति कामाः ते च ते गुणाश्चेति वा कामगुणा इति ३, 'पंचहिं ठाणेहिं' ति पञ्चसु पञ्चभिर्वा इन्द्रियैः-स्थानेषु-रागाद्याश्रयेषु तैर्वा सह सज्यन्ते-सङ्गं-संबन्धं कुर्वन्तीति ४, 'एव' मिति पञ्चस्वेव स्थानेषु रज्यन्ते-सङ्गकारणं रागं यान्तीति ५, मूर्च्छन्ति-तद्दोषानवलोकनेन मोहमचेतनत्वमिव यान्ति संरक्षणानुबन्धवतो वा भवन्तीति ६, गृध्यन्ति—प्राप्तस्यासंतोषेणाप्राप्तस्यापरापरस्याकाङ्क्षावन्तो भवन्तीति ७, अध्युपपद्यन्ते-तदेकचित्ता भवन्तीति तदर्जनाय वाऽधिक्येनोपपद्यन्ते उपपन्ना घटमाना भवन्तीति ८, (स्था०) ('विणिघा—य' शब्देऽप्यस्मिन्नेव भागे गतम्।) 'अपरिण्णाय' त्ति अपरिज्ञया स्वरूपतोऽपरिज्ञातान्यनवगतानि अप्रत्याख्यानपरिज्ञया वा प्रत्याख्यातानि अहितायापायायाशुभायापुण्यबन्धायासुखाय वाऽक्षमायानुचितत्वायाऽसमर्थत्वाय वाऽनिःश्रेयसायाकल्याणायामोक्षाय वा यदुपकारि सत्कालान्तरमनुयाति तदनुगामिकं तत्प्रतिषेधोऽननुगामिकं तद्भावस्तस्यं तस्मै अननुगामिकत्वाय भवन्ति १० । द्वितीयं विपर्ययसूत्रम् ११ । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

"विषस्य विषयाणां च, दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
उपयुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि ॥ १ ॥"
सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

"न जातु कामः कामाना—मुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्द्धते ॥ १ ॥"
सम्म० ३ काण्ड ।

यदुक्तं श्रीप्रशमरतौ—

"कलरिभितमधुरगान्ध—र्वतूर्ययोषिद्विभूषणरवाद्यैः ।
श्रोत्रावबद्धहृदयो, हरिण इव नाशमुपयाति ॥ १ ॥
गतिविभ्रमेङ्गिताका-रहास्यलीलाकटाक्षविक्षिप्तः ।
रूपावेशितचक्षुः , शलभ इव विपद्यते विवशः ॥ २ ॥
स्नानाङ्गरागवर्त्तिक—वर्णकधूपाधिवासपटवासैः ।
गन्धभ्रमितमनस्को, मधुकर इव नाशमुपयाति ॥ ३ ॥
मिष्टान्नपानमांसौ— दनादिमधुररसविषयगृद्धात्मा ।
गलयन्त्रपाशबद्धो, मीन इव विनाशमुपयाति ॥ ४ ॥
शयनासनसंबाधन—सुरतस्नानानुलेपनासक्तः ।
स्पर्शव्याकुलितमति—र्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः ॥ ५ ॥
एवमनेके दोषाः, प्रनष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टानाम् ।
दुर्नियमितेन्द्रियाणां, भवन्ति बाधाकरा बहुशः ॥ ६ ॥
एकैकविषयसङ्गा—द्रागद्वेषातुरा विनष्टास्ते ।
किं पुनरनियमितात्मा, जीवः पञ्चेन्द्रियवशार्त्तः ॥ ७ ॥"

तथा विषयैस्तरवोऽपि विगोपिताः, यतः पठ्यते—

पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः,
शोकं जहाति बकुलो मधुशीधुसिक्तः ।
आलिङ्गितः कुरवकः कुरुते विकाश—
मालोकितः सतिलकस्तिलको विभाति ॥ ६ ॥

ग० ३ अधि० ।

"उपभोगोपायपरो, वाञ्छति यः शमयितुं विषयतृष्णाम् ।
धावत्याक्रमितुमसौ, पुरोऽपराह्णे निजच्छायाम् ॥ १ ॥"
आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

अथेन्द्रियविषयमानमाह-

बारसहिं जोयणेहिं, सोयं परिगिण्हए सद्दं ॥११२१॥
रूवं गिण्हइ चक्खू, जोयणलक्खाउ साइरेगाओ ।
गंधं रसं च फासं, जोयणनवगाउ सेसाणि ॥ ११२२ ॥

द्वादशभ्यो योजनेभ्य आगतं घनगर्जितादिशब्दमुत्कृष्टतो गृह्णाति श्रोत्रं, न परतः आगताः खलु ते शब्दपुद्गलास्तथा स्वाभाव्यान्मन्दपरिणामास्तथोपजायन्ते,येन स्वविषयं श्रोत्रज्ञानं नोत्पादयितुमीशाः, श्रोत्रेन्द्रियस्य च तथाविधमत्यद्भुतं बलं न विद्यते येन परतोऽप्यागतं शब्दं शृणुयादिति । तथा चक्षुरिन्द्रियमुत्कर्षतः सातिरेकाद्योजनलक्षादारभ्य कटकुड्यादिभिरव्यवहितं रूपं गृह्णाति-परिच्छिनत्ति, परतोऽव्यवहितस्यापि परिच्छेदे खलु शक्त्यभावात्, एतच्चाभासुरद्रव्यमधिकृत्योच्यते, भासुरं तु द्रव्यं प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नेभ्य एकविंशतियोजनलक्षेभ्योऽपि परतः पश्यन्ति यथा पुष्करवरद्वीपार्द्धमानुषोत्तरनगनिकटवर्तिनो नराः कर्कसंक्रान्तौ सूर्यबिम्बम् । उक्तं च—"इगवीसं खलु लक्खा, चउतीसं चेव तह सहस्साइं । तह पंच सया भणिया, सत्तत्तीसाएँ अइरित्ता ॥ १ ॥ इइ नयणविसयमाणं, पुक्खरदीवड्ढवासिमणुआणं । पुव्वेण य अवरेण य, पिहं पिहं होइ नायव्वं ॥ २ ॥ " तथा शेषाणि—घ्राणरसस्पर्शनेन्द्रियाणि क्रमेण गन्धं रसं स्पर्शं च प्रत्येकमुत्कर्षतो नवभ्यो योजनेभ्य आगतं गृह्णन्ति न परतः, परत आगतानां मन्दपरिणामत्वभावात् । घ्राणादीन्द्रियाणां च रूपाणामपि परिच्छेदं कर्तुमशक्तत्वात्। प्रव० १८८ द्वार । देशे, जनपदे, मण्डले, पञ्चा० ६ विव० ।

विसयंगण—विशयाङ्गण—न० । विशन्त्यस्मिन् विशयो गृहं तस्याङ्गणम् । गृहाङ्गणे, उत्त० ७ अ० ।

विसयंगणा—विषयाङ्गना—स्त्री० । विषयप्रधानायामङ्गनायाम्, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

विसयग्गाम—विषयग्राम—पुं० । शब्दादिविषयसमूहे , आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विसयच्चाग-विषयत्याग-पुं० । भोगसाधनपरिहारे, द्वा० २७ द्वा० ।

विसयणिरोह-विषयनिरोध-पुं० । आत्मद्रव्यैकाग्रतायाम्, अ- ष्ट० २ अष्ट० ।

विसयतण्हा-विषयतृष्णा-स्त्री० । शब्दादिविषयलालसायाम्,

इदानीं विषयतृष्णालक्षणमाह—

गम्यागम्यविभागं, त्यक्त्वा सर्वत्र वर्त्तते जन्तुः ।
विषयेष्ववितृप्तात्मा, यतो भृशं विषयतृष्णेयम् ॥ १ ॥

'गम्ये' त्यादि गम्यागम्ये लोकप्रतीते तयोर्विभाग आसेवन- परिहाररूपस्तं त्यक्त्वा विषयानियमेन व्यवस्थितः, सर्वत्र व- र्तते जन्तुः सामान्येन सर्वत्र प्रवर्त्तते जन्तुः-प्राणी विषयेषु- शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेष्ववितृप्तात्मा साभिलाष एव यतो यस्या विषयतृष्णायाः सकाशाद् भृशमत्यर्थं विषयतृष्णा इयमिति इयं विषयतृष्णोच्यते । षो० ४ विव० । सूत्र० ।

विसयधम्मट्ठि-(ण्)-विषयधर्मार्थिन्-त्रि० । स्त्रीपरिभोगा- र्थिनि, नि० चू० १ उ० ।

विसयपडिकूल-विषयप्रतिकूल-त्रि० । ६ त० । विषयपरिभो- गनिषेधकत्वेन प्रतिलोमे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

विसयपडिभास-विषयप्रतिभास-पुं० । विषयः श्रोत्रादीन्द्रिय- ज्ञानगोचरः शब्दादिस्तस्यैव न पुनस्तत्प्रवृत्तौ तज्जन्यस्या- त्मनोऽर्थानर्थसद्भावस्य प्रतिभासः प्रतिभासनं परिच्छेदो यत्र तद्विषयप्रतिभासम् । ऐहिकामुष्मिकेषु छाद्मस्थिकज्ञान- विषयेष्वर्थेषु प्रवृत्तावात्मनस्तात्त्विकार्थानर्थप्रतिभासशून्ये ज्ञाने, द्वा० ६ अष्ट० । (विषयाणां विपकण्टकत्वं 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९७९ पृष्ठे व्याख्यातम् ।)

विसयपमाय-विषयप्रमाद-पुं० । शब्दादिविषयजप्रमादे, "वि- षयव्याकुलचित्तो, हितमहितं वा न वेत्ति जन्तुरयम् । त- स्मादनुचितचारी, चरति चिरं दुःखकान्तारे ॥१॥" स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

विसयपास-विषयपाश-पुं० । शब्दादिरूपेषु रज्जुबन्धनेषु, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

विसयभेद-विषयभेद-पुं० । गोचरविशेषे, पञ्चा० ६ विव० ।

विसयमेत्त-विषयमात्र-न० । विषय एव विषयमात्रम् । क्रिया शून्ये अर्थमात्रे, भ० ३ श० १ उ० ।

विसयराग-विषयराग-पुं० । शब्दादिविषयविषयके रक्तत्वे, आ० चू० १ अ० ।

विसयविगयवोच्छिण्णकोउहल्ल-विषयविगतव्यवच्छिन्न- कौतूहल-त्रि० । विषयेषु शब्दादिषु विगतं व्यवच्छिन्नमत्यन्तं त्राणं कौतूहलं यस्य स तथा । विषयविषयककौतूहलरहिते, भ० ६ श० ३३ उ० ।

विसयविवेग-विषयविवेक-पुं० । विषयपरित्यागे, दश० १० अ० ।

विसयवेस-विशदवेष-पुं० । धवलाकारे, औ० ।

विसयसारत्त-विषयसारत्व-न० । प्रधानगोचरत्वे, पञ्चा० ६ विव० ।

विसयसुह-विषयसुख-न० । विषयेन्द्रियसंसर्गजे सुखे, "वि- सयसुहं दुक्खं चिय, दुक्खप्पडियारओ तिगिच्छ व्व । तं सुहमुवयाराओ, न उ उवयारो विणा तच्चं ॥ १ ॥" अष्ट० २ अष्ट० । "अणवरयमरणरण-रण यति सव्वं पिच्छिऊण संसारं । मुक्कं विसं व विसमं, विसयसुहं जेहि ताण नमो ॥ १ ॥" संघा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

(महाप्रत्याख्याने)-

तणकट्ठेण व अग्गी, लवणजलो वा नईसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं कामभोगेहिं ॥ ५५ ॥
तणकट्ठेण व अग्गी, लवणजलो वा नईसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो सक्को,तिप्पेउं अत्थसारेणं ॥ ५६ ॥
तणकट्ठेण व अग्गी, लवणजलो वा नईसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं भोयणविहीए ॥ ५७ ॥
वलयामुहसामाणो, दुप्पारोवणरओ अपरिमिज्जो ।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं गंधमल्लेहिं ॥ ५८ ॥
अवियत्तोऽयं जीवो, अईयकालम्मि आगमिस्साए ।
सद्दाण य रूवाण य, गंधाण रसाण फासाणं ॥ ५९ ॥
कप्पतरुसंभवेसुं-देवुत्तरकुरुवंसपसूएसु ।
उववाए ण य तित्तो, न य नरविज्जाहरसुरेसु ॥ ६० ॥
खइएण व पीएण व, न य एसो ताइओ हवइ अप्पा ।
जइ दुग्गइं न वच्चइ, तो मरणे ताइओ होइ ॥ ६१ ॥
देविंदचक्कवट्टि-त्तणाइँ रज्जाइँ उत्तमा भोगा ।
पत्ता अणंतखुत्तो, न य तह तित्तिं गओ तेहिं ॥ ६२ ॥
खीरदगेच्छुरसेसुं, साऊसु महोदहीसु बहुसोऽवि ।
उववण्णो ण य तण्हा, छिन्ना भे सीयलजलेणं ॥ ६३ ॥
तिविहेण य सुहमउलं, तम्हा कामरइविसयसुक्खाणं ।
बहुसो सुहमणुभूयं, न य सुहतण्हाए ते तित्ती ॥ ६४ ॥

॥१९७॥ द० प० ।

"वरि विस खइयं विसयसुह, इक्कसि विसि ण मरंति । विसयामिस पुण घारिया, णर णरयहि पडंति १॥" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । सैन्ये, दे० ना ७ वर्ग ६२ गाथा ।

विसयारंभय-विषयारम्भक-पुं० । विषयाणामारम्भोऽस्येति विषयारम्भकः । विषयार्थं सावद्यारम्भप्रवृत्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

विसर-विसर-पुं० । मत्स्यबन्धनविशेषे, विपा० १ श्रु०८ अ० ।

विसरण-विशरण-न० । परिशटने, स्था० १ ठा० ।

विसरिया-विसरिका-स्त्री० । सरटे, नि० चू० १ उ० ।

विसरिस-विसदृश-त्रि० । विजातीये, आ० म० १ अ० ।

विसरिसगम-विसदृशगम-त्रि० । विजातीयज्ञानग्राह्ये,सम्म० ३ काण्ड ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विसल्ल–विशल्य–त्रि० । विगतानि शल्यानि मायादीनि यस्यासौ विशल्यः । उद्धतशल्ये, आव० ५ अ० ।

विसल्लकरणी–विशल्यकरणी–स्त्री० । शल्योद्धारकरणे विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

विसल्ला–विशल्या–स्त्री० । ओषधिविशेषे, ती० ६ कल्प ।

विसल्लीकरण–विशल्यीकरण–न० । विगतानि शल्यानि मायादीनि यस्यासौ विशल्यः । अविशल्यः विशल्यः क्रियते इति विशल्यीकरणम् । शल्योद्धरणे, ध० २ अधि० ।

विसवाणिज्ज–विषवाणिज्य–न० । विषं शृङ्गकादि तच्चोपलक्षणमन्येषां जीवघातहेतूनामुपविषाणामस्त्रादीनां च तेषां वाणिज्यम्, प्रव०६ द्वार । पञ्चा० । जीवघातप्रयोजने विषशस्त्रादिविक्रयणे,"विषास्त्रहलयन्त्रायो हरितालादिवस्तुनः।विक्रयो जीवितघ्नस्य, विषवाणिज्यमुच्यते ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे, (उपा० १ अ० । ध० । आ० चू० । आव० ।) वाणिज्यभेदे,ध० । विषं शृङ्गकादि, तच्चोपलक्षणं जीवघातहेतूनामस्त्रादीनां, ततो विषशस्त्रकुशीकुद्दालादिलोहहलादिविक्रयो विषवाणिज्यम् । अस्मिंश्च शृङ्गकवत्सनाभादेर्हरितालसोमलक्षारादेश्च विषस्य शस्त्रादीनां च जीवितघ्नत्वं प्रतीतमेव । दृश्यन्ते च जलार्द्रहरितालेन सहसैव विपद्यमाना मक्षिकादयः, सोमलक्षारादिना तु भक्षितेन बालादयोऽपि, विषादिवाणिज्यं च परेऽपि निषेधयन्ति, यतः—" कन्याविक्रयिणश्चैव, रसविक्रयिणस्तथा । विषविक्रयिणश्चैव, नरा नरकगामिनः ॥ १ ॥" इति । अरघट्टादियन्त्रविक्रयोऽपि योगशास्त्रे विषवाणिज्यतयोक्तो, यतः—" विषास्त्रहलयन्त्रायो-हरितालादिवस्तुनः । विक्रयो जीवितघ्नस्य, विषवाणिज्यमुच्यते ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० ।

विसहर–विषधर–पुं० । सर्पे, "विसहरगई व्व चरियं, वंकविवंकं महेलाणं " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

विसा–विषा–स्त्री० । सागरपुत्रस्य दुहितरि विषाणभार्यायाम्, आ० चू० ६ अ० ।

विसाइ–विषादिन्–त्रि० । विषादयुक्ते, अनु० ।

विसाएमाण–विस्वादयत्–त्रि० । विशेषेण स्वादयन् । सर्वाऽऽस्वादके खर्जूरादेरिवाल्पत्यक्के, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । विपा० ।

विसाण–विषाण–न० । शृङ्गे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । आचा० । प्रश्न० । शूकरदन्ते, विषाणशब्दो यद्यपि गजदन्ते रूढस्तथापि इह शूकरदन्ते प्रतिपत्तव्यः । उपा० ७ अ० । ज्ञा० । अनु० ।

विसाणच्छेय–विषाणच्छेद–विषाणविशेषे, औ० ।

विसाणि(न्)–विषाणिन्–पुं० । शृङ्गरूपेणावयवेनावयविनि, अनु० ।

विसाद–विषाद–पुं० । पराभवगमने,सूत्र०१ श्रु० ३ अ० १ उ० । दैन्यभावे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । विषीदन्ति । संयमानुष्ठानात् । शीतलीभवने,भ्रंशे,सूत्र०१ श्रु० ३ अ० १ उ० । 'किमहमत्र प्रदेशे सामायात इति खेदस्वरूपे,अनु०। स्वप्नानुभूतदुःखद्वेषलिङ्गे, (विशे० । ; स्नेहादिसमुत्पन्नमोहे, आव० ४ अ० । औ० । नपुं० । एकादशदेवलोकस्थविमानभेदे, स० २० सम० ।

विसायणिज्ज–विस्वादनीय–त्रि० । विशेषतस्तद्रसमधिकृत्य स्वादनीये, जं० २ वक्ष० । विशेषत आस्वादयितुं योग्ये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

विसारओ–देशी–धृष्टे, दे० ना० ७ वर्ग ६६ गाथा ।

विसारण–विस्तारण–न० । उद्धापनकृते विस्तारणे , ध० २ अधि० ।

विसारय–विशारद–पुं० । विपश्चिति, विशे० । नं० । आ० म० । विचक्षणे, उत्त० २० अ० । पं० चू० । संथा० । रा० । पण्डिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । औ० ।

विसारी–देशी–कमलासने, दे० ना० ७ वर्ग ६ गाथा ।

विसाल–विशाल–त्रि०।विस्तीर्णे,ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।पाइ०ना०। कल्प० । ध० । ज्यो० । जं० । संथा० । रा० । आ० म० । आव० । स० । बहुले, आ० चू० ५ अ० । पुं० । एकोनाशीतितमे महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

दो विसाला । (सू० ६० ×) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

नपुं०।अष्टमदेवलोकस्थविमानभेदे,स० १८ सम० । चतुर्थग्रैवेयकविमाने, प्रव० १६४ द्वार । पुं० । समुद्रव्यवहारे जातिविशेषे,सूत्र०१ श्रु० १ अ० ३ उ० । द्वितीये कन्देन्द्रे,स्था० २ ठा० ३ उ० ।

विसालअ–देशी–जलधौ, दे० ना० ७ वर्ग ७१ गाथा ।

विसालसिंग–विशालशृङ्ग–पुं० । स्वनामख्याते पर्वते, पिं० ।

विसाला–विशाला–स्त्री० । नगरीभेदे, आ० क० १ अ० । त्रयोविंशतितीर्थकरस्य शिविकाभेदे, स० । पश्चिमाञ्जनाद्रिपर्वतस्य दक्षिणदिशि स्वनामख्यातायां पुष्करिण्याम् , ती० २३ कल्प । शैलप्रभस्य पूर्वेण राजधान्याम् , द्वी० । सूत्र० । महावीरस्य जनन्याम् , सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

विसावेग–विषावेग–पुं । मिथ्यात्वस्य त्वरायाम् , अष्ट० ३२ अष्ट० ।

विसाह–विशाख–पुं० । गणेशे, पाइ० ना० २२ गाथा । स्वामिकार्तिके, वाच० ।

विसाहनंदि(न्)–विशाखनन्दिन्–पुं० । वीरस्य षोडशभवजीवस्य विश्वभूतेः पितृव्यपुत्रे,कल्प० १ अधि० २६ क्षण । आ० म० । आ० चू० ।

विसाहभूइ–विशाखभूति–पुं० । राजगृहे नगरे विश्वनन्दिनो राज्ञो भ्रातरि युवराजे, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

"राजा राजगृहे विश्व-नन्दी विश्वाभिनन्दनः ।
पत्न्यां प्रियङ्गौ विशाख-नन्दी तस्य सुतोऽभवत् ॥ १ ॥
विशाखभूतिर्युवरा-डनुजो धारिणी प्रिया ।
मरीचिजीवस्तस्याभूत् , विश्वभूत्याख्यया सुतः ॥ २ ॥"
आ० क० १ अ० ।

विसाहा–विशाखा–पुं० । इन्द्राग्निदेवताके पञ्चतारे नक्षत्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेदे, स० ५ सम० । सू० प्र० । अनु० । स्था० । ज्यो० । चं० प्र० । जं० ।

विसि--वृ(ष्य)षि--पुं० । "इत्कृपादौ" ॥ ८।१।१२८ ॥ इति आदेः ऋत इत्वम् । विसी । ऋषीणामपनयने, प्रा० १ पाद ।

विसिट्ठ--विशिष्ट--पुं० । प्रधाने, कल्प० १ अधि० २ क्षण । औ० । जं० । रा० । मनोहरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रमणीये, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । अतिशयवति, पञ्चा० १६ विव० । शोभने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

विसिट्ठखमग--विशिष्टक्षपक--पुं० । अष्टमादितपस्विनि, पञ्चा० १२ विव० ।

विसिट्ठगुणजीवलोग--विशिष्टगुणजीवलोक--पुं० । विशिष्टगुणः संसाराभिनन्दिसत्त्वापेक्षया मार्गाभिमुखः स चासौ जीवलोकश्च सत्त्वलोको विशिष्टगुणजीवलोकः । मुमुक्षौ भव्यजीवलोके, पञ्चा० १० विव० ।

विसिट्ठतर--विशिष्टतर--त्रि० । तीव्रतरशुभाध्यवसायविशेषणोत्कृष्टतरेषु संयमस्थानकण्डकेषु वर्त्तमाने, बृ० ६ उ० ।

विसिट्ठपुप्फाइ--विशिष्टपुष्पादि--पुं० । प्रधानसुमनःप्रभृतौ, पञ्चा० ४ विव० ।

विसिट्ठबुद्धि--विशिष्टबुद्धि--स्त्री० । प्रकारताविशेष्यतोभयशालिन्यां बुद्धौ,नयो० । (नैयायिकास्तु विशेषणं तत्र च विशेषणान्तरं १ विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम् २ एकविशिष्टेऽपरवैशिष्ट्यम् ३ एकत्र द्वय ४ मित्येवं चतुर्द्धा विशिष्टा वैशिष्ट्यबुद्धिः ॥ ७ ॥ इति 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८७१ पृष्ठे दर्शितम् ।)

विसिट्ठय--विशिष्टक--त्रि० । विशेषवति, पञ्चा० १६ विव० ।

विसिट्ठलिंग--विशिष्टलिङ्ग--न० । सांख्यपरिभाषया भूतेषु, द्वा० २० द्वा० ।

विसिरा--देशी--रोमशे, दे० ना० ७ वर्ग ६४ गाथा ।

विसी--देशी--करिशारौ, विसी--करिशारिः । दे० ना० ७ वर्ग १ गाथा ।

विसीयमाण--विषीदत्--त्रि० । संयमे, अवसीदति, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

विसुज्झमाण--विशुद्ध्यमान--त्रि० । विशुद्धिं गच्छति, भ०१३ श० १ उ० । उत्तरां विशुद्धिमनुभवति, पञ्चा० २ विव० ।

विसुज्झमाणभाव--विशुद्ध्यमानभाव--पुं० । विशुद्ध्यमानो विहितानुष्ठानेन भावो येषां ते विशुद्ध्यमानभावाः । विहितानुष्ठाननत्परेषु, पं० सू० ४ सूत्र ।

विसुज्झमाणय--विशुद्ध्यमानक--त्रि० । उपशमश्रेणिक्षपकश्रेणीं वा समारोहति, भ० २५ श० ७ उ० । स्था० ।

विसुणिय--विशून्य--न० । अतिशून्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

विसुत्तिया--विश्रोतसिका--स्त्री० । अपध्याने, आव० ४ अ० ।

विसुद्ध--विशुद्ध--त्रि० । निर्दोषतया संमते, उत्त० १ अ० । निष्कलङ्के, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । निर्दोषे, औ० । जं० । ज्ञा० । निर्मले, आ० म० १ अ० । रा० । संथा० । रागादिदोषरहिते, प्रश्न० ४ संव० द्वार । अनवद्ये, पञ्चा० १६ विव० । विशुध्यमानभावे, पं० सू० ३ सूत्र । प्रशस्ते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । विराहिते, औ० । विशुद्धिमुपगते, स० । उत्पादनादोषरहिते,आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । नपुं० । ब्रह्मलोकस्य स्वनामख्याते प्रस्तरे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । "विसुद्धकुलवंससंताणतंतुवद्धणपगब्भवयभाविणीओ, " विशुद्धकुलवंश एव सन्तानतन्तुर्विस्तारितन्तुस्तद्वर्द्धनेन पुत्रोत्पादनद्वारेण तद्वृद्धौ प्रगल्भं समर्थं यद् वयो यौवनं तस्य भावः सत्ता स विद्यते यासां तास्तथा । भ० ६ श० ३३ उ० । "विसुद्धगंधजुत्तेहिं " रा० ।

विसुद्धकिरिया--विशुद्धक्रिया--स्त्री० । अनवद्यानुष्ठाने, पञ्चा० १६ विव० ।

विसुद्धकोडि--विशुद्धकोटि--पुं० । क्रीतकृताद्याहारदोषकोटौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

विसुद्धजाइकुलवंस--विशुद्धजातिकुलवंस--पुं० । विशुद्धे जातिकुले यत्रैवंविधेषु वंशेषु, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

विसुद्धजोग--विशुद्धयोग--पुं० । निरवद्यमनोवाक्कायव्यापारे, पञ्चा० ७ विव० ।

विसुद्धतरग--विशुद्धतरक--पुं० । वितिमिरतरके, अतिशयविशुद्धे, नं० ।

विसुद्धधी--विशुद्धधी--स्त्री० । विशुद्धा निर्मला धीर्बुद्धिरिति विशुद्धधीः । "बुद्धिः कर्म्मानुसारिणी" ति वचनात् । निर्मलबुद्धौ, ध० ३ अधि० ।

विसुद्धभाव--विशुद्धभाव--त्रि० । विशुद्धः स्वपरसंसारनिस्तारैकतानतयाऽवदातो भावोऽभिप्रायो यस्य स विशुद्धभावः । व्य० ३ उ० । विशुद्धाध्यवसायिनि, षो० १३ विव० ।

विसुद्धि--विशुद्धि--स्त्री० । विशुद्धेः परिशुद्धनिःशङ्कितत्वादिदर्शनाचारवारिपूरप्रक्षालितशङ्कादिपङ्कतया प्रकर्षप्राप्तिलक्षणायां सम्यग्दर्शनसत्कायां सम्यक्त्वशुद्धौ,ध० १ अधि० ।

विसुयजस--विश्रुतयशस्--त्रि० । विख्यातकीर्त्तौ, संथा० ।

विसुयण--विसूचन--न० । ग्रन्थने, नि० चू० २ उ० ।

विसुयाविणा--देशी--विशुचीकृत--त्रि० । विशोधिते,व्य०६उ० ।

विसुव--विषुवत्--न० । समरात्रिदिनकालके अयनांशक्रमेण रवेः तुलामेषराशिसंक्रान्तिभेदे, ज्यो० ।

संप्रति विषुवत्प्रतिपादकं पञ्चदशं प्राभृतं विवक्षुराह--

आसोयकत्तियाणं, मज्झे वइसाहचित्तमज्झे य ।
एत्थ सममहोरत्तं, तं विसुवं अयणमज्झेसु ॥ १ ॥

अश्वयुक्कार्त्तिकयोर्मासयोर्मध्ये तथा वैशाखचैत्रयोर्मध्येऽस्मिन्ननन्तरे सममहोरात्रं भवति , तच्च पूर्वपुरुषपरिभाषया विषुवमिति व्यवह्रियते । तथा चाक्रमभिधानकोशे--'समरात्रिंदिवः कालो, विषुवत् विषुवं च तत्' तानीत्थंभूतानि विषुवाणि'अयनमध्येषु--अयनमध्यभागेषु भवन्ति । इयमत्र भावना--अश्वयुग्मासानन्तरकार्त्तिकमासे यथाभागं दक्षिणायनविषुवाणां संभवः,तथा चैत्रमासानन्तरं वैशाखे यथासंभवमुत्तरायणविषुवसंभवः । तत एतस्मिन्नवकाशे समाहोरात्रसंभवः । यदा पञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति तदा पञ्च--

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिः,तच्चेत्थंभूते सममहोरात्रमण्डलमध्यभागगत एव रवौ भवति, तद्यथा-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्नवतितमे मण्डले सर्वबाह्यादपि मण्डलात् द्विनवतितमे इति इत्थंभूतं च द्विनवतितमं मण्डलं यदा सूर्य उपसंक्रम्य चारं चरति तदा सकला व्यवहारतो विषुवमित्याख्यायते, निश्चयतस्तु यस्मिन्नहोरात्रे समो दिवसः समा रात्रिस्तस्मिन्नस्तप्राये सूर्ये यो रात्रिप्रवेशकालः, सार्द्धद्विनवतिमण्डलसंभवी स कालो विषुवमिति।तथा चोक्तं मूलटीकायाम्-"रविमंडलमज्झं नाम विसुवं" ति ।

संप्रति नैश्चयिकमेव विषुवकालप्रमाणमनन्तरोक्तं सूत्रकृदुपदर्शयति—

पन्नरसमुहुत्तदिणो, दिवसेण समा य जा हवइ राई ।
सो होइ विसुवकालो,दिणराईणं तु संधिम्मि ॥२॥

भवति पञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाणदिवसेन समाना रात्रिः पञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाणा इत्यर्थः। इह द्वानवतितमेऽपि मण्डले समौ रात्रिदिवसौ न भवतः कलया न्यूनाधिकभावात् परं साकल्येन विवक्षितेति समौ रात्रिदिवसौ तत्र गण्येते;इत्थंभूतयो रात्रिदिवसयोः संधौ यः कालः स विषुवकालः ।

साम्प्रतं कतिपर्वातिक्रमे कस्यां तिथावीप्सितविषुवं भवतीति विषुवानयनाय करणमाह—

इच्छियविसुवा दुगुणा-रूवोणा छग्गुणा मुणेयव्वा ।
पव्वद्धे होंति तिही, नायव्वा सव्वविसुवेसु ॥३॥

युगमध्ये ईप्सितानि-विवक्षितानि यानि विषुवाणि तानि ध्रियन्ते, किमुक्तं भवति-तत्संख्या ध्रियत इति धृत्वा च तानि द्विगुणानि क्रियन्ते, ततो रूपोनानि तदनन्तरं च षड्गुणानि कर्त्तव्यानि षड्भिश्च गुणने यदागच्छति तानि पर्वाणि ज्ञातव्यानि। पर्वाणां चार्द्धे यद्भवति तास्तिथयः सर्वेषु विषुवेषु ता यथायोगं ज्ञातव्या एष करणगाथाक्षरार्थः। सम्प्रति करणभावना क्रियते—कतिपर्वातिक्रमे कस्यां तिथौ प्रथमं विषुवमिति जिज्ञासायां रूपमेकं स्थाप्यते, तत् द्विगुणं क्रियते जाते द्वे रूपे, ते रूपोने क्रियेते, स्थितं भूयः एकं रूपं,तस्य षड्भिर्गुणने जाताः षट् ते प्रतिराश्यन्ते तेषामर्द्धं क्रियते जातास्त्रयः,आगतं षट्पर्वातिक्रमे तृतीयस्यां तिथौ प्रथमं विषुवमिति १। तथा द्वितीयं विषुवं कतिपर्वातिक्रमे कस्यां तिथौ भवतीति यदि जिज्ञासा तदा द्वे रूपे ध्रियेते ते द्विगुणे जातानि चत्वारि तानि रूपोनानि क्रियन्ते स्थितानि पश्चात् त्रीणि,तानि षड्भिर्गुण्यन्ते जातानि अष्टादश, तानि प्रतिराश्यन्ते तेषां च प्रतिराशितानामर्द्धं नव,आगतं द्वितीयं विषुवमष्टादशपर्वातिक्रमे नवम्यां तिथाविति २। तथा कतिपर्वातिक्रमे कस्यां तिथौ तृतीयं विषुवमिति जिज्ञासायां त्रीणि रूपाणि ध्रियन्ते तानि च द्वाभ्यां गुण्यन्ते जातानि षट्, तेषामेकरूपापहारे स्थितानि पश्चात् पञ्च, तानि षड्भिर्गुण्यन्ते जाता त्रिंशत् , सा प्रतिराश्यते, प्रतिराशितायाश्च तस्या अर्द्धं पञ्चदश,आगतं त्रिंशत्पर्वातिक्रमे पञ्चदश्यां तृतीयं विषुवमिति। तथा दशमं विषुवं कतिपर्वातिक्रमे कस्यां तिथौ भवतीति यदि ज्ञातुमिच्छा तदा दशको ध्रियते स द्विर्गुण्यते जाता विंशतिः, तस्या एकं रूपमपह्रियते जाता एकोनविंशतिः, सा षड्भिर्गुण्यते जातं चतुर्दशोत्तरं शतम् , तत् प्रतिराश्यते तस्यार्द्धं सप्तपञ्चाशत् , तस्याः पर्वानयनाय पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते, लब्धानि त्रीणि पर्वाणि, तानि पर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते पश्चादवतिष्ठन्ते च द्वादश। तत आगतं सप्तदशोत्तरपर्वशतातिक्रमे द्वादश्यां दशममिति १० ।

अत्रैवार्थे करणान्तरमाह—

रूवोणविसुवगुणिए, छलसीसयपक्खिववाहिते णउई ।
पन्नरस भाइलद्धा, पव्वा सेसा तिही होइ ॥ ४ ॥

यत् विषुवं ज्ञातुमिष्टं तेन रूपोनेन तत्संख्यया—रूपोनया षडशीत्यधिकं शतं गुण्यते , गुणिते च तस्मिन् त्रिनवतिप्रक्षेपे ततः पञ्चदशभिर्भाजिते सति ये अङ्का लब्धास्तानि पर्वाणि ज्ञातव्यानि शेषास्त्वंशास्तिथयः, एष करणगाथाक्षरार्थः। भावना त्वियम्-प्रथमं विषुवं कतिपर्वातिक्रमे कस्यां तिथौ भवतीति जिज्ञासायां रूपं स्थाप्यते तदेकरूपहीनं क्रियते जातमाकाशम् .तेन षडशीत्यधिकं शतं गुण्यते जातं शून्यं ' खेन गुणने खमिति ' वचनप्रामाण्यात् , ततः शून्ये तस्मिन् त्रिनवतिः प्रक्षिप्यते तस्याः पञ्चदशभिर्भागे हृते लब्धाः षट् शेषाः तिष्ठन्ति त्रीणि , आगतं षट्पर्वातिक्रमे तृतीयस्यां तिथौ प्रथमं विषुवमिति। तृतीयविषुवचिन्तायां त्रीणि, रूपाणि ध्रियन्ते, तेभ्यो रूपापहारे जाते द्वे रूपे, तस्यां षडशीत्यधिकं शतं गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ३७२ अत्र त्रिनवतिः प्रक्षिप्ता जातानि चत्वारि शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ४६५ एतेषां पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धा एकत्रिंशत् , आगतं त्रिंशत्पर्वातिक्रमे पञ्चदश्यां तृतीयं विषुवमिति ३।

भूयः प्रकारान्तरेणात्रैवार्थे करणमाह—

इगतीसा ओयगुणा, पंचहि भेय व्व तिगुणिआ साउ।
तिहिओ भवंति सव्वे--सु चेव विसुवेसु नायव्वा ॥५॥

एकत्रिंशत् यथोत्तरमोजोगुणाः-विषमगुणाः प्रथमतः कर्त्तव्याः, तद्यथा—प्रथमविषुवचिन्तायामेकगुणा द्वितीयविषुवचिन्तायां त्रिगुणाः,तृतीयविषुवचिन्तायां पञ्चगुणाः, चतुर्थविषुवचिन्तायां सप्तगुणाः, पञ्चमविषुवचिन्तायाम् नवगुणाः एवं यावद्दशमविषुवचिन्तायामेकोनविंशतिगुणाः ततः पञ्चभिर्भक्तव्याः। तथा च सति यल्लभ्यते तानि पर्वाण्यवसेयानि, शेषास्त्वंशा उद्वरितास्त्रिगुणिताः सन्तो यावन्तो भवन्ति तावत्प्रमाणास्तिथयः सर्वेषु विषुवेषु ज्ञातव्याः। तद्यथा—प्रथमविषुवचिन्तायामेकत्रिंशत् एकेन गुणितं तदेव भवतीति जाता एकत्रिंशदेव, तस्याः पञ्चभिर्भागे हृते लब्धाः षट् , एकः पश्चादुद्वरति स त्रिगुणः क्रियते जातास्त्रयः , आगतं षट्पर्वातिक्रमे तृतीयस्यां तिथौ प्रथमं विषुवमिति। तृतीयविषुवचिन्तायामेकत्रिंशत् पञ्चभिर्गुण्यन्ते जातं पञ्चपञ्चाशदधिकं शतम् ,१५५, तस्य पञ्चभिर्भागो ह्रियते लब्धा एकत्रिंशत् , आगतं त्रिंशत्पर्वातिक्रमे पञ्चदश्यां तृतीयं विषुवमिति । तथा दशमविषुवचिन्तायामेकत्रिंशत् एकोनविंशत्या गुण्यन्ते जातानि पञ्च शतानि नवाशीत्यधिकानि ५८९ तेषां पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धं सप्तदशोत्तरं शतं,शेषास्तिष्ठन्ति चत्वारस्ते त्रिभिर्गुण्यन्ते जाता द्वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दश सप्तदशोत्तरपर्वशतातिक्रमे द्वादश्यां दशमं विषुवमिति।

पुनरप्यत्रैवार्थे प्रकारान्तरेण करणमाह—

पव्वा य छडादिका, दुवारसॉऽहिया दसाऽवसाणाउ।
तिगमाइगा वि य तिही, छदुत्तरा सव्वविसुवेसु ॥६॥

इह विषुवेषु पर्वचिन्तायां षडादिकानि यथोत्तरं द्वादशाधिकानि तावद् ज्ञेयानि यावद्दशावसानानि—दशसंख्यानि विषुवाणि भवन्तीत्यर्थः। तथा पर्वणामुपरि तिथिचिन्तायां त्रिकादिकाः—त्रिप्रभृतिका यथोत्तरं षडुत्तरास्तिथयः सर्वेषु विषुवेषु तावदवसेया यावत्तानि विषुवाणि दशसंख्यानि भवन्ति, तद्यथा—प्रथमं विषुवं—षट्पर्वातिक्रमे तृतीयस्यां तिथौ। द्वितीयविषुवचिन्तायां प्रागुक्तपर्वसंख्याने द्वादश प्रक्षिप्यन्ते तिथिसंख्यया षट्, तत आगतं द्वितीयं विषुवम् अष्टादशपर्वातिक्रमे नवम्यां तिथौ। भूयोऽपि तृतीयविषुवचिन्तायाम् अनन्तरोक्तपर्वसंख्याने द्वादश प्रक्षिप्यन्ते, तिथिचिन्तायां षट्, तत आगतं तृतीयविषुवं त्रिंशत्पर्वातिक्रमे पञ्चदश्याम्। चतुर्थविषुवचिन्तायां पुनरप्यनन्तरोक्तपर्वसंख्याने द्वादश प्रक्षिप्यन्ते,तिथिचिन्तायां षट्, ततस्तिथय एकविंशतिर्भवन्ति, पञ्चदशभिश्च गुण्यन्ते लब्धमेकं पर्व, तत्पर्वराशौ प्रक्षिप्यते, आगतं त्रिचत्वारिंशत्पर्वातिक्रमे षष्ठ्यां तिथौ चतुर्थं विषुवमिति४, एवं पञ्चमादीन्यपि दशमपर्यन्तानि विषुवाणि भावनीयानि।

तत्र पर्वसंख्याने संग्राहिका इयं गाथा—

छक्क व्वारस तीसा, तेयाला पंचपण्ण अट्ठट्ठी।
तह य असीइ विणउई, पंचाऽहियसयं-च सत्तरस ॥ ७ ॥

प्रथमं विषुवं षट्पर्वाण्यतिक्रम्य, द्वितीयं द्वादश, तृतीयं त्रिंशत्तमं सप्तदशोनं चतुर्थं त्रिचत्वारिंशत्, पञ्चमं पञ्चपञ्चाशत्, षष्ठं षष्टिः, सप्तममशीतिः, अष्टमं द्विनवतिः नवमं पञ्चाधिकं शतम्, दशमं सप्तदशोत्तरशतम्।

संप्रति पर्वोपरि तिथिसंख्यानसंग्राहिकां गाथामाह—

तइया नवमी य तिही, पन्नरसी छट्ठि वारसी चेव।
जुगपुव्वऽद्धे एया, ता चेव हवंति पच्छऽद्धे॥ ८ ॥

युगपूर्वार्द्धे यानि पञ्च विषुवाणि तेषु यथाक्रममिमाः पर्वोपरि तिथयस्तद्यथा तृतीया नवमी पञ्चदशी षष्ठी द्वादशीविषुवस्य पश्चाद्भवन्ति। तृतीयस्यां प्रथमं विषुवं, द्वितीयं नवम्यां, तृतीयं पञ्चदश्यां, चतुर्थं षष्ठ्यां, पञ्चमं द्वादश्याम्, एता एव तिथयः क्रमेण युगस्य पश्चार्द्धेऽपि भवन्ति। तद्यथा—षष्ठं विषुवं तृतीयस्यां, सप्तमं नवम्याम्, अष्टमं पञ्चदश्यां, नवमं षष्ठ्यां, दशमं द्वादश्यामिति, एवंभूते तिथ्यानयनार्थे वाऽमुं प्रकारं पूर्वसूरयः परिभाषन्ते। इह्वायनगतदिवसराशेस्त्र्यशीत्यधिकशतप्रमाणस्य दश विषुवाणि किल युगे भवन्ति इति दशभिर्भागो ह्रियते लब्धा अष्टादश, ते त्यज्यन्ते प्रयोजनाभावात् शेषा उद्धरन्ति त्रयस्ते प्रथमविषुवादारभ्य यथोत्तरं द्व्युत्तरेण ओजसा गुण्यन्ते, तद्यथा—प्रथमविषुवचिन्तायां ते त्रय एकेन गुण्यन्ते द्वितीयविषुवचिन्तायां त्रिभिस्तृतीयविषुवचिन्तायां सप्तभिः, एवं यावद्दशमविषुवचिन्तायामेकोनविंशत्या, गुणयित्वा च पञ्चदशभिः पर्वाणि कृत्वा याः शेषास्तिथयः उद्धरन्ति ता गुण्यन्ते, ततो यथोक्तास्तिथयो भवन्ति। तद्यथा-प्रथमविषुवचिन्तायां ते त्रयः, एकेन गुणितं तदेव भवतीति, तत आगतं प्रथमं विषुवं तृतीयस्यां तिथौ। द्वितीयविषुवचिन्तायां ते त्रयस्त्रिभिर्गुण्यन्ते जाता नव आगतं द्वितीयं विषुवं नवम्यामिति। तृतीयविषुवचिन्तायां ते त्रयः पञ्चभिर्गुण्यन्ते जाताः पञ्चदश, आगतं तृतीयं विषुवं पञ्चदश्याम्। चतुर्थविषुवचिन्तायां ते त्रयः सप्तभिर्गुण्यन्ते जाता एकविंशतिः शेषास्तिष्ठन्ति षट् आगतं चतुर्थं विषुवं षष्ठ्यामिति। एवं सर्वत्रापि भावनीयम्। सम्प्रति केन नक्षत्रेण सह योगे किं विषुवमिति चिन्त्यते, तत्र यदि दशभिर्विषुवैः सप्तषष्टिश्च पर्याया लभ्यन्ते ततो द्विभागविषुवेण कति चन्द्रपर्याया लभ्यन्ते ?, राशित्रयस्थापना-१०—६७—१ अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यमस्य राशेः सप्तषष्टिरूपस्य गुणने जाता सप्तषष्टिरेव, विषुवं वाऽयनस्य द्विभागरूपमिति दश द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाता विंशतिः, तया सप्तषष्टेर्भागो ह्रियते लब्धास्त्रयो नक्षत्रपर्यायाः शेषास्तिष्ठन्ति सप्त, ते पर्यायरूपं भागं न प्रयच्छन्तीति अष्टादशभिः शतैस्त्रिंशैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति विंशतिलक्षणच्छेदराशिगतेन शून्येन सह शून्यस्यापवर्तनायां जातं त्र्यशीत्यधिकं शतम् १८३, तेन सप्त गुण्यन्ते जातानि द्वादश शतानि एकाशीत्यधिकानि १२८१, छेदराशिश्च विंशतिलक्षणोऽन्त्यशून्यापवर्तनेन जातो द्विकस्तेन सप्तषष्ट्यादयः समक्षेत्राणि—नक्षत्रभागा गुण्यन्ते, जातानि चतुस्त्रिंशदधिकशतादीनि शोधनकानि, तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा, स्थितानि शेषाणि द्वादश शतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि १२३६, ततः षड्भिः शतैः सप्तत्यधिकैः ६७०, उत्तरभद्रपदान्तानि पञ्च नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात्पञ्चशतान्येकोनसप्तत्यधिकानि ५६६, ततश्चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन रेवती शुद्धा, स्थितानि चत्वारि शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि ४३५, ततोऽपि चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन अश्विनी शुद्धा, शेषाणि तिष्ठन्ति त्रीणि शतानि एकोत्तराणि, ३०१, ततः सप्तषष्ट्या भरणी शुद्धा, स्थिते पश्चात् द्वे शते चतुस्त्रिंशदधिके २३४, ततोऽपि चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन कृत्तिका शुद्धा, शेषं तिष्ठति शतम्, आगतं श्रवणादीनि कृत्तिकापर्यन्तानि नव नक्षत्राण्यतिक्रम्य दशमस्य रोहिणीनक्षत्रस्य चतुस्त्रिंशदधिकशतभागानां शतमवगाह्य प्रथमं विषुवं भवतीति। द्वितीयं विषुवं कस्मिन् चन्द्रनक्षत्रे भवतीति यदि विज्ञातुमिच्छा तदा पूर्वक्रमेण त्रैराशिकमनुसर्तव्यम्, तद्यथा—यदि दशभिर्विषुवैः सप्तषष्टिश्चन्द्रनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततो द्वाभ्यां विषुवाभ्यां कति चन्द्रनक्षत्रपर्यायान् लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-१०-६७-३, इह द्वितीयं विषुवं त्रिभिरयनविभागैर्भवतीत्यतो राशिस्त्रिकरूपः स्थाप्यते, तेन चान्त्येन राशिना त्रिकलक्षणेन मध्यमः सप्तषष्टिरूपो राशिर्गुण्यते जाते एकोत्तरे द्वे शते २०१ विषुवं चाऽयनस्य द्विभागरूपमित्यादि राशिर्दशकलक्षणो द्वाभ्यां गुण्यते जाता विंशतिः, तया भागो ह्रियते लब्धा दश चन्द्रनक्षत्रपर्यायाः, शेषस्तिष्ठत्येकः, स पर्यायभागं न प्रयच्छतीत्यष्टादशभिः शतैस्त्रिंशैः सप्तषष्टिकभागैर्गुणयिष्याम इति विंशतिलक्षणच्छेदराशिगतेन शून्येन सह शून्यस्यापवर्तनायां जातं त्र्यशीत्यधिकं शतं १८३, तेनैककेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणयते जातम् त्र्यशीत्यधिकमेकशतम् , एकेन गुणितं तदेव भवतीति वचनात् । ततोऽभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा शेषं तिष्ठत्येकचत्वारिंशदधिकं शतम् १४१, ततोऽपि चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन श्रवणः शुद्धः शेषाः तिष्ठन्ति सप्त, आगतम्—श्रवणनक्षत्रमतिक्रम्य धनिष्ठानक्षत्रस्य वसुदेवताकस्य सप्तचतुस्त्रिंशदधिकशतभागानवगाह्य द्वितीयं विषुवं प्रवर्त्तते इति। तथा चतुर्थे विषुवं कस्मिन् चन्द्रनक्षत्रे भवतीति जिज्ञासायां त्रैराशिकम् , यदि दशभिर्विषुवैः सप्तषष्टिश्चन्द्रनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततः सप्तभिर्विषुवद्विभागैः कति पर्याया लभ्यन्ते ? , राशित्रयस्थापना—१०—६७—७ , अत्रान्त्येन राशिना सप्तकलक्षणेन भागो ह्रियते मध्यमस्य राशेर्गुणने जातानि चत्वारि शतानि एकोनसप्तत्यधिकानि ४६६, तेषां विंशत्या भागो ह्रियते लब्धास्त्रयोविंशतिः पर्यायाः, शेषा उद्धरिता नव , प्रागुक्तयुक्त्या ऽशीत्यधिकेन शतेन गुणयन्ते जातानि षोडश शतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि १६४७ , ततोऽभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धाः, स्थितानि शेषाणि षोडश शतानि पञ्चोत्तराणि १६०५, तेभ्यश्चतुर्दशभिः शतैः चतुःसप्तत्यधिकैः १४७४ मृगशिरःपर्यन्तान्येकादश नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितं पश्चादेकत्रिंशदधिकं शतं १३१, ततोऽपि सप्तषष्ट्या आर्द्रा शुद्धा, स्थिता शेषा चतुःषष्टिः। आगतम्—श्रवणादीनि आर्द्रापर्यन्तानि द्वादश नक्षत्राण्यतिक्रम्य पुनर्वसुनक्षत्रस्य चतुस्त्रिंशदधिकशतभागानां चतुःषष्टिसंख्यानां चतुर्थे विषुवद्वर्त्तत इति। एवं सर्वाण्यपि विषुवनक्षत्राणि भावनीयानि ।

तत्संग्राहिका चेयं गाथा-

रोहिणि वासव साई, अदिई अभिवड्डि मित्त पिउ देवा ।
आसिणि वि वीसुदेवा, अजमणा इइ विसुवरिक्खा॥९॥

इतीति-अमूनि यथाक्रमं विषुवाणां नक्षत्राणि,तद्यथा-प्रथमस्य विषुवस्य प्रवृत्तावादौ नक्षत्रं रोहिणी, द्वितीयस्य वासवंवसुदेवतोपलक्षितं धनिष्ठानक्षत्रं, तृतीयस्य स्वातिः, चतुर्थस्याऽदितिदेवतोपलक्षितं पुनर्वसुनक्षत्रं, पञ्चमस्याभिवृद्धिदेवतोपलक्षितमुत्तराभाद्रपदनक्षत्रं, षष्ठस्य मित्रो-मित्रदेवतोपलक्षितमनुराधानक्षत्रम् , सप्तमस्य पितृदेवता-मघा, अष्टमस्य अश्विनी, नवमस्य विष्वग्देवा-उत्तराषाढाः , दशमस्यार्यमा-अर्यमदेवोपलक्षितमुत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमिति ।

संप्रत्येतेष्वेव विषुवेषु सूर्यनक्षत्रं प्रतिपिपादयिषुराह—

दक्खिणअयणे सूरो, पंच वि विसुवाणि वासुदेवेणं ।
जोएइ उत्तरेणऽवि, आइच्चो आसदेवेणं ॥ १० ॥

दक्षिणायने वर्त्तमानः सूर्यः पञ्चापि विषुवाणि वासुदेवेनस्वातिनक्षत्रेण योजयति, उत्तरेणाऽपि-उत्तरस्यामपि दिशि गच्छन् आदित्यः पञ्चापि विषुवाणि अश्वदेवेन-अश्वदेवोपलक्षितेनाश्विनीनक्षत्रेण योजयति । किमुक्तं भवति-पञ्चापि दक्षिणायनविषुवाणि स्वातिनक्षत्रेण सह योगे प्रवर्त्तन्ते, पञ्चापि चोत्तरायण विषुवाणि अश्विनीनक्षत्रेण योगे इति । तत्रेयं भावना—यदि दशभिर्विषुवैः पञ्च सूर्यपर्याया लभ्यन्ते ततोऽयनद्विभागरूपे प्रथमे विषुवे किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-१०-५-१, अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यमस्य-पञ्चकरूपस्य राशेर्गुणनाजाताः पञ्चैव, आद्यश्च राशिः विषुवरूपो विषुवं च प्रथममयनद्विभाग इति द्वाभ्यां गुणयते जाता विंशतिः तया पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धः एकश्चतुर्भागः, एते नियतनक्षत्रपरिमाणानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः गुणयिष्याम इति गुणकारराशेरर्द्धेनापवर्तना जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ६१५ , तैरेकोऽनन्तरोक्तश्चतुर्थभागो गुणयते, जातानि तान्येव नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि । तेभ्योऽष्टाशीत्या पुष्यः शुद्धः, स्थितानि पश्चादष्टौ शतानि सप्तविंशत्यधिकानि ८२७ , तेषां चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते लब्धाः षट् पश्चात् तिष्ठति त्रयोविंशतिः, आगतमश्लेषादीनि चित्रापर्यन्तानि षट् नक्षत्राण्य—तिक्रम्य स्वातिनक्षत्रस्य चतुस्त्रिंशदधिकशतभागानां त्रयोविंशतिभागानवगाह्य प्रथमं विषुवं सूर्यः प्रवर्त्तयति, यदा तृतीयविषुवविषया चिन्ता क्रियते तदा तृतीयं विषुवं पञ्चानामयनद्विभागानामतिक्रमे भवति तत एवं त्रैराशिकं कर्म, यदि दशभिर्विषुवैः पञ्च सूर्यपर्याया लभ्यन्ते ततः पञ्चभिरयनैर्द्विभागैः किं लभ्यते ?, राशित्रयस्थापना-१०-५-५, अत्रान्त्येन राशिना पञ्चकलक्षणेन मध्यमस्य पञ्चकरूपस्य राशेर्गुणना, जाता पञ्चविंशतिः,ततः पूर्ववदाद्यो राशिर्द्वाभ्यां गुणयते जाता विंशतिः, तया भागो ह्रियते, लब्धः एकः परिपूर्णः पर्यायः, पश्चादेकश्चतुर्थभागोऽवतिष्ठते, ततः पूर्वक्रमेणात्रापि तृतीये विषुवे स्वातिनक्षत्रलाभः । एवमुक्तनीत्या परिभाव्यमानानि पञ्चापि दक्षिणायनविषुवाणि स्वातिनक्षत्र एव लभ्यन्ते नान्यत्रेति । संप्रत्युत्तरायणविषुवविषयाभावना क्रियते-उत्तरायणविषयाणि च विषुवाण्यमूनि, तद्यथा-द्वितीयं चतुर्थं षष्ठमष्टमं दशमं च । द्वितीयं च विषुवं त्रयाणामयनद्विभागानामन्ते भवति, चतुर्थं सप्तानां षष्ठमेकादशानामष्टमं पञ्चदशानां दशममेकोनविंशतेः, तत्रैवं त्रैराशिकं कर्म, यदि दशभिर्विषुवैः पञ्चसूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततस्त्रिभिरयनद्विभागैः किं लभामहे ?. राशित्रयस्थापना—१०-५-३, अत्रान्त्येन राशिना त्रिकलक्षणेन मध्यमः पञ्चकलक्षणो राशिर्गुणयते जाताः पञ्चदश, आद्यश्च दशकलक्षणो राशिः पूर्ववत् द्वाभ्यां गुणयते जाता विंशतिस्तया भागो ह्रियते लब्धास्त्रयश्चतुर्भागास्तानष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैर्गुणयिष्याम इति तस्य गुणराशेरर्द्धेनापवर्त्तना, जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ६१५, तैरनन्तरोक्तास्त्रयो गुणयन्ते जातानि सप्तविंशतिशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि २७४५, तेभ्योऽष्टाशीत्या पुष्यः शुद्धः, स्थितानि पश्चात् षट्विंशतिशतानि सप्तपञ्चाशदधिकानि २६५७, तेषां चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन भागहरणं लब्धा एकोनविंशतिः शेषं तिष्ठत्येकादशोत्तरं शतम् १११, तेभ्योऽभिजित् द्वाचत्वारिंशता शुद्धा, शेषा तिष्ठत्येकोनसप्तति ६६, तत्रैकोनविंशतिमध्यात्त्रयोदशभिरश्लेषादीनि उत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, अभिजिन्नक्षत्रं प्रागेव शोधितम् , ततः पञ्च नक्षत्राणि शुद्धानि, एकेन च शेषेण रेवती,आगतमश्विनीनक्षत्रस्य चतुस्त्रिंशदधिकशतभागानामेकोनसप्ततिभागानवगाह्य सूर्यो द्वितीयविषुवं प्रवर्त्तयति । तथा चतुर्थविषुवचिन्तायामेवं त्रैराशिकं यदि दशभिर्विषुवैः पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततः सप्तभिरयनद्विभागैः किं लभ्यमिति ?, राशित्रयस्थापना-१०-५-७, अत्रान्त्येन राशिना—सप्तकलक्षणेन मध्यमराशेर्गुणने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाताः पञ्चत्रिंशत् ३५, तस्याः पूर्वोक्तयुक्त्या विंशत्या भागो ह्रियते लब्धः एकः १ सूर्यनक्षत्रपर्यायः, पश्चादवतिष्ठन्ते पञ्चदश, ते च त्रयः पर्यायचतुर्भागास्ततस्ते प्रागुक्तयुक्त्या नवभिः शतैः पञ्चदशाधिकैर्गुण्यन्ते जातानि सप्तविंशतिशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि २७४५, ततः पूर्वोक्तप्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावदागतमश्विनीनक्षत्रस्य चतुस्त्रिंशदधिकशतभागानामेकोनसप्ततिभागानवगाह्य सूर्यश्चतुर्थविषुवं प्रवर्त्तयति,एवमुक्तनीत्या परिभाव्यमानानि पञ्चाप्युत्तरायणविषुवाणि अश्विनीनक्षत्रे एव यथोदितभागाऽतिक्रमे प्रवर्तन्ते इति ।

तदेवं दक्षिणोत्तरायणविषुवेषु नक्षत्राणि प्रतिपाद्य लग्नं प्रतिपादयति—

लग्गं दक्खिणायण, विसुवेसु वि अस्सउत्तरं अयणे ।
लग्गं साई विसुवेसु, पंचसु वि दक्खिणं अयणे ॥१२॥
दक्खिणमयणे विसुवे, नहयलेऽभिजि रसायले पुस्से ।
उत्तरअयणे अभिई, रसायले नहयले पुस्से ॥ १३ ॥

दक्षिणायनगतेषु पञ्चस्वपि विषुवेषु अश्वे-अश्वदेवोपलक्षिते अश्विनीनक्षत्रे लग्नं भवति । किमुक्तं भवति-पञ्चापि दक्षिणायनविषुवाणि मेषलग्ने प्रवर्त्तन्ते इति, तथाहि-यदि दशभिर्विषुवैरष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि लग्नपर्यायाणां भवन्ति ततोऽयनद्विभागरूपे प्रथमे विषुवे किं लग्नं भवतीति ?, राशित्रयस्थापना १०-१८३५-१, अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यो राशिर्गुण्यते गुणितश्च सन् स तावानेव भवति 'एकेन गुणितं तदेव भवतीति' न्यायात् । विषुवं चायनद्विभाग रूपं भवतीति विषुवपरिमाणकृदाद्यो राशिर्द्वाभ्यां गुण्यते जाता विंशतिस्तया भागो ह्रियते लब्धा एकनवतिपर्यायाः शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चदश, तेषां पञ्चकेनापवर्त्तनः जातास्त्रयस्ततो नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैर्गुणयिष्याम इति गुणकारराशेरर्द्धेनापवर्त्तना जातानि नव शतानि पञ्चदशाधिकानि ९१५, तैस्त्रयो गुण्यन्ते जातानि सप्तविंशतिशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि २७४५, तेभ्योऽष्टाशीत्या पुष्यः शुद्धः, स्थितानि पश्चात् षड्विंशतिशतानि सप्तपञ्चाशदधिकानि २६५७ तेषां चतुस्त्रिंशदधिकशतेन भागहरणं लब्धा एकोनविंशतिः शेषं तिष्ठत्येकादशोत्तरं शतम् १११, तस्मादभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा शेषास्तिष्ठन्त्येकोनसप्ततिः ६९ अत्र एकोनविंशतिमध्यात् त्रयोदशभिः श्लेषादीनि उत्तरभद्रपदापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, अभिजिन्नक्षत्रं प्रागेव शोधितं, ततः पञ्चभिः श्रवणादीनि उत्तरभद्रपदापर्यन्तानि पञ्च नक्षत्राणि शुद्धानि, अभिजिन्नक्षत्रं च प्रागेव शोधितं , ततः पञ्चभिः श्रवणादीन्युत्तरभाद्रपदापर्यन्तानि पञ्च नक्षत्राणि शुद्धानि, एकेन च शेषेण रेवती शुद्धा, आगतमश्विनीनक्षत्रस्य चतुस्त्रिंशदधिकशतभागानामेकोनसप्ततिसंख्येषु प्रथमं विषुवं भवति । द्वितीयविषुवचिन्तायामेवं त्रैराशिकम्-यदि दशभिर्विषुवैरष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि लग्नपर्यायाणां लभ्यन्ते ततः पञ्चभिरयनद्विभागैः किं लभ्यमिति राशित्रयस्थापना-१०-१८३५-५, अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणने जातान्येकनवतिशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि ९१७५, ततः प्रागुक्तयुक्त्याऽऽद्यो राशिर्द्वाभ्यां गुण्यते, जाता विंशतिः , तया भागो ह्रियते लब्धानि लग्नपर्यायाणां चत्वारि शतानि अष्टपञ्चाशदधिकानि ४५८, न तैः प्रयोजनम् शेषाः तिष्ठन्ति पञ्चदश १५, ततः प्रागुक्तगणितक्रमेणागतमश्विनीनक्षत्रस्य लग्नप्रवर्तकस्य चतुस्त्रिंशदधिकशतं भागानामेकोनसंख्येषु भागेषु द्वितीयं विषुवं प्रवर्त्तते। एवं पञ्चस्वपि दक्षिणायनविषुवेषु लग्नं भावनीयम् , साम्प्रतमुत्तरायणविषुवलग्नभावना क्रियते-यदि दशभिर्विषुवैरष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि लग्नपर्यायाणां भवन्ति ततस्त्रिभिरयनविभागैः किं लभ्यमिति ?, राशित्रयस्थापना-१०-१८३५-३,अत्रान्त्येन राशिना (त्रिकलक्षणेन) राशेर्गुणने जातानि पञ्चपञ्चाशत्शतानि पञ्चोत्तराणि ५५०५, ततः प्रागुक्तयुक्त्या आद्यराशिर्द्वाभ्यां गुण्यते जाता विंशतिस्तया भागो ह्रियते लब्धे द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५, लग्नपर्यायाणां न तैः प्रयोजनमिति, शेषाः तिष्ठन्ति पञ्च ५, स च किल, एकश्चतुर्भाग इत्येकः स्थाप्यते ततः प्रागुक्तयुक्त्या स नवभिश्शतैः पञ्चदशोत्तरैर्गुण्यते जातानि नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, तेभ्यो ऽष्टाशीत्या पुष्यः शुद्धः, स्थितानि पश्चादष्टौ शतानि सप्तविंशत्यधिकानि ८२७, तेषां चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते लब्धाः षट् , पश्चात् तिष्ठति त्रयोविंशतिः, षड्भिश्चाश्लेषादीनि चित्रापर्यन्तानि षट् नक्षत्राणि शुद्धानि, आगतं स्वातिनक्षत्रस्य लग्नप्रवर्तकस्य चतुस्त्रिंशदधिकशतभागानामेकोनसप्ततिसंख्येषु भागेषु गतेषु द्वितीयं विषुवं प्रवर्तते । एवं चतुर्थविषुवचिन्तायामेवं त्रैराशिकम्-यदि दशभिर्विषुवैरष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि लग्नपर्यायाणां लभ्यन्ते ततः सप्तभिरयनद्विभागैः किं लभ्यमत्रेति ?, राशित्रयस्थापना—१०-१८३५-७, अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते जातानि द्वादश सहस्राणि अष्टौ शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि १२८४५, तेषां विंशत्या भागो ह्रियते लब्धानि षट् शतानि द्विचत्वारिंशदधिकानि लग्नपर्यायाणां ६४२ शेषास्तिष्ठन्ति पञ्च, ततः प्रागुक्तगणितक्रमेण आगतं स्वातिनक्षत्रस्य लग्नप्रवर्तकस्य चतुस्त्रिंशदधिकशतभागानामेकोनसप्ततिसंख्येषु भागेषु गतेषु चतुर्थं४ विषुवं प्रवर्तते, एवं ५पञ्चस्वपि उत्तरायणेषु विषुवलग्नं भावनीयम् । इह यदा सूर्यो दक्षिणायनविषुवे अश्विन्यां प्रवर्तते तदा पाश्चात्यं लग्नं स्वातौ स्वात्यश्विन्योश्च मध्येऽभिजिद्वर्तते स भावि द्वितीयाऽर्द्धमध्ये च भावी पुष्यः,ततो दक्षिणायनविषुवेषु पञ्चस्वपि अभिजिन्नभस्तले अतिक्रान्तपाश्चात्यार्द्धवर्द्धितत्वात् पुष्यो रसातले भाव्युत्तरार्द्धमध्यभावित्वात् , यदा तु-रविरुत्तरायणे विषुवे स्वातौ वर्त्तते तदा पाश्चात्यं लग्नमश्विन्यां स्वात्यश्विन्योश्च मध्ये च पुष्यो, भाविद्वितीयार्द्धमध्ये भावि लग्नम् अभिजित्, तत उत्तरायणविषुवेषु पञ्चस्वपि पुष्यो नभस्तले अतिक्रान्तपाश्चात्यार्द्धे गतत्वात् अभिजित् रसातले भाव्युत्तरार्द्धमध्यभावितत्वात् तदेवमुक्तं विषुवगतं लग्नम् ।

सम्प्रति कः कालो निश्चयतो विषुवस्येति प्ररूपयति—

मंडलमज्झत्थम्मि य, अचक्खुविसयं गयम्मि सूरम्मि ।
जो खलु मत्ताकालो, सो कालो होइ विसुवस्स ॥१४॥

मण्डलमध्यस्थे; सार्द्धाह्निवर्तिमण्डलमध्यभागवर्तिनीत्यर्थः । अचक्षुर्विषयगते कलया चक्षुर्विषयमतीतो व्यवहा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रतश्चक्षुर्विषयातीत इति विवक्षितः तस्मिन् सूर्ये यः खलु मात्राकालो दिवसरात्रिमध्यगतसंधिरूपः स विषुवकालो वेदितव्यः। तथाहि—यदि दशभिर्विषुवैरष्टादश सूर्योदयशतानि त्रिंशदधिकानि लभ्यन्ते ततोऽयनाद्विभागरूपे विषुवे किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना १०—१८३०—१, अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणने जातानि तान्येवाष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, आद्यश्च राशिः प्रागुक्तयुक्त्या द्वाभ्यां गुण्यते जाता विंशतिस्तया भागो ह्रियते लब्धा एकनवतिरेकश्च द्विभागः अहोरात्रस्य, ततः आगतमर्थापत्त्या द्विनवतितमे अहोरात्रे दिवसस्य रात्रेश्च यः सन्धिरूपः कालः स मात्राकालः स निश्चयतो विषुवकालः। नन्वत्र संदेहः किमयं सूर्योदयसन्धिरित्यभिधीयते; किं वा—अस्तमयसन्धिः ?, उच्यते—अस्तमयसंधिर्यतो दिवसादिरहोरात्रः, तथा चोक्तं "दिवसादिरहोरात्र" इति। ततो दिवसोऽतिक्रान्तोऽस्तमयश्च प्रवर्तते इत्यस्तमयसंधिरेवाऽभिधीयते॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां ज्योतिष्करण्डकटीकायां विषुवप्रतिपादकं पञ्चदशं प्राभृतं समाप्तम्। ज्यो० १५ पाहु०।

विसूइया-विषूचिका-स्त्री०। अजीर्णोद्भूते वमनाध्मानविरेचादिसद्योमृत्युकृद्रुजि, उत्त० १० अ०। अजीर्णविशेषे, उत्त० १० अ०।

विसूणिय-विशून्य-त्रि०। उत्कृते,सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

विसूणियंग-विशूनिताङ्ग-त्रि०। उत्कृताङ्गे, अपगतत्वचि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

विसूर-खिद-धा०। दैन्ये, "खिदेर्जूर—विसूरौ" ॥८।४। १३२॥ इति खिदेर्विसूरादेशः। विसूरइ। खिद्यते। प्रा०४पाद।

विसूरण-खेदन-न०। चित्तखेदे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार।

विसेढि-विश्रेणि-त्रि०। विरुद्धा विदिगाश्रिता श्रेणिर्यत्र तद्विश्रेणि। भ० २ श० १ उ०। विरुद्धदिक्स्थिते, नं०।

विसेस-विशेष-पुं०। "शषोः सः" ॥८।१।२६०। इति शषोः सः। प्रा०। भेदे, पर्याये, व्यक्तौ, विशे०। उत्त०। नि० चू०। पर्यायो विशेषो धर्म इत्यनर्थान्तरम्। स्था० ४ ठा० २ उ०। दश०। ("विशेषोऽपि द्विरूपो गुणः पर्यायश्च" ॥६॥ इति। सूत्रम् 'खणियवाइ' शब्दे तृतीयभागे ७०७पृष्ठे व्याख्यातम्।)

विशेषाः—

दसविहे विसेसे पण्णत्ते,तं जहा-वत्थु तज्जायदोसे य, दोसे एगट्ठिते ति य। कारणे य पडुप्पन्ने,दोसे निच्चेहियट्ठमे।१।" अत्तणा उवणीए य, विसेसे ति य ते दस। (सू० ७४३×)

'दसे' त्यादि विशेषो भेदो व्यक्तिरित्यनर्थान्तरम् 'वत्थु' इत्यादि सार्द्धः श्लोकः, वस्त्विति प्राक्तनसूत्रस्यान्तोक्तो यः पक्षः, तज्जातमिति तस्यैवादावुक्तम्। प्रतिवाद्यादेर्जात्यादि तद्विषयो दोषो वस्तुतज्जातदोषस्तत्र वस्तुदोषः पक्षदोषस्तज्जातदोषश्च-जात्यादिहीलनमेतौ च विशेषौ दोषसामान्यापेक्षया, अथवा-वस्तुदोषे-वस्तुदोषविषये विशेषो-भेदः प्रत्यक्षनिराकृतत्वादिः। तत्र प्रत्यक्षनिराकृतो यथा अश्रावणः शब्दः, अनुमाननिराकृतो यथा नित्यः शब्दः, प्रतीतिनिराकृतो यथा अचन्द्रः शशी, स्ववचननिराकृतो यथा यदिदं वच्मि तन्मिथ्येति,लोकरूढिनिराकृतो यथा शुचि नरशिरःकपालमिति। तज्जातदोषविषयेऽपि भेदो जन्ममर्मकर्मादिभिः, जन्मदोषो यथा-" कच्छोल्लुयाए घोडीए,जाओ जो गद्दहेण छूढेण। तस्स महायणमज्झे, आयारा पायडा होंति ॥ १ ॥" इत्यादिरनेकविधः२, चकारः समुच्चये। तथा'दोसे' त्ति पूर्वोक्तसूत्रे ये शेषा मतिभङ्गादयोऽष्टावुक्तास्ते दोषाः दोषशब्देनेह संगृहीतास्ते च दोषसामान्यापेक्षया विशेषा भवन्त्येवेति-दोषो विशेषः। अथवा—'दोसे' त्ति दोषेषु शेषदोषविषये विशेषो भेदः स चानेकविधः स्वयमूह्यः ३। ('एगट्ठिय' वक्तव्यता 'एगट्ठिय' शब्दे तृतीयभागे ११६० पृष्ठे।) अथवा दोषशब्द इहापि संबध्यते,ततश्च न्यायोद्ग्रहणे शब्दान्तरापेक्षया विशेष इति ४। तथा कार्यकारणात्मके वस्तुसमूहे कारणमिति विशेषः कार्यमपि विशेषो भवति, न चेहोक्तो दशस्थानकानुवृत्तेः। अथवा—कारणे—कारणविषये विशेषो भेदो यथा परिणामिकारणं मृत्पिण्डः,अपेक्षाकारणं दिग्देशकालाकाशपुरुषचक्रादि। अथवोपादानकारणं मृदादि,निमित्तकारणं कुलालादि,सहकारिकारणं चक्रचीवरादीत्यनेकधा कारणम्। अथवा दोषशब्दसंबन्धात् पूर्वव्याख्यातः कारणदोषो दोषसामान्यापेक्षया विशेष इति।चः समुच्चये तथा प्रत्युत्पन्नो वार्त्तमानिकोऽभूतपूर्व इत्यर्थो दोषो गुणेतरः, स चातीतादिदोषसामान्यापेक्षया विशेषः।अथवा-प्रत्युत्पन्ने सर्वथा वस्तुन्यभ्युपगते विशेषो यो दोषोऽकृताभ्यागमकृतविप्रणाशादिः स दोषसामान्यापेक्षया विशेष इति६, तथा नित्यो यो दोषोऽभव्यानां मिथ्यात्वादिरनाद्यपर्यवसितत्वात् स दोषसामान्यापेक्षया विशेषः। अथवा-सर्वथा नित्ये वस्तुनि अभ्युपगते यो दोषो बालकुमाराद्यवस्थाभावापत्तिलक्षणः स दोषसामान्यापेक्षया दोषविशेष इति। तथा 'हियट्ठमे' त्ति अकारप्रश्लेषादधिकं वादकाले यत् परप्रत्यायनं प्रत्यतिरिक्तं दृष्टान्तनिगमनादि तद्दोषः, तदन्तरेणैव प्रतिपाद्यप्रतीतेस्तदभिधानस्यानर्थकत्वादिति।आह च-"जिणवयणं सिद्धं चे-व भण्णए कत्थई उदाहरणं। आसज्जउ सोयारं, हेऊ वि कहिंचि भणेज्जा ॥१॥" तथा "कत्थइ पंचावयवं,दसहा वा सव्वहा न पडिकुट्ठ'मिति। ततश्चाधिको दोषो दोषविशेषत्वाद्विशेष इति अथवा अधिके दृष्टान्तादौ सति यो दोषो दूषणं वादिनः सोऽपि दोषविशेष एव अयं चाष्टम आदितो गण्यमान इति ८॥ 'अत्तण' त्ति आत्मना कृतमिति शेषस्तथोपनीतं प्रापितं परेणेति शेषः, वस्तुसामान्यापेक्षयाऽऽत्मकृतं च विशेषः परोपनीतं चापरो विशेष इति भावः, चकारयोर्विशेषशब्दस्य च प्रयोगो भावनावाक्ये दर्शितः। अथवा-दोषशब्दानुवृत्तेरात्मना कृतो दोषः परोपनीतश्च दोष इति दोषसामान्यापेक्षया विशेषावेतौ इति। एवं ते विशेषा दश भवन्तीति इहादर्शपुस्तकेषु-' निच्चे हियट्ठमे ' त्ति दृष्टं न च तथाष्टौ पूर्यन्त इति निच्चे इति व्याख्यातम्। स्था० १० ठा० ३ उ०। शाङ्ग एवायं शब्द इत्यादिविशेषज्ञाने, विशे०। सम्म०। सूत्र०। तुल्यजातिगुणक्रियाधाराणां नित्यद्रव्याणां परमाण्वाकाशदिगादीनामत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतौ पदार्थभेदे, आ० म० १ अ०। स्था०। अथ विशेषास्ते चात्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वेन परैराश्रीयन्ते, तत्रेदं चिन्त्यते-या तेषु विशेषबुद्धिः सा नापरविशेषहेतुकाऽऽश्रयितव्या अनवस्थाभयात्। स्वतः समाश्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथा च तद्वद् द्रव्यादिष्वपि विशेषबुद्धिः स्यात्किं द्रव्यादिव्यतिरिक्तैर्विशेषैरिति। द्रव्याव्यतिरिक्तास्तु विशेषा अस्माभिरप्याश्रीयन्ते सर्वस्य सामान्यविशेषात्मकत्वादिति। एतत्तु प्रक्रियामात्रं, तद्यथा-"नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः" नित्यद्रव्याणि च। चतुर्विधाः परमाणवो मुक्तात्मानो मुक्तमनांसि चेति निर्युक्तिकत्वादपकर्णयितव्यमिति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। विसेसो दुविहो, अंतविसेसो,अणंतविसेसो य। आ० चू० १ अ०। अन्त्या विशेषाः-सकलसाधारणरूपाः, अवान्तरविशेषाश्च पररूपव्यावर्तनक्षमाः। आ० म० १ अ०। प्रकर्षे, स० १४६ सम०। रमणीयत्वे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

विश्लेष-पुं०। वियुक्तीकरणे, पृथक्करणे, विश्लेषे कृते सति यदवतिष्ठते तदपि विश्लेषतो जातत्वाद् विश्लेषः। आरोपणाच्छेदे, व्य० १ उ०।

विसेसण-विशेषण-न०। भेदे, व्यावर्त्तने, 'संभवद्व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्' ल०। आ० म०। नं०।

विसेसणविसिस्सभाव-विशेषणविशेष्यभाव-पुं०। व्यावर्त्यव्यावर्तकत्वे, आ० म० १ अ०।

विसेसणाण-विशेषज्ञान-न०। आत्मनो गुणदोषाधिरोहलक्षणस्य विशेषस्य ज्ञाने, यथा-" प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत, नरश्चरितमात्मनः। किं नु मे पशुभिस्तुल्यं, किन्तु सत्पुरुषैरिति ॥१॥" ध० १ अधि०।

विसेसण्णु-विशेषज्ञ-पुं०। विशेषं जानातीति विशेषज्ञः। यथावस्थितगुणदोषविवेचनसहे, दर्श० २ तत्त्व। अपक्षपातित्वेन गुणदोषविशेषाविशेषवेदिनि,ध० १ अधि०। तदितरवस्तुविभागवेदिनि अविशेषज्ञस्तु दोषानपि गुणत्वेन गुणानपि दोषत्वेनाध्यवस्यति। प्रव० २३६ द्वार।

साम्प्रतं विशेषज्ञ इति षोडशं गुणं प्रचिकटयिषुराह—

वत्थूणं गुणदोसे, लक्खेइ अपक्खवायभावेण।
पाएण विसेसण्णू, उत्तमधम्मारिहो तेण ॥ २३ ॥

वस्तूनां द्रव्याणां सचेतनाऽचेतनानां धर्माऽधर्महेतूनां वा गुणान् दोषांश्च लक्षयति—जानात्यपक्षपातभावेन—माध्यस्थ्यसुस्थचेतस्तया पक्षपातयुक्तो हि दोषानपि गुणान् गुणानपि दोषानध्यवस्यति समर्थयति च। उक्तञ्च—" आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा। पक्षपातरहितस्य तु युक्ति-र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥१॥" अतः प्रायेण बाहुल्येन विशेषज्ञः सारेतरवेदी उत्तमधर्मार्हः प्रधानधर्मोचितो भवति। सुबुद्धिमन्त्रिवदिति। ध० र० १ अधि० १६ गुण। (तद्वृत्तम्-'सुबुद्धि' शब्दे वक्ष्यते।) वस्त्ववस्तुविभागवेदिनि, बृ० ४ उ०।

जाणाति जो विसेसं, हिताहितादीण सो विसेसण्णू।
ण वि होति णिव्विसेसो, समचंदणलोद्धिचिक्खल्लो ॥

पं० भा० १ कल्प। विशेषं जानातीति विशेषज्ञः। आचार्यः विशेषं जानीते अनुवर्तविशेषं वा। पं० चू० १ कल्प।

विसेसपूया-विशेषपूजा-स्त्री०। धर्माचार्यादितद्विशेषार्चनायाम्, पञ्चा० ८ विव०।

विसेसपूयापुव्व-विशेषपूजापूर्व-न०। प्राक्तनदिनापेक्षया विशिष्टतरार्चनपुरःसरे, पञ्चा० ८ विव०।

विसेसबुद्धि-विशेष्यबुद्धि-स्त्री०। विशेष्यताक्रान्तबुद्धौ, नागृहीतविशेषणाविशेष्यबुद्धिरिति वचनात्। स्या०

विसेससण्णा-विशेषसंज्ञा-स्त्री०। पृथग्भूताभिधाने, सम्म० १ काण्ड।

विसेसावस्सय-विशेषावश्यक-न०। आवश्यकग्रन्थस्य प्रथमाध्ययनभाष्यविवरणे, विशे०।

तच्च—

श्रीसिद्धार्थनरेन्द्रविश्रुतकुलव्योमप्रवृत्तोदयः,
सद्बोधांशुनिरस्तदुस्तरमहामोहान्धकारस्थितिः।
हप्ताशेषकुवादिकौशिककुलप्रीतिप्रणोदक्षमो,
जीयादस्खलितप्रतापतरणिः श्रीवर्द्धमानो जिनः ॥१॥
येन क्रमेण कृपया श्रुतधर्म एष,
आनीय मादृशजनेऽपि हि संप्रणीतः।
श्रीमत्सुधर्मगणभृत्प्रमुखं नतोऽस्मि,
तं सूरिसङ्घमनघं स्वगुरूंश्च भक्त्या ॥ २ ॥
आवश्यकप्रतिनिबद्धगभीरभाष्य—
पीयूषजन्मजलधिर्गुणरत्नराशिः।
ख्यातः क्षमाश्रमणतागुणतः क्षितौ यः,
सोऽयं गणिर्विजयते जिनभद्रनामा ॥ ३ ॥
यस्याः प्रसादपरिवर्धितशुद्धबोधाः,
पारं व्रजन्ति सुधियः श्रुततोयराशेः।
सानुग्रहा मयि समीहितसिद्धयेऽस्तु,
सर्वज्ञशासनरता श्रुतदेवताऽसौ ॥ ४ ॥

इह चरणकरणक्रियाकलापतरुमूलकल्पं सामायिकादिषडध्ययनात्मकश्रुतस्कन्धरूपमावश्यकं तावदर्थतस्तीर्थकरैः, सूत्रतस्तु गणधरैर्विरचितम्। अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकलसाधुश्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिनैतद्व्याख्यानरूपा "आभिणिबोहिअनाणं सुयनाणं चेव ओहिनाणं च" इत्यादिप्रसिद्धग्रन्थरूपा निर्युक्तिः कृता। तन्मध्ये च सामायिकाध्ययननिर्युक्तिं विशेषत एवातिबहुविचारदुर्विज्ञेयार्थामतिशयोपकारिणीं चावगम्य केवलामृतरसस्यन्दिवाग्विलासैः श्रीमज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यैस्तदर्थव्याख्याऽऽत्मकमेव 'कयपवयणप्पणामो' इत्यादिगाथासमूहस्वरूपं भाष्यमकारि। तस्य च यद्यपि श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यैः, श्रीकोट्याचार्यैश्च वृत्तिर्विहिता वर्त्तते, तथाऽप्यतिगम्भीरवाक्यात्मकत्वात्, किंचित्संक्षेपरूपत्वाच्च-दुःषमानुभावतः प्रज्ञादिभिरपचीयमानानां किमपि विस्तराभिधानरुचीनां शिष्याणां नाऽसौ तथाविधोपकारं सांप्रतमाधातुं क्षमाः, इति विचिन्त्य मुत्कलतरवाक्यप्रबन्धरूपा किमपि विस्तरवती च मन्दमतिनाऽपि मया मन्दतममतिशिष्यावबोधार्थं, श्रुताभ्याससंपादनार्थं च वृत्तिरियमारभ्यते। विशे०।

अथ प्रकृतोपसंहारार्थमात्मनः औद्धत्यपरिहारार्थं च श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्याः प्राहुः—

इय परिसमापियमियं, सामाइयमत्थओ समासेण।
वित्थरओ केवलिणो, पुव्वविओ वा पहासंति ॥३६०२॥

इत्युक्तप्रकारेण सर्वेणापि भाष्येणावश्यकग्रन्थस्य प्रथममध्ययनं सामायिकं समासेन-संक्षेपेणार्थतः परिसमापितं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संक्षेपेणास्यार्थः कथितः, संक्षेपभणनमात्रशक्तिकत्वान्मम। विस्तरतस्त्वशेषविस्तरेणातिगम्भीरार्थत्वादिदं केवलिनः पूर्वविदो वा प्रभाषन्त इति ॥ ३६०२॥

अथैतद् भाष्यं श्रुत्वा विनेयानां यदिहैव फलं भवति तदुपदर्शनार्थमाह—

सव्वाणुओगमूलं, भासं सामाइअस्स सोऊण।
होइ परिकम्मिअमई, जोग्गो सेसाणुओगस्स ॥३६०३॥

इदं च सर्वानुयोगमूलं—सर्वानुयोगकारणं सामायिकस्य भाष्यं—विवरणं श्रुत्वा—निशम्यैतत्परिकर्मितमतिः सन् विनेयः शेषशास्त्रानुयोगस्य योग्यः—कुशलः क्षमो भवति। इति चत्वारिंशद्गाथार्थः ॥ ३६०३॥ पूर्वं चाध्यवसानपर्यन्तव्याख्यातगाथानाम् ॥२८०३॥ उभयं व्याख्यातभाष्यगाथानाम् ॥ ३६०३॥ शेषाणि तु चतुर्दशाधिकसप्तशतान्यतिदेशेनैव गतानि, न तु व्याख्यातानि, इति नेह गणितानि, इत्येषा शिष्यहिता नाम विशेषावश्यकवृत्तिः समाप्ता। इह गम्भीरापारजन्मजरामरणसलिलसंचयसंपूर्णे अनवरतभ्राम्यन्महामोहावर्तभीमे विविधविस्रोतसिकावेलाव्यतिकरदुरतिक्रमे निःसंख्यकुविकल्पकल्लोलमालाकुले, प्रसरदज्ञानमहामेघदुर्दिनान्धकारनिकुरम्बभीषणे अनेकापद्विद्युन्निपातसंपादितमहाभये रागद्वेषदुर्वातसंततिसंजनितहृदयोत्कम्पे अविश्रान्तसंज्वलितक्रोधातिरौद्रवडवामुखे अमानमानशैलस्खलनदुर्गीकृतगमागमव्यतिकरे मायावल्लीवितानगुप्यत्सत्त्वसंघाते विभवसलिलातिदुष्पूरलोभमहोदरे त्रिविधव्याधिसंबन्धमत्स्यकच्छपपृष्ठपुच्छच्छटाटोपग्राहनक्रादिप्रचुरजलचरसंचरणसंजनितविषमसंचारे शारीरमानसानन्तदुःखप्रदापारसंसारवारांनिधौ मां निमग्नं विकलं निःशरणं दीनमवलोक्य कोऽपि करुणापरीतमानसः सद्गुणगुरुर्महापुरुषः सम्यग्दर्शनातिदृढमहाप्रतिष्ठानमष्टादशशीलाङ्गसहस्रविचित्रफलकनिविडघटनाविराजितं सम्यग्ज्ञाननिर्यामकान्वितं सुसाधुसंसर्गकार्थसूत्रनिविडबन्धनबद्धं संवरकीलप्रभग्ननिःशेषास्रवद्वारं सूत्रितसामायिकच्छेदोपस्थानीयभेदभिन्नरम्यभूमिकाद्वयं तदुपर्युपकल्पितसाधुसमाचारकरणरणमण्डपं समन्ततो गुप्तित्रयप्रस्तरागुप्तम्, असंख्यशुभाध्यवसायसंनद्धदुर्योधयोधसहस्रदुरवलोकं, सर्वतो निवेशितसद्गुरूपदेशावल्लिकनिकुरम्बं मध्यव्यवस्थापितस्थिरतरानिसरलसद्बोधकूपस्तम्भं तद्विन्यस्तप्रकृष्टशुभभावमयमहासितपटं तदग्रसमारूढप्रौढसदुपयोगपञ्जरदौवारिकं तदवबद्धाप्रमादनगरनिकरसमायुक्तमित्यादिसर्वाङ्गसंपूर्णतया प्रवणं चारित्रमयं महायानपात्रं समर्पयामास, भणितवांश्च-भो महाभाग! समधिरोह त्वमस्मिन् यानपात्रे। समारूढश्चात्र मदीयशिक्षां कुर्वाणस्त्वमक्षेपेणैव दुस्तरमप्यमुं भवजलधिमुत्तीर्य प्राप्स्यसि निःशेषदुःखातिक्रान्तमनन्तसुखमयं शिवरत्नद्वीपम्। ततश्च तद्वचनेनाश्वासितोऽहमारूढस्तत्र, समर्पितं च मम तेन महापुरुषेण सद्भावनामञ्जूषायां प्रक्षिप्य शुभमनोनामकं महारत्नम्। अभिहितं च मां प्रति रक्षणीयमिदं प्रयत्नतो भद्र! तिष्ठति ह्यस्मिन् महाप्रभावे शुभमनोरत्ने एतद् यानपात्रम्, यथोक्ता निर्यामकः, कूपस्तम्भः, योधाः, पञ्जरदौवारिकं सर्वं क्रमेणावतिष्ठमानमभीष्टदेशं त्वां प्रापयति, एतदभावे तु सर्वमेतत् प्रलयमुपयाति। अत एव तव पृष्ठतः सर्वादरेणैतदपहरणार्थं लगिष्यन्ति ते मोहराजादयो दुष्टतस्काराः, तेभ्यश्च त्वयेदमित्थं रक्षणीयम्। सद्भावनामञ्जूषाङ्गानां चाग्रतो नानाभङ्गसंभवेऽन्यान्यमूनि च तदङ्गानि तस्यां निवेशनीयानि। इत्यादिशिक्षां प्रयच्छन् मयाऽपि समं दूरदेशं गत्वा ततोऽन्तर्हितः संजातः। श्रुतश्चायं सर्वोऽपि व्यतिकरः प्रमादपरताभिधानां महापल्लीं समाश्रितेन दुष्टतस्कराधिपतिना मोहराजेन। ततो 'रे रे तस्कराधमाः! हता वयम्, यतः केनाप्यस्मद्वैरिणा निजयानपात्रमारोप्यास्मदविषयभूतं शिवरत्नद्वीपं नेतुमारब्धः सोऽमुकसंसारिजीवः, स च न केवलं चलितः, किन्त्वन्यानपि यथादेशमात्मना सहाऽनेकान् नयन् तिष्ठति। तद् यावदेतदस्मदीयसंसारनाटकं सर्वशून्यं न करोति तावद् धावत धावत' इति ब्रुवाणः ससंभ्रममुत्थाय महादुष्टो दुर्बुद्धिनामिकां महानावमारूढः कुवासनाभिधाननौवृन्दादिरूढाशेषतस्करनिकरसहित एव प्रधावितः सत्वरम्। समागतश्च यानपात्रदेशम्। ततः पूत्कृतं पञ्जरदौवारिकेण-भो भोः! समायाता एतास्तास्तस्करचेटिकाः, प्रगुणीभवत यूयम्। तदेतत् श्रुत्वा निर्यामकोत्साहितास्तदुपदिष्टविधिनैव रणमण्डपमारूढाः सज्जीभूताश्चारित्रधर्मनृपतिसैन्येन सह पूर्वोक्तरूपा योधाः। गृहीतानि च सर्वैरपि पञ्जरदौवारिकादिभिर्यथोचितं जीवादितत्त्वचिन्तनादिरूपाणि नाराचादिप्रहरणानि। मोहराजेनापि निरूपितो मिथ्यादर्शनमन्त्री, उत्साहिताः कषायचरटाः, तर्जितं हास्यादिषट्कलुण्टाकवृन्दम्, पुरस्कृतः पुरुषवेदादिपरिवृतकाममहातस्करः, व्यापारिता निद्रा-तन्द्रादयः, प्रेरिताश्चक्षुर्दर्शनावरणादयः, अग्रेसरीकृतं रोगाद्यसातवेदनीयसैन्यम्, प्रवर्तिता जराऽन्तरायादयः, स्वयमपि च निजतनयरागकेसरिद्वेषगजेन्द्रादितलवर्गान्वितेन मोहचरटाधिपेन वेष्टितं समन्ततोऽनन्तगुणपरिपाट्या यानपात्रम्। प्रहर्तुमारब्धं चाक्षेपण सर्वैरपि समकालम्। ततश्च सदागमसेनाधिपोत्साहितेन सम्यग्दर्शनमन्त्रिणा समाक्षिप्तो मिथ्यादर्शनमन्त्री, प्रशम—मार्दवा—ऽऽर्जवादिमहायोधैरपि लीलयैव निरुद्धाः क्रोधादिकषायचरटाः, वैराग्यब्रह्मव्रतादिमहासुभटैरपि दूरमुत्त्रासितो हास्यादिनिजतलवर्गानुगतः काममहालुण्टाकः। अप्रमादमहारथिनाऽपि श्रुतोपयोगोद्यमादिनाराचैस्ताडिताः शिरसि निन्द्रा—तन्द्रादयः, तदावरणक्षयोपशमवीरेणाप्यधरीकृताश्चक्षुर्दर्शनावरणादयः, सद्धर्मानुष्ठानोद्दीपितसातोदयसैनिकेनापि विलक्षीकृतं रागाद्यसातवेदनीयसैन्यम्, पुण्योदयमहाबलराजपुत्रेणापि निष्प्रभावीकृता जराऽन्तरायादयः। एवमन्येषामप्यनन्तानां चारित्रधर्मराजसैनिकानां निजनिजप्रतिपक्षेण सह महासमरसम्मर्दे प्रवृत्ते निजसैन्यं किञ्चिद् नश्यमानमवलोक्य 'रे रे तस्कराधमाः! किमेतदारब्धम्, स्थिरीभूय लगत लगत सर्वात्मना' इति ब्रुवाणो मोहचरटचक्रवर्ती ससैन्य एवारब्धो युगपत् प्रहर्तुम्। केचित् त्वतीव छलघातिनो मोहसैनिकाः केनापि पक्षेण समारोहन्ति तद् यानपात्रम्, विप्रतारयितुमुपक्रमन्ते माम्, प्रविशन्ति रणमण्डपस्यान्तः, प्रहरन्ति छन्नीभूताः, समाहत्य जर्जरयन्ति सद्भावनामञ्जूषाङ्गानि। ततो मया तस्य परमपुरुषस्योपदे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शं श्रुत्वा विरचय्य झटिति निवेशितमावश्यकटिप्पनिकाभिधानं सद्भावनामञ्जूषायां नूतनफलकम्, ततोऽपरमपि शतकविवरणनामकम्, अन्यदप्यनुयोगद्वारवृत्तिसंज्ञितम् । ततोऽपरमप्युपदेशमालासूत्राभिधानम्, अपरं तु तद्वृत्तिनामकम्, अन्यच्च जीवसमासविवरणनामधेयम्, अन्यत्तु भवभावनासूत्रसंज्ञितम्, अपरं तु तद्विवरणनामकम्, अन्यच्च झटिति विरचय्य तस्याः सद्भावनामञ्जूषाया अङ्गभूतं निवेशितं नन्दिटिप्पनकनामधेयं नूतनदृढफलकम् । एतैश्च नूतनफलकैर्निवेशितैर्वज्रमयीव सञ्जाताऽसौ मञ्जूषा, तेषां पापानामगम्या । ततस्तैरतीवच्छलघातितया सञ्चूर्णयितुमारब्धं तद्द्वारकपाटसम्पुटम् । ततो मया ससंभ्रमेण निपुणं तत्प्रतिविधानोपायं चिन्तयित्वा विरचयितुमारब्धं तद्द्वारपिधानहेतोर्विशेषावश्यकविवरणाभिधानं वज्रमयमिव नूतनकपाटसम्पुटम् । ततश्चाभयकुमारगणि-धनदेवगणि जिनभद्रगणिलक्ष्मणगणि—विबुधचन्द्रादिमुनिवृन्द—श्रीमहानन्दश्रीमहत्तरावीरमतिगणिन्यादिसाहाय्याद् 'रे रे निश्चितमिदानीं हता वयम्, यद्येतद् निष्पद्यते, ततो धावत धावत, गृह्णीत गृह्णीत, लगत लगत, ' इत्यादि पूत्कुर्वतां सर्वात्मशक्त्या युगपत् प्रहरतां हा हा रवं कुर्वतां च मोहादिचरटानां चिरात् कथं कथमपि विरचय्य तद्द्वारे निवेशितमेतदिति । ततः शिरो हृदयं च हस्ताभ्यां कुट्टयन् विषण्णो मोहमहाचरटः, समस्तमपि विलक्षीभूतं तत्सैन्यम्, विलीनं च सनायकमेव । ततः क्वचित् क्षेमेण शिवरत्नद्वीपं प्रतिगन्तुं प्रवृत्तं तद् यानपात्रमिति ।

"क्व श्रीजिनभद्रगणेः, पूज्यस्यैतानि भाष्यवचनानि ।
तर्कव्यतिकरदुर्गा-ण्यतिगम्भीराणि ललितानि ॥ १ ॥
विवृतानि स्वयमेव हि, कोट्याचार्यैश्च बुधजनप्रवरैः ।
सङ्क्षिप्यन्ते क्व पुनरपि, ममापि वृत्तेः प्रयासोऽत्र ॥ २ ॥
ऋजुभणितिमिच्छतामिह, तथापि मत्तोऽपि मन्दबुद्धीनाम् ।
उपकारः केषाञ्चित्, समीक्ष्यते शिष्टलोकानाम् ॥ ३ ॥
तेनात्मपरोपकृतिं, संभाव्य मयाऽपि भाष्यवृत्तिरियम् ।
विहिता श्रुतेऽतिभक्तिं, शुभं विनोदं च चिन्तयता ॥ ४ ॥
यच्चेह किमपि वितथं, लिखितमनाभोगतः कुबोधाद् वा ।
तत् सर्वं मध्यस्थै-र्मय्यनुकम्पापरैः शोध्यम् ॥ ५ ॥
कृत्वा च विवरणमिदं, यत् पुण्यमुपार्जितं मया किञ्चित् ।
तेनाभवक्षयाद्-स्तु जिनमते प्रीत्यविच्छेदः ॥ ६ ॥"
ग्रन्थाग्रं प्रत्यक्षरं गणनया सहस्राणि (२८०००)
श्रीमत्तपोगणगगना-ङ्गणगगनमणिप्रभैः स्वपुण्यार्थम् ।
विजयानन्दमुनीन्द्रै-श्चिरकोशोऽसौ प्रतिर्मुमुचे ॥ १ ॥"

विशेषावश्यकप्रशस्तिः—

"श्रीप्रश्नवाहनकुलाम्बुनिधिप्रसूतः,
क्षोणीतलप्रथितकीर्तिरुदीर्णशाखः ।
विश्वप्रसाधितविकल्पितवस्तुरुच्चै-
श्छायाश्रितप्रचुरनिर्वृतभव्यजन्तुः ॥ १ ॥
ज्ञानादिकुसुमनिचितः, फलितः श्रीमन्मुनीन्द्रफलवृन्दैः ।
कल्पद्रुम इव गच्छः, श्रीहर्षपुरीयनामाऽस्ति ॥ २ ॥
एतस्मिन् गुणरत्नरोहणगिरिर्गाम्भीर्यपाथोनिधि-
स्तुङ्गत्वानुकृतक्ष्माधरपतिः साम्यत्वतारापतिः ।
सम्यग्ज्ञानविशुद्धसंयमतपःस्वाचारचर्यानिधिः,
शान्तः श्रीजयसिंहसूरिरभवद् निःसङ्गचूडामणिः ॥ ३ ॥
रत्नाकरादिवैतस्माद्, शिष्यरत्नं बभूव तत् ।
स वागीशोऽपि नो मन्ये, यद्गुणग्रहणे प्रभुः ॥ ४ ॥
श्रीवीरदेवविबुधैः, सन्मन्त्राद्यतिशयप्रवरतोयैः ।
द्रुम इव यः संसिक्तः, कस्तद्गुणकीर्तने विबुधः ? ॥ ५ ॥
तथाहि—
आज्ञा यस्य नरेश्वरैरपि शिरस्यारोप्यते सादरं,
यं दृष्ट्वाऽपि मुदं व्रजन्ति परमं प्रायोऽतिदुष्टा अपि ।
यद्वक्त्राम्बुनिधिर्यदुज्ज्वलवचः पीयूषपानोद्यतै-
र्गीर्वाणैरपि दुग्धसिन्धुमथने तृप्तिर्न लेभे जनैः ॥ ६ ॥
कृत्वा येन तपः सदुश्चरतरं विश्वं प्रबोध्य प्रभो-
स्तीर्थं सर्वविदः प्रभावितमिदं तैस्तैः स्वकीयैर्गुणैः ।
शुक्लीकुर्वदशेषविश्वकुहरं भव्यैः स्तुतं सस्पृहं,
यस्याशास्वनिवारितं विचरति श्वेतांशुगौरं यशः ॥ ७ ॥
यमुना प्रवाहविमल-श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिसम्पर्कात् ।
अमरसरितेव सकलं, पवित्रितं येन भुवनतलम् ॥८॥
विस्फूर्जत् कलिकालदुस्तरतमः सन्तानलुप्तस्थितिः,
सूर्येणेव विवेकभूधरशिरस्यासाद्य येनोदयम् ।
सम्यग्ज्ञानकरैश्चिरन्तनमुनिक्षुण्णः समुद्द्योतितो,
मार्गः सोऽभयदेवसूरिरभवद् तेभ्यः प्रसिद्धो भुवि ॥९॥
तच्छिष्यलवप्रायै-रगीतार्थैरपि शिष्टजनतुष्ट्यै ।
श्रीहेमचन्द्रसूरिभि-रियमनुरचिता प्रकृतवृत्तिः ॥१०॥
शरदां च पञ्चसप्त-त्यधिकैकादशशतेष्वतीतेषु ११७५ ।
कार्तिकसितपञ्चम्यां, श्रीमज्जयसिंहनृपराज्ये ॥ ११ ॥
विशे० ।

विसोग-विशोक-त्रि० । विगतशोके, उत्त० ३२ अ० । आचा० ।

विसोगा-विशोका-स्त्री० । योगजसिद्धिभेदे, द्वा० २६ द्वा० । (विशोका सिद्धिः 'केवलि' शब्दे तृतीयभागे ६६८ पृष्ठे व्याख्याता ।)

विसोत्तिया-विस्रोतसिका-स्त्री० । इन्द्रियैर्मनसा संयमस्थानस्रावने, व्य० ६ उ० । स्त्र्यादिरूपसन्दर्शनस्मरणापध्यानकचवरनिरोधतः ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमशस्यशोषफलायां चित्तविक्रियायाम्, दश० ५ अ० १ उ० । आचा० । विशे० । विश्रोतसिका द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतः सारिणी पानीयं वहमानम् । भावतः-यया तृणादिकचवरस्थानीयया चित्तविप्लुत्या निरुद्धे सति चारित्रस्य विनाशो जायते सा विश्रोतसिकेत्युच्यते । वृ० १ उ० ३ प्रक० । आ०चू० । शङ्कायाम्,—आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

विसोदक्षय-वृषोदन्वत्-पुं० । विधिकृतमात्रप्रतिमापूजाप्ररूपके, प्रति० ।

वृषोदन्वदनुसारिणो मतमुपन्यस्य दूषयति—

वन्द्याऽस्तु प्रतिमा तथापि विधिना सा कारिता मृग्यते,
स प्रायो विरलस्तथा च सकलं स्यादिन्द्रजालोपमम् ।
हन्तैवं यतिधर्मपौषधमुखश्राद्धक्रियादेर्विधे -
र्दौर्लभ्येन तदस्ति किं तत्र न यत् स्यादिन्द्रजालोपमम् ।६८।
प्रति० । ('चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२४३ पृष्ठे सोपपत्तिकं व्याख्यातम् ।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विसोहइत्ता–विशोध्य–अव्य०। अपनीयेत्यर्थे,सूत्र०१श्रु०६अ०।

विसोहण–विशोधन–न०। त्यजने, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ०। अपगमने, आचा० २ श्रु० ३ चू०। बहुशः शोधने, स्था० ५ ठा० २ उ०। व्रतानां पुनर्नवीकरणे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। अतिचारकलङ्कस्य शुभभावजलेन शोधने, स्था० ८ ठा० ३ उ०। निर्मलत्वाधाने, स० १३७ सम०। (कायस्य विशोधनम् 'परकिरिया' शब्दे पञ्चमभागे ५१५ पृष्ठे उक्तम्।)

विसोहणा–विशोधना–स्त्री०। प्रमार्जनायाम्, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

विसोहि–विशोधि–स्त्री०। पिण्डचरणादीनां निर्दोषतायाम्, स्था० ३ ठा० ४ उ०। कर्ममलिनस्यात्मनो विशुद्धिहेतुत्वाद् विशोधिः। विशे०। आवश्यके, अनु०। प्रतिक्रमणे, आ० चू० ४ अ०। पडिक्कमणं ति वा १, पडियरणं ति वा २, पडिहरणं ति वा ३, वारणं ति वा ४, णियत्ती ति वा ५, निंदंति वा ६, गरिहंति वा ७, विसोहि त्ति वा ८। एतेसिं एगट्ठियाणं इमाणि अट्ठ उदाहरणाणि–(आ० चू० ४ अ०।)

विशोधिपर्यायोदाहरणानि–तत्थ पडिक्कमणे अद्धाणदिट्ठंतो–जहा एगो राया णयरबाहिं पासायं काउकामो सोभणे दिणे सुत्ताणि पाडियाणि, रक्खगा णिउत्ता, भणिया य–जइ कोइ इत्थ पविसिज्ज सो मारयव्वो, जइ पुण ताणि चेव पयाणि अक्कमंतो पडिओसरइ सो मोयव्वो। तओ तेसिं रक्खगाण वक्खित्तचित्ताणं कालहया दो गामिल्लया पुरिसा पविट्ठा, ते णाइदूरं गया रक्खगेहिं दिट्ठा, उक्करिसियखग्गेहि य संलत्ता–हा दासा ! कहिं एत्थ पविट्ठा ?, तत्थेगो काकधट्ठो भणइ–को एत्थ दोसो त्ति इओ तओ पहाविओ, सो तहिं तत्थेव मारिओ। बितिओ भीओ तेसु चेव पएसु चेव ठिओ भणइ–सामि ! अयाणंतो अहं पविट्ठो, मा मं मारेह, जं भणह तं करेमि त्ति। तहिं भण्णइ–जइ अण्णओ अणक्कमंतो तेहिं चेव पएहिं पडिओसरसि तओ मुच्चसि। सो भीओ परेण जत्तेण तेहिं चेव पएहिं पडिनियत्तो,सो मुक्को। इह लोइयाणं भोगाणं आभागी जाओ, इयरो चुक्को। एतं दव्वपडिक्कमणं। भावे दिट्ठंतस्स उवणओ–रायत्थाणीएहिं तित्थयरेहिं पासायत्थाणीओ संजमो रक्खियव्वो त्ति आणत्तं, सो य गामिल्लगत्थाणीएण एगेण साहुणा अइक्कमिओ, सो रागद्दोसरक्खगऽभाहओ सुचिरं कालं संसारे जाइयव्वमरियव्वाणि पाविहिति ! जो पुण किह वि पमाएण असंजमं गओ तओ पडिनियत्तो अपुणक्करणाए पडिक्कमए सो णिव्वाणभागी भवइ। पडिक्कमणे अद्धाणदिट्ठंतो गतो १। (आव०) (प्रतिचरणाया उदाहरणम् 'पडियरणा' शब्दे पञ्चमभागे ३३६ पृष्ठ गतम् ।)इयाणिं परिहरणाए दुद्धकाएण दिट्ठंतो भण्णइ दुद्धकाओ नाम दुद्धघडगस्स कावोडी। एगो कुलपुत्तो, तस्स दुवे भगिणीओ अण्णगामेसु वसंति। तस्स धूया जाया, भगिणीण पुत्ता तेसु वयपत्तेसु ताओ दो वि भगिणीओ तस्स समगं चेव वरियाओ आगयाओ। सो भणइ–दुण्हं अत्थीणं कयरं पियं करेमि?, वच्चह पुत्ते पेसह, जो खेयण्णो तस्स दाहामि त्ति,गामाओ, पेसिया। तेण तेसिं दोण्ह वि घडगा समप्पिया, वच्चह गोउलाओ दुद्धं आणेह। ते कावोडीओ गहाय गआ।ते दुद्धघडए भरिऊण कावोडीओ गहाय पडिनियत्ता। तत्थ दोण्णि पंथा–एगो परिहारेण सो अ समो, बितिओ उज्जुएण, सो पुण विसमखाणुकंटगबहुलो। तेसिं एगो उज्जुएण पट्ठिओ, तस्स पक्खलियस्स एगो घडो भिण्णो, तेण पडंतेण बिइओ वि भिण्णो। सो विरिक्कओ गओ माउलगसगासं। बिइओ समेण पंथेण सणियं सणियं आगओ अक्खुडियाए दुद्धकावोडीए, एयस्स तुट्ठो। इयरो भणिओ–न मए भणियं को चिरेण लहुं वा एहि त्ति, मए भणियं–दुद्धं आणेह त्ति, जेण आणीयं तस्स दिण्णा, इयरो धाडिओ। एसा दव्वपरिहरणा। भावे दिट्ठंतस्स उवणओ–कुलपुत्तत्थाणीएहिं तित्थगरेहिं आणत्तं, दुद्धत्थाणीयं चारित्तं, अविराहंतेहिं कण्णगत्थाणीया सिद्धी पावियव्व त्ति, गोउलत्थाणीओ मणुसभवो, तओ चरित्तस्स मग्गो उज्जुओ जिणकप्पियाण। ते भगवंतो संघयणधिइसंपण्णा, दव्वखित्तकालभावावइविसमं पि उस्सग्गेणं वच्चंति, वंको थेरकप्पियाण, स उस्सग्गाववायओऽसमो मग्गो, जो अजोग्गो जिणकप्पस्स तं मग्गं पडिवज्जइ सो दुद्धघडट्ठाणीयं चारित्तं विराहिऊण कण्णगत्थाणीयाए सिद्धीए अणाभागी भवइ, जो पुण गीयत्थो दव्वखित्तकालभावावईसु जयणाए जयइ सो संजमं अविराधित्ता अचिरेण सिद्धिं पावेइ ३। (आव०) (वारणाया दृष्टान्तः 'वारणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०६६ पृष्ठे गतः।) इयाणिं णियत्तीए दोण्हं कण्णयाणं, पढमाए कोलियकण्णाए दिट्ठंतो कीरइ–एगम्मि णयरे कोलिओ, तस्स सालाए धुत्ता वसंति। तत्थेगो धुत्तो महुरेण सरेण गायइ, तस्स कोलियस्स धूया तेण समं संपलग्गा। तेणं भण्णइ–नस्सामो जाव ण णज्जामु त्ति। सा भणइ–मम वयंसिया रायकण्णगा, तीए समं संगारो जहा दोहि वि एक्कभज्जाहि होयव्वं ति। तोऽहं तीए विणा ण वच्चामि। सो भणइ–सा वि आणिज्जउ। तीए कहियं, पडिस्सुयं च कक्षाए, पहाविया मल्लए पच्चूसे। तत्थ केण वि उग्गीयं–("जइ फुल्ला कणियारया चूयय ! ० " इत्यादिगाथा 'चूय' शब्दे तृतीयभागे १२०४ पृष्ठे सव्याख्या गता।) एवं च सोउं रायकण्णा चिंतेइ–एस चूओ वसंतेण उवालद्धो जइ कणियारो रुक्खाण अंतिमो पुप्फिओ ततो तव किं पुप्फिएण उत्तिमस्स ?, ण तुमे अहियमासघोसणा सुया ?, अहो ! सुट्ठु भणियं–जइ कोलिगिणी एवं करेइ तो किं मए वि कायव्वं ?, रयणकरंडओ वीसरिउ त्ति एएण छलेण पडिनियत्ता। तद्दिवसं च सामंतरायपुत्तो दाइयविप्परद्धो तं रायाणं सरणमुवगओ। रण्णा य से सा दिण्णा इट्ठा जाया। तेण ससुरसमग्गेण दाइए णिज्जिऊण रज्जं लद्धं। सा से महादेवी जाया। एसा दव्वणियत्ती। भावणियत्तीए दिट्ठंतस्स उवणओ–कण्णगत्थाणीया साहू.धुत्तत्थाणीएसु विसएसु आसज्जमाणा गीतत्थाणीएण आयरिएण जे समणुसिट्ठा णियत्ता ते सुगइं गया, इयरे दुग्गइं गया। बितियं उदाहरणं दव्वभावणियत्तणे–एगम्मि गच्छे एगो तरुणो गहणधारणासमत्थो त्ति काउं तं आयरिया वट्टाविंति। अण्णया सो असुहकम्मोदएण पडिगच्छामि त्ति पहाविओ, णिग्गच्छंतो य गीतं सुणेइ। तेण मंगलनिमित्तं उव–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओगो दिन्नो । तत्थ य तरुणा सुरजुवाणा इमं साहिणियं
गायंति—

" तरियव्वा य पइएणा, मरियव्वं वा समरे समत्थेणं ।
असरिसजणउल्लावा, न हु सहियव्वा कुलप्पसूएणं ॥१॥ "

अस्या अक्षरगमनिका-तरितव्या वा-निर्वोढव्या वा प्रतिज्ञा
मर्तव्यं वा समरे समर्थेन, असदृशजनोल्लापा नैव सोढव्याः
कुले प्रसूतेन । तथा केनचिन्महात्मनैतत्संवाद्युक्तम्—" लज्जां
गुणौघजननीं जननीमिवाऽऽर्या-मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमा-
नाः । तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति, सत्यस्थिति-
व्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ १ ॥ " गीतियाए भावत्थो-
जहा केइ लद्धजसा सामिसंमाणिया सुभडा रणे पहार-
श्रो विरया भज्जमाणा एगेण सपक्खजसावलंबिणा अ-
प्फालिया—ण सोहिस्सह पडिप्पहरा गच्छमाण त्ति ।
तं सोउं पडिनियत्ता, ते य पट्ठिया पडिया पराणीए, भग्गं
च, तेहिं पराणीयं, सम्माणिया य पहुणा, पच्छा सुभडवायं
सोभंति वहमाणा । एतं गीयत्थं सोउं तस्स साहुणो चिंता
जाया—एमेव संगामत्थाणीया पव्वज्जा जइ तत्रो परा-
भज्जामि तो असरिसजणेण हीलिस्सामि—एस समणगो
पच्चोगलिओ त्ति, पडिनियत्तो आलोइयपडिक्कंतेण आय-
रियाण इच्छा पडिपूरिया ५ । इयाणिं णिंदाए दोएहं कएण-
गाणं विइया कएणगा चित्तकरदारिया उदाहरणं कीरइ-ए-
गम्मि णयरे राया, अएणेसिं रायाणं चित्तसभा अत्थि मम
णत्थि त्ति जाणिऊण महइमहालियं चित्तसभं कारेऊण
चित्तकरसेणीए समप्पेइ । ते चित्तेन्ति । तत्थेगस्स चित्तगर-
स्स धूया भत्तं आणेइ, राया य रायमग्गेण आसेण वेग-
प्पमुक्केण एइ । सा भीया पलाया किहमवि फिडिया गया
पिया वि से ताहे सरीरचिंताए गओ, तीए तत्थ कोट्टिमे व-
एणएहिं मोरपिच्छं लिहियं । राया वि तत्थेव एगागिओ चं-
कमणियाओ करेति । सा वि अएणचित्तेण अच्छइ । रएणो
तत्थ दिट्ठी गया, गिएहामि त्ति हत्थो पसारिओ, णट्ठा दु-
क्खाविया, तीए हसियं, भणियं च रएणाए—तिहिं पाएहिं-
आसंदओ ण ठाइ जाव चउत्थं पायं मग्गंतीए तुमं सि लद्धो ।
राया पुच्छइ—किह त्ति ?, सा भएणइ—अहं च पिउणो-
भत्तं आणेमि, एगो य पुरिसो रायमग्गे आसेण वेगप्पमु-
क्केण एइ, ण से विएणाणं किह वि कंचि मारिज्जामि त्ति ।
तत्थाहं सएहिं पुएणेहिं जीविया, एस एगो पाओ । बिइओ,
पाओ राया, तेण चित्तकराणं चित्तसभा विरिक्का, तत्थ
इक्किक्के कुडुंबे बहुआ चित्तकरा मम पिया इक्कओ, तस्स
वि तत्तिओ चेव भागो दिन्नो । तइओ पाओ मम पिया,
तेण राउलियं चित्तसभं चित्तंतेण पुव्वविढत्तं णिट्ठवियं, सं-
पइ जो वा सो वा आहारो सो य सीयलो केरिसो होइ ?
तो आणीए सरीरचिंताए जाइ । राया भणइ—अहं किह
चउत्थो पाओ ?, सा भणइ—सव्वो वि ताव चिंतेइ—कुतो
इत्थ आगमो मोराणं ?, जइ वि ताव आणित्तिल्लयं होज्ज
तो वि ताव दिट्ठीए णिरिक्खिज्जइ, सो भणइ—सच्चयं
मुक्खो, राया गओ । पिउणा जिमिए सा घरं गता । रएणा
वरगा पेसिया, तीए पिया माया भणिया—देह ममं ति,
भएणइ य अम्हे दरिद्दाणि किह रएणो सपरिवारस्स पूयं
काहामो ?, दव्वस्स से रएणा घरं भरियं, दासी य रएणाए
सिक्खाविया—ममं रयणं संवाहिंती अक्खाणयं पुच्छि-
ज्जासि, जाहे राया सोउकामो, जा सामिणि ! राया पव-
ट्टइ किंचि ताव अक्खाणयं कहेहि, भणइ, कहेमि—एग-
स्स धूया, अलंघणिज्जा य जुगवं तिन्नि वरगा आगया ,
दक्खिएणेणं मातिभातिपितीहिं तिएह वि दिएणा, जएणता-
ओ आगयाओ । सा य रत्तिं अहिणा खइया मया, एगो
तीए समं दड्ढो, एगो अणसणं बइट्ठो, एगेण देवो आरा-
हिओ । तेण संजीवणो मंतो दिएणो, उज्जीवाविया,
ते तिएिण वि उवट्ठिया, कस्स दायव्वा ?, किं सक्का एक्का
दोएहं तिएहं वा दाउं? । तो अक्खाह त्ति, भणइ—निद्दाइया
सुवामि, कल्लं कहहामि । तस्स अक्खाणयस्स कोउह-
ल्लेणं बितियदिवसे तीसे चेव वारो आणत्तो, ताहे सा
पुणो पुच्छइ । भणइ—जेण उज्जियाविया सो पिया, जेण
समं उज्जीवाविया सो भाया, जो अणसणं बइट्ठो तस्स
दायव्व त्ति । सा भणइ—अएणं कहेहि । सा भणइ—एग-
स्स रएणो सुवएणकारा भूमिघरे मणिरयणकउज्जोया अ-
णिग्गच्छंता अंतउरस्स आभरणगाणि घडाविज्जंति । एगो
भणइ—का उण वेला वट्टइ ? , एगो भणइ—रत्ती वट्टइ,
सो कहं जाणइ ? , जो ण चंदं ण सूरं पिच्छइ, तो अ-
क्खाहि । सा भणइ-णिद्दाइया, बितियदिणे कहइ-सो र-
त्ति अंधत्तणेण जाणइ । अएणं अक्खाहि त्ति, भणइ—एगो
राया तस्स दुवे चोरा उवट्ठिया, तेण मंजूसाए पक्खि-
विऊण समुद्दे छूढा, ते कियच्चिरस्स वि उच्छल्लिया, ए-
गेण दिट्ठा मंजूसा, गहिया, विहाडिया, मणुस्से पेच्छइ ।
ताहे पुच्छिया-क इत्थो दिवसो छूढाणं ?, एगो भणइ-
चउत्थो दिवसो, सो कहं जाणइ ?, तहेव बीयदिणे कहे-
इ-तस्स चाउत्थजरो तेण जाणेइ । अएणं कहेइ—दो सव-
त्तिणीओ, एक्काए रयणाणि अत्थि, सा इयरीए ण विस्सं-
भइ मा हरेज्जा, तओऽएणाए जत्थ णिक्खमंती पविसंती
य पिच्छइ तत्थ घडए छोढूण ठवियाणि, ओलित्तो घ-
डओ । इयरीए वि रहं णाउं हरिउं रयणाणि, तहेव य घ-
डओ ओलित्तो । इयरीए णायं हरियाणि त्ति, तो कहं
जाणइ, ओलित्तए हरिताणि त्ति ?, बिइए दिवसे भणइ-
सो कायमओ घडओ, तत्थ ताणि पडिभासंति हरि-
एसु णत्थि । अएणं कहेहि, भणइ—एगस्स रएणो चत्तारि
पुरिसरयणाणि तं जहा-" नेमित्ती रहकारो, सहस्सजो-
ही तहेव विज्जो य । दिएणा चउएहं कएहा, परिणीया
नवरमेक्केण ॥ १ ॥ " कथं ?, तस्स रएणो अइसुंदरा धूया ,
सा केण वि विज्जाहरेण हडा, ण णज्जइ कुओऽवि
पिक्खिया, रएणा भणियं—जो कएणगं आणेइ तस्सेव सा ।
तओ णेमित्तिएण कहियं-अमुगं दिसं णीया, रहकारे-
ण आगासगमणो रहो कओ, तओ चत्तारि वि तं वि-
लग्गिऊण पहाविया । अम्मि (भि) ओ विज्जाहरो, सह-
स्सजोहिणा सो मारिओ, तेण वि मारिज्जंतेण दारि-
याए सीसं छिन्नं, विज्जेण संजीवणोसहीहिं उज्जिया-
विया, आणीया घरं । रएणा चउएह वि दिएणा । दारिया
भणइ-किह अहं चउएह वि होमि ?, तो अहं अग्गिं
पविसामि, जो मए समं पविसइ तस्साहं, एवं होउ-
त्ति, तीए समं को अग्गिं पविसइ ?, कस्स दायव्वा ?,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बितियदिणे भणइ-णिमित्तिणा णिमित्तेण णायं जहा एसा ण मरइ त्ति तेण अब्भुवगयं । इयरेहिं णिच्छियं, दारियाए चियट्ठाणस्स हेट्ठा सुरंगा खाणिया । तत्थ ताणि चियगाणुरूवणाणि कट्ठाणि दिण्णाणि । अग्गी रइओ जाहे ताहे ताणि सुरंगाए णिस्सिरियाणि, तस्स दिण्णा । अण्णं कहेहि, सा भणइ-एक्काए अविरइयाए पगरणं जंतिआए कडगा मग्गिया, ताहे रूवएहिं बंधएण दिन्ना, इयरीए धूयाए आविद्धा, वत्ते पगरणे ण चेव अल्लिवेइ । एवं कइवयाणि वरिसाणि गयाणि, कडइत्तएहिं मग्गिया । सा भणइ—देमि त्ति, जाव दारिया महती भूया ण सक्केति अवणेउं, ताहे ताए कडहत्तिया भणिया अण्णे वि रूवए देमि, मुयह, ते णेच्छंति । तो किं सक्का हत्था छिंदिउं ?, ताहे भणियं-अण्णे एरिसए चेव कडए घडावेउं देमो, तेऽवि णिच्छन्ति, ते चेव दायव्वा, कहं संठवेयव्वा ?, जहा य दारियाए हत्था ण छिंदिज्जंति, कहं तेसिमुत्तरं दायव्वं ?, आह तीए भणियव्वा अम्ह वि जइ ते चेव रूवए देह तो अम्हे वि ते चेव कडए देमो, एरिसाणि अक्खाणगाणि कहेंतीए दिवसे दिवसे राया छम्मासे आणीओ । सवत्तिणीओ से छिद्दाणि मग्गंति, सा य चित्तकरदारिया ओवरयं पविसिऊण एगाणिया चिराणए मणियए चीराणि य पुरओ काउं अप्पाणं णिंदइ, तुमं चित्तयरधूया सिया, एयाणि ते पितिसंतियाणि वत्थाणि आभरणाणि य, इमा सिरी रायसिरी, अण्णाओ उदिओदियकुलवंसप्पसूयाओ रायधूयाओ मोत्तुं राया तुमं अणुवत्तइ ता गव्वं मा काहिसि, एवं दिवसे दिवसे दारं ढक्केउं करेइ । सवित्तीहिं से कह वि णायं,ताओ रायाणं पायपडियाओ विण्णविंति-मारिज्जिहिसि एयाए कम्मणकारियाए । एसा अपवरए पविसिउं कम्मणं करेति, रण्णा जोइयं सुयं च । तुट्ठेण से महादेविपट्टो बद्धो, एसा दव्वणिंदा । भावणिंदाए साहुणा अप्पा णिंदियव्वो—जीव ! तुमे संसारं हिंडंतेणं निरयतिरियगईसुं कहमवि माणुसत्ते सम्मत्तणाणचरित्ताणि लद्धाणि, जेसिं पसाएण सव्वलोयमाणणिज्जो पूयणिज्जो य ता मा गव्वं काहिसि । जहा अहं बहुस्सुओ उत्तिमचरित्तो व त्ति ६ । दव्वगरिहाए पइमारियाए दिट्ठंतो—एगो मरुओ अज्झावओ, तस्स तरुणी महिला, सा बलिवइसदेवं करिंती भणइ—अहं काकाणं बिभेमि त्ति तओ उवज्झायनिउत्ता वट्टा दिवसे दिवसे धणुगेहिं गहिएहिं रक्खंति, बलिवइसदेवं करेंति । तत्थेगो वट्टो चिंतेइ ण एसा मुद्धा जा कागाण बिभेइ, असइया एसा, सो तं पडिचरइ । सा य णम्मदाए परकूले पिंडारो, तेण समं संपलग्गिया । अण्णया तं घडएणं णम्मयं तरंती पिंडारसगासं वच्चइ । चोरा य उत्तरंति, तेसिमेगो सुंसुमारेण गहिओ, सो रडइ, तीए भण्णइ—अच्छि ढोक्केहि त्ति, ढोक्किए मुक्को । तीए भणिओ—किं इत्थ कुतित्थेण उत्तिण्णा ?, सो खंडिओ तं मुणितो चेव णियत्तो । सा य बितियदिवसे बलिं करेइ, तस्स य वट्टस्स रक्खणवारओ, तेण भण्णइ—" दिया कागाण बीहेसि, रत्तिं तरसि णम्मयं । कुतित्थाणि य जाणासि, अच्छि ढोक्किणियाणि य ॥ १ ॥ " तीए भण्णइ-किं करेमि ?, तुम्हारिसा मे णिच्छंति, सा तं उवयरइ भणइ-ममं इच्छसु त्ति । सो भणइ-कहं उवज्झायस्स पुरओ ठाइस्संति ?, तीए चिंतियं-मारेमि एयं अज्झावयं-तो मे एस भत्ता भविस्सइ त्ति मारिओ । पेडियाए छुभेऊण अडवीए उज्झिउमारद्धा, वाणमंतरीए थंभिया अडवीए भमितुमारद्धा, छुहं ण सक्केइ अहियासिउं, तं च से कुणिमं गलति उवरिं, लोगेण हीलिज्जइ-पइमारिया हिंडइ त्ति । तीसे पुणरावत्ती जाया, ताहे सा भणइ—देह अम्मो ! पइमारियाए भिक्खं ति, एवं बहुकालो गओ । अण्णया साहुणीणं पाएसु पडंतीए पडिया पेडिया, पव्वइया । एवं गरहियव्वं जं दुच्चरियं ७ । इयाणिं सोहीए वत्थागया दोण्णि दिट्ठंता, तत्थ वत्थदिट्ठंतो—रायगिहे सेणिओ राया, तेण खोमजुगलं णिल्लेवगस्स समप्पियं, कोमुदियवारो य वट्टइ, तेण दोण्हं भज्जाणं अणुचरंतेण दिण्णं, सेणिओ अभओ य कोमुदीए पच्छण्णं हिंडंति, दिट्ठं, तंबोलेण सित्तं, आगयाओ, रयगेण अंबाडियाओ, तेण खारेण सोहियाणि गोसे आणावियाणि । सब्भावं पुच्छिएण कहियं रयएण । एस दव्वविसोही । एवं साहुणा वि अहीणकालमायरियस्स आलोएयव्वं, तेण विसोही कायव्व त्ति, अगओ जहा णमोक्कारे, एवं साहुणाऽवि णिंदाऽगएण अतिचारविसं ओसारेयव्वं, एसा विसुद्धी । " उक्तान्येकार्थिकानि । आव० ४ अ० । प्रायश्चित्ते, व्य० १ उ० । विशेषेण शोधिर्विशोधिः । शिष्येणालोचितेऽपराधे सति, तद्योग्यप्रायश्चित्तप्रदाने, ओघ० ।

उद्गमादिभिर्दोषैरविद्यमानतया वा विशुद्धिः—पिण्डचरणादीनां निर्दोषता सा उद्गमादिविशुद्धिः, उद्गमादीनां वा विशुद्धिर्या सा तथेति । इदमेवातिदिशन्नाह—

तिविहा विसोही पन्नत्ता, तं जहा-उग्गमविसोही उप्पायणविसोही एसणाविसोही । (सू०१९४×) स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

पंचविहा विसोही पण्णत्ता, तं जहा--उग्गमविसोही १, उप्पायणविसोही २, एसणाविसोही ३, परिकम्मविसोही ४, परिहरणविसोही ५ । (सू०४२५×) स्था० ५ ठा० २ उ० ।

दसविहा विसोही पन्नत्ता, तं जहा-उग्गमविसोही उप्पायणविसोही ०जाव सारक्खणविसोही । (सू० ७३८×) स्था । १० ठा० ३ उ० ।

तत्रोद्गमादिविशुद्धिः १-२-भक्तादेर्निरवद्यता, 'जाव' त्ति करणात् 'एसणे' ३ त्यादि वाच्यमित्यर्थः,तत्र परिकर्मणा-वसत्यादिसारचणलक्षणेन क्रियमाणेन विशुद्धिर्या संयमस्य सा परिकर्मविशुद्धिः ४ । परिहरणया-वस्त्रादेः शास्त्रीययाऽऽसेवनया विशुद्धिः परिहरणाविसुद्धिः ५, ज्ञानादित्रयविशुद्धयस्तदाचारपरिपालनातः ६-७-८, अचियत्तस्य-अप्रीतिकस्य विशोधिस्तन्निवर्तनादचियत्तविशोधिः ९, संरक्षणं संयमार्थम् उपध्यादेस्तेन विशुद्धिश्चारित्रस्येति संरक्षणविशुद्धिः १०, अथवोद्गमाद्युपाधिका दशप्रकाराऽपीयं चेतसो विशुद्धिर्विशुद्धयमानता भणितेति । स्था० १० ठा-३ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विसोहिकरण-विशोधिकरण-न०। अतिचारापगमादात्मनो नैर्मल्यकरणे, ध० २ अधि०।

विसोहिकोडि-विशोधिकोटि-स्त्री०। अल्पतरदोषदुष्टाया-मुद्गमादिदोषकोटौ, दश० ५ अ० १ उ०। नि० चू०।

विसोहिट्ठाण-विशोधिस्थान-न०। कर्ममलापनयनस्थाने, दश० ६ अ० १ उ०।

विसोहित्तए-विशोधयितुम्-अव्य०। उच्चारादिखरण्टितोपकरणादेः प्रक्षालनं कर्तुमित्यर्थे, स्था०२ ठा०१ उ०। पूयाद्यपनेतुमित्यर्थे, विपा० १ श्रु० ८ अ०।

विसोहिय-विशोधित-त्रि०। विविधमनेकप्रकारं शोधितो विशोधितः। कुमार्गप्ररूपणापनयनद्वारेण निर्दोषतां नीते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

विशोध्य-अव्य०। अपनीयेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०।

विसोहिया-विशोधिका-स्त्री०। विशुद्धिकारिण्याम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

विसोहेमाण-विशोधयत्-त्रि०। पादादिलग्नस्य निरवयवत्वं कुर्वति, शौचभावेन शोधयति, स्था०।

विस्स-विश्व-त्रि०। सर्वशब्दार्थे, स्था०१० ठा० ३ उ०। पो०। ऋषभदेवस्य षट्सप्ततितमे ७६ पुत्रे, कल्प०१ अधि०७ क्षण। स्वनामख्याते देवगणे, पूर्वाषाढानक्षत्रस्य विश्वेदेवा देवताः। चं० प्र० १० पाहु०। अनु०। जं०।

दो विस्सा। (सू० ६० ×) स्था० ५ ठा० ३ उ०।

विस्सउर-विश्वपुर-न०। स्वनामख्याते नगरभेदे, अथ विश्वपुरे धरणेन्द्रो राजा महेन्द्रः पुत्रः। ग० २ अधि०।

विस्सओमुह-विश्वतोमुख-न०। प्रतिसूत्रं चरणानुयोगाद्यनुयोगचतुष्टयव्याख्याक्रमे, "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं" मित्यादिश्लोके चत्वारोऽनुयोगा व्याख्यायन्ते। अनन्तार्थत्वाद् वा अनेकमुखे, अनु०। विशे०। आ०म०। सर्वतोऽधिकृतार्थप्रयच्छके, बृ० १ उ० १ प्रक०।

विस्संता-विश्रान्ता-स्त्री०। योगसमापत्तिभेदे, सा च निर्विचारसमाधिपर्यन्ते ग्राह्यसमापितरूपा। द्वा० २० द्वा०।

विस्संतिअतित्थ-विश्रान्तिकतीर्थ-न०। मथुरास्थतीर्थभेदे, ती० ८ कल्प।

विस्संदण-विस्यन्दन-न०। कणिकानिष्पन्नद्रव्यविशेषे, ध० २ अधि०।

विस्संभ-विश्रम्भ-पुं०। विश्वासे, व्य० ३ उ०।

विस्संभघाइ-विश्रम्भघातिन्-त्रि०। विश्वासघातके, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

विस्संभण-विश्रम्भण-न०। विश्वासे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०।

विस्संभर-विश्वम्भर-पुं०। भुजपरिसर्पभेदे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। नं०। प्रज्ञा०।

विस्संभिय-विश्वभृत्-पुं०। विन्दुरलाक्षणिकः विश्वं-जगत् बिभर्ति-पूरयति क्वचित्कदाचिदुत्पत्त्या सर्वजगद्व्यापनेनेति विश्वभृत्। जीवे, एकैकेन जीवेन विश्वस्मिन्ननेकशो भ्रान्तत्वात्, उक्तं च-"णत्थि किर सो पदेसो, लोए वालग्गकोडिमेत्तोऽवि। जम्मणमरणं वाहा, जत्थ जिएहिं न संपत्ता" उत्त० ३ अ०।

विस्सकप्पलया-विश्वकल्पलता-स्त्री०। फलवर्द्धिकास्थाने पार्श्वनाथप्रतिमायाम्, ती० ४३ कल्प।

विस्सकम्म-विश्वकर्मन्-पुं०। देवत्वष्टरि ऋषभदेवस्य चतुर्थे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। स्वनामख्याते नटभेदे, पिं०।

विस्सगय-विश्वगज-पुं०। कुक्कुटेश्वरतीर्थे पार्श्वनाथप्रतिमायाम्, ती० ४३ कल्प।

विस्सतिलग-विश्वतिलक-पुं०। चम्पायां वासुपूज्यजिनप्रतिमायाम्, ती० ४३ कल्प।

विस्सभूइ-विश्वभूति-स्त्री०। वीरजिनसत्कषोडशभवीयजीवविश्वनन्दिभ्रातृविशाखनन्दियुवराजपुत्रे, कल्प० १ अधि० २ क्षण। ती०। आ० म०। आ० चू०। ('मरीइ' शब्दे ६ भागे विशेषः)

विस्सर-विस्वर-त्रि०। विकृतशब्दे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। विरूपशब्दस्वरूपे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

विस्सरूव-विश्वरूप-त्रि०। नानाविधे, विशे०।

विस्सवत्थु-विश्ववस्तु-न०। कालत्रयवर्तिसामान्यविशेषात्मकपदार्थे, रत्ना० १ परि०।

विस्सवाइ-विश्ववादिन्-पुं०। सर्ववादिनि, वीरजिनेन्द्रवादिनामन्यतमे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

विस्ससेण-विश्वसेन-पुं०। ऋषभदेवस्य चतुःषष्टितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि०७ क्षण। शान्तिनाथस्य पितरि, प्रव० १२ द्वार। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे जातस्य पञ्चमचक्रवर्तिनः पितरि, स०। अहोरात्रस्यैकोनविंशतितमे मुहूर्त्ते, सू० प्र० १० पाहु०।

विस्साणण-विश्राणन-न०। दाने, आ० म० १ अ०। आचा०।

विस्साम-विश्राम-पुं०। विश्रम्यते-विरम्यते गलमेतेषु, इति विश्रामाः। प्रणिपातदण्डकादिसंपत्सु विश्रमणस्थानेषु, प्रव० १ द्वार। चित्तस्याश्वासने, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

विस्सामणा-विश्रामणा-स्त्री०। श्रमापनयनसंवाधनादिरूपायां (ध० २ अधि०) शीतोदकादिना (नि० चू० ३ उ०।) अङ्गसंवाधनायाम्, प्रव० ३८ द्वार।

विस्सुय-विश्रुत-त्रि०। विख्याते, संथा०। औ०।

विस्सुयकित्तिय-विश्रुतकीर्तिक-त्रि०। प्रतीतख्यातिके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

विस्सुयजस-विश्रुतयशस्-त्रि०। ख्यातकीर्त्तौ, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। प्रति०।

विस्सोअ(सि)सिआ-विश्रोतसिका-स्त्री०। संयमस्पर्शमङ्गीकृत्याध्यवसायसलिलस्य विश्रोतोगमने, श्रा०। प्रा०। अपध्याने, दर्श० ४ तत्त्व।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विस्सोअ[सि]स्सिआरहिय-विश्रोतसिकारहित-त्रि०।संयमानुसारिचिंतोविघातवर्जिते, पं० व० ३ द्वार।

विह-विह-पुं०। अनेकाहगमनीये पथि, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ०। अध्वनि, नि० चू० १ उ०। अटवीप्राये दीर्घे अध्वनि, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ०।

विघ-न०। विधीयते क्रियते कार्यजातमस्मिन्निति विधम्। आकाशे, भ० २० श० २ उ०।

विहायस्-न०। विशेषेण हीयते त्यज्यते तदिति विहायः। आकाशे, भ० २० श० २ उ०।

विहई-देशी-वृन्ताक्याम्, दे० ना० ७ वर्ग ६३ गाथा।

विहंगम-विहङ्गम-पुं०। विहायसा गच्छतीति विहङ्गमः। पक्षिणि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

एमेए समणा वुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥ ३ ॥

('धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६५८ पृष्ठे व्याख्यातमिदं सूत्रम्।) अवयवार्थं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या प्रतिपादयति—तत्रापि च विहङ्गमं व्याचष्टे-स द्विविधः—द्रव्यविहङ्गमो, भावविहंगमश्च। तत्र तावद् द्रव्यविहङ्गमं प्रतिपादयन्नाह—

धारेइ तं तु दव्वं, तं दव्वविहङ्गमं वियाणाहि।
भावे विहंगमो पुण, गुणसन्नासिद्धिओ दुविहो ॥११७॥

धारयति—आत्मनि लीनं धत्ते तत्तु द्रव्यमित्यनेन पूर्वोपात्तं कर्म निर्दिशति, येन हेतुभूतेन विहंगमेषूत्पस्यत इति। तुशब्द एवकारार्थः। अस्थानप्रयुक्तश्च, एवं तु द्रष्टव्यः-धारयत्येव, अनेन च धारयत्येव यदा तदा द्रव्यविहङ्गमो भवति नोपभुङ्क्त इत्येतदावेदितं भवति, द्रव्यमिति चात्र कर्मपुद्गलद्रव्यं गृह्यते, न पुनराकाशादि, तस्यामूर्त्तत्वेन धारणायोगात्, संसारिजीवस्य च कथंचिन्मूर्त्तत्वेऽपि प्रकृतानुपयोगित्वात्। तथाहि—यदसौ भवान्तरं नेतुमलं, यच्च विहङ्गमहेतुतां प्रतिपद्यते तदत्र प्रकृतम्, न चैवमन्यः संसारिजीव इति, तं द्रव्यविहंगममित्यत्र यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धादन्यतरोपादानेनान्यतरपरिग्रहादयं वाक्यार्थ उपजायते—धारयत्येव तद् द्रव्यं यस्तं द्रव्यविहङ्गममिति। द्रव्यं च तद्विहङ्गमश्च स इति द्रव्यविहंगमः, द्रव्यं जीवद्रव्यमेव, विहंगमपर्यायेणाऽऽवर्त्तनाद्, विहंगमस्तु कारणे कार्योपचारादिति। तं विजानीहि-अनेकैः प्रकारैरागमतो ज्ञाताऽनुपयुक्त इत्येवमादिभिर्जानीहि। दश०। (भावविहंगमव्याख्या 'भाव' शब्दे पञ्चमभागे १४६० पृष्ठे गता।) तस्मिन् भावे कर्मविपाकलक्षणे, किम्? —विहङ्गमो—वक्ष्यमाणशब्दार्थः, पुनः शब्दो विशेषणे, न पूर्वस्मादत्यन्तमयमन्य एव जीवः, किं तु स एव जीवस्त एव पुद्गलास्तथाभूता इति विशेषयति, गुणश्च संज्ञा च गुणसंज्ञे, गुणः—अन्वर्थः संज्ञा-पारिभाषिकी ताभ्यां सिद्धिः गुणसंज्ञासिद्धिः, सिद्धिशब्दः सम्बन्धवाचकः, तथा च लोकेऽपि "सिद्धिर्भवतु" इत्युक्ते इष्टार्थसम्बन्ध एव प्रतीयत इति, तया गुणसंज्ञासिद्धया हेतुभूतया, किम्?—द्विविधो—द्विप्रकारः, गुणसिद्धया-अन्वर्थसम्बन्धेन तथा संज्ञासिद्धया च—यदृच्छाभिधानयोगेन च। आह—यद्येवं द्विविध इति न वक्तव्यम्, गुणसंज्ञासिद्धयेत्यनेनैव द्वैविध्यस्य गतत्वात्, न, अनेनैव प्रकारेणेह द्वैविध्यम्, आगमनोआगमादिभेदेन नेति ज्ञापनार्थमिति गाथार्थः ॥ ११७ ॥

तत्र 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायमाश्रित्य गुणसिद्धया यो भावविहङ्गमस्तमभिधित्सुराह—

विहमागासं भण्णइ, गुणसिद्धी तप्पइट्ठिओ लोगो।
तेण उ विहङ्गमो सो, भावत्थो वा गई दुविहा ॥११८॥

विजहाति-विमुञ्चति जीवपुद्गलानिति विहं, ते हि स्थितितयात्स्वयमेव तेभ्यः-आकाशप्रदेशेभ्यश्च्यवन्ते, तांश्च्यवमानान्विमुञ्चतीति, शरीरमपि च मलगण्डोलकादिविमुञ्चत्येव (इति) मा भूत् संदेह इत्यत आह—आकाशं भण्यते, नशरीरादि संज्ञाशब्दत्वात्, आकाशन्ते-दीप्यन्ते स्वधर्मोपेता आत्मादयो यत्र तदाकाशम्, किम्?—संतिष्ठत इत्यादि क्रियाव्यपोहार्थमाह—भण्यते-आख्यायते। गुणसिद्धिरित्येतत्पदं गाथाभङ्गभयादस्थाने प्रयुक्तम्, संबन्धश्चास्य 'तेन तु विहंगमः' 'स' इत्यत्र तेन त्वित्यनेन सह वेदितव्य इति। ततश्चायं वाक्यार्थः—तेन तुशब्दस्यैवकारार्थत्वेनावधारणार्थत्वाद्येन विहमाकाशं भण्यते तेनैव कारणेन गुणसिद्धया—अन्वर्थसम्बन्धेन विहङ्गमः। कोऽभिधीयत? इत्याह—तत्प्रतिष्ठितो लोकः, तदित्यनेनाकाशपरामर्शः, तस्मिन्नाकाशे प्रतिष्ठितः तत्प्रतिष्ठितः, प्रतिष्ठति स्म प्रतिष्ठितः—प्रकर्षेण स्थितवानित्यर्थः, अनेन स्थितः स्थास्यति चेति गम्यते। कोऽसावित्थमित्यत आह—लोकः लोक्यत इति लोकः, केवलज्ञानभास्वता दृश्यत इत्यर्थः। इह धर्मादिपञ्चास्तिकायात्मकत्वेऽपि लोकस्याकाशास्तिकायस्याधारत्वेन निर्दिष्टत्वाच्चत्वार एवास्तिकाया गृह्यन्ते, यतो निर्युक्तिकारेणाभ्यधायि-'तत्प्रतिष्ठितो लोकः' 'विहङ्गमः स' इत्यत्र विहे-नभसि गतो गच्छति गमिष्यति चेति विहङ्गमः, गमिरयमनेकार्थत्वाद्धातूनामवस्थाने वर्त्तते, ततश्च विहे स्थितवांस्तिष्ठति स्थास्यति चेति भावार्थः। स इति चतुरस्तिकायात्मकः,भावार्थ इति-भावश्चासावर्थश्च भावार्थः,अयं भावविहङ्गम इत्यर्थः। उक्त एकेन प्रकारेण भावविहङ्गमः, पुनरपि गुणसिद्धिमन्येन प्रकारेणाभिधातुकाम आह-' वा गतिर्द्विविधेति,' वाशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, एवं तु द्रष्टव्यः—गतिर्वा द्विविधेति, तत्र गमनं गच्छति वाऽनयेति गतिः, द्वे विधे यस्याः सेयं द्विविधा, द्वैविध्यं वक्ष्यमाणलक्षणमिति गाथार्थः ॥ ११८ ॥

तथा चेदमेव द्वैविध्यमुपदर्शयन्नाह—

भावगई कम्मगई, भावगई पप्प अत्थिकाया उ।
सव्वे विहंगमा खलु, कम्मगईए इमे भेया ॥ ११९ ॥

भवन्ति भविष्यन्ति भूतवन्तश्चेति भावाः, अथवा—भवन्त्येतेषु स्वगता उत्पादविगमध्रौव्याख्याः परिणामविशेषा इति भावाः—अस्तिकायास्तेषां गतिः—तथा परिणामवृत्तिर्भावगतिः, तथा कर्मगतिरित्यत्र क्रियत इति कर्म—ज्ञानावरणादि पारिभाषिकम्, क्रिया वा। कर्म च तद्गतिश्चासौ कर्मगतिः, गमनं गच्छत्यनया चेति गतिः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्र 'भावगतिं प्राप्य अस्तिकायास्तु' इति अत्र भावगतिः पूर्ववत्तां प्राप्य—अभ्युपगम्याश्रित्य, किम् ? 'अस्तिकायास्तु' धर्मादयः, तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, तस्य च व्यवहितः प्रयोगः, भावगतिमेव प्राप्य न पुनः कर्मगतिं, सर्वे विहङ्गमाः खलु सर्वे—चत्वारः नाकाशमाधारत्वात्। विहङ्गमा इति—विहं गच्छन्त्यवतिष्ठन्ते स्वसत्तां बिभ्रतीति विहङ्गमाः । खलुशब्दोऽवधारणे, विहंगमा एव, न कदाचिन्न विहंगमा इति , कर्मगतेःप्राग्निरूपितशब्दार्थायाः, किम् ?—इमौ भेदौ—वक्ष्यमाणलक्षणाविति गाथार्थः ॥ ११६ ॥

तावेवोपदर्शयन्नाह—

विहगगई चलणगई, कम्मगई उ य समासओ दुविहा ।
तदुदयवेययजीवा, विहंगमा पप्प विहगगई ॥ १२० ॥

इह गम्यतेऽनया नामकर्मान्तर्गतया प्रकृत्या प्राणिभिरिति गतिः , विहायसि—आकाशे गतिर्विहायोगतिः , कर्मप्रकृतिरित्यर्थः, तथा चलनगतिरिति, चलिरयं परिस्पन्दने वर्त्तते, चलनं स्पन्दनमित्येकोऽर्थः , चलनं च तद्गतिश्च सा चलनगतिः—गमनक्रियेति भावः । कर्मगतिस्तु समासतो द्विविधेत्यत्र तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, कर्मगतिरेव द्विविधा न भावगतिः, तस्या एकरूपत्वेन व्याख्यातत्वात्, तत्र 'तदुदयवेदकजीवा' इति। अत्र तदित्यनेनानन्तरनिर्दिष्टां विहायोगतिं निर्दिशति, तस्या—विहायोगतेः उदयस्तदुदयो विपाक इत्यर्थः, तथा वेदयन्ति—निर्जरयन्ति उपभुञ्जन्तीति वेदकाः तदुदयस्य वेदकाश्च ते जीवाश्चेति समासः । आह—तदुदयवेदका जीवा एव भवन्तीति विशेषणानर्थक्यम् , नजीवानां वेदकत्वावेदकत्वयोगेन सफलत्वात्, अवेदकाश्च सिद्धा इति। 'विहङ्गमाः प्राप्य विहायोगति' मिति अत्र विहे विहायोगतेरुदयादुद्गच्छन्तीति विहङ्गमाः, प्राप्य-आश्रित्य, किं प्राप्य ?—विहायोगतिम्—विहायोगतिरुक्ता तां, विपर्ययस्त्वान्यत्त्वराएयेवं तु द्रष्टव्यानि—विहायोगतिं प्राप्य तदुदयवेदकजीवा विहंगमा इति गाथार्थः ॥ १२० ॥

अधुना द्वितीयकर्मगतिभेदमधिकृत्याह—

चलनं कम्मगई खलु, पडुच संसारिणो भवे जीवा ।
पोग्गलदव्वाइं वा, विहंगमा एस गुणसिद्धी ॥ १२१ ॥

चलनं—स्पन्दनं, तेन कर्मगतिर्विशेष्यते, कथम् ?—चलनाख्या या कर्मगतिः सा चलनकर्मगतिः, एतदुक्तं भवति—कर्मशब्देन क्रियाऽभिधीयते' सैव गतिशब्देन सैव चलनशब्देन च । तत्र गतिविशेषणं क्रिया क्रियाविशेषणं चलनम्। कुतः ?—व्यभिचाराद् , इह गतिस्तावन्नरकादिका भवति अतः क्रियया विशेष्यते, क्रियाऽप्यनेकरूपा भोजनादिका ततश्चलनेन विशेष्यते, अतश्चलनाख्या कर्मगतिश्चलनकर्मगतिस्ताम्, अनुस्वारोऽलाक्षणिकः, खलुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, चलनकर्मगतिमेव , न विहायोगतिं, प्रतीत्य—आश्रित्य, किम् ?-संसरणं-संसारः, संसरणं—ज्ञानावरणादिकर्मयुक्तानां गमनं, स एषामस्तीति संसारिणः, अनेन सिद्धानां व्युदासः, भवे इति-अयं शब्दो भवेयुरित्यस्यार्थे प्रयुक्तः, जीवा—उपयोगादिलक्षणाः ततश्चायं वाक्यार्थः—चलनकर्मगतिमेव प्रतीत्य संसारिणो भवेयुर्जीवा विहंगमा इति , विहं गच्छन्ति-चलन्ति सर्वैरात्मप्रदेशैरिति विहंगमाः। तथा 'पुद्गलद्रव्याणि वे' त्यादि, पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः, पुद्गलाश्च ते द्रव्याणि च तानि पुद्गलद्रव्याणि, द्रव्यग्रहणं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम् , तथा चैते पुद्गलाः कैश्चिदद्रव्याः सन्तोऽभ्युपगम्यन्ते, 'सर्वे भावा निरात्मानः ' इत्यादिवचनाद् , अतः पुद्गलानां परमार्थसद्रूपताख्यापनार्थं द्रव्यग्रहणम् , वाशब्दो विकल्पवाची, पुद्गलद्रव्याणि वा संसारिणो वा जीवा विहंगमा इति । तत्र जीवानधिकृत्यान्वर्थो निदर्शितः, पुद्गलास्तु विहं गच्छन्तीति विहंगमाः, तच्च गमनमेषां स्वतः परतश्च संभवति , अत्र स्वतः परिगृह्यते, विहंगमा इति च प्राकृतशैल्या जीवापेक्षया वोक्तम्, अन्यथा द्रव्यपक्षे विहंगमानीति वक्तव्यम् , एष भावविहङ्गमः, कथम् ?—गुणसिद्ध्या-अन्वर्थसम्बन्धेन, प्राकृतशैल्या वाऽन्यथोपन्यास इति गाथार्थः ॥ १२१ ॥

एवं गुणसिद्ध्या भावविहङ्गम उक्तः , साम्प्रतं संज्ञासिद्ध्या अभिधातुकाम आह—

सन्नासिद्धिं पप्पा, विहंगमा होंति पक्खिणो सव्वे ।(१२२)

संज्ञानं संज्ञा नाम रूढिरिति पर्यायाः तया सिद्धिः संज्ञासिद्धिः, संज्ञासंबन्ध इति यावत्, तां संज्ञासिद्धिं प्राप्यआश्रित्य, किम् ?—विहे गच्छन्तीति विहंगमा भवन्ति,के?—पक्षा येषां सन्ति ते पक्षिणः , सर्वे—समस्ता हंसादयः, पुद्गलादीनां विहंगमत्वे सत्यप्यमीषामेव लोके प्रतीतत्वात् । दश० १ अ० ।

विहग–विहग–पुं० । पक्षिणि, अनु० । व्य० । तं० । कल्प० । स्था० । रा० । " विहग इव सव्वओ विप्पमुक्को , " विहग इव सर्वतो विप्रमुक्तः निष्परिग्रह इत्यर्थः । प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

विहगगइ–विहायोगति–स्त्री० । गमनं गतिः सा पुनरत्र पादादिविहरणात्मिका देशान्तरप्राप्तिहेतुर्द्वीन्द्रियादीनां प्रवृत्तिरभिधीयते नैकेन्द्रियाणां , पादादेरभावात् । कर्म० १ कर्म० । विहायसा-आकाशेन गतिर्विहायोगतिः । आकाशगमने, कर्म० १ कर्म० । सा द्विधा-शुभा प्रशस्ता , अशुभाअप्रशस्ता । क्रमेणोदाहरणमाह-'वसुट्ठ' त्ति वृषो, वृषभः सौरभेयो बलीवर्द इति यावत् ततो वृषस्य उपलक्षणत्वाद्गजकलभराजहंसादीनां प्रशस्ता विहायोगतिः , उष्ट्रः-करभः क्रमेलक इति यावत्ततः उष्ट्रस्य उपलक्षणत्वात् खरतिड्डादीनामप्रशस्ता विहायोगतिरिति । कर्म० १ कर्म० ।

विहगगइणाम–विहायोगतिनामन्–न०। विहायोगतिनिबन्धनं नामकर्म । नामकर्मभेदे, यतः शुभेतरगमनयुक्तो भवति । स० २ सम० । कर्म० । विहायसा गतिर्गमनं विहायोगतिः । ननु सर्वगतत्वाद्विहायसस्ततोऽन्यत्र गतिरेव न संभवतीति किमर्थं विहायसा विशेषणम् ?, सत्यमेतत्, किं तु यदि गतिरित्येवोच्येत तर्हि नाम्नः प्रथमप्रकृतिरपि गतिरस्तीति पौनरुक्त्याशङ्का स्यात्ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विहायसा विशेषणम् , विहायसा गतिः, न तु नारकत्वादिपर्यायपरिणतिरूपा गतिः विहायोगतिस्तन्निबन्धनं नाम विहायोगतिनाम ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत् द्विविधं-प्रशस्तविहायोगतिनाम, अप्रशस्तविहायोगतिनाम। तत्र यदुदयाज्जन्तोः प्रशस्ता विहायोगतिर्भवति, यथा हंसादीनां तत् प्रशस्तविहायोगतिनाम, यदुदयात्पुनरप्रशस्ता विहायोगतिर्भवति यथा खरोष्ट्रमहिषादीनां तदप्रशस्तविहायोगतिनाम। कर्म० ६ कर्म०। पं० सं०।

विहगगइपव्वज्जा-विहगगतिप्रव्रज्या-स्त्री०।परिजन्यायत्त परिवारादिवियोगनैकाकिना देशान्तरगमनेन च या सा विहगगतिप्रव्रज्या। प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा०३ उ०।

विहग्ग-देशी-पिङ्गने, दे० ना० ७ वर्ग ६३ गाथा।

विहट्टु-विहत्य-अव्य०।नाशयित्वेत्यर्थे, 'अंदूसु पक्खी य विहट्टु देहं'। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

विहत्थि-वितस्ति-स्त्री०।"वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे हः" ॥ ८ । १ । २१४॥ इति तस्य हः। प्रा०। विस्तृताङ्गुलिहस्ते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।"बारस अंगुलाइं विहत्थी" भ० ६ श० ७ उ०। द्वादशाङ्गुलप्रमाणा वितस्तिः। प्रव०२५४ द्वार। द्वादशाङ्गुलानि वितस्तिः। द्वौ पादौ वितस्तिः। अनु०। जं०।

विहम्ममाण-विहन्यमान-त्रि०। विविधं परीषहोपसर्गैर्हन्यमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०।

विहम्मेमाण-विधर्मयत्-त्रि०। स्वाचारभ्रंशान् कुर्वति, विपा० १ श्रु० १ अ०।

विहय-विहत-त्रि०।विशेषतस्ताडिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

विहरण-विहरण-न०।विचरणे,प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। क्रीडने, 'धातवोऽर्थान्तरेऽपीति' विपूर्वो हरतिः क्रीडायाम्। प्रा०। विजनत्वे, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

विहरंत-विहरत्-त्रि०। निष्प्रतिबन्धकत्वेनानियतं विचरति, उत्त० २ अ०। 'विहरंता वि य दुविहा, गच्छगया गच्छनिग्गया चेव' ओघ०।

विहयपव्वज्जा-विहतप्रव्रज्या-स्त्री०। दारिद्र्यादिभिररिभिर्वा विहतस्य प्रव्रज्यायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

विहरिअ-देशी-सुरते, दे० ना० ७ वर्ग ७० गाथा।

विहरियव्व-विहर्त्तव्य-त्रि०। साधुना चरितव्ये,प्रश्न०३ संव० द्वार।

विहरेमाण-विहरत्-त्रि०। विहारेण ग्रामादिषु अवतिष्ठमाने, रा०।

विहल-विफल-त्रि०।अप्राप्तेप्सितार्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

विह्वल-त्रि०। "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्"। ८।१।१७७। इति वलोपः। "ह्वोः" ॥८।२।६३॥ इति हस्य द्वित्वं न। विभ्रान्ते, प्रा० २ पाद।

विहल्ल-विहल्ल-पुं०। मगधराजश्रेणिकस्य चेल्लणागर्भजे हल्लेन सह यमलजे पुत्रे, भ० ७ श० ३ उ०। आव०। आ०। क०। आ० चू०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य द्वादश वर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य मृत्वा विजये कल्पे देवत्वेनोपपद्य महाविदेहे वर्षे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकदशानां प्रथमे वर्गे अष्टमेऽध्ययने सूचितम्।)

विहवण-विधवन-न०। विनाशे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

विहवा-विधवा-स्त्री०। धवो मनुष्यः स विनष्टो यस्या इति समासः। ओघ०। मृतपतिकायां नार्याम्, व्य० ३ उ०। ज्ञा०।

विहसिय-विहसित-न०। अर्द्धहसितादौ, ज्ञा०१ श्रु० ६ अ०।

विहसिअ-देशी-विकसिते, दे० ना० ७ वर्ग ६१ गाथा।

विहा-विधा-स्त्री०। विधानं विधा। उपसर्गादातः।५।३।११०। इत्यङ् प्रत्ययः। नं०। विधाने, भेदे, विशे०। प्रकारे, अनु०। सूत्र०। आचा०। स्था०। ज्ञा०।

विहाड-विघाट-त्रि०। विकटे, व्य० १ उ०।

विहाडग-विघाटक-त्रि०। चूर्णके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ०१उ०।

विहाडजणपज्जुवासण-विहाटजनपर्युपासन-न०। विहाटयति दीप्यमानाञ्छ्रोत्रबुद्धौ प्रकाशमानानर्थान् दीपयति प्रकाशयतीति विहाटः। विहाटश्चासौ जनश्चतुर्दशपूर्वविदादिलोकः, तस्य पर्युपासनम्-' कारणे कार्योपचारात्' सेवाजनिततद्व्याख्यानम्। वह्वागमव्याख्याने, सम्म० ३ काण्ड।

विहाडण-देशी-अनर्थे, दे० ना० ७ वर्ग ७१ गाथा।

विहाडिय-देशी-विनाशिते, जी० १ प्रति०।

विहाण-विधान-न०। भेदे, आव, ४ अ०। प्रकारे, आव० ४-अ०। विशे०। नि० चू०। पं० व०। आचा०। प्रश्न०। सम्पादने, षो० ६ विव०। स्था०। विविक्षमितरव्यवच्छिन्नं धानं पोषणं स्वरूपस्य यत्तत् प्रतीत्य सामान्यचिन्तामाश्रित्येति शेषः, कृष्णो नील इत्यादिप्रतिनियतो वर्णविशेष इति यावत्। इतरव्यवच्छेदकतयाऽर्थपोषणे, जी० १ प्रति०। विधि-प्रभातयोः, दे० ना० ७ वर्ग ६० गाथा।

विहान-न०। परित्यागे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

विहाणग-विधानक-न०। स्वार्थे कः। भेदे,प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

विहाणाएस-विधानादेश-पुं०। भेदप्रकारे, भ० २५ श० ४ उ०। समुदितानामप्येकैकस्यादेशने, भ० २५ श० ३ उ०।

विहाणु-विभात-न०। प्रातःकाले; "शीघ्रादीनां वहिल्लादयः" ॥८।४।४२२॥ इति विभातस्थाने विहाणु इत्यादेशः। "ढोल्ला मइ तुहु वारिआ, मा करु दीहा माणु। निद्दएँ गमिही रत्तडी, दडवड होइ विहाणु।" प्रा० ४ पाद।

विहाय-विहाय-अव्य०। विमुच्येत्यर्थे, पञ्चा० ६ विव०। त्यक्त्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

विहायस्-न०। आकाशे, औ०।

विहायगइ-विहायोगति-स्त्री०। स्पृशद्गत्यादिके गतिभेदे, भ० ८ श० ७ उ०। प्रव०।

विहायस-विहायस्-पुं०। मगधराजश्रेणिकमहाराजस्य चेल्लणादेवीगर्भसम्भूते स्वनामख्याते राज्ञि,अणु०।(स च वीरान्ति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के प्रव्रज्य द्वादश वर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य विजये देवलोके उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां प्रथमे वर्गे षष्ठेऽध्ययने सूचितम्।)

विहार-विहार-पुं०। विहरणं विहारः। मनुष्यत्वेनावस्थाने, उत्त० १४ अ०। क्रीडायाम्, स्था० ८ ठा० ३ उ०। पकराऽऽदिना विचित्रक्रीडायाम्, प्रश्न० १ संव० द्वार। सूत्र०। स्था०। विचरणे, स्था० ७ ठा० ३ उ०। मुनिचर्यायाम्, ग० १ अधि०। व्य०। मासकल्पादौ, आव० ४ अ०। सूत्र०।

(१) विहारनिक्षेपमाह—

नामं ठवणा दविए, भावे य चउव्विहो विहारो होई।
विविहपगारेहि रयं, हरई जम्हा विहारो उ ॥२१॥

नामविहारः, स्थापनाविहारः, द्रव्ये—द्रव्यनिमित्तं द्रव्यभूतो विहारो द्रव्यविहारः, भावे-भावविहारः, एवमेष विहारश्चतुर्विधो भवति। इह च नोआगमतो भावविहारेण गीतार्थेनाऽधिकारः, न शेषैः, ततस्तमधिकृत्य व्युत्पत्तिमाह—यस्माद्विविधैरनेकैः प्रकारै रजः-कर्म्म हरति तस्माद्विहार इत्युच्यते। विविधं ह्रियते रजः-कर्म्मानेनेति विहारः, अकर्त्तरि घञिति व्युत्पत्तेः।सम्प्रति नामादिभेदा व्याख्येयाः। तत्र यस्य विहार इति नाम स नामविहारः।स्थापनाविहारश्चित्रकर्म्मण्यन्यत्र वा आलिख्यमानः स्थापनाविहारः। द्रव्यविहारो द्विधा—आगमतो, नोआगमतश्च। तत्रागमतो विहारशब्दार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः। नोआगमतस्त्रिधा-ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्वत्।

तद्व्यतिरिक्तमाह—

आहारादीणट्ठा, जो उ विहारो अगीयपासत्थे।
जो याऽवि अणुवउत्तो, विहरइ दव्वे विहारो उ ॥२२॥

यो नाम आहारादीनामाहारोपधिप्रभृतीनामर्थायोत्पादनाय अगीतानाम्-अगीतार्थानां पार्श्वस्थानां च, गाथायां च समाहारद्वन्द्वः षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदाच्च सप्तम्या निर्देशः, तथा-योऽप्यनुपयुक्तः सन् विहरति एष सर्वोऽपि द्रव्यविहारः, आद्यो द्रव्यनिमित्तत्वात् द्रव्यविहारः। द्वितीयोऽनुपयुक्तत्वादिति उक्तो द्रव्यविहारः। भावविहारो द्विधा-आगमतो,नोआगमतश्च। तत्राऽऽगमतो विहारशब्दार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतो भावविहारो द्विधा—गीतार्थो, निश्रितश्च।

तथा चाह—

गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थनिस्सितो होइ।
एत्तो तइयविहारो, नाऽणुण्णातो जिणवरेहिं ॥२३॥

विहारः प्रथमो भवति गीतार्थः-गीतार्थसाध्यात्मको, द्वितीयो गीतार्थनिश्रितः—गीतार्थस्य निश्रा—संश्रयणं गीतार्थनिश्रा,सा सञ्जाताऽस्येति। पाठान्तरं गीतार्थमिश्रित इति,तत्र गीतार्थसंयुक्त इति व्याख्येयम्।इतः-आभ्यां गीतार्थ-गीतार्थनिश्रिताभ्यामन्यस्तृतीयो विहारो नानुज्ञातो जिनवरेन्द्रैः।

(२) तत्र गीतार्थं गीतार्थनिश्रितं च विहारमाह-

जिणकप्पितो˘ गीयत्थो,परिहारविसुद्धितो वि गीयत्थो।
गीयत्थे इड्ढिदुगं, सेसं गीयत्थनिस्साए ॥ २४ ॥

गीतार्थो द्विविधास्तद्यथा—गच्छगता, गच्छनिर्गताश्च। तत्र 'गच्छनिर्गता इमे' जिनकल्पिको गीतार्थः, परिहारविशुद्धिकोऽपि गीतार्थः, अपिशब्दाद्यथालन्दकल्पिकः प्रतिमाप्रतिपन्नोऽपि च गीतार्थः, अमीषां विहारो गीतार्थः। गच्छवासे गीतार्थे गीतार्थविषये ऋद्धिद्विकम्,तद्यथा आचार्य, उपाध्यायश्च। अथवा-आचार्यः शेषं चतुष्टयम्-उपाध्याय-प्रवृत्ति-स्थविर-गणावच्छेदिरूपमेतच्च द्विकं स्थाननियुक्तमिति। व्यवह्रियते स्वस्वव्यापारे तेषां नियुक्तत्वात्, शेषाः सर्वे अनियुक्ताः। ते यदि गीतार्थाः, यदिवा-अगीतार्थाः सर्वैगीतार्थनिश्रया विहर्त्तव्यम्।

अत्र पर आह—

चोएइ अगीयत्थे, किं कारण मो निसिज्झइ विहारो।
सुण दिट्ठंतो चोयग, सिद्धिकरं निण्हवे एसिं ॥ २५ ॥

चोदयति—प्रश्नं करोति, अगीतार्थे अगीतार्थस्य किं कारणं—किं निमित्तं 'मो' इति पादपूरणे निषेध्यते विहारः?। सूरिराह-हे चोदक! त्रयाणामप्येतेषां गीतार्थाऽगीतार्थनिश्रितानां सिद्धिकरं दृष्टान्तं शृणु।

तमेवाह—

तिविहे संगिल्लम्मि, जाणंते निस्सए अजाणंते।
पाणंधि छित्तकरणे, अडवि जले सावए तेणा ॥२६॥

संगिल्लो नाम—गोसमुदायस्तस्मिन् रक्षणीये त्रिविधो रक्षके दृष्टान्तः,तद्यथा-जानन् निश्रितोऽजानंश्च, एषोऽक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्—"एगो रक्खगो नगरस्स गावीणं, सो निजेहिं ओगासेहिं गावीतो जतीए तीओ य खेत्ताईणं अवरोहं न करेति। तेहिं ओगासेहिं नेइ आणेइ य। जत्थ य तेणाइभयं नऽत्थि तत्थ चारेइ। अन्नया दो पुरिसा गावीओ रक्खामि त्ति उवट्ठिया। अम्हे भइयाए गावो रक्खामो त्ति नागरगा चिन्तन्ति-सो एगो न तरइ सव्वनगरस्स गावीओ रक्खिउं। तम्हा एए विनिजुंजंतु त्ति भणिया-रक्खह। तत्थ एगो तस्स पुराणस्स संखेडिपालस्स निस्साए गावीओ नेइ आणेइ य। अजाणंतो त्ति काउं तस्स मग्गेण चंकमइ। बितिओ संखेडिपालओ चिंतेति-अहमन्नस्स निस्साए न चारेमि सयमेव अहं रक्खिउं समत्थो। सो चारीओ एतो अजाणंतो इमाणि ठाणाणि न याणाइ। 'पाणंधी'ति देशीपदमेतत् वर्त्तनीवाचकम्। ततोऽयमर्थः क्षेत्रे क्षेत्रे क्षेत्रसङ्कुलेषु प्रदेशेषु नगरप्रदेशनिर्गमयोग्या वर्त्तन्यः क्षेत्रपाणंधयः तान्न जानाति, अजानंश्च ताभिर्गा नयति आनयति च यत्र क्षेत्रेषु शाल्यादय उत्तिष्ठन्ति, गावश्च गच्छन्त्य आगच्छन्त्यश्च रक्ष्यमाणा अपि शाल्यादि चरन्ति। ततः क्षेत्रस्वामिभिः क्षेत्रोपद्रवमूल्यं याच्यते। एवं करणेऽपि दोषा वाच्याः। करणं नाम-राजकीयमन्यदीयं वा वीतम्। तथा'अडवि'त्ति सो वराकोऽजानन् गा अटवीमपि प्रवेशयति, तत्र पुलिन्दादिभिर्गावो मार्यन्ते, तथा 'जले' त्ति सोऽजानन् नद्यादिषु तत्र प्रदेशे गाः पाययति यत्र ग्राहादिभिर्जलचरैर्गाव आकृष्यन्ते 'सावए' त्ति स मूढो-वराकस्तत्र प्रदेशे नयति यत्र व्याघ्रादयो दुष्टस्वापदास्तैश्च गाव उपद्रूयन्ते, 'तेणं' ति तेषु च निकुञ्जादिषु नयति यत्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तेनानां प्रसरस्ततस्तेनास्ता अपहरन्ति, एवं सोऽजानन् गा विनाशयति। इतरस्तु जानन् एतानि सर्वाण्यपत्थ्यानानि परिहरति, योऽपि निश्रितस्तमपि परिहारयति, एष दृष्टान्तः। अयमर्थोपनयः—यो गीतार्थः स सर्वानपि दोषान् स्वयं परिहरति, यस्तु निश्रितस्तं परिहारयति। यः पुनः स्वयमगीतार्थो यश्च अगीतार्थनिश्रितस्तयोरात्मविराधना संयमविराधना च भवति।

(३) तानेवात्मविराधनादिदोषान् विवक्षुर्द्वारगाथामाह—

मग्गे सेहविहारे, मिच्छत्ते एसणादिविसमे य।
सोही गिलाणमादी, तेणा दुविहा व तिविहा वा ॥२७॥

मार्गे-मार्गविषये तथा शैक्षे-शैक्षकुलविषये एवं विहारे मिथ्यात्वे एषणाऽऽदौ विषमे शोधौ ग्लानादौ दोषाः, स्तेना द्विविधास्त्रिविधा वा ये भवन्ति तेभ्योऽपि दोषा भवेयुः, एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेनामेव द्वारगाथां विवरीषुः प्रथमतो मार्गद्वारं शैक्षद्वारं चाह—

मग्गं सद्व रीयइ, पाउस उम्मग्गगहणजयणाए।
सेहकुलेसु य विहरइ, अणुयत्तति ण गाहेइ ॥ २८ ॥

मार्गं—पन्थानं सेवते सोऽजानन् अगीतार्थः सन् द्रवचारितया रीयते—गच्छति। तत्र संयमविराधना कुन्थ्वादिसत्त्वोपमर्दनात्, आत्मविराधना पादादिविस्खलनात्। तथा अन्यतया 'पाउस' त्ति प्रावृष्यपि काले गच्छति तत्राऽपि संयमविराधना आत्मविराधना च। तथा मार्गोन्मार्गानभिज्ञतया उन्मार्गेऽपि गच्छति, तत्र स्थाणुकण्टकादिभिरात्मविराधना, सचित्तपृथिव्याद्युपमर्दनात्संयमविराधना च। तथा ग्रहणशिक्षायाम्, आसेवनाशिक्षायां वा अप्रवीणत्वात्, अयतनया वा गच्छेत् अयतनया च संयमात्मविराधना। गतं मार्गद्वारम्। शैक्षद्वारमाह-'सेहे' त्यादि शैक्षकुलानि-अभिनवप्रपन्नव्रतानि तेष्वज्ञतया स विहरति-तेभ्यो यतनया भक्तपानादिकमुत्पादयतीति भावः। तथा न तानि अनुवर्त्तयति-नानुवर्त्तनागुणतः वर्द्धमानतरधर्मश्रद्धाकानि करोति अनुवर्त्तनाया अपरिज्ञानात्। तथा न ग्राहयति तानि ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षां वा श्रावकधर्मोचिताम् उभयोरपि शिक्षयोस्तस्याकुशलत्वात्। गतं शैक्षद्वारम्।

अधुना विहारद्वारं मिथ्यात्वद्वारं चाह—

दस्सुदेसे पच्चंते, वहयादिविहारपाणबहुले य।
अप्पाणं च परं वा, न मुणइ मिच्छत्तसंकंतं ॥ २९ ॥

सोऽज्ञतया दस्युदेशे-चौरदेशे विहारं करोति, यदि वा-प्रत्यन्ते—बहुले म्लेच्छाकुले, अथवा—लुब्धतया व्रजिकादौ आदिशब्दात्-स्वज्ञातिकादिकुलपरिग्रहः, यदि वा-प्राणिबहुले जीवसंसक्ते देशे एतेषु यथायोगमात्मविराधना संयमविराधना च भूयसीति। गतं विहारद्वारम्। अधुना मिथ्यात्वद्वारमाह-'अप्पाणं वे' त्यादि, स वराकोऽजानन् आत्मानमपि कुप्ररूपणादिभिर्मिथ्यात्वशङ्कासंक्रान्तं न जानाति, नाऽपि परम्। ततः आत्मनः परस्य च मिथ्यात्वं प्रवर्द्धयतीत्युभयेषामपि संसारप्रवर्द्धकः। गतं मिथ्यात्वद्वारम्।

अधुना एषणाद्वारमाह—

आहार उवहि सेज्जा, उग्गमउप्पायणेसणकडिल्ले।
लग्गइ अवियाणंतो, दोसे एएसु सव्वेसुं ॥ ३० ॥

आहारो-भक्तपानादिरूपः, उपधिः-कल्पादिलक्षणः, शय्या-वसतिः; एतेषां ग्रहणे इति गम्यते। किं विशिष्टे ?, इत्याह—उद्गमेन-उद्गमदोषैः षोडशभिराधाकर्मप्रभृतिभिरुत्पादनया उत्पादनादोषैर्धात्र्यादिभिः षोडशभिरेषणया—गवेषणादिदोषैः शङ्कितम्रक्षितप्रभृतिभिः संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमैः काकश्रृगालादिभक्षितैश्च 'कडिल्ले' इति महागहने सति सोऽविजानन् एतेष्वनन्तरोदितेषु दोषेषु सर्वेषु लगति। द्वारगाथायामेषणादाविति य आदिशब्दः स समस्तोद्गमादिदोषपरिग्रहार्थः। तथा 'विसमे' इति विषमे च पर्वतजलादौ या यतना तां स न जानाति, अजानंश्चात्मविराधनां संयमविराधनां चाप्नोति।

सम्प्रति शोधिद्वारमाह—

मूलगुण उत्तरगुणे, आवण्णस्स य न जाणई सोहिं।
पडिसिद्धे त्ति न कुणति, गिलाणमादीण तेगिच्छं ॥३०॥

मूलगुणविषये उत्तरगुणविषये च प्रायश्चित्तमापन्नस्य यस्य यादृशी यस्मिन्नपराधे दातव्या शोधिस्तस्य तादृशीं तस्मिन्नपराधे न जानाति, अजानानश्चाप्रायश्चित्तेऽपि अतिप्रभूतं प्रायश्चित्तं दद्यादिति महत्याशातना भवेत्। गतं शोधिद्वारम्। अधुना ग्लानादिद्वारमाह-'पडिसिद्धे' त्यादि प्रतिषिद्धा खलु चिकित्सा षड्जीवनिकायविराधनोपपत्तेरिति वचनमेकान्तेनाङ्गीकुर्वन् ग्लानादीनाम् आदिशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः आगाढानागाढसहासहबालतरुणग्लानादीनां चिकित्सां न करोति, न च तद्विषयां यतनां जानाति। ततः चिकित्सायाः यतनायाश्च अकरणे भूयांसो दोषास्ते च प्रागेव प्रथमोद्देशकेऽभिहिताः।

सम्प्रति 'तेणा दुविहा व तिविहा वा' इत्यादि व्याख्यानयति—

अप्पसुय त्ति य काउं, वुग्गाहेउं हरंति खुड्डादी।
तेणा सपक्ख इयरे, सलिंगिगिहिअन्नहा तिविहा ॥३१॥

स्तेना द्विविधाः—स्वपक्षाः, परपक्षाश्च। तत्र स्वपक्षा द्विविधाः—गीतार्थाः, पार्श्वस्थादयश्च। तत्र गीतार्था इदं चिन्तयन्ति-अमी अल्पश्रुता अल्पश्रुतत्वाच्च अगीतार्थाः; नचागीतार्थानां क्षेत्रमस्ति। ततः एवं चिन्तयित्वा तेषां सचित्तादि गीतार्था अपहरन्ति। पार्श्वस्थादयः पुनः क्षुल्लकादीन् व्युद्ग्राहयन्ति, तथा दुष्करा चर्याऽमीषां न च दुष्करचर्यायाः सम्प्रति देशकालौ तस्मादत्रागच्छतेति। एवं व्युद्ग्राह्य क्षुल्लकादीन् आदिशब्दात्तरुणादिपरिग्रहः, अपहरन्ति। परपक्षा-मिथ्यादृष्टयस्तेऽपि क्षुल्लकादीन् व्युद्ग्राह्य अपहरन्ति। अथवा—त्रिविधास्तेनास्तद्यथा—स्वलिङ्गाः, पार्श्वस्थादयः तेऽपि पूर्ववत्, गृहिणस्तस्करास्ते उपधिप्रभृतीनपहरन्ति। अन्ये वा-स्वलिङ्गगृहिभ्यो व्यतिरिक्तास्ते च भिक्षुकादयोऽवगन्तव्यास्ते क्षुल्लकादीन् व्युद्ग्राह्याऽपहरन्ति।

एए चेव य ठाणे, गीयत्थो निस्सितो उ वज्जेइ।
भावविहारो एसो, दुविहो उ समासओ भणिओ ॥३२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतान्येवानन्तरोदितानि स्थानानि गीतार्थो गीतार्थनिश्रितश्च वर्जयति । तत्र गीतार्थः स्वयं कुशलत्वाद्, गीतार्थनिश्रितश्च गीतार्थोपदेशेन एष भावविहारो द्विविधो भणितः समासतः—संक्षेपेण ।

सो पुण होई दुविहो, समत्तकप्पो तहेव असमत्तो ।
तत्थ समत्तो इणमो, जहसमुक्कोसतो होइ ॥ ३३ ॥

स पुनः-भावविहारो द्विविधोऽपि भूयो द्विविधो भवति, तद्यथा—समाप्तकल्पः, तथैवासमाप्तो—ऽसमाप्तकल्पः । तत्र यः समाप्तकल्पः स द्विविधो भवति । तद्यथा—जघन्य, उत्कृष्टश्च ।

अनयोरेव प्रमाणमाह—

गीयत्थाणं तिण्हं, समत्तकप्पो जहन्नतो होइ ।
बत्तीससहस्साइं, हवंति उक्कोसओ एस ॥ ३४ ॥

गीतार्थानां (तिण्हं) त्रयाणां विहारः समाप्तकल्पो जघन्यो भवति, उत्कृष्टस्त्वेष समाप्तकल्पो द्वात्रिंशत्सहस्राणि भवन्ति ।

तिण्ह समत्तो कप्पो, जहन्नओ दोण्हि उज्जुया विहरे ।
गीयत्थाण वि लहुओ, अगीएँ गुरुगा इमे दोसा ॥ ३५ ॥

त्रयाणां किल समाप्तकल्पो जघन्यो भवति । ततो यदा द्वौ विहरतस्तदा द्वयोर्गीतार्थयोर्विहरतोर्लघुको मासः प्रायश्चितम्, अगीतार्थयोश्चत्वारो गुरुकाः । द्वयोश्च विहरतोरिमे वक्ष्यमाणा दोषाः ।

तानेवाह—

दोण्ह वि विहरंताणं, सलिंगगिहिलिंगअन्नलिंगे य ।
होइ बहुदोसवसही, गिलाणमरणे य सल्ले य ॥ ३६ ॥

द्वयोर्विहरतोः स्वलिङ्गगृहिलिङ्गानधिकृत्य भूयांसो दोषाः, तथा एको वसतिपालकः, एको भिक्षार्थं गतस्तत्र यो भिक्षार्थं गतस्तस्य स्वलिङ्गे संयत्या आलापादिकं पृच्छन्त्या आत्मपरोभयसमुत्था दोषाः, परलिङ्गे चरकादिकायाः, गृहिलिङ्गे स्त्रियाः प्रोषितभर्तृकादिकायाः, 'होइ बहुदोसवसहि' त्ति हिण्डमानात् वसतिर्बहुदोषा भवति । किमुक्तं भवति—वसतिपालस्य हिण्डमानापेक्षया भूयांसो दोषाः । एकान्तमिति कृत्वा स्वलिङ्गिन्यादीनामुपपातसम्भवात्, प्रदीपनके च लग्ने एकाकी स कथं करोति ?। अथैते दोषा मा भूवन्निति शून्यां वसतिं कृत्वा निर्गच्छतः तदानीं वक्ष्यमाणा बहवो दोषास्तद्यथा—द्वयोर्विहरतोर्यद्येको ग्लानो भवति तदा तस्य ग्लानस्य एकाकिनो मोचने पिपासादिसम्भवः, तथा मरणे-मरणकाले शल्यं नोद्धृतमिति शल्येन तथाऽवस्थिते सति गरीयांसो दोषाः । व्य० । (वसतेः सर्वो विषयः 'वसहि' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे ६३८ पृष्ठे गतः ।)

अत्रोपसंहारमाह—

जम्हा एते दोसा, तम्हा दुण्हं न कप्पति विहारो ।
एयं सुत्तं विफलं, अह सफलं निरत्थओ अत्थो ॥ ४६ ॥

यस्माद् द्वयोर्विहारे एते-अनन्तरोदिता दोषास्तस्मान्न कल्पते द्वयोर्विहारः । अत्र पर आह—नन्वेतत्सूत्रमफलं द्वयोर्विहारस्यैवासम्भवात् । अथ सफलं तर्हि द्वयोर्विहारः सूत्रे नानुज्ञात इति योऽयमर्थतः प्रतिषिद्धो भवद्भिर्विहारः सोऽर्थो निरर्थकः सूत्रेणाऽबाधितत्वात् ।

आचार्य आह—

मा वय सुत्तनिरत्थं, न निरत्थगवाइणो जतो थेरा ।
कारणियं पुण सुत्तं, इमे य ते कारणा हुंति ॥ ५० ॥

मा वद-मा ब्रूहि त्वं चोदक ! यत्सूत्रं निरर्थकम्, यतः स्थविरा भगवन्तो निरर्थकवादिनो न भवन्ति तेषां श्रुतकेवलित्वात् । यद्येवमर्थतः प्रतिषिद्धो द्वयोर्विहारः, अथ च सूत्रे प्रतिपादित इति कथम् ? अत आह-सूत्रं पुनः कारणेषु भवं कारणेन निर्वृत्तं वा कारणिकं कारणान्यधिकृत्य प्रवृत्तमिति भावः । तानि च कारणानि अमूनि-वक्ष्यमाणलक्षणानि ।

तान्येवाह—

असिवे ओमोयरिए, रायसंदेसणे जयंता वा ।
अज्ञाण गुरुनियोगा, पव्वज्जा नातिवग्गदुगे ॥ ५१ ॥

अशिवं-क्षुद्रदेवताकृत उपद्रवः तस्मिन् द्वयोर्विहारः, तथा अवमौदर्य-दुर्भिक्षं तस्मिन्, अथवा—राजा प्रद्विष्टो भवेत् ततो द्वयोर्विहारः ' संदेसण ' त्ति-आचार्यप्रेषणेन द्वौ विहरेयाताम् 'जयन्ता वा' इति यतमाना नाम ज्ञाननिमित्तं दर्शननिमित्तं वा प्रयत्नवन्तः । इयमत्र भावना-विषमशास्त्राणि सम्प्रति कालगृहीतानि च यदि नाभ्यस्तानि क्रियन्ते ततो विस्मृतिमुपयान्ति । गच्छे च सबालवृद्धाकुले भिक्षाचर्यादिना व्याघातस्तत आचार्यानापृच्छ्य तैर्विसृष्टौ द्वावप्यन्यत्र गच्छेयाताम् । एवं दर्शनप्रभावकशास्त्रनिमित्तमपि द्वयोर्विहारो भावनीयः । आचार्याणां वा एकस्मात् क्षेत्रात्, अन्यस्मिन् क्षेत्रे नयने संघाटस्य गुरुनियोगात् द्वयोर्विहारो भवेत्, यदि वा-प्रव्रज्याभिमुखः कोऽपि सञ्जातस्ततस्तस्य स्थिरीकरणार्थं सङ्घाटकः प्रेष्यः, यदि वा—ज्ञातिवर्गः—स्वजनवर्गः कस्याऽपि साधोर्वन्दापनीयो जातः, ततस्तद्वन्दापनार्थं द्वौ विहरेयातामिति ।

तत्र यतनामाह—

समयं भिक्खग्गहणं, निक्खमणपवेसणं अणुन्नवणं ।
एक्को कहमावन्नो, एक्को व कहं न आवन्नो ॥ ५२ ॥

यदि नाम प्रागुक्तकारणवशात् तौ विहरन्तौ द्वावपि समकं-युगपत् भिक्षाग्रहणं कुरुतः; समकं भिक्षानिमित्तं हिण्डेते इत्यर्थः । एवं समकमेव शेषप्रयोजननिमित्तमपि निष्कामतो व्रजतः, समकमेव च प्रविशतः—गत्वा प्रत्यागच्छतः, तथा समकमेवाऽनुज्ञापनं कुरुतः । किमुक्तं भवति—समकमेव नैषेधिक्यादिकं शय्यातरादिकमनुज्ञापयतः ततः एकाकिनः सतो ये प्रागुक्ता दोषाः ते प्रायो न सम्भवन्ति । पर आह-यद्येवं समकभिक्षाग्रहणादिकरणं कथमेकः प्राप्तः-प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः, एको वा कथं नाऽऽपन्नः? इति ।

सूरिराह—

एगस्स खमणभाण-स्स धोवणं वहियइंदियऽत्थेहिं ।
एएहिँ कारणेहिं, आवन्नो वा अणावन्नो ॥ ५३ ॥

एकस्य क्षपणमभक्तार्थोऽभवत्-एकेन तु क्षपणं न कृतम्, तत्र यदि क्षपणकारी शक्नोति ततो द्वावपि समकं भिक्षा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निमित्तं हिएडेते। अथ ज्ञपणकृत् न शक्नोति । तत एको भिक्षार्थं गच्छति, एकस्तूपाश्रय एव तिष्ठति, एवं द्वयोरप्येकाकित्वसम्भवः। तथा—'भाणस्स धोवणं' ति अथ धावनार्थमुपाश्रयाद्बहिर्विनिर्गत एकस्तूपाश्रयस्यैवान्तस्तिष्ठति एवमेकाकिनौ जातौ। ततो यो भिक्षागतो यो वा भाजनप्रक्षालनार्थं बहिर्विनिर्गतो यो वा वसतावबतिष्ठते स इन्द्रियार्थैः रूपरसादिभिरिष्टानिष्टैः समापतितं रागं द्वेषं वा प्रयाति रागद्वेषगमनाच्च प्रायश्चित्तस्थानमापद्यते। तत एवमनन्तरोदितैः कारणैरेकः प्रायश्चित्तस्थानमापन्नो भवत्येकस्त्वनापन्न इति । अथवा–यद्यपि नाम भिक्षाग्रहणादिनिमित्तं समकं हिएडेते तथाप्येक आपद्यते प्रायश्चित्तस्थानमपरो नैव। व्य० २ उ०।

ततः समकहिएडनेऽप्येको घटते प्रायश्चित्तमापन्नोऽपरो नेति; इतश्च विषया न प्रमाणम्।

यत आह—

मणसा उवेति विसए,मणसा वि य सन्नियत्ति एतेसुं ।
इय वि हु अज्झत्थसमो,बंधो विसया न उ पमाणं॥५५॥

इह विषयोपलब्धिव्यतिरेकेणाऽपि मनसा–अन्तःकरणेन विषयान्–रूपादीन् उपैति–अध्यवस्यतीति भावः। मनसैव च तेभ्यो–विषयेभ्यः सन्निवर्त्तते; विरज्यते इत्यर्थः । इत्यपि–एवमपि हु–निश्चितमध्यात्मसमोऽध्यात्मानुरूपः;परिणामानुसारी इत्यर्थः,बन्धः—कर्म्मबन्धः तस्मान्न विषयाः प्रमाणम्। तेषु सत्स्वपि केषाञ्चिद्रागद्वेषाऽसम्भवात्, तदभावेऽपि च केषाञ्चिन्मनसा तत्सम्भवादिति।

एवं खलु आवएणे, तक्खण आलोयणा उ गीयम्मि ।
ठवणिज्जं ठवतित्ता, वेयावडियं करे बितिओ ॥ ५६ ॥

एवम्–उक्तेन प्रकारेण खलु—निश्चितमेकस्मिन् प्रायश्चित्तस्थानमापन्ने तेन तत्क्षणमेव–तत्कालमेव गीतार्थस्य पुरत आलोचना दातव्या। तत्र यदि द्वावपि गीतार्थौ विहरतस्ततः स्थापनीयं प्रागुक्तस्वरूपं स्थापयित्वा यः प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः स परिहारतपः प्रतिपद्यते। द्वितीयः कल्पस्थितो भवति स एव चानुपारिहारिक इति तस्य वैयावृत्त्यं करोति। व्य० २ उ०।

इदाणिं णिज्जुत्तिवित्थरो । गाहा—

सेहाण वुड्ढवासी, वसमाणा णवविकप्पवेहारी।
दूतिज्जंता दुविहा, णिक्कारणिया य कारणिया ॥२६७॥

कारणनिक्कारणे वक्ष्यति। शेषं गतार्थमेव। इमे कारणिया आयरियसाहुचेइयाण य वंदणणिमित्तं गच्छति, सणीणं दंसणऽत्थं भोयणवत्थाणि वा लभिस्सं ति गच्छति, अपुव्वदेसदंसणत्थं वतितादिसु वा खीरज्जं लभिस्सामीति गच्छति।

गाहा—

आयरिय साधुवंदण, चेतियणीयल्लगा तहा सणी ।
गमणं च देसदंसण, णिक्कारणिए य वइगादी ॥२६८॥
अप्पुव्वविवित्त बहु–स्सुता य परिवारवंद आयरिया ।
परिवारवज्जसाधू, चेति अपुव्वा अभिनवा वा ॥ २६९ ॥

अपुव्वा इमे आयरिया विवित्ता णिरतिचारचरित्ता बहुस्सुया विचित्तसुया य बहुसाहुपरिवुडा य परिसे आयरिए वंदामि साहुस्स वि एते चेव गुणा णवरं परिवारो वज्जिज्जति। चेतिया चिरायतणा अपुव्वा य अहवा अभिणवा कया।

गाहा—

दच्छीहामि व णीए, सण्णीसु व भोयणादि लब्भामो ।
दोसोवमे अपुव्वो, वइगादिसु खीरमादीणि ॥ २७० ॥

कण्ठा। णिक्कारणं विहरंतस्स इमे दोसा।

गाहा—

अद्धाणे वच्चन्ता, भिक्खूवधितेणसाणपडिणीए।
ओमाण अभोज्जघरे,वयथंडिलसती य जे तत्थ ॥२७१॥

अद्धाणो असमो भवति भिक्खा वसहिं ण लब्भति, एतेसु परितावणादिणिक्खमणं। उवहि–सरीरा तेणा भवंति साणपडिणीएसु खुज्जए हम्मए वा हिंडंताणं सपक्खपरपक्खोमाणं भवति, अभोज्जघरे पवयणहीलणा य भवति। असति थंडिलस्स पुढविमादीजीघविराहेति जे दोसा जं च पच्छित्तं सव्वं उवउज्जि वक्तव्यं।

गाहा—

संजमतो छक्काया, आत कंदट्ठि वायरलु वाया य।
उवधिअलेव हरावण,परिहाणी जा य तेण विणा।२७२।

णिक्कारणओ अडंतो छक्कायविराहणं कुणति, एस संजमविराहणा। कंदट्ठिं वाविज्जति वायरलूवावी भवंति । एस आयविराहणा । सागारिभया परिस्संतो वा पमादेण वा उवहिं ण पडिलेहेति, हरावेइ वा । उवहिम्मि अवहरिए जा तेण विणा परिहाणी तेण अग्गिगहणसेवणादि जं करिस्सति तं सव्वं पच्छित्तं वत्तव्वं।

गाहा—

वेलातिक्कमपत्ता, अणेसणादातुरा नु लेविज्जा ।
पडिणीयसाणमादी, पच्छाकम्मं चऽचेलम्मि ॥२७३ ॥

भिक्खा वेलातिक्कंतं पत्ता अपुच्छंता अणेसणं पि लेविज्जा तण्णिप्फण्णं पच्छित्तं। पढमबितिएसु वा परिसहेसु वा आउरा जं सेवेत तण्णिप्फण्णं, पडिणीतेण हते साणेण वा खविए आयविराहणाणिप्फण्णं। अचेले भिक्खंतस्स हिंडंतस्स पच्छाकम्मदोसा भवंति, संकातिया य दोसा तेणऽट्ठे मेहुणऽट्ठे वा भवंति। नि० चू० २ उ०। अनु०। पञ्चा०। ध०। बृ०। पं० व०। ग०।

(४) संप्रति विहारकल्पिकमाह—

गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थनिस्सिओ भणिओ।
इत्तो तइयविहारो, नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥ ६९२ ॥

गीतः–परिज्ञातोऽर्थो यैस्ते गीतार्था जिनकल्पिकादयस्तेषां स्वातन्त्र्येण यद्विहरणं स गीतार्थो नाम प्रथमो विहारः। तथा गीतार्थस्याऽऽचार्योपाध्यायलक्षणस्य निश्रिताः–परतन्त्रा यद्वच्छ्रयासिनो विहरन्ति स गीतार्थनिश्रितो नाम द्वितीयो विहारो भणितः। इत ऊर्ध्वमगीतार्थस्य स्वच्छन्दविहारिणस्तृतीयो विहारो नानुज्ञातो जिनवरैर्भगवद्भिस्तीर्थङ्करैरिति। बृ० १ उ० १ प्रक०। (गीतार्थविषयः 'गीयत्थ' शब्दे तृतीयभागे ९०२ पृष्ठे गतः, तत्स्वरूपप्रतिपादिका गाथा च त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रैव गता-तद्व्याख्या ऽत्र)-इह सूत्रार्थधरत्वे चतुर्भङ्गी। तद्यथा-सूत्रधरो नामैको;नार्थधरः१,अर्थधरो नामैको;न सूत्रधरः २, एकस्सूत्रधरोऽप्यर्थधरोऽपि ३, अपरो न सूत्रधरो नाप्यर्थधरः४, अयं चतुर्थो भङ्ग उभयशून्यत्वादवस्तुभूतः। शेषभङ्गत्रयमधिकृत्याह—गीतेन सूत्रेण केवलेन सम्यक्पठितेन गीतमस्यास्तीति गीती भवति। अर्थेन केवलेन सम्यगधिगतेनार्थी भवति,ज्ञातव्यम् अर्थधरः इत्युक्तं भवति। यस्तु गीतेन चार्थेन चोभयेनाऽपि युक्तस्तं गीतार्थं विजानीहि इति। इदमत्र तात्पर्यम्-तृतीयभङ्गवर्त्येव तत्त्वतो गीतार्थशब्दमविकलमुद्वोढुमर्हति न प्रथमद्वितीयभङ्गवर्तिनाविति।

(५) अथ येषां गीतार्थानां तन्निश्रितानां वा विहारो भवति तान् दर्शयति-

जिनकप्पिओ गीयत्थो,परिहारविसुद्धिओऽवि गीयत्थो।
गीयत्थे इड्डिदुगं, सेसा गीयत्थनीसाए ॥६६५॥

जिनकल्पिको नियमाद्गीतार्थः परिहारविशुद्धिकः, अपिशब्दात्प्रतिमाप्रतिपन्नको यथालन्दकल्पिकश्चावश्यतया गीतार्थः जघन्यतोऽप्यधीतनवमपूर्वान्तगीताचारनामकतृतीयवस्तुकत्वादेषामिति। तथा गच्छे गीतार्थविषयमृद्धिमतोराचार्योपाध्याययोर्द्विकं द्रष्टव्यम्।सूत्रे अनुलोमः प्राकृतत्वात् आचार्य उपाध्यायो वा नियमाद्गीतार्थः। एष सर्वेषामपि स्वातन्त्र्येण विहारो विज्ञेयः, शेषाः साधवो गीतार्थनिश्रया आचार्योपाध्यायलक्षणगीतार्थपारतन्त्र्ये विहरन्ति।

इदमेव पश्चार्द्धं भावयति-

आयरियगणी इड्डी, सेसा गीता वि होंति तन्नीसा।
गच्छगयनिग्गया वा,ठाणनिउत्ता ऽनिउत्ता वा ॥६६६॥

आचार्यः-सूरिर्गणी-उपाध्यायः एतौ यत ऋद्धिमन्तौ सातिशयज्ञानादिऋद्धिसम्पन्नौ अतिशायनेऽत्र मत्वर्थीयः, यथा रूपवती कन्येत्यादौ अतः शेषाः साधवो गीतार्था अपि तन्निश्रया आचार्योपाध्यायपरतन्त्रतया विहरन्ति। अथ के ते शेषाः ?, इत्याह-गच्छगता, गच्छनिर्गता वा। तत्र गच्छगता गच्छमध्यवर्त्तिनः, गच्छनिर्गता " असिवे ओमोयरिए " इत्यादिभिः कारणैरेकाकीभूताः। अथवा—स्थाननियुक्ताः स्थानाऽनियुक्ता वा। स्थाने-पदे नियुक्ता व्यापारिताः स्थाननियुक्ताः-प्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकाख्याः; पदस्थगीतार्था इत्यर्थः। तद्विपरीताः स्थानाऽनियुक्ताः, सामान्यसाधव इत्यर्थः। एते सर्वेऽप्याचार्योपाध्यायनिश्रया विहरन्ति।

कथमित्याह-

आयारपकप्पधरा, चउदसपुव्वी अ जे य तम्मज्झा।
तन्नीसाएँ विहारो, सबालवुड्डस्स गच्छस्स ॥ ६६७ ॥

आचारप्रकल्पधरा निशीथाध्ययनधारिणो जघन्यगीतार्थाः, चतुर्दशपूर्विणः पुनरुत्कृष्टाः, तन्मध्यवर्त्तिनः कल्पव्यवहारदशाश्रुतस्कन्धधरादयो मध्यमाः।तेषां जघन्यमध्यमोत्कृष्टानां गीतार्थानामनिश्रया बालवृद्धस्याऽपि गच्छस्य विहारो न भवति।

(६) न पुनरगीतार्थस्य स्वच्छन्दमेकाकिविहारः कर्तुं युक्तः कुत इति चेदुच्यते-

एगविहारी य अजा-यकप्पिओ जो भवे चवणकप्पे।
उवसंपन्नो मंदो, होहिइ वोसट्ठतिट्ठाणो ॥ ६९८ ॥

एकः सन् विहरतीत्येवं शील एकविहारी, स च अजातकल्पिकोऽगीतार्थः, तथा च्यवनं—चारित्रात् प्रतिपतनं तस्य कल्पः—प्रकारश्च्यवनकल्पः—पार्श्वस्थादिविहार इत्यर्थः, तस्मिन् यो भवेत् स एकाकित्वमुपसम्पन्नः प्रतिपन्नः सन् मन्दः—सद्बुद्धिविकलो भविष्यति, व्युत्सृष्टत्रिस्थानः-व्युत्सृष्टानि-परित्यक्तानि त्रीणि स्थानानि-ज्ञानादिरूपाणि येन स व्युत्सृष्टत्रिस्थानः, एषा निर्युक्तिगाथा।

अथैनामेव विवृणोति—

मुत्तूण गच्छनिग्गते, गीयस्स वि एक्कगस्स मासो उ।
अविणीए चउ गुरुगा, चवणे लहुगा य भंगट्ठा ॥६९९॥

मुक्त्वा गच्छनिर्गतान्-जिनकल्पिकादीन् गीतार्थस्याऽपि एककस्य एकाकिविहारं कुर्वतो मासलघु, अविनीते गीतार्थे एकाकिविहारिणि चत्वारो गुरुकाः, च्यवने-पार्श्वस्थादिविहारे यदि मनसाऽपि संकल्पं कुरुते तदा चत्वारो लघुकाः, ' भंगट्ठ ' त्ति अष्टौ भङ्गा अत्र कर्त्तव्याः। तद्यथा-एकाकी अजातकल्पिकः च्यवनकल्पिकश्च १, एकाकी जातकल्पिकश्च्यवनकल्पिकश्च२, एकाकी अजातकल्पिको न च्यवनकल्पिकः ३,एकाकी जातकल्पिको न च्यवनकल्पिकः ४, एवमेकाकिपदेन चत्वारो भङ्गा लब्धाः, नैकाकिपदेनापि चत्वारो लभ्यन्ते। संख्यया अष्टौ भङ्गाः। अत्राऽष्टमो भङ्गस्त्रिष्वपि पदेषु शुद्धत्वात्प्रायश्चित्तरहितः। शेषेषु तु यथायथमनन्तरोक्तं प्रायश्चित्तम्। एतेषु सप्तस्वपि भङ्गेषु वर्त्तमानस्य दोषमुपदर्शयितुमुपसम्पन्नपदं व्याचष्टे—

एगागित्तमणट्ठा, उवसंपज्जइ चुओ व जो कप्पा।
सो खलु सोचो मंदो, मंदो पुण दव्वभावेणं ॥७००॥

य एकाकित्वम् अनर्थात्-ज्ञानादिप्रयोजनाभावादुपसम्पद्यतेऽङ्गीकरोति, यो वा च्युतः प्रतिपतितः कल्पात्—संविग्नविहारात् स खलु वराकः द्रव्यजीवितेन जीवन्नपि शोच्यः—शोचनीयः संयमजीवितावात्, मन्दश्चासौ (मन्दस्वरूपं 'मंद' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २५ पृष्ठे गतम्।) बृ० १ उ० १ प्रक०। अथ यदुक्तं निर्युक्तिगाथायां ' होहिइ वोसट्ठतिट्ठाणे ' त्ति तत्र कानि पुनस्तानि त्रीणि स्थानानि यानि तेन परित्यक्तानि। उच्यते—

नाणाई तिट्ठाणं, अहव ण चरणप्पओ पवयणं च।
सुत्तत्थ तदुभयाणि व, उग्गमउप्पायणाओ वा॥७०२॥

एकाकी-ज्ञानादीनि ज्ञानदर्शनचारित्राणि त्रीणि स्थानानि वक्ष्यमाणनीत्या परित्यजतीति ' अहवण ' त्ति अखण्डमव्ययमथवाऽर्थे चरणमात्मा प्रवचनं चेति वा त्रीणि स्थानानि। तत्र गीतार्थतयाऽसौ षट्कायविराधनया चरणम्, अतिप्रचुराहारलक्षणादिना ग्लानत्वाद्यापत्त्या वाऽऽत्मानम् अयतनया संज्ञाव्युत्सर्गादिना प्रवचनं च परित्यजति। अथवा—सूत्रार्थतदुभयानि त्रीणि स्थानानि, तत्रासावेकाकितया कदाचित्सूत्रं विस्मारयति, कदाचिदर्थं, कदाचित्तदुभयम्। यद्वा-उद्गमोत्पादने वाशब्दादेषणा चेति त्रीणि स्थानानि च निरङ्कुशत्वादेकाकी परित्यजतीति प्रकटमेव।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ यथाऽसौ ज्ञानदर्शनचारित्राणि परिहरति, तथाऽभिधित्सुराह—

अपुव्वसुयस्स य गहणं, न य संकियं पुच्छणा न सारणया ।
गुणयंतोऽपर दट्ठुं, सीदइ एगस्स उच्छाहो ॥ ७०३ ॥

अपूर्वस्य श्रुतस्याग्रहणमेकाकितया पाठयितुरभावात् । न च शङ्किते सूत्रेऽर्थे वा कस्याऽपि पार्श्वे प्रच्छनम्, न वा सूत्रमर्थं वा विकुट्टयतः सारणा—शिक्षणा मैवं पाठीरित्यादिका भवति । तथा अपरान् गुणयतो दृष्ट्वा सीदति—परिहीयते एकस्यैकाकिन उत्साहः सूत्रार्थपरावर्त्तनायामभियोग इत्युक्तो ज्ञानपरिहारः ।

सम्प्रति दर्शनचरणयोः परिहारमाह—

चरगाऽऽदुवुग्गहेणं, न य वच्छल्लाइ दंसणासंका ।
थी सोहि अणुज्जमया, निप्पग्गहिया य चरणम्मि ॥ ७०४ ॥

चरकादिभिः—कणादसौगतसांख्यप्रभृतिभिः पाषण्डिभिः कुयुक्तियुक्ताभिर्व्युद्ग्रहेण सोऽगीतार्थतया तस्य भवेत् । न चासावेकाकितया साधर्मिकाणां वात्सल्यमादिशब्दादुपबृंहण-स्थिरीकरणं तीर्थप्रभावनां वा कुर्यात्, शङ्कादयो वा दोषा देशतः सर्वतो वा तस्य भवेयुरित्येवं दर्शनमसौ परिहरति, तथा 'थी' इत्येकाकिन्या स्त्रिया सम्भाषणादिनाऽऽत्मपरोभयसमुत्था दोषा भवेयुः । 'सोहि' त्ति सोधिः—प्रायश्चित्तं तदपराधमापन्नस्य तस्य को नाम ददातु । अनुद्यमता च तस्य सारणादीनां 'निप्पग्गहिय' त्ति भवेत् नियन्त्रणा गुर्वाज्ञेति यावत्, निर्गतः प्रग्रहादिति निष्प्रग्रहस्तस्य भावो निष्प्रग्रहता, गुर्वाज्ञाया अभावात्पाणिपादमुखधावनादि निःशङ्कं करोतीत्यर्थः । एवं चरणविषयपरित्याग इति ।

किंच—

सामन्नयजोगाणं, बज्भो गिहिसंथवसंथुओ होइ ।
दंसणनाणचरित्ता-ण मइलणं पावई एक्को ॥ ७०५ ॥

स एकाकी श्रामण्यभाविनां विनयवैयावृत्त्यप्रभृतीनां योगानां बाह्यो नाऽऽभागी भवति । गृहिणामगारिणां संज्ञा समाचारस्तस्यां संस्तुतः—परिचयवान् भवति । दर्शनज्ञानचारित्राणां च मालिन्यमेकः सन् प्राप्नोति । तत्र बौद्धादिभिर्विपरिणामितमतेरर्हाऽऽसीपामपि दर्शनं निपुणो यः परिदृष्टान्तसंवर्मितं समीचीनमिव प्रतिभासते इत्यादिना चित्तविप्लवेनोन्मार्गप्ररूपणया वा दर्शनमालिन्यं विशाखिलघात्स्यायनादिपापश्रुतान्यभ्यस्यतस्तेषु बहुमानबुद्धिं कुर्वतो ज्ञानमालिन्यं पुनरेकाकिनः सुप्रतीतमेव ।

अथ गृहसंज्ञासंस्तुतः कथं भवतीत्युच्यते—

कयमकए गिहिकज्जे, संतप्पइ पुच्छई तहिं वसई ।
संथवसिणेहदोसा, भासा हियनट्ठसोगो य ॥ ७०६ ॥

गृहकार्ये क्रयविक्रयादावनभिमतं कृतं, अभिमते वा अकृते स संतप्यते-सन्तापमनुभवति, यथा अशोभनं समजनि यदेतेनागारिणा अमुकं वस्तु व्यवहृतम्, अमुकं न व्यवहृतमित्यादि । तथा 'पुच्छइ' त्ति सुखलाभालाभादिकां वार्त्तां च तस्य पार्श्वे पृच्छति. 'तहिं वसइ' त्ति तत्र तेषां गृहस्थानां मध्ये एवासौ वसति, तत्र च वसतो निरन्तरं यस्तैः सह संस्तवस्तेनात्यन्तिकः स्नेहस्तेषु समुल्लसति, तद्वशात् तदीयपत्न्या यत् क्रीडापनं यच्चाचरणशिक्षादिशिक्षापणं यच्च तदुपरोधतः कुण्टलविण्टलादिकरणं तदेवमादयो दोषा द्रष्टव्याः, तथा भाषां--सावद्यामसावद्यार्थतया ब्रूयात्, हे श्रावक ! गम्यतामागम्यतामुपविश्यतामित्यादि गृहिसत्के च वस्तुजाते केनचिच्चौरादिना हृते स्वयं वा नष्टे तस्य स्नेहातिरेकतः शोकः--परिदेवनादिरूपः स्यादिति, यत एवंविधदोषोपनिपातस्तत एकाकिविहारविरहेण गच्छवासमध्यासीनेन साधुना यावज्जीवं विहरणीयम् । घृ० १ उ० १ प्रक० । (कीदृशस्य गच्छो दीयते ? अयोग्यस्यं वा गच्छं प्रयच्छन् अयोग्यो वा गच्छं धारयन् कीदृशं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति इति 'गणहर' शब्दे३ भागे ८२० पृष्ठे ।) (प्रायश्चित्तविषयः 'पच्छित्त' शब्देऽपि पञ्चमभागे २०३ पृष्ठे गतः।)

(७) आचार्यस्योपाध्यायस्यैकाकिनो विहारो न कल्पते—

नो कप्पइ आयरियउवज्झायस्स एगाणियस्स हेमंतगिम्हासु चरिए ॥ १ ॥ कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पबिइयस्स हेमंतगिम्हासु चरिए ॥ २ ॥ णो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पबीयस्स हेमंतगिम्हासु चरिए ॥ ३ ॥ कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स हेमंतगिम्हासु चरिए ॥ ४ ॥ णो कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पबीयस्स वासावासं वत्थए ॥ ५ ॥ कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ॥ ६ ॥ णो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ॥ ७ ॥ कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पचउत्थस्स वासावासं वत्थए ॥ ८ ॥ से गामंसि वा० जाव संनिवेसंसि वा बहूणं आयरियउवज्झायाणं अप्पबिइयाणं, गणावच्छेइयाणं अप्पतइयाणं, कप्पइ हेमंतगिम्हासु चरिए अन्नमण्णं णिस्साए ॥ ९ ॥ से गामंसि वा ० जाव संनिवेसंसि वा बहूणं आयरियउवज्झायाणं अप्पतइयाणं बहूणं गणावच्छेइयाणं अप्पचउत्थाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्नं निस्साए ॥ १० ॥ (व्य०)

न कल्पते आचार्यश्चोपाध्यायश्च समाहारो द्वन्द्वः आचार्योपाध्यायं तस्य आचार्योपाध्यायस्य चेत्यर्थः, एकाकिनो हेमन्तग्रीष्मयोः शीतकाले उष्णकाले चेत्यर्थः, चरितुं-विहर्तुम् ॥ १ ॥ कल्पते आचार्यस्योपाध्यायस्यात्मद्वितीयस्य हेमन्तग्रीष्मयोश्चरितुम् ॥ २ ॥ एवं द्वे सूत्रे गणावच्छेदकस्य भावनीये । नवरमत्राद्यसूत्रे-(३) आत्मद्वितीयस्य प्रतिषेधः, द्वितीयसूत्रे-(४) त्वात्मतृतीयस्यानुज्ञा । एवममीषां चत्वारि सूत्राणि वर्षाविषयाण्यपि वेदितव्यानि, नवरमत्र प्रथमसूत्रे-(५) आचार्यस्योपाध्यायस्य चाऽऽत्मद्वितीयस्य प्रतिषेधो, द्वितीयसूत्रे-(६) त्वात्मतृतीयस्यानुज्ञा, तृतीयसूत्रे-(७) गणावच्छेदकस्याऽऽत्मतृतीयस्य प्रतिषेधः, चतुर्थसूत्रे-(८) त्वात्मचतुर्थस्यानुज्ञेति । इहोत्सर्गतो द्वयोस्त्रयाणां वा जघन्यतोऽपि विहारो न कल्पते यत इदं जघन्यादिभेदतो विहारपरिमाणम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पणगो व सत्तगो वा, कालदुगे खलु जहणतो गच्छो ।
बत्तीसाइंसहस्सो, उक्कोसो सेसओ मज्झो ॥ ४ ॥

कालद्विके-ऋतुबद्धे काले, वर्षाकाले च जघन्यतः खलु यथाक्रमं गच्छो भवति, पञ्चकः सप्तकश्च । पञ्च परिमाणमस्य पञ्चकः, एवं सप्तकः, वाशब्दः समुच्चये । किमुक्तं भवति—ऋतुबद्धे काले पञ्चको वर्षाकाले सप्तकः । कथमिति चेत् ?, उच्यते—ऋतुबद्धे काले आचार्य आत्मद्वितीयो गणावच्छेदकस्त्वात्मतृतीयः, एवं पञ्चकः । वर्षाकाले जघन्यत आचार्य आत्मतृतीयो, गणावच्छेदकः आत्मचतुर्थः, एवं सप्तक इति । उत्कर्षतः कालद्विकेऽपि द्वात्रिंशत्सहस्राणि । तथा च भगवत ऋषभस्वामिनो ज्येष्ठस्य गणधरस्य पुण्डरीकनाम्नो द्वात्रिंशत्सहस्रो गच्छोऽभूत् । शेषकः-शेषपरिमाणो गच्छो मध्यमः ।

(८) सम्प्रति जघन्यतः पञ्चकसप्तकाभ्यां हीनतायाः प्रायश्चित्तमाह—

उउवासे लहुलहुगा, एए गीते अगीते गुरुगुरुगा ।
अकयसुयाण बहूण वि, लहुओ लहुया वसंताणं ॥ ५ ॥

'उउ' त्ति ऋतुकाले पञ्चकात् हीनानां गीतार्थानां विहरतां प्रायश्चित्तं लघुको मासः । 'वासे' त्ति वर्षाकाले सप्तकात् हीनानां गीतार्थानां विहरतां चत्वारो लघुका मासाः, एते लघुलघुका गीते—गीतार्थविषया द्रष्टव्याः । अगीते-अगीतार्थविषयाः पुनर्गुरुगुरुकाः । किमुक्तं भवति-ऋतुकाले पञ्चकात् हीनानामगीतार्थानां वसतां प्रायश्चित्तं गुरुको मासः, वर्षाकाले सप्तकात् हीनानामगीतार्थानां च चत्वारो गुरुका मासाः । अकृतश्रुतानामगृहीतोचितसूत्रार्थतदुभयानां बहूनामपि पञ्चकसप्तकादीनामपि वसतां यथाक्रममृतुकाले प्रायश्चित्तं लघुको मासः, वर्षाकाले चत्वारो लघुकाः ।

अत्र चोदक आह—

एवं सुत्तविरोहो, अत्थे वा उभयतो भवे दोसो ।
कारणियं पुण सुत्तं, इमे य तहिँ कारणा हुंति ॥ ६ ॥

यदि नामैतद् जघन्यादिभेदेन गच्छपरिमाणं तत एवं सति सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतश्च विरोधे दोषो भवेत् सूत्रेऽन्यथा विहारानुज्ञानात् । अत्राचार्यः प्राह—कारणिकं कारणैर्निर्वृत्तं पुनरिदं सूत्रमतो न दोषः । तानि च कारणानि पुनरिमानि-वक्ष्यमाणानि तत्राधिकृतसूत्रप्रवर्त्तनतो भवन्ति ।

तान्येवाह—

संघयणे वाउलणा, नवमे पुव्वम्मि गमणमसिवादी ।
सागरजाये जयणा, उउबद्धे लोयणा भणिता ॥ ७ ॥

या इयं कारणविषया शेषवक्तव्यविषया च सूचागाथा ततोऽयं संक्षेपार्थः—संहननं यदुत्तमं भवति, व्याकुलता वा व्याकुलीभवनं वा गच्छे, नवमे वा पूर्वे, उपलक्षणमेतत् दशमे वा सूत्रमभिनवगृहीतं सम्यक् स्मर्त्तव्यमस्ति, गमनं वा अशिवादिभिः-अशिवाऽवमौदर्यादिभिः संप-

न्नम्, 'सागर' त्ति स्वयम्भूरमणसदृशमतिप्रभूतमनेकातिशयसम्पन्नम् नवमं पूर्वं परावर्त्तनीयमस्ति, ततः एतैः कारणैर्द्वावपि विहरेयाताम् । तथा—'जाते' त्ति जातादिकल्पो वक्तव्यः, तत्रापि भङ्गचतुष्टये प्रथमवर्जेषु शेषेषु त्रिषु भङ्गेषु यतना वक्तव्या । तथा ऋतुबद्धे काले आगच्छद्रुच्छद्भिरविरहितं तत् स्थानं कर्तव्यं गणिनाऽप्यवलोकना स्वयं करणीया कारणीया वा । एतानि कारणान्यधिकृतसूत्रप्रवृत्तौ भणितानि ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतः संहननमिति पदं व्याख्यानयति—

आयरिय उवज्झाया, संघयणधितिए जे उ उववेया ।
सुत्तं अत्थो य बहु, गहितो गच्छे य वाघातो ॥ ८ ॥

आचार्या वा उपाध्याया वा ये संहननेन प्रथमेन वज्र-ऋषभ-नाराचलक्षणेन धृत्या च वज्रकुड्यसमानया उपेता-युक्ताः सूत्रमर्थो वा बहुः-प्रभूतो गृहीतो गच्छे च सूत्रार्थस्मरणव्याघातः ।

(६) कुतो व्याघात इति चेत् ?, उच्यते-व्याकुलनातः ।

तामेव व्याकुलनामाह—

धम्मकहि महिड्डीए, आवस्सयनिसिहिया य आलोए ।
पडिपुच्छ वादि पहुणग, रोगी तह दुल्लभं भिक्खं ॥६॥
वाउलणा सा भणिया, जह उद्देसम्मि पंचमे कप्पे ।
नवम दसमाउ पुव्वा, अभिणवगहिया उ नासेज्जा ॥१०॥

स हि धर्म्मकथी लब्धिसम्पन्नस्ततो भूयान् जनः श्रोतुमागच्छतीति धर्म्मकथया व्याकुलना, तथा महर्द्धिको राजादिः धर्म्मश्रवणाय तस्य समीपमुपागच्छति, ततस्तस्य विशेषतः कथनीयं तदावर्जने भूयसामावर्जनादन्यथा व्याकुलनातः सम्यग् धर्म्मग्रहणाभावे तस्य रोषः स्यात् । तस्मिंश्च रुष्टे भूयांसो दोषाः । अथवा—अन्यः कश्चनापि महर्द्धिकाय कथयति, तदानीमपि तूष्णीकैर्भवितव्यं, मा भूत् कोलाहलतस्तस्य सम्यग्धर्म्माप्रतिपत्तिरिति कृत्वा । तथा महति गच्छे बहव आवश्यकीं निर्गच्छन्तः कुर्वन्ति, बहवः प्रविशन्तो नैषेधिकीं ते सम्यग्निरीक्षणीयाः, अन्यथा तयोरकरणे उपलक्षणमेतदन्यस्या अपि सामाचार्याः प्रत्युपेक्षणाऽदेः सम्यक्करणे यदि स्मारणं न करोति तत उपलाप्रत्ययप्रायश्चित्तसम्भवस्तत आवश्यकादिनिरीक्षणायां व्याघातः । तथा भिक्षामटित्वा समागतस्य तस्य सङ्घाटकस्यालोचयतो यदि पठ्यते तदा विकटनायामन्तरनस्य पश्चात्तनस्य च सम्मोहः, सम्मोहाच्च सम्यगनालोचना, तद्भावाचरणव्याघात इति तदाऽऽलोचनायां न पठनीयम् । तथा च गच्छे वसतो बहवः प्रतिपृच्छानिमित्तमागच्छन्ति, ततस्तेषामपि प्रत्युत्तरदाने व्याघातः । तथा तं बहुश्रुतं तत्र स्थितं श्रुत्वा वादिनः समागच्छन्ति ततस्तेऽपि निग्रहीतव्याः, अन्यथा प्रवचनोपघातस्ततस्तन्निग्रहणेऽपि व्याकुलना । तथा महति गणे बहवः प्राघूर्णकाः समागच्छन्ति ततस्तेषां विश्रामणया पर्युपासनया च व्याघातः । तथा बहवः खलु महति गणे ग्लानास्तेषां यावदालोचना श्रूयते तावद्व्याकुलना, तथा महति गणे भूयसां प्राघूर्णं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कादीनां प्रायोग्यं दुर्लभमिति साधवः केऽपि कुत्राप्यन्यत्र प्रेषणीया इति व्याघातः। 'वाउलणा सा' इत्यादि, एषा व्याकुलना यथा कल्पे-कल्पाध्ययने पञ्चमे उद्देशे सविस्तरं भणिता तथाऽत्रापि द्रष्टव्या। 'नवमदसमाउ पुव्वे' ति व्याख्यानयति, नवमे दशमे पूर्वे अभिनवे गृहीते यदि सततं न स्मर्येते ततो नश्येतामतोऽर्थे द्वयोर्विहारः।

'गमणमसिवादी' ति व्याख्यानार्थमाह—

असिवादिकारणेहिं, उम्मुगनायं ति होज्ज जा दोण्हि।
सागरसरिसं नवमं, अतिसयनयभंगगहणत्ता ॥ ११ ॥

अशिवं नाम-मारिः सा उपस्थिता तत्र च ज्ञातमुल्मुकं यथा उल्मुकानि बहून्येकत्राहृतानि ज्वलन्ति एकं द्वौ वा न ज्वलतः, एवं त्रिप्रभृतिषु बहुषु मारिः प्रभवति नैकस्मिन् द्वयोर्वा। तत एवमशिवकारणेनादिशब्दादवमौदर्येण राजप्रद्वेषतो वा गणभेदस्तावद्भवति यावत् पृथक् पृथक् द्वावपि भवेतामतो नानुपपन्नो द्वयोर्विहारः। 'सागरे' त्ति व्याख्यानयति सागरसदृशं—स्वयम्भूरमणजलधितुल्यं नवमसुपलक्षणमेतत्, दशमं च पूर्वम्। कस्मादित्याह—अतिशयनयभङ्गादनेकैरतिशयैरनेकैर्नयैरनेकैर्भङ्गैश्च गुपिलत्वात्, ततोऽगीतार्थानामतिशयाकर्णनं मा भूत्, नयबहुलतया भङ्गबहुलतया वा बहूनां मध्ये परावर्त्तनं दुष्करमिति द्वयोर्विहारः।

अन्यच्च—

पाहुडविज्जातिसया, निमित्तमादी सुहं व पइरिक्के।
छेदसुयम्मि व गुणणा,अगीयबहुलम्मि गच्छम्मि॥१२॥

प्राभृतं-ज्योतिषप्राभृतं गुणयितव्यं विद्यातिशया नाम विद्याविशेषा यैराकाशगमादीनि भवन्ति ते वा परावर्त्तनीया वर्त्तन्ते। निमित्तम्-अतीतादिभावप्ररूपकम्, आदिशब्दात्-योगा मन्त्राश्च परिगृह्यन्ते। एते सर्वेऽपि सुखं—सुखेन प्रतिरिक्के-विविक्के प्रदेशे अभ्यस्यन्ते, न अगीतबहुले-अगीतार्थसंकुले गच्छे छेदश्रुतस्य व्यवहारादेर्गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्थे गुणना-परावर्तनम् कर्त्तुं शक्यम्, मा तेषामगीतार्थानां कर्णाभ्यटनतः श्रुत्वा विपरिणामतो गच्छान्निर्गमनमभूदिति सूरेरुपाध्यायस्य चात्मद्वितीयस्यान्यत्र गमनम्।

(१०) सम्प्रति यादृशे द्वयोरन्यत्र गमनमुचितं तादृशमाह—

कयकरणिज्जा थेरा, सुत्तत्थविसारया सुयरहस्सा।
जे य समत्था वोढुं, कालगयाणं उवहिदेहं ॥ १३ ॥

कृतकरणानामगीतार्थतया—परिणामकतया चान्यदापि अन्यैः सहानेकशः ईदृशानि कार्याणि कृतवन्तः। यद्यपि च कदाचित् द्वितीयं सहायं न कृतवान् तथाऽपि योग्यतया सकृत्करणीय इव द्रष्टव्यः। स्थविराः श्रुतेन पर्यायेण च,तथा सूत्रार्थयोर्विशारदाः सूत्रार्थविशारदाः, तथा श्रुतानि रहस्यानि अनेकान्यनेकशो यैस्ते श्रुतरहस्या इति सहायं प्रति विशेषणं सूरेरुपाध्यायस्य वा पूर्वगतसूत्रार्थधारिणोऽधिगतच्छेदश्रुतस्य च श्रुतरहस्यत्वाव्यभिचारात्, तथा द्वयोरेकतरस्मिन् कालगते अपरेण शरीरपरिस्थापनिकां कर्त्तुं गच्छता द्वयोरप्युपधिः शून्यायां वसतौ न मोक्तव्यो न दुस्यवस्तमपहार्युरिति कृत्वा द्वयोरप्युपधिर्मृतकशरीरं वान्यतरेण वोढव्यं ततो ये कालगतानां देहं द्वयोरुपधिं वा वोढुं समर्थास्ते अधिकृतसूत्रविषयाः।

तथा चाऽऽह—

एयगुणसंपउत्ता, कारणजाएण ते दुयग्गाऽवि।
उउबद्धम्मि विहारो, एरिसयाणं अणुन्नातो ॥१४॥

एतैरनन्तरगाथोक्तैर्गुणैः सम्प्रयुक्ता एतद्गुणसम्प्रयुक्ताः, कारणजातेनानन्तरोदितेन केनचित्कारणविशेषेण तावाचार्यादिकावुपाध्यायादिकौ वा ऋतुबद्धे काले विहरतो न कश्चित् दोषोऽधिकृतसूत्रेणानुज्ञानात्, तथा चाऽऽह-ईदृशयोर्ऋतुबद्धे काले अधिकृतसूत्रेण विहारोऽनुज्ञातो दोषाभावात्कारणविशेषस्य च गरीयस्त्वात् जातेति चत्वारः कल्पाः सूचिताः।

तानेवाऽऽह—

जातो य अजातो वा, दुविहो कप्पो उ होति नायव्वो।
एक्केक्को वि य दुविहो,समत्तकप्पो य असमत्तो ॥ १५ ॥

द्विविधः खलु कल्पो भवति ज्ञातव्यस्तद्यथा-जातोऽजातश्च। एकैकोऽपि च द्विधा—समाप्तकल्पः,असमाप्तकल्पश्च।

एतानेव चतुरो व्याख्यानयति—

गीयत्थो जायकप्पो-ऽगीतो खलु भवे अजातो तु।
पणगं समत्तकप्पो, तदूणगो होति असमत्तो ॥ १६ ॥

जातकल्पो नाम-यो गीतार्थः सूत्रार्थतदुभयकुशलः,अगीतः-अगीतार्थः खलु भवेदजातो-ऽजातकल्पः। समाप्तकल्पो नाम परिपूर्णसहायः, स च जघन्येन पञ्चकं-पञ्चकपरिमाण ऋतुबद्धे काले-वर्षाकाले सप्तपरिमाणः तदूनकस्तस्मात्पञ्चकात्सप्तकाद्वा हीनतरः कल्पो भवत्यसमाप्तोऽपरिपूर्णसहायत्वात्।

अत्र भङ्गचतुष्टयं तदेवाह—

अहव जातो समत्तो, जातो चेव य तहेव असमत्तो।
असमत्तो जातो य, असमत्तो चेव उ अजातो ॥ १७ ॥

अथवेति प्रकारान्तरे पूर्वं कल्पचतुष्टयं सामान्यतः प्ररूपितमिदानीं संयोगतः प्ररूप्यते। जातकल्पोऽपि समाप्तकल्पोऽपीत्येको भङ्गः। जातकल्पोऽसमाप्तकल्प इति द्वितीयः। अजातकल्पः समाप्तकल्प इति तृतीयः। अजातकल्पोऽसमाप्तकल्प इति चतुर्थः। अत्र प्रथमभङ्गः शुद्धः, शेषेषु तु त्रिषु भङ्गेषु यतना कर्त्तव्या।

'तेसिं 'जयणे'त्ति सूत्रागाथोक्तं पदं व्याख्यानयन् प्राह-

तेसिं जयणा इणमो, भिक्खग्गहनिक्खमप्पवेसे य।
ऽणुन्नवणं पिव समगं, बेंति य गिहे दिज्जहोहाणं ॥१८॥

तेषामाद्यवर्जानां त्रयाणां भङ्गानामियं यतना-समकमेककालं भिक्षाग्रहाय उपलक्षणमेतत् विचाराय च निष्क्रमः, समकमेव चावग्रहस्यानुज्ञापनम्। इयमत्र भावना-भिक्षाग्रहणाय विचाराय वा सर्वमुपकरणमादाय समकमेव निष्क्रामतः समकमेव च प्रविशतः, तथा वसतिं प्रथमं याचमानौ समकमेव शय्यातरमनुज्ञापयतः, तथा निर्गच्छन्तौ समकमेव शय्यातरसमीपमुपगम्य ब्रुवाते, यथा-गृहे-गृहस्य प्रतिश्रयस्य उपधानं—स्थगनं दद्यादिति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'उडुबद्धे' त्ति पदव्याख्यानार्थमाह—

उडुबद्धे अविरहियं, एतं जं तेहि होइ साहूहिं ।
कारेइ कुणइ व सयं, गणी वि ओलोयणमभिक्खं ।१६।

ऋतुबद्धे काले तयोः कारणवशतस्तथास्थितयोस्तत्स्थानमागच्छद्भिर्भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशद्भिर्विचारार्थाय वा निर्गत्य मिलनार्थमायद्भिर्गच्छद्भिश्च पुनः स्वस्थानं प्रति प्रचलद्भिः साधुभिरविरहितं भवति 'ओलोयण' त्ति पदं व्याख्यानयति-योऽसौ गणी आचार्यः सोऽपि तयोर्द्वयोर्जनयोरवलोकनां-गवेषणामभीक्ष्णं द्वितीये तृतीये वा दिने स्वयं करोति अन्यैर्वा कारयति।

उपसंहारमाह—

एएहिँ कारणेहिं, हेमंते गिम्हेँ अप्पवीयाणं ।
धिइदेहमकंपाणं, कप्पति वासो दुवेण्हं पि ॥ २०॥

एतैरनन्तरोदितैर्व्याकुलनादिभिः कारणैर्हेमन्ते—शीतकाले ग्रीष्मे—घर्मकाले द्वयोरप्यात्मद्वितीययोराचार्योपाध्याययोर्धृत्या देहेन चाकम्पयोरचाल्ययोर्धृतेर्वज्रकुड्यसमानत्वात्, देहस्य च प्रथमसंहननात्मकत्वात् कल्पते वासस्तदेवमृतुबद्धकालविषयाणि सूत्राणि भाष्यकृता प्रपञ्चितानि। (व्य० ४ उ० ।) (वसतिविषयः 'वसहि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६६८ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्यः)

अस्य (६) सूत्रस्य सम्बन्धमभिधित्सुराह–

इति पत्तेया सुत्ता, पिंडगसुत्ता इमे पुण गुरूणं ।
दुप्पभिई तिप्पभिई, बहुत्तमिह मग्गणा खेत्ते ।। ६६ ॥

इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेणाऽष्टौ प्रत्येकानि—प्रत्येकभावीनि सूत्राण्युक्तानि प्रत्येकानन्तरं चः समुदाये इति, इमे पुनर्द्वे वक्ष्यमाणे पिण्डकसूत्रे । केषां पिण्डक इत्याह—गुरूणामाचार्यादीनाम् ; आचार्यादिसमुदायविषये इत्यर्थः । अनेन सम्बन्धनायातस्यास्य(सू०६)व्याख्या-'से' शब्दोऽथशब्दार्थः। अथ ग्रामे वा यावत्करणात्–'नगरंसि वा पट्टणंसि वा मडंबंसि वा' इत्यादिपरिग्रहः, सन्निवेशे वा बहूनां द्वित्रिप्रभृतीनामाचार्योपाध्यायानामात्मद्वितीयानां बहूनां द्वित्रिप्रभृतीनां गणावच्छेदकानामात्मतृतीयानां हेमन्तग्रीष्मयोश्चरितुं कल्पते अन्योन्यनिश्रया परस्परोपसंपदा । अथ ग्रामे वा यावत्सन्निवेशे वा बहूनामाचार्योपाध्यायानामात्मतृतीयानां बहूनां गणावच्छेदकानामात्मचतुर्थानां च वर्षावासं वस्तुं कल्पते अन्योन्यनिश्रयेत्येष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥६॥ अत्र बहुत्वव्याख्यानार्थमाह–'दुप्पभिइ' इत्यादि द्विप्रभृति त्रिप्रभृति वा अत्र बहुत्वमवगन्तव्यम् । किमर्थमिदं सूत्रमिति चेत्, उच्यते–इह मार्गणा क्षेत्रे कर्त्तव्येत्येतदर्थम् एकस्मिन् क्षेत्रे स्थितानां कस्य क्षेत्रमाभवति कस्य नेति चिन्तायां ये परस्परनिश्रयाऽसमाप्तकल्पा वर्त्तन्ते तेषामाभवति,अन्येषां नेत्येवमर्थमित्यर्थः।

एतदेवाक्षेपपुरस्सरमाह—

हेट्ठा दोण्ह विहारो, भणितो किं पुण इयाणि बहुयाणं ।
एगक्खित्तठियाणं, तु मग्गणा खेत्त अक्खेत्ते ॥ ६७ ॥

ऋतुबद्धे काले द्वयोर्विहारोऽधस्तात्पूर्वं द्वितीयसूत्रे उपलक्षणमेतत् वर्षासु षष्ठसूत्रेण त्रयाणां ततस्तेनैवेदं गतार्थमिति किम्–किमर्थं पुनरिदानीं बहुकानामाचार्यादीनां? सूत्रम्, सूरिराह-एकक्षेत्रस्थितानां मार्गणा कर्त्तव्या, कस्य क्षेत्रं भवति कस्याक्षेत्रं; कस्य नाऽऽभवति क्षेत्रमित्यर्थः ।

तत्र परस्परोपसम्पदा समाप्तकल्पभूतानां भवत्यन्येषां न भवतीत्येवमर्थं तथा चैतदेव निर्युक्तिकृत् सविस्तरमाह—

उउबद्धेँ समत्ताणं, उग्गहो एगदुगपिंडियाणं पि ।
साहारणपत्तेगे, संकमति पडिच्छए पुच्छा ॥ ६८ ॥

पञ्च जनाः समाप्तकल्पा ऊना असमाप्तकल्पाः,ऋतुबद्धे काले बहूनामाचार्याणां परस्परोपसंपदा समाप्तकल्पानामेकद्विकपिण्डितानामपि पञ्चाप्येककाः सन्तः पिण्डिताः एकपिण्डिताः । अथवा—द्विकेन वर्गद्वयेन एकः–एकाकी एकश्चतुर्वर्गः । अथवा-एको द्विवर्गोऽपरस्त्रिवर्ग इत्येवंरूपेण पिण्डिता द्विकपिण्डितास्तेषामेकद्विकपिण्डितानामपिशब्दात्–त्रिवर्गपिण्डितानां चतुर्वर्गपिण्डितानामपि तत्र त्रिवर्गपिण्डिता द्वावप्येकाकिनावेकस्त्रिवर्गः, चतुर्वर्गपिण्डितास्त्रय एकाकिन एको द्विवर्गः अवग्रह आभवति। न शेषाणामसमाप्तकल्पस्थितानां यदि पुनर्द्वौ गच्छौ समाप्तकल्पावेकत्र क्षेत्रे समकं स्थितौ स्यातां तदा तत् क्षेत्रमाभवति, द्वयोरपि तयोः साधारणम् । तच्च साधारणं क्षेत्रं तेषां समाप्तकल्पतया प्रत्येकं स्थितानां मध्ये ये सूत्रार्थनिमित्तं यानुपसम्पद्यन्ते तत उत्तीर्य तेषामुपसम्पद्विषयाणामाभाव्यतया संक्रामति । तथा चाह—साधारणं क्षेत्रं प्रत्येकं व्यवस्थितमपि प्रतीच्छके प्रतीच्छकादुत्तीर्य तेषां संक्रामति ते हि प्रतीच्छाकास्तन्निश्रामुपपन्नास्ततस्तेषां क्षेत्रमितरेषां संक्रामति । अथ प्रतीच्छका नोपसम्पद्यन्ते केवलं 'पुच्छ' त्ति पृच्छामात्रं सूत्रार्थविषया क्रियते तदा 'पुच्छ' त्ति इत्यादिना मार्गणा कर्त्तव्या।

अत्रैव विशेषमाह—

अप्पबितियप्पतइय–ट्ठियाण खेत्तेसु दोसु दोण्हं तु ।
उडुबद्धे होइँ खेत्तं, गमणागमणं जतो अत्थि ॥६९॥

एकस्मिन् क्षेत्रे एक आचार्य उपाध्यायो वा आत्मद्वितीयः स्थितोऽपरस्मिन् क्षेत्रे अपर आचार्य उपाध्यायो गणावच्छेदको वाऽऽत्मतृतीयः स्थितः, केवलं परस्परमुपसंपदा ततस्तयोर्द्वयोरपि क्षेत्रयोरात्मद्वितीयात्मतृतीयस्थितयोः ऋतुबद्धे काले तदुभयमपि क्षेत्रमाभाव्यं भवति। कुत इत्याह–?–गमनागमनं यतः परस्परमस्ति परस्परोपसंपन्नत्वादतः समाप्तकल्पतया भवत्याभाव्यमिति ।

(११) सम्प्रति यैः कारणैरुपसम्पद्यते तान्याह—

खेत्तनिमित्तं सुहदु–क्खतोवसुत्तत्थकारणे वाऽवि ।
असमत्ते उवसंपय–समत्ते सुहदुक्खयं मोत्तुं ॥ ७० ॥

असमाप्तस्य-असमाप्तकल्पस्योपसम्पद्भवति क्षेत्रनिमित्तं सुखदुःखहेतोर्वा सूत्रार्थकारणाद्वा । किमुक्तं भवति–अन्यत् तादृशं क्षेत्रं न विद्यते। यद्वा--असमाप्तकल्पतया विहरतां दुःखं, समाप्तकल्पतया विहरतां सुखमिति सुखदुःखहेतोः, अथवा-सूत्रार्थकारणाद्वा असमाप्तकल्पा अन्यं गच्छमुपसम्पद्यन्ते इति, समाप्ते समाप्तकल्पस्य पुनरुपसम्पदि सुखदुःखतां मुक्त्वा शेषाणि कारणानि द्रष्टव्यानि । समाप्तकल्पा अन्यक्षेत्रं तादृशं नास्तीति क्षेत्रनिमित्तं सूत्रनिमित्ते तदुभयनिमित्तं वाऽन्यद् गच्छान्तरमुपसम्पद्यन्ते न सुखदुः–खहेतोः समाप्तकल्पतया तेषां विहरणे दुःखाभावादिति भावः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ ते कथमेकाकिनोऽसमाप्ता वा जाता इत्यत आह—

पडिभग्गेसु मएसु व, असिवादीकारणेसु फिडिया वा ।
एएण तु एगागी, असमत्ता वा भवे थेरा ॥ ७१ ॥

शेषेषु साधुषु व्रतात् प्रतिभग्नेषु वा मृतेषु वा । अथवा—ये अशिवादिभिः कारणैः स्फिटिताः—परस्परं विघुटिता एतेन स्थविरा एकाकिनोऽसमाप्ता वा भवेयुः ।

साम्प्रतम् 'एगदुगपिरिडयाणं (६८)' इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह—

एगदुगपिंडिया वि हु, लब्भति अणोणनिस्सिया खेत्तं ।
असमत्ता बहुया वि हु,न लभंति अणिस्सिया खेत्तं ।७२।

एककाः पिण्डिता एकपिण्डिताः, द्विकेन-वर्गद्वयेन पिण्डिताः अपिशब्दात्—त्रिकपिण्डिताश्चतुष्कपिण्डिताश्च । अमीषां भावना प्रागेवोक्ता हु—निश्चितम् , अन्योऽन्यनिश्रिताः-परस्परमुपसम्पन्ना लभन्ते क्षेत्रम् , ये पुनरसमाप्ताः परस्परोपसम्पद्ग्रहणाभावतोऽसमाप्तकल्पास्तिष्ठन्ति ते परस्परमनिश्रिताः, 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन' मिति न्यायादत्र हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः-परस्परमनिश्रितत्वात् बहुका अपि सन्तो हु—निश्चितं न लभन्ते क्षेत्रं समाप्तकल्पानामेव क्षेत्रस्याऽऽभवनात् । तथा पूर्वाचार्यकृतिस्थितिः ।

जइ पुण समत्तकप्पो, दुहा ठितो तत्थ होज्ज चउरखे ।
चउरोऽवि अप्पभूते, लभंति दो ते इतरनिस्सा ॥ ७३ ॥

यदि पुनः समाप्तकल्पः पञ्चजनात्मको वसतेः सङ्कटनादोषैकस्मिन् क्षेत्रे द्विधा स्थित एकस्यां वसतौ द्वौ जनावपरस्यां त्रयस्तथाऽस्मिन् क्षेत्रे अन्यस्यां वसतावन्ये चत्वारो जनाः स्थिता भवेयुस्तथाऽपि चत्वारोऽपि तस्य क्षेत्रस्याऽप्रभवो न तेषां तत् क्षेत्रमाभाव्यं भवति । यौ पुनर्द्वौ तौ तत् क्षेत्रं लभेते । कुत इत्याह-इतरनिश्रौ, अत्राऽपि हेतौ प्रथमा । यतस्तावितरत्रयनिश्रातः समाप्तकल्पत्वाल्लभन्ते ।

अथ कस्मादसमाप्तकल्पानामेकाकिनां चाभाव्यं क्षेत्रं न भवतीत्यत आह—

एगागिस्स उ दोसा, असमत्ताणं च तेण थेरेहिं ।
एस ठविया उ मेरा,इति वि हु मा होज्ज एगागी ॥७४॥

यत एकाकिनः सतोऽसमाप्तानां च-असमाप्तकल्पानां च दोषा भूयांसस्तेन कारणेन स्थविरैरेषा मर्यादा स्थापिता इत्यपि खलु कारणात् क्षेत्रानाभवनलक्षणात् एकाकिनो समाप्तकल्पा वा मा भूवन्निति । व्य० ४ उ० ।

तत्र साधारणशैक्षं वक्तुमाह-

अक्खेत्ते जस्सुवठितो, खेत्ते वा समठियाण साहारे ।
वायन्तियववहारे, कयम्मि जो जस्सुवट्ठाइ ॥ १०६ ॥

अक्षेत्रे स्नानादिप्रयोजनतः क्वाप्येकत्र मिलितानां यो यस्योपतिष्ठति शैक्षः स तस्याऽऽभवति । अथवा-समकमेककालं ये स्थिताः पृथक् पृथक् समाप्तकल्पास्तेषां समकस्थितानां तत्क्षेत्रं साधारणं; तस्मिन् साधारणे क्षेत्रे समकस्थितानाम् , अथवा—पश्चादागता अप्येवं व्यवस्थां कृत्वा प्रविष्टाः-यस्योपतिष्ठति तस्याऽऽभवति, तत एवं वार्चान्तिके व्यवहारे कृते यो यस्योपतिष्ठति स तस्याऽऽभवति ।

साधारणट्ठियाणं, सेहे पुच्छंतुवस्सए जो उ ।
दूरत्थं पि हु नियर्यं, साहेति उ तस्स मासगुरु ॥११०॥

विचारादिविनिर्गतं साधुं दृष्ट्वा कोऽपि शैक्षकः पृच्छति कुत्र साधूनां वसतय इति, एवं साधारणस्थितानाम्-साधारणक्षेत्रावस्थितानामुपाश्रयान् पृच्छति शैक्षो यो निजकमात्मीयमुमाश्रयं दूरस्थमपिशब्दात्-प्रत्यासन्नं वा साधयति-कथयति तस्य हु-निश्चितं प्रायश्चित्तं मासगुरु ।

किं कथनीयमित्याह—

सव्वे उद्दिसियव्वा,(अह)पुच्छइ कयरो य एत्थ आयरितो।
बहुस्सुय तवस्सि पव्वा-यगो य तत्थ वि कहेयव्वा।१११।

सर्वे यथाक्रममुपाश्रया उद्देष्टव्याः, यथा—अमुकस्याचार्यस्योपाश्रयोऽमुकप्रदेशेऽमुकस्याऽमुके इति, एवं कथिते यत्र याति तेषामाभवति । अथ स पृच्छेत् कतरोऽत्राचार्यः बहुश्रुतो वा तपस्वी वा प्रव्राजको वा तत्रापि तस्यामपि पृच्छायां तथैव कथनीयमन्यथा कथने मासगुरु ।

सव्वे सुयत्था य बहुस्सुया य,
पव्वावगा आयरिया पहाणा ।
एवं तु वुत्ते समुवेति जस्स ,
सिद्धे विसेसो चउरो य किण्हा ॥ ११२ ॥

अथ सर्वे श्रुतार्थाः सर्वे बहुश्रुताः सर्वे च प्रव्राजकाः सर्वे चाचार्याः प्रधानास्ततस्तथैव यथाभावं कथनीयाः, एवं तूक्ते यस्य समीपं समुपैति तस्याऽऽभवति । अथाऽऽत्मीयानां बहुतरगुणोत्कीर्त्तनतोऽन्येषां बहुतरनिन्दनेन रागद्वेषाऽऽकुलतया विशेषं कथयति, ततः शिष्टे विशेषे तस्य-विशेषकथकस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासाः कृत्स्नाः-परिपूर्णगुरुका इत्यर्थः ।

अथ सर्वेषां मिलितानां स शैक्षः समागत एवं ब्रूयात्-

धम्ममिच्छामि सोउं जे, पव्वइस्सामि रोइए ।
कहणालविनो हीणो, जो पढमं सो उ साहति ॥११३॥

धर्म्मं श्रोतुमिच्छामि युष्माकं पार्श्वे 'जे' इति पादपूरणे, श्रुते धर्म्मे रुचिते—प्रतिभासिते सति प्रव्रजिष्यामि एवमुक्ते कथना सा धर्मस्य भवति । कः कथयतीति चेदत आह-यो लब्धितः कथनलब्धेरहीनः स प्रथमं साधयति-कथयति । अथाऽन्येऽपि द्वित्रिप्रभृतयो लब्धितः समानास्तर्हि यो रत्नाधिकस्तेन कथयितव्यम् ।

पुणो वि कहमिच्छंते, तत्तुल्लं भासते परो ।
एवं तु कहिए जस्स, उवट्ठायति तस्स सो ॥ ११४ ॥

अहं पुनरपि कथां-धर्म्मकथां श्रोतुमिच्छामीति ततः पुनरपि कथां-धर्मकथां श्रोतुमिच्छामीति ब्रवीति,ततः पुनरपि कथां-धर्म्मकथां श्रोतुमिच्छति परोऽन्यो भाषते परं तत्तुल्यं तावन्मात्रमेवमपरवेलायामन्योऽपि । उक्तं च-'जारिसं पढमेण कहियं तारिसं सेसेहि वि कहेयव्वमिति' एवं प्रदीपकथनसदृशता सर्वैः कथिते यस्योपतिष्ठते तस्य स आभवति । अथाऽन्ये विशेषेण विशेषतरेण कथयन्ति तर्हि तेषां न लभन्ते, किं तु-र्या रत्नाधिकस्तेषां तस्य स आभवति ।

अणुवसंते च सव्वेसिं, सलद्धिकहणा पुण ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राइणियादि उवसंतो, तस्स सो मा य नासउ ॥११५॥

अथ यादृशं प्रथमेन कथितं तादृशमन्यैरपि कथिते स नोपशाम्यति-न प्रव्रज्याभिमुखीभूतो भवति ततः तस्मिन्ननुपशान्ते पुनः कथना धर्म्मस्य सर्वेषां रत्नाधिकादीनां-रत्नाधिकप्रभृतीनां स्वलब्ध्या-यथा स्वशक्तितुलनया, एवं च कथने यस्य समीपे स उपशान्तस्तस्याऽऽभवति। कस्मादेवं कथनेति चेदत आह—मा सोऽनुपशान्तः सन् नश्यतु संसारं परिभ्रमत्विति कृत्वा। अथ सर्वे आचार्या एकत्र मिलितास्तिष्ठन्ति स च शैक्षक एवं कश्चन पृच्छति कोऽत्राचार्यस्तत एवं कथनीयम्-सर्वे बहुश्रुताः, सर्वे वाऽऽचार्याः, सर्वे प्रधाना इति, एवमुक्ते यदि शैक्षको ब्रूते यं जानीथ यूयमाचार्यं तं मम दर्शयत।

तत्राऽऽह—

जं जाणह आयरियं, तं देह ममंतिए व भणियम्मि।
जइ बहुया ते सीसा, दलंति सव्वेसिमेक्केक्कं ॥ ११६ ॥

यं जानीथ यूयमाचार्यं तं मम 'देह' त्ति दर्शयतेत्येवं भणिते यदि ते शिष्याः शिष्यत्वेनोपस्थिता बहवो भवन्ति, ततः सर्वेषामेकैकं शिष्यं ते एकत्र मिलिताः परस्परसम्मत्या ददति-प्रयच्छन्ति।

अथ एकः शिष्यस्तत्र विधिमाह—

राइणिया थेरा सति, कुलगणसंघे दुगादिणो भेदा।
एमेव वत्थपाए, तालायर सेवगा वणिए ॥ ११७ ॥

यद्येक एव शिष्यस्तदा यस्तेषां सर्वेषामपि रात्निको रत्नाधिकस्तस्य तं समर्प्पयन्ति। अथ सर्वे समरत्नाधिकास्ततो यस्तेषां वृद्धतरस्तस्य। अथ सर्वे वृद्धास्तर्हि यस्य शिष्या न सन्ति तस्य। अथ सर्वेषामपि शिष्या न विद्यन्ते तत इयं सामाचारी-सर्वेषां शिष्याणामसत्यभावे 'कुल' त्ति यदि ते सर्वे समानकुलास्ततः कुलस्थविरस्य तं ददति। अथान्यकुलसत्का अपि तत्र ते तत आह-'गण' त्ति गणस्थविरस्य समर्प्पयन्ति। अथान्यगणसत्का अपि तत्र विद्यन्त, तत आह-'संघे' त्ति सङ्घस्थविराय ददति। अथवा-स एकः शिष्यः साधारणस्तावत् क्रियते यावदन्ये उपतिष्ठन्ते उपस्थितेषु च तेषु यदा सर्वेषां परिपूर्णा भवन्ति तदा विभज्यन्ते। एवं द्विकादयोऽपि भेदा वाच्याः—द्विप्रभृतीनामपि शिष्याणामुपस्थितानामेव विभाषा कर्त्तव्या। एवमेव-अनेनैव च प्रकारेण वस्त्रपात्रेऽपि-वस्त्रपात्रादिलाभेऽपि द्रष्टव्यम्। तच्च वस्त्रपात्राऽऽदिकं तालाचरा वा दद्युः सेवका वा वणिजो वा एतेषां प्रायो वर्षासु दानसम्भवात्।

एतामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतः 'रायणिया थेरा सति' इति व्याख्यानयति—

रायणियस्स उ एगं, दलंति तुल्लेसु थेरगतरस्स।
तुल्लेसु जस्स असती, तहावि तुल्ला इमा मेरा ॥११८॥

एकं शिष्यमुपस्थितं रात्निकस्य—रत्नाधिकस्य ददाति। अथ सर्वे समरत्नाधिकास्ततस्तुल्येषु रत्नाधिकेषु यः स्थविरतरस्तस्य, अथ सर्वे स्थविरतरास्तर्हि तुल्येषु स्थविरतरेषु यस्य शिष्याणामभावस्तस्य, अथ शिष्याभावेनाऽपि सर्वे तुल्यास्तत इयं मर्यादा।

तामेवाह—

समकुलगा कुलथेरे गणथेरे, गणिव्वएयरा संघे।
रायणिए थेरेऽसति, कुलादिथेराण वि तहेव ॥ ११९ ॥

यदि ते सर्वे समकुलकाः-समानकुलकास्ततः कुलस्थविरस्य ददति। अथान्यकुलका अपि विद्यन्ते ततः 'सङ्घ' सङ्घस्थविरस्य, अथैषां मध्ये तत्कालमेकस्याऽप्यभावस्तत आह-'रायणिए' इत्यादि रत्नाधिकस्थविरस्याभावे कुलादिस्थविराणामपि तथैव अभावे ददति।

साहारणं व काउं, दोण्हि वि सारेंति जाव अण्णो उ।
उप्पज्जइ सिं सेहो, एमेव य वत्थपत्तेसुं ॥ १२० ॥

साधारणं वा तं शिष्यं कृत्वा द्वावपि तं तावत्सारयतो यावदन्यशिष्यस्तयोरुत्पद्यते। ततो विभजनमिति। अत्र द्विग्रहणं त्रिप्रभृतीनामुपलक्षणं तेन बहूनामप्ययं न्यायो द्रष्टव्यः। एवमेव वस्त्रपात्रेष्वपि साधारणतया सम्पन्नेषु विधिर्द्रष्टव्यः।

अत्र पर आह—

चोएइ वत्थपाया, कप्पंते वासवासि घेत्तुं जे।
जह कारणम्मि सेहो, तह तालचरादिसुं वत्था ॥१२१॥

चोदयति शिष्यः वर्षावासे वस्त्रपात्राणि ग्रहीतुं कल्पन्ते काका पाठयति प्रश्नावगमः। सूरिराह-यथा कारणे पूर्वोपस्थित इत्येवंलक्षणे अव्यवच्छित्तिकारको भविष्यतीत्येवंरूपे वा अपवादतः शैक्षः कल्पते तथाऽपवादतस्तालाचरादिषु वस्त्राणि उपलक्षणमेतत् पात्राणि च कल्पन्ते।

साहारणो अभिहतो, इयाणि पच्छाकडस्स अवयारो।
सो उ गणावच्छेइय-पिंडगसुत्तम्मि भण्णिहिति ॥१२२॥

यदुक्तं प्राक् द्विविधं शैक्षं वक्ष्ये-साधारणं, पश्चात्कृतमिति च तत्र साधारणः शैक्षोऽभिहितः, इदानीं पश्चात्कृतस्याऽवतारः-प्रस्तावः स तु गणावच्छेदकपिण्डगसूत्रे गणावच्छेदकबहुत्वसूत्रे भणिष्यते तदेवमाचार्योपाध्यायगतान्येकत्वबहुत्वसूत्राणि भावितानि।

संप्रति गणावच्छेदकैकत्वबहुत्वसूत्राणि विभावयिषुराह—

एमेव गणावच्छे, एगत्तपुहुत्तदुविहकालम्मि।
जं इत्थं नाणत्तं, तमहं वुच्छं समासेणं ॥ १२३ ॥

एवमेवाचार्योपाध्यायसूत्रगतेन प्रकारेण द्विविधे काले-ऋतुबद्धे काले वर्षाकाले च गणावच्छेदकैकत्वपृथक्त्वसूत्राणि भावयितव्यानि। किमुक्तं भवति—यथा आचार्योपाध्यायानामेकत्वपृथक्त्वसूत्राणि द्विविधकालगतानि व्याख्यातानि, या वाऽऽभवति अनाभवति च समाचारी, तथा गणावच्छेदकस्याऽप्येकत्वपृथक्त्वसूत्राणि द्विविधकालगतानि भावयितव्यानि, सैव च सामाचारी आभवत्यनाभवतीति, नवरमत्र यन्नानात्वं तदहं समासेन वक्ष्ये। तत्र ऋतुबद्धे तावद्धरायने यदि गणावच्छेदक आत्मद्वितीयो वसति तदा तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु।

इमे च दोषाः—

जह होति पत्थणिज्जा, कप्पट्ठी नीलकेसी सव्वस्स।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तह चेव गणावच्छो, किं कारण जेण तरुणो उ ॥ १२४ ॥

यथा 'कप्पट्ठी' ति बालिका नीलकेशी—कृष्णकेशी; तरुणीत्यर्थः सर्वस्य तरुणस्य महतो वा प्रार्थनीया भवति, तथा गणावच्छेदकोऽपि। किं कारणम् ?, सूरिराह—येन कारणेन स गणावच्छेदकस्तरुणस्ततस्तरुणतया तरुण्या महत्या वा प्रार्थनीयो जायते।

दोण्हं चउकरहस्सं, हवेज्ज छक्कं न मो न संभवति ।
सिद्धं लोके तेण उ, परपच्चयकारणा तिन्नि ॥ १२५ ॥

लोके इदं सिद्धं-प्रतीतं यद् द्वयोश्चतुःकर्णं रहस्यं भवति षट्कर्णं, 'मो' इति पादपूरणे। त्रयाणां रहस्यं न सम्भवति, तेन कारणेन परप्रत्ययकारणात् परेषां प्रत्ययोत्पादनार्थं त्रयो विहरन्ति। इतरथा समर्थः स आत्मनिग्रहं कर्त्तुम्। त्रयोऽपि चोत्सर्गतो न कल्पन्ते तत इदमपि सूत्रं कारणिकमवगन्तव्यम्।

कारणतश्च तेषां त्रयाणां तिष्ठतामियं यतना—

जयणा तत्थुदुबद्धे, समभिक्खाणुण्ण णिक्खम पवेसो ।
वासासु दोण्हि चिट्ठे, दो हिंडेऽसंथरे इयरे ॥ १२६ ॥

तत्र ऋतुबद्धे काले इयं यतना—समकं भिक्षा, समकं शय्यातरस्य समीपे वसतेरनुज्ञा, समकं विचारार्थं निष्क्रमः, समकं वसतौ प्रवेशः। वर्षासु पुनरियम्-द्वौ पश्चात् तिष्ठतो हिण्डेते एतच्च संस्तरणे, इतरौ द्वौ गणावच्छेदकतदन्यलक्षणौ वसतेः प्रत्यासन्नेषु गृहेषु वसतिं प्रलोकमानौ हिण्डेते यावता न पूर्यते तावदितरानीतं गृह्णीतः। इदमपि वर्षाविषयं कारणिकम्। अकारणे चतुर्णां तिष्ठतां प्रायश्चित्तं चतुर्लघु।

सम्प्रति बहुत्वविषये गणावच्छेदकसूत्रे भावयति—

एमेव बहूण पी, जहेव भणिया उ आयरियसुत्ते ।
जाव य सुओवसंपय, नवरि इमं तत्थ नाणत्तं ॥ १२७ ॥

एवमेव—अनेनैव प्रकारेण। किमुक्तं भवति—यथा एकत्वे ऋतुबद्धे वर्षासु च पूर्वं सूत्रमुक्तमेवं बहूनामपि ऋतुबद्धे वर्षासु च वक्तव्यम्। भावनाऽपि च यथा बहुत्वविषये आचार्यसूत्रे भणिता तथैवाऽत्राऽपि भणनीया। सा च तावत् यावत् श्रुतोपसम्पत्। तथाहि-तैरपि समासकल्पीकरणार्थमन्योऽन्यनिश्रया वर्त्तितव्यम्; परस्परोपसम्पदा इत्यर्थः। सा च निश्रा द्विविधा—गीतार्थनिश्रा, श्रुतनिश्रा च। तत्र यद्गीतार्थस्य समीपे उपसम्पत्सम्पादनं सा गीतार्थनिश्रा, तया परस्परोपसम्पन्नत्वेन समासकल्पीभूतयोर्द्वयोस्त्रयाणां वा वर्गाणां समकमागतानां साधारणं क्षेत्रम्। तथा श्रुतार्थं निश्रा श्रुतनिश्रा, साऽपि च यथा प्राक् आचार्यसूत्रेऽभिहिता तथा अत्रापि भणितव्या, नवरमिदं तत्र निश्रायां नानात्वम्।

तदेवाऽऽह—

साधारणट्ठिया उ, सुत्तत्थाइं परोप्परं गिण्हे ।
वारंवारेण तहिं, जह आसा कंडुयंते उ ॥ १२८ ॥

ते सर्वे द्विवर्गास्त्रिवर्गा वा समासकल्पाः समकमेकस्मिन् क्षेत्रे यदि स्थितास्ततः साधारणं तत् क्षेत्रम्, ते तस्मिन् साधारणे क्षेत्रे स्थिता यदि यथा वारंवारेणाश्वाः परस्परं कण्डूयन्ति एवं वारंवारेण परस्परं सूत्रमर्थं वा गृह्णन्ति, यथाऽहमद्य तव पार्श्वे गृह्णामि कल्ये त्वं मम पार्श्वे ग्रहीष्यसि। अथवा—पौरुषीप्रमाणेन मुहूर्त्तैर्वा वारकं कुर्वन्ति तदा यो यदा यस्य पार्श्वे गृह्णाति तस्य तावन्तं कालमाभाव्यमितरः सूत्रस्यार्थस्य वा प्रदाता अपहरति।

अह पुव्वठिए पच्छा, अन्नो एज्जाहि बहुस्सुतो खेत्ते ।
सो खेत्तुवसंपन्नो, पुरिमल्लो खेत्तितो तत्थ ॥ १२९ ॥

अथ पूर्वस्थिते क्षेत्रिके क्षेत्रस्वामिनि गणावच्छेदके आचार्ये वा पश्चादन्यो बहुश्रुतस्तस्मिन् क्षेत्रे आगच्छति तर्हि स तदनुमत्या तत् क्षेत्रमुपसम्पन्न इति तत् क्षेत्रे क्षेत्रिकः-क्षेत्रस्वामी पूर्वतनः एव न पश्चात्तनः।

खेत्तितो जइ इच्छे-ज्जा सुत्तादी उ किंचि गिण्हेउं ।
सीसं जइ मेहाविं, पेसे खेत्तं तु तस्सेव ॥ १३० ॥

क्षेत्रिकः-क्षेत्रस्वामी यदि पश्चादागतस्य समीपे किञ्चित् सूत्रादिग्रहीतुमिच्छति तत्र यदि शिष्यं मेधाविनं प्रेषयति तर्हि क्षेत्रं तस्यैवं पूर्वस्थितस्य न पश्चादागतस्य।

असती तव्विहसीसे, अणिखित्तगणे उ वायए संकमति ।
अहवा य अगीयत्थे, निक्खिवइ गुरुग न य खेत्तं ॥ १३१ ॥

अथ तथाविधो मेधावी शिष्यो नास्ति ततस्तद्विधे शिष्ये असति-अविद्यमाने अनिक्षिप्ते स्वशिष्यस्य गीतार्थस्य, गणे यदि सूत्रादि पश्चादागतस्य समीपे वाचयति, तर्हि तत्क्षेत्रं पश्चादागते वाचयति संक्रामति। अथागीतार्थे स्वशिष्ये गणं निक्षिपति निक्षिप्य च पश्चात्सूत्रादि वाचयति, तर्हि अगीतार्थे गणं निक्षिपतस्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, न च तस्य क्षेत्रं, किं तु-सूत्रादिवाचयितुः पश्चादागतस्य।

अह निक्खिवती गीते, होई खेत्तं तु तो गणस्सेव ।
तस्स पुण अत्तलाभो, वायंते न निग्गतो जाव ॥ १३२ ॥

अथ गीते-गीतार्थे शिष्ये गणं निक्षिपति निक्षिप्य च पश्चादागतस्य समीपे सूत्रादि गृह्णाति, 'तो' त्ति ततः क्षेत्रं गणस्यैवाऽऽभवति न पाठयितुः पश्चादागतस्याचार्यस्य। अथ यदा गणमनिक्षिप्यागीतार्थे वा निक्षिप्य सूत्रादि गृह्णाति तदा कियन्तं कालमाभाव्यं तत् क्षेत्रं पाठयितुः ?, अत आह-'तस्स' इत्यादि, तस्य पुनः पाठयितुः पुनस्तस्मिन् क्षेत्रिके वाचयति आत्मलाभः आत्मीयत्वेन क्षेत्रस्यालम्भनं तावत् यावत् स ततो गच्छान्न निर्गतो भवति, किमुक्तं भवति—यावत्तस्य समीपे अध्ययनार्थमवतिष्ठते तावत्तस्याध्यापयितुः पश्चादागतस्याऽऽभवति तत् क्षेत्रम्, यदपि च शिष्यादिकं तस्य सूत्रादिग्रहीतुरुपतिष्ठति तदपि तस्याऽऽभवति, निर्गते च ततो गच्छात्तस्मिन् भूयस्तस्यैव पूर्वस्थितस्य क्षेत्रं संक्रामतीति।

आगंतुगोऽवि एवं, ठवेंतो खेत्तोवसंपयं लभति ।
साहारणे य दोण्हं, एसेव गमो य नायव्वो ॥ १३३ ॥

आगन्तुकोऽपि एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण गच्छे स्थापयन् क्षेत्रोपसम्पदं लभते। इयमत्र भावना-आगन्तुकोऽपि यदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वस्थिते सूत्रादि गृह्णाति अन्यस्यागन्तुकस्य समीपे सूत्रादि जिघृक्षुं मेधाविनं शिष्यं प्रेषयति, यदिवा—गीतार्थे गणं निक्षिप्य स्वयं वाचयति तदा तत्क्षेत्रं तस्यैव मूलागन्तुकस्य। अथ गणमनिक्षिप्य अगीतार्थे वा गणं निक्षिप्य सूत्रादि गृह्णाति तदा ग्राहयितुः क्षेत्रम्, अगीतार्थस्य च गणं निक्षिपतः प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकमिति। तथा साधारणे च द्वयोराचार्ययोः क्षेत्रे सूत्रादिग्रहणचिन्तायामेष एव गमो ज्ञातव्यस्तद्यथा—द्वयोः साधारणक्षेत्रे एको यद्यपरस्य समीपे सूत्रादिकं ग्रहीतुकामः प्राज्ञं विनीतं शिष्यं प्रेषयति, गणं वा गीतार्थे निक्षिप्य स्वयं गृह्णाति तदोभयोरपि साधारणम्। अथ गणमनिक्षिप्यागीतार्थे वा निक्षिप्य वाचयति तदाऽध्यापयितुः क्षेत्रं नेतरस्य, तदपि च तावद्यावत्स ततो गच्छान्न निर्गच्छति। निर्गते उभयोः साधारणम्। अगीतार्थस्य गणाध्यारोपे प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम्।

साहारणो उ भणितो,इयाणि पच्छा कडं तु वोच्छामि।
सो दुविहो बोधव्वो, गिहत्थसारूविश्रो चेव॥ १३४॥

साधारणोऽभिहितः इदानीं पश्चात्कृतं वक्ष्यामि, स च पश्चात्कृतो द्विविधः। तद्यथा—गृहस्थः सारूपिकश्च। गृहे-गृहलिङ्गे तिष्ठतीति गृहस्थः, समानं रूपं सरूपं तेन चरतीति सारूपिकः।

अनयोरेव स्वरूपमभिधित्सुराह—

असिहो ससिह गिहत्थो, रयहरवज्जो उ होइ सारूवी।
धारेइ निसिज्जं तु, एगं ओलंबगं चेव॥ १३५॥

गृहस्थः पश्चात्कृतो द्विविधः—अशिखः, सशिखश्च। तत्र यः केशान् धारयति स सशिखाकः, यस्तु मुण्डनेन तिष्ठति सोऽशिखाको भवति, रजोहरणवर्जः, रजोहरणग्रहणं दण्डकपात्रादीनामुपलक्षणम्। ततोऽयमर्थः-यः केवलं शिरसो मुण्डनमात्रं कारयति न च रजोहरणदण्डकपात्रादिकं धरति सोऽशिखाक इति। यस्तु सारूपी सारूपिकः स एकनिषद्यामेकनिषद्योपेतं रजोहरणम् अवलम्बकं दण्डकमुपलक्षणमेतत् पात्रादिकं च धारयति, शिरश्च मुण्डयति।

अत्राऽऽभवनमाह—

गिहिलिंगं पडिवज्जइ, जो ऊ तद्दिवसमेव जो तं तु।
उवसामेती अण्णो, तस्सेव ततो पुरा आसी॥१३६॥

यो व्रतं मुक्त्वा गृहिलिङ्गं प्रतिपन्नो योऽन्य उपलक्षणमेतत् मूलाचार्यो वा तद्दिवसमेव उपशमयति पुनरपि व्रतग्रहणायाभिमुखीकरोति येनैव उपशमितस्तस्यैवाऽऽभवति, न मूलाचार्यस्य। उक्तं च-"पच्छाकडो गिहत्थी-भूतो तद्दिवसँ पव्वइउमिच्छइ। जस्स सगासे इच्छइ, तस्सेव य होइ सो चेव॥" इति एष विधिः पुरा आसीत्, संप्रति पुनर्लिङ्गे परित्यक्तेऽपि त्रिषु वर्षेषु गतेषु तदाभवनपर्यायः परिपूर्णो भवति नाऽऽरतः-(न अर्वाक्)।

किं कारणं केव वाचार्येणेयं मर्यादा स्थापितेति चेदत आह—

इण्हिं पुण जीवाणं, उक्कडकलुसत्तणं वियाणित्ता।
तो भद्दबाहुणा उ, तेवरिसा ठाविया ठवणा॥१३७॥

इदानीं पुनर्जीवानामुत्कृष्टं कलुषत्वं विज्ञाय ततो भद्रबाहुना त्रैवर्षिका—त्रिवर्षप्रमाणा स्थापना—मर्यादा स्थापिता। चारित्रतडागे संयमोदकपरिवहनरक्षणार्थं त्रैवर्षिकी मर्यादा पालीकृतेति भावः।

सम्प्रति त्रैवर्षिक्यामेव स्थापनायां विशेषमभिधित्सुराह—

परलिंग निण्हवे वा, सम्मइंसणजढे उ संकंते।
तद्दिवसमेव इच्छा, सम्मत्तजुते समा तिण्णि॥१३८॥

परलिङ्गं द्विधा--गृहिलिङ्गं, परतीर्थिकलिङ्गं च। तत्रेह परतीर्थिकलिङ्गं गृह्यते तस्मिन्-परतीर्थिकलिङ्गे निह्नवे वा—त्यक्तसम्यग्दर्शने संक्रान्ते यस्य समीपे तद्दिवसमपीच्छा तस्य स आभवति। अयमत्र भावः—स भग्नचारित्रपरिणामः सम्यग्दर्शनमपि परित्यज्य परिव्राजकादीनां निह्नवानां मध्ये गतः, यदि तद्दिवसमेव यस्य समीपे प्रव्रजितुमिच्छति ततः स तस्यैवाऽऽभवति न मूलाचार्यस्य। अथ सम्यक्त्वसहितः परलिङ्गादिषु गतस्ततस्तस्मिन् सम्यक्त्वयुते परलिङ्गादिगते मूलाचार्यमर्यादा तिस्रः समाः-त्रीणि वर्षाणि त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु पूर्वपर्यायस्त्रुट्यति।

एमेव देसियम्मि वि, सभासिएणं तु समणुसिट्ठम्मि।
ओसण्णेसु वि एवं, अन्नाइण्णेन पुण एसिंहं॥ १३९॥

एवमेव—अनेनैव प्रकारेण देशिकेऽपि समाभाषिकेण समानभाषाव्यवहारिणा समनुशिष्टे ज्ञातव्यम्। किमुक्तं भवति—द्रविडान्ध्रादिदेशोद्भवो म्लेच्छप्राय आर्यभाषामजानानो यो विपरिणतः सन् त्यक्तसम्यक्त्वो गृहस्थीभूतः परिव्राजकादिषु निह्नवेषु वा मिलितो यदि केनाऽपि साभाषिकेण समनुशिष्टः सन् प्रत्यावर्त्तते तर्हि तस्य समनुशासकस्याऽऽभवति, नाऽन्यस्य। अथ ससम्यक्त्वः परलिङ्गादिषु गतस्तर्हि मूलाचार्यपर्यायपरिमाणं तिस्रः समाः। अवसन्नेष्वपि एवं पूर्वमासीत्, यथा अवसन्नीभूतं तद्दिवसमपि यत्र प्रशमयति स तस्याऽऽभवति। इदानीं पुनः कषायैरत्याकीर्णे नेयं व्यवस्था, किं तु-त्रीणि वर्षाणि। उक्तो गृहस्थः पश्चात्कृतः

सम्प्रति सारूपिकमधिकृत्याह-

सारूवी जज्जीवं, पुव्वायरियस्स जे य पव्वावे।
अपवाविएँ सच्छंदो, इच्छाए जस्स सो देइ॥ १४०॥

सारूपिको रजोहरणादिधारी स यावज्जीवं पूर्वाचार्यस्याऽऽभवति न तु त्रिवर्षप्रमाणा तस्य मर्यादा। यानि च स सारूपिकः प्रव्राजयितुं मुण्डितानि करोति तान्यपि पूर्वाचार्यस्याऽऽभवन्ति तेन मुण्डितत्वात्। यानि पुनस्तेन न मुण्डितानि किं त्वद्यापि सशिखाकानि वर्त्तन्ते तदायत्तानि च तान्यप्रव्राजितान्यधिकृत्य स्वच्छन्द आत्मेच्छा। तथा चाह—यस्येच्छया स ददाति तस्याऽऽभवन्ति नाऽन्यस्येति। एतच्चाऽ-पुत्रादिषु द्रष्टव्यं, पुत्रादीनि पुनः पूर्वाचार्यस्याऽऽभवन्ति।

जो पुण गिहत्थमुंडो,अहवा मुंडो उ तिण्ह वरिसाणं।
आरेणं पव्वावे, सयं च पुव्वायरिएँ सव्वं॥ १४१॥

यः पुनर्गृहस्थ इव मुण्डो गृहस्थमुण्डः क्षुरेण मुण्ड इ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यर्थः । अथवा—मुण्डो लोचेन मुण्डः एष द्विविधोऽपि मुण्डो गृहस्थत्वं करोति, न तु रजोहरणदण्डपात्रादि धारयति, तेन सारूपिकाद्भिन्नः स त्रयाणां वर्षाणामारतो-ऽर्वाक् यानि प्रव्राजयति—मुण्डितानि करोति तानि स्वयं च यावत्त्रीणि वर्षाणि न पूर्यन्ते तावत्सर्वं पूर्वाचार्यस्याऽऽभवति ।

अप्पाविते सच्छंदा, तिएहं उवरिं तु जाणि पव्वावे ।
अपव्वावियाणि जाणि य, सो वि य ज.स्सिच्छए तस्स।१४२।

यानि पुनस्त्रयाणां वर्षाणामारतो न प्रव्राजितानि—न मुण्डितानि कृतानि किं तु सशिखाकानि वर्तन्ते तानि स्वच्छन्दात् यस्मै प्रयच्छति तस्याऽऽभवन्ति. त्रयाणां वर्षाणामुपरि पुनर्यानि प्रव्राजयति-मुण्डितानि करोति यानि वा प्रव्राजितानि सशिखाकानि तिष्ठन्ति सोऽपि च स्वयमात्मना यस्य सकाशे इच्छति-प्रतिभासते तस्य समीपे प्रव्राजयति प्रव्रजति च तानि यस्येच्छति तस्याऽऽभवन्ति त्रिवर्षमर्यादायाः परिपूर्णीभूतत्वात् ।

गंतूणं जइ वेत्ती, अहयं तुज्झं इमाणि अन्नस्स ।
एयाणि तुज्झ नाहं, दो वी तुज्झं दुवेऽन्नस्स ॥१४३॥

त्रिवर्षप्रमाणायां मर्यादायामतिक्रान्तायां पूर्वाचार्यस्य समीपं गत्वा यदि ब्रूते-अहं युष्माकमन्तिके प्रव्रजिष्यामि, यानि पुनरिमानि मम समीपे उपस्थितानि तान्यन्यस्याऽमुकस्य पार्श्वे प्रव्रजिष्यन्ति । अथवा—एतानि युष्माकमहमन्यस्य, अथवा-द्वावपि एतान्यहं च युष्माकं, यदि वा-द्वावपि एतान्यहं चान्यस्य तदा यदिच्छति तत् प्रमाणम् ।

तदेवाह—

छिन्नम्मि उ परियाए, उवट्ठियंते उ पुच्छिउं विहिणा ।
तस्सेव अणुमएणं, पुव्वदिसा पच्छिमा वाऽवि॥१४४॥

छिन्ने पर्याये; वर्षत्रयमर्यादायामतिक्रान्तायामित्यर्थः तस्मिन् स्वयमुपतिष्ठति अन्यांश्चोपस्थापयति विधिना, तं दृष्ट्वा तस्यैवोपतिष्ठतोऽनुमतेनेच्छया पूर्वा दिक् पश्चिमा वा दीयते, किमुक्तं भवति-यदि पूर्वाचार्यमिच्छति ततः पूर्वाचार्यस्याऽऽभवति । अथाऽन्यं तर्ह्यन्यस्य शेषतदुपस्थापितविषयेऽपि च तस्येच्छा प्रमाणं, सा च प्रागेवोपदर्शिता । स यदि सम्यगुपशान्तः सन् स्वकमाचार्यमाश्रयेत तर्हि स प्रव्राजनेन संग्रहीतव्यः, यदि पुनर्न संगृह्णाति ततः प्रायश्चित्तं मासलघु । अन्यच्च तेनाऽसंग्रहणे यदि तस्य श्रद्धाभङ्गो भवति, यदपि चान्यस्य समीपं दूरं गच्छन् पथि स्तेनश्वापदादिभ्योऽनर्थं प्राप्नोति तन्निमित्तमपि तस्य प्रायश्चित्तं तस्मादवश्यं संग्रहीतव्यः ।

संविग्गमुद्दिसंते, पडिसेवंतस्स संथरे गुरुगा ।
किं अम्हं तु परेणं, अहिकरणं जं तु तं तेसिं ॥१४५॥

अथान्यस्य समीपे प्रव्रजन् स पूर्वाचार्यमात्मीयं संविग्नमुद्दिशति—प्रकाशयति, तस्मिन् संविग्नमुद्दिशति यस्य समीपे प्रव्रजितुमिच्छति स यदि प्रतिषेधति, यथा—किमस्माकं परेण—परकीयेन यत् येषामधिकरणं तत्तेषां भवत्विति तस्य एवं प्रतिषेधतः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । एतच्च संस्तरणे सति द्रष्टव्यम् । अथासंस्तरन् प्रतिषेधति ततः शुद्धः । अथ स पूर्वाचार्यस्यैव पार्श्वे कस्माल्लिङ्गं न प्रतिपद्यते ?, उच्यते-आचार्याः, यदि वा—यत्र यत्र ते पूर्वाचार्या विहरन्ति तत्र तत्र तस्य सागारिकं किमपि अतिदूरं वा ते उपलभ्यन्ते, ग्लानो वा पूर्वाचार्यो जात इति ।

एवं खलु संविग्गे, ऽसंविग्गे वारणा न उद्दिसणा ।
अब्भुवगतो जं भणती, पच्छ भणंतेण से इच्छा।१४६।

एवमुक्तेन प्रकारेण संविग्ने पूर्वाचार्ये उद्दिश्यमाने खलु विधिरुक्तः । अथ स पूर्वाचार्यमात्मीयमसंविग्नमुद्दिशति, तर्हि तेनाऽसंविग्ने पूर्वाचार्ये उद्दिश्यमाने तस्य वारणा-प्रतिषेधः कर्त्तव्यो न दातव्या तस्य प्रव्रज्या गुरुनिन्दकत्वादिति भावः । न च स तं पूर्वाचार्यमसंविग्नमुद्दिशेत्, एष भगवतां परमगुरूणामुपदेशः । 'न उद्दिसणा' इत्यादि, अथ स ब्रूते नाहं संविग्नमसंविग्नं वा पूर्वाचार्यमुद्दिशामि, किं तु-त्वमेव ममाचार्य इति, तर्हि यदि पूर्वाचार्यस्य नोद्देशना, यं वाऽभ्युपगतस्तं प्रत्येवं भणति, ततः स प्रव्राजनीयः । अथ स प्रव्राजितः सन् पश्चाद्वदेत् यथा पूर्वाचार्यस्याऽहं न युष्माकमिति तत आह—पश्चादेवं भणति, तस्मिन् न 'से' तस्य इच्छा, किं तु-यमभ्युपगतस्तस्यैव सः ।

एतदेव स्पष्टतरमाह—

एमेव निच्छिऊणं, उद्धंतो पच्छ तेसिमाउट्टो ।
इयरेहि व रोसवितो, सच्छंददिसं पुणो न लभे ।१४७।

उपतिष्ठन् प्रव्रज्यां जिघृक्षुरेवमेव मे त्वमाचार्य इति निश्चित्य प्रव्रजितः सन् यः पश्चात्तेषां पूर्वाचार्याणामात्मीयानामावृत्तो जायेत.इतरैर्वा येषां समीपे प्रव्रजितस्तैर्वा रोषितः सन् अहं पूर्वाचार्यस्यैव न युष्माकमिति स एवं ब्रुवाणः पुनः स्वच्छन्ददिशं-स्वेच्छया दिशं न लभते, किं तु यमभ्युपगतस्तस्यैव स इति ।

यस्तु पश्चात्कृतो न ज्ञातो यस्यानुज्ञातस्याऽपि पूर्वदिक्संग्रहणे भावो न ज्ञायते तस्य लिङ्गदाने विधिमाह—

अन्नाते परियाए, पुच्छे न कहेज्ज जो समुट्ठंतो ।
लज्जाएँ मा य गेज्झति,मा व न दिक्खिज्ज मे भयणा १४८।

अज्ञातः सन् यः पर्याये पूर्णेऽपि समुपतिष्ठन् आत्मानं न कथयति यथाहममुकस्याऽऽचार्यस्य पश्चात्कृत इति । कस्मान्न कथयति इति चेदत आह—लज्जया, यदि वा-मा तत्पाक्षिकेण केनाऽप्यहं ग्रहीष्ये, अथवा—माम् अमी पश्चात्कृतं ज्ञात्वा न दीक्षयेयुरिति भजनात्—विकल्पनात् न कथयति ।

नाते व जस्स भावे,न नज्जए तस्स दिज्जए लिंगे ।
दिण्णम्मि दिसिं नाहिति,कालेण व सो सुणंतो वा ।१४६।

ज्ञाते वा पश्चात्कृततया तस्मिन् प्रव्रज्यार्थमुपस्थिते यस्य भावो न ज्ञायते केनाऽपि कारणेन पूर्वाचार्यसमीपं न गत इति तस्य ज्ञातस्याज्ञातस्य वा लिङ्गं दीयते,दत्ते च लिङ्गे स आत्मीयां दिशं कालेन पूर्वाचार्यस्य लक्षणं ज्ञास्यति, स वा पूर्वाचार्यः कालेन परम्परया शृण्वन् तं ज्ञास्यति, ततो यस्य समीपे प्रतिभासते तस्य समीपमुपगच्छतु । व्य० ४ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कैः सह विहारं कुर्यात् कैः सह वा न कुर्यात्?,तत्राऽपि प्रथमं येन मुनिना छद्मस्थेनापि साकं केवली विहरेत्, तत्स्वरूपं गाथाद्वयेनाऽऽह—

गीअत्थे जे सुसंविग्गे, अणालस्सी दढव्वए ।
अक्खलियचरित्ते सययं, रागद्दोसविवज्जए ॥ ४१ ॥
निट्ठविअअट्ठमयठाणे, सोसि(य)कसाए जिइंदिए ।
विहरिज्जा तेण सद्धिं तु, छउमत्थेण वि केवली ॥४२॥

अनयोर्व्याख्या—गीतः—परिज्ञातोऽर्थः छेदसूत्रस्य येन स गीतार्थः, यद्वा—गीतार्थावस्य विद्यते इत्यभ्रादित्वादप्रत्यये गीतार्थः । तत्र गीतम्-सूत्रम् अर्थः- तद्व्याख्यानम् । उक्तं च श्रीबृहत्कल्पभाष्यपीठिकायाम्—

" गीयं गुणितेगट्ठं, विदियत्थं खलु वयंति गीयत्थं ।
गीएण य अत्थेण य, गीयत्थो वा सुयं गीयं ॥ १ ॥
गीएण होइ गीई, अत्थी अत्थेण होइ नायव्वो ।
गीएण य अत्थेण य, गीयत्थं तं वियाणाहि ॥ २ ॥ "

यः ' सुसंविग्गे ' त्ति अत्यर्थं संवेगवान् आलस्यमस्यास्तीति आलस्यी न आलस्यी अनालस्यी आलस्यरहित इत्यर्थः, दृढानि—निश्चलानि व्रतानि-नियमा उत्तरगुणा इति यस्यासौ दृढव्रतः, अस्खलितम्-अतीचाररहितं चारित्रं मूलगुणरूपं यस्याऽसौ अस्खलितचारित्रः,सततमनवरतं रागद्वेषविवर्जितः तत्र मायालोभात्मको रागः क्रोधनामात्मको द्वेष इति, निष्ठापितानि-क्षयं नीतान्यष्टौ मदस्थानानि-मानभेदा जातिकुलरूपबललाभश्रुततपोविभवमदाख्या येनाऽसौ निष्ठापिताष्टमदस्थानः, शोषिताः कषायाः सभेदाः क्रोधमानमायालोभाख्याः, नोकषाया वा येनासौ शोषितकषायः, जितान्यात्मवशीकृतानीन्द्रियाणि श्रोत्रदृग्नासाजिह्वात्वग्मनोरूपाणि येनाऽसौ जितेन्द्रियः स्यादिति शेषः । एवंविधेन तेन छद्मस्थेनाऽपि सार्द्धं केवलमेकं ज्ञानमस्यास्तीति केवली विहरेत्—विचरेत् । तुशब्दादेकत्र वसेदपि । यद्वा—तेन छद्मस्थेन सार्द्धं केवल्यपि विहरेत् छद्मस्थस्तु तेन सार्द्धं सुतरां विहरेदित्यर्थः । इति विषमाक्षरंरति लक्षणे गाथाछन्दसी ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ग० २ अधि० । (यैः सह विहारादि न विधीयते ते ' अगीयत्थ ' शब्दे प्रथमभागे १६२ उक्ताः।) (केन सार्द्धं केवली विहरेदिति 'परदारगमण' शब्दे पञ्चमभागे ५२७ पृष्ठे दर्शितम् ।)

नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया ! समणाणं० जाव पमत्ताणं विहरित्तए । (सू० ५८४) ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

(१२) वर्षासु न विहरेत्—

नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा वासावासासु चरित्तए ॥ ३६ ॥

अस्य सम्बन्धमाह-

अहिगरणं काऊण व, गच्छइ तं वाऽवि उवसमेतुं जे ।
पुव्वं च अणुवसंते, खामेस्सं वयति संबंधो ॥ ५६२ ॥

अधिकरणं कृत्वा कषायानुबद्धमना अन्यत्र ग्रामादौ गच्छति, यद्वा-तदधिकरणमुत्पन्नं श्रुत्वा कश्चिद्धर्मश्रद्धावान् तदुपशमयितुमागच्छति । 'जे' इति पादपूरणे।यदिवा पूर्वमनुपशान्तः सन्नन्यत्र ग्रामादौ गतस्तत्र च स्वयमन्योपदेशेन वा क्षमयिष्याम्यहं तं साधुमिति,परिणाममुपगतो भूयस्तत्रैव ग्रामे व्रजति, तच्च गमनमनेन सूत्रेण वर्षासु प्रतिषिध्यते इत्ययं पूर्वसूत्रेण सहास्य सम्बन्धः ।

अथास्यैव तृतीयं सम्बन्धप्रकारं व्याख्याति—

अहवा अखामियम्मि, त्ति कोइ गच्छेज्ज ओसवणकाले ।
सुभमवि तम्मि उ गमणं, वासावासासु चारेउं ॥५६३॥

अथवा अनुपशान्त एवान्यत्र गतस्तत्र च वर्षासु पर्युषणाकाले समायाति सत्यधिकरणे मया न क्षमितम् ; अतः कथं मे सांवत्सरिकप्रतिक्रमणं विधीयमानं शुद्धमेष्यतीति परिभाव्य यत्र द्वितीयः साधुश्चतुर्मास्यां स्थितोऽस्ति तत्राधिकरणं क्षमयितुं गच्छति, तच्च तत्र गमनं शुभमपि वर्षावर्षास्वनेन सूत्रेण वारयति इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्याऽस्य (सू० ३६) व्याख्या—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा वर्षोपलक्षिता वर्षा वर्षावर्षास्तासु । 'चर'गतिभक्षणयोरिति धातुरत्र गत्यर्थो गृह्यते ग्रामात् ग्रामं पर्यटितुमित्यर्थः । यद्वा-भक्षणार्थोऽप्यत्र गृह्यते, तथाहि-भक्षणं-समुद्देशनं तच्च यथा ऋतुबद्धे साधूनां तथा वर्षासु कर्त्तुं न कल्पते, तदानीं हि चतुर्थभक्तादिप्रत्याख्यानपरायणैर्भवितव्यं विकृतीनां चाभीक्ष्णं ग्रहणं न कर्त्तव्यमिति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

वासावासो दुविधो, पाउसवासो उ पाउसे गुरुगा ।
वासासु होंति लहुगा, ते वि य पुसे अखित्तस्स ॥५६४॥

वर्षा एव वासो वर्षावासः, स द्विधा-प्रावृड्, वर्षारात्रश्च । तत्र श्रावणभाद्रपदमासौ प्रावृडुच्यते, आश्विनकार्त्तिकौ तु वर्षारात्रः । आह च चूर्णिकृत्—"पाओसो सावणो भद्दवओ अ, वासारत्तो आसोओ कत्तिओ अ । " तत्र यदि प्रावृषि ग्रामानुग्रामं चरति तदा चतुर्गुरुकाः, वर्षासु विचरतश्चतुर्लघुकाः, त एव चत्वारो लघुकाः पूर्णे वर्षारात्रे अनिर्गच्छतः प्रायश्चित्तम् ।

तत्र प्रावृषि विहरतस्तस्य दोषानाह—

वासावासविहारे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया ।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमायाए ॥५६५॥

इह वर्षावासः श्रावणो भाद्रपदश्चाभिधीयते, तत्र विहारं कुर्वतश्चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरवः प्रायश्चित्तं भवति । आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमाऽऽत्मविषया ।

तामेव भावयति—

छक्कायण विराहण,आवडणं विसमखाणुकंटेसु ।
वुज्झण अभिहणरुक्खो,ल्ल सावय तेणे गिलाणे य५६६

वर्षासु विहरतः षट्कायानां विराधना, तथा आपतनं वर्षे निपतति वर्षाकल्पादितीमनभयाद् वृक्षादेरधस्तिष्ठतः तदीयशाखादिना शिरस्यभिघातो भवेत्, यद्वा—आपतनं कर्दमे पिच्छिल्ले प्रविश्य लचन् विषमे च भूप्रदेशे निपतेत्, स्थाणुकीलकः स पादयोरास्फालेत् कण्टकैर्वा पादतले विध्येत्, उदकवाहेन वा गिरिनद्यां वा वाहनमु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्तिप्याऽन्यत्र नयनं भवेत्। तथा गिरिनदीतटीकया मार्गे गच्छतोऽभिघातो भवेत्। 'रुक्खो ह्ल' त्ति यद्यार्द्रीकरण-भयाद् वृक्षमालायते स च वृक्षः प्रबलवातप्रेरिततया पतेत्, तत्राऽऽत्मसंयमविराधना। तथा यस्य वृक्षस्याधस्तिष्ठति-तस्योपरि चित्रकादिकः श्वापदः आरूढो भवेत् तेनानागा-हमागाढं वा परिताप्येत 'तेणे' त्ति अवहमानेषु मार्गेषु द्विविधाः स्तेना-विश्वस्ताः संचरेयुः, तैरुपधेर्वा तस्य वा साधोरपहारः क्रियेत । अकाले वा परिभ्रमन् स्तेनक इति शङ्क्येत ?-'गिलाणे' त्ति तीमनादिके चोपभुक्ते अजीर्य-माणे ग्लानो भवेत्। एवमेतेष्वात्मविराधना संयमविराधना संयमात्मविराधना वा या यत्र सम्भवति सा तत्र योजनीया।

अथ षट्कायविराधनां व्याख्यानयति—

अक्खुण्णेसु पहेसुं, पुढवी उदगम्मि होइ उहओ वि।
उल्लपयावणअगणी, इहरा पणगो हरियकुंथू ॥ ५६७ ॥

अक्षुण्णा—अमर्दिताः पन्थानः प्रावृषि भवन्ति तेषु विहरन् पृथ्वीकायं विराधयति, तथा द्विविधमापः भौमान्तरिक्षभे-दाद् द्विप्रकारमप्युदकं तदा सम्भवति ततोऽप्कायविराध-ना, वर्षेणाऽऽर्द्रीभूतमुपधिं यदग्निना प्रतापयति तदाऽग्निवि-राधना। यत्राऽग्निस्तत्र वायुरवश्यं भवतीति वायुविराधना-ऽपि। इतरथा यदि उपधिं न प्रतापयति तदा पनकाः संमू-र्च्छन्ति, तत्संसक्तं चोपधिं प्रावृण्वतः प्रत्युपेक्षमाणस्य वा अनन्तकायसङ्घट्टनादिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। हरितानि वा दूर्वादीनि तदानीमचिरोद्गतानि चिरन्तनानि च भवेयुः ततो वनस्पतिविराधना। अप्रत्युपेक्षमाणे उपधौ कुन्थुप्रभृतयो-जन्तवः सम्मूर्च्छन्ति, मार्गे गच्छतामिन्द्रगोपसिसुनागु-कुक्षिकादयस्त्रसप्राणिनो बहवो भवन्ति, ततः त्रस-कायविराधना, एवं षण्णामपि कायानां विराधना यतः प्रा-वृषि विहरतां भवति अतो न विहर्त्तव्यम्।

द्वितीयपदे विहरेदपि कथमित्याह—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
आवाहादीएसु व, पंचसु ठाणेसु रीएज्जा ॥ ५६८ ॥

अशिवे परपक्षतोऽवमौदर्ये वा संजाते असंस्तरन् गच्छेत्, राजद्विष्टे विरोधनाभये वा गच्छेत्। भये वा बोधिकस्तेनस-मुत्थे यद्यमी मां द्रक्ष्यन्ति ततोऽपहरिष्यन्तीति मत्वा वा गच्छेत्, ग्लानो वा कश्चिदप्यत्र सञ्जातस्तस्य प्रतिचरणार्थं गच्छेत्, आवाधादिषु वा पञ्चसु स्थानेषूत्पन्नेषु प्रावृष्यपि रीयेत्-ग्रामान्तरं गच्छेत्।

(३) तान्येवाबाधादीनि स्थानानानि दर्शयति—

आबाहे व भये वा, दुब्भिक्खे वाहवादओ हंसि।
पवाहणे व परेहिं, पंचहिँ ठाणेहिँ रीइज्जा ॥ ५६९ ॥

आबाधं नाम-मानसी पीडा-भयं स्तेनादिसमुत्थं दुर्भिक्षं प्र-तीतम् एतेषु समुत्पन्नेषु, अथवा-वाढके-नौपानीयप्रवाहे प्र-तिश्रये ग्रामे वा व्यूढे सति परैर्वा प्रत्यनीकैर्दण्डकादिभिः प्रमथने परिभवे ताडने वा विधीयमाने एतेषु पञ्चसु स्था-नेषु प्रावृष्यपि रीयेत्।

एतं तु पाउसम्मि, भणियं वासासु नवरि चउ लहुगा।
ते चेव तत्थ दोसा, वितियपदं तं विमुंचंतं ॥ ६०० ॥

एतदनन्तरोक्तं प्रायश्चित्तदोषजालं द्वितीयपदं च प्रावृषि-भणितम्। अथ वर्षासु-वर्षारात्रे आश्विनकार्त्तिकरूपे चरति ततश्चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्तं, त एव च षट्कायविराधनादयो दोषाः।

तदेव च द्वितीयपदमभिधीयते—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भये व गेलण्णे।
नाणाइतिगस्सऽट्ठा, वीसुंभण पेसणेणं वा ॥ ६०१ ॥

अशिवे अवमौदर्ये राजद्विष्टे भये वा ग्लानकारणे वा स-मुत्पन्ने वर्षासु ग्रामान्तरं गच्छेत्, एतावत्प्रागुक्तमेव द्वितीयपदम्। अथैतदपरमुच्यते-ज्ञानादित्रयस्याऽपि अर्थे योऽ-न्यत्र वर्षासु गच्छेत् तत्र अपूर्वः कोऽपि श्रुतस्कन्धोऽन्यस्या ऽऽचार्यस्य विद्यते, स च भक्तं प्रत्याख्यातुकामो वर्त्तते स च श्रुतस्कन्धस्तस्मादाचार्यादगृह्यमाणो व्यवच्छिद्यते अतस्त-दध्ययनार्थं वर्षास्वपि गच्छेत्। एवं दर्शनप्रभावकशास्त्राणा-मप्यध्ययनार्थं गच्छेत्। चारित्रार्थं नाम तत्र क्षेत्रे स्त्रीसमु-त्थदोषैरेषणादोषैर्वा चारित्रं न शुद्ध्यति तन्निमित्तमन्यत्र वर्षासु गच्छेत् 'वीसुंभणं '-मरणं तत्र यस्याऽऽचार्यस्य ते शिष्याः स आचार्यो मरणमुपगतः, तस्मिंश्च गच्छे अपर आचार्यो न विद्यते अतस्ते वर्षास्वप्यन्यं गणमुपसंपत्तुं ग-च्छेयुः, अथवा-विश्वग्भवनं नाम कश्चिदुत्तमार्थं प्रतिपत्तु-कामस्तस्य विशोधिकरणार्थं गच्छेत्। 'पेसणेणं व' त्ति कश्चिदाचार्येणान्यतरस्मिन् औत्पत्तिके कारणे वर्षास्वपि प्रेषितो भवेत्, स च तस्मिन् कारणे समापिते भूयोऽपि गुरू-णां समीपे समागच्छेत्।

अथ वेदं द्वितीयं पदम्—

आऊ तेऊ वाऊ, दुब्बलो संकामिए अ ओमाणे।
पाणाइसप्पकुंथू, उट्ठण तह थंडिलस्सऽसती ॥ ६०२ ॥

अप्कायेन वसतिः प्लाविता भवेत्, स्थण्डिलानि वा व्यूढा-नि, अग्निकायेन वा प्रतिश्रयो ग्रामो वा दग्धो, वायुकायेन वा वसतिर्भग्ना 'दुब्बले' त्ति वर्षेण तीम्यमाना वसतिर्दुर्बला पतितुकामा संजाता 'संकामिय' त्ति संग्रामो धिग्जा-तीयादेः कस्याऽपि प्रत्यनीकस्य संक्रामितो दत्त इत्यर्थः। अ-थवा-'संकामय' त्ति तानि श्राद्धकुलानि अन्यत्र ग्रामे सं-क्रान्तानि 'ओमाणे' त्ति इन्द्रमहादिषु बहवः पाण्डुराङ्ग-प्रभृतयः आगतास्तैरेव मानं सञ्जातं प्राणादिर्वा माकटि-कौद्देशिकादिभिः वसतिः संसक्ता भवेत्, सर्पो वा वसतौ स-मागत्य स्थितः, अनुद्धरिनामकैर्वा कुन्थुजीवैर्वसतिः संसक्ता समुपजायते, ग्रामो वा सकलोऽप्युत्थितः सचोद्वसीभूतः, स्थण्डिलस्य वा विचारभूमिलक्षणस्य हरितकायादिभिरभा-वः समजनि। एवमादिकस्तत्र व्याघातो भवेत्।

अत एव ते साधवः प्रागेवामुं विधिं विदधति—

मूलग्गामे तिन्नि तु, पडिवसभेसुं पि तिन्नि वसहीओ।
ठायंता पेहिंति उ, वियारवाघायमाइट्ठा ॥ ६०३ ॥

मूलग्रामो नाम यत्र साधवः स्थिताः सन्ति तस्मिन् तिस्रो वसतीः प्रत्युपेक्षन्ते, प्रतिवृषभग्रामो नाम येषु भिक्षाचर्यया गम्यते तेष्वपि प्रत्येकं तिस्रो वसतीस्तिष्ठन्त एव प्रत्युपे-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यन्ते । किमर्थमित्याह-मूलग्रामे यदि विचारभूमेर्वा व्याघातो भवति ततस्तेषु प्रतिवृषभग्रामेषु तिष्ठन्ति ।

तत्राऽप्कायादिव्याघाते समुत्पन्ने यतनामाह—

उदगागणिवायाइसु, अन्नस्स सती पथं तगुद्दवणे ।
संकामियम्मि भयणा, उद्धणथंडिल्ल अन्नत्थ ॥६०४॥

उदकेन वा अग्निना वा वातेन वा आदिशब्दात्-त्रसप्राणादिजन्तुसंसक्त्या व्याघाते समुत्पन्ने अन्यस्यां वसतौ तिष्ठन्ति । अथ नास्त्यन्या वसतिस्तेन उदकाग्निवातान् स्तम्भनीविद्यया स्तम्भयन्ति,यत्र च सर्पः समागत्य तिष्ठति तत्र तस्य सर्पस्यापद्रावणं-विद्यया अन्यत्र नयनं कुर्वन्ति । यत्र च ग्रामस्वामी कुलानि वा अन्यानि संक्रान्तानि तत्र भजना कर्त्तव्या । यदि स ग्रामस्वामी कुलानि वा भद्रकाणि ततस्तत्रैव तिष्ठन्ति । अथ प्रान्तानि ततोऽन्यत्र गच्छन्ति । अथाऽसौ ग्राम उत्थितः, स्थण्डिलानां व्याघातः समजायत ततोऽन्यग्रामे गच्छन्ति ।

अवमानशय्यायां यतनामाह—

इंदमहादी वसभा, गतेसु परतित्थिएसु य जयंति ।
पडिवसभेसु सखेत्ते, दुब्बलसेज्जा पदे थूणं ॥ ६०५ ॥

इन्द्रमहोत्सवादौ वा बहुषु परतीर्थिकेषु समागतेषु स्वक्षेत्रे ये प्रतिवृषभग्रामास्तेषु अन्तरपल्लिकासु च भिक्षाग्रहणाय यतन्ते । अथ तेष्वपि न संस्तरन्ति ततोऽन्यत्र गच्छन्ति,दुर्बलशय्यायां वर्षेण तीम्यमानतया वसतौ दुर्बलायां सञ्जातायां स्थूणां दद्यात् ।

अथ वसतिप्रमार्जने विधिमाह-

दोन्नि तु पमज्जणा उ, उडुम्मि वासासु तइय मज्झण्हे ।
वसहि बहुसो पमज्जण, अईव संघट्टणा गच्छे ॥६०६॥

वसतेरष्टसु ऋतुबद्धमासेषु द्वे प्रमार्जने कर्त्तव्ये । तद्यथा-पूर्वाह्णे अपराह्णे च । वर्षासु पुनः तृतीया प्रमार्जना मध्याह्ने विधेया । अथ कुन्थुप्रभृतिभिस्त्रसप्राणैः संसक्ता वसतिस्ततः ऋतुबद्धे वर्षावासे च यथोक्तप्रमाणादतिरिक्तमपि बहुशः प्रमार्जनं कुर्यात् । अथ बहुशः प्रमार्जने तत्र प्राणानामतीव सङ्घट्टो भवति अतिबहवो वा त्रसास्ततोऽन्यत्र ग्रामे ते गच्छेयुः ।

गच्छतां च मार्गे यतनामाह—

उत्तणससावयाणि य, गंभीराणि य जलाणि वज्जेंता ।
तलियारहिया दिवसं, अब्भासतरे वए खेत्ते ॥ ६०७ ॥

उत्तृणानि नाम ऊर्ध्वीभूतानि तृणादीनि दीर्घाणीति यावत् तानि यत्र मार्गे भवन्ति, सश्वापदानि च सिंहव्याघ्रादिपदोपेतानि यत्र तृणानि भवन्ति, गम्भीराणि च अतलानि जलानि यत्र भवन्ति, तान् मार्गान् वर्जयन्तस्तलिकारहिता-अनुपानत्का दिवसतो गच्छन्ति, न रात्रौ । यच्चाभ्यासतरमतिप्रत्यासन्नं क्षेत्रं तत्र व्रजन्ति । वृ० १ उ० ३ प्रक० । आचा० ।

(१४) साम्प्रतं सामान्येन शय्यामङ्गीकृत्याऽऽह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा समा वेगया सिज्जा भविज्जा विसमा वेगया सिज्जा भविज्जा,पवाया वेगया० निवाया वेवाया० ससरक्खा वेगया० अप्पससरक्खा वेगया० सदंसमसगा वेगया० अप्पदंसमसगा वेगया० सपरिसाडा वेगया अपरिसाडा वेगया० सउवसग्गा वेगया० निरुवसग्गा वेगया० । तहप्पगाराहिं सिज्जाहिं संविज्जमाणाहिं पग्गहियतरगं विहारं विहरिज्जा नो किंचि वि गिलाइज्जा, एवं खलु० जं सव्वट्ठेहिं सहिए सया जए त्ति बेमि ॥ (सू०-११०)

सुखोन्नेयं, यावत्तथाप्रकारासु वसतिषु विद्यमानासु 'प्रगृहीततरम्' इति यैव काचिद्विषमसमादिका वसतिः सम्पन्ना तामेव समचित्तोऽधिवसेत्-न तत्र व्यलीकादिकं कुर्यात्, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं यत्सर्वार्थैः सहितः सदा यतेतेति । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

(१५) प्रथमप्रावृषि ग्रामानुग्रामं द्रवति—

जे भिक्खू पढमपाउसंसि गामाणुग्गामं दूइज्जइ दूइज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

जे भिक्खू वीसाइ वासं पज्जोसवियंसि गामाणुग्गामं दूइज्जइ दूइज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥

जंति णिद्देसे भिक्खू पुव्ववण्णिता पाउसो आसाढो सावणो य दो मासा । तत्थ आसाढो पढमपाउसो भण्णति,अहवा-छण्हं उत्तणं जेण पढमो पाउसो वण्णिज्जति, तेण पढमपाउसो भण्णति । तत्थ जोग्गमणुग्गामं दूइज्जति । अनु पच्छाद्धावे दोसु सिसिरगिम्हेसु रीतिज्जैति दूइज्जति, दोसु वा पाएसु रीइज्जति दूइज्जति तस्स चउगुरुं, आणादिणो य दोसा भवंति । एस सुत्तत्थो । इयाणिं णिज्जुत्ती ।

गाहा—

विहिसुत्ते जो उ गमो, पढमुद्देसम्मि आदिओ सुत्ते ।
सो चेव णिरवसेसो, सम्मुद्देसम्मि वासासु ॥ ५०६ ॥

विधिसुत्ते सव्वे चेव आयारा । इह तु विसेसेण बितियसुतक्खंधे ततियज्झयणं इरिया भण्णति तस्स वि पढमुद्देसं तस्स वि आतिसुत्तेसु जो विधी भणितो सो चेव णिरवसेसो णिसीहदसमुद्देसे पढमपाउससुत्ते विधी वत्तव्वो । सो य इमो अज्झवगते खलु वासावासे अभिप्पवुट्ठे इमे पाणा अभिसंभूता बहवे वि य अहुणा भिण्णा अंतरा से मग्गा । बहुपाणा बहुबीया एते णायव्वा णो गामाणुग्गामं दूतिज्जेज्जा । नि० चू० १० उ० ।

अशिवादिकारणेषु वर्षास्वपि विहरेत्—तथा यो नियतमवस्थानलक्षणः सप्ततिदिनमानः पर्युषणाकल्प उक्तः सोऽपि कारणाभावे एव, कारणे तु तन्मध्येऽपि विहर्तुं कल्पते । तद्यथा-

" अशिवे १ भोजनाऽप्राप्तौ २, राज ३ रोग ४ पराभवे ।
चतुर्मासकमध्येऽपि, विहर्तुं कल्पतेऽन्यतः ॥ १ ॥
असति स्थण्डिले ५ जीवा-कुले ६ च वसतौ ७ तथा ।
कुन्थुष्व ८ ग्नौ ९ तथा सर्पे, १० विहर्तुं कल्पतेऽन्यतः ॥२॥"

तथा एभिः कारणैश्चतुर्मासकात्परतोऽपि स्थातुं कल्पते-
"वर्षाद्विरते मेघे, मार्गे कर्दमदुर्गमे । अतिक्रमेऽपि कार्तिक्या-स्तिष्ठन्ति मुनिसत्तमाः ॥१॥" कल्प०१अधि०१ क्षण ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तए णं अहं गोयमा ! अणया कयाइ पढमं सरदकाल-समयंसि अप्पवुट्ठिकायंसि गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं सिद्धत्थगामाओ णगराओ कुम्मारगामं णयरं संपट्ठिए विहाराए । (सू० ५४२+) भ० १५ श० ।

('गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०१६ पृष्ठे व्याख्या गता ।)

(वर्षासु साधर्मिकाणामुदन्तवहनार्थं चतुः पञ्च योजनानि गच्छेत्, तत्र वस्त्रग्रहणम् 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६७ पृष्ठे उक्तम् ।)

(१६) वर्षासु व्यतिक्रान्तासु विहरेत् । साम्प्रतं गतेऽपि वर्षाकाले यदा यथा च गन्तव्यं तदधिकृत्याह—

अह पुण एवं जाणिज्जा चत्तारि मासा वासावासाणं वीतिकंता हेमंताण य पंच दस रायकप्पे परिवुसिते अंतरा से मग्गे बहू पाणा० जाव ससंताणगा णो जत्थ बहवे० जाव उवागमिस्संति, सेवं नच्चा णो गामाणुग्गामं दूइज्जिज्जा ॥ अह पुण एवं जाणिज्जा चत्तारि मासा वासावासाणं वीतिकंता हेमंताण य पंच दस रायकप्पे परिवुसिए अंतरा से मग्गे अप्पंडा० जाव ससंताणगा बहवे जत्थ समण० जाव उवागमिस्संति य सेवं णच्चा तओ संजयामेव गामाणुग्गामं दूइज्जिज्जा । (सू०-११३)

अथैवं जानीयाद् यथा चत्वारोऽपि मासाः प्रावृट्कालसम्बन्धिनोऽतिक्रान्ताः ; कार्त्तिकचातुर्मासिकमतिक्रान्तमित्यर्थः , तत्रोत्सर्गतो यदि न वृष्टिस्ततः प्रतिपद्येवान्यत्र गत्वा पारणकं विधेयम् , अथ वृष्टिस्ततो हेमन्तस्य पञ्चसु दशसु वा दिनेषु पर्युषितेषु—गतेषु गमनं विधेयम् , तत्रापि यद्यन्तराले पन्थानः साण्डा यावत्ससन्तानका भवेयुर्न च तत्र बहवः श्रमणब्राह्मणादयः समागताः समागमिष्यन्ति वा ततः समस्तमेव मार्गशीर्षं यावत्तत्रैव स्थेयं, तत ऊर्ध्वं यथा तथाऽस्तु न स्थेयमिति । एवमेतद्विपर्ययसूत्रमप्युक्तार्थम् । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । दश० । नि० चू० । ओघ० । ग० ।

(१७) हेमन्तग्रीष्मयोश्चरितुं कल्पते—

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंतगिम्हासु चारए ॥ ३७ ॥

अस्य सम्बन्धमाह—

दुस्संचर बहुपाणा-दि काउँ वासासु जं न विहरिंसु ।
तस्स उ विवज्जयम्मि, चरन्ति अह सुत्तसंबंधो ॥६०७॥

वर्षासु कर्दमाकुलतया दुस्संचरं बहुप्राणहरितादिसंकुलं वा मेदिनीतलं भवतीति कृत्वा यत्तदानीं न विहृतवन्तः, तत एव तस्य वर्षावासस्य विपर्यये ऋतुबद्धकालेषु संचरमकल्पप्राणजातीयं वा मत्वा चरन्ति । अथैष पूर्वसूत्रेण सहास्य सूत्रस्य सम्बन्ध इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्याऽस्य (सू० ३७) व्याख्या—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा हेमन्तग्रीष्मयोरष्टसु ऋतुबद्धमासेषु चरितुं—ग्रामानुग्रामं पर्यटितुमिति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

पुण्णेऽनिग्गमे लहुगा, दोसा ते चेव उग्गमादीया ।
दुब्बलखमगगिलाणे, गोरस उवहिं पडिच्छंति ॥६०८॥

यदि पूर्णे वर्षावासे ततः क्षेत्रान्न निर्गच्छन्ति ततः चत्वारो लघुकाः, त एव चोद्गमाशुद्धिप्रभृतिसमुत्थाद्यो दोषा ये मासकल्पप्रकृते दर्शिताः । अपरे चामी दोषाः 'दुब्बल' इत्यादि , ये साधवो वासेन दुर्बलाः—कृशीभूतशरीरास्ते कदा वर्षावासं पूरयिष्यन्त इत्येवं निर्गमनं प्रतीक्षमाणा यत्परितापनादिकमवाप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । क्षपका वा विकृष्टतपोनिस्तप्तवपुषो निर्गमनं प्रतीक्षन्ते ग्लानो वा अधुनोत्थितो दुःखं तत्र तिष्ठति तत्र चतुर्मासादूर्ध्वमप्यवस्थाने क्षेत्रस्य चमढिततया तथाविधपथ्याद्यभावात् , गोरसाऽऽधारको वा कश्चित् सिन्धुदेशीयः प्रव्रजितः, सोऽपि गोरसाभावान्न तत्र स्थातुं शक्नोति, उपधिर्वा पूर्वगृहीतः परिक्षीणः, अतस्तम् अभिनवमुत्पादयितुं साधवो निर्गमनं प्रतीक्षन्ते, ततस्तेन विना यत्परिताप्यन्ते तन्निष्पन्नम-निर्गच्छतां प्रायश्चित्तम् ।

अथ निर्गच्छन्ति तर्हि किं भवतीत्याह—

एए न होंति दोसा, बहिया सुलभं च भिक्ख ओही य ।
भवसिद्धियाउ आणा,विइयपय गिलाणमादीसु ॥६०९॥

निर्गच्छतामेते अनन्तरोक्ता दोषा न भवन्ति । बहिश्च—बहिर्ग्रामेषु विहरतां भैक्षं सुलभं भवति, तेन च दुर्बलक्षपकादीनामाप्यायना स्यात् , उपधिश्च बहिः प्राप्यते, भवसिद्धिकाश्च सत्त्वा बोधमासादयन्ति, केचिद्वा तदानीमाचार्याणां दर्शनमभिलषन्ति तेषां च विरत्यादिप्रतिपत्तिः, आज्ञा च भगवतां—तीर्थकृतां कृता भवति, यत एवमतो निर्गन्तव्यम् । द्वितीयपदे ग्लानादिषु कारणेषु निर्गच्छति आदिशब्दाद्—अवमौदर्यादिपरिग्रहः, अत्र च यतना यथा मासकल्पे कृता तत्र 'भागतिभागद्धे जयन्ति निच्छे अलम्भे वा ' इत्यादिना दर्शिता तथैव द्रष्टव्या ।

तम्हा उ विहरियव्वं, विहिणा जे मासकप्पिया गामा ।
छड्डेइ वंदणादी, तइ लहुगा मग्गणा पच्छा । ६१० ॥

यदि ग्लानादिकारणं न स्यात्ततो अवश्यं विधिना मासकल्पः, प्रकृतोक्ता ये मासकल्पप्रायोग्या ग्रामास्तेषु विहर्त्तव्यम् । अथ मासकल्पप्रायोग्याणि क्षेत्राणि चैत्यवन्दनादिभिः कारणैर्वद्यमाणैः छर्दयति तदा यावन्ति क्षेत्राणि परित्यज्य गच्छति 'तइ' त्ति तावन्ति चतुर्लघुकानि 'मग्गणा पच्छ' त्ति द्वितीयपदे मासकल्पप्रायोग्यक्षेत्राणामपि परित्यागे ये गुणास्तेषां मार्गणा-अन्वेषणा प्रत्याहिता ।

अथ वन्दनान्येव कारणानि प्रतिपादयति—

आयरियसाहुवंदण-चेइयनीयल्लए तहा सन्नी ।
गमणं च देवदंसण-वइगासु य एवमाईणि ॥ ६११ ॥

आचार्याणां साधूनां चैत्यानां वा वन्दनार्थं गच्छन्ति, निजकाः-संज्ञातकाः असंज्ञिनः-श्रावकास्तेषामुभयेषामपि दर्शनार्थं देशदर्शनार्थं वा गमनं करोति । व्रजिकासु वा क्षीरा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिकं लप्स्येऽहमिति कृत्वा गच्छति, एवमादीनि कारणानि मासकल्पप्रयोग्यक्षेत्रं परित्यजन्नवलम्बते।

अथ तान्येव व्याख्यानयति—

अपुव्वा विवित्तबहु-स्सुया य परियारवं च आयरिया।
परियारवज्जसाहू, चेइयपुव्वा अभिनवा वा ॥६१२॥
गाहिस्सामि व नीए, सन्नी वा भिक्खुमाइवुग्गाहो।
बहुगुणअपुव्वदेसे, वइगाइसु खीरमादीणि ॥ ६१३ ॥

अपूर्वा-अदृष्टपूर्वा विविक्ता निरतिचारचारित्रा बहुश्रुता नाम-युगप्रधानागमा विचित्राः श्रुतवन्त उपचारवन्तश्च बहुसाधुसमूहपरिवृता एवंविधा आचार्या अमुके नगरे तिष्ठन्ति तानहं वन्दिष्ये, साधवोऽप्येवंविधगुणोपेता एव नवरं परिचारवर्जास्ते भवन्ति। चैत्यानि अपूर्वाणि वा चिरन्तनानि जीवन्तस्वामिप्रतिमादीनि अभिनवानि वा तत्कालकृतानि एतानि ममादृष्टपूर्वाणीति बुद्ध्या तेषां वन्दनाय गच्छन्ति। तथा निजकान् वा संज्ञातकान् ग्राहयिष्यामि बोधयिष्यामीत्यर्थः। संज्ञिनो वा श्रावकान् भिक्षुकादिः कुप्रावचनिकपरिव्राजकादिः परपाषण्डी व्युद्ग्राहयति-तेषां स्थिरीकरणार्थं, देशो वा बहुगुणः सुलभभैक्षतादिगुणोपेतोऽपूर्वश्च वर्तते, व्रजिकायां गोकुले आदिशब्दात्—प्रचुरद्रव्यं प्रतिग्रामादिषु वा क्षीरदधिघृतावगाहिमादीनि लभ्यन्ते एवमादिभिः कारणैर्मासकल्पप्रायोग्याणि क्षेत्राणि परित्यजति।

अत्र दोषान् दर्शयति—

अद्धाणे उव्वाता-भिक्खेविहिसाणतेणपडिणीए ।
ओमाण अभोज्जघरे, थंडिले असती य जे जत्थ ॥६१४॥

ते साधवोऽध्वनि व्रजन्त उद्वाताः-परिश्रान्ताः सन्तश्चिन्तयन्ति-अत्र ग्रामे गुरवः स्थास्यन्ति, आचार्याश्च तं ग्रामं व्यतीत्याऽग्रतो गतास्ततस्ते छिन्नायामाशायां व्रजन्तो यद्-नागाढमागाढं वा परिताप्यन्ते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। भैक्षं वा तत्र स्फिटितायां वेलायां न प्राप्यते, अत्यन्तपरिश्रान्ता मार्ग एवोपधिं परित्यजेयुः। अकाले पर्यटतां श्वान उपद्रवं कुर्युः, स्तेना वा तेषामुपधिं तानेव वा अपहरन्ति। प्रत्यनीको वा तदानीं विजनं मत्वा हन्याद्वा मारयेद्वा। अपमानं स्वपक्षतः परपक्षतो वा भवेत्। अभोज्यगृहेषु वा रजकादिसम्बन्धिषु भिक्षां गृह्णीयुः, तत्रैव वा तिष्ठेयुः, ततश्च प्रवचनविराधना। स्थण्डिलानि वा तत्र न भवेयुः, तेषामभावे संयमात्मविराधना। एवं ये यत्र दोषा भवन्ति तेऽत्र योजयितव्याः।

अथ द्वितीयपदमाह—

बितियपए असिवाई, उवहिस्स व कारणा व लेवो वा।
बहुगुणतरं व गच्छे, आयरियाई व आगाढे ॥६१५॥

द्वितीयपदे अशिवादीनि कारणानि विज्ञाय व्यतिव्रजेयुरपि तत्र यदपान्तराले क्षेत्रं तदशिवगृहीतम्, आदिशब्दाद्-अवमौदर्यराजद्विष्टादिदोषयुक्तं स्वाध्यायो वा तत्र न शुद्ध्यतीत्यादिपरिग्रहः। उपधिर्वस्त्रपात्रादिरूपस्तत्र न लभ्यते, पुरोवर्तिनि तु ग्रामादौ लभ्यते अतस्तस्य कारणात् लेपो वाऽग्रतोवर्तिनि ग्रामे लभ्यते न तत्र,

गच्छस्य वा बहुगुणतरं तत् क्षेत्रं स्थानप्रत्यनीकाद्यभावात् भिक्षात्रयवेलासद्भावात्, आचार्यादीनां वा प्रायोग्यं तत्र विद्यते। यद्वा-'आयरियाई व' त्ति सम्यक्त्वं ग्रहीतुकामाः केचिदाचार्याणां दर्शनं काङ्क्षन्ति आदिशब्दात्परप्रवादी वा कश्चिदुद्घोषणं कारयेत्, यथा-शून्याः परप्रवादाः, इत्यादि, ते चाचार्या वादलब्धिसम्पन्ना अतस्तन्निग्रहार्थमागाढयोगवाहिनां वा प्रायोग्यमर्वाक् न प्राप्यते, परस्मिन् ग्रामे तु प्राप्यते। यद्वा—आगाढं सप्तधा, तद्यथा—द्रव्याऽऽगाढं क्षेत्राऽऽगाढं कालागाढं भावागाढं पुरुषागाढं चिकित्सागाढं सहायागाढम्। तत्र द्रव्यागाढमेषणीयं द्रव्यं यत्र न लभ्यते, क्षेत्रागाढं नाम—तदतीव खलु क्षेत्रं स्वल्पभैक्षादायकमित्यर्थः, कालागाढं तत्क्षेत्रं न ऋतुक्षमं, भावागाढं-ग्लानादीनां प्रायोग्यं तत्र न लभ्यते, पुरुषागाढमाचार्यादिपुरुषाणां तदकारकम्, चिकित्सागाढं वैद्यास्तत्र न प्राप्यन्ते, सहायागाढं सहायास्तत्र न सन्तीति।

एएहि कारणेहिं, एक्कदुगंतरतिगंतरं वाऽवि।
संकममाणो खेत्तं, पुट्ठो वि जओ नऽतिक्कमइ॥ ६१६॥

एतैरशिवादिभिः कारणैरेकं वा द्वे वा त्रीणि वाऽपान्तरालक्षेत्राणि अतिक्रम्यापरं क्षेत्रं संक्रामन् पूर्वोक्तदोषैः स्पृष्टोऽपि न दोषवान् भवति, यतो यस्मात्तीर्थकराज्ञामसौ नातिक्रामति। यद्वा-यतो नाम यतनायुक्तः।

निक्कारणगमणम्मि उ, जे चिय आलंबणाउ पडिकुट्ठा।
कज्जम्मि संकमंतो, तेहिं चिय सुज्झई जयणा।६१७।

निष्कारणे अशिवाद्यभावे यद्—गमनमपान्तरालक्षेत्रपरित्यागेन क्षेत्रान्तरसंक्रमणं तत्र तान्येवाऽऽचार्यसाधुचैत्यवन्दनादीनि आलम्बनानि प्रतिकुष्टानि—प्रतिषिद्धानि कार्ये-द्वितीयपदे ज्ञानदर्शनादिविशुद्धिनिमित्तं संक्रामन् तैरेवाचार्यादिभिरालम्बनैर्यतनायुक्तेषु शुद्ध्यति-अदोषभाग् भवतीत्युक्तो मासकल्पविहारः। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

(१८) अथ विहारद्वारविषयं विधिमभिधित्सुराह—

निप्फत्तिं कुणमाणा, थेरा विहरंति तेसिमा मेरा।
आयरियउवज्झाया, भिक्खू थेरा य खुड्डा य ॥६१८॥

शिष्याणां निष्पत्तिं कुर्वन्तः स्थविरा—गच्छवासिनः साधवो विहरन्ति—अप्रतिबद्धं विहारं विदधति। तेषां चेत्थं विहरतामियं मर्यादा—सामाचारी। तत्र गच्छवासिनस्तावत्पञ्चविधाः-तद्यथा-आचार्यः, उपाध्यायो, भिक्षवः, स्थविराः, क्षुल्लकाश्चेति।

धीरपुरिसपन्नत्तो, सप्पुरिसनिसेविओ अमासविही।
तस्स पडिलेहगा पुण,सुत्तत्थविसारया भणिया।६१९।

धीरपुरुषैस्तीर्थकरगणधरैः प्रज्ञप्तः, सत्पुरुषैश्च जम्बूप्रभवादिभिर्निषेवितमनुष्ठितो मासकल्पविधिः। तस्य पुनर्मासकल्पविधेः प्रत्युपेक्षकाः सूत्रार्थविशारदाः साधवो भणिता भगवद्भिः। स पुनर्विहारः शरदादिर्भवति।

कथमिति चेदुच्यते—

वासावासे ऽतीए, अट्ठसु वारो अतो उ सरदाई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पडिलेहसंकमविही, ठिए य मेरं परिकहेऽहं ॥ ६२० ॥

वर्षावासे अतीते—अतिक्रान्ते अष्टसु ऋतुबद्धमासेषु वारो मासे मासे क्षेत्रान्तरगमनलक्षणो विहारो भवति, अतः शरदादिरयं मन्तव्यः । तत्र च क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाविधिं क्षेत्रान्तरसंक्रमणविधिं प्रत्युपेक्षिते च क्षेत्रे 'ठिए' त्ति स्थितानां सतां या काचिन्मर्यादा तामहं परिकथयिष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव यथाक्रमं व्याचिख्यासुराह—

निग्गमणम्मि य पुच्छा, पत्तमपत्ते अइत्थिए वाऽवि ।
वाघायम्मि अपत्ते, अइत्थिए तस्स असतीए ॥ ६२१ ॥

यत्र वर्षावासः कृतस्ततः क्षेत्रान्निर्गमने पृच्छा, किं कार्त्तिकचतुर्मासिके निर्गन्तव्यम्, उताऽप्राप्ते आहोस्विदतिक्रान्ते ?। उच्यते—यदि कोऽपि व्याघातस्तदा अप्राप्ते वा अतिक्रान्ते वा निर्गच्छन्ति तस्य व्याघातस्याऽसत्यभावे प्राप्ते चातुर्मासिकदिने मार्गशीर्षप्रतिपदि निर्गत्य बहिर्गत्वा पारयन्ति ।

कः पुनर्व्याघात इत्याह—

पत्तमपत्ते रिक्खं, असाहगं पुन्नमासिणिमहो वा ।
पडिकूल त्ति य लोगो, मा वोच्छिइ तो अईअम्मि ॥ ६२२ ॥

प्राप्ते-चातुर्मासिकदिवसे अप्राप्ते वा यथाऽऽचार्याणाम् ऋक्षं नक्षत्रमसाधकम्-अननुकूलं पूर्णमासीमहो वा तदा भवेत्; कार्त्तिकीमहोत्सव इत्यर्थः । तत्र च लोको निर्गच्छन् साधून् दृष्ट्वा अमङ्गलं मन्यमानः प्रतिकूला अस्मिन्महोत्सवप्रतिपन्थिनोऽमी इत्येवमावक्ष्यति ततोऽतीते निर्गन्तव्यम् ।

पत्ते अइत्थिए वा, असाहगं तेण णिंति अप्पत्ते ।
नाऊं निग्गमकालं, पडिचरए एस बिंति तहा ॥ ६२३ ॥

प्राप्ते अतिक्रान्ते वा निर्गमनकाले नक्षत्रमसाधकम्, उपलक्षणत्वान्मेघो वा वर्षणान्नोपरंस्यते, पन्थानः कर्दमदुर्गमाश्च भविष्यन्तीत्यतिशयज्ञानवशेन परिज्ञाय तेन कारणेनाप्राप्ते चातुर्मासके निर्गच्छन्ति, निर्गमनकालं ज्ञात्वा प्रतिचरकान्—क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् प्रेषयन्ति । तथा तेष्वायातेषु सत्सु निर्गमनकाल उपढौकते । तच्च क्षेत्रं द्विधा-दृष्टपूर्वम्, अदृष्टपूर्वं च । उभयमपि नियमेन प्रत्युपेक्षणीयम् ।

कुत इति चेदुच्यते-

अप्पडिलेहिएँ दोसा, वसही भिक्खं च दुल्लहं होज्जा ।
बालाइगिलाणाण व, पाउग्गं अहव सज्झाओ ॥ ६२४ ॥

अप्रत्युपेक्षिते क्षेत्रे गच्छतामेते दोषाः । सा पूर्वदृष्टा वसतिः स्फोटिता पतिता वा भवेत्, अन्ये वा साधवस्तत्र स्थिता वा भवेयुः, भैक्षं वा दुर्लभं भवेत्, दुर्भिक्षाऽऽदिभावात् वालादीनां ग्लानानां वा प्रायोग्यं दुर्लभं भवेत्, स्वाध्यायो वा दुर्लभः स्यात्; मांसशोणितादिभिरस्वाध्यायिकैराकीर्णत्वात् ।

यतश्चैवमतः किं विधेयमित्याह—

तम्हा पुव्विं पडिले-हिऊण पच्छा विहीएँ संकमणं ।
पेसेइ जइ अणापु-च्छिउं गणं तत्थिमे दोसा ॥ ६२५ ॥

तस्मात्पूर्वं प्रत्युपेक्ष्य पश्चाद्विधिना संक्रमणं तत्र कर्त्तव्यम् । अथाप्रत्युपेक्षिते व्रजन्ति ततश्चतुर्लघु, आज्ञाभङ्गे चतुर्गुरु, अनवस्थायां चतुर्लघु । यद्वा—संयमविराधनादिकं प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यदि पुनराचार्यो गणं गच्छमनापृच्छ्य क्षेत्रे प्रत्युपेक्षकान् प्रेरयति तदा मासलघु ।

तत्र च गणमनापृच्छ्य प्रेषणे इमे दोषाः—

तेणा सावए-मसगा, ओम-ऽसिवे सेह-इत्थि-पडिणीए ।
थंडिल्लवसहि उट्ठा-ण एवमाई भवे दोसा ॥ ६२६ ॥

स्तेना द्विविधाः-शरीरस्तेना, उपधिस्तेनाश्च । श्वापदाः-सिंहव्याघ्रादयः मशकाः-प्रतीताः अवमं-दुर्भिक्षम् अशिवं—व्यन्तरकृतोपद्रवः शैक्षस्य वा तत्र मारिकं स्त्रियो वा स्नेहोद्रेकबहुलाः साधूनुपसर्गयन्ति, प्रत्यनीको वा कोऽप्युपद्रवति, स्थण्डिलानि वा तत्र न विद्यन्ते, वसतिर्वा नास्ति, 'उट्ठाणे' त्ति उत्थितः स देशः एवमादयस्तत्रापान्तराले पथि गच्छतां दोषा भवन्ति ।

तत्र स्थाने प्राप्तानां पुनरिमे दोषाः—

पच्चंत तावसीओ, सावय दुब्भिक्ख तेणपउराइं ।
नियगयउप्पव्वायण, फेडणया हरियपत्तीए ॥ ६२७ ॥

स ग्रामः प्रत्यन्तो-म्लेच्छाद्युपद्रवोपेतः, तापस्यो वा तत्र प्रचुरमोहाः संयमात्परिभ्रंशयन्ति, श्वापदभयं दुर्भिक्षं, स्तेनप्रचुराणि च तानि क्षेत्राणि, शिक्षकस्यान्यस्य वा कस्याऽपि साधोस्तत्र निजकाः स्वजनास्ते तमुत्प्रव्राजयन्ति, प्रद्विष्टो वा प्रत्यनीकस्तत्र साधूनुपद्रवति, उत्थितो वा सग्रामः, स्फुटिता वा सा वसतिः, स्फिटितानि वा परिणामितानि तानि कुलानि येषां निश्रया तत्र गम्यते । अत्र चूर्णिकृत्-" फिडियाणि वा ताणि कुलाणि जेसिं निस्साए गम्मइ " त्ति ' हरियपत्तीए ' त्ति हरितपत्रशाकं बाहुल्येन तत्र भक्ष्यते । अथवा—तत्र देशे केषुचिद्गृहेषु राज्ञा दण्डं दत्त्वा देशतापहारार्थमागन्तुकः पुरुषो मार्यते, गृहस्य चोपरिष्टादार्द्रवृक्षशाखाचिह्नं क्रियते, एतेन चिह्नेन ऽस्माभिराख्यातमेवाभवद् यन्मारणेऽप्यस्माकं न दोष इति, यत एते दोषा अतः सर्वमपि गणमामन्त्र्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रेषणीयाः ।

यदि पुनर्न सर्वमपि गणमामन्त्रयते तत एते दोषाः ।

सीसे जइ आमंते, पडिच्छगा तेण बाहिरं भावं ।
जइ इअरे तो सीसा, तेऽवि समत्तम्मि गच्छंति ॥ ६२८ ॥
तरुणा बाहिरभावं, न य पडिलेहोवहिं न किइकम्मं ।
मूलगपत्तसरिसगा, परिभूया वच्चिमो थेरा ॥ ६२९ ॥

यद्याचार्यः शिष्यान् केवलानामन्त्रयति कस्यां दिशि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रेषयितुमुचिता इति ततो मासलघु, आज्ञादयश्च दोषाः, प्रतीच्छकाश्च तेन कारणेन बाह्यं भावं गच्छेयुः । अहो अत्र शिष्या एवामीषां सर्वकार्येषु प्रमाणं न वयमित्यतो रागद्वेषदूषितत्वात्को वा नामामीषामुपकण्ठे स्थास्यतीति । यदि इतरान् प्रतीच्छकानामन्त्रयति ततः शिष्याः बहिर्भावं गच्छेयुः, प्रतीच्छका एव तावदमीषां प्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सादपात्राणि; अतः किमर्थं वयमेव वैयावृत्त्यादिप्रयासं कुर्म इति, तेऽपि-प्रतीच्छकाः समाप्ते सूत्रार्थग्रहणे स्वगच्छं गच्छन्ति। ततश्चाचार्य उभयैरपि प्रतीच्छकैः शिष्यैः परित्यक्तः सन्नेकाकी सञ्जायते। अथ वृद्धानामन्त्रयते ततस्तरुणा बहिर्भावं मन्यन्ते, न च—नैव गुरूणां क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाणां वा उपकरणं प्रत्युपेक्षन्ते, न वा स्थविरादीनामुपधिं वहन्ति, न च कृतिकर्म भक्तपानाऽऽनयनविश्रामणादिकं कुर्वते, वृद्धा एव सर्वमपि विधास्यन्ति, के पुनर्वयमस्थापितमहत्तरा इति। अथैतद्दोषभयात् तरुणानेव पृच्छति, ततः स्थविराश्चिन्तयेयुः मौलकपत्रसदृशा—मौलम्-आद्यं यत्पूर्णं परिपक्वप्रायम्, यदि वा—मूलकः कन्दविशेषस्तस्य यत्पत्रं निस्सारं तत्सदृशा वयम्, अत एव परिभूताः-परिभवपदमायाता इत्यतो व्रजामो वयं गणान्तरमिति।

अथाऽकिञ्चित्करत्वात् स्थविराणामनामन्त्रणादपि
का नाम हानिः सम्पद्यते ?, उच्यते—

जुन्नमिएहि विहूणं, जं जूहं होइ सुद्धऽवि महल्लं।
तं तरुणरहसपोइय-मयगुम्मइयं सुहं हंतुं ॥ ६३० ॥

जीर्णाः परिणतवयसो ये मृगास्तैर्विहितं यत् यूथं भवति सुष्ठ्वप्यतिशयेन महत्-महासमूहाऽऽत्मकं तत् यूथम्। 'तरुण' त्ति भावप्रधानत्वात् निर्देशस्य तारुण्येन यौवनवशेन यद् रभसश्चापलं गोरिगीतश्रवणादिविषयं तेन 'पोतितं' ति देशीवचनत्वादितस्ततः स्पन्दितं मदगुल्मितं मदेन घूर्णितचेतनं तत् सुखं हन्तुं विनाशयितुं सुखेन तद्व्यापाद्यत इति भावः। उक्तं च-"अतिरागप्रणीतान्य-तिरभसकृतानि च। तापयन्ति नरं पश्चा-त्क्रोधाध्यवसितानि च ॥१॥" यतश्चैवमतः सर्व एव मिलिताः सन्तः प्रष्टव्याः।

अत्रैव प्रायश्चित्तमाह—

आयरिय अवाहरणे, मासे वाहित्तणागमे लहुओ।
वाहित्ताण य पुच्छा, जाणगसिद्धे तओ गमणं॥६३१॥

आचार्या गणं न व्याहरन्ति-नामन्त्रयन्ति मासलघु, शिष्य-प्रतीच्छकतरुणस्थविराणामन्यतमानविशेष्याऽऽमन्त्रयन्ति तदापि मासलघु। तेऽपि व्याहृताः सन्तो यदि नागच्छन्ति तदापि मासलघु। व्याहृत्य च सर्वमपि गणं, पृच्छा कर्त्तव्या। यथा-कतरत् क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयम् ?, ततो ज्ञायकेन क्षेत्रस्वरूपे पृष्टे शिष्टेन कथिते सति गमनं क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैः कर्तव्यम्।

आमन्त्रणस्यैव विधिमाह—

थुइमंगलमामंतण–नागच्छइ जो व पुच्छिओ कहई।
तस्सुवरिं ते दोसा तम्हा मिलिएसु पुच्छिज्जा ॥६३२॥

आवश्यके समापिते स्तुतिमङ्गलं कृत्वा तिस्रः स्तुतीर्दत्त्वेति भावः, सर्वेषामपि साधूनाम् आमन्त्रणं कर्त्तव्यं, कृते चामन्त्रणे च यः कश्चिन्नागच्छति आगतो वा क्षेत्रस्वरूपं पृष्टः सन्न कथयति तदा मासलघु, तथा तस्योपरि ते दोषाः स्तेनश्वापदादयो भवन्ति ये तत्र गतानां भविष्यन्ति।तस्मान्मिलितेषु सर्वेष्वपि पृच्छेत्, उपलक्षणत्वात्सर्वेऽपि च कथयेयुः।

तत्रैव मतान्तरमुपन्यस्य दूषयन्नाह—

केई भणंति पुव्वं, पडिलेहिय एवमेव गंतव्वं।
तं तु न जुज्जइ वसही, फेडण आगंतु पडिणीए ॥६३३॥

केचित् भणन्ति पूर्वं प्राक् प्रत्युपेक्षिते क्षेत्रे एवमेव गन्तव्यं न पुनस्तत्र क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रेक्षणीया इति। तत्तु न युज्यते-न घटते, कुत इत्याह-वसतेः कदाचित् स्फेटनं कृतं भवेत्, आगन्तुको वा प्रत्यनीकस्तत्र संवसेत्, अतः पूर्वदृष्टमपि क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयम्।

अथ कथं प्रष्टव्यमित्याह—

कयरी दिसा पसत्था, अमुगी सव्वेसि अणुमए गमणं।
चउदिसितिदुएक्कं वा, सत्तगपणगं तिग जहन्ने ॥६३४॥

यदा सर्वेऽपि साधवो मिलिता भवन्ति तदा गुरवो ब्रुवते-आर्याः! पूर्णोऽयमस्माकं मासकल्पः क्षेत्रान्तरं सम्प्रति प्रत्युपेक्षणीयम्, अतः कतरा दिक् साम्प्रतं प्रशस्ता ?। ते ब्रुवते-अमुका पूर्वादीनामन्यतमा, एवं सर्वेषां यद्यसावनुमता अभिरुचिता तदा गमनं कर्त्तव्यम्। प्रथमं चतसृष्वपि दिक्षु-अथ चतुर्थ्यां कोऽप्यशिवादिरुपद्रवस्ततस्तिसृषु दिक्षु, तदभावे द्वयोर्दिशोस्तदसत्येकस्यां दिशि गच्छन्ति। ते चैकैकस्यां दिस्युत्कर्षतः सप्त व्रजन्ति। सप्तानामभावे पञ्च जघन्येन तु त्रयः साधवो नियमाद्गच्छन्ति। तत्र च ये आभिग्रहिकाः-क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रतिपन्नाभिग्रहास्ते स्वयमेव गुरूनापृच्छय गच्छन्ति।

अथ न सन्त्याभिग्रहिकास्ततः को विधिरित्याह-

वेयावच्चगरं बा-लवुड्ढखमयं वहंतऽगीयत्थं।
गणवच्छेइअगमणं, तस्स व असती य पडिलोमं॥६३५॥

वैयावृत्त्यकरम् १ बालम् २ वृद्धम् ३ क्षपकम् ४ वहन्तम्-योगवाहिनम् ५ अगीतार्थम् ६ एतान्न क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय व्यापारयेत्, किं तु-गणावच्छेदकस्य गमनं भवति। तस्य वाशब्दादपरस्य वा गीतार्थस्यासत्यभावे प्रतिलोमं—प्रतिक्रमेण पश्चानुपूर्व्येत्यर्थः, एतानेवाऽगीतार्थानादिं कृत्वा व्यापारयेदिति संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तमाह—

आइतिए चउगुरुगा, लहुओ मासो उ होइ चरिमतिए।
आणाइणो विराहण, आयरियाईसु णेयव्वा ॥ ६३६ ॥

आदित्रिके वैयावृत्त्यकरबालवृद्धलक्षणे व्यापार्यमाणे चत्वारो गुरुकाः। चरमत्रिके तु क्षपकयोगवाह्यगीतार्थलक्षणे लघुको मासः, आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना चाऽऽचार्यादीनां ज्ञातव्या।

तामेव भावयति—

ठवणकुले न व साहइ,सिट्ठा व न दिंति जा विराहणया।
परितावणमणुकंपण, तिएह समुत्थो भवे खमओ॥६३७॥

वैयावृत्त्यकरः प्रेक्ष्यमाणो रूष्यति, रूषितश्च यान्याचार्यादिप्रायोग्यदायकानि स्थापनाकुलानि तानि न कथयति, शिष्टानि वा कथितानि परं तानि तस्यैव ददति, नान्यस्य तेन भावितत्वात्तेषां ततोऽलभ्यमाने प्रायोग्ये या काचिदात्मनो ग्लानादीनां वा विराधना तन्निष्पन्नमाचार्यस्य प्रायश्चित्तम्। अथ क्षपकं प्रेषयति त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तोऽसौ शीतातपादिना परिताप्यते तन्निष्पन्नम् , देवता वा काचित् क्षपकमनुकम्पमाना खलु क्षेत्रेऽपि भक्तपानमुत्पादयति . लोको वा क्षपक इति कृत्वा तस्याऽनुकम्पया सर्वमपि ददाति नाऽन्यस्य,तपःक्षामकुक्षिश्चासौ तिसृणां गोचरचर्याणामसमर्थ इति ।

बालद्वारमाह—

हीरेज्ज व खेलेज्ज व, कज्जाकज्जं न जाणई बालो ।

सो व अणुकंपणिज्जो,न दिंति वा किंचि बालस्स॥६३८॥

ह्रियेत वा म्लेच्छादिना, खेलयेद्वा चेटरूपैः सार्द्धं, कार्याऽकार्यं च-कर्त्तव्याकर्त्तव्यं न जानाति बालः । स च बालः स्वभावत एवाऽनुकम्पनीयो भवति,ततः सर्वोऽपि लोकस्तस्मै भक्तपानं प्रयच्छति । स चागत्याचार्याय कथयति, यथा सर्वमपि प्रायोग्यं तत्र प्राप्यते । ततस्तद्वचनादागतस्तत्र गच्छो यावन्न किञ्चिल्लभते, न ददाति वा किञ्चिद्बालाय लोकः पराभवनीयतया दर्शनात् ।

वृद्धद्वारमाह—

वुड्डो ऽणुकंपणिज्जो, चिरेण न य मग्गथंडिले पेहे ।

अहवाऽवि बालवुड्डा, असमत्था गोयरतियस्स ॥६३९॥

वृद्धः-परिणतवया अनुकम्पनीयो लोकस्य भवति, ततश्चाऽयं सर्वत्राऽपि लभते नापरः।तथा स मन्दं मन्दं गच्छन् चिरकालेनोपैति, न च मार्गं पन्थानं स्थण्डिलानि च प्रत्युपेक्षते । अथवा-बालवृद्धौ असमर्थौ गोचरत्रिकस्य-त्रिकालभिक्षाटनस्येति ।

योगवाहिद्वारमाह—

दूरंतो व न पेहे, गुणणालोभे न य चिरं हिंडे ।

विगईं पडिसेहेई, तम्हा जोगिं न पेसिज्जा ॥ ६४० ॥

योगवाही श्रुतं मम पठितव्यं वर्त्तत इति त्वरमाणः सन्नपान्तराले पन्थानं न प्रत्युपेक्षते, गुणना-परावर्त्तना तस्या लोभेन चिरमसौ भिक्षां न हिण्डते, लभ्यमानापि विकृतिं घृतादिकमसौ प्रतिषेधयति, तस्माद्योगिनं न प्रेषयेत् ।

अगीतार्थद्वारमाह—

पंथं च मास वासं, उवस्सयं एच्चिरेण कालेण ।

एहामो त्ति न जाणइ, ऽगीतो पडिलोम असतीए॥६४१॥

अगीतार्थःपन्थानं—मार्गं मासं—मासकल्पविधिं वासं—वर्षावासविधिम् उपाश्रयं-वसतिम् एतानि परीक्षितुं न जानाति । तथा शय्यातरेण पृष्टः कदा यूयमागमिष्यथ ?,ततोऽसौ ब्रवीति-इयता कालेनार्द्धमासादिना वयमेष्याम इत्येवं वदतो यः खल्वविधिभाषणजनितो दोषस्तमगीतार्थो न जानाति, यत एवमतः प्रथमतो गणावच्छेदकेन गन्तव्यम् । तस्याऽभावे अपरोऽपि यो गीतार्थः स व्यापारणीयः, तस्याप्यसत्यभावे प्रतिलोमं पश्चानुपूर्व्या एतानेव गीतार्थमादिं कृत्वा प्रेषयेत् ।

केन विधिनेत्युच्यते—

सामायारिमगीए, जोगमणागाढखमग पारावे ।

वेयावच्चे दामग-जुयलसमत्थं व सहियं वा ॥ ६४२ ॥

अगीतार्थं ओघनिर्युक्तिसामाचारीं कथयित्वा प्रेषणीयः।तदभावे अनागाढयोगी बाह्ययोगवाही योगं निक्षिप्य प्रेष्यते । अस्याप्यसत्यभावे क्षपकः तश्च प्रथमं पारयेत्—पारणं कारयेत्, ततो मा क्षपणं कार्षीरिति शिक्षां दत्त्वा प्रहिणुयात् । तस्याऽप्यभावे वैयावृत्यकरः प्रेष्यते, 'दामग' त्ति स वैयावृत्यकरो वास्तव्यसाधूनां स्थापनाकुलानि दर्शयति—ततो बालवृद्धयुगलं, कथंभूतं ?, समर्थं-दृढशरीरं वाशब्दो विकल्पार्थः । सहितं वा-वृषभसाधुसमन्वितम् । इत्थमादिष्टैस्तैः शेषसाधूनां स्वमुपधिं समर्प्य परस्परं क्षामणं कृत्वा गमनकाले भूयोऽपि गुरुनापृच्छ्य गन्तव्यम् । यदि नाऽऽपृच्छन्ति तदा मासलघु ।

ते चावश्यिकीं कृत्वा निर्गच्छन्ति, कियन्तः कथं चेत्याह—

तिन्नेव गच्छवासी, हवंतऽहालंदियाण दोन्नि जणा ।

गमणे चोदक पुच्छा, थंडिलपडिलेह हालंदे ॥ ६४३ ॥

जघन्यतस्त्रयो गच्छवासिनो जना एकैकस्यां दिशि व्रजन्ति, यथालन्दिकानां तु गच्छप्रतिबद्धानां द्विजनावेकस्यां दिशि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकौ गच्छतः, शेषास्तु तिसृषु दिक्षु । गच्छवासिनामाचार्या आदिशन्ति,यथा—यथालन्दिकानामपि योग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयं तेषां च गमने प्ररूपिते नोदकपृच्छा वक्तव्या, स्थण्डिलप्रत्युपेक्षणं यथालन्दिकानां वाच्यम् ।

तत्र गमनद्वारं विवृणोति—

पंथुच्चारे उदये, ठाणे भिक्खंतरा य वसहीओ ।

तेणा सावयबाला, पच्चावाया य जाणविही ॥६४४॥

पन्थानं—मार्गम् 'उच्चारे' त्ति उच्चारप्रश्रवणभूमिके 'उदिय' त्ति पानकस्थानानि येषु बालादियोग्यं प्राशुकैषणीयं पानकं लभ्यते, 'ठाणे' त्ति विश्रामस्थानानि 'भिक्ख' त्ति येषु येषु प्रदेशेषु भिक्षा प्राप्यते न वा अन्तरा-अन्तराले च सतपःप्रतिश्रयाः सुलभा दुर्लभा वा स्तेनाः श्वापदा व्यालाश्च यत्र सन्ति, न वा प्रत्यपायाश्च यत्र दिवा रात्रौ वा भवन्ति, तदेतत्सर्वं सम्यग् निरूपयद्भिर्गन्तव्यम् । यानं-गमनं तस्य विधिरयं द्रष्टव्य इति ।

इदमेव व्याचिख्यासुराह—

वावारियसच्छंदा-ण वावि तेसिं इमो विही गमणे ।

दव्वे खित्ते काले, भावे पंथं सुपडिलेहे ॥ ६४५ ॥

व्यापारिता—आचार्येण नियुक्ताः स्वच्छन्दा नाम ये आभिग्रहिकास्तेषामुभयेषामप्ययं गमने विधिः । तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च पन्थानं प्रत्युपेक्षन्ते ।

कथमित्याह—

कंटगतेणा वाला, पडिणीया सावया य दव्वम्मि ।

समविसमउदगथंडिल-भिक्खायरियंतरा खेत्ते ॥६४६॥

दिय राउ पच्चवाए, य जाणई सुगमदुग्गमे काले ।

भावे सपक्खपरप-क्खपेच्छणा णिण्हगाईया ॥६४७॥

द्रव्यतः कण्टकास्तेना व्यालाः प्रत्यनीकाः श्वापदाश्च पथि प्रत्युपेक्षणीयाः । क्षेत्रतः-समो-गिरिकन्दराप्रपातनिम्नोन्नतरहितः पन्था विषमस्तद्विपरीतः 'उदग' त्ति पानीयबहुलो मार्गः स्थण्डिलानि भिक्षाचर्या तथा अन्तरा-अ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पान्तराले वसतयः । कालतो—दिवा रात्रौ वा प्रत्यपायान् जानाति, यथाऽत्र दिवा प्रत्यपाया न रात्रौ, रात्रौ न दिवेति यथा दिवा रात्रौ वाऽयं पन्थाः सुगमो दुर्गमो वा । भावतः-स्वपक्षेण परपक्षेण वा प्रेरित आक्रान्तोऽयं ग्रामः पन्था वा न वेति । अथ कः पुनः स्वपक्षः को वा परपक्ष इत्याह-' निरहगाइय ' त्ति निह्नवाः—पार्श्वस्थादयः साधुलिङ्गधारिणः स्वपक्षाः आदिग्रहणात्-चरकपरिव्राजकादयः परपक्षाः एवं प्रत्युपेक्षमाणास्तावद् व्रजन्ति यावत् विवक्षितक्षेत्रं प्राप्ताः । उक्तं गमनद्वारम् ।

अथ नोदकपृच्छाद्वारमाह—

सुत्तत्थाणि करिंते, न व त्ति वच्चंतगा उ चोएइ ।
न करिंति साहु चोयय,गुरूण निइआइआ दोसा॥६४८॥

परो नोदयति—क्षेत्रप्रत्युपेक्षका व्रजन्तः किं सूत्रार्थौ कुर्वते न वा ?, गुरुराह-न कुर्वन्ति, मा भूवन् गुरूणां नित्यवासादयो दोषाः, अतः सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति यदि कुर्वन्ति तदा मासलघु । अर्थपौरुष्या मासगुरु ।

'थण्डिलपडिलेहहालंदे' त्ति पदं व्याख्यानयति—

सुत्तत्थपोरिसीओ, अपरिहवेंता वयंति जहालंदी ।
थंडिल्ले उवओगं, करिंति रत्तिं वसंति जहिं ॥ ६४६ ॥

यथालन्दिकाः सूत्रार्थपौरुष्यावपरिहापयन्तो विहारं भिक्षाचर्यां च तृतीयस्यां पौरुष्यां कुर्वाणा व्रजन्ति । यत्र च रात्रौ वसन्ति तत्र स्थण्डिले—कालग्रहणादियोग्यं उपयोगं कुर्वन्ति ।

केन विधिना गच्छवासिनस्तत्र क्षेत्रे प्रविशन्तीत्याह—

सुत्तत्थे अकरेंता, भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे ।
वितियदिणे सज्झाओ,पोरिसि अद्धाए संघाडो ॥६५०॥

सूत्रार्थावकुर्वन्तः प्रस्तुतक्षेत्रासन्ने ग्रामे भिक्षां कृत्वा समुद्दिश्यापराह्णे विचारभूमिं स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षमाणा विवक्षितं क्षेत्रम् ' अइंति ' त्ति प्रविशन्ति, ततो वसतिं गृहीत्वा, तत्राऽवश्यकं कृत्वा, कालं प्रत्युपेक्ष्य, प्रादोषिकं स्वाध्यायं कृत्वा, प्रहरद्वयं शेरते । ये तु न शेरते ते अर्द्धरात्रिकवैरात्रिककालद्वयमपि गृह्णन्ति । ततः प्राभातिकं कालं गृहीत्वा द्वितीयदिने स्वाध्यायः कर्त्तव्यः । ततोऽर्द्धायां पौरुष्यामतिक्रान्तायां संघाटको भिक्षामटति ।

एतदेवाह—

वीयारभिक्खचरिया, बुत्ताण विरुगयम्मि पडिलेहा ।
चोयग भिक्खायरिया, कुलाइ तहुवस्सयं चेव ॥६५१॥

विचारभूमिः प्रथममेवापराह्णे प्रत्युपेक्षणीया, ततो रात्रावुषितानामचिरोद्गते सूर्ये अर्द्धपौरुष्यां भिक्षाचर्यायाः प्रत्युपेक्षणा भवति । अत्र नोदकः प्रश्नयति, किमिति प्रातरारभ्य भिक्षाचर्या विधीयते ? सूरिरभिदधाति-एवं भिक्षाचर्यां कुर्वाणाः कुलानि—दानकुलादीनि तथोपाश्रयं च ज्ञास्यन्तीति समासार्थः ।

अथैतदेव व्याचष्टे—

बाले वुड्ढे सेहे, आयरियगिलाणखमगपाहुणए ।
तिन्नि उ काले जहियं,भिक्खायरिया उ पाउग्गा॥६५२॥

षष्ठीसप्तम्योरर्थे प्रत्यभेदात् बालस्य वृद्धस्य शैक्षस्याऽऽचार्यस्य ग्लानस्य क्षपकस्य प्राघूर्णकस्य च प्रायोग्या तदनुकूलप्राप्यमाणभक्तपाना त्रीनपि पूर्वापराह्णमध्याह्नलक्षणान् कालान् यत्र भिक्षाचर्या भवति तत्क्षेत्रं गच्छस्य योग्यमिति गम्यते ।

कथं पुनस्तत्प्रत्युपेक्षयत इत्याह—

खेत्तं तिहा करित्ता, दोसीणे नीणितम्मि उवयंति ।
अन्नोन्ने बहुलद्धो, थोवंदन मा य रूसिज्जा ॥ ६५३ ॥

क्षेत्रं त्रिधा-त्रीन् भागान् कृत्वा एकं विभागं प्रत्युषसि पर्यटन्ति, द्वितीयं मध्याह्ने, तृतीयं सायाह्ने । तत्र यत्र प्रातरेव भोजनस्य देशकालस्तत्र प्रथमं पर्यटन्ति । अथ नास्ति प्रातः काऽपि देशकालस्ततो ' दोसीणे ' पर्युषिते आहारे निस्सारिते वदन्ति, यथा अन्यान्येषु गृहेषु पर्यटद्भिः बहुः—प्रचुर आहारो लब्धस्तेन च भृतमिदं भाजनम् , अतः स्तोकं देहि, मा च रुषः-मा रोषं कार्षीर्यदेतं न गृह्णन्तीति, एतच्चामी परीक्षार्थं कुर्वन्ति किमयं दानशीलो न वेति ।

अहव न दोसीणं चिय, जाणीमो देहि णे दहिं खीरं ।
खीरे व य गुल गोरस—थोवं थोवं च सव्वत्थ ॥६५४॥

अथवा न वयं'दोसीण'मेव जानीमः,किं तु-'देहि'णे' अस्मभ्यं दधि क्षीरं च । क्षीरे लब्धे सति घृतं गुडं गोरसं च याचयित्वा सर्वत्र स्तोकं स्तोकमेव गृह्णन्ति । एवं तावत्प्रशस्यौ यौ भिक्षाया देशकालौ यानि च भद्रककुलानि तानि सम्यगवधारयन्ति , यथा बालवृद्धक्षपकादीनां प्रथमद्वितीयपरीषहार्दितानां समाधिसन्धारणार्थं प्रातरेव तेषु पेयादीनि यानि चापनीयन्ते एवमेकस्य पर्यायं गृहीत्वा वसतिमागम्यालोचनादिविधिपुरस्सरं समुद्दिश्य मध्याह्ने द्वितीये भिक्षां पर्यटन्ति ।

कथमित्याह—

मज्झण्हे पउरभिक्खं,परितावियं पेज्ज जूसपयकढियं ।
ओभासिमणोभासिय, लब्भइ जं जत्थ पाउग्गं ॥६५५॥

मध्याह्ने प्रचुरं भैक्षं तथा परितापितं-परितलितं सुकुमालिकादि यत्कान्तं, यद्वा-परितापितं कथितं; कट्टरादिकमित्यर्थः, पेया—यवागू यूषो-मुद्गरसः तथा पयो दुग्धं कथितं-तापितम् एवमवभाषितमनवभाषितं वा यद्यत्र प्रायोग्यमान्विष्यते तत्तत्र यदि लभ्यते तदा प्रशस्तं तत् क्षेत्रम् , अत्राऽप्येकस्य पर्याप्तं गृहीत्वा प्रतिनिवृत्य समुद्दिश्य संज्ञाभूमिं गत्वा वैकालिकीं पात्रादिप्रत्युपेक्षणां कृत्वा सायाह्ने तृतीयविभागे भिक्षामटन्ति ।

कथमित्याह—

चरिमे परितावियं पे—ज्जकखीर आएस अंतरणऽद्धा ।
एक्केक्कगसंजुत्तं, भत्तऽट्ठं एक्कमेक्कस्सि ॥ ६५६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरमे भिक्षाकाले परितापितं पेयाक्षीरं येषु प्राप्यते तानि कुलानि सम्यगवधारयन्ति । किमर्थमित्याह–आदेशाय प्राघूर्णकास्तदा समागच्छेयुः, अतरणो ग्लानस्तदानीं पथ्यमुपयुञ्जीत तदर्थमुपलक्षणत्वाद्बालाद्यर्थं च । अत्राऽप्येकस्य पर्याप्तं गृहीत्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते । यत आह–'एकेक्क' इत्यादि एकैकः साधुरन्यसाधुना संयुक्तो यस्मिन्नानयते तदेकैकं संयुक्तं भक्तार्थमुदरपूरमाहारमेकैकस्य साधोरर्थायाऽऽनयन्ति। इदमुक्तं भवति–प्रातर्द्वौ साधू सङ्घाटकेन पर्यटतः, तृतीयो रक्षपाल आस्ते। द्वितीयस्यां वेलायां तयोर्मध्यादेक आस्ते अपरः प्रथमव्यवस्थितं गृहीत्वा प्रयाति, तृतीयस्यां तु द्वितीयवेलारक्षपालः प्रथमव्यवस्थितरक्षपालेन सह पर्यटति । यस्तु वारद्वयं पर्यटति स तिष्ठति, एवं त्रयाणां जनानां द्वौ द्वौ वारौ पर्यटनं योजनीयम् ।

ओसहभेसज्जाइं, काले य कुले य दाणसड्ढाइं ।
सग्गामे पेहित्ता, पेहेंति तओ परग्गामे ॥ ६५७ ॥

औषधानि-हरीतक्यादीनि, भेषजानि-पेयादीनि, त्रिफलादीनि च । 'काले य' त्ति येषु कुलेषु यत्र काले वेलायां वा दानश्राद्धादीनि कुलानि एतानि स्वग्रामे प्रत्युपेक्ष्य ततः परग्रामे प्रत्युपेक्षन्ते ।

अत्र चालनां कारयति–

चोयगवयणं दीहं, पणीयगहणं नणु भवे दोसा ।
जुज्जइ तं गुरुपाहुण–गिलाणगट्ठा न दप्पट्ठा ॥६५८॥
जइ पुण खद्धपणीए, अकारणे एक्कसिं पि गिण्हिज्जा ।
तहियं दोसा तेण उ, अकारणे खद्धनिद्धाइं ॥ ६५६ ॥

नोदकः–प्रेरकस्तस्य वचनं चालनारूपं न तु तेषामित्थं दीर्घां भिक्षाचर्यां कुर्वतां प्रणीतस्य च दधिदुग्धादेर्ग्रहणे दोषाः सूत्रार्थे परिमन्थमोहोद्भवादयो भवेयुः । सूरिराह–भद्र ! युज्यते तत्प्रणीतग्रहणं दीर्घभिक्षाटनं च प्राघूर्णकग्लानार्थं न दर्पार्थं तन्मनोबलवर्णादिहेतोः, यदि पुनः 'खद्धं' प्रचुरं प्रणीतं-स्निग्धं मधुरमिति अकारणे–गुर्वादिकारणाभावे एकशोऽपि गृह्णीयान्न तस्मिन् खद्धप्रणीतग्रहणे भवेयुर्दोषाः । कुत इत्याह–अकारणे आत्मार्थं यस्मात्तेन 'खद्धनिद्धाइं' ति प्रचुरस्निग्धानि भक्ष्यन्ते इति वाक्यशेषः । अतो गुरुग्लानादिहेतोः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणे काले प्रणीतं गृह्णतां चिरं च पर्यटतां न कश्चिद्दोष इति ।

अथ 'कुलाइ तह तस्स पंचेव' त्ति पदं व्याख्यायते । भिक्षामटन्तः कुलानि जानन्ति, कथमित्याह–

दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अवियत्ते, कुलाइँ जाणंति गीयत्था ॥ ६६० ॥

दानश्रद्धानि–प्रकृत्यैव दानरुचीनि अभिगमश्रद्धानि–प्रतिपन्नाणुव्रतानि श्रावककुलानि सम्यक्त्वश्रद्धानि—अविरतसम्यग्दृष्टीनि तथैव मिथ्यात्वे–मिथ्यादृष्टिकुलानि मामकानि मा मदीयं गृहं श्रमणाः प्रविशन्त्विति प्रतिषेधकारीणि 'अवियत्ते' त्ति नास्ति प्रीतिः साधुषु गृहमुपागतेषु येषां तान्यप्रीतिकानि एतानि कुलानि गीतार्थाः पर्यटन्तः सम्यग् जानन्ति उपाश्रयांश्च जानन्ति ।

कथमित्याह–

जेहिं कया उवस्सय–समणाणं कारणा वसहिहेउं ।
परिपुच्छिय सद्दोसा, परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ ६६१ ॥

इह श्रमणाः पञ्चधा, तद्यथा–शाक्याः, परिव्राजका, गेरुका आजीवकाः, निर्ग्रन्थाश्च । तेषामेव वा कारणात्; कारणमुद्दिश्येत्यर्थः । कारणमेव व्यनक्ति, वसतिः–अवस्थानं तद्धेतोस्तन्निमित्तं यैर्गृहिभिः कृता उपाश्रयास्तेषां समीपे भिक्षामटद्भिः परिपृच्छ्योपाश्रयं मूलोत्पत्तिं पर्यनुयुज्य सदोषाः सावद्या दोषदुष्टास्ते उपाश्रयाः प्रयत्नेन परिहर्त्तव्याः ।

तथा–

जेहिं कया उवस्सय–समणाणं कारणा वसहिहेउं ।
परिपुच्छिय निद्दोसा, परिभोत्तुं जे सुहं होइ ॥ ६६२ ॥

यैः कृता उपाश्रयाः श्रमणानां–निर्ग्रन्थवर्जानां शाक्यादीनां कारणाद्वसतिहेतोस्तान् परिपृच्छ्य निर्दोषाः—निरवद्यास्ते उपाश्रयाः परिभोक्तुं 'जे' इति निपातः पादपूरणे, सुखं भवति ; सुखेनैव संयमबाधामन्तरेण ते परिभुज्यन्त इत्यर्थः ।

जेहिँ कया पाहुडिया, समणाणं कारणा वसहिहेउं ।
परिपुच्छिय सद्दोसा, परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ ६६३ ॥

यैः कृता प्राभृतिका—उपाश्रयेषु उपलेपनधवलनादिका श्रमणानां—पञ्चानामपि साधूनामेव वा कारणाद्वसतिहेतोस्तान् परिपृच्छ्य सदोषाः उत्तरगुणैरशुद्धत्वात्, सावद्यास्ते उपाश्रयाः प्रयत्नेन परिहर्त्तव्याः—

जेहिँ कया पाहुडिया, समणाणं कारणा वसहिहेउं ।
परिपुच्छिय निद्दोसा, परिभोत्तुं जे सुहं होइ ॥ ६६४ ॥

यैः कृता प्राभृतिका श्रमणानां—साधुवर्जितानां तापसादीनां कारणाद् वसतिहेतोः तान् परिपृच्छ्य निर्दोषा इति मत्वा परिभोक्तुं 'जे' इति प्राग्वत् सुखं भवति—सुखेनैव परिभुज्यन्त इत्यर्थः ।

अथ कीदृशे स्थाने वसतिरन्वेषणीया ?, उच्यते–यावन्मात्रं वसितुमाक्रान्तं भवति तावन्मात्रं पूर्वाभिमुखवामपार्श्वोपविष्टवृषभाकारं बुद्ध्या परिकल्प्य प्रशस्तेषु स्थानेषु वसतिर्युज्यते । अथ कुत्रावयवस्थाने गृहाणामावसतिः किंफला भवति ?, इति उच्यते–

सिंगक्खोडे कलहो, ठाणं पुण नऽत्थि होइ चलणेसु ।
अहिठाणेँ पोट्टरोगो, पुच्छम्मि व फेडणं जाण ॥६६५॥
मुहमूलम्मि य चारी, सिरे अ ककुहे य पूअसक्कारो ।
खंधे पट्ठीइ भरो, पुट्टम्मि य धायओ वसहो ॥६६६॥

शृङ्गकखोडे-शृङ्गप्रदेशे यदि वसतिं करोति तदा निरन्तरं साधूनां कलहो भवति, स्थानमवस्थितिः पुनर्नास्ति चरणेषु गाढप्रदेशेषु अधिष्ठाने आपादप्रेशे 'पुट्टं' ति उदरं तस्य रोगो भवति, पुच्छे—पुच्छप्रदेशे स्फेटनमपनयनं वसतेर्जानीहि ॥६६५॥ मुखमूले यदि वसतिः तदा चारी भोजनसम्पत्तिः, प्रशस्ता, शिरसि शृङ्गयोर्मध्ये ककुदि च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वसतिकरणे पूजा च वस्त्रपात्रादिभिः सत्कारश्चाभ्युत्थानादिना साधूनां भवति। स्कन्धप्रदेशे पृष्ठदेशे च वसतौ सत्यां साधुभिरितस्तत आगच्छद्भिर्भरो भवति। पोट्टे—उदरप्रदेशे वसतौ गृह्यमाणायां धावतो—नित्यत्रस्तो वृषभो वृषभपरिकल्पनागृहीतवसतिनिवासी साधुजनो भवतीत्येवं परीक्षा प्रशस्तस्थानव्युदासेन प्रशस्तेषु स्थानेषु स्त्रीपशुपण्डकवर्जिता वसतिरन्वेषणीया।

तदन्वेषणे चाऽयं विधिः—

देउलिय अणुण्णवणा-ऽणुन्नविए तम्मि जं च पाउग्गं।
भोयणकाले किचिर,सागरसरिसा य आयरिया ॥६६७॥

देवकुलिका—यक्षादीनामायतनं तत्पार्श्ववर्त्तिनो वागताः, आह—किमर्थं देवकुलिकाया निबन्ध उच्यते, सा प्रायेण ग्रामादीनां बहिर्भवति.साधुभिश्चोत्सर्गतो बहिः स्थातव्यम्, देवकुलिका च विविक्तावकाशा भवति, अतः प्रथमतस्तस्या अनुज्ञापना कर्त्तव्या। अथ नाऽस्ति देवकुलिका बहिर्वा सप्रत्यपाया ततो ग्रामादेरन्तः प्रतिश्रयोऽन्विष्यते यस्तत्र प्रभुः सन्दिष्टो वासप्रायोग्यं वक्ष्यमाणमनुज्ञाप्यते अनुज्ञापिते सति तस्मिन् यच्च तेन प्रायोग्यमनुज्ञातं तस्य परिभोगः कार्यः। अथाऽसौ नानुजानीते प्रायोग्यं ततो भोजनदृष्टान्तः कर्त्तव्यः। तथा कियच्चिरं कालं भवन्तः स्थास्यन्तीति पृष्टे अभिधातव्यं यावत् भवतां गुरूणां प्रतिभासते,कियन्तो भवन्त इहावस्थास्यन्ते इति पृष्टे वक्तव्यं सागरः—समुद्रस्तत्सदृशा आचार्या भवन्तीति संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव व्याचिख्यासुः "अविदिन्ने परिभोगं,अणुन्नविए तम्मि" इति पदं विवृणोति—

जं जंतु अणुन्नायं, परिभोगं तस्स तस्स काहिंति।
अविदिन्ने परिभोगं, जइ काहिति तत्थिमा सोही॥६६८॥

यद्यत्तृणडगलादिकं शय्यातरेणानुज्ञातं तस्य परिभोगमभिरुचिते क्षेत्रे समायाताः सन्तः करिष्यन्ति, यदि पुनरवतीर्णे शय्यातरेणाऽननुज्ञाते द्रव्यक्षेत्राऽऽदौ परिभोगं कोऽपि करिष्यति तत्रेयं वक्ष्यमाणा शोधिः।

तामेवाऽऽह—

इक्कडकढिणे मासो, चाउम्मासो अ पीढफलएसु।
कट्ठकलिंचे पणगं, वारे तह मल्लगाईसु ॥ ६६६ ॥

कटमये-कठिनमये च संस्तारके अदत्ते गृह्यमाणे लघुमासाः-चत्वारो मासा लघवः, पीठफलकेषु तथा काष्ठनिम्बयोः क्षारमल्लकतृणडगलादिषु च पञ्चकम्, अतः प्रायोग्यमनुज्ञापनीयम्।

अथाऽसौ ब्रूयात् किं तत्प्रायोग्यं ?, ततो वक्तव्यम्—

दव्वे तणडगलाई, अच्छणभाणाइ धोवणे खित्ते।
काले उच्चाराई, भावे गिलाणाइसु कुरुवमा ॥ ६७० ॥

प्रायोग्यं चतुर्द्धा-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च। तत्र द्रव्यतः-तृणडगलानि, आदिशब्दात्-क्षारमल्लकादीनि च। क्षेत्रतः-'अच्छणं' ति स्वाध्यायादिहेतोः प्राङ्गणादिप्रदेशेऽवस्थानं भोजनानाम् आदिग्रहणादाचार्यादिसत्कमलिनवस्त्राणां धावनं-प्रक्षालनं प्रतिश्रयाद्बहिर्विधीयते कालतो रात्रौ दिवा वा अवेलायामुच्चारस्य प्रश्रवणस्य वा व्युत्सर्जनं भावतो ग्लानस्यापरस्य वा प्राघूर्णकादेर्निवातप्रवाताद्यवकाशस्थापनेन समाधिसम्पादनमित्युक्ते यदनुजानाति ततः सुन्दरम्। अथ ब्रूयात्—मया युष्मभ्यं वसतिरदत्ता अहमन्यं युष्मदीयं प्रायोग्यं न जानामि, ततो यः प्राग् भोजनदृष्टान्त उद्दिष्ट. स उपदिश्यते 'कुरुवमे' त्ति कूरो-भक्तं तस्योपमा यथा केनचित्कस्याऽपि पार्श्वे कूरः प्रार्थितस्तेन च दत्तः, ततस्तस्य स्नानासनभोजनादौ केनावगाहिमसूपनानाविधव्यञ्जनादीन्यपि दीयन्ते, एवं भवताऽपि वसतिं प्रयच्छता सर्वमपि प्रायोग्यं दत्तमेव भवति, परं तथाऽपि वयं भवन्तं भूयोऽपि तृतीयव्रतभावनामनुवर्त्तयन्तोऽनुज्ञापयामः। एवमुक्ते स सर्वमपि प्रायोग्यमनुजानीयात् ततो यत्र यदुच्चारादि व्युत्सर्जनमनुज्ञातं तत्तत्र विधेयम्।

यत आह—

उच्चारे पासवणे, अलाउनिल्लेवणे य अच्छणए।
करणं तु अणुन्नाए, अणणुन्नाए भवे लहुओ ॥६७१॥

उच्चारस्य प्रश्रवणस्य अलाबुनिर्लेपनस्य पात्रप्रक्षालनस्य 'अच्छणए' त्ति स्वाध्यायाद्यर्थमवस्थानस्य गाथायां षष्ठ्यर्थे सप्तमी, करणं—समाचरणं शय्यातरेणाऽनुज्ञाते प्रदेशे कर्त्तव्यम्। अथाऽननुज्ञाते अवकाशे उच्चारादिकं करोति। तदा लघुको मास इति। गतं भोजनद्वारम्।

अथ कियच्चिरं कालमिति द्वारं यदि शय्यातरः प्रश्नयति कियन्तं कालं यूयं स्थास्यथ ततो वक्तव्यम्—

जाव गुरूण य तुज्झ य, केवइया तत्थ सागरेणुवमा।
केवइ काले एहिह, सागर ठवेंति अन्नेऽवि ॥ ६७२ ॥

यावद् गुरूणां च युष्माकं प्रतिभाति तावदवस्थास्यामः परं निर्व्याघाते मासमेकं, व्याघाते तु हीनमधिकं वयमेकत्र तिष्ठामः। अथ मासमेव स्थास्याम इति निर्द्धारितं ततो मासलघु। अथाऽसौ प्रश्नयेत् कियन्तो यूयं तिष्ठथ ततो वक्तव्यम्-'सागरेणुवम' त्ति सागरः-समुद्रस्तेनोपमा यथा-समुद्रः कदाचित्प्रसरति, कदाचिच्चापसरति, एवमाचार्योऽपि कदाचिद्दीक्षामुपसम्पदं वा प्रतिपद्यमानैः साधुभिः परिवारितः प्रसर्पति कदाचित्तेष्वेवाऽन्यत्र गतेष्वपसर्पति, अत इयन्त इति संख्यां कर्त्तुं न शक्यते, यस्त्वेतावन्तो वयमिति निश्चितं ब्रूते तस्य मासलघु। अथासौ पृच्छति-कियता कालेन एष्यथ-आगमिष्यथ ततः साकारं सविकल्पं वचनं स्थापयन्ति; ब्रुवते इत्यर्थः, यथा अन्यक्षेत्रे प्रत्युपेक्षकाः अपरासु दिक्षु गताः सन्ति ततस्तैर्निवृत्ते यदा गुरूणां निकटे समेष्यति तदा व्याघाताभावे इयत्सु दिवसेसु, व्याघाते तु हीने अधिके वा काले वयमेष्याम इति यः पुनरियता कालेनागमिष्याम इति ब्रवीति तस्य मासलघु।

पुव्वुद्दिट्ठे दिज्जइ, अहव भणिज्जा भवंतु एवइआ।
तत्थ न कप्पइ वासो, असई खेत्तस्सऽणुन्नाओ ॥६७३॥

अथाऽसौ पूर्वदृष्टान् यैः प्राग्मासकल्पो वर्षावासो वा कृत आसीत् तानेवेच्छति नान्यान्, भणति वा ये साधवो मया दृष्टपूर्वास्तेषामहं शीलसमाचारं सर्वमपि जानामि अतस्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवंह समानंतव्या न शेषाः। अथवा-भणेत् ये वा त वा सा धवो भवन्तु परमेतावन्त एवात्र तिष्ठन्तु तत्र किं कर्त्तव्यमित्याह-तत्रैवं शय्यातरेण निर्द्धारिते सति न कल्पते वासो-न युज्यते तस्यां वसतावक्स्थातुमिति भावः। अथ नास्त्यपरं मासकल्पप्रायोग्यं क्षेत्रं तत इतरस्या वसतेरलाभे तस्यामेव वसतौ वासोऽनुज्ञातः।

तत्र च वसतौ यदि प्राघूर्णकः समागच्छति ततः को विधिः ?, इत्याह—

सक्कारो सम्माणो, भिक्खग्गहणं च होइ पाहुणए।
जइ वसइ जाणओ तहिँ, आवज्जइ मासियं लहुगं ।६७४।

सत्कारो-वन्दनाऽभ्युत्थानादिः सम्मानो-विश्रामणादिः भिक्षाग्रहणमुपविष्टस्य भिक्षाया आनयनम्, एतत्सर्वमपि प्राघूर्णके आगते सति कर्त्तव्यं, यदि वसतिर्येषां वा परिमितानां दत्ता तदा यावन्तः प्राघूर्णकाः समायाताः तावतो वास्तव्यानन्यत्र विसर्ज्य प्राघूर्णकाः स्थाप्यन्ते। अथ नामग्राहं गृहीत्वा नियमितानामेव साधूनां सा दत्ता ततः प्राघूर्णकस्य वसतिस्वरूपं निवेद्यते, निवेदिते च यदि कोऽपि वसतिस्वरूपं जानानोऽपि तत्र वसति तदा आपद्यते मासिकं लघुकम्।

ततः—

किइकम्मे भिक्खगहणे,कयम्मि जाणाविओ तहिं वसई।
हियनट्ठेसुं संका—सुण्हा उब्भामतोच्छेदो ॥ ६७५ ॥

कृतिकर्मणि-विश्रामणादौ भिक्षाग्रहणे च कृते सति वसतिस्वरूपं ज्ञापितः सन् रात्रौ बहिर्वसति। यदि ज्ञापितोऽपि सन् बहिर्न व्रजति तदा सागारिकस्य केनचिच्चौराऽऽदिना हृते—नष्टे च एवमेवादृश्यमाने कस्मिँश्चिद्वस्तुनि शङ्का भवेत्, नूनं यदद्यामुकं वस्तु न दृश्यते, तदेतेषां यः प्राघूर्णको रात्रावुषित्वा प्रातर्गतः तेन हृतं भविष्यति, स्नुषा वा वधू रात्रावुद्भ्रामकेन सह गता भवेत्, तत्रापि यदि प्राघूर्णकस्य शङ्कां सागारिकः करोति तदा तद्द्रव्यान्यद्रव्याणां व्यवच्छेदो भवेत्।

एवं वसतौ लब्धायां किं विधेयमित्याह—

पडिलेहियं च खेत्तं, थंडिलपडिलेहऽमंगले पुच्छा।
गामस्स व नगरस्स व, मसाणकरणं पढमवत्थुं ॥६७६॥

यदा क्षेत्रं सम्यक् प्रत्युपेक्षितं भवति तदा महास्थण्डिलं-शवपरिष्ठापनभूमिलक्षणं प्रत्युपेक्षणीयम्, अमङ्गलेषु पृच्छति, भगवन्तो ! यूयं तिष्ठन्त एव किमेवम् ?, अमङ्गलं-कुरूपं, सूरिराह-ग्रामस्य वा नगरस्य वा 'मसाणकरणं' ति श्मशानस्थापनायोग्यं प्रथममाद्यं वास्तु प्रत्युपेक्षेत इति वाक्यशेषः। इयमत्र भावना-ग्रामनगरादीनां तत्प्रथमतया निवेश्यमानानां वा वास्तुविद्याऽनुसारेण प्रथमं श्मशानवास्तु निरूप्य ततः शेषाणि देवकुलसभासौधादिवास्तूनि निरूप्यन्त, लोके तथा दृष्टत्वात्। न च तदमाङ्गलिकम्, एवमत्राऽपि महास्थण्डिलं प्रथमं प्रत्युपेक्षमाणमस्माकं न अमाङ्गलिकं भवतीति।

तच्च कस्यां दिशि प्रत्युपेक्षणीयम् ?। उच्यते—

दिसा अवरदक्खिणया,अवरा वा दक्खिणा य पुव्वा वा।
अवरुत्तरा य पुव्वा, उत्तरपुव्वुत्तरा चेव ॥ ६७७ ॥
पउरन्नपाणपढमा, बितियाए भत्तपाण न लभंति।
ततियाएँ उवहिमादी,चउत्थिँ सज्झायँ न करेंति॥६७८॥
पंचमिआएऽसंखड, छट्ठीएँ गणस्स भेदणं जाण।
सत्तमिए गेलन्नं, मरणं पुण अट्ठमीए उ ॥ ६७९ ॥

प्रथमतो महास्थण्डिलप्रत्युपेक्षणविषया अपरदक्षिणविषया अपरदक्षिणा दिक्। अथ तस्यां नदीक्षेत्र 'अट्ठमीए उ' प्रथमा अपरदक्षिणा दिक् प्रचुरान्नपाना भवति; तस्यां प्रत्युपेक्षमाणायां प्रचुरमन्नपानं प्राप्यत इत्यर्थः, यदि तस्यां सत्यां द्वितीयां दक्षिणां प्रत्युपेक्षन्ते तेन भक्तपानं न लभन्ते। अथ प्रथमायां कोऽपि व्याघातस्ततो द्वितीयामपि प्रत्युपेक्षमाणाः शुद्धाः। एवमुत्तरास्वपि दिक्षु भावनीयम्। तथा तृतीयस्याम् 'उवहिमाइ' त्ति उपधिर्वस्त्रपात्रादिकः स्तेनैरपह्रियते तस्मिंश्चापहृते तृणग्रहणाग्निसेवनादयो दोषाः; चतुर्थ्यां स्वाध्यायं न कुर्वन्ति—स्वाध्यायः कर्त्तव्यो न भवतीत्यर्थः, पञ्चम्यामसंखडं—कलहः साधूनां भवति, षष्ठ्यां गणस्य—गच्छस्य भेदनं-द्वैधीभवनं जानीहि, सप्तम्यां ग्लानं—ग्लानत्वं साधूनां जनयति, अष्टम्यां पुनर्मरणमपरस्य साधोरुपजायते।

अमुमेव गाथाद्वयोक्तमर्थमेकगाथया प्रतिपादयति—

समाही य भत्तपाणे, उवगरणे तुमंतुमा य कलहो उ।
भेदो गेलन्नं वा, चरिमा पुण कड्ढते अन्नं ॥६८०॥

प्रथमायां भक्तपानलाभेन साधूनां समाधिः-रुचिर्भवति, द्वितीयायां भक्तपानं न लभन्ते, तृतीयायामुपकरणमपह्रियते, चतुर्थ्याम् एकः साधुरपरं भणति त्वमेवमपराधं कृतवान्, अपरो ब्रूते न ममापराधः त्वमेवेदं विनाशितवानित्येवं तुमंतुमा भवति, तस्याः करणेन स्वाध्यायो न भवतीति भावः। पञ्चम्यां कलहो-भण्डनं, षष्ठ्यां भेदो-गच्छस्य द्वैधीभावः, सप्तम्यां ग्लानत्वम्, चरमा-अष्टमी पुनरन्यं साधुं कर्षति-पञ्चत्वं प्रापयतीत्यर्थः।

एक्किक्कम्मि तु ठाणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया।
आणाइणो य दोसा, विराहणा जा जहिं भणिया॥६८१॥

एकैकस्मिन् स्थाने यथोक्तक्रममन्तरेण दक्षिणादीनां दिशां प्रत्युपेक्षणे चत्वारो मासा अनुद्घाताः प्रायश्चित्तं भवति। आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना—भक्तपानलाभापधिहरणादिका या यत्र भणिता सा तत्र द्रष्टव्या।

एतेन विधिना यदा क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं भवति तदा किमपरं भवतीत्याह—

पडिलेहियं च खित्तं, अह य अहालंदियाण आगमणं।
नऽत्थि उवस्सयवालो, सव्वेहि वि होइ गंतव्वं ॥ ६८२ ॥

एकतो गच्छवासिभिः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं भवति, अथान्तरे यथालन्दिकानामागमनं भवति, ते हि सूत्रार्थपौरुष्या वा हापयन्तस्तृतीयपौरुष्यां विहारं कुर्वन्तो गच्छवासिभिः क्षेत्रे प्रत्युपेक्षिते समायान्ति, तेषां च नाऽस्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्र क्षेत्रस्थापनायोग्य उपाश्रयपालः जनद्वयस्यैवागमनादिति कृत्वा सर्वैरपि भवात गन्तव्यम्।

अथ ते यथालन्दिकाः कथं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षन्ते ?, उच्यते—

पुच्छित रुइयं खेत्तं, गच्छे पडिबद्ध बाहि पेहिंति।
जं तेसिं पाउग्गं, खित्तविभागे य पूरिंति ॥ ६८३ ॥

ये गच्छप्रतिबद्धा यथालन्दिकास्तैर्गच्छवासिनः पृष्टाः आर्या ! अभिरुचितं क्षेत्रं भवति ?, ततो गच्छवासिनः प्राहुः—अभिरुचितं, ततो यथालन्दिका गच्छवासिनः प्रत्युपेक्षितस्य क्षेत्रस्य 'बाहि' त्ति सक्रोशयोजनाद्बहिः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षन्ते, कथमित्याह-यत्तेषां यथालन्दिकानां प्रायोग्यं कल्पनीयमलेपकृतं भक्तपानं, परिकर्मरहिता च वसतिस्तदेव गृह्णन्ति, क्षेत्रविभागाश्च षड्वीथिरूपास्तानपि पूरयन्ति।

जं पि न वच्चंति दिसिं, तत्थ वि गच्छिल्लगासि पेहेंति।
पग्गहिय एसणाए, विगई लेवाडवज्जाई ॥६८४॥

यामपि दिशं यथालन्दिका न व्रजन्ति तत्राऽपि—तस्यामपि दिशि गच्छवासिनः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः तेषां यथालन्दिकानां योग्यं स्वप्रत्युपेक्षितक्षेत्रस्य सक्रोशयोजनाद्बहिः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षन्ते, कथमित्याह-प्रगृहीतया-साभिग्रहया तृतीयपौरुष्या उपरितनैषणया विकृतिलेपकृतवर्जे भक्तपाने गृह्णाति, घृतादिका विकृतीः तक्रतीमनादिकं द्राक्षापानादिकं वा लेपकृतं वर्जयन्तीत्यर्थः।

जइ तिन्नि सव्वगमणं, एहामु त्ति लहुओ य आणाई।
परिकम्मकुड्डकरणे, नीहरणं कट्ठमाईणं ॥ ६८५ ॥

यदि ते गच्छवासिनस्त्रयो जनास्ततः सर्वेषामपि गुरुसकाशे गमनं, ते गच्छन्तो यदि सागारिकेण पृच्छ्यन्ते—किं यूयमागमिष्यथ न वा ?, ततो यद्येष्याम-आगमिष्याम इति निर्वचनमर्पयन्ति ततो लघुको मासः, आज्ञादयश्च दोषाः। शय्यातरश्चिन्तयति-यद्येत एष्यन्ति प्रतिगतास्तत्र समागमिष्यन्तीति परिभाव्य परिकर्मेऽपि लेपनादिकं वसतेः कुर्यात्, कुड्यस्य वा जीर्णस्योपलक्षणत्वात्कपाटस्य वा करणं संस्थापनं विदध्यात्, काष्ठानामादिग्रहणात्—तृणानां धान्यस्य वा नीहरणं निष्काशनं कुर्यात्। यद्वा—तेषामाचार्याणामपरं किमपि क्षेत्रमभिरुचितं ततस्तत्र गताः।

तत्र च क्षेत्रे अपरे साधवः समायातास्ततः किमित्याह—

अद्धाणनिग्गयाई, असिवादिगिलाणओ य जो जत्थ।
णेहामो त्ति य लहुओ, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥६८६॥

अध्वा—विप्रकृष्टो मार्गस्तेन निर्गता—निष्क्रान्ता अशिवादिभिर्वा कारणैः प्रेरिताः परिश्रान्तास्ते साधवस्तत्रायाताः। तत्र चान्या वसतिर्नास्ति सा च प्राचीनसाधुप्रत्युपेक्षिता वसतिस्तैर्याचिता। सागारिको ब्रूते—मयेयमन्येषां साधूनां दत्ताऽस्ति तेऽप्येष्याम इति भणित्वा गताः सन्ति, अतो नाऽहं दातुमुत्सहे। एवं ते वसतिमलभमानाः श्वापदस्तेनकण्टकैः शीतेन वा प्रारभ्यमाणाः प्र-

तिगमनादीनि कुर्युर्ग्लानो वा यस्तेषां स विहारं कार्यमाणो यत्र यत्परितापनादिकं प्राप्नोति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। यतश्चैवमत एष्याम इति न वक्तव्यम्। न एष्याम इत्यपि वदतां मासलघु, तत्राऽप्याज्ञाऽऽदयो दोषाः।

अपरो वक्ति-

विक्कइअ विक्कएण वि, फेडणधन्नाइ छुभणमावासे।
नीणिंते अहिकरणं, विराहणा हाणि हिंडंते ॥ ६८७ ॥

नागमिष्यन्ति साधव इति कृत्वा विक्रीय विक्रयेण-भाटकेन दत्ता सा वसतिः, विक्रयेण वा दत्ता; विक्रीतेत्यर्थः, स्फेटनं वा वसतिकृतं धान्यस्य, आदिशब्दात्-भाण्डस्यान्यस्य वोपकरणजातस्य क्षेपणं तस्यां कृतम्। वद्धकचारणादयो वा तत्र शय्यातरेण वासिताः। तेषां च-आचार्याणां तदेव क्षेत्रमभिरुचितं ततः तत्रैव समागताः। स प्राह—युष्माकं साधुभिरिति कथितं—वयं नैष्यामः, ततो मयेयमन्येषां दत्ता, धान्यादिना वा भृता। ततो यथा भद्रकोऽसौ सागारिकस्तान् वद्धकादीन्निष्काशयति ततस्तेषु निष्काश्यमानेष्वधिकरणं प्रद्विष्टाः सागारिकस्य साधूनां वा करिष्यन्ति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। वसतिं विना हिण्डमानानाम्, इतस्ततः पर्यटतां या संयमादिविराधना या च सूत्रार्थयोः परिहाणिस्तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तम्। तस्मान्न वक्तव्यं नैष्याम इति।

किं पुनस्तर्हि वक्तव्यम् ?, उच्यते—

जह अम्हे तह अन्ने, गुरु जेट्ठमहाजणस्स अम्हे मो।
पुव्वभणिया उ दोसा, परिहरिया कुड्डमाईया ॥६८८॥

यथा वयमत्रागतास्तथा अन्येऽपि साधवस्तिसृषु दिक्षु गताः सन्ति, ततो न जानीमः कीदृशं क्षेत्रं तैः प्रत्युपेक्षितमस्ति, अस्माकं तावदिदं क्षेत्रमभिरुचितं परं गुरवश्चाचार्याः ज्येष्ठमहाजनाश्च-ज्येष्ठार्यसाधुसमुदायो गुरुर्ज्येष्ठमहाजनं तस्य वयं 'मो' इति पादपूरणे, परतन्त्रा वर्त्तामहे इति वाक्यशेषः। ततस्तत्र गतानां गुरूणां ज्येष्ठार्याणां वा यद्विचारे समेष्यति तद्विधास्यामः; एव ब्रुवाणैः पूर्वभणिताः कुड्यकरणादयो दोषाः परिहृताः।

इत्थमुक्त्वा सागारिकमापृच्छ्य, ते किं कुर्वन्तीत्याह—

जइ पंच तिन्नि चत्ता-रि छस्सु सत्तसु पंच अच्छंति।
चोदक पुच्छा सज्झा-य करणवच्चंत अच्छंते ॥६८९॥

यदि ते पञ्च जनास्ततस्त्रयस्तत्रैवासते, द्वौ गुरुसकाशं गच्छतः, अथ षट् जनास्ततश्चत्वारस्तिष्ठन्ति द्वौ गुरूणामभ्यर्णं व्रजतः, अथ सप्त जनास्ततः पञ्च तत्रैवासते द्वौ गुरूणामुपकण्ठं गच्छतः, यदि च-ऋजुः पन्थाः सव्याघातस्ततोऽपरं पन्थानं प्रत्युपेक्षन्ते। नोदकः पृच्छति—ये च गुरुसकाशं व्रजन्ति ये च तत्र उपाश्रये आसते ते उभये अपि किं स्वाध्यायं कुर्वते न वा ?।

उच्यते-

वच्चंत करण अच्छंत अकरण लहुओ मासो गुरुओ य।
जावइ कालं गुरुणो, न इंति सव्वं अकरणाए ॥६९०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये तावत् व्रजन्ति ते यदि सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति ततो मासलघु, अर्थपौरुषीं कुर्वन्ति मासगुरु । ये तूपाश्रये तिष्ठन्ति तेषां सूत्रपौरुष्या अकरणे लघुको मासः, अर्थपौरुष्या अकरणे गुरुको मासः । यावत्कालं गुरूणां समीपं न यान्ति-न प्राप्नुवन्ति तावत् ' सव्वं अकरणाए ' त्ति सर्वमपि सूत्रमर्थं च न कुर्वन्ति ।

इदमेव सविशेषमाह—

जइ वि अणंतरखेत्तं, गया तह वि अगुणयंतगा एंति ।
नितियाईमागच्छे, इतरत्थ य सिज्जवाघाओ ॥ ६६१ ॥

यद्यप्यनन्तरमव्यवहितमेव क्षेत्रगतास्ते ततोऽप्यगुणयन्तः सूत्रार्थवक्तव्यताम् आयान्ति, कुत इत्याह—नित्यवासादयो दोषा गच्छस्य मा भूवन्, इतरत्र च प्रत्युपेक्षिते क्षेत्रे चिरकालं विलम्ब्यागच्छन्तं शय्याया उपाश्रयस्य व्याघातो मा भूत् ।

यत एवमतोऽगुणयन्तः समागम्य ते इदं कुर्वन्ति—

ते पत्त गुरुसगासं, आलोएंती जहक्कमं सव्वे ।
चिंता वीमंसा वा, आयरियाणं समुप्पन्ना ॥ ६६२ ॥

ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षका प्राप्ताः सन्तो गुरुसकाशमालोचयन्ति यथाक्रमं सर्वेऽपि क्षेत्रस्वरूपम् , ततस्तेषामालोचनां श्रुत्वा चिन्ता—कस्यां दिशि व्रजाम इत्येवं लक्षणा मीमांसा च शिष्याभिप्रायविचारणा आचार्याणां समुत्पन्ना ।

अथैनामेव गाथां भावयति--

गंतूण गुरुसगासं, आलोएत्ता कहिंति खेत्तगुणे ।
न य सेंस कहणमाणो-ऽज संखडं रत्ति साहंति ॥६६३॥

गत्वा गुरूणां सकाशमालोच्य गमनागमनातिचारं कथयन्ति क्षेत्रगुणान्, ते चाचार्यान् विमुच्य, न च--नैव शेषाणां साधूनां कथयन्ति । कुत इत्याह-मा भूदसंखडं स्वस्वक्षेत्रपक्षपातसमुत्थम्, यद्यन्येषां कथयन्ति तदा मासलघु, तस्माद्रात्रौ 'साहन्ति' त्ति कथयन्ति । कथमिति चेत् ? उच्यते-आचार्या आवश्यकं समाप्य मिलितेषु सर्वेष्वपि साधुषु पृच्छन्ति, आर्याः ! आलोचयत कीदृशानि क्षेत्राणि ?, तत उत्थाय गुरूनभिवन्द्य बद्धाञ्जलयो यथाज्येष्ठमालोचयन्ति ।

पढमाएँ नऽत्थि पढमा, तत्थ य घयखीरकूरदधिमाई ।
बिइएऽवि य तइयाए,दो अवि तेसिं च धुवलंभो ॥६६४॥
ओभासिय धुवलंभो, पाउग्गाणं चउत्थिए नियमा ।
इहरा वि जहिच्छाए, तिकालजोगं च सव्वेसिं ॥६६५॥

प्रथमायां पूर्वस्यां दिशि यदस्माभिः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं तत्र प्रथमा--सूत्रपौरुषी नास्ति, तस्यामेव भिक्षाटनवेलासम्भवात् ; परं तत्र क्षेत्रे च क्षीरकूरदध्यादीनि प्रकामं प्राप्यन्ते । द्वितीयाः क्षेत्रप्रत्युपेक्षका ब्रुवते--द्वितीयस्यां दिशि द्वितीया अर्थपौरुषी नास्ति, तस्यामेव भिक्षाटनवेलाभावात् घृतदुग्धदध्यादीनि तु तथैव लभ्यन्ते । तृतीया ब्रुवते--तृतीयस्यां दिशि द्वे अपि सूत्रार्थपौरुष्यौ विद्येते, मध्याह्ने भिक्षालाभसद्भावात् तेषां च घृतदुग्धादीनां ध्रुवो निश्चितो लाभ इति । तथा चतुर्थाः पुनरित्थमाहुः--अस्मत्प्रत्युपेक्षितायां चतुर्थ्यां दिशि प्रायोग्यानामवभाषितानां ध्रुवोऽवश्यंभावी लाभः इतरथाऽप्यवभाषणमन्तरेणाऽपि यदृच्छया प्रकामं त्रिकालं पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णलक्षणे कालत्रये सर्वेषामपि बालवृद्धानां योग्यं सामान्यं भक्तपानं प्राप्यते । इत्थं सर्वैरपि स्वस्वक्षेत्रस्वरूपे निवेदिते सत्याचार्याश्चिन्तयन्ति कस्यां दिशि गन्तुं युज्यते ।

ततः स्वयमेवाद्यानां तिसृणां दिशां सूत्रार्थहान्यादिदोषजालं परिभाव्य चतुर्थीं दिशमनन्तरोक्तदोषरहितत्वेन गन्तव्यतया विनिश्चित्य किं कुर्वन्ति ?, इत्याह—

इच्छागहणं गुरुणो, कहिं वयामो त्ति तत्थ ओदरिया ।
खुहिया भणंति पढमं,तं चिय अणुओगतत्तिल्ला॥६६६॥
बिइयं सुत्तग्गाही, उभयग्गाही य तइयगं खित्तं ।
आयरिओ उ चउत्थं,सो य पमाणं हवइ तत्थ ॥६६७॥

गुरोः-आचार्यस्य इच्छाग्रहणं शिष्याणामभिप्रायपरीक्षणं भवति, आर्याः ! कथयत-कुत्र कस्यां दिशि व्रजाम ?, इति । ततो ये औदरिकाः स्वोदरभरणैकचित्तास्ते क्षुभिताः संभ्रान्ताः सन्तो भणन्ति-प्रथमां दिशं व्रजामो यत्र प्रथमपौरुष्यामेव प्रकामं भोजनमवाप्यते; तामेव दिशम् 'अणुओगतत्तिल्ल' त्ति अनुयोगग्रहणैकनिष्ठाः शिष्याः आगच्छन्ति-तिष्ठन्ति येन द्वितीयपौरुष्यां निर्व्याघातमर्थग्रहणं भवति ये तु सूत्रग्राहिणस्ते भणन्ति-द्वितीयां दिशं गच्छामः । यत्र न सूत्रपौरुषीव्याघात इति, ये तूभयग्राहिणस्ते तृतीयदिग्वर्तिक्षेत्रमिच्छन्ति । तत्र हि द्वयोरप्याद्यपौरुष्योर्निर्व्याघात सूत्रार्थग्रहणे भवतः । आचार्यास्तु चतुर्थं क्षेत्रं गन्तुमिच्छन्ति । यतस्तत्र त्रिष्वपि कालेषु बालवृद्धाद्यर्थं , सामान्यभक्तं प्राघूर्णकाद्यर्थं नावभाषितमिति दुग्धादि प्रायोग्यं च प्राप्यते, न च कोऽपि सूत्रार्थयोर्व्याघात इति स एव चाचार्यस्तत्र तेषां मध्ये प्रमाणं भवति ।

आह—किं पुनः कारणं येनाचार्याश्चतुर्थक्षेत्रमिच्छन्तीत्यत आह—

मोहुब्भओ उ बलिए, दुब्बलदेहो न साहए अत्थं ।
तो मज्झबला साहू,दुट्ठऽस्सो होइ दिट्ठंतो ॥ ६६८ ॥

प्रथमद्वितीयतृतीयेषु क्षेत्रेषु प्रचुरस्निग्धमधुराहारप्राप्तेः शरीरेण बलवान् भवति, बलवतश्चावश्यंभावी मोहोद्भवः । एवं तर्हि यत्र भिक्षा न लभ्यते तत्र गत्वा बुभुक्षाक्षामकुक्षयस्तिष्ठन्तु. नैव दुर्बलदेहः साधु साधयत्यर्थं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं यत एवं ततो मध्यमबला-नातिबलवन्तो न चातिदुर्बलाः साधव इष्यन्ते । दुष्टाश्वो भवत्यत्र दृष्टान्तः. दुष्टाश्वो गर्दभः, स यथा प्रचुरभक्षणाद्दुर्जयः सन्नुत्प्लुत्य कुम्भकारारोपितानि भाण्डानि भिनत्ति भूयस्तेनैव कुम्भकारेण निरुद्धाऽऽहारः सन् भाण्डानि वोढुं न शक्नोति । स एव च गर्दभो विमध्यमाहारक्रियया प्रतिचर्यमाणः सम्यग् भाण्डानि वहति । एवं साधवोऽपि यदि स्निग्धमधुराभ्यवहारतः शरीरोपचयभाजो भवन्ति तत उत्पन्नदुर्निवारमोहोद्रेकतया संयमयोगान् बलादुपमर्दयुः,आहाराभावे चातिक्षामवपुषः संयमयोगान् वोढुं न शक्नुयुः । मध्यमबलोपेतास्तु व्यपगतौत्सुक्या अनुद्विग्नपरिणामाः सुखेनैव संयमयोगान् वहन्तीति मत्वा क्षेत्रत्रयं परिहृत्याचार्याश्चतुर्थं क्षेत्रं व्रजन्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किंच—

पणपण्णगस्स हाणी, आरेणं जेण तेण वा धरई ।
जइ तरुणा नीरोगा, वच्चंति चउत्थगं ताहे ॥ ६९९ ॥

पञ्चपञ्चाशद्वार्षिकस्य मानुषस्य विशिष्टाहारमन्तरेण हानिः-बलपरिहाणिर्भवति । पञ्चपञ्चाशतो वर्षेभ्यः आरात् वर्त्तमानो येन वा तेन वा आहारेण ध्रियते निर्वहति । ततो यदि ते साधवः करुणास्तथा नीरोगास्ततश्चतुर्थमेव क्षेत्रं व्रजन्ति, न शेषाणि ।

जइ पुण जुण्णा थेरा, रोगविमुक्का य साहुणो तरुणा ।
ते अणुकूलं खित्तं, पेसिंति न याऽवि खग्गूढे ॥ ७०० ॥

यदि पुनर्जीर्णाः पञ्चपञ्चाशद्वार्षिकादय इति भावः, के ते स्थविरा-वृद्धाः, तथा तरुणा अपि ये रोगेण ज्वरादिना मुक्तमात्रा अत एव क्षुधाऽसहिष्णवो न यदपि तदप्याहारजातं परिणमयितुं समर्थास्तानेवंविधांस्तु स्थविरतरुणाननुकूलं प्रायोग्यलाभसंभवेन हितं क्षेत्रं-प्रथमक्षेत्रादिकं गीतार्थमेकं ससहायं समर्थाः प्रेषयन्ति, ये न चाऽपि—नैव खग्गूढा—अलसाः । स्निग्धमधुराद्याहारलम्पटाः खग्गूढा उच्यन्ते ।

आह-कियता पुनः कालेन ते वृद्धादयश्च पुष्टिं गृह्णन्ति ।
उच्यते—पञ्चभिर्दिवसैः । तथा च वैद्यकशास्त्रार्थसूचिकामेतदर्थविषयामेव गाथामाह—

एगपणगऽद्धमासं, सद्धीसु य मणुयगोणहत्थीणं ।
राइंदिएहि उ बलं--पणगं तो एक दो तिन्नि ॥ ७०१ ॥

क्षीणशरीरस्य शुनः-पोष्यमाणस्यैकेन रात्रिन्दिवेन बलमुपजायते,एवं मनुष्यस्य रात्रिंदिवपञ्चकेन गोवलीवर्दस्यार्द्धमासेन हस्तिनस्तु क्षीणवपुषः पुष्टिमारोप्यमाणस्य षष्ट्या दिवसैर्बलमुद्भवति । ततः एते वृद्धादयः प्रथमक्षेत्रे प्रोष्यमाणाः पञ्चकमेकं रात्रिंदिवानां व्यवस्थाप्यन्ते, ततश्चतुर्थक्षेत्रे नीयन्ते । अथ पञ्चकेनामी न बलं गृहीतवन्तः ततः द्वे पञ्चके तथाऽपि बलमगृह्णानाः त्रीणि पञ्चकानि व्यवस्थाप्य चतुर्थक्षेत्रे नेतव्याः ।

एवं ते चतुर्थक्षेत्रगमनं निर्णीय शय्यातरमापृच्छ्य क्षेत्रान्तरं संक्रामन्ति । तद्विषयं विधिमभिधित्सुराह—

सागारिय आपुच्छण, पाहुडिया जह य वज्जिता होइ ।
के वच्चंते पुरओ, भिक्खुणो उदाहु आयरिया ॥ ७०२ ॥

क्षेत्रान्तरं संक्रामद्भिः सागारिकस्याऽऽप्रच्छनं कर्त्तव्यं, यथा च प्राभृतिका हरितच्छेदाद्यधिकरणरूपा वर्जिता भवति तथा विधिना आप्रच्छनीयं, तथा गच्छतां के पुरतो व्रजन्ति, किं भिक्षवः उताहो आचार्या इति निर्वचनीयम् । एष द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुराह—

सागारिअणापुच्छण, लहुओ मासो उ होइ नायव्वो ।
आणाइणो य दोसा, विराहणा इमेहिँ ठाणेहिं ॥ ७०३ ॥

सागारिकमनापृच्छ्य यदि गच्छन्ति तदा लघुको मासः प्रायश्चित्तं भवति-ज्ञातव्यः । आज्ञादयश्च दोषा विराधना वा मातृस्थाने प्रवचनादेर्भवति ।

तान्येवाह—

सागारिऽपुच्छगमणं-म्मि बाहिरा मिच्छगमणकयनासी ।
गिहिसाहू अभिधारण, तेणगसंका य जं चऽन्नं ॥ ७०४ ॥

सागारिकमनापृच्छ्य यदि गच्छन्ति ततः सागारिकश्चिन्तयेत्, 'बाहिर' त्ति बाह्या लोकधर्मस्यामी भिक्षवः । यतः—
"आपुच्छिऊण गम्मइ, कुलं च सीलं च माणिओ होइ ।
अभिजाओ त्ति अ भन्नइ, सोऽवि जणो माणिओ होइ ॥ १ ॥"
एष लोकधर्मः । तथा-' मिच्छगमण ' त्ति ये लोकधर्ममपि प्रत्यक्षदृष्टं नावबुद्ध्यन्ते ते कथमतीन्द्रियमदृष्टं धर्ममवभोत्स्यन्ते, इति सागारिको मिथ्यात्वं गच्छेत् । तथा कृतनाशिनः कृतघ्ना एते एकरात्रमपि हि यस्य गेहे स्थीयते तमनापृच्छ्य गच्छतां भवत्यौचित्यपरिहाणिः किं पुनरमीषामियन्ति दिनानि मम गृहे स्थित्वा युक्तं मामनापृच्छ्य गन्तुमिति । तथा अन्यस्य प्रातिवेश्मिकस्य, अपिशब्दात्-सागारिकस्य वा हृते नष्टे वा कस्मिंश्चिद्वस्तुनि स्तेनकशङ्का भवेत्, यदमी साधवोऽनापृच्छ्य गतास्तन्नूनमभिरेव स्तेनितं तद् द्रव्यमिति । 'जं चऽन्नं ' ति यच्चान्यद्दर्शितव्यवच्छेदादि भवति तदपि द्रष्टव्यम् ।

तदेवाऽऽह—

वसहीए वोच्छेदो, अभिधारिंताण वाऽवि साहूणं ।
पव्वज्जाभिमुहाणं, तेणेहि व संकणा होज्जा ॥ ७०५ ॥

विप्रलम्भितास्तावदमीभिरेकवारम् अत ऊर्ध्वं ये केचित् संयता इति नामाद्वहन्ते तेभ्यो वसतिं न प्रदास्यामीत्येवं वसतेर्व्यवच्छेदो भवेत्, अभिधारयन्तो नाम ये साधवस्तमाचार्यं मनसि कृत्वोपसम्पदं प्रतिपत्स्यर्थं समायातास्ते सागारिकं प्रश्नयन्ति-आचार्याः कस्मिन् क्षेत्रे विहृतवन्तः ?, सागारिक आह-यः कथयित्वा व्रजति स ज्ञायते, यथा अमुकत्र गत इति । ये तु प्रथमत एव तावद्गच्छन्ति ते कथं ज्ञायन्ते ततस्तेषामभिधारयतां साधूनामहो लोकव्यवहारबहिर्मुखा अमी आचार्याः को नाममीषामुपकण्ठे उपसम्पत्स्यते इति कृत्वा स्वगच्छे गणान्तरे वा गमनं भवेत् । स चाचार्यस्तेषां श्रुतवाचनादिजन्याया निर्जराया अनाभोगी भवति प्रव्रज्याभिमुखानां वा ' तेणेहिं ' ति स्तेनविषया शङ्का भवेत् । किमुक्तं भवति-केचिदगारिणः संसारप्रपञ्चविरक्तचेतसस्तदन्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपित्सवः समायाताः, सागारिकं पृच्छन्ति, क गता आचार्याः ?, स प्राह-वयं न जानीमस्तत्स्वरूपमिति । ततस्तेषां शङ्का जायते--यथा--नूनं किमपि सागारिकस्य चोरयित्वा गतास्ते, अन्यथा किमर्थमेष परिस्फुटमाचार्याणां गमनवृत्तान्तं न निवेदयतीति । ततश्च ते प्रव्रज्यामप्रतिपद्यमाना यत्पण्णां जीवनिकायानां विराधनां कुर्वन्ति । यथा छोटिकानिह्नवादिषु व्रजन्ति, अपरानपि प्रव्रजतो विपरिणामयन्ति, तन्निष्पन्नमाचार्याणां प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः सागारिकमापृच्छ्य गन्तव्यं सा च पृच्छा द्विविधा-विधिपृच्छा, अविधिपृच्छा च ।

तत्राविधिपृच्छामभिधित्सुः प्रायश्चित्तं तावदाह-

अविहीपुच्छणे लहुओ, तेसिं मासो उ दोस आणाई ।
मिच्छत्त पुव्वभणिए, विराहण इमेहिँ ठाणेहिं ॥ ७०६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविधिप्रच्छने तेषामाचार्याणां लघुको मासो, दोषाश्चाज्ञादयः, तथा मिथ्यात्वं पूर्वभणितं प्रागुक्तमेव मन्तव्यम् । विराधना एभिः स्थानैर्भवति ।

तान्येवाह—

सहसा दट्टुं उग्गा–हिएण सिज्जायरी उ रोविज्जा ।
सागारियस्स संका, कलहे य सइज्झि खिंसणया ॥७०७॥

अविधिपृच्छा नाम—वस्त्रपात्राद्युपकरणं विहारार्थमुद्ग्राह्य पृच्छन्ति–वयमिदानीं विहारं कुर्महे, ततः सहसा–अकस्मादुद्ग्राहितं चोपकरणं प्रस्थितान् दृष्ट्वा शय्यातरी रुद्यात्, तत् दृष्ट्वा सागारिकस्य शङ्का भवेत्, मयि प्रवसति कदाचिदप्यस्या अक्षिणी अश्रुपातं न कुरुतः, अमीषु तु प्रस्थितेष्वित्थमश्रूणि मुञ्चतः, ततो भवितव्यं कारणेनेति मिथ्यात्वं गच्छेत्, तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदादयश्च दोषाः । तथा 'सइज्झि' त्ति प्रातिवेश्मिकी रुदतीं शय्यातरीं दृष्ट्वा पश्चात्कलहे समुत्पन्ने खिंसनां कुर्यात्, किमन्यद्भवदीयं दुश्चरितमुद्घीर्यते येन तदानीमाचार्येषु विहारं कर्त्तुमुद्यतेषु भवत्या रुदितम् । किं वा–आचार्यस्ते पिता भवति येन रोदिषीति । अथानागतमेव पृच्छन्ति वयममुकदिवसे गमिष्यामः तत्राऽप्यमी दोषाः–

हरियच्छेअणछप्पइ–यधेवणं किच्चणं च पोताणं ।
गमणं च अमुगदिवसे, संखडिकरणं विरूवं च ॥७०८॥

ते शय्यातरमनुष्या अन्येद्युः साधवो गमिष्यन्तीति कृत्वा क्षेत्रादौ न गच्छन्ति, ततो यानि ततः महान्ति तानि धर्मं शृणुयुः, चेटरूपाणि स्नुषाश्च पुरोहडादिषु हरितच्छेदनं, यद्वा–परस्परं षट्पदिकानां 'धेवणं' उपमर्दनं 'किच्चणं' ति कर्त्तनं वा विदध्युः । पोतानि–वस्त्राणि तेषां प्रक्षालनं कुर्वीरन् । यद्वा–अमुकदिवसे गमनं करिष्याम इत्युक्ते संयतार्थं संखड्याः करणं भवेत्, तत्र यदि गृह्णन्ति तदाऽऽधाकर्मादयो दोषाः अगृह्णतां तु प्रद्वेषगमनादयः । 'विरूवं' ति विरूपमनेकप्रकारं कुड्यधवलनादिकमपरमप्यधिकरणं कुर्युः । यत एते दोषाः अतोऽविधिपृच्छा न विधेया ।

कः पुनः पृच्छायां विधिरित्याह–

जत्तो पाए खेत्तं, गयाउ पडिलेहगा ततो पाए ।
सागारियस्स भावं, तणुइंति गुरू इमेहिं तु ॥७०९॥

यतः प्रगे–यतो दिनादारभ्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षका गताः, ततः प्रगे ततः प्रभृति सागारिकस्य भावं प्रतिबन्धं तनूकुर्वन्ति तनुं प्रापयन्ति गुरव आचार्या एभिर्वचनैः ।

तान्येवाह–

उच्छू वोलिंति वइं, तुंबीओ जायपुत्तभंडाओ ।
वसहा जायच्छामा–गामा पम्माणचिक्खल्ला ॥७१०॥
अप्पोदगा य मग्गा, वसुहा वि य पक्कमट्टिया जाया ।
अण्णेहि छुण्णपंथा, विहरणकालो सुविहियाणं ॥७११॥

इह पूर्वं शरदादिभिर्विहारो भवतीत्युक्तम्, अतः शरत्कालमेवाङ्गीकृत्याऽभिधीयते–इक्षवो वोलयन्ति–व्यतिक्रामन्ति वृत्तिं–स्वपरिक्षेपरूपां, तुम्ब्यश्च जातपुत्रभाण्डाः समुत्पन्नतुम्बकास्तथा वृषभा जातच्छामनग्रामाः प्रम्लानचिक्खल्ला अल्पोदकाश्च मार्गाः वसुधाऽपि च पक्वमृत्तिका जाता । अन्यैः पथिकादिभिरुत्क्रान्ताः क्षुण्णाः पन्थानः सम्प्रति वर्त्तन्ते, अतो विहरणकालः सुविहितानाम्, एतद्गाथाद्वयं शय्यातरस्य शृण्वतो गुरवश्चङ्क्रमणं कुर्वन्तः पठन्ति, ततः शय्यातरो ब्रूयात्–भगवन्! किमिदानीं यूयं गमनोत्सुकाः? गुरवः प्राहुः–बाढं गन्तुकामा वयं प्रेषिताश्चाऽस्माभिः क्षेत्रान्तरं प्रत्युपेक्षितुं साधवः, इत्थमन्तराऽन्तरा प्रज्ञाप्यमानानां शय्यातरमनुष्याणां व्यवच्छिद्यते स्नेहानुबन्धः ।

ततः—

आवासगकयनियमा, कल्लं गच्छामु तो उ आयरिया ।
सपरिजणं सागारियं, वाहेउं देंति अणुसट्ठिं ॥ ७१२ ॥

आवश्यकं प्रतिक्रमणं तदेवावश्यमनुष्ठेयत्वान्नियमः, स कृतो यैस्ते कृतावश्यकनियमाः । गाथायां प्राकृतत्वादावश्यकशब्दस्य पूर्वनिपातः 'कल्लं गच्छामु' त्ति "वर्त्तमानासन्ने वर्त्तमान" ति वचनात् कल्यं–प्रभाते गमिष्याम इति मत्वा तत आचार्याः सपरिजनं सकुटुम्बं सागारिकं व्याहृत्य ददति अनुशिष्टिं; धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

ततः—

पव्वज्ज सावओ वा, दंसणसड्ढो जहन्नओ वसहिं ।
जोगम्मि वट्टमाणे, अमुगं वेलं गमिस्सामो ॥ ७१३ ॥

स शय्यातरो धर्मकथां श्रुत्वा कदाचित्प्रव्रज्यां प्रतिपद्यते । अथ प्रव्रज्यां प्रतिपत्तुमशक्तस्ततः श्रावको भवति, देशविरतिं प्रतिपद्यते । अथ तामप्यङ्गीकर्त्तुमक्षमस्ततो दर्शनश्राद्धोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति । अथ दर्शनमप्युररीकर्त्तुं नोत्सहते ततो जघन्यतोऽवश्यतया वसतिं साधूनां यथा ददाति तथा प्रज्ञाप्यते । भूयोऽपि धर्मकथां समाप्याचार्या ब्रुवते–योऽसौ योगो गमनायास्मान् प्रेरयति तस्मिन् वर्त्तमाने सति 'अमुगं वेलं' ति सप्तम्यर्थे द्वितीया अमुकस्यां वेलायां गमिष्याम इत्थं विकालवेलायां कथयित्वा प्रत्युषसि व्रजन्ति ।

कथमित्याह—

तदुभयसुत्तं पडिले–हणा य उग्गयमणुग्गए वाऽवि ।
पडिच्छऽहिकरणतेणे, नट्ठे खग्गूडसंगारो ॥ ७१४ ॥

तदुभयं सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा व्रजन्ति । अथ दूरं क्षेत्रं गन्तव्यं ततः सूत्रपौरुषीं कृत्वा, अथ दूरतरं ततः पादोनप्रहरे पात्रप्रत्युपेक्षणं कृत्वा, अथ दूरतमं ततः उद्गतमात्रे सूर्ये. अथ दवीयान् मार्गो गन्तव्यः गच्छस्य तृषादिभिराक्रान्त उत्सूरं न शक्नोति गन्तुं ततोऽनुद्गते सूर्ये प्रचलन्ति 'पडिच्छ' त्ति निशि निर्गता उपाश्रयाद्बहिः परस्परं प्रतीक्षन्ते, अन्यथा ये पश्चान्निर्गच्छन्ति ते न जानन्ति केनाऽपि मार्गेण गताः साधवः ततो महता शब्देन अग्रेतनान् साधून् व्याहरेयुः, ततश्चाधिकरणमप्कायन्त्रवाहनवणिग्ग्रामान्तरगमनादि भवति 'तेणे नट्ठे' त्ति ते पाश्चात्यसाधवोऽग्रेतनानां नष्टाः स्फिटिताः सन्तः स्तेनकैरुपद्रूयेरन् अतः प्रतीक्षणायां 'खग्गूड' त्ति कश्चित्खग्गूढो–निद्रालुरुपलक्षणत्वात्कश्चिद्वा धर्मश्रद्धालुरिदं ब्रूते–न कल्पते साधूनां रात्रौ विहर्तुमिति 'संगारो' त्ति कयाऽपि सङ्केतः क्रियते त्वया अमुकत्राऽऽगन्तव्यमिति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथाऽस्या एव गाथायाः कानिचित् पदानि विवृणोति—

पडिलेहंते वि य विं-टिया उ काउं कुणंति सज्झायं।
चरिमा उग्गाहेउं, सोच्चा मज्झाहि वच्चंति ॥७१५॥

ते साधवः प्रभाते प्रत्युपेक्षमाणा एव वस्त्राणि विण्टिकां कुर्वन्ति, विण्टिकां कृत्वा स्वाध्यायं कुर्वन्ति, तावद्यावच्चरमा-पादोनपौरुषी। ततः पात्रकाणि प्रत्युपेक्षणापूर्वमुद्ग्राह्य ग्रन्थिदानादिना सज्जीकृत्य ततोऽर्थं श्रुत्वा मध्याह्ने प्रहरद्वयं समाप्य व्रजन्ति।

कथमित्याह—

तिहिकरणम्मि पसत्थे, णक्खत्ते अहिवईण अणुकूले।
घित्तूण णिंति वसभा, अक्खे सउणे परिक्खंता ॥७१६॥

तिथिश्च-नन्दाभद्रादिका, करणं च-ववादिकं, तिथिकरणं तस्मिन्नुपलक्षणत्वाद्धारयोगमुहूर्त्तादिषु प्रशस्तेषु. नक्षत्रे चाऽधिपतीनामाचार्याणामनुकूलं वहमाने सति, किमित्याह-अक्षान् गुरूणामुत्कृष्टोपधिरूपान् गृहीत्वा वृषभा गीतार्थसाधवः शकुनान् परीक्षमाणा 'णिंति'—निर्गच्छन्ति।

आह-किमर्थं प्रथममाचार्या न निर्गच्छन्ति ?, उच्यते-

वासस्स य आगमणं, अवसउणे पट्ठिया नियत्ता य।
ओभावणा उ एवं, आयरियो मग्गओ तम्हा ॥७१७॥

वर्षणं वर्षा वृष्टिस्तस्यागमनं दृष्ट्वा अपशकुने वा दृष्टे वृषभाः प्रस्थिताः सन्तो निवृत्ता अपि न लोकापवादमासादयन्ति सामान्यसाधुत्वात्, यदि पुनराचार्यो वृष्टिमपशकुनान् वा विज्ञाय निवर्त्तते तत एवमपभ्राजना भवति, यथा—यदेतद् ज्योतिषिकाणां विज्ञानं तदप्यमी आचार्या न बुध्यन्ते, अपरं किमवभोत्स्यन्ते, तस्मादाचार्याः; मार्गतः-पृष्ठतो निर्गच्छन्ति, न पुरतः। अथ पुरतो गच्छन्ति ततो मासलघु। एतेन " के वच्चंते पुरओ उ भिक्खुणो उदाहु-आयरिय" त्ति पदं भावितम्। बृ० १ उ० २ प्रक०।

अथ प्रशस्तेषु शकुनेषु सञ्जातेषु गुरवः किं कुर्वन्ति ?, इत्याह—

सिज्जायरेऽणुसासइ, आयरियो सेसगा चिलिमिलिं तु।
काउं गिण्हंतुवहिं, सारविय पडिसया पुव्विं ॥ ७२२ ॥

शय्यातरानुशास्ते आचार्याः यथा-व्रजामो वयं भवद्भिः धर्मकर्मण्यप्रमत्तैर्भवितव्यमिति, शेषास्तु साधवः चिलिमिलिं कृत्वा वद्ध्वा तदन्तरिताः सन्तः उपधिं गृह्णन्ति—सश्रयन्तीत्यर्थः। कथंभूताः? सारविताः-सम्मार्जिताः प्रतिश्रयो यैस्ते सारवितप्रतिश्रयाः पूर्वं प्रथमम्।

अथ कः कियदुपकरणं गृह्णातीत्युच्यते—

बालाईया उवहिं, जं वोढुं तरंति तत्तियं गिण्हे।
जहणेण जहाजायं, सेसं तरुणा विरिंचंति ॥ ७२३ ॥

बालवृद्धराजप्रव्रजितादयो यावन्मात्रमुपधिं वोढुं शक्नुवन्ति तावन्मात्रमेव गृह्णन्ति, यदि च सर्वथैव न शक्नुवन्ति तदा जघन्येन—सर्वस्तोकतया यथाजातमुपधिं गृह्णन्ति, शेषं—बालादिसत्कमुपकरणं तरुणाः साधवः विरिञ्चन्ति-विभज्य गृह्णन्ति, तत्र च यथाऽभिग्रहिका बालवृद्धादीनामुपधिरस्माभिर्वोढव्य इत्येवं प्रतिपन्नाभिग्रहाः सन्ति ततस्ते परस्परं विभज्य गृह्णन्ति।

अथ न सन्त्यभिग्रहिकाः ततः को विधिरित्याह—

आयरिओवहिं बाला-इयाण गिण्हंति संघयणजुत्ता।
दो मुत्ति उण्णिसंथा-रए य गहणेक्कपासेणं ॥ ७२४ ॥

आचार्योपधिं बालादीनां चोपधिं गृह्णन्ति संहननयुक्ताः अनाभिग्रहिका अपि सन्तो ये समर्थाः साधवः। कथमित्याह—द्वौ सौत्रिकौ कल्पोपकः—ऊर्णिकाकल्पः संस्तारकः, चशब्दादुत्तरपट्टकश्च। एतेषामाचार्यादिसम्बन्धिनां 'गहणेक्कपासेणं' ति सप्तम्यर्थे तृतीया एकस्मिन् पार्श्वे एकत्र स्कन्धे ग्रहणं कुर्वन्ति, द्वितीयेऽनुपार्श्वे आत्मीयमुपधिं स्थापयन्ति।

अथ 'खग्गूढ' त्ति पदं विवृणोति—

रत्तिं न चेव कप्पइ, नीयदुवारे विराहणा दुविहा।
पण्णवणबहुतरगुणा, अणिच्छिओ व उवही वा ॥७२५॥

कश्चित् धर्मश्रद्धालुतया खग्गूढतया वा प्राऽऽह—रात्रौ न चैव कल्पते विहर्त्तुं यतः-'नीयदुवारं तमसं कोट्ठगपरिवज्जए' त्ति वचनात्, दिवाऽपि तावन्नीचद्वारे कोष्ठके प्राणिनां कण्टकादीनां चोपलभ्यमानतया द्विविधा संयमात्मविराधना भवति, इति कृत्वा प्रवेष्टुं न कल्पते, किं पुनः रात्रौ विहर्तुं कल्पिष्यते। इत्थं ब्रुवाणस्य तस्य प्रज्ञापना कर्त्तव्या। यथा-बहुतरक्षेत्रस्य गन्तव्यतया बहुतरा गुणसेवा बालवृद्धस्य गच्छस्य साम्प्रतं रात्रौ गमने भवति, इत्थमपि प्रज्ञापितो यदि नेच्छति ततो द्वितीयः सहायो दीयते उपधिर्वा तस्य जीर्ण उपहतश्च समर्प्यते मा सारतस्तदीयोपधिः स्तेनैर्गृह्येत,मा वा रात्रौ सुप्तस्योपहन्यत इति। तदेवमुक्तविधिना ततः क्षेत्रान्निर्गत्य सूत्रोक्तनीत्या गच्छन्ति। ग्रामं च प्राप्ताः क्षेत्रप्रत्युपेक्षका यत्र पूर्वं वसतिः प्रत्युपेक्षिता आसीत् तत्र प्रथमं स्वयं गत्वा वसतिं निरूप्य ततो गच्छं तत्र प्रवेशयन्ति, तत्र रात्रावुषित्वा प्रभाते ग्रामान्तरं गच्छन्ति।

एवं वा—

वच्चंतेहि य दिट्ठो, गामो रमणिज्जभिक्खसज्झाओ।
जं कालमणुन्नाओ, अणणुन्नाए भवे लहुओ ॥७२६॥

व्रजद्भिस्तैः साधुभिः कश्चिद् ग्रामो दृष्टः, कथंभूतो-रमणीयं सुखप्राप्यत्वेन मनोज्ञभक्तपानलाभेन च भैक्षम् अत एव च रमणीयः स्वाध्यायश्च यत्र स रमणीयभिक्षस्वाध्यायः। एवंविधो ग्रामोऽयं यावन्तं कालमेकदिवसलक्षणं स्थातव्येनाऽनुज्ञातः तावन्तं कालं वसन्तो न प्रायश्चित्तभाजो भवन्ति। अनुज्ञाते द्वितीयादिषु दिवसेषु वसतां लघुको मासो भवेत्।

अथवा—

तवसोसिय उव्वाया. खलु लुक्खाहारदुब्बला वाऽवि।
एग दुग तिन्नि दिवसे, वयंति अप्पाइया वसिउं ॥७२७॥

तपसा-षष्ठाऽष्टमादिना ये शोषिताः, ये वा उद्वाता अतीव परिश्रान्ताः, ये च 'खलु' त्ति कर्कशक्षेत्रादायाताः, ये वा रूक्षाहारभोजित्वात् दुर्बलाः एते एकं वा द्वौ वा त्रीन् वा दिवसान् तस्मिन् ग्रामे उषित्वा स्थित्वा आप्यायिता मनोज्ञाऽऽहारैः स्वस्थीभूता अपरं ग्रामं व्रजन्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदमेव भावयति—

पढमदिणे समणुण्णा, सोही वुड्ढी अकारणे परतो ।
तिदिस व समणुन्नाया, तओ परेणं भवे सोही ॥६२८॥

प्रथमदिने तत्र ग्रामे वसतां समनुज्ञा प्रथमो दिवसस्तत्राऽनुज्ञात इति भावः । ततः परतो द्वितीयादिदिवसेष्वकारणे वसतां शोधिः-प्रायश्चित्तं तस्याऽऽभवति; सा चानन्तरगाथायां वक्ष्यते । अथ तपःशोषितत्वादिकमनन्तरगाथोक्तं कारणं वर्त्तते तत्र त्रीण्यपि दिनानि समनुज्ञातानि ततो दिवसत्रयात्परतः शोधिः—प्रायश्चित्तं भवेत् ।

तामेवाऽऽह—

सत्तरत्तं तवो होइ, तओ छेओ पहावई ।
छेएण छिन्नपरियाए, तओ मूलं तओ दुगं ॥७२९॥

सप्तरात्रं यावत्तपो भवति ततः-सप्तरात्रानन्तरं छेदः प्रधावति, छेदेनाऽप्यच्छिन्नपर्याये साधौ ततो मूलं, ततो द्विकम्-अनवस्थाप्यपाराञ्चिकद्वयम् ।

इदमेव व्याख्यानयति—

मासो लहुओ गुरुओ, चउरो लहुया य होंति गुरुगा य ।
छम्मासा लहुगुरुगा, छेओ मूलं तह दुगं च ॥७३०॥

इह प्रथमदिवसे वसन्तोऽनुज्ञाता एव ' पढमदिणे समणुण्ण' त्ति वचनात्, द्वितीये दिवसे यदि मनोज्ञाऽऽहारलम्पटतया तत्र ग्रामे वसन्ति तदा लघुको मासः, तृतीये गुरुकाः, चतुर्थे चत्वारो लघवः, पञ्चमे चतुर्गुरवः, षष्ठे षण्मासा लघवः, सप्तमे षण्मासा गुरवः, सप्तरात्रानन्तरमष्टमे दिवसे छेदः, नवमे मूलं, दशमे अनवस्थाप्यम्, एकादशे पाराञ्चिकमिति । अथ तपःशोषितशरीरादयस्ते ततस्त्रीणि दिवसानि वसन्तः प्रायश्चित्तं नाऽऽपद्यन्ते "तिन्नि व समणुन्नाय" त्ति वचनात्, चतुर्थे दिवसे वसतां लघुमासः, पञ्चमे गुरुमासः, षष्ठे चतुर्लघवः, सप्तमे चतुर्गुरवः, अष्टमे षट् लघवः, नवमे षट् गुरवः, दशमे छेदः, एकादशे मूलं, द्वादशे अनवस्थाप्यं त्रयोदशे पाराञ्चिकमिति विशेषचूर्ण्यभिप्रायः । बृहद्भाष्ये पुनरित्थमुक्तम्—"इक्किक्क सत्त वारा, मासाईयं तवं तु दाऊण । छेओ वि सत्तसत्तओ, तिन्नि गमा तस्स पुव्वुत्ता ॥१॥" पूर्वं पीठिकायाः तस्य छेदस्य ये त्रयो गमा उक्ताः तेऽत्राऽपि द्रष्टव्याः । तत्र यतः स्थानात्तपः प्रारब्धं तत आरभ्य छेदोऽपि दीयते; लघुमासादारभ्येत्यर्थः, इत्येको गमः । लघुपञ्चकादारभ्येति द्वितीयः, गुरुपञ्चकादारभ्येति तृतीयः । इदं सामान्यतः प्रायश्चित्तम् ।

विशेषत आह—

अणणुण्णाए निक्का-रणे य गुरुगाइयं चउण्हं पि ।
गुरुगा लहुगा गुरुगो, लहुओ मासो य अच्छंते ॥७३१॥

अननुज्ञाते दिवसत्रयादूर्ध्वं निष्कारणे वा-कारणं विना प्रथमदिवसादूर्ध्वं गुर्वादीनां चतुर्णामपि तिष्ठतां यथाक्रमं गुरुका लघुका गुरुको लघुकश्च मासः । इयमत्र भावना—आचार्यस्याऽननुज्ञाते निष्कारणे वा तिष्ठतश्चत्वारो गुरवः वृषभस्य चत्वारो लघवः, अभिषेकस्य गुरुमासो, भिक्षोर्लघुमासः । आह किं निमित्तमित्थं प्रायश्चित्तमापद्यते । उच्यते—

नेहासु त्ति य दोसा, जे पुव्वं वसिया कइयमादी ।
ते चेव अणट्ठाए, अच्छंते कारणे जयणा ॥ ७३२ ॥

नैष्यामो-नो गमिष्याम इत्युक्ते ये पूर्वं क्रीतादयो वसतेर्भाटकसमर्पणविक्रयणादयो दोषा वर्णितास्ते चैव अर्थः-प्रयोजनं तदभावोऽनर्थं तेन प्रयोजनमन्तरेणेत्यर्थः । तत्र ग्रामे रसगोरसबहुलतया तेषां निष्क्रमतां कालविलम्बलगनाच्चिकीर्षितमासकल्पे क्षेत्रे वसतिं शय्यातरो भाटकेन समर्पयेत्, विक्रीणीत वा, धान्यादिना वा चिनुयात्, बट्टुकादीनां वा दद्यात् ततस्त एवाऽऽत्मविराधनादयो दोषाः । कारणे तु तिष्ठतां यतना-एकं द्वौ त्रीन् वा दिवसान् छित्त्वा तथा गन्तव्यं यथा विलम्बमन्तरेण तत् क्षेत्रं प्राप्यत इति भावः ।

एवमेतेन विधिना व्रजन्तस्तावद्गता यावन्मूलक्षेत्रं ततः किमित्याह—

भत्तऽट्ठिया वि खमगा, पुव्विं पविसंतु ताव गीयत्था ।
परिपुच्छिय निद्दोसे, पविसंति गुरुगुणसमिद्धा ॥ ७३३ ॥

ते हि भक्तार्थिनः क्षपकाः वसन्तस्तत्र क्षेत्रे प्रविशन्ति भक्तार्थिनो-भोक्तुकामाः क्षपकाः-उपोषिताः, तत्र च पूर्वं तावद्गीतार्थाः प्रविशन्तु, ततस्तैः गीतार्थैः परिपृच्छ्य शय्यातरं प्रति, निर्दोष उपाश्रये सुनिश्चिते सति प्रविशन्ति गुरवो गुणसमृद्धाः । साऽभिप्रायकमिदं विशेषणम्-ते हि भगवन्तो गुरवो गुणैः समृद्धाः; अतो यदि प्रथमं प्रविश्य सव्याघातां वसतिं गत्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते ततो भवति महानवर्णवादः-यथैतेषामेतदपि ज्ञानं नाऽस्तीति ततः पश्चात्प्रविशन्ति ।

अथैनामेव गाथां विवरीषुराह-

बाहिरगामे पुच्छा, उज्जाणे ठाणवसहिपडिलेहा ।
इहरा उ गहियभंडा, वसहीवाघाय उड्डाहो ॥ ७३४ ॥

प्रत्यासन्ने बाह्यग्रामे उषिताः प्रत्युषसि विवक्षितक्षेत्रस्योद्यानमागम्य तत्र उद्याने तिष्ठन्ति । यैः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं ते वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रत्युपेक्षन्ते, इतरथा यदि वसतिमप्रत्युपेक्ष्य प्रविशन्ति ततो मासलघु । सा वसतिरन्येषां प्रदत्ता भवेत्, ततो गृहीतभाण्डाः-गृहीतोपकरणा वसतिव्याघाते सत्यपरां वसतिमन्वेषयन्त इतस्ततः पर्यटन्ति, तथाभूतांश्च दृष्ट्वा उड्डाहो भवेत्, यथा अहो निष्परिग्रहा निर्ग्रन्था इति ।

ततः किं विधेयमित्याह-

तम्हा पडिलेहिय सा-
हियम्मि पुव्वगतअसति सारविए ।
फुं(फं)ड्डगफुं(फ)ड्डपवेसो,
कहणा न य उट्ठऽणायरिए ॥ ७३५ ॥

तस्माच्चिलिमिलीं प्रोञ्छ्य दण्डकप्रोञ्छने गृहीत्वा वसतिं प्रत्युपेक्ष्य यदि सा नान्येषां प्रदत्ता तदा ' साहियम्मि ' त्ति शय्यातरस्य आचार्या आगताः सन्तीति कथयन्ति । यदि पूर्वगताः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकास्तत्र सन्ति तदा तैः प्रागेव वसतिः प्रमार्जितैव । अथ न सन्ति ततः स्वयमेव ' सारविए ' त्ति सम्मार्जिते प्रतिश्रये द्वारे च चिलिमिलीं बध्वा धर्मकथिकमेकं मुक्त्वा व्यावृत्त्य गुरूणां निवेदयन्ति, ततो वृषभास्तथैवाक्षान् गृहीत्वा शकुनान् परीक्षमाणाः प्रविश-

१-फुड्डग' शब्दो लघुतरगच्छैकदेशवाचकः । अत्र न सोऽर्थः प्रतीयते ।
२-अत्र- फड्डग' शब्दः प्रतीयते । ३-तथा- फड्डु' शब्दश्च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्ति, तैश्च प्रविष्टैः शेषाः साधवः स्पर्द्धकस्पर्द्धकैः प्रविशन्ति न पुनः सर्वेऽपि एकत्र पिण्डीभूयेति भावः । यश्च तत्र धर्मकथिकः स्थित आस्ते स सागारिकस्य धर्मकथां करोति, स च--' अणायरिय ' त्ति आचार्यं मुक्त्वाऽशेषसाधूनां ज्येष्ठार्याणामभ्युत्थानं न करोति, मा भूत् धर्मकथाया व्याघात इति ।

अथ वृषभाणां प्रविशतां शकुनाऽपशकुन-विभागनिरूपणायाह--

मइलकुचेले अब्भं-गियल्ल पसरोय खुज्ज वडभे य ।
एयाइँ अपसत्थाइं, होंति उ गामं अइंताणं ॥ ७३६ ॥
खेत्तपडचरग तावस, रोगी विमला य आतुरा विज्जा ।
कासायवत्थउद्धू-लिया य कज्जं न साहिन्ति ॥ ७३७ ॥

' नदीतूरं ' गाहा-'समणं जयं' गाहा । चतस्त्रोऽपि गाथाः प्राग्वन्नवरं दक्षिणपार्श्वाद्वामपार्श्वगामी गृह्यते ।

इत्थं वृषभेषु प्रशस्तैः शकुनैः प्रविष्टेषु सूरयः क्षेत्रं प्रविशन्तः सन्तः किं कुर्वन्तीत्याह--

पविसंते आयरिए, सागारि उ होइ पुव्वदट्ठव्वो ।
अद्दट्ठूण पविट्ठो, आवज्जइ मासियं लहुयं ॥ ७३८ ॥

' पविसंते आयरिए ' त्ति तृतीयार्थे सप्तमी, वसतिं प्रविशता आचार्येण सागारिकः पूर्वमेव द्रष्टव्यो भवति । अथ सागारिकमदृष्ट्वैव प्रविष्ट आचार्यः तत आपद्यते मासिकं लघुकम् ।

अथाचार्यमायान्तं दृष्ट्वा धर्मकथी किं करोतीत्याह-

आयरियऽब्भुट्ठाणे, ओभावणबाहिरा अदक्खिन्ना ।
कहणं तु वंदणिज्जा, अणालवंतेऽपि आलावो ॥७३९॥

धर्मकथिना आचार्याणामभ्युत्थानं कर्त्तव्यं, यदि न करोति तदा अपभ्राजना लाघवमाचार्याणां भवति, नूनं नामधारक एवाऽयमाचार्यो नाऽस्य किमप्याज्ञैश्वर्यं विद्यते । यद्वा--लोकव्यवहारस्य बाह्या अमी, यतः पञ्चानामप्यङ्गुलीनां तावदेका ज्येष्ठा भवति । तथा-अदाक्षिण्याद्-गुरूनपि प्रति एतेषां दाक्षिण्यं नाऽस्तीति शय्यातरश्चिन्तयति-'कहणं तु ' त्ति शय्यातरस्य धर्मकथिना कथनीयं यथा-वन्दनीया एते भगवन्त इति । ततो गुरुभिरनालपतोऽपि शय्यातरस्याऽऽलापः कर्त्तव्यः ।

अथ न कुर्वन्त्यालपनमाचार्यास्तत एते दोषाः-

खद्धा निरोवयारा, अग्गहणं लो.कजत्तवोच्छेदो ।
तम्हा खलु आलवणं,सयमेव य तत्थ धम्मकहा॥७४०॥

शय्यातरश्चिन्तयेत्--अहो आत्माभिमानिन एते वचसाऽपि नान्यस्य गौरवं प्रयच्छन्ति, निरुपकाराः-कृतमप्युपकारं न बहु मन्यन्ते; कृतघ्ना इत्यर्थः । अग्रहणम्-अनादरो मां प्रत्यमीषां, लोकयात्रामप्येते न जानन्ति । लोके हि यो यस्याश्रयदानादिनोपकारी स ततः स्निग्धदृष्ट्याऽवलोकनमधुरसंभाषणादिकां महतीं प्रतिपत्तिमर्हतीति इत्थं कषायितस्तद्द्रव्यस्यान्यद्रव्याणां वा व्यवच्छेदनं कुर्यात् । यत एवं तस्मात्खलु आलपनमाचार्येण कर्त्तव्यं स्वयमेव च तत्राऽऽचार्येण धर्मकथा कार्या । (बृ०) (वसतिदानफलम् ' वसहिदाणफल ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०५१ पृष्ठे गतम् ।)

अथाऽऽचार्याणां धर्मकथने लब्धिर्न भवति तदा शिष्य-धर्मकथालब्धिसम्पन्नं व्यापारयेयुः, ततः पश्चादाचार्याः प्रविशन्ति वसतिं , तत्र च प्रविष्टानां भूयः पुनरियं मर्यादा—समाचारी ।

तामेवाऽभिधित्सुराह—

मज्जाया पट्ठवणं, पवत्तगा तत्थ होंति आयरिया ।
जो उ अमज्जाइल्लो, आवज्जइ मासियं लहुयं ॥ ७४२ ॥

मर्यादा च सामाचारी स्थापना च दानादिकुलानां तयोः प्रवर्त्तकास्तत्र क्षेत्रे आचार्या भवन्ति । यश्च साधुर्मर्यादामाचार्यैः स्थापितां न पालयति स आपद्यते मासिकं लघुकम् ।

मर्यादामेवाह-

पडिलेहण संथारग, आयरिए तिन्नि सेसे एक्केक्कं ।
विंटियउक्खेवणया, पविसइ ताहे य धम्मकही ॥७४३॥
उच्चारे पासवणे, लाउअणिल्लेवणे अ अच्छणए ।
करणं तु अणुन्नाए, अणणुण्णाए भवे लहुओ ॥७४४॥

संस्तारकभूमीनां प्रत्युपेक्षणम्-अवलोकनं कुर्वते, तत्राऽऽचार्यस्य तिस्रः संस्तारकभूमयो निरूपणीयाः । तद्यथा-एका निवाता , अपरा प्रवाता, तृतीया निवातप्रवाता । शेषाणां साधूनामेकैकां संस्तारकभूमिं , यथारत्नाधिकतया अर्पयन्ति न यथा कथञ्चिदिति । तैश्च तदानीमात्मीयविण्टिकानामुत्क्षे[illegible] कर्त्तव्यं येन नास्ति क्षितः सुभूमिभागः प्रतिनियतः परिमाणच्छेदेनाऽऽगम्यते तदा च धर्मकथी संस्तारकग्रहणार्थं धर्मकथामुपसंहृत्य प्रतिश्रयाभ्यन्तरे प्रविशति । तद्यथा—क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः शय्यातरानुज्ञातां भुवं ग्लानाद्यर्थं दर्शयन्ति, यथा इयति प्रदेशे उच्चारपरिष्ठापनमनुज्ञायते न ऊर्द्ध्वम् । एवं ' पासवणे ' त्ति प्रश्रवणभूमिम् ' अलाउए ' त्ति अलाबूनि-तुम्बकानि तेषां कल्पकरणप्रायोग्यं प्रदेशं निर्लेपनं तस्य स्थानम् ' अच्छणए' त्ति यत्र स्वाध्यायं कुर्वद्भिरास्यते, एतानि तथैव दर्शयन्ति । ततो य एव शय्यातरेणानुज्ञातोऽवकाशस्तत्रैवोच्चारादीनां करणं भवद्भिरादिष्टम् , अननुज्ञाते त्ववकाशे कुर्वतो मासलघु , तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदादयश्च दोषाः । उक्ता मर्यादा । बृ० १ उ० २ प्रक० । (स्थापनाकुलानि ' ठवणाकुल ' शब्दे तृतीयभागे १६६२ पृष्ठे उक्तानि ।) (पूर्वपश्चिमानां मासकल्पो नेति ' मासकप्प ' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे २६७ पृष्ठे उक्तम् ।) (निर्ग्रन्थीनां मासकल्पः ' णिग्गंथी ' शब्दे चतुर्थभागे २०४७ पृष्ठे गतः ।)

(१६) मासकल्पादन्येऽपि विहाराः सन्ति-

अप्पडिबद्धो य सया, गुरूवएसेण सव्वभावेसु ।
मासाइविहारेणं, विहरिज्ज जहोचिअं निअमा ॥८६५॥

अप्रतिबद्धश्च सदा; अभिष्वङ्गरहित इत्यर्थः, गुरूपदेशेन हेतुभूतेन । क्वेत्याह-सर्वभावेषु चेतनाऽचेतनेष्वप्रतिबद्धः । किमित्याह-मासादिविहारेण समयप्रसिद्धेन विहरेत् , ब-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थोचितं संहननाद्यौचित्येन नियमानियमेन विहरेदिति गाथार्थः ।

परामिप्रायमाशङ्क्य परिहरति-

मोत्तूण मासकप्पं, अन्नो सुत्तम्मि नऽत्थि उ विहारो ।
ता कहमाइग्गहणं, कज्जे ऊणाइभावाओ ॥ ८९६ ॥

मुक्त्वा मासकल्पं—मासविहारम् अन्यः सूत्रे—सिद्धान्ते नास्त्येव विहारस्तथाश्रवणात् तत्कथं कस्मादादिग्रहण-मनन्तरगाथायामेतदाशङ्क्याह—कार्ये तथाविधे सति न्यू-नाऽऽदिभावात्—न्यूनाधिकभावात्कारणात्तदादिग्रहणमिति गाथार्थः ।

एअं पि गुरुविहारा-ओविहारो सिद्ध एव एअस्स ।
भेएण कीस भणिओ, मोहजयऽट्ठा धुवो जेण ॥८९७॥

नन्वेवमपि गुरुविहारात्सकाशाद्विहारस्सिद्ध एव एतस्य उपस्थापितसाधोर्भेदेन किमिति भणितो विहार इत्याशङ्क्याह—मोहजयार्थं—चारित्रविघ्नजयाय ध्रुवो येन कारणेन तस्य विहार इति गाथाऽर्थः ।

एतद्भावबाधैवाह-

इयरेसि कारणेणं, नीआवासो वि दव्वओ हुज्जा ।
भावेण उ गीआणं, न कयाइ वि विहिपरायाणं ॥८९८॥

इतरेषां—गुर्वादीनां कारणेन संयमवृद्धिहेतुना नित्यवासोऽप्येकत्र बहुकाललक्षणो द्रव्यतो भवेत् । अपरमार्था-वस्थानरूपेण, भावतस्तु परमार्थेनैव गीतानां गीतार्थ-भिक्षूणां न कदाचिदपि नित्यवासो भवति । किं भूतानाम्-विधिपरायणानां; यतनाप्रधानानामिति गाथार्थः ।

अत्रैव विधिमाह-

गोअरमाईआणं, एत्थं परिअत्तणं तु मासाओ ।
जहसंभवं निओगो, संथारम्मी विही भणिओ ॥८९९॥

गोचरादीनामिति—गोचरवहिर्भूम्यादीनामत्र-विहाराधिकारे परावर्त्तनं तु केषाञ्चित्कदाचिदौचित्येन मासादौ ऋतुबद्धे मासे वर्षासु च चतुर्षु यथासम्भवं सत्सु, गो-चरादिष्वित्यर्थः, नियोगो—नियम एव संस्तारकपरावर्त्तने विधिर्भणित इह तीर्थकरादिभिरिति गाथाऽर्थः ।

प्रकृतोपयोगमाह-

एअस्स वि पडिसेहा, निअमेणं दव्वओ वि मोहुदए ।
जइणो विहारखवण-फलमित्थ विहारगहणं तु ॥९००॥

एतस्यापि विधिप्रतिषेधात् प्रतिषेधेन नियमेनावश्यन्तया द्रव्यतोऽपि विहारेणापि मोहोदये सति यतेः-भिक्षोर्विहारख्यापनफलं विहारख्यापनार्थमत्राधिकारे विहारग्रहणं कृतमाचार्येणेति गाथाऽर्थः ।

प्रयोजनान्तरमाह-

आईओ चिअ पडिबं-धवज्जणत्थं व हंदि सेहाणं ।
विहिफासणऽत्थमहवा, सेहविसेसाइविसयं तु ॥ ९०१ ॥

आदित एवारभ्य प्रतिबन्धवर्जनार्थं क्षेत्रादौ हन्दि शिक्षकाणां विहारग्रहणं विधेः स्पर्शनार्थमथवा प्रयोजनान्तर-मेतच्छिष्यकविशेषादिविषयमेव, विशेषोऽपरिणामकादिर्विहरणशीलो वेति गाथार्थः । उक्तं विहारद्वारम् । पं० व० ३ द्वार ।

(२०) मार्गयतनामधिकृत्याह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे पुरओ जुगमायाए पेहमाणे दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पादं रीइज्जा साहट्टु पायं रीइज्जा वितिरिच्छं वा कट्टु पायं रीइज्जा, सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा नो उज्जुयं गच्छिज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाणाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा उदए वा मट्टिआ वा अविद्धत्थे सइ परक्कमे ०जाव नो उज्जुयं गच्छिज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा । (सू०-११४)

स भिक्षुर्यावद् ग्रामान्तरं गच्छन् पुरतः-अग्रतः-युगमात्रम्-चतुर्हस्तप्रमाणं शकटोर्द्धसंस्थितं भूभागं पश्यन् गच्छेत् तत्र च पथि दृष्ट्वा त्रसान्-प्राणिनः पतङ्गादीन् ' उद्धट्टु ' त्ति पादमुद्धृत्याग्रतलेन पादपातप्रदेशं वाऽतिक्रम्य गच्छेत् एवं संहृत्य-शरीराभिमुखमाक्षिप्य पादं विवक्षितपादपात-प्रदेशादारत एव विन्यस्य उत्क्षिप्य वाऽग्रभागं पार्ष्णिकया गच्छेत् , तथा तिरश्चीनं वा पादं कृत्वा गच्छेत् , अयं चान्यमार्गाभावे विधिः । सति त्वन्यस्मिन् पराक्रमे-गमनमार्गे संयतः सन् तेनैव पराक्रमेत्—गच्छेत् न ऋजुनैत्येवं ग्रामान्तरं गच्छेत् सर्वोपसंहाराऽयमिति'से' इत्यादि, उत्तानार्थम् । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ०१ उ०। (पथि षट्कायप्रतिसेवना ' मूलगुणपडिसेवणा ' शब्दे पञ्चमभागे ३४३ पृष्ठे उक्ता ।)

(२१) यत्र अन्तरा ग्रामे चौरास्तत्र न विहरेत्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विरूवरूवाणि पच्चंतगाणि दसुगायगाणि मिलक्खूणि अणायरियाणि दुसन्नप्पाणि दुप्पन्नवणिज्जाणि अकालपडिबोहीणि अकालपरिभोईणि सइ लाढे विहाराए संथरमाणेहिं जाणवएहिं नो विहारवडियाए पवज्जिज्जा गमणाए , केवली बूया-आयाणमेयं । तेणं बाला अयं तेणे अयं उवचरए अयं ततो आगए त्ति कट्टु तं भिक्खुं अक्कोसिज्ज वा ०जाव उद्दविज्ज वा वत्थं वा पत्तं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा अच्छिंदिज्ज वा भिंदिज्ज वा अवहरिज्ज वा परिट्ठविज्ज वा, अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा पतिण्णा०४, जं तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं पच्चंतियाणि दस्सुगायतणाणि ०जाव विहारवत्तियाए नो पवज्जिज्ज वा गमणाए तओ संजया गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ (सू०-११५) ॥

स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् यत्पुनरेवं जानीयात् , तद्यथा-अन्तरा—ग्रामान्तराले विरूपरूपाणि—नानाप्रकाराणि प्रात्यन्तिकानि दस्यूनां—चौराणामायतनानि—स्थानानि ' मि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्खूणं' ति बर्बरशबरपुलिन्द्रादिम्लेच्छप्रधानानि अना- र्याणि-अर्द्धषड्विंशजनपदबाह्यानि दुःसञ्ज्ञाप्यानि-दुःखेनार्य- संज्ञां ज्ञाप्यन्ते , तथा—दुष्प्रज्ञाप्यानि—दुःखेन धर्मसंज्ञो- पदेशेनानार्यसंकल्पान्निवर्त्यन्ते, अकालप्रतिबोधीनि-न तेषां कश्चिदुपर्यटनकालोऽस्ति , अर्द्धरात्रादावपि मृगयादौ गम- नसम्भवात् ,तथा अकालभोजीन्यपीति , सत्यन्यस्मिन् ग्रा- मादिके विहारे विद्यमानेषु चान्येष्वार्यजनपदेषु न तेषु म्ले- च्छस्थानेषु विहरिष्यामीति गमनं न प्रतिपद्येत, किमिति ?, यतः केवली ब्रूयात्—कर्मोपादानमेतत् , संयमात्मवि- राधनातः , तत्रात्मविराधने संयमविराधनाऽपि सम्भ- वनीयात्मविराधनां दर्शयति—ते—म्लेच्छाः ' एम् इति वाक्यालङ्कारे , एवमूचुः , तद्यथा—अयं स्तेनः, अयमुपचरकः——चरोऽयं तस्मादस्मच्छत्रुग्रामादागत इति कृत्वा वाचा आक्रोशयेयुः , तथा दण्डेन ता- डयेयुः, यावज्जीविताद्व्यपरोपयेयुः, तथा वस्त्रादि आच्छि- न्द्युः-अपहरेयुः, ततस्तं साधुं निर्द्धाटयेयुरिति । अथ सा- धूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यत्तथाभूतेषु म्लेच्छस्थाने- षु गमनार्थं न प्रतिपद्यते, ततस्तानि परिहरन् संयत एव ग्रामाऽन्तरं गच्छेदिति ।

(२८) अराजकादिग्रामेषु न विहरेत्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा दूइज्जमाणे अंतरा से अराया- णि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दो रज्जाणि वा वे- रज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा सइ लाढे विहाराए संथरमा- णेहिं जणवएहिं नो विहारवडियाए पवज्जेज्ज गमणाए,केव- ली बूया-आयाणमेयं, ते णं वाला तं चेव०जाव गमणाए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा । (सू०-११६)

कण्ठ्यं, नवरम् ,अराजानि—यत्र राजा मृतः युवराजानि- यत्र नाद्यापि राज्याभिषेको भवतीति ।

किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा एगाहे- ण वा दुआहेण वा तिआहेण वा चउआहेण वा पंचाहे- ण वा पाउणिज्ज वा नो पाउणिज्ज वा तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं सइ ला०ढे० जाव गमणाए, केवली बू- या-आयाणमेयं, अंतरा से वासे सिया पाणेसु वा पणए- सु वा बीएसु वा हरिएसु वा उदएसु वा मट्टियाए वा अविद्धत्थाए अह भिक्खू जं तहप्पगारं विहं अणेगाह- गमणिज्जं० जाव णो पवज्जिज्ज वा गमणाए ततो संजया गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।।(सू०-११७)

स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् यत्पुनरेवं जानीयात् अन्तरा- ग्रामान्तराले मम गच्छतः ' विहं ' ति अनेकाहगमनीयः पन्थाः स्यात्—भवेत् , तमेवंभूतमध्वानं ज्ञात्वा सत्यन्य- स्मिन् विहारस्थाने न तत्र गमनाय मतिं विदध्यादिति, शेषं सुगमम् । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

३२८

विरुद्धराज्ये गमनादौ प्रायश्चित्तम्—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वेरज्जविरुद्धरज्जं- सि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणाऽऽगमणं करि- त्तए, जे खलु निग्गंथे वा निग्गंथी वा वेरज्जविरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणाऽऽगमणं करेइ करंतं वा साइज्जइ । से दुहओ विइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मा सियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ३८ ॥

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्ध इत्याह—

चोरो त्ति अइपसंगा, विरुद्धरज्जे वि मा चरिज्जाहि ।
इय एसो उवघाओ, वेरज्जविरुद्धसुत्तस्स ॥ ६१६ ॥

अनन्तरसूत्रे हेमन्तग्रीष्मयोर्ग्रामानुग्रामं विहारो—गमनं कर्त्तुं कल्पते इत्युक्तेऽतिप्रसङ्गतो विरुद्धराज्येऽपि वर्त्तमानः समाचरेदित्यभिप्रायेणेदं सूत्रमारभ्यते एष वैराज्यविरुद्ध- राज्यसूत्रस्योपोद्घातः—सम्बन्धः , अनेनाऽऽयातस्यास्य (सू०-३८) व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वैराज्ये विरुद्धराज्ये वा सद्यस्तत्कालं गमनं सद्य आग- मनं सद्यो गमनागमनं कर्त्तुं यः खलु निर्ग्रन्थो वा निर्ग्रन्थी वा वैराज्यविरुद्धराज्ये सद्यो गमनं सद्य आगमनं सद्यो गमनागमनं करोति कुर्वन्तं वा स्वादयति-अनुमोदयति स द्विधाऽपि तीर्थकृतां राज्यस्य च सम्बन्धिनीमाज्ञामतिक्रा- मन् आपद्यते—प्राप्नोति चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घा- तिकं चतुर्गुरुकमित्यर्थः । इति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ विस्तरार्थं भाष्यकृदाह—

वेरं जत्थ उ रज्जे, वेरं जायं व वेररज्जं वा ।
जं च विरज्जइ रज्जे-णं तेणं विगयरायं वा ॥ ६२० ॥

यत्र राज्ये पूर्वपुरुषपरंपरागतं वैरं तद्वैराज्यमुच्यते—नैरु- क्ता शब्दनिष्पत्तिः । यद्वा न-पूर्वपुरुषपरम्परागतं परं स- म्प्रति ययो राज्ययोर्वैरं जातमुत्पन्नं तद्वैराज्यम् । अथवा परकीयग्रामनगरबाहादीनि कुर्वन् यत्र राजादिर्वैरे-विरोधे रज्यते तादृशं डमरं विराज्यमुच्यते, यदि वा-यद्राज्यममा- त्यादिप्रधानपुरुषरूपं ' रज्जेणं ' ति विवक्षितेन राज्ञा सह विरज्यते—विरक्तं भवति तद्वैराज्यम् , इष्टरूपनिष्पत्तिः स- र्वथाऽपि निरुक्तिवशात् , यद्वा—विगतो मृतः प्रोषितो वा राजा यत्र तद्विगतराजकम्—अराजकमित्यर्थः, तदेव वैरा- ज्यम् । यत्र तु द्वयोरपि राज्ञो राज्ये परस्परं गमनागमनं वि- रुद्धं तद्विरुद्धराज्यमुच्यते ।

सद्यः प्रभृतीनि शेषपदानि व्याचष्टे—

सज्जगहणाऽतीयं, अणागयं चेव वारियं वेरं ।
पव्वयगपडुच कयं, होज्जा गमणं च उभयं वा ॥ ६२१ ॥

सद्यो—वर्तमानकालभावि यद्वैरं तत्र गमनादिकं न कल्पते , एवं सद्यो ग्रहणादतीतमनागतं च वैरं नि- वारितं भवति । यत्र वैरं पूर्वोक्तमस्ति यत्र वा भ- विष्यतया सम्भाव्यमानं तत्राऽपि क्षेत्रे गमनादीनि न कर्त्तव्यानीति भावः , तथा प्रज्ञापकं प्रतीत्य गमनमाग- मनम् उभयं वा-गमनाऽऽगमनमत्र भवति । तत्र यत्र प्रज्ञा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षकस्तिष्ठति, ततो यदन्यत्र गम्यते तद्गमनम्—अन्यतः स्थानात् प्रज्ञापकसम्मुखं यदागम्यते तदागमनं, गत्वा प्रत्यागमने विधीयमाने गमनाऽऽगमनम् । बृ० १ उ० ३ प्रक० । अथ वाऽनेनैवाऽधिकारः वैराज्यग्रहणदितेऽप्यर्थाः सूचिता भवन्तीति दर्शयति—

अणराए जुवराए, तत्तो वेरज्जए अ वेरज्जे ।
एत्तो एक्केक्कम्मि उ, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥ ६२२ ॥

अराजके यौवराज्ये ततश्च वैराज्ये ततश्च वैराज्ये—इति चतुर्णां भेदानाम् एकैकस्मिन् गच्छतस्तपःकालविशेषिताश्चतुर्मासा गुरुका भवेयुः । तत्र प्रथमे द्वाभ्यामपि कालाभ्यां लघवः, द्वितीये कालगुरवः, तृतीये तपोगुरवः, चतुर्थे द्वाभ्यामपि गुरवः ।

अराजकादीनामेव चतुर्णां व्याख्यानमाह—

अणरायं ति व मरणे, जुवराया जाव दोच्चऽणभिसित्तो ।
वेरज्जं तु परबलं, दाइयकलहो उ वेरज्जं ॥ ६२३ ॥

यस्य प्राक्तनस्य राज्ञो मरणे सञ्जाते सति यावदद्याऽपि राजा युवराजश्चेत्येतौ द्वावपि नाभिषिक्तौ तावदराजकं भण्यते, प्राचीननृपतिना यो यौवराज्याभिषिक्त आसीत् तेनाभिषिक्तं राज्यं परमनेन यावन्नाद्याऽपि द्वितीयो युवराजोऽभिषिक्तः तावद्यौवराज्यमुच्यते । यत्र तु परबलं-परचक्रमागत्य विराज्यं करोति तद्वैराज्यम् । यत्र तु द्वयोर्दायिकयोः सगोत्रयोरेकराज्याभिलाषिणोः स्वस्वकटकसन्निविष्टाभ्यां परस्परं कलहो-विग्रहस्तद्वैराज्यमुच्यते ।

विरुद्धराज्यं व्याख्यानयति—

अविरुद्धा वाणियगा, गमणाऽऽगमणं च होति अविरुद्धं ।
णिस्संचारविरुद्धे, न कप्पती बंधणादीया ॥ ६२६ ॥

यत्र वैराज्ये वाणिजकाः परस्परं गच्छन्ति अविरुद्धास्तत्र साधूनामपि गमनं विरुद्धं न भवति, कल्पते तत्र गन्तुमिति भावः । यत्र तु वणिजां शेषजनपदस्य च निस्संचारं कृतं गमनाऽऽगमननिषेधो विहितः अतस्तद्वैराज्यं विरुद्धमुच्यते, तस्मिन् विरुद्धे गमनादि न कल्पते ।

अत्ताण चोरमेया, वग्गुरसेणा पलाइणो पहिया ।
पडिचरगा य सहाया, गमणागमणम्मि नायव्वा ॥ ६२५ ॥

('अत्ताण' पदव्याख्या 'अत्ताण' शब्दे प्रथमभागे ५०४ पृष्ठे गता ।) तथा—चौरा-गवादिहारिणः २, मेदा नाम गृहीतचापा दिवा रात्रौ च जीवहिंसापरा म्लेच्छविशेषाः ३, वागुरिकाः—पाशप्रयोगेण मृगघातकाः ४, शुनिकाः—द्वितीया लुब्धकाः ५, पलायिनो नाम-ये भट्टादयो राज्ञः पृच्छां विना सकुटुम्बाः प्रणश्य राज्यान्तरं गच्छन्ति ६, पथिका-नानाविधनगरग्रामदेशपरिभ्रमणकारिणः ७, प्रतिचरका नाम-ये परराष्ट्राणि स्वयं प्रच्छन्नचारितया गवेषयन्ति; हेरिका इत्यर्थः ८, एते आत्मादयोऽत्राणादयो वाऽष्टभेदा भवन्ति, केषाञ्चिदाचार्याणां वागुरिकाः शौनिकाश्च द्वयेऽप्येक एव भेदास्तन्मतेनाष्टमा अहिमरका भवन्ति, अहिः-सर्पः पूर्वस्मादकृतेऽप्यपकारे परं मारयन्तीत्यहिमरकाः, एते सहायाः साधूनां वैराज्यगमनाऽऽगमने ज्ञातव्याः ।

एतेष्वेव भङ्गोपदर्शनायाह—

अत्ताणमाइएसुं, दियपहदिट्ठे य अट्ठिया भयणा ।
एत्तो एगतरेणं, गमणागमणम्मि आणाई ॥ ६२६ ॥

आत्मादिभेदेषु अत्राणादिषु वा सहायेषु एकैकस्मिन् दिवापथदृष्टपदैः सप्रतिपक्षैरष्टिका भजना भवति; अष्टौ भङ्गा भवन्तीत्यर्थः । तथाहि-आत्मना सहायविरहिता दिवा मार्गेण राजपुरुषैर्दृष्टा गच्छन्ति १, आत्मना दिवा मार्गेण राजपुरुषैरदृष्टाः २, आत्मना दिवा उन्मार्गेण राजपुरुषैर्दृष्टाः ३, आत्मना दिवा उन्मार्गेण वा राजपुरुषैरदृष्टाः ४, आत्मना रात्रौ मार्गेण दृष्टाः ५, आत्मना रात्रौ मार्गेणादृष्टाः ६, आत्मना रात्रावुन्मार्गेण दृष्टाः ७, आत्मना रात्रावुन्मार्गेणादृष्टा गच्छन्ति ८, एवं चौरादिभिः द्वितीयव्याख्यानापेक्षया त्वत्राणादिभिः प्रतिचरकान्तैकसहायैरपि सार्द्धं गच्छतां प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः कर्तव्याः, 'एत्तो' इत्यादि पश्चार्द्धम् । एतेषामष्टानां भेदानां प्रत्येकमष्टविधानां मध्यादेकतरेणाऽपि प्रकारेण यो गमनं करोति तस्याऽऽज्ञाऽनवस्थादयो दोषा भवन्ति ।

प्रायश्चित्तं चेदम्—

अत्ताणमाइएसुं, दियपहदिट्ठेसु चउलहू होंति ।
रात्रो अपह अदिट्ठे, चउगुरुगा इक्कमे मूलं ॥ ६२७ ॥

आत्मादिषु अत्राणादिषु वा पदेषु, ये दिवाविषयाः प्रथमे चत्वारो भङ्गकास्तेषु दृष्टादृष्टपदाभ्यां सप्रतिपक्षाभ्यामुपलक्षितेषु तपःकालविशेषिताश्चत्वारो लघुकाः ये तु रात्रिविषयाः पाश्चात्याश्चत्वारो भङ्गकास्तेषु अपथा दृष्टादृष्टपदाभ्यां सप्रतिपक्षाभ्यामुपलक्षितेषु तपःकालविशेषिताश्चत्वारो गुरुकाः । यतो राज्यात्प्रधावितस्तस्यातिक्रमेऽतिलङ्घने कृते सति मूलम् ।

अथ सर्वभङ्गपरिमाणज्ञापनार्थमाह—

अत्ताणमाइयाणं, अट्ठण्हऽट्ठहि पएहि भइयाणं ।
चउसट्ठिए पदाणं, विराहणा होइ सा दुविहा ॥ ६२८ ॥

आत्मादीनामत्राणादीनां वा अष्टानां पदानामष्टभिः पदैर्भङ्गैः प्रत्येकं भक्तानां गणितानां चतुःषष्टिसंख्यानि भङ्गकपदानि भवन्ति । चतुःषष्टेश्च पदानामन्यतरेण गच्छत इयं द्विविधा संयमात्मविराधना भवति ।

तामेवाह—

छक्कायगहणकड्ढण-पंथिं भित्तूण चेव अइगमणं ।
सुण्णम्मि य अइगमणं, विराहणा दुण्ह वग्गाणं ॥ ६२९ ॥

अपथं शस्त्रोपहतपृथिव्यां गच्छन् पृथिवीकायं, नद्यादिसन्तरणे अवश्यायसम्भवे वाऽप्कायं, दवानलसम्भवे सार्थिकप्रज्वालिताऽग्निप्रतापने वा तेजस्कायं, यत्राऽग्निस्तत्र नियमाद्वायुर्भवतीति कृत्वा वायुकायं, हरितादिमर्दनप्रलम्बासेवने वा वनस्पतिकायं, पृथिव्युदकवनस्पतिसमाश्रितत्रसानां परितापनादौ त्रसकायम् । एवं षट्कायान् विराधयतीति संयमविराधना । तथा राजपुरुषा ग्रहणाकर्षणादि विदध्युरि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्यात्मविराधना।अथ ते साधवः पन्थानं-मार्गं भित्त्वा च उत्पथेन परजनपदेऽभिगमनं-प्रवेशं कुर्वन्ति ततो गाढतरेऽपराधे नरादिशून्ये वा स्थण्डिलपालिविरहिते मार्गेऽतगमने द्वयोरपि वर्गयोः संयतानां सहायानां च विराधना भवतीति।

अथ षट्कायविराधनायां प्रायश्चित्तमाह—

छक्कायचउसु लहुगा, परित्तलहुगा य गुरुगसाहारे।
संघट्टणपरितावण, लहु गुरुग निवायणे मूलं ॥६३०॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत्।

अथ ग्रहणाऽऽकर्षणपदं व्याचष्टे—

संजमगिहितदुभय भ-द्दगा य तह तदुभयस्स वि य पंता।
चउभंगो गोम्मिएहिं, संजयभद्दा विसज्जेंति ॥६३१॥

गौल्मिका नाम-ये राज्ञः पुरुषाः स्थानकं बद्ध्वा पन्थानं रक्षयन्ति तेषु चतुर्भङ्गी, संयतभद्रका गृहस्थप्रान्ताः१.गृहस्थभद्रकाः संयतप्रान्ताः२,संयतभद्रका अपि गृहस्थभद्रका अपि ३, संयतभद्रकाः न गृहस्थभद्रकाः.किं तु-तदुभयप्रान्ताः। अथ ते संयतभद्रकाः गौल्मिकाः; प्रथमतृतीयभङ्गवर्त्तिन इत्यर्थः, ते साधून् गच्छतो विसर्जयन्ति न निरुन्धन्ते।

संजयभद्दगमुक्के, बीया घेत्तुं गिही वि गिण्हंति।
जे पुण संजयपंता, गेण्हंति जती गिही मुत्तुं ॥६३२॥

संयतभद्रकैर्मुक्तानपि साधून् द्वितीयाः—द्वितीयभङ्गवर्त्तिनः स्थानपालकास्ते संयतप्रान्तत्वद् गृह्णन्ति। गृहीत्वा च तं गृहिणोऽपि प्रथमस्थानपालकान् गृह्णन्ति कस्माद्भवद्भिरमी संयता मुक्ता इति कृत्वा. यद्वा-ते साधवो गृहस्थसहिता गच्छन्तः संयतभद्रकैर्मुक्ता गृहस्था अपि तैरमीषां साधूनामेते सहाया इत्यभिप्रायेण मुक्ताः, परं ये द्वितीयभङ्गवर्त्तिनः स्थानपालकास्ते संयतप्रान्ततया संयतान् गृहीत्वा गृहस्थानपि गृह्णन्ति यस्मादमीभिः समं यूयं गच्छत इत्यतो यूयमप्यपराधिनः इति कृत्वा, ये पुनः संयतप्रान्ताः पुनःशब्दो विशेषणार्थः किं विशिनष्टि—ये गौल्मकाः संयतानामेवातीव प्रद्विष्टास्ते गृहिणो मुक्त्वा यतीन् गृह्णन्ति गृहीत्वा बन्धनादिकं कुर्युः।

पढमतइयमुक्काणं, रज्जे दिट्ठाण दोण्ह वि विणासो।
परज्जपवेसे वं, जओ व णंती तहि वि एवं ॥६३३॥

एवं प्रथमतृतीयभङ्गयोः संयतभद्रकैर्मुक्ताः सन्तः साधवः परराज्ये प्रविष्टा दृष्टाश्च राजपुरुषैः, ततः पृष्टाः-किमुत्पथेनायाताः ?, यदि साधवो भणन्ति—उत्पथेन, तत उन्मार्गगामित्वात् चारिका एते इति कृत्वा ग्रहणाकर्षणादिकं प्राप्नुवन्ति।अथ ब्रुवते पथा वयमागताः ततो द्वयोरपि वर्गयोर्विनाशो भवति, संयतानां स्थानपालकानां चेति भावः।एवं परराज्यप्रवेशे दोषा अभिहिताः।यतोऽपि राज्यान्निर्गच्छन्ति तत्राप्येत एव दोषा भवन्ति।

अथ 'पंथं भित्तूण' इत्यादिपदं व्याख्यानयति—

रक्खिज्जइ वा पंथो, जइ तं भित्तूण जणवयसयंति।
गाढतरं अवराहो, सुन्ने सुत्ते वि दोण्हं पि ॥ ६३४ ॥

अथ चौरहेरिकादिभयतो गाढतरमपराधो भवति महान् दोषस्तेषां लगतीति भावः। अत्र साधूनामेव दोषो न-स्थानपालकानाम्। अथ स्थानपालकाः सुप्ता भवन्ति.शून्यं वा तत् स्थानकं वर्त्तते स्थानपालकानामन्यत्र कुत्राऽपि गमनात्। तत्र यदि साधवो गच्छन्ति तदा द्वयोरपि वर्गयोः स्थानपालकानां, संयतानां चेत्यर्थः ग्रहणाकर्षणादयो दोषाः भवन्ति।

तानेव सप्रायश्चित्तान् दर्शयति—

गेण्हणे गुरुगा छम्मा-स कड्ढणे छेउ होइ ववहारे।
पच्छा कडे य मूलं, उड्डहणविरुंभणे नवमं ॥६३५॥
उद्दावणनिव्विसए, एगमणेगे पओस पारंची।
अणवट्ठप्पो दोसु य, दोसु य पारंचिओ होइ ॥६३६॥

गाथाद्वयस्याऽपि व्याख्या प्राग्वत्,एवमात्मनैवासहायानामत्राणसहायानां वा गच्छतां दोषाः अभिहिताः।

अथ चौरादिसहाययुक्तानां दोषानतिदिशन्नाह—

एमेव सेसएसुं, चोराईहिं समं तु गच्छंतो।
सविसेसयरा दोसा, पत्थारो जीवभंसणया ॥ ६३७ ॥

एवमेव चौरप्रतिचरकादिसहायैः शेषैरपि समकं व्रजतां दोषास्त एव ग्रहणाकर्षणादयो वक्तव्याः परं सविशेषतराः। तथाहि—तेषां साधूनां दोषेण यदन्येषामपि तद्गच्छीयानां वा कुलस्य वा सङ्घस्य वा ग्रहणाकर्षणादिकम्, एष प्रस्तार उच्यते-स वा भवेत् जीवितस्य वा चरणस्य वा भ्रंशनं स्यात्, यावच्छब्दोपादानात् शरीरविकर्त्तनभेदा द्रष्टव्याः।

सविशेषदोषदर्शनार्थमाह—

तेणट्ठम्मि पसज्जण, निस्संकिए मूलं अहिमरे चरिमं।
जइ ताव होंति भद्दय, दोसा ते तं चिमं वत्तं ॥६३८॥

स्तेनादिभिः सह गच्छन् स्तैन्यार्थे प्रसजनं करोति स्तैन्यादिकं करोति, कारयति; अनुमन्यते वा इत्यर्थः। यदि स्तेनोऽयमिति शङ्कयते तदा चत्वारो गुरुकाः निःशङ्किते मूलम्। अभिमरोऽयमिति निःशङ्किते चरमं-पाराञ्चिकम्। अपि च—यदि तावत्ते स्थानपालका भवन्ति तथाऽपि वैराज्यं संक्रामतः साधून् दृष्ट्वा चिन्तयन्ति-एतेऽपि यदीदृशानि कुर्वन्ति तर्हि न किमप्यमीषां मध्ये शोभनं, तीर्थकरेण वा किं न प्रतिषिद्धं वैराज्यसंक्रमणमित्यादि। एवं च तेऽपि प्रान्तीभवन्ति। अथवा—यदि ते स्थानपाला भद्रका भवन्ति तदा तैर्विसर्जितानां परराष्ट्रप्रविष्टानां त एव दोषाः, तदेव चतुर्गुरुकादिकं प्रायश्चित्तम्।

इदं चान्यत्प्रायश्चित्तावहं दोषजालम्—

आयरिय उवज्झाया, कुलगणसंघो य चेइयाइं च।
सव्वे विपरिच्चत्ता, वेरज्जं संकमंतेणं ॥ ६३९ ॥

आचार्या-अर्थदातारः उपाध्यायाः-सूत्रप्रदाः कुलं—नागेन्द्रादि गणः-परस्परसापेक्षानेककुलं संघः समुदायः चैत्यानि-भगवद्बिम्बानि जिनभवनानि वा। एते आचार्यादयः सपक्षिणो वृत्तान्तागच्छन्ति तस्मात्तानेव वृत्तान्तुद्घातयामः मा फलार्थिनः शकुना आगच्छन्तु, एतेन दृष्टान्तसामर्थ्येन तानेवाऽऽचार्याऽऽदीनुद्घातयामो यन तदर्थमिह कोऽपि नाऽऽगच्छतीति त एते दोषाः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः—

एयारिसे विहारो, न कप्पई समणाण सुविहियाणं ।
दो सीमेऽतिक्कमई, जिणसीमं रायसीमं वा ॥ ६४० ॥

एतादृशे वैराज्यं विहारः श्रमणानां सुविहितानां न कल्पते, यस्तु करोति स द्वे सीमानावतिक्रामति, तद्यथा-जिनसीमानं-न कल्पते वैराज्यसंक्रमणं कर्तुमिति लक्षणां, राज्यसीमानं-न कर्त्तव्यो मदीयराज्यात्परराज्ये गमाऽऽगम इति रूपाम् ।

किञ्च—

बंधं वहं च घोरं, पावज्जइ एरिसे विहरमाणे ।
तम्हा उ विवज्जेज्जा, वेरज्जविरुद्धसंकमणं ॥ ६४१ ॥

बन्धो-निगडादिनियन्त्रणं, वधः--कशाघातादिः, घोरं-भयानकमीदृशे विहरमाणे यत आपद्यते तस्माद्वैराज्यसंक्रमणं विवर्जयेत् ।

अथ द्वितीयपदमाह--

दंसणणाणे माता, भत्तविसोही गिलाणमायरिए ।
अधिकरणवादराय, कुलसंगते कप्पती गंतुं ॥ ६४२ ॥

दर्शनार्थं वा वैराज्यसंक्रमणमपि कुर्यात् 'माय' त्ति मातापितरौ कस्याऽपि प्रव्रजितुकामस्य शोकेन म्रियेते 'भत्तविसोहि' त्ति कश्चित्साधुर्भक्तं प्रत्याख्यातुकामः स विशोधिमालोचनां दातुकामो गीतार्थस्य पार्श्वे गच्छेत्, अजङ्गमस्य तस्य पार्श्वे गीतार्था गच्छन्ति 'गिलाण' त्ति ग्लानस्य वा प्रतिचरणार्थं प्रायोग्यौषधंहनवे वा गच्छेत् 'आयरिय' त्ति आचार्यसमीपं आचार्याणामादेशेन वा गच्छन्ति 'अधिकरण' त्ति कस्यापि साधोः केनाऽपि गृहिणा सहाधिकरणमुत्पन्नं स च गृही नोपशाम्यति, ततः प्रज्ञापनालब्धिमान् तस्योपशमनाय गच्छति, 'वाद' त्ति-अन्यराज्ये परप्रवादी कश्चिदुत्थितस्तस्य निग्रहार्थं वादलब्धिसम्पन्नेन गन्तव्यं 'राय' त्ति राजा वा कश्चित् परराष्ट्रीयः साधूनामुपरि प्रद्विष्टस्तस्योपशमनार्थं सलब्धिकेन गन्तव्यं 'कुलसंगत' त्ति उपलक्षणत्वात् कुलगणसंघसङ्गतं किमपि कार्यमुत्पन्नं कुलादिविपर्यासमित्यर्थः । अथवा-'राजकुलसंगत' त्ति एकमेव पदं राजकुलेन सह सङ्गतं-बद्धं केनाऽपि साधुनाऽधिकृतं तदुपशमनाय गच्छति । एवमादिषु कार्येषु वैराज्येऽपि गन्तुं कल्पते ।

अथ दर्शनज्ञानपदद्वयं भाष्यकृद्व्याख्यानयति--

सुत्तत्थतदुभयविसा-रयम्मि पडिवन्नें उत्तिमट्ठम्मि ।
एतारिसम्मि कप्पइ, वेरज्जविरुद्धें संकमणं ॥ ६४३ ॥

दर्शनप्रभावकशास्त्राणामाचारादिश्रुतज्ञानस्य वा सम्बन्धि यदन्यत्राऽविद्यमानं सूत्रार्थतदुभयं तत्र विशारदः कश्चिदाचार्यः स चोत्तमार्थम् अनशनं प्रतिपन्नो; यस्मिश्च क्षेत्रेऽसौ स्थितस्तत्रापान्तराले वा वैराज्यं वर्त्तते, तौ च सूत्रार्थौ मा व्यवच्छेदं प्रापतामिति कृत्वा एतादृशे कारणे वैराज्यविरुद्धे संक्रमणं कर्तुं कल्पते ।

अथ येन विधिना तत्र गन्तव्यं तमभिधित्सुराह—

आपुच्छिय आरक्खिय, सेट्ठि सेणावइ अमच्चरायाणं ।
अइगमणे निग्गमणे, एस विही होइ नायव्वो ॥ ६४४ ॥

आपृच्छ्याऽऽरक्षिकं ततः श्रेष्ठिनं ततः सेनापतिं ततो राजानमप्यापृच्छ्य निर्गन्तव्यं प्रवेष्टव्यं वा, एष विधिरतिगमने निर्गमने च ज्ञातव्यो भवति ।

अमुमेवार्थं प्रकटयन्नाह—

आरक्खितो विसज्जइ, अहव भणिज्जा स पुच्छह तु सेट्ठिं ।
जाव निवो ता नेयं, मुद्दा पुरिसो व दूतेणं ॥ ६४५ ॥

वैराज्यविरुद्धराज्यं गच्छता प्रथमत एव रक्षिकः प्रष्टव्यः यद्यसौ विसर्जयति ततो लष्टम् । अथाऽसौ भणेत्-श्रेष्ठिनं-श्रीदेवताध्यासितशिरोवेष्टनविभूषितोत्तमाङ्गं पृच्छ. ततः श्रेष्ठी प्रष्टव्यः । एवं नृपो यावत् नृपो राजा नेतव्यं; वक्तव्यमित्यर्थः, तत्रैवं श्रेष्ठी पृष्टो यदि विसर्जयति ततः सुन्दरम्, अथाऽसौ ब्रूयात्-अहं न जानामि. सेनापतिं प्रश्नयत . ततः सेनापतिः प्रश्नितो यद्यनुजानीते ततः शोभनम् । अथाऽसौ ब्रूयात्—अमात्यं पृच्छ, ततोऽसावमात्यः पृष्टो यदि विसर्जयति ततो लष्टम् । अथ ब्रूयात्-राजानं पृच्छ . ततो राजाऽपि प्रष्टव्यः। एतं च राजादयो यदि विसर्जयन्ति तदा मुद्रापट्टकं दूतपुरुषा वा मार्गयितव्याः, येन राजादिना विसर्जिता एते इति स्थानपालकाः प्रत्ययतः प्रथममवतारयन्ति । यो वा दूतस्तत्र राज्ये व्रजति तेन सार्द्धं गच्छन्ति एवं तावद्यतो राज्यान्निर्गच्छन्ति तत्र विधिरुक्तः ।

अथ यत्र राज्ये गन्तुकामास्तत्र प्रविशतां विधिमाह—

जत्थ वि य गंतुकामा, तत्थ वि कारिंति तेसि णातं तु ।
आरक्खिगाइ ते वि य, तेणेव कमेण पुच्छंति ॥ ६४६ ॥

यत्रापि राज्ये गन्तुकामास्तत्राऽपि ये साधवो वर्त्तन्ते तेषां लेखप्रेषणेन, सन्देशकप्रेषणेन वा आरोपज्ञानं कुर्वन्ति, यथा वयमितो यत्र राज्यात्तत्राऽऽगन्तुकामा अतो भवन्तस्तत्रारक्षकादीन् पृच्छन्त्विति, यदा तैरनुज्ञाता भवन्ति तदा तान् साधून् ज्ञापयन्ति, यथा तैः आरक्षकादिभिरत्रानुज्ञाताः सन्ति, भवद्भिरत्रागन्तव्यम् । एष निर्गमने प्रवेशे च विधिरुक्तः।

अथ 'आयरिय त्ति' पदं विशेषतो भावयन्नाह—

राईण दोण्ह भंडण, आयरिए आसियावणं होइ ।
कयकरणे करणं वा, निवेद जयणाएँ संकमणा ॥ ६४७ ॥

द्वयो राज्ञोः परस्परं भण्डनं-कलहो वर्त्तते , तत्रैकस्य राज्ञः कोऽप्याचार्योऽतीव पूजासत्कारस्थानं, ततश्च द्वितीयो नृपतिस्तत्परिज्ञायात्मीयदक्षपुरुषैः 'आसिआवणं' ति तस्याऽऽचार्यस्यापहरणं कारयति , अस्मिन् इह गृहीते सम्प्रति पार्थिवो गृहीत एव भवतीति , तत्र च यः करणे-धनुर्वेदादौ गृहवासे कृतपरिश्रमस्तस्य तत्र करणं भवति ; तेनाऽऽचार्यापहारिणा सह युद्धं कर्त्तुमुपतिष्ठत इत्यर्थः । अथ नास्ति कोऽपि कृतकरणस्ततो यस्य राज्ञः सकाशादपहृतस्तस्य निवेदनं कृत्वा यतनया शेषसाधवः संक्रमणं कुर्वन्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदमेव स्पष्टतरमाह—

अब्भरहियस्स हरणे, उज्जाणाऽऽइट्ठियस्स गुरुणो उ ।
उव्वट्टणे समत्थे, दूरगए वाऽवि ते विउलं ॥ ६४८ ॥
पेसवियम्मि अदत्ते, रन्ना जइ वि उ विसज्जिया सिस्सा ।
गुरुणो निवेइयम्मि, हारिंतगराइणो पुव्विं ॥ ६४६ ॥

अभ्यर्हितस्य-राजमान्यस्य गुरोराचार्यस्योद्यानसभाप्रपादिषु स्थितस्य हरणं भवति, यदि च कोऽपि युद्धकरणेन वा तस्योद्वर्तनायां चालनायां समर्थो भवति,ततः स तं निवार्याऽऽचार्यं प्रत्याहरति । अथ नास्त्युद्वर्त्तनासमर्थः ततः क्षणमात्रं साधवस्तूष्णीका आसते, यदा आचार्यापहारी दूरं गतो भवति तदा सर्वेऽपि साधवो बोलं कुर्वन्ति, अस्माकमाचार्यो हृतो धावत लोका इति । आसन्नस्थिते तु बोलं न कुर्वन्ति, मा भूत्परस्परं बहुजनक्षयकारी युद्धविप्लव इति । ततश्च राजा साधुभिरभिधातव्यः—अनाथा वयमाचार्यैर्विना अत आचार्या यथा आगच्छन्ति तथा कुरुत । एवमुक्तोऽसौ द्वितीयस्य राज्ञो दूतं विसर्जयति, शीघ्रमाचार्यः प्रेषणीय इति । यदि प्रेषितस्ततो लष्टम् । अथाऽसौ दूते प्रेषितेऽप्याचार्यं न ददाति; न विसर्जयतीत्यर्थः । ततः साधवो द्वे त्रीणि वा दिनानि राजानं दृष्ट्वा ब्रुवते—अस्मान् विसर्जयत येन गुरूणामुपकण्ठं गच्छामः । कीदृशा वयं गुरुविरहिता अत्र तिष्ठन्तः, स्वाध्यायादिकं चात्र न किमपि निर्वहतीत्यादि एवमुक्ते यद्यपि ते शिष्या न राज्ञा विसर्जितास्तथाऽपि गुरूणां सन्देशकप्रेषणेन निवेदयन्ति, यथा वयमागच्छामः, ततो गुरवः ' हारिंतगराइणो पुव्विं ' ति अपहर्त्तुः राज्ञः पूर्वमेव निवेदयन्ति, अहं शिष्यानप्यानयामि अतः स्थानपालनामादेशं प्रयच्छत, येन ते तान्न गृह्णन्तु. एवं निवेदिते यतनया संक्रमणं कुर्वन्ति । बृ० १ उ० ३ प्रक० । नि० चू० ।

जे भिक्खू वेरज्जं विरुद्धरज्जं सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणाऽऽगमणं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥१७७॥

जेसिं राईणं परोप्परं वेररज्जं जेसिं राईणं परोप्परं गमणागमणं विरुद्धं तं वेरज्जविरुद्धरज्जं । सज्जग्गहणवट्टमाणा कालग्गहणं । अहवा-अभिक्खं गमणं करेंति पच्चवगं पडुच्च गमणं, अरण्णट्ठाणातो आगमणं, गन्तुपडियागयस्स गमणाऽऽगमणं । एवं जो करेइ तस्स आणादिया य दोसा, चउगुरुं च से पच्छित्तं । एसो सुत्तत्थो । नि० चू० ११ उ० । ('नदीसंतरणविधिः ' णईसंतरण ' शब्दे चतुर्थभागे १७४२ पृष्ठे उक्तः ।)

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदउल्लं वा कायं ससिणिद्धं वा कायं णो आमज्जेज्ज वा नो पमज्जेज्ज वा, अह पुण विगओदए मे काए छिन्नसिणेहे तहप्पगारं कायं आमज्जिज्ज वा० जाव पयाविज्ज वा तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा । (सू०-१२४×) आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० ।

उदकोत्तीर्णस्य गमनविधिमाह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाऽणुगामं दूइज्जमाणे नो मट्टियागएहिं पाएहिं हरियाणि छिंदिय छिंदिय विकुज्जिय विकुज्जिय विप्फालिय विप्फालिय उम्मग्गेणं हरियवाहाए गच्छिज्जा, जमेयं पाएहिं मट्टियं खिप्पामेव हरियाणि अवहरंतु, एवमाइट्ठाणं संफासे नो एवं करिज्जा, से पुव्वामेव अप्पहरियं मग्गं पडिलेहिज्जा तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्ज. । (सू० १२५)

स भिक्षुरुदकादुत्तीर्णः सन् कर्दमाविलपादः सन् नो हरितानि भृशं छित्त्वा तथा विकुब्जानि कृत्वा एवं भृशं पाटयित्वोन्मार्गेण हरितवधाय गच्छेत् । यथैनां पादमृत्तिकां हरितान्यपनयेयुरित्येवं मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैतत्कुर्याच्छेषं सुगममिति

(२३) मार्गे वप्रादिके गमनविधिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा गड्ढाओ वा दरीओ वा सइ परक्कमे संजयामेव परक्कमिज्जा, नो उज्जुयं गच्छेज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं, से तत्थ परक्कममाणे पयलिज्ज वा पवडिज्ज वा से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा, रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा गहणाणि वा हरियाणि वा अवलंबिय अवलंबिय उत्तरिज्जा, जे तत्थ पाडिपहिया उवागच्छंति ते पाणी जाइज्जा २, तओ संजयामेव अवलंबिय अवलंबिय उत्तरिज्जा तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा । (सू० १२५ ×)

स भिक्षुर्ग्रामान्तराले यदि वप्रादिकं पश्येत्ततः सत्यन्यस्मिन् संक्रमे तेन ऋजुना पथा न गच्छेत्, यतस्तत्र गर्त्तादौ निपतन् सचित्तं वृक्षादिकमवलम्बते, तच्चायुक्तम् । अथ कारणिकस्तेनैव गच्छेत्, कथञ्चित्पतितश्च गच्छतो वल्ल्यादिकमप्यवलम्ब्य प्रातिपथिकं हस्तं वा याचित्वा संयत एव गच्छेदिति । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० । (पङ्कादिसंक्रममार्गः ' णईसंतरण ' शब्दे चतुर्थभागे १७४० पृष्ठे उक्तः ।)

किञ्च-यवसाऽऽदिसंसृष्टे मार्गे विधिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से जवसाणि वा सगडाणि वा रहाणि वा सचक्काणि वा परचक्काणि वा से णं वा विरूवरूवं संनिरुद्धं पेहाए सइ परक्कमे संजयामेव णो उज्जुयं गच्छेज्जा, से णं परो सेणागओ वइज्जा आउसंतो ! एस णं समणे सेणाए अभिनिचारियं करेइ, से णं बाहाए गहाय आगसह, से णं परो बाहाहिं गहाय आगसिज्जा, तं नो सुमणे सिया० जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा । (सू०-१२५ ×)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स भिक्षुर्यदि ग्रामान्तराले यवसं—गोधूमादिधान्यं शकटस्कन्धावारनिवेशादिकं वा भवेत् तत्र बह्वपायसम्भवात्तन्मध्येन सत्यपरस्मिन् पराक्रमे न गच्छेत्, शेषं सुगममिति।

(२४) प्रातिपथिकपृच्छायां विधिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज्जा आउसंतो ! समणा ! केवइए एस गामे वा० जाव रायहाणी वा केवइया इत्थ आसा हत्थी गामपिंडोलगा मणुस्सा परिवसंति। से बहुभत्ते बहुउदए बहुजणे बहुजवसे, से अप्पभत्ते अप्पुदए अप्पजणे अप्पजवसे?, एयप्पगाराणि पसिणाणि पुच्छिज्जा, एयप्पगाराणि पुट्ठो वा अपुट्ठो वा नो वागरिज्जा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिते सया जइज्जासि। (सू०–१२६) त्ति बेमि॥

'से' तस्य भिक्षोरपान्तराले गच्छतः प्रातिपथिकाः—सम्मुखाः पथिका भवेयुः, ते चैवं वदेयुर्यथा- आयुष्मन् !श्रमण ! किम्भूतोऽयं ग्रामः ? इत्यादि पृष्टो न तेषामाचक्षीत, नापि तान् पृच्छेदिति पिण्डाऽर्थः,एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति। आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ०।

(२५) मार्गे वप्रादीनि नाङ्गुल्या दर्शयेत्। इहानन्तरं गमनविधिः प्रतिपादितः, इहाऽपि स एव प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्याऽऽदिसूत्रम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा०जाव दरीओ वा०जाव कूडागाराणि वा पासायाणि वा नूमगिहाणि वा रुक्खगिहाणि वा पव्वयगिहाणि वा रुक्खं वा चेइयकडं थूभं वा चेइयकडं आएसणाणि वा ० जाव भवणगिहाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय अंगुलिआए उद्दिसिय उद्दिसिय ओणमिय ओणमिय उन्नमिय उन्नमिय निज्झाइज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा॥

स भिक्षुर्ग्रामाद् ग्रामान्तरं गच्छन् यद्यन्तराले एतत्पश्येत्, तद्यथा —परिखाः प्राकारान् कूटागारान्-पर्वतोपरि गृहाणि नूमगृहाणि—भूमिगृहाणि . वृक्षप्रधानानि तदुपरि वा गृहाणि वृक्षगृहाणि, पर्वतगृहाणि—पर्वतगुहाः, 'रुक्खं वा चेइयकडं' ति वृक्षस्याऽधो व्यन्तरादिस्थलकं स्तूपं वा—व्यन्तरादिकृतं—तदेवमादिकं साधुना भृशं बाहुं प्रगृह्य-उत्क्षिप्य तथाऽङ्गुलीः प्रसार्य तथा कायमवनम्योन्नम्य वा न दर्शनीयं नाप्यवलोकनीयं, दोषाश्चात्र दग्धमुषितादौ साधुराशङ्क्येताजितेन्द्रियो वा सम्भाव्येत,तत्स्थः पक्षिगणो वा सन्त्रासं गच्छेत्, एतद्दोषभयात्संयत एव दूयेत्—गच्छेदिति।

मार्गे,कच्छादीनि नाङ्गुल्या प्रदर्शयेत्, तथा—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जेज्जमाणे अंतरा से कच्छाणि वा दवियाणि वा नूमाणि वा वलयाणि वा गहणाणि वा गहणविदुग्गाणि वा वणाणि वा वणविदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयविदुग्गाणि वा अगडाणि वा तलागाणि वा दहाणि वा नईओ वा वावीओ वा पुक्खरिणीओ वा दीहियाओ वा गुंजालियाओ वा सराणि वा सरपंतियाणि वा सरसरपंतियाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय ०जाव निज्झाइज्जा, केवली बूया-आदाणमेयं। जे तत्थ मिगा वा पसू वा पक्खी वा सरीसिवा वा सीहा वा जलचरा वा थलचरा वा खहचरा वा सत्ता ते उत्तसिज्ज वा वित्तसिज्ज वा वाडं वा सरडं वा कंखिज्जा, चारित्ति मे अयं समणे, अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा—तिण्णा०४ जं नो बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय निज्झाइज्जा, तओ संजयामेव आयरियउवज्झाएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जिज्जा॥ (सू०–१२७)

स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छेत्,तस्य च गच्छतो यद्येतानि भवेयुः, तद्यथा-कच्छाः-नद्यासन्ननिम्नप्रदेशा मूलकवालुङ्कादिवाटिका वा 'दवियाए' त्ति अटव्यां घासार्थं राजकुलावरुद्धभूमयः निम्नानि—गर्त्तादीनि वलयानि-नद्यादिवेष्टितभूमिभागाः गहनं-निर्जलप्रदेशोऽरण्यक्षेत्रं वा गुञ्जालिकाः-दीर्घा गम्भीराः कुटिलाः श्लक्ष्णाः जलाशयाः सरःपङ्क्तयः——प्रतीताः, 'सरःसरःपङ्क्तयः '-परस्परसंलग्नानि बहूनि सरांसीति, एवमादीनि बाह्वादिना न प्रदर्शयेत् नावलोकयेद्वा, यतः केवली ब्रूयात्-कर्मोपादानमेतत्, किमिति ?, यतो ये तत्स्थाः पक्षिमृगसरीसृपाऽऽदयस्ते त्रासं गच्छेयुः, तद्वासिनां वा साधुविषयाऽऽशङ्का समुत्पद्येत। अथ साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यत्तथा न कुर्यात्, आचार्योपाध्यायादिभिश्च गीतार्थैः सह विहरेदिति।

(२६) साम्प्रतमाचार्यादिना सह गच्छतः साधोर्विधिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा आयरियउवज्झाएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जमाणे नो आयरियउवज्झायस्स हत्थेण वा हत्थं ०जाव अणासायमाणे तओ संजयामेव आयरियउवज्झाएहिं सद्धिं ०जाव दूइज्जिज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा आयरियउवज्झाएहिं सद्धिं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज्जा-आउसंतो ! समणा ! के तुब्भे ?, कओ वा एह ?, कहिं वा गच्छिहिह ?, जे तत्थ आयरिए वा उवज्झाए वा से भासिज्ज वा वियागरिज्ज वा, आयरियउवज्झायस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं करिज्जा, तओ संजयामेव अहाराइणिएण सद्धिं० जाव वा दूइज्जिज्जा॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहाराइणियं गामाणुगामं दूइज्जमाणो राइणियस्स हत्थेण हत्थं ०जाव अणासायमाणे तओ संजयामेव अहाराइणियं गामाणुगामं दूइज्जिज्जा॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा अहाराइणिअं गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज्जा आउसंतो ! समणा ! के तुब्भे ? , जे तत्थ सव्वराइणिए से भासिज्ज वा वागरिज्ज वा, राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं भासिज्जा, तओ संजयामेव अहाराइणियाए गामाणुगामं दूइज्जिज्जा। (सू०-१२८)

स भिक्षुराचार्यादिभिः सह गच्छंस्तावन्मात्रायां भूमौ स्थितो गच्छेद्, यथा हस्तादिसंस्पर्शो न भवतीति। तथा-स भिक्षुराचार्यादिभिः सार्द्धं गच्छन् प्रातिपथिकेन पृष्टः सन् आचार्यादीनतिक्रम्य नोत्तरं दद्यात्, नाप्याचार्यादौ जल्पत्यन्तरभाषां कुर्यात्, गच्छंश्च संयत एव युगमात्रया दृष्ट्या यथारत्नाधिकं गच्छेदिति तात्पर्यार्थः। एवमुत्तरसूत्रद्वयमप्याचार्योपाध्यायैरिवापरेणाऽपि रत्नाधिकेन साधुना सह गच्छता हस्तादिसंघट्टोऽन्तरभाषा च वर्जनीयेति द्रष्टव्यमिति।

किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो ! समणा ! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह तं जहा--मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा पसुं वा पक्खिं वा सरीसिवं वा जलयरं वा से आइक्खह दंसेह, तं नो आइक्खिज्जा नो दंसिज्जा, नो तस्स तं परिन्नं परिजाणिज्जा, तुसिणीए उवेहिज्जा, जाणं वा नो जाणं ति वइज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दुइज्जेज्जा अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज्जा—आउसंतो ! समणा ! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह उदगपसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा तया पत्ता पुप्फा फला बीया हरिया उदगं वा संनिहियं अगणिं वा संनिक्खित्तं से आइक्खह० जाव दूइज्जिज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं आउसंतो ! समणा ! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह जवसाणि वा० जाव से णं वा विरूवरूवं संनिविट्ठं से आइक्खह० जाव दूइज्जिज्जा॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा पाडिवहिया०जाव आउसंतो ! समणा ! केवइए इत्तो गामे वा ० जाव रायहाणिं वा से आइक्खह ० जाव दूइज्जिज्जा॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से पाडिवहिया आउसंतो ! समणा ! केवइए इत्तो गामस्स नगरस्स वा० जाव रायहाणीए वा मग्गे से आइक्खह, तहेव०जाव दूइज्जिज्जा॥ (सू०-१२९)

'से' तस्य भिक्षोर्गच्छतः प्रातिपथिकः कश्चित्संमुखीन एतद् ब्रूयात्, तद्यथा-आयुष्मन्! श्रमण!, अपि च-किं भवता पथ्यागच्छता कश्चिन्मनुष्यादिरुपलब्धः?, तं चैवं पृच्छन्तं तूष्णींभावेनोपेक्षेत, यदि वा-जानन्नपि नाहं जानामीत्येवं वदेदिति। अपि च-स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् केनचित्सम्मुखीनेन प्रातिपथिकेन पृष्टः सन् उदकप्रसूतं कन्दमूलादि नैवाचक्षीत, जानन्नपि नैव जानामीति वा ब्रूयादिति। एवं यवसासनादिसूत्रमपि नेयमिति। तथा कियद्दूरं ग्रामादिप्रश्नसूत्रमपि नेयमिति। एवं कियान् पन्थाः? इत्येतदर्शीति।

किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से गोणं वियालं पडिवहे पेहाए०जाव चित्तचिल्लडं वियालं पडिपहे पेहाए नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा, नो मग्गाओ उम्मग्गं संकमिज्जा, नो गहणं वा वणं वा दुग्गं वा अणुपविसिज्जा, नो रुक्खंसि दुरूहिज्जा, नो महइमहालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्जा, नो वाडं वा सरणं वा सेणं वा सत्थं वा कंखिज्जा अप्पुस्सुए०जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा।

स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् यद्यन्तराले गां—वृषभं व्यालं दर्पितं प्रान्तपथे पश्येत्, तथा सिंहं व्याघ्रं यावच्चित्रकं तदपत्यं वा व्यालं क्रूरं दृष्ट्वा च तद्भयान्नैवोन्मार्गेण गच्छेत्, न च गहनादिकमनुप्रविशेत्, नापि वृक्षादिकमारोहेत्, न चोदकं प्रविशेत्, नापि शरणमभिकाङ्क्षेत्, अपि त्वल्पोत्सुकोऽविमनस्कः संयत एव गच्छेत्। एतच्च गच्छनिर्गतविधेयं, गच्छान्तर्गतास्तु व्यालादिकं परिहरन्त्यपीति।

किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा उवगरणपडियाए सपिंडिया गच्छिज्जा, नो तेसिं भीओ उम्मग्गेण गच्छिज्जा०जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा (सू०-१३०)

'से'-तस्य भिक्षोर्ग्रामान्तराले गच्छतः 'विहं' ति अटवीप्रायो दीर्घोऽध्वा भवेत्, तत्र च आमोषकाः-स्तेनाः उपकरणप्रतिज्ञया—उपकरणार्थिनः समागच्छेयुः, न तद्भयादुन्मार्गगमनादि कुर्यादिति।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दुइज्जमाणे अंतरा से आमोसगा संपिंडिया गच्छिज्जा,ते णं आमोसगा एवं वइज्जा आउसंतो ! समणा ! आहर एयं वत्थं वा पत्तं वा कंवलं वा पायपुंछणं वा देहि णिक्खिवाहि,तं नो दिज्जा निक्खिविज्जा, नो वंदिय वंदिय जाइज्जा, नो अंजलिं कट्टु जाइज्जा, नो कलुणपडियाए जाइज्जा, धम्मियाए जायणाए जाइज्जा,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुसिणीयभावेण वा तेणं आमोसगा सयं करणिज्जं ति कट्टु अक्कोसंति वा० जाव उद्दविंति वा वत्थं वा पत्तं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा अच्छिंदिज्ज वा० जाव परिट्ठविज्ज वा, तं नो गामसंसारियं कुज्जा, नो परं उवसंकमित्तु नो रायसंसारियं कुज्जा बूया-आउसंतो! गाहावई एए खलु आमोसगा उवगरणपडियाए सयं करणिज्जं ति कट्टु अक्कोसंति वा ०जाव परिट्ठवंति वा, एयप्पगारं मणं वा वायं वा नो पुरओ कट्टु विहरिज्जा, अप्पूसए ०जाव समाहिए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा। एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं संघट्टेहिं सहिते सया जइज्जासि त्ति बेमि। (सू०-१३१)

स भिक्षुर्ग्रामान्तरे गच्छन् यदि स्तेनैरुपकरणं याच्येत तत्तेषां न समर्पयेत्, बलाद् गृह्णतां भूमौ निक्षिपेत् न च चौरगृहीतमुपकरणं वन्दित्वा दीनं वा वदित्वा पुनर्याचेत, अपि तु धर्मकथनपूर्वकं गच्छान्तर्गतो याचेत. तूष्णींभावेन चोपेक्षेत, ते पुनः स्तेनाः स्वकरणीयमिति कृत्वैतत्कुर्युः, तद्यथा—आक्रोशन्ति वाचा. ताडयन्ति दण्डेन यावज्जीविताद्व्यपरोपयन्ति, वस्त्रादिकं वाऽऽच्छिन्द्युर्यावत्तत्रैव प्रतिष्ठापयेयुः—त्यजेयुः, तच्च तेषामेवं चेष्टितं न ग्रामे संसारणीयं-कथनीयं, नापि राजकुलादौ, नापि परं गृहस्थमुपसंक्रम्य चौरचेष्टितं कथयेत्, नाप्येवंप्रकारं मनो वाचं वा सङ्कल्प्यान्यत्र गच्छेदिति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति। आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ०।

(२७) पूर्वोत्तरदिग्मानं विहारक्षेत्रस्याह—

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुरत्थिमेणं ०जाव अंगमगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं ०जाव कोसंबीओ एत्तए पच्चत्थिमेणं ०जाव थूणाविसयाओ एत्तए, उत्तरेणं० जाव कुणालाविसयाओ एत्तए, एतावता तत्थ कप्पइ एतावता च आरिए खेत्ते, णो से कप्पइ एत्तो बाहिं तेण परं जत्थ नाणदंसणचरित्ताइं उस्सप्पंति त्ति बेमि॥ ५१॥

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्धः इत्याह—

इति काले पडिसेहो, परूवितो अह इदाणि खेत्तम्मि।
चउदिसि समणुण्णायं, मोत्तूणं परेण पडिसेहो॥१०६०॥

इति-अमुना प्रकारेण रात्रिलक्षणो यः कालस्तद्विषयः प्रतिषेधः प्ररूपितः। अथानन्तरमिदानीं क्षेत्रविषयः प्ररूप्यते, कथमित्याह-चतसृषु दिक्षु यावत् क्षेत्रमत्र सूत्रे समनुज्ञातं तावन्मुक्त्वा परेण बहिः क्षेत्रेषु विहारस्य प्रतिषेधो मन्तव्यः।

किञ्च—

हेट्ठा वि य पडिसेहो, दव्वादी दव्वे आदिसुत्तं तु।
घडिमत्तचिलिमिलीए, वत्थादी चेव चत्तारि॥१०६१॥
वगडा रत्था दगतीरं च विहिचरमगं च खित्तम्मि।
सोरियपाहुडभावे, सेसा काले य भावे य॥ १०८२॥

अधस्तनसूत्रेष्वपि द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयप्रतिषेधा मन्तव्याः, तत्र द्रव्यप्रतिषेधपरमादिसूत्रं प्रलम्बप्रकृतमित्यर्थः। तथा घटीमात्रसूत्रं चिलिमिलिकासूत्रं च वस्त्रादिप्रतिषेधकानि च चत्वारि सूत्राणि एवं तावत् "निग्गंथं च णं गाहावइकुलं अणुप्पविट्ठं केइ हत्थेण वा पाएण वा" इत्यादिलक्षणं द्वितीयमिदमेव, "बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा" इति विशेषितं तृतीयचतुर्थं त्वयमेव, निर्ग्रन्थीविषये एतान्यपि द्रव्यप्रतिषेधपराणि। तथा वगडासूत्रं रथ्यामुखापणगृहादिसूत्रं दकतीरसूत्रम्, एतदेव प्रस्तुतं, चरमसूत्रम्। एतानि क्षेत्रप्रतिषेधपराणि। तथा योऽन्यतो विभागान् स्वसागारिकसूत्राणि यत्र प्रभूतमधिकरणं तद्विषयसूत्राणि भावप्रतिषेधपराणि, शेषाणि तु मासकल्पप्रकृतप्रभृतीनि सर्वाण्यपि सूत्राणि काले च भावे च उभयोरपि प्रतिषेधकानि भवन्ति।

अहव ण सुत्ते सुत्ते, दव्वादीणं चउण्हतोतारो।
सोउ अर्धाणो वत्तरि, सोत्तरि य अतो अणियमो तु॥१०६३॥

अथवा-न पृथग् द्रव्यादिविषयाणि सूत्राणि किं तु सूत्रे चतुर्णां द्रव्यक्षेत्रकालभावानामवतारः प्रदर्शयितव्यः. स चाऽवतारो वक्तरि वाधीन-आयत्तः। यदि वक्ता तथाविधप्रतिपादनशक्तिसमन्वितः, श्रोता च ग्रहणधारणालब्धिसम्पन्नः तदा भवति सूत्रे चतुर्णां द्रव्यादीनामवतारः, अन्यथा तु नेति भावः। अतो नायं नियमो यदवश्यं प्रतिसूत्रं द्रव्यादिचतुष्टयमवतारणीयमित्यनेन सम्बन्धेनायातस्याऽस्य (सू० ५१) व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा पूर्वस्यां दिशि यावदङ्गमगधान् एतुं-विहर्त्तुम्, अङ्गा नाम-चम्पाप्रतिबद्धो देशः दक्षिणस्यां दिशि यावत् कौशाम्बी, एवं प्रतीच्यां दिशि स्थूणाविषयं यावदेतुम्, उत्तरस्यां दिशि कुणालाविषयं यावदेतुम्, सूत्रे पूर्वदक्षिणादिपदे यस्तृतीयानिर्देशो लिङ्गव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात् एतावत्तावत्क्षेत्रमवधीकृत्य विहर्तुं कल्पते। कुत इत्याह-एतावत्तावदस्मादार्यक्षेत्रं नो 'से' तस्य निर्ग्रन्थस्य वा निर्ग्रन्थ्या वा कल्पते, अत एवंविधात् आर्यक्षेत्रात् बहिर्विहर्तुं ततः परं बहिर्देशेषु यत्र ज्ञानदर्शनचारित्राणि उत्सर्पन्ति-स्फीतिमासादयन्ति तत्र विहर्त्तव्यम्। इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमीति तीर्थकरगणधरोपदेशेन न तु स्वमनीषिकयेति सूत्रार्थः। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

(२८) केदं सूत्रमुक्तम्। अथेदं सूत्रं भगवता यत्र क्षेत्रे यं च कालं प्रतीत्य प्रज्ञप्तं तदेवाह—

साएयम्मि पुरवरे, सभूमिभागम्मि वद्धमाणेण।
सुत्तमिणं पण्णत्तं, पडुच्च तं चेव कालं तु॥ ११९०॥

साकेते पुरवरे उद्याने समवसृतेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना सूत्रमिदं तमेव वर्त्तमानं कालं प्रतीत्य निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां पुरतः प्रज्ञप्तम्।

कथमित्याह—

मगहा कोसंबी य, थूणाविसओ कुणालविसओ य।
एसा विहारभूमी, एतावंताऽऽरियं खेत्तं॥ ११११॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्मात्-साकेतात् पूर्वस्यां दिशि कौशाम्बीविषयम्, अपरस्यां दिशि स्थूणाविषयम्, उत्तरस्यां दिशि कुणालाविषयं, यावद् ये देशाः एतावदार्यक्षेत्रं मन्तव्यम् । अत एव साधूनामेषा विहारभूमिः । इतः परं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां विहर्तुं न कल्पते । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

(२६) अथाऽऽर्यक्षेत्रविहारकारणमाह-

जम्मणनिक्खमणेसु य, तित्थकराणं करेंति महिमाओ ।
भवणवइवाणमंतर-जोइसवेमाणिया देवा ॥ १११५ ॥

इहाऽऽर्यक्षेत्रे भगवतां तीर्थकृतां जन्मनिष्क्रमणयोश्चशब्दात् ज्ञानोत्पत्तौ च भवनपतिवाणमन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवा महिमाः—सातिशयपूजाः कुर्वन्ति, ताश्च दृष्ट्वा बहवो बुद्धा विबुध्यन्ते-प्रव्रज्यां प्रतिपद्यन्ते, अचिरप्रव्रजिताः अपि स्थिरतरा भवन्ति ।

उप्पण्णे णाणवरे, तम्मि अणंते पहीणकम्माणो ।
तो उवदिसंति धम्मं,जगजीवहिया य तित्थकरा ।१११६।

तस्मिन् देशे अनन्ते—अपर्यवसिते ज्ञानवरे—मतिश्रुतादिशेषज्ञानप्रधाने केवलाऽऽख्ये उत्पन्ने-तदावारककर्मक्षयादाविर्भूते सति प्रहीणकर्माणः—प्रक्षीणघातिकर्मांशास्तीर्थकरास्ततो-ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं धर्मं-श्रुतचारित्ररूपं जगज्जीवहितायोपदिशन्ति ।

लोगच्छेरयभूतं, ओवयणं निवयणं च देवाणं ।
संसय वागरणाणि य,पुच्छंति तहिं जिणवरिंदे।१११७।

लोकस्य-मनुष्यलोकस्याऽऽश्चर्यभूतं विस्मयकारि देवानामुत्पतनं निपतनं च दृष्ट्वा बहवो जीवाः प्रतिबुद्ध्यन्ते तथा देवमनुष्यतिर्यग्रूपाः असङ्ख्येयाः संज्ञिनः स्वस्वसंशयानां व्याकरणानि निर्वचनानि जिनवरेन्द्रान् तत्रार्यजनपदे पृच्छन्ति, भगवन्तोऽपि च सातिशयत्वात्तेषामसंख्येयानामपि युगपदेव संशयानुन्मूलयन्ति ।

अपि च—

समणगुणविदु त्थ जणो, सुलभो उवधी सततमविरुद्धो ।
आरियविसयम्मि गुणा,णाणचरणगच्छवुड्ढी य।१११८।

श्रमणगुणा-मूलोत्तरगुणरूपाः, तत्र पञ्च महाव्रतानि मूलगुणाः उद्गमोत्पादनैषणादोषाः विशुद्धिरष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि चोत्तरगुणान्ताः, वेत्ति—जानातीति श्रमणगुणवित् ईदृशोऽत्रार्यजनपदे जनो—लोकः अत्र चोपधिरौघिक उपग्रहिकश्च स्वतन्त्रेण—स्वसिद्धान्तोक्तेन प्रकारेण विशुद्धोऽदूषितः सुलभः-सुखेनैव लभ्यते, एते आर्यविषये विहरतां गुणा भवन्ति । तथा ज्ञानस्य चरणस्योपलक्षणत्वाद्दर्शनस्य चात्र वृद्धिर्भवति व्याघाताभावो ज्ञानदर्शनचारित्राणि स्फीतिमुपगच्छन्तीति भावः । गच्छस्य चात्र वृद्धिर्भवति बहूनां भव्यजन्तूनां प्रव्रज्याप्रतिपत्तिः ।

एत्थ किर सण्णि सावग,जाणंति अभिग्गहे सुविहियाणं ।
एतेहिँ कारणेहिं,विहिगमणे होंतऽणुग्घाया ॥१११९॥

अत्र किलार्यक्षेत्रे संज्ञा—गुरुदेवधर्मपरिज्ञानं सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः—अविरतसम्यग्दृष्टयः श्रावकाः प्रतिपन्नाऽणुव्रताः एते सुविहितानां—साधूनामभिग्रहान् जानन्ति । अभिग्रहा यथा—इत्थमाहारादिकममीषां कल्पते इत्थं च न कल्पते । अथवा—अभिग्रहा द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषाः प्रागुक्तस्वरूपास्तान् ज्ञात्वा ते संज्ञिश्रावकास्तथैव प्रतिपूरयन्ति । एतैः कारणैरार्यजनपदे विहारः कर्त्तव्य इति वाक्यशेषः । यद्यार्यक्षेत्राद्बहिः ततश्चत्वारः अनुद्घाता मासाः प्रायश्चित्तम् ।

आणादिणो य दोसा, विराहणा खंदएण दिट्ठंतो ।
एतेण कारणेणं, पडुच्च कालं तु पण्णवणा ॥ ११२० ॥

आज्ञादयश्च दोषा विराधना चात्मसंयमविषया । तत्र च स्कन्दकाचार्येण दृष्टान्तः कर्त्तव्यः । अत एतेन कारणेन बहिर्न गन्तव्यम्, एतद्भगवद्वर्द्धमानस्वामिकालं प्रतीत्योक्तम् । इदानीं तु सम्प्रति नृपतिकालं प्रतीत्य प्रज्ञापना क्रियते, यत्र यत्र ज्ञानदर्शनचारित्राण्युत्सर्पन्ति तत्र तत्र विहर्त्तव्यम् ।

अथ स्कन्दकाचार्यदृष्टान्तमाह—

दोच्चेण आगतो खं-दएण वादे पराजितो कुवितो ।
खंदय दिक्खा पुच्छा,णिवारणाऽऽराहपव्वज्जा॥११२१॥
उज्जाणाऽऽयुधणूमण, णिवकहणं कोव जंतयं पुव्वं ।
थंभविरिक्को णिदाणं, कंबलदाणे रयोहरणं ॥११२२॥
अग्गिकुमारुववातो, चिंता देवीएँ चिण्हरयहरणं ।
खेयण सपरिसदिक्खा,जिणसाहर वातडाहो य॥११२३॥

कथा-"सावत्थी नयरी जियसत्तू राया धारणी देवी, तेसिं तु पुत्तो खंदतो कुमारो युवराया, भगिणी से पुरन्दरजसा । सो य खंदतो सावतो अभिगतो, इओ य उत्तरावहे पच्चयंता कुंभकारकडं नगरं, दंडती राया तस्स दोहितो पालतो । सा पुरन्दरजसा दंडतिस्स रन्नो दिन्ना अन्नया पालयदूतो आगतो खंदयकुमारेण रायपरिसाए वाए पराजिओ पदुट्ठो ।से वि य सविसयं गतो । खंदतो पंचहिं सएहिं सद्धिं पव्वइओ मुणिसुव्वयसामिणो अंतिए.तस्सेव ते सीसा जाया । अन्नया तित्थयरं आपुच्छति-पंचहिं सएहिं सद्धिं कुंभकारकडं वच्चामि,भगवया वारितो सोवसग्गंति, पुणो पुच्छति-आराहया, तुमं मोत्तुं सेसा आराहया,एवं सो गतो कुंभकारकडं,तस्स उज्जाणे ठितो पालगेण य दिट्ठो । ताहे तेणं पुव्ववेरेणं दंडती वुग्गाहितो । एस परीसहपराजितो पंचहिं सएहिं सद्धिं तव रज्जं घेच्छेहिति, सो य न पत्तियइ । ताहेऽणेण आउहाणि अग्गुज्जाणे ठवियाणि । दंसेऊण वुग्गाहितो । तओ भणति-तुमं चेव से जं जाणसि तं करेहि, तेण पुरिसजंतकं कयं, सव्वे आरद्धा पिल्लिउं।खंदएण भणियं ममं पढमं मारेहि।ताहे सो भणति-तुमं पिच्छाहि ताव सीसे वहिज्जंते, एवं ते सव्वे वहिया, सिद्धे य।पच्छा खंदयस्स वद्धस्स रुहिरविरिक्काहि य सिच्चमाणस्स सीसेसु य खंडिज्जंतेसु असुहो परिणामो जातो, तेण नियाणयं कयं । अग्गिकुमारेसु उववन्नो,भगिणीए से कंबलरयणं दिन्नं । ततोहिंतो रयहरणं कयं, तं रुहिरावलित्तं,साणेहि य मंसं ति काउं गहियं।देवीए अग्गतो पाडियं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कता एयं रयहरणं. किं मम भाया मारिओ ? त्ति । तीए राया भणितो अहो विणट्ठोऽसि । ताहे सा अग्गिकुमारेसु पज्जत्तो जातो । ताहे नगरस्स सव्वतो जोयणपरिमंडलं जं किंचि तणं वा कट्ठं वा तं साहरिउं दड्ढं सजणवयं नयरं । सो जणवओ अणेण सपुत्तदारओ सह सुयणेणं कुम्भीए पक्को. पुरंदरजसा य मुणिसुव्वयतित्थयरपायमूलं साहरिया सपरिसा" । अथ गाथाक्षरयोजना-श्रावस्त्यां पालको दौत्येनागतः, स च वादे स्कन्दकेन पराजितः। ततोऽसौ तस्योपरि कुपितः। इतश्च स्कन्दकस्य सुव्रतस्वामिपार्श्वे दीक्षा अधीतसूत्रार्थस्य तस्यान्यदा भगवतां समीपे पृच्छा. व्रजाम्यहं कुम्भकारकृतं नगरम्, भगवता तु सोपसर्गमिति भणित्वा निवारणा कृता । तथा त्वद्वर्ज्जाः सर्वेऽप्याराधका इति च भणन्ति । ततस्तं कुम्भकारकृतपुरमागच्छन्तं श्रुत्वा पालकेन यत्रोद्यानेऽसौ स्थितः तत्राऽऽयुधानां 'णूमण' त्ति प्रच्छन्नं स्थापना कृता । ततो नृपस्य कथना यथैष परीषहपराजितस्त्वां मारयित्वा त्वदीयं राज्यमधिष्ठास्यतीत्यादि, ततो राज्ञः कोपोऽभवत्, भणितं च । यत्ते रोचते तदमीषां कुरुष्वेति । ततस्तेन पुरुषयन्त्रं कृत्वा पीडयितुमारब्धाः साधवः, स्कन्दकेनोक्तं पूर्वं मां यन्त्रमध्ये प्रक्षिप । ततस्तेन पापाऽऽत्मना स्कन्दकस्य स्तम्भे गाढतरं बन्धनं कृतं, ततो निपीड्यमानसाधुसम्बन्धिनीभिः शोणितविप्रुड्भिः सिक्तेन स्कन्दकेन निदानं कृतम् । भगिन्या च तस्य कम्बलरत्नदानं कृतमासीत्, तेन च रजोहरणं कृतम्। स्कन्दकस्य च विपद्याग्निकुमारेषूपपातः, ततो रजोहरणं शोणितलिप्तं चिह्नमवलोक्य देव्याश्चिन्ता नूनमपद्राविताः साधवः पापात्मनेति । ततः प्रभूतं राज्ञः पुरतः खेदनं ततः सपरिषदः सपरिवारायास्तस्या दीक्षादापनार्थं जिनसमीपे संहरणं—नयनं संवर्त्तकवातं विकुर्व्य सकलस्याऽपि पुरस्य दाहो-दहनम् । यत एवमादयो दोषाः अतो नाऽनार्यक्षेत्रे विहर्त्तव्यम् । बृ० १ उ० ३ प्रक० । (यत्र ज्ञानदर्शनचारित्राण्युत्सर्पन्ति तत्र विहर्त्तव्यमिति यदुक्तं तद्विषयकाभिधानं ' संपइ ' शब्दे वक्ष्यते ।)

(३०) निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ विकाले वा विहारनिषेधः—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा अद्धाणगमणं पत्तए ॥ ४७ ॥

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्ध इत्याह—

हरियाहडिअट्ठाए, होज्ज विहे माइयं न वारेमो ।
जं पुण रत्तिं गमणं , तदट्ठ अन्नऽट्ठ वा सुत्तं ॥८६४॥

विहे-अध्वनि गच्छतां हृताहृतिकार्थमेवमादिकं पल्लीगमनप्रभृतिकं भवेत्, न वयं तद्वारयामः, यत्पुना रात्रावध्वनि गमनं तदर्थं-हृताहृतिकानिमित्तम्, अन्यार्थमन्येषां ज्ञानादिकारणानामर्थाय तत्र सूत्रमवतरति, तन्न कल्पते इति भावः ।

अहवा तत्थ अणाया, वच्चंते होज्ज रत्तिचारिस्स।
जइ वा विहं वि रत्तिं,वारिंतिऽविहं किमंग! पुणो।८६६।

अथवा तत्राऽ-ध्वनि व्रजतां यो रात्रिचारी-रात्रा गमनशीलस्तस्य संयमात्मप्रवचनविषया बहवः प्रत्यपाया भवेयुरिति रात्रौ गमनं च वार्यते , यदि च-विहमप्यध्वानमपि रात्रौ गन्तुं वारयति ततः किमङ्ग ! पुनरविहमनध्वानम् , जनपदे सुतरां रात्रौ गन्तुं न भवतीति भावः । अनेन सम्बन्धनाऽऽयातस्यास्य(सू०४७)व्याख्या नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ विकाले वा अध्वगमनम् एतुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः—

इहरह वि ता न कप्पइ, अद्धाणे किं तु रायविसयम्मि ।
अत्थाऽऽवत्ती संसइ, कप्पइ कज्जे दिया नूणं ॥८६६॥

इतरथाऽपि तावन्न कल्पते अध्वानं गन्तुं. किंतु-किं पुना रात्रिविषये तत्र सुतरां न कल्पते । यतश्च सूत्रं रात्रिविषयं प्रतिषेधं विधत्ते, अतोऽर्थापत्तिः सामर्थ्यगम्या. सा वै शंसति-कथयति, नूनं ज्ञायते दिवा कार्ये ज्ञानादौ समुत्पन्ने अध्वानमपि गन्तुं कल्पते ।

अध्वानमेव भेदतः प्ररूपयन्नाह-

अद्धाणं पि य दुविहं, पंथो मग्गो य होइ नायव्वो ।
पंथम्मि नत्थि किंचि वि, मग्गो सग्गामे गुरुआणा ८६७

अध्वा द्विविधस्तद्यथा-पन्थाः, मार्गश्च । पन्थाः नाम-यत्र ग्रामनगरपल्लीव्रजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नाऽस्ति , यत्र पुनर्ग्रामानुग्रामपरंपरया व्रजो भवति स ग्रामो मार्ग इति उच्यते । द्वयोरपि रात्रौ गच्छतश्चत्वारो गुरुकाः , दिवा तु पथि चतुर्गुरवः, मार्गे चतुर्लघवः, आज्ञादयश्च दोषाः ।

तं पुण गामिज्ज दिवा, रत्तिं वा पंथगमणमग्गो वा ।
रत्तिं अ.एसदुगं, दोसु वि गुरुगा य आणादी ॥८६८॥

स पुनरध्वा दिवा गम्यते, रात्रौ वा । तच्चोभयमपि गमनं पथि वा मार्गे वा स्यात् । तत्र रात्रिशब्दे आदेशद्वयम् । केचिदाचार्या ब्रुवते ससन्ध्या यतो राजते-शोभते तेन निरुक्तिरीत्या रात्रिरुच्यते, यस्तु संध्याया अपगमः स विकालः । अन्ये तु ब्रुवते-यतः सन्ध्याया अपगमे चोरपारदारिकादयो रमन्ते ततोऽसौ रात्रिरिति परिभाष्यते, सन्ध्यायां तु यत एते विरमन्ति ततः स विकालः ; पन्थानं वा यदि रात्रौ विकाले वा गच्छति तदा द्वयोरपि चत्वारो गुरवः, आज्ञादयश्च दोषाः । इयमन्याचार्यपरिपाट्या गाथा ततो न पौनरुक्त्यम् ।

तत्र मार्गे तावद्दोषानुपदिदर्शयिषुराह—

मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा होइ संजमाताए ।
रीयाइ संजमम्मि, छक्काय अचक्खुविसयम्मि ॥८६८॥

रात्रौ मार्गे गच्छतः साधून् दृष्ट्वा कश्चिदभिनवधर्म्मा मिथ्यात्वं गच्छेत्, उड्डाहो वा भवेत् . विराधना संयमाऽऽत्मविषया भवेत् । तत्र संयमविराधना-गीतार्थाः समितिप्रभृतिकाः ईर्यासमितीर्न शोधयन्ति. रात्रौ वा चक्षुरविषये षट्काया विराध्यते एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव सविस्तरं विवृणोति—

किं मन्ने निसि गमणं, जईण सोहिंति वा कथं इरियं।
जइवेसेण व तेणा, वडंति गमणाइउड्डाहो ॥ ६०० ॥

अमीषां-परलोककार्योद्यतानां यतीनां किमर्थं निशि-रात्रौ गमनम् । किं मन्ये दुष्टचित्ता अमी,कथं वा रात्रावटन्तोऽमी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ईर्यां शोधयन्ति। यथा चैतदसत्यं तथा सर्वमप्यमीषामसत्यं मिथ्यात्वं स्थिरीकृतमुत्पादितं वा भवति, तथा यतिवेषेण नूनममी स्तेनाः पर्यटन्तीतिकृत्वा ग्रहणाऽऽकर्षणादिप्रद्वेषु विधीयमानेषु महान् प्रवचनस्योड्डाहो भवेत्।

संजमविराहणाए, महव्वया तत्थ पढमछक्काया।
बिइए अतेण तेणं, तइए ऽदिन्नं तु कंदाई ॥६०१॥

संयमविराधना द्विविधा- मूलगुणविषया, उत्तरगुणविषया वा। मूलगुणविषयायां व्रतानि विराध्यन्ते.तत्र प्रथमं महाव्रतं रात्रावचक्षुर्विषयतया षट्कायाः पृथिव्यादयो विनाशमश्नुवते द्वितीये रजन्यामयं स्तेन इति भाषेत्. तृतीये कन्दमूलादिकमदत्तं-स्वामिना अवतीर्णं गृह्णीयात्।

अथवा-

दिय दित्ते वि सचित्ते, जइ तेन्नं किमुय सव्वरीविसए।
जेसिं च ते सरीरा, अविदिन्ना तेहिँ जीवेहिं ॥६०२॥

यद्वा-कन्दादिकं स्वामिना दत्तं गृह्णाति तथाऽपि सचित्तमिति कृत्वा जिनैस्तीर्थकरैर्नानुज्ञातमिति दिवाऽपि स्तैन्यं भवति, किं पुनः शर्वरी-रात्रिस्तद्विषये, तदा गोचरीं गृह्णतः 'जेसिं' येषां जीवानां तानि कन्दादीनि शरीराणि तैर्जीवैरवितीर्णानि गृह्णतः तृतीयव्रतभङ्गो भवति।

पंचमे अणेसणादी, छट्ठे कप्पो व पढमबिइया वा।
भग्गवओ त्ति य जातो, अपरिणतो मेहुणं पि वए ॥६०३॥

पञ्चमे महाव्रते अनेषणीयमादिशब्दाद्—आकीर्णविकीर्णं हिरण्यादिकं च गृह्णतः परिग्रहो भवति, षष्ठे रात्रिभक्तव्रते अध्वकल्पं भुञ्जीत 'पढमबीए व' त्ति प्रथमपरीषहाऽऽतुरो वा रजन्यां भुञ्जीत वा पिबेद्वा। एवं षष्ठव्रतविराधना। ततश्च-भग्नव्रतोऽहमिति बुद्ध्वा मैथुनमपि व्रजेत्—सेवेत। यद्वा-योऽद्याप्यपरिणतः स सार्थे व्रजति सति कायिक्यादिनिमित्तमपसृतः सन् कांचिदविरतिकामप्यपसृतां विलोक्यात्पसागारिके प्रतिसेवेत। भाविता मूलगुणविराधना।

उत्तरगुणविषयां वदति—

इरियादिसोहि रत्तिं, भासाए उच्चसद्दवाहरणं।
न य आदाणुस्सग्गे, सोहए काइ ठाणाई ॥ ६०४ ॥

रात्रावीर्यादीनां समितीनामशोधिर्भवति, तत्राचक्षुर्विषयत्वेनेर्यासमितिपथो विप्रनष्टानां साधूनामुच्चशब्देन व्याहरणं कुर्वन् भाषासमितिमुपलक्षणत्वादुदकाद्यादिमपश्यन्नेषणासमितिं तथा अप्रत्युपेक्षित 'ठाणाइ' त्ति-स्थाननिषदनादीनि कुर्वन्नादाननिक्षेपसमितिमस्थण्डिले 'काइ' त्ति कायिकीं व्युत्सृजन् उत्सर्गसमितिं च न शोधयति। एषा सर्वा संयमविराधना।

अथाऽऽत्मविराधनामुपदर्शयति—

वाले तेणे तह सा-वए य विसमे य खाणुकंटे य।
अक्कम्ह भय समुत्थे, रत्तिं मग्गे भवे दोसा ॥ ६०५ ॥

रात्रौ मार्गे गच्छतः एते दोषाः, व्यालेन-सर्पादिना दश्येत. स्तेनैरुपकरणं संयतो वा ह्रियेत, सिंहादिभिर्वा श्वापदैरुपद्रूयेत्, विषमे वा निम्नोन्नते प्रपतेत्, स्थाणुना वा कण्टकेन वा विध्येत। आत्मसमुत्थं स्तेनादिना वा अहेतुविराधनस्वचित्तविकल्पेनोत्प्रेक्षितमकस्माद्भयं रात्रौ मार्गे गच्छतो भवेत्।

अथात्रैव द्वितीयपदमाह—

कप्पइ गिलाणगट्ठा, रत्तिं मग्गे तहेव संझाए।
पंथो य पुव्वदिट्ठो, आरक्खिउ पुव्वभणिओ य ॥६०६॥

ग्लानो—रोगार्त्तः स एकस्माद्ग्रामाद्ग्रामान्तरं नेतव्यो, यद्वा- ग्लानः कश्चिदपरत्र ग्रामादौ सञ्जातः, तदर्थं तत्र गन्तव्यम्। एवं ग्लानार्थं रात्रौ वा सन्ध्यायां वा मार्गे-गन्तुं कल्पते, यत्र च यथागन्तव्यं स च पूर्वमेव दृष्टः प्रत्युपेक्षितो यथा भवति तथा कर्त्तव्यम्, आरक्षिकश्च पूर्वमेव भणितव्यो यथा वयं ग्लानकारणेन रात्रौ गमिष्यामः भवद्भिर्न किमपि छलं ग्रहीतव्यम्, एवमुक्ते तेनानुज्ञाते सति गच्छन्ति। गतं मार्गद्वारम्।

अथ पथिद्वारमाह—

दुविहो य होइ पंथो, छिन्नद्धाणंतरं अछिन्नं च।
छिन्नम्मि नत्थि किंचि, अछिन्नपल्ली हि वइगाहिं॥६०७॥

द्विविधश्च भवति पन्थाः, तद्यथा—छिन्नाध्वान्तरम्, अच्छिन्नाध्वान्तरं च। छिन्नं-ग्रामादिरहितमध्वलक्षणं. यदन्तरमपान्तरालं, तद्विपरीतमच्छिन्नाध्वान्तरम्। तत्र छिन्ने पथि ग्रामनगरपल्लीव्रजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नाऽस्ति सर्वथैव शून्यत्वात्, यः पुनरच्छिन्नः पन्थाः स पल्लीभिर्व्रजिकाभिर्वा युक्तो भवति।

छिन्नेण अछिन्नेण य, रत्तिं गुरुगा य दिवसतो लहुगा।
उद्धु(द्ध)द्दरे पवज्जण, सुद्धपदे सेवती जं च ॥ ६०८ ॥

अनन्तरोक्तेन छिन्नेन वा अच्छिन्नेन वा पथा व्रजतो रात्रौ चतुर्गुरुकाः, दिवा गच्छतश्चतुर्लघुकाः, अत एव यत्रोर्द्धुदराः पूर्यन्ते तत्र यद्यध्वानं प्रतिपद्यन्ते तदा शुद्धपदेऽप्येतत् प्रायश्चित्तम्, यच्चाकल्पनीयादिकं किमपि सेवते तन्निष्पन्नं पृथक् प्रायश्चित्तमापद्यते।

इदमेव स्पष्टतरमाह—

उद्धद्दरे सुभिक्खे, खेमे निरुवद्दवे सुहविहारे।
जइ पडिवज्जइ पंथं, दप्पेण परं न अन्नेणं ॥ ६०९ ॥

ऊर्द्धदरं अनन्तरोक्ते सुभिक्षे-सुलभभैक्ष्ये क्षेमे स्तेनपरचक्रादिभयरहिते, निरुपद्रवे-अशिवाद्युपद्रववर्जिते सुखविहारे-सुखेनैव मासकल्पाविधिना विहर्तुं शक्ये एवंविधे जनपदे सति यदि पन्थानं वा प्रतिपद्यते। कथमित्याह-परं केवलं दर्पेण देशदर्शनादिनिमित्तं न ज्ञानादिना पुष्टालम्बनेन।

ततः किं भवतीत्याह—

आणा न कप्पइ त्ति य, अणवत्थपसंगताएँ गणणासो।
वसणादिसंभावणे, मिच्छत्ताऽऽराहणा भणिया ॥६१०॥

आज्ञा—न कल्पते अध्वानं गन्तुमितिलक्षणा भगवतां विराधिता भवतीति. अनवस्था—यदेष बहुश्रुतोऽप्येवमध्वानं प्रतिपद्यते ततः किमहं न प्रतिपद्ये एवमनवस्थानं, प्रसङ्गेन—परम्परया सर्वस्याऽपि गणस्य नाशश्चारित्रव्यवच्छेदः प्राप्नोति। तथा अध्वानं प्रतिपन्नः सन् सदा व्यसने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यापदम् आदिशब्दादपरं वा कमपि प्रत्यपायं समापन्नः-प्राप्तो भवति, तथा मिथ्यात्वस्याऽऽराधना-अनुप्रज्ञना भणिता, तथाहि-साधून् अध्वनि व्यसनादिसमापन्नान् दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्-अहो अमीषां तीर्थकरेणैतदपि न दृष्टं यदेवंविधो बहुप्रत्यपायः पन्था न प्रतिपत्तव्यः। अथ विराधना भाव्यते। सा च द्विधा-आत्मनि, संयमे च।

तत्राऽऽत्मविराधनामाह-

वायखलुवायकंडग-आवडणं विसमखाणुकंटेसुं।
वाले सावयतेणे, एमाइ हवंति आयाए ॥ ६११ ॥

अध्वानं गच्छतः खलुका-जानुका, जानुकादिसन्धयो वातेन गृह्यन्ते 'वायकंडय' त्ति जङ्घायां वातेन कण्टका उत्तिष्ठन्ते, विषमे वा स्थाणौ वा आपतनं-प्रस्खलनं भवति, कण्टका वा पादयोर्लगेयुः, व्याला वा श्वापदा वा उपद्रवेयुः। एवमादिका आत्मविराधना मन्तव्या।

संयमविराधना नाम-

छक्कायाण विराहण, उवगरणं बालवुड्ढसेहा य।
पढमेण व बिइएण व, सावयतेणा य मिच्छा य ॥६१२॥

अस्थण्डिले स्थाननिषदनादि कुर्वन् पृथिव्यादीनां षण्णां कायानां विराधनां करोति, उपकरणं नन्दीप्रतिग्रहादि गृह्णाति, ततो भारेण वेदनादयो दोषाः। अथ न गृह्णाति तत उपकरणेन विना यत्प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। बालवृद्धशैक्षाश्च प्रथमेन वा द्वितीयेन वा परीषहेण परिताप्यन्ते, साधवो वा श्वापदैर्भक्ष्यन्ते, स्तेनैरुपकरणमपह्रियते, म्लेच्छा वा बुक्कानपहरेयुर्जीविताद्वा व्यपरोपयेयुः।

अथोपकरणपदं विशेषतो व्याख्यानयति-

उवगरणगेण्हणोमा-रवेदणा तेणगम्मि अहिगरणं।
रीयादिअणुवओगो, गोम्मियभरवाहउड्डाहो ॥६१३॥

उपकरणं-नन्दीप्रतिग्रहाध्वकल्पगुलिकादि यदि गृह्णन्ति ततो भारेण महती वेदना जायते, बहूपकरणाश्च स्तेनानां गम्या भवन्ति। इतेषु चापकरणेषु असंयतेन परिभुज्यमानेषु अधिकरणं, भाराक्रान्तानां च, यदि वा-अनुपयोगो भवति, बहूपकरणान् वा दृष्ट्वा गौल्मिकाः-स्थानपाला उपद्रवेयुः, लोको वा ब्रूयात्-अहो बहुलो लोभो भारवहाश्च एते एवमुड्डाहो भवति।

(३१) अथैतद्दोषादुपकरणमुज्झन्ति ततो यत्नेन विना यत्प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्-

चम्मकरगसत्थादी, दुलिंगकप्पे अ चिलिमिणिअगहणे।
तसविपरिणामुड्डाहो, कंदाइवधो य कुच्छा य ॥६१४॥

पूर्वार्द्धपश्चार्द्धपदानां यथासंख्येन योजना कार्या, तद्यथा-चर्मकरकं यदि न गृह्णन्ति ततस्त्रसानां-पूतरकादीनां विराधना, शस्त्रकोशस्यादिशब्दात्-गुलिकाखोलादीनामग्रहणे कण्टकादिशल्यविद्धानां शैक्षादीनां च विपरिणामो भवति, लिङ्गद्वयं-गृहिलिङ्गम्, अन्यपाषण्डिकलिङ्गं च। तयोरुपकरणे अगृह्यमाणे स्वलिङ्गेनैव रात्रौ भक्तग्रहणे पिशिताऽऽदिग्रहणे वा उड्डाहः स्यात्, अध्वकल्पं विना कन्दमूलादीनां वधो भवति, चिलिमिलिकाया अग्रहणे उज्ज्वदयां भुञ्जानान् विलोक्य जनो जुगुप्सां कुर्यात्।

अपरीणामगमरणं, अइपरिणामा य होइ नि(च्छ त्थक्का।
निग्गयगहणे चोइय, भणंति तइया कहं कप्पे ॥६१५॥

तत्राध्वनि गच्छतामेषणीयाऽलाभे पञ्चकम्, यदि यतनयाऽनेषणीयमपि गृह्यते तत्रापरिणामको न गृह्णाति अगृह्णानस्य तस्य मरणं भवेत्। ये पुनरपरिणामकास्ते अकल्पनीयग्रहणं दृष्ट्वा 'नि(त्थ)च्छक्का' निर्लज्जा भवन्ति, ततश्चाध्वनो निर्गताः सन्तोऽकल्पग्रहणं कुर्वाणा गीतार्थैः प्रतिनोदिता आर्या! मा गृह्णीध्वमकल्पम्। ततस्ते-ब्रुवते तदा अध्वनि वर्त्तमानानां कथमकल्पत-कल्पनीयमासीत्।

तेणभयोदककज्जे, रत्तिं सिग्घगतिं दूरगमणे वा।
वहणावहणे दोसा, बालादी सल्लविद्धे य ॥ ६१६ ॥

स्तेनभये दण्डकचिलिमिलिकां विना उदककार्ये चर्मकरकं गुलिकां खोलिकां विना यत् प्राप्नुवन्ति रात्रौ सार्थवशेन शीघ्रगतौ दूरगमने वा उपस्थिते, तलिकाभिर्विना बालवृद्धादयः प्रपतन्ति तान् यदि कापोतिकया वहन्ति तदा स्वयं परिताप्यन्ते। अथ कापोतिकया न वहन्ति ततस्ते परिताप्यन्ते। शल्यविद्धाः शस्त्रकोशकेन विना शल्ये अनुध्रियमाणे परितापनादिकं प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। यत एवमतो निष्कारणे अध्वा न प्रतिपत्तव्यः।

कारणे तु प्रतिपद्यमानानामयं क्रमः-

बिइयपयगम्ममाणे, मग्गे असती य पंथे जतणाए।
परिपुच्छिऊण गमणं. अछिन्ने पल्लीहि वइगाहिं॥६१७॥

द्वितीयपदे अध्वनि गम्यमाने प्रथमं मार्गेण, मार्गस्याऽसति पथि, पथाऽपि यतनया गन्तव्यम्। तत्र च जनं परिपृच्छय यः पल्लीभिर्व्रजिकाभिर्वा अच्छिन्नः पन्थाः तेन गमनं विधेयम्, तदभावे छिन्नेनाऽपि। बृ० १ उ० ३ प्रक०। (आगाढविषयः 'आगाढ' शब्दे द्वितीयभागे ८६ पृष्ठे गतः।)

अथ आगाढविषये कर्तव्यतां स्पष्टयति-

असिवे अगम्ममाणे, गुरुगा नियमा विराहणा दुविहा।
तम्हा खलु गंतव्वं, विहिणा जो वण्णिओ हेट्ठा॥६२७॥

अशिवे समुत्पन्ने सति यदि न गम्यते ततश्चत्वारो गुरवः, तत्र च तिष्ठतां नियमात् द्विविधा संयमाऽऽत्मनो विषया आत्मनः परस्य चेति विराधना। यत एवं तस्मात् खलु-निश्चितं विधिना गन्तव्यम्। कः पुनर्विधिरित्याह-योऽधस्तादोघनिर्युक्तौ "संवच्छर वारसए, ण होहि असिवे ति त तओ विंति।" इत्यादि गाथाभिर्वर्णितः। शेषारण्यव-मौदर्यादीनि निदानानि यथैवौघनिर्युक्तौ तथैव वक्तव्यानीति।

उवगरण पुव्वभणियं, अप्पडिलेहिंति चउगुरुअ आणा।
ओमाणपंत सत्थिय, अतिपंतिय अप्पपत्थयणे॥ ६२१ ॥

उपकरणं पूर्वभणितं चर्मकरकादिकं तदगृह्णानस्य चतुर्गुरुकाः, सार्थं वा यदि न प्रत्युपेक्षन्ते तदापि चतुर्गुरवः, आज्ञादयश्च दोषाः। सार्थः कदाचिदवमानेन स्वपक्षपरपक्षकृतेनातीवाद्विजितो भवेत्, यद्वा-सार्थिका अतिप्रान्तिका वा सार्थचिन्तकाः प्रान्ताः भवेयुः, अल्पपथ्यदनो वा-स्वल्पशम्बलः स सार्थः। अत एतद्दोषपरिहारार्थं सार्थः प्रत्युपेक्षितव्यः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथं पुनरित्यत्रोच्यते—

रागद्दोसविमुक्को, सत्थं पडिलेहि सो उ पंचविहो ।
भंडी वहिलग भर वह, ओदरिया कप्पडिय सत्थो ॥६२२॥

रागद्वेषविमुक्तो नाम यस्य गन्तव्ये न रागो, यदि वा-न द्वेषः स सार्थः प्रत्युपेद्यते । वृ० १ उ० ३ प्रक० । (स सार्थः पञ्चविधः, इति 'सत्थ' शब्दे वक्ष्यते ।)

अथैनामेव गाथां विवृणोति-

गंतव्वदेसरागी, असत्थसत्थं पि जणति जे दोसा ।
इअरो सत्थमसत्थं, करेइ अच्छन्ति जे दोसा ॥ ६२३ ॥

यो गन्तव्ये देशे रागी स सार्थप्रत्युपेक्षकः कुतोऽसार्थमपि सार्थं करोति, ततः कुसार्थेन गच्छतां ये दोषास्ते समापद्यन्ते । इतरो नाम—गन्तव्यदेशे दोषवान् स सार्थमप्यसार्थं करोति, ततस्तत्राऽशिवादिषु सन्तिष्ठमानानां ये दोषास्ते प्राप्नुवन्ति ।

उप्परिवाडी गुरुगा, तिसु कंजियमादिसंभवो होज्जा ।
परिवहणं दोसु भवे, बालादी सल्लगेलन्ने ॥ ६२४ ॥

उत्परिपाट्या यथाक्रममुल्लङ्घ्य यदि सार्थेन सह गच्छन्ति तदा चतुर्गुरुकाः । किमुक्तं भवति—भण्डीसार्थे विद्यमाने यदि वहिलिकसार्थेन गच्छन्ति तदा चतुर्गुरुकाः । अथ भण्डीसार्थो न प्राप्यते ततो वहिलिकसार्थेनाऽपि गन्तव्यं, तत्र विद्यमाने यदि भारवाहसार्थेन गच्छन्ति तदाऽपि चतुर्गुरवः । एवं भारवाहादिसार्थेष्वपि भावनीयम् । तत्र चाद्येषु भण्डीवहिलकभारवाहकसार्थेषु काञ्जिकादिपानकानां सम्भवो भवेत्, द्वयोस्तु भण्डीवहिलकसार्थयोर्बालानामादिशब्दाद्-वृद्धानां ग्लानानां च परिवहनं भवेत् ।

(३२) किं पुनः सार्थे प्रत्युपेक्षणीयमित्याह—

सत्थं च सत्थवाहं, सत्थविहाणं च आदियत्तं च ।
दव्वं खेत्तं कालं, भावो माणं च पडिलेहे ॥ ६२५ ॥

सार्थं सार्थवाहं सार्थविधानम् आदियात्रिकं द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावम् अवमानं च प्रत्युपेक्षेत इति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवृणोति—

सत्थि त्ति पंचभेया, सत्थाहा अट्ठ आइयत्तीय ।
सत्थस्स विहाणं पुण, गणिमाइ चउव्विहं होइ ॥६२६॥

सार्थ इति पदेन भण्डीसार्थाऽऽदयः पूर्वोक्ताः पञ्च भेदाः गृहीताः, सार्थवाहाः पुनरष्टौ, आदियात्रिका अप्यष्टौ, उभयेऽप्युत्तरत्र वक्ष्यन्ते । सार्थविधानं पुनर्गणिमादि भेदाच्चतुर्विधं भवति । तत्र गणिमं—यदेकद्व्यादिसंख्यया गणयित्वा दीयते, यथा हरीतकीपूगफलादि । धरिमं-यत्तुलायां धृत्वा दीयते, यथा—खण्डशर्करादि, मेयं-यत्पलादिना सेतिकादिना वा मीयते यथा—घृतादिकं वा । परिच्छेद्यं नाम-यच्चक्षुषा परीक्ष्यते, यथा—वस्त्ररत्नमौक्तिकादि, एतच्चतुर्विधमपि द्रव्यं भण्डीसार्थादिषु प्रत्युपेक्षणीयम्, तथा द्रव्यक्षेत्रकालभावैरपि सार्थः प्रत्युपेक्षणीयः ।

३३१

तत्र द्रव्यतः प्रत्युपेक्षणां तावदाह—

अणुरंगाऽऽई जाणे, गुच्छाऽऽई वाहणे अणुन्नवणा ।
धम्मु त्ति वा भईय व,बालादि अखिच्छ पडिकुट्ठा ६२७

अनुरङ्गाः-घंसिकास्तदादीनि यानानि गंत्रयणीयानि, आदिशब्दात्-शकटादिपरिग्रहः, वाहनानि-गुण्ठादीनि गुण्ठो नाम—घोटको महिषो वा आदिशब्दात्—करभवृषभादिपरिग्रहः । एतेषां यानानां-वाहनानां वा सुज्ञापना कर्त्तव्या, यथाऽस्माकं कोऽपि बालो वृद्धो दुर्बलो ग्लानः शल्यविद्धो वा गन्तुं न शक्नुयात् स युष्माभिरनुरङ्गादौ वा आरोहयितव्यः, यद्येवं धर्म्म इति कृत्वाऽनुजानन्ति ततः सुन्दरम् । अथ नानुजानन्ति ततो भृत्या मूल्येनाऽपि यथाऽऽरोहयन्ति तथा प्रज्ञापयितव्याः । अथ मूल्येनाऽपि बालादीनामारोहणं नेच्छन्ति ततः प्रतिकुष्टाः-प्रतिषिद्धास्तैः सह न गन्तव्यमित्यर्थः ।

अपि च—

दंतिक्क गोर-तिल्लग-गुलसप्पियमादिभंडभरिएसुं ।
अंतरवाघातम्मि व, तं देंति हए उ किं देंति ॥६२८॥

मोदिकभाण्डिका शकट्यादिकं यद्बहुविधं दन्तखाद्यकं तद्दन्तिकं 'गोर' त्ति—गोधूमाः तैलगुडौ प्रतीतौ सर्पिः—घृतम् एवमादीनां भक्ष्यभाण्डानां यत्र शकटानि भृतानि प्राप्यन्ते स सार्थो द्रव्यतः शुद्धः, यत एवमादिभाण्डभृतेषु शकटादिषु सत्सु यद्यप्यन्तरा-अपान्तराले व्याघाते वर्षानदीपूरादिकमुत्पद्यते तथाऽपि तद्दन्तिकं ते सार्थिकाः स्वयमपि भक्षयन्ति, साधूनामपि च प्रयच्छन्ति । इतरथा तेषामभावे किं ददति ?; न किमपीत्यर्थः ।

व्याघातकारणान्येव दर्शयति—

वासेण णदीपूरे-ण वाऽवि तेणभयहत्थिरोधे य ।
खोभो व जत्थ गम्मति,असिवं वेमादि वाघाता॥६२९॥

सार्थस्य गच्छतोऽपान्तराले त्वागाढवर्षेण वा नदीपूरेण वा बहुतरदिवसान् व्याघात उपस्थितः, अग्रतो वा स्तेनानां भयमुत्पन्नं, दुष्टहस्तिना वा मार्गो निरुद्धः, यत्र वा नगरादौ गम्यते—गन्तुमिष्यते तत्र रोधको राज्यक्षोभो वा अशिवमुत्पन्नम्, एवमादयो गमनस्य व्याघाता भवन्ति । ततश्च प्रस्थितेषु यद्यपान्तराले सार्थः सन्निवेशं कृत्वा तिष्ठति, तथा च सति क्वापि बहुविधखाद्यद्रव्यभृतासु गन्त्रीषु सुखेनैव साधवः संस्तरन्ति, अतस्तेन सह गन्तव्यम् ।

न पुनरीदृशे—

कुंकुमय अगरुएत्तं, चोयं कत्थूरिया य हिंगुं वा ।
संखग लोणय भरिते, ण तेण सत्थेण गंतव्वं ॥६३०॥

कुङ्कुमम् अगरु—तगरपत्रं 'चोयं' ति त्वक्, कस्तूरिकाहिङ्गुरेचमादिकमखाद्यद्रव्यं यत्र भवति; यश्च शंखेन लवणेन वा भृतः-पूर्णः तत्राऽन्तरा व्याघाते समुत्पन्ने तिष्ठन्तः शम्बलसार्थिकाः किं प्रयच्छन्तु ?, यत एवमतस्तेन तादृशेन सार्थेन सह न गन्तव्यम् । गता द्रव्यतः प्रत्युपेक्षणा ।

अथ क्षेत्रकालभावैस्तामाह—

खेत्ते जं बालाऽऽदी, अपरिस्संता वयंति अद्धाणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

र्यात्, स्त्री वा नपुंसको वा तमेकाकिनमुदारशरीरं दृष्ट्वा बलादपि गृह्णीयात्, तिर्यञ्चो वा दुष्टगवादयस्तमभिघातयेयुः, तिर्यग्योनिकां वा स एकाकी प्रतिसेवेत, यो वा अवधावनप्रेक्षी स एकाकी निर्गतः सन् तत एवमपलायेत, स्त्रिया वा पण्डकेन वा प्रतिस्खलितः सन् भग्नव्रतोऽहं जात इति बुद्ध्वा वैहायसमुद्बन्धनं कुर्यात्, व्यालेन वा-सर्प्पेण दश्येत् मूर्छा वा तत्र गतस्य भवेत् तद्वशेन भूमौ प्रपतेत् । तस्य परितापमहादुःखप्रभृतयो दोषाः ।

अस्या एव गाथाया लेशतो व्याख्यानमाह—

थीपंडे तिरिगीसु य, खलितो वेहाणसं च ओधावे ।
तेणोवधीसरीरे, गहणाऽऽदी मारणं जोये ॥ १०६२ ॥

स्त्रियां पण्डके तिर्यग्योनिकायां वा स्खलितो-मैथुनप्रतिसेवनया अपराधमापन्नः सन् भग्नव्रतस्य किं मे जीवितेनेति बुद्ध्या वैहायसमभ्युपगच्छेत् । यो वा अवधावनप्रेक्षी स तत एवावधावेत् । शेषाणि सप्त द्वाराणि तेषु यथाक्रममेते दोषाः । तद्यथा—स्तेनेषूपधिशरीरग्रहणम् । आरक्षिकेषु ग्रहणाऽऽकर्षणादि देशेषु तु श्वापदादिमारणमुपघातः संयतस्य भवतीति योजयेत्—योजनं कुर्यात् ।

यत एवमतः—

दुप्पभिइओ अगम्मा, ण य सहसा साहसं समायरति ।
वारेति च णं बितिओ, पंच य सक्खी उ धम्मस्स ।१०६३।

द्विप्रभृतयः साधवो रात्रौ कायिकीभूमौ गच्छन्तः स्तेनारक्षकादीनामगम्या भवन्ति, न च द्वितीये साधौ तटस्थे सति सहसा साहसं-मैथुनप्रतिसेवनवैहायसादि समाचरति, समाचरितुकाममपि तमात्मद्वितीयः साधुर्वारयति । यतो धर्मस्य-पञ्चमहाव्रतस्य पञ्च साक्षिणो भवन्ति । तद्यथा—अर्हन्तः सिद्धाः साधवः सम्यग्दृष्टयो देवा आत्मा चेति । अतः साधौ द्वितीयसाक्षिणि पार्श्ववर्त्तिनि न सहसा साहसं समाचरति, एवं तावत्कायिकीं भूमिमङ्गीकृत्योक्तम् ।

अथोच्चारभूमिमधिकृत्याह—

एए चेव य दोसा, सविसेसुच्चारमायरंतस्स ।
सवितिजगणिक्खमणे, परिहरिया ते भवे दोसा ।१०६४।

एत एव स्तेनारक्षिकादयो दोषाः समायश्चित्ताः सविशेषाःसमधिका रजन्यामेकाकिन उच्चारमाचरतो मन्तव्याः । यदा तु विचारभूमौ गच्छन् सद्वितीयः प्रतिश्रयान्निष्क्रमणं करोति तदा स्तैन्यादयो दोषाः परिहृता भवेयुः ।

कथमित्याह—

जति दोण्णि तिण्णि वेदितु, वेंति तेणभए वातिदारेको ।
सावयभयम्मि एको, णिसिरति तं रक्खती बितिओ १०६५।

यदि द्वौ संयतौ कायिकीभूमौ निर्गच्छतः तदा यस्तत्र जागर्ति तस्य निवेद्य द्वावपि निर्गच्छतः । स्तेनभये तु ततो द्वयोर्मध्यादेको द्वारे तिष्ठति, द्वितीयः कायिकीं व्युत्सृजति । अथ श्वापदादिभये एकः तत्र कायिकीं निसृजति, द्वितीयो दण्डकहस्तस्तं कायिकीं व्युत्सृजन्तमात्मानं च रक्षति ।

(३५) अथैकाकिनो यतना प्रतिपाद्यते—

सभया सति मत्तस्स, एको उवओगदंडओ हत्थे ।
वतिकुड्डंतेण कडिं, कुणति य दारेऽवि उवओगं ॥१०६६॥

यदि सभयं, द्वितीयस्य तत्राऽभावः, ततः मात्रके व्युत्सर्जनीयम् । अथ मात्रकं न विद्यते तत उपयोगं कृत्वा दण्डकं हस्ते गृहीत्वा वृतेर्वा कुड्यस्य वा अन्तेन—पार्श्वेन कटिं कृत्वा कायिकीं व्युत्सृजति । द्वारेऽपि स्तेनादिप्रवेशविषयमुपयोगं करोति

बितियपदे तु गिलाण-स्स, कारणा अहव होज्ज एगागी ।
पुव्वद्दियनिद्दोसे, जतणाएँ णिवेदि उच्चारे ॥१०६७॥

द्वितीयपदे तु ग्लानस्य कारणादेकोऽपि निर्गच्छेत् । अथवा स साधुरशिवादिभिः कारणैरेकाकी भवेत्, यद्वा-तत्र पूर्वं निर्दोषं निर्भयमिति मत्वा स्थितः पश्चात्सभयं सञ्जातं तत्राऽपि यतनया निवेद्य तथैवोच्चारभूमौ वा गच्छन्ति ।

अथ ग्लानस्य कारणादिति पदं व्याख्यानयति—

एगो गिलाणपासे, बितिओ आपुच्छिऊण तं नीति ।
चिरगतगिलाणमितरो, जग्गंते पुच्छिउं णीति ॥१०६८॥

इह ते त्रयो जनाः, तेषां च मध्ये एको ग्लानो विद्यते. एकश्च तस्य ग्लानस्य पार्श्वे तिष्ठति, द्वितीयस्तमापृच्छ्य कायिक्यादिभूमौ निर्गच्छति । स च यदि चिरगतो भवति तत इतरो ग्लानस्य पार्श्वे स्थितो ग्लानं जाग्रतमापृच्छ्य निर्गच्छति ।

जहि यं पुण ते दोसा, तेणाऽऽदीया ण होज्ज पुव्वुत्ता ।
एकोऽवि णिवेदेतुं, णितो वि तहिं णऽतिकमति ।१०६९॥

यत्र पुनस्ते पूर्वोक्ताः स्तेनादयो दोषा न भवन्ति तत्रैकोऽपि साधूनां जाग्रतां निवेद्य निर्गच्छन् भगवदाज्ञां नातिक्रामति । एवं विचारभूमिविषयो विधिरुक्तः ।

अथ विहारभूमिविषयमाह—

बहिया विहारभूमी, दोसा ते चेव अहियछक्काया ।
पुव्वदिट्ठे य कप्पइ, बितियं आगाढसंविग्गो ॥१०७०॥

प्रतिश्रयाद्बहिर्विहारभूमौ स्वाध्यायभूमौ रात्रावेकाकिनो गच्छतस्तत एव स्तेनारक्षिकादयो दोषा भवन्ति, अधिकाश्च षट्कायविराधनानिष्पन्नाः । द्वितीयमपवादपदमत्रोच्यते कल्पते रात्रावपि स्वाध्यायभूमौ पूर्वदृष्टायां-दिवा प्रत्युपेक्षितायां गन्तुं तत्राप्यागाढकारणे यः संविग्नः स गच्छति ।

अथाऽऽगाढपदं व्याचष्टे—

ते तिण्णि दोण्णी अहवेकतूणं
णवं च सुत्तप्पसगासमस्स ।
सज्झातियं णऽत्थि रहस्ससुत्तं,
ण याऽवि पेहाकुसलो स साहू ॥ १०७१ ॥

ते साधवो रात्रौ विहारभूमौ गच्छन्त उत्सर्गतस्त्रयो जना गच्छन्ति, त्रयाणामभावे द्वौ गच्छतः । अथ ग्लानादिकार्यव्यापृततया द्वितीयोऽपि न प्राप्यते एवमेकाक्यपि गच्छेत् । किमर्थमित्याह—अस्य-विवक्षितसाधोर्नवम्—अधुनाऽधीतं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ससूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिरूपेणार्थेन सहितं परावर्त्तनीयं वर्त्तते। स्वाध्यायिकं च वसतौ तदानीं नाऽस्ति। अथवा-रहस्यसूत्रं निशीथादिकं तद् यथा द्वितीयो न शृणोति तथा परावर्त्तयितव्यम्। न चासौ साधुरनुपेक्षाकुशलः। एतेनाऽऽगाढकारणेन रात्रावपि विहारभूमौ गन्तुं कल्पते।

तत्र कीदृशे गृहे कीदृशेन वा साधुना गन्तव्यमिति दर्शयति-

आसन्नगेहे दियदिट्ठभोमे,
घेत्तूण कालं तहि जाइ दोसं।
वस्सिंदिओ दोसविवज्जितो य।
णिद्दाविकारालसवज्जितऽप्पा ॥ १०७२ ॥

कालं गृहीत्वा दोषं-प्रतिभादोषिकं स्वाध्यायं कर्तुमासन्नगेहे दिवा दृष्टभौमे—दिवा प्रत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवणभूमिके याति-गच्छति। स च वश्येन्द्रियः इष्टाऽनिष्टविषयेषु वर्त्तमानानामिन्द्रियाणां निगृहीता दोषाः—क्रोधादयस्तैर्विवर्जितः तथा निद्रया विकारेण वा हास्याऽऽदिना आलस्येन वर्जित आत्मा यस्य स तथा एवंविधस्तत्र गन्तुमर्हति, माऽनीदृशः।

तब्भावियं तं तु कुलं अदूरे,
किंचा सज्झायं णिसिमेव एति।
वाघाततो वा अहवा विदूरे,
सोऊण तत्थेव उवेइ पाते ॥ १०७३ ॥

यस्मिन् श्रावकादिकुले स गच्छति तस्यां वेलायां प्रविशद्भिः साधुभिर्भावितं तद्भावितं तदप्यदूरे-अदूरदेशवर्त्ति एवंविधे गृहे प्रादोषिकं स्वाध्यायं कृत्वा—परिवर्त्य निशायामेव प्रतिश्रयमागच्छति। अथ रजन्यामागच्छतोऽपान्तराले दुष्टश्वगवादिभिः स्तेनादिभिर्व्याघातः, अथवा—दूरे-दूरदेशवर्त्तिनी सा विहारभूमिः ततस्तत्रैव गृहे सुप्त्वा प्रातः—प्रभाते प्रतिश्रयमुपैति। बृ० १ उ ३ प्रक०।

(३६) निर्ग्रन्थ्या रात्रिविहारः—

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। कप्पइ से अप्पबिइयाए वा अप्पतइयाए वा अप्पचउत्थीए वा राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ ५० ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत्।

अथ भाष्यम्—

सो चेव य सम्बन्धो, नवरि पमाणम्मि होइ णाणत्तं।
जे य जतीणं दोसा, सविसेसतरा उ अज्जाणं ॥१०७४॥

स एव निर्ग्रन्थसूत्रोक्तसम्बन्ध इहाऽपि सूत्रे ज्ञातव्यः, नवरं केवलं प्रमाणेभ्यो निर्ग्रन्थीनां नानात्वं, निर्ग्रन्थानां द्वयोस्त्रयाणां निर्गन्तुं कल्पते, निर्ग्रन्थीनां तु द्वयोस्तिसृणां चतसृणां वा इत्ययं संख्याकृतो विशेष इति भावः। ये च स्तेनाऽऽरक्षिकाऽऽदयो यतीनामेकाकिनिर्गमने दोषाः आर्याणामपि त एव सविशेषतरा मन्तव्याः, तरुणाद्युपद्रवसहिता इति भावः।

बहिया वियारभूमी, निग्गन्थेगाणियाए पडिसिद्धा।
चउगुरुगाऽऽयरियादी, दोसा ते चेव आणादी।१०७५।

रात्रौ बहिर्विचारभूमौ गमनमेकाकिन्या निर्ग्रन्थ्याः प्रतिषिद्धम्, अत एवैतत्सूत्रमाचार्यः प्रवर्त्तिनीं न कथयति चतुर्गुरवः। प्रवर्त्तिनी भिक्षुणीनं कथयति चतुर्गुरवः। भिक्षुण्यो न प्रतिशृण्वन्ति मासलघु। प्रवर्त्तिनीमतिक्रम्य भिक्षुण्यो बलामोढिकया एकाकिन्यो निर्गच्छन्ति चतुर्गुरवः, दोषाश्च त एवाऽऽज्ञादयो द्रष्टव्याः।

भीरू अकिंचे उ ऽबलाऽबला य,
आसंकितेगागमणी उ रातो।
मा पुप्फभूयस्स भवे विणासो,
सीलस्स थोवाण ण देंति गंतुं ॥ १०७६ ॥

इह स्त्री प्रकृत्यैव—स्वभावेनैव भीरुः-अल्पसत्त्वा पुरुषं च प्राप्य सा अवला-अकिञ्चित्करी, अत एव तस्या अबलेति नाम। अबला च स्वभावादेव चञ्चला; अत एकाकिनी श्रमणी रात्रौ विचारभूमौ गच्छन्ती आशङ्किता स्यात्, अवश्यमेषा व्यभिचारिणीति। अतो मा पुष्पभूतस्य—शरीरपुष्पसुकुमारस्य शीलस्य विनाशो भवेदिति कृत्वा स्तोकानामप्यार्याणां रात्रौ विचारभूमौ गन्तुं भगवन्तो न ददति-नाऽनुजानन्तीत्यर्थः।

उपाश्रयेऽपि ताभिरीदृशे वस्तव्यमिति दर्शयति—

गुत्ते गुत्तदुवारे, कुलपुत्ते इत्थ मज्झ निद्देसे।
भीतपरिसमद्दविदे, अज्जा सिज्जायरे भणिए ॥१०७७॥

गुप्तो-नाम वृत्त्यादिपरिक्षिप्तः गुप्तद्वारः-सकपाट ईदृशे उपाश्रये स्थातव्यं, शय्यातरश्च तासां कुलपुत्रको गवेषणीयः, तस्यैव शय्यातरस्य या भगिनीप्रभृतयस्तासां संबन्धि यद् गृहं तन्मध्यवर्त्ती संयतीनाम् उपाश्रयो भवति। सोऽपि निर्दोषः-पुरुषसागारिकादिदोषरहितः। कुलपुत्रकश्च भीतपर्षद् मार्दविकश्चान्वेषणीयः। भीतपर्षन्नाम-यद्भयात्तदीयः परिवारो न कमप्यनाचारं कर्त्तुमुत्सहते। मार्दविको-मधुरवचनः ईदृश आर्यायाः शय्यातरो भणितः।

रात्रौ च प्रतिश्रये ताभिरियं यतना कर्त्तव्या—

पत्थारो अंतोबहिँ, अंतो बंधाहि चिलमिली उवरिं।
तं तह बंधति दारं, जह ते अन्ना ण जाणाई ॥ १०७८ ॥

प्रस्तारः-कटः स एकः प्रतिश्रयाभ्यन्तरे द्वितीयस्तु प्रतिश्रयाद्वहिः कर्त्तव्यः। अन्तश्चाभ्यन्तरे कटस्योपरि चिलिमिलिकां बध्नीत नियन्त्रयेत च। प्रतिहारी तथा बध्नाति द्वारं यथा तान्—बन्धानन्या संयती मोक्तुं न जानाति।

सन्थारेगंतरिया, अभिक्खणा ओजणा य तरुणीणं।
पडिहारि दारमूले, मज्झे य पवित्तिणी होति ॥१०७९॥

संस्तारकमेकान्तरितानां तरुणीवृद्धानां भवति, अभीक्ष्णं च तरुणीनां यतनया प्रवर्त्तिन्या प्रतिहारिकया चोपयो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

-जना-सङ्घट्टना-कर्त्तव्या। प्रतिहारि च द्वारमूले स्वपिति, मध्ये सर्वमध्यवर्त्तिनी प्रवर्तिनी भवति।

निक्खमणपिंडियाणं, अग्गद्दारे य होइ पडिहारी।
दारे पविसित्तिणी सा-रणा य फिडिताण जयणाए॥१०८०॥

रात्रौ विचारभूमौ निष्क्रमणं पिण्डितानां-समुदितानां; त्रि-चतुःषष्ठप्रभृतीनामित्यर्थः, प्रतिहारी द्वारं समुद्घाट्य प्रथमत एवाग्रद्वारे तिष्ठति। प्रवर्त्तिनी पुनर्द्वारे स्थिता संयती यदा प्रविशति तां शिरसि कपोलयोर्वक्षसि च स्पृष्ट्वा प्रवेशयति। याश्च तत्र स्फिटिता द्वारविप्रनष्टा इतस्ततः परिभ्रमन्ति तासां यतनया यथा अप्रीतिकं न भवति तथा स्मारणा कर्त्तव्या। आर्ये! इहाऽऽगच्छ, इतो न भवति द्वारम्।

अथ द्वितीयपदमाह—

बिइयपदे गिलाणाए,तु कारणा अहव होज्ज एगागी।
आगाढे कारणम्मि, गिहिणीसाए वसंतीणं॥१०८१॥

द्वितीयपदे ग्लानायाः संयत्याः कारणादेकाकिन्यपि विचारभूमौ गच्छेत्, कथमिति चेदुच्यते-इह प्रवर्तिनी यदा आत्मतृतीया भवति, तत्राऽप्येका ग्लानायाः पार्श्वे तिष्ठति, द्वितीया तु निर्ग्रन्थेन निर्गच्छति। अथवा—सा अशिवादिभिः कारणैरेकाकिनी भवेत्, तत्र चागाढे-आत्यन्तिके कारणे गृहनिश्रया वसन्तीनामेकाकिनीनां विधिरभिधीयते।

एगा उ कारणठिया, अविकारकुलेसु इत्थिबहुलेसु।
तुज्झ वसाऽहं णीसा, अज्जा सेज्जातरं भणति॥१०८२॥

एका आर्यिका कारणेन पुद्गलम्बनेनाऽविकारकुलेषु—हास्यादिविकारविरहितेषु स्त्रीबहुलेषु स्थिता सती शय्यातरमित्थं भणति—अहं युष्मन्निश्रया वसामि, ये च मम किञ्चित् स्वणमायान्ति तत्राऽहं भवद्भिः स्मारणीया।

इदमेव स्फुटतरमाह—

अपुव्वपुंसे अवि देहमाणी,
वारेसि धूताऽऽदि जहेव भज्जं।
तहाऽवराहेसु ममं पि पेक्ख,
जीवो पमादी किमु जो ऽवलाणं॥१०८३॥

भो श्रावक! यथा त्वमपूर्वपुंसोऽदृष्टपूर्वपुरुषान् पश्यन्तीमपि आस्तां तैः सह संभाषणादि कुर्वाणामित्यपिशब्दार्थः, दुहितरम्, आदिशब्दाद्-भगिनीप्रभृतिकां भार्यां वा यथा वारयसि तथाऽपराधेषु स्खलितेषु-अनुचितसन्दर्शनादिषु मामपि प्रेक्षस्व अहमपि तथैव वारणीया। यतो जीवः सर्वोऽपि प्रायः प्रमादी-अनादिभवाभ्यस्तप्रमादबहुलः, किं पुनर्योऽवलानां—स्त्रीणां सम्बन्धी, स चपलस्वभावतया सुतरां प्रमादीति भावः।

पायं सकज्जगहणा ऽलसेयं,
बुद्धी परत्थेसु अजागरूका।
तमाउरो पस्सति णेहकत्ता,
दोसं उदासीणजणो तहं तु॥१०८४॥

येयं प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रत्यक्षा बुद्धिः सा प्रायः स्वं-स्वकीयं यत्कार्यं हिताऽहितप्रवृत्तिरूपं निवृत्तिरूपं वा तद्ग्रहणे तत्परिच्छेदे अलसा-जडा, परार्थेषु तु—परप्रयोजनेषु जागरूका—जागरणशीलाः। अत एव तद्दोषमिह-जीवलोके कर्त्ता—आत्मीयकार्यसाधको जनः आतुर-उत्सुकः सन् न पश्यति, यकं दोषमुदासीनजनो—मध्यस्थलोकः तटस्थः पश्यति, अतोऽहं भवतां पार्श्वादात्मानमहितेषु वर्त्तमानं निवारयामीति प्रक्रमः।

तेणिच्छिए तस्स जहिं अगम्मा,
वसंति णारीउ तहिं वसेज्जा।
ता बेति रत्तिं सह तुज्झ णीहिं,
अणिच्छमाणीसु बिभेमि बेति॥१०८५॥

एवमुक्ते सति यद्यसौ श्रावक इति तदुक्तं प्रतिपद्यते तदा तस्य—शय्यातरस्य यत्रागम्या—माताभगिनीप्रभृतयो नार्यो वसन्ति तत्र सा एकाकिनी संयती वसेत्। ताश्च स्त्रियो ब्रूते. रात्रौ युष्माभिः सह कायिकार्थं निर्गमिष्यामि, अतो यदा भवत्य उत्तिष्ठन्ते तदा मामप्युत्थापयत। यदि ता नेच्छन्ति ततोऽहं रात्रावेकाकिनी निर्गच्छन्ती बिभेमि इत्येवं ब्रवीति।

एवमप्युक्ता यदि ता द्वितीया नाऽऽगच्छन्ति
तदा किं कर्त्तव्यमित्याह—

मत्तासईए अपवत्तणे वा,
सागारिए वा निसि णिक्खमंती।
तासिं णिवेदेतु ससद्ददंडा,
अतीति वा णीति व साधुधम्मा॥१०८६॥

मात्रके कायिकी व्युत्सर्जनीया। अथ मात्रकं नास्ति, यद्वा-तस्या मात्रके कायिक्याः प्रवर्तमाने गमनं न भवति, सागारिकबहुलं वा तद्गृहम्। एतैः कारणैः निशि-रात्रावेकाकिनी निष्क्रामन्ती तासां शय्यातराणां निवेद्य शब्दं—काशितादिशब्दं कुर्वती दण्डकं हस्ते कृत्वा साधुधर्मा—शोभनसमाचारा अतियाति वा निर्गच्छति वा। एवं तावद्विचारभूमिविषयो विधिरुक्तः।

(३७) अथ विहारभूमिविषयमाह—

एगहि अणेगाहि व, दिया व रातो व गन्तु पडिसिद्धं।
चउगुरु आयरियादी,दोसा ते चेव जे भणिया॥१०८७॥

एकाकिनीनाम्, अनेकाकिनीनां वा बह्वीनामपि गाथायां च षष्ठ्यर्थे तृतीया, दिवा वा रात्रौ वा विहारभूमौ संतीनां गन्तुं प्रतिषिद्धं—न कल्पते। अत एव यद्येनमर्थमाचार्याः प्रवर्त्तिन्या न कथयन्ति तदा चतुर्गुरवः, प्रवर्त्तिनी भिक्षुणीनां न कथयति चतुर्गुरवः, भिक्षुण्यो न प्रतिशृण्वन्ति लघुमासः, दोषाश्च त एव द्रष्टव्याः ये पूर्वं विचारभूमौ भणिताः।

द्वितीयपदे गन्तव्यमपीति दर्शयति—

गुत्ते गुत्तदुवारे, दुज्जणवज्जे णिवेसणस्संतो।
वाडग संबंधिणियस-णि बितिय आगाढसंविग्गा१०८८

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुप्ते गुप्तद्वारे दुर्जनवर्जे दुःशीलजनरहिते गृहे स्वाध्यायकरणार्थं गन्तव्यं, तच्च गृहं यदि निवेशनस्य पाटकस्याभ्यन्तरवर्ति भवति। अथ निवेशनान्तर्न प्राप्यते ततोऽन्यस्मिन्नपि पाटके यः संयतीनां पितृभ्रात्रादिरशङ्कनीयः सम्बन्धी, यो वा शय्यातरस्य निजसुहृदादि, यो वा संज्ञी श्रावको मातापितृसमानस्तस्य गृहे गन्तव्यम्। एतच्च द्वितीयपदमागाढे संविग्नाया आर्यिकाया मन्तव्यम्, किमुक्तं भवति-व्याख्याप्रज्ञप्तिप्रभृतिश्रुतसम्बन्धे तमागाढयोगं काचिदार्यिका प्रतिपन्ना, सा च यदि संविग्ना हास्यादिविवर्जिता ततस्तस्या आत्मतृतीयया आत्मचतुर्थया आत्मपञ्चमया वा पूर्वोक्तगुणोपेतं गृहं गत्वा स्वाध्यायः कर्तुं कल्पते।

पडिवत्तिकुसलअज्जा, सज्झायज्झाणकरण उज्जुत्ता ।
मोत्तूण अब्भरहितं, अज्जाण ण कप्पती गंतुं ॥१०८७॥

प्रतिपत्तिः—उत्तरप्रदानं तत्र कुशला-निपुणा या काचिदार्या सा तस्याः समर्पणीया, तथा या आगाढे योगं प्रतिपन्ना सा स्वाध्यायस्य यद् ध्यानमेकाग्रतया करणं तत्रैवेदं उद्युक्ता भवेत्, 'मोत्तूण अब्भरहियं' ति येषु कुलेषु यथाभद्रकादिषु संयतीनामागमनमभ्यर्हितं गौरवाऽर्हं तानि मुक्त्वा अन्यत्र कुले आर्यकाणां न कल्पते गन्तुम्।

एवंविधकुले गत्वा स्वाध्यायं कुर्वतीनां यद्यसौ गृहपतिः प्रश्नयेत्-किमर्थं भवत्य इहाऽऽगताः?, ततः प्रतिपत्तिकुशलया वक्तव्यम्—

सज्झाइयं नऽत्थि उवस्सएऽम्हं,
आगाढयोगं च इमा पवन्ना ।
तरेण सो भद्दमिदं च तुज्झं,
संभावणिज्जा उ ण अण्णहा ते ॥ १०९० ॥

हे श्रावक! योऽयमस्माकमुपाश्रयः तत्र स्वाध्यायिकं नाऽस्ति, इयं संयती आगाढयोगं प्रवृत्ता वर्त्तते, 'तरेण' त्ति शय्यातरेण सह युष्माकमिदमीदृशं सकलजनप्रतीतं सौहार्दं तन्मत्वा वयमत्र समागताः अतो नान्यथा त्वया वयं सम्भावनीयाः।

अपि च—

खुद्दो जणो णऽत्थि ण याऽवि दूरे,
पच्छण्णभूमी य इहं पकामा ।
तुज्झेहि लोएण य विण्णमेत्तं,
सज्झायसीलेसु जहोज्जमा णे ॥ १०९१ ॥

क्षुद्रो जनो—दुर्जनलोक इह नास्ति, न चेदं युष्मद्गृहं दूरे अस्मत्प्रतिश्रयाद् दूरवर्ति प्रच्छन्नभूमिश्चेह युष्मद्गृहे प्रकामा-विस्तृता, अस्माकं स्वाध्यायो निर्व्याघातं निर्वहति। किंच-युष्माकं लोकस्य च वृत्तं प्रतीतमेतत् यथा—'णे' अस्माकं स्वाध्यायशीलानां गाढतर उद्यमः-प्रयत्नो भवति। वृ० १ उ० ३ प्रक०।

इदानीं मार्गद्वारं प्रतिपादयन्नाह निर्युक्तिकारः—

पंथं तु वच्चमाणं, जुगंतरं चक्खुणा व पडिलेहा ।
अइदूरचक्खुपाए, सुहुमतिरिच्छगएँ न पेहे ॥३२५॥

पथि व्रजन् युगान्तरं—चतुर्हस्तप्रमाणं तन्मात्रान्तरं चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत, किं कारणम्?, यतोऽतिदूरचक्षुःपाते सति सूक्ष्मांस्तिर्यग्गतान् प्राणिनः 'न पेहे'-न पश्यति, दूरे दूरतरं प्रहितत्वाच्चक्षुषः।

अच्चासन्ननिरोहे, दुक्खं दट्ठुं पि पायसंहरणं ।
छक्कायविराहणं, सरीर तह भत्तपाणे य ॥ ३२६ ॥

अत्यासन्नं निरोधं करोति चक्षुषस्ततो दृष्ट्वाऽपि प्राणिनां दुःखेन पादसंहरणं; पादं प्राणिनि निपतन्तं धारयतीत्यर्थः, अतिसन्निकृष्टत्वाच्चक्षुषः। 'छक्कायविराहणं' ति षट्कायानां विराधनं भवति, शरीरविराधनां तथा भक्तपानविराधनां करोतीति।

इदानीमस्या एव गाथायाः पश्चार्द्धं व्याख्यानयन्नाह भाष्यकारः—

उड्ढमुहो कहरत्तो, अवयक्खंतो वियक्खमाणो य ।
बायरकाए वहए, तसेतरे संजमे दोसा ॥ १८८ ॥

ऊर्द्धमुखो व्रजन् कथासु च रक्तः—सक्तः 'अवयक्खंतो' त्ति पृष्ठतोऽभिमुखं निरूपयन् 'वियक्खमाणो' त्ति विविधं सर्वासु दिक्षु पश्यन्, स एवंविधो बादरकायानपि व्यापादयेत्, त्रसेतरांश्च-पृथिव्यादीन् स्थावरकायान्, ततश्च संयमे-संयमविषया एते दोषा भवन्तीति।

इदानीं शरीरविराधनां प्रतिपादयन्नाह—

निरवेक्खो वच्चंतो, आवडिओ खाणुकंटविसमेसु ।
पंचण्ह इंदियाणं, अन्नतरं सो विराहेज्जा ॥ १८९ ॥

निरपेक्षो व्रजन् आपतितः सन् स्थाणुकण्टकविषमेषु, विषमम्-उन्नतं, तेष्वापतितः पञ्चानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनामन्यतरत् स विराधयेत्।

इदानीं 'भत्तपाणे य' त्ति अवयवं व्याख्यानयन्नाह—

भत्ते वा पाणे वा, आवडियपडियस्स भिन्नपाए वा ।
छक्कायविराहणं, उड्डाहो अप्पणो हाणी ॥१९०॥

आपतितश्चासौ पतितश्च आपतितपतितः तस्य साधोः भिन्ने-भग्ने वा पात्रके सति भक्ते वा प्रोज्झिते पानके वा, ततः षट्कायव्युपरमणं भवति, उड्डाहश्च भवति, आत्मनश्च हानिः क्षुधाबाधनं भवति, ततः पुनः षट्कायव्युपरमणमुड्डाहश्च।

दहि घय तक्कं पयमं-बिलं व सत्थं तसेनराण भवे ।
खद्धम्मि य जणवाओ, बहुफोडे जं च परिहाणी ।१९१।

तानि गृहीतानि कदाचिद्दधिघृततक्रपयःकाञ्जिकानि भवन्ति, ततश्च तान् शस्त्रम्, केषां?-त्रसानामितरेषां च-पृथिव्यादीनां भवेत्, 'खद्धम्मि' त्ति प्रचुरे च तत्र भक्ते लोकेन दृष्टे सति जनापवादो भवति, उड्डाहः-यदुत 'बहुफोडे' त्ति बहुभक्षका एत इति, या चाऽऽत्मपरितापनिकादिका परिहाणिः सा च भवति।

तथा पात्रविराधनायां याचनादोषान् प्रदर्शयन्नाह निर्युक्तिकारः—

पत्तं च मग्गमाणे, हवेज्ज पंथे विराहणा दुविहा ।
दुविहा य भवे तेणा, परिकम्मे सुत्तपरिहाणी ॥३२७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पात्रं चान्विषति सति ग्रामादौ भवेत् पथि विराधना द्विविधा—आत्मविराधना, संयमविराधना च। पथि स्तेनाश्च द्विप्रकारा भवन्ति—उपधिस्तेनाः, शरीरस्तेनाश्च। लब्धेऽपि कृच्छ्रात्पात्रके तत् परिकर्मयतः-तद्व्यापारे लग्नस्य सूत्रार्थपरिहाणिः। ओघ०। (प्रलम्बार्थं विहारः 'पलंब' शब्दे पञ्चमभागे ७१२ पृष्ठे गतः।) अध्वद्वारे, बृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०। स्वाध्यायार्थं कन्दरोद्यानादौ गमने, जीत०। बौद्धाश्रये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। (दुर्भिक्षादौ रात्रिभोजनस्य कल्पनीयता 'राइभोयण' शब्देऽस्मिन्नेवभागे ५१६ पृष्ठे उक्ता।) चरिकाप्रविष्टस्य भिक्षोर्विहारः 'चरियापविट्ठ' शब्दे तृतीयभागे ११५५ पृष्ठे गतः।)(गणादपक्रम्य परपाखण्डप्रतिमामुपसम्पद्यते विहरेदिति 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे १००५ पृष्ठ उक्तम्।) (एकाकी एकया स्त्रिया सह न विहरेत् इति 'इत्थी' शब्दे द्वितीयभागे ६१४ पृष्ठे गतम्।) (जिनकल्पिकस्य विहारः 'थविरकप्प' शब्दे चतुर्थभागे २३८८ पृष्ठे गतम्।) (शिष्यस्कन्धवर्धितविहारवर्णकः 'खंधवढियविहार' शब्दे तृतीयभागे ७०१ पृष्ठे गतः।)(एकाकिविहारप्रतिमा 'एगल्लविहार' शब्दे तृतीयभागे २० पृष्ठे उक्ता।) (वीरजिनेन्द्रस्य विहारः 'वीर' शब्दे वक्ष्यते।) (द्वे वर्षारात्रे नैकत्र वसेत्, विहारकालमानं च 'विवित्तचरिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२४८ पृष्ठे गतम्।) (नदीसन्तरणम् 'णईसंतार' शब्दे चतुर्थभागे १७३८ पृष्ठे उक्तम्।)

अधिकारसूची—

(१) विहारनिक्षेपः।
(२) गीतार्थनिश्रया विहारः।
(३) आत्मविराधनादिद्वारगाथा।
(४) विहारकल्पिकः।
(५) गीतार्थानां तन्निश्रितानां वा विहारः।
(६) अगीतार्थस्य स्वच्छन्दमेकाकिनो विहारनिषेधः।
(७) आचार्यस्योपाध्यायस्यैकाकिनो विहारो न कल्पते।
(८) जघन्यतः पञ्चकसप्तकाभ्यां हीनतायां प्रायश्चित्तम्।
(९) व्याकुलतायां विहारः।
(१०) कीदृशे द्वयोरन्यत्र गमनमुचितम्?।
(११) यैः कारणैरुपसंपद्यते तेषां निरूपणम्।
(१२) वर्षासु न विहरेत्।
(१३) विहारे आबाधादीनि स्थानानि।
(१४) सामान्येन शय्यामङ्गीकृत्य विधिः।
(१५) प्रथमप्रावृषि ग्रामाऽनुग्रामविहारे प्रायश्चित्तम्।
(१६) वर्षासु व्यतिक्रान्तासु विहरेत्।
(१७) हेमन्तग्रीष्मयोर्विहारः।
(१८) विहारद्वारविषयो विधिः।
(१९) मासकल्पादन्येऽपि विहाराः।
(२०) मार्गयतनामधिकृत्य विहरेत्।
(२१) यत्राऽन्तरा ग्रामे चौरास्तत्र न विहरेत्।
(२२) अराजकादिग्रामेषु न विहरेत्।
(२३) मार्गे वप्रादिके विहारविधिः।
(२४) प्रातिपथिकपृच्छायां विहारविधिः।
(२५) मार्गे वप्राऽऽदीनि नाऽङ्गुल्या दर्शयेत्।
(२६) आचार्यादिना सह गच्छतः साधोर्विधिः।
(२७) विहारक्षेत्रस्य पूर्वोत्तरदिग्मानम्।
(२८) भगवता कुत्र (५१) इदं सूत्रं निरूपितम्।
(२९) आर्यक्षेत्रविहारकारणम्।
(३०) निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ विकाले वा विहारनिषेधः।
(३१) विहारे उपकरणत्यागे प्रायश्चित्तम्।
(३२) किं पुनः सार्थे प्रत्युपेक्षणीयम्।
(३३) अध्वानं प्रतीत्य भङ्गाः।
(३४) रात्रौ विकाले वा एकाकिनो विहारनिषेधः।
(३५) एकाकिनो यतनाप्रतिपादनम्।
(३६) निर्ग्रन्थ्या रात्रिविहारः।
(३७) विहारभूमिविषयः।

विहारकप्प—विहारकल्प—पुं०। विहरणं विहारो वर्त्तनं तस्य कल्पो व्यवस्था स्थविरकल्पादीनामुच्यते—यत्र ग्रन्थेऽसौ विहारकल्पः। पा०। उत्कालिकश्रुतभेदे, नं०।

विहारगमण—विहारगमन—न०। विहरणं-क्रीडनं विहारस्तेन गमनम्। उद्यानादौ क्रीडया गमने,सूत्र० १ श्रु०३ अ० २ उ०।

विहारघरय—विहारगृहक—न०। स्वनामख्याते उद्याने, यत्र वा सुपूज्यो जिनो निष्क्रान्तः। आ० म० १ अ०।

विहारचरिआ—विहारचर्या—स्त्री०। विहाररूपायां साधुचर्यायाम्, दश० २ अ०। ('विवित्तचरिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विस्तरतो वर्णितैषा।)

विहारजत्ता—विहारयात्रा—स्त्री०। उद्यानक्रीडायाम्, 'विहारजत्तं निज्जाओ, मंडिकुंडिसि चेइए' उत्त० २० अ०।

विहारभूमि—विहारभूमि—स्त्री०। स्वाध्यायभूमौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०। बृ०। नि० चू०। भिक्षानिमित्तभ्रमणभूमौ, व्य० ४ उ०। जिनचैत्यगमने, 'विहारो जिनसद्मनीति' वचनात्। कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

विहारवत्तिया—विहारप्रतिज्ञा—स्त्री०। विहरिष्यामीति गमनप्रतिज्ञायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ०।

विहारि(न्)—विहारिन्—त्रि०। विहरतीत्येवंशीलो विहारी। ध० ३ अधि०। विहरणशीले, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

विहावरी—विभावरी—स्त्री०। रात्रौ, । पाइ० ना०।

विहावसु—विभावसु—पुं०। अग्नौ, पाइ० ना०।

विहि—स्त्री०। विधि—पुं०। विधानं विधिः। प्रकारे,आव०६ अ०। ज्ञा०। दश०। भेदे, व्य० ५ उ०। उपा०। सम्यग्ज्ञानदर्शनयोर्यौगपद्येनाप्तौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। उपोद्घाते, आव० १ अ०। प्ररूपणे, आ० म० १ अ०। अनुष्ठाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। विधाने, सम्यक्करणे, पञ्चा० ५ विव०। ध०। अनुज्ञायाम्, आव० ४ अ०। न्यायः स्थितिर्मर्यादा विधानमित्येकार्थाः। आचारे, व्य० ७ उ०। आ० म०। विस्तरे, रचनायाम्, नि० चू० १ उ०। सर्वकौशले, आ० म०२ अ०। प्रतिपत्तिक्रमे, पञ्चा० २ विव०। शास्त्रोक्ते न्याये, श्रद्धासत्कारक्रमयोगाऽऽदौ, द्वा० २४ अष्ट०। अस्तित्वादिभावे, नयो०। विधिमभिदधाति-"विधिः-सदंश" इति। सदसदंशात्मनो वस्तुनो योऽयं सदंशो भावरूपः स विधिरित्यभिधीयते। रत्ना० ३ परि०। विचारे, सम्म० ३ काण्ड। "वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्" ॥ ८। १। ३५॥ इति स्त्रीत्वम्-विही। प्रा०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकार्थाः--

अणुपुव्वी पडिवाडी, कमो य नाओ ठिई य मज्जाया ।
होइ विहाणं च तहा, विहीएँ एगट्ठिया हुंति ॥

आनुपूर्वी परिपाटी क्रमः न्यायः स्थितिः मर्यादा विधानमेकार्थिकानि विधेरेतानि । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

विहिंस-विहिंस्य--त्रि० । विहिंस्यन्त इति विहिंस्याः । विघात्येषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

विहिंसण-विहिंसन-न० । विविधव्यापादने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

विहिंसमाण-विहिंसत्-त्रि० । विविधैरुपायैर्हिंसति , आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

विहिंसा-विहिंसा-स्त्री० । विविधैरुपायैर्हिंसायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । जन्तुघातादौ, अनु० । विघाते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

विहिंसिय-विहिंसित--त्रि० । हिंसां प्राप्तं हिंसितम् , विरूपं हिंसितं विहिंसितम् । असम्यङ्निर्जीवीकृते, सूत्र०२श्रु० १ अ० ।

विहिकरण--विधिकरण--न० । आगमोत्तीर्णविधिविधाने, जी० १ प्रति० ।

विहिकारग-विधिकारक--त्रि० । सूत्राज्ञासम्पादके, पं० व० १ द्वार ।

विहिगहिय--विधिगृहीत--त्रि० । अलुब्धेनोद्गमिते, लोभराहित्येनोद्गमादिदोषदुष्टे, आव० ६ अ० ।

विहिणाह--विधिनाथ--पुं० । कोटाद्वारतीर्थे पार्श्वप्रतिमायाम् , ती० ४३ कल्प ।

विहिपडिसेहजुय-विधिप्रतिषेधयुत--त्रि० । वनस्पत्यादिहिंसादिष्वासेवापरिहारान्विते, पञ्चा० ११ विव० ।

विहिपडिसेहाऽणुग-विधिप्रतिषेधाऽनुग--न० । विधिश्च प्रतिषेधश्च तावनुगच्छति यत्तत् विधिप्रतिषेधानुगम् । रुचिनिरपेक्षतया शास्त्रानुसारेण क्रियासु प्रवर्तने, दर्श० ३ तत्त्व ।

विहिपवा-विधिप्रपा-स्त्री० । स्वनामख्याते प्रकरणग्रन्थे, अष्ट० १६ अष्ट० ।

विहिपारण-विधिपारण-न० । प्रत्याख्यानस्पर्शनादिविधानयुक्ते भोजने, पञ्चा० १६ विव० ।

विहिपुव्व-विधिपूर्व-न० । अविधिपरिहारेण (षो० ६ विव०) शास्त्रोक्तविधानपुरःसरे, षो० १२ विव० ।

विहिप्पओग-विधिप्रयोग-पुं० । दुर्निमित्तप्रणिधानविधानप्रयुक्तौ, पञ्चा० १२ विव० ।

विहिभुत्त-विधिभुक्त-न० । एषणीयं गृहीत्वा पश्चान्मण्डल्यां कृतप्रतरगच्छे सिंहखादितेन विधिना वा भुक्ते, आव०६अ० ।

विहिय-विहित-त्रि० । आचरिते, संथा० । चेष्टिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अनुष्ठाने, नपुं० । आव० ३ अ० । पिण्डिते, दे० ना० ७ वर्ग ६४ गाथा ।

विहियतव-विहिततपस्--त्रि० । विहितं दत्तं गुरुभिस्तपोरूपं प्रायश्चित्तं यस्येति । गुरुदत्ततपोऽनुष्ठातरि, जीत० ।

३३३

विहिया-विहिता-स्त्री० । "वृद्धयाद्यर्थमसङ्गस्य, भ्रमरोपमयाऽटतः । गृहिदेहोपकाराय , विहितेति शुभाशयात् ॥ १ ॥" इत्युक्तलक्षणे भिक्षाभेदे. ध० १ अधि० ।

विहियाऽणुट्ठाण-विहिताऽनुष्ठान-न० । विहितमाप्तागमे विधेयतयाऽनुमतं यदनुष्ठानं क्रिया तद् विहितानुष्ठानम् । पञ्चा० ६ विव० । दीक्षादीक्षितसमाचाररूपसद्वृत्ते, पञ्चा० २ विव० । आगमोक्तक्रियायाम् , पञ्चा० १६ विव० । उचितक्रियायाम् , पञ्चा० १८ विव० ।

विहियाऽणुट्ठाणपर-विहिताऽनुष्ठानपर-त्रि० । आगमोक्तक्रियानिष्ठे पञ्चा० १४ विव० ।

विहिवाय-विधिवाद-पुं० । 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इत्यादिके चोदनावाक्ये, आ० म० १ अ० ।

विहिसार-विधिसार-पुं० । विधिप्रधाने; ध० र० ।

विहिसारं चिय सेवइ, सद्धालू सत्तिमं अणुट्ठाणं ।
दव्वाइदोसनिहओ, विपक्खवायं वहइ तम्मि ॥ ६१ ॥

विधिसारं-विधिप्रधानं सेवते-अनुतिष्ठति श्रद्धालुः-श्रद्धागुणवान् शक्तिमान्-सामर्थ्योपेतः सदनुष्ठानं-प्रत्युपेक्षणोपणादिकं श्रद्धालुत्वस्यान्यथानुपपत्तेः , यदि पुनः-शक्तिमान्न स्यात् ततः का वार्त्तेत्याह ?-द्रव्याण्याहारादीनि आदिशब्दात्-क्षेत्रकालभावाः परिगृह्यन्ते, तेषां दोषः--प्रतिकूलता तेन निहतोऽपि-गाढपीडितोऽपि पक्षपातं भावप्रतिबन्धं वहति-धारयति,तस्मिन्नेव-विध्यनुष्ठान एव साधारणत्वाद्वाक्यस्येति । ध० र० ३ अधि० २ लक्ष० ।

विहिसाराऽणुट्ठाण-विधिसाराऽनुष्ठान-न० । प्रवचनकुशलभेदे, ध० र० ।

सम्प्रति विधिसारानुष्ठानमिति पञ्चमं भेदं प्रकटयन् गाथापूर्वार्द्धमाह-

वहइ सइ पक्खवायं,विहिसारे सव्वधम्मणुट्ठाणे ।(५४×)

वहति-धत्ते सदा पक्षपातं-बहुमानं विधिसारे--विधानप्रधाने सर्वधर्म्मानुष्ठाने-देवगुरुवन्दनादौ, इदमुक्तं भवति-विधिकारिणमन्यं बहु मन्यते स्वयमपि सामग्रीसद्भावे यथाशक्ति विधिपूर्वकं धर्मानुष्ठाने प्रवर्त्तते, सामग्र्यभावे पुनर्विध्याराधनमनोरथान्न मुञ्चत्येवमप्यसावाराधकः स्याद् ब्रह्मसेनश्रेष्ठिवत् । ध० र० २ अधि० । (तत्कथा ' बंभसेण ' शब्दे पञ्चमभागे गता ।)

विहिसाहण-विधिसाधन-न० । अनुष्ठानप्रकाशने,पञ्चा०२विव० ।

विहिसुवण-विधिस्वपन-न० । जिनार्चनवन्दनविशेषप्रत्याख्यानकरणादिविधिना शयनक्रियायाम् , पञ्चा० १ विव० ।

विहिसेवणा-विधिसेवना-स्त्री० । नीत्यनुपालनायाम् , पञ्चा० ८ विव० ।

विहिसेवा-विधिसेवा-स्त्री० । आगमाभिमतन्यायसेवायाम् , " विधिसेवा दानादौ " विधिसेवा-आगमाभिमतन्यायसेवा । षो० ५ विव० ।

विहिसेस-विधिशेष-पुं० । विहितानुष्ठानस्य उक्तापेक्षयाऽनुक्ते शेषे, पञ्चा० १ विव० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विहुणण–विधुनन–न० । वीजनके, बृ० ४ उ० । दशा० । सूत्र० ।

विहुणिय–विधूय–अव्य० । कल्पयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अपनीयेत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । आचा० । विध्वस्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । सूत्र० ।

विहुय–विधूत–त्रि० । प्रकम्पिते, आव० २ अ० । विविधमनेकप्रकारं धूतमपनीतम् । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

विहुयकप्प–विधूतकल्प–त्रि० । विधूतः कल्प आचारो यस्याऽसौ विधूतकल्पः। अपनीताचारे,आचा०१ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

विहुर–विधुर–न० । इष्टजनवियोगे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । आव० ।

विहूण–विहीन–त्रि० । रहिते, नि० ।

विहेज–विधेय–त्रि० । विधिविषये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

विहेज्जया–विधेयता–स्त्री० । विषयताविशेषे, प्रति० ।

विहेडंत–विहेटयत्–त्रि० । विशेषेण हिंसति, उत्त० १२ अ० ।

विहेडय–विहेठक–त्रि० । विविधमनेकप्रकारं,हेठको–बाधकः । ऋक्संस्थानीये अभिचारमन्त्रे, "पद्शनानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचना–न्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥" इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

विहेलय–विभेलक–पुं० । ग्रामाकग्रामे प्रतिमास्थितस्य वीरजिनेन्द्रस्य पूजके स्वनामख्याते यक्षे, आ० चू० १ अ० ।

विहोड–तडि–धा० । आघाते, "तडेराहोड–विहोडौ" ॥ ८ । ४ । २७ ॥ इति तडेः ण्यन्तस्य विहोडादेशः । विहोडयति । ताडयति । प्रा० । जुगुप्सनीये, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

वीअ–देशी–विधुर–तत्कालयोः, दे० ना० ७ वर्ग ६३ गाथा ।

वीइ–वीचि–स्त्री० । महाकल्लोले, औ० । भ० । पाइ०ना० । ऊर्मौ, आव० ४ अ० । स्था० । ह्स्वकल्लोले, विविक्त्वे, विवेचनाद्विविक्तस्वभावाद् वीचिः । आकाशे, भ० २० श० २ उ० ।

वीइंगाल–वीताङ्गार–न० । वीतो–गतोऽङ्गारो रागो यस्मात्तद् वीताङ्गारम् । अङ्गाराख्यग्रासैषणादोषरहिते भिक्षाभेदे, भ० ७ श० १ उ० ।

वीइकंत–व्यतिक्रान्त–त्रि० । उल्लङ्घितवति, भ० १० श० ३ उ० ।

वीइकमइत्ता–व्यतिक्रमय्य–अव्य०।नीत्वेत्यर्थे,भ०७श०१ उ० ।

वीइपंथ–वीचिपथिन्–पुं० । कषायवतो मार्गे, भ० १० श० २ उ० । (अस्य व्याख्या 'अणगार' शब्दे प्रथमभागे २७२ पृष्ठे गता ।)

वीइधूम–वीतिधूम–न० । द्वेषरूपदोषरहिते, भ० ७ श० १ उ० ।

वीइभय–वीतिभय–न० । सिन्धुसौवीरेषु उद्रायननृपपालिते नगरे, भ० १३ श० ६ उ० । आ० चू० । आव० । नि० चू० ।

वीइवइत्ता–व्यतिव्रज्य–अव्य० । व्यतिक्रम्येत्यर्थे, भ० ३ श० ७ उ० ।

वीइवयण–व्यतिव्रजन–न० । व्यतिक्रमे, उल्लङ्घने, भ० ।

अप्पड्ढीए णं भंते ! देवे से महड्ढियस्स देवस्स मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा ?, णो तिणट्ठे समट्ठे । समिड्ढीए णं भंते ! देवे समिड्ढियस्स देवस्स मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा ?, णो तिणट्ठे समट्ठे, पमत्तं पुण वीइवएज्जा, से णं भंते ! किं विमोहित्ता पभू अविमोहित्ता प्रभू ?, गोयमा ! विमोहेत्ता पभू नो अविमोहेत्ता पभू । से भंते ! किं पुव्विं विमोहेत्ता पच्छा वीइवएज्जा, पुव्विं वीइवएत्ता पच्छा विमोहेज्जा ?, गोयमा ! । पुव्विं विमोहेत्ता पच्छा वीइवएज्जा, णो पुव्विं वीइवइत्ता पच्छा विमोहेज्जा । महिड्ढीए णं भंते ! देवे अप्पड्ढियस्स देवस्स मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा ?, हंता वीइवएज्जा, से णं भंते ! किं विमोहित्ता पभू अविमोहेत्ता पभू ?, गोयमा ! विमोहेत्ता वि पभू अविमोहेत्ता वि पभू, से भंते ! किं पुव्विं विमोहेत्ता पच्छा वीइवइज्जा पुव्विं वीइवइत्ता पच्छा विमोहेज्जा ?, गोयमा ! पुव्विं वा विमोहेत्ता पच्छा वीइवइज्जा पुव्विं वा वीइवएत्ता पच्छा विमोहेज्जा । अप्पिड्ढिए णं भंते ! असुरकुमारे महड्ढियस्स असुरकुमारस्स मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा ? णो इणट्ठे समट्ठे, एवं असुरकुमारेऽवि तिन्नि आलावगा भाणियव्वा, जहा ओहिएणं देवेणं भणिया, एवं० जाव थणियकुमाराणं, वाणमंतरजोइसियवेमाणिए णं एवं चेव ॥ अप्पड्ढिए णं भंते ! देवे महिड्ढियाए देवीए मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा ?, णो इणट्ठे समट्ठे । समड्ढिए णं भंते ! देवे समिड्ढियाए देवीए मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा, एवं तहेव देवेण य देवीण य दंडओ भाणियव्वो० जाव वेमाणियाए ॥ अप्पड्ढिया णं भंते ! देवी महड्ढियस्स देवस्स मज्झं मज्झेणं एवं एसो वि तइओ दंडओ भाणियव्वो० जाव महड्ढिया वेमाणिणी अप्पड्ढियस्स वेमाणियस्स मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा ?, हंता वीइवएज्जा । अप्पड्ढिया णं भंते ! देवी महिड्ढियाए देवीए मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा ?, णो इणट्ठे समट्ठे, एवं समड्ढिया देवी समड्ढियाए देवीए, तहेव महड्ढिया वि देवी अप्पड्ढियाए देवीए तहेव, एवं एक्केके तिन्नि तिन्नि आलावगा भाणियव्वा० जाव महड्ढिया णं भंते ! वेमाणिणी अप्पड्ढियाए वेमाणिणीए मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा ?, हंता वीइवएज्जा, सा भंते ! किं विमोहित्ता पभू तहेव० जाव पुव्विं वा वीइवइत्ता पच्छा विमोहेज्जा एए चत्तारि दंडगा ॥ (सू० ४०१) भ० १० श० ३ उ० ।

देवे णं भंते ! महाकाए महासरीरे अणगारस्स भावियप्पणो मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा ?, गोयमा ! अत्थेगइए वीइवएज्जा अत्थेगतिए नो वीइवएज्जा, से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगतिए वीइवएज्जा अत्थेगतिए नो वीइवएज्जा ?, गोयमा ! दुविहा देवा पन्नत्ता । तं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जहा–मायी मिच्छादिट्ठी उववन्नगा य, अमायी सम्मद्दिट्ठी उववन्नगा य। तत्थ णं जे से मायी मिच्छादिट्ठी उववन्नए देवे से णं अणगारं भावियऽप्पाणं पासइ पासित्ता नो वंदति नो नमंसति नो सक्कारेति नो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं० जाव पज्जुवासति, से णं अणगारस्स भावियप्पणो मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा, तत्थ णं जे से अमायी सम्मद्दिट्ठी उववन्नए देवे से णं अणगारं भावियऽप्पाणं पासइ पासित्ता वंदति नमंसति० जाव पज्जुवासति। से णं अणगारस्स भावियप्पणो मज्झं मज्झेणं नो वीयीवएज्जा, से तेणऽट्ठेणं! गोयमा! एवं वुच्चइ० जाव नो वीइवएज्जा। असुरकुमारे णं भंते! महाकाये महासरीरे, एवं चेव एवं देवदंडओ भणियव्वो ०जाव वेमाणिए। (सू० ५०६)

'देवे णं' इत्यादि, इह च क्वचिदियं द्वारगाथा दृश्यते– "महाकाए सक्कारे, सत्थेणं वीइवयंति देवा उ। वीसं चेव य ठाणा, नेरइयाणं तु परिणामे ॥ १ ॥" इति, अस्याश्चार्थ उद्देशकार्थाधिगमावगम्य एवेति। 'महाकाय'त्ति महान्–बृहत् प्रशस्तो वा कायो–निकायो यस्य स महाकायः, 'महासरीरे' त्ति बृहत्तनुः। 'एवं देवदंडओ भाणियव्वो' त्ति नारकपृथिवीकायिकादीनामधिकृतव्यतिकरस्याऽसम्भवात् देवानामेव च सम्भवाद्देवदण्डकोऽत्र व्यतिकरे भणितव्य इति। भ० १४ श० ३ उ०।

अप्पड्ढीए णं भंते! देवे महड्ढियस्स देवस्स मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा?, नो तिणट्ठे समट्ठे, समिड्ढीए णं भंते! देवे समड्ढियस्स देवस्स मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा, णो इणट्ठे समट्ठे, पमत्तं पुण वीइवएज्जा, से णं भंते! किं सत्थेणं अक्कमित्ता पभू अणक्कमित्ता पभू?, गोयमा! अक्कमित्ता पभू नो अणक्कमित्ता पभू, से णं भंते! किं पुव्विं सत्थेणं अक्कमित्ता पच्छा वीयीवएज्जा पुव्विं वीईवएज्जा पच्छा सत्थेणं अक्कमेज्जा?, एवं एएणं अभिलावेणं जहा दसमसए आइड्ढीउद्देसए तहेव निरवसेसं चत्तारि दंडगा भणियव्वा० जाव महड्ढिया वेमाणिणी अप्पड्ढिया वेमाणिणीए। (सू०–५०८×)

'अप्पड्ढिए णं' इत्यादि, 'एवं एएणं अभिलावेणं' इत्यादि, 'आइड्ढिउद्देसए' त्ति दशमशतस्य तृतीयोद्देशके 'निरवसेसं' ति समस्तं प्रथमं दण्डकसूत्रं वाच्यम्, तत्र चाल्पर्द्धिकमहर्द्धिकाऽऽलापकः समर्द्धिकालापकश्चेत्यालापकद्वयं साक्षादेव दर्शितम्. केवलं समर्द्धिकालापकस्यान्तेऽयं सूत्रशेषो दृश्यः–'गोयमा! पुव्विं सत्थेणं अक्कमित्ता पच्छा वीइवएज्जा नो पुव्विं वीईवइत्ता पच्छा सत्थेणं अक्कमिज्ज' त्ति तृतीयस्तु महर्द्धिकाल्पर्द्धिकालापकः, एवम्–'महड्ढिए णं भंते! देवे अप्पड्ढियस्स देवस्स मज्झं मज्झेणं वीइवएज्जा?, हंता वीइवएज्जा, से णं भंते! किं सत्थेणं अक्कमित्ता पभू अणक्कमित्ता पभू!' शस्त्रेण हत्वा अहत्वा वेत्यर्थः, 'गोयमा! अक्कमित्ता वि पभू अणक्कमित्ता वि पभू। से णं भंते! किं पुव्विं सत्थेणं अक्कमित्ता पच्छा वीइवएज्जा पुव्विं वीइवइत्ता पच्छा सत्थेणं अक्कमेज्जा?, गोयमा! पुव्विं वा सत्थेणं अक्कमित्ता पच्छा वीइवएज्जा, पुव्विं वा वीइवइत्ता पच्छा सत्थेणं अक्कमिज्ज' त्ति 'चत्तारि दंडगा भाणियव्व' त्ति तत्र प्रथमदण्डक उक्तालापकत्रयात्मको देवस्य देवस्य च, द्वितीयस्त्वेवंविध एव नवरं देवस्य च देव्याश्च, एवं तृतीयोऽपि नवरं देव्याश्च देवस्य च, चतुर्थोऽप्येवं नवरं देव्याश्च देव्याश्चेति, अत एवाऽऽह–'जाव महड्ढिया वेमाणिणी अप्पड्ढियाए वेमाणिणीए' त्ति 'मज्झं मज्झेणं' इत्यादि तु पूर्वोक्तानुसारेणाध्येयमिति। भ० १४ श० ३ उ०। (व्यतिव्रजनं विचित्रं परिणाममधिकृत्य 'तेउकाइय' शब्दे चतुर्थभागे २३४८ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादितम्।)

वीचि(इ)दव्व-वीचिद्रव्य-न०। वीचिर्विवक्षितद्रव्याणां तदवयवानां च परस्परेण पृथग्भावो 'विचिर' पृथग्भावे इति वचनात् तत्र वीचिप्रधानानि द्रव्याणि वीचिद्रव्याणि। एकादिप्रदेशन्यूनेषु द्रव्येषु. भ० १४ श० ६ उ०। यावता द्रव्यसमुदायेनाहारः पूर्यते स एकादिप्रदेशोनो वीचिद्रव्याण्युच्यंते, परिपूर्णास्त्ववीचिद्रव्याणीति टीकाकारः। भ० १४ श० ६ उ०। (नैरयिकादयो वीचिद्रव्याण्यवीचिद्रव्याणि वा आहारयन्तीति सव्याख्यम् 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५०६ पृष्ठे उक्तम्।)

वीचि(इ)वेग–वीचिवेग-पुं०। कल्लोलवेगे, व्य० १ उ०।

वीची–देशी–लघुश्यामायाम्. दे० ना० ७ वर्ग ७३ गाथा।

वीण- वीणा–स्त्री०। "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥ ८। ४। ३२६ ॥ इत्याकारस्य ह्रस्वः। प्रा०। विपञ्च्याम्, प्रश्न० ५ संव० द्वार। जं०। आचा०।

वीणिया–वीणिका–स्त्री०। वाद्यविशेषे, स्त्रियां स्वार्थे कः प्रत्ययः। आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ०। 'तुंबवीणियसद्दाणि वा' नि० चू० ५ उ०। (अनेकप्रकारा वीणिका 'मुहवीणिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।)

वीतगिद्धि–वीतगृद्धि–स्त्री०। विगता गृद्धिर्विषयेषु यस्य स वीतगृद्धिः। आशंसादोषरहिते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

वीभावण–विभापन–न०। भयोत्पादने, नि० चू०।

वीहावेती भिक्खू, भंते लहुगा गुरू मसंतंमि।
आणादी मिच्छत्तं, विराहणा होति सा दुविहा ॥४१॥

नि० चू० ११ उ०। (अस्या व्याख्या––'भय' शब्दे पञ्चमभागे १३७६ पृष्ठे गता।)

वीमंस––विमर्ष–पुं०। विमर्षणं विमर्षः। अपायात्पूर्वं ईहायाश्चोत्तरे प्रायः शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इह घटन्त इति। पुरुषोऽयमिति प्रत्यये, विशे०। आ० म०। नं०।

विमर्श–पुं०। इदमित्थमेव घटते इत्थं वा तद्भूतमित्थमेव वा तद्भावीति यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिर्णये, नं०। विन्तात ऊर्ध्वं क्षयोपशमविशेषात् स्पष्टतरं सद्भूतार्थविशेषाभिमुख एव व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्माऽपरित्यागतोऽन्वयध-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेवविमर्शनं विमर्शः । ईहायाम् , नं० आ० चू० । सूत्र० । किमेष साधुः शक्यः क्षोभयितुं नवेत्येवमादिके विकल्पे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

वीमंसा—मीमांसा—स्त्री० । मातुमिच्छा मीमांसा । प्रमाणजिज्ञासायाम् , विशे० । नं० । आ० म० । परीक्षायाम् , नि० चू० १ उ० । शैक्षकादिपरीक्षायाम् , "वीमंसा सेहमाईणं" स्था० १० ठा० १ उ० ।

वीय—वीत—त्रि० विगते, स्था०२ ठा० १ उ० । अपगते, विशे० ।

वीयण वीजन—न० । वंशादिमये अन्तर्ग्राह्यदण्डे वायूदीरके, भ० ६ श० ३३ उ० । ज्ञा० ।

व्यजन—न०। चामरादिना वायुकरणे , दश० ४ अ० । सूत्र० । आचा० । प्रश्न० ।

वीयदोस—वीतद्वेष—पुं० । द्विष्यतेऽनेनेति द्वेषः द्वेषमोहनीयं कर्म आत्मनः क्वचिदज्ञानपरिणामापादनात् द्वेषणं द्वेषः । वेदनीयकर्मापादितो भावोऽप्रीतिपरिणाम एव । वीतो द्वेषो यस्येति । क्षीणद्वेषे, पं० सू० १ सूत्र ।

वीयभय—वीतभय—न० । उदयनराजपालिते सिन्धुसौवीरदेशप्रधाननगरे, आ० क० ३ अ० । प्रव० । ती० । प्रज्ञा० । आ० म० । आव० ।

वीयमोह—वीतमोह—पुं० । मुह्यतेऽनेनेति मोहः वेदनीयं कर्म । आत्मनः क्वचिदज्ञानपरिणामापादनात् मोहनं वा मोहः । मोहनीयकर्मापादितो भावोऽज्ञानपरिणामः । क्षीणमोहे , पं० सू० १ सूत्र ।

वीयराग—वीतराग—पुं० । वीतो रागो मायालोभकषायोदयरूपो यस्य स वीतरागः । दर्श० ५ तत्त्व । कर्म० । स्था० । व्यपेताभिष्वङ्गे, पञ्चा० ४ विव० । सर्वज्ञ, नि० चू० २० उ० ।

णमो वीयरागाणं (सू० १ +)

'नमो वीतरागेभ्यः' । तत्र रज्यते अनेनेति रागः रागवेदनीयं कर्म, आत्मनः क्वचिदभिष्वङ्गपरिणामापादनात् रञ्जनं वा रागः रागवेदनीयकर्मापादितो भावोऽभिष्वङ्गपरिणाम एव । वीतोऽपेतो रागो येषां ते वीतरागाः , तेभ्यो नमः । पं० सू० १ सूत्र ।

सुहमं वा बायरं वा मणेण वा वायाए वा काएण वा कयं वा काराविअं वा अणुमोइअं वा रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा इत्थ वा जम्मे जम्मंतरेसु वा गरहिअमेअं दुक्कडमेअं उज्झियव्वमेयं विआणिअं मए कल्लाणमित्तगुरुभगवंतवयणाओ एवमेअं ति रोइअं सद्धाए अरहंतसिद्धसमक्खं गरहामि अहमिणं दुक्कडमेअं उज्झियव्वमेअं इत्थ मिच्छा मि दुक्कडं, मिच्छा मि दुक्कडं, मिच्छा मि दुक्कडं ।

सूक्ष्मं, बादरं वा, स्वरूपतः । कथमेतदाचरितम् ? इत्याह—मनसा वाचा कायेन वा कृतं चात्मना १, कारितं चान्यैः २, अनुमोदितं वा परकृतम् ३ । एतदपि रागेण वा, द्वेषेण वा, मोहेन वा, । अत्र वा जन्मनि, जन्मान्तरेषु वा अतीतेषु गर्हितमेतत्—कुत्सास्पदम् , दुष्कृतमेतत्सद्धर्मबाह्यत्वेन , उज्झितव्यमेतत् हेयतया । विज्ञातं मया, कल्याणमित्रगुरुभगवद्वचनात् । भगवद्वचनप्राप्तौ प्राय इयमानुपूर्वीत्येवमुपन्यासः । एवमेतदिति रोचितं श्रद्धया तथाविधकर्मक्षयोपशमजया । ततः किम् ? इत्याह—अर्हत्सिद्धसमक्षं तानधिकृत्य गर्हेऽहमिदं; कुत्सामीत्यर्थः । कथम् ? इत्याह—दुष्कृतमेतत् , उज्झितव्यमेतत् । अत्र—व्यतिकरे 'मिच्छा मि दुक्कडं' वारत्रयं पाठः । व्याख्या अस्य अर्थविशेषत्वात्प्राकृताक्षरैरेव न्याय्या, निर्युक्तिकारवचनप्रामाण्यात् । आह च निर्युक्तिकारः—

"मि त्ति मिउमद्दवत्ते, छ त्ति य दोसाण छायणे होइ ।
मि त्ति य मेराए ठिओ, दु त्ति दुगुंछामि अप्पाणं ॥६८६॥
क त्ति कडं मे पावं, ड त्ति य डेवेमि तं उवसमेणं ।
एसो मिच्छादुक्कड—पयक्खरत्थो समासेणं ॥ ६८७ ॥"

अत्रैतत्सुन्दरत्वान्नाऽसम्यगभिमन्यमान आह—

होउ मे एसा सम्मं गरिहा । हो उ मे अकरणनिअमो । बहुमयं ममेअं ति इच्छामि अणुसट्ठिं । अरहंताणं भगवंताणं गुरूणं कल्लाणमित्ताणं ति होउ मे एएहिं संजोगो । होउ मे एसा सुप्पत्थणा होउ मे इत्थ बहुमाणो । होउ मे इओ मुक्खबीअं ति ।

भवतु मम एषा—अनन्तरोदिता, सम्यग्गर्हा भावरूपा । भवतु मे अकरणनियमः ग्रन्थिभेदवत्तद्बन्धरूपः, गर्हाविषय इति सामर्थ्यम् । बहुमतं ममैतद् द्वयम् , इत्यस्मादिच्छामि अनुशास्तिम्—उदितप्रपञ्चबीजभूताम् । केषाम् ? इत्याह—अर्हतां भगवतां, तथा गुरूणां कल्याणमित्राणामिति । प्रतिपन्नतत्त्वानां गुणाधिकविषयैव प्रवृत्तिर्न्याय्या, इत्येवमुपन्यासः । प्रणिध्यन्तरमाह—भवतु मम एभिः—अर्हदादिभिः संयोगः; उचितो योग इत्यर्थः । भवतु ममैषा सुप्रार्थना अर्हदादिसंयोगविषया । भवतु ममात्र बहुमानः प्रार्थनायाम् । भवतु मम इतः प्रार्थनातो मोक्षबीजं सुवर्णघटसंस्थानीयं; प्रवाहतः कुशलानुबन्धि कर्मेत्यर्थः ।

तथा—

पत्तेसु एएसु अहं सेवारिहे सिआ आणारिहे सिआ पडिवत्तिजुत्ते सिआ निरइआरपारगे सिआ ।

प्राप्तेषु एतेषु अर्हदादिषु अहं सेवार्हः स्याम् । अर्हदादीनामेवाज्ञार्हः स्याम् । एतेषामेव प्रतिपत्तियुक्तः स्याम् । एतेषामेव निरतिचारपारगः स्यामेतदाज्ञायाः ।

एवं सानुपङ्गं दुष्कृतगर्हामभिधाय सुकृतासेवनमाह—

संविग्गो जहासत्तीए सेवेमि सुकडं । अणुमोएमि सव्वेसिं अरहंताणं अणुट्ठाणं । सव्वेसिं सिद्धाणं सिद्धभावं । सव्वेसिं आयरिआणं आयारं । सव्वेसिं उवज्झायाणं सुत्तप्पयाणं । सव्वेसिं साहूणं साहुकिरिअं । सव्वेसिं सावगाणं मुक्खसाहणजोगे । सव्वेसिं देवाणं सव्वेसिं जीवाणं होउ कामाणं कल्लाणाऽऽसयाणं मग्गसाहणजोगे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संविग्नः सन् यथाशक्ति किम् ? इत्याह-सेवे सुकृतम् एतदेवाह-अनुमोदेऽहमिति प्रक्रमः। सर्वेषामर्हताम् अनुष्ठानं धर्मकथादि। एवं सर्वेषां सिद्धानां सिद्धभावम्-अव्याबाधादिरूपम्। एवं सर्वेषामाचार्याणाम् आचारं-ज्ञानाचारादिलक्षणम्। एवं सर्वेषामुपाध्यायानां सूत्रप्रदानं सद्विधिवत्। एवं सर्वेषां साधूनां साधुक्रियां सत्स्वाध्यायादिरूपाम्। एवं सर्वेषां श्रावकाणां मोक्षसाधनयोगान् वैयावृत्त्यादीन्। एवं सर्वेषां देवानाम्--इन्द्रादीनाम्; सर्वेषां जीवानाम्; सामान्येनैव भवितुकामानामासन्नभव्यानां, कल्याणाऽऽशयानां-शुद्धाशयानाम् एतेषाम्। किं ? इत्याह-मार्गसाधनयोगान् सामान्येन कुशलव्यापारानुमोदे, इति क्रियानुवृत्तिः। भवन्ति चैतेषामपि मार्गसाधनयोगाः, मिथ्यादृष्टीनामपि गुणस्थानकत्वाभ्युपगमात्।

अनभिग्रहे सति प्रणिधिशुद्धिमाह—

होउ मे एसा अणुमोअणा। सम्मं विहिपुव्विआ, सम्मं सुद्धाऽऽसया, सम्मं पडिवत्तिरूवा, सम्मं निरइआरा। परमगुणजुत्तअरहंताइसामत्थओ अचिंतसत्तिजुत्ता हि ते भगवंतो वीअरागा सव्वण्णू परमकल्लाणा परमकल्लाणहेऊ सत्ताणं मूढे अम्हि पावे अणाइमोहवासिए अणभिन्ने भावओ हिआऽहिआणं अभिन्ने सिआ अहिअनिवित्ते सिआ हिअपवित्ते सिआ आराहगे सिआ उचिअपडिवत्तीए सव्वसत्ताणं सहिअंति। इच्छामि सुकडं, इच्छामि सुकडं, इच्छामि सुक(क)डं।

भवतु ममैषाऽनुमोदना अनन्तरोक्ता। सम्यग्विधिपूर्विका, सूत्रानुसारेण। सम्यक् शुद्धाशया, कर्मविगमेन। सम्यक् प्रतिपत्तिरूपा, क्रियारूपेण। सम्यग्निरतिचारा, सन्निर्वहणेन। कुतो भवतु ? इत्याह—परमगुणयुक्तार्हदादिसामर्थ्यतः। आदिशब्दात्सिद्धादिपरिग्रहः। प्रार्थनायाः सविषयतामाह-अचिन्त्यशक्तियुक्ता हि ते भगवन्तोऽर्हदादयः, वीतरागाः सर्वज्ञाः प्राय आचार्यादीनामप्येतद्वीतरागादित्वमस्तीत्येवमभिधानं तद्विशेषापक्षं त्वाह-परमकल्याणा आचार्यादयोऽपि परमकल्याणहेतवः सत्त्वानां तैस्तैरुपायैः सर्वं एवैत मूढश्चास्मि पाप एतेषां विशिष्टानां प्रतिपत्तिं प्रति। अनादिमोहवासितः संसारानादित्वेन। अनभिज्ञो भावतः परमार्थतः। हिताहितयोरभिज्ञः स्यामहमेतत्सामर्थ्येन। तथा अहितनिवृत्तः स्यां, तथा हितप्रवृत्तः स्याम्। एवमाराधकः स्यामुचितप्रतिपत्त्या, सर्वसत्त्वानां सम्बन्धिन्या। किम् ? इत्याह—स्वहितमिति। इच्छामि सुकृतम् एवं वारत्रयं पाठः। उत्तममेतत्सुकृताऽऽसेवनम्, विशेषतः पृथग्गतानां वनच्छेत्तृबलदेवमृगोदाहरणात् परिभावनीयम्।

सूत्रपाठे फलमाह—

एवमेअं सम्मं पढमाणस्स सुणमाणस्स अणुप्पेहमाणस्स सिढिलीभवंति परिहायंति खिज्जंति असुहकम्माणुबंधा। निरणुबंधे वा असुहकम्मे भग्गसामत्थे सुहपरिणामेणं कडगबद्धेऽवि अ विसे अप्पफले सिआ सुहावणिज्जे सिआ अपुणभावे सिआ।

एवमेतत्सूत्रं सम्यक् पठतः संवेगसारं, तथा शृण्वतः-आकर्णयतः अन्यसमीपात्, तथाऽनुपेक्षमाणस्य अर्थानुस्मरणद्वारेण। किम् ? इत्याह—श्लथीभवन्ति, मन्दविपाकतया। तथा परिहीयन्ते, पुद्गलापसरणेन। तथा क्षीयन्ते निर्मूलत एवाशयविशेषाभ्यासद्वारेण। के ? इत्याह—अशुभकर्मानुबन्धाभावरूपाः। कर्मविशेषरूपा वा। ततः किम् ? इत्याह-निरनुबन्धं वाऽशुभकर्म यच्छेषमास्ते। भग्नसामर्थ्ये विपाकप्रवाहमङ्गीकृत्य शुभपरिणामेनानन्तरोदितसूत्रप्रभवेन। किमिव ? इत्याह—कटकबद्धमिव विषं मन्त्रसामर्थ्येनाल्पफलं स्यात्; अल्पविपाकमित्यर्थः। तथा सुखापनेयं स्यात्, सम्पूर्णस्वरूपेणैव। तथा अपुनर्भावं स्यात्कर्म, पुनस्तथाऽबन्धकत्वेन। एवमपायपरिहारः फलत्वेनोक्तः।

इदानीं सदुपायसिद्धिलक्षणमेतदभिधातुमाह—

तहा आसगलिज्जंति परिपोसिज्जंति निम्मविज्जंति सुहकम्माणुबंधा। साणुबंधं च सुहकम्मं पगिट्ठं पगिट्ठभावज्जिअं नियमफलयं सुप्पउत्ते (व्व) विअ महाऽगए सुहफले सिआ सुहपवत्तगे सिआ परमसुहसाहगे सिआ अपडिबंधमेअं असुहभावनिरोहेणं सुहभावबीअंति सुप्पणिहाणं सम्मं पढिअव्वं सम्मं सोअव्वं अणुप्पेहिअव्वं ति।

तथा आ सकलीक्रियन्ते; आक्षिप्यन्ते इत्यर्थः। तथा परिपोष्यन्ते, भावोपचयेन। तथा निर्माप्यन्ते परिसमाप्तिं नीयन्ते। के ? इत्याह—कुशलकर्मानुबन्धा इति भावः। ततः किम् ? इत्याह—सानुबन्धं च शुभकर्म, आत्यन्तिकानुबन्धापेक्षम्। किंविशिष्टम् किम् ? इत्याह—प्रकृष्टं—प्रधानं प्रकृष्टभावार्जितं-शुभभावार्जितमित्यर्थः। नियमफलदं, प्रकृष्टत्वेनैव। तदेवंभूतं किम् ? इत्याह-सुप्रयुक्त इव महाऽगदः एकान्तकल्याणः शुभफलं स्यादनन्तरोदितं कर्म। तथा शुभप्रवर्त्तकं स्यादनुबन्धेन। एवं परमसुखसाधकं स्यात् पारम्पर्येण, निर्वाणावहमित्यर्थः। यत एवम्, अतोऽस्मात्कारणात् अप्रतिबन्धम् एतत् प्रतिबन्धरहितम्, अनिदानमित्यर्थः। अशुभभावनिरोधेन—अशुभानुबन्धनिरोधेनेत्यर्थः। शुभभावनाबीजमिति कृत्वैतत्सूत्रं सुप्रणिधानं शोभनेन प्रणिधानेन सम्यक् प्रशान्तात्मना पठितव्यम् अध्येतव्यम्। श्रोतव्यमन्वाख्यानविधिना। अनुप्रेक्षितव्यं-परिभावनीयमिति। न च, "होउ मे एसा अणुमोदना सम्मं विहिपुव्विगा" इत्यादिना निदानपदमेतदिति मन्तव्यम्। क्लिष्टकर्मबन्धहेतोर्भवानुबन्धिनः संवेगशून्यस्य महर्द्धिभोगगृद्धाध्यवसानस्य निदानत्वात्। अस्य च तल्लक्षणायोगात्। अनीदृशस्य चानिदानत्वात्। आरोग्यप्रार्थनादेरपि निदानत्वप्रसङ्गात्। तथा चागमविरोधः—"आरुग्गबोधिलाभं, समाधिवरमुत्तमं देंतु।" इत्यादिवचनश्रवणादित्यलं प्रसङ्गेन।

सूत्रपरिसमाप्ताववसानमङ्गलमाह—

नमो नमिअनमिआणं परमगुरुवीअरागाणं। नमो सेसनमुक्कारारिहाणं। जयउ सव्वण्णुसासणं। परमसंबोहीए सुहिणो भवंतु जीवा, सुहिणो भवन्तु जीवा, सुहिणो भवन्तु जीवा इति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नमो नतनतेभ्यः; देवर्षिवन्दितेभ्य इत्यर्थः। केभ्यः? इत्याह-
परमगुरुवीतरागेभ्य इति यावत्। नमः शेषनमस्कारार्हेभ्य
आचार्यादिभ्यो गुणाधिकेभ्य इति भावः। जयतु सर्वज्ञशा-
सनं, कुतीर्थापोहेन। परमसम्बोधिना वरबोधिलाभरूपेण
सुखिनो भवन्तु, मिथ्यात्वदोषनिवृत्त्या जीवाः--प्राणिन इति
अस्य वारत्रयं पाठः। पं० सू० १ सूत्र। "प्रशमरसनिमग्नं
दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमङ्कः कामिनीसङ्गशून्यः।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबन्धवन्ध्यं, तदसि जगति देवो
वीतरागस्त्वमेव ॥१॥" प्रति०। (वीतरागत्व-
सिद्धिः 'जिण' शब्दे चतुर्थभागे १४६० पृष्ठे वि-
स्तरतो दर्शिता) (अवशिष्टा 'आता' शब्दे द्वितीयभागे
२११ पृष्ठे दर्शिता) ततोऽवशिष्टा पुनरत्र दर्श्यते-स्यादेतत्
न कश्चिदन्यः क्षणेभ्यः सन्तानः, किन्तु-य एव कार्यकारण-
भावप्रबन्धेन क्षणानां भावः स एव सन्तानः, ततो न क-
श्चिद्दोषः, तदप्ययुक्तम्, भवन्मते कार्यकारणभावस्याप्यघट-
मानत्वात्, तथाहि-प्रतीत्य समुत्पादमात्रं कार्यकारणभा-
वः, ततो यथा विवक्षितघटक्षणानन्तरं घटक्षणः तथा प-
टादिक्षणोऽपि, यथा च घटक्षणात् प्रागनन्तरो विवक्षितो घ-
टक्षणः तथा पटादिक्षणा अपि, ततः कथं प्रतिनियतकार्य-
कारणभावावगमः?, किञ्च—कारणादुपजायमानं कार्यं स-
तो वा जायेत असतो वा?, यदि सतः तर्हि कार्योत्पत्ति-
कालेऽपि कारणं सदिति कार्यकारणयोः समकालताप्रस-
ङ्गः, न च समकालयोः कार्यकारणभाव इष्यते, मात्रपत्याद्य-
विशेषाद्, घटपटादीनामपि परस्परं कार्यकारणभावप्रसङ्गः,
अथाऽसत इति पक्षः, तदप्ययुक्तम्, असतः कार्योत्पादायोगा-
त्, अन्यथा खरविषाणादपि तदुत्पत्तिप्रसक्तेः, न चात्यऽन्ता-
भावप्रध्वंसाभावयोः कोऽपि विशेषः, उभयत्रापि वस्तुसत्त्वा-
भावात्, प्रध्वंसाभावे वस्त्वासीत् तेन हेतुरिति चेत् यदाऽ-
ऽसीत् तदा न हेतुः अन्यदा च हेतुरिति साध्वी तत्त्वव्यव-
स्थितिः। अन्यच्च तद्भावे भाव इत्यवगमे कार्यकारणभावाव-
गमः, स च तद्भावे भावः किं प्रत्यक्षेण प्रतीयते उतानुमानेन?
न तावत्प्रत्यक्षेण पूर्ववस्तुगतेन हि प्रत्यक्षेण पूर्वं वस्तु परिच्छि-
न्नमुत्तरवस्तुगतेन तूत्तरं, न चैते परस्परस्वरूपमवगच्छतो,
नाप्यन्योऽनुसन्धाता, कश्चिदेकोऽभ्युपगम्यते, तत एतदन-
न्तरमेतस्य भाव इति कथमवगमः?, नाप्यनुमानेन, तस्य प्र-
त्यक्षपूर्वकत्वात्, तद्धि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणपूर्वकं प्रवर्तते,
लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धश्च प्रत्यक्षेण ग्राह्यो नानुमानेन अनुमानेन
ग्रहणेऽनवस्थाप्रसक्तेः, न च कार्यकारणभावविषये प्रत्यक्षं प्रा-
वर्तिष्ट ततः कथं तत्रानुमानप्रवृत्तिः?, एवं ज्ञानक्षणयोरपि प-
रस्परं कार्यकारणभावावगमः प्रत्यस्तो वेदितव्यः, तत्रापि
स्वेन स्वेन संवेदनेन स्वस्य स्वस्य रूपस्य ग्रहणे परस्परस्व-
रूपानवधारणादेतदनन्तरमहमुत्पन्नमेतस्य चाहं जनकमित्य-
नवगतेः, तन्न भवन्मतेन कार्यकारणभावो, नापि तदवगमः, त-
तो याचितकमण्डनमेतद्-एकसन्ततिपतितत्वादेकाधिकरणं
बन्धमोक्षादिकमिति। एतेन यदुच्यते-उपादेयोपादानक्षणा-
नां परस्परं वास्यवासकभावादुत्तरोत्तरविशिष्टविशिष्टतरक्ष-
णोत्पत्तेः मुक्तिसम्भव इति, तदपि प्रतिक्षिप्तमवसेयम्, उपा-
दानोपादेयभावस्यैवोक्तनीत्याऽनुपपद्यमानत्वात्, योऽपि च
वास्यवासकभाव उक्तः, सोऽपि युगपद्भाविनामेवोपलभ्यते,
यथा तिलकुसुमानाम्, उक्तं चान्यैरपि-"अवस्थिता हि वा-
स्यन्ते, भावा भावैरवास्यतैः" तत् कथमुपादेयोपादानक्षण-
योर्वास्यवासकभावः?, परस्परमसाहित्यात्, उक्तं च-"वास्य-
वासकयोश्चैव-मसाहित्यान्न वासना। पूर्वक्षणैरनुत्पन्नो,
वास्यते नोत्तरः क्षणः ॥१॥ उत्तरेण विनष्टत्वान्न च पूर्वस्य
वासना॥" अपि च-वासना वासकाद्भिन्ना वा स्यादभिन्ना
वा?, यदि भिन्ना तर्हि तया शून्यत्वात् नैवान्यं वासयति,
वस्त्वन्तरवद्, अथाऽभिन्ना तर्हि न वास्ये वासनायाः संक्रा-
न्तिः तदभिन्नत्वात्, तत्स्वरूपवत्, संक्रान्तिश्चेत्तर्हि अ-
न्वयप्रसङ्ग इति यत्किञ्चिदेतत्। यदप्ययुक्तं—सक-
लमपि जगद्रागद्वेषादिदुःखसंकुलमभिजानानः कथमिदं
सकलमपि जगत् मया दुःखादुद्धर्तव्यमित्यादि, तद-
पि पूर्वापरासंबद्धबन्धकीभाषितमिव केवलधाष्ट्र्यसूचकं,
यतो भवन्मतेन क्षणा एव पूर्वापरक्षणत्रुटितानुगमाः परमा-
र्थसन्तः, क्षणानां चावस्थानकालमानमेकपरमाणुव्यतिक्रम-
मात्रम्, अत एवोत्पत्तिव्यतिरेकेण नान्या तेषां क्रिया सङ्गति-
मुपपद्यते, 'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते' इति व-
चनात्, ततो ज्ञानक्षणानामुत्पत्त्यनन्तरं न मनागप्यवस्थानं, ना-
पि पूर्वापरक्षणाभ्यामनुगमः, तस्माच्च तेषां परस्परस्वरूपावधा-
रणं, नाप्युत्पत्त्यनन्तरं कोऽपि व्यापारः, ततः कथमर्थोऽयं मे पु-
रः साक्षात्प्रतिभासते इत्येवमर्थनिश्चयमात्रमप्यनेकक्षणसम्भ-
वि अनुस्यूतमुपपद्यते?, तदभावाच्च कुतः सकलजगतो राग-
द्वेषादिदुःखसङ्कुलतया परिभावनम्?, कुतो वा दीर्घतरकाला-
नुसन्धानेन शास्त्रार्थचिन्तनम्?, यत्प्रभावतः सम्यगुपायमभि-
ज्ञाय कृपाविशेषात् मोक्षाय घटनं भवेदिति। ननु सर्वोऽयं
व्यवहारो ज्ञानक्षणसन्तत्यपेक्षया, नैकक्षणमधिकृत्य, तत्कथ-
मनुपपत्तिरुद्भाव्यते?, उच्यते—सुकुमारप्रज्ञो देवानांप्रियः,
सदैव सप्तघटिकामध्यमिष्टान्नभोजनमनोज्ञशयनीयशयना-
भ्यासेन सुखैधितो न वस्तुयाथात्म्यावगमे चित्तपरिक्लेशम-
धिसहते, तेनास्माभिरुक्तमपि न सम्यगवधारयसि, ननु ज्ञा-
नक्षणसन्ततावपि तदवस्थैवानुपपत्तिः, तथाहि-वैकल्पिका
अवैकल्पिका वा ज्ञानक्षणाः परस्परमनुगमाभावादविदित-
परस्परस्वरूपाः, न च क्षणादूर्ध्वमवतिष्ठन्ते, ततः कथमेष
पूर्वापरानुसंधानरूपो दीर्घकालिकः सकलजगद्दुःखिताप-
रिभावनशास्त्रविमर्शादिरूपो व्यवहार उपपद्यते?, अक्षिणी
निमील्य परिभाव्यतामेतत्, यदप्युच्यते स्वग्रन्थेषु—निर्विक-
ल्पकमर्थाकारमुत्पन्नं पूर्वदर्शनाहितवासनाप्रबोधात्तं विकल्पं
जनयति येन पूर्वापरानुसन्धानात्मकोऽर्थनिश्चयादिव्यवहा-
रः प्रवर्त्तते, तदप्येतेनापाकृतमवसेयं, यतो विकल्पोऽप्यने-
कक्षणात्मकः, ततो विकल्पेऽपि यत्पूर्वक्षणे वृत्तं तदपरक्षणो
न वेत्ति, यच्चापरक्षणे वृत्तं न तत्पूर्वक्षणः, ततः कथमेष दी-
र्घकालिकोऽनुस्यूतैकरूपतया प्रतीयमानोऽर्थनिश्चयादिव्यव-
हारो घटते?। अपि च—भवन्मतेन ज्ञानस्यार्थपरिच्छेदव्य-
वस्थाऽपि नोपपद्यते, अर्थभावे ज्ञानस्योत्पादाद्, अर्थकार्य-
तया तस्याभ्युपगमात्, 'नाकारणं विषय' इति वचनात्, न
च वाच्यं तत उत्पन्नमिति तस्य परिच्छेदकम्, इन्द्रियस्या-
प्यर्थवत्परिच्छेदप्रसक्तेः ततोऽप्युत्पादात्, तदभावेऽभावात्।
नाऽपि सारूप्यात्, सर्वस्यापि सर्वदेशविकल्पाभ्यामयोगात्,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथाहि—न सर्वात्मना अर्थेन सह सारूप्यं सर्वात्मनार्थेन सह सारूप्ये ज्ञानस्य जडरूपताप्रसक्तेः, अन्यथा सर्वात्मना सारूप्ययोगात्, नाप्येकदेशेन, सर्वस्य सर्वार्थपरिच्छेदकत्वप्रसङ्गात्, सर्वस्यापि ज्ञानस्य सर्वैरपि वस्तुभिः सह केनचिदंशेनान्ततः प्रमेयत्वादिना सारूप्यसम्भवात्, आह च भवदाचार्योऽपि धर्मकीर्तिर्ज्ञाननयप्रस्थाने-"सर्वात्मना हि सारूप्ये, ज्ञानमज्ञानतां व्रजेत्। साम्ये केनचिदंशेन, सर्वं सर्वस्य वेदनम् ॥ १ ॥" न च सारूप्यादर्थपरिच्छेदव्यवस्थितावर्थसाक्षात्कारो भवति. परमार्थतोऽर्थस्य परोक्षत्वात्, ततो योऽयं प्रतिप्राणिप्रसिद्धः सकलैरपीन्द्रियैर्यथायोगमर्थसाक्षात्कारो यच्च गुरूपदेशश्रवणं शास्त्रनिरीक्षणं वा यच्च शास्त्रस्वं ज्ञात्वा मोक्षाय प्रवृत्तिः तत्सर्वमेकान्तिकक्षणिकपक्षाभ्युपगमे विरुध्यते. स्यादेतत्—परमार्थत एतदेव, तथाहि—न ज्ञानं कस्यचित् परिच्छेदकम्, उक्तनीत्या ग्राहकत्वायोगात्, नाऽपि तत् कस्यचित्परिच्छेद्यं, तत्रापि ग्राह्यग्राहकत्वायोगात्, ततो ग्राह्यग्राहकाकारातिरिक्तं ज्ञानमेव केवलं स्वसंविदितरूपत्वात्-स्वयं प्रकाशते, तेनाद्वैतमेव तत्त्वम्, यस्तु तथार्थनिश्चयादिको व्यवहारः सोऽनादिकालसंलीनवासनापरिपाकसम्पादितो द्रष्टव्यः, तदप्ययुक्तम्, वासनाया अपि विचार्यमाणाया अघटमानत्वात्, तथाहि—सा वासना असती, सती वा ?, न तावदसती, असतः खरविषाणस्येव सकलोपाख्याविकलतया तथा तथाऽर्थप्रतिभासहेतुत्वायोगाद्, अथ सती तर्हि सा ज्ञानाद् व्यत्यरैक्षीत् न वा ?, व्यत्यरैक्षीच्चेदद्वैतहानिः, द्वयस्याभ्युपगमाद्, अपि च-सा ज्ञानाद् व्यतिरिक्ता सती एकरूपा वा स्यादनेकरूपा वा ?, न तावदेकरूपा एकरूपत्वे तस्या नीलपीताद्यनेकप्रतिभासहेतुत्वायोगात्, स्वभावभेदेन विना भिन्नभिन्नार्थक्रियाकरणविरोधात्, अथानेका तर्हि नामान्तरेणार्थ एव प्रतिपन्नः, तथाहि-सा वासना ज्ञानाद् व्यतिरिक्ता, अनेकरूपा च, अर्थोऽप्येवंरूप एवेति, अथाव्यतिरिक्ता सापि च पूर्वविज्ञानजनिता विशिष्टज्ञानान्तरोत्पादनसमर्था शक्तिः, आह च प्रज्ञाकरगुप्तः—"वासनेति हि पूर्वविज्ञातजनितां शक्तिमामनन्ति वासनास्वरूपविदः" एवं तर्हि पूर्वपूर्वविज्ञानजनिताः कालभेदेन तत्तद्विशिष्टविशिष्टतरज्ञानोत्पादनसमर्थाः शक्तयोऽनेकाः प्रबन्धेनानुवर्त्तमानाः तिष्ठन्ति, तत एकस्मिन्नपि ज्ञानक्षणेऽनेका वासनाः सन्ति, शक्तीनामेव वासनात्वेनाभ्युपगमात्, तासां च ज्ञानक्षणादव्यतिरेकादेकस्याः प्रबोधे सर्वासामपि प्रबोधः प्राप्नोति, अन्यथा व्यतिरेकायोगात्, ततो युगपदनन्तविज्ञानानामुदयप्रसङ्गः, स चायुक्तः, प्रत्यक्षबाधितत्वात्। अन्यच्च—ज्ञाने विनश्यति तदव्यतिरेकात्ता अपि निरन्वयमेव विनष्टाः, ततः कथं तत्सामर्थ्यात्कालभेदेन तत्तद्विशिष्टविशिष्टतरज्ञानान्तरप्रसूतिः ?, स्यादेतत्--पूर्वमेव विज्ञानं पाटवाधिष्ठितं, वासना तज्जनिता शक्तिः, उक्तदोषप्रसङ्गात्, तच्च पूर्वं विज्ञानं किञ्चिदनन्तरं तथा तथा विशिष्टं ज्ञानं जनयति, किञ्चित् कालान्तरे, यथा जाग्रद्दशाभाविज्ञानं स्वप्नज्ञानं, न च व्यवहितादुत्पत्तिरसम्भाव्या, दृष्टत्वात्, तथाहि—अनुभवाच्चिरकालातीतादपि स्मृतिरुदयमासादयन्ती दृश्यते, तदप्युक्तम्, तत्राप्युक्तदोषानतिक्रमात्, यद्धि पूर्वविज्ञानं निरन्वयमेव विनष्टं न तस्य कोऽपि धर्मः क्षणान्तरेऽनुगच्छति, ततः कथं ततोऽनन्तरं कालान्तरे वा विशिष्टं ज्ञानमुदयते ?, एवं हि तन्निर्हेतुकमेव परमार्थतो भवेत्। अथ पूर्वं विज्ञानं प्रतीत्य तदुत्पद्यते तत्कथं तन्निर्हेतुकम् ?, क्रीडनशीलो देवानां प्रियो यदेवमेवाऽस्मान् पुनः पुनरायासयति, ननु यदा यत्पूर्वं विज्ञानं न तदा तद्विशिष्टं ज्ञानमुपजायते यदा च तदुपजायते न तदा पूर्वविज्ञानस्य लेशोऽपि तत्कथं तन्न निर्हेतुकम् ?, यदप्युक्तम्—'किञ्चित्कालान्तरे' इति, तदपि न्यायबाह्यं, चिरविनष्टस्यं कार्यकरणायोगाद्, अन्यथा चिरविनष्टेऽपि शिखिनि केकायितं भवेत्. ननु चिरविनष्टादप्यनुभवात् स्मृतिरुदयमासादयन्ती दृश्यते, न च दृष्टेऽनुपपन्नता, तद्वत् ज्ञानान्तरमपि भविष्यति को दोषः ?, उच्यते-दृश्यते चिरविनष्टादप्यनुभवात् स्मृतिः, केवलं साऽपि भवन्मतेन नोपपद्यते, तत्राप्युक्तदोषप्रसङ्गात्, ततोऽयमपरो भवतो दोषः, न च दृष्टमित्येव यथा कथञ्चित्परिकल्पनामधिसहते, किन्तु-प्रमाणोपपन्नं, तत्र यथा भवत्परिकल्पना तथा न किमप्युपपद्यते, ततोऽवश्यमन्वयि ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्, तथा च सति न कश्चिद्दोषः, सर्वस्यापि स्मृत्यादेरुपपद्यमानत्वात्, तथाहि-अनुभवेन पटीयसाऽविच्युतिरूपधारणासहितेनात्मनि वासनाऽपरपर्यायः संस्कार आधीयते, स च यावदवतिष्ठते तावत्तादृशार्थदर्शनादाभोगतो वा स्मृतिरुदयते, संस्काराऽभावे तु न, ततोऽन्वयिज्ञानाभ्युपगमे परमार्थतोऽनुसन्धातुरेकस्याभ्युपगमात्कार्यकारणभावावगमो निखिलजगद्दुःखितापरिभावनं शास्त्रपौर्वापर्यालोचनेन मोक्षोपायसमीचीनताविवेचनमित्यादि सर्वमुपपद्यते, तत्र नैरात्म्यादिभावना रागादिक्लेशप्रहाणिहेतुः, तस्या मिथ्यारूपत्वात्। यदपि च उक्तम्—आत्मनि परमार्थतया विद्यमाने तत्र स्नेहः प्रवर्त्तेत इति तत्रार्वाचीनावस्थायामेतदिष्यत एव, अन्यथा मोक्षायाऽपि प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, तथाहि-यत एवात्मनि स्नेहः तत एव प्रेक्षावतामात्मनो दुःखपरिजिहीर्षया सुखमुपादातुं यत्नः, तत्र संसारे सर्वत्रापि दुःखमेव केवलम्, तथाहि-नरकगतौ कुन्ताग्रभेदकरपत्रशिरःपाटनशूलारोपकुम्भिपाकासिपत्रवनकृतकर्णनासिकादिच्छेदं कदम्बवालुकापथगमनादिरूपमनेकप्रकारं दुःखमेव निरन्तरं नाक्षिनिमीलनमात्रमपि तत्र सुखम्, तिर्यग्गतावपि अङ्कुशकशाभिघातप्राजनकतोदनवधबन्धरोगक्षुत्पिपासादिप्रभवमनेकं दुःखम्, मनुष्यगतावपि परप्रेष्यगुप्तिगृहप्रवेशधनबन्धुवियोगानिष्टसम्प्रयोगरोगादिजनितं विविधमनेकं दुःखम्, देवगतावपि च परगतिविशिष्टद्युतिविभवदर्शनात् मात्सर्यमात्मनि तद्विहीने विषादः च्युतिसमये चातिरमणीयविमानवनवापीस्तूपदेवाङ्गनावियोगजमनिष्टजन्मसन्तापं वाऽवेक्षमाणस्य तप्तायोभाजननिक्षिप्तशफरादप्यधिकतरं दुःखम्, यदपि च—मनुष्यगतौ देवगतौ वा किमप्यापातरमणीयं कियत्कालभावि विषयोपभोगसुखं तदपि विषसम्मिश्रभोजनसुखमिव पर्यन्तदारुणत्वादतीव विदुषामनुपादेयम्, तन्न संसृतौ क्वापि विदुषामास्थोपनिबन्धो युक्तः। यत्तु निःश्रेयसपदमधिरूढस्य सुखं तत्परमानन्दरूपमपर्यवसानं च, तच्च प्रायो युक्तिलेशेन प्रागेवोपदर्शितम्, आगमतो वाऽनुसर्त्तव्यम्, (नं०)(आगमप्रमाणबलाद्धि सकलमपि परलोकाऽऽदिस्वरूपं यथावदवगम्यते, इति 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ७८ पृष्ठ उक्तम्।) तत आगमबलादुक्तस्वरूपमोक्षसुखमवेत्य तत्राऽऽगमं सर्वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्मना निषण्णमानसः संसाराद्विरक्तो यद्यत्संसारहेतुः तत्तत्परिजिहीर्षुररक्तद्विष्टः सर्वकर्मनिर्मूलनाय प्रकर्षेण यतते, तस्य चैवं प्रयतमानस्य कालक्रमेण विशिष्टकालादिसामग्रीसम्प्राप्तौ प्रतनुभूतकर्मणः सकलमोहविकारप्रादुर्भावविनिवृत्तेरणिमाद्यैश्वर्यलब्धावपि नौत्सुक्यमुपजायते, अत एव च तस्य मोक्षेऽपि न स्पृहाऽभिष्वङ्गापरपर्याया, तस्या अपि मोहविकारत्वात्, केवलं सा संसाराद्विरक्तिहेतुः स्वयमपि च परंपरानिरनुबन्धिनीत्यर्वाचीनावस्थायां प्रशस्यते, ननु यदि मोक्षेऽपि न स्पृहा कथं तर्हि तदर्थे प्रवृत्त्युपपत्तिः। न, लोकेऽपि स्पृहाव्यतिरेकेणापि तत्तत्कार्यकरणाय प्रवृत्ति दर्शनात्, तथाहि-दृश्यन्ते केचित् गम्भीराशया अभिष्वङ्गात्मिकां स्पृहामन्तरेणापि यथाकालं भोजनाद्यनुतिष्ठन्तः, तथाविधौत्सुक्यलाम्पट्याद्यदर्शनाद्। अपि च-यथा न मोक्षे स्पृहा तथा न संसारेऽपि, संसारादत्यन्तं विरक्तत्वात्, ततः सकलमपि संसारहेतुं परित्यजन्तः कथमिव संसारपरिक्षये मोक्षस्पृहाव्यतिरेकेणापि न मुक्तिभाजः?, तदेवं सर्वत्र स्पृहारहितस्य सूत्रोक्तनीत्या ज्ञानादिषु यतमानस्य भावनाप्रकर्षे सत्यशेषरागादिकर्म्मपरिक्षयता भवति मुक्तिः, एतेन यदुक्तम्—'तत्स्नेहवशाच्च तत्सुखेषु परितर्षवान् भवति' इत्यादि, तदपि निर्विषयमवगन्तव्यम्, उक्तनीत्या तत्त्ववेदिनः परितर्षाद्यभावादिति स्थितम्। सांख्याः पुनराहुः—"प्रकृतिपुरुषान्तरपरिज्ञानान्मुक्तिः" तथाहि-"शुद्धचैतन्यरूपोऽयं, पुरुषः परमार्थतः। प्रकृत्यन्तरमज्ञात्वा, मोहात्संसारमाश्रितः॥१॥" ततः प्रकृतेः सुखादिस्वभावाया यावत् न विवेकेन ग्रहणं तावन्न मुक्तिः, केवलज्ञानोदये तु मुक्तिः, तदप्यसद्, आत्मा ह्येकान्तनित्यः सुखादयस्तूत्पादव्ययधर्म्माणः, ततो विरुद्धधर्म्मसंसर्गादात्मनः प्रकृतेर्भेदः प्रतीत एव, किं न मुक्तिः?, अथैतदेव संसारी न पर्यालोचयति ततो न मुक्तिः, यद्येवं तर्हि सर्वदाऽप्यमुक्तिरेव प्राप्तविवेकाध्यवसायस्यासंभवात्, तथाहि—यावत् संसारी तावन्न विवेकपरिभावनम्, अथ च विवेकपरिभावने संसारित्वव्यपगमः, ततो विवेकाध्यवसायासंभवात् न कदाचिदपि संसाराद्विप्रमुक्तिः। अपि च-सृष्टेरपि प्रागात्मा केवल इष्यते, ततस्तस्य कथं संसारः?, कथं वा मुक्तस्य सतो न भूयोऽपि?, अथ सृष्टेः प्रागात्मनो दिदृक्षा ततो दिदृक्षावशात्प्रधानेन सहैकतामात्मनि पश्यतः संसारः, मुक्तिस्तु प्रकृतेर्दुष्टतामवधार्य प्रकृतेर्विरागतो भवति, ततो न पुनः प्रकृतिविषया दिदृक्षेति न भूयः संसारः, तदप्ययुक्तम्, स्वकृतान्तविरोधात्, तथाहि—दिदृक्षा नाम द्रष्टुमभिलाषः, स च पूर्वदृष्टेष्वर्थेषु तथा स्मरणतो भवति, न च प्रकृतिः पूर्वं कदाचनापि दृष्टा, तत्कथं तद्विषयौ स्मरणाभिलाषौ?, अपि च—स्मरणाभिलाषौ प्रकृतिविकारत्वात् प्रकृतेर्भाविनौ, स्मरणाभिलाषाभ्यां च प्रकृत्यनुगम इत्यन्योऽन्याश्रयः, आह च-"अभिलाषस्मरणयोः, प्रकृतेरेव वृत्तितः। अभिलाषाच्च तद्वृत्ति—रित्यन्योऽन्यसमाश्रयः॥१॥" अथानादिवासनावशात्प्रकृतिविषयौ स्मरणाभिलाषौ, तदप्यसत्, वासनाया अपि प्रकृतिविकारतया प्रकृतेः पूर्वमभावात्, अथात्मस्वभावरूपा सा वासना तर्हि तस्याः कदाचनाप्यात्मन इवोपरमासम्भवात्सर्वदाऽप्यमुक्तिरेवेति। यत्किञ्चिदेतत्। यदप्युक्तम्-'रागादयो धर्माः, ते च किं धर्मिणो भिन्ना अभिन्ना वा' इत्यादि, तदप्ययुक्तं, भेदाभेदपक्षस्य जात्यन्तरस्याभ्युपगमात्, केवलभेदाऽभेदपक्षे धर्मधर्मिभावस्यानुपपद्यमानत्वात्, (नं०) (इतोऽग्रे 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६६३ पृष्ठे गतम्।) ततश्च न सर्वेषां वीतरागत्वप्रसङ्गः केवलभेदस्यानभ्युपगमात्, नापि दोषक्षयवदात्मनोऽपि क्षयः केवलाभेदस्यानभ्युपगमादिति सर्वं सुस्थम्। ननु येनैव क्रमेण भगवतोऽतिशयलाभः तेनैव क्रमेण तदभिधानं युक्तिमन्नाऽन्यथा। भगवतश्च प्रथमतोऽपायापगमातिशयस्य लाभः, पश्चात् ज्ञानातिशयस्य तत्किमर्थं व्युत्क्रमनिर्देशः?, उच्यते—फलप्राधानाः समारम्भा इति ज्ञापनार्थम्। नं०। दर्श०। गतरागद्वेषमोहे, संथा०।

वीयरागगामि (ण्)—वीतरागगामिन्–त्रि०। जिनविषये, पञ्चा० ४ विव०।

वीयरागत्थय–वीतरागस्तव–पुं०। श्रीहेमसूरिविरचिते वीतरागस्तोत्रे, ध० २ अधि०।

वीयरागदंसणारिय–वीतरागदर्शनार्य–पुं०। वीतरागदर्शनार्ये, प्रज्ञा० १ पद। (ते च द्विविधाः 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३३७ पृष्ठे गताः।)

वीयरागया–वीतरागता–स्त्री०। वीतो रागो यस्मात्स वीतरागस्तस्य भावो वीतरागता। रागद्वेषाभावे, उत्त० २९ अ०। रागद्वेषनिवारणे, उत्त० २९ अ०।

वीयरा(ग)ययाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?, वीयरायया-ए णं नेहाऽणुबंधणाणि य तण्हाऽणुबंधणाणि य वोच्छिन्दइ मणुन्नाऽमणुन्नेसु सद्दफरिसरसरूवगंधेसु चेव विरज्जइ॥४५॥

हे भगवन्! वीतरागतया जीवः किं जनयति?, वीतो-गतो रागो यस्मात्स वीतरागस्तस्य भावो वीतरागता तया वीतरागतया—रागद्वेषाभावेन किं फलं जनयति। गुरुराह-हे शिष्य! वीतरागतया स्नेहाऽनुबन्धनानि स्नेहस्य अनुकूलानि बन्धनानि पुत्रमित्रकलत्रादिषु प्रेमपाशान् तथा तृष्णानुबन्धनानि द्रव्यादिषु आशापाशान्, व्यवच्छिनत्ति विशेषेण त्रोटयति पुनर्मनोज्ञेषु-मनोहरेषु चः-पुनः अमनोज्ञेषु-अमनोहरेषु शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेभ्यो विरज्यते-विषयेभ्यो विरक्तो भवतीति भावः। उत्त० २९ अ०।

वीयरागसुय–वीतरागश्रुत–न०। सरागव्यपोहेन वीतरागस्वरूपं प्रतिपाद्यते यत्राध्ययने तद्वीतरागश्रुतम्। वीतरागस्वरूपप्रतिपादकेऽध्ययने, नं०। पा०।

वीयसोग–वीतशोक–पुं०। पञ्चसप्ततितमे महाग्रहे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। स्था०। सूत्र०। आ० म०। द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी०।

वीयसोगा–वीतशोका–स्त्री०। जम्बूद्वीपेऽपरविदेहे शलिलावतीविजयराजधान्याम्, स्था० ७ ठा० ३ उ०। ज्ञा०। आ० म०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीर--वीर--पुं० । विशेषेणेरयति मोक्षं प्रति गच्छति गमयति वा प्राणिनः प्रेरयति वा कर्माणि निराकरोति वीरयति वा रागादि शत्रून् प्रति पराक्रमयतीति वीरः । निरुक्तितो वा वीरः । यदाह—" विदारयति यत्कर्म , तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद् वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥ " स्या० । 'शूर' 'वीर' विक्रान्तौ । पा० । ध० र० । कषायादिशत्रुसैन्यजयाद् (विशे०) 'ईर' गतौ कियत् क्षपितकर्मसाध्वपेक्षया विशेषत ईरयति—क्षिपति तिरस्करोति अशेषाण्यपि कर्माणीति वीरः । अथवा-विशेषत ईरयति शिवपदं प्रति भव्यजन्तून् गमयतीति वीरः । यदि वा-विशेषतः शिवपदं स्वयमियर्ति-गच्छतीति वीरः । अथवा-'दृ' विदारणे, विदारयति कर्मरिपुसंघट्टमिति वीरः । अनन्यानुभूतमहातपःश्रिया वा विराजत इति वीरः । अन्तरङ्गमोहमहाबलनिर्दलनार्थमनन्तं तपोवीर्यं व्यापारयतीति वा वीरः । विशे० । सूत्र० । आ० । आ० म० । 'ईर' गतिप्रेरणयोरित्यस्य विपूर्वस्याऽजन्तस्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति याति चेह शिवमिति वीरः । आव० ४ अ० । प्रज्ञा० । ग० । पं० सं० । ध० । घनघातिकर्मसंघातविदारणाऽनन्तरं प्राप्तातुलकेवलश्रिया विराजत इति वीरः । तीर्थकृति , आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । कर्मविदारणसमर्थे , सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आचा० । परीषहोपसर्गकषायसेनाविजयात् (आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । सूत्र० ।) संग्रामतो वा धीरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । सूत्र० । परानीकभेदिनि सुभटे , सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । औरसबलवति, व्य० ३ उ० । शुनकद्वितीये शस्त्राद्यपेक्षारहिते मृगयाखेलके , बृ० १ उ० । चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे , नपुं० । स० ६ सम० । तगरायां नगर्यां पुष्पमित्रादिशिष्यकाष्ठकाचार्यस्य शिष्ये , व्य० ३ उ० । वीरयति—कषायान् प्रति विक्रामतीति वीरः । । रा० । आ० म० । विशेषेणेरयति प्रेरयत्यष्टप्रकारं कर्मारिषड्वर्गं वेति वीरः । शक्तिमति , आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । ' ईर ' गति-प्रेरणयोः , विशेषेण ईरयति--गमयति स्फेटयति कर्म प्रापयति वा शिवमिति वीरः । अथवा--'ईर' गतौ अविशेषेण-अपुनर्भावेन ईरयति शिवमिति वीरः । नं० । आचा० । दर्श० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते चरमतीर्थकरे, आतु० । स० । श्रीमहावीरस्वामिनि, कर्म० २ कर्म० ।

विषयसूची—

(१) वीरस्य निक्षेपः, स्तुतयश्च ।
(२) श्रीवीरजिनकथा ।
(३) विस्तरवाचनया श्रीवीरचरितम् ।
(४) देवानन्दायाः स्वप्नदर्शनम् ।
(५) देवानन्दायै ऋषभदत्तेन स्वप्नफलकथनम् ।
(६) शक्रः श्रीवीरं नमस्करोति ।
(७) भगवान् कथम् उत्पन्न इत्याह ।
(८) गर्भव्युत्क्रान्तिः ।
(९) हरिनैगमेषिणं प्रति शक्राऽऽज्ञा ।

(१०) चतुर्दशमहास्वप्नस्वरूपम् ।
(११) वीरस्य यौवनाऽवस्था ।
(१२) स्वप्नसंख्या ।
(१३) यत्प्रभृति वीरः सिद्धार्थगृहे संहृतः तत्प्रभृति शक्रवचनेन जृम्भकदेवै रत्नसंचय आनीतः सिद्धार्थगृहे ।
(१४) भगवतो वीरस्य जन्मकालः । जन्मकुण्डली च
(१५) वीरस्य जन्मनि रात्रिः प्रकाशरूपा ।
(१६) तीर्थप्रवर्तनार्थं वीरं प्रति प्रेरणा ।
(१७) संबोधनद्वारम् ।
(१८) वीरेण वार्षिकदानं दत्तम् ।
(१९) निष्क्रमणद्वारम् ।
(२०) शक्रश्च देवराजो हंसलक्षणेन पटशाटकेन केशान् प्रतीच्छति, भगवतामुपरि देवदूष्यवस्त्रं च स्थापयति ।
(२१) तस्य भगवतश्चारित्रप्रतिपत्तिसमनन्तरमेव मनःपर्यायज्ञानमुदपादि ।
(२२) शक्रः प्रभुं विज्ञापयामास ।
(२३ , वीरो दीक्षाकालात् कियदनन्तरमचेलो जातः ।
(२४) वीरस्योपसर्गाः ।
(२५) उपसर्गसहनानन्तरं वीरस्य श्रमणत्वम् ।
(२६) वीरस्य केवलज्ञानोत्पत्तिः ।
(२७) वीरस्य निर्वाणकालः ।
(२८) वीरस्य श्रमणाऽऽदिसंपत् ।
(२९) वीरस्तवाऽध्ययनम् ।
(३०) प्रकीर्णकवार्ताः ।

(१) वीरस्य निक्षेपः , स्तुतयश्च—

वीरवरस्स भगवतो, जरमरणकिलेसदोसरहियस्स ।
वंदामि विणयपणतो, सोक्खुप्पाए सया पाए ॥६॥
(सू०-१०८ ×)

'वीरवरस्से' त्यादि.शूर वीर विक्रान्तौ,वीरयति स्म वीरः,स च नामादिभेदाच्चतुर्द्धा भिद्यमानो नामवीरः , स्थापनावीरो, द्रव्यवीरो,भाववीरश्च । तत्र यस्य जीवस्य अजीवस्य वाऽन्वर्थरहितं वीर इति नाम क्रियते स नामवीरो'नामनामवतोरभेदात्' नाम चासौ वीरश्च नामवीरः । स्थापनावीरो वीरस्य सुभटस्य,स्थापना वीरवर्द्धमानस्वामिस्थापनात् , द्रव्यवीरो द्विधा-आगमतो , नोआगमतश्च । तत्रागमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः , 'अनुपयोगो द्रव्य ' मिति वचनात् , नोआगमतस्त्रिधा,तद्यथा-ज्ञशरीरद्रव्यवीरो भव्यशरीरद्रव्यवीरस्तद्व्यतिरिक्तश्च । तत्र वीर इति पदार्थज्ञस्य यच्छरीरं जीवविप्रयुक्तं सिद्धशिलातलादिस्थितं तद् भूत द्रव्यवीरः, यत्पुनर्बालकस्य शरीरं वीर इति पदार्थमद्यापि नावबुध्यते , अथ चावश्यमायत्यां भोत्स्यते स तथाविधभाविभावत्वात् भव्यशरीरद्रव्यवीरः,तद्व्यतिरिक्तः स्वशत्रुविदारणसमर्थोऽनेकशः संग्रामशिरसि लब्धजयपताकश्चक्रवर्त्यादिः । भाववीरो द्विधा , तद्यथा--आगमतो , नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो ज्ञातोपयुक्तश्च वीरपदार्थे, नोआगमतो दुर्जयसमस्तान्तररिपुविदारणसमर्थस्तत्स्वैकान्तिकात्यन्तिकवीरत्वसद्भावात् । सू० प्र० २० पाहु० । कल्प० । सूत्र० । वीरस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा निक्षेपः , तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यवीरो द्रव्यार्थं संग्रामादावद्भुतकर्मका-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रितया शूरः, यदि वा—यत्किंचित् वीर्यवद् द्रव्यं तद् द्रव्यवीरेऽन्तर्भवति । तद्यथा-तीर्थकृदनन्तबलवीर्यो लोकमलोकं कन्दुकवत् प्रक्षेप्तुमलम् । तथा मन्दरं दण्डं कृत्वा रत्नप्रभां पृथिवीं छत्रवद्बिभृयात् । तथा चक्रवर्तिनोऽपि बलम्—" दो सोला बत्तीसा " इत्यादि तथा विषादीनां मोहनादिसामर्थ्यमिति । क्षेत्रवीरस्तु यो यस्मिन् क्षेत्रेऽद्भुतकर्मकारी वीरो वा यत्र व्यावर्ण्यते, एवं कालेऽप्यायोज्यम्, भाववीरो यस्य क्रोधमानमायालोभैः परीषहादिभिश्चात्मनो जेता(सूत्र०) " एको परिभमउ जए, वियडं जिणकेसरी सलीलाए । कंदप्पदुट्ठदाढो, मयणो विड्डारिओ जेणं ॥ ३ ॥ " तदेवं वर्धमानस्वाम्येव परीषहोपसर्गैरनुकूलप्रतिकूलैरपराजितोऽद्भुतकर्मकारित्वेन गुणनिष्पन्नत्वात् भावतो महावीर इति भण्यते । यदि वा—द्रव्यवीरो व्यतिरिक्त एकभविकादिः, क्षेत्रवीरो यत्र—तिष्ठत्यसौ व्यावर्ण्यते वा, कालतोऽप्येवमेव, भाववीरो नोआगमतो वीरनामगोत्राणि कर्माण्यनुभवन् स च वीरवर्धमानस्वाम्येवेति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

" चञ्चच्चन्द्रमरीचिचारुरुचिरा विश्वम्भरा राजते,
कीर्त्तिर्विष्टपचन्द्रशेखरशशी शीतांशुशीतत्विषम् ।
यः शुद्धाशयशुद्धबुद्धिविभवो धीरोधिनोत्युद्भवं,
वीरं नौमि नमत्सुरासुरशिरो घृष्टांघ्रिविश्वाग्रणीः ॥१॥"
दर्श० १ तत्त्व ।

"मुक्ताफलमिव करतल-कलितं विश्वं समस्तमपि सततम् ।
यो वेत्ति विगतकर्मा, स जयति नाथो जिनो वीरः ॥१॥"
चं० प्र० १ पाहु० ।

"जयति णवणलिणकुवलय-वियसियसयपत्तपत्तलदलच्छो ।
वीरो गइंदमयगल-सुललियगयविक्कमो भयवं ॥१॥ " सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

" नमः शमितनिःशेष-कर्मणे वरशर्मणे ।
श्रीवीराय भवाम्भोधि-लब्धतीराय तायिने"॥ संथा०। पो०।

"जयति परिस्फुटविमल-ज्ञानविभावितसमस्तवस्तुगणः ।
प्रतिहतपरतीर्थिमनाः, श्रीवीरजिनेश्वरो भगवान् ॥ १ ॥"
जी० २ प्रति० ।

"वन्दे वीरं तपोवीरं, तपसा दुस्तरेण यः ।
शुद्धं स्वं विदधे स्वर्णं, स्वर्णकार इवाग्निना ॥१॥" जीत० ।

"विष्णोरिव यस्य विभो, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
शतमखशतकप्रणतः, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥ १ ॥" कर्म० ५ कर्म० ।

"जयति विजितान्यतेजाः, सुरासुराधीशसेवितः श्रीमान् ।
विमलस्त्रासविरहित-स्त्रिलोकचिन्तामणिर्वीरः ॥१॥ " दश० १ अ० ।

"स्पष्टं चराचरं विश्वं, जानीते यः प्रतिक्षणम् ।
तस्मै नमो जिनेशाय, श्रीवीराय हितैषिणे ॥" ज्यो० १ पाहु० ।

"यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै-
र्नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते ।
रागद्वेषमुखद्विषां च परिषत् क्षिप्ता क्षणाद्येन सा '
स श्रीवीरविभुर्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम॥१॥" स्या० ।

(२) श्रीवीरजिकथा—

श्रीवीरचरितं वर्णयन्तः श्रीभद्रबाहुस्वामिनो जघन्यमध्यमवाचनात्मकं प्रथमं सूत्रं रचयन्ति—

ते णं काले णं ते णं समए णं समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे होत्था ।

'ते णं काले णं' तस्मिन् काले—अवसर्पिणीचतुर्थारकपर्यन्तलक्षणे, णंकारः सर्वत्र वाक्यालंकारार्थः, 'ते णं समए णं' निर्विभाज्यः कालविभागः समयस्तस्मिन् समये ' समणे भगवं महावीरे' त्ति श्रमणस्तपोनिरतः, 'भगवं' ति भगवान् अर्कयोनिवर्जितद्वादशभगशब्दार्थवान्, यदाहुः—"भगोऽर्क-(१) ज्ञान (२) माहात्म्य (३)-यशो (४) वैराग्य (५) मुक्तिषु (६) । रूप (७) वीर्य (८) प्रयत्न (९) च्छा-(१०) श्री (११) धर्म (१२) श्वर्य (१३) योनिषु (१४) ॥१॥ " अत्र आद्यान्त्यौ अर्थौ वर्जनीयौ । ननु अन्त्योऽर्थस्तु वर्ज्य एव, परमर्कः कथं वर्ज्यः ? सत्यम्, उपमानतया अर्को भवति, परं वत्प्रत्ययान्तत्वेन अर्कवान् इत्यर्थो न लगतीति वर्जितः,'महावीरे' त्ति, कर्मवैरिपराभवसमर्थः, श्रीवर्धमानस्वामीत्यर्थः। ('पंचहत्थुत्तरे होत्था' एतद्व्याख्या 'कल्लाणग' शब्दे तृतीयभागे ३८४ पृष्ठे गता ।) (कल्प०) ।

कल्याणकानि पञ्चैव—

तं जहा-हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, साइणा परिनिव्वुए भयवं । (सू०१X)

' तं जह ' त्ति तद्यथा—पञ्चहस्तोत्तरत्वं भगवतो मध्यमवाचनया दर्शयति—' हत्थुत्तराहिं चुए ' त्ति उत्तराफाल्गुनीषु च्युतो देवलोकात् ' चइत्ता गब्भं वक्कंते ' त्ति च्युत्वा गर्भे उत्पन्नः । ' हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए' त्ति उत्तराफाल्गुनीषु गर्भात् गर्भे संहृतः, देवानन्दागर्भात्त्रिशलागर्भे मुक्त इत्यर्थः । ' हत्थुत्तराहिं जाए' त्ति उत्तराफाल्गुनीषु जातः 'हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइए' त्ति उत्तराफाल्गुनीषु मुण्डो भूत्वा तत्र द्रव्यतो मुण्डः केशलुञ्चनेन, भावतो मुण्डः रागद्वेषाऽभावेन, अगारात्—गृहात् निष्क्रम्येति शेषः, अनगारितां- साधुतां 'पव्वइए' त्ति प्रतिपन्नः, तथा-' हत्थुत्तराहिं ' ति उत्तराफाल्गुनीषु 'अणन्ते' त्ति अनन्तम्—अनन्तवस्तुविषयम् 'अणुत्तरे' त्ति निर्व्याघातं—भित्तिकटादिभिरस्खलितं 'निरावरणे' त्ति समस्ताऽऽवरणरहितं ' कसि णे ' त्ति कृत्स्नं सर्वपर्यायोपेतवस्तुज्ञापकं ' पडिपुण्णे ' त्ति परिपूर्णं सर्वावयवसंपन्नम्, एवंविधं यत् वरं—प्रधानं ' केवलवरनाणदंसणसमुप्पन्ने' त्ति केवलज्ञानं केवलदर्शनं च । तत उत्तराफाल्गुनीषु प्राप्तः, 'साइणा परिनिव्वुए भयवं' ति स्वातिनक्षत्रे मोक्षं गतो भगवान् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) अथ विस्तरवाचनया श्रीवीरचरितमाह—

ते णं काले णं ते णं समए णं समणे भगवं महावीरे, जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे—तस्स णं आसाढसुद्धस्स छट्ठिपक्खे णं, महाविजयपुप्फुत्तरपवरपुंडरियाओ महाविमाणाओ वीसं सागरोमट्ठिइयाओ, आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे, इमीसे ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए विइक्कंताए, सुसमाए समाए विइक्कंताए सुसमदुसमाए समाए विइक्कंताए, दुसमसुसमाए बहुविइक्कंताए सागरोवमकोडाकोडीए बायालीसवाससहस्सेहिं ऊणिआए पञ्चहत्तरिए वासेहि अद्धनवमेहि य मासेहिं सेसेहिं इक्कवीसाए तित्थयरेहिं इक्खागकुलसमुप्पन्नेहिं कासवगुत्तेहिं, दोहि य हरिवंसकुलसमुप्पन्नेहिं गोयमसगुत्तेहिं, तेवीसाए तित्थयरेहिं विइक्कंतेहिं समणे भगवं महावीरे चरमतित्थयरे पुव्वतित्थयरनिद्दिट्ठे, माहणकुंडग्गामे नयरे उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगुत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आहारवक्कंतीए भववक्कंतिए सरीरवक्कंतिए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते समणे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए आऽवि हुत्था—चइस्सामि त्ति जाणई, चयमाणे न जाणइ, चुए मि त्ति जाणइ ॥

'ते णं काले णं' ति तस्मिन् काले, 'ते णं समए णं' ति तस्मिन् समये चतुर्थो मासः, 'अट्ठमे पक्खे' त्ति अष्टमः पक्षः, कोऽर्थः, 'आसाढसुद्धे' त्ति आषाढशुक्लपक्षः 'तस्स णं आसाढसुद्धस्स' त्ति तस्य आषाढशुक्लपक्षस्य 'छट्ठीपक्खेणं' ति षष्ठीरात्रौ 'महाविजयपुप्फुत्तरपवरपुंडरीआओ महाविमाणाओ' त्ति महान् विजयो यत्र तन्महाविजयं, 'पुप्फुत्तर' त्ति पुष्पोत्तरनामकं 'पवरपुंडरीआओ' त्ति प्रवरेषु अन्यश्रेष्ठविमानेषु पुण्डरीकमिव—श्वेतकमलमिव अतिश्रेष्ठमित्यर्थः, तस्मात्—'महाविमाणाओ' त्ति महाविमानात्, किंविशिष्टात् ?,—'वीसं सागरोवमट्ठिइआओ' त्ति विंशतिसागरोपमस्थितिकात्, तत्र हि देवानां विंशतिसागराणि उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, भगवतोऽपि एतावत्येव स्थितिरासीत्। अथ तस्माद्विमानात् 'आउक्खएणं' ति देवायुःक्षयेण 'भवक्खएणं' ति देवगतिनामकर्मक्षयेण 'ठिइक्खएणं' ति स्थितिर्वैक्रियशरीरेऽवस्थानं तस्याः क्षयेण पूर्णीकरणेन 'अणन्तरं' ति अन्तररहितं 'चयं चइत्त' त्ति च्यवं—च्यवनं कृत्वा 'इहेव जम्बुद्दीवे दीवे' त्ति अस्मिन्नेव जम्बूद्वीपनाम्नि द्वीपे 'भारहे वासे' त्ति भरतक्षेत्रे 'दाहिणड्ढभरहे' त्ति दक्षिणार्धभरते 'इमीसे ओसप्पिणीए' त्ति यत्र समये समये रूपरसादीनां हानिः स्यात् साऽवसर्पिणी, ततोऽस्यामवसर्पिण्यां 'सुसमसुसमाए' त्ति सुषमसुषमानाम्नि 'समाए विइक्कंताए' त्ति चतुःकोटाकोटिसागरप्रमाणे प्रथमारके अतिक्रान्ते 'सुसमाए समाए' त्ति सुषमानाम्नि त्रिकोटाकोटिसागरप्रमाणे द्वितीयारके, 'विइक्कंताए' व्यतिक्रान्ते 'सुसमदुसमाए समाए' त्ति सुषमदुःषमानाम्नि द्विकोटाकोटिसागरप्रमाणे तृतीयारके 'विइक्कंताए' व्यतिक्रान्ते अतीते 'दुसमसुसमाए समाए' त्ति दुःषम—सुषमानाम्नि चतुर्थारके 'बहुविइक्कंताए' त्ति बहु व्यतिक्रान्ते किञ्चिदूने, तदेवाह—'सागरोवमकोडाकोडीए बायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणियाए' त्ति द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रोना (४२०००) एका सागरकोटाकोटिश्चतुर्थारकप्रमाणं, तत्रापि चतुर्थारकस्य 'पञ्चहत्तरीए वासेहिं अद्धनवमेहि य मासेहिं सेसेहिं' ति पञ्चसप्तति (७५) वर्षेषु सार्धाष्टवर्षेषु सार्द्धाष्टमासाधिकेषु शेषेषु श्रीवीराऽवतारः। द्वासप्ततिवर्षाणि च श्रीवीरस्यायुः श्रीवीरनिर्वाणाच्च त्रिभिर्वर्षैः सार्द्धाष्टमासैश्चतुर्थारकसमाप्तिः। ततः पूर्वोक्ता या द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्री सा एकविंशत्येकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणयोः पञ्चमारकषष्ठारकयोः सम्बन्धिनी ज्ञेया, 'इक्कवीसाए तित्थयरेहिं' ति एकविंशतितीर्थकरेषु 'इक्खागकुलसमुप्पन्नेहिं' ति इक्ष्वाकुकुलसमुत्पन्नेषु 'कासवगुत्तेहिं' ति काश्यपगोत्रेषु 'दोहि य' त्ति द्वयोर्मुनिसुव्रतनेम्योः 'हरिवंसकुलसमुप्पन्नेहिं' ति हरिवंशकुलसमुत्पन्नयोः 'गोयमसगुत्तेहिं' ति गौतमगोत्रयोः, एवं च 'तेवीसाए तित्थयरेहिं विइक्कंतेहिं' ति त्रयोविंशतौ तीर्थकरेषु अतीतेषु 'समणे भगवं महावीरे' त्ति श्रमणो भगवान् महावीरः' किंविशिष्टः 'चरमतित्थयरे' त्ति चरमतीर्थङ्करः, पुनः किंविशिष्टः। 'पुव्वतित्थयरनिद्दिट्ठे' त्ति पूर्वतीथङ्करनिर्दिष्टः श्रीवीरो भविष्यतीत्येवं पूर्वजिनैः कथितः 'माहणकुंडग्गामे नयरे' त्ति ब्राह्मणकुण्डग्रामनामके नगरे 'उसभदत्तस्स माहणस्स' त्ति ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य, किंविशिष्टस्य ?, 'कोडालसगुत्तस्स' त्ति कोडालैः समानं गोत्रं यस्य स तथा तस्य, कोडालगोत्रस्येत्यर्थः 'भारिआए देवाणंदाए माहणीए' त्ति तस्य भार्याया देवानन्दाया ब्राह्मण्याः जालन्धरसगुत्ताए' त्ति जलन्धरसगोत्रायाः कदा ! 'पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि' पूर्वरात्रापररात्रकालसमये मध्यरात्रे इत्यर्थः, 'हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं' उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रे 'जोगमुवागएणं' ति चन्द्रयोगं प्राप्ते सति कया ! 'आहारवक्कंतिए' त्ति आहारापक्रान्त्या-दिव्याहारत्यागेन 'भववक्कंतिए' त्ति दिव्यभवत्यागेन 'सरीरवक्कंतिए' त्ति दिव्यशरीरत्यागेन 'कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते' कुक्षौ गर्भतया व्युत्क्रान्त इति सम्बन्धः 'समणे भगवं महावीरे' अथ यदा श्रमणो भगवान् महावीरः गर्भे उत्पन्नस्तदा 'तिन्नाणोवगए आऽवि होत्थ' त्ति ज्ञानत्रयोपगत आसीत् 'चइस्सामि त्ति जाणइ' ततः च्यविष्ये इति जानाति, च्यवनभविष्यत्कालं जानातीत्यर्थः, 'चयमाणे न जाणइ' च्यवमानो—नो जानाति, एकसामायिकत्वात् 'चुए मि त्ति जाणइ' च्युतोऽस्मीति च जानाति।

(४) देवानन्दायाः स्वप्नदर्शनम्—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे देवाणंदाए मा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हत्थीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते, तं रयणिं च णं सा देवाणंदा माहणी सयणिज्जंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी इमे एयारूवे उराले कल्लाणे सिवे धन्ने मंगल्ले सस्सिरीए चउद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा, तं जहा–"गय–वसह–सीह–अभिसेअ–दाम–ससि–दिणयरं–झयं–कुंभं । पउमसर–सागर–विमा–ण–भवण–रयणुच्चयसिहिं च॥१॥" तए णं सा देवाणंदा माहणी इमे एयारूवे उराले० जाव चउद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा समाणी हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिआ पीइमणा परमसोमणसिआ हरिसवसविसप्पमाणहिअया धाराहयकयंबपुप्फगं पिव समुस्ससिअरोमकूवा सुमिणुग्गहं करेइ, सुमिणुग्गहं करित्ता, सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, सय० अब्भुट्ठित्ता अतुरियमचवलमसंभंताए अविलंबिआए रायहंससरिसीए गईए, जेणेव उसभदत्ते माहणे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, उसभदत्तं माहणं जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावित्ता भद्दासणवरगया आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी(५)– एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! अज्ज सयणिज्जंसि– सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी इमे एयारूवे उराले० जाव सस्सिरीए चउद्दस १४ महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा ॥ ६ ॥

'जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे' त्ति यस्यां रजन्यां श्रमणो भगवान् महावीरः 'देवाणंदाए माहणीए' देवानन्दाया ब्राह्मण्याः 'जालंधरसगुत्ताए' जालन्धरसगोत्रायाः 'कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते' कुक्षौ गर्भतया उत्पन्नः, 'तं रयणिं च णं सा देवाणंदा माहणि' त्ति तस्यां रजन्यां सा देवानन्दा ब्राह्मणी 'सयणिज्जंसि' शयनीये पल्यङ्के 'सुत्तजागर' त्ति नातिनिद्रायन्ती नातिजाग्रती, अत एव 'ओहीरमाणी ओहीरमाणि' त्ति अल्पां निद्रां कुर्वन्ती 'इमे, 'एयारूवे' त्ति एतद्रूपान्—वक्ष्यमाणस्वरूपान् 'उराले' त्ति उदारान्–प्रशस्तान् 'कल्लाणे' त्ति कल्याणहेतून् 'सिवे' त्ति शिवान्–उपद्रवहरान् 'धन्ने त्ति' धन्यान्–धनहेतून् 'मंगल्ले' त्ति मङ्गलकारकान् 'सस्सिरीए' त्ति सश्रीकान् 'चउद्दसमहासुमिणे' ईदृशान् चतुर्दश महास्वप्नान् 'पासित्ता णं पडिबुद्ध' त्ति दृष्ट्वा जागरिता 'तं जह' त्ति तद्यथा–गय (१) वसह (२) सीह (३) अभिसेअ (४), दाम (५) ससि (६) दिणयरं (७) झयं (८) कुंभं (९) ॥ पउमसर(१०) सागर (११) विमा–णभवण (१२) रयणुच्चय (१३) सिहिं (१४) ॥ १ ॥ हस्ती (१) वृषभः (२) सिंहः (३) अभिषेकः श्रियाः सम्बन्धी (४) पुष्पमाला (५) चन्द्रः (६) सूर्यः (७) ध्वजः (८) पूर्णकुम्भः (९) पद्मोपलक्षितं सरः (१०) समुद्रः (११) विमानं देवसम्बन्धि, भवनं–गृहं, तत्र यः स्वर्गादवतरति, तन्माता विमानं पश्यति, यस्तु नरकादायाति तन्माता भवनमिति द्वयोरेकतरदर्शनाच्चतुर्दशैव स्वप्नाः (१२) रत्नानामुच्चयो राशिः (१३) शिखी–निर्धूमोऽग्निः (१४) 'तए णं सा देवानंदा माहणी' ततः सा देवानन्दा ब्राह्मणी 'इमे' त्ति इमान् 'एयारूवे' त्ति एतद्रूपान् 'उदाले' त्ति उदारान्–प्रशस्तान् 'जाव' ति यावच्छब्देन पूर्वपाठोऽनुसरणीयः 'चउद्दस महासुमिणे' त्ति यथोक्तान् चतुर्दश महास्वप्नान् 'पासित्ता णं पडिबुद्धा समाणी' ति दृष्ट्वा जागरिता सती 'हट्ठा' हृष्टा विस्मयं प्राप्ता, 'तुट्ठा' संतोषं प्राप्ता 'चित्तमाणंदिया' चित्तेन आनन्दिता, 'पीइमणा' प्रीतियुक्तचित्ता 'परमसोमणसिआ' परमं सौमनस्यं–सन्तुष्टचित्तत्वं जातं यस्याः सा तथा 'हरिसवस' त्ति हर्षवशेन 'विसप्पमाण' त्ति विस्तारवत् 'हिअय' त्ति हृदयं यस्याः सा तथा. पुनः किंभूता ? 'धाराहयकयंबपुप्फगं पिव' त्ति धारया–मेघजलधारया सिक्तमेवंविधं यत्कदम्बतरुकुसुमं तद्धि मेघधारया फुल्लति ततस्तद्वत् 'समुस्ससिअरोमकूवा' समुच्छ्वसितानि रोमाणि कूपेषु यस्याः सा तथा एवंविधा सती 'सुमिणुग्गहं करेइ करेत्ता' स्वप्नानामवग्रहं स्मरणं करोति, तत्कृत्वा च 'सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ' शय्याया अभ्युत्तिष्ठति, 'अब्भुट्ठित्ता' अभ्युत्थाय 'अतुरिअ' त्ति अत्वरितया मानसौत्सुक्यरहितया 'अचवल' त्ति अचपलया कायचापल्यवर्जितया, 'असंभन्ताए' त्ति असम्भ्रान्तया अस्खलन्त्या 'अविलंबिआए' त्ति विलम्बरहितया 'रायहंससरिसीए गईए' राजहंससदृशया गत्या 'जेणेव उसभदत्ते माहणे' यत्रैव ऋषभदत्तो ब्राह्मणः 'तेणेव उवागच्छइ' तत्रैवोपागच्छति 'उवागच्छित्ता' उपागत्य 'उसभदत्तं माहणं' ऋषभदत्तं ब्राह्मणं 'जएणं विजएणं वद्धावेइ' जयेन विजयेन वर्धापयति–आशिषं ददाति, तत्र जयः स्वदेशे विजयः परदेशे 'वद्धावित्ता' वर्धापयित्वा च 'भद्दासणवरगया' भद्रासनवरगता ततश्च 'आसत्थ' त्ति आश्वस्ता श्रमापनयनेन 'वीसत्थ' त्ति विश्वस्ता क्षोभाऽभावेन, अत एव 'सुहासणवरगय' त्ति सुखेन आसनवरं प्राप्ता, 'करयलपरिग्गहियं दसनहं' करतलाभ्यां परिगृहीतं कृतं दशनखाः समुदिता यत्र तम् 'सिरसावत्तं' ति शिरसि आवर्त्तः प्रदक्षिणभ्रमणं यस्य तम्, एवंविधं 'मत्थए अंजलिं कट्टु' अञ्जलिं मस्तके कृत्वा देवानन्दा 'एवं वयासि' त्ति एवम् अवादीत्, किं तदित्याह– (५) 'एवं खलु अहं देवाणुप्पिआ' एवं निश्चयेन अहं हे देवानुप्रिय ! हे स्वामिन् ! 'अज्ज सयणिज्जंसि' अद्य शय्यायां 'सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणि' त्ति सुप्तजागरा अल्पनिद्रां कुर्वती 'इमे' त्ति इमान् 'एयारूवे' त्ति एतद्रूपान् 'उराले' त्ति उदारान् 'जाव सस्सिरीए' त्ति यावत् सश्रीकान् 'चउद्दसमहासुमिणे' त्ति चतुर्दश महास्वप्नान् 'पासित्ता णं पडिबुद्ध' त्ति, दृष्ट्वा जागरिता ॥ ६ ॥

तं जहा–गय० जाव सिहिं च॥१॥ एएसि णं देवाणुप्पिअ ! उरालाणं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं के मण्णे कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ ?, तए णं से उसभदत्ते माहणे देवाणंदाए माहणीए अंतिए एअमट्ठं सुच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हिअए धाराहयकयंबपुप्फगं पिव समुस्ससियरोमकूवे सुमिणुग्गहं करेइ करित्ता, ईहं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अणुविसइ ईहं अणुविसित्ता अप्पणो साहाविएणं मइपुव्वएणं बुद्धिविन्नाणेणं तेसिं सुमिणाणं अत्थुग्गहं करेइ, अत्थुग्गहं करित्ता देवाणंदं माहणिं एवं वयासी-उराला णं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठा, कल्लाणा णं ०जाव सस्सिरिआ आरोग्गतुट्ठिदीहाउकल्लाणमंगलकारगा णं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठा, तं जहा-अत्थलाभो देवाणुप्पिए !, भोगलाभो देवाणुप्पिए !, पुत्तलाभो देवाणुप्पिए !, सुक्खलाभो देवाणुप्पिए !, एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए !, नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाणराइंदिआणं वइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुन्नपंचिंदियसरीरं लक्खणवंजणगुणोववेअं माणुम्माणपमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगं ससिसोमागारं कंतं पिअदंसणं सुरूवं दारयं पयाहिसि ॥ ७ ॥

'तं जहा' तद्यथा 'गय ०जाव सिहिं च ॥१॥' त्ति गय इत्यादितः 'सिहिं' चेति यावत् पूर्वोक्ताः स्वप्ना ज्ञेयाः 'एए-सि णं देवाणुप्पिआ' त्ति एतेषां देवानुप्रिय ! 'उरालाणं' ति प्रशस्तानां 'जाव चउद्दसण्हं महासुमिणाणं' ति यावत् चतुर्दशानां महास्वप्नानाम् 'क मएणे' त्ति मन्ये विचारयामि 'कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ' इति कः कल्याणकारी फलवृत्तिविशेषो भविष्यति, तत्र फलं पुत्रादि, वृत्तिर्जीवनोपायादि, 'तए णं से उसभदत्ते माहणे' ततः स ऋषभदत्तो ब्राह्मणः 'देवाणंदाए माहणीए' त्ति देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः 'अंतिए' त्ति' अन्तिके पार्श्वे 'एअमट्ठं सुच्चा' एतमर्थं श्रुत्वा कर्णाभ्यां 'निसम्म' त्ति निशम्य-चेतसा अवधार्य 'हट्ठतुट्ठ ०जाव हियए' त्ति हृष्टः तुष्टः यावत् हर्षवशेन विसर्पितहृदयः 'धाराहयकयंबपुप्फगं पिव समुस्ससिअरोमकूवे' त्ति मेघधारया सिक्तकदम्बवृक्षपुष्पवत् समुच्छ्वसितानि रोमाणि कूपेषु यस्य सः पर्यायवचः रून् 'सुमिणुग्गहं करेइ' त्ति स्वप्नधारणं करोति 'करित्त' त्ति तत् कृत्वा च 'ईहं अणुपविसइ' ईहाम्-अर्थविचारणां प्रविशति 'ईहं अणुपविसित्ता' तां कृत्वा च-'अप्पणो साहाविएणं मइपुव्वएणं बुद्धिविन्नाणेणं' ति आत्मनः स्वात्मनः स्वाभाविकेन मतिपूर्वकेण बुद्धिविज्ञानेन, तत्र अनागतकालविषया मतिः, वर्तमानकालविषया बुद्धिः, विज्ञानं चातीतानागतवस्तुविषयं 'तेसिं सुमिणाणं अत्थुग्गहं करेइ' त्ति ततस्तेषां स्वप्नानाम् अर्थनिश्चयं करोति-'अत्थुग्गहं करित्ता' तं कृत्वा 'देवाणंदं माहणिं' देवानन्दाब्राह्मणीम् 'एवं वयासि' त्ति एवमवादीत्, किं तदित्याह-'उराला णं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठा' उदारास्त्वया देवानुप्रिये ! स्वप्ना दृष्टाः, 'कल्लाणा णं ० जाव सस्सिरीय' त्ति कल्याणकारकाः यावत्, सश्रीकाः 'आरोग्ग' त्ति आरोग्यं-नीरोगत्वं 'तुट्ठि' त्ति तुष्टिः सन्तोषः, 'दीहाउ, त्ति दीर्घायुश्चिरंजीवित्वं 'कल्लाणं' त्ति कल्याणमुपद्रवाऽभावः 'मंगलकारगाणं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठा' मङ्गलं वाञ्छितावाप्तिः, एतेषां वस्तूनां कारकास्त्वया हे देवानुप्रिये ! स्वप्ना दृष्टाः 'तं जहा' त्ति तद्यथा-'अत्थलाभो देवाणुप्पिए' त्ति अर्थलाभो भविष्यति हे देवानुप्रिये ! 'भोगलाभो देवाणुप्पिए' त्ति भोगानां लाभः हे देवानुप्रिये ! 'पुत्तलाभो देवाणुप्पिए' त्ति पुत्रस्य लाभः हे देवानुप्रिये ! 'सुक्खलाभो देवाणुप्पिए' त्ति सौख्यलाभो हे देवानुप्रिये ! भविष्यतीति सर्वत्र योज्यम् । 'एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए' त्ति एवं खलु त्वं देवानुप्रिये ! 'नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं' ति नवसु मासेषु बहुप्रतिपूर्णेषु 'अद्धट्ठमाण राइंदिआणं वइक्कंताणं' सार्द्धसप्ताहोरात्राधिकेषु अतीतेषु एतादृशं दारकं पुत्रं 'पयाहिसि' त्ति प्रजनिष्यसीति सम्बन्धः। किंविशिष्टं दारकम् ?, 'सुकुमालपाणिपायं' ति सुकुमारं पाणिपादं यस्यैवंविधं, पुनः किंविशिष्टं दारकम् ? 'अहीण' त्ति अहीनानि लक्षणोपेतानि 'पडिपुन्नपंचिंदिअसरीर' त्ति स्वरूपेण प्रतिपूर्णानि पञ्चेन्द्रियाणि यत्र तादृशं शरीरं यस्य स तथा तम्, तथा-'लक्खणवंजणगुणोववेअं' ति तत्र लक्षणानि चक्रितीर्थकृतामष्टोत्तरसहस्रम्, बलदेववासुदेवानामष्टोत्तरशतम्, अन्येषां तु भाग्यवतां द्वात्रिंशत्। (कल्प०) तानि च द्वात्रिंशत् 'लक्खणवंजणगुणोववेय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५६५ पृष्ठे दर्शितानि।) व्यञ्जनानि च मषतिलकादीनि तेषां ये गुणास्तैरुपेतम्, पुनः किं विशिष्टम् ?, 'माणुम्माणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगं' ति, तत्र मानं जलभृतकुण्डान्तः पुरुषे निवेशिते यदि तज्जलं द्रोणमानं भवेत् तदा स पुरुषो मानप्राप्तः, यदि च तुलारोपितोऽर्धभारमानः स्यात् तदा स उन्मानं प्राप्तः उन्मानप्राप्तः(कल्प०) कश्चिद्देशे किञ्चिदूनशरत्त्रयस्यापि मानत्वव्यवहारात्, तथा 'पमाण त्ति' स्वाङ्गुलेन अष्टोत्तरशताङ्गुलोच्च उत्तमपुरुषः मध्यहीनपुरुषौ च षण्णवति (९६) चतुरशीत्यङ्गुलोच्चौ स्याताम्, अत्र उत्तमपुरुषोऽपि अन्य एव, तीर्थङ्करस्तु द्वादशाङ्गुलोष्णीषसद्भावेन विंशत्यधिकशताङ्गुलोच्चो भवति, ततश्च मानोन्मानप्रमाणैः प्रतिपूर्णानि सुजातानि सर्वाङ्गानि शिरःप्रमुखाणि यत्र एवंविधं सुन्दरम् अङ्गं यस्य तथा तं, पुनः किंविशिष्टम् 'ससिसोमागारं' त्ति शशिवत्सौम्याकारं 'कन्तं' ति कमनीयं 'पियदंसणं' ति वल्लभदर्शनं 'सुरूवं' ति शोभनरूपं 'दारयं पयाहिसि' त्ति दारकं प्रजनिष्यसीति ज्ञेयम् ॥ ६ ॥

से वि अ णं दारए उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमित्ते जुव्वणगमणुपत्ते, रिउव्वेअ-जउव्वेअ-सामवेअ-अथव्वणवेअ-इतिहासपंचमाणं निघंटुच्छट्ठाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं वेआणं सारए वारए धारए, सडंगवी, सट्ठितंतविसारए, संखाणे सिक्खाणे सिक्खाकप्पे वागरणे छंदे निरुत्ते जोइसामयणे अन्नेसु अ बहुसु बंभण्णएसु परिव्वायएसु नएसु सुपरिनिट्ठिए आऽवि भविस्सइ ॥ १० ॥

'से वि अ णं दारए' त्ति सोऽपि च दारक एवंविधो भविष्यति, किंविशिष्टः दारकः ? 'उम्मुक्कबालभावे' त्ति त्यक्तबाल्यो जाताष्टवर्षः, पुनः किंविशिष्टः दारकः-'विन्नायपरिणयमित्ते' त्ति विज्ञानं परिणतमात्रं यस्य स ततः क्रमाच्च, किं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशिष्टः दारकः-' जोव्वणगमणुपत्ते ' त्ति यौवनमनुप्राप्तः पुनः किंविशिष्टः दारकः-' रिउव्वेत्र-जउव्वेत्र-सामवेत्र-अथव्वणवेत्र' त्ति ऋग्वेद (१) यजुर्वेद (२) सामवेदा (३) ऽथर्वण (४) वेदानां, कीदृशानाम् ' इतिहासपंचमाणं ' ति इतिहासपुराणं पञ्चमं येषां ते तथा तेषां, पुनः कीदृशानां ' निघंटुच्छट्ठाणं' ति निघण्टुर्नामसङ्ग्रहः षष्ठो येषां ते तथा तेषां, पुनः कीदृशानां ' संगोवंगाणं ' ति अङ्गोपाङ्गसहितानां, तत्र अङ्गानि-शिक्षा १ कल्पो २ व्याकरणं ३ छन्दो ४ ज्योति ५ निरुक्तम् ६ , उपाङ्गानि अङ्गार्थविस्ताररूपाणि, पुनः कीदृशानां ' सरहस्साणं ' ति तात्पर्ययुक्तानां ' चउराहं वेयाणं ' ति ईदृशानां पूर्वोक्तानां चतुर्णां वेदानां ' सारए ' त्ति स्मारकः अन्येषां विस्मरणे 'वारए' त्ति वारकः, अन्येषामशुद्धपाठनिषेधात् ' धारए ' त्ति धारणसमर्थः, तादृशो दारको भावी. पुनः किंवि० ' सडंगवी ' ति पूर्वोक्तानि षट् अङ्गानि विचारयतीति षडङ्गवित्, ज्ञानार्थत्वे तु पौनरुक्त्यं स्यात्. पुनः किंवि० ' सट्ठितंतविसारए ' त्ति षष्टितन्त्रं कापिलीयं शास्त्रं तत्र विशारदः पण्डितः, पुनः किंवि०—' संखाणे ' त्ति गणितशास्त्रे. यथा-" अर्धं तोये कर्दमे द्वादशांशः, षष्ठो भागो वालुकायां निमग्नः ॥ सार्धो हस्तो दृश्यते यस्य तस्य, स्तम्भस्याशु ब्रूहि मानं विचिन्त्य ॥ १ ॥ " स्तम्भो हस्ताः ६ कचित् ' सिक्खाणे ' त्ति पाठः तत्र 'सिक्खाण' शब्देन आचारग्रन्थः ' सिक्खाकप्पे' त्ति शिक्षा-अक्षराम्नायग्रन्थः,कल्पश्च यज्ञादिविधिशास्त्रं तत्र, तथा ' वागरणे ' त्ति व्याकरणे-शब्दशास्त्रे, तानि च विंशतिः, (कल्प०) (' वागरण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितानि) ' छंदे ' त्ति छन्दःशास्त्रे ' निरुत्ते ' त्ति पदभञ्जने व्युत्पत्तिरूपे टीकादौ इत्यर्थः ' जोइसामयणे ' त्ति ज्योतिःशास्त्रे ' अन्नेसु अ बहुसु ' त्ति एषु पूर्वोक्तेषु अन्येषु च बहुषु ' बंभणहिएसु ' त्ति ब्राह्मणहितेषु शास्त्रेषु परिव्वायएसु' त्ति परिव्राजकसम्बन्धिषु ' नएसु ' त्ति नयेषु-आचारशास्त्रेषु 'सुपरिनिट्ठिए आऽवि भविस्सइ' त्ति अतिनिपुणो भविष्यतीति योगः।

(५) देवानन्दायै ऋषभदत्तेन स्वप्नफलकथनम्-

तं उराला णं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठा० जाव आरुग्गतुट्ठिदीहाउमंगल्लकारगा णं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठ त्ति कट्टु भुज्जो अणुवूहइ ॥११॥ तए णं सा देवाणंदा माहणी उसभदत्तस्स माहणस्स अंतिए एअमट्ठं सुच्चा निसम्म, हट्ठतुट्ठ ०जाव हियया, करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-॥१२॥ एवमेयं देवाणुप्पिआ ! तहमेयं देवाणुप्पिया ! अवितहमेयं देवाणुप्पिया ! असंदिद्धमेअं देवाणुप्पिआ ! इच्छियमेअं देवाणुप्पिआ ! पडिच्छियमेअं देवाणुप्पिआ ! इच्छियपडिच्छियमेअं देवाणुप्पिआ ! सच्चेणं एस अट्ठे से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु ते सुमिणे सम्मं पडिच्छइ पडिच्छित्ता उसभदत्तेणं माहणेणं सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ।

' तं उराला णं तुमे देयाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठा ' तस्मात् कारणात् उदाराः त्वया हे देवानुप्रिये ! स्वप्ना दृष्टाः 'जाव आरुग्गतुट्ठिदीहाउमंगल्लकारगा णं ' ति यावत् आरोग्यतुष्टिदीर्घायुःकल्याणमङ्गलानां कारकाः 'तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठ' त्ति त्वया हे देवानुप्रिये ! स्वप्ना दृष्टाः 'इति कट्टु' त्ति-इति कृत्वा 'भुज्जो भुज्जो अणुवूहइ' त्ति भूयो २ वारं वारम् अनुबृंहयति-अनुमोदयति ॥११॥ 'तए णं सा देवानंदा माहणि ' त्ति ततः सा देवानन्दा ब्राह्मणी ' उसभदत्तस्स माहणस्स अंतिए ' ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य पार्श्वे ' एयमट्ठं सुच्च ' त्ति इममर्थं श्रुत्वा ' निसम्म ' त्ति चेतसा अवधार्य ' हट्ठतुट्ठ ०जाव हियय ' त्ति हृष्टा तुष्टा यावत् हर्षपूर्णहृदया 'करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु' करतलाभ्यां कृतं दशनखा मिलिताः यत्र तं शिरसि आवर्तो यस्य तम्, ' ईदृशं मस्तके करसम्पुटं कृत्वा 'एवं वयासी' ततः सा देवानन्दा एवमवादीत् ॥१२॥ किमित्याह-'एवमेअं देवाणुप्पिअ ' त्ति एवमेतदेव देवानुप्रिय ! ' तहमेअं देवाणुप्पिअ ' त्ति तथैवैतद्देवानुप्रिय ! यथा यथा भवद्भिरुक्तम्। ' अवितहमेअं देवाणुप्पिअ ' त्ति यथा स्थितम् एतद्देवानुप्रिय ! ' असंदिद्धमेअं देवाणुप्पिअ ' त्ति सन्देहरहितम् एतद्देवानुप्रिय ! ' इच्छिअमेअं देवाणुप्पिय ' त्ति ईप्सितम् एतद्देवानुप्रिय ! ' पडिच्छिअमेअं देवाणुप्पिअ ' त्ति प्रतीष्टं युष्मन्मुखात् एतदेवं गृहीतं देवानुप्रिय ! 'इच्छियपडिच्छिअमेअं देवाणुप्पिय ' त्ति उभयधर्मोपेतं देवानुप्रिय ! ' सच्चेणं एस अट्ठे ' त्ति सत्यः स एषोऽर्थः ' से ' इति अथ ' जहेयं ' ति येन प्रकारेण इममर्थं ' तुब्भे वयह ' त्ति यूयं वदथ ' इति कट्टु ' इति कृत्वा—इति भणित्वा ' ते सुमिणे सम्मं पडिच्छइ ' त्ति तान् स्वप्नान् सम्यग् अङ्गीकरोति ' पडिच्छित्त' त्ति अङ्गीकृत्य ' उसभदत्तेणं माहणेणं सद्धिं' ति ऋषभदत्तब्राह्मणेन साधम् 'उरालाइं माणुस्सगाइं' ति उदारान् मानुष्यकान् ' भोगभोगाइं ' ति भोगार्हभोगान् ' भुंजमाणा विहरइ ' भुञ्जाना विहरति। (कल्प०) (शक्रवक्तव्यताप्रतिबद्धं चतुर्दशं १४ सूत्रम् 'सक्क' शब्दे वक्ष्यामि।)

इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे आभोएमाणे विहरइ। तत्थ णं समणं भगवं महावीरं जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे माहणकुंडग्गामे नयरे उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगुत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छिसि गब्भत्ताए वक्कंतं पासइ पासित्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए धाराहयकयंबसुरहिकुसुमचंचुमालइयऊससियरोमकूवे विअसियवरकमलाणणनयणे पयलियवरकडगतुडियकेऊरमउडकुंडलहारविरायंतवच्छे पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे, ससंभमं तुरिअं चवलं, सुरिंदे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता वेरुलि-
यवरिट्ठरिट्ठंजणनिउणोवचिअमिसिमिसितमणिरयणमंडि-
आओ पाउयाओ ओमुअइ ओमुइत्ता एगसाडिअं उत्त-
रासंगं करेइ करेत्ता अंजलिमउलिअअग्गहत्थे तित्थयरा-
भिमुहे सत्तऽट्ठपयाइं अणुगच्छइ अणुगच्छित्ता वामं जाणुं
अंचेइ अंचित्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि साहट्टु ति-
क्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ, निवेसित्ता ईसिं
पच्चुन्नमइ, पच्चुन्नमइत्ता कडगतुडिअथंभिआओ भुया-
ओ साहरइ साहरित्ता करयलपरिग्गहिअं दसनहं सिरसा-
वत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

पुनः स किं कुर्वन्नित्याह—' इमं च णं ' ति इमं ' केव-
लकप्पं ' ति सम्पूर्णं ' जंबुद्दीवं दीवं ' ति, जम्बूद्वीपं ' वि
उलेणं ' ति विपुलेन—विस्तीर्णेन ' ओहिणा ' त्ति अवधि-
ना ' आभोएमाणे आभोएमाणे विहरइ ' त्ति अवलोकयन्
अवलोकयन् विहरति आस्ते इति सम्बन्धः ' तत्थ णं स-
मणं भगवं महावीरं ' ति तत्र समये श्रमणं भगवन्तं
महावीरं ' जंबुद्दीवे दीवे ' त्ति अस्मिन्नेव जम्बूद्वीपनाम्नि
द्वीपे ' भारहे वासे ' त्ति भरतक्षेत्रे ' दाहिणड्ढभरहे ' त्ति द-
क्षिणार्धभरते ' माहणकुंडग्गामे नयरे ' ब्राह्मणकुण्डग्राम-
नामके नगरे ' उसभदत्तस्स ' त्ति ऋषभदत्तस्य ' माहण-
स्स ' त्ति ब्राह्मणस्य, किंविशिष्टस्य ' कोडालसगुत्तस्स ' त्ति
कोडालैः समानं गोत्रं यस्य स तथा, कोडालगोत्रस्येत्यर्थः,
' भारिआए देवाणंदाए माहणीए ' त्ति तस्य भार्याया
देवानन्दाया ब्राह्मण्याः 'जालंधरसगुत्ताए' त्ति जालन्धरस-
गोत्रायाः ' कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंतं ' ति कुक्षौ गर्भत-
या उत्पन्नं ' पासइ ' पश्यति 'पासित्ता'—दृष्ट्वा ' हट्ठतुट्ठचि-
त्तमाणंदिए ' हृष्टः तुष्टः चित्तेन आनन्दितः ' पीइमणे ' प्री-
तिर्मनसि यस्य सः—'परमसोमणस्सिए ' परमं सौमनस्यं
प्राप्तः, सौमनस्यं तुष्टचित्तत्वं ' हरिसवसविसप्पमाणहिय-
ए ' हर्षवशेन विसर्प्पमानं हृदयं यस्य सः ' धाराहयक-
यंबसुरहिकुसुम ' त्ति धाराहतं यत्कदम्बस्य सुरभि कुसु-
मं तद्वत् ' चंचुमालइ ' त्ति रोमाञ्चितः, अत एव ' ऊस-
सिअरोमकूवे ' त्ति उच्छ्रितरोमकूपः, तथा-' विअसिअव-
रकमलाऽऽणणयणे' त्ति विकासितं वरं प्रधानं यत्कमलं त-
द्वत् आननं मुखं नयने च यस्य स तथा. प्रमोदपूरितत्वात्,
' पयलिअ ' त्ति तत्र प्रचलितानि भगवद्दर्शनेन आधिक-
सम्भ्रमवत्त्वात् कम्पितानि ' वरकडग ' त्ति वराणि कट-
कानि कङ्कणानि ' तुडिअ ' त्ति त्रुटिताश्च बाहुरक्षकाः,
' बहिरखा ' इति लोके ' मउडकुंडल ' त्ति मुकुटं कुण्डले
प्रसिद्धे, एतानि प्रचलितानि यस्य स तथा । पुनः किंवि०
' हारविरायंतवच्छे ' त्ति हारविराजमानं ' वच्छ ' त्ति हृद-
यं यस्य स तथा, ततो विशेषणसमासः, पुनः किं वि०
' पालंबपलंबमाण ' त्ति प्रलम्बमानं यत्प्रालम्बो झुम्बनकं
' घोलंतभूसणधरे ' त्ति दोलायमानानि भूषणानि च तानि
धरति यः स तथा ' ससंभमं ' ति सादरं ' तुरिअं चवलं
सुरिंदे सीहासणाओ अब्भुट्ठइ ' त्ति त्वरितं चपलं वेगेन
सुरेन्द्रः सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति ' अब्भुट्ठित्त' त्ति अभ्युत्था-
य यावत् ' पादपीढाओ पच्चोरुहइ ' त्ति यत्र पादौ स्थाप्ये-
ते तत्पादपीठं कथ्यते. तस्मात्प्रत्यवतरति ' पच्चोरुहित्त '
त्ति प्रत्यवतीर्य च पादुके अवमुञ्चति , किंविशिष्टे ते. ' वे-
रुलिअ ' त्ति वैडूर्यं मरकतं नाम नीलरत्नं ' वरिट्ठरिट्ठअं-
जण ' त्ति वरिष्ठे प्रधाने रिष्टे अञ्जननाम्नी श्यामरत्ने ,
एतै रत्नैः कृत्वा ' निउणोवचिअ ' त्ति निपुणेन शिल्पिना
उपचिते इव, पुनः किंवि० ' मिसिमिसित त्ति देदीप्यमाना-
नि ' मणिरयणमंडिआउ ' त्ति मणयश्चन्द्रकान्तादयः, र-
त्नानि कर्केतनादीनि, तैर्मण्डिते ' पाउआओ ओमुइअ '
त्ति ईदृश्यौ पादुके अवमुञ्चति, ' ओमुइत्त ' त्ति अवमु-
च्य ' एगसाडिअं उत्तरासंगं करेइ, करित्त ' त्ति एकप-
टमुत्तरासङ्गं करोति, तत् कृत्वा च ' अञ्जलिमउलिअग्ग-
हत्थे' त्ति अञ्जलिकरणेन मुकुलीकृतौ योजितौ अग्रहस्तौ
येन स तथाभूतः ' तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुग-
च्छइ ' त्ति सप्ताष्टपदानि तीर्थकराभिमुखोऽनुगच्छति ' अ-
णुगच्छित्त ' त्ति तथा कृत्वा ' वामं जाणुं अंचइ ' त्ति
वामं जानुमुत्पाटयति, भूमौ अलग्नं स्थापयति ' अंचित्त '
त्ति तथा संस्थाप्य ' दाहिणं जाणुं धरणितलंसि ' त्ति द-
क्षिणं जानुं धरणीतले ' साहट्ट ' त्ति निवेश्य ' तिक्खुत्तो ,
त्ति वारत्रयं ' मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ ' त्ति मस्तकं
धरणीतले निवेशयति ' निवेसित्ता ' तथा कृत्वा ' ईसिं
पच्चुन्नमइ ' त्ति ईषत् प्रत्युन्नमति , उत्तरार्धेन ऊर्द्ध्वो भ-
वतीत्यर्थः ' पच्चुन्नमित्त ' त्ति ऊर्ध्वीभूय ' कडगतुडिअथं-
भिआओ भुआओ साहरइ ' त्ति कटकत्रुटिकाः कङ्कणबाहु-
रक्षिकास्ताभिः स्तम्भिते भुजे'साहरइ' त्ति वालयति'साहरि-
त्त' त्ति वालयित्वा 'करयलपरिग्गहिअं दसनहं ' ति करत-
लपरिगृहीतं हस्तसम्पुटघटितं दश नखाः समुदिता यत्र
स तथा तं ' सिरसावत्तं ' ति शिरसि मस्तके आवर्तः
प्रदक्षिणभ्रमणं यस्य एवंविधं ' मत्थए अंजलिं कट्टु ' त्ति
मस्तके अञ्जलिं कृत्वा ' एवं वयासि ' त्ति एवमवादीत् ।

किं तदित्याह—

नमुत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं
सयंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरी-
याणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं
लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं अभय--
दयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जी-
वदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं ध-
म्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं
दीवो--ताणं--सरणं--गई-पइट्ठा— अप्पडिहयवरनाणदंस-
णधराणं विअट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं
तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं सव्वन्नूणं
सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपु-
णरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं । नमो जि-
णाणं जिअभयाणं ।

(६)शक्रः श्रीवीरं नमस्करोति—

नमुत्थु णं-समणस्स भगवओ महावीरस्स पुव्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुव्वतित्थयरनिद्दिट्ठस्स ०जाव संपाविउकामस्स । वंदामि णं भगवंतं तत्थ गयं इह गए, पासउ मे भगवं तत्थ गए इह गयं ति कट्टु समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने; तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो अयमेआरूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था ॥ १६ ॥ न खलु एयं भूअं, न भव्वं, न भविस्सं, जन्नं अरहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा अंतकुलेसु वा पंतकुलेसु वा तुच्छकुलेसु वा दरिद्दकुलेसु वा किविणकुलेसु वा भिक्खागकुलेसु वा माहणकुलेसु वा, आयाइंसु वा आयाइंति वा आयाइस्संति वा ॥ १७ ॥

'नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स' नमोऽस्तु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'पुव्वतित्थयरनिद्दिट्ठस्स' पूर्वतीर्थङ्करैः निर्दिष्टस्य 'जाव संपाविउकामस्स' यावत् सिद्धिगतिनामकं स्थानं सम्प्राप्तुकामस्य, श्रीवीरो हि अथ मुक्तिं यास्यतीति एवं विशेषणम्, इमानि सर्वाण्यपि विशेषणानि चतुर्थ्येकवचनान्तानि ज्ञेयानि ॥ 'वंदामि णं भगवंतं तत्थ गयं इह गए' वन्दामि अहं भगवन्तं तत्र गतं देवानन्दाकुक्षौ स्थितमित्यर्थः, अत्र स्थितोऽहं 'पासउ मे भगवं तत्थ गए इह गयं ति कट्टु' पश्यतु मां भगवान् तत्र स्थितः इह स्थितम् इति उक्त्वा 'समणं भगवं महावीरं' श्रमणं भगवन्तं महावीरं 'वंदइ नमंसइ' वन्दते नमस्यति 'वंदित्ता नमंसित्ता' वन्दित्वा नमस्यित्वा 'सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे सन्निसण्णे' पूर्वाभिमुखः सिंहासने सन्निषण्ण उपविष्ट इत्यर्थः, 'तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो' ततस्तस्य शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवानां राज्ञः 'अयमेआरूवे' अयमेतद्रूपः 'अब्भत्थिए' आत्मविषय इत्यर्थः 'चिंतिए' चिन्तात्मकः 'पत्थिए' प्रार्थितोऽभिलापरूपः 'मणोगए' मनोगतो, न तु वचनेन प्रकाशितः, ईदृशः 'संकप्पे' संकल्पो विचारः 'समुप्पज्जित्था' समुत्पन्नः॥१६॥कोऽसौ इत्याह-'न खलु एअं भूअं' न निश्चयेन एतद्भूतमतीतकाले 'न भव्वं' न भवति एतत् वर्त्तमानकाले, 'न भविस्सं' एतत् न भविष्यति आगामिनि काले। किं तदित्याह-'जन्नं अरहंता वा' यत् अर्हन्तो वा 'चक्कवट्टी वा' चक्रवर्त्तिनो वा 'बलदेवा वा' बलदेवा वा 'वासुदेवा वा' वासुदेवा वा 'अंतकुलेसु वा', अन्त्यकुलेषु-शूद्रकुलेषु इत्यर्थः 'पंतकुलेसु वा' प्रान्तकुलेषु-अधमकुलेषु 'तुच्छकुलेसु वा' तुच्छाः अल्पकुटुम्बाः तेषां कुलेषु वा 'दरिद्दकुलेसु वा' दरिद्रा निर्धनास्तेषां कुलेषु वा 'किविणकुलेसु वा' कृपणाः अदातारस्तेषां कुलेषु वा 'भिक्खागकुलेसु वा' भिक्षाकाः—तालाचरास्तेषां कुलेषु वा 'माहणकुलेसु वा' ब्राह्मणकुलेषु वा तेषां भिक्षुकत्वात्, एतेषु 'आयाइंसु वा' आगता अतीतकाले 'आयाइंति वा' आगच्छन्ति वर्तमानकाले 'आयाइस्संति वा' आगमिष्यन्ति-अनागतकाले, एतन्न भूतमित्यादि योगः।

तर्हि अर्हदादयः चत्वारः केषु कुलेषु उत्पद्यन्त इत्याह—

एवं खलु अरहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा, उग्गकुलेसु वा भोगकुलेसु वा राइन्नकुलेसु वा इक्खागकुलेसु वा खत्तियकुलेसु वा हरिवंसकुलेसु वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु विसुद्धजाइकुलवंसेसु आयाइंसु वा आयाइंति वा आयाइस्संति वा ॥ १८ ॥

'एवं खलु' एवम्-अनेन प्रकारेण खलु निश्चये 'अरहंता वा' अर्हन्ता वा 'चक्कवट्टी वा' चक्रवर्त्तिनो वा 'बलदेवा वा' बलदेवा वा 'वासुदेवा वा' वासुदेवा वा 'उग्गकुलेसु वा' उग्राः श्रीआदिनाथेन आरक्षकतया स्थापिता जनाः तेषां कुलेषु 'भोगकुलेसु वा' भोगाः गुरुतया स्थापिताः, तेषां कुलेषु 'रायन्नकुलेसु वा' श्रीऋषभदेवेन मित्रस्थाने स्थापिताः, तेषां कुलेषु 'इक्खागकुलेसु वा' इक्ष्वाकाः श्रीऋषभदेववंशोद्भवाः, तेषां कुलेषु 'हरिवंसकुलेसु वा' तत्र 'हरि' त्ति पूर्वभववैरिनीतहरिवर्षक्षेत्रयुगलं, तस्य वंशो हरिवंशस्तत्कुलेषु 'अन्नयरेसु वा' अन्यतरेषु वा 'तहप्पगारेसु विसुद्धजाइकुलवंसेसु' विशुद्धे जातिकुले यत्र एवंविधेषु वंशेषु तत्र जातिः—मातृपक्षः, कुलं—पितृपक्ष, ईदृशेषु कुलेषु 'आयाइंसु वा' आगता अतीतकाले 'आयाइंति वा' आगच्छन्ति वर्त्तमानकाले 'आयाइस्संति वा' आगमिष्यन्ति अनागतकाले, न तु पूर्वोक्तेषु।

(७) तर्हि भगवान् कथम् उत्पन्न इत्याह—

अत्थि पुण एसे वि भावे लोगच्छेरयभूए अणंताहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं विइक्कंताहिं समुप्पज्जइ। (सू० १६+)

'अत्थि पुण एसे वि भावे' अस्ति पुनः एषोऽपि भावो भविताख्यः 'लोगच्छेरयभूए' लोके आश्चर्यभूतः 'अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं' अनन्तासु उत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु 'विइक्कंताहिं समुप्पज्जइ' व्यतिक्रान्तासु ईदृशः कश्चित्पदार्थ उत्पद्यते, तत्रास्यामवसर्पिण्याम् ईदृशानि दश आश्चर्याणि जातानि। कल्प० १ अधि० २ क्षण । (तान्याश्चर्याणि 'अच्छेर' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठे उक्तानि।)

समणे भगवं महावीरे वासीइराइंदिएहिं विइक्कंतेहिं तेयासीइमे राइंदिए वट्टमाणे गब्भाओ गब्भं साहरिए। (सू० ८३×) स० ८३ सम०।

नामगुत्तस्स वा कम्मस्स अक्खीणस्स अवेइयस्स अणिज्जिण्णस्स उदएणं जं णं अरहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा, अंतकुलेसु वा पन्तकुलेसु वा तुच्छकुलेसु वा दरिद्दकुलेसु वा भिक्खागकुलेसु वा किविणकुलेसु वा माहणकुलेसु वा आयाइंसु वा आयाइंति वा आयाइस्संति वा कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कमिंसु वा वक्कमंति वा वक्कमिस्संति वा।

'नामगुत्तस्स कम्मस्स' नाम्ना गोत्रम् इति प्रसिद्धं यत्कर्म गोत्राभिधानं कर्मेत्यर्थः, तस्य किंविशिष्टस्य 'अक्खीणस्स' त्ति अक्षीणस्य स्थितेः अक्षयेण 'अवेइयस्स' त्ति अवेदितस्य रस-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्य अपरिभोगेन 'अणिज्जिण्णस्स' त्ति अनिर्जीर्णस्य जीवप्रदेशेभ्यो परिशटितस्य ईदृशस्य गोत्रस्य नीचैर्गोत्रस्य उदयेन भगवान् ब्राह्मणीकुक्षौ उत्पन्न इति योगः। तच्च नीचैर्गोत्रं भगवता स्थूलसप्तविंशतिभवापेक्षया तृतीयभवे बद्धम्। कल्प० १ अधि० २ क्षण। (वीरस्य अष्टाविंशतिर्भवाः 'मरीइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५१ पृष्ठे गताः।)

(८) गर्भव्युत्क्रान्तिः—

नो चेव णं जोणीजम्मणनिक्खमणेणं निक्खमिंसु वा निक्खमिंति वा निक्खमिस्संति वा। अयं च णं समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे माहणकुंडग्गामे नयरे उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगुत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते, तं जीअमेअं तीअपच्चुप्पन्नमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवरायाणं अरिहंते भगवंते तहप्पगारेहिंतो अंतकुलेसु वा पंतकुलेसु वा तुच्छकुलेसु वा दरिद्दकुलेसु वा भिक्खागकुलेसु वा किविणकुलेहिंतो माहणकुलेहिंतो तहप्पगारेसु उग्गकुलेसु वा भोगकुलेसु वा रायन्नकुलेसु वा नायकुलेसु वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु विसुद्धजाइकुलवंसेसु ०जाव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे साहराविचए-तं सेयं खलु मम वि समणं भगवं महावीरं चरमतित्थयरं पुव्वतित्थयरनिद्दिट्ठं माहणकुंडग्गामाओ नयराओ उसभदत्तस्स माहणस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छीओ खत्तियकुंडग्गामे नयरे नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्स भारियाए तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहराविचए, जे वि य णं से तिसलाए खत्तियाणीए गब्भे तं पि य णं देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहराविचए—त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता हरिणेगमेसिं पायत्ताणीयाहिवइं देवं सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी ॥२१॥ एवं खलु देवाणुप्पिआ! न एअं भूअं, न एअं भव्वं, न एअं भविस्सं, जं णं अरिहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा, अंतकुलेसु वा पंतकुलेसु वा किविणकुलेसु वा दरिद्दकुलेसु वा तुच्छकुलेसु वा भिक्खागकुलेसु वा आयाइंसु वा आयाइंति वा आयाइस्संति वा, एवं खलु अरिहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा उग्गकुलेसु वा, भोगकुलेसु वा राइन्नकुलेसु वा नायकुलेसु वा खत्तियकुलेसु वा इक्खागकुलेसु वा हरिवंसकलेसु वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु विसुद्धजाइकुलवंसेसु आयाइंसु वा आयाइंति वा आयाइस्संति वा ॥२२॥ अत्थि पुण एसे वि भावे लोगच्छेरयभूए अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं विइक्कंताहिं समुप्पज्जति नामगुत्तस्स वा कम्मस्स अक्खीणस्स अवेइअस्स अणिज्जिन्नस्स उदए णं, जं णं अरिहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा अंतकुलेसु वा पंतकुलेसु वा तुच्छकुलेसु वा किविणकुलेसु वा दरिद्दकुलेसु वा भिक्खागकुलेसु वा आयाइंसु आयाइंति वा आयाइस्संति वा कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कमिंसु वा वक्कमंति वा वक्कमिस्संति वा, नो चेव णं जोणीजम्मणनिक्खमणेणं निक्खमिंसु वा निक्खमिंति वा निक्खमिस्संति वा ॥२३॥ अयं च णं समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे माहणकुंडग्गामे नयरे उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगुत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते ॥ २४ ॥ तं जीअमेअं तीअपच्चुप्पन्नमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवरायाणं अरिहंते भगवंते तहप्पगारेहिंतो अंतकुलेहिंतो पंतकुलेहिंतो तुच्छकुलेहिंतो दरिद्दकुलेहिंतो किविणकुलेहिंतो वणीमगकुलेहिंतो माहणकुलेहिंतो तहप्पगारेसु उग्गकुलेसु वा भोगकुलेसु वा रायन्नकुलेसु वा नायकुलेसु वा खत्तियकुलेसु वा इक्खागकुलेसु वा हरिवंसकुलेसु वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु वा विसुद्धजाइकुलवंसेसु साहराविचए ॥ २५ ॥

'तं जीअमेयं' तस्मात् हेतोः जीतम्—एतत्, आचार एव इत्यर्थः, केषामित्याह—'तीअपच्चुप्पन्नमणागयाणं' अतीतवर्त्तमानाऽनागतानां 'सक्काणं देविंदाणं देवरायाणं' शक्राणां देवेन्द्राणां देवराजानां, कोऽसौ इत्याह—यत् 'अरिहंते भगवंते' अर्हतो भगवतः 'तहप्पगारेहिंतो' तथाप्रकारेभ्यः 'अंतकुलेहिंतो' अन्तकुलेभ्यः 'पंतकुलेहिंतो' प्रान्तकुलेभ्यः 'तुच्छकुलेहिंतो' तुच्छकुलेभ्यः 'दरिद्दकुलेहिंतो' दरिद्रकुलेभ्यः 'भिक्खागकुलेहिंतो' भिक्षाचरकुलेभ्यः 'किविणकुलेहिंतो' कृपणकुलेभ्यः 'माहणकुलेहिंतो' ब्राह्मणकुलेभ्यश्चादाय 'तहप्पगारेसु' तथाप्रकारेषु 'उग्गकुलेसु वा' उग्रकुलेषु वा 'भोगकुलेसु वा' भोगकुलेषु वा 'रायन्नकुलेसु वा' राजन्यकुलेषु वा 'नायकुलेसु वा' ज्ञातकुलेषु वा 'अन्नयरेसु वा' अन्यतरेषु वा-'तहप्पगारेसु' तथाप्रकारेषु 'विसुद्धजाइकुलवंसेसु वा' विशुद्धे जातिकुले यत्र ईदृशेषु वंशेषु 'जाव रज्जसिरिं' यावत् राज्यश्रियं 'कारेमाणे' कुर्वत्सु 'पालेमाणे' पालयत्सु च 'साहराविचए' मोचयितुम् इन्द्राणामेष आचारः 'तं सेयं खलु मम वि' ततः श्रेयः खलु युक्तमेतन्ममापि, किं तदित्याह 'समणं भगवं महावीरं' श्रमणं भगवन्तं महावीरं 'चरमतित्थयरं' चरमतीर्थकरं 'पुव्वतित्थयरनिद्दिट्ठं' पूर्वतीर्थकरैर्निर्दिष्टं 'माहणकुंडग्गामाओ नयराओ' ब्राह्मणकुण्डग्रामात् नगरात् 'उसभदत्तस्स माहणस्स' ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य 'भारियाए' भार्यायाः 'देवाणं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दाए माहणीए ' देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः ' जालंधरसगोत्ता-ए ' जालन्धरसगोत्रायाः ' कुच्छीओ ' कुक्षिमध्यात् ' खत्तिअकुंडग्गामे नयरे' क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे 'नायाणं खत्तिआणं' ज्ञातानां श्रीऋषभस्वामिवंश्यानां क्षत्रियविशेषाणां मध्ये 'सिद्धत्थस्स खत्तिअस्स' सिद्धार्थस्य क्षत्रियस्य ' कासवगुत्तस्स' काश्यपगोत्रस्य 'भारियाए' भार्यायाः 'तिसलाए' त्रिशलायाः ' खत्तिआणीए ' क्षत्रियाण्याः ' वासिट्ठसगुत्ताए ' वासिष्ठसगोत्रायाः ' कुच्छिंसि गब्भत्ताए ' कुक्षौ गर्भतया ' साहराविचए ' मोचयितुं. तथा—' जे वि य णं से तिसलाए खत्तिआणीए गब्भे ' योऽपि च तस्याः त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः गर्भः पुत्रिकारूपः, ' तं पि य णं देवाणंदाए माहणीए ' तमपि देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः ' जालंधरसगुत्ताए ' जालन्धरसगोत्रायाः ' कुच्छिंसि गब्भत्ताए ' कुक्षौ गर्भतया ' साहराविचए ' मोचयितुं 'ति कट्टु ' इति कृत्वा ' एवं संपेहेइ ' एवं पूर्वोक्तं विचारयति ' संपेहित्ता ' विचार्य ' हरिणेगमेसिं ' हरिनैगमेषिनामकं ' पाइत्ताणीआहिवइं ' पादातिकटकाधिपतिं ' देवं सद्दावेइ ' देवमाकारयति ' सद्दावित्ता ' आकार्य ' एवं वयासी ' एवम् इन्द्रः अवादीत् ॥ २१ ॥ किं तदित्याह-एवं ' खलु ' इत्यादिना साहराविचए' त्ति पर्यन्तं तेन सूत्रचतुष्टयेन (॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ सर्वं स्वचिन्तितं शक्रो हरिनैगमेषिणमकथयत्, तच्च) प्राग्वत् । कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

(६) हरिनैगमेषिणं प्रति शक्राज्ञामाह-

तं गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिआ ! समणं भगवं महावीरं माहणकुंडग्गामाओ नयराओ उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगुत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छीओ खत्तियकुंडग्गामे नयरे नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्स भारियाए तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहराहि, जे वि य णं से तिसलाए खत्तियाणीए गब्भे तं पि य णं देवाणंदाए माहणीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहराहि साहरित्ता ममेयमाणत्तिअं खिप्पामेव पच्चप्पिणाहि ॥ २६ ॥ तए णं से हरिणेगमेसि पायत्ताणीयाहिवई देवे सक्केणं देविंदेणं देवरन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठ ०जाव—हयहियए करयल ०जाव त्ति कट्टु जं देवो आणवेइ त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ पडिसुणित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अवक्कमित्ता वेउव्विअसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता संखिज्जाइं जोअणाइं दंडं निस्सरइ, तं जहा-रयणाणं वयराणं वेरुलिआणं लोहिअक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुलयाणं सोगंधियाणं जोईरसाणं अंजणाणं अंजणपुलयाणं जायरूवाणं सुभगाणं अंकाणं फलिहाणं रिट्ठाणं, अहाबायरे पुग्गले पडिसाडेइ परिसाडित्ता अहासहुमे पुग्गले परिआएइ ॥ २७ ॥ परिआइत्ता दुच्चं पि वेउव्विअसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता उत्तरवेउव्वियं रूवं विउव्वइ विउव्वित्ता ताए उक्किट्ठाए तुरिआए चवलाए चंडाए जयणाए उद्धुआए सिग्घाए छेआए दिव्वाए देवगईए वीईवयमाणे वीईवयमाणे तिरिअमसंखिज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे, जेणेव माहणकुंडग्गामे नयरे, जेणेव उसभदत्तस्स माहणस्स गिहे , जेणेव देवाणंदा माहणी , तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आलोए समणस्स भगवओ महावीरस्स पणामं करेइ , पणामं करित्ता देवाणंदाए-माहणीए सपरिजणाए ओसोवणिं दलइ, दलित्ता असुभे पुग्गले अवहरइ , अवहरित्ता, सुभे पुग्गले पक्खिवइ , पक्खिवित्ता " अणुजाणउ मे भयवं " ति कट्टु समणं भगवं महावीरं अव्वाबाहं अव्वाबाहेणं दिव्वेणं पहावेणं करयलसंपुडेणं गिण्हइ,गिण्हित्ता, जेणेव खत्तिअकुंडग्गामे नयरे जेणेव सिद्धत्थस्स. खत्तियस्स गिहे , जेणेव तिसला खत्तियाणी तेणेव उवागच्छइ, तिसलाए खत्तिआणीए सपरिअणाए ओसोवणिं दलइ , दलित्ता , असुभे पुग्गले अवहरइ , अवहरित्ता सुभे पुग्गले पक्खिवइ पक्खिवित्ता समणं भगवं महावीरं अव्वाबाहं अव्वाबाहेणं दिव्वेणं पहावेणं तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहरइ जे वि य णं से तिसलाए खत्तियाणीए गब्भे तं पि य णं देवाणंदाए माहणीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहरइ साहरित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए ॥ २८ ॥ ताए उक्किट्ठाए तुरिआए उद्धुआए चवलाए चंडाए जयणाए सिग्घाए दिव्वाए देवगईए, तिरिअमसंखिज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जोअणसयसाहस्सिएहिं विग्गहेहिं उप्पयमाणे जेणामेव सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सक्कंसि सीहासणंसि सक्के देविंदे देवराया तेणामेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो तमाणत्तिअं खिप्पामेव पच्चप्पिणइ ॥ २९ ॥

' तं गच्छ णं देवाणुप्पिया ' यस्मात् कारणात् इन्द्राणामेष आचारः, तस्मात्कारणात् त्वं गच्छ , देवानुप्रिय ! हे हरिणै (नै) गमेषिन् ! 'समणं भगवं महावीरं ' श्रमणं भगवन्तं महावीरं ' माहणकुंडग्गामाओ नयराओ ' ब्राह्मणकुण्डग्रामात् नगरात् ' उसभदत्तस्स माहणस्स ' ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य ' कोडालसगुत्तस्स ' कोडालसगोत्रस्य ' भारियाए ' भार्यायाः ' देवाणंदाए माहणीए ' देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः ' जालंधरसगुत्ताए ' जालन्धरसगोत्रायाः' कुच्छिओ ' कुक्षेः लात्वा ' खत्तियकुंडग्गामे नयरे ' क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे ' नायाणं खत्तिआणं ' ज्ञातजातीयानां क्षत्रियाणां मध्ये ' सिद्धत्थस्स खत्तिअस्स ' सिद्धार्थ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्य क्षत्रियस्य 'कासवगुत्तस्स' कश्यपगोत्रस्य 'भारि-
याए' भार्यायाः 'तिसलाए खत्तिआणीए' त्रिशलायाः
क्षत्रियाण्याः 'वासिट्ठसगुत्ताए' वाशिष्ठगोत्रायाः 'कु-
च्छिसि गब्भत्ताए' कुक्षौ गर्भतया 'साहराहि' मुञ्च
'जे वि य णं' योऽपि च 'से तिसलाए' तस्याः त्रिशला-
याः 'खत्तिआणीए' क्षत्रियाण्याः 'गब्भे' गर्भः 'तं पि य
णं' तमपि 'देवाणंदाए माहणीए' देवानन्दायाः ब्राह्म-
ण्याः 'कुच्छिसि' कुक्षौ 'गब्भत्ताए' गर्भतया 'साहराहि,
मुञ्च; 'साहरित्ता' मुक्त्वा 'मम एअमाणत्तिअं' मम ए-
तामाज्ञप्तिम्—आज्ञां 'खिप्पामेव' शीघ्रं 'पच्चप्पिणाहि'
प्रत्यर्पय, कार्यं कृत्वाऽऽगत्य मयैतत् कार्यं कृतम् इति
शीघ्रं निवेदय इत्यर्थः॥२६॥'तए णं से हरिणेगमेसी'ततः स
हरिणैगमेषी' पायत्ताणीयाहिवई देवे 'पादात्यनीकाधिपति-
देवः 'सक्केणं देविंदेणं' शक्रेण देवेन्द्रेण 'देवरन्ना' देवरा-
जेन 'एवं वुत्ते समाणे' एवमुक्तः सन् 'हट्ठ० जाव'
यावत्—यावत्करणात् 'तुट्ठचित्तमाणंदिए पीइमणे परम-
सोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाण' इत्यादि सर्वं वक्तव्यम् ।
'हियए' हर्षपूर्णहृदयः. अथैवंविधः सन् हरिणैगमेषी 'क-
रयल' करतलाभ्यां 'जाव' यावत् , यावत्करणात्-' परि-
ग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं' इति प्राग्वत्
वाच्यम् 'कट्टु' तथा मस्तके अञ्जलिं कृत्वा 'जं देवो
आणवेइ' त्ति यत् शक्रः आज्ञापयति 'आणाए विणएणं
वयणं पडिसुणइ' आज्ञाया उक्तरूपाया यद्वचनं तद्विनये-
न प्रतिशृणोति—अङ्गीकरोति 'पडिसुणित्ता' प्रतिश्रुत्य
च-अङ्गीकृत्य च 'उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं' ईशाणकोण-
नामके दिग्विभागे इत्यर्थः, तत्र 'अवक्कमइ' अपक्रामति
गच्छतीत्यर्थः' अवक्कमित्ता' अपक्रम्य गत्वा च 'विउव्वि
असमुग्घाएणं समोहणइ' वैक्रियसमुद्घातेन समुद्घान्त
वैक्रियशरीरकरणार्थं प्रयत्नविशेषं करोतीत्यर्थः 'समोह-
णित्ता' प्रयत्नविशेषं कृत्वा 'संखिज्जाइं जोअणाइं' संख्येय-
योजनप्रमाणं दण्डं—दण्डाकारं शरीरबाहल्यमूर्द्धाध आ-
यातं जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसमूहं 'निस्सरइ' शरीराद्बहिः नि-
ष्काशयतीत्यर्थः, तत्कुर्वाणस्तु एवंविधान् पुद्गलान् आदत्ते
'तं जहा' तद्यथा—'रयणाणं' रत्नानां कर्केत-
नादीनां १, यद्यपि रत्नपुद्गला औदारिका वैक्रियशरीरकर-
णे असमर्थाः, तत्र वैक्रियवर्गणा पुद्गला एव उपयुज्यन्ते,
तथापि रत्नानामिव सारपुद्गला इति ज्ञेयं 'वयराणं' व-
ज्राणां—हीरकाणां २, 'वेरुलिआणं' वैडूर्याणां नीलरत्ना-
नाम् ३, 'लोहिअक्खाणं' लोहिताक्षाणां ४, 'मसारगल्लाणं'
मसारगल्लानां ५, 'हंसगब्भाणं' हंसगर्भाणां ६, 'पुलयाणं'
पुलकानां ७,'सोगंधिआणं' सौगन्धिकानां ८, 'जोइरसाणं'
ज्योतीरसानां ९, 'अंजणाणं' अञ्जनानाम् १०, 'अंजणपु-
लयाणं' अञ्जनपुलकानां ११, 'जायरूवाणं' जातरूपाणां
१२, 'सुभगाणं' सुभगानाम् १३, 'अंकाणं' अङ्कानां १४,
'फलिहाणं' स्फटिकानां १५, 'रिट्ठाणं' रिष्टानाम् १६ । ए-
ताः षोडश रत्नजातयस्तेषां च 'अहाबायरे' यथाबादरान्
अत्यन्तम् असारान् ; स्थूलान् इत्यर्थः 'पुग्गले' तान् पुद्ग-
लान् 'परिसाडेइ'परित्यजति 'परिसाडित्ता' परित्यज्य 'अहा-
सुहुमे'यथा सूक्ष्मान्; अत्यन्तं सारान् इत्यर्थः,तान्'पुग्गले'पु-
द्गलान् 'परिआएइ' पर्यादत्ते : गृह्णातीत्यर्थः ॥ २७ ॥
'परियाइत्ता' पर्यादाय गृहीत्वा 'दुच्चं पि' द्वितीयवा-
रमपि 'वेउव्वियसमुग्घाएणं' वैक्रियसमुद्घातेन 'समो-
हणइ' पूर्ववत् प्रयत्नविशेषं करोति 'समोहणित्ता' प्रय-
त्नविशेषं कृत्वा 'उत्तरवेउव्वियरूवं' उत्तरवैक्रियं, भवधा-
रणीयापेक्षया अन्यत् इत्यर्थः, ईदृशं रूपं, 'विउव्वइ' वि-
कुर्वते करोति 'विउव्वित्ता' तथा कृत्वा 'ताए' तया 'उ-
क्किट्ठाए' उत्कृष्टया, अन्येषां गतिभ्यो मनोहरया 'तुरिआए'
त्वरितया, चित्तौत्सुक्यवत्या 'चवलाए' कायचापल्ययु-
क्तया 'चंडाए'चण्डया अत्यन्ततीव्रया 'जयणाए' शेषगति-
जयनशीलया'उद्धुआए' उद्धूतया,प्रचण्डपवनोद्धूतधूमादेरिव
'सिग्घाए' अत एव शीघ्रया 'छेआए' त्ति कुत्रचित् पाठः,
तत्र छेकया विघ्नपरिहारदक्षया 'दिव्वाए' देवयोग्यया, ईदृ-
श्या 'देवगईए' देवगत्या 'वीइवयमाणे वीइवयमाणे' गच्छन्,
अधस्तादुत्तरन् अधस्तादुत्तरन् 'तिरिअमसंखिज्जाणं दी-
वसमुद्दाणं' तिर्यगसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां 'मज्झं मज्झे-
णं' मध्यं मध्येन—मध्यभागेन 'जेणेव जंबुद्दीवे दीवे'
यत्रैव जम्बूद्वीपो द्वीपः 'भरहे वासे' भरतक्षेत्रं 'जेणेव मा-
हणकुंडग्गामे नयरे' यत्रैव ब्राह्मणकुण्डग्रामं नगरं जेणेव उस
भदत्तस्स माहणस्स गिहे'यत्रैव ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य गृहं-
'जेणेव देवाणंदा माहणी' यत्रैव देवानन्दा ब्राह्मणी 'त-
णेव उवागच्छइ' तत्रैव उपागच्छति 'उवागच्छित्ता'
उपागत्य च 'आलोए' आलोके दर्शनमात्रे 'समणस्स
भगवओ महावीरस्स' श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य
'पणामं करेइ' प्रणामं करोति 'पणामं करित्ता' प्रणामं
कृत्वा च 'देवाणंदामाहणीए' देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः
'परिजणाए' सपरिवारायाः 'ओसोवणिं' अवस्वापिनीं
निद्रां 'दलइ' ददाति 'दलित्ता' तां दत्त्वा च 'असुभे पुग्गले'
अशुचीन् पुद्गलान् . अपवित्रानित्यर्थः 'अवहरइ' अपहरति
दूरीकरोति 'अवहरित्ता' तथा कृत्वा च 'सुभे पुग्गले'
शुभान् पुद्गलान् : पवित्रपुद्गलानित्यर्थः 'पक्खिवइ'
प्रक्षिपति 'पक्खिवित्ता' प्रक्षिप्य च 'अणुजाणउ मे
भयवं ति कट्टु' अनुजानातु—आज्ञां ददातु मह्यं भगवान्
इति कृत्वा. इत्युक्त्वा 'समणं भगवं महावीरं' श्रमणं भग-
वन्तं महावीरम् 'अव्वाबाहं' व्याबाधारहितं भगवन्तम्
'अव्वाबाहेणं' अव्याबाधेन. सुखेन 'दिव्वेणं पहावेणं' दि-
व्येन देवयोग्येन प्रभावेण 'करयलसंपुडेणं गिण्हइ' करतल-
सम्पुटं गृह्णाति, न च तेन गृह्यमाणस्यापि गर्भस्य काचित्
पीडा स्यात्, यदुक्तं भगवत्याम्—'पभू णं भंते ! हरिणेगमेसी
सक्कदूए इत्थीगब्भं नहसिरंसि वा रोमकूवंसि वा साहरि-
त्तए वा नीहरित्तए वा? हंता पभू, नो चेव णं तस्स गब्भस्स
आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएज्जा, छविच्छेअं पुण करेज्जा'
छविच्छेदं त्वक्छेदनम् अकृत्वा गर्भस्य प्रवेशयितुम् अशक्य-
त्वादिति 'करयलसंपुडेणं गिण्हित्ता' हस्ततलसम्पुटे गृही-
त्वा च 'जेणेव खत्तियकुण्डग्गामे नयरे' यत्रैव क्षत्रियकु-
ण्डग्रामनामनगरं 'जेणेव सिद्धत्थस्स खत्तियस्स गिहे'
यत्रैव सिद्धार्थस्य क्षत्रियस्य गृहं 'जेणेव तिसला खत्ति-
याणी' यत्रैव त्रिशलानाम क्षत्रियाणी 'तेणेव उवागच्छइ'
तत्रैव उपागच्छति 'तिसलाए खत्तिआणीए' त्रिशलायाः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षत्रियाण्याः ' सपरिअणाए ' परिवारसहितायाः 'ओसोवणिं ' अवस्वापिनीं निद्रां ' दलइ ' ददाति ' दलित्ता ' तां दत्वा च ' असुभे पुग्गले अवहरइ ' अशुभान् पुद्गलान् दूरीकरोति ' अवहरित्ता ' तथा कृत्वा ' सुभे पुग्गले पक्खिवइ ' शुभान् पुद्गलान् प्रक्षिपति ' पक्खिवित्ता ' प्रक्षिप्य च ' समणं भगवं महावीरं ' श्रमणं भगवन्तं महावीरम्-' अव्वाबाहं ' व्याबाधारहितम् ' अव्वाबाहेणं ' अव्याबाधेन सुखेन ' दिव्वेण पहावेणं ' दिव्येन प्रभावेन ' तिसलाए खत्तिआणीए ' त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः 'कुच्छिंसि गब्भत्ताए' कुक्षौ गर्भतया ' साहरइ ' मुञ्चति , अत्र गर्भाशयात् गर्भाशये, गर्भाशयात् योनौ, योनेर्गर्भाशये, योनेर्योनौ इति गर्भसंहरणे चतुर्भङ्गी भवति । तत्र योनिमार्गेण आदाय गर्भाशये मुञ्चतीत्ययं तृतीयो भङ्गोऽनुज्ञातः, शेषाश्च निषिद्धाः श्रीभगवतीसूत्रे ' जे वि य णं से तिसलाए खत्तिआणीए गब्भे' योऽपि च तस्याः त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः गर्भः पुत्रीरूपः'तं पि अ णं देवाणंदामाहणीए ' तमपि गर्भं देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः ' कुच्छिंसि गब्भत्ताए ' कुक्षिविषये गर्भतया ' साहरइ ' मुञ्चति ' साहरित्ता ' मुक्त्वा च ' जामेव दिसिं पाउब्भूए ' यस्याः एव दिशः सकाशात् प्रादुर्भूतः आगतः ' तामेव दिसिं पडिगए ' तस्यामेव दिशि प्रत्यागतः, स देव इति ॥ २८ ॥ ' ताए उक्किट्ठाए ' तया अन्येषां गतिभ्यो मनोहरया ' तुरिआए ' चित्तौत्सुक्यवत्या ' चवलाए ' कायचापल्ययुक्तया ' चंडाए ' अत्यन्ततीव्रया ' जयणाए ' सकलगतिजेत्र्या ' उद्धुआए ' उद्धूतया ' सिग्घाए ' अत एव शीघ्रया ' दिव्वाए ' देवयोग्यया ' देवगइए ' ईदृश्या देवगत्या ' तिरिअमसंखिज्जाणं ' तिर्यग् असंख्येयानां ' दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं' द्वीपसमुद्राणां मध्यं मध्येन मध्यभागेन ' जोयणसयसाहस्सिएहिं ' योजनलक्षप्रमाणाभिः ' विग्गहेहिं ' विग्रहैः पदन्यासान्तरैः ' उप्पयमाणे ' ऊर्ध्वमुत्पतन् ' जेणामेव सोहम्मे कप्पे ' यत्र स्थाने सौधर्मे कल्पे ' सोहम्मवडिंसए विमाणे ' सौधर्मावतंसकनामविमाने ' सक्कंसि सीहासणंसि ' शक्रनामसिंहासने ' सक्के देविंदे देवराया ' शक्रनामा देवेन्द्रः देवराजोऽस्ति ' तेणामेव उवागच्छइ ' तत्रैव स्थाने उपागच्छति ' उवागच्छित्ता ' उपागत्य च ' सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो ' शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य ' तमाणत्तिअं खिप्पामेव ' तां पूर्वोक्तामाज्ञां शीघ्रमेव ' पच्चप्पिणइ ' प्रत्यर्पयति, कृत्वा निवेदयति , स देवः इति ॥ २६ ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोअबहुले, तस्स णं आसोअबहुलस्स तेरसीपक्खेणं बासीइराइंदिएहिं वीइक्कंतेहिं तेसीइमस्स राइंदिअस्स अंतरा वट्टमाणस्स हिआणुकंपएणं देवेणं हरिणेगमेसिणा सक्कवयणसंदिट्ठेणं माहणकुंडग्गामाओ नयराओ उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगुत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छीओ खत्तियकुंडग्गामे नयरे नायाणं खत्तिआणं सिद्धत्थस्स खत्तिअस्स कासवगुत्तस्स भारिआए तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं अव्वाबाहं अव्वाबाहेणं कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहरिए॥३०॥तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए आऽवि हुत्था-साहरिज्जिस्सामि त्ति जाणइ, संहरिज्जमाणे नो जाणइ, साहरिएमि त्ति जाणइ।

' तेणं कालेणं ' तस्मिन् प्रस्तावे ' तेणं समएणं ' तस्मिन् समये ' समणे भगवं महावीरे ' श्रमणो भगवान् महावीरः ' जे से वासाणं तच्चे मासे ' योऽसौ वर्षाणां वर्षाकालसम्बन्धी तृतीयो मासः ' पंचमे पक्खे ' पञ्चमः पक्षः, कोऽसौ इत्याह—' आसोअबहुले ' आश्विनमासस्य कृष्णपक्षः ' तस्स णं आसोअबहुलस्स ' तस्य आश्विनबहुलस्य ' तेरसीपक्खेणं ' त्रयोदश्याः पक्षः, पश्चार्धरात्रिरित्यर्थः , तस्यां ' बासीइराइंदिएहिं विइक्कंतेहिं ' द्व्यशीतौ अहोरात्रेषु अतिक्रान्तेषु ' तेसीइमस्स राइंदिअस्स ' त्र्यशीतितमस्याऽहोरात्रस्य ' अंतरा वट्टमाणस्स ' अन्तरकाले रात्रिलक्षणे काले वर्त्तमाने ' हिआणुकंपएणं ' स्वस्य इन्द्रस्य च हितेन, तथा भगवतः अनुकम्पकेन भगवतो भक्तेन, अनुकम्पायाश्च भक्तिवाचित्वम् ' आयरिअअणुकंपाए गच्छो अणुकंपिओ महाभागो ' इति वचनात् ' हरिणेगमेसिणा देवेणं ' ईदृशेन हरिणैगमैषिनामकेन देवेन ' सक्कवयणसंदिट्ठेणं ' शक्रवचनेन संदिष्टेन प्रेषितेन 'माहणकुंडग्गामाओ' ब्राह्मणकुण्डग्रामात् ' नयराओ ' नगरात् ' उसभदत्तस्स माहणस्स ' ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य 'कोडालसगुत्तस्स' कोडालसगोत्रस्य भारिआए देवाणंदाए माहणीए ' भार्याया देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः ' जालंधरसगुत्ताए ' जालन्धरसगोत्रायाः 'कुच्छिओ' कुक्षितः ' खत्तिअकुंडग्गामे नयरे ' क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे ' नायाणं खत्तिआणं ' ज्ञातजातीयानां क्षत्रियाणां ' सिद्धत्थस्स खत्तियस्स ' सिद्धार्थस्य क्षत्रियस्य 'कासवगुत्तस्स' काश्यपगोत्रस्य ' भारिआए तिसलाए खत्तिआणीए ' भार्यायास्त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः ' वासिट्ठसगुत्ताए ' वाशिष्ठगोत्रायाः 'पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि' मध्यरात्रकालसमये 'हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं' उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रे 'जोगमुवागएणं ' चन्द्रेण सम्बन्धे उपागते सति ' अव्वाबाहं ' पीडारहितं यथा स्यात्तथा ' अव्वाबाहेणं ' अव्याबाधेन दिव्यप्रभावेन ' कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहरिए ' कुक्षिविषये गर्भतया रक्षितः ; मुक्त इत्यर्थः । अत्र कवेरुत्प्रेक्षा—" सिद्धार्थपार्थिवकुलाप्तगृहप्रवेशे, मौहूर्त्तमागमयमान इव क्षणं यः । रात्रिंदिवान्युषितवान् भगवान् द्व्यशीतिं; विप्रालये स चरमो जिनराट् पुनातु ॥३०॥" तेणं कालेणं ' तस्मिन् काले ' तेणं समएणं ' तस्मिन् प्रस्तावे च ' समणे भगवं महावीरे ' श्रमणो भगवान् महावीरः 'तिन्नाणोवगए आऽवि हुत्था ' त्रिभिर्ज्ञानैः उपगतः सहितः अभवत् ' साहरिज्जिस्सामि त्ति ' जाणइ ' संहरिष्यमाणः , इतः संहरिष्यामि इति जानाति 'साहरिज्जमाणे नो जाणइ' संह्रियमाणः संहरणसमयं न जानाति 'साहरिएमि' त्ति जाणइ' संहृतोऽ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मीति जानाति, ननु संह्रियमाणो न जानातीति कथं युक्तं, संहरणस्य असङ्ख्यसामायिकत्वात्, भगवतश्च विशिष्टज्ञानवत्त्वात्, उच्यते—इदं वाक्यं संहरणस्य कौशलज्ञापकं, तथा तेन संहरणं कृतं यथा भगवता ज्ञातमपि अज्ञातमिवाभूत्, पीडाऽभावात्, यथा कश्चिद्वदति त्वया मम पादात्तथा कण्टको उद्धृतो यथा मया ज्ञात एव नेति, सौख्यातिशये च सत्येवंविधो व्यपदेशः सिद्धान्तेऽपि दृश्यते, तथाहि—'तहिं देवा वंतरिआ वरतरुणीगीअवाइअरवेणं निच्चं सुहिअपमुइआ गयं पि कालं न याणंति' इत्यादि, तथा च 'साहरिज्जमाणे वि जाणइ' इत्याचाराङ्गोक्तेन विरोधोऽपि न स्यात्, इति मन्तव्यम्।

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे-देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छीओ तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहरिए, तं रयणिं च णं सा देवाणंदा माहणी सयणिज्जंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी इमेयारूवे उराले० जाव चउद्दसमहासुमिणे तिसलाए खत्तिआणीए हडे पासित्ता णं पडिबुद्धा, तं जहा, 'गय-'०गाहा ॥३१॥ जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छीओ तिसलाए खत्तिआणीए वासिट्ठसगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहरिए, तं रयणिं च णं सा तिसला खत्तिआणी तंसि तारिसंसि वासघरंसि अब्भितरओ सचित्तकम्मे बाहिरओ दूमिअघट्ठमट्ठे-विचित्तउल्लोअचिल्लियतले मणिरयणपणासिअंधयारे बहुसमसुविभत्तभूमिभागे पंचवन्नसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे सुगंधवरगंधिए गंधवट्टिभूए तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगणवट्टिए उभओ बिब्बोअणे उभओ उन्नए मज्झेण य गंभीरे गंगापुलिणवालुआउद्दालसालिसए-उअवीअखोमिअदुगुल्लपट्टपडिच्छन्ने सुविरइअरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुडे सुरम्मे आईणगरूयवूरनवणीअतूलतुल्लफासे सुगंधवरकुसुमचुन्नसयणोवयारकलिए, पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी, इमे एयारूवे उराले० जाव चउद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा, तं जहा–"गय-वसह-सीह-अभिसेय-दाम-ससि--दिणयरं-झयं-कुंभं। पउमसर सागर-विमा-ण भवण -रयणुच्चय सिहिं च ॥ १ ॥"

'जं रयणिं च णं' यस्यां च रात्रौ 'समणे भगवं महावीरे' श्रमणो भगवान् महावीरः 'देवाणंदाए माहणीए' देवानन्दाया ब्राह्मण्याः 'जालंधरसगुत्ताए' जालन्धरसगोत्रायाः 'कुच्छीओ' कुक्षितः 'तिसलाए खत्तिआणीए' त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः 'वासिट्ठसगुत्ताए' वाशिष्ठगोत्रायाः 'कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहरिए' कुक्षिविषये गर्भतया मुक्तः 'तं रयणिं च णं' तस्यामेव रात्रौ 'सा देवाणंदा माहणी' सा देवानन्दा ब्राह्मणी 'सयणिज्जंसि' शय्यायां 'सुत्तजागरा' सुप्तजागरा 'ओहीरमाणी ओहीरमाणी' अल्पानिद्रां कुर्वती 'इमे एयारूवे उराले' इमान् एतद्रूपान् प्रशस्तान् 'जाव चउद्दस महासुमिणे' यावत् चतुर्दश महास्वप्नान् 'तिसलाए खत्तिआणीए हडे पासित्ता णं पडिबुद्धा' त्रिशलाया क्षत्रियाण्या हृता इति दृष्ट्वा जागरिता 'तं जहा' तद्यथा—'गयवसह ०गाहा' 'गयवसह' इति गाथाऽत्र वाच्या ॥ ३१ ॥ 'जं रयणिं च णं' यस्यां च रात्रौ 'समणे भगवं महावीरे' श्रमणो भगवान् महावीरः 'देवाणंदाए माहणीए' देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः 'जालंधरसगुत्ताए' जालन्धरसगोत्रायाः 'कुच्छीओ' कुक्षितः 'तिसलाए' 'खत्तिआणीए' त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः 'वासिट्ठसगुत्तए' वासिष्ठसगोत्रायाः 'कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहरिए' कुक्षौ गर्भतया मुक्तः 'तं रयणिं च णं' तस्यां रजन्यां 'सा तिसला खत्तिआणी' सा त्रिसला क्षत्रियाणी 'तंसि' तस्मिन् 'तारिसगंसि' तादृशे वक्तुमशक्यस्वरूपे महाभाग्यवतां योग्ये 'वासघरंसि' वासगृहे, शयनमन्दिरे इत्यर्थः, किंविशिष्टे वासगृहे—'अब्भितरओ सचित्तकम्मे' मध्ये चित्रकर्मरमणीये, पुनः किंविशिष्टे—'बाहिरओ' बाह्यभागे 'दूमिअ' सुधादिना धवलिते 'घट्ठ' कोमलपाषाणादिना घृष्टे, अत एव 'मट्ठ' सुकोमले, पुनः किंविशिष्टे—'विचित्तउल्लोअतले' विचित्रो विविधचित्रकलित उल्लोक उपरिभागो यत्र तत्तथा 'चिल्लिअतले' देदीप्यमानतलः अधोभागो यत्र तत्तथा कर्मधारये विचित्रोल्लोकचिल्लिततले, पुनः किंविशिष्टे—'मणिरयअपणासिअंधयारे' मणिरत्नप्रणाशितान्धकारे, पुनः किंविशिष्टे—'बहुसम' अत्यन्तं समोऽविषमः पञ्चवर्णमणिनिबद्धत्वात् 'सुविभत्त' सुविभक्तः विविधस्वस्तिकादिरचनामनोहरः, एवंविधो 'भूमिभागे' भूमिगागो यत्र तस्मिन् पुनः किंविशिष्टे—'पंचवन्नसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए' पञ्चवर्णेन सरसेन सुरभिणा 'मुक्क' त्ति इतस्ततो विक्षिप्तेन ईदृशेन पुष्पपुञ्जलक्षणेन उपचारेण पूजया कलिते, पुनः किंविशिष्टे 'कालागुरु' कृष्णागुरु प्रसिद्धं 'पवरकुन्दुरुक्क' विशिष्टं चीडाभिधानं गन्धद्रव्यविशेषः 'तुरुक्क' तुरुष्कं सिह्लकाभिधानं सुगन्धद्रव्यं 'डज्झंतधूव' दह्यमानो धूपो दशाङ्गादिरनेकसुगन्धद्रव्यसंयोगसमुद्भूतः, एतेषां वस्तूनां सम्बन्धि यः 'मघमघंत' मघमघायमानोऽतिशयेन गन्धवान् 'गंधुद्धुआभिरामे' उद्धतः-प्रकटीभूतः, एवंविधो गन्धस्तेनाभिरामे,पुनः किंविशिष्टे-'सुगंधवरगन्धिए' सुगन्धाः सुरभयो ये वरगन्धाः प्रधानचूर्णानि तेषां गन्धो यत्र तथा तस्मिन्, पुनः किंविशिष्टे—'गंधवट्टिभूए' गन्धवर्तिगन्धद्रव्यगुटिका तत्सदृशेऽतिसुगन्धे इत्यर्थः, एतादृशे वासभवने, अथ 'तंसि' तस्मिन् 'तारिसगंसि' तादृशे वक्तुम् अशक्यस्वरूपे महाभाग्यवतां योग्ये 'सयणिज्जंसि' शयनीये, पल्यङ्के इत्यर्थः, इदं विशेष्यम्, किंविशिष्टे—'सालिंगणवट्टिए' सालिङ्गनवर्त्तिके आलिङ्गनवर्त्तिका नाम—शरीरप्रमाणं दीर्घगण्डोपधानं तथा सहिते, पुनः किंविशिष्टे—'उभओ'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उभयतः शिरोऽन्तपादान्तोः 'बिब्बोअणे' उच्छीर्षके यत्र तत्तथा तस्मिन्, पुनः किंविशिष्टे—'उभओ उन्नए' यत उभयत उच्छीर्षकयुक्ते, अत एव उभयतः उन्नते, पुनः किंविशिष्टे—'मज्झेण य गंभीरे' तत एव मध्ये नते गम्भीरे च, पुनः किंविशिष्टे 'गंगापुलिणवालुअउद्दालसालिसए' तत्र 'उद्दाल' त्ति उद्दालेन पादविन्यासे अधोगमनेन गङ्गातटवालुकासदृशे, अयमर्थः—यथा गङ्गापुलिनवालुका पादे मुक्ते अधो व्रजति, तथा अतिकोमलत्वात् स पल्यङ्कोऽपीति ज्ञेयं, पुनः किं विशिष्टे—'उवचीअ' परिकर्मितं, 'खोमिअ' क्षौमम्—अतसीमयं 'दुगुल्लपट्ट' दुकूलं वस्त्रं तस्य यः पट्टो युगलापेक्षया एकपट्टः, तेन 'पडिच्छन्न' आच्छादिते, पुनः किंविशिष्टे—'सुविरइअरयत्ताणे' सुष्ठु विरचितं रजस्त्राणम्—अपरिभोगावस्थायामाच्छादनं यत्र तस्मिन्, पुनः किंविशिष्टे—'रत्तंसुअसंवुडे' रक्तांशुकेन मशकगृहाभिधानेन रक्तवस्त्रेणाच्छादिते, तथा 'सुरम्मे' अतिरमणीये, पुनः किंविशिष्टे—'आइणगरूअबूरनवणीअतूलतुल्लफासे' आजिनकं—देशान्तरीयं चर्म, रुतं प्रतीतं, बूरो—वनस्पतिविशेषः, नवनीतं—म्रक्षणं तूलम्—अर्कतूलम्, एभिः वस्तुभिः तुल्यः समानः स्पर्शो यस्य तथा तस्मिन्, एतद्वस्तुवत्कोमले इत्यर्थः, पुनः किंविशिष्टे—'सुगंधवरकुसुमचुन्नसयणोवयारकलिए' सुगन्धवरैः अतिसुगन्धैः कुसुमैः चूर्णैः वासादिभिश्च यः शयनोपचारः शय्यासंस्क्रिया तेन कलिते; कुसुमैः चूर्णैश्च मनोहरे इत्यर्थः, 'पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि' मध्यरात्रकालप्रस्तावे 'सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी' सुप्तजागरा अल्पनिद्रां कुर्वती 'इमे एयारूवे' इमान् एतद्रूपान् 'उराले' प्रशस्तान् 'जाव चउद्दस महासुमिणे' यावत् चतुर्दश महास्वप्नान् 'पासित्ता णं पडिबुद्धा' दृष्ट्वा जागरिता, 'तं जहा' तद्यथा—'गय १ वसह २ सीह ३ अभिसे-अ ४ दाम ५ ससि ६ दिणयरं ७ झयं ८ कुंभं ९ । पउमसर १० सागर ११ विमा-णभवण १२ रयणुच्चय १३ सिहिं च १४ ॥ १ ॥' इयं गाथा सुगमा ।

(१०) चतुर्दश महास्वप्नस्वरूपम्—

तए णं सा तिसला खत्तिआणी तप्पढमयाए–चउदंतमूसिअगलिअविपुलजलहरहारनिकारखीरसागरससंककिरणदगरययमहासेलपंडुरं समागयमहुयरसुगंधदाणवासियकपोलमूलं देवरायकुंजरवरप्पमाणं पिच्छइ सजलघणविपुलजलहरगज्जियगंभीरचारुघोसं इभं सुभं सव्वलक्खणकयंबिअं वरोरुं १ ॥ ३३ ॥

तओ पुणो धवलकमलपत्तपयराइरेगरूवप्पभं पहाससमुदओवहारेहिं सव्वओ चेव दीवयंतं अइसिरिभरपिल्लणाविसप्पंतकंतसोहंतचारुककुहं तणुसुद्धसुकुमाललोमनिद्धच्छविं थिरसुबद्धमंसलोवचिअलट्ठसुविभत्तसुंदरंगं पिच्छइ घणवट्टलट्ठउक्किट्ठतुप्पग्गतिक्खसिंगं दंतं सिवं समाणसोहंतसुद्धदंतं वसहं अमिअगुणमंगलमुहं २ ॥३४॥

तओ पुणो हारनिकरखीरसागरससंककिरणदगरययमहासेलपंडुरतरं रमणिज्जपिच्छणिज्जं थिरलट्ठपउट्ठवट्टपीवरसुसिलिट्ठविसिट्ठतिक्खदाढाविडंबिअमुहं परिकम्मिअजच्चकम्मलकोमलपमाणसोहंतलट्ठउट्ठं रत्तुप्पलपत्तमउअसुकुमालतालुनिल्लालियग्गजीहं मूसागयपवरकणगताविअआवत्तायंतवट्टतडियविमलसरिसनयणं विसालपीवरवरोरुं पडिपुन्नविमलखंधं मिउविसयसुहुमलक्खणपसत्थविच्छिन्नकेसराडोवसोहिअं ऊसिअसुनिम्मियसुजायअप्फोडिअलंगूलं सोम्मं सोम्माऽऽगारं लीलायंतं नहयलाओ उवयमाणं नियगवयणमइवयंतं पिच्छइ सा गाढतिक्खग्गनहं सीहं वयणसिरीपल्लवपत्तचारुजीहं ३ ॥ ३५ ॥

तओ पुणो पुन्नचंदवयणा, उच्चागयठाणलट्ठसंठिअं पसत्थरूवं सुपइट्ठिअकणगमयकुम्मसरिसोवमाणचलणं अच्चुन्नयपीणरइअमंसलउवचियतणुं तंबणिद्धनहं कमलपलाससुकुमालकरचरणं कोमलवरंगुलिं कुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघं निगूढजाणुं गयवरकरसरिसपीवरोरुं चामीकररइअमेहलाजुत्तं कंतविच्छिन्नसोणिचक्कं जच्चंजणभमरजलयपयरउज्जुअसमसंहिअतणुअआइज्जलडहसुकुमालमउअरमणिज्जरोमराइं नाभिमंडलसुंदरविसालपसत्थजघणं करयलमाइअपसत्थतिवलियमज्झं नाणामणिकणगरयणविमलमहातवणिज्जाभरणभूसणविराइयमंगुवंगं हारविरायंतसुंदमालपरिणद्धजलजलंतथणजुअलविमलकलसं आइयपत्तिअविभूसिएणं सुभगजालुज्जलेणं मुत्ताकलावएणं उरत्थदीणारमालविरइएणं कंठमणिसुत्तएणं कुंडलजुअलुल्लसंतअंसोवसत्तसोभंतसप्पभेणं सोभागुणसमुदएणं आणणकुडुंबिएणं कमलामलविसालरमणिज्जलोअणिं कमलपज्जलंतकरगहिअमुक्कतोयं लीलावायकयपक्खएणं सुविसदकसिणघणसण्हलंबंतकेसहत्थं पउमद्दहकमलवासिणिं सिरिं भगवइं पिच्छइ हिमवंतसेलसिहरे दिसागइंदोरुपीवरकराभिसिच्चमाणिं ४ ॥३६॥ कल्प० १ अधि० २ क्षण । तओ पुणो सरसकुसुममंदारदामरमणिज्जभूअं चंपगाऽसोगपुन्नागनागपिअंगुसिरीसमुग्गरमल्लिआजाइजूहिअंकोल्लकोज्जकोरिंटपत्तदमणयणवनवमालिअबउलतिलयवासंतिअपउमुप्पलपाडलकुंदाइमुत्तसहकारसुरभिगंधिं अणुवममणोहरेणं गंधेणं दस वि दिसाओ वि वासयंतं सव्वोउअसुरभिकुसुममल्लधवलविलसंतकंतबहुवन्नभत्तिचित्तं छप्पयमहुअरीभमरगणगुमगुमायंतनिलिंतगुंजंतदेसभागं दामं पिच्छइ नभंगणतलाओ उवयंतं ५ ॥३७॥ (कल्प०)

(६ षष्ठस्वप्नस्वरूपम् 'चंद' शब्दे तृतीयभागे १०६४ पृष्ठे गतम् ।) (सूरदर्शनविशिष्टं सप्तमं स्वप्नम् 'सूर' शब्दे वक्ष्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ते।) (ध्वजदर्शनविशिष्टमष्टमं स्वप्नम् 'झय' शब्दे चतुर्थभागे १६६० पृष्ठे गतम्।)

तत्रो पुणो जचकंचणुज्जलंतरूवं निम्मलजलपुन्नमुत्तमं दिप्पमाणसोहं कमलकलावपरिरायमाणं पडिपुन्नं सव्वमंगलभेयसमागमं पवररयणपरिरायंतकमलट्ठियं नयणभूसणकरं पभासमाणं सव्वत्रो चेव दीवयंतं सोमलच्छीनिभेलणं सव्वपावपरिवज्जिअं सुमं भासुरं सिरिवरं सव्वोउयसुरभिकुसुमआसत्तमल्लदामं पिच्छइ सा रययपुन्नकलसं ६॥ ४१॥

तत्रो पुणो रविकिरणतरुणबोहियसहस्सपत्तसुरभितरपिंजरजलं जलचरपहकरपरिहत्थगमच्छपरिभुज्जमाणजलसंचयं महंतं जलंतमिव कमलकुवलयउप्पलतामरसपुंडरीओरुसप्पमाणसिरिसमुदएणं रमणिज्जरूवसोहं पमुइअंतभमरगणमत्तमहुयरिगणुक्करोलिज्जमाणकमलं कायंबगबलाहयचक्ककलहंससारसगव्विअसउणगणमिहुणसेविज्जमाणसलिलं पउमिणिपत्तोवलग्गजलबिंदुनिचयचित्तं पिच्छइ सा हियनयणकंतं पउमसरं नाम सरं सरोरुहाभिरामं १०॥ ४२॥

तत्रो पुणो चंदकिरणरासिसरिससिरिवच्छसोहं चउगमणपवड्ढमाणजलसंचयं चवलचंचलुच्चायप्पमाणकल्लोललोलंततोयं पडुपवणाहयचलियचवलपागडतरंगरंगंतभंगखोखुब्भमाणसोभंतनिम्मलुक्कडउम्मीसहसंबंधधावमाणावनिपत्तभासुरतराभिरामं महामगरमच्छतिमितिमिंगिलनिरुद्धतिलितिलियाभिघायकप्पूरफेणपसरं महानईतुरियवेगसमागयभमगंगावत्तगुप्पमाणुच्चलंतपच्चोनियत्तभममाणलोलसलिलं पिच्छइ खीरोयसायरं सा रयणिकरसोमवयणा ११॥ ४३॥

तत्रो पुणो तरुणसूरमंडलसमप्पहं दिप्पमाणसोभं उत्तमकंचमहामणिसमूहपवरतेयअट्ठसहस्सदिप्पंतनहप्पईवं कणगपयरलंबमाणमुत्तासमुज्जलं जलंतदिव्वदामं ईहामिगउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरसंसत्तकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं गंधव्वोपवज्जमाणसंपुन्नघोसं निच्चं सजलघणविउलजलहरगज्जियसद्दाणुणाइणा देवदुंदुहिमहारवेणं सयलमवि जीवलोयं पूरयंतं, कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झमाणधूववासंगउत्तममघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं निच्चालोयं सेयं सेयप्पभं सुरवराभिरामं पिच्छइ सा साओवभोगं विमाणवरं पुंडरीयं १२॥४४॥

तत्रो पुणो पुलगवेरिंदनीलसासगकक्केयणलोहियक्खमरगयमसारगल्लपवालफलिहसोगंधियहंसगब्भअंजणचंदप्पहवररयणेहिं महीयलपइट्ठिअं गगणमंडलंतं पभासयंतं,तुंगं मेरुगिरिसंनिगासं पिच्छइ सा रयणनिकररासिं १३॥४५॥

सिहिं च सा विउलुज्जलपिंगलमहुघयपरिसिच्चमाणनिद्धूमधगधगाइयजलंतजालुज्जलाभिरामं तरतमजोगजुत्तेहिं न जालापयरेहिं अन्नुन्नमिव अणुप्पइन्नं पिच्छइ जालुज्जलणग अंबरं व कत्थइ पयंतं अइवेगचंचलं सिहिं॥१४॥४६॥

इमे एयारिसे सुभे सोमे पियदंसणे सुरूवे सुविणे दट्ठूण सयणमज्झे पडिबुद्धा अरविंदलोयणा हरिसपुलइअंगी। एए चउद्दस सुमिणे, सव्वा पासइ तित्थयरमाया, जं रयणिं वक्कमइ कुच्छिंसि महायसो अरिहा॥४७॥ तए णं सा तिसला खत्तियाणी इमे एयारूवे चउद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा समाणी हट्ठ-तुट्ठ ०जाव-हियया धाराहयकयंबपुप्फगं पिव समूससिअरोमकूवा सुमिणुग्गहं करेइ, करित्ता सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता पायपीठाओ पच्चोरुहइ, पायपीठाओ पच्चोरुहित्ता अतुरिअमचवलमसंभंताए अविलंबियाए रायहंससरिसीए गईए जेणेव सयणिज्जे जेणेव सिद्धत्थे खत्तिए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता सिद्धत्थं खत्तिअं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं मणोरमाहिं ओरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धन्नाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरीयाहिं हिययगमणिज्जाहिं हिययपल्हायणिज्जाहिं मिअमहुरमंजुलाहिं गिराहिं संलवमाणी२ पडिबोहेइ॥४८॥ तए णं सा तिसला खत्तिआणी सिद्धत्थेणं रन्ना अब्भणुन्नाया समाणी नाणामणिकणगरयणभत्तिचित्तंसि भद्दासणंसि निसीयइ निसीइत्ता आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया सिद्धत्थं खत्तिअं ताहिं इट्ठाहिं ०जाव संलवमाणी संलवमाणी एवं वयासी-॥ ४७॥ एवं खलु अहं सामी, अज्ज तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि वण्णओ ०जाव-पडिबुद्धा, तं जहा-गयवसह० गाहा, तं एएसिं सामी उरालाणं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं के मन्ने-कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ॥५०॥ तए णं से सिद्धत्थे राया तिसलाए खत्तिआणीए अंतिए एयमट्ठं सुच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ-०जाव हियए धाराहयनीवसुरभिकुसुमचंचुमालइयरोमकूवे ते सुमिणे ओगिण्हइ, ओगिण्हित्ता ईहं अणुपविसइ, ईहं अणुपविसित्ता अप्पणो साहाविएणं मइपुव्वएणं बुद्धिविन्नाणेणं तेसिं सुमिणाणं अत्थुग्गहं करेइ करित्ता तिसलं खत्तिआणिं ताहिं इट्ठाहिं ०जाव मंगल्लाहिं सस्सिरीयाहिं वग्गूहिं संलवमाणे संलवमाणे एवं वयासी-॥५१॥ उराला णं तु मे देवाणुप्पिए! सुमिणा दिट्ठा, कल्लाणा णं तुमे देवाणुप्पिए! सुमिणा दिट्ठा, एवं सिवा धन्ना मंगल्ला सस्सिरीया आरुग्गतुट्ठिदीहाउ-कल्लाण-मंगल्लकारगा णं तुमे देवाणुप्पिए! सु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिणा दिट्ठा, अत्थलाभो देवाणुप्पिए! भोगलाभो देवाणुप्पिए! पुत्तलाभो देवाणुप्पिए! सुक्खलाभो देवाणुप्पिए! रज्जलाभो देवाणुप्पिए! एवं खलु तुमे देवाणुप्पिए! नवएहं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं विइक्कंताणं अम्हं कुलकेउं अम्हं कुलदीवं कुलपव्वयं कुलवडिंसयं कुलतिलयं कुलकित्तिकरं कुलवित्तिकरं कुलदिणयरं कुलाऽऽधारं कुलनंदिकरं कुलजसकरं कुलपायवं कुलविवद्धणकरं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुन्नपंचिंदियसरीरं लक्खणवंजणगुणोववेयं माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगं ससिसोमागारं कंतं पियदंसणं सुरूवं दारयं पयाहिसि ॥ ५२ ॥

(११) वीरस्य यौवनावस्था—

से वि अ णं दारए उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमित्ते जुव्वणगमणुपत्ते सूरे वीरे विक्कंते वित्थिण्णविउलबलवाहणे रज्जवई राया भविस्सइ ॥५३॥ तं उराला णं० जाव सुमिणा दिट्ठा, दुच्चं पि तच्चं पि अणुवूहइ ॥ तए णं सा तिसला खत्तिआणी सिद्धत्थस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सुच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव–हियया करयलपरिग्गहिअं० जाव मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी–॥५४॥ एवमेयं सामी, तहमेयं सामी अवितहमेयं सामी, असंदिद्धमेयं सामी, इच्छियमेअं सामी, पडिच्छियमेअं सामी, इच्छिअपडिच्छियमेयं सामी, सच्चे णं एस अट्ठे से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु ते सुमिणे सम्मं पडिच्छइ पडिच्छित्ता सिद्धत्थेणं रन्ना अब्भणुन्नाया समाणी नाणामणिरयणभत्तिचित्ताओ, भद्दासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता अतुरियमचवलमसंभंताए अविलंबिआए रायहंससरिसीए गईए जेणेव सए सयणिज्जे, तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता, एवं वयासी–मा मे एए उत्तमा पहाणा मंगल्ला सुमिणा दिट्ठा अन्नेहिं पावसुमिणेहिं पडिहम्मिस्संति त्ति कट्टु देवयगुरुजणसंबद्धाहिं पसत्थाहिं मंगल्लाहिं धम्मियाहिं कहाहिं सुमिणजागरियं जागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ॥५६॥ तए णं सिद्धत्थे खत्तिए पच्चूसकालसमयंसि कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी–॥ ५७ ॥ खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ! अज्ज सविसेसं बाहिरिअं उवट्ठाणसालं गंधोदयसित्तं सुइसंमज्जिओवलित्तं सुगंधवरपंचवन्नपुप्फोवयारकलिअं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूअं करेह कारवेह, करित्ता कारवित्ता सीहासणं रयावेह रयावेहित्ता ममेयमाणत्तिअं खिप्पामेव पच्चप्पिणह ॥५८॥ तए णं कोडुंबिअपुरिसा सिद्धत्थेणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ०जाव–हियया, ०जाव अंजलिं कट्टु 'एवं सामि' त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति पडिसुणित्ता सिद्धत्थस्स खत्तियस्स अंतिआओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता खिप्पामेव सविसेसं बाहिरियं उवट्ठाणसालं गंधोदगसित्तं सुइं ०जाव–सीहासणं रयाविंति रयावित्ता जेणेव सिद्धत्थे खत्तिए तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता करयल ०जाव मत्थए अंजलिं कट्टु सिद्धत्थस्स खत्तिअस्स तमाणत्तिअं पच्चप्पिणंति ॥ ५९ तए णं सिद्धत्थे खत्तिए कल्लं पाउप्पभाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मीलियम्मि अहापंडुरे पभाए रत्तासोगप्पगासकिंसुअसुअमुहगुंजद्धरागबंधुजीवगपारावयचलणनयणपरहुअसुरत्तलोअणजासुअणकुसुमरासिहिंगुलनिअराइरेगरेहंतसरिसे कमलायरसंडविबोहए उट्ठिअम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेअसा जलंते, तस्स य करपहरापरद्धम्मि अंधयारे बालायवकुंकुमेणं खचिअव्व जीवलोए, सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ ॥ ६० ॥ अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता अट्टणसालं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता, अणेगवायामजोगवग्गणवामद्दणमल्लजुद्धकरणेहिं संते परिस्संते सयपागसहस्सपागेहिं सुगंधतिल्लमाइएहिं पीणणिज्जेहिं दीवणिज्जेहिं मयणिज्जेहिं विंहणिज्जेहिं दप्पणिज्जेहिं सव्विंदियगायपल्हायणिज्जेहिं अब्भंगिए समाणे तिल्लचम्मंसि निउणेहिं पडिपुन्नपाणिपायसुकुमालकोमलतलेहिं अब्भंगणपरिमद्दणुव्वलणकरणगुणनिम्माएहिं दक्खेहिं पट्ठेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं जिअपरिस्समेहिं पुरिसेहिं अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए सुहपरिकम्मणाए संवाहणाए संवाहिए समाणे अवगयपरिस्समे अट्टणसालाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता समत्तजालाकुलाभिरामे विचित्तमणिरयणकुट्टिमतले रमणिज्जे एहाणमंडवंसि नाणामणिरयणभत्तिचित्तंसि एहाणपीढंसि सुहनिसन्ने पुप्फोदएहि अ, गंधोदएहि अ, उण्होदएहि अ, सुद्धोदएहि अ, सुहोदएहि य कल्लाणकरणपवरमज्जणविहीए मज्जिए तत्थ कोउअसएहिं बहुविहेहिं कल्लाणगपवरमज्जणाऽवसाणे पम्हलसुकुमालगंधकासाइअलूहिअंगे अहयसुमहग्घदूसरयणसुसंवुडे–सरससुरहिगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते सुइमालावन्नगविलेवणे आविद्धमणिसुवन्ने कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तसुकयसोहे पिणद्धगेविज्जे अंगुलिज्जगललियकया–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भरणे वरकडगतुडिअथंभिअभुए अहिअरूवसस्सिरीए कुं- डलउज्जोइआणणे मउडदित्तसिरए हारुच्छियसुकयरइअ- वच्छे मुद्दिआपिंगलंगुलीए पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्त- रिज्जे नाणामणिकणगरयणविमलमहरिअनिउणोवचिअ- मिसिमिसितविरइअसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए किं बहुणा कप्परुक्खए विव अलंकिअविभूसिए नरिंदे, स- कोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेअवरचामराहिं उ- द्धुवमाणीहिं मंगलजयसद्दकयालोए अणेगगणनायगदंड- नायगराईसरतलवरमाडंबिअकोडुंबिअमंतिगणगदोवारिय- मच्चचेडपीढमद्दनगरनिगमसिट्ठिसेणावइसत्थवाहदूअसंधि- वालसद्धिं संपरिवुडे धवलमहामेहनिग्गए इव गहगणदिप्पं- तरिक्खतारागणाण मज्झे ससि व्व पिअदंसणे नरवई न- रिंदे नरवसहे नरसीहे अब्भहिअरायतेयलच्छीए दिप्प- माणे मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ, मज्जणघराओ पडिनि- क्खमित्ता जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला तेणेव उवाग- च्छइ उवागच्छित्ता सीहासणंसि पुरत्थाभिमुहे निसीअइ निसीइत्ता, अप्पणो उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए अट्ठभद्दा- सणाइं सेअवत्थपच्चुत्थयाइं सिद्धत्थकयमंगलोवयाराइं र- यावेइ, रयावेत्ता अप्पणो अदूरसामंते नाणामणिरयणमं- डिअं अहिअपिच्छणिज्जं महग्घवरपट्टणुग्गयं सण्हपट्टभ- त्तिसयचित्ताणं ईहामिअउसभतुरगनरमगरविहगवालग— किंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं अभिं तरिअं जवणिअं अंछावेइ, अंछावित्ता नाणामणिरयणभ- त्तिचित्तं अत्थरयमिउमसूरगो(च्छ)त्थयं सेअवत्थपच्चुत्थयं सुमउअं अंगसुहफरिसगं विसिट्ठं तिसलाए खत्तिआणीए भद्दासणं रयावेइ, रयावित्ता कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ, स- द्दावेत्ता एवं वयासी-॥६४॥ खिप्पामेव भो देवाणुप्पि- आ! अट्ठंगमहानिमित्तसुत्तत्थधारए-विविहसत्थकुसले सु- विणलक्खणपाढए सद्दावेह ॥ तए णं ते कोडुंबिअपुरिसा सिद्धत्थेणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा, हट्ठ-तुट्ठ० जावहि- यया करयल ०जाव पडिसुणंति ॥६५॥ तए णं० पडिसु- णित्ता सिद्धत्थस्स खत्तिअस्स अंतिआओ पडिनिक्खमंति पडिनिक्खमित्ता कुंडग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सुविणलक्खणपाढगाणं गेहाइं तेणेव उवागच्छंति, उ- वागच्छित्ता, सुविणलक्खणपाढए सद्दाविंति ॥ ६६ ॥ तए णं ते सुविणलक्खणपाढगा सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कोडुंबिअपुरिसेहिं सद्दाविआ समाणा हट्ठ-तुट्ठ०जाव- हियया एहाया कयवलिकम्मा कयकोउअमंगलपायच्छि- त्ता सुद्धप्पवेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवराइं परिहिआ अ- प्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा सिद्धत्थयहरिआलिआ क-

यमंगलमुद्धाणा सएहिं सएहिं गेहेहिंतो निग्गच्छंति, नि- ग्गच्छित्ता, खत्तियकुंडग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सिद्धत्थस्स रन्नो भवणवरवडिंसगपडिदुवारे तेणेव उवाग- च्छंति, उवागच्छित्ता भवणवरवडिंसगपडिदुवारे एगओ मिलंति मिलित्ता जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला, जेणेव सिद्धत्थे खत्तिए, तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता करयल ०जाव अंजलिं कट्टु, सिद्धत्थं खत्तिअं जएणं वि- जएणं वद्धाविंति ॥ ६७ ॥ कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

तए णं ते सुविणलक्खणपाढगा सिद्धत्थेणं रन्ना वं- दियपूइअसक्कारिअसम्माणिआ समाणा पत्तेअं पत्तेअं पु- व्वनत्थेसु भद्दासणेसु निसीयंति ॥ ६८ ॥ तए णं सि- द्धत्थे खत्तिए तिसलं खत्तियाणिं जवणिअंतरियं ठावेइ ठावित्ता पुप्फफलपडिपुन्नहत्थे परेणं विणएणं ते सुवि- णलक्खणपाढए एवं वयासी-॥ ६९ ॥ एवं खलु देवा णुप्पिआ! अज्ज तिसला खत्तियाणी तंसि तारिसगंसि० जाव सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी इमे एयारूवे चउद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा ॥ ७० ॥ तं जहा-'गयवसह०' गाहा—तं एएसिं चउद्दसण्हं महासु- मिणाणं देवाणुप्पिआ! उराला णं के मन्ने कल्लाणं फलवित्तिविसेसे भविस्सइ ॥ ७१ ॥ तए णं ते सुमिणलक्खणपाढगा सिद्धत्थस्स खत्तियस्स अंतिए एयमट्ठं सुचा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियया, ते सुमिणे सम्मं ओगिण्हंति ओगिण्हित्ता ईहं अणुपविसंति अणु- पविसित्ता अन्नमन्नेणं सद्धिं संचालिंति संचालित्ता तेसिं सुमिणाणं लद्धऽट्ठा गहिअऽट्ठा पुच्छियऽट्ठा विणिच्छियऽट्ठा सिद्धत्थस्स रन्नो पुरओ सुमिणसत्थाइं, उच्चारेमाणा उच्चारेमाणा सिद्धत्थं खत्तियं एवं वयासी-॥ ७२ ॥

'तए णं ते सुविणलक्खणपाढगा' ततस्ते स्वप्नलक्षणपाठकाः 'सिद्धत्थेणं रन्ना वंदिअ' सिद्धार्थेन राज्ञा वन्दिताः गुण- स्तुतिकरणेन 'पूइअ' पूजिताः पुष्पादिभिः 'सक्कारिअ' सत्कारिताः फलवस्त्रादिदानेन 'सम्माणिआ समाणा' स- म्मानिताः अभ्युत्थानादिभिः, एवंविधाः सन्तः 'पत्तेयं प- त्तेयं पुव्वनत्थेसु भद्दासणेसु 'निसीअंति' प्रत्येकं प्रत्येकं पूर्वन्यस्तेषु भद्रासनेषु निषीदन्ति ॥ ६८ ॥ 'तए णं सिद्ध- त्थे खत्तिए ततः सिद्धार्थः क्षत्रियः 'तिसलं खत्तिआणिं' त्रिशलां क्षत्रियाणीं 'जवणिअंतरियं ठावेइ' यवनिकान्त- रितां स्थापयति 'ठावित्ता' स्थापयित्वा 'पुप्फफलपडिपुन्न- हत्थे' पुष्पैः प्रतीतैः फलैर्नालिकेरादिभिः प्रतिपूर्णौ हस्तौ यस्य स तथा, यतः—" रिक्तपाणिर्न पश्येच्च, राजानं दैवतं गुरुम् ॥ निमित्तज्ञं विशेषेण, फलेन फलमादिशेत् ॥ १ ॥ " ततः पुष्पफलप्रतिपूर्णहस्तः सन् 'परेणं विणए- णं' उत्कृष्टेन विनयेन 'ते सुविणलक्खणपाढए' तान् स्वप्न- लक्षणपाठकान् 'एवं वयासी' एवमवादीत् ॥ ६९ ॥ कि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मित्याह—'एवं खलु देवाणुप्पिआ !' एवं निश्चयेन भो देवानुप्रियाः ! 'अज्ज तिसला खत्तिआणी' अद्य त्रिसला क्षत्रियाणी 'तंसि तारिसगंसि' तस्मिन् तादृशे शयनीये 'जाव सुत्तजागरा ओहीरमाणी' २ यावत् सुप्तजागरा अल्पनिद्रां कुर्वती 'इमे एयारूवे' इमान् एतद्रूपान् 'उराले चउद्दस महासुमिणे' प्रशस्तान् चतुर्दश महास्वप्नान् 'पासित्ता णं पडिबुद्धा' दृष्ट्वा जागरिता ॥ ७० ॥ 'तं जहा' तद्यथा 'गयवसह० गाहा' 'गयवसह' इति गाथा चात्र वाच्या, 'तं एएसिं' तस्मात् एतेषां 'चउद्दसण्हं महासुमिणाणं' चतुर्दशानां महास्वप्नानां 'देवाणुप्पिया' हेदेवानुप्रियाः ! 'उरालाणं' प्रशस्तानां 'के मन्ने' कः विचारयामि 'कल्लाणे' कल्याणकारी फलवित्तिविसेसे भविस्सइ' फलवृत्तिविशेषः भविष्यति ॥ ७१ ॥ 'तए णं ते सुमिणलक्खणपाढगा' ततस्ते स्वप्नलक्षणपाठकाः 'सिद्धत्थस्स खत्तियस्स' सिद्धार्थस्य क्षत्रियस्य 'अंतिए एयमट्ठं सुच्चा' पार्श्वे एनमर्थं श्रुत्वा 'निसम्म' निशम्य च 'हट्ठतुट्ठ० जाव हिअया' हृष्टाः तुष्टाः यावत् हर्षपूर्णहृदयाः 'ते सुमिणे सम्मं ओगिण्हंति' तान् स्वप्नान् सम्यग् हृदि धरन्ति 'ओगिण्हित्ता' हृदि धृत्वा 'ईहं अणुपविसंति' अर्थविचारणाम् अनुप्रविशन्ति 'अणुपविसित्ता' अनुप्रविश्य च 'अन्नमन्नेणं सद्धिं संचालिंति' अन्योऽन्येन परस्परेण सह सञ्चालयन्ति—संवादयन्ति; पर्यालोचयन्तीत्यर्थः, 'संचालित्ता' सञ्चाल्य च 'तेसिं सुमिणाणं' तेषां स्वप्नानां 'लद्धट्ठा' लब्धोऽर्थो यैस्ते लब्धार्थाः, स्वबुद्ध्यावगतार्थाः 'गहियट्ठा' परस्परतो गृहीतार्थाः 'पुच्छियट्ठा' संशये सति परस्परं पृष्टार्थाः, तत एव 'विणिच्छियट्ठा' विनिश्चितार्थाः, अत एव 'अहिगयट्ठा' अभिगतार्थाः अवधारितार्थाः सन्तः 'सिद्धत्थस्स रन्नो पुरओ' सिद्धार्थस्य राज्ञः पुरतः 'सुमिणसत्थाइं उच्चारेमाणा उच्चारेमाणा' स्वप्नशास्त्राण्युच्चारयन्तः 'सिद्धत्थं खत्तियं' सिद्धार्थं क्षत्रियम् 'एवं वयासी' एवमावादिषुः ।

(१२) स्वप्नसंख्या—

एवं खलु देवाणुप्पिया !, अम्हं सुमिणसत्थे बायालीसं सुमिणा, तीसं महासुमिणा, बावत्तरिं सव्वसुमिणा दिट्ठा, तत्थ णं देवाणुप्पिया ! अरहंतमायरो वा चक्कवट्टिमायरो वा अरहंतंसि वा चक्कहरंसि वा गब्भं वक्कमाणंसि वा, एएसिं तीसाए महासुमिणाणं, इमे चउद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति, तं जहा–गयवसह०गाहा ॥७३॥ वासुदेवमायरो वा वासुदेवंसि गब्भं वक्कमाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं, अन्नयरे सत्त महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥ ७४ ॥ बलदेवमायरो वा बलदेवंसि गब्भं वक्कमाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं अन्नयरे चत्तारि, महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥ ७५ ॥ मंडलियमायरो वा मंडलियंसि गब्भं वक्कमाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं अन्नयरं एगं महासुमिणं पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥ ७६ ॥

इमे य णं देवाणुप्पिआ ! तिसलाए खत्तिआणीए चउद्दस महासुमिणा दिट्ठा, तं उराला णं देवाणुप्पिआ ! तिसलाए खत्तिआणीए सुमिणा दिट्ठा, ०जाव मंगल्लकारगा णं देवाणुप्पिआ ! तिसलाए खत्तिआणीए सुमिणा दिट्ठा, तं अत्थलाभो देवाणुप्पिआ, भोगलाभो देवाणुप्पिआ पुत्तलाभो देवाणुप्पिआ, सुक्खलाभो देवाणुप्पिया ! रज्जलाभो देवाणुप्पिआ ! एवं खलु देवाणुप्पिआ ! तिसला खत्तिआणी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाणं, राइंदिआणं विइक्कंताणं, तुम्हं कुलकेउं कुलदीवं कुलवडिंसयं कुलपव्वयं कुलतिलयं कुलकित्तिकरं कुलवित्तिकरं कुलदिणयरं कुलऽऽधारं कुलजसकरं कुलपायवं कुलतंतुसंताणविवद्धणकरं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुन्नपंचिंदियसरीरं लक्खणवंजणगुणोववेयं माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगं ससिसोमागारं कंतं पियदंसणं सुरूवं दारयं पयाहिसि ॥ ७७ ॥ से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुपत्ते, सूरे वीरे विक्कंते विच्छिन्नविपुलबलवाहणे चाउरंतचक्कवट्टी रज्जवई राया भविस्सइ, जिणे वा तिलुकनायगे धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी ॥७८॥ तं उराला णं तुम्हे देवाणुप्पिआ, तिसलाए खत्तिआणीए सुमिणा दिट्ठा० जाव मंगल्लकारगा णं देवाणुप्पिआ ! तिसलाए खत्तिआणीए सुमिणा दिट्ठा ॥ ७९ ॥ तए णं सिद्धत्थे राया तेसिं सुमिणलक्खणपाढगाणं अंतिए एयमट्ठं सुच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हिअए करयल ०जाव ते सुमिणलक्खणपाढए एवं वयासी–॥ ८० ॥ एवमेअं देवाणुप्पिआ ! तहमेयं देवाणुप्पिआ ! अवितहमेयं देवाणुप्पिया ! इच्छियमेअं देवाणुप्पिआ ! पडिच्छियमेअं देवाणुप्पिआ ! इच्छियपडिच्छियमेयं देवाणुप्पिआ ! सच्चे णं एस अट्ठे से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु, ते सुमिणे सम्मं पडिच्छइ पडिच्छित्ता ते सुमिणलक्खणपाढए विउलेणं असणेणं पाणेणं खाइमेणं साइमेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेइ सम्माणेइ सक्कारित्ता सम्माणित्ता विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइ, विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलित्ता पडिविसज्जेइ ॥८१॥ तए णं सिद्धत्थे खत्तिए सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता जेणेव तिसला खत्तिआणी जवणिअंतरिआ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिसलं खत्तियाणिं एवं वयासी–॥ ८२ ॥ एवं खलु देवाणुप्पिए ! सुमिणसत्थंसि बायालीसं सुमिणा तीसं महासुमिणा० जाव एगं महासुमिणं पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥८३॥ इमे य णं तुमे देवाणुप्पिए ! चउद्दस महासुमिणा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिट्ठा। तं उराला णं तुमे ०जाव-जिणे वा तेलुक्कनाथगे धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी ॥ ८५ ॥ तए णं सा तिसला खत्तिआणी, एअमट्ठं सुच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हियया, करयल ०जाव ते सुमिणे सम्मं पडिच्छइ ॥८६॥ पडिच्छित्ता सिद्धत्थेणं रन्ना अब्भणुन्नाया समाणी, नाणामणिरयणभत्तिचित्ताओ भद्दासणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता अतुरिअं अचवलं ०जाव रायहंससरिसीए गईए, जेणेव सए भवणे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता सयं भवणं अणुप्पविट्ठा ॥ ८७ ॥

'इमे य णमि' त्यादि 'तो पयाहिसि' त्ति पर्यन्तं तत्र इमे च देवानुप्रिय! त्रिशलया क्षत्रियाण्या चतुर्दश महास्वप्ना दृष्टास्ततो महास्वप्नत्वात् महाफलत्वं दर्शयति—'तं जहे' त्यादि तद्यथा—अर्थलाभो देवानुप्रिय! इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७७ ॥ 'से वि अ णमि' त्यादितः 'चक्कवट्टि त्ति' यावत् तत्र सोऽपि च दारकः उन्मुक्तबालभावो यौवनावस्थामनुप्राप्तो राज्यपती राजा चक्रवर्त्ती भविष्यति जिनो वा त्रैलोक्यनायको धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्त्ती तत्र जिनत्वे चतुर्दशानामपि स्वप्नानां पृथक् फलानि इमानि—चतुर्दन्तहस्तिदर्शनाच्चतुर्द्धा धर्मं कथयिष्यति १, वृषभदर्शनाद्भरतक्षेत्रे बोधिबीजं च वप्स्यति २, सिंहदर्शनान्मदनादिदुर्गजभज्यमानं भव्यवनं रक्षिष्यति ३, लक्ष्मीदर्शनाद्वार्षिकदानं दत्त्वा तीर्थंकरलक्ष्मीं भोक्ष्यते ४, दामदर्शनात्त्रिभुवनस्य मस्तकधार्यो भविष्यति ५, चन्द्रदर्शनात् कुवलये मुदं दास्यति ६, सूर्यदर्शनाद्भामण्डलभूषितो भविष्यति ७, ध्वजदर्शनाद्धर्मध्वजभूषितो भविष्यति ८, कलशदर्शनाद्धर्मप्रासादशिखरे स्थास्यति ९, पद्मसरोदर्शनात्सुरसंचारितकमलस्थापितचरणो भविष्यति १०, रत्नाकरदर्शनात्केवलरत्नस्थानं भविष्यति ११, विमानदर्शनाद्वैमानिकानामपि पूज्यो भविष्यति १२, रत्नराशिदर्शनाद्रत्नप्राकारभूषितो भविष्यति १३, निर्धूमाग्निदर्शनात् भव्यकनकशुद्धिकारी भविष्यति १४, चतुर्दशानामपि समुदितफलं तु चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकाग्रस्थायी भविष्यति ॥७९॥ 'तं उराला णमि' त्यादितः 'सुविणा दिट्ठे' त्ति यावत् प्राग्वत् ॥ ८० ॥ 'तए णं' इत्यादितः 'एवं वयासी' ति यावत् प्राग्वत् ॥ ८१ ॥ 'एवमेयं' इत्यादितः 'पडिविसज्जे' इति यावत् तत्र 'ते सुविणलक्खणपाढए' इत्यादि तान् स्वप्नलक्षणपाठकान् विपुलेन अशनेन शाल्यादिना पुष्पैः अग्रथितैर्जात्यादिपुष्पैः वस्त्रैः प्रतीतैर्गन्धैर्वासचूर्णैः माल्यैर्ग्रथितपुष्पैः अलंकारैर्मुकुटादिभिः सत्कारयति सन्मानयति च विनयवचनप्रतिपत्त्या विपुलं जीविकार्हम् आजन्मनिर्वाहयोग्यं प्रीतिदानं ददाति प्रीतिदानं दत्त्वा च प्रतिविसर्जयति ॥८२॥ 'तए णमि' त्यादितः 'एवं वयासी' ति यावत् प्राग्वत् ॥ ८३ ॥ 'एवं खलि' त्यादितो 'बुज्झंती' ति यावत् पूर्ववत् ॥ ८४ ॥ 'इमे य ण मि' त्यादितः 'चक्कवट्टी' ति यावत् प्राग्वत् ॥ ८५ ॥ 'तए णं से इत्यादितः 'पडिच्छइ' त्ति यावत् प्राग्वत् ॥ ८६ ॥ 'पडिच्छित्ते' त्यादितः 'अणुपविसि' त्ति यावत् प्राग्वत् ॥ ८७ ॥

(१३) यत्प्रभृति वीरः सिद्धार्थगृहे संहृतः तत्प्रभृति शक्रवचनेन जृम्भकदेवैः रत्नधनसंचय आनीतः–सिद्धार्थगृहे—

जप्पभिइं च णं समणे भगवं महावीरे तंसि रायकुलंसि साहरिए, तप्पभिइं च णं बहवे वेसमणकुंडधारिणो तिरियजंभगा देवा सक्कवयणेणं से जाइं इमाइं पुरा पोराणाइं महानिहाणाइं भवंति–तं जहा—पहीणसामिआइं पहीणसेउआइं पहीणगोत्तागाराइं उच्छिन्नसामिआइं, उच्छिन्नसेउआइं, उच्छिन्नगोत्तागाराइं, गामागरनगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंबाहसन्निवेसेसु, सिंघाडएसु वा, तिएसु वा, चच्चरेसु वा, चउम्मुहेसु वा, महापहेसु वा, गामट्ठाणेसु वा, नगरट्ठाणेसु वा, गामनिद्धमणेसु वा, नगरनिद्धमणेसु वा, आवणेसु वा, देवकुलेसु वा, सभासु वा, पवासु वा, आरामेसु वा, उज्जाणेसु वा, वणेसु वा, वणसंडेसु वा, सुसाणसुन्नागारगिरिकंदरसंतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु वा, सन्निक्खित्ताइं चिट्ठंति, ताइं सिद्धत्थरायभवणंसि साहरंति ॥ ८८ ॥

'जप्पभिइं च णं समणे' भगवं महावीरे यतः प्रभृति यस्माद्दिनादारभ्य श्रमणो भगवान् महावीरः 'तंसि रायकुलंसि साहरिए' तस्मिन् राजकुले संहृतः 'तप्पभिइं च णं' ततः प्रभृति, तस्माद्दिनादारभ्य 'बहवे वेसमणकुंडधारिणो' बहवः, वैश्रमणो–धनदः, तस्य कुण्डः–आयत्तता, तस्य धारिणः, अर्थात् वैश्रमणायत्ताः 'तिरियजंभगा देवा' तिर्यग्लोकवासिनो जृम्भकजातीयाः तिर्यग्जृम्भकाः उच्यन्ते, एवंविधाः देवाः 'सक्कवयणेणं' शक्रवचनेन शक्रेण वैश्रमणाय उक्तं, वैश्रमणेन तिर्यग्जृम्भकेभ्य इति भावः, 'से जाइं इमाइं' 'से' त्ति अथशब्दार्थे, अथ ते तिर्यग्जृम्भका देवाः यानि इमानि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि 'पुरा पोराणाइं' पुरा पूर्वं निक्षिप्तानि अत एव पुराणानि चिरन्तनानि 'महानिहाणाइं भवंति' महानिधानानि भवन्ति 'तं जहा' तद्यथा—तानि कीदृशानि? 'पहीणसामिआइं' प्रहीणस्वामिकानि; अल्पीभूतस्वामिकानीत्यर्थः, अत एव 'पहीणसेउआइं' प्रहीणसेक्तृकानि, सेक्ता हि उपरिधनक्षेप्ता, स तु स्वाम्येव भवति, पुनः किंविशिष्टानि 'पहीणगोत्तागाराइं' येषां महानिधानानां धनिकसम्बन्धीनि गोत्राणि अगाराणि च प्रहीणानि विरलीभूतानि भवन्ति तानि प्रहीणगोत्रागाराणि 'उच्छिन्नसामिआइं' उच्छिन्नः सर्वथा अभावं प्राप्तः स्वामी येषां तानि उच्छिन्नस्वामिकानि 'उच्छिन्नसेउआइं' उच्छिन्नसेक्तृकाणि 'उच्छिन्नगोत्तागाराइं' उच्छिन्नगोत्रागाराणि, अथ केषु केषु स्थानेषु तानि वर्त्तन्ते इत्याह—'गामागरनगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंबाहसंनिवेसेसु' ग्रामाः करवन्तः, आकराः लोहाद्युत्पत्तिभूमयः, नगराणि कररहितानि, खेटानि धूलिप्राकारोपेतानि, कर्बटानि कुनगराणि मडम्बानि सर्वतोऽर्धयोजनात्परतोऽवस्थितग्रामाणि, द्रोणमुखानि यत्र जलस्थलपथावुभावपि भवतः, पत्तनानि जलस्थलमार्गयो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रन्यतरेण मार्गेण युक्तानि, आश्रमास्तीर्थस्थानानि तापसस्थानानि वा, संबाहाः समभूमौ कृषिं कृत्वा कृषीवला यत्र धान्यं रक्षार्थं स्थापयन्ति, सन्निवेशा सार्थकटकादीनामुत्तरणस्थानानि, एतेषां द्वन्द्वः, तेषु तथा 'सिंघाडएसु वा' शृङ्गाटकेषु शृङ्गाटकफलाकारस्थानेषु वा 'तिएसु वा' त्रिकेषु, मार्गत्रयमिलनस्थानेषु वा 'चच्चरेसु वा' चत्वरेषु, बहुमार्गमिलनस्थानेषु वा 'चउम्मुहेसु वा' चतुर्मुखेषु देवकुलच्छत्रिकादिषु वा 'महापहेसु वा' महापथेषु राजमार्गेषु वा, तथा 'गामट्ठाणेसु वा' ग्रामस्थानानि उद्वसग्रामस्थानानि तेषु वा 'नगरट्ठाणेसु वा' उद्वसनगरस्थानानि तेषु वा 'गामनिद्धमणेसु वा' ग्रामसम्बधीनि निर्धमनानि जलनिर्गमाः 'खाल' इति प्रसिद्धास्तेषु 'नगरनिद्धमणेसु वा' एवं नगरनिर्धमनेषु वा 'आवणेसु वा' आपणा हट्टास्तेषु 'देवकुलेसु वा' देवकुलानि यक्षाद्यायतनानि तेषु 'सभासु वा' सभासु जनोपवेशनस्थानेषु 'पवासु वा' प्रपासु पानीयशालासु 'आरामेसु' आरामेषु कदल्याद्याच्छादितेषु स्त्रीपुंसयोः क्रीडास्थानेषु 'उज्जाणेसु वा' उद्यानेषु पुष्पफलोपेतवृक्षशोभितेषु बहुजनभोग्येषु उद्यानिकास्थानेषु इत्यर्थः 'वणेसु वा' वनेषु एकजातीयवृक्षसमुदायेषु 'वणसंडेसु वा' वनखण्डेषु अनेकजातीयोत्तमवृक्षसमुदायेषु 'सुसाणसुन्नागारगिरिकंदर' 'स्मशानं' शून्यागारं शून्यगृहं, गिरिकन्दरा प्रतीता पर्वतगुहेत्यर्थः 'संतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु वा' तत्र गृहशब्दः प्रत्येकं योज्यः, शान्तिगृहाः शान्तिकर्मस्थानानि, शैलगृहाः पर्वतगृहाः; पर्वतमुत्कीर्य कृतगृहा इत्यर्थः। उपस्थानगृहाः आस्थानसभाः, भवनगृहाः कुटुम्बिवसनस्थानानि, ततः श्मशानादीनां द्वन्द्वः, अथ एतेषु ग्रामादिषु शृङ्गाटकादिषु च यानि महानिधानानि 'संनिक्खित्ताइं चिट्ठंति' पूर्वं कृपणपुरुषैः संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, 'ताइं सिद्धत्थरायभवणंसि साहरंति' तानि तिर्यक्जृम्भका देवाः सिद्धार्थराजभवने संहरन्ति-मुञ्चन्तीति योजना ॥ ८८ ॥

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे नायकुलंसि साहरिए, तं रयणिं च णं ते नायकुलं हिरन्नेणं वड्ढित्था सुवन्नेणं वड्ढित्था धणेणं धन्नेणं रज्जेणं रट्ठेणं बलेणं वाहणेणं कोसेणं कोट्ठागारेणं पुरेणं अंतेउरेणं जणवएणं जसवाएणं वड्ढित्था विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइएणं संतसारसावइज्जेणं पीइसक्कारसमुदएणं अईव अईव अभिवड्ढित्था॥ तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापिऊणं अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था ॥ ८९ ॥ जप्पभिइं च णं अम्हे एस दारए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते तप्पभिइं च णं अम्हे हिरण्णेणं वड्ढामो, सुवन्नेणं, धणेणं धन्नेणं० जाव संतसारसावइज्जेणं पीइसक्कारेणं अईव अईव वड्ढामो जया णं अम्हे एस दारए जाए भविस्सइ तया णं अम्हे एयस्स दारयस्स एयाणुरूवं गुणं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करिस्सामो "वद्धमाणु" त्ति ॥ ९० ॥

'जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे' तत्र णमिति वाक्यालङ्कारे यस्यां रात्रौ श्रमणो भगवान् महावीरः 'नायकुलंसि साहरिए' ज्ञातकुले संहृतः, 'तं रयणिं च णं तं नायकुलं' तस्यां रात्रौ, ततः प्रभृति इत्यर्थः, तत् ज्ञातकुलं 'हिरण्णेणं वड्ढित्था' हिरण्येन रूप्येन अघटितसुवर्णेन वा अवर्द्धत, 'सुवण्णेणं वड्ढित्था' सुवर्णेन प्रतीतेन अवर्धत, 'एवं धणेणं' धनेन (कल्प०) 'धण्णेणं' धान्येन (कल्प०) 'रज्जेणं' राज्येन सप्ताङ्गेन 'रट्ठेणं' राष्ट्रेण देशेन 'बलेणं' बलं चतुरङ्गसैन्यं तेन 'वाहणेणं' वाहनेन औष्ट्रप्रमुखेन 'कोसेणं' कोशेन भाण्डागारेण 'कोट्ठागारेणं' कोष्ठागारेण धान्यगृहेण 'पुरेणं' नगरेण 'अंतेउरेणं' अन्तःपुरेण प्रतीतेन 'जणवएणं' जानपदेन देशवासिलोकेन 'जसवाएणं वड्ढित्था' यशोवादेन साधुवादेन च अवर्धत 'विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइएणं' विपुलं—विस्तीर्णं धनं गवादिकं, कनकं घटिताघटितप्रकाराभ्यां द्विविधं, रत्नानि कर्केतनादीनि, मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः मौक्तिकानि प्रतीतानि शङ्खा दक्षिणावर्त्ता, शिला राजपट्टादिकाः, प्रवालानि विद्रुमाणि, रक्तरत्नानि पद्मरागादीनि, आदिशब्दाद्वस्त्रकम्बलादिपरिग्रहस्तेन तथा 'संतसारसावइज्जेणं' सत्—विद्यमानं नत्विन्द्रजालादिवत्स्वरूपतोऽविद्यमानम्, एवंविधं यत् सारस्वापतेयं-प्रधानद्रव्यं, तेन तथा 'पीइसक्कारसमुदएणं' प्रीतिर्मानसी तुष्टिः, सत्कारो—वस्त्रादिभिः स्वजनकृता भक्तिस्तत्समुदयेन तद् ज्ञातकुलम् 'अईव अईव अभिवड्ढित्था' अतीव अतीव अभ्यवर्द्धत 'तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स' ततः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'अम्मापिऊणं' मातापित्रोः 'अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था' अयमेतद्रूपः आत्मविषयः, यावत् संकल्पः समुदपद्यत, ॥ ८९ ॥ कोऽसौ इत्याह—'जप्पभिइं च णं' यतः प्रभृति 'अम्हं एस दारए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते' अस्माकम् एष दारकः कुक्षौ गर्भतया उत्पन्नः 'तप्पभिइं च णं' ततः प्रभृति 'अम्हे हिरण्णेणं वड्ढामो' वयं हिरण्येन वर्धामहे 'सुवण्णेणं वड्ढामो' सुवर्णेन वर्धामहे 'धणेणं धन्नेणं ०जाव संतसारसावइज्जेणं' धनेन धान्येन यावत् विद्यमानसारस्वापतेयेन 'पीइसक्कारेणं अईव अईव अभिवड्ढामो' प्रीतिसत्कारेण च अतीव अतीव अभिवर्धामहे, 'जया णं अम्हं एस दारए जाए भविस्सइ' 'तस्माद्' यदा अस्माकमेष दारकः जातो भविष्यति 'तया णं अम्हे एयस्स दारयस्स' तदा वयमेतस्य दारकस्य, 'एयाणुरूवं' एतदनुरूपं-धनादिवृद्धेरनुरूपम् अत एव 'गुणं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करिस्सामो' गुणेभ्य आगतं तत एव गुणनिष्पन्नं नामधेयं करिष्यामः, किं तदित्याह—'वद्धमाणु' त्ति, वर्धमान इति ॥ ९० ॥

तए णं समणे भगवं महावीरे माउअणुकंपणट्ठाए निच्चले निप्फंदे निरेयणे, अल्लीणपल्लीणगुत्ते आऽवि होत्था ॥ ९१ ॥ तए णं से तिसलाए खत्तिआणीए अयमेयारूवे० जाव संकप्पे णं समुप्पज्जित्था हडे मे से गब्भे, मडे मे से गब्भे, चुए मे से गब्भे, गलिए मे से गब्भे एस मे गब्भे, पुव्विं एयइ, इयाणिं नो एयइ त्ति कट्टु, ओहय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मणसंकप्पा चिंतासोगसागरं पविट्ठा, करयलपल्हत्थमुही, अट्टज्झाणोवगया भूमीगयदिट्ठिया झियाअइ ॥ तं पि य सिद्धत्थरायवरभवणं उवरयमुइंगतंतीतलतालनाडइज्जजणमणुएणं दीणविमणं विहरइ ॥ ९२ ॥ तए णं से समणे भगवं महावीरे माऊ अ अयमेयारूवे अब्भत्थिअं मणोगयं संकप्पं समुप्पन्नं वियाणित्ता एगदेसेणं एयइ ॥ तए णं सा तिसला खत्तिआणी हट्ठ-तुट्ठ० जाव हियया एवं वयासी ॥ ९३ ॥ नो खलु मे गब्भे हडे० जाव नो गलिए एस मे गब्भे पुव्विं नो एयइ-इयाणिं एयइ त्ति कट्टु हट्ठतुट्ठ० जाव हियया एवं विहरइ ॥९४॥

'तए णं समणे भगवं महावीरे' ततः श्रमणो भगवान् महावीरः 'माउअणुकंपणट्ठाए' मयि परिस्पन्दमाने मातुः कष्टं मा भूदिति मातुः अनुकम्पनार्थं-मातुर्भक्त्यर्थम् अन्येनापि मातुर्भक्तिरेवं कर्त्तव्या इति दर्शनार्थं च, 'निचले' निश्चलः 'निप्फंदे' निष्पन्दः किंचिदपि चलनाऽभावात् 'अत एव' 'निरेयणे' निरेजनो निष्कम्पः 'अल्लीणे' आ ईषल्लीनः अङ्गगोपनात् 'पल्लीणे' प्रकर्षेण लीनः 'उपाङ्गगोपनात्' अत एव 'गुत्ते याऽवि होत्था' गुप्तः ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः, 'वाऽपि' त्ति विशेषणसमुच्चये अभवत्, अत्र कविः—
"एकान्ते किमु मोहराजविजये मन्त्रं प्रकुर्वन्निव, ध्यानं किंञ्चिदगोचरं विरचयत्येकः परब्रह्मणे ॥ किं कल्याणरसं प्रसाधयति वा देवो विलुप्यात्मकं, रूपं कामविनिग्रहाय जननीकुक्षावसौ वः श्रिये ॥ १ ॥" ॥ ९१ ॥ 'तए णं से तिसलाए खत्तियाणीए' ततो भगवतो निश्चलावस्थानन्तरं तस्यास्त्रिशलाक्षत्रियाएयाः 'अयंमयारूवे ० जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था' अयमेतद्रूपः यावत् अध्यवसायः समुत्पन्नः, कोऽसौ इत्याह—'हडे मे से गब्भे' हृतः मे स गर्भः 'मडे मे से गब्भे' अथवा—स मे गर्भः मृतः 'चुए मे से गब्भे' अथवा स मे गर्भः किं च्युतो, गर्भस्वभावात् परिभ्रष्टः 'गलिए मे से गब्भे' अथवा स मे गर्भः किं गलितः—द्रवीभूय क्षरितः, यस्मात्कारणात् 'एस मे गब्भे पुव्विं एयइ' एष मे गर्भः पूर्वमेजते, पूर्वं कम्पमानोऽभूत् 'इयाणिं नो एयइ त्ति कट्टु' इदानीं नैजते न कम्पते, इति कृत्वा इति हेतोः 'ओहयमणसंकप्पा' उपहतः कलुषीभूतो मनःसंकल्पो यस्याः सा तथा 'चिंतासोगसागरं पविट्ठा' चिन्ता गर्भहरणादिविकल्पसम्भवा आर्तिस्तया यः शोकः स एव सागरः समुद्रस्तत्र प्रविष्टा बुडिता, अत एव 'करयलपल्हत्थमुही' करतले पर्यस्तं स्थापितं मुखं यया सा तथा 'अट्टज्झाणोवगया' आर्तध्यानोपगता 'भूमीगयदिट्ठिया झियाअइ' भूमिगतदृष्टिका ध्यायति, अथ सा त्रिशला तदानीं यद् ध्यायति, तल्लिख्यते—

"सत्यमिदं यदि भविता, मदीयगर्भस्य कथमपीह तदा।
निष्पुण्यकजीवाना—मवधिरिति ख्यातिमत्यभवम् ॥१॥
यद्वा चिन्तारत्नं, न हि नन्दति भाग्यहीनजनसदने॥
नापि च रत्ननिधानं, दरिद्रगृहसङ्गतीभवति ॥ २ ॥
कल्पतरुर्मरुभूमौ, न प्रादुर्भवति भूरयभाग्यवशात्॥
न हि निष्पुण्यपिपासित—नृणां पीयूषसामग्री ॥ ३ ॥

हा धिग् धिग् दैवं प्रति, किं चक्रे तेन सततवक्रेण।
यन्मम मनोरथतरु—मूलादुन्मूलितोऽनेन ॥ ४ ॥
आत्तं दत्त्वापि च मे, लोचनयुगलं कलङ्कविकलमलम्।
दत्त्वा पुनरुद्दालित—मधमेनानेन निधिरत्नम् ॥ ५ ॥
आरोप्य मेरुशिखरं, प्रपातिता पापिनाऽमुनाऽहमियम्।
परिवेष्याप्याकृष्टं, भोजनभाजनमलज्जेन ॥ ६ ॥
यद्वा मयाऽपराद्धं, भवान्तरेऽस्मिन् भवेऽपि किं धातः।
यस्मादेवं कुर्व—न्नुचिताऽनुचितं न चिन्तयसि ॥ ७ ॥
अथ किं कुर्वे क च वा, गच्छामि वदामि कस्य वा पुरतः।
दुर्दैवतेन दग्धा, जग्धा मुग्धाधमेन पुनः ॥ ८ ॥
किं राज्येनाप्यमुना, किं वा कृत्रिमसुखैर्विषयजन्यैः।
किं वा दुकूलशय्या-शयनोद्भवशर्महर्म्येण ॥ ९ ॥
गजवृषभादिस्वप्नैः, सूचितमुचितं शुचि त्रिजगदर्च्यम्।
त्रिभुवनजनासपत्नं, विना जनानन्दि सुतरत्नम् ॥ १० ॥
युग्मम्—
धिक् संसारमसारं, धिक् दुःखव्याप्तविषयसुखलेशान्।
मधुलिप्तखड्गधारा—लेहनतुलितानहो ललितान् ॥ ११ ॥
यद्वा मयका किंचित्, तथाविधं दुष्कृतं कर्म।
पूर्वभवे यदपिभिः, प्रोक्तमिदं धर्मशास्त्रेषु ॥ १२ ॥ (कल्प०)
(येः कर्मभिर्गर्भनाशो जायते तद् 'गब्भ' शब्दे तृतीयभागे ८३८ पृष्ठे गतम्।)

यतः—
कुरंडरंडत्तणदुब्भगाइं, वंझत्तनिंदुविसकन्नगाइं।
लहंति जम्मंतरभग्गसीला, नाऊण कुज्जा दढसीलभावं ॥२०॥
एवं चिन्ताक्रान्ता, ध्यायन्ती म्लानकमलसमवदना।
दृष्टा शिष्टेन सखी-जनेन तत्कारणं पृष्टा ॥ २१ ॥
प्रोवाच साश्रुलोचन-रचनानिःश्वासकलितवचनेन।
किं मन्दभागधेया, वदामि यज्जीवितं मेऽगात् ॥ २२ ॥
सख्यो जगुरथ रे सखि!, शान्तममङ्गलमशेषमन्यदिह।
गर्भस्य तेऽस्ति कुशलं, न वेति वद कोविदे सत्यम् ॥२३॥
सा प्रोचे गर्भस्य च, कुशले किमकुशलमस्ति मे सख्यः।
इत्याद्युक्त्वा मूर्च्छा—मापन्ना पतति भूपीठे ॥ २४ ॥
शीतलवातप्रभृतिभि-रुपचारैर्बहुतरैः सखीभिः सा।
संप्रापितचैतन्यो--त्तिष्ठति विलपति च पुनरेवम् ॥ २५ ॥
गरुए अणोरपारे, रयणनिहाणे अ सायरे पत्तो।
छिद्दघडो न भरिज्जइ, ता किं दोसो जलनिहिस्स ॥ २६ ॥
पत्ते वसन्तमासे, रिद्धिं पावन्ति सयलवणराई।
जं न करीरे पत्तं, ता किं दोसो वसंतस्स ॥ २७ ॥
उत्तुंगो सरलतरू, बहुफलभारेण नमिअसव्वंगो।
कुज्जो फलं न पावइ, ता किं दोसो तरुवरस्स ॥ २८ ॥
समीहितं यन्न लभामहे वयं,
प्रभो! न दोषस्तव कर्मणो मम।
दिवाप्युलूको यदि नावलोकते,
तदा स दोषः कथमंशुमालिनः ॥ २९ ॥
अथ मे मरणं शरणं, किं करणं विफलजीवितव्येन।
तत् श्रुत्वेति व्यलपत्, सख्यादिः सकलपरिवारः ॥ ३० ॥
हा किमुपस्थितमेतत्, ! निष्कारणवैरिविधिनियोगेन।
हा कुलदेव्यः क गताः, यदुदासीनाः स्थिता यूयम् ॥३१॥
अथ तत्र प्रत्यूहे, विचक्षणाः कारयन्ति कुलवृद्धाः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शान्तिकपौष्टिकमन्त्रो-पयाचितादीनि कृत्यानि ॥३२॥
पृच्छन्ति च दैवज्ञान्, निषेधयन्त्यपि च नाटकादीनि।
अतिगाढशब्दविरचित—वचनानि निवारयन्त्यपि च॥३३॥
राजाऽपि लोककलितः, शोकाकुलितोऽजनिष्ट शिष्टमतिः।
किं कर्त्तव्यविमूढाः, संजाता मन्त्रिणः सर्वे ॥ ३४ ॥"

अस्मिन्नवसरे च तत्सिद्धार्थराजभवनं यादृशं जातं, तत् सूत्रकृत् स्वयमाह—' तं पि य सिद्धत्थरायवरभवणं ' तदपि सिद्धार्थराजवरभवनम् ' उवयरमुइंगतंतीतलतालना-डइज्जजणमणुन्नं ' मृदङ्गो—मर्दलस्तन्त्री—वीणा, तलताला-हस्तताला:, यद्वा-तला-हस्ताः, तालाः-कंसिकाः नाटकीया नाटकहिता जनाः पात्राणीति भावः,एतेषां यत् मनोज्ञत्वं,तत् उपरतं-निवृत्तं यस्मिन्, एवंविधम्, अत एव 'दीणविमणं विहरइ' दीनं सत् विमनस्कं-व्यग्रचेतस्कं विहरतिआस्ते ॥ ६२ ॥ 'तए णं से समणे भगवं महावीरे' तं तथाविधं पूर्वोदितं व्यतिकरमवधिना अवधार्य भगवान् चिन्तयति—

" किं कुर्मः कस्य वा ब्रूमो, मोहस्य गतिरीदृशी।
दुषेर्धातोरिवास्माकं, दोषनिष्पत्तये गुणः॥ १ ॥
मया मातुः प्रमोदाय, कृतं जातं तु खेदकृत्।
भाविनः कलिकालस्य, सूचकं लक्षणं ह्यदः॥ २ ॥
पञ्चमारे गुणो यस्माद्, भावी दोषकरो नृणाम्।
नालिकेराम्भसि न्यस्तः, कर्पूरो मृतये यथा ॥ ३ ॥"

इत्येवं प्रकारेण स श्रमणो भगवान् महावीरो ' माऊअ अ-यमेयारूवे ' मातुरिममेतद्रूपम् ' अब्भत्थियं पत्थियं मणोग-यं ' आत्मविषयं प्रार्थितं मनोगतं ' संकप्पं समुप्पन्नं विजा-णित्ता ' संकल्पं समुत्पन्नं अवधिना विज्ञाय ' एगदेसेणं ए-यइ ' एकदेशेन अङ्गुल्यादिना एजते—कम्पते, ' तए णं सा तिसला खत्तिआणी ' ततः सा त्रिशला क्षत्रियाणी ' हट्ठ—तुट्ठ० जाव—हियया ' हृष्टतुष्टादिविशेषणविशिष्टा यावत्, हर्षपूर्णहृदया ' एवं वयासी ' एवमवादीत् ॥ ६३ ॥ अथ किमवादीदित्याह—' नो खलु मे गब्भे हडे ' नैव—निश्च-येन मे गर्भो हृतोऽस्ति ' जाव नो गलिए ' यावत् नैव गलि-तः ' एस मे गब्भे पुव्विं नो एयइ ' एष मे गर्भः पूर्वं न क-म्पमानोऽभूत्, ' इयाणिं एयइ त्ति कट्टु ' इदानीं कम्पते इ-ति कृत्वा ' हट्ठतुट्ठ० जाव हियया एवं विहरइ ' हृष्टा तु-ष्टा यावत् हर्षपूर्णहृदया, ईदृशी सती विहरति । अथ हर्षिता त्रिशला देवी यथाऽचेष्टत तथा लिख्यते—

" प्रोल्लसितनयनयुगला, स्मेरकपोला प्रफुल्लमुखकमला।
विज्ञातगर्भकुशला, रोमाञ्चितकञ्चुका त्रिशला ॥ १ ॥
प्रोवाच मधुरवाचा, गर्भे मे विद्यतेऽथ कल्याणम्।
हा धिक् मयकाऽनुचितं, चिन्तितमतिमोहमतिकतया ॥२॥
सन्त्यथ मम भाग्यानि, त्रिभुवनमान्या तथा च धन्याऽहम्।
श्लाघ्यं च जीवितं मे, कृतार्थतामाप मे जन्म ॥ ३ ॥
श्रीजिनपदाः प्रसेदुः, कृताः प्रसादाश्च गोत्रदेवीभिः।
जिनधर्मकल्पवृक्ष-स्त्वाजन्माराधितः फलितः ॥ ४ ॥
एवं सहर्षचित्तां, देवीमालोक्य वृद्धनारीणाम्।
जय जय नन्देत्याद्या-शिषः प्रवृत्ता मुखकजेभ्यः॥५॥
हर्षात् प्रवर्तितान्यथ, कुलनारीभिश्च ललितधवलानि।
उत्तम्भिताः पताका, मुक्तानां स्वस्तिका न्यस्ताः ॥ ६ ॥
आनन्दाऽद्वैतमयं, राजकुलं तद्बभूव सकलमपि।
आतोद्यगीतनृत्यैः सुरलोकसमं महाशोभम् ॥ ७ ॥
वर्धापनागताधन-कोटी गृह्णन् ददच्च धनकोटीः।
सुरतरुरिव सिद्धार्थः, संजातः परमहर्षभरः ॥ ८ ॥"

कल्प० १ अधि० ४ क्षण। (भगवान् वीरः गर्भस्य मासषट्के व्यतिक्रान्ते एतद्रूपमभिग्रहं गृह्णाति स्म—न मम कल्पते मातापितृषु जीवत्सु दीक्षा गृहीतुमिति ' अभिग्गह ' शब्दे प्रथमभागे ७१३ पृष्ठे उक्तम्।) (सुखेन त्रिशला गर्भं परिवहति रक्षति च इति ' गब्भ ' शब्दे तृतीयभागे ८३८ पृष्ठे उक्तम्।)

(१४) भगवतो वीरस्य जन्मकालः कुण्डली च—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जे से गिम्हाणं पढमे मासे, दुच्चे पक्खे चित्तसुद्धे तस्स णं चित्तसुद्धस्स तेरसीदिवसेणं, नवण्हं मासाणं बहुप-डिपुन्नाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं विइक्कंताणं उच्चट्ठा-णगएसु गहेसु, पढमे चंदजोगे, सोमासु दिसासु वितिमिरासु विसुद्धासु जइएसु सव्वसउणेसु, पयाहि-णाऽणुकूलंसि भूमिसप्पंसि मारुयंसि पवायंसि, निप्फ-न्नमेइणीयंसि कालंसि, पमुइयपक्कीलिएसु जणवएसु पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं चं-देणं जोगमुवागएणं आरोग्गारोग्गं दारयं पयाया ॥९६॥

' तेणं कालेणं ' तस्मिन् काले ' तेणं समएणं ' तस्मिन् समये ' समणे भगवं महावीरे ' श्रमणो भगवान् महावीरः ' जे से गिम्हाणं पढमे मासे ' योऽसौ उष्णकालस्य प्रथमो मासः ' दुच्चे पक्खे ' द्वितीयः पक्षः ' चित्तसुद्धे ' चैत्रमासस्य शुक्लपक्षः ' तस्स णं चित्तसुद्धस्स ' तस्य चैत्रशुद्धस्य ' तेर-सीदिवसेणं ' त्रयोदशीदिवसे ' नवण्हं मासाणं बहुपडिपु-न्नाणं ' नवसु मासेषु बहुप्रतिपूर्णेषु ' अद्धट्ठमाणं राइंदिआ-णं विइक्कंताणं ' अर्धाष्टमरात्रिन्दिवाधिकेषु सार्द्धसप्तदिवा-धिकेषु नवसु मासेषु व्यतिक्रान्तेषु, इति भावः, तदुक्तम्—

" दुण्हं वरमहिलाणं, गब्भे वसिऊण गब्भसुकुमालो।
नवमासे पडिपुण्णे, सत्त य दिवसे समइरंगे " ॥ १ ॥

इदं च गर्भस्थितिमानं न सर्वेषां तुल्यं, तथा चोक्तम्—

" दु १ चउत्थ २ नवम ३ बारस ४,
तेरस ५ पन्नरस ६ सेस १८ गब्भठिई।
मासा अडनवतदुवरि,
उसहाओ कमेणिमे दिवसा ॥ १ ॥
चउ १ पणवीसं २ छद्दिण ३,
अडवीसं ४ छच्च ५ छच्चि ६ गुणवीसं ७ ॥
सग ८ छव्वीसं ९ छ १० च्छ य ११,
वीसि १२ गवीसं १३ छ १४ छव्वीसं १५ ॥ २ ॥
छ १६ पण १७ अड १८ सत्त १९ ट्ठ य २०,
अड २१ ट्ठ य २२ छ २३ सत्त२४ होन्ति गब्भदिणा"॥३॥ इति।

सप्ततिशतस्थानके श्रीसोमतिलकसूरिकृते—" उच्चट्ठाण ग-एसु गहेसु" तदानीं गृहेषु उच्चस्थानस्थितेषु, ग्रहाणामुच्चत्वं चैवम्—" अर्काद्युच्चान्यज १ वृष २, मृग ३ कन्या ४ कर्क ५ मीन ६ वणिजोंऽ ७ शैः॥ दिग् १० दहना ३ ष्टाविंशति २८—तिथी १७ षु ५ नक्षत्र २७ विंशतिभिः ॥ १ ॥ अयं भावः—मेषादिराशिस्थाः सूर्यादय उच्चाः, तत्रापि दशा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीनंशान् यावत् परमोच्चाः, एषां फलं तु—" सुखी १ भोगी २ धनी ३ नेता ४, जायते मण्डलाधिपः ५ ॥ नृपति ५ श्चक्रवर्ती च ७, क्रमादुच्चग्रहे फलम् ॥ १ ॥ तिहिँ उच्चेहिँ नरिंदो, पञ्चहिँ तह होइ अद्धचक्की अ । छहिँ होइ चक्कवट्टी, सत्तहिँ तित्थङ्करो होइ ॥ २ ॥ " ' पढमे चंदजोए ' प्रथमे प्रधाने चन्द्रयोगे सति ' सोमासु दिसासु ' सौम्यासु रजोवृष्ट्यादिर्रहितासु दिक्षु वर्त्तमानासु, पुनः किंविशिष्टासु दिक्षु—' वितिमिरासु ' अन्धकाररहितासु, भगवज्जन्मसमये सर्वत्र उद्योतसद्भावात्, पुनः किंवि० ' विसुद्धासु' विशुद्धासु, दिग्दाहाद्यभावात्, 'जइएसु सव्वसउणेसु' सर्वेषु शकुनेषु काकोलूकदुर्गादिषु जयिकेषु जयकारकेषु सत्सु 'पयाहिणाणुकूलंसि' प्रदक्षिणे प्रदक्षिणावर्त्तत्वात्, अनुकूले शीतत्वात् सुखप्रदेशे ' भूमिसप्पंसि' मृदुत्वात् भूमिसर्पिणी, प्रचण्डो हि वायुः उच्चैः सर्पति, एवंविधे ' मारुअंसि ' मारुते-वायौ ' पवायंसि ' प्रवातुमारब्धे सति ' निप्फन्नमेइणीयंसि कालंसि ' निष्पन्ना, कोऽर्थः—निष्पन्नसर्वशस्या मेदिनी यत्र एवंविधे काले सति ' पमुइअपक्कीलिएसु जणवएसु ' प्रमुदितेषु सुभिक्षादिना, प्रक्रीडितेषु प्रक्रीडितुमारब्धेषु वसन्तोत्सवादिना, एवंविधेषु जनपदेषु जनपदवासिषु लोकेषु सत्सु ' पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि ' पूर्वरात्रापररात्रकालसमये ' हत्थुत्तराहिँ नक्खत्तेणं चंदेणं जोगमुवागएणं ' उत्तरफाल्गुनीभिः समं योगमुपागते चन्द्रे सति ' आरोग्गारोग्गं ' आरोग्या आबाधारहिता सा त्रिशला आरोग्यम्—आबाधारहितं ' दारयं पयाया ' दारकं—पुत्रं प्रजाता—सुपुत्रे इति भावः ॥८६॥ कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

वीरजन्मकुण्डलीचक्रम्—

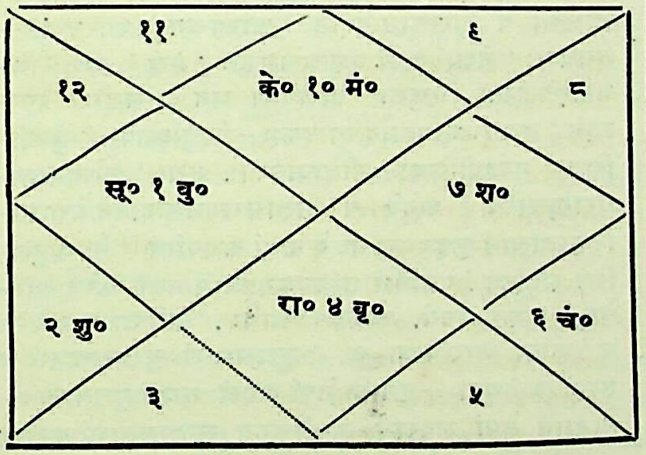

(१५) वीरजन्मनि रात्रिः प्रकाशरूपा—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाए, सा णं रयणी बहुहिं देवेहिं देवीहि य ओवयंतेहिं उप्पयंतेहिं उप्पिंजलमाणभूआ कहकहगभूया आऽवि हुत्था ॥९७॥

' जं रयणिं च णं ' यस्यां च रात्रौ ' समणे भगवं महावीरे जाए ' श्रमणो भगवान् महावीरो जातः ' सा णं रयणी बहुहिं देवेहिं देवीहि य ' सा रजनी बहुभिर्देवैः शक्रादिभिर्बह्वीभिर्देवीभिः दिक्कुमार्यादिभिश्च ' ओवयंतेहिं ' अवपतद्भिर्जन्मोत्सवार्थं स्वर्गाद् भुवमागच्छद्भिः 'उप्पयंतेहिं' उत्पतद्भिरूर्ध्वं गच्छद्भिर्मेरुशिखरगमनाय, तैः कृत्वा ' उप्पिंजलमाणभूआ ' भृशमाकुला इव ' कहकहगभूया याऽवि हुत्था ' हर्षाऽट्टहासादिना कहकहकभूतेव, अव्यक्तवर्णकोलाहलमयीव, एवंविधा सा रात्रिरभवत्, अनेन च सूत्रेण सुरकृतः सविस्तरो जन्मोत्सवः सूचितः ॥ स चायम्—"अचेतना अपि दिशः, प्रसेदुर्मुदिता इव । वायवोऽपि सुखस्पर्शा, मन्दं मन्दं ववुस्तदा ॥१॥" कल्प० १ अधि० ५ क्षण । (देवकृतः तीर्थकरस्याभिषेकोत्सवः 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२४८-२२५७ पृष्ठे गतः ।)

" अस्मिन्नवसरे राज्ञे, दासी नाम्ना प्रियंवदा ।
तं पुत्रजननोदन्तं, गत्वा शीघ्रं न्यवेदयत् ॥ १ ॥
सिद्धार्थोऽपि तदाकर्ण्य, प्रमोदभरमेदुरः ।
हर्षगद्गदरोमांचो-द्गमदन्तुरभूघनः ॥ २ ॥
विना किरीटं तस्यै स्वां, सर्वाङ्गालंकृतिं ददौ ।
तां धौतमस्तकां चक्रे, दासत्वापगमाय सः ॥ ३ ॥ "

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाए, तं रयणिं च णं, बहवे वेसमणकुंडधारी तिरियजंभगा देवा सिद्धत्थरायभवणंसि हिरण्णवासं च सुवण्णवासं च वयरवासं च वत्थवासं च, आभरणवासं च, पत्तवासं च, पुप्फवासं च, फलवासं च, बीअवासं च, मल्लवासं च, गंधवासं च, चुन्नवासं च वण्णवासं च, वसुहारवासं च, वासिंसु ॥९८॥

'जं रयणिं च णं' इत्यादितो ' वासं वासिंसु ' त्ति यावत् पर्यन्तं तत्र हिरण्यम्—रूप्यम् ' सुवन्ने ' त्यादीनि तु पदानि प्राग्व्याख्यातानि ' वसुहार ' त्ति वसु—द्रव्यं तस्य धारा—निरन्तराणि । शेषं सुगमम् ।

तए णं से सिद्धत्थे खत्तिए भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिएहिं देवेहिं तित्थयरजम्मणाभिसेयमहिमाए कयाए समाणीए, पच्चूसकालसमयंसि नगरगुत्तिए सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी ॥ ९९ ॥ खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! खत्तियकुंडग्गामे नयरे चारगसोहणं करेह, करेत्ता माणुस्साण वद्धणं करेह, करित्ता कुंडपुरं नयरं सब्भिंतरबाहिरियं आसियसम्मज्जिओवलित्तं संघाडगतिअचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु सित्तसुइसंमट्ठरत्थंतरावणवीहियं मंचाइमंचकलिअं नाणाविहरागभूसिअज्झयपडागमंडिअं लाउल्लोइयमहिअं गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितलं उवचियचंदणकलसं चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं आसत्तोवसत्तविपुलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं पंचवन्नसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिअं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघंतगंधुद्धुआभिरामं सुगंधवरगंधिअं गंधवट्टिभूअं नडनट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबगपवगकहगपाढगलासगआरक्खगलंखतूणइल्लतुंबवीणियअनेगतालायराणुचरिअं करेह, कारवेइत्ता य जूअसहस्सं मुसलसहस्सं च उस्सवेह, उस्सवित्ता ममेयमाणत्तिअं पच्चाप्पिणह ॥ १०० ॥ तए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णं ते कोडुंबियपुरिसा सिद्धऽत्थेणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव हियया करयल० जाव--पडिसुणित्ता खिप्पामेव कुंडपुरे नयरे चारगसोहणं ०जाव उस्सवित्ता, जेणेव सिद्धत्थे खत्तिए तेणेव उवागच्छंति जेणेव सिद्धत्थे खत्तिए तेणेव उवागच्छित्ता सिद्धत्थस्स खत्तियस्स तमाणत्तिअं पच्चप्पिणंति ॥ १०१ ॥

'तए णं से सिद्धत्थे खत्तिए' ततोऽनन्तरं स सिद्धार्थः क्षत्रियः, 'भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिएहिं देवेहिं' भवनपतयः, व्यन्तराः, ज्योतिष्काः, वैमानिकाः, ततः समासस्तैः एवंविधैः देवैः 'तित्थयरजम्मणाभिसेयमहिमाए कयाए समाणीए' तीर्थङ्करस्य यो जन्माभिषेकस्तस्य महिम्नि उत्सवे कृते सति 'पच्चूसकालसमयंसि' प्रभातकालसमये 'नगरगुत्तिए सद्दावेइ' नगरगोप्तृकान्—आरक्षकान् शब्दयति—आकारयतीत्यर्थः । 'सद्दावित्ता' शब्दयित्वा च 'एवं वयासी' एवमवादीत् ॥ ९९ ॥ 'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया' क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः ! 'खत्तियकुंडग्गामे नयरे' क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे 'चारगसोहणं करेह' चारकशब्देन कारागारमुच्यते, तस्य शोधनं—शुद्धिं कुरुत ; बन्दिमोचनं कुरुत इत्यर्थः। यत उक्तम्—"युवराजाभिषेके च, परराष्ट्रोपमर्दने । पुत्रजन्मनि वा मोक्षो, बद्धानां प्रविधीयते ॥१॥" किञ्च—'माणुम्माणवद्धणं करेह' तत्र मानं रसधान्यविषयम्, उन्मानं तुलारूपं तयोर्वर्द्धनं कुरुत, 'करित्ता' कृत्वा च 'कुंडपुरं नयरं सब्भिंतरबाहिरिअं' अभ्यन्तरे बहिश्च यथोक्तविशेषणविशिष्टं कुण्डपुरनगरं कुरुत, कारयत, अथ किंविशिष्टम्—'आसिअ' आसिक्तं सुगन्धजलच्छटादानेन 'संमज्जिओवलित्तं' संमार्जितं कचवरापनयनेन, उपलिप्तं छगणादिना, ततः कर्मधारयः, पुनः किंविशिष्टम्—'सिंघाडगतिअचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु' शृङ्गाटकं—त्रिकोणं स्थानं, त्रिकं—मार्गत्रयसंगमः, चतुष्कं—मार्गचतुष्टयसङ्गमः, चत्वरम्—अनेकमार्गसङ्गमः चतुर्मुखं—देवकुलादि, महापथः—राजमार्गः, पन्थानः—सामान्यमार्गाः एतेषु स्थानेषु 'सित्त' सिक्तानि जलेन, अत एव 'सुइ' शुचीनि पवित्राणि 'संमट्ठ' संमृष्टानि कचवरापनयनेन समीकृतानि 'रत्थंतरावणवीहियं' रथ्यान्तराणि, मार्गमध्यानि, तथा आपणवीथयश्च हट्टमार्गा यस्मिन् तत्तथा, पुनः किंविशिष्टम्—'मंचाइमंचकलिअं' मञ्चा—महोत्सवविलोककजनानामुपवेशननिमित्तं मालकाः, अतिमञ्चकाः—तेषामपि उपरि कृत्वा मालकास्तैः कलितं, पुनः किंविशिष्टम्—'नाणाविहरागभूसिअज्झयपडागमंडिअं' नानाविधै रागैर्विभूषिता ये ध्वजाः सिंहादिरूपोपलक्षिता बृहत्पटाः, पताकाश्च लघ्व्यस्ताभिर्मण्डितं विभूषितं, पुनः किंविशिष्टम्-'लाउल्लोइअमहियं' छगणादिना भूमौ लेपनं सेढिकादिना भित्त्यादौ धवलीकरणं, ताभ्यां महितमिव पूजितमिव, पुनः किंविशिष्टम्-'गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितलं' गोशीर्षं चन्दनविशेषः, तथा सरसं यत् रक्तचन्दनं, तथा दर्दरनाम पर्वतजातचन्दनं, तैः दत्ताः पञ्चाङ्गुलितला हस्तकाः कुड्यादिषु यत्र तत्तथा, पुनः किंविशिष्टम् 'उवचियचंदणकलसं' गृहान्तश्चतुष्केषु स्थापिताः चन्दनकलशाः यत्र तत्तथा 'चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं' चन्दनघटैः सुकृतानि रमणीयानि तोरणानि च प्रतिद्वारदेशभागं द्वारस्य द्वारस्य देशभागे यस्मिन् तत्तथा, पुनः किंविशिष्टम्-'आसत्तोसत्तविपुलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं' आसक्तो भूमिलग्न उत्सक्तश्च उपरि लग्नो विपुलो—विस्तीर्णो वर्तुलः प्रलम्बितो माल्यदामकलापः—पुष्पमालासमूहो यस्मिन् तत्तथा, पुनः किंविशिष्टम्—'पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं' पञ्चवर्णाः सरसाः सुरभयो ये मुक्ताः पुष्पपुञ्जास्तैर्य उपचारो—भूमेः पूजा तया कलितं, पुनः किंविशिष्टम्—'कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघंतगंधुद्धुआभिरामं' दह्यमानाः ये कृष्णागरुप्रवरकुन्दुरुक्कतुरुष्कधूपाः, तेषां मघमघायमानो यो गन्धः, तेन 'उद्धुयाभिरामन्ति' अत्यन्तमनोहरम्, पुनः किंविशिष्टम्—'सुगंधवरगंधियं' सुगन्धवराः—चूर्णानि तेषां गन्धो यत्र तत्तथा तं, पुनः किंविशिष्टम्—'गंधवट्टिभूयं' गन्धवृत्तिभूतं-गन्धद्रव्यगुटिकासमानं, पुनः किंविशिष्टम्-'नडनट्टगजल्लमल्लमुट्ठिय' नटा--नाटयितारः, नर्त्तकाः-स्वयं नृत्यकर्त्तारः, जल्ला-वरत्राखेलकाः मल्लाः, प्रतीताः, मौष्टिका—ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति ये मल्लजातीयाः 'वेलंवग' विडम्बका विदूषका-जनानां हास्यकारिणः ये स्वमुखविकारमुत्प्लुतयन्ति ते वा 'पवग' प्लवका ये उत्प्लवन्ते गर्तादिकमुल्लङ्घयन्ति, नद्यादिकं वा तरन्ति 'कहग' सरसकथावक्तारः 'पाढग' सूक्तादीनां पाठकाः 'लासग' लासका ये रासकान् ददति 'आरक्खग' आरक्षकाः—तलवराः 'लंख' लङ्खा वंशाग्रखेलकाः 'मंख' मखाः-चित्रफलकहस्ता भिक्षुका—गौरीपुत्रा इति प्रसिद्धाः 'तूणइल्ल' तूणाभिधानवादित्रवादकाः—भिक्षुविशेषाः 'तुंबवीणिय' तुम्बवीणिका—वीणावादकाः, तथा 'अणेगतालायराणुचरियं' अनेके ये तालाचरास्तालादानेन प्रेक्षाकारिणस्तालान् कुट्टयन्तो वा ये कथां कथयन्ति 'तैः अनुचरितं संयुक्तम्' एवंविधं क्षत्रियकुण्डग्रामं नगरं 'करेह कारवेह' कुरुत स्वयं, कारयत अन्यैः, 'करित्ता कारवित्ताय' कृत्वा कारयित्वा च, 'जूअसहस्सं मुसलसहस्सं च उस्सवेह' यूपाः—युगानि तेषां सहस्रं तथा मुशलानि प्रतीतानि तेषां सहस्रम् ऊर्ध्वीकुरुत युगमुसलोर्ध्वीकरणेन च तत्रोत्सवे प्रवर्त्तमाने शकटखेटनखण्डनादिनिषेधः प्रतीयते इति वृद्धाः 'उस्सवित्ता' तथा कृत्वा च 'मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह' मम एतामाज्ञां प्रत्यर्पयत 'कार्यं कृत्वा कृतम्' इति मम कथयतेत्यर्थः ॥ १०० ॥ 'तए णं ते कोडुंबियपुरिसा' ततः ते कौटुम्बिकपुरुषाः 'सिद्धत्थेणं रन्ना' सिद्धार्थेन राज्ञा 'एवं वुत्ता समाणा' एवमुक्ताः सन्तः 'हट्ठतुट्ठ० जाव हियया' हृष्टाः तुष्टाः यावत् हर्षपूर्णहृदयाः 'करयल० जाव पडिसुणित्ता' करतलाभ्यां यावत् अञ्जलिं कृत्वा—प्रतिश्रुत्य अङ्गीकृत्य 'खिप्पामेव कुंडपुरे नयरे' शीघ्रमेव क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे 'चारगसोहं ०जाव उस्सवित्ता' बन्दिगृहशोधनं बन्दिमोचनं यावत्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुशलसहस्रं चोर्ध्वीकृत्य 'जेणेव सिद्धत्थे खत्तिए' यत्रैव सिद्धार्थः क्षत्रियः 'तेणेव उवागच्छंति' तत्रैव उपागच्छन्ति 'उवागच्छित्ता' उपागत्य च 'सिद्धत्थस्स खत्तिअस्स' सिद्धार्थस्य क्षत्रियस्य 'तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति' तामाज्ञां प्रत्यर्पयन्ति, कृत्वा निवेदयन्ति ॥ १०१ ॥

तए णं सिद्धत्थे राया जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता ०जाव सव्वोवरोहेणं सव्वपुप्फगंधवत्थमल्लालंकारविभूसाए सव्वतुडिअसद्दनिनाएणं महया इड्ढीए महया जुईए महया समुदएणं महया तुडिअजमगसमगपवाइएणं संखपणवभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरजमुइंगदुंदुहिनिग्घोसनाइयरवेणं उस्सुक्कं उक्करं उक्किट्ठं अदिज्जं अमिज्जं अभडप्पवेसं अदंडकोदंडिमं अधरिमं गणिआवरनाडइज्जकलिअं अणेगतालायराणुचरिअं अणुद्धुअमुइंगं अमिलायमल्लदामं पमुइअपक्कीलियसपुरजणजाणवयं दसदिवसं ठिइवडियं करेइ ॥१०२॥ तए णं सिद्धत्थे राया दसाहियाए ठिइवडियाए वट्टमाणीए सइए अ साहस्सिए अ सयसाहस्सिए अ, जाए अ दाए अ भाए अ दलमाणे अ दवावेमाणे अ, सइए अ साहस्सिए अ सयसाहस्सिए अ, लंभे पडिच्छमाणे अ, पडिच्छावेमाणे अ, एवं विहरइ ॥१०३॥

'तए णं सिद्धत्थे राया' ततोऽनन्तरं सिद्धार्थो राजा 'जेणेव अट्टणसाला' यत्र अट्टनशाला—परिश्रमणस्थानं 'तेणेव उवागच्छइ' तत्रैवोपागच्छति 'उवागच्छित्ता' उपागत्य 'जाव सव्वोरोहेणं' अत्र यावच्छब्दात्-'सव्विड्ढीए, सव्वजुईए, सव्वबलेणं, सव्ववाहणेणं, सव्वसमुदएणं' इत्येतानि वाच्यानि, तेषां चायमर्थः—'सव्विड्ढीए' त्ति सर्वया ऋद्ध्या युक्त इति गम्यम्, एवं सर्वेष्वपि विशेषणेषु वाच्यं. सर्वया युक्त्या--उचितवस्तुसंयोगेन, सर्वेण बलेन--सैन्येन. सर्वेण वाहनेन-शिबिकातुरगादिना सर्वेण समुदयेन-परिवारादिसमूहेन, एवं यावच्छब्दसूचितमभिधाय, ततः 'सव्वोवरोहेणं' इत्यादि वाच्यम्, तत्र 'सव्वोवरोहेणं' ति सर्वावरोधेन सर्वेण अन्तःपुरेणेत्यर्थः । 'सव्वपुप्फगंधवत्थमल्लालंकारविभूसाए सर्वया पुष्पगन्धवस्त्रमालालङ्काराणां विभूषया युक्तः 'सव्वतुडियसद्दनिनाएणं' सर्ववादित्राणि तेषां शब्दो निनादः प्रतिरवश्च, तेन युक्तः 'महया इड्ढीए' महत्या ऋद्ध्या छत्रादिरूपया युक्तः 'महया जुईए' महत्या युक्त्या—उचिताडम्बरेण युक्तः 'महया बलेणं' महता बलेन-चतुरङ्गसैन्येन युक्तः 'महया वाहणेणं' महता वाहनेन, शिबिकादिना युक्तः 'महया समुदएणं' महता समुदयेन, स्वकीयपरिवारादिसमूहेन युक्तः 'महया वरतुडियजमगसमगप्पवाइएणं' महत्-विस्तीर्णं यत् वराणां-प्रधानानां त्रुटितानां—वादित्राणां जमगसमगं युगपत् प्रवादितः शब्दस्तेन तथा 'संखपणवभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरजमुइंगदुंदुहिनिग्घोसनाइयरवेणं' शङ्खः--प्रतीतः, पणवो--मृत्पटहः, ढक्का—झल्लरी प्रतीता, खरमुखी—दुन्दुभिः देववाद्यम्, एतेषां यो निर्घोषो महाशब्दो, नादितं च प्रतिशब्दस्तद्रूपो यो रवस्तेन, एवंरूपया सकलसामग्र्या युक्तः सिद्धार्थो राजा दश दिवसान् यावत् स्थितिपतितां कुलमर्यादां महोत्सवरूपां करोतीति योजना ॥ अथ किंविशिष्टां स्थितिपतितामित्याह-'उस्सुक्कं' उच्छुल्कां, शुल्कं-विक्रतव्यक्रयाणकं प्रति मण्डपिकायां राजदेयं ग्राह्यं 'दाण' इति लोके, तेन रहितां, पुनः किंविशिष्टाम्—'उक्करं' उत्करां करो गवादीन् प्रति प्रतिवर्षं राजग्राह्यं द्रव्यं, तेन रहिताम्, अत एव 'उक्किट्ठं' उत्कृष्टां सर्वेषां हर्षहेतुत्वात्, पुनः किंविशिष्टाम्—'अदिज्जं' अदेयां यत् यस्य युज्यते तत्सर्वं तेन हट्टतः ग्राह्यं, न तु मूल्यं देयं, मूल्यं तु तस्य राजा ददातीति भावः, अत एव 'अमिज्जं' अमेयाम् अमितानेकवस्तुयोगात्, अथवा—अदेयां विक्रयनिषेधात्, अमेयां क्रयविक्रयनिषेधात्. पुनः किंविशिष्टाम्-'अभडप्पवेसं' नास्ति कस्यापि गृहे राजादेशदापनार्थं भटानां राजपुरुषाणां प्रवेशो यत्र सा तथा तां, पुनः किंविशिष्टाम्—'अदंडकोदंडिमं' दण्डो यथाऽपराधराजग्राह्यं धनं कुदण्डो महत्यपराधे अल्पं राजग्राह्यं धनं, ताभ्यां रहिताम्, पुनः किंविशिष्टाम्—'अधरिमं' धरिमम्—ऋणं तेन रहिताम् ऋणस्य राज्ञा दत्तत्वात्, पुनः किंविशिष्टाम्—'गणिआवरनाडइज्जकलियं' गणिकावरैः—नाटकीयैः नाटकप्रतिबद्धैः पात्रैः कलितां, पुनः किंविशिष्टाम्—'अणेगतालायराणुचरिअं' अनेकैस्तालाचरैः प्रेक्षाकारिभिः अनुचरितां-सेवितां, पुनः किंविशिष्टाम्—'अणुद्धुयमुइंगं' अनुद्धुता वादकैः अपरित्यक्ता मृदङ्गा यस्यां सा तथा तां, पुनः किंविशिष्टाम्—'अमिलायमल्लदामं' अम्लानानि माल्यदामानि यस्यां सा तथा तां, पुनः किंविशिष्टाम्—'पमुइयपक्कीलिअसपुरजणजाणवयं' प्रमुदिताः प्रमोदवन्तः, अत एव प्रक्रीडितुमारब्धाः पुरजनसहिता जानपदा देशलोका यत्र सा तथा ताम् 'दसदिवसठिइवडियं करेइ' दश दिवसान् यावत्, एवंविधां स्थितिपतितामुत्सवरूपां कुलमर्यादां करोति ॥ १०२ ॥ 'तए णं सिद्धत्थे राया' ततः स सिद्धार्थो राजा 'दसाहियाए ठिइवडियाए वट्टमाणीए' दशाहिकायां—दशदिवसप्रमाणायां स्थितिपतितायां वर्त्तमानायां 'सइए अ' शतपरिमाणान् 'साहस्सिए अ' सहस्रपरिमाणान् 'सयसाहस्सिए अ' लक्षप्रमाणान् 'जाए अ' यागान् अर्हत्प्रतिमापूजाः, भगवन्मातापित्रोः श्रीपार्श्वनाथसन्तानीयश्रावकत्वात्, यजधातोश्च देवपूजार्थत्वात् यागशब्देन प्रतिमापूजा एव ग्राह्या, अन्यस्य यज्ञस्य असम्भवात्, श्रीपार्श्वनाथसन्तानीयश्रावकत्वं चानयोराचाराङ्गे प्रतिपादितम् 'दाए अ' दायान् पर्वदिवसादौ दानानि 'भाए अ' लब्धद्रव्यविभागान् मानितद्रव्यांशान् 'दलमाणे अ' ददत् स्वयं 'दवावेमाणे अ' दापयन् सेवकैः 'सइए य साहस्सिए य सयसाहस्सिए य' शतप्रमाणान् सहस्रप्रमाणान् लक्षप्रमाणान्, एवंविधान् 'लंभे पडिच्छमाणे अ पडिच्छावेमाणे य' लाभान् 'वधामणा' इति लोके प्रतीच्छन् स्वयं गृह्णन्, प्रतिग्राहयन् सेवकादीन् 'एवं विहरइ' अनेन प्रकारेण च विहरति—आस्ते ॥ १०३ ॥

तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठिइवडियं करेंति, तइए दिवसे चंदसूरदंस-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णिअं करेंति, छट्ठे दिवसे धम्मजागरियं जागरेंति, एकारसमे दिवसे विइक्कंते निव्वत्तिए असुइजम्मकम्मकरणे, संपत्ते वारसाहे दिवसे, विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडाविंति, उवक्खडावित्ता मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरिजणं नायए खत्तिए अ आमंतेइ आमंतित्ता, तओ पच्छा एहाया कयवलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं पवराइं वत्थाइं परिहिया अप्पमहग्घाभरणाऽलंकियसरीरा भोअणवेलाए भोअणमंडवंसि सुहासणवरगया तेणं मित्तनाइनियगसंबंधिपरियणेणं नायएहिं खत्तिएहिं सद्धिं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा विसाएमाणा परिभुंजेमाणा परिभाएमाणा एवं वा विहरंति ॥ १०४ ॥

'तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स' ततः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'अम्मापियरो पढमं दिवसे' मातापितरौ प्रथमे दिवसे 'ठिइवडियं करेंति' स्थितिपतितां कुरुतः, 'तइए दिवसे चंदसूरदंसणियं करेंति' तृतीय दिवसे चन्द्रसूर्यदर्शनिकामुत्सवविशेषं कुरुतः। (कल्प०) (तद्विधिश्च 'चंददरिसणिया' शब्दे तृतीयभागे१०७१ पृष्ठे दर्शिता।) (चन्द्रदेवस्वरूपम् 'चंदमंडल' शब्दे तस्मिन्नेव भागे १०८५ पृष्ठे दर्शितम्।) (चन्द्रविमानस्वरूपम् 'चंदविमाण' शब्दे तस्मिन्नेव भागे १०६५ पृष्ठे दर्शितम्।) एवं सूर्यस्यापि दर्शनं, नवरं मूर्त्तिः स्वर्णमयी ताम्रमयी वा मन्त्रश्च-"ओँ अर्हं सूर्योऽसि, तमोऽपहोऽसि सहस्रकिरणोऽसि जगच्चक्षुरसि प्रसीद।" आशीर्वादश्चायम्—'सर्वसुरासुरवन्द्यः, कारयिताऽपूर्वसर्वकार्याणाम्। भूयात्त्रिजगच्चक्षु—र्मङ्गलदस्ते सपुत्रायाः॥ १॥" इति सूर्यदर्शनविधिः। साम्प्रतं च तत्स्थाने शिशोर्दर्पणो दर्श्यते—'छट्ठे दिवसे धम्मजागरियं जागरेंति' ततः षष्ठे दिवसे 'धम्मजागरियं' ति धर्मेण कुलधर्मेण षष्ठ्यां रात्रौ जागरणं धर्मजागरिकां जागृतः, षष्ठे दिने जागरणमहोत्सवं कुरुत इति भावः, एवं च 'एक्कारसमे दिवसे विइक्कंते' एकादशे दिवसे व्यतिक्रान्ते सति 'निव्वत्तिए असुइजम्मकम्मकरणे' अशुचीनां जन्मकर्मणां नालच्छेदादीनां करणे निर्वर्तिते—समापिते सति 'संपत्ते बारसाहे दिवसे' द्वादशे च दिवसे सम्प्राप्ते सति भगवन्मातापितरौ 'विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडाविंति' विपुलं बहु अशनं पानं खादिमं स्वादिमं च उपस्कारयतः प्रगुणीकारयतः 'उवक्खडावित्ता' उपस्कारयित्वा च 'मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरिजणं' मित्राणि—सुहृदादयः ज्ञातयः—सजातयः, निजकाः—स्वकीयाः पुत्रादयः, स्वजनाः—पितृव्यादयः, सम्बन्धिनः—पुत्रपुत्रीणां श्वशुरादयः, परिजनो--दासीदासादिः 'नायए खत्तिए य' ज्ञातक्षत्रियाः श्रीऋषभदेवसजातीयास्तान् 'आमंतेइत्ता' आमन्त्रयति, आमन्त्र्य च 'तओ पच्छा एहाया कयबलिकम्मा' ततः पश्चात् स्नातौ, कृतं बलिकर्म पूजा याभ्यां तथा तौ 'कयकोउअमंगलपायच्छित्ता' कृतानि कौतुकमङ्गलानि, तान्येव प्रायश्चित्तानि याभ्यां तथा तौ 'सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं पवराइं वत्थाइं परिहिया' शुद्धानि-श्वेतानि सभाप्रवेशयोग्यानि, माङ्गल्यानि-उत्सवसूचकानि, प्रवराणि-श्रेष्ठानि वस्त्राणि परिहितौ 'अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा' अल्पानि-स्तोकानि महार्घाणि बहुमूल्यानि यानि आभरणानि, तैः अलङ्कृतं शोभितं शरीरं याभ्यां तथा तौ, एवंविधौ भगवन्मातापितरौ 'भोअणवेलाए भोअणमंडवंसि' भोजनवेलायां भोजनमण्डपे 'सुहासणवरगया' सुखासनवराणि गतौ सुखासीनौ इत्यर्थः 'तेणं मित्तनाइनियगसंबंधिपरियणेणं' तेन मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनेन 'नाएहिं खत्तिएहिं सद्धिं' ज्ञातजातीयैः क्षत्रियैः सार्द्धं 'तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं' तं विपुलमशनं पानं खादिमं स्वादिमं च 'आसाएमाणा' आ-ईषत् स्वादयन्तौ बहु त्यजन्तौ, इक्ष्वादेरिव 'विसाएमाणा' विशेषेण स्वादयन्तौ, अल्पं त्यजन्तौ, खर्जूरादेरिव 'परिभुंजेमाणा' सर्वमपि भुञ्जानौ अल्पमपि अत्यजन्तौ भोज्यादेरिव 'परिभाएमाणा' परिभाजयन्तौ परस्परं यच्छन्तौ 'एवं वा विहरंति' अनेन प्रकारेण भुञ्जानौ तिष्ठत इति भावः ॥ १०४ ॥

जिमिअभुत्तुत्तरागया वि अ णं समाणा आयंता चोक्खा परमसुइभूआ तं मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरियणं नायए खत्तिए विउलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेंति संमाणेंति सक्कारित्ता सम्माणित्ता तस्सेव मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरियणस्स नायाणं खत्तिआण य पुरओ एवं वयासी—॥१०५॥ पुव्विं पि णं देवाणुप्पिया! अम्हं एयंसि दारगंसि गब्भं वक्कंतंसि समाणंसि इमे एयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था-जप्पभिइं च णं अम्हं एस दारए कुच्छिसि गब्भत्ताए वक्कंते तप्पभिइं च णं अम्हे हिरन्नेणं वड्ढामो, सुवन्नेणं वड्ढामो धणेणं धन्नेणं रज्जेणं० जाव सावइज्जेणं पीइसक्कारेणं अईव अईव अभिवड्ढामो, सामंतरायाणो वसमागया य ॥१०६॥ तं जया णं अम्हं एस दारए जाए भविस्सइ, तया णं अम्हे एयस्स दारगस्स इमं एयाणुरूवं गुणं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करिस्सामो "वद्धमाणु" त्ति ता अम्हं अज्ज मणोरहसंपत्ती जाया, तं होउ णं अम्हं कुमारे वद्धमाणे नामेणं ॥ १०७ ॥ समणे भगवं महावीरे कासवगुत्ते णं, तस्स णं तओ नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा-अम्मापिउसंतिए वद्धमाणे, सहसमुइआए समणे-अयले भयभेरवाणं परीसहोवसग्गाणं-खंतिखमे-पडिमाणं पालए-धीमं-अरइरइसहे-दविए--वीरिअसंपन्ने-देवेहिं से नामं कयं समणे भगवं महावीरे ॥ १०८ ॥

'जिमिय भुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा' ततः जिमितौ भुक्त्युत्तरं-भोजनानन्तरमागतौ-उपवेशनस्थाने समागतौ, अपि च निश्चयेन एवंविधौ सन्तौ 'आयंता चोक्खा परमसुइभूया' आचान्तौ शुद्धोदकेन कृताचमनौ सिक्थाद्यपनयनेन चोक्षौ, अत एव परमपवित्रीभूतौ सन्तौ 'तं मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरियणं' तं मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रिजनं 'नायए खत्तिए अ' ज्ञातजातीयांश्च क्षत्रियान् ' विउलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं' विपुलेन पुष्पवस्त्रगन्धमालालङ्कारादिना 'सक्कारेंति सम्माणेंति' सत्कारयतः सन्मानयतः 'सक्कारित्ता सम्माणित्ता' सत्कार्य सन्मान्य च ' तस्सेव मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरियणस्स' तस्यैव मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनस्य ' नायाणं खत्तिआण य पुरओ ' ज्ञातजातीयानां क्षत्रियाणां च पुरतः ' एवं वयासी' एवमवादिष्टाम्-॥१०५॥ 'पुव्विं पि णं देवाणुप्पिया !' पूर्वमपि भो देवानुप्रियाः ! भो स्वजनाः ' अम्हं एयंसि दारगंसि गब्भं वक्कंतंसि समाणंसि ' अस्माकमेतस्मिन् दारके गर्भे उत्पन्ने सति ' इमे एयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था ' अयमेतद्रूपः आत्मविषयः यावत् संकल्पः समुत्पन्नोऽभूत् . कोऽसौ इत्याह—'जप्पभिइं च णं अम्हं एस दारए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते ' यतः प्रभृति अस्माकम् एष दारकः कुक्षौ गर्भतया उत्पन्नः ' तप्पभिइं च णं अम्हे ' तत्प्रभृति वयं ' हिरण्णेणं वड्ढामो ' हिरण्येन रूप्येन वर्धामहे ' सुवण्णेणं वड्ढामो ' सुवर्णेन वर्धामहे ' धणेणं धन्नेणं रज्जेणं ० जाव सावइज्जेणं ' धनेन धान्येन राज्येन यावत् स्वापतेयेन द्रव्येण ' पीइसक्कारेणं अईव अईव अभिवड्ढामो'प्रीतिसत्कारेण अतीव अतीव अभिवर्धामहे ' सामंतरायाणो वसमागया य ' स्वदेशसमीपवर्त्तिनः राजानः ' सीमा डा राजा ' इति च वश्यम्—आयत्तत्वमागताः ॥ १०६ ॥ ' तं जया णं अम्हं एस दारए जाए भविस्सइ ' तस्मात् यदा अस्माकमेष दारको जातो भविष्यति 'तया णं अम्हे एयस्स दारगस्स ' तदा वयमेतस्य दारकस्य ' इमं एयाणुरूवं गुणं गुणनिप्फन्नं ' इमम्—एतदनुरूपं गुणेभ्यः आगतं गुणैर्निष्पन्नं ' नामधिज्जं करिस्सामो वद्धमाणु ' त्ति एवंविधमभिधानं करिष्यामः ' वर्द्धमान ' इति ' ता अम्हं अज्ज मणोरहसंपत्ती जाया ' ' ता ' इति सा पूर्वोत्पन्ना अस्माकं अद्य मनोरथस्य संपत्तिः जाता ' तं होउ णं अम्हं कुमारे वद्धमाणे नामेणं ' तस्मात् भवतु अस्माकं कुमारः ' वर्द्धमानः ' नाम्ना कृत्वा ॥१०७॥ ' समणे भगवं महावीरे ' श्रमणो भगवान् महावीरः ' कासवगुत्तेणं काश्यप इति नामकं गोत्रं यस्य स तथा ' तस्स णं तओ नामधिज्जा एवमाहिज्जंति' तस्य भगवतः त्रीणि अभिधानानि एवमाख्यायन्ते—' तं जहा ' तद्यथा ' अम्मापिउसंतिए वद्धमाणे ' मातापितृसत्कं मातापितृदत्तं ' वर्द्धमान 'इति प्रथमं नाम १ , ' सहसमुइयाए समणे ' सह समुदिता सह भाविनो तपःकरणादिशक्तिः, तया श्रमण इति द्वितीयं नाम २, ' अयले भयभेरवाणं ' भयभैरवयोर्विषये अचलो निष्प्रकम्पः , तत्र भयम्—अकस्माद्भयं विद्युदादिजातं, भैरवं तु सिंहादिकं , तथा ' परिसहोवसग्गाणं ' परिषहाः क्षुत्पिपासादयो द्वाविंशतिः—(२२) उपसर्गाश्च दिव्यादयश्चत्वारः . सप्रभेदास्तु षोडश—(१६) तेषां ' खंतिखमे ' क्षान्त्या क्षमया क्षमत , न त्वसमर्थतया यः स क्षान्तिक्षमः 'पडिमाणं पालए ' प्रतिमानां भद्रादीनाम् एकरात्रिक्यादीनां वा अभिग्रहविशेषाणां पालकः ' धीमं ' धीमान् ज्ञानत्रयाभिरामत्वात् ' अरइरइसहे ' अरतिरति सहते , न तु तत्र हर्षविषादौ कुरुते इति भावः ' दविए ' द्रव्यं तत्तद्गुणानां भाजनं , रागद्वेषरहिते इति वृद्धाः ' वीरिअसंपन्ने ' वीर्यं पराक्रमस्तेन संपन्नः, यतो भगवान् एवंविधस्ततः ' देवेहिं से णामं कयं समणे भगवं महावीरे ' देवैः ' से ' इति तस्य भगवतो नाम कृतं श्रमणो भगवान् महावीर इति तृतीयम् ३, ॥ १०८ ॥ तदिदं नाम देवैः कृतं , कथं कृतमित्यत्र वृद्धसंप्रदायः—अथैवं पूर्वोक्तयुक्त्या सुरासुरनरेश्वरैः कृतजन्मोत्सवो भगवान् द्वितीयशशीव मन्दाराऽङ्कुर इव वृद्धिं प्राप्नुवन् क्रमेण एवंविधो जातः—"द्विजराजमुखो गजराजगतिः, अरुणोष्ठपुटः सितदन्ततति: । शितिकेशभरोऽम्बुजमञ्जुकरः , सुरभिश्वसितः प्रभयोल्लसितः ॥ १ ॥ मतिमान् श्रुतवान् प्रथितावधियुक् . पृथुपूर्वभवस्मरणो गतरुक् । मतिकान्तिधृतिप्रभृतिस्वगुणै—र्जगतोऽप्यधिको जगतीतिलकः ॥ २ ॥ " स चैकदा कौतुकरहितोऽपि तेषामुपरोधात् समानवयोभिः कुमारैः सह क्रीडां कुर्वाण आमलकीक्रीडानिमित्तं पुराद् बहिर्जगाम । तत्र च कुमारा वृक्षारोहणादिप्रकारेण क्रीडन्ति स्म । अत्रान्तरे सौधर्मेन्द्रः सभायां श्रीवीरस्य धैर्यगुणं वर्णयन्नास्ते , यदुत पश्यत भो देवाः ! साम्प्रतं मनुष्यलोके श्रीवर्द्धमानकुमारो बालोऽप्यबालपराक्रमः शक्रादिभिर्देवैरपि भापयितुमशक्यः, कटरे बालस्यापि धैर्यं , तदाकर्ण्य च कश्चिन् मिथ्यादृग्—देवश्चिन्तयामास–अहो शक्रस्य प्रभुत्वाभिमाने निरङ्कुशा विचारा पुम्भिकापातेन नगराक्रमणमिवाऽश्रद्धेया च वचनचातुरी , यदिमं मनुष्यकीटपरमाणुमपि इयन्तं प्रकर्षं प्रापयति, तदद्यैव तत्र गत्वा तं भीषयित्वा शक्रवचनं वृथा करोमि , इति विचिन्त्य मर्त्यलोकमागत्य शिंशपामुशलस्थूलेन लोलजिह्वायुगलेन भयङ्करफूत्कारेण क्रूरताकारेण प्रसरत्कोपेन ऋजुफटाटोपेन दीप्रमणिना महाफणिना तं क्रीडातरुमावेष्टितवान् , तद्दर्शनाच्च पलायितेषु सर्वेषु बालेषु मनागप्यभीतमनाः श्रीवर्द्धमानकुमारः स्वयं तत्र गत्वा तं फणिनं करेण गृहीत्वा दूरं निक्षिप्तवान् , ततः पुनः कुमारैः कन्दुकक्रीडारसे प्रस्तुते सति स देवोऽपि कुमाररूपं विकुर्व्य तां क्रीडां कर्तुं प्रवृत्ते । तत्र चायं पणः—पराजितेन स्कन्धे आरोपणीय इति . क्षणाच्च पराजितं मया जितं वर्धमानेनेति वदन् श्रीवीरं स्कन्धे समारोप्य भगवद्भापनाय सप्ततालप्रमाणशरीरः संजातो, भगवानपि तत्स्वरूपं विज्ञाय वज्रकठिनया मुष्ट्या तत्पृष्ठं जघान, सोऽपि तत्प्रहारवेदनापीडितो मशक इव संकोचं प्राप ॥ ततश्च शक्रवचनं सत्यं मन्यमानः प्रकटितस्वरूपः सर्वं पूर्वव्यतिकरं निवेद्य भूयो भूयो निजमपराधं क्षमयित्वा स्वस्थानं जगाम स देवः , तदा च सन्तुष्टचित्तेन शक्रेण ' श्रीवीरः' इति भगवतो नाम कृतम् । यदुक्तम्-' बालत्तणे वि सूरो , पयईए गुरुपरक्कमो भयवं । वीरु त्ति कयं नाम, सक्केणं तुट्ठचित्तेणं ॥ १ " इत्यामलकीक्रीडा । (कल्प०) (वीरस्य लेखनशालागमनम् ' लेहसाला ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६६७ पृष्ठे उक्तम् ।)

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिआ कासवगुत्तेणं , तस्स णं तओ नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धत्थेइ वा, सिज्जंसेइ वा, जसंसेइ वा ॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स माया वासिट्ठगुत्तेणं, तीसे तओ नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा-तिसलाइ वा विदिन्नाइ वा पीइकारिणीइ वा ॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स पित्तिज्जे सुपासे, जिट्ठे भाया नंदिवद्धणे भगिणी सुदंसणा, भारिया जसोया कोडिन्ना गुत्तेणं समणस्स भगवओ महावीरस्स धूआ कासवगोत्ते णं तीसे दो नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा-अणोज्जाइ वा पियदंसणाइ वा समणस्स भगवओ महावीरस्स नत्तुई कासवगुत्तेणं तीसे णं दो नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा-सेसवई वा जसवई वा ॥ १०६ ॥

'समणस्स भगवओ महावीरस्स' श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'पिया कासवगुत्तेणं' पिता कीदृशः? काश्यपः गोत्रेण कृत्वा 'तस्स णं तओ नामधिज्जा' तस्य त्रीणि नामधेयानि 'एवमाहिज्जंति' एवमाख्यायन्ते—'तं जहा सिद्धत्थेइ वा सिज्जंसेइ वा जसंसेइ वा' तद्यथा-सिद्धार्थ इति वा, श्रेयांस इति वा, यशस्वी इति वा। 'समणस्स भगवओ महावीरस्स' श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'माया वासिट्ठगुत्तेणं' माता वाशिष्ठगोत्रेण 'तीसे तओ नामधिज्जा' तस्याः त्रीणि नामधेयानि 'एवमाहिज्जंति' एवमाख्यायन्ते-'तं जहा तिसला इ वा विदेहदिन्ना इ वा पीइकारिणी इ वा' तद्यथा-त्रिशला इति वा, विदेहदिन्ना इति वा प्रीतिकारिणीति वा 'समणस्स भगवओ महावीरस्स' श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'पित्तिज्जे सुपासे' पितृव्यः 'काका' इति सुपार्श्वः 'जिट्ठे भाया नंदिवद्धणे' ज्येष्ठो भ्राता नन्दिवर्द्धनः 'भगिणी सुदंसणा' भगिनी सुदर्शना 'भारिया जसोया कोडिण्णागुत्तेणं' भार्या यशोदा सा कीदृशी कौण्डिन्या गोत्रेण 'समणस्स भगवओ महावीरस्स' श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'धूआ कासवगोत्तेणं' पुत्री काश्यपगोत्रेण 'तीसे दो नामधिज्जा एवमाहिज्जंति' तस्या द्वे नामधेये, एवमाख्यायेते-'तं जहा—अणोज्जाइ वा पियदंसणाइ वा' तद्यथा-अणोज्जा इति वा, प्रियदर्शना इति वा, 'समणस्स भगवओ महावीरस्स' श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'नत्तुई कासवगुत्तेणं' पुत्र्याः पुत्री-दौहित्री काश्यपगोत्रेण 'तीसे णं दो नामधिज्जा एवमाहिज्जंति' तस्याः द्वे नामधेये एवमाख्यायेते-'तं जहा-सेसवई वा जसवई वा' तद्यथा-शेषवती इति वा यशस्वती इति वा ॥ १०६ ॥

समणे भगवं महावीरे दक्खे दक्खपइन्ने पडिरूवे आलीणे भद्दए विणीए नाए नायपुत्ते नायकुलचंदे विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु अम्मापिऊहिं देवत्तगएहिं गुरुमहत्तरएहिं अब्भणुन्नाए सम्मत्तपइन्ने पुणरवि लोअंतिएहिं-जीअकप्पिएहिं देवेहिं ताहिं इट्ठाहिं ०जाव वग्गूहिं अणवरयं अभिनंदमाणा य अभिथुव्वमाणा य एवं वयासी ॥ ११० ॥

'समणे भगवं महावीरे' श्रमणो भगवान् महावीरः 'दक्ख' दक्षः-सकलकलाकुशलः 'दक्खपइन्ने' दक्षा-निपुणा प्रतिज्ञा यस्य स, तथा समीचीनामेव प्रतिज्ञां करोति, तां च सम्यग् निर्वहतीति भावः, 'पडिरूवे' प्रतिरूपः-सुन्दररूपवान् 'आलीणे' आलीनः-सर्वगुणैरालिङ्गितः-'भद्दए' भद्रकः-सरलः 'विणीए' विनीतो-विनयवान् 'नाए' ज्ञातः-प्रख्यातः 'नायपुत्ते' ज्ञातः-सिद्धार्थस्तस्य पुत्रः, न केवलं पुत्रमात्रः किन्तु-'नायकुलचन्दे' ज्ञातकुले चन्द्र इव 'विदेहे' वज्रऋषभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानमनोहरत्वात् विशिष्टो देहो यस्य स विदेहः 'विदेहदिन्ने' विदेहादिन्ना-त्रिशला-तस्या अपत्यं वैदेहदिन्नः 'विदेहजच्चे' विदेहा-त्रिशला तस्या जातमर्चा—शरीरं यस्य स तथा 'विदेहसूमाले' विदेहशब्देन अत्र गृहवास उच्यते, तत्र सुकुमालः दीक्षायां तु परिषहादिसहने अकठोरत्वात् 'तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु' त्रिंशद् वर्षाणि गृहवासे कृत्वा, त्रिंशद्वर्षाणि गृहस्थभावे स्थित्वेत्यर्थः, 'अम्मापिऊहिं देवत्तगएहिं' मातापित्रोर्देवत्वं गतयोः। 'गुरुमहत्तरएहिं अब्भणुन्नाए' गुरुमहत्तरैर्नन्दिवर्द्धनादिभिरभ्यनुज्ञातः। 'समत्तपइन्ने' समाप्तप्रतिज्ञश्च, "मातापित्रोर्जीवतोः नाहं प्रव्रजिष्यामी" ति गर्भगृहीतायाः प्रतिज्ञायाः पूरणात्, स व्यतिकरस्त्वेवम्-अष्टाविंशतिवर्षातिक्रमे भगवतो मातापितरौ, आवश्यकाभिप्रायेण तुर्यं स्वर्गम्, आचाराङ्गाभिप्रायेण तु अनशनेन अच्युतं गतौ, ततो भगवता ज्येष्ठभ्राता पृष्टः, राजन्! ममाभिग्रहः सम्पूर्णोऽस्ति, ततोऽहं प्रव्रजिष्यामि, ततो नन्दिवर्द्धनः प्रोवाच-भ्रातः! मम मातापितृविरहदुःखितस्य अनया वार्त्तया किं क्षते क्षारं क्षिपसि, ततो भगवता प्रोक्तम्—'पिअमाइभाइभइणी, भज्जा पुत्तत्तणेण सव्वे वि। जीवा जाया बहुसो, जीवस्स उ एगमेगस्स ॥१॥' ततः कुत्र कुत्र प्रतिबन्धः क्रियते इति निशम्य नन्दिवर्द्धनोऽवोचत्-भ्रातरहमपि इदं जानामि, किन्तु-प्राणतोऽपि प्रियस्य तव विरहो मामतितमां पीडयति, ततो मदुपरोधाद्वर्षद्वयं गृहे तिष्ठ, भगवानपि एवं भवतु, किन्तु-राजन्! मदर्थं न कोऽपि आरम्भः कार्यः, प्रासुकाशनपानेनाहं स्थास्यामि इत्यवोचत्, राज्ञापि तथा प्रतिपन्ने समधिकं वर्षद्वयं वस्त्रालङ्कारविभूषितोऽपि प्रासुकैषणीयाहारः सचित्तजलमपिबन् भगवान् गृहे स्थितः, ततः प्रभृति भगवता अचित्तजलेनापि सर्वस्नानं न कृतं, ब्रह्मचर्यं च यावज्जीवं पालितं, दीक्षोत्सवे तु सचित्तोदकेनापि स्नानं कृतं, तथाकल्पत्वात्, एवं भगवन्तं वैराग्रिकं विलोक्य चतुर्दशस्वप्नसूचितत्वाच्चक्रवर्तिधिया सेवमानाः श्रेणिकचण्डप्रद्योतादयो राजकुमाराः स्वं स्वं स्थानं जग्मुः। 'पुणरवि लोअंतिएहिं' पुनरपि इति विशेषद्योतने, एकं तावत् समाप्तप्रतिज्ञः स्वयमेव भगवान् वर्त्तते, पुनरपि लोकान्तिकैर्देवैर्बोधित इति विशेषो द्योत्यते, लोकान्ते—संसारान्ते भवाः लोकान्तिकाः एकावतारत्वात्, अन्यथा ब्रह्मलोकवासिनां तेषां लोकान्ते भवत्वं विरुद्धयते, ते च नवविधाः, यदुक्तम्—

"सारस्स य १ माइच्चा २, वन्ही
३ अरुणा य ४ गद्दतोया य ५।
तुडिआ ६ अव्वाबाहा ७,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अग्गिच्चा ८ चेव रिट्ठा य ६ ॥ ८६ ॥
एए देवनिकाया, भयवं बोहिन्ति जिणवरिंदं तु ।
सव्वजगज्जीवहियं, भयवं तित्थं पवत्तेहि ॥ ८७ ॥ "

यद्यपि स्वयम्बुद्धो भगवांस्तदुपदेशं नापेक्षते, तथापि तेषामयमाचारो वर्तते, तदेवाह--'जीयकप्पएहिं देवेहिं' जीतेन-अवश्यंभावेन कल्प-आचारो जीतकल्पः सोऽस्ति येषां ते जीतकल्पिकास्तैः, एवंविधा देवाः विमानप्रस्तावत्तनात्, ते देवाः ' ताहिं इट्ठाहिं ' ताभिः इष्टाभिः ' जाव वग्गूहिं यावत्शब्दात्-' कंताहिं मणुन्नाहिं ' इत्यादि पूर्वोक्तः पाठो वाच्यः, एवंविधाभिर्वाग्भिः ' अणवरयं ' निरन्तरं भगवन्तम् 'अभिनंदमाणा य ' अभिनन्दयन्तः समृद्धिमत आचक्षाणाः ' अभिथुव्वमाणा य ' अभिष्टुवन्तः स्तुतिं कुर्वन्तः सन्तः 'एवं वयासी ' एवमवादिषुः ॥ ११० ॥

(१६) तीर्थप्रवर्तनार्थं वीरं प्रति प्रेरणा-

जय जय नंदा, जय जय भद्दा, भद्दं ते जय जय खत्तिअवरवसहा, बुज्झाहि भगवं लोगनाह सयलजगज्जीवहियं पवत्तेहि धम्मतित्थं, हियसुहनिस्सेयसकरं सव्वलोए सव्वजीवाणं भविस्सइ त्ति कट्टु जय जय सद्दं पउंजंति ॥ १११ ॥

' जय जय नंदा ' जयं लभस्व, सम्भ्रमे द्विर्वचनं, नन्दति समृद्धो भवतीति नन्दस्तस्य सम्बोधनं हेनन्द ! दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, एवं ' जय जय भद्दा ' जय जय भद्र !-कल्याणवन् ' भद्दं ते ' ते-तव भद्रं भवतु ' जय जय खत्तियवरवसहा' जय जय क्षत्रियवरवृषभ ! 'बुज्झाहि भगवं लोगनाह' बुद्धयस्व भगवन् ! लोकनाथ ! ' सयलजगज्जीवहियं' सकलजगज्जीवहितं ' पवत्तेहि धम्मतित्थं ' प्रवर्तय धर्मतीर्थं, यत इदं ' हियसुहनिस्सेयसकरं ' हितं--हितकारकं, सुखं शर्म, निःश्रेयसं मोक्षस्तत्करं ' सव्वलोए सव्वजीवाणं ' स र्वलोके सर्वजीवानां ' भविस्सइ त्ति कट्टु जय जय सद्दं पउंजंति ' भविष्यतीति कृत्वा इत्युक्त्वा जय जय शब्दं प्रयुञ्जन्ति ॥ १११ ॥ कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

(१७)अधुना संबोधनद्वारम्-तत्र यदा भगवान् निष्क्रमिष्यामीति मनः संप्रधारयति तदा ये लोकान्तिका देवाः सारस्वतादयो ब्रह्मलोके कल्पे रिष्टे विमानप्रस्तटे स्वकीयविमाने स्वकीये प्रासादावतंसके प्रत्येकं चतुर्भिः सामानिकसहस्रैस्त्रिसृभिः पर्षद्भिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः षोडशभिरात्मरक्षकदेवसहस्रैरन्यैश्च स्वस्वविमानवास्तव्यैर्देवैः संपरिवृता दिव्यान् भोगान् भुञ्जाना आसते तेषामासनानि प्रचलन्ति ततोऽवधिं प्रयुञ्ज्यात् प्रयुज्य चाभोगयन्ति ततो जानन्ति यथा स्वामी निष्क्रमिष्यामीति मनः संप्रधारितवान् ततश्चिन्तयन्ति-कल्प एष लोकान्तिकानां देवानां भगवतामर्हतां निष्क्रमणकाले संबोधनं कर्त्तव्यमिति । तत एवं चिन्तयित्वा उत्तरपूर्वां दिशमवक्रम्य द्विकृत्वो वैक्रियसमुद्धातेन समवहत्योत्तरवैक्रियाणि रूपाणि विकुर्वते विकुर्वित्वा भगवतः समीपमागत्याकाशे स्थिता मधुराभिर्वाग्भिरेवमवादिषुः-
" जय जय नन्दा जय जय भद्दा जय जय मुणिवरवसभा बुज्झाहि भगवं लोगनाह ! पवत्ताहि भयवं धम्मतित्थं हियसुहनिस्सेयसकरं जीवाणमेयं भविस्सइ त्ति " ततो वन्दन्ते नमस्यन्ति । वन्दित्वा नमस्यित्वा यत आगतास्तत्र गताः ।

एतदेवाह--

**सारस्सयमाइच्चा, वण्ही वरुणा य गद्दतोया य ।
तुसिया अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य ॥८६॥
एए देवनिकाया, भयवं बोहिंति जिणवरिंदं तु ।
सव्वजगज्जविहियं, भयवं तित्थं पवत्तेहि ॥ ८७ ॥
एवं अभित्थुवंतो, बुद्धो बुद्धारविंदसरिसमुहो ।
लोगंतियदेवेहिं, कुण्डग्गामे महावीरो ॥ ८८ ॥**

इदमपि गाथात्रयं सुगमत्वाच्च न प्रतन्यते, न तु पूर्वमृषभदेवाधिकारे पूर्वं संबोधनमुक्तं पश्चाद् ' दानसंवाहेण परिव्वाए ' इति पाठक्रमात् इह तु पूर्वं दानं पश्चात्संबोधनं 'दाणं संबोहणिक्खमणे ' इति वचनात् ततः कथं परस्परं न विरोधः नैष दोषो न सर्वतीर्थकराणामयं नियमो यदुत संबोधनोत्तरकालभाविनी महादानप्रवृत्तिः किंतु केषाञ्चिदेवमपि भवति-पूर्वं महादानं पश्चात्संबोधनमिति 'दाणे'इतिवचनात्, अथवा--भवतु नियमः स च द्विधा घटते पूर्वं सम्बोधनं पश्चान् महादानम्, अथवा--पूर्वं महादानं पश्चात्संबोधनं, तत्र पूर्वनियमेन संबोधनद्वयन्यासोऽल्पवक्तव्यत्वादेवं तावत् संभविनः पश्चा उपन्यस्तास्तत्त्वं विशिष्टश्रुतविदो जानन्तीति कृतं प्रसङ्गेन । गतं संबोधनद्वारम् । आ० म० १ अ० ।

(१८) वीरेण वार्षिकदानं दत्तम्-

पुव्विं पि णं समणस्स भगवओ महावीरस्स माणुस्सगाओ गिहत्थधम्माओ अणुत्तरे आभोइए अप्पडिवाई नाणदंसणे हुत्था-तए णं समणे भगवं महावीरे तेणं अणुत्तरेणं आभोइएणं नाणदंसणेणं अप्पणो निक्खमणकालं आभोएइ, आभोएत्ता चिच्चा हिरन्नं, चिच्चा सुवन्नं, चिच्चा धणं, चिच्चा रज्जं, चिच्चा रट्ठं, एवं बलं-वाहणं-कोसं-कोट्ठागारं, चिच्चा पुरं, चिच्चा अंतेउरं, चिच्चा जणवयं, चिच्चा विउलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइयं संतसारसावइज्जं, विच्छड्डइत्ता, विगोवइत्ता दाणं दायारेहिं परिभाइत्ता, दाणं दाइयाणं परिभाइत्ता ॥ ११२ ॥

' पुव्विं पि णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ' इदं पदं ' गिहत्थधम्माओ ' इत्यस्मादग्रे योज्यं, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ' माणुस्सगाओ गिहत्थधम्माओ ' मनुष्ययोग्यात् एवंविधात् गृहस्थधर्मात् गृहव्यवहारात् पूर्वमपि 'अणुत्तरे आभोइए' अनुपममाभोगे उपभोगः सप्रयोजनं यस्य तत् आभोगिकम् ' अप्पडिवाइनाणदंसणे हुत्था ' अप्रतिपाति आकेवलोत्पत्तेः स्थिरम् एवंविधं ज्ञानदर्शनम् अवधिज्ञानम्, अवधिदर्शनं च अभूत् ' तए णं समणे भगवं महावीरे ' ततः श्रमणो भगवान् महावीरः तेणं अणुत्तरेणं आभोइएणं ' तेन अनुत्तरेण आभोगिकेन ' नाणदंसणेणं ' ज्ञानदर्शनेन ' अप्पणो निक्खमणकालं ' आत्मनो दीक्षाकालं ' आभोएइ ' आभोगयति-विलोकयति ' आभोइत्ता ' आभोग्य च ' चिच्चा हिरण्णं ' त्यक्त्वा हिरण्यं रूप्यं ' चिच्चा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुवणं ' त्यक्त्वा सुवर्णं 'चिच्चा धणं' त्यक्त्वा धनं ' चिच्चा रज्जं ' त्यक्त्वा राज्यं ' चिच्चा रट्टं ' त्यक्त्वा राष्ट्रं देशम् 'एवं बलं वाहणं कोसं कोट्ठागारं ' एवं सैन्यं वाहनं कोशं कोष्ठागारं ' चिच्चा पुरं ' त्यक्त्वा नगरं ''चिच्चा अंतेउरं ' त्यक्त्वा अन्तःपुरं ' चिच्चा जणवयं ' त्यक्त्वा जनपदं देशवासिलोकं ' चिच्चा विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइअं ' त्यक्त्वा विपुलधनकनकरत्नमणिमौक्तिकशङ्खशिलाप्रवालरक्तरत्नप्रमुखं ' संतसारसावइज्जं ' सत्सारस्वापतेयम् , एतत् सर्वं त्यक्त्वा, पुनः किं कृत्वा ' विच्छड्डइत्ता ' विच्छर्द्य विशेषेण त्यक्त्वा, पुनः किं कृत्वा ' विगोवइत्ता ' विगोप्य तदेव गुप्तं सद्दानातिशयात् प्रकटीकृत्येति भावः, अथवा-विगोप्य कुत्सनीयमेतदस्थिरत्वादित्युक्त्वा, पुनः किं कृत्वा ' दाणं दायारेहिं परिभाइत्ता ' दीयते इति दानं धनं , तत् दाय दानार्थमाच्छन्ति-आगच्छन्तीति दायारा याचकास्तेभ्यः परिभाज्य विभागैर्दत्त्वा, यद्वा-परिभाव्य-आलोच्य इदममुकस्य देयम् इदममुकस्यैवं विचार्येत्यर्थः, पुनः किं कृत्वा ' दाणं दाइयाणं परिभाइत्ता ' दानं धनं दायिका गोत्रिकास्तेभ्यः परिभाज्य विभागशो दत्त्वेत्यर्थः, अनेन सूत्रेण च वार्षिकं दानं सूचितं तच्चैवम्-भगवान् दीक्षादिवसात् प्राग्वर्षेऽवशिष्यमाणे प्रातःकाले वार्षिकं दानं दातुं प्रवर्त्तते, सूर्योदयादारभ्य कल्पवर्त्तवेलापर्यन्तमष्टलक्षाधिकाम् एकां कोटिं सौवर्णिकानां प्रतिदिनं ददाति, वृणुत वरं वृणुत वरम् इत्युद्घोषणापूर्वकं यो यन् मार्गयति तस्मै तद्दीयते, तच्च सर्वं देवाः शक्रादेशेन पूरयन्ति, एवं च वर्षेण यद्दानं दत्तं तदुच्यते—

"तिन्नेव य कोडिसया, अट्ठासीई य हुंति कोडीओ ।
आसीइं च सहस्सं, एयं संवच्छरे दिन्नं ॥१॥"

तथा च कवयः—

"तत्तद्वार्षिकदानवर्षविरमद्दारिद्र्यदावानलाः,
सद्यः सज्जितवाजिराजिवसनालङ्कारदुर्लक्ष्यभाः ।
सम्प्राप्ताः स्वगृहेऽर्थिनः सशपथं प्रत्याययन्तोऽङ्गनाः,
स्वामिन्!(स्वीय)पिद्रजनैर्निरुद्धहसितैः के यूयमित्यूचिरे।१।"

कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

(१६) अधुना निष्क्रमणद्वारम्—

मणपरिणामो अकंतो,अभिनिक्खमणम्मि जिणवरिंदेण।
देवेहिं देवीहि य, समंततो वत्थयं गयणं ॥

मनःपरिणामश्च कृतः 'अभिनिक्खमणम्मि' अभिनिष्क्रमणविषयो जिनवरेन्द्रेण,तावत् किं संजातमित्याह-देवैर्देवीभिश्च समन्ततः सर्वासु दिक्षु सर्वमवस्तृतं व्याप्तं गगनम्।

भवणवइवाणमंतर-जोइसवासी विमाणवासी य ।
धरणियले गयणयले, विज्जुज्जोओ कओ खिप्पं ॥

यैर्देवैर्गगनं व्याप्तं ते खल्वमी वर्त्तन्ते-भवनपतयश्च व्यन्तराश्च ज्योतिर्वासिनश्चेति द्वन्द्वः समासः, तथा विमानवासिनश्च अमीभिरागच्छद्भिर्धरणितले गगनतले च विद्युद्वत् उद्योतो विद्युदुद्योतः कृतः क्षिप्रं-शीघ्रम्।

जाव य कुंडग्गामो, जाव य देवाण भवण आवासा ।
देवेहिं देवीहि य, अविरहियं संचरंतेहिं ॥

यावत्कुण्डग्रामो यावच्च देवानां ,भवनाऽऽवासाः अत्रान्तरे गगनतलं धरणितलं च देवैर्देवीभिश्च अविरहितं व्याप्तं संचरद्भिः। एतत् सामान्येनोक्तं विशेषप्रक्रिया त्वेवं-यदा भगवान् स्वामी लोकान्तिकदेवैः संबोधितस्तदा नन्दिवर्द्धनप्रमुखस्वजनवर्गसमीपमुपागतवान् उपागत्य चैवमवादीत्-इच्छामि युष्मदनुज्ञातः प्रव्रज्यां ग्रहीतुमिति। आ० म० १ अ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जे से हेमंताणं पढमे मासे, पढमे पक्खे, मग्गसिरबहुले तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं पाईणगामिणीए छायाए पोरिसीए अभिनिविट्ठाए पमाणपत्ताए, सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं चंदप्पभाए सिविआए सदेवमणुआसुराए परिसाए समणुगम्ममाणमग्गे संखियचक्कियलंगलिअमुहमंगलिअवद्धमाणपूसमाणघंटियगणेहिं, ताहिं इट्ठाहिं ०जाव वग्गूहिं अभिणंदमाणा य अभिथुव्वमाणा य एवं वयासी-॥ ११३ ॥ " जय जय नंदा, जय जय भद्दा, भद्दं ते , अभग्गेहिं नाणदंसणचरित्तेहिं अजियाइं जिणाहि इंदियाइं, जिअं च पालेहि समणधम्मं, जियविग्घोवियवसाहि तं देवसिद्धिमज्झे, निहणाहि रागद्दोसमल्ले तवेणं धिइधणिअवद्धकच्छे, मद्दाहि अट्ठकम्मसत्तू झाणेणं उत्तमेणं , सुक्केणं , अप्पमत्ते हराहि आराहणपडागं च वीर ! तेलुक्करंगमज्झे, पावयवितिमिरमणुत्तरं केवलवरनाणं, गच्छय मुक्खं परं पयं जिणवरोवइट्ठेण मग्गेण अकुडिलेण हंता परीसहचमूं, जय जय खत्तिअवरवसहा, बहूइं दिवसाइं बहूइं पक्खाइं बहूइं मासाइं बहूइं उऊइं बहूइं अयणाइं बहूइं संवच्छराइं, अभीए परीसहोवसग्गाणं खंतिखमे भयभेरवाणं, धम्मे ते अविग्घं भवउ " त्ति कट्टु जय जय सद्दं पउंजंति ॥ ११४ ॥ तए णं समणे भगवं महावीरे नयणमालासहस्सेहिं पिच्छिज्जमाणे पिच्छिज्जमाणे, वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे, हिययमालासहस्सेहिं उन्नंदिज्जमाणे उन्नंदिज्जमाणे,मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे विच्छिप्पमाणे, कंतिरूवगुणेहिं, पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे , अंगुलिमालासहस्सेहिं दाइज्जमाणे दाइज्जमाणे दाहिणहत्थेणं बहूणं नरनारीसहस्साणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे, भवणपतिसहस्साइं समइक्कमाणे समइक्कमाणे तंतीतलतालतुडियगीयवाइअरवेणं महुरेण य मणहरेणं जयजयसद्दघोसमीसिएणं मंजुमंजुणा घोसेण य पडिबुज्झमाणे पडिबुज्झमाणे सव्विड्ढीए सव्वजुईए सव्वबलेणं सव्ववाहणेणं सव्वसमुदएणं सव्वायरेणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वसंगमेणं सव्वपगइएहिं सव्वनाडएहिं सव्वतालायरेहिं सव्वावरोहेणं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसाए सव्वतुडियसद्दसन्निनाएणं मह-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या इड्ढीए महया जुईए महया बलेणं महया वाहणेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगसमगपवाइएणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कदुंदुहिनिग्घोसनाइयरवेणं कुंडपुरं नगरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ निग्गच्छित्ता जेणेव नायसंडवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ ॥ ११५ ॥ तेणेव उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स अहे सीयं ठावेइ, ठावेत्ता, सीयाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुअइ, ओमुइत्ता, सयमेव पंचमुट्ठियं लोअं करेइ, करित्ता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं चंदेणं जोगमुवागएणं एगं देवदूसमादाय एगे अबीए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइए ॥ ११६ ॥

'तेणं कालेणं' तस्मिन् काले 'तेणं समएणं' तस्मिन् समये 'समणे भगवं महावीरे' श्रमणो भगवान् महावीरः 'जे से हेमंताणं' योऽसौ शीतकालस्य 'पढमे मासे पढमे पक्खे' प्रथमो मासः प्रथमः पक्षः 'मग्गसिरबहुले' मार्गशीर्षमासस्य कृष्णपक्षः 'तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स' तस्य मार्गशीर्षबहुलस्य 'दसमीपक्खेणं' दशमीदिवसे 'पाईणगामिणीए छायाए' पूर्वदिग्गामिन्यां छायायां 'पोरिसीए अभिनिविट्टाए' पौरुष्यां पाश्चात्यपौरुष्यामभिनिवृत्तायां जातायां 'पमाणपत्ताए' प्रमाणप्राप्तायां, न तु न्यूनाधिकायां 'सुव्वएणं दिवसे' सुव्रताख्ये दिवसे 'विजएणं मुहुत्तेणं' विजयाख्ये मुहूर्त्ते 'चंदप्पभाए सिबिआए' चन्द्रप्रभायां पूर्वोक्तायां शिबिकायां कृतषष्ठतपाः विशुद्ध्यमानलेश्याकः पूर्वाभिमुखः सिंहासने निषीदति, शिबिकारूढस्य च प्रभोर्दक्षिणतः कुलमहत्तरिका हंसलक्षणं पटशाटकमादाय, वामपार्श्वे च प्रभोरम्बधात्री दीक्षोपकरणमादाय पृष्ठे चैका वरतरुणी स्फारशृङ्गारा धवलच्छत्रहस्ता, ईशानकोणे चैका पूर्णकलशहस्ता, अग्निकोणे चैका मणिमयतालवृन्तहस्ता भद्रासने निषीदति; ततः श्रीनन्दिनृपादिष्टाः पुरुषाः यावत् शिबिकामुत्पाटयन्ति, तावत् शक्रो दाक्षिणात्यामुपरितनीं बाहाम्, ईशानेन्द्र औत्तराहामुपरितनीं बाहां, चमरेन्द्रो दाक्षिणात्यामधस्तनीं बाहां, बलीन्द्र औत्तराहाम् अधस्तनीं बाहां, शेषाश्च भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेन्द्राश्चञ्चलकुण्डलाद्याभरणकिरणरमणीयाः पञ्चवर्णपुष्पवृष्टिं कुर्वन्तो, दुन्दुभीस्ताडयन्तो यथार्हं शिबिकामुत्पाटयन्ति। ततः शक्रेशानौ तां बाहां त्यक्त्वा भगवतश्चामराणि वीजयतः, तदा च भगवति शिबिकारूढे प्रस्थिते सति शरदि पद्मसर इव, पुष्पितम् अतसीवनमिव, कर्णिकावनमिव, चम्पकवनमिव, तिलकवनमिव, रमणीयं गगनतलं सुरवरैरभूत्, किञ्च—निरन्तरं वाद्यमानभम्भाभेरीमृदङ्गदुन्दुभिशङ्खाद्यनेकवाद्यध्वनिर्गगनतले भूतले च प्रससार। तन्नादेन च नगरवासिन्यस्त्यक्तस्वस्वकार्या नार्यः समागच्छन्त्यो विविधचेष्टाभिर्जनान् विस्मापयन्ति स्म। (कल्प०) (इति 'कोउयदंसण' शब्दे तृतीयभागे ६७० पृष्ठे गतम्।) इत्थं नागरनागरीनिरीक्ष्यमाणविभवप्रकर्षस्य भगवतः पुरतः प्रथमतो रत्नमयान्यष्टौ मङ्गलानि क्रमेण प्रस्थितानि, तद्यथा–स्वस्तिकः १ श्रीवत्सो २ नन्द्यावर्तो ३ वर्द्धमानकं ४ भद्रासनं ५ कलशो ६ मत्स्ययुग्मं ७ दर्पणश्च ८॥ ततः क्रमेण पूर्णकलशभृङ्गारचामराणि, ततो महती वैजयन्ती, ततश्छत्रं, ततो मणिस्वर्णमयं सपादपीठं सिंहासनं, ततोऽष्टशतमारोहरहितानां वरकुञ्जरतुरगाणां, ततस्तावन्तो घण्टापताकाभिरामाः शस्त्रपूर्णा रथाः, ततस्तावन्तो वरपुरुषाः, ततः क्रमेण हय १ गज २ रथ ३ पदात्यनीकानि ४ ततो लघुपताकासहस्रपरिमण्डितः सहस्रयोजनोच्चो महेन्द्रध्वजः, ततः खड्गग्राहाः, कुन्तग्राहाः, पीठफलकग्राहाः, ततो हासकारकाः, नर्तनकारकाः कान्दर्पिका जयजयशब्दं प्रयुञ्जानास्तदनन्तरं बहव उग्रा भोगा राजन्याः क्षत्रियास्तलवरा माडम्बिकाः कौटुम्बिकाः श्रेष्ठिनः, सार्थवाहाः, देवा देव्यश्च स्वामिनः पुरतः प्रस्थिताः, तदनन्तरं 'सदेवमणुआसुराए' देवमनुजाऽसुरसहितया 'परिसाए' स्वर्गमर्त्यपातालवासिन्या पर्षदा 'समणुगम्ममाण' सम्यग् अनुगम्यमानं 'मग्गे' अग्रतः 'संखिय' शंखिकाः शंखवादकाः 'चक्किय' चाक्रिकाश्चक्रप्रहरणधारिणः 'लंगलिय' लाङ्गलिका गलावलम्बितसुवर्णादिमयलाङ्गलाकारधारिणो भटविशेषाः। 'मुहमंगलिय' मुखे प्रियवक्तारश्चाटुकारिण इत्यर्थः। 'वद्धमाण' वर्द्धमानाः स्कन्धारोपितपुरुषाः पुरुषाः 'पूसमाण' पुष्यमाणा मागधाः 'घंटियगणेहिं' घण्टया चरन्तीति घाण्टिकाः 'राउलिया' इति लोके प्रसिद्धाः, एतेषां गणैः परिवृतं च भगवन्तं प्रक्रमात् कुलमहत्तरादयः स्वजनाः 'ताहिं इट्ठाहिं ०जाव वग्गूहिं' ताभिरिष्टादिविशेषणविशिष्टाभिर्वाग्भिः 'अभिनंदमाणा य अभिथुव्वमाणा य' अभिनन्दन्तः अभिष्टुवन्तश्च 'एवं वयासी' एवमवादिषुः। ॥ ११३ ॥ 'जय जय नंदा' जय जयवान् भव, हे समृद्धिमन्! 'जय जय भद्दा भद्दं ते' जय जयवान् भव, हे भद्र! भद्रकारक! ते–तुभ्यं भद्रमस्तु। किञ्च–'अभग्गेहिं नाणदंसणचरित्तेहिं' अभग्नैर्निरतिचारैर्ज्ञानदर्शनचारित्रैः 'अजियाइं जिणाहि इंदियाइं' अजितानि इन्द्रियाणि जय–वशीकुरु 'जियं च पालेहि समणधम्मं' जितं च स्ववशीकृतं पालय श्रमणधर्मं 'जियविग्घो वि अ वसाहि तं देवसिद्धिमज्झे' जितविघ्नोऽपि च हे देव! प्रभो! त्वं वस, कुत्र सिद्धिमध्ये, अत्र सिद्धिशब्देन श्रमणधर्मस्य वशीकारस्तस्य मध्यं लक्षणया प्रकर्षस्तत्र त्वं निरन्तरायं तिष्ठेत्यर्थः। 'निहणाहि रागदोसमल्ले' रागद्वेषमल्लौ निजहि—निगृहाण तयोर्निग्रहं कुरु इत्यर्थः, केन 'तवेणं' तपसा, बाह्याभ्यन्तरेण, तथा 'धिइधणियबद्धकच्छे' धृतौ संतोषे धैर्ये वा अत्यन्तं बद्धकक्षः सन् 'मद्दाहि अट्ठ कम्मसत्तू' अष्ट कर्मशत्रून् मर्दय, परं केनेत्याह—'झाणेणं उत्तमेणं सुक्केणं' ध्यानेन उत्तमेन शुक्लेनेत्यर्थः, तथा। 'अप्पमत्तो हराहि आराहणपडागं च वीर तेलुक्क रंगमज्झे' हे वीर! अप्रमत्तः सन् त्रैलोक्यम् एव यो रङ्गो मल्लयुद्धमण्डपस्तस्य मध्ये आराधनपताकामाहर—गृहाण। यथा—कश्चिन्मल्लः प्रतिमल्लं विजित्य जयपताकां गृह्णाति, तथा त्वं कर्मशत्रून् विजित्य आराधनपताकां गृहाण इति भावः 'पावय वितिमिरमणुत्तरं केवलवरनाणं' प्राप्नुहि च वितिमिरं ति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिरराहितमनुत्तरमनुपमं केवलवरज्ञानं, 'गच्छ य मुक्खं परं' पयं ' गच्छ च मोक्षं परमं पदं, केन ' जिणवरोवइट्ठेण मग्गेण अकुडिलेण ' जिनवरोपदिष्टेन अकुटिलेन मार्गेण, अथ किं कृत्वेत्याह—' हंता परीसहचमुं ' हत्वा कां ? परीषहसेनां ' जय जय खत्तियवरवसहा ' जय जय क्षत्रियवरवृषभ ! ' बहूइं दिवसाइं ' बहून् दिवसान् ' बहूइं पक्खाइं ' बहून् पक्षान् ' बहूइं मासाइं ' बहून् मासान् ' बहूइं उऊइं ' बहून् ऋतून् मासद्वयप्रमितान् ' बहूइं अयणाइं ' बहूनि अयनानि , षाण्मासिकानि दक्षिणोत्तरायणलक्षणानि ' बहूइं संवच्छराइं ' बहून् संवत्सरान् यावत् ' अभीए परीसहोवसग्गाणं ' परीषहोपसर्गेभ्योऽभीतः सन् ' खंत्तिखमे भयभेरवाणं ' भयभैरवाणां विद्युत्सिंहादिकानां क्षान्त्या क्षमो , न त्वसामर्थ्यादिना , एवंविधः सन् त्वं जय , अपरं च ' धम्मे ते अविग्घं भवउ त्ति कट्टु ' ते- तव धर्मे अविघ्नं-विघ्नाभावोऽस्तु , इति कृत्वा इत्युक्त्वा ' जय जय सद्दं पउंजंति ' जयजयशब्दं प्रयुञ्जन्ति ॥ ११४ ॥ ' तए णं समणे भगवं महावीरे ' ततः श्रमणो भगवान् महावीरः क्षत्रियकुण्डग्रामनगरमध्येन भूत्वा यत्र ज्ञातखण्डवनं, यत्राशोकपादपस्तत्र उपागच्छतीति योजना । अथ किंविशिष्टः सन् ' नयणमालासहस्सेहिं ' नयनमालासहस्रैः ' पिच्छिज्जमाणे पिच्छिज्जमाणे ' प्रेक्ष्यमाणः प्रेक्ष्यमाणः , पुनः पुनः विलोक्यमानसौन्दर्यः , पुनः किंविशि० ' वयणमालासहस्सेहिं ' वदनमालासहस्रैः श्रेणिस्थितलोकानां मुखपङ्क्तिसहस्रैः ' अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे ' पुनः पुनः अभिष्टूयमानः, पुनः किंविशि० ' हिअयमालासहस्सेहिं ' हृदयमालासहस्रैः ' उन्नंदिज्जमाणे उन्नंदिज्जमाणे ' उन्नन्द्यमानः २, जयतु जीवतु इत्यादि ध्यानेन समृद्धिं प्राप्यमाणः, पुनः किंविशि० ' मणोरहमालासहस्सेहिं ' मनोरथमालासहस्रैः ' विच्छिप्पमाणे २' विशेषेण स्पृश्यमानः , वयमेतस्य सेवका अपि भवामस्तदपि वरमिति चिन्त्यमानः, पुनः किंवि०-'कंतिरूवगुणेहिं' कान्तिरूपगुणैः ' पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे' प्रार्थ्यमानः प्रार्थ्यमानः स्वामित्वेन-भर्तृत्वेन वाञ्छ्यमान इत्यर्थः, पुनः किंवि०' अंगुलिमालासहस्सेहिं'अङ्गुलिमालासहस्रैः 'दाहिणहत्थेणं बहूणं नरनारीसहस्साणं ' दक्षिणहस्तेन बहूनां नरनारीसहस्राणाम् ' अंजलिमालासहस्साइं ' अञ्जलिमालासहस्राणि नमस्कारान् ' पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे ' प्रतीच्छन् प्रतीच्छन् गृह्णन् , पुनः किंवि०-' भवणपंतिसहस्साइं' भवनपङ्क्तिसहस्राणि ' समइक्कमाणे समइक्कमाणे ' समतिक्रामन् समतिक्रामन् , पुनः किंवि० ' तंतीतलतालतुडियगीयवाइयरवेणं ' तन्त्री-वीणा, तलताला:-हस्तताला:, त्रुटितानि वादित्राणि, गीतं-गानं , वादितं—वादनं , तेषां रवेण शब्देन, पुनः कीदृशेन—' महुरेण य मणहरेणं ' मधुरेण च मनोहरेण , पुनः कीदृशेन-' जयजयसद्दघोसमीसिएणं ' जयजयशब्दस्य यो घोष उद्घोषणं , तेन मिश्रितेन , पुनः कीदृशेन—' मंजुमंजुणा घोसेण य ' मञ्जुमञ्जुना घोषेण च , अतिकोमलेन जनस्वरेण ' पडिवुज्झमाणे पडिवुज्झमाणे ' सावधानीभवन् सावधानीभवन् ' सव्विड्ढीए ' सर्वर्द्ध्या समस्तच्छत्रादिराजचिह्नरूपया ' सव्वजुईए ' सर्वद्युत्या आभरणादिसम्बन्धिन्या कान्त्या ' सव्वबलेणं ' सर्वबलेन हस्तितुरगादिरूपकटकेन ' सव्ववाहणेणं ' सर्ववाहनेन करभवेसरशिबिकादिरूपेण ' सव्वसमुदएणं ' सर्वसमुदयेन महाजनमेलापकेन ' सव्वायरेणं ' सर्वादरेण सर्वौचित्यकरणेन ' सव्वविभूइए ' सर्वविभूत्या सर्वसंपदा ' सव्वविभूसाए ' सर्वविभूषया समस्तशोभया ' सव्वसंभमेणं ' सर्वसम्भ्रमेण प्रमोदजनितौत्सुक्येन ' सव्वसंगमेणं ' सर्वसङ्गमेन सर्वस्वजनमेलापकेन ' सव्वपगइएहिं ' सर्वप्रकृतिभिः, अष्टादशभिर्निगमादिभिः नगरवास्तव्यप्रजाभिः ' सव्वनाडएहिं ' सर्वनाटकैः ' सव्वतालायरेहिं ' सर्वतालाचरैः ' सव्वावरोहेणं ' सर्वावरोधेन सर्वान्तःपुरेण ' सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसाए ' सर्वपुष्पगन्धमाल्यालङ्कारविभूषया प्रतीतया ' सव्वतुडियसद्दसंनिनाएणं ' सर्वत्रुटितशब्दानां यः शब्दः संनिनादश्च प्रतिरवस्तेन , सर्वत्वं च स्तोकानां समुदाये स्तोकैरपि स्यात्तत आह-' महया इड्ढीए ' महत्या ऋद्ध्या ' महया जुईए ' महत्या द्युत्या ' महया बलेणं' महता बलेन ' महया समुदएणं ' महता समुदयेन ' महया वरतुडियजमगसमगप्पवाइएणं ' महता उच्चैस्तरेण वरत्रुटितानि प्रधानवादित्राणि तेषां ' जमगसमगं ' समकालं प्रवादनं यत्र एवंविधेन ' संखपणवपडहभेरीझल्लरीखरमुहिहुडुक्कदुंदुहिनिग्घोसनाइयरवेणं ' शंखः-प्रतीतः, पणवः—मृत्पटहः, पटहः-काष्ठपटहः, भेरी-ढक्का, झल्लरी—प्रतीता, खरमुखी-काहला, हुडुक्कः त्रिवलितुल्यवाद्यविशेषः. दुन्दुभिर्देववाद्यं, तेषां निर्घोषः, तस्य नादितः प्रतिशब्दः तद्रूपेण रवेण-शब्देन युक्तम् , एवंरूपया ऋद्ध्या व्रताय व्रजन्तं भगवन्तं पृष्ठतश्चतुरङ्गसैन्यपरिकलितो ललितच्छत्रचामरविराजितो नन्दिवर्धननृपो गच्छति । पूर्वोक्ताडम्बरेण युक्तो भगवान् ' कुंडपुरं नगरं मज्झं मज्झेणं' क्षत्रियकुण्डनगरस्य मध्यभागेन ' निग्गच्छइ ' निर्गच्छति ' निग्गच्छित्ता ' निर्गत्य ' जेणेव नायसंडवणे उज्जाणे ' यत्रैव ज्ञातखण्डवनम् इति नामकम् उद्यानमस्ति 'जेणेव असोगवरपायवे ' यत्रैव अशोकनामा वरपादपः श्रेष्ठवृक्षः ' तेणेव उवागच्छइ' तत्रैव उपागच्छति ॥११५॥ ' उवागच्छित्ता ' उपागत्य ' असोगवरपायवस्स ' अशोकवरपादपस्य ' अहे सीयं ठावेइ ' अधस्तात् शिबिकां स्थापयति ' ठावित्ता ' स्थापयित्वा ' सीयाओ पच्चोरुहइ ' शिबिकातः प्रत्यवतरति ' पच्चोरुहित्ता ' प्रत्यवतीर्य ' सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयइ ' स्वयमेव आभरणमाल्यालङ्कारान् उत्तारयति ' ओमुइत्ता ' उत्तार्य, तच्चैवम्—' अङ्गुलीभ्यश्च मुद्रावलिं पाणितो, वीरवलयं भुजाभ्यां झटित्यङ्गदे । हारमथ कण्ठतः कर्णतः कुण्डले, मस्तकान्मुकुटमुन्मुञ्चति श्रीजिनः ॥ १ ॥ ' तानि चाभरणानि कुलमहत्तारिका हंसलक्षणपट्टशाटकेन गृह्णाति, गृहीत्वा च भगवन्तमेवमवादीत्—"इक्खागकुलसमुप्पन्ने सि णं तुमं जाया, कासवगुत्ते सि णं तुमं जाया, उदितोदितनायकुलनहयलमिअङ्कसिद्धत्थजच्चखत्तिअसुए सि णं तुमं जाया , जच्चखत्तिआणीए तिसलाए सुए सि णं तुमं जाया.देविन्दनरिन्दपहिअकित्ती सि णं तुमं जाया, एत्थ सिग्घं चंकमिअव्वं, गरुअं आलम्बिअव्वं असिधारामहव्वयं चरिअव्वं जाया , परिक्कमिअव्वं जाया , अस्सिं च णं अ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ट्ठे नो पमाइअव्वं " इत्यादि उक्त्वा वन्दित्वा नमस्कृत्य एकतोऽपक्रामति। ततश्च भगवान् एकया मुष्ट्या कूर्चं, चतसृभिश्च ताभिः शिरोजान्, एवं 'सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ' स्वयमेव पञ्चमौष्टिकं लोचं करोति। (कल्प० १ अधि० ५ क्षण।)

(२०) शक्रश्च देवराजो हंसलक्षणेन पटशाटकेन केशान् प्रतीच्छति भगवतामुपरि देवदूष्यवस्त्रं च स्थापयति—

जिणवरमणुन्नवित्ता, अंजणघणरुयगविमलसंकासा।
केसा खणेण नीया, खीरसरिसनामयं उदहिं ॥ १०७ ॥

शक्रेण जिनवरं भगवन्तं वर्द्धमानस्वामिनमनुज्ञाप्य अञ्जनं प्रसिद्धं घनो—मेघः रुचकः—कृष्णमणिविशेषः तेषामिव विमलः संकाशः—छायाविशेषो येषां ते अञ्जनघनरुचकविमलसंकाशाः, के ते इत्याह—केशाः किं क्षणेन नीताः क्षीरसदृशनामानमुदधिं; क्षीरोदधिमित्यर्थः। आ० म० १ अ०।

'करित्ता' तथा कृत्वा च 'छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं' षष्ठेन भक्तेन अपानकेन 'हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं चंदेणं जोगमुवागएणं' उत्तराफाल्गुन्यां चन्द्रयोगे सति 'एगं देवदूसमादाय' शक्रेण वामस्कन्धे स्थापितम् एकं देवदूष्यमादाय 'एगे' एको रागद्वेषसहायविरहात्, 'अबीए' अद्वितीयः, यथाहि ऋषभश्चतुःसहस्या राज्ञा, मल्लिपार्श्वौ त्रिभिस्त्रिभिः शतैर्वासुपूज्यः षट्शत्या शेषाश्च सहस्रेण सह प्रव्रजितास्तथा भगवान् न केनापि सहेत्यतः अद्वितीयः, 'मुंडे भवित्ता' द्रव्यतः शिरःकूर्चलोचनेन भावतः क्रोधाद्यपनयनेन मुण्डो भूत्वा 'अगाराओ अणगारियं पव्वइए' अगारात्-गृहात् निष्क्रम्य अनगारितां—साधुतां प्रव्रजितः प्रतिपन्नः, तद्विधिश्चायम्—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कृतपञ्चमौष्टिकलोचो भगवान् यदा सामायिकम् उच्चरितुं वाञ्छति तदा शक्रः सकलमपि वाद्यकोलाहलं निवारयति, ततः प्रभुः "नमो सिद्धाणं" इति कथनपूर्वकं "करेमि सामाइअं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामी" त्यादि उच्चरति—न तु 'भंते' त्ति भणति, तथाकल्पत्वात्। कल्प० १ अधि० ५ क्षण। चारित्रप्रतिपत्तिकाले स्वभावतो भुवनभूषणस्य भगवतः शक्रो देवदूष्यं वस्त्रमुपनीतवान्। अत्रान्तरे कथानकम्—"एगेण देवदूसेणं पव्वइए तं जाहे अंसे करेइ एत्थंतरापि उवयं सो धिज्जाइतो उवट्ठितो सो य दाणकाले कहिं पि य वागते—अन्नो पच्छा आगतो भज्जाए अंबाडिते सामिणा एवं दाणं दत्तं तुमं पुण कहिं विहिंसिज्जाहि पुण एत्थंतरे वि ल भेज्जासि, ततो सो आगतो भणइ—जहा मम. सामी न किंचि तुब्भेहिं दिन्नं इयाणिं पि देहि त्ति ताहे सामिणा तस्स दूसस्स अद्धं दिन्नं, सव्वं परिवत्तं ति अन्नं मे नऽत्थि तेण तुन्नागस्स उवणीयं, जहा एयस्स दसिया वंधाहि तेण पुच्छितो इमं कतो लद्धं, सो भणइ—भगवता दिन्नं, तुन्नागो भणइ—तं पि से अद्धं आणेहि, जया पडिहियं भयवतो असाता तो णं अहं तुन्नामि ताहे लक्खं मोल्लं भविस्सइ त्ति ता तुज्झ वि अद्धं, मज्झ वि अद्धं पडिवन्नं ताहे पउलग्गित्तो सेसमुवरि भणीहामि।

(२१) तस्य भगवतश्चारित्रप्रतिपत्तिलमनन्तरमेव मनःपर्यायज्ञानमुदपादि सर्वतीर्थकृतां वाऽयं क्रमो यत आह (भाष्यकारः)—

तिहिँ नाणेहिँ समग्गा, तित्थयरा जाव होंति गिहवासे।
पडिवन्नम्मि चरित्ते, चउनाणी जाव छउमत्था ॥११०॥

त्रिभिर्ज्ञानैः-मतिश्रुतावधिभिः समग्राः-सम्पूर्णास्तीर्थकरा यावद् गृहावासे भवन्ति वसन्तीत्यर्थः, प्रतिपन्ने पुनश्चारित्रे चतुर्ज्ञानिनो भवन्ति, कियन्तं कालं यावदित्याह-यावच्छद्मस्थास्तावच्चतुर्ज्ञानिनः। आ० म० १ अ०।

एवं च चारित्रग्रहणानन्तरमेव भगवतश्चतुर्थं ज्ञानमुत्पद्यते ततः शक्रादयो देवा भगवन्तं वन्दित्वा नन्दीश्वरयात्रां कृत्वा स्वं स्वं स्थानं जग्मुः। कल्प० १ अधि० ५ क्षण। ततश्चतुर्ज्ञानी भगवान् बन्धुवर्गमापृच्छ्य च विहारार्थं प्रस्थितो' बन्धुवर्गोऽपि दृष्टिविषयं यावत् तत्र स्थित्वा—

"त्वया विना वीर ! कथं व्रजामो,
गृहेऽधुना शून्यवनोपमाने।
गोष्ठीसुखं केन सहाऽऽचरामो,
भोक्ष्यामहे केन सहाऽथ बन्धो ! ॥ १ ॥
सर्वेषु कार्येषु च वीरवीरे—
त्यामन्त्रणाद्दर्शनतस्तवाऽऽर्य !।
प्रेमप्रकर्षादभजाम हर्षं,
निराश्रयाश्चाथ कमाश्रयामः ॥ २ ॥
अतिप्रियं बान्धवदर्शनं ते,
सुधाञ्जनं भावि कदास्मदक्ष्णोः।
नीरागचित्तोऽपि कदाचिदस्मान्,
स्मरिष्यसि प्रौढगुणाभिराम ! ॥ ३ ॥"

इत्यादि वदन् कष्टेन निवृत्य साश्रुलोचनः स्वगृहं जगाम। किञ्च-प्रभुर्दीक्षामहोत्सवे यद्देवैर्गोशीर्षचन्दनादिना पुष्पैश्च पूजितोऽभूत्, साधिकमासचतुष्कं यावत् तदवस्थेन च गन्धेन आकृष्टा भ्रमरा आगत्य गाढं त्वचं दशन्ति, युवानश्च गन्धपुटीं याचन्ते, मौनवति च भगवति रुष्टास्ते दुष्टानुपसर्गान्-कुर्वन्ति, स्त्रियोऽपि भगवन्तम् अद्भुतरूपं तथा सुगन्धशरीरं च निरीक्ष्य कामपरवशा अनुकूलान् उपसर्गान् कुर्वन्ति, भगवाँस्तु निष्प्रकम्पः सर्वं सहमानो विहरति। तस्मिन् दिने च मुहूर्त्तावशेषे कुमारग्रामं प्राप्तस्तत्र रात्रौ कायोत्सर्गेण स्थितः, इतश्च तत्र कश्चिद् गोपः सर्वं दिनं हले वृषान् वाहयित्वा सन्ध्यायां तान् प्रभुपार्श्वे मुक्त्वा गोदोहाय गृहं गतः, वृषभास्तु चरितुं गताः, स चागत्य प्रभुं पृष्टवान्-देवार्य ! क मे वृषाः ? अजल्पति च प्रभौ अयं न वेत्तीति वने विलोकितुं लग्नः, वृषास्तु रात्रिशेषे स्वयमेव प्रभुपार्श्वे आगताः, गोपोऽपि तत्रागतस्तान् दृष्ट्वा अहो ! जानताऽपि अनेन समग्रां रात्रिमहं भ्रामितः इति कोपात् सेहकमुत्पाट्य प्रहर्तुं धावितः। इतश्च शक्रस्तं वृत्तान्तमवधिना ज्ञात्वा गोपं शिक्षितवान्।

(२२) अथ तत्र शक्रः प्रभुं विज्ञपयामास प्रभो ! तवोपसर्गा भूयांसः सन्ति, ततो द्वादश वर्षं यावत् वैयावृत्त्यनिमित्तं तवान्तिके तिष्ठामि, ततः प्रभुरवादीद्देवेन्द्र ! कदाप्येतन्न भूतं, न भवति न भविष्यति च। यत् कस्यचिद्देवेन्द्रस्य असुरेन्द्रस्य वा साहाय्येन तीर्थङ्कराः केवलज्ञानमुत्पादयन्ति, किन्तु-स्वपराक्रमेणैव केवलज्ञानमुत्पादयन्ति,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततः शक्रोऽपि मरणान्तोपसर्गवारणाय प्रभोर्मातृष्वस्रेयं व्यन्तरं वैयावृत्यकरं स्थापयित्वा त्रिदिवं जगिमवान्। ततः प्रभुः प्रातः कोल्लाकसन्निवेशे बहुलब्राह्मणगृहे मया सपात्रो-धर्मः प्रज्ञापनीय इति प्रथमपारणां गृहस्थपात्रे परमान्नेन च-कार, तदा च-चेलोत्क्षेपः (१) गन्धोदकवृष्टिः (२) दुन्दुभि-नादः (३) अहो दानमहो दानमित्युद्घोषणा (४) वसुधारा-वृष्टि (५) श्चेति पञ्च दिव्यानि प्रादुर्भूतानि, एषु वसुधारा-स्वरूपं चेदम्-"अद्धत्तेरस कोडी,उक्कोसा तत्थ होइ वसुधा-रा। अद्धत्तेरस लक्खा, जहन्निआ होइ वसुहारा॥१॥" ततः प्रभुर्विहरन् मोराकसन्निवेशे दूइज्जन्ततापसाश्रमे गत-स्तत्र सिद्धार्थभूपमित्रः कुलपतिः प्रभुमुपस्थितः 'प्रभुणापि पूर्वाभ्यासान्मिलनाय बाहू प्रसारितौ,तस्य प्रार्थनया च एकां रात्रिं तत्र स्थित्वा नीरागचित्तोऽपि तस्याग्रहेण तत्र चतुर्मासा ऽवस्थानमङ्गीकृत्य अन्यतो विजहार। अष्टौ मासान् विहृत्य पुनर्वर्षार्थं तत्रागतः,आगत्य च कुलपतिसमर्पिते तृणकुटीर-के तस्थौ तत्र च बहिस्तृणप्राप्त्या क्षुधिता गावोऽन्यै-स्तापसैः स्वस्वकुटीरकान्निवारिताः सत्यः प्रभुभूषितं कुटीरं निःशङ्कं खादन्ति, ततः कुटीरस्वामिना कुलपतेः पुर-तो रावाः कृताः, कुलपतिरप्यागत्य भगवन्तमुवाच—हे-वर्द्धमान! पक्षिणोऽपि स्वनीडरक्षणे दक्षा भवन्ति,त्वं तावत् राजपुत्रोऽपि स्वमाश्रयं रक्षितुमशक्तोऽसि। ततः प्रभुर्मयि सति एषामप्रीतिरिति विचिन्त्याषाढशुक्लपूर्णिमाया आ-रभ्य पक्षे अतिक्रान्ते वर्षायामेव इमान् पञ्च अभिग्रहान् अभिगृह्य अस्थिकग्रामं प्रति प्रस्थितः। अभिग्रहाश्चेमे-'ना-प्रीतिमद्गृहे वासः, स्थेयं प्रतिमया सदा २। न गेहिविनयः कार्यो ३, मौनं ४ पाणौ च भोजनम् ५॥१॥'

(२३) वीरो दीक्षाकालात्कियदनन्तरमचेलो जातः-

समणे भगवं महावीरे संवच्छरं साहियं मासं चीवरधारी हुत्था, तेणं परं अचेलए पाणिपडिग्गहिए॥११७॥

'समणे भगवं महावीरे' श्रमणो भगवान् महावीरः 'संव-च्छरं साहियं मासं' साधिकं—मासाधिकसंवत्सरं यावत् 'चीवरधारी हुत्था' चीवरधारी अभूत्'तेणं परं अचेलए' तेन परं ततः उर्ध्वं साधिकमासाधिकवर्षादूर्ध्वं च अ-चेलकः 'पाणिपडिग्गहिए' पाणिपतद्ग्रहः करपात्रश्चाभवत्, तत्र अचेलकभवनं चैवम्—साधिकमासाधिकसंवत्सरादूर्ध्वं विहरन् दक्षिणवाचालपुरासन्नसुवने वालुकानदीतटे कण्ट-के विलग्य देवदूष्यार्द्धे पतिते सति भगवान् सिंहावलो-कनेन तदद्राक्षीत्, ममत्वेनेति केचित्, स्थण्डिलेऽस्थण्डिले वा पतितमिति विलोकनायेत्यन्ये, असत्सन्ततेर्वस्त्रपात्रं सुलभं दुर्लभं वा भावीति विलोकनार्थमिति अपरे, वृद्धा-स्तु कण्टके वस्त्रविलगनात् स्वशासनं कण्टकबहुलं भवि-ष्यतीति विज्ञाय निर्लोभत्वात् तद्वस्त्रार्द्धं न जग्राहेति, ततः पितुर्मित्रेण ब्राह्मणेन गृहीतम्। अर्द्धं तु तस्यैव पूर्वं प्रभुणा दत्तमभूत्। कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

(२४) वीरस्योपसर्गाः—

समणे भगवं महावीरे साइरेगाइं दुवालसवासाइं निच्चं वोसट्ठकाए वियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा--दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तिरिक्खजोणिआ वा, अणुलोमा वा, पडिलोमा वा, ते उप्पन्ने सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ॥११८॥

'समणे भगवं महावीरे' श्रमणो भगवान् महावीरः' सा-इरेगाइं दुवालसवासाइं' सातिरेकाणि द्वादश वर्षाणि या-वत्'निच्चं वोसट्ठकाए' नित्यं दीक्षाग्रहणादनु यावज्जीवं व्युत्सृष्टकायः' परिकर्मणावर्जनात्' वियत्तदेहे' व्यक्तदेहः परीषहसहनात्, एवंविधः सन् प्रभुः'जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति' ये केचित् उपसर्गा उत्पद्यन्ते, 'तं जहा' तद्यथा 'दिव्वा वा' दिव्याः देवकृताः' माणुस्सा वा' मानुष्याः मनु-ष्यकृताः' तिरिक्खजोणिआ वा' तैर्यग्योनिकाः तिर्यक् कृताः' अणुलोमा वा' अनुकूलाः, भोगार्थं प्रार्थनादिकाः 'पडिलोमा वा' प्रतिकूलाः प्रतिलोमाः ताडनादिकाः'ते उप्पन्ने सम्मं सहइ' तान् उत्पन्नान् सम्यक् सहते भयाऽ-भावेन' खमइ'क्षमते क्रोधाभावेन' तितिक्खइ' तितिक्षते, दैन्याकर इव'अहियासेहिते'अध्यासयति निश्चलतया॥११८॥ कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

तओ णं समणे भगवं महावीरे इमं एयारूवे अभिग्गहं अ-भिगिण्हित्ता वोसिट्ठचत्तदेहे दिवसे मुहुत्तसेसे कम्मारगामं समणुपत्ते तओ णं समणे भगवं महावीरे वोसिट्ठचत्तदेहे अणुत्तरेणं आलएणं अणुत्तरेणं विहारेणं एवं संजमेणं पग्ग-हेणं संवरेणं तवेणं बंभचेरवासेणं खंतीए मुत्तीए समिइए गुत्तीए तुट्ठीए ठाणेणं कमेणं सुचरियफलनिव्वाणमुत्तिमग्गे णं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। एवं वा विहरमाणस्स जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति-दिव्वा वा माणुस्सा वा तिरिच्छिया वा ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे अणाउले अव्वहिए अदीणमाणसे तिविहमणवयणकायगुत्ते सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ।(सू०२७६४)आचा०२श्रु०३चू०।

बहिआ य णायसंडे, आपुच्छित्ताण नायए सव्वे।
दिवसे मुहुत्तसेसे, कुमारगामं समणुपत्तो॥१११॥

बहिर्धा च कुण्डपुरात् ज्ञातखण्डे उद्याने, आपृच्छ्य ज्ञातकान्—स्वजनान् सर्वान्—यथासन्निहितान्, त-स्मात् निर्गतः, कर्मारग्रामगमनायेति वाक्यशेषः। तत्र च पथद्वयम्। तत्र च एको जलेन, अपरः स्थल्याम्,तत्र भग-वान् स्थल्यां गतवान्, गच्छंश्च दिवसे मुहूर्त्तशेषे कर्मा-रग्रामं समनुप्राप्त इति गाथार्थः। तत्र प्रतिमया स्थित इति। अत्रान्तरे—"तत्थेगो गोवो, सो दिवसं बइल्ले वाहित्ता गामसमीवं पत्तो, ताहे चिंतेइ एए गामसमीवे चरंतु, अहं पि ता गावीओ दुहामि, सोऽवि ताव अन्तो परिकम्मं करेइ, तेऽवि बइल्ला अडविं चरन्ता पविट्ठा, सो गोवो निग्गओ, ताहे सामिं पुच्छइ-कहिं बइल्ला?, ताहे सामी तु-ण्हिक्को अच्छइ, सो चिंतेइ-एस न याणइ, तो मग्गिउं प-यत्तो सव्वरत्तिं पि, तेऽवि बइल्ला सुचिरं भमित्ता गामस-मीवमागया माणुसं दट्ठूण रोमंथंता अच्छंति, ताहे सो आगओ, ते पेच्छइ तत्थेव निविट्ठे, ताहे आसुरुत्तो ए-एण दामएण आहणामि, एएण मम एए हरिआ, पभाए घेत्तूण वच्चिहामि त्ति। ताहे सक्को देवराया चिंतेइ-किं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भज्ज सामी पढमदिवसे करेइ ? जाव पेच्छइ गोवं धावंतं, ताहे सो तेण थंभिओ, पच्छा आगओ, तं तज्जेति-दुरप्पा ! न याणसि सिद्धत्थरायपुत्तो एस पव्वइओ। एयम्मि अंतरे सिद्धत्थो सामिस्स माउसियापुत्तो बालतवोकम्मेणं वाणमंतरो जाएल्लओ, सो आगओ ! ताहे सक्को भणइ--भगवं ! तुब्भ उवसग्गबहुलं, अहं बारस वरिसाणि तुब्भं वेयावच्चं करेमि। ताहे सामिणा भणिअं--न खलु देविंदा ! एयं भूअं वा (भव्वं वा भविस्सं वा) जण्णं अरहंता देविंदाण वा असुरिंदाण वा निस्साए कट्टु केवलनाणं उप्पाडेंति, सिद्धिं वा वच्चंति, अरहंता सएण उट्ठाणबलविरियपुरिसकारपरक्कमेणं केवलनाणं उप्पाडेंति। ताहे सक्केण सिद्धत्थो भण्णइ--एस तव नियल्लओ, पुणो य मम वयणं-सामिस्स जो परं मारणंतिअं उवसग्गं करेइ तं वारेज्जसु, एवमस्तु, तेण पडिस्सुअं सक्को पडिगओ सिद्धत्थो ठिओ। तद्दिवसं सामिस्स छट्ठपारणयं, तओ भगवं विहरमाणो गओ कोल्लागसण्णिवेसे, तत्थ य भिक्खट्ठा पविट्ठो बहुलमाहणगेहं, जेणामेव कुल्लाए सन्निवेसे बहुले माहणे। तेण महुघयसंजुत्तेण परमण्णेण पडिलाभिओ। तत्थ पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह--

गोवनिमित्तं सक्क-स्स आगमो वागरेइ देविंदो।
कोल्लाबहुले छट्ठ-स्स पारणे पॅयस वसुहारा ॥४६१॥

ताडनायोद्यतगोपनिमित्तं प्रयुक्तावधेः शक्रस्य देवराजस्य किम् ?, आगमनम् आगमः अभवत्, विनिवार्य च गोपं 'वागरेइ देविंदो' त्ति भगवन्तमभिवन्द्य, व्याकरोति-अभिधत्ते देवेन्द्रो-भगवन् ! तवाहं द्वादश वर्षाणि वैयावृत्त्यं करोमीत्यादि, 'वागरिंसु' वा पाठान्तरं 'व्याकृतिवानिति भावार्थः, सिद्धार्थं वा तत्कालप्राप्तं व्याकृतवान् देवेन्द्रः--भगवान् त्वया न मोक्तव्य इत्यादि। गते देवराजे भगवतोऽपि कोल्लाकसन्निवेशे बहुलो नाम ब्राह्मणः षष्ठस्य--तपोविशेषस्य पारणके, किम् ?, 'पॅयस' इति पायसं समुपनीतवान्, वसुधारेति तद्गृहे वसुधारा पतितेति गाथाक्षरार्थः। कथानकम्-"तओ सामी विहरमाणो गओ मोरागं सन्निवेसं, तत्थ मोराए दुइज्जंता नाम पासंडिगिहत्था, तेसिं तत्थ आवासो, तेसिं कुलवती भगवओ पिउमित्तो, ताहे सो सामिस्स सागएण उवट्ठिओ, ताहे सामिणा पुव्वपओगेण बाहा पसारिआ, सो भणति अत्थि घरा, एत्थ कुमारवर ! अच्छाहि, तत्थ सामीए एगराइअं वसित्ता पच्छा गतो, विहरति, तेण य भणियं-विवित्ताओ वसहीओ, जइ वासारत्तो कीरइ, आगच्छेज्जह अणुग्गहीया होज्जामो, ताहे सामी अट्ठ उउबद्धिए मासे विहरेत्ता वासावासे उवागते तं चेव दूइज्जंतयगामं एति, तत्थेगम्मि उडवे वासावासं ठिओ। पढमपाउसे य गोरूवाणि चारिं अलभंताणि जुण्णाणि तणाणि खायंति, ताणि य घराणि उव्वेल्लेंति, पच्छा ते वारेंति, सामी न वारेइ, पच्छा दूइज्जंतगा तस्स कुलवइस्स साहेंति जहा एस एताणि न णिवारेति, ताहे सो कुलवती अणुसासति, भणति--कुमार ! सउणी वि ताव अप्पणिअं णेड्डं रक्खति, तुमं वारेउ्जासि, सप्पिवासं भणति। ताहे सामी अचियत्तोग्गहो त्ति काउं निग्गओ, इमे य तेण पंच अभिग्गहा गहिआ, तं जहा--अचियत्तोग्गहे न वसियव्वं १, निच्चं वोसट्ठकाएण २, मोणेणं ३, पाणीसु भोत्तव्वं ४, गिहत्थो न वंदियव्वो नऽब्भुट्ठेतव्वो ५, एते पंच अभिग्गहा। तत्थ भगवं अद्धमासं अच्छित्ता तओ पच्छा अट्ठितगामं गतो। तस्स पुण अट्ठिअगामस्स पढमं वद्धमाणगं नाम आसी, सो य किह अट्ठियगामो जाओ ?, धणदेवो नाम वाणिअओ पंचहिं धुरसएहिं गणिमधरिमभेज्जस्सभरिएहिं तेणं तेण आगओ, तस्स समीवे य वेगवती नाम नदी, तं सगडाणि उत्तरंति, तस्स एगो वइल्लो सो मूलधुरे जुप्पति, तावच्चएण ताओ गड्डिओ उत्तिण्णाओ, पच्छा सो पडिओ छिन्नो, सो वाणिअओ तस्स तणपाणिअं पुरओ छड्डेऊण तं अवहाय गओ। सोऽवि तत्थ वालुगाए जेट्ठामूलमासे अतीव उण्हेण तण्हाए छुहाए य परिताविज्जइ, वद्धमाणओ य लोगो तेणं तेण पाणिअं तणं च वहति, न य तस्स कोइ वि देइ, सो गोणो तस्स पओसमावण्णो, अकामतण्हाए, छुहाए य मरिऊणं तत्थेव गामे अग्गुज्जाणे सूलपाणी जक्खो उप्पण्णो, उवउत्तो पासति तं बलीवद्दसरीरं, ताहे रुसिओ मारिं विउव्वति, सो गामो मरिउमारद्धो, ततो अद्दणा कोउगसयाणि करेंति, तह वि ण ठाति, ताहे भिण्णो गामो अण्णगामेसु संकंतो, तत्थवि न मुंचति, १ ताहे तेसिं चिंता जाता--अम्हेहिं तत्थ न नज्जइ कोऽवि देवो वा दाणवो वा विराहिओ, तम्हा तहिं चेव वच्चामो, आगया समाणा नगरदेवयाए विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति बलिउवहारे करेंता समंतओ उद्धमुहा सरणं सरणं ति जं अम्हेहिं सम्मं न चेट्ठिअं तस्स खमह, ताहे अंतलिक्खपडिवण्णो सो देवो भणति--तुम्हे दुरप्पा निरणुकंपा। तेणं तेण य एह जाह य, तस्स गोणस्स तणं वा पाणिअं वा न दिण्णं, अतो नत्थि भे मोक्खो, ततो एहाया पुप्फबलिहत्थगया भणंति--दिट्ठो कोवो पसादमिच्छामो, ताहे भणति-एताणि माणुसअट्ठिआणि पुंजं काऊण उवरिं देवउलं करेह, सूलपाणिं च तत्थ जक्खं बलिवद्दं च एगपासे ठवेह, अण्णे भणंति--तं वइल्लरूवं करेह, तस्स य हेट्ठा, ताणि से अट्ठिआणि निहणह, तेहिं अचिरेण कयं, तत्थ इंदसम्मो नाम पडियरगो कओ। ताहे लोगो पंथिगादि पेच्छइ, पंडरट्ठिअगामं देवउलं च ताहे पुच्छंति अण्णे--कयराओ गामाओ आगता जाह व त्ति, ताहे भणंति-जत्थ ताणि अट्ठियाणि, एवं अट्ठिअगामो जाओ, तत्थ पुण वाणमंतरघरं जो रत्तिं परिवसति सो तेण सूलपाणिणा जक्खेण वाहेत्ता पच्छा रत्तिं मारिज्जइ, ताहे तत्थ दिवसं लोगो अच्छति, पच्छा अण्णत्थ गच्छंति, इंदसम्मोऽवि धूवं दीवगं च दाउं दिवसओ जाति। इतो य तत्थ सामी आगतो, दूतिज्जंतगामपासाओ, तत्थ य सव्वो लोगो एगत्थ पिंडिओ अच्छइ, सामिणा देवकुलिगो अणुण्णविओ, सो भणति--गामो जाणति, सामिणा गामो मिलिओ चेवाणुण्णविओ, गाओ भणति--एत्थ न सक्का वसिउं, सामी भणइ--नवरं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुम्हे अणुजाणह, ते भणंति—ठाह, तत्थेक्केको वस हिं देह, - सामी णेच्छति, जाणति-जहेसो संबुज्झिहिति त्ति, ततो एगकूणे पडिमं ठिओ, ताहे सो इंदसम्मो सूरे धरेंते चेव धूवपुप्फं दाउं कप्पडियकारोडिए सव्वे पलोइत्ता भणति जाह मा विणस्सिहिह, तं पि देवज्जयं भणति-तुब्भे वि णीध, मा मारिहिज्जिहिध, भगवं तुसिणीओ, सो वंतरो चिंतेइ—देवकुलिएण गामेण य भणंतोऽवि न जाति, पेच्छ जं से करेमि, ताहे संझाए चेव भीमं अट्टट्टहासं मुअंतो बीहावेति।

अभिहितार्थोपसंहारायेदं गाथाद्वयमाह—

दूइज्जंतग पिउणो, वयंस तिव्वा अभिग्गहा पंच।
अचियत्तुग्गहि न वसणा-१णिचं वोसट्ठ२मोणेणं॥४६२॥
पाणीपत्तं ४ गिहिवं-दणं च ५, तउ वद्धमाणवेगवई।
धणदेवसूलपाणि-दसम्म वासऽट्ठिअग्गामे॥४६३॥

विहरतो मोराकसन्निवेशं प्राप्तस्य भगवतः तन्निवासी दुइज्जन्तकाभिधानपाषण्डस्थो दूतिज्जन्तक एवोच्यते, पितुः—सिद्धार्थस्य वयस्यः—स्निग्धकः, सोऽभिवाद्य भगवन्तं वसतिं दत्तवान् इति वाक्यशेषः। विहृत्य च अन्यत्र वर्षाकालगमनाय पुनस्तत्रैवागतेन विदितकुलपत्यभिप्रायेण, किम्?, 'तिव्वा अभिग्गहा पंच' त्ति तीव्राः—रौद्राः अभिग्रहाः, पञ्च गृहीता इति वाक्यशेषः। ते चामी 'अचियत्तुग्गहिनवसणं' ति अचियत्तं—देशीवचनम् अप्रीत्यभिधायकं, ततश्च तत्स्वामिनो न प्रीतिर्यस्मिन्नवग्रहे सोऽप्रीत्यवग्रहः तस्मिन् न वसनं; न तत्र मया वसितव्यमित्यर्थः, 'णिचं वोसट्ठमोणेणं' त्ति नित्यं-सदा व्युत्सृष्टकायेन सता मौनेन विहर्त्तव्यम् 'पाणीपत्तं' ति पाणिपात्रभोजिना भवितव्यम्, 'गिहिवंदणं चे' त्ति गृहस्थस्य वन्दनं, चशब्दादभ्युत्थानं च न कर्त्तव्यमिति। एता न अभिग्रहान् गृहीत्वा तथा तस्मान्निर्गत्य 'वासऽट्ठिअग्गामे' त्ति वर्षाकालम् अस्थिग्रामे स्थित इति अध्याहारः। स चास्थिग्रामः, पूर्वं वर्धमानाभिधः खल्वासीत्, पश्चात् अस्थिग्रामसंज्ञामित्थं प्राप्तः, तत्र हि वेगवतीनदी, तां धनदेवाभिधानः सार्थवाहः प्रधानेन गन्त्राऽनेकशकटसहितः समुत्तीर्णः, तस्य च गोरनेकशकटसमुत्तारणतो हृदयच्छेदो बभूव, सार्थवाहः तं तत्रैव परित्यज्य गतः, स वर्धमाननिवासिलोकाप्रतिजागरितो मृत्वा तत्रैव शूलपाणिनामा यक्षोऽभवत्, इष्टभयलोककारितायतने स प्रतिष्ठितः, इन्द्रशर्मनामा प्रतिजागरको निरूपित इत्यक्षरार्थः। एवमन्यासामपि गाथानामक्षरगमनिका स्वबुद्ध्या कार्येति। कथानकशेषम्—" जाहे सो अट्टट्टहासादिणा भगवंतं खोभेउं पवत्तो ताहे सो सव्वो लोगो तं सद्दं सोऊण भीओ, अज्ज सो देवज्जओ मारिज्जइ, तत्थ उप्पलो नाम पच्छाकडओ पासावचिज्जओ परिव्वायगो अट्ठंगमहानिमित्तजाणगो जणपासाओ तं सोऊण मा तित्थंकरो होज्ज अधिति करेइ, वीहेइ य रत्तिं गंतुं, ताहे सो वाणमंतरो जाहे सद्देण न वीहेति ताहे हत्थिरूवेणुवसग्गं करेति, पिसायरूवेणं नागरूवेण य, एतेहिं पि जाहे न तरति खोभेउं ताहे सत्तविहं वेदणं उदीरेइ; तं जहा—सीसवेयणं कण्णअच्छिनासादंतनहपट्ठिवेदणं च एक्केका वेअणा समत्था पागतस्स जीवितं संकामेउं, किं पुण सत्त वि समेताओ उज्जलाओ?, अहियासेति, ताहे सो देवो जाहे न तरति चालेउं वा खोभेउं वा ताहे परितंतो पायवडितो खामेति, खमह भट्टारग त्ति। ताहे सिद्धत्थो उद्धाइओ भणति—हंभो सूलपाणी! अपत्थिअपत्थिआ न जाणसि सिद्धत्थरायपुत्तं भगवंतं तित्थयरं, जइ एयं सक्को जाणइ तो ते निव्विसयं करेइ, ताहे भीओ दुगुणं खामेइ, सिद्धत्थो से धम्मं कहेइ, तत्थ उवसंतो महिमं करेइ सामिस्स, तत्थ लोगो चिंतेइ—सो तं देवज्जयं मारित्ता इदाणिं कीलइ, तत्थ सामी देसूणे चत्तारि जामे अतीव परियाविओ पहायकाले मुहुत्तमेत्तं निद्दापमादं गओ, तत्थ इमे दस महासुमिणे पासित्ता पडिवुद्धो, तं जहा—तालपिसाओ हओ, सेअसउणो चित्तकोइलो अ दोऽवि एते पज्जुवासंता दिट्ठा, दामदुगं च सुरहिकुसुममयं, गोवग्गो अ पज्जुवासंतो, पउमसरो विबुद्धपंकओ, सागरो अ मे नित्थिण्णो त्ति,सूरो अ पइण्णरस्सीमंडलो उग्गमंतो, अंतेहि य मे माणुसुत्तरो वेढिओ त्ति, मंदरं चारूढोमि त्ति। लोगो पभाए आगओ, उप्पलो अ, इंदसम्मो अ, ते अ अच्चणिअं दिव्वगंधचुण्णपुप्फवासं च पासंति, भट्टारगं च अक्खयसव्वंगं, ताहे सो लोगो सव्वो सामिस्स उक्किट्ठिसीहणायं करेंतो पाएसु पडिओ भणति जहा देवज्जएणं देवो उवसामिओ, महिमं पगओ, उप्पलोऽवि सामिं दट्ठुं वंदिअभणियाइओ—सामी! तुब्भेहिं अंतिमरातीए दस सुमिणा दिट्ठा, तेसिमं फलं ति, जो तालपिसाओ हओ तमचिरेण मोहणिज्जं उम्मूलेहिसि, जो अ सेअसउणो तं सुक्कज्झाणं काहिसि जो विचित्तो कोइलो तं दुवालसंगं पण्णवेहिसि, गोवग्गफलं च ते चउव्विहो समणसमणीसावगसाविगासंघो भविस्सइ, पउमसरा चउव्विहदेवसंघाओ भविस्सइ, जं च सागरं तिण्णो तं संसारमुत्तारिहिसि, जो अ सूरो तमचिरा केवलनाणं ते उप्पज्जिहि त्ति, जं चंतेहिं माणुसुत्तरो वेढिओ तं ते निम्मलो जसकित्तिपयावो सयलतिहुअणे भविस्सइ त्ति, जं च मंदरमारूढोऽसि तं सीहासणत्थो सदेवमणुआसुराए परिसाए धम्मं पण्णवेहिसि त्ति, दामदुगं पुण न याणामि। सामी भणति—हे उप्पल! जं णं तुमं न जाणासि तण्णं अहं दुविहं सागाराणगारिअं धम्मं पण्णवेहामि त्ति, ततो उप्पलो वंदित्ता गओ, तत्थ सामी अद्धमासेण खमति। एसो पढमो वासारत्तो १। ततो सरए निग्गंतूण मोरागं नाम सन्निवेसं गओ, तत्थ सामी बाहिं उज्जाणे ठिओ, तत्थ मोराए सण्णिवेसे अच्छंदा नाम पासंडत्था,तत्थेगो अच्छंदओ तम्मि सण्णिवेसे कोंटलवेंटलेण जीवति, सिद्धत्थओ अ एकल्लओ दुक्खं अच्छति बहुसंमोइओ पूअं च भगवओ अपिच्छंतो,ताहे सो वोलेंतयं गोवं सद्दावेत्ता भणति-जहिं पधावितो जहिं जिमिओ पंथे य जं दिट्ठं,दिट्ठो य एवंगुणविसिट्ठो सुमिणो, तं वागरेइ, सो आउट्टो गंतुं गामेमिच्चपरिचिताणं कहेति, सव्वेहिं गामे य पगासिअं—एस देवज्जओ उज्जाणे तीताणागयवट्टमाणं जाणइ, ताहे अण्णोऽवि लोओ आगओ, सव्वस्स वागरेइ,लोगो आउट्टो महिमं करेइ, लोगेण अविरहिओ अच्छइ, ताहे सो लोगो भ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णइ-एत्थ अच्छंदओ नाम जाणओ। सिद्धत्थो भणति—सो ण किंचि जाणइ, ताहे लोगो गंतुं भणइ-तुमं न किंचि जाणसि, देवज्जओ जाणइ। सो लोयमज्झे अप्पाणं ठावेउकामो भणति-एह जामो, जइ मज्झ पुरओ जाणइ तो जाणइ। ताहे लोगेण परिवारिओ एइ. भगवओ पुरओ ठिओ तणं गहाय भणति—एयं तणं किं छिंदिहि ति न व त्ति, सो चिंतेइ—जइ भणति—न छिज्जिहिइ त्ति तो छिंदिस्सं, अह भणइ-छिज्जिहि त्ति तो न छिंदिस्सं। ततो सिद्धत्थेण भणिअं-न छिज्जिहि त्ति, सो छिंदिउमाढत्तो, सक्केण य उवओगो दिण्णो, वज्जं पक्खित्तं, अच्छंदगस्स अंगुलीओ दस वि भूमीए पडिआओ. ताहे लोगेण खिंसिओ, सिद्धत्थो य से रुट्ठो।

अमुमेवार्थं समासतोऽभिधित्सुराह निर्युक्तिकारः—

रोद्दा य सत्त वेयणा, थुइ दस सुमिणुप्पलऽद्धमासे य।
मोराए सक्कारं, सक्को अच्छंदए कुविओ ॥ ४६४ ॥

समासव्याख्या—रौद्राश्च सप्त वेदना यक्षेण कृताः, स्तुतिश्च तेनैव कृता, दश स्वप्ना भगवता दृष्टाः, उत्पलः फलं जगाद, 'अद्धमासे य' त्ति अर्धमासमर्धमासं च क्षपणमकार्षीत्, मोरायां लोकः सत्कारं चकार शक्रः अच्छन्दके तीर्थकरहीलनात् परिकुपित इत्यक्षरार्थः। इयं निर्युक्तिगाथा।

एतास्तु मूलभाष्यकारगाथाः—

भीमऽट्टहास हत्थी, पिसाय नागे य वेदणा सत्त।
सिरकण्णनासदन्ते, नहऽच्छि पट्ठी य सत्तमिआ ॥११२॥
तालपिसायं१दो को-इला य २दामदुगमेव ४गोवग्गं ।५।
सर६सागर७सूरं८ते९-मन्दर१०सुविणुप्पले चेव ।११३।
मोहे य झाण पवयण३, धम्मे ४संघे ५ य देवलोए६य।
संसारं७णाण८जसे९धम्मं परिसाएँ मज्झम्मि ॥११४॥

भीमाऽट्टहासः हस्ती पिशाचो नागश्च वेदनाः सप्त शिरः कर्णनासादन्तनखाक्षिपृष्ठौ च सप्तमी, एतद् व्यन्तरेण कृतम्। तालपिशाचं द्वौ कोकिलौ च दामद्वयमेव गोवर्गं सरः सागरं सूर्यम् यन्त्रं मन्दरं. 'सुविणुप्पले चेव' त्ति, एतान् स्वप्नान् दृष्टवान्, उत्पलश्चैव फलं कथितवान् इति। तच्चेदम्-मोहं च ध्यानं प्रवचनं धर्मः सङ्घश्च देवलोकश्च देवजनश्चेत्यर्थः, संसारं ज्ञानं यशः धर्मं पर्षदो मध्ये, मोहं च निराकरिष्यसीत्यादिक्रियायोगः स्वबुद्ध्या कार्यः।

मोरागसण्णिवेसे, बाहिं सिद्धत्थतीतमाईणि।
साहइ जणस्स अच्छं-दपओसोछेअणेसक्के ॥ १९ ॥

अर्थोऽस्याः कथानकोक्त एव वेदितव्य इति। इयं गाथा सर्वपुस्तकेषु नास्ति, सोपयोगा च। कथानकशेषम्-' तओ सिद्धत्थो तस्स पओसमावण्णो तं लोगं भणति-एस चोरो' कस्स णेण चोरियं ति भणइ, अत्थेत्थ वीरघोसो णाम कम्मकरो ?, सो पादेसु पडिओ अहं ति, अत्थि तुब्भ अमुककाले दस पलयं वट्टयं णट्ठपुव्वं ?, आमं अत्थि, तं एएण हरियं, तं पुण कहिं ?, एयस्स पुरोहडे महिसिंदुरुक्खस्स पुरत्थिमे णं हत्थमित्तं गंतूणं तत्थ खणिउं गेण्हइ। ताहे गता, दिट्ठं, आगया कलकलं करेमाणा। अ ं पि सुणह-अत्थि एत्थं इंदसम्मो नाम गिहवई ? ताहे भणति-अत्थि, ताहे सो सयमेव उवट्ठिओ, जहा अहं, आणेवह, अत्थि तुब्भ आरणओ अमुयकालम्मि नट्ठिल्लओ ?, स आह—आमं अत्थि, सो एएण मारित्ता खइओ, अट्ठियाणि य से बदरीए दक्खिणे पासे उक्कुरुडियाए निहयाणि, गया, दिट्ठाणि, उक्किट्ठकलयलं करेंता आगया, ताहे भणंति—एयं बितिअं'।

अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह निर्युक्तिकृत्-

तणछेयंगुलि कम्मा-र वीरघोस महिसिंदु दसपलिअं।
बिइइंदसम्म ऊरण, बयरीए दाहिणुक्कुरुडे ॥ ४६५ ॥

अच्छन्दकः तृणं जग्राह, छेदः अङ्गुलीनां कृतः खल्विन्द्रेण, 'कम्मारवीरघोस' त्ति कर्मकरो वीरघोषः,तत्संबन्धयनेन'महिसिंदुदसपलियं'दश पलिकं करोटकं गृहीत्वा महिसेन्दुवृक्षाधः स्थापितम्, एकं तावदिदं,द्वितीयम् इन्द्रशर्मण ऊरणकोऽनेन भक्षितः, तदस्थीनि चाद्यापि तिष्ठन्त्येव बदर्या अधः दक्षिणोत्कुरुट इति गाथार्थः ॥४६५॥ " ततियं पुण अवच्चं, अलाहि भणितेण, ते निबंधं करेंति, पच्छा भणति-वच्चह भज्जा से कहेहिइ, सा पुण तस्स चेव छिड्डाणि मग्गमाणी अच्छति, ताए सुयं—जहा सो विडंबिओ त्ति ' अंगुलीओ से छिन्नाओ'सा य तेण तद्दिवसं पिट्टिया ' सा चिंतेति—नवरि एउ गामो ' ताहे साहेमि ' ते आगया पुच्छंति, सा भणइ—मा से नामं गेण्हह ' भगिणीए पती ममं नेच्छति ' ते उक्किट्ठि करेमाणा तं भणंति—एस पावो 'एवं तस्स उड्डाहो जाओ' एस पावो, ' जहा न कोइ भिक्खं पि देइ ' ताहे अप्पसागारियं आगओ भणइ—भगवं ! तुब्भे अन्नत्थ वि पुज्जिज्जह ' अहं कहिं जामि ? ' ताहे अचियत्तोग्गहो त्ति काउं सामी निग्गओ। ततो वच्चमाणस्स अंतरा दो वाचालाओ—दाहिणा उत्तरा य ' तासिं दोण्ह वि अंतरा दो नईओ—सुवण्णवालुगा रुप्पवालुगा य' ताहे सामी दक्खिणवाचालाओ सन्निवेसाओ उत्तरवाचालं वच्चइ ' तत्थ सुवण्णवालुयाए नदीए पुलिणे कंटयाए तं वत्थं विलग्गं' सामी गतो ' पुणोऽवि अवलोइयं ' किं निमित्तं ?, केई भणंति-ममत्तीए; अवरे-किं थंडिल्ले पडिअं अथंडिले त्ति ' केई-सहसागारेणं' केई-वरं सिस्साणं वत्थपत्तं सुलभं भविस्सइ ? तं च तेण धिज्जाइएण गहिअं'तुण्णागस्स उवणीअं सयसहस्समोल्लं जायं ' एक्कक्कस्स पण्णासं सहस्साणि जायाणि।

अमुमेवार्थमभिधित्सुराह-

तइअमवच्चं भज्जा, कहिही नाहं तओ पिउवयंसो।
दाहिणवायालसुव—ण्णवालुगाकंटए वत्थं ॥ ४६६ ॥

पदानि—तृतीयमवाच्यं भार्या कथयिष्यति ' ततः पितुर्वयस्यस्तु दक्षिणवाचालसुवर्णवालुकाकण्टके वस्त्रं ' क्रियाऽध्याहारतोऽक्षरगमनिका स्वबुद्ध्या कार्येति। ताहे सामी वच्चइ उत्तरवाचालं 'तत्थ अंतरा कणगखलं नाम आसमपयं' तत्थ दो पंथा—उज्जुगो, वंको य। जो सो उज्जुओ सो कणगखलं मज्झेण वच्चइ, वंको परिहरंतो, सामी उज्जुगेण पट्ठाविओ, तत्थ गोवालेहिं वारिओ 'एत्थ दिट्ठिविसो सप्पो' मा एएण वच्चह ' सामी जाणति—जहसो भविओ संबुज्झिहिति'तओ गतो जक्खघरमंडवियाए पडिमं ठिओ। सो पुण को पुव्वभवे आसी ?, खमगो ' पारणाए गओ वासिगभत्तस्स' तेणं मंडुक्कलिया विराहिआ ' खुड्डएण परिचोइओ ' ताहे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सो भणति-किं इमाओऽवि मए मारिआओ लोयमारिआओ दरिसेइ, ताहे खुड्डएण नायं-वियाले आलोहिइ त्ति, सो आवस्सए आलोएत्ता उववेट्ठो, खुड्डओ चिंतेइ-नूणं से विस्सरियं,ताहे सारिअं रुट्ठो आहणामि त्ति उद्धाइओ खुड्डगस्स,तत्थ थंभे आवडिओ मओ विराहियसामण्णो जोइसिएसु उववण्णो, ततो चुओ कणगखले पंचण्हं तावससयाणं कुलवइस्स तावसीए उदरे आयाओ, ताहे दारगो जाओ, तत्थ से "कोसिओ" त्ति नामं कयं,सो य अतीव तेण सभावेण चंडकोधो, तत्थ अन्नेऽवि अत्थि कोसिया तस्स "चंडकोसिओ" त्ति नामं कयं,सो कुलवती मओ,ततो य सो कुलवई जाओ, सो तत्थ वणसंडे मुच्छिओ, तेसिं तावसाण ताणि फलाणि न देइ, ते अलभंता गया दिसो दिसं जोऽवि तत्थ गोवालादी एति तं पि हंतुं धाडेइ, तस्स अदूरे सेयंबिया नाम नयरी, ततो रायपुत्तेहिं आगंतूणं विरहिए पडिनिवेसेण भग्गो विणासिओ य, तस्स गोवालएहिं कहियं, सो कंटियाणं, गओ, ताओ छड्डेत्ता परसुहत्थो गओ रोसेण धमधमंतो, कुमारेहिं दिट्ठो एंतओ, तं दट्ठूण पलाया, सोऽवि कुहाडहत्थो पहावेत्ता खड्डे आवडिऊण पडिओ, सो कुहाडो अभिमुहो ठिओ, तत्थ से सिरं दो भाए कयं, तत्थ मओ तम्मि चेव वणसंडे दिट्ठिविसो सप्पो जाओ, तेण रोसेण लोभेण य तं रक्खइ वणसंडं, तओ ते तावसा सव्वे दड्ढा, जे अदड्ढगा ते नट्ठा, सो तिसंझं वणसंडं परियंचिऊणं जं सउणगमवि पासइ तं डहइ, ताहे सामी तेण दिट्ठो, ततो आसुरुत्तो, ममं न याणसि ?, सूरं णिज्झाइत्ता पच्छा सामिं पलोएइ, सो न डज्झइ जहा अण्णे। एवं दो तिण्णि वारा, ताहे गंतूण डसइ, डसित्ता अवक्कमइ-मा मे उवरि पडिहि त्ति, तह वि न मरइ, एवं तिण्णि वारे, ताहे पलोएंतो अच्छति अमरिसेणं, तस्स भगवओ रूवं पेच्छंतस्स ताणि विसभरियाणि अच्छीणि विज्झाइयाणि सामिणो कंतिसोम्मयाए। ताहे सामिणा भणिअं-उवसम भो चंडकोसिया ! ताहे तस्स ईहापोहमग्गणगवेसणं करेंतस्स जातीसरणं समुप्पण्णं, ताहे तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेत्ता भत्तं पच्चक्खाइ मणसा । तित्थगरो जाणइ, ताहे सो विले तुंडं छोढुं ठिओ, माहं रुट्ठो संतो लोगं मारेहं, सामी तस्स अणुकंपाए अच्छइ, सामिं दट्ठूण गोवालवच्छवाला अल्लियंति, रुक्खेहिं आवरेत्ता अप्पाणं तस्स सप्पस्स पाहाणे खिवंति, न चलति त्ति अल्लीणो कट्ठेहिं घट्टिओ तह वि न फंदति त्ति। तेहिं लोगस्स सिट्ठं, तो लोगो आगंतूण सामिं वंदित्ता तं पि य सप्पं महेइ। अण्णाओ य घयविक्किणियाओ तं सप्पं मक्खेंति, फरुसिंति, सो पिवीलियाहिं गहिओ,तं वेयणं अहियासेत्ता अद्धमासस्स मओ सहस्सारे उववण्णो।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह

उत्तरवाचालन्तर-वणसंडे चंडकोसिओ सप्पो ।
न डहे चिंता सरणं, जोइसकोवाऽहि जाओऽहं ॥४६७॥

उत्तरवाचालान्तरवनखण्डे चण्डकौशिकः सर्पः न ददाह चिन्ता स्मरणं ज्योतिष्कः क्रोधाद् अहिर्जातोऽहमिति,अक्षरगमनिका स्वबुद्ध्या कार्येति ॥ ४६७ ॥

अनुक्तार्थं प्रतिपादयन्नाह—

उत्तरवायाला ना-गसेण खीरेण भोयणं दिव्वा ।
सेयवियाएँ पएसी, पंचरहे निज्जरायाणो ॥ ४६८ ॥

उत्तरवाचाला नागसेनः क्षीरेण भोजनं दिव्यानि श्वेताम्ब्यां प्रदेशी पञ्चरथैः नैयका राजनः-नैयका गोत्रतः, प्रदेशे निजा इत्यपरे। शेषो भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-'तओ सामी उत्तरवाचालं गओ , तत्थ पक्खक्खमणपारणते अतिगओ, तत्थ नागसेणेण गिहवइणा खीरभोयणेण पडिलाभिओ, पंच दिव्वाणि पाउब्भूयाणि, ततो सेयंबियं गओ , तत्थ पदेशी राया समणोवासओ भगवओ महिमं करेइ, तओ भगवं सुरभिपुरं वच्चइ तत्थंतराए णेज्जगा रायाणो पंचहिं रथेहिं एन्ति , पएसिरण्णो पासे , तेहिं तत्थ सामी वंदिओ पूइओ य। ततो सामी सुरभिपुरं गओ, तत्थ गंगा उत्तरियव्वा, तत्थ सिद्धजत्तो नाम नाविओ , खेमल्लो नाम सउणजाणओ , तत्थ य णावाए लोगो विलग्गइ , कोसिएण महासउणेण वासियं । कोसिओ नाम उलूको । ततो खेमिलेण भणियं-जारिसं सउणेण भणियं तारिसं अम्हेहिं मारणंतियं पावियव्वं, किं पुण ? इमस्स महरिसिस्स पभावेण मुच्चिहामो। सा य णावा पहाविया सुदाढेण य णागकुमाररातिणा दिट्ठो, भयवं णावाए ठिओ । तस्स कोवो जाओ । सो य किर जो सो सीहो वासुदेवत्तणे मारिओ सो संसारं भमिऊण सुदाढो नागो जाओ। सो संवट्टगवायं विउव्वेत्ता णावं ओवोलेउं इच्छइ , इओ य कंबलसबलाणं आसणं चलियं । (आव०) (कंबलशबलयोर्वृत्तम् 'कंबल' शब्दे तृतीयभागे १७६ पृष्ठे गतम्।) णागकुमारेसु उववण्णा , (ते) ओहिं पउंजंति , ० जाव पेच्छंति तित्थगरस्स उवसग्गं कीरमाणं , ताहे तेहिं चिंतियं अलाहि ता अण्णेणं , सामिं मोएमो , आगया , एगेण णावा गहिया , एगो सुदाढेण समं जुज्झइ , सो महिड्ढिगो। नस्स पुण चवणकालो, इमे य अहुणोववण्णया , सो तेहिं पराइओ , ताहे ते णागकुमारा तित्थगरस्स महिमं करेंति , सत्तं रूवं च गायंति , एवं लोगोऽवि ततो सामी उत्तिण्णो। तत्थ देवेहिं सुरहिगंधोदयवासं पुप्फवासं च वुट्ठं, तेऽवि पडिगया।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह—

सुरहिपुर सिद्धजत्तो, गंगा कोसिअ विऊ य खेमिलओ।
नाग सुदाढे सीहे,कंबलसबला य जिणमहिमा ॥४६९॥
महुराए जिणदासो , आहीर विवाह गोण उववासे ।
भंडीर मित्तऽवच्चे, भत्ते णागो हि आगमणं ॥४७०॥
वीरवरस्स भगवओ , नावारूढस्स कासि उवसग्गं ।
मिच्छादिट्ठि परद्धं , कंबलसबला समुत्तारे ॥ ४७१ ॥

पदानि-सुरभिपुरं सिद्धयात्रः गङ्गा कौशिकः विद्वांश्च खेमिलकः नागः सुदंष्ट्रः सिंहः कम्बलसबलौ च जिनमहिमा मथुरायां जिनदासः आभीरविवाहः गोः उपवासः भण्डीरः मित्रम् अपत्ये भक्तं नागौ अवधिः आगमनं वीरवरस्य भगवतः नावमारूढस्य कृतवान् उपसर्गं मिथ्याह-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ष्टिः परद्धं-विक्षिप्तं भगवन्तं कम्बलसबलौ समुत्तारितवन्तौ। अक्षरगमनिका स्वबुद्ध्या कार्या। ततो भगवं दगतीराए इरियावहियं पडिक्कमइ, पत्थिओ ततो, णदीपुलिणे भगवओ पादेसु लक्खणाणि दीसंति महुसित्थचिक्खल्ले, तत्थ पूसो नाम सामुद्दिओ, सो ताणि पासिऊण चिंतेइ, एस चक्कवट्टी गतो एगागी, वच्चामि णं वागरेमि, तो मम एत्तो भोगा भविस्संति, सेवामि णं कुमारत्तणे, सामीऽवि थूणागस्स सण्णिवेसस्स बाहिं पडिमं ठिओ, तत्थ सो सामिं पिच्छिऊण चिंतेइ अहो मए पलालं अहिज्जिअं, एएहिं लक्खणेहिं जुत्तं, एएण समणेण न होउं। इओ य सक्को देवराया ओहिणा पलोएइ-कहिं अज्ज सामी? ताहे सामिं पेच्छइ, तं च पूसं, आगओ सामिं वन्दित्ता भणति-भो पूस! तुमं लक्खणं न याणसि एसो अपरिमिअलक्खणो, ताहे वण्णेइ लक्खणं अब्भिंतरगं-गोखीरगोरं रुहिरं पसत्थं, सत्थं न होइ अलिअं, एस धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी देविंदनरिंदपूइओ भवियजणकुमुयाणंदकारओ भविस्सइ, ततो सामी रायगिहं गओ, तत्थ णालंदाए बाहिरियाए तंतुवागसालाए एगदेसम्मि अहापडिरूवं उग्गहं अणुण्णवेत्ता पढमं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं मंखली नाम मंखो, तस्स भद्दा भारिया गुव्विणी सरवणे नाम सण्णिवेसे गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए पसूआ, गोणणं नामं कयं गोसालो त्ति. संवड्ढिओ, मंखसिप्पं अहिज्जिओ, चित्तफलयं करेइ, एक्कल्लओ विहरंतओ रायगिहे तंतुवायसालाए ठिओ, जत्थ सामी ठिओ, तत्थ वासावासं उवागओ। भगवं मासखमणपारणए अब्भिंतरियाए विजयस्स घरे विउलाए भोयणविहीए पडिलाभिओ। पंच दिव्वाणि पाउब्भूयाणि, गोसालो सुणेत्ता आगओ पंच दिव्वाणि पासिऊण भणति—भगवं! तुज्झं अहं सीसो त्ति, सामी तुसिणीओ निग्गओ। बितिअमासखमणं ठिओ, बितिए आणंदस्स घरे खज्जगविहीए ततिए सुणंदस्स घरे सव्वकामगुणिएण, ततो चउत्थं मासखमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ।

अभिहितार्थोपसंग्रहायेदमाह—

थूणाएँ बहिं पूसो, लक्खणमब्भंतरं च देविंदो।
रायगिहि तंतुसाला, मासक्खमणं च गोसालो ॥४७२॥
मंखलि मंख सुभद्दा, सरवण गोबहुलमेव गोसालो।
विजयाणंदसुणंदे, भोअण खज्जे अ कामगुणे ॥४७३॥

पदानि—स्थूणायां बहिः पुष्यो लक्षणमभ्यन्तरं च देवेन्द्रः राजगृहे तन्तुवायकशाला मासक्षपणं च गोशालः मङ्खली मङ्खः सुभद्रा शरवणं गोबहुल एव गोशालो विजयः आनन्दः सुनन्दः भोजनं खाद्यानि च कामगुणं शरवणं गोशालोत्पत्तिस्थानम्। शेषाऽक्षरगनिका स्वधिया कार्या। गोसालो कत्तियदिवसपुण्णिमाए पुच्छइ—किमहं अज्ज भत्तं लभिस्सामि?, सिद्धत्थेण भणियं—कोद्दवकूरं अंबिलेण कूडरूवगं च दक्खिणं, सो णयरिं सव्वादरेण पडिहिंओ, जहा भंडीसुणए, न कहिं वि वि न संभाइयं, ताहे अवरण्हे एक्केणं कम्मकरेण अंबिलेण कूरो दिण्णो ताहे जिसिओ, एगो रूवगो दिण्णो, रूवगो परिक्खाविओ० जाव कूडओ, ताहे भणति—जेण जहा भवियव्वं ण तं भवति अण्णहा, लज्जिओ आगतो। तओ भगवं चउत्थमासक्खमणपारणए नालंदाओ निग्गओ,कोल्लागसन्निवेसं गओ, तत्थ बहुलो माहणो माहणे भोयावेति घयमहुसंजुत्तेण परमण्णेण, ताहे तेण सामी पडिलाभिओ, तत्थ पंच दिव्वाणि। गोसालोऽवि तंतुवागसालाए सामिं अपिच्छमाणो रायगिहं सब्भंतरबाहिरिअं गवेसति, जाहे न पेच्छइ ताहे नियगोवगरणं धीयराणं दाउं सउत्तरोट्ठं मुंडं काउं गतो कोल्लागं, तत्थ भगवतो मिलिओ, तओ भगवं गोसालेण समं सुवण्णखलगं वच्चइ, एत्थंतरा गोवा गावीहिंतो खीरं गहाय महल्लिए थालीए णवएहिं तंदुलेहिं पायसं उवक्खडेंति, ततो गोसालो भणति-एह भगवं! एत्थ भुंजामो, सिद्धत्थो भणति-एस निम्माणं चेव न वच्चइ, एस भज्जिहिति उल्लहिज्जंती। ताहे सो असद्दहंतो ते गोवे भणति-एस देवज्जगो तीताणागतजाणओ भणति—एस थाली भज्जिहिति, तो पयत्तेण सा रक्खह, ताहे पयत्तं करेंति वंसविदलेहिं सा बद्धा थाली, तेहिं अतीव बहुला तंदुला छूढा, सा फुट्टा, पच्छा गोवालाणं जेणं जं करुल्लं आसाइयं सो तत्थ पजिमिओ, तेण न लद्धं, ताहे सुदृढुतरं नियतिं गेण्हइ।

अमुमेवार्थं कथानकोक्तमुपसंजिहीर्षुराह—

कुल्लाग बहुल पायस, दिव्वा गोसाल दट्ठु पव्वज्जा।
बाहिं सुवण्णखलए, पायसथाली नियइगहणं ॥४७४॥

कोल्लाकः बहुलः पायसं दिव्यानि गोशालः दृष्ट्वा प्रव्रज्या बहिः सुवर्णखलात् पायसस्थाली नियतेर्ग्रहणं च। पदार्थ उक्त एव।

बंभणगामे नंदो-वनंद उवणंद तेय पच्चद्धे।
चंपादुमासखमणे, वासावासं मुणी खमइ ॥ ४७५ ॥

ब्राह्मणग्रामे नन्दोपनन्दौ उपनन्दः तेजः प्रत्यर्थे चम्पा द्विमासक्षपणे वर्षावासं मुनिः क्षपयतीति। अस्याः पदार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्—ततो सामी बंभणगामं गतो, तत्थ नंदो उवणंदो य भायरो, गामस्स दो पाडगा, एक्को नंदस्स बितिओ उवणंदस्स, ततो सामी नंदस्स पाडगं पविट्ठो नंदघरं च, तत्थ दोसीऽण्णेणं पडिलाभिओ नंदेण गोसालो उवनंदस्स,तेण उवणंदेण संदिट्ठं-देहि भिक्खं, तत्थ न ताव वेला ताहे सीअलकूरो णीणिओ, सो तं णेच्छइ,पच्छा सा तेण विभणति-दासी! एयस्स उवरिं छूभसु त्ति, तीए छूढो, अपत्तिएण भणति—जइ मज्झ धम्मायरिअस्स अत्थि तओ तेय वा पयस्स घरं डज्झउ, तत्थ अहासण्णिहितेहिं वाणमंतरेहिं मा भगवतो अलियं भवउ त्ति तेण तं दड्ढं घरं। ततो सामी चंपं गओ, तत्थ वासावासं ठाइ, तत्थ दोमासिएण खमणेण खमइ, विचित्तं च तवोकम्मं,;ठाणादीए पडिमं ठाइ, ठाणुक्कुडुओ एवमादीणि करेइ। एस ततिओ वासारत्तो।

कालाएँ सुण्णगारे, सीहो विज्जुमई गोट्ठिदासी य।
खंदो दन्तिलियाए, पत्तालग सुण्णगारम्मि ॥ ४७६ ॥

पदानि-कालायां शून्यागारे सिंहः विद्युन्मती गोष्ठीदासी च स्कन्दः दन्तिलिकया पात्रालके शून्यागारे। अक्षरगमनिका क्रियाध्याहारतः स्वधिया कार्या। पदार्थः कथान-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कादवसेयः, तच्चेदम्—ततो चरिमं दो मासियपारणयं बाहिं पारेत्ता कालायं नाम सन्निवेसं गओ गोसालेण समं, तत्थ भगवं सुण्णघरे पडिमं ठिओ, गोसालोऽवि तस्स दारपहे ठिओ। तत्थ सीहो नाम गामउ(कु)डपुत्तो विज्जुमईए गोट्ठीदासीए समं तं चेव सुण्णघरं पविट्ठो, तत्थ तेण भणइ-जइ इत्थ समणो वा माहणो वा पहिको वा कोइ ठिओ सो साहउ जा अन्नत्थ वच्चामो, सामी तुण्हिक्कओ अच्छइ, गोसालोऽवि तुण्हिक्कओ, ताणि अच्छित्ता णिग्गयाणि। गोसालेण सा महिला छिक्का, सा भणति—एस एत्थ कोइ, तेण अभिगंतूण पिट्टिओ, एस धुत्तो अणायारं करेंताणि देच्छंतो अच्छइ। ताहे सामिं भणइ-अहं एक्किलो पिट्टिज्जामि, तुब्भे ण वारेह। सिद्धत्थो भणइ-कीस सीलं न रक्खसि?, किं अम्हेऽवि आहण्णामो?, कीस वा अंतो न अच्छसि, ता दारे ठिओ। ततो निग्गंतूण सामी पत्तकालयं गओ, तत्थ वि तहेव सुण्णघरे ठिओ, गोसालो तेण भएणं अंतो ठिओ, तत्थ खंदओ नाम गामउडपुत्तो अप्पिणिच्चियादासीए दत्तिलियाए समं महिलाए लज्जंतो तमेव सुण्णघरं गओ, तेऽवि तहेव पुच्छंति, तहेव तुण्हिक्का अच्छंति, जाहे ताणि निग्गच्छंति ताहे गोसालेण हसियं। ताहे पुणोऽवि पिट्टिओ, ताहे सामिं खिसइ-अम्हे हम्मामो, तुब्भे न वारेह, किं अम्हे तुम्हे ओलग्गामो?, ताहे सिद्धत्थो भणति—तुमं अप्पदोसेण हम्मसि, कीस तुंडं न रक्खसि?—

मुणिचंद कुमाराए, कूँवणय चंपरमणिज्जउज्जाणे।
चोराएँ चारि अगडे, सोम जयंती उवसमेइ ॥४७७॥

पदानि—मुनिचन्द्रः कुमार्यां कूपनयः चम्परमणीयोद्याने चौरायां चारिकोऽगडे सोमा जयन्ती उपशामयतः। पदार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—"ततो भगवं कुमारायं नाम सण्णिवेसं गओ, तत्थ चंपरमणिज्जे उज्जाणे भगवं पडिमं ठिओ। इओ य पासावच्चिज्जो मुणिचंदो नाम थेरो बहुस्सुओ बहुसीसपरिवारो तम्मि सन्निवेसे कूवणयस्स कुंभगारस्स सालाए ठिओ'। सो य जिनकप्पपडिमं करेइ सीसं गच्छे ठवेत्ता, सो य सत्तभावणाए अप्पाणं भावेति-"तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगतेण बलेण य। तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ ॥ १ ॥" एआओ भावणाओ, ते पुण सत्त भावणाए भावेंति, सा पुण "पढमा उवस्सयम्मि, वितिया, बाहिं ततिय चउक्कम्मि। सुण्णघरम्मि चउत्थी, तह पंचमिआ मसाणम्मि ॥ १ ॥" सो बितियाए भावेइ। गोसालो सामिं भणइ-एस देसकालो हिंडामो। सिद्धत्थो भणइ-अज्ज अम्ह अन्तरं, पच्छा सो हिंडंतो ते पासावच्चिज्जे पासति, भणति य—के तुब्भे?, ते भणंति—अम्हे समणा निग्गंथा,' सो भणति अहो निग्गंथा, इमो भे एत्तिओ गंथो, कहिं तुब्भे निग्गंथा?, सो अप्पणो आयरियं वण्णेइ-एरिसो महप्पा, तुब्भे एत्थ के?, ताहे तेहिं भण्णइ-जारिसो तुमं तारिसो धम्मायरिओऽवि ते सयं गहीयलिंगो, ताहे सो रुट्ठो अम्ह धम्मायरियं सवइ त्ति; जइ मम धम्मायरियस्स अत्थि तवो ताहे तुब्भं पडिस्सओ डज्झउ। ते भणंति—तुम्हाणं भणिएण अम्हे न डज्झामो, ताहे सो गतो साहइ सामिस्स—अज्ज मए सारंभा सपरिग्गहा समणा दिट्ठा, तं सव्वं साहइ। ताहे सिद्धत्थेण भणियं-ते पासावच्चिज्जा साहवो, न ते डज्झंति। ताहे रत्ती जाया, ते मुणिचंदा आयरिया बाहिं उवस्सगस्स पडिमं ठिआ, सो कूवणओ तद्दिवसं सेणीए भत्ते पाऊण वियाले एइ, मत्तेल्लओ जाव पासेइ ते मुणिचंदे आयरिए, सो चिंतेइ—एस चोरो त्ति, तेण से गलए गहिया, ते निरुस्सासा कया, न य झाणाओ कंपिआ, ओहिणाणं उप्पन्नं आउं च णिट्ठिअं, देवलोअं गया। तत्थ अहासन्निहिएहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं महिमा कया, ताहे गोसालो बाहिं ठिओ पेच्छइ, देवे उव्वट्टंते निव्वयंते अ। सो जाणइ-एस डज्झइ सो तेसिं उवस्सगो, साहेइ सामिस्स, एस तेसिं पडिणीयाणं उवस्सओ डज्झइ, सिद्धत्थो भणइ—न तेसिं उवस्सओ डज्झइ, तेसिं आयरियाणं ओहिणाणं उप्पण्णं आउयं च णिट्ठियं, देवलोगं गया, तत्थ अहासन्निहिएहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं महिमा कया, ताहे गोसालो बाहिं ठिओ पिच्छइ, ताहे गओ त पदेसं, जाव देवा महिमं काऊण पडिगया ताहे तस्स त गंधोदगवासं पुप्फवासं च दट्ठूण अब्भहिअं हरिसो जाओ। ते साहुणो उवट्ठइ—अरे तुब्भे न याणह, एरिसगा चेव बोडिया हिंडह, उट्ठेह, आयरियं कालगयं पि न याणह?, सुवह रत्तिं सव्वं ताहे ते जाणंति—सचिल्लओ पिसाओ, रत्तिं पि हिंडइ ताहे तेऽवि तस्स सद्देण उट्ठिआ, गया आयरियस्स सगासं जाव पेच्छंति—कालगयं। ताहे ते अधितिं करेइ अम्हेहिं ण णाया आयरिया कालं करेंता, सोऽवि चमढेत्ता गओ। ततो भगवं चोरागं सन्निवेसं गओ, तत्थ चारिय त्ति काऊण उड्डवालगा अगडे पक्खिविज्जंति, पुणो य उत्तारिज्जंति, तत्थ पढमं गोसालो सामी न, ताव तत्थ सोमा-जयन्तीओ नाम दुवे उप्पलस्स भगिणीओ पासावच्चिज्जाओ जाहे न तरंत संजमं काउं ताहे परिव्वाइयत्तं करेंति, ताहिं सुयं—एरिसा केऽवि दो जणा उड्डवालएहिं पक्खिविज्जंति, ताओ पुण जाणंति—जहा चरिमतित्थगरो पव्वइओ, ताहे गयाओ, जाव पेच्छंति, ताहिं मोइओ, ते उज्झंसिआ अहो विणस्सिउकामेति, तेहिं भएण खमाविया महिया य।

पिट्ठी चंपा वासं, तत्थ चउम्मासिएण खमणेणं।
कयंगल देउलवरिसे, दरिद्दथेरा य गोसालो ॥ ४७८ ॥

ततो भगवं पिट्ठीचंपं गओ, तत्थ चउत्थं वासारत्तं करेइ, तत्थ सो चउम्मासियं खवणं करेंतो विचित्तं पडिमादीहिं करेइ, ततो बाहिं पारित्ता कयंगलं गओ, तत्थ दरिद्दथेरा नाम पासंडत्था समहिला सारंभा सपरिग्गहा, ताण वाडगस्स मज्झे देवउलं, तत्थ सामी पडिमं ठिओ तद्दिवसं च फुसिअं सीयं पडति। ता णं च तद्दिवसं जागरओ, ते समहिला गायंति, तत्थ गोसालो भणति—एरिसोऽवि नाम पासंडो भण्णइ सारंभो समहिलो य। सव्वाणि य एगट्ठाणि गायंति, वायंति य। ताहे सो तेहि णिच्छूढो, सो तहिं माहमासे तेण सीएण सतुसारेण अच्छइ संकुइओ। तेहिं अणुकंपंतेहिं पुणोऽवि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

आणिओ, पुणोऽवि भणति, पुणोऽवि णीणिओ, एवं तिरिण वारा णिच्छूढो अतिखिन्नो य । ततो भणइ-जइ अम्हे फुडं भणामो तो णिच्छुभामो, तत्थऽरणेहिं भरणइ एस देवज्जयस्स कोऽवि पट्टिआवाहो छत्तधारो वा आसी तो तुरिहकाणि अच्छह, सव्वाउज्जाणि य खडखडावेह जहा से सद्दो न सुव्वति ।

सावत्थी सिरिभद्दा, निंदू पिउदत्त पयस सिवदत्ते ।
दारगणी नखवालो,हलिद पडिमाऽगणी पहिआ।४७९।

ततो सामी सावत्थिं गओ, तत्थ सामी बाहिं पडिमं ठिओ, तत्थ गोसालो पुच्छति-तुब्भे अतीह ?, सिद्धत्थो भणति-अज्ज अम्हं अंतरं, सो भणति—अज्ज अहं किं लभिहामि आहारं ?, ताहे सिद्धत्थो भणइ—तुमे अज्ज माणुसमंसं खाइअव्वं ति, सो भणति—तं अज्ज जेमेमि जत्थ मंससंभवो नऽत्थि, किमंग ! पुण माणुसमंसं ? सो पहिंडिओ । तत्थ य सावत्थीए नयरीए पिउदत्तो णाम गाहावई, तस्स सिरिभद्दा नाम भारिआ, सा य णिंदू, णिंदू नाम मरंतवियाइणी, सा सिवदत्तं नेमित्तिअं पुच्छइ-किहवि मम पुत्तभंडं जीविज्जा ?, सो भणति-जो सुतवस्सी तस्स तं गब्भं सुसोधितं रंधिऊण पायसं करेत्ता ताहे देह, तस्स य घरस्स अरणओ हुत्तं दारं करेज्जासि, मा सो जाणित्ता डहिहि त्ति, एवं ते थिरा पया भविस्सइ, ताए तहा कयं, गोसालो य हिंडंतो तं घरं पविट्ठो, तस्स सो पायसो महुघयसंजुत्तो दिरणो, तेण चिंतिअं-एत्थ मंसं कओ भविस्सइ त्ति ? ताहे तुट्ठेण भुत्तं, गंतुं भणति—चिरं ते णेमित्तियत्तणं करेंतस्स अज्जंसि णवरि फिडिओ, सिद्धत्थो भणइ-न विसंवयति, जइ न पत्तियसि वमाहि, वमियं दिट्ठा नक्खा विकूइए अवयवा य । ताहे रुट्ठो तं घरं मग्गइ, तेहि वि तं वारं ओहाडियं, तं तेण न जाणति, ओहाडिओ करेइ जाहे न लभइ ताहे भणति—जइ मम धम्मायरियस्स तवतेओ अत्थि तओ डज्झउ, ताहे सव्वा दड्ढा वाहिरिआ । ताहे सामी हलिद्दुगो नाम गामो तं गओ, तत्थ महप्पमाणो हलिद्दुगरुक्खो, तत्थ सावत्थीओ णगरीओ निग्गच्छंतो पविसंतो य, तत्थ वसइ जणवओ सत्थनिवेसो, सामी तत्थ पडिमं ठिओ, तेहिं सत्थेहिं रत्तिं सीयकालए अग्गी जालिओ, ते वड्डु पभाए उट्ठेत्ता गया, सो अग्गी तेहिं न विज्झाविओ, सो डहंतो सामिस्स पासं गओ, सो सामी परितावेइ, गोसालो भणति-भगवं ! नासह, एस अग्गी एइ, सामिस्स पाया दड्ढा, गोसालो नट्ठो ।

तत्तो य णंगलाए, डिंभमुणी अच्छिकड्ढणं चेव ।
आवत्ते मुहतासे,मुणिओ त्ति अ बाहि बलदेवो ॥४८०॥

ततो सामी नंगला नाम गामो, तत्थ गतो, सामी वासुदेवघरे पडिमं ठिओ,तत्थ गोसालो वि ठिओ तत्थ य चेडरूवाणि खेलंति,सोऽवि कंदप्पिओ ताणि चेडरूवाणि अच्छीणि कड्ढिऊण बीहावेइ,ताहे ताणि धावंताणि पडंति,जाणूणि य फोडिज्जंति, अप्पेगइयाणं खुंखुणगा भज्जंति, पच्छा तेसिं अम्मापिअरो आगंतूण तं पिट्टंति, पच्छा भणंति-देवज्जगस्स एसो दासो नूणं न ठाति ठाणे । अरणे वारेंति-अलाहि, देवज्जयस्स खमियव्वं पच्छा सो भणति-अहं हम्मामि, तुब्भे न वारेह । सिद्धत्थो भणति-न ठासि तुमं एकलो अवस्सं पिट्टिज्जसि, ततो सामी आवत्तानाम गामो तत्थ गतो, तत्थ वि सामी पडिमं ठिओ बलदेवघरे, तत्थ मुहमक्कडिआहिं भेसवेइ, पिट्टिति वि । ततो सामी ताणि चेडरूवाणि रूवंताणि अम्मापिऊणं साहंति, तेहिं गंतूणं घेप्पिओ, मुणिओ त्ति काउं मुक्को, मुणिओ पिसाओ, भणंति य—किं एएण हएणं ?, एयं से सामिं हणामो जो एयं न वारेइ । ततो सा बलदेवपडिमा हलं बाहुणाऽहिक्खिविऊणं उट्ठिआ, तत्तो ताणि य पायपडियाणि सामिं खामेंति ।

चोरा मंडव भोज्जं, गोसालो वहण तेय झामणया ।
मेहो य कालहत्थी, कलंबुयाए उ उवसग्गा ॥ ४८१ ॥

ततो सामी चोरायं नाम संणिवेसं गओ, तत्थ गोट्ठिअभत्तं रज्झइ पच्चति य । तत्थ य भगवं पडिमं ठिओ, गोसालो भणति-अज्ज एत्थ चरियव्वं, सिद्धत्थो भणइ-अज्ज अम्हे अच्छामो, सोऽवि तत्थ णिउडकुडियाए पलोएइ— किं देसकालो न व त्ति, तत्थ य चोरभयं, ताहे ते जाणंति-एस पुणो पुणो पलोएइ,मरणे एस चारिओ होज्ज त्ति,ताहे सो घेत्तूण निसट्ठं हम्मइ, सामी पच्छरणे अच्छइ, ताहे गोसालो भणति-मम धम्मायरियस्स जइ तवो अत्थि तो एस मंडवो डज्झउ, डड्ढो । ततो सामी कलंबुगा नाम सरिणवेसो तत्थ गओ, तत्थ पच्चंतिआ दो भायरो-मेहो, कालहत्थी य । सो कालहत्थी, चोरेहिं समं उद्धाइओ, इमे य पुव्वे अग्गे पेच्छइ, ते भणंति-के तुब्भे ?, सामी तुसिणीओ अच्छइ, ते तत्थ हम्मंति, न य साहंति तेण ते बंधिऊण महल्लस्स भाउअस्स पेसिआ, तेण जं भगवं दिट्ठो तं उट्ठित्ता पूइओ खामिओ य, तेण कुंडग्गामे सामी दिट्ठपुव्वो ।

लाढेसु य उवसग्गा, घोरा पुण्णा कलसा य दो तेण ।
वज्जहया सक्केणं, भद्दिअ वासासु चउमासं ॥ ४८२ ॥

ततो सामी चिंतेइ-बहुं कम्मं निज्जरेयव्वं, लाढाविसयं वच्चामि, ते अणारिया, तत्थ निज्जरेमि । तत्थ भगवं अच्छारिया दिट्ठंतं हियए करेइ ! ततो पविट्ठो लाढाविसयं कम्मनिज्जरातुरिओ,तत्थ हीलणनिंदणाहिं बहुं कम्मं निज्जरेइ, पच्छा ततो णीइ । तत्थ पुरणकलसो नाम अणारियग्गामो, तत्थंतरा दो तेणा लाढाविसयं पविसिउकामा, अवसउणो एयस्स वहाए भवउ त्ति कट्टु असिं कड्ढिऊणं सीसं छिंदामु त्ति पहाविआ, सक्केण ओहिणा आभोइत्ता दोऽवि वज्जेण हया । एवं विहरंता भद्दिलनयरिं पत्ता, तत्थ पंचमो वासारत्तो, तत्थ चाउम्मासियखमणेणं अच्छति, विचित्तं च तवोकम्मं ठाणादीहिं ।

कयलिसमागम भोयण,मंखलि दहिकूर भगवओ पडिमा।
जंबूसंडे गोट्ठी, य भोयणं भगवओ पडिमा ॥ ४८३ ॥

ततो बाहिं पारेत्ता विहरंतो गओ, कयलिसमागमो नाम गामो,तत्थ सरयकाले अच्छारियभत्ताणि दहिकूरेण निसट्ठं दिज्जंति,तत्थ गोसालो भणति-वच्चामो,सिद्धत्थो भणति-अम्ह

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंतरं, सो तहिं गओ, भुंजइ दहिकूरं सो, वहिफोडो न चेव धाइ, तेहिं भणियं—वड्डं भायणं करेवेह, करावियं, पच्छा न नित्थरइ, ताहे से उवरि छूढं, ताहे उक्किलंतो गच्छइ । ततो भगवं जंवूसंडं नाम गामं गओ, तत्थ वि अच्छारिया भत्तं तहेव नवरं तत्थ खीरकूरे, तेहि वि तहेव धरिसिओ जिमिओ अ ।

तंबाएँ नंदिसेणो, पडिमा आरक्खि वहण भय डहणं ।
कूवियचारियमोक्खे, विजयपगब्भा य पत्तेअं ॥ ४८४॥

ततो भगवं तंबायं णाम गामं एइ, तत्थ नंदिसेणा नाम थेरा बहुस्सुआ बहुपरिवारा पासावच्चिज्जा, तेऽवि जिणकप्पस्स परिकम्मं करेंति, इमोऽवि वाहिं पडिमं ठिओ, गोसालो अतिगओ, तहेव पुच्छइ,खिंसति य । ते आयरिया तद्दिवसं चउक्के पडिमं ठायंति, पच्छा तहिं आरक्खियपुत्तेण चोरो त्ति काउं भल्लएण आहओ, ओहिणाणं, सेसं जहा मुणिचंदस्स, जाव गोसालो बोहेत्ता आगतो । ततो सामी कूपिअं नाम सण्णिवेसं गओ, तत्थ तेहिं चारिय त्ति काउं घिप्पंति वज्झंति पिट्टिज्जंति य । तत्थ लोगसमुल्लावो–अहो देवज्जओ रूवेण जोव्वणेण य अप्पतिमो चारिउ त्ति काउं गहिओ, तत्थ विजया पगब्भा य दोन्नि पासंतेवासिणीओ परिव्वाइयाओ लोयस्स मूले सोऊण–तित्थकरो पव्वइओ, वच्चामो ता पलोएमो, को जाणति ? होज्जा, ताहे ताहिं मोइओ दुरप्पा ! ण याणह चरमतित्थकरं सिद्धत्थरायपुत्तं, अज्ज भे सक्को उवालभहिइ, ताहे मुक्को खामिओ य।, पत्तेयं ति पिहिपिहीभूता सामी गोसालो य, कहं पुण ?, तेसिं वच्चंताणं दो पंथा ताहे गोसालो भणति–अहं तुब्भेहिं समं न वच्चामि, तुब्भे ममं हम्ममाणं न वारेह, अवि य–तुब्भेहिं समं बहूवसग्गं, अन्नं च–अहं चेव पढमं हम्मामि, तओ एक्कल्लओ विहरामि । सिद्धत्थो भणति–तुमं जाणसि,ताहे सामी वेसालीमुहो पयाओ, इमो य भगवओ फिडिओ अण्णओ पट्ठिओ, अंतरा य छिण्णद्धाणं, तत्थ चोरा रुक्खविलग्गो ओलोए ति, तेण दिट्ठो भणति एक्को नग्गओ, समणओ एइ, ते य भणंति—एसो न य वीहेइ नत्थि हरियव्वंति, अज्ज से नत्थि फेडओ, जं अम्हे परिभवति ।

तेणेहि पहे गहिओ, गोसालो माउलो त्ति वाहणया ।
भगवं वेसालीए, कम्मार घणेण देविंदो ॥ ४८५ ॥

आगओ पंचहि वि सएहिं वाहिओ माउल त्तिं काऊणं, पच्छा चिंतेइ वरं सामिणा समं । अवि य–कोइ मोएइ सामिं? तस्स निस्साए मोयणं भवइ, ताहे सामिं मग्गिउमारद्धो सामी वि वेसालिं गओ, तत्थ कम्मकरसालाए अणुएणवेत्ता पडिमं ठिओ,सा साहारणा,ज साहीणा तत्थ ते अणुण्णविआ । अण्णदा तत्थेगो कम्मकरो छम्मासपडिलग्गओ आढत्तो सोहणतिहिकरणे, आउहाणि गहाय आगओ, सामिं च पासइ, अमंगलं ति सामिं आहणामि त्ति पहाविओ घणं उग्गिरिऊणं सक्केण य ओही पउत्तो, जाव पेच्छइ,तहेव निमिसंतरेण आगओ, तस्सेव उवरिं सो घणो साहिओ, तह चेव मओ, सक्कोऽवि वंदित्ता गओ ।

गामागविहेलग ज–क्ख तावसी उवसमा वसाण थुई ।
छट्ठेण सालिसीसे, विसुज्झमाणस्स लोगोही ॥४८६॥

ततो सामी गामायं नाम सन्निवेसं गओ, तत्थुज्जाणे विहेलए विभेलयजक्खो नाम, सो भगवओ पडिमं ठियस्स महिमं करेइ, ततो भगवं सालिसीसयं नाम गामो तहिं गतो, तत्थुज्जाणे पडिमं ठिओ माहमासो य वट्टइ, तत्थ कडपूयणा नाम वाणमंतरी सामिं दट्ठूण तेयं असहमाणी पच्छा तावसीरूवं विउव्वित्ता वक्कलनियत्था जडा भारेण य सव्वं सरीरं पाणिएण ओलेत्ता देहम्मि उवरिं सामिस्स ठाउं धुणति वातं च विउव्वइ, जइ अन्नो होंतो तो फुट्टो होंतो, तं तिव्वं वेअणं अहियासितस्स भगवओ ओही विआसिउ व्व लोगं पासिउमारद्धो, सेसं कालं गब्भाओ आढवेत्ता जाव सालिसीसं ताव एक्कारस अंगा सुरलोयप्पमाणमेत्तो य ओही, जावतियं देवलोएसु पच्छितोइओ । सा वि वंतरी पराजिआ, पच्छा सा उवसंता पूअं करेइ ।

पुणरवि भद्दिअनगरे, तवं विचित्तं च छट्ठवासम्मि ।
मगहाएँ निरुवसग्गं,मुणि उउबद्धम्मि विहरित्थ॥४८७॥

ततो भगवं भद्दियं नाम नगरिं गतो, तत्थ छट्ठं वासं उवागओ, तत्थ वरिसारत्ते गोसालेण समं समागमो, छट्ठे मासे गोसालो मिलिओ भगवओ । तत्थ चउमासखमणं विचित्ते य अभिग्गहे कुणइ भगवं ठाणादीहिं, वाहिं पारेत्ता ततो पच्छा मगहाविसए विहरइ निरुवसग्गं अट्ठ उडुवद्धिए मासे, विहरिऊणं ।

आलभिआए वासं, कुंडागे (तह) देउले पराहुत्तो ।
मद्दण देउलसारिअ, मुहमूले दोसु वि मुणि त्ति ॥४८८॥

आलंभिअं नयरिं एइ , तत्थ सत्तमं वासं उवागओ, चउमासखमणेणं तवो , वाहिं पारेत्ता कुंडागं नाम सन्निवेसं तत्थ एति । तत्थ वासुदेवघरे सामी पडिमं ठिओकोणे, गोसालोऽवि वासुदेवपडिमाए अहिट्ठाणं मुहे काऊणं ठिओ, सो य से पडिचारगो आगओ , तं पेच्छइ तहा ठियं , ताहे सो चिंतेइ–मा भणिहिइ रागदोसिओ धम्मिओ, गामे जाइत्तु कहेइ, एह पेच्छह भणिहिइ , राइतओ त्ति । ते आगया दिट्ठो पिट्टिओ य , पच्छा वंधिज्जइ, अन्ने भणंति–एस पिसाओ , ताहे मुक्को, तओ निग्गया समाणा मद्दणा नाम गामो , तत्थ वलदेवस्स घरे सामी अन्तोकोणे पडिमं ठिओ, गोसालो मुहे तस्स सागारिअं दाउं ठिओ , तत्थ वि तहेव हओ , मुणिओ त्ति काऊण मुक्को । मुणिओ नाम पिसाओ ।

बहुसालग सालवणे, कडपूअण पडिम विग्घणोवसमे ।
लोहग्गलम्मि चारिय,जिअसत्तू उप्पले मोक्खो॥४८९॥

ततो सामी बहुसालगनाम गामो तत्थ गओ, तत्थ सालवणं नाम उज्जाणं , तत्थ सालज्जा वाणमंतरी , सा भगवओ पूअं करेइ , अन्ने भणंति–जहा सा कडपूअणा वाणमंतरी भगवओ पडिमागयस्स उवसग्गं करेइ, ताहे उवसंता महिमं करेइ । ततो णिग्गया गया लोहग्गलं रायहाणिं, तत्थ जियसत्तू राया, सो य अण्णेण राइणा समं विरुद्धो , तस्स चारपुरिसेहिं गहिआ, पुच्छिज्जंता न साहंति, तत्थ चारिय त्ति काऊण रएणो अत्थाणीवरगयस्स उ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वट्टुविश्रा, तत्थ य उप्पलो श्रट्ठिअगामाश्रो सो पुव्वमेव श्रतिगतो, सो य ते श्रागिज्जंते ददट्ठूण उट्ठिश्रो, तिक्खुत्तो वंदइ, पच्छा सो भणइ-ण एस चारिश्रो, एस सिद्धत्थरायपुत्तो धम्मवरचक्कवट्टी एस भगवं, लक्खणाणि य से पेच्छह, तत्थ सक्कारिऊण मुक्का।

तत्तो य पुरिमताले, वग्गुर ईसाण अच्चए पडिमा।
मल्लिजिणायणपडिमा, उण्णाए वंसि बहुगोट्ठी ॥४६०॥

ततो सामी पुरिमतालं एइ, तत्थ वग्गुरो नाम सेट्ठी, तस्स भद्दा भारिश्रा, वंझा अवियाउरी जाणुकोप्परमाया. बहूणि देवस्स उवादिणाणि काउं परिसंता। अण्णया सगडमुहे उज्जाणे उज्जेणियाए गया, तत्थ पासंति जुण्णं देवउलं सडियपडियं, तत्थ मल्लिसामिणो पडिमा, तं णमंसंति, जइ श्रम्ह दारश्रो दारिश्रा वा जायति तो एवं चेव देउलं करेस्सामो, एय भत्ताणि य होहामो, एवं नमंसित्ता गयाणि। तत्थ अहासन्निहिश्राए वाणमंतरीए देवयाए पाडिहेरं कयं, श्राहूश्रो गब्भो. जं चेव श्राहूश्रो तं चेव देवउलं काउमारद्धाणि, श्रतीव तिसंभं पूश्रं करेंति, पव्वतियगे य अल्लियंति, एवं सो सावश्रो जाश्रो। इश्रो य सामी विहरमाणो सगडमुहस्स उज्जाणस्स नगरस्स य अंतरा पडिमं ठिश्रो, वग्गुरो य एहाश्रो उल्लपडसाडश्रो सपरिजणो महया इड्ढीए विविहकुसुमहत्थगश्रो तं श्राययणं अच्चश्रो जाइ, ईसाणो य देविंदो पुव्वागश्रो सामिं वंदित्ता पज्जुवासति, वग्गुरं च वीतीवंतं पासइ, भणति य-भो वग्गुरा! तुमं पच्चक्खतित्थगरस्स महिमं न करेसि तो पडिमं अच्चश्रो जासि, एस महावीरो वद्धमाणो त्ति, तो श्रागश्रो मिच्छादुक्कडं काउं खामेति महिमं च करेइ। ततो सामी उण्णागं वच्चइ, एत्थंतरा वधूवरं सपडिहुत्तं एइ, ताणि पुण दोण्णि वि विरूवाणि दंतिलगाणि य तत्थ गोसालो भणति-अहो इमो सुसंजोगो—" तत्तिल्ला विहिराया, जाणति दूरे वि जो जहिं वसइ। जं जस्स होइ सरिसं, तं तस्स विइज्जयं देइ ॥ १ ॥" जाहे न ठाइ ताहे तेहिं पिट्टिश्रो, पिट्टित्ता वंसीकुडंगे छूढो, तत्थ पडिश्रो अत्ताणश्रो अच्छइ, वाहरइ सामिं, ताहे सिद्धत्थो भणति-सयंकयं ते, ताहे सामी अदूरे. गंतुं पडिच्छइ. पच्छा ते भणंति—नूणं एस एयस्स देवज्जगस्स पीढियावाहगो वा छत्तधरो वा श्रासि तेण अवट्ठिश्रो, ता णं मुयह, ततो मुक्को। अण्णे भणंति—पहिएहिं उत्तारिश्रो सामिं अच्छंतं ददट्ठूण।

गोभूमिवज्जलाढे, गोवक्कोवे य वंसि जिणुवसमे।
रायगिहट्ठमवासा, वज्जाभूमी बहुवसग्गा ॥ ४६१ ॥

ततो सामी गोभूमिं वच्चइ एत्थंतरा अडवी घणा, सदा गावीश्रो चरंति तेण गोभूमी, तत्थ गोसालो गोवालए भणइ-अरे वज्जलाढा! एस पंथो कहिं वच्चइ?। वज्जलाढा नाम मेच्छा। ताहे ते गोवा भणंति-कीस अक्कोससि?, ताहे सो भणइ-असूयपुत्ता! खउरपुत्ता! सुट्ठु अक्कोसामि, ताहे तेहिं मिलित्ता पिट्टित्ता बंधित्ता वंसीए छूढो, तत्थ अण्णेहिं पुणो मोइश्रो जिणुवसमेणं। ततो रायगिहं गया, तत्थ अट्ठमं वासारत्तं तत्थ चाउम्मासखवणं विचित्ते अभिग्गहे बाहिं पारेत्ता सरए दिट्ठंतं करेति सपतीए, जहा—एगस्स कुडुंबियस्स बहुसाली जाश्रो, ताहे सो पंथिए भणति-तुब्भं हियइच्छिश्रं भत्तं देमि मम लूणह, एवं सो उवाएण लूणावेइ, एवं चेव मम वि बहुं कम्मं अच्छइ, एतं अच्छारिएहिं निज्जरावेयव्वं। तेण अणारियदेसेसु लाढावज्जभूमी सुद्धभूमी तत्थ विहरिश्रो. सो अणारिश्रो हीलइ निंदइ. जहा वंभचेरेसु, छु छु करेंति श्राहंसु समणं कुक्कुरा डसंतु त्ति एवमादि, तत्थ नवमो वासारत्तो कश्रो, सो य अलेभडो श्रासी। वसती वि न लब्भइ। तत्थ छम्मासं अणिच्चजागरिश्रं विहरति। एस नवमो वासारत्तो।

अनिअयवासं सिद्ध-त्थपुरं तिलथंब पुच्छ निप्फत्ती।
उप्पाडेइ अणज्जो, गोसालो वासबहुलाए ॥ ४६२ ॥

ततो निग्गया पढमसरए सिद्धत्थपुरं गया। तश्रो सिद्धत्थपुराश्रो कुम्मगामं संपट्ठिश्रा, तत्थंतरा तिलथंबश्रो, तं दट्ठूण गोसालो भणइ-भगवं! एस तिलत्थंबश्रो किं निप्फज्जिहिति न व त्ति?, सामी भणति-निप्फज्जिहिति, एए य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता एगाए तिलसंगलियाए पच्चायाहिंति, ततो गोसालेण असद्दहंतेण श्रोसरिऊण सलेट्ठुगो उप्पाडिश्रो एगंते पडिश्रो, अहासन्निहिएहि य वाणमंतरेहिं मा भगवं मिच्छावादी भवउ, वासं वासितं, श्रासत्थो, बहुलिश्रा य गावी श्रागया, ताए खुरेण निक्खित्तो पइट्ठिश्रो पुप्फा य पच्चाजाया।

मगहा गोब्बरगामो, गोसंखी वेसियाण पाणामा ॥
कुम्मग्गामायावण, गोसाले गोवण पउट्ठे ॥ ४६३ ॥

ताहे कुम्मगामं संपत्ता, तस्स बाहिं वेसायणो बालतवस्सी श्रायावेति, तस्स का उप्पत्ती?, चंपाए नयरीए रायगिहस्स य अंतरा गोब्बरगामो, तत्थ गोसंखी नाम कुडुंबिश्रो, जो तंसि अधिपती श्राभीराणं, तस्स बन्धुमती नाम भज्जा अवियाउरी। इश्रो य तस्स अदूरसामंते गामो चोरेहिं हश्रो, तं हंतूण बंदिग्गहं च काऊण पहाविया। एका चिरपसूइया पतिम्मि मारिते चेडेण समं गहिया, सा तं चेडं छड्डाविया. सो चेडश्रो तेण गोसंखिणा गोरूवाणं गएण दिट्ठो गहिश्रो य, अप्पणियाए महिलियाए दिण्णो. तत्थ पगासियं—जहा मम महिला गूढगब्भा श्रासी. तत्थ य छगलयं मारेत्ता लोहिअगंधं करेत्ता सूइयानवत्था ठिया। सव्वं जं तस्स इतिकत्तव्वं तं कीरइ. सोऽवि ताव संवड्ढइ. साबि से माया चंपाए विक्किया. वेसिया थेरीए गहिया. एस मम धूय त्ति। ताहे जो गणियाणं उवयारो तं सिक्खाविया, सा तत्थ नाम निग्गया गणिया जाया। सो य गोसंखियस्स पुत्तो तरुणो जाश्रो, घियसगडेणं चंपं गश्रो सवयंसो, सो तत्थ पेच्छइ नागरजणं जहिच्छिश्रं अभिरमंतं, तस्स वि इच्छा जाया अहमवि ताव रमामि, सो तत्थ गतो वेसावाडयं, तत्थ सा चेव माया अभिरुइया, मोल्लं देइ विश्राले एहायविलित्तो वच्चइ। तत्थ वच्चंतस्स अंतरा पादो अमेज्झेण लित्तो, सो न जाणइ केणावि लित्तो। एत्थंतरा तस्स कुलदेवया मा अकिच्चमायरउ वोहेमि त्ति तत्थ गोट्ठुए गाविं सवच्छियं

१-अप्रसविनी। २-उपयाचितानि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विउव्विऊण ठिया, ताहे सो तं पायं, तस्स उवरिं फुसति, ताहे सो वच्छओ भणइ—किं अम्मो ! एस ममं उवरिं अमेज्झलित्तयं पादं फुसइ ? ताहे सा गावी माणुसियाए वायाए भणइ-'किं तुमं पुत्ता ! अधितिं करेसि ?, एसो अज्ज मायाए समं संवासं गच्छइ, तं एस एरिसं अकिच्चं ववसइ, अन्नं पि किं न काहिति त्ति। ताहे तं सोऊणं तस्स चिंता समुप्पराणा—गतो पुच्छिहामि, ताहे पविट्ठो पुच्छइ—का तुज्झ उप्पत्ती ?, ताहे सा भणति—किं तव उप्पत्तीए ? महिलाभावं दाएइ सा, ताहे सो भणति—अन्नं पि पत्तिअं मोल्लं देमि, साह सब्भावं ति सवहसावियाए सव्वं सिट्ठंति, ताहे सो निग्गओ सग्गामं गओ, अम्मापियरो य पुच्छइ, ताणि न साहेंति, ताहे ताव अणसिओ ठिओ जाव कहियं। ताहे सो तं मायरं मोयावेत्ता वेसाओ पच्छा विरागं गओ। एयावत्था विसय त्ति पाणामाए पवज्जाए पव्वइओ; एस उप्पत्ती। विहरंतो य तं कालं कुम्मग्गामं आयावेइ, तस्स य जडाहिंतो छप्पयाओ आइच्चकिरणताविआओ पडंति, जीवहियाए पडियाओ चेव सीसे छुभइ। तं गोसालो दट्ठूण ओसरित्ता तत्थ गओ भणइ—किं ? भवं मुणी मुणिओ उयाहु जूआसेज्जातरो ?, कोऽर्थः, 'मन्' ज्ञाने, ज्ञात्वा प्रव्रजितो नेति, अथवा-किं इत्थी पुरिसे वा ?, एकसिं दो तिरिण वारे, ताहे वेसिआयणो रुट्ठो तेयं निसिरइ, ताहे तस्स अणुकंपणट्ठाए वेसियायणस्स य उसिणतेयपडिसाहरणट्ठाए एत्थंतरा सीयलिया तेयलेस्सा निस्सारिया, सा जंबूदीवं भगवओ सीयलिया तेयलेसा, अब्भिंतरओ वेढेति, इतरा तं परियंचति, सा तत्थेव सीयलियाए विज्झाविया, ताहे सो सामिस्स रिद्धिं पासित्ता भणति-से गयमेयं भगवं ! से गयमेयं भयवं ?, कोऽर्थः ?—न याणामि जहा तुब्भं सीसो, खमह, गोसालो पुच्छइ-सामी ! किं एस जूआसेज्जातरो भणति ?; सामिणा कहियं, ताहे भीओ पुच्छइ—किह संखित्तविउलतेयलेस्सो भवति ?, भगवं भणति-जे णं गोसाला ! छट्ठं छट्ठेण अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं आयावेति, पारणए सणहाए कुम्मास, पिंडियाए एगेण य वियडासएण जावेइ जाव छम्मासासे णं संखित्तविउलतेयलेस्सो भवति। अगणया सामी कुम्मगामाओ सिद्धत्थपुरं पत्थिओ, पुणरवि तिलथंबगस्स अदूरसामंतेण वीतिवयइ, पुच्छइ सामिं जहा-न निप्फएणो कहियं जहा णिप्फएणो, तं एवं वणस्सईणं पउट्टपरिहारो, (पउट्टपरिहारो नाम परावर्त्य परावर्त्य तस्मिन्नेव सरीरके उववज्जंति) तं असद्दहमाणो गंतूण तिलसंगलियं हत्थेण फोडित्ता ते तिले गणेमाणो भणति—एवं सव्वजीवावि पउट्टं परियट्टंति, णियइवादं धणियमवलंबेत्ता तं करेइ जं उवदिट्ठं सामिणा जहा संखित्तविउलतेयलेस्सो भवति, ताहे सो सामिस्स पासाओ फिट्टो सावत्थीए कुंभकारसालाए ठिओ तेयनिसग्गं आयावेइ, छहिं मासेहिं जाओ, कूवतडे दासीओ विएणासिओ, पच्छा छद्दिसाअरा आगया, तेहिं निमित्तउल्लोगो कहिओ, एवं सो अजिणो जिणप्पलावी विहरइ, एसा से विभूती संजाया।

वेसालीए पडिमं, डिंभमुणि(णी) उ त्ति तत्थ गणराया।
पूएइ संखनामो, चित्तो नावाएँ भगिणिसुओ ॥४६४॥

भगवं पि वेसालिं नगरिं पत्तो, तत्थ पडिमं ठिओ, डिंभेहिं मुणिउ त्ति काऊण खलयारिओ,तत्थ "संखो" नाम गणराया, सिद्धत्थस्स रएणो मित्तो सो तं पूएति। पच्छा वाणियग्गामं पहाविओ, तत्थंतरा गंडइया नदी, तं सामी णावाए उत्तिएणो ते णाविआ सामिं भणंति—देहि मोल्लं, एवं वाहंति, तत्थ संखरएणो भाइणिज्जो चित्तो नाम दूएक्काए गएल्लओ णावाकडएण एइ, ताहे तेण मोइओ महिओ य।

वाणियगामायावण, आनंदो ओहिपरीसहसहिंति।
सावत्थीए वासं, चित्ततवो साणुलट्ठि वहिं ॥ ४६५ ॥

तत्तो वाणियग्गामं गओ, तस्स वाहिं पडिमं ठिओ, तत्थ आणंदो नाम सावओ, छट्ठं छट्ठेण आयावेइ, तस्स ओहिनाणं समुप्पएणं, जाव पेच्छइ तित्थंकरं, वंदति भणति—अहो सामिणा परीसहा अहियासेज्जंति, एचिरेण कालेण तुज्झं केवलनाणं उप्पज्जिहिति पूएति य। ततो सामी सावत्थि गओ, तत्थ दसमं वासारत्तं,विचित्तं च तवोकम्मं ठाणादिहिं। ततो साणुलट्ठियं नाम गामं गओ।

पडिमा भद्द महाभ-द्द सव्वओभद्द पढमिआ चउरो।
अट्ठ य वीसाणंदे,बहुलिय तह उज्झिए दिव्वा।।४६६॥

तत्थ भद्दं पडिमं ठाइ, केरिसा भद्दा ? पुव्वाहुत्तो दिवसं अच्छइ, पच्छा रत्तिं दाहिणहुत्तो, अवरेण दिवसं, उत्तरेण रत्तिं, एवं छट्ठभत्तेण निट्ठिआ, पच्छा न चेव पारेइ अपारिओ चेव महाभद्दं पडिमं ठाइ, सा पुण पुव्वाए दिसाए अहोरत्तं एवं चउसु वि दिसासु चत्तारि अहोरत्ताणि, एवं सा दसमेणं निट्ठाइ, ताहे अपारिओ चेव सव्वओभद्दं पडिमं ठाइ,सा पुण सव्वतोभद्दा इंदाए अहोरत्तं एवं अग्गेईए जामाए नेरइए वारुणीए वायव्वाए सोम्माए ईसाणीए विमलाए जाइं उड्ढलोइयाइं दव्वाणि ताणि निज्झायति, तमाए-हेट्ठिल्लाइं, एवमेवेसा दसहिं वि दिसाहिं बावीसइमेणं समप्पइ। 'पढमिआ चउरो' त्ति पुव्वाए दिसाए चत्तारि जामा, दाहिणाए वि चत्तारि जामा,अवराए वि चत्तारि जामा,उत्तराए वि चत्तारि जामा,बितियाए अट्ठ,पुव्वाए वे चउरो जामाणं एवं दाहिणाए उत्तराए वि अट्ठ,एए अट्ठ। ततियाए वीसं, पुव्वाए दिसाए बेचउक्कं जामाणं जाव अहो बेचउक्का, एए वीसं पच्छा तासु समत्तासु आणंदस्स गाहावइस्स घरे बहुलियाए दासीए महाणसिणीए भायणाणि खणीकरेंतीए दोसीणं छड्डेउकामाए सामी पविट्ठो, ताए भणति-किं भगवं ! अट्ठो सामिणा पाणी पसारिओ, ताए परमाए सद्धाए दिएणं, पंच दिव्वाणि पाउब्भूआणि।

दढभूमीए बहिआ, पेढालं नाम होइ उज्जाणं।
पोलासचेइयम्मी, ठिएगराई महापडिमं ॥ ४६७ ॥

ततो सामी दढभूमिं गओ, तीसे बाहिं पेढालं नाम उज्जाणं, तत्थ पोलासं चेइअं, तत्थ अट्ठमेणं भत्तेणं एगराइयं पडिमं ठिओ, एगपोग्गलनिरुद्धदिट्ठी अणमिसनयणो, तत्थ वि जे अचित्ता पोग्गला तेसु दिट्ठिं निवेसेइ, सचित्तेहिं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिट्ठिं अप्पाइज्जइ, जहासंभवं सेसाणि वि भासियव्वाणि, ईसिं पब्भारगओ—ईसिं ओणयकाओ ।

सक्को अ देवराया, सभागओ भणइ हरिसिओ वयणं ।
तिन्नि वि लोगसमत्था, जिणवीरमणं न चालेउं ॥४६८॥

इओ य सक्को देवराया, भगवंतं ओहिणा आभोएत्ता सभाए सुहम्माए अत्थाणीवरगओ हरिसिओ सामिस्स नमोक्कारं काऊण भणति—अहो भगवं तेलोकं अभिभूअ ठिओ, न सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा चालेउं ।

सोहम्मकप्पवासी, देवो सक्कस्स सो अमरिसेणं ।
सामाणिअ संगमओ, वेइ सुरिंदं पडिनिविट्ठो ॥४६६॥
तेल्लोकं असमत्थं, ति पेहए तस्स चालणं काउं ।
अज्जेव पासह इमं, मम वसगं भट्ठजोगतवं ॥ ५०० ॥
अह आगमो तुरंतो, देवो सक्कस्स सो अमरिसेणं ।
कासी य ह उवसग्गं, मिच्छद्दिट्ठी पडिनिविट्ठो ॥५०१॥

इओ य संगमओ नाम सोहम्मकप्पवासी देवो सक्कसामाणिओ अभवसिद्धीओ, सो भणति-देवराया अहो रागेण उल्लवेइ; को माणुसो देवेण न चालिज्जइ ?, अहं चालेमि, ताहे सक्को तं न वारेइ, मा जाणिहिइ-परनिस्साए भगवं तवोकम्मं करेइ, एवं सो आगओ ।

धूली पिवीलिआओ, उद्दंसा चेव तह य उण्होला ।
विंछुय नउला सप्पा, य मूसगा चेव अट्ठमगा ॥५०२॥
हत्थी हत्थिणिआओ, पिसायए घोररूववग्घो य ।
थेरो थेरीइ सुओ, आगच्छइ पक्कणो य तहा ॥५०३॥
खरवायकलंकलिया, कालचक्कं तहेव य ।
पाभाइयउवसग्गे, वीसइमो होइ अणुलोमो ॥ ५०४ ॥
सामाणिअदेवड्ढिं, देवो दावेइ सो विमाणगओ ।
भणइ य वरेह महरिसि !, निप्फत्ती सग्गमोक्खाणं।५०५।
उवहयमइविन्नाणो, ताहे वीरं बहुप्प साहेउं ।
ओहीए निज्झाइ, झायइ छज्जीवहियमेव ॥ ५०६ ॥

ताहे सामिस्स उवरिं धूलिवरिसं वरिसइ, जाहे अच्छीणि कण्णा य सव्वसोत्ताणि पूरियाणि, निरुस्सासो जाओ, तेण सामी तिलतुसतिभागमित्तं पि झाणाओ न चलइ, ताहे संतो तंतो साहरित्ता ताहे कीडिआओ विउव्वइ वज्जतुंडाओ, ताओ समंतओ विलग्गाओ खायंति, अण्णातो सो तेहिं अन्तोसरीरगं अणुपविसित्ता अण्णेणं सोएणं अतिंति अण्णेण णिंति. चालिणी जारिसो कओ, तह वि भगवं न चालिओ, ताहे उद्दंसे वज्जतुंडे विउव्वइ, ते तं उद्दंसा वज्जतुंडा खाइंति, जे एगेण पहारेण लोहियं नीणिंति, जाहे तह वि न सक्का ताहे उण्होला विउव्वति, उण्होला तेल्लपाइआओ, ताओ तिक्खेहिं तुंडेहिं अतीव डसंति, जहा जहा उवसग्गं करेइ तहा तहा सामी अतीव झाणेण अप्पाणं भावेइ, जाहे तेहिं न सक्किओ ताहे विच्छुए विउव्वति, ताहे खायंति जाहे न सक्का ताहे नउले विउव्वइ, ते तिक्खाहिं दाढाहिं डसंति, खंडखंडाइं च अवणेंति, पच्छा सप्पे विसरोसपुण्णे उग्गविसे डाहजरकारए, तेहि वि न सक्का, मूसए विउव्वइ, ते खंडाणि अवणेत्ता तत्थेव वोसिरंति मुत्तपुरीसं, ततो अतुला वेयणा भवति । जाहे न सक्का ताहे हत्थिरूवं विउव्वति, ते ण हत्थिरूवेण सुंडाए गहाय सत्तऽट्ठताले आगासं उक्खिवित्ता पच्छा दंतमुसलेहिं पडिच्छति, पुणो भूमीए विंधति, चलणतलेहिं मलइ, जाहे न सक्को ताहे हत्थिणियारूवं विउव्वति, सा हत्थिणिया सुंडाएहिं दंतेहिं विंधइ फालेइ य पच्छा काइएण सिंचइ, ताहे चलणेहिं मलेइ जाहे न सक्का ताहे पिसायरूवं विउव्वति, जहा कामदेवे, तेण उवसग्गं करेइ । जाहे न सक्का ताहे वग्घरूवं विउव्वति, सो दाढेहिं नखेहि य फालेइ, खारकाइएण सिंचति, जाहे न सक्का ताहे सिद्धत्थरायरूवं विउव्वति, सो कट्ठाणि कलुलाणि विलवइ-एहि पुत्त ! मा मा उज्झाहि, एवमादि विभासा, ततो तिसलाए विभासा, ततो सूयं, किह ? सो ततो खंधावारं विउव्वति, सो परिपेरंतेसु आवासिओ, तत्थ सूतो पत्थरे अलभंतो दोण्ह वि पायाण मज्झे अग्गिं जालेत्ता पायाण उवरि उक्खलियं काउं पयइओ, जाहे एएण वि न सक्का ततो पक्कणं विउव्वति, सो ताणि पंजराणि बाहुसु गलए कन्नेसु य ओलएइ, ते सउणगा तं तुंडेहिं खायंति विंधंति सन्नं काइयं च वोसिरंति, ताहे खरवायं विउव्वेइ, जेण सक्का मंदरं पि चालेउं, न पुण सामी विचलइ, तेण उप्पाडेत्ता उप्पाडेत्ता पाडेइ, पच्छा कलंकलियवायं विउव्वइ, जेण जहा चक्काइद्धगो तहा भमाडिज्जइ, नंदिआवत्तो वा, जाहे एवं न सक्का ताहे कालचक्कं विउव्वति, तं घेत्तूणं उड्ढं गगणतलं गओ, एत्ताहे मारेमि त्ति मुएइ वज्जसंनिभं जं मंदरं पि चूरेज्जा, तेण पहारेण भगवं ताव णिबुड्डो जाव अग्गनहा हत्थाणं, जाहे न सक्का तेण वि ताहे चिंतेति-न सक्को एस मारेउं, अणुलोमे करेमि, ताहे पभायं विउव्वइ, लोगो सव्वो चंकमिउं पवत्तो भणति—देवज्जगा ! अच्छसि अज्ज वि ?, भयवं पि नाणेण जाणइ जहा न ताव पभाइ जाव सभावओ पभायंति, एस वीसइमो । अन्ने भणन्ति—तुट्ठोमि तुज्झ भगवं ! भण किं देमि ?, सग्गं वा ते सरीरं नेमि मोक्खं वा नेमि, तिण्णि वि लोए तुज्झ पादेहिं पाडेमि ?, जाहे न तीरइ ताहे सुट्ठुयरं पडिनिवेसं गओ, कल्लं काहिति, पुणो वि अणुकड्ढइ ।

वालुयपंथे तेणा, माउलपारणग तत्थ काणच्छी ।
तत्तो सुभोम अंजलि, सुच्छित्ताए य विडरूवं ॥ ५०७ ॥

ततो सामी वालुगा नाम गामो तं पहाविओ, एत्थंतरा पंच चोरसए विउव्वति, वालुगं च जत्थ खुप्पइ, पच्छा तेहि माउलोत्ति वाहिओ पव्वयगुरुतरेहिं सागयं च वज्जसरीरा दिंति जहिं पव्वयावि फुट्टिज्जा, ताहे वालुयं गओ, तत्थ सामी भिक्खं पहिंडिओ, तत्थावरेतुं भगवतो रूवं काणच्छि अविरइयाओ एंडइ, जाओ तत्थ तरुणीओ ताओ हम्मति, ताहे निग्गतो ! भगवं सुभोमं वच्चइ, तत्थ वि अतियओ भिक्खायरियाए, तत्थ वि आवरेत्ता महिलाणं अंजलिं करेइ, पच्छा तेहिं पिट्टिज्जति, ताहे भगवं णीति, पच्छा सुच्छेत्ता नाम गामो तहिं वच्चइ जाहे अतिगतो सामी भिक्खाए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ताहे इमो आवरेत्ता विडरूवं विउव्वइ, तत्थ हसइ य गायइ य अट्टट्टहासे य मुंचति, काणच्छियाओ य जहा विडो तहा करेइ, असिट्ठाणि य भणइ, तत्थ वि हम्मइ, ताहे ततो विणीति ।

मलए पिसायरूवं, सिवरूवं हत्थिसीसए चेव ।
ओहसणं पडिमाए, मसाण सक्को जवणपुच्छा ॥५०८॥

ततो मलयं गतो गामं, तत्थ पिसायरूवं विउव्वति, उम्मत्तयं भगवतो रूवं करेइ, तत्थ अविरइयाओ अवतासेइ गेण्हइ, तत्थ चेडरूवेहिं छारकयारेहि भरिज्जइ लेड्डु (ट्टु) एहिं च हम्मइ, ताणि य विहावेइ ततो ताणि छोडियापडियाणि नासंति, तत्थ कहिते हम्मति, ततो सामी निग्गतो हत्थिसीसं गामं गतो, तत्थ भिक्खाए अतिगयस्स भगवओ सिवरूवं विउव्वइ सागारियं च से कसाइययं करेइ, जाहे पेच्छइ, अविरइयं ताहे उट्ठवेइ, पच्छा हम्मति, भयवं चिंतेति—एस अतीव गाढं उड्डाहं करेइ अणेसणं च, तम्हा गामं चेव न पविसामि बाहिं अच्छामि, अण्णे भणंति—पंचालदेवरूवं जहा तहा विउव्वति, तदा किर उप्पण्णो पंचालो, ततो बाहिं निग्गओ गामस्स,जओ महिलाजूअं तओ कसाइततेण अच्छति, ताहे किर ढोंढसिवा पवत्ता, जम्हा सक्केण पूइओ ताहे ठिया, ताहे सामी एगंतं अच्छति, ताहे संगमओ उहसेइ-न सक्का तुमं ठाणाओ चालेउं ?, पेच्छामि ता गामं अतीहि, ताहे सक्को आगतो पुच्छइ-भगवं ! जत्ता भे जवणिज्जं अव्वाबाहं फासुयविहारं ?, वंदित्ता गओ ।

तोसलिकुसीसरूवं, संधिच्छेओ इमो त्ति वज्झो य ।
मोएइ इंदालिउ, तत्थ महाभूइलो नामं ॥ ५०९ ॥

ताहे सामी तोसलिं गतो, बाहिं पडिमं ठिओ, ताहे सो देवो चिंतेइ-एस न पविसइ एत्ताहे एत्थ वि से ठियस्स करेमि उवसग्गं, ततो खुड्डगरूवं विउव्वित्ता संधिं छिंदइ उवकरणेहिं गहिएहिं धाडीए तओ सो गहितो भणति-मा ममं हणह, अहं किं जाणामि ?, आयरिएण अहं पेसिओ, कहिं सो ?, एस बाहिं अमुए उज्जाणे, तत्थ हम्मति, बज्झति य, मारेज्जउ त्ति य वज्झो णीणिओ, तत्थ भूइलो नाम इंदजालिओ, तेण सामी कुंडग्गामे दिट्ठओ, ताहे सो मोएइ, साहइ य-जहा एस सिद्धत्थरायपुत्तो, मुक्को खामिओ खुड्डुओ मग्गिओ य, न दिट्ठो,नायं जहा से देवो उवसग्गं करेइ ।

मोसलि संधि सुभागह, मोएइ रट्ठिओ पिउवयंसो ।
तोसलि य सत्तरज्जू, वावत्ती तोसलीमोक्खो ॥५१०॥

ततो भगवं मोसलिं गओ, तत्थ वि बाहिं पडिमं ठिओ, तत्थ वि सो देवो खुड्डगरूवं विउव्वित्ता संधिमग्गं सोहेइ पडिलेहेइ य, सामिस्स पासे सव्वाणि उवगरणाणि विउव्वइ, ताहे सो खुड्डओ गहिओ, तुमं कीस एत्थ सोहेसि ?, साहइ—मम धम्मायरिओ रत्तिं मा कंटए भंजिहिति सो सुहं रत्तिं खत्तं खणिहिति, सो कहिं ?, कहिते गया, दिट्ठो सामी, ताणि य परिपेरन्ते पासंति, गहितो आणीओ, तत्थ सुमागहो नाम रट्ठिओ पियमित्तो भगवओ सो मोएइ, ततो सामी तोसलिं गओ, तत्थ वि तहेव गहिओ, नवरं-उक्कलं विज्झिउमाढत्तो; तत्थ से रज्जू छिण्णो,एवं सत्त वारा छिण्णो, ताहे सिट्ठं तोसलियस्स खत्तियस्स, सो भणति—मुयह एस अचोरो निद्दोसो, तं खुड्डयं मग्गह, मग्गिज्जंतो न दीसइ, नायं जहा देवो त्ति ।

सिद्धत्थपुरे तेणे, त्ति कोसिओ आसवाणिओ मोक्खो ।
वयगामहिंडऽणेसण, विइयदिणे बेइ उवसन्तो ॥५११॥

ततो सामी सिद्धत्थपुरं गतो, तत्थ वि तेण तहा कयं जहा तेणो त्ति गहिओ, तत्थ कोसिओ नाम अस्सवाणियओ, तेण कुंडपुरे सामी दिट्ठिल्लओ, तेण मोयाविओ। ततो सामी वयगामं ति गोउलं गओ, तत्थ य तद्दिवसं छणो, सव्वत्थ परमण्णं उवक्खडियं, चिरं च तस्स देवस्स ठियस्स उवसग्गे काउं सामी चिंतेइ-गया छम्मासा, सो गतो त्ति अतिगओ जाव अणेसणाओ करेति, ततो सामी उवउत्तो पासति, ताहे अद्धहिंडिए नियत्तो, बाहिं पडिमं ठिओ, सो य सामिं ओहिणा आभोएति-किं भग्गपरिणामो न व त्ति ?, ताहे सामी तहेव सुद्धपरिणामो ताहे दट्ठुं आउट्टो, न तीरइ खोभेउं, जो छहिं मासेहिं न चलिओ एस दीहेणावि कालेण न सक्को चालेउं, ताहे पादेसु पडिओ भणति-सच्चं जं सक्को भणति, सव्वं खामेइ-भगवं ! अहं भग्गपतिण्णो तुम्हे सम्मत्तपतिण्णा ।

वच्चह हिंडह न करे-मि किंचि इच्छा न किंचि वत्तव्वो।
तत्थेव वच्छवाली, थेरी परमन्नवसुहारा ॥ ५१२ ॥

छम्मासे अणुबद्धं, देवो कासी य सो उ उवसग्गं ।
दट्ठूण वयग्गामे, वंदिय वीरं पडिनियत्तो ॥ ५१३ ॥

जाह एत्ताहे अतीह न करेमि उवसग्गं, सामी भणति-भो संगमय ! नाहं कस्सइ वत्तव्वो, इच्छाए अतीमि वा ण वा ताहे सामी बितियदिवसे तत्थेव गोउले हिंडंतो वच्छवालथेरीए दोसीणेण पायसेण पडिलाभिओ, ततो पंच दिव्वाणि पाउब्भूयाणि, एगे भणंति-जहा तद्दिवसं खीरं न लद्धं ततो बितियदिवसे ऊहारेऊण उवक्खडियं तेण पडिलाभिओ। इओ य सोहम्मे कप्पे सव्वे देवा तद्दिवसं उव्विग्गमणा अच्छंति, संगमओ य सोहम्मे गओ, तत्थ सक्को तं दट्ठूण परंमुहो ठिओ, भणइ-देवे भो ! सुणह एस दुरप्पा, ण एएण अम्ह वि चित्तावरक्खा कया अन्नेसिं वा देवाणं, जओ तित्थकरो आसाइओ, न एएण अम्ह कज्जं, असंभासो निव्विसओ य कीरउ ।

देवो चु(ठि)ओ महिड्ढिओ,वरमंदरचूलियाइसिहरम्मि ।
परिवारिउ सुरबहुहिं, आउम्मि य सागरे सेसे ॥५१४॥

ताहे निच्छूढो सह देवीहिं मंदरचूलियाए जाणएण विमाणेणागम्म ठिओ, सेसा देवा इंदेण वारिता, तस्स सागरोवमठिती सेसा ।

आलभियं हरि विज्जू, जिणस्स भत्तीएँ वंदओ एइ ।
भगवं पियपुच्छा जिय,उवसग्ग त्ति थेवमवसेसं ॥५१५॥

हरिसह सेयवियाए, सावत्थी खंदपडिमसक्को य ।
ओयरिउं पडिमाए, लोगो आउट्टिओ वंदे ॥ ५१६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्थ सामी आलभियं गओ, तत्थ हरि विज्जुकुमारिंदो एति, ताहे सो वंदित्ता भगवओ महिमं काऊण भणति-भगवं! पियं पुच्छामो, नित्थिण्णा उवसग्गा, बहुं गयं थोवमवसेसं, अचिरेण भे केवलणाणं उप्पज्जिहिति। ततो सेयवियं गओ, तत्थ हरिसहो पियपुच्छओ एइ, ततो सावत्थिं गओ, बाहिं पडिमं ठिओ, तत्थ खंदगपडिमाए महिमं लोगो करेइ, सक्को ओहिं पउंजति, जाव पेच्छइ खंदपडिमाए पूयं कीरमाणं, सामिं णाढायंति, उत्तिण्णो सा य अलंकिया रहं विलग्गिहिति त्ति, ताहे सक्को तं पडिमं अणुपविसिऊण भगवंतेणं पट्ठिओ, लोगो तुट्ठो भणति-देवो सयमेव विलग्गिहिति, जाव सामिं गंतूण वंदति, ताहे लोगो आउट्टो, एस देवदेवो त्ति महिमं करेइ जाव अच्छिओ।

कोसंबि चंदसूरो-यरणं वाणारसी य सक्को उ।
रायगिहे ईसाणो, महिला जणओ य धरणो य ॥५१७॥

ततो सामी कोसंबिं गतो तत्थ चंदसूरा सविमाणा महिमं करेंति, पियं च पुच्छंति, वाणारसी य सक्को पियं पुच्छइ रायगिहे, ईसाणो पियं पुच्छइ, मिहिलाए जणगो राया पूयं करेति, धरणो य पियपुच्छओ एइ।

वेसालि भूयणंदो, चमरुप्पाओ य सुंसुमारपुरे।
भोगपुरि सिंदकंदग, माहिंदो खत्तिओ कुणति॥५१८॥

ततो सामी वेसालिं नगरिं गतो, तत्थेक्कारसमो वासारत्तो, तत्थ भूयाणंदो पियं पुच्छइ नाणं च वागरेइ। ततो सामी सुंसुमारपुरं एइ, तत्थ चमरो उप्पयति, जहा पन्नत्तीए, ततो भोगपुरं एइ, तत्थ माहिंदो नाम खत्तिओ सामिं दट्ठूण सिंदिकंदयेण आहणामि त्ति पहावितो, सिंदी—खज्जूरी।

वारणसणंकुमारे, नंदीगामे पिउसहा वंदे।
मंढियगामे गोवो, वित्तासणयं च देविंदो॥ ५१९॥

एत्थंतरे सणंकुमारो एति, तेण धाडिओ तासिओ य पियं च पुच्छइ। ततो नंदिगामं गओ,तत्थ णंदीणाम भगवओ पियमित्तो,सो महेइ,ताहे मेंढियं एइ। तत्थ गोवो जहा कुम्मारगामे तहेव सक्केण तासिओ वालरज्जुएण आहणंतो।

कोसंबिएँ सयाणीओ, अभिग्गहो पोसबहुलपाडिवई।
चाउम्मासमिगावइ, विजयसुगुत्तो य नंदा य॥५२०॥
तच्चावाई चंपा, दहिवाहण वसुमई विजयनामा।
धणवह मूला लोयण, संपुल दाणे य पव्वज्जा॥५२१॥

ततो कोसंबिं गओ, तत्थ सयाणीओ राया, मियावती देवी, तच्चावाती नामा धम्मपाढओ, सुगुत्तो अमच्चो, णंदा से भारिया, सा य समणोवासिया, सा य सड्ढि त्ति मियावईए वयंसिया, तत्थेव नगरे धणावहो सेट्ठी, तस्स मूला भारिया, एवं ते सकम्मसंपउत्ता अच्छंति। तत्थ सामी पोसबहुलपाडिवए इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ चउव्विहं-दव्वओ खित्तओ, कालओ, भावओ, दव्वओ कुम्मासे सुप्पकोणेणं, खेत्तओ एलुगं विक्खंभइत्ता, कालओ नियत्तेसु भिक्खायरेसु, भावतो जहा रायधूया दासत्तणं पत्ता नियलबद्धा मुंडियसिरा रोवमाणी अट्ठमभत्तिया, एवं कप्पति, सेसं न कप्पति, एवं घेत्तूण कोसंबीए अच्छति। दिवसे दिवसे भिक्खायरियं च फासेइ, किंनिमित्तं? बावीसं परीसहा भिक्खायरियाए उदिज्जन्ति, एवं चत्तारि मासे कोसंबीए हिंडंतस्स त्ति। ताहे नंदाए घरमणुप्पविट्ठो, ताहे सामी णाओ, ताहे परेण आदरेण भिक्खा णीणिया, सामी निग्गओ, सा अधितिं पगया, ताओ दासीओ भणंति—एस देवज्जओ दिवसे दिवसे एत्थ एइ—ताहे ताए नायं—नूणं भगवओ अभिग्गहो कोइ, ततो निरायं चेव अधिती जाया, सुगुत्तो य अमच्चो आगओ, ताहे सो भणति-किं अधितिं करेसि?, ताहे कहियं, भणति—किं अम्ह अमच्चत्तणेणं?, एवचिरं कालं सामी भिक्खं न लहइ, किं च ते विन्नाणेणं?, जइ एयं अभिग्गहं न याणसि, तेण सा आसासिया, कल्ले समाणे दिवसे जहा लहइ तहा करेमि। एयाए कहाए वट्टमाणीए विजयानाम पडिहारी मिगावतीए भणिया सा केणइ कारणेणं आगया, सा तं सोऊण उल्लावं मियावतीए साहइ, मियावती वि तं सोऊण महया दुक्खेणाऽभिभूया, सा चेडगधूया अतीव अधितिं पगया, राया य आगओ पुच्छइ, तीए भणइ—किं तुज्झ रज्जेणं? मते वा?, एवं सामिस्स एवतियं कालं हिंडंतस्स भिक्खाभिग्गहो न नज्जइ, न च जाणसि एत्थ विहरंतं, तेण आसासिया—तहा करेमि जहा कल्ले लभइ, ताहे सुगुत्तं अमच्चं सद्दावेइ, अंबाडेइ य-जहा तुमं आगयं सामिं न याणसि, अज्ज किर चउत्थो मासो हिंडंतस्स, ताहे तच्चावादी सद्दावितो, ताहे सो पुच्छिओ सयाणीएण तुब्भं धम्मसत्थे सव्वपासंडाण आयारा आगया ते तुमं साह, इमोऽवि भणितो—तुमं पि बुद्धिबलिओ साह, ते भणंति—बहवे अभिग्गहा, ण णज्जंति को अभिप्पाओ?, दव्वजुत्ते खेत्तजुत्ते कालजुत्ते भावजुत्ते सत्त पिंडेसणाओ सत्त पाणेसणाओ, ताहे रण्णा सव्वत्थ संदिट्ठाओ लोगे, तेण वि परलोयकंखिणा कयाओ, सामी आगतो, न य तेहिं सव्वेहिं पयारेहिं, गेण्हइ, एवं च ताव एयं। इओ य सयाणीओ चंपं पहाविओ, दधिवाहणं गेण्हामि, नावा कडएणं गतो एगाते रत्तीते, अचिंतिया नगरी वेढिया-तत्थ दहिवाहणो पलाओ, रण्णा य जग्गहो घोसिओ, एवं जग्गहे घुट्ठे दहिवाहणस्स रण्णो धारिणी देवी, तीसे धूया वसुमती, सा सह धूयाए एगेण होडिएण गहिया, राया य निग्गओ, सो होडिओ भणति एसा मे भज्जा, एयं च दारियं विक्केणिस्सं, सा तेण मणोमाणसिएण दुक्खेण एसा मम धूया ण णज्जइ किं पाविहिति त्ति अंतरा चेव कालगया, पच्छा तस्स होडियस्स चिंता जाया—दुट्ठु मे भणियं—महिला ममं होहि त्ति, एतं धूयं से ण भणामि, मा एसा वि मरिहिति, ता मे मोल्लं पि ण होहि त्ति ताहे तेण अणुयत्तंतेण आणीया विवणीए उड्डिया, धणावहेण दिट्ठा, अणलंकियला वण्णा अवस्सं रण्णो ईसरस्स वा एसा धूया, मा आवई पावउ त्ति, जत्तियं सो भणइ तत्तिएण मोल्लेण गहिया, घरं तेण समं मम तम्मि नगरे आगमणं गमणं च होहिति त्ति, णीया णिययघरं, कासि तुमं ति पुच्छिया, न साहइ, पच्छा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेण धूय त्ति गहिया, एवं सा एहाविया, मूला वि तेण भणिया—एस तुज्झ धूया, एवं सा तत्थ जहा नियघरं तहा सुहं सुहेण अच्छति, ताए वि सो सदा सपरियणो लोगो सीलेणं विणएण य सव्वो अप्पणिज्जओ कओ, ताहे ताणि सव्वाणि भणंति–अहो इमा सीलचंदण त्ति; ताहे से बितियं नाम जायं चंदण त्ति, एवं, वच्चति कालो, ताए य घरणीए अवमाणो जायति, मच्छरिज्जइ य, को जाणाति ? कयाति एस एवं पडिवज्जेज्जा, ताहे अहं घरस्स अस्सामिणी भविस्सामि, तीसे य बाला अतीव दीहा रमणिज्जा किण्हाय, सो सेट्ठी मज्झण्हे जणविरहिए आगओ, जाव नत्थि कोइ जो पादे सोहे त्ति; ताहे सा पाणियं गहाय निग्गया, तेण वारिया, सा मड्डीए पधाविया, ताहे धोवंतीए बाला बंद्रेल्लया छुट्टा, मा चिक्खिल्ले पडिहिति त्ति तस्स हत्थे लीलाकट्ठयं; तेण धरिया बद्धा य। मूला य ओलोयणवरगया पेच्छइ, तीए णायं विणसियं कज्जं, जइ एयं किह वि परिणेइ तो ममं एस नत्थि जाव तरुणओ वाही ताव तिगिच्छामि त्ति सिट्ठिम्मि निग्गए ताए एहावियं सद्दावेत्ता बोडाविया[2], नियलेहिं बद्धा, पिट्टिया य, वारिओ णाए परिजणो–जो साहइ वाणियगस्स सो मम नत्थि, ताहे सो पिल्लियओ सा घरे छोढूणं बाहिरि कुहंडिया, सो कमेण आगओ पुच्छइ—कहिं चंदणा ?, न कोइ वि साहइ भयेण, सो जाणाति—नूणं-रमति उवरिं वा। एवं रातिं पि पुच्छिया जाणाति सा सुत्ता नूणं, बितियदिवसेऽवि सा न दिट्ठा, ततियदिवसे घणं पुच्छइ साहह मा भे मारेह, ताहे थेरदासी एक्का; सा चिंतेइ–किं मे जीविएण ?। सा जीवउ वराई; ताए कहियं—अमुयघरे; तेण उग्घाडिया, छुहाहयं पिच्छित्ता कूरं पमग्गितो, जाव समावत्तीए नत्थि ताहे कुम्मासा दिट्ठा, तीसे ते; सुप्पकोणे दाऊण लोहारघरं गओ, जा नियलाणि छिंदावेमि, ताहे सा हत्थिणी जहा कुलं संभरिउमारद्धा एलुगं, विक्खंभइत्ता, तेहिं पुरओ कएहिं हिययब्भंतरओ रोवति, सामी य अतियओ, ताए चिंतियं सामिस्स देमि,मम एवं अहम्मफलं, भणति–भगवं ! कप्पइ ? सामिणा पाणी पसारिओ, चउव्विहोऽवि पुण्णो अभिग्गहो, पंच दिव्वाणि ते, बाला तयवत्था चेव जाया, ताणिऽवि से नियलाणि फुट्टाणि सोवण्णियाणि नेउराणि जायाणि, देवेहि य सव्वालंकारा कया, सक्को देवराया आगओ, वसुहारा अद्धतेरस हिरण्णकोडिओ पाडियाओ, कोसंबीए य सव्वओ उग्घुट्टं—केण पुण पुण्णमंतेण अज्ज सामी पडिलाभिओ ?, ताहे राया संतेउरपरियणो आगओ, ताहे तत्थ संपुला नाम दहिवाहणस्स कंचुइज्जो सो बंधित्ता आणियओ तेण सा णाया, ततो सो पादेसु पडिऊण परुण्णो, राया पुच्छइ का एसा !, तेण से कहियं—जहेसा दहिवाहणरण्णो दुहिया, मियावती भणइ—मम भगिणीधूय त्ति, अमच्चोऽवि सपत्तीओ आगओ, सामिं वंदइ, सामी वि निग्गओ, ताहे राया तं वसुहारं पगहिओ, सक्केण वारिओ, जस्सेसा देइ तस्साऽऽभवइ, सा पुच्छिया भणइ–मम पिउणो, ताहे सेट्ठिणा गहियं। ताहे सक्केण सयाणीओ भणिओ–एसा चरितसरीरा, एयं सगोवाहि०जाव सामिस्स नाणं उप्पज्जइ, एसा पढमसिस्सिणा, ताहे कन्नंतेउरे छूढा संवड्ढति। छम्मासा तया पंचहिं दिवसेहिं ऊणा जद्दिवसं सामिणा भिक्खा लद्धा। सा मूला लोगेणं अंबाडिया, हीलिया य।

तत्तो सुमंगलाए, सणँकुमार सुछित्त एइ माहिंदो ।
पालगवाइलवणिए, अमंगलं अप्पणो आसिणा ॥५२२॥

सामी ततो निग्गंतूण सुमंगलं नाम गामो तहिं गओ, तत्थ सणंकुमारो एइ वंदति पुच्छति य। ततो भगवं सुच्छित्तं गओ, तत्थ माहिंदो पियं पुच्छओ एइ। ततो सामी पालगं नाम गामं गओ, तत्थ वाइलो नाम वाणियओ जत्ताए पहाविओ अमंगलं ति काऊण असिं गहाय पहाविओ एयस्स फलउ त्ति तत्थ सिद्धत्थेण सहत्थेण सीसं छिण्णं।

चंपा वासावासं, जक्खिंदे साइदत्तपुच्छा य ।
वागरणदुहपएसण, पच्चक्खाणे य दुविहे उ ॥ ५२३ ॥

ततो सामी चंपं नगरिं गओ, तत्थ सातिदत्तमाहणस्स अग्गिहोत्तसालाए वसहिं उवगओ, तत्थ चाउम्मासं खमति, तत्थ पुण्णभद्द–माणिभद्दा दुवे जक्खा रत्तिं पज्जुवासंति, चत्तारि वि मासे पूयं करेंति रत्तिं रत्तिं, ताहे सो चिंतेइ—किं जाणाति एस तो देवा महंति ताहे विन्नासणानिमित्तं पुच्छइ—को ह्यात्मा ?, भगवानाह—योऽहमित्यभिमन्यते। स कीदृशः ?, सूक्ष्मोऽसौ। किं तत् ? सूक्ष्मम्, यन्न गृह्णीमः। ननु शब्दगन्धानिलाः, नैते, इन्द्रियग्राह्यास्ते न ग्रहणमात्मनः, ननु ग्राहयिता सः। किं भंते ! पदेसणयं? किं पच्चक्खाणं ?, भगवानाह–सादिदत्त ! दुविहं पदेसणगं–धम्मियं, अधम्मियं च। पदेसणं नाम उवएसो। पच्चक्खाणेऽवि दुविहे–मूलगुणपच्चक्खाणे, उत्तरगुणपच्चक्खाणे य। एएहिं पएहिं तस्स उवगतं। भगवं ततो निग्गओ।

जंभियगामे नाण–स्स उप्पया वागरेइ देविंदो ।
मिंढियगामे चमरो, वंदण पियपुच्छणं कुणइ ॥५२४॥

जंभियगामं गओ,तत्थ सक्को आगओ,वंदित्ता नट्टविहिं उवदंसित्ता वागरेइ–जहा एत्तिएहिं दिवसेहिं केवलनाणं उप्पज्जिहिति। ततो सामी मिंढियमामं गओ, तत्थ चमरओ वंदओ पियपुच्छओ य एति, वंदित्ता पुच्छित्ता य पडिगतो।

छम्माणि गोव कडसल–पवेसणं मज्झिमाएँ पावाए ।
खरओ विज्जो सिद्धत्थ, वाणियओ नीहरावेइ ॥५२५॥

ततो भगवं छम्माणि नाम गामं गओ, तस्स बाहिं पडिमं ठिओ, तत्थ सामिसमीवे गोवो गोणे छड्डेऊण गामे पविट्ठो दोहणाणि काऊण निग्गओ, ते य गोणा अडविं पविट्ठा चरियव्वगस्स कज्जे, ताहे सो आगतो पुच्छति—देवज्जग ! कहिं ते बइल्ला ?, भयवं मोणेण अच्छइ, ताहे सो परिकुविओ भगवतो कण्णेसु कडसलागाओ छुहति, एगा इमेण कण्णेण एगा इमेण जाव दोन्नि वि मिलियाओ, ताहे मूले भग्गाओ मा कोइ उक्खणिति त्ति। केइ भणंति—एक्का चेव जाव इयरेण कण्णेण निग्गता ताहे भग्गा, 'कण्णेसु तउं तत्तं, गोवस्स कयं तिविट्ठुणा रण्णा। कण्णेसु वद्धमाण–स्स तेण छूढा कडसलाया ॥ १ ॥' भगवतो तहारवेयणीयं कम्मं उदिण्णं। ततो सामी मज्झिमं गतो, तत्थ सिद्धत्था

१–बलात्। २–मुण्डिता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम वाणियगो, तस्स घरं भगवं अतीयओ, तस्स य मित्तो खरगो नाम वेज्जो, ते दो वि सिद्धत्थस्स घरे अच्छंति, सामी भिक्खस्स पविट्ठो वाणियओ वंदति थुणति य, वेज्जो तित्थगरं पासिऊण भणति—अहो भगवं सव्वलक्खणसंपुण्णो किं पुण ससल्लो, ततो सो वाणियओ संभंतो भणति-पलोएहि कहिं सल्लो ?, तेण पलोएंतेण दिट्ठो कण्णेसु, तेण वाणियएण भण्णइ—णीणेहि एयं महातवस्सिस्स पुण्णं होहिति त्ति, तव वि मज्झ वि। भणति—निप्पडिकम्मो भगवं नेच्छति, ताहे पडियरावितो जाव दिट्ठो उज्जाणे पडिमं ठिओ, ते ओसहाणि गहाय गया, तत्थ भगवं तेल्लदोणीये निवज्जाविओ मक्खिओ य पच्छा बहुएहिं मणूसेहिं जंनिओ अक्कंतो य, पच्छा, संडासतेण गहाय कड्ढियातो,तत्थ सरुहिराओ सलागाओ अंछियाओ,तासु य अंछिज्जंतिसु भगवता आरसियं, ते य मणूसे उप्पाडित्ता उट्ठिओ, महाभेरवं उज्जाणं तत्थ जायं, देवकुलं च, पच्छा संरोहणं ओसहं दिन्नं, जेण ताहे चेव पउणो, ताहे वंदित्ता खामेत्ता य गया। सव्वेसु किर उवसग्गेसु कयरे दुव्विसहा ?, उच्यते-कडपूयणासीयं कालचक्कं एयं चेव सल्लं निक्कड्ढिज्जंतं, अहवा—जहण्णगाण उवरि कडपूयणासीयं, मज्झिमगाण उवरि कालचक्कं, उक्कोसगाण उवरि सल्लुद्धरणं। एवं गोवेणारद्धा उवसग्गा गोवेण चेव निट्ठिता। गोवो अहो सत्तमिं पुढविं गओ। खरतो सिद्धत्थो य देवलोगं तिव्वमवि उदीरयंता सुद्धभावा। आव० १ अ०।

(२५) उपसर्गसहनानन्तरं वीरस्य श्रमणत्वम्—

तए णं समणे भगवं महावीरे अणगारे जाए, इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिए मणसमिए वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते, गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी अकोहे अमाणे अमाए अलोभे संते पसंते उवसंते परिनिव्वुडे अणासवे अममे अकिंचणे छिन्नगंथे। (सू० ११६ ×)

'तए णं समणे भगवं महावीरे' यत एव परीषहान् सहते ततः, 'णं' वाक्यालङ्कारे, श्रमणो भगवान् महावीरः 'अणगारे जाए' अनगारो जातः, किंविशिष्टः-इरिआसमिए' ईर्या-गमनागमनं तत्र समितः-सम्यक् प्रवृत्तिमान् 'भासासमिए' भाषायां समितः 'एसणासमिए' एषणायां द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जितायाः भिक्षाया ग्रहणे सम्यक्प्रवृत्तिमान् 'आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए' आदाने ग्रहणे, उपकरणादेरिति ज्ञेयम्, भाण्डमात्रायाः वस्त्राद्युपकरणजातस्य, यद्वा—भाण्डस्य वस्त्रादेर्मृन्मयभाजनस्य वा, मात्रस्य च, समितः प्रत्यवेक्ष्य-प्रमार्ज्य मोचनात् 'उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिए, उच्चारः-पुरीषं, प्रश्रवणम्—मूत्रं, खेलो—निष्ठीवनं, सिङ्घानो—नासिकानिर्गतं श्लेष्म, जल्लो—देहमलः, एतेषां यत् परिष्ठापनं—त्यागस्तत्र समितः-सावधानः, शुद्धस्थण्डिले परिष्ठापनात्। एतच्च अन्त्यसमितिद्वयं भगवतो भाण्डसिङ्घानाद्यसम्भवेऽपि नामाऽखण्डनार्थमित्थमुक्तम्, एवम्—'मणसमिए' मनसः सम्यक् प्रवर्त्तकः 'वयसमिए' वचसः सम्यक् प्रवर्त्तकः 'कायसमिए' कायस्य प्रवर्त्तकः 'मणगुत्ते' अशुभपरिणामान्निवर्त्तकत्वात् मनसि गुप्तः 'वयगुत्ते' एवं वचसि गुप्तः 'कायगुत्ते' काये गुप्तः 'गुत्ते गुत्तिंदिए' अत एव गुप्तः, गुप्तानि इन्द्रियाणि यस्य सः गुप्तेन्द्रियः 'गुत्तबंभयारी' गुप्तं वसत्यादिनवगुप्तिविराजितम् एवंविधं ब्रह्मचर्यं चरतीति गुप्तब्रह्मचारी 'अकोहे अमाणे अमाए अलोभे' क्रोधरहितः मानरहितः मायारहितः लोभरहितः 'संते' शान्तोऽन्तर्वृत्त्या 'पसंते' प्रशान्तो बहिर्वृत्त्या 'उवसंते' उपशान्तोऽन्तर्बहिश्चोभयतः शान्तः, अत एव 'परिनिव्वुडे' परिनिर्वृतः-सर्वसन्तापवर्जितः 'अणासवे' अनाश्रवः पापकर्मबन्धरहितः हिंसाद्याश्रवद्वारविरतेः 'अममे' ममत्वरहितः 'अकिंचणे' अकिञ्चनः, किञ्चनं-द्रव्यादि तेन रहितः 'छिन्नगंथे' छिन्नः-त्यक्तो हिरण्यादि ग्रन्थो येन स तथा। कल्प०१अधि० ६ क्षण। ("निरुवलेवे" इत्यादीनि भगवतः विशेषणपदानि 'णिरुवलेव' शब्दे चतुर्थभागे २११५ पृष्ठे गतानि।)

से अ पडिबंधे चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा-दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओ सचित्ताचित्तमीसिएसु दव्वेसु। खित्तओ गामे वा, नयरे वा, अरन्ने वा, खित्ते वा, घरे वा, अंगणे वा, नहे वा। कालओ समए वा, आवलिआए वा, आणपाणुए वा, थोवे वा, खणे वा, लवे वा, मुहुत्ते वा, अहोरत्ते वा, पक्खे वा, मासे वा, उऊ वा, अयणे वा, संवच्छरे वा, अन्नयरे वा, दीहकालसंजोए। भावओ-कोहे वा, माणे वा मायाए वा, लोभे वा, भए वा, हासे वा, पिज्जे वा, दोसे वा, कलहे वा, अब्भक्खाणे वा, परपरिवाए वा, अरइरई वा, मायामोसे वा, मिच्छादंसणसल्ले वा, तस्स णं भगवंतस्स नो एवं भवइ ॥ (सू० ११६ ×)

'से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते' स च प्रतिबन्धः चतुर्विधः प्रज्ञप्तः 'तं जहा' तद्यथा 'दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ' द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतश्च 'दव्वओ सचित्ताचित्तमीसिएसु दव्वेसु' द्रव्यतस्तु प्रतिबन्धः सचित्ताऽचित्तमिश्रितेषु द्रव्येषु, सचित्तं—वनितादि, अचित्तम्—आभरणादि, मिश्रं—सालङ्कारवनितादि, तेषु तथा 'खित्तओ गामे वा' क्षेत्रतः क्वापि ग्रामे वा 'नयरे वा' नगरे वा 'अरण्णे वा' अरण्ये वा 'खित्ते वा' क्षेत्रं—धान्यनिष्पत्तिस्थानं तत्र वा 'खले वा' खलं—धान्यतुषपृथक्करणस्थानं, तत्र वा 'घरे वा' गृहे वा 'अंगणे' अङ्गणं-गृहाग्रभागस्तत्र वा 'नहे वा' नभः—आकाशं तत्र वा, तथा 'कालओ समए वा' कालतः—समयः-सर्वसूक्ष्मकालः उत्पलपत्रशतवेधजीर्णपट्टशाटिकापाटनादिदृष्टान्तसाध्यस्तत्र वा 'आवलियाए वा' आवलिका-असङ्ख्यातसमयरूपा 'आणपाणुए वा' आनप्राणौ-उच्छ्वासनिःश्वासकालः 'थोवे वा' स्तोकः—सप्तोच्छ्वासमानः 'खणे वा' क्षणे घटिषष्ठभागे वा 'लवे वा' लवः-स

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तोकमानः ' मुहुत्ते वा ' मुहूर्त्तः—सप्तसप्ततिलवमानः ' अहोरत्ते वा, पक्खे वा, मासे वा, उऊ वा, अयणे वा, संवच्छरे वा ' अहोरात्रे वा, पक्षे वा, मासे वा, ऋतौ वा, अयने वा, संवत्सरे वा ' अन्नयरे वा दीहकालसंजोए ' अन्यतरस्मिन् वा दीर्घकालसंयोगे, युगपूर्वाङ्गपूर्वादौ ' भावओ ' भावतः-' कोहे वा, माणे वा, मायाए वा, लोभे वा, भए वा, हासे वा' क्रोधे वा, माने वा, मायायां वा, लोभे वा, भये वा, हास्ये वा, ' पिज्जे वा, कलहे वा, अब्भक्खाणे वा' प्रेम्णि वा, रागे वा, द्वेषे-अप्रीतौ, कलहे-वाग्युद्धे, अभ्याख्याने-मिथ्याकलङ्कदाने, ' पेसुन्ने वा, परपरिवाए वा' पैशून्ये-प्रच्छन्नदोषप्रकटने, परपरिवादे—विप्रकीर्णपरकीयगुणदोषप्रकटने ' अरइरई वा, मायामोसे वा ' मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगः—अरतिः, रतिः-मोहनीयोदयाच्चित्तप्रीतिस्तत्र, मायया युक्ता मृषा मायामृषा तत्र ' मिच्छादंसणसल्ले वा ' मिथ्यादर्शनं—मिथ्यात्वं, तदेव अनेकदुःखहेतुत्वाच्छल्यं मिथ्यादर्शनशल्यं, तत्र ' तस्स णं भगवंतस्स नो एवं भवइ ' तस्य भगवतः एवं पूर्वोक्तस्वरूपेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु कुत्रापि प्रतिबन्धो नैवास्तीति ।

से णं भगवं वासावासं वज्जं अट्ठ गिम्हहेमंतिए मासे गामे एगराइए नगरे पंचराइए वासीचंदणसमाणकप्पे समतिणमणिलेट्ठुकंचणे समसुहदुक्खे इहपरलोगअप्पडिबद्धे, जीवियमरणे अ निरवकंखे,संसारपारगामी कम्मसत्तुनिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए एवं च णं विहरइ । (सू० ११९×)

' से णं भगवं ' स भगवान् ' वासावासं वज्जं ' वर्षावास-श्चतुर्मासी तां वर्जयित्वा 'अट्ठ गिम्हहेमंतिए मासे' अष्टौ ग्रीष्महेमन्तसम्बन्धिनो मासान् ' गामे एगराइए ' ग्रामे एकरात्रिकः, एकरात्रिवसनस्वभावः ' नगरे पंचराइए ' नगरे पञ्चरात्रिकः, पुनः किंविशिष्टः—' वासीचंदणसमाणकप्पे ' वासी—सूत्रधारस्य काष्ठच्छेदनोपकरणं, चन्दनं प्रसिद्धं, तयोर्द्वयोर्विषये समानसङ्कल्पस्तुल्याध्यवसायः,पुनः किं विशिष्टः-' समतिणमणिलेट्ठुकंचणे' तृणादीनि प्रतीतानि नवरं लेष्टुः-पाषाणः, समानि तुल्यानि तृणमणिलेष्टुकाञ्चनानि यस्य स तथा ' समसुहदुक्खे ' समे सुखदुःखे यस्य स तथा 'इहपरलोगअप्पडिबद्धे ' इहलोके परलोके च अप्रतिबद्धः, अत एव ' जीवियमरणे निरवकंखे ' जीवितमरणयोर्विषये निरवकाङ्क्षो वाञ्छारहितः ' संसारपारगामी ' संसारस्य पारगामी ' कम्मसत्तुनिग्घायणट्ठाए ' कर्मशत्रुनिर्घातनार्थम् , ' अब्भुट्ठिए ' अभ्युत्थितः—सोद्यमः ' एवं च णं विहरइ ' एवम् अनेन क्रमेण भगवान् विहरति—आस्ते ॥ ११९ ॥

तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं नाणेणं, अणुत्तरेणं दंसणेणं, अणुत्तरेणं चरित्तेणं, अणुत्तरेणं आलएणं, अणुत्तरेणं विहारेणं,अणुत्तरेणं वीरिएणं,अणुत्तरेणं अज्जवेणं,अणुत्तरेणं मद्दवेणं, अणुत्तरेणं लाघवेणं, अणुत्तराए खंतीए, अणुत्तराए मुत्तीए, अणुत्तराए गुत्तीए, अणुत्तराए तुट्ठीए, अणुत्तरेणं सच्चसंजमतवसुचरिअसोवचिअफलनिव्वाणमग्गेणं, अप्पाणं भावेमाणस्स दुवालस संवच्छराइं विइक्कंताइं । तेरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स, जे से गिम्हाणं दुच्चे मासे चउत्थे पक्खे वइसाहसुद्धे तस्स णं वइसाहसुद्धस्स दसमीपक्खेणं पाईणगामिणीए छायाए पोरिसीए अभिनिविट्टाए पमाणपत्ताए सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं जंभियगामस्स नगरस्स बहिआ उज्जुवालिआए नईए तीरे वेयावत्तस्स चेइअस्स अदूरसामंते सामागस्स गाहावइस्स कट्ठकरणंसि सालपायवस्स अहे गोदोहिआए उक्कुडिअनिसिज्जाए आयावणाए आयवेमाणस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं झाणंतरिआए वट्टमाणस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुन्ने केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ॥ १२० ॥

' तस्स णं भगवंतस्स' तस्य भगवतः ' अणुत्तरेणं नाणेणं ' अनुत्तरेण-अनुपमेन ज्ञानेन'अणुत्तरेणं दंसणेणं' अनुपमेन दर्शनेन 'अणुत्तरेणं चारित्तेणं' अनुपमेन चारित्रेण 'अणुत्तरेणं आलएणं' अनुपमेन आलयेन स्त्रीषण्डादिरहितवसतिसेवनेन 'अणुत्तरेण विहारेणं' अनुपमेन विहारेण , देशादिषु भ्रमणेन 'अणुत्तरेणं वीरिएणं' अनुपमेन वीर्येण-पराक्रमेण'अणुत्तरेणं अज्जवेणं ' अनुपमेन आर्जवं-मायाया अभावस्तेन ' अणुत्तरेणं मद्दवेणं ' अनुपमेन , मार्दवं—मानाऽभावस्तेन ' अणुत्तरेणं लाघवेणं' अनुपमेन, लाघवं द्रव्यतः अल्पोपधित्वं , भावतो गौरवत्रयत्यागस्तेन ' अणुत्तराए खंतीए ' अनुपमया क्षान्त्या-क्रोधाऽभावेन 'अणुत्तराए मुत्तीए' अनुपमया मुक्त्या, लोभाऽभावेन 'अणुत्तराए गुत्तीए' अनुपमया गुप्त्या, मनोगुप्त्यादिकया 'अणुत्तराए तुट्ठीए' अनुपमया तुष्ट्या-मनःप्रसत्त्या ' अणुत्तरेणं सच्चसंजमतवसुचरिय ' अनुपमेन-सत्यं, संयमः—प्राणिदया , तपो-द्वादशप्रकारम् एतेषां यत्सुचरणं-सदाचरणं तेन कृत्वा ' सोवचियफलनिव्वाणमग्गेणं'सोपचयं-पुष्टं फलं मुक्तिलक्षणं यस्य एवंविधो यः परिनिर्वाणमार्गो रत्नत्रयरूपस्तेन , एवमुक्तेन सर्वगुणसमूहेन 'अप्पाणं भावेमाणस्स' आत्मानं भावयतो ' दुवालस संवच्छराइं विइक्कंताइं' द्वादश संवत्सरा व्यतिक्रान्ताः, ते चैवम् एकं षण्मासक्षपणं, द्वितीयं षण्मासक्षपणं पञ्चदिनन्यूनं , नव चतुर्मासक्षपणानि, द्वे त्रिमासक्षपणानि,षट् द्विमासक्षपणानि, द्वे सार्द्धैकमासक्षपणे, द्वादश मासक्षपणानि, द्वासप्ततिः पक्षक्षपणानि, भद्रप्रतिमा दिनद्वयमाना, महाभद्रप्रतिमा दिनचतुष्कमाना,सर्वतोभद्रप्रतिमा दशदिनमाना, एकोनत्रिंशदधिकं शतद्वयं षष्ठाः, द्वादश अष्टमाः, एकोनपञ्चाशदधिकं शतत्रयं पारणानां, दीक्षादिनम् १।ततश्चेदं जातम्-"बारसचेव यः वासा,मासा छच्चेव अद्धमासं च ॥ वीरवरस्स भगवओ, एसो छउमत्थपरिआओ ॥१॥" इदं च ' तेरसमस्स संवच्छरस्स ' त्रयोदशस्य संवत्सरस्य ' अंतरा वट्टमाणस्स ' अन्तरा वर्त्तमानस्य ' जे से गिम्हाणं ' योऽसौ ग्रीष्मकालस्य ' दुच्चे मासे चउत्थे पक्खे ' द्वितीयो मासश्चतुर्थः पक्षः 'वइसाहसुद्धे ' वैशाखस्य शुद्धपक्षः ' तस्स णं वेसाहसुद्धस्स दसमी पक्खेणं ' तस्य वैशाखशुद्धस्य दशमीदिवसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'पाईणगामिणीए छायाए' पूर्वगामिन्यां छायायां सत्यां 'पोरिसीए अभिनिविट्ठाए' पाश्चात्यपौरुष्याम् अभिनिवृत्तायां जातायां सत्यां, कीदृशायाम् 'पमाणपत्ताए' प्रमाणप्राप्तायां, न तु न्यूनाधिकायां 'सुव्वएणं दिवसेणं' सुव्रतनामके दिवसे 'विजएणं मुहुत्तेणं' विजयनामके मुहूर्त्ते 'जंभियगामस्स नग- रस्स बहिया' जृम्भिकग्रामनामकस्य नगरस्य बहिस्तात् 'उ- ज्जुवालुयाए नईए तीरे' ऋजुवालुकायाः नद्यास्तीरे 'वेयाव- त्तस्स चेइयस्स' व्यावृत्तं नाम जीर्णम् एवंविधं यच्चैत्यं व्य- न्तरायतनं तस्य 'अदूरसामंते' नातिदूरे नातिसमीपे इत्य- र्थः 'सामागस्स गाहावइस्स' श्यामाकस्य गृहपतेः—कौटु- म्बिकस्य 'कट्ठकरणंसि' क्षेत्रे 'सालपायवस्स अहे' सालपा- दपस्य अधः 'गोदोहियाए' गोदोहिकया 'उक्कुडियनिसि- ज्जाए' उत्कुटिकया निषद्यया 'आयावणाए आयावेमाण- स्स' आतापनया आतापयतः प्रभोः 'छट्ठेणं भत्तेणं अपा- णएणं' षष्ठेन भक्तेन जलरहितेन 'हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं' उत्तराफल्गुनीनक्षत्रे चन्द्रेण योगमुपाग- ते सति 'झाणंतरियाए वट्टमाणस्स' ध्यानस्य अन्तरे-मध्य- भागे वर्त्तमानस्य, कोऽर्थः-शुक्लध्यानं चतुर्धा-पृथक्त्ववितर्कं सविचारम् (१) एकत्ववितर्कम् अविचारम् (२) सूक्ष्मक्रियम् अप्रतिपाति (३) उच्छिन्नक्रियमनिवर्त्ति (४) एतेषां मध्ये आद्यभेदद्वये ध्याते इत्यर्थः, 'अणंते' अनन्तवस्तुविषये 'अणुत्तरे' अनुपमे 'निव्वाघाए' निर्व्याघाते, भित्त्यादिभिर- स्खलिते 'निरावरणे' समस्तावरणरहिते 'कसिणे' समस्ते 'पडिपुण्णे' सर्वावयवोपेते 'केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने' एवंविधे केवलवरज्ञानदर्शने समुत्पन्ने ॥ १२० ॥

(२६) वीरस्य केवलज्ञानोत्पत्तिः-

तए णं समणे भगवं महावीरे अरहा जाए, जिणे, केवली, सव्वन्नू, सव्वदरिसी, सदेवमणुआसुरस्स लोगस्स परिआयं जाणइ, पासइ सव्वलोए सव्वजीवाणं आगइं गइं ठिइं चवणं उववायं; तक्कं मणोमाणसिअं भुत्तं कडं पडिसेवियं आवीकम्मं रहोकम्मं अरहा अरहस्स भागी तं तं कालं मणवयकायजोगे वट्टमाणाणं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावे जाणमाणे पासमाणे विहरइ ॥ १२१ ॥

'तए णं समणे भगवं महावीरे' ततो ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं श्रमणो भगवान् महावीरः 'अरहा जाए' अर्हन् जातः, अ- शोकादिप्रातिहार्यपूजायोग्यो जातः, पुनः कीदृशः—'जि- णे केवली सव्वन्नू सव्वदरिसी' जिनो—रागद्वेषजेता केव- ली सर्वज्ञः सर्वदर्शी 'सदेवमणुआसुरस्स लोगस्स' दे- वमनुजाऽसुरसहितस्य लोकस्य 'परियायं जाणइ पासइ' पर्यायमित्यत्र जातावेकवचनं, ततः पर्यायान् जानाति पश्यति च—साक्षात् करोति, तर्हि किं देवमनुजाऽसुरा- णामेव पर्यायमात्रं जानातीत्याह—'सव्वलोए सव्वजी- वाणं' सर्वलोके सर्वजीवानाम् 'आगइं गइं ठिइं चवणं उ- ववायं' आगतिं भवान्तरात्, गतिं च भवान्तरे, स्थितिं तद्भवसत्कमायुः कायस्थितिं वा, च्यवनं—देवलोकात्तिर्य- ग्नरेषु अवतरणम्, उपपातो देवलोके नरकेषु वोत्पत्तिः 'तक्कं मणो' तेषां सर्वजीवानां सम्बन्धि तत्कम्—ईदृशं यन्मनः 'माणसियं' मानसिकं, मनसि चिन्तितं 'भुत्तं' भुक्तम्, अशनफलादि 'कडं' कृतं, चौर्यादि 'पडिसेवि- यं' प्रतिसेवितं-मैथुनादि 'आविकम्मं' आविःकर्म—प्रक- टकृतं 'रहोकम्मं' रहःकर्म—प्रच्छन्नं कृतम्, एतत् सर्वं सर्वजीवानां भगवान् जानातीति योजना । पुनः किंविशिष्टः प्रभुः—'अरहा' न विद्यते रहः प्रच्छन्नं य- स्य, त्रिभुवनस्य करामलकवद् दृष्टत्वात् अरहाः 'अरहस्स भागी' रहस्यम्-एकान्तं तन्न भजते इति, 'तं तं कालं मण- वयकायजोगे' तस्मिन् तस्मिन् काले मनोवचनकाययो- गेषु यथार्हं 'वट्टमाणाणं' वर्त्तमानानां 'सव्वलोए सव्व- जीवाणं' सर्वलोके सर्वजीवानां 'सव्वभावे जाणमाणे पासमाणे विहरइ' सर्वभावान् पर्यायान् जानन् पश्यंश्च विहरति, 'सव्वजीवाणं' इत्यत्र अकारप्रश्लेषात् सर्वाऽ- जीवानां धर्मास्तिकायादीनामपि सर्वपर्यायान् जानन् प- श्यंश्च विहरतीति व्याख्येयम् ॥ १२१ ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे अट्ठि- यगामं नीसाए पढमं अंतरावासं वासावासं उवागए, चंपं च पिट्ठचंपं च नीसाए तओ अंतरावासे वासावासं उवा- गए, वेसालिं नगरिं वाणियगामं च नीसाए दुवालस अं- तरावासे वासावासं उवागए, रायगिहं नगरं नालंदं च बाहिरिअं नीसाए चउद्दस अंतरावासे वासावासं उवागए, छ मिहिलाए, दो भद्दिआए, एगं आलंभियाए, एगं साव- त्थीए, एगं पणिअभूमिए, एगं पावाए मज्झिमाए हत्थिपालस्स रण्णो रज्जुगसभाए अपच्छिमं अंतरावासं वासावासं उवागए ॥ १२२ ॥ तत्थ णं जे से पावाए मज्झिमाए हत्थिपालस्स रन्नो रज्जुगसभाए अपच्छिमं अं- तरावासं वासावासं उवागए ॥ १२३ ॥

'तेणं कालेणं' तस्मिन् काले 'तेणं समएणं' तस्मिन् समये 'समणे भगवं महावीरे' श्रमणो भगवान् महावीरः 'अ- ट्ठिअग्गामं निस्साए' अस्थिकग्रामस्य निश्रया 'पढमं अं- तरावासं' प्रथमं वर्षारात्रं चतुर्मासीति यावत् 'वासा- वासं उवागए' वर्षासु वसनं वर्षावासार्थमुपागतः 'चंपं च पिट्ठचंपं च निस्साए' ततः चम्पायाः पृष्ठचम्पायाश्च निश्रया 'तओ अंतरावासे' त्रीणि चतुर्मासकानि 'वा- सावासं उवागए' वर्षावासार्थमुपागतः 'वेसालिं नगरिं वाणिअगामं च निस्साए' वैशाल्याः नगर्याः वाणिज्य- ग्रामस्य च निश्रया 'दुवालस अंतरावासे' द्वादश च- तुर्मासकानि 'वासावासं उवागए' वर्षावासार्थमुपाग- तः 'रायगिहं नयरं नालंदं च बाहिरिअं नीसाए' राजगृहस्य नगरस्य नालन्दायाश्च बाहिरिकायाः निश्रया 'चउद्दस अंतरावासे' चतुर्दश चतुर्मास- कानि 'वासावासं उवागए' वर्षावासार्थमुपागतः, तत्र नालन्दा—राजगृहनगरादुत्तरस्यां दिशि बाहिरिका शाखा पुरविशेषस्तत्र चतुर्दश वर्षारात्रान् उपागतः 'छ मिहिलाए' षट् मिथिलायां नगर्यां 'दो भद्दिआए' द्वे भद्रिकायाम् 'एगं आलंभिआए' एकमालम्भिकायाम् 'एगं सावत्थीए' एकं श्रावस्त्याम् 'एगं पणिअभूमीए' एकं प्रणीतभूमौ वज्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमाख्याऽनार्यदेशे इत्यर्थः 'एगं पावाए मज्झिमाए' एकं पापायां मध्यमायां 'हत्थिपालस्स रएणो' हस्तिपालस्य राज्ञः 'रज्जुगसभाए' रज्जुका—लेखकाः "कारकुन" इति लोके प्रसिद्धास्तेषां शाला-सभा जीर्णा—अपरिभुज्यमाना, तत्र भगवान् 'अपच्छिमं अंतरावासं' अपश्चिममन्त्यं चतुर्मासकं 'वासावासं उवागए' वर्षावासार्थमुपागतः, पूर्वं किल तस्य नगर्या अपापेति नामाऽऽसीत्, देवैस्तु पापेत्युक्तं तत्र भगवान् कालगत इति ॥ १२२ ॥ 'तत्थ णं' जे से पावाए मज्झिमाए' तत्र यस्मिन् वर्षे पापायां मध्यमायां 'हत्थिपालस्स रएणो' हस्थिपालस्य राज्ञः 'रज्जुगसभाए' लेखकशालायाम् 'अपच्छिमं अंतरावासं' अन्त्यं चतुर्मासकं 'वासावासं उवागए' वर्षावासार्थमुपागतः ॥ १२३ ॥

(२७) वीरस्य निर्वाणगमनकालः—

तस्स णं अंतरावासस्स जे से वासाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तिअबहुले तस्स णं कत्तियबहुलस्स पन्नरसीपक्खेणं जा सा चरमा रयणी तं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए विइक्कंते समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे—चंदे नामे से दोच्चे संवच्छरे, पीइवद्धणे मासे, नंदिवद्धणे पक्खे, अग्गिवेसे नामं दिवसे, उवसमे त्ति पवुच्चइ, देवाणंदा नामं सा रयणी निरति त्ति पवुच्चई, अच्चे लवे, मुहुत्ते पाणू, थोवे सिद्धे, नागे करणे, सव्वट्ठसिद्धे मुहुत्ते, साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं, कालगए०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥ १२४ ॥

'तस्स णं अंतरावासस्स' तस्य चातुर्मासकस्य मध्ये 'जे से वासाणं' योऽसौ वर्षाकालस्य 'चउत्थ मासे सत्तमे पक्खे' चतुर्थः मासः सप्तमः पक्षः 'कत्तिअबहुले' कार्त्तिकस्य कृष्णपक्षः 'तस्स णं कत्तिअबहुलस्स' तस्य कार्त्तिककृष्णपक्षस्य 'पन्नरसीपक्खेणं' पञ्चदशे दिवसे 'जा सा चरमा रयणी' या सा चरमा रजनी 'तं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे' तस्यां रजन्यां च श्रमणो भगवान् महावीरः 'कालगए' कालगतः—कायस्थिति—भवस्थिति—कालाद्गतः 'विइक्कंते' संसाराद् व्यतिक्रान्तः 'समुज्जाए' समुद्यातः सम्यग् अपुनरावृत्त्या उर्ध्वं यातः 'छिन्नजाइजरामरणबंधणे' छिन्नानि जातिजरामरणबन्धनानि, जन्मजरामरणकारणानि कर्माणि येन स तथा 'सिद्धे' सिद्धः—साधितार्थः 'बुद्धे' बुद्धः—तत्त्वार्थज्ञानवान् 'मुत्ते' मुक्तो—भवोपग्राहिकर्मभ्यः 'अंतगडे' अन्तकृत् सर्वदुःखानां 'परिनिव्वुडे' परिनिर्वृतः सर्वसन्तापाऽभावात्, तथा च कीदृशो जातः 'सव्वदुक्खप्पहीणे' सर्वाणि दुःखानि शारीरमानसानि तानि प्रहीणानि यस्य स तथा, अथ भगवतो निर्वाणवर्षादीनां सैद्धान्तिकनामान्याह—'चंदे नामे से दोच्चे संवच्छरे' अथ यत्र भगवान्निर्वृतः स चन्द्रनामा द्वितीयः संवत्सरः 'पीइवद्धणे मासे' प्रीतिवर्द्धन इति तस्य मासस्य कार्त्तिकस्य नाम 'नंदिवद्धणे पक्खे' नन्दिवर्द्धन इति तस्य पक्षस्य नाम 'अग्गिवेसे नामं दिवसे' अग्निवेश्य इति तस्य दिवसस्य नाम 'उवसमे त्ति पवुच्चइ' उपशम इति प्रोच्यते, उपशम इति तस्य द्वितीयं नामेत्यर्थः 'देवाणंदा नामं सा रयणी' देवानन्दा नाम्नी सा अमावास्या रजनी 'निरति त्ति पवुच्चइ' निरतिः इत्यप्युच्यते नामान्तरेण 'अच्चे लवे' अर्चनामा लवः, 'मुहुत्ते पाणू' मुहूर्त्तनामा प्राणः 'थोवे सिद्धे' सिद्धनामा स्तोकः 'नागे करणे' नागनामकं करणम्, इदं च शकुन्यादिस्थिरकरणचतुष्टये तृतीयं करणम्, अमावास्योत्तरार्द्धे हि एतदेव भवतीति 'सव्वट्ठसिद्धे मुहुत्ते' सर्वार्थसिद्धनामा मुहूर्त्तः 'साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं' स्वातिनामनक्षत्रेण चन्द्रयोगे उपागते सति भगवान् 'कालगए ० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे' कालगतः यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः ॥ १२४ ॥

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे, सा णं रयणी बहूहिं देवेहिं, देवीहि य उवयमाणेहिं उप्पयमाणेहि य उज्जोविया आऽविहुत्था ॥ १२५ ॥ जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए ० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे सा णं रयणी बहूहिं देवेहिं देवेहिं देवीहिं य उवयमाणेहिं उप्पयमाणेहि य, उप्पिंजलगमाणभूआ कहकहगभूआ आऽविहुत्था ॥ १२६ ॥

'जं रयणिं च णं' इत्यादितः 'उज्जोविया याऽवि होत्थ' त्ति यावत् सुगमम् ॥१२५॥ 'जं रयणिं च णं' इत्यादितः 'कहकहगभूआ याऽवि हुत्थ' त्ति यावत्सूत्रं प्राग्व्याख्यातम् ।१२६।

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं जिट्ठस्स गोअमस्स इंदभूइस्स अणगारस्स अंतेवासिस्स नायए पिज्जबंधणे वुच्छिन्ने, अणंते अणुत्तरे ०जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ॥ १२७ ॥

'जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे' यस्यां रात्रौ श्रमणो भगवान् महावीरः 'कालगए ० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे' कालगतः यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः 'तं रयणिं च णं जिट्ठस्स' तस्यां च रजन्यां ज्येष्ठस्य किंभूतस्य 'गोअमस्स' गोत्रेण गौतमस्य 'इंदभूइस्स' इन्द्रभूतिनामकस्य 'अणगारस्स अन्तेवासिस्स' अनगारस्य शिष्यस्य 'नायए पिज्जबंधणे वुच्छिन्ने' ज्ञातजे—श्रीमहावीरविषये प्रेमबन्धने व्युच्छिन्ने-त्रुटिते सति 'अणन्ते' अनन्तवस्तुविषये 'अणुत्तरे ० जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने' अनुत्तरे यावत् केवलवरज्ञानदर्शने समुत्पन्ने । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । (भावोद्योताभावे द्रव्योद्योतः कृतस्तत्समयराजभिः,ततः प्रभृति दीपोत्सवपर्व प्रवृत्तम् ।)

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं खुद्दाए भासरासी नाम महग्गहे दोवाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकंते ॥ १२८ ॥

'जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे' यस्यां रात्रौ श्रमणो भगवान् महावीरः 'कालगए ० जाव सव्वदुक्ख-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्पहीणे' कालगतः यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः 'तं रयणिं च णं' तस्यां च रात्रौ 'खुद्दाए भासरासी नाम महग्गहे' क्षुद्रात्मा क्रूरस्वभावः एवंविधो भस्मराशिनामा त्रिंशत्तमो ३० महाग्रहः,किम्भूतोऽसौ-'दोवाससहस्सट्ठिई' द्विसहस्रवर्षस्थितिकः २००० एकस्मिन् ऋक्षे एतावन्तं कालमवस्थानात् 'समणस्स भगवओ महावीरस्स' श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'जम्मनक्खत्तं संकंते, जन्मनक्षत्रम्-उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रं संक्रान्तः। कल्प० १ अधि० ६ क्षण। (तत्राष्टाशीतिर्ग्रहाः, ते च 'महग्गह' शब्देऽस्मिन्नेव दर्शिताः ।) (कार्त्तिककृष्णामावास्यारात्रौ वीरनिर्वाणगमनम्। कार्त्तिकशुक्लाद्यारभ्य तत्संवत्सरप्रवृत्तिर्याता ४६६ श्रीवीरसंवत्सरे गते सति ततोऽग्रे चैत्रशुक्लादारभ्य विक्रमसंवत्सर १ प्रथमप्रवृत्तिर्याता ।)

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं कुंथू अणुद्धरी नाम समुप्पन्ना, जा ठिया अचलमाणा छउमत्थाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य नो चक्खुफासं हव्वमागच्छइ, जा अट्ठिआ चलमाणा छउमत्थाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य चक्खुफासं हव्वमागच्छइ ॥१३२॥ जं पासित्ता बहूहिं निग्गंथेहिं निग्गंथीहि य भत्ताइं पच्चक्खायाइं-से किमाहु भंते ! अज्जप्पभिइं संजमे दुराराहे भविस्सइ ॥ १३३ ॥

'जं रयणिं च णं' इत्यादितो 'हव्वमागच्छंति' त्ति पर्यन्तं तत्र यस्यां भगवान्निर्वृतस्तस्यां रात्रौ 'कुंथु' त्ति कुन्थुः प्राणिजातिः 'अणुद्धरि' त्ति योद्धर्त्तुं न शक्यते एवंविधा समुत्पन्ना या स्थिता—एकत्र स्थिता अत एव अचलन्ती सती छद्मस्थानां चक्षुःस्पर्शं—दृष्टिपथं 'हव्वं' ति शीघ्रं नागच्छति, या च अस्थिता—चलन्ती छद्मस्थानां चक्षुःस्पर्शं शीघ्रमागच्छति॥'जं पासित्ता' इत्यादितो 'दुराराहए भविस्सइ'त्ति पर्यन्तं तत्र 'जं पासित्त' त्ति यां कुन्थुम् अणुद्धरिं दृष्ट्वा बहुभिः साधुभिः, बह्वीभिः साध्वीभिश्च भक्तानि प्रत्याख्यातानि अनशनं कृतमित्यर्थः, 'से किमाहु भंत' त्ति शिष्यः पृच्छति—तत् किमाहुर्भदन्ताः, तत् किं कारणं यद्भक्तानि प्रत्याख्यातानि, गुरुराह—अद्य प्रभृति संयमो दुराराध्यो भविष्यति पृथिव्याः जीवाऽऽकुलत्वात् संयमयोग्यक्षेत्राभावात्पाषण्डिसंकराच्च ॥ १३३ ॥

(२८) वीरस्य श्रमणादिसंपत्-

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स इंदभूइपामुक्खाओ चउद्दस समणसाहस्सीओ उक्कोसिआ समणसंपया हुत्था ॥ १३४ ॥

'ते णं काले णं' इत्यादितो 'हुत्थ' त्ति यावत् सुगमम् ॥१३४॥

समणस्स भगवओ महावीरस्स अज्जचंदणापामुक्खाओ छत्तीसं अज्जियासाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया संपया हुत्था ॥१३५॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स संखसयगपामुक्खाणं समणोवासगाणं एगा सयसाहस्सीओ अउणट्ठिं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासगाणं संपया हुत्था ॥ १३६ ॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स सुलसारेवइपामुक्खाणं समणोवासिआणं तिन्नि सयसाहस्सीओ अट्ठारस सहस्सा उक्कोसिया समणोवासिया णं संपया हुत्था ॥१३७॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स तिन्नि सया चउद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं जिणो विव अवितहं वागरमाणाणं उक्कोसिआ चउद्दसपुव्वीणं संपया हुत्था ॥ १३८ ॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स तेरस सया ओहिनाणीणं अइसेसपत्ताणं उक्कोसिया ओहिनाणिसंपया हुत्था ॥१३९॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स सत्त सया केवलनाणीणं संभिन्नवरनाणदंसणधराणं उक्कोसिया केवलवरनाणीणं संपया हुत्था ॥ १४० ॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स सत्त सया वेउव्वीणं अदेवाणं देविड्ढिपत्ताणं उक्कोसिया वेउव्वियसंपया हुत्था ॥ १४१ ॥ समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पंच सया विउलमईणं अड्ढाइज्जेसु दीवेसु दोसु अ समुद्देसु सन्नीणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगए भावे जाणमाणाणं उक्कोसिया विउलमईणं संपया हुत्था ॥ १४२ ॥

'समणस्स णं' इत्यादितः 'अज्जिया संपया हुत्थ' त्ति पर्यन्तं सुगमम् ॥ १३५ ॥ एवं पञ्चचत्वारिंशत्सूत्रं यावत् सूत्राणि सर्वाणि प्रायः सुगमानि ।१३७-१३८-१३९-१४०-१४१-१४२।

समणस्स भगवओ महावीरस्स चत्तारि सया वाईणं सदेवमणुआसुराए परिसाए वाए अपराजियाणं उक्कोसिआ वाइसंपया हुत्था ॥ १४३ ॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स सत्त अंतेवासिसयाइं सिद्धाइं, ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणाइं चउद्दस अज्जियासयाइं सिद्धाइं ॥ १४४॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स अट्ठ सया अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाणं ठिइकल्लाणाणं आगमेसिभद्दाणं उक्कोसिआ अणुत्तरोववाइयाणं संपया हुत्था ॥ १४५ ॥

अनुत्तरोपपातिकक्षेत्रे 'गइकल्लाणाणं' ति गतौ आगामिन्यां मनुष्यगतौ कल्याणं-मोक्षप्राप्तिलक्षणं येषां ते तथा तेषां 'ठिइकल्लाणाणं'ति स्थितौ देवभवेऽपि कल्याणं येषां ते तथा तेषां वीतरागप्रायत्वात्, अत एव 'आगमेसिभद्दाणं' ति आगमिष्यद्भद्राणाम्, आगामिभवे सेत्स्यमानत्वात्।

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स दुविहा अंतगडभूमी हुत्था, तं जहा-जुगंतगडभूमी य, परियायंतगडभूमी य० जाव तच्चाओ पुरिसजुगाओ जुगंतचउवासपरियाए अंतमकासी ॥ १४६ ॥

'समणस्स' इत्यादितः 'अंतमकासी' ति पर्यन्तम् सुगमम्। तत्र भगवतो द्विविधा अन्तकृद्भूमिः अन्तकृतो मोक्षगामिनस्तेषां भूमिः कालोऽन्तकृद्भूमिः, तदेव द्विविधत्वं दर्शयति—'जुगंतकडे' त्यादि युगान्तकृद्भूमिः, पर्यायान्तकृद्भू-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिश्च । तत्र युगानि कालमानविशेषास्तानि च क्रमवर्त्तीनि तत् साधर्म्याद्ये क्रमवर्त्तिनो गुरुशिष्यप्रशिष्यादिरूपाः पुरुषास्तेऽपि युगानि तैः प्रमिता अन्तकृद्भूमिर्या सा युगान्तकृद्भूमिः । 'परियायंतगडभूमि' त्ति पर्यायः प्रभोः केवलित्वकालस्तमाश्रित्य अन्तकृद्भूमिः पर्यायान्तकृद्भूमिः तत्राद्यां निर्दिशति—' जाव ' इत्यादि इह पञ्चमी द्वितीयार्थे ततो यावत्तृतीयं पुरुष एव युगं पुरुषयुगम् ' जम्बूस्वामिनं यावत् युगान्तकृद्भूमिः ' चउवासपरियाय ' त्ति ज्ञानोत्पत्त्यपेक्षया चतुर्वर्षपर्याये च भगवति ' अंतमकासि ' त्ति अन्तमकार्षीत् कश्चित्केवली मोक्षमगमत् , प्रभोर्ज्ञानानन्तरं चतुर्षु वर्षेषु गतेषु मुक्तिमार्गो वहमानो जातो जम्बूस्वामिनं यावच्च मुक्तिमार्गो वहमानः स्थित इति भावः ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता साइरेगाइं दुवालस वासाइं छउमत्थपरियागं पाउणित्ता देसूणाइं तीसं वासाइं केवलिपरियागं पाउणित्ता बायालीसं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणित्ता बावत्तरिवासाइं ७२ सव्वाउअं पालइत्ता खीणे वेयणिज्जाउ नामगोत्ते इमीसे ओसप्पिणीए दुसमसुसमाए समाए बहुविइक्कंताए—तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहि य मासेहिं सेसेहिं, पावाए मज्झिमाए हत्थिपालस्स रन्नो रज्जुगसभाए एगे अबीए छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पच्चूसकालसमयंसि संपलियंकनिसन्ने पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइ पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइं छत्तीसं च अपुट्ठवागरणाइं वागरित्ता पहाणं णाम अज्झयणं विभावेमाणे विभावेमाणे कालगए विइक्कंते समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे ॥ १४७ ॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स ०जाव सव्वदुक्खप्पहीनस्स नववाससयाइं विइक्कंताइं दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ वायणंतरे पुण अयंते णउए संवच्छरे काले गच्छइ इति दीसइ ॥ १४८ ॥

'तेणं कालेणं' इत्यादितः 'सव्वदुक्खप्पहीणे'त्ति पर्यन्तं सुगमं,नवरं 'छउमत्थपरिआयं पाउणित्त'त्ति छद्मस्थपर्यायं पूरयित्वेत्यर्थः । ' एगे अबीए ' त्ति एकः सहायविरहात् अद्वितीयः एकाकी एव न तु ऋषभादिवद्दशसहस्रादिपरिवार इति । अत्र कविः—"यन्न कश्चन मुनिस्त्वया समं,मुक्तिमापदितरैर्जिनैरिव। दुस्समासमयभाविलिङ्गिनां,व्याजि तेन गुरुनिर्व्यपेक्षता"॥१॥ 'पच्चूसकालसमयंसि' त्ति प्रत्यूषकाललक्षणो यः समयोऽवसरस्तत्र ' संपलिअंकनिसन्ने ' त्ति पद्मासननिविष्टः पञ्चपञ्चाशदध्ययनानि पापफलविपाकानि पञ्चपञ्चाशत् कल्याणफलविपाकानि षट्त्रिंशत् अपृष्टव्याकरणानि व्याकृत्य ' पहाणं ' ति एकं मरुदेवाध्ययनं विभावयन् भगवान्निर्वृतः ॥ १४७ ॥ ' समणस्स णं ' इत्यादितः ' दीसइ ' त्ति पर्यन्तं तत्र भगवतो निर्वृतस्य नव वर्षशतानि ९०० व्यतिक्रान्तानि दशमस्य वर्षशतस्यायमशीतितमः ८० संवत्सरः कालो गच्छति । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

(२९) वीरस्तवाध्ययनम्—

> पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य,
> आगारिणो या परतित्थिआ य ।
> से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु ,
> अणेलिसं साहु समिक्खयाए ॥ १ ॥
> कहं च णाणं कह दंसणं से,
> सीलं कहं नायसुतस्स आसी ? ।
> जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं,
> अहासुतं बूहि जहाणिसंतं ॥ २ ॥

अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्धः , तद्यथा-तीर्थकरोपदिष्टेन मार्गेण ध्रुवमाचरन् मृत्युकालमुपेक्षेतेत्युक्तं , तत्र किम्भूतोऽसौ तीर्थकृत् येनोपदिष्टो मार्ग इत्येतत् पृष्टवन्तः श्रमणाः—यतय इत्यादि , परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु बुध्येत युक्तं प्रागिति , एतच्च यदुत्तरत्र प्रश्नप्रतिवचनं वक्ष्यते तच्च बुद्ध्येतेति , अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य संहितादक्रमेण व्याख्या प्रतन्यते , सा चेयम्—आनन्तरोक्तां बहुविधां नरकविभक्तिं श्रुत्वा संसाराद्विग्नमनसः केनेयं प्रतिपादितेत्येतत् सुधर्मस्वामिनम् अप्राक्षुः—पृष्टवन्तः ' णम् ' इति वाक्यालङ्कारे, यदिवा—जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमेवाह—यथा केनैवंभूतो धर्मः संसारोत्तरणसमर्थः प्रतिपादित इत्येतद्बहवो मां पृष्टवन्तः , तद्यथा—श्रमणा—निर्ग्रन्थादयः , तथा ब्राह्मणा—ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः , तथा अगारिणः—क्षत्रियादयो ये च शाक्यादयः परतीर्थिकास्ते सर्वेऽपि पृष्टवन्तः । किं तदिति दर्शयति—स को योऽसावेनं धर्मं दुर्गतिप्रसृतजन्तुधारकमेकान्तहितम् आह-उक्तवान् अनीदृशम्-अनन्यसदृशम् अतुलमित्यर्थः , तथा-साध्वी चासौ समीक्षा च साधुसमीक्षा—यथावस्थिततत्त्वपरिच्छित्तिस्तया , यद्वा—साधुसमीक्षया—समतयोक्तवानिति ॥ १ ॥ तथा तस्यैव ज्ञानादिगुणावगतये प्रश्नमाह—कथं केन प्रकारेण भगवान् ज्ञानमवाप्तवान् ? , किम्भूतं वा तस्य भगवतो ज्ञानं—विशेषाववोधकं ? , किम्भूतं च ' से ' तस्य दर्शनं-सामान्यार्थपरिच्छेदकं ? ' शीलं च ' यमनियमरूपं कीदृक् ? ज्ञाताः—क्षत्रियास्तेषां पुत्रो-भगवान् वीरवर्द्धमानस्वामी तस्य आसीद्-अभूदिति, यदेतन्मया पृष्टं तत् भिक्षो !-सुधर्मस्वामिन् ! याथातथ्येन त्वं जानीषे-सम्यगवगच्छसि ' णम् ' इति वाक्यालङ्कारे तदेतत्सर्वं यथाश्रुतं त्वया श्रुत्वा च यथा निशान्तम् इति-अवधारितं यथा दृष्टं तथा सर्वं ब्रूहि-आचक्ष्वेति ॥ २ ॥

स एवं पृष्टः सुधर्मस्वामी श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिगुणान् कथयितुमाह—

> खेयन्नए से कुसलाऽऽसुपन्ने,
> अणंतनाणी य अणंतदंसी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स,
जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥ ३ ॥
उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पन्ने,
दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥

सः—भगवान् चतुस्त्रिंशदतिशयसमेतः खेदं—संसारान्तर्वर्तिनां प्राणिनां कर्मविपाकजं दुःखं जानानीति खेदज्ञो दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानात्, यदि वा—क्षेत्रज्ञो—यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादात्मज्ञ इति । अथवा—क्षेत्रम्—आकाशं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञो—लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थः, तथा भावकुशान्—अष्टविधकर्मरूपान् लुनाति—छिनत्तीति कुशलः—प्राणिनां कर्मोच्छित्तये निपुण इत्यर्थः, आशु-शीघ्रं प्रज्ञा यस्यासावाशुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगाद्, न छद्मस्थ इव विचिन्त्य जानातीति भावः, महर्षिरिति क्वचित्पाठः, महांश्चासावृषिश्च महर्षिः अत्यन्तोग्रतपश्चरणानुष्ठायित्वादतुलपरीषहोपसर्गसहनाच्चेति, तथा अनन्तम्-अविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं-विशेषग्राहकं यस्यासावनन्तज्ञानी, एवं सामान्यार्थपरिच्छेदकत्वेनानन्तदर्शी, तदेवम्भूतस्य भगवतो यशो—नृसुरासुरातिशाय्यतुलं विद्यते यस्य स यशस्वी तस्य लोकस्य चक्षुःपथे-लोचनमार्गे भवस्थकेवल्यवस्थायां स्थितस्य, लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावनेन चक्षुर्भूतस्य वा जानीहि—अवगच्छ धर्मं-संसारोद्धरणस्वभावं, तत्प्रणीतं वा श्रुतचारित्राख्यं, तथा तस्यैव भगवतस्तथोपसर्गितस्यापि निष्प्रकम्पां चारित्राचलनस्वभावां धृतिं-संयमे रतिं तत्प्रणीतां वा प्रेक्षस्व-सम्यक्कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेति, यदि वा-तैरेव श्रमणादिभिः सुधर्मस्वाम्यप्यभिहितो यथा त्वं तस्य भगवतो यशस्विनश्चक्षुष्पथे व्यवस्थितस्य धर्मं धृतिं च जानीषे ततोऽस्माकं 'पेहि' त्ति कथयेति ॥३॥ साम्प्रतं सुधर्मस्वामी तद्गुणान् कथयितुमाह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु सर्वत्रैव चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके ये केचन त्रस्यन्तीति त्रसास्तेजोवायुरूपविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् त्रिधा, तथा ये च 'स्थावराः' पृथिव्यम्बुवनस्पति भेदात् त्रिविधा, एत उच्छ्वासादयः प्राणाविद्यन्ते येषां ते प्राणिन इति, अनेन च शाक्यादिमतनिरासेन पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमावेदितं भवति, स भगवांस्तान् प्राणिनः प्रकर्षेण केवलज्ञानित्वात् जानातीति प्रज्ञः, स एव प्राज्ञो, नित्यानित्याभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थाश्रयणात्-समीक्ष्य-केवलज्ञानेनार्थान् परिज्ञाय प्रज्ञापनायोग्यान्नाहेत्युत्तरेण सम्बन्धः, तथा स प्राणिनां पदार्थाविर्भावनेन दीपवत् दीपः, यदिवा-संसारार्णवपतितानां सदुपदेशप्रदानत आश्वासहेतुत्वात् द्वीप इव द्वीपः, स एवम्भूतः संसारोत्तारणसमर्थं धर्मं—श्रुतचारित्राख्यं सम्यक् इतं-गतं सदनुष्ठानतया रागद्वेषरहितत्वेन समतया वा । तथा चोक्तम्—" जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ " इत्यादि, समं वा-धर्मम् उत्—प्राबल्येन आह—उक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थं न पूजासत्कारार्थमिति ॥ ४ ॥

किञ्चान्यत्—

से सव्वदंसी अभिभूयनाणी,
णिरामगंधे धिइमं ठितऽप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं,
गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥ ५ ॥
से भूइपण्णे अणिए अचारी,
ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।
अणुत्तरं तप्पति सूरिए वा,
वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥

' स-भगवान् सर्वं-जगत् चराचरं सामान्येन द्रष्टुं शीलमस्य स सर्वदर्शी, तथा अभिभूय—पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवलाख्यं तेन ज्ञानेन ज्ञानी, अनेन चापरतीर्थाधिपाधिकत्वमावेदितं भवति, ' ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष ' इति कृत्वा तस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह-निर्गतः-अपगत आमः-अविशोधिकोट्याख्यः तथा गन्धो-विशोधिकोटिरूपो यस्मात् स भवति निरामगन्धः, मूलोत्तरगुणभेदभिन्नां चारित्रक्रियां कृतवानित्यर्थः, तथाऽसह्यपरीषहोपसर्गाभिद्रुतोऽपि निष्प्रकम्पतया चारित्रे धृतिमान् तथा-स्थितो—व्यवस्थितोऽशेषकर्मविगमादात्मस्वरूपे आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा, एतच्च ज्ञानक्रिययोः फलद्वारेण विशेषणम्। तथा नास्योत्तरं-प्रधानं सर्वस्मिन्नपि जगति विद्यते (यः) स तथा, विद्वानिति सकलपदार्थानां करतलामलकन्यायेन वेत्ता, तथा बाह्यग्रन्थात् सचित्तादिभेदादान्तराच्च कर्मरूपाद्, अतीतः—अतिक्रान्तो ग्रन्थातीतो—निर्ग्रन्थ इत्यर्थः, तथा न विद्यते सप्तप्रकारमपि भयं यस्यासावभयः; समस्तभयरहित इत्यर्थः, तथा न विद्यते चतुर्विधमप्यायुर्यस्य स भवत्यनायुः, दग्धकर्मबीजत्वेन पुनरुत्पत्तेरसंभवादिति ॥ ५ ॥ अपि च-भूतिशब्दो वृद्धौ मङ्गले रक्षायां च वर्त्तते, तत्र भूतिप्रज्ञः—प्रवृद्धप्रज्ञः अनन्तज्ञानवानित्यर्थः, तथा—भूतिप्रज्ञो जगद्रक्षाभूतप्रज्ञः एवं सर्वमङ्गलभूतप्रज्ञ इति, तथा—अनियतम्—अप्रतिबद्धं परिग्रहायोगाच्चरितुं शीलमस्यासावनियतचारी तथौघं-संसारसमुद्रं तरितुं शीलमस्य स तथा, तथा धीः—बुद्धिस्तया राजत इति धीरः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यो वा धीरः, तथा अनन्तं-ज्ञेयाऽनन्ततया नित्यतया वा चक्षुरिव चक्षुः-केवलज्ञानं यस्यानन्तस्य वा लोकस्य पदार्थप्रकाशकतया चक्षुर्भूतो यः स भवत्यनन्तचक्षुः, तथा यथा-सूर्यः अनुत्तरं—सर्वाधिकं तपति न तस्मादधिकस्तापेन कश्चिदस्ति, एवमसावपि भगवान् ज्ञानेन सर्वोत्तम इति, तथा वैरोचनः—अग्निः स एव प्रज्वलितत्वात् इन्द्रो यथाऽसौ तमोऽपनीय प्रकाशयति,एवमसावपि भगवानज्ञानतमोऽपनीय यथावस्थितपदार्थप्रकाशनं करोति ॥ ६ ॥

किञ्च—

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं,
णेया मुणी कासव आसुपन्ने ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इंदेव देवाण महाणुभावे,
सहस्सणेत्ता दिवि णं विसिट्ठे ॥७॥
से पन्नया अक्खयसागरे वा,
महोदही वाऽवि अणंतपारे ।
अणाइले वा अकसाइमुक्के,
सक्केव देवाहिवई जुईमं ॥ ८ ॥

नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरस्तमिममनुत्तरं धर्मं जिनानाम्—ऋषभादितीर्थकृतां सम्बन्धिनमयं—मुनिः—श्रीमान् वर्द्धमानाख्यः काश्यपः गोत्रेण, आशुप्रज्ञः केवलज्ञानी—उत्पन्नदिव्यज्ञानो नेता—प्रणेतेति, ताच्छीलिकस्तृन्, तद्योगे-'न लोकाव्ययनिष्ठे' (पा० २-३-६६) त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद्धर्ममित्यत्र कर्मणि द्वितीयैव, यथा चेन्द्रो दिवि-स्वर्गे देवसहस्राणां महानुभावो-महाप्रभाववान् 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, तथा नेता-प्रणायको विशिष्टो-रूपबलवर्णादिभिः प्रधानः एवं भगवानपि सर्वेभ्यो विशिष्टः प्रणायको महानुभावश्चेति ॥ ७ ॥ अपि च—असौ भगवान् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा तया अक्षयः—न तस्य ज्ञातव्येऽर्थे बुद्धिः प्रतिक्षीयते प्रतिहन्यते वा, तस्य हि बुद्धिः केवलज्ञानाख्या, सा च साद्यपर्यवसाना कालतो द्रव्यक्षेत्रभावैरप्यनन्ता, सर्वसाम्येन दृष्टान्ताभावाद्, एकदेशेन त्वाह-यथा—' सागर ' इति-अस्य चाविशिष्टत्वात् विशेषणमाह—महोदधिरिव-स्वयम्भूरमण इवानन्तपारः यथाऽसौ विस्तीर्णो गम्भीरजलोऽक्षोभ्यश्च, एवं तस्यापि भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञा स्वयम्भूरमणानन्तगुणा गम्भीराऽक्षोभ्या च, यथा च असौ सागरः अनाविलः—अकलुषजलः, एवं भगवानपि तथाविधकर्मलेशाभावादकलुषज्ञान इति, तथा-कषाया विद्यन्ते यस्यासौ कषायी न कषायी अकषायी, तथा ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनाद्वियुक्तो-मुक्तः, भिक्षुरिति क्वचित्पाठः, तस्यायमर्थः—सत्यपि निःशेषान्तरायक्षये सर्वलोकपूज्यत्वे च तथापि भिक्षामात्रजीवित्वात् भिक्षुरेवासौ, नाक्षीणमहानसादिलब्धिमुपजीवतीति, तथा शक्र इव देवाधिपतिः द्युतिमान्-दीप्तिमानिति ॥ ८ ॥

किञ्च—

से वीरिए णं पडिपुन्नवीरिए,
सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।
सुरालए वासिमुदागरे से,
विरायएऽणेगगुणोववेए ॥ ९ ॥
सयं सहस्साण उ जोयणाणं,
तिकंडगे पंडगवेजयंते ।
से जोयणे णवणवते सहस्से,
उद्धुस्सितो हेट्ठसहस्समेगं ॥ १० ॥

स-भगवान् वीर्येण-औरसेन बलेन धृतिसंहननादिभिश्च वीर्यान्तरायस्य निश्शेषतः क्षयात् प्रतिपूर्णवीर्यः, तथा सुदर्शनो-मेरुर्जम्बूद्वीपनाभि-भूतः स यथा नगानां-पर्वतानां सर्वेषां श्रेष्ठः—प्रधानः तथा भगवानपि वीर्येणान्यैश्च गुणैः सर्वश्रेष्ठ इति, तथा यथा—सुरालयः—स्वर्गस्तन्निवासिनां मुदाकरो—हर्षजनकः प्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्शप्रभावादिभिर्गुणैरुपेतो विराजते—शोभते, एवं भगवानप्यनेकैर्गुणैरुपेतो विराजत इति । यदिवा—यथा त्रिदशालयो मुदाकरोऽनेकैर्गुणैरुपेतो विराजत इति एवमसावपि मेरुरिति ॥ ९ ॥ पुनरपि दृष्टान्तभूतमेरुवर्णनायाह—स-मेरुर्योजनसहस्राणां शतमुच्चैस्त्वेन, तथा त्रीणि कण्डान्यस्येति त्रिकण्डः, तद्यथा-भौमं, जाम्बूनदं, वैडूर्यमिति । पुनरप्यसावेव विशेष्यते-' पण्डकवैजयन्त ' इति पण्डकवनं शिरसि व्यवस्थितं वैजयन्तीकल्पं—पताकाभूतं यस्य स तथा, तथाऽसावूर्ध्वमुच्छ्रितो नवनवतियोजनसहस्राण्यधोऽपि सहस्रमेकमवगाढ इति ॥ १० ॥

तथा—

पुट्ठेण भे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए,
जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।
से हेमवन्ने बहुनंदणे य
जंसी रतिं वेदयतीमहिंदा ॥ ११ ॥
से पव्वए सद्दमहप्पगासे,
विरायती कंचणमट्ठवन्ने ।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे,
गिरीवरे से जलिए व भोमे ॥ १२ ॥

नभसि स्पृष्टो-लग्नो नभो व्याप्य तिष्ठति, तथा भूमिं चावगाह्य स्थित इति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकसंस्पर्शी, यथा यं-मेरुं सूर्या—आदित्या ज्योतिष्का अनुपरिवर्त्तयन्ति-यस्य पार्श्वतो भ्रमन्तीत्यर्थः, तथाऽसौ हेमवर्णो—निष्टप्तजाम्बूनदाभः, तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवनः, तथाहि-भूमौ भद्रशालवनं ततः पञ्चयोजनशतान्यारुह्य मेखलायां नन्दनं, ततो द्विषष्टियोजनसहस्राणि पञ्चशताधिकान्यतिक्रम्य सौमनसं, ततः षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य शिखरे पण्डकवनमिति। तदेवमसौ चतुर्नन्दनवनाद्युपेतो-विचित्रक्रीडास्थानसमन्वितः, यस्मिन् महेन्द्रा अप्यागत्य त्रिदशालयाद्रमणीयतरगुणेन रतिम्-रमणक्रीडां वेदयन्ति-अनुभवन्तीति॥११॥ अपि च-सः-मेर्वाख्योऽयं पर्वतो मन्दरो मेरुः सुदर्शनः सुरगिरिरित्येवमादिभिः शब्दैर्महान् प्रकाशः-प्रसिद्धिर्यस्य स शब्दमहाप्रकाशो विराजते—शोभते, काञ्चनस्येव मृष्टः—श्लक्ष्णः शुद्धो वा वर्णो यस्य स तथा, एवं न विद्यते उत्तरः—प्रधानो यस्यासावनुत्तरः, तथा गिरिषु च मध्ये पर्वभिः—मेखलादिभिर्दंष्ट्रापर्वतैर्वा दुर्गो-विषमः सामान्यजन्तूनां दुरारोहो गिरिवरः-पर्वतप्रधानः तथाऽसौ मणिभिरौषधीभिश्च देदीप्यमानतया भौम इव-भूदेश इव ज्वलित इति ॥ १२ ॥ (त्रयोदशमी १३ गाथा ' जम्बूदीव ' शब्दे चतुर्थभागे १३७८ पृष्ठे गता ।)

साम्प्रतं मेरुदृष्टान्तोपक्षेपेण दार्ष्टान्तिकं दर्शयति—

सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स,
पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते,
जातीजसोदंसणनाणसीले ॥ १४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतदनन्तरोक्तं यशः—कीर्तनं सुदर्शनस्य मेरुगिरेः महापर्वतस्य प्रोच्यते, साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते-एषा अनन्तरोक्तोपमा यस्य स एतदुपमः, कोऽसौ ?-श्राम्यतीति श्रमणस्तपोनिष्टप्तदेहो ज्ञाताः-क्षत्रियास्तेषां पुत्रः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामीत्यर्थः, स च जात्या सर्वजातिमद्भ्यो यशसा अशेषयशस्विभ्यो दर्शनज्ञानाभ्यां सकलदर्शनज्ञानिभ्यः शीलेन समस्तशीलवद्भ्यः श्रेष्ठः-प्रधानः, अक्षरघटना तु जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिशायने अर्शआदित्वादच्प्रत्ययविधानेन विधेयेति ॥ १४ ॥

पुनरपि दृष्टान्तद्वारेणैव भगवतो व्यावर्णनमाह-

गिरीवरे वा निसहाऽऽययाणं,
रुयए व सेट्ठे वलयायताणं ।
तओवमे से जगभूइपन्ने,
मुणीण मज्झे तमुदाहु पन्ने ॥ १५ ॥

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता,
अणुत्तरं झाणवरं झियाइं ।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुकं,
संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥

यथा निषधो-गिरिवरो गिरीणामायतानां मध्ये जम्बूद्वीपे अन्येषु वा द्वीपेषु दैर्घ्येण श्रेष्ठः प्रधानः तथा-वलयायतानां मध्ये-रुचकः पर्वतोऽन्येभ्यो वलयायतत्वेन यथा प्रधानः स हि रुचकद्वीपान्तर्वर्ती मानुषोत्तरपर्वत इव वृत्तायतः संख्येययोजनानि परिक्षेपेणेति, तथा स भगवानपि तदुपमः यथा तावायतवृत्तताभ्यां श्रेष्ठौ एवं भगवानपि जगति—संसारे भूतिप्रज्ञः-प्रभूतज्ञानः; प्रज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थः, तथा अपरमुनीनां मध्ये प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः एवं तत्स्वरूपविदः उदाहुः-उदाहृतवन्तः; उक्तवन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥ किञ्चान्यत्-नास्योत्तरः—प्रधानोऽन्यो धर्मो विद्यते इत्यनुत्तरः तमेवम्भूतं धर्मम्, उत् प्राबल्येन ईरयित्वा-कथयित्वा प्रकाश्य अनुत्तरं प्रधानं-ध्यानवरं-ध्यानश्रेष्ठं ध्यायति। तथाहि-उत्पन्नज्ञानो भगवान् योगनिरोधकाले सूक्ष्मं काययोगं निरुन्धन् शुक्लध्यानस्य तृतीयं भेदं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाताख्यं तथा निरुद्धयोगश्चतुर्थं शुक्लध्यानभेदं व्युपरतक्रियम्-अनिवृताख्यं ध्यायति, एतदेव दर्शयति—सुष्ठु—शुक्लवत् शुक्लं ध्यानम्, तथा अपगतं गण्डम्—अपद्रव्यं यस्य तदपगण्डं निर्दोषार्ज्जुनसुवर्णवत् शुक्लं, यदिवा—अपगण्डम्—उदकफेनं तत्तुल्यमिति भावः। तथा शंखेन्दुवदेकान्तावदातं-शुभ्रं शुक्लं-शुक्लध्यानोत्तरं भेदद्वयं ध्यायतीति ॥ १६ ॥

अपि च—

अणुत्तरग्गं परमं महेसी,
असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते,
णाणेण सीलेण य दंसणेण ॥ १७ ॥
रुक्खेसु णाते जह सामली वा,
जस्सिं रतिं वेययती सुवन्ना ।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं,
नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ॥ १८ ॥

तथा असौ भगवान् शैलेश्यवस्थापादितशुक्लध्यानचतुर्थभेदानन्तरं साद्यपर्यवसानां सिद्धिगतिं पञ्चमीं प्राप्तः, सिद्धिगतिमेव विशिनष्टि-अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तमत्वादग्र्या च लोकाग्रव्यवस्थितत्वादनुत्तराग्र्या तां परमां-प्रधानां महर्षिः-असावत्यन्तोग्रतपोविशेषनिष्टप्तदेहत्वाद् अशेषं कर्म-ज्ञानावरणादिकं विशोध्य-अपनीय च विशिष्टेन ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन च क्षायिकेण सिद्धिगतिं प्राप्त इति मीलनीयम् ॥ १७ ॥ पुनरपि दृष्टान्तद्वारेण भगवतः स्तुतिमाह-वृक्षेषु मध्ये यथा ज्ञातः-प्रसिद्धो देवकुरुव्यवस्थितः शाल्मलीवृक्षः, स च भवनपतिक्रीडास्थानम् यत्र—व्यवस्थिता अन्यतश्चागत्य सुपर्णा—भवनपतिविशेषाः रतिंरमणक्रीडां वेदयन्ति—अनुभवन्ति, वनेषु च मध्ये यथा नन्दनं वनं देवानां क्रीडास्थानं प्रधानम्, एवं भगवानपिज्ञानेन-केवलाख्येन समस्तपदार्थाविर्भावकेन शीलेन च—चारित्रेण-यथाख्यातेन श्रेष्ठः—प्रधानः भूतिप्रज्ञः-प्रवृद्धज्ञानो भगवानिति ॥ १८ ॥

अपि च—

थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ,
चंदो व ताराण महाणुभावे ।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं,
एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥ १९ ॥
जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे,
नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे ।
खोओदए वा रसवेजयंते,
तवोवहाणे मुणिवेजयंते ॥ २० ॥

यथा शब्दानां मध्ये स्तनितं—मेघगर्जितं तद् अनुत्तरं—प्रधानं, तुशब्दो विशेषणार्थः समुच्चयार्थो वा, तारकाणां च—नक्षत्राणां मध्ये यथा चन्द्रो महानुभावः सकलजननिर्वृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः, गन्धेषु इति-गुणगुणिनोरभेदान्मतुब्लोपाद्वा गन्धवत्सु मध्ये यथा चन्दनं—गोशीर्षकाख्यं मलयजं वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहुः, एवं मुनीनां-महर्षीणां मध्ये भगवन्तं नास्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाशंसिनी विद्यते इत्यप्रतिज्ञस्तमेवम्भूतं श्रेष्ठमाहुरिति ॥ १९ ॥ अपि च—स्वयं भवन्तीति स्वयम्भुवो-देवाः ते तत्रागत्य रमन्तीति स्वयम्भूरमणः तदेवम् उदधीनां—समुद्राणां मध्ये यथा स्वयम्भूरमणः समुद्रः समस्तद्वीपसागरपर्यन्तवर्ती श्रेष्ठः—प्रधानः नागेषु च भवनपतिविशेषेषु मध्ये धरणेन्द्रं धरणं यथा श्रेष्ठमाहुः, तथा 'खोओदए' इति इक्षुरस इवोदकं यस्य स इक्षुरसोदकः स यथा रसमाश्रित्य वैजयन्तः—प्रधानः स्वगुणैरपरसमुद्राणां पताकेवोपरि व्यवस्थितः एवं तपउपधानेन—विशिष्टतपोविशेषेण मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः—भगवान् वैजयन्तः—प्रधानः, समस्तलोकस्य महातपसा वैजयन्तीवोपरि व्यवस्थित इति ॥ २० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हत्थीसु एरावणमाहु णाए,
सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो,
निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥ २१ ॥
जोहेसु णाए जह वीससेणे,
पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहू।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के,
इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥ २२ ॥

हस्तिषु--करिवरेषु मध्ये यथा ऐरावणं-शक्रवाहनं ज्ञातं-प्रसिद्धं दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञाः, मृगाणां--श्वापदानां मध्ये यथा सिंहः--केसरी प्रधानः तथा भरतक्षेत्रापेक्षया सलिलानां--मध्ये यथा गङ्गासलिलं प्रधानभावमनुभवति, पक्षिषु--मध्ये यथा गरुत्मान्; वेणुदेवापरनामा प्राधान्येन व्यवस्थितः, एवं निर्वाणं--सिद्धिक्षेत्राख्यं कर्मच्युतिलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिहेतुतो वा वदितुं शीलं येषां ते तथा तेषां मध्ये ज्ञाताः--क्षत्रियास्तेषां पुत्रः--अपत्यं ज्ञातपुत्रः--श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामी स प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणार्थवादित्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥ अपि च--योधेषु मध्ये ज्ञातो-विदितो दृष्टान्तभूतो वा विश्वा-हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गबलसमेता सेना यस्य स विश्वसेनः--चक्रवर्ती यथाऽसौ प्रधानः, पुष्पेषु च मध्ये यथा अरविन्दं प्रधानमाहुः, तथा क्षतात् त्रायन्त इति क्षत्रियाः तेषां मध्ये दान्ता--उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यः--चक्रवर्ती यथा असौ श्रेष्ठः तदेवं बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् प्रदर्श्याधुना भगवन्तं दार्ष्टान्तिकं स्वनामग्राहमाह--तथा ऋषीणां मध्ये श्रीमान् वर्धमानस्वामी श्रेष्ठ इति ॥ २२ ॥

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं,
सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।
तवेसु वा उत्तमबंभचेरं,
लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥ २३ ॥
ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा,
सभा सुहम्मा वसभाण सेट्ठा।
निव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा,
ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ॥ २४ ॥

('दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं' अस्य पादस्य व्याख्या 'अभयप्पदाण' शब्दे प्रथमभागे ७०८ पृष्ठे गता।) तथा सत्येषु च वाक्येषु यद् अनवद्यम्--अपापं परपीडानुत्पादकं तत् श्रेष्ठं वदन्ति, न पुनः परपीडोत्पादकं सत्यं, सद्भ्यो हितं सत्यमिति कृत्वा, तथा चोक्तम्-" लोकेऽपि श्रूयते वादो, यथा सत्येन कौशिकः। पतितो वधयुक्तेन, नरके तीव्रवेदने ॥ १ ॥ " अन्यच्च-' तहेव काणं काण त्ति, पंडगं पंडग त्ति वा। वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरो त्ति नो वदे ॥ १ ॥ " तपस्सु मध्ये यथैवोत्तमं नवविधब्रह्मगुप्त्युपेतं ब्रह्मचर्यं प्रधानं भवति तथा सर्वलोकोत्तमरूपसंपदा-सर्वातिशायिन्या शक्त्या क्षायिकज्ञानदर्शनाभ्यां शीलेन च ज्ञातपुत्रो भगवान् श्रमणः प्रधान इति ॥ २३ ॥ किञ्च-स्थितिमतां यथा-लवसत्तमाः-पञ्चानुत्तरविमानवासिनो देवाः सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः प्रधानाः, यदि किल तेषां सप्त लवा आयुष्कमभविष्यत्ततः सिद्धिगमनमभविष्यदित्यतो लवसप्तमास्तेऽभिधीयन्ते, सभानां च पर्षदां च मध्ये यथा सौधर्माधिपपर्षच्छ्रेष्ठा बहुभिः क्रीडास्थानैरुपेतत्वात्तथा यथा सर्वेऽपि धर्मा निर्वाणश्रेष्ठाः--मोक्षप्रधाना भवन्ति, कुप्रावचनिका अपि निर्वाणफलमेव स्वदर्शनं ब्रुवते, यतः; एवं ज्ञातपुत्रात्-वीरवर्धमानस्वामिनः सर्वज्ञात् सकाशात् परं-प्रधानं अन्यद्विज्ञानं नास्ति, सर्वथैव भगवान् अपरज्ञानिभ्योऽधिकज्ञानो भवतीति भावः ॥ २४ ॥

किञ्चान्यत्--

पुढोवमे धुणइ विगयगेही,
न सण्णिहिं कुव्वति आसुपन्ने।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं,
अभयंकरे वीर अणंतचक्खू ॥ २५ ॥

स हि भगवान् यथा पृथिवी सकलाऽऽधारा वर्तते तथा सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः सदुपदेशदानाद्वाऽऽसावाधार इति, यदि वा-यथा पृथ्वी सर्वसहा एवं भगवान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहते इति, तथा धुनाति अपनयत्यष्टप्रकारं कर्मेति शेषः, तथा विगता-प्रलीना सबाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु गृद्धिः गार्ध्यमभिलाषो यस्य सः विगतगृद्धिः, (सूत्र०) (सन्निधिपदव्याख्या ' सण्णिहि ' शब्दे करिष्यते।) तथा आशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगात् न छद्मस्थवन्मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते स एवम्भूतः तरित्वा समुद्रमिवापारं महाभवौघं चतुर्गतिकं संसारसागरं बहुव्यसनाकुलं सर्वोत्तमं निर्वाणमासादितवान्। पुनरपि तमेव विशिनष्टि-अभयं प्राणिनां प्राणरक्षारूपं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात् करोतीत्यभयंकरः, तथाऽष्टप्रकारं कर्म विशेषेणेरयति प्रेरयतीति वीरः, तथा अनन्तम्--अपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वाद्वा अनन्तं चक्षुरिव चक्षुः केवलज्ञानं यस्य स तथेति। (सूत्र०) (अध्यात्मदोषान् न कुर्वन्ति न कारयन्ति केवलिन इति ' अज्झत्तदोस ' शब्दे प्रथमभागे २२७ पृष्ठे गतम्।)

किञ्चान्यत्--

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं,
अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इति वेयइत्ता,
उवट्ठिए संजमदीहरायं ॥ २७ ॥

अपि च--

से वारिया इत्थि सराइभत्तं,
उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता आरं परं च,
सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥ २८ ॥

तथा स भगवान् क्रियावादिनामक्रियावादिनां वैनयिका-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामज्ञानिकानां च स्थानं—पक्षमभ्युपगतमित्यर्थः, यदि-वा—स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानं—दुर्गतिगमनादिकं प्रतीत्य-परिच्छिद्य सम्यगवबुध्येत्यर्थः, एतेषां च स्वरूपमुत्तरत्र स्य-त्रेण व्याख्यास्यामः, लेशतस्त्विदम्—क्रियैव परलोकसाध-नायालमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, तेषां हि दीक्षात एव क्रियारूपाया मोक्ष इत्येवमभ्युपगमः, अक्रि-यावादिनस्तु ज्ञानवादिनः, तेषां हि यथावस्थितवस्तुपरि-ज्ञानादेव मोक्षः। तथा चोक्तम्—" पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः। शिखी मुण्डी जटी वापि, सिध्यते नात्र सं-शयः ॥१॥" तथा विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालकमतानुसा-रिणो विनयेन चरन्तीति वैनयिका व्यवस्थिताः,तथा अज्ञान-मेवैहिकामुष्मिकायालमित्येवमज्ञानिका व्यवस्थिताः, इत्येवं रूपं तेषामभ्युपगमं परिच्छिद्य-स्वतः सम्यगवगम्य-सम्यग-वबोधेन,तथा स एव वीरवर्धमानस्वामी सर्वमन्यमपि बौद्धा-दिकं यं कञ्चनवादमपरान् सत्त्वान् यथावस्थिततत्त्वोपदेशेन वेदयित्वा-परिज्ञाप्योपस्थितः सम्यगुत्थानेन संयमे व्यव-स्थितो न तु यथा अन्ये। तदुक्तम्—"यथा परेषां कथका विद-ग्धाः, शास्त्राणि कृत्वा लघुतामुपेताः। शिष्यैरनुज्ञामलिनोप-चारैः—र्वक्तृत्वदोषास्त्वयि ते न सन्ति ॥ १ ॥" इति दीर्घरा-त्रम्। इति यावज्जीवं संयमोत्थानेनोत्थित इति ॥२७॥ अपि-च—स भगवान् वारयित्वा—प्रतिषिध्य, किं तदित्याह— ' स्त्रियम् ' इति—स्त्रीपरिभोगं मैथुनमित्यर्थः, सह रात्रिभ-क्तेन वर्तत इति सरात्रिभक्तम् उपलक्षणार्थत्वादस्यान्यदपि प्राणातिपातनिषेधादिकं द्रष्टव्यम् , तथा उपधानं-तपस्तद्वि-द्यते यस्यासौ उपधानवान्—तपोनिष्टप्तदेहः, किमर्थमिति दर्शयति—दुःखयतीति दुःखम्—अष्टप्रकारं कर्म तस्य क्षयः-अपगमस्तदर्थं, किञ्च—लोकं विदित्वा आरम्—इहलोका-ख्यम्, परं—परलोकाख्यं, यदिवा—आरं-मनुष्यलोकं, पर-मिति—नारकादिकं, स्वरूपतस्तत्प्राप्तिहेतुतश्च विदित्वा सर्वमेतत् प्रभुः-भगवान् सर्ववारं-बहुशो निवारितवान्; ए-तदुक्तं भवति-प्राणातिपातनिषेधादिकं स्वतोऽनुष्ठाय परांश्च स्थापितवान्। न हि स्वतोऽस्थितः परांश्च स्थापयितुमल-मित्यर्थः, तदुक्तम्—" ब्रुवाणोऽपि न्याय्यं स्ववचनांवरुद्धं व्यवहरन्, परान्नालं कश्चिद्दमयितुमदान्तः स्वयमिति। भवान् निश्चित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं, स्वमात्मानं तावद्दम-यितुमदान्तं व्यवसितः ॥ १ ॥ " इति, तथा—" तित्थयरो चउनाणी, सुरमहिओ सिज्झियव्व धूयम्मि। अणिगूहिय-बलविरिओ, सव्वत्थामेसु उज्जमई ॥ १ ॥ " इत्यादि।

सोचा य धम्मं अरहंतभासियं,
समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं।
तं सद्दहाणा य जणा अणाउ,
इंदा व देवाहिव आगमिस्सं ॥ २९ ॥
त्ति बेमि इति श्रीवीरथुतीनाम छट्ठमज्झयणं।

(२९) गाथाव्याख्या ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभागे २७०८ पृष्ठे गता।) इतिशब्दः परिसमाप्तौ ब्रवीमिति पूर्ववत्। इति वीर-स्तवाख्यं षष्ठमध्ययनं परिसमाप्तमिति। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। (' णिण्हग ' शब्दे चतुर्थभागे २०२४ पृष्ठे वीरतीर्थे-निह्नवा दर्शिताः।)

(३०) प्रकीर्णकवार्ताः—

कल्पकिरणावल्याम्-मरुदेव्यध्ययनं विभावयन् वीरः सि-द्धिं गतः, तत्र मरुदेव्यध्ययनं कया रीत्या विभावितम्, तत्सम्यक् प्रसाद्यमिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—कल्पसूत्रा-वचूर्णौ मरुदेव्यध्ययनं विभावयन्-प्ररूपयन्नित्येव व्याख्या-तमस्ति, न तु विभावनरीतिरिति ॥ २० ॥ सेन० १ उल्ला०। सिन्धुदेशे श्रीवीरस्वामिगमने पञ्चशताधिकसहस्रसाधुभि-रनशनं कृतं तदक्षराणि प्रसाद्यानीति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-तदक्षराणि निशीथचूर्णौ सन्ति, तथा श्रूयते च अप्कायम-चित्तं जानाना अपि केवलमनःपर्यायावधिश्रुतज्ञानिनो न परिभुञ्जते, अनवस्थाप्रसङ्गभीरुतया, तथा श्रीवर्द्धमान-स्वामिना विमलसलिलशैवलपटलत्रसादिरहितो महाद्रहो व्यपगताशेषजलजन्तुकोऽचित्तवारिपरिपूर्णः स्वशिष्याणां तृड्बाधितानामपि पानाय नानुजज्ञे, तथा अचित्ततिलश-कटस्थण्डिलपरिभोगानुज्ञा चानवस्थादोषसंरक्षणाय भग-वता न कृतेति, श्रुतज्ञानप्रामाण्यज्ञापनार्थं च इत्याचाराङ्ग-प्रथमाध्ययनतृतीयोद्देशकवृत्ताविति ॥७०॥ सेन० ३ उल्ला०।

कृत्रिमजिनप्रतिमानामुत्कर्षतो जघन्यतश्च किं मानं, यदि पञ्चधनुःशतान्युत्कृष्टं जघन्यमङ्गुष्ठप्रमाणं तदा श्रीभरतेना-ष्टापदे स्वस्वशरीरप्रमाणोपेतेषु श्रीऋषभादिचतुर्विंशति-जिनबिम्बेषु कारितेषु उत्सेधाङ्गुलेन सप्तहस्तमाना श्रीवी-रस्वामिनो मूर्तिर्भरतस्याङ्गुष्ठप्रमाणाऽपि कथं भवति ? भ-रतस्यैकस्मिन्नात्माङ्गुले उत्सेधाङ्गुलसत्कानि षोडशाङ्गुलाधि-कानि चत्वारि धनूंषि भवन्तीति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-भरते-न श्रीमहावीरशरीरप्रमाणेन तस्याः कारितत्वात्। यद्यपि सा भरतस्यात्माङ्गुलप्रमाणा न भवति तथाऽपि न किम-प्यनुपपन्नं, भरताङ्गुलप्रमाणस्यात्रानधिकृतत्वात्, तस्य च प्रायिकत्वादिति ॥ २ ॥ सेन० १ उल्ला०। श्रीवीरजन्मपत्री छूटकपत्रे चैत्रसुदित्रयोदशीभौमे उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रे सिद्धियोगे रात्रिघटी १५ मकरलग्ने सिद्धार्थराजगृहे पुत्रो जातः, स्कन्धपुराणादुद्धृता इत्येवं लिखिता दृश्यते, परं वीर-जन्मपत्रीयमेवान्यथा वेति ? प्रश्नः,अत्रोत्तरम्-वीरजन्मपत्री तु स्कन्दपुराणनाम्नि छूटकपत्रे लिखिता दृश्यते न तु ग्रन्थे दृष्टाऽस्तीति ॥ १५४ ॥ सेन० ३ उल्ला०। तथा—श्री-वीरजिनजन्मोत्सवावसरे मेराविन्द्रस्य सन्देहो यः समुत्पन्नः स सौधर्मेन्द्रस्य ततः कथं प्रथममच्युतेन्द्रः स्नपयतीति युक्तिमदिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—श्रीवीरजन्माभिषेका-वसरे सौधर्मेन्द्रस्य संशयस्समुत्पन्नः तदनु सन्देहापनो-दात् सौधर्मेन्द्राज्ञया अच्युतेन्द्रः प्रथमं स्नपयतीति नायु-क्तिमत्, श्रीवीरचरित्रादौ तथैव दर्शनादिति ॥ १६२ ॥ सेन० ३ उल्ला०। तथा-वीरशासने आचार्याभूयापि किंसं-ख्याका नरकगामिनः सूरय उक्ताः सन्ति? तदक्षराणि च कुत्र ग्रन्थ इति सव्यासं प्रसाद्यमिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-श्रीवीर-शासने एतावत्संख्याका आचार्या नरकगामिनः इति ग्रन्थे दृष्टं न स्मरति, किञ्च-" तीआणागयकाले, केइ होहिंति गोअमा ! सूरी। जेसिं नामग्गहणे, नियमेणं होइ पच्छित्तं ॥ १ ॥ " इति श्रीगच्छाचारप्रकीर्णके प्रोक्तमस्तीति ।२५५। सेन० ३ उल्ला०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीरंगय-वीराङ्गद-पुं० । बलदेवपुत्रस्य रेवतीगर्भसम्भूतस्य निषधकुमारस्य पूर्वभवजीवे, नि० । ('णिसढ' शब्दे चतुर्थभागे,२१३७ पृष्ठे तत्कथोक्ता ।) चेटकराजस्य रथिनि, आ० क० ४ अ० ।

वीरकण्ह-वीरकृष्ण-पुं० । श्रेणिकमहाराजभार्यायाः वीरकृष्णायाः पुत्रे, नि० । (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य वर्षत्रयं व्रतपर्यायं परिपाल्य महाशुक्रे सप्तमे कल्पे समुत्पद्य सप्तदशसागरोपममायुरनुपाल्य ततश्च्युतो महाविदेहे सेत्स्यतीति निरयावलिकायाः सप्तमेऽध्ययने सूचितम् ।)

वीरकण्हा-वीरकृष्णा-स्त्री० । श्रेणिकमहाराजभार्यायां वीरकृष्णकुमारमातरि, नि० । (सा च वीरान्तिके प्रव्रज्य महतीं सर्वतोभद्रप्रतिमां प्रतिपद्य सिद्धेत्यन्तकृद्दशानामष्टमे वर्गे सप्तमे अध्ययने सूचितम् ।)

वीरकप्प-वीरकल्प-पुं० । 'कल्लाणयणीय' शब्दे तृतीयभागे २१३ पृष्ठे व्याख्याते भगवतो महावीरस्य कल्पे, ती० ४८ कल्प ।

वीरकूड-वीरकूट-न० । चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे, स० ४ सम० ।

वीरग-वीरक-पुं० । द्वारवत्यां वासुदेवभक्ते कौलिके, आव० ३ अ० ।

वीरगणि-वीरगणिन्-पुं० । श्रीगणिशिष्ये वलभीनाथव्यन्तरप्रतिबोधके चामुण्डराजपुत्रदे आचार्ये, अयमाचार्यः ९३८ विक्रमसंवत्सरे जातः, ९८० संवत्सरे दीक्षितः ९९१ संवत्सरे, स्वर्गतः । जै० इ० ।

वीरघोस-वीरघोष-पुं० । वीरजिनविहृते मोराकसन्निवेशे स्वनामख्याते कर्मकरे, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

वीरचरित्त-वीरचरित्र-न० । हेमचन्द्रविरचिते वीरजिनचरितनिबद्धे ग्रन्थके, ध० २ अधि० ।

वीरजिण-वीरजिन-पुं० । वीरश्चासौ जिनश्च कषायादिप्रत्यर्थिसार्थजयाद् वीरजिनः । श्रीवर्द्धमानस्वामिनि, कर्म० २ कर्म० । "जयति जगदेकदीप-प्रकटितनिःशेषभावसद्भावः । कुमतपतङ्गविनाशी,श्रीवीरजिनेश्वरो भगवान् ॥१॥" आ०म० १ अ० ।

वीरण-वीरण-पुं० । तृणवनस्पतिकायभेदे,यन्मूलमुशीरं भवति । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । सूत्र० । म्लेच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

वीरतव-वीरतपस्-न० । धीरप्रभोश्छाद्मस्थिके तपसि, आ० म० १ अ० । आव० ।

तपसा केवलमुत्पन्नमिति कृत्वा यद्भगवता तप आसेवितं तदभिधित्सुराह—

जो य तवो अणुचिण्णो, वीरवरेणं महाणुभावेणं ।
छउमत्थकालियाए, अहकमं कित्तइस्सामि ॥ ५२७ ॥

व्याख्या—यच्च तप आचरितं वीरवरेण महानुभावेन छद्मस्थकाले यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तद्यथाक्रमं-येन क्रमेणानुचरितं भगवता तथा कीर्तयिष्यामीति गाथार्थः ॥ ५२७ ॥

तच्चेदम्—

नव किर चाउम्मासे, छक्किर दोमासिए उवासी य ।
बारस य मासियाइं, बावत्तरि अद्धमासाइं ॥ ५२८ ॥

व्याख्या—नव किल चातुर्मासिकानि तथा षट् किल द्विमासिकानि उपोषितवान्, किलशब्दः-परोक्षाप्तागमवादसंसूचकः, द्वादश च मासिकानि द्विसप्तत्यर्द्धमासिकान्युपोषितवानिति क्रियायोग इति गाथार्थः ॥ ५२८ ॥

एगं किर छम्मासं, दो किर तेमासिए उवासी य
अड्ढाइज्जाइ दुवे, दो चेव दिवड्ढमासाइं ॥ ५२९ ॥

व्याख्या—एकं किल षाण्मासं, द्वे किल त्रैमासिके उपोषितवान्, तथा 'अड्ढाइज्जाइ दुवे' त्ति अर्द्धतृतीयमासनिष्पन्नं तपः—क्षपणं वाऽर्धतृतीयं,ते- अर्धतृतीये द्वे, चशब्दः क्रियानुकर्षणार्थः, द्वे एव च 'दिवड्ढमासाइं' ति सार्धमासे तपसी क्षपणे वा, क्रियायोगोऽनुवर्त्तत एवेति गाथार्थः ॥ ५२९॥

भद्दं च महाभद्दं, पडिमं तत्तो य सव्वओभद्दं ।
दो चत्तारि दसेव य,दिवसे ठासी य अणुबद्धं ॥५३०॥

व्याख्या—भद्रां च महाभद्रां प्रतिमां ततश्च सर्वतोभद्रां स्थितवान्, अनुबद्धमिति योगः, आसामेवानुपूर्व्या दिवसप्रमाणमाह—द्वौ चतुरः दशैव च दिवसान् स्थितवान्, अनुबद्धं—सन्ततमेवेति गाथार्थः ॥ ५३० ॥

गोयरमभिग्गहजुयं, खमणं छम्मासियं च कासी य ।
पंचदिवसेहि ऊणं अव्वहिओ वच्छनयरीए ॥ ५३१ ॥

व्याख्या—गोचरेऽभिग्रहो गोचराभिग्रहस्तेन युतं क्षपणं षाण्मासिकं च कृतवान् पञ्चभिर्दिवसैर्न्यूनम्, अव्यथितःअपीडितो वत्सानगर्यां—कौशाम्ब्यामिति गाथार्थः ॥५३१॥

दस दो य किर महप्पा, ठाइ मुणी एगराइयं पडिमं ।
अट्ठमभत्तेण जई, एक्केक्कं चरमराईयं ॥ ५३२ ॥

व्याख्या—दश द्वे च संख्यया द्वादशेत्यर्थः, किल महात्मा'ठासि मुणि' त्ति स्थितवान् मुनिः, एकरात्रिकीं प्रतिमां पाठान्तरं वा 'एकराइए पडिमे' त्ति एकरात्रिकीः प्रतिमाः, कथमित्याह अष्टमभक्तेन—त्रिरात्रोपवासेनेति हृदयम्, यतिः—प्रयत्नवान्, एकैकां चरमरात्रिकीं चरमरजनीनिष्पन्नामिति गाथार्थः ॥ ५३२ ॥

दो चेव य छट्ठसए, अउणातीसे उवासिया भगवं ।
न कयाइ निच्चभत्तं, चउत्थभत्तं च से आसि ॥५३३॥

व्याख्या—द्वे एव च षष्ठशते एकोनत्रिंशदधिके उपोषितो भगवान्, एवं न कदाचिन्नित्यभक्तं चतुर्थभक्तं वा 'से' तस्याऽऽसीदिति गाथार्थः ॥ ५३३ ॥

बारस वासे अहिए, छट्ठं भत्तं जहण्णयं आसि ।
सव्वं च तवोकम्मं, अपाणयं आसि वीरस्स ॥५३४॥

व्याख्या—द्वादश वर्षाण्यधिकानि भगवतश्छद्मस्थस्य सतः 'षष्ठं भक्तं' द्विरात्रोपवासलक्षणं जघन्यकमासीत्, तथा सर्वं च तपःकर्म अपानकमासीद्वीरस्य । एतदुक्तं भवति-क्षीरादिद्रवाहारभोजनकाललभ्यव्यतिरेकेण पानकपरिभोगो नाऽऽसीदेव इति गाथार्थः ॥५३४॥ आव० १ अ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीरत्थय-वीरस्तव-पुं० । महावीरस्वामिगुणकीर्तनप्रतिबद्धे षष्ठ सूत्रकृताङ्गाध्ययने, सूत्र०१श्रु०६ अ० । प्रश्न० । आ० चू० । आव० । (तच्चाध्ययनं 'वीर' शब्दे १३६० पृष्ठे दर्शितम् ।)

वीरदेवा-वीरदेवा-स्त्री० । सुधर्मस्वामिनो मातरि, आ० चू० १ अ० ।

वीरधवल-वीरधवल-पुं० । गुर्जरधरित्र्यां धवलक्कपुरराजे वस्तुपालतेजःपालमन्त्रीश्वरे वीसलदेवनृपतिपितरि, ती० ४१ कल्प ।

वीरपुर-वीरपुर-न० । नेमिनाथस्य तीर्थकरस्य प्रथमभिक्षालाभस्थाने, आ० म० १ अ० ।

वीरभद्द-वीरभद्र-पुं० । कनकपुरादौ पूज्यमाने यक्षभेदे, विपा० २ श्रु० ६ अ० । आव० । पार्श्वनाथस्य सप्तमे गणधरे, स० ८ सम० । कल्प० । स्था० । आतुरप्रत्याख्यानप्रकीर्णककर्तरि वीरजिनसाधौ, आतु० ।

वीररवि-वीररवि-पुं० । वीरजिनादित्ये, " उद्बोधो विदधेऽब्जाना-मिव भव्यशरीरिणाम् । गवां विलासैर्येनाऽसौ, जीयाद् वीररविश्चिरम् ॥ १ ॥ " ग० १ अधि० ।

वीररस-वीररस-पुं० । शूर वीर विक्रान्तौ इति वीरयति-विक्रामयति त्यागतपोवैरिनिग्रहेषु प्रेरयति प्राणिनमित्युत्तमप्रकृतिपुरुषचरित्रश्रवणादिहेतुसमुद्भूते दानाद्युत्साहप्रकर्षात्मके काव्यरसभेदे, अनु० ।

तत्थ परिच्चायम्मि अ, दाणतवचरणसत्तुजणविणासे ।
अणणुसयधितिपरक्कम-लिंगो वीरो रसो होइ ॥ २ ॥

तत्र तेषु नवसु रसेषु मध्ये परित्यागे दाने तपश्चरणे—तपोविधाने शत्रुजनविनाशे च यथासंख्यमननुशयधृतिपराक्रमचिह्नो वीरो रसो भवति । इदमुक्तं भवति—दाने दत्ते यदानुशयो—गर्वः पश्चात्तापो वा तं न करोति तपसि च कृते धृतिं करोति नार्त्तध्यानं, शत्रुविनाशे च पराक्रमते न तु वैक्लव्यमवलम्बते, तदा एतैर्लिङ्गैर्ज्ञायतेऽयं प्राणी वीररसे वर्त्तत इत्येवमन्यत्रापि भावना कार्येति ।

उदाहरणनिदर्शनार्थमाह-

वीरो रसो जहा-
सो नाम महावीरो, जो रज्जं पयहिऊण पव्वइओ ।
कामक्कोहमहास-त्तु पक्खनिग्घायणं कुणई ॥ ३ ॥

वीरो रसो यथा इत्युपदर्शनार्थमेतत् ' सो नाम ' गाहा पाठसिद्धा , नवरं वीररसवत् पुरुषचेष्टितप्रतिपादनादेवंप्रकारेषु काव्येषु वीररसः प्रतिपत्तव्य इति भावार्थः । अपरं चेहोत्तमपुरुषजतव्यकामक्रोधादभावशत्रुजयेनैव वीररसोदाहरणं मोक्षाधिकारिणि प्रस्तुतशास्त्रे इतरजनसाध्यसंसारकारणद्रव्यशत्रुनिग्रहस्याप्रस्तुतत्वादिति मन्तव्यमिति । एवमन्यत्रापि भावार्थोऽवगन्तव्य इति । अनु० ।

वीरल्लसउण-वीरल्लशकुन-पुं० । उलूकजातीये हुलापकपक्षिणि, बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

वीरवयण-वीरवचन-न० । भगवन्महावीरवर्द्धमानस्वामिप्रवचने, आव० ६ अ० ।

वीरवर-वीरवर-पुं० । वीरेषु वरः प्रधानो वीरवरः । वर्द्धमानस्वामिनि, सू० प्र० २० पाहु० । प्रश्न० ।

वीरवरनामधिज्ज-वीरवरनामधेय-पुं० । वीरवरेति प्रशस्तनामनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

वीरवलय-वीरवलय-न० । वीरत्वसंसूचके वलये, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । सुभटो हि कश्चिदन्योऽप्यस्ति वीरव्रतधारी यदसौ मां विजित्य मोचयत्वेतानि वलयानीति स्पर्द्धयन् यानि परिदधाति तानि वीरवलयानीत्युच्यन्ते । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० ।

वीरसासण-वीरशासन-न० । वर्तमानतीर्थे, नं० ।

वीरसूर-वीरशूर-पुं० । वीराणां मध्येऽत्यन्तसाहसधने शूरे, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

वीरसूरि-वीरसूरि-भक्तामरकर्तृ"मानतुङ्ग"सूरौ, ग० ३ अधि० ।

वीरसेण-वीरसेन-पुं० । सम्यक्त्वप्राधान्ये दृष्टान्ततयोक्ते उदयसेनराज्ञोऽन्धे पुत्रे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । यदुकुलप्रसिद्धे वीरे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । अन्त० ।

वीरसेणिय-वीरसैनिक-न० । चतुर्थदेवलोकस्थविमानभेदे , स० ६ सम० ।

वीराइपुत्तमाउ-वीरादिपुत्रमातृ-स्त्री० । अणहिलपट्टननगरे वीरादिकानामनेकेषां पुत्राणां जनन्यां वसुन्धर्या श्राविकायाम् , जी० १ प्रति० ।

वीरायमाण-वीरायमाण-त्रि० । वीरमिवात्मानमाचरति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

वीरायरिय-वीराचार्य-पुं० । चन्द्रगच्छस्य शाण्डिल्यशाखायां विजयसिंहसूरिशिष्ये सिद्धराजमित्रे बौद्धसाङ्ख्यदिगम्बराचार्याणां जेतरि आचार्ये, स च ११६० विक्रमसंवत्सरे आसीत् । जै० इ० ।

वीरासण-वीरासन-न० । सिंहासनोपविष्टस्य भुविन्यस्तपादस्यापनीतसिंहासनस्येवावस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । वीरासनं नाम यथा सिंहासने उपविष्टो भून्यस्तपाद आस्ते तथा तस्यापनयने कृतेऽपि सिंहासने इव निविष्ट मुक्तजानुके इव निरालम्बनेऽपि यदास्ते । दुष्करं चैतत्, अत एव वीरस्य-साहसिकस्यासनं वीरासनमित्युच्यते । बृ०५ उ० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० । स्था० । (वीरासनविवरणम् ' आसण ' शब्दे द्वितीयभागे ४७० पृष्ठे गतम् ।)

वीरासणिय-वीरासनिक-पुं० । वीरासनमुक्तं तदस्यास्तीति वीरासनिकः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सिंहासने निविष्ट इवासीने, स्था० ७ ठा० ३ उ० । दशा० । बृ० । भ० । (निर्ग्रन्थ्या वीरासनिकया भवितुं न कल्पते इति ' आसण ' शब्दे द्वितीयभागे ४६० पृष्ठे गतम् ।)

वीरिय-वीर्य-न० । विशेषेण ईर्यते चेष्टयतेऽनेनेति वीर्यम् । उत्त० ३३ अ० । विशेषेणेरयति प्रवर्त्तयति आत्मानं तासु तासु क्रियास्विति वीर्यम् । " स्याद्-भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यात्"॥८।२।१०७॥ इति संयुक्तस्य यात्पूर्व इद् । प्रा०। कर्म०। सामर्थ्यविशेषे, उत्त० ३ अ०। शक्तौ, अर्थक्रिया सामर्थ्ये, मनसः स्वविषयज्ञानोत्पादने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। आ० म०। आन्तरोत्साहे, चं० प्र० २० पाहु०। आ० चू०। जीवाश्रिते, स्था० ३ ठा० ३ उ०। पराक्रमे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। पं० भा०। आ० चू०। योगो वीर्यं शक्तिरुत्साहः पराक्रम इति पर्यायाः। कर्म० २ कर्म०। आ० चू०। आव०। जी०। उत्त०। व्यवसाये, पं० चू० १ कल्प। औ०। जं०। उत्साहातिरेके, स्था०८ठा० ३ उ०। चित्तोत्साहे, पञ्चा० १६ विव०। औरस बले,सूत्र० १ श्रु०६ अ०। जीवबले, भ० ७ श० ७ उ०। स्था०।

प्रथमतो वीर्यमेव प्ररूपयति-

विरियंतरायदेस-क्खएण सव्वक्खएण वा लद्धी ।
अभिसंधिजमियरं वा, तत्तो विरियं सलेसस्स ॥ ३ ॥

वीर्यान्तरायस्य देशक्षयेण सर्वक्षयेण वा लब्धिर्वीर्यलब्धिरसुमतामुपजायते। तत्र देशक्षयेण छद्मस्थानां, सर्वक्षयेण (च) केवलिनाम्। तस्याश्च वीर्यलब्धेः सकाशादुपजायमानं वीर्यं सलेश्यस्यापि च भवति, अलेश्यस्यापि च। केवलमिह सलेश्यवीर्येणाधिकार इति तदेवोपदर्शयति- 'अभिसंधिजमियरं वा तत्तो विरियं सलेसस्स' ततस्तस्याः क्षायिकक्षायोपशमिकरूपाया वीर्यलब्धेः सकाशात् सलेश्यस्य वीर्यमभिसंधिजमितरद्वा भवति। तत्र यद्बुद्धिपूर्वकं धावनवल्गनादिक्रियासु नियुज्यते तदभिसन्धिजम्, इतरदनभिसन्धिजम्। यद्भुक्तस्याऽऽहारस्य धातुमलत्वरूपपरिणामापादनकारणमेकेन्द्रियाणां वा तत्तत्क्रियानिबन्धनम्, एतच्चाभिसन्धिजमनभिसन्धिजं वा वीर्यमवश्यं यथासंभवं सूक्ष्मबादरपरिस्पन्दरूपक्रियासहितं, योगसंज्ञमप्येतदेव। एकार्थिकानि चास्यामूनि-" जोगो विरियं थामो, उच्छाह परिक्कमो तहा चिट्ठा। सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया ॥ १ ॥ " इति ॥ ३ ॥

संप्रत्यस्यैव योगस्य परिणामादिहेतुतां भेदं च; तथा जीवप्रदेशेष्वस्य वैषम्येणावस्थाने कारणं च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

परिणामालंबणगह-ण साहणं तेण लद्धनामतिगं ।
कज्जब्भासन्नोन्न-प्पवेसविसमीकयपएसं ॥ ४ ॥

परिणमनं परिणामः। णिजन्तात् घञ् प्रत्ययः (श्रीम० कृ० ५-३) परिणामापादनमित्यर्थः। आलम्ब्यत इत्यालम्बनं, भावेऽनट् (श्रीम० कृ० ६-२) (गृहीतिर्ग्रहणम्) तेषां साधनं साध्यतेऽनेनेति साधनं योगसंज्ञं वीर्यं, करणेऽनट् (श्रीम० कृ० ६-४)। तथाहि-तेन वीर्यविशेषेण योगसंज्ञकेनौदारिकादिशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति, गृहीत्वा चौदारिकादिरूपतया परिणमयति। तथा प्राणापानभाषामनोयोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति, गृहीत्वा च प्राणाऽपानादिरूपतया परिणमयति। परिणमय्य च तन्निसर्गहेतुसामर्थ्यविशेषसिद्धये तानेव पुद्गलानवलम्बते। यथा मन्दशक्तिः कश्चिन्नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते (मवष्टम्भते)। ततस्तदवष्टम्भतो जातसामर्थ्यविशेषः सन् तान् प्राणापानादिपुद्गलान् विसृजतीति परिणामालम्बनग्रहणसाधनं वीर्यम्। तेन च वीर्येण योगसंज्ञकेन मनोवाक्कायावष्टम्भतो जायमानेन 'लद्धनामतिगं' ति लब्धं नामत्रिकम्। तद्यथा—मनोयोगो, वाग्योगः, काययोगः इति। तत्र मनसा करणभूतेन योगो मनोयोगः, वाचा योगो वाग्योगः, कायेन योगः काययोगः। स्यादेतत्, सर्वेषु जीवप्रदेशेषु तुल्यक्षायोपशमिक्यादिलब्धिभावेऽपि किमिति क्वचित्प्रभूतं क्वचित् स्तोकं क्वचित्स्तोकतरमित्येवं वैषम्येण वीर्यमुपलभ्यत इत्यत आह-' कज्ज ' त्यादि, यदर्थं चेष्टते तत्कार्यं,तस्याभ्याशः, अभ्यशनमभ्याशः, अशूङ् व्याप्तावित्यस्याभिपूर्वस्य घञन्तस्य प्रयोगः, कार्याभ्याशः-कार्यस्यासन्नता निकटीभवनमित्यर्थः। तथा जीवप्रदेशानामन्योऽन्यं परस्परं प्रवेशः शृङ्खलावयवानामिव परस्परं सम्बन्धविशेषः। ताभ्यां कृत्वा विषमीकृताः प्रभूताल्पाल्पतरसद्भावतो विसंस्थुलीकृताः प्रदेशाः-जीवप्रदेशा येन जीववीर्येण तत्कार्याभ्याशान्योऽन्यप्रदेशविषमीकृतप्रदेशम्। तथाहि—येषामात्मप्रदेशानां हस्तादिगतानामुत्पाद्यमानघटादिलक्षणकार्यनैकट्यं तेषां प्रभूततरा चेष्टा, दूरस्थानामंशादिगतानां स्वल्पा, दूरतरस्थानां तु पादादिगतानां स्वल्पतरा। अनुभवसिद्धं चैतत्। अपि च--लोष्ठादिनाऽभिघाते सति यद्यपि सर्वप्रदेशेषु युगपद्वेदनोपजायते, तथापि येषामात्मप्रदेशानामभिघातकलोष्ठादिद्रव्यनैकट्यं तेषां तीव्रतरा वेदना, शेषाणां तु मन्दा मन्दतरा। तथेहापि जीवप्रदेशेषु परिस्पन्दात्मकं वीर्यमुपजायमानं कार्यद्रव्याभ्याशवशतः केषुचित्प्रभूतमन्येषु मन्दमपरेषु तु मन्दतमं भवति। एतच्चैवं जीवप्रदेशानां परस्परं संबन्धविशेषे सति भवति, नान्यथा यथा शृङ्खलावयवानाम्। तथाहि-तेषां शृङ्खलावयवानां परस्परं संबन्धविशेषे सति एकस्मिन्नवयवे परिस्पन्दमानेऽपरेऽप्यवयवाः परिस्पन्दन्ते, केवलं केचित् स्तोकमपरे स्तोकतरमिति। सम्बन्धविशेषाभावे त्वेकस्मिन् चलति नापरस्यावश्यंभावि चलनं,यथा गोपुरुषयोः,तस्मात्कार्यद्रव्याभ्याशवशतो जीवप्रदेशानां परस्परं संबन्धविशेषतश्च वीर्यं जीवप्रदेशेषु केषुचित्प्रभूतमन्येषु स्तोकमपरेषु तु स्तोकतरमित्येवं वैषम्येणोपजायमानं न विरुध्यत इति ॥ ४ ॥

तदेवं वीर्यं प्रतिपाद्य संप्रत्यस्यैव जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टत्वपरिज्ञापनाय प्ररूपणां चिकीर्षुरिमानर्थाधिकारानाह--

अविभागवग्गफड्डग-अंतरठाणं अणंतरोवणिहा ।
जोगे परंपराबु-ड्ढिसमयजीवप्पबहुगं च ॥ ५ ॥

योगे--योगविषये,प्रथमतोऽविभागप्ररूपणा कार्या १। ततो वर्गणाप्ररूपणा २। ततः स्पर्धकस्य प्ररूपणा ३। तदनन्तरमन्तरप्ररूपणा ४। ततः स्थानप्ररूपणा ५। ततोऽनन्तरोपनिधा ६। ततः परंपरोपनिधा ७। तदनन्तरं वृद्धिप्ररूपणा ८। ततः समयप्ररूपणा। ९। ततो जीवानामल्पबहुत्वप्ररूपणेति १०। तत्र यस्यांशस्य प्रज्ञाच्छेदनकेन विभागः कर्त्तुं न शक्यते सोंऽशोऽविभाग उच्यते। किमुक्तं भवति ?--इह जीवस्य वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यमानं छिद्यमानं यदा विभागं न प्रयच्छति, तदा सोऽन्तिमोंऽशोऽविभाग इति ॥ ५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ते चाविभागा एकैकस्मिन् जीवप्रदेशे यावन्तो भवन्ति तावत आह—

पएणाछेयणछिन्ना, लोगासंखेज्जगप्पएससमा ।
अविभागा एक्केक्के, होंति पएसे जहन्नेणं ॥ ६ ॥

प्रज्ञाछेदनकेन छिन्नाः सन्तो ये वीर्यस्याविभागा जातास्ते एकैकस्मिन् जीवप्रदेशे चिन्त्यमाना जघन्येनाप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा भवन्ति । उत्कर्षतोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा एव । किं तु—ते जघन्यपदभाविवीर्याविभागापेक्षयाऽसंख्येयगुणा द्रष्टव्याः इति ॥ ६ ॥ उक्ताऽविभागप्ररूपणा ।

संप्रति वर्गणाप्ररूपणामाह—

जेसिं पएसाण समा, अविभागा सव्वतो य थोवतमा ।
ते वग्गणा जहन्ना, अविभागहिया परंपरओ ॥ ७ ॥

येषां जीवप्रदेशानां समास्तुल्यसंख्या वीर्याविभागा भवन्ति, सर्वतश्च सर्वेभ्योऽपि चान्येभ्योऽपि जीवप्रदेशगतवीर्याऽविभागेभ्यः स्तोकतमाः, ते जीवप्रदेशा घनीकृतलोकासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयप्रतरगतप्रदेशराशिप्रमाणाः समुदिता एका वर्गणा । सा च जघन्या स्तोकाऽविभागयुक्तत्वात्, अविभागाधिका परंपरत इति । ततः परा वर्गणा एकैकेनाविभागेनाधिका वक्तव्या । तद्यथा—जघन्यवर्गणातः परे ये जीवप्रदेशा एकेन वीर्याविभागेनाभ्यधिका घनीकृतलोकासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयप्रतरगतप्रदेशराशिप्रमाणा वर्तन्ते, तेषां समुदायो द्वितीया वर्गणा । ततः परं द्वाभ्यां वीर्याविभागाभ्यामधिकानामुक्तसंख्याकानामेव जीवप्रदेशानां समुदायस्तृतीया वर्गणा । ततोऽपि त्रिभिर्वीर्याविभागैरधिकानां तावत्संख्याकानामेव जीवप्रदेशानां समुदायश्चतुर्थी वर्गणा । एवमेकैकवीर्याविभागवृद्ध्या वर्धमानानां तावतां तावतां जीवप्रदेशानां समुदायरूपा वर्गणा असंख्येया वक्तव्या इति ॥ ७ ॥

ताश्च कियत्य इति तन्निरूपणार्थं स्पर्धकप्ररूपणामाह—

सेढिअसंखिअमित्ता, फड्डगमेत्तो अणंतरा नऽत्थि ।
जाव असंखा लोगा, तो बीयाई य पुव्वसमा ॥ ८ ॥

इह घनीकृतस्य लोकस्य या एकैकप्रदेशपङ्क्तिरूपा श्रेणिस्तस्याः श्रेणेरसंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्मात्रास्तावत्प्रमाणा यथोक्तस्वरूपा वर्गणाः समुदिताः, एकं स्पर्धकं, स्पर्धन्त इवोत्तरोत्तरवृद्ध्या वर्गणा अत्रेति स्पर्धकम् । कृद्बहुलमिति (श्रीम० कृ० १-११) वचनादधिकरणे घुञ् । उक्ता स्पर्धकप्ररूपणा । सांप्रतमन्तरप्ररूपणामाह–'एत्तो अणंतरा नत्थि' इतः पूर्वोक्तस्पर्धकगतचरमवर्गणायाः परतो जीवप्रदेशा अनन्तरा न सन्ति । किमुक्तं भवति ?-इत ऊर्ध्वमेकैकवीर्याविभागवृद्ध्या निरन्तरं वर्धमाना जीवप्रदेशा न लभ्यन्ते, किंतु सान्तरा एव । तथाहि-पूर्वोक्तस्पर्धकगतचरमवर्गणायाः परतो जीवप्रदेशा नैकेन वीर्याविभागेनाधिकाः प्राप्यन्ते, नापि द्वाभ्यां, नापि त्रिभिः, नापि चतुर्भिः, यावन्नापि संख्येयैः, किं त्वसंख्येयैरेवासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरभ्यधिकाः प्राप्यन्ते । ततस्तेषां समुदायो द्वितीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा । 'तो बीयाई य पुव्वसम'त्ति ततो द्वितीयस्पर्धकप्रथमवर्गणातः परतो द्वितीयादयो वर्गणाः पूर्वसमाः पूर्वस्पर्धकस्येव वक्तव्या इत्यर्थः । तथाहि-प्रथमवर्गणायाः परतो जीवप्रदेशानामेकेन वीर्याविभागेनाधिकानां समुदायो द्वितीया वर्गणा । द्वाभ्यां वीर्याविभागाभ्यामधिकानां समुदायस्तृतीया वर्गणा । एवं तावद्वाच्यं यावत् श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा भवन्ति, तासां च समुदायो द्वितीयं स्पर्धकम् । ततः परं पुनरप्येकेन वीर्याविभागेनाधिका जीवप्रदेशा न लभ्यन्ते, नापि द्वाभ्यां, नापि त्रिभिः, यावन्नापि संख्येयैः, किं त्वसंख्येयैरेवासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरभ्यधिकाः प्राप्यन्ते, ततस्तेषां समुदायस्तृतीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा । तत एकैकवीर्याविभागवृद्ध्या द्वितीयादयो वर्गणास्तावद्वाच्या याच्छ्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा भवन्ति, तासां च समुदायस्तृतीयं स्पर्धकम् । एवमसंख्येयानि स्पर्धकानि वाच्यानीति ॥ ८ ॥ तदेवं कृताऽन्तरप्ररूपणा ।

संप्रति स्थानप्ररूपणां करोति—

सेढिअसंखियमेत्ता-इँ फड्डगाइं जहन्नयं ठाणं ।
फड्डगपरिवुड्ढिअओ, अंगुलभगो असंखतमो ॥ ९ ॥

इह पूर्वोक्तानि स्पर्धकानि श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि जघन्यं योगस्थानं भवन्ति । एतच्च सूक्ष्मनिगोदस्य सर्वाल्पवीर्यस्य भवप्रथमसमये वर्त्तमानस्य प्राप्यते । ततोऽन्यस्य जीवस्याधिकतरवीर्यस्य येऽल्पतरवीर्या जीवप्रदेशास्तेषां समुदायः प्रथमा वर्गणा । तत एकेन वीर्याविभागेन वृद्धानां समुदायो द्वितीया वर्गणा । द्वाभ्यां वीर्याविभागाभ्यामधिकानां समुदास्तृतीया वर्गणा । त्रिभिर्वीर्याविभागैरधिकानां समुदायश्चतुर्थी वर्गणा, एवं तावद्वाच्यं यावच्छ्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा भवन्ति । तासां समुदायः प्रथमं स्पर्धकम् । ततः प्राक्तनयोगस्थानप्रदर्शितप्रकारेण द्वितीयादीन्यपि स्पर्धकानि वाच्यानि । तानि च तावद्वाच्यानि यावच्छ्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति, ततस्तेषां समुदायो द्वितीयं योगस्थानम् । ततोऽन्यस्य जीवस्याधिकतमवीर्यस्योपदर्शितप्रकारेण तृतीयं योगस्थानं वाच्यम् । एवमन्यान्यजीवापेक्षया तावद् योगस्थानानि वाच्यानि यावत्सर्वोत्कृष्टं योगस्थानं भवति । इह द्वितीये योगस्थाने प्रथमे स्पर्धके प्रथमवर्गणायां जीवप्रदेशाः प्रथमयोगस्थानचरमस्पर्धकचरमवर्गणागतवीर्याविभागापेक्षया असंख्येयैर्वीर्याविभागैरधिकाः प्राप्यन्ते । तृतीयेऽपि योगस्थाने प्रथमस्पर्धके प्रथमवर्गणायां जीवप्रदेशा द्वितीययोगस्थानचरमस्पर्धकचरमवर्गणागतवीर्याविभागापेक्षयाऽसंख्येयैर्वीर्याविभागैरधिकाः प्राप्यन्ते । एवं सर्वेष्वपि द्रष्टव्यम् । तानि च योगस्थानानि-सर्वाण्यपि कियन्ति भवन्तीति चेदुच्यते—श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि । ननु जीवानामनन्तत्वात्प्रतिजीवं च योगस्थानस्य प्राप्यमाणत्वादनन्तानि योगस्थानानि प्राप्नुवन्ति, कथमुच्यते-श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशप्रमाणानीति ? नैष दोषः, यतः एकै-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कस्मिन् योगस्थाने सदृशे सदृशे वर्तमानाः स्थावरजीवा अनन्ताः प्राप्यन्ते, ततः सर्वजीवापेक्षयाऽपि सर्वाणि योगस्थानानि केवलिप्रज्ञया परिभाव्यमानानि यथोक्तप्रमाणान्येव प्राप्यन्ते, नोना (ततो ना) धिकानीति। कृता स्थानप्ररूपणा। साम्प्रतमनन्तरोपनिधावसरः; तत्रोपनिधानमुपनिधा धातूनामनेकार्थत्वान्मार्गणमित्यर्थः, अनन्तरेणोमनिधा अनन्तरोपनिधा, अनन्तरं योगस्थानमधिकृत्योत्तरस्य योगस्थानस्य स्पर्धकविषये मार्गणमित्यर्थः। तदेवाह- 'फड्डगे' त्यादि। अतः प्रथमाद्योगस्थानात् द्वितीयादिषु योगस्थानेषु प्रत्येकं स्पर्धकानां परिवृद्धिरङ्गुलभागोऽसंख्येयतमः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रसत्केऽसंख्येयतमे भागे यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानि पूर्वपूर्वयोगस्थानगतस्पर्धकापेक्षयोत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् योगस्थाने स्पर्धकान्याधिकानि भवन्तीत्यर्थः। कथमेवं ज्ञायत इति चेदुच्यते—इह प्रथमयोगस्थानगतवर्गणापेक्षया द्वितीययोगस्थानगतवर्गणा मूलत एव सर्वा अपि हीनहीनतरजीवप्रदेशा भवन्ति, प्रभूतप्रभूततरवीर्याणां जीवप्रदेशानां स्तोकस्तोकतरतया प्राप्यमाणत्वात्। ततोऽत्र विचित्रवर्गणाबाहुल्यसंभवतो यथोक्तं स्पर्धकबाहुल्यमुपपद्यत एव। एवमुत्तरोत्तरेष्वपि योगस्थानेषु पूर्वपूर्वयोगस्थानगतस्पर्धकापेक्षया स्पर्धकबाहुल्यं परिभावनीयमिति॥ ६॥ तदेवं कृताऽनन्तरोपनिधा।

सांप्रतं परम्परोपनिधाया अवसरः, तत्र परम्पराया उपनिधा मार्गणं परम्परोपनिधा, तां चिकीर्षुराह-

सेढिअसंखियभागं, गंतुं गंतुं हवंति दुगुणाइं।
पल्लासंखियभागो, नाणागुणहाणि ठाणाणि॥ १०॥

प्रथमाद्योगस्थानादारभ्य श्रेणेरसंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्मात्राणि योगस्थानानि गत्वा-गत्वा-अतिक्रम्यातिक्रम्य यद्यत्परं योगस्थानं तत्र तत्र पूर्वयोगस्थानापेक्षया स्पर्धकानि द्विगुणानि भवन्ति। एतदुक्तं भवति-प्रथमे योगस्थाने यावन्ति स्पर्धकानि भवन्ति तदपेक्षया श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि योगस्थानान्यतिक्रम्यानन्तरे योगस्थाने द्विगुणानि स्पर्धकानि भवन्ति। ततः पुनरपि ततो योगस्थानात्परतस्तावन्ति योगस्थानान्युल्लङ्घ्यापरस्मिन् योगस्थाने द्विगुणानि स्पर्धकानि प्राप्यन्ते। एवं भूयो भूयस्तावद्वाच्यं यावदन्तिमं योगस्थानम्। कियन्ति पुनर्योगस्थानानि पूर्वपूर्वयोगस्थानापेक्षया द्विगुणद्विगुणस्पर्धकानि भवन्त्यत आह-'पल्लासंखियभागो' त्ति सूत्रमस्याद्धापल्योपमस्यासंख्येयतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि द्विगुणवृद्धिस्थानानि भवन्ति। 'नाणागुणहाणिठाणाणि' त्ति नानारूपाणि यानि गुणहानिस्थानानि द्विगुणहानिस्थानानि तान्यपि पल्योपमासंख्येयभागगतसमयप्रमाणानि भवन्ति। तथाहि—उत्कृष्टाद्योगस्थानादारभ्याधोऽधोऽवतरणे सति यदा श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि योगस्थानान्युल्लङ्घितानि भवन्ति, तदाऽनन्तरेऽधस्तने योगस्थानेऽन्तिमयोगस्थानगतस्पर्धकापेक्षयाऽर्धानि स्पर्धकानि प्राप्यन्ते। ततः पुनरपि श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणेषु योगस्थानेष्वतिक्रान्तेष्वधस्तने योगस्थानेऽर्धानि प्राप्यन्ते। एवं तावद्वाच्यं यावज्जघन्यं योगस्थानमिति द्विगुणवृद्धिस्थानतुल्यानि द्विगुणहानिस्थानानि। यानि चामूनि द्विगुणवृद्धिस्थानानि द्विगुणहानिस्थानानि वा तानि सर्वस्तोकानि; तेभ्यः पुनरेकस्मिन् द्विगुणवृद्धिस्थानयोर्द्विगुणहानिस्थानयोर्वाऽन्तरे यानि योगस्थानानि तान्यसंख्येयगुणानि इति॥१०॥ तदेवं कृता परंपरोपनिधा।

सांप्रतं वृद्धिप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

बुड्ढीहाणिचउक्कं तम्हा कालोत्थ अंतिमल्लीणं।
अंतोमुहुत्तमावलि, असंखभागो य सेसाणं॥ ११॥

क्षयोपशमो हि वीर्यान्तरायस्य कचित्कदाचित्कथंचिद्भवतीति तन्निबन्धनानि योगस्थानानि कदाचित्प्रवर्धमानानि भवन्ति, कदाचिद्धीयमानानि। तत्र वृद्धिश्चतुर्धा, तद्यथा—असंख्येयभागवृद्धिः, संख्येयभागवृद्धिः, संख्येयगुणवृद्धिः, असंख्येयगुणवृद्धिः। एवं हानिरपि चतुर्धा, तद्यथा-असंख्येयभागहानिः, संख्येयभागहानिः, संख्येयगुणहानिः, असंख्येयगुणहानिः। यस्मादेवं वृद्धिहान्योश्चतुष्कं वर्तते तस्मादत्र प्रत्येकं कालो नियतो वक्तव्यः। तत्रान्तिमयोर्वृद्धिहान्योरसंख्येयगुणलक्षणयोः प्रत्येकं 'कालो' त्ति अन्तर्मुहूर्तं शेषाणां त्वाद्यानां तिसृणां वृद्धीनां हानीनां चावलिकाया असंख्येयभागमात्रः। एतदुक्तं भवति-तथाविधक्षयोपशमभावतो विवक्षितात् योगस्थानात् प्रतिसमयपरस्मिन्नपरस्मिन्नसंख्येयगुणवृद्धे योगस्थाने यद्वर्त्तते जीवः साऽसंख्येयगुणवृद्धिः। यत्पुनः क्षयोपशमस्य मन्दमन्दतमभावतः प्रतिसमयमपरस्मिन्नसंख्येयगुणहीने योगस्थाने वर्त्तते साऽसंख्येयगुणहानिः। सा चासंख्येयगुणवृद्धिरसंख्येयगुणहानिर्वोत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावन्निरन्तरं भवति। आद्याः पुनस्तिस्रो वृद्धयो हानयो वोत्कर्षत आवलिकाया असंख्येयभागमात्रं कालं, जघन्यतस्तु चतस्रोऽप्येकं द्वौ वा समयौ यावद्भवन्ति॥ ११॥

स्यादेतत्, कियन्तं कालं यावत्पुनर्यथोक्तवृद्धिहानिरहिता जीवा योगस्थानेष्ववस्थिताः प्राप्यन्त इति प्रश्नावकाशमाशङ्क्य समयप्ररूपणामाह—

चउराई जावऽट्ठग-मित्तो जाव दुगं ति समयाणं।
पज्जत्तजहन्नाओ, जावुक्कोसं ति उक्कोसो॥ १२॥

चत्वार आदिर्यस्याः सा चतुरादिः, समयानामवस्थितिकालनियामकानां वृद्धिः, सा च तावद्वाच्या यावदष्टकम्। इत ऊर्ध्वं पुनः समयानां हानिर्वक्तव्या, सा च तावद्यावद् द्विकम्। सा च चतुरादिका वृद्धिः, पर्याप्तजघन्यात्--पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदसत्कजघन्ययोगस्थानादारभ्य तावदवसेया यावदष्टकम् ततः परं हानिः, साऽपि तावद्यावदुत्कृष्टं योगस्थानम्। एष उत्कृष्टोऽवस्थितिकालः। एतदुक्तं भवति—पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदस्य सर्वाल्पवीर्यस्य स-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्काज्जघन्याद्योगस्थानादारभ्य क्रमेण यानि योगस्थानानि श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि तान्युत्कर्षतश्चतुरः समयान् यावदवस्थितानि प्राप्यन्ते। ततः परं यानि योगस्थानानि श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि तान्युत्कर्षतः पञ्च समयान्, ततः परं यानि योगस्थानानि पूर्वोक्तप्रमाणानि तान्युत्कर्षतः षट् समयान्, ततोऽपराणि यानि योगस्थानानि पूर्वोक्तप्रमाणानि तान्युत्कर्षतः सप्त समयान्, ततोऽपि पराणि क्रमेण योगस्थानानि पूर्वोक्तसंख्याकानि तान्युत्कर्षतोऽष्टौ समयान्, ततः पराणि पुनर्यानि क्रमेण योगस्थानानि श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणान्येव तान्युत्कर्षतः सप्त समयान् यावदवस्थितानि प्राप्यन्ते। तदनन्तरं यथोक्तसंख्याकान्येव योगस्थानान्युत्कर्षतः षट् समयान्, ततोऽपि पराणि यथोक्तप्रमाणान्येव योगस्थानानि पञ्च समयान्, एवं तावद्वाच्यं यावदन्तिमानि श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणान्युत्कर्षतो द्वौ समयौ यावदवस्थितानि प्राप्यन्ते ॥ १२ ॥ तदेवमुक्तमुत्कृष्टमवस्थानकालमानम्।

सांप्रतं जघन्यमवस्थानकालमानमाह—

एगसमयं जहन्नं, ठाणाणप्पाणि अट्ठसमयाणि।
उभओ असंखगुणिया–णि समयसो ऊणठाणाणि ।१३।

सर्वेषामुक्तस्वरूपाणां योगस्थानानां जघन्यत एकसमयं यावदवस्थानम्। तथा यान्यप्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदयोग्यान्यसंख्येयानि योगस्थानानि पूर्वमनुक्तकालनियमानि तेषां जघन्यत उत्कर्षतो वा एकं समयं यावदवस्थानम्; यतः सर्वोऽप्यपर्याप्तोऽपर्याप्तावस्थायां वर्तमानः प्रतिसमयमसंख्येयगुणरूपया योगवृद्ध्या वर्त्तते, ततस्तद्योगस्थानानामजघन्योत्कृष्टकमेकमेव समयं यावदवस्थानम्। तदेवमुक्ता समयप्ररूपणा॥ सांप्रतमेतेषामेव चतुरादिसमयानां योगस्थानानामल्पबहुत्वमाह—'ठाणाणी' त्यादि। अष्टसामयिकानि स्थानानि योगस्थानानि, अल्पानि शेषसप्तसामयिकादियोगस्थानानि प्रतीत्य स्तोकान्येव प्राप्यन्ते इति कृत्वा, तेभ्यः प्रत्येकसमयमसंख्येयगुणानि पूर्वोत्तररूपोभयपार्श्ववर्तीनि सप्तसामयिकानि, अल्पतरस्थितिकत्वात् स्वस्थाने तु तानि द्वयान्यपि परस्परं तुल्यानि। तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि उभयपार्श्ववर्त्तीनि षट्सामयिकानि, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यानि। तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि पञ्च सामयिकानि उभयपार्श्ववर्तीनि, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यानि। तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि चतुःसामयिकानि उभयपार्श्ववर्तीनि, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यानि। तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि त्रिसामयिकानि; तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि द्विसामयिकानि। 'समयसो ऊणठाणाणि' त्ति समयशः समयेन समयेन ऊनानि अष्टसामयिकेभ्यो व्यतिरिक्तानि सप्तसामयिकादीनि स्थानानि योगस्थानानि ॥१३॥ तदेवमुक्तं चतुरादिसमयानां योगस्थानानामल्पबहुत्वम्।

संप्रति तेषु योगस्थानेषु वर्तमानानां सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तानां जघन्योत्कृष्टयोगविषयेऽल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

सव्वत्थोवो जोगो, साहारणसुहुमपढमसमयम्मि।
बायरबियतियचउरम–णसन्नपज्जत्तगजहन्नो ॥ १४ ॥

इहासंख्येयगुण इति उत्तरगाथातः संबध्यते। साधारणस्य सूक्ष्मस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगः सर्वस्तोकः। ततो बादरैकेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततो द्वीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ॥ १४ ॥

आइदुगुक्कोसो सिं, पज्जत्तजहन्नगेयरे य कमा।
उक्कोसजहन्नियरो, असमत्तियरे असंखगुणो ॥१५॥

आदिद्विकमपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियलक्षणं तस्योत्कृष्टो योगः परिपाट्याऽसंख्येयगुणो वक्तव्यः। तद्यथा—लब्ध्यपर्याप्तकसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजघन्ययोगात् सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्यैवोत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततोऽपि बादरैकेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टोऽसंख्येयगुणः। 'सिं पज्जत्तजहन्नगेयरे य कमा' अनयोः सूक्ष्मबादरैकेन्द्रिययोः पर्याप्तयोर्जघन्य इतरश्चोत्कृष्टः क्रमात् क्रमेणासंख्येयगुणो वक्तव्यः। तद्यथा—लब्ध्यपर्याप्तकबादरैकेन्द्रियोत्कृष्टयोगात् सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्ययोगोऽसंख्येयगुणः। ततः सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततोऽपि बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। 'उक्कोसजहन्नियरो असमत्तियरे असंखगुणो' त्ति असमाप्तोऽपर्याप्तो द्वीन्द्रियादिस्तस्मिन्नुत्कृष्ट इतरस्मिंश्च पर्याप्ते द्वीन्द्रियादौ जघन्य इतरश्चोत्कृष्टः परिपाट्याऽसंख्येयगुणो वक्तव्यः। तद्यथा—पर्याप्तकबादरैकेन्द्रियोत्कृष्टयोगात् द्वीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततोऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततो द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः। ततो द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततोऽपि चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। पर्याप्तकाश्च सर्वत्रापि करणपर्याप्ता वेदितव्याः ॥ १५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमणाणुत्तरगेवि–अभोगभूमिगय तइयतणुगेसुं ।
कमसो असंखगुणिओ, सेसेसु य जोगु उक्कोसा ॥ १६ ॥

अमना–असंज्ञी पर्याप्तचतुरिन्द्रियोत्कृष्टयोगात् असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः । ततोऽनुत्तरोपपातिनां देवानामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततो ग्रैवेयकाणां देवानामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः । ततो भोगभूमिजा (गता) नां तिर्यङ्मनुष्याणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। ततोऽप्याहारकशरीरिणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः । ततः शेषाणां देवनारकतिर्यङ्मनुष्याणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः। असंख्येयगुणकारश्च सर्वत्रापि सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः । 'तइयतणुगेसुं' ति तृतीया तनुराहारकशरीरम्॥ १६ ॥ तदेवं कृता सप्रपञ्चं योगप्ररूपणा।

सांप्रतमेभिर्योगैर्यत्करोति तदाह–

जोगेहिँ तयणुरूवं, परिणमई गिण्हिऊण पंच तणू ।
पाउग्गे वालंबइ, भासाणुमणत्तणे खंधे ॥ १७ ॥

योगैरनन्तरोक्तस्वरूपैः प्रायोग्यान् स्कन्धान्–पुद्गलस्कन्धान् गृहीत्वा यथायोगं 'पंचतणु' त्ति पञ्च शरीराणि परिणमयति औदारिकादिपञ्चशरीरतया परिणमयतीत्यर्थः । कथं पुनर्गृह्णातीति चेदत आह–तदनुरूपं योगानुरूपम्। तथाहि–जघन्ययोगे वर्तमानः स्तोकान् पुद्गलस्कन्धान् गृह्णाति, मध्यमे मध्यमान्, उत्कृष्टे च योगे वर्तमानः प्रभूतानिति । उक्तं चान्यत्रापि–" जोगऽणुरूवं जीवा, परिणामंतीह गिण्हिउं दलियं " ति, इति । अथवा–तच्छब्देन पञ्च शरीराणि संबध्यन्ते । ततश्च तदनुरूपं पञ्चशरीरानुरूपं शरीरपञ्चकप्रायोग्यतयेत्यर्थः पुद्गलस्कन्धान् गृह्णाति। तथा भाषाप्राणापानमनस्त्वप्रायोग्यान् पुद्गलस्कन्धान् प्रथमतो गृह्णाति । गृहीत्वा च भाषादित्वेन परिणमयति। परिणमय्य च तन्निसर्गहेतुसामर्थ्यविशेषसिद्धये तान् पुद्गलस्कन्धानालम्बते। ततस्तदवष्टम्भतो जातसामर्थ्यविशेषः सन् विसृजति,नान्यथा । तथाहि–यथा वृषदंशः स्वान्यङ्गान्यूर्ध्वं गमनाय प्रथमतः संकोचव्याजेनावलम्बते, ततस्तदवष्टम्भतो जातसामर्थ्यविशेषः सन् तान्यङ्गान्यूर्ध्वं प्रक्षिपति , नान्यथा शक्नोति, 'द्रव्यनिमित्तं वीर्यं संसारिणामुपजायत' इति वचनप्रामाण्यात्, तथेहापि भावनीयमिति ॥ १७ ॥ क० प्र० १ प्रक०।

कुशीलत्वं सुशीलत्वं च संयमवीर्यान्तरायोदयात्तत्क्षयोपशमाच्च भवतीत्यतो वीर्यप्रतिपादनायेदमध्ययनमुपदिश्यते , तदनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि वक्तव्यानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा–बालबालपण्डितपण्डितवीर्यभेदात्त्रिविधमपि वीर्यं परिज्ञाय पण्डितवीर्ये यतितव्यमिति , नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे वीर्याध्ययनं, वीर्यनिक्षेपाय निर्युक्तिकृदाह–

विरिए छक्कं दव्वे, सच्चित्ताचित्तमीसगं चेव ।
दुपयचउप्पयअपयं, एयं तिविहं तु सच्चित्तं ॥ ६१ ॥

वीर्ये नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यवीर्यं, द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा वीर्यं , सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात् त्रिविधमेव, तत्र द्विपदानामर्हच्चक्रवर्तिबलदेवादीनां यद्वीर्यं स्त्रीरत्नस्य वा यस्य वा यद्वीर्यं तदिह द्रव्यवीर्यत्वेन ग्राह्यम् , तथा चतुष्पदानामश्वहस्तिरत्नादीनां सिंहव्याघ्रशरभादीनां वा परस्य वा यद्बोढव्ये धावने वा वीर्यं तदिति , तथा अपदानां गोशीर्षचन्दनप्रभृतीनां शीतोष्णकालयोरुष्णशीतवीर्यपरिणाम इति ।

अचित्तवीर्यप्रतिपादनायाह–

अच्चित्तं पुण विरियं, आहारावरणपहरणादीसु ।
जह ओसहीण भणियं, विरियं रसवीरियविवागो॥६२॥
आवरणे कवयादी, चक्कादीयं च पहरणे होंति ।
खित्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले जं जम्मि कालम्मि॥६३॥

अचित्तद्रव्यवीर्यं त्वाहारावरणप्रहरणेषु यद्वीर्यं तदुच्यते , तत्राऽऽहारवीर्यम् 'सद्यः प्राणकरा हृद्या, घृतपूर्णाः कफाऽपहाः' इत्यादि, ओषधीनां च शल्योद्धरणसंरोहणविषापहारमेधाकरणादिकं रसवीर्यं, विपाकवीर्यं च यदुक्तं चिकित्साशास्त्रादौ तदिह ग्राह्यमिति । तथा योनिप्राभृतकाख्यानाविधं द्रव्यवीर्यं द्रष्टव्यमिति । तथा–आवरणे कवचादीनां प्रहरणे चक्रादीनां यद्भवति वीर्यं तदुच्यत इति । अधुना क्षेत्रकालवीर्यं गाथापश्चार्धेन दर्शयति–क्षेत्रवीर्यं तु देवकुर्वादिकं क्षेत्रमाश्रित्य सर्वाण्यपि द्रव्याणि तदन्तर्गतान्युत्कृष्टवीर्यवन्ति भवन्ति, यद्वा–दुर्गादिकं क्षेत्रमाश्रित्य कस्यचिद्वीर्योल्लासो भवन्ति , यस्मिन्वा क्षेत्रे वीर्यं व्याख्यायते तत्क्षेत्रवीर्यमिति। एवं कालवीर्यमप्येकान्तसुषमादावायोज्यमिति। तथा चोक्तम्–" वर्षासु लवणममृतं , शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते । शिशिरे चामलकरसो , घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते ॥ १ ॥ " तथा–" ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धेऽम्बरे, तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे। पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां, पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः ॥ १ ॥ "

भाववीर्यप्रतिपादनायाह–

भावो जीवस्स सवी–रियस्स विरियम्मि लद्धिऽणेगविहा।
ओरस्सिदिय अज्झ–प्पिएसु बहुसो बहुविहीयं ॥६४॥
मणवइकाया आणा–पाणू संभव तहा य संभव्वे ।
सोत्तादीणं सद्दा–दिएसु विसएसु गहणं च ॥ ६५ ॥

सवीर्यस्य–वीर्यशक्त्युपेतस्य जीवस्य वीर्ये–वीर्यविषये अनेकविधा लब्धिः, तामेव गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति, तद्यथा–उरसि भवमौरस्यं शारीरबलमित्यर्थः, तथेन्द्रियबलमाध्यात्मिकं बलं बहुशो–बहुविधं द्रष्टव्यमिति । एतदेव दर्शयितुमाह–आन्तरेण व्यापारेण गृहीत्वा पुद्गलान् मनोयोग्यान् मनस्त्वेन परिणमयति, भाषायोग्यान् भाषात्वेन परिणमयति , काययोग्यान् कायत्वेन, आनापानयोग्यान् तद्भावेनेति । तथा मनोवाक्कायादीनां तद्भावपरिणतानां य–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वीर्य-सामर्थ्यं तद् द्विविधं-सम्भवे , सम्भाव्ये च। सम्भवे तावत्तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकानां च सुराणामतीव पटूनि मनोद्रव्याणि भवन्ति। तथाहि-तीर्थकृतानामनुत्तरोपपातिकसुरमनःपर्यायज्ञानिप्रश्नव्याकरणस्य द्रव्यमनसैव करणात् अनुत्तरोपपातिकसुराणां च सर्वव्यापारस्यैव मनसा निष्पादनादिति। सम्भाव्ये तु यो हि यमर्थं पटुमतिना प्रोच्यमानं न शक्नोति साम्प्रतं परिणमयितुं सम्भाव्यते त्वेष परिकर्म्यमाणः शक्यत्यमुमर्थं परिणमयितुमिति। वाग्वीर्यमपि द्विविधम्—सम्भवे, सम्भाव्ये च । तत्र सम्भवे तीर्थकृतां योजननिर्हारिणी वाक् सर्वस्वस्वभाषानुगता च, तथाऽन्येषामपि क्षीरमध्वास्रवादिलब्धिमतां वाचः सौभाग्यमिति। तथा हंसकोकिलादीनां सम्भवति स्वरमाधुर्यं, संभाव्ये तु सम्भाव्यते श्यामायाः स्त्रिया गानमाधुर्यम्। तथा चोक्तम्—" सामा गायति महुरं, काली गायति खरं च रुक्खं च " इत्यादि, तथा—सम्भावयामः—एनं श्रावकदारकम् अकृतसुखसंस्कारमप्यक्षरेषु यथावदभिलप्स्यंव्येष्विति, तथा संभावयामः शुकसारिकादीनां वाचो मानुषभाषापरिणामः। कायवीर्यमप्यौरस्यं यद्यस्य बलं तदपि द्विविधम्-सम्भवे, सम्भाव्ये च। संभवे यथा-चक्रवर्तिबलदेववासुदेवादीनां यद्बाहुबलादि कायबलम् , तद्यथा—कोटिशिला त्रिपृष्ठेन वामकरतलेनोद्धृता। यदिवा-' सोलस रायसहस्सा ' इत्यादि यावदपरिमितबला जिनवरेन्द्रा इति , सम्भाव्ये तु सम्भाव्यते तीर्थकरो लोकमलोके कन्दुकवत् प्रक्षेप्तुम्, तथा मेरुं दण्डवद् गृहीत्वा वसुधां छत्रकवद्धर्त्तुमिति। तथा सम्भाव्यते अन्यतरसुराधिपो जम्बूद्वीपं वामहस्तेन छत्रकवद्धर्त्तुमयत्नेनैव च मन्दरमिति। तथा सम्भाव्यते अयं दारकः परिवर्धमानः शिलामिमामुद्धर्त्तुं हस्तिनं दमयितुमश्वं वाहयितुमित्यादि। इन्द्रियबलमपि श्रोत्रेन्द्रियादि स्वविषयग्रहणसमर्थं पञ्चधा, एकैकं द्विविधं संभवे, सम्भाव्ये च। सम्भवे यथा-श्रोत्रस्य द्वादशयोजनानि विषयः, एवं शेषाणामपि यो यस्य विषय इति। सम्भाव्ये तु यस्य कस्यचिदनुपहतेन्द्रियस्य श्रान्तस्य क्रुद्धस्य पिपासितस्य परिग्लानस्य वा अर्थग्रहणासमर्थमपि इन्द्रियं सद्यथोक्तदोषोपशमे तु सति सम्भाव्यते विषयग्रहणायेति।

साम्प्रतमाध्यात्मिकं वीर्यं दर्शयितुमाह—

उज्जमधितिधीरत्तं, सोंडीरत्तं खमा य गंभीरं।
उवओगजोगतवसं-जमादियं होइ अज्झप्पो ॥ ६६ ॥

आत्मन्यधीत्यध्यात्मं तत्र भवमाध्यात्मिकम्—आन्तरशक्तिजनितं सात्विकमित्यर्थः , तच्चानेकधा-तत्रोद्यमो ज्ञानतपोऽनुष्ठानादिषूत्साहः,एतदपि यथायोगं सम्भवे संभाव्ये च योजनीयमिति। धृतिः-संयमे स्थैर्यं, चित्तसमाधानमिति यावत्। धीरत्वं—परीषहोपसर्गाक्षोभ्यता , शौण्डीर्यं-त्यागसम्पन्नता, षट्खण्डमपि भरतं त्यजतश्चक्रवर्तिनो न मनः कम्पते, यदिवा-आपद्यविषण्णता, यदिवा-विषमेऽपि कर्तव्ये समुपस्थिते पराभियोगमकुर्वन् मयैवैतत्कर्तव्यमित्येवं हर्षायमाणोऽविषण्णो विधत्त इति। क्षमावीर्यं तु परैराक्रुश्यमानोऽपि मनागपि मनसा न क्षोभमुपयाति , भावयति च तत्त्वम्। तच्चेदम्-"आक्रुष्टेन मतिमता, तत्त्वार्थगवेषणे मतिः कार्या। यदि सत्यं कः कोपः, स्यादनृतं किं नु कोपेन ॥ १ ॥ " तथा-" अक्कोसहणणमारण-धम्मब्भंसाणवालसुलभाणं । लाभं मन्नइ धीरो, जहुत्तराणं अभाव (लाभ) म्मि ॥ १ ॥ ' गाम्भीर्यवीर्यं नाम परीषहोपसर्गैरधृष्यत्वं, यदिवा-यत् मनश्चमत्कारकारिण्यपि स्वानुष्ठाने अनौद्धत्यम् , उक्तं च-" चुल्लुच्छलेइ जं होइ, ऊणयं रित्तयं कणकणेइ । भरियाइँ ण खुब्भंती, सुपुरिसविन्नाणभंडाइं ॥१॥ " उपयोगवीर्यं साकारानाकारभेदात् द्विविधम्-तत्र साकारोपयोगोऽष्टधा, अनाकारश्चतुर्धा, तेन चोपयुक्तः स्वविषयस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपस्य परिच्छेदं विधत्त इति। तथा योगवीर्यं त्रिविधम्-मनोवाक्कायभेदात्, तत्र मनोवीर्यमकुशलमनोनिरोधः,कुशलमनसश्च प्रवर्तनं , मनसो वा एकत्वीभावकरणम् । मनोवीर्येण हि निर्ग्रन्थसंयताः प्रवृद्धपरिणामा अवस्थितपरिणामाश्च भवन्तीति । वाग्वीर्येण तु भाषमाणोऽपुनरुक्तं निरवद्यं च भाषते। कायवीर्यं तु यस्तु समाहितपाणिपादः कूर्मवदवतिष्ठत इति। तपोवीर्यं द्वादशप्रकारं तपो यद्बलादग्लायन् विधत्त इति , एवं सप्तदशविधे संयमे एकत्वाद्यध्यवसितस्य यद्बलात्प्रवृत्तिस्तत्संयमवीर्यं , कथमहमतिचारं संयमे न प्राप्नुयामित्यध्यवसायिनः प्रवृत्तिरित्येवमाद्यध्यात्मवीर्यमित्यादि च भाववीर्यमिति। वीर्यप्रवादपूर्वे चानन्तं वीर्यं प्रतिपादितं, किमिति ? , यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति , तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते , अनन्तार्थता चातोऽवगन्तव्या। तद्यथा—" सव्वणईणं जा हो-ज्ज वालुया गणणमागया सन्ती। तत्तो बहुयतरागो , अत्थो एगस्स पुव्वस्स ॥ १ ॥ सव्वसमुद्दाण जलं, जइ पत्थमियं हविज्ज संकलियं। एत्तो बहुयतरागो, अत्थो एगस्स पुव्वस्स ॥ २ ॥ " तदेवं पूर्वार्थस्यानन्त्याद्वीर्यस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति।

सर्वमप्येतद् वीर्यं त्रिधेति प्रतिपादयितुमाह—

सव्वं पि य तं तिविहं, पंडियबॉलविरियं च मीसं च।
अहवा वि होति दुविहं, अगार अणगारियं चेव ॥ ६७ ॥

सर्वमप्येतद्भाववीर्यं पण्डितबालमिश्रभेदात् त्रिविधम् , तत्रानगाराणां पण्डितवीर्यं, बालपण्डितवीर्यं त्वगाराणां-गृहस्थानामिति। तत्र यतीनां पण्डितवीर्यं सादिसपर्यवसितं, सर्वविरतिप्रतिपत्तिकाले सादिता सिद्धावस्थायां तदभावात्सान्तम् , बालपण्डितवीर्यं तु देशविरतिसद्भावकाले सादि, सर्वविरतिसद्भावे तद्भ्रंशे वा सपर्यवसानम् , बालवीर्यं त्वविरतिलक्षणमेवाभव्यानामनाद्यपर्यवसितम् ,भव्यानां त्वनादिसपर्यवसितम् , सादिसपर्यवसितं तु विरतिभ्रंशात् , सादिता पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तादुत्कृष्टतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तात् विरतिसद्भावात् सान्ततेति । साद्यपर्यवसितस्य तृतीयभङ्गकस्य त्वसम्भव एव। यदिवा—पण्डितवीर्यं सर्वविरतिलक्षणम् , विरतिरपि चारित्रमोहनीयक्षयक्षयोपशमोपशमलक्षणा त्रिविधैव , अतो वीर्यमपि त्रिधैव भवति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः।

तदनु सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं , तच्चेदम्—

दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियं ति पवुच्चई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई ? ॥ १ ॥
कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वाऽवि सुव्वया।
एतेहिं दोहि ठाणेहिं, जेहिं दीसंति मच्चिया ॥ २ ॥

द्वे विधे—प्रकारावस्थेति द्विविधं—द्विप्रकारम्, प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इदमो यदनन्तरं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते वीर्यं तद् द्विभेदं सुष्ठ्वाख्यातं स्वाख्यातं तीर्थकरादिभिः, 'ण'-वाक्यालङ्कारे, तत्र 'ईर'-गतिप्रेरणयोः, विशेषेण ईरयति-प्रेरयति अहितं येन तद्वीर्यं जीवस्य शक्तिविशेष इत्यर्थः, तत्र; किं नु वीरस्य—सुभटस्य वीरत्वम् ?, केन वा कारणेनासौ वीर इत्यभिधीयते ?, नुशब्दो-वितर्कवाची । एतद्वितर्कयति—किं तद्वीर्यम् ?, वीरस्य वा किं तद्वीरत्वमिति ? ॥ १ ॥ तत्र भेदद्वारेण वीर्यस्वरूपमाचिख्यासुराह—कर्म-क्रियानुष्ठानमित्येतदेके वीर्यमिति प्रवेदयन्ति, यदिवा—कर्माष्टप्रकारं कारणे कार्योपचारात् तदेवं वीर्यमिति प्रवेदयन्ति। तथाहि-औदयिकभावनिष्पन्नं कर्मेत्युपदिश्यते औदयिकोऽपि च भावः कर्मोदयनिष्पन्न एव बालवीर्यम्। द्वितीयभेदस्त्वयं-न विद्यते कर्मास्येत्यकर्मा—वीर्यान्तरायक्षयजनितं जीवस्य सहजं वीर्यमित्यर्थः । चशब्दात् चारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमजनितं च, हे सुव्रता ! एवम्भूतं पण्डितवीर्यं जानीत यूयम् । आभ्यामेव द्वाभ्यां स्थानाभ्यां सकर्मकाऽकर्मकापादितबालपण्डितवीर्याभ्यां व्यवस्थितं वीर्यमित्युच्यते । यकाभ्यां च ययोर्वा व्यवस्थिता मर्त्येषु भवा मर्त्याः 'दिस्संत' इति दृश्यन्तेऽपदिश्यन्ते वा। तथाहि—नानाविधासु क्रियासु प्रवर्तमानमुत्साहबलसंपन्नं मर्त्यं दृष्ट्वा वीर्यवानयं मर्त्य इत्येवमपदिश्यते, तथा तदावारककर्मणः क्षयादनन्तबलयुक्तोऽयं मर्त्य इत्येवमपदिश्यते दृश्यते चेति ॥ २ ॥

इह बालवीर्यं कारणे कार्योपचारात्कर्मैव वीर्यत्वेनाभिहितम्, साम्प्रतं कारणे कार्योपचारादेव प्रमादं कर्मत्वेनापदिशन्नाह-

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।
तब्भावाऽऽदेसओ वाऽवि, बालं पंडियमेव वा ॥ ३ ॥
सत्थमेगे तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥ ४ ॥

प्रमाद्यति सदनुष्ठानरहिता भवन्ति प्राणिनो येन स प्रमादो—मद्यादिः, तथा चोक्तम्—"मज्जं विसयकसाया, णिद्दा विगहा य पंचमी भणिया। एस पमायपमाओ, णिद्दिट्ठो वीयरागेहिं ॥ १ ॥" तमेवम्भूतं प्रमादं कर्मोपादानभूतं कर्म आहुः—उक्तवन्तस्तीर्थकरादयः, अप्रमादं च तथा अपरमकर्मकमाहुरिति । एतदुक्तं भवति—प्रमादोपहतस्य कर्म बध्यते, सकर्मणश्च यत्क्रियानुष्ठानं तद्बालवीर्यम्, तथाऽप्रमत्तस्य कर्माभावो भवति, एवंविधस्य च पण्डितवीर्यं भवति, एतच्च बालवीर्यं पण्डितवीर्यमिति वा प्रमादवतः सकर्मणो बालवीर्यमप्रमत्तस्याकर्मणः पण्डितवीर्यमित्येवमायोज्यम्। 'तब्भावाऽऽदेसओ वावी' ति तस्य-बालवीर्यस्य कर्मणश्च पण्डितवीर्यस्य वा भावः—सत्ता स तद्भावस्तेनाऽऽदेशो-व्यपदेशः ततः, तद्यथा-बालवीर्यमभ-व्यानामनादि अपर्यवसितम्, भव्यानामनादि सपर्यवसितं वा सादि सपर्यवसितं वेति, पण्डितवीर्यं तु सादि सपर्यवसितमेवेति ॥ ३ ॥ तत्र प्रमादोपहतस्य सकर्मणो यद्बालवीर्यं तद्दर्शयितुमाह—शस्त्रं खड्गादिप्रहरणं शास्त्रं वा धनुर्वेदायुर्वेदादिकं प्राण्युपमर्दकारि तत् सुष्ठु सातगौरवगृद्धा एके—केचन शिक्षन्ते—उद्यमेन गृह्णन्ति । तच्च शिक्षितं सत् प्राणिनां जन्तूनां विनाशाय भवति, तथाहि—तत्रोपदिश्यते एवंविधमालीढप्रत्यालीढादिभिर्जीवे व्यापादयितव्ये स्थानं विधेयम्। तदुक्तम्-" मुष्टिनाऽऽच्छादयेल्लक्ष्यं, मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत्। हतं लक्ष्यं विजानीया-द्यदि मूर्धा न कम्पते ॥१॥ " तथा एवं लावकरसः क्षयिणे देयोऽभयारिष्टाख्यो मद्यविशेषश्चेति। तथा एवं चौरादेः शूलारोपणादिको दण्डो विधेयः,तथा चाणक्याभिप्रायेण परो वञ्चयितव्योऽर्थोपादानार्थम्,तथा कामशास्त्रादिकं चोद्यमेनाशुभाध्यवसायिनोऽधीयते, तदेवं शस्त्रस्य धनुर्वेदादेः शास्त्रस्य वा यदभ्यसनं तत्सर्वं बालवीर्यम् । किञ्च-एके—केचन पापोदयात् मन्त्रानभिचारकानाथर्वणानश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेधादियागार्थमधीयते । किम्भूतानिति दर्शयति—प्राणा—द्वीन्द्रियादयः भूतानि—पृथिव्यादीनि तेषां विविधम्—अनेकप्रकारं हेठकान्-बाधकान् ऋक्संस्थानीयान् मन्त्रान् पठन्तीति। तथा चोक्तम्—"षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचना-न्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥' इत्यादि ॥ ४ ॥

अधुना 'सत्थ' मित्येतत्सूत्रपदं सूत्रस्पार्शिकया निर्युक्तिकारः स्पष्टयितुमाह—

सत्थं असिमादीयं,विज्जा मंते य देवकम्मकयं।
पत्थिववारुणअग्गे-य वाउ तह मीसगं चेव ॥ ९८ ॥

शस्त्रं—प्रहरणं तच्च असिः—खड्गस्तदादिकं, तथा विद्याधिष्ठितं;मन्त्राधिष्ठितं देवकर्मकृतं—दिव्यक्रियानिष्पादितं तच्च पञ्चविधम् ,तद्यथा—पार्थिवं वारुणमाग्नेयं वायव्यं तथैव द्व्यादिमिश्रं चेति ॥

किञ्चान्यत्—

माइणो कट्टु माया य, कामभोगे समारभे ।
हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥ ५ ॥
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ।
आरओ परओ वाऽवि, दुहाऽवि य असंजया ॥ ६ ॥

माया—परवञ्चनादि (त्मि) का बुद्धिः सा विद्यते येषां ते मायाविनस्त एवम्भूता मायाः-परवञ्चनानि कृत्वा एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणादेव क्रोधिनो मानिनो लोभिनः सन्तः कामान्—इच्छारूपान् तथा भोगांश्च शब्दादिविषयरूपान् समारभन्ते—सेवन्ते। पाठान्तरं वा-' आरंभाय तिवट्टइ ' त्रिभिः मनोवाक्कायैरारम्भार्थं वर्त्तते, बहून् जीवान् व्यापादयन् बध्नन् अपध्वंसयन् आज्ञापयन् भोगार्थी; वित्तोपार्जनार्थं प्रवर्त्तत इत्यर्थः । तदेवम् आत्मसातानुगामिनः—स्वसुखलिप्सवो दुःखद्विषो विषयेषु गृद्धाः कषायकलुषितान्तरात्मानः,सन्त एवम्भूता भवन्ति,तद्यथा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हन्तारः-प्राणिव्यापादयितारस्तथा छेत्तारः-कर्णनासिकादेस्तथा प्रकर्तयितारः पृष्ठोदरादेरिति ॥५॥ तदेतत्कथमित्याह-तदेतत्प्राण्युपमर्दनं मनसा वाचा कायेन कृतकारितानुमतिभिश्च अन्तशः-कायेनाशक्तोऽपि तन्दुलमत्स्यवन्मनसैव पापानुष्ठानानुमत्या कर्म बध्नातीति। तथा आरतः परतश्चेति लौकिकी वाचोयुक्तिरित्येवं पर्यालोच्यमाना ऐहिकामुष्मिकयोः द्विधाऽपि-स्वयं करणेन परकरणेन चासंयता-जीवोपघातकारिण इत्यर्थः ॥ ६ ॥

साम्प्रतं जीवोपघातविपाकदर्शनार्थमाह-

वेराइं कुव्वई वेरी, तम्रो वेरेहिँ रज्जती।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥ ७ ॥
संपरायं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो।
रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं ॥ ८ ॥

वैरमस्यास्तीति वैरी, स जीवोपमर्दकारी जन्मशतानुबन्धीनि वैराणि करोति, ततोऽपि च वैरादपरैर्वैरैरनुरज्यते-संबध्यते; वैरपरम्परानुषङ्गी भवतीत्यर्थः। किमिति यतः पापम् उप-सामीप्येन गच्छन्तीति पापोपगाः, क एते ?-आरम्भाः-सावद्यानुष्ठानरूपाः अन्तशो-विपाककाले दुःखं स्पृशन्तीति दुःखस्पर्शाः-असातोदयविपाकिनो भवन्तीति ॥ ७ ॥ किञ्चान्यत्-' संपरायं णियच्छंती ' त्यादि, द्विविधं कर्म-ईर्यापथं, साम्परायिकं च। तत्र सम्परायाः-बादरकषायास्तेभ्य आगतं साम्परायिकं तत् जीवोपमर्दकत्वेन वैरानुषङ्गितया आत्मदुष्कृतकारिणः-स्वपापविधायिनः सन्तो नियच्छन्ति-बध्नन्ति। तानेव विशिनष्टि-रागद्वेषाश्रिताः-कषायकलुषितान्तरात्मानः,सदसद्विवेकविकलत्वात् बाला इव बालाः, ते चैवम्भूताः पापम्-असद्वेद्यं बहु-अनन्तं कुर्वन्ति-विदधति ॥ ८ ॥

एवं बालवीर्यं प्रदर्श्योपसंजिघृक्षुराह-

एयं सकम्मविरियं, बालाणं तु पवेदितं।
इत्तो अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥ ९ ॥
दविए बंधणुम्मुक्के, सव्वत्रो छिन्नबंधणे।
पणोल्ल पावकं कम्मं सल्लं कंतति अंतसो ॥ १० ॥

एतत्-यत् प्राक् प्रदर्शितम्, तद्यथा-प्राणिनामतिपातार्थं शस्त्रं शास्त्रं वा केचन शिक्षन्ते, तथा परे विद्यामन्त्रान् प्राणिबाधकानधीयते, तथाऽन्ये मायाविनो नानाप्रकारां मायां कृत्वा कामभोगार्थमारम्भान् कुर्वते, केचन पुनरपरे वैरिणस्तत्कुर्वन्ति; येन वैरैरनुबध्यन्ते (ते) तथाहि-जमदग्निना स्वभार्याऽकार्यव्यतिकरे कृतवीर्यो विनाशितः, तत्पुत्रेण तु कार्तवीर्येण पुनर्जमदग्निः, जमदग्निसुतेन परशुरामेण सप्त वारान् निःक्षत्रा पृथिवी कृता, पुनः कार्तवीर्यसुतेन तु सुभूमेन त्रिःसप्तकृत्वो ब्राह्मणा व्यापादिताः। तथा चोक्तम्-" अपकारसमेन कर्मणा, न नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान्। अधिकां कुरुतेऽरियातनां, द्विषतां जातमशेषमुद्धरेत् ॥ १ ॥ " तदेवं कषायवशगाः प्राणिनस्तत्कुर्वन्ति येन पुत्रपौत्रादिष्वपि वैरानुबन्धो भवति। तदेतत्सकर्मणां बालानां वीर्यं तुशब्दात्प्रमादवतां च प्रकर्षेण वेदितं प्रवेदितं प्रतिपादितमिति यावत्। अत ऊर्ध्वमकर्मणां-पण्डितानां यद्वीर्यं तन्मे-मम कथयतः शृणुत यूयमिति ॥ ९ ॥ यथा प्रतिज्ञातमेवाह-द्रव्यो-भव्यो मुक्तिगमनयोग्यः ' द्रव्यं च भव्य ' इति वचनात् रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यभूतोऽकषायीत्यर्थः। यदिवा-वीतराग इव वीतरागोऽल्पकषाय इत्यर्थः। तथा चोक्तम्-" किं सक्का वोत्तुं जे, सरागधम्मम्मि कोइ अकसायी। संते वि जो कसाए, निगिण्हई सो ऽपि तत्तुल्लो ॥ १ ॥" स च किम्भूतो भवतीति दर्शयति-बन्धनात् कषायात्मकान्मुक्तो बन्धनोन्मुक्तः, बन्धनत्वं तु कषायाणां कर्मस्थितिहेतुत्वात्। तथा चोक्तम्-" बंधट्ठिई कसायवसा" कषायवशात् इति, यदिवा-बन्धनोन्मुक्त इव बन्धनोन्मुक्तः,तथाऽपरः सर्वतः-सर्वप्रकारेण सूक्ष्मबादररूपं छिन्नम्-अपनीतं बन्धनं-कषायात्मकं येन स छिन्नबन्धनः,तथा प्रणुद्य-प्रेर्य पापं-कर्मकारणभूतान् वाऽऽश्रवानपनीय शल्यवच्छल्यं-शेषकं कर्म तत् कृन्तति-अपनयति अन्तशो-निरवशेषतो विघटयति। पाठान्तरं वा ' सल्लं कंतइ अप्पणो ' त्ति शल्यभूतं यदष्टप्रकारं कर्म तदात्मनः सम्बन्धि कृन्तति-छिनत्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

यदुपादाय शल्यमपनयति तद्दर्शयितुमाह-

नेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा ॥ ११ ॥
ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसत्रो।
अणियत्ते अयं वासे, णायएहि सुहीहि य ॥ १२ ॥

नयनशीलो नेता,नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन्, स चात्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गः श्रुतचारित्ररूपो वा धर्मो मोक्षनयनशीलत्वात् गृह्यते, तं मार्गं धर्मं वा मोक्षं प्रति नेतारं सुष्ठु तीर्थकरादिभिराख्यातं स्वाख्यातं तम् उपादाय-गृहीत्वा सम्यक् मोक्षाय ईहते-चेष्टते ध्यानाध्ययनादावुद्यमं विधत्ते। धर्मध्यानारोहणालम्बनायाह-भूयो भूयः-पौनःपुन्येन यद्बालवीर्यं तदतीतानागतानन्तभवग्रहणेषु दुःखमावासयतीति दुःखावासं वर्तते। यथा यथा च बालवीर्यवान् नरकादिषु दुःखावासेषु पर्यटति तथा तथा चास्याशुभाध्यवसायित्वादशुभमेव प्रवर्धते इत्येवं संसारस्वरूपमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मध्यानं प्रवर्तत इति ॥ ११ ॥ साम्प्रतमनित्यभावनामधिकृत्याह-स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः, तद्यथा-देवलोके इन्द्रस्तत्सामानिकत्रायस्त्रिंशत्पार्षद्यादीनि, मनुष्येष्वपि चक्रवर्तिबलदेववासुदेवमहामाण्डलिकादीनि,तिर्यक्ष्वपि यानि कानिचिदिष्टानि भोगभूम्यादौ स्थानानि तानि सर्वाण्यपि विविधानि-नानाप्रकाराण्युत्तमाधममध्यमानि ते स्थानिनस्त्यक्ष्यन्ति, नात्र संशयो विधेय इति। तथा चोक्तम्-" अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि चेह च। देवासुरमनुष्याणा-मृद्धयश्च सुखानि च ॥ १ ॥ " तथाऽयं ज्ञातिभिः-बन्धुभिः सार्धं सहायैश्च मित्रैः सुहृद्भिर्यः संवासः सोऽनित्योऽशाश्वत इति। तथा चोक्तम्-" सुचिरतरमुषित्वा बान्धवैर्विप्रयोगः, सुचिरमपि हि रन्त्वा नास्ति भोगेषु तृप्तिः। सुचिरमपि सुपुष्टं याति नाशं शरीरं, सुचिरमपि विचिन्त्यो धर्म एकः सहा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यः ॥ १ ॥" इति । चकारौ धनधान्यद्विपदचतुष्पदशरीरायनित्यत्वभावनार्थौ (र्थम्) अशरणाद्यशेषभावनार्थं चानुक्तसमुच्चयार्थमुपात्ताविति ॥ १२ ॥

अपि च-

एवमादाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं ॥ १३ ॥

सह संमइए णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा ।
समुवट्ठिए उ अणगारे, पच्चक्खाए य पावए ॥ १४ ॥

अनित्यानि सर्वाण्यपि स्थानानीत्येवम् आदाय-अवधार्य मेधावी—मर्यादाव्यवस्थितः सदसद्विवेकी वा आत्मनः सम्बन्धिनीं गृद्धिं-गाद्धर्यं ममत्वम् उद्धरेद्—अपनयेत्, ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं ममत्वं क्वचिदपि न कुर्यात्, तथा आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो-मोक्षमार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः, आर्याणां वा-तीर्थकृदादीनामयमार्यो मार्गस्तम् उपसम्पद्येत-अधितिष्ठेत् समाश्रयेदिति। किम्भूतं मार्गमित्याह-सर्वैः कुतीर्थिकधर्मैः अकोपितः-अदूषितः स्वमहिम्नैव दूषयितुमशक्यत्वात् प्रतिष्ठां गतः (तं), यदि वा-सर्वैर्धर्मैः-स्वभावैरनुष्ठानरूपैर्गोपितं-कुत्सितकर्त्तव्याभावात् प्रकटमित्यर्थः ॥ १३ ॥ सुधर्मपरिज्ञानं च यथा भवति तद्दर्शयितुमाह-धर्मस्य सारः-परमार्थो धर्मसारस्तं ज्ञात्वा-अवबुध्य कथमिति दर्शयति-सह सन्—मत्या स्वमत्या वा विशिष्टाभिनिबोधिकज्ञानेन श्रुतज्ञानेनावधिज्ञानेन वा, स्वपरावबोधकत्वात् ज्ञानस्य; तेन सह, धर्मस्य सारं ज्ञात्वेत्यर्थः, अन्येभ्यो वा—तीर्थकरगणधराचार्यादिभ्यः इलापुत्रवत् श्रुत्वा चिलातपुत्रवद्वा धर्मसारमुपगच्छति, धर्मस्य वा सारं—चारित्रं तत्प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्तौ च पूर्वोपात्तकर्मक्षयार्थं पण्डितवीर्यसम्पन्नो रागादिबन्धनविमुक्तो बालवीर्यरहित उत्तरोत्तरगुणसम्पत्तये समुपस्थितोऽनगारः प्रवर्धमानपरिणामः प्रत्याख्यातं—निराकृतं पापकं सावद्यानुष्ठानरूपं येनासौ प्रत्याख्यातपापको भवतीति ॥१४॥

किञ्चान्यत्-

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥१५॥

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइँ मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥ १६ ॥

उपक्रम्यते—संवर्त्यते क्षयमुपनीयते आयुर्येन स उपक्रमस्तं (यं) कञ्चनं जानीयात्; कस्य ?—आयुःक्षेमस्य—स्वायुष इति । इदमुक्तं भवति-स्वायुष्कस्य येन केनचित्प्रकारेणोपक्रमो भावी यस्मिन् वा काले तत्परिज्ञाय तस्योपक्रमस्य कालस्य वा अन्तराले क्षिप्रमेवानाकुलो जीवितानाशंसी पण्डितो विवेकी संलेखनारूपां शिक्षां भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणादिकां वा शिक्षेत्, तत्र ग्रहणशिक्षया यथावन्मरणविधिं विज्ञायाऽऽसेवनशिक्षया त्वासेवेतेति ॥१५॥ किञ्चान्यत्-यथेति उदाहरणप्रदर्शनार्थः, यथा कूर्मः-कच्छपः स्वान्यङ्गानि-शिरोऽधरादीनि स्वके देहे समाहरेद्—गोपयेद्-अव्यापाराणि कुर्याद् एवम्-अनयैव प्रक्रियया मेधावी—मर्यादावान् सदसद्विवेकी वा पापानि-पापरूपाण्यनुष्ठानानि अध्यात्मना-सम्यग्धर्मध्यानादिभावनया समाहरेत्-उपसंहरेत्, मरणकाले चोपस्थिते सम्यक् संलेखनया संलिखितकायः पण्डितमरणेनात्मानं समाहरेदिति ॥१६॥

संहरणप्रकारमाह—

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचिंदियाणि य ।
पावकं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ॥ १७ ॥

अणुमाणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए ।
सातागारवणिहुए, उवसंते णिहे चरे ॥ १८ ॥

पादपोपगमने इङ्गिनीमरणे भक्तपरिज्ञायां शेषकाले वा कूर्मवद्धस्तौ पादौ च संहरेद्—व्यापारान्निवर्त्तयेत्, तथा मनः—अन्तःकरणं तच्चाकुशलव्यापारेभ्यो निवर्तयेत्, तथा शब्दादिविषयेभ्योऽनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतया श्रोत्रेन्द्रियादीनि पञ्चापीन्द्रियाणि । चशब्दः समुच्चये । तथा पापकं परिणाममैहिकामुष्मिकाशंसारूपं संहरेदित्येवं भाषादोषं च तादृशं-पापरूपं संहरेत्, मनोवाक्कायगुप्तः सन् दुर्लभं सत्संयममवाप्य पण्डितमरणं वाऽशेषकर्मक्षयार्थं सम्यगनुपालयेदिति ॥ १७ ॥ तं च संयमे पराक्रममाणं कश्चित् पूजासत्कारादिना निमन्त्रयेत्, तत्रात्मोत्कर्षो न कार्य इति दर्शयितुमाह-चक्रवर्त्यादिना सत्कारादिना पूज्यमानेन अणुरपि—स्तोकोऽपि मानः—अहंकारो न विधेयः, किमुत महान् ?, यदिवोत्तममरणोपस्थिते नोग्रतपोनिष्टप्तदेहेन वा अहोऽहमित्येवंरूपः स्तोकोऽपि गर्वो न विधेयः, तथा पण्डरार्ययेव स्तोकाऽपि माया न विधेया-किमुत महती ?, इत्येवं क्रोधलोभावपि न विधेयाविति । एवं द्विविधयाऽपि परिज्ञया कषायांस्तद्विपाकांश्च परिज्ञाय, तेभ्यो निवृत्तिं कुर्यादिति । पाठान्तरं वा 'अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए' अतीव मानोऽतिमानः सुभूमादीनामिव तं दुःखावहमित्येवं ज्ञात्वा परिहरेत् । इदमुक्तं भवति—यद्यपि सरागस्य कदाचिन्मानोदयः स्यात्तथाप्युदयप्राप्तस्य विफलीकरणं कुर्यादित्येवं मायायामप्यायोज्यम् । पाठान्तरं वा 'सुयं मे इहमेगेसिं, एवं वीरस्स वीरियं' येन बलेन संग्रामशिरसि महति सुभटसंकटे परानीकं विजयते तत्परमार्थतो वीर्यं न भवति, अपि तु-येन कामक्रोधादीन् विजयते तद्वीरस्य—महापुरुषस्य वीर्यम् । इहैव-अस्मिन्नेव संसारे मनुष्यजन्मनि वैकेषां तीर्थकरादीनां सम्बन्धि वाक्यं मया श्रुतम्, पाठान्तरं वा 'आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं' आयतो-मोक्षोऽपर्यवसितावस्थानत्वात् स चासावर्थश्च तदर्थो वा—तत्प्रयोजनो वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गः स आयतार्थस्तं सुष्ठादाय—गृहीत्वा यो धृतिबलेन कामक्रोधादिजयाय च पराक्रमते एतद्वीरस्य वीर्यमिति । यदुक्तमासीत् 'किं(तु)नु वीरस्य वीरत्वमि' ति तद्यथा भवति तथा व्याख्यातम् । किञ्चान्यत्—सातागौरवं नाम सुखशीलता तत्र निभृतः-तदर्थमनुद्युक्त इत्यर्थः, तथा क्रोधाग्निजयादुपशान्तः—शीतीभूतः शब्दादिविषयेभ्योऽप्यनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतयोपशान्तो जितेन्द्रियत्वात्तेभ्यो निवृत्त इति, तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा—माया न विद्यते सा यस्यासावनिहो; मायाप्रपञ्चरहित इत्यर्थः, तथा मानरहितो लोभवर्जित इत्यपि द्रष्टव्यम्; स चैवम्भूतः संयमानुष्ठानं चरेत्-कुर्यादिति, तदेवं मरणकाले अन्यदा वा पण्डितवीर्यवान् महाव्रतेषूद्यतः स्यात्। तत्रापि प्राणातिपातविरतिरेव गरीयसीति कृत्वा तत्प्रतिपादनार्थमाह—" उड्ढमहे तिरियं वा, जे पाणा तसथावरा। सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥ १ ॥ " अयं च श्लोको न सूत्रादर्शेषु दृष्टः, टीकायां तु दृष्ट इति कृत्वा लिखितः, उत्तानार्थश्चेति ॥ १८ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। (अबुद्धा इव बालवीर्यवन्त इति 'अबुद्ध' शब्दे प्रथमभागे ६८४ पृष्ठे गतम्।)

साम्प्रतं पण्डितवीर्यिणोऽधिकृत्याऽऽह—

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥ २३ ॥

तेसिं पि तवो ण सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला।
जन्ने वन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए ॥ २४ ॥

अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सदा जए ॥ २५ ॥

झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वए ॥ २६ ॥ त्ति बेमि, इति श्रीवीर्याख्यमष्टममध्ययनं समत्तं।

ये केचन स्वयंबुद्धास्तीर्थकराद्यास्तच्छिष्या वा बुद्धबोधिता गणधरादयो महाभागा महापूजाभाजो वीराः—कर्मविदारणसहिष्णवो ज्ञानादिभिर्वा गुणैर्विराजन्त इति वीराः, तथा सम्यक्त्वदर्शिनः—परमार्थतत्त्ववेदिनस्तेषां भगवतां यत्पराक्रान्तं—तपोऽध्ययनयमनियमादावनुष्ठितं तच्छुद्धम्-अवदातं निरुपरोधं सातगौरवशल्यकषायादिदोषाकलङ्कितं कर्मबन्धं प्रति अफलं भवति-तन्निरनुबन्धनिर्जरार्थमेव भवतीत्यर्थः। तथाहि-सम्यग्दृष्टीनां सर्वमपि संयमतपःप्रधानमनुष्ठानं भवति, संयमस्य चानाश्रवरूपत्वात् तपसश्च निर्जराफलत्वादिति। तथा च पठ्यते—" संयमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले " इति ॥ २३ ॥ किञ्चान्यत्—महत्कुलम् इक्ष्वाकादिकं येषां ते महाकुला लोकविश्रुताः शौर्यादिभिर्गुणैर्विस्तीर्णयशसस्तेषामपि पूजासत्काराद्यर्थमुत्कीर्त्तनेन वा यत्तपस्तदशुद्धं भवति। यच्च क्रियमाणमपि तपो नैवान्ये दानश्राद्धादयो जानन्ति। तत्तथाभूतमात्मार्थिना विधेयम्, अतो नैवात्मश्लाघां प्रवेदयेत्-प्रकाशयेत्। तद्यथा—अहमुत्तमकुलीन इभ्यो वाऽऽसं साम्प्रतं पुनस्तपोनिष्टप्तदेह इति, एवं स्वयमाविष्करणेन न स्वकीयमनुष्ठानं फल्गुतामापादयेदिति ॥ २४ ॥ अपिच-अल्पं-स्तोकं पिण्डमशितुं शीलमस्यासावल्पपिण्डाशी यत्किञ्चनाशीति भावः, एवं पानेऽप्यायोज्यम्। तथा चागमः-" हे जं व तं व आसी य, जत्थ व तत्थ व सुहोवगयनिद्दो। जेण व तेण व संतु—ट्ठ, वीर! मुणिओऽसि ते अप्पा " ॥ १ ॥ तथा " अट्ठकुक्कुडिअंडगमेत्तप्पमाणे कवले आहारेमाणे अप्पाहारे दुवालसकवलेहिं अवड्ढोमोयरिया- सोलसहिं दुभागे पत्ते-चउवीसं ओमोदरिया, तीसं पमाणप्पत्ते बत्तीसं कवला संपुण्णाहारे " इति, अत एकैककवलहान्यादिनोनोदरता विधेया, एवं पाने उपकरणे चोनोदरतां विदध्यादिति। तथा चोक्तम्-" थोवाहारो थोव भ-णिओ अ जो होइ थोवनिद्दो अ। थोवोवहिउवकरणो, तस्स हु देवा वि पणमंति ॥ १ ॥ " तथा सुव्रतः—साधुः अल्पं—परिमितं हितं च भाषेत, सर्वदा विकथारहितो भवेदित्यर्थः। भावावमौदर्यमधिकृत्याह-भावतः क्रोधाद्युपशमात् क्षान्तः—क्षान्तिप्रधानः तथा अभिनिर्वृतो-लोभादिजयान्निरातुरः, तथा इन्द्रियनोइन्द्रियदमनात् दान्तो-जितेन्द्रियः। तथा चोक्तम्-" कषाया यस्य नोच्छिन्ना, यस्य नात्मवशं मनः। इन्द्रियाणि न गुप्तानि, प्रव्रज्या तस्य जीवनम् ॥ १ ॥ " एवं विगता गृद्धिर्विषयेषु यस्य स विगतगृद्धिः आशंसादोषरहितः सदा सर्वकालं संयमानुष्ठाने यतेत-यत्नं कुर्यादिति ॥२५॥ अपि च-' झाणजोगं ' इत्यादि, ध्यानं-चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिकं तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारस्तं ध्यानयोगं समाहृत्य-सम्यगुपादाय कायं-देहमकुशलयोगप्रवृत्तं व्युत्सृजेत्—परित्यजेत् सर्वतः—सर्वेणापि प्रकारेण, हस्तपादादिकमपि परपीडाकारि न व्यापारयेत्। तथा तितिक्षां—क्षान्तिं परीषहोपसर्गसहनरूपां परमां—प्रधानां ज्ञात्वा आमोक्षाय—अशेषकर्मक्षयं यावत् परिव्रजेरिति—संयमानुष्ठानं कुर्यास्त्वमिति। इतिः परिसमाप्त्यर्थे। ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ २६ ॥ समाप्तं चाष्टमं वीर्याख्यमध्ययनमिति। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

जीवा णं भंते! किं सवीरिया अवीरिया?, गोयमा! सवीरिया वि, अवीरिया वि। से केणट्ठेणं?, गोयमा! जीवा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-संसारसमावन्नगा य, असंसारसमावन्नगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं अवीरिया, तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-सेलेसिपडिवन्नगा य, असेलेसिपडिवन्नगा य। तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवन्नगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया। तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवन्नगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं सवीरिया वि, अवीरिया वि। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ-जीवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-सवीरिया वि, अवीरिया वि ॥ नेरइया णं भंते! किं सवीरिया, अवीरिया?, गोयमा! नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं सवीरिया वि, अवीरिया वि। से केणट्ठेणं?, गोयमा! जेसिं णं नेरइयाणं अत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे ते णं नेरइया लद्धिवीरिएण वि सवीरिया, करणवीरिएण वि सवीरिया, जेसिं णं नेरइयाणं नत्थि उट्ठाणे० जाव परक्कमे ते णं नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेणऽट्ठेणं गोयमा! जहा नेरइया एवं०जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया, मणुस्सा जहा ओहिया जीवा। नवरं सिद्धवज्जा भाणियव्वा, वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा नेरइया। सेवं भंते! (सेवं) भंते! त्ति। सू०-७१)

'सिद्धा णं अवीरिय' त्ति सकरणवीर्याभावादवीर्याः सिद्धाः, 'सेलेसिपडिवन्नगा य' त्ति शैलेशः-सर्वसंवररूपचरणप्रभुस्तस्येयमवस्था, शैलेशो वा-मेरुस्तस्येव याऽवस्था स्थिरतासाधर्म्यात्सा शैलेशी, सा च सर्वथा योगनिरोधे पञ्च ह्रस्वाक्षरोच्चारकालमाना तां प्रतिपन्नका ये ते तथा, 'लद्धिवीरिएणं सवीरिय' त्ति वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमतो या वीर्यस्य लब्धिः सैव तद्धेतुत्वाद्वीर्यं लब्धिवीर्यं तेन सवीर्याः। एतेषां च क्षायिकमेव लब्धिवीर्यम्, 'करणवीरिएणं' ति लब्धवीर्यकार्यभूता क्रिया करणं तद्रूपं करणवीर्यं, 'करणवीरिएणं सवीरिया वि अवीरिया वि'त्ति तत्र सवीर्याः-उत्थानादिक्रियावन्तः अवीर्यास्तूत्थानादिक्रियाविकलाः,ते चापर्याप्त्यादिकालेऽवगन्तव्या इति। 'नवरं सिद्धवज्जा भाणियव्व' त्ति औधिकजीवेषु सिद्धाः सन्ति, मनुष्येषु तु नेति, मनुष्यदण्डके वीर्यं प्रति सिद्धस्वरूपं नाध्येयमिति। भ० १ श० ८ उ०।

क्रियाधिकार एवेदमाह—

दो भंते! पुरिसा सरिसया सरित्तया सरिव्वया सरिसभंडमत्तोवगरणा अन्नमन्नेणं सद्धिं संगामं संगामेन्ति, तत्थ णं एगे पुरिसे पराइणइ, एगे पुरिसे पराइज्जइ, से कहमेयं भंते! एवं?, गोयमा! सवीरिए पराइणइ, अवीरिए पराइज्जइ। से केणऽट्ठेणं० जाव पराइज्जइ?, गोयमा! जस्स णं वीरियवज्झाइं कम्माइं णो बद्धाइं णो पुट्ठाइं० जाव नो अभिसन्नागयाइं नो उदिन्नाइं उवसंताइं भवन्ति से णं पराइणइ, जस्स णं वीरियवज्झाइं कम्माइं बद्धाइं० जाव उदिन्नाइं नो उवसंताइं भवंति से णं पुरिसे पराइज्जइ, से तेणऽट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ-सवीरिए पराइणइ, अवीरिए पराइज्जइ। (सू० ७०)

'सरिसय' त्ति सदृशकौ कौशलप्रमाणादिना 'सरित्तय' त्ति सदृक्त्वचौ—सदृशच्छवी 'सरिव्वयं' ति सदृग्वयसौ—समानयौवनाद्यवस्थौ 'सरिसभंडमत्तोवगरण' त्ति भाण्डं—भाजनं मृन्मयादि मात्रो मात्रया युक्त उपधिः स च कांस्यभाजनादिभोजनभण्डिका भाण्डमात्रा वा-गणिमादिद्रव्यरूपः परिच्छदः उपकरणानि-अनेकधाऽऽवरणप्रहरणादीनि ततः सदृशानि भाण्डमात्रोपकरणानि ययोस्तौ तथा, अनेन च समानविभूतिकत्वं तयोरभिहितं 'सवीरिए' त्ति सवीर्यः 'वीरियवज्झाइं' ति वीर्यं वध्यं येषां तानि तथा। भ० १ श० ८ उ०। वीर्यप्रतिपादकेऽष्टमे सूत्रकृताङ्गाध्ययने, आ० चू० ४ अ०।

वीरियंतराय-वीर्यान्तराय-न०। अन्तरायपापकर्मभेदे, यदुदयवशाद् बलवान् नीरुजो वयस्थोऽपि च तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थो भवति। कर्म० १ कर्म०। यदुदयवशात्सत्यपि नीरुजि शरीरे यूनोऽल्पप्राणता भवति। कर्म० ६ कर्म०। स०।

वीरियद्धिवण्णण-वीर्यर्द्धिवर्णन-न०। प्रकर्षरूपायाः शुद्धाचारवललभ्यायास्तीर्थकरपर्यवसानाया वीर्यर्द्धेर्वर्णने, ध० १ अधि०।

वीरियत्ता-वीर्यता-स्त्री०। वीर्ययोगाद् वीर्यः प्राणी तद्भावो वीर्यता। अथवा-वीर्यमेव स्वार्थिकप्रत्ययाद्-वीर्याणां वा भावो वीर्यता। वीर्यभावे, भ० १ श० ४ उ०।

वीरियपवाय-वीर्यप्रवाद-न०। सकर्मेतराणां जीवानामजीवानां च वीर्यं प्रवदतीति वीर्यप्रवादम्। कर्मण्यण् प्रत्ययः। चतुर्दशपूर्वाणां तृतीये पूर्वे,तस्य पदपरिमाणं सप्ततिपदशतसहस्राणि। नं०। सं०।

वीर्याभिधायिनः पूर्वस्य स्वरूपमाह—

वीरियपुव्वस्स णं अट्ठ वत्थू अट्ठ चूलियावत्थू पण्णत्ता। (सू० ६२७)

'वीरियपुव्वे' त्यादि वीर्यप्रवादाख्यस्य तृतीयपूर्वस्य वस्तूनि-मूलवस्तूनि अध्ययनविशेष आचारे ब्रह्मचर्याध्ययनवत् चूलावस्तूनि त्वाचाराग्रवदिति वस्तुवीर्यादेव गतयोऽपि भवन्तीति। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

वीरियपवायस्स णं पुव्वस्स एकसत्तरिं पाहुडा पण्णत्ता। (सू० ७१ ×)

'वीरियपुव्वस्स' त्ति तृतीयपूर्वस्य 'पाहुड' त्ति प्राभृतमधिकारविशेषः। स० ७१ सम०।

वीरियफड्डय-वीर्यस्पर्द्धक-न०। त्रित्वेन एकत्र समुदितेषु असंख्येयवीर्यभागान्वितेषु जीवप्रदेशेषु, कर्म० ५ कर्म०।

वीरियबल-वीर्यबल-न०। वीर्यमेव बलं वीर्यबलं यद्वशात् गमनागमनादिकासु विचित्रासु क्रियासु वर्त्तते यच्चापनीय सकलकलुषपटलमनवरतानन्दभाजनं भवति। तथाभूते बलभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

वीरियलक्खण-वीर्यलक्षण-न०। लक्षणभेदे, विशे०। आ० म०। (वीर्यलक्षणम्; 'लक्खण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५६३ पृष्ठे गतम्।)

वीरियसंपण्ण-वीर्यसंपन्न-त्रि०। वीर्यमुत्साहातिरेकस्तेन सम्पन्नः। स्था० ८ ठा० ३ उ०। सपराक्रमे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

वीरियसजोगसद्दव्वया-वीर्यसजोगसद्द्रव्यता-स्त्री०। वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयादिकृता शक्तिः योगा—मनःप्रभृतयः सह योगैर्वर्तत इति सयोगः, सन्ति विद्यमानानि द्रव्याणि तथाविधपुद्गला यस्य जीवस्यासौ सद्द्रव्यो वीर्यप्रधानः। सयोगो वीर्यसयोगः स चासौ सद्द्रव्यश्चेति विग्रहस्तद्भावस्तत्ता वीर्यसयोगसद्द्रव्यता। सवीर्यतायां सयोगतायां सद्द्रव्यतायाम्, भ० ८ श० ६ उ०। (वीर्यसयोगसद्द्रव्यता 'बंधण' शब्दे पञ्चमभागे १२२५ पृष्ठे व्याख्याता।)

वीरियाऽऽता-वीर्यात्मन्-पुं०। वीर्यमुत्थानादि तदात्मा। सर्वसंसारिणां वीर्यरूप आत्मनि, भ० १२ श० १० उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीरियाऽऽयार-वीर्याचार-पुं० अनिहुतबाह्याभ्यन्तरसामर्थ्यस्य सतोऽनन्तरोक्तषट्त्रिंशद्विधे ज्ञानदर्शनाद्याचारे, यथाशक्तिप्रतिपत्तिलक्षणे पराक्रमणे, प्रतिपत्तौ च । यथाबलं पालने, ध० १ अधि० । स्था० । आचा० ।

इदाणिं वीरियायारो—

अणिगूहियबलविरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजइ य जहाथामं, णायव्वो वीरियायारो ॥ ४३ ॥

वीरियं ति वा बलं ति वा सामत्थं ति वा परक्कमे त्ति वा थामो त्ति वा एगट्ठा । सति बलपरक्कमे अकरणं गूहणं निगूहणं अगूहणं बलं—सारीरं संघयणोवेवया । वीरियं णाम—शक्तिः ; सा हि वीर्यान्तरायक्षयोपशमाद्भवति । अहवा—बल एव वीरियं बलवीरियं परक्कमते आचरते-त्यर्थः । जो इति साहू यथा उक्तं यथोक्तं अव्वत्थं जुत्तो आजुत्तो वा; अप्रमत्तेत्यर्थः । जुंजइय-'जुजिर' योगे,जोजयति च, चशब्दः समुच्चये, कहं जोजयति ?, अहथामं णाम--जहा थामं पा (गड) ययलक्खणेण जगारस्स चंजणे लुत्ते सरे ठिते अहथामं भवति,एवं करेंतस्स णायव्वो वीरियायारो वीरियायारपमाणपसिद्धं पच्छित्तपरूवणत्थं च भण्णइ ।

णाणे दंसणे चरणे, तावच्छत्ती सती य भेदेसु ।
विरियं ण तु होवज्जा, सट्ठाणारोवणा बेंते ॥ ४४ ॥

अट्ठविहो णाणाऽऽयारो, दंसणाऽऽयारो वि अट्ठविहो, चरित्ताऽऽयारो वि अट्ठविहो,तवाऽऽयारो बारसविहो,एते समुदिता छत्तीसं भवंति । एतेसु छत्तीसतिसु भेदेसु वीरियं तहा वेयव्वं जाव हावेंतस्स य सट्ठाणारोवणा भवति । सट्ठाणारोवणा णाम-सट्ठाणारोवणायारं हावेंतस्स जं णाणायारे पच्छित्तं तं चेव भवति । एवं सेसेसु वि पच्छित्तं सट्ठाणं । एसा चेव सट्ठाणारोवणा । गतो वीरियाऽऽयारो । नि० चू० १ उ० ।

वीरुण-वीरुण-पुं० । पर्वकभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

वीरुत्तरवडिंसग-वीरोत्तरावतंसक-न० । चतुर्थदेवलोकस्थविमानभेदे, स० ६ सम० ।

वीलण-देशी-पिच्छिले, दे० ना० ७ वर्ग ७३ गाथा ।

वीली-देशी-तरङ्गे, दे० ना० ७ वर्ग ७३ गाथा ।

वीवाह-विवाह-पुं० परिणयने,जी०३ प्रति०४ अधि० प्रज्ञ० ।

वीसंदण-विस्यन्दन-न० । अर्द्धनिर्दग्धघृतमध्यक्षिप्ततन्दुलनिष्पन्ने खाद्यपदार्थे, बृ० १ उ० २ प्रक० । पं० व० । सूत्र० । प्रव० । 'अम्हा णं पुण वीसंदणं अविगइ' त्ति, बृहच्चूर्णिकृत् ।

वीसंभ-विश्रम्भ-पुं० । विश्वासे, दर्श० ४ तत्त्व । 'वीसंभनिवेसिआणं' "लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः" ॥ ८ ।१। ४३ ॥ इति आदेः स्वरस्य दीर्घः । प्रा० १ पाद ।

वीसंभणेवत्थ-विश्रम्भवेष-पुं० । संविग्नवेषधारिणि,बृ०३ उ० ।

वीसंभर-विश्वम्भर-पुं० । जीवविशेषे, ओघ० ।

वीसत्थ-विश्वस्त-त्रि० । क्षोभाभावेन (कल्प० १ अधि० १ क्षण) निर्भये, अनुत्सुके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विश्वासप्रति, निरुत्सुके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । रा० । निरुद्विग्ने, बृ० १ उ० २ प्रक० । स्वपक्षाच्छ्रावकादेः,परपक्षाद् मिथ्यादृष्ट्यादेरविभ्यति प्राणातिपाताद्यकृत्यं सेवमाने,जीत० । स्वपक्षतः परपक्षतो वा निर्भयं प्राणातिपातादिसेविनि, व्य० १० उ० ।

वीसत्थत्त-विश्वस्तत्व-न० । विश्वासे, परस्परगुह्यगोपनविषये प्रत्यये, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

वीसत्थमंतभेय-विश्वस्तमन्त्रभेद-पुं० । विश्वस्ता-विश्वासमुपगता ये मित्रकलत्रादयस्तेषां मन्त्रो-मन्त्रणं तस्य भेदः-प्रकाशनम् । स्वदारमन्त्रभेदनरूपे पञ्चमेऽतिचारे, ध० । तस्यानुवादरूपत्वेन सत्यत्वाद्यद्यपि नातिचारता घटते, तथापि मन्त्रितार्थप्रकाशनजनितलज्जादितो मित्रकलत्रादेर्मरणादिसंभवेन परमार्थतोऽस्याऽसत्यत्वात्कथंचिद्भङ्गरूपत्वेनातिचारतैव , गुह्यभाषणे गुह्यमाकारादिना विज्ञायाऽनधिकृत एव गुह्यं प्रकाशयति, इह तु स्वयं मन्त्रयित्वैव मन्त्रं भिनत्तीत्यनयोर्भेद इति पञ्चमो अतिचारः । ध० २ अधि० ।

वीसत्थसुहावासा--विश्वस्तसुखावासा-स्त्री० । विश्वस्तानां निर्भयानामनुत्सुकानां वा सुखः—सुखस्वरूपः शुभो वा आवासो यस्यां सा तथा । सुखनिवसज्जनायां पुरि, औ० । रा० ।

वीसदेवा-विश्वग्देवा-स्त्री० । उत्तराषाढायाम् , सू० प्र० १० पाहु० ।

वीसम-विश्रम-धा० श्रमापनयने, "विश्रमेर्णिव्वा" ॥८।४।१५६॥ विश्रम्यतेर्णिव्वा इत्यादेशे—णिव्वाइ । अन्यत्र-वीसमइ । विश्रामति । प्रा० । प्रश्न० ।

वीसर--विस्मृ-धा० । अनुभूतविषयकोद्बोधाभावे, "विस्मुः पम्हुस-विम्हर-वीसराः" ॥ ८ । ४ । ७५ ॥ इति विस्मरतेर्वीसरादेशः । वीसरइ । विस्मरति । प्रा० ४ पाद ।

विस्वर-त्रि० । विरूपध्वनिषु, विपा० २ श्रु० ७ अ० । "अव्वायामिव रूवंतं वीसरस्सरं भणइ" नि० चू० १६ उ० ।

वीसरिण--व्युत्सर्जन-न० । " गोणादयः " ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति व्युत्सर्जनस्थाने वीसरिणादेशः । त्यागे, प्रा० २ पाद ।

वीसलदेव-विश्वलदेव-पुं० । गुर्जरधरित्र्यां धवलक्कपुरराज्ये वीरधवलनृपानन्तरे वस्तुपालतेजःपालाभ्यां प्रसिद्धमन्त्रिभ्यामभिषिक्ते स्वनामख्याते नृपे, ती० ४१ कल्प ।

वीससा--वीस्रसा-स्त्री० । विगता स्रसना विस्रसा । आ० चू० १ अ० । स्वभावे , विशे० । भ० । ज्ञा० । जरायाम् , जरापर्यायतया लोके रूढस्य स्वभावार्थत्वात् । भ० १ श० ३ उ० ।

वीससाकरण--विस्रसाकरण-न० विगता स्रसना विस्रसा तत्करणम् । विगतप्रयोगकरणे करणभेदे, आ० चू० १ अ० । (इदं च सभेदं 'करण' शब्दे तृतीयभागे ३६० पृष्ठे व्याख्यातम् ।)

वीससापरिणय-विस्रसापरिणत-त्रि० । स्वभावपरिणते, भ० ८ श० १ उ० । विश्रस्तपरिणामेन चाभोगोऽपि पुराणतयेति विश्रसा स्वभावतस्तत्परिणता अभ्रेन्द्रधनुरादिवदिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीससाबंध-विस्रसाबन्ध-पुं० । स्वभावसंपन्ने, पुद्गलानां स्त्रिग्धत्वादिना रूपेण बन्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । 'बंधण' शब्दे पञ्चमभागे १२२३ पृष्ठे दर्शितोऽयम् ।)

वीससिय-वैस्रसिक-पुं० । विस्रसा परिणामसिद्धे संध्याभ्ररागादौ, आ० म० १ अ० ।

वीससेण-विश्वसेन-पुं० । विश्वा हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गबलसमेता सेना यस्य स विश्वसेनः । चक्रवर्तिनि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । शान्तिजिनपितरि, ति० । आ० म० । अहोरात्रस्याष्टादशे मुहूर्त्ते, ज्यो० २ पाहु० । जं० ।

वीसाएमाण-विस्वादयत्-त्रि० । विशेषेण स्वादयति, भ० ३ श० १ उ० ।

वीसाण-विष्वाण-पुं० । विष्वण्–ण्वुल् । षत्वणत्वे वलोपे- " लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः " ॥ ८ । १ । ४३॥इति इकारस्य दीर्घः। विष्वाणः । वीसाणो । भोजन,प्रा० ।

वीसायणिज्ज-विस्वादनीय-त्रि० । विशेषतः स्वादनीये, प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० ।

वीसाम-विश्राम-पुं० । लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः " ॥ ८ । १ । ४३ ॥ इति दीर्घत्वमिकारस्य । प्रा० । श्रमापनये, आ० म० १ अ० ।

वीसामण-विश्रामण-न० । श्रमापनयनकरणे, ध० ३ अधि० ।

वीसाल-मिश्रि-धा० । संयोजने , " मिश्रेर्वीसाल-मेलवौ " ॥ ८ । ४ । २८ ॥ इति मिश्रयतेर्ण्यन्तस्य वीसालमेलवौ इत्यादेशौ । वीसालइ । मिश्रयति । प्रा० ४ पाद ।

वीसास-विश्वास-पुं० । विश्वासयतीति विश्वासः । व्यवहारे वञ्चनाया अकरणे, व्य० ३ उ० । त्वं मम माता भगिनी दुहिता वा अतो मा भैषीरेवं वयोऽनुरूपे अविरुद्धे वचने, बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

वीसुं-विष्वच्-अव्य० । " ध्वनिविश्वचोरुः " ॥ ८ । १ । ५२॥ इत्यादेरस्य उत्वम् । प्रा० । " लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः " ॥ ८ । १ । ४३ ॥ इति इकारस्य दीर्घो वा । प्रा० । " वा स्वरे मश्च " ॥ ८ । १ । २४ ॥ इत्यन्त्यस्वरे परेऽनुस्वारो वा । प्रा० । पृथगर्थे , विशे० । व्य० । नि० चू० ।

वीसुंउवस्सय-विष्वगुपाश्रय-पुं० । विष्वग् भेदेन उपाश्रय आश्रयः । पृथक् पृथगाश्रये, ओघ० ।

वीसुंकरण-विष्वक्करण-न० । विसंभोगकरणे, व्य० ७ उ० । नि० चू० ।

वीसुंभण-विष्वग्भवन-न० । मरणे, शरीरात् पृथग्भवने,स्था० ५ ठा० २ उ० । बृ० । व्य० ।

वीसुय-देशी-पृथगित्यर्थे, दे० ना० ७ वर्ग ७३ गाथा ।

वीसेणि-विश्रेणि-स्त्री० । विषमश्रेण्याम् , मञ्चाः क्रोशन्तीति न्यायाद् विश्रेणिव्यवस्थिते, विशे० । व्य० । स्था० ।

वीहण-भयानक-न० । भयोत्पादके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आ० म० ।

वीहि-वीथि-स्त्री० । रथ्याविशेषे , आ० म० १ अ० । पथि, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

शुक्रस्य नव वीथयः-

समधरणितलादुपरिष्टान्नवयोजनशताभ्यन्तरचारिणो ग्रहविशेषस्य व्यतिकरमाह—

सुक्कस्स णं महागहस्स नव विहीओ पएणत्ताओ , तं जहा-हयवीही गयवीही णागवीही वसहवीही गोवीही उरगवीही अयवीही मियवीही वेसाणरवीही । (सू०६६९)

शुक्रस्य महाग्रहस्य नव वीथयः—क्षेत्रभागाः प्रायस्त्रिभिस्त्रिभिर्नक्षत्रैर्भवन्ति । तत्र हयसंज्ञा वीथी हयवीथीत्येवं सर्वत्र । संज्ञा च व्यवहारार्थ या चेह हयवीथी साऽन्यत्र नागवीथीति रूढा, नागवीथी चैरावणपदमित्येतासां च लक्षणं भद्रबाहुप्रसिद्धाभिरार्याभिः क्रमेण लिख्यते—" भरणी स्वात्याग्नेयं, नागाख्या वीथिरुत्तरे मार्गे । रोहिण्यादिरिभाख्या, चादित्यादिः सुरगजाख्या ॥ १ ॥ " (आग्नेयं कृत्तिका, आदित्यं पुनर्वसुरिति) " वृषभाख्या पैत्र्यादिः , श्रमणादिर्मध्यमे जरद्गवाख्याः । प्रोष्ठपदादिचतुष्के, गोवीथिस्तासु मध्यफलम् ॥ २ ॥" (पैत्र्यं मघा मध्यमे इति—मार्गे प्रोष्ठपदा-पूर्वभद्रपदा) "अजवीथी हस्तादि-र्मृगवीथी चैन्द्रदेवतादिःस्यात् । दक्षिणमार्गे वैश्वा-नर्याषाढद्वयं ब्राह्म्यम् ॥ ३ ॥" (इन्द्रदेवता ज्येष्ठा ब्राह्म्यमभिजिदिति) " एतासु भृगुर्विचरति, नागगजैरावतीषु वीथिषु चेद् । बहु वर्षेत्पर्जन्यः, सुलभौषधयोऽर्थवृद्धिश्च ॥ ४ ॥ पशुसंज्ञासु च मध्यम-सस्यफलादिर्यदा चरेद्भृगुजः । अजमृगवैश्वानरवीथिष्वर्थभयार्दितो लोकः ॥ ५ ॥ " इति वीथिविशेषचारेण च शुक्रादयो ग्रहा मनुजादीनामनुग्रहोपघातकारिणो भवन्तीति द्रव्यादिसामग्र्या कर्मणामुदयादिसद्भावादिति । स्था० ९ ठा० ३ उ० । सूत्र० । पं० व० । उभयोरपि पार्श्वयोरेकैकश्रेणिभावेन श्रेणिद्वये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वीहिया-वीथिका-स्त्री० । मार्गे, स्था० ६ ठा०३ उ० ।

वुइय-उक्त-त्रि० । स्वरूपतः प्रतिपादिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । स्था० । भ० ।

वुंद-वृन्द-न० । "उद्दत्वादौ" ॥ ८ । १ ॥ १३१ ॥ इति ऋत उत्त्वम् । समूहे, प्रा० १ पाद ।

वुंदारअ-वृन्दारक-पुं० । " निवृत्त-वृन्दारके वा " ॥ ८ । १ । १३२ ॥ इति ऋत उत्त्वम् । दैवते , प्रा० १ पाद ।

वुंदावण-वृन्दावन-न० । " उद्दत्वादौ " ॥ ८ । १ ॥ १३२ ॥ इति ऋत उत्त्वम् । मथुरासविधे स्वनामप्रसिद्धे अरण्ये,प्रा० ।

वुकंत-व्युत्क्रान्त-त्रि० । परिणते, विध्वस्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

वुकंतजोणिय-व्युत्क्रान्तयोनिक-त्रि० । व्युत्क्रान्ता अपगता योनिरुत्पत्तिस्थानं यत्र तद्व्युत्क्रान्तयोनिकम् । प्रासुके, पिं० ।

वुकंति-व्युत्क्रान्ति-स्त्री० । उत्पत्तौ, नं० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वुक्कम्म–व्युत्क्रम्य–अव्य०। आगत्येत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० ३अ०।

वुग्गह–व्युद्ग्रह–पुं०। विशेषेण उद्ग्रहः। दण्डादिप्रहारजनितं युद्धं व्युद्ग्रहः। उत्त० १७ अ०। संग्रामे,प्रव० २६७ द्वार। व्य०। आ० क०। स्था०। दण्डादिघातजनिते विरोधे,कलहे, उत्त० १७ अ०। "वुग्गहो त्ति वा कलहो त्ति वा भंडणं ति वा विवादो त्ति वा एगट्ठं" नि० चू० १६ उ०। परस्परविग्रहे,व्य० ७ उ०। मिथ्याभिनिवेशे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

वुग्गहट्ठाण–विग्रहस्थान–न०। कलहाश्रये, स्था०।

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि पंच वुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता। तं जहा–आयरियउवज्झाए णं गणंसि आणं वा धारणं वा नो सम्मं पउंजेत्ता भवति १, आयरियउवज्झाए णं गणंसि आधारातिणियाते कितिकम्मं नो सम्मं पउंजित्ता भवति २, आयरियउवज्झाए गणंसि जे सुतपज्जवजाते धारेंति ते काले काले णो सम्ममणुप्पवातित्ता भवति ३, आयरिअउवज्झाए गणंसि गिलाणसेहवेयावच्चं नो सम्ममब्भुट्ठित्ता भवति४, आयरियउवज्झाए गणंसि अणापुच्छितचारी याऽवि हवइ; नो आपुच्छियचारी ५, आयारियउवज्झायस्स णं गणंसि पंचाऽवुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा–आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा धारणं वा सम्मं पउंजित्ता भवति, एवमाधारायिणियाते सम्मं किइकम्मं पउंजित्ता भवइ, आयरिअउवज्झाए णं गणंसि जे सुतपज्जवजाते धारेति ते काले काले सम्मं अणुपवाइत्ता भवइ, आयरिअउवज्झाए गणंसि गिलाणसेहवेयावच्चं सम्मं अब्भुट्ठित्ता भवति, आयरियउवज्झाते गणंसि आपुच्छियचारी याऽवि भवति; णो अणापुच्छियचारी। (सू० ३९९)

तथ आचार्योपाध्यायस्येति समाहारद्वन्द्वः कर्मधारयो वा, ततश्चाचार्यस्योपाध्यायस्य 'गणंसि' त्ति गणे विग्रहस्थानानि–कलहाश्रयाः, आचार्योपाध्यायौ द्वयं वा गणे–गणविषये आज्ञां–हे साधो! भवतेदं विधेयमित्येवंरूपामादिष्टिं धारणां–न विधेयमिदमित्येवंरूपां नो–नैव सम्यग् औचित्येन प्रयोक्ता भवतीति साधवः परस्परं कलहायन्ते असम्यग्नियोगाद् दुर्नियन्त्रितत्वाच्च। अथवा–अनौचित्यनियोक्तारमाचार्यादिकमेव कलहायन्ते इत्येवं सर्वत्रेति। अथवा गूढार्थपदैरगीतार्थस्य पुरतो देशान्तरस्थगीतार्थनिवेदनाय गीतार्थो यदतिचारनिवेदनं करोति साऽऽज्ञा, असकृदालोचनादानेन तत्प्रायश्चित्तविशेषावधारणं सा धारणा, तयोर्न, सम्यक् प्रयोक्तेति, स कलहभागिति प्रथमम्। तथा स एव 'आहारादइणियाए' त्ति रत्नानि द्विधा द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र द्रव्यतः कर्केतनादीनि, भावतो ज्ञानादीनि। तत्र रत्नैः–ज्ञानादिभिर्व्यवहरतीति रात्निकः बृहत्पर्यायः यो यो रात्निको यथारात्निकं तद्भावस्तत्ता तया यथारात्निकतया–यथाज्येष्ठं कृतिकर्म–वन्दनकं विनय एव वैनयिकं तच्च न सम्यक् प्रयोक्ता,अन्तर्भूतिकारितार्थत्वाद्वा प्रयोजयिता भवतीति द्वितीयम्। तथा स एव यानि श्रुतस्य पर्यवजातानि–सूत्रार्थप्रकारान् धारयति–धारणाविषयीकरोति तानि काले काले–यथावसरं न सम्यगनुप्रवाचयिता भवति–न पाठयतीत्यर्थः इति तृतीयम्।काले अनुप्रवाचयितेत्युक्तम्;तत्र गाथाः–

"कालक्कमेण पत्तं, संवच्छरमाइणा उ जं जम्मि।
तं तम्मि चेव धीरो, वाएज्जा सो य कालोऽयं ॥ १ ॥
तिवरिसपरियागस्स उ, आयारपकप्पनाममज्झयणं।
चउवरिसस्स य सम्मं,सूयगडं नाम अंगं ति ॥ २ ॥
दसकप्पव्ववहारा, संवच्छरपणगदिक्खियस्सेव।
ठाणं समवाओऽवि य, अंगे ते अट्ठवासस्स ॥ ३ ॥
दसवासस्स विवाहो, एक्कारसवासयस्स य इमे उ।
खुड्डियविमाणमाई, अज्झयणा पंच नायव्वा ॥ ४ ॥
बारसवासस्स तहा, अरुणुववायाइ पंच अज्झयणा।
तेरसवासस्स तहा, उट्ठाणसुयाइया चउरो ॥ ५ ॥
चोद्दसवासस्स तहा, आसीविसभावणं जिणा विन्ति।
पन्नरसवासगस्स य,दिट्ठीविसभावणं तह य ॥ ६ ॥
सोलसवासाईसु य, एक्कोत्तरवुड्डिएसु जहसंखं।
चरणभावणमहासुवि–ण भावणा तेयगनिसग्गा ॥ ७ ॥
इगूणवीसवासगस्स, उ दिट्ठिवाओ दुवालसममंगं।
संपुण्णवीसवरिसो, अणुवाई सव्वसुत्तस्स ॥ ८ ॥ इति,

तथा स एव ग्लानशैक्षवैयावृत्यं प्रति न सम्यक् स्वयमभ्युत्थाता–अभ्युपगन्ता भवतीति चतुर्थम्। तथा स एव गणमनापृच्छ्य चरति क्षेत्रान्तरसंक्रमादि करोतीत्येवं शीलोऽनापृच्छ्यचारी। किमुक्तं भवति–नो आपृच्छ्य चारीति पञ्चमं विग्रहस्थानम्। स्था० ५ ठा० १ उ०।

व्युद्ग्रहस्थान–न०।विप्रतिपत्तौ,स्था०६ठा० ३ उ०। व्युद्ग्रहेण मिथ्याऽभिनिवेशेन विप्रतिपत्त्यर्थे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

वुग्गहवक्कंत–व्युद्ग्रहव्युत्क्रान्त–पुं०। कलहं कृत्वा निष्क्रान्ते, नि० चू० १६ उ०।

वुग्गाहिय–व्युद्ग्राहित–त्रि०। प्रतारिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। कुप्रज्ञापकदृढीकृतविपर्यासे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। संप्रति व्युद्ग्राहितं व्याचिख्यासुः द्वीपजातदृष्टान्तमाह–

पोतविवत्ती आव–ण्ण सत्तफलएण गाहिया दीयं।
सुतजम्मवड्डिभोगा, वुग्गाहणणा व वणियाए ॥३३९॥

एगो वणिजो तस्स भज्जा अईव इट्ठा, सो वाणिज्जेण गंतुकामो तं आपुच्छति। तीए भणियं–अहं पि आगच्छामि, तेण सा नीता। सा गुव्विणी समुद्दमज्झे विणट्ठं जाणवत्तं। सा फलगं विलग्गा अंतरदीवे पत्ता। तत्थेव पजाता दारगं। सो वणिओ समुद्दे मओ। सा महिला तम्मि चेव दारए संपलग्गा। तीए सो वुग्गाहिओ–जइ माणुसं पिच्छिज्जासि तो नासेज्जासि, ते माणुसरूवेण रक्खसा। अन्नया दुव्वाहयपोएण वणिया आगया। ते दट्ठुं सो नासइ। तेहिं नायं वुग्गाहिओ केण वि, कहं वि अल्लीणे पुच्छिओ। सव्वं कहेइ, तेहिं बहुसो पन्नविओ एयं महापावं परिच्चयाहि तहा वि णो परिच्चयति"। अथाक्षरार्थः–पोतः प्रवहणं तस्य विपत्तिः आपन्नसत्त्वा च यथा सा फलकेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वीपं प्राहिता सुतस्य च जन्म वृद्धिश्चाभवत् , भोगांश्च तेन सह भोक्तुमारब्धाः व्युद्ग्रहणं च कृतम् , नौवणिजश्च विराधयन्तः एवंविधा व्युद्ग्राहिताः प्रज्ञापनाया अयोग्याः ।

तथा चाह-

पुव्विं वुग्गाहिया केइ, णरा पंडियमाणिणो ।
णेच्छंति कारणं किंचि, दीवजाते जहा णरे ॥ ३४० ॥

पूर्वं व्युद्ग्राहिताः केचिन्नराः पण्डितमानिनः नेच्छन्ति कारणं किंचित् (श्रोतुं) द्वीपजातो यथा नरः ।

अथ एवं शीलदृष्टान्तमाह—

चंपा अणंगसेणो, पंचत्थं थेरणयण दुमवलए ।
विहपासणयणसावग, इंगिणिमरणे य उववातो॥३४१॥

चम्पायामनङ्गसेनः सुवर्णकारः कुमारनन्दीति तस्य नामान्तरम् ; तस्य च पञ्चशीलद्वीपवास्तव्याभ्यामप्सरोभ्यां व्युद्ग्राहितस्य स्थविरेण तत्र नयनम् , द्रुमश्च वटवृक्षोऽपान्तराले दृष्टः तत्रारोहणं स्थविरस्य वलये आवर्ते गत्वा मरणम् । 'विहपास' त्ति विहगाः पक्षिणस्तेषां दर्शनं तैः पञ्चशीलद्वीपनयनं हासप्रहासाभ्यां भूय इदानीं तस्य श्रावकेण च बहुतरं प्रज्ञाप्यमानस्य तस्येङ्गिनीमरणप्रतिपत्तिः ततः पञ्चशीले द्वीप उपपात इत्यक्षरार्थः । कथानकं तु सुप्रतीतं बहुविस्तरं चेति कृत्वा न लिख्यते ।

अन्धदृष्टान्तमाह—

अंधलगभत्तपत्थिव--किमिच्छ सेज्जऽण्ण धुत्तवंचणता ।
अंधलभत्तो देसो , पव्वयसंघाडणा हरणा ॥ ३४२ ॥

अन्धभक्तः—कश्चित्पार्थिवः स किमपीप्सितं शय्याऽन्नादिदानं ददाति । धूर्त्तेन च तेषां वञ्चना , कथमित्याह-अन्धलभक्तोऽमुको देशः समस्ति तत्र युष्मान्नयाम इत्युक्त्वा पर्वते संघाटना कृता, परस्परं लगयित्वा तत्र भ्रामिता इत्यर्थः । ततो हरणं तदीयं द्रव्यं हृत्वा गता इत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—अन्धपुरं नगरं तत्थ अणंधो राया, सो य अंधभत्तो । तेण सभं काउं अंधलयाणं अग्गाहारो दिन्नो । तत्थ खाणपाणाइएसु परिग्गहिया सुस्सूसिज्जंता अच्छंति । तेसिं सुबहु दव्वं अत्थि । अन्नया य एगेण धुत्तेण दिट्ठा तओ सुस्सूसामि त्ति मिच्छोवयारेण ते अतीव उवचरंति । अन्नया तेण अंधलया भणिया—अम्हं अंधलगामो जत्थ अम्हे वसामो सो सव्वो वि देसो अंधलगदत्तो । राया य तत्थ अंधलाणं अम्मापियरं तुज्झे एत्थ दुविहिया जइ इच्छह तो तत्थ णेमो । तेहिं इच्छियं । तओ रातो नीणेत्ता नाइदूरेण भणियम्,इहत्थि चोरा जइ भे समं भामिया भणिया य पत्थरे गेण्हह , जो किंचि अंतरधणं अत्थि तो अप्पेह । ते देमि । वीसंभेण अप्पियं । तओ तेण ते पुरिल्लं मग्गिल्लस्स लाइत्ता अन्नोन्नलग्गा महंतं सिलं छिन्नटंकं डोंगरसमं जो भे अल्लियइ तं पहाणज्जाह । जइ लोको भणइ—एमुसियो केण वि अंधो डोंगरं भामिय जो ण दत्ते चोर त्ति उपहणिज्जाह, एवं भणित्ता पलाणा । ते य गोवालमाईहिं दिट्ठा भणंति य—मुद्धा वरागा डोंगरं भामिया धुत्तेणं, तओ पभाते चोर त्ति काउं पत्थरे खिवंति , ढोयं च न दिंति ।

१–पञ्चशैल

सुवर्णकारदृष्टान्तमाह—

लोभेण मोरगाणं, भव्वग ! छिज्जेज्ज मा हु ते कण्णा ।
छादेमि तंबएणं, जति पत्तियसे न लोगस्स ॥ ३४३ ॥

कश्चिद्-वोन्दः सुवर्णकारेण भणितो, यथा—भव्यक ! भागिनेय ! ' मोरगाणं ' ति कुण्डलानां लोभेन मा ते–तव कर्णौ छिद्येताम् , अतो यदि लोकस्य न प्रत्ययसे ततस्त्वं प्रच्छ छादयाम्यहमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—" एगस्स वोंदस्स जच्चसुवन्नघडियाणि कुंडलानि कन्नेसु सुवन्नकारेण दिट्ठाणि । तओ तेण भन्नइ-भागिणेज्ज ! अहं तव एते एवं करेमि जहा एगाणियस्स वि पंथे वच्चमाणस्स न कोइ हरइ । अन्नहा ते सुवण्णलोभेण चोरेहिं कण्णा छिज्जेस्संति । तेण भणियं एवं होउ त्ति । कलाएण ते कुंडले घेत्तुं अन्ने सुवन्नरिरीयामया काउं दिण्णा , भणिओ य जओ भणिहिइ कलाएण सुट्ठोवराओ न य ते पत्तिज्जियव्वं, एवं पडिवज्जित्ता निग्गओ । लोगो जो जो पासइ सो सो भणइ सुंदरा रीरिया । से भणइ सोवण्णयाए तुज्झे विसेसं न याणह ।

किं च—

जो इत्थं भूतत्थो, तमहं जाणे कलातमामो य ।
वुग्गाहितो न जाणति,हितएहिँ हितं पि भण्णंतो ॥३४४॥

योऽत्र कोऽपि भूतार्थः–परमार्थः तमहं जाने कलादमामकश्च जानाति, एवमसौ तेन सुवर्णकारेण व्युद्ग्राहितो हितैः पुरुषैः हितमपि भण्यमानो न जानाति । ईदृग्व्युद्ग्रहेण मूढा मन्तव्याः । अज्ञानमूढादयस्तु सुगमत्वात् नाख्याता न व्याख्याता अत एवास्माभिर्द्वारगाथायामेव व्याख्याता इति ।

अथैषां मध्ये के मूढाः के वा व्युद्ग्राहिता इति दर्शयन्नाह-

रायकुमारो वणिओ, एते मूढा कुला य ते दो वि ।
वुग्गाहिया य दीवे, सेलंधर भद्दए चेव ॥ ३४५ ॥

यो राजकुमारो मातृप्रतिसेवको,यश्च वणिग्घटिको वोन्दास्यो ये च ते सेनापतिमहत्तरसत्के द्वे अपि कुले एते मूढा मन्तव्याः । यस्तु द्वीपजातः पञ्चशैलसुवर्णकारो ये चान्धा यश्च भद्रकः सुवर्णकारभागिनेयः उपलक्षणत्वात् ये च भरतादिकुशास्त्रेषु भाविता अज्ञाने मूढा एते व्युद्ग्राहिता मन्तव्याः ।

अथैषां मध्ये के प्रव्राजयितुं योग्याः के वा नेत्याह—

मोत्तूण वेदमूढं, अप्पडिसिद्धा उ सेसका मूढा ।
वुग्गाहिता य दुट्ठा, पडिसिद्धा कारणं मोत्तुं ॥ ३४६ ॥

वेदमूढं मुक्त्वा ये शेषा द्रव्यक्षेत्रमूढादयस्ते अप्रतिषिद्धाः; प्रव्राजयितुं कल्पन्ते इत्यर्थः । ये तु व्युद्ग्राहिता दुष्टाश्च कषायदुष्टादयस्ते कारणं मुक्त्वा प्रतिषिद्धाः कारणे तु कल्पत इति भावः ।

किमर्थमेते प्रतिषिद्धा इत्याह—

जं तेहिँ अभिग्गहियं, आमरणं ताए तं न मुंचंति ।
सम्मत्तं पि ण लग्गति,तेसिं कत्तो चरित्तगुणा ॥३४७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्ते व्युद्ग्राहितादिभिः किमपि शक्यादिदर्शनमन्यद्वा-भारतादिकं मिथ्याश्रुतमभिगृहीतमाभिमुख्येनोपादेयतया स्वीकृतं तदामरणान्तं न मुञ्चन्ति, अत्रैव चैतेषां सम्यक्त्वमपि न लगति कुतश्चारित्रगुणा इति।

कथं पुनरमीषां सम्यक्त्वमपि न लगतीत्याह—

सोयसुयघोररणमुह-दारभरणपेयकिच्चमइएसुं।
सग्गेसु देवपूयण-चिरजीवणदाणदिट्ठेसु ॥ ३४८ ॥
इच्चेवमाइलोइय-कुस्सुइवुग्गाहणा कुहियकन्ना।
फुडमवि दाइज्जंतं, गिण्हंति न कारणं केइ ॥३४९॥

इह भारतादौ शौचसुतघोररणमुखस्वदारभरणप्रेतकृत्यमयेषु देवपूजनचिरजीवनदानदृष्टेषु च स्वर्गेषु ये भाविता भवन्ति। तथा शौचविधानात्, पुत्रोत्पादनात्, घोरसमरशिरःप्रवेशात्, धर्मपत्नीपोषणात्, पिण्डप्रदानादि प्रत्येकं कर्मविधानात्, वैश्वानरादिदेवपूजनात्, चन्द्रसहस्रादिरूपचिरकालजीवनात्, धनुःधरित्र्यादिदानात् स्वर्गा अवाप्यन्ते इत्येवमादिलौकिककुश्रुतिव्युद्ग्राहणाकुथितकर्णाः सन्तस्तस्याः कुश्रुतेरघटनायां स्फुटमपि दर्श्यमानं कारणमुपपत्तिं केचिद्गुरुकर्माणो न प्रतिपद्यन्ते; ते दुःसंज्ञाप्या मन्तव्याः। वृ० ४ उ०।

वुग्गाहिया-वैग्राहिकी-स्त्री०। कलहप्रतिबद्धायां कथायाम्, दश० १० अ०।

वुग्गाहेमाण-व्युद्ग्राहयत्-त्रि०। विविधत्वेनाधिक्येन च ग्राहयति, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ०। व्युद्ग्रहे योजयति, औ०। विरुद्धग्रहवन्तं कुर्वति, भ० ६ श० ३३ उ०।

वुच्चमाण-उच्यमान-त्रि०। आक्रुश्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

वुच्छिण्णकिरिय-व्युच्छिन्नक्रिय-त्रि०। योगाभावात् क्रियारहिते, "वुच्छिन्नकिरियं अपडिवाइ परमसुक्कज्झाणं झियाइ" आव० ४ अ०।

वुच्छिण्णदोहला-व्युच्छिन्नदोहदा-स्त्री०। पूर्णवाञ्छत्वादपगतगर्भकालिकमनोरथायाम्, कल्प० १ अधि० ४ क्षण।

वुच्छेय-व्यवच्छेद-पुं०। स्थगने, संवरणे, निवृत्तौ, आव० ६ अ०। दाने, आव० ६ अ०।

वुट्ठाण-व्युत्थान-न०। आत्ममात्रप्रतिबन्धलक्षणे व्यवहारे, द्वा०।

व्युत्थानं व्यवहारश्चे-न्न ध्यानाप्रतिबन्धतः।
स्थितं ध्यानान्तरारम्भ, एकध्यानान्तरं पुनः ॥ ३० ॥

व्युत्थानमिति व्यवहार-आत्ममात्रप्रतिबन्धलक्षणं ध्यानप्रतिबन्धेन व्युत्थानं चेत्, न, ध्यानाप्रतिबन्धतः मुख्यापारलक्षणस्य तस्य करणनिरोधेऽनुकूलत्वादेव चित्तविक्षेपाणामिव तत्प्रतिबन्धकत्वात्। एकध्यानानन्तरं पुनः ध्यानान्तरारम्भे मैत्र्यादिपरिकर्मणि स्थितम्, तथा च तावन्मात्रेण व्युत्थानत्वे समाधिप्रारम्भस्यापि व्युत्थानत्वापत्तिरिति न किंचिदेतत्। द्वा० २८ द्वा०।

वुट्ठाणवत्ति(ण्)-व्युत्थानवर्तिन्-त्रि०। योगप्रतिपन्थिदशावस्थिते, द्वा० २५ द्वा०।

वुट्ठि-वृष्टि-स्त्री०। वर्षणे वृष्टिः। अधः पतने, स्था० ३ ठा० ३ उ०। महावर्षे, भ० ३ श० ७ उ०। "आदित्याज्जायते वृष्टि-वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।" दश० १ अ०।

वुट्ठिकाय-वृष्टिकाय-पुं०। वर्षणधर्मयुक्तस्योदकस्य राशौ, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

अथ वृष्टिकायकरणरूपं तमेव देवेन्द्रादिदेवानां दर्शयन् प्रस्तावनापूर्वकमाह—

अत्थि णं भंते! पज्जन्ने कालवासी वुट्ठिकायं पकरेंति?, हंता अत्थि। जाहे णं भंते! सक्के देविंदे देवराया वुट्ठिकायं काउकामे भवति से कहमियाणिं पकरेंति?, हंता गोयमा! ताहे चेव णं से सक्के देविंदे देवराया अब्भितरपरिसए देवे सद्दावेति, तए णं ते अब्भितरपरिसगा देवा सद्दाविया समाणा मज्झिमपरिसए देवे सद्दावेंति। तए णं ते मज्झिमपरिसगा देवा सद्दाविया समाणा बाहिरपरिसए देवे सद्दावेंति, तए णं ते बाहिरगा देवा देवा सद्दाविया समाणा बाहिरं बाहिरगा देवा सद्दावेंति। तए णं ते बाहिरगा देवा सद्दाविया समाणा आभिओगिए देवे सद्दावेंति। तए णं ते ०जाव सद्दाविया समाणा वुट्ठिकाए देवे सद्दावेंति। तए णं ते वुट्ठिकाइया देवा सद्दाविया समाणा वुट्ठिकायं पकरेंति, एवं खलु गोयमा! सक्के देविंदे देवराया वुट्ठिकायं पकरेति। अत्थि णं भंते! असुरकुमारा वि देवा वुट्ठिकायं पकरेंति?, हंता अत्थि। किं पत्तियन्नं भंते! असुरकुमारा देवा वुट्ठिकायं पकरेंति?, गोयमा! जे इमे अरहंता भगवंता एएसि णं जम्मणमहिमासु वा निक्खमणमहिमासु वा णाणुप्पायमहिमासु वा परिनिव्वाणमहिमासु वा एवं खलु गोयमा! असुरकुमारा वि देवा वुट्ठिकायं पकरेंति, एवं नागकुमारा वि एवं० जाव थणियकुमारा वाणमंतरजोइसियवेमाणिय एवं चेव। (सू०-५०४)

'अत्थि ण' मित्यादि, 'अत्थि' त्ति अस्त्येतत् 'पज्जन्ने' त्ति पर्जन्यः 'कालवासि' त्ति काले प्रावृषि वर्षतीत्येवंशीलः कालवर्षी, अथवा-कालश्चासौ वर्षी चेति कालवर्षी, वृष्टिकायं-प्रवर्षणतो जलसमूहं प्रकरोति प्रवर्षतीत्यर्थः। इह स्थाने शक्रोऽपि तं प्रकरोतीति दृश्यम्। तत्र च पर्जन्यस्य प्रवर्षणक्रियायां तत्स्वाभाव्यतालक्षणो विधिः प्रतीत एव। शक्रप्रवर्षणक्रियाविधिस्त्वप्रतीत इति तं दर्शयन्नाह—'जाहे' इत्यादि, अथवा पर्जन्य इन्द्र एवोच्यते, स च कालवर्षी काले-जिनजन्मादिमहादौ वर्षतीति कृत्वा, 'जाहे णं' ति यदा 'से कहमियाणिं पकरेइ' त्ति स शक्रः कथं तदानीं प्रकरोति?, वृष्टिकायमिति प्रकृतम्। असुरकुमारसूत्रे 'किं प-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्तियएणं' ति किं प्रत्ययं-कारणमाश्रित्येत्यर्थः 'जम्मणम-हिमासु व' त्ति जन्ममहिमासु जन्मोत्सवान् निमित्तीकृत्ये-त्यर्थः। भ० १४ श० २ उ०।

वुड्ढ-वृद्ध-त्रि०। "दग्ध-विदग्ध-वृद्धि-वृद्धे ढः" ॥८।२।४०॥ इति संयुक्तस्य ढः। "द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः" ॥ ८। २। ६०॥ इति ढोपरि डः। प्रा०। श्रुतेन पर्यायेण वयसा च मह-ति, व्य० ५ उ०। सूत्र०। स्थविरे, ग० ३ अधि०। प्रवयसि, ध० ९०१ अधि०१७ गुण। स च-"मध्यमः सप्ततिं याव-त्प-रतो वृद्ध उच्यते।" आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। सप्तति-वर्षेभ्य उपरि वृद्धः। अन्ये त्वाहुः-अर्वागपीन्द्रियादिहानिद-र्शनात् षष्टिवर्षेभ्योऽप्युपरि वृद्धोऽभिधीयते। ग० १ अधि०। ध०। सप्ततिवर्षाणां, मतान्तरापेक्षया षष्टिवर्षाणां वा उपरि वर्तिनि, पिं०। तापसे, अनु०। प्रथममुत्पन्नत्वात् प्रायो वृद्ध-काले दीक्षाप्रतिपत्तेः। ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। पितृमातुलादौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ०१ उ०। स्थविरस्यार्यकालकस्य शिष्ययोः संप्रज्वलितार्यभद्रयोः शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। "वु-ड्ढं ति देशी पदत्वादवदग्धम्। विनष्टे, बृ० १ उ० २ प्रक०।

वुड्ढकुमारी-वृद्धकुमारी-स्त्री०। बृहत्त्वादपरिणीतत्वाच्च बृह-त्कुमारी। अधिकवयःकन्यायाम्, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग१ अ०।

वुड्ढत्त-वृद्धत्व-न०। जरायाम्, आचा०।

"गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता,
दृष्टिर्भ्राम्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते,
धिक्कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते॥१॥
न विभूषणमस्य युज्यते, न च हास्यं कुत एव विभ्रमः।
अथ तेषु च वर्त्तते जनो, ध्रुवमायाति परां विडम्बनाम्॥२॥"
"जं जं करेइ तं तं, न सोहए जोव्वणे अतिक्कंते।
पुरिसस्स महिलियाए, एक्कं धम्मं पमुत्तूणं॥१॥" आचा०१ श्रु० २ अ० १ उ०।

वुड्ढवाइसूरि-वृद्धवादिसूरि-पुं०। लाढदेशे भृगुकच्छनगरे क-र्णाटभद्रदिवाकरस्य वादजेतरि आचार्ये, ती० ४५ कल्प।

वुड्ढवाय-वृद्धवाद-पुं०। प्रव्रज्यादानादनन्तरं संलेखनापर्यन्ते साधुधर्मे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

वुड्ढसावग-वृद्धश्रावक-पुं०। भरतादिकाले श्रावकाणामेव सतां पश्चाद् ब्राह्मणत्वभावाद्। ब्राह्मणेषु, अनु०। ज्ञा०।

वुड्ढसील-वृद्धशील-त्रि०। निभृतशीले, अवञ्चनशीले, दशा० १ श्रु० ४ अ०।

वुड्ढसीलया-वृद्धशीलता-स्त्री०। वपुर्मनसोर्निर्विकारता-याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ०। वपुषि मनसि च निभृतस्व-भावतायाम्, उत्त० १ अ०। दशा०। वृद्धशीलो-निभृतशीलः अवञ्चनशील इति यावत्। अर्थग्रहणात्-वृद्धेषु ग्लानादिषु सम्यग् वैयावृत्त्यादिकरणकारापणयोरुद्युक्तो भवति एवंवि-धः, अथवा-वृद्धशीलता च दूषितमनसि च निभृतस्वभा-वता-निर्विकारतेति यावत्। दशा० १ श्रु० ४ अ०। व्य०। आ० म०।

वुड्ढा-वृद्धा-स्त्री०। अतिक्रान्तयौवनायाम्, ग० २ अधि०।

वुड्ढाऽणुग-वृद्धाऽनुग-त्रि०। वृद्धाननुगच्छतीति वृद्धानुगः। तत्र वृद्धास्तपःश्रुतपर्यायवयःप्रभृतयस्तदाचरितानुष्ठायी। दर्श० २ तत्त्व। परिणतमतिपुरुषसेवके, ध० १ अधि०। वृद्धजनानुगत्या हि प्रवर्त्तमानः पुमान् न जातु-चिदपि विपदः पदं भवति। ध० १ अधि०। प्रव०। वृद्धान् परिणतमतीननुगच्छति गुरुजनबुद्ध्या सेवत इति वृद्धानुगः। प्रव० २३६ द्वार।

वुड्ढा(ड्ढ)वास-वृद्धा(द्ध)वास-पुं०। वृद्धगत आवासो वृद्धावा-सः। पं० चू० १ कल्प।

सम्प्रति वृद्धावासशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह-

वुड्ढस्स उ जो वासो, वुड्ढिं पगतो उ कारणेणं तु।
एसो तु वुड्ढवासो, तस्स उ कालो इमो होइ॥ ५१८॥

वृद्धस्य-जरसा परिणतस्य परिक्षीणजङ्घाबलस्य वासो वृद्धवासः। अथवा-वृद्धः कारणवशेन रोगेण वृद्धिं गतो वासो वृद्धवासः। एष खलु वृद्धवासो वृद्धवासशब्दार्थः, तस्य तु वृद्धवासस्य कालोऽयं-वक्ष्यमाणो जघन्यादिभेदभिन्नो भवति।

तमेवाह-

अंतोमुहुत्तकालं, जहन्नमुक्कोसपुव्वकोडीओ।
मुत्तुं गिहिपरियागं, जं जस्स व आउयं तित्थे॥ ५२६॥

वृद्धवासो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तकालम्। कथमिति चेत्?, उच्यते वृद्धवासबुद्ध्या स्थितस्यान्तर्मुहूर्त्तानन्तरं मरणभावादुत्कर्षतः पूर्वकोटिगृहिपर्यायं नववर्षलक्षणं मुक्त्वा नववर्षोना पूर्वको-टी इत्यर्थः। कथमेतावान्कालो वृद्धवासस्य लभ्यते इति चेत्?, कोऽपि नववर्षप्रमाण एव श्रमणो जातः, स च श्रामण्य-परिग्रहात्तदनन्तरमेव प्रतिकूलकर्मोदयवशतः क्षीणजङ्घा-बलतया रोगेण वा विहर्तुमसमर्थो जातस्तत एकत्र वासो यथोक्तकालमानो भवति। इदं चोत्कर्षतो वृद्धवासकालप-रिमाणं भगवत ऋषभतीर्थकरतीर्थान्यधिकृत्याह-यस्य वा तीर्थकरस्य तीर्थे यत् उत्कृष्टमायुःप्रमाणं वर्षनवकहीनं तस्य तीर्थे तावान् उत्कृष्टो वृद्धवासकालः। तत्र योऽसौ जरा-परिणामेन वृद्धवासीभूतः स एतादृशः।

केया विज्जा चरियं लाघवेणं,
ततो तवो देसितो सिद्धिमग्गो।
अहाविहिं संजमं पालइत्ता,
दीहाउणो वुड्ढवासस्स कालो॥ ५३०॥

विद्या नाम-सूत्रार्थतदुभयग्रहणं तत्कृतम्, तद्यथा-द्वादश वर्षाणि सूत्रग्रहणं कृतं, द्वादश वर्षाण्यर्थग्रहणं, तदनन्तरं चरितं देशदर्शनाय द्वादश वर्षाणि भ्रमणं कृतम्। तथा-सदैव लाघवेन उपकरणलाघवादिना वर्त्तितम्, यथासं चतुर्थषष्ठाऽऽ-दिरूपं नानाप्रकारं तपः, तथा-अनिगूहितबलवीर्येण देशद-र्शनानन्तरं द्वादश वर्षाण्यव्यवच्छित्तिं कुर्वता ज्ञानादिकः सिद्धिमार्गो देशितः सदैव च यथाविधि श्रुतोपदेशेन। सप्त दशविधः संयमः परिपालितस्तं सकलकालं संयमं यथाविधि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पालयित्वा द्वादश वर्षाण्यव्यवच्छित्तिं कुर्वता यदि शिष्यो निष्पादितस्ततस्तं गणे स्थापयित्वा स्वयमभ्युद्यतविहारेण विहर्तव्यमिति भगवतामर्हतामुपदेशः । अथ न कोऽपि शिष्यो निष्पन्नस्तर्हि गच्छः परिवर्द्धनीयः , तथा यद्यपि च न निष्पन्नः कोऽपि शिष्यस्तथापि कश्चिदसमर्थो भवत्यभ्युद्यतविहारेण विहर्त्तुं सोऽपि नाभ्युद्यतविहारं प्रतिपद्यते, तस्य शिष्यनिष्पत्त्यभावेनाभ्युद्यतविहारप्रतिपत्त्यशक्त्या वा गच्छं परिपालयतो दीर्घाऽऽयुषो वृद्धवासस्य कालः ।

एनामेव गाथां व्याख्यानयति—

सुत्तागमो बारसमा−चरियं देसाण दरिसणं तु गतं ।
उवकरणदेहइंदिय−तिविहं पुण लाघवं होइ ॥ ५३१ ॥

विद्या नाम-सूत्रागमः स द्वादश वर्षाणि यावत् , तदुपलक्षणमेतदर्थागमोऽपि विद्या सोऽपि द्वादश वर्षाणि कृतः, तथा चरितं नाम देशानां दर्शनं तदपि द्वादश वर्षाणि कृतम् । लाघवं पुनस्त्रिविधं भवति । तद्यथा-उपकरणलाघवं, देहलाघवम् , इन्द्रियलाघवं च । तत्रोपकरणलाघवम्-उपधेरल्पीकरणं यदतिरिक्तमुपकरणं न गृह्णाति गृहीतं वाऽरक्तद्विष्टः सन् सूत्रोक्तविधिना परिभुङ्क्ते, देहलाघवं यन्नातिकृशो नातिस्थूलः, शरीरेण, इन्द्रियलाघवम्-यदीन्द्रियाणि तस्य वशे वर्त्तन्ते ।

चउत्थ छट्ठादि तवो,कतो उऽवोच्छित्तीएँ होइ सिद्धिपहो।
सुत्तविहीए संजम, वुड्ढो अह दीहमाइं तु ॥ ५३२ ॥

तपश्चतुर्थषष्ठादिकं कृतं तथा अव्यवस्थितौ क्रियमाणायां सिद्धिपथो-मोक्षमार्गो देशितो भवति, तथा सूत्रविधिना संयमः परिपालितः स च जातो वृद्धोऽप्यथ दीर्घमायुः ।

अब्भुज्जतमत एंतो, अगीतसिस्सो व गच्छपडिबद्धो ।
अच्छति जुन्नमहल्लो, कारणतो वा अजुण्णोऽवि ॥५३३॥

अभ्युद्यतविहारमशक्नुवन् अगीताः शिष्या अद्यापि यस्यासौ वा, गच्छप्रतिबद्धो—गच्छपरिपालनप्रवृत्तः सन् जीर्णो महान् वृद्धवासे तिष्ठति । अजीर्णोऽपि वा—तरुणोऽपि वा कारणतः क्षीणजङ्घाबलतया रोगादिना वा वृद्धावासमुपसेवते ।

तदेव कारणजातं गाथाद्वयेनाह-

जंघाबले व खीणे, गेलन्न सहाय ताव दुब्बल्ले ।
अहवाऽवि उत्तमट्ठे, निप्फत्ती चेव तरुणाणं ॥ ५३४ ॥
खेत्ताणं च अलंभे, कयसंलेहेव तरुणपरिकम्मे ।
एएहिँ कारणेहिं, वुड्ढावासं वियाणाहि ॥ ५३५ ॥

जङ्घाबलं वा क्षीणं, ग्लानत्वं वा तस्यान्यस्य वा जातम् , असहायता वा समुत्पन्ना दौर्बल्यं वा शरीरस्योपजातम् , अथवा-उत्तमार्थप्रतिपन्नः, अथवा-तरुणानामात्मपरलक्षणानां निष्पत्तिः सूत्रतोऽर्थतश्च कर्तव्या । क्षेत्राणां वा संयमस्फीतिहेतूनामलाभः । कृतसंलेखो वा-प्रतिपन्नसंलेखनाको वर्तते । यदि वा-तरुणस्य—रोगविमुक्तस्य सतः प्रतिकर्म बलविवृद्धिकरणं समारब्धं ततो वृद्धावासः । तथा चाह—एतैः कारणैर्वृद्धावासं विजानीहि ।

तत्र प्रथमद्वारे—जङ्घाबलं परिक्षीणमित्येवंरूपं कियत् क्षेत्रं कियता कालेन गन्तुं शक्नुवन् विहरणार्हो भवति । कियद्वा अशक्नुवन् जङ्घाबलपरिहीण इत्येतत्प्रतिपादयति—

दोण्णि वि दाऊण दुवे, सुत्तं दाऊण अत्थवज्जं च ।
दोच्ची दिवड्ढमेगं, तु गाउ तंतीसु अणुकंपा ॥ ५३६ ॥

द्वे पौरुष्यौ-सूत्रपौरुषी, अर्थपौरुषी चेत्यर्थः । दत्त्वा यावद्भिक्षावेला भवति तावद्यो द्वे गव्यूते व्रजति एष सपराक्रमो विहर्तुम् । 'सुत्तं दाऊण अत्थवज्जं चे' ति सूत्रं सूत्रपौरुषीं दत्त्वा अर्थवर्जम्—अर्थपौरुषीमदत्त्वा यो भिक्षावेलातः अर्वाग् द्वे गव्यूते व्रजति सोऽपि सपराक्रमो विहर्त्तुम् । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । स चैतत् सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं वा दत्त्वा भिक्षावेलात आरतो यो द्वे गव्यूते याति एषोऽपि सपराक्रमो विहर्तुमिति । एवंमेते त्रयः प्रकारा गव्यूतद्वयेऽभिहिताः । एते एव त्रयः प्रकारा द्व्यर्द्धे गव्यूते, त्रयश्च प्रकारा गव्यूते द्रष्टव्याः । एतेषु च त्रिष्वपि द्विकद्व्यर्द्धगव्यूतरूपेषु तस्यानुकम्पा विश्रामणादिरूपा वक्ष्यमाणा कर्तव्या ।

संप्रति चशब्दसूचितं तृतीयं प्रकारमुपदर्शयति—

खेत्तेण अद्धजोयण, कालेणं जाव भिक्खवेलाओ ।
खेत्तेण य कालेण य, जाणसु सपरक्कमं थेरं ॥ ५३७ ॥

सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं वा कृत्वा कालतः प्रातर्वेलात आरभ्य यावद् भिक्षावेला भवति , तावत् यः क्षेत्रतोऽर्द्धयोजनं गव्यूतद्वयप्रमाणं व्रजति तं जानीत , क्षेत्रतः कालतश्च सपराक्रमं स्थविरम् । तदेवं गव्यूतद्वयविषये चशब्दसूचितः तृतीयः प्रकारः । प्रकारत्रयदर्शिता एवं द्व्यर्द्धगव्यूते गव्यूतेऽपि च द्रष्टव्याः ।

तथा चैतदर्थख्यापनार्थमेव गव्यूतविषयं तृतीयं प्रकारमाह-

जो गाउयं समत्थो, सूरादारब्भ भिक्खवेलाओ ।
विहरउ एसो सपर−क्कमो उ नो विहरते ण परं ॥ ५३८ ॥

यः सूरात्—सूरोद्गमादारभ्य यावद्भिक्षावेला भवति तावत् गव्यूतं गन्तुं समर्थ एषोऽपि सपराक्रम इति विहर्तुम् । ततः परं गव्यूतमिति तावता कालेन गन्तुमशक्तो विहरेत् । इदमुक्तम्—त्रिष्वपि गव्यूतद्वयादिष्वनुकम्पा कर्तव्येति ।

तत्र तामेवानुकम्पामाह-

वीसामण उवगरणे, भत्ते पाणे व लंबणे चेव ।
गाउयदिवड्ढदोसुं, अणुकंपेसा तिसुं होइ ॥ ५३९ ॥

अन्तराऽन्तरा यत्र विश्रमणार्थं तिष्ठति तत्र विश्राम्यते,उपकरणे—उपकरणविषये अनुकम्पा कर्त्तव्या, यत्तस्योपकरणं तदन्ये वहन्ति,यैश्च तस्य शीतं न भवति तादृशानि वस्त्राणि देयानि । तथा भक्तं पानं च तत्प्रायोग्यं शुद्धं न लभ्यते, तदा पञ्चकपरिहाण्या तदुत्पादनीयम् । यत्र च विषमं तत्र बाहुप्रदानादिनाऽवलम्बनं कर्त्तव्यम् । चशब्दात्–स तेन कालेनोष्णकालनीयो यस्मिन्नुष्णादिभिर्न परिताप्यते । एषाऽनुकम्पा त्रिषु गव्यूतद्व्यर्द्ध-गव्यूत-द्विगव्यूतेषु भवति-ज्ञातव्या ।

अथवा—त्रिष्वनुकम्पेति प्रकारान्तरेण व्याख्यानयति-

अहवा आहारोवहि, सेज्जा अणुकंप एस तिविहो उ ।
पढमालियाए विस्सा−मणादि उवही य बोधव्वा॥५४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवा आहारे उपधौ शय्यायां च या अनुकम्पा एषा त्रिविधाऽनुकम्पा भवति।तत्राहारे-प्रथमालिकादानं, शय्यायां-गतस्य विश्रामणादि, मार्गे चोपधिर्वोढव्यः।

सांप्रतमपराक्रममाह—

खेत्तेण अद्धगाउय, कालेण य जाव भिक्खवेला उ।
खेत्तेण य कालेण य, जाणसु अपरक्कमं थेरं ॥ ५४१ ॥

यः कालतः-सूरोद्गमादारभ्य यावद्भिक्षावेला तावत् यः क्षेत्रतोऽर्द्धगव्यूतं याति तं क्षेत्रतः कालतश्च जानीत अपराक्रमं स्थविरम्।

अण्णो जस्स न जायइ, दोसो देहस्स जाव मज्झण्हो।
सो विहरइ सेसो पुण, अच्छति मा दोण्ह वि किलेसो ५४२

प्रातरारभ्य यावन्मध्याह्नस्तावत्तस्य गच्छतो देहस्यान्यो दोषो भ्रम्यादिलक्षणो नोपजायते स विहरति, शेषः पुनस्तिष्ठति। कस्मादित्याह—मा द्वयानामपि तस्य सहायानां च क्लेशो भूयादिति हेतोरन्यो दोषो न ज्ञायते इत्युक्तम्।

तत्रान्यं दोषमाह—

भमो वा पित्तमुच्छा वा, उड्डसासो व खुब्भति।
गतिविरए वि संतम्मि, इच्चादिसु न रीयति ॥ ५४३ ॥

यस्मिन् गतिविरतेऽपि सति भ्रम-आकस्मिकी भ्रमिः, पित्तनिमित्ता मूर्च्छा पित्तमूर्च्छा ऊर्द्धश्वासो वा क्षुभ्यति-चलति आदिशब्दात्-शिरोव्यथादिपरिग्रहः, ततो न रीयते-न गच्छति; न विहारक्रमं करोतीति भावः।

तस्य चापराक्रमस्य वृद्धावासेन तिष्ठतः सहाया दातव्यास्तेषां परिमाणमाह—

चउभागतिभागऽद्धो, सव्वेसिं गच्छतो परीमाणं।
संतासंतसतीए, वुड्ढावासं वियाणाहि ॥ ५४४ ॥

गच्छतो—गच्छमधिकृत्य साधूनां परिमाणं कृत्वा सर्वेषां चतुर्भागस्त्रिभागोऽर्द्धं वा सहायास्तस्य वृद्धावासप्रतिपन्नस्य दीयन्ते। तत्र त्रिभागोऽर्द्धं वा दीयन्ते। 'संतासंतसतीए' सद्भावेन असद्भावेन चेत्यर्थः। तत्र सद्भावे सन्ति साधवो भूयांसः केवलमगीतार्थास्ते सन्तोऽप्यसन्तः। असद्भावो न सन्ति बहवः साधवः। एवं वृद्धावासं ससहायं जानीहि।

ततो गच्छतां साधूनां परिमाणं ज्ञात्वा सर्वेषां चतुर्भागसहाया दातव्या इत्युक्तं ततो गच्छपरिमाणं जघन्यादिभेदेन आह—

अट्ठावीसं जहण्णेणं, उक्कोसेण सयग्गसो।
सहाया तस्स जेसिं तु, उवट्ठाणा न जायति ॥ ५४५ ॥

गच्छस्य परिमाणं जघन्यतोऽष्टाविंशतिरुत्कर्षतः शताग्रशः शतादारभ्य यावत् द्वात्रिंशत्सहस्राणि। तत्राष्टाविंशतिकस्य गच्छस्य चतुर्भागः सप्त एतावन्तः सहायास्तस्य दातव्याः। यैरुपस्थापना-उप-सामीप्येन सर्वदाऽवस्थानलक्षणेन तिष्ठन्त्यस्यामिति उपस्थापना-शय्या अजादिपाठादाप्प्रत्ययः, नित्यवसतिर्न जायते। इयमत्र भावना— प्रतिमासमन्याऽन्या वसतिर्न लभ्यते, स चालाभो द्विधा— सल्लाभः, असल्लाभश्च। तत्र सल्लाभो नाम-लभ्यन्ते वसतयः, किं त्वकल्पिकाः, असल्लाभो मूलत एव न लभ्यन्ते वसतयः। एवं सल्लाभेनासल्लाभेन वा प्रतिसमयमन्यान्यवसत्यलाभे एकस्यामेव वसतौ जङ्घाबलपरिहीणो वसति,तस्य च सहाया अष्टाविंशतिः। कस्यचिद् गच्छस्य च चतुर्भागमात्राः सप्त प्रदत्तास्ते ऋतुबद्धे काले एकं मासं स्थित्वा गच्छं व्रजन्ति; अन्ये सप्त सहायाः स्थविरस्यागच्छन्ति, तेऽपि द्वितीये मासे परिपूर्णे गतास्ततोऽन्ये सप्त समागच्छन्ति, तेऽपि तृतीये मासे पूर्णे गतास्ततोऽन्ये सप्त सहायाः आयान्ति, तेऽपि चतुर्थ मासं स्थित्वा गच्छं व्रजन्ति ये प्रथमे मासे सप्तागच्छन् ते भूयः समागच्छन्ति। एवं त्रिमासान्तरितः सर्वेषां पुनर्वारको भवति। एवं वारेण वारेण गमने तैर्नित्यवसतिदोषः परिहृतो भवति। अथ सद्भावेनाष्टाविंशतेरूनो गच्छो वर्त्तते, यावदेकविंशतिकस्तस्य त्रिभागे सप्त, तेषां द्विमासान्तरितो वारको भवति। तथैव सद्भावेनासद्भावेन वा यदि चतुर्दशको गच्छो भवति, तदा तेषामर्धेन सप्त, तेषामेकमासान्तरितः पुनर्वारकः। एवं प्रतिमासमन्यान्यवसत्यभावे वृद्धस्यैवैकस्य वृद्धावासो भवति, नतु सहायानाम्। अथ सद्भावेन असद्भावेन वा चतुर्दश गच्छे न सन्ति, तदा त एव सप्त जनाः चिरकालमपि तिष्ठन्तो यतनया तं वृद्धं परिपालयन्ति।

अमुमेवार्थमभिधित्सुराह—

चत्तारि सत्तगा ति-णि दोण्णि एक्को व होज्ज असतीए।
संतासई अगीआ, ऊणा उ असंतओ असती ॥५४६॥

चत्वारः सप्तका वारेण वारेण वृद्धपरिपालनाय प्रेषणीयाः। असति सद्भावेन वाऽष्टाविंशतेरभावे त्रयः सप्तका वारेण प्रेष्याः। तावतामप्यभावे द्वौ सप्तकौ वारेण प्रेष्यौ। तयोरप्यभावे एकः सप्तकः सदाऽवस्थायी तत्परिपालको भवेत्। सद्भावेनाऽसद्भावेन वा असतीत्युक्तम्। तत्र सद्भावं व्याख्यानयति। 'संतासती' ति सद्भावो नाम यद् अगीतार्थाः, ते हि सन्ति भूयांसः परं ते सन्तोऽप्यसन्तो वृद्धस्य सहायकार्येष्वसमर्थत्वात्। ' असन्तेउ असती ' असद्भावः स्वभावतस्तूनाः।

अथ कस्मात्सप्त सहायाः क्रियन्ते न न्यूना इत्याह—

दो संघाडा भिक्खं, एक्कोवहि दो य गेण्हए थेरं।
आलित्तादिसु जयणा, इहरा परिताव दाहादी ॥५४७॥

द्वौ संघाटौ भिक्षां हिण्डेते, एको बहिर्वसतेस्तिष्ठति रक्षकः द्वौ च स्थविरं गृह्णीतः, एवं सप्तसु सत्सु आदीप्तादिषु-प्रदीपनादिषु यतना भवति। इतरथा परितापदाहादिकं वृद्धादेरुपजायेत। अथ सद्भावेन असद्भावेन वा सप्तको गच्छो न विद्यते; किं तु षट्प्रभृतिकस्तदापि सर्वेऽपि वृद्धावासिका भवन्ति, यतनया च तं परिपालयन्ति।

तामेव यतनामाह—

आहारे जयणा वुत्ता, तस्स जोगो य पाणए।
निवायमउए चेव, ऽक्खविलाऽऽसणादिसु ॥ ५४८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्य वृद्धस्य योग्ये आहारे उपाश्रये निवाते छविस्त्राणं वस्त्रं तस्मिन् मृदुके च एषणीयानि, तदलाभे पञ्चकपरिहाएयाऽप्युत्पादनीयानि। तदेवमुक्ता चतुर्विधा यतना।

संप्रति प्रकारान्तरेण चतुर्विधामेव यतनामाह—

वुड्ढावासे जयणा, खेत्ते काले य वसहि-संथारे।
खेत्तम्मि नवगमादी, परिहाणी एक्कहिं वसई ॥५४९॥

वृद्धावासे यतना चतुर्विधा, तद्यथा—क्षेत्रे, काले, वसतौ, संस्तारे च। तत्र क्षेत्रं नवकोटिविभागः नवकमादिं कृत्वा एकैकविभागे परिहाएया तावद्वक्तव्यं यावदेकस्मिन्नपि भागे चिरकालं वसति। इयमत्र भावना—क्षेत्रं नव भागान्करोति तत्रैकस्मिन् भागे वसतिं गृहीत्वा तस्मिन्नेव भागे संस्तारकभिक्षादीनि निर्दिशति,शेषानष्टौ भागान् परिहरति।ततश्च तावत्परिपूर्णो मार्गशीर्षः। ततो द्वितीये पौषमासे द्वितीये भागे वसत्यादि गृह्णाति शेषानष्टौ भागान्परिहरति। एवं तृतीयादिषु विभागेषु माघादय आषाढान्ता मासा नेतव्याः, वर्षाकाले चतुरो मासान् नवमे भागे वसत्यादि गृह्णाति शेषानष्टौ भागान्परिहरति। तथाविधभिक्षाद्यभावे नव वसतयः अष्टौ भिक्षादियोग्या भागाः परिकल्पनीयाः, वसत्यलाभे अष्टौ भागा वसतियोग्या नव भागा भिक्षादियोग्याः, वसत्यलाभे भिक्षाद्यलाभे चाष्टौ वसतिभागा अष्टौ भिक्षादिभागाः, एवं त्रिभिः प्रकारैरेकैकभागपरिहाएया तावत् ज्ञेयं यावदेकस्मिन् भागे वसतिं भिक्षादीनि च गृह्णाति।

एतदेव प्रतिपिपादयिषुराह—

भागे भागे मासं, काले वी जाव एक्कहिं सव्वं।
पुरिसेसु वि सत्तण्हं, असतीए जाव एक्को उ ॥५५०॥

ऋतुबद्धे काले भागे भागे मासं कुर्यात्, अलाभे वसतिभिक्षादीनां च पूर्वप्रकारेणैकैकपरिहाएया तावद्यतेत यावत् कालेऽपि-ऋतुबद्धकालेऽपि सर्वं वसत्यादिकमेकस्मिन् भागे गृह्णीयात्। पुरुषेष्वपि सहायभूतेषु चिन्तायां सप्तानामभावे एकैकपरिहाएया तावद्यतना विधेया यावदेकोऽपि सहायो भवत्विति।

पुव्वभणिया उ जयणा, वसही भिक्खे वियारमादी य।
सा चेव य होइ इहं, वुड्ढावासे वसंताणं ॥ ५५१ ॥

पूर्वम्-ओघनिर्युक्तौ,कल्पाध्ययने वा या वसतौ भिक्षायां विचारादौ च यतना भणिता महता प्रबन्धेन सैव चेह वृद्धावासे वसतां भवति-ज्ञातव्या। उक्ता क्षेत्रयतना।

कालयतनामाह—

धीरा कालगच्छेयं, करेंति अपरक्कमा तहिं थेरा।
कालं वा विवरीयं,करेंति तिविहं तहिं जयणा ॥५५२॥

धीरा-बुद्धिमन्तः संयमकरणोद्यता अप्रमादिनोऽपराक्रमा जङ्घाबलपरिहीनाः स्थविरास्तत्र वृद्धावासे कालगच्छेदं कुर्वन्ति, ऋतुबद्धे काले अष्टसु मासेषु प्रतिमासमन्यान्यवसतिभिक्षादिग्रहणतो वर्षासु चतुरो मासान् एकवसत्येकभागभिक्षादिग्रहणतस्तद्भागे पूर्वोक्तयतनया कालत्रुटिं कुर्वन्ति। तथा कालमविपरीतं च कुर्वन्ति। ऋतुबद्धे काले वर्षाकालकल्पं वर्षासु ऋतुबद्धकालकल्पं न कुर्वन्तीति भावः। तथा त्रिविधा यतना ऋतुबद्धे काले च कर्तव्या।

सांप्रतमविपरीतमेव कालं व्याख्यानयति—

अविवरीतो नामं, कालं उवट्ठाणदोस परिहरति।
असती वसहीए पुण, अविवरीओ उवट्ठेऽवि ॥५५३॥

अविपरीतो नाम कालः क्रियमाणः, एष यत् काले ऋतुबद्धे प्रतिमासमन्यान्यवसतिभिक्षादिग्रहणात उपस्थानदोषान् नित्यवासदोषान्परिहरति। असत्यभावे वसतेरुपलक्षणमेतत् भिक्षाद्यभावे च उपस्थेऽपि एकस्यां वसतौ सततमवस्थितेऽप यतना कर्तव्या।

तिविहा जयणाऽऽहारे, उवहीसेज्जासु होइ कायव्वा।
उग्गमसुद्धा तिविहा, असईए पणगपरिहाणी ॥५५४॥

आहारे उपधौ शय्यासु च वसतिषु का यतनेत्यत आह-त्रीण्यपि प्रथमत उद्गमादिशुद्धानि-उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धानि ग्रहीतव्यानि। तेषामसत्यभावे पञ्चकपरिहाएयाऽपि समुत्पादनीयानि। गता कालयतना।

वसतियतनामाह—

सेलियकाणिट्टघरे, पक्केट्ठाऽऽमे य पिंडदारुघरे।
कडगे कडगत्तघरे, वोचत्थे होंति चउगुरुगा ॥ ५५५ ॥

शैलिकं नाम पाषाणेष्टकाभिः कृतं 'काणिट्ट' त्ति लोहमय्य इष्टास्ताभिः कृतं काणेष्टकागृहं 'पक्केट्ट' इति पक्केष्टकागृहम् 'आमेय' त्ति आमा अपक्कास्ताभिरिष्टकाभिः कृतं गृहमामेष्टकागृहम्। 'पिण्डदारुघर' मिति गृहशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते पिण्डगृहं चिक्खल्लपिण्डैर्निष्पादितं दारुगृहं करपत्रस्फाटितदारुफलकमयं गृहम् 'कडक' त्ति वंशदलनिर्मापितकटात्मकं गृहं कटकगृहं, तृणगृहं-दर्भादितृणमयम्। एतेषां सति लाभे प्रथमं ग्रहीतव्यं, तदभावे द्वितीयम्, एवं शेषाण्यपि भावनीयानि। यदि पुनः सति विपर्यस्तं कुर्यात्, तदा विपर्यस्ते-विपर्यासे प्रायश्चित्तं भवति चत्वारो गुरुकाः।

तत्राद्येषु चतुर्षु गृहेषु यो गुणो भवति तमभिधित्सुराह—

कोट्टिमघरे वसंतो, आलित्तमवि न डज्झती तेणं।
सेलादीणं गहणं, रक्खति य निवायवसहीओ ॥५५६॥

कोट्टिमुपरिबद्धभूमिकं गृहं तच्च शिलादिमयं तस्मिन्वसन् आदीप्तेऽपि प्रदीपनकेऽपि न दह्यते तत्राग्नेः प्रवेशाऽसंभवात्, तेन कारणेन शिलादीनां ग्रहणम्। तथा रक्षति निवाता वसतिः शीतादिकमिति वा शैलादिग्रहणमकारि। उक्ता वसतियतना।

संप्रति संस्तारकयतनामाह—

थिरमउअस्स उ असती, अप्पडिहारिस्स चेव वच्चंति।
बत्तीसजोयणाणि वि, आरेण अलब्भमाणम्मि ॥५५७॥

यो वसतौ यथा संस्कृतश्चम्पकपट्टोऽन्यो वा स्थिरमृदुकः संस्तारकोऽप्रतिहार्यः स ग्रहीतव्यः। तस्याभावे वसतेरेवसंबन्धि यन्निवेशनं गृहं तस्मादानेतव्यः। तस्याप्यलाभे वाटकाद्वहिष्टाद्वाऽप्यानेतव्यः। तत्राप्यसति स्वग्रामे दूरतोऽपि, त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप्यलाभे परग्रामादेरर्द्धक्रोशात्तथाऽप्यलाभे क्रोशादपि, एवमर्द्धक्रोशवृद्ध्या तावद्गन्तव्यं यावदुत्कर्षतोऽपि द्वात्रिंशतो-योजनेभ्योऽपि । तथा चाह—स्थिरमृदुकस्याप्रतिहार्यस्य संस्तारकस्य वसत्यादावलाभे अप्रतिहार्यस्यैव संस्तारकस्यानयनाय परग्रामे व्रजन्ति, तत्र च आरतोऽलभ्यमाने द्वात्रिंशतियोजनान्यपि यावत् व्रजन्ति ।

एतदेव सुव्यक्तमाह—

वसहिनिवेसणसाही, दूराणयणं पि जो उ पाउग्गो ।
असतीए पडिहारिय, मंगलकरणम्मि नीणेंति ॥५५८॥

वसतौ यथासंस्तृतस्थिरमृदुकः संस्तारको मार्गणीयः, तदभावे निवेशने अप्रतिहार्यो गवेषणीयः, तत्राप्यलाभे 'साहि' त्ति वाटके, तत्राप्यलाभे यः प्रायोग्योऽप्रतिहार्यः संस्तारकस्तस्य दूरादपि द्वात्रिंशद्योजनप्रमाणादानयनं कर्त्तव्यम्। एवमपि तथारूपस्याप्रतिहार्यस्य संस्तारकस्यासति—अलाभे प्रतिहार्यं मङ्गलकरणे—मङ्गलकरणनिमित्तं ध्रियमाणं 'नीणयन्ति' आनयन्ति ।

एतदेव स्पष्टतरमाह—

ओगालीफलगं पुण, मंगलवुद्धीएँ सारविज्जंतं ।
पुणरवि मंगलदिवसे, अच्चियमहियं पवेसिंति ॥५५९॥

ओगालीफलकं नाम-आर्यकप्रायकप्रभृतीनामावल्या समागतं चम्पकपट्टादिफलकं मङ्गलबुद्ध्या 'सारविज्जंतं' ध्रियमाणम् । तथाहि—ते मङ्गलबुद्ध्या तं फलकं धरन्ति, उत्सवादिषु च तं फलकं श्रीखण्डादिना अर्चयन्ति,पुष्पादिभिर्महयन्ति न चकोऽपि तं फलकं परिभुङ्क्ते,एवं मङ्गलबुद्ध्या साराप्यमाणं साधवो याचन्ते । यथा-अस्माकमाचार्याः स्थविरास्तेषामिदं फलकं प्रातिहार्यं समर्पयत अस्माकं विरतानां पूज्यास्ते देवानामपि पूज्याः किं पुनर्युष्माकम् । ते एवमुक्ताः सन्तो ब्रुवते—सत्यं दद्मः केवलमुत्सवदिवसे आनेतव्यो येन वयं पूजयामः । ततः पुनरपि दास्यामः, एवमुक्ते तं नीत्वा उत्सवदिवसे तस्यां पूजावेलायां प्रेषयन्ति । येनावष्वष्कणोत्ष्वष्कणा दोषा न भवन्ति । ततः पुनरपि तस्मिन् मङ्गलदिवसे अर्चितमहितं चम्पकादिपट्टकं वसतौ प्रवेशयन्ति ।

पुण्णम्मि अप्पणंती, अण्णस्स व वुड्ढवासिणो देंति ।
मुत्तूण वुड्ढवासिं, आवज्जइ चउलहुं सेसे ॥ ५६० ॥

पूर्णे वृद्धवासे कालगतत्वादिना यश्चास्य सत्कश्चम्पकादिपट्टस्तस्य तं समर्पयन्ति, अन्यस्य वा वृद्धवासिनो ददति।वृद्धवासिनं मुक्त्वा यद्यन्यस्य शेषस्य समर्पयन्ति ततः शेषे शेषस्य समर्पणे तेषां प्रायश्चित्तमापद्यते चतुर्लघु । ईदृशस्य फलकस्यालाभे यदन्यत्-अपरिशाटिफलकं तदप्रातिहार्यं मृगयन्ते, तदलाभे प्रातिहार्यमपि । एवं क्षेत्रकालवसतिसंस्तारकयतना कर्त्तव्या । एतस्यतनाविभागासंभवे त्रिविभागा यतना कर्त्तव्या तस्या अप्यसंभवे एकविभागाऽपीति । गतं जङ्घाबलक्षीणमिति द्वारम् ।

इदानीं ग्लानद्वारमाह—

पडियरति गिलाणं वा,सयं गिलाणो वि तत्थ वि तहेव ।

प्रतिचरति ग्लानम् , यदि वा—स्वयं ग्लानो जातस्ततस्तस्य वृद्धावासो भवति, तत्रापि तथैव क्षेत्रकालवसतिसंस्तारकयतना द्रष्टव्या । गतं ग्लानद्वारम् ।

असहायताद्वारमाह—

भावियकुलेसु अच्छति, असहाए रीयतो दोसा ॥५६१॥

भावितकुलेषु-संविग्नभावितेषु कुलेष्वसहायः-सहायहीनस्तिष्ठति । यतस्तस्य रीयमाणस्य विहरतो बहवो दोषास्त्र्यादिभ्यः । गतमसहायताद्वारम् ।

संप्रति दौर्बल्यद्वारमाह—

ओमादी तवसा वा, अचइंतो दुब्बलोऽवि एमेव ।
संतासंतसतीए, बलकरदव्वे य जयणाओ ॥ ५६२ ॥

अवमम्-दुर्भिक्षम् , आदिशब्दात्-नगररोधादिपरिग्रहः, तत्रावमौदर्येण दुर्बलीभूतो न शक्नोति विहर्तुं तपसा वा क्षामीभूतः । कथमित्याह-' संतासंतसतीए ' सद्भावेनाऽसद्भावेन वा । तत्र सद्भावो न लभ्यते, प्रायः यथातृप्ति भक्ष्यं केवलमन्तं प्रान्तं तेन क्षामीभूतः, असद्भावो-यथातृप्ति भैक्ष्यस्यैवाभावः । स तथा क्षामीभूतो येन विहर्तुमशक्नुवन् एवमेव क्षीणजङ्घाबलगतेन प्रकारेण तिष्ठति, केवलं तेन बलकरद्रव्यैर्यतना कर्त्तव्या । प्रथमत उद्गमादिशुद्धं तदुत्पादनीयं, तदभावे पञ्चकपरिहाण्यापि-ततो बलिकीभूतो विहरति । गतं दौर्बल्यद्वारम् ।

सांप्रतमुत्तमार्थद्वारमाह-

पडिवन्न उत्तमट्ठे, पडियरगा वा वसंति तन्निस्सा ।

प्रतिपन्न उत्तमार्थोऽनशनं येन स प्रतिपन्नोत्तमार्थः । स वा तस्य प्रतिचारकस्तन्निश्रा उत्तमार्थप्रतिपन्ननिश्राः, मासातीतं वर्षाकालातीतं वा तिष्ठन्ति । गतमुत्तमार्थद्वारम् ।

अधुना तरुणनिष्पत्तिद्वारमाह-

आयपरे निप्फत्ती, कुणमाणो वा वि अत्थेज्जा ॥५६३॥

आत्मनः परस्य च सूत्रार्थतदुभयेन निष्पत्तिं कुर्वन्वा वृद्धावासेन तिष्ठेत् ।

कियन्तं-कालमत आह—

संवच्छरं च स(झ)रए, बारस वासाइ कालियसुयम्मि,
सोलस य दिट्ठिवाए, एसो उक्कोसतो कालो ॥ ५६४ ॥

संवत्सरं यावत्कालिकश्रुतं श(झ)रति—परावर्तयति ग्रहणे पुनः कालिकश्रुते । कालिकश्रुतस्य लगन्ति द्वादश वर्षाणि , दृष्टिवादे—दृष्टिवादग्रहणमधिकृत्य षोडश वर्षाणि, एष एतावान् आत्मपरनिष्पत्तिमधिकृत्यैकत्रावस्थानस्योत्कृष्टतः कालः ।

एतदेव सुव्यक्तमाह—

बारस वासे गहिए, उक्कालियँ स(झ)रति वरसमेगं तु ।
सोलस उ दिट्ठिवाए,गहणं स(झ)रणं दस दुवे य ॥५६५॥

द्वादश वर्षाणि यावत् यत्परिपूर्णं गृहीतम् उत्कालिकश्रुतं तत् वर्षमेकं श(झ)रति—एकेन वर्षेण परावर्त्यते । ग्रहणमधिकृत्य दृष्टिवादे षोडश वर्षाणि लगन्ति । श(झ)रणमधिकृत्य,पुनर्दश द्वे च द्वादश वर्षाणीत्यर्थः । ततो ग्रहणं श(झ)रणं वाऽधिकृत्य तावन्तं कालमेकत्रावतिष्ठते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्र पर आह—

स(भ)रए य कालियसुए,
पुव्वगए जइ उ एत्तिओ कालो ।
आयार (प) कप्पनामे,
कालच्छेदे उ कयरेसिं ॥ ५६६ ॥

कालिकश्रुते च पूर्वगते च श्रुते श(भ)रके चशब्दात्—ग्राहके च यदि एतावान् कालो लगति तर्हि आचारप्रकल्पनाम्नि निशीथेऽध्ययने योऽसौ कालच्छेदः कृतो यथा ऋतुबद्धे मासे मासमासितव्यं, वर्षासु चतुरो मासानिति स कतरेषां द्रष्टव्यः ।

सूरिराह—

सुत्तत्थ तदुभएहिं, जे उ समत्ता महिड्डिया थेरा ।
एएसिं तु पकप्पे, भणितो कालो निययसुत्ते ॥५६७॥

सूत्रार्थतदुभयैर्ये समाप्ता महर्द्धिकाः स्थविरा एतेषामाचारप्रकल्पे नैत्यिक सूत्रे भणितः कालो द्रष्टव्यः, न तु सूत्रार्थग्राहकाणामपि ग्रहणे श(भ)रणे च ।

तावानुत्कृष्टः कालो यथा लगन् संभवति तथोपदर्शयति—

थेरे निस्साणेणं, कारणजातेण एत्तिओ कालो ।
अज्जाणं पणगं पुण, नवगग्गहणं तु सेसाणं ॥५६८॥

स्थविरे—जङ्घाबलपरिक्षीणे निश्रयेन-निश्रया कारणजातेन आत्मपरनिष्पत्तिलक्षणेन जातेन कारणेन एतावान्पूर्वोक्तप्रमाण एकत्र स्थाने उत्कृष्टः कालो भवति । आचार्याणामार्यिकाणां पुनर्वृद्धवासमावसन्तीनां पञ्चकं-क्षेत्रपञ्चकं भवति । तद्यथा-स बाह्य क्षेत्रं द्वौ भागौ बहिर्द्वौ भागावन्त एकः,एकैकस्मिंश्च क्षेत्रविभागे द्वौ द्वौ मासाववस्थानं पञ्चमो वर्षारात्रयोग्यः क्षेत्रविभागः, शेषाणां साधूनां पुनः कारणवशत एकत्र स्थितानां नवकग्रहणं नवभिर्भागैः क्षेत्रकरणम् ।

इह ये जङ्घाबलपरिक्षीणाः स्थविरास्तेषां समीपे आत्मपरनिष्पत्तिमिच्छतां यादृशाः सहाया दातव्यास्तादृशानभिधित्सुराह—

जे गिण्हिउं धारयिउं व जोग्गा,
थेराण ते देंति सहायहेउं ।
गेण्हंति ठाणठिया सुहेणं,
किच्चं च थेराण करेंति सव्वं ॥ ५६९ ॥

सूत्रमर्थं च ग्रहीतुं धारयितुं च योग्यास्तान्सहायकान् स्थविराणां ददति । ततस्ते स्थानस्थिताः कालिकश्रुतं, दृष्टिवादं वा सुखेन गृह्णन्ति, कृत्यं च सर्वं स्थविराणां कुर्वन्ति । एवं तेषां ग्रहणे श(भ)रणे च पूर्वोक्त उत्कृष्टः काल एकत्रावस्थाने भवति । गतं तरुणनिष्पत्तिद्वारम् ।

अधुना क्षेत्रालाभद्वारमाह—

आ(सज्ज)भव्व खेत्तकाले,
बहुपाउग्गा न संति खेत्ता वा ।
निंबं च विभत्ताणं,
सच्छंदादी बहू दोसा ॥ ५७० ॥

आ(सद्य)भाव्य-प्रतीत्य क्षेत्रकालौ, तद्यथा-अन्येषु क्षेत्रेष्वशिवादीनि कारणानि, यदि नास्ति सांप्रतमन्येषु क्षेत्रेषु तादृशः कालो येन संस्तरन्ति, अथ बहुप्रायोग्यानि महागणप्रायोग्यानि न सन्ति क्षेत्राणि, यदि पुनर्महतो गणस्य विभागः क्रियते ततो विभक्तानामद्याप्यपरिनिष्पन्नत्वेनागीतार्थानां नित्यमवश्यं स्वच्छन्दादयो दोषा भवन्ति । एतैः कारणैः ऋतुबद्धातीतं वर्षातीतं च कालमेकक्षेत्रे यतनया तिष्ठन्ति ।

अधुना कृतसंलेखद्वारम्, तरुणप्रतिकर्मद्वारं चाऽऽह—

जह चेव उत्तमट्ठे, कयसंलेहम्मि ठंति तह चेव ।
तरुणपडिकम्मं पुण, रोगविमुक्के बलविवड्ढी ॥ ५७१ ॥

यथा चैवमुत्तमार्थे प्रतिपन्ने तिष्ठन्ति, तथा चैवं कृतसंलेखेऽपि तिष्ठन्ति । इयमत्र भावना—यथा प्रतिपन्नोत्तमार्थास्तत्प्रतिचारका वा तन्निश्रया एकत्र वसन्ति एवं प्रतिपन्नसंलेखनास्तत्प्रतिचारकाश्चैतन्निश्रा एकत्र स्थाने वसन्ति । तरुणप्रतिकर्म नाम—रोगविमुक्तस्य सततस्तस्य बलविवृद्धिकरणं तन्निमित्तं मासातीतं वर्षातीतं च कालं तिष्ठन्ति । व्य० ४ उ० । जी० । दर्श० । पं० भा० । आ० चू० ।

वुड्ढि-वृद्धि-स्त्री० । 'उद्दत्वादौ' ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति ऋत उत्वम् । प्रा० । "दग्ध-विदग्ध-वृद्धि-वृद्धे ढः" ॥ ८ । २ । ४० ॥ इति संयुक्तस्य ढः । प्रा० । प्रति० । शरीरस्य वर्द्धने, स्था० ३ ठा० २ उ० । सूत्र० । स्फीतौ, पञ्चा० ७ विव० । आ० म० ।

वृद्धिहानौ दण्डकः—

जीवा णं भंते ! किं वड्ढंति हायंति अवट्ठिया ?, गोयमा ! जीवा णो वड्ढंति नो हायंति अवट्ठिया । नेरइया णं भंते ! किं वड्ढंति हायंति अवट्ठिया ?, गोयमा ! नेरइया वड्ढंति वि, हायंति वि, अवट्ठिया वि, जहा नेरइया एवं० जाव वेमाणिया । सिद्धा णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! सिद्धा वड्ढंति,नो हायंति, अवट्ठिया वि । जीवा णं भंते ! केवतियं कालं अवट्ठिया [वि] ?, सव्वद्धं, नेरइया णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढंति ?, गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं, एवं हायंति । नेरइया णं भंते केवतियं कालं अवट्ठिया ?, गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । एवं सत्तसु वि पुढवीसु वड्ढंति हायंति भाणियव्वं । नवरं अवट्ठिएसु इमं नाणत्तं, तं जहा-रयणप्पभाए पुढवीए अडयालीसं मुहुत्ता, सक्करप्पभाए पुढवीए चोद्दस रातिंदियाणं, वालुयप्पभाए पुढवीए मासं, पंकप्पभाए पुढवीए दो मासा, धूमप्पभाए पुढवीए चत्तारि मासा, तमाए अट्ठ मासा, तमतमाए बारस मासा । असुरकुमारा वि वड्ढंति हायंति जहा नेरइया, अवट्ठिया जहन्नेणं एगं समए उक्कोसेणं अट्ठचत्तालीसं मुहुत्ता । एवं दसविहा वि,एगिंदिया वड्ढंति वि हायंति वि अवट्ठिया वि, एएहिं तिहि वि जह-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं, वेइंदिया वड्ढंति हायंति तहेव, अवट्ठिया । जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं दो अंतोमुहुत्ता, एवं० जाव चउरिंदिया, अवसेसा सव्वे वड्ढंति हायंति तहेव । अवट्ठियाणं णाणत्तं इमं, तं जहा-संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं दो अंतोमुहुत्ता; गब्भवक्कंतियाणं चउव्वीसं मुहुत्ता, संमुच्छिममणुस्साणं अट्ठचत्तालीसं मुहुत्ता, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चउव्वीसं मुहुत्ता, वाणमंतरजोतिससोहम्मीसाणेसु अट्ठचत्तालीसं मुहुत्ता, सणंकुमारे अट्ठारसरातिंदियाइं चत्तालीस य मुहुत्ता, माहिंदे चउवीसं रातिंदियाइं वीस य मुहुत्ता, बंभलोए पंचचत्तालीसं रातिंदियाइं, लंतए नउति रातिंदियाइं, महासुक्के सट्ठिं रातिंदियसतं, सहस्सारे दो रातिंदियसयाइं, आणयपाणयाणं संखेज्जा मासा, आरणच्चुयाणं संखेज्जाइं वासाइं, एवं गेवेज्जदेवाणं विजयवेजयंतजयंतअपराजियाणं असंखिज्जाइं वाससहस्साइं, सव्वट्ठसिद्धे य पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागो , एवं भाणियव्वं , वड्ढंति हायंति जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं, अवट्ठियाणं जं भणियं । सिद्धा णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढंति ? , गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अट्ठ समया, केवतियं कालं अवट्ठिया ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मासा । (सू० २२२ ×)

' जीवा ण ' मित्यादि, ' नेरइया णं भंते ! केवतियं कालं अवट्ठिया ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसमुहुत्तं ' ति, कथम् ?, सप्तस्वपि पृथिवीषु द्वादश मुहूर्त्तान् यावन्न कोऽप्युत्पद्यते उद्वर्त्तते वा, उत्कृष्टतो विरहकालस्यैवंरूपत्वात् , अन्येषु पुनर्द्वादशमुहूर्त्तेषु यावन्त उत्पद्यन्ते तावन्त एवोद्वर्त्तन्त इत्येवं चतुर्विंशतिमुहूर्त्तान् यावन्नारकाणामेकपरिमाणत्वादवस्थितत्वं वृद्धिहान्योरभाव इत्यर्थः । एवं रत्नप्रभादिषु यो यत्रोत्पादोद्वर्त्तनाविरहकालश्चतुर्विंशतिमुहूर्त्तादिको व्युत्क्रान्तिपदेऽभिहितः स तत्र तेषु तत्तुल्यस्य समसंख्यानामुत्पादोद्वर्त्तनाकालस्य मीलनाद् द्विगुणितः सन्नवस्थितकालोऽष्टचत्वारिंशन्मुहूर्त्तादिकः सूत्रोक्तो भवति,विरहकालश्च प्रतिपदमवस्थानकालार्द्धभूतः स्वयमभ्यूह्य इति । 'एगिंदिया वड्ढंति वि' त्ति तेषु विरहाभावेऽपि बहुतराणामुत्पादादल्पतराणां चोद्वर्त्तनात् , ' हायंति वि ' त्ति बहुतराणामुद्वर्त्तनादल्पतराणां चोत्पादात् , ' अवट्ठिया वि ' त्ति तुल्यानामुत्पादादुद्वर्त्तनाच्चेति । ' एतेहिं तिहिं वि ' त्ति एतेषु त्रिष्वपि एकेन्द्रियवृद्ध्यादिष्वावलिकाया असंख्येयो भागस्ततः परं यथायोगं वृद्ध्यादेरभावात् , ' दो अंतोमुहुत्त'त्ति एकमन्तर्मुहूर्त्तं विरहकालो द्वितीयं तु समानानामुत्पादोद्वर्त्तनकाल इति । ' आणयपाणयाणं संखेज्जा मासा आरणच्चुयाणं संखेज्जा वास ' त्ति इह विरहकालस्य संख्यातमासवर्षरूपस्य द्विगुणितत्वेऽपि संख्यातत्वमेवेत्यतः संख्याता मासा इत्याद्युक्तम् , ' एवं गेवेज्जदेवाणं ' ति इह यद्यपि ग्रैवेयकाधस्तनत्रये संख्यातानि वर्षाणां शतानि मध्यमे सहस्राणि उपरिमे लक्षाणि विरह उच्यते तथाऽपि द्विगुणितेऽपि च संख्यातवर्षत्वं न विरुध्यते, विजयादिषु त्वसंख्यातकालो विरहः स च द्विगुणितोऽपि स एव, सर्वार्थसिद्धे पल्योपमसंख्येयभागः सोऽपि द्विगुणितः संख्येयभाग एव स्यादत एवोक्तम्—' विजयवेजयंतजयंतापराजियाणं असंखेज्जाइं वाससहस्साइं' इत्यादीति । श० ५ श० ८ उ० ।

वुड्ढिकर--वृद्धिकर–त्रि० । वर्द्धनकारिणि, पञ्चा० ४ विव० ।

वुड्ढिकज्ज–वृद्धिकार्य--न० । पुत्रकार्यादिषु वृद्धिकर्त्तव्येषु, ध० २ अधि० ।

वुड्ढिधम्मय–वृद्धिधर्मक--न० । वर्धनशीले जीववद्धशरीरे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

वुड्ढिपय–वृद्धिपद–न० । वृद्धिस्थाने, " वड्ढइ य णाणचरणे, जम्हा तम्हा उ तेण वुड्ढिपदं । पवरं पहाणमेत्तं, सव्वेसिं रायदेवाणं" पं० भा० ५ कल्प ।

वुड्ढोवुड्ढि–वृद्ध्यपवृद्धि–स्त्री० । प्रतिमासे मुहूर्त्तानां चन्द्रमसो वृद्ध्यपवृद्धौ, सू० प्र० । (चन्द्रमसो वृद्ध्यपवृद्धी 'चंद' शब्दे तृतीयभागे १०६ पृष्ठ गते ।)

ता कहं ते वड्ढोवड्ढी(वुड्ढोवुड्ढी)मुहुत्ताणं आहितेति वदेज्जा ? ता अट्ठ एकूणवीसे मुहुत्तसते सत्तावीसं च सट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहितेति वदेज्जा । (सू० ८)

' ता कहं ते वड्ढोवड्ढी मुहुत्ताण ' मित्यादि अत्र तावच्छब्दः क्रमार्थः, क्रमश्चायमस्त्यन्यदपि चन्द्रसूर्यादिविषयं प्रभूतं प्रष्टव्यं, परं तदास्तां सम्प्रत्येतावदेव तावत्पृच्छामि । कथम्—केन प्रकारेण भगवन् ! ते—त्वया मुहूर्त्तानां—दिवसरात्रिविषयाणां वृद्ध्यपवृद्धी आख्याते इति भगवान् प्रसादमाधाय वदेत्—यथावस्थितं वस्तुस्वरूपं कथयेत् , येन मे संशयापगमो भवति, अपगतसंशयश्च परेभ्यो निःशङ्कमुपदिशामीति । अत्राह–ननु गौतमोऽपि चतुर्दशपूर्वधरस्सर्वाक्षरसन्निपाती सम्भिन्नश्रोतास्सकलप्रज्ञापरिज्ञापनीयभावकुशलः सूत्रतश्च प्रवचनस्य प्रणेता सर्वज्ञदेशीय एव।उक्तं च–"संखाईए वि भवे,साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा।नयणं अणाइसेसी, वियाणाई एस छउमत्थो ॥ १ ॥" ततः कथं संशयसम्भवस्तदभावाच्च किमर्थं पृच्छतीति ?, उच्यते—यद्यपि भगवान् गौतमो यथोक्तगुणविशिष्टस्तथापि तस्याद्यापि मतिज्ञानावरणीयाद्युदये वर्त्तमानत्वात् छद्मस्थता, छद्मस्थस्य च कदाचिदनाभोगोऽपि जायते । यत उक्तम्—" न हि नामानाभोग-श्छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नेति । ज्ञानावरणीयं हि, ज्ञानावरणप्रकृतिकर्म्म ॥ १ ॥" ततोऽनाभोगसम्भवादुपपद्यते भगवतोऽपि संशयः, न चैतदनार्षं, यत उक्तमुपासकश्रुते आनन्दश्रमणोपासकावधिनिर्णयविषये–'तेणं भंते! किं आणंदेणं समणोवासएणं तस्स ठाणस्स आलोइयव्वं० जाव पडिक्कमियव्वं उयाहु मए?,ततो णं गोयमादि समणे भगवं महावीरे गोयमं एवं वयासी-तुमं चेव णं तस्स ठाणस्स आलोएहि०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाव पडिक्कमाहि, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेहि। तए णं समणे भगवं गोयमे! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ० जाव पडिक्कमइ, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेइ' इति। अथवा—भगवान् अपगतसंशयोऽपि शिष्यसम्प्रत्ययार्थं पृच्छति, तथाहि—तमर्थं शिष्येभ्यः प्ररूप्य तेषां सम्प्रत्ययार्थं तत्समक्षं भूयोऽपि भगवन्तं पृच्छतीति। यदि वा—इत्थमेव सूत्ररचनाकल्प इति न कश्चिद्दोषः। एवं भगवता गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवान् श्रीवर्द्धमानस्वामी प्रतिवचनमभिधातुकामः सविशेषबोधनाय प्रथमतो नक्षत्रमासे यावन्तो मुहूर्त्ताः सम्भवन्ति तावतो निरूपयति—'ता अट्ठे' त्यादि, तावदिति शिष्योक्तपदानुवादः,स च न्यायमार्गप्रदर्शनार्थम्। तथाहि-सर्वेणापि गुरुणा शिष्येण प्रश्ने कृते सति शिष्यपृष्टस्य पदस्य अन्यस्य वा शिष्योक्तस्य तथाविधस्य पदस्य अनुवादपुरस्सरं प्रतिवचनमभिधातव्यं येन गुरुषु शिष्याणां बहुमानो भवति-यथाऽहं गुरूणां सम्मत इति। शब्दश्च तावच्छब्दस्यायमर्थः-आस्तामन्यत्प्रतिवक्तव्यमिदानीं तावदेव तवाग्रे कथयामि, एतस्मिन्नक्षत्रमासे अष्टौ मुहूर्त्तशतानि एकोनविंशानि-एकोनविंशत्यधिकानि एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिं सप्तषष्टिं भागानहमाख्याता इति स्वशिष्येभ्यो वदेत्। एतेन चैतदावेदयति-इह शिष्येण सम्यगधीतशास्त्रेणापि गुर्वनुज्ञातेन सता तत्त्वोपदेशोऽपरस्मै दातव्यो नान्यथेति। अथ कथमेकस्मिन्नक्षत्रमासे अष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः इति?, उच्यते—इह युगे—चन्द्र-चन्द्रचन्द्रा-ऽभिवर्द्धित-चन्द्राऽभिवर्द्धित-चन्द्रचन्द्राऽभिवर्द्धितरूपसंवत्सरपञ्चकाऽऽत्मके सप्तषष्टिर्नक्षत्रमासाः, युगे चोक्तस्वरूपे अहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, तत एतेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्राः, शेषा तिष्ठति एकविंशतिः, सा मुहूर्त्तानयनार्थं त्रिंशता गुण्यते जातानि षट् शतानि त्रिंशदधिकानि ६३०, तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धा नव मुहूर्त्ताः ९, शेषाऽवतिष्ठते सप्तविंशतिः। आगतं नक्षत्रमासः-सप्तविंशतिरहोरात्राः नव मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, तत्र सप्तविंशतिरहोरात्रा मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातान्यष्टौ शतानि दशोत्तराणि ८१०, तेषां मध्ये उपरितना नव मुहूर्त्ताः प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि, ८१९, आगतं नक्षत्रमासे मुहूर्त्तपरिमाणमष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागा इति। इदं च नक्षत्रमासगतमुहूर्त्तपरिमाणमुपलक्षणम्, तेन सूर्यादिमासानामप्यहोरात्रसंख्यां परिभाव्य मुहूर्त्तपरिमाणं यथाऽऽगमं भावनीयम्। तच्चैवम्-सूर्यमासा युगे षष्टिर्भवन्ति, युगे चाष्टादशशतानि त्रिंशदधिकान्यहोरात्राणाम्, ततस्तेषां षष्ट्या भागे हृते लब्धाः त्रिंशदहोरात्राः एकस्य चाहोरात्रस्यार्द्धम्, एतावत्सूर्यमासपरिमाणं त्रिंशन्मुहूर्त्तश्चाहोरात्र इति त्रिंशत्त्रिंशता गुण्यते, जातानि नव शतानि मुहूर्त्तानाम्, अर्द्धे चाहोरात्रस्य पञ्चदश मुहूर्त्ताः। तत आगतं सूर्यमासे मुहूर्त्तपरिमाणं नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, तथा युगे द्वाषष्टिश्चन्द्रमासास्ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकोनत्रिंशदहोरात्रा द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य। तत्र द्वात्रिंशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य करणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नव शतानि षष्ट्यधिकानि ९६०, तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्ताः, शेषा तिष्ठति त्रिंशत् ३०, एकोनत्रिंशच्चाहोरात्रा मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातान्यष्टौ शतानि सप्तत्यधिकानि ८७०, ततः पाश्चात्याः पञ्चदश मुहूर्त्ता एतु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, तत आगतं चन्द्रमासे मुहूर्त्तपरिमाणमष्टौ शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य। कर्म्ममासश्च त्रिंशदहोरात्रप्रमाणस्ततस्तत्र मुहूर्त्तपरिमाणं नव शतानि परिपूर्णानि। तदेवं मासगतं मुहूर्त्तपरिमाणमुक्तम्। एतदनुसारेण च चन्द्रादिसंवत्सरगतं युगगतं च मुहूर्त्तपरिमाणं स्वयं परिभावनीयम्। सू० प्र० १ पाहु०।

वुत्त—उक्त—त्रि०। "विषण्णोक्त—वर्त्मनो वुन्न-वुत्त—विच्चम्" ॥८।४।४२१॥ इति 'उक्त' शब्दस्य वुत्तादेशः। प्रा०। अभिहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। आचा०। नि० चू०।

व्युक्त—त्रि०। विशेषेणोक्ते, संथा०।

वुत्तंत—वृत्तान्त—पुं०। "उद्दत्वादौ" ॥८।१।१३१॥ इति ऋत उत्त्वम्। प्रा०। समाचारे, आ० म० १ अ०।

वुत्तपडिवुत्तिया—उक्तप्रत्युक्तिका—स्त्री०। भणितप्रतिभणिते, भ० ११ श० ११ उ०।

वुत्तिता—उक्त्वा—अव्य०। पदवाक्यादिकं भणित्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

वुदगुल—वुद्गुड—पुं०। आर्द्रे गुडे, बृ० २ उ०।

वुन्न—विपन्न—त्रि०। "विषण्णोक्त-वर्त्मनो वुन्न-वुत्त-विच्चम्" ॥८।४।४२१॥ विपन्नस्थाने वुन्नादेशः। प्रा०। भीतोद्विग्नयोः, दे० ना० ७ वर्ग ६४ गाथा।

वुप्फ—देशी—शेखरे, दे० ना० ७ वर्ग ७४ गाथा।

वुयावइत्ता—विवाप्य—अव्य०। प्रव्रज्याभेदे,स्था० ३ ठा०२ उ०। (विशेषार्थस्तु 'पवज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७३१ पृष्ठे गतः।)

वुसिय—व्युषित—पुं०। अनेकप्रकारं दशविधचक्रवालसामाचार्या स्थिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

वुसी—वृषी—स्त्री०। व्युत्पन्नः सीदन्त्यस्यामिति वृषी। ऋषीणामासने, क० प्र० १ प्रक०। चारित्रे, सूत्र० १ अ० १४ अ०। संविग्ने, नि० चू० १६ उ०।

वुसीमंत—वश्यवत्—त्रि०। वश्य आत्मा इन्द्रियाणि वा वश्यानि विद्यन्ते येषां ते वश्यवन्तः 'वसंति वा साहुगुणेहिं वुसीमंतं, अहवा—वुसीमा—संविग्गा तेसिं ति' उत्त० ५ अ०। आत्मवशगेषु वश्येन्द्रियेषु, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। तीर्थकृत्सु, सत्संयमवत्सु, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। पुं०। एकचत्वारिंशे महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ०। सू० प्र०। चन्द्रपुत्रे ज्योतिष्कभेदे, प्रज्ञा० २ पद।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवसिन्–त्रि० । बुधत्वकार्ययुक्ते, " पठकः पाठकश्चैव, ये चान्ये कार्यतत्पराः। सर्वे व्यसनिनो राजन् !, यः क्रियावान् स पण्डितः ॥ १ ॥ " स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

वूढ–व्यूढ–त्रि० । नीते, बृ० ३ उ० । ' ततो वंसी कुडंगो तं वूढो, ' आ० म० १ अ० ।

वूणक–देशी–पुत्रादौ बालके, व्य० २ उ० ।

वूदल (न)–व्यूदल–पुं० । महोवाग्रामजे आल्हाभ्रातरि प्रसिद्धे वीरे, ती० ३३ कल्प ।

वूह–व्यूह–पुं० स्थाणुरेवाऽयमिति निश्चये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। इदमित्थमेवंरूपे निश्चये, औ० । संयोगविशेषे, सम्म० ३ काण्ड । युयुत्सूनां सैन्यरचनायाम्, यथा चक्रव्यूहे चक्रीकृतौ तुम्बारकप्रध्यादिषु राजन्यस्थापना । जं० २ वक्ष० । रा० । नि० चू० । स्था० । स० । समुदाये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० । प्रश्न० ।

वे–वै–अव्य० । अवधारणे, आ० म० १ अ० । निश्चये, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

वेअड–खच्–धा० । बन्धने, चुरा० । अदन्तः । " खचेर्वेअडः' ॥ ८ । ४ । ८९ ॥ खचेर्वेअडादेशः । वेअडइ । खचयति । प्रा० ।

वेअड्ड–देशी–भल्लातके, दे० ना० ७ वर्ग ६६ गाथा ।

वेइज्जमाण–वेद्यमान–त्रि० । अनुभूयमाने कर्मणि, भ० । 'वेइज्जमाणे वेइए ' वेदनं कर्मणामनुभव इत्यर्थस्तच्च वेदनं स्थितिक्षयादुदयप्राप्तस्य कर्मण उदीरणाकरणेन चोदयमुपनीतस्य भवति । तस्य च वेदनाकालस्याऽसंख्येयसमयत्वादाद्यसमये वेद्यमानमेव वेदितव्यं भवतीति । भ० १ श० १ उ० ।

व्यज्यमान–त्रि० कम्पिते, व्येजितं कम्पितम् । 'एजृ' कम्पने, इति वचनात् । भ० १ श० १ उ० । (व्येजनमपि तद्रूपापेक्षयोत्पाद एवेति ' कज्जकारणभाव ' शब्दे तृतीयभागे १९९ पृष्ठे व्याकृतम् ।)

वेइत्थी–वेदस्त्री–स्त्री० । पुरुषाभिलाषरूपे स्त्रीवेदोदये, सूत्र०१ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

वेइय–वेदित–त्रि० । कथिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । स्वेन रसविपाकेन प्रतिसमयमनुभूयमाने अपरिसमाप्ते शेषानुभावे, भ० १ श० १ उ० ।

वैदिक–पुं० । वेदे विदिता वैदिकाः । त्रैविद्यवृद्धेषु, दश० ४ अ० । आचा० । वैदिकानां हिंसैव गरीयसी धर्मसाधनयज्ञोपदेशात् तस्य च तया विनाऽभावात् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । वेदाश्रिते, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

व्येजित–त्रि० । विशेषतः कम्पिते, जं० १ वक्ष० । जी० ।

वेइया–वेदिका–स्त्री० । देवार्चनस्थाने, नि० । जम्बूद्वीपजगत्यादिसम्बन्धिनीषु, प्रज्ञा० २ पद । (वेदिकाप्रमाणं तु ' पुक्खरवरदीवड्ढ' शब्दे पञ्चमभागे ९९९ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।) उपवेशनयोग्यासु भूमिषु, जं० २ वक्ष० । (जम्बूद्वीपादीनां वेदिकाः 'पउमवरवेइया' शब्दे पञ्चमभागे १५ पृष्ठे गताः ।)सुरुण्डाप्राकारे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्रत्युपेक्षणाप्रकारे, स्था० । वेदिका पञ्चप्रकारा–तत्र ऊर्ध्ववेदिका यत्र जानुनोरुपरि हस्तौ कृत्वा प्रत्युपेक्षते १, अधोवेदिका जानुनोरधो हस्तौ निवेश्य २, एवं तिर्यग्वेदिका जानुनोः पार्श्वतो हस्तौ नीत्वा ३, द्विधा वेदिका बाह्वोरन्तरे द्वे अपि जानुनी कृत्वा ४, एकतो वेदिका एकं जानुं बाह्वोरन्तरे कृत्वेति ५, षष्ठी-प्रमादप्रत्युपेक्षणेति प्रक्रमः । स्था० ६ ठा० ३ उ० । उत्त० । ओघ० । घ० । पुं० । उपवेशनयोग्यमत्तवारणेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वेइयापुड–वेदिकापुट–न० । वेदिकायुग्मे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वेइयापुडंतर–वेदिकापुटान्तर–न० । द्वयोर्वेदिकयोरपान्तराले, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वेइयाबद्ध–वेदिकाबद्ध–न० । दशमे वन्दनदोषे, बृ० । दशमं दोषमाह–"पंचेव वेइयाउ " त्ति, जानुनोरुपरि हस्तौ निवेश्याधो वा पार्श्वयोर्वा उत्सङ्गे वा एकं जानुं दक्षिणं वा वामं वा करद्वयान्तः कृत्वा वन्दनकं यत्र करोति तद्वेदिकाबद्धम् । बृ० ३ उ० ।

वेइल्ल–विचकिल–पुं०।"स्थविर-विचकिलायस्कारे " ॥ ८ । १ । १६६ ॥ इत्यादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सहैत् । प्रा० । तैलादित्वाल्लद्वित्वम् । मदनवृत्ते, प्रा० २ पाद ।

वेउव्विय–वैक्रिय–न० । कर्म० । विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम् । तथाहि–तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति अनेकं भूत्वा एकम्, अणु भूत्वा महद्भवति महद्भूत्वा अणुः, तथा–खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति भूचरं भूत्वा खचरम्, अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति दृश्यं भूत्वा अदृश्यमित्यादि। शरीरभेदे कर्म० १ कर्म० ।

वैकुर्विक–न० । विशिष्टं कुर्वन्ति तदिति वैकुर्विकं पृषोदरादित्वादभीष्टरूपसिद्धिः । कर्म० १ कर्म० । शरीरभेदे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । जी० । प्रज्ञा० । स्था० । अनु० । आव० ।

कइविहे णं भंते ! वेउव्वियसरीरे पण्णत्ते ?, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, एगिंदियवेउव्वियसरीरे य, पंचिंदियवेउव्वियसरीरे अ । एवं ० जाव सणंकुमारे आढत्तं० जाव अणुत्तराणं भवधारणिज्जा० जाव तेसिं रयणीरयणी परिहायइ । (सू० १५२×)

' कइविहे णं ' मित्यादि स्पष्टं, नवरं विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम् । विविधं विशिष्टं वा कुर्वन्ति तदिति वैकुर्विकमिति । वा । तत्रैकेन्द्रियवैक्रियशरीरं वायुकायस्य पञ्चेन्द्रियवैक्रियशरीरं नारकादीनाम् ' एवं जाव ' त्यादेरतिदेशादिदं द्रष्टव्यम्, यदुत ' जइ एगिंदियवेउव्वियसरीरए किं वाउकाइयएगिंदियवेउव्वियसरीरए अवाउकाइयएगिंदियवेउव्वियसरीरए ?, गोयमा ! वाउकाइयएगिंदियसरीरए नो अवाउकाइय ' इत्यादिनाऽभिलापेनायमर्थो दृश्यः । यदि वायोः किं सूक्ष्मस्य बादरस्य वा ?, बादरस्यैव । यदि बादरस्य किं पर्याप्तकस्याऽपर्याप्तकस्य वा ?, पर्याप्तकस्यैव । यदि पञ्चेन्द्रियस्य किं नारकस्य पञ्चेन्द्रियतिरश्चो मनुजस्य, देवस्य वा ?, गौतम ! सर्वेषाम् । तत्र नारकस्य सप्तविधस्य पर्याप्तकस्येतरस्य च । यदि तिरश्चः किं सम्मूर्छिमस्य इतरस्य वा ?, इतरस्य, तस्यापि संख्यातवर्षायुष एव पर्याप्तस्य, तस्यापि च जलचरादिभेदेन त्रिविधस्यापि । तथा मनुष्यस्य गर्भजस्यैव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्यापि कर्मभूमिजस्यैव, तस्यापि संख्यातवर्षायुषः पर्याप्तकस्यैव। तथा देवस्य भवनवास्यादेः, तत्रासुरादेर्दशविधस्य पर्याप्तकस्येतरस्य च, एवं व्यन्तरस्याष्टविधस्य ज्योतिष्कस्य पञ्चविधस्य। तथा यदि वैमानिकस्य किं कल्पोपपन्नस्य, कल्पातीतस्य ?, उभयस्यापि पर्याप्तस्यापर्याप्तस्य चेति। तथा वैक्रियं भदन्त ! किंसंस्थितम् ?, उच्यते-नानासंस्थितम्, तत्र वायोः पताकासंस्थितं, नारकाणां भवधारणीयमुत्तरवैक्रियं च हुण्डसंस्थितं, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां नानासंस्थितं,देवानां भवधारणीयं समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितमुत्तरवैक्रियं नानासंस्थितं, केवलं कल्पातीतानां भवधारणीयमेव। तथा वैक्रियशरीरावगाहना भदन्त ! किंमहती ?, गौतम ! जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमुत्कर्षतः सातिरेकं योजनलक्षम्, वायोरुभयथा अङ्गुलासंख्येयभागम्, एवं नारकस्य जघन्येन भवधारणीयम्, उत्कर्षतः पञ्चधनुःशतानि, एषा च सप्तम्यां, षष्ठ्यादिषु त्वियमेव अर्द्धार्द्धहीनेति, उत्तरवैक्रिया तु जघन्यतः सर्वेषामप्यङ्गुलसंख्येयभागमुत्कर्षतश्च नारकस्य भवधारणीयद्विगुणेति। पञ्चेन्द्रियतिरश्चां योजनशतपृथक्त्वमुत्कर्षतः, मनुष्याणां तूत्कर्षतः सातिरेकं योजनानां लक्षं, देवानां तु लक्षमेवोत्तरवैक्रियं, भवधारणीया तु भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मैशानानां सप्त हस्ताः, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः षट्, ब्रह्मलान्तकयोः पञ्च, महाशुक्रसहस्रारयोश्चत्वारः, आनतादिषु त्रयो, ग्रैवेयकेषु द्वयनुत्तरेष्वेक इति। अनन्तरोक्तं सूत्रमेवाह—'एवं० जाव सणंकुमारे' त्यादि, एवमिति—'दुविहे पन्नत्ते एगिंदिय' इत्यादिना पूर्वदर्शितक्रमेण प्रज्ञापनोक्तं वैक्रियावगाहनामानसूत्रं वाच्यम्। कियद् दूरमित्याह—यावत्सनत्कुमारे आरब्धं भवधारणीयवैक्रियशरीरपरिहाणिमिति गम्यम्, ततोऽपि यावदनुत्तराणि—अनुत्तरसुरसम्बन्धीनि भवधारणीयानि शरीराणि यानि भवन्ति तेषां रत्नी रत्निः परिहीयत इति, एतदर्थसूत्रं भवेत् तावदिति। पुस्तकान्तरे त्विदं वाक्यमन्यथाऽपि दृश्यते, तत्राप्यक्षरघटनैतदनुसारेण कार्येति। स० १५२ सम०। प्रज्ञा०।सूत्र०।(सूत्राणि 'ओगाहणा' शब्दे तृतीयभागे ७८ पृष्ठे उक्तानि।)

केवइआ णं भंते ! वेउव्विअसरीरा पन्नत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-बद्धेल्लया य, मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखिज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ-असंखिज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो। तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते णं अणंता।अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, सेसं जहा ओरालिअस्स मुक्केल्लया तहा एए वि भाणिअव्वा।

तत्र नारकदेवानामेतानि सर्वदैव बद्धानि संभवन्ति, मनुष्यतिरश्चां तु वैक्रियलब्धिमतामुत्तरवैक्रियकरणकाले-ततः समान्येन चतुर्गतिकानामपि जीवानाममूनि बद्धान्यसंख्येयानि लभ्यन्ते, तानि च कालतोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयराशितुल्यानि, क्षेत्रतस्तु पूर्वोक्तप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणीनां यः प्रदेशराशिस्तत्संख्यानि संभवन्ति, मुक्तानि यथौदारिकाणि तथैव। अनु०। शरीरतद्वतोरभेदोपचारान्मत्वर्थीयलोपाद् वा वैक्रियशरीरवति जीवे,विशे०। 'विकुर्व'विक्रियायामिति धातुगणे धातुः, हलश्चेति घञि। विकुर्वणं विकुर्वस्तेन चरतीति ठक्ि'ठस्येक' इति इकादेशे च वैकुर्विकः। प्रव० १ द्वार। वैक्रियलब्धिमति मनुष्ये, वातादिविक्रियविशेषान्महाप्रमाणे सागारिके, महाराष्ट्रविषये वेराटकप्रक्षेपेण विकृते सागारिके, बृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०। भोगाद्यर्थं निष्पादिते विमानभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। विकृते, स्था० ३ ठा० ३ उ०। विशे०।

वेउव्वियंगोवंगणाम–वैक्रियाङ्गोपाङ्गनामन्–त्रि०। अङ्गोपाङ्गनामकर्मभेदे, यदुदयाद् वैक्रियशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद्वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम। कर्म० ६ कर्म०।

वेउव्वियछक्क–वैक्रियषट्क–न०। देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियोपलक्षिते षट्के, कर्म० १ कर्म०।

वेउव्वियऽट्ठग–वैक्रियाष्टक–न०। देवगतिदेवानुपूर्वीदेवायुर्नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुर्वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गोपलक्षितेऽष्टके, कर्म० १ कर्म०।

वेउव्वियणाम–वैक्रियनामन्–न०। वैक्रियनिबन्धनं नाम वैक्रियनाम। यदुदयवशात् वैक्रियशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय वैक्रियशरीररूपतया परिणामयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहाऽन्योऽन्यानुगमरूपतया संबन्धयति, तथाभूते नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म०।

वेउव्वियदुग–वैक्रियद्विक–न०। वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियोपलक्षिते द्वये, कर्म० १ कर्म०।

वेउव्वियपरदारगमण–वैक्रियपरदारगमन–न०। देवाङ्गनागमने, आव० ६ अ०।

वेउव्वियमीससरीरकायप्पओग-वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोग पुं०। देवनारकेषु उत्पद्यमानस्यापर्याप्तकस्य कायप्रयोगे, वैक्रियशरीरस्य कार्मणेनैव लब्धिः,वैक्रियपरित्यागे त्वौदारिकप्रवेशाऽद्धायामौदारिकोपादानाय प्रवृत्ते वैक्रियप्राधान्यादौदारिकेणापि वैक्रियस्य मिश्रता इति। भ० ८ श० १ उ०।

वेउव्वियलद्धि–वैक्रियलब्धि–स्त्री०। वैक्रियशरीरकरणशक्तौ, सा चानेकधा-अणुत्व१महत्त्व२लघुत्व३गुरुत्व४प्राप्ति५प्राकाम्य६ईशित्व७वशित्व८ऽप्रतिघातित्व९ऽन्तर्धान१०कामरूपित्वादिभेदात्।तत्राणुत्वम् अणुशरीरविकरणम्,येन बिसच्छिद्रमपि प्रविशति तत्र च चक्रवर्त्तिभोगानपि भुङ्क्ते॥१॥महत्त्वम्-मेरोरपि महत्तरकशरीरकरणसामर्थ्यम्॥२॥लघुत्वम्-वायोरपि लघुतरशरीरता॥ ३॥ गुरुत्वम्-वज्रादपि गुरुतरशरीरतया इन्द्रादिभिरपि प्रकृष्टबलैर्दुःसहता ॥ ४॥ प्राप्तिर्भूमिष्ठस्य अङ्गुल्यग्रेण मेरुपर्वतप्रभाकरादिस्पर्शसामर्थ्यम् ॥५॥ प्राकाम्यम्-अप्सु भूमाविव गमनशक्तिः,तथा अपिच-भूमावुन्मज्जननिमज्जने॥६॥ ईशित्वम्-त्रैलोक्यस्य प्रभुता तीर्थकरत्रिदशेश्वरऋद्धिविकरणम्॥ ७॥ वशित्वम्-सर्वजीववशीकरणलब्धिः॥८॥ अप्रतिघातित्वम्-अगिनमध्येऽपि निःसङ्गगमनम् ॥९॥ अन्तर्द्धानम्-अदृश्यरूपता ॥१०॥ कामरूपित्वम्-युगप-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देव नानाकाररूपविकरणशक्तिः ॥११॥ २६॥ ग० २ अधि०। पा०। औ०।

वेउव्वियसमुग्घाय-वैक्रियसमुद्धात-पुं०। वैक्रिये प्रारभ्यमाणे समुद्घातो वैक्रियसमुद्घातः, पं० सं २ द्वार। रा०। वैक्रियलब्धिमतो वैक्रियोत्पादनाय बहिरात्मप्रदेशप्रक्षेपे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। ज्ञा०। वैक्रियसमुद्घातगतः पुनर्जीवः स्वप्रदेशान् शरीराद्वहिर्निष्काश्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमानमायामतः संख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति, निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्बद्धान् शातयति। तथा चोक्तम्—"वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरइ निसिरित्ता अहाबायरे पुग्गले परिसाडेइ" इति। प्रज्ञा० १२ पद।

वेउव्वियसमुग्घातो जहा कसायसमुग्घातो तहा निरवसेसो भाणितव्वो, नवरं जस्स नऽत्थि तस्स न वुच्चति, एत्थ वि चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणियव्वा। (सू० ३३५×)

'वेउव्विए' इत्यादि, वैक्रियसमुद्घातो यथा कषायसमुद्घातः प्राक् प्रतिपादितः तथा निरवशेषो भणितव्यः, केवलं यस्य वैक्रियसमुद्घातो नास्ति वैक्रियलब्धेरेवासम्भवात् तस्य नोच्यते, शेषस्य उच्यते। स चैवम्—एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया वेउव्वियसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नऽत्थि, जस्स अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं सिय संखेज्जा वा सिय असंखेज्जा वा सिय अणंता वा। एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया वेउव्वियसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नऽत्थि, जस्सत्थि सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा सिय अणंता वा, एवं नेरइयस्स० जाव थणियकुमारत्ते। एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स पुढविकाइयत्ते केवइया वेउव्वियसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! नऽत्थि, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! नऽत्थि, एवं० जाव तेउक्काइयत्ते, एगमेगस्स णं भंते नेरइयस्स वाउकाइयत्ते केवइया वेउव्वियसमुग्घाया अतीता?, गोयमा अणंता, केवइया पुरेक्खडा? गोयमा! कस्सइ अत्थि, कस्सइ नऽत्थि, जस्सऽत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, वणस्सइकाइयत्ते० जाव चउरिंदियत्ते जहा पुढविकाइयत्ते, तिरिक्खपंचिंदियत्ते मणुस्सत्ते जहा वाउकाइयत्ते, वाणमंतरजोइसियवेमाणियत्तेसु जहा असुरकुमारत्ते" इह यत्र वैक्रियसमुद्घातसम्भवस्तत्र भावना कषायसमुद्घातवद् भावनीया, अन्यत्र तु प्रतिषेधः सुप्रतीतः वैक्रियलब्धेरेवासम्भवात्, यथा च नैरयिकस्य चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण सूत्रमुपदर्शितमेवमसुरकुमारादीनामपि चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण प्रत्येकं सूत्रमवगन्तव्यम्, नवरमसुरकुमारादिषु स्तनितकुमारपर्यवसानेषु व्यन्तरादिषु च परस्परं स्वस्थाने एकोत्तरिका परस्थाने संख्येयादयो वक्तव्याः, वायुकायिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु तु परस्परं स्वस्थाने परस्थाने वा एकोत्तरिकाः, शेषं तथैव। एवमेतान्यपि चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणि भवन्ति। तथा चाह—'एवमेते चउवीसं चउवीसगा दंडगा भणितव्वा' एवम्—उपदर्शितेन प्रकारेण अत्रापि—वैक्रियसमुद्घातविषयेऽपि चतुर्विंशतिः—चतुर्विंशतिसंख्याः—'चउवीसा' इति चतुर्विंशतिः—चतुर्विंशतिस्थानपरिमाणा दण्डका—दण्डकसूत्राणि भणितव्याः। प्रज्ञा० ३६ पद।

वेउव्वियसय-वैक्रियशत-न०। वैक्रियलब्धिमति शते, स० ६०० समः।

वेउव्वियसरीर-वैक्रियशरीर-न०। शरीरभेदे, कर्म० ५ कर्म०।

वेउव्वियसरीरकायप्पओग-वैक्रियशरीरकायप्रयोग-पुं०। वैक्रियपर्याप्तस्य कायप्रयोगे, भ० ८ श० १ उ०।

वेउव्वियसरीरि-वैक्रियशरीरिन्-त्रि०। विभूषितशरीरे, भ०१८ श०५उ०।('वग्गणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे७८६पृष्ठे व्याख्यातम्।)

वेउव्विया-वैकुर्विका-स्त्री०। विकुर्वितनानारूपधारिण्याम्, चं० प्र० १६ पाहु०।

वेकुंठ-वैकुण्ठ-पुं०। विकुण्ठाख्यविष्णुलोकाधिपतौ, प्रा०१पाद।

वेकुंठतित्थ-वैकुण्ठतीर्थ-न०। मथुरायां वैष्णवतीर्थभेदे, ती० ८ कल्प।

वेकुंथु-वैकुन्थु-पुं०। चमरसुरेन्द्रस्य पीठानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ०।

वेग-वेग-पुं०। जवे, तं०। प्रश्न०। गतिविशेषे, औ०। रये, आव० ४ अ०। सम्म०।

वेगच्छ-वैकक्ष-न०। उत्तरासङ्गे, उपा० २ अ०।

वेगच्छछिण्णग-वैकच्छच्छिन्नक-पुं०। उत्तरासङ्गन्यायेन विदारिते, औ०। सूत्र०।

वेगच्छिया-वैकक्षिकी-स्त्री०। संयतीनामुपकरणविशेषे, बृ० १ उ० २ प्रक०। "वेगच्छिया उ पडे कंचुकमुक्कच्छियं च छादेति" औपकक्षिकीविपरीता वैकक्षिकीनामकः पटः; स च कञ्चुकमौपकक्षिकीं वस्त्रं छादयन् वामपार्श्वे परिधीयते। बृ० ३ उ०। पं० व०। नि० चू०।

वेगवई-वेगवती-स्त्री०। अस्थिकग्रामस्य समीपनद्याम्, ती० ३ कल्प। आ० क०। आ० म०। आ० चू०।

वेगसर-वेगसर-पुं०। अश्वतरे, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

वेगुण्ण-वैगुण्य-न०। वैधर्म्ये, विपरीतभावे, आव० ४ अ०।

वेजयंत-वैजयन्त-पुं०। ऊर्ध्वलोकेऽनुत्तरोपपातिकविमानानां द्वितीये विमाने, स्था० ५ ठा० ३ उ०। जी०। प्रज्ञा०। अणु०। स०। जम्बूद्वीपस्य लवणसमुद्रस्य धातकीखण्डस्य कालोदस्य पुष्करवरद्वीपस्य पुष्करोदस्य च दक्षिणद्वारेषु, स्था० ४ ठा० २ उ०। स०।

वैजयन्तद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

कहि णं भंते! जंबूदीवस्स वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते? गोयमा! जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दक्खिणेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं अबाधाए जंबुद्दीवदीवदाहिणपेरंते लवणसमुद्ददाहिणद्धस्स उत्तरेणं एत्थ णं जंबुद्दीवस्स दीव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्स वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते। अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्च-त्तेणं सच्चेव सव्वा वत्तव्वता ०जाव णिच्चे। कहि णं भं-ते! ० रायहाणी ?, दाहिणेणं ०जाव वेजयंते देवे॥ २॥ जी० ३ प्रति० २ उ०।

वैजयन्तद्वारं जयन्तद्वारवद्वाच्यम्, "समं वेजयंतं पि अप्प-डिज्जेणं गमेणं लवणस्स दाहिणेणं रायहाणी।" (जी०।) "कहि णं भंते" ! इत्यादि क भदन्त! लवणस्य समुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं,भगवानाह-गौतम! लवणसमुद्रस्य दक्षिणपर्यन्ते धातकीखण्डद्वीपदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र लवणसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्। एतद्वक्तव्यता सर्वाऽपि विजयद्वारवदवसेया। नवरं राजधानी वैजन्तद्वारस्य दक्षिणतो वेदितव्या। जी० ३ प्रति० २ उ०। जं०। प्रधाने, स्वगुणैरपरेषां पताकायामिव व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

वेजयंतकूड-वैजयन्तकूट-न०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरे रुचकवरपर्वतस्यार्द्धकूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

वेजयंती-वैजयन्ती-स्त्री०। अङ्गारकादीनां महाग्रहाणामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ०। जं०। पताकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। चं० प्र०। पताकाविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रा०। आ० म०। प्रश्न०। आ० चू०। स०। पूर्वरुचकवास्तव्यायां स्वनामख्यातायां दिक्कुमार्याम्, ति०। स्था०। आ० म०। दो वेजयंती (सूत्र ६२) स्था० २ ठा० ३ उ०। आ०क०। जं०। द्वी०। रुचकस्य नैर्ऋतकोणदेव्याम्, ति०।औत्तराहाञ्जनादिपर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०। ती०। पश्चिमाञ्जनाद्रेर्दक्षिणतो नन्दापुष्करिण्याम्, द्वी०। शक्रस्य त्रायस्त्रिंशोत्पातपर्वतराजधान्याम्, द्वी०। पक्षस्य पञ्चदश्यां रात्रौ, ज्यो०४ पाहु०।जं०। कल्प०। जम्बूद्वीपे द्वीपे प्रथमबलदेवमातरि, स०। षष्ठजिननिष्क्रमणशिबिकायाम्, स०।

वेज्ज-वेद्य-त्रि०। अनुभावनीये (आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०।) तत्त्वे,अने०४ अधि०। मले, वक्खहं ति वा चोप्पं ति वा कलुसं ति वा वेज्जं ति वा वेरं ति वा पंको त्ति वा मलो त्ति वा सत्त एगट्ठिता। नि० चू० २० उ।

वैद्य-पुं०। "पेत एत्" ॥ ८। १। १४८॥ इत्यैकारस्य एकारः। प्रा०। आयुर्वेदज्ञे, आ० क०।

अत्र वैद्येन दृष्टान्तः

"एकस्य नृपतेरेक-स्तनुजोऽतीव वल्लभः।
स दध्यौ माऽस्य रोगोऽभू-च्चिकित्सां कारयामि तत्॥ १॥
आकार्य वैद्यानूचे स, चिकित्सत सुतं मम।
यथाऽस्य नैव रोगः स्या-दूचिरे तैः करिष्यते॥ २॥
राजोचे कीदृशाः कस्य, योगा एकोऽवदत्ततः।
रोगाः स्युश्चेन्निवर्त्तन्ते, न स्युश्चेन्मारयन्ति तम्॥ ३॥
द्वितीयः स्माह रोगश्चे-द्भवेत्तदुपशाम्यति।
नो चेद् गुणं वा दोषं वा, न किंचिदपि कुर्वते॥ ४॥
तृतीयोऽभिदधे रोगः, स्याच्चेत्तदुपशाम्यति।
न स्याच्चेद्वर्णलावण्य-तया परिणमन्ति ते॥ ५॥
राज्ञा तृतीयवैद्येन, कारिता वैद्यकक्रिया।
नीरोगः समभूद्दिव्य-रूपलावण्यवर्णभाक्॥ ६॥
एवं प्रतिक्रमणेऽपि, स्याद्दोषश्चेद्विशुध्यति।
न स्याच्चेच्चरणस्यैव, शुद्धिः शुद्धितरा भवेत्॥ ७॥"

आ० क० ४ अ०।

वेज्जगणा(ण्णा)य-वैद्यकज्ञात-न०। आयुर्वेदोदाहरणे, पञ्चा० ४१ विव०।

वेज्जमाण-वेद्यमान-त्रि०। अनुभूयमाने, विशे०।

वेज्जसंवेज्ज-वेद्यसंवेद्य-त्रि०। वेद्यं संवेद्यते यस्मिन्नपायादिनिबन्धनं पदं तद् वेद्यसंवेद्यपदम्,वेद्यं वेदनीयं वस्तुस्थित्या तथाभावयोगिसामान्येनाविकल्पकज्ञानग्राह्यमित्यर्थः, संवेद्यते-क्षयोपशमानुरूपं निश्चयबुद्ध्या विज्ञायते यस्मिन्नाशयस्थानेऽपायादिनिबन्धनं नरकस्वर्गादिकारणं स्त्र्यादि तद्वेद्यसंवेद्यपदम् अपायादिनिबन्धवेदके, नपुं०। ग्रन्थिभेदजनितरुचिविशेषे च। द्वा० २२ द्वा०।

वेढणग-वेष्टनक-पुं०। श्रीदेवताध्यासितपट्टे, बृ० ६ उ०। कर्णाभरणविशेषे, जं० २ वक्ष०।

वेढणगबद्ध-वेष्टनकबद्ध-पुं०। श्रीदेवताध्यासितपट्टो वेष्टनक उच्यते, तद्यस्य राज्ञाऽनुज्ञातं स वेष्टनकबद्धः। श्रेष्ठिनि, बृ० ६ उ०।

वेड-व्रीड-त्रि०। व्रीडाऽस्यास्तीति व्रीडः भूमार्थेऽस्त्यर्थप्रत्ययः। लज्जाप्रकर्षवति, भ० १५ श०।

वेडा-व्रीडा-स्त्री०। लज्जायाम्, भ० १५ श०।

वेडंबय-विडम्बक-पुं०। विदूषके, नानावेषादिकारिणि, अनु०।

वेडिस-वेतस-पुं०।"इः स्वप्नादौ" ॥८। १। ४६॥ इत्यत इत्त्वम्। "इत्त्वे वेतसे" ॥ ८। १। २०७॥ वेतसे तस्य डो भवति इत्त्वे सति। इति तस्य डः। वेत्रे, प्रा० १ पाद।

वेढ-वेष्ट-धा०। वेष्टने, "वेष्टः" ॥८। ४। २२१॥ इति कृतषलोपस्य वेष्टधातोरन्त्यस्य ढः। वेढइ। प्रा०। वेष्ट्यते कोशिकारकीट इव। प्रश्न०३आश्र० द्वार। वेढिज्जइ। पक्षे"वेष्टः परिआलः" ॥ ८। ४। ५१॥ इति परियालादेशे-परियालेइ। वेढेइ। वेष्टयति। प्रा० ४ पाद।

वेष्ट-पुं०। वेष्टने, स्था० ४ ठा० ४ उ०। छन्दोविशेषे, नं०। एकार्थप्रतिबद्धवचनसंकलिकायाम्, स०।

वेढय-वेष्टक-पुं०। एकवस्तुविषयपदपद्धतौ, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। वर्णनार्थायां वाक्यपद्धतौ, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। निक्षेपनिर्युक्त्युपोद्घातनिर्युक्तिलक्षणे सूत्रव्याख्याने, अनु०।

वेढिम-वेष्टिम-न०। वेष्टनं वेष्टस्तेन निर्वृत्तं वेष्टिमम्। स्था०४ ठा० ४ उ०। वेष्टननिष्पन्ने पुष्पलम्बूसकादौ, भ० ६ श० ३३ उ०। रा०। ज्ञा०। आचा०। दश०। यद् ग्रथितं वेष्ट्यते यथा पुष्पलम्बूसकः; गेन्दुक इत्यर्थः। ज्ञा० १ श्रु० ? अ०। पुष्पवेष्टनकक्रमेण निष्पन्ने आनन्दपुरादिप्रतीतरूपे एकं द्वौ त्रीणि वस्त्राणि वेष्टयित्वा उत्थापिते रूपके,अनु०।नि०चू०। वस्त्रादिनिर्वर्तितपुत्तलिकादिके,आचा०२श्रु०२चू ५ अ०।पुष्पमुकुट इव उपर्युपरि शिखरीकृत्य मालास्थापने,जी० ३ प्रति०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४अधि०। ('आवस्सय' शब्दे द्वितीयभागे ४४६ पृष्ठे विशेषतो व्याख्यातमिदम्।)

वेढिमा-वेष्टिमा-स्त्री०। माषपिष्टपूरितकरोटिकायाम्, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

वेण-पुं०। वीणा-स्त्री०। "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥८।४। ३२६॥ इत्यपभ्रंशे ईकारस्थाने एकारः। वाद्यभेदे, प्रा०।

वेणइय-वैनयिक-न०। विनय एव वैनयिकम्। दश० ६ अ० १ उ०। स्था०। गुरुशुश्रूषायाम्, भ० १२ श० ५ उ०। ज्ञानादिविनये कर्मक्षयादिके विनयफले, नं०। भ०। स्था०। त्रि०।विनयेन चरति वैनयिकः। शिष्ये, दश० ३ अ०। विनयमर्हन्तीति वैनयिकाः। आचार्यादिषु, व्य० ३ उ०। विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालकमतानुसारिणि,सूत्र०१श्रु०६अ०। "वैनयिकमतं विनय-श्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः। सुरनृपतियतिज्ञाति-स्थविराधममातृपितृषु सदा" ॥१॥ इति। स्था० ४ ठा०४ उ०। नं०। पुनः-इदानीं वैनयिकानां विनयादेव केवलात्परलोकमपीच्छतां द्वात्रिंशदनेन प्रक्रमेण योज्याः। तद्यथा-सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु मनसा वाचा कायेन दानेन चतुर्विधो विनयो विधेयः। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

अथ वैनयिकवादं निराचिकीर्षुः प्रक्रमते—

सच्चं असच्चं इति चिंतयंता,असाहु साहु त्ति उदाहरंता।
जे मे जणा वेणइया अणेगे,पुट्ठा वि भावं विणइंसु णाम।३

सद्भ्यो हितं सत्यं—परमार्थो यथावस्थितपदार्थनिरूपणं वा मोक्षो वा तदुपायभूतो वा संयमः सत्यं; तदसत्यम् इति-एवं विचिन्तयन्तो—मन्यमानाः, एवमसत्यमपि सत्यमिति मन्यमानाः। तथाहि-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यो मोक्षमार्गः सत्यस्तमसत्यत्वेन चिन्तयन्तो विनयादेव मोक्ष इत्येतदसत्यमपि सत्यत्वेन मन्यमानाः, तथा असाधुमप्यविशिष्टकर्मकारिणं वन्दनादिकया विनयप्रतिपत्त्या साधुम् इति-एवम् उदाहरन्तः—प्रतिपादयन्तो न सम्यग्यथावस्थित धर्मस्य परीक्षकाः, युक्तिविकलं विनयादेव धर्म इत्येवमभ्युपगमात्, क एते इत्येतदाह-ये इमे-बुद्धया प्रत्यक्षासन्नीकृता जना इव-प्राकृतपुरुषा इव जना विनयेन चरन्ति वैनयिकाः विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्येवं वादिनः अनेके—बहवो द्वात्रिंशद्भेदभिन्नत्वात्तेषाम्। ते च विनयचारिणः केनचिद्धर्मार्थिना पृष्टाः सन्तोऽपिशब्दादपृष्टा वा भावं—परमार्थं यथार्थोपलब्धं स्वाभिप्रायं वा विनयादेव स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्येवं व्यनैषुः—विनीतवन्तः—सर्वदा सर्वस्य सर्वसिद्धये विनयं ग्राहितवन्तः। नामशब्दः संभावनायाम्। संभाव्यत एव विनयात्स्वकार्यसिद्धिरिति। तदुक्तम्—"तस्मात् कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः इति॥ ३॥"

किं चान्यत्—

अणोवसंखा इति ते उदाहु,
अट्ठे स ओभासइ अम्ह एवं।
लवावसंकी य अणागएहिं,
णो किरियमाहंसु अकिरियवादी॥ ४॥

संख्यानं संख्या-परिच्छेदः उप—सामीप्येन संख्या उपसंख्या-सम्यग्यथावस्थितार्थपरिज्ञानं नोपसंख्याऽनुपसंख्या तयाऽनुपसंख्यया-अपरिज्ञानेन व्यामूढमतयस्ते वैनयिकाः स्वाग्रहग्रस्ता इति एतद्—यथा विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्युदाहृतवन्तः। एतच्च ते महामोहाच्छादिताः 'उदाहुः' उदाहृतवन्तः, यथैवं सर्वस्य विनयप्रतिपत्त्या स्वोऽर्थः—स्वर्गमोक्षादिकः अस्माकम् अवभासते—आविर्भवति प्राप्यते इति यावत्, अनुपसंख्योदाहृतिश्च तेषामेवमवगन्तव्या। तद्यथा—ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षसद्भावे सति तदपास्य विनयादेवैकस्मात्तदवाप्त्यभ्युपगमादिति। यदप्युक्तम्-' सर्वकल्याणभाजनं' तदपि सम्यग्दर्शनादिसंभवे सति विनयस्य कल्याणभाक्त्वं भवति, नैककस्येति, तद्रहितो हि विनयोपेतः सर्वस्य प्रह्वतया न्यक्कारमेवापादयति, ततश्च विवक्षितार्थावभासनाभावात्तेषामेवंवादिनामज्ञानानावृतत्वमेमावशिष्यते, नाभिप्रेतार्थावाप्तिरित्युक्ता वैनयिकाः। सूत्र० १ अ० १२ अ०।

वेणइयवाइ-वैनयिकवादिन्-पुं०। विनयेन चरति स वा प्रयोजनमेषामिति वैनयिकाः, ते च ते वादिनश्चेति वैनयिकवादिनः। विनय एव वा वैनयिकं तदेव ये स्वर्गादिहेतुतया वदन्त्येवं शीलाश्च ते वैनयिकवादिनः। विधृतलिङ्गाचारशास्त्रविनयप्रतिपत्तिलक्षणेषु वादिषु, भ० ३० श० १ उ०। नं०। स्था०।

वेणइया-वैनयिकी-स्त्री०। विनयो गुरुशुश्रूषा सकारणमस्यास्तत्प्रधाना वैनयिकी। स्था० ४ ठा० ४ उ०। आ० म०। गुरुविनयलभ्यशास्त्रार्थसंस्कारजन्ये बुद्धिभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आ० क०।

संप्रति वैनयिक्या लक्षणं प्रतिपादयति—

भरनित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहिअपेआला।
उभओ लोगफलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी॥६४॥
निमित्ते १ अत्थसत्थे अ २,
लेहे ३ गणिए अ ४ कूव ५ अस्से अ ६।
गद्दभ ७ लक्खण ८ गंठी ९,
अगए १० रहिए अ ११ गणिया य १२॥६५॥
सीआ साडी दीहं, च तणं अवसव्वयं च कुंचस्स १३।
निव्वोदए अ १४ गोणे, घोडगपडणं च रुक्खाओ १५। १६।

इहाऽतिगुरुकार्ये दुर्निर्वहत्वाद्भर इव भरस्तन्निस्तरणे समर्थाः भरनिस्तरणसमर्थाः, त्रयो वर्गास्त्रिवर्गाः लोकरूढ्या धर्मार्थकामास्तदर्जनोपायप्रतिपादकं यत्सूत्रं यश्च तदर्थस्तौ त्रिवर्गसूत्रार्थौ तयोर्गृहीतं 'पेयालं' प्रमाणं सारो वा यया सा तथाविधा। अत्राह—नन्वश्रुतनिश्रिता बुद्धयो वक्तुमभिप्रेताः, ततो यद्यस्यास्त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं ततोऽश्रुतनिश्रितत्वं नोपपद्यते, न हि श्रुताभ्यासमन्तरेण त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं संभवति। अत्रोच्यते—इह प्रायो वृत्तिमाश्रित्याश्रुतनिश्रितत्वमुक्तं, ततः स्वल्पश्रुतभावेऽपि न कश्चिद्दोषः। तथा उभयलोकफलवती—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐहिके आमुष्मिके च लोके फलदायिनी विनयसमुत्था
बुद्धिर्भवति। सम्प्रत्यस्या एव विनेयजनानुग्रहार्थमुदाह-
रणैः स्वरूपं दर्शयति-गाथाद्वयार्थः कथानकेभ्योऽवसेयः।
तानि च ग्रन्थगौरवभयात्संक्षेपेणोच्यन्ते—तत्र 'निमित्ते'
इति—कचित्पुरे कोऽपि सिद्धपुत्रकः, तस्य द्वौ शिष्यौ
निमित्तशास्त्रमधीतवन्तौ, एको बहुमानपुरस्सरं गुरोर्वि-
नयपरायणो यत्किमपि गुरुरुपदिशति तत्सर्वं तथेति प्र-
तिपद्य स्वचेतसि निरन्तरं विमृशति, विमृशतश्च, यत्र
क्वापि सन्देह उपजायते तत्र भूयोऽपि विनयेन गुरुपाद—
मूलमागत्य पृच्छति, एवं निरन्तरं विमर्शपूर्वं शास्त्रार्थं
तस्य चिन्तयतः प्रज्ञाप्रकर्षमुपजगाम। द्वितीयस्त्वेतद्गुण—
विकलः। तौ चान्यदा गुरुनिदेशात् कचित्प्रत्यासन्ने ग्रामे
गन्तुं प्रवृत्तौ, पथि च कानिचित् महान्ति पदानि ताव—
दर्शताम्, तत्र विमृश्यकारिणा पृष्टम्-भोः कस्यामूनि पदा-
नि?, तेनोक्तम्-किमत्र प्रष्टव्यं हस्तिनोऽमूनि पदानि। त-
तो विमृश्यकारी प्राह—मैवं भाषिष्ठाः, हस्तिन्या अमूनि
पदानि, सा च हस्तिनी वामेन चक्षुषा काणा, तां चा-
धिरूढा गच्छति काचिद्राज्ञी, सा च सभर्तृका गुर्वी च
प्रजने कल्या, अद्य श्वो वा प्रसविष्यति, पुत्रश्च तस्या
भविष्यति। तत एवमुक्ते सोऽविमृश्यकारी ब्रूते—कथमे-
तदवसीयते?, विमृश्यकारी प्राह—'ज्ञानं प्रत्ययसार' मि-
त्यग्रे प्रत्ययतो व्यक्तं भविष्यति। ततः प्राप्तौ तौ विवक्षितं
ग्रामं, दृष्टा चावासिता तस्य ग्रामस्य बहिः प्रदेशे महा-
सरस्तटे राज्ञी, परिभाविता च हस्तिनी वामेन चक्षुषा
काणा। अत्रान्तरे च काचिद्दासचेडी महत्तमं प्रत्याह—
वर्द्धाप्यसे राज्ञः पुत्रलाभेनेति। ततः शब्दितो विमृश्यका-
रिणा द्वितीयः, परिभावय दासचेटीवचनमिति, तेनोक्तं-
परिभावितं मया सर्वं, नान्यथा तव ज्ञानमिति। तत-
स्तौ हस्तपादान् प्रक्षाल्य तस्मिन् महासरस्तटे न्यग्रोधत-
रोरधो विश्रामाय स्थितौ, दृष्टौ च कयाचिच्छिरोन्यस्त-
जलभृतघटिकया वृद्धस्त्रिया, परिभाविता च तयोराकृ-
तिः। ततश्चिन्तयामास—नूनमेतौ विद्वांसौ, ततः पृच्छा-
मि देशान्तरगतनिजपुत्रागमनमिति। पृष्टं तया। प्रश्न-
समकालमेव च शिरसो निपत्य भूमौ घटः शतखण्डशो
भग्नः। ततो झटित्येवाविमृश्यकारिणा प्रोचे—गतस्ते पु-
त्रो घट इव व्यापत्तिमिति। विमृश्यकारी ब्रूते स्म—मा
वयस्यैवं वादीः, पुत्रोऽस्या गृहे समागतो वर्त्तते, याहि
मातर्वृद्धे! स्त्रि! स्वपुत्रमुखमवलोकय। तत एवमुक्ता सा
प्रत्युज्जीवितवाशीर्वादशतानि विमृश्यकारिणः प्रयुञ्जाना
स्वगृहं जगाम। दृष्टश्चोद्धूलितजङ्घः स्वपुत्रो गृहमागतः।
ततः प्रणता स्वपुत्रेण, सा चाशीर्वादं निजपुत्राय प्रायु-
ङ्क्त, कथयामास च नैमित्तिकवृत्तान्तम्। ततः पुत्रमापृ-
च्छ्य वस्त्रयुगलं रूपकांश्च कतिपयानादाय विमृश्यका-
रिणः समर्पयामास, अविमृश्यकारी च खेदमावहन्
स्वचेतसि अचिन्तयत्—नूनमहं गुरुणा न सम्यक् परि-
पाठितः, कथमन्यथाऽहं न जानामि?, एष जानातीति।
गुरुप्रयोजनं कृत्वा समागतौ द्वौ गुरोः पार्श्वे। तत्र वि-
मृश्यकारी दर्शनमात्र एव शिरो नमयित्वा कृताञ्जलि-
पुटः सबहुमानमानन्दाश्रुप्लावितलोचनो गुरोः पादा—
वन्तरा शिरः प्रक्षिप्य प्रणिपपात, द्वितीयोऽपि च
शैलस्तम्भ इव मनागप्यनमितगात्रयष्टिर्मात्सर्यवह्निसम्प-
र्कतो धूमायमानोऽवतिष्ठते। ततो गुरुस्तं प्रत्याह—रे!
किमिति पादयोर्न पतसि?, स प्राह—य एव सम्यक्
पाठितः स एव पतिष्यति, नाहमिति। गुरुराह—कथं
त्वं न सम्यक् पाठितः?, ततः स प्राचीनं वृत्तान्तं स-
कलमचीकथत्, यावदेतस्य ज्ञानं सर्वं सत्यं न ममेति।
ततो गुरुणा विमृश्यकारी पृष्टः—कथय वत्स! कथं त्व-
येदं ज्ञातमिति?, ततः स प्राह—मया युष्मत्पादादेशेन
विमर्शः कर्त्तुमारब्धो—यथैतानि हस्तिरूपस्य पदानि सु-
प्रतीतान्येव, विशेषचिन्तायां तु किं हस्तिन उत हस्ति-
न्याः?, तत्र कायिकीं दृष्ट्वा हस्तिन्या इति निश्चितम्, द-
क्षिणे च पार्श्वे वृत्तिसमारूढवल्लीवितान आलूनविशीर्णो
हस्तिनीकृतो दृष्टो न वामपार्श्वे ततो निश्चिक्ये—नूनं वा-
मेन चक्षुषा काणेति। तथा नान्य एवंविधपरिकरोपेतो
हस्तिन्यामधिरूढो गन्तुमर्हति ततोऽवश्यं राजकीयं किम-
पि मानुषं यातीति निश्चितम्। तच्च मानुषं क्वचित्प्रदेशे ह-
स्तिन्या उत्तीर्य शरीरचिन्तां कृतवत्, कायिकीं दृष्ट्वा राज्ञी-
ति निश्चितम्। वृक्षावलग्नरक्तवस्त्रदशालेशदर्शनात् सभ-
र्तृका। भूमौ हस्तं निवेश्योत्थानाकारदर्शनाद् गुर्वी, दक्षिण-
चरणनिस्सहमोचननिवेशदर्शनात्प्रजने कल्येति। वृद्धस्त्रियाः
प्रश्नानन्तरं घटनिपाते चैवं विमर्शः कृतो—यथैष घटो
यत उत्पन्नस्तत्रैव मिलितस्तथा पुत्रोऽपीति। तत एवमु-
क्ते गुरुणा स विमृश्यकारी चक्षुषा सानन्दमीक्षितः प्रशं-
सितश्च। द्वितीयं प्रत्युवाच—तव दोषो यन्न विमर्शं करो-
षि, न मम। वयं हि शास्त्रार्थमात्रोपदेशेऽधिकृताः विमर्शे
तु यूयमिति। विमृश्यकारिणो वैनयिकी बुद्धिः॥ १॥ 'अ-
त्थसत्थे त्ति' अर्थशास्त्रे कल्पको मन्त्री दृष्टान्तः, 'दहि-
कुंडगउच्छुकलावओ य' इति संविधानके 'लेह त्ति' लि-
पिपरिज्ञानं, 'गणिए' त्ति गणितपरिज्ञानम्, एते च द्वे अपि
वैनयिक्यौ बुद्धी २-३-४। 'कूवे' त्ति खातपरिज्ञानकु-
शलेन केनाऽप्युक्तं यथैतद्दूरे जलमिति। ततस्तावत्प्रमाणं
खातं परं नोत्पन्नं जलम्, ततस्ते खातपरिज्ञाननिष्णाताय
निवेदयामासुः—नोत्पन्नं जलमिति। ततस्तेनोक्तं-पार्ष्णिप्र-
हारेण पार्श्वान्याहत, आहतानि तैः, ततः पार्ष्णिप्रहार-
समकालमेव समुच्छलितं तत्र जलम्, खातपरिज्ञानकुशल-
स्य पुंसो वैनयिकी बुद्धिः ५! 'असे' त्ति बहवोऽश्ववणि-
जो द्वारवतीं जग्मुः, तत्र सर्वे कुमाराः स्थूलान् बृहत-
श्चाश्वान् गृह्णन्ति, वासुदेवेन पुनर्यो लघीयान् दुर्बलो ल-
क्षणसम्पन्नः स गृहीतः, स च कार्यनिर्वाही प्रभूताश्वावह-
श्च जातः। वासुदेवस्य वैनयिकी बुद्धिः ६। 'गद्दभे' त्ति
कोऽपि राजा प्रथमयौवनिकामधिरूढस्तरुणिमानमेव रम-
णीयं सर्वकार्यक्षमं च मन्यमानस्तरुणानेव निजकटके धा-
रितवान्, वृद्धांस्तु सर्वानपि निषेधयामास। सोऽन्यदा
कटकेन गच्छन्नपान्तरालेऽटव्यां पतितवान्, तत्र च सम-
स्तोऽपि जनस्तृषा पीड्यते, ततः किंकर्तव्यतामूढचेता रा-
जा केनाप्युक्तो—देव! न वृद्धपुरुषशेमुषीपोतमन्तरेणायमा-
पत्समुद्रस्तरीतुं शक्यते, ततो गवेषयन्तु देवपादाः क्वापि-
वृद्धमिति। ततो राज्ञा सर्वस्मिन्नपि कटके पटह उद्घो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षितः। तत्र चैकेन पितृभक्तेन प्रच्छन्नो निजपिता समानीतो वर्त्तते, ततस्तेनोक्तं—मम पिता वृद्धोऽस्तीति। ततो नीतो राज्ञः पार्श्वे, राज्ञा च सगौरवं पृष्टः-कथय महापुरुष! कथं मे कटके पानीयं भविष्यति?, तेनोक्तं देव! रासभाः स्वैरं मुच्यन्तां, यत्र ते भुवं जिघ्रन्ति तत्र पानीयमतिप्रत्यासन्नमवगन्तव्यम्। तथैव कारितं राज्ञा; समुत्पादितं पानीयं, स्वस्थीबभूव च समस्तं कटकमिति। स्थविरस्य वैनयिकी बुद्धिः ७। 'लक्खण' त्ति पारसीकः कोऽप्यश्वस्वामी कस्याप्यश्वरक्षकस्य कालनियमनं कृत्वा अश्वरक्षणमूल्यं द्वावश्वौ प्रतिपन्नवान्, सोऽपि चाश्वस्वामिनो दुहित्रा समं वर्त्तते। ततः सा तेन पृष्टा—कावश्वौ भव्याविति?, तयोक्तम्—अमीषामश्वानां विश्वस्तानां मध्ये यः पाषाणभृतकुतपानां वृक्षशिखरान्मुक्तानामपि शब्दमाकर्ण्य नो त्रस्यतस्तौ भव्यौ, तेन तथैवैतौ परीक्षितौ। ततो वेतनप्रदानकाले सोऽभिधत्ते—मह्यममुकममुकं वाऽश्वं देहि। अश्वस्वामी प्राह—सर्वानप्यन्यान् अश्वान् गृहाण, किमेताभ्यां तवेति?, स नेच्छति, ततोऽश्वस्वामिना स्वभार्यायै न्यवेदि, भणितं च-गृहजामाता क्रियतामेष इति। अन्यथा प्रधानावश्वावेष गृहीत्वा यास्यति। सा नैच्छत्। ततोऽश्वस्वामी प्राह-लक्षणयुक्तेनाश्वेनान्येऽपि बहवोऽश्वाः सम्पद्यन्ते, कुटुम्बं च परिवर्द्धते, लक्षणयुक्तौ चेमावश्वौ, तस्मात्क्रियतामेतदिति। ततः प्रतिपन्नं तया, दत्ता तस्मै स्वदुहिता, कृतो गृहजामातेति। अश्वस्वामिनो वैनयिकी बुद्धिः ८। 'गंठि' त्ति पाटलिपुरे नगरे मुरुण्डो राजा। तत्र परराष्ट्रराजेन त्रीणि कौतुकनिमित्तं प्रेषितानि, तद्यथा—'मूढं सूत्रं, समा यष्टिः, लक्षितद्वारः समुद्गको जतुना घोलितः' तानि च मुरुण्डेन राज्ञा—सर्वेषामप्यात्मपुरुषाणां दर्शितानि, परं केनापि न ज्ञातानि, तत आकारिताः पादलिप्ताचार्याः। पृष्टं राज्ञा—भगवन्! यूयं जानीत?, सूरय उक्तवन्तो-बाढम्। ततः सूत्रमुष्णोदके क्षिप्तम्, उष्णोदकसम्पर्काच्च विलीनं मदनमिति लब्धः सूत्रस्यान्तः। यष्टिरपि पानीये क्षिप्ता, ततो गुरुभागो मूलमिति ज्ञातम्। समुद्गकेऽप्युष्णोदके क्षिप्ते जतु सर्वं गलितमिति द्वारं प्रकटं बभूव। ततो राजा सूरीन् प्रत्यवादीत्-भगवन्! यूयमपि दुर्विज्ञेयं किमपि कौतुकं कुरुत येन तत्र प्रेषयामि। ततः सूरिभिस्तुम्बकमेकस्मिन् प्रदेशे खण्डमेकमपहाय रत्नानां भृतम्। ततस्तथा तत्खण्डं सीवितं यथा न केनापि लक्ष्यते, भणिताश्च परराष्ट्रराजकीयाः पुरुषाः-एतदभङ्क्त्वा इतो रत्नानि ग्रहीतव्यानि, न शक्तं तैरेवं कर्तुम्। पादलिप्तसूरीणां वैनयिकी बुद्धिः ९। 'अगए'त्ति कचित्पुरे कोऽपि राजा, स च परचक्रेण सर्वतो रोद्धुमारब्धः, ततस्तेन राज्ञा सर्वाण्यपि पानीयानि विनाशयितव्यानीति, विषकरः सर्वत्र पातितः। ततः कोऽपि कियद्विषमानयति, तत्रैको वैद्यो यवमात्रं विषमानीय राज्ञः समर्पितवान्—देव! गृहाण विषमिति। राजा च स्तोकं विषं दृष्ट्वा चुकोप तस्मै, वैद्यो विज्ञपयामास-देव! सहस्रवेधीदं विषं तस्मादप्रसादं मा कार्षीः, राजाऽवादीत्-कथमेतदवसेयम्।?, स उवाच-देव! आनाय्यतां कोऽपि जीर्णो हस्ती। आनायितो राज्ञा हस्ती। ततो वैद्येन तस्य हस्तिनः पुच्छदेशे बाल(क)मेकमुत्पाट्य तदीयरन्ध्रे विषं सञ्चारितम्, विषं च प्रसरमाददानं यत्र तत्र प्रसरति तत्तत्सर्वं विपन्नं कुर्वत् दृश्यते। वैद्यश्च राजानमभिधत्ते—देव! सर्वोऽप्येष हस्ती विषमयो जातः। योऽप्येनं भक्षयति सोऽपि विषमयो भवति, एवमेतद्विषं सहस्रवेधि। ततो राजा हस्तिहानिदूनचेतास्तं प्रत्युवाच—अस्ति कोऽपि हस्तिनः प्रतीकारविधिः?, सोऽवादीत्—बाढमस्ति। ततस्तस्मिन्नेव बालरन्ध्रेऽगदः प्रदत्तः, ततः सर्वोऽपि झटित्येव प्रशान्तो विषविकारः, प्रगुणीबभूव हस्ती, तुतोष राजा तस्मै वैद्याय। वैद्यस्य वैनयिकी बुद्धिः १०। 'रहिए गणिया य' त्ति स्थूलभद्रकथानके रथिकस्य यत् सहकारफलतुम्बित्रोटनं यच्च गणिकायाः सर्षपराशेरुपरि नर्त्तनं ते द्वे अपि वैनयिकीबुद्धिफले ११-१२। 'सीये' त्यादि, क्वचित्पुरे कोऽपि राजा, तत्पुत्राः केनाप्याचार्येण शिक्षयितुमारब्धाः, ते च तस्मै आचार्याय प्रभूतं द्रव्यं दत्तवन्तः। राजा च द्रव्यलोभी तं मारयितुमिच्छति, तैश्च पुत्रैः कथञ्चितदेतज्ज्ञात्वा चिन्तितम्-अस्माकमेष विद्यादायी परमार्थपिता, ततः कथमप्येनमापदो निस्तारयामः। ततो यदा भोजनाय समागतः स्नानशाटिकां याचते तदा ते कुमाराः शुष्कामपि शाटीं वदन्ति—"अहो सीया साडी" द्वारसम्मुखं च तृणं कृत्वा वदन्ति—अहो दीर्घं तृणं, पूर्वं च क्रौञ्चकेन सदैव प्रदक्षिणीक्रियते, सम्प्रति तु स तस्यापसव्यं भ्रमितः। तत आचार्येण ज्ञातं—सर्वं मम विरक्तं, केवलमेते कुमारा मम भक्तिवशात् ज्ञापयन्ति, ततो यथा न लक्ष्यते तथा पलाययामास कुमाराणामाचार्यस्य च वैनयिकी बुद्धिः १३। 'निव्वोदएणं' ति काऽपि वणिग्भार्या चिरं प्रोषिते भर्त्तरि दास्या निजसद्भावं निवेदयति—आनय कमपि पुरुषमिति। ततस्तया समानीतो, नखप्रक्षालनादिकं च सर्वं तस्य कारितं रात्रौ च तौ द्वावपि सम्भोगाय द्वितीयभूमिकामारूढौ, मेघश्च वृष्टिं कर्तुमारब्धवान्। ततस्तेन तृषापीडितेन पुरुषेण नीव्रोदकं पीतम्। तदपि च त्वग्विषभुजङ्गसंस्पृष्टमिति तत्पानेन पञ्चत्वमुपगतः, ततस्तया वणिग्भार्यया निशापश्चिमयाम एव शून्यदेवकुलिकायां मोचितः। प्रभाते च दृष्टो दाण्डपाशिकैः, परिभावितं सद्यः तत्तस्य नखादिकर्म्म, ततः पृष्टाः सर्वेऽपि नापिताः—केनेदं भोः कृतमस्य नखादिकं कर्म्मेति?, तत एकेन नापितेनोक्तं—मया कृतममुकाभिधवणिग्भार्यादासचेट्यादेशेन। ततः सा पृष्टा—साऽपि च पूर्वं न कथितवती, ततो हन्यमाना यथावस्थितं कथयामास। दाण्डपाशिकानां वैनयिकी बुद्धिः १४। 'गोणे घोडगपडणं च रुक्खाओ' कोऽप्यकृतपुण्यो यद्यत्करोति तत्सर्वमापदे प्रभवति। ततोऽन्यदा मित्रं बलीवर्दौ याचित्वा हलं वाहयति, अन्यदा च विकालवेलायां तावानीय वाटके क्षिप्तौ। स च वयस्यो भोजनं कुर्वन्नास्ते। ततः स तस्य पार्श्वे न गतः केवलं तेनापि तौ दृष्ट्याऽवलोकिताविति स स्वगृहं गतः। तौ च बलीवर्दौ वारकान्निःसृत्यान्यत्र गतौ। ततोऽप्यपहृतौ तस्करैः। स च बलीवर्द्दस्वामी तमकृतपुण्यं वराकं बलिवर्दौ याचते। स च दातुं न शक्नोति। ततो नीयते तेन राजकुलम्। पथि च गच्छतस्तस्य कोऽप्यश्वारूढः पुरुषः सम्मुखमागच्छति। स चाश्वेन पातितः। अश्वश्च पलायमानो वर्त्तते। ततस्तेनोक्तम्—आहन्यतामेष दण्डेना-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्व इति, तेन चाकृतपुण्येन सोऽश्वो मर्मण्याहतः, ततो मृत्युमुपागमत्। ततस्तेनापि पुरुषेण स वराको गृहीतः। ते च यावन्नगरमायातास्तावत्करणमुत्थितमिति कृत्वा ते नगरबहिःप्रदेशे पर्वोषितः। तत्र च बहवो नटाः सुप्ता वर्त्तन्ते। स चाकृतपुण्योऽचिन्तयत्-यथा नास्मादापत्समुद्राद् मे निस्तारोऽस्तीति वृक्षे गलपाशेनात्मानं बद्ध्वा म्रियेयेति तेन तथैव कर्त्तुमारब्धम्। परं जीर्णदण्डिवस्त्रखण्डेन गले पाशो बद्धः, तच्च दण्डिवस्त्रखण्डमतिदुर्बलमिति त्रुटितम्। ततः स वराकोऽधस्तात्सुप्तनटमहत्तरस्योपरि पपात। सोऽपि च नटमहत्तरस्तद्भाराक्रान्तगलप्रदेशः पञ्चत्वमगमत्। ततो नटैरपि स प्रतिगृहीतः। गताः प्रातः सर्वेऽपि राजकुलम्। कथितः सर्वैरपि स्वः स्वः व्यतिकरः। ततः कुमारामात्येन स वराकः पृष्टः; सोऽपि दीनवदनोऽवादीद् देव! यदेते ब्रुवते तत्सर्वं सत्यमपि। ततः तस्योपरि सञ्जातकृपः कुमारामात्योऽवादीत्-एष बलीवर्दौ तुभ्यं दास्यति, तव पुनरक्षिणी-उत्पाटयिष्यति, एष तदैवानृणो बभूव यदा त्वया चक्षुर्भ्यामवलोकितौ बलीवर्दौ, यदि पुनस्त्वया चक्षुर्भ्यां नावलोकितौ बलीवर्दौ स्यातां तदैषोऽपि स्वगृहं न यायात्, न हि यो यस्मै यस्य समर्प्पणायागतः स तस्यानिवेदने समर्प्पणीयमेवमेव मुक्त्वा स्वगृहं याति। तथा द्वितीयोऽश्वस्वामी शब्दितः, एषोऽश्वं तुभ्यं दास्यति, तव पुनरेष जिह्वां छेत्स्यति, यदा हि त्वदीयजिह्वयोक्तम्-एनमश्वं दण्डेन ताडयेति तदाऽनेन दण्डेनाहतोऽश्वो, नान्यदा। तत एष दण्डेनाऽऽहन्ता दण्ड्यते तव न पुनर्जिह्वेति कोऽयं नीतिपथः?, तथा नटान् प्रत्याह-अस्य पार्श्वे न किमप्यस्ति ततः किं दापयमः?, एतावत्पुनः कारयामः-एषोऽधस्तात् स्थास्यति, त्वदीयः पुनः कोऽपि प्रधानो यथैष वृक्षे गलपाशेनात्मानं बद्ध्वा मुक्तवान् तथाऽऽत्मानं मुञ्चत्विति, ततः सर्वैरपि मुक्तः। कुमारामात्यस्य वैनयिकी बुद्धिः १५। नं०। आ० म०। आ० चू०।

वेणा-वेणा-स्त्री०। आर्यसम्भूतविजयस्य शिष्यायां स्थूलभद्रभगिन्याम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। आव०। पिं०। ति०। आ० क०। आभीरविषये कृष्णासङ्गते नदीभेदे, आ० म० १ अ०। आ० चू०।

वेणायय-वैनायक-पुं०। आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भाविनि विंशतितमे तीर्थकरे, ति०।

वेणी-वेणी-स्त्री०। वनिताशिरसः केशबन्धविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

वेणीसंगम-वेणीसंगम-पुं०। गङ्गायमुनयोः सङ्गमे, तत्रादिनाथकमण्डलुः पूज्यः। ती० ४३ कल्प।

वेणु-वेणु-पुं०। वंशे, सू० प्र० १२ पाहु०। प्रज्ञा०। नि० चू०। सूत्र०। रा०। वंशविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। आतोद्यविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। नि० चू०।

वेणुदालि-वेणुदालि-पुं०। औत्तराहाणां सुपर्णकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०। भ०। प्रज्ञा०। स०। द्वी०।

वेणुदेव-वेणुदेव-पुं०। गरुडापरनामके सुपर्णकुमारजातीये दाक्षिणात्यानां सुपर्णकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०। सूत्र०। प्रज्ञा०। द्वी०। स०।

महापोंडरीए पंच गरुला वेणुदेवा। (सू० ५६४×) स्था० १० ठा० ३ ठा०।

वेणुफल-वेणुफल-न०। वेणुकार्ये करण्डकपेटिकादौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

वेणुफलासिया-वेणुफलासिका-स्त्री०। वंशात्मिकायां श्लक्ष्णत्वक्काष्ठिकायाम्, या दन्तैर्वामहस्तेन प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन वीणावद् वाद्यते, । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

वेणुयाणुजाय-वेणुकानुजात-पुं०। वंशसदृशे, सू० प्र० १२ पाहु०।

वेणुलया-वेणुलता-स्त्री०। स्थलवंशलतायाम्, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

वेणुसलागिया-वेणुशलाकिकी-स्त्री०। वेणुर्वंशस्तस्य शलाकास्ताभिर्निर्वृत्ता वेणुशलाकिकी। वेणुशलाकानिष्पन्नायाम्, रा०।

वेण्णा-वेन्ना-स्त्री०। आभीरविषये अचलपुरासन्ने कृष्णानदीसंगते नदीभेदे, आ० चू० १ अ०। कल्प०। आ० क०। आ० म०। नं०।

वेण्हु-विष्णु-पुं०। व्यापके, परमेश्वरे, अमरः। कल्प०। आ० क०। स्था०। प्रश्न०। प्रा०।

वेतंडिय-वैतण्डिक-पुं०। वितण्ड्या चरति वैतण्डिकः। वितण्डावादिनि, अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक इत्युच्यते; इति हि न्यायवार्तिकम्। वस्तुतस्तु अपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारमौखर्यं वितण्डा, तया वादकर्तरि। स्या०।

वेतण्ह-वैतृष्ण्य-न०। तृष्णाविच्छेदे, प्रति०। वैमुख्ये, द्वा० ११ द्वा०।

वेतस-वेतस-पुं०। "तदोस्तः" ॥८।४।३०७॥ इति पैशाच्यां तस्य त एव। वेत्रे, प्रा० ४ पाद।

वेतालि-देशी-तटे, प्रज्ञा० १६ पद।

वेत्त-वेत्र-पुं०। जलवंशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। नि० चू०। प्रज्ञा०। स०।

वेत्तग-वेत्राग्र-न०। वेत्राङ्कुरे, तच्चाङ्कणदेषु भाजीकृतं भक्ष्यते। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०।

वेत्तदण्ड-वेत्रदण्ड-पुं०। वेत्ररूपे दण्डे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

वेत्तपीढय-वेत्रपीठक-पुं०। वेत्रासने, नि० चू० १२ उ०।

वेत्तलया-वेत्रलता-स्त्री०। जलवंशलतायाम्, विपा० १ श्रु० ६ अ०। 'कोप्पयाणं णाहिह, वेत्तलयागुम्मगुविलहियियाणं। भावं भग्गासाणं, तत्थुप्पन्नं भणंतीणं ॥ १ ॥' सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

वेद-वेद-पुं०। वेद्यतेऽनेन तत्त्वमिति वेदः। सिद्धान्ते, उत्त०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५ अ०। सद्भूतार्थागमे, यो० विं०। व्य० । समस्तदर्शनिनां सिद्धान्ते, वृ० ३ उ०। विदन्ति तेन तमिति वा वेदः। विद ज्ञाने, अस्माद् घञ्। नि० चू० १ उ०। वेद्यते जीवादिस्वरूपमनेनेति वेदः। आचाराङ्गाद्यागमे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। वेद्यते सकलं चराचरमनेनेति वेदः। आगमे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ०। स च लौकिकलोकोत्तरकुप्रावचनिकभेदः श्रुतवद् व्याख्यातव्यः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रा०। विदन्त्यस्माद्धेयोपादेयपदार्थानिति वेदः। आगमे, स च नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धा, तत्र नामस्थापनाद्रव्याणि प्रतीतानि। भावे-क्षायोपशमिकभाववर्त्ययमाचारः। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। ऋगादौ, स्था० ३ ठा० ४ उ०। 'चत्तारो वेया संगोवंगा' (मिथ्याश्रुतं) चत्वारश्च वेदा, ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्वणवेदलक्षणाः, साङ्गोपाङ्गाः—शिक्षा १ कल्प २ व्याकरण ३ छन्दो ४ निरुक्त ५ ज्योतिष्कानयन ६ लक्षणानि षडुपाङ्गानि, तद्व्याख्यानरूपाणि तैः सह वर्त्तन्ते। अनु०। विपा०। उत्त०। आ०म०। त्रिविधानि वेदपदानि-कानिचित् विधिप्रतिपादकानि यथा-स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयादित्यादीनि, कानिचिदनुवादपराणि यथा-द्वादश मासाः संवत्सर इत्यादीनि, कानिचित्स्तुतिपराणि, यथा इदं पुरुष एवेत्यादीनि। कल्प०१ अधि०३ क्षण। (वेदानामपौरुषेयत्वम्, 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ५३ पृष्ठे चिन्तितम्।) वेदने, अनुभवे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। वेद्यते इति वेदः। पं० सं० १ द्वार। मैथुनाभिलाषे, स०।

कइविहे णं भंते! वेए पएणत्ते?, गोयमा! तिविहे वेए पएणत्ते, तं जहा-इत्थीवेए, पुरिसवेए, णपुंसगवेए। (सू० १५६×)

'कइविहे' त्यादि, तत्र, स्त्रीवेदः—पुंस्कामिता, पुरुषवेदः—स्त्रीकामिता, नपुंसकवेदः—स्त्रीपुंस्कामितेति। एते च पूर्वोदिता अर्थाः समवसरणस्थितेन भगवता देशिता इति। स० १५६ सम०। सूत्र०। (विरतवेदस्वरूपं 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे १००६ पृष्ठे प्रतिपादितम्।)

संप्रति वेदत्रिकमाह—

पुरसित्थि तदुभयं पइ, अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ।
त्थीनरनपुंवेउदओ, फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥ २२ ॥

प्रतिशब्दः प्रत्येकं योज्यंत, पुरुषं प्रति स्त्रियं प्रति तदुभयं प्रति; स्त्रीपुरुषं प्रतीत्यर्थः। यद्वशाद्यत्पारतन्त्र्यादभिलाषो-वाञ्छा भवति-जायते। तुशब्दः परस्परापेक्षया पुनरर्थे। स्त्री-योषित् नरः-पुरुषः 'नपु' त्ति नपुंसकं तैर्वेद्यते—ऽनुभूयते स्त्रीनरनपुंवेदस्तस्योदयः स्त्रीनरनपुंवेदोदयो ज्ञेय इति शेषः फुंफुमा-करीषं, तृणानि प्रतीतानि नगर-पुरं फुम्फुमातृणनगराणि तेषां दाहस्तेन समस्तुल्य इति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्—यद्वशात् स्त्रियाः पुरुषं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तवशान् मधुरद्रव्यं प्रति स फुंफुमादाहसमः, यथा यथा चाल्यते तथा तथा ज्वलति बृंहति च। एवमबलाऽपि यथा यथा संस्पृश्यते पुरुषेण तथा तथा अस्या अधिकतरोऽभिलाषो जायते, भुज्यमानायां तु छगणकरीषदाहतुल्योऽभिलाषो; मन्द इत्यर्थः इति स्त्रीवेदोदयः। यद्वशात् पुरुषस्य स्त्रियं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा-श्लेष्मवशादम्लं प्रति स पुनस्तृणदाहसमः, यथा तृणानां दाहे ज्वलनं विध्यापनं च भवति एवं पुंवेदोदये स्त्रियाः सेवनं प्रत्युत्सुकोऽभिलाषो भवति, निवर्त्तते च तत्सेवने शीघ्रमिति नरवेदोदयः। यद्वशान्नपुंसकस्य तदुभयं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तश्लेष्मवशान्मज्जिकां प्रति स पुनर्नगरदाहसमः, यथा-नगरं दह्यमानं महता कालेन दह्यते विध्यापयति च महतैव एवं नपुंसकवेदोदयेऽपि स्त्रीपुरुषयोः सेवनं प्रत्यभिलाषातिरेको महताऽपि कालेन न निवर्त्तते नापि सेवने तृप्तिरिति नपुंवेदोदयः। कर्म० १ कर्म०। वृ०। प्रव०। प्रज्ञा०। प्रत्येकं त्रिकभङ्गाः-त्रिविधेऽपि प्रत्येकं त्रिकभङ्गः कर्त्तव्यो भवति, कथमिति चेदुच्यते—पुरुषः पुरुषवेदं वेदयति, पुरुषः स्त्रीवेदं वेदयति, पुरुषो नपुंसकवेदं वेदयति च। एवं स्त्रीनपुंसकयोरपि वेदत्रयो मन्तव्यः। वृ० ४ उ०।

नैरयिकदण्डकः—

नेरइया णं भंते! किं इत्थीवेया पुरिसवेया णपुंसगवेया पण्णत्ता?, गोयमा! णो इत्थीवेया, णो पुरिसवेया, णपुंसगवेया पण्णत्ता। असुरकुमारा णं भंते! किं इत्थीवेया पुरिसवेया नपुंसगवेया?, गोयमा! इत्थीवेया पुरिसवेया, णो णपुंसगवेया० जाव थणियकुमारा। पुढवीआऊतेओवाऊवणस्सइबितिचउरिंदियसंमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खसंमुच्छिममणुस्सा णपुंसगवेया गब्भवक्कंतियमणुस्सा पंचिंदियतिरिया य तिवेया जहा असुरकुमारा तहा वाणमन्तरा, जोइसियवेमाणिया वि। (सू० १५६) स० १५७ सम०।

ते णं भंते! जीवा किं इत्थीवेया पुरिसवेया णपुंसगवेया?, गोयमा! णो इत्थिवेया, णो पुरिसवेया, णपुंसगवेया।

'ते णं भंते!' इत्यादि 'इत्थीवेयगा' इति स्त्रियाः वेदो येषां ते स्त्रीवेदकाः, एवं पुरुषवेदका नपुंसकवेदका इत्यपि भावनीयम्। तत्र स्त्रियाः पुंस्यभिलाषः स्त्रीवेदः, पुंसः स्त्रियामभिलाषः पुंवेदः, उभयोरप्यभिलाषो नपुंसकवेदः। भगवानाह—गौतम! न स्त्रीवेदका न पुरुषवेदका नपुंसकवेदकाः संमूर्च्छिमत्त्वात्। 'नारकसंमूर्च्छिमा नपुंसका' इति भगवद्वचनम्। जी० १ प्रति०। (निर्ग्रन्थानां वेदः 'णिग्गंथ' शब्दे' चतुर्थभागे २०३४ पृष्ठे गतः।) (परिहारविशुद्धिकानां वेदः परिहारविसुद्धिय' शब्दे पञ्चमभागे ६६५ पृष्ठे गतः।)

वनस्पतिजीवानां वेदः—

ते णं भंते! जीवा किं इत्थीवेदबंधगा पुरिसवेदबंधगा नपुंसगवेदबंधगा?, गोयमा! इत्थीवेदबंधए वा पुरिसवेदबंधए वा नपुंसगवेयबंधए[1] वा, छव्वीसं भंगा। भ० ११ श० १ उ०।

१ नपुंसगवेदए नपुंसगवेदगा वा (सू०२३) इति भ० ११ श० १ उ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(क्षपकश्रेण्यां वेदत्रयक्षपणं 'खवगसेढि' शब्दे तृतीयभागे ७२८ पृष्ठे गतम्।)

वेदस्थितिनिरूपणम्—

पुरिसत्तं सन्नित्तं, सयं पुहुत्तं तु होइ अयराणं।
इत्थीपलियसयपुहुत्तं, नपुंसगत्तं अणुन्नद्धा ॥ ४६ ॥

पुरुषत्वम्-पुरुषवेदो निरन्तरं भवन् जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽन्तराणां—सागरोपमाणां शतपृथक्त्वं भवति, केवलं तुशब्दस्याऽधिकार्थसंसूचनात्तदपि सागरोपमशतपृथक्त्वं मनाक् सातिरेकं द्रष्टव्यम्, तथा चोक्तं प्रज्ञापनायाम्-'पुरिसवेए णं भंते! पुरिसवेए त्ति कालओ केव चिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगं' तथा संज्ञी-पञ्चेन्द्रियो गर्भजो जीवः, तद्भावः संज्ञित्वं, तदप्यवच्छेदेन जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कालम्, उत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं भवति। अत्रापि सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकमवगन्तव्यम्, तथा प्रज्ञापनायामभिहितत्वात्। तथा च प्रज्ञापनाग्रन्थः-'सन्नी णं भंते सन्नि त्ति कालओ केचिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगं' ति तथा 'थीपलियसयपुहुत्तं' ति स्त्री-स्त्रीवेदो जघन्यत एकसमयम् उत्कर्षतः पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वं च। तत्र समयमात्रभावना क्रियते—काचित् युवतिरुपशमश्रेण्यां वेदत्रयोपशमेनाऽवेदकत्वमनुभूय, ततः श्रेण्याः प्रतिपतन्ती स्त्रीवेदोदयमेकं समयमनुभूय द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यते, तत्र च तस्याः पुंस्त्वमेव, न स्त्रीत्वं, तत एवं जघन्यतः स्त्रीवेदः समयमात्रं भवति। उत्कर्षतः स्त्रीवेदावस्थानचिन्तायां पुनर्भगवता आर्यश्यामेन पूर्वपूर्वतनसूरिमतभेदमुपदर्शयता पञ्चादेशाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—"इत्थीवेए णं भंते! इत्थीवेए त्ति कालओ केव चिरं होइ?, गोयमा! एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं दसोत्तरं पलिओवमसयं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियं १, एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं अट्ठारस पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं २, एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चोद्दसपलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं ३, एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ४, एगेणं आएसेणं जहण्णेनं एगं समयं, उक्कोसेणं पलिओवमपुहुत्तं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ति ५," अमीषां चादेशानामियं भावना-कश्चिज्जन्तुर्नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चषान् भवाननुभूय ईशानकल्पे पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्नः, ततः स्वायुःक्षये ततश्च्युत्वा भूयोऽपि नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये स्त्रीत्वेनोत्पन्नः, ततो भूयो द्वितीयं वारमीशानदेवलोके पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरीगृहीतासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्नः, ततः परमवश्यं वेदान्तरमेव गच्छति। एवं दशोत्तरं पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं प्राप्यते। अत्र पर आह—ननु यदि देवकुरूत्तरकुर्वादिषु पल्योपमत्रयस्थितिकासु स्त्रीषु मध्ये समुत्पद्यते, ततोऽधिकाऽपि स्त्रीवेदस्याऽवस्थितिरवाप्यते, ततः किमेतावत्येवोपदिष्टा?, तदयुक्तमभिप्रायाऽपरिज्ञानात्, तथाहि-इह तावद्देवीभ्यश्च्युत्वा असंख्येयवर्षायुष्कासु स्त्रीषु मध्ये स्त्रीत्वेन नोत्पद्यते, देवयोनेश्च्युतानामसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये उत्पातप्रतिषेधात्, नाप्यसंख्येयवर्षायुष्का सती योषिदुत्कृष्टायुष्कासु देवीषु मध्ये जायते, यत उक्तं प्रज्ञापनाटीकाकृता—' जओ असंखेज्जवासाउया उक्कोसट्ठिइं न पावेइ ' इति, ततो यथोक्तप्रमाणैव स्त्रीवेदस्योत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते। द्वितीयादेशवादिनः पुनरेवमाहुः—नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चषान् भवाननुभूय पूर्वप्रकारेणेशानदेवलोके वारद्वयमुत्कृष्टस्थितिकासु देवीषु मध्ये समुत्पद्यमाना नियमतः परिगृहीतास्वेवोत्पद्यते, नाऽपरिगृहीतासु, ततस्तन्मतेन स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमवस्थानमष्टादशपल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वं च। तृतीयाऽऽदेशवादिनां तु मतेन सौधर्मदेवलोके परिगृहीतदेवीषु सप्तपल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कासु मध्ये वारद्वयं समुत्पद्यते, ततस्तन्मतेन चतुर्दशपल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि स्त्रीवेदस्य स्थितिः। चतुर्थाऽऽदेशवादिनां तु मतेन सौधर्मदेवलोके पञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीष्वपि मध्ये पूर्वप्रकारेण वारद्वयं देवीत्वेनोत्पद्यते, ततस्तन्मतेन पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकमवाप्यते, एष एव चाऽऽदेशो ग्रन्थकृता परिगृहीतः, प्रायोऽस्यैव बहुभिः सूरिभिः परिगृहीतत्वात्। पञ्चमादेशवादिनः पुनरित्थमाहुः—नानाभवभ्रमणद्वारेण यदि स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमवस्थानं चिन्त्यते, तर्हि पल्योपमपृथक्त्वमेव पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं प्राप्यते, न ततोऽभ्यधिकम्। तत्र नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये सप्त भवाननुभूयाऽष्टमे भवे देवकुर्वादिषु त्रिपल्योपमस्थितिकासु स्त्रीषु मध्ये स्त्रीत्वेन समुत्पद्य, ततो मृत्वा सौधर्मदेवलोके जघन्यस्थितिकासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोपजायते तदनन्तरं चावश्यं वेदान्तरमधिगच्छतीति (पं० सं०) तथा नपुंसकं जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतोऽनन्ताद्धा। तत्र एकसमयता स्त्रीवेदस्येव भावनीया अनन्ताद्धा च सांव्यावहारिकजीवानधिकृत्याऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तस्वरूपा द्रष्टव्या। तथा चोक्तम्-'नपुंसगवेए णं भंते! नपुंसकवेय त्ति कालओ कियच्चिरं होइ? गोयमा! जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणीओस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ—अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो' असांव्यावहारिकजीवानधिकृत्य पुनर्द्विधाऽनन्ताऽद्धा, कांश्चिदधिकृत्याऽनादिरपर्यवसाना, कंचन कदाचिदप्यसांव्यावहारिकराशेरुद्धृत्य सांव्यावहारिकराशौ पतिष्यन्ति, कांश्चिदधिकृत्य पुनरनादिसपर्यवसाना। ये असांव्यावहारिकराशेरुद्धृत्य सांव्यावहारिकराशावागमिष्यन्ति, आगमिष्यन्तीति च प्रज्ञापककालभाविनोऽसांव्यावहारिकराशौ वर्त्तमानान् जीवानधिकृत्योच्यते, अन्यथा ये असांव्यावहारिकराशेर्निर्गत्य सांव्यावहारिकराशावागमन् आगच्छन्ति आगमिष्यन्ति वा तेषां सर्वेषामपि नपुंसकवेदाऽद्धाऽनादिसपर्यवसाना। पं० सं० २ द्वार। प्रवृत्तिकाले वेदः पुरुषवेदो वा नपुंसकवेदो वा भवतु, न स्त्रीवेदः स्त्रियाः परि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्त्यसंभवात्, अतीतनयमधिकृत्य पुनः पूर्वप्रतिपन्नश्चिन्त्यमानः सवेदो वा भवेदवेदो वा। तत्र सवेदः श्रेणिप्रतिपत्त्यभावे उपशमश्रेणिप्रतिपत्तौ वा, क्षपकश्रेणिप्रतिपत्तौ त्ववेद इति। उक्तं च-" वेदो पवित्ति-काले, इत्थीवज्जो उ होइ एगयरो। पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥ १॥" कर्म० ४ कर्म०। (सवेदकानां कायस्थितिः ' कायठिइ ' शब्दे तृतीयभागे ४५५ पृष्ठे उक्ता।)

वेदइत्ता-वेदयित्वा-अव्य०। परिज्ञाप्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

वेदंग-वेदङ्ग-पुं०। इभ्यजातिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

वेदंत-वेदान्त-पुं०। ऋगादिवेदजनिते निर्णये, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

वेज्यमान-त्रि०। विशेषेण कम्पमाने, स्था० ७ ठा० ६ उ०।

वेदयत्-त्रि०। विपाकेनानुभवति, दश० ३ अ०।

वेदंतवाइ-वेदान्तवादिन्-पुं०। वेदान्तिके, आत्मैक्यवादिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०।

वेदंतिय-वेदान्तिक-पुं०। ध्यानाध्ययनसमाधिमार्गानुष्ठानात्सिद्धिमुक्तवति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। एकात्म्यवादिनि, विशे०।

वेदग-वेदक-पुं०। वेदयति निर्जरयति उपभुनक्तीति वेदकः। दश० १ अ०। प्रकृतिजनितस्य सुकृतजनितस्य सुकृतदुष्कृतस्य च प्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोक्तरि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। वेदयत्यनुभवति सम्यक्त्वपुद्गलानिति वेदकः। अनुभवितरि, तदनर्थान्तरभूतत्वात्सम्यक्त्वभेदे च। वेद्यत इति वा वेदकम्। (विशे०।) विहितप्रायदर्शनसप्तकक्षयेण जन्तुना वेद्यते चरमतत्पुद्गलग्रासमात्रं यत्र तद्वेदकम्। विशे०। सम्यक्त्वपुद्गलवेदनात् क्षायोपशमिके सम्यक्त्वे, कर्म० ४ कर्म०।

इदानीं वेदकसम्यक्त्वमाह—

जो चरमपोग्गले पुण, वेदंती वेयगं तयं बिंति।
केसिं चि यमादेसो, वेयगदिट्ठी खओवसमो॥ १२८॥

यो दर्शनसप्तकक्षपको यतोऽनन्तरसमये क्षीणसम्यक्त्वो भविष्यति तस्मिन्समये वर्त्तमानसम्यग्दर्शनस्य चरमान् पुद्गलान् वेदयते तस्य तच्चरमपुद्गलवेदनं वेदकसम्यक्त्वं पूर्वसूरयो ब्रुवते। केषांचित् पुनर्बोटिकानामयमादेशो वेदकदृष्टिर्वेदकसम्यग्दर्शनम्, क्षयोपशमिकं सम्यग्दर्शननाशः, तेषामयमनादेशः सम्यक्त्वापरिज्ञानादिति। बृ० १ उ० १ प्रक०। वेदनं वेदः वेद एव वेदकः। वेदोदये, कर्म० ६ कर्म०।

वेदत्थ-वेदार्थ-पुं०। वैदिकानुष्ठाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

वेदपरिणाम-वेदपरिणाम-पुं०। स्त्र्यादिभेदात्त्रिधा त्रिधा भिन्ने परिणामभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

वेदपुरिस-वेदपुरुष-पुं०। वेदानुभवनप्रधानं पुरुषो वेदपुरुषः, स च स्त्रीपुंनपुंसकसंबन्धिषु त्रिष्वपि लिङ्गेषु भवतीति। आह च-' वेयपुरिसो तिलिंगो वि पुरिसवेयाणुभूयकालमिति '। स्त्र्यादिवेदानुभवनप्रधाने पुरुषे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

वेदरभी-वैदर्भी-स्त्री०। विदर्भदेशजातायां भीष्मपुत्ररुक्मिपुत्र्याम्, अन्त० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ०।

वेदावेदुद्देसग-वेदावेदोद्देशक-पुं०। वेदे वेदने कर्मप्रकृतेरेकस्या वेद्या वेदनमन्यासां प्रकृतीनां यत्रोद्देशकेऽभिधीयते स वेदावेदः स एवोद्देशकः। प्रज्ञापनायाः पञ्चविंशतितमे पदे, भ० १६ श० ३ उ०।

वेदि-वेदि-स्त्री०। वितर्दिकायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

वेदिग-वैदिक-त्रि०। जात्यार्यभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

वेदी-वेदी-स्त्री०। देवार्चनस्थाने, भ० ११ श० ६ उ०।

वेदूण-देशी-लज्जायाम्, दे० ना० ७ वर्ग ६५ गाथा।

वेदेसिय-वैदेशिक-त्रि०। विदेशवर्तिनि, व्य० ३ उ०।

वैफल्ल-वैफल्य-न०। निष्फलत्वे, अष्ट० १७ अष्ट०।

वेभव-वैभव-न०। विभव एव वैभवं प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण्, विभोर्भावः कर्म वेति वा वैभवम्। प्रकर्षे, स्था०।

वेभार-वैभार-पुं०। स्वनामख्याते राजगृहक्रीडापर्वते, भ० २ श० ४ उ०। ज्ञा०। प्रश्न०।

वैभारकल्पः—

"अथ वैभारकल्पोऽयं, स्तवरूपेण तन्यते।
संक्षिप्तरुचितोषाय, श्रीजिनप्रभसूरिभिः ॥ १॥
वभार वैभारगिरे-र्गुणप्राग्भारवर्णने।
निर्भरं भारतां बुद्धिं, भारती तत्र के वयम्॥ २॥
तीर्थभक्त्या तरलिता-स्तथापि व्यापिभिर्गुणैः।
राजन्तं तीर्थराजं तं, स्तुमः किंचिज्जडा अपि॥ ३॥
अत्र दारिद्र्यविद्रावि-रूपकारसकूपिका।
तप्तशीताम्बुकुण्डानि, कुर्युः कस्य न कौतुकम्॥ ४॥
त्रिकूटखण्डिकादीनि, शृङ्गाण्यस्य चकासति।
निःशेषकरणग्राम-स्यावनानि वनानि च॥ ५॥
औषध्यो विविधव्याधि-विध्वंसादिगुणोर्जिताः।
नद्यो ह्यत्रोदकाश्चात्र, सरस्वत्यादयोऽनघाः॥ ६॥
बहुधा लौकिकं तीर्थं, मागधालोचनादिकम्।
यत्र चैत्येषु बिम्बानि, ध्वस्तबिम्बानि वार्हताम्॥ ७॥
मेरूद्याने चतुष्कस्य, पुष्पसंख्यां विदन्ति ये।
अमुष्मिन् सर्वतीर्थानां, विदांकुर्वन्तु ते मतिम्॥ ८॥
श्रीशालिभद्रधन्यर्षिः, ह्यात्तशिलोपरि।
दृष्टौ कृततनूत्सर्गौ, पुंसां पापमथो हतः॥ ९॥
श्वापदाः सिंहशार्दूल-भल्लूकगवलादयः।
न जातुतीर्थमाहात्म्या-दिह कुर्वन्त्युपप्लवम्॥ १०॥
प्रतिदेशं विलोक्यन्ते, विहाराश्चात्र सौगताः।
आरुह्यैनं च निर्वाणं, प्रापुस्तेऽपि महर्षयः॥ ११॥
रौहिणेयादिवीराणां, प्राग् निवासतया श्रुताः।
निवाद्यन्ते तमस्काण्ड-दुर्विगाह्या गुहा इह॥ १२॥
उपत्यकायामस्याद्रे-र्भाति राजगृहं पुरम्।
क्षितिप्रतिष्ठमित्यादि, नामान्यन्वभवंस्तदा॥ १३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षितिप्रतिष्ठचणक-पुरर्षभपुराभिधम्।
कुशाग्रपुरसंज्ञं च, क्रमाद्राजगृहाह्वयम् ॥ १४ ॥
अत्र चासीद् गुणशिलं, चैत्यं शैत्यकसन्निभम्।
श्रीवीरो यत्र समव-सरे गणपतिः प्रभुः ॥ १५ ॥
प्राकारं यत्र मेतार्यः, शातकौम्भमचीकरत्।
सुरेण प्राप्य सुहृदा, मणिं स्वाजीहदच्छगम् ॥ १६ ॥
शालिभद्रादयोऽनेके, महेभ्या यत्र जज्ञिरे।
जगच्चमत्कारकरी, येषां श्रीभोगशालिनी ॥ १७ ॥
सहस्राः किल षट् त्रिंश—द्यत्रासन्वणिजां गृहाः।
तत्र चार्द्धाः सौगतानां, मध्ये चार्हतसंज्ञिनाम् ॥ १८ ॥
यस्य प्रासादपङ्क्तीनां, श्रियः प्रेक्ष्यातिशायिनीम्।
त्यक्तमाना विमानाख्या-मापुरित्युसुरालयाः ॥ १९ ॥
जगन्मित्रं यत्र मित्र-सुमित्रान्वयपङ्कजे।
अश्वाववोधनिर्व्यूढ-व्रतोऽभूत्सुव्रतो जिनः ॥ २० ॥
यत्र श्रीमान् जरासिन्धुः, श्रेणिकः कूणिको भयाः।
मेघहल्लविहल्लः श्री—नन्दिषेणोऽपि चाऽभवन् ॥२१॥
यत्र श्रीमन्महावीर-स्यैकादश गणाधिपाः।
पादपोपगमान्मासं, सिद्धावासं समासदन् ॥ २२ ॥
जम्बूस्वामिकृतैः पुण्यैः, शय्यंभवपुरस्सराः।
ययुर्यतीश्वरा यत्र, नन्दाद्याश्च पतिव्रताः ॥ २३ ॥
एकादशो गणधरः, श्रीवीरस्य गणेशितुः।
प्रभासो नाम पावित्र्यं, यस्य चक्रे स्वजन्मना ॥ २४ ॥
नालन्दालंकृते यत्र, वर्षारात्राश्चतुर्दश।
अवतस्थे प्रभुर्वीर-स्तत्कथं नास्तु पावनम् ॥ २५ ॥
यस्यां नैकानि तीर्थानि, नालन्दानायनश्रियाम्।
भव्यानां जनितानन्दा, नालन्दा नः पुनातु सा ॥ २६ ॥
मेघनादः स्फुरन्नादः, शात्रवाणां रणाङ्गणे।
क्षेत्रपालाग्रणीः कामान्, कांस्तान् पुंसां पिपर्त्ति न? ॥ २७ ॥
श्रीगौतमस्यायतनं, कल्याणस्तूपसंनिधौ।
दृष्टमात्रमपि प्रीतिं, पुष्णाति प्रणतात्मनाम् ॥ २८ ॥
वर्षे सिद्धा सरस्वद्रसशिखिकुमिते वैक्रमे तीर्थमौलौ,
सेवाहेवाकिनां श्रीविंतरसुरतरौ देवता सेवितस्य।
वैभारक्षोणिकर्त्तुर्गुणगणभणनव्यापृता भक्तियुक्तैः,
सूक्तिर्जैनप्रभीयं मृदुविशदपदा धीयतां धीरधीभिः ॥२९॥"
इतिश्रीवैभारगिरिमहातीर्थकल्पः। ती० १० कल्प।

वेभेल-वेभेल-पुं०। जम्बूद्वीपे भारते वर्षे विन्ध्यगिरिपाद-मूले स्थिते सन्निवेशे, भ० ३ श० २ उ०। ग०।

वेमणस्स-वैमनस्य-न०। दैन्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

वेमवं-वेमवत्-पुं०। तन्तुवाये, "येन रक्तस्फटानागो, निवसन् वदरीवने। पातितः क्षतिशस्त्रेण, क्षत्रियः सैप वेमवान् ॥१॥" प्रव० २ द्वार। आव०।

वेमाणिणी-वैमानिकी-स्त्री०। वैमानिकदेवस्त्रियाम्, जी० ४ प्रति० ३ उ०।

१ पुंस्त्वमत्रार्षत्वात्।

वेमाणिय-वैमानिक-पुं०। विविधं मन्यन्ते उपभुज्यन्ते पुण्य-वद्भिर्जीवैरिति विमानानि, तेषु भवाः वैमानिकाः। देवभेदेषु, प्रज्ञा० १ पद।

से किं तं वेमाणिया ?, वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-कप्पोपगा य, कप्पाईया य। प्रज्ञा० १ पद।

(कल्पोपगा 'कप्पोपग' शब्दे तृतीयभागे २४१ पृष्ठे उक्ताः।)

से किं तं कप्पाईया ?, कप्पाईया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-गेविज्जगा य, अणुत्तरोववाइया य। से किं तं गेविज्जगा ?, गेविज्जगा नवविहा पण्णत्ता, तं जहा-हिट्ठिमहिट्ठिमगेविज्जगा हिट्ठिममज्झिमगेविज्जगा हिट्ठिमउवरिमगेविज्जगा, मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगा मज्झिममज्झिमगेविज्जगा मज्झिमउवरिमगेविज्जगा, उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगा उवरिममज्झिमगेविज्जगा उवरिमउवरिमगेविज्जगा। ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य। सेत्तं गेविज्जगा ॥

'कप्पोवगा कप्पातीय' त्ति कल्पः आचारः स चेह इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशादिव्यवहाररूपस्तमुपगाः-प्राप्ताः कल्पोपगाः सौधर्मेशानादिदेवलोकनिवासिनः, यथोक्तरूपं कल्पमतीताः-अतिक्रान्ताः कल्पातीताः अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकादिनिवासिनः, ते हि सर्वेऽप्यहमिन्द्रास्ततो भवन्ति कल्पातीताः। प्रज्ञा० १ पद। प्रव०। उत्त०। (अनुत्तरोपपातिकाः 'अणुत्तरोववाइय' शब्दे प्रथमभागे ३८३ पृष्ठे उक्ताः।) ('ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १७०७ पृष्ठे वैमानिकानां स्थानानि विमानानि च।)—(स्थितिरेषां 'ठिइ' शब्दे चतुर्थभागे १७२६ पृष्ठे गता।)

संप्रति कियन्त एकस्मिन् समये उत्पद्यन्ते ?, इति निरूपणार्थमाह—

सोहम्मीसाणेसु देवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति, एवं ० जाव सहस्सारे, आणतादी गेवेज्जा अणुत्तरा य एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति ?, सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! देवा समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा केवतिएणं कालेणं अवहिया सिया ?, गोयमा ! ते णं असंखेज्जा समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीहिं अवहीरंति नो चेव णं अवहिया सिया ० जाव सहस्सारो, आणतादिगेसु चउसु वि गेवेज्जेसु अणुत्तरेसु य समए समए०जाव केवतिकालेणं अवहिया सिया?, गोयमा ! ते णं असंखेज्जा समए समए अवहीरमाणा पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागमेत्तेणं अवहीरंति, नो चेव णं अवहिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिया। सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु देवाणं के महालया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा सरीरा पण्णत्ता, तं जहा-भवधारणिज्जा य, उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागो उक्कोसेणं सत्त रयणीओ। तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विए से जहण्णेणं अंगुलसंखेज्जतिभागो, उक्कोसेणं जोयणसतसहस्सं, एवं एक्केका ओसारेत्ता णं ०जाव अणुत्तराणं एक्का रयणी। गेविज्जगुत्तराणं एगे भवधारणिज्जे सरीरे उत्तरवेउव्विया नऽत्थि ॥ (सू०२१३) सोहम्मीसाणेसु णं देवाणं सरीरगा किंसंघयणी पण्णत्ता, गोयमा! छण्हं संघयणाणं असंघयणी पण्णत्ता, नेवऽट्ठि नेव छिरा न वि ण्हारू णेव संघयणमत्थि। जे पोग्गला इट्ठा कंता० जाव ते तेसिं संघातत्ताए परिणमंति० जाव अणुत्तरोववातिया॥ सोहम्मीसाणेसु देवाणं सरीरगा किंसंठिता पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा सरीरा-भवधारणिज्जा य,उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते समचउरंससंठाणसंठिता पण्णत्ता। तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते णाणासंठाणसंठिया पण्णत्ता० जाव अच्चुओ। अवेउव्विया गेविज्जगुत्तरा, भवधारणिज्जा समचउरंससंठाणसंठिता उत्तरवेउव्विया णऽत्थि। (सू० २१४) सोहम्मीसाणेसु देवा केरिसया वण्णेणं पन्नत्ता?,गोयमा! कणगत्तयरत्ताऽऽभा वण्णेणं पण्णत्ता। सणंकुमारमाहिंदेसु णं पउमपम्हगोरा वण्णेणं पण्णत्ता। बंभलोगे णं भंते ! गोयमा! अल्लमधुगवण्णाऽऽभा वण्णेणं पण्णत्ता,एवं०जाव गेवेज्जा, अणुत्तरोववातिया परमसुक्किल्ला वण्णेणं पण्णत्ता ॥ सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु देवाणं सरीरगा केरिसया गंधेणं पण्णत्ता ?, गोयमा! से जहाणामए—कोट्ठपुडाण वा तहेव सव्वं० जाव मणामतरता चेव गंधेणं पण्णत्ता० जाव अणुत्तरोववाइया॥ सोहम्मीसाणेसु देवाणं सरीरगा केरिसया फासेणं पण्णत्ता ?, गोयमा ! थिरमउयणिद्धसुकुमालच्छवि फासेणं पण्णत्ता, एवं० जाव अणुत्तरोववातिया॥ सोहम्मीसाणदेवाणं केरिसगा पुग्गला उस्सासत्ताए परिणमंति?,गोयमा! जे पोग्गला इट्ठा कंता०जाव ते तेसिं उस्सासत्ताए परिणमंति० जाव अणुत्तरोववातिया, एवं आहारत्ताए वि० जाव अणुत्तरोववातिया॥ सोहम्मीसाणदेवाणं कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा ! एगा तेउलेस्सा पण्णत्ता। सणंकुमारमाहिंदेसु एगा पम्हलेस्सा, एवं बंभलोगे वि पम्हा सेसेसु एक्का सुक्कलेस्सा। अणुत्तरोववातियाणं एक्का परमसुक्कलेस्सा। सोहम्मीसाणदेवा किं सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी ? तिण्णि वि,०जाव अंतिमगेवेज्जा देवा सम्मदिट्ठी वि मिच्छादिट्ठी वि सम्मामिच्छादिट्ठी वि। अणुत्तरोववातिया सम्मदिट्ठी णो मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी॥ सोहम्मीसाणा किं णाणी अण्णाणी ?, गोयमा ! दो वि तिण्णि णाणा तिण्णि अण्णाणा णियमा ०जाव गेवेज्जा। अणुत्तरोववातिया नाणी नो अण्णाणी तिण्णि णाणा नियमा तिविधे जोगे दुविहे उवयोगे सव्वेसिं ०जाव अणुत्तरा। (सू० २१५)

'सोहम्मी' त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवा एकस्मिन् समये, सूत्रे तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात्, कियन्त उत्पद्यन्ते ?, भगवानाह-गौतम ! जघन्येन एको द्वौ वा त्रयो वा, उत्कर्षतः संख्येया वाऽसंख्येया वा, तिरश्चामपि गर्भजपञ्चेन्द्रियाणां तत्रोत्पादात्, एवं तावद्वक्तव्यं यावत्सहस्रारकल्पः। 'आणयदेवाणं भंते !' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह—गौतम ! जघन्येनैको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येयाः, मनुष्याणामेव तत्रोत्पादात्, तेषां कोटीकोटीप्रमाणत्वात्, एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरोपपातिका देवाः। सम्प्रति कालतोऽपहारतः परिमाणमाह—'सोहम्मी' त्यादि सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवाः समये समये एकैकदेवापहारेणापह्रियमाणा अपह्रियमाणाः कियता कालेनापह्रियन्ते ? , भगवानाह—गौतम ! असंख्येयास्ते देवाः समये समये एकैकदेवापहारेणापह्रियमाणा अपह्रियमाणा असंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते। एतावता किमुक्तं भवति ?-असंख्येयासूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणाः सौधर्मेशानदेवा इति। एवमुत्तरत्रापि भावना भावनीया। एतच्च कल्पनामात्रं परिमाणावधारणार्थमुक्तं न पुनस्ते कदाचनापि केनाप्यपहृताः स्युः, तथा चाह-' नो चेव णं अवहिया सिया ' एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत्सहस्रारकल्पाः देवाः, 'आणयपाणयआरणअच्चुएसु' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-गौतम ! आनतप्राणतारणाच्युतेषु कल्पेषु देवा असंख्येयाः, ते च समये समये एकैकापहारेणापह्रियमाणाः पल्योपमस्य-क्षेत्रपल्योपमस्य सूक्ष्मस्यासंख्येयभागमात्रेण कालेनापह्रियन्ते। किमुक्तं भवति ?—सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणास्ते भवन्तीति, एवं ग्रैवेयकदेवा अनुत्तरोपपातिनोऽपि वाच्याः। सम्प्रति शरीरावगाहनामानप्रतिपादनार्थमाह-' सोहम्मीसाणेसु णं भंते !' इत्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवानां ' किंमहालया ' इति किंमहती शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह—गौतम ! द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-भवधारणीया, उत्तरवैक्रिया च। तत्र या सा भवधारणीया सा जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रा उत्कर्षतः सप्त रत्नयः। तत्र या सा उत्तरवैक्रिया सा जघन्यतोऽङ्गुलस्य संख्येयं भागं यावत् न त्वसंख्येयं तथाविधप्रयत्नाभावात्, उत्कर्षत एकं योजनशतसहस्रम्, एवं तावद्वाच्यं यावदच्युतकल्पो, नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोरुत्कर्षतो भवधारणीया षड् रत्नयः, ब्रह्मलोकलान्तकेषु पञ्च, महाशुक्रसहस्रारयोश्चत्वारः, आनतप्राणतारणाच्युतेषु त्रयः, ' गेवेज्जगदेवाणं भंते !' इत्यादि, ग्रैवेयकदेवानां भदन्त ! किंमहती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह—गौतम ? ग्रैवेयकदेवानामेकं भवधारणीयं शरीरं प्रज्ञप्तं न तूत्तरवैक्रियं, शक्तौ सत्यामपि प्रयोजनाभावात्तदकरणात्. तदपि च भवधारणीयं जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रमुत्कर्षतो द्वौ रत्नी। एवमनुत्तरोपपातसूत्रमपि वक्तव्यं, नवरमुत्कर्षत एका रत्निरिति वाच्यम्। सम्प्रति संहननमधिकृत्याह-'सोहम्मी'त्यादि. सौधर्मेशानयोर्भदन्त !कल्पयोर्देवानां शरीराणि'किंसंहननानि किं संहननं येषां तानि तथा प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह-गौतम ! षण्णां संहनननानामन्यतमेनापि संहननेनासंहनननानीति, संहननस्याऽस्थिरचनात्मकत्वात् तेषां चाऽस्थ्यादीनामसम्भवात्। तथा चाह-' नेवऽट्ठी ' इत्यादि, नैवास्थि तेषां शरीरेषु नापि शिराग्रीवाधमनिर्नापि स्नायूंषि शेषं शिराजालम् , किन्तु-ये पुद्गला इष्टाः कान्ताः प्रिया मनोज्ञा मनआपतरा एतेषां व्याख्यान प्राग्वत्. ते तेषां सङ्घाततया परिणमन्ति, ततः संहननाभावः एवं तावद्वाच्यं यावदनुत्तरोपपातिकानां देवानाम्। सम्प्रति संस्थानप्रतिपादनार्थमाह-' सोहम्मीसाणेसु' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह—गौतम ! तेषां शरीरकाणि द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-भवधारणीयानि, उत्तरवैक्रियाणि च। तत्र यद् भवधारणीयं तत्समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तं देवाना भवप्रत्ययतः, प्रायः शुभनामकर्मोदयभावात्। तत्र यदुत्तरवैक्रियं तत् नानासंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तं, तस्येच्छया निर्वर्त्यमानत्वात्। एवं तावद्वक्तव्यं यावदच्युतः कल्पः। 'गेविज्जगदेवाणं' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-गौतम ! ग्रैवेयकदेवानामेकं भवधारणीयं शरीरं तच्च समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम् , एवमनुत्तरोपपातिसूत्रमपि। अधुना वर्णप्रतिपादनार्थमाह-' सोहम्मी ' त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त। कल्पयोर्देवानां शरीरकाणि कीदृशानि वर्णेन प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह—गौतम ! कनकत्वग्युक्तानि,कनकत्वगिव रक्ता आभा-छाया येषां तानि तथा वर्णेन प्रज्ञप्तानि, उत्तप्तकनकवर्णानीति भावः, एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि, नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्ब्रह्मलोकेऽपि च पद्मपद्मगौराणि, पद्मकेसरतुल्यावदातवर्णानीति भावः, ततः परं लान्तकादिषु यथोत्तरं शुक्लशुक्लतरशुक्लतमानि, अनुत्तरोपपातिनां परमशुक्लानि। उक्तञ्च-"कणगत्तयरत्ताऽऽभा,सुरवसभा दोसु होंति कप्पेसु। तिसु होंति पम्हगोरा, तेण परं सुक्किला देवा ॥ १ ॥" सम्प्रति गन्धप्रतिपादनार्थमाह—' सोहम्मी ' त्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह—गौतम ! ' से जहानामए—कोट्ठपुडाण वा ' इत्यादि, विमानवद्भावनीयम् , एवं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरोपपातिनाम्। सम्प्रति स्पर्शप्रतिपादनार्थमाह—' सोहम्मीत्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवानां शरीरकाणि कीदृशानि स्पर्शेन प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह—गौतम ! ' थिरमउयणिद्धसुकुमाला फासेणं पण्णत्ता' इति स्थिराणि न तु मनुष्याणामिव विशरारुभावं बिभ्राणानि मृदूनि-अकठिनानि स्निग्धानि-स्निग्धच्छायानि न तु रूक्षाणि सुकुमाराणि न तु कर्कशानि ततो विशेषणसमासः, स्पर्शेन प्रज्ञप्तानि, एवं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरोपपातिनां देवानां शरीरकाणि। साम्प्रतमुच्छ्वासप्रतिपादनार्थमाह—' सोहम्मी ' त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त कल्पयोर्देवानां कीदृशाः पुद्गला उच्छ्वासतया परिणमन्ति ?, भगवानाह—गौतम ! ये पुद्गलाः इष्टाः कान्ताः प्रिया मनोज्ञा मनआपा एतेषां व्याख्यानं प्राग्वत्, ते तेषामुच्छ्वासतया परिणमन्ति। एवं तावद्वाच्यं यावदनुत्तरोपपातिका देवाः। एवमाहारसूत्राण्यपि। सम्प्रति लेश्याप्रतिपादनार्थमाह-' सोहम्मी' त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवानां कति लेश्याः प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह-गौतम ! एका तेजोलेश्या , इदं प्राचुर्यमङ्गीकृत्य प्रोच्यते, यावता पुनः कथञ्चित्तथाविधद्रव्यसम्पर्कतोऽन्यापि लेश्या यथासम्भवं प्रतिपत्तव्या। सनत्कुमारमाहेन्द्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-गौतम ! एका पद्मलेश्या प्रज्ञप्ता, एवं ब्रह्मलोकेऽपि, लान्तके प्रश्नसूत्रं सुगमम्। निर्वचनं-गौतम ! एका शुक्ललेश्या प्रज्ञप्ता, एवं यावदनुत्तरोपपातिका देवाः। उक्तं च-" किण्हा नीला काऊ, तेऊलेसा य भवणवंतरिया। जोइससुहम्मिसाणा, तेऊलेसा मुणेयव्वा ॥ १ ॥ कप्पे सणंकुमारे, माहिंदे चेव बंभलोए य। एएसु पम्हलेसा, तेण परं सुक्कलेसा उ ॥ २ ॥ " सम्प्रति दर्शनं चिचिन्तयिषुराह-' सोहम्मी ' त्यादि , सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवा णमिति वाक्यालङ्कारे किं सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः ?, भगवानाह—गौतम ! सम्यग्दृष्टयोऽपि मिथ्यादृष्टयोऽपि सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽपि। एवं यावद् ग्रैवेयकदेवाः, अनुत्तरोपपातिनः सम्यग्दृष्टय एव वक्तव्याः न मिथ्यादृष्टयो नापि सम्यग्मिथ्यादृष्टयः तेषां तथास्वभावत्वात्। सम्प्रति ज्ञानाज्ञानचिन्तां चिकीर्षुराह-' सोहम्मी ' त्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह—गौतम ! ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनोऽपि, तत्र ये ज्ञानिनस्ते नियमात्त्रिज्ञानिनः, तद्यथा-आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनः। ये अज्ञानिनस्ते नियमात् त्र्यज्ञानिनः, तद्यथा-मत्यज्ञानिनः, श्रुताज्ञानिनो, विभङ्गज्ञानिनश्च. एवं तावद्वाच्यं यावद् ग्रैवेयकाः। अनुत्तरोपपातिनो ज्ञानिन एव वक्तव्याः। योगसूत्राणि पाठसिद्धानि।

सम्प्रत्यवधिक्षेत्रपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह-

सोहम्मीसाणदेवा ओहिणा केवतियं खेत्तं जाणंति पासंति ?, गोयमा ! जहणेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं अवही ०जाव रयणप्पभापुढवी , उड्ढं ०जाव साइं विमाणाइं तिरियं ०जाव असंखेज्जा दीवसमुद्दा एवं-

"सक्कीसाणा पढमं, दोच्चं च सणंकुमारमाहिंदा।
तच्चं च बंभलंतग-सुक्कसहस्सारगचउत्थीं ॥ १ ॥
आणयपाणयकप्पे, देवा पासंति पंचमिं पुढविं।
तं चेव आरणच्चुय, ओहीनाणेण पासंति ॥ २ ॥
छट्ठिं हेट्ठिममज्झिम-गेवेज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला।
संभिण्णलोगनालिं, पासंति अणुत्तरा देवा ॥ ३ ॥"
(सू० २१६)

' सोहम्मी ' त्यादि सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवाः कियत्क्षेत्रमवधिना जानन्ति ज्ञानेन, पश्यन्ति दर्शनेन ?, भ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गवानाह-गौतम ! जघन्येनाङ्गुलस्यासंख्येयभागम् , अत्र पर आह—नन्वङ्गुलासंख्येयभागमात्रक्षेत्रपरिमितोऽवधिः सर्वजघन्यो भवति,सर्वजघन्यश्चावधिस्तिर्यग्मनुष्येष्वेव न शेषेषु। यत आह भाष्यकारः स्वकृतभाष्यटीकायाम्—"उत्कृष्टो मनुष्येष्वेव नान्येषु मनुष्यतिर्यग्योनिष्वेवं जघन्यो नान्येषु शेषाणां मध्यम एवेति " तत्कथमिह सर्वजघन्य उक्तः ?, उच्यते—सौधर्मादिदेवानां पारभाविकोऽप्युपपातकालेऽवधिः संभवति स एव कदाचित्सर्वजघन्योऽपि उपपातानन्तरं तु तद्भवजः ततो न कश्चिद्दोषः। आह च जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः—" वेमाणियाण अंगुल-भागमसंखं जहन्नओ होइ (ओही)। उववाए परभविओ , तब्भवजो होइ तो पुच्छा ॥१॥" ' उक्कोसेणं ' ति एवं यथाऽवधिपदे प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यम् , तच्चैवम्-' उक्कोसेणं अहे ०जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते'अधस्तनाच्चरमपर्यन्ताद् यावदित्यर्थः 'तिरियं०जाव असंखेज्जे दीवसमुद्दे उड्ढं०जाव सगाइं विमाणाइं' स्वकीयानि विमानानि स्वकीयविमानस्तूपध्वजादिकं यावदित्यर्थः ' जाणंति पासंति एवं सणंकुमारमाहिंदाऽवि नवरं अहे०जाव दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते , एवं बंभलोगलंतगदेवा वि , नवरं अहे० जाव तच्चाए पुढवीए महासुक्कसहस्सारगदेवा, चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते आणयपाणयआरणच्चुयदेवा अहे ०जाव पंचमीए पुढवीए धूमप्पभाए हेट्ठिल्ले चरिमंते, हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जगदेवा छट्ठीए तमप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते , उवरिमगेवेज्जगा देवा अहे ० जाव सत्तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते , अणुत्तरोववाइयदेवा णं भंते ! केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति , गोयमा ! संभिन्नं लोगनालिं ' पारपूर्णं चतुर्दशरज्ज्वात्मिकां लोकनाडीमित्यर्थः ' ओहिणा जाणंति पासंति ' इति । उक्तञ्च—

" सक्कीसाणा पढमं , दोच्चं च सणंकुमारमाहिंदा ।
तच्चं च बंभलंतग-सुक्कसहस्सारग चउत्थि ॥ १ ॥
आणयपाणयकप्पे , देवा पासंति पंचमिं पुढविं ।
तं चेव आरणच्चुय , ओहीनाणेण पासंति ॥ २ ॥
छट्ठिं हिट्ठिममज्झिम-गेविज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला ।
संभिन्नलोगनालिं , पासंति अणुत्तरा देवा ॥ ३ ॥ "

जी० ३ प्रति० २ उ० । (समुद्घातादयः समुद्घातादिशब्देषु)

वैमानिकानां वासस्थानमाह—

केवइया णं भंते ! वेमाणियावासा पण्णत्ता ?, गोयमा इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं वीइवइत्ता बहूणि जोयणाणि बहूणि जोयणसयाणि बहूणि जोयणसहस्साणि बहूणि जोयणसयसहस्साणि बहुइओ जोयणकोडीओ बहुइओ जोयणकोडाकोडीओ असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं वीइवइत्ता एत्थ णं वेमाणियाणं देवाणं सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलंतगसुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणअच्चुएसु गेवेज्जगमणुत्तरेसु य चउरासीइं विमाणावाससयसहस्सा सत्ताणउइं च सहस्सा तेवीसं च विमाणा भवंतीति मक्खाया, ते णं विमाणा अच्चिमालिप्पभा भासरासिवण्णाऽऽभा अरया नीरया णिम्मला वितिमिरा विसुद्धा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा घट्ठा मट्ठा णिप्पंका णिक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सरीया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । (सू०१५०×)

' केवइए ' त्यादि रत्नप्रभायाः पृथिव्या ' बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ ' त्ति बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य ऊर्ध्वं—उपरि तथा चन्द्रमसः—सूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपाणि णमित्यलङ्कारे किं ?—' वीइवइत्त ' त्ति व्यतिव्रज्य—व्यतिक्रम्येत्यर्थः, तारारूपाणि चेह तारका एवेति, तथा—बहूनी ' त्यादि, किमित्याह—ऊर्ध्वम्—उपरि दूरमत्यर्थं व्यतिव्रज्य चतुरशीतिविमानलक्षाणि भवन्तीति सम्बन्धः ' इति मक्खाय ' त्ति इति—एवंप्रकारा, अथवा—यतो भवन्ति तत आख्याताः सर्ववेदिनेति । ' ते णं ' ति—तानि विमानानि णमिति वाक्यालङ्कारे ' अच्चिमालिप्पभ ' त्ति अर्चिर्मालिः-आदित्यस्तद्वत्प्रभान्ति—शोभन्ते यानि तान्यर्चिर्मालिप्रभाणि, तथा भासानां-प्रकाशानां राशिः-भासराशिः-आदित्यस्तस्य वर्णस्तद्वदाभा-छाया वर्णो येषां केषांचित्तानि भासराशिवर्णाऽऽभानि, तथा ' अरय ' त्ति अरजांसि स्वाभाविकरजोरहितत्वात् ' नीरय ' त्ति नीरजांसि आगन्तुकरजोविरहात् 'निम्मल'त्ति निर्मलानि 'कक्खड' त्ति (कर्कश) मलाभावात् ' वितिमिर ' त्ति वितिमिराणि आहार्यान्धकाररहितत्वात् विशुद्धानि स्वाभाविकतमोविरहात् सकलदोषविरामाद्वा सर्वरत्नमयानि; न दार्वादिदलमयानीत्यर्थः, अच्छान्याकाशस्फटिकवत् श्लक्ष्णानि सूक्ष्मस्कन्धमयत्वात् घृष्टानीव घृष्टानि खरशाणया पाषाणप्रतिमेव मृष्टानि सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमेवेति निष्पङ्का कलङ्कविकलत्वात् कर्दमविशेषरहितत्वाद्वा निष्कङ्कटा—निष्कवचा निरावरण-निरुपघातेत्यर्थः,छाया-दीप्तिर्येषां तानि निष्कङ्कटच्छायानि सप्रभाणि-प्रभावन्ति समरीचीनि—सकिरणानीत्यर्थः सोद्योतानि—वस्त्वन्तरप्रकाशनकारीणीत्यर्थः, 'पासाईए' त्यादि प्राग्वत् ।स० १५० सम०।

चतुर्निकायेषु विमानाधिपतयः सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयो वेति ? प्रश्नोऽत्रोत्तरं विमानाधिपतितया यो देवविशेष उत्पद्यते स सम्यग्दृष्टिरेव भवति, न कदापि स मिथ्यादृष्टिरित्यनादिकालीना जगद्व्यवस्थितिः, यतो विमानाधिपतितयोत्पद्यमानो देवः ' किं मे पुव्वं करणिज्जं ? किं मे पच्छा करणिज्जं ? किं मे पुव्वं सेयं ? किं मे पच्छा सेयं ? किं मे पच्छा सेयं किं मे पुव्वं पि पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामिअत्ताए भविस्सइ ?' इत्यादिराजप्रश्नीयोक्तशुभाध्यवसायविशेषेण सम्यग्दृष्टिरेवावसीयते, सम्यक्त्वमन्तरेण तथाध्यवसायरूपपरिणामानुत्पत्तेः। न चायं प्रकारो राजप्रश्नीयाद्युपाङ्ग सूर्याभदेवसम्बन्धित्वाच्चरितानुवादरूपोऽतः कथं सर्व्वेषामप्यन्यविमानाधिपतित्वेनोत्पद्यमानानां देवविशेषाणामयमेव प्रकार इति शङ्कनीयम् ,ग्रन्थान्तरे प्रकारान्तरस्यानभिधानाद् ,अन्येषामपि विमानाधिपतितयोत्पद्यमानानां तथाप्रकारस्य क-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्तुमौचित्याद् , अत एव विजयदेवाधिकारे तथाप्रकार एव विजयराजधान्यामुत्पन्नमात्रस्य विजयदेवस्यागमे भणित इति । किञ्च-विमानाधिपतिदेवानां मिथ्यादृष्टित्वेऽभ्युपगम्यमाने तद्विमानगतसिद्धायतनजिनप्रतिमानां मिथ्यादृष्टिभावितत्वेन भावग्रामताव्याघातः स्यात् , सम्यग्दृष्टिभावितानामेव—सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतानामेवेत्यर्थः, तासां भावग्रामतया प्रवचने प्रतिपादनात् , न तु मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतानामपीति , तथाचोक्तम्—' जा सम्मभाविआओ, पडिमा इयरा ण भावगामो उ त्ति ' बृहत्कल्पनिर्युक्तौ तद्वृत्त्येकदेशो यथा याः सम्यग्दृष्टिपरिगृहीताः प्रतिमाः ता भावग्राम उच्यते, नेतरा—मिथ्यादृष्टिपरिगृहीता इत्यादि, किञ्च—विमानाधिपतयो देवाः परैर्मिथ्यादृशोऽभिधीयन्ते, ते देवाः किं तीर्थकृतामाशातनां परिहरन्ति न वा ? यदि परिहरन्तीत्युच्यते, तदा मिथ्यादृष्टित्वं तेषां दत्ताञ्जल्येव सम्पन्नम् । ' आसायणवज्जणाओ सम्मत्त ' मिति वचनेन सम्यक्त्वस्यैवाभिधानात् , तत्राशातनापरिहारोऽपि, " अहो देवाण य सीलं, विसयविसमोहिआ वि जिणभवणे । अच्छरसाईहिँ समं, हासं कीलं च वज्जंति ॥ १ ॥ " इति प्रवचनाभिहित एव, नापरः, तस्यागमेऽनुक्तेः, स च मिथ्यादृष्टित्वे सति स्वप्नेऽपि न सम्भवति, किन्तु नियमतः सम्यग्दृशामेवात एव तथाशातनावर्जनस्वरूपशालिनां देवविशेषाणां वर्णवादोऽर्हतां वर्णवादवत्प्रेत्य सुलभबोधिताहेतुर्भणितः तथा च स्थानाङ्गसूत्रम्—' पंचहिं ठाणेहिं जीवा सुलभबोहिअत्ताए कम्मं पकरेंति ' अरहंताणं वन्नं वयमाणे ०जाव विविक्कतववंभचेराणं देवाणं वण्णं वयमाणे ' वृत्तिदेशो यथा—तत्र देवानां वर्णवादो यथा ' अहो देवाण य सीलं'इत्यादि । यच्च कैश्चिदाशङ्क्यते-मिथ्यादृशोऽपि स्थानकमाहात्म्यात्तथा तपाशातना वर्ज्जयिष्यन्तीति, तदपि परास्तमवसातव्यं, यतो मिथ्यादृशां दूरे वर्णवादस्य सुलभबोधिताहेतुत्वं प्रत्युत सम्यक्त्वदूषकत्वमेव तस्यागमेऽभिहितम् , यदुक्तम्-" शङ्का १ काङ्क्षा २ विचिकित्सा ३, मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम् ४ । तत्संस्तवश्च पञ्चापि ५ , सम्यक्त्वं दूषयन्त्यमी ॥ १ ॥" इति योगशास्त्रे । अथ तं न परिहरन्तीति द्वितीयपक्षः, स तूपेक्षणीय एव, आगमे सिद्धायतनेष्वाशातनापरिहरणस्यैवाभिधानात् , ' बहूणं देवाणं देवीण य वंदणिज्जाओ अच्चणिज्जाओ ' इत्यादिना वन्दनपूजनादेराशातनापरिहारपूर्व्वकतयैव भावादिति । आस्तां सिद्धायतनेषु, यत्र सुधर्म्मासभासु स्वमाणवकचैत्यस्तम्भेषु श्रीमदर्हद्दंष्ट्रालंकृताः समुद्गकास्तिष्ठन्ति तत्रापि देवा नैव मैथुनादिप्रवृत्तिकरणादिनाऽऽशातनां कुर्व्वन्तीति । तस्मात्सिद्धं सुलभबोधिताहेतुतीर्थकृदाशातनापरिहारान्यथानुपपत्त्या विमानाधिपतयः सम्यग्दृशो भवन्तीति । किञ्च-यदि विमानाधिपतिर्देवो मिथ्यादृष्टिरपि जिनप्रतिमाः पूजयतीति कल्पस्थितिरिति परे कल्पयन्ति, तथा तद्देवानुवृत्त्या परेऽपि तद्विमानवासिनो देवा मिथ्यादृशः किं न पूजयन्तीति परिकल्पयन्ति, सम्यग्दृष्टयस्तु इमा अर्हत्प्रतिमा मोक्षाय भविष्यन्तीति बुद्ध्या पूजयन्ति, (एवं चेत्) ' सव्वेसिं देवाणं सव्वेसिं देवीण य अच्चणिज्जे ' इत्यादिका पाठरचना कृताऽभविष्यत् , परं सा न कृता, प्रत्युत ' बहूणं देवाणं देवीण य अच्चणिज्जे' इत्यादिका पाठरचना कृता, ततोऽवसीयते य एव सम्यग्दृशो देवास्त एव जिनप्रतिमाः पूजयन्ति शक्रस्तवं च पठन्तीति सुधीभिः परिभावनीयम् । यत्तु 'एवं खलु देवाणुप्पिआणं अंतेवासी तीसए णामं अणगारे छट्ठं छट्ठेण ०जाव सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सामाणिआ देवा केमहिड्डिया' इति भगवत्यां तृतीयशतके प्रथमोद्देशके शक्रसामानिकानां निजनिजविमानेषूत्पत्तिभणनात्तदाधिपत्यभणनाच्च सव्वें सामानिकसुरा विमानाधिपतयो भणिताः, तथा भणने च तदन्तर्गतः सङ्गमकाऽमरोऽपि विमानाधिपतिरेव भणितोऽवसेयः, स चाभव्यत्वान्नियमात् मिथ्यादृष्टिरेवेति कथं सम्यग्दृश एव विमानाधिपतयः सर्व्वेऽपीति वक्तुं पार्यते इति विकल्पयन्ति, तदपि न सम्यग् , प्रवचनाभिप्रायस्य तैरनाकलनात् , न हि ' सयंसि विमाणंसि ' इति पाठबलेन विमानाधिपतित्वं सामानिकानां सेत्स्यति, तथा पाठस्य विमानाधिपतित्वं विनाऽप्यागमे उपलम्भात् , यतो ज्ञाताधर्मकथाङ्गे कालिदेव्याः कालावतंसकविमाने उत्पत्तिरभिहिता । सूरप्रभादेव्याः सूरप्रभे विमाने यावत्पद्मादेव्याः सौधर्मे कल्पे पद्मावतंसके विमाने तथा कृष्णादेव्या ईशाने कल्पे कृष्णावतंसकविमाने उत्पत्तिर्भणिता, देवीनां चाग्रमहिषीणां न भवनानि न विमानानि प्रवचनेऽभिहितानि सन्ति, अपरिगृहीतदेवीनामेव विमानानां भणनात् । अयं च भावो-यथा देवीनां पृथग् विमानानि न सन्ति, परं मूलविमानसम्बन्धिविमानैकदेशः स्वोत्पत्तियोग्यः तद्विमानत्वेन भणितः, एवं सामानिकानामपि शक्रविमानसम्बन्धी तदेकदेशः तदीयप्रभुतादिना नियमितः तदीयविमानत्वेन भण्यमानो न दोषावह इति । तदभिव्यञ्जकं जिनजन्मोत्सवादौ शक्रसिंहासनमण्डनवत्तदग्रमहिषीसिंहासनमण्डनवच्च चतुरशीतिसहस्रसामानिकदेवानामपि तदर्हसिंहासनमण्डनमेवावसेयम् । यदि ते सामानिकाः शक्रविमानवासिनो न स्युः ततः कथमिव तेषां सिंहासनानि शक्रविमाने मण्डितानि भवेयुरित्यपि स्वधिया पर्य्यालोच्यम् , 'सयंसि विमाणंसि ' इत्यादि पाठावलोकनेऽपि न कोऽपि व्यामोहः कार्यः, एवं च विमानाधिपतयः सम्यग्दृशो भवन्तीति आगमिकयुक्तेः आगमप्रामाण्यात् तत्सिद्धस्यार्थस्यापि प्रामाणिकत्वं प्रतिपत्तव्यमेव । यदुक्तम्—' तह वक्खाणेअव्वं ' जहा जहा तस्स अवगमो होई । आगमिअमागमेणं, जुत्तीगम्मं तु जुत्तीए ॥ १ ॥ ' त्ति, पञ्चवस्तुके यथा, नवरं चन्द्रविमाने चन्द्र उत्पद्यते तत्सामानिकात्मरक्षकादयश्चेति चन्द्रप्रज्ञप्त्यष्टादशप्राभृतकवृत्तिप्रान्तेऽस्तीति अतोऽपि सङ्गमको न पृथक् विमानाधिपतिरित्यवसीयते । इति विमानाधिपतयस्सम्यग्दृष्टय एवेति व्यवस्थितम् ॥ ३७ ॥

वेमाणियदेवित्थिया-वैमानिकदेवस्त्रिका-स्त्री० । वैमानिकदेव्याम् , जी० २ प्रति० ।

वेमायट्ठितिया-विमात्रस्थितिका-स्त्री० । विमात्रा विषयमात्रा स्थितिरायुर्येषां ते विमात्रस्थितयः । विषमायुष्केषु, भ० ३४ श० १ उ० ।

वेमायणिद्धया-विमात्रस्निग्धता-स्त्री० । विषमा मात्रा यस्याः सा विमात्रा, सा चासौ स्निग्धता चेति विमात्रस्निग्धता । विमात्रस्नेहे, भ० ३४ श० १ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेमाया-विमात्रा-स्त्री० । कदाचित्सातं कदाचिदसातमित्यादिरूपायां विविधमात्रायाम्, भ० ६ श० १ उ० । स्था० । विविधा मात्रा परिमाणमासामिति विमात्रा । विचित्रपरिणामायाम्, उत्त० २ अ० । आव० । आ० म० ।

वेयडिय-वैकटिक-त्रि० । सुरासन्धानकारिणि, व्य० ६ उ० ।

वेयड्ड-वैताढ्य-पुं० । पर्वतविशेषे, प्रश्न० । वैताढ्यसमीपे द्विसप्ततिबिलानि क्व सन्तीति प्रश्नः ?, अत्रोत्तरं-वैताढ्यनिश्रया गङ्गासिन्ध्वोर्द्विसप्ततिबिलानि, तत्र दक्षिणभरतार्द्धे उत्तरभरतार्द्धे च तत्तद्द्वये नव नव बिलसद्भावादिति । ८७ । सेन० ४ उल्ला० ।

वेयण-वेतन-न० । मूल्ये, विपा० १ श्रु० ३ अ० । उत्त० ।

वेदन-न० । अनुभवे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । आचा० । कर्म० । सूत्र० । अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः । आ० म० १ अ० । न० । स्थितिक्षयादुदयप्राप्तस्य कर्मण उदीरणाकरणेन चोदयभावमुपनीतस्यानुभवने, स्था० ४ ठा० १ उ० । दश० । प्रतिसमयं स्वेन रसविपाकेनानुभवने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । उदये, दश० ४ अ० ।

वेयणअहियासण-वेदनाध्यासन-न० । क्षुदादिपीडासहने, भ० १७ श० ३ उ० ।

वेयणंतिया-वेदनान्तिका-स्त्री० । ब्राह्म्या लिपेर्भेदे, स० १८ सम० ।

वेयणवेयावच्च-वेदनावैयावृत्त्य-न० । वेदना चक्षुर्वेदना वैयावृत्त्यं चाचार्यादिकृत्यकरणं वेदनावैयावृत्त्यम् । वेदनोपशमनार्थं वैयावृत्यकरणे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । वेदनावैयावृत्यार्थं भुञ्जीत तत्र क्षुद्वेदनोपशमनाय भुञ्जीत यतो नास्ति क्षुत्सदृशी वेदना । ग० २ अधि० ।

वेयणा-वेदना-स्त्री० । वेद्यतेऽनयेति वेदना । योगशास्त्रपरिभाषया स्पर्शनेन्द्रियजे ज्ञाने, यत्प्रकर्षाद्दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानमुत्पद्यते । द्वा० २६ द्वा० । आव० । वेदनं वेदना स्वभावेनोदीरणाकरणेन चोदयावलिकाप्रविष्टस्य कर्मणोऽनुभवने, संक्रमविशेषे चायोग्यवस्थारूपे कर्मणां वेदनैव भवति न बन्ध इति । स्था० ।

वेदनास्वरूपमाह—

एगा वेयणा । (सू० १५)

वेदनं वेदना-स्वभावेनोदीरणाकरणेन वोदयावलिकाप्रविष्टस्य कर्मणोऽनुभवनमिति भावः । सा च ज्ञानावरणीयादिकर्मापेक्षया अष्टविधाऽपि विपाकोदयप्रदेशोदयापेक्षया द्विविधाऽपि आभ्युपगमिकी-शिरोलोचादिका औपक्रमिकी-रोगादिजनितेत्येवं द्विविधाऽपि वेदना सामान्यादेकैवेति । स्था० १ ठा० । औ० । स० । स्वशरीराव्यक्तचेतनायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । कर्मानुभवे, 'णत्थि वेयणा' त्ति न संज्ञां निवेशयेत् । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । ज्ञाने, सातासातरूपे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सुखदुःखानुभवस्वभावा वेद्यन्त इति वेदनाः । शीतोष्णशालमल्याश्लेषणादौ, उत्त० ५ अ० । आव० । आचा० । नयनादिपीडायाम्, स्था० ७ ठा० ३ उ० । दुःखे, स्था० ४ ठा० १ उ० । उत्त० ।

वेदनावक्तव्यतार्थाधिकारसंग्रहः—

सीता(य)दव्वसरीरा, साता तह वेदणा भवति दुक्खा ।
अब्भुवगमोवक्कमिया, निदा य अणिदा य नायव्वा ॥ १ ॥
सायमसायं सव्वे, सुहं च दुक्खं अदुक्खमसुहं च ।
माणसरहियं विगलिं-दिया उ सेसा दुविहमेव ॥ २ ॥

'सीया (य) दव्वे' त्यादि, वेदना प्रथमतः शीता चशब्दादुष्णा शीतोष्णा च वक्तव्या, तदनन्तरं द्रव्यक्षेत्रकालभाववेदना वक्तव्या; ततः शारीरी उपलक्षणान्मानसी च वेदना वाच्या, ततः साता तथा दुःखा वेदना सभेदा वक्तव्यतया ज्ञातव्या भवति, तदनन्तरमाभ्युपगमिकी औपक्रमिकी च वेदना वक्तव्यतया ज्ञातव्या, ततोऽप्यनन्तरं निदा, चानिदा चेति । सातसुखादीनां विशेषमाभ्युपगमिक्यादिशब्दानामर्थं स्वग्रे वक्ष्यामः । सातादिवेदनामधिकृत्य यो विशेषो वक्ष्यते तत्संग्राहिका द्वितीया गाथा-' सायमसाय ' मित्यादि सर्वे संसारिणः सातमसातं चशब्दात्-सातासातं च वेदनां वेदयन्ते, तथा सुखां दुःखाम्, अदुःखासुखां च, तथा विकलेन्द्रिया-एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः तुशब्दस्याधिकारार्थसंसूचनार्थत्वादसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च मानसरहितां-मनोविकलां वेदनां वेदयन्ते, शेषास्तु द्विविधामेव शरीरमनोनिबन्धनां, शारीरीं मानसीं तदुभयसमुद्भवां चेति भावः, निदाऽनिदादिगतस्तु विशेषो न संग्रहीतो, विचित्रत्वात् सूत्रगतेः । तत्र 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायात् प्रथमतः शीतादिवेदनाः प्रतिपादनार्थमाह—

कइविहा णं भंते ! वेदणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! तिविहा वेदणा पण्णत्ता, तं जहा-सीता उसिणा सीतोसिणा ।

'कइविहा णं भंते !' इत्यादि, शीता-शीतपुद्गलसंपर्कसमुत्था, एवमुष्णा, या च अवयवभेदेन शीतोष्णपुद्गलसंपर्कतः शीता उष्णा च सा शीतोष्णा ।

एनामेव त्रिविधां वेदनां नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—

नेरइया णं भंते ! किं सीतं वेदणं वेदेंति, उसिणं वेदणं वेदेंति, सीतोसिणं वेदणं वेदेंति ?, गोयमा ! सीतं पि वेदणं वेदेंति, उसिणं पि वेदणं वेदेंति, नो सीतोसिणं वेदणं वेदेंति । केई एकेकपुढवीए वेदणाओ भणंति, रयणप्पभापुढविनेरइया णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! नो सीतं वेदणं वेदेंति, उसिणं वेदणं वेदेंति, नो सीतोसिणं वेदणं वेदेंति, एवं ०जाव वालुयप्पभापुढविनेरइया, पंकप्पभापुढविनेरइया णं पुच्छा, गोयमा । सीतं पि वेदणं वेदेंति उसिणं पि वेदणं वेदेंति, नो सीतोसिणं वेदणं वेदेंति, ते बहुयतरागा जे उसिणं वेदणं वेदेंति, ते थोवतरागा जे सीतं वेदणं वेदेंति । धूमप्पभाए एवं चेव दुविहा, नवरं ते बहुयतरागा जे सीतं वेदणं वेदेंति, ते थोवतरागा जे उसिणं वेदणं वेदेंति । तमाए य तमतमाए य सीयं वेदणं वेदेंति, नो उसिणं वेदणं वेदेंति, नो सीतोसिणं वेदणं वेदेंति । असुरकुमारा णं पुच्छा, गोयमा ! सीतं पि वेदणं वेदेंति उसिणं पि वेदणं वेदेंति सीतोसिणं पि वेदणं वेदेंति, एवं ०जाव वेमाणिया । (सू० ३२८×)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'णेरइयाण' मित्यादि, तत्राद्यासु तिसृषु पृथिवीषूष्णां वेदनां वेदयन्ते, ते हि शीताः ये नरकावासाश्च तदाश्रयभूताः सर्वतो जगत्प्रसिद्धखादिराङ्गरातिरिक्तबहुप्रतापोष्णपुद्गलसम्भूताः, चतुर्थ्यां तु पङ्कप्रभाभिधानायां पृथिव्यां केचिन्नैरयिका उष्णवेदनां केचिच्च शीतवेदनामनुभवन्ति, तत्रत्यनरकावासानां शीतोष्णभेदतो द्विधा भेदात्, केवलं ये उष्णवेदनां वेदयन्ते ते प्रभूततराः, प्रभूतेषु नरकावासेषूष्णवेदनासद्भावात्। इतरे शीतवेदनामनुभवन्तः स्तोकाः, स्तोकतरेषु नरकावासेषु शीतवेदनासम्भवात्। धूमप्रभायामपि पृथिव्यां केचित् शीतवेदनाकाः केचिदुष्णवेदनाकाः, नवरं शीतवेदनाकाः प्रभूततराः, प्रभूतेषु नरकावासेषु शीतवेदनासम्भवात्, स्तोका उष्णवेदनाः कतिपयेष्वेव नरकावासेषूष्णवेदनाभावात्। अधस्तन्योस्तु द्वयोः पृथिव्योः शीतवेदनामेव नैरयिका अनुभवन्ति, तत्रत्यनैरयिकाणां सर्वेषामुष्णयोनिकत्वात्, नरकावासनां त्वनुपमहिमानुपक्तत्वात्। एतावत्सूत्रं चिरन्तनेष्वविप्रतिपत्त्या श्रूयते। केचिदाचार्याः पुनरेतद्विषयमधिकमपि सूत्रं पठन्ति, ततस्तन्मतमाह—'केइ एक्केक्कीए पुढवीए वेयणं भणंति' इति केचिदाचार्या एकैकस्यां पृथिव्यां प्रश्ननिर्वचनरूपतया वेदनां भणन्ति, यथा भणन्ति तथोपदर्शयन्ति—'रयणप्पभे' त्यादि सुगमम्। तदेव नैरयिकाणां चिन्तिता शीतादिवेदना। सम्प्रत्यसुरकुमाराणां तां चिचिन्तयिषुरिदमाह- 'असुरकुमाराणं पुच्छा' असुरकुमाराणां शीतादिवेदनाविषयं पृच्छासूत्रं च वक्तव्यम्, 'असुरकुमाराणं भंते! किं सीयं वेदणं वेयंति उसिणं वेयणं वेयंति सीओसिणं वेयणं वेयंति?,' इति भगवानाह—'गोयमे' त्यादि, शीतामपि वेदनां वेदयन्ते, यदा शीतलजलसम्पूर्णहृदादिषु निमज्जनादिकं विदधति, उष्णामपि वेदनां वेदयन्ते यदा कोऽपि महर्द्धिकस्तज्जातीयोऽन्यजातीयो वा कोपवशात् विरूपतया दृष्ट्याऽवलोकमानः शरीरे सन्तापमुत्पादयति यथा प्रथमोत्पन्नः ईशानेन्द्रो बलिचञ्चाराजधानीवास्तव्यानामसुरकुमाराणामुत्पादितवान्, अन्यथा वा तथाविधोष्णपुद्गलसम्पृक्तावुष्णवेदनामनुभवन्तो वेदितव्याः। यदा त्ववयवभेदेन शीतपुद्गलसम्पर्क उष्णपुद्गलसंपर्कश्चोपजायते तदा शीतोष्णां वेदनां वेदयन्ते। ननु उपयोगः क्रमेण जीवानां भवति तथास्वाभाव्यात्, कथमत्र शीतोष्णवेदनानुभवो युगपत् प्रख्याप्यते इति?, उच्यते-इहापि वेदनानुभवः क्रमेणैव, तथाजीवस्वाभाव्यात्, केवलं शीतोष्णवेदनाहेतुपुद्गलसम्पर्को युगपदुपजायत इति सूक्ष्ममाशुसञ्चारिणमुपयोगक्रममनपेक्ष्य यथैव ते वेदयमाना युगपदभिमन्यन्ते तथैव प्रतिपादितमिति न कश्चिद्दोषः, सामान्यतः सूत्रस्य प्रवृत्तत्वात्। 'एवं जाव वेमाणिय त्ति' एवम्—असुरोक्तेन प्रकारेण यावद् वैमानिकास्तावद् सूत्रं वक्तव्यं, तच्चैवम्- 'पुढविकाइया णं भंते! किं सीयं वेयणं वेयंति उसिणं वेयणं वेयंति सीओसिणं वेयणं वेयंति?, गोयमा! सीयं पि वेयणं वेयंति उसिणं पि वेयणं वेयंति सीतोसिणं पि वेयणं वेयंति' इत्यादि। तत्र पृथिवीकायकादयो मनुष्यपर्यवसानाः शीतवेदनां हिमादिप्रपातेऽभिवेदयमाना वेदितव्याः, उष्णवेदनामग्न्यादिसम्पर्के शीतोष्णवेदनामवयवशः शीतोष्णपुद्गलसम्बन्धे इति, व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकास्त्वसुरकुमारवत् भावनीयाः। उक्ता शीतादिभेदाद् त्रिविधा वेदना। प्रज्ञा० ३५ पद।

तिसु णं पुढवीसु णेरइयाणं उसिणवेयणा पन्नत्ता, तं जहा-पढमाए दोच्चाए तच्चाए, तिसु णं पुढवीसु णेरइया उसिणवेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति-पढमाए दोच्चाए तच्चाए। (सू० १४७ +)

'उसिणवेयण' त्ति तिसृणामुष्णस्वभावत्वात्, तिसृषु नारका उष्णवेदना इत्युक्त्वाऽपि यदुच्यते—नैरयिका उष्णवेदनां प्रत्यनुभवन्तो विहरन्तीति तत्तद्वेदनासातत्यप्रदर्शनार्थम्। स्था० ३ ठा० १ उ०।

संप्रति तामेव वेदनां प्रकारान्तरेणाभिधित्सुः प्रश्ननिर्वचनसूत्रं आह—

कतिविहा णं भंते! वेदणा पण्णत्ता?, गोयमा! चउव्विहा वेदणा पण्णत्ता, तं जहा-दव्वतो, खेत्ततो, कालतो, भावतो। नेरइया णं भंते! किं दव्वतो वेदणं वेदेंति ०जाव किं भावतो वेदणं वेदेंति?, गोयमा! दव्वओ वि वेदणं वेदेंति० जाव भावओ वि वेदणं वेदेंति, एवं० जाव वेमाणिया।

'कइविहा णं भंते!' इत्यादि, इह वेदना द्रव्यक्षेत्रकालभावसामग्रीवशादुत्पद्यते, सर्वस्यापि वस्तुनो द्रव्यादिसामग्रीवशादुत्पद्यमानत्वात्, तत्र यदाऽस्यैव वेदना पुद्गलद्रव्यसम्बन्धमधिकृत्य चिन्त्यते तदा द्रव्यवेदना, द्रव्यतो वेदना द्रव्यवेदना। नारकाद्युपपातक्षेत्रमधिकृत्य चिन्त्यमाना क्षेत्रवेदना। नारकादिभवकालसम्बन्धेन विवक्ष्यमाणा कालवेदना। वेदनीयकर्मोदयादुपजायमानत्वेन परिभाव्यमाना भाववेदना। एतामेव चतुर्विधां वेदनां चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—'नेरइया णं भंते! किं दव्वतो वेयणं वेदेंति' इत्यादि, सकलमपि सुगमम्।

प्रकारान्तरेण वेदनां प्रतिपिपादयिषुः प्रश्ननिर्वचनसूत्रे आह—

कतिविहा णं भंते! वेदणा पण्णत्ता?, गोयमा! तिविहा वेदणा पण्णत्ता, तं जहा-सारीरा, माणसा, सारीरमाणसा। नेरइया णं भंते! किं सारीरं वेदणं वेदेंति माणसं वेयणं वेदेंति सारीरमाणसं वेदणं वेदेंति?, गोयमा!, सारीरं पि वेदणं वेदेंति माणसं पि वेदणं वेदेंति सारीरमाणसं पि वेदणं वेदेंति, एवं० जाव वेमाणिया। नवरं एगिंदियविगलिंदिया सारीरं वेदणं वेदेंति, नो माणसं वेदणं वेदेंति, नो सारीरमाणसं वेदणं वेदेंति।

'कइविहा णं भंते!' इत्यादि शरीरे भवा शारीरी मनसि भवा मानसी, तदुभयभवा शारीरमानसी, शारीरी च मानसी च शारीरमानसी 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवद्भावः। एतामेव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—'नेरइया णं भंते! किं सारीरं वेयणं वेदेंति' इत्यादि, तत्र यदा पर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्परोदीरणतः परमाधार्मिकोदीरणतो वा क्षेत्रानुभावतो वा शरीरे पीडामनुभवन्ति तदा शारीरीं वेदनां वेदयन्ते। यदा तु केवलं मनसि दुःखं परिभावयन्ति पाश्चात्यं वा भवमात्मीयं दुष्कर्मकारिणमनुस्मृत्य पश्चात्तापमतीव कुर्वते तदा मानसीं वेदनां वेदयन्ते। यदा तु शरीरे मनसि चोभयप्रकारेण युगपत् पीडाम् अनुभवन्ति तदा शारीरमानसी। इहापि वेदनानुभवः क्रमेणैव केवलं विवक्षिततावत्कालमध्ये शरीरे च पीडामनुभवन्ति मनसि च एतावन्तं कालमेकं विवक्षित्वा युगपच्छरीरमनःपीडानुभवः प्रतिपादित इत्यदोषः। 'एवं जाव वेमाणिया' इत्यादि, एवंनैरयिकोक्तेन प्रकारेण सूत्रं तावद् वक्तव्यं यावद्वैमानिकाः, नवरमेकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः शारीरीं वेदनां वेदयन्ते न मानसीं, तेषां मनसोऽभावात्, ततस्तदनुसारेण तद्विषयं सूत्रं वक्तव्यम्।

प्रकारान्तरेण वेदनामभिधित्सुः प्रश्ननिर्वचनसूत्रे आह-

कइविहा णं भंते! वेदणा पएणत्ता ?, गोयमा! तिविहा वेयणा पएणत्ता, तं जहा—साता, असाता, साता साता। नेरइया णं भंते! किं सायं वेदणं वेदेंति, असातं वेदणं वेदेंति, सायासायं वेदणं वेदेंति ?। गोयमा! तिविहं पि वेयणं वेयंति, एवं सव्वजीवा० जाव वेमाणिया। कतिविहा णं भंते! वेदणा पएणत्ता ?, गोयमा! तिविहा पणत्ता, तं जहा-दुक्खा, सुहा, अदुक्खसुहा। नेरइया णं भंते! किं दुक्खं वेदणं वेदेंति पुच्छा, गोयमा! दुक्खं पि वेदणं वेदेंति, सुहं पि वेदणं वेदेंति, अदुक्खमसुहं पि वेदणं वेदेंति, एवं० जाव वेमाणिया। (सू० ३२८॥

'कइविहा णं भंते!' इत्यादि, तत्र साता—सुखरूपा असाता—दुःखरूपा साताऽसाता-सुखदुःखात्मिका, एतामेव नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति-'नेरइया णं' मित्यादि, तत्र तीर्थङ्करजन्मादिकाले सातवेदनां वेदयन्ते, शेषकालमसातवेदनां वेदयन्ते, यदा तु पूर्वसङ्गतिको देवो दानवो वा वचनामृतैः सिञ्चति तदा मनसि सातं शरीरे तु क्षेत्रानुभावतोऽसातम्, यदिवा—मनस्येव तद्दर्शनतः तद्वचनश्रवणतश्च सातं पश्चात्तापानुभवनतस्त्वसातमिति, तदा सातासातवेदनामनुभवन्ति। अत्रापि तावन्तं विवक्षितकालमेकं विवक्षित्वा सातासातानुभवो युगपत् प्रतिपादितः, परमार्थतस्तु क्रमेणैव च वेदितव्य इति। 'एवमित्यादि, एवं—नैरयिकोक्तप्रकारेण सर्वे जीवास्तावद्वक्तव्या यावद्वैमानिकाः, तत्र पृथिव्यादयो यावन्नाद्याप्युपद्रवः स निपतति तावत् सातवेदनां वेदयन्ते, उपद्रवसम्पाते त्वसातवेदनामथय(?)भेदेनोपद्रवसम्पातभावे सातासातवेदनाम्। व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवाः सुखमनुभवन्तः सातवेदनां, च्यवनादिकाले त्वसातवेदनां, परविभूतिदर्शनतो मात्सर्याद्यनुभवे स्वयमप्रमेयदेवीपरिष्वङ्गाद्यनुभवे च युगपज्जायमाने सातासातवेदनां वेदयन्ते इति। भूयः प्रकारान्तरेण एतामेव प्रतिपादयन् प्रश्ननिर्वचनसूत्रे आह—'कइ-

विहा णं भंते!' इत्यादि, या वेदना नैकान्तेन दुःखा भणितुं शक्यते सुखस्यापि भावात्, नापि सुखा दुःखस्यापि भावात्; सा अदुःखसुखा सुखदुःखात्मिका इत्यर्थः। अथ सातासातयोः सुखदुःखयोश्च परस्परं कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते-ये क्रमेणोदयप्राप्तवेदनीयकर्मपुद्गलानुभवतः साताऽसाते ते साताऽसाते उच्यते, ये पुनः परोदीर्यमाणवेदनारूपे साताऽसाते ते सुखदुःखे इति। एतामेव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—'नेरइया णं' मित्यादि।

वेदनामेव प्रकारान्तरेण चिन्तयन्नाह—

कतिविहा णं भंते! वेदणा पएणत्ता!, गोयमा! दुविहा वेयणा पएणत्ता, तं जहा-अब्भोवगमिया य, उवक्कमिया य। नेरइया णं भंते! अब्भोवगमियं वेदणं वेदेंति उवक्कमियं वेदणं वेदेंति ?, गोयमा! नो अब्भोवगमियं वेदणं वेदेंति, उवक्कमियं वेदणं वेदेंति, एवं० जाव चउरिंदिया, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा य दुविहं पि वेदणं वेयंति, वाणमंतरजोतिसियवेमाणिया जहा नेरइया॥ (सू० ३२९)

'कतिविहा णं भंते!' इत्यादि, तत्राभ्युपगमिकी नाम या स्वयमभ्युपगम्यते, यथा साधुभिः केशोल्लुञ्चनातापनादिभिः शरीरपीडा, अभ्युपगमेन—स्वयमङ्गीकारेण निर्वृत्ता आभ्युपगमिकीति व्युत्पत्तेः, उपक्रमणमुपक्रमः—स्वयमेव समीपे भवनमुदीरणाकरणेन वा समीपानयनं तेन निर्वृत्ता औपक्रमिकी, स्वयमुदीर्णस्य उदीरणाकरणेन वा उदयमुपनीतस्य वेदनीयकर्मणो विपाकानुभवनेन निर्वृत्ता इत्यर्थः। तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च द्विविधामपि वेदनां वेदयन्ते, सम्यग्दृशां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च कर्मक्षपणार्थमाभ्युपगमिक्या अपि वेदनायाः सम्भवात्, शेषास्त्वौपक्रमिकीमेव वेदनां वेदयन्ते नाभ्युपगमिकीम्, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां मनोविकलतया विवेकाभावतस्तथाप्रतिपत्तेरभावात्, नारकभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां च तथाभवस्वाभाव्यादिति। एतदेव सूत्रकृत् प्रतिपादयति—'नेरइया णं भंते!' इत्यादि सुगमम्।

पुनः प्रकारान्तरेण वेदनामेवाभिधित्सुराह—

कतिविहा णं भंते! वेदणा पण्णत्ता ?, गोयमा! दुविहा वेदना पण्णत्ता, तं जहा-निदा य, अणिदा य। नेरइया णं भंते! किं निदायं वेयणं वेदयंते, अणिदायं वेयणं वेदयंते ?, गोयमा! निदायं पि वेदणं वेदेंते, अणिदायं पि वेदणं वेदयंते। से केणऽट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ, नेरइया निदायं पि अनिदायं पि वेयणं वेदेंति ?, गोयमा! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-सएणीभूया य, असण्णीभूया य। तत्थ णं जे ते सण्णीभूया ते णं निदायं पि वेयणं वेदेंति, तत्थ णं जे ते असण्णीभूता ते णं अणिदायं वेदणं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेदेंति, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ ?, गोयमा ! एवं नेरइया निदायं पि वेयणं वेदेंति अणिदायं पि वेयणं वेदेंति, एवं० जाव थणियकुमारा। पुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ! नो निदायं वेयणं वेदेंति, अणिदायं वेयणं वेदेंति। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ पुढविकाइया नो निदायं वेयणं वेदेंति अणिदायं वेयणं वेदेंति ?, गोयमा ! पुढविकाइया सव्वे असण्णी असण्णिभूयं अणिदायं वेयणं वेदेंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ पुढविकाइया नो निदायं वेयणं वेदेंति, अणिदायं वेयणं वेदेंति, एवं ०जाव चउरिंदिया, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा वाणमंतरा जहा नेरइया। जोइसियाणं पुच्छा, गोयमा ! निदायं पि वेयणं वेदेंति अणिदायं पि वेयणं वेदेंति। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जोइसिया निदायं पि वेदणं वेदेंति अणिदायं पि वेयणं वेदेंति ?, गोयमा ! जोइसिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-माइमिच्छद्दिट्ठिउववण्णगा य, अमाइसम्मद्दिट्ठिउववण्णगा य। तत्थ णं जे ते माइमिच्छद्दिट्ठिउववण्णगा ते णं अणिदायं वेयणं वेयंति, तत्थ णं जे ते अमाई सम्मद्दिट्ठी उववण्णगा ते णं निदायं वेयणं वेदेंति, से एतेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जोइसिया दुविहं पि वेयणं वेदेंति, एवं वेमाणिया वि। (सू० ३३०) पण्णवणाए वेयणापयं समत्तं ॥ ३५ ॥

'कतिविहा णं भंते !' इत्यादि, निदा च, अनिदा च। तत्र नितरां निश्चितं वा सम्यक् दीयते चित्तमस्यामिति निदा, बहुलाधिकाराद् 'उपसर्गादातः'। ५। ३। ११०। इत्यधिकरणे घञ् सामान्येन चित्तवती—सम्यग्विवेकवती वा इत्यर्थः, इतरा त्वनिदा-चित्तविकला सम्यग्विवेकविकला वा, एतामेव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण प्रतिपादयति—'नेरइया ण' मित्यादि, द्विविधा हि नैरयिकाः—संज्ञिभूताः, असंज्ञिभूताश्च। तत्र ये संज्ञिभ्य उत्पन्नास्ते संज्ञिभूताः, ये त्वसंज्ञिभ्यस्तेऽसंज्ञिभूताः, असंज्ञिनश्च पाश्चात्यं न किमपि जन्मान्तरकृतं शुभमशुभं वैरादिकं वा स्मरन्ति। स्मरणं हि तत्र तत्र प्रवर्त्तते यत्तीव्रेणाभिसन्धिना कृतं भवति, न चासंज्ञिभवे पाश्चात्ये तेषां तीव्राभिसन्धिरासीत्, मनोविकलत्वात् ततो यामपि कथञ्चिद्वेदनां नैरयिका वेदयन्ते तामनिदां, पश्चात्यभवानुभूतिविषयस्मरणपटुचित्तासम्भवात्। संज्ञिभूतास्तु सर्वं पाश्चात्यमनुस्मरन्तीति ते निदां वेदनां वेदयन्ते इति। एवमसुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्यवसाना भवनपतयो वक्तव्याः, तेषामपि संज्ञिभ्योऽसंज्ञिभ्यश्चोत्पादसम्भवात्। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रिया सम्मूर्च्छिमा इति मनोविकलत्वात् अनिदामेव वेदनां वेदयन्ते। 'पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा वाणमंतरा जहा नेरइया' इति, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका मनुष्या व्यन्तराश्च यथा नैरयिकास्तथा वक्तव्या इति शेषः, निदामपि वेदनां वेदयन्ते अनिदामपि वेदनां वेदयन्ते इति वक्तव्या इत्यर्थः। कस्मादिति चेत्, उच्यते—इह पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका मनुष्याश्च द्विधा भवन्ति, तद्यथा—सम्मूर्च्छिमा, गर्भव्युत्क्रान्तिकाश्च। तत्र ये सम्मूर्च्छिमास्ते मनोविकलत्वादनिदां वेदनां वेदयन्ते, ये तु गर्भव्युत्क्रान्तास्ते समनस्का इति निदां वेदनामनुभवन्ति, व्यन्तरास्तु संज्ञिभ्योऽपि उत्पद्यन्ते, असंज्ञिभ्योऽपि ततस्तेऽपि नैरयिकवत् निदां चानिदां च वेदनां वेदयमाना भावनीयाः। 'जोइसियाए' मित्यादि, ज्योतिष्कास्तु संज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते, ततस्तेषु न नैरयिकोक्तेन प्रकारेण निदाऽनिदे वेदने सम्भावनीये, किन्तु प्रकारान्तरेण, ततस्तमेव प्रकारं बुभुत्सुः प्रश्नसूत्रमाह—'से केणट्ठेणं भंते !' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह—'गोयमे' त्यादि, ज्योतिष्का हि द्विविधाः—मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नका-अमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नकाश्च। तत्र मायानिवर्त्तितं यत्कर्म मिथ्यात्वादिकं तदपि माया, कार्ये कारणोपचारात्, माया विद्यते येषां ते मायिनः,अत एव मिथ्यात्वोदयात् मिथ्या—विपर्यस्ता दृष्टिः—वस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयः, मायिनश्च ते मिथ्यादृष्टयश्च मायिमिथ्यादृष्टयस्ते च ते उपपन्नकाश्च मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकाः, तद्विपरीता अमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नकाः। तत्र ये मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकास्तेऽपि मिथ्यादृष्टित्वादेव व्रतविराधनातोऽज्ञानतपोवशाद्वा वयमेवंविधाः उत्पन्ना इति न जानते, ततः सम्यग्यथावस्थितपरिज्ञानाभावादनिदां वेदनां वेदयमानास्ते वेदितव्याः। ये त्वमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नास्ते सम्यग्दृष्टित्वात् यथावस्थितं स्वरूपं जानन्ति, ततो यां काञ्चन वेदनां वेदयन्ते तां सर्वामपि निदामिति। 'एवं चेव वेमाणिया वि' इति एवं—ज्योतिष्कोक्तेन प्रकारेण वैमानिका अपि निदामनिदां च वेदनां वेदयमाना वेदितव्याः, तेषामपि मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्टिभेदतो द्विविधत्वात्। इति श्रीमलयगिरिविरचितायां प्रज्ञापनाटीकायां वेदनाख्यं पञ्चत्रिंशत्तमं पदं समाप्तम्। प्रज्ञा० ३५ पद।

नेरइया दसविहं वेयणिज्जं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा-सीयं उसिणं खुहं पिवासं कंडुं परज्झं जरं दाहं भयं सोगं। (सू० २६६)

'नेरइये' त्यादि, 'परज्झ' त्ति पारवश्यम्। भ० ७ श० ८ उ०।

दोहिं ठाणेहिं आया वेएइ, देसेण वि, सव्वेण वि। (सू-८०)

वेदयति-अनुभवति देशेन हस्तादिना अवयवेन सर्वेण सर्वावयवैराहारसत्कान् परिणमितपुद्गलान् इष्टानिष्टपरिणामतः। स्था० २ ठा० २ उ०। (पूर्वं वेदना पश्चात् क्रिया इति 'किरिया' शब्दे तृतीयभागे ५४६ पृष्ठे गतम्।)

यत्र पापं कर्म क्रियते तत्रैव वेद्यते—

जे देवा उड्ढोववन्नगा कप्पोववन्नगा विमाणोववन्नगा चारोववन्नगा चारट्ठितीया गतिरतिया गतिसमावन्नगा, तेसि णं देवाणं सया समियं जे पावे कम्मे कज्जइ तत्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गया वि एगइया वेयणं वेयंति, अन्नत्थ गया वि एगइया वेयणं वेदेंति, खेरइया णं सता समियं जे पावे कम्मे कज्जति तत्थ गता वि एगतिया वेयणं वेदेंति अन्नत्थ गता वि एगतिया वेयणं वेदेंति, ०जाव पंचिंदियतिरिक्ख जोणियाणं मणुस्साणं सया समियं जे पावे कम्मे कज्जइ इह गया वि एगतिया वेयणं वेदेंति अन्नत्थ गया वि एगइया वेयणं वेयंति मणुस्सवज्जा सेसा एक्कगमा । (सू०७७)

'जे देवे' त्यादि, अस्य चानन्तरसूत्रेण सहाऽयमभिसंबन्धः—प्रथमोद्देशकान्त्यसूत्रे पादपोपगमनमुक्तम् , तस्माच्च देवत्वं केषाञ्चिद्भवतीति देवविशेषभणनेन तत्कर्मबन्धवेदने प्रतिपादयन्नाह-'जे देवे' त्यादि ये देवाः—सुराः वक्ष्यमाणविशेषणेभ्यो वैमानिका अनशनादेरुत्पन्नाः, किंभूताः 'उड्ढ' त्ति ऊर्ध्वलोकस्तत्रोपपन्नकाः-उत्पन्नाः ऊर्ध्वोपपन्नकास्ते च द्विधा—कल्पोपपन्नकाः—सौधर्मादिदेवलोकोत्पन्नास्तथा विमानोपपन्नकाः-ग्रैवेयकानुत्तरलक्षणविमानोत्पन्नाः; कल्पातीता इत्यर्थः, तथा परे 'चारोववन्नग' त्ति चरन्ति-भ्रमन्ति ज्योतिष्कविमानानि यत्र स चारो ज्योतिश्चक्रक्षेत्रं समस्तमेव , व्युत्पत्त्यर्थमात्रानपेक्षणेन शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयणात्, तत्रोपपन्नकाश्चारोपपन्नकाः-ज्योतिष्काः, न च पादपोपगमनादेर्ज्योतिष्कत्वं न भवति,परिणामविशेषादिति, तेऽपि च द्विधैव, तथाहि चारे ज्योतिश्चक्रक्षेत्रे स्थितिरेव येषां ते चारस्थितिकाः—समयक्षेत्रबहिर्वर्तिनो; घण्टाकृतय इत्यर्थः, तथा गतौ रतिर्येषां ते गतिरतिकाः; समयक्षेत्रवर्तिन इत्यर्थः, गतिरतयश्चाऽसंततगतयोऽपि भवन्तीत्यत आह—गति-गमनं समिति—सन्ततमापन्नकाः-प्राप्ता गतिसमापन्नकाः; अनुपरतगतय इत्यर्थः, तेषां देवानां द्विविधानां पुनर्द्विविधानां सदा नित्यं समितं—सन्ततं यत्पापं कर्म-ज्ञानावरणादि, सततबन्धकत्वात् जीवानां, क्रियते—बध्यते, कर्मकर्तृप्रयोगोऽयं, भवति; सम्पद्यत इत्यर्थः, ते देवास्तस्य—कर्मणः अबाधाकालातिक्रमे सति 'तत्थ गया वि' त्ति अपिरेवकारार्थस्तस्य चैवं प्रयोगः, तत्रैव—देवभव एव कल्पातीतानां क्षेत्रान्तरादिगमनासम्भवादिह तत्रान्यत्रशब्दाभ्यां भव एव विवक्षितः, न क्षेत्रशयनासनादिति, गताः वर्तमानाः एके—केचन देवा वेदनाम्—उदयं विपाकं वेदयन्ति-अनुभवन्ति, 'अन्नत्थगया वि' त्ति देवभवादन्यत्रैव भवान्तरे गता-उत्पन्ना वेदनामनुभवन्ति, केचित्तूभयत्रापि, अन्ये विपाकोदयापेक्षया नोभयत्रापीति । एतच्च विकल्पद्वयं सूत्रे नाश्रितं , द्वित्वाधिकारादिति । सूत्रोक्तमेव विकल्पद्वयं सर्वजीवेषु चतुर्विंशतिदण्डकेन प्ररूपयन्नाह—

'नेरइया' ण मित्यादि प्रायः सुगमम् , नवरं 'तत्थ गया वि अन्नत्थ गया वि' एवमभिलापेन दण्डको नेयो यावत् पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चोऽत एवाह—'जावे' त्यादि, मनुष्येषु पुनरभिलापविशेषो दृश्यः, यथा-' इह गया वि एगइया ' इति सूत्रकारो हि मनुष्योऽतस्तत्रेत्येवंभूतं परोक्षासन्ननिर्देशं विमुच्य मनुष्यसूत्रे इहेत्येवं निर्दिशति स्वमनुष्यभवस्य स्वीकृतत्वेन प्रत्यक्षासन्नवाचिन इद—मृशब्दस्य विषयत्वादिति । अत एवाह—'मणुस्सवज्जा सेसा एक्कगम' त्ति शेषा व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका एकगमाः—तुल्याभिलापाः । ननु प्रथमसूत्र एव ज्योतिष्कवैमानिकदेवानां विवक्षितार्थस्याभिहितत्वात् किं पुनरिह तद्ग्रहणेनेति ?, उच्यते—तत्रानुष्ठानफलदर्शनप्रसङ्गेन भेदतश्चोक्तत्वादिह तु दण्डकक्रमेण सामान्यतश्चोक्तत्वादिति न दोषः, दृश्यते चेह तत्र तत्र विशेषोक्तावपि सामान्योक्तिरितरोक्तौ त्वितरेति । स्था० २ ठा० १ उ० । (नैरयिकाः दशविधां वेदनां वेदयन्ति इति ' णरग ' शब्दे चतुर्थभागे १६१८ पृष्ठे उक्तम् ।)

सम्प्रति क्षेत्रस्वभावजां वेदनां प्रतिपादयति—

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया किं सीतवेदणं वेइंति उसिणवेदणं वेइंति सीओसिणवेदणं वेदेंति ?, गोयमा ! णो सीयं वेदणं वेदेंति उसिणं वेदणं वेदेंति नो सीतोसिणं , (ते अप्पयरा उण्हजोणिया वेदेंति,) एवं ०जाव वालुयप्पभाए , पंकप्पभाए पुच्छा, गोयमा ! सीयं पि वेदणं वेदेंति, उसिणं पि वेयणं वेदेंति , नो सीओसिणं वेयणं वेदेंति , ते बहुतरगा जे उसिणं वेदणं वेदेंति, ते थोवयरगा जे सीतं वेदणं वेइंति । धूमप्पभाए पुच्छा , गोयमा ! सीतं पि वेदणं वेदेंति उसिणं पि वेदणं वेदेंति णो सीतोसिणं वेदणं वेदेंति । ते बहुतरगा जे सीयवेदणं वेदेंति, ते थोवयरका जे उसिणवेदणं वेदेंति । तमाए पुच्छा , गोयमा ! सीयं वेदणं वेदेंति, नो उसिणं वेदणं वेदेंति, नो सीतोसिणं वेदणं वेदेंति, एवं अहे सत्तमाए णवरं परमसीयं । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया केरिसयं णिरयभवं पच्चणुभवमाणा विहरंति ?, गोयमा ! ते णं तत्थ णिच्चं भीता णिच्चं तसिता णिच्चं छुहिया णिच्चं उव्विग्गा णिच्चं उपप्पुआ णिच्चं वहिया निच्चं परममसुभमउलमणुबद्धं निरयभवं पच्चणुभवमाणा विहरंति । एवं ०जाव अधे सत्तमाए णं पुढवीए पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाणरगा पण्णत्ता, तं जहा-काले महाकाले रोरुए महारोरुए अप्पतिट्ठाणे, तत्थ इमे पंच महापुरिसा अणुत्तरेहिं दंडसमादाणेहिं कालमासे कालं किच्चा अप्पतिट्ठाणे णरए णेरतियत्ताए उववण्णा , तं जहा-रामे १ , जमदग्गिपुत्ते, दढाउ २ लच्छतिपुत्ते , वसु ३ उवरिचरे , सुभूमे ४ कोरव्वे , बंभ ५ दत्ते , चुलणिसुते ६ , ते णं तत्थ नेरतिया जाया काला (कालो) ०जाव परमकिण्हं वण्णेणं पण्णत्ता, तं जहा-ते णं तत्थ वेदणं वेदेंति उज्जलं विउलं ०जाव दुरहियासं । उसिणवेदणिज्जेसु णं भंते ! णेरतिएसु णेरतिया केरिसयं उसिणवेदणं पच्चणुभवमाणा विहरंति ? गोयमा ! से जहाणामए कम्मारदारए सितातरुणे बलवं जुगवं अप्पायंके थिर–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्गहत्थे दढपाणिपादपासपिट्ठंतरोरु (संघाय) परिणए लंघणपवणजवणवग्गणपमद्दणसमत्थे तलजमलजुयलव-हुफलिहणिभवाहू घणणिचितवलियवट्टखंधे चम्मेट्ठगदुह-णमुट्ठियसमाहयणिचितगत्तगत्ते उरस्सवलसमरणागए छेए दक्खे पट्ठे कुसले णिउणे मेहावी णिउणसिप्पोवगए एगं महं अयपिंडं उदगवारसमाणं गहाय तं ताविय ताविय कोट्टिय कोट्टिय उब्भिंदिय उब्भिंदिय चुण्णिय चुण्णिय० जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं अद्धमासं संहणेज्जा से णं तं सीतं सीतिभूतं अओमएणं संदं-सएणं गहाय असब्भावपट्ठवणाए उसिणवेदणिजेसु णरएसु पक्खिवेज्जा । से णं तं उम्मिसियणिमिसियंतरे-णं पुणरवि पच्चुद्धरिस्सामि त्ति कट्टु पविरायमेव पा-सेज्जा पविलीणमेव पासेज्जा पविद्धत्थमेव पासेज्जा-णो चेव णं संचाएति अविरायं वा अविलीणं वा अवि-द्धत्थं वा पुणरवि पच्चुद्धरित्तए । से जहा वा मत्तमातंगे [पाए] कुंजरे सट्ठिहायणे पढमसरयकालसमयंसि वा चरमनिदाघकालसमयंसि वा उण्हाभिहए तण्हाभिहए दवग्गिजालाभिहए आउरे सुसिए पिवासिए दुब्बले कि-लंते एक्कं महं पुक्खरिणिं पासेज्जा चाउक्कोणं समतीरं अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीतलजलं संछण्णपमत्तभिसमु-णालं बहुउप्पलकुमुदणलिणसुभगसोगंधियपुंडरीय (महा-पुंडरीय) सयपत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवचियं छप्पयपरि-भुज्जमाणकमलं अच्छविमलसलिलपुण्णं परिहत्थभमंतम-च्छकच्छभं अणेगसउणगणमिहुणयविरइयसद्दुन्नइयमहुर-सरनाइयं तं पासइ, तं पासित्ता तं ओगाहइ, ओगाहित्ता से णं तत्थ उण्हं पि पविणेज्जा तिण्हं पि पविणेज्जा खुहं पि पविणिज्जा जरं पि पविणिज्जा दाहं पि पविणिज्जा णिद्दाएज्ज वा पयलाएज्ज वा सतिं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभेज्जा । सीए सीयभूए संकसमाणे संकसमा-णे सायासोक्खबहुले याऽवि विहरिज्जा, एवामेव गोयमा ! असब्भावपट्ठवणाए उसिणवेयणिज्जेहिंतो णरएहिंतो कुंभा-रागणीइ वा णेरइए उव्वट्टिए समाणे जाइं इमाइं मणुस्सलो यंसि भवंति (गोलियालिंगाणि वा सोंडियालिंगाणि वा भि-डियालिंगाणि वा) अयाऽऽगराणि वा तंबागराणि वा त-उयागराणि वा सीसागराणि वा रुप्पागराणि वा सुवन्ना-गराणि वा हिरण्णागराणि वा कुंभारागणीइ वा मुसागणीइ वा इट्टयागणीइ वा कवेल्लुयागणीइ वा लोहारं वरिसेइ वा जंतवाडचुल्लीइ वा हंडियलित्थाणि वा सोंडियलित्थाणि वा णलागणीति वा तिलागणीति वा तुसागणीति वा तत्ताइं समज्जोतिभूयाइं फुल्लकिंसुयसमाणाइं उक्कासहस्साइं वि-णिम्मुयमाणाइं जालासहस्साइं पमुच्चमाणाइं इंगालसह-स्साइं पविक्खरमाणाइं अंतो अंतो हुहुयमाणाइं चिट्ठंति ताइं पासइ, ताइं पासित्ता ताइं ओगाहइ, ताइं ओगा-हित्ता से णं तत्थ उण्हं पि पविणेज्जा तण्हं पि पविणे-ज्जा खुहं पि पविणेज्जा जरं पि पविणेज्जा दाहं पि पवि-णेज्जा णिद्दाएज्ज वा पयलाएज्ज वा सतिं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभेज्जा । सीए सीयभूयए संकस-माणे संकसमाणे सायासोक्खबहुले याऽवि विहरेज्जा, भवे-यारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! उसिणवेद-णिज्जेसु णरएसु नेरतिया एत्तो अणिट्ठतरियं चेव उसि-णवेदणं पच्चणुभवमाणा विहरंति । सीयवेदणिज्जेसु णं भंते ! णिरएसु णेरतिया केरिसयं सीयवेदणं पच्चणुऽभ-वमाणा विहरंति ?, गोयमा ! से जहाणामए कम्मारदा-रए सिया तरुणे जुगवं बलवं ०जाव सिप्पोवगते एगं महं अयपिंडं दगवारसमाणं गहाय ताविय ताविय कोट्टिय को-ट्टिय जहा०एकाहं वा दुआहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं मासं हणेज्जा, से णं तं उसिणं उसिणभूतं अयोमएणं संदस-एणं गहाय असब्भावपट्ठवणाए सीयवेदणिज्जेसु णरएसु पक्खिवेज्जा, से तं [उम्मिसियनिमिसियंतरेण पुणरवि पच्चुद्धरिस्सामीति कट्टु पविरायमेव पासेज्जा , तं चेव णं ०जाव णो चेव णं संचाएज्जा पुणरवि पच्चुद्धरित्तए, से णं से जहाणामए मत्तमायंगे तहेव ०जाव सोक्खबहुले याऽवि विहरेज्जा] एवामेव गोयमा ! असब्भावपट्ठवणाए सीतवेदणेहिंतो णरएहिंतो नेरतिए उव्वट्टिए समाणे जाइं इमाइं इहं माणुस्सलोए हवंति, तं जहा-हिमाणि वा-हिमपुंजाणि वा हिमपडलाणि वा हिमपडलपुंजाणि वा तुसाराणि वा तुसारपुंजाणि वा हिमकुंडाणि वा हिमकुंड-पुंजाणि वा सीताणि वा ताइं पासति, पासित्ता ताइं ओगाह-ति ओगाहित्ता से णं तत्थ सीतं पि पविणेज्जा तण्हं पि पविणेज्जा खुहं पि पविणेज्जा जरं पि पविणेज्जा दाहं पि पविणेज्जा निद्दाएज्ज वा पयलाएज्ज वा ० जाव उसिणे उसिणभूए संकसमाणे संकसमाणे सायासोक्खबहुले याऽवि विहरेज्जा । गोयमा ! सीयवेयणिज्जेसु नरएसु नेर-तिया एत्तो अणिट्ठयरियं चेव सीतवेदणं पच्चणुभवमाणा विहरंति । [सू० ८९४]

'रयणे' त्यादि रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! किं शीतां वे-दनां वेदयन्ते,उष्णां वेदनां वेदयन्ते,शीतोष्णां वा?, भगवानाह-गौतम ! न शीतां वेदनां वेदयन्ते किन्तु उष्णां वेदनां वेदयन्ते, ते हि शीतयोनिका योनिस्थानानां केवलहिमानीप्रख्यशीत-प्रदेशात्मकत्वात् , योनिस्थानव्यतिरेकेण चान्यत् सर्वमपि भूम्यादिखादिराङ्गारादपि महाप्रतप्तमतस्ते उष्णवेदनामनुभ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वन्ति, नापि शीतोष्णां वेदनां वेदयन्ते, शीतोष्णस्वभावतया वेदनाया नरकेषु मूलतोऽप्यसम्भवात्। एवं शर्कराप्रभावालुकाप्रभानैरयिका अपि वक्तव्याः। पङ्कप्रभापृथिवीनैरयिकपृच्छायां भगवानाह—गौतम! शीतामपि वेदनां वेदयन्ते नरकावासभेदेनोष्णामपि वेदनां वेदयन्ते नरकावासभेदेनैव, न तु शीतोष्णाम्। तत्र ते बहुतरा ये उष्णां वेदनां वेदयन्ते, प्रभूततराणां शीतयोनित्वात्, ते स्तोकतरा ये शीतां वेदनां वेदयन्ते अल्पतराणामुष्णयोनित्वात्, एवं धूमप्रभायामपि वक्तव्यं,नवरं ते बहुतरा ये शीतवेदनां वेदयन्ते. बहूनामुष्णयोनित्वात्, ते स्तोकतरा ये उष्णवेदनां वेदयन्ते, अल्पतराणां शीतयोनित्वात्। तमःप्रभापृथिवीनैरयिकपृच्छायां भगवानाह—गौतम! शीतां वेदनां वेदयन्ते, नोष्णां नापि शीतोष्णां; तत्रत्यानां सर्वेषामुष्णयोनित्वात्, योनिस्थानव्यतिरेकेण चान्यस्य सर्वस्यापि नरकभूम्यादेर्महाहिमानीप्रख्यत्वात्,एवं तमस्तमाप्रभापृथिवीनैरयिका अपि वक्तव्याः,नवरं परमां शीतवेदनां वेदयन्ते इति वक्तव्यम् .तमःप्रभापृथिवीतः तमस्तमःप्रभापृथिव्यां शीतवेदनाया अतिप्रबलत्वात्। सम्प्रति भवानुभवप्रतिपादनार्थमाह—'रयण' त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! कीदृशं नरकभवं प्रत्यनुभवन्तः प्रत्येकं वेदयमानाः विहरन्ति— अवतिष्ठन्ते? भगवानाह—गौतम! रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका नित्यं-सर्वकालं क्षेत्रस्वभावजमहानिबिडान्धकारदर्शनतो भीताः, सर्वत उपजातशङ्कत्वात्, तथा नित्यं—सर्वकालं स्वत एवाग्रेऽपि त्रस्ताः—परमाधार्मिकदेवपरस्परोदीरितदुःखसंपातभयात्त्रासमुपपन्नाः, तथा नित्यं—सर्वकालं परमाधार्मिकैः परस्परं वा त्रासिताः—त्रासं ग्राहिताः, तथा नित्यमुद्विग्नाः यथोक्तरूपदुःखानुभवतस्तद्गतावासपराङ्मुखचित्ताः, तथा नित्यं—सर्वकालम्, उपप्लुताः उपप्लवेनोपेता न तु मनागपि रतिमासादयन्ति, एवं नित्यं—सर्वकालं परममशुभम् अतुलम्—अशुभत्वेनानन्यसदृशम् अनुबद्धम्—अशुभत्वेन निरन्तरमुपचितं निरयभवं प्रत्यनुभवन्तः—प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी। अस्यां चाधः सप्तम्यां क्रूरकर्माणः पुरुषा उत्पद्यन्ते नान्ये, तथा चास्यैवार्थस्य प्रदर्शनार्थं पञ्च पुरुषान् उपन्यस्यति—'अहे सत्तमाए ण' मित्यादि, अधः सप्तम्यां पृथिव्यामप्रतिष्ठाने नरके इमे-अनन्तरवक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्च महापुरुषाः अनुत्तरैः सर्वोत्तमप्रकर्षप्राप्तैः दण्डसमादानैः समादीयते कर्म्म एभिरिति समादानानि—कर्म्मोपादानहेतवः दण्डा एव—मनोदण्डादयः प्राणव्यपरोपणाध्यवसायरूपाः समादानानि दण्डसमादानानि तैः कालमासे कालं कृत्वोत्पन्नाः, तद्यथा—रामो—जमदग्निसुतः; परशुराम इत्यर्थः, दाढादालः-छातीसुतः (जी०) (वसूराजवृत्तम् 'वसूवरिचर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम्।) सुभूमोऽष्टमश्चक्रवर्त्ती, कौरव्यः—कौरव्यगोत्रो ब्रह्मदत्तश्चुलनीसुतः 'ते णं तत्थ वेयणं वेयंती' त्यादि ते परशुरामादयस्तत्र—अप्रतिष्ठाने नरके वेदनां वेदयन्ते उज्ज्वलां यावद् दुरध्यासामिति प्राग्वत्। सम्प्रति नरकेषूष्णवेदनायाः स्वरूपमभिधित्सुराह—'उसिणवेदणिज्जेसु णं भंते!' त्यादि, उष्णवेदनेषु णमिति पूर्ववत्, भदन्त! नरकेषु नैरयिकाः कीदृशीमुष्णवेदनां प्रत्यनुभवन्तः-प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति?, भगवानाह-गौतम! स यथानामकः—अनिर्दिष्टनामकः कश्चित् कर्म्मारदारकः-लोहकारदारकः स्यात्, किंविशिष्ट? इत्याह—तरुणः—प्रवर्द्धमानवयाः, आह-दारकः प्रवर्द्धमानवयाः एव भवति ततः किमनेन विशेषणेन?, न आसन्नमृत्योः प्रवर्द्धमानवयस्त्वाभावात्, न ह्यासन्नमृत्युः प्रवर्द्धमानवया भवति, न च तस्य विशिष्टसामर्थ्यसम्भवः आसन्नमृत्युत्वादेव, विशिष्टसामर्थ्यप्रतिपादनार्थश्चैष आरम्भस्ततोऽर्थवद्विशेषणम्। अन्ये तु व्याचक्षते-इह यद्द्रव्यं विशिष्टवर्णादिगुणोपेतमभिनवं च तत्तरुणमिति लोके प्रसिद्धं, यथा तरुणमिदमश्वत्थपत्रमिति, ततः स कर्म्मारदारकस्तरुण इति। किमुक्तं भवति?-अभिनवो विशिष्टवर्णादिगुणोपेतश्चेति, बलं-सामर्थ्यं तदस्यास्तीति बलवान्, तथा युगं-सुषमदुष्षमादिकालः स स्वेन रूपेण यस्यास्ति न दोषदुष्टः स युगवान्। किमुक्तं भवति?-कालोपद्रवोऽपि सामर्थ्यविघ्नहेतुः स चास्य नास्तीति प्रतिपत्त्यर्थमतद्विशेषणम्, युवा यौवनस्थः, युवावस्थायां हि बलातिशय इत्येतदुपादानम्, 'अप्पायंके' इति अल्पशब्दोऽभाववाची अल्पः-सर्वथाऽविद्यमान आतङ्को-ज्वरादिर्यस्यासावल्पातङ्कः, 'थिरग्गहत्थे' स्थिरौ अग्रहस्तौ यस्य स स्थिराग्रहस्तः, 'दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणए' इति दृढानि—अतिनिविडचयापन्नानि पाणिपादपार्श्वपृष्ठान्तरोरूणि परिणतानि यस्य स दृढपाणिपादपार्श्वपृष्ठान्तरोरुपरिणतः, सुखादिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः, तथा घनम्-अतिशयेन निचितौ—निविडतरचयमापन्नौ बलिताविव बलितौ वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स घननिचितवलितवृत्तस्कन्धः, 'चम्मेट्ठगदुघणमुट्ठियसमाहयनिचियगायगत्ते' चर्मेष्टकेन द्रुघणेन मुष्टिकया च-मुष्ट्या च समाहत्य ये निचितीकृतगात्रास्ते चर्मेष्टकद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रास्तेषामिव गात्रं यस्य स चर्मेष्टकद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रगात्रः, 'उरस्सबलसमन्नागए' इति उरसि भवमुरस्यं तच्च तद्बलं च उरस्यबलं तच्च समन्वागतः—समनुप्राप्तः उरस्यबलसमन्वागतः, आन्तरोत्साहवीर्ययुक्त इति भावः, 'तलजमलजुयलबाहू' इति, तलौ-तालवृक्षौ तयोर्यमलयुगलं—समश्रेणीकं युगलं तलयमलयुगलं, तद्वदतिसरलौ पीवरौ च बाहू यस्य स तलयमलयुगलबाहुः, 'लंघणपवणजवणपमद्दणसमत्थे' इति, लङ्घने-अतिक्रमणे प्लवने—मनाक् पृथुतरविक्रमगतिगमने जवने-अतिशीघ्रगतौ प्रमर्दने-कठिनस्यापि वस्तुनश्चूर्णनकरणे समर्थः लङ्घनप्लवनजवनप्रमर्दनसमर्थः, क्वचित् 'लंघणपवणजवणवायामणसमत्थे' इति पाठस्तत्र व्यायामने-व्यायामकरणे इति व्याख्येयम्, छेकः-द्वासप्ततिकलापण्डितः दक्षः-कार्याणामविलम्बितकारी, प्रष्ठः—वाग्मी कुशलः—सम्यक्क्रियापरिज्ञानवान् मेधावी-परस्पराव्याहतपूर्वापरानुसन्धानदक्षः, अत एव 'निपुणसिप्पोवगए' इति निपुणं यथा भवति एवं शिल्पं-क्रियासु कौशलमुपगतः-प्राप्तो निपुणशिल्पोपगतः एकं महान्तमयस्पिण्डम् 'उदकवारकसमाणं' लघुपानीयघटसमानं गृहीत्वा तम्-अयस्पिण्डं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तापयित्वा तापयित्वा ततो घनेन कुट्टयित्वा कुट्टयित्वा
यावदेकाहं वा द्व्यहं वा यावदुत्कर्षतोऽर्द्धमासं संहन्यात्
ततो णमिति वाक्यालङ्कारे, तम्-अयस्पिण्डं शीतम् , स च
शीतो वह्निमनाग्मात्रेणापि स्यादत आह—शीतीभूतं-सर्वा-
त्मना शीतत्वेन परिणतं अयोमयेन संदंशकेन गृहीत्वा अस-
द्भावस्थापनया-असद्भावकल्पनया नैतद्भूत् न भवति भवि-
ष्यति वा केवलमसद्भूतमिदं कल्प्यत इति, उष्णवेदनेषु नर-
केषु प्रक्षिपेत् , प्रक्षिप्य च स पुरुषो णमिति वाक्यालङ्कारे,
'उम्मिसियनिमिसियंतरेण' उन्मिषितनिमिषितान्तरेण याव-
ताऽन्तरेण-यावता व्यवधानेन उन्मेषनिमेषौ क्रियेते तावद-
न्तरप्रमाणेन कालेनातिक्रान्तेन पुनरपि प्रत्युद्धरिष्यामीति
कृत्वा यावद् द्रष्टुं प्रवर्त्तते तावत् प्रवितरमेव—प्रस्फुटित-
मेव, यदि वा—प्रविलीनमेव—नवनीतमिव सर्वथा गलि-
तमेव , यदि वा—प्रविध्वस्तमेव—सर्वथा भस्मसाद्भूतमेव
पश्येत् , न पुनः शक्नुयाद् अचिरात्तम् , अप्रस्फुटितम्
अविलीनं वा अविध्वस्तं वा पुनरपि प्रत्युद्धर्त्तुम् , एवं रू-
पा नाम तत्रोष्णवेदना । अस्यैवार्थस्य स्पष्टतरभावनार्थं
दृष्टान्तान्तरमाह—'से जहानामए ' इत्यादि, ' से ' सकल-
जनप्रसिद्धो यथेति दृष्टान्तत्वोपदर्शने । वाशब्दो विकल्पने ।
अयं वा दृष्टान्तो विवक्षितार्थप्रतिपत्तये बोद्धव्य इति वि-
कल्पनभावना । मत्तः-मदकलितः मातङ्गः-हस्ती , इह मा-
तङ्गोऽन्त्यजोऽपि संभवति ततस्तदाशङ्काव्युदासार्थं नाना-
देशजविनयजनानुग्रहाय (वा) पर्यायद्वयमाह—द्विपः—
द्वाभ्यां मुखेन करेण चेत्यर्थः पिबतीति द्विपः । " मूलवि-
भुजादयः" ।५।१।१४४। इति कप्रत्ययः। कौ जीर्यतीति कुञ्जरः,
यदि वा—कुञ्जे-वनगहने रमति-रतिमाबध्नातीति कुञ्जरः,
' क्वचिदिति ' डप्रत्ययः , षष्टिहायनाः—संवत्सरा यस्य स
षष्टिहायनः प्रथमशरत्कालसमये-कार्त्तिकमाससमये , इह
प्राय ऋतवः सूर्यर्त्तवो गृह्यन्ते ते चाषाढादयो द्विद्विमास-
प्रमाणाः, प्रवचने च क्रमेणैवंनामानः । तद्यथा—प्रथमः प्रा-
वृट् , द्वितीयो वर्षारात्रः , तृतीयः शरत् , चतुर्थो हेमन्तः ,
पञ्चमो वसन्तः , षष्ठो ग्रीष्मः , तथा चाह पादलिप्तसू-
रिः—" पाउस वासारत्तो , सरओ हेमन्त वसन्त गिम्हो
य । एए खलु छप्पि रिऊ , जिणवरदिट्ठा मए सिट्ठा ॥ १ ॥ "
ततः प्रथमशरत्कालसमयः कार्त्तिकसमयः इति विवृ(त्त)तम्,
आह च मूलटीकाकृत्-" प्रथमशरत्—कार्त्तिकमासः " त-
स्मिन् वाशब्दो विकल्पने, चरमनिदाघकालसमये वा—च-
रमनिदाघकालसमयो-ज्येष्ठमासपर्यन्तस्तस्मिन् , वाशब्दो
विकल्पने । उष्णाभिहतः-सूर्यखरकिरणप्रतापाभिभूतः ।
अत एवोष्णैः सूर्यकिरणैः सर्वतः प्रतप्ताङ्गतया शोषभाव-
तस्तृषाभिहतः , तत्रापि पानीयगवेषणार्थमितस्ततः स्वे-
च्छया परिभ्रमतः कथञ्चिद्दवाग्निप्रत्यासत्तौ गमनतो दवा-
ग्निज्वालाभिहतः अतः एव आतुरः-क्वचिदपि स्वास्थ्यमल-
भमानः सन् आकुलः, सर्वाङ्गपरितापसम्भवेन गलतालु-
शोषभावात् शुषितः, क्वचित् ' झिज्झिए ' इति पाठस्तत्र
क्षितेः-क्षीणशरीर इति व्याख्येयम् , असाधारणतृड्वेदना-
समुच्छलनातिपिपासितः , अत एव दुर्बलः शारीरमानसाव-
ष्टम्भरहितत्वात् , क्लान्तः-ग्लानिमुपगतः 'क्लमू' ग्लानौ, इति
वचनात् , एकां महतीं पुष्करिणीं-पुष्कराण्यस्यां विद्यन्ते

इति पुष्करिणी ताम् , किं—विशिष्टामित्याह—चतुष्कोणां-
चत्वारः कोणा-अश्रयो यस्याः सा तथा तां, समं—विष-
मोन्नतिवर्जितं सुखावतारं तीरं—तटं यस्याः सा समती-
रा ताम् , आनुपूर्व्येण-नीचैर्नीचैस्तरभावरूपेण न त्वेकहेल-
यैव क्वचिन्निम्नरूपा क्वचिदुन्नतिरूपा इति भावः, सुष्ठु-
अतिशयेन यो जातो वप्रः-केदारो जलस्थानं तत्र गम्भी-
रम्—अलब्धस्ताघं शीतलं जलं यस्यां सा आनुपूर्व्यसुजा-
तवप्रगम्भीरशीतलजला ताम् , ' संछण्णपत्तभिसमुणाल '
मिति संछन्नानि--जलेनान्तरितानि पत्रबिसमृणालानि य-
स्यां सा संछन्नपत्रबिसमृणाला ताम् , इह बिस—मृणाल-
साहचर्यात् पत्राणि पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्यानि, बिसानि-
कन्दाः मृणालानि—पद्मनालाः, तथा बहुभिरुत्पलकुमुदन-
लिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रप-
त्रैः केसरैः केसरप्रधानैः फुल्लैः विकासितैरुपचिता बहूत्पल-
कुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्र-
सहस्रपत्रकेसरफुल्लोपचिता तां तथा षट्पदैः-भ्रमरैः परि-
भुज्यमानानि कमलानि उपलक्षणमेतत् कुमुदादीनि यस्याः
सा षट्पदपरिभुज्यमानकमला तां, तथाऽच्छेन-स्वरूपतः स्फ-
टिकवच्छुद्धेन विमलेन-आगन्तुकमलरहितेन सलिलेन पूर्णा
अच्छविमलसलिलपूर्णा तां, तथा पडिहत्था-अतिरेकतः; अ-
तिप्रभूता इत्यर्थः भ्रमन्तो मत्स्यकच्छपा यस्यां सा पडिहत्थ-
भ्रमन्मत्स्यकच्छपा, तथा अनेकैः शकुनिगणमिथुनकैः गण-
शब्दस्य प्राकृतत्वादस्थानेऽप्युपनिपातः, शकुनिमिथुनकैर्वि-
चरितैः इतस्ततः स्वेच्छया प्रवृत्तैः शब्दोन्नतिकम्-उन्नतशब्दं
मधुरस्वरं नादितं यस्यां सा अनेकशकुनिगणमिथुनकवि-
चरितशब्दोन्नतिकमधुरस्वरनादिता, ततः पूर्वपदेन विशे-
षणसमासः, तां दृष्ट्वाऽवगाहेत, अवगाह्य च उष्णमपि-
परिदाहमपि शरीरस्य तत्र प्रविनयेत्—प्रकर्षेण सर्वात्म-
ना स्फोटयेत् , तथा क्षुधामपि प्रविनयेत् प्रत्यासन्नतट-
वर्त्तिशल्लक्यादिकिसलयभक्षणात् , तृषमपि प्रविनयेत्
जलपानात् , ज्वरमपि परिसंतापसमुत्थं प्रविनयेत् परि-
दाघक्षुत्पिपासाऽपगमात् , एवं सकलक्षुद्रादिदोषापगमतः
सुखासिकाभावेन निद्रायेत प्रचलायेत , तत्र अनिद्रावान्
निद्रावान् भवतीति च्व्यर्थविवक्षायां निद्रादिभ्यो धर्मिणि
क्यविति कर्मणि क्यप्प्रत्ययः, एवं प्रचलाशब्दादपि नि-
द्रादेराकृतिगणत्वात् । निद्राप्रचलयोस्त्वयं विशेषः—सुख-
प्रबोधा स्वापावस्था निद्रा, ऊर्द्धस्थितस्यापि या पुनश्चै-
तन्यमस्फुटीकुर्वती समुपजायते निद्रा सा प्रचला । एवं
च क्षणमात्रनिद्रालाभतोऽतिस्वस्थीभूतः स्मृतिं वा—पू-
र्वानुभूतस्मरणं रतिं वा—तदवस्थाऽऽसक्तिरूपां धृतिं वा-
चित्तस्वास्थ्यं मतिं वा—सम्यगीहापोहरूपाम् उपलभेत-
प्राप्नुयात् । ततः शीतः—बाह्यशरीरप्रदेशशीतीभावात् , शी-
तीभूतः-शरीरान्तरेऽपि निर्वृतीभूतः सन् 'संकसमाणे' इति
सम्—एकीभावेन कसन्—गच्छन् ' सातसौख्यबहुलश्चापि'
सातम्—आह्लादस्तत्प्रधानं सौख्यं सातसौख्यं न त्वभि-
मानमात्रजनितमाह्लादविरहितं सातसौख्येन बहुलो-व्याप्तः
सातसौख्यबहुलश्चापि विहरेत्—स्वेच्छया परिभ्रमेत् , ए-
वमेव—अनेनैवानन्तरोदितदृष्टान्तप्रकारेण हे गौतम ! अस-
द्भावप्रस्थापनया—असद्भावकल्पनया नेदं वक्ष्यमाणमभूत्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवलं नरकगतोष्णवेदनायाथात्म्यप्रतिपत्तये सत्कल्पत इति भावः, उष्णवेदनेभ्यो नरकेभ्यो नैरयिकोऽनन्तरमुद्वर्त्तितो—विनिर्गतः सन् यानि–इमानि प्रत्यक्षत उपलभ्यमानानि इह—मनुष्यलोके स्थानानि भवन्ति। तद्यथा "गोलियालिंगाणि वा, सोंडियालिंगाणि वा भिंडियालिंगाणि वा, ' एते अग्नेराश्रयविशेषाः। अन्ये तु देशभेदनीत्या पिष्टपाचनकाग्न्यादिभेदैनेतेषां स्वरूपं कथयन्ति, तदप्यविरुद्धमेवेति। तैलाऽग्निरिति वा तुषाग्निरिति वा बुसाग्निरिति वा नडाग्निरिति वा, नडः—तृणविशेषः, ' अयागराणीति वा ' आर्षत्वान्नपुंसकनिर्देशः अयआकरा इति वा, येषु निरन्तरं महामूषास्वयोदलं प्रक्षिप्याऽय उत्पाद्यते ते अयआकराः, एवं ताम्राकरा इति वा त्रप्वाकरा इति वा सीसकाकरा इति वा रूप्याकरा इति वा सुवर्णाकरा इति वा हिरण्याकरा इति वा, सुवर्णहिरण्ययोरत्र विशेषो वर्णादिकृतो वेदितव्यः, इष्टकापाक इति वा कुम्भकारापाक इति वा कवेल्लुकापाक इति वा लोहकाराम्बरीष इति वा, अम्बरीषः–कोष्ठकः, यन्त्रवाडचुल्ली इवेति, यन्त्रम्–इक्षुपीडनयन्त्रं तत्प्रधानः पाटको यन्त्रपाटकः तत्र चुल्ली यत्रेक्षुरसः पच्यते, इत्थम्भूतानि यानि मनुष्यलोके स्थानानि तप्तानि—वह्निसम्पर्कतस्तप्तीभूतानि, तानि च कानिचित् अयआकरप्रभृतीनि कदाचिदुष्णस्पर्शमात्राण्यपि संभवन्ति ततो विशेषप्रतिपादनार्थमाह–' समजोईभूयाइ ' प्राकृतत्वात्समशब्दस्य पूर्वनिपातः, ज्योतिःसमभूतानि साक्षादग्निवर्णानि जातानीति भावः, एतदेवोपमया स्पष्टयति–फुल्लकिंशुकसमानानि–प्रफुल्लपलाशकुसुमकल्पानि ' उक्कासहस्साइं ' इति ये मूलाग्नितो वित्रुट्य वित्रुट्याग्निकणाः प्रसर्पन्ति त उल्का इत्युच्यन्ते; तासां सहस्राणि उल्कासहस्राणि मुञ्चन्ति, ज्वालासहस्राणि विनिर्मुञ्चन्ति, अङ्गारसहस्राणि प्रविक्षरन्ति, अन्तरन्तर्हूहूयमानानि–अतिशयेन जाज्वल्यमानानि, क्वचित् 'अंतो अंतो सुहूयहुयासणा' इति पाठः, अन्तरन्तः सुहुतहुताशनानि–सुष्ठु हुतो—हुताशनो येषु तानि तथा तिष्ठन्ति तानि पश्येत् दृष्ट्वा चावगाहेत, अवगाह्य च उष्णमपि–नरकोष्णवेदनाजनितं बहिः शरीरस्य परितापमपि प्रविनयेत्, नरकगतादुष्णस्पर्शादयआकरादिषूष्णस्पर्शस्यातीव मन्दत्वात्, एवं च सुखासिकाभावतस्तृषामपि क्षुधमपि दाहमपि अन्तःशरीरसमुत्थं प्रविनयेत्। तथा च सति तृडादिदोषापगमतो निद्रायेत वा, प्रचलायेत वा, स्मृतिं वा रतिं वा धृतिं वा उपलभेत। ततः शीतः—शीतीभूतः सन् संकसन् संकसन्–संक्रामन् संक्रामन् सातसौख्यबहुलो विहरेत्। अमीषां पदानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः। एतावत्युक्ते भगवान् गौतमः पृच्छति—' भवे एयारूवे सिया ? ', स्यात्—संभाव्यते एतद् यथा भवेदुष्णवेदनीयेषु नरकेषु एतद्रूपा उष्णवेदना ?, भगवानाह—गौतम ! नायमर्थः समर्थो यदुष्णवेदनीयेषु नरकेषु नैरयिका इति, अनन्तरं प्रतिपादितस्वरूपाया उष्णवेदनायाः अनिष्टतरिकामेव अप्रियतरिकामेव अमनोज्ञतरिकामेव अमनआपतरिकामेव वेदनां प्रत्यनुभवन्तः–प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति। सम्प्रति शीतवेदनीयेषु नरकेषु शीतवेदनास्वरूपं प्रतिपादयति–' सीयवेयणिज्जेसु ण ' मित्यादि, शीतवेदनीयेषु भदन्त ! निरयेषु नैरयिकाः कीदृशीं शीतवेदनां प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति ?, स यथा नामकः कर्म्मकरदारकः स्यात्, तरुण इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत्तावद् यावत्संहन्यात्; नवरमुत्कर्षतो मासमित्यत्र ब्रूयात्। ततः सः—कर्म्मकरदारकः तम्—अयस्पिण्डमुष्णम्, स चोष्णो बाह्यप्रदेशमात्रापेक्षयाऽपि स्यादत आह—उष्णीभूतं–सर्वात्मनाऽग्निवर्णीभूतमिति भावः, अयोमयेन संदंशकेन गृहीत्वाऽसद्भावप्रस्थापनया शीतवेदनीयेषु नरकेषु प्रक्षिपेत्, ततः स—पुरुषः तम्—अयस्पिण्डमित्यादि प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावद्विहरति. तच्चैवम्—' से णं तं उम्मिसियनिमिसियंतरेण पुणरवि पच्चुद्धरिस्सामि त्तिं कट्टु पविरायमेव पासेज्जा पविलीणमेव पासेज्जा पविद्धत्थमेव पासेज्जा नो चेव णं संचाएइ अविरायं अविलीणं अविद्धत्थं पुणरवि पच्चुद्धरित्तए से जहानामए मत्तमायंगे ० जाव सायासोक्खबहुले याऽवि विहरइ त्ति ' ' एवामेवे ' त्यादि, अनेनैवाधिकृतदृष्टान्तोक्तेन प्रकारेण गौतम ! असद्भावप्रस्थापनया शीतवेदनीयेभ्यो नरकेभ्योऽनन्तरमुद्वृत्तः सन् यानीमानि मनुष्यलोके स्थानानि भवन्ति, तद्यथा—हिमानि वा हिमपुञ्जानि वा, सूत्रे, नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात्, हिमपटलानि वा हिमकूटानि वा, एतान्येव पदानि नानादेशजविनेयानुग्रहाय पर्यायैर्व्याचष्टे–' सीयाणि वा सीयपुंजाणि वा ' इत्यादि, तानि पश्येत् दृष्ट्वा तान्यवगाहेत, अवगाह्य शीतमपि—नरकजनितं शीतत्वमपि प्रविनयेत्, ततः सुखासिकाभावतस्तृषमपि क्षुधमपि ज्वरमपि नरकवेदनीयनरकसंपर्कसमुत्थं जाड्यमपि प्रविनयेत्, ततः शीतत्वादिदोषापगमतोऽनुत्तरं स्वास्थ्यं लभमानो निद्रायेत वा प्रचलायेत वा स्मृतिं वा रतिं वा धृतिं वा लभेत, ततो नरकगतजाड्यापगमाद् उष्णः, स च बहिः प्रदेशमात्रतोऽपि स्यात्तत आह–' उष्णीभूतः अन्तरेऽपि नरकगतजाड्यापगमात् जातोत्साह इत्यर्थः, स एवंभूतः सन् यथास्वसुखं (संकसन्) संक्रामन् सातसौख्यबहुलो विहरेत्, एवमुक्ते गौतम आह—' भवेयारूवे सिया ?' इत्यादि प्राग्वत्। जी० ३ प्रति० २ उ०।

नेरइया णं भंते ! किं एवंभूयं वेदणं वेदेंति, अनेवंभूयं वेदणं वेदेंति ? गोयमा, नेरइया णं एवंभूयं वेदणं वेदेंति अनेवंभूयं पि वेदणं वेदेंति। से केणऽट्ठेणं तं चेव ?, गोयमा ! जे णं नेरइया जहा कडा कम्मा तहा वेयणं वेदेंति ते णं नेरइया एवंभूयं वेदणं वेदेंति। जे णं नेरतिया जहा कडा कम्मा णो तहा वेदणं वेदेंति ते णं नेरइया अनेवंभूयं वेदणं वेदेंति, से तेणऽट्ठेणं, एवं० जाव वेमाणिया संसारमंडलं नेयव्वं। (सू० २०२+)

' एवंभूयं वेयणं' ति यथाविधं कर्म निबद्धमेवं प्रकारतयोत्पन्नां वेदनाम्—असातादिकर्मोदयं वेदयन्ति—अनुभवन्ति मिथ्यात्वं चैतद्वादिनामेवम्–न हि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्मानुभूयते, आयुःकर्मणो व्यभिचारात्। तथाहि—दीर्घकालानुभवनीयस्याप्यायुःकर्मणोऽल्पीयसाऽपि कालेनानुभवो भवति, कथमन्यथाऽपमृत्युव्यपदेशः सर्वजनप्रसिद्धः स्या-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्? , कथं वा महासंयुगादौ जीवलक्षाणामप्येकदैव मृत्युरुपपद्येतेति ? , 'अणेवंभूयं पि' त्ति यथा बद्धं कर्म नैवंभूता अनेवंभूता अतस्ताम् , श्रूयन्ते ह्यागमे कर्म्मणः स्थितिविघातरसघातादय इति । 'एवं० जाव वेमाणिया संसारमंडलं नेयव्वं' ति एवम्—उक्तक्रमेण वैमानिकावसानं संसारिजीवचक्रवालं नेतव्यमित्यर्थः । अथ चेह स्थाने वाचनान्तरे कुलकरतीर्थकरादिवक्तव्यता दृश्यते , ततश्च संसारमण्डलशब्देन पारिभाषिकसंज्ञया सेह सूचितेति संभाव्यत इति । भ० ५ श० ५ उ० । (करणतोऽकरणतो वा सातवेदनां वेदयन्ते इति 'करण' शब्दे तृतीयभागे-३७० पृष्ठे उक्तम् ।)

महावेदनः—

जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं इहगए महावेदणे उववज्जमाणे महावेदणे उववन्ने महावेदणे ? , गोयमा ! इहगए सिय महावेयणे सिय अप्पवेदणे उववज्जमाणे सिय महावेदणे सिय अप्पवेदणे अहे णं उववन्ने भवति तओ पच्छा एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति आहच्च सायं । जीवे णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए पुच्छा , गोयमा ! इहगए सिय महावेदणे सिय अप्पवेदणे उववज्जमाणे सिय महावेदणे सिय अप्पवेदणे अहे णं उववन्ने भवइ, तओ पच्छा एगंतसायं वेयणं वेदेंति आहच्च असायं, एवं ०जाव थणियकुमारेसु जीवे णं भंते ! जे भविए पुढविकाएसु उववज्जित्तए पुच्छा , गोयमा ! इहगए सिय महावेदणे सिय अप्पवेयणे, एवं उववज्जमाणे वि , अहे णं उववन्ने भवति तओ पच्छा वेमायाए वेयणं वेयति एवं ०जाव मणुस्सेसु , वाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु जहा असुरकुमारेसु । (सू० २८३ ×)

तत्र च 'एगं दुक्खं वेयणं' ति सर्वथा दुःखरूपां वेदनीयकर्म्मानुभूतिम् 'आहच्च सायं' ति कदाचित्सुखरूपां नरकपालादीनामसंयोगकाले, 'एगंतसायं' ति भवप्रत्ययात् 'आहच्च असायं' ति प्रहाराद्युपनिपातात् । भ० ७ श० ६ उ० ।

सङ्घट्टश्चाक्रमणभेदोऽत आक्रान्तानां पृथिव्यादीनां यादृशी वेदना भवति तत्प्ररूपणायाह—

पुढविकाइए णं भंते ! अक्कंते समाणे केरिसियं वेदणं पच्चणुब्भवमाणे विहरति ? , गोयमा ! से जहानामए— केइ पुरिसे तरुणे बलवं ०जाव निउणसिप्पोवगए एगं पुरिसं जुन्नं जराजज्जरियदेहं ० जाव दुब्बलं किलंतं जमलपाणिणा मुद्धाणंसि अभिहणिज्ज. से णं गोयमा ! पुरिसे तेणं पुरिसेणं जमलपाणिणा मुद्धाणंसि अभिहए समाणे केरिसियं वेदणं पच्चणुब्भवमाणे विहरति ? , अणिट्ठं समणाउसो ! तस्स णं गोयमा ! पुरिसस्स वेदणाहिंतो पुढविकाइए अक्कंते समाणे एत्तो अणिट्ठतरियं चेव अकंततरियं० जाव अमणामतरियं चेव वेदणं पच्चणुब्भवमाणे विहरति । आउयाए णं भंते ! संघट्टिए समाणे केरिसियं वेदणं पच्चणुब्भवमाणे विहरति ?, गोयमा ! जहा पुढविकाइए एवं चेव , एवं तेऊयाए वि एवं वाऊयाए वि, एवं वणस्सइकाए वि ०जाव विहरति । सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति ॥ (सू०६५३×)

'पुढवी' त्यादि, 'अक्कंते समाणे ' त्ति आक्रमणे सति 'जमलपाणिणा' त्ति मुष्टिनेति भावः । 'अणिट्ठं समणाउसो ! ' त्ति गौतमवचनम् 'एत्तो' त्ति उक्तलक्षणाया वेदनायाः सकाशादिति । भ० १६ श० ३ उ० । (सर्वे जीवाः अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्त इत्यत्रान्ययूथिकैः सह विवादः ' अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे४५७ पृष्ठे दर्शितः) (यो महानिर्जरः स महादेवः या वेदना सा निर्जरा इति 'णिज्जरा' शब्दे चतुर्थभागे २०५७ पृष्ठे दर्शितम् ।) (चरमा अपि परमा नैरयिकाणां महाक्रियाः महावेदनाः इति 'चरम' शब्दे तृतीयभागे ११४० पृष्ठे दर्शितम् ।)

मारणान्तिकवेदनोदये दृष्टान्तमाह—

" रोहीडगं च नगरं, ललिआ गुट्ठी अ रोहिणी गणिआ ।
धम्मरुइ कडुअ दुद्धिअ, दाणाइ अणेअकम्मुदये ॥ १ ॥ "

अनेजस्य निःकम्पस्य कर्मणामुदये ।

"रोहितकपुरे रोह-ल्लोलाललितगोष्ठिकाः ।
तथैका जीर्णगणिका, रोहिणीत्यस्ति तत्र च ॥ १ ॥
अनन्यजीवनोपाया, भक्तं राध्नोति तत्कृते ।
अन्यदा कटुकं तुम्बं, पक्वं जातं विषोपमम् ॥ २ ॥
मा भूवं निन्दिता गोष्ठ्या-स्ततोऽन्यत्तत्कृते कृतम् ।
आद्यं धर्मरुचेर्दत्तं, मासपारणके मुनेः ॥ ३ ॥
स गत्वोपाश्रये साधु—स्तत्स्वमालोचयद् गुरोः ।
गुरुर्विज्ञाय गन्धेन, तमूचेऽमुं परित्यज ॥ ४ ॥
भक्षितं मृत्यवे ह्येत-त्त्यक्तुं स गतोऽटवीम् ।
कथंचित् पतितो बिन्दुः, पात्रात्तत्रैत्य कीटिकाः ॥ ५ ॥
लग्नमात्रान्मृता दृष्ट्वा, दध्यौ मे सुमृतिर्वरम् ।
माऽन्यजीवविघातो भू-दिति त्यक्त्वाऽखिलोपधिम् ॥६॥
एकत्र स्थण्डिले स्थित्वा, विधायाराधनाविधिम् ।
तद्भक्त्वा वेदनां तीव्रा-मधिसह्य शिवं ययौ ॥७॥" आ० क० ४ अ० । आ० चू० ।

यथोदीरणवेदननिर्जराः कुर्वन्ति देहिनस्तथा प्रतिपादयति-

जीवा णं दोहिं ठाणेहिं पावकम्मं उदीरेइ, तं जहा–अब्भोवगमियाए चेव, वेयणाए, उवक्कमियाए चेव वेयणाते । एवं वेदेंति एवं णिज्जरेंति अब्भोवगमियाए चेव वेयणाए उवक्कमिताते चेव वेयणाते । (सू० ६६ +)

'जीवे' त्यादि गतार्थम् , नवरम् उदीरयन्ति—अप्राप्तावसरं सदुदये प्रवेशयन्ति , अभ्युपगमेन—अङ्गीकरणेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्वृत्ता तत्र वा भवा आभ्युपगमिकी तया—शिरोलोचतपश्चरणादिकया वेदनया-पीडया उपक्रमेण-कर्मोदीरणकारणेन निर्वृत्ता तत्र वा भवा औपक्रमिकी तया—ज्वरातीसारादिजन्यया , एवमिति-उक्तप्रकारत एव वेदयन्ति विपाकतोऽनुभवन्त्युदीरितं सदिति, निर्जरयन्ति—प्रदेशेभ्यः शाटयन्तीति। स्था० २ ठा० ४ उ०।

वेयणाखंध-वेदनास्कन्ध-पुं०। सुखाः दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदनालक्षणे बौद्धपरिभाषिते पञ्चस्कन्धेष्वन्यतमे स्कन्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

वेदणाभय-वेदनाभय-न०। वेदना-पीडा तद्भयं वेदनाभयम्। भयभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

वेयणासमुग्घाय-वेदनासमुद्घात-पुं०। असावद्यकर्माश्रये समुद्घातभेदे, स० ६ सम०। स्था०। प्रज्ञा०। तत्र वेदनासमुद्घातगत आत्मा असातवेदनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, तथाहि-वेदनापीडितो जीवः स्वप्रदेशान् अनन्तानन्तकर्मस्कन्धवेष्टितान् शरीराद्बहिरपि विक्षिपति तैश्च प्रदेशैर्वेदनजठरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यपान्तरालानि चापूर्यायामतो विस्तरतश्च शरीरमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मुहूर्त्तं यावदवतिष्ठते,तस्मिश्चान्तर्मुहूर्त्ते प्रभूतासातावेदनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति। प्रज्ञा० ३६ पद। पं० सं०। ('समुग्घाय' शब्दे विशेषतो व्याख्या वक्ष्यते।)

वेयणिज्ज-वेदनीय-न०। वेद्यते आह्लादादिरूपेण यदनुभूयते तद्वेदनीयम्। कर्मण्यनीयप्रत्ययः। वेदनीये कर्मणि, स्था० २ ठा० ४ उ०।

वेयणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते , तं जहा-सायावेयणिज्जे चेव, असायावेयणिज्जे चेव। (सू० १०५ ×)

तथा वेद्यते-अनुभूयत इति वेदनीयं,सातं-सुखं तद्रूपतया वेद्यते यत्तत्तथा, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् इतरद्-एतद्विपरीतम्,आह च " महुलित्तनिसियकरवा-लधारजीहाएँ जारिसं लिहणं। तारिसयं वेयणियं,सुहदुहउप्पायगं मुणह ॥१॥" इति। (स्था० २ ठा० ४ उ०।) कर्मभेदे, यद्यपि सर्वकर्माण्यप्येवं तथापि पङ्कजादिशब्दवत् वेदनीयशब्दस्य रूढविषयित्वात् साताऽसातरूपमेव कर्म वेदनीयमित्युच्यते। कर्म० ६ कर्म०। पं० सं०। जं०। दशा०।

साम्प्रतं तृतीयं कर्म वेद्यवेदनीयापरपर्यायं व्याचिख्यासुराह-

महुलित्तखग्गधारा-लिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥१२॥

' महुलित्ते ' त्यादि, मधुना—मधुरसेन लिप्ता—खरण्टिता खड्गस्य-करवालस्य धारा—तीक्ष्णाग्ररूपा तस्या जिह्वया लेहनमिवास्वादनसदृशं द्विधैव-द्विप्रकारमेव साताऽसातभेदात्। तुशब्द एवकारार्थः। वेदनीयं वेद्यं कर्म भवति। इह च मधुलेहनसंनिभं सातवेदनीयं खड्गधाराच्छेदनसममसातवेदनीयम्। उक्तं च—"महुआसायणसरिसो , सायावेयस्स होइ हु विवागो। जं असिणा तहि छिज्जइ, सो उ विवागो असायस्स ॥ १ ॥ "

अथ गतिचतुष्टये साताऽसातस्वरूपमाह—

ओसन्नं सुरमणुए,सायमसायं तु तिरियणरएसु।
मज्जं व मोहणीयं, दुविहं दंसणचरणमोहा ॥ ३ ॥

ओसन्नशब्दो देशीवचनो बाहुल्यवाचको, यथा-" ओसन्नं देवा सायं वेयणं वेयंति " तत्र ' ओसन्नं ' बाहुल्येन-प्रायेणेत्यर्थः, सुराश्च-देवा मनुजाश्च—मनुष्याः सुरमनुजं समाहाद्वन्द्वस्तस्मिन् सुरमनुजे सुरेषु-मनुजेष्वित्यर्थः, सातं-सातवेदनीयं भवति। ओसन्नग्रहणाच्च्यवनकालेऽन्यदाऽपि सुराणामसातोदयोऽप्यस्ति, चारकनिरोधवधबन्धनशीतातपादिभिर्मनुजानामप्यसातमिति नरकभवाः प्राणिनोऽप्युपचारात् नरकाः, ततस्तिर्यञ्चश्च नरकाश्च तिर्यग्नरकास्तेषु तिर्यक्षु नरकेष्वित्यर्थः। ओसन्नशब्दस्येहापि संबन्धादसातम्। तुः पुनरर्थे, व्यवहितसंबन्धश्च ! स चैवं योज्यते-तिर्यग्नरकेषु पुनरसातं प्रायो भवति ओसन्नग्रहणात्केषांचित्पट्टहस्तितुरङ्गादीनां तिरश्चां नारकाणामपि जिनजन्मकल्याणकादिषु सातमप्यस्तीत्युक्तं द्विविधं वेदनीयम्। कर्म० १ कर्म०।(वेदनीयानि अकर्कशवेदनीयानि च कर्माणि स्वस्वस्थाने उक्तानि।)

साताऽसातवेदनीयानि त्विह—

अत्थि णं भंते ! जीवा णं सायवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति हंता अत्थि। कहरणं भंते ! जीवा णं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ?, गोयमा ! पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए जीवाणुकंपयाए सत्ताणुकंपयाए बहूणं पाणाणं ० जाव सत्ताणं अदुक्खयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवा णं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति एवं नेरइयाण वि एवं०जाव वेमाणियाणं। अत्थि णं भंते ! जीवा णं असायवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति,हंता अत्थि। कहरणं भंते ! जीवा णं असायवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ?, गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्टणयाए परपरितावणयाए ०जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवा णं असायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति एवं नेरइयाण वि एवं०जाव वेमाणियाणं। (सू० २८६)

'अदुक्खणयाए' त्ति दुःखस्य करणं दुःखनं तदविद्यमानं यस्यासावदुःखनस्तद्भावस्तत्ता तया अदुःखनतया; अदुःखकरणेनेत्यर्थः। एतदेव प्रपञ्च्यते 'असोयणयाए' त्ति दैन्यानुत्पादनेन, 'अजूरणयाए' त्ति शरीरापचयकारिशोकाऽनुत्पादनेन, ' अतिप्पणाए ' त्ति अश्रुलालादिक्षरणकारणशोकानुत्पादनेन ' अपिट्टणयाए' त्ति यष्ट्याद्यभिताडनपरिहारेण, 'अपरितावणयाए ' त्ति शरीरपरितापानुत्पादनेन। भ०७ श०६ उ०। (वेदनीयस्य बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेधः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २७६—२८३ पृष्ठे गतः।)

वेयणिज्जजुगल-वेदनीययुगल-न०। सातवेदनीयाऽसातवेदनीयरूपं द्विविधं वेदनीयं , कर्म० २ कर्म०।

वेयतिग-वेदत्रिक-न०। स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदाख्ये वेदत्रये , कर्म० २ कर्म०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेयड्डिया-वितर्दिका-स्त्री०। वेदिकायाम्, नि० १ श्रु०१ वर्ग १ अ०। औ०। ज्ञा०।

वेयधिगरण-वैयधिकरण्य-न०। विभिन्नमधिकरणमस्येति व्यधिकरणस्तद्भावो वैयधिकरण्यम्। परस्परविरुद्धयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशे, अने० १ अधि०।

वेयपय-वेदपद-न०। वैदिकशब्दे, "वेयपयाणं अत्थं, न याणसी, तेसिमेयट्ठं" इति इन्द्रभूत्यादीन् प्रति वीरजिनः। आ० म० १ अ०। विशे०। आव०।

वेयपुरिस-वेदपुरुष-पुं०। वेदः—पुरुषवेदस्तदनुभवनप्रधानः पुरुषो वेदपुरुषः। पुरुषभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

वेयबंधय-वेदबन्धक-पुं०। वेदयते अनुभवतीति वेदः, तस्य बन्ध एव बन्धकः। कति प्रकृतीर्वेदयमानस्य कतिप्रकृतीनां बन्धो भवतीति तत्र निरूप्यते, ततस्तद्वेदस्य बन्ध इति प्रज्ञापनायाः षड्विंशतितमे पदे, प्रज्ञा० १ पद। ('कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६३ पृष्ठे व्याख्यातमिदम्।)

वेयमाण-वेदयत्-त्रि०। अनुभवति, भ० १८ श० ३ उ०।

वेयमुह-वेदमुख-न०। वेदानां मुख्यभागे ओंकारे, "न विजाणसि वेयमुहं, न वि जन्नाणजं मुहं" इति जयघोषविजयघोषसंवादः। उत्त० २५ अ०।

वेयरणी-वैतरणी-स्त्री०। क्षारोष्णरुधिराकारजलवाहिन्यां नरकनद्याम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। आचा०। आव०। द्वारवत्यां नगर्यां कृष्णवासुदेवस्य विद्यायाम्, "बारवती नगरी तत्थ कण्हो वासुदेवो तस्स दो विज्जा, धन्नंतरी, वेयरणी य। धन्नंतरी अभवितो, वेयरणी भवितो।" आ० म० १ अ०। आ० चू०। पूयरुधिरत्रपुताम्रादिभिरतितापात्कलकलायमानैर्भृतां विरूपं तरणं प्रयोजनमस्या इति वैतरणीति, यथार्थां नदीं विकुर्व्य तत्तारणेन कदर्थयति नारकानिति (स० १५ सम०) त्रयोदशे परमाधार्मिके, पुं०। सूत्र०।

तद्वर्णनमाह—

पूयरुहिरकेसऽट्ठि-वाहिणी कलकलेंतजलसोया।
वेयरणिणिरयपाला, णेरइए ऊ पवाहंति ॥ ८२॥

'पूयरुहिरे' त्यादि, वैतरणीनामानो नरकपालाः वैतरणीं नदीं विकुर्वन्ति, सा च पूयरुधिरकेशास्थिवाहिनी महाभयानका कलकलायमानजलस्रोता तस्यां च क्षारोष्णजलायामतीव बीभत्सदर्शनायां नारकान् प्रवाहयन्तीति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

वेयवं-वेदवत्-पुं०। वेद्यते जीवादिस्वरूपमनेनेति वेदः-आचाराङ्गाद्यागमस्तं वेत्तीति वेदवित्। आगमज्ञे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

वेयवक्क-वेदवाक्य-न०। वैदिकपदसमूहे, त्रिविधानि वेदवाक्यानि। कानिचिद् विधिवादपराणि-तत्राग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादीनि विधिवादपराणि, अर्थवादस्तु द्विधा-स्तुत्यर्थवादो निन्दार्थवादश्चेत्यादिवेदप्रतिपादितम्। आ० म० १ अ०। विशे०।

वेयवत्त-वेदव्यक्त-न०। जृम्भिकग्रामस्य बहिर्ऋजुपालिकाया उत्तरकूले स्वनामख्याते चैत्ये, आचा० २ श्रु० २ चू०।

व्यावृत्त-न०। जृम्भिकग्रामस्य बहिः ऋजुपालिकाया उत्तरकूले स्वनामख्याते चैत्ये, आचा० २ श्रु० ३ चू०।

वेयवि-वेदविद्-पुं०। वेद्यते जीवादिस्वरूपमनेनेति आचाराङ्गाद्यागमस्तं वेत्तीति वेदवित्। आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। आगमविदि तीर्थकरे, गणधरे, चतुर्दशपूर्वविदि च। आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। आ० म०। सर्वज्ञोपदेशवर्त्तिनि, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ०।

राओवरयं चरिज्ज लाढ, विरए वेयवियाऽऽयरक्खिए (२)

वेद्यते अनेन तत्त्वमिति वेदः—सिद्धान्तः तस्य वेदनं वित्तया आत्मा रक्षितो दुर्गतिपतनात्त्रातोऽनेनेति वेदविदात्मरक्षितः। यद्वा-वेदं वेत्तीति वेदवित्, तथा रक्षिता आयाः सम्यग्दर्शनादिलाभः येनेति रक्षितायो रक्षितशब्दपरनिपातः प्राग्वत्। उत्त० १५ अ०।

वेयवेय-वेदवेद-पुं०। कां प्रकृतिं वेदयमानः कति प्रकृतीर्वेदयते इत्यर्थप्रतिपादके प्रज्ञापनायाः सप्तविंशतितमे पदे, प्रज्ञा० १ पद।

वेयाईय-वेदातीत-पुं०। अवेदके, विशे०।

वेयागरणी-वैयाकरणी-स्त्री०। प्रवव्रजिषुः सन्देहनिराकरणात्प्रव्रज्यायाम्, "वेयागरणीए सोमिल, पच्छा जह वायरे भगवं" पं० भा० १ कल्प। पं० चू०।

वेयाणुवीइ-वेदानुवी(चि-स्त्री०। वेदः पुंवेदोदयस्तस्यानुवीचिः—आनुकूल्यम्। मैथुनाभिलाषे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

वेयारणिया-वैदा(च)(ता)रणी-स्त्री०। विदारणं विचारणं वितारणं वा स्वार्थिकप्रत्ययोपादानाद् वैदारणी। क्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ०। आव०।

वेयाल-वेताल-पुं०। विकृतपिशाचे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

वेयालग-विदारक-न०। दृ-विदारणे इत्यस्य धातोर्विपूर्वस्य छान्दसत्वात् भावे ण्वुल्प्रत्ययान्तस्य विदारकम्। विदारणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

वेयालण-वेदारण-न०। विशेषेण द्वैधीकरणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

वेयालिय-विदारणीय-न०। विदारणकर्मणि, सूत्र०।

निक्षेपः—

वेयालियम्मि वेया-लगो य वेयालणं वियालणियं।
तिण्णि वि चउक्कगाइं, वियालओ एत्थ पुण जीवो ॥३६॥

तत्र प्राकृतशैल्या वेयालियमिति दृ-विदारणे इत्यस्य धातोर्विपूर्वस्य छान्दसत्वात् भावे ण्वुल्प्रत्ययान्तस्य विदारकमिति क्रियावाचकमिदमध्ययनाभिधानमिति, सर्वत्र च क्रियायामेतत्त्रयं सन्निहितम्, तद्यथा-कर्ता, करणं, कर्म चेति। अतस्तद्दर्शयति—विदारको विदारणं विदारणीयं च। तेषां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रयाणामपि नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्द्धा निक्षेपेण त्रीणि चतुष्ककानि द्रष्टव्यानि। अत्र च नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यविदारको यो हि द्रव्यं काष्ठादि विदारयति, भावविदारकस्तु कर्मणो विदार्यत्वात् नोआगमतो जीवविशेषः साधुरिति ॥ ३६ ॥

करणमधिकृत्याऽऽह—

दव्वं च परसुमादी, दंसणणाणतवसंजमा भावे।
दव्वं च दारुगादी, भावे कम्मं वियालणियं ॥ ३७ ॥

नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यविदारणं परश्वादि, भावविदारणं तु दर्शनज्ञानतपःसंयमाः, तेषामेव कर्मविदारणे सामर्थ्यमित्युक्तं भवति। विदारणीयं तु नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यं दार्वादि, भावे पुनरष्टप्रकारं कर्मेति ॥ ३७ ॥

साम्प्रतं 'वेयालिय' मित्येतस्य निरुक्तं दर्शयितुमाह—

वेयालियं इह दे-सियं ति वेयालियं तओ होइ।
वेयालियं तहा वि-त्तमत्थि तेणेव य णिवद्धं ॥ ३८ ॥

इहाध्ययनेऽनेकधा कर्मणां विदारणमभिहितमिति कृत्वैतदध्ययनं निरुक्तवशाद्विदारकं ततो भवति। यदि वा-वैतालीयमित्यध्ययननाम, अत्रापि प्रवृत्तौ निमित्तं-वैतालीयं छन्दोविशेषरूपं वृत्तमस्ति, तेनैव च वृत्तेन निबद्धमित्यध्ययनमपि वैतालीयम्, तस्य चेदं लक्षणम्-" वैतालीयं लगनैधनाः षड युक्पादेऽष्टौ समे च लः। न समोऽत्र परेण युज्यते, नेतः षट् च निरन्तरा युजोः ॥ १ ॥" ॥ ३८ ॥

साम्प्रतमध्ययनस्योपोद्घातं दर्शयितुमाह-

कामं तु सासयमिणं, कहियं अट्ठावयम्मि उसभेणं।
अट्ठाणउतिसुयाणं, सोऊणं तेऽवि पव्वइया ॥ ३० ॥

कामशब्दोऽयमभ्युपगमे, तत्र यद्यपि सर्वोऽप्यागमः शाश्वतः तदन्तर्गतमध्ययनमपि, तथापि भगवताऽऽदितीर्थाधिपेनोत्पन्नदिव्यज्ञानेनाष्टापदोपरि व्यवस्थितेन भरताधिपभरतेन चक्रवर्तिनोपहतैरष्टनवतिभिः पुत्रैः पृष्टेन यथा भरतोऽस्मानाज्ञां कारयत्यतः किमस्माभिर्विधेयमित्यतस्तेषामङ्गारदाहकदृष्टान्तं प्रदर्श्य न कथञ्चिज्जन्तोर्भोगेच्छा निवर्तत इत्यर्थगर्भमिदमध्ययनं कथितम्—प्रतिपादितम्, तेऽप्येतच्छ्रुत्वा संसारासारतामवगम्य विषयाणां च कटुविपाकतां निःसारतां च ज्ञात्वा मत्तकरिकर्णवच्चपलमायुर्गिरिनदीवेगसमं यौवनमित्यतो भगवदाज्ञैव श्रेयस्करीति तदन्तिके सर्वे प्रव्रज्यां गृहीतवन्त इति। अत्र 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादिः सर्वोऽप्युपोद्घातो भणनीयः ॥ ३९ ॥

साम्प्रतमुद्देशार्थाधिकारं प्रागुल्लिखितं दर्शयितुमाह—

पढमे संबोहो ऽनि-च्चया य बीयम्मि माणवज्जणया।
अहिगारो पुण भणिओ, तहा तहा बहुविहो तत्थ ॥ ४० ॥
उद्देसम्मि य तइए, अन्नाणचियस्स अवचओ भणिओ।
वज्जेयव्वो य सया, सुहप्पमाओ जइजणेणं ॥ ४१ ॥

तत्र प्रथमोद्देशके हिताहितप्राप्तिपरिहारलक्षणो बोधो विधेयोऽनित्यता चेत्ययमर्थाधिकारः, द्वितीयोद्देशके मानो वर्जनीय इत्ययमर्थाधिकारः, पुनश्च तथा तथा अनेकप्रकारो बहुविधं शब्दादावर्थेऽनित्यतादिप्रतिपादकोऽर्थाधिकारो भणित इति, तृतीयोद्देशके अज्ञानोपचितस्य कर्मणोऽपचयरूपोऽर्थाधिकारो भणित इति यतिजनेन च सुखप्रमादो वर्जनीयः सदेति ॥ ४१ ॥

संबोधश्च प्रसुप्तस्य सतो भवति, स्वापश्च निद्रोदये, निद्रासंबोधयोश्च नामादिश्चतुर्द्धा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यभावनिक्षेपं प्रतिपादयितुं निर्युक्तिकृदाह—

दव्वं निद्दावेओ, दंसणनाणतवसंजमाभावे।
अहिगारो पुण भणिओ, नाणे तवदंसणचरित्ते ॥ ४२ ॥

इह च गाथायां द्रव्यनिद्राभावसंबोधश्च दर्शितः, तत्राद्यन्तग्रहणेन भावनिद्राद्रव्यबोधयोस्तदन्तर्वर्तिनोर्ग्रहणं द्रष्टव्यम्, तत्र द्रव्यनिद्रा निद्रावेदे, वेदनमनुभवः। दर्शनावरणीयविशेषोदये इति यावत्। भावनिद्रा तु ज्ञानदर्शनचारित्रशून्यता। तत्र द्रव्यबोधो द्रव्यनिद्रया सुप्तस्य बोधनम्, भावे-भावविषये पुनर्बोधो-दर्शनज्ञानचारित्रतपःसंयमा द्रष्टव्याः। इह च भावप्रबोधनाधिकारः स च गाथापश्चार्द्धेन सुगमेन प्रदर्शित इति। अत्र च निद्राबोधयोर्द्रव्यभावभेदाच्चत्वारो भङ्गा योजनीया इति ॥ ४२ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

सव्वं नच्चा अहिट्ठए, धम्मऽट्ठी उवहाणवीरिए।
गुत्ते जुत्ते सदा जए, आयपरे परमायतट्ठिते ॥ १५ ॥

सर्वम्—एतद्धेयमुपादेयं च ज्ञात्वा सर्वज्ञोक्तं मार्गं सर्वसंवररूपम् अधितिष्ठेत्—आश्रयेत्, धर्मेणार्थो धर्म एव वाऽर्थः परमार्थेनान्यस्यानर्थरूपत्वात् धर्मार्थः, स विद्यते यस्यासौ धर्मार्थी-धर्मप्रयोजनवान्, उपधानं-तपस्तत्र वीर्यं यस्य स तथा अनिगूहितबलवीर्य इत्यर्थः, तथा मनोवाक्कायगुप्तः, सुप्रणिहितयोग इत्यर्थः, तथा युक्तो ज्ञानादिभिः सदा-सर्वकालं यतेताऽऽत्मनि परस्मिंश्च। किंविशिष्टः-सन्?, अत आह—परम—उत्कृष्ट आयतो-दीर्घः सर्वकालभवनात् मोक्षस्तेनार्थिकः-तदभिलाषी पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टो भवेदिति ॥ १५ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

एतदाह—

अभविंसु पुरावि भिक्खुओ, आएसा वि भवंति सुव्वता।
एयाइँ गुणाइँ आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥ २० ॥

हे भिक्षवः!-साधवः!, सर्वज्ञः स्वशिष्यानेवमामन्त्रयति, येऽभूवन्—अतिक्रान्तो जिनाः—सर्वज्ञाः 'आएसाऽवि' त्ति आगामिन्याश्च ये भविष्यन्ति, तान् विशिनष्टि—सुव्रताः—शोभनव्रताः, अनेनेदमुक्तं भवति—तेषामपि जिनत्वं सुव्रतत्वादेवायातमिति, ते सर्वेऽप्येतान्—अनन्तरोदितान् गुणान् आहुः—अभिहितवन्तः, नाऽत्र सर्वज्ञानां कश्चिन्मतभेद इत्युक्तं भवति। ते च काश्यपस्य—ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा सर्वेऽप्यनुचीर्णधर्मचारिण इति। अनेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एक एव मोक्षमार्ग इत्यावेदितं भवतीति ॥ २० ॥

अभिहितांश्च गुणानुद्देशत आह—

तिविहेण वि पाण मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं सिद्धा अणंतसो, संपइ जे अ अणागयावरे ॥२१॥ एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिउ वियाहिए ॥ २२ ॥ त्ति बेमि । इति श्रीवेयालियं बितियमज्झयणं समत्तं ॥

त्रिविधेन-मनसा वाचा कायेन, यदि वा-कृतकारितानुमतिभिर्वा प्राणिनो-दशविधप्राणभाजो मा हन्यादिति, प्रथममिदं महाव्रतम्, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्। एवं शेषाण्यपि द्रष्टव्यानि। तथाऽऽत्मने हित आत्महितः,तथा नास्य स्वर्गावाप्त्यादिलक्षणं निदानमस्तीत्यनिदानः, तथेन्द्रियनोइन्द्रियैर्मनोवाक्कायैर्वा संवृतः; त्रिगुप्तिगुप्त इत्यर्थः, एवम्भूतश्चावश्यं सिद्धिमवाप्नोतीत्येतद्दर्शयति-' एवम्-अनन्तरोक्तमार्गानुष्ठानेनानन्ताः सिद्धा—अशेषकर्मक्षयभाजः संवृत्ता विशिष्टस्थानभाजो वा, तथा सम्प्रति-वर्तमाने काले सिद्धिगमनयोग्य सिध्यन्ति। अपरे वा अनागते काले एतन्मार्गानुष्ठायिन एव सेत्स्यन्ति, नापरः सिद्धिमार्गोऽस्तीति भावार्थः ॥ २१ ॥ एतच्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिप्रभृतिभ्यः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयतीत्याह-'एवं से' इत्यादि, एवम्-उद्देशकत्रयाभिहितनीत्या स-ऋषभस्वामी स्वपुत्रानुद्दिश्य उदाहृतवान्-प्रतिपादितवान्, नास्योत्तरं-प्रधानमस्तीत्यनुत्तरं तच्च तज्ज्ञानं च अनुत्तरज्ञानं तदस्यास्तीत्यनुत्तरज्ञानी तथाऽनुत्तरदर्शी— सामान्यविशेषपरिच्छेदकावबोधस्वभाव इति। बौद्धमतनिरासद्वारेण ज्ञानाधारं जीवं दर्शयितुमाह-अनुत्तरज्ञानदर्शनधर इति-कथञ्चिद्भिन्नज्ञानदर्शनाऽऽधार इत्यर्थः । अर्हन्—सुरेन्द्रादिपूजार्हो ज्ञातपुत्रो वर्द्धमानस्वामी ऋषभस्वामी वा भगवान्—ऐश्वर्यादिगुणयुक्तो विशाल्यां नगर्य्यां वर्द्धमानोऽस्माकमाख्यातवान्, ऋषभस्वामी वा विशालकुलोद्भवत्वाद्वैशालिकः । तथा चोक्तम्-" विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा । विशालं वचनं चास्य, तेन वैशालिको जिनः ॥ १ ॥ " एवमसौ जिन आख्यातेति । इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थो, ब्रवीमीति उक्तार्थौ, नयाः पूर्ववदिति ॥ २२ ॥ समाप्तं द्वितीयं वैतालीयमध्ययनम्। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। (अनित्यता धर्मदेशना 'परीसहा'ऽऽदिशब्देषु।)

वैक्रिय-पुं०। नरके परमाधार्मिकनिष्पादिते पर्वते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

वैकालिक-अपराह्णादौ, विगतकाले जाते, दश० १ अ० । ('दसवेयालिय' शब्दे चतुर्थभागे १४८० पृष्ठे व्युत्पत्तिरुक्ता।)

वेयालिया-वैतालिकी-स्त्री०। विताले तालाभावे च भवतीति वैतालिकी। देवतायाः पुरतो वाद्यमानायां मङ्गलवीणायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०।

वेयाली-वैताली-स्त्री०। नियताक्षरप्रतिबद्धे विद्याभेदे, सा च किल कतिभिर्जपैर्दण्डमुत्थापयति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

वेयावच्च-वैयावृत्य-न०।व्याविवर्त्ति सेति व्यावृतस्तस्य भावः वैयावृत्यम्। प्रव० ६ द्वार। व्यावृतस्य शुभव्यापारवतो भावः कर्म वा वैयावृत्यम्, भक्तादिभिर्धर्मोपग्रहकारिवस्तुभिरुपग्रहकरणे, स्था० ५ ठा० १ उ०। प्रति०। पा०। साधूनामाहाराद्यानयनसाहाय्ये, उत्त० २९ अ०। पञ्चा०। नं०। स०। औषधपथ्यादिनाऽवष्टम्भे, ध० २ अधि०। भ०। प्रश्न०। ग०। स्था०। धर्मसाधननिमित्तं व्यावृतभावे, दश० १ अ०। व्य०। "वेयावच्चं वा वडभावो इह धम्मसाहणणिमित्तं" प्रव०६ द्वार।

वैयावृत्यभेदानाह—

दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा-आयरियवेयावच्चे १, उवज्झायवेयावच्चे २, थेरवेयावच्चे ३, तवस्सिवेयावच्चे ४, सेहवेयावच्चे ५, गेलण्णवेयावच्चे ६, साहम्मियवेयावच्चे ७, कुलवेयावच्चे ८, गणवेयावच्चे ९, संघवेयावच्चे १०, आयरियवेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गन्थे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति ।

अस्याक्षरगमनिका—नवरं वैयावृत्यं त्रयोदशभिः पदैस्तान्यग्रे वक्ष्यन्ते। महानिर्जरः प्रतिसमयमनन्तानन्तकर्म्मपरमाणुनिर्ज्जरणाद् महापर्यवसानसिद्धिगमनात्।

अत्र भाष्यप्रपञ्चः—

दसविहवेयावच्चं, इमं समासेण होइ विन्नेयं ।
आयरिय उवज्झाए, थेरे य तवस्सिसेहे य ॥१२३॥
अतरंतकुलगणेजा, संघे साहम्मिवेयवच्चे य ।
एतेसिं तु दसण्हं, कायव्वं तेरसपएहिं ॥ १२४॥

दशविधमिदं वक्ष्यमाणं समासेन विज्ञेयम्, तद्यथा-आचार्यस्य १, उपाध्यायस्य २, स्थविरस्य ३. तपस्विनः ४, शैक्षकस्य ५, अतरत्-ग्लानस्तस्य ६, साधर्मिकस्य ७, कुलस्य ८, गणस्य ९, सङ्घस्य १०, वैयावृत्यम्। गाथायां सप्तमी सर्वत्र प्रतिपत्तव्या एतेषां त्वाचार्यादीनां दशानामपि यथायोगं त्रयोदशभिः पदैर्वैयावृत्यं कर्त्तव्यम्।

तान्येव त्रयोदश पदान्याह—

भत्ते पाणे सयणाऽऽसणे (य) पडिलेहपायमच्छिमद्धाणे ।
राया तेणे दंड-ग्गहे य गेलण्णमत्ते य ॥ १२५ ॥

भक्तेन-भक्तानयनेन वैयावृत्यं कर्त्तव्यम् ,१,पानेन-पानीयानयनेन २,शय्यया-संस्तारकेण वा३.आसनेन-आसनप्रदानेन४, प्रतिलेखनेन क्षेत्रस्योपधेर्वा प्रत्युपेक्षणेनापि ५, ' पाए ' त्ति पादप्रमार्जनेन ६, यदि वा—औषधपानेन अक्ष्णोः अक्षिरोगिणो भेषजप्रदानेन ७, अध्वनि-अध्वानं प्रपन्नानामुपग्रहेण ८, राजद्विष्टे निस्तारणेन ९, ' तेण ' त्ति शरीरोपधिस्तेनेभ्यश्च संरक्षणेन १०, तथाऽतिचारादिभ्य आगतानां दण्डग्रहणात् ११, ग्लानत्वे जाग्रतो यथायोग्यं तत्संपादनेन १२, ' मत्ते य ' त्ति मात्रिकत्रिकढौकनेन १३, एतानि त्रयोदश पदानि ।

जा जस्स होइ लद्धी, तं तु न हावेइ संतविरियम्मि ।
एयाणुत्तत्थाणि य, पयाइँ किंचित्थ वुच्छामि ॥१२६॥

या यस्य भवति लब्धिः स तां सति वीर्ये पराक्रमे न हापयेदिति। व्याख्यानार्थं त्रयोदश पदान्युपासानि एतानि चोक्तार्थानि सुप्रतीतानि तथापि किंचिदत्र विनेयजनानुग्रहाय वक्ष्यामि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पायपरिकम्मपाए, ओसहभेसज्ज देइ अच्छीणं ।
अद्धाणे उत्तमेगहइ, रायदुट्ठे य नित्थारे ॥ १२७ ॥

'पाय' त्ति पादपरिकर्म्म प्रमार्जनादि करोति । यदि वा- ओषधं पाययति । 'अच्छि' त्ति अक्ष्णा रोगे समुत्पन्ने भेषजं ददाति । अध्वनि प्रतिपन्नान् उपगृह्णाति, उपधिग्रहणतो विश्रामणाकरणेन वोपष्टम्भाति, राजद्विष्टे समुत्पन्ने ततो निस्तारयति ।

सरीरोवहितेणेहिँ, सा रक्खति सति बलम्मि संतम्मि ।
दंडग्गहं कुणंती, गेलन्ने याऽवि जं जोग्गं ॥ १२८ ॥

शरीरस्तेनेभ्य उपधिस्तेनभ्यश्च सति—विद्यमाने बले सति रक्षति विचारभूम्यादिभ्य आगतानां पर्यायादिवृद्धानां साधूनां दण्डग्रहणं करोति, ग्लानत्वे च जाते यत् योग्यं तत्संपादयति ।

उच्चारे पासवणे, खेले मत्तयतियं तिविहमेयं ।
सव्वेसिं कायव्वं, साहम्मिय तत्थिमो विसेसो॥२१९॥

उच्चारे प्रश्रवणे खेले श्लेष्मणि मात्रकत्रिकमेतत् त्रयोदशपदात्मकं वैयावृत्यं त्रिविधं मनसा वाचा कायेन च सर्वेषामाचार्यादीनां दशानामपि कर्त्तव्यम् । तत्रायं साधर्मिके विशेषः ।

तमेवाऽऽह-

होज्ज गिलाणो निण्हवो,
न य तत्थ विसेसँ जाणइ जणो उ ।
तुज्झेत्थ पव्वतितो,
न तरति किं तू कुणह तस्स ॥१३०॥
ताहे मा उड्डाहो,होउ त्ति तस्स फासुएणं तु ।
पडियारणं करेंती, चोएती एत्थ अह सीसो॥ १३१ ॥

ग्लानः कोऽपि निह्नवो भवेत्, न च तत्र जनो विशेषं जानाति एष निह्नव एते च सुसाधव इति । ततो जनो ब्रूयात्-युष्माकमत्र प्रव्रजितो न तरति-न शक्नोति तस्य किं तु कुरुत प्रतिजागरणं ततो माभूत् प्रवचनस्योड्डाह इति तस्यापि प्रासुकेन प्रत्यवतारेण भक्तपानादिना वैयावृत्यं करोति । अथानन्तरमत्र शिष्यश्चोदयति ।

किं तदित्याह-

तित्थगरवेज्जवच्चं, भण णियमे त्थं तु किं न कायव्वं ।
किं वा न होति निज्जर-तहियं अह बेति आयरिते॥१३२॥

अत्र तीर्थकरवैयावृत्यं कस्मान्न भणितं किन्तु न कर्त्तव्यम्?, किं वा तत्र निर्जरा न भवति? एवं शिष्येणोदितोऽथानन्तरमाचार्यो ब्रवीति ।

आयरियग्गहणेणं, तित्थयरो तत्थ होइ गहिओ उ ।
किं वा न होयायरिओ, आयारं उवदिसंतो उ ॥१३३॥
णिदरिसणत्थ जह खंद-दएण पुट्ठो य गोयमो भयवं ।
केण उ तुह सिट्ठं ता, धम्मायरिएण पच्चाह ॥१३४॥

आचार्यग्रहणेन तत्र दशानां मध्ये तीर्थकरो गृहीतो द्रष्टव्यः । अथ तीर्थकरस्त्रिलोकाधिपतिराचार्यस्तु सामान्य इति कथमाचार्यग्रहणेन स गृहीतः?, तत आह-आचारं ज्ञानादि पञ्चप्रकारमुपदिशन्, किं वा केन वा कारणेन न भवनादि आचार्यः?, भवत्येवेति भावः । स्वयमाचारकरणं परेषामप्याचारोपदेशनमित्याचार्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, ततः तीर्थकरोऽपि समस्तीति; भवति तीर्थकरः। आचार्यः अत्र निदर्शनम्-यथा स्कन्दकेन भगवान् गौतमः पृष्टः, केनेदं तव शिष्टं-कथितमिति?, स प्रत्याह—धर्माऽऽचार्येणेति ।

तम्हा सिद्धं एयं, आयरियग्गहणेण गहियतित्थयरा ।
आयरियादी दस वी, तेरस गुण होंति कायव्वा॥१३५॥
तसुत्तरसयमेगं, ठाणेणं वन्नियं तु सुत्तम्मि ।
वेयावच्चे सुविहिय-पप्पं निव्वाणमग्गस्स ॥ १३६ ॥

यस्माद्युक्तिर्निदर्शनं चास्ति तस्मात्सिद्धमेतत् आचार्यग्रहणेन तीर्थकरो गृहीतः आचार्यादीनि च दशापि पदानि त्रयोदशगुणानि भवन्ति-कर्त्तव्यानि । एकैकस्मिन्पदे त्रयोदशभिः पदैर्वैयावृत्यकरणात् । एवं च सति वैयावृत्ये-वैयावृत्यविषये सूत्रेऽपि त्रिंशदुत्तरं स्थानानां शतं वर्णितम् । किं विशिष्टमित्याह—सुविहितानां प्रापकं निर्वाणमार्गस्य ।

ववहारे दसमाए, दसविहसाहुस्स जुत्तजोगिस्स ।
एगंतनिज्जरा से, न हु नवरि कयम्मि सज्झाए ॥१३७॥

व्यवहारे दशमे उद्देशके यत् दशविधं वैयावृत्यमुक्तं तस्मिन्साधोर्युक्तयोगस्यैकान्तनिर्जरा भवति, 'न हु नवरि' केवलं स्वाध्याये कृते 'से' तस्य एकान्तनिर्जरेति । व्य० १० उ० । उत्त० । प्रव० । आ० चू० ।

अनलेन वैयावृत्यं कारयति—

जे भिक्खू अणलेण वेयावच्चं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ १६३ ॥

कारवेंतस्स चउगुरुं पच्छित्तं आणादिया य दोसा ।

गाहा—

पुव्वं वि य पडिसिद्धा,दिक्खा अणलस्स कहमियाणिं तु ।
वेयावच्चं कारे, पिंडस्स अकप्पिए सुत्तं ॥ ४७६ ॥
वेयावच्चे अणलो, चउव्विहो आणुपुव्वीए ।
सुत्तत्थअभिगमेण य, परिहरणाए य नायव्वा ॥४८०॥

वेयावच्चं प्रति अणलो चउव्विहो-सुत्ते, अत्थे, अभिगमे, परिहरणे य । सुत्तओ जेणं पिंडेसणाए पढित्ता अभिगमणं जो वेयावच्चं मा सद्दहाति, परिहरणे-जो अकप्पियं न परिहरति । चोदकाह—ननु जो पव्वज्जाते अणलो स वेयावच्चस्स वि अणलो किं पुढो सुकरणं । उच्यते—जो पव्वज्जाए अणलो स वेयावच्चस्स नियमा अणलो, जो पुण वेयावच्चस्स अणलो स पव्वज्जाए अलो वा, अनलो वा । अतो पि इसुत्तकरणं ।

गाहा—

एए सामण्णतरं, अणलं जाणाइ माति कारेज्जा ।
वेयावच्चं भिक्खू ,सो पावति आणमादीणि ॥४८१॥

कंठा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाहा—

वितियपए एगागी, गेलसेऽसहु अलद्धिमंते य ।
ओमे य अणहियासे, गिहीसु वा मंदधम्मेसु ॥ ४८२ ॥

गच्छे एको चेव पिंडादिकप्पिनो सव्वेसिं कातुं ण तरति । जे कप्पिया ते गिलाणा । असहू वा अलद्धिमंता ओमे वा असंथरंतो अण्णे कारविज्ज अणहियासति, अन्न जाव भिक्खादिगया ण एंति ताव कोऽवि भिक्खू छुहालू अण्णेण कारविज्जा गिहिणो वा मंदधम्मया उग्गं न वेंति सो य अण्णो लद्धिसंपन्नो ताहे सो ।

गाहा—

एएहिँ कारणेहिं, पिंडेसुस्सारकप्पियं काउं ।
वेयावच्चमलंभे, कारेज्ज सो य अण्णेणं ॥ ४८३ ॥

एवं असढो कारवेंतो सुद्धो । नि० चू० ११ उ० । ('आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४१४ पृष्ठे उपसंपदालोचनायां केकस्य वैयावृत्यं कुर्वन्तीत्युक्तम् ।)

वेयावच्चे तिविहे, अप्पाणम्मि य परे तदुभए य ।
अणुसट्ठि उवालंभे, उवग्गहे चेव तिविहम्मि ॥३७४॥

व्य० १ उ० । ('परिहार' शब्दे पञ्चमभागे ६६४ पृष्ठे व्याख्याता ।)

साम्भोगिकानां परस्परं वैयावृत्यमाह—

जे निग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो एहं कप्पइ अन्नमन्नस्स संतिए वेयावडियं कारवेत्तए । अत्थि या इत्थ एहं केइ वेयावच्चकरे, कप्पति एहं तेणं वेयावच्चं करावित्तए, नऽत्थि याइ एहं केवि वेयावच्चं करे, एवं एहं कप्पइ अन्नमन्नेणं वेयावच्चं कारवित्तए ॥ २० ॥

ये निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च सांभोगिकास्तेषां नो, 'एह' मिति वाक्यालंकारे, कल्पते अन्योऽन्यस्य वैयावृत्यं कारयितुम् । अस्ति कश्चित् वैयावृत्यकरः ततः कल्पते तं वैयावृत्यं कारयितुम् । नास्ति चेत् कचित् वैयावृत्यकर एवं सति कल्पते अन्योऽन्यस्य वैयावृत्यं कारयितुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ॥

अधुना भाष्यविस्तरः—

आलोयणाएँ दोसा, वेयावच्चेऽवि हुंति तह चेव ।
नवरं पुण णाणत्तं, वितियपए होइ कायव्वं ॥ ८१ ॥

ये एव विपक्षे आलोचयतां दोषा उक्ताः परस्परं वैयावृत्येऽपि-वैयावृत्यकरणेऽपि त एव दोषा भवन्ति, ये चाभ्यधिकास्तेऽनन्तरगाथया वक्ष्यन्ते, नवरं पुनर्नानात्वं द्वितीयपदे—अपवादपदं भवति-कर्त्तव्यम् ।

तत्राभ्यधिकान् दोषानभिधित्सुराह—

उउभजमाणसुहेहिं, देहसहावाणुलोमभुज्जेहिं ।
कढिणहिययाण व मणं, बंधंतऽचिरेण कइयविया॥८२॥

ऋतौ ऋतौ यैर्भजमानैः-सेवमानैर्भजःसेवायामिति वचनात्, सुखं जन्यते तानि ऋतुभजमानसुखानि तैस्तथा देहः-शरीरं तस्य स्वो भावः-स्वरूपं देहस्वभावस्यानुलोमान्यनुकूलानि यानि तैर्वैयावृत्यं कुर्वत्यः संयत्यो ; ये संयतीभिरानीतं भुञ्जते तेषां कठिनहृदयानामपि-धृतिबलिष्ठानामपि संयमात्मनोऽचिरेण कालेन बध्नन्ति-बाधयन्तीत्यर्थः । कथंभूता इत्याह—कैतविक्यः-कैतवेन-कपटेन अन्यन्मनस्यन्यद्वाचि इत्यादिलक्षणेन निर्वृत्ताः कैतविक्यः ।

सम्प्रति द्वितीयपदे विपक्षेऽपि वैयावृत्यकरणे युक्तिमुपन्यस्यति—

जह चेव य वितियपदे, लभंति आलोयणं विपक्खेऽवि ।
एमेव य बिइयपदे, वेयावच्चं तु अन्नोन्नं ॥ ८३ ॥

यथा चैव द्वितीयपदे—अपवादपदे विपक्षेऽपि यतनया संयत्यः श्रमणानां पार्श्वे आलोचनां ददति एवमेव द्वितीयपदे अन्योऽन्यस्मिन्परस्परं वैयावृत्यमपि कुर्वन्ति ।

तदेव द्वितीयपदमाह—

भिक्खूमयणच्छेवग, एएहि गणो उ होज्ज आवन्नो ।
वाए पराइओ से, संखडिकरणं च वितिथिणं ॥ ८४ ॥

भिक्षूपासकः कोऽपि विषमिश्रं भोजनं दद्यात् ,मदनं-मदनकोद्रवकूरं वा प्रतिलाभयेत् । 'छेवग' त्ति मारिवो सकलस्यापि साधुगणस्योपस्थिता । एतैः कारणैर्गण आपन्नो विपन्नो भवति । तत्र प्रथमतो भिक्षूपासकस्य प्रतिनिविष्टस्य विषमिश्रभोजनदानं भावयति—कोऽप्युपासको-भिक्षूपासको बहुजनमध्ये वादं पराजितस्ततः स प्रतिनिविष्टो जातः । स च कैतवेनाचार्याणां समीपे सम्यगुपस्थितः, कथय मे भगवन्नार्हतं धर्मम् । आचार्येण कथितस्ततः स कैतवेन ब्रूते अद्य प्रभृति ममार्हतो धर्मो मया युष्मत्समीपे गृहीतः, एवमुक्त्वा आचार्यान्विज्ञपयति । यथा-मया भिक्षूणामर्थाय विस्तीर्णं संखडिकरणं कृतं प्रभूतं परमान्नमुपस्कृतं-कारितमित्यर्थः , तन्मा असंयतास्ते भुञ्जीरन्निति साधूनां प्रयच्छामि, अनुगृह्णीत मां यूयमिति । एवमुक्ते साधवश्चिन्तयन्ति-सत्यमेतत् यदेवं ब्रूते ततो गृह्णीम इति । ततस्तेन गतेषु तस्मिन्परमान्ने विषं क्षिप्तं साधूनां पर्याप्तं दत्तम् , तच्च साधुभिराहारितं तेन सर्वे पतिताः । यदि वा—तत्प्रदत्तं मदनकोद्रवकूरं भुक्त्वा पतिताः ।

एतदेवाह—

कतिपयधम्मकहाए, आउट्टो वेति भिक्खुणाणऽट्ठा ।
परमन्नमुवक्खडियं, मा जाउ असंजयमुहाइं ॥ ८५ ॥
तं कुणहऽणुग्गहं मे, साहू जोग्गेण एसणिज्जेणं ।
पडिलाभणा विसेणं, पडिया पडिती य सव्वेसिं ॥८६॥

कैतवेन धर्मकथायां कथितायामावृत्तो ब्रूते—मया भिक्षुकाणामर्थाय परमान्नमुपस्कृतं कारितं तन्मा असंयतमुखानि यातु तस्मात्कुरुत मे साधुयोग्यैनैषणीयेनानुग्रहम् , एवमुक्ते गतेषु साधुषु तेन पापीयसा विषेण-विषसम्मिश्रेण परमान्नेन प्रतिलाभना कृता । यदिवा—मदनकोद्रवकूरे सा वसत्यागतानां साधूनां मुखेषु पतिता , ततः सर्वेषां साधूनां पतितिः-मरणमभूत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आयंबिल खमगा सइ, लद्धा य चरंतएण उ विसेणं ।
बिइयपदे जयणाए, कुणमाणि इमा उ निद्दोसा ॥८७॥

न च तत्र कोऽपि क्षपक आचाम्लो वा आसीत् , यो विषादुद्धरति, ततः क्षपकानामाचाम्लानां चासति-अभावे तेषां च साधूनां चरता-संचरिष्णुना विषेण लब्धानां—मृतानामित्यर्थः , मार्या वा समुपस्थितया मृतानां द्वितीयपदे इयं संयती यतनया वैयावृत्यं कुर्वाणा निर्दोषा ।

कीदृशी पुनर्वैयावृत्यकरणे योग्येत्यत आह-

संबंधिणि गीयत्था, ववसाया थिरतणे य कयकरणा ।
चिरपव्वइया य बहु-स्सुता य परिणामिया जा य ॥८८॥
गंभीरा मद्दविया, मियवादी अप्पकोउहल्ला य ।
साहुं गिलाणगं खलु, पडिजग्गति एरिसी अज्जा ॥८६॥

या-आर्या ग्लानस्य प्रतिजाग्रमाणस्य भगिन्यादिनाऽन्वयेण संबन्धिनी तथा गीतार्था-एषणीयानेषणीयविधौ सम्यक् कुशला तथा व्यवसायिनी या च स्थिरत्वे वर्तते; स्थिरा इत्यर्थः तथा कृतकरणा चिरप्रव्रजिता बहुश्रुता तथा या पारिणामिकी-गम्भीरा मार्दविता-संजातमार्दवा मितवादिनी-अल्पकुतूहला ईदृशी आर्या गणाभावे ग्लानं खलु प्रतिजागर्ति ।

संप्रति व्यवसायिन्यादिपदानां व्याख्यानार्थमाह-

ववसायिणि कायव्वे, थिरा उ जा संजमम्मि होइ दढा ।
कयकरणा जा य बहुसो, वेयावच्चाइकुसला य ॥ ६० ॥

या कर्त्तव्ये व्यवसायकारिणी नालस्येनोपहता तिष्ठति सा व्यवसायिनी , या संयमे भवति दृढा सा स्थिरा, यया बहुशो वैयावृत्यानि कृतानि सा कृतकरणा-कुशला इत्यर्थः ।

चिरपव्वइय समाणं, तिण्हुवरि बहुस्सुया पकप्पधरी ।
परिणामिय परिणामं,जाणइ जा पोग्गलाणं तु ॥६१॥

चिरप्रव्रजिता नाम या तिसृणां समानां वर्षाणामुपरि या प्रकल्पधरी सा बहुश्रुता, तथा पुनः पुद्गलानां विचित्रं परिणामं जानाति सा परिणामिकी ।

काउं न उत्तुणेई, गंभीरा मद्दविअविम्हइया ।
कज्जे परिमियभासी, पियवादी होइ अज्जा उ ॥ ६२ ॥

या वैयावृत्यं कृत्वा ' न उत्तुणेई ' गर्वबुध्या न प्रकाशयति सा गम्भीरा , मर्दविनी-अविस्मयिता तथा कार्ये परिमितभाषिणी-मितवादिनी ।

कक्खंतरगुज्झादी, न निरिक्खे अप्पकोउहल्लाए ।
एरिसगुणसंपन्ना, साहूकरणे भवे जोग्गा ॥ ६३ ॥

या कक्षान्तरगुह्यादीनि न निरीक्षते सा भवत्यल्पकुतूहला । ईदृशगुणसंपन्ना साधुकरणे-साधुवैयावृत्यकरणे भवेद् योग्या ।

संप्रति वैयावृत्यकरणविधानमाह—

पडिपुच्छिऊण विज्जे, दुल्लभदव्वम्मि होइ जयणा उ ।
विसघाई खलु कणगं, निहि-जोणीपाहुडे सड्ढे ॥ ६४॥

प्रतिपृच्छ्य वैद्यान् यदि दुर्लभद्रव्येण प्रयोजनं जातं ततस्तस्मिन् उत्पाद्ये भवति वक्ष्यमाणा यतना, तामेवाह-' विसघाई ' इत्यादि विसघाति खलु कनकं, विषेण चोपहताः साधवस्तिष्ठन्ति, ततः सुवर्णेन प्रयोजनं जातम् । तत्र यदि ज्ञानमत्र निधिः—निखातो ज्ञायते तर्हि तमुत्खन्य यावता प्रयोजनं तावत् गृह्णाति शेषं तथैव स्थापयति । अथ निधिपरिज्ञानं नास्ति तर्हि योनिप्राभृतोक्तेन प्रकारेणोत्पादयेत् । अथ योनिप्राभृतमपि नास्ति तर्हि श्राद्धान् श्रावकान् याचेत ।

असती य असलिंगं, तं पि य जयणाएँ होइ कायव्वं ।
गहणे पन्नवणे वा, आगाढे हंसमादी वि ॥ ६५ ॥

अथ श्राद्धा अपि तादृशा न सन्ति ये सुवर्णं याचितं ददति ततस्तेषां श्राद्धानामसति—अभावे आत्मना ग्रहणाय प्रज्ञापनाय च यत्तत्रान्यदर्चितं लिङ्गं तदपि यतनया कर्त्तव्यम् । सा चेयम्—पूर्वमगारस्त्रीलिङ्गेनोत्पादयति तथाऽप्यनुत्पत्तावर्चितलिङ्गेन तेनाप्युत्पादनाऽशक्तौ हंसादि वा यन्त्रमयं कृत्वा तेनोत्पादयेत् । यथा—कोक्कासो यन्त्रमयान्कपोतान् कृत्वा शालिमुत्पादितवान् एवं तावन्निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थस्य वैयावृत्यं करोत्येवं संयतोऽपि संयत्या ग्लानाया वैयावृत्यं करोति ।

त्रयाणां वैयावृत्यम्-

निग्गंथं च णं रातो वा वियाले वा दीहपिट्ठो लूसेज्जा इत्थी वा पुरिसस्स ओमावेज्जा, पुरिसो वा इत्थीए ओमावेज्जा । एवं से कप्पति, एवं से चिट्ठति, परिहारं च से णं पाउणति-एस कप्पे थेरकप्पियाणं; एवं से नो कप्पति, एवं से नो चिट्ठति, परिहारं च नो पाउणइ-एस कप्पे जिणकप्पियाणं ति बेमि ॥ २१ ॥

अस्य (२१) सूत्रस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह—

पडिसिद्धमणुण्णायं, वेयावच्चं इमं खलु दुपक्खे ।
सो चेव य समणुण्णा, इहं पि कप्पेसु नाणत्तं ॥ ६४ ॥

अनन्तरसूत्रे विपक्षे वैयावृत्यकरणं प्रतिषिद्धम् । तच्चेदं वैयावृत्यं खलु पुनर्द्विपक्षे-स्वपक्षे, परपक्षे चेत्यर्थः । सूत्रेणैवानुज्ञापनात् " अत्थियाइं एह केई वेयावच्च करे कप्पति एहं वेयावच्चं कराविचए " इति वचनात् , सा च समनुज्ञा वैयावृत्यसमनुज्ञा, इहापि अस्मिन्नपि सूत्रेऽभिधीयते केवलं कल्पयोर्नानात्वमधिकमित्येष सूत्रसंबन्धः ।

पुनः प्रकारान्तरेण सम्बन्धमाह—

अत्थेण व आगाढं, भणितं इहमवि य होइ आगाढं ।
अहवा अतिप्पसत्तं, तेण निवारेइ जिणकप्पे ॥ ६५ ॥

वाशब्दः पक्षान्तरद्योतने, पूर्वं सूत्रेऽर्थेऽनागाढं भणितम्-सूचितम् , तथा चागाढे प्रयोजने समुत्पन्ने संयती संयतस्य वैयावृत्यं कुर्वती समनुज्ञाता, नान्यथा । इहापि च भवत्यागाढं प्रयोजनमधिकृत्य वैयावृत्यकरणमिति संबन्धः । अथवाऽतिप्रसक्तं खलु वैयावृत्यकरणं तेन जिनकल्पे निवारयति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुत्तम्मि कड्डियम्मी, वोच्चत्थ करेंति चउगुरू हुंति ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा जा भणियँ पुव्विं ॥ ९६ ॥

सर्वत्रापि सूत्रे कर्षिते—उच्चारिते सति संबन्धः प्रदर्शनीयः। तथा श्रमणैः श्रमणस्य वैयावृत्यं कर्त्तव्यम्, श्रमणीभिः श्रमण्याः। यदि पुनर्विपर्यासं करोति तर्हि विपर्यासं कुर्वतां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, न केवलं प्रायश्चित्तम्-आज्ञादयश्च-आज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपाश्च दोषाः। तथा या पूर्वं वैयावृत्यसूत्रे भणिता विराधना शीलविराधना सा अत्रापि द्रष्टव्या।

'सुत्तम्मि कड्डियम्मि' इत्येतदेव प्रपञ्चयति—

संबन्धो दरिसिज्जइ, उस्सुत्तो खलु न विज्जते अत्थो ।
उच्चारितछिण्णपदे, विग्गहिए चेव अत्थो उ ॥ ९७ ॥

सूत्रे उच्चारिते सति संबन्धोऽनन्तरसूत्रादिभिः सह दर्श्यते, यतः संबन्धोऽर्थतो भवति वर्णानां स्वतः संबन्धाभावात्। स चार्थः खलु उत्सूत्रः—सूत्ररहितो न विद्यते संबन्धश्चोपदर्श्यते-उच्चारितसूत्रस्य छिन्नानि पदानि कर्त्तव्यानि; पदच्छेदो विधातव्य इत्यर्थः। ततो यानि पदानि विग्रहमाञ्जि तेषु विग्रह उपदर्शनीयः विगृहीते च सूत्रेऽर्थो व्याख्येयः।

अक्खेवो पुण कीरइ, कत्थति कत्थइ विणा वि तस्सिद्धी।
जत्थ अवायनिदरिसणँ, एसेव उ होइ अक्खेवो ॥ ९८ ॥

आक्षेपः पुनः कचित् क्रियते, यथा—किं कारणं परपक्षे वैयावृत्यं न क्रियते। कुत्रचित्पुनर्विनाऽप्याक्षेपं तत्सिद्धिराक्षेपसिद्धिः। कथमित्याह-यत्रापायनिदर्शनमपायप्रकटनमेष एव भवत्याक्षेपः आक्षेपहेतुकत्वात्, न खल्वाक्षेपसूत्रामन्तरेणापायप्रदर्शनं विपक्षे भवतीति परिभावनीयमेतत्।

संप्रत्याक्षेपप्रसिद्धी एव वैविक्त्येनाह—

किं कारणं न कप्पइ, अक्खेवो दोसदरिसणं सिद्धी ।
लोए वेदे समए, विरुद्धसेवादयो नाता ॥ ९९ ॥

किं कारणं विपक्षे वैयावृत्यं न कल्पते इत्याक्षेपः, विपक्षे दोषदर्शनं सिद्धिः-प्रसिद्धिः। अत्रार्थे लोके वेदे समये च विरुद्धसेवादयो ज्ञातानि। किमुक्तं भवति। यथा-लोके वेदे-समये च विरुद्धसेवायामकल्पिकसेवायां च दोषोपदर्शनम्, तदकरणे प्रसिद्धिरेवमिहापि विपक्षवैयावृत्यकरणेऽपायप्रदर्शनमेव तदकरणे प्रसिद्धिः।

तम्हा सपक्खकरणे, परिहरिया पुव्ववण्णिया दोसा ।
कप्पे छट्ठुद्देसे, तह चेव इहं पि दट्ठव्वा ॥ १०० ॥

यस्मादेवं विपक्षे वैयावृत्यकरणे प्रायश्चित्तादयो दोषास्तस्मात् स्वपक्षे वैयावृत्यं कर्त्तव्यम्। स्वपक्षवैयावृत्यकरणे च ये पूर्ववर्णिता दोषास्ते यथा-कल्पाध्ययने षष्ठोद्देशे परिहृतास्तथा चैव इहापि द्रष्टव्याः।

अत्र परः प्रश्नमाह—

चोएंती परकरणे, नेच्छामो दोसपरिहरणहेउं ।
किं पुण भेसज्जगणो, घेत्तव्वो गिलाणरक्खट्ठा ॥ १०१ ॥

चोदयति-प्रश्नयति शिष्यः, परकरणे-परपक्षे वैयावृत्यकरणं दोषपरिहरणहेतो-र्दोषपरिहरणनिमित्तं नेच्छामः किं पुनः केवलं 'भेसज्जगणो' औषधसमूहो ग्लानरक्षार्थं ग्रहीतव्यः।

अत्रैव विपक्षे दोषमाह—

पुव्वं तु अहिगएहिं, दूरा जा ओसहाइँ आणेंति ।
तावचो उ गिलाणो, दिट्ठंतो दंडियाईहिं ॥ १०२ ॥

पूर्वमगृहीतेषु भेषजेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात्। यावदार्या दूरादौषधान्यानयति तावत् ग्लानस्य आगाढादिपरितापना भवति,तद्भावे च परमार्थतस्त्यक्तो भवति। अत्रार्थे च दृष्टान्तो दण्डिकादिभिः।

तमेव विभावयिषुराह—

उवट्ठियम्मि संगामे, रण्णा बलसमागमे ।
एगो वेज्जोत्थ वारेई, न तुब्भे जुद्धकोविया ॥ १०३ ॥
घेप्पंतु ओसहाइं, वणपट्टी मक्खणाणि विविहाणि ।
सो चेव मंगलाइं, मा कुणइ अणागयं चेव ॥ १०४ ॥

द्वयोर्दण्डिकयोरुपस्थिते संग्रामे मिलिते च द्वयोर्बलेऽपि राज्ञोः वैद्या उपस्थिताः। तत्र एको दण्डिको वैद्यांस्तत्र संग्रामप्रस्तावे उपस्थितान् वारयति न यूयं युद्धकोविदास्ततः किं युष्माभिः संग्रामे कर्त्तव्यम्, एवमुक्ते ते वैद्याः प्राहुः-यद्यपि न वयं युद्धकोविदास्तथापि प्रहारव्रणितेषु अस्माकं वैद्यक्रियोपयोगिनी; तस्माद्वयमागच्छामः। गृह्णन्तां चौषधानि,व्रणपट्टीनि, विविधानि चानेकप्रकाराणि च म्रक्षणाणि। एवमुक्ते स दण्डिको ब्रवीति मा कुरुतानागतमेवामङ्गलानि तस्मान्निवर्तध्वं यूयमिति।

किं घेत्तव्वं रणे जोग्गं, पुच्छिया इयरेण ते ।
भणंति वणतिल्लाइं घयदव्वोसहाणि य ॥ १०५ ॥

इतरेण-द्वितीयेन दण्डिकेन ते आत्मीया वैद्याः पृष्टाः, किं कारणं-संग्रामे योग्यं ग्रहीतव्यम्, एवमुक्तास्ते भणन्ति-व्रणसंरोहकाणि तैलानि व्रणतैलानि तथा जीर्णं घृतं द्रव्यौषधानि च यैरौषधैः संयोजितैस्तैलं घृतं वा निष्पद्यते। व्रणसंरोहकं चूर्णं यद्वा-व्रणसंरोहणाय यानि भवन्ति। तानि द्रव्यौषधानि ततो राज्ञा पुरुषाः संदिष्टा यद्वैद्यैरुपदिष्टं तत्सर्वं ग्रहीतव्यम्।

भग्गसिव्वियसंसित्त-(वीदिणे) वणा वेज्जेहिं जस्स उ ।
सो पारगो उ संगामे, पडिवक्खो विवज्जए ॥ १०६ ॥

ततः संग्रामे वर्तमाने यस्य राज्ञो ये पुरुषा मुद्गरादिप्रहारहतास्तेषां प्रहारो वेद्यैरौषधैर्भग्नाः ये च व्रणितास्तेषां व्रणाः सीवितास्तत्र औषधैः संसिक्ताः। एवं व्रणिता प्रहारिता द्वितीये दिवसे युद्धसमर्था जाताः। एवं द्वितीयदिवसे इव तृतीयदिवसेऽपि कृतम्। एवं स राजा वैद्योपदेशेनौषधसंग्रहतः संग्रामे पारगोऽभूत् प्रतिपक्षे विपर्ययो; जित इत्यर्थः। एष दृष्टान्तः।

अयमर्थोपनयः—

एवमेवऽसपेज्जाइ, खज्जलेज्जाणि जेसि उ ।
भेसज्जाइं सहीणाइं, पारगा ते समाहिए ॥ १०७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवमेव दण्डिकदृष्टान्तगतेन प्रकारेण येषामाचार्याणां भेषजानि ' असं ' त्ति अशनरूपाणि पेयानि-पानकरूपाणि खाद्यानि-खादिमरूपाणि लेह्यानि च-स्वादिमानि ते आत्मनो गच्छस्य च समाधेः पारगा भवन्ति। ये पुनरौषधानां न संग्रहीतारस्ते समाधेरपारगाः।

प्रकारान्तरेण दण्डिकदृष्टान्तमाह—

अहवा राया दुविहो, आयभिसित्तो पराभिसित्तो य।
आयभिसित्तो भरहो, तस्स उ पुत्तो परेणं तु ॥१०८॥

अथशब्दः प्रकारान्तरद्योतने। राजा द्विविधो भवति। तद्यथा—आत्माभिषिक्तः, पराभिषिक्तश्च। आत्मनैव निजबलेन राज्येऽभिषिक्तः आत्माभिषिक्तः, परैरभिषिक्तः पराभिषिक्तः। तत्रात्माभिषिक्तो भरतश्चक्रवर्ती , तस्य पुत्र आदित्ययशाः पराभिषिक्तः।

बलवाहणकोसा य, बुद्धी उप्पत्तियाऽऽदिया।
साहगा उभयोवेता, सेसा तिण्णि असाहगा ॥ १०९ ॥

बलं-हस्त्यादि वाहनानि-यानानि कोशो-भण्डागारं तथा-बुद्धिरौत्पत्तिक्यादिका। अत्र भङ्गाश्चत्वारः। एको बलवाहनादिसमग्रो नो बुद्धिसमग्रः १; एको बलवाहनादिसमग्रः किं तु बुद्धिसमेतः २, एको बलवाहनादिसमेतोऽपि बुद्धिसमेतोऽपि ३, एको नो बलवाहनादिसमेतो नापि बुद्धिबलोपेतः ४, एषु चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये य उभयोपेतो बलवाहनादिसमेतो; बुद्धिसमेतश्चेत्यर्थः , स राज्यस्य साधकः शेषास्त्रयोऽसाधकाः। एष दृष्टान्तः।

अयमर्थोपनयः—

बलवाहणत्थहीणो, बुद्धिविहीणो न रक्खए रज्जं।
इय सुत्तत्थविहीणो, ओसहहीणो उ गच्छं तु ॥११०॥

यथा बलेन वाहनैरर्थेन च हीनो बुद्धिहीनश्च राज्यं राजा न रक्षति। एवमाचार्योऽपि सूत्रार्थाभ्यां हीनः औषधविहीनश्च गच्छं न रक्षति।

(तम्हा) आयपराभिसित्तेणं, जम्हा आयरिएण उ।
ओसहमादीणिचओ, कायव्वो चोयती सीसो ॥१११॥

तस्मादाचार्येण आत्माभिषिक्तेन-श्रुतकेवलिना इतरेण च पराभिषिक्तेन औषधादिनिचयः कर्त्तव्य इति। शिष्यश्चोदयति-ब्रूते।

सीसेणाऽभिहिते एवं, बेइ आयरिओ ततो।
वदतो गुरुगा तुज्झं, आणादीया विराहणा ॥ ११२ ॥

एवं शिष्येणाभिहिते तत आचार्यो ब्रूते। एवं वदतस्तथा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषा विराधना सूत्रस्य।

एतदेव भावयति—

दिट्ठंतसरिसं काउं, अप्पाण परं च केइ नासंति।
ओसहमादीनिचओ , कायव्वो जहेव राईणं ॥११३॥

केचित्तव सदृशा दृष्टान्तसदृशं दण्डिकसदृशमात्मानं परं च कृत्वा नाशयन्ति। तथा औषधादिनिचयः कर्त्तव्यो यथा राज्ञामिति।

एतदेवातिप्रसङ्गापादनेन दूषयति—

कोसकोट्ठारदाराणि, पदातीमादियं बलं।
एवं मणुयपालाणं, किं नु तुज्झं पि रोयइ ॥ ११४ ॥

कोशकोष्ठागारदाराः पदात्यादिकं बलमेतन्मनुष्यपालानां भवति, तदेतत्किं नु तवापि रोचते। एतदपि दृष्टान्तबलेन गृह्यतामिति भावः।

जो वि ओसहमादीणं, निचयो सोऽवि अक्खमो।
न संचये सुहं अत्थि, इह लोए परत्थ य ॥ ११५ ॥

योऽप्यौषधानां निचयः सोऽपि सुखोत्पादनाय अक्षमः, यतो न संचये सुखमस्ति । इहलोके तदुत्पादनतद्रक्षणतन्नाशे दुःखसंभवात् परत्र च-परलोके च सुखं नास्ति परिग्रहधारणतः कुगतिप्रपातात्।

दारगाहा—

आदिसुत्तस्स विरोधो, समणा चत्ता गिहीण अणुकंपा।
पुव्वाऽऽयरियऽन्नाणी, अणवत्था वंतमिच्छत्तं ॥११६॥

आदिसूत्रस्य-दशवैकालिकस्य विरोधस्तथा एवं ब्रुवाणो भवान् परिग्रहे साधून् नियुङ्क्ते, तन्नियोगाच्च ते त्यक्तास्तथा गृहिणामनुकम्पा—अनुग्रहस्त्यक्तः साधूनां स्वत एव भैषज्यादेः संभवात्। तथा ये पूर्वाचार्याः सन्निधिं प्रतिषिद्धवन्तस्ते अज्ञानीकृताः सन्निधेर्भवता गुणोपदर्शनात्। अनवस्था चैवं प्रसजति सन्निधिरिव भवताऽन्यनान्यस्यापि ग्रहणप्रसङ्गः, तथा वान्तप्रतिसेवनं भवतः समापतितं प्रतिषिद्धस्यापि संचयस्य पुनर्ग्रहणात्। तथा मिथ्यात्वं-मिथ्यावादित्वमनुषजति यथावादमकरणात्। निष्परिग्रहा वयमित्यभिधाय परिग्रहधारणात्।

एनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतः सूत्रस्य विरोधमुपदर्शयति—

जं वुत्तमसणं पाणं, खाइमं साइमं तहा।
संचयं तु न कुव्विज्जा, एयं ताव विरोहियं ॥ ११७ ॥

यद् दशवैकालिके उक्तम्-अशनं पानं खादिमं स्वादिमं तेषां संचयं न कुर्यात्, तथा तद्ग्रन्थः-'असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा। जे भिक्खू सन्निहिं कुज्जा, गिही पव्वइए न से ॥१॥" इति। तदानीं विरोधितं विरोधमापादितं सन्निधिरिदानीं त्वयाऽभ्युपगतत्वात्।

परिग्गहे निजुज्जंता, परिचत्ता उ संजया।
भारादिमाइया दोसा, पेहा पेहकयाइया ॥ ११८ ॥

संयताः परिग्रहे नियुज्यमानाः परित्यक्ताः संसारे पातनात्। किंचान्यत्—इहलोके भारादयो—भारवाहनादयो दोषा आदिशब्दात्—कायक्लेशसूत्रार्थहान्यादिदोषपरिग्रहः। तथा प्रेक्षादिकाश्च, तथाहि-यदि सर्वे प्रत्युपेक्षन्ते ततः सूत्रार्थपरिमन्थः, अथ न प्रत्युपेक्षन्ते तर्हि संसक्तिभावः। आदिशब्दात्-तत्परितापनादिदोषपरिग्रहः।

अहवा तप्पडिबंधा य, अत्थंते नितियादयो।
अणुग्गहो गिहत्थाणं, सया वी ताण होइ उ ॥११९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवा तत्प्रतिबन्धाद्-औषधनिचयप्रतिबन्धात्तिष्ठन्ति सदावस्थायितया न तु विहारक्रमं कुर्वन्ति। तथा च सति नैत्यिकादयो नैत्यिको-नित्यवासी, आदिशब्दात्-पार्श्वस्थादिपरिग्रहस्तद्वादयो दोषाः प्रसजन्ति। गतं 'समणा चत्ता' इति द्वारम्। अधुना 'गिहीण अणुकंपे' त्ति व्याख्यानयति—गृहस्थानां सदा साधूनां भेषजादिप्रयच्छतामनुग्रहो भवति। स इदानीं परित्यक्तः साधूनां स्वत एव तन्निचयभावात्।

सम्प्रति 'पुव्वायरियऽन्नाणी' त्येतद् व्याख्यानयति—

पडिसिद्धा सन्निही जेहिं, पुव्वायरिएहि ते वि उ।
अन्नाणी उ कया एवं, अणवत्थापसंगतो ॥ १२० ॥

यैः—पूर्वाचार्यैः प्रतिषिद्धः सन्निधिस्तेऽपि त्वयैवं ब्रुवता अज्ञानीकृताः। अनवस्थाद्वारमाह—अनवस्थाप्रसङ्गतो—यथा त्वयौषधसंचयः कृतस्तथाऽन्येऽन्यस्यापि करिष्यन्तीति प्रसङ्गतः सर्वस्याप्यनवस्था।

वान्तद्वारं मिथ्यात्वद्वारं चाह—

वंतं निसेवियं होइ, गिण्हंता संचयं पुणो।
मिच्छत्तं न जहावादी, तहाकारी भवति तु ॥ १२१ ॥

संचयं त्यक्त्वा पुनस्तं गृह्णता वान्तं निषेवितं भवति। तथा मिथ्यात्वं यतो न यथावादिन उत्सूत्रप्ररूपणात्तेऽपि तथाकारिणः संचयकरणात्।

एए अन्ने य जम्हा उ, दोसा होंति सवित्थरा।
तम्हा ओसहमादीणं, संचयं तु न कुव्वए ॥ १२२ ॥

यस्मादेते अनन्तरोदिता अन्ये च दोषाः सविस्तरा भवन्ति तस्मादौषधादीनां संचयं न कुर्यात्।

परस्यावकाशमाह—

जइ दोसा भवंतेते, किं खु घेत्तव्वयं ततो।
समाहिट्ठावणट्ठाए, भणती सुण ता इमो ॥ १२३ ॥

यद्येते अनन्तरोदिता दोषा भवन्ति ततः किं 'खु' समाधिस्थापनाय ग्रहीतव्यम्?, आचार्य आह-भण्यते-अत्रोत्तरं दीयते। तदेव तावदितोऽनन्तरमुच्यमानं शृणु।

तदेवाह—

णियमा विज्जागहणं, ठातव्वं होइ दुविहदव्वं च।
संजोगदिट्ठपाढी, असती गिहिअन्नतित्थीहिं ॥ १२४ ॥

यया विद्यया अपमार्जनं क्रियते तस्या अन्यासां च विद्यानामाचार्येण नियमात् ग्रहणं कर्त्तव्यम्, तथा यदि करणतश्छिन्नमण्डपे स्थातव्यं भवति, ततो दीर्घपृष्ठविषविघाताय द्विविधं द्रव्यं ग्रहीतव्यम्, तच्चाग्रे वक्ष्यते। तस्मादाचार्यैः संयोगदृष्टपाठी भवेत्। संयोगान्-अनेकान् व्यापार्यमाणान् यो दृष्टवान् यश्च तत्पाठं पठितवान् स संयोगदृष्टपाठी। अथ स्वयं संयोगदृष्टपाठी न भवति, तर्हि तस्यासति गृहिभिः कार्यते चिकित्सा। तेषामप्यसत्यन्यतीर्थिभिः।

यदुक्तं द्विविधं द्रव्यं ग्रहीतव्यं तदभिधित्सुराह—

चित्तमचित्तपरित्तम-णंत संजोइयं च इतरं च।
थावरजंगमजलजं, थलजं चेमादि दुविहं तु ॥ १२५ ॥

द्विविधं द्रव्यम्-सचित्तम्, अचित्तं वा। यदिवा-परीतम्, अनन्तकायिकं वा। अथवा—संयोगिकम् अनेकसंयोगनिष्पन्नम्, इतरत्-असंयोगिकम्। अथवा—स्थावरं, जङ्गमम्। प्रत्युत्पन्ने कार्ये यदि स्थावरद्रव्यप्रयोगतः कथमपि गुणो न भवति तदा अनन्यगत्या जङ्गमं द्रव्यं प्रयुज्यते। अथवा-द्विविधं द्रव्यम्-जलजम्, स्थलजं च। एवमादिद्विविधं द्रव्यं ग्रहीतव्यम्। इयं चिकित्सा दीर्घपृष्ठविषविघातायाभिहिता।

संप्रत्यतिदेशेनान्यरोगेष्वपि तामाह—

जह चेव दीहपिट्ठे, विज्जा मंता य दुविहदव्वा य।
एमेव सेसएसु वि, विज्जा दव्वा य रोगेसु ॥ १२६ ॥

यथा चैव दीर्घपृष्ठदंशे (सर्पविषदूरीकरणाय-'मोय' शब्दो दृष्टव्यः) विद्या मन्त्रा द्विविधानि च द्रव्याणि ग्रहीतव्यानि, एवमेव शेषेष्वपि रोगेषु विद्या द्रव्याणि च ग्राह्याणि।

संजोगदिट्ठपाढी, न य धरती तम्मि चउगुरू हुंति।
आणादिणो य दोसा, विराहणा (इ)मेहि ठाणेहिं ॥ १२७ ॥

आचार्येण स्वयं संयोगदृष्टपाठिना भवितव्यम्। यदि पुनः सति शक्तिसंभवे संयोगदृष्टपाठं न धरति तर्हि तस्मिन् अधरति प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, न केवलं प्रायश्चित्तं किं-त्वाज्ञादयश्च दोषास्तथा विराधना एभिर्वक्ष्यमाणैः स्थानैः।

तान्येवाह—

उप्पन्ने गेलन्ने, जो गणधारी न जाणइ तिगिच्छं।
दीसंतते विणासो, सुहदुक्खा तेण उ चत्ता ॥ १२८ ॥

उत्पन्ने ग्लानत्वे यां गणधारी चिकित्सां न जानाति तस्य पश्यतः सतो ग्लानस्य विनाश इति; तेन सुखदुःखिनः-सुखदुःखोपसंपन्नकाः स्वशिष्याः प्रतीच्छिकाश्च परित्यक्ताः।

कथं पश्यतः सतो ग्लानस्य स्वशिष्यकाणां च विनाश इत्यत आह—

आउरत्तेण कायाणं, विसकुंभादिघायए।
डाहच्छेज्जे य जे अन्ने, भवंति समुवद्दवा ॥ १२९ ॥
एते पावइ दोसे, अणागए अगहियाएँ वेज्जाए।
असमाही सुयलंभं, केवललंभं तु वुकेज्जा ॥ १३० ॥

कस्यापि साधोर्विषकुम्भलूता, आदिशब्दाद्दाहादिपरिग्रहस्तस्मिन्नुत्थिते आतुरत्वेनाकुलत्वेन विषकुम्भादिघातकः कायानामुदकादीनामुपद्रव्यं कुर्यात्। तथाहि—विषकुम्भदाहे वा समुपस्थिते आकुलीभूतः, स तु तं शीतलेनोदकेन सिञ्चेत्, सचित्तेन वा कर्दमेन लिम्पेत्। तथा दाहच्छेदे च ये अन्ये भवन्ति समुपद्रवाः,एतान् दोषाननागतायामगृहीतायां विद्यायां प्राप्नोति। तथा तीव्रायां वेदनायामनुपशान्तायामसमाधिना-असमाधिमरणेन म्रियेत। तथा च सति दीर्घे संसारमनुपरिवर्त्तेत। चिरं च यदि जीवति तर्हि भूयांसं श्रुतलाभं प्राप्नुयात्, केवलज्ञानं चोत्पादयेत्।

तथा—

इहलोगियाण परलो-गियाण लद्धीण फेडियो होइ।
इहलोगा मोसादी, परलोगा ऽणुत्तरादीया ॥ १३१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असमाधिमरणेन मरणतः स ऐहलौकिकीनां पारलौकिकीनां च लब्धीनां स स्फेटितः-त्याजितो भवति। तत्र इहलोके ऐहलौकिक्यो लब्धयः-आमर्षौषध्यादयः। परलोके पारलौकिक्योऽनुत्तरादयोऽनुत्तरा लवसत्तमा देवाः। आदिशब्दात्-सुकुलप्रत्यायातिश्रुतलाभादिपरिग्रहः।

असमाहीमरणेणं, एवं सव्वासि फेडितो होइ।
जह आउगपरिहीणा, देवा लवसत्तमा जाया ॥१३२॥

एवम्—अमुना प्रकारेण सर्वासामैहिकीनां पारत्रिकीणां लब्धीनामसमाधिमरणेन स्फेटितो भवति, यथा—आयुष्कपरिहीणा देवा लवसप्तमा जाता, आयुष्कपरिहाण्या सिद्धिलाभतो भ्रष्टाः; यथा देवा लवसप्तमा जाता इत्यर्थः। (व्य०) (लवसप्तमदेवस्वरूपम् 'लवसत्तम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्।)

उपसंहारमाह—

तम्हा उ सपक्खेणं, कायव्वँ गिलाणगस्स तेगिच्छं।
विवक्खेण न कारेज्जा, एवं उदितम्मि चोदेति ॥१३४॥

यस्माद्विपक्षे दोषास्तस्मात्सपक्षेण ग्लानस्य चिकित्साकर्म कर्त्तव्यं, विपक्षेण पुनर्न कारयेत्। तदेष सम्बन्धस्ततः सूत्रव्याख्यालक्षणं तदन्वाक्षेपपरिहारौ तत्प्रसक्त्याऽन्यदपि चाभिहितम्। सम्प्रति सूत्रव्याख्या क्रियते-निर्ग्रन्थं चशब्दान्निर्ग्रन्थीं च रात्रौ वा विकाले वा दीर्घपृष्ठः—सर्पो लूषयेत्-दशेत्, तत्र स्त्री वा पुरुषस्य हस्तेन तं विषमपमार्जयेत् पुरुषो वा स्त्रिया हस्तेन, एवं 'से' तस्य स्थविरकल्पिकस्य कल्पते स्थविरकल्पकस्यापवादबहुलत्वाद्। एवं चामुना प्रकारेणापवादमासेवमानस्य 'से' तस्य तिष्ठति पर्यायः, न पुनः स्थविरकल्पात् परिभ्रश्यति येन छेदादयः प्रायश्चित्तविशेषास्तस्य न सन्ति, परिहारं च तपो न प्राप्नोति कारणेन यतनया प्रवृत्तेः, एष कल्पः स्थविरकल्पिकानाम्। एवममुना प्रकारेण सपक्षेण विपक्षेण वा वैयावृत्यकारापणं 'से' तस्य जिनकल्पिकस्य न कल्पते केवलोत्सर्गप्रवृत्तत्वात्तस्येति भावः। एवमपवादसेवनेन 'से' तस्य जिनकल्पपर्यायो न तिष्ठति; जिनकल्पात्पततीत्यर्थः। परिहारं च तपोविशेषं न परिपालयति, एष कल्पो जिनकल्पिकानाम्। एवं सूत्रे व्यवस्थिते यदाचार्येण प्रागुदितं सपक्षेण वैयावृत्यं कारयितव्यं न परपक्षेणेति तत्र चोदयति—ब्रूत।

परः यदुक्तवांस्तदाह—

सुत्तम्मि अणुण्णाइं, इह इं पुण अत्थतो निसेहेइ।
कायव्व सपक्खेणं, चोयग! सुत्तं तु कारणियं ॥१३५॥

सूत्रे विपक्षेणापि वैयावृत्यकारापणमनुज्ञातम्, इह—इदानीम्, इः पादपूरणे, पुनरर्थतो यूयं परपक्षेण वैयावृत्यकारापणं निषेधयत 'कर्त्तव्यं सपक्षेणे' ति वचनात्, ततः सूत्रभवद्व्याख्यानयोर्विरोधः। अत्राचार्य आह-न विरोधो यतो हे चोदक! सूत्रमिदं कारणिकं-कारणापेक्षम्।

तदेव कारणमाह—

विज्जसपक्खाणऽसती, गिहिपरतित्थी उ तिविहसंबंधी।
एमेव असंबंधी, असोयवादितरा सव्वे ॥२३६॥

सपक्षाणां वैद्यानामसति—अभावे गृही तत्पिता भ्राता-स्वजनो वा स्थविरादिभेदतस्त्रिविधो यः संबन्धी स वैयावृत्यं कारणीयः। तदभावे असंबन्धी स्थविरमध्यमतरुणभेदतस्त्रिभेदः पूर्वपूर्वालाभे उत्तरोत्तरः कारणीयः, तस्याऽप्यभावे परतीर्थिकः पितृभ्रात्रादिसंबन्धेन संबन्धी स्थविरादितस्त्रिभेदः पूर्वपूर्वालाभे उत्तरोत्तरः कारणीयः। तस्यालाभे असंबन्ध्यपि स्थविरादिभेदतस्त्रिविधः उक्तक्रमेण कारयितव्यः। एते सर्वेऽपि द्विविधा अशौचवादा वा इतरे च। तत्र प्रथमतः सर्वत्राप्यशौचवादः कारयितव्यस्तदसंभवे इतरोऽपि।

एएसिं असतीए, गिहि(भ)गिणिपरतित्थिगी तिविहभेया
एएसिं असतीए, समणी तिविहा करे जयणा ॥ १३७ ॥

एतेषां--प्राग्गाथानिर्दिष्टानां सर्वेषामसति अभावे गृहस्था माता भगिनी, तदभावे स्वजनाः स्थविरमध्यमतरुणभेदतस्त्रिविधाः पूर्वपूर्वालाभे उत्तरोत्तराः कारयितव्याः। तदभावे असंबन्धिनी स्थविरादिभेदतस्त्रिविधा प्राक्क्रमेण कारयितव्या। तस्या अलाभे परतीर्थिकाः स्थविरादिभेदतस्त्रिप्रकाराः पूर्वपूर्वालाभे उत्तरोत्तराः कारयितव्याः। एतेषां च भेदानां सर्वेषामप्यसत्यलाभे श्रमणी त्रिविधा-स्थविरादिभेदतस्त्रिप्रकारा पूर्वपूर्वालाभे उत्तरोत्तरा यतनया करोति।

तामेव यतनामाह--

दूती अद्दाइ वत्थे, अंतेउरिया य दब्भतो भेया।
वियणे य तालवेंटे, चवेडओ मज्जणा जयणा ॥१३८॥

काचिद् दूतविद्या भवति, तया च दूतविद्यया यो दूत आगच्छति तस्य दंशस्थानमपमार्ज्यते तेनेतरस्य दंशस्थानमुपशाम्यति, 'अद्दाइ' त्ति अपरा आदर्शविद्या तया-आतुर आदर्शे प्रतिबिम्बितः अपमार्ज्यते आतुरः प्रगुणो जायते। अन्या विद्या वस्त्रविषया भवति, यया परिजपितेन वस्त्रेण वाऽपमृज्यमानः आतुरः प्रगुणो भवति। अपरा विद्या अन्तःपुरे आन्तःपुरिकी विद्या भवति, यया आतुरस्य नाम गृहीत्वा आत्मनोऽङ्गमपमार्जयति आतुरश्च प्रगुणो जायते सा आन्तःपुरिकी। अन्या दर्भे दर्भविषया भवति विद्या, यया दर्भैरपमृज्यमान आतुरः प्रगुणो भवति। 'वियणे' त्ति व्यजनविषया विद्या, यया, व्यजनमभिमन्त्र्यते तेनाऽऽतुरोऽपमृज्यमानः स्वस्थो भवति सा व्यजनविद्या। एवं तालवृन्तविद्याऽपि भावनीया। चपेटा-चापेटी विद्या यया अन्यस्य चपेटायां दीयमानायामातुरः स्वस्थीभवति सा चापेटी। तत्र पूर्वं दूत्या विद्ययाऽपमार्जनं कर्त्तव्यं, तदभावे आदर्शिकया, एवं तावद्यावदन्ते चापेट्या। एषा अपमार्जनायतना।

एतदेव स्पष्टतरमाह--

दूयस्स पमाइज्जइ, असती अद्दागपरिजवित्ताणं।
परिजवियं वत्थं वा, पाउज्जइ तेण वोमाए ॥ १३९ ॥
एवं दब्भादीसुं, ओमाएऽसंफुसंतो हत्थेणं।
चावेडीविज्जाए, ओमाएँ चवेडयं देंतो ॥ १४० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूत्या विद्यया दूतस्यागतस्याङ्गमपमार्ज्यते, तस्या विद्याया असति आदर्शे संक्रान्तमातुरप्रतिबिम्बं परिजप्यातुरः प्रगुणीकर्त्तव्यः। तदभावे वस्त्रविद्यया परिजपितं वस्त्रं प्रावार्यते, तेन वा परिजपितेन वस्त्रेणातुरोऽपमार्ज्यते। एवं दर्भादिभिः परिदर्भविद्यादिभिर्हस्तेनासंस्पृशन्नपमार्जयेत्। चापटया वा विद्यया; अन्यस्य चपेटां ददन्नन्योऽपमार्ज्यते एता स्तु विद्याः प्रायः पुरुषेषु भवन्ति। एष यतनागमो निर्ग्रन्थानां वेदितव्यः। एष एव यतनागमो निर्ग्रन्थीनामपि भवति।

तथा चाह—

एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो।
विज्जादी मुत्तूणं, सकुसलऽकुसले य करणं वा ॥१४१॥

एष एवानन्तरोदितो यतनागमो नियमात् निर्ग्रन्थीनामपि ज्ञातव्यः, तदा निर्ग्रन्थीनां विद्यादि न दातव्यं मुक्त्वा-पूर्वगृहीतमसाधनं मन्त्रम्, स हि कदाचद्दीयते न कश्चिद्दोषः। तथा यदि निर्ग्रन्थोऽकुशलो भवति निर्ग्रन्थी च कुशला तत्र करणं निर्ग्रन्थ्या निर्ग्रन्थी कारयेदित्यर्थः।

"विज्जादी मुत्तूण" मित्येतदेव व्याख्यानयति—

मंतो हविज्ज विज्जा–ओ कोइ ससाहणा न दायव्वा।
तुच्छा गारवकरणं, पुव्वाहीया उ कारेज्जा ॥ १४२ ॥

तस्माद्गौरवमात्मनोऽपि जायते तेन न कुर्यात्। या तु पूर्वाऽधीता पूर्वगृहीता विद्या तां प्रागुक्तयतनाक्रमेण कुर्यात्।

अज्जाणं गेलन्ने, संथरमाणा सयं तु कायव्वं।
वोच्चऽत्थ मासचउरो, लहुगुरुगा थेरए तरुणे ॥१४३॥

आर्यिका यदि ग्लानप्रयोजने स्वयं समर्थास्ततः स्वयमेव ताः कुर्वन्ति, एवं निर्ग्रन्था अपि भावनीयाः। यदि पुनर्विपर्यासः क्रियते, यथा—निर्ग्रन्थानां ग्लानत्वे संस्तरति निर्ग्रन्थ्यो यदि कुर्वन्ति, निर्ग्रन्थीनां वा यदि निर्ग्रन्था इति तदा तस्मिन्विपर्यासे स्थविरे कारके प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, तरुणे चत्वारो गुरुकाः।

संप्रति कल्पे नानात्वं भावयति—

जिणकप्पिए न कप्पइ, दप्पेणं अजयणाए थेराणं।
कप्पइ य कारणम्मि,जयणा गच्छे स साविक्खो॥१४४॥

जिनकल्पिके स्वपक्षेण परपक्षेण वा वैयावृत्त्यकारापणं न कल्पते, तथाकल्पत्वात्। स्थविराणां—स्थविरकल्पिकानां पुनर्दर्पेण निष्कारणमयतनया च न कल्पते, कारणे यतनया पुनः कल्पते. यतो गच्छे स सापेक्ष इति।

चिट्ठइ परियाओ से, तेणं छेदाइया न पावेंति।
परिहारं च न पावइ, परिहारतवो त्ति एगट्ठं ॥ १४५ ॥

यतः 'से' तस्य पर्यायस्तिष्ठति तेन कारणेन छेदादिकास्तस्य न प्राप्नुवन्ति—न भवन्तीत्यर्थः। परिहारमपि च न प्राप्नोति, कारणे यतनया कारापणात्। परिहारः, तप इत्येकार्थम्। व्य० ५ उ०। (आचार्यस्योपाध्यायस्य च वैयावृत्यकरणम् इच्छया भवतीति, तत्फलं च 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १७ पृष्ठे गतम्।) (ग्लानवैयावृत्यकरणम्। 'गिलाण' शब्दे तृतीयभागे ८८६ पृष्ठे गतम्।)

जइ जच्चवाहलाणं,
अस्साणं जणवएसु जायाणं।
सयमेव खलिणगहणं.
अहवा वि बलाभिओगेणं ॥ आव० १ अ०।

(इति 'इच्छक्कार' शब्दे द्वितीयभागे५१७ पृष्ठे व्याख्यातम्।) (यादृशं वैयावृत्यकरं स्थापनाकुले प्रवेशयेत् तादृगुक्तः 'ठवणाकुल' शब्दे चतुर्थभागे १६८६ पृष्ठे।) स्वयमभुञ्जानेनापि आचार्याद्यर्थमाहारो गृहीत्वाऽऽनेतव्यः।

पुरिसं तस्सुवयारं, अवयारं चऽप्पणो य नाऊणं।
कुज्जा वेआवडिअं, आणं काउं निरासिसो ॥५४०॥

पुरुषम्-आचार्यादिं तस्योपकारं-स्वाध्यायवृद्धिसत्त्वोपदेशादिम्, अपकारं च-वीर्यह्रासश्लेष्मचर्यादिम्, आत्मनश्चोपकारमपकारं च ज्ञात्वा, उपकारो ज्ञानादेरुपष्टम्भः गुरुगुरुजननियोगान्निर्ज्जराव्यत्ययादपकारः। अथवा-ग्लानाद्यपेक्षयोपकारापकारौ वाच्यौ। एवं कुर्यात् वैयावृत्यम् अशनदानादि, 'आज्ञां कृत्वा'-आगमप्रामाण्यान्निराशंसो-विहितानुष्ठानबद्धो वेति गाथार्थः।

अस्यैव गुणमाह—

भरहेण वि पुव्वभवे, वेयावच्चं कयं सुविहियाणं।
तस्स फलविवागेणं,आसी भरहाहिवो राया ॥ ५४१ ॥

भरतेनापि चक्रवर्तिना पूर्वभवे-अन्यजन्मनि वैयावृत्यं कृतं सुविहितानां—साधूनाम्। तस्य वैयावृत्यस्य फलविपाकेन सातवेदनीयोदयेन आसीद्भरताधिपो राजा चक्रवर्त्तीति गाथार्थः।

भुंजित्तु भरहवासं, सामन्नमणुत्तरं अणुचरित्ता।
अट्ठविहकम्ममुक्को, भरहनरिंदो गओ सिद्धिं ॥ ५४२ ॥

स च भरतः भुक्त्वा भरतवर्षं षट्खण्डं तदनु—श्रामण्यमनुत्तरं प्रधानमनुचरित्वा केवलिविहारेणाष्टविधकर्म्ममुक्तः सन् चरमकाले भरतनरेन्द्रो महात्मा गतः सिद्धिं—सर्वोत्तमामिति गाथार्थः।

पासंगिअभोगेणं, वेयावच्चम्मि मोक्खफलमेव।
आणाआराहणओ, अणुकंपादित्ति विसयम्मि ॥५४३॥

प्रासङ्गिकभोगेन हेतुभूतेन वैयावृत्यविषयमेवं मोक्षफलमेव पारंपर्येण। अत्रोपपत्तिः आज्ञाया आराधनात् तीर्थकरवचनाऽऽराधनादनुकम्पादय इव, विषये, आदिशब्दादकामनिर्जरादिपरिग्रहः। निदर्शनमेतदिति गाथार्थः।

इहैव भावार्थमाह—

सुहतरुछायाइजुओ, अह मग्गो होइ कस्सइ पुरस्स।
एक्को अन्नो णेवं, सिवपुरमग्गो वि इअ णेओ ॥५४४॥

शुभतरुच्छायादियुक्तः, आदिशब्दात्पुष्पफलपरिग्रहः, यथा-मार्गः-पन्था भवति कस्यचित्पुरस्य-वसन्तपुरादेः-एक एवंभूतः, अन्यो नैवभूतः, अपि तु—विपर्ययवान्। शिवपुरमार्गोऽप्येवं द्विविध एवं ज्ञेय इति गाथार्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषतो द्वैविध्यमाह—

अणुकंपा पाविश्रो पढमश्रो,सुहपरगामीय सोजिणाईणं।
तयजत्ततो उ इयरो, सदेव सामन्नसाहूणं ॥ ५४५ ॥

अनुकम्पावैयावृत्यमासां मार्गः शिवपुरस्य प्रथमकः. स च जिनादीनां ज्ञेयः। सुखपरंपरागामिनां तदयत्नतस्त्वनुकम्पाप्रयत्नेन, इतरो मार्गो-द्वितीयः, स च सदैव सामान्यसाधूनां ज्ञेयः, आत्मार्थपरार्णामिति गाथार्थः। पं० व० २ द्वार।

वैयावृत्यफलमाह—

वेयावच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?, वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोयं कम्मं निबंधेइ ॥४३॥

हे भगवन्! वैयावृत्येन आहारादिसाहाय्येन जीवः किं जनयति ?, तदा गुरुराह—हे शिष्य! वैयावृत्येन तीर्थकरनामगोत्रं कर्म्म निबध्नाति, वैयावृत्यं कुर्वन् तीर्थकरनामगोत्रं कर्म बध्नातीत्यर्थः। उत्त० २९ अ०। (वैयावृत्ये संभोगो भवतीति 'संभोग' शब्दे वक्ष्यते।)

वेयावच्चकम्मपडिमा–वैयावृत्यकर्मप्रतिमा–स्त्री०। भक्तपानादिभिरुपष्टम्भक्रियाविषयेषु अभिग्रहविशेषे, स०।

एकाणउइ परवेयावच्चकम्मपडिमाओ पण्णत्ताओ। (सू० ९१)।

तत्र परेषामात्मव्यतिरिक्तानां वैयावृत्यकर्म्माणि भक्तपानादिभिरुपष्टम्भक्रियास्तद्विषयाः प्रतिमाः—अभिग्रह विशेषाः परवैयावृत्यकर्मप्रतिमाः। एतानि च प्रतिमात्वेनाभिहितानि क्वचिदपि नोपलब्धानि केवलं विनयवयावृत्यभेदा एते संभवन्ति। स० ९१ सम०।

वेयावच्चगर–वैयावृत्यकर–पुं०। प्रवचनार्थे व्यापृतभावे, गोमुखयक्षाप्रतिचक्राप्रभृतौ, ध० २ अधि०। "वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं" ल०।

वेयावच्चुचिय–वैयावृत्योचित–पुं०। भक्ताद्युपष्टम्भयोग्ये, गच्छाश्रितबालग्लानादिके, पञ्चा० १८ विव०।

वेयावडिय–वैयावृत्य–न०। व्यावृतभावो वैयावृत्यम्। अन्नादिसम्पादने, दश० ३ अ०। भक्तपानवेषग्रहणतः साधुभ्यो दाने, स्था० ५ ठा० २ उ०। अङ्गमर्दनादिके, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ०। आव०।

जक्खा हु वेयावडियं करेंति,तम्हा उ एए निहया कुमारा।

येन यक्षाः वैयावृत्यं-साधुतर्जकनिवारणं साधुभक्तिं कुर्वन्ति तस्मात् 'हु' इति निश्चयेन एते कुमाराः यक्षैर्निहताः। उत्त० १२ अ०। (गृहिणो वैयावृत्यम् 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे२१२ पृष्ठे व्याख्यातम्।)

वेयावत्त–व्यावृत्त–त्रि०। जीर्णे, "जंभियगामस्स नगरस्स बहिया उज्जुवालियाए नईए तीरे वेयावत्तस्स चेइयस्स अदूरसामंते ॥" कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

वेर–वैर–न०। वीरस्य भावः अण्। विरोधे, विद्वेषे, वाच०। वज्रे, कर्मविरोधे च। सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। द्वा०। आतु०। पूर्वोपार्जितद्वेषबन्धने, उत्त० ४ अ०। प्रश्न०। अनुशयानुबन्धे, प्रश्न० २ संव० द्वार। परस्परमसहनतया हिंस्यहिंसकभावाध्यवसाये, "कलुसं ति वा वेज्जं ति वा वेर त्ति वा पंको त्ति वा मलो त्ति वा एगट्ठा।" जी० ३ प्रति० ४ अधि०। प्रव०। जं०। नि० चू०। मातापित्रादिवधोत्थे राज्यापहारादिभवे (आतु०।) परस्परागद्वेषोद्भवे (दर्श० १ तत्त्व।(पुरुषादिवधसमुत्थे (आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।) अभिमानसमुत्थे वा अमर्षविशेषपरापकाराध्यवसाये, स० ३४ सम०। वैरहेतुत्वाद् गौणमैथुने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

वेरंगिय–वैरङ्गिक–पुं०। संविग्ने, "आबाल्यादपि यः प्रसिद्धमहिमा वैरङ्गिकग्रामणीः, पृष्टः शाब्दिकपङ्क्तिषु प्रतिभटैर्जेय्यो न यस्तार्किकैः।" कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

वेरज्झाण–वैरध्यान–न०। वैरं मातापित्रादिवधोत्थं राज्यापहारादिभवं वा तस्य ध्यानं वैरध्यानम्। पशुरामसुभौमादीनामिव दुर्ध्याने, आतु०।

वेरग्ग–वैराग्य–न०। तथाविधरागाभावो वैराग्यम्। आव० ४ अ०। विरागस्य भावः। अभिष्वङ्गाभावे, अष्ट० १३ अष्ट०।(वैराग्यस्य 'मुणि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३०६ पृष्ठे विशेषतो व्याख्या गता।) "या वशीकार०" (८) इत्यादिश्लोकैः वैराग्यवक्तव्यता 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६२२ पृष्ठे उक्ता।) विरागतायाम्, द्वेषाभावाविनाभूतत्वाद् वैराग्यस्य विगतद्वेषता। द्वा० २४ अष्ट०। पं० व०। औदासीन्ये,अष्ट० १६ अष्ट०। कषायनिग्रहे, औ०।

वेरग्गकर–वैराग्यकर–न०। वैराग्यजनके उत्तराध्ययनादौ, बृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०।

वेरग्गकहा–वैराग्यकथा–स्त्री०। विषयेष्वनभिष्वङ्गकारिकायां कथायाम्, आव० ४ अ०।

वेरग्गभावणा–वैराग्यभावना–स्त्री०। अनित्यत्वादिभावनारूपायां विषयेष्वरक्तताभावनायाम्, आचा० २ श्रु० ३ चू०।

वेरचाग–वैरत्याग–पुं०। सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां हिंस्रत्वपरिहारे, "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः"। द्वा० २१ द्वा०।

वेरज्ज–वैराज्य–न०। विरुद्धराज्ये, "वेरं जत्थ उ रज्जे, वेरं जायं व जत्थ रज्जं वा। जं च विरज्जइ रज्जे, ण विगयरायं च वेरज्जं ॥ ६२० ॥" बृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०। आचा०। ('इदं विहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३०६ पृष्ठे विरुद्धराज्ये गमनाऽऽगमनप्रस्तावे उक्तम्।)

वेरत्तिय–वैरत्तिक–पुं०। कालविशेषे, ध० ३ अधि०। सू० प्र०।

वेरदत्त–वैरदत्त–पुं०। श्रीनेमिनाथतीर्थकृतः प्रथमे गणधरे, ति०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेरदिट्ठि-वैरदृष्टि-स्त्री० । वैरप्रधाना दृष्टिर्वैरदृष्टिः । वैरबुद्धौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

वेरबहुल-वैरबहुल-त्रि० । वैरानुबन्धप्रचुरे, दशा० ६ अ० । सूत्र० ।

वेरमण-विरमण-न० । सामान्येन रागादिविरतौ, उत्त० २ अ० । भ० । स० । निवृत्तौ, पा० । औचित्येन रागादिनिवृत्तौ, भ० २ श० ५ उ० । असंयमादिभ्यो निवर्त्तने, तं० । सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकसर्वथा निवर्त्तने, दश० ४ अ० । प्राणेभ्यो जीवस्य व्युपरतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

वेरमणकप्प-विरमणकल्प-पुं० । द्रव्यतो भावतश्च विरमणस्यैव साध्यतायाम्, पं० भा० ।

दंसणणाणचरित्ते, तवपवयणसच्चसमितिहिं गुत्तो ।
हतरागदोसनिम्मम-खमदमणियमट्ठितो णिच्चं ।

भावकप्पे त्ति गयं ।

दारं-

तदुभयकप्पो अहुणा, एते च्चिय दव्वभावकप्पा तु ।
दोण्हि वि मिलिया एते, तदुभयकप्पो इमो सो य ॥
आहारे अट्ठविहे, सेज्जोवहियं च पंचगविसोही ।
दंसणचरित्तगुत्तो, तवसमितिगुणेहिँ सोहेति ॥
असणादीतो चउहा, उवकारि चउव्विहो य तस्सेव ।
एसऽट्ठविहाऽऽहारो, परूवणा तस्सिमा होति ॥
असणं तु ओदणादी, तस्सुवकारी उ खीरकुसणादी ।
पाणं तु पाणमेव तु, कप्पूराऽऽदी तु उवकारी ॥
खाइम फलाइयं तु, मूलादी होति तदुवकारी तु ।
साइम तंबोलादी, तुण्हादी तदुवकारी तु ॥
एवं आहारादी, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ।
उप्पाएँ दंसणादीहिँ, जुत्तो अहवा तदट्ठाए ॥

दारं—

विरती य अविरती य, विरयाविरती य तिविहकरणं तु ।
एक्केक्कं होति दुहा, ओहे य अभिग्गहे चेव ॥
विरतीकरणं ओहे, पंचेव महव्वया भवंती तू ।
होति अभिग्गहकरणं, पिंडविसुद्धादिऽणेगविहं ॥
अहवा ओहे संजमोँ, विभागतो होति सत्तरसभेदो ।

दारं—

अविरतिअसंजमोहे, अट्ठारस अभिग्गहे इणमो ॥
पाणातिवातमोसे, अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव ।
कोँहमाणमायलोभे, पेज्जे दोसे तहेव कलहे य ॥
अब्भक्खाणपेँसुन्ने, अरतिरती चेव मायमोसे वा ।
मिच्छादंसणसल्ले, अट्ठारस अभिग्गहे एस ॥

दारं—

विरताविरतीए पुण, ओहेण अणुव्वता भवे पंच ।
उत्तरगुण अभिग्गहे, हवंति सिक्खावता सत्त ॥
एत्थं पुण अहिगारो, विरतीकरणेण होति दुविहेणं ।
जह तेसु य अतियारो, ण होति तह आययतियव्वं ॥

दारं—

उज्जमे रक्खियाणं, महव्वयाणं कओ हवति पीला ।
भण्णतिऽऽहारादीहिं, तिहि पीडा होतिऽसुद्धेहिं ॥
उज्जमउज्जेतो खलु, एतेसं रक्खिताण तु वयाणं ।
पीला उवघातो खलु, भवति कहं पुच्छती सीसो ॥
भण्णति आहारोवहि-सेज्जासंथारए य एतेहिं ।
उग्गमदोसादीहिँ तु, पीला संजायति वयाणं ॥
तम्हा तु उग्गमादी-हिँ विसुद्धाहारिमादयो कुज्जा ।
वेरमणकप्पोँ एसो । पं० भा० ५ कल्प ।

इयाणिं वेरमणकप्पो । दुविहं वेरमणकप्पं—ओहे, अभिग्गहे य । ओहे—अवविरइ पंच महव्वयाणि । अभिग्गहे-उत्तरगुणे पिंडस्स जा विसोही । अविरइ ओहेण असंजमो अभिग्गहेण कोहाई विरयाविरई । ओहे पंच अणुव्वया, अभिग्गहे उत्तरगुणा सत्त सिक्खावयाणि गाहा-उज्जुमनुज्जुणाम-उद्यमः प्रयत्न इत्यर्थः, उज्जमेण रक्खियाणं वयाणं कओ पीला भवइ ?, उच्यते—आहारसेज्जोवहीहि य ताहिं असुद्धाहिं पीला भवइ, उग्गमुप्पायणेसणाहिं सुद्धाहिं निष्पत्तिः निर्वाणमार्गस्य भवति । एस वेरमणकप्पो । पं० चू० ५ कल्प ।

वेरसेणा-वैरसेना-स्त्री० । नन्दनवने सागरचित्रकूटदेव्याम्, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

वेरागर-वैराकर-पुं० । वज्ररत्नोत्पत्तिभूमौ, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

वेराणुगिद्ध-वैरानुगृद्ध-त्रि० । येन केन कर्मणा परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते—जन्मान्तरशतानुयायि भवति । तत्र गृद्धे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

वेराणुबंधि-वैरानुबन्धिन्-त्रि० । वैरमनुबध्नन्ति तच्छीलानि च वैरानुबन्धीनि । जन्मशतसहस्रदुर्मोचेषु, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

वेराणुबद्ध-वैरानुबद्ध-त्रि० । पूर्वोपार्जितद्वेषबन्धनबद्धे, उत्त० ४ अ० । स्था० ।

वेरायतण-वैरायतन-न० । वैरानुबन्धे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

वेरि(ण्)-वैरिन्-त्रि० । वैरमस्यास्तीति वैरी । सजीवोपमर्दकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । सानुबन्धशत्रुभावे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

वेरियता-वैरिकता-स्त्री० । शत्रुभावानुबन्धयुक्ततायाम्, भ० १२ श० ८ उ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेरुलिय-वैडूर्य-न० । " वैडूर्यस्य वेरुलियम् " ॥ ८ । २ । १३३ ॥ इति वैडूर्यशब्दस्य ' वेरुलिय ' आदेशः । प्रा० । नीलमणौ , उत्त० ३४ अ० । कल्प० । सूत्र० । आ० म० । प्रश्न० । औ० । रा० । द्वी० । संथा० आव० । वैडूर्यरत्नमये , त्रि० । रा० । " वेरुलियरुइरक्खंभा " वैडूर्यरत्नमया रुचिराः स्तम्भा यस्य तद् । वैडूर्यरत्नरुचिरस्तम्भम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । " वेरुलियमणिफलिहपडलपच्चोयडाओ य त्ति " वैडूर्यमणिमयानि-स्फाटिकपटलमयानि प्रत्यवनटानि-तटसमीपवर्तिनोऽभ्युन्नतप्रदेशा यासां ता वैडूर्यमणिस्फटिकपटलप्रत्यवतटाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वेरुलियकंड-वैडूर्यकाण्ड-न० । रत्नप्रभायाः पृथिव्या वज्रमये प्रथमकाण्डे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

वेरुलियकूड-वैडूर्यकूट-न० । महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य वैडूर्यमये कूटे , स्था० २ ठा० ३ उ० ।

वेरोट्टा-वैरोट्या-स्त्री० । श्रीमल्लिजिनस्य शासनदेव्याम् , सा च कृष्णवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वया बीजपूरकशक्तियुक्तवामपाणिद्वया च । प्रव० २६ द्वार ।

वेरोयण-वैरोचन-पुं० । बलिपालिते भवनपतिविशेषे , आ० म० १ अ० ।

वेरोवरय-वैरोपरत-पुं० । अभिमानसमुत्थोऽमर्षविशेषपरापकाराध्यवसायो वैरं तस्माद् उपरतः वैरोपरतः । शत्रुभावमतीते, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

वेलंधर-वेलन्धर-पुं० । वेलां लवणसमुद्रशिखामन्तर्विशन्तीं बहिर्वा यान्तीमग्रशिखां च धारयन्तीति संज्ञात्वाद् वेलन्धराः । लवणसमुद्रशिखापातनिवारकेषु नागराजेषु , स्था० ४ ठा० २ उ० । (वेलन्धरवक्तव्यता ' लवणसमुद्द ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६४३ पृष्ठे गता)

वेलंधरोववाय-वेलन्धरोपपात-पुं० । संक्षेपितदशानां नवमेऽध्ययने , स्था० १० ठा० ३ उ० । यत्परावर्त्तयतः श्रमणस्य वेलन्धरो नाम नागराज उपतिष्ठते, वरदानाभिमुखश्च भवति । अरुणोपपातशब्दवदत्र भावयितव्यम् । पा० । व्य० ।

वेलंब-वेलम्ब-पुं० । दाक्षिणात्यानां वायुकुमाराणामिन्द्रे, भ० ३ श० ८ उ० । द्वी० । स्था० । स० । यूपकाख्यमहापातालकलशदेवे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रव० ।

वेलंबग-विडम्बक-पुं० । विदूषके, औ० । ज्ञा० । कल्प० । नि चू० । प्रश्न० । रा० ।

वेलंबगलिंग-विडम्बकलिङ्ग-न० । भण्डादिलक्षणे , आव० ३ अ० ।

वेलंबसुहय-वेलम्बसुखद-पुं० । न० । वेलम्बस्य वायुकुमारेन्द्रस्य संबन्धिनि मानुषोत्तरपर्वतस्य दक्षिणपरस्यां दिशि रत्नोच्चयकूटे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

वेलणअ-व्रीडनक-पुं० । व्रीयति लज्जामुत्पादयतीति लज्जनीयवस्तुदर्शनादिप्रभवे मनोव्यलीकतादिस्वरूपे काव्यरसे, अनु० ।

अथ व्रीडारसं हेतुतो लक्षणतश्चाऽऽह—

विणओवयारगुज्झगु-रु दारमेराव्वइक्कमुप्पण्णो ।
वेलणओ नाम रसो, लज्जासंकाकरणलिंगो ॥ १० ॥

वेलणओ रसो जहा—

किं लोइअ करणीओ, लज्जणीअतरं लज्जयामि ।
वारिज्जम्मि गुरुयणो, परिवंदति जं वहुप्पोत्तं ॥ ११ ॥

विनयोपचारगुह्यगुरुदारमर्यादानां व्यतिक्रमः स्थितिलङ्घनं तदुत्पन्नो व्रीडनको नाम रसो भवति । तत्र विनयार्हाणां विनयोपचारव्यतिक्रमे शिष्यस्य पश्चात् व्रीडा प्रादुरस्ति; पश्यत मया कथं पूज्यपूजाव्यतिक्रमः कृत इति । तथा गुह्यं-रहस्यं तस्य च व्यतिक्रमेऽन्यकथनादिलक्षणे व्रीडारसः प्रादुर्भवति । तथा गुरवः पितृव्यकलाग्राहकोपाध्यायादयस्तद्दारैश्च सहाऽब्रह्मसेवादिलक्षणे मर्यादाव्यतिक्रमे कृते लज्जारसः प्रादुर्भवतीति, एवमन्योऽपि द्रष्टव्यः । किंलक्षणः? इत्याह लज्जाशङ्कयोः करणं-विधानं लिङ्गं यस्य स तथा , तत्र शिरसोऽधोऽवनमनं गात्रसंकोचादिका लज्जा, मां न कचिद् कश्चिद् किंचिद्भणिष्यतीति सर्वत्राभिशङ्कितत्वं शङ्केति। अत्रोदाहरणम्-'किं लोइय'गाहा-इह कचिद्देशेऽयं समाचारो यदुत-अभिनववध्वाः स्वभर्त्रा यत्प्रथमयोन्युद्भेदे कृते शोणितचर्चितं तन्निवसनम् अक्षततयोनिरियं न पुनरन्यऽप्यासेवितानाचारेति संज्ञापनार्थं प्रतिगृहं भ्राम्यते, सकलजनसमक्षं च श्वश्रूश्वशुरादिस्तदीयगुरुजनः सतीत्वख्यापनार्थं तद्वन्दत इति एवं व्यवस्थिता सखीपुरतो वधूर्भणति-'किं लोइयकरणीओ त्ति-करणी—क्रिया ततश्च लौकिकक्रियाया लौकिककर्त्तव्यात्सकाशात् किमन्यल्लज्जनीयतरं; न किंचिदित्यर्थः । इत्यतो लज्जिताऽहं भवामि, किमिति यतो 'वारेज्जो' विवाहस्तत्र गुरुजनो वन्दते ' वहुप्पोत्तं ' ति—वधूनिवसनमिति । अनु० ।

वेलव-उपालभ्-उप—आ-लभ्-धा० । दूषणे, "उपालम्भेर्झङ्ख-पच्चार—वेलवाः " ॥ ८ । ४ । १५६ ॥ उपालम्भेर्वेलवादेशः । वेलवइ । उपालभते । प्रा० ४ पाद ।

वेलव-वञ्च-धा० । वञ्चने, " वञ्चेर्वेहव—वेलव—जूरवो-मच्छाः ॥ ८ । ४ । ९३ ॥ इति वञ्चतेर्वेलवादेशः । वेलवइ । वञ्चइ । वञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

वेलवण-वेलपन-न० । आक्रीडने, व्य० ५ उ० ।

वेलवासि (ण्)-वेलावासिन्-पुं० । समुद्रवेलासन्निधिवासिनि वानप्रस्थे, भ० ११ श० ६ उ० । नि० । औ० ।

वेला-वेला-स्त्री० । जलवृद्धिलक्षणायाम् (नं० । स्था० ।) उदकशिखायाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० । जलप्रवाहे , आ० म० द्वि० २२ अष्ट० । लवणसमुद्रशिखायाम् , उत्त० २ अ० । प्रश्न० स्वाध्यायकरणप्रस्तावे, उत्त० २ अ० । उचिते काले, नि० चू० १ उ० । अवसरे,विपा० २ श्रु० १ अ० । मर्यादायाम् , सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । वारायाम् , पञ्चा० १२ विव० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेलागय-वेलागत-पुं०। लोमपक्षिभेदे, जी० १ प्रति०।

वेलुंक-देशी-विरूपार्थे, देना० ७ वर्ग ६३ गाथा।

वेलू-वेणु-पुं०। "वेणौ णो वा" ॥ ८। १। २०३ ॥ इति णस्य लः। वेलू। वेणू। प्रा०। स्थलवंशे, नि० चू० १ उ०। आ० चू०। प्रज्ञा०।

वेलूणा-देशी-लज्जायाम्, दे० ना० ७ वर्ग ६५ गाथा।

वेलोचिय-वेलोचित-त्रि०। पाकातिशयतो ग्रहणकालोचिते, दश० ७ अ०। आचा०।

वेल्ल-रम्-धा०। क्रीडायाम्, "रमेः संखुड्ड-खेड्डोब्भाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-मोट्टाय-णीसर-वेल्लाः" ॥ ८। ४। १६८॥ इति रमधातोर्वेल्लादेशः। रमइ। रमंत। प्रा० ४ पाद।

वेव-वेप-पुं०। वातसमुत्थे शरीरावयवानां कम्पे, "प्रकामं वेपते यस्तु, कम्पमानस्तु गच्छति। कलापखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिनिबन्धनम् ॥ १ ॥" इति। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

वेवंत-वेपमान-त्रि०। "वेपेरायम्बायज्झौ" ॥ ८। ४। १४७॥ इति आदेशाभावे शतृप्रत्यये। "शत्रानशः" ॥ ८। ३। १८१ ॥ शतृआनश् इत्येतयोः। प्रत्येकं न्त माण इत्येतावादेशाविति शतुः न्ताऽऽदेशः। प्रा०। कम्पमाने, पिं०।

वेवज्झ-वैवाह्य-न०। विवाह एव तत्कर्म वा वैवाह्यम्। परिणयने, ध० १ अधि०।

वेवस्सय-वैवस्वत-पुं०। विवस्वतः पुत्रे यमे, अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुं वैवस्वतो न तृप्यति, सुराया इव दुर्मदी। गा०।

वेविय-वेपित-त्रि०। कम्पिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

वेवियंऽगी-वेपिताङ्गी-स्त्री०। कम्पितगात्रायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

वेविर-वेपिन्-त्रि०। "शीलाद्यर्थस्येरः" ॥ ८। २। १४५॥ शीलधर्मसाध्वर्थे विहितस्य इर इत्यादेशः। कम्पनशीले, प्रा०।

वेव्व-अव्य०। आमन्त्रणे, "वेव्व वेव्वे च आमन्त्रणे" ॥ ८। २॥ १९४॥ वेव्व-वेव्वे च आमन्त्रणे प्रयोक्तव्ये। वेव्व गोले। प्रा०।

वेव्वे-अव्य०-आमन्त्रणे, प्रा० २ पाद।

वेस-वेश-पुं०। नेपथ्ये, औ०। रा०।

वेश्य-त्रि०। वेशे साधौ, औ०।

वैश्य-पुं०। ऋषभदेवोपदेशादग्न्युत्पत्तावयस्कारादिशिल्पवाणिज्यवृत्त्या वेशनाद् वैश्यः। वाणिज्यवृत्तौ तृतीयवर्णे, आचा० ६ श्रु० १ अ० १ उ०।

वेष-पुं०। वस्त्राभरणादिभोगे, ध० १ अधि०। स्था०। धबलाकारे, औ०। निर्मलवस्त्रधारणे, जी० १ प्रति०। नेपथ्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। नि०।

द्वेष्य-पुं०। विशेषत एष्यमेषणीयम्। यलोपे "न दीर्घानुस्वारात्" ॥ ८। २। ६२ ॥ इति शेषस्य षस्य न द्वित्वम्। प्रा०। विशेषतोऽभिलषणीये, व्य० ३ उ०। वेषोचिते, भ० २ श० ५ उ०।

द्वेष्य-त्रि०। अप्रीतिकरे, विशे०। आ० म०।

वेसइय-वैषयिक-पुं०। विषयरूपे आधारभेदे, मोक्षे इच्छास्तीत्यादीन्यस्योदाहरणानि। आ० म० १ अ०।

वेसण-वेशन-न०। चणकपिष्टे, बृ० १ उ० २ प्रक०। ल० प्र०।

वेसता-द्वेष्यता-स्त्री०। शत्रुभावे, भ० १२ श० ७ उ०।

वेसमण-वैश्रमण-पुं०। इन्द्रादीनामुत्तरदिग्लोकपाले, जी० ३ प्रति ४ अधि०। भ०। (वक्तव्यता 'लोगपाल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७२० पृष्ठे गता।) यक्षनायके कुबेरे, अनु०। आ० म०। ज्ञा०। स०। "दाणसूरे वेसमणे" स्था० ४ ठा० ३ उ०। ब्रह्मदत्तचक्रिभार्यायाः श्रीमत्याः पितरि, उत्त० १३ अ०। चतुर्दशेऽहोरात्रमुहूर्ते, नपुं०। स० ३० सम०। जं०। चं० प्र०। ज्यो०।

वेसमणकाइय-वैश्रवणकायिक-पुं०। वैश्रवणस्याज्ञावर्त्तिनि देवे, भ० ३ श० ७ उ०।

वेसमणकुंडधारि (ण्)-वैश्रवणकुण्डधारिन्-पुं०। वैश्रवणस्य-धनदस्य कुण्डम्-आयतता तां धारयन्तीति। कुबेरस्वामिकेषु जृम्भकदेवेषु, कल्प० १ अधि० ४ क्षण।

वेसमणकुमार-वैश्रवणकुमार-पुं०। कनकपुरराजस्य प्रियचन्द्रस्य पुत्रे, विपा० २ श्रु० ६ अ०। ('धणवइ' शब्दे चतुर्थभागे २६५७ पृष्ठे वक्तव्यता गता।)

वेसमणकूड-वैश्रवणकूट-न०। वैश्रवणलोकपालनिवासभूतं कूटं वैश्रवणकूटम्। जं० १ वक्ष०। क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतस्य वैश्रवणदेवावासे अष्टमकूटे, स्था० २ ठा० ३ उ०। जं०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य सीताया महानद्या दक्षिणकूले वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे रुचकवरपर्वतस्य कूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। सर्वेषां भरतैरवतविजयक्षेत्रदीर्घवैताढ्यानां वैश्रवणदेवावासकूटेषु, स्था० ९ ठा० ३ उ०।

वेसमणदत्त-वैश्रवणदत्त-पुं०। रोहीडकनगरराजे पुष्पनन्दीकुमारपितरि, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

वेसमणदास-वैश्रवणदास-पुं०। सिंहसेनाचार्यदाहकरिष्टामात्यसेविते उज्जयिनीराजे, संथा०।

वेसमणदेवकाइय-वैश्रवणदेवकायिक-पुं०। वैश्रवणसामानिकदेवपरिवारभूतेषु देवेषु, भ० ३ श० ७ उ०।

वेसमणप्पभ-वैश्रवणप्रभ-पुं०। रतिकरपर्वतसमवक्तव्यताके वैश्रवणदेवावासपर्वते, द्वी०। स्था०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेसमणभद्द-वैश्रवणभद्र-पुं० । स्वनामख्याते ऽनगारे, (यं प्रतिलाभ्य कौशाम्ब्यां धनपाल उत्तरभवे विजयपुरे वासवदत्तस्य नृपस्य पुत्रो भूत्वा सिद्धः।) विपा० २ श्रु० ४ अ० ।

वेसमणोववाय-वैश्रवणोपपात-पुं० । संक्षेपिकदशानां दशमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ० । यत्परावर्तयतः श्रमणस्य वैश्रवणो देवो वरार्थमुपतिष्ठते । पा० ।

वेसवण-वैश्रवण-पुं० । यक्षनायके कुबेरे , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । रा० ।

वेसवाडियगण-वेश्यपाटिकगण-पुं० । स्थविरशाखाया अर्द्धनिर्गते गणे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

वेसविहार-वेश्याविहार-पुं० । वेश्यामन्दिरे , ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

वेससामंत-वेश्यासामन्त-पुं० । गणिकागृहसमीपे, दश० ५ अ० । (भिक्षुर्वेश्यागृहसमीपे भिक्षार्थं न गच्छेदिति ' गोयरचरिया ' शब्दे तृतीयभागे ६८२ पृष्ठे गतम् ।)

वेसा-वेश्या-स्त्री० । वेशजीवायां गणिकायाम् , वेश्येव निराशंसो गृहवासं पालयतीति सप्तदशे भावश्रावके , ध० २० ।

वेश्येव निराशंसो गृहवासं पालयतीति
सप्तदशं भेदं व्याख्यानयन्नाह—

वेस व्व निरासंसो-अज्जं कल्लं चयामि चिंतंतो ।
परकीयं पिव पालइ, गेहावासं सिढिलभावो ॥ ७६ ॥

वेश्या-पण्याङ्गना तद्वन्निराशंसः-परित्यक्तास्थाबुद्धिः । यथाहि-वेश्या निर्द्धनकामुकाद्विशिष्टलाभमसंभावयन्ती किञ्चिन्नममाना चाद्य श्वो वैनं त्यजामीति मन्दादरा तमुपचरति-भावश्रावकोऽप्येवमेवाद्य श्वो वा मोक्तव्योऽयं मयेति मनोरथवान् परकीयमिवान्यसत्कमिव पालयति गृहवासं कुतोऽपि हेतोः परित्यक्तुमशक्नुवन्नपि शिथिलभावो-मन्दादरः सन् । स हि किल यताप्रासावपि कल्याणमवाप्नोति वसुश्रेष्ठिसुतसिद्धवत् । ध० २० २ अधि० । (वसुश्रेष्ठिसुतकथा 'वसु'शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०५२ पृष्ठे गता ।)

वेसागार-वेश्यागार-न० । वेश्याभवने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

वेसाणिय-वैषाणिक-पुं० । लवणसमुद्रमध्येऽन्तर्द्वीपभेदे , "वेसाणी चेव नंगूली" नं० । स्था० । प्रव० । कर्म० । प्रज्ञा० । जी० । उत्त० ।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं तिन्नि तिन्नि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता, तं जहा-एगोरुयदीवे आभासियदीवे वेसाणितदीवे णंगोलियदीवे । तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा परिवसंति, तं जहा-एगोरुता आभासिता वेसाणिता णंगोलिया । (सू० ३०४ ×)

'चउसु विदिसासु' त्ति विदिक्षु पूर्वोत्तराद्यासु लवणसमुद्रं त्रीणि त्रीणि योजनशतान्यवगाह्य—उल्लङ्घ्य ये शाखावभागा वर्त्तन्ते ' एत्थ ' त्ति एतेषु शाखाविभागेषु अन्तरे-भागा वर्त्तन्ते ' एत्थ ' त्ति एतेषु शाखाविभागेषु अन्तरे--मध्ये समुद्रस्य द्वीपाः, अथवा--अन्तरं--परस्परविभागस्तत्प्रधाना द्वीपा अन्तरद्वीपाः , तत्र पूर्वोत्तरायामेकोरुकाभिधानो योजनशतत्रयायामविष्कम्भो द्वीपः, एवमाभाषिकवैषाणिकलाङ्गूलिकद्वीपा अपि क्रमेणाग्नेयीनैर्ऋतीवायव्यास्विति , चतुर्विधा इति समुदायापेक्षया न त्वेकैकस्मिन्निति , अतः क्रमेणैते योज्याः । द्वीपनामतः पुरुषाणां नामान्येव, ते तु सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दरा दर्शने मनोरमाः स्वरूपतो, नैकोरुचकादय एवेति । स्था० ४ ठा० २ उ० । इह जम्बूद्वीपे भरतस्य हैमवतस्य च क्षेत्रस्य सीमाकारी भूमिनिमग्नपञ्चविंशतियोजनो योजनशतोच्छ्रयपरिमाणो भरतक्षेत्रापेक्षया द्विगुणविष्कम्भो हेममयश्चीनपट्टवर्णो नानावर्णविशिष्टद्युतिमणिनिकरपरिमण्डितोभयपार्श्वः सर्वत्र तुल्यविस्तारो गगनमण्डलोल्लेखिरत्नमयैकादशकूटोपशोभितो वज्रमयतलविविधमणिकनकमण्डिततटभागदशयोजनावगाढपूर्वपश्चिमयोजनसहस्रायामदक्षिणोत्तरपञ्चयोजनशतविस्तारः पद्म-ह्रदशोभितशिरोमध्यभाग सर्वतः कल्पपादपश्रेणिरमणीयः पूर्वापरपर्यन्ताभ्यां लवणोदार्णवजलसंस्पर्शी हिमवन्नामा पर्वतः (प्रज्ञा० १ पद ।) तस्यैव हिमवतः पश्चिमायां दिशि पर्यन्तादारभ्य दक्षिणपश्चिमायां--नैर्ऋतकोण इत्यर्थः , त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य दंष्ट्राया उपरि यथोक्तप्रमाणो वैषाणिकनामा द्वीपः । प्रज्ञा० १ पद । उत्त० । जी० ।

वेसायण—वैश्यायन—पुं० । वैश्यनामर्षिगोत्रापत्ये, कल्प० । प्रभुः कूर्मग्रामगतस्तत्र च वैश्यायनतापसस्य आतापनाग्रहणाय मुत्कलमुक्तजटामध्ये यूकाबाहुल्यदर्शनात् गोशालो यूकाशय्यातर इति तं वारं वारं हसितवान् । ततस्तेन क्रुद्धेन तेजोलेश्या मुक्ता, तां च कृपारसाम्भोधिर्भगवान् शीतलश्या निवार्य गोशालं रक्षितवान् । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । भ० । आ०म० । आ०चू० । वैश्यायनऋषेरुत्पत्तिः 'वीर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७६ पृष्ठे गता ।) " पुव्वासाढा वेसायणसगोत्ता " चं० प्र० १० पाहु० ।

वेसालिय-वैशालिक-त्रि० । विशाल एव वैशालिकः । बृहच्छरीरे , सूत्र० । " विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा । विशालं वचनं चास्य , तेन वैशालिको जिनः ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे वीरजिने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

वेसालियसावग-वैशालिकश्रावक-पुं० । भगवतो महावीरस्य श्रावके, भ० १ श० १० उ० ।

वेसाली-वैशाली-स्त्री० । नगरीभेदे, यत्र वीरजिनेन्द्र एकादश वर्षारात्रं कृतवान् । आ० म० १ अ० । आ० चू० । कल्प०। (" इतो वैशालिकापुरि । " चेटको हैहयकुलः, दमापोऽन्योन्यप्रियोद्भवाः ॥१२॥ पुत्रिकाः सप्त तस्यासन् " आ० क० ४ अ० । आव० । आ० म० । (' कुलवालग ' शब्दे तृतीयभागे ६३६ पृष्ठे अशोकचन्द्रेण वैशालिकाग्रहणमुक्तम् ।)

वेसासिय-वैश्यासिक-न० । विश्वासः प्रयोजनमस्येति वै-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्वासिकम् । औ० । विश्वासस्थाने, भ० ६ श० ३३ उ० । ज्ञा० । तं० । विश्वासस्थानीकृते, विश्वासे भवानि योग्यानि वैश्वासिकानीति व्युत्पत्तेः । व्य० ३ उ० । विश्वासप्रयोजने, स्था० ५ ठा० ३ उ० । विश्वसनीये, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । विपा० । ज्ञा० । अत्र लप्स्येऽहमिति विश्वासप्रयोजने । निश्चिते, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

वेसाहट्ठाण-वैशाखस्थान-न० । योधस्थानभेदे, यद्धि पार्ष्णी अभ्यन्तराभिमुखे कृत्वा समश्रेण्या करोति अग्रिमतले बहिर्मुखे ततो युध्यते तत् । व्य० १ उ० । नि० चू० ।

वेसाहिल-वैशाखिल-पुं० । काव्यसाहित्यशास्त्रकारे लौकिकर्षौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

वेसित्थी-वेश्यास्त्री-स्त्री० । सर्वसाधारणवनितायाम्, बृ० ४ उ० । ('हत्थकम्म' शब्दे विस्तरतस्तदागमने तदवारणे प्रायश्चित्तादि दर्शयिष्यते ।)

वेसिय-व्येषित-त्रि०।विशेषेण विविधैर्वा प्रकारैरेषितं व्येषितम् । ग्रहणैषणाग्रासैषणाविशोधिते, भ० ७ श० १ उ० ।

वैषिक-त्रि० । वेषो-मुनिनेपथ्यं स हेतुर्लाभो यस्य तद् वैषिकम्, भ० ७ श० १ उ० । रजोहरणादिवेषमात्रालब्धे उत्पादनादिदोषरहिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । आ० म० । सूत्र० ।

वैशिक-पुं०। मायाप्रधाने कलोपजीविनि वणिजे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । कामशास्त्रे,नपुं० । सूत्र०१ श्रु० ४ अ०१ उ० ।

वेसिया-वेश्या-स्त्री० । गणिकायाम्, आ० म० १ अ० ।

वेसियाकरंडग-वेश्याकरण्डक-पुं०। वेश्यासत्कजतुपूरितस्वर्णाभरणादियुक्ते करण्डके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

वेसेसिय-वैशेषिक-पुं० । विशेषं वेद वैशेषिकः । कणादशिष्ये, स्या० ।

तन्मतम् (स्या०) अथ सत्ताऽभिधानं पदार्थान्तरम्, आत्मनश्च व्यतिरिक्तं ज्ञानाख्यं गुणम्, आत्मविशेषगुणोच्छेदस्वरूपां च मुक्तिम्, अज्ञानादङ्गीकृतवतः परानुपहसन्नाह-

> सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता,
> चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत् ।
> न संविदानन्दमयी च मुक्तिः,
> सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः ॥ ८ ॥

वैशेषिकाणां द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षट् पदार्थास्तत्त्वतयाऽभिप्रेताः,तत्र पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशः कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि।(स्या०)(गुणाश्चतुर्विंशतिस्ते च'गुण'शब्दे तृतीयभागे ९०६ पृष्ठे दर्शिताः) कर्माणि पञ्च,तद्यथा-उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति। गमनग्रहणाद्-भ्रमणरेचनस्यन्दनाद्यविरोधः । (सामान्यं 'सामण्ण' शब्दे दर्शयिष्यते ।) (स्या०) तथा विशेषाः-नित्यद्रव्यवृत्तयः, अन्त्याः-अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवः, ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरम् । तथा च प्रशस्तकरः-"अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः । विनाशाऽऽरम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगाऽऽत्ममनस्सु-प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः । यथाऽस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याऽऽकृतिगुणक्रियाऽवयवोपचयाऽवयवविशेषसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा-गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनः ककुद्मान् महाघण्ट इति, तथाऽस्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याऽऽकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु, मुक्तात्ममनःसु चाऽन्यनिमित्ताऽसम्भवाद् । येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः" इति । अमी च विशेषरूपा एव, न तु द्रव्यत्वादिवत् सामान्यविशेषोभयरूपाः, व्यावृत्तेरेव हेतुत्वात् । तथा अयुतसिद्धानामाधार्याऽऽधारभूतानामिह-प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवाय इति । अयुतसिद्धयोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितयोराश्रयाश्रयिभावः 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादेः प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः; यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं तन्त्वाद्याधारे सम्बध्यते; यथा-छिदिक्रिया छेद्यंनेतिः सोऽपि द्रव्यादिलक्षणवैधर्म्यात् पदार्थान्तरमिति षद् पदार्थाः । साम्प्रतमक्षरार्थो व्याक्रियते-सतामपीत्यादि-सतामपि सद्बुद्धिवेद्यतया साधारणानामपि, षण्णां पदार्थानां मध्ये, क्वचिदेव-केषुचिदेव, पदार्थेषु; सत्ता-सामान्ययोगः, स्याद्-भवेत् न सर्वेषु । तेषामेषा वाचोयुक्तिः-सदिति, यतो-'द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता' इति वचनाद्-यत्रैव सत्प्रत्ययस्तत्रैव सत्ता; सत्प्रत्ययश्च-द्रव्यगुणकर्मस्वेव, अतस्तेष्वेव सत्तायोगः । सामान्यादिपदार्थत्रयं तु न; तदभावात् । इदमुक्तं भवति-यद्यपि वस्तुस्वरूपम्-अस्तित्वं सामान्यादित्रयेऽपि विद्यते; तथापि तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुर्न भवति; य एव चानुवृत्तिप्रत्ययः स एव सदिति प्रत्यय इति, तदभावाद् न सत्तायोगस्तत्र । द्रव्यादीनां पुनस्त्रयाणां षट्पदार्थसाधारणं वस्तुस्वरूम्-अस्तित्वमपि विद्यते, अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सत्तासम्बन्धोऽप्यस्ति, निःस्वरूपे शशविषाणादौ सत्तायाः समवायाभावात् । सामान्याऽऽदित्रिके कथं नानुवृत्तिप्रत्ययः ?, इति चेद्; बाधकसद्भावादिति ब्रूमः । तथाहि-सत्तायामपि सत्तायोगाङ्गीकारे-अनवस्था । विशेषेषु पुनस्तदभ्युपगमे-व्यावृत्तिहेतुत्वलक्षणतत्स्वरूपहानिः । समवाये तु तत्कल्पनायां-सम्बन्धाऽभावः, केन हि सम्बन्धेन तत्र सत्ता सम्बध्यते ?, समवायान्तराऽभावात् । तथा च प्रामाणिकप्रकाण्डमुदयनः-" व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं, सङ्करोऽथानवस्थितिः । रूपहानिरसंबन्धो, जातिबाधकसंग्रहः ॥ १ ॥ " इति । ततः स्थितमेतत्सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्तेति । तथा, चैतन्यमित्यादि, स्या० । (चैतन्यं-ज्ञानम्, इति 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९५८ पृष्ठे गतम् ।) (सत्तासमवायादिशब्देषु च व्याख्यास्यते ।)

वेसेसियगुण-वैशेषिकगुण-पुं० । विशेषे भवा वैशेषिकास्ते च ते गुणाश्च वैशेषिकगुणाः । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नरूपेषु आत्मनोऽसाधारणगुणेषु, "वैशेषिकगुणरहितः, पुरुषोऽस्यामेव भवति तत्त्वेन" । षो० १५ विव० ।

वेस्स-वैश्य-पुं० । वाणिज्योपजीविनि तृतीयवर्णे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेष्य–त्रि०। वेषोचिते, सू० प्र० २० पाहु०।

द्वेष्य–त्रि०। अनिष्टे, "वेस्सा अकामतो निज्जरा मरिऊण वंतरी जाता" बृ० ६ उ०। स्था०।

वेस्साउर–वेश्यापुर–न०। गणिकावासे, आ० क० १ अ०।

वेहम्म–वैधर्म्य–न०। विपरीतभावे, आव० ४ अ०। विपक्षे, विशे०।

वेहल्ल–विहल्ल–पुं०। राजगृहे श्रेणिकस्य राज्ञः पुत्रे, अणु०। स्था०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य षएमासान् श्रामण्यं परिपाल्य संलेखनया मृत्वा सिद्ध इति अन्तकृद्दशानां तृतीयवर्गे दशमे अध्ययने सूचितम्।)

वेहव–वञ्च–धा०। प्रलम्भने, "वञ्चेर्वेहव–वेलव–जूरवोमच्छाः" ॥ ८। ४। ६३॥ इति वञ्चतेर्वेहवाऽऽदेशः। वेहवइ। वञ्चति। प्रा० ४ पाद।

वेहव्व–वैधव्य–न०। "ऐत एत्" ॥ ८। १। १४८॥ इति ऐकारस्यैत्वम् प्रा०। मृतभर्तृकत्वे, पश्चा० ५ विव०।

वेहाणस–वैहायस–न०। विहायस्याकाशे भवं वृक्षशाखाद्युद्बन्धनेन यत्तन्निरुक्तवशाद् वैहायसम्। बालमरणभेदे, भ० २ श० १ उ०।

वैहानस–न०। प्राकृतत्वाद् वेहाणसं। स्था० २ ठा० ४ उ०। उल्लम्बने, व्य० ७ उ०। आचा०। बालमरणभेदे, नि० चू० ११ उ०।

वेहाणसिग–वैहा(ण)यसिक–त्रि०। विहायसि–आकाशे तरुशाखादावात्मन उल्लम्बनेन यन्मरणं भवति तद्वैहानसम्। तत्र भवाः वैहानसिकाः। "वेहाणसिया" वैहायसाख्यबालमरणेन मृतेषु, औ०।

वेहास–विहायस्–न०। आकाशे, भ० १३ श० ३ उ०। स्था०। अन्तराले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

वेहासमरण–वैहायसमरण–न०। वृक्षशाखाद्युद्बद्धत्वेन मरणे, स० १७ सम०। ('मरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०६ पृष्ठे व्याख्या।) "उब्बंधणाइ वेहासं" ति उत्–ऊर्ध्वं वृक्षशाखादौ बन्धनमुद्बन्धनं तदादिर्यस्य तरुगिरिभृगुप्रपातादेरात्मजनितस्य मरणस्य तदुद्बन्धनादि। 'वेहासं' ति प्राकृतत्वात् यलोपे वैहायसम्। उद्बद्धस्य हि विहायस्येव भवनमिति। उत्त० ४ अ०।

वो–युष्मान्–युष्मद्–शस्। "वो तुज्झ तुब्भे तुय्हे उय्हे भे शसा" ॥८।३।६३॥ इति शसा सह युस्मदो 'वो' इत्यादेशो वा। वो। तुब्भे। बहुत्वे कर्मतामापन्ने युष्मच्छब्दार्थे, प्रा० ३ पाद।

वोंड–वोएड–न०। अविकासितावस्थे कमले, विशे०। आ० म०। कार्पासीफले, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। फले, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। तं०। औ०।

वोंडकप्पास–वोएडकार्पास–न०। वोएडं–वनी तस्य फलं पक्ष्माणि कल्पनीयानि कार्पासः। कृते. नि० चू० ३ उ०।

वोंडय–वोएडज–त्रि०। वोएडं वनीफलं तस्माज्जातं वोएडजम्। कार्पासिकसूत्रादौ, विशे०। अनु०।

वोंडसमुग्गय–वोएडसमुद्गक–न०। वोएडं–कार्पासीफलं तस्य समुद्गकं–संपुटमभिन्नावस्थम्। कार्पासीफले, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

वोक्क–विज्ञापि–धा०। निवेदने, विज्ञपेर्वोक्काउकौ ॥८।४।३८॥ इति विपूर्वस्य जानातेर्ण्यन्तस्य वोक्कादेशः। वोक्कइ। विज्ञपयति। प्रा० ४ पाद।

वोक्कंत–व्युत्क्रान्त–त्रि०। "ओत्संयोगे" ॥ ८। १। ११६॥ इत्यादेरुत ओत्वम्। निष्क्रष्टे, प्रा० १ पाद।

वोक्कस–वोक्कस–पुं०। अनार्यदेशभेदे, तत्र जाते म्लेच्छभेदे च। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। प्रज्ञा०। प्रव०।

वोक्कसिज्जमाण–व्यपकृष्यमाण–त्रि०। अपकर्षं गच्छति, भ० ५ श० ६ उ०। आचा०।

वोगडा–व्याकृता–स्त्री०। प्रकटार्थायाम्, प्रश्ना० ११ पद। लोकप्रतीतशब्दार्थायां भाषायाम्, भ० १० श० ३ उ०।

वोच्छिंदमाण–व्यवच्छिन्दत्–त्रि०। परित्यजति, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

वोच्छिज्जमाण–व्यवच्छिद्यमान–त्रि०। निवारणं गच्छति, स्था० ३ ठा० १ उ०।

वोच्छिन्न–व्यवच्छिन्न–त्रि०। त्रुटिते,कल्प० १ अधि० ६ क्षण। आचा०। खण्डिते, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० २ उ०। अनुदिते, भ० ७ श० १ उ०। नि० चू०। जीवरहिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०। सिद्धे, स०।

वोच्छिण्णदोहला–व्यवच्छिन्नदोहदा–स्त्री०। त्रुटितवाञ्छायाम्, भ० ११ श० ११ उ०।

वोच्छिण्णमडंब–व्यवच्छिन्नमडम्ब–न०। ग्रामाभ्यन्तरवर्त्तिग्रामघोषादिरहिते, "वोच्छिण्णमडंबं णाम जत्थ दुजोयणब्भतरे गामघोसादि णऽत्थि" नि० चू० १ उ०।

वोच्छित्ति–व्यवच्छित्ति–स्त्री०। उच्छित्तौ, पं० सू० १ सूत्र। आ० म०। स्था०।

वोच्छित्तिणय–व्यवच्छित्तिनय–पुं०। व्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयो व्यवच्छित्तिनयः। पर्यायास्तिकनये, नं०।

वोच्छेय–व्यवच्छेद–पुं०। उच्छेदे, ति०। (वीरतीर्थे केवल्यादिव्युच्छेदः 'तित्थुग्गालिय' शब्दे चतुर्थभागे २३१६ पृष्ठे विशेषत उक्तः।)

वोज्ज–त्रस्–धा०। उद्वेगे, "त्रसेर्डर–वोज्ज–वज्जाः" ॥ ८। ४। १६८॥ इति त्रसधातोः वोज्जादेशः। वोज्जइ। त्रस्यति। प्रा० ४ पाद।

वोज्झ–उह्य–त्रि०। नेये, "णासाणीसासवोज्झं" ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वोत्तव्व-वक्तव्य-त्रि० । " वचो वोत् " ॥ ८ । ४ । २११ ॥ इति वच्धातोस्तव्यप्रत्यये वोदादेशः । कथनीये, प्रा० ४ पाद ।

वोत्तु-वक्तुम्-अव्य० ।वच्-तुमुन्। "वचो वोत्"॥८।४।२११॥ इति वच्धातोर्वोदादेशः । प्रा० । गदितुमित्यर्थे , जीवा० १४ अधि० ।

वोत्तूण-उक्त्वा-अव्य० । वच्-त्वा । "वचो वोत् " ॥ ८ । ४ । २११ ॥ इति वोदादेशः । गदित्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

वोदाण-व्यवदान-विशेषेण अवदानं कर्म शुद्धिर्व्यवदानम् । उत्त० २६ अ० । दाप्-लवने, अथवा-दैप् शोधने, इति वचनात् । पूर्वकृतकर्मवनगहनस्य लवने, प्राकृतकर्मकचवरशोधने, भ० २ श० ५ उ० । स्था० । पूर्वकर्मक्षपणे , प्रव० २ द्वार । पञ्चा० । कर्मनिर्जरणे,भ० २ श० ५ उ० । उत्त० ।

वोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वोदाणेणं अकिरियं जणयइ, अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वायइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ २८ ॥

हे भदन्त ! व्यवदानेन जीवः किं जनयति ? , गुरुराह-हे शिष्य ! व्यवदानेन जीवोऽक्रियं जनयति । न विद्यते क्रिया यस्मिन् सः अक्रियस्तम् , अक्रियं-व्युपरतक्रियाख्यं शुक्लध्यानस्य चतुर्थं भेदं जनयति । अक्रियको भूत्वा-व्युपरतक्रियाख्यशुक्लध्यानवर्ती भूत्वा ततः पश्चात् सिद्धिं व्रजति । बुध्यते-ज्ञानदर्शनाभ्यां सम्यक् वस्तुवेत्ता भवति, मुच्यते-संसारात् मुक्तो भवति, परिनिर्वाति—परि—समन्तात् निर्वाति कर्माग्निं विध्याप्य शीतलो भवति, सर्वदुःखानाम् अन्तं करोति । उत्त० २६ अ० । हरितवनस्पतिभेदे, प्रा० ।

वोम-व्योमन्-न० । विशेषेणावनात्-व्योम । भ० २० श० २ उ० । आकाशे, विशे० । द्वा० । दर्श० । आव० । अम्बरे, अनु० । आ० क० । " वोमाइपइट्ठाणे, " व्योमादिप्रतिष्ठानमित्यत्र च, प्रतिष्ठितिः प्रतिष्ठानं भावे ल्युट् । व्योम-आकाशः । आदिशब्दाद् वाह्यादिपरिग्रहः । व्योमादौ प्रतिष्ठानमस्येति व्योमादिप्रतिष्ठानः । दर्श० ४ तत्त्व ।

वोयसिज्जमाण-व्यवकृष्यमाण-त्रि० । हीयमाने, भ० १ श० ७ उ० ।

वोलट्टमाण-व्युल्लठत्-त्रि० । विशेषत उल्लठतीव । अत्युल्लण्ठे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

वोलित्ता-अतिक्रम्य-अव्य० । उल्लङ्घयेत्यर्थे, " अडविं सपच्चवायं वोलेत्ता देसओवएसेणं " आव० १ अ० ।

वोलीण-अतिक्रान्त-त्रि० । "क्तेनाप्फुण्णादयः " ॥ ८ । ४ । २५८ ॥ इत्यतिक्रान्तस्थाने वोलीणादेशः । गते, प्रा० ४ पाद ।

वोसट्ठ-व्युत्सृष्ट-त्रि० । त्यक्ते, स्था० ६ ठा० ३ उ० । (व्युत्सृष्टं रजोहरणं न धारणीयमिति ' रओहरण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४७४ पृष्ठे उक्तम् ।)

वोसट्ठकाय-व्युत्सृष्टकाय-पुं० । विविधैरुपायैः, विशेषेण वा परीषहोपसर्गसहिष्णुलक्षणेनोत्सृष्टस्त्यक्तः-कायः शरीरमनेनेति व्युत्सृष्टकायः । उत्त० १२ अ० । परिकर्मवर्जनतस्त्यक्तशरीरे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । आ० म० । भ० । कल्प० । सूत्र० । आचा० । प्रव० । व्य० ।

इदानीं नित्यं ' व्युत्सृष्टाकाय ' इति पदं व्याख्यायते ।

निच्चं दिया व रातो, पडिमा कालो व जत्तिओ भणितो ।
दव्वम्मि य भावम्मि य, वोसट्ठं तत्थिमं दव्वे ॥ ६ ॥

नित्यम्-सदा दिवा रात्रौ च । अथ वा यावान् प्रतिमाकालो भणितस्तावान् कालो व्युत्सृष्टकायः । तच्च व्युत्सृष्टं द्विधा-द्रव्ये, भावे च । तत्र द्रव्ये इतो वक्ष्यमाणम् ।

तदेवाऽऽह—

असिणाण भूमिसयणा, अविभूसाकुलवधू पउत्थधवा ।
रक्खइ पतिस्स सेज्जं, अणिकामा दव्ववोसट्ठा ॥ ७ ॥

कुलवधूः-प्रोषितधवा अस्नाना भूमिशयना अकृतविभूषा । एवं द्रव्यव्युत्सृष्टा अनिकामा सकामा पत्युः शय्यां रक्षति । एतद् द्रव्यव्युत्सृष्टम् ।

भावव्युत्सृष्टमाह—

वातियपित्तियसिंभिय-रोगायंकेहिँ तत्थ पुट्ठोऽवि ।
न कुणइ परिकम्मं सो, किंचि वि वोसट्ठदेहो उ ॥ ८ ॥

तत्र यवमध्यायां वज्रमध्यायां वा चन्द्रप्रतिमायां स्थितो वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकरोगातङ्कैः स्पृष्टोऽपि स व्युत्सृष्टदेहो न किंचिदपि परिकर्म्म करोति । व्य० १० उ० । स्था० ।

निर्ग्रन्थ्या व्युत्सृष्टकायिकया न भवितव्यम्—

नो कप्पति निग्गंथीए वोसट्ठकाइयाए होत्तए ॥ २१ ॥

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः व्युत्सृष्टकायिकायाः—परित्यक्तदेहाया भवितुमिति सूत्रार्थः ।

अत्र भाष्यम्—

वोसट्ठकायपेल्लण—तरुणाई गहणदोस ते चेव ।
दव्वाई अगिणिम्मि य, सावयभयवोहिए वितियं॥२६४॥

व्युत्सृष्टकायिका नाम-दिव्याद्युपसर्गा मया सोढव्या इत्यभिग्रहं गृहीत्वा शरीरं व्युत्सृज्य समयप्रसिद्धेनाभिभवकायोत्सर्गेण स्थितायाश्चोदीर्णमोहे-प्रेरणतरुणग्रहणादयस्त एव दोषा मन्तव्याः । द्वितीयपदे तु द्रव्याग्निमन्त्रस्तेनस्वापदभये बोधिकभये वा गाढतरे उपस्थिते व्युत्सृष्टकायिकाऽपि भवेत् । बृ० ५ उ० ।

वोसट्ठचत्तदेह-व्युत्सृष्टत्यक्तदेह-पुं० । व्युत्सृष्टः-परिकर्माभावेन त्यक्तो ममत्वत्यागेन देहः कायो येन स तथा । निष्प्रतिकर्मशरीरे, निर्मम, पञ्चा० ५ विव० ।

वोसट्ठतिट्ठाण-व्युत्सृष्टत्रिस्थान-त्रि० । व्युत्सृष्टानि परित्यक्तानि त्रीणि स्थानानि ज्ञानादिरूपाणि येन स व्युत्सृष्टत्रिस्थानः । पार्श्वस्थे, ग० १ अधि० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वोसट्ठदेह-व्युत्सृष्टदेह-पुं०। व्युत्सृष्टो—भावप्रतिबन्धाभावेन त्यक्तश्च विभूषाकरणेन देहः-शरीरं यस्य स तथा। उत्त० १२ अ०। परीषहोपसर्गसहने कल्पितकाये, उत्त० १२ अ०।

वोसट्टमाण-व्युत्सृजत्-त्रि०। जलप्राचुर्यादेव विकसति स्फारीभवति। वर्द्धमाने, भ १२ श० ६ उ०। परिपूर्णभूततया उल्लुठति, जी०३ प्रति ४ अधि०।

वोसरिय-व्युत्सृष्ट-त्रि०। कृतपुरीषप्रश्रवणोत्सर्गे, ओघ०।

वोसिरण-व्युत्सृजन--न०। परित्यागे, आव० ४ अ०। दशा०। संस्कारादिव्यापारकारणेन परित्यागे, आ० चू० ५ अ०। आत्मनो दुष्टकर्मकारिणस्तदनुमतित्यागे, आव०३ अ०। ('वोसिरामि' इत्यस्यार्थः—'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते।) मुहुर्मुहुः पुरीषोत्सर्गविधाने, ओघ०। पं० व०।

वोसरियव्व-व्युत्सृष्टव्य--त्रि०। त्यक्तव्ये, बृ० ३ उ०।

व्रासु-व्यास--पुं०। "अभूतोऽपि क्वचित्"॥८।४।३९९॥ इत्यपभ्रंशे रेफागमः। कृष्णद्वैपायने, "व्रासु महारिसि एउ भणइ" प्रा०।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीम-
द्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
वकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं षष्ठो भागः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri